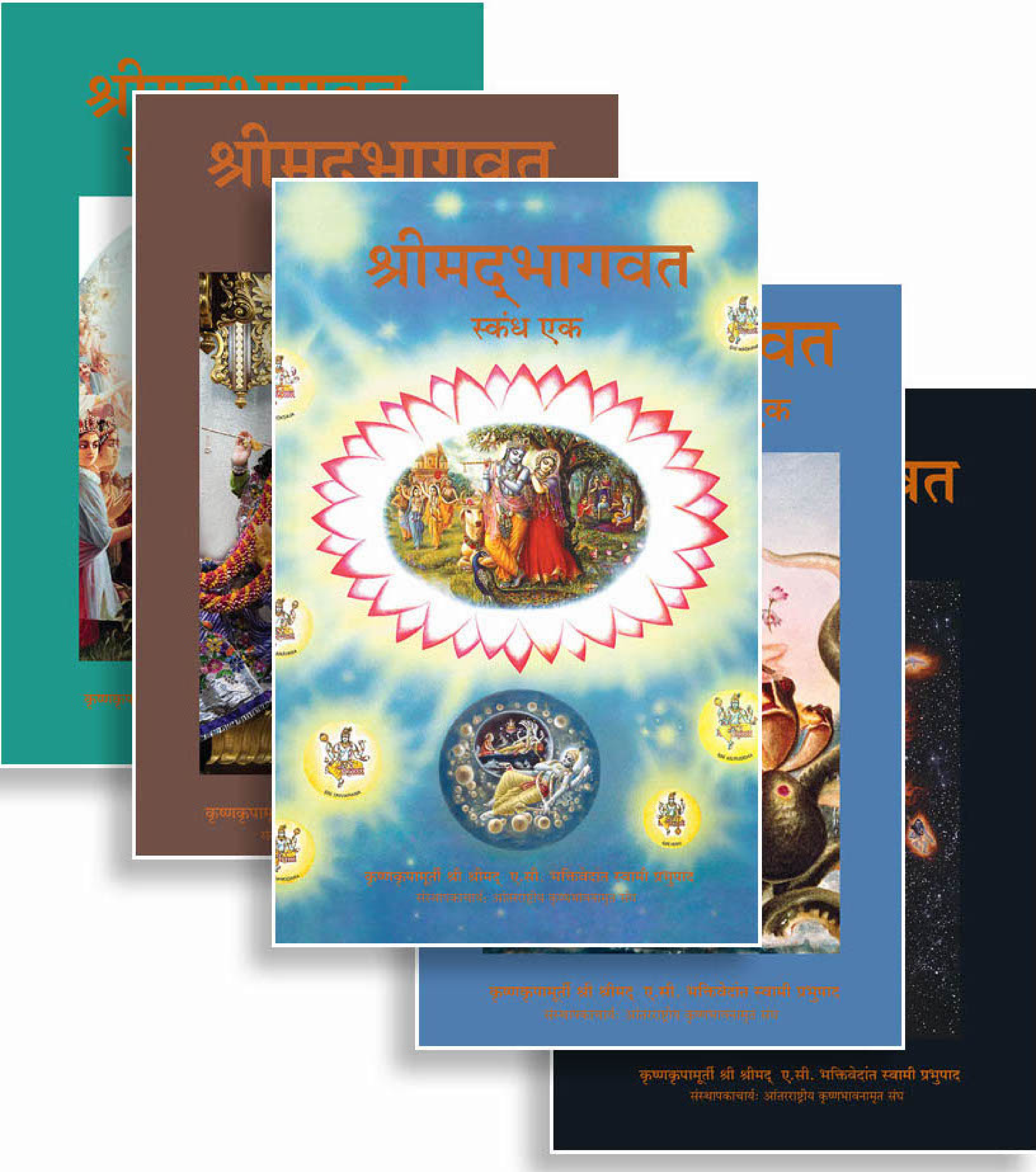
श्रीमद्भागवत
स्कंध एक
कृष्णकृपामूर्ति श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदांत स्वामी प्रभुपाद
संस्थापकाचार्यः अंतरराष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

Chapter एक

मुनियों की जिज्ञासा

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञ: स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरय: ।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ॐ—हे प्रभु; नम:—नमस्कार है; भगवते—भगवान् को; वासुदेवाय—वासुदेव (वसुदेव-पुत्र) या आदि भगवान् श्रीकृष्ण को; जन्म-आदि—उत्पत्ति, पालन तथा संहार; अस्य—प्रकट ब्रह्माण्डों का; यत:—जिनसे; अन्वयात्—प्रत्यक्ष रूप से; इतरत:—अप्रत्यक्ष रूप से; च—तथा; अर्थेषु—उद्देश्यों में; अभिज्ञ:—पूर्ण रूप से अवगत; स्व-राट्—पूर्णरूप से स्वतन्त्र; तेने—प्रदान किया; ब्रह्म—वैदिक ज्ञान; हृदा—हृदय की चेतना; य:—जो; आदि-कवये—प्रथम सर्जित जीव के लिए; मुह्यन्ति—मोहित होते हैं; यत्—जिनके विषय में; सूरय:—बड़े-बड़े मुनि तथा देवता; तेज:—अग्नि; वारि—जल; मृदाम्—पृथ्वी; यथा—जिस प्रकार; विनिमय:—क्रिया-प्रतिक्रिया; यत्र—जहाँ पर; त्रि-सर्ग:—सृष्टि के तीन गुण, सृष्टिकारी शक्तियाँ; अमृषा—सत्यवत्; धाम्ना—समस्त दिव्य सामग्री के साथ; स्वेन—अपने से; सदा—सदैव; निरस्त—अनुपस्थिति के कारण त्यक्त; कुहकम्—मोह को; सत्यम्—सत्य को; परम्—परम; धीमहि—मैं ध्यान करता हूँ।

हे प्रभु, हे वसुदेव-पुत्र श्रीकृष्ण, हे सर्वव्यापी भगवान्, मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ। मैं भगवान् श्रीकृष्ण का ध्यान करता हूँ, क्योंकि वे परम सत्य हैं और व्यक्त ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के समस्त कारणों के आदि कारण हैं। वे प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से सारे जगत से अवगत रहते हैं और वे परम स्वतंत्र हैं, क्योंकि उनसे परे अन्य कोई कारण है ही नहीं। उन्होंने ही सर्वप्रथम आदि जीव ब्रह्माजी के हृदय में वैदिक ज्ञान प्रदान किया। उन्हीं के कारण बड़े-बड़े मुनि तथा देवता उसी तरह मोह में पड़ जाते हैं, जिस प्रकार अग्नि में जल या जल में स्थल देखकर कोई माया के द्वारा मोहग्रस्त हो जाता है। उन्हीं के कारण ये सारे भौतिक ब्रह्माण्ड, जो प्रकृति के तीन गुणों की प्रतिक्रिया के कारण अस्थायी रूप से प्रकट होते हैं, वास्तविक लगते हैं जबकि ये अवास्तविक होते हैं। अत: मैं उन भगवान् श्रीकृष्ण का ध्यान करता हूँ, जो भौतिक जगत के भ्रामक रूपों से

सर्वथा मुक्त अपने दिव्य धाम में निरन्तर वास करते हैं। मैं उनका ध्यान करता हूँ, क्योंकि वे ही परम सत्य हैं।

तात्पर्य : भगवान् वासुदेव को नमस्कार करना प्रत्यक्ष रूप से वसुदेव तथा देवकी के दिव्य पुत्र भगवान् श्रीकृष्ण को इंगित करता है। इस तथ्य की अधिकाधिक व्याख्या इस ग्रंथ में सुस्पष्ट रूप से की जाएगी। यहाँ पर श्री व्यासदेव दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि श्रीकृष्ण ही आदि भगवान् हैं और अन्य सभी रूप उनके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष पूर्ण अंश या अंशांश हैं। श्रील जीव गोस्वामी ने अपनी कृती *कृष्ण-सन्दर्भ* में इस विषय की विशद व्याख्या की है और आदि जीव ब्रह्मा ने अपने ग्रन्थ *ब्रह्म-संहिता* में श्रीकृष्ण विषयक यथेष्ट व्याख्या की है। *सामवेद* उपनिषद् में भी बताया गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण देवकी के दिव्य पुत्र हैं। इसीलिए इस स्तुति का यह पहला कथन बताता है कि भगवान् श्रीकृष्ण आदि भगवान् हैं। यदि परम भगवान् किसी दिव्य नाम से जाने जा सकते हैं, तो वह कृष्ण शब्द ही होना चाहिए जिसका अर्थ है सर्वाकर्षक। *भगवद्गीता* में भगवान् ने कई स्थलों पर स्वयं को आदि भगवान् घोषित किया है और इसकी पुष्टि अर्जुन के द्वारा तथा नारद, व्यास आदि बड़े-बड़े मुनियों द्वारा भी की गई है। *पद्म पुराण* में यह भी कहा गया है कि भगवान् के असंख्य नामों में से कृष्ण नाम सर्वप्रमुख है। वासुदेव नाम भगवान् के पूर्ण अंश का सूचक है और भगवान् के अन्य सभी रूप, जो वासुदेव से अभिन्न हैं, इस ग्रन्थ में बताये गये हैं। वासुदेव नाम विशिष्ट रूप से वसुदेव तथा देवकी के दिव्य पुत्र का सूचक है। संन्यासियों में सिद्ध *परमहंसों* द्वारा श्रीकृष्ण का ध्यान सदा ही किया जाता है।

वासुदेव अथवा भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त कारणों के कारण हैं। जितनी भी वस्तुओं का अस्तित्व है, वे सभी भगवान् से ही उद्भूत हैं। ऐसा किस तरह है, इसकी व्याख्या इस ग्रंथ के अगले अध्यायों में की गई है। महाप्रभु श्री चैतन्य ने इस ग्रन्थ को निर्मल पुराण कहा है, क्योंकि इसमें भगवान् श्रीकृष्ण का दिव्य आख्यान है। *श्रीमद्भागवत* का इतिहास भी अत्यन्त महिमा-मय है। इसका संकलन श्री व्यासदेव ने दिव्य ज्ञान में परिपक्वता प्राप्त करने के पश्चात् किया। उन्होंने अपने आध्यात्मिक गुरु श्री नारदजी के अनुदेशों के अंतर्गत इसकी रचना की। व्यासदेव ने समस्त

वैदिक वाङ्मय का संकलन किया जिसमें चारों *वेद, वेदान्त सूत्र* (या *ब्रह्म सूत्र*), *पुराण, महाभारत* इत्यादि सम्मिलित हैं। किन्तु वे इतने पर भी संतुष्ट नहीं हुए। जब उनके गुरु नारद ने उनके इस असंतोष को देखा, तो उन्होंने उनको भगवान् कृष्ण के दिव्य कार्यकलापों के विषय में लिखने का उपदेश दिया। ये दिव्य कार्यकलाप इस ग्रन्थ के दशम स्कंध में विशेष रूप से वर्णित हैं। किन्तु इसका सार-तत्व प्राप्त करने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह धीरे-धीरे ज्ञान विकसित करके क्रमश: आगे बढ़े।

यह स्वाभाविक है कि चिन्तनशील मनुष्य सृष्टि का उद्‌गम जानना चाहता है। रात्रि में वह आकाश में तारों को देखता है और स्वाभाविक है कि वह उनके निवासियों के विषय में कल्पनाएँ करता है। ऐसी जिज्ञासा मनुष्य के लिए स्वाभाविक है, क्योंकि उसकी चेतना विकसित है, जो पशुओं की तुलना में उच्च है। श्रीमद्‌भागवतम् के रचयिता ऐसी जिज्ञासाओं का सीधा उत्तर देते हैं। वे कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण समस्त सृष्टियों के उद्‌गम हैं। वे न केवल ब्रह्माण्ड के स्रष्टा हैं, वरन् उसके संहर्ता भी हैं। इस दृश्य जगत की उत्पत्ति भगवान् की इच्छा से किसी काल में होती है, कुछ काल तक इसका परि-पालन होता है और तब उनकी ही इच्छा से इसका संहार हो जाता है। अतएव समस्त जागतिक कार्यों के पीछे उनकी परम इच्छा रहती है। निस्सन्देह, ऐसे अनेक नास्तिक हैं जो स्रष्टा पर विश्वास नहीं करते, किन्तु वे अल्पज्ञान के कारण ऐसा करते हैं। उदाहरणार्थ, आधुनिक विज्ञानी ने अन्तरिक्ष उपग्रह बनाये हैं, जिन्हें किसी-न-किसी युक्ति से बाह्य आकाश में प्रक्षिप्त किया जाता है और दूर बैठे विज्ञानी के निर्देश से ये कुछ काल तक आकाश में उड़ते रहते हैं। इसी प्रकार असंख्य तारों तथा ग्रहों से युक्त सारे ब्रह्माण्ड भगवान् की बुद्धि द्वारा नियन्त्रित होते हैं।

वैदिक साहित्य में यह कहा गया है कि परम सत्य, पुरुषोत्तम भगवान् समस्त पुरुषों में प्रधान हैं। प्रथम सृजित जीव ब्रह्मा से लेकर एक छोटी-से-छोटी चींटी तक सारे जीव ही जीव हैं। ब्रह्मा से ऊपर भी अपनी अपनी क्षमताओं वाले अन्य व्यक्तित्व हैं और भगवान् भी ऐसे ही व्यक्तित्व हैं। जिस तरह अन्य जीव व्यक्ति हैं, उसी तरह भगवान् भी एक व्यक्ति हैं। किन्तु परमेश्वर या परम

पुरुष में उत्कृष्टतम बुद्धि होती है और उनमें विभिन्न प्रकार की श्रेष्ठतम अचिन्त्य शक्तियाँ होती हैं। यदि मनुष्य का मस्तिष्क अन्तरिक्ष-उपग्रह बना सकता है, तब तो कोई भी बहुत आसानी से कल्पना कर सकता है कि मनुष्य से उच्चत्तर कोटि का मस्तिष्क ऐसी आश्चर्यजनक वस्तुएँ बना सकता है जो कहीं अधिक श्रेष्ठ हों। विचारवान व्यक्ति इस तर्क को आसानी से स्वीकार कर लेगा, किन्तु कुछ ऐसे कट्टर नास्तिक होते हैं, जो इससे कभी सहमत नहीं होंगे। श्रील व्यासदेव परम बुद्धिमान को परमेश्वर रूप में पूरी तरह स्वीकार करते हैं और इस परम बुद्धिमान को *पर, परमेश्वर* या पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में सम्बोधित करते हुए नमस्कार करते हैं। यह *परमेश्वर* श्रीकृष्ण ही हैं जैसाकि व्यासदेव ने *भगवद्गीता* में तथा अपने अन्य शास्त्रों में और विशेष रूप से *श्रीमद्भागवत* में स्वीकार किया है। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि उनसे बढ़कर कोई *परतत्त्व* या अन्तिम लक्ष्य नहीं है। इसीलिए श्री व्यासदेव तुरन्त उन *परतत्त्व* श्रीकृष्ण की पूजा करते हैं जिनकी दिव्य लीलाओं का वर्णन दशम स्कंध में हुआ है।

निष्ठाहीन व्यक्ति सीधे दशम स्कंध में और विशेषकर उन पाँच अध्यायों में पहुँच जाते हैं, जिनमें भगवान् की रासलीला का वर्णन है। *श्रीमद्भागवत* का यह अंश इस महान ग्रन्थ का गुह्यतम अंश है। जब तक किसी को भगवान् का पूरा-पूरा दिव्य ज्ञान प्राप्त न हो ले, तब तक वह भगवान् की पूज्य दिव्य लीलाओं को, जिन्हें *रास-नृत्य* कहा जाता है, तथा गोपियों के साथ उनके प्रेम व्यवहार को ठीक से समझ नहीं सकता। यह विषय अत्यन्त आध्यात्मिक है। केवल ऐसे मुक्त पुरुष, जिन्होंने क्रमश: परमहंस अवस्था प्राप्त कर ली है, इस *रास-नृत्य* का दिव्य आस्वादन कर सकते हैं। अत: श्रील व्यासदेव पाठक को अवसर प्रदान करते हैं कि भगवान् की लीलाओं के सार का आस्वादन करने के पूर्व वे धीरे-धीरे आत्म-साक्षात्कार का विकास करें। इसीलिए वे जान बूझकर गायत्री मन्त्र *धीमहि* का आवाहन करते हैं। यह गायत्री मन्त्र अध्यात्म में बढ़े-चढ़े व्यक्तियों के निमित्त है। जब कोई गायत्री मन्त्र का उच्चारण करने में सफल हो जाता है, तब वह भगवान् की दिव्य स्थिति तक प्रवेश पा सकता है। अत: गायत्री मन्त्र के सफल जप के लिए

मनुष्य में ब्राह्मण जैसे गुणों का समावेश होना चाहिए या फिर उसे पूर्ण रूप से सतोगुणी होना चाहिए। तभी वह भगवान् के नाम, यश, गुणों आदि की दिव्य अनुभूति प्राप्त कर सकता है।

श्रीमद्भागवत भगवान् की अन्तरंगा शक्ति द्वारा प्रदर्शित उनके स्वरूप का आख्यान है और यह अन्तरंगा शक्ति हमारे अनुभवगम्य दृश्य जगत को उत्पन्न करने वाली बहिरंगा शक्ति से भिन्न होती है। श्रील व्यासदेव ने इस श्लोक में इन दोनों शक्तियों में अन्तर स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि प्रकट अन्तरंगा शक्ति वास्तविक है, जब कि भौतिक जगत के रूप में प्रकट होने वाली बहिरंगा शक्ति अनित्य है और मृग-मरीचिका जैसी है। मृग-मरीचिका में वास्तविक जल नहीं रहता, केवल जल का आभास रहता है। वास्तविक जल तो कहीं अन्यत्र रहता है। यह दृश्य जगत एक वास्तविकता जैसा प्रतीत होता है, किन्तु वास्तविकता तो आध्यात्मिक जगत में होती है और यह तो उसकी छाया (प्रतिबिम्ब) मात्र है। परम सत्य तो वैकुण्ठलोक (चिदाकाश) में हैं, भौतिक आकाश में नहीं। भौतिक आकाश में प्रत्येक वस्तु सापेक्ष सत्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि एक सत्य किसी अन्य पर आश्रित होता है। यह दृश्य जगत प्रकृति के तीनों गुणों की अन्त:क्रिया से बनता है और यह अनित्य जगत बद्धजीव के मोहग्रस्त मन को वास्तविकता का भ्रम प्रस्तुत करने वाला होता है। बद्धजीव अनेकानेक योनियों में प्रकट होते हैं जिनमें ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्र जैसे उच्चतर देवता भी सम्मिलित हैं। यथार्थ में प्रकट जगत में कोई वास्तविकता नहीं है। किन्तु यह वास्तविक जैसा प्रतीत होता है। वास्तविकता का अस्तित्व तो वैकुण्ठलोक में है, जहाँ पुरुषोत्तम भगवान् अपनी दिव्य सामग्री के साथ नित्य विद्यमान रहते हैं।

किसी जटिल निर्माण कार्य का मुख्य इंजीनियर निर्माण-कार्य में स्वयं भाग नहीं लेता, किन्तु वह इसके कोने-कोने से परिचित रहता है, क्योंकि सारा कार्य उसी के निर्देशन में सम्पन्न होता है। वह प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से निर्माण-कार्य के विषय में हर बात जानता है। इसी प्रकार, भगवान् भी इस दृश्य जगत के सर्वोपरि अभियन्ता होने के कारण इसके कोने-कोने से परिचित हैं, यद्यपि सारे कार्य देवताओं द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं। इस भौतिक सृष्टि में ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक कोई भी स्वतंत्र नहीं है। हर स्थान पर भगवान् का हाथ देखने में आता है। सभी

भौतिक तत्त्वों के साथ-साथ आध्यात्मिक स्फुलिंगो का उद्भव उन्हीं से होता है। इस भौतिक जगत में और जो कुछ भी उत्पन्न होता है, वह भौतिक तथा आध्यात्मिक (अपरा तथा परा) शक्तियों की ही अन्त:क्रियाओं से होता है, जो परम सत्य भगवान् श्रीकृष्ण से उद्भूत होती हैं। एक रसायन-शास्त्री अपनी प्रयोगशाला में बैठे-बैठे हाइड्रोजन तथा आक्सीजन मिलाकर जल उत्पन्न कर सकता है। किन्तु वास्तव में जीव तो परमेश्वर के निर्देशानुसार प्रयोगशाला में कार्य करता है और वह रसायनवेत्ता जिन सामग्रियों से कार्य सम्पन्न करता है, वे भगवान् द्वारा प्रदान की गई हैं। भगवान् प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रत्येक वस्तु को जानते हैं तथा वे सभी सूक्ष्म बातों को जानने वाले हैं तथा सम्पूर्ण स्वतन्त्र हैं। उनकी तुलना सोने की खान से की जा सकती है, जबकि विभिन्न रूपों वाले दृश्य जगत की तुलना सोने से बनी विविध वस्तुओं से की जा सकती है, जैसे सोने की अँगूठी, हार इत्यादि। सोने की अँगूठी तथा सोने के हार के गुण खान में पाये जाने वाले सोने के ही समान होते हैं, किन्तु खान का सोना परिमाण में भिन्न है। अत: परम सत्य एक ही है और साथ ही साथ भिन्न भी है। परम सत्य के तुल्य पूरी तरह से कुछ भी नहीं है, किन्तु साथ ही, परम सत्य से स्वतन्त्र भी कुछ नहीं है।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के शिल्पी ब्रह्मा से लेकर एक नगण्य चींटी तक सारे बद्धजीव सृजन का कार्य करते हैं, किन्तु इनमें से कोई भी परमेश्वर से स्वतन्त्र नहीं है। भौतिकतावादी व्यक्ति व्यर्थ ही सोचता है कि उसके अतिरिक्त कोई अन्य स्रष्टा नहीं है। यह *माया* या भ्रम कहलाता है। अल्पज्ञान के कारण भौतिकतावादी अपनी अपूर्ण इन्द्रियों के परे देख नहीं पाता और इस प्रकार से वह सोचता है कि पदार्थ, किसी श्रेष्ठ बुद्धि के बिना ही, स्वत: आकार ग्रहण करता है। किन्तु श्रील व्यासदेव ने इस श्लोक में इसका खंडन किया है, ''चूँकि परम पूर्ण या परम सत्य प्रत्येक वस्तु के उद्‍गम हैं, अत: परम सत्य के शरीर से स्वतन्त्र कोई भी वस्तु नहीं हो सकती है।'' देह के साथ जो कुछ घटित होता है, वह देही को तुरन्त ज्ञात हो जाता है। इसी प्रकार यह सृष्टि उस परम पूर्ण का शरीर है, अत: इस सृष्टि में जो कुछ घटित होता है उसे वे प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से जानते हैं।

श्रुति मन्त्र में यह भी कहा गया है कि परम पूर्ण या ब्रह्म समस्त वस्तुओं का चरम उद्गम हैं। प्रत्येक वस्तु उन्हीं से उद्भूत है, उन्हीं के द्वारा पालित है और अन्त में उन्हीं में प्रवेश कर जाती है। यही प्रकृति का नियम है। *स्मृति* मन्त्र में इसी की पुष्टि की गई है। यह कहा गया है कि ब्रह्मा के कल्प के प्रारम्भ में जिस उद्गम से सारी वस्तुएँ उद्भूत होती हैं और अन्तत: जिस आगार में वे प्रवेश करती हैं, वह परम सत्य या ब्रह्म है। भौतिक विज्ञानी यह मानकर चलते हैं कि ग्रह मंडल का उद्गम सूर्य है, किन्तु वे सूर्य का उद्गम नहीं बता पाते। यहाँ पर इस चरम उद्गम की व्याख्या की गई है। वैदिक वाङ्मय के अनुसार ब्रह्मा, जो सूर्य के तुल्य माने जा सकते हैं, परम स्रष्टा नहीं हैं। इस श्लोक में कहा गया है कि ब्रह्मा को वैदिक ज्ञान भगवान् के द्वारा प्रदान किया गया। कोई चाहे तो यह तर्क कर सकता है कि प्रथम जीव होने के नाते, ब्रह्मा को प्रेरित नहीं किया जा सकता था क्योंकि उस समय कोई दूसरा व्यक्ति जिवित न था। यहाँ पर यह कहा गया है कि परमेश्वर ने गौण स्रष्टा ब्रह्मा को प्रेरित किया जिससे वे सृजन कार्य कर सकें। अत: समस्त सृष्टि के पीछे जो परम बुद्धि कार्य करती है, वह परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे ही पदार्थ की समग्रता को गठित करने वाली सर्जक शक्ति यानी प्रकृति का निरीक्षण करते हैं। अतएव श्री व्यासदेव ब्रह्मा की नहीं, अपितु परमेश्वर की पूजा करते हैं जो सृष्टि-कार्यों में ब्रह्मा का मार्गदर्शन करने वाले हैं। इस श्लोक में *अभिज्ञ:* तथा *स्वराट्* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। ये दो शब्द परमेश्वर और अन्य सभी जीवों में अन्तर बताते हैं। दूसरा कोई भी जीव *अभिज्ञ:* अथवा *स्वराट्* नहीं है, अर्थात् कोई भी जीव न तो पूरी तरह जानता है, न ही पूर्ण रूप से स्वतंत्र है। यहाँ तक कि सृष्टि करने के लिए ब्रह्मा को भी परमेश्वर का ध्यान करना होता है। तो फिर आइन्स्टाइन जैसे महान विज्ञानियों के विषय में क्या कहा जा सकता है? ऐसे विज्ञानियों का मस्तिष्क निश्चित रूप से किसी मनुष्य की उपज नहीं है। जब कोई विज्ञानी ऐसा मस्तिष्क नहीं बना सकता, तो फिर उन मूर्ख नास्तिकों का क्या कहना जो भगवान् की सत्ता को चुनौती देते हैं? यहाँ तक कि मायावादी निर्विशेषवादी जो अपने को भगवान् से एकाकार होने की डींग मारते रहते हैं, न तो *अभिज्ञ:* हैं, न स्वराट्। ऐसे निर्विशेषवादी भगवान् का तादात्म्य प्राप्त करने के लिए

ज्ञानार्जन हेतु कठिन तपस्या करते हैं। किन्तु अन्ततः वे किसी ऐसे धनी शिष्य पर आश्रित हो जाते हैं, जो मठ तथा मन्दिर बनवाने के लिए उन्हें धन प्रदान करता है। रावण या हिरण्यकशिपु जैसे नास्तिकों को भगवान् की सत्ता का विरोध करने के पूर्व कठिन तपस्या करनी पड़ी थी, किन्तु अन्त में वे असहाय बन गये और जब भगवान् क्रूर मृत्यु के रूप में उनके समक्ष प्रकट हुए, तो वे अपने आपको बचा नहीं पाये। यही हाल उन आधुनिक नास्तिकों का है, जो भगवान् की सत्ता की अवमानना करते हैं। ऐसे नास्तिकों को वैसा ही दण्ड मिलेगा, क्योंकि इतिहास की पुनरावृत्ति होती है। जब-जब लोग ईश्वर की सत्ता की उपेक्षा करते हैं, तब-तब प्रकृति तथा उसके नियम उन्हें दण्ड देते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* के इस सुप्रसिद्ध श्लोक द्वारा भी होती है—*यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः*—जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब हे अर्जुन! में स्वयं अवतरित होता हूँ।''(*भगवद्गीता* ४.७)

परमेश्वर परम पूर्ण हैं, इसकी पुष्टि समस्त *श्रुति मन्त्रों* द्वारा होती है। *श्रुति मन्त्रों* में ही कहा गया है कि परम पूर्ण भगवान् ने पदार्थ के ऊपर दृष्टि फेरी तो सारे जीव उत्पन्न हो गये। ये जीव भगवान् के अंश-रूप हैं। वे ही इस विशाल भौतिक सृष्टि को आध्यात्मिक स्फुलिंग रूपी बीज से आविष्ट करते हैं और इस प्रकार सृजनात्मक शक्तियाँ चालू हो जाती हैं जिससे अनेक आश्चर्यजनक सृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं। नास्तिक यह तर्क कर सकता है कि ईश्वर घड़ीसाज से अधिक पटु नहीं हैं, किन्तु ईश्वर इससे अधिक पटु होते हैं, क्योंकि वे मशीनों के नर तथा मादा दोनों रूपों को उत्पन्न कर सकते हैं। फिर ये विविध नर-मादा मशीनें, ईश्वर के आदेश की प्रतीक्षा किये बिना, अपनी जैसी असंख्य मशीनें उत्पन्न करती जाती हैं। यदि मनुष्य ऐसी मशीन का जोड़ा बना सके जो उसके अनदेखे ही अन्य मशीनें उत्पन्न कर सके, तब जाकर वह ईश्वर की बुद्धि के पास पहुँच सकता है। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि प्रत्येक मशीन पर अलग-अलग कार्य करना होता है। अतः ईश्वर की तरह कोई भी व्यक्ति सृजन नहीं कर सकता। ईश्वर का अन्य नाम *असमौर्ध्व* है, जिसका अर्थ है कि कोई न तो उनके तुल्य है, न उनसे बढ़कर है। *परं सत्यम्* वे हैं जिनके न तो कोई समतुल्य है न उनसे श्रेष्ठ। इसकी पुष्टि *श्रुति मन्त्रों* में की गई है। ऐसा कहा गया है कि इस

भौतिक ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के पूर्व भगवान् ही विद्यमान थे जो हर किसी के स्वामी हैं। उन्होंने ही ब्रह्मा को वैदिक ज्ञान का उपदेश किया। इन्हीं भगवान् की आज्ञा सब प्रकार से पालनीय है। जो कोई भव-बन्धन से छूटना चाहता है, उसे उनकी शरण में जाना होगा। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में भी की गई है।

जब तक मनुष्य परमेश्वर के चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं करता, तब तक उसका मोहग्रस्त होना निश्चित है। जब कोई बुद्धिमान पुरुष कृष्ण के चरणारविन्द की शरण ग्रहण करके कृष्ण को समस्त कारणों का कारण मान लेता है, जैसा कि *भगवद्गीता* में भी कहा गया है, तभी वह व्यक्ति *महात्मा* बन सकता है। किन्तु ऐसे महात्मा यदा-कदा ही दिखते हैं। केवल ऐसे महात्मा समझ सकते हैं कि भगवान् ही समस्त सृष्टियों के आदि कारण हैं। वे *परम* या परम सत्य हैं, क्योंकि अन्य सारे सत्य उनसे जुड़े हुए हैं। वे सर्वज्ञ हैं। उनके लिए कोई मोह नहीं होता।

कुछ मायावादी विद्वान तर्क करते हैं कि *श्रीमद्भागवत* की रचना श्री व्यासदेव ने नहीं की और इन्हीं में कुछ लोग अपने विचार रखते हैं कि यह ग्रन्थ आधुनिक रचना है और वोपदेव नामक किसी व्यक्ति ने लिखा है। ऐसे व्यर्थ के तर्कों का खण्डन करते हुए श्री श्रीधर स्वामी कहते हैं कि कई प्राचीनतम पुराणों में *भागवतम्* का उल्लेख हुआ है। *भागवत* का पहला श्लोक गायत्री मन्त्र से प्रारम्भ होता है। इसका उल्लेख प्राचीनतम पुराण, *मत्स्य पुराण* में है। उस पुराण में *भागवत* में आये गायत्री मन्त्र का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि आध्यात्मिक उपदेशों से युक्त अनेक कथाएँ हैं जो गायत्री मन्त्र से प्रारम्भ होती हैं और उसमें वृत्रासुर का इतिहास दिया गया है। यह भी उल्लेख है कि जो कोई पूर्णमासी के दिन इस महान ग्रन्थ का दान करता है उसे जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त होती है और वह भगवान् के धाम वापस जाता है। अन्य पुराणों में भी *भागवत* का सन्दर्भ आया है, जिसमें यह स्पष्ट कहा गया है कि यह ग्रंथ बारह स्कन्धों में पूर्ण हुआ है, जिसमें अठारह हजार श्लोक हैं। *पद्म पुराण* में भी गौतम तथा महाराज अम्बरीष की वार्ता में *भागवत* का उल्लेख हुआ है। वहाँ पर राजा को उपदेश दिया गया है कि यदि वे भवबन्धन से मोक्ष चाहते हैं, तो नियमित रूप से *श्रीमद्भागवत* का पाठ करें। ऐसी परिस्थितियों

के अन्तर्गत *भागवत* की प्रामाणिकता असंदिग्ध है। विगत पाँच सौ वर्षों में अनेक प्रकाण्ड विद्वानों तथा आचार्यों, यथा जीव गोस्वामी, सनातन गोस्वामी, विश्वनाथ चक्रवर्ती, वल्लभाचार्य तथा चैतन्य महाप्रभु के पश्चात् भी अन्य अनेक प्रसिद्ध विद्वानों ने *भागवत* पर विशद टीकाएँ की हैं। ऐसे में गम्भीर अध्येता को चाहिए कि दिव्य उपदेशों के अधिक आस्वादन के लिए इन सबका अध्ययन करे।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने मौलिक तथा शुद्ध यौन-मनोविज्ञान (आदि-रस) की विशेष विवेचना की है, जो समस्त भौतिक उन्माद से रहित है। *यह सारी भौतिक सृष्टि विषयी जीवन के सिद्धान्त के आधार पर गतिशील है।* आधुनिक सभ्यता में विषयी जीवन ही सारे कार्यकलापों का केन्द्रबिन्दु है। जिधर भी कोई अपना मुख मोड़ता है, उधर उसे विषयी जीवन का प्राधान्य देखने को मिलता है। अत: विषयी जीवन अवास्तविक नहीं है। इसकी वास्तविकता आध्यात्मिक जगत में अनुभव की जाती है। भौतिक विषयी जीवन तो मौलिक तथ्य का विकृत प्रतिबिम्ब मात्र है। वास्तविक तथ्य तो परम सत्य में है, अत: परम सत्य कभी निराकार नहीं हो सकता। निराकार रहते हुए शुद्ध यौन जीवन रख पाना सम्भव नहीं है। फलस्वरूप निर्विशेषवादी चिन्तकों ने गर्हित सांसारिक विषयी जीवन को अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन दिया है, क्योंकि उन्होंने परम सत्य की निराकारता (निर्विशेषता) पर अत्यधिक बल दिया है। इसीलिए काम के वास्तविक आध्यात्मिक रूप को न जानने के कारण, मनुष्यों ने विकृत भौतिक विषयी जीवन को ही सब कुछ मान रखा है। रुग्ण भौतिक अवस्था के विषयी जीवन तथा आध्यात्मिक विषयी जीवन में अन्तर है।

यह *श्रीमद्भागवत* पूर्वा ग्रहरहित पाठक को धीरे-धीरे अध्यात्म की पूर्णावस्था तक ले जाने वाला है। यह मनुष्य को भौतिक कार्यों के तीन प्रकार—सकाम कर्म, काल्पनिक दर्शन तथा कार्यकारी देवताओं की पूजा से ऊपर उठाने में सक्षम बनाएगा जिनका विधान वैदिक श्लोकों में है।

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

धर्मः—धार्मिकता; प्रोज्झित—पूर्ण रूप से अस्वीकृत; कैतवः—सकाम विचार से प्रच्छन्न; अत्र—यहाँ; परमः—सर्वोच्च; निर्मत्सराणाम्—शतप्रतिशत शुद्ध हृदय वालों के; सताम्—भक्तों को; वेद्यम्—जानने योग्य; वास्तवम्—वास्तविक; अत्र—यहाँ; वस्तु—वस्तु, चीज; शिवदम्—कल्याण; ताप-त्रय—तीन प्रकार के कष्ट; उन्मूलनम्—समूल नष्ट करना; श्रीमत्—सुन्दर; भागवते—भागवत पुराण में; महा-मुनि—महामुनि (व्यासदेव) द्वारा; कृते—संग्रह किया गया, रचना की गई; किम्—क्या है; वा—आवश्यकता; परैः—अन्य; ईश्वरः—परमेश्वर; सद्यः—तुरन्त; हृदि—हृदय में; अवरुध्यते—दृढ़ हो गया; अत्र—यहाँ; कृतिभिः—पवित्र व्यक्तियों द्वारा; शुश्रूषुभिः—संस्कार द्वारा; तत्-क्षणात्—अविलम्ब।

यह भागवत पुराण, भौतिक कारणों से प्रेरित होने वाले समस्त धार्मिक कृत्यों को पूर्ण रूप से बहिष्कृत करते हुए, सर्वोच्च सत्य का प्रतिपादन करता है, जो पूर्ण रूप से शुद्ध हृदय वाले भक्तों के लिए बोधगम्य है। यह सर्वोच्च सत्य वास्तविकता है जो माया से पृथक् होते हुए सबों के कल्याण के लिए है। ऐसा सत्य तीनों प्रकार के संतापों को समूल नष्ट करने वाला है। महामुनि व्यासदेव द्वारा (अपनी परिपक्वावस्था में) संकलित यह सौंदर्यपूर्ण भागवत ईश्वर-साक्षात्कार के लिए अपने आप में पर्याप्त है। तो फिर अन्य किसी शास्त्र की क्या आवश्यकता है? जैसे जैसे कोई ध्यानपूर्वक तथा विनीत भाव से भागवत के सन्देश को सुनता है, वैसे वैसे ज्ञान के इस संस्कार (अनुशीलन) से उसके हृदय में परमेश्वर स्थापित हो जाते हैं।

तात्पर्य : धर्म में चार मूल विषय सम्मिलित हैं—पुण्य कर्म, आर्थिक विकास, इन्द्रियतुष्टि तथा भवबन्धन से मोक्ष। अधार्मिक जीवन बर्बर अवस्था है। वस्तुतः मानव जीवन का समारम्भ धर्म के सूत्रपात से होता है। आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन—ये पशु जीवन के चार नियम (लक्षण) हैं। ये चारों पशुओं तथा मनुष्यों में समान रूप से लागू होते हैं। किन्तु मनुष्यों में एक अतिरिक्त कार्य धर्म होता है। धर्म के बिना मनुष्य-जीवन पशु जीवन से ज्यादा अच्छा नहीं है।

अत: प्रत्येक मानव समाज में धर्म का कोई न कोई रूप पाया जाता है, जिसका उद्देश्य आत्म-साक्षात्कार है और जो ईश्वर के साथ मनुष्य के शाश्वत सम्बन्ध को बताने वाला है।

मानव सभ्यता की निम्नतर अवस्थाओं में भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व दिखाने के लिए सदैव होड़ लगी रहती है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि इन्द्रियों को तुष्ट करने के लिए निरन्तर स्पर्धा चलती रहती है। ऐसी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर मनुष्य धर्म की ओर मुड़ता है। इस तरह वह कुछ भौतिक लाभ प्राप्त करने के लिए पुण्य कर्म या धार्मिक कार्य करता है। किन्तु यदि ऐसे भौतिक लाभ अन्य साधनों से प्राप्त हो जाते हैं, तो तथाकथित धर्म उपेक्षित हो जाता है। आधुनिक सभ्यता का यही हाल है। मनुष्य आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होता जा रहा है अत: वर्तमान समय में वह धर्म में अधिक रुचि नहीं लेता। गिरजाघर, मसजिदें या मन्दिर एक तरह से अब निर्जन हैं। लोगों की रुचि अपने पूर्वजों द्वारा बनाए गये धार्मिक स्थलों में न होकर फैक्टरियों, दुकानों तथा सिनेमाघरों की ओर अधिक है। इससे यह सिद्ध होता है कि धर्म का आचरण किसी न किसी आर्थिक लाभ के लिए ही किया जाता है। आर्थिक लाभ की आवश्यकता इन्द्रियतृप्ति के लिए पड़ती है। प्राय: इन्द्रियतृप्ति की खोज से ऊब कर मनुष्य मोक्ष की ओर मुड़ता है और परमेश्वर से तदाकार होने का प्रयत्न करता है। फलस्वरूप, ये सारी दशाएँ केवल इन्द्रियतृप्ति के विभिन्न प्रकार बन जाती हैं।

वेदों में उपर्युक्त चारों कर्मों की संस्तुति नियामक के रूप में की गई है, जिससे इन्द्रियतृप्ति के लिए अनावश्यक स्पर्धा उत्पन्न न हो। किन्तु *श्रीमद्भागवत* इन्द्रियतृप्ति सम्बन्धी इन सब कर्मों से परे है। यह नितान्त दिव्य साहित्य है, जो उन्हीं शुद्ध भगवद्भक्तों द्वारा समझा जा सकता है, जो स्पर्धात्मक इन्द्रियतृप्ति से परे रहते हैं। इस भौतिक जगत में पशु तथा पशु, मनुष्य तथा मनुष्य, समाज तथा समाज और राष्ट्र तथा राष्ट्र के मध्य तीक्ष्ण स्पर्धा चल रही है। लेकिन भगवान् के भक्त ऐसी स्पर्धा से बहुत ऊपर रहते हैं। वे भौतिकतावादी व्यक्ति से स्पर्धा नहीं करते, क्योंकि वे भगवद्धाम वापस जाने के मार्ग पर होते हैं, जहाँ जीवन शाश्वत तथा आनन्दमय होता है। ऐसे अध्यात्मवादी द्वेषरहित और शुद्ध हृदय वाले होते हैं। भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति

से ईर्ष्या करता है, अतएव स्पर्धा चलती रहती है। लेकिन भगवान् के दिव्य भक्त न केवल भौतिक ईर्ष्या-द्वेष से रहित होते हैं, अपितु सबका कल्याण चाहते हैं और वे ईश्वर को केन्द्र मानकर एक स्पर्धारहित समाज स्थापित करने का प्रयास करते रहते हैं। स्पर्धारहित समाज की वर्तमान समाजवादी विचारधारा कृत्रिम है, क्योंकि उसमें तानाशाह के पद के लिए स्पर्धा चलती है। वेदों की दृष्टि से या सामान्य जन के क्रियाकलापों की दृष्टि से, इन्द्रियतृप्ति ही भौतिक जीवन का मूलाधार है। वेदों में तीन मार्ग बताये गये हैं। पहला है श्रेष्ठतर लोकों की प्राप्ति के उद्देश्य से सकाम कर्म करना। दूसरा है देवलोक जाने के लिए विभिन्न देवताओं की पूजा करना और तीसरा है परम सत्य तथा उनके निर्विकार पक्ष का साक्षात्कार करके उससे तदाकार होना।

किन्तु परम सत्य का निराकार पक्ष ही सर्वोत्कृष्ट नहीं है। इससे भी बढ़कर परमात्मा-स्वरूप है और इसके भी ऊपर है परम सत्य या भगवान् का साकार रूप। *श्रीमद्‌भागवत* परम सत्य के साकार स्वरूप के विषय में जानकारी प्रदान करता है। यह समस्त निर्विशेषवादी साहित्य तथा वेदों के *ज्ञानकाण्ड* विभाग से श्रेष्ठ है। यह *कर्मकाण्ड* विभाग तथा *उपासना काण्ड* विभाग से भी उच्चतर है, क्योंकि यह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा का निर्देश करता है। *कर्म-काण्ड* में और अधिक इन्द्रियतृप्ति के लिए स्वर्ग जाने की स्पर्धा चलती है। इसी प्रकार *ज्ञान-काण्ड* तथा *उपासना-काण्ड* में भी स्पर्धा चलती है। *श्रीमद्‌भागवत* इन सबों से श्रेष्ठ है, क्योंकि इसका लक्ष्य परम सत्य है, जो इन समस्त विभागों का मूल है। *श्रीमद्‌भागवत* से मूल तत्त्व तथा श्रेणियाँ दोनों जाने जा सकते हैं। यह मूल तत्त्व परम सत्य परमेश्वर हैं और अन्य सारे उद्‌भासन शक्ति के सापेक्ष रूप हैं।

मूल तत्त्व से अलग कुछ नहीं है, किन्तु साथ ही, सारी शक्तियाँ मूल तत्त्व से पृथक् हैं। यह विचारधारा विरोधमूलक नहीं है। *श्रीमद्‌भागवत वेदान्त सूत्र* के इस एक-तथा-अनेक युगपत् दर्शन (भेदाभेदवाद) को स्पष्ट रूप से घोषित करता है, जो *जन्माद्यस्य* सूत्र से प्रारम्भ होता है।

यह ज्ञान कि भगवान् की शक्ति भगवान के साथ एक तथा उनसे भिन्न भी है, उन मनोधर्मियों पर करारी चपत है, जो इस शक्ति को परमेश्वर के रूप में स्थापित करना चाहते हैं। जब यह ज्ञान

वास्तविक रूप से समझ में आ जाता है, तो अद्वैतवाद तथा द्वैतवाद की धारणा अपूर्ण लगने लगती है। इस दिव्य चेतना का विकास, जो एक ही समय में एक तथा भिन्न की विचारधारा पर दीक्षित हो जाने से तीनों प्रकार के कष्टों से तुरन्त ही मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। ये तीन प्रकार के कष्ट हैं—(१) मन तथा शरीर से उत्पन्न दुख, (२) अन्य जीवों द्वारा पहुँचाये गये दुख तथा (३) प्राकृतिक विपदाओं से उत्पन्न दुख जिन पर किसी का वश नहीं होता है। *श्रीमद्भागवत* का शुभारम्भ परम पुरुष के प्रति भक्त के आत्मसमर्पण (शरणागति) से होता है। भक्त भलीभाँति जान रहा होता है कि वह भगवान् से एक होते हुए भी उसकी स्थिती उनके नित्य दास के रूप में है। भौतिक विचारधारा के अनुसार मनुष्य झूठे ही अपने को अपने आसपास की सब चीजों का स्वामी मानता है, इसीलिए वह जीवन में तीन प्रकार के संतापों से पीड़ित रहता है। किन्तु ज्योंही उसे नित्य दास रूप में अपनी इस वास्तविक स्थिति का पता चल जाता है, तो वह तुरन्त इन सभी कष्टों से मुक्त हो जाता है। जीव जब तक भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जमाने का प्रयास करता है, तब तक वह परमेश्वर का दास नहीं बन सकता। भगवान् की सेवा मनुष्य के आध्यात्मिक स्वरूप की विशुद्ध चेतना द्वारा की जाती है। इस सेवा से वह समस्त भौतिक अवरोधों से तुरन्त मुक्त हो जाता है।

इससे भी बढ़कर, *श्रीमद्भागवत* श्री व्यासदेव द्वारा *वेदान्त-सूत्र* पर की गई व्यक्तिगत टीका है। इसका लेखन उन्होंने अपने आध्यात्मिक जीवन की परिपक्वावस्था में नारदजी के अनुग्रह से किया। श्री व्यासदेव भगवान् नारायण के प्रामाणिक अवतार हैं, अत: उनकी प्रामाणिकता पर किसी प्रकार का प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। वे अन्य सभी वैदिक साहित्य के भी रचयिता हैं, तो भी वे *श्रीमद्भागवत* के अध्ययन को उन सबों से बढ़कर बताते हैं। अन्य पुराणों में विभिन्न विधियाँ दी गई हैं, जिनके द्वारा देवताओं की पूजा की जा सकती है। किन्तु *भागवत* में केवल परमेश्वर का उल्लेख है। परमेश्वर समग्र शरीर हैं और अन्य सारे देवता इस शरीर के विभिन्न अंग हैं। फलस्वरूप परमेश्वर की पूजा करने पर अन्य देवताओं को पूजने की आवश्यकता नहीं रहती।

परमेश्वर तुरन्त ही भक्त के हृदय में स्थित हो जाते हैं। भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने *श्रीमद्भागवत* को निर्मल पुराण बताया है, अत: यह अन्य समस्त पुराणों से भिन्न है।

इस दिव्य सन्देश को ग्रहण करने की उचित विधि यह है कि इसे विनीत भाव से सुना जाय। चुनौती देने की प्रवृत्ति से इस दिव्य सन्देश को ग्रहण करने में मदद नहीं मिल सकती। यहाँ पर उचित मार्गदर्शन के लिए जो एक शब्द प्रयुक्त है, वह है *शुश्रूषु*। मनुष्य को इस दिव्य सन्देश को सुनने के लिए उत्सुक रहना चाहिए। निष्ठापूर्वक सुनने (श्रवण करने) की कामना ही इसकी पहली योग्यता है।

कम भाग्यशाली व्यक्ति इस *श्रीमद्भागवत* को सुनने में बिल्कुल रुचि नहीं दिखाते। इसकी विधि सरल है, किन्तु इसे व्यवहार में लाना कठिन है। भाग्यहीन व्यक्तियों को व्यर्थ सामाजिक तथा राजनीतिक बातें सुनने के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है, किन्तु जब उन्हें भक्तों की सभा में *श्रीमद्भागवत* सुनने के लिए आमन्त्रित किया जाता है, तो वे सहसा अन्यमनस्क हो उठते हैं। कभी-कभी *भागवत* के व्यवसायी कथावाचक सहसा भगवान् की गुह्य लीलाओं में पहुँच जाते हैं और उनकी व्याख्या यौन (अश्लील) साहित्य के रूप में करते हैं। *श्रीमद्भागवत* तो प्रारम्भ से सुनने के लिए निर्मित है। जो लोग इस ग्रन्थ को आत्मसात् कर सकते हैं, उनका उल्लेख इसी श्लोक में है, ''कोई व्यक्ति अनेक पुण्य कर्मों के बाद *श्रीमद्भागवत* सुनने के योग्य बन पाता है।'' महामुनि व्यासदेव बुद्धिमान एवं विचारवान व्यक्तियों को आश्वासन देते हैं कि *श्रीमद्भागवत* का श्रवण करने से उन्हें भगवान् का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो सकता है। वेदों में वर्णित साक्षात्कार की विभिन्न अवस्थाओं को पार किये बिना ही, इस सन्देश को ग्रहण करने के लिए सहमत होने मात्र से, मानव परमहंस पद को तुरन्त प्राप्त कर सकता है।

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

निगम—वैदिक साहित्य; कल्प-तरोः—कल्पतरु का; गलितम्—पूर्णत रूप से परिपक्व; फलम्—फल; शुक—श्रीमद्भागवत के मूल वक्ता श्रील शुकदेव गोस्वामी के; मुखात्—होठों से; अमृत—अमृत; द्रव—तरल अतएव सरलता से निगलने योग्य; संयुतम्—सभी प्रकार से पूर्ण; पिबत—पान करो; भागवतम्—भगवान् के साथ चिर सम्बन्ध के विज्ञान से युक्त ग्रन्थ को; रसम्—रस (जो आस्वाद्य है वह); आलयम्—मुक्ति प्राप्त होने तक या मुक्त अवस्था में भी; मुहुः—सदैव; अहो—हे; रसिकाः—रस का पूर्ण ज्ञान रखने वाले रसिक जन; भुवि—पृथ्वी पर; भावुकाः—पटु तथा विचारवान।

हे विज्ञ एवं भावुक जनों, वैदिक साहित्य रूपी कल्पवृक्ष के इस पक्व फल श्रीमद्भागवत को जरा चखो तो। यह श्री शुकदेव गोस्वामी के मुख से निस्सृत हुआ है, अतएव यह और भी अधिक रुचिकर हो गया है, यद्यपि इसका अमृत-रस मुक्त जीवों समेत समस्त जनों के लिए पहले से आस्वाद्य था।

तात्पर्य : पिछले दो श्लोकों से यह निश्चित रूप से सिद्ध हो गया है कि *श्रीमद्भागवत* दिव्य साहित्य है, जो अपने दिव्य गुणों के कारण अन्य समस्त वैदिक शास्त्रों को पीछे छोड़ देता है। यह समस्त लौकिक कार्यकलापों तथा लौकिक ज्ञान से परे है। इस श्लोक में बताया गया है कि *श्रीमद्भागवत* न केवल उत्कृष्ट साहित्य है, अपितु यह समस्त वैदिक साहित्य का परिपक्व फल है। दूसरे शब्दों में, यह सभी वैदिक ज्ञान का नवनीत (सार) है। यह सब दृष्टि में रखते हुए, यह समझना चाहिए कि धैर्य एवं नम्रता से श्रवण करना निश्चित रूप से आवश्यक है। अत: मनुष्य को चाहिए कि वह *श्रीमद्भागवत* द्वारा प्रदत्त सन्देशों तथा उपदेशों को अत्यन्त आदर के साथ तथा ध्यानपूर्वक ग्रहण करे।

वेदों की तुलना कल्पवृक्ष से की गयी है, क्योंकि उनमें मनुष्य के लिए ज्ञेय सारी बातें पाई जाती हैं। उनमें सांसारिक आवश्यकताओं के साथ-साथ आध्यात्मिक साक्षात्कार का भी वर्णन हुआ है। वेदों में सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, सैन्य, चिकित्सीय, रासायनिक, भौतिक, पराभौतिक विषयों से सम्बद्ध ज्ञान के नियामक सिद्धान्त तथा जीवन के लिए जो भी आवश्यक है, सभी का समावेश है। इनसे भी बढ़कर, इसमें आध्यात्मिक साक्षात्कार के लिए विशेष निर्देश हैं। नियामक ज्ञान में जीव को क्रमश: आध्यात्मिक स्तर तक ऊपर उठाया जाता है और सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभूति तो यह जान लेना है कि भगवान् समस्त *रसों* के आगार हैं।

इस भौतिक जगत में उत्पन्न होने वाले प्रथम जीव ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक, सारे जीव इन्द्रियों द्वारा कोई न कोई *रस* प्राप्त करने के इच्छुक रहते हैं। इन इन्द्रिय सुखों को पारिभाषिक रूप से *रस* कहा जाता है। ऐसे *रस* कई प्रकार के होते हैं। प्रामाणिक शास्त्रों में बारह *रसों* के नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं—(१) रौद्र (क्रोध), (२) अद्‌भुत (आश्चर्य), (३) शृंगार (दाम्पत्य प्रेम), (४) हास्य (प्रहसन), (५) वीर (शौर्य), (६) दया (करुणा), (७) दास्य (दासता), (८) सख्य (मैत्रीभाव), (९) भयानक (भय), (१०) बीभत्स (आघात्), (११) शान्त (उदासीनता) तथा (१२) वात्सल्य (माता पिता का स्नेह)।

इन समस्त *रसों* का समग्र सार स्नेह या प्रेम है। मूल रूप से प्रेम के ऐसे लक्षण उपासना, सेवा, मैत्री, वात्सल्य तथा दाम्पत्य प्रेम के रूप में प्रकट होते हैं। जब ये पाँच अनुपस्थित होते हैं, तो प्रेम अप्रत्यक्ष रूप में क्रोध, आश्चर्य, हास्य, वीरता, भय, बीभत्सता आदि में प्रकट होता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई पुरुष किसी स्त्री से प्रेम करता है, तो यह शृंगार रस हुआ। किन्तु यदि ऐसे प्रेम में बाधा पहुँचती है तो आश्चर्य, क्रोध, आघात या भय तक उत्पन्न हो सकता है। कभी-कभी दो व्यक्तियों के प्रेम सम्बन्धों का अन्त नृशंस हत्या में होता है। ऐसे *रसों* का प्रदर्शन मनुष्य तथा मनुष्य के मध्य और पशु तथा पशु के बीच प्रदर्शित होता है। इस जगत में *रस* का ऐसा आदान-प्रदान न तो मनुष्य तथा पशु के बीच हो पाता है, न ही मनुष्य तथा अन्य किसी योनि के साथ। ऐसे *रस* का आदान-प्रदान तो एक जैसी योनि के जीवों में ही होता है। किन्तु जहाँ तक आत्माओं का प्रश्न है, वे गुणात्मक रूप से परमेश्वर के समरूप हैं। इसीलिए प्रारम्भ में *रसों* का आदान-प्रदान आध्यात्मिक जीव (जीवात्मा) तथा आध्यात्मिक परम पूर्ण, भगवान् के साथ होता था। यह आध्यात्मिक आदान-प्रदान या *रस,* आध्यात्मिक जगत में जीवों तथा परमेश्वर के बीच, पूरी तरह पाया जाता है।

इसीलिए *श्रुति मन्त्रों* में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को "समस्त *रसों* का निर्झर स्रोत" कहा गया है। जब जीव परमेश्वर की संगति करता है और उनके साथ अपने स्वाभाविक *रस* का आदान-प्रदान करता है, तो वह सचमुच सुखी होता है।

ये *श्रुति मन्त्र* बताते हैं कि प्रत्येक जीव का एक स्वाभाविक स्वरूप होता है, जिसमें भगवान् के साथ एक विशिष्ट प्रकार के *रस* का आदान-प्रदान किया जाता है। केवल मुक्त अवस्था में इस मौलिक *रस* का पूर्ण रूप से अनुभव हो पाता है। भौतिक जगत में *रस* का अनुभव विकृत रूप में होता है जो अस्थायी होता है। इस प्रकार भौतिक जगत में *रस* का प्रदर्शन रौद्र (क्रोध) आदि-आदि भौतिक रूप में होता है।

अतएव जो व्यक्ति कार्यकलापों के मूल तत्त्व रूप इन विभिन्न *रसों* का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वही मूल *रसों* के छद्म स्वरूपों को भौतिक जगत में प्रतिबिम्बित होते समझ सकता है। विद्वान अध्येता वास्तविक *रस* का उसके आध्यात्मिक रूप में आस्वादन करना चाहता है। प्रारम्भ में वह परमेश्वर से एकाकार होना चाहता हैं। इस प्रकार अल्पज्ञ अध्यात्मवादी, विभिन्न *रसों* को जाने बिना, पूर्ण आत्मा से एकाकार होने के बोध से ऊपर नहीं जा पाते।

इस श्लोक में यह निश्चित रूप से कहा गया है कि वह आध्यात्मिक *रस,* जिसका आस्वादन मुक्त अवस्था में भी किया जाता है, *श्रीमद्‌भागवत* के साहित्य में अनुभव किया जा सकता है, क्योंकि यह वैदिक ज्ञान का पक्व फल है। इस दिव्य साहित्य का विनीत भाव से श्रवण करने पर मनुष्य मनवांछित पूर्ण आनन्द प्राप्त कर सकता है। किन्तु मनुष्य को इस बात में अत्यन्त सावधानी बरतनी होगी कि इस सन्देश का श्रवण सही स्रोत से किया जाए। *श्रीमद्‌भागवत* को पूर्णतया उपयुक्त स्रोत से ही प्राप्त किया गया है। इसे वैकुण्ठलोक से ले आने वाले नारद मुनि हैं, जिन्होंने इसे अपने शिष्य श्री व्यासदेव को प्रदान किया। श्री व्यासदेव ने इस संदेश को अपने पुत्र शुकदेव गोस्वामी को प्रदान किया और फिर उन्होंने इसे महाराज परीक्षित को उनकी मृत्यु से केवल सात दिन पूर्व प्रदान किया। श्रील शुकदेव गोस्वामी अपने जन्म से ही मुक्त आत्मा थे। यहाँ तक कि वे अपनी माता के गर्भ में ही मुक्त थे और जन्म के पश्चात् उन्हें किसी प्रकार की आध्यात्मिक शिक्षा ग्रहण नहीं करनी पड़ी। जन्म के समय कोई भी व्यक्ति न तो लौकिक दृष्टि से, न ही आध्यात्मिक दृष्टि से कुशल होता है। किन्तु पूर्ण रूप से मुक्त आत्मा होने के कारण, श्री शुकदेव गोस्वामी को आध्यात्मिक साक्षात्कार के लिए किसी प्रकार की विकास विधि का अनुसरण नहीं करना पड़ा।

अपितु तीनों गुणों से परे पूर्ण रूप से मुक्त पद पर स्थित रह कर भी, वे उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के इस दिव्य *रस* के प्रति आकर्षित हुए, जिनकी अर्चना मुक्त जीवों द्वारा वैदिक मन्त्रों से की जाती है। परमेश्वर की लीलाएँ मुक्त जीवों को, संसारी लोगों की अपेक्षा, अधिक आकर्षक लगती हैं। भगवान् किसी भी दृष्टिकोण से निराकार नहीं हैं, क्योंकि दिव्य *रस* की निष्पत्ति केवल व्यक्ति के साथ ही सम्भव है।

श्रीमद्भागवत में भगवान् की दिव्य लीलाओं का वर्णन है और श्रील शुकेदव गोस्वामी ने क्रमबद्ध रूप में इनका वर्णन किया है। इस प्रकार से विषय–वस्तु सभी वर्गो के मनुष्यों को भाने वाली है, चाहे वे मुक्तिकामी हों या परब्रह्म के साथ तादात्म्य की इच्छा करने वाले हों।

संस्कृत में *शुक* शब्द का अर्थ तोता भी होता है। जब कोई पका फल ऐसे पक्षियों की लाल चोंच से काट दिया जाता है, तो उसकी मिठास बढ़ जाती है। वैदिक फल जो ज्ञान में पूर्ण विकसित तथा पक्व है, वह श्रील शुकदेव गोस्वामी के होठों से निकला है, जिनकी तुलना तोते से की गई है, इसलिए नहीं कि उन्होंने अपने विद्वान पिता से जिस रूप में सुना था उसी रूप में सुना दिया, अपितु अपनी उस क्षमता के कारण जिसके बल पर उन्होंने इस कृति को सभी वर्गों को भाने वाले रूप में प्रस्तुत किया।

श्रील शुकदेव गोस्वामी के होठों से कथावस्तु इस प्रकार निस्सृत हुई है कि जो भी निष्ठावान श्रोता विनीत भाव से सुनता है, वह तत्काल इसके दिव्य *रस* का आस्वादन करता है, जो भौतिक जगत के विकृत *रसों* से भिन्न है। यह पक्व फल सर्वोच्च कृष्णलोक से एकाएक नहीं आ गिरा। प्रत्युत यह गुरु–शिष्य परम्परा की शृंखला से होता हुआ, सावधानी पूर्वक बिना किसी परिवर्तन या अवरोध के नीचे तक आया है। ऐसे मूर्ख लोग जो दिव्य गुरु–शिष्य परम्परा से सम्बद्ध नहीं हैं, वे रास नृत्य के सर्वोच्च दिव्य *रस* को, उन शुकदेव गोस्वामी के चरणचिह्नों का अनुगमन किए बिना, समझने का प्रयत्न करके भयंकर भूल करते हैं, जिन्होंने इस फल को दिव्य अनुभूति की अवस्थानुसार अत्यन्त सावधानी से प्रस्तुत किया है। मनुष्य को चाहिए कि शुकदेव गोस्वामी जैसे महापुरुषों को ध्यान में रखकर *श्रीमद्भागवत* की स्थिति को जानें, जिन्होंने विषय का प्रतिपादन

बड़ी सावधानी से किया है। *भागवत* की यह शिष्य-परम्परा बताती है कि भविष्य में भी *श्रीमद्भागवत* को ऐसे व्यक्ति से समझा जाय, जो श्रील शुकदेव गोस्वामी का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता हो। ऐसा व्यावसायिक व्यक्ति जो अवैध रूप से *भागवत* सुना कर व्यापार चलाता है, वह शुकदेव गोस्वामी का सही प्रतिनिधित्व नहीं करता। ऐसे व्यक्ति का पेशा एकमात्र अपनी जीविका कमाना है। अत: ऐसे व्यवसायी व्यक्तियों के भाषण नहीं सुनने चाहिए। ऐसे व्यक्ति इस गम्भीर विषय को समझने की क्रमिक विधि का अभ्यास किये बिना, सीधा गुह्यतम अंशों को सुनाते हैं। वे सामान्य रूप से रास-नृत्य की कथावस्तु में गोता लगाने लगते हैं और मूर्ख किस्मके लोग इसका बुरा अर्थ लगाते हैं। कुछ लोग इसे अनैतिक बताते हैं और अन्य लोग अपनी मूर्खतापूर्ण व्याख्याओं के द्वारा इस पर पर्दा डालने का प्रयास करते हैं। उनमें श्रील शुकदेव गोस्वामी के चरणचिह्नों पर चलने की लेशमात्र इच्छा नहीं रहती।

अत: निष्कर्ष यह निकलता है कि *रस* के गम्भीर छात्र को श्रील शुकदेव गोस्वामी से चली आने वाली शिष्य-परम्परा से *भागवत* का सन्देश प्राप्त करना चाहिए, जिन्होंने *भागवत* का वर्णन दिव्य विज्ञान के विषय में अल्पज्ञानी उन संसारी लोगों की तुष्टि के लिए किसी मनमाने ढंग से नहीं, अपितु शुरू से सुनियोजित ढंग से प्रारम्भ किया है। *श्रीमद्भागवत* को इतनी सावधानी से प्रस्तुत किया गया है कि निष्ठावान तथा गम्भीर व्यक्ति तुरन्त वैदिक ज्ञान के इस पक्व फल का आनन्द, शुकदेव गोस्वामी या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि के मुख से निस्सृत अमृत रस का पान करके, उठा सकता है।

नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषय: शौनकादय: ।
सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत ॥ ४॥

शब्दार्थ

नैमिषे—नैमिषारण्य नामक जंगल में; **अनिमिष-क्षेत्रे**—विष्णु को (जो पलक नहीं मारते) विशेष रूप से प्रिय स्थल में; **ऋषय:**—ऋषिगण; **शौनक-आदय:**—शौनक आदि; **सत्रम्**—यज्ञ; **स्वर्गाय**—स्वर्ग में जिनकी महिमा का गायन होता है ऐसे भगवान् के लिए; **लोकाय**—तथा भक्तों के लिए जो सदैव भगवान् के सम्पर्क में रहते हैं; **सहस्र**—एक हजार; **समम्**—वर्ष; **आसत**—सम्पन्न किया।

एक बार नैमिषारण्य के वन में एक पवित्र स्थल पर शौनक आदि महान ऋषिगण भगवान् तथा उनके भक्तों को प्रसन्न करने के लिए एक हजार वर्षों तक चलने वाले यज्ञ को सम्पन्न करने के उद्देश्य से एकत्र हुए।

तात्पर्य : पिछले तीन श्लोक *श्रीमद्भागवत* के उपोद्घात के रूप में थे। अब इस महान ग्रंथ का मुख्य विषय प्रस्तुत किया जा रहा है। *श्रीमद्भागवत* प्रथम बार श्रील शुकदेव गोस्वामी द्वारा सुनाये जाने के बाद, अब दूसरी बार नैमिषारण्य में सुनाया जा रहा था।

वायवीय तन्त्र में कहा गया है कि इस विशिष्ट ब्रह्माण्ड के शिल्पी ब्रह्मा ने एक ऐसे विराट चक्र की कल्पना की, जो ब्रह्माण्ड को चारों ओर से घेर सके। इस विराट चक्र की धुरी एक विशिष्ट स्थान पर स्थित की गई, जिसे नैमिषारण्य कहते हैं। इसी प्रकार से नैमिषराण्य के वन का एक अन्य प्रसंग *वराह पुराण* में आता है, जिसमें यह कहा गया है कि इस स्थान पर यज्ञ करने से आसुरी लोगों की शक्ति घटती है। अतएव ब्राह्मण लोग ऐसे यज्ञों को नैमिषारण्य में करना श्रेष्ठ समझते हैं।

भगवान् विष्णु के भक्त उनकी प्रसन्नता के लिए सभी प्रकार के यज्ञ करते हैं। भक्तगण निरन्तर भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं, जबकि पतित जीव भौतिक सुखों में आसक्त रहते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भौतिक जगत में भगवान् विष्णु की इच्छा के अतिरिक्त जिस किसी कारण से कोई भी कर्म किया जाता है, कर्ता के लिए वह और अधिक बन्धन का कारण होता है। इसीलिए ऐसा आदेश दिया गया है कि सारे कर्म विष्णु तथा उनके भक्तों की प्रसन्नता के लिए यज्ञरूप में सम्पन्न किये जाँय। इससे प्रत्येक व्यक्ति को शान्ति तथा सम्पन्नता प्राप्त होगी।

बड़े-बड़े ऋषि-मुनि जनसामान्य का कल्याण करने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं। फलस्वरूप शौनक आदि ऋषि एक महान तथा निरन्तर चलने वाले यज्ञ-अनुष्ठान को सम्पन्न करने के उद्देश्य से इस नैमिषारण्य नामक पवित्र स्थान पर एकत्र हुए। भुलक्कड़ लोग शान्ति तथा सम्पन्नता पाने का सही मार्ग नहीं जानते, किन्तु साधु पुरुष इसे भलीभाँति जानते हैं। फलस्वरूप वे समस्त लोगों के कल्याण के लिए ऐसा कर्म करना चाहते हैं, जिससे विश्व में शान्ति आ सके। वे

समस्त जीवों के शुभचिन्तक मित्र हैं और वे व्यक्तिगत कष्ट झेलकर भी समस्त लोगों के कल्याण के लिए भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं। भगवान् विष्णु एक विशाल वृक्ष के तुल्य हैं तथा देवता, मनुष्य, सिद्ध, चारण, विद्याधर एवं अन्य सारे जीवों सहित बाकी सब इस वृक्ष की शाखाएँ, उपशाखाएँ तथा पत्तियाँ जैसे हैं। यदि वृक्ष की जड़ को पानी से सींचा जाय, तो वृक्ष के सारे भागों का स्वयमेव पोषण होता जाता है। केवल उन शाखाओं तथा पत्तों का पोषण नहीं होता, जो वृक्ष से अलग हो गए हैं। वे निरन्तर सींचते रहने पर भी धीरे-धीरे सूख जाते हैं। इसी प्रकार जब यह मानव समाज अलग हुए शाखाओं तथा पत्तियों की तरह भगवान् से रहित हो जाता है, तो उसकी सिंचाई (पोषण) नहीं की जा सकती और जो ऐसा करता भी है, वह अपनी शक्ति तथा साधनों का अपव्यय करता है।

आधुनिक भौतिकतावादी समाज परमेश्वर से अपना सम्बन्ध तोड़े हुए है। उसकी सारी योजनाएँ जो नास्तिक नेताओं द्वारा तैयार की जाती हैं, वे पग-पग पर विफल होंगी यह निश्चित है। फिर भी वे जगने का नाम नहीं लेते।

इस युग में जागृति लाने की निर्दिष्ट विधि भगवान् के पवित्र नामों का सामूहिक कीर्तन है। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने इसकी विधियों तथा साधनों को अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है। बुद्धिमान लोग उनके उपदेशों का लाभ वास्तविक शान्ति तथा सम्पन्नता लाने के लिए उठा सकते हैं। *श्रीमद्भागवत* भी उसी उद्देश्य से प्रस्तुत किया गया है। आगे चलकर इसकी विशद व्याख्या की जायेगी।

त एकदा तु मुनयः प्रातर्हुतहुताग्नयः ।
सत्कृतं सूतमासीनं पप्रच्छुरिदमादरात् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

ते—वे (मुनिगण); एकदा—एक दिन; तु—लेकिन; मुनयः—मुनिगण; प्रातः—प्रातःकाल; हुत—जलाकर; हुत-अग्नयः—यज्ञ की अग्नि; सत्-कृतम्—आदर समेत; सूतम्—श्री सूत गोस्वामी को; आसीनम्—बैठा कर; पप्रच्छुः—पूछा; इदम्—इस पर (निम्नलिखित); आदरात्—आदरपूर्वक।

एक दिन यज्ञाग्नि जलाकर अपने प्रात:कालीन कृत्यों से निवृत्त होकर तथा श्रील सूत गोस्वामी को आदरपूर्वक आसन अर्पण करके ऋषियों ने सम्मानपूर्वक निम्नलिखित विषयों पर प्रश्न पूछे।

तात्पर्य : आध्यात्मिक सेवाओं के लिए प्रात:काल सर्वश्रेष्ठ समय होता है। ऋषियों ने *भागवत* के वक्ता के लिए ससम्मान एक ऊँचा आसन अर्पण किया, जिसे व्यासासन कहते हैं। श्री व्यासदेव समस्त मनुष्यों के मूल आध्यात्मिक उपदेष्टा हैं। अन्य सारे उपदेशक उनके प्रतिनिध माने जाते हैं। प्रतिनिधि वही है जो श्री व्यासदेव के दृष्टिकोण को सही-सही प्रस्तुत कर सके। श्री व्यासदेव ने *भागवत* का सन्देश श्रील शुकदेव गोस्वामी को प्रदान किया और श्री सूत गोस्वामी ने उनसे (श्री शुकदेव गोस्वामी से) इसे सुना। श्री व्यासदेव के सारे प्रामाणिक प्रतिनिधियों को शिष्य-परम्परा में गोस्वामी समझना चाहिए। ये गोस्वामी अपनी सारी इन्द्रियों को वश में करके पूर्ववर्ती आचार्यों के पथ में दृढ़ रहते हैं। वे *भागवत* पर मनमाने व्याख्यान नहीं देते, अपितु अपने उन पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुगमन करते हुए अत्यन्त सावधानी से सेवा करते हैं, जिन्होंने उन तक दिव्य संदेश को यथारूप पहुँचाया।

भागवत के श्रोतागण वक्ता से अर्थ स्पष्ट करने के लिए प्रश्न पूछ सकते हैं, किन्तु चुनौती की भावना से ऐसा नहीं करना चाहिए। श्रोता को चाहिए कि वक्ता तथा विषयवस्तु के लिए अत्यन्त सम्मान के साथ प्रश्न पूछे। *भगवद्गीता* में भी इसी विधि का निर्देश किया गया है। मनुष्य को उपयुक्त स्रोतों से विनयपूर्वक श्रवण करके दिव्य विषय सीखना चाहिए। इसीलिए इन मुनियों ने वक्ता सूत गोस्वामी को अत्यन्त सम्मानपूर्वक सम्बोधित किया।

ऋषय ऊचुः
त्वया खलु पुराणानि सेतिहासानि चानघ ।
आख्यातान्यप्यधीतानि धर्मशास्त्राणि यान्युत ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ऋषयः—ऋषियों ने; ऊचुः—कहा; त्वया—आपके द्वारा; खलु—निश्चय ही; पुराणानि—परिपूरक वेदों को जिनमें रोचक कथाएँ हैं; स-इतिहासानि—इतिहासों समेत; च—तथा; अनघ—समस्त पापों से मुक्त; आख्यातानि—कहा गया;

अपि—यद्यपि; अधीतानि—सुपठित; धर्म-शास्त्राणि—प्रगतिशील जीवन के लिए सही निर्देश देने वाले शास्त्र ग्रन्थ; यानि—ये सब; उत—व्याख्या की गई।.

मुनियों ने कहा : हे पूज्य सूत गोस्वामी, आप समस्त प्रकार के पापों से पूर्ण रूप से मुक्त हैं। आप धार्मिक जीवन के लिए विख्यात समस्त शास्त्रों एवं पुराणों के साथ-साथ इतिहासों में निपुण हैं, क्योंकि आपने समुचित निर्देशन में उन्हें पढ़ा है और उनकी व्याख्या भी की है।

तात्पर्य : गोस्वामी या श्री व्यासदेव के प्रामाणिक प्रतिनिधि को समस्त पापों से मुक्त होना चाहिए। कलियुग के चार प्रमुख पाप हैं—(१) स्त्रियों के साथ अवैध सम्बन्ध, (२) पशु-वध, (३) मादक द्रव्य सेवन तथा (४) सभी प्रकार की द्यूत-क्रीड़ा। किसी गोस्वामी को व्यासासन पर बैठने का तभी साहस करना चाहिए, जब वह इन सभी पापों से मुक्त हो। जो उपर्युक्त पापों से रहित न हो और जो आचरण से निष्कलंक नहो, उसे व्यासासन पर न बैठाया जाय। उसे न केवल इन सभी पापों से मुक्त होना चाहिए, अपितु समस्त शास्त्रों में या वेदों में पारंगत होना चाहिए। पुराण भी वेदों के ही अंग हैं एवं *महाभारत* या *रामायण* जैसे इतिहास भी वेदों के ही अंग हैं। आचार्य अथवा गोस्वामी को इन ग्रन्थों से पूर्ण रूप से अवगत होना चाहिए। उनको पढ़ने की अपेक्षा उनका श्रवण तथा उनकी व्याख्या (कीर्तन) अधिक महत्त्वपूर्ण है। केवल श्रवण तथा व्याख्या द्वारा शास्त्रों के ज्ञान को आत्मसात् किया जा सकता है। श्रवण का अर्थ है सुनना तथा कीर्तन का अर्थ है समझाना या कहना। श्रवण तथा कीर्तन ये दोनों विधियाँ प्रगतिशील आध्यात्मिक जीवन के लिए अति आवश्यक हैं। जिन लोगों ने उपयुक्त स्रोत से विनयपूर्वक श्रवण करके दिव्य ज्ञान को भलीभाँति समझ लिया है, वे ही इस विषय की समुचित व्याख्या कर सकते हैं।

यानि वेदविदां श्रेष्ठो भगवान् बादरायणः ।
अन्ये च मुनयः सूत परावरविदो विदुः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

यानि—वह सब; वेद-विदाम्—वेदों के पंडित; श्रेष्ठः—ज्येष्ठतम, वयोवृद्ध; भगवान्—ईश्वर के अवतार; बादरायणः—व्यासदेव; अन्ये—अन्य; च—तथा; मुनयः—मुनिगण; सूत—हे सूत गोस्वामी; परावर-विदः—विद्वानों में जो भौतिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान से परिचित होता है; विदुः—ज्ञाता।

हे सूत गोस्वामी, आप ज्येष्ठतम विद्वान एवं वेदान्ती होने के कारण ईश्वर के अवतार व्यासदेव के ज्ञान से अवगत हैं और आप उन अन्य मुनियों को भी जानते हैं जो सभी प्रकार के भौतिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान में निष्णात हैं।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत ब्रह्मसूत्र* या *बादरायणी वेदान्त-सूत्र* की स्वाभाविक टीका है। इसे स्वाभाविक कहा जाता है, क्योंकि व्यासदेव *वेदान्त-सूत्र* तथा समस्त वैदिक साहित्य के सार रूप इस *श्रीमद्भागवत* के ग्रन्थकार हैं। व्यासदेव के अतिरिक्त अन्य ऋषिगण यथा गौतम, कणाद, कपिल, पतञ्जलि, जैमिनि तथा अष्टावक्र छह विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों के ग्रन्थकार हुए हैं। आस्तिकता की पूर्ण व्याख्या *वेदान्त-सूत्र* में है, जबकि अन्य दार्शनिक चिन्तन प्रणालियों में समस्त कारणों के परम कारण के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता। कोई व्यासासन पर तभी बैठ सकता है जब वह दर्शन की समस्त प्रणालियों से अवगत हो जिससे वह अन्य समस्त प्रणालियों के खण्डन में *भागवत* के आस्तिकतावाद को प्रस्तुत कर सके। श्रील सूत गोस्वामी उपयुक्त शिक्षक थे, इसीलिए नैमिषारण्य के मुनियों ने उन्हें व्यासासन पर बैठाया। श्रील व्यासदेव को यहाँ पर भगवान् कहा गया है, क्योंकि वे प्रामाणिक 'शक्त्यावेश' अवतार हैं।

वेत्थ त्वं सौम्य तत्सर्वं तत्त्वतस्तदनुग्रहात् ।
ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

वेत्थ—पूर्ण रूप से निष्णात; त्वम्—आप; सौम्य—शुद्ध तथा सरल व्यक्ति; तत्—वह; सर्वम्—समस्त; तत्त्वतः—वास्तव में; तत्—उनका; अनुग्रहात्—अनुग्रह से; ब्रूयुः—कहेंगे; स्निग्धस्य—विनीत; शिष्यस्य—शिष्य का; गुरवः—गुरुजन; गुह्यम्—गुप्त, रहस्य; अपि उत—से युक्त।

इससे भी अधिक, चूँकि आप विनीत हैं, आपके गुरुओं ने एक सौम्य शिष्य जानकर आप पर सभी तरह से अनुग्रह किया है अतः आप हमें वह सब बतायें जिसे आपने उनसे वैज्ञानिक ढंग से सीखा है।

तात्पर्य : आध्यात्मिक जीवन की सफलता का रहस्य गुरु को तुष्ट करने तथा उनकी शुभाशीष प्राप्त करने में है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने गुरु के विषय में अपने सुप्रसिद्ध आठ श्लोकों में इस प्रकार गाया है : ‘‘मैं अपने गुरु के चरणारविन्दों में नमस्कार करता हूँ। उनको तुष्ट करके ही कोई भगवान् को प्रसन्न कर सकता है और जब वे अप्रसन्न रहते हैं, तो आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में विघ्न ही विघ्न आते हैं।'' अत: यह आवश्यक है कि शिष्य अपने प्रामाणिक गुरु के प्रति अत्यन्त आज्ञाकारी तथा विनीत रहे। श्रील सूत गोस्वामी शिष्य के इन सारे गुणों से ओतप्रोत थे, अत: उन पर विद्वान एवं स्वरूपसिद्ध आध्यात्मिक गुरुओं तथा श्रील व्यासदेव तथा अन्य गुरुओं की कृपा दृष्टि थी। नैमिषारण्य के मुनियों को पूर्ण विश्वास था कि श्रील सूत गोस्वामी प्रामाणिक व्यक्तित्व हैं, इसीलिए वे उनसे सुनने के लिए उत्सुक थे।

तत्र तत्राञ्जसायुष्मन् भवता यद्विनिश्चितम् ।
पुंसामेकान्तत: श्रेयस्तन्न: शंसितुमर्हसि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; तत्र—वहाँ; अञ्जसा—सहज; आयुष्मन्—दीर्घ जीवन का आशीर्वाद पाये; भवता—आपके द्वारा; यत्—जो कुछ; विनिश्चितम्—निश्चित किया; पुंसाम्—जनसामान्य के लिए; एकान्तत:—नितान्त; श्रेय:—परम कल्याण; तत्—उस; न:—हमको; शंसितुम्—समझाने के लिए; अर्हसि—योग्य हो।

अतएव, दीर्घायु की कृपा प्राप्त आप सरलता से समझ में आने वाली विधि से हमें समझाइये कि आपने जन साधारण के समग्र एवं परम कल्याण के लिए क्या निश्चय किया है?

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में आचार्य की पूजा की संस्तुति की गई है। आचार्य तथा गोस्वामी निरन्तर जनसाधारण के कल्याण, विशेष रूप से उनके आध्यात्मिक कल्याण, के विचारों में लीन रहते हैं। आध्यात्मिक कल्याण होने पर भौतिक कल्याण स्वत: हो जाता है। अतएव आचार्यगण सामान्य जनता को आध्यात्मिक कल्याण के लिए उपदेश देते हैं। इस कलियुग या कलहप्रिय लौह-युग की अक्षमताओं को देखते हुए, मुनियों ने सूत गोस्वामी से प्रार्थना की कि वे सारे शास्त्रों का निचोड़ प्रस्तुत करें, क्योंकि इस युग के लोग सभी प्रकार से पतित हो गये हैं। अत: मुनियों ने

समग्र कल्याण की जिज्ञासा की। यही लोगों का परम कल्याण है। इस युग के लोगों की पतित अवस्था का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से हुआ है।

प्रायेणाल्पायुषः सभ्य कलावस्मिन् युगे जनाः ।
मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

प्रायेण—प्रायः; अल्प—न्यून; आयुषः—आयु, जीवन अवधि; सभ्य—विद्वत्समाज का सदस्य; कलौ—कलियुग में; अस्मिन्—यहाँ पर; युगे—युग में; जनाः—लोग, जनता; मन्दाः—आलसी; सुमन्द-मतयः—पथभ्रष्ट; मन्द-भाग्याः—अभागे; हि—और तो और; उपद्रुताः—विचलित।

हे विद्वान, कलि के इस लौह-युग में लोगों की आयु न्यून है। वे झगड़ालू, आलसी, पथभ्रष्ट, अभागे होते हैं तथा साथ ही साथ सदैव विचलित रहते हैं।

तात्पर्य : भगवद्भक्त सामान्य जनों की आध्यात्मिक उन्नति के लिए सदैव चिन्तित रहते हैं। जब नैमिषारण्य के मुनियों ने इस कलियुग के लोगों की अवस्था का विश्लेषण किया, तो उन्होंने देखा कि उनकी आयु कम होगी। कलियुग में आयु कम होने का कारण अपर्याप्त आहार नहीं, अपितु अनियमित आदतें हैं। आदतों को नियमित करके तथा सादा भोजन करके कोई भी व्यक्ति अपना स्वास्थ्य बनाये रख सकता है। अधिक भोजन करना, अधिक इन्द्रियतृप्ति, दूसरों की दया पर अत्यधिक आश्रित रहना एवं रहन-सहन के कृत्रिम मानक मनुष्य की प्राणशक्ति तक को चूस लेते हैं। फलस्वरूप जीवन की अवधि घट जाती है।

इस युग के लोग न केवल भौतिक दृष्टि से, अपितु आत्म-साक्षात्कार के मामले में भी अत्यन्त आलसी हैं। यह मनुष्य-जीवन विशेष रूप से आत्म-साक्षात्कार के लिए मिला है। अर्थात् मनुष्य को जानना चाहिए कि मैं क्या हूँ, संसार क्या है और परम सत्य क्या है। मनुष्य जीवन वह साधन है, जिससे जीव इस भौतिक जगत में कठिन जीवन-संघर्ष के कष्टों को मिटा सकता है और अपने सनातन घर, भगवद्धाम को लौट सकता है। किन्तु भ्रष्ट शिक्षा पद्धति के कारण लोगों में आत्म-साक्षात्कार की इच्छा ही नहीं उठती। यदि वे इसके विषय में जानते भी हैं, तो दुर्भाग्यवश वे पथभ्रष्ट शिक्षकों के शिकार बन जाते हैं।

इस युग में लोग न केवल विभिन्न राजनीतिक वर्गों तथा दलों के शिकार हैं, अपितु विभिन्न प्रकार के इन्द्रियतृप्ति करने वाले विपथनों से भी ग्रस्त हैं, जैसे कि सिनेमा, खेलकूद, जुआ, क्लब, संसारी पुस्तकालय, बुरी संगति, धूम्रपान, मदिरा-पान, छलावा, चोरी, मनमुटाव आदि-आदि। अनेकानेक व्यस्तताओं के कारण उनके मन सदैव विचलित एवं चिन्ताओं से ग्रस्त रहते हैं। इस युग में अनेक धूर्त लोग अपने-अपने धार्मिक पंथ खड़े कर देते हैं, जो किन्हीं शास्त्रों पर आधारित नहीं होते और प्राय: ऐसे लोग ही, जो इन्द्रियतृप्ति के व्यसनी हैं, ऐसी संस्थाओं के प्रति आकृष्ट होते रहते हैं। फलस्वरूप धर्म के नाम पर अनेक पापकर्म किये जाते हैं, जिसके कारण लोगों को न तो मानसिक शान्ति मिल पाती है, न स्वास्थ्य-लाभ हो पाता है। अब छात्र (ब्रह्मचारी) वर्ग का पालन नहीं किया जाता और गृहस्थ लोग गृहस्थाश्रम के विधि-विधानों का पालन नहीं करते। फलस्वरूप, तथाकथित वानप्रस्थ तथा संन्यासी जो ऐसे गृहस्थाश्रमों से आते हैं, अपने कठोर पथ से आसानी से विचलित हो जाते हैं। कलियुग में सारा परिवेश श्रद्धाविहीनता से पूर्ण है। लोग अब आध्यात्मिक मूल्यों में रुचि नहीं दिखाते। अब तो भौतिक इन्द्रियतृप्ति ही सभ्यता का मानदण्ड बनी हुई है। ऐसी भौतिक सभ्यता को बनाये रखने के लिए मनुष्य ने जटिल किस्मके राष्ट्रों तथा समुदायों का निर्माण किया है और विभिन्न गुटों में निरन्तर प्रत्यक्ष तथा शीत युद्ध की आशंका बनी रहती है। अतएव आज के मानव समाज के विकृत मानदण्डों के कारण आध्यात्मिक स्तर को उठा पाना अत्यन्त कठिन हो गया है। नैमिषारण्य के ऋषिमुनि पतितात्माओं को मुक्त करने के लिए उत्सुक हैं, अतएव वे श्रील सूत गोस्वामी से उपचार पूछ रहे हैं।

भूरीणि भूरिकर्माणि श्रोतव्यानि विभागशः ।
अतः साधोऽत्र यत्सारं समुद्धृत्य मनीषया ।
ब्रूहि भद्राय भूतानां येनात्मा सुप्रसीदति ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

भूरीणि—बहुमुखी; भूरि—अनेक; कर्माणि—कर्म, कर्तव्य; श्रोतव्यानि—सीखने योग्य; विभागशः—विषयानुसार; अतः—अतएव; साधो—हे साधु; अत्र—यहाँ पर; यत्—जो कुछ; सारम्—निष्कर्ष; समुद्धृत्य—चुनाव करके; मनीषया—अपने ज्ञान के अनुसार सर्वश्रेष्ठ; ब्रूहि—कृपा करके बताएँ; भद्राय—कल्याण के लिए; भूतानाम्—जीवों के; येन—जिससे; आत्मा—आत्मा; सुप्रसीदति—पूर्ण रूप से प्रसन्न हो जाती है।

शास्त्रों के अनेक विभाग हैं और उन सबमें अनेक नियमित कर्मों का उल्लेख है, जिनके विभिन्न प्रभागों को वर्षों तक अध्ययन करके ही सीखा जा सकता है। अतः हे साधु, कृपया आप इन समस्त शास्त्रों का सार चुनकर समस्त जीवों के कल्याण हेतु समझायें, जिससे उस उपदेश से उनके हृदय पूरी तरह तुष्ट हो जायँ।

तात्पर्य : आत्मा अथवा स्व को पदार्थ तथा भौतिक तत्त्वों से पृथक् माना जाता है। इसका स्वरूप स्वभावत: आध्यात्मिक है, अत: यह किसी भी परिणाम के भौतिक आयोजनों से तुष्ट नहीं होता। सम्पूर्ण शास्त्र तथा आध्यात्मिक उपदेश इसी आत्मा की तुष्टि के निमित्त हैं। विभिन्न कालों तथा विभिन्न स्थानों में नाना-विध जीवों के लिए अनेक प्रकार के उपायों की संस्तुति की जाती है। फलस्वरूप, प्रामाणिक शास्त्रों की संख्या अनगिनत है। इन शास्त्रों में विभिन्न विधियों तथा नियमित कर्मों का विधान है। इस कलिकाल में सामान्य जनता की पतित अवस्था को ध्यान में रखते हुए, नैमिषारण्य के मुनियों ने श्री सूत गोस्वामी से अनुरोध किया कि वे इन समस्त शास्त्रों का सार कह सुनायें, क्योंकि इस युग में पतितात्माओं के लिए वर्णाश्रम पद्धति में इन विविध शास्त्रों के उपदेशों को पढ़ना तथा समझ पाना सम्भव नहीं है।

मनुष्यों को आध्यात्मिक स्तर तक उठाने के लिए वर्णाश्रम वाले समाज को सर्वोत्कृष्ट संस्था माना जाता था, किन्तु कलियुग के कारण इन संस्थाओं के विधि-विधानों को पूरा कर पाना सम्भव नहीं रह गया है। न ही जन-साधारण के लिए *वर्णाश्रम* संस्था द्वारा प्रतिपादित विधि के अनुसार अपने-अपने परिवारों से सम्बन्ध-विच्छेद कर पाना सम्भव है। सारा परिवेश विरोध से व्याप्त है। इस पर विचार करते हुए यह देखा जा सकता है कि इस युग में सामान्य जनों का आध्यात्मिक उत्थान अत्यन्त कठिन है। जिस कारण से मुनियों ने इस विषय को श्री सूत गोस्वामी के समक्ष रखा, उसकी व्याख्या अगले श्लोकों में की गई है।

सूत जानासि भद्रं ते भगवान् सात्वतां पतिः ।
देवक्यां वसुदेवस्य जातो यस्य चिकीर्षया ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सूत—हे सूत गोस्वामी; जानासि—आप जानते हो; भद्रम् ते—आपका कल्याण हो; भगवान्—भगवान्; सात्वताम्—शुद्ध भक्तों का; पतिः—रक्षक; देवक्याम्—देवकी के गर्भ में; वसुदेवस्य—वसुदेव से; जातः—उत्पन्न; यस्य—जिसके उद्देश्य से; चिकीर्षया—सम्पन्न करने हेतु।

हे सूत गोस्वामी, आपका कल्याण हो। आप जानते हैं कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् देवकी के गर्भ से वसुदेव के पुत्र के रूप में किस प्रयोजन से प्रकट हुए।

तात्पर्य : भगवान् का अर्थ है सर्वशक्तिमान ईश्वर जो समस्त ऐश्वर्यों, शक्ति, यश, सौंदर्य, ज्ञान तथा तपस्या के नियंता हैं। वे अपने शुद्ध भक्तों के रक्षक हैं। यद्यपि ईश्वर सबों पर समभाव रखने वाले हैं, तो भी वे अपने भक्तों पर विशेष कृपालु रहते हैं। *सत्* का अर्थ है परम सत्य। जो लोग परम सत्य के सेवक या दास हैं, वे *सात्वत* कहलाते हैं। ऐसे शुद्ध भक्तों की रक्षा करने वाले भगवान् *सात्वतों* के रक्षक कहलाते हैं। *भद्रं ते* अर्थात् 'आपका कल्याण हो' से मुनियों द्वारा वक्ता से परम सत्य के विषय में जानने की उत्सुकता का द्योतक है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण वसुदेव की पत्नी देवकी से प्रकट हुए। वसुदेव आध्यात्मिक पद के प्रतीक हैं जिसमें परमेश्वर का प्राकट्य होता है।

तन्नः शुश्रूषमाणानामर्हस्यङ्गानुवर्णितुम् ।
यस्यावतारो भूतानां क्षेमाय च भवाय च ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तत्—वे; नः—हमको; शुश्रूषमाणानाम्—जो प्रयत्नशील हैं; अर्हसि—करना चाहिए; अङ्ग—हे सूत गोस्वामी; अनुवर्णितुम्—पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुगमन करते हुए व्याख्या करने के लिए; यस्य—जिसका; अवतारः—अवतार; भूतानाम्—जीवों के; क्षेमाय—कल्याण के लिए; च—तथा; भवाय—उन्नति के लिए; च—तथा।

हे सूत गोस्वामी, हम भगवान् तथा उनके अवतारों के विषय में जानने के लिए उत्सुक हैं। कृपया हमें पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा दिये गये उपदेशों को बताइये, क्योंकि उनके वाचन श्रवण तथा कहने सुनने दोनों से ही मनुष्य का उत्कर्ष होता है।

तात्पर्य : यहाँ पर परम सत्य के दिव्य सन्देश के श्रवण हेतु आवश्यक शर्तें प्रस्तुत की गई हैं। पहली शर्त यह है कि श्रोता को अत्यंत निष्ठावान तथा सुनने के लिए उत्सुक होना चाहिए। दूसरी शर्त यह है कि वक्ता मान्य आचार्यों की शिष्य-परम्परा में से हो। जो लोग भौतिकता में लिप्त

रहते हैं, वे परमेश्वर के दिव्य-सन्देश को नहीं समझ पाते। प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में मनुष्य धीरे-धीरे शुद्ध होता जाता है। अत: उसे शिष्य-परम्परा में होना चाहिए और विनीत भाव से श्रवण करने की कला सीखनी चाहिए। सूत गोस्वामी तथा नैमिषारण्य के ऋषि-मुनि इन शर्तों को पूरा करते हैं, क्योंकि श्रील सूत गोस्वामी श्रील व्यासेदव की परम्परा के हैं और नैमिषारण्य के ऋषि-मुनि निष्ठावान जीव हैं, जो सत्य जानने के लिए लालायित हैं। अत: भगवान् श्रीकृष्ण के अलौकिक कार्यकलाप, उनका अवतार, उनका जन्म, आविर्भाव या तिरोधान, उनके स्वरूप, उनके नाम इत्यादि उन लोगों के जानने योग्य हैं, जो समस्त शर्तों को पूरा करते हैं। ऐसे उपदेश अध्यात्म के पथपर अग्रसर सभी मनुष्यों के सहायक होते हैं।

आपन्न: संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन् ।
तत: सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

आपन्नः—फँसे हुए; संसृतिम्—जन्म-मृत्यु के चक्कर में; घोराम्—अत्यन्त उलझे; यत्—जो; नाम—परम नाम; विवशः—अनजाने में; गृणन्—उच्चारण करते हुए; ततः—उससे; सद्यः—तुरन्त; विमुच्येत—मुक्त हो जाता है; यत्—जो; बिभेति—डरता है; स्वयम्—स्वयं; भयम्—साक्षात् भय।

जन्म तथा मृत्यु के जाल में उलझे हुए जीव, यदि अनजाने में भी कृष्ण के पवित्र नाम का उच्चारण करते हैं, तो तुरन्त मुक्त हो जाते हैं, क्योंकि साक्षात् भय भी इससे (नाम से) भयभीत रहता है।

तात्पर्य : वासुदेव अथवा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण सभी के परम नियन्ता हैं। इस सृष्टि में कोई ऐसा नहीं है जो सर्वशक्तिमान के क्रोध से भयभीत न हो। रावण, हिरण्यकशिपु, कंस जैसे विकट असुर तथा ऐसे ही अन्य शक्तिशाली जीव भगवान् द्वारा मार डाले गये। पराक्रमी वासुदेव ने अपनी सारी निजी शक्तियाँ अपने नाम को प्रदान कर रखी हैं। प्रत्येक वस्तु उनसे सम्बन्धित है और प्रत्येक वस्तु की अपनी पहचान उनमें ही निहित है। यहाँ पर यह कहा गया है कि कृष्ण के नाम से साक्षात् भय तक भयभीत रहता है। यह इस बात का सूचक है कि कृष्ण का नाम भगवान् कृष्ण से अभिन्न है। अत: कृष्ण का नाम स्वयं कृष्ण के ही समान शक्तिमान है। उनमें तनिक भी

अन्तर नहीं है। अत: बड़े से बड़े संकट की स्थिति में भी भगवान् श्रीकृष्ण के पवित्र नाम का लाभ उठाया जा सकता है। कृष्ण के दिव्य नाम को, चाहे अनजाने में या बाध्य होकर, उच्चरित करने पर जन्म तथा मृत्यु की झंझट से उबरा जा सकता है।

यत्पादसंश्रया: सूत मुनय: प्रशमायना: ।
सद्य: पुनन्त्युपस्पृष्टा: स्वर्धुन्यापोऽनुसेवया ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; पाद—चरणकमल; संश्रया:—शरणागत; सूत—हे सूत गोस्वामी; मुनय:—बड़े-बड़े मुनिगण; प्रशमायना:—परमेश्वर की भक्ति में लीन; सद्य:—तुरन्त; पुनन्ति—पवित्र हो जाते हैं; उपस्पृष्टा:—केवल संगति से; स्वर्धुनी—पवित्र गंगा का; आप:—जल; अनुसेवया—उपयोग में लाने से।.

हे सूत गोस्वामी, जिन महान ऋषियों ने पूर्ण रूप से भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली है, वे अपने सम्पर्क में आने वालों को तुरन्त पवित्र कर देते हैं, जबकि गंगा जल दीर्घकाल तक उपयोग करने के बाद ही पवित्र कर पाता है।

तात्पर्य : भगवान् के शुद्ध भक्त पवित्र गंगा जल से भी अधिक शक्तिमान होते हैं। मनुष्य गंगाजल के दीर्घकालीन प्रयोग से ही आध्यात्मिक लाभ पा सकता है। किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त की कृपा से मनुष्य तुरन्त ही पवित्र हो सकता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि चाहे कोई जन्म से शूद्र हो या स्त्री या वैश्य हो वह भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर सकता है और इस तरह वह भगवद्धाम को वापस लौट सकता है। भगवान् के चरणकमलों में शरण ग्रहण करने का अर्थ है, शुद्ध भक्तों की शरण ग्रहण करना। जिन शुद्ध भक्तों का एकमात्र कार्य भगवान् की सेवा करना है, वे *प्रभुपाद* तथा *विष्णुपाद* कहलाते हैं जो ऐसे भक्तों के भगवान् के चरणकमलों के प्रतिनिधि होने का द्योतक है। अत: जो भी व्यक्ति शुद्ध भक्त को अपना गुरु मान कर उनके चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है, वह तुरन्त शुद्ध हो जाता है। भगवान् के ऐसे भक्त भगवान् के ही समान आदरणीय हैं, क्योंकि वे भगवान् की गुह्यतम सेवा में लगे रहते हैं और वे उन पतितात्माओं का इस भवसागर से उद्धार कराते हैं, जिन्हें भगवान् अपने धाम में वापस बुलाना चाहते हैं। शास्त्रों के अनुसार ऐसे शुद्ध भक्तों को तो उप-प्रभु कहा जाता है। शुद्ध भक्त का

निष्ठावान शिष्य अपने गुरु को भगवान् के तुल्य मानता है, किन्तु अपने आपको भगवान् के दासों का भी दास समझता है। यही शुद्ध भक्ति का मार्ग है।

को वा भगवतस्तस्य पुण्यश्लोकेड्यकर्मण: ।
शुद्धिकामो न शृणुयाद्यश: कलिमलापहम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

क:—कौन; वा—बल्कि; भगवत:—भगवान् का; तस्य—उनका; पुण्य—पुण्यात्मा; श्लोक-ईड्य—स्तुतियों द्वारा पूजनीय; कर्मण:—कर्म; शुद्धि-काम:—समस्त पापों से उद्धार की इच्छा करने वाला; न—नहीं; शृणुयात्—सुनता है; यश:—यश; कलि—कलह के युग का; मल-अपहम्—शुद्धि करने वाला।.

इस कलहप्रधान युग के पापों से उद्धार पाने का इच्छुक ऐसा कौन है, जो भगवान् के पुण्य यशों को सुनना नहीं चाहेगा?

तात्पर्य : कलियुग अपने कलह प्रधान लक्षणों के कारण अत्यन्त निकृष्ट युग है। यह पापाचारों से इस प्रकार परिपूरित है कि थोड़ी सी नासमझी से बड़ी भारी लड़ाई हो जाती है। जो भगवद्भक्ति में लगे हैं, जिन्हें आत्म-श्लाघा की कोई इच्छा नहीं है और जो कर्मों के फल तथा शुष्क दार्शनिक ज्ञान से मुक्त हैं, वे ही इस जटिल युग के बन्धन से छूट सकते हैं। जनता के नेता शान्ति तथा मैत्री से रहने के लिए उत्सुक तो हैं, किन्तु उन्हें भगवान् की महिमा के श्रवण की सरल विधि के बारे में कोई जानकारी नहीं है। इसके विपरीत, ऐसे नेता भगवत्महिमा के प्रचार के विरोधी हैं। दूसरे शब्दों में, मूर्ख नेता भगवान् के अस्तित्व को ही नकारना चाहते हैं। धर्मनिरपेक्ष राज्य के नाम पर ऐसे नेता प्रति वर्ष नई-नई योजनाएँ बनाते हैं। किन्तु भगवान् की प्रकृति की दुर्लंघ्य जटिलताओं के कारण, उन्नति की ये सारी योजनाएँ निरन्तर विफल होती रहती हैं। उनके पास यह देख पाने की दृष्टि ही नहीं है कि शान्ति तथा मैत्री के उनके सारे प्रयास विफल हो रहे हैं। लेकिन यहाँ पर इस अवरोध को पार करने के लिए संकेत मिलता है। यदि हम वास्तविक शान्ति चाहते हैं, तो हमें भगवान् कृष्ण को समझने का मार्ग खोल देना चाहिए और उनके महिमामय कार्यों के लिए उनका यशोगान करना चाहिए जैसा कि *श्रीमद्भागवत* के पृष्ठों में अंकित है।

तस्य कर्माण्युदाराणि परिगीतानि सूरिभिः ।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां लीलया दधतः कलाः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उनके; कर्माणि—दिव्य कर्म; उदाराणि—उदार; परिगीतानि—प्रसारित; सूरिभिः—महात्माओं द्वारा; ब्रूहि—कृपया कहें; नः—हमसे; श्रद्दधानानाम्—आदरपूर्वक ग्रहण करने के लिए उद्यत; लीलया—लीलाओं से; दधतः—धारण किये हुए; कलाः—अवतार।

उनके दिव्य कर्म अत्यन्त उदार तथा अनुग्रहपूर्ण हैं और नारद जैसे महान् विद्वान मुनि उनका गायन करते हैं। अतः कृपया हमें उनके अपने विविध अवतारों में सम्पन्न साहसिक लीलाओं के विषय में बतायें, क्योंकि हम सुनने के लिए उत्सुक हैं।

तात्पर्य : भगवान् कभी भी निष्क्रिय नहीं होते, जैसाकि कुछ अल्पज्ञ लोग सूचित करते हैं। उनके कर्म उदार तथा भव्य हैं। उनकी सृष्टियाँ, चाहे भौतिक हों या आध्यात्मिक, समान रूप से आश्चर्यजनक हैं और समस्त विविधताओं से परिपूर्ण हैं। इनका गुणगान श्रील नारद, व्यास, वाल्मीकि, देवल, असित, मध्व, श्री चैतन्य, रामानुज, विष्णु-स्वामी, निम्बार्क, श्रीधर, विश्वनाथ, बलदेव, भक्तिविनोद, भक्तिसिद्धान्त सरस्वती तथा अन्य अनेक विद्वानों एवं स्वरूपसिद्ध आत्माओं द्वारा किया जाता है। भौतिक एवं आध्यात्मिक ये दोनों प्रकार की सृष्टियाँ ऐश्वर्य, सौंदर्य तथा ज्ञान से परिपूर्ण हैं, किन्तु आध्यात्मिक जगत अपने सच्चिदानन्द स्वरूप के कारण अधिक भव्य है। भौतिक सृष्टियाँ कुछ काल के लिए अध्यात्म जगत के विकृत प्रतिबिम्बों के रुप में प्रकट होती हैं और उनकी तुलना सिनेमा से की जा सकती है। वे उन अल्पज्ञ लोगों को आकृष्ट करती हैं, जो मिथ्या वस्तुओं द्वारा आकृष्ट होते हैं। ऐसे मूर्ख व्यक्तियों को वास्तविकता का कुछ ज्ञान नहीं रहता और वे मिथ्या भौतिक स्वरूप को ही सब कुछ मान बैठते हैं। किन्तु अधिक बुद्धिमान व्यक्ति, जिन्हें व्यास तथा नारद जैसे मुनियों का मार्गदर्शन प्राप्त है, जानते हैं कि भगवान् का शाश्वत राज्य अधिक सुखी, अधिक विशाल तथा आनन्द एवं ज्ञान से नित्य परिपूर्ण है। जो लोग भगवान् के कार्यकलापों तथा उनके दिव्य धाम से परिचित नहीं हैं, उन्हें वे अवतार ले करके अपनी लीलाओं के माध्यम से अवगत कराते हैं, जिनमें वे अपने दिव्य धाम में संगति के शाश्वत आनन्द को

प्रदर्शित करते हैं। ऐसे कार्यकलापों से भगवान् भौतिक जगत के बद्धजीवों को आकृष्ट कर लेते हैं। इन बद्धजीवों में से कुछ भौतिक इन्द्रियों के मिथ्या भोग में लिप्त रहते हैं और कुछ आध्यात्मिक जगत (वैकुण्ठ) के अपने वास्तविक जीवन को नकारते रहते हैं। ये अल्पज्ञ व्यक्ति *कर्मी* अर्थात् सकाम कर्म करने वाले तथा *ज्ञानी* अर्थात् शुष्क मनोधर्मी कहलाते हैं। किन्तु इन दो प्रकार के व्यक्तियों के भी ऊपर अध्यात्मवादी होता है, जो *सात्वत* या भक्त कहलाता है और जो न तो उग्र भौतिक कार्यकलापों में, न ही भौतिक चिन्तन में लीन रहता है। वह तो भगवान् की वास्तविक सेवा में तत्पर रहता है जिससे उसे सर्वोच्च आध्यात्मिक लाभ प्राप्त होता है, जो कर्मियों तथा ज्ञानियों के लिए दुर्लभ है।

भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों के परम नियन्ता के रूप में भगवान् के असीम श्रेणियों के विविध अवतार होते हैं। ब्रह्मा, रुद्र, मनु, पृथु तथा व्यास जैसे अवतार तो उनके भौतिक गुणात्मक अवतार हैं, लेकिन राम, नृसिंह, वराह तथा वामन जैसे अवतार उनके दिव्य अवतार कहलाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण इन समस्त अवतारों के प्रधान स्रोत हैं। अतएव वे ही समस्त कारणों के कारण हैं।

अथाख्याहि हरेर्धीमन्नवतारकथाः शुभाः ।
लीला विदधतः स्वैरमीश्वरस्यात्ममायया ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; आख्याहि—वर्णन करें; हरेः—भगवान् के; धीमन्—हे बुद्धिमान; अवतार—अवतार; कथाः—कथाएँ; शुभाः—शुभ, कल्याणप्रद; लीला—साहसिक कार्य; विदधतः—सम्पन्न; स्वैरम्—लीलाएँ; ईश्वरस्य—परम नियन्ता की; आत्म—निजी, अपनी; मायया—शक्तियों से।

हे बुद्धिमान सूतजी, कृपा करके हमसे भगवान् के विविध अवतारों की दिव्य लीलाओं का वर्णन करें। परम नियन्ता भगवान् के ऐसे कल्याणप्रद साहसिक कार्य तथा उनकी लीलाएँ उनकी अन्तरंगा शक्तियों द्वारा सम्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : भौतिक जगतों की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के लिए पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् स्वयं हजारों रूपों में अवतरित होते हैं और इन विविध दिव्य रूपों में वे जो-जो साहसिक कार्य करते

हैं, वे सभी कल्याणप्रद होते हैं। जो लोग ऐसे कार्यों के समय उपस्थित रहते हैं तथा जो ऐसे कार्यों की दिव्य गाथाओं को सुनते हैं, वे दोनों लाभान्वित होते हैं।

वयं तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे ।
यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

वयम्—हम; तु—लेकिन; न—नहीं; वितृप्यामः—तृप्त हो जाएँगे; उत्तम-श्लोक—भगवान्, जिनका यशोगान दिव्य श्लोकों से किया जाता है; विक्रमे—साहसिक कार्य; यत्—जो; शृण्वताम्—निरन्तर सुनने से; रस—रस के; ज्ञानाम्—भिज्ञों को; स्वादु—स्वाद लेते हुए; स्वादु—सुस्वादु, स्वादिष्ट; पदे पदे—पग पग पर।

हम उन भगवान् की दिव्य लीलाओं को सुनते थकते नहीं, जिनका यशोगान स्तोत्रों तथा स्तुतियों से किया जाता है। उनके साथ दिव्य सम्बन्ध के लिए जिन्होंने अभिरुचि विकसित कर ली है, वे प्रतिक्षण उनकी लीलाओं के श्रवण का आस्वादन करते हैं।

तात्पर्य : लौकिक कहानियों, कल्पित कथाओं या इतिहास तथा भगवान् की दिव्य लीलाओं में महान अन्तर होता है। समग्र ब्रह्माण्ड के इतिहास भगवान् के अवतारों की लीलाओं से भरे हुए हैं। *रामायण, महाभारत* तथा पुराण विगत युगों के इतिहास हैं, जिनमें भगवान् के अवतारों की लीलाओं के अभिलेख हैं, अतः बारम्बार पढ़ने पर भी वे नये के नये लगते हैं। उदाहरणार्थ, यदि कोई चाहे तो *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* का आजीवन बारम्बार पाठ करता रहे, फिर भी उसे उनमें ज्ञान का नवीन प्रकाश दिखेगा। लौकिक समाचार गतिहीन होते हैं, किन्तु दिव्य समाचार गतिशील होते हैं, जिस प्रकार कि आत्मा गतिशील है और पदार्थ गतिहीन है। जिन मनुष्यों ने दिव्य विषयों को समझने के लिए सुरुचि का विकास किया है, वे ऐसी कथाएँ सुनते कभी थकते नहीं। लौकिक कार्यकलापों से मनुष्य शीघ्र तृप्त हो जाता है, किन्तु दिव्य या भक्तिमय कार्यकलापों से कभी तृप्ति नहीं होती। *उत्तमश्लोक* उस साहित्य की ओर संकेत करता है, जो अज्ञानता के निमित्त नहीं है। लौकिक साहित्य तो तमोगुणी होता है, किन्तु आध्यात्मिक साहित्य सर्वथा भिन्न होता है। दिव्य साहित्य तमोगुण से परे होता है और इसे ज्यों-ज्यों और पढ़ा जाता है, त्यों-त्यों यह अधिक प्रकाशवान बनता जाता है तथा इस दिव्य विषय की अनुभूति और अधिक

होती जाती है। तथाकथित मुक्त व्यक्ति *अहं ब्रह्मास्मि* शब्दों को बारम्बार उच्चरित करते संतुष्ट नहीं होते। ब्रह्म की ऐसी कृत्रिम अनुभूति उबाऊ है, फलत: वे भी वास्तविक आनन्द उठाने के लिए *श्रीमद्भागवत* की कथाओं की ओर मुड़ते हैं। जो लोग इतने भाग्यशाली नहीं हैं, वे परार्थवाद और दुनियायी परोपकार की ओर मुड़ते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि मायावाद दर्शन लौकिक है, जबकि *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* का दर्शन दिव्य है।

कृतवान् किल कर्माणि सह रामेण केशवः ।
अतिमर्त्यानि भगवान् गूढः कपटमानुषः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

कृतवान्—किये गये; किल—कौन-कौन से; कर्माणि—कार्य; सह—सहित; रामेण—बलराम; केशवः—श्रीकृष्ण ने; अतिमर्त्यानि—अलौकिक; भगवान्—भगवान्; गूढः—प्रच्छन्न; कपट—ऊपर से; मानुषः—मनुष्य।

भगवान् श्रीकृष्ण ने बलराम सहित मनुष्य की भाँति क्रीड़ाएँ कीं और इस प्रकार से प्रच्छन्न रह कर उन्होंने अनेक अलौकिक कृत्य किये।

तात्पर्य : श्रीकृष्ण या भगवान् पर मानव-विकास तथा पशु-विकास के सिद्धान्त लागू नहीं होते। आजकल, विशेष रूप से भारत में, इस सिद्धान्त का बोलबाला है कि तपस्या तथा आत्म-संयम के बल पर मनुष्य ईश्वर बन जाता है। चूँकि भगवान् राम, भगवान् कृष्ण तथा भगवान् चैतन्य महाप्रभु को प्रमाणभूत शास्त्रों में बताये गये संकेतों के आधार पर ऋषियों तथा मुनियों ने भगवान् के रूप में पहचाना था, अतएव अनेक धूर्त व्यक्तियों ने अपने खुद के अवतारों की सृष्टि करली है। अब तो भगवान् के अवतार का गढ़ा जाना, विशेष रूप से बंगाल में, सामान्य व्यापार बन चुका है। कोई भी लोकप्रिय व्यक्ति कुछ योग-शक्तियाँ दिखलाकर तथा बाजीगरी के कुछ करतब दिखलाकर, लोकप्रिय मत-प्रस्ताव द्वारा भगवान् का अवतार बन जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार के अवतार न थे। वे अपने आविर्भाव काल से ही वास्तविक रूप से भगवान् थे। वे अपनी तथाकथित माता के समक्ष चतुर्भुज विष्णु रूप में प्रकट हुए थे और फिर अपनी माता के अनुरोध पर बालक रूप में परिणत हो गये थे। वे तुरन्त ही अपनी इस माता को छोड़कर गोकुल में अपने एक और भक्त के यहाँ चले गये, जहाँ उन्हें नन्द महाराज तथा यशोदा माता ने

अपने पुत्र रूप में स्वीकार किया। इसी प्रकार श्री बलराम भी, जो भगवान् कृष्ण के पूरक हैं, श्री वसुदेव की अन्य पत्नी से उत्पन्न बालक समझे जाते हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि उनका जन्म तथा उनके कर्म दिव्य हैं और जो भाग्यशाली व्यक्ति उनके जन्म तथा कर्म की दिव्य प्रकृति को जान लेता है, वह तुरन्त मुक्त होकर भगवद्धाम को जा सकता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण के जन्म तथा कर्म की दिव्य प्रकृति का ज्ञान ही मुक्त होने के लिए पर्याप्त है। भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य प्रकृति का वर्णन नौ स्कंधों में हुआ है और दसवें स्कंध में उनकी विशिष्ट लीलाएँ दी गई हैं। इस ग्रन्थ को ज्यों-ज्यों कोई पढ़ता है, त्यों-त्यों यह सब ज्ञात होता जाता है। किन्तु यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि भगवान् ने माता की गोद में से ही अपनी अलौकिकता प्रदर्शित की और उनके सारे के सारे कार्यकलाप अतिमानवीय हैं (यथा सात वर्ष की आयु में गोवर्धन पर्वत को उठाना) और ये सारे कार्य उन्हें वास्तविक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सिद्ध करते हैं। इतने पर भी अपने योगावरण के कारण वे अपने तथाकथित माता-पिता तथा अन्य परिजनों द्वारा सदैव एक सामान्य मानव शिशु ही समझे जाते रहे। जब भी वे कोई अत्यन्त पराक्रमी कार्य करते, उनके माता-पिता उसे अन्य रूप में ग्रहण करते। इस प्रकार वे अपने पुत्र के प्रति अविचल प्रेम से सदा तुष्ट रहते। अतएव नैमिषारण्य के ऋषिगण उन्हें मनुष्यवत् बताते हैं, लेकिन वास्तव में वे परम शक्तिमान भगवान् हैं।

कलिमागतमाज्ञाय क्षेत्रेऽस्मिन् वैष्णवे वयम् ।
आसीना दीर्घसत्रेण कथायां सक्षणा हरेः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कलिम्—कलियुग (कलहप्रिय लौह युग); आगतम्—आया हुआ; आज्ञाय—जानकर; क्षेत्रे—भूभाग में; अस्मिन्—इस; वैष्णवे—विशेष रूप से भगवान् के भक्तों के लिए; वयम्—हम; आसीनाः—बैठे हुए; दीर्घ—दीर्घकालीन; सत्रेण—यज्ञ द्वारा; कथायाम्—शब्दों में; स-क्षणाः—अपने अवकाश के समय; हरेः—भगवान् के।

यह भलीभाँति जानकर कि कलियुग का प्रारम्भ हो चुका है, हम इस पवित्र स्थल में भगवान् का दिव्य सन्देश सुनने के लिए तथा इस प्रकार यज्ञ सम्पन्न करने के लिए दीर्घसत्र में एकत्र हुए हैं।

तात्पर्य : सत्य युग, स्वर्णयुग अथवा रजत एवं ताम्रयुग अर्थात्, त्रेता या द्वापर युग की भाँति यह कलियुग आत्म-साक्षात्कार के लिए तनिक भी उपयुक्त नहीं है। सत्य युग में एक लाख वर्ष की उम्र वाले लोग आत्म-साक्षात्कार के लिए दीर्घकालीन ध्यान करने में समर्थ थे। तथा त्रेता युग में जब जीवन की अवधि दस हजार वर्ष की थी, तो महान यज्ञों के अनुष्ठान से आत्म-साक्षात्कार प्राप्त किया जाने लगा और द्वापर युग में जब जीवन-अवधि एक हजार वर्ष हो गई, तो भगवान् की पूजा द्वारा यह आत्म-साक्षात्कार प्राप्त किया जाने लगा। किन्तु इस कलियुग में अधिकतम् जीवन-अवधि केवल एक सौ वर्ष की है और वह भी कठिनाइयों से पूर्ण है, अतः इसमें आत्म-साक्षात्कार के लिए जिस विधि की संस्तुति की गई है, वह है भगवान् के पवित्र नाम, यश तथा उनकी लीलाओं का श्रवण और कीर्तन करना। नैमिषारण्य के ऋषियों ने यह विधि ऐसे स्थान में प्रारम्भ की जो भगवद्भक्तों के लिए ही था। उन्होंने एक हजार वर्ष की दीर्घ अवधि तक की भगवान् की लीलाएँ सुनने के लिए अपने आप को तैयार किया था। इन ऋषियों के उदाहरण से हमें यह सीखना चाहिए कि *भागवत* का नियमित श्रवण तथा कीर्तन ही आत्म-साक्षात्कार का एकमात्र साधन है। अन्य सारे प्रयास समय का अपव्यय मात्र हैं, क्योंकि उनसे कोई लाभप्रद परिणाम नहीं निकलता। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने *भागवत-धर्म* की इस पद्धति का उपदेश किया और यह भी बतलाया कि भारतभूमि में जन्म लेने वालों का यह दायित्व है कि वे श्रीकृष्ण के सन्देशों का, प्रमुख रूप से *भगवद्गीता* के संदेश का, प्रचार-प्रसार करें। जब कोई *भगवद्गीता* की शिक्षाओं को ठीक से समझ जाय, तो उसे चाहिए कि आत्म-साक्षात्कार के लिए अधिक प्रकाश प्राप्त करने हेतु *श्रीमद्भागवत* का अध्ययन करे।

त्वं नः सन्दर्शितो धात्रा दुस्तरं निस्तितीर्षताम् ।
कलिं सत्त्वहरं पुंसां कर्णधार इवार्णवम् ॥ २२॥

शब्दार्थ

त्वम्—आपने; **नः**—हम सबों को; **सन्दर्शितः**—मिलाया है; **धात्रा**—भाग्य से; **दुस्तरम्**—दुर्लंघ्य; **निस्तितीर्षताम्**—पार करने की इच्छा करने वालों के लिए; **कलिम्**—कलियुग को; **सत्त्व-हरम्**—अच्छे गुणों को हरण करने वाला; **पुंसाम्**—मनुष्य का; **कर्ण-धारः**—कप्तान; **इव**—सदृश; **अर्णवम्**—समुद्र।

हम मानते हैं कि दैवी इच्छा ने हमें आपसे मिलाया है, जिससे मनुष्यों के सत्त्व का नाश करने वाले उस कलि रूप दुर्लंघ्य सागर को तरने की इच्छा रखने वाले हम सब आपको नौका के कप्तान के रूप में ग्रहण कर सकें।

तात्पर्य : कलियुग मनुष्यों के लिए अत्यन्त खतरनाक है। यह मानव जीवन तो आत्म-साक्षात्कार के ही निमित्त मिला है, किन्तु इस युग की करालता के कारण लोग जीवन के लक्ष्य को पूरा भूल चुके हैं। इस युग में आयु क्रमशः घटती जायेगी। लोग अपनी स्मृति, कोमल भावनाएँ, बल तथा उत्तम गुण खो देंगे। इस युग की विषमताओं की सूची इस ग्रन्थ के बारहवें स्कन्ध में दी गई हैं। अतः जो लोग इस जीवन का उपयोग आत्म-साक्षात्कार में करना चाहते हैं, उनके लिए यह युग अत्यन्त दुष्कर है। लोग इन्द्रियतृप्ति में इतने अधिक व्यस्त हैं कि वे आत्म-साक्षात्कार को पूरी तरह भूल चुके हैं। उन्मत्तता से वशीभूत वे साफ-साफ कहते हैं कि आत्म-साक्षात्कार की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे यह नहीं समझते कि यह संक्षिप्त जीवन आत्म-साक्षात्कार की विशाल यात्रा का एक मात्र क्षण है। समूची शिक्षा-पद्धति इन्द्रियतृप्ति की ओर उन्मुख है और यदि कोई विद्वान इस पर थोड़ा भी सोचे, तो वह देखेगा कि इस युग के सारे बच्चों को जानबूझ कर तथाकथित शिक्षारूपी वधशालाओं में भेजा जा रहा है। अतएव विद्वान पुरुषों को इस युग के प्रति सचेष्ट रहना है और यदि वे इस घोर कलियुग रूपी समुद्र को पार करना चाहते हैं तो उन्हें नैमिषारण्य के ऋषियों के पदचिह्नों का अनुसरण करना चाहिए और श्री सूत गोस्वामी या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि को नाव के कर्णधार के रूप में स्वीकार करना चाहिए। वह नाव *श्रीमद्भागवत* या *भगवद्गीता* के रूप में ही भगवान् श्रीकृष्ण का सन्देश ही है।

ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे ब्रह्मण्ये धर्मवर्मणि ।
स्वां काष्ठामधुनोपेते धर्मः कं शरणं गतः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

ब्रूहि—कृपया कहें; योग-ईश्वरे—समस्त योग शक्तियों के स्वामी; कृष्णे—भगवान् कृष्ण; ब्रह्मण्ये—परम सत्य; धर्म—धर्म; वर्मणि—रक्षक; स्वाम्—अपना; काष्ठाम्—धाम; अधुना—इस समय; उपेते—चले गये; धर्मः—धर्म; कम्—किसकी; शरणम्—शरण में; गतः—गया हुआ।

चूँकि परम सत्य, योगेश्वर, श्रीकृष्ण अपने निज धाम के लिए प्रयाण कर चुके हैं, अतएव कृपा करके हमें बताएँ कि अब धर्म ने किसका आश्रय लिया है?

तात्पर्य : धर्म मूल रूप से साक्षात् भगवान् द्वारा स्थापित आचार-संहिता है। जब भी धर्म के सिद्धान्तों का दुरुपयोग होता है या उसकी उपेक्षा की जाती है, तो धर्म की स्थापना करने के लिए भगवान् स्वयं अवतरित होते हैं। इसका उल्लेख *भगवद्गीता* में किया गया है। यहाँ पर नैमिषारण्य के ऋषि-मुनि इन्हीं सिद्धान्तों के विषय में पूछ रहे हैं। इस प्रश्न का उत्तर आगे दिया गया है। *श्रीमद्भागवत* भगवान् की दिव्य वाणी का स्वरूप है। इस प्रकार यह दिव्य ज्ञान एवं धर्म का पूर्ण स्वरूप है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत, ''मुनियों की जिज्ञासा'' नामक प्रथम अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दो

दिव्यता तथा दिव्य सेवा

व्यास उवाच
इति सम्प्रश्नसंहृष्टो विप्राणां रौमहर्षणिः ।
प्रतिपूज्य वचस्तेषां प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ १ ॥

शब्दार्थ

व्यासः उवाच—व्यास ने कहा; इति—इस प्रकार; सम्प्रश्न—पूर्ण जिज्ञासा; संहृष्टः—पूर्ण रूप से सन्तुष्ट; विप्राणाम्—वहाँ के मुनियों का; रौमहर्षणिः—रोमहर्षण के पुत्र, उग्रश्रवा; प्रतिपूज्य—उनको धन्यवाद देकर; वचः—शब्द; तेषाम्—उनके; प्रवक्तुम्—उन्हें उत्तर देने के लिए; उपचक्रमे—प्रयत्न किया।

रोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा (सूत गोस्वामी) ने ब्राह्मणों के सम्यक् प्रश्नों से पूर्णतः प्रसन्न होकर उन्हें धन्यवाद दिया और वे उत्तर देने का प्रयास करने लगे।

तात्पर्य : नैमिषारण्य के मुनियों ने सूत गोस्वामी से छह प्रश्न पूछे और अब वे एक एक करके उनका उत्तर दे रहे हैं।

सूत उवाच
यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु-
स्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; यम्—जिसको; प्रव्रजन्तम्—संन्यास लेते समय; अनुपेतम्—जनेऊ (यज्ञोपवीत) संस्कार किये बिना; अपेत—संस्कार न करके; कृत्यम्—करणीय कर्तव्य; द्वैपायनः—व्यासदेव ने; विरह—वियोग से; कातरः—भयभीत होकर; आजुहाव—पुकारा; पुत्र इति—हे पुत्र; तत्-मयतया—इस प्रकार लीन होकर; तरवः—सारे वृक्षों ने; अभिनेदुः—उत्तर दिया; तम्—उसको; सर्व—समस्त; भूत—जीवों के; हृदयम्—हृदय; मुनिम्—मुनि को; आनतः अस्मि—नमस्कार करता हूँ।

श्रील सूत गोस्वामी ने कहा : मैं उन महामुनि (शुकदेव गोस्वामी) को सादर नमस्कार करता हूँ जो सबों के हृदय में प्रवेश करने में समर्थ हैं। जब वे यज्ञोपवीत संस्कार अथवा

उच्च जातियों द्वारा किए जाने वाले अनुष्ठानों को सम्पन्न किये बिना संन्यास ग्रहण करने चले गये तो उनके पिता व्यासदेव उनके वियोग के भय से आतुर होकर चिल्ला उठे, ''हे पुत्र,'' उस समय जो वैसी ही वियोग की भावना में लीन थे, केवल ऐसे वृक्षों ने शोकग्रस्त पिता के शब्दों का प्रतिध्वनि के रूप में उत्तर दिया।

तात्पर्य : वर्ण तथा आश्रम प्रथा में अनुयायियों द्वारा पालन करने के लिए अनेक कर्तव्य निर्दिष्ट किये गये हैं। ऐसे कर्तव्यों में निर्देष है कि वेदों का अध्ययन करने वाले जिज्ञासु को प्रामाणिक गुरु के पास जाकर अपने को शिष्य के रुप में स्वीकार करने की प्रार्थना करनी होती है। जो प्रामाणिक गुरुओं अथवा आचार्य से वेदों का अध्ययन करने के लिए सुयोग्य हैं, जनेऊ (यज्ञोपवीत) उनका प्रतीक है। श्री शुकदेव गोस्वामी ने ये संस्कार नहीं किये, क्योंकि वे जन्म से ही मुक्तात्मा थे।

सामान्य रूप से मनुष्य साधारण जीव के रूप में जन्म लेता है और शुद्धीकरण संस्कारों के द्वारा उसका दुबारा जन्म होता है। जब उसे नया प्रकाश दिखता है और वह आध्यात्मिक उन्नति के लिए दिशा खोजता है, तो वेदों के उपदेश हेतु वह गुरु के पास जाता है। गुरु केवल निष्ठावान जिज्ञासु को ही शिष्य रूप में अपनाते हैं और उसे जनेऊ (यज्ञोपवीत) प्रदान करते हैं। इस प्रकार से मनुष्य दूसरी बार जन्मता है या *द्विज* बनता है। द्विज बनने के बाद वह वेदों का अध्ययन करता है और वेदों में पटु होने पर वह *विप्र* बनता है। विप्र या योग्य ब्राह्मण परम ब्रह्म का साक्षात्कार करता है और तब तक आध्यात्मिक जीवन में उन्नति करता रहता है, जब तक वह वैष्णव अवस्था तक नहीं पहुँच जाता। वैष्णव अवस्था यह किसी ब्राह्मण के लिए स्नातकोत्तर अवस्था है। प्रगतिशील ब्राह्मण को निश्चित रूप से वैष्णव बनना चाहिए, क्योंकि वैष्णव ही स्वरूपसिद्ध विद्वान ब्राह्मण होता है।

श्रील शुकदेव गोस्वामी प्रारम्भ से ही वैष्णव थे, अत: उन्हें वर्णाश्रम-धर्म के संस्कारों की कोई आवश्यकता न थी। वर्णाश्रम-धर्म का चरम लक्ष्य अपरिष्कृत मनुष्य को भगवान् के शुद्ध भक्त या वैष्णव में बदलना है। अत: जो व्यक्ति उत्तम अधिकारी वैष्णव द्वारा स्वीकृत किए जाने

पर वैष्णव बन जाता है, चाहे उसका जन्म या पूर्व कर्म कैसे भी रहे हों, उसे ब्राह्मण माना जाता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने इस सिद्धांन्त को स्वीकर किया था और श्रील हरिदास ठाकुर को *नामाचार्य* बनाया था, यद्यपि हरिदास ठाकुर का जन्म एक मुसलमान परिवार में हुआ था। निष्कर्ष यह है कि श्रील शुकदेव गोस्वामी जन्म से ही वैष्णव थे, अत: वे ब्राह्मणत्व से समन्वित थे। उन्हें किसी प्रकार के संस्कार करने की आवश्यकता न थी। कोई भी निम्नकुल में उत्पन्न व्यक्ति, चाहे वह किरात हो, या हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कश, आभीर, शुम्भ, यवन, खस, या इनसे भी निम्न हो, वैष्णवों की कृपा से उसका उद्धार हो जाता है और वह सर्वोच्च दिव्य पद को प्राप्त करता है। श्रील शुकदेव गोस्वामी श्री सूत गोस्वामी के गुरु थे, अत: वे नैमिषारण्य के मुनियों के प्रश्नों के उत्तर देने के पूर्व अपने गुरु को नमस्कार करते हैं।

य: स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेक-
मध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम् ।
संसारिणां करुणयाह पुराणगुह्यं
तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

य:—जो; स्व-अनुभावम्—आत्म-अनुभवी; अखिल—समस्त; श्रुति—वेदों का; सारम्—सार, निष्कर्ष; एकम्—एकमात्र; अध्यात्म—दिव्य; दीपम्—दीपक; अतितितीर्षताम्—पार जाने की इच्छा से; तम: अन्धम्—गहन अन्धकारमय भौतिक अस्तित्व; संसारिणाम्—भौतिकतावादी मनुष्यों का; करुणया—अहैतुकी कृपा से; आह—कहा; पुराण—पुराण, वेदों के पूरक ग्रंथ; गुह्यम्—अत्यन्त गोपनीय; तम्—उन; व्यास-सूनुम्—व्यासदेव के पुत्र को; उपयामि—नमस्कार करता हूँ; गुरुम्—गुरु को; मुनीनाम्—मुनियों के।

मैं समस्त मुनियों के गुरु, व्यासदेव के पुत्र (शुकदेव) को सादर नमस्कार करता हूँ जिन्होंने संसार के गहन अंधकारमय भागों को पार करने के लिए संघर्षशील उन निपट भौतिकतावादियों के प्रति अनुकम्पा करके वैदिक ज्ञान के सार रूप इस परम गुह्य पुराण को स्वयं आत्मसात् करने के बाद अनुभव द्वारा कह सुनाया।

तात्पर्य : इस स्तुति में श्रील सूत गोस्वामी *श्रीमद्भागवत* की पूर्ण भूमिका का सार प्रस्तुत करते हैं। *श्रीमद्भागवत* वेदान्त-सूत्रों की सहज पूरक टीका है। व्यासदेव ने वैदिक ज्ञान का सार प्रस्तुत करने के उद्देश्य से वेदान्त-सूत्र या ब्रह्म-सूत्र का संकलन किया था। *श्रीमद्भागवत* इस सार

का सहज भाष्य है। श्रील शुकदेव गोस्वामी *वेदान्त-सूत्र* के पूर्ण रूप से अनुभूत पंडित थे, अत: उन्होंने इस टीका की स्वयं भी अनुभूति की थी। और जो अज्ञानता के सागर को पूरी तरह से पार करना चाहते हैं, ऐसे मोहग्रस्त भौतिकतावादी व्यक्तियों पर असीम कृपा करके उन्होंने इस गुह्य ज्ञान को प्रथम बार सुनाया।

इस पर तर्क करना निरर्थक है कि भौतिकतावादी व्यक्ति सुखी हो सकता है। कोई भी भौतिकतावादी जीव—चाहे वह महान् ब्रह्मा हो, या कि क्षुद्र चींटी, सुखी नहीं रह सकता। प्रत्येक व्यक्ति सुख की स्थायी योजना बनाता है, किन्तु वह प्रकृति के नियमों से परास्त हो जाता है। अत: भौतिकतावादी संसार ईश्वर की सृष्टि का सर्वाधिक अन्धकारमय भाग कहलाता है। तथापि दुखी भौतिकतावादी व्यक्तियों के इससे निकलने की मात्र इच्छा करने से ही वे बाहर निकल सकते हैं। दुर्भाग्यवश वे इतने मूर्ख हैं कि बाहर निकलना चाहते ही नहीं। अत: उनकी तुलना उस ऊँट से की जाती है, जिसे कँटीली टहनियाँ पसन्द हैं, क्योंकि रक्त से सनी टहनियों का स्वाद उसे अच्छा लगता है। वह ऐसा समझ नहीं पाता कि यह तो उसका अपना ही रक्त है, जो काँटों के द्वारा जीभ के कट जाने से निकलता है। इसी प्रकार भौतिकतावादी व्यक्ति को अपना खुद का रक्त मधु की तरह मीठा लगता है और वह अपनी ही भौतिक कृतियों से परेशान होने पर भी उन्हें छोड़ना नहीं चाहता। ऐसे भौतिकतावादी व्यक्ति *कर्मी* कहलाते हैं। ऐसे लाखों कर्मियों में से कुछ ही भौतिक व्यापार से उब कर इस भूलभुलैया से निकल भागना चाहते हैं। ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति *ज्ञानी* कहलाते हैं। *वेदान्त-सूत्र* ऐसे ही ज्ञानियों के लिए है। किन्तु परमेश्वर का अवतार होने के कारण, श्रील व्यासदेव को पूर्वानुमान हो गया था कि धूर्त लोग *वेदान्त-सूत्र* का दुरुपयोग कर सकते हैं, इसीलिए उन्होंने *वेदान्त-सूत्र* के पूरक रूप में *भागवत-पुराण* की रचना की। यह स्पष्ट कथन है कि यह *भागवत* ब्रह्म-सूत्रों का मूल भाष्य है। श्रील व्यासदेव ने अपने पुत्र श्रील शुकदेव को भी *भागवत* का उपदेश दिया, जो पहले से अध्यात्म अवस्था को प्राप्त एक मुक्त पुरुष थे। श्रील शुकदेव ने स्वयं इसकी अनुभूति की और तब इसका व्याख्यान किया। श्रील शुकदेव की

कृपा से *भागवत-वेदान्त-सूत्र* उन सभी निष्ठावान लोगों के लिए सुलभ है जो भवसागर से उबरना चाहते हैं।

श्रीमद्भागवत वेदान्त-सूत्र का अद्वितीय भाष्य है। श्रीपाद शंकराचार्य ने जानबूझ कर इसे नहीं छुआ, क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि इस सहज टीका को मात देना उनके लिए कठिन होगा। उन्होंने 'शारीरक-भाष्य' लिखा और उनके तथाकथित अनुयायियों ने *भागवत* को 'नवीन' कृति कहकर इसका तिरस्कार किया। *भागवत* के विरुद्ध मायावाद सम्प्रदाय द्वारा ऐसे प्रचार से किसी को भ्रमित नहीं होना चाहिए। इस प्रास्तविक श्लोक से नौसिखिए जिज्ञासु को यह जानना चाहिए कि *भागवत* एकमात्र दिव्य साहित्य है, जो परमहंसों तथा ईर्ष्या-द्वेष रूपी भौतिक रोग से मुक्त व्यक्तियों के लिए है। मायावादी भगवान् के प्रति ईर्ष्यालु होते हैं, यद्यपि श्रीपाद शंकराचार्य ने भगवान् नारायण को सृष्टि से ऊपर (परे) बताया है। ये ईर्ष्यालु मायावादी *भागवत* तक नहीं पहुँच पाते, किन्तु जो लोग सचमुच इस भवसागर से पार निकलनें के इच्छुक हैं, वे *भागवत* का आश्रय ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि इसका प्रवचन मुक्त पुरुष श्रील शुकदेव गोस्वामी ने किया है। यह वह दिव्य प्रकाशपुंज है जिसके द्वारा ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् के रूप में अनुभूति किये जाने वाले दिव्य परम सत्य को भली भाँति देखा जा सकता है।

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥ ४॥

शब्दार्थ

नारायणम्—भगवान् को; नमः-कृत्य—नमस्कार करके; नरम् च एव—तथा नारायण ऋषि को; नर-उत्तमम्—सर्वश्रेष्ठ मनुष्य; देवीम्—देवी; सरस्वतीम्—विद्या की अधिष्ठात्री को; व्यासम्—व्यासदेव को; ततः—तत्पश्चात्; जयम्—विजय प्राप्त करने के लिए; उदीरयेत्—घोषित करे।

विजय के साधनस्वरूप इस श्रीमद्भागवत का पाठ करने (सुनने) के पूर्व मनुष्य को चाहिए कि वह श्रीभगवान् नारायण को, नरोत्तम नरनारायण ऋषि को, विद्या की देवी माता सरस्वती को तथा ग्रंथकार श्रील व्यासदेव को नमस्कार करे।

तात्पर्य : सारा वैदिक साहित्य तथा सारे पुराण इस भौतिक जगत के गहनतम भागों पर विजय प्राप्त करने के लिए हैं। जीव अनादि काल से भौतिक इन्द्रियतृप्ति के प्रति आसक्त होने के कारण ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को भूल चुका है। इस भौतिक जगत में उसका जीवन-संघर्ष अविरत चलने वाला है और इस के लिए कोई योजना बनाकर जीव का इसमें से निकल पाना सम्भव नहीं है। यदि वह इस अविरत जीवन-संघर्ष पर विजय पाना चाहता है, तो उसे ईश्वर के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को पुन:स्थापित करना होगा। जो भी इस प्रकार के निवारक उपाय अपनाना चाहता है, उसे वेदों तथा पुराणों जैसे साहित्य का आश्रय लेना होगा। मूर्ख लोगों का कहना है कि पुराणों का वेदों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। किन्तु ये पुराण विभिन्न प्रकार के लोगों के लिए वेदों की पूरक व्याख्याएँ हैं। सभी मनुष्य एक से नहीं होते। कुछ लोग सतोगुणी होते हैं, कुछ रजोगुणी होते हैं और कुछ तमोगुणी होते हैं। पुराणों को इस प्रकार से विभक्त किया गया है कि किसी भी श्रेणी के लोग उनसे लाभ उठा सकते हैं और धीरे-धीरे अपनी खोई हुई स्थिति को पुन: प्राप्त करके कठोर जीवन-संघर्ष से बाहर निकल सकते हैं। श्रील सूत गोस्वामी पुराणों के पाठ की विधि प्रदर्शित करते हैं। जो लोग वैदिक साहित्य तथा पुराणों के उपदेशक बनना चाहते हैं, वे इस विधि का पालन कर सकते हैं। *श्रीमद्भागवत* निष्कलंक पुराण है और यह विशेषकर उनके लिए है, जो स्थायी रूप से भव-बन्धन से छूटने के इच्छुक हैं।

मुनय: साधु पृष्टोऽहं भवद्भिर्लोकमङ्गलम् ।
यत्कृत: कृष्णसम्प्रश्नो येनात्मा सुप्रसीदति ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

मुनयः—हे मुनियों; साधु—यह प्रासंगिक है; पृष्टः—पूछा गया; अहम्—मैं; भवद्भिः—आप लोगों के द्वारा; लोक—संसार; मङ्गलम्—मंगल, कल्याण; यत्—क्योंकि; कृतः—बनाया गया; कृष्ण—भगवान्; सम्प्रश्नः—संगत प्रश्न; येन—जिससे; आत्मा—स्व; सुप्रसीदति—पूर्ण रूप से प्रसन्न होता है।

हे मुनियों, आपने मुझसे ठीक ही प्रश्न किया है। आपके प्रश्न श्लाघनीय हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध भगवान् कृष्ण से है और इस प्रकार वे विश्व-कल्याण के लिए हैं। ऐसे प्रश्नों से ही पूर्ण आत्मतुष्टि हो सकती है।

तात्पर्य : चूँकि पहले कहा जा चुका है कि *भागवत* के द्वारा परम सत्य को जाना जा सकता है, अतएव नैमिषारण्य के ऋषियों के प्रश्न उचित हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर, परम सत्य भगवान् श्रीकृष्ण से है। *भगवद्गीता* (१५.१५) में भगवान् कहते हैं कि सारे वेदों में भगवान् कृष्ण की खोज की उत्कंठा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस तरह कृष्ण सम्बन्धी प्रश्न सारी वैदिक जिज्ञासाओं के सार-समाहार हैं।

सारा संसार प्रश्नों तथा उत्तरों से परिपूर्ण है। सारे पक्षी, पशु तथा मनुष्य शाश्वत प्रश्नों एवं उत्तरों में व्यस्त हैं। भोर होते ही सारे पक्षी अपने-अपने नीड़ों में प्रश्नों तथा उत्तरों में लग जाते हैं और शाम होते ही वही पक्षी वापस आकर पुन: प्रश्नोत्तर में व्यस्त हो जाते हैं। मनुष्य भी, जब तक प्रगाढ़ निद्रा में सो नहीं जाता, प्रश्नोत्तर में व्यस्त रहता है। व्यापारी बाजारों में प्रश्नोत्तर में लगे रहते हैं और इसी प्रकार न्यायालय में वकील तथा विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में विद्यार्थी भी व्यस्त रहते हैं। सांसद भी संसद में प्रश्नोत्तर में ही लगे होते हैं और राजनीतिज्ञ तथा प्रेस-प्रतिनिधि भी प्रश्नोत्तर में मशगूल दिखते हैं। यद्यपि ये लोग जीवन भर ऐसे प्रश्न तथा उत्तर करते रहते हैं, किन्तु रंचमात्र तुष्ट नहीं हो पाते। आत्मा की तुष्टि तो केवल कृष्ण विषयक प्रश्नोत्तरों से ही हो सकती है।

कृष्ण हमारे अंतरंग स्वामी, मित्र, पिता या पुत्र तथा माधुर्य प्रेम के लक्ष्य (प्रियतम) हैं। कृष्ण को भूल कर हमने प्रश्नों तथा उत्तरों के अनेक विषय बना लिये हैं, किन्तु इनमें से किसी से भी हमें पूर्ण तुष्टि नहीं हो पाती। कृष्ण के अतिरिक्त सारी वस्तुएँ क्षणिक तुष्टि प्रदान करने वाली हैं, अत: यदि हम पूर्ण तुष्टि चाहते हैं, तो हमें कृष्ण विषयक प्रश्नों तथा उत्तरों को ग्रहण करना होगा। बिना प्रश्न किये या उत्तर दिये हम क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकते। चूँकि *श्रीमद्भागवत* कृष्ण विषयक प्रश्नों तथा उत्तरों को बताने वाला ग्रंथ है, अतएव हम इस दिव्य साहित्य के पठन तथा श्रवण मात्र से परम तुष्टि प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्य को चाहिए कि *श्रीमद्भागवत* को समझ कर समस्त सामाजिक, राजनैतिक या धार्मिक विषयों से सम्बद्ध समस्याओं का हल खोज निकाले। *श्रीमद्भागवत* तथा कृष्ण समस्त वस्तुओं के सार हैं।

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निश्चय ही; पुंसाम्—मनुष्यों के लिए; परः—दिव्य; धर्मः—वृत्ति; यतः—जिससे; भक्तिः—भक्ति; अधोक्षजे—अध्यात्म के प्रति; अहैतुकी—अकारण; अप्रतिहता—अखण्ड; यया—जिससे; आत्मा—आत्मा; सुप्रसीदति—पूर्ण रूप से प्रसन्न होता है।

सम्पूर्ण मानवता के लिए परम वृत्ति (धर्म) वही है, जिसके द्वारा सारे मनुष्य दिव्य भगवान् की प्रेमा-भक्ति प्राप्त कर सकें। ऐसी भक्ति अकारण तथा अखण्ड होनी चाहिए जिससे आत्मा पूर्ण रूप से तुष्ट हो सके।

तात्पर्य : इस कथन के द्वारा श्री सूत गोस्वामी नैमिषारण्य के ऋषियों के प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हैं। ऋषियों ने सूत जी से अनुरोध किया था कि वे समस्त प्रामाणिक शास्त्रों का सार प्रस्तुत करें, जिससे पतितात्माएँ या जनसामान्य उसे सरलता से ग्रहण कर सके। वेदों में मनुष्य के लिए दो प्रकार की वृत्तियाँ बताई गई हैं। एक *प्रवृत्ति-मार्ग* या इन्द्रिय-भोग का मार्ग कहलाती है और दूसरी *निवृत्ति-मार्ग* या त्याग का मार्ग कहलाती है। भोग का मार्ग निकृष्ट है और परम कारण के हेतु निवृति का मार्ग श्रेष्ठ है। जीव का भौतिक जीवन एक प्रकार से वास्तविक जीवन की रुग्ण अवस्था है। वास्तविक जीवन तो *ब्रह्मभूत* अवस्था अर्थात् आध्यात्मिक अस्तित्व है, जहाँ जीवन सनातन, आनन्दमय तथा ज्ञान से परिपूर्ण है। भौतिक जीवन नाशवान, मोहपूर्ण तथा कष्टमय है। इसमें सुख तो है ही नहीं। यहाँ केवल कष्टों से छुटकारा पाने का व्यर्थ प्रयास मात्र है और कष्टों का क्षणिक नाश मिथ्या ही सुख कहलाता है। अतः बढ़ते जाने वाले भौतिक भोग का मार्ग नाशवान, कष्टमय तथा मोहपूर्ण होने के कारण निकृष्ट है। किन्तु भगवद्भक्ति श्रेष्ठ धर्म कहलाती है, क्योंकि वह मनुष्य को सनातन, आनन्दमय एवं ज्ञान से परिपूर्ण जीवन की ओर अग्रसर करती है। जब इसमें निकृष्ट गुण मिल जाते हैं तो यह कभी-कभी दूषित हो जाती है। उदाहरणार्थ, भौतिक लाभ के लिये की गई भक्तिमय सेवा प्रगतिशील निवृत्ति मार्ग में बाधक है। इस रुग्ण जीवन को भोगने की अपेक्षा संन्यास या सर्वत्याग श्रेष्ठतर वृत्ति है। ऐसे भोग से केवल रोग के

लक्षण बढ़ते हैं और उसकी अवधि भी बढ़ जाती है। अत: भगवद्भक्ति शुद्ध होनी चाहिए, अर्थात् उसमें भौतिक सुखोपभोग की रंचमात्र कामना नहीं रहनी चाहिए। अत: मनुष्य को चाहिए कि वृथा की कामना, सकाम कर्म तथा दार्शनिक तर्क-वितर्क से रहित भगवद्भक्ति रूपी उच्च कोटि की वृत्ति को स्वीकार करे। इसीसे उनकी सेवा में शाश्वत सन्तोष प्राप्त होगा।

हमने जानबूझ कर धर्म को वृत्ति कहा है, क्योंकि धर्म शब्द का मूल अर्थ है "वह जो किसी के अस्तित्व को सम्हाले रखता है।" जीव के अस्तित्व इसी बात पर निर्भर है कि वह अपने कार्यों को भगवान् कृष्ण के साथ अपने सनातन सम्बन्ध में समन्वित करे। कृष्ण समस्त जीवों के मध्यवर्ती घुरी हैं और वे अन्य समस्त जीवों अथवा शाश्वत रूपों में सर्वाकर्षक व्यक्तित्व हैं। प्रत्येक एवं समस्त जीवों का दिव्य जगत में एक शाश्वत रूप होता है और कृष्ण उन सबों के लिए परम आकर्षक हैं। कृष्ण परम पूर्ण हैं और अन्य सभी उनके अंश-प्रत्यंश हैं। इनमें सेवक तथा सेव्य का सम्बन्ध है; यह दिव्य है और हमारे भौतिक अनुभव से सर्वथा भिन्न है। यह सेवक-सेव्य भाव घनिष्ठता का सर्वाधिक अनुकूल रूप है। जैसे जैसे भक्तिमय सेवा की प्रगति होगी, मनुष्य को इसका अनुभव होगा। हर व्यक्ति को इस भौतिक अस्तित्व की बद्ध अवस्था में भी भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति करनी चाहिए। इससे मनुष्य को क्रमश: वास्तविक जीवन का संकेत प्राप्त हो सकेगा और पूर्ण तुष्टि का आनंद मिलेगा।

वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित: ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

वासुदेवे—कृष्ण के प्रति; भगवति—भगवान् के प्रति; भक्ति-योग:—भक्ति सम्बन्ध; प्रयोजित:—व्यवहृत; जनयति—उत्पन्न करता है; आशु—तुरन्त ही; वैराग्यम्—वैराग्य, विरक्ति; ज्ञानम्—ज्ञान; च—तथा; यत्—जो; अहैतुकम्—अकारण।.

भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति करने से मनुष्य तुरन्त ही अहैतुक ज्ञान तथा संसार से वैराग्य प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण की भक्तिमय सेवा को जो लोग भौतिक भावात्मक व्यापार की भाँति मानते हैं, वे यह तर्क कर सकते हैं कि शास्त्रों में तो यज्ञ, दान, तपस्या, ज्ञान, योग तथा इसी प्रकार की दिव्य साक्षात्कार की विधियों की संस्तुति की गई है। उनके मतानुसार भक्ति अर्थात् भगवान् की भक्तिमय सेवा तो उन लोगों के लिए है, जो उच्च कोटि के कर्म नहीं कर पाते। सामान्यत: यह कहा जाता है कि भक्ति उपासना-पद्धति तो शूद्रों, वैश्यों तथा अल्पबुद्धिमान स्त्री वर्ग के लिए है। किन्तु यह वास्तविक तथ्य नहीं है। भक्ति मार्ग समस्त दिव्य कर्मों में सर्वोपरि है। फलत: यह उत्कृष्ट होने के साथ ही साथ सरल भी है। यह उन शुद्ध भक्तों के लिए उत्कृष्ट है, जो परमेश्वर से सम्पर्क स्थापित करना चाहते हैं, और यह उन नवदीक्षितों के लिए सुगम है, जो भक्ति रूपी घर की दहलीज पर हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण का सान्निध्य प्राप्त करना एक महान विज्ञान है और यह सब जीवों के लिए खुला हुआ है, जिसमें शूद्र, वैश्य, स्त्रियाँ तथा शूद्र से भी निम्नकुल में उत्पन्न लोग सम्मिलित हैं, तो फिर गुणसम्पन्न ब्राह्मणों तथा महान स्वरूपसिद्ध राजाओं जैसे उच्च कोटि के लोगों के विषय में कहना ही है? यज्ञ, दान, तप इत्यादि नाम से प्रचलित अन्य उच्च कोटि के कार्य: ये सभी सूत्र—उप सिद्धान्त हैं जो शुद्ध तथा वैज्ञानिक भक्ति-पद्धति का अनुगमन करते हैं।

दिव्य अनुभूति के मार्ग में ज्ञान तथा वैराग्य के सिद्धान्त दो महत्त्वपूर्ण कारक हैं। सम्पूर्ण आध्यात्मिक विधि भौतिक तथा आध्यात्मिक प्रत्येक वस्तु के पूर्ण ज्ञान तक ले जाती है और इस पूर्ण ज्ञान का फल यह होता है कि मनुष्य भौतिक राग से विरक्त होकर आध्यात्मिक कार्यों में अनुरक्त हो जाता है। भौतिक राग से विरक्त होने का अर्थ पूर्ण रूप से निष्क्रिय हो जाना नहीं है, जैसाकि अल्पज्ञान वाले लोग सोचते हैं। *नैष्कर्म* का अर्थ है, ऐसे कर्म न करना जिनका अच्छा या बुरा प्रभाव पड़े। निषेध का अर्थ सकारात्मक का निषेध नहीं है। अनावश्यक कार्यों का निषेध अनिवार्य का निषेध नहीं है। इसी प्रकार भौतिक रूपों से विरक्ति का अर्थ सकारात्मक रूप को नकारना नहीं है। भक्ति उपासना-पद्धति तो सकारात्मक रूप की अनुभूति के लिए निर्मित है। जब सकारात्मक रूप का साक्षात्कार हो जाता है, तो नकारात्मक रूप स्वत: विलग हो जाते हैं। अत:

भक्ति उपासना-पद्धति के विकास के साथ-साथ, वास्तविक रूप की सकारात्मक सेवा में व्यावहारिक रूप से जुड़ जाने से मनुष्य सहज रूप से निम्न कोटि की वस्तुओं से विलग होता जाता है और श्रेष्ठ वस्तुओं से जुड़ जाता है। इसी प्रकार भक्ति उपासना-पद्धति जीव का सर्वोच्च धर्म होने के कारण वह उसे भौतिक इन्द्रिय सुख से बाहर निकालती है। यही शुद्ध भक्त का लक्षण है। वह न तो मूर्ख होता है, न ही वह निकृष्ट शक्तियों में लगा रहता है, और न ही उसके पास भौतिक मूल्य होते हैं। यह केवल शुष्क चिन्तन से सम्भव नहीं। यह तो केवल भगवत्कृपा से ही सम्भव हो पाता है। निष्कर्ष यह है कि जो शुद्ध भक्त है वह अन्य सभी उत्तम गुणों से पूर्ण होता है यथा—ज्ञान, वैराग्य आदि, किन्तु जिसमें केवल ज्ञान तथा वैराग्य होता है वह भक्ति उपासना-पद्धति के नियमों से ठीक से परिचित हो, यह आवश्यक नहीं है। भक्ति मानवजाति का सर्वश्रेष्ठ धर्म है।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः ।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥ ८॥

शब्दार्थ

धर्मः—वृत्ति; स्वनुष्ठितः—अपने पद के अनुसार सम्पन्न; पुंसाम्—मनुष्यों का; विष्वक्सेन—भगवान् (पूर्ण अंश) की; कथासु—कथा में; यः—जो है; न—नहीं; उत्पादयेत्—उत्पन्न करता है; यदि—यदि; रतिम्—आसक्ति; श्रमः—व्यर्थ श्रम; एव—निरा; हि—निश्चय ही; केवलम्—पूर्ण रूप से।

मनुष्य द्वारा अपने पद के अनुसार सम्पन्न की गई वृत्तियाँ यदि भगवान् के सन्देश के प्रति आकर्षण उत्पन्न न कर सकें, तो वे निरी व्यर्थ का श्रम होती हैं।

तात्पर्य : मनुष्य की जीवन के प्रति विभिन्न अवधारणाओं के अनुसार वृत्तियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। निपट भौतिकतावादी के लिए, जो स्थूल शरीर से परे कुछ भी नहीं देख पाता, इन्द्रियों से परे कुछ भी नहीं है। अतएव उसकी वृत्तियाँ संकेन्द्रित और विस्तारित स्वार्थ तक ही सीमित रहती हैं। यह संकेन्द्रित स्वार्थ अपने ही शरीर के चारों ओर केन्द्रित रहता है—सामान्य रूप से यह निम्न पशुओं में देखा जाता है। विस्तारित स्वार्थ मानव-समाज में दिखता है और यह परिवार, समाज, समुदाय, राष्ट्र तथा विश्व के दृष्टिकोण से शारीरिक सुख के इर्द-गिर्द घूमता है। इन निपट

भौतिकतावादियों के ऊपर मनोधर्मी तर्कवादी होते हैं, जो मनोजगत में उड़ान भरते रहते हैं और उनकी वृत्तियों में कविता बनाना तथा दार्शनिकपन या शरीर तथा मन के वही सीमित स्वार्थ के उद्देश्य से कोई *'वाद'* चलाना सम्मिलित होते हैं। किन्तु शरीर तथा मन के ऊपर सुप्त आत्मा है, जो यदि शरीर में न रहे तो सारे शारीरिक तथा मानसिक स्वार्थ व्यर्थ एवं शून्य हो जाँय। किन्तु कम बुद्धिमान लोगों को आत्मा की आवश्यकताओं की कोई जानकारी नहीं होती।

चूँकि मूर्ख लोगों को न तो आत्मा की कोई जानकारी होती है और न इसकी ही कि वह शरीर तथा मन के विचार-क्षेत्र से किस तरह परे है, फलस्वरूप वे अपनी-अपनी वृत्तियों से संतुष्ट नहीं रहते। यहाँ पर आत्म-संतुष्टि का प्रश्न उठाया गया है। आत्मा स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म मन से परे है। वह शरीर तथा मन का एक सशक्त सक्रिय तत्त्व है। सुप्त आत्मा की आवश्यकता को जाने बिना केवल शरीर तथा मन को तुष्ट करके कोई सुखी नहीं रह सकता। शरीर तथा मन तो आत्मा के व्यर्थ के बाह्य आवरण मात्र हैं। आत्मा की आवश्यकताएँ पूरी होनी ही चाहिए। केवल पंछी के पिंजड़े की सफाई करके पंछी को प्रसन्न नहीं किया जा सकता। मनुष्य को इस पंछी की खुद की आवश्यकताएँ जाननी चाहिए।

आत्मा की आवश्यकता यह है कि वह भौतिक बन्धन के संकुचित क्षेत्र से बाहर निकलना चाहता है और पूर्ण स्वतन्त्रता की अपनी इच्छा को पूरा करना चाहता है। वह इस विशालतर ब्रह्माण्ड की आच्छादित दीवालों के बाहर जाना चाहता है। वह स्वतन्त्र प्रकाश तथा आत्मा का दर्शन करना चाहता है। उसे पूरी स्वतन्त्रता तब प्राप्त होती है, जब वह पूर्ण आत्मा, भगवान्, को मिलता है। प्रत्येक प्राणी में ईश्वर के प्रति प्रसुप्त स्नेह रहता है; आध्यात्मिक जीवन का प्राकट्य स्थूल शरीर तथा मन के माध्यम से स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थ के प्रति विकृत प्रेम के रूप में होता है। अतएव हमें उन वृत्तियों (धर्म) में लगना होता है, जिनसे हमारी दैवी चेतना जगे। ऐसा परमेश्वर की दिव्य लीलाओं के श्रवण एवं कीर्तन द्वारा ही सम्भव है और ऐसी कोई भी वृत्ति जो मनुष्य को परमेश्वर के दिव्य सन्देश का श्रवण तथा कीर्तन करने में अनुरक्त नहीं करती है, यहाँ पर ऐसी वृत्ति को समय का अपव्यय बताया गया है। ऐसा इसलिए है कि अन्य वृत्तियाँ (चाहे वे

किसी भी 'वाद' के रूप में हों) आत्मा को मुक्ति नहीं दिला सकतीं। यहाँ तक कि मोक्षकामियों के कर्म भी व्यर्थ माने जाते हैं, क्योंकि वे समस्त स्वतन्त्रताओं के मूल स्रोत को नहीं जान पाते। निपट भौतिकतावादी व्यावहारिक रूप से देख सकता है कि उसका भौतिक लाभ काल तथा स्थल से बँधा है, चाहे वह इस लोक में हो या अन्यत्र। यदि वह स्वर्गलोक में भी चला जाये, तो उसकी लालायित आत्मा को वहाँ भी स्थायी वास नहीं मिलेगा। इस लालायित आत्मा को पूर्ण भक्ति की पूर्ण वैज्ञानिक विधि द्वारा तुष्ट किया जाना चाहिए।

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते ।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

धर्मस्य—वृत्ति का; हि—निश्चय ही; आपवर्ग्यस्य—अन्तिम मोक्ष का; न—नहीं; अर्थः—अन्त, लक्ष्य; अर्थाय—भौतिक लाभ के लिए; उपकल्पते—साधन के हेतु; न—न तो; अर्थस्य—भौतिक लाभ का; धर्म-एक-अन्तस्य—धर्म में लगे हुए के लिए; कामः—इन्द्रियतृप्ति के; लाभाय—लाभ हेतु; हि—सही सही; स्मृतः—ऋषियों द्वारा बताया गया है।.

समस्त वृत्तिपरक कार्य निश्चय ही परम मोक्ष के निमित्त होते हैं। उन्हें कभी भौतिक लाभ के लिए सम्पन्न नहीं किया जाना चाहिए। इससे भी आगे, ऋषियों के अनुसार, जो लोग परम वृत्ति (धर्म) में लगे हैं, उन्हें चाहिए कि इन्द्रियतृप्ति के संवर्धन हेतु भौतिक लाभ का उपयोग कदापि नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य : हम पहले ही बता चुके हैं कि पूर्ण ज्ञान तथा भौतिक अस्तित्व से विरक्ति भगवान् की शुद्ध भक्तिमय सेवा के पीछे-पीछे स्वतः आ जाते हैं। किन्तु कुछ लोग ऐसे हैं जो मानते हैं कि धर्म सहित समस्त प्रकार की वृत्तियाँ, भौतिक लाभ के निमित्त हैं। संसार के किसी भी भाग में किसी भी साधारण व्यक्ति की सामान्य प्रवृत्ति यही होती है कि धार्मिक या अन्य वृत्ति के बदले कोई न कोई भौतिक लाभ प्राप्त हो। यहाँ तक कि वैदिक साहित्य में भी, समस्त धार्मिक कृत्यों के लिए भौतिक लाभ का प्रलोभन दिया गया है और अधिकांश लोग ऐसे धार्मिकता के प्रलोभनों अथवा आशीर्वादों के प्रति आकृष्ट होते हैं। तो फिर ऐसे तथाकथित धार्मिक लोग भौतिक लाभों के प्रति क्यों आकृष्ट होते हैं? क्योंकि भौतिक लाभ से इच्छाओं की पूर्ति हो सकती है और

इच्छाओं की पूर्ति से इन्द्रियतुष्टि होती है। वृत्तियों के इस चक्र में तथाकथित धार्मिकता भी आती है, जिसके बाद भौतिक लाभ और भौतिक लाभ के बाद इच्छापूर्ति होती है। इन्द्रियतृप्ति पूरी तरह से व्यस्त समस्त प्रकार के व्यक्तियों का सामान्य मार्ग है। किन्तु *श्रीमद्‌भागवत* के निर्णय अनुसार, इस श्लोक में सूत गोस्वामी के कथन द्वारा इसका निषेध किया गया है।

मनुष्य को चाहिए कि केवल भौतिक लाभ के लिए ही कोई वृत्ति न अपनाये। न ही भौतिक लाभ का उपयोग इन्द्रियतृप्ति के लिए किया जाय। भौतिक लाभ का सदुपयोग किस प्रकार किया जा सकता है, इसका वर्णन आगे हुआ है।

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

कामस्य—इच्छाओं का; न—नहीं; इन्द्रिय—इन्द्रियों की; प्रीतिः—तुष्टि; लाभः—लाभ; जीवेत—आत्मसंरक्षण; यावता—जितना; जीवस्य—जीव का; तत्त्व—परम सत्य की; जिज्ञासा—पूछताछ, उत्कंठा; न—नहीं; अर्थः—अन्त, लक्ष्य; यः च इह—अन्य जो भी; कर्मभिः—वृत्तियों के द्वारा।

जीवन की इच्छाएँ इन्द्रियतृप्ति की ओर लक्षित नहीं होनी चाहिए। मनुष्य को केवल स्वस्थ जीवन की या आत्म-संरक्षण की कामना करनी चाहिए, क्योंकि मानव तो परम सत्य के विषय में जिज्ञासा करने के निमित्त बना है। मनुष्य की वृत्तियों का इसके अतिरिक्त, अन्य कोई लक्ष्य नहीं होना चाहिए।

तात्पर्य : पूर्ण रूप से मोहग्रस्त भौतिक सभ्यता गलत तरीके से इन्द्रियतृप्ति की इच्छापूर्ति की दिशा में अग्रसर है। ऐसी सभ्यता में, जीवन के सभी क्षेत्रों में, इन्द्रियतृप्ति ही चरम लक्ष्य होता है। चाहे राजनीति हो या कि समाज सेवा, परोपकार, परहितवाद या धर्म, यहाँ तक कि मोक्ष में भी वही इन्द्रियतृप्ति के रंग की प्रधानता बढ़ती ही जा रही है। राजनीतिक क्षेत्र में लोगों के नेता अपनी-अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए परस्पर झगड़ते हैं। मतदाता भी नेताओं को तभी मानते हैं, जब वे उनकी इन्द्रियतृप्ति कराने का वचन देते हैं। जब मतदाता अपनी इन्द्रियतृप्ति में असन्तुष्ट हो जाते हैं, तब वे नेता को पदच्युत करा देते हैं। नेताओं द्वारा मतदाताओं की इन्द्रियों की तुष्टि न करके

उन्हें सदैव निराश करना पड़ता है। अन्य क्षेत्रों में भी यह लागू होता है; कोई भी जीवन की समस्याओं के प्रति गम्भीर नहीं है। यहाँ तक कि परम सत्य से तदाकार होने के इच्छुक पथगामी (मुमुक्षु) भी इन्द्रियतृप्ति के लिए आध्यात्मिक हत्या करने तक को उद्यत रहते हैं। किन्तु *भागवत* का कथन है कि मनुष्य को इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं जीना चाहिए। इन्द्रियों की तुष्टि वहीं तक की जाय, जहाँ तक आत्म-संरक्षण हेतु आवश्यकता हो, इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं। चूँकि शरीर इन्द्रियों से बना है और ये इन्द्रियाँ कुछ न कुछ तुष्टि चाहती हैं, अत: ऐसी इन्द्रियों की तुष्टि के लिए कुछ विधि-विधान बनाये गये हैं। किन्तु इन्द्रियाँ अनियन्त्रित भोग के लिए नहीं हैं। उदाहरणार्थ, विवाह यानी स्त्री तथा पुरुष की युति सन्तानोत्पत्ति के लिए आवश्यक है, किन्तु यह इन्द्रिय-भोग के लिए नहीं होता। स्वेच्छ निरोध के अभाव में परिवार नियोजन के लिए प्रचार करना पड़ता है, किन्तु मूर्ख लोग यह नहीं जानते हैं कि परम सत्य की खोज में लगते ही स्वत: परिवार नियोजन हो जाता है। परम सत्य की खोज करने वाले कभी भी अनावश्यक इन्द्रिय-तृप्ति के प्रति आकृष्ट नहीं होते, क्योंकि परम सत्य की खोज के कार्य में वे पूरी तरह व्यस्त रहते हैं। अतएव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परम सत्य की खोज को ही चरम लक्ष्य बनाना चाहिए। इससे मनुष्य सुखी होगा क्योंकि वह तरह-तरह की इन्द्रियतृप्ति में कम लिप्त होगा। और वह परम सत्य क्या है, इसकी व्याख्या आगे की गई है।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

वदन्ति—वे कहते हैं; तत्—वह; तत्त्व-विद:—विद्वान लोग; तत्त्वम्—परम सत्य को; यत्—जो; ज्ञानम्—ज्ञान; अद्वयम्—अद्वैत; ब्रह्म इति—ब्रह्म नाम से जाना जाने वाला; परमात्मा इति—परमात्मा नाम से जाना जाने वाला; भगवान् इति—भगवान् नाम से जाना जाने वाला; शब्द्यते—कहलाने वाले हैं।

परम सत्य को जानने वाले विद्वान अध्यात्मवादी (तत्त्वविद) इस अद्वय तत्त्व को ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् के नाम से पुकारते हैं।

तात्पर्य : परम सत्य ज्ञाता तथा ज्ञेय दोनों हैं और इनमें कोई गुणात्मक भेद नहीं है। अत: ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् गुणात्मक रूप से एक ही हैं। इसी को उपनिषदों के जिज्ञासु निर्विशेष ब्रह्म के रूप में, हिरण्यगर्भ या योगीजन अन्तर्यामी परमात्मा के रूप में तथा भक्तगण भगवान् के रूप में अनुभव करते हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् अर्थात् परमेश्वर का स्वरूप परम सत्य का अन्तिम शब्द है। परमात्मा भगवान् का आंशिक स्वरूप है और निर्विशेष ब्रह्म भगवान् का वैसा ही तेज है, जैसे कि सूर्य की किरणें सूर्यदेव के लिए हैं। कभी-कभी उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं के अल्पज्ञ जिज्ञासु अपनी-अपनी अनुभूति के पक्ष में तर्क करते हैं, किन्तु जो लोग परम सत्य के वास्तविक द्दष्टा हैं, वे अच्छी प्रकार जानते हैं कि एक ही परम सत्य के ये तीन लक्षण भिन्न भिन्न द्दष्टिकोणों से भिन्न-भिन्न दिखते हैं।

जैसाकि *भागवत* के प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक में कहा गया है, परम सत्य परम-पूर्ण, सर्वज्ञ तथा सापेक्षता के मोह से सर्वथा मुक्त हैं। इस सापेक्ष जगत में ज्ञाता ज्ञेय से भिन्न होता है, किन्तु परम सत्य में ज्ञाता और ज्ञेय एक ही होते हैं। सापेक्ष जगत में ज्ञाता जीवंत आत्मा या परा शक्ति है, जबकि ज्ञेय निष्क्रिय पदार्थ या अपरा शक्ति के रूप में होता है। अत: यहाँ परा तथा अपरा शक्ति का द्वैत है, किन्तु निरपेक्ष जगत में ज्ञाता तथा ज्ञेय दोनों एक ही परा शक्ति के होते हैं। परम शक्तिमान की तीन प्रकार की शक्तियाँ होती हैं। शक्ति तथा शक्तिमान में कोई अन्तर नहीं होता, लेकिन शक्तियों की गुणवत्ता में अन्तर होता है। परम जगत तथा जीवात्माएँ एक ही पराशक्ति से बने हैं, लेकिन यह भौतिक जगत अपरा शक्ति है। जीव अपरा शक्ति के सम्पर्क में रहने से मोहग्रस्त हो जाता है और यह सोचता है कि वह अपरा शक्ति से सम्बन्धित है। अत: भौतिक जगत में सापेक्षता का भाव है। किन्तु परम पूर्ण में ज्ञाता तथा ज्ञेय में अन्तर नहीं होता और प्रत्येक वस्तु पूर्ण (परम) होती है।

तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया ।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया ॥ १२॥

शब्दार्थ

तत्—वह; श्रद्दधानाः—गम्भीर जिज्ञासु; मुनयः—मुनिगण; ज्ञान—ज्ञान; वैराग्य—वैराग्य; युक्तया—से समन्वित; पश्यन्ति—देखते हैं; आत्मनि—अपने में; च—तथा; आत्मानम्—परमात्मा को; भक्त्या—भक्ति से; श्रुत—वेद से; गृहीतया—भलीभाँति ग्रहण किया गया।.

ज्ञान तथा वैराग्य से समन्वित गम्भीर जिज्ञासु या मुनि, वेदान्त-श्रुति के श्रवण से ग्रहण की हुई भक्ति द्वारा परम सत्य की अनुभूति करता है।

तात्पर्य : भगवान् वासुदेव जो परम सत्य की पूर्ण अभिव्यक्ति के समान हैं, उनकी भक्तिमय सेवा की प्रक्रिया से परम सत्य की अनुभूति होती है। ब्रह्म उनका दिव्य शारीरिक तेज है और परमात्मा उनका आंशिक स्वरूप है। फलत: ब्रह्म या परमात्मा की अनुभूति परम सत्य की आंशिक अनुभूति मात्र है। मनुष्य चार प्रकार के होते हैं—कर्मी, ज्ञानी, योगी तथा भक्त। कर्मी भौतिकतावादी होते हैं, किन्तु शेष तीन अध्यात्मवादी होते हैं। भक्त प्रथम श्रेणी के अध्यात्मवादी होते हैं, जिन्होंने परम पुरुष का साक्षात्कार कर लिया है। दूसरी श्रेणी में वे अध्यात्मवादी आते हैं, जिन्होंने परम पुरुष के पूर्ण अंश का आंशिक साक्षात्कार किया है और तीसरी श्रेणी में वे आते हैं जिन्हें परम पुरुष की दिव्य झाँकी का आभास मात्र होता है। जैसा कि *भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक ग्रंथों में कहा गया है, परम पुरुष का साक्षात्कार भक्तिमय सेवा द्वारा किया जाता है, जिसके पीछे पूर्ण ज्ञान तथा भौतिक संगति से वैराग्य सन्निहित रहते हैं। हम पहले ही बता चुके हैं कि भक्तिमय सेवा के बाद ज्ञान तथा भौतिक संगति से वैराग्य आते हैं। चूँकि ब्रह्म तथा परमात्मा की अनुभूति उन परम सत्य की अपूर्ण अनुभूतियाँ हैं, अत: ब्रह्म तथा परमात्मा को प्राप्त करने के साधन अर्थात् ज्ञान तथा योग मार्ग भी परम सत्य की अनुभूति के अपूर्ण साधन हैं। भक्ति ही एकमात्र पूर्ण विधि है जिससे गम्भीर जिज्ञासु को परम सत्य की अनुभूति हो सकती है, क्योंकि भक्ति की नींव पूर्ण ज्ञान तथा भौतिक संग से वैराग्य के ऊपर खड़ी होती है और *वेदान्त-श्रुति* के श्रवण द्वारा सुदृढ़ होती है। अत: ऐसा नहीं है कि भक्ति अल्पज्ञ अध्यात्मवादियों के निमित्त होती है। भक्तों की तीन श्रेणियाँ हैं—प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय। तृतीय श्रेणी के भक्त या नवदीक्षित भक्त, जो ज्ञानविहीन होते हैं, वे भौतिक संगति से विरक्त नहीं होते। वे तो मन्दिर में अर्चा-विग्रह की पूजा की प्रारम्भिक प्रक्रिया के प्रति ही आकृष्ट होते हैं। ऐसे भक्त भौतिक भक्त कहलाते हैं।

ऐसे भक्त आध्यात्मिक लाभ की अपेक्षा भौतिक लाभ के प्रति अधिक आसक्त रहते हैं। अत: मनुष्य को इस भौतिक भक्ति से उन्नति करके भक्ति की द्वितीय अवस्था प्राप्त करनी होती है। इस द्वितीय अवस्था में भक्त को भक्ति की दिशा में चार तत्त्व दिखाई पड़ते हैं—परम ईश्वर, उनके भक्त, अज्ञानी तथा ईर्ष्यालु। मनुष्य को कम से कम इस द्वितीय श्रेणी के भक्त की अवस्था तक उठना होता है, जिससे वह परम सत्य को जानने का पात्र बन सके।

अत: तृतीय श्रेणी के भक्त को भक्ति सम्बन्धी अनुदेश *भागवत* के प्रामाणिक स्रोतों से प्राप्त करने होते हैं। पहली श्रेणी का *भागवत* सुस्थापित भक्त है और दूसरा है *भागवतम्* जो ईश्वर का सन्देश है। अत: तृतीय श्रेणी के भक्त को भक्ति के उपदेशों की शिक्षा लेने के लिए किसी सच्चे भक्त के पास जाना होता है। ऐसा भक्त कोई व्यवसायी व्यक्ति नहीं होता, जो *भागवत* को व्यापार समझकर अपनी जीविका कमाता हो। ऐसे भक्त को सूत गोस्वामी की तरह शुकदेव गोस्वामी का प्रतिनिधि होना चाहिए और उसे समस्त जनता के चतुर्दिक् कल्याण के लिए भक्ति उपासना-पद्धति का उपदेश करना चाहिए। नवजिज्ञासु भक्त को प्रामाणिक व्यक्तियों से सुनने में तनिक भी रुचि नहीं रहती। ऐसा नवजिज्ञासु भक्त अपनी इन्द्रियतृप्ति के हेतु किसी व्यावसायिक व्यक्ति से सुनने का दिखावा करता है। इस प्रकार के श्रवण तथा कीर्तन से सारा मामला गडबड़ा गया है, अत: इस दोषपूर्ण विधि के प्रति अत्यन्त सतर्क रहने की आवश्यकता है। *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* में निहित भगवान् के दिव्य संदेश निस्सन्देह दिव्य विषय हैं, किन्तु ऐसा होते हुए भी उन्हें किसी व्यावसायिक व्यक्ति से ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह उन्हें उसी प्रकार दूषित कर देता है जिस प्रकार सर्प अपनी जीभ के स्पर्श मात्र से दूध को विषाक्त कर देता है।

अतएव निष्ठावान भक्त को चाहिए कि वह अपनी उन्नति के लिए उपनिषद्, वेदान्त जैसे वैदिक साहित्य को तथा पूर्ववर्ती आचार्यों अथवा गोस्वामियों द्वारा छोड़े गये (संकलित) अन्य साहित्य को सुने। ऐसे साहित्य का श्रवण किये बिना मनुष्य सच्ची उन्नति नहीं कर सकता। बिना श्रवण किये तथा आदेशों का पालन किये बिना भक्ति का प्रदर्शन निरर्थक है और यह भक्ति के पथ में अवरोध जैसा है। अतएव जब तक श्रुति, स्मृति, पुराण या पञ्चरात्र प्रमाणों जैसे सिद्धान्तों

पर भक्ति स्थापित न हो, तब तक भक्ति के ऐसे प्रदर्शन को तत्काल त्याज्य समझना चाहिए। किसी अनधिकृत भक्त को कभी भी शुद्ध भक्त की मान्यता नहीं दी जानी चाहिए। वैदिक साहित्य से ऐसे संदेशों को आत्मसात् करके अपने भीतर अन्तर्यामी परमात्मा को निरंतर देखा जा सकता है। यह समाधि कहलाती है।

अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः ।
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अतः—अतएव; पुम्भिः—मनुष्य द्वारा; द्विज-श्रेष्ठाः—हे द्विजों में श्रेष्ठ; वर्ण-आश्रम—चार वर्णों तथा जीवन के चार आश्रमों के; विभागशः—विभाजन से; स्वनुष्ठितस्य—अपने कर्तव्यों का; धर्मस्य—वृत्तिपरक; संसिद्धिः—सर्वोच्च सिद्धि; हरि—भगवान् को; तोषणम्—तुष्ट या प्रसन्न करना।

अतः हे द्विजश्रेष्ठ, निष्कर्ष यह निकलता है कि वर्णाश्रम धर्म के अनुसार अपने कर्तव्यों को पूरा करने से जो परम सिद्धि प्राप्त हो सकती है, वह है भगवान् को प्रसन्न करना।

तात्पर्य : सारे विश्व भर में मानव समाज चार वर्णों तथा चार आश्रमों में विभक्त है। चार वर्ण हैं : बुद्धिमान वर्ग, योद्धा वर्ग, उत्पादक वर्ग तथा श्रमिक वर्ग। ये वर्ण अपने कर्म तथा गुण के अनुसार विभाजित किए गए हैं, जन्म के अनुसार नहीं। फिर जीवन के चार आश्रम भी हैं। इनके नाम हैं : विद्यार्थी जीवन, गृहस्थ जीवन, वानप्रस्थ तथा भक्त जीवन। मानव समाज का परम हित इसी में है कि जीवन इसी तरह ही विभाजित हो, अन्यथा कोई भी सामाजिक संस्था स्वस्थ विकास नहीं कर सकती। इनमें से जीवन के प्रत्येक विभाग का लक्ष्य परम सत्ता भगवान् को प्रसन्न करना है। मानव समाज के इस संस्थागत कार्य को वर्णाश्रम धर्म के रूप में जाना जाता है, जो सुसंस्कृत जीवन के लिए अत्यन्त स्वाभाविक है। वर्णाश्रम धर्म का निर्माण इसलिए किया गया है कि परम सत्य की अनुभूति हो सके। इसका निर्माण एक विभाग का दूसरे पर कृत्रिम आधिपत्य के लिए नहीं किया गया है। जब इन्द्रियतृप्ति की अत्यधिक आसक्ति के कारण जीवन का लक्ष्य, अर्थात् परम सत्य का साक्षात्कार चूक जाता है, तब जैसाकि पहले कहा जा चुका है, स्वार्थी लोगों द्वारा वर्णाश्रम धर्म का उपयोग कमजोर वर्ग पर कृत्रिम आधिपत्य दिखाने के लिए किया जाता है।

कलियुग में अर्थात् कलहप्रधान युग में, यह कृत्रिम आधिपत्य पहले से चालू है, किन्तु जो लोग सयाने हैं वे जानते हैं कि वर्ण तथा आश्रम विभाग सहज सामाजिक व्यवहार तथा उच्च विचारयुक्त आत्म-साक्षात्कार के लिए है, अन्य किसी प्रयोजन के लिए नहीं।

यहाँ पर *भागवत* का कथन है कि जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य या वर्णाश्रम धर्म की चरम सिद्धि यह है कि हम सब मिलकर परमेश्वर को प्रसन्न रखें। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.१३) में भी हुई है।

तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा ॥ १४॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतः; एकेन—एक, एकाग्र; मनसा—मन के ध्यान द्वारा; भगवान्—भगवान्; सात्वताम्—भक्तों के; पतिः—रक्षक; श्रोतव्यः—सुनने योग्य; कीर्तितव्यः—गुणगान के योग्य; च—तथा; ध्येयः—स्मरण करने योग्य; पूज्यः—पूजने के योग्य, पूजनीय; च—तथा; नित्यदा—निरन्तर।

अतएव मनुष्य को एकाग्रचित से उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विषय में निरन्तर श्रवण, कीर्तन, स्मरण तथा पूजन करना चाहिए, जो भक्तों के रक्षक हैं।

तात्पर्य : यदि परम सत्य का साक्षात्कार ही जीवन का चरम लक्ष्य है, तो इसे हर सम्भव साधन से अवश्य करना चाहिए। उपर्युक्त वर्णों तथा आश्रमों में से हर एक में गुणगान, श्रवण, स्मरण तथा पूजन—ये चार विधियाँ सामान्य वृत्तियाँ हैं। इन जीवन-सिद्धान्तों के बिना कोई रह नहीं सकता। जीवों के कार्यकलाप जीवन के इन्हीं चार विभिन्न सिद्धान्तों में व्यस्त रहने में निहित हैं। विशेष रूप से आधुनिक समाज में तो मुख्यतया सारे कार्यक्रम श्रवण तथा कीर्तन पर ही मुख्यतया आधारित हैं। कोई भी व्यक्ति, चाहे उसकी सामाजिक हैसियत कैसी भी क्यों न हो, वह कुछ ही काल में विख्यात हो जाता है यदि दैनिक समाचारपत्र उसका गुणगान करते हों, चाहे ये गुणगान झूठे हों या सच। कभी-कभी किसी दल विशेष के राजनीतिक नेताओं का विज्ञापन समाचार पत्रों में प्रसारित होता है और ऐसे गुणगान की विधि से एक नगण्य व्यक्ति भी अल्प समय में महत्त्वपूर्ण बन जाता है। किन्तु अयोग्य व्यक्ति के ऐसे झूठे प्रचार से न तो उस व्यक्ति का

लाभ होता है, न समाज का। भले ही ऐसे प्रचार की क्षणिक प्रतिक्रिया हो ले, किन्तु इसका प्रभाव स्थायी नहीं होता। अत: ऐसे कार्य समय का अपव्यय है। गुणगान तो उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का करना चाहिए, जिन्होंने हमारे सामने प्रकट होने वाली प्रत्येक वस्तु की सृष्टि की। हम इसकी विस्तृत व्याख्या *भागवत* के *जन्माद्यस्य* वाले प्रथम श्लोक के आरम्भ में ही कर चुके हैं। अन्यों का गुणगान करने या अन्यों के विषय में सुनने की प्रवृत्ति को गुणगान के वास्तविक लक्ष्य परमेश्वर की ओर मोड़ना चाहिए। इससे सुख उपजेगा।

यदनुध्यासिना युक्ता: कर्मग्रन्थिनिबन्धनम् ।
छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात्कथारतिम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

यत्—जो; अनुध्या—स्मृति रूपी; असिना—तलवार से; युक्ताः—युक्त, समन्वित; कर्म—कर्म की; ग्रन्थि—गाँठ; निबन्धनम्—बँधी हुई; छिन्दन्ति—काटते हैं; कोविदाः—बुद्धिमान; तस्य—उसका; कः—कौन; न—नहीं; कुर्यात्—करेंगे; कथा—सन्देश, कथाएँ; रतिम्—ध्यान।

हाथ में तलवार लिए बुद्धिमान मनुष्य भगवान् का स्मरण करते हुए कर्म की बँधी हुई ग्रंथि को काट देते हैं। अतएव ऐसा कौन होगा जो उनके सन्देश की ओर ध्यान नहीं देगा?

तात्पर्य : भौतिक तत्त्वों के सम्पर्क में आने से आध्यात्मिक स्फुलिंग एक ग्रंथि उत्पन्न कर देती है। अत: जो कर्म के घात-प्रतिघात से मुक्त होने का इच्छुक होता है, उसे इस ग्रंथि को काटना होता है। मुक्ति का अर्थ है, कर्म के चक्र से छूटना। जो व्यक्ति निरन्तर भगवान् की दिव्य लीलाओं का स्मरण करता है, उसे स्वत: यह मुक्ति मिल जाती है। इसका कारण यह है कि परम भगवान् की सारी लीलाएँ भौतिक शक्ति के गुणों से परे होती हैं। ये सारी दिव्य लीलाएँ परम सर्वा-कर्षक होती हैं, और इस प्रकार भगवान के आध्यात्मिक कार्य का सतत सान्निध्य बद्ध जीव को क्रमश: आध्यात्मिक बना देता है तथा सान्निध्य से बद्धजीव क्रमश: आध्यात्मिक बना देता है तथा अन्तत: उसकी भौतिक बन्धन की ग्रन्थि विच्छिन्न हो जाती है।

अतएव भवबन्धन से मुक्ति मिलना भक्ति का गौण फल है। केवल आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति से ही मुक्ति निश्चित नहीं होती। ऐसे ज्ञान के ऊपर भक्ति का लेप चढ़ाना जरूरी है, जिससे

अन्ततः भक्ति की ही प्रधानता बनी रहे। तभी मुक्ति सम्भव होती है। यहाँ तक कि सकाम कर्मियों के कर्म भी, यदि वे भक्ति से लेपित हों, तो उन्हें मुक्ति की ओर ले जा सकते हैं। भक्ति से लेपित कर्म *कर्मयोग* कहलाता है। इसी प्रकार भक्ति से लेपित अनुभव-गम्य ज्ञान *ज्ञानयोग* कहलाता है। किन्तु शुद्ध भक्तियोग ऐसे कर्म तथा ज्ञान से स्वतन्त्र है, क्योंकि यह अकेले, न केवल बद्ध जीवन से मोक्ष दिलाने वाला है, अपितु भगवान् की प्रेमाभक्ति भी प्रदान करने वाला है।

अतएव किसी भी ऐसे विवेकशील व्यक्ति को जो मध्यम स्तर के अल्पज्ञ व्यक्ति से ऊपर है, उसे भगवान् के बारे में श्रवण करके, उनका गुणगान करके, उनका ध्यान तथा पूजन करके निरन्तर उनका स्मरण करना चाहिए। भक्ति की यही सम्यक् विधि है। वृन्दावन के गोस्वामी, जिन्हें श्री चैतन्य महाप्रभु ने भक्ति उपासना पद्धति का उपदेश देने के लिए अधिकृत किया था, इस नियम का दृढ़ता से पालन करते रहे और उन्होंने हमारे लाभ के लिए दिव्य विज्ञान का प्रभूत साहित्य तैयार किया। उन्होंने विभिन्न वर्णों तथा आश्रमों के लोगों के लिए *श्रीमद्भागवत* तथा ऐसे ही अन्य प्रामाणिक शास्त्रों के आधार पर विविध मार्ग बनाये हैं।

शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः ।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

शुश्रूषोः—श्रवण में व्यस्त; श्रद्दधानस्य—श्रद्धापूर्वक; वासुदेव—वासुदेव की; कथा—संदेश, कथा में; रुचिः—लगाव; स्यात्—सम्भव बन जाता है; महत्-सेवया—शुद्ध भक्तों की सेवा करके; विप्राः—हे द्विजगण; पुण्य-तीर्थ—समस्त पापों से शुद्ध हुओं की; निषेवणात्—सेवा से।

हे द्विजो, जो भक्त समस्त पापों से पूर्ण रूप से मुक्त हैं, उनकी सेवा करने से महान सेवा हो जाती है। ऐसी सेवा से वासुदेव की कथा सुनने के प्रति लगाव उत्पन्न होता है।

तात्पर्य : जीव के बद्ध जीवन का कारण भगवान् के विरुद्ध विद्रोह है। कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो *देव* कहलाते हैं और कुछ ऐसे हैं जो *असुर* कहलाते हैं, क्योंकि ये परमेश्वर की सत्ता के विरुद्ध रहते हैं। *भगवद्गीता* के सोलहवें अध्याय में असुरों का विशद वर्णन किया गया है, जिसमें कहा गया है कि उन्हें जन्म-जन्मान्तर अज्ञान की निम्नतर अवस्थाओं में रखा जाता है। अतः उन्हें

पशु योनियों में रहना होता है, जिससे उन्हें परम सत्य, भगवान् की कोई जानकारी नहीं रहती। ये असुर भगवान् की इच्छानुसार उनके मुक्त सेवकों की कृपा से विभिन्न देशों में धीरे-धीरे ईश्वर-चेतना में परिशोधित किये जाते हैं। ईश्वर के ऐसे भक्त भगवान् के अन्तरंग पार्षद होते हैं और जब वे समाज को ईश्वरविहीन होने के खतरे से बचाने के लिए आते हैं, तो वे ईश्वर के शक्तिशाली अवतार, उनके पुत्र, उनके दास या उनके पार्षद कहलाते हैं। किन्तु इनमें से कोई भी मिथ्या तौर पर अपने को ईश्वर नहीं कहता। यह तो असुरों द्वारा घोषित निन्दा है और ऐसे असुरों के दानवी अनुयायी भी इन बहुरूपियों को ईश्वर या उनका अवतार मान लेते हैं। प्रामाणिक शास्त्रों में भगवान् के अवतार के विषय में निश्चित जानकारी मिलती है। जब तक प्रामाणिक शास्त्रों से पुष्टि न हो ले, तब तक किसी को ईश्वर या ईश्वर का अवतार नहीं मानना चाहिए।

वास्तव में जो भक्त भगवद्धाम जाने के इच्छुक हैं, उन्हें चाहिए कि भगवान् के सेवकों को भगवान् के रूप में मानें। भगवान् के ऐसे दास महात्मा या तीर्थ कहलाते हैं और वे विशिष्ट देश-काल के अनुसार उपदेश देते हैं। भगवान् के सेवक लोगों को भगवद्भक्त बनने के लिए प्रेरित करते हैं। वे कभी यह सहन नहीं कर सकते कि कोई उन्हें ईश्वर कहे। यद्यपि श्री चैतन्य महाप्रभु प्रामाणिक शास्त्रों के निर्देशानुसार साक्षात् भगवान् थे, किन्तु वे भक्त की तरह बने रहे। जो लोग उन्हें ईश्वर रूप में जानते थे, वे उन्हें ईश्वर कहकर पुकारते थे, किन्तु तब वे अपने कानों को हाथों से बन्द करके भगवान् विष्णु के नाम का कीर्तन करने लगते थे। वे स्वयं को ईश्वर कहलवाने का घोर विरोध करते थे, यद्यपि वे निस्संदेह साक्षात् भगवान् थे। भगवान् हमें उन धूर्तों से आगाह करने के लिये ऐसा आचरण करते हैं, जो अपने को ईश्वर कहलवाते हैं।

ईश्वर के दास ईश्वरीय चेतना का प्रसार करने के लिए आते हैं। बुद्धिमान लोगों को चाहिए कि वे उनके साथ हर तरह से सहयोग करें। भगवान् अपनी प्रत्यक्ष सेवा की अपेक्षा अपने दास की सेवा किये जाने से अधिक प्रसन्न होते हैं। भगवान् तब अत्यधिक प्रसन्न होते हैं, जब वे यह देखते हैं कि उनके भक्तों का समुचित आदर हो रहा है, क्योंकि वे भगवान् की सेवा के लिए सभी प्रकार के कष्ट उठाते हैं, अत: वे उन्हें अत्यन्त प्रिय होते हैं। *भगवद्गीता* (१८.६९) में भगवान्

घोषित करते हैं कि उन्हें उस भक्त के समान अन्य कोई प्रिय नहीं है, जो उनकी महिमा का प्रचार करते हुए अपना सर्वस्व संकट में डालता है। भगवान् के सेवकों की सेवा करके कोई भी धीरे-धीरे उन सेवकों के गुणों को प्राप्त करता है और इस प्रकार वह भगवान् की महिमा सुनने के योग्य बन जाता है। भगवद्धाम में प्रवेश पाने के लिए भक्त की पहली योग्यता यह है कि वह भगवान् के विषय में सुनने को उत्सुक हो।

शृण्वतां स्वकथा: कृष्ण: पुण्यश्रवणकीर्तन: ।
हृद्यन्त:स्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

शृण्वताम्—जिन्होंने कथा सुनने की रुचि उत्पन्न कर ली है; स्व-कथा:—अपनी वाणी; कृष्ण:—भगवान्; पुण्य—पावन; श्रवण—सुनना; कीर्तन:—कीर्तन करना; हृदि अन्त: स्थ:—अपने ह्रदय के भीतर; हि—निश्चय ही; अभद्राणि—पदार्थ को भोगने की इच्छा; विधुनोति—स्वच्छ करता है, विमल बनाता है; सुहृत्—उपकारी; सताम्—सत्यनिष्ठ के।

प्रत्येक हृदय में परमात्मास्वरूप स्थित तथा सत्यनिष्ठ भक्तों के हितकारी भगवान् श्रीकृष्ण, उस भक्त के हृदय से भौतिक भोग की इच्छा को हटाते हैं जिसने उनकी कथाओं को सुनने में रुचि उत्पन्न कर ली है, क्योंकि ये कथाएँ ठीक से सुनने तथा कहने पर अत्यन्त पुण्यप्रद हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण की कथाएँ उनसे अभिन्न हैं। अतएव जब भी अपराध-रहित होकर भगवान् के बारे में श्रवण तथा उनका गुणगान किया जाता है, तो यह समझना चाहिए कि वहाँ पर भगवान् कृष्ण दिव्य शब्द के रूप में उपस्थित हैं जो साक्षात् भगवान् के समान ही शक्तिमान है। श्री चैतन्य महाप्रभु अपने *शिक्षाष्टक* में स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं कि भगवान् के पवित्र नाम में भगवान् की सारी शक्तियाँ निहित हैं और उन्होंने अपने असंख्य नामों को वही शक्ति प्रदान की है। इसके लिए कोई समयावधि निश्चित नहीं है। कोई भी व्यक्ति अपनी सुविधा के अनुसार ध्यानपूर्वक तथा आदरपूर्वक पवित्र नाम का जप कर सकता है। भगवान् हम पर इतने दयालु हैं कि वे हमारे समक्ष दिव्य शब्द के रूप में साक्षात् उपस्थित हो सकते हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश हममें भगवान् के नाम और उनकी लीलाओं को सुनने तथा उनका महिमा-गान करने

के प्रति कोई रुचि नहीं है। हम पहले ही पवित्र शब्द के श्रवण तथा कीर्तन के प्रति रुचि उत्पन्न करने के विषय में बता चुके हैं। इसे भगवान् के शुद्ध भक्त की सेवा करके प्राप्त किया जा सकता है।

भगवान् अपने भक्तों के साथ परस्पर आदान-प्रदान करते हैं। जब भगवान् देखते हैं कि भक्त उनकी सेवा में प्रवेश पाने के लिए पूर्ण निष्ठा से तत्पर है और फलस्वरूप उनके विषय में सुनने का इच्छुक है, तो वे भक्त के भीतर से इस तरह से कार्य करते हैं कि भक्त उनके पास सरलता से वापस चला जाये। भगवान् हमारी अपेक्षा अधिक उत्सुक हैं कि हम उनके पास वापस जाँए। किन्तु हममें से अधिकांश भगवान् के धाम में वापस नहीं जाना चाहते। केवल कुछ ही ऐसे हैं जो भगवान् के पास वापस जाना चाहते हैं। किन्तु जो कोई भी भगवद्धाम में वापस जाना चाहता है, श्रीकृष्ण सब तरह से उसकी सहायता करते हैं।

कोई तब तक भगवान् के धाम में प्रविष्ट नहीं हो सकता, जब तक कि वह समस्त प्रकार के पापों से मुक्त न हो जाए। भौतिक पाप हमारे द्वारा भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व प्राप्त करने की इच्छाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। ऐसी इच्छाओं से पिंड छुड़ा पाना बहुत कठिन है। भक्त के लिए भगवद्धाम वापस जाने के मार्ग में कामिनी तथा कंचन मुख्य बाधाएँ हैं। भक्तिपथ के अनेक दिग्गज इन प्रलोभनों के शिकार हो जाते है और इस प्रकार से मुक्ति पथ से लौट आते है, किन्तु जब स्वयं भगवान् मनुष्य की सहायता करते हैं, तो भगवत्कृपा से सारी प्रक्रिया सुगम बन जाती है।

कामिनी तथा कंचन के संसर्ग में आकर अशान्त होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि प्रत्येक जीव लम्बे समय से—व्यावहारिक दृष्टि से कहें तो अनादि काल से ऐसी वस्तुओं से जुड़ा रहा है और इस बेगानी प्रकृति से छुटकारा पाने में समय लगता है। किन्तु यदि कोई भगवान् के यश का श्रवण करने में जुट जाता है, तो धीरे-धीरे उसे अपनी असली स्थिति की अनुभूति हो जाती है। भगवत्कृपा से ऐसे भक्त को प्रचुर शक्ति प्राप्त होती है, जिससे वह विघ्नों से अपनी रक्षा कर सकता है और सारे अनर्थ उसके मस्तिष्क से क्रमशः दूर हो जाते हैं।

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया ।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

नष्ट—समाप्त; प्रायेषु—प्राय: शून्य; अभद्रेषु—समस्त अमंगलों से; नित्यम्—नियमित रूप से; भागवत—श्रीमद्भागवत या शुद्ध भक्त की; सेवया—सेवा द्वारा; भगवति—भगवान् में; उत्तम—दिव्य; श्लोके—स्तुतियाँ; भक्ति:—प्रेमाभक्ति, सेवा; भवति—(उत्पन्न) होती है; नैष्ठिकी—अटल, अविचल।

भागवत की कक्षाओं में नियमित उपस्थित रहने तथा शुद्ध भक्त की सेवा करने से हृदय के सारे दुख लगभग पूर्णत: विनष्ट हो जाते हैं और उन पुण्यश्लोक भगवान् में अटल प्रेमाभक्ति स्थापित हो जाती है, जिनकी प्रशंसा दिव्य गीतों से की जाती है।

तात्पर्य : यहाँ पर हृदय से उन अमंगलकारी वस्तुओं को निकालने का उपचार दिया गया है, जो आत्म-साक्षात्कार के पथ पर अवरोधरूप हैं। यह उपचार है *भागवतों* की संगति करना। *भागवत* दो प्रकार के होते हैं—एक तो *ग्रंथ-भागवत* और दूसरे *भक्त-भागवत*। ये दोनों ही *भागवत* कारगर औषधियाँ हैं और इनमें से कोई एक या दोनों ही अवरोधों को हटाने वाले हैं। *भक्त-भागवत ग्रन्थ-भागवत* के ही समान है, क्योंकि *भक्त-भागवत ग्रन्थ-भागवत* के अनुसार ही जीवन-यापन करता है और *ग्रन्थ-भागवत* तो भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्तों अर्थात *भागवतों* के ज्ञान से पूर्ण है ही। *भागवत* ग्रन्थ तथा *भागवत* व्यक्ति अभिन्न हैं।

भक्त-भागवत भगवान् का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि है। अत: *भक्त-भागवत* भक्त को प्रसन्न करने से *ग्रन्थ-भागवत* ग्रन्थ का लाभ उठाया जा सकता है। मानवीय तर्क यह नहीं समझ पाता कि किस प्रकार *भक्त-भागवत* या *ग्रन्थ-भागवत* की सेवा द्वारा कोई भक्ति के पथ पर अग्रसर होता है। किन्तु ये तथ्य हैं जिनकी व्याख्या श्रील नारददेव द्वारा की गई है, जो अपने पूर्वजन्म में एक दासी के पुत्र थे। दासी ऋषियों की टहल करती थी और इस तरह वह भी उनके सम्पर्क में आया। केवल उनके सर्म्पक से तथा उनका जूठन खाकर यह दासी-पुत्र श्रील नारददेव नामक महान भक्त तथा एक महान व्यक्तित्व बन सका। भागवतों की संगति के ऐसे चमत्कारी प्रभाव होते हैं। इन प्रभावों को व्यावहारिक रूप से समझने के लिए यह ध्यान देना आवश्यक है कि भागवतों की

ऐसी निष्कलुष संगति से दिव्य ज्ञान अवश्यमेव बड़ी आसानी से प्राप्त होगा, जिससे मनुष्य भगवान् की भक्तिमय सेवा में स्थिर हो जाता है। वह भागवतों के मार्गदर्शन में भक्ति में जितनी ही प्रगति करता है, उतना ही वह भगवान् की दिव्य प्रेममय सेवा में स्थिर होता जाता है। अतएव *ग्रन्थ-भागवत* की कथाओं को भक्त-भागवत से ही प्राप्त करना जरूरी है और इस प्रकार इन दोनों भागवतों के संयोग से नवदीक्षित भक्त की प्रगति होती रहेगी।

तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये ।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; रजः—रजोगुण में; तमः—तमो गुण; भावाः—परिस्थिति; काम—काम तथा इच्छा; लोभ—लालसा; आदयः—आदि आदि; च—तथा; ये—जो भी हैं; चेतः—मन; एतैः—इनसे; अनाविद्धम्—प्रभावित हुए बिना; स्थितम्—स्थित होकर; सत्त्वे—सतोगुण में; प्रसीदति—परम प्रसन्न होता है।.

ज्योंही हृदय में अटल प्रेमा भक्ति स्थापित हो जाती है, प्रकृति के रजोगुण तथा तमोगुण के प्रभाव जैसे काम, इच्छा तथा लोभ हृदय से लुप्त हो जाते हैं। तब भक्त सत्त्वगुण में स्थित होकर परम सुखी हो जाता है।

तात्पर्य : अपनी सामान्य संवैधानिक स्थिति में जीव आध्यात्मिक आनन्द में पूर्ण रूप से तुष्ट रहता है। यह स्थिति *ब्रह्मभूत* या *आत्मानन्दी* अर्थात् आत्मतुष्टि की स्थिति कहलाती है। यह आत्मतुष्टि किसी निष्क्रिय मूर्ख की तुष्टि जैसी नहीं होती। निष्क्रिय मूर्ख अज्ञानावस्था में रहता है, किन्तु आत्मतुष्ट *आत्मानन्दी* इस भौतिक जगत से परे होता है। सिद्धि की यह अवस्था अटल भक्ति में स्थित होते ही प्राप्त हो जाती है। भक्तिमय सेवा कोई निष्क्रियता नहीं, अपितु आत्मा की अनन्य सक्रियता है।

आत्मा की यह सक्रियता पदार्थ के संसर्ग से अपमिश्रित (दूषित) हो जाती है। फलतः काम, इच्छा, लोभ, निष्क्रियता, मूर्खता तथा निद्रा के रूप में रुग्ण कार्यकलापों का उदय होता है। भक्तिमय सेवा का प्रभाव रजोगुण तथा तमोगुण के इन प्रभावों के पूर्ण निराकरण होने पर प्रकट होता है। तब भक्त तुरन्त ही सत्त्वगुण में स्थित हो जाता है और वह उन्नति करता हुआ *वासुदेव* के

पद या *शुद्ध-सत्त्व* के पद की ओर उठने को अग्रसर होता है। केवल इस *शुद्ध-सत्त्व* की अवस्था में कोई व्यक्ति भगवान् के शुद्ध प्रेम के कारण अपने समक्ष कृष्ण को सदा देख सकता है।

भक्त सदैव *शुद्ध-सत्त्व* में रहता है, अत: वह किसी को हानि नहीं पहुँचाता। किन्तु एक अभक्त, चाहे कितना ही शिक्षित क्यों न हो, सदैव हानिप्रद होता है। भक्त न तो मूर्ख होता है न रजोगुणी। हानि पहुँचाने वाले, मूर्ख तथा रजोगुणी व्यक्ति भगवद्भक्त नहीं बन सकते, भले ही वे अपने बाहरी वेश से अपने आपको भक्त क्यों न प्रदर्शित करें। भक्त में सदैव ईश्वर के सद्गुण पाये जाते हैं। इन गुणों की मात्रा भले ही भिन्न हो, किन्तु गुणता की दृष्टि से भक्त तथा भगवान् एक समान होते हैं।

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगत: ।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; प्रसन्न—स्फूर्त; मनस:—मन से; भगवत्-भक्ति—भगवान् की भक्ति के; योगत:—सम्पर्क से; भगवत्—भगवान् का; तत्त्व—ज्ञान; विज्ञानम्—वैज्ञानिक; मुक्त—मुक्त हुआ; सङ्गस्य—संगति का; जायते—हो जाता है।

इस प्रकार शुद्ध सत्त्व में स्थित होकर, जिस मनुष्य का मन भगवान् की भक्ति के संसर्ग से प्रसन्न हो चुका होता है उसे समस्त भौतिक संगति से मुक्त होने पर भगवान् का सही वैज्ञानिक ज्ञान (विज्ञान तत्त्व) प्राप्त होता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.३) में कहा गया है कि हजारों सामान्य मनुष्यों में से कोई एक भाग्यशाली होता है, जो जीवन-सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है। अधिकांश लोग रजोगुण तथा तमोगुण से प्रेरित होते हैं और इस प्रकार वे काम, इच्छा, लोभ, अज्ञान तथा निद्रा में सदैव लिप्त रहते हैं। ऐसे अनेक मनुष्य रूपी पशुओं में से कोई एक ऐसा वास्तविक रूप में मनुष्य होता है, जो मानव जीवन की जिम्मेदारी को जानता है और निर्दिष्ट किए गिये कर्तव्यों का पालन करते हुए जीवन को पूर्ण बनाने का प्रयास करता है। जीवन में इस प्रकार की सफलता प्राप्त किए हुए हजारों व्यक्तियों में से कोई एक व्यक्ति भगवान् श्रीकृष्ण के विषय में वैज्ञानिक ढंग से जान सकता

है। *भगवद्गीता* (१८.५५) में ही कहा गया है कि श्रीकृष्ण के विज्ञान को केवल *भक्तियोग* की प्रक्रिया के द्वारा जाना जा सकता है।

ठीक इसी बात की उपर्युक्त श्लोक में पुष्टि हुई है। कोई भी सामान्य व्यक्ति, यहाँ तक कि जिसने मानव-जीवन में सफलता प्राप्त कर ली है वह भी, भगवान् के विषय में सही-सही या वैज्ञानिक ढंग से जान नहीं सकता। मानव-जीवन में सिद्धि तभी प्राप्त होती है, जब वह यह समझ लेता है कि वह पदार्थ का प्रतिफल नहीं, अपितु आत्मा है। और ज्योंही वह यह समझ लेता है कि उसे पदार्थ से कुछ लेना-देना नहीं है, त्योंही वह भौतिक लालसा त्याग देता है और आध्यात्मिक जीव के रूप में अनुप्राणित हो जाता है। यह सफलता तभी मिलती है, जब मनुष्य रजोगुण तथा तमोगुण से ऊपर उठ गया हो, या दूसरे शब्दों में, जब वह योग्यता के आधार पर वास्तविक रूप में ब्राह्मण हो। 'ब्राह्मण' शब्द सत्त्व गुण का प्रतीक है। अन्य सारे लोग जो सत्त्व गुण में नहीं हैं, वे या तो क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या शूद्रों से भी अधम होते हैं। उत्तम गुणों के कारण ब्राह्मण अवस्था मनुष्य जीवन की सर्वोच्च अवस्था है। अत: जब तक मनुष्य में कम से कम ब्राह्मण के गुण न हों, तब तक वह भक्त नहीं हो सकता। भक्त अपने कर्म के कारण पहले से ब्राह्मण रहता है, किन्तु यह उसकी चरम परिणति नहीं है। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, ऐसे ब्राह्मण को वास्तव में दिव्य अवस्था प्राप्त करने के लिए वैष्णव होना चाहिए। शुद्ध वैष्णव मुक्त आत्मा होता है और ब्राह्मण पद से भी ऊपर होता है। भौतिक अवस्था में ब्राह्मण भी बद्धजीव होता है, क्योंकि ब्राह्मण अवस्था में ब्रह्म-बोध तो हो जाता है, किन्तु परमेश्वर के विज्ञान का अभाव रहता है। मनुष्य को ब्राह्मण अवस्था को पार करके *वसुदेव* अवस्था प्राप्त करनी होती है ताकि वह भगवान् कृष्ण को समझ सके। परमेश्वर का विज्ञान (भगवत्तत्त्व) आध्यात्मिकता के स्नातकोत्तर छात्रों के अध्ययन का विषय है। मूर्ख या अल्पज्ञ लोग परमेश्वर को नहीं जान पाते, इसीलिए वे अपनी-अपनी सनक के अनुसार कृष्ण की व्याख्या करते हैं। किन्तु तथ्य यह है कि ब्राह्मण अवस्था प्राप्त करने पर भी भौतिक गुणों के कल्मष से मुक्त हुए बिना कोई भगवान् के

विज्ञान को नहीं समझ पाता। जब योग्य ब्राह्मण यथार्थ रूप में वैष्णव बन जाता है, तो वह मुक्ति की प्रबुद्धावस्था में यह जान पाता है कि वास्तव में भगवान् क्या हैं।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

भिद्यते—भिद जाती है; हृदय—हृदय की; ग्रन्थिः—गाँठें; छिद्यन्ते—खण्ड-खण्ड हो जाते हैं; सर्व—सभी; संशयाः—भ्रम, संदेह; क्षीयन्ते—समाप्त हो जाते हैं; च—तथा; अस्य—उसकी; कर्माणि—सकाम कर्मों की शृंखला; दृष्टे—देखने के पश्चात्; एव—निश्चय ही; आत्मनि—स्वयं आत्मा को; ईश्वरे—प्रधान या स्वामी में।

इस प्रकार हृदय की गाँठ भिद जाती है और सारे सशंय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। जब मनुष्य आत्मा को स्वामी के रूप में देखता है, तो सकाम कर्मों की शृंखला समाप्त हो जाती है।

तात्पर्य : भगवान् का वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने का अर्थ है, उसी के साथ ही साथ अपने आपको भी देखना। जहाँ तक आत्मारूप में जीव की पहचान की बात है, उसके सम्बन्ध में अनेक कल्पनाएँ एवं भ्रान्तियाँ हैं। भौतिकतावादी लोग तो आत्मा के अस्तित्व को ही नहीं मानते और अनुभवमूलक दार्शनिक आत्मा को बिना स्वरूप वाले निर्विशेष रूप में मानते हैं। किन्तु अध्यात्मवादी इस बात की पुष्टि करते हैं कि आत्मा तथा परमात्मा दो विभिन्न सत्ताएँ हैं, जो गुणवत्ता में एक समान हैं किन्तु परिमाण में भिन्न-भिन्न हैं। बहुत से अन्य सिद्धान्त भी हैं, किन्तु जब भक्तियोग की विधि से श्रीकृष्ण का यथार्थ साक्षात्कार हो जाता है, तो ये भिन्न-भिन्न कल्पनाएं दूर हो जाती हैं। श्रीकृष्ण सूर्य के समान हैं और परम सत्य विषयक भौतिकतावादी तर्क-वितर्क गहनतम अर्धरात्रि के समान हैं। ज्योंही हृदय में कृष्णरूपी सूर्य उदित होता है, त्योंही परम सत्य तथा जीवात्मा सम्बन्धी भौतिक कल्पनाओं का अन्धकार दूर हो जाता है। सूर्य की उपस्थिति में अन्धकार नहीं रह सकता और अज्ञान के अन्धकार में छिपा सापेक्ष सत्य, परमात्मा रूप में सबके हृदय में वास करने वाले कृष्ण की कृपा से स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है।

भगवद्गीता (१०.११) में भगवान् कहते हैं कि अपने शुद्ध भक्तों पर विशेष अनुग्रह करने के लिए भगवान् स्वयं अपने भक्त के हृदय में शुद्ध ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न करके, सारे संशयों के गहन अन्धकार को दूर कर देते हैं। अतएव भगवान् द्वारा भक्त के हृदय को प्रकाशित करने का दायित्व अपने ऊपर लेने के कारण, जो भक्त उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा होता है वह अन्धकार में नहीं रह सकता। उसे परम एवं सापेक्ष सत्य के विषय में सब कुछ ज्ञात होता रहता है। भक्त कभी भी अन्धकार में नहीं रह सकता और चूँकि भगवान् द्वारा उसे प्रकाश प्राप्त होता है, अतएव उसका ज्ञान निश्चय ही पूर्ण होता है। किन्तु जो लोग अपनी खुद की सीमित शक्ति से चिन्तन करते हैं, उनके साथ ऐसा नहीं होता। पूर्ण ज्ञान *परम्परा* या निगमनीय (तर्कपूर्ण) ज्ञान कहलाता है। यह एक प्राधिकारी से विनीत श्रोता तक पहुँचता है, जो सेवा तथा समर्पण द्वारा प्रामाणिक होता है। ऐसा नहीं है कि कोई परमेश्वर के प्रमाण को चुनौती भी दे और उन्हें जान भी ले। उन्हें अधिकार है कि ऐसे ललकारने वाले जीव के समक्ष प्रकट ही न हों, जो परम पूर्ण का क्षुद्र स्फुलिंग मात्र है और ऐसा स्फुलिंग जो माया के अधीन है। भक्तगण विनीत होते हैं, अत: यह दिव्य ज्ञान भगवान् से ब्रह्मा को, ब्रह्मा से उनके पुत्रों तथा शिष्यों को क्रमानुसार प्राप्त होता है। इस विधि में ऐसे भक्तों के अन्त:करण में स्थित परमात्मा द्वारा सहायता मिलती है। दिव्य ज्ञान को सीखने की यही सही विधि है।

इस अनुभूति के द्वारा भक्त आत्मा तथा पदार्थ के अन्तर को सही-सही समझ पाता है, क्योंकि आत्मा तथा पदार्थ की गाँठ भगवान् द्वारा खोली जाती है। यह ग्रन्थि अहंकार कहलाती है, जिससे जीव झूठे ही अपने को भौतिक पदार्थ मानता है। अतएव ज्योंही यह ग्रन्थि ढ़ीली पड़ती है, संशय के सारे बादल तुरंत छँट जाते हैं। मनुष्य अपने स्वामी का दर्शन करने लगता है और सकाम कर्मों के बन्धन को समाप्त करके वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लग जाता है। भौतिक जगत में जीव स्वयं सकाम कर्म की शृंखला की सृष्टि करता है और जन्म-जन्मांतर तक इन कर्मों के अच्छे तथा बुरे फलों को भोगता रहता है। किन्तु ज्योंही वह भगवान् की प्रेममय सेवा में लग जाता है,

त्योंही वह कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है। फिर उसके कर्मों से कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं होती।

अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा ।
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम् ॥ २२॥

शब्दार्थ

अतः—अतएव; वै—निश्चय ही; कवयः—सारे अध्यात्मवादी; नित्यम्—अनादि काल से; भक्तिम्—भगवान् की सेवा; परमया—परम; मुदा—अत्यन्त प्रसन्नता के साथ; वासुदेवे—श्रीकृष्ण में; भगवति—भगवान्; कुर्वन्ति—करते हैं; आत्म—आत्मा को; प्रसादनीम्—जो प्रमुदित करने वाली है।

अतएव, निश्चय ही सारे अध्यात्मवादी अनन्त काल से अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति करते आ रहे हैं, क्योंकि ऐसी भक्ति आत्मा को प्रमुदित करने वाली है।

तात्पर्य : यहाँ पर विशिष्ट रूप से भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति की विशेषता का वर्णन हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण 'स्वयंरूप' भगवान् हैं और श्रीबलदेव, संकर्षण, वासुदेव, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न तथा नारायण जैसे अन्य समस्त रूपों से लेकर पुरुषावतार, गुणावतार, लीलावतार, युगावतार तथा भगवान् के अन्य हजारों स्वरूप श्रीकृष्ण के पूर्ण अंश एवं समाकलित रूप हैं। जीवात्माएँ भगवान् से पृथक हुए उनके भिन्नांश हैं। अतएव भगवान् श्रीकृष्ण ईश्वर के आदि रूप और दिव्यता की इति हैं। वे उन उच्च अध्यात्मवादियों के लिए अधिक आकर्षक हैं, जो भगवान् की दिव्य लीलाओं में भाग लेते हैं। श्रीकृष्ण तथा बलदेव के अतिरिक्त, भगवान् के अन्य रूपों के साथ, वैसी घनिष्ठता स्थापित नहीं हो पाती जितनी कि व्रजभूमि में भगवान् की दिव्य लीलाओं में होती है। ऐसा नहीं है कि श्रीकृष्ण की दिव्य लीलाएँ नई हों, जैसाकि कुछ अल्पज्ञ लोग समझते हैं; उनकी लीलाएँ शाश्वत हैं और ब्रह्माजी के एक दिन में एक बार यथा समय प्रकट होती हैं, जिस प्रकार प्रत्येक चौबीस घंटो की समाप्ती पर पूर्व में सूर्य का उदय होता है।

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै-
र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते ।

स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञा:
श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सत्त्वगुण; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; इति—इस प्रकार; प्रकृतेः—प्रकृति के; गुणाः—गुण; तैः—उनके द्वारा; युक्तः—समन्वित; परः—दिव्य; पुरुषः—पुरुष; एकः—एक; इह अस्य—इस भौतिक जगत का; धत्ते—स्वीकार करता है; स्थिति-आदये—उत्पत्ति, पालन तथा संहार आदि को.; हरि—विष्णु भगवान्; विरिञ्चि—ब्रह्मा; हर—शिवजी; इति—इस प्रकार; संज्ञाः—विभिन्न स्वरूप; श्रेयांसि—चरम लाभ; तत्र—वहाँ; खलु—निस्सन्देह; सत्त्व—सात्त्विक; तनोः—रूप; नृणाम्—मनुष्यों का; स्युः—प्राप्त किया।.

दिव्य भगवान् प्रकृति के तीन गुणों—सत्त्व, रज तथा तम—से अप्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध हैं और वे भौतिक जगत की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के लिए ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव, इन तीन गुणात्मक रूपों को ग्रहण करते हैं। इन तीनों रूपों में से सत्त्व गुण वाले विष्णु से सारे मनुष्य परम लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

तात्पर्य : पहले जैसा यह कहा गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति उनके पूर्ण अंशों के रूप में की जाय, उसकी पुष्टि इस कथन द्वारा होती है। भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनके सर्व पूर्ण अंश *विष्णु-तत्त्व* हैं। श्रीकृष्ण के बाद अगला प्राकट्य बलदेव का होता है, बलदेव के बाद संकर्षण, संकर्षण के बाद नारायण और नारायण से दूसरे संकर्षण, तब इन संकर्षण से विष्णु *पुरुष-अवतार* का प्राकट्य होता है। विष्णु अथवा सत्त्व गुण के विग्रह इस भौतिक जगत के पुरुष अवतार हैं और क्षीरोदकशायी विष्णु या परमात्मा नाम से जाने जाते हैं। ब्रह्मा *रजस्* के विग्रह हैं और शिव *तमस्* के। ये तीनों इस भौतिक जगत के तीनों गुणों के विभागाध्यक्ष हैं। विष्णु के सत्त्वगुण से इस सृष्टि का प्राकट्य सम्भव होता है और जब इसे विनष्ट करना होता है, तो शिवजी अपने *ताण्डव-नृत्य* से इसे नष्ट कर देते हैं। भौतिकतावादी तथा मूर्ख मनुष्य क्रमशः ब्रह्मा तथा शिव की पूजा करते हैं। किन्तु विशुद्ध अध्यात्मवादी सत्त्वगुण के रूप विष्णु की पूजा उनके विविध रूपों में करते हैं। विष्णु परमात्मा के लाखों-करोड़ों अभिन्न तथा भिन्न रूपों में प्रकट होते हैं। अभिन्न रूप ईश्वर कहलाते हैं और भिन्न रूप जीव कहलाते हैं। 'जीव' तथा 'ईश्वर' दोनों के ही अपने मूल आध्यात्मिक रूप होते हैं। जीव कभी-कभी भौतिक शक्ति के वशीभूत होते रहते हैं, किन्तु विष्णु के रूप सदैव इस शक्ति को अपने वश में रखते हैं। जब भगवान् विष्णु इस भौतिक जगत में

प्रकट होते हैं, तो वे माया के वशीभूत बद्धजीवों का उद्धार करने के लिए आते हैं। ऐसे जीव इस भौतिक जगत में स्वामी (प्रभु) बनने की आन्तरिक इच्छा लेकर आते हैं और इस तरह वे प्रकृति के तीन गुणों में फँस जाते हैं। फल स्वरूप जीवों को विविध अवधि का बन्दी जीवन बिताने के लिए अपना भौतिक आवरण बदलते रहना पड़ता है। इस भौतिक जगत का बन्दीगृह भगवान् के आदेश से ब्रह्मा द्वारा सृजित होता है और एक कल्प के अंत में शिवजी द्वारा सारी वस्तुएँ नष्ट कर दी जाती हैं। किन्तु जहाँ तक इस बन्दीगृह की देखभाल का प्रश्न है, वह विष्णु द्वारा उसी प्रकार सम्पन्न किया जाता है, जिस तरह राज्यसत्ता द्वारा बन्दीगृह की देखभाल की जाती है। अतएव जो भी व्यक्ति जन्म, मृत्यु, रोग तथा वृद्धावस्था जैसे संतापों से पूर्ण इस संसार रूपी बन्दीगृह से छूटना चाहता है, उसे ऐसी मुक्ति के लिए भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना चाहिए। भगवान् विष्णु की पूजा भक्तिमय सेवा द्वारा ही सम्भव है, किन्तु यदि कोई इस भवरूपी बन्दीगृह-जीवन को चालू रखना चाहता है तो वह ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, वरुण जैसे विभिन्न देवताओं से क्षणिक सुख के लिए तत्सम्बन्धी सुविधाओं की याचना कर सकता है। किन्तु कोई भी देवता बन्दी जीव को इस जगत के बद्ध जीवन से नहीं छुड़ा सकता। केवल विष्णु ही इसे कर सकते हैं। अतएव चरम लाभ भगवान् विष्णु से ही प्राप्त किया जा सकता है।

पार्थिवाद्दारुणो धूमस्तस्मादग्निस्त्रयीमयः ।
तमसस्तु रजस्तस्मात्सत्त्वं यद्ब्रह्मदर्शनम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

पार्थिवात्—पृथ्वी से; दारुणः—ईंधन; धूमः—धुँआ; तस्मात्—उससे; अग्निः—अग्नि; त्रयी—वैदिक यज्ञ; मयः—से बना; तमसः—तमोगुण में; तु—लेकिन; रजः—रजोगुण; तस्मात्—उससे; सत्त्वम्—सतोगुण; यत्—जो; ब्रह्म—परम सत्य; दर्शनम्—साक्षात्कार।

अग्निकाष्ट मृदा का रूपान्तर है, लेकिन काष्ट से बेहतर धुँआ है। अग्नि उससे भी उत्तम है, क्योंकि अग्नि से (वैदिक यज्ञों से) हमें श्रेष्ठ ज्ञान के लाभ प्राप्त हो सकते हैं। इसी प्रकार रजोगुण तमोगुण से बेहतर है, लेकिन सत्त्वगुण सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि सत्त्वगुण से मनुष्य परम सत्य का साक्षात्कार कर सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि पहले कहा जा चुका है, भगवान् की भक्तिमय सेवा से ही इस भौतिक जगत के बद्ध जीवन से छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है। इसके आगे यहाँ पर यह बताया गया है कि मनुष्य को सत्त्वगुण के पद तक ऊपर उठना होता है, जिससे वह भगवान् की भक्ति के योग्य बन सके। किन्तु यदि प्रगति में बाधाएँ आएँ, तो सक्षम गुरु के निर्देशन से *तमस* पद से भी धीरे-धीरे *सत्त्व* पद तक ऊपर उठा जा सकता है। अत: निष्ठावान व्यक्तियों को चाहिए कि प्रगति के लिए प्रामाणिक दक्ष गुरु के पास जाँए जो उन्हें *तमस्, रजस्* या *सत्त्व* की किसी भी अवस्था से मुक्ति पद तक ले जा सके।

अतएव यह मानना एक भूल होगी कि पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर के किसी भी गुण या किसी भी रूप की पूजा करना समान रूप से लाभप्रद होगा। विष्णु के अतिरिक्त, भौतिक शक्ति के वशीभूत होकर सारे भिन्नांश प्रकट होते रहते हैं, अतएव भौतिक शक्ति के विविध रूप जीव को उस *सत्त्व* के पद तक ऊपर उठने में मदद नहीं देते, जो अकेला ही मनुष्य को भव-बन्धन से छुड़ा सके।

जीवन की असभ्य अवस्था या निम्न पशु जीवन तमोगुण द्वारा नियन्त्रित होता है। मनुष्य की सभ्य अवस्था, जिसमें उसे नाना प्रकार के लाभों की कामना रहती है, रजोगुणी अवस्था है। इस अवस्था में भगवान् की रंचमात्र अनुभूति हो पाती है जो दर्शन, कला तथा चारित्रिक एवं नैतिक सिद्धान्तों से युक्त संस्कृति के रूप में प्रकट होती है, किन्तु *सत्त्वगुण* इससे भी उच्चतर गुणावस्था है, जिससे परम सत्य के साक्षात्कार में वास्तविक सहायता मिलती है। दूसरे शब्दों में, ब्रह्मा, विष्णु तथा हर नामक अधिष्ठाता देवों की विभिन्न पूजा विधियों तथा उनसे प्राप्त होने वाले फलों में गुणात्मक अन्तर होता है।

भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम् ।
सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनु तानिह ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

भेजिरे—की सेवा; मुनयः—मुनियों ने; अथ—इस प्रकार; अग्रे—पूर्वकाल में; भगवन्तम्—भगवान् के प्रति; अधोक्षजम्—अध्यात्म, गुणातीत; सत्त्वम्—अस्तित्व; विशुद्धम्—प्रकृति के तीनों गुणों से परे; क्षेमाय—परम लाभ प्राप्त करने के लिए; कल्पन्ते—योग्य हैं; ये—जो; अनु—अनुसरण करते हैं; तान्—वे; इह—इस संसार में।

पूर्वकाल में समस्त महामुनियों ने भगवान् की सेवा की, क्योंकि वे प्रकृति के तीनों गुणों से परे हैं। उन्होंने भौतिक परिस्थितियों से मुक्त होने के लिए और फलस्वरूप परम लाभ प्राप्त करने के लिए पूजा की। अतएव जो कोई इन महामुनियों का अनुसरण करता है वह भी इस भौतिक संसार में मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।

तात्पर्य : धर्माचरण का प्रयोजन न तो भौतिक लाभ प्राप्त करना है, न ही आत्मा और पदार्थ के अन्तर को बताने वाले सरल ज्ञान को अर्जित करना है। धार्मिक अनुष्ठानों का चरम उद्देश्य अपने आपको भौतिक बन्धन से छुड़ाना और उस दिव्य जगत में स्वतन्त्रता का जीवन पुनः प्राप्त करना है, जहाँ भगवान् ही प्रधान रहते हैं। अतएव धार्मिक नियमों का संचालन स्वयं भगवान् द्वारा होता है तथा धर्म का उद्देश्य महाजनों अर्थात् भगवान् के अधिकृत प्रतिनिधियों के अतिरिक्त और कोई नहीं जानता। भगवान् के ऐसे बारह महाजन हैं, जो धर्म के उद्देश्य को जानते हैं और वे सभी भगवान् की दिव्य सेवा में लगे रहते हैं। जो लोग अपना हित चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि इन महाजनों का अनुसरण करें और उससे परम लाभ प्राप्त करें।

मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ ।
नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

मुमुक्षवः—मोक्षकामी व्यक्ति; घोर—भयानक; रूपान्—रूपों को; हित्वा—त्याग कर; भूत-पतीन्—देवतागण; अथ—इस कारण से; नारायण—भगवान् के; कलाः—स्वांशों; शान्ताः—परम आनन्दमय; भजन्ति—पूजा करते हैं; हि—निश्चय ही; अनसूयवः—द्वेषरहित।

जो लोग मोक्ष के प्रति गम्भीर हैं, वे निश्चय ही द्वेषरहित होते हैं और सबका सम्मान करते हैं। किन्तु, फिर भी वे देवताओं के घोर रूपों का अस्वीकार करके, केवल भगवान् विष्णु तथा उनके स्वांशों के कल्याणकारी रूपों की ही पूजा करते हैं।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण जो विष्णु कोटि के रूपों के मूल रूप हैं, वे दो भिन्न कोटियों में अपना विस्तार करते हैं—पूर्ण या समग्र अंश तथा भिन्न अंश। भिन्नांश सेवक हैं और *विष्णु-तत्त्व* के पूर्णांश सेव्य तथा पूज्य हैं।

भगवान् द्वारा शक्तिप्रदत्त सारे देवता भी भिन्नांश हैं। वे *विष्णु-तत्त्व* की कोटि में नहीं आते। *विष्णु-तत्त्व* वे पुरुष हैं, जो भगवान् के आदि रूप के ही समान शक्तिमान हैं और वे विभिन्न कालों तथा परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न कोटि की शक्तियाँ प्रदर्शित करते हैं। भिन्नांश सीमित शक्ति वाले होते हैं। उनमें विष्णुतत्त्वों की तरह असीम शक्ति नहीं होती। अत: *विष्णु-तत्त्वों* या भगवान् नारायण के पूर्णांशों की गणना कभी भिन्नांशों के साथ नहीं करनी चाहिए। यदि कोई ऐसा करता है तो वह *पाषण्*डी अर्थात् पाखंडी होने का अपराध करता है। इस कलियुग में अनेक मूर्ख व्यक्ति ऐसा अवैध अपराध करते हैं और दोनों कोटियों को समान बताते हैं।

ये विभिन्न अंश अपनी-अपनी भौतिक शक्तियों के अनुसार विभिन्न पदों पर आसीन हैं—यथा काल-भैरव, श्मशान-भैरव, शनि, महाकाली तथा चण्डिका। इन देवताओं की पूजा वे ही लोग करते हैं, जो तमोगुण की निम्नतम अवस्था में होते हैं। ब्रह्मा, शिव, सूर्य, गणेश तथा अन्य ऐसे ही देव उन लोगों द्वारा पूजे जाते हैं, जो भौतिक भोग से प्रेरित होने के कारण रजोगुणी होते हैं। किन्तु जो सचमुच सतोगुणी हैं, वे केवल *विष्णु-तत्त्वों* की पूजा करते हैं। *विष्णु-तत्त्वों* के अनेक नाम तथा रूप हैं—यथा नारायण, दामोदर, वामन, गोविन्द तथा अधोक्षज।

सुयोग्य ब्राह्मण शालिग्राम शिला द्वारा निरूपित *विष्णु-तत्त्वों* की पूजा करते हैं और क्षत्रिय तथा वैश्य जैसे कुछ उच्चत्तर वर्ण के लोग भी सामान्यतया *विष्णु-तत्त्वों* की पूजा करते हैं।

सतोगुणी योग्यतम ब्राह्मण कभी भी अन्यों की पूजा विधि से ईर्ष्या नहीं करते। वे अन्य देवताओं का पूर्ण आदर करते हैं, यद्यपि काल-भैरव या महाकाली जैसे देवताओं का रूप अन्यन्त भयानक है। वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि परमेश्वर के ये सारे भयानक लक्षण विभिन्न परिस्थितियों में उनके विभिन्न सेवकों के रूप हैं। किन्तु, इतने पर भी, वे देवताओं के भयानक तथा आकर्षक दोनों ही रूपों को त्याग कर केवल विष्णुरूपों पर ध्यान केन्द्रित करते हैं, क्योंकि

वे भौतिक जगत से मोक्ष पाने की उत्कट इच्छा रखते हैं। सारे देवता, यहाँ तक कि देवों में सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मा तक, किसी को मोक्ष नहीं दिला सकते। हिरण्यकशिपु ने अमर होने के लिए कठोर तपस्या की थी, किन्तु उसके पूज्य देव ब्रह्मा उसे वैसा वर देकर प्रसन्न नहीं कर सके। इसीलिए विष्णु के अतिरिक्त अन्य कोई *मुक्तिपाद* या मुक्ति के प्रदाता भगवान् नहीं कहलाते। सारे देवता भी भौतिक सृष्टि के अन्य जीवों की भाँति इस भौतिक सृष्टि के संहार के समय नष्ट हो जाते हैं। जब वे स्वयं मुक्ति नहीं पा सकते तो फिर अपने भक्तों को वे किस तरह मुक्ति दिला सकते हैं? ये देवता अपनी पूजा करने वालों को कुछ क्षणिक लाभ ही प्रदान कर सकते हैं, परम लाभ नहीं।

यही कारण है कि मुमुक्षुजन देवताओं की पूजा का परित्याग करते हैं, यद्यपि वे उनमें से किसी के प्रति असम्मान नहीं दिखाते।

रजस्तम:प्रकृतय: समशीला भजन्ति वै ।
पितृभूतप्रजेशादीन्श्रियैश्वर्यप्रजेप्सव: ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

रज:—रजोगुण; तम:—तमोगुण; प्रकृतय:—उस स्वभाव का; सम-शीला:—एक ही कोटि के; भजन्ति—पूजा करते हैं; वै—निश्चय ही; पितृ—पितरगण; भूत—अन्य जीव; प्रजेश-आदीन्—प्रजापति इत्यादि; श्रिया—सम्पन्नता; ऐश्वर्य—सम्पत्ति तथा शक्ति; प्रजा—सन्तति, सन्तान; ईप्सव:—ऐसी इच्छा करते हुए।

जो लोग रजोगुणी तथा तमोगुणी हैं वे पितरों, अन्य जीवों तथा उन देवताओं की पूजा करते हैं, जो सृष्टि सम्बन्धी कार्यकलापों के प्रभारी हैं, क्योंकि वे स्त्री, धन, शक्ति तथा सन्तान का लाभ उठाने की इच्छा से प्रेरित होते हैं।

तात्पर्य : यदि मनुष्य भगवान् के धाम को वापस जाने के बारे में गम्भीर है तो उसे किसी भी कोटि के देवता की पूजा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। *भगवद्गीता* (७.२०,२३) में ऐसा स्पष्ट कहा गया है कि जो लोग भौतिक भोगों के पीछे पागल रहते हैं, वे अपने क्षणिक लाभ के लिए विभिन्न देवताओं के पास जाते हैं, किन्तु ऐसे लाभ तो अल्पज्ञों के लिए हैं। हमें कभी भी भौतिक भोग की इच्छा को प्रबल नहीं बनाना चाहिए। भौतिक भोग जीवन में उतना ही अपनाया जाय जितना जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं के लिए जरूरी हो, न उससे कम, न ज्यादा।

अधिक भौतिक भोग अपनाने का अर्थ है, अपने आप को भौतिक संसार के कष्टों से अधिकाधिक बाँधना। जो लोग भौतिकता में निमग्न हैं, उन्हें अधिक धन, अधिक स्त्रियाँ तथा झूठी कुलीनता जैसी वस्तुएँ चाहिए, क्योंकि वे विष्णु की पूजा से प्राप्त होने वाले लाभ से अनजान रहते हैं। विष्णु की पूजा से इस जीवन में लाभ तो मिलता ही है, किन्तु मृत्यु के बाद अगले जीवन में भी लाभ मिलता है। इन सिद्धान्तों को भूल कर जो लोग अधिक धन, अधिक स्त्रियाँ तथा अधिक सन्तान चाहते हैं, ऐसे लोग विभिन्न देवताओं की पूजा करते हैं। जीवन का लक्ष्य जीवन के कष्टों को समाप्त करना है, उन्हें बढ़ाना नहीं।

भौतिक सुख के लिए देवताओं के पास जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। ये देवता भगवान् के दास मात्र हैं। फलतः ये जल, वायु, प्रकाश आदि के रूप में जीवन की आवश्यकताएँ प्रदान करने के लिए बाध्य हैं। *मनुष्य को चाहिए कि जीने के लिए कठोर श्रम करे और इसी श्रम के फल से भगवान् की पूजा करे। यही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।* उसे भगवान् में श्रद्धा रखते हुए उचित ढंग से अपने वृत्तिपरक धर्म का पालन करना चाहिए। इससे वह धीरे-धीरे भगवान् के धाम पहुँच सकेगा।

जब भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् व्रजधाम में विद्यमान थे, तो उन्होंने इन्द्र की पूजा बन्द करा दी थी और व्रजवासियों को सलाह दी थी कि वे अपने व्यवसाय (कर्म) द्वारा ईश्वरकी पूजा करें और उनमें श्रद्धा रखें। भौतिक लाभ के लिए बहुदेव-पूजा धर्म की विकृति है। *भागवत* के प्रारम्भ में ही इस प्रकार की धार्मिकता की निन्दा *कैतवधर्म* कह कर की गई है। संसार में केवल एक ही धर्म है जिसका पालन हर एक को करना चाहिए और वह है *भागवत-धर्म* जो केवल पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा सिखाता है, अन्य किसी की नहीं।

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः ।
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः ॥ २८ ॥
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः ।
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

वासुदेव—भगवान्; पराः—परम लक्ष्य; वेदाः—प्रामाणिक शास्त्र; वासुदेव—भगवान्; पराः—पूजा करने के लिए; मखाः—यज्ञ; वासुदेव—भगवान्; पराः—प्राप्त करने के साधन; योगाः—यौगिक साज-सामग्री; वासुदेव—भगवान् के; पराः—उनके अधीन; क्रियाः—सकाम कर्म; वासुदेव—भगवान्; परम्—परम; ज्ञानम्—ज्ञान; वासुदेव—भगवान्; परम्—सर्वश्रेष्ठ; तपः—तपस्या; वासुदेव—भगवान्; परः—सर्वोच्च गुण; धर्मः—धर्म; वासुदेव—भगवान्; पराः—चरम; गतिः—जीवन का लक्ष्य।

प्रामाणिक शास्त्रों में ज्ञान का परम उद्देश्य पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर श्रीकृष्ण हैं। यज्ञ करने का उद्देश्य उन्हें ही प्रसन्न करना है। योग उन्हीं के साक्षात्कार के लिए है। सारे सकाम कर्म अन्ततः उन्हीं के द्वारा पुरस्कृत होते हैं। वे परम ज्ञान हैं और सारी कठिन तपस्याएँ उन्हीं को जानने के लिए की जाती हैं। उनकी प्रेमपूर्ण सेवा करना ही धर्म है। वे ही जीवन के चरम लक्ष्य हैं।

तात्पर्य : इन दो श्लोकों में पुष्टि हुई है कि एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही पूजा के पात्र हैं। वैदिक साहित्य का लक्ष्य भी यही है कि भगवान् के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाय और हमारी भूली हुई प्रेममयी सेवा को पुनरुज्जीवित किया जाय। यही वेदों का सार-तत्व है। इसी सिद्धान्त की पुष्टि भगवान् द्वारा *भगवद्गीता* में अपने ही शब्दों में इस प्रकार की गई है : वेदों का चरम उद्देश्य केवल उन्हें जानना है। सारे प्रामाणिक शास्त्र भगवान् द्वारा, श्रील व्यासदेव के शरीर के रूप में अवतरित होकर भौतिक प्रकृति से बद्ध पतितात्माओं को भगवान् श्रीकृष्ण का स्मरण कराने के लिए निर्मित किये गये हैं। कोई भी देवता भौतिक बन्धन से मुक्ति नहीं दिला सकता। यही समस्त वैदिक ग्रन्थों का निर्णय है। निर्विशेषवादी, जिन्हें भगवान् के व्यक्तित्व का ज्ञान नहीं होता, भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता को कम बताते हैं, क्योंकि वे उन्हें भी अन्य समस्त साधारण जीवों के समान बताते हैं। इसी कारण से निर्विशेषवादियों को बड़ी ही कठिनाई से भौतिक बन्धन से मुक्ति मिल पाती है। वे अनेक जन्मों तक दिव्य ज्ञान का अनुशीलन करने के बाद ही उनकी शरण में जा पाते हैं।

कोई यह तर्क कर सकता है कि वैदिक कर्म याज्ञिक अनुष्ठानों पर टिके हैं। यह सच है। किन्तु ऐसे सारे यज्ञ वासुदेव की वास्तविक अनुभूति के लिए भी होते हैं। वासुदेव का अन्य नाम *यज्ञ* है और *भगवद्गीता* में यह स्पष्ट कहा गया है कि सारे यज्ञ तथा कर्म, *यज्ञ* या भगवान् विष्णु

को प्रसन्न करने के लिए ही किये जाने चाहिए। यही बात योग-पद्धति पर भी लागू होती है। योग का अर्थ है परमेश्वर से सम्पर्क स्थापित करना। किन्तु, इस विधि में आसन, ध्यान, प्राणायाम जैसी शारीरिक क्रियाएँ सम्मिलित रहती हैं और ये सब परमात्मास्वरूप अन्तर्यामी वासुदेव पर ध्यान केन्द्रित करने के निमित्त होती हैं। परमात्मा-साक्षात्कार तो वासुदेव का आंशिक साक्षात्कार है और यदि कोई इस प्रयास में सफल होता है, तो उसे वासुदेव का पूर्ण साक्षात्कार होता है। किन्तु अधिकांश योगी दुर्भाग्यवश शारीरिक विधि से प्राप्त यौगिक शक्तियों के द्वारा विपथ हो जाते हैं। ऐसे दुर्भाग्यशाली योगियों को अगले जन्म में विद्वान ब्राह्मणों या सम्पन्न वैश्यों के कुल में जन्म दिया जाता है, जिससे वे वासुदेव-साक्षात्कार के अधूरे कार्य को पूरा कर सकें। यदि ऐसे भाग्यवान ब्राह्मण तथा वैश्य-पुत्र अवसर का लाभ उठाते हैं, तो साधु पुरुषों की संगति से उन्हें सरलता से वासुदेव-साक्षात्कार हो जाता है। दुर्भाग्यवश ऐसे भाग्यशाली लोग भौतिक सम्पत्ति तथा सम्मान से पुनः वशीभूत हो जाते हैं और अपने जीवन-लक्ष्य को व्यवहारतः भूल जाते हैं।

ज्ञान के अनुशीलन में भी यही बात लागू होती है। *भगवद्गीता* के अनुसार ज्ञान के अनुशीलन के लिए अठारह बातें हैं। ज्ञान के ऐसे अनुशीलन से मनुष्य क्रमशः अभिमानरहित, मदरहित, अहिंसक, सहिष्णु, सरल, गुरुभक्त तथा आत्मसंयमी बन जाता है। ज्ञान के अनुशीलन से वह घर-बार से अनासक्त हो जाता है और जन्म, मृत्यु जरा तथा व्याधि के कष्टों से अवगत हो जाता है। ज्ञान का सारा अनुशीलन भगवान् वासुदेव की भक्तिमय सेवा में जाकर समाप्त होता है। अतएव वासुदेव ही ज्ञान की समस्त शाखाओं के अनुशीलन के चरम लक्ष्य हैं। ज्ञान का जो अनुशीलन वासुदेव के मिलन के दिव्य स्तर तक ऊपर उठा सके, वही वास्तविक ज्ञान है। *भगवद्गीता* में भौतिक ज्ञान की विविध शाखाओं को *अज्ञान* की संज्ञा देकर तिरस्कृत किया गया है। भौतिक ज्ञान का अन्तिम लक्ष्य इन्द्रियों की तृप्ति करना है, जिसका अर्थ हुआ भौतिक जीवन को दीर्घ बनाना और इस प्रकार तीनों तापों का जारी रहना। अतः इस भौतिक जगत में कष्टमय जीवन की दीर्घ बनाना ही अज्ञान है। किन्तु यदि यही भौतिक ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान की दिशा में अग्रसर होता है,

तो वह कष्टमय भौतिक अस्तित्व का अन्त करने में सहायक हो जाता है और वासुदेव धरातल पर आध्यात्मिक-जीवन का शुभारम्भ होता है।

यही बात समस्त तपस्याओं को लागू होती है। *तपस्या* का अर्थ ही है किसी उच्चतर जीवन-उद्देश्य के लिए स्वेच्छा से शारीरिक कष्टों को सहना। रावण तथा हिरण्यकशिपु ने इन्द्रियतृप्ति को उद्देश्य बनाकर नाना प्रकार के दारुण शारीरिक कष्ट झेले थे। कभी-कभी आधुनिक राज-नेता भी अपना राजनीतिक काम साधने के लिए कठिन तपस्याएँ करते हैं। यह वास्तव में तपस्या नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि वासुदेव को जानने के लिए स्वेच्छा से शारीरिक असुविधाएँ स्वीकार करें, क्योंकि वास्तविक तपस्या की यही विधि है। अन्यथा अन्य सारी तपस्याएँ रजोगुणी तथा तमोगुणी मानी जाती हैं। रजोगुण तथा तमोगुण से जीवन के कष्टों का अन्त नहीं हो सकता। केवल सत्त्वगुण ही जीवन के तीनों तापों को कम कर सकता है। भगवान् कृष्ण के माता-पिता के रूप में प्राख्यात वसुदेव तथा देवकी ने वासुदेव को पुत्र रूप में प्राप्त करने के लिए तपस्या की थी। भगवान् कृष्ण समस्त जीवों के जनक हैं (*भगवद्गीता* १४.४) अतएव वे समस्त जीवों में आदि पुरुष हैं। वे ही समस्त भोक्ताओं में आदि भोक्ता हैं। अतएव कोई उन्हें उत्पन्न करने वाला पिता नहीं हो सकता, जैसाकि अज्ञानी लोग सोचते हैं। वसुदेव तथा देवकी की घोर तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् कृष्ण ने उनका पुत्र बनना स्वीकार किया। अतएव यदि कोई तपस्या करनी है, तो ज्ञान की पराकाष्ठा, वासुदेव, को लक्ष्य बनाकर ही की जानी चाहिए।

वासुदेव आदि भगवान् श्रीकृष्ण हैं। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, आदि भगवान् असंख्य रूपों में अपना विस्तार करते हैं। रूपों का ऐसा विस्तार उनकी विविध शक्तियों द्वारा सम्भव हो पाता है। उनकी शक्तियाँ भी अनेकानेक हैं। गुणता में उनकी अन्तरंगा शक्तियाँ श्रेष्ठ होती हैं और बहिरंगा शक्तियाँ निकृष्ट होती हैं। *भगवद्गीता* (७.४-६) में इन्हें क्रमश: *परा* तथा *अपरा* प्रकृति कहा गया है। अतएव अन्तरंगा शक्तियों के द्वारा विविध रूपों में होने वाला उनका विस्तार श्रेष्ठ होता है और बहिरंगा शक्तियों द्वारा होने वाला विस्तार निकृष्ट होता है। जीवात्माएँ भी उन्हीं के विस्तार (अंश) हैं। जो जीवात्माएँ उनकी अन्तरंगा शक्ति के विस्तार से उद्भूत होते हैं, वे नित्य

मुक्त होते हैं और जो भौतिक शक्तियों से उद्भूत होते हैं, वे नित्य बद्ध होते हैं। अतएव ज्ञान, तप, त्याग तथा कर्म का सारा अनुशीलन हम पर पड़ने वाले प्रभावों को बदलने के लिए किया जाना चाहिए। इस समय हम सभी भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा नियन्त्रित हो रहे हैं, अतएव इसके प्रभाव (फल) को बदलने के लिए हमें आध्यात्मिक शक्ति का अनुशीलन करना चाहिए। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जो महात्मा हैं या जिनके हृदय इतने विशाल हो चुके हैं कि वे भगवान् कृष्ण की सेवा में लगे रहते हैं, वे अन्तरंगा शक्ति के वश में रहते हैं और इसका फल यह होता है कि ऐसे विशाल हृदय वाले लोग बिना विचलित हुए भगवान् की सेवा में लगे ही रहते हैं। यही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए और यही समस्त वैदिक साहित्य का निर्णय है। किसी को सकाम कर्म या दिव्य ज्ञान के विषय में शुष्क चिन्तन करने की जरूरत नहीं है। सभी को चाहिए कि तुरन्त भगवान् की दिव्य प्रेममय सेवा में लग जाँए। मनुष्य को न तो उन विभिन्न देवताओं की पूजा करनी चाहिए, जो सृष्टि की उत्पत्ति, पालन तथा संहार का कार्य करने वाले भगवान् के हाथ की भाँति हैं। ऐसे अंसख्य शक्तिशाली देवता हैं, जो भौतिक जगत की बाह्य व्यवस्था की देख-रेख करते हैं। वे सब भगवान् वासुदेव के सहायकों के समान हैं। यहाँ तक कि ब्रह्माजी तथा शिवजी की गणना भी देवताओं में होती है, किन्तु भगवान् विष्णु या वासुदेव तो सदा दिव्य पद पर रहते हैं। यद्यपि वे भौतिक जगत के सतोगुण को स्वीकार करते हैं, किन्तु फिर भी वे समस्त भौतिक गुणों से परे रहते हैं। निम्नलिखित उदाहरण से यह बात और स्पष्ट हो जायेगी। एक बन्दीगृह में बन्दी होते हैं और बन्दीगृह के व्यवस्थापक भी होते हैं। किन्तु बन्दी तथा व्यवस्थापक दोनों राजा के नियमों से बँधे होते हैं। लेकिन यदि कभी-कभार राजा बन्दीगृह में आता है, तो वह बन्दीगृह के नियमों से बँधा नहीं होता। राजा सदैव बन्दीगृह के नियमों से परे होता है, ठीक उसी तरह जिस तरह भगवान् इस भौतिक जगत के नियमों से परे होते हैं।

स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया ।
सदसद्रूपया चासौ गुणमयागुणो विभुः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एव—ही; इदम्—इस; ससर्ज—उत्पन्न किये गये; अग्रे—पहले; भगवान्—भगवान्; आत्म-मायया—अपनी निजी शक्ति से; सत्—कारण; असत्—प्रभाव, फल; रूपया—रूपों के द्वारा; च—तथा; असौ—वही भगवान्; गुण-मय—भौतिक प्रकृति के गुणों में; अगुणः—दिव्य; विभुः—परम।

इस भौतिक सृष्टि के प्रारम्भ में, उन भगवान् (वासुदेव) ने अपने दिव्य पद पर रहकर अपनी ही अन्तरंगा शक्ति से कारण तथा कार्य की शक्तियाँ उत्पन्न कीं।

तात्पर्य : भगवान् कि स्थिति सदैव दिव्य रहती है, क्योंकि भौतिक जगत की सृष्टि के लिए आवश्यक कारण-कार्य शक्तियाँ भी उन्हीं के द्वारा उत्पन्न की गई हैं। अतएव वे भौतिक गुणों से अप्रभावित रहते हैं। उनका अस्तित्व, रूप, कार्य तथा साज सामग्री, ये सब भौतिक सृजन के पहले से विद्यमान थे।* वे पूर्ण रूप से आध्यात्मिक हैं और उन्हें इस भौतिक जगत के गुणों से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता, क्योंकि ये गुण भगवान् के आध्यात्मिक गुणों से भिन्न हैं।

*मायावाद विचारधारा के प्रधान श्रीपाद शंकराचार्य ने *भगवद्गीता* के अपने भाष्य में श्रीकृष्ण के इस दिव्य पद को स्वीकार किया है।

footnote ends here.

तया विलसितेष्वेषु गुणेषु गुणवानिव ।
अन्त:प्रविष्ट आभाति विज्ञानेन विजृम्भित: ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तया—उनके द्वारा; विलसितेषु—यद्यपि कार्य में; एषु—इन; गुणेषु—भौतिक प्रकृति के गुणों में; गुणवान्—गुणों से प्रभावित होने वाला; इव—मानो; अन्तः—भीतर; प्रविष्टः—घुसा हुआ; आभाति—प्रतीत होता है; विज्ञानेन—दिव्य चेतना से; विजृम्भितः—पूर्ण रूप से प्रकाशित।

भौतिक पदार्थ की उत्पत्ति करने के बाद, भगवान् (वासुदेव) अपना विस्तार करके उसमें प्रवेश करते हैं। यद्यपि वे प्रकृति के गुणों में रहते हुए उत्पन्न जीवों में से एक जैसे लगते हैं, किन्तु वे सदैव अपने दिव्य पद पर पूर्ण रूप से आलोकित रहते हैं।

तात्पर्य : जीवात्माएँ भगवान् के विभिन्न अंश-प्रत्यंश हैं और जो बद्ध-जीवात्माएँ आध्यात्मिक जगत में रहने लायक नहीं हैं, उन्हें इस भौतिक जगत में डाल दिया जाता है जिससे वे जी भरकर पदार्थ का भोग कर सकें। परमात्मा के रूप में तथा जीवों के नित्य सखा के तौर पर

भगवान् अपने किसी एक पूर्ण अंश के द्वारा जीवों के साथ रहकर उनके भौतिक भोगों में पथप्रदर्शक बनते हैं और उनके सारे कार्यकलापों के साक्षी रहते हैं। जहाँ जीवात्माएँ भौतिक भोग करते हैं, वहीं भगवान् भौतिक वातावरण से प्रभावित हुए बिना अपने दिव्य पद पर बने रहते हैं। श्रुतियों में कहा गया है कि एक वृक्ष पर दो पक्षी हैं।* इनमें से एक वृक्ष का फल खा रहा है और दूसरा उसकी गतिविधियाँ देख रहा है। यह साक्षी भगवान् है और फल को खाने वाला पक्षी जीवात्मा है। फल खाने वाला (जीवात्मा) अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गया है और भौतिक जगत के सकाम कर्मों में बुरी तरह व्यस्त है, जब कि भगवान् (परमात्मा) सदैव दिव्य ज्ञान से परिपूर्ण रहते हैं। परमात्मा तथा बद्धजीव में यही अन्तर है। बद्धजीव या जीवात्मा प्रकृति के नियमों के वशीभूत रहता है, जबकि परमात्मा भौतिक शक्ति के नियन्त्रक हैं।

*द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यन्यौः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनशन्नन्योऽभिचाकशीति॥

(*मुण्डक* उपनिषद् ३.१.१)

footnote ends here. (... delete while formating in quark)

यथा ह्यवहितो वह्निर्दारुष्वेकः स्वयोनिषु ।
नानेव भाति विश्वात्मा भूतेषु च तथा पुमान् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; हि—उसी तरह; अवहितः—से युक्त; वह्निः—अग्नि; दारुषु—काष्ठ में; एकः—एक; स्व-योनिषु—अपनी योनियों में; नाना इव—अनेक जीवों की तरह; भाति—प्रकाशित होता है; विश्व-आत्मा—परमात्मा रूप भगवान्; भूतेषु—जीवों में; च—तथा; तथा—उसी तरह; पुमान्—परम पुरुष।

परमात्मा रूप में भगवान् सभी वस्तुओं में उसी तरह व्याप्त रहते हैं जिस तरह काष्ठ के भीतर अग्नि व्याप्त रहती है और इस प्रकार यद्यपि वे एक एवं अद्वितीय हैं, वे अनेक प्रकार से दिखते हैं।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव अपने किसी एक पूर्णांश से सारे भौतिक जगत में विस्तार करते हैं और उनका अस्तित्व परमाणु ऊर्जा तक के भीतर देखा जा सकता है। पदार्थ,

प्रतिपदार्थ, प्रोटान, न्यूट्रान आदि भगवान् के परमात्मा रूप के विभिन्न परिणाम हैं। जिस प्रकार काष्ठ से अग्नि प्रकट होती है या दूध से मक्खन निकलता है, उसी प्रकार परमात्मा रूप में भगवान् की उपस्थिति उन दिव्य विषयों के वैध श्रवण तथा कीर्तन की सम्मत विधि द्वारा अनुभव की जा सकती है, जिनका वर्णन उपनिषदों तथा वेदान्त जैसे वैदिक साहित्य में विशेष रूप से हुआ है। *श्रीमद्भागवत* ऐसे वैदिक साहित्य की प्रामाणिक व्याख्या है। भगवान् की अनुभूति दिव्य सन्देश के श्रवण द्वारा की जा सकती है और दिव्य विषय को अनुभव करने का एकमात्र यही तरीका है। जिस प्रकार किसी अन्य अग्नि द्वारा जलाने पर काष्ठ से अग्नि प्रकट होती है उसी प्रकार मनुष्य की दैवी चेतना अन्य दैवी अनुकम्पा से ही प्रकाशित की जा सकती है। श्री श्रीमद् पूज्य गुरु काष्ठ रूप जीवात्मा में विनम्रता से श्रवण करने वाले कर्णों द्वारा समुचित दिव्य सन्देश प्रविष्ट कराकर आध्यात्मिक अग्नि प्रज्ज्वलित करा सकते हैं। अतएव विनम्रता से सुनने की इच्छा के साथ ही समुचित गुरु के पास जाना चाहिए। इस प्रकार धीरे-धीरे दैवी अस्तित्व की अनुभूति हो जाती है। पशुता तथा मानवता का भेद इसी विधि पर आधारित है। मनुष्य ठीक से सुन सकता है, जबकि पशु ऐसा नहीं कर सकता।

असौ गुणमयैर्भावैर्भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः ।
स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो भुङ्क्ते भूतेषु तद्गुणान् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

असौ—वे परमात्मा; गुण-मयैः—प्रकृति के गुणों से प्रभावित; भावैः—स्वाभाविक रूप से; भूत—उत्पन्न; सूक्ष्म—सूक्ष्म; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आत्मभिः—जीवों द्वारा; स्व-निर्मितेषु—अपनी ही सृष्टि में; निर्विष्टः—प्रवेश करके; भुङ्क्ते—भोग के लिए प्रेरित करते हैं; भूतेषु—जीवों में; तत्-गुणान्—प्रकृति के वे गुण।

भौतिक जगत के तीन गुणों से प्रभावित हुए जीवों के देह में परमात्मा प्रविष्ट होते हैं और सूक्ष्म मन के द्वारा तीन गुणों के फल भोगने के लिए जीवों को प्रेरित करते हैं।

तात्पर्य : सर्वाधिक बुद्धिमान जीव ब्रह्मा से लेकर नगण्य चींटी तक जीवों की ८४,००,००० लाख योनियाँ हैं और ये सब की सब अपने सूक्ष्म मन तथा स्थूल शरीर की इच्छाओं के अनुसार भौतिक संसार का भोग करती हैं। स्थूल भौतिक शरीर सूक्ष्म मन की अवस्थाओं पर आधारित

होता है और इन्द्रियाँ जीव की इच्छानुसार उत्पन्न की जाती हैं। भगवान्, परमात्मा रूप में, जीव को भौतिक सुख प्राप्त करने में सहायक बनते हैं, क्योंकि जीव अपनी इच्छा के अनुसार कोई भी भौतिक सुख प्राप्त करने में पूर्ण रूप से अक्षम है। वह इच्छा करने वाला है और भगवान् उसका नियमन करने वाले हैं। आशय यह है कि सारे जीव भगवान् के अंश हैं, अतएव वे भगवान् से अभिन्न हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् ने विविध शरीरधारी जीवों को अपना पुत्र कहा है। पुत्रों के सुख एवं दुख परोक्ष रूप से पिता के भी सुख एवं दुख होते हैं; तो भी पुत्रों के सुख-दुख से पिता प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं होते। वे इतने दयालु हैं कि वे जीव के साथ परमात्मा रूप में निरन्तर बने रहते हैं और जीव को वास्तविक सुख की ओर प्रेरित करते रहते हैं।

भावयत्येष सत्त्वेन लोकान् वै लोकभावनः ।
लीलावतारानुरतो देवतिर्यङ्नरादिषु ॥ ३४॥

शब्दार्थ

भावयति—पालन करते हैं; एषः—इन सबका; सत्त्वेन—सतोगुण से; लोकान्—ब्रह्माण्ड भर में; वै—सामान्य रूप से; लोक-भावनः—समस्त ब्रह्माण्डों के स्वामी; लीला—कार्यकलाप; अवतार—अवतार; अनुरतः—भूमिका ग्रहण करते हुए; देव—देवता; तिर्यक्—निम्न पशु; नर-आदिषु—मनुष्यों में।

इस प्रकार सारे ब्राह्माण्डों के स्वामी देवताओं, मनुष्यों तथा निम्न पशुओं से आवासित सारे ग्रहों का पालन-पोषण करने वाले हैं। वे अवतरित होकर शुद्ध सत्त्वगुण में रहने वालों के उद्धार हेतु लीलाएँ करते हैं।

तात्पर्य : भौतिक ब्रह्माण्ड अनगिनत हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्ड में असंख्य ग्रह हैं, जिनमें विविध गुणों वाले विभिन्न कोटि के जीव निवास करते हैं। भगवान् (विष्णु) इनमें से प्रत्येक लोक में तथा प्रत्येक जीव-समूह में अवतरित होते रहते हैं। वे उनके बीच अपनी दिव्य लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं, जिससे उनमें भगवान् के धाम वापस जाने की रुचि उत्पन्न हो। भगवान् अपनी मूल दिव्य अवस्था को बदलते नहीं, अपितु देश, काल तथा समाज के अनुसार वे भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होते हैं।

कभी वे स्वयं अवतरित होते हैं तो कभी किसी उपयुक्त जीव को अपना प्रतिनिधि बनाकर उसे शक्ति प्रदान करते हैं, किन्तु प्रत्येक दशा में प्रयोजन एक ही रहता है—भगवान् चाहते हैं कि दुख उठाने वाला जीव उनके पास अर्थात् भगवद्धाम वापस आ जाय। सारे जीव जिस सुख के पीछे दीवाने रहते हैं, वह असंख्य ब्रह्माण्डों में और भौतिक ग्रहों के किसी भी कोने में कहीं भी प्राप्य नहीं है। जीव जिस शाश्वत सुख की कामना करता है, वह केवल भगवान् के धाम में उपलब्ध है, किन्तु विस्मरणशील जीव, प्रकृति के गुणों के वश में आकर, भगवान् के धाम के विषय में कुछ भी नहीं जानता। अत: भगवान् अपने धाम का सन्देश प्रसारित करने के लिए स्वयं अवतरित होते हैं या ईशपुत्र के रूप में अपना प्रामाणिक प्रतिनिधि बनकर आते हैं। ऐसे अवतार या ईशपुत्र, भगवद्-धाम जाने के सन्देश का प्रचार केवल मानव समाज में ही नहीं करते हैं, बल्कि उनका काम सभी समाजों में, देवताओं में तथा मनुष्यों के अतिरिक्त अन्यों में भी चलता रहता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के अन्तर्गत ''दिव्यता तथा दिव्य सेवा'' नामक द्वितीय अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तीन

समस्त अवतारों के स्रोत : कृष्ण

सूत उवाच
जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभि: ।
सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूत: उवाच—सूत ने कहा; जगृहे—स्वीकार किया; पौरुषम्—पुरुष अवतार रूप में पूर्णांश; रूपम्—रूप; भगवान्—भगवान्; महत्-आदिभि:—भौतिक जगत के अवयवों सहित; सम्भूतम्—इस तरह उत्पन्न; षोडश-कलम्—सोलह मुख्य सिद्धान्त; आदौ—प्रारम्भ में; लोक—ब्रह्माण्ड; सिसृक्षया—उत्पन्न करने के विचार से।

सूतजी ने कहा : सृष्टि के प्रारम्भ में, भगवान् ने सर्वप्रथम विराट पुरुष अवतार के रूप में अपना विस्तार किया और भौतिक सृजन के लिए सारी सामग्री प्रकट की। इस प्रकार सर्वप्रथम भौतिक क्रिया के सोलह तत्त्व उत्पन्न हुए। यह सब भौतिक ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करने के लिए किया गया।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* का मत है कि भगवान् कृष्ण अपने पूर्णांशों के विस्तार से इन भौतिक ब्रह्माण्डों का पालन करते हैं। अत: यह *पुरुष* रूप उसी सिद्धान्त की पुष्टि है। आदि भगवान् वासुदेव या कृष्ण भगवान् जो राजा वसुदेव या राजा नन्द के पुत्र के रूप में विख्यात हैं, समस्त ऐश्वर्यों, शक्तियों, यश, सौंदर्य, ज्ञान तथा वैराग्य से परिपूर्ण हैं। उनके ऐश्वर्यों का एक अंश निराकार ब्रह्म के रूप में प्रकट होता है, तो एक अंश परमात्मा रूप में। उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण का यह *पुरुष* रूप भगवान् का मूल परमात्मा स्वरूप है। भौतिक सृष्टि में तीन *पुरुष* रूप होते हैं और यह रूप, जो कारणोदकशायी विष्णु कहलाता है, तीनों में से प्रथम है। अन्य रूप हैं, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु जिनके बारे में हम क्रमश: जानेंगे। इन कारणोदकशायी विष्णु के रोमकूपों से असंख्य ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति होती है और प्रत्येक ब्रह्माण्ड में भगवान् गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में प्रवेश करते हैं।

भगवद्गीता में यह भी उल्लेख है कि भौतिक जगत निश्चित अवधि के लिए उत्पन्न किया जाता है और फिर विनष्ट कर दिया जाता है। यह सृजन तथा संहार बद्धजीवों या नित्य बद्धजीवों

के कारण भगवान् की इच्छा से किया जाता है। नित्य बद्धजीवों में वैयक्तिक भाव या अहंकार होता है, जो उन्हें इन्द्रिय-भोग का आदेश देता है, क्योंकि स्वाभाविक रूप से उन्हें ये भोग नहीं मिल सकते। भगवान् ही एकमात्र भोक्ता हैं और शेष सब भोग्य हैं। जीव पराधीन भोक्ता हैं। लेकिन नित्य बद्धजीव इस स्वाभाविक अवस्था को भूल जाने के कारण ही भोग की दृढ़ इच्छा करता है। बद्धजीवों को भौतिक जगत में पदार्थ को भोगने का अवसर दिया जाता है, किन्तु इसके साथ ही साथ उन्हें अपना वास्तविक स्वरूप समझने का अवसर भी प्रदान किया जाता है। जो जीव इतने भाग्यशाली होते हैं कि भौतिक संसार में अनेकानेक जन्मों के बाद इस सत्य को ग्रहण करके वासुदेव के चरणकमलों की शरण में जाते हैं, वे नित्यमुक्त जीवों के साथ भगवान् के धाम में प्रवेश करने के अधिकारी होते हैं। इसके पश्चात् ऐसे भाग्यशाली जीवों को समय समय पर सृजित इस भौतिक सृष्टि में आने की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु जो जीव स्वाभाविक सत्य को ग्रहण नहीं कर पाते, वे इस सृष्टि के प्रलय के समय *महत्-तत्त्व* में पुन: मिल जाते हैं। जब पुन: सृष्टि होती है तो यह *महत्-तत्त्व* पुन: उन्मुक्त होता है। इस *महत्-तत्त्व* में भौतिक प्राकट्य की सारी सामग्री विद्यमान होती है, जिनमें बद्धजीव भी सम्मिलित रहते हैं। मूलत: यह *महत्-तत्त्व* सोलह अंशों में विभक्त किया जाता है। ये हैं—पाँच स्थूल भौतिक तत्त्व तथा ग्यारह कर्मेन्द्रियाँ। यह स्वच्छ आकाश में बादल के समान होता है। आध्यात्मिक आकाश में ब्रह्म का तेज चतुर्दिक् फैला रहता है और समग्र मंडल दिव्य प्रकाश से जाज्वल्यमान रहता है। इस विस्तृत असीम आध्यात्मिक आकाश के किसी कोने में *महत्-तत्त्व* एकत्र होता है और आकाश का जितना भाग *महत्-तत्त्व* से ढका रहता है वह भौतिक आकाश कहलाता है। *महत्-तत्त्व का* यह भाग सम्पूर्ण आध्यात्मिक आकाश का नगण्य अंश होता है। इस *महत्-तत्त्व* के भीतर असंख्य ब्रह्माण्ड रहते हैं। ये सारे बह्माण्ड कारणोदकशायी विष्णु या महाविष्णु के द्वारा भौतिक आकाश पर केवल दृष्टिपात करने से उत्पन्न होते हैं।

यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः ।

नाभिह्रदाम्बुजादासीद्ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; अम्भसि—जल में; शयानस्य—लेटे हुए; योग-निद्राम्—ध्यान में सोये हुए; वितन्वतः—विस्तार करते हुए; नाभि—नाभि रूपी; ह्रद—सरोवर के; अम्बुजात्—कमल से; आसीत्—प्रकट हुआ; ब्रह्मा—जीवों के पितामह; विश्व—ब्रह्माण्ड का; सृजाम्—शिल्पी; पतिः—स्वामी।

पुरुष के एक अंश ब्रह्माण्ड के जल के भीतर लेटते हैं, उनके शरीर के नाभि-सरोवर से एक कमलनाल अंकुरित होता है और इस नाल के ऊपर खिले कमल-पुष्प से ब्रह्माण्ड के समस्त शिल्पियों के स्वामी ब्रह्मा प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : प्रथम पुरुष कारणोदकशायी विष्णु हैं। उनकी त्वचा के छिद्रों से असंख्य ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं और यह पुरुष इन प्रत्येक ब्रह्माण्डों में गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में प्रवेश कर जाते हैं। वे आधे ब्रह्माण्ड में लेटे हुए हैं, जो उनके शरीर के जल से भर जाता है। इन गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से एक कमलनाल निकलता है, जो ब्रह्मा का जन्मस्थल है। ब्रह्माजी समस्त जीवों के पिता हैं और ब्रह्माण्ड की सुघड़ अभिकल्पना तथा संचालन में लगे समस्त देवता रूप शिल्पियों के स्वामी हैं। इस कमलनाल के भीतर ग्रहमंडल के चौदह लोक हैं, जिनमें से पृथ्वीग्रह तथा वैसे ही अन्य ग्रह मध्य में स्थित हैं। इसके ऊपर की ओर उत्तम ग्रहमंडल हैं और सबसे ऊपरी लोक ब्रह्मलोक या सत्यलोक कहलाता है। पृथ्वी-ग्रहमंडल से नीचे की ओर सात अधोलोक हैं, जिनमें असुर तथा अन्य ऐसे ही भौतिकतावादी जीव निवास करते हैं।

गर्भोदकशायी विष्णु से क्षीरोदकशायी विष्णु का विस्तार होता है, जो समस्त जीवों के सामूहिक परमात्मा हैं। वे हरि कहलाते हैं और उन्हीं से ब्रह्माण्ड के सारे अवतारों का विस्तार होता है।

अतएव निष्कर्ष यह निकला कि *पुरुष-अवतार* तीन रूपों में प्रकट होते हैं—पहले कारणोदकशायी हैं, जो *महत्-तत्त्व* में समग्र भौतिक तत्त्वों को उत्पन्न करते हैं, दूसरे गर्भोदकशायी हैं, जो प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश करते हैं और तीसरे क्षीरोदकशायी विष्णु हैं, जो प्रत्येक भौतिक पदार्थ—चाहे वह जैव हो या अजैव—सबके परमात्मा हैं। जो व्यक्ति भगवान् के इन पूर्ण रूपों को जानता है, वह ईश्वर को ठीक से समझता है। इस तरह का ज्ञाता जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि की

भौतिक स्थिति से मुक्त हो जाता है, जैसा कि *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई है। इस श्लोक में महाविष्णु के विषय में सारांश दिया गया है। महाविष्णु अपनी मुक्त इच्छा से आध्यात्मिक आकाश के कुछ भाग में लेटे रहते हैं। इस तरह वे कारण सागर में लेटे हुए प्रकृति पर दृष्टि फेरते हैं, जिससे तुरन्त *महत्-तत्त्व* की सृष्टि होती है। इस प्रकार से भगवान् की शक्ति से विद्युत्-उन्मेषित होकर प्रकृति अनेक ब्रह्माण्डों को जन्म देती है, जिस प्रकार समय आने पर वृक्ष में असंख्य फल लग जाते हैं। वृक्ष का बीज बोने वाला किसान होता है और समय पाकर वृक्ष या लता में अनेक फल प्रकट होते हैं। कोई भी घटना किसी कारण के बिना नहीं घटती। इसीलिए कारण-सागर *कारणार्णव* कहलाता है। हमें मूर्खतावश सृष्टि के नास्तिकतावादी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करना चाहिए। *भगवद्गीता* में नास्तिकों का वर्णन हुआ है। नास्तिक सृष्टा पर विश्वास नहीं करता, किन्तु वह सृष्टि का कोई अच्छा सिद्धान्त भी नहीं दे सकता। भौतिक प्रकृति में पुरुष के बिना सृजन करने की शक्ति नहीं है, जिस प्रकार कि प्रकृति अर्थात् स्त्री, पुरुष के बिना अर्थात् नर से सम्बन्ध स्थापित किये बिना शिशु उत्पन्न नहीं कर सकती। पुरुष गर्भाधान करता है और प्रकृति प्रसव करती है। जिस प्रकार बकरे के गले में लगी मांसल थैलियों से दूध की आशा नहीं की जा सकती, यद्यपि वे स्तन जैसी लगती हैं, उसी प्रकार हमें भौतिक तत्त्वों से किसी प्रकार की सृजनात्मक शक्ति की आशा नहीं करनी चाहिए। हमें *पुरुष* की शक्ति में विश्वास करना चाहिए, जो प्रकृति का गर्भाधान करने वाले हैं। चूँकि भगवान् की इच्छा ध्यानमग्न होकर लेटने की थी, अत: भौतिक शक्ति ने तुरन्त असंख्य ब्रह्माण्ड उत्पन्न कर दिये और इनमें से प्रत्येक में भगवान् लेट गये। इस प्रकार भगवान् की इच्छा से तुरन्त ही सारे ग्रह तथा विभिन्न सामग्री उत्पन्न हो गई। भगवान् में अनन्त शक्तियाँ हैं, अत: वे इच्छानुसार अपनी योजना पूरी करते हुए कार्य कर सकते हैं, यद्यपि वे स्वयं कुछ नहीं करते। कोई न तो उनके तुल्य है, न उनसे बढ़कर। यही वेदों का निर्णय है।

यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः ।
तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्जितम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; अवयव—शारीरिक विस्तार; संस्थानैः—में स्थित; कल्पितः—कल्पित किया गया; लोक—निवासियों के ग्रह; विस्तरः—विभिन्न; तत् वै—लेकिन वह है; भगवतः—भगवान् का; रूपम्—रूप; विशुद्धम्—शुद्ध; सत्त्वम्—अस्तित्व; ऊर्जितम्—सर्वश्रेष्ठ।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि समस्त ब्रह्माण्ड के ग्रहमंडल पुरुष के विराट शरीर में स्थित हैं, किन्तु उन्हें सर्जित भौतिक अवयवों से कोई सरोकार नहीं होता। उनका शरीर नित्य आध्यात्मिक अस्तित्वमय है जिसकी कोई तुलना नहीं है।

तात्पर्य : परम सत्य के *विराट्-रूप* या *विश्व-रूप* की धारणा विशेष रूप से नवदीक्षितों के लिए है, जो भगवान् के दिव्य रूप के विषय में सोच सकने में अक्षम होते हैं। उनके लिए रूप का अर्थ इस भौतिक जगत से सम्बद्ध कोई वस्तु है, अतएव प्रारम्भ में भगवान् की शक्ति के विस्तार पर ध्यान एकाग्र करने के लिए ब्रह्म की विरोधी कल्पना आवश्यक होती है। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, भगवान् महत्-तत्त्व के रूप में अपनी शक्ति का विस्तार करते हैं, जिसमें सभी भौतिक अवयव सम्मिलित रहते हैं। एक तरह से भगवान् की शक्ति का विस्तार तथा स्वयं भगवान् एक हैं, किन्तु साथ ही साथ *महत्-तत्त्व* भगवान् से भिन्न भी है। फलस्वरूप, भगवान् की शक्ति तथा भगवान् एक ही साथ भिन्न तथा अभिन्न हैं। इस तरह *विराट-रूप* की अवधारणा, विशेष रूप से निर्विशेषवादियों के लिए, भगवान् के नित्य रूप से अभिन्न है। भगवान् का यह नित्य रूप *महत्-तत्त्व* की सृष्टि के पहले से विद्यमान रहता है और यहाँ पर इस बात पर बल दिया गया है कि भगवान् का नित्य रूप प्रकृति के गुणों से परम आध्यात्मिक या दिव्य है। यही दिव्य रूप भगवान् की अन्तरंगा शक्ति से प्रकट होता है और अनेक अवतारों के रूप में उनका स्वरूप वैसे ही दिव्य गुण वाला बना रहता है, उसमें *महत्-तत्त्व* का किंचित स्पर्श तक नहीं होता।

पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा
सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम् ।
सहस्रमूर्धश्रवणाक्षिनासिकं

सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् ॥ ४॥

शब्दार्थ

पश्यन्ति—देखते हैं; अदः—पुरुष का; रूपम्—रूप; अदभ्र—पूर्ण; चक्षुषा—आँखों से; सहस्र-पाद—हजारों पाँव; ऊरु—जंघाएँ; भुज-आनन—हाथ तथा मुख; अद्भुतम्—आश्चर्यजनक; सहस्र—हजारों; मूर्ध—शिर; श्रवण—कान; अक्षि—आँखें; नासिकम्—नाक; सहस्र—हजारों; मौलि—मालाएँ; अम्बर—वस्त्र; कुण्डल—कर्णाभूषण; उल्लसत्—चमकते हुए।

भक्तगण अपने विमल (पूर्ण) नेत्रों से उस पुरुष के दिव्य रूप का दर्शन करते हैं जिसके हजारों-हजार पाँव, जंघाएँ, भुजाएँ तथा मुख हैं और सबके सब अद्वितीय हैं। उस शरीर में हजारों सिर, आँखें, कान तथा नाक होते हैं। वे हजारों मुकुटों तथा चमकते कुण्डलों से अलंकृत हैं और मालाओं से सजाये गये हैं।

तात्पर्य : हम अपनी वर्तमान भौतिक इन्द्रियों से दिव्य भगवान् को रंचमात्र भी नहीं देख पाते। हमारी वर्तमान इन्द्रियों को भक्तिमय सेवा की प्रक्रिया द्वारा ठीक करने की आवश्यकता है, तभी भगवान् स्वयं हमें दर्शन देते हैं। *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है कि शुद्ध भक्तिमय सेवा द्वारा ही दिव्य रूप भगवान् के दर्शन किये जा सकते हैं। इस तरह वेदों में भी पुष्टि हुई है कि केवल भक्ति ही मनुष्य को भगवान् की ओर ले जा सकती है और केवल भक्ति से भगवान् प्रकट होते हैं। *ब्रह्म-संहिता* में भी कहा गया है कि भगवान् सदैव उन भक्तों को दिखते हैं, जिनकी आँखों में भक्ति रूपी अंजन लगा रहता है। अतएव हमें भगवान् के दिव्य रूप की जानकारी ऐसे व्यक्तियों से प्राप्त करनी होती है, जिन्होंने भक्ति के अंजन से रंजित आँखों से उनका दर्शन किया है। इस भौतिक जगत में भी हम वस्तुओं को सदा अपनी आँखों से नहीं देखते; कभी-कभी हम उन लोगों के अनुभव से देखते हैं जिन्होंने उन्हें पहले से देखा है या कुछ काम किया है। यदि दुन्यवी वस्तुओं के अनुभव किये जाने की यह विधि है, तो फिर दिव्य विषयों में यह पूरी तरह लागू होती है। अतएव केवल धैर्य तथा दृढ़ता से ही परम सत्य सम्बन्धी दिव्य विषय तथा उनके विविध रूपों के सम्बन्ध में अनुभूति प्राप्त की जा सकती है। नवदीक्षितों के लिए वे स्वरूपहीन हैं, किन्तु दक्ष सेवक के लिए वे दिव्य रूप से युक्त होते हैं।

एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम् ।
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादय: ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह (रूप) ; नाना—अनेक; अवताराणाम्—अवतारों का; निधानम्—स्रोत; बीजम्—बीज; अव्ययम्—अविनाशी; यस्य—जिसका; अंश—पूर्ण अंश; अंशेन—भिन्नांश से; सृज्यन्ते—उत्पन्न होते हैं; देव—देवता; तिर्यक्—पशु; नर-आदय:—मनुष्य इत्यादि।

यह रूप (पुरुष का द्वितीय प्राकट्य) ब्रह्माण्ड के भीतर नाना अवतारों का स्रोत तथा अविनाशी बीज है। इसी रूप के कणों तथा अंशों से देवता, मनुष्य इत्यादि विभिन्न जीव उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : महत्-तत्त्व में असंख्य ब्रह्माण्डों की सृष्टि कर लेने के बाद, यह पुरुष इन ब्रह्माण्डों में से प्रत्येक में, द्वितीय पुरुष—गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में प्रविष्ट हुए। वहाँ पर जब उन्होंने देखा कि ब्रह्माण्ड भर में अंधकार ही अंधकार तथा अवकाश है, विश्राम के लिए कही कोई आश्रय नहीं है, तब उन्होंने अपने पसीने के जल से आधे ब्रह्माण्ड को भर दिया और स्वयं उसी जल में लेट गए। यह जल गर्भोदक कहलाता है। तब उनकी नाभि से कमलनाल अंकुरित हुई और उस फूल की पंखुड़ियों पर ब्रह्माण्ड के प्रमुख शिल्पी ब्रह्मा का जन्म हुआ। ब्रह्मा ब्रह्माण्ड के शिल्पी हुए और भगवान् ने विष्णु रूप में इस ब्रह्माण्ड के पालन का भार अपने ऊपर ले लिया। ब्रह्मा की उत्पत्ति प्रकृति के रजोगुण से हुई और विष्णु सत्त्वगुण के स्वामी बने। विष्णु समस्त गुणों से परे होने के कारण भौतिक प्रभावों से सदा अलग रहते हैं। इसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है। ब्रह्मा से रुद्र (शिव) उत्पन्न हुए, जो तमोगुण के स्वामी हैं। वे भगवान् की इच्छा से सर्म्पूण सृष्टि का संहार करते हैं। अतएव ये तीनों—ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव गर्भोदकशायी विष्णु के ही अवतार हैं। ब्रह्मा से दक्ष, मरीचि, मनु आदि अनेक देवता अवतरित हुए जिन्होंने ब्रह्माण्ड में जीवों का जनन किया। वेदों में इन गर्भोदकशायी विष्णु की स्तुति *गर्भस्तुति* के स्तोत्रों के रूप में की जाती है, जिनका प्रारम्भ हजारों शिरों आदि वाले भगवान् के वर्णन से होता है। गर्भोदकशायी विष्णु ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं और यद्यपि वे इस ब्रह्माण्ड के भीतर शयन करते प्रतीत होते हैं, किन्तु वे सदैव दिव्य हैं। इसकी भी व्याख्या की जा चुकी है। विष्णु, जो कि गर्भोदकशायी विष्णु के पूर्ण

अंश हैं, विश्वभर के जीवों के परमात्मा हैं और वे ब्रह्माण्ड के पालनकर्ता या क्षीरोदकशायी विष्णु कहलाते हैं। इस प्रकार मूल पुरुष के तीन रूप जाने जाते हैं। इस ब्रह्माण्ड के भीतर जितने भी अवतार हैं, वे इसी क्षीरोदकशायी विष्णु से उद्भूत होते हैं।

विभिन्न युगों में भिन्न-भिन्न असंख्य अवतार होते रहते हैं, किन्तु इनमें से कुछ अत्यन्त प्रमुख हैं—यथा मत्स्य, कूर्म, वराह, राम, नृसिंह, वामन तथा अनेक दूसरे अवतार। ये अवतार *लीला अवतार* कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त गुणावतार भी होते हैं—यथा ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव (या रुद्र) जो प्रकृति के विभिन्न गुणों के लिए उत्तरदायी हैं।

भगवान् विष्णु परमेश्वर से अभिन्न हैं। शिवजी, परमेश्वर तथा जीवों की बीच की स्थिति में हैं और ब्रह्मा सदैव *जीव-तत्त्व* होते हैं। जो सर्वोच्च पुण्यात्मा जीव या भगवद्भक्त है, भगवान् द्वारा उसको सृष्टि करने की शक्ति प्रदान की जाती है और वह ब्रह्मा कहलाता है। उनकी शक्ति सूर्य जैसी है, जो मणि-माणिक्यों द्वारा प्रतिबिम्बित होती रहती है। जब ब्रह्मा का स्थान ग्रहण करने के लायक कोई जीव नहीं होता, तो भगवान् स्वयं ब्रह्मा बनकर इस कार्यभार को ग्रहण करते हैं।

शिवजी कोई सामान्य जीव नहीं हैं। वे भगवान् के पूर्णांश हैं, लेकिन भौतिक प्रकृति के प्रत्यक्ष संसर्ग में रहने के कारण उन्हें विष्णु जैसा दिव्य स्थान प्राप्त नहीं है। उनमें दूध तथा दही जैसा अन्तर है। यों तो दही दूध ही है, फिर भी वह दूध के स्थान पर उपयोग में नहीं लाया जा सकता।

इसके बाद मनुओं के अवतार आते हैं। ब्रह्मा के जीवन के एक दिन (हमारे सौर वर्षों की गणना के अनुसार ४३,००,००० × १,००० वर्ष) में चौदह मनु होते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा के एक मास में ४२० मनु तथा ब्रह्मा के एक वर्ष में ५,०४० मनु होते हैं। ब्रह्माकी आयु १०० वर्ष की है, अत: ब्रह्मा के जीवन में ५,०४० × १०० या ५,०४,००० मनु होते हैं। ब्रह्माण्डों की संख्या अनगिनत है और इनमें से प्रत्येक में एक-एक ब्रह्मा होते हैं और ये सब *पुरुष* के श्वास लेने और छोड़ने जितने समय में उत्पन्न तथा विनष्ट हो जाते हैं। अतएव कल्पना की जा सकती है कि *पुरुष* के एक श्वास काल में कितने लाखों मनु होते होंगे।

इस ब्रह्माण्ड के प्रमुख मनु इस प्रकार हैं—स्वयंभुव मनु के रूप में यज्ञ, स्वारोचिष मनु के रूप में विभु, उत्तम मनु के रूप में सत्यसेन, तामस मनु के रूप में हरि, रैवत मनु के रूप में वैकुण्ठ, चाक्षुष मनु के रूप में अजित, वैवस्वत मनु के रूप में वामन (वर्तमान युग वैवस्वत मनु के अधीन है), सावर्णि मनु के रूप में सार्वभौम, दक्ष-सावर्णि मनु के रूप में ऋषभ, ब्रह्म-सावर्णि मनु के रूप में विश्वक्सेन, धर्म-सावर्णि मनु के रूप में धर्मसेतु, रुद्र-सावर्णि मनु के रूप में सुधामा, देव-सावर्णि मनु के रूप में योगेश्वर और इन्द्र-सावर्णि मनु के रूप में वृहद्भानु। ये चौदह मनुओं के एक समुच्चय के नाम हैं जो ४,३०,००,००,००० वर्षों का काल पूरा करते हैं।

फिर युगावतार भी होते हैं। युगों के नाम हैं—सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग तथा कलियुग। प्रत्येक युग के अवतारों का रंग भिन्न होता है। ये रंग हैं श्वेत, लाल, काला तथा पीला। द्वापरयुग में भगवान् कृष्ण काले रंग में प्रकट हुए और कलियुग में चैतन्य महाप्रभु पीले रंग में प्रकट हुए।

इस प्रकार शास्त्रों में भगवान् के समस्त अवतारों का उल्लेख मिलता है। किसी भी धूर्त के लिए अवतार बनने की गुंजाईश नहीं है, क्योंकि अवतार का उल्लेख शास्त्रों में रहता है। कोई भी अवतार अपने को ईश्वर का अवतार घोषित नहीं करता, अपितु ऋषिगण शास्त्रों में उल्लिखित लक्षणों के आधार पर उन्हें स्वीकार करते हैं। शास्त्रों में अवतार के लक्षणों तथा उनके द्वारा सम्पन्न होने वाले विशेष सन्देश (कार्य) का उल्लेख रहता है।

प्रत्यक्ष अवतारों के अतिरिक्त असंख्य 'शक्त्यावेश' अवतार होते हैं। इनका भी प्रामाणिक शास्त्रों में उल्लेख रहता है। ऐसे अवतारों को प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से शक्ति प्राप्त रहती है। जब उन्हें प्रत्यक्ष शक्ति मिली है, तो वे *अवतार* कहलाते हैं, किन्तु जब उन्हें अप्रत्यक्ष शक्ति मिलती है, तब वे *विभूतियाँ* कहलाते हैं। प्रत्यक्ष 'शक्त्यावेश' अवतारों में कुमारगण, नारद, पृथु, शेष, अनन्त आदि हैं। जहाँ तक विभूतियों का सम्बन्ध है, इनका स्पष्ट वर्णन *भगवद्गीता* के विभूतियोग अध्याय में हुआ है। ऐसे समस्त प्रकार के अवतारों के स्रोत गर्भोदकशायी विष्णु हैं।

स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमाश्रितः ।

चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्यमखण्डितम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने; एव—ही; प्रथमम्—पहला; देवः—परमेश्वर; कौमारम्—कुमारगण (अविवाहित); सर्गम्—सृष्टि; आश्रितः—अधीन; चचार—सम्पन्न किया; दुश्चरम्—करना अत्यन्त कठिन, दुष्कर; ब्रह्मा—ब्रह्मा की कोटि में; ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करने की तपस्या में; अखण्डितम्—अविच्छिन्न।

सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वप्रथम ब्रह्मा के चार अविवाहित पुत्र (कुमारगण) थे, जिन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए परम सत्य के साक्षात्कार हेतु कठोर तपस्या की।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत की पहले उत्पत्ति, फिर पालन और तब एक निश्चित कालावधि के बाद संहार होता रहता है। अतएव जीवों के पिता ब्रह्मा की विशिष्ट कोटियों के अनुसार सृष्टियों के भिन्न-भिन्न नाम होते हैं। जैसाकि ऊपर कहा गया है, कुमारगणों की उत्पत्ति भौतिक जगत की कौमार-सृष्टि में हुई। उन्होंने हमें ब्रह्म-साक्षात्कार की विधि सिखाने के लिए स्वयं ब्रह्मचारी रहकर कठिन व्रत का पालन किया। ये सारे कुमार 'शक्त्यावेश' अवतार हैं। ये कठिन व्रत पालन करने के पूर्व ही योग्य ब्राह्मण बन चुके थे। इसी उदाहरण से यह सुझाव प्राप्त होता है कि मनुष्य को केवल जन्म से नहीं अपितु गुण से ब्राह्मण की योग्यताएँ प्राप्त कर लेनी चाहिए। तभी वह ब्रह्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया में अपने को लगाए।

द्वितीयं तु भवायास्य रसातलगतां महीम् ।
उद्धरिष्यन्नुपादत्त यज्ञेशः सौकरं वपुः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

द्वितीयम्—दूसरा; तु—लेकिन; भवाय—कल्याण के लिए; अस्य—इस पृथ्वी के; रसातल—निम्नतम भागमें; गताम्—गयी हुई; महीम्—पृथ्वी को; उद्धरिष्यन्—उठा कर; उपादत्त—स्थापित किया; यज्ञेशः—स्वामी या परम भोक्ता; सौकरम्—सूकर का; वपुः—अवतार।

समस्त यज्ञों के परम भोक्ता ने सूकर का अवतार (द्वितीय अवतार) स्वीकार किया और पृथ्वी के कल्याण हेतु उसे ब्रह्माण्ड के रसातल क्षेत्र से ऊपर उठाया।

तात्पर्य : यहाँ संकेत यह है कि भगवान् के प्रत्येक अवतार के लिए उनके द्वारा सम्पन्न होने वाले विशेष कार्य का भी उल्लेख रहता है। बिना कार्य-विशेष के कोई अवतार नहीं हो सकता और ऐसा कार्य सदा ही अद्वितीय होता है। ऐसे कार्यों का किसी जीव द्वारा सम्पन्न किया जाना

असम्भव होता है। शूकर का अवतार पृथ्वी को गन्दे पदार्थ के रसातल भाग से बाहर निकालना था। गन्दे स्थान से कोई चीज उठाना शूकर का कार्य है और सर्व-शक्तिमान भगवान् ने यह आश्चर्य असुरों को कर दिखाया, जिन्होंने पृथ्वी को ऐसे गंदे स्थान में छिपा दिया था। भगवान् के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। यद्यपि उन्होंने शूकर की भूमिका निभाई तो भी वे सदैव दिव्य स्थिति में रहते हुए भक्तों के द्वारा पूजित होते हैं।

तृतीयमृषिसर्गं वै देवर्षित्वमुपेत्य सः ।
तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तृतीयम्—तीसरा; ऋषि-सर्गम्—ऋषिसर्ग; वै—निश्चय ही; देवर्षित्वम्—देवताओं में ऋषि का अवतार; उपेत्य—स्वीकार करके; सः—उन्होंने; तन्त्रम्—वेदों का भाष्य; सात्वतम्—विशेष रूप से भक्ति के लिए; आचष्ट—संग्रह किया; नैष्कर्म्यम्—निष्काम्; कर्मणाम्—कर्म का; यतः—जिससे।

ऋषियों के सर्ग में, भगवान् ने देवर्षि नारद के रूप में, जो देवताओं में महर्षि हैं, तीसरा शक्त्यावेश अवतार ग्रहण किया। उन्होंने उन वेदों का भाष्य संकलित किया जिनमें भक्ति मिलती है और जो निष्काम कर्म की प्रेरणा प्रदान करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् के शक्त्यावेश अवतार महर्षि नारद सर्म्पूण जगत में भक्तिमय सेवा का प्रचार करते हैं। ब्रह्माण्ड में सर्वत्र विभिन्न लोकों में तथा समस्त योनियों के सारे बड़े-बड़े भगवद्भक्त उनके शिष्य हैं। *श्रीमद्भागवत* के संकलनकर्ता श्रील व्यासदेव भी उनके शिष्यों में से एक हैं। *नारद-पञ्चरात्र,* जो भगवद्भक्ति विषयक वेदों का भाष्य है, उन्हीं के द्वारा रचित है। यह *नारद-पञ्चरात्र* कर्मियों को कर्म-बन्धन से मुक्ति दिलाने की शिक्षा देता है। बद्धजीव अधिकांश सकाम कर्म के प्रति आसक्त होते हैं, क्योंकि वे अपने श्रम द्वारा जीवन का आनन्द भोगना चाहते हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड समस्त योनियों के सकाम कर्मियों से भरा पड़ा है। सभी प्रकार की आर्थिक विकास-योजनाएँ इन सकाम कर्मों में सम्मिलित हैं। किन्तु प्रकृति का नियम यह है कि प्रत्येक क्रिया की परिणामकारी प्रतिक्रिया होती है और कर्म करने वाला अच्छे या बुरे कर्मफल से बँधा होता है। अच्छे कर्म का फल तदनुरूप भौतिक सम्पन्नता है, जबकि बुरे कर्म का फल तदनुरूप

भौतिक कष्ट होता है। फिर भी भौतिक दशाएँ चाहे वे तथाकथित सुख हों या दुख हों, अन्तत: दुख का ही कारण बनते हैं। मूर्ख भौतिकतावादियों को यह पता ही नहीं होता कि मुक्त अवस्था में शाश्वत सुख कैसे प्राप्त करना चाहिए। श्री नारद इन मूर्ख सकाम कर्मीयों को बताते हैं कि किस तरह वास्तविक सुख प्राप्त करना चाहिए। वे संसार के रुग्ण मनुष्यों को निर्देश देते हैं कि किस प्रकार उनके वर्तमान पेशे से उनका आध्यात्मिक उत्थान हो सकता है। वैद्य दूध की बनी वस्तु खाने से अपच से पीड़ित रोगी को दूध से ही बना दही खाने का उपचार बताता है। अत: रोग का कारण तथा उसका उपचार एक ही हो सकता है, किन्तु उपचार करने वाले को नारद के समान ही कुशल वैद्य होना चाहिए। *भगवद्गीता* का भी यही उपदेश है कि अपने श्रम के फल से भगवान् की सेवा करनी चाहिए। इससे 'नैष्कर्म्य' या मुक्ति का पथ सुलभ हो सकेगा।

तुर्ये धर्मकलासर्गे नरनारायणावृषी ।
भूत्वात्मोपशमोपेतमकरोद्दुश्चरं तपः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तुर्ये—चौथी बार; धर्म-कला—धर्मराज की पत्नी से; सर्गे—उत्पन्न; नर-नारायणौ—नर तथा नारायण; ऋषी—ऋषि; भूत्वा—होकर; आत्म-उपशम—इन्द्रिय निग्रह द्वारा; उपेतम्—प्राप्ति के लिए; अकरोत्—किया; दुश्चरम्—अत्यन्त कठिन; तपः—तपस्या।.

चौथे अवतार में भगवान् राजा धर्म की पत्नी के जुड़वाँ पुत्र नर तथा नारायण बने। फिर उन्होंने इन्द्रियों को वश में करने के लिए कठिन तथा अनुकरणीय तपस्या की।

तात्पर्य : राजा ऋषभ ने अपने पुत्रों को उपदेश दिया था कि भगवान् का साक्षात्कार करने के लिए तपस्या ही मनुष्य का एकमात्र कर्तव्य (धर्म) है, अतएव हमें शिक्षा देने के लिए ही भगवान् ने आदर्श प्रस्तुत करते हुए स्वयं ऐसा किया। भगवान् भुलक्कड़ जीवों पर अत्यन्त दयालु रहते हैं। अत: वे स्वयं आते हैं और अपने पीछे आवश्यक आदेश छोड़ जाते हैं। वे बद्धजीवों को भगवद्धाम वापस बुलाने के लिए अपने उत्तम पुत्रों को भी प्रतिनिधि बनाकर भेजते हैं। हाल ही में, अभी सबों की स्मृति में ही, भगवान् चैतन्य भी ऐसे ही कार्य के लिए, इस लौह उद्योग के युग

में पतित आत्माओं पर विशेष कृपा करने के लिए प्रकट हुए थे। नारायण अवतार की पूजा आज भी हिमालय पर्वत स्थित बदरीनारायण में की जाती है।

पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम् ।
प्रोवाचासुरये साङ्ख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

पञ्चमः—पाँचवाँ; कपिलः—कपिल; नाम—नामक; सिद्धेशः—सिद्धों में श्रेष्ठ; काल—समय द्वारा; विप्लुतम्—नष्ट; प्रोवाच—कहा; आसुरये—आसुरि नामक ब्राह्मण से; साङ्ख्यम्—सांख्यशास्त्र, तत्त्वज्ञान; तत्त्व-ग्राम—सृष्टिकारी तत्त्वों का समूह; विनिर्णयम्—भाष्य।

भगवान् कपिल नामक पाँचवाँ अवतार सिद्धों में सर्वोपरि है। उन्होंने आसुरि ब्राह्मण को सृष्टिकारी तत्त्वों तथा सांख्य शास्त्र का भाष्य बताया, क्योंकि कालक्रम से यह ज्ञान वि-नष्ट हो चुका था।

तात्पर्य : सृष्टिकारी तत्त्वों की कुल संख्या चौबीस है। सांख्य दर्शन में इनमें से प्रत्येक तत्त्व की विशद व्याख्या की गई है। सांख्य दर्शन को यूरोपीय विद्वानों द्वारा सामान्य रूप से तत्त्वदर्शन कहा जाता है। सांख्य का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है, ''जो भौतिक तत्त्वों के विश्लेषण द्वारा अच्छी तरह से व्याख्या करे।'' भगवान् कपिल ने इसे सर्वप्रथम किया, जिन्हें यहाँ पर पाँचवाँ अवतार कहा गया है।

षष्ठमत्रेरपत्यत्वं वृतः प्राप्तोऽनसूयया ।
आन्वीक्षिकीमलर्काय प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

षष्ठम्—छठवाँ; अत्रेः—अत्रि का; अपत्यत्वम्—पुत्रत्व; वृतः—माँगने पर; प्राप्तः—प्राप्त किया गया; अनसूयया—अनसूया द्वारा; आन्वीक्षिकीम्—अध्यात्म के विषय पर; अलर्काय—अलर्क को; प्रह्लाद-आदिभ्यः—प्रह्लाद तथा अन्यों को; ऊचिवान्—बताया।

पुरुष के छठे अवतार अत्रि मुनि के पुत्र थे। वे अनसूया की प्रार्थना पर उनके गर्भ से उत्पन्न हुए थे। उन्होंने अलर्क, प्रह्लाद तथा अन्यों (यदु, हैहय आदि) को अध्यात्म के विषय में उपदेश दिया।

तात्पर्य : भगवान् ऋषि अत्रि तथा अनसूया के पुत्र, दत्तात्रेय के रूप में अवतरित हुए। *ब्रह्माण्ड पुराण* में पतिव्रता पत्नी के प्रसंग में, भगवान् द्वारा दत्तात्रेय के रूप में अवतार लेने की कथा का वर्णन हुआ है। उसमें कहा गया है कि ऋषि अत्रि की पत्नी अनसूया ने ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के समक्ष प्रार्थना की, "हे प्रभो! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं और मुझसे वर माँगने को कहते हैं, तो मेरी प्रार्थना है कि आप तीनों मिलकर मेरे पुत्र बनें।" उन्होंने यह प्रार्थना स्वीकार की और भगवान् ने दत्तात्रेय के रूप में आत्म-दर्शन की स्थापना की तथा अलर्क, प्रह्लाद, यदु, हैहय आदि को विशेष रूप से इसका उपदेश दिया।

ततः सप्तम आकूत्यां रुचेर्यज्ञोऽभ्यजायत ।
स यामाद्यैः सुरगणैरपात्स्वायम्भुवान्तरम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; सप्तमे—सातवाँ; आकूत्याम्—आकूति के गर्भ से; रुचेः—प्रजापति रुचि के द्वारा; यज्ञः—यज्ञ रूप में भगवान् का अवतार; अभ्यजायत—अवतरित हुए; सः—वे; याम-आद्यैः—यम इत्यादि से; सुर-गणैः—देवताओं के द्वारा; अपात्—शासन किया; स्वायम्भुव-अन्तरम्—स्वाम्भुव मनु का काल परिवर्तन (मन्वन्तर)।

सातवें अवतार प्रजापति रुचि तथा उनकी पत्नी आकूति के पुत्र यज्ञ थे। उन्होंने स्वायम्भुव मनु के बदलने पर शासन सँभाला और अपने पुत्र यम जैसे देवताओं की सहायता प्राप्त की।

तात्पर्य : भौतिक जगत की विधि-व्यवस्था बनाये रखने के लिए, देवताओं द्वारा ग्रहण किये जाने वाले प्रशासकीय पद, अत्यन्त उन्नत पुण्यशाली जीवों को प्रदान किये जाते हैं। जब ऐसे पुण्यात्माओं का अभाव होता है, तो भगवान् स्वयं ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र आदि के रूप में अवतरित होकर शासन भार सँभालते हैं। स्वायंभुव मनु (आधुनिक युग वैवस्वत मनु का है) के काल में कोई ऐसा उपयुक्त जीव न था, जो इन्द्रलोक के राजा इन्द्र का पद ग्रहण कर सके। उस समय भगवान् स्वयं इन्द्र बन गये। यम आदि अपने पुत्रों तथा देवताओं की सहायता से भगवान् यज्ञ ने संसार का शासन सँभाला।

अष्टमे मेरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः ।

दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अष्टमे—आठवाँ अवतार; मेरुदेव्याम् तु—की पत्नी मेरुदेवी के गर्भ से; नाभेः—राजा नाभि; जातः—जन्म लिया; उरुक्रमः—सर्वथा शक्तिमान भगवान्; दर्शयन्—दिखाया; वर्त्म—रास्ता; धीराणाम्—पूर्ण लोगों का; सर्व—सभी; आश्रम—जीवन के चारों आश्रमों द्वारा; नमस्कृतम्—समादरित, वंदनीय।

आठवाँ अवतार राजा ऋषभ के रूप में हुआ। वे राजा नाभि तथा उनकी पत्नी मेरुदेवी के पुत्र थे। इस अवतार में भगवान् ने पूर्णता का मार्ग दिखलाया जिसका अनुगमन उन लोगों द्वारा किया जाता है, जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को पूर्ण रूप से संयमित कर लिया है और जो सभी वर्णाश्रमों के लोगों द्वारा वन्दनीय हैं।

तात्पर्य : मानव समाज स्वाभाविक रूप से जीवन के आश्रमों तथा वर्णों के अनुसार आठ वर्गों में विभाजित है—चार वृत्तिपरक तथा चार सांस्कृतिक उत्थान से सम्बद्ध विभाग। बुद्धिजीवी वर्ग, शासक वर्ग, उत्पादक वर्ग और श्रमजीवी वर्ग—ये चार वृत्तिपरक वर्ग हैं। विद्यार्थी जीवन, गृहस्थ जीवन, वानप्रस्थ जीवन एवं संन्यासी जीवन—ये आध्यात्मिक साक्षात्कार के पथ पर सांस्कृतिक उत्थान के चार सोपान हैं। इनमें से संन्यास आश्रम सर्वोच्च माना जाता है और संन्यासी समस्त वर्णों एवं आश्रमों का वैधानिक गुरु होता है। संन्यास आश्रम में भी सिद्धावस्था के लिए चार अवस्थाएँ होती हैं—*कुटीचक,* बहूदक, परिव्राजकाचार्य तथा *परमहंस। परमहंस* अवस्था सिद्धि की चरमावस्था है। सभी इस आश्रम का आदर करते हैं। राजा नाभि तथा मेरुदेवी के पुत्र महाराज ऋषभ भगवान् के अवतार थे। उन्होंने अपने पुत्रों को तपस्या द्वारा सिद्धि मार्ग का पालन करने का उपदेश दिया, क्योंकि तपस्या से जीवन पवित्र बनता है और मनुष्य को आध्यात्मिक सुख का लाभ होता है, जो दिव्य है और निरन्तर बढ़ने वाला है। प्रत्येक जीव सुख की खोज में रहता है, किन्तु कोई यह नहीं जानता कि शाश्वत एवं असीम सुख कहाँ उपलब्ध होगा। मूर्ख लोग वास्तविक सुख के स्थान पर भौतिक इन्द्रिय-सुख की खोज करते हैं, किन्तु ऐसे मूर्ख लोग यह भूल जाते हैं कि इस प्रकार का अस्थायी तथाकथित इन्द्रिय-सुख तो कूकर-सूकर भी भोगते हैं। कोई भी पशु, पक्षी या जन्तु इस इन्द्रिय-सुख से वंचित नहीं है। प्रत्येक योनि में, जिसमें मनुष्य योनि भी सम्मिलित है, ऐसा सुख प्रचुरता से उपलब्ध होता है। किन्तु मनुष्य जीवन ऐसे सस्ते

सुख के निमित्त नहीं मिला है। मनुष्य जीवन तो आत्म-साक्षात्कार द्वारा शाश्वत तथा असीम सुख प्राप्त करने के लिए मिला है। यह आत्म-साक्षात्कार तपस्या अर्थात् स्वेच्छा से कष्ट सहकर तथा भौतिक सुख से दूर रहकर ही प्राप्त किया जा सकता है। जो लोग भौतिक आनन्द से अपने को पृथक् रखने में पटु हैं, वे *धीर* अर्थात् इन्द्रियों द्वारा विचलित न होने वाले व्यक्ति कहलाते हैं। केवल ऐसे ही धीर व्यक्ति संन्यास आश्रम ग्रहण कर सकते हैं और क्रमश: *परमहंस* पद को प्राप्त कर सकते हैं, जिसकी पूजा समाज का हर व्यक्ति करता है। राजा ऋषभ ने इस सन्देश का प्रचार किया और अन्तिम समय वे समस्त शारीरिक आवश्यकताओं से विलग हो गये, जो दुर्लभ अवस्था है जिसका अनुकरण मूर्ख नहीं कर पाते, लेकिन सभी लोग इसकी पूजा करते हैं।

ऋषिभिर्याचितो भेजे नवमं पार्थिवं वपु: ।
दुग्धेमामोषधीर्विप्रास्तेनायं स उशत्तम: ॥ १४॥

शब्दार्थ

ऋषिभि:—मुनियों द्वारा; याचित:—माँगे जाने पर; भेजे—स्वीकार किया; नवमम्—नवाँ; पार्थिवम्—पृथ्वी के शासक; वपु:—शरीर; दुग्ध—दुहते हुए; इमाम्—ये सब; ओषधी:—पृथ्वी की उपजें; विप्रा:—हे ब्राह्मणों; तेन—के द्वारा; अयम्—यह; स:—वह; उशत्तम:—अत्यन्त आकर्षक।

हे ब्राहणों, मुनियों द्वारा प्रार्थना किये जाने पर, भगवान् ने नवें अवतार में राजा (पृथु) का शरीर स्वीकार किया जिन्होंने विविध उपजें प्राप्त करने के लिए पृथ्वी को जोता। फलस्वरूप पृथ्वी अत्यन्त सुन्दर तथा आकर्षक बन गई।

तात्पर्य : राजा पृथु के उत्पन्न होने के पूर्व, उनके पापी पिता के कुशासन के कारण, अत्यन्त अशान्ति छाई थी। बुद्धिमान व्यक्तियों (अर्थात् मुनियों तथा ब्राह्मणों) ने भगवान् से न केवल अवतरित होने के लिए प्रार्थना की, अपितु उन्होंने इस राजा को सिंहासन से उतार भी दिया। राजा का कर्तव्य है कि वह पवित्र हो और अपनी प्रजा के सर्वांगीण कल्याण का ध्यान रखे। राजा जब भी अपने कर्तव्य-पालन में कुछ असावधानी बरते, तो बुद्धिमान व्यक्तियों को चाहिए कि उसे सिंहासन से उतार दें। किन्तु ये बुद्धिमान व्यक्ति खुद सिंहासन पर नहीं बैठते, क्योंकि उनके जिम्मे जनकल्याण के और भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य रहते हैं। अत: राजसिंहासन पर न बैठकर,

उन्होंने भगवान् से अवतार लेने की प्रार्थना की और भगवान् महाराज पृथु के रूप में प्रकट हुए। असली बुद्धिमान व्यक्ति या योग्य ब्राह्मण कभी भी राजनैतिक पदों की चाह नहीं करते। महाराज पृथु ने पृथ्वी से अनेक उत्पाद खोज निकाले। ऐसा राजा प्राप्त करके, न केवल प्रजा प्रसन्न हुई, अपितु पृथ्वी का सारा दृश्य भी सुन्दर तथा आकर्षक हो गया।

रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषोदधिसम्प्लवे ।
नाव्यारोप्य महीमय्यामपाद्वैवस्वतं मनुम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

रूपम्—रूप; सः—उसने; जगृहे—स्वीकार किया; मात्स्यम्—मछली का; चाक्षुष—चाक्षुष; उदधि—जल; सम्प्लवे—बाढ़, प्रलय; नावि—नाव में; आरोप्य—रख कर; मही—पृथ्वी; मय्याम्—डूबा हुआ; अपात्—रक्षा की; वैवस्वतम्—वैवस्वत; मनुम्—मनुष्य के पिता, मनु को।

जब चाक्षुष मनु के युग के बाद पूर्ण जलप्रलय हुआ और सारा जगत जल में डूब गया था, तब भगवान् मछली (मत्स्य) के रूप में प्रकट हुए और वैवस्वत मनु को नाव में रखकर उनकी रक्षा की।

तात्पर्य : *भागवत* के मूल भाष्यकार श्रीपाद श्रीधर स्वामी के मतानुसार प्रत्येक मनु के बदलने पर सदैव प्रलय नहीं होता। फिर भी चाक्षुष मनु के कार्यकाल के पश्चात् यह प्रलय सत्यव्रत को अद्भुत लीला दिखाने के उद्देश्य से किया गया। लेकिन श्रील जीव गोस्वामी ने प्रामाणिक शास्त्रों (विष्णु धर्मोत्तर, मार्कण्डेय पुराण, हरिवंश आदि) से निश्चित प्रमाण प्रस्तुत किये हैं कि प्रत्येक मनु के बाद प्रलय होता ही है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने भी श्रील जीव गोस्वामी का अनुमोदन किया है और *भागवतामृत* से प्रत्येक मनु के पश्चात् ऐसे जल प्लावन के उद्धरण दिये हैं। इसके अतिरिक्त, भगवान् अपने भक्त सत्यव्रत पर विशेष अनुग्रह प्रदर्शित करने के लिए इसी विशेष युग में स्वयं अवतरित हुए।

सुरासुराणामुदधिं मथ्नतां मन्दराचलम् ।
दध्रे कमठरूपेण पृष्ठ एकादशे विभुः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सुर—आस्तिकों; असुराणाम्—तथा नास्तिकों का; उदधिम्—समुद्र में; मथ्नताम्—मंथन करते हुए; मन्दराचलम्—मन्दराचल पर्वत को; दध्रे—धारण किया; कमठ—कच्छप; रूपेण—के रूप में; पृष्ठे—पीठ पर; एकादशे—ग्यारहवाँ; विभुः—महान।

भगवान् का ग्यारहवाँ अवतार कच्छप के रूप में हुआ, जिनकी पीठ ब्रह्माण्ड के आस्तिकों तथा नास्तिकों के द्वारा मथानी के रूप में प्रयुक्त किये जा रहे मन्दराचल पर्वत के लिए आधार बनी।

तात्पर्य : एक बार आस्तिक तथा नास्तिक दोनों ही समुद्र से अमृत निकालने में जुटे थे, जिससे वे सब प्राप्त अमृत पीकर अमर हो सकें। उस समय मन्दराचल पर्वत मथानी की तरह प्रयुक्त किया गया और समुद्र के जल में भगवान् के अवतार कच्छप की पीठ को पर्वत के लिए आधार बनाया गया।

धान्वन्तरं द्वादशमं त्रयोदशममेव च ।
अपाययत्सुरानन्यान्मोहिन्या मोहयन् स्त्रिया ॥ १७॥

शब्दार्थ

धान्वन्तरम्—धन्वन्तरि नामक भगवान् का अवतार; द्वादशमम्—बारहवाँ; त्रयोदशमम्—तेरहवाँ; एव—निश्चय ही; च—तथा; अपाययत्—पीने के लिए दिया; सुरान्—देवताओं को; अन्यान्—अन्यों को; मोहिन्या—सुन्दरी द्वारा; मोहयन्—मोहते हुए; स्त्रिया—स्त्री के रूप में।

बारहवें अवतार में भगवान् धन्वन्तरि के रूप में प्रकट हुए और तेरहवें अवतार में उन्होंने स्त्री के मनोहर सौंदर्य द्वारा नास्तिकों को मोहित किया और देवताओं को पीने के लिए अमृत प्रदान किया।

चतुर्दशं नारसिंहं बिभ्रद्दैत्येन्द्रमूर्जितम् ।
ददार करजैरूरावेरकां कटकृद्यथा ॥ १८॥

शब्दार्थ

चतुर्दशम्—चौदहवें; नार-सिंहम्—आधा मनुष्य तथा आधा सिंह शरीर वाले भगवान् का अवतार; बिभ्रत्—अवतरित हुए; दैत्य-इन्द्रम्—नास्तिकों का राजा; ऊर्जितम्—अत्यन्त बलिष्ठ; ददार—चीर डाला; करजैः—नाखूनों से; ऊरौ—गोद में; एरकाम्—बेंत को; कट-कृत्—बढ़ई; यथा—जिस तरह।

चौदहवें अवतार में भगवान् नृसिंह के रूप में प्रकट हुए और अपने नाखूनों से नास्तिक हिरण्यकशिपु के बलिष्ठ शरीर को उसी प्रकार चीर डाला, जिस प्रकार बढ़ई लट्ठे को चीर देता है।

पञ्चदशं वामनकं कृत्वागादध्वरं बलेः ।
पदत्रयं याचमानः प्रत्यादित्सुस्त्रिपिष्टपम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

पञ्चदशम्—पन्द्रहवाँ; वामनकम्—बौना ब्राह्मण; कृत्वा—धारण करके; अगात्—गये; अध्वरम्—यज्ञ स्थल में; बलेः—राजा बलि के; पद-त्रयम्—केवल तीन पद; याचमानः—माँगते हुए; प्रत्यादित्सुः—मन में लौटाने की इच्छा करते हुए; त्रि-पिष्टपम्—तीनों लोकों का राज्य।

पन्द्रहवें अवतार में भगवान् ने बौने ब्राह्मण (वामन) का रूप धारण किया और वे महाराज बलि द्वारा आयोजित यज्ञ में पधारे। यद्यपि वे हृदय से तीनों लोकों का राज्य प्राप्त करना चाह रहे थे, किन्तु उन्होंने केवल तीन पग भूमि दान में माँगी।

तात्पर्य : सर्वशक्तिमान भगवान् किसी को भी थोड़ा-थोड़ा देकर पूरे ब्रह्माण्ड विश्व का राज्य प्रदान कर सकते हैं और इसी प्रकार से एक छोटा-सा भूखण्ड माँगने के बहाने ब्रह्माण्ड का राज्य वापस भी ले सकते हैं।

अवतारे षोडशमे पश्यन् ब्रह्मद्रुहो नृपान् ।
त्रिःसप्तकृत्वः कुपितो निःक्षत्रामकरोन्महीम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अवतारे—भगवान् के अवतार में; षोडशमे—सोलहवें; पश्यन्—देखते हुए; ब्रह्म-द्रुहः—ब्राह्मणों के आदेशों की अवज्ञा करने वाले; नृपान्—राजाओं को; त्रिः-सप्त—सात का तीन गुना, इक्कीस बार; कृत्वः—किया था; कुपितः—क्रुद्ध; निः—रहित; क्षत्राम्—प्रशासक वर्ग से; अकरोत्—किया; महीम्—पृथ्वी को।

सोलहवें अवतार में भगवान् ने (भृगुपति के रूप में) क्षत्रियों का इक्कीस बार संहार किया, क्योंकि वे ब्राह्मणों (बुद्धिमान वर्ग) के विरुद्ध किये गये विद्रोह के कारण उनसे क्रुद्ध थे।

तात्पर्य : यह अपेक्षा की जाती है कि क्षत्रिय या प्रशासक वर्ग उन बुद्धिमान मनुष्यों के निर्देश से इस लोक का शासन चलायेंगे, जो प्रामाणिक शास्त्रों के आधार पर शासकों को निर्देश देते हैं। शासक इसी निर्देश के अनुसार शासन चलाते हैं। जब कभी क्षत्रिय या शासक वर्ग विद्वान तथा बुद्धिमान ब्राह्मणों के आदेशों की अवज्ञा करते हैं, तो वे बलपूर्वक उनके पदों से हटा दिये जाते हैं और बेहतर प्रशासन की व्यवस्था की जाती है।

ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात् ।
चक्रे वेदतरोः शाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; सप्तदशे—सत्रहवें अवतार में; जातः—उत्पन्न हुआ; सत्यवत्याम्—सत्यवती के गर्भ से; पराशरात्—पराशर मुनि द्वारा; चक्रे—तैयार किया; वेद-तरोः—वेदों के कल्पवृक्ष की; शाखाः—शाखाएँ; दृष्ट्वा—देखकर; पुंसः—सामान्य जन; अल्प-मेधसः—अल्पज्ञ।

तत्पश्चात् सत्रहवें अवतार में भगवान्, पराशर मुनि के माध्यम से सत्यवती के गर्भ से श्री व्यासदेव के रूप में प्रकट हुए। उन्होंने यह देखकर कि जन-सामान्य अल्पज्ञ हैं, एकमेव वेद को अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं में विभक्त कर दिया।

तात्पर्य : मूल रूप से वेद एक है। किन्तु श्रील व्यासदेव ने मूल वेद को चार में विभाजित कर दिया—*साम, यजुर्, ऋग्,* तथा *अथर्व*—और तब इन सबकी व्याख्या पुराणों तथा महाभारत जैसी विविध शाखाओं के रूप में की। सामान्य लोगों के लिए वैदिक भाषा तथा विषय अत्यन्त कठिन होते हैं। उन्हें केवल अत्यन्त बुद्धिमान तथा स्वरूप-सिद्ध ब्राह्मण ही समझ सकते हैं। किन्तु वर्तमान कलियुग तो अज्ञानी मनुष्यों से भरा पड़ा है। यहाँ तक कि ब्राह्मण पिता से उत्पन्न होने वाली सन्तान भी वर्तमान युग में शूद्रों या स्त्रियों से श्रेष्ठ नहीं होती। द्विजों अर्थात् ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे सांस्कृतिक शुद्धिकरण की प्रक्रिया अर्थात् 'संस्कार' सम्पन्न करेंगे, किन्तु वर्तमान युग के बुरे प्रभावों के कारण तथाकथित ब्राह्मण तथा अन्य उच्च वर्ग के लोग भी सुसंस्कृत नहीं रह गये। वे *द्विज-बन्धु* कहलाते हैं जिसका अर्थ है द्विजों के मित्र तथा परिजन। लेकिन इन *द्विज-बन्धुओं* की गिनती शूद्रों तथा स्त्रियों में की जाती है। श्रील

व्यासदेव ने द्विज-बन्धुओं, शूद्रों तथा स्त्रियों जैसे अल्पज्ञों को ध्यान में रखकर वेदों को विविध शाखाओं-प्रशाखाओं में विभाजित किया।

नरदेवत्वमापन्न: सुरकार्यचिकीर्षया ।
समुद्रनिग्रहादीनि चक्रे वीर्याण्यत: परम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

नर—मनुष्य; देवत्वम्—देवत्व; आपन्नः—का स्वरूप ग्रहण करके; सुर—देवता; कार्य—कर्म; चिकीर्षया—सम्पन्न करने के लिए; समुद्र—हिन्द महासागर; निग्रह-आदीनि—निग्रह इत्यादि.; चक्रे—किया; वीर्याणि—अतिमानवीय पराक्रम; अतः परम्—तत्पश्चात्।.

अठारहवें अवतार में भगवान् राजा राम के रूप में प्रकट हुए। उन्होंने देवताओं के लिए मनभावन कार्य करने के उद्देश्य से हिन्द महासागर को वश में करते हुए समुद्र पार के निवासी नास्तिक राजा रावण का वध करके अपनी अतिमानवीय शक्ति का प्रदर्शन किया।

तात्पर्य : भगवान् श्रीराम ने मनुष्य का रूप धारण किया और ब्रह्माण्ड की व्यवस्था बनाए रखने वाले प्रशासक अधिकारी देवताओं की प्रसन्नता के लिए कुछ कार्य करने हेतु पृथ्वी पर प्रकट हुए। कभी-कभी भौतिक सभ्यता की उन्नति के कारण, भौतिक विज्ञान एवं अन्य कार्यों की सहायता से भगवान् की सुस्थापित व्यवस्था को चुनौती देने के उद्देश्य से, रावण तथा हिरण्यकशिपु जैसे बड़े-बड़े असुर एवं नास्तिक तथा ऐसे अन्य लोग अत्यन्त प्रसिद्ध बन जाते हैं। उदाहरणार्थ, भौतिक साधनों के द्वारा अन्य लोकों को उड़ान भरने का प्रयत्न स्थापित व्यवस्था के प्रति चुनौती है। प्रत्येक लोक की परिस्थितियाँ भिन्न होती हैं और भगवान् की आचार-संहिता के अनुसार उनमें विशेष हेतु के लिए विभिन्न वर्ग के लोग निवास करते हैं। लेकिन भौतिक प्रगति में थोड़ी सी सफलता प्राप्त करके कभी-कभी ईश्वर-विहीन भौतिकतावादी व्यक्ति भगवान् के अस्तित्व को चुनौती देते हैं। रावण इनमें से एक था। वह सामान्य लोगों को, उनमें योग्यता न होते हुए भी, भौतिक साधनों के द्वारा इन्द्रलोक (स्वर्ग) को भेजना चाहता था। वह स्वर्ग तक एक सीढ़ी बना देना चाहता था, जिससे लोगों को उस ग्रह तक पहुँचने के लिए आवश्यक पुण्यकर्म न करने पड़ें। वह भगवान् की सुस्थापित व्यवस्था के विरुद्ध अन्य कार्य करने को भी

उद्यत था। यहाँ तक कि उसने भगवान् श्रीराम की सत्ता को भी चुनौती देकर उनकी पत्नी सीता का अपहरण कर लिया। निस्सन्देह, देवताओं की विनती तथा इच्छा के फलस्वरूप भगवान् राम इस नास्तिक को दण्ड देने के लिए ही आये थे। फलस्वरूप, उन्होंने रावण की चुनौती स्वीकार की। और यह सम्पूर्ण लीला *रामायण* की विषय-वस्तु है। चूँकि रामचन्द्रजी भगवान् थे, अत: उन्होंने ऐसे अतिमानवीय कार्य किये, जिन्हें भौतिक दृष्टि से समुन्नत रावण समेत कोई भी मनुष्य नहीं कर सकता था। उन्होंने हिन्द महासागर के आर-पार जल में तैरने वाले पत्थरों का राजमार्ग तैयार किया। आधुनिक विज्ञानियों ने भारहीनता के क्षेत्र में खोजें की हैं, किन्तु वे कहीं भी या सर्वत्र ऐसी भारहीनता उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। चूँकि भारहीनता की सृष्टि भगवान् द्वारा की गई है, जिससे वे बड़े-बड़े ग्रहों को वायु में उड़ाते तथा तैराते हैं, अतएव उन्होंने इसी पृथ्वी पर भारहीन पत्थर तैयार करके समुद्र पर पत्थर का ऐसा पुल (सेतु) बना दिया जो बिना स्तम्भों के टिक गया। यही ईश्वरीय शक्ति का प्रदर्शन है।

एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी ।
रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद्भरम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

एकोनविंशे—उन्नीसवें में; विंशतिमे—बीसवें में भी; वृष्णिषु—वृष्णि वंश में; प्राप्य—पाकर; जन्मनी—जन्म; राम—बलराम; कृष्णौ—तथा श्रीकृष्ण; इति—इस प्रकार; भुव:—जगत का; भगवान्—भगवान् ने; अहरत्—दूर किया; भरम्—बोझ को।

उन्नीसवें तथा बीसवें अवतारों में भगवान् वृष्णि वंश में (यदु कुल में) भगवान् बलराम तथा भगवान् कृष्ण के रूप में अवतरित हुए और इस तरह उन्होंने संसार के भार को दूर किया।

तात्पर्य : इस श्लोक में *भगवान्* शब्द का विशिष्ट उल्लेख यह संकेत है कि बलराम तथा कृष्ण भगवान् के आदि रूप हैं। इसकी अधिक व्याख्या आगे की जायेगी। जैसाकि हम इस अध्याय के प्रारम्भ में देख चुके हैं, भगवान् कृष्ण *पुरुष* से आये हुए अवतार नहीं हैं। वे साक्षात् परमेश्वर हैं और बलराम भगवान् के प्रथम पूर्णांश हैं। बलदेव से आगे पूर्णांशों की शृंखला का इस

प्रकार विस्तार होता है—वासुदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध तथा प्रद्युम्न। भगवान् श्रीकृष्ण वासुदेव हैं और बलदेव संकर्षण हैं।

ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम् ।
बुद्धो नाम्नाञ्जनसुतः कीकटेषु भविष्यति ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; कलौ—कलियुग में; सम्प्रवृत्ते—अनुघटित होगा; सम्मोहाय—मोहने के लिए; सुर—आस्तिक; द्विषाम्—ईर्ष्यालुओं को; बुद्धः—भगवान् बुद्ध; नाम्ना—नामक; अञ्जन-सुतः—अंजना के पुत्र; कीकटेषु—गया (बिहार) प्रान्त में; भविष्यति—होगा।

तब भगवान् कलियुग के प्रारम्भ में गया प्रान्त में अंजना के पुत्र, बुद्ध के रूप में उन लोगों को मोहित करने के लिए प्रकट होंगे, जो श्रद्धालु आस्तिकों से ईर्ष्या करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् के शक्तिशाली अवतार बुद्ध, गया (बिहार) प्रान्त में अंजना के पुत्र रूप में प्रकट हुए और उन्होंने अहिंसा की अपनी खुद की विचारधारा का उपदेश किया और वेदों द्वारा अनुमत पशु यज्ञों तक की भर्त्सना की। जिस समय भगवान् बुद्ध प्रकट हुए, तब जनसामान्य नास्तिक था और पशुमांस को सर्वोपरि स्थान देने लगा था। वैदिक यज्ञों के बहाने प्रायः प्रत्येक स्थान कसाईघर में बदल गया था और बेरोकटोक पशुवध किया जाता था। भगवान् बुद्ध ने दीन पशुओं पर दया करके अहिंसा का उपदेश किया। उन्होंने कहा कि वे वैदिक नियमों में विश्वास नहीं करते। उन्होंने पशुवध के कारण होने वाले मनोवैज्ञानिक दुष्प्रभावों पर बल दिया। कलियुग के उन अल्पज्ञ व्यक्तियों ने, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे, उनके सिद्धान्त का पालन किया और वे कुछ काल तक नैतिक अनुशासन तथा अहिंसा की शिक्षा पाते रहे, जो ईश-साक्षात्कार के पथ पर अग्रसर होने के लिए प्राथमिक कदम है। बुद्ध ने नास्तिकों को मोहित किया, क्योंकि उनके ऐसे नास्तिक शिष्य ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे, लेकिन वे उन बुद्ध में सम्पूर्ण श्रद्धा रखते थे जो स्वयं भगवान् के अवतार थे। इस प्रकार श्रद्धाविहीन व्यक्तियों को भगवान् बुद्ध के रूप में ईश्वर में विश्वास कराया गया। यह भगवान् बुद्ध की कृपा थी कि उन्होंने अश्रद्धालुओं को अपने प्रति श्रद्धालु बनाया।

भगवान् बुद्ध के अवतार के पूर्व पशुवध समाज का प्रमुख अंग बन चुका था। लोगों का दावा था कि ये वैदिक यज्ञ थे। जब वेदों को प्रामाणिक गुरु-शिष्य परम्परा से ग्रहण नहीं किया जाता, तब वेदों का आकस्मिक पाठक वेदों की अलंकारमयी भाषा के फेर में आ जाता है। *भगवद्गीता* में ऐसे मूर्ख विद्वानों (*अविपश्चित:*) के विषय में एक टिप्पणी की गई है। वैदिक साहित्य के मूर्ख विद्वान, जो शिष्य-परम्परा के दिव्य अनुभूत स्रोतों से दिव्य संदेश ग्रहण नहीं करते, उनके लिए भ्रमित होना निश्चित है। उनके लिए *कर्मकाण्ड* ही सब कुछ होता है। उनके ज्ञान में गहराइ नहीं रहती। *भगवद्गीता* (१५.१५) के अनुसार—*वेदैश्च सर्वैर् अहम् एव वेद्य:*—वेदों की समग्र प्रणाली मनुष्य को क्रमश: भगवान् के पथ पर ले जाने वाली है। वैदिक साहित्य की सारी रूपरेखा ही है परमेश्वर, आत्मा, दृश्य जगत तथा इन सबके सम्बन्धों को जानना। जब यह सम्बन्ध ज्ञात हो जाता है, तो सापेक्ष कार्य चालू होता है और इस कार्य के फलस्वरूप जीवन का चरम उद्देश्य या भगवान् के धाम वापस जाने का कार्य सरलता से सम्पन्न हो जाता है। दुर्भाग्यवश वेदों के अनधिकारी विद्वान संस्कारों के प्रति अत्यधिक लुब्ध रहते हैं, जिससे सहज प्रगति बाधित होती है।

ऐसी नास्तिक प्रवृत्ति वाले मोहग्रस्त लोगों के लिए, भगवान् बुद्ध आस्तिकता के प्रतीक हैं। इसीलिए उन्होंने सर्वप्रथम पशुवध करने की प्रवृत्ति को रोकना चाहा। पशु के हत्यारे भगवान् के धाम को वापस जाने की दिशा में हानिकारक तत्त्व हैं। पशुवध करने वाले दो प्रकार के होते हैं। कभी-कभी आत्मा को भी "पशु" या "जीव" कहा जाता है। अत: पशुओं का वध करने वाले एवं आत्मा के स्वरूप को भूल जाने वाले, दोनों ही पशु-वधिक हैं।

महाराज परीक्षित ने कहा कि केवल पशुवध करने वाले को ही भगवान् के दिव्य संदेश का स्वाद नहीं मिल पाता। अत: जिन्हें भगवद्मार्ग की शिक्षा दी जानी है, उन्हें सर्वप्रथम उपर्युक्त विधि से *पशुवध की क्रिया को बन्द करना सिखाना होगा। यह कहना मूर्खता है कि पशुवध को आत्म-साक्षात्कार से कुछ लेना-देना नहीं।* इस घातक सिद्धान्त के कारण कलियुग की कृपा से ऐसे अनेक तथाकथित संन्यासी सामने आये हैं, जो वेदों के बहाने पशुवध का उपदेश देते हैं। इस

विषय की व्याख्या भगवान् चैतन्य तथा मौलाना चाँद काजी साहेब की वार्ता में पहले ही की जा चुकी है। वेदों में वर्णित पशुयज्ञ कसाईघरों में अनियन्त्रित पशु-हत्या से भिन्न है। चूँकि असुर लोग या वैदिक साहित्य के तथाकथित पण्डित वेदों में पशुवध का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं, फलस्वरूप भगवान् बुद्ध ने बाह्य रूप से वेदों के प्रमाण को अस्वीकार किया। उनके द्वारा वेदों का यह तिरस्कार लोगों को पशु-हत्या के पाप से बचाने तथा बेचारे दीन पशुओं को उनके बड़े भाई के द्वारा वध किये जाने से बचाने के लिए किया गया, जो विश्वबन्धुत्व, शान्ति, न्याय तथा समानता का नारा बुलन्द करते हैं। पशु-हत्या होते रहने पर कोई न्याय नहीं हो सकता। भगवान् बुद्ध इसे पूरी तरह रोकना चाहते थे, फलतः उनका अहिंसा सम्प्रदाय न केवल भारत में, अपितु देश के बाहर भी प्रचारित होता गया।

शास्त्रीय दृष्टि से भगवान् बुद्ध का दर्शन नास्तिकवाद कहलाता है, क्योंकि वह परमेश्वर को नहीं मानता और वेदों का बहिष्कार करता है। किन्तु भगवान् द्वारा यह छलावा मात्र है। भगवान् बुद्ध परमेश्वर के अवतार हैं, अतएव वे वैदिक ज्ञान के मूल संस्थापक हैं। फलस्वरूप, वे वैदिक दर्शन का निषेध नहीं कर सकते। किन्तु उन्होंने ऊपरी रूप से इसका निषेध किया, क्योंकि *सुरद्विष* या वे असुर जो सदैव भगवद्भक्तों से ईर्ष्या करते हैं, वेदों का हवाला देकर गोवध या पशु-हत्या का समर्थन करते हैं और अब यह आधुनिक संन्यासियों द्वारा किया जा रहा है। भगवान् बुद्ध ने वेदों के प्रमाण का ही सर्वथा निषेध किया। यह केवल सैद्धान्तिक है। यदि ऐसा न होता तो उन्हें भगवान् का अवतार न स्वीकार किया गया होता। न ही वैष्णव आचार्य जयदेव कवि ने दिव्य गीतों में उनकी पूजा की होती। भगवान् बुद्ध ने वेदों के प्रमाण की स्थापना के लिए (तथा शंकराचार्य ने भी) उस काल के लिए अनुकूल विधि से वेदों के मूलभूत नियमों का उपदेश किया। इस प्रकार भगवान् बुद्ध तथा आचार्य शंकर दोनों ने ही आस्तिकता का मार्ग प्रशस्त किया और वैष्णव आचार्यों ने, विशेष रूप से भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने, लोगों को भगवद्धाम वापस जाने का मार्गदर्शन कराया।

हमें प्रसन्नता है कि लोग भगवान् बुद्ध के अहिंसा आन्दोलन में रुचि ले रहे हैं। लेकिन क्या वे इसे गम्भीरतापूर्वक लेंगे और पशुओं के कसाईघरों को एकदम बन्द करा देंगे? *यदि ऐसा नहीं होता, तो अहिंसा सम्प्रदाय का कोई अर्थ नहीं है।*

श्रीमद्भागवत की रचना कलियुग के आरम्भ के पूर्व ही (पाँच हजार वर्ष पूर्व) हुई थी और भगवान् बुद्ध का आविर्भाव लगभग दो हजार छह सौ वर्ष पूर्व हुआ था। अत: *श्रीमद्भागवत* में भगवान् बुद्ध की भविष्यवाणी की गई है। ऐसा प्रामाणिक शास्त्र-ग्रन्थ है। ऐसी अनेक भविष्यवाणियाँ हैं जो एक-एक करके पूरी होती जा रही है। ये सब *श्रीमद्भागवत* की सार्थकता का सूचिक होगी, क्योंकि यह किसी त्रुटि, मोह, छल तथा अपूर्णता से रहित है जो कि बद्धजीवों के चार दोष हैं। मुक्तात्माएँ इन दोषों से ऊपर हैं, अतएव वे सुदूर भविष्य की घटनाओं की भविष्यवाणी कर सकती हैं।

अथासौ युगसन्ध्यायां दस्युप्रायेषु राजसु ।
जनिता विष्णुयशसो नाम्ना कल्किर्जगत्पति: ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; असौ—वही भगवान्; युग-सन्ध्यायाम्—युगों के बीच में; दस्यु—लुटेरे; प्रायेषु—प्राय:; राजसु—शासक; जनिता—जन्म लेगा; विष्णु—विष्णु नामक; यशस:—'यशा' कुलनामयुक्त; नाम्ना—नाम से; कल्कि:—भगवान् का अवतार; जगत्-पति:—जगत के स्वामी।

तत्पश्चात् सृष्टि के सर्वोसर्वा भगवान् दो युगों के सन्धिकाल में कल्कि अवतार के रूप में जन्म लेंगे और विष्णु यशा के पुत्र होंगे। उस समय पृथ्वी के शासक लुटेरे बन चुके होंगे।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् द्वारा कल्कि रूप में अवतार लेने की एक और भविष्यवाणी है। उन्हें दो युगों के सन्धिकाल में अर्थात् कलियुग के अन्त तथा सत्ययुग के प्रारम्भ में जन्म लेना है। सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलि, इन चार युगों का चक्र मास-चक्र की भाँति चलता रहता है। वर्तमान कलियुग ४,३२,००० वर्ष तक चलेगा जिसमें से कुरुक्षेत्र युद्ध तथा राजा परीक्षित के राज्य के अन्त के बाद से लगभग ५,००० वर्ष बीत चुके हैं। अत: ४,२७,००० वर्ष अभी भी शेष हैं। इस काल के बाद कल्कि अवतार होगा जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में भविष्यवाणी की गई है। उनके

पिता एक विद्वान ब्राह्मण विष्णु यशा होंगे और उनका ग्राम सम्भल बताया गया है। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, ये सारी भविष्यवाणियाँ कालक्रम में सिद्ध होंगी। *श्रीमद्भागवत* की यही प्रामाणिकता है।

अवतारा ह्यसङ्ख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः ।
यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अवताराः—अवतार; हि—निश्चय ही; असङ्ख्येयाः—असंख्य; हरेः—हरि के, भगवान् के; सत्त्व-निधेः—अच्छाई (सतोगुण) के सागर के; द्विजाः—ब्राह्मण; यथा—जिस तरह; अविदासिनः—अक्षय; कुल्याः—नाले; सरसः—विशाल झीलों के; स्युः—है; सहस्रशः—हजारों।

हे ब्राह्मणों, भगवान् के अवतार उसी तरह असंख्य हैं, जिस प्रकार अक्षय जल के स्त्रोत से निकलने वाले (असंख्य) झरने।

तात्पर्य : भगवान् के अवतारों की यहाँ पर दी गई सूची पूर्ण नहीं है। यह केवल समस्त अवतारों की आंशिक झलक है। अन्य अनेक अवतार हैं—यथा श्रीहयग्रीव, हरि, हंस, पृश्निगर्भ, विभु, सत्यसेन, वैकुण्ठ, सार्वभौम, विष्वक्सेन, धर्मसेतु, सुधामा, योगेश्वर, बृहदभानु तथा प्राचीन युग के अन्य अनेक अवतार। श्री प्रह्लाद महाराज ने अपनी स्तुति में कहा है, "हे प्रभु, आप अपने भक्तों के पालन तथा अभक्तों के संहार के लिए उतने ही अवतार धारण करते हैं, जितनी कि जलचर, वनस्पतियाँ, सरीसृप, पक्षी, जन्तु, मनुष्य, देवता आदि योनियाँ हैं। इस प्रकार आप विभिन्न युगों की आवश्यकतानुसार स्वयं अवतरित होते हैं। कलियुग में आप भक्त के वेश में अवतरित हुए हैं।" कलियुग में भगवान् का यह अवतार भगवान् चैतन्य महाप्रभु के रूप में है। *भागवत* तथा अन्य शास्त्रों में ऐसे कई स्थल हैं, जहाँ श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में भगवान् के अवतार का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। *ब्रह्म-संहिता* में भी परोक्ष रूप में कहा गया है कि यद्यपि भगवान् के अनेक अवतार हुए हैं यथा राम, नृसिंह, वराह, मत्स्य, कूर्म आदि, लेकिन कभी-कभी भगवान् खुद अवतरित होते हैं। अतः भगवान् कृष्ण तथा भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु अवतार नहीं हैं, अपितु वे अन्य समस्त अवतारों के मूल उद्गम हैं। इसकी स्पष्ट व्याख्या अगले श्लोक में की

गई है। इस तरह भगवान् उन असंख्य अवतारों के अक्षय स्रोत हैं, जिनका उल्लेख सदा नहीं किया जाता। किन्तु ऐसे अवतार विशिष्ट अलौकिक कार्यकलापों के कारण विख्यात होते हैं जो किसी सामान्य जीव द्वारा सम्पन्न नहीं हो सकते। भगवान् के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष शक्त्यावेशित अवतारों की यही सामान्य पहचान है। ऐसे कुछ अवतार, जिनका ऊपर उल्लेख हुआ है, प्राय: पूर्णांश हैं। उदाहणार्थ, कुमारगण दिव्य ज्ञान से विभूषित थे। नारद भक्ति से आविष्ट थे। महाराज पृथु प्रशासनिक कार्य की शक्ति से युक्त थे। मत्स्य अवतार प्रत्यक्ष पूर्णांश है। इस तरह समग्र ब्रह्माण्डों में भगवान् के असंख्य अवतार उसी तरह से निरन्तर होते रहते हैं, जिस प्रकार जल प्रपातों से निरन्तर जल बहता रहता है।

ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजस: ।
कला: सर्वे हरेरेव सप्रजापतय: स्मृता: ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

ऋषय:—ऋषिगण; मनव:—समस्त मनु; देवा:—सारे देवता; मनु-पुत्रा:—मनु की सारी सन्तानें; महा-ओजस:—अत्यन्त शक्तिमान; कला:—पूर्णांश के अंश; सर्वे—सामूहिक रूप से; हरे:—भगवान् का; एव—निश्चय ही; स-प्रजापतय:—प्रजापतियों सहित; स्मृता:—जाने जाते हैं।

सारे ऋषि, मनु, देवता तथा विशेष रूप से शक्तिशाली मनु की सन्तानें भगवान् के अंश या उन अंशों की कलाएँ हैं। इसमें प्रजापतिगण भी सम्मिलित हैं।

तात्पर्य : जो अपेक्षतया कम शक्तिशाली होते हैं, वे *विभूति* कहलाते हैं और जो अधिक शक्तिशाली होते हैं, वे *आवेश-अवतार* कहलाते हैं।

एते चांशकला: पुंस: कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

एते—ये सब; च—तथा; अंश—पूर्णांश; कला:—पूर्णांश के भी अंश; पुंस:—परम पुरुष के; कृष्ण:—भगवान् कृष्ण; तु—लेकिन; भगवान्—भगवान्; स्वयम्—साक्षात्; इन्द्र-अरि—इन्द्र के शत्रु से; व्याकुलम्—विचलित; लोकम्—सारे लोक को; मृडयन्ति—सुरक्षा प्रदान करते हैं; युगे युगे—विभिन्न युगों में।

उपर्युक्त सारे अवतार या तो भगवान् के पूर्ण अंश या पूर्णांश के अंश (कलाएं) हैं, लेकिन श्रीकृष्ण तो आदि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। वे सब विभिन्न लोकों में नास्तिकों द्वारा उपद्रव किये जाने पर प्रकट होते हैं। भगवान् आस्तिकों की रक्षा करने के लिए अवतरित होते हैं।

तात्पर्य : इस विशिष्ट श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण को अन्य अवतारों से पृथक् किया गया है। उनकी गणना अवतारों में की जाती है, क्योंकि अहैतुकी कृपावश वे अपने दिव्य धाम से अवतरित होते हैं। 'अवतार' का अर्थ होता है, ''नीचे उतरने वाला।'' भगवान् के सारे अवतार, जिसमें स्वयं भगवान् सम्मिलित हैं, विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भौतिक जगत के विभिन्न लोकों में तथा विभिन्न योनियों में अवतरित होते हैं। कभी वे स्वयं आते हैं और कभी उनके अलग अलग पूर्णांश (अंश) या अंशांश (कला) या फिर उनके द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से आवेशित अंश इस भौतिक जगत में विशिष्ट कार्यों को सम्पन्न करने के लिए अवतरित होते हैं। भगवान् मूल रूप से समस्त ऐश्वर्य, सामर्थ्य, यश, सौंदर्य, ज्ञान तथा वैराग्य से पूर्ण होते हैं। जब ये पूर्णांशों या अंशांशों द्वारा अंशत: प्रकट होते हैं, तो यह समझना चाहिए कि उन विशिष्ट कार्यों के लिए उनकी विभिन्न शक्तियों के प्राकट्य की आवश्यकता होती है। जब कमरे में बिजली के छोटे-छोटे लट्टू जलते हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि बिजलीघर केवल इन्हीं लट्टुओं तक सीमित है। उसी बिजलीघर से भारी क्षमता वाले बड़े-बड़े औद्योगिक-डायनैमो चलाये जा सकते हैं। इसी प्रकार भगवान् के अवतार सीमित शक्ति का ही प्रदर्शन करते हैं, क्योंकि उस समय उतनी ही शक्ति की आवश्यकता होती है।

उदाहरणार्थ, भगवान् परशुराम ने विरोधी क्षत्रियों का इक्कीस बार संहार करके, तथा भगवान् नृसिंह ने अत्यन्त शक्तिशाली नास्तिक हिरण्यकशिपु को मार करके, असामान्य ऐश्वर्य का प्रदर्शन किया। हिरण्यकशिपु इतना शक्तिशाली था कि उसके मौंहें टेड़ी करने से ही काँपने लगते थे। उच्च लोकों के देवता आयु, सौंदर्य, सम्पत्ति, साज-सामग्री तथा अन्य मामलों में, यहाँ के धनी से धनी मनुष्यों से बढ़-चढ़ कर होते हैं। तो भी वे सब हिरण्यकशिपु से भयभीत थे। इस प्रकार हम

कल्पना कर सकते हैं कि इस भौतिक जगत् में हिरण्यकशिपु कितना शक्तिशाली था। किन्तु भगवान् नृसिंह ने अपने नाखूनों से इस हिरण्यकशिपु के भी खण्ड-खण्ड कर दिये। इसका अर्थ यह हुआ कि भौतिक दृष्टि से कोई चाहे कितना ही बलशाली क्यों न हो, वह भगवान् के नाखूनों की शक्ति का सामना नहीं कर सकता। इसी प्रकार जामदग्न्य ने समस्त अवज्ञाकारी राजाओं को उनके राज्यों में जाकर मारने की दैवी शक्ति दिखलाई। भगवान् के शक्त्यावेश अवतार नारद तथा पूर्णांश अवतार वराह तथा अप्रत्यक्ष आवेश अवतार भगवान् बुद्ध ने जनसमूह में श्रद्धा उत्पन्न की। राम तथा धन्वन्तरि अवतारों ने उनकी ख्याति का तथा बलराम, मोहिनी एवं वामन ने उनके सौंदर्य का प्रदर्शन किया। दत्तात्रेय, मत्स्य, कुमार तथा कपिल ने उनके दिव्य ज्ञान का प्रदर्शन किया। नर तथा नारायण ऋषियों ने उनके त्याग का प्रदर्शन किया। इस प्रकार भगवान् के समस्त अवतारों ने, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विभिन्न लक्षणों का प्रदर्शन किया, लेकिन आदि भगवान् कृष्ण ने भगवान् के सम्पूर्ण लक्षण प्रकट किये। इस प्रकार इसकी पुष्टि होती है कि वे अन्य समस्त अवतारों के उद्गम हैं। और उनका सबसे असामान्य लक्षण तो वह था, जिसमें उन्होंने गोपियों के साथ अपनी लीलाओं के रूप में अपनी अन्तरंगा शक्ति का प्रदर्शन किया। गोपियों के साथ उनकी लीलाएँ उनके दिव्य अस्तित्व, आनन्द तथा ज्ञान की स्थिति को प्रकट करने वाली हैं, यद्यपि ये ऊपर से प्रणय (काम) जैसी लगती हैं। गोपियों के साथ उनकी लीलाओं के प्रति विशेष आसक्ति का कभी गलत अर्थ नहीं लगाना चाहिए। *भागवत* के दशम स्कंध में इन लीलाओं का वर्णन है। गोपियों के साथ कृष्ण की लीलाओं के दिव्य स्वरूप को समझ पाने के लिए किसी भी जिज्ञासु को यह *भागवत* अन्य नौ स्कंधों द्वारा धीरे-धीरे अग्रसर कराता है।

श्रील जीव गोस्वामी के कथनानुसार यह शास्त्रसम्मत है कि भगवान् कृष्ण अन्य समस्त अवतारों के उद्गम हैं। ऐसा नहीं है कि भगवान् कृष्ण के अवतार का कोई स्रोत है। परम सत्य के सारे लक्षण भगवान् श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व में पूर्ण रूप से निहित हैं और *भगवद्गीता* में भगवान् स्पष्ट घोषित करते हैं कि उनके समान या उनसे बढ़कर कोई सत्य नहीं है। इस श्लोक में *स्वयम्* शब्द का प्रयोग इसकी पुष्टि करने के लिए किया गया है कि भगवान् कृष्ण स्वयं अपने सिवा

अन्य कोई स्रोत नहीं है। यद्यपि अन्य स्थानों में अवतारों को उनके कार्यों के कारण भगवान् कहा गया है, किन्तु उन्हें कहीं भी पूर्ण पुरुषोत्तम नहीं कहा गया। इस श्लोक में *स्वयम्* शब्द परम श्रेय के रूप में उनकी श्रेष्ठता का सूचक है।

अन्तिम आश्रय रूप कृष्ण एक एवं अद्वय हैं। उन्होंने अपना विस्तार विभिन्न अंशों, कलाओं तथा कणों के रूप में *स्वयं-रूप, स्वयं-प्रकाश, तद्-एकात्मा, प्राभव, वैभव, विलास, अवतार, आवेश* तथा *जीव* के नाम से कर रखा है; ये सभी अनगिनत शक्तियों से युक्त हैं जो तत्सम्बन्धी स्वरूपों एवं व्यक्तित्वों के लिए सर्वथा उपयुक्त होती हैं। अध्यात्म विषय के पंडितों ने अन्तिम आश्रय स्वरूप कृष्ण का अत्यन्त सावधानी से अध्ययन करके, उनके ६४ मुख्य गुण बताये हैं। भगवान् के सारे अंशो या श्रेणियों में इन गुणों का कुछ प्रतिशत ही पाया जाता है। लेकिन श्रीकृष्ण में ये गुण शत-प्रतिशत पाये जाते हैं। *स्वयं-प्रकाश* और *तद् एकात्मा* से लेकर अवतार की श्रेणियों तक के उनके निजी विस्तार, जो सब *विष्णुतत्व* हैं, उनमें ९३ प्रतिशत तक ये दिव्य गुण पाये जाते हैं। शिवजी में, जो न तो *अवतार* हैं, न *आवेश* और न ही इन दोनों के बीच आते हैं, उनमें लगभग ८४ प्रतिशत गुण पाये जाते हैं। किन्तु जीवन की विभिन्न अवस्थाओं वाले जीवों में ये गुण ७८ प्रतिशत तक पाये जाते हैं। इस भौतिक जगत की बद्ध अवस्था में जीव में ये गुण बहुत थोड़ी मात्रा में पाये जाते हैं और पवित्र जीवों में इनकी मात्रा भिन्न हो सकती है। जीवों में सर्वाधिक पूर्ण जीव ब्रह्मा हैं, जो एक ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता हैं। उनमें ७८ प्रतिशत तक ये गुण पूर्ण मात्रा में पाये जाते हैं। अन्य देवताओं में इन गुणों की मात्रा कम होती जाती है और मनुष्य में तो अत्यल्प मात्रा पाई जाती है। मनुष्य जीवन की पूर्णता का मानदण्ड यह है कि वह इन गुणों को ७८ प्रतिशत तक पूर्ण मात्रा में बढ़ाये। जीव में कभी भी शिव, विष्णु या भगवान् कृष्ण के समान गुण नहीं आ सकते। कोई भी जीव ७८ प्रतिशत गुणों को पूर्ण रूप से विकसित कर, दिव्यता प्राप्त कर सकता है पर वह कभी भी शिव, विष्णु या कृष्ण नहीं बन सकता। हाँ, कालक्रम में वह ब्रह्मा बन सकता है। वे दैवी जीव, जो आध्यात्मिक आकाश के ग्रहों के निवासी होते हैं, वे हरिधाम तथा महेशधाम जैसे विभिन्न आध्यात्मिक ग्रहों में भगवान् के सनातन साथी होते हैं। सब धामों के

ऊपर कृष्ण का धाम है, जो कृष्णलोक या गोलोक वृन्दावन कहलाता है। जो जीव अपने में ७८ प्रतिशत गुण पूर्ण मात्रा में विकसित कर लेता है, वह इस भौतिक शरीर को त्यागने के पश्चात् कृष्णलोक जाने का भागी बन जाता है।

जन्म गुह्यं भगवतो य एतत्प्रयतो नरः ।
सायं प्रातर्गृणन् भक्त्या दुःखग्रामाद्विमुच्यते ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

जन्म—जन्म; गुह्यम्—गुप्त; भगवतः—भगवान् का; यः—जो; एतत्—वे सब; प्रयतः—सावधानी से; नरः—मनुष्य; सायम्—शाम को; प्रातः—प्रातःकाल; गृणन्—पाठ करता, बाँचता है; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; दुःख-ग्रामात्—समस्त कष्टों से; विमुच्यते—छूट जाता है।.

जो कोई भी भगवान् के गुह्य अवतारों का सावधानीपूर्वक प्रतिदिन सुबह तथा शाम को पाठ करता है, वह जीवन के समस्त दुखों से छूट जाता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् ने घोषणा की है कि जो कोई उनके दिव्य जन्म तथा कर्म के तत्त्वों को जानता है, वह इस अस्थायी भौतिक संसार से छूट कर भगवद्धाम को जाता है। अतएव इस भौतिक जगत में भगवान् के अवतार की गुह्यता को भलीभाँति जान लेने पर भौतिक बन्धन से छुटकारा प्राप्त हो जाता है। अतः भगवान् का जन्म तथा उनके कर्म, जिन्हें वे जनसामान्य के कल्याण हेतु प्रकट करते हैं, सामान्य नहीं होते। वे गुह्य हैं और जो भक्ति-पूर्वक इस विषय की गम्भीरता को जानना चाहते हैं, उन्हें ही यह रहस्य प्रकट हो पाता है। इस तरह उन्हें भवबन्धन से विमुक्ति प्राप्त हो जाती है। अतः यह सलाह दी गई है कि जो कोई *भागवत* के इस अध्याय का, जिसमें भगवान् के विभिन्न अवतारों का वर्णन है, भक्ति तथा श्रद्धापूर्वक केवल पाठ करता है उसे भगवान् के जन्मों तथा कर्मों का अन्तर्दर्शन प्राप्त हो जाता है। *विमुक्ति* शब्द इस बात का सूचक है कि भगवान् का जन्म तथा उनके कर्म दिव्य हैं; अन्यथा मात्र उनका पाठ करने से किसी को मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। अतएव ये गुह्य हैं और जो भक्ति के निर्धारित विधि-विधानों का पालन नहीं करते, वे भगवान् के जन्म तथा कर्म के रहस्यों को जान पाने का अधिकार नहीं रखते।

एतद्रूपं भगवतो ह्यरूपस्य चिदात्मनः ।
मायागुणैर्विरचितं महदादिभिरात्मनि ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एतत्—ये सब; रूपम्—रूप; भगवतः—भगवान् के; हि—निश्चय ही; अरूपस्य—जिनका कोई भौतिक रूप नहीं है उनका; चित्-आत्मनः—ब्रह्म के; माया—भौतिक शक्ति, माया; गुणैः—गुणों से; विरचितम्—निर्मित; महत्-आदिभिः—पदार्थ के अवयवों से; आत्मनि—आत्मा में।

भगवान् के विराट रूप की धारणा, जिसमें वे इस भौतिक जगत में प्रकट होते हैं, काल्पनिक है। यह तो अल्पज्ञों (तथा नवदीक्षितों) को भगवान् के रूप की धारणा में प्रवेश कराने के लिए है। लेकिन वस्तुतः भगवान् का कोई भौतिक रूप नहीं होता।

तात्पर्य : भगवान् के नाना अवतारों के साथ-साथ उनके *विश्व-रूप* या *विराट-रूप* की धारणा का उल्लेख नहीं किया गया है, क्योंकि ऊपर बताये गये भगवान् के सारे अवतार दिव्य हैं और उनके शरीरों में भौतिकता का रंचमात्र भी स्पर्श नहीं है। उनके शरीर तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं होता, जैसाकि बद्धजीव में होता है। विराट रूप की कल्पना तो केवल नवदीक्षित पूजकों के लिए है। उन्हीं के लिए भौतिक *विराट-रूप* प्रस्तुत किया जाता है, जिसकी व्याख्या द्वितीय स्कंध में की जायेगी। *विराट-रूप* में विभिन्न लोकों के भौतिक रूप को उनके पाँव, हाथ आदि के रूप में कल्पित किया गया है। वस्तुतः ऐसे सब वर्णन नवदीक्षितों के लिए होते हैं। वे पदार्थ से आगे कुछ भी नहीं सोच पाते। भगवान् के भौतिक बोध की गणना उनके वास्तविक रूपों की सूची में नहीं की जाती। परमात्मा रूप में भगवान् प्रत्येक भौतिक रूप के भीतर रहते हैं, यहाँ तक कि परमाणुओं के भी भीतर रहते हैं, लेकिन बाह्य भौतिक रूप तो भगवान् एवं जीव दोनों के लिए कल्पनामात्र है। बद्धजीवों के वर्तमान स्वरूप भी वास्तविक नहीं हैं। निष्कर्ष यह है कि भगवान् के *विराट-रूप* की धारणा काल्पनिक है। भगवान् तथा जीव दोनों ही जीवंत आत्मा हैं और उनका मूल शरीर आध्यात्मिक (चिन्मय) है।

यथा नभसि मेघौघो रेणुर्वा पार्थिवोऽनिले ।

एवं द्रष्टरि दृश्यत्वमारोपितमबुद्धिभिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; नभसि—आकाश में; मेघ-ओघः—बादलों का समूह; रेणुः—धूल; वा—तथा; पार्थिवः—मलिनता, धुंधलका; अनिले—वायु में; एवम्—इस प्रकार; द्रष्टरि—देखने वाले को; दृश्यत्वम्—देखने के लिए; आरोपितम्—आरोपित होता है; अबुद्धिभिः—अल्पज्ञों द्वारा।

बादल तथा धूल वायु द्वारा ले जाए जाते हैं, लेकिन अल्पज्ञ लोग कहते हैं कि आकाश मेघाच्छादित है और वायु धूलिमय (मलिन) है। इसी प्रकार वे लोग आत्मा के विषय में भी भौतिक शरीर की धारणाओं का आरोपण करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर आगे और पुष्टि की गई है कि हम उन भगवान् को अपने भौतिक नेत्रों तथा इन्द्रियों से नहीं देख सकते, जो पूर्ण रूप से आत्मा हैं। यहाँ तक कि हम जीवों के भौतिक शरीर में विद्यमान आध्यात्मिक स्फुलिंग तक की पहचान नहीं कर पाते। हम शरीर के बाह्य आवरण या जीव के सूक्ष्म मन की तलाश तो करते हैं, लेकिन हम शरीर के भीतर का आध्यात्मिक स्फुलिंग नहीं देख पाते। अतएव हमें जीव के स्थूल शरीर की उपस्थिति के कारण जीव की उपस्थिति स्वीकारनी पड़ती है। इसी प्रकार, जो लोग भगवान् का दर्शन अपने वर्तमान भौतिक नेत्रों से या भौतिक इन्द्रियों से करना चाहते हैं, उन्हें *विराट-रूप* का ध्यान करने की सलाह दी जाती है। उदाहरणार्थ, जब कोई व्यक्ति अपनी कार में बैठ कर कहीं जाता है, जिसे आसानी से देखा जा सकता है, तो उस कार की पहचान उसमें बैठे व्यक्ति से की जाती है। जब राष्ट्रपति अपनी विशिष्ट कार में बैठ कर कहीं जाता है, तो हम कहते हैं, "वह रहा राष्ट्रपति।" उस समय, हम कार की पहचान राष्ट्रपति के साथ करते हैं। इसी प्रकार उन अल्पज्ञ व्यक्तियों को जो बिना जरूरी योग्यता के ईश्वर का तुरन्त दर्शन करना चाहते हैं, उन्हें ऐसा दिखाया जाता है कि विशालकाय भौतिक ब्रह्माण्ड भगवान् का रूप है, यद्यपि भगवान् भीतर तथा बाहर सर्वत्र हैं। इस प्रसंग में आकाश के बादल तथा आकाश की नीलिमा का उदाहरण लिया जा सकता है। यद्यपि आकाश की नीलिमा तथा आकाश भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु हम आकाश के रंग को नीला समझते हैं। परंतु यह तो केवल अल्पज्ञ की सामान्य धारणा है।

अत: परं यदव्यक्तमव्यूढगुणबृंहितम् ।
अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वात्स जीवो यत्पुनर्भव: ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अत:—यह; परम्—परे; यत्—जो; अव्यक्तम्—अप्रकट; अव्यूढ—बिना किसी प्रकार के रूप के; गुण-बृंहितम्—गुणों से प्रभावित; अदृष्ट—अदृश्य, अनदेखा; अश्रुत—अनसुना; वस्तुत्वात्—वैसा होने से; स:—वह; जीव:—जीव; यत्—जो; पुन:-भव:—बारम्बार जन्म ग्रहण करता है।.

रूप की इस स्थूल अवधारणा से परे रूप की एक अन्य सूक्ष्म धारणा है, जिसका कोई आकार नहीं होता और जो अनदेखा, अनसुना तथा अव्यक्त होता है। जीव का रूप इस सूक्ष्मता से परे है, अन्यथा उसे बारम्बार जन्म न लेना पड़ता।

तात्पर्य : जिस प्रकार इस स्थूल दृश्य जगत का विचार भगवान् के विराट शरीर के रूप में किया जाता है, उसी प्रकार उनके सूक्ष्म शरीर की भी धारणा है जिसे न तो देखा जा सकता है, न सुना या प्रकट किया जा सकता है। लेकिन वस्तुत: शरीर की ये समस्त स्थूल या सूक्ष्म अवधारणाएँ जीवों से सम्बन्धित होती हैं। जीव का अपना आध्यात्मिक रूप होता है, जो इस स्थूल भौतिक या सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अस्तित्व से परे होता है। ज्योंही जीव इस दृश्य स्थूल शरीर को त्याग देता है, त्योंही स्थूल शरीर तथा मनोवैज्ञानिक क्रियाएं करना बंद कर देती है। वस्तुत: हम कहते हैं कि जीव चला गया, क्योंकि वह न तो दिखता है, न ही सुनाई देता है। यहाँ तक कि जब जीव प्रगाढ़ निद्रा में होता है, तब स्थूल शरीर कार्य नहीं करता होता, तो हम यह जानते हैं कि श्वास लेने के कारण वह शरीर के भीतर है। अतएव जीव के देह से चले जाने (मरने) का यह अर्थ कदापि नहीं होता कि जीवात्मा का अस्तित्व ही नहीं है। वह यहीं होता है, अन्यथा पुन: पुन: जन्म क्यों होता?

निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् अपने दिव्य रूप में नित्य विद्यमान रहते हैं, जो जीव के समान न तो स्थूल है, न सूक्ष्म हैं। उनके शरीर की तुलना कभी भी जीव के स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों से नहीं की जा सकती। ईश्वर के शरीर की ऐसी सारी भवधारणाएँ काल्पनिक हैं। जीव का अपना सनातन आध्यात्मिक रूप होता है, जो उसके भौतिक कल्मष के कारण ही बद्ध रहता है।

यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिषिद्धे स्वसंविदा ।
अविद्ययात्मनि कृते इति तद्ब्रह्मदर्शनम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जब भी; इमे—इन सबमें; सत्-असत्—स्थूल तथा सूक्ष्म; रूपे—के रूपों में; प्रतिषिद्धे—दूर हो जाने पर; स्व-संविदा—आत्म-साक्षात्कार द्वारा; अविद्यया—अज्ञान से; आत्मनि—आत्मा में; कृते—आरोपित; इति—इस प्रकार; तत्—वह है; ब्रह्म-दर्शनम्—परमेश्वर के दर्शन की विधि।

जब कभी मनुष्य आत्म-साक्षात्कार द्वारा यह अनुभव करता है कि स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों शरीरों का शुद्ध आत्मा से कोई सरोकार नहीं, उस समय वह अपना तथा साथ ही साथ भगवान् का दर्शन करता है।

तात्पर्य : आत्म-साक्षात्कार तथा मोह में यही अन्तर है कि स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के रूप में भौतिक शक्ति का क्षणिक या भ्रामक आरोपण आत्मा के बाह्य आवरण हैं। ये आवरण अविद्या से जनित हैं। ऐसे आवरण भगवान् के व्यक्तित्व पर कभी प्रभावशाली नहीं होते। इसको भलीभाँति जान लेना ही मुक्ति या परमेश्वर का दर्शन है। इसका अर्थ यह होता है कि ईश-सदृश अर्थात् आध्यात्मिक जीवन अपनाने से पूर्ण आत्म-साक्षात्कार सम्भव हो पाता है। आत्म-साक्षात्कार का अर्थ है, स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर की आवश्यकताओं के प्रति अन्यमनस्क होना और आत्मा के कार्यों के प्रति गम्भीर बनना। कार्यों के लिए प्रेरणा आत्मा से उत्पन्न होती है, किन्तु आत्मा की वास्तविक स्थिति न जानने के कारण ऐसे कार्य भ्रामक बन जाते हैं। अविद्या के कारण अपने हित की गणना स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों को ध्यान में रखकर की जाती है, फलस्वरूप सारे कार्य जन्म-जन्मान्तर के कार्यों का सारा ढाँचा ही बिगड़ जाता है। किन्तु जब कोई मनुष्य समुचित अनुशीलन द्वारा आत्मा से भेंट करता है, तब आत्मा के कार्यों का शुभारम्भ होता है। फलस्वरूप, जो व्यक्ति आत्मा के कार्यों में व्यस्त रहता है, वह बद्ध जीवन में रहता हुआ भी 'जीवन्मुक्त' कहलाता है।

आत्म-साक्षात्कार की यह पूर्ण अवस्था किसी कृत्रिम साधन से नहीं, अपितु निरन्तर दिव्य स्थिति में रहने वाले भगवान् के चरणकमलों का आश्रय ग्रहण करने से प्राप्त की जाती है। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि वे प्रत्येक जीव के हृदय में विद्यमान हैं और उन्हीं से सारा

ज्ञान, स्मृति या विस्मृति होती है। जब जीव भौतिक शक्ति (मोह) का भोक्ता बनना चाहता है, तो भगवान् उसे विस्मृति के रहस्य से ढक देते हैं और इस प्रकार जीव स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर को ही अपना स्व: मानने का भ्रम पाल लेता है। और जब दिव्य ज्ञान के अनुशीलन द्वारा जीव विस्मृति के पाश से छूटने के लिए भगवान् से प्रार्थना करता है, तो भगवान् अपनी अहैतुकी कृपा से जीव के मोहजनित आवरण को हटा देते हैं और वह स्व की अनुभूति करने लगता है। फिर वह बद्ध जीवन से छूटकर अपनी शाश्वत वैधानिक स्थिति में स्वयं को भगवान् की सेवा में लगा लेता है। यह सब भगवान् की बहिरंगा शक्ति के द्वारा या साक्षात् अन्तरंगा शक्ति के द्वारा सम्पन्न किया जाता है।

यद्येषोपरता देवी माया वैशारदी मतिः ।
सम्पन्न एवेति विदुर्महिम्नि स्वे महीयते ॥ ३४॥

शब्दार्थ

यदि—यदि, फिर भी; एषा—वे; उपरता—दमित; देवी माया—माया; वैशारदी—ज्ञान से पूर्ण; मतिः—प्रकाश; सम्पन्नः—सेवा परिपूर्ण; एव—निश्चय ही; इति—इस प्रकार; विदुः—जानते हुए; महिम्नि—महिमा में; स्वे—अपनी; महीयते—प्रतिष्ठित।

यदि माया का शमन हो जाता है और यदि भगवत्कृपा से जीव ज्ञान से सम्पन्न हो जाता है, तो उसे तुरन्त आत्म-साक्षात्कार का प्रकाश प्राप्त होता है और वह अपनी महिमा में प्रतिष्ठित (महिमामण्डित) हो जाता है।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् परम ब्रह्म हैं, अतएव उनके रूप, नाम, लीलाएँ, गुण, पार्षद तथा शक्तियाँ उनसे अभिन्न हैं। उनकी दिव्य शक्ति उनकी सर्वशक्तिमत्ता के अनुसार कार्य करती है। वही शक्ति उनकी अन्तरंगा, बहिरंगा तथा तटस्था शक्तियों के रूप में कार्य करती है और वे अपनी सर्वशक्तिमत्ता के कारण इन तीनों शक्तियों में से किसी के भी द्वारा कुछ भी कर सकते हैं। वे अपनी इच्छानुसार बहिरंगा शक्ति को अन्तरंगा शक्ति में बदल सकते हैं। इसीलिए भगवत्कृपा से वह बहिरंगा शक्ति जो इसके इच्छुक जीवों को मोहने के काम में प्रयुक्त की जाती है, भगवान् की इच्छा से बद्धजीव के पश्चात्ताप तथा तपस्या के अनुपात में शमित होती है। फिर यही शक्ति शुद्ध

हुए जीव को आत्म-साक्षात्कार के पथ पर अग्रसर होने में सहायक बनती है। इस प्रसंग में विद्युतशक्ति का दृष्टान्त उपयुक्त होगा। निपुण विद्युत कर्मी एक ही विद्युतशक्ति को, केवल समंजन के द्वारा, गरम करने तथा ठंडा करने के लिए काम में ला सकता है। इसी प्रकार बहिरंगा शक्ति, जो जीव को मोहग्रस्त करके जन्म-मृत्यु के चक्र में बारम्बार डालती है, भगवत्कृपा से अन्तरंगा शक्ति में परिणत होकर जीव को शाश्वत जीवन प्रदान करती है। जब जीव पर भगवान् ऐसी कृपा करते हैं, तो वह अपनी उपयुक्त स्वाभाविक स्थिति प्राप्त करके शाश्वत आध्यात्मिक जीवन का आनन्द लेता है।

एवं जन्मानि कर्माणि ह्यकर्तुरजनस्य च ।
वर्णयन्ति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पतेः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; जन्मानि—जन्म; कर्माणि—कर्म; हि—निश्चय ही; अकर्तुः—अकर्ता के; अजनस्य—अजन्मा के; च—तथा; वर्णयन्ति—वर्णन करते हैं; स्म—भूत काल में; कवयः—विद्वान; वेद-गुह्यानि—वेदों के द्वारा न जाने जा सकने योग्य, गोपनीय; हृत्-पतेः—हृदय के स्वामी के।

इस प्रकार विद्वान पुरुष उस अजन्मा तथा अकर्ता के जन्मों तथा कर्मों का वर्णन करते हैं, जो वैदिक साहित्य के लिए भी ज्ञेय नहीं हैं। वे हृदयेश हैं।

तात्पर्य : भगवान् तथा जीव दोनों ही मूल रूप से आध्यात्मिक हैं। अतएव दोनों ही शाश्वत हैं और दोनों में से किसी का न तो जन्म होता है, न मृत्यु। अन्तर इतना ही है कि भगवान् के तथाकथित जन्म तथा तिरोधान जीवों से भिन्न होते हैं। जन्म लेकर मरने वाले जीव प्रकृति के नियमों से बँधे हुए हैं, लेकिन भगवान् का तथाकथित प्राकट्य तथा तिरोधान, भौतिक प्रकृति का कर्म न होकर, भगवान् की अन्तरंगा शक्ति का प्रदर्शन है। महान ऋषि, मुनि इनका वर्णन आत्म-साक्षात्कार के उद्देश्य से करते हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् ने कहा है कि भौतिक जगत में उनके तथाकथित जन्म तथा कर्म सब दिव्य हैं। इन कर्मों का ध्यान करने से ही मनुष्य ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है और भव-बन्धन से मुक्त हो जाता है। श्रुतियों का कथन है कि अजन्मा भी जन्म लेता प्रतीत होता है। परमेश्वर को कुछ करना नहीं होता, लेकिन चूँकि वे सर्वशक्तिमान

हैं, अतएव हर कार्य सहज ही उनके द्वारा सम्पन्न हो जाता है मानो स्वयमेव सम्पन्न हुआ हो। तथ्य तो यह है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्राकट्य तथा तिरोधान एवं उनके विविध कर्म—ये सभी वैदिक साहित्य के लिए भी परम गुह्य हैं। तो भी ये सब भगवान् द्वारा बद्धजीवों पर दया प्रदान करने के लिए प्रदर्शित किये जाते हैं। हमें भगवान् के कर्मों के आख्यानों (लीलाओं) से लाभ उठाना चाहिए, क्योंकि ये ब्रह्म का ध्यान करने के अत्यन्त सुगम तथा रुचिकर साधन हैं।

स वा इदं विश्वममोघलीलः
सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन् ।
भूतेषु चान्तर्हित आत्मतन्त्रः
षाड्वर्गिकं जिघ्रति षड्गुणेशः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सः—परमेश्वर; वा—अथवा; इदम्—इस; विश्वम्—प्रकट ब्रह्माण्ड को; अमोघ-लीलः—जिनके कर्म निष्कलंक हैं वे; सृजति—उत्पन्न करते हैं; अवति अत्ति—पालन तथा संहार करते हैं; न—नहीं; सज्जते—से प्रभावित होते हैं; अस्मिन्—उनमें; भूतेषु—समस्त जीवों में; च—तथा; अन्तर्हितः—भीतर रहकर; आत्म-तन्त्रः—स्वतन्त्र; षाट्-वर्गिकम्—भगवान् के षड् ऐश्वर्यों से युक्त; जिघ्रति—सुंगधि की तरह ऊपर-ऊपर आसक्त; षट्-गुण-ईशः—छहों इन्द्रियों के स्वामी।.

जिनके कर्म सदैव निष्कलुष होते हैं वे भगवान् छह इन्द्रियों के स्वामी हैं और छहों ऐश्वर्यों के साथ सर्वशक्तिमान हैं। वे दृश्य ब्रह्माण्डों की सृष्टि करते हैं, उनका पालन करते हैं और रंचमात्र भी प्रभावित हुए बिना उनका संहार करते हैं। वे समस्त जीवों के भीतर विद्यमान रहते हैं और सदैव स्वतन्त्र होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् तथा जीवों के बीच का मुख्य अन्तर यह है कि भगवान् सृष्टा हैं और जीव सृष्ट हैं। यहाँ पर उन्हें *अमोघ-लीलः* कहा गया है, जो इस बात का द्योतक है कि उनके सृजन में कुछ भी शोचनीय नहीं है। जो लोग उनकी सृष्टि में गड़बड़ी उत्पन्न करते हैं, वे स्वयं विचलित होते हैं। वे समस्त भौतिक सन्तापों से परे हैं, क्योंकि वे छहों ऐश्वर्यों अर्थात् धन, शक्ति, यश, सौंदर्य, ज्ञान तथा त्याग—से सम्पन्न हैं। इस प्रकार वे इन्द्रियों के स्वामी हैं। उनके द्वारा इन दृश्य जगतों की सृष्टि उन जीवों के उद्धार के लिए की जाती है, जो तीन प्रकार के क्लेशों से ग्रस्त हैं। वे उनका पालन करते हैं और समय आने पर, किसी प्रकार से प्रभावित हुए बिना, उनका संहार

कर देते हैं। वे इस भौतिक सृष्टि से बाह्य रूप से उसी तरह सम्बन्धित हैं, जिस प्रकार किसी सुगन्धयुक्त पदार्थ से सम्बन्धित हुए बिना कोई सुगन्धि का सेवन करता है। अतएव ईशताहीन तत्त्व, समस्त प्रयासों के बावजूद, भगवान् के पास तक नहीं पहुँच पाते।

न चास्य कश्चिन्निपुणेन धातु-
रवैति जन्तुः कुमनीष ऊतीः ।
नामानि रूपाणि मनोवचोभिः
सन्तन्वतो नटचर्यामिवाज्ञः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

न—नहीं; च—तथा; अस्य—भगवान् का; कश्चित्—कोई; निपुणेन—निपुणता से; धातुः—स्रष्टा का; अवैति—जान सकता है; जन्तुः—जीव; कुमनीषः—अज्ञानी; ऊतीः—भगवान् के कार्य; नामानि—उनके नाम; रूपाणि—उनके रूप; मनः-वचोभिः—मानसिक तर्क या वाणी के द्वारा; सन्तन्वतः—व्यक्त करते हुए; नट-चर्याम्—नाटकीय कर्म, करामात; इव—सदृश; अज्ञः—मूर्ख।

मूर्ख मनुष्य अपने अल्प ज्ञान के कारण भगवान् के रूपों, नामों तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति को नहीं जान सकते, क्योंकि वे तो किसी नाटक में एक पात्र की तरह कार्य कर रहे होते हैं। न ही ऐसे मनुष्य अपने तर्क या अपनी वाणी द्वारा भी ऐसी बातों को व्यक्त कर सकते हैं।

तात्पर्य : परम सत्य के दिव्य स्वभाव का कोई भी ठीक से वर्णन नहीं कर सकता। इसीलिए कहा जाता है कि वे मन तथा वाणी की अभिव्यक्ति से परे हैं। फिर भी कुछ ऐसे अल्पज्ञ व्यक्ति हैं, जो अपने अपूर्ण तर्कवितर्क तथा परमेश्वर के कार्यों के दोषपूर्ण वर्णन द्वारा परम सत्य को जानना चाहते हैं। एक साधारणतम व्यक्ति के लिए भगवान् के कर्म, प्राकट्य तथा तिरोधान, भगवान् के नाम, रूप, साज-सामान, व्यक्तित्व तथा उनसे सम्बन्धित सारी वस्तुएँ रहस्यमय (गुह्य) होती हैं। भौतिकतावादियों की दो कोटियाँ हैं—एक सकाम कर्मियों की तथा दूसरी मीमांसकों की। सकाम कर्मियों को परम सत्य की तनिक भी जानकारी नहीं होती और मीमांसक सकाम कर्मों से निराश होकर परम सत्य की ओर मुख मोड़ते हैं तथा शुष्क चिन्तन द्वारा उन्हें जानने का प्रयास करते हैं। ऐसे समस्त लोगों के लिए परम सत्य उसी तरह रहस्यमय बने रहते हैं,

जिस प्रकार बच्चों को जादूगर के करतब। परम पुरुष की जादूगरी से छले जाकर अभक्तगण सदैव अज्ञान में पड़े रहते हैं, भले ही वे सकाम कर्म तथा तर्कवितर्क में कितने ही निपुण क्यों न हों। ऐसे सीमित ज्ञान के द्वारा वे अध्यात्म के गुह्य क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर पाते। तर्कवादी सकाम कर्मियों से थोड़े बेहतर होते हैं, लेकिन वे भी मोह के चंगुल में रहने से, यह मान लेते हैं कि जिस वस्तु में कोई रूप, नाम, तथा कर्म हो, वह भौतिक शक्ति से उत्पन्न है। ऐसे लोगों के लिए परमात्मा रूपहीन, नामहीन तथा कर्महीन हैं। और चूँकि ऐसे मीमांसक (ज्ञानी) भगवान् के दिव्य नाम तथा रूप की बराबरी संसारी नामों तथा रूपों से करते हैं, अत: वे सचमुच अज्ञानी हैं। इतने अल्पज्ञान से परम पुरुष की वास्तविक प्रकृति तक नहीं पहुँचा जा सकता। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भगवान् सदैव, यहाँ तक कि भौतिक जगत के भीतर रहते हुए भी दिव्य अवस्था में रहते हैं। लेकिन अज्ञानी व्यक्ति भगवान् को विश्व की एक महान विभूति मानते हैं और इस प्रकार वे माया द्वारा भ्रमित होते रहते हैं।

स वेद धातु: पदवीं परस्य
दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणे: ।
योऽमायया सन्ततयानुवृत्त्या
भजेत तत्पादसरोजगन्धम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

सः—वे ही; वेद—जान सकते हैं; धातुः—स्रष्टा की; पदवीम्—महिमा को; परस्य—अध्यात्म का; दुरन्त-वीर्यस्य—अत्यन्त शक्तिशाली का; रथ-अङ्ग-पाणेः—भगवान् कृष्ण का, जो हाथ में रथ का चक्र धारण करते हैं; यः—जो; अमायया—किसी हिचक के बिना; सन्ततया—निरन्तर; अनुवृत्त्या—अनुकूल होकर; भजेत—सेवा करता है; तत्-पाद—उनके चरणों की; सरोज-गन्धम्—कमल की महक।

जो बिना हिचक के अबाध रूप से अपने हाथों में रथ का चक्र धारण करने वाले भगवान् के चरणकमलों की अनुकूल सेवा करता है, वही इस जगत के स्रष्टा की पूर्ण महिमा, शक्ति तथा दिव्यता को समझ सकता है।

तात्पर्य : केवल शुद्ध भक्त ही सकाम कर्मों एवं मानसिक तर्क के फलों से मुक्त होने के कारण, भगवान् कृष्ण के दिव्य नाम, रूप तथा उनकी लीलाओं को समझ पाते हैं। इन शुद्ध भक्तों

को भगवान् की अनन्य भक्ति से कोई व्यक्तिगत लाभ नहीं प्राप्त करना होता। वे बिना हिचक के भगवान् की अनन्य सेवा करते हैं। इस सृष्टि में प्रत्येक प्राणी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भगवान् की सेवा कर रहा है। भगवान् के इस नियम से कोई छूटा नहीं है। जो लोग भगवान् के भ्रामक प्रतिनिधि द्वारा बाध्य होकर भगवान् की अप्रत्यक्ष रूप से सेवा कर रहे हैं, वे भगवान् की प्रतिकूल ढंग से सेवा करते हैं। किन्तु जो उनके प्रिय प्रतिनिधि के निर्देशन में प्रत्यक्ष सेवा करते हैं, वे उनकी अनुकूल सेवा करते हैं। ऐसे अनुकूल सेवक भगवद्भक्त ही होते हैं और वे भगवत्कृपा से अध्यात्म के गुह्य क्षेत्र में प्रवेश कर पाते हैं। लेकिन मनोधर्मी सदा अंधकार में ही पड़े रहते हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भगवान् स्वयं शुद्ध भक्तों को उनकी निरन्तर प्रेमाभक्ति के कारण साक्षात्कार के मार्ग की ओर ले जाते हैं। भगवान् के धाम में प्रवेश पाने का यही रहस्य है। वहाँ प्रवेश पाने के लिए सकाम कर्म तथा तर्कवितर्क की कोई योग्यताएँ नहीं हैं।

अथेह धन्या भगवन्त इत्थं
यद्वासुदेवेऽखिललोकनाथे ।
कुर्वन्ति सर्वात्मकमात्मभावं
न यत्र भूयः परिवर्त उग्रः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; इह—इस संसार में; धन्याः—सफल; भगवन्तः—पूर्ण रूप से ज्ञात; इत्थम्—ऐसा; यत्—जो; वासुदेवे—भगवान् के प्रति; अखिल—सम्पूर्ण; लोक-नाथे—समस्त ब्रह्माण्डों के स्वामी के प्रति; कुर्वन्ति—प्रेरित करते हैं; सर्व-आत्मकम्—शत प्रतिशत; आत्म—आत्मा; भावम्—आह्लाद; न—कभी नहीं; यत्र—जहाँ; भूयः—फिर; परिवर्तः—पुनरावृत्ति; उग्रः—भयानक।

इस संसार में केवल ऐसी जिज्ञासाओं द्वारा ही मनुष्य सफल तथा पूर्णतः ज्ञात हो सकता है, क्योंकि ऐसी जिज्ञासाओं से अखिल ब्रह्माण्डों के स्वामी भगवान् के प्रति दिव्य आह्लादकारी प्रेम उत्पन्न होता है और जन्म-मृत्यु की घोर पुनरावृत्ति से शत प्रतिशत प्रतिरक्षा की गारंटी प्राप्त होती है।

तात्पर्य : यहाँ पर सूत गोस्वामी द्वारा शौनक आदि मुनियों की जिज्ञासाओं की प्रशंसा उनकी दिव्य प्रकृति के आधार पर की गई है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, केवल भगवद्भक्त ही

उनको एक समुचित सीमा में जान पाते हैं, अन्य कोई नहीं जान पाता, अतएव भक्तगण समस्त आध्यात्मिक ज्ञान से पूर्ण रूप से ज्ञात होते हैं। परम सत्य का अन्तिम पड़ाव भगवान् ही हैं। निराकार ब्रह्म तथा अन्तर्यामी परमात्मा भगवान् के ज्ञान में सम्मिलित हैं। अत: जो भगवान् को जान सकता है, वह उनके विषय में, उनकी नाना शक्तियों तथा उनके अंशों के विषय में स्वत: ही सब कुछ जान लेता है। अतएव भक्तों को परम भाग्यशाली (सफल) कहा गया है। भगवान् का शतप्रतिशत भक्त जन्म-मरण के चक्र के भयानक भौतिक तापों के प्रति निश्चेष्ट रहता है।

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् ।
उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः ।
नि:श्रेयसाय लोकस्य धन्यं स्वस्त्ययनं महत् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

इदम्—इस; भागवतम्—भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्तों की कथा वाले ग्रन्थ को; नाम—नामक; पुराणम्—वेदों के अनुपूरक; ब्रह्म-सम्मितम्—भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार; उत्तम-श्लोक—भगवान् का; चरितम्—कार्यकलाप; चकार—संकलित किया; भगवान्—भगवान् के अवतार; ऋषिः—श्री व्यासदेव ने; नि:श्रेयसाय—परम कल्याण के लिए; लोकस्य—सब लोगों के; धन्यम्—पूर्ण रूप से सफल, धन्य; स्वस्ति-अयनम्—सर्व आनन्दमय; महत्—परिपूर्ण।

यह श्रीमद्भागवत भगवान् का साहित्यावतार है, जिसे भगवान् के अवतार वेदव्यास ने संकलित किया है। यह सभी लोगों के परम कल्याण के निमित्त है और यह सभी तरह से सफल, आनन्दमय तथा परिपूर्ण है।

तात्पर्य : भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने घोषित किया है कि *श्रीमद्भागवत* समस्त वैदिक ज्ञान तथा इतिहास की निर्मल वाणी है। इसमें भगवान् के संसर्ग में रहने वाले कतिपय महान भक्तों के चुने हुए चरित्र दिये गये हैं। *श्रीमद्भागवत* भगवान् कृष्ण का साहित्यावतार है, अतएव यह उनसे अभिन्न है। हमें *श्रीमद्भागवत* की पूजा उसी सम्मान से करनी चाहिए, जिस तरह हम भगवान् की करते हैं। हम इसके सचेष्ट एवं धीर अध्ययन के द्वारा भगवान् का परम आशीर्वाद प्राप्त कर सकते हैं। जिस प्रकार भगवान् पूर्ण प्रकाश, पूर्ण आनन्द तथा सर्वथा पूर्ण हैं, उसी तरह यह *श्रीमद्भागवत* भी है। हमें *श्रीमद्भागवत* का पाठ करने से परब्रह्म श्रीकृष्ण का सारा दिव्य प्रकाश प्राप्त हो सकता है, बशर्ते कि हम इसे पारदर्शी गुरु के माध्यम से ग्रहण करें। पुरी में

भगवान् चैतन्य के दर्शनार्थ जितने लोग आते थे उनसे महाप्रभु के निजी सचिव श्रील स्वरूप दामोदर गोस्वामी यही कहा करते थे कि किसी *भक्त-भागवत* से ही *भागवत* का अध्ययन करना चाहिए। *भक्त-भागवत* स्वरूपसिद्ध प्रामाणिक गुरू हैं और वांछित फल प्राप्त करने के लिए उन्हीं से *भागवत* की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। *भागवत* के अध्ययन से वे सारे लाभ प्राप्त हो सकते हैं, जो भगवान् की साक्षात् उपस्थिति से होते हैं। यह भगवान् कृष्ण के उन समस्त आशीर्वादों को प्रदान करने वाला है, जो भगवान् के साक्षात् सम्पर्क से मिल सकते हैं।

तदिदं ग्राहयामास सुतमात्मवतां वरम् ।
सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस; इदम्—यह; ग्राहयाम् आस—स्वीकार कराया; सुतम्—उनके पुत्र को; आत्मवताम्—स्वरूपसिद्ध को; वरम्—अत्यन्त आदरणीय; सर्व—समस्त; वेद—वैदिक साहित्य (ज्ञान ग्रन्थ); इतिहासानाम्—समस्त इतिहासों का; सारम्—सार, निष्कर्ष; सारम्—सार; समुद्धृतम्—निकाला हुआ।

स्वरूपसिद्धों में अत्यन्त सम्माननीय श्री व्यासदेव ने समस्त वैदिक वाङ्मय तथा ब्रह्माण्ड के इतिहासों का सार निकाल कर इसे अपने पुत्र को प्रदान किया।

तात्पर्य : अल्पज्ञ लोग संसार के इतिहास को केवल बुद्ध के समय से अर्थात् ६०० ई.पू. से मानते हैं, और इस काल के पूर्व शास्त्रों में उल्लिखित सारे इतिहासों को वे मात्र काल्पनिक कथाएँ मानते हैं। यह तथ्य नहीं है। पुराणों में तथा महाभारत आदि में वर्णित सारी कथाएँ वास्तविक इतिहास हैं, जो न केवल इस लोक से अपितु इस ब्रह्माण्ड के लाखों अन्य लोकों से सम्बन्धित हैं। ऐसे लोगों को कभी-कभी इस जगत से परे अन्य लोकों का इतिहास अविश्वसनीय जान पड़ता है। लेकिन शायद वे यह जानते नहीं हैं कि विभिन्न ग्रह सभी प्रकार से एकसमान नहीं हैं, अतएव अन्य ग्रहों के कुछ ऐतिहासिक तथ्य इस ग्रह के तथ्यों से मेल नहीं खाते। विभिन्न लोकों की भिन्न-भिन्न स्थिति तथा काल एवं परिस्थतियों पर विचार करने पर पुराणों की कहानियों में न तो कोई विचित्रता दिखेगी, न ही वे काल्पनिक लगेंगी। हमें यह कहावत सदैव स्मरण में रखनी चाहिए कि एक व्यक्ति का भोजन किसी दूसरे का काल-कवल बन सकता है। अतएव हमें

चाहिए कि पुराणों की कहानियों तथा इतिहासों को काल्पनिक कह कर उनका तिरस्कार न करें। व्यास जैसे महर्षियों को अपने साहित्य में काल्पनिक कथाएँ रखने से क्या मिलने वाला था?

श्रीमद्भागवत में विभिन्न लोकों के इतिहासों से चुने हुए ऐतिहासिक तथ्यों का चित्रण किया गया है। इसीलिए समस्त अध्यात्मवादी इसे महापुराण के रूप में स्वीकार करते हैं। इन इतिहासों की विशिष्टता यह है कि ये सब विभिन्न कालों तथा परिवेशों में भगवान् की लीलाओं से सम्बद्ध हैं। श्रील शुकदेव गोस्वामी स्वरूपसिद्ध व्यक्तियों में सर्वोपरि हैं और उन्होंने अपने पिता व्यासदेव से इस विषय को ग्रहण किया। श्रील व्यासदेव परम विद्वान हैं। उन्होंने *श्रीमद्भागवत* की विषय वस्तु को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझ कर सर्वप्रथम अपने महान पुत्र श्रील शुकदेव गोस्वामी को प्रदान किया। इसकी तुलना दूध की मलाई से की गई है। वैदिक वाङ्मय मानो ज्ञान का क्षीर सागर हो। जिस प्रकार नवनीत दुग्ध का सर्वाधिक स्वादिष्ट तत्त्व होता हैं, उसी तरह यह *श्रीमद्भागवत* भी है, क्योंकि इसमें भगवान् तथा उनके भक्तों के कार्यकलापों के अत्यन्त सुस्वादु, उपदेशात्मक तथा प्रामाणिक विवरण मिलते हैं। किन्तु यदि नास्तिकों तथा व्यवसायी वाचकों से *भागवत* सुनी जाय, जो जनसामान्य के लिए *भागवत* का व्यापार करते हैं, तो उससे कोई लाभ नहीं होता। श्रील शुकदेव गोस्वामी को *भागवत* इसीलिए प्रदान की गयी थी, क्योंकि उन्हें *भागवत* का व्यवसाय नहीं करना था। उन्हें इस व्यापार से परिवार का भरण-पोषण नहीं करना था। इसलिए *श्रीमद्भागवत* को शुकदेव के ऐसे प्रतिनिधि से ग्रहण करना चाहिए, जो संन्यास आश्रम में हो और जिस पर परिवार का बोझ न हो। दूध सचमुच उत्तम एवं पोषक होता है, किन्तु जब कोई सर्प मुँह से इसका स्पर्श कर देता है तो यह पोषक नहीं रह जाता, उल्टे यह मृत्यु का कारण बन जाता है। इसी तरह, जो लोग दृढता से वैष्णव परम्परा में नहीं लगे हैं, उन्हें न तो *भागवत* का व्यापार करना चाहिए और न अनेकानेक श्रोताओं की आध्यात्मिक मृत्यु का कारण बनना चाहिए। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि समस्त वेदों का उद्देश्य उन्हें (कृष्ण को) जानना है और *श्रीमद्भागवत* तो संचित ज्ञान-रूप साक्षात् श्रीकृष्ण है। अत: यह समस्त वेदों का नवनीत (सार)

है और इसमें श्रीकृष्ण से सम्बन्धित समस्त कालों के ऐतिहासिक तथ्य भरे हैं। वस्तुत: यह समस्त इतिहासों का सार है।

स तु संश्रावयामास महाराजं परीक्षितम् ।
प्रायोपविष्टं गङ्गायां परीतं परमर्षिभि: ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

सः—व्यासदेव के पुत्र ने; तु—पुनः; संश्रावयाम् आस—सुनाया; महा-राजम्—राजा; परीक्षितम्—परीक्षित को; प्राय-उपविष्टम्—अन्न-जल रहित मृत्यु के लिए बैठे; गङ्गायाम्—गंगा नदी के तट पर; परीतम्—घिरे हुए; परम-ऋषिभिः—बड़े-बड़े ऋषियों द्वारा।.

व्यासदेव के पुत्र शुकदेव गोस्वामी ने, अपनी पारी में महाराज परीक्षित को भागवत सुनाई जो तब निर्जल तथा निराहार रहकर मृत्यू की प्रतीक्षा करते हुए गंगा नदी के तट पर ऋषियों से घिरे बैठे हुए थे।

तात्पर्य : सारे दिव्य सन्देश शिष्य परंपरा की शृंखला से उचित ढंग से प्राप्त किये जाते हैं। यह शिष्य-शृंखला *परम्परा* कहलाती है। जब तक *भागवत* को या अन्य किसी वैदिक ग्रंथ को परम्परा-पद्धति से ग्रहण नहीं किया जाता है, तब तक उसे प्रामाणिक नहीं माना जाता। व्यासदेव ने यह सन्देश शुकदेव गोस्वामी को प्रदान किया और शुकदेव गोस्वामी से इसे सूत गोस्वामी ने प्राप्त किया। अत: *भागवत* का सन्देश सूत गोस्वामी या उनके प्रतिनिधि से ही प्राप्त करना चाहिए, किसी अप्रासंगिक व्याख्याकार से नहीं।

महाराज परीक्षित को अपनी मृत्यु की सूचना समय से प्राप्त हो गई थी, अत: उन्होंने अपना राज्य तथा परिवार छोड़ दिया और आमरण उपवास करते हुए वे गंगा के किनारे जा बैठे। उनकी राजसी स्थिति के कारण सारे ऋषि, मुनि, चिन्तक, योगी आदि वहाँ पहुँच गये। उन सबों ने उन्हें उनके तात्कालिक कर्तव्य के बारे में कई सुझाव दिये और अन्त में यह तय हुआ कि वे शुकदेव गोस्वामी से भगवान् कृष्ण के विषय में सुनें। इस प्रकार उन्हें *भागवत* की कथा सुनायी गयी।

मायावादी दर्शन के उपदेशक तथा परब्रह्म के निर्गुण रूप के समर्थक श्रीपाद शंकराचार्य ने भी संस्तुति की है कि मनुष्य को भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए;

क्योंकि वाद-विवाद करने से किसी लाभ की आशा नहीं है। उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप में यह स्वीकार किया कि *वेदान्त-सूत्र* की उन्होंने जो अलंकारमयी वैयाकरणिक व्याख्या की है, उससे मृत्यु के समय कोई सहायता नहीं मिल सकती। आसन्न मृत्यु के निर्णायक समय पर मनुष्य को गोविन्द नाम का जप करना चाहिए। यही सभी बड़े-बड़े अध्यात्मवादियों का कहना है। बहुत काल पूर्व शुकदेव गोस्वामी ने इस सत्य का कथन किया कि अन्त समय में मनुष्य को नारायण का स्मरण करना चाहिए। यही समस्त आध्यात्मिक कार्यों का सार है। इसी शाश्वत सत्य के पालन हेतु महाराज परीक्षित ने *श्रीमद्भागवत* सुना और सुयोग्य शुकदेव गोस्वामी ने उन्हें इसे सुनाया। *भागवत* सन्देश के वक्ता तथा श्रोता दोनों ही एक ही माध्यम से मुक्ति पा गए।

कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह ।
कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

कृष्णे—कृष्ण के; स्व-धाम—अपने धाम; उपगते—वापस जाने पर; धर्म—धर्म; ज्ञान—ज्ञान; आदिभिः—इत्यादि; सह—साथ; कलौ—कलियुग में; नष्ट-दृशाम्—जिन लोगों के दृष्टि नष्ट हो चुकी है उनके; एषः—ये सब; पुराण-अर्कः—सूर्य के समान प्रकाशमान पुराण; अधुना—इस समय; उदितः—उदय हुआ है।

यह भागवत पुराण सूर्य के समान तेजस्वी है और धर्म, ज्ञान आदि के साथ कृष्ण द्वारा अपने धाम चले जाने के बाद ही इसका उदय हुआ। जिन लोगों ने कलियुग में अज्ञान के गहन अन्धकार के कारण अपनी दृष्टि खो दी है, उन्हें इस पुराण से प्रकाश प्राप्त होगा।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण का अपना शाश्वत धाम है, जहाँ वे, अपने पार्षदों तथा साज-सामग्री के साथ नित्य भोग करते रहते हैं। उनका नित्य धाम उनकी अन्तरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति है, जबकि भौतिक संसार उनकी बहिरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति है। जब वे भौतिक जगत में आते हैं, तो वे अपनी अन्तरंगा शक्ति में सम्पूर्ण साज-सामग्री का प्रदर्शन करते हैं, जिसे *आत्म-माया* कहते हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि वे अपनी शक्ति (*आत्म-माया*) द्वारा नीचे उतरते हैं। अतः उनका रूप, नाम, यश, साज-सामग्री, धाम आदि भौतिक सृजन नहीं हैं। वे पतित जीवों के उद्धार हेतु तथा धर्म के सिद्धान्तों की स्थापना के लिए अवतरित होते हैं जिनका वे स्वयं प्रदर्शन करते हैं। ईश्वर के अतिरिक्त कोई भी धर्म के सिद्धान्तों की स्थापना नहीं कर सकता। या

तो वे, या उनके द्वारा शक्ति-संचारित किया गया सुयोग्य व्यक्ति ही धर्म की संहिता का नियमन कर सकता है। वास्तविक धर्म का अर्थ है ईश्वर को जानना, ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को तथा उनके प्रति अपने कर्तव्य को जानना और जब यह भौतिक शरीर छूटे, तो अपने अन्तिम गन्तव्य को जान लेना। माया के पाश में बँधे बद्धजीव बड़ी मुश्किल से जीवन के इन सिद्धान्तों को जान पाते हैं। उनमें से अधिकांश पशुओं की तरह खाने, सोने, अपनी रक्षा तथा मैथुन में लगे रहते हैं। वे अधिकांशतया धार्मिकता, ज्ञान या मोक्ष के नाम पर इन्द्रिय-भोग में लगे रहते हैं। इस कलह-प्रधान कलियुग में तो वे और भी अंधे बन चुके हैं। कलियुग में सारी जनता पशुओं का राजसी संस्करण बनी हुई है। उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान या दैवी धार्मिक जीवन से कोई सरोकार नहीं। वे इतने अंधे हैं कि उन्हें सूक्ष्म मन, बुद्धि या अहंकार के आगे कुछ भी नहीं दिखता, लेकिन वे ज्ञान, विज्ञान तथा भौतिक सम्पन्नता में प्रगति के प्रति अत्यन्त गर्व का अनुभव करते हैं। वे इस शरीर को त्यागने के बाद कूकर या शूकर बनने के लिए भी तैयार हैं, क्योंकि उन्होंने जीवन के चरम लक्ष्य को दृष्टि से ओझल कर रखा है। भगवान् श्रीकृष्ण कलियुग का प्रारम्भ होने से कुछ काल पूर्व हमारे समक्ष प्रकट हुए थे और कलियुग के प्रारम्भ होते ही वे अपने दिव्य धाम को वापस चले गये। जब तक वे उपस्थित थे, उन्होंने अपने कार्यकलापों से सब कुछ कर दिखलाया। उन्होंने विशेष रूप से *भगवद्गीता* का प्रवचन किया और धर्म के सारे बनावटी नियमों का निर्मूलन किया। इस भौतिक जगत से अपने प्रयाण के पूर्व उन्होंने नारद के माध्यम से श्री व्यासदेव को *श्रीमद्भागवत* का संदेश संकलित करने का अधिकार प्रदान किया। इस प्रकार *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत,* ये दोनों ग्रन्थ इस युग के अंधे लोगों के लिए प्रकाश-स्तम्भ की भाँति हैं। दूसरे शब्दों में, यदि इस कलियुग के लोग जीवन के वास्तविक आलोक को देखना चाहते हैं, तो उन्हें इन दोनों ग्रंथों की शरण लेनी चाहिए। इससे उनका जीवन-लक्ष्य पूरा हो सकेगा। *भगवद्गीता भागवत* का प्रारम्भिक अध्ययन है। *श्रीमद्भागवत* तो जीवन का आश्रय तत्त्व, साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण है। अतएव हमें चाहिए कि *श्रीमद्भागवत* को भगवान् श्रीकृष्ण का प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व

करता हुआ मानें। जो *श्रीमद्भागवत* को देख सकता है, वह साक्षात् श्रीकृष्ण को देख सकता है। वे अभिन्न हैं।

तत्र कीर्तयतो विप्रा विप्रर्षेर्भूरितेजसः ।
अहं चाध्यगमं तत्र निविष्टस्तदनुग्रहात् ।
सोऽहं वः श्रावयिष्यामि यथाधीतं यथामति ॥ ४४॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; कीर्तयतः—कीर्तन करते हुए; विप्राः—हे ब्राह्मणों; विप्र-ऋषेः—ब्रह्मर्षि से; भूरि—अत्यधिक; तेजसः—शक्तिशाली; अहम्—मैं; च—भी; अध्यगमम्—समझ सकता हूँ; तत्र—उस सभा में; निविष्टः—पूर्ण रूप से एकाग्रचित होकर; तत्-अनुग्रहात्—उसकी कृपा से; सः—वही वस्तु; अहम्—मैं; वः—तुमको; श्रावयिष्यामि—सुनाऊँगा; यथा-अधीतम् यथा-मति—अपने अनुभव के आधार पर।

हे विद्वान ब्राह्मणों, जब शुकदेव गोस्वामी ने वहाँ पर (महाराज परीक्षित की उपस्थिति में) भागवत सुनाया, तो मैंने अत्यन्त ध्यानपूर्वक सुना और इस तरह उनकी कृपा से मैंने उन महान शक्ति-सम्पन्न ऋषि से भागवत सीखा। अब मैं तुम लोगों को वही सब सुनाने का प्रयत्न करूँगा, जो मैंने उनसे सीखा तथा जैसा मैंने आत्मसात् किया।

तात्पर्य : यदि किसी ने शुकदेव गोस्वामी जैसे स्वरूपसिद्ध महात्मा से *भागवत* सुना है, तो उसे *भागवत* के पृष्ठों में भगवान् श्रीकृष्ण के प्रत्यक्ष दर्शन हो सकते हैं। लेकिन यदि कोई चाहे कि वह किसी ऐसे व्यर्थ के, किराये के कथावाचक से *भागवत* सीख सकेगा, जिसके जीवन का उद्देश्य ऐसे कथावाचन से कुछ धन कमाकर उसे विषय-भोग में लगाना है, तो वैसा सम्भव नहीं है। जो व्यक्ति कामभोग में लगे हुए मनुष्यों का संग करता है, वह श्रीमद्भागवत सीख नहीं सकता है। *भागवत* के समझने का यही रहस्य है। न ही ऐसे व्यक्ति से *भागवत* समझा जा सकता है, जो अपने संसारी पाण्डित्य से *भागवत* की व्याख्या करता हो। यदि कोई *भागवत* के पृष्ठों में श्रीकृष्ण का दर्शन करना चाहता है, तो उसे शुकदेव गोस्वामी के किसी प्रतिनिधि से ही *भागवत* समझना होगा, अन्य किसी से नहीं। यही एकमात्र विधि है तथा इसका कोई और विकल्प नहीं है। सूत गोस्वामी शुकदेव गोस्वामी के प्रामाणिक प्रतिनिधि हैं, क्योंकि वे उस सन्देश को प्रस्तुत करना चाहते हैं जिसे उन्होंने विद्वान ब्राह्मण से प्राप्त किया था। शुकदेव गोस्वामी ने *भागवत* को

उसी रूप में प्रस्तुत किया, जिस रूप में उन्होंने अपने महान पिता से सुना था। उसी तरह सूत गोस्वामी भी *भागवत* को उसी रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं, जिस रूप में उन्होंने शुकदेव गोस्वामी से सुना था। केवल सुनना ही काफी नहीं, मनुष्य को चाहिए कि ध्यानपूर्वक मूल तत्त्व को आत्मसात् करे। *निविष्ट* शब्द बताता है कि सूत गोस्वामी ने *भागवत* के रस को अपने कानों से पिया। *भागवत* को ग्रहण करने की वास्तविक विधि यही है। मनुष्य को चाहिए कि वास्तविक व्यक्ति से अत्यन्त सावधानी से सुने; तभी उसे हर पृष्ठ में भगवान् कृष्ण की उपस्थिति की अनुभूति हो सकती है। यहाँ पर *भागवत* को ग्रहण करने के रहस्य का उल्लेख किया गया है। जिसका मन शुद्ध नहीं है, वह सावधानी से नहीं सुन सकता। जो कर्म में शुद्ध नहीं है, उसका मन शुद्ध नहीं हो सकता। जो आहार, शयन, रक्षा तथा मैथुन में शुद्ध नहीं है, वह कर्म में भी शुद्ध नहीं होगा। लेकिन, यदि कोई सही व्यक्ति से ध्यानपूर्वक सुनता है, तो *भागवत* के प्रारम्भिक पृष्ठों में ही उसे भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन अवश्य ही हो सकते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत ''समस्त अवतारों के स्रोत : कृष्ण'' नामक तृतीय अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चार

श्री नारद का प्राकट्य

व्यास उवाच
इति ब्रुवाणं संस्तूय मुनीनां दीर्घसत्रिणाम् ।
वृद्धः कुलपतिः सूतं बह्वृचः शौनकोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

व्यासः उवाच—व्यासदेव ने कहा; इति—इस प्रकार; ब्रुवाणम्—बोलते हुए; संस्तूय—बधाई देकर; मुनीनाम्—बड़े-बड़े साधुओं में; दीर्घ—दीर्घकालीन; सत्रिणाम्—यज्ञ सम्पन्न करने में लगे रहने वाले; वृद्धः—वयोवृद्ध; कुल-पतिः—सभा के अध्यक्ष; सूतम्—सूत गोस्वामी को; बहु-ऋचः—विद्वान; शौनकः—शौनक ने; अब्रवीत्—सम्बोधित किया।.

सूत गोस्वामी को इस प्रकार बोलते देखकर, दीर्घकालीन यज्ञोत्सव में लगे हुए समस्त ऋषियों में विद्वान तथा वयोवृद्ध अग्रणी शौनक मुनि ने सूत गोस्वामी को निम्न प्रकार सम्बोधित करते हुए बधाई दी।

तात्पर्य : विद्वानों की सभा में, जब भी वक्ता को बधाइयाँ दी जाती है या उनको सम्बोधित किया जाता है, तो बधाई देने वाले में निम्नलिखित योग्यताएँ होनी चाहिए। उसे सभा का अग्रणी (सभापति) तथा ज्येष्ठ व्यक्ति होना चाहिए। उसे विशद विद्वान भी होना चाहिए। श्री शौनक ऋषि में ये सारी योग्यताएँ थीं, अतः जब श्री सूत गोस्वामी ने *श्रीमद्भागवत* को उसी रूप में सुनाने की इच्छा व्यक्त की, जिस रूप में उन्होंने शुकदेव गोस्वामी से सुना था तथा स्वयं भी उसे आत्मसात् किया था, तो श्री शौनक जी उन्हें बधाई देने के लिए खड़े हुए। आत्म-अनुभूति का यह अर्थ नहीं होता है कि गर्व के कारण, पूर्ववर्ती आचार्य का उल्लघंन करके, कोई अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करे। उसे पूर्ववर्ती आचार्य पर पूरा विश्वास होना चाहिए और साथ ही साथ उसे विषय का ऐसा उत्तम ज्ञान होना चाहिए कि वह किसी विशिष्ट अवसर पर, उस विषय को उपयुक्त ढंग से प्रस्तुत कर सके। *विषय के मूल उद्देश्य का पालन होना चाहिए*। खींचतान कर उसका कोई दुर्बोध अर्थ नहीं निकालना चाहिए, अपितु श्रोताओं को समझाने के लिए उसे रोचक ढंग से प्रस्तुत करना

चाहिए। इसे आत्मसात करना कहा जाता है। सभा के अगुआ शौनक ने वक्ता श्री सूत गोस्वामी के महत्त्व का *यथाधीतम्* तथा *यथामति* कहकर अनुमान लगा लिया था, अतएव परम प्रसन्न होकर वे उन्हें बधाई दे रहे थे। ऐसे व्यक्ति से कभी नहीं सुनना चाहिए जो मूल आचार्य का प्रतिनिधित्व न करता हो। अतएव इस सभा में वक्ता तथा श्रोता दोनों ही प्रामाणिक थे, जिसमें *श्रीमद्भागवत* को दूसरी बार सुनाया जा रहा था। *भागवत* के ऐसे मानक वाचन से वास्तविक उद्देश्य को बिना किसी कठिनाई के स्थिर रखा जा सकता है। ऐसी स्थिति उत्पन्न किये बिना, बाह्य प्रयोजनों के लिए, *भागवत* का वाचन वक्ता तथा श्रोता दोनों के लिए व्यर्थ का श्रम है।

शौनक उवाच
सूत सूत महाभाग वद नो वदतां वर ।
कथां भागवतीं पुण्यां यदाह भगवाञ्छुकः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

शौनकः उवाच—शौनक ने कहा; सूत सूत—हे सूत गोस्वामी; महा-भाग—परम भाग्यशाली; वद—कृपया कहें; नः—हमसे; वदताम्—बोलने वालों में से; वर—आदरणीय; कथाम्—कथा के सन्देश को; भागवतीम्—भागवत की; पुण्याम्—पवित्र; यत्—जो; आह—कहा; भगवान्—परम शक्तिमान; शुकः—श्री शुकदेव गोस्वामी ने।

शौनक ने कहा : हे सूत गोस्वामी, जो बोल सकते हैं तथा सुना सकते हैं, उन सबों में आप सर्वाधिक भाग्यशाली तथा सम्माननीय हैं। कृपा करके श्रीमद्भागवत की पुण्य कथा कहें, जिसे महान् तथा शक्तिसम्पन्न ऋषि शुकदेव गोस्वामी ने सुनाइ थी।

तात्पर्य : शौनक गोस्वामी प्रसन्नता के कारण सूत गोस्वामी को दो बार 'सूत सूत' कह कर सम्बोधित करते हैं, क्योंकि वे स्वयं तथा सभा के सारे लोग शुकदेव गोस्वामी द्वारा कहे गये *श्रीमद्भागवत* के पाठ को सुनने के लिए उत्सुक थे। वे किसी ऐसे नकली व्यक्ति से नहीं सुनना चाहते थे, जो निजी स्वार्थ के लिए अपने ही ढंग से व्याख्या करे। सामान्य रूप से *भागवत के* तथाकथित कथावाचक या तो पेशेवर वाचक होते हैं या तथाकथित विद्वान निर्विशेषवादी होते हैं, जो परम पुरुष की सविशेष दिव्य लीलाओं में प्रवेश नहीं पा सकते। ऐसे निर्विशेषवादी, अपनी-अपनी रुचि के अनुसार, निर्विशेषवादी मत का समर्थन करने वाला कोई न कोई अर्थ निकालते हैं

एवं पेशेवर वाचक तो सीधे दशम स्कंध में पहुँच कर भगवान् की लीलाओं के गुह्यतम अंश की गलत व्याख्या करने लगते हैं। इन दोनों में से कोई भी वाचक *भागवत* सुनाने का अधिकारी नहीं होता। केवल ऐसा व्यक्ति जो शुकदेव गोस्वामी की तरह *भागवत* प्रस्तुत करने को तैयार हो तथा केवल वे लोग जो शुकदेव गोस्वामी तथा उनके प्रतिनिधि से सुनने को तैयार हों, *श्रीमद्भागवत* की दिव्य चर्चा के प्रामाणिक भागीदार हैं।

कस्मिन् युगे प्रवृत्तेयं स्थाने वा केन हेतुना ।
कुतः सञ्चोदितः कृष्णः कृतवान् संहितां मुनिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

कस्मिन्—किस; युगे—युग में; प्रवृत्ता—प्रारम्भ हुआ; इयम्—इस; स्थाने—स्थान पर; वा—अथवा; केन—किस; हेतुना—कारण से; कुतः—कहाँ से; सञ्चोदितः—प्रेरणा पाई; कृष्णः—द्वैपायन व्यास ने; कृतवान्—संकलित किया; संहिताम्—वैदिक साहित्य को; मुनिः—विद्वान।

यह (कथा) सर्वप्रथम किस युग में तथा किस स्थान में प्रारम्भ हुई और किस कारण इसे प्रारम्भ किया गया? महामुनि कृष्ण द्वैपायन व्यास ने इस साहित्य (ग्रंथ) को संकलित करने की प्रेरणा कहाँ से प्राप्त की?

तात्पर्य : चूँकि *श्रीमद्भागवत* श्रील व्यासदेव की विशिष्ट कृति है, अतएव विद्वान शौनक मुनि अनेक प्रकार के प्रश्न कर रहे हैं। उन्हें ज्ञात था कि श्रील व्यासदेव अल्पज्ञ स्त्रियों, शूद्रों तथा द्विज परिवारों के पतित जनों को समझाने के लिए वेदों से लेकर *महाभारत* तक की पहले ही व्याख्या कर चुके हैं। *श्रीमद्भागवत* उन सबों से दिव्य है, क्योंकि इसमें कुछ भी संसारी नहीं है। अतएव पूछे गये प्रश्न अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण एवं प्रासंगिक हैं।

तस्य पुत्रो महायोगी समदृङ्निर्विकल्पकः ।
एकान्तमतिरुन्निद्रो गूढो मूढ इवेयते ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; पुत्रः—पुत्र; महा-योगी—परम भक्त; सम-दृक्—समदर्शी; निर्विकल्पकः—नितान्त ब्रह्मवादी; एकान्त-मतिः—मन की निष्ठा, ब्रह्मवाद में स्थिर; उन्निद्रः—अज्ञान से परे; गूढः—प्रच्छन्न; मूढः—जड़; इव—सदृश; इयते—प्रतीत होता है।

उनका (व्यासदेव का) पुत्र परम भक्त, समदर्शी ब्रह्मवादी था जिसका मन सदैव ब्रह्मवाद में केन्द्रित रहता था। वह संसारी कर्मों से परे था, लेकिन प्रकट न होने के कारण अज्ञानी-जैसा लगता था।

तात्पर्य : श्रील शुकदेव गोस्वामी मुक्त जीव थे, अतएव वे सदैव जागरूक बने रहे कि वे माया पाश में न फँस जाँय। *भगवद्गीता* में इस जागरूकता की रोचक व्याख्या की गई है। मुक्त जीव तथा बद्धजीव के पृथक्-पृथक् कार्य हैं। मुक्त जीव निरन्तर आध्यात्मिक उपलब्धि के पथ पर अग्रसर होता रहता है, जो बद्धजीव के लिए एक स्वप्न-जैसा है। बद्धजीव मुक्त जीव के वास्तविक कार्यों की कल्पना तक नहीं कर सकता। जबकि बद्धजीव इन आध्यात्मिक कार्यों का स्वप्न देखता है, किन्तु मुक्त जीव जागृत रहता है। इसी प्रकार बद्धजीव के कार्य मुक्त जीव को स्वप्नवत् प्रतीत होते हैं। भले ही ऊपरी तौर पर बद्धजीव तथा मुक्त जीव एक ही घरातल पर लगे, लेकिन वास्तव में वे भिन्न-भिन्न कार्यों में लगे होते हैं और उनका ध्यान सदैव या तो इन्द्रिय-भोग पर या फिर आत्म-साक्षात्कार की ओर लगा रहता है। बद्धजीव पदार्थ में मग्न रहता है, जबकि मुक्त जीव पदार्थ से पूर्ण रूप से निरपेक्ष रहता है। इस निरपेक्षता की व्याख्या आगे की गई है।

दृष्ट्वानुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नं
देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम् ।
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति
स्त्रीपुम्भिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; अनुयान्तम्—पीछा करते हुए; ऋषिम्—ऋषि; आत्मजम्—अपने पुत्र को; अपि—यद्यपि; अनग्नम्—नग्न नहीं; देव्यः—सुन्दरियों ने; ह्रिया—लज्जा से; परिदधुः—शरीर ढक लिया; न—नहीं; सुतस्य—पुत्र का; चित्रम्—आश्चर्यजनक; तत् वीक्ष्य—यह देखकर; पृच्छति—पूछता है; मुनौ—मुनि (व्यास) को; जगदुः—उत्तर दिया; तव—तुम्हारा; अस्ति—है; स्त्री-पुम्—नर तथा नारी; भिदा—अन्तर; न—नहीं; तु—लेकिन; सुतस्य—पुत्र का; विविक्त—शुद्ध, पवित्र; दृष्टेः—देखने वाले का।

जब श्रील व्यासदेव अपने पुत्र के पीछे-पीछे जा रहे थे, तो नग्न स्नान करती सुन्दर तरुणियों ने वस्त्रों से अपने शरीर ढक लिए, यद्यपि व्यासदेव स्वयं नग्न न थे। लेकिन जब उनका पुत्र वहीं से गुजरा था, तब उन्होंने वैसा नहीं किया था। मुनि ने इसके बारे में पूछा तो

तरुणियों ने उत्तर दिया कि उनका पुत्र पवित्र है और जब वह उनकी ओर देख रहा था, तो उसने स्त्री तथा पुरुष में कोई भेद नहीं माना। लेकिन मुनि तो भेद मान रहे थे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (५.१८) में कहा गया है कि विद्वान साधु, अपनी आध्यात्मिक दृष्टि के कारण, किसी विद्वान भद्र ब्राह्मण, चण्डाल, कुत्ता या गाय पर समान दृष्टि रखने वाला होता है। श्रील शुकदेव गोस्वामी ने वह अवस्था प्राप्त कर ली थी। अतएव उन्होंने स्त्री या पुरुष में भेद नहीं देखा, उन्होंने तो समस्त जीवों को एक भिन्न वेश में देखा। स्नान करती स्त्रियाँ, पुरुष के मन को उसकी चेष्टाओं से जान गईं, जिस प्रकार शिशु को देखकर कोई भी यह जान लेता है कि वह कितना निर्दोष है। शुकदेव गोस्वामी सोलह वर्ष के तरुण थे, अतएव उनके शरीर के सभी अंगों का विकास हो चुका था। वे नग्न भी थे और उन्हीं की तरह स्त्रियाँ भी थीं। लेकिन चूँकि शुकदेव गोस्वामी काम-व्यापार से परे थे, अतएव वे निर्दोष प्रतीत हो रहे थे। स्त्रियाँ अपने विशिष्ट गुणों से इसे तुरन्त जान गईं, अतएव उन्होंने शुकदेव जी के आने की खास परवाह नहीं की। लेकिन जब उनके पिता उधर से गुजरे, तो स्त्रियों ने तुरन्त वस्त्र ओढ़ लिए। ये स्त्रियाँ उनकी पुत्रियों या पौत्रियों जैसी ही थीं; फिर भी व्यासदेव के आने पर उनमें सामाजिक रिवाज के अनुसार प्रतिक्रिया हुई, क्योंकि व्यासदेव गृहस्थ की भूमिका निभा रहे थे। गृहस्थ को स्त्री तथा पुरुष में भेद बरतना होता है; अन्यथा वह गृहस्थ नहीं हो सकता। अतएव मनुष्य को चाहिए कि स्त्री तथा पुरुष के प्रति आसक्ति से रहित होकर शरीर और आत्मा का अन्तर जाने। जब तक उसके मन में ऐसा अन्तर रहे, तब तक उसे शुकदेव गोस्वामी जैसा संन्यासी बनने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। कम से कम सैद्धान्तिक रूप से मनुष्य को समझ लेना चाहिए कि जीव न तो नर है न नारी। बाहरी बाने को प्रकृति ने पदार्थ से इसलिए तैयार किया है कि उसमें विपरीत लिंग के लिए आकर्षण उत्पन्न हो, जिससे वह इस भौतिक जगत में फँसा रहे। मुक्त जीव इस विकृत भेद से ऊपर होता है। वह दो जीवों में अन्तर नहीं मानता। उसके लिए सभी एक ही आत्मा हैं। इस आध्यात्मिक दृष्टि की पूर्णता मुक्त अवस्था में है और श्रील शुकदेव गोस्वामी ने वह अवस्था प्राप्त कर ली थी। श्रील

व्यासदेव भी दिव्य अवस्था में थे, किन्तु गृहस्थ होने के कारण प्रथावश, वे अपने को मुक्त जीव नहीं मानते थे।

कथमालक्षित: पौरै: सम्प्राप्त: कुरुजाङ्गलान् ।
उन्मत्तमूकजडवद्विचरन् गजसाह्वये ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

कथम्—कैसे; आलक्षित:—मान्य; पौरै:—नागरिकों द्वारा; सम्प्राप्त:—पहुँचे हुए; कुरु-जाङ्गलान्—कुरु-जांगल प्रदेश में; उन्मत्त—पागल; मूक—गूँगा; जडवत्—मूढ़ के समान; विचरन्—घूमते हुए; गज-साह्वये—हस्तिनापुर में।.

कुरु तथा जांगल प्रदेशों में पागल, गूँगे तथा मूढ़ की भाँति घूमने के बाद, जब वे (व्यासपुत्र श्रील शुकदेव) हस्तिनापुर (अब दिल्ली) नगर में प्रविष्ट हुए, तो वहाँ के नागरिकों ने उन्हें कैसे पहचाना?

तात्पर्य : आधुनिक दिल्ली नगर पहले हस्तिनापुर कहलाता था, क्योंकि इसकी स्थापना पहले पहल राजा हस्ती ने की थी। अपना पितृगृह त्यागने के बाद, गोस्वामी शुकदेव पागल की भाँति इधर-उधर भटक रहे थे, अतएव उनकी उच्चस्थ अवस्था को जान पाना नागरिकों के लिए अत्यन्त कठिन था। अत: मुनि को देखकर नहीं, अपितु सुनकर पहचाना जाता है। मनुष्य को चाहिए कि साधु या मुनि के पास दर्शन के लिए नहीं, अपितु सुनने के लिए जाए। यदि वह साधु के वचनों को सुनने के लिए तैयार न हो, तो जाने से कोई लाभ नहीं है। शुकदेव गोस्वामी साधु थे और वे भगवान् की दिव्य लीलाओं के विषय में प्रवचन कर सकते थे। उन्होंने साधारण नागिरकों की सनकों को सन्तुष्ट नहीं किया। जब उन्होंने *भागवत* पर प्रवचन किया, तब लोग उन्हें पहचान पाये। उन्होंने कभी जादूगर जैसी जादूगरी दिखाने का प्रयास नहीं किया। बाहर से वे जड़, गूँगे, पागल व्यक्ति जैसे प्रतीत हो रहे थे, लेकिन वास्तव में वे महान दिव्य रूप से उच्चस्थ पुरुष थे।

कथं वा पाण्डवेयस्य राजर्षेर्मुनिना सह ।
संवाद: समभूत्तात यत्रैषा सात्वती श्रुति: ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

कथम्—किस तरह; वा—भी; पाण्डवेयस्य—पाण्डु के वंशज (परीक्षित) के; राजर्षेः—राजर्षि; मुनिना—मुनिके; सह—साथ; संवादः—संवाद, वार्ता; समभूत्—हुआ; तात—हे प्रिय; यत्र—जहाँ; एषा—इस तरह; सात्वती—दिव्य; श्रुतिः—वेदों का सार।

राजा परीक्षित की इस महामुनि से कैसे भेंट हुई जिसके फलस्वरूप वेदों के इस महान् दिव्य सार (भागवत) का वाचन सम्भव हो सका ?

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* को यहाँ पर वेदों का सार कहा गया है। यह काल्पनिक कहानी नहीं है जैसाकि गैर जिम्मेदार लोग प्रायः कहते रहते हैं। इसे *शुक-संहिता* अर्थात् परम मुक्त मुनि, शुकदेव गोस्वामी द्वारा कहा गया वैदिक स्तोत्र भी कहते हैं।

स गोदोहनमात्रं हि गृहेषु गृहमेधिनाम् ।
अवेक्षते महाभागस्तीर्थीकुर्वंस्तदाश्रमम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—वे (शुकदेव गोस्वामी) ; गो-दोहन-मात्रम्—केवल गाय दुहते समय तक; हि—निश्चय ही; गृहेषु—घर में; गृह-मेधिनाम्—गृहस्थों के; अवेक्षते—प्रतीक्षा करते हैं; महा-भागः—परम भाग्यशाली; तीर्थी—तीर्थ यात्रा; कुर्वन्—करते हुए; तत् आश्रमम्—उस घर को।

वे (शुकदेव गोस्वामी) किसी गृहस्थ के द्वार पर उतनी ही देर रुकते, जितने समय में गाय दुही जा सकती है। वे उस घर को पवित्र करने के लिए ही ऐसा करते थे।

तात्पर्य : शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित से मिले और उन्होंने *श्रीमद्भागवत* के मूल पाठ की व्याख्या कह सुनाई। वे किसी भी गृहस्थ के दरवाजे पर आधा घंटा से अधिक (जितने समय में गाय दुह ली जाती है) नहीं रुकते थे और भाग्यशाली गृहस्थ से भिक्षा प्राप्त करते थे। वे अपनी शुभ उपस्थिति से उस घर को पवित्र करने के लिए ऐसा करते थे। अतएव शुकदेव गोस्वामी ऐसे आदर्श उपदेशक हैं, जो दिव्य पद पर स्थित हैं। जो लोग संन्यास आश्रम में हैं और भगवान् के सन्देश का उपदेश देने के लिए प्रतिबद्ध हैं, उनके कार्यों से उन्हें यह सीखना चाहिए कि दिव्य ज्ञान प्रदान करने के अतिरिक्त गृहस्थों से उनका कोई सरोकार नहीं है। गृहस्थ से भिक्षा माँगने का उद्देश्य उसके घर को पवित्र करना होना चाहिए। जिस मनुष्य ने संन्यास ग्रहण कर लिया है उन को चाहिए कि वह गृहस्थ की सांसारिक सम्पन्नता से आकर्षित होकर सांसारिक मनुष्यों का

गुलाम न बन जाय। जो मनुष्य संन्यास आश्रम ग्रहण कर चुकता है इस के लिए ऐसा करना विष-पान तथा आत्महत्या से भी अधिक घातक है।

अभिमन्युसुतं सूत प्राहुर्भागवतोत्तमम् ।
तस्य जन्म महाश्चर्यं कर्माणि च गृणीहि नः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अभिमन्यु-सुतम्—अभिमन्यु के पुत्र को; सूत—हे सूत; प्राहुः—कहा जाता है; भागवत-उत्तमम्—प्रथम श्रेणी का भगवद् भक्त; तस्य—उसका; जन्म—जन्म; महा-आश्चर्यम्—अत्यन्त आश्चर्यजनक; कर्माणि—कर्म; च—तथा; गृणीहि—कृपया कहें; नः—हमसे।.

कहा जाता है कि महाराज परीक्षित उच्च कोटि के भगवद्भक्त थे और उनके जन्म तथा कर्म अत्यन्त आश्चर्यजनक थे। कृपया उनके विषय में हमें बताएँ।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित का जन्म आश्चर्यजनक है, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ने उनकी रक्षा उनकी माता के गर्भ में की थी। उनके कार्यकलाप भी आश्चर्यजनक हैं, क्योंकि उन्होंने गाय का वध करने के लिए उद्यत कलि को प्रताड़ित किया। गाय का वध करने का अर्थ है, मानव सभ्यता का विनाश। वे पाप के उत्कट प्रतिनिधि से गाय की रक्षा करना चाहते थे। उनकी मृत्यु भी आश्चर्यजनक है, क्योंकि उन्हें मृत्यु की पूर्व-सूचना प्राप्त हो चुकी थी, जो किसी मर्त्य प्राणी के लिए आश्चर्यजनक है। इस तरह उन्होंने गंगा के तट पर आसीन होकर और भगवान् की दिव्य लीलाओं को सुनते हुए प्रयाण करने की तैयारी कर ली थी। जब तक वे *भागवत* का श्रवण करते रहे, उन्होंने न तो भोजन किया, न जल ग्रहण किया, न ही वे एक क्षण सोये। अत: उनकी सारी बातें आश्चर्यजनक हैं और उनके कार्यकलाप ध्यान से सुनने योग्य हैं। यहाँ पर उनके विषय में विस्तार से सुनने की इच्छा की गई है।

स सम्राट् कस्य वा हेतो: पाण्डूनां मानवर्धन: ।
प्रायोपविष्टो गङ्गायामनादृत्याधिराट्श्रियम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सः—वे; सम्राट्—महाराजा; कस्य—किस; वा—अथवा; हेतोः—कारण से; पाण्डूनाम्—पाण्डु के पुत्रों का; मान-वर्धनः—कुल को सम्पन्न करने वाला; प्राय-उपविष्टः—बैठे तथा उपवास करते; गङ्गायाम्—गंगा के तट पर; अनादृत्य—उपेक्षा करके; अधिराट्—प्राप्त किया राज्य; श्रियम्—ऐश्वर्य।

वे एक महान् सम्राट थे और उनके पास उपार्जित राज्य के सारे ऐश्वर्य थे। वे इतने वरेण्य थे कि उनसे पाण्डु वंश की प्रतिष्ठा बढ़ रही थी। तो फिर वे सब कुछ त्याग कर गंगा नदी के तट पर बैठकर क्यों आमरण उपवास करने लगे?

तात्पर्य : महाराज परीक्षित समस्त समुद्रों एवं महासागरों समेत पूरे संसार के चक्रवर्ती सम्राट थे। उन्हें इस राज्य को प्राप्त करने के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ा था। उन्हें वह अपने पितामह महाराज युधिष्ठिर तथा उनके भाइयों से उत्तराधिकार में मिला था। इसके साथ ही साथ, वे सुचारु रूप से शासन चला रहे थे, जो उनके पूर्वजों की प्रतिष्ठा के ही अनुरूप था। फलस्वरूप, उनके ऐश्वर्य तथा प्रशासन में कुछ भी अवाँछित नहीं था। तो फिर वे क्यों सारा राजपाट त्याग कर, गंगा के तट पर आमरण उपवास करने लगे? यह आश्चर्यजनक है, अतएव सभी इसका कारण जानने के लिए उत्सुक थे।

नमन्ति यत्पादनिकेतमात्मनः
शिवाय हानीय धनानि शत्रवः ।
कथं स वीरः श्रियमङ्ग दुस्त्यजां
युवैषतोत्स्रष्टुमहो सहासुभिः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

नमन्ति—झुकते हैं; यत्-पाद—जिनके पाँव के; निकेतम्—नीचे; आत्मनः—अपने; शिवाय—कल्याण के लिए; हानीय—लाकर; धनानि—सम्पत्ति; शत्रवः—शत्रुगण; कथम्—किस कारण से; सः—वह; वीरः—वीर; श्रियम्—ऐश्वर्य; अङ्ग—हे; दुस्त्यजाम्—जिसका छोड़ पाना दुष्कर है उसे; युवा—युवावस्था में; ऐषत—इच्छा की; उत्स्रष्टुम्—त्याग देने के लिए; अहो—अरे; सह—साथ; असुभिः—जीवन के।

वे इतने बड़े सम्राट थे कि उनके सारे शत्रु आकर अपनी भलाई के लिए उनके चरणों पर अपना शीश झुकाते थे और अपनी सारी सम्पत्ति अर्पित करते थे। वे तरुण और शक्तिशाली थे और उनके पास अलभ्य राजसी ऐश्वर्य था। तो फिर वे अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि अपना जीवन भी, क्यों त्यागना चाह रहे थे?

तात्पर्य : उनके जीवन में कुछ भी अवांछनीय नहीं था। वे नवयुवक थे और शक्ति एवं ऐश्वर्य के साथ जीवन का भोग कर सकते थे, अतएव सक्रिय जीवन से विराम लेने का कोई प्रश्न नहीं उठता था। उन्हें राज्य-कर वसूलने में कोई कठिनाई नहीं थी, क्योंकि वे इतने शक्तिशाली एवं वीर थे कि उनके शत्रु भी उनके चरणों में शीश झुकाते थे और अपने ही हित के लिए अपनी सारी सम्पत्ति भेंट कर जाते थे। महाराज परीक्षित पवित्र राजा थे। उन्होंने शत्रुओं को जीत लिया था, अतएव उनका राज्य वैभव-सम्पन्न था। उसमें प्रचुर अन्न, दूध तथा धातुएँ थीं और सारे पर्वत तथा नदियाँ क्षमताओं से भरपूर थी। फलतः भौतिक दृष्टि से सब कुछ सन्तोषप्रद था। अतएव इस असमय में अपना साम्राज्य एवं जीवन त्याग करने का कोई प्रश्न नहीं उठना चाहिए था। मुनिगण इसके विषय में सुनने के लिए आतुर थे।

शिवाय लोकस्य भवाय भूतये
य उत्तमश्लोकपरायणा जनाः ।
जीवन्ति नात्मार्थमसौ पराश्रयं
मुमोच निर्विद्य कुतः कलेवरम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

शिवाय—कल्याण हेतु; लोकस्य—समस्त जीवों के; भवाय—समुन्नति के लिए; भूतये—आर्थिक विकास के लिए; ये—जो है; उत्तम-श्लोक-परायणाः—भगवान् के कार्य के प्रति अनुरक्त; जनाः—लोग; जीवन्ति—जीते हैं; न—लेकिन नहीं; आत्म-अर्थम्—स्वार्थ; असौ—वह; पर-आश्रयम्—अन्यों के लिए शरण; मुमोच—त्याग दिया; निर्विद्य—समस्त प्रकार की आसक्ति से मुक्त होकर; कुतः—किस लिए; कलेवरम्—मर्त्य शरीर को।.

जो लोग भगवत्कार्य में अनुरक्त रहते हैं, वे दूसरों के कल्याण, उन्नति तथा सुख के लिए ही जीवित रहते हैं। वे किसी स्वार्थवश जीवित नहीं रहते। अतएव राजा (परीक्षित) ने समस्त सांसारिक वैभव की आसक्ति से मुक्त होते हुए भी, अपने उस मर्त्य शरीर को क्यों त्यागा जो दूसरों के लिए आश्रयतुल्य था ?

तात्पर्य : परीक्षित महाराज आदर्श राजा तथा गृहस्थ थे, क्योंकि वे भगवद्भक्त थे। भगवद्भक्त में स्वतः समस्त उत्तम गुण आ जाते हैं और महाराज इसके विशिष्ट उदाहरण थे। व्यक्तिगत रूप से, उन्हें अपने अधिकार में उपलब्ध सांसारिक ऐश्वर्य से कोई आसक्ति न थी।

लेकिन, चूँकि वे जनता की चतुर्दिक् भलाई के लिए राजा बने थे, अतएव वे जनता के कल्याणकार्यों में न केवल इस जीवन में, अपितु अगले जीवन में भी सदैव व्यस्त रहना चाहते थे। वे कसाईघरों की या गोवध की अनुमति नहीं देते थे। वे ऐसे मूर्ख तथा पक्षपाती प्रशासक न थे, जो एक जीव को तो सुरक्षा प्रदान करते और दूसरे का वध होने देते। चूँकि वे भगवद्भक्त थे, अतएव वे यह अच्छी तरह जानते थे कि मनुष्यों, पशुओं, पौधों तथा समस्त जीवित प्राणियों के सुख के लिए किस प्रकार प्रशासन चलाना चाहिए। वे अपने स्वार्थ में रुचि रखने वाले पुरुष न थे। स्वार्थ या तो आत्मकेन्द्रित होता है या आत्म-विस्तारित होता है। वे इन दोनों में से एक भी न थे। उनका स्वार्थ तो परम सत्य, परमेश्वर को प्रसन्न करने में था। राजा परमेश्वर का प्रतिनिधि होता हैं, अतएव राजा और परमेश्वर का उद्देश्य एक जैसा होना चाहिए। परमेश्वर चाहते हैं कि सारे जीव उनके आज्ञाकारी बनें और इस तरह से सुखी हों। अत: राजा का स्वार्थ इसी में है कि वह अपनी प्रजा का भगवान् के धाम वापस जाने में उनका मार्गदर्शन करे। अतएव प्रजा के कार्यकलापों को इस प्रकार समन्वित किया जाना चाहिए कि सारे लोग अन्त में भगवद्धाम वापस जा सकें। प्रतिनिधि राजा के शासन में सारा साम्राज्य ऐश्वर्य से परिपूर्ण रहता है। ऐसी दशा में मनुष्यों को पशुओं को खाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अन्न, दुग्ध, फल तथा तरकारियों की प्रचुरता रहती है जिससे मनुष्य तथा पशु जी भरकर खा-पी सकते हैं। यदि सारे जीव आहार तथा आश्रय पाकर सन्तुष्ट हों और नियत नियमों का पालन करें, तो जीव-जीव में परस्पर कोई उपद्रव न हो। महाराज परीक्षित योग्य राजा थे, अतएव उनके शासन में सभी लोग सुखी थे।

तत्सर्वं न: समाचक्ष्व पृष्टो यदिह किञ्चन ।
मन्ये त्वां विषये वाचां स्नातमन्यत्र छान्दसात् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; **सर्वम्**—सारा; **न:**—हमसे; **समाचक्ष्व**—स्पष्ट कहें; **पृष्ट:**—प्रश्न पूछा; **यत् इह**—यहाँ पर; **किञ्चन**—वह सब; **मन्ये**—हम सोचते हैं; **त्वाम्**—आपको; **विषये**—सारे विषयों में; **वाचाम्**—शब्दार्थ; **स्नातम्**—पूर्ण रूप से ज्ञात; **अन्यत्र**—छोड़कर; **छान्दसात्**—वेदों का अंश।

हम जानते हैं कि आप वेदों के कतिपय अंश को छोड़कर अन्य समस्त विषयों के अर्थ में पटु हैं, अतएव आप उन सारे प्रश्नों की स्पष्ट व्याख्या कर सकते हैं, जिन्हें हमने आपसे अभी पूछा है।

तात्पर्य : वेदों तथा पुराणों में वही अन्तर है जो ब्राह्मणों एवं परिव्राजकों में होता है। ब्राह्मण वेदों में वर्णित कुछ सकाम यज्ञों को सम्पन्न करने के लिए होते हैं, लेकिन परिव्राजकाचार्यों या विद्वान उपदेशकों का कार्य दिव्य ज्ञान को सबों तक पहुँचाना होता है। अतएव परिव्राजकाचार्य सदा वेद मन्त्रों के उच्चारण में पटु नहीं होते जिनका अभ्यास ब्राह्मणों द्वारा लययुक्त उच्चारण में नियमित रूप से किया जाता हैं, क्योंकि ब्राह्मण वैदिक अनुष्ठानों को सम्पन्न कराने के लिए होते हैं। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए कि भ्रमणशील उपदेशकों (परिव्राजकों) की अपेक्षा ब्राह्मण अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वे एकसाथ एक तथा भिन्न हैं, क्योंकि विभिन्न मार्गों के होते हुए भी उनका लक्ष्य एक है।

वैदिक मन्त्रों में एवं पुराणों तथा इतिहास में जो कुछ वर्णित है, उनमें भी कोई अन्तर नहीं है। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *माध्यन्दिन-श्रुति* में उल्लेख हुआ है कि सारे वेद अर्थात् साम, अथर्व, ऋग्, यजुर्, पुराण, इतिहास, उपनिषद् आदि परम पुरुष के श्वास से उद्भूत हैं। अन्तर इतना ही है कि सारे वैदिक मन्त्र प्रणव ॐकार से प्रारम्भ होते हैं और इन मन्त्रों का सस्वर पाठ करने के लिए कुछ अभ्यास करना पड़ता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि *श्रीमद्भागवत* वैदिक मन्त्रों की अपेक्षा कम महत्त्व का है। इसके विपरीत, यह समस्त वेदों का पक्व फल है, जैसाकि पहले कहा जा चुका है। इसके अतिरिक्त, परम मुक्त पुरुष श्रील शुकदेव गोस्वामी स्वरूपसिद्ध होते हुए भी, *भागवत* के अध्ययन में लीन रहते हैं। श्रील सूत गोस्वामी उन्हीं के चरण-चिह्नों का अनुगमन कर रहे हैं, अतएव उनका स्थान रंचमात्र भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, भले ही वे वैदिक मन्त्रों के सस्वर पाठ में उतने पटु न हों, जो वास्तविक अनुभूति की अपेक्षा अभ्यास पर अधिक निर्भर करता है। तोता-रटन्त की अपेक्षा अनुभूति अधिक महत्त्वपूर्ण है।

सूत उवाच
द्वापरे समनुप्राप्ते तृतीये युगपर्यये ।
जातः पराशराद्योगी वासव्यां कलया हरेः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; द्वापरे—द्वापर युग में; समनुप्राप्ते—आविर्भाव होने पर; तृतीये—तृतीय; युग—युग; पर्यये—के स्थान पर; जातः—प्रकट हुआ; पराशरात्—पराशर से; योगी—महान ऋषि; वासव्याम्—वसु की पुत्री के गर्भ में; कलया—पूर्ण अंश में; हरेः—भगवान् के।

सूत गोस्वामी ने कहा : जिस समय द्वापर युग का त्रेता युग से अतिव्यापन हो रहा था, तो वसु की पुत्री सत्यवती के गर्भ से पराशर द्वारा महान ऋषि (व्यासदेव) ने जन्म लिया।

तात्पर्य : सत्य, द्वापर, त्रेता तथा कलि चारों युगों अर्थातं का एक कालक्रम होता है। लेकिन, कभी-कभी इनमें अतिव्यापन हो जाता हैं। वैवस्वत मनु के राज्य काल में चतुर्युगों के अट्ठाइसवें चक्र का अतिव्यापन हुआ था और तृतीय युग द्वितीय युग के पहले ही पड़ गया था। ऐसे युग में भगवान् श्रीकृष्ण भी अवतरित होते हैं और इसीलिए कुछ विशेष परिवर्तन हुआ था। महर्षि की माता सत्यवती, वसु (मछुवारे) की पुत्री थी और उनके पिता महामुनि पराशर थे। व्यासदेव के जन्म का यही इतिहास है। प्रत्येक युग तीन कालों में विभाजित होता है और हर काल *संध्या* कहलाता है। व्यासदेव उस युग की तृतीय *संध्या* में प्रकट हुए थे।

स कदाचित्सरस्वत्या उपस्पृश्य जलं शुचिः ।
विविक्त एक आसीन उदिते रविमण्डले ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

सः—वे; कदाचित्—एक बार; सरस्वत्याः—सरस्वती नदी के तट पर; उपस्पृश्य—प्रातःकालीन आचमन से निवृत्त होकर; जलम्—जल से; शुचिः—पवित्र होकर; विविक्ते—एकाग्रता; एकः—अकेले; आसीनः—इस प्रकार बैठे हुए; उदिते—उदय होने वाले; रवि-मण्डले—सूर्य के गोले का।

एक बार सूर्योदय होते ही उन्होंने (व्यासदेव ने) सरस्वती के जल से प्रातःकालीन आचमन किया और मन एकाग्र करने के लिए वे एकान्त में बैठ गये।

तात्पर्य : सरस्वती नदी हिमालय पर्वत के बदरिकाश्रम क्षेत्र में बहती है। अतएव यहाँ पर जिस स्थान को इंगित किया गया है, वह बदरिकाश्रम में 'शम्याप्रास' है, जहाँ श्री व्यासदेव रह रहे हैं।

परावरज्ञः स ऋषिः कालेनाव्यक्तरंहसा ।
युगधर्मव्यतिकरं प्राप्तं भुवि युगे युगे ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

पर-अवर—भूत तथा भविष्य का; ज्ञः—जानने वाला; सः—वह; ऋषिः—व्यासदेव; कालेन—समय पाकर; अव्यक्त—अप्रकट; रंहसा—महान शक्ति से; युग-धर्म—युग के अनुरूप कार्य; व्यतिकरम्—विसंगतियाँ, दोष; प्राप्तम्—प्राप्त होने पर; भुवि—पृथ्वी पर; युगे युगे—विभिन्न युगों में।.

महर्षि व्यासदेव ने युग के कर्तव्यों में विरोधाभास देखा। कालक्रम में पृथ्वी पर अदृश्य शक्तियों के कारण विभिन्न युगों में ऐसा होता रहता है।

तात्पर्य : व्यासदेव-जैसे ऋषि मुक्त आत्मा होते हैं, अतएव वे भूत तथा भविष्य को स्पष्ट देख सकते हैं। अतएव वे कलियुग में आने वालो की विसंगतियों को देख सके और तदनुसार उन्होंने जनसामान्य के लिए ऐसा प्रबन्ध किया, जिससे वे इस अन्धकारमय युग में प्रगतिशील जीवन का अनुगमन कर सकें। इस कलियुग के सामान्य लोग नाशवान पदार्थ के प्रति अधिक रुचि दिखाते हैं। अज्ञानता के कारण वे जीवन-निधि का मूल्य नहीं समझ पाते और आध्यात्मिक ज्ञान से आलोकित नहीं हो सकते।

भौतिकानां च भावानां शक्तिह्रासं च तत्कृतम् ।
अश्रद्दधानान्निःसत्त्वान्दुर्मेधान् ह्रसितायुषः ॥ १७ ॥
दुर्भगांश्च जनान् वीक्ष्य मुनिर्दिव्येन चक्षुषा ।
सर्ववर्णाश्रमाणां यद्दध्यौ हितममोघदृक् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

भौतिकानाम् च—पदार्थ से निर्मित प्रत्येक वस्तु का भी; भावानाम्—कर्म; शक्ति-ह्रासम् च—तथा प्राकृतिक शक्ति का क्षय; तत्-कृतम्—उसके द्वारा किया गया; अश्रद्दधानान्—श्रद्धाविहीन का; निःसत्त्वान्—सतोगुण के अभाव के कारण अधीर; दुर्मेधान्—दुर्बुद्धि वाला; ह्रसित—घटा हुआ; आयुषः—जीवन अवधि का; दुर्भगान् च—तथा अभागे; जनान्—जन सामान्य को; वीक्ष्य—देखकर; मुनिः—मुनि; दिव्येन—दिव्य; चक्षुषा—दृष्टि से; सर्व—समस्त; वर्ण-

आश्रमाणाम्—जीवन के समस्त स्तरों तथा आश्रमों का; यत्—जो; दध्यौ—विचार किया; हितम्—कल्याण; अमोघ-दृक्—पूर्ण ज्ञान से युक्त।

परम ज्ञानी ऋषि, अपनी दिव्य दृष्टि से, युग के प्रभाव से प्रत्येक भौतिक वस्तु की अवनति को देख सकते थे। वे यह भी देख सकते थे कि श्रद्धाविहीन व्यक्तियों की आयु क्षीण होगी और वे सच्चगुण के अभाव के कारण अधीर रहेंगे। इस प्रकार उन्होंने समस्त वर्णों तथा आश्रमों के लोगों के कल्याण पर विचार किया।

तात्पर्य : काल की अप्रकट शक्तियाँ इतनी प्रबल होती हैं कि वे सारे पदार्थ को समय आने पर विस्मृति के गर्भ में डाल देती हैं। चतुर्युग चक्र के अन्तिम युग कलियुग में समय के प्रभाव से सारी भौतिक वस्तुओं की शक्ति का क्षय हो जाता है। इस युग में जनसामान्य की आयु काफी घट जाती है और उसी प्रकार से स्मरण शक्ति भी। पदार्थ की क्रिया की भी उतनी प्रेरणा नहीं रह पाती। धरती भी बीते युगों की भाँति उसी परिमाण में अन्न उत्पन्न नहीं कर पाती। गाएँ भी पूर्व युगों की भाँति दूध नहीं देतीं। शाकों तथा फलों का भी उत्पादन पहले से कम हो जाता है। इस प्रकार सारे जीव, चाहे मनुष्य हों या पशु, प्रचुर मात्रा में पौष्टिक भोजन नहीं पाते। जीवन की अनेकानेक आवश्यकताओं की चाहत के कारण स्वाभाविक रूप से आयु घट जाती है, स्मरण शक्ति कम हो जाती है, बुद्धि अल्प हो जाती है और पारस्परिक व्यवहार में दिखावा आ जाता है।

महर्षि व्यासदेव अपनी दिव्य दृष्टि से इसे देख सके। जिस प्रकार कोई ज्योतिषी मनुष्य के भाग्य को देख सकता है या ज्योतिर्विद चन्द्र तथा सूर्य ग्रहणों की भविष्यवाणी कर सकता है, उसी प्रकार शास्त्रों के भीतर झाँक सकने वाले मुक्तात्मा सारी मानवता का भविष्य पहले से बता सकते हैं। वे अपनी आध्यात्मिक पैनी दृष्टि से यह सब देख सकते हैं।

इस प्रकार से ऐसे सारे अध्यात्मवादी, जो स्वभाविक रूप से भगवद्भक्त होते हैं, जनसामान्य का कल्याण करने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं। जनता के वास्तविक मित्र वे हैं, तथाकथित जन-नेता नहीं, जो यह भी नहीं जानते कि अगले पाँच मिनटों में क्या होने वाला है। इस युग में जनता तथा उनके तथाकथित नेता सभी अभागे व्यक्ति हैं, जिनकी अध्यात्म ज्ञान में कोई श्रद्धा नहीं होती और वे कलियुग द्वारा प्रभावित रहते हैं। वे नाना रोगों से व्याकुल होते रहते हैं। उदाहरणार्थ,

आधुनिक युग में क्षय के रोगी हैं और क्षय रोग के अस्पताल भी अनेक हैं, लेकिन पूर्व काल में ऐसा नहीं था, क्योंकि समय इतना प्रतिकूल नहीं था। इस युग के अभागे लोग उन योगियों का स्वागत करते हुए कतराते हैं, जो श्रील व्यासदेव के प्रतिनिधि तथा निःस्वार्थ कार्यकर्ता हैं, जो कुछ न कुछ योजना बनाने में लगे रहते हैं जिससे सभी वर्णों तथा आश्रमों के लोगों का लाभ हो सके। सबसे बड़े मानवतावादी तो वे योगी हैं जो व्यास, नारद, मध्व, चैतन्य, रूप, सरस्वती आदि के संदेश का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे सब एक ही हैं। भले ही व्यक्ति भिन्न-भिन्न हों, लेकिन उनका उद्देश्य एक ही है कि पतितात्माओं को भगवद्धाम वापस भेज कर उनका उद्धार करना।

चातुर्होत्रं कर्म शुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम् ।
व्यदधाद्यज्ञसन्तत्यै वेदमेकं चतुर्विधम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

चातुः—चार; होत्रम्—यज्ञ की अग्नियाँ; कर्म शुद्धम्—कर्म की शुद्धि; प्रजानाम्—प्रजा का; वीक्ष्य—देखकर; वैदिकम्—वैदिक अनुष्ठानों के अनुसार; व्यदधात्—बनाया; यज्ञ—यज्ञ; सन्तत्यै—विस्तार के लिए; वेदम् एकम्—केवल एक वेद को; चतुः-विधम्—चार विभागों में।

उन्होंने देखा कि वेदों में वर्णित यज्ञ वे साधन हैं, जिनसे लोगों की वृत्तियों को शुद्ध बनाया जा सकता है। अतः इस विधि को सरल बनाने के लिए ही उन्होंने एक ही वेद के चार भाग कर दिये, जिससे वे लोगों के बीच फैल सकें।

तात्पर्य : पहले *यजुर्वेद* नामक एक ही वेद था और उसी में यज्ञ के चार विभागों का विशेष उल्लेख था। लेकिन उन्हें अधिक सरल बनाने के उद्देश्य से वेद को यज्ञ के चार विभागों में बाँट दिया गया, जिससे चारों आश्रमों का वृत्तिपरक धर्म शुद्ध हो सके। *ऋग्, यजुर्, साम* तथा *अथर्व,* इन चार वेदों के अलावा *पुराण, महाभारत, संहिताएँ* आदि पाँचवा वेद कहलाती हैं। श्री वेदव्यास तथा उनके अनेक शिष्य इतिहास प्रवृत्त व्यक्ति थे और वे सब इस कलि की पतितात्माओं के प्रति अत्यन्त दयालु थे। फलस्वरूप, सम्बद्ध ऐतिहासिक तथ्यों से *पुराण* तथा *महाभारत* तैयार किये गये, जिनमें चारों वेदों की शिक्षा दी गई है। पुराणों तथा *महाभारत* को वेदों का अभिन्न अंग मानने में कोई शंका नहीं होनी चाहिए। *छान्दोग्य* उपनिषद् (७.१.४)में पुराणों तथा *महाभारत* को, जिन्हें

सामान्य रूप से इतिहास माना जाता है, *पंचम वेद* कहा गया है। श्रील जीव गोस्वामी के मतानुसार शास्त्रों की अपनी-अपनी महत्ता आँकने की यही विधि है।

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः ।
इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

ऋग्-यजुः-साम-अथर्व-आख्याः—चार वेदों के नाम; वेदाः—वेद; चत्वारः—चार; उद्धृताः—पृथक्-पृथक् अंगों में बँटा; इतिहास—ऐतिहासिक प्रलेख (महाभारत); पुराणम् च—तथा सारे पुराण; पञ्चमः—पाँचवा; वेदः—ज्ञान का मूल स्रोत; उच्यते—कहा जाता है।

मूल ज्ञान के स्रोतों (वेदों) के चार पृथक् विभाग किये गये। लेकिन पुराणों में वर्णित ऐतिहासिक तथ्य तथा प्रामाणिक कथाएँ पंचम वेद कहलाती हैं।

तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः ।
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; ऋग्-वेद-धरः—ऋग्वेद के आचार्य; पैलः—पैल नामक ऋषि; साम-गः—सामवेद का; जैमिनिः—जैमिनि नामक ऋषि; कविः—अत्यन्त योग्य; वैशम्पायनः—वैशम्पायन नामक ऋषि; एव—ही; एकः—अकेले; निष्णातः—पटु; यजुषाम्—यजुर्वेद के; उत—यशस्वी।

वेदों के चार खण्डों में विभाजित हो जाने के बाद, पैल ऋषि ऋग्वेद के आचार्य बने और जैमिनि साम वेद के। यजुर्वेद के कारण एकमात्र वैशम्पायन यशस्वी हुए।

तात्पर्य : विभिन्न वेदों को उनके बहुविध विकास के लिए विद्वान व्यक्तियों को सौंप दिया गया।

अथर्वाङ्गिरसामासीत्सुमन्तुर्दारुणो मुनिः ।
इतिहासपुराणानां पिता मे रोमहर्षणः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अथर्व—अथर्ववेद; अङ्गिरसाम्—अंगिरा ऋषि को; आसीत्—सौंपा गया; सुमन्तुः—सुमन्तुमुनि नाम से ज्ञात; दारुणः—अथर्ववेद में गम्भीरता से संलग्न; मुनिः—मुनि; इतिहास-पुराणानाम्—ऐतिहासिक प्रलेखों तथा पुराणों; पिता—पिता; मे—मेरा; रोमहर्षणः—ऋषि रोमहर्षण।

अत्यन्त अनुरक्त रहने वाले सुमन्तु मुनि अंगिरा को अथर्ववेद सौंपा गया और मेरे पिता रोमहर्षण को पुराण तथा इतिहास सौंपे गये।

तात्पर्य : *श्रुति मंत्रों* में भी कहा गया है कि अथर्ववेद के दृढ़ नियमों का कड़ाई से पालन करने वाले अंगिरा मुनि, अथर्ववेद के अनुयायियों के अग्रणी थे।

त एत ऋषयो वेदं स्वं स्वं व्यस्यन्ननेकधा ।
शिष्यैः प्रशिष्यैस्तच्छिष्यैर्वेदास्ते शाखिनोऽभवन् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; एते—ये सब; ऋषयः—विद्वान; वेदम्—विभिन्न वेदों को; स्वम् स्वम्—अपने अपने विषयों के; व्यस्यन्—प्रस्तुत किया; अनेकधा—अनेक; शिष्यैः—शिष्य; प्रशिष्यैः—शिष्यों के शिष्य; तत्-शिष्यैः—उनके भी शिष्यों द्वारा; वेदाः ते—उन वेदों के अनुयायी; शाखिनः—विभिन्न शाखाएँ; अभवन्—इस प्रकार बनीं।

इन सब विद्वानों ने अपनी पारी में, उन्हें सौंपे गये वेदों को अपने अनेक शिष्यों, प्रशिष्यों तथा उनके भी शिष्यों को प्रदान किया और इस प्रकार वेदों के अनुयायियों की अपनी-अपनी शाखाएँ बनीं।

तात्पर्य : ज्ञान के मूल स्रोत वेद हैं। संसारी या दिव्य ज्ञान की कोई ऐसी शाखा नहीं है, जो वेदों के मूल भाष्य से सम्बद्ध न हो। उन्हें केवल विभिन्न शाखाओं के रूप में विकसित कर लिया गया है। मूलतः वे महान, सम्माननीय एवं विद्वान आचार्यों द्वारा बनायी गईं। दूसरे शब्दों में, वैदिक ज्ञान विभिन्न शिष्य-परम्पराओं द्वारा, भिन्न-भिन्न शाखाओं में विभाजित होकर, सारे विश्व में वितरित किया गया। अतः वेदों के परे स्वतन्त्र ज्ञान का दावा कोई नहीं कर सकता।

त एव वेदा दुर्मेधैर्धार्यन्ते पुरुषैर्यथा ।
एवं चकार भगवान् व्यासः कृपणवत्सलः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; एव—निश्चय ही; वेदाः—ज्ञान के ग्रंथ; दुर्मेधैः—अल्पज्ञों द्वारा; धार्यन्ते—धारण किये जाते हैं; पुरुषैः—मनुष्य द्वारा; यथा—जिस तरह; एवम्—इस प्रकार; चकार—संकलित किया; भगवान्—शक्तिशाली; व्यासः—व्यास मुनि ने; कृपण-वत्सलः—अज्ञानी जनता के प्रति दयालु।

इस प्रकार, अज्ञानी जनसमूह पर अत्यन्त कृपालु ऋषि व्यासदेव ने वेदों का संकलन किया, जिससे कम ज्ञानी पुरुष भी उनको आत्मसात् कर सकें।

तात्पर्य : वेद एक है। यहाँ पर अनेक शाखाओं में इसके विभाजन के कारणों की व्याख्या की गई है। समस्त ज्ञान का बीज वेद, ऐसा विषय नहीं हैं, जिसे कोई सामान्य व्यक्ति आसानी से समझ सके। ऐसा प्रतिबन्ध है कि जो सुपात्र ब्राह्मण नहीं है, उसे वेद नहीं सीखना चाहिए। इस प्रतिबन्ध की कई प्रकार से गलत व्याख्याएँ की गई हैं। मनुष्यों का एक वर्ग, ब्राह्मण कुल में जन्म लेने के कारण ही, ब्राह्मण योग्यता का दावा करता है; वह वेदों के अध्ययन को ब्राह्मण जाति का एकाधिपत्य मानता है। लोगों का दूसरा वर्ग इसे उन जाति वालों पर अन्याय बताता है, जो ब्राह्मण कुल में जन्म नहीं ले पाते। लेकिन ये दोनों ही दिग्भ्रमित हैं। वेदों का विषय ऐसा है, जिसकी व्याख्या स्वयं भगवान् ने ब्रह्मा के लिए की थी। अतएव विलक्षण सतोगुणी व्यक्ति ही इस विषय को समझ सकते हैं। रजोगुणी तथा तमोगुणी लोग वेद विषय को नहीं समझ पाते। वैदिक ज्ञान का चरम उद्देश्य भगवान् श्रीकृष्ण हैं। जो लोग रजो तथा तमोगुणी हैं, वे भगवान् को बहुत कम समझ पाते हैं। सत्ययुग में प्रत्येक व्यक्ति सतोगुणी होता था। धीरे-धीरे त्रेता तथा द्वापर युगों में सतोगुण का ह्रास होता गया और जनता भ्रष्ट होती गई। आधुनिक युग में सतोगुण प्राय: शून्य है, अतएव जनता के हित के लिए परम दयालु सम्पन्न ऋषि श्रील व्यासदेव ने वेदों को अनेक प्रकार से विभक्त कर दिया, जिससे वे रजोगुण तथा तमोगुण वाले अल्पज्ञों द्वारा भी समझे जा सकें। इसकी व्याख्या अगले श्लोक में की गई है।

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह ।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

स्त्री—स्त्री वर्ग; शूद्र—श्रमिक वर्ग; द्विज-बन्धूनाम्—द्विजों के मित्रों का; त्रयी—तीन; न—नहीं; श्रुति-गोचरा—समझने के लिए; कर्म—कर्म में; श्रेयसि—कल्याण में; मूढानाम्—मूर्खों का; श्रेय:—परम लाभ; एवम्—इस प्रकार; भवेत्—प्राप्त किया; इह—इससे; इति—इस प्रकार सोचकर; भारतम्—महाभारत; आख्यानम्—ऐतिहासिक तथ्य; कृपया—महत अनुकम्पावश; मुनिना—मुनि द्वारा; कृतम्—पूरा हुआ है।

महर्षि ने अनुकम्पावश हितकर समझा कि यह मनुष्यों को जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करने में यह सहायक होगा। इस प्रकार उन्होंने स्त्रियों, शूद्रों तथा द्विज-बन्धुओं के लिए महाभारत नामक महान ऐतिहासिक कथा का संकलन किया।

तात्पर्य : द्विज-बन्धु वे हैं जो ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों या आध्यात्मिक कुलों में जन्म तो लेते हैं, किन्तु अपने पूर्वजों के तुल्य नहीं होते। ऐसे वंशज संस्कारों के अभाव में मान्य नहीं बन पाते। ऐसे संस्कार बालक के जन्म लेने के पहले से ही प्रारम्भ हो जाते हैं और बीजारोपण पहला *गर्भाधान-संस्कार* कहलाता है। जो व्यक्ति *गर्भाधान-संस्कार* अर्थात् आध्यात्मिक परिवार नियोजन की इस प्रक्रिया से नहीं गुजरता, उसे द्विज कुल में जन्मा नहीं माना जाता है। *गर्भाधान-संस्कार* के बाद अन्य कई संस्कार होते हैं, जिनमें उपनयन संस्कार एक है। यह आध्यात्मिक दीक्षा के समय सम्पन्न होता है। इस विशेष संस्कार के बाद ही कोई द्विज कहलाता है। एक जन्म *गर्भाधान-संस्कार* के समय गिना जाता है और दूसरा, आध्यात्मिक दीक्षा के समय। जो इन महत्त्वपूर्ण संस्कारों से गुजरता है, उसे प्रामाणिक द्विज कहा जा सकता है।

यदि माता तथा पिता आध्यात्मिक परिवार नियोजन अर्थात् *गर्भाधान-संस्कार* का पालन किये बिना केवल वासना-वश सन्तानें उत्पन्न करते हैं, तो ये सन्तानें *द्विज-बन्धु* कहलाती हैं। निश्चित रूप से, ये द्विज-बन्धु नियमित द्विजों के बालकों के समान बुद्धिमान नहीं होते। ऐसे द्विज-बन्धुओं की गणना शूद्रों एवं स्त्रियों के साथ की जाती है, जो स्वभाव से अल्पज्ञ होते हैं। शूद्रों तथा स्त्रियों को विवाह संस्कार के अतिरिक्त कोई अन्य संस्कार नहीं करना होता।

अल्पज्ञ श्रेणी के व्यक्ति, यथा स्त्रियाँ, शूद्र तथा उच्च वर्णों के अयोग्य पुत्र, आवश्यक योग्यताओं से विहीन होते हैं जिससे वे दिव्य वेदों के उद्देश्य को नहीं समझ पाते। ऐसे लोगों के लिए *महाभारत* लिखा गया है। *महाभारत* का उद्देश्य वेदों के उद्देश्य की पूर्ति है, अतः इस *महाभारत* में *वेद* का सार *भगवद्गीता* सन्निविष्ट है। अल्पज्ञ लोग दर्शन की अपेक्षा कथाओं में अधिक रुचि दिखाते हैं, अतएव वेदों के दर्शन का प्रवचन, भगवान् कृष्ण द्वारा *भगवद्गीता* के रूप में किया गया। व्यासदेव तथा भगवान् कृष्ण दोनों ही दिव्य पद पर हैं, अतएव उन्होंने इस

युग के पतितात्माओं के कल्याण के लिए सहयोग किया। *भगवद्गीता* समस्त वैदिक ज्ञान का सार है। यह आध्यात्मिक मूल्यों का वैसा ही प्रथम ग्रंथ है, जिस प्रकार *उपनिषदे* हैं। वेदान्त दर्शन तो अध्यात्म के स्नातकों के अध्ययन करने का विषय है। केवल स्नाकोत्तर छात्र ही आध्यात्मिक या भगवद्भक्ति में प्रवेश पा सकते हैं। यह एक महान विज्ञान है और इसके परमाचार्य श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में स्वयं भगवान् हैं। जो लोग उनके द्वारा शक्ति-प्रदत्त हैं, वे ही दिव्य भगवद्भक्ति में अन्यों को दीक्षित कर सकते हैं।

एवं प्रवृत्तस्य सदा भूतानां श्रेयसि द्विजाः ।
सर्वात्मकेनापि यदा नातुष्यद्धृदयं ततः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; प्रवृत्तस्य—संलग्न रहने वाले का; सदा—सदैव; भूतानाम्—जीवों का; श्रेयसि—कल्याण में; द्विजाः—हे द्विजो; सर्वात्मकेन अपि—सभी प्रकार से; यदा—जब; न—नहीं; अतुष्यत्—तुष्ट हो गया; हृदयम्—मन; ततः—उस समय।

हे द्विज ब्राह्मणो, यद्यपि वे समस्त लोगों के समग्र कल्याण कार्य में लगे रहे, तो भी उनका मन भरा नहीं।

तात्पर्य : श्री व्यासदेव अपने आप से सन्तुष्ट नहीं थे, यद्यपि उन्होंने जनसामान्य के चतुर्दिक् कल्याण के लिए वैदिक साहित्य तैयार किया था। ऐसी आशा थी कि वे ऐसे कार्यों से संतुष्ट होंगे, लेकिन अन्ततः वे संतुष्ट नहीं हुए।

नातिप्रसीदद्धृदयः सरस्वत्यास्तटे शुचौ ।
वितर्कयन् विविक्तस्थ इदं चोवाच धर्मवित् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अतिप्रसीदत्—अत्यधिक तुष्ट; हृदयः—हृदय में; सरस्वत्याः—सरस्वती नदी के; तटे—किनारे; शुचौ—पवित्र; वितर्कयन्—विचार करके; विविक्त-स्थः—एकान्त में स्थित; इदम् च—यह भी; उवाच—कहा; धर्म-वित्—धर्म का ज्ञाता।

इस प्रकार मन में असंतुष्ट रहते हुए ऋषि ने तुरन्त विचार करना प्रारम्भ कर दिया, क्योंकि वे धर्म के सार के ज्ञाता और मन ही मन कहा :

तात्पर्य : ऋषि अपने मन के असन्तोष का कारण ढूँढने लगे। सिद्धि तब तक नहीं मिल पाती, जब तक कोई हृदय से संतुष्ट न हो। हृदय की तुष्टि को पदार्थ से परे ढूँढना होता है।

धृतव्रतेन हि मया छन्दांसि गुरवोऽग्नयः ।
मानिता निर्व्यलीकेन गृहीतं चानुशासनम् ॥ २८ ॥
भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च प्रदर्शितः ।
दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

धृत-व्रतेन—कठिन व्रत करते हुए; हि—निश्चय ही; मया—मेरे द्वारा; छन्दांसि—वैदिक मन्त्र; गुरवः—गुरुजन; अग्नयः—यज्ञ की अग्नि; मानिताः—भलीभाँति पूजित; निर्व्यलीकेन—किसी छद्म से रहित; गृहीतम् च—तथा स्वीकृत; अनुशासनम्—पारम्परिक अनुशासन; भारत—महाभारत के; व्यपदेशेन—संकलन से; हि—निश्चय ही; आम्नाय-अर्थः—शिष्य-परम्परा की अभिव्यक्ति; च—तथा; प्रदर्शितः—ठीक प्रकार से कहा गया; दृश्यते—जो आवश्यक है, उस से; यत्र—जहाँ; धर्म-आदिः—धर्म का मार्ग; स्त्री-शूद्र-आदिभिः अपि—यहाँ तक कि स्त्रियों, शूद्रों आदि के द्वारा.; उत—कहा गया।

मैंने कठिन व्रतों का पालन करते हुए वेदों की, गुरु की तथा यज्ञ वेदी की मिथ्याडम्बर के बिना पूजा की है। मैंने अनुशासन का भी पालन किया है और महाभारत की व्याख्या के माध्यम से शिष्य-परम्परा को अभिव्यक्ति दी है, जिससे स्त्रियाँ, शूद्र तथा अन्य (द्विजबन्धु) लोग भी धर्म के मार्ग का अवलोकन कर सकते हैं।

तात्पर्य : कठोर अनुशासनिक व्रत तथा शिष्य-परम्परा का पालन किए बिना, कोई भी वेदों के अर्थ को नहीं समझ सकता। अभिलाषी व्यक्ति को चाहिए कि वेदों, गुरुओं तथा याज्ञिक अग्नि की पूजा करे। वैदिक ज्ञान की इन समस्त बारीकियों को, क्रमबद्ध रूप में *महाभारत* में प्रस्तुत किया गया है ताकि स्त्री वर्ग, श्रमिक वर्ग तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य कुलों के अयोग्य व्यक्ति उन्हें समझ सकें। इस युग में मूल वेदों की अपेक्षा *महाभारत* अधिक आवश्यक है।

तथापि बत मे दैह्यो ह्यात्मा चैवात्मना विभुः ।
असम्पन्न इवाभाति ब्रह्मवर्चस्य सत्तमः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तथापि—यद्यपि; बत—दोष; मे—मेरा; दैह्यः—शरीर में स्थित; हि—निश्चय ही; आत्मा—जीव; च—तथा; एव—भी; आत्मना—अपने से; विभुः—पर्याप्त; असम्पन्नः—विहीन; इव आभाति—प्रतीत होता है; ब्रह्म-वर्चस्य—वेदान्तियों का; सत्तमः—परम।

वेदों के लिए जितनी बातों की आवश्यकता है, यद्यपि मैं उनसे पूर्णरूप से सज्जित हूँ, तथापि मैं अपूर्णता का अनुभव कर रहा हूँ।

तात्पर्य : निस्सन्देह, श्रील व्यासदेव वैदिक उपलब्धियों से परिपूर्ण थे। पदार्थ (जड़ता) में डूबे हुए जीव की शुद्धि वेद-वर्णित कृत्यों से ही सम्भव है, लेकिन चरम उपलब्धि तो भिन्न है। इसे प्राप्त किये बिना, जीव चाहे पूर्णरूप से सज्जित क्यों न हो, दिव्य स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसा लगता है कि श्रील व्यासदेव ने संकेत खो दिया था, जिसके कारण वे असन्तुष्ट थे।

किं वा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिताः ।
प्रियाः परमहंसानां त एव ह्यच्युतप्रियाः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

किम् वा—अथवा; भागवताः धर्माः—जीवों के भक्ति-कार्य; न—नहीं; प्रायेण—प्रायः; निरूपिताः—संकेत किया; प्रियाः—प्रिय; परमहंसानाम्—सिद्ध पुरुषों का; ते एव—वे भी; हि—निश्चय ही; अच्युत—अचूक; प्रियाः—आकर्षक।

हो सकता है कि मैंने भगवान् की भक्ति का विशेष रूप से कोई संकेत न किया हो, जो सिद्ध जीवों तथा अच्युत भगवान् दोनों को प्रिय है।

तात्पर्य : श्रील व्यासदेव जिस असंतोष का अनुभव कर रहे थे, वह यहाँ पर उन्हीं के शब्दों में व्यक्त हुआ है। यह असन्तोष भगवान् की भक्ति में जीव की सामान्य दशा में अनुभव किया गया था। जब तक कोई सेवा की सामान्य दशा में स्थित नहीं होता, तब तक न तो भगवान् और न ही जीव पूरी तरह संतुष्ट हो सकते हैं। उन्हें इस दोष का अनुभव तब हुआ, जब उनके गुरु नारद मुनि उनके पास आये। इसका वर्णन इस प्रकार हुआ है।

तस्यैवं खिलमात्मानं मन्यमानस्य खिद्यतः ।
कृष्णस्य नारदोऽभ्यागादाश्रमं प्रागुदाहृतम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; एवम्—इस प्रकार; खिलम्—अपरा; आत्मानम्—आत्मा; मन्यमानस्य—मन के भीतर सोचते हुए; खिद्यतः—पश्चात्ताप करते; कृष्णस्य—कृष्ण द्वैपायन व्यास का; नारदः अभ्यागात्—नारद का आगमन हुआ; आश्रमम्—कुटिया में; प्राक्—पहले; उदाहृतम्—कहा गया।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जब व्यासदेव अपने दोषों के विषय में पश्चात्ताप कर रहे थे, उसी समय सरस्वती नदी के तट पर स्थित कृष्णद्वैपायन व्यास की कुटिया में नारद जी पधारे।

तात्पर्य : व्यासदेव जिस रिक्तता का अनुभव कर रहे थे, वह उनके ज्ञान के अभाव के कारण न थी। *भागवत-धर्म* विशुद्ध भगवद् भक्ति है, जहाँ तक अद्वैतवादी की पहुँच नहीं होती। अद्वैतवादी की गणना *परमहंसों* में नहीं की जाती, जो संन्यास आश्रम में सर्वोच्च होते हैं। *श्रीमद्भागवत* भगवान् की दिव्य लीलाओं की कथाओं से पूर्ण है। यद्यपि व्यासदेव शक्त्यावेश दिव्य पुरुष थे, तो भी वे असन्तुष्ट थे, क्योंकि उनके किसी भी ग्रंथ में भगवान् की दिव्य लीलाओं का ठीक से वर्णन नहीं था। इसकी प्रेरणा श्रीकृष्ण ने सीधे व्यासदेव के हृदय में उत्पन्न की, अतएव उन्हें रिक्तता का अनुभव हुआ जैसाकि ऊपर कहा गया है। यहाँ यह निश्चित रूप से बताया गया है कि भगवान् की प्रेमाभक्ति के बिना सब कुछ शून्य है, लेकिन भगवान् की भक्तिमय सेवा में सकाम कर्म या शुष्क चिन्तन का अलग से प्रयास किए बिना ही सब कुछ सम्भव है।

तमभिज्ञाय सहसा प्रत्युत्थायागतं मुनिः ।
पूजयामास विधिवन्नारदं सुरपूजितम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तम् अभिज्ञाय—उनके (नारद के) शुभ आगमन को देखकर; सहसा—एकाएक; प्रत्युत्थाय—उठकर; आगतम्—आये हुए; मुनिः—व्यासदेव ने; पूजयाम् आस—पूजा; विधि-वत्—विधि (ब्रह्मा) को प्रदान किये जाने वाले सम्मान के साथ; नारदम्—नारद को; सुर-पूजितम्—देवताओं द्वारा पूजित।

श्री नारद के शुभागमन पर श्री व्यासदेव सम्मानपूर्वक उठकर खड़े हो गये और उन्होंने सृष्टा ब्रह्मा जी के समान उनकी पूजा की।

तात्पर्य : *विधि* का अर्थ है प्रथम सृजित जीव ब्रह्मा। वे वेदों के मूल जिज्ञासु तथा आचार्य भी हैं। उन्होंने सर्वप्रथम श्रीकृष्ण से वेदों को सीखा और सबसे पहले नारद जी को पढ़ाया।

अतएव आध्यात्मिक शिष्य-परम्परा में नारद जी द्वितीय आचार्य हैं। वे ब्रह्मा के प्रतिनिधि हैं, अतएव उनका सम्मान समस्त विधियों (नियमों) के पिता ब्रह्मा के समान किया जाता है। इसी प्रकार शृंखला के अन्य क्रमागत शिष्यों का भी सम्मान आदि गुरु के प्रतिनिधियों के समान ही किया जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत 'श्री नारद का प्राकट्य' नामक चतुर्थ अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पाँच

नारद द्वारा व्यासदेव को श्रीमद्भागवत के विषय में आदेश

सूत उवाच
अथ तं सुखमासीन उपासीनं बृहच्छ्रवाः ।
देवर्षिः प्राह विप्रर्षिं वीणापाणिः स्मयन्निव ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूतजी ने कहा; अथ—अतएव; तम्—उसको; सुखम् आसीनः—सुखपूर्वक बैठे हुए; उपासीनम्—पास बैठे हुए को; बृहत्-श्रवाः—अत्यन्त सम्मानित; देवर्षिः—देवताओं के परम ऋषि ने; प्राह—कहा; विप्रर्षिम्—ब्राह्मणों के ऋषि (ब्रह्मर्षि) से; वीणा-पाणिः—हाथ में वीणा लिए; स्मयन् इव—मानो हँसते हुए।

सूत गोस्वामी ने कहा : इस तरह देवर्षि (नारद) सुखपूर्वक बैठ गये और मानो मुस्कराते हुए ब्रह्मर्षि (व्यासदेव) को सम्बोधित किया।

तात्पर्य : नारद मुस्करा रहे थे, क्योंकि वे महर्षि वेदव्यास को तथा उनके असन्तोष के कारण को भलीभाँति जानते थे। जैसाकि व्यासदेव आगे बतायेंगे, उनका असन्तोष भक्तियोग को सही ढंग से प्रस्तुत न करने के कारण उत्पन्न था। नारद को यह त्रुटि ज्ञात थी और व्यास की दशा से इसकी पुष्टि हो गई।

नारद उवाच
पाराशर्य महाभाग भवतः कच्चिदात्मना ।
परितुष्यति शारीर आत्मा मानस एव वा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; पाराशर्य—हे पराशर-पुत्र; महा-भाग—परम भाग्यशाली; भवतः—आपका; कच्चित्—यदि यह है; आत्मना—आत्म-साक्षात्कार से; परितुष्यति—तुष्टि होती है; शारीरः—शरीर की पहचान; आत्मा—स्व; मानसः—मन की पहचान; एव—निश्चय ही; वा—तथा।

व्यासदेव को पराशर पुत्र, सम्बोधित करते हुए नारद ने पूछा : क्या तुम मन या शरीर को आत्म-साक्षात्कार का लक्ष्य मान कर सन्तुष्ट हो?

तात्पर्य : नारद द्वारा व्यासदेव को उनके असंतोष के कारण का यह संकेत था। व्यासदेव को, अत्यन्त शक्तिसम्पन्न ऋषि, पराशर के वंशज होने के कारण, असामान्य पैतृक विशेषाधिकार प्राप्त था, जिससे उनके असंतुष्ट रहने का कोई कारण नहीं होना चाहिए था। महान पिता के महान पुत्र होने के कारण उन्हें चाहिए था कि आत्मा की पहचान शरीर या मन से न करते। अल्प बुद्धि वाले सामान्य जन शरीर को या मन को आत्मा के रूप में स्वीकार कर सकते हैं, लेकिन व्यासदेव को ऐसा नहीं करना चाहिए था। स्वभावत: कोई तब तक प्रसन्न नहीं रह सकता, जब तक सचमुच वह आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त न हो, जो भौतिक शरीर तथा मन से परे है।

जिज्ञासितं सुसम्पन्नमपि ते महदद्भुतम् ।
कृतवान् भारतं यस्त्वं सर्वार्थपरिबृंहितम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

जिज्ञासितम्—पूर्ण रूप से पूछा गया; सुसम्पन्नम्—पटु, दक्ष; अपि—होने पर भी; ते—तुम्हारा; महत्-अद्भुतम्—महान तथा अद्‌भुत; कृतवान्—तैयार किया; भारतम्—महाभारत; य: त्वम्—जो तुमने किया है; सर्व-अर्थ—सम्पूर्ण फलों सहित; परिबृंहितम्—विस्तार से व्याख्या की गई।

तुम्हारी जिज्ञासाएँ पूर्ण हैं और तुम्हारा अध्ययन भी भलीभाँति पूरा हो चुका है। इसमें संदेह नहीं कि तुमने एक महान् एवं अद्भुत ग्रंथ महाभारत तैयार किया है, जो सभी प्रकार के वैदिक फलों (पुरुषार्थों) की विशद व्याख्या से युक्त है।

तात्पर्य : व्यासदेव के विषाद का कारण उनमें पर्याप्त ज्ञान का अभाव नहीं था, क्योंकि छात्र के रूप में उन्होंने वैदिक साहित्य का पूर्ण अवगाहन किया था, जिसके फलस्वरूप उन्होंने *महाभारत* का संकलन किया जो वेदों की पूर्ण व्याख्या से समन्वित है।

जिज्ञासितमधीतं च ब्रह्म यत्तत्सनातनम् ।
तथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थ इव प्रभो ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

जिज्ञासितम्—पूर्ण रूप से विचारा हुआ; अधीतम्—प्राप्त ज्ञान; च—तथा; ब्रह्म—परम, ब्रह्म; यत्—जो; तत्—उस; सनातनम्—शाश्वत को; तथापि—फिर भी; शोचसि—पश्चात्ताप करते हो; आत्मानम्—अपने आपको; अकृत-अर्थः—व्यर्थ; इव—सदृश; प्रभो—हे महाशय।

तुमने निराकार ब्रह्म विषयक एवं उससे प्राप्त होने वाले ज्ञान को भलीभाँति लिपिबद्ध किया है। तो इतना सब होते हुए, हे मेरे प्रभु,अपने को व्यर्थ समझ कर हताश होने की क्या बात है?

तात्पर्य : *वेदान्त-सूत्र* या *ब्रह्म-सूत्र* का संकलन श्री व्यासदेव ने किया है और उसमें निर्गुण ब्रह्म की पूर्ण चर्चा की गई है और यह विश्व की सर्वाधिक सम्मानित दार्शनिक व्याख्या मानी जाती है। इसमें विषय को समेटा गया है और इसकी प्रतिपादन-शैली पाण्डित्यपूर्ण है। अतएव व्यासदेव के दिव्य पाण्डित्य के विषय में सन्देह करने का प्रश्न ही नहीं उठता। तो फिर उन्हें इस प्रकार शोक क्यों करना चाहिए?

व्यास उवाच
अस्त्येव मे सर्वमिदं त्वयोक्तं
तथापि नात्मा परितुष्यते मे ।
तन्मूलमव्यक्तमगाधबोधं
पृच्छामहे त्वात्मभवात्मभूतम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

व्यासः—व्यास ने; उवाच—कहा; अस्ति—है; एव—निश्चय ही; मे—मेरा; सर्वम्—समस्त; इदम्—यह; त्वया—आपके द्वारा; उक्तम्—कहा गया; तथापि—फिर भी; न—नहीं; आत्मा—आत्मा; परितुष्यते—संतुष्ट करता है; मे—मुझको; तत्—जिसका; मूलम्—जड़; अव्यक्तम्—अदृश्य; अगाध-बोधम्—अगाध ज्ञान वाला मनुष्य; पृच्छामहे—पूछता हूँ; त्वा—आपसे; आत्म-भव—स्वतः उत्पन्न; आत्म-भूतम्—सन्तान।

श्री व्यासदेव ने कहा : आपने मेरे विषय में जो कुछ कहा, वह सब सही है। इन सब के बावजूद मैं संतुष्ट नहीं हूँ। अतएव मैं आपसे अपने असंतोष के मूल कारण के विषय में पूछ रहा हूँ, क्योंकि आप स्वयंभू (बिना भौतिक माता पिता के उत्पन्न ब्रह्मा) की सन्तान होने के कारण अगाध ज्ञान से युक्त व्यक्ति हैं।

तात्पर्य : भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति शरीर या मन की पहचान आत्मा के साथ करता है। इस तरह इस भौतिक जगत का सारा ज्ञान या तो शरीर से या मन से सम्बन्धित होता है और यही समस्त विषादों का मूल कारण है। इसका सदा ही पता नहीं चल पाता, भले ही कोई भौतिकतावादी ज्ञान का कितना ही बड़ा पंडित क्यों न हो। अत: ऐसे विषादों के मूल कारण के निराकरण के लिए नारद जैसे पुरुष के पास पहुँचना अच्छा रहता है। नारद के पास क्यों जाया जाय, इसकी व्याख्या आगे की गई है।

स वै भवान् वेद समस्तगुह्य-
मुपासितो यत्पुरुषः पुराणः ।
परावरेशो मनसैव विश्वं
सृजत्यवत्यत्ति गुणैरसङ्गः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—इस तरह; वै—निश्चय ही; भवान्—आप; वेद—जानते हैं; समस्त—समग्र; गुह्यम्—गोपनीय; उपासितः—पूजित; यत्—क्योंकि; पुरुषः—भगवान्; पुराणः—प्राचीनतम्,पुरातन; परावरेशः—भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों के नियन्ता; मनसा—मन से; एव—केवल; विश्वम्—ब्रह्माण्ड को; सृजति—उत्पन्न करते हैं; अवति अत्ति—संहार करते हैं; गुणैः—गुणात्मक पदार्थ से; असङ्गः—निर्लिप्त।

हे प्रभो, जो कुछ भी गोपनीय है वह आपको ज्ञात है, क्योंकि आप भौतिक जगत के सृष्टा तथा संहारक एवं आध्यात्मिक जगत के पालक आदि भगवान् की पूजा करते हैं जो भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों से परे हैं।

तात्पर्य : जो व्यक्ति भगवान् की सेवा में शत-प्रतिशत लगा रहता है, वह समस्त ज्ञान का प्रतीक होता है। ऐसा व्यक्ति जो भक्तिमय सेवा में तो पूर्ण रहता ही है, वह भगवान् के गुणों से भी पूर्ण हो जाता है। इस तरह अष्ट सिद्धियाँ उसके समक्ष नगण्य पड़ जाती हैं। नारद जैसे भक्त अपनी आध्यात्मिक सिद्धि से विलक्षण कार्य कर सकते हैं, जिसे प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति प्रयास कर रहा है। श्रील नारद शत-प्रतिशत पूर्ण जीव हैं, यद्यपि वे भगवान् के समान नहीं हैं।

त्वं पर्यटन्नर्क इव त्रिलोकी-

मन्तश्चरो वायुरिवात्मसाक्षी ।
परावरे ब्रह्मणि धर्मतो व्रतैः
स्नातस्य मे न्यूनमलं विचक्ष्व ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—आप; पर्यटन्—विचरण करते हुए; अर्कः—सूर्य; इव—सदृश; त्रि-लोकीम्—तीनों लोकों में; अन्तः-चरः—प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में प्रवेश करने वाले; वायुः इव—सर्वव्यापी वायु की भाँति; आत्म—स्वरूपसिद्ध; साक्षी—गवाह; परावरे—कार्य तथा कारण के मामले में; ब्रह्मणि—ब्रह्म में; धर्मतः—अनुशासन सम्बन्धी नियमों के अन्तर्गत; व्रतैः—व्रत में; स्नातस्य—लीन रहने वाले; मे—मेरा; न्यूनम्—कमी, दोष; अलम्—स्पष्ट रूप से; विचक्ष्व—खोज निकालें।

आप सूर्य के समान तीनों लोकों में विचरण कर सकते हैं और वायु के समान प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर प्रवेश कर सकते हैं। इसलिए आप सर्वव्यापी परमात्मा के तुल्य हैं। अतः आपसे प्रार्थना है कि नियमों तथा व्रतों का पालन करते हुए दिव्यता में लीन रहने पर भी मुझमें जो कमी हो, उसे खोज निकालें।

तात्पर्य : दिव्य अनुभूति, पुण्यकर्म, देव-पूजा, दान, दया, अहिंसा तथा कड़े अनुशासनिक नियमों के साथ शास्त्रों का अध्ययन—ये सदैव मनुष्य के सहायक बनते हैं।

श्रीनारद उवाच
भवतानुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम् ।
येनैवासौ न तुष्येत मन्ये तद्दर्शनं खिलम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद ने कहा; भवता—तुम्हारे द्वारा; अनुदित-प्रायम्—प्रायः अप्रशंसित; यशः—महिमा; भगवतः—भगवान् की; अमलम्—निष्कलंक, निर्मल; येन—जिससे; एव—निश्चय ही; असौ—वे (भगवान्); न—नहीं; तुष्येत—प्रसन्न होता; मन्ये—मैं सोचता हूँ; तत्—उस; दर्शनम्—दर्शन को; खिलम्—निम्न।

श्री नारद ने कहा : वास्तव में तुमने भगवान् की अलौकिक तथा निर्मल महिमा का प्रसार नहीं किया। जो दर्शन (शास्त्र) परमेश्वर की दिव्य इन्द्रियों को तुष्ट नहीं कर पाता, वह व्यर्थ समझा जाता है।

तात्पर्य : परमात्मा के साथ व्यक्तिगत जीव का वैधानिक सम्बन्ध उस शाश्वत स्वामी के नित्य दास होने का है। भगवान् ने जीवों के रूप में अपना विस्तार इसीलिए किया है कि उन्हें उनसे प्रेमपूर्ण सेवा प्राप्त हो सके और इसीसे भगवान् तथा जीव दोनों को सन्तोष प्राप्त हो सकता है।

वेदव्यास जैसे विद्वान ने वैदिक साहित्य में अनेक विस्तार किये, जिनका अन्त वेदान्त दर्शन में होता है, किन्तु इनमें से किसी में भी भगवान् की महिमा का प्रत्यक्ष गान नहीं हुआ था। शुष्क दार्शनिक चिन्तन ब्रह्म जैसे दिव्य विषय से सम्बन्धित होकर भी भगवान् की महिमा के प्रत्यक्ष गुण गान के बिना तनिक भी आकर्षक नहीं होता। दिव्य अनुभूति के लिए भगवान् अन्तिम शब्द हैं। निराकार ब्रह्म या अन्तर्यामी परमात्मा के रूप में परम की अनुभूति उतना दिव्य आनन्द प्रदान करने वाली नहीं होती, जितनी कि उनकी महिमा की साक्षात् अनुभूति होती है।

वेदान्त दर्शन के संकलनकर्ता स्वयं व्यासदेव हैं। किन्तु इसके रचयिता होते हुए भी वे विचलित हैं। अतएव उस वेदान्त के पाठक तथा श्रोता उससे कौन-सा दिव्य आनन्द प्राप्त कर सकेंगे, जिसकी प्रत्यक्ष व्याख्या व्यासदेव ने की ही नहीं? यहीं पर आवश्यकता प्रतीत हुई कि रचनाकार *वेदान्त-सूत्र* की व्याख्या *श्रीमद्भागवत* के रूप में करे।

यथा धर्मादयश्चार्था मुनिवर्यानुकीर्तिताः ।
न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; **धर्म-आदयः**—धार्मिक आचरण के चारों नियम; **च**—तथा; **अर्थाः**—प्रयोजन; **मुनि-वर्य**—मुनियों में श्रेष्ठ, तुम्हारे द्वारा; **अनुकीर्तिताः**—बारम्बार वर्णित; **न**—नहीं; **तथा**—उसी प्रकार; **वासुदेवस्य**—भगवान् श्रीकृष्ण का; **महिमा**—यश; **हि**—निश्चय ही; **अनुवर्णितः**—इस प्रकार से निरन्तर वर्णित।

हे महामुनि, यद्यपि आपने धार्मिक कृत्य इत्यादि चार पुरुषार्थों का विस्तार से वर्णन किया है, किन्तु आपने भगवान् वासुदेव की महिमा का वर्णन नहीं किया है।

तात्पर्य : श्री नारद द्वारा किया गया निदान तुरन्त घोषित कर दिया जाता है। व्यासदेव के विषाद का मूल कारण उनके द्वारा पुराणों के विविध संस्करणों में जान बूझकर भगवान् की महिमा के वर्णन की उपेक्षा करना थी। यद्यपि उन्होंने सामान्य ढंग से भगवान् (श्रीकृष्ण) की महिमा का वर्णन किया है, किन्तु उतना नहीं जितना कि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का वर्णन किया है। ये चारों पुरुषार्थ भगवान् की भक्ति की तुलना में अत्यन्त निकृष्ट हैं। प्रामाणिक विद्वान होने के कारण, श्री व्यासदेव इस अन्तर को भलीभाँति जानते थे। फिर भी इस उत्तम कार्य अर्थात् भक्तिमय सेवा

को अधिक महत्त्व प्रदान न करके उन्होंने अपने बहुमूल्य समय का लगभग दुरुपयोग किया था, जिसके कारण वे विषादग्रस्त थे। इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि भगवान् की भक्ति में लगे बिना कोई भी अधिक प्रसन्न नहीं रह सकता। *भगवद्गीता* में इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।

धर्म आदि पुरुषार्थों की शृंखला में मुक्ति अन्तिम पुरुषार्थ है, जिसके बाद मनुष्य शुद्ध भक्तिमय सेवा में प्रवृत्त होता है। यह आत्म-साक्षात्कार या *ब्रह्मभूत* अवस्था कहलाती है। इस *ब्रह्मभूत* अवस्था को प्राप्त करने के बाद मनुष्य सन्तुष्ट हो जाता है। किन्तु यह तुष्टि दिव्य आनन्द की शुरुआत है। मनुष्य को इस सापेक्ष संसार में निरपेक्षता तथा समता प्राप्त करके प्रगति करनी चाहिए। इस समदर्शी अवस्था को पार करके वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में स्थिर हो जाता है। *भगवद्गीता* में भगवान् का यही उपदेश है। निष्कर्ष यह है कि *ब्रह्मभूत* अवस्था बनाये रखने तथा दिव्य अनुभूति की मात्रा को बढ़ाने के लिए नारद ने व्यासदेव को प्रोत्साहित किया कि वे भक्तिमार्ग का उत्सुकतापूर्वक बारम्बार वर्णन करें। इससे उनका सारा विषाद मिट जाएगा।

न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित् ।
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा
न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यत्—वह; वचः—वाणी; चित्र-पदम्—अलंकारिक; हरेः—भगवान् का; यशः—महिमा; जगत्—ब्रह्माण्ड; पवित्रम्—पवित्र; प्रगृणीत—वर्णित; कर्हिचित्—मुश्किल से; तत्—उस; वायसम्—कौवे को; तीर्थम्—तीर्थ-स्थान; उशन्ति—सोचते हैं; मानसाः—साधु पुरुष; न—नहीं; यत्र—जहाँ; हंसाः—परमहंस पुरुष; निरमन्ति—आनन्द लेते हैं; उशिक्-क्षयाः—दिव्य धाम के वासी।.

जो वाणी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के वायुमण्डल को परिशुद्ध करने वाले भगवान् की महिमा का वर्णन नहीं करती, उसे साधु पुरुष कौवों के स्थान के समान मानते हैं। चूँकि परमहंस पुरुष दिव्य लोक के वासी होते हैं, अतः उन्हें ऐसे स्थान में कोई आनन्द नहीं मिलता।

तात्पर्य : कौवे तथा हंस अपनी भिन्न-भिन्न मानसिक प्रवृत्तियों के कारण एक-से नहीं होते। सकाम-कर्मियों या रजोगुणी व्यक्तियों की तुलना कौवों से की गई है और परमहंस साधु पुरुषों

की तुलना हंसों से की गई है। कौवों को कूड़ा-करकट फेंका जाने वाला स्थान प्रिय लगता है, जिस प्रकार कि कामी सकाम कर्मियों को सुरा, सुन्दरी तथा स्थूल इन्द्रियतृप्ति के स्थान प्रिय लगते हैं। हंसों को वे स्थान प्रिय नहीं लगते, जहाँ कौवे काँव काँव करने और मिल-मिलाप करने के लिए एकत्र होते हैं। वे इसके बजाय प्राकृतिक छटा वाले स्थानों में देखे जाते हैं, जहाँ निर्मल जल का आगार होता है और जिसमें प्राकृतिक सौंदर्य के नाना रंग के कमलों के नाल सुशोभित रहते हैं। इन दो प्रकार के पक्षियों में यही अन्तर है।

प्रकृति ने विभिन्न योनियों के जीवों को भिन्न-भिन्न मानसिकताएँ दी हैं, अतएव उन्हें एक ही श्रेणी में लाना संभव नहीं है।

इसी प्रकार से विभिन्न मानसिकता वाले व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार का साहित्य होता है। अधिकांशतया बाजारू-साहित्य कौवों-सरीखे व्यक्तियों को आकृष्ट करने वाला होता है, जिसमें कामुक विषयों का कूड़ा-करकट भरा रहता है। ऐसे विषय सामान्य रूप से स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म मन से सम्बद्ध होने से संसारी वार्ताएँ कहे जाते हैं। ये संसारी उपमाओं तथा रूपकों वाली अलंकारमयी भाषा में लिखे होते हैं। ऐसा होने पर इनमें भगवान् की महिमा का वर्णन नहीं रहता। ऐसा पद्य या गद्य, चाहे वह जिस विषय पर भी हो, शव को अलंकृत करने जैसा है। आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत मनुष्य, जो हंसों के समान हैं, ऐसे मृत साहित्य में रुचि नहीं रखते, क्योंकि यह तो आध्यात्मिक दृष्टि से मृत पुरुषों के लिए ही आनन्द का स्रोत होता है। ऐसा रजो तथा तमो गुणी साहित्य विभिन्न शीर्षकों से वितरित किया जाता है, किन्तु इससे मानव की आध्यात्मिक जिज्ञासा की पूर्ति नहीं हो पाती। अतएव हंस सदृश आध्यात्मिक पुरुषों को ऐसे साहित्य से कोई सरोकार नहीं होता। ऐसे उन्नत पुरुषों को *मानस* भी कहा जाता, क्योंकि वे आध्यात्मिक धरातल पर भगवान् की दिव्य स्वैच्छिक सेवा के आदर्श (मानदण्ड) को बनाये रखते हैं। यह चेतना स्थूल शारीरिक इन्द्रिय-तुष्टि के कार्यों या अहंकारी भौतिक मन के सूक्ष्म चिन्तन के लिए सकाम कर्म करने से रोक देती है।

सामाजिक साहित्यिक जन, विज्ञानी, संसारी कवि, मीमांसक तथा राजनीतिज्ञ जो इन्द्रिय-सुख की भौतिक प्रगति में पूर्ण रूप से लीन रहते हैं, सभी माया के हाथ की कठपुतलियाँ हैं। उन्हें उन्हीं स्थानों में आनन्द मिलता है, जहाँ तिरष्क्रित विषय फेंके जाते हैं। श्रीधर स्वामी के अनुसार यह वेश्यागामियों का आनन्द है।

लेकिन जो साहित्य भगवान् की महिमा का वर्णन करता है, उसका आनन्द वे परमहंस उठाते हैं, जिन्होंने मानव कार्यों के सारतत्व को प्राप्त कर लिया है।

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो
यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यत्
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस; वाक्—वाणी; विसर्गः—सृष्टि; जनता—जनसामान्य; अघ—पाप; विप्लवः—क्रान्तिकारी; यस्मिन्—जिसमें; प्रति-श्लोकम्—प्रत्येक श्लोक; अबद्धवति—अनियमित रूप से रचा गया; अपि—होते हुए भी; नामानि—दिव्य नाम आदि.; अनन्तस्य—असीम भगवान् के; यशः—महिमा; अङ्कितानि—चित्रित; यत्—जो; शृण्वन्ति—सुनते हैं; गायन्ति—गाते हैं; गृणन्ति—स्वीकार करते हैं; साधवः—शुद्ध मनुष्य जो निष्ठावान हैं।

दूसरी ओर, जो साहित्य असीम परमेश्वर के नाम, यश, रूपों तथा लीलाओं की दिव्य महिमा के वर्णन से पूर्ण है, वह कुछ भिन्न ही रचना है जो इस जगत की गुमराह सभ्यता के अपवित्र जीवन में क्रान्ति लाने वाले दिव्य शब्दों से ओतप्रोत है। ऐसा दिव्य साहित्य, चाहे वह ठीक से न भी रचा हुआ हो, ऐसे पवित्र मनुष्यों द्वारा सुना, गाया तथा स्वीकार किया जाता है, जो नितान्त निष्कपट होते हैं।

तात्पर्य : महान चिन्तकों की विशेषता है कि वे बुरे से बुरे में से भी श्रेष्ठतम को खोज निकालते हैं। कहा गया है कि बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि विष के कुण्ड से भी अमृत ग्रहण कर ले, गंदगी में भी पड़े सोने को स्वीकार करे, अज्ञात कुल की भी उत्तम तथा सुयोग्य पत्नी ग्रहण कर ले और अछूत से या अछूत कुल से सम्बद्ध शिक्षक से भी सदुपदेश प्राप्त करे। ये कुछ नैतिक शिक्षाएँ हैं जो सभी स्थानों पर, बिना किसी अपवाद के, हर एक पर लागू होती हैं। लेकिन

एक सन्त सामान्य व्यक्ति से काफी उच्च स्तर पर होता है। वह निरन्तर परमेश्वर के महिमा–गान में व्यस्त रहता है, क्योंकि परमेश्वर के पवित्र नाम तथा यश का प्रसार करने से जगत का दूषित वातावरण बदल सकता है और *श्रीमद्भागवत* जैसे दिव्य साहित्य के प्रसार से लोग अपने व्यवहारों में समझदार हो सकते हैं। *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक की व्याख्या करते हुए हमारे समक्ष संकट उत्पन्न हो गया है। हमारे पड़ोसी मित्र चीन ने भारत की सीमा पर सैनिक–आक्रमण कर दिया है। यद्यपि राजनीतिक क्षेत्र से हमें कोई भी सरोकार नहीं है, लेकिन हम देखते हैं कि इसके पूर्व भी भारत तथा चीन थे और दोनों ही देश बिना किसी दुर्भावना के सदियों से शान्तिपूर्वक रहते रहे थे। इसका कारण यह है कि उन दिनों ईश्वर–चेतना का वातावरण था और इस महिमंडल का प्रत्येक देश ईश्वर से डरता था, शुद्ध हृदय वाला तथा सरल था और राजनीतिक कूटनीति का कोई प्रश्न ही न था। चीन तथा भारत ये दोनों देशों के बीच उस भूमि को लेकर झगड़ा करने का कोई कारण नहीं है, जो बसने के लिए उपयुक्त नहीं है, और निश्चय ही इस मामले पर युद्ध करने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं है। किन्तु जैसाकि पहले कहा जा चुका है, कलह के युग कलि के कारण थोड़ी सी उत्तेजना से भी झगड़ा हो सकता है। यह किसी अन्य कारण से नहीं, अपितु इस युग के प्रदूषित वातावरण के कारण है—एक वर्ग के लोग *परमेश्वर के नाम तथा यशोगान को रोकने के लिए* नियमबद्ध प्रचार कर रहे हैं। अतएव विश्व भर में *श्रीमद्भागवत* के सन्देश को प्रसारित करने की परम आवश्यकता है। प्रत्येक जिम्मेदार भारतीय नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह *श्रीमद्भागवत* के दिव्य संदेश को सर्वोपरि कल्याण तथा वांछित शान्ति लाने के लिए विश्व भर में प्रसारित करे। चूँकि भारत ने अपने इस उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य की उपेक्षा की है, अतएव सारे विश्वभर में इतना संघर्ष हो रहा है तथा संकट छाया है। हमारा विश्वास है कि यदि *श्रीमद्भागवत* का दिव्य संदेश विश्व के अग्रणी लोगों तक ही पहुँच सके, तो निश्चित रूप से हृदय–परिवर्तन होगा और लोग सामान्य रूप से इस संदेश का पालन करेंगे। जनता आधुनिक राजनीतिकोरों तथा नेताओं के हाथ की कठपुतली बनी हुई है। यदि इन नेताओं के ही हृदय परिवर्तित हो सकें, तो विश्व के वातावरण में आमूल परिर्वतन हो सकेगा। हमें

पता है कि जनसामान्य में ईश्वर-चेतना को जगाने तथा विश्व वातावरण का पुनः अध्यात्मीकरण करने के लिए दिव्य संदेशों वाले इस महान ग्रंथ को प्रस्तुत करने का हमारा सद्प्रयास अनेक कठिनाइयों से भरा है। इस विषय को यथेष्ठ भाषा में विशेष रूप से विदेशी भाषा में, प्रस्तुत करना निश्चित रूप से विफल प्रयास होगा और चाहे हम जितना भी प्रयास करें इसमें अनेक साहित्यिक त्रुटियाँ रह जाएँगी। लेकिन हमारा विश्वास है कि इस सम्बन्ध में चाहे कितनी भी त्रुटियाँ रह जाँए, विषय की गम्भीरता पर विचार किया जायेगा और समाज के नेता सर्वशक्तिमान भगवान् के महिमा गान करने के इस ईमानदार प्रयास के कारण इसको स्वीकार करेंगे। जब किसी घर में आग लग जाती है, तो उस घर के रहने वाले अपने पड़ोसियों से, चाहे वे विदेशी हों, सहायता प्राप्त करने के लिए दौड़ जाते हैं और वे बेचारे उनकी भाषा न जानते हुए भी अपने भाव व्यक्त करते हैं और पड़ोसी उनकी आवश्यकता समझ लेते हैं, भले ही वे भाव उनकी भाषा में व्यक्त न हुए हों। *श्रीमद्भागवत* के इस दिव्य संदेश को विश्व के प्रदूषित वायुमण्डल में प्रसारित करने के लिए वैसी ही सहयोग-भावना की आवश्यकता है। आखिर, यह आध्यात्मिक मूल्यों से युक्त तकनीकी विज्ञान है, अतएव हमें तकनीक के विषय में चिन्तित होना है, भाषा के विषय में नहीं। यदि इस महान साहित्य की तकनीकों को विश्व के लोग समझ लें, तो उन्हें सफलता मिल सकती है।

जब विश्व भर की जनता में अनेकानेक भौतिकतावादी कार्य-कलाप चलते रहते हैं, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि कोई व्यक्ति या राष्ट्र तनिक सी उत्तेजना पर किसी दुसरे व्यक्ति या राष्ट्र पर आक्रमण कर दे। इस कलि या कलह युग का यही नियम है। वातावरण पहले से सभी तरह के भ्रष्टाचार से प्रदूषित है और प्रत्येक व्यक्ति इससे भलीभाँति अवगत है। इन्द्रिय-तृप्ति के भौतिकतावादी विचारों से पूर्ण न जाने कितना अवांछित साहित्य भरा पड़ा है। अनेक देशों में अश्लील साहित्य की जाँच करने तथा उस पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए सरकार द्वारा अनेक समितियाँ नियुक्त की जाती हैं। इसका अर्थ यही है कि न तो सरकार, न ही जिम्मेदार जन-नेता ऐसा साहित्य चाहते हैं, तो भी यह बाजारों में मिलता है, क्योंकि लोग इन्द्रिय-तुष्टि के लिए इसे चाहते हैं। सामान्य रूप से लोग कुछ पढ़ना चाहते हैं(यह प्राकृतिक प्रवृत्ति है), लेकिन चूँकि

उनके मस्तिष्क दूषित हैं, अतएव वे ऐसा साहित्य पसन्द करते हैं। ऐसी परिस्थितियों में *श्रीमद्भागवत* जैसे दिव्य साहित्य से न केवल सामान्य जनों के भ्रष्ट मन के कार्यकलाप घटेंगे, अपितु यह उनकी उस चाह को शमित करेगा जिसके लिए वे रोचक साहित्य पढ़ना चाहते हैं। प्रारम्भ में, वे इसे पसन्द न भी करें, क्योंकि जिसे पीलिया हो जाता है वह मिश्री नहीं खाना चाहता, लेकिन हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि मिश्री ही पीलिया का एक मात्र उपचार है। इसी प्रकार *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के पठन को लोकप्रिय बनाने का विधिवत् प्रचार कार्य होना चाहिए, क्योंकि यह इन्द्रियतृप्ति रूपी पीलिया के लिए मिश्री का काम करेगा। जब लोग इस साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न कर लेंगे, तो वह अन्य साहित्य, जो समाज में विष फैला रहा है, स्वत: ही समाप्त हो जायेगा।

अत: हमारा विश्वास है कि मानव समाज का प्रत्येक व्यक्ति *श्रीमद्भागवत* का स्वागत करेगा, भले ही उसके प्रस्तुत रूप में अनेक त्रुटियाँ क्यों न हों, क्योंकि इसकी संस्तुति श्री नारद ने की है, जो कृपा करके इस अध्याय में प्रकट हुए हैं।

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

नैष्कर्म्यम्—आत्म-साक्षात्कार (सकाम कर्मों के बन्धन से मुक्त होकर); अपि—के बावजूद; अच्युत—अमोघ भगवान्; भाव—विचार; वर्जितम्—विहीन, से रहित; न—नहीं; शोभते—अच्छा लगता है; ज्ञानम्—दिव्य ज्ञान; अलम्—धीरे धीरे; निरञ्जनम्—उपाधियों से रहित; कुतः—कहाँ है; पुनः—फिर; शश्वत्—निरन्तर; अभद्रम्—अहितकर, अशुभ; ईश्वरे—ईश्वर के प्रति; न—नहीं; च—तथा; अर्पितम्—अर्पित किया हुआ; कर्म—कर्म; यत् अपि—जो है; अकारणम्—निष्काम।.

आत्म-साक्षात्कार का ज्ञान समस्त भौतिक आसक्ति से रहित होने पर भी शोभा नहीं देता यदि वह अच्युत (ईश्वर) के भाव से शून्य हो। तो फिर उन सकाम कर्मों से क्या लाभ है, यदि वे भगवान् की भक्ति के लिए काम न आ सकें और जो स्वभावतः प्रारम्भ से ही दुखप्रद तथा क्षणिक होते है ?

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा गया है, न केवल भगवान् की दिव्य महिमा से विहीन सामान्य साहित्य भर्त्सना के योग्य है, अपितु भक्तिमय सेवा से विहीन निराकार ब्रह्म विषयक वैदिक साहित्य तथा चिन्तन भी भर्त्सना के योग्य है। यदि उपर्युक्त आधार पर निराकार ब्रह्म के चिन्तन की भर्त्सना की जा सकती है, तो उस सामान्य सकाम कर्म के विषय में क्या कहा जाय, जो भक्ति के उद्देश्य की पूर्ति करने वाला है ही नहीं? ऐसे तार्किक ज्ञान तथा सकाम कर्म से किसी को सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। सकाम कर्म, जिसमें लगभग सारे लोग लगे रहते हैं, या तो प्रारम्भ में ही या फिर अन्त में सदैव कष्टकारक होता है। यह तभी लाभप्रद हो सकता है, जब इसे भगवद्भक्ति के अधीन किया जाए। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि की गई है कि ऐसे सकाम कर्म के फल को भगवान् की सेवा में अर्पित कर देना चाहिए, अन्यथा वह भौतिक बन्धन का कारण होता है। सकाम कर्म के प्रामाणिक भोक्ता भगवान् हैं और जब इसे जीव की इन्द्रियतृप्ति में लगाया जाता है, तो यह घोर कष्ट का कारण बन जाता है।

अथो महाभाग भवानमोघदृक्
शुचिश्रवा: सत्यरतो धृतव्रत: ।
उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये
समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अथो—अत:; महा-भाग—परम भाग्यशाली; भवान्—आप; अमोघ-दृक्—सिद्ध द्रष्टा; शुचि—पवित्र, निर्मल; श्रवा:—प्रसिद्ध; सत्य-रत:—सत्य व्रत को पालने वाला; धृत-व्रत:—आध्यात्मिक गुणों में स्थित; उरुक्रमस्य—अलौकिक कार्य करनेवाले (ईश्वर) का; अखिल—सम्पूर्ण जगत का; बन्ध—बन्धन; मुक्तये—मुक्ति के लिए; समाधिना—समाधि के द्वारा; अनुस्मर—बारम्बार सोच कर वर्णन करो; तत्-विचेष्टितम्—भगवान् की विविध लीलाओं को।

हे व्यासदेव, तुम्हारी दृष्टि सभी तरह से पूर्ण है। तुम्हारी उत्तम ख्याति निष्कलुष है। तुम अपने व्रत में दृढ़ हो और सत्य में स्थित हो। अतएव तुम समस्त लोगों को भौतिक बन्धन से मुक्ति दिलाने के लिए भगवान् की लीलाओं के विषय में समाधि के द्वारा चिन्तन कर सकते हो।

तात्पर्य : जनसामान्य की स्वभाव से ही साहित्य के प्रति रुचि होती है। वे अज्ञात के विषय के बारे में किसी अधिकारी से सुनना तथा पढ़ना चाहते हैं, लेकिन उनकी रुचि ऐसे दुर्भाग्यपूर्ण साहित्य से बिगड़ जाती है, जो इन्द्रियों की तृप्ति कराने वाले विषयों से भरा होता है। ऐसे साहित्य में अनेक प्रकार की लौकिक कविताएँ तथा दार्शनिक कल्पनाएँ दी रहती हैं, जो न्यूनाधिक रूप से माया से प्रभावित रहती हैं और जिनका समापन इन्द्रिय-तृप्ति में होता है। ऐसा साहित्य, यद्यपि सही अर्थ में व्यर्थ होता है, लेकिन अल्पज्ञ लोगों के ध्यान को आकृष्ट करने के लिए खूब सजाया हुआ रहता है। इस प्रकार आसक्त जीव भवबन्धन में अधिकाधिक फँसते जाते हैं और हजारों पीढ़ियों तक उनके मोक्ष की कोई आशा नहीं रहती। वैष्णवों में श्रेष्ठतम श्री नारद ऋषि ऐसे व्यर्थ साहित्य के अभागे शिकारों के प्रति करुणा से अभिभूत होकर, श्री व्यासदेव को ऐसा दिव्य साहित्य रचने के लिए उपदेश देते हैं, जो न केवल आकर्षक हो अपितु सभी प्रकार के बन्धनों से मोक्ष प्रदान कराने वाला भी हो। श्रील व्यासदेव या उनके प्रतिनिधि सुपात्र हैं, क्योंकि वे वस्तुओं को सही परिप्रेक्ष्य में देखने में भलीभाँति प्रशिक्षित हैं। श्रील व्यासदेव तथा उनके प्रतिनिधि अपने आध्यात्मिक प्रकाश के कारण शुद्ध विचार वाले हैं, अपनी भक्ति के कारण दृढ़व्रती हैं और भौतिक कार्यकलापों में सड़ रही पतितात्माओं का उद्धार करने के लिए कटिबद्ध हैं। पतितात्माएँ नित्यप्रति नूतन समाचार प्राप्त करने की इच्छुक रहती हैं और व्यासदेव या नारद जैसे अध्यात्मवादी ही उन्हें आध्यात्मिक जगत के असीमित समाचार प्रदान कर सकते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि यह भौतिक जगत अखिल सृष्टि का एक मात्र खंड है और यह पृथ्वी सम्पूर्ण भौतिक जगत का एक मात्र अंश है।

सारे विश्व में सहस्रों ऐसे साहित्यकार हैं, जिन्होंने हजारों-लाखों वर्षों से जनता की सूचना के लिए हजारों साहित्यिक कृतियाँ तैयार की हैं। लेकिन दुर्भाग्यवश इनमें से किसी के द्वारा भी पृथ्वी पर शान्ति तथा अमनचैन नहीं लाया जा सका। इसका कारण है इन कृतियों की आध्यात्मिक शून्यता। अतएव वैदिक साहित्य, विशेष रूप से *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* की संस्तुति की जाती है, जिससे भौतिक सभ्यता के उस चंगुल से अभीष्ट छुटकारा प्राप्त हो सके, जिससे मानव

शक्ति का प्रमुख अंश क्षीण होती जा रहा है। *भगवद्गीता* स्वयं भगवान् द्वारा कहा गया संदेश है, जिसका अंकन व्यासदेव द्वारा हुआ और *श्रीमद्भागवत* उन्हीं भगवान् कृष्ण की लीलाओं का दिव्य आख्यान है। शाश्वत शान्ति तथा कष्टों से मुक्ति की जीव की लालसाओं को तुष्ट करने में यह ग्रंथ सर्व समर्थ है। अतएव *श्रीमद्भागवत* पूरे ब्रह्माण्ड के जीवों को समस्त प्रकार के भौतिक बन्धनों से पूर्ण छुटकारा दिलाने के लिए है। भगवान् की लीलाओं का ऐसा दिव्य आख्यान व्यासदेव तथा उनके प्रामाणिक प्रतिनिधियों जैसे मुक्त जीवों द्वारा ही वर्णित किया जा सकता है, जो निरन्तर भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लीन रहते हैं। केवल ऐसे ही भक्तों को भगवान् की लीलाएँ तथा उनकी दिव्य प्रकृति भक्ति के कारण स्वत: प्रकट हो पाती है। दूसरा कोई, चाहे अनेक वर्षों तक चिन्तन क्यों न करे, न तो भगवान् के कार्यों को जान सकता है, न उनका वर्णन कर सकता है। *भागवत्* के वर्णन इतने सूक्ष्म तथा सही होते हैं कि इस महान साहित्य में पाँच हजार वर्ष पूर्व जो भी भविष्यवाणी की गई थी, वह अब सही उतर रही है। अतएव लेखक की दृष्टि भूत, वर्तमान तथा भविष्य को पहचानती है। व्यासदेव जैसे मुक्त व्यक्ति न केवल दृष्टि-शक्ति तथा पाण्डित्य के मामले में पूर्ण हैं, अपितु श्रवण, चिन्तन, अनुभव तथा अन्य सभी ऐन्द्रिय कार्यों में भी सिद्ध होते हैं। मुक्त जीव की इन्द्रियाँ पूर्ण होती हैं और ऐसी पूर्ण इन्द्रियों से ही इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश या भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा की जा सकती है। अत: *श्रीमद्भागवत* वेदों के संकलनकर्ता, परम सिद्ध व्यक्ति श्रील वेदव्यास द्वारा किया गया पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का परिपूर्ण वर्णन है।

ततोऽन्यथा किञ्चन यद्विवक्षत:
पृथग्दृशस्तत्कृतरूपनामभि: ।
न कर्हिचित्क्वापि च दु:स्थिता मति-
र्लभेत वाताहतनौरिवास्पदम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

तत:—उससे; अन्यथा—पृथक्; किञ्चन—कुछ; यत्—जो भी; विवक्षत:—वर्णन करने के लिए इच्छुक; पृथक्—अलग से; दृश:—दृष्टि; तत्-कृत—उसकी प्रतिक्रिया; रूप—रूप; नामभि:—नामों से; न कर्हिचित्—कभी नहीं; क्वापि—कोई; च—तथा; दु:स्थिता मति:—दोलायमान मन; लभेत—प्राप्त करता है; वात-आहत—वायु से प्रताड़ित; नौ:—नाव; इव—सदृश; आस्पदम्—स्थान।

तुम भगवान् के अतिरिक्त विभिन्न रूपों, नामों तथा परिणामों के रूप में जो कुछ भी वर्णन करना चाहते हो, वह प्रतिक्रिया द्वारा मन को उसी प्रकार आंदोलित करने वाला है, जिस प्रकार आश्रय विहीन नाव को चक्रवात आंदोलित करता है।

तात्पर्य : श्री व्यासदेव वैदिक साहित्य के समस्त वर्णनों के सम्पादनकर्ता हैं, अतएव उन्होंने अनेक प्रकारों से दिव्य अनुभूति का वर्णन किया है—यथा सकाम कर्म, मीमांसा, योगशक्ति तथा भक्तिमय सेवा। इसके अतिरिक्त, उन्होंने विविध पुराणों में अनेक देवताओं की विभिन्न रूपों तथा नामों से पूजा किये जाने की संस्तुति भी की है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जन-सामान्य भ्रांत हैं कि वे भगवान् की सेवा में अपना मन किस तरह स्थिर करें; वे आत्म-साक्षात्कार के सही मार्ग को ढूँढने के लिए सदा भ्रांत रहते हैं। श्रील नारददेव वेदव्यास द्वारा संकलित किए गए वैदिक साहित्य की इसी त्रुटि विशेष पर बल दे रहे हैं और इस तरह वे प्रत्येक वस्तु को केवल परमेश्वर से सम्बन्धित करते हुए वर्णन करने के लिए कह रहे हैं। वस्तुतः भगवान् के अतिरिक्त किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। भगवान् विभिन्न विस्तारों (अंशों) के रूप में प्रकट होते हैं। वे पूर्ण वृक्ष के मूल हैं। वे सम्पूर्ण शरीर के मानो उदर हैं। मूल में जल डालना ही वृक्ष को सीचने की सही विधि है। ठीक इसी तरह, पूरे शरीर को शक्ति प्रदान करने के लिए उदर को भोजन प्रदान करना है। इसीलिए श्रील व्यासदेव को चाहिए था कि *भागवत पुराण* के अतिरिक्त अन्य किसी पुराण का संकलन न करते, क्योंकि उसमें रंचमात्र विचलन से आत्म-साक्षात्कार में बड़ा उपद्रव हो सकता है। यदि रंचमात्र विचलन से ऐसा उपद्रव हो सकता है, तो परम सत्य भगवान् से पृथक् विचारों के जानबूझकर किये गए विस्तार के विषय में क्या कहा जाए? देवताओं की पूजा का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें सर्वेश्वरवाद (बहुदेवतावाद) का जन्म होता है, जिसकी परिणति अनेक धार्मिक सम्प्रदायों की उत्पत्ति में होती है, जो *भागवत* के उन सिद्धान्तों की उन्नति के लिए घातक है, जो दिव्य प्रेमाभक्ति द्वारा भगवान् के नित्य सम्बन्ध में आत्म-साक्षात्कार के लिए सही दिशा का निर्देश करने वाले हैं। इस प्रसंग में चक्रवात से विचलित नाव का उदाहरण

उपयुक्त है। बहुदेवतावादी का विचलित मन उद्देश्य के स्थिर न होने के कारण कभी भी आत्म-साक्षात्कार की पूर्णता को प्राप्त नहीं कर पाता।

जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासत:
स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रम: ।
यद्वाक्यतो धर्म इतीतर: स्थितो
न मन्यते तस्य निवारणं जन: ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

जुगुप्सितम्—अत्यन्त घृणित; धर्म-कृते—धर्म हेतु; अनुशासत:—आदेश के अनुसार; स्वभाव-रक्तस्य—स्वभाव से अनुरक्त; महान्—महान; व्यतिक्रम:—अनुचित; यत्-वाक्यत:—जिसके उपदेश से; धर्म:—धर्म; इति—इस प्रकार है; इतर:—जन-सामान्य; स्थित:—स्थिर; न—नहीं; मन्यते—सोचते हैं; तस्य—उसका; निवारणम्—निषेध; जन:—वे लोग।

सामान्य लोगों में भोग करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है और तुमने धर्म के नाम पर उन्हें वैसा करते रहने के लिए प्रोत्साहित किया है। यह अत्यन्त घृणित तथा अत्यन्त अनुचित है। चूँकि वे लोग तुम्हारे उपदेशों के अनुसार मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं, अत: वे ऐसे कार्यों को धर्म के नाम पर ग्रहण करेंगे और निषेधों की भी परवाह नहीं करेंगे।

तात्पर्य : श्रील नारद ने यहाँ पर *महाभारत* तथा अन्य साहित्य में उद्धृत सकाम कर्मों के नियमित अनुष्ठानों के आधार पर, श्रील वेदव्यास द्वारा संकलित विभिन्न वैदिक ग्रंथों की भर्त्सना की है। मानव (प्राणियों) में जन्म-जन्मान्तर से दीर्घकालीन भौतिक संगति के कारण, भौतिक शक्ति पर प्रभुता प्राप्त करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। उन्हें मानव जीवन के उत्तरदायित्व का कोई बोध नहीं हो पाता। यह मानव जीवन मोहमय पदार्थ के चंगुल से छूटने का अवसर होता है। वेद भगवद्धाम वापस जाने के निमित्त हैं। ८४,००,००० योनियों के आवागमन-चक्र में घूमते रहना दण्डित बद्धजीवों के लिए बन्दी जीवन के समान है। मनुष्य योनि इस बन्दी जीवन से बाहर निकलने का सुअवसर होता है, अतएव मनुष्य का एक-मात्र कर्तव्य यह है कि वह भगवान् के साथ अपने भूले हुए सम्बन्ध को पुन: स्थापित करे। ऐसी परिस्थितियों में, धार्मिक कृत्यों की आड़ में इन्द्रिय भोग की योजना बनाने को प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए। मानवशक्ति के ऐसे

विक्षेप से पथभ्रष्ट सभ्यता का जन्म होता है। श्रील व्यासदेव *महाभारत* इत्यादि में वैदिक व्याख्या के प्रमाण स्वरूप हैं, अत: उनके द्वारा किसी भी रूप में इन्द्रिय भोग को प्रोत्साहन देना आध्यात्मिक विकास में भारी अवरोध है, क्योंकि लोग उन भौतिक कार्यों को त्यागना नहीं चाहेंगे, जो उन्हें भव-बन्धन में जकड़े हुए हैं। मानव सभ्यता की किसी विशेष अवस्था में जब धर्म के नाम पर ऐसे भौतिक कार्यों का (यथा यज्ञ के नाम पर पशु-बलि का) बोलबाला हुआ, तो स्वयं भगवान् बुद्ध के रूप में अवतरित हुए और धर्म के नाम पर पशु-वध बन्द करने के उद्देश्य से वेद-प्रमाण की निन्दा की। नारद को इसका पूर्वाभास हो गया था, अतएव उन्होंने ऐसे साहित्य की निन्दा की। आज भी मांस-भक्षी लोग धर्म के नाम पर किसी देवता या देवी के समक्ष पशु-बलि चढ़ाते हैं, क्योंकि किन्हीं-किन्हीं वैदिक ग्रंथों में ऐसे नियमित यज्ञों की संस्तुति की जाती है। उन्हें मांसाहार से विरत होने के उद्देश्य से ही इस प्रकार की संस्तुति की जाती है, लेकिन धीरे-धीरे ऐसे धार्मिक कृत्यों के उद्देश्य भुला दिये जाते हैं और कसाई घर प्रधान बन जाते हैं। इसका कारण यह है कि ऐसे मूर्ख भौतिकतावादी व्यक्ति उन लोगों की बातें नहीं सुनना चाहते, जो वैदिक अनुष्ठानों की व्याख्या करने में समर्थ हैं।

वेदों में स्पष्ट कहा गया है कि जीवन की सफलता न तो किसी बृहद् ग्रंथ के लिखने, न धन संचय करने और न ही सन्तति बढ़ाने में है। इसे अनासक्ति द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। लेकिन भौतिकतावादी व्यक्ति ऐसे आदेशों को अनसुना करते हैं। उनके अनुसार तथाकथित संन्यास आश्रम उन व्यक्तियों के लिए है, जो किसी शारीरिक दोष के कारण जीविका कमाने में अक्षम हैं या उन व्यक्तियों के लिए है, जिन्हें पारिवारिक सम्पन्नता नहीं मिल पाई।

निस्सन्देह, *महाभारत* जैसे इतिहास-ग्रंथों में आध्यात्मिक विषयों के साथ-साथ लौकिक विषयों की भी चर्चा है। *महाभारत* में ही *भगवद्गीता* सन्निविष्ट है। *महाभारत* की सम्पूर्ण विचारधारा की अन्तिम परिणति *भगवद्गीता* के इस चरम उपदेश के रूप में होती है कि मनुष्य को चाहिए कि सारी व्यस्तताएँ त्याग कर, भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों की शरण में जाकर, अपने को पूरी तरह लगा दे। लेकिन भौतिकतावादी प्रवृत्तियों वाले लोग राजनीतिक, अर्थशास्त्र

तथा परोपकारी कार्यों में अधिक रुचि रखते हैं,जिनका उल्लेख *महाभारत* में है और मुख्य विषय अर्थात् *भगवद्गीता* के प्रति कम रुचि दिखाते हैं। श्री नारद व्यासदेव की इस समझौतावादी प्रवृत्ति की प्रत्यक्ष भर्त्सना करते हैं और यह उपदेश देते हैं कि प्रत्यक्ष रूप से यह घोषित करें कि मनुष्य जीवन की मूलभूत आवश्यकता भगवान् के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को अनुभव करना तथा अविलम्ब भगवान् की शरण में जाना है।

किसी विशेष रोग से पीड़ित मरीज प्रायः उसके लिए वर्जित की गई वस्तुओं को खाने को ललचाता है। लेकिन दक्ष चिकित्सक कभी भी मरीज से समझौता करके उसे कुपथ्य खाने की अनुमति नहीं देता। *भगवद्गीता* में यह भी कहा गया है कि सकाम कर्म में अनुरक्त व्यक्ति को उसकी वृत्ति से पराङ्मुख नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसे धीरे-धीरे आत्म-साक्षात्कार के पद तक ऊपर उठया जा सकता है। कभी-कभी यह उन लोगों पर लागू होता है, जो बिना किसी आध्यात्मिक अनुभूति के कोरे मीमांसक बने रहते हैं। लेकिन जो भक्ति के पथ पर लगे हैं, उन्हें ऐसे उपदेश की हमेशा आवश्यकता नहीं रहती।

विचक्षणोऽस्यार्हति वेदितुं विभो-
रनन्तपारस्य निवृत्तितः सुखम् ।
प्रवर्तमानस्य गुणैरनात्मन-
स्ततो भवान्दर्शय चेष्टितं विभोः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

विचक्षणः—अत्यन्त पटु; अस्य—उसका; अर्हति—के योग्य है; वेदितुम्—जानने के लिए; विभोः—भगवान् का; अनन्त-पारस्य—असीम का; निवृत्तितः—से निवृत्त; सुखम्—भौतिक सुख; प्रवर्तमानस्य—अनुरक्तों का; गुणैः—भौतिक गुणों से; अनात्मनः—आध्यात्मिक ज्ञान से शून्य; ततः—अतः; भवान्—आप; दर्शय—मार्गदर्शन करें; चेष्टितम्—कार्यकलाप; विभोः—भगवान् के।

भगवान् असीम हैं। केवल वही निपुण व्यक्ति इस आध्यात्मिक ज्ञान को समझने के लिए योग्य है, जो भौतिक सुख के कार्यकलापों से विरक्त हो चुका हो। अतः जो लोग भौतिक आसक्ति के कारण सुस्थापित नहीं हैं, उन्हीं को तुम परमेश्वर के दिव्य कार्यों के वर्णनों के माध्यम से दिव्य अनुभूति की विधियाँ दिखलाओ।

तात्पर्य : ईश्वरीय-विद्या का विज्ञान कठिन विषय है, विशेष रूप से जब उसमें भगवान् के दिव्य स्वभाव का वर्णन हो। यह ऐसा विषय नहीं है, जिसे भौतिक कार्यों में अत्यधिक आसक्त रहने वाले व्यक्ति समझ सकें। केवल वे ही इस महान विज्ञान का अध्ययन कर सकते हैं, जो आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन द्वारा भौतिक कार्यों से प्राय: निवृत्त हो चुके हैं। *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है कि हजारों-लाखों व्यक्तियों में से कोई एक व्यक्ति ऐसा होता है, जो दिव्य अनुभूति में प्रवेश करने का अधिकारी होता है। और ऐसे हजारों स्वरूपसिद्ध व्यक्तियों में से कुछ ही व्यक्ति उस विशेष ईश्वरीय ज्ञान को समझ सकते हैं, जिसमें ईश्वर को पुरुष रूप में वर्णित किया जाता है। अतएव नारद श्री व्यासदेव को प्रत्यक्ष उपदेश देते हैं कि वे भगवान् की दिव्य लीलाओं को बताते हुए ईश्वर के विज्ञान का वर्णन करें। व्यासदेव स्वयं इस विज्ञान में पटु हैं और वे भौतिक भोग से विरक्त हैं; अतएव वे इसका वर्णन करने के अधिकारी व्यक्ति हैं और उनके पुत्र, शुकदेव गोस्वामी, उनसे इसे ग्रहण करने के लिए सही व्यक्ति हैं। *श्रीमद्भागवत* सर्वोत्कृष्ट ईश्वरीय विज्ञान है, अतएव यह जनसामान्य पर औषधि का सा प्रभाव दिखा सकता है। चूँकि इस ग्रंथ में भगवान् की दिव्य लीलाएँ हैं, अतएव भगवान् तथा इस ग्रंथ में कोई अन्तर नहीं है। यह ग्रंथ भगवान् का साहित्यावतार है। इस तरह निपट साधारण जन भी भगवान् की लीलाओं का वर्णन सुन सकते हैं। इससे वे भगवान् का सान्निध्य प्राप्त कर सकते हैं और इस तरह क्रमश: भवरोग से शुद्ध हो सकते हैं। यही नहीं, पटु भक्तगण ऐसी नवीन विधियाँ निकाल सकते हैं, जिनसे वे देश तथा काल के अनुसार अभक्तों को बदल सकें। भक्तिमय गतिशील सेवा प्रक्रिया है और पटु भक्तगण भौतिकतावादी जनता की मन्द बुद्धि में इसे प्रविष्ट कराने की कोई सरल विधि निकाल सकते हैं। भगवान् की सेवा के लिए भक्तों द्वारा सम्पन्न किये गये ऐसे दिव्य कार्यकलापों से भौतिकतावादी मनुष्यों के मूर्ख समाज में नवीन जीवन-व्यवस्था लाई जा सकती है। इस ओर भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु तथा उनके परवर्ती अनुयायियों ने विशेष दक्षता दिखलाई है। इस विधि का अनुगमन करते हुए इस कलह-प्रधान युग के भौतिकतावादी मनुष्यों को शान्तिमय जीवन तथा दिव्य अनुभूति की अवस्था प्रदान की जा सकती है।

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-
र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि ।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं
को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मत: ॥ १७॥

शब्दार्थ

त्यक्त्वा—त्याग कर; स्व-धर्मम्—अपने वृत्तिपरक कार्य को; चरण-अम्बुजम्—चरणकमल; हरे:—हरि (भगवान्) के; भजन्—भक्ति के दौरान; अपक्व:—कच्ची, अप्रौढ; अथ—के लिए; पतेत्—गिरता है; तत:—उस स्थान से; यदि—यदि; यत्र—जहाँ; क्व—किस तरह का; वा—या (व्यंग्य से); अभद्रम्—प्रतिकूल; अभूत्—होगा; अमुष्य—उसका; किम्—कुछ नहीं; क: वा अर्थ:—क्या लाभ है; आप्त:—प्राप्त किया हुआ; अभजताम्—अभक्तों का; स्व-धर्मत:—अपनी वृत्ति में लगे रह कर।

जिसने भगवान् की भक्तिमय सेवा में प्रवृत्त होने के लिए अपनी भौतिक वृत्तियों को त्याग दिया है, वह कभी-कभी कच्ची अवस्था में नीचे गिर सकता है, तो भी उसके असफल होने का कोई खतरा नहीं रहता। इसके विपरीत, अभक्त, चाहे अपनी वृत्तियों (कर्तव्यों) में पूर्ण रूप से रत क्यों न हो, उसे कुछ भी लाभ नहीं होता।

तात्पर्य : जहाँ तक मानव जाति के कर्तव्यों का सम्बन्ध है, उसके कर्तव्य असंख्य हैं। प्रत्येक व्यक्ति, न केवल अपने माता-पिता, कुटुम्बियों, समाज, देश, मानवता, अन्य जीवों एवं देवताओं के प्रति कर्तव्यबद्ध है, अपितु महान दार्शनिकों, कवियों, वैज्ञानिकों के प्रति भी है। शास्त्रों का मत है कि मनुष्य ऐसे सारे कर्तव्यों को त्याग कर भगवान् की शरण ग्रहण कर सकता है। अत: यदि कोई इस तरह से करता है और यदि भगवान् की भक्तिमय सेवा करने में सफल हो जाता है, तो यह शुभ ही है। लेकिन कभी-कभी ऐसा होता है कि मनुष्य क्षणिक भावावेश में आकर भगवान् की सेवा में समर्पित तो हो जाता है, लेकिन अन्त तक किसी न किसी कारण से, कुसंगतिवश सेवामार्ग से च्युत हो जाता है। इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। भरत महाराज को एक मृग के प्रति आसक्त होने के कारण मृग का शरीर धारण करना पड़ा। जब वे मर रहे थे, तो मृग के विषय में सोच रहे थे। अतएव अगले जन्म में वे मृग बने, लेकिन वे अपने पूर्वजन्म की घटना को भूले नहीं थे। इसी प्रकार शिवजी के चरणों के प्रति अपराध करने के कारण चित्रकेतु का भी पतन हुआ। लेकिन, तो भी, भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने पर यहाँ बल

दिया जा रहा है। भले ही इसमें से नीचे गिरने का भय बना रहता है, क्योंकि यद्यपि मनुष्य भक्ति कार्यों से नीचे गिरता है, लेकिन वह भगवान् के चरणकमलों को कभी भी नहीं भूलता। एक बार भगवान् की भक्तिमय सेवा में लग जाने पर वह सभी परिस्थितियों में उनकी सेवा में बना रहेगा। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि किञ्चित भक्ति भी मनुष्य को अत्यन्त घातक स्थिति से बचा सकती है। इतिहास में ऐसी घटनाओं के अनेक उदाहरण हैं। इनमें से अजामिल एक है। अजामिल अपने प्रारम्भिक जीवन में भक्त था, किन्तु युवावस्था में वह भक्ति से च्युत हो गया। तो भी भगवान् ने अन्त में उसकी रक्षा की।

तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो
न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः ।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं
कालेन सर्वत्र गभीररंहसा ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसी; एव—केवल; हेतोः—कारण का; प्रयतेत—प्रयत्न करना चाहिए; कोविदः—आध्यात्मिक रूप से प्रवृत्त; न—नहीं; लभ्यते—मिलता है; यत्—जो; भ्रमताम्—विचरण करते हुए; उपरि अधः—ऊपर से नीचे तक; तत्—वह; लभ्यते—प्राप्त किया जा सकता है; दुःखवत्—दुखों के समान; अन्यतः—पूर्व कर्म के कारण; सुखम्—इन्द्रिय-भोग; कालेन—समय के साथ; सर्वत्र—सभी जगह; गभीर—सूक्ष्म; रंहसा—उन्नति, प्रगति।

जो व्यक्ति वास्तव में बुद्धिमान तथा तत्वज्ञान में रूचि रखने वाले हैं, उन्हें चाहिए कि वे उस सार्थक अन्त के लिए ही प्रयत्न करें, जो उच्चतम लोक (ब्रह्मलोक) से लेकर निम्नतम लोक (पाताल) तक विचरण करने से भी प्राप्य नहीं है। जहाँ तक इन्द्रिय-भोग से प्राप्त होने वाले सुख की बात है, यह तो कालक्रम से स्वतः प्राप्त होता है, जिस प्रकार हमारे न चाहने पर भी हमें दुख मिलते रहते हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक स्थान में विभिन्न प्रयासों से अधिकाधिक इन्द्रिय-भोग पाना चाहता है। कुछ मनुष्य व्यापार, उद्योग, आर्थिक विकास, राजनीतिक श्रेष्ठता आदि में लगे हुए हैं, तो कुछ लोग सकाम कर्मों में निरत हैं जिससे अगले जन्म में वे उच्चतर लोकों में जाकर सुख भोग सकें। ऐसा कहा जाता है कि चन्द्रमा के निवासी *सोमरस* पीकर अधिक इन्द्रिय-भोग करने

में समर्थ हैं और उत्तम उपकारी कार्य (पुण्य) करने से पितृलोक की प्राप्ति होती है। इन्द्रिय-भोग के लिए इस जीवन में या मृत्यु के बाद अगले जीवन में अनेक प्रकार की व्यवस्थाएँ हैं। कुछ लोग मशीनों की व्यवस्था के द्वारा चन्द्रमा या अन्य लोकों तक पहुँचने का प्रयास कर रहे हैं, क्योंकि वे बिना पुण्य कार्य किये ही इन लोकों में पहुँचने के इच्छुक हैं। लेकिन ऐसा होने वाला नहीं है। परमेश्वर के नियम के अनुसार, विभिन्न कोटि के जीवों को उनके द्वारा किये गये कर्मों के अनुसार ही उन्हें विभिन्न लोकों की प्राप्ति हो सकती है। जैसाकि शास्त्रों में कहा गया है, केवल पुण्यकर्म से ही मनुष्य का जन्म अच्छे कुल में हो सकता है और उसे ऐश्वर्य, उत्तम शिक्षा तथा अच्छा स्वरूप प्राप्त हो सकता है। हम यह भी देखते हैं कि इस जन्म में भी उत्तम कर्म से ही मनुष्य को अच्छी शिक्षा या सम्पत्ति प्राप्त होती है। इसी प्रकार हमें उत्तम कर्म के द्वारा ही अगले जन्म में मनवांछित पद प्राप्त होते हैं। अन्यथा ऐसा न होता कि दो व्यक्ति एक ही समय तथा एक ही स्थान में उत्पन्न होकर भिन्न-भिन्न पद पाते हैं। यह पूर्व कर्म के कारण है। लेकिन ऐसे सारे भौतिक पद अस्थायी हैं। यहाँ तक कि सर्वोच्च ब्रह्मलोक तथा निम्नतम पाताल में भी ये पद हमारे कर्मों के अनुसार बदलते रहते हैं। दार्शनिक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति को चाहिए कि ऐसे परिवर्तनशील पदों के लोभ में न आये। उसे आनन्द तथा ज्ञान का स्थायी जीवन प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे उसे पुनः इस कष्टप्रद भौतिक जगत में या अन्य किसी लोक में फिर से न लौटना पड़े। दुख तथा मिश्रित सुख इस भौतिक जीवन के दो लक्षण हैं और ये दोनों ही ब्रह्मलोक तथा अन्य लोकों में भी पाये जाते हैं। ये देवताओं के जीवन में भी पाये जाते हैं और कूकर-सूकर के जीवन में भी। समस्त जीवों के दुखों तथा सुखों में गुण तथा परिमाण का अन्तर रहता है, लेकिन कोई ऐसा नहीं जो जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से मुक्त हो। इसी प्रकार सबका सुख भी नियत है। कोई चाहे कितना प्रयास क्यों न करे, किसी को ये वस्तुएँ न तो कम न ही अधिक मिलेंगी। यदि मिल भी जायें, तो ये पुनः चली भी जायेंगी। अतएव मनुष्य को इन व्यर्थ की वस्तुओं में समय नहीं गँवाना चाहिए; उसे तो केवल भगवान् के पास वापस जाने के लिए प्रयास करना चाहिए। यही हर एक के जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।

न वै जनो जातु कथञ्चनाव्रजे-
न्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम् ।
स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुन-
र्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो जनः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; वै—निश्चय ही; जनः—व्यक्ति; जातु—किसी समय; कथञ्चन—किसी तरह; आव्रजेत्—नहीं आता; मुकुन्द-सेवी—भगवान् का भक्त; अन्यवत्—अन्यों की तरह; अङ्ग—हे प्रिय; संसृतिम्—भौतिक जगत; स्मरन्—स्मरण करते हुए; मुकुन्द-अङ्घ्रि—भगवान् के चरणकमल; उपगूहनम्—घूमते हुए; पुनः—फिर; विहातुम्—त्यागने की इच्छा से; इच्छेत्—इच्छा; न—कभी नहीं; रस-ग्रहः—जिसने रसास्वादन किया है; जनः—व्यक्ति।

हे प्रिय व्यास, यद्यपि भगवान् कृष्ण का भक्त भी कभी-कभी, किसी न किसी कारण से नीचे गिर जाता है, लेकिन उसे दूसरों (सकाम कर्मियों आदि) की तरह भव-चक्र में नहीं आना पड़ता, क्योंकि जिस व्यक्ति ने भगवान् के चरणकमलों का आस्वादन एक बार किया है, वह उस आनन्द को पुनः पुनः स्मरण करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता।

तात्पर्य : भगवद्भक्त स्वतः संसार के सम्मोहन से विरत हो जाता है, क्योंकि वह *रसग्रह* होता है, अर्थात् वह भगवान् के चरणकमलों का आस्वादन कर चुका होता है। निश्चय ही, ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें भगवान् के भक्त कुसंगति के कारण नीचे गिरे हैं, मानो सकाम कर्मी हों, जिनका पतन सदैव होता रहता है। किन्तु नीचे गिरने पर भी भक्त को कभी *कर्मी* के समान पतित नहीं समझना चाहिए। कर्मी अपने कर्मों के फल को भोगता है, जबकि भक्त भगवान् द्वारा प्रताड़ित होने के कारण सुधर जाता है। एक अनाथ बालक तथा एक राजपुत्र के कष्ट एक-से नहीं होते। अनाथ वास्तव में दीन होता है, क्योंकि उसकी देखभाल करने वाला कोई नहीं होता, लेकिन एक धनवान का लाड़ला पुत्र, भले ही अनाथ-जैसा लगे, किन्तु वह सदैव अपने समर्थ पिता के संरक्षण में रहता है। भगवद्भक्त कभी-कभी कुसंगतिवश सकाम कर्मी की नकल करता है। सकाम कर्मी भौतिक जगत पर अपना प्रभुत्व जताना चाहता है। इसी प्रकार एक नवजिज्ञासु भक्त भी मूर्खतावश भक्तिमय सेवा के बदले कुछ भौतिक शक्ति संचित करने की सोचता है।

कभी-कभी ऐसे मूर्ख भक्तों को स्वयं भगवान् कष्ट में डाल देते हैं। और यदि वे विशेष अनुग्रह करते हैं, तो उसका सारा भौतिक साज-सामान हर लेते हैं। ऐसी कार्यवाही से, व्यग्र हुए भक्त के सारे मित्र तथा कुटुम्बी उसका साथ छोड़ देते हैं और भगवान् की कृपा से उसे पुन: चेत जाता है और वह अपनी भक्ति सही ढंग से करने लगता है।

भगवद्गीता में यह भी कहा गया है कि ऐसे पतित भक्तों को किसी अत्यन्त विद्वान ब्राह्मण कुल में या सम्पन्न वैश्य परिवार में जन्म लेने का अवसर दिया जाता है। ऐसी दशा में भक्त उतना भाग्यशाली नहीं होता जितना कि भगवान् द्वारा प्रताड़ित भक्त, जिसे एक तरह से असहायावस्था में रख दिया जाता है। जो भक्त भगवान् की इच्छा से असहाय बन जाता है, वह इन उत्तम कुलों में उत्पन्न भक्तों से अधिक भाग्यशाली होता है। उत्तम कुलों में उत्पन्न ये पतित भक्त कम भाग्यशाली होने के कारण भगवान् के चरणकमलों को भूल सकते हैं, लेकिन असहाय अवस्था को प्राप्त भक्त अधिक भाग्यशाली होता है, क्योंकि वह अपने को चारों ओर से असहाय पाकर भगवान् के चरणकमलों में तेजी से लौट आता है।

शुद्ध भक्ति मय सेवा आध्यात्मिक दृष्टि से इतनी आस्वादनीय है कि भक्त स्वत: भौतिक भोग के प्रति अन्यमनस्क हो जाता है। प्रगतिशील भक्ति की दिशा में यह पूर्णता का प्रतीक है। शुद्ध भक्त निरन्तर भगवान् कृष्ण के चरणकमलों को स्मरण में रखता है और उन्हें एक क्षण भी नहीं भुलाता, भले ही उसे तीनों लोकों का ऐश्वर्य क्यों न मिल जाये।

इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो
यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवा: ।
तद्धि स्वयं वेद भवांस्तथापि ते
प्रादेशमात्रं भवत: प्रदर्शितम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; हि—सम्पूर्ण; विश्वम्—विश्व; भगवान्—भगवान्; इव—प्राय: वैसा ही; इतर:—ऊपर से भिन्न; यत:—जिससे; जगत्—संसार; स्थान—अवस्थित हैं; निरोध—संहार; सम्भवा:—उत्पत्ति; तत् हि—विषयक; स्वयम्—अपने आप; वेद—जानो; भवान्—आप; तथा अपि—फिर भी; ते—तुमको; प्रादेश-मात्रम्—मात्र सारांश; भवत:—तुमको; प्रदर्शितम्—बताया गया।.

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् स्वयं विश्व स्वरूप हैं तथापि उससे निर्लिप्त भी हैं। उन्हीं से यह दृश्य जगत उत्पन्न हुआ है, उन्हीं पर टिका है और संहार के बाद उन्हीं में प्रवेश करता है। तुम इस सबके विषय में जानते हो। मैंने तो केवल सारांश भर प्रस्तुत किया है।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त के लिए मुकुन्द, भगवान् श्रीकृष्ण सम्बन्धी धारणा सगुण तथा निर्गुण दोनों ही होती है। व्यक्तित्वविहीन विश्व-स्थिति भी मुकुन्द है, क्योंकि यह मुकुन्द की शक्ति का ही प्राकट्य है। उदाहरणार्थ, वृक्ष अपने में पूर्ण इकाई है लेकिन पत्तियाँ तथा शाखाएँ वृक्ष से प्रकट हुए अंश (अंग) स्वरूप हैं। वृक्ष की पत्तियाँ तथा शाखाएँ भी वृक्ष हैं, लेकिन वृक्ष स्वयं न तो पत्तियाँ है, न शाखाएँ। वेदों का यह कथन है कि समस्त दृश्य जगत ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है, यह बताता है कि चूँकि प्रत्येक वस्तु परमब्रह्म से उद्भूत है, अतएव उनसे भिन्न कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार अंग के रूप में हाथ तथा पाँव शरीर कहलाते हैं, लेकिन पूर्ण इकाई के रूप में शरीर न तो हाथ है, न पाँव। भगवान् तो शाश्वतता, ज्ञान तथा सौंदर्य के दिव्य रूप हैं, अतएव भगवान् की शक्ति की सृष्टि भी अंशत: सच्चिदानन्द स्वरूप प्रतीत होती है। इसलिए बहिरंगा शक्ति, माया के प्रभाव से सारे बद्धजीव भौतिक प्रकृति के बन्धन में बँधे हुए हैं। वे इसे ही सब कुछ मान लेते हैं, क्योंकि उन्हें आदि कारण भगवान् का कोई ज्ञान नहीं होता। न ही उन्हें इसका पता रहता है कि शरीर के अंगों को यदि सम्पूर्ण शरीर से विलग कर दिया जाय, तो हाथ या पाँव वही हाथ पाँव नहीं रह जाते जैसे कि वे शरीर से संयुक्त होने पर थे। इसी प्रकार ईश्वर-विहीन सभ्यता, पूर्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति से कट कर छिन्न हाथ या पाँव की तरह होती है। ऐसे अंग हाथ तथा पाँव जैसे भले ही लगें, लेकिन उनमें वह क्षमता नहीं रह जाती। भगवद्भक्त श्रील व्यासदेव इसे भलीभाँति जानते हैं। श्रील नारद उन्हें आगे इस विचार को पल्लवित करने की सलाह देते हैं जिससे बन्धन में फँसे हुए बद्धजीव उनसे शिक्षा ग्रहण करके भगवान् को आदि कारण के रूप में समझ सकें।

वैदिक मत के अनुसार, भगवान् स्वभावत: पूर्ण शक्तिमान हैं और इस प्रकार उनकी सर्वोपरि शक्तियाँ सदैव पूर्ण तथा उनसे अभिन्न होती हैं। आध्यात्मिक तथा भौतिक आकाश एवं इन दोनों

की सामग्रियाँ भगवान् की अन्तरंगा तथा बहिरंगा शक्तियों का प्राकट्य हैं। बहिरंगा शक्ति अपेक्षतया निकृष्ट है और अन्तरंगा शक्ति श्रेष्ठ है। श्रेष्ठ शक्ति (परा) जीवनी शक्ति है, अतएव यह पूर्ण रूप से अभिन्न है, लेकिन बहिरंगा शक्ति, निष्क्रिय होने के कारण अंशतः अभिन्न है। किन्तु ये दोनों ही शक्तियाँ न तो समस्त शक्तियों के जनक भगवान् के समान हैं, न उनसे बढ़कर हैं। ऐसी शक्तियाँ सदैव उनके अधीन होती हैं, जिस प्रकार कि विद्युत शक्ति, चाहे वह कितनी ही तेजोमय क्यों न हो, सदैव इंजीनियर के नियंत्रण में रहती है।

मनुष्य तथा अन्य सभी प्राणी उन्हीं भगवान् की अन्तरंगा शक्तियों से उत्पन्न हैं। इस प्रकार जीव भी भगवान् से अभिन्न है। किन्तु वह कभी भी न तो भगवान् के तुल्य है और न उनसे श्रेष्ठ। भगवान् तथा सारे जीव व्यष्टि व्यक्ति हैं। भौतिक शक्तियों के द्वारा जीव भी कुछ न कुछ सृजन करते रहते हैं, किन्तु उनकी कोई भी सृष्टि न तो भगवान् की सृष्टियों के समान होती है, न उनसे बढ़कर। मनुष्य एक छोटा-सा खिलौना-जैसा स्पुतनिक बनाकर बाह्य आकाश में प्रक्षेपित कर सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता है कि वह पृथ्वी या चन्द्रमा जैसा ग्रह बनाकर भगवान् की भाँति उसे वायु में तैरा सकता है। अल्पज्ञ लोग अपने को भगवान् के समान बताते हैं, लेकिन वे कभी भी भगवान् के तुल्य नहीं हो सकते हैं और न कभी होंगे। मनुष्य, पूर्ण सिद्धि प्राप्त करने के बाद, भगवान् के गुणों का एक बहुत बड़ा प्रतिशत (७८ प्रतिशत) प्राप्त कर सकता है, तो भी भगवान् से आगे बढ़ पाना या उनके तुल्य हो पाना असम्भव है। केवल रुग्ण दशा में ही मूर्ख व्यक्ति भगवान् से एक होने का दावा करता है और इस तरह वह माया द्वारा भ्रमित होता रहता है। अतएव भ्रमित जीव को भगवान् की श्रेष्ठता स्वीकार करनी चाहिए और उनकी प्रेममय सेवा करने के लिए तैयार रहना चाहिए। जीवों की उत्पत्ति ही इसीलिए हुई है। इसके बिना विश्व में किसी प्रकार की शान्ति या सौहार्द नहीं आ सकता। श्रील नारद श्रील व्यासदेव को *भागवत* में इस विचार को विस्तार देने का उपदेश देते हैं। *भगवद्गीता* में भी इसी विचार की व्याख्या की गई है कि भगवान् के चरणकमलों में पूर्ण रूप से समर्पित हो जाओ। पूर्ण मानव का यही एकमात्र कार्य है।

त्वमात्मनात्मानमवेह्यमोघदृक्
परस्य पुंसः परमात्मनः कलाम् ।
अजं प्रजातं जगतः शिवाय त-
न्महानुभावाभ्युदयोऽधिगण्यताम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; आत्मना—अपने आप से; आत्मानम्—भगवान् को; अवेहि—ढूँढो; अमोघ-दृक्—पूर्ण दृष्टि वाला; परस्य—अध्यात्म का; पुंसः—भगवान्; परमात्मनः—परमात्मा का; कलाम्—अंश; अजम्—अजन्मा; प्रजातम्—जन्म लिया गया; जगतः—संसार के; शिवाय—कल्याण के लिए; तत्—उस; महा-अनुभाव—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की; अभ्युदयः—लीलाएँ; अधिगण्य-ताम्—विस्तार से बताओ।

तुममें पूर्ण दृष्टि है। तुम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को जान सकते हो, क्योंकि तुम भगवान् के अंश के रूप में विद्यमान हो। यद्यपि तुम अजन्मा हो, लेकिन समस्त लोगों के कल्याण हेतु इस पृथ्वी पर प्रकट हुए हो। अतः भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का अधिक विस्तार से वर्णन करो।

तात्पर्य : श्रील व्यासदेव भगवान् श्रीकृष्ण के शक्त्यावेश अवतार हैं। वे भौतिक जगत के पतित जीवों के उद्धार हेतु अपनी अहैतुकी कृपावश अवतरित हुए। पतित तथा विस्मृत जीव भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा से विच्छिन्न रहते हैं। सारे जीव भगवान् के अंश हैं और उन के सनातन सेवक हैं। अतएव सारा वैदिक साहित्य इन्हीं पतित जीवों के लाभ हेतु कर्मबद्ध किया गया है। पतित जीवों का यह कर्तव्य है कि ऐसे साहित्य का लाभ उठाएँ और भव-बन्धन से अपने को मुक्त करें। यद्यपि श्रील नारद ऋषि श्रील व्यासदेव के औपचारिक गुरु हैं, लेकिन श्रील व्यासदेव गुरु पर निर्भर नहीं हैं, क्योंकि वे मूल रूप से अन्य सबों के गुरु हैं। चूँकि वे आचार्य का कार्य कर रहे हैं, अतः उन्होंने अपने आचरण से लोगों को यह प्रदर्शित किया है कि मनुष्य को गुरु बनाना चाहिए, भले ही वह साक्षात् ईश्वर ही क्यों न हो। भगवान् श्रीकृष्ण, भगवान् श्रीराम तथा भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु, सभी ने परमेश्वर के अवतार होते हुए भी औपचारिक गुरु स्वीकार किये, यद्यपि अपने दिव्य स्वभाव के कारण वे समस्त ज्ञान के आगार थे। सामान्य जनता

को भगवान् श्रीकृष्ण के चरणाकमलों का दिशा-निर्देश करने के लिए वे स्वयं, व्यासदेव के अवतार के रूप में, भगवान् की दिव्य लीलाओं का उद्घाटन कर रहे हैं।

इदं हि पुंसस्तपस: श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयो: ।
अविच्युतोऽर्थ: कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; हि—निश्चय ही; पुंसः—प्रत्येक व्यक्ति का; तपसः—तपस्या के द्वारा; श्रुतस्य—वेदों के अध्ययन से; वा—अथवा; स्विष्टस्य—यज्ञ का; सूक्तस्य—आध्यात्मिक शिक्षा का; च—तथा; बुद्धि—ज्ञान का अनुशीलन; दत्तयोः—दान; अविच्युतः—अचूक; अर्थः—प्रयोजन; कविभिः—मान्य विद्वान द्वारा; निरूपितः—निष्कर्ष रूप में प्राप्त किया गया, वर्णित; यत्—जो; उत्तमश्लोक—भगवान् जिनका वर्णन चुने हुए श्लोकों (पद्य) से किया जाता है; गुण-अनुवर्णनम्—दिव्य गुणों का वर्णन।

विद्वन्मण्डली ने यह स्पष्ट निष्कर्ष निकाला है कि तपस्या, वेदाध्ययन, यज्ञ, दान तथा स्तुति-जप का अचूक प्रयोजन (उद्देश्य) उत्तमश्लोक भगवान् की दिव्य लीलाओं के वर्णन में जाकर समाप्त होता है।

तात्पर्य : मनुष्य के मस्तिष्क का विकास कला, विज्ञान, दर्शन, भौतिकी, रसायन, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि के ज्ञान की उन्नति के लिए हुआ है। ऐसे ज्ञान के अनुशीलन द्वारा मानव-समाज को जीवन की पूर्णता प्राप्त हो सकती है। जीवन की इस पूर्णता का अन्त परम पुरुष विष्णु की प्राप्ति में होता है। अत: *श्रुति* का निर्देश है कि जो वास्तविक रूप में ज्ञान में बढ़े-चढ़े हैं, उन्हें भगवान् विष्णु की सेवा की आकांक्षा करनी चाहिए। दुर्भाग्यवश जो लोग *विष्णु-माया* के बाह्य सौंदर्य से मुग्ध हो गए हैं, वे यह नहीं समझ पाते हैं कि पूर्णता या आत्म-साक्षात्कार की चरम परिणति विष्णु पर निर्भर करती है। *विष्णु-माया* का अर्थ है इन्द्रिय-भोग, जो क्षणिक तथा दुखमय है। जो लोग *विष्णु-माया* के चंगुल में फंसे हुए हैं, वे ज्ञान की उन्नति का उपयोग इन्द्रिय-भोग के लिए करते हैं। श्री नारद मुनि ने बताया है कि विराट ब्रह्माण्ड की सारी सामग्री (साज-समान) भगवान् की विभिन्न शक्तियों का प्राकट्य मात्र है, क्योंकि उन्होंने अपनी अकल्पनीय शक्ति के द्वारा सृजित जगत की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं को गति प्रदान की है।

वे उन्हीं की शक्ति से उद्‌भूत हैं, उनकी शक्ति पर आधारित हैं और प्रलय के बाद उन्हीं में लीन हो जाती हैं। अतएव उनसे भिन्न कुछ भी नहीं है, किन्तु साथ ही वे सदैव उनसे भिन्न रहते हैं।

जब ज्ञान की उन्नति का सदुपयोग भगवान् की सेवा के लिए किया जाता है, तो सारी प्रक्रिया परिपूर्ण बन जाती है। भगवान् तथा उनका दिव्य नाम, यश, महिमा इत्यादि सभी कुछ उनसे अभिन्न हैं, अतएव समस्त मुनियों तथा भगवद्‌भक्तों ने संस्तुति की है कि कला, विज्ञान, दर्शन, भौतिकी, रसायन, मनोविज्ञान तथा ज्ञान की अन्य शाखाओं का उपयोग पूर्ण रूप से तथा एकान्तिक भाव में भगवान् की सेवा के लिए किया जाय। कला, साहित्य, पद्य, चित्रकला आदि का उपयोग भगवान् के यशोगान में किया जा सकता है। उपन्यासकार, कवि तथा विख्यात साहित्यकार सामान्य रूप से कामुक विषयों के लेखन में लगे रहते हैं, किन्तु यदि वे भगवान् की सेवा में लग जायें तो वे भगवान् की दिव्य लीलाओं का वर्णन कर सकते हैं। वाल्मीकि एक महान कवि थे और उसी प्रकार व्यासदेव एक महान लेखक हैं और ये दोनों ही भगवान् की लीलाओं का उद्‌घाटन करने में लगे रहे और इसी कारण वे अमर हो गये हैं। इसी प्रकार विज्ञान तथा दर्शन का उपयोग भी भगवान् की सेवा के लिए किया जाना चाहिए। इन्द्रियतृप्ति के लिए कोरे सिद्धान्त प्रस्तुत करते रहने से कोई लाभ नहीं है। दर्शन तथा विज्ञान को भगवान् की महिमा को प्रस्थापित करने में प्रयुक्त किया जाना चाहिए। समुन्नत लोग विज्ञान के माध्यम से परम सत्य को जानने के लिए उत्सुक होते हैं, अतएव महान वैज्ञानिक का यह कर्तव्य है कि वैज्ञानिक आधार पर भगवान् के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए प्रयास करे। इसी प्रकार दार्शनिक चिन्तनों का उपयोग परम सत्य को संवेदना-युक्त तथा सर्वशक्तिमान के रूप में स्थापित करने में किया जाना चाहिए। इसी प्रकार से ज्ञान की अन्य समस्त शाखाओं का उपयोग सदा भगवान् की सेवा के लिए किया जाना चाहिए। *भगवद्‌गीता* में भी इसकी पुष्टि की गई है। वह सारा "ज्ञान" अज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं है, यदि उसे भगवान् की सेवा में न लगाया जाय। उन्नत ज्ञान का वास्तविक सदुपयोग भगवान् की महिमा को स्थापित करना है और यही वास्तविक लक्ष्य है। भगवान् की

सेवा में लगा हुआ सारा वैज्ञानिक ज्ञान तथा इसी प्रकार के सारे कार्यकलाप वास्तव में हरि कीर्तन अर्थात् भगवान् की महिमा का गायन है।

अहं पुरातीतभवेऽभवं मुने
दास्यास्तु कस्याश्चन वेदवादिनाम् ।
निरूपितो बालक एव योगिनां
शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; पुरा—प्राचीन काल में, पहले; अतीत-भवे—पूर्व कल्प में; अभवम्—हो गया; मुने—हे मुनि; दास्याः—दासी का; तु—लेकिन; कस्याश्चन—किसी; वेद-वादिनाम्—वेदान्त के अनुयायियों का; निरूपितः—लगा हुआ; बालकः—छोटा नौकर; एव—केवल; योगिनाम्—भक्तों की; शुश्रूषणे—सेवा में; प्रावृषि—वर्षा ऋतु के चार मासों में; निर्विविक्षताम्—साथ रहते हुए।

हे मुनि, पिछले कल्प में मैं किसी दासी के पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ, जो वेदान्त सिद्धान्तों के अनुयायी ब्राह्मणों की सेवा करती थी। जब वे लोग वर्षा ऋतु के चातुर्मास में साथ-साथ रहते थे, तो मैं उनकी सेवा टहल (व्यक्तिगत सेवा) किया करता था।

तात्पर्य : श्री नारद मुनि ने यहाँ पर भगवान् की भक्ति से सिक्त वातावरण की अद्‌भुतता का संक्षिप्त वर्णन किया है। वे एक अत्यन्त महत्त्वहीन माता-पिता की सन्तान थे। उनकी शिक्षा ठीक से नहीं हुई थी। तो भी उनकी समस्त शक्ति भगवान् की सेवा में संलग्न रहने के कारण वे अमर मुनि बन गये। ऐसी होती है भक्तिमय सेवा की शक्ति। सारे जीवात्मा भगवान् की तटस्था शक्ति हैं, अतएव उनकी सार्थकता भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करने में है। जब ऐसा नहीं हो पाता, तो मनुष्य की वह स्थिति माया कहलाती हैं। अतएव ज्योंही मनुष्य अपनी पूरी शक्ति को इन्द्रिय-भोग में न लगाकर भगवान् की सेवा में लगाता है, तो माया का सारा भ्रम दूर हो जाता है। श्री नारदमुनि के पूर्वजन्म के निजी उदाहरण से यह स्पष्ट है कि भगवान् की सेवा भगवान् के प्रामाणिक सेवकों की सेवा से ही प्रारम्भ होती है। भगवान् कहते हैं कि मेरे दासों की सेवा मेरी निजी सेवा से बढ़कर है। भक्त की सेवा भगवान् की सेवा से अधिक मूल्यवान है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की सेवा में निरन्तर रत रहने वाले भगवान् के किसी प्रामाणिक सेवक को चुने, उसे

अपना गुरु बनाए और उस गुरु की सेवा में अपने को लगाए। ऐसा गुरु एक पारदर्शी माध्यम है, जिससे उन भगवान् का दर्शन किया जा सकता है, जो भौतिक इन्द्रियों के बोध से परे हैं। प्रामाणिक गुरु की सेवा के अनुपात से ही भगवान् उसे अपनी अनुभूति कराते हैं। भगवान् की सेवा में मानव-शक्ति का सदुपयोग मुक्ति का प्रगतिशील पथ है। प्रामाणिक गुरु के मार्गदर्शन में भगवान् की सेवा करने पर, सारी विराट सृष्टि तुरन्त भगवान् से अभिन्न बन जाती है। सक्षम गुरु को वह कला ज्ञात रहती है, जिससे प्रत्येक वस्तु का उपयोग भगवान् के यशोगान के लिए किया जा सकता है, अत: उनके मार्गदर्शन से भगवान् के सेवक की दिव्य कृपा से सारे जगत को वैकुण्ठ धाम में परिणत किया जा सकता है।

ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भके
दान्तेऽधृतक्रीडनकेऽनुवर्तिनि ।
चक्रुः कृपां यद्यपि तुल्यदर्शनाः
शुश्रूषमाणे मुनयोऽल्पभाषिणि ॥ २४॥

शब्दार्थ

ते—वे; मयि—मुझ में; अपेत—न भोगकर; अखिल—सभी प्रकार की; चापले—रुचियाँ; अर्भके—बालक में; दान्ते—इन्द्रियों को वश में करके; अधृत-क्रीडनके—खेल-कूद की आदतों में अभ्यस्त न होकर; अनुवर्तिनि—आज्ञाकारी; चक्रुः—प्रदान किया; कृपाम्—अहैतुकी कृपा; यद्यपि—यद्यपि; तुल्य-दर्शनाः—स्वभाव से निष्पक्ष; शुश्रूषमाणे—श्रद्धावान के प्रति; मुनयः—वेदान्त के अनुयायी मुनिगण; अल्प-भाषिणि—मितभाषी, कम बोलने वाले।

यद्यपि वे स्वभाव से निष्पक्ष थे, किन्तु उन वेदान्त के अनुयायिओं ने मुझ पर अहैतुकी कृपा की। जहाँ तक मेरी बात थी, मैं इन्द्रियजित था और बालक होने पर भी खेलकूद से अनासक्त था। साथ ही, मैं चपल न था और कभी भी जरूरत से ज्यादा बोलता नहीं था (मितभाषी था)।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् कहते है, "सारे वेद मेरी खोज कर रहे हैं।" भगवान् श्री चैतन्य का कहना है कि वेदों के केवल तीन विषय हैं—भगवान् के साथ जीवों का सम्बन्ध स्थापित करना, भक्ति कर्म करना तथा इस प्रकार से भगवद्धाम जाने का परम उद्देश्य प्राप्त करना। इस तरह इन वेदान्तवादियों से भगवान् के शुद्ध भक्त के संकेत मिलते हैं। ऐसे *वेदान्तवादी* या

भक्तिवेदान्त भक्ति के दिव्य ज्ञान का वितरण निष्पक्ष भाव से करते हैं। उनके लिए न कोई मित्र है और न कोई शत्रु; न कोई शिक्षित है और न अशिक्षित; न कोई विशेष रूप से अनुकूल है और न कोई प्रतिकूल। *भक्तिवेदान्तीजन* यह देखते हैं कि लोग सामान्य रूप से झूठी कामोद्दीपक वस्तुओं में अपना समय गँवाते हैं। उनका कार्य है अज्ञानी जनता के भगवान् के साथ भूले हुए सम्बन्ध को पुन: स्थापित कराना। ऐसे प्रयास से विस्मृत से विस्मृत जीव को भी आध्यात्मिक जीवन का बोध हो जाता है और इस प्रकार *भक्तिवेदान्तों* द्वारा प्रेरित सामान्य लोग धीरे-धीरे दिव्य अनुभूति के पथ पर अग्रसर होने लगते हैं। इस प्रकार वेदान्त-वादियों ने उस बालक को इन्द्रियजित बनने के पूर्व ही दीक्षित कर लिया था और वह बचपन के खेलकूद से विरक्त हो गया था। किन्तु दीक्षा के पूर्व वह बालक अत्यधिक अनुशासित हो चुका था, क्योंकि इस मार्ग पर चलने वाले के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। मानव-जीवन के वास्तविक शुभारम्भ के समय से वर्णाश्रम धर्म प्रणाली में बालकों को पाँच वर्ष की आयु के बाद गुरु आश्रम में ब्रह्मचारी बनने के लिए भेजा जाता है, जहाँ उन्हें ये सारी चीजें नियमित ढंग से सिखाई जाती हैं, चाहे वे सामान्य नागरिकों के पुत्र हों या राजकुमार हों। यह प्रशिक्षण न केवल राज्य में अच्छे नागरिक उत्पन्न करने के निमित्त भी अनिवार्य था, अपितु बालक को भावी जीवन में आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त करने के लिए उसे तैयार करने के लिए भी अनिवार्य था। वर्णाश्रम प्रणाली का पालन करने वाले बालकों को इन्द्रिय-भोग के अनुत्तरदायी जीवन का पता ही नहीं रहता था। यहाँ तक कि जब पिता बालक को माता के गर्भ में स्थापित करता था, तो वह भी आध्यात्मिक संस्कार द्वारा होता था। बालक को भव-बन्धन से मुक्त कराकर उसे सफलता दिलाना माता-पिता का उत्तरदायित्व हुआ करता था। यही सफल परिवार नियोजन की विधि है। इसका उद्देश्य था पूर्ण सफलता के लिए सन्तान उत्पन्न करना। इन्द्रियजित हुए बिना, अनुशासित हुए बिना तथा पूर्ण रूप से आज्ञाकारी हुए बिना कोई भी व्यक्ति गुरु के उपदेशों का पालन करनें में सफल नहीं हो सकता और ऐसा किये बिना कोई भी व्यक्ति भगवान् के धाम को प्राप्त नहीं कर सकता।

उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः
सकृत्स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः ।
एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतस-
स्तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

उच्छिष्ट-लेपान्—जूठन; अनुमोदितः—अनुमति से; द्विजैः—वेदान्ती ब्राह्मणों द्वारा; सकृत्—एक बार; स्म—था; भुञ्जे—ग्रहण किया; तत्—उस कार्य से; अपास्त—नष्ट हो गये; किल्बिषः—सारे पाप; एवम्—इस प्रकार; प्रवृत्तस्य—लगे हुए; विशुद्ध-चेतसः—शुद्ध चित्त वाले का; तत्—वह विशेष; धर्मः—स्वभाव; एव—निश्चय ही; आत्म-रुचिः—दिव्य आकर्षण; प्रजायते—प्रकट हुआ। .

उनकी अनुमति से मैं केवल एक बार उनकी जूठन खाता था और ऐसा करने से मेरे सारे पाप तुरन्त ही नष्ट हो गये। इस प्रकार सेवा में लगे रहने से मेरा हृदय शुद्ध हो गया और तब वेदान्तियों का स्वभाव मेरे लिए अत्यन्त आकर्षक बन गया।

तात्पर्य : शुद्ध भक्ति संक्रामक रोग तुल्य है, किन्तु वह शुद्ध भाव में संक्रामक है। शुद्ध भक्त समस्त प्रकार के पापों से निर्मल हो जाता है। भगवान् विशुद्धतम सत्ता हैं और जब तक कोई भौतिक गुणों की संक्रामकता के द्वारा उन्हीं के समान शुद्ध न हो ले, तब तक वह भगवान् का शुद्ध भक्त नहीं बन सकता। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, *भक्तिवेदान्तजन* शुद्ध भक्त थे और यह बालक उनकी संगति से तथा एक बार उनका जूठन खाने से उनके गुणों से अभिभूत हो गया। ऐसी जूठन शुद्ध भक्तों की अनुमति के बिना भी ग्रहण की जा सकती है। लेकिन कभी-कभी छद्म भक्त भी होते हैं, अतः उनसे अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता है। ऐसी अनेक बातें हैं, जो भक्ति करने में बाधक होती हैं। किन्तु शुद्ध भक्तों की संगति से ऐसे सारे अवरोध दूर हो जाते हैं। नवदीक्षित भक्त शुद्ध भक्त के दिव्य गुणों से लगभग पूरित हो जाता है, जिसका अर्थ है भगवान् के नाम, यश, गुण, लीला आदि के प्रति आकर्षण। शुद्ध भक्त के गुणों की संक्रामकता का अर्थ है भगवान् की दिव्य लीलाओं के प्रति शुद्ध भक्ति की रुचि उत्पन्न करना। इस दिव्य रुचि के आगे सारी भौतिक वस्तुओं के प्रति कुरुचि उत्पन्न हो जाती है। अतः शुद्ध भक्त कभी भी भौतिक कार्यकलापों के प्रति आकर्षित नहीं होता। भक्ति के पथ के सारे अवरोधों या समस्त पापों के दूर होने पर ही मनुष्य ईश्वर के प्रति आसक्त हो सकता है, उसमें दृढ़ता आ सकती है, उसमें पूर्ण रुचि

उत्पन्न हो सकती है, उसमें दिव्य अनुभूतियाँ आ सकती हैं और अन्त में वह भगवान् की प्रेममय सेवा के घरातल पर स्थित हो सकता है। ये सारी अवस्थाएँ शुद्ध भक्तों की संगति से ही विकसित होती हैं और यही इस श्लोक का तात्पर्य है।

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायता-
मनुग्रहेणाश्रृणवं मनोहराः ।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विश्रृण्वतः
प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रुचिः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अनु—प्रतिदिन; अहम्—मैं; कृष्ण-कथाः—कृष्ण के कार्यकलापों का वर्णन; प्रगायताम्—गायन करते हुए; अनुग्रहेण—अहैतुकी कृपावश; अश्रृणवम्—सुनते हुए; मनः-हराः—आकर्षक; ताः—वे; श्रद्धया—आदरपूर्वक; मे—मेरा; अनुपदम्—प्रत्येक पग पर; विश्रृण्वतः—ध्यान से सुनते हुए; प्रियश्रवसि—भगवान् का; अङ्ग—हे व्यासदेव; मम—मेरा; अभवत्—ऐसी बन गई; रुचिः—प्रवृत्ति।

हे व्यासदेव, उस संगति में तथा उन महान् वेदान्तियों की कृपा से, मैं उनके द्वारा भगवान् कृष्ण की मनोहर लीलाओं का वर्णन सुन सका और इस प्रकार ध्यानपूर्वक सुनते रहने से भगवान् के विषय में प्रतिक्षण अधिकाधिक सुनने के प्रति मेरी रुचि बढ़तीही गई।

तात्पर्य : परम पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण न केवल अपने व्यक्तिगत लक्षणों के कारण आकर्षक हैं, अपितु अपने दिव्य कार्यकलापों के कारण भी हैं। इसका कारण यह है कि वे परम पुरुष अपने नाम, यश, रूप, लीलाओं, पार्षदों, साज-सामग्री इत्यादि के कारण निरपेक्ष अवस्था में हैं। भगवान् अपनी अहैतुकी कृपावश इस भौतिक जगत में अवतरित होते हैं और मनुष्य रूप में अपनी विविध दिव्य लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं, जिससे सब मनुष्य उनके प्रति आकृष्ट होकर भगवद्धाम वापस जा सकें। मनुष्य स्वभाव से लौकिक कार्यकलाप करने वाले विभिन्न पुरुषों के इतिहास तथा उनकी कथाएँ सुनने का इच्छुक रहता है, किन्तु उसे इसका ज्ञान नहीं रहता कि ऐसी संगति मात्र समय का अपव्यय है और इससे वह प्रकृति के तीनों गुणों से आसक्त होता जाता है। समय गँवाने की अपेक्षा भगवान् की दिव्य लीलाओं के प्रति ध्यान देने से उसे आध्यात्मिक लाभ हो सकता है।

भगवान् की लीलाओं की कथा सुनने से उसे भगवान् का प्रत्यक्ष सान्निध्य प्राप्त होता है और जैसाकि पहले कहा जा चुका है, भगवान् के विषय में श्रवण करने से अन्त:करण के सारे पाप धुल जाते हैं। इस प्रकार से पापों के धुल जाने पर श्रोता धीरे-धीरे सांसारिक संगति से मुक्त होकर भगवान् के स्वरूप के प्रति आकृष्ट होता है। नारद मुनि ने अपने निजी अनुभव के आधार पर ही इसकी व्याख्या की है। कहने का आशय यह है कि भगवान् की लीलाओं के श्रवण मात्र से मनुष्य भगवान् का पार्षद बन सकता है। नारद मुनि का जीवन शाश्वत है, उनका ज्ञान असीम तथा आनन्द अगाध है और वे बिना किसी बाधा के भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों में विचरण कर सकते हैं। मनुष्य सही व्यक्ति से भगवान् की दिव्य लीलाओं का श्रवण करके ही जीवन की परम पूर्णता प्राप्त कर सकता है, जिस प्रकार श्री नारद ने अपने पूर्वजन्म में शुद्ध भक्तों (भक्तिवेदान्तों) से सुनकर प्राप्त की। भक्तों की संगति में रह कर श्रवण करने की यह विधि इस कलह-प्रधान (कलि) युग के लिए विशेष रूप से संस्तुत की गई है।

तस्मिंस्तदा लब्धरुचेर्महामते
प्रियश्रवस्यस्खलिता मतिर्मम ।
ययाहमेतत्सदसत्स्वमायया
पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितं परे ॥ २७॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—ऐसा होने पर; तदा—उस समय; लब्ध—प्राप्त; रुचेः—रुचि; महा-मते—हे महामुनि; प्रियश्रवसि—भगवान् पर; अस्खलिता मतिः—अनवरत ध्यान; मम—मेरा; यया—जिससे; अहम्—मैं; एतत्—ये सब; सत्-असत्—स्थूल तथा सूक्ष्म; स्व-मायया—अपने ही अज्ञान से; पश्ये—देखता हूँ; मयि—मुझमें; ब्रह्मणि—सर्वोपरि; कल्पितम्—स्वीकार किया जाता है; परे—अध्यात्म में।

हे महामुनि, ज्योंही मुझे भगवान् का आस्वाद प्राप्त हुआ, त्योंही मेरा ध्यान भगवान् का श्रवण करने के प्रति अटल हो गया। और ज्योंही मेरी रुचि विकसित हो गई, त्योंही मुझे अनुभव हुआ कि मैंने अज्ञानतावश ही स्थूल तथा सूक्ष्म आवरणों को स्वीकार किया है, क्योंकि भगवान् तथा मैं दोनों ही दिव्य हैं।

तात्पर्य : भौतिक जगत में अज्ञानता की तुलना अंधकार से की जाती है और समस्त वैदिक साहित्य में भगवान् की तुलना सूर्य से की गई है। जहाँ कहीं प्रकाश होता है, वहाँ अंधकार नहीं रह पाता। भगवान् की लीलाओं का श्रवण स्वयं ही भगवान् की दिव्य संगति है, क्योंकि भगवान् तथा उनकी लीलाओं में कोई अन्तर नहीं होता। परम प्रकाश की संगति प्राप्त करने का अर्थ होगा सारे अज्ञान को भगाना। केवल अज्ञानवश ही बद्ध जीव झूठे ही यह सोचता है कि वह तथा भगवान् दोनों ही भौतिक प्रकृति से उत्पन्न हैं। लेकिन वास्तव में भगवान् तथा जीव दोनों दिव्य हैं और उन्हें भौतिक प्रकृति से कुछ लेना-देना नहीं होता। जब अज्ञान दूर हो जाता है और यह अनुभव किया जाता है कि भगवान् के बिना किसी भी चीज का अस्तित्व नहीं है, तब अविद्या हट जाती है। चूँकि स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर भगवान् से ही उद्भूत हैं, अतएव प्रकाश का ज्ञान होते ही इन दोनों शरीरों को भगवान् की सेवा में प्रवृत्त किया जा सकता है। स्थूल शरीर को भगवान् की सेवा करनें में (यथा जल लाने, मन्दिर बुहारने या नमस्कार करने आदि में) लगाना चाहिए। अर्चना में अर्थात् मन्दिर में भगवान् की पूजा करने में इस स्थूल शरीर का उपयोग भगवान् की सेवा करने में होता है। इसी प्रकार, सूक्ष्म मन को भगवान् की दिव्य लीलाओं के श्रवण, उनके चिन्तन, भगवान् के नाम के कीर्तन में लगाना चाहिए आदि। ऐसे सारे कार्य दिव्य हैं। इनके अतिरिक्त अन्य किसी भी कार्य में स्थूल या सूक्ष्म इन्द्रियों को प्रवृत्त नहीं करना चाहिए। दिव्य कार्यों की ऐसी अनुभूति अनेकानेक वर्षों तक भक्ति में रहकर सेवा करने से प्राप्त हो पाती है, लेकिन श्रवण के द्वारा नारद मुनि में जिस प्रकार से भगवान् के प्रति प्रेमाकर्षण उत्पन्न हुआ, वह अत्यन्त प्रभावशाली होता है।

इत्थं शरत्प्रावृषिकावृतू हरे-
र्विशृण्वतो मेऽनुसवं यशोऽमलम् ।
सङ्कीर्त्यमानं मुनिभिर्महात्मभि-
र्भक्तिः प्रवृत्तात्मरजस्तमोपहा ॥ २८॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; शरत्—शरद् ऋतु; प्रावृषिकौ—वर्षा ऋतु; ऋतू—दो ऋतुएँ; हरेः—भगवान् का; विशृण्वतः—निरन्तर श्रवण करते हुए; मे—मैं स्वयं; अनुसवम्—निरन्तर; यशः अमलम्—धवल कीर्ति; सङ्कीर्त्यमानम्—जपी जाकर; मुनिभिः—मुनियों द्वारा; महा-आत्मभिः—महात्माओं द्वारा; भक्तिः—भक्तिमय सेवा; प्रवृत्ता—प्रवाहित होने लगी; आत्म—जीव; रजः—रजोगुण; तम—तमोगुण; उपहा—नाश करने वाली।

इस प्रकार वर्षा तथा शरद् दोनों ऋतुओं में, मुझे इन महामुनियों से भगवान् हरि की धवल कीर्ति का निरन्तर कीर्तन सुनते रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ। ज्योंही मेरी भक्ति का प्रवाह होने लगा कि रजोगुण तथा तमोगुण के सारे आवरण विलुप्त हो गये।

तात्पर्य : परमेश्वर की दिव्य भक्तिमय सेवा प्रत्येक जीव की सहज प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति प्रत्येक प्राणी में सु-सुप्त रहती है, लेकिन भौतिक प्रकृति के सम्पर्क के कारण रजोगुण तथा तमोगुण अनन्त काल से इसे आच्छादित करते रहे हैं। यदि भगवान् तथा उनके महान भक्तों के अनुग्रह से कोई जीव इतना भाग्यशाली होता है कि उसे विशुद्ध भक्तों की संगति प्राप्त हो जाय और भगवान् के निर्मल महिमा गान को सुनने का अवसर मिल जाय, तो निश्चय ही भक्ति का प्रवाह नदी के प्रवाह की ही तरह होने लगता है। जिस प्रकार नदी तब तक प्रवाहित होती रहती है, जब तक वह समुद्र तक न पहुँच जाय, उसी प्रकार शुद्ध भक्तों की संगति से विशुद्ध भक्ति की धारा तब तक प्रवाहित होती रहती है जब तक वह चरम लक्ष्य अर्थात् भगवान् के दिव्य प्रेम तक नहीं पहुँच जाती। भक्ति का ऐसा प्रवाह रोके नहीं रुकता, अपितु यह असीमित रूप से अधिकाधिक बढ़ता जाता है। भक्ति का प्रवाह इतना सक्षम होता है कि कोई दर्शक भी रजोगुण तथा तमोगुण के प्रभाव से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार प्रकृति के ये दोनों गुण दूर हो जाते हैं और जीव अपनी मूल स्थिति को प्राप्त करके मुक्त हो जाता है।

तस्यैवं मेऽनुरक्तस्य प्रश्रितस्य हतैनसः ।
श्रद्दधानस्य बालस्य दान्तस्यानुचरस्य च ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; एवम्—इस प्रकार; मे—मेरा; अनुरक्तस्य—उनसे आसक्त; प्रश्रितस्य—आज्ञाकारी का; हत—मुक्त; एनसः—पापों से; श्रद्दधानस्य—श्रद्धावान; बालस्य—बालक का; दान्तस्य—संयमी का; अनुचरस्य—उपदेशों का दृढ़ता से पालन करने वाले का; च—तथा।

मैं उन मुनियों के प्रति अत्यधिक आसक्त था। मेरा आचरण विनम्र था और उनकी सेवा के कारण मेरे सारे पाप विनष्ट हो चुके थे। मेरे हृदय में उनके प्रति प्रबल श्रद्धा थी। मैंने इन्द्रियों को वश में कर लिया था और मैं तन तथा मन से उनका दृढ़ता से अनुगमन करता रहा था।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त के पद तक उन्नत होने के इच्छुक व्यक्ति के लिए ये ही आवश्यक योग्यताएँ हैं। ऐसे व्यक्ति को सदैव शुद्ध भक्तों के सान्निध्य की खोज करनी चाहिए। उसे छद्म भक्त से गुमराह नहीं हो जाना चाहिए। स्वयं उसे भी शुद्ध भक्त से उपदेश ग्रहण करने के लिए सरल तथा विनम्र होना चाहिए। शुद्ध भक्त पूर्ण रूप से भगवान् की शरण में रहता है। वह भगवान् को ही परम स्वामी तथा अन्यों को उनके सेवक रूप में जानता है। केवल शुद्ध भक्तों की संगति से ही लौकिक संगति से संचित होने वाले समग्र पापों से छूटा जा सकता है। नवदीक्षित भक्त को शुद्ध भक्त की श्रद्धापूर्वक सेवा करनी चाहिए। उसे अत्यन्त आज्ञाकारी होना चाहिए और उपदेशों का दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिए। ये लक्षण हैं उस भक्त के जो इसी जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ है।

ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत्साक्षाद्भगवतोदितम् ।
अन्ववोचन् गमिष्यन्तः कृपया दीनवत्सलाः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

ज्ञानम्—ज्ञान; गुह्यतमम्—गोपनीय; यत्—जो है; तत्—उस; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवता उदितम्—स्वयं भगवान् द्वारा प्रतिपादित; अन्ववोचन्—उपदेश दिया; गमिष्यन्तः—जाते समय; कृपया—अहैतुकी कृपा से; दीन-वत्सलाः—जो दीनों के प्रति अत्यन्त दयालु हैं।

दीन जनों पर अत्यन्त दयालु, उन भक्तिवेदान्तों ने जाते समय मुझे उस गुह्यतम विषय का उपदेश, जिसका उपदेश स्वयं भगवान् देते हैं।

तात्पर्य : विशुद्ध वेदान्ती या *भक्तिवेदान्त* अपने अनुयायियों को स्वयं भगवान् के उपदेशों के मुताबिक ही उपदेश देता है। भगवान् ने *भगवद्गीता* में तथा अन्य सारे शास्त्रों में निश्चित रूप से यह उपदेश दिया है कि लोग उन्हीं का अनुगमन करें। भगवान् प्रत्येक वस्तु के सृष्टा, पालक तथा

संहारक हैं। सारा दृश्य जगत उनकी इच्छा के बल पर अवस्थित है और जब उनकी इच्छा से सारा खेल समाप्त हो जाता है, तब वे अपनी सारी साज-सामग्री समेत अपने दिव्य धाम में बने रहते हैं। सृष्टि के पूर्व वे अपने इसी दिव्य धाम में थे और प्रलय के बाद भी वहीं बने ही रहेंगे। अतएव वे सृजित प्राणियों में से एक नहीं हैं। वे दिव्य हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि अर्जुन को दिये गये उपदेश के भी बहुत पहले उन्होंने यही उपदेश सूर्यदेव को दिया था। चूँकि बीच में यह शृंखला टूट गई थी और यह उपदेश गलत तरीके से उपयोग में लाया जाने लगा था, अत: वही उपदेश अर्जुन को फिर से दिया गया, क्योंकि वह उनका परम भक्त एवं मित्र था। अतएव भगवान् का उपदेश भक्तों के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं समझ सकता। भगवान् के दिव्य रूप का कोई अनुमान न होने के कारण निर्विशेषवादी भगवान् के इस गुह्यतम सन्देश को नहीं समझ पाते। यहाँ पर *गुह्यतमम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भक्ति का ज्ञान निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान से बढ़कर है। *ज्ञानम्* का अर्थ होता है, सामान्य ज्ञान या ज्ञान की कोई शाखा। यही ज्ञान विकसित होते हुए निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान तक पहुँच जाता है। इसके ऊपर, जब इसमें कुछ-कुछ भक्ति मिल जाती है, तो यह परमात्मा का ज्ञान या सर्वव्यापी भगवान् का ज्ञान बन जाता है। यह अत्यन्त गुह्य है। किन्तु यदि यह ज्ञान शुद्ध भक्तिमय सेवा में परिणत हो जाता है और दिव्य ज्ञान का गुह्य अंश प्राप्त हो जाता है, तो यह गुह्यतम ज्ञान कहलाता है। भगवान् ने ब्रह्मा, अर्जुन, उद्धव इत्यादि को यह गुह्यतम ज्ञान प्रदान किया।

येनैवाहं भगवतो वासुदेवस्य वेधसः ।
मायानुभावमविदं येन गच्छन्ति तत्पदम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

येन—जिससे; एव—निश्चय ही; अहम्—मैं; भगवतः—भगवान् का; वासुदेवस्य—भगवान् श्रीकृष्ण का; वेधसः—परम स्त्रष्टा का; माया—शक्ति; अनुभावम्—प्रभाव; अविदम्—सरलता से समझा गया; येन—जिससे; गच्छन्ति—जाते हैं; तत्-पदम्—भगवान् के चरणकमलों में।

उस गुह्य ज्ञान से, मैं सम्पूर्ण पदार्थों के सृष्टा, पालक तथा संहार-कर्ता भगवान् श्रीकृष्ण की शक्ति के प्रभाव को ठीक-ठीक समझ सका। उसे जान लेने पर कोई भी मनुष्य उनके पास लौटकर उनसे साक्षात् भेंट कर सकता है।

तात्पर्य : कोई भी मनुष्य, भक्तिमय सेवा द्वारा या गुह्यतम ज्ञान से, यह सरलतापूर्वक जान सकता है कि भगवान् की विभिन्न शक्तियाँ किस प्रकार से कार्य करती हैं। शक्ति के एक अंश से भौतिक जगत का प्राकट्य होता है, दूसरे (उच्चतर) अंश से आध्यात्मिक जगत (वैकुण्ठ) प्रकट होता है। इन दोनों की मध्यवर्ती शक्ति जीवों को प्रकट करती है, जो उपर्युक्त शक्तियों में से किसी एक की सेवा करते हैं। भौतिक शक्ति की सेवा में लगे जीव अपने अस्तित्व तथा सुख के लिए कठोर संघर्ष करते हैं, जो उनके समक्ष मोह (भ्रम) के रूप में प्रस्तुत होते हैं। किन्तु जो आध्यात्मिक शक्ति में रहते हैं, उन्हें सनातन जीवन, पूर्ण ज्ञान तथा अविरत आनन्द में भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा प्रदान की जाती है। जैसा कि *भगवद्गीता* में भगवान् ने कहा है, उनकी इच्छा है कि सारे बद्धजीव, जो भौतिक शक्ति की सत्ता में सड़ रहे हैं, इस भौतिक जगत के सारे कार्य-व्यापारों को त्यागकर उनके पास वापस आ जाँए। ज्ञान का यह गुह्यतम अंश है। लेकिन इसे शुद्ध भक्त ही समझ सकते हैं, अतएव वे ही भगवान् के धाम में उनका दर्शन करने तथा उनकी सेवा करने के लिए पहुँच पाते हैं। इसका ज्वलन्त उदाहरण स्वयं नारद जी हैं, जिन्हें शाश्वत ज्ञान तथा शाश्वत आनन्द की यह अवस्था प्राप्त हुई। इसके सारे साधन तथा मार्ग हर एक के लिए खुले रहते हैं, बशर्ते कि वह श्री नारद मुनि के चरणचिह्नों का अनुगमन करने के लिए राजी हो जाता है। श्रुति के अनुसार, परमेश्वर की शक्तियाँ (अनायास ही)असीम हैं और जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, वे तीन प्रमुख कोटियों में वर्णित की गई हैं।

एतत्संसूचितं ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सितम् ।
यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

एतत्—इतना; संसूचितम्—विद्वानों द्वारा निर्धारित; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण व्यास; ताप-त्रय—तीन प्रकार के ताप (कष्ट) ; चिकित्सितम्—उपचार, औषधि; यत्—जो; ईश्वरे—परम नियामक; भगवति—भगवान् में; कर्म—नियत कार्य; ब्रह्मणि—ब्रह्म में; भावितम्—समर्पित।

हे ब्राह्मण व्यासदेव, विद्वानों द्वारा यह निश्चित हुआ है कि समस्त कष्टों तथा दुखों के उपचार का सर्वोत्तम उपाय यह है कि अपने सारे कर्मों को भगवान् (श्रीकृष्ण) की सेवा में समर्पित कर दिया जाय।

तात्पर्य : श्री नारद मुनि ने स्वयं यह अनुभव किया कि मोक्ष का मार्ग खोलने या जीवन के समस्त कष्टों से छूट पाने के लिए, सबसे सहज तथा व्यावहारिक उपाय यह है कि सही तथा प्रामाणिक स्रोत से भगवान् की दिव्य लीलाओं का विनीत भाव से श्रवण किया जाय। यही उपचार की एकमात्र औषधि विधि है। यह सारा भौतिक जगत कष्टों से भरा है। मूर्ख लोगों ने अपने क्षुद्र मस्तिष्कों के बल पर शरीर तथा मन से सम्बन्धित एवं अन्य जीवों के सन्दर्भ में प्राकृतिक विपदाओं से सम्बन्धित तीन प्रकार के कष्टों को दूर करने के अनेक उपचार ढूँढ निकाले हैं। सारा संसार इन कष्टों से उबरने के लिए कठिन संघर्ष कर रहा है, किन्तु लोग यह नहीं जानते कि भगवान् की अनुमति के बिना न तो किसी योजना से, न ही किसी उपचार विधि से वांछित शान्ति एवं उपशमन लाया जा सकता है। यदि भगवान् की स्वीकृति न हो तो औषधि उपचार द्वारा रोगी को स्वस्थ करने का प्रयास व्यर्थ होगा। यदि भगवान् की स्वीकृति न हो तो नदी या समुद्र को नाव द्वारा पार करना कोई उपचार नहीं है। हमें यह निश्चित रूप से ज्ञात होना चाहिए कि भगवान् ही परम स्वीकृति-दाता हैं, अतएव अन्तिम सफलता के लिए या सफलता के मार्ग के अवरोधों से मुक्ति पाने के लिए हमें अपने सारे प्रयास भगवान् को समर्पित कर देने चाहिए। भगवान् सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ हैं। वे समस्त अच्छे या बुरे फलों के चरम स्वीकृतिदाता हैं। अतएव हमें चाहिए कि हम अपने सारे कर्म भगवान् की कृपा को समर्पित करें और उन्हें ही निर्गुण ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा या पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् के रूप में स्वीकारें। फिर चाहे हम जो भी हों, हमें प्रत्येक वस्तु भगवान् की सेवा में समर्पित करनी चाहिए। यदि कोई विद्वान, विज्ञानी, दार्शनिक, कवि इत्यादि है, तो उसे चाहिए कि भगवान् की श्रेष्ठता स्थापित करने

के लिए अपने ज्ञानका उपयोग करे। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भगवान् की शक्ति का अध्ययन करने का प्रयास करो। न तो उनका बहिष्कार करो और न ही अल्प ज्ञान संग्रह करके उनके समान बनने या उनका स्थान ग्रहण करने का प्रयास करो। यदि कोई प्रशासक, राजनीतिज्ञ, योद्धा इत्यादि है, तो उसे चाहिए कि राजधर्मिता में भगवान् की सर्वश्रेष्ठता स्थापित करने का यत्न करे। उसे चाहिए कि श्री अर्जुन की भाँति भगवान् के लिए युद्ध करे। प्रारम्भ में, महान योद्धा श्री अर्जुन ने युद्ध करने से इनकार कर दिया था, किन्तु जब भगवान् ने उसे विश्वास दिलाया कि युद्ध करना आवश्यक है, तो उसने अपना इरादा बदल दिया और भगवान् के लिए युद्ध किया। इसी प्रकार यदि कोई व्यापारी है, उद्योगपति है या किसान है, तो उसे चाहिए कि अपनी गाढ़ी कमाई का खर्च भगवान् के लिए करे। सदैव यही सोचना चाहिए कि जितना भी संचित धन है, वह भगवान् की सम्पदा है। सम्पदा को भाग्य की देवी (लक्ष्मी) माना जाता है और भगवान् तो नारायण या लक्ष्मीपति हैं। अतएव लक्ष्मी को भगवान् नारायण की सेवा में लगाने का प्रयत्न करो और सुखी बनो। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भगवान् की अनुभूति करने का यही रास्ता है। अन्ततः, सर्वोत्तम बात तो यह होगी कि समस्त भौतिक कार्यों से छुटकारा पाकर अपने आपको भगवान् की दिव्य लीलाओं के श्रवण में लगाया जाय। किन्तु ऐसा अवसर प्राप्त न होने पर मनुष्य को चाहिए कि वह जिन-जिन वस्तुओं के प्रति आकर्षित है, उन्हें वह भगवान् की सेवा में लगाने का प्रयास करे। शान्ति तथा सम्पन्नता का यही मार्ग है। इस श्लोक में *संसूचितम्* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। किसी को कभी यह नहीं सोचना चाहिए कि नारद की अनुभूति बाल-कल्पना मात्र थी। ऐसा नहीं है। इसकी अनुभूति कुशल तथा प्रकांड विद्वानों ने की है और *संसूचितम्* शब्द का यही असली आशय है।

आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत ।
तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

आमयः—व्याधियाँ; यः च—जो भी; भूतानाम्—जीवों की; जायते—सम्भव होती है; येन—जिसके द्वारा; सुव्रत—हे महात्मा; तत्—वह; एव—ही; हि—निश्चय ही; आमयम्—व्याधि; द्रव्यम्—वस्तु; न—नहीं; पुनाति—अच्छा करती है; चिकित्सितम्—उपचार की गई।.

हे श्रेष्ठ पुरुष, क्या भैषज विज्ञान की विधि से प्रयुक्त की गई कोई वस्तु उस रोग को ठीक नहीं कर देती, जिससे ही वह रोग उत्पन्न हुआ हो?

तात्पर्य : कुशल चिकित्सक अपने रोगी की चिकित्सा अनुपान द्वारा करता है। उदाहरणार्थ, कभी-कभी दूध के बने पदार्थ खाने से पेट गड़बड़ा जाता है, किन्तु जब उसी दूध को दही में परिणत करके उसमें कुछ अन्य औषधियाँ मिला दी जाती हैं, तो वह उस गड़बड़ी को दूर कर देता है। इसी प्रकार भौतिक जगत के ताप-त्रय को केवल भौतिक कार्यों से दूर नहीं किया जा सकता। ऐसे कार्यों को उसी तरह आध्यात्मिक बनाने की आवश्यकता है, जिस प्रकार पहले लोहे को अग्नि में तपाकर लाल कर लिया जाता है और तब अग्नि अपना कार्य करती है। इसी प्रकार किसी वस्तु की भौतिक अवधारणा तुरन्त ही बदल जाती है, यदि हम उसे भगवान् की सेवा में लगा देते हैं। आध्यात्मिक सफलता का यही रहस्य है। हमें न तो प्रकृति पर प्रभुत्व जताने का प्रयास करना चाहिए और न ही भौतिक वस्तुओं का परित्याग करना चाहिए। बुरे सौदे के सदुपयोग की सर्वश्रेष्ठ विधि यह है कि सारी की सारी वस्तुओं का उपयोग भगवान् के लिए किया जाये। प्रत्येक वस्तु परमात्मा से उद्भूत है। वे अपनी अचिन्त्य शक्ति से आत्मा को पदार्थ में तथा पदार्थ को आत्मा में बदल सकते हैं। अतः भगवान् की परमेच्छा से कोई भी (तथाकथित) भौतिक वस्तु तुरन्त ही आध्यात्मिक शक्ति में बदल सकती है। ऐसे परिवर्तन के लिए आवश्यक शर्त यह है कि तथाकथित पदार्थ को आत्मा की सेवा में लगाया जाए। अपने भौतिक रोगों का उपचार करने तथा अपने आपको उस आध्यात्मिक स्तर तक उठाने के लिए, जहाँ न दुख है, न शोक और न भय, यही एकमात्र उपाय है। इस प्रकार जब प्रत्येक वस्तु भगवान् की सेवा में लगा दी जाती है, तो हमें अनुभव होता है कि परब्रह्म के अलावा कुछ भी नहीं है। इस प्रकार *सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—यह वैदिक मन्त्र चरितार्थ होता है।

एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः ।
त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे ॥ ३४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; नृणाम्—मनुष्यों के; क्रिया-योगाः—सारे कार्यकलाप; सर्वे—सब कुछ; संसृति—भौतिक अस्तित्व; हेतवः—कारण; ते—वे; एव—निश्चय ही; आत्म—कार्य रूपी वृक्ष; विनाशाय—नष्ट करने के लिए; कल्पन्ते—सक्षम होते हैं; कल्पिताः—समर्पित; परे—परमेश्वर में।.

इस प्रकार जब मनुष्य के सारे कार्यकलाप भगवान् की सेवा में समर्पित होते हैं, तो वही सारे कर्म जो उसके शाश्वत बन्धन के कारण होते हैं, कर्म रूपी वृक्ष के विनाशकर्ता बन जाते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में जीवों को निरन्तर व्यस्त रखने वाले सकाम कर्म की तुलना वटवृक्ष (अश्वत्थ) से की गई है, क्योंकि इसकी जड़ें बहुत गहरी होती हैं। जब तक कर्म के फल का भोग करने की इच्छा रहती है, तब तक कर्म के अनुसार आत्मा का देहान्तरण एक शरीर से दूसरे में, एक स्थान से दूसरे स्थान में होता रहता है। यही भोगेच्छा भगवान् की सेवा करने की इच्छा में बदली जा सकती है। ऐसा करने से मनुष्य का कार्य *कर्मयोग* में अथवा उस मार्ग में बदल जाता है, जिससे मनुष्य अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार कर्म करते हुए आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त कर सकता है। यहाँ पर *आत्मा* शब्द समस्त सकाम कर्म की कोटियों का सूचक है। निष्कर्ष यह निकलता है कि जब समस्त सकाम तथा अन्य कर्मों को भगवान् की सेवा में लगा दिया जाता है, तब फिर नये कर्म उत्पन्न नहीं होते और धीरे-धीरे दिव्य भक्तिमय सेवा का विकास होता है, जिससे न केवल कर्म रूपी अश्वत्थ वृक्ष का पूर्ण रूप से मूलोच्छेद होगा, अपितु वह कर्ता को भगवान् के चरणकमलों तक ले जाएगी।

सारांश यह है कि मनुष्य को सर्वप्रथम ऐसे शुद्ध भक्तों की संगति खोजनी होती है, जो न केवल वेदान्त के पण्डित हों, अपितु स्वरूपसिद्ध तथा भगवान् श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त हों। इस संगति में नवदीक्षित भक्तों को चाहिए कि बिना भेदभाव के तन तथा मन से प्रेमपूर्ण सेवा करें। इस सेवा-वृत्ति से प्रेरित होकर महापुरुष अपनी कृपा प्रदान करने के लिए अधिक इच्छुक होंगे, जिससे नवदीक्षित भक्त में शुद्ध भक्तों के दिव्य गुणों का समावेश हो सकेगा। धीरे-धीरे इससे

भगवान् की दिव्य लीलाओं के श्रवण के प्रति प्रगाढ़ रुचि उत्पन्न हो सकेगी, जिससे वह स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों की स्वाभाविक स्थिति तथा उससे भी परे शुद्ध आत्मा तथा परमात्मा के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। शाश्वत सम्बन्ध की स्थापना के जुड़ जाने के बाद धीरे-धीरे भगवान् की शुद्ध भक्ति विकसित होकर भगवान् के पूर्ण ज्ञान का रूप धारण कर लेती है, जो निर्गुण ब्रह्म तथा अन्तर्यामी परमात्मा की परिधि के बाहर है। ऐसे पुरुषोत्तम योग से, जिसका *भगवद्गीता* में उल्लेख है, मनुष्य इसी शरीर में परिपूर्ण बन जाता है और उसमें सर्वोच्च मात्रा में भगवान् के उत्तम गुण दिखने लगते हैं। शुद्ध भक्तों की संगति से ऐसा ही क्रमिक विकास होता है।

यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम् ।
ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो भी; अत्र—इस जीवन या जगत में; क्रियते—करता है; कर्म—कार्य; भगवत्—भगवान् की; परितोषणम्—तुष्टि हेतु; ज्ञानम्—ज्ञान; यत् तत्—जो इस तरह कहलाता है; अधीनम्—आश्रित; हि—निश्चय ही; भक्ति-योग—भक्ति सम्बन्धी; समन्वितम्—भक्तियोग से युक्त।

इस जीवन में भगवान् की तुष्टि के लिए जो भी कार्य किया जाता है, उसे भक्तियोग अथवा भगवान् के प्रति दिव्य प्रेमा भक्ति कहते हैं और जिसे ज्ञान कहते हैं, वह तो सहगामी कारक बन जाता है।

तात्पर्य : आम तौर पर लोकप्रियधारणा यह है कि शास्त्रानुमोदित विधि से सकाम कर्म करने से मनुष्य आत्म-साक्षात्कार के लिए दिव्य ज्ञान प्राप्त करने के योग्य बन जाता है। कुछ लोग भक्तियोग को कर्म का दूसरा रूप मानते हैं। लेकिन वस्तुत: भक्तियोग कर्म तथा ज्ञान दोनों ही से ऊपर है। भक्तियोग ज्ञान या कर्म से स्वतन्त्र है, जबकि ज्ञान तथा कर्म भक्तियोग के आश्रित हैं। यह क्रियायोग या कर्मयोग, जिसकी संस्तुति नारद ने व्यास के लिए की है, विशेष रूप से संस्तुत हुआ है, क्योंकि मूल सिद्धान्त तो भगवान् को प्रसन्न करना है। भगवान् नहीं चाहते कि उनके पुत्र रूप सारे जीव, जीवन के त्रिविध तापों से पीड़ित रहें। वे चाहते रहते हैं कि वे सब उनके पास

आकर साथ-साथ रहें, लेकिन भगवान् के धाम वापस जाने का अर्थ यह है कि मनुष्य अपने को सांसारिक कल्मषों से शुद्ध कर ले। अत: जब भगवान् को तुष्ट करने के लिए कर्म किया जाता है, तो कर्ता धीरे-धीरे भौतिक कल्मष से शुद्ध होता रहता है। इस शुद्धिकरण का अर्थ है, आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति। अतएव ज्ञान भगवान् के लिए किये गये कर्म पर आश्रित है। भक्तियोग या भगवान् की तुष्टि से विहीन अन्य ज्ञान, किसी को भगवद्धाम नहीं पहुँचा सकता जिसका अर्थ यह हुआ कि वह मोक्ष भी नहीं दिला सकता, जैसा कि *नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितम्* श्लोक में व्याख्या की जा चुकी है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि जो भक्त भगवान् की अनन्य सेवा में, विशेष रूप से भगवान् की दिव्य महिमा के श्रवण तथा कीर्तन में लगा रहता है, वह दैवी कृपा से साथ ही साथ आध्यात्मिक प्रकाश प्राप्त करता रहता है जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में की गई है।

कुर्वाणा यत्र कर्माणि भगवच्छिक्षयासकृत् ।
गृणन्ति गुणनामानि कृष्णस्यानुस्मरन्ति च ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

कुर्वाणाः—करते हुए; यत्र—जहाँ; कर्माणि—कर्तव्य; भगवत्—भगवान् की; शिक्षया—इच्छा से; असकृत्—निरन्तर; गृणन्ति—ग्रहण करता है; गुण—गुण; नामानि—नाम; कृष्णस्य—कृष्ण के; अनुस्मरन्ति—निरन्तर स्मरण करता है; च—तथा।

पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के आदेशानुसार कर्म करते हुए मनुष्य निरन्तर उनका उनके नामों का तथा उनके गुणों का स्मरण करता है।

तात्पर्य : भगवान् का कुशल भक्त अपने जीवन को इस प्रकार ढाल सकता है कि चाहे इस जीवन के लिए सभी प्रकार के कार्य करे या अगले जन्म के लिए, वह निरन्तर भगवान् के नाम, यश, गुणों इत्यादि का स्मरण करता रहे। भगवान् का आदेश *भगवद्गीता* में सुस्पष्ट है—मनुष्य को जीवन के समस्त क्षेत्रों में भगवान् के लिए ही कर्म करना चाहिए। भगवान् को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वामी के रूप में स्थित होना चाहिए। वैदिक अनुष्ठानों के अनुसार इन्द्र, ब्रह्मा, सरस्वती तथा गणेश जैसे कतिपय देवताओं की पूजा तक में, प्रत्येक दशा में विष्णु का प्रतिनिधित्व यज्ञेश्वर

के रूप में होना चाहिए। ऐसा विधान है कि विशिष्ट देवता की पूजा विशेष कार्य के लिए की जाए, लेकिन फिर भी विष्णु की उपस्थिति अनिवार्य रहती है, जिससे कार्य भलीभाँति सम्पन्न हो सके।

ऐसे वैदिक कर्तव्यों के साथ ही साथ, हमारे सामान्य व्यवहारों (उदाहरणार्थ, हमारे घरेलू कार्यों या व्यापार अथवा व्यवसाय) में हमें ध्यान रखना चाहिए कि हम अपने कार्यों का फल परम भोक्ता भगवान् कृष्ण को अर्पित करें। *भगवद्गीता* में स्वयं भगवान् ने यह घोषित किया है कि वे ही सभी वस्तुओं के परम भोक्ता हैं, वे ही प्रत्येक लोक के परम स्वामी हैं और वे ही समस्त जीवों के परम मित्र हैं। अपनी सृष्टि में केवल कृष्ण ही अपने को सबका स्वामी कह सकते हैं, अन्य कोई नहीं। शुद्ध भक्त इसे सदैव स्मरण रखता है और ऐसा करते समय वह भगवान् के दिव्य नाम, यश तथा गुणों को दुहराता जाता है, जिसका अर्थ होता है कि वह निरन्तर भगवान् के सम्पर्क में है। चूँकि भगवान् अपने नाम, यश इत्यादि से अभिन्न हैं, अत: उनके नाम, यश इत्यादि से सम्बद्ध होने का अर्थ उनकी वास्तविक संगति करना है।

हमारी आर्थिक आय का कम-से-कम पचास प्रतिशत हिस्सा भगवान् कृष्ण के आदेशों की पूर्ति करने में व्यय होना चाहिए। इसके लिए हमें अपनी कमाई के लाभांश का ही उपयोग नहीं करना चाहिए, अपितु अन्यों को इस भक्ति सम्प्रदाय का उपदेश भी देना चाहिए, क्योंकि यह भी भगवान् का एक आदेश है। भगवान् का यह स्पष्ट कथन है कि जो सारे विश्व में उनके नाम तथा यश के प्रचार-प्रसार कार्य में लगा है, वह उन्हें सर्वाधिक प्रिय है। इस भौतिक जगत की वैज्ञानिक खोजों को भी समान रूप से भगवान् के आदेशों का पालन करने में लगाया जा सकता है। वे चाहते हैं कि *भगवद्गीता* के सन्देश का प्रचार उनके भक्तों में किया जाए। जिन लोगों के पास तपस्या, दान, शिक्षा इत्यादि की कोई-पूँजी नहीं है, उनमें चाहे इसका प्रचार न भी हो। अतएव अनिच्छुक लोगों को भगवान् के भक्त बनाने के लिए प्रयास होते रहना चाहिए। इसके सम्बन्ध में भगवान् चैतन्य ने एक सरल विधि बताई है। उन्होंने गायन, नर्तन तथा प्रसाद वितरण के माध्यम से दिव्य संदेश का उपदेश देने की विधि बताई है। अतएव हमें अपनी आय का आधा भाग ऐसे

प्रयोजन के लिए व्यय करना चाहिए। कलह और धर्म विरोध के इस युग में, यदि समाज के जाने-माने और धनवान व्यक्ति अपनी आय का आधा हिस्सा भगवान् की सेवा में लगाने की सहमत हो जाँय, जैसा श्री चैतन्य महाप्रभु ने सिखाया है, निश्चित ही इस उपद्रव भरे नरक जैसे संसार को भगवान का दिव्य धाम बनाया जा सकता है। जहाँ अच्छा गायन, नर्तन और प्रसाद बंट रहा हो, वहा जाने को कोई इनकार नहीं करेगा। ऐसे समारोह में सभी सम्मिलित होना चाहेंगे और हर एक को भगवान् की दिव्य उपस्थिति का अनुभव होगा। इसीसे सेवक को भगवान् की संगति का लाभ हो सकता है और इस तरह वह आत्म-साक्षात्कार के लिए अपने को शुद्ध बना सकता है। ऐसे आध्यात्मिक कार्यों को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने की एकमात्र शर्त यह है कि ये सारे कार्य ऐसे शुद्ध भक्त के निर्देशन में सम्पन्न हों, जो समस्त लौकिक इच्छाओं, सकाम कर्मों तथा भगवान् की प्रकृति के विषय में शुष्क चिन्तनों से मुक्त हो। किसी को भगवान् की प्रकृति खोजने की आवश्यकता नहीं है। भगवान् ने स्वयं ही, विशेष रूप से *भगवद्गीता* में तथा सामान्य रूप से अन्य वैदिक साहित्य में, इसका वर्णन किया है। हमें केवल उन्हें यथारूप ग्रहण करके भगवान् के आदेशों का पालन करना है। इससे हमें सिद्धि-पथ प्राप्त हो सकेगा। किसी को अपनी स्थिति छोड़नी नहीं होगी, विशेषकर, विविध कठिनाइयों के इस युग में; वह अपनी स्थिति (पद) में बना रह सकता है। शर्त एक ही है कि उसे भगवान् से तदाकार होने का शुष्क चिन्तन त्यागना होगा। इस प्रकार की अहंकारपूर्ण महत्त्वाकांक्षा को त्याग कर उसे चाहिए कि वह किसी प्रामाणिक भक्त से, जिसकी योग्यताएँ ऊपर बताई गई हैं, विनीत भाव से *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* में प्राप्त भगवान् के आदेशों को ग्रहण करे। इससे सभी कुछ सफल हो सकेगा, इसमें सन्देह नहीं।

ॐ नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च ॥ ३७॥

शब्दार्थ

ॐ—भगवान् की दिव्य महिमा के कीर्तन का प्रतीक; नमः—भगवान् को नमस्कार करना; भगवते—भगवान् को; तुभ्यम्—तुमको; वासुदेवाय—वसुदेव के पुत्र भगवान् को; धीमहि—उच्चारण या कीर्तन करें; प्रद्युम्नाय अनिरुद्धाय सङ्कर्षणाय—ये तीनों वासुदेव के पूर्ण अंश हैं; नमः—सादर नमस्कार है; च—तथा।

आइये, हम सब वासुदेव तथा उनके पूर्ण अंश प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा संकर्षण सहित उनकी महिमा का कीर्तन करें।

तात्पर्य : *पञ्चरात्र* के अनुसार, नारायण ईश्वर के समस्त विस्तारों के आदि कारण हैं। ये विस्तार हैं—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध। वासुदेव तथा संकर्षण बाएँ-दाएँ आसीन हैं, प्रद्युम्न संकर्षण के दाएँ हैं और अनिरुद्ध वासुदेव की बाईं ओर आसीन हैं। इस प्रकार ये चारों विग्रह आसीन रहते हैं। ये चारों भगवान् श्रीकृष्ण के चतुर्व्यूह के रूप में जाने जाते हैं।

यह एक वैदिक मन्त्र है जो *ॐकार प्रणव* से प्रारम्भ होता है। इस प्रकार इस मंत्र को *ॐ* नमो धीमहि... के रूप में दिव्य उच्चारण (कीर्तन) के द्वारा स्थापित किया जाता है।

तात्पर्य यह है कि कोई भी आदान-प्रदान, चाहे वह सकाम कर्म के क्षेत्र में हो या ज्ञान के क्षेत्र में हो, जिसका परम लक्ष्य परमेश्वर की दिव्य अनुभूति नहीं होता, व्यर्थ माना जाता है। इसलिए नारद ने अपने अनुभव के आधार पर, अनन्य भक्तिमय सेवा की प्रकृति की व्याख्या की है, जिसमें प्रगतिशील भक्ति-कार्यों की क्रमिक विधि से भगवान् तथा जीव के मध्य अन्तरंग सम्बन्ध विकसित किया जाता है। भगवान् के लिए दिव्य भक्ति की ऐसी प्रगति का अन्त भगवान् की प्रेममयी सेवा में होता है, जिसे *प्रेमा* कहते हैं और जो अपनी दिव्य विविधताओं में *रस* कहलाती है। ऐसी भक्ति मिश्रित रूपों में भी सम्पन्न होती है, जैसे कि सकाम कर्म या तर्कवितर्क के साथ मिश्रित होकर।

अब जिस प्रश्न को शौनक आदि ऋषियों ने उठाया था और जिसका सम्बन्ध गुरु के माध्यम से सूत जी की उपलब्धि के गुह्य अंश से था, उसकी व्याख्या इस श्लोक में की गई है और वह है तैंतीस अक्षरों वाले इस मन्त्र का उच्चारण। यह *मन्त्र* चार विग्रहों को अथवा भगवान् को उनके पूर्णांशों के सहित सम्बोधित है। केन्द्रीय विग्रह तो भगवान् श्रीकृष्ण हैं, क्योंकि ये पूर्ण अंश उनके अंगरक्षक हैं। इस उपदेश का गुह्यतम अंश यह है कि मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के विभिन्न

अंशों—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध समेत पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की महिमा का निरन्तर कीर्तन तथा स्मरण करे। ये विस्तार अन्य समस्त रूपों यथा विष्णुतत्त्व या शक्ति तत्त्वों के मूल विग्रह रूप हैं।

इति मूर्त्यभिधानेन मन्त्रमूर्तिममूर्तिकम् ।
यजते यज्ञपुरुषं स सम्यग्दर्शनः पुमान् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; मूर्ति—प्रतिरूप; अभिधानेन—शब्द या ध्वनि में; मन्त्र-मूर्तिम्—दिव्य उच्चारण का स्वरूप; अमूर्तिकम्—भगवान् जिनका कोई भौतिक रूप नहीं है; यजते—पूजा करते हैं; यज्ञ—विष्णु; पुरुषम्—भगवान् को; सः—वह ही; सम्यक्—पूर्णरूप से; दर्शनः—जिसने देखा है; पुमान्—व्यक्ति।

इस प्रकार वास्तविक दृष्टा वही है, जो दिव्य मन्त्रमूर्ति, श्रीभगवान् विष्णु की पूजा करता है, जिनका कोई भौतिक रूप नहीं होता।

तात्पर्य : हमारी वर्तमान इन्द्रियाँ भौतिक तत्त्वों की बनी हैं, अतएव वे भगवान् विष्णु के दिव्य रूप की ठीक से अनुभूति नहीं कर पातीं। अत: उनकी पूजा कीर्तन की दिव्य विधि के माध्यम से ध्वनि में की जाती है। जो वस्तु हमारी अपूर्ण इन्द्रियों के क्षेत्र के बाहर है, उसे ध्वनि स्वरूप के द्वारा भली-भाँति अनुभव किया जा सकता है। यदि कोई दूर खड़ा ध्वनि उत्पन्न करे तो उसका यथार्थ अनुभव किया जा सकता है। यदि भौतिक दृष्टि से यह सम्भव है, तो फिर आध्यात्मिक दृष्टि से क्यों नहीं होगा? यह अनुभव कोई कोरा निराकार अनुभव नहीं है। यह उन दिव्य ईश्वर का वास्तविक अनुभव है जो सच्चिदानन्दस्वरूप हैं।

अमरकोश नामक संस्कृत कोश में *मूर्ति* शब्द के दो आशय प्रमुख हैं—स्वरूप तथा कठिनाई। अतएव आचार्य श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *अमूर्तिकम्* का अर्थ "किसी कठिनाई के बिना" लगाया है। शाश्वत आनन्द तथा ज्ञान के दिव्य स्वरूप का अनुभव हमारी मूल आध्यात्मिक इन्द्रियों द्वारा ही हो सकता है, जिसे पवित्र मन्त्रों के उच्चारण या दिव्य उच्चारण ध्वनि द्वारा पुनरुज्जीवित किया जा सकता है। ऐसी ध्वनि प्रामाणिक गुरु के पारदर्शी माध्यम द्वारा प्राप्त की जानी चाहिए और गुरु के निर्देशन में ही इसके उच्चारण (कीर्तन) का अभ्यास करना चाहिए। यह हमें धीरे-

धीरे ईश्वर के अधिक निकट ले जाएगा। पूजा की यह विधि *पाञ्चरात्रिक* विधि में संस्तुत है जो मान्य एवं प्रामाणिक विधि है। *पाञ्चरात्रिक* विधि में दिव्य भक्तिमय सेवा के लिए सर्वाधिक प्रामाणिक संकेत प्राप्त हैं। ऐसे संकेतों के बिना शुष्क दार्शनिक चिन्तन द्वारा निश्चित ही भगवान् के पास नहीं पहुँचा जा सकता है। *पञ्चरात्रिक* विधि इस कलह-प्रधान युग के लिए व्यावहारिक एवं उपयुक्त है। इस आधुनिक युग के लिए *पञ्चरात्र,* वेदान्त की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इमं स्वनिगमं ब्रह्मन्नवेत्य मदनुष्ठितम् ।
अदान्मे ज्ञानमैश्वर्यं स्वस्मिन् भावं च केशवः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

इमम्—इस प्रकार; स्व-निगमम्—भगवान् विषयक वेदों का गुह्य ज्ञान; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण (व्यासदेव); अवेत्य—यह जानकर; मत्—मेरे द्वारा; अनुष्ठितम्—सम्पन्न; अदात्—वर दिया; मे—मुझे; ज्ञानम्—दिव्य ज्ञान; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; स्वस्मिन्—निजी; भावम्—प्रगाढ़ प्यार तथा स्नेह; च—तथा; केशवः—भगवान् कृष्ण ने।

हे ब्राह्मण, इस प्रकार सर्वप्रथम भगवान् कृष्ण ने मुझे वेदों के गुह्यतम अंशों में निहित भगवान् के दिव्य ज्ञान का, फिर आध्यात्मिक ऐश्वर्य का और तब अपनी घनिष्ठ प्रेममय सेवा का वर दिया।

तात्पर्य : दिव्य शब्द द्वारा भगवान् के साथ संसर्ग सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण से अभिन्न है। भगवान् तक पहुँचने की यह सबसे पूर्ण विधि है। भगवान् के साथ ऐसे शुद्ध संसर्ग द्वारा, जो भौतिक विचारों के अपराधों से रहित है (जिनकी संख्या दस है), भक्त भौतिक स्तर से ऊपर उठकर वैदिक साहित्य के तात्पर्य को समझता है एवं दिव्य संसार में भगवान् के अस्तित्व को भी समझता है। जो अपने गुरु तथा भगवान् में अनन्य श्रद्धा रखता है, उसे भगवान् क्रमशः अपने स्वरूप का साक्षात्कार कराते हैं। इसके पश्चात् भक्त को योग की सिद्धियाँ प्रदान की जाती हैं, जिनकी संख्या आठ है। इनसे भी बढ़कर, भक्त को भगवान् का पार्षद स्वीकार कर लिया जाता है और उसे गुरु के माध्यम से भगवान् की विशिष्ट सेवा का कार्यभार सौंपा जाता है। शुद्ध भक्त अपनी सुप्त योग-सिद्धियों के प्रदर्शन की अपेक्षा भगवान् की सेवा करने में अधिक रुचि रखता है। श्री नारद ने इन सबका वर्णन अपने निजी अनुभव से किया है और मनुष्य को वे सारी

सुविधाएँ प्राप्त हो सकती हैं, जो श्री नारद को भगवान् के शब्द-प्रतिरूप के उच्चारण से प्राप्त हुई थीं। इस दिव्य ध्वनि (शब्दों) के उच्चारण पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है, बशर्ते कि इसे नारद के प्रतिनिधि से प्राप्त किया जाय, जो गुरू-शिष्य परम्परा पद्धति से चला आ रहा है।

त्वमप्यदभ्रश्रुत विश्रुतं विभो:
समाप्यते येन विदां बुभुत्सितम् ।
प्राख्याहि दु:खैर्मुहुरर्दितात्मनां
सङ्क्लेशनिर्वाणमुशन्ति नान्यथा ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; अपि—भी; अदभ्र—विशाल; श्रुत—वैदिक साहित्य; विश्रुतम्—सुना हुआ; विभोः—सर्वशक्तिमान का; समाप्यते—सन्तुष्ट; येन—जिससे; विदाम्—विद्वान का; बुभुत्सितम्—दिव्य ज्ञान सीखने के इच्छुक को; प्राख्याहि—वर्णन करो; दु:खैः—दुखों से; मुहुः—सदैव; अर्दित-आत्मनाम्—पीड़ित जनसमूह को; सङ्क्लेश—कष्ट को; निर्वाणम्—शमन; उशन्ति न—नहीं निकल पाते; अन्यथा—अन्य साधनों से।

अत: कृपा करके सर्वशक्तिमान के उन कार्यकलापों का वर्णन करो, जिसे तुमने वेदों के अपार ज्ञान से जाना है, क्योंकि उससे महान् विद्वज्जनों की ज्ञान-पिपासा की तृप्ति होगी और साथ ही सामान्य लोगों के कष्टों का भी शमन होगा, जो भौतिक दुखों से सदैव पीड़ित रहते हैं। निस्सन्देह, इन कष्टों से उबरने का कोई अन्य साधन नहीं है।

तात्पर्य : श्री नारद मुनि अपने व्यावहारिक अनुभव से निश्चित रूप से प्रमाणित करते हैं कि भौतिक कर्म की सारी समस्याओं का मूल समाधान परमेश्वर की दिव्य महिमा को दूर-दूर तक प्रसारित करने में है। सज्जनों की चार श्रेणियाँ होती हैं और दुर्जनों की भी इतनी ही श्रेणियाँ हैं। चारों श्रेणियों के सज्जन सर्वशक्तिमान ईश्वर की सत्ता को तब स्वीकार करते हैं (१) जब वे विपत्ति में पड़ते हैं, (२) जब उन्हें धन की आवश्यकता होती है, (३) जब वे ज्ञान में बढ़ जाते हैं तथा (४) जब वे ईश्वर के विषय में अधिकाधिक जानना चाहते हैं। वे अन्त:प्रेरणावश भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं। इस प्रकार नारद जी व्यासदेव को उपदेश देते हैं कि वे भगवान् के दिव्य ज्ञान का प्रसार उस विशाल वैदिक ज्ञान के संन्दर्भ में करें जिन्हें उन्होंने पहले से प्राप्त कर रखा है।

जहाँ तक दुर्जनों का सम्बन्ध है, उनकी भी चार श्रेणियाँ हैं—(१) वे जो सहज रुप से प्रगतिशील सकाम कर्म के प्रति आसक्त हैं और इस तरह उसके साथ जुड़े हुए अनेक कष्टों को भोगते रहते हैं, (२) वे जो इन्द्रियतुष्टि के गर्हित कार्य में लगे रहते हैं और इस तरह परिणाम को भोगते हैं, (३) वे जो भौतिक रूप से ज्ञान में तो अत्यन्त समृद्ध हैं, लेकिन सर्वशक्तिमान भगवान् की सत्ता को स्वीकार करने की मति न होने के कारण कष्ट पाते हैं; तथा (४) वे लोग जो नास्तिक कहलाते हैं, और जान-बूझकर भगवान् के नाम से ही घृणा करते हैं, भले ही वे सदा संकट में क्यों न रहें।

श्री नारद जी ने व्यासदेव को समझाया कि वे सज्जन तथा दुर्जन आठों प्रकार के सारे लोगों का कल्याण करने के लिए भगवान् की महिमा का वर्णन करें। अतएव *श्रीमद्भागवत* किन्हीं विशेष श्रेणी या सम्प्रदाय के लोगों के निमित्त नहीं है। यह तो उस सत्यनिष्ठ व्यक्ति के लिए है, जो सचमुच अपने कल्याण तथा मन की शान्ति का इच्छुक है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के अन्तर्गत ''नारद द्वारा व्यासदेव को श्रीमद्भागवत का उपदेश'' नामक पंचम अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छह

नारद तथा व्यासदेव का संवाद

सूत उवाच
एवं निशम्य भगवान्देवर्षेर्जन्म कर्म च ।
भूयः पप्रच्छ तं ब्रह्मन् व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत ने कहा; एवम्—इस प्रकार; निशम्य—सुनकर; भगवान्—ईश्वर का शक्त्यावेश अवतार; देवर्षेः—देवर्षि का; जन्म—जन्म; कर्म—कर्म; च—तथा; भूयः—पुनः; पप्रच्छ—पूछा; तम्—उनसे; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणो; व्यासः—व्यासदेव ने; सत्यवती-सुतः—सत्यवती का पुत्र।

सूत ने कहा : हे ब्राह्मणो, इस तरह श्री नारद के जन्म तथा कार्यकलापों के विषय में सब कुछ सुन लेने के बाद ईश्वर के अवतार तथा सत्यवती के पुत्र, श्री व्यासदेव ने इस प्रकार पूछा।

तात्पर्य : व्यासदेव नारदजी की सिद्धि के विषय में आगे भी जानने के इच्छुक थे, अत: उन्होंने उनके विषय में और अधिक जानना चाहा। इस अध्याय में नारद जी बताएँगे कि जब वे भगवान् के विरह भाव में लीन थे और अत्यन्त कष्ट का अनुभव कर रहे थे, तब भगवान् ने किस प्रकार उन्हें थोड़ी देर के लिए दर्शन दिया।

व्यास उवाच
भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानादेष्टृभिस्तव ।
वर्तमानो वयस्याद्ये ततः किमकरोद्भवान् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

व्यासः उवाच—श्री व्यासदेव ने कहा; भिक्षुभिः—महान साधुओं द्वारा; विप्रवसिते—अन्य स्थानों को चले जाने पर; विज्ञान—अध्यात्म का वैज्ञानिक ज्ञान; आदेष्टृभिः—जिन्होंने उपदेश दिया था; तव—आपका; वर्तमानः—वर्तमान; वयसि—आयु के; आद्ये—प्रारम्भ में; ततः—तत्पश्चात्; किम्—क्या; अकरोत्—किया; भवान्—आपने।

श्री व्यासदेव ने (नारद जी से) कहा : आपने उन महामुनियों के चले जाने पर क्या किया जिन्होंने आपके इस जन्म के प्रारम्भ होने से पूर्व आपको दिव्य वैज्ञानिक ज्ञान प्रदान किया था ?

तात्पर्य : व्यासदेव स्वयं नारद जी के शिष्य थे, अतएव गुरु से दीक्षित होने के बाद नारद ने जो कुछ किया, उसे सुनने की उत्कंठा स्वाभाविक थी। वे नारद की ही भाँति सिद्धावस्था प्राप्त करने के लिए उनके चरणचिह्नों का अनुसरण करना चाह रहे थे। आध्यात्मिक गुरु से पूछने की आकांक्षा (जिज्ञासा) प्रगति पथ पर बढ़ने के लिए आवश्यक है। इस विधि का शास्त्रीय नाम *सद्धर्मपृच्छा* है।

स्वायम्भुव कया वृत्त्या वर्तितं ते परं वय: ।
कथं चेदमुदस्राक्षी: काले प्राप्ते कलेवरम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

स्वायम्भुव—हे ब्रह्मा के पुत्र; कया—किस परिस्थिति में; वृत्त्या—वृत्ति; वर्तितम्—बिताया; ते—आपने; परम्—दीक्षा के बाद; वय:—आयु; कथम्—कैसे; च—तथा; इदम्—यह; उदस्राक्षी:—छोड़ा; काले—समय आने पर, यथासमय; प्राप्ते—प्राप्त होने पर; कलेवरम्—शरीर को।

हे ब्रह्मा के पुत्र, आपने दीक्षा लेने के बाद किस प्रकार जीवन बिताया ? और यथासमय अपने पुराने शरीर को त्याग कर आपने यह शरीर कैसे प्राप्त किया ?

तात्पर्य : पूर्वजन्म में नारद मुनि एक सामान्य दासीपुत्र थे, अत: वे शाश्वत जीवन, आनन्द तथा ज्ञान से परिपूर्ण इस स्वरूप को किस प्रकार प्राप्त कर सके, यह जानना महत्त्वपूर्ण है। श्री व्यासदेव ने इच्छा की, कि नारद जी ये सारे तथ्य सबों की तुष्टि के लिए प्रकट करें।

प्राक्कल्पविषयामेतां स्मृतिं ते मुनिसत्तम ।
न ह्येष व्यवधात्काल एष सर्वनिराकृति: ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

प्राक्—पूर्ववर्ती; कल्प—ब्रह्मा के एक दिन का समय; विषयाम्—विषय वस्तु; एताम्—ये सब; स्मृतिम्—सुधि, याद; ते—तुम्हारी; मुनि-सत्तम—हे महामुनि; न—नहीं; हि—निश्चय ही; एष:—ये सब; व्यवधात्—अन्तर किया; काल:—समय आने पर; एष:—ये; सर्व—सभी; निराकृति:—संहार।

हे महामुनि, समय आने पर काल हर वस्तु का संहार कर देता है, अतएव यह कैसे सम्भव हुआ है कि यह विषय, जो ब्रह्मा के इस दिन के पूर्व घटित हो चुका है, अब भी आपकी स्मृति में काल द्वारा अप्रभावित जैसे का तैसा बना हुआ है?

तात्पर्य : जिस प्रकार भौतिक शरीर के विनाश के बाद भी आत्मा नष्ट नहीं होता,उसी तरह आध्यात्मिक चेतना भी नष्ट नहीं होती। श्री नारद ने पूर्व कल्प में, जब उन्हें यह शरीर प्राप्त था, तभी यह आध्यात्मिक चेतना विकसित कर ली थी। भौतिक शरीर की चेतना का अर्थ है, भौतिक शरीर के माध्यम द्वारा अभिव्यक्त की गई आध्यात्मिक चेतना। यह चेतना निकृष्ट, विनाशशील तथा विकृत होती है। लेकिन आध्यात्मिक स्तर पर अतिमानस की पराचेतना आत्मा के समान ही श्रेष्ठ होती है और कभी विनष्ट नहीं होती।

नारद उवाच
भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानादेष्टृभिर्मम ।
वर्तमानो वयस्याद्ये तत एतदकारषम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—श्री नारद ने कहा; भिक्षुभिः—मुनियों के द्वारा; विप्रवसिते—अन्य स्थान को चले जाने पर; विज्ञान—व्यावहारिक आध्यात्मिक ज्ञान; आदेष्टृभिः—जिन्होंने मुझे प्रदान किया था; मम—मेरा; वर्तमानः—वर्तमान; वयसि आद्ये—इस जीवन के पूर्व; ततः—तत्पश्चात्; एतत्—इतना; अकारषम्—सम्पन्न किया।

श्री नारद ने कहा : जिन महर्षियों ने मुझे अध्यात्म का व्यावहारिक ज्ञान प्रदान किया था, वे अन्य स्थानों को चले गये और मुझे इस प्रकार से अपना जीवन बिताना पड़ा।

तात्पर्य : पूर्वजन्म में जब नारदजी को महर्षियों ने कृपापूर्वक आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान किया था, तो उनके जीवन में प्रत्यक्ष परिवर्तन आया था, यद्यपि वे तब पाँच वर्ष के बालक थे। प्रामाणिक गुरु से दीक्षा प्राप्त करने के बाद दिखाई देने वाला यह महत्त्वपूर्ण लक्षण है। भक्तों की वास्तविक संगति से जीवन में आध्यात्मिक अनुभूति के लिए तेजी से परिवर्तन आता है। नारद मुनि के पूर्व जीवन में यह कैसे घटा इसका एक-एक करके इस अध्याय में वर्णन किया गया है।

एकात्मजा मे जननी योषिन्मूढा च किङ्करी ।

मय्यात्मजेऽनन्यगतौ चक्रे स्नेहानुबन्धनम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

एक-आत्मजा—केवल एक सन्तान वाली; मे—मेरी; जननी—माता ने; योषित्—स्त्री जाति; मूढा—मूर्ख; च—तथा; किङ्करी—दासी; मयि—मुझ; आत्मजे—सन्तान में; अनन्य-गतौ—जिसकी रक्षा का कोई अन्य साधन न हो; चक्रे—किया; स्नेह-अनुबन्धनम्—प्रेम के बन्धन में बँधा।

मैं अपनी माता का इकलौता पुत्र था। वह न केवल भोलीभाली स्त्री थी, अपितु दासी भी थी। चूँकि मैं उसकी एकमात्र सन्तान था, अतः उसकी रक्षा का कोई अन्य साधन न था, अतएव उसने मुझे अपने स्नेह-पाश में बाँध रखा था।

सास्वतन्त्रा न कल्पासीद्योगक्षेमं ममेच्छती ।
ईशस्य हि वशे लोको योषा दारुमयी यथा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; अस्वतन्त्रा—आश्रित थी; न—नहीं; कल्पा—समर्थ; आसीत्—थी; योग-क्षेमम्—लालन-पालन; मम—मेरा; इच्छती—यद्यपि उत्सुक; ईशस्य—ईश्वर का; हि—क्योंकि; वशे—वश में; लोकः—प्रत्येक व्यक्ति; योषा—गुड़िया; दारु-मयी—काठ की बनी; यथा—जिस तरह।

वह मेरा लालन-पालन अच्छी तरह करना चाहती थी, लेकिन पराश्रित होने के कारण वह मेरे लिए कुछ भी नहीं कर पाती थी। यह संसार परमेश्वर के पूर्ण नियन्त्रण में है, अतएव प्रत्येक व्यक्ति कठपुतली नचाने वाले के हाथ में किसी काठ की गुड़िया के समान है।

अहं च तद्ब्रह्मकुले ऊषिवांस्तदुपेक्षया ।
दिग्देशकालाव्युत्पन्नो बालकः पञ्चहायनः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; च—भी; तत्—उस; ब्रह्म-कुले—ब्राह्मणों की पाठशाला में; ऊषिवान्—रहता था; तत्—उसका; उपेक्षया—आश्रित; दिक्-देश—दिशा तथा देश; काल—समय; अव्युत्पन्नः—अनुभवविहीन; बालकः—मात्र बालक; पञ्च—पाँच; हायनः—वर्ष का।

जब मैं केवल पाँच वर्ष का बालक था, तो एक ब्राह्मण की पाठशाला में रहता था। मैं अपनी माता के स्नेह पर आश्रित था और मुझे विभिन्न क्षेत्रों का कोई अनुभव न था।

एकदा निर्गतां गेहाद्दुहन्तीं निशि गां पथि ।

सर्पोऽदशत्पदा स्पृष्टः कृपणां कालचोदितः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; निर्गताम्—चले जाने पर; गेहात्—घर से; दुहन्तीम्—दुहने के लिए; निशि—रात्रि में; गाम्—गाय को; पथि—रास्ते में; सर्पः—सर्प ने; अदशत्—डस लिया; पदा—पाँव में; स्पृष्टः—इस प्रकार काटी गई; कृपणाम्—बेचारी स्त्री; काल-चोदितः—परम काल के वशीभूत हो कर।

एक बार जब मेरी माँ बेचारी रात्रि के समय गाय दुहने जा रही थी, तो परम काल से प्रेरित एक सर्प ने मेरी माता के पाँव में डस लिया।

तात्पर्य : एक सत्यनिष्ठ आत्मा को ईश्वर के पास खींच लाने की यह विधि है। बेचारा बालक केवल अपनी स्नेहमयी माता की देख-भाल में रह रहा था, तो भी उसकी माता को परम इच्छा के फलस्वरूप इस संसार से उठा लिया गया, जिससे वह बालक पूर्ण रूप से भगवान् की कृपा पर आश्रित हो जाय।

तदा तदहमीशस्य भक्तानां शमभीप्सतः ।
अनुग्रहं मन्यमानः प्रातिष्ठं दिशमुत्तराम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; तत्—उस; अहम्—मैंने; ईशस्य—ईश्वर के; भक्तानाम्—भक्तों की; शम्—दया; अभीप्सतः—चाहते हुए; अनुग्रहम्—विशेष आशीष; मन्यमानः—इस प्रकार सोचता हुआ; प्रातिष्ठम्—प्रस्थान किया; दिशम् उत्तराम्—उत्तर दिशा में।

मैंने इसे भगवान् की विशेष कृपा माना, क्योंकि वे अपने भक्तों का भला चाहने वाले हैं और इस प्रकार सोचता हुआ मैं उत्तर की ओर चल पड़ा।

तात्पर्य : भगवान् के विश्वस्त भक्त पग पग को भगवान् का वरदायक आदेश समझते हैं। जिसे लौकिक दृष्टि से विषम या कठिन क्षण समझा जाता है, उसे भगवान् की विशेष कृपा के रूप में स्वीकार किया जाता है। लौकिक समृद्धि एक प्रकार का भौतिक ज्वर है, किन्तु भगवान् के अनुग्रह से इस ज्वर का तापमान धीरे धीरे गिरता जाता है और पद पद पर आध्यात्मिक स्वास्थ्य-लाभ होता रहता है। संसारी लोग इसका गलत अर्थ लगाते हैं।

स्फीताञ्जनपदांस्तत्र पुरग्रामव्रजाकरान् ।

खेटखर्वटवाटीश्च वनान्युपवनानि च ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

स्फीतान्—अत्यन्त समृद्ध; जन-पदान्—जनपद; तत्र—वहाँ; पुर—नगर; ग्राम—गाँव; व्रज—बड़े-बड़े खेत; आकरान्—खानें; खेट—कृषि योग्य खेत; खर्वट—घाटियाँ; वाटी:—पुष्प वाटिकाएँ; च—तथा; वनानि—जंगल; उपवनानि—पौधघर; च—तथा।

प्रस्थान करने के बाद मैं अनेक समृद्ध जनपदों, नगरों, गाँवों, पशु-क्षेत्रों, खानों, खेतों, घाटियों, पुष्पवाटिकाओं, पौधशालाओं तथा प्राकृतिक जंगलों से होकर गुजरा।

तात्पर्य : वर्तमान सृष्टि के पूर्व भी कृषि, खनन, फार्मिंग, उद्योग, उद्यान–विज्ञान आदि के क्षेत्र में आज के ही समान मनुष्य की गतिविधियाँ थीं और यही गतिविधियाँ अगली सृष्टि में भी बनी रहेंगी। करोड़ों वर्षों के बाद प्रकृति के नियम द्वारा किसी एक सृष्टि का शुभारम्भ होता है और विश्व का इतिहास प्राय: इसी रूप में पुनरावर्तित होता रहता है। लौकिक अज्ञानी–जन पुरातात्विक उत्खननों में अपने समय को व्यर्थ गँवाते रहते हैं, किन्तु जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की खोज नहीं कर पाते। श्री नारद मुनि ने आध्यात्मिक जीवन की प्रेरणा पाने के बाद, भले ही अभी वे केवल एक बालक थे, आर्थिक विकास में अपना एक क्षण भी नहीं गँवाया, यद्यपि वे नगरों तथा गाँवों, खानों तथा उद्योगों में से होकर गुजरे थे। वे निरन्तर प्रगतिशील आध्यात्मिक उन्नति की ओर बढ़ते गये। *श्रीमद्भागवत* इतिहास की पुनरावृत्ति है, जो करोड़ों वर्ष पूर्व घटित हुआ था। जैसाकि यहाँ कहा गया है, इतिहास की कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं को ही चुनकर इस दिव्य साहित्य में अंकित किया गया है।

चित्रधातुविचित्राद्रीनिभभग्नभुजद्रुमान् ।
जलाशयाञ्छिवजलान्नलिनी: सुरसेविता: ।
चित्रस्वनै: पत्ररथैर्विभ्रमद्भ्रमरश्रिय: ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

चित्र-धातु—मूल्यवान खनिज यथा सोना चाँदी तथा ताँबा; विचित्र—विविधतापूर्ण; अद्रीन्—पहाड़ियाँ; इभ-भग्न—विशालकाय हाथियों द्वारा तोड़ी गई; भुज—शाखाएँ; द्रुमान्—वृक्ष; जलाशयान् शिव—स्वास्थ्यवर्धक; जलान्—जलाशय; नलिनी:—कमल के फूल; सुर-सेविता:—स्वर्ग के निवासियों द्वारा जिसकी कामना की जाय; चित्र-स्वनै:—हृदयग्राही; पत्र-रथै:—पक्षियों द्वारा; विभ्रमत्—मदान्ध; भ्रमर-श्रिय:—भौंरों से अलंकृत।

मैं सोने, चाँदी तथा ताँबे जैसे विविध खनिजों के आगारों से परिपूर्ण पर्वतों तथा सुन्दर कमलों से पूर्ण जलाशयों से युक्त भूभागों को पार करता रहा जो स्वर्ग के वासियों के उपयुक्त थे और मदान्ध भौरों तथा चहचहाते पक्षियों से सुशोभित थे।

नलवेणुशरस्तन्बकुशकीचकगह्वरम् ।
एक एवातियातोऽहमद्राक्षं विपिनं महत् ।
घोरं प्रतिभयाकारं व्यालोलूकशिवाजिरम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

नल—नरकट; वेणु—बाँस; शरः—सरपत; तन्ब—से परिपूर्ण; कुश—नुकीली घास, कुश; कीचक—अपतृण; गह्वरम्—गुफाएँ; एकः—अकेले; एव—केवल; अतियातः—दुर्गम; अहम्—मैंने; अद्राक्षम्—देखा; विपिनम्—गहन जंगल; महत्—विशाल; घोरम्—भयावना; प्रतिभय-आकारम्—भयानक; व्याल—सर्प; उलूक—उल्लू; शिव—सियार; अजिरम्—मैदान।

तब मैं अनेक जंगलों में से होकर अकेला गया जो नरकटों, बाँसों, सरपतों, कुशों, अपतृणों तथा गह्वरों से परिपूर्ण थे और जिनसे अकेले निकल पाना कठिन था। मैंने अत्यन्त सघन, अंधकारपूर्ण तथा अत्यधिक भयावने जंगल देखे जो सर्पों, उल्लुओं तथा सियारों की क्रीड़ास्थली बने हुए थे।

तात्पर्य : किसी भी परिव्राजकाचार्य का यह कर्तव्य होता है कि वह समस्त जंगलों, पर्वतों, नगरों, ग्रामों आदि का विचरण करते हुए भगवान् की सृष्टि की विविधता का अनुभव करे, ईश्वर के प्रति श्रद्धावान बने, मन में दृढ़ता लाए तथा साथ ही साथ लोगों को ईश्वर के सन्देश से प्रबोधित कराए। संन्यासी को भय त्याग कर ये सारे संकट उठाने पड़ते हैं। वर्तमान युग के सबसे विशिष्ट संन्यासी भगवान् चैतन्य हैं, जिन्होंने इसी विधि से मध्य भारत के जंगलों में से होकर यात्रा की और शेरों, भालुओं, सर्पों, हिरनों, हाथियों तथा जंगल के अन्य पशुओं को भी प्रबुद्ध बनाया। इस कलियुग में सामान्य व्यक्ति के लिए संन्यास वर्जित है। जो केवल गेरुवा चोला पहनकर अपना दिखावा करता है, वह मौलिक आदर्श संन्यासी के समान नहीं होता। फिर भी मनुष्य को चाहिए कि सामाजिक सम्बन्धों को तोड़ने का व्रत ले और केवल भगवान् की सेवा में ही जीवन बिताए। वेश बदलना तो एक औपचारिकता मात्र है। भगवान् चैतन्य ने संन्यासी के नाम

का स्वीकार नहीं किया था, और इस कलियुग के तथाकथित संन्यासियों को चाहिए कि वे भगवान् चैतन्य का अनुसरण करते हुए अपने मूल नामों को न बदलें। इस युग में भगवान् के पवित्र यश के श्रवण तथा कीर्तन वाली भक्ति की संस्तुति की गई है और जो व्यक्ति गृहस्थ जीवन छोड़कर संन्यास-व्रत ग्रहण करता है, उसे नारद या चैतन्य जैसे परिव्राजकाचार्यों का अनुकरण न करके, किसी पवित्र स्थान में बैठ कर अपना सारा समय वृन्दावन के षट् गोस्वामी-जैसे आचार्यों द्वारा संकलित पवित्र शास्त्रों के श्रवण एवं कीर्तन में व्यतीत करना चाहिए।

परिश्रान्तेन्द्रियात्माहं तृट्परीतो बुभुक्षितः ।
स्नात्वा पीत्वा ह्रदे नद्या उपस्पृष्टो गतश्रमः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

परिश्रान्त—थका हुआ; इन्द्रिय—शरीर से; आत्मा—मन से; अहम्—मैं; तृट्-परीतः—प्यासा होकर; बुभुक्षितः—तथा भूखा; स्नात्वा—नहा कर; पीत्वा—तथा जल पीकर; ह्रदे—सरोवर में; नद्याः—नदी के; उपस्पृष्टः—सम्पर्क में रह कर; गत—छुटकारा प्राप्त किया; श्रमः—थकान से।

इस प्रकार विचरण करते हुए, मैं तन तथा मन से थक गया और प्यासा तथा भूखा भी था। अतएव मैंने एक सरोवर में स्नान किया और जल भी पिया। जल-स्पर्श से मेरी थकान जाती रही।

तात्पर्य : परिव्राजक को प्यास तथा भूख जैसी शरीर की आवश्यकताओं को, गृहस्थों के द्वार पर भिक्षाटन करके नहीं, अपितु प्रकृति के उपहारों से पूरा करना चाहिए। अतः परिव्राजक गृहस्थ के घर भिक्षाटन के लिए नहीं, अपितु उसे आध्यात्मिक आलोक प्रदान करने के लिए जाता है।

तस्मिन्निर्मनुजेऽरण्ये पिप्पलोपस्थ आश्रितः ।
आत्मनात्मानमात्मस्थं यथाश्रुतमचिन्तयम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस; निर्मनुजे—वीरान; अरण्ये—वन में; पिप्पल—पीपल के वृक्ष के; उपस्थे—नीचे बैठ कर; आश्रितः—सहारा लेकर; आत्मना—बुद्धि से; आत्मानम्—परमात्मा को; आत्म-स्थम्—अपने में ही लीन; यथा-श्रुतम्—जैसा मैंने मुक्त पुरुषों से सुन रखा था; अचिन्तयम्—विचार करने लगा।

उसके पश्चात् उस वीरान जंगल में एक पीपल वृक्ष की छाया में बैठकर मैं अपनी बुद्धि से अपने अन्तःकरण में स्थित परमात्मा का वैसे ही ध्यान करने लगा, जिस प्रकार कि मैंने मुक्तात्माओं से सीखा था।

तात्पर्य : मनुष्य को अपनी निजी सनक के अनुसार ध्यान नहीं करना चाहिए। उसे प्रामाणिक गुरु के पारदर्शी माध्यम से, शास्त्रों के प्रमाण से, तथा प्रत्येक हृदय में वास करने वाले परमात्मा के चिन्तन में प्रशिक्षित अपनी बुद्धि के सही प्रयोग से भलीभाँति जानना चाहिए। यह चेतना उन भक्तों में भलीभाँति विकसित होती है, जो अपने गुरु के आदेशों के अनुसार भगवान् की प्रेममय सेवा करते हैं। श्री नारद जी ने प्रामाणिक गुरुओं से सम्पर्क किया था, उनकी निष्ठापूर्वक सेवा की थी और उनसे समुचित आलोक प्राप्त किया था। इस प्रकार से वे ध्यान करने बैठ गये।

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा ।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ध्यायतः—इस तरह ध्यान करते हुए; चरण-अम्भोजम्—अन्तर्यामी भगवान् के चरणकमलों का; भाव-निर्जित—भगवान् के दिव्य प्रेम में परिणत मन; चेतसा—सारी मानसिक गतिविधियाँ (सोचना, अनुभव करना तथा इच्छा करना); औत्कण्ठ्य—उत्सुकता; अश्रु-कल—आँसू निकल आये; अक्षस्य—आँखो के; हृदि—हृदय में; आसीत्—प्रकट हुए; मे—मेरे; शनैः—तुरन्त; हरिः—भगवान्।

ज्योंही मैं अपने मन को दिव्य प्रेम में लगाकर भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करने लगा कि मेरे नेत्रों से आँसू बहने लगे और भगवान् श्रीकृष्ण बिना विलम्ब किए मेरे हृदय-कमल में प्रकट हो गये।

तात्पर्य : यहाँ पर *भाव* शब्द महत्त्वपूर्ण है। यह *भाव* अवस्था तब प्राप्त होती है, जब भगवान् के लिए दिव्य प्रेम होता है। प्रारम्भिक अवस्था *श्रद्धा* अथवा भगवान् के प्रति चाह कहलाती है। इस चाह को बढ़ाने के लिए मनुष्य को शुद्ध भक्तों की संगति करना जरूरी है। तीसरी अवस्था में भक्ति के विधि-विधानों का अभ्यास करना होता है। इससे सारी आशंकाएँ दूर हो जाती हैं और भक्ति पथ में अवरोध उत्पन्न करने वाली सारी वैयक्तिक त्रुटियां हट जाती हैं।

जब सारी आशंकाएँ तथा वैयक्तिक त्रुटियां दूर हो जाती हैं, तो दिव्य तत्त्व में आदर्श श्रद्धा होती है और उसके प्रति रुचि अधिक अनुपात में बढ़ती है। इस अवस्था से आकर्षण उत्पन्न होता है और इसके बाद *भाव* की अवस्था प्राप्त होती है, जो भगवान् के प्रति अटल प्रेम की पूर्व अवस्था है। ये सारी अवस्थाएँ दिव्य प्रेम के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। इस प्रकार दिव्य प्रेम से अभिभूत होने पर वियोग (विरह) की प्रबल अनुभूति होती है, जिससे आठ प्रकार की विभिन्न ऊर्मियों की उत्पत्ति होती है। भक्त के नेत्रों से अश्रुपात होना इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया है और चूँकि श्री नारद मुनिने अपने पूर्वजन्म में घर छोड़ने के तुरन्त बाद ही यह अवस्था प्राप्त कर ली थी, अतएव उनके लिए भगवान् की उपस्थिति को देख पाना सरल था, जिसे उन्होंने बिना कोई भौतिक कल्मष वाली अपनी विकसित आध्यात्मिक इन्द्रियों के द्वारा सहज ही अनुभव कर लिया।

प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः ।
आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने ॥ १७॥

शब्दार्थ

प्रेमा—प्रेम; अतिभर—अत्यधिक; निर्भिन्न—विशेष रूप से विभेदित; पुलक—प्रसन्नता की अनुभूति; अङ्गः—शरीर के विभिन्न अंग; अति-निर्वृतः—पूर्ण रूप से अभिभूत होकर; आनन्द—आह्लाद के; सम्प्लवे—समुद्र में; लीनः—मग्न; न—नहीं; अपश्यम्—देख सका; उभयम्—दोनों को; मुने—हे व्यासदेव।

हे व्यासदेव, उस समय प्रसन्नता की अनुभूति होने के कारण, मेरे शरीर का अंग-प्रत्यंग पुलकित हो उठा। आनन्द के सागर में निमग्न होने के कारण मैं अपने आपको और भगवान् को भी न देख सका।

तात्पर्य : सुख तथा उत्कट आनन्द की तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों की कोई सांसारिक तुलना नहीं हो सकती। अतएव ऐसी अनुभूतियों को व्यक्त कर पाना अत्यन्त कठिन होता है। ऐसे आनन्द की एक झलक हमें श्री नारद मुनि के शब्दों से मिल सकती है। शरीर अथवा इन्द्रियों के प्रत्येक अंग का अपना एक विशेष कार्य होता है। भगवान् का दर्शन करने पर सारी इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा करने के लिए जागृत हो उठती हैं, क्योंकि मुक्त अवस्था में इन्द्रियाँ भगवान् की

सेवा करने में सक्षम होती हैं। इस प्रकार से दिव्य आनन्द की अवस्था में ऐसा हो गया कि इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा के लिए पृथक् रूप से उत्कण्ठित हो गईं। ऐसा होने से नारद मुनि अपने आपको तथा भगवान् को एकसाथ देखने में खो गये।

रूपं भगवतो यत्तन्मन:कान्तं शुचापहम् ।
अपश्यन् सहसोत्तस्थे वैक्लव्याद्दुर्मना इव ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

रूपम्—रूप; भगवतः—भगवान् का; यत्—जैसा है; तत्—वह; मनः—मन की; कान्तम्—इच्छानुसार; शुच-अपहम्—समस्त विषमता को दूर करते हुए; अपश्यन्—बिना देखे; सहसा—अचानक; उत्तस्थे—खड़ा हो गया; वैक्लव्यात्—विकल होकर; दुर्मनाः—इष्ट को खोकर; इव—मानो ।.

भगवान् का दिव्य रूप, जैसा कि वह है, मन की इच्छा को पूरा करता है और समस्त मानसिक सन्तापों को तुरन्त दूर करने वाला है। अत: उस रूप के खो जाने पर मैं व्याकुल होकर उठ खड़ा हुआ, जैसा कि प्राय: अपने अभीष्ट के खो जाने पर होता है।

तात्पर्य : नारद मुनि ने अनुभव किया कि भगवान् रूप-विहीन नहीं हैं। लेकिन उनका रूप हमारे भौतिक अनुभव के सभी रूपों से सर्वथा भिन्न होता है। हम जीवन भर इस भौतिक जगत में विभिन्न रूप देखते रहते हैं, लेकिन इनमें से किसी एक से भी न तो मन की तुष्टि होती है, न उनमें से एक भी हमारे मन की अशान्ति को दूर कर सकता है। भगवान् के दिव्य रूप की ये ही विशेषताएँ हैं और जिसने उस रूप को एक बार भी देखा है, वह अन्य किसी वस्तु से तुष्ट नहीं हो पाता। भौतिक जगत का कोई भी रूप द्रष्टा को तुष्ट नहीं कर सकता। 'भगवान् रूप-विहीन हैं या निराकार हैं' इस का यही अर्थ होता है कि उनका कोई भौतिक रूप नहीं होता और वे किसी भौतिक व्यक्तित्व के समान नहीं होते।

आध्यात्मिक जीवों के रूप में भगवान् के उस दिव्य रूप से सम्बन्धित होने के कारण हम सभी जन्म-जन्मान्तर भगवान् के उसी रूप को खोजते रहते हैं और भौतिक तुष्टि के अन्य किसी रूप से संतुष्ट नहीं हो पाते। नारद मुनि को इसकी झलक मिली थी, लेकिन उसे दुबारा न देख कर वे विकल हो उठे और उसे ढूँढ़ने के लिए सहसा उठ खड़े हुए। हम जन्म-जन्मान्तर जिसकी

खोज करते हैं, वह नारद मुनि को मिल गया था, अतएव उसका अदृश्य होना निश्चित ही उनके लिए आघात पहुँचाने वाला था।

दिदृक्षुस्तदहं भूयः प्रणिधाय मनो हृदि ।
वीक्षमाणोऽपि नापश्यमवितृप्त इवातुरः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

दिदृक्षुः—देखने को इच्छुक; तत्—वह; अहम्—मैं; भूयः—फिर; प्रणिधाय—मन को एकाग्र करके; मनः—मन; हृदि—हृदय में; वीक्षमाणः—देखने के लिए प्रतीक्षारत; अपि—होते हुए; न—कभी नहीं; अपश्यम्—उन्हें देखा; अवितृप्तः—बिना संतुष्ट हुए; इव—सदृश; आतुरः—संतप्त।.

मैंने भगवान् के उस दिव्य रूप को पुनः देखना चाहा, लेकिन अपने हृदय में एकाग्र होकर उस रूप का दर्शन करने के सारे प्रयासों के बावजूद, मैं उन्हें फिर से न देख सका। इस प्रकार असंतुष्ट होने पर मैं अत्यधिक संतप्त हो उठा।

तात्पर्य : भगवान् के रूप को देखने की कोई यान्त्रिक विधि नहीं होती है। यह पूर्ण रूप से भगवान् की अहैतुकी कृपा पर निर्भर करता है। हम भगवान् से यह माँग नहीं कर सकते कि वे हमारी दृष्टि के समक्ष उपस्थित हो जाँय, ठीक वैसे ही जैसे कि सूर्य से हम यह माँग नहीं कर सकते कि वह हमारी इच्छानुसार उदय हुआ करे। सूर्य स्वेच्छा से उदय होता है, उसी तरह से भगवान् भी अपनी अहैतुकी कृपावश ही उपस्थित होते हैं। मनुष्य को चाहिए कि उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करे और भगवान् की भक्तिमय सेवा के लिए अपने नियत कर्म करता रहे। नारद मुनि ने सोचा कि वे भगवान् को पुनः उसी यान्त्रिक विधि से देख सकेंगे, जिससे वे प्रथम प्रयास में सफल हुए थे, लेकिन अत्यन्त प्रयत्न करने पर भी उनका दूसरा प्रयास सफल नहीं हो पाया। भगवान् समस्त प्रकार के बन्धनों से मुक्त हैं। वे केवल अनन्य भक्ति के बन्धन से ही बाँधे जा सकते हैं। वे न तो हमारी इन्द्रियों द्वारा दृश्य हैं, न अनुभवगम्य हैं। वे जब भक्तिमय सेवा के निष्ठावान प्रयास से प्रसन्न होते हैं और जब चाहते हैं, तब स्वेच्छा से ही दिखते हैं।

एवं यतन्तं विजने मामाहागोचरो गिराम् ।

गम्भीरश्लक्ष्णया वाचा शुचः प्रशमयन्निव ॥ २० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; यतन्तम्—यत्न करते हुए; विजने—वह एकान्त स्थान में; माम्—मुझसे; आह—कहा; अगोचरः—भौतिक शब्द (ध्वनि) की सीमा से बाहर; गिराम्—वाणी; गम्भीर—गम्भीर; श्लक्ष्णया—सुनने में सुखद; वाचा—शब्द; शुचः—शोक; प्रशमयन्—दूर करते हुए; इव—सदृश।

वह एकान्त स्थान में मेरे प्रयासों को देखकर समस्त लौकिक वर्णन से परे भगवान् ने मेरे शोक को दूर करने के लिए अत्यन्त गम्भीर तथा सुखद वाणी में मुझसे कहा।

तात्पर्य : वेदों में कहा गया है कि भगवान् लौकिक वाणी तथा बुद्धि की पहुँच के परे हैं। तो भी उनकी अहैतुकी कृपा होने पर मनुष्य को उनके सुनने तथा उनका कीर्तन करने के लिए उपयुक्त इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं। यही भगवान् की अकल्पनीय शक्ति है। जिस पर यह कृपा प्रदान की जाती है वह उनको सुन सकता है। नारद मुनि से भगवान् अतीव प्रसन्न थे, अतएव उन्हें वह शक्ति प्राप्त हो सकी कि वे भगवान् की वाणी सुन सके। लेकिन, वैधि भक्ति की दीक्षा की प्रारम्भिक अवस्था में, उनका स्पर्श पाकर उनकी अनुभूति करना अन्य लोगों के लिए सम्भव नहीं है। यह तो नारद के लिए विशेष वरदान था। जब उन्होंने भगवान् की सुखद वाणी सुनी, तो वियोग की अनुभूति कुछ-कुछ दूर हुई। ईश्वर से प्रेम करने वाला भक्त निरन्तर उनके वियोग की व्यथा का अनुभव करता रहता है, अतएव वह नित्य ही दिव्य आनन्द में डूबा रहता है।

हन्तास्मिञ्जन्मनि भवान्मा मां द्रष्टुमिहार्हति ।
अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

हन्त—हे नारद; अस्मिन्—इस; जन्मनि—जन्म में; भवान्—तुम; मा—नहीं; माम्—मुझको; द्रष्टुम्—देखने के लिए; इह—यहाँ; अर्हति—योग्य हो; अविपक्व—अप्रौढ़; कषायाणाम्—भौतिक, कल्मष; दुर्दर्शः—देख पाना कठिन; अहम्—मैं; कुयोगिनाम्—सेवा में अपूर्ण।

(भगवान् ने कहा) हे नारद, मुझे खेद है कि तुम इस जीवन काल में अब मुझे नहीं देख सकोगे। जिनकी सेवा अपूर्ण है और जो समस्त भौतिक कल्मष से पूर्ण रूप से मुक्त नहीं हैं, वे मुश्किल से ही मुझे देख पाते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् को अत्यन्त शुद्ध, सर्वोपरि तथा परम सत्य के रूप में वर्णित किया गया है। उनके व्यक्तित्व में भौतिकता लेशमात्र भी नहीं रहती, अतएव जिस व्यक्ति में रंचमात्र भी भौतिक अनुराग रहता है, वह उन तक नहीं पहुँच सकता। भक्तिमय सेवा का शुभारम्भ तब होता है, जब मनुष्य कम-से-कम दो भौतिक गुणों से—रजोगुण तथा तमोगुण से—मुक्त हो जाता है। *काम* तथा *लोभ* से मुक्त होना ही इसका लक्षण है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को इन्द्रियतुष्टि की इच्छाओं तथा इन्द्रियतृप्ति की तृष्णा से मुक्त हो जाना चाहिए। प्रकृति का संतुलित गुण सत्त्वगुण है और समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त होने के लिए उसे सत्त्वगुण से भी ऊपर उठना होता है। किसी एकान्त वन में जाकर भगवान् के दर्शन (साक्षात्कार) की खोज करना सत्त्वगुण में आता है। मनुष्य आध्यात्मिक सिद्धि के लिए वन में जा सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसे वहाँ भगवान् का साक्षात् दर्शन हो ही जाय। मनुष्य को समस्त भौतिक आसक्ति से रहित होना चाहिए और अध्यात्म के धरातल पर स्थित होना चाहिए, तभी उसे भगवान् का सान्निध्य प्राप्त हो सकता है। अतएव सर्वोत्तम विधि यह है कि मनुष्य वहाँ जाकर रहे, जहाँ भगवान् के दिव्य रूप की पूजा की जाती है। भगवान् का मन्दिर एक दिव्य स्थान होता है, जब कि वन भौतिक दृष्टि से उत्तम निवास-स्थान है। नवदीक्षित भक्त को भी भगवान् की खोज करने के लिए जंगल जाने के लिये नहीं, अपितु भगवान् के विग्रह की पूजा (अर्चना) करने के लिए कहा जाता है। भगवान् की *अर्चना* से ही भक्ति का शुभारम्भ होता है और यह वन में जाने की अपेक्षा श्रेष्ठ है। नारद मुनि को अपने वर्तमान जीवन में वन जाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे समस्त भौतिक लालसाओं से मुक्त हैं और वे अपनी उपस्थिति से ही प्रत्येक स्थान को वैकुण्ठ में बदल सकते हैं। वे मनुष्यों, देवों, किन्नरों, गंधर्वों, ऋषियों, मुनियों तथा अन्यों को भगवान् का भक्त बनाने के लिए एक लोक से दूसरे लोक में विचरण करते रहते हैं। उन्होंने अपने कार्य-कलापों से ही प्रह्लाद महाराज, ध्रुव महाराज जैसे अनेक भक्तों को भगवान् की दिव्य सेवा में लगाया है। अतएव भगवान् का शुद्ध भक्त नारद तथा प्रह्लाद जैसे महान भक्तों के पदचिह्नों पर

चलता है और *कीर्तन* की प्रक्रिया के द्वारा भगवान् की महिमा का गुणगान करने में अपना पूरा समय लगाता है। ऐसी उपदेश विधि समस्त भौतिक गुणों से परे है।

सकृद् यद्दर्शितं रूपमेतत्कामाय तेऽनघ ।
मत्कामः शनकैः साधु सर्वान्मुञ्चति हृच्छयान् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सकृत्—केवल एक बार; यत्—जो; दर्शितम्—दिखाया हुआ; रूपम्—रूप; एतत्—यह है; कामाय—लालसा के लिए; ते—तुम्हारा; अनघ—हे निष्पाप; मत्—मेरी; कामः—इच्छा; शनकैः—बढ़ाने से; साधुः—भक्त; सर्वान्—समस्त; मुञ्चति—त्यागता है; हृत्-शयान्—भौतिक इच्छाओंको।

हे निष्पाप पुरुष, तुमने मुझे केवल एक बार देखा है और यह मेरे प्रति तुम्हारी इच्छा को उत्कट बनाने के लिए है, क्योंकि तुम जितना ही अधिक मेरे लिए लालायित होगे, उतना ही तुम समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त हो सकोगे।

तात्पर्य : जीव कभी भी इच्छाओं से रहित नहीं हो सकता, क्योंकि वह मृत (जड़) पत्थर नहीं है। उसे काम करना, सोचना, अनुभव करना तथा चाहना, कुछ तो करना होता है। किन्तु जब वह भौतिक दृष्टि से सोचता, अनुभव करता तथा चाहता है, तो वह बंधन में जकड़ता जाता है, किन्तु इसके विपरीत, जब वह ईश्वर की सेवा के लिए सोचता, अनुभव करता तथा चाहता है, तो वह धीरे-धीरे समस्त बन्धन से मुक्त होता जाता है। मनुष्य जितना ही अधिक भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगता है, वह उतना ही अधिक उसके लिए लालायित रहता है। दैवी सेवा की यह दिव्य प्रकृति है। भौतिक सेवा की तृप्ति हो जाती है, जबकि भगवान् की आध्यात्मिक सेवा की न तो तृप्ति होती है, न उसका कोई अन्त है। मनुष्य भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति के प्रति अपनी लालसा बढ़ाता जा सकता है, लेकिन उसे उसकी तृप्ति या उसका अन्त नहीं दिखता। भगवान् की उत्कट सेवा से मनुष्य को भगवान् की दिव्य उपस्थिति की अनुभूति हो सकती है। अतएव भगवान् का दर्शन करने का अर्थ है उनकी सेवा में लगे रहना, क्योंकि उनकी सेवा तथा स्वयं भगवान् अभिन्न हैं। निष्ठावान भक्त को भगवान् की नैष्ठिक सेवा करते रहना चाहिए। भगवान्

उचित दिशा-निर्देश करेंगे कि कहाँ तथा कैसे भगवत्-सेवा की जाय। नारद में कोई भौतिक इच्छा न थी, लेकिन भगवान् के प्रति उत्कट इच्छा को बढ़ाने के लिए ही भगवान् ने ऐसी सलाह दी।

सत्सेवयादीर्घयापि जाता मयि दृढा मतिः ।
हित्वावद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसि ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सत्-सेवया—परम सत्य की सेवा द्वारा; अदीर्घया—कुछ दिनों तक; अपि—भी; जाता—प्राप्त हुआ; मयि—मुझको; दृढा—दृढ़; मतिः—बुद्धि; हित्वा—त्याग कर; अवद्यम्—शोचनीय; इमम्—इस; लोकम्—भौतिक जगत को; गन्ता—जाते हुए; मत्-जनताम्—मेरे पार्षद; असि—होते हैं।

कुछ काल तक ही सही, परम सत्य की सेवा करने से भक्त मुझमें दृढ़ एवं अटल बुद्धि प्राप्त करता है। फलस्वरूप, वह इस शोचनीय भौतिक जगत को त्यागने के बाद दिव्य जगत में मेरा पार्षद बनता है।

तात्पर्य : परम सत्य की सेवा करने का अर्थ है, प्रामाणिक आध्यात्मिक गुरु के मार्गदर्शन में परम भगवान् की सेवा करना, जो भगवान् तथा नवदीक्षित भक्त के बीच एक पारदर्शी मध्यस्थ का काम करते हैं। नवदीक्षित भक्त में अपनी वर्तमान अपूर्ण भौतिक इन्द्रियों के बल पर भगवान् के परम व्यक्तित्व तक पहुँचने की शक्ति नहीं होती, अतएव आध्यात्मिक गुरु के निर्देशन में उसे भगवान् की दिव्य सेवा का प्रशिक्षण दिया जाता है। इस तरह के प्रशिक्षण से, भले ही वह कुछ दिनों का ही क्यों न हो, नवदीक्षित भक्त को ऐसी दिव्य सेवा की बुद्धि प्राप्त हो जाती है जिससे वह अन्ततः भौतिक लोक में निरन्तर वास करने से मुक्त हो जाता है और आध्यात्मिक विश्व तक उन्नत होकर भगवान् का मुक्त पार्षद बनता है।

मतिर्मयि निबद्धेयं न विपद्येत कर्हिचित् ।
प्रजासर्गनिरोधेऽपि स्मृतिश्च मदनुग्रहात् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

मतिः—बुद्धि; मयि—मुझमें अनुरक्त; निबद्धा—लगा हुआ; इयम्—यह; न—कभी नहीं; विपद्येत—विलग; कर्हिचित्—किसी समय; प्रजा—जीव; सर्ग—सृष्टि के समय; निरोधे—संहार के समय; अपि—भी; स्मृतिः—स्मृति, स्मरण-शक्ति; च—तथा; मत्—मेरी; अनुग्रहात्—कृपा से।

मेरी भक्ति में लगी हुई बुद्धि कभी भी विच्छिन्न नहीं होती। यहाँ तक कि सृष्टि काल के साथ ही साथ संहार के समय भी मेरे अनुग्रह से तुम्हारी स्मृति बनी रहेगी।

तात्पर्य : भगवान् के प्रति की गई भक्ति कभी व्यर्थ नहीं जाती। चूँकि भगवान् शाश्वत हैं, अतएव उनकी सेवा में लगाई गई बुद्धि या उनके प्रति किया गया कोई भी कार्य स्थायी होता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् के प्रति की गई ऐसी दिव्य सेवा जन्म-जन्मान्तर तक संचित होती जाती है और जब भक्त पूर्ण रूप से परिपक्व हो जाता है, तो उसकी सारी सेवा को समाकलित कर देने पर वह भगवान् के सान्निध्य में जाने के योग्य हो जाता है। भगवान् की ऐसी संचित सेवा कभी विनष्ट नहीं होती, अपितु पूर्णतः परिपक्व होने तक बढ़ती ही जाती है।

एतावदुक्त्वोपरराम तन्महद्
भूतं नभोलिङ्गमलिङ्गमीश्वरम् ।
अहं च तस्मै महतां महीयसे
शीर्ष्णावनामं विदधेऽनुकम्पितः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

एतावत्—इस प्रकार; उक्त्वा—कह कर; उपरराम—रुक गया; तत्—वह; महत्—महान्; भूतम्—आश्चर्यजनक; नभः-लिङ्गम्—शब्द द्वारा व्यक्त; अलिङ्गम्—नेत्रों से न दिखने वाला, अदृश्य; ईश्वरम्—परम पुरुष को; अहम्—मैं; च—भी; तस्मै—उनको; महताम्—महान्; महीयसे—महिमा मंडित; शीर्ष्णा—शिर से; अवनामम्—नमस्कार; विदधे—किया; अनुकम्पितः—उनके द्वारा कृपा दिखाये जाने पर।

तब शब्द से व्यक्त तथा नेत्रों से अदृश्य उन नितान्त आश्चर्यमय परम पुरुष ने बोलना बन्द कर दिया। मैंने कृतज्ञता का अनुभव करते हुए शीश झुकाकर उन्हें प्रणाम किया।

तात्पर्य : यदि भगवान् केवल सुनाई पड़ें, दिखें नहीं, तो इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। भगवान् ने अपने श्वास से चारों वेद उत्पन्न किये। उन्हें वेदों के दिव्य उच्चारण से ही देखा और अनुभव किया जाता है। इसी प्रकार *भगवद्गीता* भगवान् की शब्द-अभिव्यक्ति है और इनमें तथा इनके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। निष्कर्ष यह है कि भगवान् को निरन्तर दिव्य ध्वनि के उच्चारण द्वारा देखा और सुना जा सकता है।

नामान्यनन्तस्य हतत्रप: पठन्
गुह्यानि भद्राणि कृतानि च स्मरन् ।
गां पर्यटंस्तुष्टमना गतस्पृह:
कालं प्रतीक्षन् विमदो विमत्सर: ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

नामानि—पवित्र नाम, यश आदि.; अनन्तस्य—असीम के; हत-त्रप:—भौतिक जगत की सारी औपचारिकताओं से मुक्त होकर; पठन्—जप से, पाठ से.; गुह्यानि—रहस्यमय; भद्राणि—कल्याणकर; कृतानि—कार्य; च—तथा; स्मरन्—निरन्तर स्मरण करते हुए; गाम्—पृथ्वी पर; पर्यटन्—सर्वत्र विचरण करते हुए; तुष्ट-मना:—पूर्ण रूप से सन्तुष्ट; गत-स्पृह:—समस्त भौतिक कामनाओं से पूर्ण रूप से मुक्त; कालम्—काल, समय की; प्रतीक्षन्—प्रतीक्षा करते हुए; विमद:—गर्व किये बिना; विमत्सर:—ईर्ष्यारहित।

इस प्रकार भौतिक जगत की समस्त औपचारिकताओं की उपेक्षा करते हुए, मैं बारम्बार भगवान् के पवित्र नाम तथा यश का कीर्तन करने लगा। भगवान् की दिव्य लीलाओं का ऐसा कीर्तन एवं स्मरण कल्याणकारी होता है। इस तरह मैं पूर्ण रूप से सन्तुष्ट, विनम्र तथा ईर्ष्या-द्वेषरहित होकर सारी पृथ्वी पर विचरण करने लगा।

तात्पर्य : नारद मुनि ने अपने व्यक्तिगत उदाहरण द्वारा भगवान् के निष्ठावान भक्त के जीवन का संक्षेप में वर्णन किया है। ऐसा भक्त भगवान् से या भगवान् के प्रामाणिक प्रतिनिधि से दीक्षा ग्रहण करने पर भगवान् की महिमा का गम्भीरतापूर्वक कीर्तन करता है और सारे संसार में विचरण करता है, जिससे अन्य लोग भी भगवान् की महिमा का श्रवण कर सकें। ऐसे भक्तों को भौतिक लाभ की कोई इच्छा नहीं रहती। उनकी एकमात्र इच्छा इच्छा होती है कि वे भगवान् के धाम को वापस जाँए। यथासमय भौतिक शरीर को त्यागने पर उन्हें यह अवसर प्राप्त होता है। चूँकि भगवद्धाम को वापस जाना उनके जीवन का चरम लक्ष्य रहता है, अत: वे न तो किसी से ईर्ष्या करते हैं, न ही भगवद्धाम जाने के लिए सुयोग्य होने का उन्हें अभिमान होता है। उनका एकमात्र व्यवसाय भगवान् के पवित्र नाम, यश तथा लीलाओं का कीर्तन तथा स्मरण करना और अपनी वैयक्तिक क्षमता के अनुसार भौतिक लाभ की इच्छा से रहित होकर दूसरों के कल्याण हेतु संदेश का प्रचार करना होता है।

एवं कृष्णमतेर्ब्रह्मन्नासक्तस्यामलात्मनः ।
कालः प्रादुरभूत्काले तडित्सौदामनी यथा ॥ २७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कृष्ण-मतेः—जो कृष्ण के चिन्तन में लीन हो; ब्रह्मन्—हे व्यासदेव; न—नहीं; आसक्तस्य—आसक्त होने वाले का; अमल-आत्मनः—समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त का; कालः—मृत्यु; प्रादुरभूत्—दृष्टिगोचर हुआ; काले—समय आने पर; तडित्—बिजली; सौदामनी—प्रकाश करती हुई; यथा—जिस प्रकार है।.

और हे ब्राह्मण व्यासदेव, इस तरह मैंने कृष्ण के चिन्तन में पूर्णतया निमग्न रहते हुए तथा किसी प्रकार की आसक्ति न रहने से समस्त भौतिक कलुष से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाने पर यथा समय मृत्यु पाई, जिस प्रकार बिजली गिरना तथा प्रकाश कौंधना एकसाथ होते हैं।

तात्पर्य : कृष्ण के विचारों में पूर्ण रूप से निमग्न होने का अर्थ है, भौतिक कल्मष या लालसाओं से छुटकारा। जिस प्रकार किसी धनी व्यक्ति को छोटी-छोटी चीजों की परवाह नहीं रहती, उसी प्रकार से भगवान् कृष्ण का भक्त भी शाश्वत जीवन, ज्ञान तथा आनन्द से युक्त भगवान् के धाम जाने के प्रति आश्वस्त तथा प्रफुल्लित रहने के कारण छोटी-छोटी बातों की लालसा नहीं करता, क्योंकि ये सब वास्तविकता की पुत्तलिकाएँ या छाया मात्र होती हैं और उनका कोई स्थायी महत्त्व नहीं होता। आध्यात्मिक दृष्टि से सुसम्पन्न व्यक्तियों का यही लक्षण होता है और समय के साथ जब शुद्ध भक्त पूर्ण रूप से सन्नद्ध रहता है, तो एकाएक शरीर का परिवर्तन होता है जिसे सामान्य रूप से मृत्यु कहा जाता है। शुद्ध भक्त के लिए ऐसा परिवर्तन बिजली के समान होता है और उसकी चमक उसके साथ ही उसके पीछे दिखती है। कहने का अर्थ यह है कि परम की इच्छा से भक्त का भौतिक शरीर उसी समय बदलता है और उसके आध्यात्मिक शरीर का विकास हो जाता है। यहाँ तक कि मृत्यु के पूर्व भी शुद्ध भक्त को कोई भौतिक आसक्ति नहीं होती, क्योंकि उसका शरीर उसी प्रकार आध्यात्मिक बन जाता है, जिस प्रकार अग्नि के सम्पर्क में रहने से लोहा लाल (अग्निवत्) हो जाता है।

प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम् ।

आरब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत् पाञ्चभौतिकः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

प्रयुज्यमाने—पुरस्कृत होकर; मयि—मुझ पर; ताम्—उस; शुद्धाम्—दिव्य; भागवतीम्—भगवान् की संगति करने योग्य; तनुम्—शरीर; आरब्ध—प्राप्त किया; कर्म—सकाम कर्म; निर्वाणः—समाप्त होना; न्यपतत्—त्याग दिया; पाञ्च-भौतिकः—पाँच तत्त्वों से बना शरीर।

भगवान् के पार्षद के लिए उपयुक्त दिव्य शरीर पाकर मैंने पाँच भौतिक तत्त्वों से बने शरीर को त्याग दिया और इस तरह कर्म के सारे अर्जित फल समाप्त हो गये।

तात्पर्य : भगवान् ने यह बता दिया था कि नारद को भगवान की संगति करने के लिए उपयुक्त दिव्य शरीर प्रदान किया जायेगा, अतः नारद ने ज्योंही भौतिक शरीर त्यागा, उन्हें आध्यात्मिक शरीर प्राप्त हो गया। यह दिव्य शरीर भौतिक आसक्ति से मुक्त और तीन प्रधान दिव्य गुणों से युक्त होता है। ये हैं शाश्वतता, भौतिक गुणों से मुक्ति तथा सकाम कर्मों के फल से मुक्ति। भौतिक शरीर इन तीनों गुणों के अभाव से निरन्तर पीड़ित रहता है। किन्तु, ज्योंही कोई भक्त भगवान् की सेवा में तत्पर होता है, त्योंही उसका शरीर दिव्य गुणों से अभिभूत हो जाता है। यह लोहे पर पारसमणि की तरह चुम्बकीय प्रभाव डालता है। दिव्य भक्तिमय सेवा का प्रभाव भी उसी तरह होता है। फलतः शरीर-परिर्वतन का अर्थ है, शुद्ध भक्त पर भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों की प्रतिक्रिया की समाप्ति। शास्त्रों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। ध्रुव महाराज, प्रह्लाद महाराज तथा अन्य अनेक भक्त इसी शरीर से भगवान् का साक्षात्कार कर सके। इसका अर्थ यह हुआ कि भक्त के शरीर का गुण भौतिक से दिव्य में बदल जाता है। प्रामाणिक शास्त्रों के आधार पर, प्रधिकृत गोस्वामियों का यही अभिमत है। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि *इन्द्रगोप* कीट से लेकर स्वर्ग के महान् राजा इन्द्र तक, सारे जीव *कर्म* के नियम के अधीन हैं और उन्हें अपने-अपने कर्मों के फल को भोगना पड़ता है। केवल भक्त ही सर्वोपरि सत्ता, पुरूषोत्तम भगवान् की अहैतुकी कृपा से इन कर्म बन्धनों से मुक्त हैं।

कल्पान्त इदमादाय शयानेऽम्भस्युदन्वतः ।
शिशयिषोरनुप्राणं विविशेऽन्तरहं विभोः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

कल्प-अन्ते—ब्रह्मा के दिन के अन्त में; इदम्—यह; आदाय—लेकर, समेट कर; शयाने—शयन करते हुए; अम्भसि—कारण-जल में; उदन्वत:—विनाश, संहार; शिशयिषो:—भगवान् (नारायण) का लेटना; अनुप्राणम्—श्वास लेना; विविशे—प्रवेश किया; अन्त:—भीतर; अहम्—मैंने; विभो:—ब्रह्माजी के।

कल्प के अन्त में जब भगवान् नारायण प्रलय के जल में लेट गये, तब ब्रह्माजी समस्त सृष्टिकारी तत्त्वों सहित उनके भीतर प्रवेश करने लगे और उनके श्वास से मैं भी भीतर चला गया।

तात्पर्य : नारद ब्रह्मा के पुत्र के रूप में उसी तरह विख्यात हैं, जिस प्रकार भगवान् कृष्ण वसुदेव के पुत्र-रूप में। भगवान् तथा नारद जैसे उनके मुक्त भक्तगण इस संसार में एक ही विधि से प्रकट होते हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भगवान् का जन्म तथा उनके कार्य-कलाप सभी दिव्य होते हैं। अत: प्रामाणिक अभिमत के अनुसार, ब्रह्मा के पुत्र के रूप में नारद का जन्म भी दिव्य लीला है। उनका प्राकट्य तथा तिरोधान व्यावहारिक रूप से भगवान् के समस्तरीय हैं। अत: भगवान् तथा उनके भक्त दिव्य व्यक्ति के रूप में एकसाथ एकमेव तथा भिन्न हैं। वे एक ही कोटि की दिव्यता से सम्बन्धित हैं।

सहस्रयुगपर्यन्ते उत्थायेदं सिसृक्षत: ।
मरीचिमिश्रा ऋषय: प्राणेभ्योऽहं च जज्ञिरे ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सहस्र—एक हजार; युग—४३,००,००० वर्ष; पर्यन्ते—अवधि के अन्त में; उत्थाय—बीतने पर; इदम्—इस; सिसृक्षत:—पुन: सृजन करने की इच्छा प्रकट की; मरीचि-मिश्रा:—मरीचि जैसे ऋषि; ऋषय:—सारे ऋषिगण; प्राणेभ्य:—उनकी इन्द्रियों से; अहम्—मैं; च—भी; जज्ञिरे—प्रकट हुआ।

४,३२,००,००,००० सौर वर्षों के बाद, जब भगवान् की इच्छा से ब्रह्मा पुन: सृष्टि करने के लिए जागे, तो मरीचि, अंगिरा, अत्रि इत्यादि सारे ऋषि भगवान् के दिव्य शरीर से उत्पन्न हुए और उन्हीं के साथ-साथ मैं भी प्रकट हुआ।

तात्पर्य : ब्रह्मा के जीवन के एक दिन की अवधि ४,३२,००,००,००० सौर वर्षों की होती है। इसका उल्लेख *भगवद्गीता* में किया गया है। अत: ब्रह्माजी इस अवधि में अपने जनक गर्भोदकशायी विष्णु के शरीर के भीतर योगनिद्रा में शयन करते हैं। इस निद्रा के बाद, जब

भगवान् की इच्छा से ब्रह्मा के माध्यम द्वारा पुनः सृष्टि की जाती है, तो सारे ऋषि पुनः दिव्य शरीर के विभिन्न अंगों से प्रकट होते हैं और नारद भी इसी तरह प्रकट होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि नारद उसी दिव्य शरीर में प्रकट होते हैं, जिस प्रकार मनुष्य निद्रा के बाद उसी शरीर में जगता है। श्री नारद सर्वशक्तिमान की दिव्य तथा भौतिक सृष्टियों के सभी भागों में जाने के लिए मुक्त हैं। वे अपने दिव्य शरीर में ही प्रकट तथा अंतर्धान होते रहते हैं। यह शरीर बद्धजीवों के शरीर से भिन्न है, क्योंकि इस शरीर तथा आत्मा में कोई भेद नहीं होता।

अन्तर्बहिश्च लोकांस्त्रीन् पर्येम्यस्कन्दितव्रतः ।
अनुग्रहान्महाविष्णोरविघातगतिः क्वचित् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

अन्तः—दिव्य जगत में; बहिः—भौतिक जगत में; च—तथा; लोकान्—लोक; त्रीन्—तीन (विभाग); पर्येमि—विचरण करता हूँ; अस्कन्दित—अविच्छिन्न; व्रतः—व्रत, प्रण; अनुग्रहात्—अहैतुकी कृपा से; महा-विष्णोः—महाविष्णु (कारणोदकशायी विष्णु) की; अविघात—बिना रोक टोक के; गतिः—प्रवेश; क्वचित्—किसी समय।

तब से सर्वशक्तिमान विष्णु की कृपा से मैं दिव्य जगत में तथा भौतिक जगत के तीनों प्रखण्डों में बिना रोक-टोक के सर्वत्र विचरण करता हूँ। ऐसा इसलिए है क्योंकि मैं भगवान् की अविच्छिन्न भक्तिमय सेवा में स्थिर हूँ।

तात्पर्य : जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भौतिक प्रक्षेत्र (ब्रह्माण्ड) के तीन प्रखण्ड हैं। ये हैं *ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक* तथा *अधोलोक।* ऊर्ध्वलोकों के परे अर्थात् ब्रह्मलोक के ऊपर ब्रह्माण्ड के भौतिक आवरण होते हैं और इसके भी ऊपर चिन्मय आकाश होता है, जिसका विस्तार असीम है और जिसमें अपने शाश्वत मुक्त पार्षदों सहित भगवान् द्वारा निवसित असंख्य स्वतःप्रकाशित वैकुण्ठ लोक होते हैं। श्री नारद मुनि इन सभी लोकों में, भौतिक एवं दिव्य प्रक्षेत्रों में, बिना रोक–टोक प्रवेश कर सकते हैं जिस तरह भगवान् अपनी सृष्टि के किसी भी भाग में स्वतः जाने के लिए स्वतन्त्र हैं। भौतिक जगत में सारे जीव भौतिक प्रकृति के तीन गुणों—सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुणों—से प्रभावित रहते हैं। लेकिन श्री नारद मुनि इन सारे भौतिक गुणों से परे हैं, अतएव वे कहीं भी अबाध रूप से विचरण कर सकते हैं। वे मुक्त अन्तरिक्ष यात्री

हैं। भगवान् विष्णु की अहैतुकी कृपा अद्वितीय होती है और ऐसी कृपा केवल भगवान् के अनुग्रहवश भक्तों द्वारा अनुभव की जाती है। अतएव भक्त कभी भी च्युत नहीं होते, लेकिन भौतिकतावादी अर्थात् सकाम कर्मी तथा ज्ञानी अपने-अपने गुणों से बाध्य होकर च्युत होते हैं। जैसाकि कहा जा चुका है, ऋषिगण नारद की तरह आध्यात्मिक जगत (वैकुण्ठ) में प्रवेश नहीं कर सकते। इस तथ्य का उद्घाटन *नरसिंह पुराण* में किया गया है। मरीचि जैसे *ऋषि* सकाम कर्म के पंडित हैं, तथा सनक एवं सनातन जैसे ऋषि दार्शनिक चिन्तन (ज्ञान) के प्रमाण हैं। किन्तु श्री नारद मुनि ही भगवान् की दिव्य भक्ति के मूल अधिकारी हैं। भगवान् की भक्ति के सारे बड़े-बड़े अधिकारी *नारद-भक्ति-सूत्र* के अनुसार नारद मुनि के चरण चिह्नों का अनुसरण करते हैं, अतएव भगवान् के सारे भक्त भगवान् के राज्य, वैकुण्ठ में बिना किसी हिचक के प्रवेश करने के पात्र होते हैं।

देवदत्तामिमां वीणां स्वरब्रह्मविभूषिताम् ।
मूर्च्छयित्वा हरिकथां गायमानश्चराम्यहम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

देव—पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् (श्रीकृष्ण) द्वारा; दत्ताम्—प्रदत्त; इमाम्—इस; वीणाम्—वीणा को; स्वर—स्वर, बोल; ब्रह्म—दिव्य; विभूषिताम्—अलंकृत; मूर्च्छयित्वा—स्पन्दन करती; हरि-कथाम्—दिव्य सन्देश को; गायमानः—निरन्तर गाते हुए; चरामि—विचरण करता हूँ; अहम्—मैं।

और इस तरह मैं भगवान् की महिमा के दिव्य सन्देश का निरन्तर गायन करते हुए और इस वीणा को झंकृत करते हुए विचरण करता रहता हूँ, जो दिव्य ध्वनि से पूरित है और जिसे भगवान् कृष्ण ने मुझे दिया था।

तात्पर्य : *लिंग पुराण* में नारद को भगवान् कृष्ण द्वारा प्रदत्त तारयुक्त वाद्य यंत्र *वीणा* का वर्णन दिया गया है और इसकी पुष्टि श्रील जीव गोस्वामी द्वारा की गई है। यह दिव्य वाद्य भगवान् श्रीकृष्ण तथा नारद जी से अभिन्न है, क्योंकि ये सभी एक ही दिव्य कोटि के हैं। इस वाद्य द्वारा झंकृत ध्वनि कभी भौतिक नहीं हो सकती, अतएव नारद के इस वाद्य द्वारा प्रसारित महिमा तथा लीलाएँ भी दिव्य हैं, उनमें भौतिकता का जरा भी उन्माद नहीं है। सप्त स्वर *ष (षडज), ऋ*

(ऋषभ), गा (गान्धार), म (मध्यम), प (पञ्चम), ध (धैवत) तथा नि (निषाद) भी दिव्य हैं और विशेष रूप से दिव्य गीतों के लिए हैं। भगवान् के शुद्ध भक्त के रूप में श्री नारददेव भगवान् द्वारा प्रदत्त इस वीणा के ऋण से सदैव उऋण होते हैं, क्योंकि वे निरन्तर उनके दिव्य यश का गायन करते रहते हैं और इस प्रकार अपने उच्च पद पर अच्युत हैं। भौतिक जगत के स्वरूप सिद्ध व्यक्ति को भी श्रील नारद मुनि के पद चिह्नों का अनुसरण करते हुए सप्तस्वरों अर्थात् *ष, ऋ, गा, म,* आदि का व्यवहार भगवान् की सेवा में उनकी महिमा के निरन्तर गायन द्वारा करना चाहिए, जैसी कि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है।

प्रगायत: स्ववीर्याणि तीर्थपाद: प्रियश्रवा: ।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

प्रगायत:—इस प्रकार गाते हुए; स्व-वीर्याणि—अपनी लीलाएँ; तीर्थ-पाद:—भगवान्, जिनके चरणकमल समस्त पुण्यों या पवित्रता के स्रोत हैं; प्रिय-श्रवा:—सुनने में सुखद; आहूत:—बुलाया गया; इव—मानो; मे—मुझको; शीघ्रम्—जल्दी ही; दर्शनम्—दर्शन; याति—प्रकट होता है; चेतसि—हृदय स्थल में।.

ज्योंही मैं भगवान् श्रीकृष्ण की सुमधुर महिमा की पवित्र लीलाओं का कीर्तन करना प्रारम्भ करता हूँ, त्योंही वे मेरे हृदयस्थल में प्रकट हो जाते हैं मानो उनको बुलाया गया हो।

तात्पर्य : परम पूर्ण भगवान् अपने दिव्य नाम, रूप, लीलाओं तथा उनकी शब्द ध्वनियों से भिन्न नहीं हैं। ज्योंही शुद्ध भक्त उनके नाम, रूप तथा लीलाओं का श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण करते हुए शुद्ध भक्ति में लग जाता है, त्योंही भगवान् आध्यात्मिक दृष्टपटल (टेलीविजन) के द्वारा शुद्ध भक्त के हृदय रूपी दर्पण पर अपना प्रतिबिम्ब उसकी दिव्य आँखों के सामने दिखलाते हैं। अतएव शुद्ध भक्त जो भगवान् से दिव्य प्रेमाभक्ति के कारण जुड़ा रहता है, प्रतिक्षण भगवान् की उपस्थिति का अनुभव कर सकता है। यह सहज मनोविज्ञान है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के मुख से अपने यश का वर्णन सुनकर आनन्दित होना पसन्द करता है। यह सहज स्वभाव है और भगवान् भी अन्यों की भाँति एक व्यक्तित्व होने के कारण इस मनोविज्ञान से अलग नहीं हैं, क्योंकि हर व्यक्तिगत आत्मा में पाये जाने वाले मनोवैज्ञानिक लक्षण परम भगवान् के उसी

मनोविज्ञान के प्रतिबिम्ब ही हैं। अन्तर केवल इतना है कि भगवान् सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं और अपने समस्त कार्यों में अलौकिक हैं। अत: यदि शुद्ध भक्त द्वारा अपने यश के गायन से भगवान् आकृष्ट होते हैं, तो इसमें कोई विस्मय नहीं होना चाहिए। चूँकि वे परम पूर्ण हैं, अत: वे अपने महिमा-गायन से प्रकट हो सकते हैं और ये दोनों बातें एक हैं। श्रील नारद भगवान् की महिमा का कीर्तन किसी निजी लाभ के लिए नहीं अपितु इसलिए करते हैं क्योंकि यह महिमा-गायन भगवान् से अभिन्न होता है। नारद मुनि अपने दिव्य कीर्तन से भगवान् के समक्ष पहुँच पाते हैं।

एतद्ध्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया मुहुः ।
भवसिन्धुप्लवो दृष्टो हरिचर्यानुवर्णनम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; हि—निश्चय ही; आतुर-चित्तानाम्—उन लोगों का जिनके चित्त सदैव चिन्ताओं से भरे रहते हैं; मात्रा—विषय वस्तुएँ; स्पर्श—इन्द्रियाँ; इच्छया—इच्छाओं के द्वारा; मुहुः—सदैव; भव-सिन्धु—अज्ञान रूपी सागर; प्लवः—नाव; दृष्टः—अनुभव की गई; हरि-चर्य—भगवान् हरि के कार्यकलापों का; अनुवर्णनम्—निरन्तर गायन।

यह मेरा निजी अनुभव है कि जो लोग विषय-वस्तुओं से सम्पर्क की इच्छा रखने के कारण सदैव चिन्ताग्रस्त रहते हैं, वे भगवान् की दिव्य लीलाओं के निरन्तर कीर्तन रूपी सर्वाधिक उपयुक्त नौका पर चढ़कर अज्ञान रूपी सागर को पार कर सकते हैं।

तात्पर्य : जीव का लक्षण यह है कि वह थोड़े समय के लिए भी मौन नहीं रह सकता। वह कुछ न कुछ करता रहता है, कुछ न कुछ सोचता या बोलता रहता है। सामान्य रूप से भौतिकतावादी लोग ऐसे विषयों के बारे में सोचते तथा बातें करते हैं, जो उनकी इन्द्रियों को तुष्ट करने वाले होते हैं। चूँकि ये सारी बातें बहिरंगा शक्ति के प्रभाववश की जाती हैं, अतएव इन्द्रियों के कार्यों से उन्हें कोई सन्तुष्टि नहीं मिल पाती। उल्टे वे चिन्ताओं से पूर्ण होते जाते हैं। यह *माया* कहलाती है जिसका अर्थ है, ''वह जो नहीं है''। ऐसी वस्तु जो उन्हें तुष्टि प्रदान नहीं कर पाती, उसे तुष्टि की वस्तु मान लिया जाता है। अतएव नारद मुनि अपने निजी अनुभव से बताते हैं कि इन्द्रियतृप्ति में निरत ऐसे हताश लोगों की तुष्टि भगवान् की लीलाओं के निरन्तर कीर्तन से हो सकती है। बात इतनी-सी है कि विषयवस्तु को केवल बदल देना होता है। न तो कोई किसी

जीव को सोचने से रोक सकता है, न अनुभव करने, चाहने या कार्य करने से रोक सकता है। किन्तु यदि कोई वास्तविक सुख चाहता है, तो उसे केवल विषयवस्तु बदलनी होगी। उसे चाहिए कि वह मर्त्य मनुष्य की राजनीति की चर्चा न चलाकर स्वयं भगवान् द्वारा संचालित राजनीति की चर्चा चलाए। वह सिनेमा पात्रों के कार्यकलापों में रुचि न दिखाकर भगवान् की उनके नित्य पार्षदों, यथा *गोपियों* तथा लक्ष्मीयों, के साथ की लीलाओं की ओर ध्यान दे। सर्वशक्तिमान भगवान् अपनी अहैतुकी कृपावश पृथ्वी पर अवतरित होते हैं और संसारी पुरुषों की ही भाँति अपने कार्य दिखलाते हैं, लेकिन साथ ही, वे होते अद्वितीय हैं, क्योंकि वे सर्वशक्तिमान हैं। वे समस्त बद्धजीवों के लाभ के लिए ऐसा करते हैं, जिससे वे लोग अध्यात्म की ओर ध्यान दें। ऐसा करने से बद्धजीव क्रमशः दिव्य पद पर उन्नत होता है और समस्त कष्टों के स्रोत इस भवसागर को पार करता है। श्री नारद मुनि-जैसे प्रामाणिक अधिकारी ने अपने निजी अनुभव से ऐसा कहा है। हमें भी ऐसा ही अनुभव हो सकता है, यदि हम भगवान् के प्रियतम भक्त, इस ऋषि के चरणचिह्नों का अनुसरण करने लगें।

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः ।
मुकुन्दसेवया यद्वत्तथात्माद्धा न शाम्यति ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यम-आदिभिः—आत्मसंयम का अभ्यास करने की विधि के द्वारा; योग-पथैः—योग (दैवी अवस्था प्राप्त करने के लिए यौगिक शारीरिक शक्ति) पद्धति के द्वारा; काम—इन्द्रियतुष्टि की इच्छा; लोभ—इन्द्रियों की तुष्टि के लिए लालच; हतः—समाप्त; मुहुः—सदैव; मुकुन्द—भगवान्; सेवया—की सेवा द्वारा; यद्वत्—जिस रूप में; तथा—उसी प्रकार; आत्मा—आत्मा; अद्धा—समस्त व्यावहारिक कार्यों के लिए; न—नहीं; शाम्यति—तुष्ट हो।

यह सत्य है कि योगपद्धति के द्वारा इन्द्रियों को वश में करने के अभ्यास से मनुष्य को काम तथा लोभ की चिन्ताओं से राहत मिल जाएगी, किन्तु इससे आत्मा को सन्तोष प्राप्त नहीं होगा, क्योंकि यह सन्तोष भगवान् की भक्तिमय सेवा से ही प्राप्त किया जा सकता है।

तात्पर्य : योग का लक्ष्य है इन्द्रियों का संयम। आसन, विचार, भाव, इच्छा, एकाग्रता, ध्यान तथा अन्त में अध्यात्म में लीन हो जाने की यौगिक प्रक्रिया का अभ्यास करके मनुष्य इन्द्रियों को वश में कर सकता हैं। इन्द्रियाँ विषैले सर्पों के तुल्य हैं और योग पद्धति उन्हें केवल वश में करने

के लिए होती है। इसके विपरीत, नारद मुनि इन्द्रियों के निरोध की दूसरी विधि बताते हैं जो भगवान् मुकुन्द की दिव्य प्रेमाभक्ति है। वे अपने अनुभव के आधार पर कहते हैं कि भगवान् की भक्तिमय सेवा इन्द्रियों को वश में करने की कृत्रिम विधि की तुलना में अधिक व्यावहारिक तथा प्रभावशाली है। भगवान् मुकुन्द की सेवा करने से इन्द्रियाँ दिव्य रूप से सेवा में लगी रहती हैं। इस प्रकार उनके इन्द्रियतुष्टि में लगने का अवसर ही नहीं रह जाता। इन्द्रियों को कुछ काम चाहिए। कृत्रिम ढंग से उन्हें रोकना कोई रोकना नहीं है, क्योंकि ज्योंही भोग का कोई अवसर आता है त्योंही साँप जैसी इन्द्रियाँ अवश्य उसका लाभ उठाना चाहती हैं। इतिहास में ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलते हैं—यथा विश्वामित्र मुनि का मेनका के सौंदर्य पर मोहित होना। इसी तरह सुन्दर वस्त्रों से सज्जित होकर माया आधी रात के समय ठाकुर हरिदास को मोहने आई, किन्तु वह इस भक्त को अपने जाल में फँसा न सकी।

भाव यह है कि भगवान् की भक्तिमय सेवा के बिना न तो योग पद्धति, न ही शुष्क चिन्तन कभी सफल हो सकता है। आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है सकाम कर्म ध्यानयोग, या शुष्क चिन्तन से रंजित हुए बिना भगवान् की शुद्ध भक्ति करना। ऐसी शुद्ध भक्तिमय सेवा दिव्य होती है और योग तथा ज्ञान की पद्धतियाँ ऐसी विधि से गौण होती हैं। जब दिव्य भक्ति के साथ किसी अन्य गौण पद्धति को मिला दिया जाता है, तो वह दिव्य नहीं रह जाती, अपितु मिश्रित भक्ति कहलाती है। *श्रीमद्भागवत* के रचयिता श्रील व्यासदेव आगे चलकर क्रमशः इन दिव्य साक्षात्कार की विभिन्न पद्धतियों का विस्तार करेंगे।

सर्वं तदिदमाख्यातं यत्पृष्टोऽहं त्वयानघ ।
जन्मकर्मरहस्यं मे भवतश्चात्मतोषणम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सर्वम्—समस्त; तत्—वह; इदम्—यह; आख्यातम्—वर्णित; यत्—जो भी; पृष्टः—पूछा गया; अहम्—मैंने; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अनघ—निष्पाप; जन्म—जन्म; कर्म—कार्य; रहस्यम्—रहस्य; मे—मेरे; भवतः—तुम्हारा; च—तथा; आत्म—निजी, स्वयं; तोषणम्—तुष्टि।

हे व्यासदेव, तुम समस्त पापों से मुक्त हो। इस तरह, जैसा तुमने पूछा, उसी के अनुसार मैंने अपने जन्म तथा आत्म-साक्षात्कार के लिए किये गये कर्मों की व्याख्या की है। यह तुम्हारे आत्म-संतोष के लिए भी लाभप्रद होगा।

तात्पर्य : व्यासदेव की जिज्ञासाओं की तुष्टि के लिए, अध्यात्म अवस्था से प्रारम्भ करके, भक्तिमय कार्य की पद्धति की सम्यक् विवेचना की गई है। नारद ने बताया है कि किस प्रकार दिव्य संगति के द्वारा भक्ति रूपी बीज बोया गया और वह किस तरह मुनियों से श्रवण करने पर धीरे-धीरे बढ़ता गया। ऐसे श्रवण से सांसारिकता से विरक्ति उत्पन्न होती है, यहाँ तक कि एक छोटे-से बालक ने अपनी एकमात्र संरक्षिका माता की मृत्यु के समाचार को ईश्वर का आशीर्वाद मान कर स्वीकार किया और वह तुरन्त ही भगवान् की खोज में निकल पड़ा। फिर भगवान् से साक्षात्कार करने की उसकी प्रबल इच्छा स्वीकार हुई, यद्यपि सांसारिक नेत्रों से भगवान् को देख पाना किसी के लिए सम्भव नहीं है। उन्होंने यह भी बताया कि शुद्ध दिव्य सेवा करके मनुष्य किस प्रकार संचित कर्मों के फल से छुटकारा पा सकता है और किस प्रकार उन्होंने इस भौतिक शरीर को ही आध्यात्मिक शरीर में परिणत किया। केवल आध्यात्मिक शरीर को ही भगवान् के आध्यात्मिक परिमण्डल में प्रवेश मिलता है और केवल शुद्ध भक्त ही भगवद्धाम में प्रवेश पाने का अधिकारी होता है। दिव्य अनुभूति के सारे रहस्यों का अनुभव नारद जी स्वयं करते हैं, अतएव ऐसे प्राधिकारी व्यक्ति से सुनकर ही भक्तिमय जीवन के फलों का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है, जिनका सही-सही उद्धरण वेदों के मूल पाठ में भी मुश्किल से ही मिल पाता है। वेदों तथा उपनिषदों में इन सारी बातों के विषय में अप्रत्यक्ष संकेत हैं। उनमें प्रत्यक्ष रीति से कुछ भी विवेचित नहीं मिलता। अतएव *श्रीमद्भागवत* समस्त वैदिक साहित्य रूपी वृक्ष का परिपक्व फल है।

सूत उवाच
एवं सम्भाष्य भगवान्नारदो वासवीसुतम् ।

आमन्त्र्य वीणां रणयन् ययौ यादृच्छिको मुनिः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; सम्भाष्य—सम्बोधित करके; भगवान्—सर्वशक्तिमान; नारदः—नारद मुनि; वासवी—वासवी (सत्यवती) के; सुतम्—पुत्र को; आमन्त्र्य—बुलाकर; वीणाम्—वीणा, वाद्ययन्त्र; रणयन्—झंकृत करते हुए; ययौ—चला गया; यादृच्छिकः—जहाँ इच्छा हो वहाँ; मुनिः—मुनि।

सूत गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार व्यासदेव को सम्बोधित करके नारद मुनि ने उनसे विदा ली और अपनी वीणा को झंकृत करते हुए वे अपनी उन्मुक्त इच्छा के अनुसार विचरण करने के लिए चले गये।

तात्पर्य : प्रत्येक जीव पूर्ण स्वतन्त्रता चाहता है, क्योंकि यह उसका दिव्य स्वभाव होता है। और यह स्वतन्त्रता भगवान् की दिव्य सेवा से ही प्राप्त की जा सकती है। बहिरंगा शक्ति से भ्रमित होकर, प्रत्येक व्यक्ति अपने को स्वतन्त्र समझता है, लेकिन वास्तव में वह प्रकृति के नियमों से बँधा होता है। जब बद्धजीव इसी संसार में मुक्त भाव से विचरण नहीं कर सकता, तो फिर उसके एक लोक से दूसरे लोकों में जाने के विषय में तो कहना ही क्या? लेकिन नारद जैसे पूर्ण मुक्त व्यक्ति, जो निरन्तर भगवान् के यशोगान में लगे हों, न केवल पृथ्वी पर विचरण करने के लिए स्वतन्त्र हैं, अपितु ब्रह्माण्ड के किसी भाग के साथ ही साथ वैकुण्ठ के किसी भी भाग में विचरण के लिए भी उन्मुक्त हैं। हम उनकी स्वतन्त्रता के प्रसार तथा असीमता की कल्पना ही कर सकते हैं, जो भगवान् की स्वतन्त्रता जैसी ही है। उनके विचरण का न कोई कारण है, न कोई दायित्व है और न ही कोई उन्हें मुक्त विचरण से रोक सकता है। इसी प्रकार, भक्तिमय सेवा की दिव्य पद्धति भी स्वतन्त्र है। सम्भव है कि सारी क्रियाओं के बावजूद भी किसी व्यक्ति में यह विकसित न हो सके। इसी प्रकार, भक्तों की संगति भी स्वतन्त्र है। हो सकता है कि किसी भाग्यशाली को यह प्राप्त हो या किसी को हजार प्रयत्नों के बाद भी यह प्राप्त न हो पाये। अतः भक्ति के समस्त पक्षों में स्वतन्त्रता ही मुख्य धुरी है। स्वतन्त्रता के बिना भक्ति नहीं हो सकती। भगवान् को अर्पित स्वतन्त्रता का अर्थ यह नहीं है कि भक्त सभी तरह से आश्रित है। गुरु के पारदर्शी माध्यम से भगवान् की शरण में जाना जीवन की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करना है।

अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्तिं शार्ङ्गधन्वनः ।
गायन्माद्यन्निदं तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

अहो—धन्य हो; देवर्षिः—देवताओं के ऋषि; धन्यः—सफल हो; अयम् यत्—जो कोई; कीर्तिम्—यश; शार्ङ्ग-धन्वनः—भगवान् का; गायन्—गान करते हुए; माद्यन्—आनन्द लूटते हुए; इदम्—इस; तन्त्र्या—वाद्ययंत्र के सहारे; रमयति—जीवन दान देता है; आतुरम्—विपन्न; जगत्—संसार।

देवर्षि नारद धन्य हैं, क्योंकि वे भगवान् की लीलाओं का यशोगान करते हैं और ऐसा करके वे स्वयं तो आनन्द लूटते ही हैं और ब्रह्माण्ड के समस्त संतप्त जीवों को भी अभिप्रेरणा प्रदान करते हैं।

तात्पर्य : श्री नारद मुनि अपनी वीणा भगवान् की दिव्य लीलाओं के यशोगान करने तथा ब्रह्माण्ड के समस्त दुखी जीवों को सहारा दिलाने के लिए बजाते हैं। इस ब्रह्माण्ड में कोई भी सुखी नहीं है और जिसे हम सुख के रूप में अनुभव करते हैं, वह माया का मोह है। भगवान् की माया इतनी प्रबल है कि मलभक्षी शूकर तक अपने को सुखी अनुभव करता है। इस भौतिक जगत के भीतर वास्तविक रूप में कोई भी सुखी नहीं हो सकता। श्रील नारद मुनि, दुखी वासियों को अभिप्रेरणा प्रदान करने के लिए सर्वत्र विचरण करते रहते हैं। उनका एकमात्र उद्देश्य उन्हें भगवान् के धाम वापस ले जाना है। यही उद्देश्य उन सारे असली भगवद्भक्तों का है, जो इस महर्षि के पदचिह्नों पर चलते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत ''नारद तथा व्यासदेव का संवाद'' नामक छठे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सात

द्रोण-पुत्र को दण्ड

शौनक उवाच
निर्गते नारदे सूत भगवान् बादरायणः ।
श्रुतवांस्तदभिप्रेतं ततः किमकरोद्विभुः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

शौनकः उवाच—श्री शौनक ने कहा; निर्गते—चले जाने पर; नारदे—नारद मुनि के; सूत—हे सूत; भगवान्—दिव्य रूप से सर्वशक्तिमान; बादरायणः—वेदव्यास ने; श्रुतवान्—सुना; तत्—उसका; अभिप्रेतम्—मन की इच्छा, मनोवांछा; ततः—तत्पश्चात्; किम्—क्या; अकरोत्—किया; विभुः—महान् ने।

ऋषि शौनक ने पूछा : हे सूत, जब महान् तथा दिव्य रूप से शक्तिमान व्यासदेव ने श्री नारद मुनि से सब कुछ सुन लिया, तो फिर नारद के चले जाने पर व्यासदेव ने क्या किया?

तात्पर्य : इस अध्याय में *श्रीमद्भागवत* के वर्णन किये जाने के लिए संकेत मिलता है, क्योंकि महाराज परीक्षित को अपनी माता के गर्भ में चमत्कारिक ढंग से बचा लिए गये थे। यह घटना आचार्य द्रोण के पुत्र द्रौणि (अश्वत्थामा) के कारण घटित हुई जिसने द्रौपदी के पाँच पुत्रों को सोते हुए में मार डाला और जिसके लिए अर्जुन ने उसे दंडित किया। इस महापुराण *श्रीमद्भागवत* का शुभारम्भ करने के पूर्व, श्री व्यासदेव ने समाधि द्वारा सारे सत्य की अनुभूति प्राप्त कर ली।

सूत उवाच
ब्रह्मनद्यां सरस्वत्यामाश्रमः पश्चिमे तटे ।
शम्याप्रास इति प्रोक्त ऋषीणां सत्रवर्धनः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत ने कहा; ब्रह्म-नद्याम्—वेदों, ब्राह्मणों, सन्तों तथा भगवान् से घनिष्ठ रूप से: सम्बन्धित नदी के तट पर; सरस्वत्याम्—सरस्वती के; आश्रमः—ध्यान के लिए कुटी; पश्चिमे—पश्चिमी; तटे—तट पर; शम्याप्रासः—

शम्याप्रास नामक स्थान; इति—इस प्रकार; प्रोक्तः—कहलाने वाला; ऋषीणाम्—ऋषियों का; सत्र-वर्धनः—कार्यों को प्रोत्साहित करने वाला।.

श्री सूत ने कहा : वेदों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध सरस्वती नदी के पश्चिमी तट पर शम्याप्रास नामक स्थान पर एक आश्रम है, जो ऋषियों के दिव्य कार्यकलापों को संवर्धित करने वाला है।

तात्पर्य : ज्ञान के आध्यात्मिक विकास के लिए उपयुक्त स्थान तथा वातावरण की नितान्त आवश्यकता होती है। सरस्वती नदी के पश्चिमी तट का स्थान इस कार्य के लिए विशेष उपयुक्त है और वहीं पर, शम्याप्रास में, व्यासदेव का आश्रम है। श्रील व्यासदेव गृहस्थ थे तो भी उनका निवासस्थान आश्रम कहलाता है। आश्रम वह स्थान है जहाँ आध्यात्मिक कार्यकलाप सर्वोपरि होता हैं, फिर चाहे वह स्थान किसी गृहस्थ का हो या तपस्वी का। सम्पूर्ण वर्णाश्रम पद्धति इस प्रकार नियोजित है कि जीवन की प्रत्येक अवस्था आश्रम कहलाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि इन सबों में आध्यात्मिक संस्कृति एक सामान्य लक्षण है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी सारे एक ही जीवन-लक्ष्य, अर्थात् परमेश्वर के साक्षात्कार से सम्बन्धित हैं। अतएव जहाँ तक आध्यात्मिक संस्कृति की बात है, इनमें से कोई भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अन्तर तो केवल वैराग्य के आधार पर औपचारिकता का होता है। संन्यासी अपने व्यावहारिक वैराग्य के बल पर ही सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं।

तस्मिन् स्व आश्रमे व्यासो बदरीषण्डमण्डिते ।
आसीनोऽप उपस्पृश्य प्रणिदध्यौ मनः स्वयम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस; स्वे—अपनी; आश्रमे—कुटिया में; व्यासः—व्यासदेव; बदरी—बेर; षण्ड—वृक्ष; मण्डिते—से घिरा; आसीनः—बैठे हुए; अपः उपस्पृश्य—जल का स्पर्श करके; प्रणिदध्यौ—एकाग्र किया; मनः—मन को; स्वयम्—अपने आप में।.

उस स्थान पर बेरी के वृक्षों से घिरे हुए अपने आश्रम में, श्रील वेदव्यास शुद्धि के लिए जल का स्पर्श करने के बाद ध्यान लगाने के लिए बैठ गये।

तात्पर्य : अपने गुरु श्रील नारद मुनि के आदेशानुसार व्यासदेव ने ध्यान के उस दिव्य स्थान में अपने मन को एकाग्र किया।

भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले ।
अपश्यत्पुरुषं पूर्णं मायां च तदपाश्रयम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

भक्ति—भक्तिमय सेवा; योगेन—संयुक्त होने की विधि द्वारा; मनसि—मन में; सम्यक्—पूर्ण रूप से; प्रणिहिते—संलग्न तथा स्थिर; अमले—निर्मल; अपश्यत्—देखा; पुरुषम्—भगवान् को; पूर्णम्—परम; मायाम्—शक्ति को; च—भी; तत्—उसके; अपाश्रयम्—पूर्ण वश में।

इस प्रकार उन्होंने भौतिकता में किसी लिप्तता के बिना, भक्तिमय सेवा (भक्तियोग) से बँधकर अपने मन को पूरी तरह एकाग्र किया। इस तरह उन्होंने परमेश्वर के पूर्णतः अधीन उनकी बहिरंगा शक्ति के समेत उनका दर्शन किया।

तात्पर्य : परम सत्य का सम्यक् दर्शन केवल भक्तियोग द्वारा ही किया जा सकता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में भी हुई है। मनुष्य केवल भक्तिमय सेवा द्वारा ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की सही-सही अनुभूति प्राप्त कर सकता है और ऐसे पूर्ण ज्ञान के बल पर ही वह भगवद्धाम में प्रवेश कर सकता है। निराकार ब्रह्म या अन्तर्यामी परमात्मा के अपूर्ण ज्ञान से पूर्णब्रह्म की अधूरी प्रतीति करके कोई भगवद्धाम में प्रवेश नहीं पा सकता। श्रील नारद ने श्रील व्यासदेव को उपदेश दिया कि वे भगवान् तथा उनकी दिव्य लीलाओं के ध्यान में निमग्न हो जाँए। श्रील व्यासदेव को ब्रह्मतेज नहीं दिखलाई पड़ा, क्योंकि यह पूर्ण दृष्टि नहीं है। पूर्ण दृष्टि तो भगवान् का व्यक्तित्व है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१९) में हुई है : *वासुदेवःसर्वमिति। उपनिषदों* में भी इस बात की पुष्टि की गई है कि भगवान् वासुदेव निर्विशेष ब्रह्म के *हिरण्मयेन पात्रेण* द्वारा आच्छादित हैं और जब भगवत्कृपा से यह आवरण हटता है, तभी भगवान् का वास्तविक मुख का दर्शन हेता है। परब्रह्म को यहाँ पर *पुरुष* या व्यक्ति कहा गया है। परम भगवान् का उल्लेख अनेक वैदिक ग्रंथों में हुआ है और *भगवद्गीता* में तो पुरुष की पुष्टि सनातन तथा आदि पुरुष के रूप में हुई है। भगवान् पूर्ण पुरुष हैं। परम पुरुष की अनेक शक्तियाँ होती हैं जिनमें से अन्तरंगा, बहिरंगा तथा तटस्था शक्तियाँ

विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ पर बहिरंगा शक्ति का वर्णन हुआ है जैसाकि उसके कार्यकलापों के वर्णनों से स्पष्ट हो जाएगा। अन्तरंगा शक्ति परम पुरुष के साथ उसी प्रकार बनी हुई रहती है, जिस प्रकार चाँद के साथ चाँदनी रहती है। बहिरंगा शक्ति की तुलना अंधकार से की गई है, क्योंकि यह जीवों को अज्ञान के अन्धकार में रखती है। *अपाश्रयम्* शब्द इस बात का सूचक है कि यह शक्ति पूर्ण रूप से भगवान् के वश में होती है। अन्तरंगा शक्ति या पराशक्ति *माया* भी कहलाती है, किन्तु यह आध्यात्मिक *माया* होती है अर्थात् परम जगत में ही यह प्रकट होती है। जब कोई इस अन्तरंगा शक्ति के आश्रय में आता है, तो भौतिक अज्ञान का अन्धकार तुरन्त दूर हो जाता है। यहाँ तक कि जो *आत्माराम* हैं, अर्थात् जो समाधिस्थ रहते हैं, वे भी इस *माया* या अन्तरंगा शक्ति का आश्रय ग्रहण करते हैं। भक्तिमय सेवा या भक्तियोग इसी अन्तरंगा शक्ति का कार्य है। इस प्रकार अपरा शक्ति या भौतिक शक्ति के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता, जिस प्रकार आध्यात्मिक प्रकाश के तेज के समक्ष अंधकार को कोई स्थान नहीं मिल पाता। ऐसी अन्तरंगा शक्ति निराकार ब्रह्म-बोध से मिलने वाले आध्यात्मिक आनन्द से भी बढ़कर है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि निराकार ब्रह्म-तेज भी भगवान् श्रीकृष्ण के परम व्यक्तित्व से उद्भूत है। साक्षात् श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य कोई *परम पुरुष* नहीं हो सकता, जैसाकि आगे के श्लोकों में बताया जाएगा।

यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम् ।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

यया—जिससे; सम्मोहितः—मोहग्रस्त; जीवः—जीवात्माएँ; आत्मानम्—स्व; त्रि-गुण-आत्मकम्—प्रकृति के तीनों गुणों से बद्ध अथवा पदार्थ का फल; परः—दिव्य; अपि—के होते हुए भी; मनुते—मान लेता है; अनर्थम्—अनचाही वस्तुएँ; तत्—उससे; कृतम् च—प्रतिक्रिया; अभिपद्यते—भोगता है।

जीवात्मा तीनों गुणों से अतीत होते हुए भी इस बहिरंगा शक्ति के कारण अपने आप को भौतिक पदार्थ की उपज मानता है और इस प्रकार भौतिक कष्टों के फलों को भोगता है।

तात्पर्य : यहाँ पर भौतिकतावादी जीवों के कष्ट का मूल कारण तथा उसके उपाय के रूप में जो कार्य प्राप्त करनी चाहिए, उसके बारे में बतलाया गया है। इन सबका उल्लेख इस श्लोक में हुआ है। जीवात्मा स्वाभाविक रूप से भौतिक पाश से परे है, किन्तु अभी वह बहिरंगा शक्ति द्वारा बन्दी बना लिया गया है अतएव वह अपने आपको भौतिक पदार्थ की उपजों में से एक मानता है। अतएव इस अपवित्र सम्पर्क से विशुद्ध आध्यात्मिक जीव भौतिक प्रकृति के गुणों के अधीन कष्ट सहता है। जीवात्मा भ्रमवश अपने को भौतिक पदार्थ मान बैठता है। इसका अर्थ यह हुआ कि भौतिक स्थिती के बस में होने के कारण उसके सोचने, अनुभव करने तथा चाहने की वर्तमान विकृत विधि उसके लिए स्वाभाविक नहीं है। तो भी सोचने, अनुभव करने तथा चाहने का उसका अपना सामान्य तरीका होता है। जीव अपनी मूल अवस्था में सोचने, अनुभव करने तथा चाहने की शक्ति से रहित नहीं होता। *भगवद्गीता* में भी पुष्टि हुई है कि बद्धजीव का वास्तविक ज्ञान, अज्ञान से ढका रहता है। इस प्रकार यहाँ इस सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है कि जीवात्मा परम निराकार ब्रह्म है। ऐसा हो नहीं सकता क्योंकि जीवात्मा की अपनी मूल अबद्ध अवस्था में भी अपनी चिन्तन शैली होती है। वर्तमान बद्ध- अवस्था बहिरंगा शक्ति के प्रभाव के कारण है जिसका अर्थ यह है कि परमेश्वर पृथक् रहते आते हैं और मोहमयी शक्ति (माया) पहल करती है। भगवान् कभी नहीं चाहते कि जीवात्मा बहिरंगा शक्ति द्वारा भरमाया जाए। बहिरंगा शक्ति भी इस तथ्य से भलीभाँति परिचित है, किन्तु वह अपनी मोहनी शक्ति से विस्मृत जीव को भरमाये रखने का अकृतज्ञ कार्य करती है। भगवान् भ्रामिका शक्ति के कार्य में कोई बाधा नहीं डालते, क्योंकि उसके ये कार्य बद्धजीव को सुधारने के लिए आवश्यक होते हैं। कोई स्नेहिल पिता नहीं चाहता कि अन्य कोई व्यक्ति उसकी सन्तान को प्रताड़ित करे, तो भी वह अपने उद्दंड पुत्र को सुधारने के लिए कठोर व्यक्ति के संरक्षण में सौंप देता है। लेकिन साथ ही, सर्व-स्नेहिल सर्वशक्तिमान पिता बद्धजीवों को भ्रामिका शक्ति (माया) के चंगुल से छुटकारा दिलाने के लिए उत्सुक रहते हैं। राजा अवज्ञाकारी नागरिकों को बन्दीगृह की चारदीवारी के भीतर डाल देता है, लेकिन कभी-कभी बन्दी को राहत देने की इच्छा से वह स्वयं बन्दीगृह में जाता है और उनसे

सुधरने के लिए कहता है और उसके ऐसा करने पर वह बन्दी को मुक्त कर देता हैं। इसी प्रकार परमेश्वर अपने राज्य से भ्रामिका शक्ति के राज्य में अवतरित होकर *भगवद्गीता* के रूप में राहत देते हैं, जहाँ पर वे व्यक्तिगत रूप से सुझाव देते हैं कि यद्यपि भ्रामिका शक्ति पर विजय पाना दुष्कर है, तो भी यदि कोई भगवान् के चरणकमलों की शरण में आता है, तो भगवान् के आदेश से वह मुक्त हो जाता है। शरणागति की यह विधि माया के भ्रामक प्रभाव से छुटकारा पाने का उपाय है। अत: भगवान् का सुझाव है कि सन्त पुरुषों की वाणी के प्रभाव से, जिन्होंने वास्तव में परम की अनुभूति कर ली है, वे लोग भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में संलग्न हों। बद्धजीव को भगवान् के विषय में सुनने में आस्वाद मिलने लगता है और इस प्रकार श्रवण करने से ही वह भगवान् के प्रति आदर, भक्ति तथा आसक्ति के पद तक ऊपर उठ जाता है। शरणागति विधि से सभी कुछ पूरा हो जाता है। यहाँ पर व्यासदेव के अवतार रूप में भगवान् ने यही सुझाव रखा है। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् द्वारा बद्धजीवों का दोनों प्रकार से उद्धार किया जाता है—एक तो भगवान् की बहिरंगा शक्ति के द्वारा दण्डित होकर तथा दूसरी ओर भगवान् द्वारा अन्तस्थ और बाह्य गुरु बनकर। भगवान् प्रत्येक जीव के अन्त:करण में परमात्मा रूप में गुरु बनते हैं और बाहर से वे शास्त्रों, सन्तों तथा दीक्षा- गुरु के रूप में गुरु बनते हैं। अगले श्लोक में इसकी अधिक स्पष्ट व्याख्या की गई है।

वेदों में (केनोपनिषद् में) देवताओं की नियन्त्रक शक्ति के सम्बन्ध में भ्रामिका शक्ति के व्यक्तिगत अधीक्षण की पुष्टि की गई है। यहाँ पर भी यह स्पष्ट कहा गया है कि जीवात्मा बहिरंगा शक्ति द्वारा व्यक्तिगत सामर्थ्य में नियन्त्रित होता है। इस प्रकार जो जीव बहिरंगा शक्ति के नियन्त्रण में आ जाता है वह भिन्न रूप से अवस्थित होता है। फिर भी *भागवत* के इस कथन से यह स्पष्ट है कि वही बहिरंगा शक्ति, पूर्ण पुरूष भगवान् के समक्ष, निकृष्ट स्थित पर रहती है। पूर्ण व्यक्ति या भगवान् तक भ्रामिका शक्ति पहुँच भी नहीं पाती, क्योंकि वह केवल जीवों पर ही अपना कार्य कर पाती है। अतएव यह तो मात्र कल्पना है कि भगवान् भ्रामिका शक्ति द्वारा भ्रमित होते हैं और बाद में जीव बन जाते हैं। यदि भगवान् तथा जीव एक ही श्रेणी में होते, तो व्यासदेव के लिए इसे

देख पाना सम्भव होता और भ्रमित जीवों के भौतिक दुख का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि परमेश्वर सब कुछ जानते हैं। अतएव अनेक अद्वैतवादियों द्वारा भगवान् तथा जीव को एक ही श्रेणी में रखने का प्रयास छिछोरी कल्पनाएँ मात्र हैं। यदि भगवान् तथा जीव एक से ही होते, तो श्रील शुकदेव गोस्वामी भगवान् की दिव्य लीलाओं का वर्णन करने का कष्ट न उठाते, क्योंकि ये सब भ्रामिका शक्ति की अभिव्यक्तियाँ होतीं।

श्रीमद्भागवत माया के चंगुल में कष्ट पाने वाली मानवता के लिए रामबाण उपचार है। अतएव श्रील व्यासदेव ने सर्वप्रथम बद्धजीवों के वास्तविक रोग का निदान किया, जो है बहिरंगा शक्ति द्वारा भ्रमित होना। उन्होंने उन पूर्ण परम पुरुष के भी दर्शन किये, जिनसे भ्रामिका शक्ति बहुत दूर रहती है, यद्यपि उन्होंने रुग्ण बद्धजीवों तथा रोग के कारण दोनों को देखा। रोग के उपचार की विधियाँ अगले श्लोक में सुझाई गई हैं। निस्सन्देह भगवान् तथा जीव दोनों ही गुणवत्ता की दृष्टि से समान हैं, लेकिन भगवान् भ्रामिका शक्ति के नियन्ता हैं, जबकि जीव इसी भ्रामिका शक्ति द्वारा नियन्त्रित होते हैं। इस प्रकार भगवान् तथा जीव एकसाथ अभिन्न तथा भिन्न हैं। दूसरा अन्तर इस प्रकार है—भगवान् तथा जीव के बीच का सनातन सम्बन्ध दिव्य है, अन्यथा वे माया के चंगुल से बद्धजीवों का उद्धार करने का कष्ट न लेते। इसी प्रकार से जीव को भी भगवान् के प्रति अपने प्राकृतिक प्रेम तथा स्नेह को जगाने की आवश्यकता रहती है और जीव की यही सर्वोच्च पूर्णता है। जीवन के इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर *श्रीमद्भागवत* में बद्धजीवों का वर्णन हुआ है।

अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे ।
लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अनर्थ—फालतू चीजें; **उपशमम्**—बहिष्कार, निवारण; **साक्षात्**—प्रत्यक्ष; **भक्ति-योगम्**—भक्ति को जोड़ने की विधि; **अधोक्षजे**—दिव्य को; **लोकस्य**—सामान्य लोगों का; **अजानतः**—न जानने वाले; **विद्वान्**—प्रकाण्ड पंडित; **चक्रे**—संकलन किया; **सात्वत**—परम सत्य के प्रसंग में; **संहिताम्**—वैदिक साहित्य।

जीव के भौतिक कष्ट, जिन्हें वह अनर्थ समझता है, भक्तियोग द्वारा प्रत्यक्ष रूप से कम किये जा सकते हैं। किन्तु अधिकांश जन इसे नहीं जानते; इसलिए विद्वान व्यासदेव ने इस वैदिक साहित्य का संकलन किया है, जिसका सम्बन्ध परम सत्य से है।

तात्पर्य : श्रील व्यासदेव ने परम पूर्ण भगवान् को देखा। इस कथन से यह सुझाव मिलता है कि भगवान् की पूर्ण इकाई में उनके अंश-प्रत्यंश भी सम्मिलित रहते हैं। अतएव उन्होंने उनकी विभिन्न शक्तियों को अर्थात् अन्तरंगा, तटस्था तथा बहिरंगा शक्तियों को देखा। उन्होंने उनके पूर्ण अंश तथा इनके भी अंशों अर्थात् उनके विभिन्न अवतारों को भी देखा और उन्होंने विशेष रूप से बहिरंगा शक्ति से मोहग्रस्त बद्धजीवों के अवांछित कष्टों को देखा। अन्त में उन्होंने बद्धजीवों के उपचार को भी देखा, जो भक्तियोग है। यह एक महान् दिव्य विज्ञान है और भगवान् के नाम, यश, कीर्ति आदि के श्रवण तथा कीर्तन से प्रारम्भ होता है। सुप्त ईश्वर-प्रेम की पुनर्जागृति केवल श्रवण तथा कीर्तन की यांत्रिक पद्धति पर अवलम्बित नहीं होती, अपितु पूर्ण रूप से केवल भगवान् की अहैतुकी कृपा पर निर्भर करती है। जब भगवान् भक्त की निष्ठा से पूर्ण रूप से प्रसन्न होते हैं, तब वे उसे दिव्य प्रेममय सेवा प्रदान कर सकते हैं। लेकिन श्रवण तथा कीर्तन की संस्तुत विधियों से भी भौतिक जगत के व्यर्थ तथा अवांछित दुखों को तुरन्त कम किया जा सकता है। भौतिक आसक्ति का इस तरह दूर होना दिव्य ज्ञान के विकसित होने की प्रतीक्षा नहीं करता, अपितु ज्ञान परम सत्य की चरम अनुभूति के लिए भक्तिमय सेवा पर निर्भर होता है।

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे ।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

यस्याम्—यह वैदिक साहित्य; **वै**—निश्चय ही; **श्रूयमाणायाम्**—मात्र श्रवण करने से; **कृष्णे**—भगवान् कृष्ण में; **परम**—परम; **पूरुषे**—भगवान् में; **भक्तिः**—भक्ति की भावनाएँ; **उत्पद्यते**—अंकुरित होते हैं; **पुंसः**—जीव का; **शोक**—संताप; **मोह**—मोह; **भय**—डर; **अपहा**—भगाने वाला, नष्ट करने वाला।

इस वैदिक साहित्य के श्रवण मात्र से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेमा भक्ति की भावना तुरन्त अंकुरित होती है, जो शोक, मोह तथा भय की अग्नि को तुरन्त बुझा देती है।

तात्पर्य : इन्द्रियाँ तो अनेक हैं, लेकिन इनमें से कान सर्वाधिक प्रभावशाली है। यह इन्द्रिय प्रगाढ़ निद्रा के समय भी कार्य करती है। मनुष्य जागृत रहते हुए शत्रु से अपनी रक्षा कर सकता है, लेकिन निद्राधीन होने पर केवल कान ही रक्षा करते हैं। यहाँ पर जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने के सम्बन्ध में श्रवण का महत्त्व बताया गया है, जो है तीनों भौतिक तापों से मुक्ति। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक क्षण शोकसन्तप्त रहता है, वह भ्रामक वस्तुओं की मृगमरीचिका के पीछे दौड़ता रहता है और अपने कल्पनिक शत्रु से सदैव भयभीत रहता है। भौतिक रोग के ये मूलभूत लक्षण हैं। यहाँ पर यह स्पष्ट सुझाव है कि केवल *श्रीमद्भागवत* का सन्देश सुनने से ही, भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति अनुरक्ति उत्पन्न हो जाती है और ऐसा होते ही भव रोग के लक्षण दूर हो जाते हैं। श्रील व्यासदेव ने परम पूर्ण भगवान् को देखा था और इस कथन से भगवान् श्रीकृष्ण के परम पूर्ण व्यक्तित्व की स्पष्ट पुष्टि होती है।

भक्तिमय सेवा का अन्तिम फल भगवान् के प्रति सच्चा प्रेम उत्पन्न करना है। प्रेम शब्द ऐसा है जो प्राय: स्त्री तथा पुरुष के सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। किन्तु प्रेम ही एकमात्र ऐसा शब्द है, जिससे भगवान् कृष्ण तथा जीवों के बीच के सम्बन्ध को समुचित ढंग से व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। *भगवद्गीता* में जीवों को *प्रकृति* कहा गया है और संस्कृत में *प्रकृति* शब्द स्त्रीवाचक है। भगवान् को सदैव *परम पुरुष या सर्वोपरि पुरुषवाचक व्यक्तित्व* कहा जाता है। अतएव भगवान् तथा जीवों के बीच का प्रेम लगभग पुरुष तथा स्त्री के बीच के प्रेम जैसा है। अतएव ईश्वर-प्रेम शब्द अत्यन्त उपयुक्त है।

भगवान् की प्रेमाभक्ति भगवान् के विषय में श्रवण करने से प्रारम्भ होती है। भगवान् तथा उनके विषय में सुनी गई विषय-वस्तु में कोई अन्तर नहीं होता। भगवान् सभी प्रकार से पूर्ण हैं, और इस प्रकार उनमें तथा उनके विषय में सुनी गई विषय-वस्तु में कोई अन्तर नहीं है। अतएव

उनके विषय में श्रवण करने का अर्थ है दिव्य शब्द के उच्चारण की प्रक्रिया के द्वारा उनसे त्वरित सम्पर्क होना और यह दिव्य शब्द ध्वनि इतनी प्रभावशाली होती है कि वह उपर्युक्त समस्त भौतिक प्रभावों को दूर करके तुरन्त असर दिखाती है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, जीवात्मा भौतिक संगति के द्वारा एक प्रकार की जटिलता (उलझन) उत्पन्न कर लेता है और भौतिक देह के भ्रामक बन्धन को वास्तविक तथ्य के रूप में स्वीकार करने लगता है। ऐसी झूठी जटिलता के कारण ही विभिन्न योनियों के जीव भिन्न-भिन्न माध्यमों से मोहित होते रहते हैं। यहाँ तक कि मनुष्य जीवन की सर्वाधिक विकसित अवस्था में भी वही मोह (भ्रम) अनेक प्रकार के *वादों* के रूप में चलता रहता है और भगवान् के साथ प्रेममय सम्बन्ध को विभाजित करता है और इस तरह मनुष्य-मनुष्य के बीच के प्रेममय सम्बन्ध भी बँट जाते हैं। *श्रीमद्‌भागवत* की कथा सुनने से भौतिकता की यह झूठी जटिलता दूर हो जाती है और समाज में वास्तविक शान्ति का शुभारम्भ होता है, जिसकी कामना राजनेताओं द्वारा अनेक राजनीतिक परिस्थितियों में बड़ी उत्सुकता से की जाती है। सारे राजनेता मनुष्य तथा मनुष्य, राष्ट्र तथा राष्ट्र के बीच शान्तिपूर्ण स्थिति की कामना करते रहते हैं, लेकिन साथ ही साथ भौतिक प्रभुता के प्रति अत्यधिक आसक्ति होने के कारण उनमें मोह तथा भयग्रस्तता बनी रहती है। अतएव राजनेताओं के शान्ति सम्मेलनों से समाज में शान्ति स्थापित नहीं की जा सकती। इसकी स्थापना तो *श्रीमद्‌भागवत* में वर्णित पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की कथा के श्रवण मात्र से ही की जा सकती है। ये मूर्ख राजनेता भले ही सदियों तक शान्ति तथा शिखर सम्मेलन क्यों न करते रहें, लेकिन वे इसे प्राप्त करने में विफल ही रहेंगें। जब तक हम कृष्ण के साथ अपने विसरे सम्बन्ध की पुनः स्थापना नहीं कर लेते, तब तक शरीर को स्वः मानने का मोह (भ्रम) बना रहेगा और इस तरह भयग्रस्तता भी बनी रहेगी। जहाँ तक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में श्रीकृष्ण की वैधता का प्रश्न है, शास्त्रों में ऐसे सैकड़ो और हजारों साक्ष्य उपलब्ध हैं और वृन्दावन, नवद्वीप तथा पुरी जैसे विभिन्न स्थानों के भक्तों के निजी अनुभवों से सैकड़ो और हजारों प्रमाण मिलते हैं। *कौमुदी* कोश में भी कृष्ण के पर्यायवाची शब्दों में यशोदानन्दन तथा परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् दिये गये हैं। निष्कर्ष यह है कि वैदिक

साहित्य *श्रीमद्भागवत* के श्रवण मात्र से ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जिससे मनुष्य सांसारिक दुख, मोह तथा भय को लाँध करके जीवन की परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। जिसने वास्तविक रूप में विनीत भाव से *श्रीमद्भागवत* का पाठ सुना है, उसके लिए ये व्यावहारिक परीक्षाएँ हैं।

स संहितां भागवतीं कृत्वानुक्रम्य चात्मजम् ।
शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; संहिताम्—वैदिक साहित्य; भागवतीम्—भगवान् से सम्बन्धित; कृत्वा—करके; अनुक्रम्य—शुद्धि तथा आवृत्ति द्वारा; च—तथा; आत्म-जम्—अपने पुत्र; शुकम्—शुकेदव गोस्वामी को; अध्यापयाम् आस—पढ़ाया; निवृत्ति—आत्म-साक्षात्कार का मार्ग; निरतम्—संलग्न; मुनिः—मुनि ने।

श्रीमद्भागवत का संकलन कर लेने तथा उसे संशोधित करने के बाद महर्षि व्यासदेव ने इसे अपने पुत्र श्री शुकदेव गोस्वामी को पढ़ाया, जो पहले से ही आत्म-साक्षात्कार में निरत थे।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* व्यास देव द्वारा ही संकलित *ब्रह्म-सूत्र* का सहज भाष्य है। यह *ब्रह्म-सूत्र* या *वेदान्त-सूत्र* उन लोगों के निमित्त है, जो पहले से आत्म-साक्षात्कार में निरत हैं। *श्रीमद्भागवत* इस तरह रचा गया है कि इसकी कथाएँ सुनते ही मनुष्य आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में तुरन्त प्रवृत्त हो जाता है। यद्यपि यह मूल रूप से परमहंसों अर्थात् आत्म-साक्षात्कार में पूर्णरूपेण संलग्न व्यक्तियों के लिए है, लेकिन यह संसारी व्यक्तियों के हृदयों में गहराइ तक प्रविष्ट होकर प्रभाव डालता है। सारे संसारी व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति में लगे हुए हैं। लेकिन ऐसे लोग भी इस वैदिक साहित्य में अपने भवरोगों के निवारक उपचार पाते हैं। शुकदेव गोस्वामी अपने जन्म काल से ही मुक्त जीव थे और उनके पिता ने उन्हें *श्रीमद्भागवत* पढ़ाया। संसारी विद्वानों में *श्रीमद्भागवत* के संकलन के काल को लेकर मतभेद है। तथापि *श्रीमद्भागवत* के मूल पाठ से यह निश्चित है कि इसका संकलन राजा परीक्षित के तिरोधान के पूर्व और भगवान् कृष्ण के प्रयाण के पश्चात् हुआ था। जब राजा परीक्षित भारतवर्ष के सम्राट के रूप में राज्य कर रहे थे, तब उन्होंने

मूर्तिमंत कलि को दण्डित किया। प्राधिकृत शास्त्रों तथा ज्योतिष गणना के अनुसार, कलियुग अपने पाँच हजारवें वर्ष में है। अत: *श्रीमद्भागवत* कम से कम पाँच हजार वर्ष पूर्व संकलित हुआ था। *महाभारत* का संकलन *श्रीमद्भागवत* के पूर्व हो चुका था और सारे पुराण *महाभारत* के पूर्व संकलित हो चुके थे। यह है विभिन्न वैदिक ग्रंथों के संकलन काल का एक आकलन। *श्रीमद्भागवत* की रूपरेखा नारद के निर्देशानुसार पहले ही तैयार हो चुकी थी। *श्रीमद्भागवत* निवृत्ति मार्ग पर अग्रसर होने का विज्ञान है। नारद ने प्रवत्ति मार्ग का तिरस्कार किया था। यह मार्ग समस्त बद्धजीवों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। *श्रीमद्भागवत* की विषयवस्तु मानव जाति के भवरोग का, या संसार के तापों को पूर्ण रूप से रोकने का, उपचार है।

शौनक उवाच
स वै निवृत्तिनिरत: सर्वत्रोपेक्षको मुनि: ।
कस्य वा बृहतीमेतामात्माराम: समभ्यसत् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

शौनक: उवाच—श्री शौनक ने पूछा; स:—वह; वै—निश्चय ही; निवृत्ति—आत्म-साक्षात्कार के पथ पर; निरत:—सदैव लगा हुआ; सर्वत्र—सभी प्रकार से; उपेक्षक:—उदासीन; मुनि:—मुनि; कस्य—किस कारण से; वा—अथवा; बृहतीम्—विशाल; एताम्—इस; आत्म-आराम:—अपने आप में प्रसन्न रहने वाला; समभ्यसत्—अध्ययन किया।

श्री शौनक ने सूत गोस्वामी से पूछा : शुकदेव गोस्वामी तो पहले से ही निवृत्ति मार्ग पर चले रहे थे और इस तरह वे अपने आप में प्रसन्न थे। तो फिर उन्होंने ऐसे बृहत् साहित्य का अध्ययन करने का कष्ट क्यों उठाया?

तात्पर्य : सामान्य लोगों के लिए जीवन की चरम सिद्धि भौतिक कार्यकलापों को बन्द करके आत्म-साक्षात्कार के पथ (निवृत्ति मार्ग) पर स्थिर होने में है। जो लोग इन्द्रियभोग में सुख पाते हैं या जो भौतिक शारीरिक कल्याण के कार्य में स्थिर हैं, वे *कर्मी* कहलाते हैं। ऐसे हजारों तथा लाखों *कर्मीयों* में से कोई एक कर्मी आत्म-साक्षात्कार द्वारा *आत्माराम* बन पाता है। *आत्म* का अर्थ है स्व तथा *आराम* का अर्थ है सुख पाना। प्रत्येक व्यक्ति उच्चतम सुख की खोज में लगा रहता है, लेकिन इस सुख का मानदण्ड व्यक्ति-व्यक्ति के साथ अलग-अलग हो सकता है।

अतएव *कर्मीयों* द्वारा भोगा गया आदर्श सुख *आत्मारामों* के आदर्श सुख से भिन्न होता है। *आत्माराम* हर तरह से भौतिक भोग के प्रति अन्यमनस्क रहते हैं। श्रील शुकदेव गोस्वामी ने यह अवस्था पहले से ही प्राप्त कर ली थी, तो भी उन्होंने इस बृहत् *भागवत* ग्रंथ का अध्ययन करने का कष्ट उठाया। इसका अर्थ यह है कि *श्रीमद्भागवत* उन *आत्मारामों* के लिए भी स्नाकतोत्तर अध्ययन का विषय है, जिन्होंने समस्त वैदिक ज्ञान का अध्ययन कर लिया हो।

सूत उवाच
आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; आत्मारामाः—जिन्हें आत्मा में सुख मिलता है वे; च—भी; मुनयः—मुनिगण; निर्ग्रन्थाः—समस्त बन्धनों से मुक्त; अपि—होने पर भी; उरुक्रमे—महान् साहसिक में; कुर्वन्ति—करते हैं; अहैतुकीम्—अनन्य, अमिश्रित; भक्तिम्—भक्ति; इत्थम्-भूत—ऐसे आश्चर्यमय; गुणः—गुण; हरिः—हरि के।

जो आत्मा में आनन्द लेते हैं, ऐसे विभिन्न प्रकार के आत्माराम और विशेष रूप से जो आत्म-साक्षात्कार के पथ पर स्थापित हो चुके हैं, ऐसे आत्माराम यद्यपि समस्त प्रकार के भौतिक बन्धनों से मुक्त हो चुके हैं, फिर भी भगवान् की अनन्य भक्तिमय सेवा में संलग्न होने के इच्छुक रहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् में दिव्य गुण हैं, अतएव वे मुक्तात्माओं सहित प्रत्येक व्यक्ति को आकृष्ट कर सकते हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने प्रमुख भक्त श्रील सनातन गोस्वामी के समक्ष इस *आत्माराम श्लोक* की व्याख्या अत्यन्त विशद रूप में की। उन्होंने इस श्लोक में ग्यारह तत्त्वों का संकेत किया है। ये हैं (१) *आत्माराम,* (२) *मुनयः,* (३) *निर्ग्रन्थ,* (४) *अपि,* (५) *च,* (६) *उरुक्रम,* (७) *कुर्वन्ति,* (८) *अहैतुकीम्,* (९) *भक्तिम्,* (१०) *इत्थम्-भूत-गुणः* तथा (११) *हरिः। विश्व-प्रकाश* संस्कृत कोश के अनुसार, *आत्माराम* शब्द के सात पर्याय हैं जो इस प्रकार हैं (१) ब्रह्म (परम सत्य), (२) शरीर, (३) मन, (४) प्रयत्न, (५) सहिष्णुता, (६) बुद्धि तथा (७) (व्यक्तिगत) आदतें।

मुनयः शब्द का प्रयोग इन अर्थों में होता है—(१) जो विचारवान हैं, (२) जो गम्भीर तथा शान्त हैं (३) तपस्वी, (४) जो हठ़ है, (५) परिव्राजक, (६) ऋषि तथा (७) साध-सन्त।

निर्ग्रन्थ शब्द से निम्नलिखित भावों का वहन होता है (१) जो अविद्या से मुक्त है, (२) जिसका शास्त्रीय आदेशों से कोई सम्बन्ध नहीं है अर्थात् जिसे नीति ग्रंन्थो, वेदों, दर्शन, मनोविज्ञान तथा तत्त्वज्ञान आदि में वर्णित विधि-विधानों के पालन करने की विवशता नहीं है (दूसरे शब्दों में मूर्ख, अशिक्षित, बदमाश आदि जिन्हें विधि-विधानों से सम्बन्ध नहीं होता), (३) पूँजीपति तथा (४) निर्धन भी।

शब्दकोश के अनुसार, *नि* उपसर्ग का प्रयोग (१) निश्चितता, (२) गणना, (३) निर्माण तथा (४) निषेध के लिए होता है और *ग्रंथ* शब्द धन, पुस्तक, शब्दकोश आदि के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

उरुक्रम शब्द का अर्थ है, ''वह जिसके कार्यकलाप महिमामण्डित हैं।'' *क्रम* का अर्थ है, पग या कदम। *उरुक्रम* शब्द विशेष रूप से भगवान् के वामन अवतार का सूचक है, जिन्होंने अपने अमाप्य पगों से सारे ब्रह्माण्ड को नाप लिया। भगवान् विष्णु शक्तिमान हैं और उनके कार्यकलाप इतने महिमामय हैं कि उन्होंने अपनी अन्तंरगा शक्ति से आध्यात्मिक जगत की तथा बहिरंगा शक्ति से इस भौतिक जगत की सृष्टि की है। अपने सर्वव्यापक पक्ष के कारण वे परम सत्य के रूप में सर्वत्र विद्यमान हैं और अपने वैयक्तिक रूप में वे सदैव अपने गोलोक वृन्दावन धाम में उपस्थित रहते हैं, जहाँ पर वे अत्यन्त विविधतामयी दिव्य लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं। उनके कार्यकलापों की तुलना अन्य किसी से नहीं की जा सकती, अतएव *उरुक्रम* शब्द उन्हीं को शोभा देता है।

संस्कृत क्रिया-व्यवस्था के अनुसार, *कुर्वन्ति* का अर्थ है किसी अन्य के लिए काम करना। इसका अर्थ यह हुआ कि *आत्माराम* भगवान् की भक्तिमय सेवा अपने स्वार्थवश नहीं, अपितु भगवान् उरुक्रम की प्रसन्नता के लिए करते हैं।

हेतु का अर्थ है "कारण।" मनुष्य की इन्द्रियतुष्टि के अनेक कारण हो सकते हैं और उनका वर्गीकरण भौतिक भोग, योग शक्ति तथा मुक्ति के रूप में किया जा सकता है जिसकी कामना सामान्य रूप से सारे प्रगतिशील व्यक्ति करते हैं। जहाँ तक भौतिक भोगों का प्रश्न है, भोग तो अनेक हैं और भौतिकतावादी उनकी संख्या और भी बढ़ाते रहने के लिए उत्सुक रहते हैं, क्योंकि वे माया के वश में होते हैं। भौतिक भोगों का न तो कोई अन्त है, न ही कोई व्यक्ति भौतिक जगत में इन सारे भोगों को पा सकता है। जहाँ तक योग शक्तियों का प्रश्न है, उनकी संख्या आठ है (जैसे कि अपने रूप को अत्यन्त छोटा बना देना, भाररहित बनना, इच्छानुसार की वस्तु प्राप्त करना, भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताना, अन्य जीवों को नियंत्रित करना, ग्रह की रचना करना इत्यादि)। इन योग शक्तियों का उल्लेख *भागवत* में हुआ है। मोक्ष के पाँच प्रकार हैं।

अत: अनन्य भक्ति का अर्थ है उपुर्यक्त व्यक्तिगत लाभों की आकांक्षा से रहित होकर भगवान् की सेवा करना। सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीकृष्ण समस्त प्रकार के व्यक्तिगत लाभों से मुक्त ऐसे अनन्य भक्तों द्वारा पूर्ण रूप से प्रसन्न हो सकते हैं।

भगवान् की अनन्य भक्तिमय सेवा विभिन्न अवस्थाओं से होकर प्रगति करती है। भौतिक क्षेत्र में भक्ति के अभ्यास के ८१ विभिन्न गुण हैं और इन सबके ऊपर भक्ति का दिव्य अभ्यास होता है, जो एक है और *साधन-भक्ति* कहलाता है। जब *साधन-भक्ति* का अनन्य अभ्यास भगवान् के दिव्य प्रेम में परिपक्व होने लगता है, तो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति नौ अवस्थाओं में क्रमश: विकसित होने लगती है। ये हैं—आसक्ति, प्रेम, स्नेह, अनुभाव, प्रणय, राग, अनुराग, भाव तथा वियोग (विरहानुभूति)।

निष्क्रिय भक्त की आसक्ति भगवान् के प्रति दिव्य प्रेम की अवस्था तक बढ़ती है। सक्रिय सेवक की आसक्ति राग अवस्था तक और सखा-भक्त की अनुभाव अवस्था तक बढ़ती है। यही हाल मातृ-पितृ भक्तों का है। माधुर्य प्रेम में भक्तगण विरहावस्था तक भाव को बढ़ाते हैं। भगवान् की अनन्य भक्ति के ये कुछ लक्षण हैं।

हरि-भक्ति-सुधोदय के अनुसार, *इत्थम्-भूत* शब्द का आशय "पूर्ण आनन्द" है। निराकार ब्रह्म की अनुभूति से प्राप्त दिव्य आनन्द की तुलना बछड़े के गो खुर से बने गड्ढे में आने वाले रंचमात्र जल से की जा सकती है। भगवान् के दर्शन रूपी आनन्द के सागर की तुलना में यह तुच्छ है। भगवान् श्रीकृष्ण का व्यक्तिगत रूप इतना आकर्षक है कि यह अपने में समस्त आकर्षण, समस्त आनन्द तथा समस्त *रसों* को सँजोये है। ये आकर्षण इतने प्रबल हैं कि *कोई भी व्यक्ति इनका विनिमय भौतिक भोग, योगशक्ति तथा मुक्ति से नहीं करना चाहता।* इस कथन के समर्थन के लिए किसी तर्क की आवश्यकता नहीं है, किन्तु मनुष्य अपने स्वभाव से ही भगवान् कृष्ण के गुणों के प्रति आकृष्ट होता है। हमें यह भलीभाँति जान लेना चाहिए कि भगवान् के गुणों का लौकिक गुणों से कोई सरोकार नहीं होता। वे सभी आनन्द, ज्ञान तथा शाश्वतता से परिपूर्ण होते हैं। भगवान् के गुण असंख्य हैं। कोई किसी गुण से आकृष्ट होता है तो दूसरा किसी अन्य गुण से।

सनक, सनातन, सनन्द तथा सनत्कुमार नामक चारों ब्रह्मचारी भक्त भगवान् के चरणकमलों पर अर्पित फूलों की सुगन्ध तथा चन्दनयुक्त तुलसी दल से आकृष्ट हुए थे। इसी प्रकार शुकदेव गोस्वामी भगवान् की दिव्य लीलाओं से आकृष्ट हुए थे। शुकदेव गोस्वामी पहले से मुक्त अवस्था को प्राप्त थे, फिर भी वे भगवान् की लीलाओं से आकृष्ट हुए। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् की लीलाओं की गुणवत्ता को भौतिक संसर्ग से कुछ लेना-देना नहीं होता। इसी प्रकार तरुणी गोप कुमारियाँ भगवान् के शारीरिक लक्षणों से आकृष्ट हुईं और रुक्मिणी भगवान् की महिमा का श्रवण करके आकृष्ट हुई। भगवान् कृष्ण भाग्य की देवी (लक्ष्मी) के भी मन को आकृष्ट करने वाले हैं। विशेष परिस्थितियों में वे समस्त तरुणियों के मन को मोहित करते हैं। वे वयस्क महिलाओं के मनों को मातृ-स्नेह के रूप में आकर्षित करते हैं। वे पुरुष के मन को सेवक तथा सखा-भाव में आकृष्ट करते हैं।

हरि शब्द के अनेक अर्थ हैं, लेकिन इसका मुख्य आशय यह है कि भगवान् सारी अशुभ वस्तुओं को नष्ट करते हैं और भक्त के मन को शुद्ध दिव्य प्रेम प्रदान करके हर लेते हैं। घोर कष्ट

में होने पर भगवान् का स्मरण करने से मनुष्य के सारे दुख तथा चिन्ताएँ दूर हो जाती हैं। भगवान् शुद्ध भक्त के भक्ति मार्ग के सारे अवरोधों को क्रमश: दूर कर देते हैं और श्रवण, कीर्तन आदि नवधा भक्ति का फल प्रकट होने लगता है।

भगवान् अपने व्यक्तिगत रूप तथा दिव्य लक्षणों से शुद्ध भक्त के सारे मनोवैज्ञानिक कार्यकलापों को आकृष्ट करते हैं। ऐसी होती है कृष्ण की आकर्षण शक्ति। यह आकर्षण इतना प्रबल होता है कि शुद्ध भक्त धर्म के चारों सिद्धान्तों में से एक की भी लालसा नहीं करता। ये हैं भगवान् के दिव्य लक्षणों के आकर्षक गुण। इनके साथ *अपि* तथा *च* शब्द मिलाने से आशय में असीम वृद्धि हुई है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार, *अपि* शब्द के सात पर्याय हैं।

अत: इस श्लोक के प्रत्येक शब्द की व्याख्या करने पर देखा जा सकता है कि शुद्ध भक्त को आकर्षित करने के लिए भगवान् कृष्ण में असंख्य दिव्य गुण पाये जाते हैं।

हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणि: ।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रिय: ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

हरे:—भगवान् हरि के; गुण—दिव्य गुण में; आक्षिप्त—लीन होकर; मति:—मन; भगवान्—शक्तिमान; बादरायणि:—व्यासदेव के पुत्र ने; अध्यगात्—अध्ययन किया; महत्—महान्; आख्यानम्—कथा का; नित्यम्—नियमित रूप से; विष्णु-जन—भगवद्भक्त; प्रिय:—प्रिय।

श्रील व्यासदेव के पुत्र, श्रील शुकदेव गोस्वामी न केवल दिव्य शक्ति से युक्त थे, अपितु वे भगवान् के भक्तों के भी अत्यन्त प्रिय थे। इस प्रकार उन्होंने इस महान् कथा (श्रीमद्भागवत) का अध्ययन किया।

तात्पर्य : *ब्रह्मवैवर्त पुराण* के अनुसार, श्रील शुकदेव गोस्वामी अपनी माता के गर्भ में भी मुक्तात्मा ही थे। श्रील व्यासदेव जानते थे कि यह बालक जन्म लेने के बाद कभी घर में नहीं रहेगा। अतएव उन्होंने बालक को *भागवत* की रूपरेखा सुनाई, जिससे वह भगवान् की दिव्य लीलाओं में अनुरक्त होता रहे। जन्म लेने के बाद यह बालक यथार्थ में श्लोकों का पाठ करके भागवत की विषय वस्तु में और भी अधिक शिक्षित बन गया।

भाव यह है कि सामान्य रूप से मुक्त पुरुष अद्वैतवादी दृष्टिकोण के साथ परम ब्रह्म से एकाकार होने के उद्देश्य से उनके निराकार ब्रह्म के आयाम के प्रति आसक्त होते हैं। लेकिन व्यासदेव जैसे शुद्ध भक्तों की संगति से मुक्त पुरुष भी भगवान् के दिव्य गुणों के प्रति आकर्षित हो जाते हैं। श्री नारद की कृपा से श्रील व्यासदेव *श्रीमद्भागवत* महाकाव्य का वर्णन कर सके और व्यासदेव के अनुग्रह से श्रील शुकदेव गोस्वामी उसके आशय को ग्रहण कर सके। भगवान् के दिव्य गुण इतने आकर्षक हैं कि श्रील शुकदेव गोस्वामी निराकार ब्रह्म में लीन न होकर, उससे विरक्त हो गये और उन्होंने भगवान् की निजी लीलाओं को ग्रहण कर लिया।

व्यावहारिक रूप से शुकदेव गोस्वामी अपने मन में यह सोचते हुए परम ब्रह्म की निराकार धारणा से विलग हो गए कि उन्होंने अपना इतना समय परमेश्वर के निराकार उपाधि के पीछे व्यर्थ ही गवाँ दिया। दूसरे शब्दों में, उन्होंने निराकार ब्रह्म की तुलना में भगवान् के सगुण रूप से अधिक दिव्य आनन्द की अनुभूति प्राप्त की। और उस समय के बाद वे न केवल विष्णु-जनों अर्थात् भगवद्भक्तों के ही अत्यन्त प्रिय बन गये, अपितु विष्णुजन भी उन्हें अत्यन्त प्रिय हो गये। जो भगवद्भक्त जीवों की व्यक्तिता को नष्ट करना नहीं चाहते और जो भगवान् के निजी सेवक बनना चाहते हैं, वे निर्विशेषवादियों को ज्यादा पसन्द नहीं करते और इसी प्रकार, परमेश्वर से एकाकार होने के इच्छुक निर्विशेषवादी भगवद्भक्तों का मूल्यांकन कर पाने में असमर्थ होते हैं। इस प्रकार अनन्त काल से, ये दोनों दिव्य तीर्थयात्री कभी-कभी प्रतिस्पर्धी बन जाते हैं। दूसरे शब्दों में, इनमें से हर एक अपनी साकार तथा निराकार चरम अनुभूति के कारण, अपने को दूसरे से पृथक् रखना चाहता है। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि श्रील शुकदेव गोस्वामी भी भक्तों को नहीं चाहते थे। लेकिन चूँकि वे स्वयं एक प्रगाढ़ भक्त बन गये थे, अतएव वे सदैव विष्णुजनों की संगति करना चाहते थे और विष्णुजन भी उनकी संगति की कामना करते थे, क्योंकि वे व्यक्तिगत *भागवत* बन चुके थे। इस प्रकार, पिता तथा पुत्र दोनों ही ब्रह्म के दिव्य ज्ञान से अवगत थे और बाद में वे दोनों परमेश्वर के साकार रूप में अनुरक्त हो गये। इस प्रकार इस श्लोक से इस प्रश्न का

भी उत्तर मिल जाता है कि शुकदेव गोस्वामी किस प्रकार *भागवत* की कथा के प्रति आकृष्ट हुए थे।

परीक्षितोऽथ राजर्षेर्जन्मकर्मविलापनम् ।
संस्थां च पाण्डुपुत्राणां वक्ष्ये कृष्णकथोदयम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

परीक्षितः—राजा परीक्षित का; अथ—इस प्रकार; राजर्षेः—राजा का, जो राजाओं में ऋषि था; जन्म—जन्म; कर्म—कर्म; विलापनम्—उद्धार, मोक्ष; संस्थाम्—संसार का परित्याग; च—तथा; पाण्डु-पुत्राणाम्—पाण्डु के पुत्रों का; वक्ष्ये—में कहूँगा; कृष्ण-कथा-उदयम्—जो भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य कथा को जन्म देने वाला है।

सूत गोस्वामी ने शौनक आदि ऋषियों को सम्बोधित किया : अब मैं भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य कथा तथा राजर्षि परीक्षित महाराज के जन्म, कार्यकलाप तथा मोक्ष विषयक वार्ताएँ एवं पाण्डुपुत्रों द्वारा गृहस्थाश्रम के त्याग की कथाएँ कहने जा रहा हूँ।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण पतितात्माओं पर इतने दयालु हैं कि वे विभिन्न जीवों के मध्य स्वयं अवतरित होते हैं और उनके दैनिक कार्यकलापों में भाग लेते हैं। कोई भी ऐतिहासिक तथ्य, चाहे पुराना हो या नया, यदि उसका सम्बन्ध कृष्ण की लीलाओं से है, तो उसे भगवान् की दिव्य कथा समझना चाहिए। कृष्ण के बिना *पुराण* तथा *महाभारत* जैसे पूरक ग्रंथ निरी कहानियाँ या ऐतिहासिक तथ्य हैं। लेकिन कृष्ण के होने से वे दिव्य बन जाते हैं और उनका श्रवण करते ही हम भगवान् से दिव्य रूप से जुड़ जाते हैं। *श्रीमद्भागवत* भी एक पुराण है, लेकिन इस पुराण का विशेष महत्त्व यह है कि इसमें कृष्ण की लीलाएँ, केवल पूरक ऐतिहासिक तथ्य नहीं हैं, वरन ये ही केन्द्रबिन्दु हैं। इसीलिए भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने *श्रीमद्भागवत* की संस्तुति निष्कलुष पुराण के रूप में की है। लेकिन *भागवत पुराण* के अल्पज्ञ भक्तों का एक ऐसा वर्ग है, जो प्रारम्भिक स्कंधों को पहले समझे बिना सीधे दशम स्कंध में वर्णित भगवान् की लीलाओं का आस्वाद लेना चाहते हैं। उनकी यह भ्रान्त धारणा होती है कि अन्य स्कंध भगवान् से सम्बद्ध नहीं हैं, अतएव वे मूर्खतावश दशम स्कंध को ही पढ़ने लगते हैं। इन पाठकों को यहाँ पर विशेष रूप से बताया जा रहा है कि *भागवत* के अन्य स्कंध भी दशम स्कंध की ही भाँति महत्त्वपूर्ण हैं।

पाठकों को चाहिए कि अन्य नौ स्कन्धों का तात्पर्य समझे बिना वे दशम स्कंध की विषय वस्तु में प्रवेश करने का प्रयत्न न करें। कृष्ण तथा पाण्डवों जैसे उनके शुद्ध भक्त एकसमान धरातल पर हैं। कृष्ण समस्त *रसों* में स्थित अपने भक्तों से रहित नहीं होते और पाण्डव जैसे शुद्ध भक्त भी कृष्ण से रहित नहीं हैं। भक्त तथा भगवान् परस्पर जुड़े हुए हैं और उन्हें विलग नहीं किये जा सकते। अतएव उनसे सम्बन्धित सभी बातें कृष्ण कथा ही हैं।

यदा मृधे कौरवसृञ्जयानां
वीरेष्वथो वीरगतिं गतेषु ।
वृकोदराविद्धगदाभिमर्श-
भग्नोरुदण्डे धृतराष्ट्रपुत्रे ॥ १३ ॥
भर्तुः प्रियं द्रौणिरिति स्म पश्यन्
कृष्णासुतानां स्वपतां शिरांसि ।
उपाहरद्विप्रियमेव तस्य
जुगुप्सितं कर्म विगर्हयन्ति ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; मृधे—युद्धभूमि में; कौरव—धृतराष्ट्र के पक्ष वाले; सृञ्जयानाम्—पाण्डवों के पक्ष के; वीरेषु—योद्धाओं में; अथो—इस तरह; वीर-गतिम्—योद्धाओं के योग्य स्थान; गतेषु—प्राप्त करने पर; वृकोदर—भीम; आविद्ध—प्रताड़ित; गदा—गदा से; अभिमर्श—विलाप करते; भग्न—टूटा; उरु-दण्डे—मेरु दण्ड; धृतराष्ट्र-पुत्रे—राजा धृतराष्ट्र का पुत्र; भर्तुः—स्वामी का; प्रियम्—प्यारा; द्रौणिः—द्रोणाचार्य का पुत्र; इति—इस प्रकार; स्म—होगा; पश्यन्—देखते हुए; कृष्णा—द्रौपदी के; सुतानाम्—पुत्रों का; स्वपताम्—सोते हुए; शिरांसि—शिर; उपाहरत्—पुरस्कार के रूप में प्रदान किया; विप्रियम्—सुखद; एव—सदृश; तस्य—उसका; जुगुप्सितम्—अत्यन्त नृशंस; कर्म—कार्य; विगर्हयन्ति—भर्त्सना करते हैं।

जब दोनों दलों अर्थात् कौरवों तथा पाण्डवों के अपने-अपने योद्धागण कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में मारे जा चुके और मृत योद्धाओं को उनकी इच्छित गति प्राप्त हो गई और जब भीमसेन की गदा के प्रहार से मेरुदण्ड टूट जाने से धृतराष्ट्र का पुत्र विलाप करता गिर पड़ा, तो द्रोणाचार्य के पुत्र (अश्वत्थामा) ने द्रौपदी के सोते हुए पाँचों पुत्रों के सिरों को काटकर मूर्खतावश उन्हें उपहारस्वरूप यह सोचते हुए उसे अर्पित किया कि इससे उसका स्वामी

प्रसन्न होगा। लेकिन दुर्योधन ने इस जघन्य कृत्य की निन्दा की और वह तनिक भी प्रसन्न न हुआ।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं की दिव्य कथा कुरुक्षेत्र के युद्ध के समाप्त होने से प्रारम्भ होती है जहाँ भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* में अपने विषय में कहा है। अतएव *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* दोनों ही भगवान् की दिव्य कथाएँ हैं। *गीता* कृष्ण-कथा है, क्योंकि यह भगवान् द्वारा कही गई है और *भागवत* भी *कृष्ण-कथा* है, क्योंकि यह कृष्ण के विषय में कही गयी कथा है। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति इन दोनों कृष्ण-कथाओं के विषय में जाने। भगवान् कृष्ण चैतन्य, भगवान् कृष्ण के भक्त के वेश में, साक्षात् कृष्ण हैं, अतएव भगवान् कृष्ण तथा श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु दोनों के मंतव्य समान हैं। *भगवान् चैतन्य की इच्छा थी कि जिन्होंने भारत में जन्म लिया है, वे सारे लोग इन कृष्ण-कथाओं को गम्भीरतापूर्वक समझें* और पूर्ण अनुभूति होने के बाद विश्व के प्रत्येक भाग में इस दिव्य सन्देश का प्रचार करें। इससे त्रस्त विश्व में वांछित शान्ति तथा सम्पन्नता प्राप्त हो सकेगी।

माता शिशूनां निधनं सुतानां
निशम्य घोरं परितप्यमाना ।
तदारुदद्वाष्पकलाकुलाक्षी
तां सान्त्वयन्नाह किरीटमाली ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

माता—माता; शिशूनाम्—अबोध; निधनम्—हत्या; सुतानाम्—पुत्रों की; निशम्य—सुनकर; घोरम्—नृंशसतापूर्वक; परितप्यमाना—शोक करती; तदा—उस समय; अरुदत्—रोने लगी; वाष्प-कल-आकुल-अक्षी—आँखों में आँसू के साथ; ताम्—उसको; सान्त्वयन्—धीरज बँधाते हुए; आह—कहा; किरीटमाली—अर्जुन ने।

पाण्डवों के पाँचों पुत्रों की माता, द्रौपदी, अपने पुत्रों का वध सुनकर, आँसुओं से भरी आँखों के साथ, शोक से विलाप करने लगी। इस घोर क्षति में उसे ढाढस बँधाते हुए अर्जुन उससे इस प्रकार बोले।

तदा शुचस्ते प्रमृजामि भद्रे
यद्ब्रह्मबन्धोः शिर आततायिनः ।
गाण्डीवमुक्तैर्विशिखैरुपाहरे
त्वाक्रम्य यत्स्नास्यसि दग्धपुत्रा ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; शुचः—शोक के आँसू; ते—तुम्हारे; प्रमृजामि—पोंछ दूँगा; भद्रे—हे भद्र स्त्री; यत्—जब; ब्रह्म-बन्धोः—पतित ब्राह्मण का; शिरः—सिर; आततायिनः—आततायी का; गाण्डीव-मुक्तैः—गांडीव नामक धनुष से छोड़े गये; विशिखैः—बाणों से; उपाहरे—तुम्हें भेंट करूँगा; त्वा—तुम स्वयं; आक्रम्य—उस पर चढ़ कर; यत्—जो; स्नास्यसि—स्नान करोगी; दग्ध-पुत्रा—पुत्रों को दाह देने के बाद।

हे देवी, जब मैं अपने गाण्डीव धनुष से छोड़े गये तीरों से उस ब्राह्मण का सिर काट के तुम्हें भेंट करूँगा, तभी मैं तुम्हारी आँखों से आँसू पोछूँगा और तुम्हें सान्त्वना प्रदान करूँगा। तब तुम अपने पुत्रों के शरीरों का दाह करने के बाद उसके सिर पर खड़ी होकर स्नान करना।

तात्पर्य : कोई शत्रु जो घर में आग लगाता है, विष खिलाता है, अचानक घातक शस्त्रों से प्रहार करता है, सम्पत्ति लूटता है या कृषि-योग्य खेतों पर अनुचित अधिकार जमा लेता है, किसी की पत्नी को फाँसता है, वह आततायी है। ऐसा आततायी, चाहे वह ब्राह्मण हो या ब्राह्मण का तथाकथित पुत्र ही क्यों न हो, सब प्रकार से दण्डनीय है। जब अर्जुन ने अश्वत्थामा नामक आततायी का शिर काटने की प्रतिज्ञा की, तो वह भलीभाँति जानता था कि अश्वत्थामा ब्राह्मण का पुत्र है, लेकिन चूँकि उस तथाकथित ब्राह्मण ने कसाई जैसा कार्य किया था, अतः वह आततायी था और ऐसे धूर्त ब्राह्मण के पुत्र को मारने में कोई पाप नहीं था।

इति प्रियां वल्गुविचित्रजल्पैः
स सान्त्वयित्वाच्युतमित्रसूतः ।
अन्वाद्रवद्दंशित उग्रधन्वा
कपिध्वजो गुरुपुत्रं रथेन ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

इति—इस तरह; प्रियाम्—प्रियतमा को; वल्गु—मीठे; विचित्र—तरह-तरह के; जल्पैः—कथनों द्वारा; सः—वह; सान्त्वयित्वा—सान्त्वना देकर, प्रसन्न करके; अच्युत-मित्र-सूतः—अर्जुन ने, जिसका मार्गदर्शन अच्युत भगवान् मित्र तथा सारथी के रूप में करते हैं; अन्वाद्रवत्—पीछा किया; दंशितः—कवच द्वारा सुरक्षित; उग्र-धन्वा—भयानक अस्त्रों से सज्जित; कपि-ध्वजः—अर्जुन; गुरु-पुत्रम्—अपने गुरु के पुत्र को; रथेन—रथ पर आरूढ़ होकर।

इस प्रकार, मित्र तथा सारथी के रूप में अच्युत भगवान् द्वारा मार्गदर्शित किए जाने वाले अर्जुन ने अपनी प्रियतमा को ऐसे कथनों से तुष्ट किया। तब उसने अपना कवच धारण किया और भयानक अस्त्र-शस्त्रों से लैस होकर, वह अपने रथ पर चढ़ कर अपने गुरुपुत्र अश्वत्थामा का पीछा करने के लिए निकल पड़ा।

तमापतन्तं स विलक्ष्य दूरात्
कुमारहोद्विग्नमना रथेन ।
पराद्रवत्प्राणपरीप्सुरुर्व्यां
यावद्गमं रुद्रभयाद्यथा कः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; आपतन्तम्—क्रोध से आते हुए; सः—उसने; विलक्ष्य—देखकर; दूरात्—दूर से ही; कुमार-हा—राजकुमारों का हत्यारा; उद्विग्न-मनाः—मन में विचलित; रथेन—रथ पर; पराद्रवत्—भाग चला; प्राण—प्राण की; परीप्सुः—रक्षा करने के लिए; उर्व्याम्—तेज गति से; यावत्-गमम्—ज्योंही वह भागा; रुद्र-भयात्—शिव के भय से; यथा—जिस प्रकार; कः—ब्रह्मा (या अर्कः.

राजकुमारों का हत्यारा, अश्वत्थामा, अर्जुन को दूर से ही अपनी ओर तेजी से आते हुए देखकर अपने रथ पर सवार होकर डर के मारे अपनी जान बचाने के लिए उसी तरह भाग निकला, जिस प्रकार शिवजी के भय से ब्रह्माजी भागे थे।

तात्पर्य : पुराणों की पाठ्य सामग्री के अनुसार *कः* या *अर्कः* के दो सन्दर्भ मिलते हैं। *कः* का अर्थ ब्रह्मा है जिन्होंने एक बार अपनी पुत्री से मोहित होने पर उसका पीछा किया, जिससे शिवजी कुपित हो गये और उन्होंने ब्रह्मा पर अपने त्रिशूल से आक्रमण कर दिया। ब्रह्माजी अपने प्राणों के भय से भाग गए। जहाँ तक *अर्कः* का सम्बन्ध है, *वामन पुराण* में एक प्रसंग मिलता है। विद्युन्माली नाम का एक असुर था, जिसे एक चमचमाता सुनहरा वायुयान दिया गया था, जो सूर्य के पीछे पीछे यात्रा कर रहा था और उसके प्रकाश से रात्रि भाग जाती थी। इसके कारण सूर्यदेव

क्रुद्ध हो गये और उन्होंने अपनी प्रखर किरणों से वायुयान को पिघला डाला। इससे शिवजी कुपित हो गये और उन्होंने सूर्यदेव पर आक्रमण कर दिया। सूर्यदेव भाग गये और अन्त में काशी (वाराणसी) में गिर पड़े। वह स्थान लोलार्क के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

यदाशरणमात्मानमैक्षत श्रान्तवाजिनम् ।
अस्त्रं ब्रह्मशिरो मेने आत्मत्राणं द्विजात्मजः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; अशरणम्—जिसके कोई आश्रय न हो; आत्मानम्—अपने को; ऐक्षत—देखा; श्रान्त-वाजिनम्—थके हुए घोड़े; अस्त्रम्—हथियार; ब्रह्म-शिरः—सर्वोच्च या परम (आणविक) ; मेने—प्रयुक्त किया; आत्म-त्राणम्—अपनी रक्षा के लिए; द्विज-आत्म-जः—ब्राह्मण के पुत्र ने।

जब ब्राह्मण के पुत्र (अश्वत्थामा) ने देखा कि उसके घोड़े थक गये हैं तो उसने सोचा कि अब उसके पास अनन्तिम अस्त्र ब्रह्मास्त्र (आणविक हथियार) का प्रयोग करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं रह गया।

तात्पर्य : अन्ततः जब कोई विकल्प नहीं रह जाता, तभी ब्रह्मास्त्र नामक परमाणु हथियार का प्रयोग किया जाता है। यहाँ पर *द्विजात्मजः* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि अश्वत्थामा द्रोणाचार्य का पुत्र होते हुए भी सुयोग्य ब्रह्माण न था। सर्वाधिक बुद्धिमान व्यक्ति ब्राह्मण कहलाता है और यह कोई वंशानुगत उपाधि नहीं है। अश्वत्थामा पहले भी *ब्रह्म-बन्धु* कहलाता था। ब्राह्मण का मित्र होने का यह अर्थ नहीं है कि वह योग्यता में भी ब्राह्मण हो। ब्राह्मण का मित्र या पुत्र पूर्ण रूप से योग्य होने पर ही ब्राह्मण कहला सकता है, अन्यथा नहीं। चूँकि अश्वत्थामा का निर्णय अप्रौढ़ता भरा है, अतएव उसे यहाँ जानबूझ कर ब्राह्मण का पुत्र कहा गया है।

अथोपस्पृश्य सलिलं सन्दधे तत्समाहितः ।
अजानन्नपि संहारं प्राणकृच्छ्र उपस्थिते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; उपस्पृश्य—पवित्रता के लिए स्पर्श; सलिलम्—जल; सन्दधे—मंत्र पढ़ा; तत्—वह; समाहितः—ध्यान में मग्न; अजानन्—बिना जाने; अपि—यद्यपि; संहारम्—वापसी; प्राण-कृच्छ्रे—प्राण संकट; उपस्थिते—होने पर।

चूँकि उसके प्राण संकट में थे, अतएव उसने अपने को पवित्र करने के लिए जल का स्पर्श किया और ब्रह्मास्त्र चलाने के लिए मन्त्रोच्चार में अपना ध्यान एकाग्र किया, यद्यपि उसे इस अस्त्र को वापस लाने की विधि ज्ञात न थी।

तात्पर्य : भौतिक कार्यकलापों के सूक्ष्म रूप भौतिक कार्य पद्धति की स्थूलतर विधियों से अधिक सूक्ष्म होते हैं। इस तरह के भौतिक कार्यकलापों के ऐसे सूक्ष्म रूप ध्वनि की शुद्धि द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। यहाँ पर ब्रह्मास्त्र को मंत्रोच्चार द्वारा क्रियाशील करने के लिए इसी विधि को अपनाया गया है।

ततः प्रादुष्कृतं तेजः प्रचण्डं सर्वतोदिशम् ।
प्राणापदमभिप्रेक्ष्य विष्णुं जिष्णुरुवाच ह ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; प्रादुष्कृतम्—प्रसारित किया गया; तेजः—चमक; प्रचण्डम्—भयानक; सर्वतः—चारों ओर; दिशम्—दिशाएँ; प्राण-आपदम्—जीवन को प्रभावित करते हुए; अभिप्रेक्ष्य—देखकर; विष्णुम्—भगवान् से; जिष्णुः—अर्जुन ने; उवाच ह—कहा।

तत्पश्चात् समस्त दिशाओं में प्रचण्ड प्रकाश फैल गया। यह इतना उग्र था कि अर्जुन को अपने प्राण संकट में जान पड़े, अतएव उसने भगवान् श्रीकृष्ण को सम्बोधित करना प्रारम्भ किया।

अर्जुन उवाच
कृष्ण कृष्ण महाबाहो भक्तानामभयङ्कर ।
त्वमेको दह्यमानानामपवर्गोऽसि संसृतेः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; कृष्ण—हे भगवान् कृष्ण; कृष्ण—हे भगवान् कृष्ण; महा-बाहो—सर्वशक्तिमान; भक्तानाम्—भक्तों के; अभयङ्कर—भय को भगाने वाले; त्वम्—आप; एकः—एकमात्र; दह्यमानानाम्—कष्ट उठाने वालों के; अपवर्गः—मोक्ष पथ; असि—हो; संसृतेः—भौतिक कष्टों के बीच में।

अर्जुन ने कहा : हे भगवान् श्रीकृष्ण, आप सर्वशक्तिमान परमेश्वर हैं। आपकी विविध शक्तियों की कोई सीमा नहीं है। अतएव एकमात्र आप ही अपने भक्तों के हृदयों में अभय

उत्पन्न करने में समर्थ हैं। भौतिक कष्टों की ज्वालाओं में फँसे सारे लोग केवल आपमें ही मोक्ष का मार्ग पा सकते हैं।

तात्पर्य : अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य गुणों से अवगत था, क्योंकि कुरुक्षेत्र के युद्ध में वे दोनों साथ-साथ उपस्थित थे, तभी इसका अनुभव उसे हो चुका था। अतएव कृष्ण के विषय में अर्जुन का कथन प्रामाणिक है। कृष्ण सर्वशक्तिमान हैं और भक्तों की निर्भयता के कारण स्वरूप हैं। भगवद्भक्त सदैव निर्भय रहता है, क्योंकि भगवान् उसकी रक्षा करते हैं। यह भौतिक संसार जंगल में धधकती अग्नि के समान है, जिसका शमन भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से ही सम्भव है। गुरु भगवान् की कृपा के प्रतिनिधि होते हैं। अतएव भौतिक अस्तित्व की ज्वालाओं में जलता हुआ व्यक्ति, स्वरूपसिद्ध गुरु के पारदर्शी माध्यम से ही भगवान् की कृपा रूपी वर्षा प्राप्त कर सकता है। गुरु अपनी वाणी के द्वारा पीड़ित व्यक्ति के हृदय में प्रवेश करके दिव्य ज्ञान प्रदान कर सकते हैं, जिससे भौतिक संसार की अग्नि बुझ सकती है।

त्वमाद्य: पुरुष: साक्षादीश्वर: प्रकृते: पर: ।
मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

त्वम् आद्यः—आप आदि; पुरुषः—भोक्ता पुरुष हैं; साक्षात्—प्रत्यक्ष; ईश्वरः—नियन्ता; प्रकृतेः—भौतिक प्रकृति के; परः—दिव्य; मायाम्—भौतिक शक्ति को; व्युदस्य—दूर भगा कर; चित्-शक्त्या—अन्तरंगा शक्ति के बल से; कैवल्ये—शुद्ध शाश्वत ज्ञान तथा आनन्द में; स्थितः—स्थित; आत्मनि—अपने।

आप आदि भगवान् हैं जिनका समस्त सृष्टियों में विस्तार है और आप भौतिक शक्ति से परे हैं। आपने अपनी आध्यात्मिक शक्ति से भौतिक शक्ति के सारे प्रभावों को दूर भगा दिया है। आप निरन्तर शाश्वत आनन्द तथा दिव्य ज्ञान में स्थित रहते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि जो व्यक्ति भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है, वह अविद्या के चंगुल से छूट सकता है। कृष्ण सूर्य के तुल्य हैं और माया या भौतिक जगत अंधकार के तुल्य है। जहाँ-जहाँ सूर्य का प्रकाश जाता है, वहाँ-वहाँ से अंधकार या अज्ञान तुरन्त दूर हो जाता है। यहाँ पर अज्ञान के संसार से निकलने का सर्वश्रेष्ठ उपाय सुझाया गया

है। यहाँ पर भगवान् को आदि *परमेश्वर* कहा गया है। उन्हीं से अन्य सारे *अवतारों* का विस्तार होता है। सर्वव्यापी भगवान् विष्णु भगवान् कृष्ण के पूर्ण अंश या विस्तार हैं। भगवान् अपनी नानाप्रकार की शक्तियों सहित ईश्वर तथा जीवों के असंख्य रूपों में अपना विस्तार करते हैं। लेकिन श्रीकृष्ण मूल आदि भगवान् हैं, जिनसे प्रत्येक वस्तु का उद्भव होता है। इस दृश्य जगत में भगवान् का जो सर्वव्यापी रूप दिखलाई पड़ता है, वह भी भगवान् की ही आंशिक अभिव्यक्ति है। अतएव परमात्मा भगवान् में ही सन्निहित हैं। वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। उन्हें भौतिक जगत के कर्मों तथा फलों से कोई सरोकार नहीं होता, क्योंकि वे भौतिक सृष्टि से बहुत ऊपर हैं। अंधकार सूर्य का विकृत (उल्टा) रूप है, अतएव अंधकार का अस्तित्व सूर्य के अस्तित्व पर निर्भर करता है, लेकिन सूर्य में अंधकार का नामोनिशान नहीं होता। जिस प्रकार सूर्य केवल प्रकाश से ओतप्रोत होता है, उसी प्रकार भगवान् इस भौतिक जगत से परे रहकर, आनन्द से ओतप्रोत रहते हैं। वे न केवल आनन्द से परिपूर्ण हैं, अपितु दिव्य विविधता से भी ओतप्रोत हैं। दिव्यता तनिक भी गतिहीन नहीं है, बल्कि गतिशील विविधता से युक्त है। वे भौतिक प्रकृति से भिन्न हैं, क्योंकि भौतिक प्रकृति तीन गुणों के कारण जटिल बनी रहती है। वे *परम* या प्रधान हैं, अतः वे पूर्ण हैं। उनकी अनेक शक्तियाँ हैं और वे अपनी विविध शक्तियों के द्वारा संसार का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं। लेकिन उनके अपने धाम में सब कुछ सनातन तथा पूर्ण है। यह संसार केवल शक्तियों या शक्तिशाली प्रतिनिधियों द्वारा संचालित न होकर सर्वशक्तिमान के द्वारा उनकी समस्त शक्तियों सहित संचालित होता है।

स एव जीवलोकस्य मायामोहितचेतसः ।
विधत्से स्वेन वीर्येण श्रेयो धर्मादिलक्षणम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

सः—वह दिव्यता; **एव**—निश्चय ही; **जीव-लोकस्य**—बद्धजीवों का; **माया-मोहित**—माया द्वारा मोहित; **चेतसः**—हृदय से; **विधत्से**—सम्पन्न करते हैं; **स्वेन**—अपने; **वीर्येण**—प्रभाव से; **श्रेयः**—परम कल्याण; **धर्म-आदि**—मोक्ष के चार सिद्धान्त; **लक्षणम्**—लक्षण।

और, यद्यपि आप भौतिक शक्ति (माया) के कार्यक्षेत्र से परे हैं, फिर भी आप बद्धजीवों के परम कल्याण के लिए धर्म इत्यादि से के चारों सिद्धान्तों का पालन करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण अपनी अहैतुकी कृपा से, इस दृश्य जगत में प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहकर अवतरित होते हैं। वे शाश्वत रूप से भौतिक जगत से परे हैं। वे अपनी अहैतुकी कृपावश ही माया द्वारा मोहित पतित जीवों के उद्धार हेतु अवतरित होते हैं। ये जीव माया द्वारा दबोचे जाते हैं और झूठे बहानों के झाँसे से उसका भोग करना चाहते हैं, यद्यपि सच्चाई तो यह है कि जीव भोग करने में असमर्थ है। वह तो भगवान् का नित्य दास है और जब वह अपनी इस स्थिति को भूल जाता है, तो वह भौतिक जगत का भोग करने का सोचता है, किन्तु वास्तव में वह भ्रम में होता है। भगवान् इसी झूठी भोग-धारणा को नष्ट करने के लिए हैं और बद्धजीवों का उद्धार करके उन्हें अपने धाम में ले जाने के लिए अवतरित होते हैं। पतितात्माओं के लिए भगवान् का यही सर्व करुणामय स्वभाव है।

तथायं चावतारस्ते भुवो भारजिहीर्षया ।
स्वानां चानन्यभावानामनुध्यानाय चासकृत् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तथा—इस प्रकार; अयम्—यह; च—तथा; अवतार:—अवतार; ते—आपका; भुव:—भौतिक जगत का; भार—बोझ; जिहीर्षया—दूर करने के लिए; स्वानाम्—मित्रों का; च अनन्य-भावानाम्—तथा अनन्य भक्तों का; अनुध्यानाय—बारम्बार स्मरण करने के लिए; च—तथा; असकृत्—पूर्ण रूप से प्रसन्न।

इस प्रकार आप संसार का भार हटाने तथा अपने मित्रों तथा विशेषकर आपके ध्यान में लीन रहने वाले आपके अनन्य भक्तों को लाभ पहुँचाने के लिए अवतरित होते हैं।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् अपने भक्तों का पक्षपात करते हैं। सभी जीव भगवान् से सम्बन्धित हैं। वे सबों के लिए समान हैं, फिर भी वे अपने जनों तथा भक्तों के प्रति विशेष अनुरक्त रहते हैं। भगवान् सबों के पिता हैं। उनका पिता कोई नहीं हो सकता और न कोई उनका पुत्र बन सकता है। उनके भक्त ही उनके इष्ट-मित्र तथा उनके परिजन हैं। यह उनकी दिव्य लीला है। इसका संसारी सम्बन्धों, पितृत्व या अन्य किसी से कोई प्रयोजन नहीं होता। जैसाकि

ऊपर कहा गया है, भगवान् प्रकृति के गुणों से ऊपर हैं, अतएव भक्ति में उनके इष्ट-मित्र तथा सम्बन्धियों में संसारी रिश्ते जैसी कोई चीज नहीं है।

किमिदं स्वित्कुतो वेति देवदेव न वेद्म्यहम् ।
सर्वतोमुखमायाति तेजः परमदारुणम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या है; इदम्—यह; स्वित्—आता है; कुतः—कहाँ से; वा इति—चाहे जो हो; देव-देव—हे देवों के देव; न—नहीं; वेद्मि—जानता हूँ; अहम्—मैं; सर्वतः—चारों ओर; मुखम्—दिशाएँ; आयाति—आता है; तेजः—तेज; परम—अत्यधिक; दारुणम्—घातक।

हे देवाधिदेव, चारों ओर फैलने वाला यह घातक तेज कैसा है? यह कहाँ से आ रहा है? मैं इसे समझ नहीं पा रहा हूँ।

तात्पर्य : जो भी वस्तु भगवान् के समक्ष प्रस्तुत की जाय, उसे सादर प्रार्थनापूर्वक करना चाहिए। यही मानक विधि है और अर्जुन ने भगवान् के अन्तरंगा सखा होते हुए भी इस विधि का पालन सामान्य जनों को सूचित करने के लिए किया।

श्रीभगवानुवाच
वेत्थेदं द्रोणपुत्रस्य ब्राह्ममस्त्रं प्रदर्शितम् ।
नैवासौ वेद संहारं प्राणबाध उपस्थिते ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान्—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने; उवाच—कहा; वेत्थ—मुझसे जानो; इदम्—यह; द्रोण-पुत्रस्य—द्रोण पुत्र का; ब्राह्मम् अस्त्रम्—ब्राह्म (आणविक) अस्त्र का मंत्र; प्रदर्शितम्—प्रदर्शित; न—नहीं; एव—भी; असौ—वह; वेद—यह जानो; संहारम्—लौटाना; प्राण-बाधे—जीवन का विलोप; उपस्थिते—उपस्थित होने पर।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने कहा : तुम मुझ से यह जान लो कि यह द्रोण के पुत्र का कार्य है। उसने आणविक शक्ति के मंत्र (ब्रह्मास्त्र) का प्रहार किया है और वह यह नहीं जानता कि उसकी चौंधको कैसे लौटाया जाय। उसने निरुपाय होकर आसन्न मृत्यु के भय से ऐसा किया है।

तात्पर्य : ब्रह्मास्त्र आधुनिक आणविक हथियार की भाँति है, जिसका संचालन परमाणु ऊर्जा से किया जाता है। परमाणु शक्ति पूर्ण दहनशीलता पर आधारित है और ब्रह्मास्त्र भी इसी तरह चलता है। यह परमाणु-विकिरणों के समान ही असह्य ताप उत्पन्न करता है, लेकिन अन्तर इतना है कि परमाणु बम एक स्थूल नाभिकीय हथियार है जबकि ब्रह्मास्त्र सूक्ष्म हथियार है जिसे मन्त्र पढ़कर उत्पन्न किया जाता है। यह सर्वथा भिन्न विज्ञान है और प्राचीन काल में भारतवर्ष में ऐसे विज्ञान का अनुशीलन होता था। *मन्त्रोच्चार का यह सूक्ष्म विज्ञान भी भौतिक है,* लेकिन अभी भी आधुनिक भौतिक विज्ञानियों द्वारा इसको जानना शेष है। सूक्ष्म भौतिक विज्ञान कभी आध्यात्मिक नहीं होता, लेकिन आध्यात्मिक विधि से इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है, जो और भी अधिक सूक्ष्म है। मंत्र का उच्चारण करने वाला जानता था कि अस्त्र को किस प्रकार छोड़ा जाय और फिर उसे किस प्रकार वापस लाया जाय। यह पूर्ण ज्ञान था। लेकिन इस सूक्ष्म विज्ञान का प्रयोग करने वाला द्रोण-पुत्र यह नहीं जानता था कि किस प्रकार उसे लौटाया जाय। उसने अपनी मृत्यु को आया देख भयभीत होकर इसका व्यवहार तो किया, लेकिन यह प्रथा न केवल अनुचित वरन् धर्मविरुद्ध भी थी। ब्राह्मण पुत्र होने के नाते, उसे इतनी सारी त्रुटियाँ नहीं करनी थीं और कर्तव्य की ऐसी सरासर उपेक्षा के लिए उसे स्वयं भगवान् द्वारा दण्डित होना था।

न ह्यस्यान्यतमं किञ्चिदस्त्रं प्रत्यवकर्शनम् ।
जह्यस्त्रतेज उन्नद्धमस्त्रज्ञो ह्यस्त्रतेजसा ॥ २८॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निश्चय ही; अस्य—इसका; अन्यतमम्—अन्य; किञ्चित्—कुछ भी; अस्त्रम्—हथियार; प्रति—विपरीत; अवकर्शनम्—प्रतिक्रिया करने वाला; जहि—शमन करो; अस्त्र-तेजः—इस हथियार का तेज; उन्नद्धम्—अत्यन्त शक्तिशाली; अस्त्र-ज्ञः—सैन्य विज्ञान में पटु; हि—निश्चय रूप से; अस्त्र-तेजसा—तुम्हारे हथियार के प्रभाव से।

हे अर्जुन, केवल दूसरा ब्रह्मास्त्र ही इस अस्त्र को निरस्त कर सकता है। चूँकि तुम सैन्य विज्ञान में अत्यन्त पटु हो, अतएव अपने अस्त्र की शक्ति से इस अस्त्र के तेज का शमन करो।

तात्पर्य : परमाणु बमों के प्रभावों को निरस्त करने वाला कोई प्रति-अस्त्र नहीं है। लेकिन सूक्ष्म विज्ञान द्वारा ब्रह्मास्त्र के प्रभाव को प्रशमित किया जा सकता है और उन दिनों जो लोग सैन्य विज्ञान में पटु होते थे, वे ब्रह्मास्त्र का शमन कर सकते थे। द्रोण-पुत्र इस अस्त्र को प्रशमित करने की कला नहीं जानता था, अतएव अर्जुन को अपने अस्त्र से इसे प्रशमित करने का आदेश मिला।

सूत उवाच
श्रुत्वा भगवता प्रोक्तं फाल्गुनः परवीरहा ।
स्पृष्ट्वापस्तं परिक्रम्य ब्राह्मं ब्राह्मास्त्रं सन्दधे ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सूतः—सूत गोस्वामी ने; उवाच—कहा; श्रुत्वा—सुनकर; भगवता—भगवान् द्वारा; प्रोक्तम्—जो कहा गया; फाल्गुनः—अर्जुन का अन्य नाम; पर-वीर-हा—विपक्षी योद्धा का वध करने वाला; स्पृष्ट्वा—स्पर्श करके; आपः—जल; तम्—उसको; परिक्रम्य—परिक्रमा लगा कर; ब्राह्मम्—परम ब्रह्म को; ब्राह्म-अस्त्रम्—परम अस्त्र को; सन्दधे—छोड़ा।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : भगवान् से यह सुनकर अर्जुन ने शुद्धि के लिए जल का स्पर्श किया और भगवान् श्रीकृष्ण की परिक्रमा करके, उस अस्त्र को प्रशमित करने के लिए उसने अपना ब्रह्मास्त्र छोड़ा।

संहत्यान्योन्यमुभयोस्तेजसी शरसंवृते ।
आवृत्य रोदसी खं च ववृधातेऽर्कवह्निवत् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

संहत्य—संयोग से; अन्योन्यम्—परस्पर; उभयोः—दोनों के; तेजसी—तेज; शर—हथियार; संवृते—घेरते हुए; आवृत्य—आच्छादित करके; रोदसी—पूरा आकाश; खम् च—बाह्य अन्तरिक्ष भी; ववृधाते—बढ़ते हुए; अर्क—सूर्य का गोला; वह्नि-वत्—अग्नि के समान।

जब दोनों ब्रह्मास्त्रों की किरणें मिल गईं, तो सूर्य के गोले के समान अग्नि के एक वृहत चक्र ने समस्त बाह्य अन्तरिक्ष तथा लोकों के सम्पूर्ण गगनमण्डल को आवृत्त कर लिया।

तात्पर्य : ब्रह्मास्त्र के उद्दीपन से उत्पन्न उष्मा सृष्टि के प्रलय के समय सूर्य के गोले से निकलने वाली अग्नि तुल्य होती है। ब्रह्मास्त्र से उत्पन्न उष्मा की तुलना में परमाणु शक्ति का

विकिरण बिलकुल नगण्य है। परमाणु बम के विस्फोट से ज्यादा ज्यादा एक ही ग्रह नष्ट हो सकता है, लेकिन ब्रह्मास्त्र द्वारा उत्पन्न उष्मा से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड नष्ट हो सकता है। अतएव इसकी तुलना प्रलयकालीन उष्मा से की गई है।

दृष्ट्वास्त्रतेजस्तु तयोस्त्रींल्लोकान् प्रदहन्महत् ।
दह्यमानाः प्रजाः सर्वाः सांवर्तकममंसत ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—इस प्रकार देख कर; अस्त्र—हथियार; तेजः—उष्मा; तु—लेकिन; तयोः—दोनों की; त्रीन्—तीनों; लोकान्—लोकों को; प्रदहत्—ज्वलंत; महत्—बुरी तरह; दह्यमानाः—जलाते हुए; प्रजाः—जनता; सर्वाः—सर्वत्र; सांवर्तकम्—वह अग्नि जो ब्रह्माण्ड के प्रलय के समय विध्वंस करती है; अमंसत—सोचने लगा।.

उन अस्त्रों की सम्मिलित अग्नि से तीनों लोकों के सारे लोग जल-भुन गये। सभी लोगों को उस सांवर्तक अग्नि का स्मरण हो आया, जो प्रलय के समय लगती है।

तात्पर्य : तीन लोक हैं—ब्रह्माण्ड के ऊर्ध्व, अधो तथा मध्य के लोक। यद्यपि ब्रह्मास्त्र इस पृथ्वी पर छोड़ा गया था, लेकिन अस्त्रों की सम्मिलित उष्मा सारे ब्रह्माण्ड में छा गई और विभिन्न लोकों के समस्त वासी प्रखर उष्मा का अनुभव करने लगे। वे इसकी तुलना सांवर्तक अग्नि से करने लगे। अतः कोई भी ग्रह जीवों से रहित नहीं है, जैसाकि अल्प बुद्धि वाले भौतिकतावादी लोग सोचते हैं।

प्रजोपद्रवमालक्ष्य लोकव्यतिकरं च तम् ।
मतं च वासुदेवस्य सञ्जहारार्जुनो द्वयम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

प्रजा—सामान्य जन; उपद्रवम्—अव्यवस्था; आलक्ष्य—देखकर; लोक—ग्रहों का; व्यतिकरम्—विनाश; च—भी; तम्—उसको; मतम् च—तथा मत को; वासुदेवस्य—वासुदेव या श्रीकृष्ण का; सञ्जहार—शमन किया, निवारण किया; अर्जुनः—अर्जुन ने; द्वयम्—दोनों अस्त्रों का।.

इस प्रकार जन सामान्य में फैली हड़बड़ी एवं ग्रहों के आसन्न विनाश को देखकर, अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण की इच्छानुसार तुरन्त ही दोनों अस्त्रों का निवारण कर दिया।

तात्पर्य : यह मत कि आधुनिक परमाणु बम का विस्फोट संसार का संहार कर सकता है, बचकानी कल्पना है। पहले तो परमाणु ऊर्जा संसार का विनाश करने के लिए पर्याप्त सशक्त नहीं है। दूसरे, यह सब परमेश्वर की परम इच्छा पर निर्भर है, क्योंकि उनकी इच्छा या स्वीकृति के बिना कुछ भी बनाया या बिगाड़ा नहीं जा सकता। यह सोचना भी मूर्खता है कि प्राकृतिक नियम अनन्तिम रुप से शक्तिशाली हैं। भौतिक प्रकृति का नियम भगवान् के निर्देशानुसार कार्य करता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है। उसमें भगवान् कहते हैं कि प्राकृतिक नियम उनके अधीक्षण में कार्य करते हैं। इस संसार का संहार भगवान् की ही इच्छा से हो सकता है, छोटे-मोटे राजनेताओं की सनक से नहीं। भगवान् श्रीकृष्ण ने इच्छा प्रकट की कि द्रौणि तथा अर्जुन दोनों के द्वारा छोड़े गये अस्त्र लौटा लिए जाँय और अर्जुन ने तुरन्त ही इस आज्ञा का पालन किया। इसी प्रकार, सर्वशक्तिमान भगवान् के अनेक दूत हैं और भगवान् जो चाहते हैं, उसे उनकी इच्छा से ही कोई सम्पन्न कर सकता है।

तत आसाद्य तरसा दारुणं गौतमीसुतम् ।
बबन्धामर्षताम्राक्षः पशुं रशनया यथा ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; आसाद्य—बन्दी बनाकर; तरसा—कौशल से; दारुणम्—खतरनाक; गौतमी-सुतम्—गौतमी पुत्र को; बबन्ध—बाँध लिया; अमर्ष—क्रुद्ध; ताम्र-अक्षः—लाल-लाल आँखें; पशुम्—पशु को; रशनया—रस्सियों से; यथा—जिस प्रकार।

ताँबे के दो लाल तप्त गोलों के समान क्रोध से प्रज्वलित आँखें किये, अर्जुन ने अत्यन्त दक्षतापूर्वक से गौतमी के पुत्र को बन्दी बना लिया और उसे रस्सियों से पशु की तरह बाँध लिया।

तात्पर्य : अश्वत्थामा की माता कृपी का जन्म गौतम कुल में हुआ था। इस श्लोक की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अश्वत्थामा को पकड़कर पशु की भाँति रस्सी से बाँध दिया गया। श्रीधर स्वामी के मतानुसार, अर्जुन को अपने धर्म का पालन करने के लिए, इस ब्राह्मण पुत्र को पशु की भाँति पकड़ना पड़ा। श्रीधर स्वामी के इस प्रस्ताव की पुष्टि बाद में श्रीकृष्ण के कथन से भी हो

जाती है। अश्वत्थामा द्रोणाचार्य तथा कृपी का वैध पुत्र था, परन्तु उसने अपने जीवन को पतित बना लिया था, अतएव उसके साथ ब्राह्मण के तुल्य नहीं, अपितु पशुतुल्य व्यवहार करना ही उचित था।

शिबिराय निनीषन्तं रज्ज्वा बद्ध्वा रिपुं बलात् ।
प्राहार्जुनं प्रकुपितो भगवानम्बुजेक्षणः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

शिबिराय—सेना के पड़ाव में; निनीषन्तम्—लाते हुए; रज्ज्वा—रस्सियों से; बद्ध्वा—बँधा हुआ; रिपुम्—शत्रु को; बलात्—बलपूर्वक; प्राह—कहा; अर्जुनम्—अर्जुन से; प्रकुपितः—क्रुद्ध; भगवान्—भगवान् ने; अम्बुज-ईक्षणः—अपने कमल सदृश नेत्रों से देखने वाले।

अश्वत्थामा को बाँध लेने के बाद, अर्जुन उसे सेना के पड़ाव की ओर ले जाना चाह रहा था कि अपने कमलनेत्रों से देखते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने क्रुद्ध अर्जुन से इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : यहाँ पर अर्जुन तथा भगवान् श्रीकृष्ण दोनों को क्रुद्ध बताया गया है, लेकिन अर्जुन की आँखें लाल ताँबे के तप्त गोलों के समान थीं, जबकि भगवान् की आँखें कमलवत् थीं। इसका अर्थ यह है कि अर्जुन तथा भगवान् के क्रुद्ध रूप एक-जैसे नहीं हैं। भगवान् दिव्य हैं और किसी भी अवस्था में पूर्ण हैं। उनका क्रोध भौतिक प्रकृति के गुणों के वशीभूत बद्धजीवों के क्रोध जैसा नहीं होता है। चूँकि वे पूर्ण हैं, अतएव उनका क्रोध तथा उनकी प्रसन्नता एक समान हैं। उनका क्रोध प्रकृति के तीनों गुणों में प्रकट नहीं होता। यह अपने भक्तों के हित के लिए उनके मन के झुकाव का प्रतीक मात्र होता है, क्योंकि वही उनकी दिव्य प्रकृति है। अतएव उनके क्रुद्ध होने पर भी क्रोध का पात्र धन्य हो जाता है। वे सभी परिस्थितियों में अपरिवर्तित रहते हैं।

मैनं पार्थार्हसि त्रातुं ब्रह्मबन्धुमिमं जहि ।
योऽसावनागसः सुप्तानवधीन्निशि बालकान् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

मा एनम्—उसके प्रति कभी नहीं; पार्थ—हे अर्जुन; अर्हसि—तुम्हें चाहिए; त्रातुम्—मुक्त करना; ब्रह्म-बन्धुम्—ब्राह्मण के सम्बन्धी को; इमम्—इस; जहि—मार डालो; यः—जो; असौ—उन; अनागसः—दोषरहित; सुप्तान्—सोये हुए; अवधीत्—हत्या की; निशि—रात्रि में; बालकान्—बालकों की।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा : हे अर्जुन, इस ब्रह्म-बन्धु को छोड़कर तुम दया मत दिखलाओ, क्योंकि इसने सोते हुए निर्दोष बालकों का वध किया है।

तात्पर्य : *ब्रह्म-बन्धु* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जो व्यक्ति ब्राह्मण कुल में जन्म लेता है, किन्तु ब्राह्मण कहलाने की योग्यता नहीं रखता, उसे ब्राह्मण-बन्धु कहकर संबोधित किया जाता है, न कि ब्राह्मण। उच्च न्यायालय के न्यायाधीश का पुत्र स्वत: ही न्यायाधीश नहीं हो जाता, लेकिन न्यायाधीश के पुत्र को न्यायाधीश का रिश्तेदार कहने में कोई हर्ज नहीं है। अत: जिस प्रकार कोई जन्म के द्वारा ही न्यायालय का न्यायाधीश नहीं बन जाता, उसी प्रकार कोई जन्म के आधार पर ही ब्राह्मण नहीं होता, अपितु उसे ब्राह्मण की आवश्यक योग्यताएँ प्राप्त करनी होती हैं। जिस प्रकार न्यायाधीश का पद उसके योग्य व्यक्ति के लिए होता है, उसी प्रकार से ब्राह्मण का पद भी योग्यता से ही प्राप्त होता है। शास्त्रों का आदेश है कि यदि ब्राह्मण से इतर कुल में भी उत्पन्न हुए पुरुष में ब्राह्मण के सद्गुण रहते हैं, तो उसे ब्राह्मण के रूप में स्वीकार करना होता हैं। इसी प्रकार यदि ब्राह्मण कुल में उत्पन्न व्यक्ति ब्राह्मण के गुणों से रहित होता है, तो उसे अब्राह्मण या ठीक से कहना चाहें तो ब्राह्मण-बन्धु कहना चाहिए। समस्त वेदों के परम प्रमाण भगवान् श्रीकृष्ण ने ये अन्तर स्वयं बताये हैं और वे इसका कारण अगले श्लोक में बताने वाले हैं।

मत्तं प्रमत्तमुन्मत्तं सुप्तं बालं स्त्रियं जडम् ।
प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

मत्तम्—लापरवाह को; प्रमत्तम्—नशे में रहने वाले को; उन्मत्तम्—पागल को; सुप्तम्—सोए हुए को; बालम्—बालक को; स्त्रियम्—स्त्री को; जडम्—मूर्ख को; प्रपन्नम्—शरणागत को; विरथम्—रथविहीन को; भीतम्—भयभीत को; न—नहीं; रिपुम्—शत्रु को; हन्ति—मारते हैं; धर्म-वित्—धार्मिक नियमों का ज्ञाता।

जो मनुष्य धर्म के सिद्धन्तों को जानता है, वह ऐसे शत्रु का वध नहीं करता जो असावधान, नशे में उन्मत्त, पागल, सोया हुआ, डरा हुआ या रथविहीन हो। न ही वह किसी बालक, स्त्री, मूर्ख प्राणी अथवा शरणागत जीव का वध करता है।

तात्पर्य : धर्म के ज्ञाता योद्धा द्वारा कभी ऐसे शत्रु को नहीं मारा जाता, जो प्रतिरोध न करे। पुराने समय में धर्म युद्ध के सिद्धान्तों के आधार पर लड़े जाते थे, किसी इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं। यदि शत्रु प्रमत्त हो, सोया हो इत्यादि जैसाकि ऊपर कहा गया है, तो उसे कभी भी मारना नहीं चाहिए। धर्म युद्ध के ऐसे कुछ नियम हैं। पूर्व-काल में कभी भी स्वार्थी राजनेताओं की सनक के कारण युद्ध की घोषणा नहीं की जाती थी। युद्ध, पापों से रहित धार्मिक नियमों के आधार पर, लड़े जाते थे। धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार की गई हिंसा तथाकथित अहिंसा से कहीं श्रेष्ठतर होती है।

स्वप्राणान् यः परप्राणैः प्रपुष्णात्यघृणः खलः ।
तद्वधस्तस्य हि श्रेयो यद्दोषाद्यात्यधः पुमान् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

स्व-प्राणान्—अपना जीवन; यः—जो; पर-प्राणैः—दूसरों के जीवन के मूल्य पर; प्रपुष्णाति—ठीक से पलता है; अघृणः—निर्लज्ज; खलः—दुष्ट; तत्-वधः—उसको मारना; तस्य—उसका; हि—निश्चय ही; श्रेयः—श्रेयस्कर; यत्—जिस; दोषात्—दोष से; याति—जाता है; अधः—नीच की ओर; पुमान्—मनुष्य।

ऐसा क्रूर तथा दुष्ट व्यक्ति जो दूसरों के प्राणों की बलि पर पलता है, उसका वध किया जाना उसके लिए ही हितकर है, अन्यथा अपने ही कर्मों से उसकी अधोगति होती है।

तात्पर्य : जो व्यक्ति क्रूरता तथा निर्लज्जतापूर्वक दूसरों के जीवन की बलि पर पलता है, उसके लिए प्राण का बदला प्राण ही उपयुक्त दण्ड है। राजनीतिक नैतिकता का तकाजा है कि क्रूर व्यक्ति को नरक जाने से बचाने के लिए उसे प्राणदण्ड दिया जाय। यदि शासन किसी हत्यारे को प्राणदण्ड देता है, तो अपराधी के लिए यह अच्छा होता है, क्योंकि उसे अगले जन्म में इस हत्या-कर्म के लिए फल भोगना नहीं पड़ेगा। ऐसा प्राणदण्ड उस हत्यारे के लिए न्यूनतम सम्भव दण्ड है और *स्मृति शास्त्रों* में कहा गया है कि जिन्हें राजा द्वारा प्राण के बदले प्राण के आधार पर दण्डित किया जाता है, वे अपने सारे पापों से मुक्त हो जाते हैं—यहाँ तक कि वे स्वर्गलोक जाने के पात्र भी बन सकते हैं। नागरिक संहिता तथा धार्मिक सिद्धान्तों के महान रचनाकार मनु के अनुसार, पशु के मारने वाले तक को हत्यारा समझना चाहिए, क्योंकि पशुमाँस कभी भी सभ्य

मनुष्य का भक्ष्य नहीं होता। सभ्य मनुष्य का मुख्य कर्तव्य तो भगवद्धाम वापस जाने के लिए अपने आप को योग्य बनाना है। उनका कहना है कि पशुओं के वध के पीछे, पापी गिरोहों का नियत षड्यन्त्र रहता है, अतएव वे उसी प्रकार दण्डनीय हैं जिस प्रकार कि षड्यन्त्रकारी गिरोह जो सामूहिक रूप से किसी मनुष्य की हत्या करते हैं। *जो पशु वध की आज्ञा देता है, जो पशु-वध करता है, जो काटे गये पशुओं को बेचता है, जो पशु मांस पकाता है, जो ऐसे भक्ष्य का वितरण करता है और वह भी, जो ऐसे पकाये भक्ष्य को खाता है, वे सभी हत्यारे हैं और वे सभी प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डनीय हैं।* चाहे कोई कितनी ही वैज्ञानिक प्रगति क्यों न कर ले, वह जीव को उत्पन्न नहीं कर सकता; अतएव मनमानी करके किसी जीव का वध करने का किसी को भी अधिकार नहीं हैं। पशु-भक्षकों के लिए शास्त्रों में सीमित पशु यज्ञों की ही अनुमति है और ऐसी अनुमति भी कसाईघरों के खोलने पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए है, न कि पशु-वध को प्रोत्साहित करने के लिए। शास्त्रों में जिस विधि के अर्न्तगत पशु यज्ञ की अनुमति दी गई है, वह बलि किये जाने वाले पशुओं तथा पशु-भक्षकों दोनों ही के हित में है। यह पशु के हित में यों है, क्योंकि बलि होने वाला पशु वेदी में बलि होते ही मनुष्य योनि प्राप्त कर लेता है और पशु-भक्षक भी स्थूल पापों से बच जाता है (सुनियोजित रूप से चलाये जा रहे कसाईघर ऐसे बिभत्स स्थान हैं, जो समाज, राष्ट्र तथा सामान्य जनता के लिए सभी प्रकार के भौतिक अनिष्टों को पनपने के स्थान हैं-इनके द्वारा दिये जाने वाले मांस का भक्षण करना वही यह स्थूल पाप है)। यह भौतिक जगत स्वयं ही चिन्ताओं से भरा हुआ स्थान है और उसमें पशुओं के वध को प्रोत्साहित करने से सारा वातावरण युद्ध, महामारी, अकाल तथा अन्य कई अवांछित विपत्तियों से अधिकाधिक दूषित होता जाता है।

प्रतिश्रुतं च भवता पाञ्चाल्यै शृण्वतो मम ।
आहरिष्ये शिरस्तस्य यस्ते मानिनि पुत्रहा ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

प्रतिश्रुतम्—वचन दिया गया; च—तथा; भवता—तुम्हारे द्वारा; पाञ्चाल्यै—राजा पांचाल की पुत्री (द्रौपदी) को; शृण्वतः—सुना गया; मम—मेरे द्वारा; आहरिष्ये—मैं अवश्य लाऊँगा; शिरः—सिर; तस्य—उसका; यः—जिसने; ते—तुम्हारे; मानिनि—मानते हो; पुत्र-हा—पुत्रों का वधकर्ता।.

इसके अतिरिक्त, मैंने स्वयं तुम्हें द्रौपदी से यह प्रतिज्ञा करते सुना है कि तुम उसके पुत्रों के वधकर्ता का सिर लाकर उपस्थित करोगे।

तदसौ वध्यतां पाप आतताय्यात्मबन्धुहा ।
भर्तुश्च विप्रियं वीर कृतवान् कुलपांसनः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; असौ—यह आदमी; वध्यताम्—मारा जाएगा; पापः—पापी; आततायी—हमला करने वाला; आत्म—अपने; बन्धु-हा—पुत्रों को मारने वाला; भर्तुः—स्वामी का; च—भी; विप्रियम्—संतुष्ट न करके; वीर—हे योद्धा; कृतवान्—करने वाला; कुल-पांसनः—कुल की राख।.

यह आदमी तुम्हारे ही कुल के सदस्यों का हत्यारा तथा वधकर्ता (आततायी) है। यही नहीं, उसने अपने स्वामी को भी असंतुष्ट किया है। वह अपने कुल की राख (कुलांगार) है। तुम तत्काल इसका वध कर दो।

तात्पर्य : द्रोणचार्य के पुत्र को यहाँ पर *कुलांगार* कहा गया है। द्रोणाचार्य के नाम का अत्यधिक सम्मान था। यद्यपि वे शत्रु पक्ष में चले गये थे, फिर भी सारे पाण्डव उनका सम्मान करते थे और अर्जुन ने तो युद्ध आरम्भ होने के पूर्व उन्हें नमस्कार किया था। ऐसा करने में कोई खराबी नहीं थी। लेकिन द्रोणाचार्य के पुत्र ने ऐसा कृत्य करके अपने को पतित बना लिया था, जिसे द्विज द्वारा कभी नहीं किया जाता। द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने द्रौपदी के पाँच पुत्रों की सोते हुए में हत्या की थी, जिससे उसने अपने स्वामी दुर्योधन को भी अप्रसन्न कर दिया था, क्योंकि उसने कभी भी पाण्डवों के सोते हुए पाँचों पुत्रों की हत्या के जघन्य कृत्य की अनुमति नहीं दी थी। इसका अर्थ यह हुआ कि वह अर्जुन के ही कुटुम्बियों का वधकर्ता बन गया, अतएव वह अर्जुन द्वारा दण्डनीय था। शास्त्रों का कथन है कि जो बिना चेतावनी के आक्रमण करता है, पीछे से वार करके मार डालता है, दूसरे के घर में आग लगाता है, किसी अन्य की पत्नी का

अपहरण करता है, वह वध-योग्य है। कृष्ण ने अर्जुन को ये तथ्य याद दिलाए, जिससे वह उन पर ध्यान दे और तदनुसार कार्यवाही करे।

सूत उवाच
एवं परीक्षता धर्मं पार्थ: कृष्णेन चोदित: ।
नैच्छद्धन्तुं गुरुसुतं यद्यप्यात्महनं महान् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

सूत:—सूत गोस्वामी ने; उवाच—कहा; एवम्—यह; परीक्षता—परीक्षा लेते हुए; धर्मम्—कर्तव्य के मामले में; पार्थ:—श्री अर्जुन; कृष्णेन—भगवान् कृष्ण द्वारा; चोदित:—प्रोत्साहित किये जाने पर; न ऐच्छत्—नहीं चाहा; हन्तुम्—मारना; गुरु-सुतम्—अपने गुरु के पुत्र को; यद्यपि—यद्यपि; आत्म-हनम्—पुत्रों का वधकर्ता; महान्—बहुत बड़ा।.

सूत गोस्वामी ने कहा : यद्यपि धर्म में अर्जुन की परीक्षा लेते हुए कृष्ण ने उसे द्रोणाचार्य के पुत्र का वध करने के लिए प्रोत्साहित किया, लेकिन महात्मा अर्जुन को यह विचार नहीं भाया, यद्यपि अश्वत्थामा अर्जुन के ही कुटुम्बियों का नृशंस हत्यारा था।

तात्पर्य : अर्जुन निस्सन्देह एक महात्मा था, जो यहाँ पर भी सिद्ध होता है। यहाँ पर भगवान् कृष्ण स्वयं उसे द्रोण पुत्र का वध करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं, लेकिन अर्जुन सोचता है कि उसे अपने महान् गुरु के पुत्र को प्राणदान देना चाहिए, क्योंकि भले ही वह उसके गुरु का अयोग्य पुत्र हो, उसने अपनी सनक से ऐसे जघन्य कर्म किये हैं जो किसी के भी हित में नहीं थे। लेकिन आखिर है तो वह द्रोणाचार्य का ही पुत्र।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बाहर-बाहर से प्रोत्साहित किया, क्योंकि वे अर्जुन की कर्तव्यपरायणता की परीक्षा लेना चाहते थे। ऐसा नहीं था कि अर्जुन में अपने कर्तव्य का पूरा-पूरा बोध नहीं था, न ही भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के कर्तव्य-बोध से अनजान थे। लेकिन श्रीकृष्ण ने अपने अनेक शुद्ध भक्तों की परीक्षा उनके कर्तव्य-बोध को विवर्धित करने के लिए ली। गोपियों की भी ऐसी ही परिक्षाएँ ली गईं। प्रह्लाद महाराज की भी परीक्षा ली गई। लेकिन सारे शुद्ध भक्त भगवान् द्वारा ली गई अपनी-अपनी परीक्षाओं में खरे उतरते हैं।

अथोपेत्य स्वशिबिरं गोविन्दप्रियसारथिः ।
न्यवेदयत्तं प्रियायै शोचन्त्या आत्मजान् हतान् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; उपेत्य—पहुँचकर; स्व—अपने; शिबिरम्—शिविर में; गोविन्द—इन्द्रियों को गतिशील करने वाले (भगवान् श्रीकृष्ण); प्रिय—प्यारा; सारथिः—रथ चालक; न्यवेदयत्—प्रदान किया; तम्—उसको; प्रियायै—प्रियतमा को; शोचन्त्यै—विलाप करती; आत्म-जान्—अपने पुत्रों के लिए; हतान्—वध किये गये।

अपने प्रिय मित्र तथा सारथी (श्रीकृष्ण) सहित अपने शिविर में पहुँचकर अर्जुन ने उस हत्यारे को अपनी प्रिय पत्नी को सौंप दिया, जो मारे गये अपने पुत्रों के लिए विलाप कर रही थी।

तात्पर्य : कृष्ण के साथ अर्जुन का दिव्य सम्बन्ध घनिष्ठ मित्रता के रूप में है। *भगवद्गीता* में भगवान् ने स्वयं अर्जुन को अपना प्रियतम सखा कहा है। इस तरह प्रत्येक जीव, किसी-न-किसी प्रिय सम्बन्ध द्वारा भगवान् से जुड़ा है, चाहे वह दास का हो या मित्र का, या माता-पिता का हो या माधुर्य प्रेम का। भक्तियोग की विधि द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को आध्यात्मिक जगत में भगवान् का सान्निध्य प्राप्त हो सकता है अगर वह ऐसी इच्छा रखता है और उसके लिए निष्ठापूर्वक प्रयत्न करता है।

तथाहृतं पशुवत् पाशबद्ध-
मवाङ्मुखं कर्मजुगुप्सितेन ।
निरीक्ष्य कृष्णापकृतं गुरोः सुतं
वामस्वभावा कृपया ननाम च ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तथा—इस प्रकार; आहृतम्—लाया गया; पशु-वत्—पशु के समान; पाश-बद्धम्—रस्सियों से बँधा; अवाक्-मुखम्—मुँह से एक भी शब्द निकले बिना; कर्म—कार्य; जुगुप्सितेन—घृणित होने के कारण; निरीक्ष्य—देखकर; कृष्णा—द्रौपदी; अपकृतम्—अधर्म कार्य करने वाला; गुरोः—गुरु के; सुतम्—पुत्र को; वाम—सुन्दर; स्वभावा—स्वभाव वाली; कृपया—दयावश; ननाम—प्रणाम किया; च—तथा।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : तब द्रौपदी ने अश्वत्थामा को देखा, जो पशु की भाँति रस्सियों से बँधा था और अत्यन्त घृणित हत्या का कृत्य करने के कारण चुप था। अपने स्त्री

स्वभाववश तथा स्वभाव से उत्तम एवं भद्र होने के कारण, उसने ब्राह्मण रूप में उसके प्रति सम्मान व्यक्त किया।

तात्पर्य : अश्वत्थामा की भर्त्सना स्वयं भगवान् कर चुके थे और अर्जुन ने उसके साथ ब्राह्मण या गुरु पुत्र के समान नहीं, अपितु अपराधी जैसा बर्ताव किया था। लेकिन जब उसे श्रीमती द्रौपदी के समक्ष लाया गया, तो अपने पुत्रों की हत्या से यद्यपि वह संतप्त थी और हत्यारा उसके समक्ष था, किन्तु वह ब्राह्मण या ब्राह्मण के पुत्र को सामान्य रूप से दिये जाने वाले सम्मान से उसे वंचित नहीं कर सकी। यह द्रौपदी के मृदुल नारी-स्वभाव के कारण था। स्त्री-जाति बालकों के समान होती है, अत: उसमें पुरुष की तरह भेदाभेद शक्ति नहीं होती। अश्वत्थामा ने अपने आपको द्रोणाचार्य या ब्राह्मण के पुत्र रूप में अयोग्य सिद्ध कर दिया था और इस कारण से भगवान् कृष्ण-जैसे सर्वश्रेष्ठ प्रामाणिक प्राधिकारी ने उसकी भर्त्सना की थी, लेकिन एक मृदु स्त्री ब्राह्मण के प्रति अपने स्वाभाविक सौजन्य को नहीं त्याग पाई।

आज भी हिन्दू परिवार में नारियाँ ब्राह्मण के प्रति समुचित आदर प्रदर्शित करती हैं, चाहे वह कितना ही पतित और नृंशस *ब्रह्म-बन्धु* क्यों न हो। लेकिन अब पुरुष वर्ग ऐसे *ब्रह्म-बन्धु* के प्रति विरोध करने लगे हैं, जो उत्तम ब्राह्मण कुलों में उत्पन्न तो होते हैं, लेकिन जिनके कार्य शूद्रों से भी घटकर होते हैं।

इस श्लोक में एक विशिष्ट शब्द *वाम-स्वभावा* प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ है, ''स्वभाव से मृदु तथा भद्र।'' भद्र पुरुष या स्त्री कोई भी बात सरलता से स्वीकार कर लेते हैं, लेकिन औसत बुद्धि का पुरुष ऐसा नहीं करपाता। लेकिन हमें भद्र बनने के उद्देश्य से अपनी तर्क तथा विवेक शक्ति नहीं खो देनी चाहिए। मनुष्य में किसी भी बात का उसके गुणों के अनुसार निर्णय करने के लिए अच्छी विवेक शक्ति होनी चाहिए। हमें मृदु स्त्री स्वभाव का अनुकरण नहीं करना चाहिए और इस तरह जो प्रामाणिक (असली) नहीं है, उसे स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए। भले ही उत्तम स्वभाव की स्त्री अश्वत्थामा का सम्मान करे, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह सच्चे ब्राह्मण जैसा उत्तम है।

उवाच चासहन्त्यस्य बन्धनानयनं सती ।
मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

उवाच—कहा; च—तथा; असहन्ती—उसके लिए असह्य होने के कारण; अस्य—उसका; बन्धन—बाँधा जाना; आनयनम्—उसका लाया जाना; सती—परायणा, भक्त; मुच्यताम् मुच्यताम्—इसे छोड़ दो; एषः—यह; ब्राह्मणः—ब्राह्मण; नितराम्—हमारा; गुरुः—गुरु।

वह अश्वत्थामा का इस प्रकार रस्सियों से बाँधा जाना सह न सकी और भगवद्परायण स्त्री होने के कारण उसने कहा ''इसे छोड़ दो, क्योंकि यह ब्राह्मण है, हमारा गुरु है।''

तात्पर्य : ज्योंही अश्वत्थामा को द्रौपदी के समक्ष लाया गया तो उसे यह असह्य लगा कि एक ब्राह्मण को अपराधी की भाँति बन्दी बनाकर उस अवस्था में उसके समक्ष लाया जाए, विशेष रूप से तब, जबकि वह ब्राह्मण उनके गुरु का पुत्र था।

अर्जुन ने यह भलीभाँति जानते हुए अश्वत्थामा को बन्दी बनाया था कि वह द्रोणाचार्य का पुत्र है। कृष्ण भी यह जानते थे, किन्तु उन दोनों ने इस पर विचार न करते हुए कि वह ब्राह्मण-पुत्र है, उस हत्यारे की भर्त्सना की। प्रामाणिक शास्त्रों के अनुसार, यदि शिक्षक या गुरु अपने पद की प्रतिष्ठा को बनाए नहीं रख पाता, तो वह गुरु बने रहने के अयोग्य है और उसका तिरस्कार किया जाना चाहिए। गुरु को आचार्य भी कहते हैं, अर्थात् वह ऐसा व्यक्ति होता है जिसने समस्त शास्त्रों के सार को आत्मसात् कर लिया है और अपने शिष्यों को भी उसका अनुसरण करना सिखाता है। अश्वत्थामा ब्राह्मण या गुरु का कर्तव्य-निर्वाह करने में असफल रहा, अतएव ब्राह्मण के उच्च पद से उसका तिरस्कार होना था। इस दृष्टि से भगवान् कृष्ण तथा अर्जुन दोनों द्वारा अश्वत्थामा की भर्त्सना उचित थी। लेकिन द्रौपदी जैसी उत्तम स्त्री के लिए, यह विषय शास्त्रीय न होकर प्रथा का प्रश्न था। प्रथानुसार अश्वत्थामा को उसके पिता जैसा सम्मान प्रदान किया जाना था। इसका कारण यह है कि लोग भावनावश ब्राह्मण के पुत्र को भी असली ब्राह्मण स्वीकार कर लेते हैं। लेकिन वास्तविकता इससे भिन्न होती है। ब्राह्मण का सम्मान उसकी योग्यता के कारण होता है, केवल ब्राह्मण पुत्र होने से नहीं।

लेकिन इस सबके बावजूद, द्रौपदी ने इच्छा व्यक्त की कि अश्वत्थामा को तुरन्त मुक्त कर दिया जाय और यह उसकी सद्भावना ही कही जाएगी। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवद्भक्त को स्वयं कितने ही कष्ट क्यों न सहने पड़ें, फिर भी वह अन्यों के प्रति, यहाँ तक कि शत्रु के प्रति भी, कठोर नहीं होता। ये लक्षण हैं भगवान् के शुद्ध भक्त के।

सरहस्यो धनुर्वेदः सविसर्गोपसंयमः ।
अस्त्रग्रामश्च भवता शिक्षितो यदनुग्रहात् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

स-रहस्यः—गोपनीय; धनुः-वेदः—धनुष-बाण चलाने की विद्या; स-विसर्ग—छोड़ते हुए; उपसंयमः—वश में करते हुए; अस्त्र—हथियार; ग्रामः—सभी प्रकार के; च—तथा; भवता—अपने से; शिक्षितः—विद्वान; यत्—जिसकी; अनुग्रहात्—कृपा से।.

यह द्रोणाचार्य की कृपा थी कि आपने धनुष बाण चलाने की विद्या तथा अस्त्रों को वश में करने की गुप्त कला सीखी।

तात्पर्य : धनुर्वेद या सैन्य विज्ञान की शिक्षा द्रोणाचार्य द्वारा दी जाती थी, जिसमें वैदिक मन्त्रों द्वारा शस्त्रास्त्रों को चलाने तथा रोकने के रहस्य सम्मिलित होते थे। स्थूल सैन्य विज्ञान भौतिक अस्त्रों पर आश्रित है, लेकिन इस कला से भी सूक्ष्म कला है वैदिक मन्त्रों से सिक्त बाणों को चलाना, जो मशीनगनों या परमाणु बमों जैसे स्थूल भौतिक शस्त्रों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होते हैं। यह नियन्त्रण वैदिक मन्त्रों या ध्वनि के दिव्य विज्ञापन द्वारा किया जाता है। *रामायण* में कहा गया है कि भगवान् श्रीराम के पिता महाराज दशरथ केवल ध्वनि से बाणों का नियंत्रण करते थे। वे केवल ध्वनि सुनकर वस्तु को देखे बिना लक्ष्य को भेद सकते थे। अतएव यह आजकल प्रयुक्त होने वाले स्थूल भौतिक सैन्य हथियारों से कहीं सूक्ष्म सैन्य विज्ञान है। अर्जुन को इसकी शिक्षा दी गई थी, अतएव द्रौपदी चाहती थी कि अर्जुन इन सारे लाभों के लिए द्रोणाचार्य के प्रति कृतज्ञता प्रकट करे। द्रोणाचार्य की अनुपस्थिति में उनका पुत्र ही उनका प्रतिनिधि था। यह उस कुलीन नारी द्रौपदी का अभिमत था। यह तर्क किया जा सकता है कि द्रोणाचार्य जैसे कट्टर ब्राह्मण को सैन्य विज्ञान के शिक्षक क्यों बनाये गये थे? इसका उत्तर यह है कि ब्राह्मण को

शिक्षक बनना चाहिए, चाहे वह विद्या के किसी भी विभाग को क्यों न जानता या सिखाता हो। विद्वान ब्राह्मण को शिक्षक, धर्मोपदेशक तथा दान का पात्र बनना चाहिए। प्रामाणिक ब्राह्मण ऐसे पेशे (व्यवसाय) ग्रहण करने के लिए अधिकृत हैं।

स एष भगवान्द्रोण: प्रजारूपेण वर्तते ।
तस्यात्मनोऽर्धं पत्न्यास्ते नान्वगाद्वीरसू: कृपी ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—निश्चय ही; भगवान्—स्वामी; द्रोणः—द्रोणाचार्य; प्रजा-रूपेण—अपने पुत्र अश्वत्थामा के रूप में; वर्तते—उपस्थित हैं; तस्य—उनके; आत्मनः—शरीर का; अर्धम्—आधा; पत्नी—पत्नी; आस्ते—जीवित है; न—नहीं; अन्वगात्—अनुगमन किया; वीरसूः—पुत्र वाली, पुत्रवती; कृपी—कृपाचार्य की बहन।

अपने पुत्र द्वारा प्रतिनिधित्व किये जाने के कारण वे (द्रोणाचार्य) अब भी निश्चित रूप से विद्यमान हैं। उनकी पत्नी कृपी सती नहीं हुईं, क्योंकि वे पुत्रवती थीं।

तात्पर्य : द्रोणाचार्य की पत्नी कृपी कृपाचार्य की बहन थीं। शास्त्रों के अनुसार पतिपरायणा स्त्री, अर्धांगिनी होती है और यदि वह नि:सन्तान हो, तो अपने पति के साथ स्वेच्छा से मृत्यु का वरण कर सकती है। लेकिन द्रोणाचार्य की पत्नी को ऐसा नहीं करना पड़ा, क्योंकि उसके पुत्र था जो उसके पति का प्रतिनिधि था। पुत्रवती विधवा नाम के लिए विधवा होती है। अतएव हर तरह से अश्वत्थामा द्रोणाचार्य का प्रतिनिधि था अतएव अश्वत्थामा का वध करने का अर्थ था,मानो द्रोणाचार्य का वध। अश्वत्थामा के वध न करने के लिए द्रौपदी का यही तर्क था।

तद् धर्मज्ञ महाभाग भवद्भिर्गौरवं कुलम् ।
वृजिनं नार्हति प्राप्तुं पूज्यं वन्द्यमभीक्ष्णश: ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतएव; धर्म-ज्ञ—धर्म का ज्ञाता; महा-भाग—अत्यन्त भाग्यशाली; भवद्भिः—आपके द्वारा; गौरवम्—गौरवान्वित; कुलम्—कुल; वृजिनम्—पीड़ादायक; न—नहीं; अर्हति—योग्य है; प्राप्तुम्—पाने के लिए; पूज्यम्—पूज्य; वन्द्यम्—वन्दनीय; अभीक्ष्णशः—निरन्तर।

हे धर्म के ज्ञाता परम भाग्यशाली, यह आपको शोभा नहीं देता कि आप सदा से पूज्य तथा वन्दनीय, गौरवशाली परिवार के सदस्यों के शोक का कारण बनें।

तात्पर्य : किसी सम्मानित परिवार के प्रति लेशमात्र अपमान दुख उत्पन्न करने वाला होता है। अतः सुसंस्कृत मनुष्य को चाहिए कि ऐसे पूज्य कुल के सदस्यों के प्रति सोच-समझ कर व्यवहार करे।

मा रोदीदस्य जननी गौतमी पतिदेवता ।
यथाहं मृतवत्सार्ता रोदिम्यश्रुमुखी मुहुः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

मा—नहीं; रोदीत्—रोए; अस्य—इसकी; जननी—माता; गौतमी—द्रोण-पत्नी; पति-देवता—पतिव्रता; यथा—जैसा कि; अहम्—मैं; मृत-वत्सा—जिसका पुत्र मर चुका है; आर्ता—दुखी; रोदिमि—रोती हुई; अश्रु-मुखी—आँखों में अश्रु भरे; मुहुः—निरन्तर।

हे स्वामी, द्रोणाचार्य की पत्नी को मेरे समान मत रुलाओ। मैं अपने पुत्रों की मृत्यु के लिए संतप्त हूँ। कहीं उसे भी मेरे समान निरन्तर रोना न पड़े।

तात्पर्य : करुणामयी उत्तम नारी होने के कारण श्रीमती द्रौपदी माता की अनुभूतियों और द्रोणाचार्य की पत्नी जीवित होने से उनका पूज्य पद होने की दृष्टि से नहीं चाह रही थी कि द्रोणाचार्य की पत्नी भी उन्हीं की तरह संतति विहीन हों।

यैः कोपितं ब्रह्मकुलं राजन्यैरजितात्मभिः ।
तत् कुलं प्रदहत्याशु सानुबन्धं शुचार्पितम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

यैः—जिनके द्वारा; कोपितम्—क्रुद्ध; ब्रह्म-कुलम्—ब्राह्मणों का कुल; राजन्यैः—राजा कुल से; अजित—निरंकुश; आत्मभिः—अपने से; तत्—उस; कुलम्—कुल को; प्रदहति—जला देती है; आशु—तुरन्त; स-अनुबन्धम्—कुटुम्बियों समेत; शुचा-अर्पितम्—कष्ट पाने पर।

यदि इन्द्रियतृप्ति में निरकुंश बनकर राजकुल ब्राह्मण कुल को अपमानित और कुपित करता है, तो वह क्रोध की अग्नि समस्त राजकुल को जला देती है और सबों को दुख देती है।

तात्पर्य : समाज का ब्राह्मण-वर्ग, अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत जाति या समुदाय तथा ऐसे उच्चकुलों के सदस्य सदा ही अन्य आश्रित वर्णों द्वारा, यथा राजन्य, वणिक वर्ग तथा श्रमिकों द्वारा सम्मानित होता था।

सूत उवाच
धर्म्यं न्याय्यं सकरुणं निर्व्यलीकं समं महत् ।
राजा धर्मसुतो राज्ञ्याः प्रत्यनन्दद्वचो द्विजाः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; धर्म्यम्—धर्म के नियमों के अनुसार; न्याय्यम्—न्याय; स-करुणम्—करुणा से पूर्ण; निर्व्यलीकम्—धर्म में द्वैत के बिना; समम्—समता; महत्—गौरवशाली; राजा—राजा; धर्म-सुतः—पुत्र; राज्ञ्याः—महारानी द्वारा; प्रत्यनन्दत्—अनुमोदित; वचः—कथन; द्विजाः—हे ब्राह्मणो।

सूत गोस्वामी ने कहा : हे ब्राह्मणो, राजा युधिष्ठिर ने रानी के वचनों का पूर्ण अनुमोदन किया, क्योंकि वे धर्म के नियमों के अनुसार न्यायोचित, गौरवशाली, दया तथा समता से पूर्ण एवं निष्कपट थे।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर जो धर्मराज या यमराज के पुत्र थे, उन्होंने महारानी द्रौपदी के इन वचनों का अनुमोदन किया कि अर्जुन अश्वत्थामा को मुक्त कर दे। मनुष्य को चाहिए कि उच्च कुल के सदस्य की अवमानना को सहन न करे। अर्जुन तथा उसका परिवार द्रोणाचार्य के कुल के प्रति कृतज्ञ थे, क्योंकि अर्जुन ने उनसे धनुर्विद्या सीखी थी। यदि ऐसे उदार परिवार के प्रति कृतघ्नता प्रदर्शित की जाय, तो नैतिक दृष्टि से यह उचित न होगा। द्रोणाचार्य की अर्धांगिनी के साथ अनुकंपापूर्वक व्यवहार किया जाना चाहिए था, जिससे वह अपने पुत्र की मृत्यु के कारण दुखी न हो। यही अनुकंपा है। द्रौपदी के ये वचन बिना किसी कपट के हैं, क्योंकि पूरी तरह जानकर ही कोई कदम उठाना चाहिए। इसमें समता का भाव था, क्योंकि द्रौपदी ने निजी अनुभव के आधार पर यह कहा था। कोई बाँझ स्त्री कभी माता की पीड़ा नहीं समझ सकती। द्रौपदी स्वयं माता थी, अतएव कृपी की शोक-वेदना का उसका अनुमान सही था। यह उसके गौरव के अनुकूल भी था, क्योंकि वह उस उच्च कुल के प्रति समुचित सम्मान प्रदर्शित करना चाहती थी।

नकुलः सहदेवश्च युयुधानो धनञ्जयः ।
भगवान् देवकीपुत्रो ये चान्ये याश्च योषितः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

नकुलः—नकुल; सहदेवः—सहदेव; च—तथा; युयुधानः—सात्यकि; धनञ्जयः—अर्जुन; भगवान्—भगवान्; देवकी-पुत्रः—देवकी पुत्र, भगवान् श्रीकृष्ण; ये—जो; च—तथा; अन्ये—अन्य; याः—वे; च—तथा; योषितः—स्त्रियाँ।

नकुल तथा सहदेव (राजा के छोटे भाई) तथा सात्यकि, अर्जुन, देवकीपुत्र भगवान् श्रीकृष्ण तथा स्त्रियों एवं अन्यों ने एक स्वर से राजा से सहमति व्यक्त की।

तत्राहामर्षितो भीमस्तस्य श्रेयान् वधः स्मृतः ।
न भर्तुर्नात्मनश्चार्थे योऽहन् सुप्तान् शिशून् वृथा ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

तत्र—तत्पश्चात्; आह—कहा; अमर्षितः—क्रुद्ध स्वर में; भीमः—भीम ने; तस्य—उसका; श्रेयान्—परम कल्याण; वधः—वध; स्मृतः—अंकित; न—नहीं; भर्तुः—स्वामी का; न—न तो; आत्मनः—अपने आपका; च—तथा; अर्थे—के लिए; यः—जो; अहन्—मारा; सुप्तान्—सोते हुए; शिशून्—बालकों को; वृथा—व्यर्थ ही।

लेकिन भीम जो क्रुद्ध मनोदशा में था, उनसे सहमत नहीं हुआ और उसने उस दोषी के वध किये जाने की संस्तुति की, जिसने व्यर्थ ही सोते हुए बालकों की हत्या कर दी थी जिसमें न तो उसका अपना, न ही उसके स्वामी का हित था।

निशम्य भीमगदितं द्रौपद्याश्च चतुर्भुजः ।
आलोक्य वदनं सख्युरिदमाह हसन्निव ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनते ही; भीम—भीम द्वारा; गदितम्—कहा गया; द्रौपद्याः—द्रौपदी का; च—तथा; चतुः-भुजः—चार भुजाओं वाले (भगवान्) ने; आलोक्य—देखकर; वदनम्—मुख; सख्युः—अपने मित्र का; इदम्—यह; आह—कहा; हसन्—हँसते हुए; इव—मानो।

भीम, द्रौपदी तथा अन्यों के वचन सुनकर, चतुर्भुज भगवान् ने अपने प्रिय सखा अर्जुन के मुँह की ओर देखा और मानो मुस्कुरा रहे हों, बोलना प्रारम्भ किया।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण के दो भुजाएँ थीं, किन्तु उन्हें चतुर्भुज क्यों कहा गया है, इसकी व्याख्या श्रीधर स्वामी ने की है। अश्वत्थामा के वध के सम्बन्ध में भीम तथा द्रौपदी दोनों के मत भिन्न-भिन्न थे। भीम उसे तुरन्त मार देना चाहता था, लेकिन द्रौपदी उसे बचाना चाहती थी। हम इस बात की कल्पना कर सकते हैं कि भीम मारने के लिए तैयार है, किन्तु द्रौपदी उसे रोक रही है। अतएव इन दोनों को रोकने के लिए, भगवान् ने दो और भुजाएँ निकाल लीं। मूलतः आदि भगवान् श्रीकृष्ण दो भुजाएँ प्रदर्शित करते हैं, लेकिन उनके नारायण रूप में वे चार भुजाएँ प्रदर्शित करते हैं। वे अपने नारायण रूप में अपने भक्तों के साथ वैकुण्ठलोक में रहते हैं, जबकि अपने मूल श्रीकृष्ण रूप में वे कृष्णलोक में निवास करते हैं जो आध्यात्मिक आकाश में वैकुण्ठलोक से बहुत ऊपर है। अतः यदि श्रीकृष्ण को चतुर्भुज कहा गया है तो इसमें कोई विरोधाभास नहीं है। यदि आवश्यकता पड़े तो वे सैकड़ों भुजाओं वाले बन सकते हैं, जैसाकि उन्होंने अर्जुन को अपने विश्वरूप में दिखलाया था। अतएव जो सैकड़ों, हजारों भुजाएँ प्रदर्शित कर सकते हैं, वे आवश्यकता पड़ने पर चार भुजाएँ भी प्रदर्शित कर सकते हैं।

अर्जुन जब असमंजस में था कि अश्वत्थामा का क्या किया जाय तो अर्जुन के परम प्रिय मित्र श्रीकृष्ण ने इस समस्या का हल ढूँढ निकालने का भार अपने ऊपर ले लिया और वे मुस्कुरा भी रहे थे।

श्रीभगवानुवाच
ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्य आततायी वधार्हणः ।
मयैवोभयमाम्नातं परिपाह्यनुशासनम् ॥ ५३ ॥
कुरु प्रतिश्रुतं सत्यं यत्तत्सान्त्वयता प्रियाम् ।
प्रियं च भीमसेनस्य पाञ्चाल्या मह्यमेव च ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; ब्रह्म-बन्धुः—ब्राह्मण का सम्बन्धी; न—नहीं; हन्तव्यः—वध करने योग्य; आततायी—आततायी, आक्रामक; वध-अर्हणः—वध करने योग्य है; मया—मेरे द्वारा; एव—निश्चय ही; उभयम्—दोनों; आम्नातम्—शास्त्र के आदेशानुसार; परिपाहि—पालन करो; अनुशासनम्—आदेश; कुरु—पालन करो; प्रतिश्रुतम्—जैसाकि प्रतिज्ञा की गई है; सत्यम्—सत्य; यत् तत्—वह जो; सान्त्वयता—सान्त्वना देते हुए; प्रियाम्—प्रिय

पत्नी को; प्रियम्—तुष्टि; च—तथा; भीमसेनस्य—श्रीभीमसेन की; पाञ्चाल्याः—द्रौपदी की; मह्यम्—मेरी भी; एव—निश्चय ही; च—तथा।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा : किसी ब्रह्मबन्धु का वध नहीं करना चाहिए, किन्तु यदि वह आततायी हो, तो उसे अवश्य मारना चाहिए। ये सारे आदेश शास्त्रों में हैं और तुम्हें इन्हीं के अनुसार कार्य करना चाहिए। तुम्हें अपनी पत्नी को दिये गये वचन भी पूरे करने हैं और तुम्हें भीमसेन तथा मेरी तुष्टि के लिए भी कार्य करना है।

तात्पर्य : अर्जुन असमंजस में था, क्योंकि विभिन्न शास्त्रों में से विभिन्न व्यक्तियों द्वारा दिये गये प्रमाण के अनुसार अश्वत्थामा का वध होना था और उसे जीवनदान भी मिलना था। *ब्रह्मबन्धु* या ब्राह्मण के निकम्मे पुत्र के रूप में अश्वत्थामा वध्य नहीं था, किन्तु साथ ही वह आततायी भी था। मनु द्वारा निर्दिष्ट मत के अनुसार आततायी, यद्यपि वह ब्राह्मण ही क्यों न हो, (ब्राह्मण के अयोग्य पुत्र का क्या कहना) वध्य होता है। द्रोणाचार्य निस्सन्देह असली ब्राह्मण थे, लेकिन वे युद्धभूमि में डटे थे, इसलिए मारे गये। पर अश्वत्थामा आततायी होकर भी बिना किसी अस्त्र के खड़ा था। नियम इस तरह है कि यदि आततायी अस्त्ररहित या रथविहीन हो, तो उसका वध नहीं किया जाना चाहिए। निश्चित रूप से ये सब अर्जुन की उलझनें थीं। इनके अतिरिक्त, अर्जुन को अपने उस वचन का पालन करना था, जिसे उसने द्रौपदी को सान्त्वना देते हुए दिया था। और उसे भीम तथा कृष्ण को भी सन्तुष्ट करना था, जिन्होंने अश्वत्थामा के वध की सलाह दी थी। यह दुविधा थी अर्जुन के समक्ष और इसका समाधान निकाला कृष्ण ने।

सूत उवाच
अर्जुनः सहसाज्ञाय हरेर्हार्दमथासिना ।
मणिं जहार मूर्धन्यं द्विजस्य सहमूर्धजम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; अर्जुनः—अर्जुन ने; सहसा—ठीक उसी समय; आज्ञाय—जानते हुए; हरेः—भगवान् के; हार्दम्—अभीष्ट; अथ—इस प्रकार; असिना—तलवार से; मणिम्—मणि को; जहार—विलग कर दिया; मूर्धन्यम्—सिर पर; द्विजस्य—द्विज के; सह—सहित; मूर्धजम्—बालों के।

उसी समय अर्जुन भगवान् की अनेकाधिक आज्ञा का प्रयोजन समझ गया और इस तरह उसने अपनी तलवार से अश्वत्थामा के सिर से केश तथा मणि दोनों पृथक् कर दिये।

तात्पर्य : विभिन्न व्यक्तियों के परस्पर विरोधी आदेशों का पालन करना असम्भव होता है। अतएव अर्जुन ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से मध्यम मार्ग खोज निकाला और उसने अश्वत्थामा के सिर से मणि पृथक् कर दी। यह उसका सिर काटने जैसा ही था, फिर भी व्यावहारिक रूप से उसकी जान बची रही। यहाँ पर अश्वत्थामा को *द्विज* कहा गया है। निस्सन्देह, वह *द्विज* था, लेकिन वह अपने पद से गिर चुका था, इसलिए उसे उचित ही दण्ड मिला।

विमुच्य रशनाबद्धं बालहत्याहतप्रभम् ।
तेजसा मणिना हीनं शिबिरान्निरयापयत् ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

विमुच्य—उसे छोड़ देने पर; रशना-बद्धम्—रस्सियों के बन्धन से; बाल-हत्या—बालकों के वध से; हत-प्रभम्—शारीरिक कान्ति का क्षय; तेजसा—शक्ति से; मणिना—मणि से; हीनम्—रहित; शिबिरात्—शिविर से; निरयापयत्—निकाल भगाया।

बालहत्या के कारण वह (अश्वत्थामा) पहले ही अपनी शारीरिक कान्ति खो चुका था और अब, अपनी शीर्ष मणि खोकर, वह शक्ति से भी हीन हो गया। इस प्रकार उसकी रस्सियाँ खोल कर उसे शिविर से बाहर भगा दिया गया।

तात्पर्य : इस प्रकार भगवान् कृष्ण तथा अर्जुन की बुद्धि के कारण अपमानित अश्वत्थामा, एक ही साथ, मारा भी गया और नहीं भी मारा गया।

वपनं द्रविणादानं स्थानान्निर्यापणं तथा ।
एष हि ब्रह्मबन्धूनां वधो नान्योऽस्ति दैहिकः ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

वपनम्—सिर से बालों को मुँड़ा कर; द्रविण—धन; अदानम्—छीना गया; स्थानात्—घर से; निर्यापणम्—भगाया गया; तथा—भी; एषः—ये सब; हि—निश्चय ही; ब्रह्म-बन्धूनाम्—ब्राह्मण के सम्बन्धियों का; वधः—वध, हत्या; न—नहीं; अन्यः—अन्य कोई विधि; अस्ति—है; दैहिकः—शरीर के विषय में।

उसके सिर के बाल मूँड़ना, उसे संपदाहीन करना तथा उसे घर से भगा देना—ये हैं ब्रह्मबन्धु के लिए निश्चित दंड। शारीरिक वध करने का कोई विधान नहीं है।

पुत्रशोकातुरा: सर्वे पाण्डवा: सह कृष्णया ।
स्वानां मृतानां यत्कृत्यं चक्रुर्निर्हरणादिकम् ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

पुत्र—पुत्रों के; शोक—शोक से; आतुरा:—अभिभूत; सर्वे—वे सभी; पाण्डवा:—पाण्डु के पुत्र; सह—सहित; कृष्णया—द्रौपदी; स्वानाम्—परिजनों के; मृतानाम्—मृत; यत्—जो; कृत्यम्—करणीय; चक्रु:—सम्पन्न किया; निर्हरण-आदिकम्—जो कुछ किया जा सकता था।

तत्पश्चात् शोकाभिभूत पाण्डु-पुत्रों तथा द्रौपदी ने अपने स्वजनों के मृत शरीरों (शवों) का समुचित दाह-संस्कार किया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के अन्तर्गत "द्रोण-पुत्र को दण्ड" नामक सातवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter आठ अध्याय

महारानी कुन्ती द्वारा प्रार्थना तथा परीक्षित की रक्षा

सूत उवाच
अथ ते सम्परेतानां स्वानामुदकमिच्छताम् ।
दातुं सकृष्णा गङ्गायां पुरस्कृत्य ययुः स्त्रियः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत ने कहा; अथ—इस प्रकार; ते—पाण्डवजन; सम्परेतानाम्—मृतकों का; स्वानाम्—स्वजनों का; उदकम्—जल; इच्छताम्—पाने की इच्छा से; दातुम्—देने के लिए; स-कृष्णाः—द्रौपदी के सहित; गङ्गायाम्—गंगा के तट पर; पुरस्कृत्य—आगे करके; ययुः—गईं; स्त्रियः—स्त्रियाँ।

सूत गोस्वामी ने कहा : तत्पश्चात्, पाण्डवगण अपने मृत परिजनों की इच्छानुसार उन्हें जल-दान देने हेतु द्रौपदी सहित गंगा के तट पर गये। स्त्रियाँ आगे-आगे चल रही थीं।

तात्पर्य : आज तक हिन्दू-समाज में यह प्रथा चल रही है कि जब किसी परिवार में कोई व्यक्ति का निधन होता है, तो लोग गंगा नदी में या किसी अन्य पवित्र नदी में स्नान करते हैं। परिवार का प्रत्येक सदस्य दिवंगत आत्मा को एक लोटा गंगाजल अर्पण करता है और स्त्रियों को आगे करके सभी लोग एक जुलूस में चलते हैं। पांडवों ने भी पाँच हजार वर्ष पूर्व इन्हीं नियमों का पालन किया था। पाण्डवों के ममेरे भाई होने के कारण भी भगवान् कृष्ण पारिवारिक सदस्यों में से एक थे।

ते निनीयोदकं सर्वे विलप्य च भृशं पुनः ।
आप्लुता हरिपादाब्जरजःपूतसरिज्जले ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ते—वे सब; निनीय—अर्पित करके; उदकम्—जल; सर्वे—सभी; विलप्य—विलाप करके; च—तथा; भृशम्—पर्याप्त; पुनः—फिर; आप्लुताः—स्नान किया; हरि-पादाब्ज—भगवान् के चरणकमल की; रजः—धूलि से; पूत—पवित्र; सरित्—गंगा नदी के; जले—जल में।

उनके लिए शोक कर चुकने तथा पर्याप्त गंगाजल अर्पित कर चुकने के बाद उन सबों ने गंगा में स्नान किया, जिसका जल भगवान् के चरणकमलों की धूलि मिल जाने के कारण पवित्र हो गया है।

तत्रासीनं कुरुपतिं धृतराष्ट्रं सहानुजम् ।
गान्धारीं पुत्रशोकार्तां पृथां कृष्णां च माधवः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; आसीनम्—बैठे हुए; कुरु-पतिम्—कुरुओं के राजा; धृतराष्ट्रम्—धृतराष्ट्र को; सह-अनुजम्—अपने भाइयों सहित; गान्धारीम्—गांधारी को; पुत्र—बेटे के; शोक-अर्ताम्—शोक से पीड़ित; पृथाम्—कुन्ती को; कृष्णाम्—द्रौपदी को; च—भी; माधवः—भगवान् श्रीकृष्ण ने।

वहीं कुरुवंशियों के राजा महाराज युधिष्ठिर अपने छोटे भाइयों, धृतराष्ट्र, गांधारी, कुन्ती तथा द्रौपदी सहित बैठ गये। वे सभी शोक से अत्यधिक पीड़ित थे। भगवान् कृष्ण भी वहाँ थे।

तात्पर्य : चूँकि कुरुक्षेत्र का युद्ध पारिवारिक सदस्यों के बीच ही हुआ था, अतएव इससे जो लोग प्रभावित हुए थे, वे सभी पारिवारिक सदस्य ही थे—यथा महाराज युधिष्ठिर तथा उनके भाई, कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा, धृतराष्ट्र, गांधारी तथा उनकी बहुएँ इत्यादि। सारे मृत व्यक्ति किसी-न-किसी प्रकार से नातेदार थे, अतएव पारिवारिक शोक संयुक्त रूप में था। भगवान् कृष्ण भी पाण्डवों के ममेरे भाई थे और कुन्ती के भांजे तथा सुभद्रा के भाई थे। अतएव भगवान् की उन सबों के प्रति समान सहानुभूति थी। इसलिए वे समयानुकूल उन सबों को सान्त्वना देने लगे।

सान्त्वयामास मुनिभिर्हतबन्धूञ्शुचार्पितान् ।
भूतेषु कालस्य गतिं दर्शयन्न प्रतिक्रियाम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

सान्त्वयाम् आस—ढाढस बँधाया; मुनिभिः—वहाँ पर उपस्थित मुनियों समेत; हत-बन्धून्—जिनके मित्र तथा सम्बन्धी मारे गये थे; शुचार्पितान्—सभी को धक्का पहुँचा हुआ; भूतेषु—जीवों पर; कालस्य—सर्वशक्तिमान के परम नियम की; गतिम्—प्रतिक्रिया; दर्शयन्—दिखलाया; न—नहीं; प्रतिक्रियाम्—उपचार।

सर्वशक्तिमान के कठोर नियमों तथा जीवों पर उनकी प्रतिक्रियाओं का दृष्टान्त देते हुए, भगवान् श्रीकृष्ण तथा सारे मुनियों ने समस्त स्तब्ध एवं शोकार्त-जनों को ढाढ़स बँधाया।

तात्पर्य : परमेश्वर के आदेशों के अधीन प्रकृति के कठोर नियम किसी जीव के द्वारा बदले नहीं जा सकते। सारे जीव निरन्तर सर्वशक्तिमान भगवान् के अधीन रहते हैं। भगवान् ही सारे नियम तथा आदेश बनाते हैं, जिन्हें सामान्य रूप से *धर्म* कहते हैं। कोई भी व्यक्ति धार्मिक नियम नहीं बना सकता। भगवान् के आदेशों का पालन करना ही प्रामाणिक धर्म है। भगवान् के ये आदेश *भगवद्गीता* में स्पष्ट रूप से घोषित किये गये हैं। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह केवल उनका या उनके नियमों का अनुसरण करे। इससे वह भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों प्रकार से सुखी हो सकेगा। जब तक हम इस भौतिक जगत में हैं, तब तक हमारा यह कर्तव्य है कि हम भगवान् के आदेशों का पालन करें और यदि भगवत्कृपा से हम इस भौतिक संसार के बन्धन से छूट जाँय, तो भी अपनी मुक्त अवस्था में हम भगवान् की प्रेमामय दिव्य सेवा कर सकते हैं। अपनी भौतिक अवस्था में आध्यात्मिक दृष्टि के अभाव में हम न तो अपने आप को देख पाते हैं, न ही भगवान् को। लेकिन जब हम भौतिक आसक्ति से मुक्त होकर अपने मूल आध्यात्मिक स्वरूप को प्राप्त करते हैं, तो हम अपने आपको तथा भगवान् को साक्षात् देख सकते हैं। अतएव *मुक्ति* का अर्थ है, जीवन की भौतिक अवधारणा को त्याग कर मूल आध्यात्मिक स्थिति को पुनः धारण करना। इस तरह यह मनुष्य-जीवन विषेश रुप से अपने आपको इसी आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के योग्य बनाने के निमित्त है। दुर्भाग्यवश, हम *भ्रामक भौतिक शक्ति* के वश में होकर कुछ वर्षों के इस क्षणिक जीवन को ही स्थायी मान बैठते हैं और इस तरह से *माया* द्वारा उत्पन्न छद्म स्वरूप वाले तथाकथित देश, घर, भूमि, सन्तान, पत्नी, समुदाय, सम्पत्ति आदि के स्वामित्व से भ्रमित हो जाते हैं। इस तरह, हम माया के इशारे पर इस छद्म स्वामित्व की रक्षा के लिए एक दूसरे से लड़ते रहते हैं। आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन द्वारा हम यह अनुभव कर सकते हैं कि हमें इस भौतिक साज-सामान से कुछ भी लेना-देना नहीं है। ऐसा होने पर हम तुरन्त भौतिक आसक्ति से मुक्त हो जाते हैं। इस संसार की भ्रान्तियों का ऐसा स्पष्टीकरण भगवद्भक्तों की संगति

से तुरन्त ही होता है, क्योंकि वे मोहग्रस्त हृदय के भीतर दिव्य ध्वनि को प्रविष्ट कराने में सक्षम होते हैं और इस तरह से मनुष्य को समस्त शोक तथा मोह से मुक्त कराने वाले हैं। संक्षेप में यह उन लोगों के लिए सान्त्वना है, जो जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि आदि के रूप में प्रकट होनेवाले कठोर भौतिक नियमों के फलों से प्रभावित होते हैं। युद्ध से पीड़ित कुरुवंश के सदस्य मृत्यु की समस्या से शोकातुर थे और भगवान् ने उनको ज्ञान के आधार पर ढाढ़स बँधाया।

साधयित्वाजातशत्रोः स्वं राज्यं कितवैर्हृतम् ।
घातयित्वासतो राज्ञः कचस्पर्शक्षतायुषः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

साधयित्वा—सम्पन्न करके; अजात-शत्रोः—जिसके कोई शत्रु न हो, उसका; स्वम् राज्यम्—अपना राज्य; कितवैः—धूर्तों के द्वारा (दुर्योधन तथा उसका दल); हृतम्—छीना गया; घातयित्वा—वध कराकर; असतः—दुष्ट; राज्ञः—रानी के; कच—केशों का गुच्छा; स्पर्श—छूने से; क्षत—घटी हुई; आयुषः—आयु द्वारा।

धूर्त दुर्योधन तथा उसके दल ने छल करके अजातशत्रु युधिष्ठिर का राज्य छीन लिया था। भगवत्कृपा से वह फिर प्राप्त हो गया और जिन दुष्ट राजाओं ने दुर्योधन का साथ दिया था, वे सब भगवान् के द्वारा मार डाले गये। अन्य लोग भी मारे गये, क्योंकि महारानी द्रौपदी के केशों को पकड़कर खींचने से उनकी आयु क्षीण हो चुकी थी।

तात्पर्य : गौरवपूर्ण दिनों में या कलियुग के आगमन के पूर्व ब्राह्मण, गाय, स्त्री, बालक तथा वृद्ध पुरुषों की समुचित रक्षा की जाती थी।

१. ब्राह्मणों की रक्षा से आध्यात्मिक जीवन-प्राप्ति के लिए नितान्त वैज्ञानिक संस्कृति, *वर्णाश्रम*-व्यवस्था का पालन होता है।

२. गायों की रक्षा से भोजन का चमत्कारी रूप अर्थात् जीवन के उच्चादर्शों को समझने के लिए मस्तिष्क के सूक्ष्म तंतुओं को बनाये रखनेवाला दूध मिलता रहता है।

३. स्त्रियों की रक्षा से समाज की शुचिता बनी रहती है, जिससे हमें शान्ति, सुस्थिरता तथा जीवन की उन्नति के लिए अच्छी सन्तति मिलती है।

४. बच्चों की रक्षा से मनुष्य-जीवन को वह सुनहरा अवसर प्राप्त होता है, जिससे भव-बन्धन से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। बालकों की ऐसी रक्षा *उसके जन्म के दिन से ही गर्भाधान-संस्कार* नामक शुद्धिकरण की प्रक्रिया के द्वारा प्रारम्भ हो जाती है।

५. वृद्धों की रक्षा से उन्हें मृत्यु के पश्चात् श्रेष्ठतर जीवन की तैयारी करने का सुअवसर प्राप्त होता है।

यह पूरा दृष्टिकोण ऐसे कारकों पर आधारित है, जिनसे सफल मनुष्यता प्राप्त होती है। इसके विपरीत, सजावटी कुत्तों तथा बिल्लियों की सभ्यता है। उपर्युक्त निर्दोष प्राणियों का वध सर्वथा वर्जित है, क्योंकि यदि उनका अपमान भी किया जाय, तो आयु क्षीण होती है। कलियुग में इन जीवों की समुचित सुरक्षा नहीं हो पाती, अतएव वर्तमान पीढ़ी की आयु काफी घट गई है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जब समुचित सुरक्षा के अभाव में स्त्रियाँ कुलटा हो जाती हैं, तब उनसे अवांछित सन्तान उत्पन्न होती है, जिसे *वर्णसंकर* कहते हैं। सती स्त्री का अपमान करने का अर्थ है, अपनी आयु को खतरे में डालना। दुर्योधन के भाई दुस्शासन ने आदर्श सती नारी द्रौपदी का अपमान किया था, अतएव उन दुष्टों को असमय मरना पड़ा। ये हैं भगवान् के कुछ कठोर नियम, जिनका ऊपर वर्णन हुआ है।

याजयित्वाश्वमेधैस्तं त्रिभिरुत्तमकल्पकैः ।
तद्यशः पावनं दिक्षु शतमन्योरिवातनोत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

याजयित्वा—सम्पन्न करके; अश्वमेधैः—अश्वमेध यज्ञों के द्वारा, जिनमें घोड़े की बलि दी जाती है; तम्—उनको (राजा युधिष्ठिर को); त्रिभिः—तीन; उत्तम—सर्वश्रेष्ठ; कल्पकैः—समुचित सामग्रियों के द्वारा तथा योग्य पुरोहितों द्वारा सम्पन्न; तत्—वह; यशः—ख्याति; पावनम्—यशस्वी; दिक्षु—समस्त दिशाएँ; शत-मन्योः—इन्द्र, जिसने ऐसे एक सौ यज्ञ किये थे; इव—सदृश; अतनोत्—फैल गयी।

भगवान् श्रीकृष्ण ने महाराज युधिष्ठिर से तीन श्रेष्ठ अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न कराये और इस तरह उनकी पवित्र ख्याति सौ यज्ञ करनेवाले इन्द्र की तरह ही सर्व दिशाओं में फैल गई।

तात्पर्य : यह महाराज युधिष्ठिर द्वारा *अश्वमेध* यज्ञ सम्पन्न किये जाने की भूमिका जैसी है। स्वर्ग के राजा इन्द्र के साथ महाराज यधिष्ठिर की तुलना महत्त्वपूर्ण है। स्वर्ग का राजा अपने ऐश्वर्य

में महाराज युधिष्ठिर की अपेक्षा हजारों गुना बढ़कर है, तो भी महाराज यधिष्ठिर की ख्याति कम न थी। इसका कारण यह है कि महाराज युधिष्ठिर भगवान् के शुद्ध भक्त थे और भगवत्कृपा से ही वे स्वर्ग के राजा इन्द्र के तुल्य थे, यद्यपि उन्होंने केवल तीन यज्ञ सम्पन्न किये थे, जबकि स्वर्ग के राजा ने पूरे सौ यज्ञ किये थे। यह भगवद्भक्त का विशेषाधिकार है। भगवान् सबों पर समभाव रखते हैं, लेकिन भगवद्भक्त अधिक महिमावान होता है, क्योंकि वह सदैव महानतम के सम्पर्क में रहता है। सूर्य की किरणें समान रूप से विपरीत होती हैं, तो भी कुछ ऐसे स्थान रह जाते हैं जहाँ सदैव अँधेरा रहता है। यह सूर्य के कारण नहीं है, अपितु ग्राह्यता की कमी के कारण है। इसी प्रकार जो भगवान् के शत–प्रतिशत भक्त हैं, उन्हें भगवान् की पूर्ण कृपा प्राप्त होती है, यद्यपि जो सर्वत्र सदैव समान रूप से वितरित होती है।

आमन्त्र्य पाण्डुपुत्रांश्च शैनेयोद्धवसंयुतः ।
द्वैपायनादिभिर्विप्रैः पूजितैः प्रतिपूजितः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

आमन्त्र्य—विदाई लेकर; पाण्डु-पुत्रान्—पाण्डु के समस्त पुत्रों से; च—भी; शैनेय—सात्यफि; उद्धव—उद्धव; संयुतः—समेत; द्वैपायन-आदिभिः—व्यासदेव जैसे ऋषियों के द्वारा; विप्रैः—ब्राह्मणों के द्वारा; पूजितैः—पूजित होकर; प्रतिपूजितः—भगवान् ने भी समान रूप से आदानप्रदान किया।

फिर भगवान् श्रीकृष्ण ने सात्यकि तथा उद्धव के साथ प्रस्थान के लिए तैयारी की। उन्होंने श्रील व्यासदेव आदि ब्राह्मणों से पूजित होने के बाद पाण्डु-पुत्रों को आमन्त्रित किया। भगवान् ने सभी का समुचित अभिवादन किया।

तात्पर्य : क्षत्रिय होने के कारण श्रीकृष्ण ब्राह्मणों द्वारा पूजनीय नहीं थे, लेकिन वहाँ पर उपस्थित श्रील व्यासदेव आदि सारे ब्राह्मण उन्हें भगवान् के रूप में मानते थे, अतएव इन सबों ने उनकी पूजा की। भगवान् ने इस सामाजिक व्यवस्था के सम्मानार्थ अमिवादन किया कि क्षत्रिय को ब्राह्मणों के आदेशों के प्रति आज्ञाकारी होना चाहिए। यद्यपि श्रीकृष्ण को सदैव सभी ओर से परमेश्वर को मिलनेवाला सम्मान प्राप्त होता रहता था, लेकिन भगवान् कभी भी समाज के चारों

आश्रमों की प्रथाओं से रंच मात्र भी विचलित नहीं होते थे। भगवान् ने प्रयोजनवश इन सामाजिक प्रथाओं को सम्पन्न किया, जिससे भविष्य में अन्य लोग उनका अनुसरण करते रहें।

गन्तुं कृतमतिर्ब्रह्मन् द्वारकां रथमास्थित: ।
उपलेभेऽभिधावन्तीमुत्तरां भयविह्वलाम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

गन्तुम्—जाने के लिये इच्छुक; कृतमतिः—संकल्प करके; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; द्वारकाम्—द्वारका की ओर; रथम्—रथ पर; आस्थितः—आरूढ़; उपलेभे—देखा; अभिधावन्तीम्—तेजी से आती हुई; उत्तराम्—उत्तरा को; भय-विह्वलाम्—भयभीत।

ज्योंही वे द्वारका प्रस्थान् के लिये रथ पर सवार हुए, त्योंही उन्होंने भयभीत उत्तरा को तेजी से उनकी ओर आते हुए देखा।

तात्पर्य : पाण्डव-कुल के सारे सदस्य अपनी रक्षा के लिये भगवान् पर आश्रित थे, अतएव भगवान् समस्त परिस्थितियों में उनकी रक्षा करते थे। वैसे तो, भगवान् सबों की रक्षा करते हैं, किन्तु जो लोग उन पर पूर्णरूपेण निर्भर रहते हैं, वे उनकी विशेष रखवाली करते हैं। पिता अपने नन्हें पुत्र के प्रति विशेष सतर्क रहता है, क्योंकि वह पिता पर पूर्णत: आश्रित होता है।

उत्तरोवाच
पाहि पाहि महायोगिन् देवदेव जगत्पते ।
नान्यं त्वदभयं पश्ये यत्र मृत्यु: परस्परम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

उत्तरा उवाच—उत्तरा ने कहा; पाहि पाहि—रक्षा करें, रक्षा करें; महा-योगिन्—सर्वोच्च योगी; देव-देव—पूज्यों के भी पूज्य; जगत्-पते—हे ब्रह्माण्ड के स्वामी; न—नहीं; अन्यम्—दूसरा; त्वत्—आपके अतिरिक्त; अभयम्—भय से रहित होने का भाव; पश्ये—देखती हूँ; यत्र—जहाँ; मृत्युः—मृत्यु; परस्परम्—द्वैत जगत में।

उत्तरा ने कहा : हे देवाधिदेव, हे ब्रह्माण्ड के स्वामी, आप सबसे महान् योगी हैं। कृपया मेरी रक्षा करें, क्योंकि इस द्वैतपूर्ण जगत में मुझे मृत्यु के पाश से बचानेवाला आपके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है।

तात्पर्य : यह भौतिक जगत द्वैतपूर्ण है, जबकि परम धाम एकरूप है। द्वैतपूर्ण जगत् पदार्थ तथा आत्मा से निर्मित है जबकि परम जगत पूर्ण रूप से आत्मा है, जिसमें भौतिक गुणों का लेश भी नहीं पाया जाता। इस द्वैतपूर्ण जगत में प्रत्येक व्यक्ति झूठे ही जगत का स्वामी बनने का प्रयास करता है, जबकि परम जगत में भगवान् ही परम प्रधान हैं और अन्य सभी उनके अनन्य सेवक हैं। द्वैतपूर्ण जगत में प्रत्येक व्यक्ति अन्य सबों से *ईर्ष्या* करता है और पदार्थ तथा आत्मा के द्वैत अस्तित्व के कारण मृत्यु अपरिहार्य है। शरणागत जीव के लिये भगवान् ही एकमात्र अभयदाता हैं। भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण किये बिना कोई भी इस भौतिक जगत में अपने आप को मृत्यु के क्रूर पंजे से नहीं बचा सकता।

अभिद्रवति मामीश शरस्तप्तायसो विभो ।
कामं दहतु मां नाथ मा मे गर्भो निपात्यताम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अभिद्रवति—ओर आता हुआ; माम्—मेरी; ईश—हे प्रभु; शरः—बाण; तप्त—अग्नितुल्य; अयसः—लोह; विभो—हे महान्; कामम्—इच्छा; दहतु—जला दे; माम्—मुझको; नाथ—हे रक्षक; मा—मत; मे—मेरा; गर्भः—गर्भ; निपात्यताम्—गर्भपात हो।

हे प्रभु, आप सर्वशक्तिमान हैं। एक दहकता हुआ लोहे का बाण मेरी ओर तेजी से आ रहा है। मेरे प्रभु, यदि आपकी इच्छा हो तो यह मुझे भले ही जला दे, लेकिन यह मेरे गर्भ को जलाकर गर्भपात न करे। हे प्रभु, कृपया मेरे पर इतना अनुग्रह करें।

तात्पर्य : यह घटना उत्तरा के पति, अभिमन्यु की मृत्यु के बाद की है। अभिमन्यु की विधवा पत्नी उत्तरा अपने पति का अनुसरण करती, लेकिन वह गर्भिणी थी और परम भगवद्भक्त महाराज परीक्षित उसके गर्भ में थे, अतएव उनकी रक्षा करना उसका परम धर्म था। माता के ऊपर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व होता है कि वह शिशु की सभी तरह से रक्षा करे, अतएव भगवान् श्रीकृष्ण के समक्ष अपनी बात कहने में उत्तरा लजायी नहीं। उत्तरा एक महान राजा की पुत्री, एक महान् वीर की पत्नी और एक महान भक्त की शिष्या थी। बाद में वह एक श्रेष्ठ राजा की माँ भी बनी। वह सभी प्रकार से भाग्यशालिनी थी।

सूत उवाच
उपधार्य वचस्तस्या भगवान् भक्तवत्सलः ।
अपाण्डवमिदं कर्तुं द्रौणेरस्त्रमबुध्यत ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; उपधार्य—धैर्यपूर्वक सुनकर; वचः—शब्द; तस्याः—उसके; भगवान्—भगवान् ने; भक्त-वत्सलः—अपने भक्तों के प्रति अत्यन्त प्रेम से युक्त; अपाण्डवम्—पाण्डवों के वंशज के विना; इदम्—यह; कर्तुम्—इसे करने के लिये; द्रौणेः—द्रोणाचार्य के पुत्र का; अस्त्रम्—हथियार; अबुध्यत—समझा।

सूत गोस्वामी ने कहा : उसके वचनों को धीरज के साथ सुनकर, अपने भक्तों के प्रति सदैव अत्यन्त वत्सल रहनेवाले, भगवान् श्रीकृष्ण तुरन्त समझ गये कि द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने पाण्डव-वंश के अन्तिम वंशज को समाप्त करने (निर्बीज करने) के लिये ही ब्रह्मास्त्र छोड़ा है।

तात्पर्य : भगवान् सभी तरह से निष्पक्ष हैं, तो भी वे अपने भक्तों का पक्ष लेते हैं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण के लिये इसकी नितान्त आवश्यकता है। पाण्डव-कुल भक्तकुल था, अतएव भगवान् चाहते थे कि वे विश्व के ऊपर शासन चलाएँ। यही कारण था कि दुर्योधन-दल के शासन को समाप्त करके उन्होंने महाराज युधिष्ठिर का शासन स्थापित किया। इसीलिये वे गर्भ में स्थित महाराज परीक्षित की रक्षा करना चाह रहे थे। वे नहीं चाहते थे कि संसार पाण्डव-कुल से विहीन हो जाय, जो भक्तों का आदर्श कुल था।

तर्ह्येवाथ मुनिश्रेष्ठ पाण्डवाः पञ्च सायकान् ।
आत्मनोऽभिमुखान्दीप्तानालक्ष्यास्त्राण्युपाददुः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तर्हि—तब; एव—भी; अथ—अतएव; मुनि-श्रेष्ठ—हे मुनियों में प्रमुख; पाण्डवाः—पाण्डु के पुत्र; पञ्च—पाँच; सायकान्—हथियार; आत्मनः—स्वयं; अभिमुखान्—की ओर; दीप्तान्—लपलपाते; आलक्ष्य—देखकर; अस्त्राणि—हथियार; उपाददुः—ग्रहण किया।

हे महान् विचारकों (मुनियों) में अग्रणी (शौनक जी), उस दहकते हुए ब्रह्मास्त्र को अपनी ओर आते देखकर पाँचों पाण्डवों ने अपने-अपने पाँचों हथियार सँभाले।

तात्पर्य : ब्रह्मास्त्र परमाणु हथियारों से भी सूक्ष्म होता है। अश्वत्थामा ने महाराज युधिष्ठिर आदि पाँचों पाण्डवों को तथा उत्तरा के गर्भ में स्थित उनके एकमात्र पौत्र को मारने के लिये अपना ब्रह्मास्त्र छोड़ा था। अतएव यह ब्रह्मास्त्र, जो परमाणु हथियार की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली तथा सूक्ष्मतर होता है, परमाणु बमों की भाँति अंधा नहीं था। जब परमाणु बम छोड़े जाते हैं, तो वे लक्ष्य तथा अन्य वस्तुओं में अन्तर नहीं कर पाते। ये बम मुख्य रूप से निर्दोषों को हानि पहुँचाते हैं, क्योंकि इन पर कोई नियंत्रण नहीं होता। लेकिन ब्रह्मास्त्र ऐसा नहीं होता। यह लक्ष्य को पहचानता है और निर्दोष को क्षति पहुँचाये बिना आगे बढ़ता है।

व्यसनं वीक्ष्य तत्तेषामनन्यविषयात्मनाम् ।
सुदर्शनेन स्वास्त्रेण स्वानां रक्षां व्यधाद्विभुः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

व्यसनम्—महान संकट को; वीक्ष्य—देखकर; तत्—उस; तेषाम्—उनका; अनन्य—दूसरा नहीं; विषय—साधन; आत्मनाम्—इस प्रकार प्रवृत्त; सुदर्शनेन—कृष्ण के चक्र द्वारा; स्व-अस्त्रेण—हथियार से; स्वानाम्—अपने भक्तों की; रक्षाम्—सुरक्षा; व्यधात्—की; विभुः—सर्वशक्तिमान ने।

सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण ने यह देखकर कि उनके अनन्य भक्तों पर, जो पूर्ण रूप से उनके शरणागत थे, महान् संकट आनेवाला है, उनकी रक्षा के लिए तुरन्त ही अपना सुदर्शन चक्र उठा लिया।

तात्पर्य : अश्वत्थामा द्वारा छोड़ा गया ब्रह्मास्त्र परमाणु अस्त्र के समान तो था, लेकिन उसमें तेज तथा उष्मा अधिक थी। यह ब्रह्मास्त्र अधिक सूक्ष्म विज्ञान की देन है, जो सूक्ष्म ध्वनि अर्थात् वेदों में अंकित एक मन्त्र का प्रतिफल है। इस अस्त्र का दूसरा गुण यह है कि यह परमाणु बम के समान अन्धा नहीं होता, क्योंकि अन्य किसी पर क्षति के बिना केवल लक्ष्य पर ही इसका संधान किया जा सकता है। अश्वत्थामा ने इसे पाण्डु-कुल के समस्त पुरुष-व्यक्तियों को समाप्त करने के लिए छोड़ा था, अतएव एक तरह से यह परमाणु बमों से अधिक घातक था, क्योंकि यह सर्वाधिक सुरक्षित स्थान में भी प्रवेश कर सकता था और लक्ष्य को कभी नहीं चूकता था। यह सब जानते हुए, भगवान् श्रीकृष्ण ने तुरन्त ही अपने भक्तों की रक्षा करने के लिए अपना निजी

अस्त्र उठा लिया, क्योंकि ये भक्त कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं जानते थे। *भगवद्गीता* में भगवान् ने स्पष्ट रूप से वचन दिया है कि उनके भक्त कभी विनष्ट नहीं होते। वे भक्तों द्वारा की गई भक्तिमय सेवा की मात्रा या गुण के आधार पर कार्यवाही करते हैं। यहाँ पर *अनन्य-विषयात्मनाम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। पाण्डवगण स्वयं महान योद्धा होते हुए भी भगवान् के संरक्षण पर शत-प्रतिशत आश्रित थे। लेकिन भगवान् हैं कि बड़े-से-बड़े योद्धाओं की उपेक्षा करके क्षण भर में उनका विनाश कर देते हैं। जब उन्होंने देखा कि अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र को काटने के लिए पाण्डवों के पास बिल्कुल समय नहीं रह गया, तो उन्होंने अपने ही प्रण को भी तोड़ते हुए, तुरन्त अपना अस्त्र उठा लिया। यद्यपि कुरुक्षेत्र का युद्ध समाप्त-प्राय था, तो भी अपने प्रण के अनुसार, उन्हें अपना अस्त्र नहीं उठाना चाहिए था। लेकिन इस समय तो प्रण की अपेक्षा आपात्काल अधिक महत्त्वपूर्ण था। वे *भक्त-वत्सल* के रूप में अधिक सुविदित हैं, अतएव वे ऐसे सांसारिक आदर्शवादी नहीं बनना चाहते, जो कभी अपना प्रण नहीं तोड़ते, अपितु उन्होंने *भक्त-वत्सल* बने रहना अधिक पसन्द किया।

अन्त:स्थ: सर्वभूतानामात्मा योगेश्वरो हरि: ।
स्वमाययावृणोद्‌गर्भं वैराट्या: कुरुतन्तवे ॥ १४॥

शब्दार्थ

अन्त:स्थ:—अन्तर में रहते हुए; सर्व—समस्त; भूतानाम्—जीवों के; आत्मा—आत्मा; योग-ईश्वर:—समस्त योग के स्वामी; हरि:—परमेश्वर; स्व-मायया—अपनी निजी शक्ति से; आवृणोत्—आच्छादित कर लिया; गर्भम्—भ्रूण को; वैराट्या:—उत्तरा के; कुरु-तन्तवे—महाराज कुरु की वंशवृद्धि के लिए।

परम योगेश्वर श्रीकृष्ण प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में परमात्मा के रूप में निवास करते हैं। अतएव, कुरु-वंश की संतति की रक्षा करने के लिए उन्होंने उत्तरा के गर्भ को अपनी निजी शक्ति से आवृत कर लिया।

तात्पर्य : परम योगी भगवान्, परमात्मा-स्वरूप में अर्थात् अपने पूर्ण अंश के रूप में एक ही समय में प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में अथवा परमाणुओं के भीतर भी निवास कर सकते हैं। अतएव, उन्होंने महाराज परीक्षित को बचाने के लिए तथा महाराज कुरु के वंश की रक्षा करने के लिए

उत्तरा के गर्भ को आच्छादित कर दिया। महाराज पाण्डु भी कुरु के ही वंशज थे। इस प्रकार धृतराष्ट्र तथा पाण्डु दोनों के ही पुत्र महाराज कुरु के वंशज थे, अतएव दोनों ही सामान्य रूप से कुरु कहलाते थे। लेकिन जब इन दोनों परिवारों में मनोमालिन्य हो गया, तो धृतराष्ट्र के पुत्र कुरु कहलाने लगे और पाण्डु के पुत्र पाण्डव कहलाने लगे। चूँकि कुरुक्षेत्र के युद्ध में धृतराष्ट्र के सारे पुत्र तथा पौत्र मारे जा चुके थे, अतएव इस वंश का अन्तिम पुत्र कुरु-पुत्र के नाम से अभिहित किया गया है।

यद्यप्यस्त्रं ब्रह्मशिरस्त्वमोघं चाप्रतिक्रियम् ।
वैष्णवं तेज आसाद्य समशाम्यद् भृगूद्वह ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यद्यपि—यद्यपि; अस्त्रम्—अस्त्र; ब्रह्म-शिरः—परम, सर्वश्रेष्ठ; तु—लेकिन; अमोघम्—बिना रोक-टोक के; च—तथा; अप्रतिक्रियम्—जिसका निवारण न किया जा सके; वैष्णवम्—विष्णु से सम्बन्धित; तेजः—बल; आसाद्य—सामने आने पर; समशाम्यत्—शान्त पड़ गया; भृगु-उद्वह—हे भृगु-वंशकी शान।

हे शौनक, यद्यपि अश्वत्थामा द्वारा छोड़ा गया परम ब्रह्मास्त्र अमोघ था और उसका निवारण नहीं हो सकता था, लेकिन विष्णु (श्रीकृष्ण) के तेज के समक्ष वह निष्क्रिय हो गया और व्यर्थ हो गया।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि दिव्य जाज्वल्यमान प्रभा *ब्रह्मज्योति* भगवान् श्रीकृष्ण पर आश्रित है। दूसरे शब्दों में *ब्रह्म-तेज* भगवान् की किरणों के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता, जिस प्रकार कि सूर्य-किरणें सूर्य के गोले से ही निकली किरणें हैं। अतएव यह ब्रह्मास्त्र भी, यद्यपि भौतिक रूप से अमोघ था, किन्तु भगवान् के परम तेज से पार नहीं पा सका। अश्वत्थामा द्वारा छोड़ा गया ब्रह्मास्त्र श्रीकृष्ण द्वारा अपनी शक्ति के बल पर, निष्क्रिय एवं व्यर्थ कर दिया गया, अर्थात् उन्हें किसी की सहायता नहीं लेनी पड़ी, क्योंकि वे परम पूर्ण हैं।

मा मंस्था ह्येतदाश्चर्यं सर्वाश्चर्यमयेऽच्युते ।
य इदं मायया देव्या सृजत्यवति हन्त्यजः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

मा—मत; मंस्था:—सोचो; हि—निश्चय ही; एतत्—ये सब; आश्चर्यम्—आश्चर्यजनक; सर्व—समस्त; आश्चर्य-मये—परम आश्चर्ययुक्त; अच्युते—अच्युत में; य:—जो; इदम्—यह (सृष्टि); मायया—उनकी शक्ति द्वारा; देव्या—दिव्य; सृजति—उत्पन्न करता है; अवति—पालन करता है; हन्ति—संहार करता है; अज:—अजन्मा।

हे ब्राह्मणों, इसे गुह्य तथा अच्युत भगवान् के कार्य-कलापों में विशेष आश्चर्यजनक मत सोचो। वे अपनी दिव्य शक्ति से समस्त भौतिक वस्तुओं का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं यद्यपि वे स्वयं अजन्मा हैं।

तात्पर्य : जीवों के नन्हें मस्तिष्क के लिए भगवान् के कार्यकलाप सदैव अकल्पनीय होते हैं। परमेश्वर के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है, लेकिन उनके सारे कार्य हमारे लिए आश्चर्यजनक लगते हैं, और इस प्रकार वे सदा हमारी विचारशक्ति की सीमा से परे बने रहते हैं। भगवान् सर्वशक्तिमान तथा पूर्ण परमेश्वर हैं। भगवान् शत-प्रतिशत पूर्ण हैं, जबकि दूसरे अर्थात् नारायण, ब्रह्मा, शिव, देवतागण तथा अन्य सारे जीवों में ऐसी पूर्णता का कुछ प्रतिशत ही पाया जाता है। कोई भी न तो उनके तुल्य है, न उनसे बड़ा। वे अद्वितीय हैं।

ब्रह्मतेजोविनिर्मुक्तैरात्मजै: सह कृष्णया ।
प्रयाणाभिमुखं कृष्णमिदमाह पृथा सती ॥ १७॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-तेज:—ब्रह्मास्त्र का विकिरण ; विनिर्मुक्तै:—से बचकर; आत्म-जै:—अपने पुत्रों; सह—समेत; कृष्णया—द्रौपदी के; प्रयाण—जाते हुए; अभिमुखम्—ओर; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण को; इदम्—यह; आह—कहा; पृथा—कुन्ती ने; सती—भगवान् की भक्त, सती।

इस प्रकार ब्रह्मास्त्र के विकिरण से बचकर भगवान् की भक्त सती कुन्ती ने अपने पाँच पुत्रों तथा द्रौपदी-सहित, घर के लिए प्रस्थान करने को उद्यत श्रीकृष्ण को इस तरह सम्बोधित किया।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति के कारण कुन्ती को यहाँ पर सती कहा गया है। अब उसके मन को आगे दी हुई भगवान् की स्तुति में व्यक्त किया जायेगा। भगवान् का सच्चा भक्त कभी अन्य किसी से, यहाँ तक कि संकट से उबारने के लिए भी, किसी जीव या देवता से दया की भीख नहीं माँगता। यही विशेषता लगातार सारे पाण्डव-कुल में बनी रही। वे कृष्ण के

अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं जानते थे, अतएव भगवान् भी सभी परिस्थितियों में उनकी हर प्रकार से सहायता करने को उद्यत रहते थे। यह भगवान् का दिव्य स्वभाव है। वे भक्त की निर्भरता को पुरस्कृत करते हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि अपूर्ण जीवों या देवताओं से सहायता की याचना न करे, अपितु भगवान् कृष्ण से याचना करे, क्योंकि वे अपने भक्तों को बचाने में सक्षम हैं। ऐसा सच्चा भक्त भी भगवान् से सहायता कभी नहीं माँगता, किन्तु भगवान् अपनी खुद की इच्छा से ऐसा करने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं।

कुन्त्युवाच
नमस्ये पुरुषं त्वाद्यमीश्वरं प्रकृतेः परम् ।
अलक्ष्यं सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थितम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

कुन्ती उवाच—श्रीमती कुन्ती ने कहा; नमस्ये—मेरा नमस्कार है; पुरुषम्—परम पुरुष को; त्वा—आप; आद्यम्—मूल; ईश्वरम्—नियन्ता; प्रकृतेः—भौतिक ब्रह्माण्डों के; परम्—परे; अलक्ष्यम्—अदृश्य; सर्व—समस्त; भूतानाम्—जीवों के; अन्तः—भीतर; बहिः—बाहर; अवस्थितम्—स्थित।

श्रीमती कुन्ती ने कहा : हे कृष्ण, मैं आपको नमस्कार करती हूँ, क्योंकि आप ही आदि पुरुष हैं और इस भौतिक जगत के गुणों से निर्लिप्त रहते हैं। आप समस्त वस्तुओं के भीतर तथा बाहर स्थित रहते हुए भी सबों के लिए अदृश्य हैं।

तात्पर्य : श्रीमती कुन्ती देवी को भलीभाँति ज्ञात था कि कृष्ण आदि भगवान् हैं, भले ही वे उनके भतीजे लगते थे। ऐसी प्रबुद्ध महिला अपने भतीजे को नमस्कार करने की गलती नहीं कर सकती थी। अतएव, उन्होंने उन्हें आदि पुरुष के रूप में सम्बोधित किया, जो भौतिक जगत से परे हैं। यद्यपि सारे जीव भी दिव्य हैं, लेकिन वे न तो आदि हैं, न अच्युत। जीव भौतिक प्रकृति के चंगुल में पड़कर नीचे गिर सकते हैं, लेकिन भगवान कभी भी ऐसे नहीं हैं। अतएव वेदों में उन्हें समस्त जीवों में प्रधान कहा गया है। *(नित्यो नित्यानाम् चेतनश्चेतनानाम्)*। तब उन्होंने उन्हें पुन: *ईश्वर* या नियन्ता के रूप में सम्बोधित किया। जीव, या चन्द्र तथा सूर्य जैसे देवता भी कुछ हद तक *ईश्वर* हैं, लेकिन इनमें से कोई भी परमेश्वर अथवा परम नियंता नहीं है। वे ही *परमेश्वर* या

परमात्मा हैं। वे अन्त: तथा बाह्य दोनों में विद्यमान रहते हैं। यद्यपि वे श्रीमती कुन्ती के समक्ष उनके भतीजे के रूप में उपस्थित थे, लेकिन वे उनके तथा अन्य सबों के अन्तर में भी विद्यमान थे। *भगवद्गीता* (१५.१५) में भगवान् कहते हैं, "मैं प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से उसमें स्मृति, विस्मृति, ज्ञान इत्यादि हैं। समस्त वेदों के द्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ, क्योंकि मैं वेदों का संकलनकर्ता तथा *वेदान्त* को पढ़ाने वाला हूँ।" रानी कुन्ती पुष्टि करती हैं कि यद्यपि भगवान् समस्त जीवों के भीतर तथा बाहर हैं, तो भी वे अदृश्य हैं। कहने का भाव यह है कि भगवान् सामान्य व्यक्ति के लिए पहेली-तुल्य हैं। महारानी कुन्ती ने साक्षात् अनुभव किया कि भगवान् कृष्ण उनके समक्ष उपस्थित हैं, फिर भी उत्तरा के गर्भ में प्रविष्ट होकर उन्होंने अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से भ्रूण की रक्षा की। वे स्वयं *असमंजस* में थी कि कृष्ण सर्वव्यापी हैं, या स्थानीय। वस्तुत: वे दोनों हैं, लेकिन यह अधिकार उनको ही है कि जो लोग उनके शरणागत नहीं हैं, उनके समक्ष प्रकट न हों। अवरोध का यह पर्दा भगवान् की *माया-शक्ति* कहलाती है और यही वि जीव की संकुचित दृष्टि को नियन्त्रित करती है। इस की व्याख्या आगे की गई है।

मायाजवनिकाच्छन्नमज्ञाधोक्षजमव्ययम् ।
न लक्ष्यसे मूढदृशा नटो नाट्यधरो यथा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

माया—ठगने वाली; जवनिका—पर्दा; आच्छन्नम्—ढका; अज्ञा—अज्ञानी; अधोक्षजम्—भौतिक बोध की सीमा से परे (दिव्य); अव्ययम्—अविनाशी; न—नहीं; लक्ष्यसे—दिखता है; मूढ-दृशा—मूर्ख देखनेवाले के द्वारा; नट:—कलाकार; नाट्य-धर:—अभिनेता का भेष धारण किये; यथा—जिस प्रकार।

सीमित इन्द्रिय-ज्ञान से परे होने के कारण, आप ठगिनी शक्ति (माया) के पर्दे से ढके रहनेवाले शाश्वत अव्यय तत्त्व हैं। आप मूर्ख दर्शक के लिए ठीक उसी प्रकार अदृश्य रहते हैं, जिस प्रकार अभिनेता के वस्त्र पहना हुआ कलाकार पहचान में नहीं आता।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण इसकी पुष्टि करते हैं कि अल्पज्ञानी व्यक्ति उन्हें अपने समान ही सामान्य व्यक्ति समझने की भूल करते हैं और इस प्रकार वे लोग उनका उपहास करते हैं। यहाँ पर इसी बात की महारानी कुन्ती द्वारा पुष्टि की गई है। अल्प ज्ञानी व्यक्ति वे हैं, जो

भगवान् की सत्ता के प्रति विद्रोह करते हैं। ऐसे व्यक्ति *असुर* कहलाते हैं। असुर भगवान् की सत्ता को नहीं पहचान सकते। भगवान् जब राम, नृसिंह, वराह या अपने मूल रूप कृष्ण रूप में हम लोगों के मध्य प्रकट होते हैं, तो वे ऐसे अनेक आश्चर्यजनक कार्य करते हैं, जो मनुष्य के लिए असम्भव हैं। जैसाकि हम इस महान ग्रंथ के दशम–स्कंध में देखेंगे, भगवान् श्रीकृष्ण ने तभी से मानव मात्र के लिए असम्भव कार्य–कलाप करने प्रारम्भ कर दिये थे, जब वे अपनी माता की गोद में थे। उन्होंने उस पूतना राक्षसी का वध किया, जो अपने स्तनों में विष पोतकर उन्हें मारने आयी थी। भगवान् ने सामान्य बालक की भाँति उसका स्तन–पान किया लेकिन उन्होंने साथ ही साथ उसके प्राण भी सोख लिए। इसी प्रकार उन्होंने गोवर्धन पर्वत को उसी तरह उठा लिया, जिस प्रकार कोई बच्चा कुकुरमुत्ता उठा लेता है। वे वृन्दावनवासियों को रक्षा प्रदान करने के लिए पर्वत को कई दिनों तक उठाये रखे। ये भगवान् के कतिपय अतिमानवीय कार्यकलाप हैं, जिनका वर्णन *पुराणों, इतिहासों* तथा *उपनिषदों* में हुआ है। उन्होंने *भगवद्गीता* के रूप में अद्भुत उपदेश दिया। उन्होंने एक वीर, एक गृहस्थ, एक शिक्षक तथा एक त्यागी के रूप में अद्भुत पराक्रम कर दिखलाया। व्यास, देवल, असित, नारद, मध्व, शंकर, रामानुज, श्री चैतन्य महाप्रभु, जीव गोस्वामी, विश्वनाथ चक्रवर्ती, भक्तिसिद्धान्त सरस्वती तथा उस परम्परा के अन्य प्रामाणिक महापुरुषों ने उन्हें पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने स्वयं भी प्रामाणिक साहित्य में अनेक स्थलों पर ऐसा ही घोषित किया है। फिर भी आसुरी मनोवृत्तिवाले लोगों का एक ऐसा वर्ग है, जो भगवान् को परम सत्य के रूप में मानने में आनाकानी करता है। यह कुछ तो उनके अल्प ज्ञान के कारण है और कुछ उनके विगत तथा वर्तमान दुष्कर्मों के परिणामस्वरूप उनकी घोर मूढ़ता के कारण है। भगवान् कृष्ण जब लोगों की आँखों के सामने साक्षात् उपस्थित थे, तब भी वे उन्हें पहचान नहीं पाये थे। दूसरी कठिनाई यह है कि जो लोग अपनी अपूर्ण इन्द्रियों पर निर्भर रहते हैं, वे परमेश्वर के रूप में उनकी अनुभूति नहीं कर पाते। ऐसे व्यक्ति आधुनिक वैज्ञानिकों के समान हैं। वे सारी वस्तुओं को अपने प्रयोगात्मक ज्ञान से जानना चाहते हैं। लेकिन परम पुरुष को अपूर्ण प्रयोगात्मक ज्ञान के द्वारा जान पाना असम्भव है। यहाँ पर उन्हें

अधोक्षज कहा गया है, अर्थात् वे प्रयोगात्मक ज्ञान की परिधि के परे हैं। हमारी सारी इन्द्रियाँ अपूर्ण हैं। हम दावा करते हैं कि हम सारी वस्तुएँ देख सकते हैं, लेकिन हमें कबुल करना होगा कि हम केवल कुछ भौतिक परिस्थितियों में ही वस्तुओं को देख सकते हैं, और वे भी हमारे वश में नहीं होतीं। भगवान् इन्द्रियगम्य नहीं हैं। महारानी कुन्ती बद्धजीव की, और विशेष रूप से अल्पज्ञ स्त्री जाति की, इस न्यूनता को स्वीकार करती हैं। अल्पज्ञ लोगों के लिए मन्दिर, मस्जिद या गिरजाघर जैसी वस्तुओं की आवश्यकता होती है, जिससे वे भगवान् की सत्ता को पहचानें तथा ऐसे पवित्र स्थलों में भगवान् के विषय में प्रामाणिक व्यक्तियों से श्रवण कर सकें। अल्पज्ञों के लिए आध्यात्मिक जीवन का ऐसा शुभारम्भ आवश्यक है और मूर्ख लोग ही इन पूजा-स्थलों की स्थापना का विरोध करते हैं, जिनकी आवश्यकता जनता में आध्यात्मिक गुणों के मानदण्ड को ऊपर उठाने के लिए पड़ती है। अल्पज्ञों के लिए मन्दिरों, मस्जिदों या गिरजाघरों में जाकर भगवान् की सत्ता के समक्ष नतमस्तक होना उतना ही लाभप्रद है, जितना उन्नत भक्तों के लिए क्रियात्मक भक्ति-सेवा द्वारा भगवान् का ध्यान करना।

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रिय: ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तथा—इसके अतिरिक्त; **परमहंसानाम्**—उन्नत अध्यात्मवादियों का; **मुनीनाम्**—महान चिन्तकों या विचारकों का; **अमल-आत्मनाम्**—आत्मा तथा पदार्थ में अन्तर करने में सक्षम; **भक्ति-योग**—भक्ति का विज्ञान; **विधान-अर्थम्**—सम्पन्न करने के लिए; **कथम्**—कैसे; **पश्येम**—देख सकती हैं; **हि**—निश्चित ही; **स्त्रिय:**—स्त्रियाँ।

आप उन्नत अध्यात्मवादियों तथा आत्मा एवं पदार्थ में अन्तर करने में सक्षम होने से शुद्ध बने विचारकों के हृदयों में भक्ति के दिव्य विज्ञान का प्रसार करने के लिए स्वयं अवतरित होते हैं। तो फिर हम स्त्रियाँ आपको किस तरह पूर्ण रूप से जान सकती हैं?

तात्पर्य : बड़े-बड़े दार्शनिक-चिन्तक तक भगवान् के धाम तक नहीं पहुँच पाते। *उपनिषदों* में कहा गया है कि परम सत्य, परमेश्वर का परम व्यक्तित्व बड़े-से-बड़े दार्शनिक की चिन्तन-शक्ति से परे है। वे महान विद्या या महानतम् मस्तिष्क द्वारा भी नहीं जाने जा सकते। उन्हें वही

जान पाता है, जिस पर उनकी कृपा हुइ हो। अन्य लोग भले ही वर्षों तक उनका चिन्तन करते ही क्यों न रहें, वे अज्ञेय ही रहते हैं। इस तथ्य की पुष्टि महारानी कुन्ती द्वारा होती है, जो एक अबोध स्त्री की भूमिका निभा रही हैं। स्त्रियाँ सामान्य रूप से दार्शनिकों की भाँति चिन्तन नहीं कर सकतीं, लेकिन उन्हें भगवान् का आशीर्वाद प्राप्त है, क्योंकि वे भगवान् की श्रेष्ठता तथा सर्वशक्तिमत्ता पर तुरन्त विश्वास कर लेती हैं और बिना किसी संकोच के नतमस्तक हो जाती हैं। भगवान् इतने दयालु हैं कि वे केवल ऐसे व्यक्ति पर विशेष अनुग्रह नहीं करते, जो महान दार्शनिक होता है। वे प्रयोजन की निष्ठा को जानते हैं। इसीलिए प्राय: किसी भी धार्मिक उत्सव के अवसर पर स्त्रियाँ बड़ी संख्या में एकत्र होती हैं। प्रत्येक देश में तथा प्रत्येक धर्म के सम्प्रदाय में ऐसा लगता है कि स्त्रियों की रुचि पुरुषों से अधिक है। भगवान् की सत्ता की स्वीकृति की यह सरलता निष्ठारहित धार्मिक दिखावे से कहीं अधिक प्रभावोत्पादक है।

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च ।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नम: ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कृष्णाय—भगवान् को; वासुदेवाय—वसुदेव के पुत्र को; देवकी-नन्दनाय—देवकी के पुत्र को; च—तथा; नन्द-गोप—नन्द तथा ग्वालों के; कुमाराय—पुत्र को; गोविन्दाय—भगवान् को, जो इन्द्रियों तथा गौवों के प्राण हैं; नम:—सादर नमस्कार; नम:—नमस्कार।

अत: मैं उन भगवान् को सादर नमस्कार करती हूँ, जो वसुदेव के पुत्र, देवकी के लाडले, नन्द के लाल तथा वृन्दावन के अन्य ग्वालों एवं गौवों तथा इन्द्रियों के प्राण बनकर आये हैं।

तात्पर्य : किसी भी भौतिक सम्पदा द्वारा प्राप्त न किये जा सकने वाले भगवान् इस प्रकार, अपने अनन्य भक्तों पर विशेष अनुग्रह दिखाने तथा आसुरी लोगों के उपद्रवों का शमन करने के लिए अपनी असीम अहैतुकी कृपा से इस पृथ्वी पर अवतरित होते हैं। महारानी कुन्ती, अन्य सभी अवतारों की अपेक्षा भगवान् कृष्ण के अवतरण की विशेष रूप से पूजा करती हैं, क्योंकि वे इसी रूप में सरलता से प्राप्त किये जा सकते हैं। राम-अवतार में वे बचपन से ही राजा के पुत्र बने

रहे, लेकिन कृष्ण-अवतार में राजा के पुत्र होते हुए भी, उन्होंने अपने असली माता -पिता (राजा वसुदेव तथा महारानी देवकी) के संरक्षण को जन्मते ही त्याग दिया और यशोदा माई की गोद में चले गये, जिससे उनकी बाल लीलाओं के कारण अत्यन्त पावन वृन्दावन की पुण्य भूमि में वे सामान्य ग्वाल-बाल का अभिनय कर सकें अतएव भगवान् कृष्ण भगवान् राम की अपेक्षा अधिक दयालु हैं। वे कुन्ती के भाई वसुदेव तथा उनके परिवार के प्रति विशेष रूप से अत्यन्त दयालु थे। यदि कृष्ण वसुदेव तथा देवकी के पुत्र रूप में जन्म न लिये होते, तो महारानी कुन्ती उन्हें अपना भतीजा मानकर इतने वात्सल्यभाव से उन्हें सम्बोधित न कर पातीं। किन्तु अधिक भाग्यशाली तो नन्द और यशोदा हैं, जिन्होंने भगवान् की बाल-लीलाओं का रस लूटा, जो अन्य लीलाओं से अधिक मनोहारी है। व्रजभूमि वृन्दावन में प्रदर्शित की गई उनकी बाललीलाओं के समान अन्य कुछ नहीं है, जो चिन्तामणि धाम के नाम से ब्रह्म-संहिता में वर्णित मूल कृष्णलोक में हो रही उनकी सनातन लीलाओं का एक नमूना है। भगवान् श्रीकृष्ण व्रजभूमि में अपने दिव्य पार्षदों तथा साज-सामग्री के साथ स्वयं अवतरित हुए थे। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने पुष्टि की है कि व्रजभूमि के वासियों के समान अन्य कोई भाग्यशाली नहीं है और उनमें भी गोपियाँ विशेष रूप से भाग्यशालिनी हैं, क्योंकि उन्होंने भगवान् की प्रसन्नता के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। वे नन्द तथा यशोदा के साथ, ग्वालों के साथ तथा विशेष रुप से ग्वाल-बालों एवं गौवों के साथ अपनी लीलाओं के कारण गोविन्द कहलाये। गोविन्द-रूप में भगवान् ब्राह्मणों तथा गौवों के प्रति विशेष सदय हैं, जिसका अर्थ है कि मानवीय सम्पन्नता बहुत कुछ इन्हीं दो बातों पर निर्भर करती है—एक तो ब्रह्मण संस्कृति तथा दूसरी गो-रक्षा। जहाँ इन दोनों का अभाव रहता है, वहाँ भगवान् कृष्ण कभी प्रसन्न नहीं होते।

नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने ।
नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार है; पङ्कज-नाभाय—भगवान् को, जिनके उदर के मध्यभाग में कमल-पुष्प के समान विशेष गड्ढा है; नमः—नमस्कार; पङ्कज-मालिने—कमल-पुष्प की माला से निरन्तर सज्जित रहनेवाले को; नमः—नमस्कार; पङ्कज-नेत्राय—जिनकी दृष्टि कमल-पुष्प के समान शीतल है; नमः ते—आपको नमस्कार है; पङ्कज-अङ्घ्रये—कमल-पुष्पों से अंकित चरण के तलवों वाले को।

जिनके उदर के मध्य में कमलपुष्प के सदृश गर्त है, जो सदैव कमल-पुष्प की माला धारण करते हैं, जिनकी चितवन कमल-पुष्प के समान शीतल है और जिनके चरणों (के तलवों) में कमल अंकित हैं, उन भगवान् को मैं सादर नमस्कार करती हूँ।

तात्पर्य : भगवान् के दिव्य शरीर में कुछ विशिष्ट चिह्न होते हैं, जिनसे उनका शरीर अन्य सारे व्यक्तियों के शरीर से भिन्न लगता है। ये भगवान् के शरीर के विशिष्ट चिह्न हैं। भले ही भगवान् हम में से एक जैसे लगते हों, लेकिन वे अपने विशिष्ट शारीरिक लक्षणों के कारण सर्वदा भिन्न रहते हैं। श्रीमती कुन्ती अपने आपको भगवान् का दर्शन कर पाने में अक्षम मानती हैं, क्योंकि वे स्त्री हैं। ऐसा माना जाता है कि स्त्रियाँ, शूद्र (श्रमिक वर्ग) तथा द्विज-बन्धु (तीनों द्विज-जातियों की नीच सन्तानें) परम सत्य के नाम, यश, लक्षण, रूप आदि से सम्बन्धित दिव्य विषय को समझने में असमर्थ होते हैं। यद्यपि ऐसे व्यक्ति भगवान् की लीलाओं को समझने में असमर्थ होते हैं, तो भी वे भगवान् को *अर्चा-विग्रह* के रूप में देख सकते हैं, जो उपर्युक्त स्त्रियों, शूद्रों तथा द्विज-बन्धुओं समेत समस्त पतितात्माओं पर दया करने के उद्देश्य से भौतिक जगत में अवतरित होते हैं। चूँकि ऐसे पतित लोग पदार्थ के परे कुछ भी नहीं देख पाते, अतः भगवान् गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में असंख्य ब्रह्माण्डों में से प्रत्येक में प्रविष्ट होने के लिए सन्नद्ध होते हैं, जिनके दिव्य उदर के मध्य के कमलवत् गड्ढे (नाभि) से कमल-नाल अंकुरित होती है और इस तरह, ब्रह्माण्ड के प्रथम जीव ब्रह्मा का जन्म होता है। इसीलिए भगवान् को पंकज-नाभि कहा जाता है। ये पंकज-नाभि भगवान् अनेक तत्त्वों के बने *अर्चा-विग्रह* के रूप को स्वीकार करते हैं—यथा मन के भीतर बना रूप, मिट्टी का रूप, पार्थिव रूप, धातु रूप, रत्न-रूप, रंग-रूप, बालपर अंकित किया गया रूप इत्यादि। भगवान् के इन सारे रूपों को कमल की मालाओं से सजाया जाता है। पूजा-मन्दिर में ऐसा शान्तिप्रद वातावरण होना चाहिए, जिससे भौतिक कार्यों में सदैव

निरत रहनेवाले अभक्तजनों का उत्कट ध्यान उस ओर आकृष्ट हो। ध्यानी लोग मन के भीतर एक साकार रूप की पूजा करते हैं, अतएव भगवान् स्त्रियों, शूद्रों तथा द्विज–बन्धुओं पर भी दयालु होते हैं, बशर्ते कि वे विविध रूपों में बने पूजा–मन्दिरों में जाना स्वीकार करें। ऐसे मन्दिर जानेवाले मूर्ति–पूजक नहीं होते, जैसाकि कुछ अल्पज्ञ लोगों द्वारा कहा जाता है। बड़े–बड़े आचार्यों ने अल्पज्ञानियों पर कृपा करते हुए सर्वत्र ऐसे पूजा–मन्दिरों की स्थापना की। वास्तव में शुद्रों या स्त्रियों अथवा उनसे भी निम्न श्रेणी में रहते हुए किसी को यह दिखावा नहीं करना चाहिए कि उसने मंदिर–पूजा की अवस्था पार कर ली है। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् का दर्शन करने में उनके चरणकमलों से प्रारम्भ करके क्रमशः जाँघों, कमर, वक्षस्थल तथा मुख तक पहुँचे। उसे भगवान् के चरणकमलों के दर्शन का अभ्यास किये बिना भगवान् के मुख का दर्शन करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। भगवान् की बुआ होने के कारण श्रीमती कुन्ती ने भगवान् का दर्शन चरणकमलों से प्रारम्भ नहीं किया, क्योंकि इससे भगवान् लज्जित होते। अतएव इस स्थिति से बचने के लिए उन्होंने भगवान् के चरणकमलों के ऊपर के भाग अर्थात् कमर से धीरे–धीरे ऊपर की ओर उठते हुए मुख का, और फिर चरणकमलों का दर्शन किया। चक्र में प्रत्येक वस्तु समुचित क्रम से हो जाती है।

यथा हृषीकेश खलेन देवकी
कंसेन रुद्धातिचिरं शुचार्पिता ।
विमोचिताहं च सहात्मजा विभो
त्वयैव नाथेन मुहुर्विपद्गणात् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यथा—मानो; हृषीकेश—इन्द्रियों के स्वामी; खलेन—ईर्ष्यालु के द्वारा; देवकी—देवकी (श्रीकृष्ण की माता); कंसेन—राजा कंस द्वारा; रुद्धा—बन्दी बनाया गया; अति-चिरम्—दीर्घ काल तक; शुच-अर्पिता—दुखी; विमोचिता—मुक्त किया; अहम् च—मैं भी; सह-आत्म-जा—अपने बच्चों सहित; विभो—हे महान्; त्वया एव—आप ही के द्वारा; नाथेन—रक्षक के रूप में; मुहुः—निरन्तर; विपत्-गणात्—विपत्तियों के समूह से।

हे हृषीकेश, हे इन्द्रियों के स्वामी तथा देवों के देव, आपने दीर्घ काल तक बन्दीगृह में बन्दिनी बनाई गई और दुष्ट राजा कंस द्वारा सताई जा रही अपनी माता देवकी को तथा अनवरत विपत्तियों से घिरे हुए मेरे पुत्रों समेत मुझको मुक्त किया है।

तात्पर्य : कृष्ण की माता तथा कंस की बहन देवकी को उसके पति वसुदेव सहित बन्दीगृह में रख दिया गया था, क्योंकि दुष्ट राजा कंस को भय था कि वह देवकी के आठवें पुत्र (कृष्ण) द्वारा मारा जायेगा। उसने कृष्ण के पूर्व पैदा हुए देवकी के सारे बच्चों का वध कर दिया था, किन्तु कृष्ण बाल-वध के संकट से बच निकले, क्योंकि वे भगवान् कृष्ण के पालकपिता नन्द महाराज के घर पहुँचा दिये गये थे। कुन्ती देवी भी अपने पुत्रों समेत, अनेक कष्टों की शृंखला से बचाई जाती रहीं। लेकिन भगवान् कृष्ण ने कुन्ती देवी पर कुछ अधिक ही अनुग्रह किया था, क्योंकि उन्होंने देवकी के अन्य पुत्रों की रक्षा नहीं की, जबकि कुन्ती के पुत्रों की रक्षा की। इसका कारण यह था कि देवकी के पति वसुदेव जीवित थे, लेकिन कुन्ती विधवा थीं और कृष्ण के अतिरिक्त उनका अन्य कोई रक्षक न था। निष्कर्ष यह है कि कृष्ण उस भक्त पर अधिक अनुग्रह करते हैं, जो अधिक संकट में होता है। कभी-कभी वे जानकर शुद्ध भक्तों को ऐसे संकटों में डालते हैं, क्योंकि ऐसी असहायावस्था में भक्त भगवान् के प्रति अधिक अनुरक्त बनता है। भगवान् के प्रति जितनी अधिक अनुरक्ति होगी, भक्त को उतनी ही अधिक सफलता प्राप्त होगी।

विषान्महाग्नेः पुरुषाददर्शना-
दसत्सभाया वनवासकृच्छ्रतः ।
मृधे मृधेऽनेकमहारथास्त्रतो
द्रौण्यस्त्रतश्चास्म हरेऽभिरक्षिताः ॥ २४॥

शब्दार्थ

विषात्—विष से; महा-अग्नेः—प्रबल अग्निकाण्ड से; पुरुष-अद—मनुष्य के भक्षक से; दर्शनात्—मल्लयुद्ध करके; असत्—दुष्ट; सभायाः—सभा से; वन-वास—जंगल में प्रवासित; कृच्छ्रतः—कष्ट से; मृधे मृधे—युद्ध में बारम्बार; अनेक—अनेक; महा-रथ—बड़े-बड़े सेनानायक; अस्त्रतः—हथियार से; द्रौणि—द्रोणाचार्य के पुत्र के; अस्त्रतः—अस्त्र से; च—तथा; आस्म—था; हरे—हे भगवान्; अभिरक्षिताः—पूर्ण रूप से सुरक्षित।

हे कृष्ण, आपने हमें विषाक्त भोजन से, भीषण अग्नि-काण्ड से, मानव-भक्षीओं से, दुष्ट सभा से, वनवास-काल के कष्टों से तथा महारथियों द्वारा लड़े गये युद्ध से बचाया है। और अब आपने हमें अश्वत्थामा के अस्त्र से बचा लिया है।

तात्पर्य : यहाँ पर घातक संघर्षों की सूची प्रस्तुत की गई है। देवकी को तो एक ही बार अपने दुष्ट भाई के कारण कष्ट मिला, अन्यथा वे कुशलपूर्वक रहीं, किन्तु कुन्ती देवी तथा उनके पुत्रों को तो वर्षों तक लगातार एक के बाद एक कष्ट उठाने पड़े। उन्हें राज्य के लिए दुर्योधन तथा उसकी टोली के लोग मुसीबतों में डालते रहे और हर बार कृष्ण ने कुन्ती के पुत्रों की रक्षा की। एक बार भीम को भोजन में विष खिला दिया गया। एक बार उन्हें लाक्षागृह में रखकर उसमें आग लगा दी गई तथा एक बार द्रौपदी का चीर हरण किया गया और दुष्ट कौरवों की सभा में उन्हें नग्न करने का प्रयास करके उसे अपमानित किया गया। भगवान् ने द्रौपदी के लिए अपरिमित वस्त्रों कि पूर्ति की, जिससे दुर्योधन का दल उसे नग्न होते न देख सका। इसी प्रकार जब पाँचों पाण्डव वनवास कर रहे थे, तो भीम को मनुष्य-भक्षक राक्षस हिडिम्ब से लड़ना पड़ा, किन्तु तब भगवान् ने भीम की रक्षा की। यह खेल यहीं नहीं समाप्त हुआ। इन सब कष्टों के बाद कुरुक्षेत्र का महान युद्ध हुआ और अर्जुन को द्रोण, भीष्म तथा कर्ण जैसे महाबली सेनानायकों का सामना करना पड़ा। और जब सब समाप्त हो गया, तो द्रोणाचार्य के पुत्र ने उत्तरा के गर्भस्थ शिशु को मारने के लिए ब्रह्मास्त्र छोड़ा, तब भगवान् ने कुरुवंश के एकमात्र संभाव्य वंशज महाराज परीक्षित की रक्षा की।

विपदः सन्तु ताः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो ।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

विपदः—विपत्तियाँ; सन्तु—आने दो; ताः—सारी; शश्वत्—पुनः पुनः; तत्र—वहाँ; तत्र—तथा वहाँ; जगत्-गुरो—हे जगत के स्वामी; भवतः—आपकी; दर्शनम्—भेंट; यत्—जो; स्यात्—हो; अपुनः—फिर नहीं; भव-दर्शनम्—जन्म-मृत्यु को बारम्बार देखना।

मैं चाहती हूँ कि ये सारी विपत्तियाँ बारम्बार आयें, जिससे हम आपका दर्शन पुनः पुनः कर सकें, क्योंकि आपके दर्शन का अर्थ यह है कि हमें बारम्बार होने वाले जन्म तथा मृत्यु को नहीं देखना पड़ेगा।

तात्पर्य : सामान्यतया दुखी, जरूरतमन्द, बुद्धिमान तथा जिज्ञासु लोग, जिन्होंने कुछ पुण्य कर्म किये हैं, वे भगवान् की पूजा करते हैं या पूजा करना प्रारम्भ करते हैं। अन्य लोग, जो दुष्कर्म से ही फलते-फूलते हैं, चाहे वे जिस स्तर के हों, माया द्वारा भ्रमित होने के कारण भगवान् के पास नहीं पहुँच पाते। अतएव पुण्यात्मा के लिये संकट आने पर भगवान् के चरणकमलों का आश्रय लेने के अलावा अन्य कोई विकल्प नहीं होता। भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर स्मरण करने का अर्थ है, जन्म-मृत्यु से छूटने की तैयारी करना। अतः भले ही तथाकथित आपत्तियाँ आयें, उनका स्वागत करना होगा, क्योंकि वे हमें भगवान् के स्मरण का अवसर प्रदान करती हैं जिसका अर्थ है मुक्ति।

जिसने अविद्या के सागर को पार करने के लिए सर्वोत्तम नाव के समान भगवान् के चरणकमलों की शरण ली है, वह उतनी ही सरलता से मुक्ति प्राप्त करता है, जितनी सरलता से बछड़े के खुर के निशान को लाँघा जा सकता है। ऐसे लोग भगवद्धाम में रहने के अधिकारी हैं और उन्हें ऐसे स्थान से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता, जहाँ पग-पग पर संकट हो।

भगवद्गीता में भगवान् ने इस भौतिक जगत् को आपत्तियों से भरा कष्टप्रद स्थान बताया है। अल्पज्ञानी व्यक्ति इन आपत्तियों के साथ समझौता करने की योजना बनाते हैं, लेकिन वे जानते नहीं हैं कि इस स्थान का प्रकार ही ऐसा है कि वह आपत्तियों से भरा है। उन्हें भगवान् के उस धाम का बिल्कुल ही ज्ञान नहीं होता, जो आनन्द से भरपूर है और जहाँ तनिक भी आपत्ति नहीं है। अतएव प्रबुद्ध मनुष्य का यह कर्तव्य है कि भौतिक आपत्तियों से अविचलित रहे, क्योंकि आपत्तियाँ तो सभी परिस्थितियों में आती ही हैं। सभी प्रकार की अपरिहार्य विपत्तियों का सामना करते हुए मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार में प्रगति करते रहना चाहिये, क्योंकि मानव जीवन का यही उद्देश्य है। चूँकि आत्मा समस्त भौतिक आपत्तियों से परे है, अतएव तथाकथित आपत्तियाँ

मिथ्या बतलाई गई हैं। स्वप्न में कोई मनुष्य अपने को बाघ द्वारा निगला जाता देख सकता है और वह इस आपत्ति के कारण चिल्ला सकता है, किन्तु वास्तव में न तो बाघ रहता है, न आपत्ति; यह तो कोरा स्वप्न है। इसी प्रकार जीवन की सारी आपत्तियाँ स्वप्न-तुल्य कही जाती हैं। यदि कोई भक्ति मय सेवा द्वारा भगवान् का सान्निध्य प्राप्त कर सकता है, तो लाभ ही लाभ है। नवधा भक्ति में से किसी एक के द्वारा भगवान् का सान्निध्य भगवद्धाम जाने की दिशा में सदा एक अग्रिम पग है।

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान् ।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

जन्म—जन्म; ऐश्वर्य—ऐश्वर्य; श्रुत—शिक्षा; श्रीभिः—सुन्दरता के स्वामित्व द्वारा; एधमान—लगातार वृद्धि करता हुआ; मदः—प्रमत्तता; पुमान्—मनुष्य; न—कभी नहीं; एव—ही; अर्हति—पात्र होता है; अभिधातुम्—सम्बोधित करने के लिये; वै—निश्चय ही; त्वाम्—आपको; अकिञ्चन-गोचरम्—जो भौतिक दृष्टि से दरिद्र मनुष्य के द्वारा सरलता से प्राप्त हो सके।

हे प्रभु, आप सरलता से प्राप्त होने वाले हैं, लेकिन केवल उन्हीं के द्वारा, जो भौतिक दृष्टि से अकिंचन हैं। जो सम्मानित कुल, ऐश्वर्य, उच्च शिक्षा तथा शारीरिक सौंदर्य के द्वारा भौतिक प्रगति के पथ पर आगे बढ़ने के प्रयास में लगा रहता है, वह आप तक एकनिष्ठ भाव से नहीं पहुँच पाता।

तात्पर्य : भौतिक दृष्टि से समुन्नत होने का अर्थ है किसी कुलीन परिवार में जन्म लेना और प्रचुर सम्पत्ति, शिक्षा तथा आकर्षक सौंदर्य से युक्त होना। सारे भौतिकतावादी लोग इन सारे भौतिक ऐश्वर्यों को प्राप्त करने के पीछे पागल रहते हैं और इसी को भौतिक सभ्यता की उन्नति कहा जाता है। लेकिन परिणाम यह होता है कि इन समस्त क्षणिक भौतिक सम्पत्तियों के होने से मनुष्य कृत्रिम रूप से गर्वित हो उठता है और मदान्ध हो जाता है। फलस्वरूप, भौतिकता के नशे में चूर ऐसे लोग भगवान् का पवित्र नाम लेने तथा भावविभोर होकर 'हे गोविन्द, हे कृष्ण' सम्बोधित करने में अक्षम हो जाते हैं। शास्त्रों में कहा गया है कि भगवान् का पवित्र नाम एक बार भी लेने से पापी इतने पापों से मुक्त हो जाता है, जितने वह कर भी नहीं सकता। भगवान् का

पावन नाम लेने में इतनी शक्ति है। इस कथन में तनिक भी अत्युक्ति नहीं है। सचमुच भगवान् के पवित्र नाम में ऐसी प्रबल शक्ति है। लेकिन ऐसा नाम लेने में गुणता चाहिए यह भाव की गुणता पर निर्भर करता है। एक असहाय व्यक्ति भगवान् का नाम भावविभोर होकर ले सकता है, लेकिन यदि उसी नाम को कोई भौतिकता से सम्पन्न व्यक्ति लेता है, तो उसमें उतनी निष्ठा नहीं हो सकती। भौतिकता के मद में फूला रहनेवाला व्यक्ति यदा-कदा भगवान् का पवित्र नाम जप सकता है, लेकिन वह गुणतापूर्वक नाम लेने में अक्षम होता है। अतएव भौतिक उन्नति के चार सिद्धान्त—१) उच्चकुल, २) सम्पत्ति, ३) उच्च शिक्षा तथा ४) आकर्षक सौंदर्य—ये चारों आध्यात्मिक उन्नति के पथ में अग्रसर होने के लिये मानो अयोग्यताएँ हैं। शुद्ध आत्मा का भौतिक आवरण बाह्य गुण है, जिस प्रकार ज्वर रुग्ण शरीर का बाह्य गुण होता है। सामान्य विधि यह है कि ज्वर की तीव्रता कम की जाय, न कि कुपचार द्वारा उसे बढ़ाया जाय। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत व्यक्ति भौतिक रूप से निर्धन रह जाते हैं। लेकिन इससे हतोत्साहित नहीं होना चाहिये। उल्टे, यह निर्धनता शुभ चिह्न है, जिस प्रकार कि शरीर में ज्वर का ताप घटना शुभ है। जीवन का उद्देश्य उस भौतिक मद को घटाना होना चाहिए, जिसके कारण मनुष्य अपने जीवन के उद्देश्य के विषय में अधिकाधिक भ्रमित होता जाता है। इस प्रकार से मोहग्रस्त व्यक्ति भगवद्धाम जाने के लिये सर्वथा अनुपयुक्त होते हैं।

नमोऽकिञ्चनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये ।
आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार है; अकिञ्चन-वित्ताय—निर्धनों के धन-स्वरूप को; निवृत्त—भौतिक गुणों की क्रियाओं से सदा परे; गुण—भौतिक गुण; वृत्तये—स्नेह; आत्म-आरामाय—आत्मतुष्ट को; शान्ताय—परम शान्त को; कैवल्य-पतये—अद्वैतवादियों के स्वामी को; नमः—प्रणाम है।.

मैं निर्धनों के धन आपको नमस्कार करती हूँ। आपको प्रकृति के भौतिक गुणों की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं से कोई सरोकार नहीं है। आप आत्म-तुष्ट हैं, अतएव आप परम शान्त तथा अद्वैतवादियों के स्वामी कैवल्य-पति हैं।

तात्पर्य : यदि जीव के पास कुछ भी न रहे, तो वह समाप्त हो जाता है। अतएव वास्तव में देखा जाय, तो जीव परित्यागी नहीं हो सकता। यदि जीव कुछ त्याग करता है, तो वह कुछ और अधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के लिए करता है। एक विद्यार्थी अपनी बाल्यकाल की चपलता का त्याग श्रेष्ठ शिक्षा प्राप्त करने के लिये करता है। एक नौकर अधिक अच्छा काम पाने के लिये अपना काम छोड़ता है। इसी प्रकार एक भक्त इस भौतिक जगत का परित्याग व्यर्थ ही नहीं करता, अपितु कुछ असली आध्यात्मिक उपलब्धि के लिये करता है। श्रील रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी, श्रील रघुनाथ दास गोस्वामी इत्यादि ने भगवान् की सेवा के लिये ही सांसारिक तड़क-भड़क का परित्याग किया। सांसारिक दृष्टि से वे महापुरुष थे। ये गोस्वामी बंगाल सरकार में मन्त्री थे और श्रील रधुनाथ दास गोस्वामी अपने समय के बहुत बड़े जमींदार के पुत्र थे, लेकिन उन्होंने अपना सर्वस्व त्याग दिया, जिससे उन्हें इससे श्रेष्ठतर उपलब्धि हो सके। भक्तगण सामान्य रूप से सम्पत्तिविहीन होते हैं, लेकिन भगवान् के चरणकमल उनके गुह्यतम कोषागार हैं। श्रील सनातन गोस्वामी के सम्बन्ध में एक अत्यन्त सुन्दर कथा है। उनके पास एक पारस पत्थर था, जिसे उन्होंने कूड़े के ढेर में छोड़ दिया था। एक जरूरतमन्द व्यक्ति उसे वहाँ से उठा ले गया, किन्तु बाद में वह सोचने लगा कि आखिर इसे ऐसे उपेक्षित स्थान में क्यों छोड़ रखा गया होगा। अतएव उसने सनातन गोस्वामी से सब से कीमती वस्तु का नाम पूछा, तो उन्होंने उसे भगवान् का पवित्र नाम दिया। *अकिंचन* का अर्थ है निर्धन, अर्थात् जिसके पास देने के लिए भौतिक रूप में कुछ न हो। वास्तविक भक्त या *महात्मा* किसी को कोई भौतिक वस्तु नहीं देता, क्योंकि वह पहले से सारी भौतिक सम्पत्ति त्याग चुका होता है। लेकिन वह परम धन का अर्थात् भगवान् का दान दे सकता है, क्योंकि भगवान् ही भक्त के वास्तविक धन होते हैं। सनातन गोस्वामी का कूड़े में पड़ा पारस पत्थर, उनका धन न था अन्यथा उसे ऐसे स्थान में रखा न गया होता। यह विशेष उदाहरण नवदीक्षित भक्तों के समक्ष रखा जाता है, जिससे उन्हें विश्वास दिलाया जा सके कि भौतिक लोभ तथा आध्यात्मिक उन्नति साथ-साथ नहीं चलते। जब तक कोई व्यक्ति हर वस्तु को भगवान् के साथ आध्यात्मिक रूप से सम्बन्धित नहीं देखता, तब तक उसे आत्मा तथा पदार्थ में अन्तर दिखता

है। श्रील सनातन गोस्वामी जैसे गुरु ने यह उदाहरण हम सब लोगों के लिए प्रस्तुत किया, क्योंकि हममें वैसी आध्यात्मिक दृष्टि नहीं है यद्यपि वे स्वयं प्रत्येक वस्तु को आध्यात्मिक रूप में देखने वाले थे।

भौतिक दृष्टि का विकास या भौतिक सभ्यता आध्यात्मिक उन्नति में एक रोड़े का काम करती है। ऐसा भौतिक विकास जीव को भौतिक शरीर के बन्धन में उलझा देता है, जिसके बाद अनेक भौतिक कष्ट आते रहते हैं। ऐसी भौतिक प्रगति *अनर्थ* अथवा अवांछित वस्तु कहलाती है। वास्तव में है भी ऐसा ही। वर्तमान समय की भौतिक प्रगति के प्रसंग में पचास सेण्ट अर्थात् आधे डालर दाम वाली लिपस्टिक के प्रयोग का नाम लिया जा सकता है। ऐसी अनेक अवांछित वस्तुएँ हैं, जो देहात्म-बुद्धि से प्रसूत हैं। ऐसी अनेक अवांछित वस्तुओं की ओर मन लगाने से मनुष्य की शक्ति व्यर्थ ही नष्ट होती है और आत्म-साक्षात्कार भी प्राप्त नहीं हो पाता, जो मानव की प्रमुख आवश्यकता है। चन्द्रमा तक पहुँचने के प्रयास दूसरा उदाहरण है, जिसमें शक्ति का अपव्यय होता है, क्योंकि यदि चन्द्रमा तक पहुँच भी लिया जाय, तो भी जीवन की समस्याएँ हल होने वाली नहीं हैं। भगवान् के भक्त *अकिंञ्च* कहलाते हैं, क्योंकि उनके पास व्यावहारिक रूप से भौतिक सम्पत्ति नहीं होती। ऐसी भौतिक सम्पत्ति प्रकृति के तीनों गुणों का प्रतिफल है। वे आध्यात्मिक शक्ति को व्यर्थ कर देते हैं; अतएव हमारे पास जितनी ही कम भौतिक वस्तुएं होंगी, उतना ही अधिक अवसर हमें आध्यात्मिक प्रगति के लिए प्राप्त हो सकेगा।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का भौतिक कार्यकलापों से किसी तरह का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। उनके सारे कर्म जो इस भौतिक जगत में भी प्रदर्शित होते हैं, आध्यात्मिक होते हैं और भौतिक प्रकृति के गुणों से रागविहीन होते हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि उनके सारे कर्म, यहाँ तक कि इस जगत में उनका आविर्भाव तथा तिरोधान भी दिव्य होता है और जो इसे ठीक से जान लेता है, वह इस जगत में फिर से जन्म न लेकर भगवद्धाम को वापस जाता है।

भवरोग का कारण प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की लालसा है। यह लालसा प्रकृति के तीनों गुणों की अन्त:क्रिया के फलस्वरूप है और न तो भगवान्, न ही भक्तगण ऐसे मिथ्या भोग के

प्रति आसक्त होते हैं। अतएव भगवान् तथा भक्त *निवृत्त-गुण-वृत्ति* कहलाते हैं। पूर्ण *निवृत्त-गुण-वृत्ति* तो परमेश्वर हैं, जो प्रकृति के गुणों द्वारा कभी आकृष्ट नहीं होते, लेकिन जीवों में ऐसी प्रवृत्ति पाई जाती है। इनमें से कुछ भौतिक प्रकृति के मोहाकर्षण में फँस जाते हैं।

चूँकि भगवान् भक्तों की सम्पत्ति हैं और भक्तगण उसी तरह भगवान् की सम्पत्ति हैं, अतएव भक्तगण भी निश्चित रूप से प्रकृति के गुणों से परे होते हैं। यह एक सीधा-सा निष्कर्ष है। ऐसे अनन्य भक्त उन मिश्रित भक्तों से भिन्न हैं, जो दुख तथा दरिद्रता को दूर करने के लिए, या उत्सुकता तथा तर्क के कारण भगवान् के पास आते हैं। अनन्य भक्त तथा भगवान् का एक दूसरे से दिव्य सम्बन्ध होता है। लेकिन अन्यों के लिए भगवान् के पास कुछ लेन-देन नहीं होती, अतएव वे *आत्माराम* या आत्म-तुष्ट कहलाते हैं। *आत्माराम* होने के कारण, वे समस्त अद्वैतवादियों के स्वामी हैं, जो भगवान् के अस्तित्व में एकाकार हो जाना चाहते हैं। ऐसे अद्वैतवादी भगवान् के व्यक्तिगत तेज में एकाकार हो जाते हैं, जिसे *ब्रह्मज्योति* कहते हैं, लेकिन भक्त तो भगवान् की दिव्य लीलाओं में प्रवेश करते हैं, जिन्हें कभी भी भौतिक नहीं मानना चाहिए।

मन्ये त्वां कालमीशानमनादिनिधनं विभुम् ।
समं चरन्तं सर्वत्र भूतानां यन्मिथ: कलि: ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

मन्ये—मानती हूँ; त्वाम्—आपको; कालम्—शाश्वत समय; ईशानम्—परमेश्वर; अनादि-निधनम्—आदि-अन्त रहित; विभुम्—सर्वव्यापी; समम्—समान रूप से दयालु; चरन्तम्—वितरित करते हुए; सर्वत्र—सभी जगह; भूतानाम्—जीवों का; यत् मिथ:—मतभेद; कलि:—कलह।

हे भगवान्, मैं आपको शाश्वत समय, परम नियन्ता, आदि-अन्त से रहित तथा सर्वव्यापी मानती हूँ। आप सबों पर समान रूप से दया दिखलाते हैं। जीवों में जो पारस्परिक कलह है, वह सामाजिक मतभेद के कारण है।

तात्पर्य : कुन्ती देवी जानती थीं कि कृष्ण न तो उनके भतीजे हैं और न उनके पितृकुल के सामान्य पारिवारिक सदस्य हैं। वे अच्छी तरह जानती थीं कि कृष्ण आदि-भगवान् हैं, जो

परमात्मा के रूप में प्रत्येक के हृदय में वास करनेवाले हैं। भगवान् के परमात्मा स्वरूप का अन्य नाम *काल* या शाश्वत समय भी है। यह काल हमारे सारे अच्छे तथा बुरे दोनों प्रकार के कर्मों का साक्षी है और इस प्रकार उनके द्वारा ही कर्मफल निर्धारित होते हैं। यह कहने से कोई लाभ नहीं कि पता नहीं, हम क्यों दुख भोग रहे हैं। हम उन दुष्कर्मों को भूल सकते हैं, जिनके कारण हमें इस समय कष्ट उठाना पड़ रहा है, लेकिन हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि परमात्मा हमारे नित्य संगी हैं, अतएव वे भूत, वर्तमान तथा भविष्य सब कुछ जानते हैं। चूँकि भगवान् कृष्ण का परमात्मा स्वरूप ही सारे कर्मों तथा फलों को निर्धारित करनेवाला है, अतएव वे परम नियन्ता भी हैं। उनकी मर्जी के बिना एक पत्ती भी नहीं हिल सकती। जीवों को उनकी योग्यता के अनुसार स्वतन्त्रता दी गई है और इस स्वतन्त्रता के दुरुपयोग के कारण ही दुख भोगना होता है। भगवद्भक्त इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग नहीं करते, अतएव वे भगवान् की अच्छी सन्तानें हैं। अन्य लोग, जो स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करते हैं, सनातन काल द्वारा कष्ट को प्राप्त होते हैं। काल ही बद्धजीवों को सुख तथा दुख दोनों प्रदान करता है। यह सब काल द्वारा पूर्वनिर्धारित है। जिस प्रकार हमारे न चाहने पर भी दुख आ जाते हैं, उसी प्रकार बिना माँगे सुख भी मिल सकता है, क्योंकि सुख-दुख काल द्वारा पूर्व-निर्धारित होते हैं। अतएव भगवान् का न तो कोई मित्र है, न शत्रु। प्रत्येक व्यक्ति अपने ही भाग्य फल का सुख-दुख भोग रहा है। यह भाग्य जीवों द्वारा सामाजिक संघर्ष करते हुए निर्मित होता है। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति पर प्रभुत्व जताना चाहता है, अतएव प्रत्येक व्यक्ति भगवान् की अध्यक्षता में अपना भाग्य बनाता है। चूँकि भगवान् सर्वव्यापी हैं, अतएव वे हर एक के कर्मों को देख सकते हैं, और चूँकि भगवान् का कोई आदि-अन्त नहीं है, अतएव वे शाश्वत समय अर्थात् काल भी कहलाते हैं।

न वेद कश्चिद्भगवंश्चिकीर्षितं
तवेहमानस्य नृणां विडम्बनम् ।
न यस्य कश्चिद्दयितोऽस्ति कर्हिचिद्
द्वेष्यश्च यस्मिन् विषमा मतिर्नृणाम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वेद—जानता; कश्चित्—कोई; भगवन्—हे भगवान्; चिकीर्षितम्—लीलाएँ; तव—आपकी; ईहमानस्य—सांसारिक व्यक्तियों की भाँति; नृणाम्—सामान्य लोगों का; विडम्बनम्—भ्रामक; न—कभी नहीं; यस्य—जिसका; कश्चित्—कोई; दयितः—विशेष कृपा-पात्र; अस्ति—है; कर्हिचित्—कहीं; द्वेष्यः—ईर्ष्या की वस्तु; च—तथा; यस्मिन्—जिसमें; विषमा—पक्षपात; मतिः—विचार; नृणाम्—मनुष्यों का।

हे भगवान्, आपकी दिव्य लीलाओं को कोई समझ नहीं सकता, क्योंकि वे मानवीय प्रतीत होती हैं और इस कारण भ्रामक हैं। न तो आपका कोई विशेष कृपा-पात्र है, न ही कोई आपका अप्रिय है। यह केवल लोगों की कल्पना ही है कि आप पक्षपात करते हैं।

तात्पर्य : पतितात्माओं पर भगवान् की कृपा समान रूप से वितरित होती हैं। वे किसी से शत्रुता नहीं रखते। भगवान् को मनुष्य समझने की धारणा ही भ्रामक है। उनकी लीलाएँ मनुष्य के ही सदृश *प्रतीत* होती हैं, लेकिन वास्तव में वे दिव्य होती हैं और किसी भौतिक कल्मष से सर्वथा रहित होती हैं। निस्सन्देह, वे अपने शुद्ध भक्तों का पक्षपात करने वाले माने जाते हैं, लेकिन वास्तव में वे कभी पक्षपात करते नहीं, जिस प्रकार कि सूर्य किसी का पक्षपात नहीं करता। सूर्य की किरणों से कभी-कभी पत्थर भी बहुमूल्य बन जाता है, जबकि एक अन्धा व्यक्ति प्रचुर सूर्य-प्रकाश में रहकर भी देख नहीं पाता। अन्धकार तथा प्रकाश दो विपरीत धारणाएँ हैं, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता कि सूर्य अपनी किरणों का वितरण करने में पक्षपात करता है। सूर्य की किरणें सबों के लिए प्राप्य हैं, लेकिन ग्रहणकर्ताओं की क्षमताएँ भिन्न-भिन्न हैं। मूर्ख लोग सोचते हैं कि भक्ति तो भगवान् की चाटुकरिता करके उनकी विशेष कृपा प्राप्त करना है। वस्तुतः भगवान् की दिव्य प्रेममय सेवा में लगे शुद्ध भक्त कोई व्यापारी समुदाय नहीं हैं। व्यापारी वर्ग धन के विनिमय में सेवा करता है। लेकिन शुद्ध भक्त ऐसी लेन-देन के लिए सेवा नहीं करता। अतएव भगवान् की कृपा का द्वार उसके लिए सदैव खुला रहता है। विपदाग्रस्त तथा जरूरतमन्द लोग, जिज्ञासु या विचारक व्यक्ति भगवान् से किसी लाभ-सिद्धि के लिए उनसे अस्थायी सम्बन्ध स्थापित करते हैं। लेकिन जब उनका कार्य सिद्ध हो जाता है, तो वे भगवान् से कोई नाता नहीं रखते। कोई दुखियारा व्यक्ति यदि तनिक भी पवित्र होता है, तो भगवान् से छुटकारे के लिए प्रार्थना करता है। लेकिन जैसे ही उसके कष्ट दूर हो जाते हैं, बहुधा ऐसा आर्त व्यक्ति भगवान् से आगे अपना

सम्बन्ध बनाए रखने की कोई परवाह नहीं करता है। यद्यपि भगवान् की कृपा का द्वार उसके लिए खुला रहता है, किन्तु वह उससे कतराता है। एक शुद्ध भक्त तथा मिश्रित भक्त में यही अन्तर है। जो लोग भगवान् की सेवा के बिल्कुल विरुद्ध रहते हैं, वे निकृष्ट अन्धकार में रहे हुए माने जाते हैं; जो आवश्यकता के समय भगवान् से प्रार्थना करते हैं, वे कृपा के आंशिक पात्र हैं और जो भगवान् की सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं, वे भगवान् के पूर्ण कृपापात्र होते हैं। भगवान् की कृपा प्राप्त करने में ऐसा पक्षपात ग्रहणकर्ता के सापेक्ष है, न कि परम कृपालु भगवान् के पक्षपात के कारण।

जब भगवान् अपनी पूर्ण कृपामय शक्ति द्वारा इस जगत में अवतरित होते हैं, तो वे मनुष्य की भाँति क्रीड़ा करते हैं। अतएव, ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने भक्तों का पक्षपात करते हैं, लेकिन यह तथ्य नहीं है। ऐसे पक्षपात की प्रतीति के बावजूद, उनकी कृपा समान रूप से वितरित रहती है। कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में भगवान् के समक्ष जितने भी व्यक्ति युद्ध में मरे, उन सबको पात्रता को विचार किये बिना ही मुक्ति मिल गई, क्योंकि भगवान् के समक्ष मृत्यु होने से मरनेवाला जीव सभी कर्मफलों से शुद्ध हो जाता है और मरने वाले व्यक्ति को परम धाम में कहीं-न-कहीं स्थान मिलता है। यदि मनुष्य सूर्य-किरणों के समक्ष बैठे, तो उसे निश्चित रूप से उष्मा तथा परा-बैंगनी किरणों का लाभ होता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि भगवान् कभी पक्षपात नहीं करते। सामान्य मनुष्य का यह सोचना गलत होता है कि वे पक्षपात करते हैं।

जन्म कर्म च विश्वात्मन्नजस्याकर्तुरात्मनः ।
तिर्यङ्नृषिषु यादःसु तदत्यन्तविडम्बनम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

जन्म—जन्म; कर्म—कर्म; च—तथा; विश्व-आत्मन्—हे विश्व के आत्मा; अजस्य—अजन्मा की; अकर्तुः—निष्क्रिय की; आत्मनः—प्राण-शक्ति की; तिर्यक्—पशु; नृ—मनुष्य; ऋषिषु—ऋषियों में; यादःसु—जल में; तत्—वह; अत्यन्त—वास्तविक, अत्यन्त; विडम्बनम्—भ्रामक, चकराने वाली।

हे विश्वात्मा, यह सचमुच ही चकरा देनेवाली बात (विडम्बना) है कि आप निष्क्रिय रहते हुए भी कर्म करते हैं और प्राणशक्ति रूप तथा अजन्मा होकर भी जन्म लेते हैं। आप

स्वयं पशुओं, मनुष्यों, ऋषियों तथा जलचरों के मध्य अवतरित होते हैं। सचमुच ही यह चकरानेवाली बात है।

तात्पर्य : भगवान् की दिव्य लीलाएँ न केवल चकरानेवाली हैं, अपितु परस्पर विरोधी भी हैं। दूसरे शब्दों में, वे मनुष्य की सीमित चिन्तनशक्ति के लिए अचिन्त्य हैं। भगवान् सारे अस्तित्व में सर्वव्यापी परमात्मा हैं, तो भी पशुओं में शूकर बन कर, मनुष्यों में राम, कृष्ण इत्यादि के रूप में, ऋषियों में नारायण रूप में तथा जलचरों के बीच मत्स्य रूप में प्रकट होते हैं। इतने पर भी उन्हें अजन्मा कहा जाता है और उन्हें कुछ भी नहीं करना होता है। *श्रुति-मन्त्र* में कहा गया है कि परमब्रह्म को कुछ नहीं करना होता। कोई भी न तो उनके समान है, न उनसे बढ़कर है। उनकी शक्तियाँ विविध हैं और उनका हर काम स्वत: ज्ञान, शक्ति तथा कर्म द्वारा सम्पन्न होता है। ये सारे कथन निस्सन्देह यह सिद्ध करते हैं कि भगवान् की लीलाएँ, उनके रूप तथा उनके कार्यकलाप हमारी सीमित चिन्तन-शक्ति के लिए अचिन्त्य हैं। चूँकि वे कल्पना से परे शक्तिमान हैं, अत: उनके लिए हर कार्य सम्भव है। अत: उनके बारे में अनुमान लगा पाना कठिन है और इसीलिए भगवान् का प्रत्येक काम सामान्य मनुष्य को चकरा देने वाला है। उन्हें वैदिक ज्ञान द्वारा नहीं समझा जा सकता, लेकिन उन्हें शुद्ध भक्तों द्वारा सरलता से समझा जा सकता है, क्योंकि वे लोग भगवान् के घनिष्ठ सम्पर्क में रहते हैं। अतएव भक्तगण जानते हैं कि यद्यपि भगवान् पशुओं के बीच प्रकट होते हैं, लेकिन वे न तो पशु हैं, न मनुष्य, न ऋषि, न ही मछली हैं। वे समस्त परिस्थितियों में शाश्वत परमेश्वर हैं।

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्
या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम् ।
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

गोपी—ग्वालिन (यशोदा) ने; आददे—लिया; त्वयि—आप पर; कृतागसि—अड़चन डालने पर (मक्खन की मटकी फोड़ने पर); दाम—रस्सी; तावत्—उस समय; या—जो; ते—तुम्हारी; दशा—स्थिति; अश्रु-कलिल—अश्रुपूरित;

अञ्जन—काजल; सम्भ्रम—विचलित; अक्षम्—नेत्र; वक्त्रम्—चेहरा, मुँह; निनीय—नीचे की ओर; भय-भावनया—भय की भावना से; स्थितस्य—स्थिति का; सा—वह; माम्—मुझको; विमोहयति—मोहग्रस्त करती है; भीः अपि—साक्षात् भय भी; यत्—जिससे; बिभेति—भयभीत है।

हे कृष्ण, जब आपने कोई अपराध किया था, तब यशोदा ने जैसे ही आपको बाँधने के लिए रस्सी उठाई, तो आपकी व्याकुल आँखें अश्रुओं से डबडबा आईं, जिससे आपकी आँखों का काजल धुल गया। यद्यपि आपसे साक्षात् काल भी भयभीत रहता है, फिर भी आप भयभीत हुए। यह दृश्य मुझे मोहग्रस्त करनेवाला है।

तात्पर्य : यहाँ पर परमेश्वर की लीलाओं से उत्पन्न होने वाले मोह का एक दूसरा वर्णन दिया जा रहा है। भगवान् तो सभी परिस्थितियों में सर्वोपरि हैं, जैसे कि इसकी व्याख्या की जा चुकी है। यहाँ पर भगवान् का सर्वोपरि होने का एक विशिष्ट उदाहरण है और साथ ही साथ वे अपने शुद्ध भक्तों के साथ उनके अधीन रहकर क्रीड़ा भी कर रहे हैं। भगवान् का शुद्ध भक्त अनन्य प्रेम के कारण ही भगवान की सेवा करता है और ऐसी भक्तिमय सेवा करते हुए वह परमेश्वर की पद-स्थिति को भूल जाता है। भगवान् भक्तों की प्रेममयी सेवा का स्वीकार अधिक चाव से करते हैं, जब वह सेवा स्वयंस्फूर्त शुद्ध स्नेह से की जाती है, न कि पूज्य भाव से या प्रशंसा भाव से। सामान्य रूप से भगवान् अपने भक्तों द्वारा आदर की दृष्टि से पूजे जाते हैं, लेकिन भगवान् भक्त से तब विशेष प्रसन्न होते हैं, जब वह शुद्ध प्रेम तथा स्नेहवंश भगवान् को अपने से कम महत्त्वपूर्ण समझता है। भगवान् के मूल-धाम गोलोक वृन्दावन में भगवान् की सारी लीलाओं का आदान-प्रदान इसी मनोभाव से होता है। कृष्ण के मित्र उन्हें अपने ही जैसा एक मानते हैं। वे उन्हें आदरणीय महत्त्व के नहीं मानते। भगवान् के माता-पिता (जो सभी शुद्ध भक्त होते हैं) उन्हें केवल एक बालक मानते हैं। भगवान् अपने माता-पिता की प्रताड़नाओं को वैदिक स्तोत्रों द्वारा की गयी स्तुतियों से बढ़कर आनन्ददायी मानते हैं। इसी प्रकार वे अपनी प्रेमिकाओं के उलाहनों को वैदिक स्तोत्रों की अपेक्षा अधिक रुचि से सुनते हैं। जब भगवान् श्रीकृष्ण इस धराधाम में, मूल गोलोक वृन्दावन के दिव्य जगत की नित्य लीलाओं को जनसामान्य के आकर्षण के लिए प्रकट करने के निमित्त उपस्थित थे, तो वे अपनी पालक-माता यशोदा के समक्ष विलक्षण विनीत भाव प्रकट करते रहे। वे अपनी बालोचित क्रीड़ाओं से यशोदा माता द्वारा एकत्र करके रखे गये

माखन की मटकी तोड़कर उसका सारा माखन बरवाद कर देते थे और उसे मित्रों तथा संगियों में, यहाँ तक कि वृन्दावन के प्रसिद्ध बन्दरों में भी बाँट दिया करते थे और वे सब भगवान् की इस दानशीलता का लाभ उठाते थे। जब यशोदा यह देखतीं, तो वे शुद्ध प्रेमवश इस दिव्य बालक को अपने दण्ड का दिखावा करतीं। वे रस्सी लेकर धमकातीं कि वे उन्हें बाँध देंगी, जिस प्रकार कि सामान्य घरों में किया जाता है। माता यशोदा के हाथ में रस्सी देखकर, भगवान् अपना सिर नीचे करके सामान्य बालक की भाँति रो पड़ते और उनके अश्रुओं से उनकी सुन्दर आँखों में लगा काजल धुलकर कपोलों पर ढुलक पड़ता। कुन्ती देवी ने भगवान् के इस रूप की पूजा की, क्योंकि वे उनकी परम स्थिति के प्रति सचेष्ट थीं। जिनसे साक्षात् भय भी भयभीत रहता है, वे भगवान् अपनी माता से भयभीत हैं, क्योंकि माता उन्हें सामान्य तरीके से दण्डित करना चाह रही थीं। कुन्ती को भगवान् की श्रेष्ठ स्थिति का पता था, लेकिन यशोदा को नहीं था। अतएव यशोदा की स्थिति कुन्ती की स्थिति से श्रेष्ठ है। माता यशोदा को भगवान् उनके शिशु-रूप में प्राप्त हुए थे और भगवान् ने उन्हें भुलवा दिया था कि उनका बालक साक्षात् भगवान् है। यदि मातायशोदा को भगवान् की दिव्य स्थिति का पता होता, तो वे अवश्य ही भगवान् को दण्डित करते हुए हिचकतीं। लेकिन उन्हें यह स्थिति भुलवा दी गई, क्योंकि भगवान् ममतामयी यशोदा के समक्ष पूर्ण बाल-चापल्य का भाव प्रदर्शित करना चाहते थे। माता तथा पुत्र के बीच प्रेम का यह आदान-प्रदान सहज रूप में सम्पन्न हुआ और कुन्ती इस दृश्य का स्मरण करके मोहित थीं, क्योंकि वे दिव्य पुत्र-प्रेम की सराहना करने के अतिरिक्त कर ही क्या सकती थीं? परोक्ष रूप में यशोदा की प्रशंसा उनके प्रेम की दिव्य स्थिति के लिए की जा रही है, क्योंकि वे सर्वशक्तिमान भगवान् को भी अपने प्रिय पुत्र के रूप में वश में कर सकी थीं।

केचिदाहुरजं जातं पुण्यश्लोकस्य कीर्तये ।
यदोः प्रियस्यान्ववाये मलयस्येव चन्दनम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

केचित्—कोई; आहुः—कहता है; अजम्—अजन्मा; जातम्—उत्पन्न; पुण्य-श्लोकस्य—महान पुण्यात्मा राजा की; कीर्तये—कीर्ति-विस्तार करने के लिए; यदोः—राजा यदु का; प्रियस्य—प्रिय; अन्ववाये—कुल में; मलयस्य—मलय पर्वत का; इव—सदृश; चन्दनम्—चन्दन।

कुछ कहते हैं कि अजन्मा का जन्म पुण्यात्मा राजाओं की कीर्तिका विस्तार करने के लिए हुआ है और कुछ कहते हैं कि आप अपने परम भक्त राजा यदु को प्रसन्न करने के लिए जन्मे हैं। आप उसके कुल में उसी प्रकार प्रकट हुए हैं, जिस प्रकार मलय पर्वत में चन्दन होता है।

तात्पर्य : चूँकि इस भौतिक जगत में भगवान् का प्राकट्य व्यामोह में ड़ालने वाला है, अतएव अजन्मा के जन्म के विषय में विभिन्न मत हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि यद्यपि वे सारी सृष्टि के स्वामी तथा अजन्मा हैं, फिर भी वे इस भौतिक जगत में जन्म लेते हैं। अतएव अजन्मा के जन्म से इनकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि स्वयं भगवान् ने इस सत्य को प्रतिष्ठित किया है। फिर भी उनके जन्म को लेकर विभिन्न मत प्रचलित हैं। *भगवद्गीता* में भी इसकी घोषणा हुई है। वे अपनी अन्तरंगा शक्ति से धर्म की स्थापना करने तथा पुण्यात्माओं की रक्षा करने और पापियों का विनाश करने के लिए प्रकट होते हैं। उन अजन्मा के प्राकट्य का यही उद्देश्य है। फिर भी यह कहा जाता है कि पुण्यश्लोक राजा युधिष्ठिर की कीर्ति का विस्तार करने के लिए भगवान् आये। निश्चय ही, भगवान् श्रीकृष्ण सारे विश्व के कल्याण हेतु पाण्डवों का राज्य स्थापित करना चाहते थे। जब संसार में पुण्यात्मा राजा शासन करता है, तो लोग सुखी रहते हैं। जब राजा पापी होता है, तो लोग सुखी नहीं रहते। इस कलियुग में, अधिकांश राजा पापी हैं, अतएव नागरिक भी लगातार दुखी रहते हैं। लेकिन प्रजातन्त्र में तो पापी नागरिक अपने प्रतिनिधि का चुनाव स्वयं करते हैं, अतएव वे अपने दुख के लिए किसी अन्य को दोष नहीं दे सकते। महाराज नल भी एक महान पुण्यात्मा राजा के रूप में विख्यात थे, लेकिन उनका भगवान् कृष्ण से कोई वास्ता न था, अतएव यहाँ पर कृष्ण द्वारा महिमामंडित किये जाने में महाराज युधिष्ठिर से ही तात्पर्य है। राजा यदु के कुल में जन्म लेकर भगवान् ने उनकी भी कीर्ति बढ़ायी थी। यद्यपि वे यादव, यदुवीर, यदुनन्दन आदि के नाम से विख्यात हैं, फिर भी भगवान् ऐसे ऋण से निर्लिप्त

रहते हैं। वे उस चन्दन के समान हैं, जो मलय पर्वत में उगता है। वृक्ष तो कहीं भी और सर्वत्र उगते हैं, लेकिन चन्दन का वृक्ष विशेष रूप से मलय पर्वत के क्षेत्र में उगता है, इसलिए चन्दन तथा मलय पर्वत का नाम परस्पर जुड़ा हुआ है। अतएव निष्कर्ष यह निकलता है कि भगवान् सूर्य के समान सदैव अजन्मा हैं, फिर भी वे उसी प्रकार प्रकट होते हैं, जिस प्रकार सूर्य पूर्वी क्षितिज में उदय होता है। जिस प्रकार सूर्य कभी पूर्वी क्षितिज का ही बनकर नहीं रह जाता, उसी तरह भगवान् किसी के पुत्र नहीं, अपितु वे समस्त वस्तुओं के पिता (जनक) हैं।

अपरे वसुदेवस्य देवक्यां याचितोऽभ्यगात् ।
अजस्त्वमस्य क्षेमाय वधाय च सुरद्विषाम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अपरे—अन्य लोग; वसुदेवस्य—वसुदेव का; देवक्याम्—देवकी का; याचितः—प्रार्थना किये जाने पर; अभ्यगात्—जन्म लिया; अजः—अजन्मा; त्वम्—आप; अस्य—इसके; क्षेमाय—कल्याण के लिए; वधाय—वध करने के लिए; च—तथा; सुर-द्विषाम्—देवताओं से ईर्ष्या करनेवालों का।

अन्य लोग कहते हैं कि चूँकि वसुदेव तथा देवकी दोनों ने आपके लिए प्रार्थना की थी, अतएव आप उनके पुत्र-रूप में जन्मे हैं। निस्सन्देह, आप अजन्मा हैं, फिर भी आप देवताओं का कल्याण करने तथा उनसे ईर्ष्या करनेवाले असुरों को मारने के लिए जन्म स्वीकार करते हैं।

तात्पर्य : यह भी कहा जाता है कि भगवान् को पुत्र-रूप में प्राप्त करने के लिए वसुदेव तथा देवकी ने अपने पूर्व-जन्म में सुतपा तथा पृश्नि के रूप में कठिन तपस्या की थी। इसके फलस्वरूप भगवान् उनके पुत्र-रूप में प्रकट हुए। *भगवद्गीता* में पहले ही घोषित किया जा चुका है कि भगवान् संसार के समस्त लोगों का कल्याण करने तथा असुरों या भौतिकतावादी नास्तिकों का विनाश करने के लिए प्रकट होते हैं।

भारावतारणायान्ये भुवो नाव इवोदधौ ।
सीदन्त्या भूरिभारेण जातो ह्यात्मभुवार्थितः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

भार-अवतारणाय—संसार का भार कम करने के लिए; अन्ये—अन्य लोग; भुवः—संसार का; नावः—नाव; इव—सदृश; उदधौ—समुद्र में; सीदन्त्याः—आर्त, दुखी; भूरि—अत्यधिक; भारेण—भार से; जातः—उत्पन्न; हि—निश्चय ही; आत्म-भुवा—ब्रह्मा द्वारा; अर्थितः—प्रार्थना किये जाने पर।

कुछ कहते हैं कि जब यह संसार, भार से बोझिल समुद्री नाव की भाँति, अत्यधिक पीड़ित हो उठा तथा आपके पुत्र ब्रह्मा ने प्रार्थना की, तो आप कष्ट का शमन करने के लिए अवतरित हुए हैं।

तात्पर्य : सृष्टि के पश्चात् तुरन्त उत्पन्न हुए ब्रह्मा प्रथम जीव हैं तथा नारायण के प्रत्यक्ष पुत्र हैं। गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में नारायण सर्वप्रथम भौतिक ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट हुए। आध्यात्मिक सम्पर्क के बिना पदार्थ से सृष्टि नहीं हो सकती। इस सिद्धान्त का पालन सृष्टि के प्रारम्भ से ही किया जाता रहा है। परम आत्मा ब्रह्माण्ड में प्रवेश कर गये और विष्णु की दिव्य नाभि से अंकुरित हुए कमल पुष्प से प्रथम जीव ब्रह्मा का जन्म हुआ। इसीलिए विष्णु पद्मनाभ कहलाते हैं। ब्रह्मा *आत्म-भू* कहलाते हैं, क्योंकि इनका जन्म माता लक्ष्मी से सम्पर्क के बिना साक्षात् अपने पिता से हुआ था। लक्ष्मी जी नारायण के निकट उपस्थित थी और भगवान् की सेवा में तन्मय थीं, तो भी लक्ष्मीजी से सम्पर्क किए बिना ही नारायण ने ब्रह्मा को उत्पन्न किया। यही है भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता। जो व्यक्ति मूर्खतावश नारायण को सामान्य जीवों के समान मानता है, उसे इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। नारायण कोई सामान्य जीव नहीं हैं। वे साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान् हैं और उनके दिव्य शरीर के सभी अंगों में सभी इन्द्रियों की सम्पूर्ण शक्तियाँ भरी हुइ होती हैं। सामान्य जीव मैथुन द्वारा ही शिशु को जन्म देता है; उसके पास शिशु उत्पन्न करने के लिए उसे प्राप्त साधन से इतर कोई अन्य उपाय नहीं होता। लेकिन सर्वशक्तिमान होने के कारण, नारायण किसी प्रकार की स्थिति या शक्ति से बँधे नहीं हैं। वे पूर्ण हैं और अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा, अत्यन्त सुगमता के साथ तथा पूरी तरह से कुछ भी करने के लिए स्वतन्त्र हैं। अतएव ब्रह्मा अपने पिता से सीधे उत्पन्न हुए हैं; उन्हें माता के गर्भ में नहीं रहना पड़ा। इसीलिए वे *आत्म-भू* कहलाये। यही ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड की अगली सारी सृष्टियों के लिए प्रभारी हैं, जो सर्वशक्तिमान की शक्ति द्वारा गौण रूप में प्रतिबिम्बित हैं। इस ब्रह्माण्ड मण्डल के भीतर श्वेतद्वीप नामक एक

दिव्य ग्रह है, जो क्षीरोदकशायी विष्णु या परमेश्वर के परमात्मा-रूप का धाम है। जब कभी ब्रह्माण्ड में कोई ऐसा संकट उत्पन्न होता है, जिसे अधिशासी देवता नहीं सुलझा पाते, तब वे इसके निवारण के लिए ब्रह्माजी के पास जाते हैं। यदि ब्रह्माजी भी इसे नहीं सुलझा पाते, तो वे क्षीरोदकशायी विष्णु के पास परामर्श करते हैं, और उनसे अवतार लेकर समस्या का समाधान करने की प्रार्थना करते हैं। ऐसी समस्या कंस तथा अन्य राजाओं के शासन-काल में उत्पन्न हुई और यह पृथ्वी असुरों के दुष्कर्मों से बोझिल हो उठी। तब अन्य देवताओं-समेत ब्रह्मा ने क्षीरोदक सागर के तट पर जाकर प्रार्थना की। तब उन्हें बताया गया कि कृष्ण जी वसुदेव तथा देवकी के पुत्र-रूप में अवतार लेंगे। अतएव कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् का आविर्भाव ब्रह्माजी द्वारा प्रार्थना करने से हुआ।

भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः ।
श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

भवे—भौतिक संसार में; अस्मिन्—इस; क्लिश्यमानानाम्—कष्ट भोगने-वालों का; अविद्या—अज्ञान; काम—इच्छा; कर्मभिः—सकाम कर्म करने के कारण; श्रवण—सुनने; स्मरण—याद करने; अर्हाणि—पूजन; करिष्यन्—कर सकता है; इति—इस प्रकार; केचन—अन्य लोग।

तथा कुछ कहते हैं कि आप श्रवण, स्मरण, पूजन आदि की भक्ति को जागृत करने के लिए प्रकट हुए हैं, जिससे भौतिक कष्टों को भोगनेवाले बद्धजीव इसका लाभ उठाकर मुक्ति प्राप्त कर सकें।

तात्पर्य : श्रीमद् *भगवद्गीता* में भगवान् स्पष्ट रूप से कहते हैं कि वे प्रत्येक युग में धर्म-पंथ की पुनःस्थापना करने के लिए प्रकट होते हैं। यह धर्म-पंथ भगवान् द्वारा निर्मित किया जाता है। कोई भी व्यक्ति नवीन धर्म-पंथ निर्मित नहीं कर सकता, जैसाकि कुछ महत्त्वाकांक्षी लोगों के लिए यह फैशन बन गइ है। वास्तविक धर्म-पंथ यह है कि भगवान् को परम सत्ता के रूप में स्वीकार करके स्वयंस्फूत मानकर, प्रगाढ़ प्रेम में उनकी सेवा की जाय। जीव को तो सेवा करनी ही है, क्योंकि स्वभावतः वह इसी के लिए बना है। जीव का एकमात्र कार्य भगवान् की सेवा

करना है। भगवान् महान् हैं और जीव उनके अधीनस्थ हैं। अतएव जीव का कर्तव्य उनकी सेवा करना मात्र है। दुर्भाग्यवश, मोहग्रस्त जीव अज्ञानवश भौतिक इच्छा के कारण इन्द्रियों के दास बन जाते हैं। यह इच्छा *अविद्या* या अज्ञान कहलाती है। ऐसी इच्छा से ही जीव विकृत विषयी-जीवन पर केन्द्रित भौतिक भोग के लिए तरह-तरह की योजनाएँ बनाता है। अतएव जीव परमेश्वर की अध्यक्षता में, विभिन्न लोकों में विभिन्न शरीरों में देहान्तर करते हुए, जन्म-मृत्यु के चक्र में फँस जाता है। अतएव जब तक कोई इस अविद्या की परिघि से बाहर नहीं निकल लेता, तब तक वह जीवन के त्रिविध तापों से मुक्त नहीं हो सकता। यही प्रकृति का नियम है।

फिर भी भगवान् कष्ट भोगनेवाले जीवों पर अपनी अहैतुकी कृपावश उनके समक्ष प्रकट होकर श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, स्तवन, आत्मनिवेदन तथा शरणागति से युक्त भक्ति के सिद्धान्तों को जागृत करते हैं, क्योंकि वे कष्ट भोग रहे जीवों पर इतने अधिक कृपालु हैं कि जितनी जीव आशा भी नहीं रखते। उपर्युक्त में से सारी विधियों या किसी एक विधि को ग्रहण करने से बद्धजीव अविद्या के बन्धन से छूट कर बहिरंगा शक्ति के द्वारा भरमाए गये समस्त भौतिक कष्टों से मुक्त हो जाता है। जीवों पर इस प्रकार की कृपा भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में भगवान् द्वारा प्रदान की गई है।

श्रृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

श्रृण्वन्ति—सुनते हैं; गायन्ति—कीर्तन करते हैं; गृणन्ति—ग्रहण करते हैं; अभीक्ष्णशः—निरन्तर; स्मरन्ति—स्मरण करते हैं; नन्दन्ति—हर्षित होते हैं; तव—आपके ; ईहितम्—कार्य-कलापों को; जनाः—लोग; ते—वे; एव—निश्चय ही; पश्यन्ति—देख सकते हैं; अचिरेण—शीघ्र ही; तावकम्—आपका; भव-प्रवाह—पुनर्जन्म की धारा; उपरमम्—बन्द होना, रोकना; पद-अम्बुजम्—चरणकमल।

हे कृष्ण, जो आपके दिव्य कार्यकलापों का निरन्तर श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण करते हैं या दूसरों को ऐसा करते देखकर हर्षित होते हैं, वे निश्चय ही आपके उन चरणकमलों का दर्शन करते हैं, जो जन्म-मृत्यु के पुनरागमन को रोकनेवाले हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण हमारी इस बद्ध भौतिक दृष्टि से नहीं देखे जा सकते। उनका दर्शन पाने के लिए मनुष्य को भगवान् के स्वजात प्रगाढ़ प्रेम से युक्त, भिन्न प्रकार की जीवन-अवस्था का विकास करके अपनी वर्तमान दृष्टि को बदलना होगा। जब श्रीकृष्ण इस धराधाम में सशरीर विद्यमान थे, तो सभी लोग उन्हें पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् के रूप में नहीं देख सके। रावण, हिरण्यकशिपु, कंस, जरासन्ध तथा शिशुपाल जैसे भौतिकतावादी भौतिक सम्पत्ति अर्जित करके उच्च योग्यताधारी व्यक्ति बन गये थे, लेकिन वे भगवान् की उपस्थिति को समझ पाने में असमर्थ थे। अतएव भले ही भगवान् हमारे नेत्रों के सामने उपस्थित क्यों न हों, जब तक हमारे पास अपेक्षित दृष्टि नहीं होती, तब तक उनको देख पाना असम्भव है। यह अपेक्षित योग्यता एकमात्र भक्तिमय सेवा द्वारा उत्पन्न होती है, जिसका शुभारम्भ उचित स्रोत से भगवान् के विषय में श्रवण करने से होता है। *भगवद्गीता* ऐसा लोकप्रिय ग्रंथ है, जिसे सामान्य लोग सुनते, गाते तथा बारम्बार पढ़ते हैं, लेकिन कभी-कभी ऐसा अनुभव होता है कि ऐसी भक्ति सम्पन्न करनेवाला व्यक्ति भगवान् का साक्षात् दर्शन नहीं कर पाता। इसका कारण यह है कि श्रवण नामक पहली विधि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि श्रवण सही स्रोत से किया जाय, तो इसका प्रभाव तुरन्त पड़ता है। सामान्यतया लोग अनधिकृत व्यक्तियों से श्रवण करते हैं। ऐसे अनधिकृत व्यक्ति शैक्षणिक योग्यताओं में भले ही प्रकाण्ड विद्वान हों, किन्तु उनके द्वारा भक्ति के सिद्धान्तों का पालन न किए जाने के कारण उनसे श्रवण करना केवल समय का अपव्यय ही होगा। कभी-कभी मूल पाठ की व्याख्या कलात्मक ढंग से इस तरह की जाती है, जिससे वे अपना खुद का हेतु सिद्ध कर सके। अतएव सर्वप्रथम सक्षम तथा योग्य वक्ता चुनना होगा और तब उससे ही श्रवण करना होगा। जब श्रवण-विधि पूर्ण तथा पक्की हो जाती है, तो अन्य विधियाँ स्वत: ही पूरी हो जाती हैं।

भगवान् के अनेक दिव्य कार्यकलाप हैं और इनमें से हर एक से वांछित फल प्राप्त हो सकता है, बशर्ते कि श्रवण-विधि परिपूर्ण हो। *भागवत* में भगवान् के कार्यकलाप पाण्डवों के साथ उनके व्यवहार से प्रारम्भ होते हैं। असुरों तथा अन्यों के साथ बर्ताव के सम्बन्ध में भी भगवान् की अन्य अनेक लीलाएं हैं। और दसवें स्कन्ध में उनकी प्रिय गोपिकाओं के साथ ही साथ द्वारका में उनकी अपनी पत्नियों के साथ के व्यवहार का वर्णन है। चूँकि भगवान् परम अवस्था में हैं, अतएव उनके प्रत्येक व्यवहार के दिव्य स्वभाव में कोई अन्तर नहीं है। लेकिन कभी-कभी लोग अनधिकृत श्रवण करते समय, गोपियों के साथ भगवान् के व्यवहार (क्रीड़ाओं) में अधिक रुचि लेते हैं। ऐसी मनोवृत्ति श्रोता के कामुक विचारों की सूचक है। अतएव भगवान् की क्रीड़ाओं का प्रामाणिक वक्ता कभी भी ऐसी बातें सुनाने में उलझता नहीं। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के विषय में प्रारम्भ से ही *श्रीमद्भागवत* या अन्य शास्त्रों से श्रवण करे। इससे श्रोता को उत्तरोत्तर पूर्णता प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। अतएव किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि गोपियों के साथ भगवान् का व्यवहार पाण्डवों के साथ उनके व्यवहार से कम महत्त्वपूर्ण है। हमें यह सदा स्मरण में रखना चाहिए कि भगवान् सदैव समस्त संसारी आसक्ति से परे रहने वाले हैं। उपर्युक्त समस्त आचरणों में वे ही नायक हैं और उनके विषय में या उनके भक्तों या उनके प्रतियोद्धाओं के विषय में श्रवण करना आध्यात्मिक जीवन के लिए अनुकूल है। ऐसा कहा जाता है कि सारे वेद, पुराण इत्यादि भगवान् से हमारे विसरे हुए सम्बन्धों को पुनरुज्जीवित करने के लिए हैं। इन सभी शास्त्रों को सुनना आवश्यक है।

अप्यद्य नस्त्वं स्वकृतेहित प्रभो
जिहाससि स्वित्सुहृदोऽनुजीविनः ।
येषां न चान्यद्भवतः पदाम्बुजात्
परायणं राजसु योजितांहसाम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

अपि—यदि; अद्य—आज; नः—हमको; त्वम्—आप; स्व-कृत—अपने आप सम्पन्न; ईहित—सारे कर्म; प्रभो—हे मेरे प्रभु; जिहाससि—त्यागते हो; स्वित्—सम्भवतः; सुहृदः—घनिष्ठ मित्र; अनुजीविनः—दया पर निर्भर; येषाम्—जिनका;

न—न तो; **च—**तथा; **अन्यत्—**कोई अन्य; **भवतः—**आपके; **पद-अम्बुजात्—**चरणकमलों से; **परायणम्—**आश्रित; **राजसु—**राजाओं के प्रति; **योजित—**लगे हुए; **अंहसाम्—**शत्रुता।

हे मेरे प्रभु, अपने सारे कर्तव्य स्वयं पूरे कर दिये हैं। आज जब हम आपकी कृपा पर पूरी तरह आश्रित हैं और जब हमारा और कोई रक्षक नहीं है और जब सारे राजा हमसे शत्रुता किये हुए हैं, तो क्या आप हमें छोड़कर चले जायेंगे?

तात्पर्य : पाण्डव अत्यन्त भाग्यशाली थे, क्योंकि सौभाग्यवश वे भगवान् की कृपा पर पूरी तरह आश्रित थे। भौतिक जगत में, किसी की दया पर आश्रित होना घोर दुर्भाग्य का चिह्न होता है, लेकिन भगवान् के साथ जहाँ तक हमारे दिव्य सम्बन्ध की बात है, तो जब हम भगवान् पर पूर्ण रूप से आश्रित होते हैं, तब यह हमारा परम सौभाग्य होता है। भौतिक रोग का कारण सबसे सर्वथा स्वतन्त्र बनने का विचार है। लेकिन क्रूर भौतिक प्रकृति हमें स्वतन्त्र नहीं बनने देती। प्रकृति के कठोर नियमों से स्वतन्त्र होने के मिथ्या प्रयास को, प्रयोगात्मक ज्ञान की भौतिक उन्नति माना जाता है। प्रकृति के नियमों से स्वतन्त्र बनने के इस मिथ्या प्रयास के फलस्वरूप सारा ही भौतिक जगत गतिशील है। स्वर्गलोक तक सीधी सीढ़ी तैयार करने के इच्छुक रावण से लेकर वर्तमान युग तक, सभी लोग प्रकृति के नियमों पर विजय पाने का प्रयास कर रहे हैं। अब वे लोग इलेक्ट्रानिक यान्त्रिक शक्ति से सुदूर लोकों तक पहुँचना चाह रहे हैं। लेकिन मानव सभ्यता का सर्वोच्च लक्ष्य भगवान् के मार्गदर्शन में कठिन श्रम करना तथा पूर्ण रूप से उन्हीं पर आश्रित हो जाना है। पूर्ण सभ्यता की चरम उपलब्धि, वीरतापूर्वक कार्य करते हुए, भगवान् पर पूर्ण रूप से आश्रित रहना है। पाण्डव-जन सभ्यता के इस मानक के आदर्श पालक थे। निस्सन्देह वे भगवान् श्रीकृष्ण की सदिच्छा पर पूर्ण रूप से आश्रित थे, लेकिन वे भगवान् पर आश्रित रहनेवाले आलसी परजीवियों जैसे न थे। वे सभी व्यक्तिगत आचरण तथा भौतिक कार्यों में परम योग्य थे। तो भी वे भगवान् के कृपाकांक्षी थे, क्योंकि वे जानते थे कि प्रत्येक जीव अपनी स्वाभाविक स्थिति के कारण आश्रित है। अतएव जीवन की पूर्णता इसी में है कि भौतिक जगत में झूठे ही स्वतन्त्र होने के बजाय, परमेश्वर की इच्छा पर आश्रित रहा जाय। जो लोग झूठे ही भगवान् से स्वतन्त्र रहना चाहते हैं, वे *अनाथ* कहलाते हैं, जिसका अर्थ है कि उनका कोई संरक्षक नहीं है, किन्तु जो

भगवद्-इच्छा पर पूरी तरह से आश्रित रहते हैं, वे *सनाथ* कहलाते हैं, अर्थात् उनका कोई संरक्षक है। अतएव हमें सदैव *सनाथ* बनने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे हम इस भौतिक अस्तित्व की प्रतिकूल परिस्थितियों से सुरक्षित रह सकें। बाह्य भौतिक प्रकृति की भ्रामक शक्ति के कारण हम यह भूल जाते हैं कि जीवन की भौतिक दशा अत्यन्त अवांछनीय उलझन है। अतएव *भगवद्गीता* (७.१९) हमें निर्देश करती है कि अनेकानेक जन्मों के पश्चात् ही कोई भाग्यशाली व्यक्ति इस तथ्य से अवगत हो पाता है कि वासुदेव ही सर्वेसर्वा हैं और जीवन जीने की सर्वश्रेष्ठ विधि यह है कि पूर्ण रूप से भगवान् के शरणागत हुआ जाय। यही एक *महात्मा* का लक्षण होता है। पाण्डव परिवार के सारे सदस्य गृहस्थ जीवन में महात्मा थे। महाराज युधिष्ठिर इन महात्माओं में अग्रणी थे और महारानी कुन्ती देवी इनकी माता थीं। अतएव *भगवद्गीता* तथा समस्त पुराण और उनमें से विशेष रूप से *भागवतपुराण* की शिक्षाएँ अनिवार्यतः पाण्डव महात्माओं के इतिहास से जुड़ी हुई हैं। उनके लिए भगवान् का विछोह वैसे ही था, जैसे मछली का जल से विलग होना। अतएव कुन्ती देवी को ऐसा विछोह वज्रपात-सदृश प्रतीत हुआ। इसीलिए उनकी सारी प्रार्थना भगवान् को अपने साथ रहने के लिए राजी करने के लिए प्रयास है। कुरुक्षेत्र-युद्ध के बाद, यद्यपि सारे शत्रु राजा मारे जा चुके थे, लेकिन उनके पुत्र तथा पौत्र पाण्डवों से निपटने के लिए अभी भी जीवित थे। ऐसा नहीं है कि पाण्डवों को ही ऐसी शत्रुता का सामना करना पड़ा हो, अपितु हम सभी सदा ऐसी स्थिति में रहते हैं। अतएव जीने के लिए सर्वोतम विधि यही है कि भगवदिच्छा पर आश्रित रहा जाय और संसार की सभी आपदाओं से पार पाया जाय।

के वयं नामरूपाभ्यां यदुभिः सह पाण्डवाः ।
भवतोऽदर्शनं यर्हि हृषीकाणामिवेशितुः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

के—कौन हैं; **वयम्**—हम; **नाम-रूपाभ्याम्**—ख्याति तथा सामर्थ्यरहित; **यदुभिः**—यदुओं के; **सह**—साथ; **पाण्डवाः**—तथा पाण्डवगण; **भवतः**—आपकी; **अदर्शनम्**—अनुपस्थिति; **यर्हि**—मानो; **हृषीकाणाम्**—इन्द्रियों का; **इव**—सदृश; **ईशितुः**—जीव का।

जिस तरह आत्मा के अदृश्य होते ही शरीर का नाम तथा यश समाप्त हो जाता है, उसी तरह यदि आप हमारे ऊपर कृपा-दृष्टि नहीं करेंगे, तो पाण्डवों तथा यदुओं समेत हमारा यश तथा गतिविधियाँ तुरन्त ही नष्ट हो जाएँगी।

तात्पर्य : कुन्ती देवी को पूरी तरह ज्ञात है कि पाण्डवों का अस्तित्व एक-मात्र श्रीकष्ण के कारण है। निस्सन्देह, पाण्डव अपने नाम तथा ख्याति में पूरी तरह प्रतिष्ठित थे और धर्मात्मा महाराज युधिष्ठिर द्वारा उनका मार्गदर्शन हो रहा था; यदुगण मित्र थे, लेकिन श्रीकृष्ण के मार्गदर्शन के बिना उन सबका कोई अस्तित्व नहीं था, जिस प्रकार चेतना के बिना शरीर की सारी इन्द्रियाँ व्यर्थ रहती हैं। किसी को भी परमेश्वर की कृपा द्वारा मार्गदर्शन प्राप्त किये बिना अपनी प्रतिष्ठा, शक्ति तथा यश का गर्व नहीं होना चाहिए। जीव सदैव आश्रित हैं और अनन्तिम आश्रयदाता भगवान् स्वयं ही हैं। अतएव, भले ही हम अपने भौतिक ज्ञान की उन्नति द्वारा, कितने ही प्रतिगामी भौतिक साधन क्यों न जुटा लें, लेकिन भगवान् के मार्गदर्शन बिना ऐसे सारे आविष्कार, चाहे वे कितने प्रबल एवं प्रतिक्रियाकारी क्यों न हों, बंटाधार हो जाते हैं।

नेयं शोभिष्यते तत्र यथेदानीं गदाधर ।
त्वत्पदैरङ्किता भाति स्वलक्षणविलक्षितैः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; इयम्—यह हमारा राज्य; शोभिष्यते—सुन्दर लगेगा; तत्र—तब; यथा—जैसा अब है, इस रूप में; इदानीम्—कैसे; गदाधर—हे कृष्ण; त्वत्—आपके; पदैः—चरणों के द्वारा; अङ्किता—अंकित; भाति—शोभायमान हो रही है; स्व-लक्षण—आपके चिह्नों से; विलक्षितैः—चिह्नों से।

हे गदाधर (कृष्ण), इस समय हमारे राज्य में आपके चरण-चिह्नों की छाप पड़ी हुई है, और इसके कारण यह सुन्दर लगता है, लेकिन आपके चले जाने पर यह ऐसा नहीं रह जायेगा।

तात्पर्य : भगवान् के चरणों में कुछ विशिष्ट चिह्न होते हैं, जिनके कारण वे अन्यों से भिन्न हैं। भगवान् के चरणतल (तलवे) में ध्वजा, वज्र, अंकुश, छत्र, कमल, चक्र आदि चिह्न बने रहते हैं। जहाँ-जहाँ भगवान् चलते हैं, वहाँ की नरम भूमि की रज पर ये चिह्न अंकित होते जाते हैं।

अतएव जब श्रीकृष्ण पाण्डवों के साथ रह रहे थे, तो हस्तिनापुर की भूमि इस प्रकार से अंकित हो गई थी और इन शुभ चिह्नों के कारण पाण्डवों का राज्य फूल-फल रहा था। कुन्ती देवी ने इन प्रतिष्ठित लक्षणों की ओर संकेत किया और वे भगवान् की अनुपस्थिति में दुर्भाग्य के प्रति भयातुर थी।

इमे जनपदाः स्वृद्धाः सुपक्वौषधिवीरुधः ।
वनाद्रिनद्युदन्वन्तो ह्येधन्ते तव वीक्षितैः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

इमे—ये सब; जन-पदाः—नगर तथा शहर; स्वृद्धाः—समृद्ध; सुपक्व—पूर्ण रूप से पक्व; औषधि—जड़ी-बूटी; वीरुधः—वनस्पतियाँ; वन—जंगल; अद्रि—पहाड़ियाँ; नदी—नदियाँ; उदन्वन्तः—समुद्र; हि—निश्चय ही; एधन्ते—वृद्धि करते हुए; तव—आपके; वीक्षितैः—देखने से।

ये सारे नगर तथा ग्राम सब प्रकार से समृद्ध हो रहे हैं, क्योंकि जड़ी-बूटियों तथा अन्नों की प्रचुरता है, वृक्ष फलों से लदे हैं, नदियाँ बह रही हैं, पर्वत खनिजों से तथा समुद्र सम्पदा से भरे पड़े हैं। और यह सब उन पर आपकी कृपा-दृष्टि पड़ने से ही हुआ है।

तात्पर्य : मानव-सम्पन्नता प्राकृतिक उपहारों से बढ़ती है, न कि विशाल औद्योगिक उद्यमों से। ये विशाल औद्योगिक संस्थान ईश्वरविहीन सभ्यता के प्रतिफल हैं और वे मानव जीवन के कल्याणकारी उद्देश्यों का विनाश करनेवाले हैं। मनुष्य की प्राण-शक्ति को निचोड़ देने वाले इन कष्टप्रद उद्योगों को जितना ही अधिक बढ़ाया जायेगा, जनसामान्य में उतना ही अधिक असन्तोष फैलेगा, भले ही कुछ लोग इस शोषण द्वारा ठाठ-बाट से रह लें। अन्न, वनस्पतियाँ, फल, नदियाँ, रत्नों तथा खनिजों से पूर्ण पर्वत तथा मुक्ताओं से भरे हुए समुद्र—ये सब प्राकृतिक वरदान हैं, जिनकी पूर्ति परमेश्वर के आदेश से होती है और उनकी इच्छा के अनुसार ही प्रकृति उन्हें प्रचुर मात्रा में उत्पन्न करती है या उनका अभाव ला देती है। प्राकृतिक नियम ऐसा है कि मनुष्य इन ईश्वरप्रदत्त वरदानों का लाभ उठाये तथा प्रकृति पर प्रभुत्व जताने के उद्देश्य से शोषण की प्रवृत्ति छोड़कर, सन्तोष धारण करके समृद्ध बने। अपनी भोगवादी लालसा से हम प्रकृति का शोषण जितना अधिक करने का प्रयास करेंगे, ऐसी शोषणकारी प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया द्वारा हम उतने ही

अधिक फँसते जायेंगे। यदि हमारे पास प्रचुर मात्रा में अन्न, फल, शाक-सब्जी तथा औषधियाँ हैं, तो फिर कसाई घर चलाने और दीन पशुओं का वध करने की क्या जरूरत है? मनुष्य को पशु-वध करने की आवश्यकता नहीं है, यदि उसके पास खाने के लिए प्रचुर अन्न तथा शाक-सब्जी है। नदियों का बहता जल खेतों को उपजाऊ बनाता है और हमारी आवश्यकता से अधिक जल उपलब्ध है। पर्वतों से खनिज तथा समुद्रों से रत्न प्राप्त होते हैं। यदि मानव समाज के पास प्रचुर अन्न, खनिज, रत्न, जल, दुग्ध इत्यादि हो, तो फिर उसे क्या आवश्यकता है कि वह कुछ लाचार मनुष्यों के श्रम पर भयंकर औद्योगिक संस्थानों के पीछे भागता फिरे? लेकिन ये सारे प्राकृतिक उपहार भगवत्कृपा पर निर्भर हैं। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि हम भगवान् के नियमों के प्रति आज्ञाकारी बनें और भक्तिमय सेवा के द्वारा मनुष्य-जीवन की पूर्णता प्राप्त करें। कुन्ती देवी के द्वारा किये गये संकेत बिल्कुल सटीक हैं। वे चाहती हैं कि उन पर भगवान् की कृपा-दृष्टि बनी रहे, जिससे प्राकृतिक सम्पन्नता स्थापित रहे।

अथ विश्वेश विश्वात्मन् विश्वमूर्ते स्वकेषु मे ।
स्नेहपाशमिमं छिन्धि दृढं पाण्डुषु वृष्णिषु ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; विश्व-ईश—हे ब्रह्माण्ड के स्वामी; विश्व-आत्मन्—हे ब्रह्माण्ड के आत्मा; विश्व-मूर्ते—हे विश्व-रूप; स्वकेषु—मेरे स्वजनों में; मे—मेरे; स्नेह-पाशम्—स्नेह बन्धन को; इमम्—इस; छिन्धि—काट डालो; दृढम्—कड़े; पाण्डुषु—पाण्डवों के लिए; वृष्णिषु—वृष्णियों के लिए भी।

अतः हे ब्रह्माण्ड के स्वामी, हे ब्रह्माण्ड के आत्मा, हे विश्व-रूप, कृपा करके मेरे स्वजनों, पाण्डवों तथा वृष्णियों के प्रति मेरे स्नेह-बन्धन को काट डालें।

तात्पर्य : भगवान् का शुद्ध भक्त भगवान् से अपने लिए कुछ भी माँगने में लजाता है। लेकिन गृहस्थों को कभी-कभी बाध्य होकर भगवान् से कुछ कथा की याचना करनी पड़ती हैं, क्योंकि वे पारिवारिक स्नेह की ग्रंथि से बँधे होते हैं। श्रीमती कुन्ती देवी इस तथ्य से सचेत थीं, अतएव उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की कि वे उनके स्वजनों, पाण्डवों तथा वृष्णियों के प्रेमपाश को काट दें। पाण्डव उनके अपने पुत्र थे और वृष्णि उनके पितृ-कुल के सदस्य थे। कृष्ण इन दोनों

परिवारों से समान रूप से सम्बन्धित थे। दोनों ही परिवारों को भगवान् की सहायता की आवश्यकता थी, क्योंकि दोनों ही भगवान् के आश्रित भक्त थे। श्रीमती कुन्ती देवी की इच्छा थी कि श्रीकृष्ण उनके पुत्रों, अर्थात् पाण्डवों के साथ रहें, लेकिन कृष्ण के ऐसा करने से कुन्ती के पितृ-कुल के लोग इस लाभ से वंचित रह जाते। यह सब पक्षपात कुन्ती के मन को दुख देनेवाला था, अतएव उन्होंने इच्छा व्यक्त की कि यह स्नेह-बन्धन विच्छिन्न हो जाय।

शुद्ध भक्त अपने परिवार के सीमित स्नेह-बन्धन को विच्छिन्न करके समस्त विस्मृत आत्माओं के लिए अपनी भक्तिमय सेवा का विस्तार करता है। इसके जीवन्त उदाहरण षड् गोस्वामी हैं, जिन्होंने भगवान् चैतन्य के पथ का अनुसरण किया। वे सभी अत्यन्त प्रबुद्ध एवं सुसंस्कृत धनी, सवर्ण जातियों के थे, लेकिन जनसाधारण के कल्याण के लिए वे अपने-अपने साधनयुक्त घरों को त्याग कर संन्यासी बन गये। समस्त पारिवारिक स्नेह को छिन्न करने का अर्थ है कार्यक्षेत्र को विस्तृत करना। ऐसा किये बिना कोई न तो ब्राह्मण बनने के योग्य हो सकता है, न राजा, न जनता का नेता, न भगवद्‌भक्त। भगवान् ने आदर्श राजा के रूप में इसका दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। श्री रामचन्द्र ने आदर्श राजा के गुणों को प्रकट करने के लिए अपनी प्रिय पत्नी से स्नेह-बन्धन छिन्न कर लिया था।

ब्राह्मण, भक्त, राजा या जननेता को अपने-अपने कर्तव्य पालन में उदारचेता होना चाहिए। श्रीमती कुन्तीदेवी इस तथ्य से अवगत थीं और अबला होने के कारण, उन्होंने पारिवारिक स्नेह के बन्धन को विच्छिन्न कर देने के लिए प्रार्थना की। भगवान् को विश्वेश या विश्वात्मा कहकर सम्बोधित किया गया है, जो पारिवारिक प्रेम की कठिन ग्रंथि को काटने में उनकी सर्वशक्तिमयी क्षमता को बतानेवाला है। इसीलिए कभी-कभी ऐसा अनुभव किया जाता है कि निर्बल भक्त के प्रति विशेष आकर्षण के कारण, भगवान् अपनी अपार शक्ति द्वारा नियोजित परिस्थितियों द्वारा पारिवारिक स्नेह को छिन्न करते हैं। ऐसा करके वे भक्त को अपने ऊपर पूर्ण रूप से आश्रित बनाकर उसके भगवद्धाम वापस जाने का मार्ग साफ कर देते हैं।

त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत् ।
रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

त्वयि—आप में; मे—मेरा; अनन्य-विषया—अनन्य; मतिः—ध्यान; मधु-पते—हे मधु के स्वामी; असकृत्—निरन्तर; रतिम्—आकर्षण; उद्वहतात्—आप्लावित हो सकता है; अद्धा—प्रत्यक्ष रीति से; गङ्गा—गंगानदी; इव—सदृश; ओघम्—बहती है; उदन्वति—समुद्र को।

हे मधुपति, जिस प्रकार गंगा नदी बिना किसी व्यवधान के सदैव समुद्र की ओर बहती है, उसी प्रकार मेरा आकर्षण अन्य किसी ओर न बँट कर आपकी ओर निरन्तर बना रहे।

तात्पर्य : शुद्ध भक्तिमय सेवा की पूर्णता तभी प्राप्त होती है, जब सारा ध्यान भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा की ओर लगा रहता है। अन्य सारे स्नेह-बन्धनों को छिन्न करने का अर्थ किसी दूसरे से स्नेह जैसे सूक्ष्म भावों का पूर्ण निषेध नहीं होता। ऐसा सम्भव नहीं है। चाहे कोई भी जीव क्यों न हो, उसमें दूसरों के प्रति स्नेह की भावना होती ही है, क्योंकि यह जीवन का एक लक्षण है। इच्छा, क्रोध, लोभ, आकर्षण जैसे जीवन के लक्षणों को विनष्ट नहीं किया जा सकता। केवल इसके उद्देश्य को बदलना होता है। इच्छा को कभी नकारा नहीं जा सकता है, लेकिन भक्तियोग में इच्छा को इन्द्रियतृप्ति के स्थान पर भगवान् की सेवा में लगाना होता है। परिवार, समाज, देश इत्यादि के प्रति तथाकथित स्नेह इन्द्रियतृप्ति की विभिन्न अवस्थाओं के सिवा अन्य कुछ नहीं है। जब इस इच्छा को भगवान् की संतुष्टि के हेतु बदल दिया जाता है, तब यह भक्ति कहलाती है।

भगवद्गीता में हम देख सकते हैं कि अर्जुन अपनी खुदकी इच्छाओं की तुष्टि के लिए ही अपने भाइयों तथा सम्बन्धियों से नहीं लड़ना चाह रहा था। लेकिन जब उसने भगवान् का सन्देश अर्थात् *श्रीमद्भगवद्गीता* सुनी, तो उसने अपना निर्णय बदल दिया और भगवान् की सेवा की। ऐसा करने के कारण वह भगवान् का विख्यात भक्त बन गया, क्योंकि सारे शास्त्रों में घोषित किया गया है कि भगवान् से मित्रता भाव में अर्जुन ने भक्तिमय सेवा के द्वारा आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त की। युद्ध हो रहा था, मित्रता भी चल रही थी, वहाँ पर अर्जुन था तथा कृष्ण भी वहाँ पर थे, लेकिन भक्तिमय सेवा के कारण अर्जुन सर्वथा भिन्न व्यक्ति बन गया। अतएव कुन्ती की प्रार्थनाएँ

भी कार्यों में वैसे ही परिवर्तन का संकेत करती हैं। श्रीमती कुन्ती विचलित हुए बिना भगवान् की सेवा करना चाह रही थीं और यही उनकी प्रार्थना थी। यह अनन्य भक्ति (निष्ठा) ही जीवन का परम लक्ष्य है। सामान्य रूप से हमारा ध्यान ऐसी वस्तु की सेवा की ओर विचलित हो जाता है, जो ईश्वर से इतर होती है अथवा भगवान् की योजना में नहीं होती है। जब यह योजना भगवान् की सेवा में बदल जाती है अर्थात् जब भगवान् की सेवा से इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं, तब यह सेवा शुद्ध अनन्य भक्ति कहलाती है। श्रीमती कुन्तीदेवी को इसी पूर्णता की कामना थी और वे भगवान् से इसी के लिए प्रार्थना कर रही थीं।

पाण्डवों तथा वृष्णियों के प्रति उनका स्नेह भक्ति की परिधि से बाहर नहीं है, क्योंकि भगवान् की सेवा तथा भक्तों की सेवा अभिन्न हैं। कभी-कभी भक्त की सेवा भगवान् की सेवा से भी बढ़कर होती है। लेकिन यहाँ पर पाण्डवों तथा वृष्णियों के प्रति कुन्तीदेवी का स्नेह पारिवारिक सम्बन्ध के कारण था। भौतिक सम्बन्ध के प्रसंग में यह स्नेह-बन्धन माया का सम्बन्ध होता है, क्योंकि शरीर अथवा मन के सम्बन्ध बहिरंगा शक्ति के प्रभाव के कारण होते हैं। परमात्मा के प्रति स्थापित किये जाने पर आत्मा के सम्बन्ध यथार्थ सम्बन्ध होते हैं। कुन्ती देवी द्वारा पारिवारिक सम्बन्ध छिन्न करने का अभिप्राय यह था कि वे रक्त के सम्बन्ध को छिन्न करना चाह रही थीं। यह रक्त सम्बन्ध भव-बन्धन का कारण है, लेकिन आत्मा का सम्बन्ध स्वतन्त्रता का कारण है। आत्मा से आत्मा का यह सम्बन्ध परमात्मा के साथ सम्बन्ध के माध्यम से स्थापित किया जा सकता है। अँधेरे में देखना कोई देखना नहीं है। लेकिन सूर्यप्रकाश में देखने का अर्थ है सूर्य को देखना तथा इसके अलावा वह सब कुछ भी देखना जो अंधकार में अनदेखा रह गया था। यही भक्ति योग का मार्ग है।

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्
राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य ।
गोविन्द गोद्विजसुरार्तिहरावतार
योगेश्वराखिलगुरो भगवन्नमस्ते ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

श्री-कृष्ण—हे कृष्ण; कृष्ण-सख—हे अर्जुन के मित्र; वृष्णि—वृष्णि कुल के; ऋषभ—हे प्रमुख; अवनि—पृथ्वी; ध्रुक्—विप्लवी; राजन्य-वंश—राजाओं का वंश; दहन—हे विनाशकर्ता; अनपवर्ग—बिना अवनति के; वीर्य—पराक्रम; गोविन्द—हे गोलोक के स्वामी; गो—गौवों के; द्विज—ब्राह्मणों के; सुर—देवताओं के; अर्ति-हर—दुख दूर करने के लिए; अवतार—हे अवतार लेनेवाले; योग-ईश्वर—हे योग के स्वामी; अखिल—सम्पूर्ण जगत के; गुरो—हे गुरु; भगवन्—हे समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी; नमः ते—आपको नमस्कार है।

हे कृष्ण, हे अर्जुन के मित्र, हे वृष्णिकुल के प्रमुख, आप उन समस्त राजनीतिक पक्षों के विध्वंसक हैं, जो इस धरा पर उपद्रव फैलानेवाले हैं। आपका शौर्य कभी क्षीण नहीं होता। आप दिव्य धाम के स्वामी हैं और आप गायों, ब्राह्मणों तथा भक्तों के कष्टों को दूर करने के लिए अवतरित होते हैं। आपमें सारी योग-शक्तियाँ हैं और आप समस्त विश्व के उपदेशक (गुरु) हैं। आप सर्वशक्तिमान ईश्वर हैं। मैं आपको सादर प्रणाम करती हूँ।

तात्पर्य : यहाँ पर श्रीमती कुन्तीदेवी ने परम भगवान् श्रीकृष्ण का सार प्रस्तुत किया है। सर्वशक्तिमान भगवान् का अपना नित्य दिव्य धाम है, जहाँ वे सुरभी गायों के पालन में व्यस्त रहते हैं। वहाँ सैकड़ों-हजारों लक्ष्मियाँ उनकी सेवा में लगी रहती हैं। वे इस भौतिक जगत् में अपने भक्तों को उबारने तथा राजनीतिक दलों के उपद्रवकारी तत्त्वों एवं उपद्रवकारी शासकों को विनष्ट करने के लिए अवतरित होते हैं। वे अपनी असीम शक्तियों से सृजन, पालन तथा संहार करते हैं, फिर भी वे सदैव शौर्य से पूर्ण रहते हैं और उनकी शक्ति कभी क्षीण नहीं होती। वे गायों, ब्राह्मणों तथा भगवद्भक्तों पर विशेष ध्यान देते हैं, क्योंकि जीवों के सामान्य कल्याण के लिए ये महत्त्वपूर्ण कारक हैं।

सूत उवाच
पृथयेत्थं कलपदैः परिणूताखिलोदयः ।
मन्दं जहास वैकुण्ठो मोहयन्निव मायया ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत ने कहा; पृथया—पृथा (कुन्ती) द्वारा; इत्थम्—यह; कल-पदैः—चुने हुए शब्दों द्वारा; परिणूत—पूजित होकर; अखिल—सम्पूर्ण; उदयः—यश; मन्दम्—मन्द-मन्द; जहास—मुस्कराये; वैकुण्ठः—भगवान्; मोहयन्—मोहित करते हुए; इव—सदृश; मायया—अपनी योगशक्ति के द्वारा।

सूत गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार भगवान् अपने महिमागान के लिए चुने हुए शब्दों में कुन्तीदेवी के द्वारा की गई प्रार्थना सुनकर मन्द-मन्द मुसकाए। यह मुस्कान उनकी योगशक्ति के समान ही मोहक थी।

तात्पर्य : इस जगत में जो भी वस्तु मोहक होती है, वह भगवान् की अभिव्यक्ति कहलाती है। इस भौतिक जगत् पर प्रभुत्व जताने में प्रवृत्त बद्धजीव भी उनकी योगशक्ति से मोहित होते रहते हैं, लेकिन भगवान् के भक्त भगवान् की महिमा से भिन्न प्रकार से मोहित होते हैं और भगवान् का कृपापूर्ण आशीर्वाद उन्हें प्राप्त होता रहता है। उनकी शक्ति का प्रदर्शन भिन्न प्रकार से होता है, जिस प्रकार कि विद्युत् शक्ति विविध क्षमताओं में कार्य करती है। श्रीमती कुन्ती ने भगवान् की प्रार्थना में उनकी महिमा का मात्र एक अल्पाँश का कथन किया है। उनके सारे भक्त इसी प्रकार से चुने हुए शब्दों से उनकी पूजा करते हैं, और इसी कारण भगवान् उत्तम श्लोक कहे जाते हैं। यद्यपि भगवान् की महिमा का वर्णन चुने हुए शब्दों से कितना ही क्यों न किया जाये, तथापि वह पर्याप्त नहीं है, फिर भी वे ऐसी प्रार्थनाओं से उसी प्रकार तुष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार पिता अपने छोटे से बच्चे की तोतली बोली से प्रसन्न हो जाता है। *माया* शब्द का प्रयोग भ्रम तथा कृपा दोनों अर्थों में होता है, लेकिन यहाँ पर यह शब्द कुन्तीदेवी पर भगवान् की कृपा के लिए व्यवहृत हुआ है।

तां बाढमित्युपामन्त्र्य प्रविश्य गजसाह्वयम् ।
स्त्रियश्च स्वपुरं यास्यन् प्रेम्णा राज्ञा निवारितः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उन सबों को; बाढम्—स्वीकृत; इति—इस प्रकार; उपामन्त्र्य—बाद में सूचित करके; प्रविश्य—प्रवेश करके; गजसाह्वयम्—हस्तिनापुर के महल में; स्त्रियः च—अन्य स्त्रियाँ; स्व-पुरम्—अपने निवास; यास्यन्—बिदा होते समय; प्रेम्णा—प्रेमपूर्वक; राज्ञा—राजा द्वारा; निवारितः—रोके गये।

इस तरह श्रीमती कुन्तीदेवी की प्रार्थनाएं स्वीकार करने के बाद भगवान् ने हस्तिनापुर के राजमहल में प्रवेश करके अन्य स्त्रियों को अपने प्रस्थान की सूचना दी। लेकिन उन्हें

प्रस्थान करते देख, राजा युधिष्ठिर ने उन्हें रोक लिया और अत्यन्त प्रेमपूर्वक उनसे याचना की।

तात्पर्य : जब भगवान् ने द्वारका जाने का निश्चय कर लिया, तो कोई भी उन्हें हस्तिनापुर में नहीं रोक सकता था, लेकिन राजा युधिष्ठिर का यह सरल अनुरोध कि वे कुछ दिनों तक और रह जाँए, इसका तत्काल प्रभाव पड़ा। इससे पता चलता है कि राजा युधिष्ठिर की शक्ति प्रेमयुक्त स्नेह की थी जिसे भगवान् इनकार नहीं कर सके। इस प्रकार सर्वशक्तिमान भगवान् केवल प्रेममयी सेवा से जीते जाते हैं, अन्य किसी प्रकार से नहीं। वे अपने समस्त व्यवहारों में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हैं, लेकिन अपने शुद्ध भक्तों के स्निग्घ प्रेम का ऋण वे स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं।

व्यासाद्यैरीश्वरेहाज्ञैः कृष्णेनाद्भुतकर्मणा ।
प्रबोधितोऽपीतिहासैर्नाबुध्यत शुचार्पितः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

व्यास-आद्यैः—व्यास इत्यादि मुनियों द्वारा; ईश्वर—सर्वशक्तिमान ईश्वर; ईहा—की इच्छा से; ज्ञैः—विद्वान; कृष्णेन—स्वयं कृष्ण द्वारा; अद्भुत-कर्मणा—अद्‌भुत कार्य करनेवाले के द्वारा; प्रबोधितः—ढाढस बँधाने पर; अपि—यद्यपि; इतिहासैः—इतिहास के साक्ष्यों द्वारा; न—नहीं; अबुध्यत—संतुष्ट हुए; शुचा अर्पितः—दुखी।

अत्यधिक शोक में डूबे हुए राजा युधिष्ठिर, व्यास आदि मुनियों तथा अद्भुत कर्म करनेवाले साक्षात् भगवान् कृष्ण के उपदेशों से तथा समस्त ऐतिहासिक साक्ष्य से सान्त्वना नहीं पा सके।

तात्पर्य : अपने लिए कुरुक्षेत्र के युद्ध में मनुष्यों के सामूहिक रक्तपात से पुण्यात्मा राजा युधिष्ठिर अत्यन्त खिन्न थे। उस समय दुर्योधन सिंहासन पर आरूढ़ था और वह ठीक से शासन चला रहा था। एक तरह से देखा जाये तो युद्ध करने की कोई आवश्यकता न थी। लेकिन न्याय के सिद्धान्त की दृष्टि से युधिष्ठिर को सिंहासन सम्हालना था। सारी राजनीति का केन्द्र-बिन्दु यही था और सारे विश्व के राजा तथा निवासी इन दो प्रतिद्वन्द्वी भाइयों की लड़ाई में उलझ गये। भगवान् कृष्ण भी राजा युधिष्ठिर की ओर थे। *महाभारत के आदि पर्व* (२०) में कहा गया है कि

कुरुक्षेत्र के अठारह दिनों के युद्ध में चौंसठ करोड़ लोग मारे गये और कई लाख लापता हो गये। एक तरह से, विगत पाँच हजार वर्षों में यह विश्व का भिषणतम युद्ध था।

महाराज युधिष्ठिर को मात्र सिंहासन दिलाने के लिए यह सामूहिक वध अतीव मन:संतापी था, अतएव व्यास जैसे मुनियों ने तथा स्वयं भगवान् कृष्ण ने इतिहासों के साक्ष्य से उन्हें यह विश्वास दिलाना चाहा कि यह युद्ध न्यायसंगत था, क्योंकि इसका कारण न्यायसंगत था। लेकिन महाराज युधिष्ठिर संतुष्ट नहीं हुए, यद्यपि उस समय के महान पुरुषों ने उन्हें उपदेश दिया। यहाँ पर कृष्ण को अतिमानवीय कर्म करनेवाले कहे गए हैं, लेकिन इस मामले में न तो व्यास, न ही कृष्ण राजा युधिष्ठिर को सान्त्वना दे पाये। तो क्या इसका अर्थ यह हुआ कि वे अतिमानवीय कर्ता सिद्ध नहीं हो पाये? नहीं, ऐसा कतई नहीं है। इसकी विवेचना यह है कि भगवान् ने *ईश्वर* के रूप में राजा युधिष्ठिर तथा व्यास दोनों के ही हृदय में स्थित होकर, इससे भी अधिक अतिमानवीय कार्य किया, क्योंकि भगवान् की ऐसी इच्छा थी। राजा युधिष्ठिर के परमात्मा के रूप में उन्होंने राजा को व्यास तथा स्वयं एवं अन्यों के शब्दों से आश्वस्त नहीं होने दिया, क्योंकि वे चाहते थे कि राजा मरणासन्न भीष्मदेव से उपदेश ग्रहण करें, जो भगवान् के एक और महान भक्त थे। भगवान् चाहते थे कि अपने भौतिक अस्तित्व के अन्तिम समय में महान योद्धा भीष्मदेव उनका साक्षात् दर्शन करें और उस समय सिंहासनारूढ़ अपने पौत्रों राजा युधिष्ठिर इत्यादि को देखें और इस तरह वह शान्तिपूर्वक मृत्यु को प्राप्त हों। भीष्मदेव पाण्डवों के विरुद्ध युद्ध करने के कारण तनिक भी प्रसन्न न थे, क्योंकि सारे पाण्डव उनके पितृविहीन पौत्र ही तो थे। लेकिन क्षत्रिय लोग अत्यन्त कठोर होते हैं, अतएव उन्हें दुर्योधन का पक्ष ग्रहण करना पड़ा, क्योंकि दुर्योधन के द्वारा ही उनका भरण-पोषण हो रहा था। इसके अतिरिक्त भगवान् की यह इच्छा भी थी कि राजा युधिष्ठिर भीष्मदेव के वचनों से सान्त्वना पाएँ, जिससे दुनिया देख सके कि भीष्मदेव ज्ञान में सबसे, यहाँ तक कि भगवान् से भी बढ़कर थे।

आह राजा धर्मसुतश्चिन्तयन् सुहृदां वधम् ।

प्राकृतेनात्मना विप्राः स्नेहमोहवशं गतः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

आह—कहा; राजा—राजा युधिष्ठिर ने; धर्म-सुतः—धर्म (यमराज) के पुत्र; चिन्तयन्—सोचते हुए; सुहृदाम्—मित्रों के; वधम्—वध को; प्राकृतेन—भौतिक विचार से; आत्मना—अपने द्वारा; विप्राः—हे ब्राह्मणो; स्नेह—स्नेह; मोह—मोह; वशम्—के वशीभूत; गतः—गया हुआ।

धर्मपुत्र, राजा युधिष्ठिर, अपने मित्रों की मृत्यु से अभिभूत थे और सामान्य भौतिकतावादी मनुष्य की भाँति शोक-सन्तप्त थे। हे मुनियो, इस प्रकार स्नेह से मोहग्रस्त होकर वे बोले।

तात्पर्य : यद्यपि ऐसी अपेक्षा नहीं थी कि महाराज युधिष्ठिर किसी सामान्य मनुष्य की भाँति शोक-संतप्त हो जाएँगे, लेकिन भगवान् की इच्छा ही कहें, वे सांसारिक स्नेह के कारण मोहग्रस्त हो गये(जिस प्रकार अर्जुन मोहग्रस्त हुआ लगता था)। जो मनुष्य समझता है, वह भलीभाँति जानता है कि जीव न तो शरीर है, न मन, अपितु जीवन की भौतिक अवधारणा से परे है। सामान्य मनुष्य हिंसा तथा अहिंसा को शरीर के सम्बन्ध में देखता है, लेकिन यह एक प्रकार का मोह है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी वृत्ति के अनुसार कर्तव्य से बँधा हुआ है। क्षत्रिय को सही निमित्त के लिए विरोधी पक्ष की परवाह न करते हुए युद्ध करना होता है। इस प्रकार कर्तव्य-पालन करते हुए मनुष्य को शरीर के विनाश से विचलित नहीं होना चाहिए, क्योंकि यह शरीर जीवन्त आत्मा का बाहरी पहनावा मात्र है। यह सब महाराज युधिष्ठिर को ज्ञात था, लेकिन भगवान् की इच्छा से वे एक सामान्य मनुष्य जैसे बन गये, क्योंकि इस मोह के पीछे एक दूसरी बहुत बड़ी भावना थी कि राजा को भीष्म उसी प्रकार उपदेश दें, जिस प्रकार स्वयं भगवान् ने अर्जुन को उपदेश दिया था।

अहो मे पश्यताज्ञानं हृदि रूढं दुरात्मनः ।
पारक्यस्यैव देहस्य बह्व्यो मेऽक्षौहिणीर्हताः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

अहो—हाय; मे—मेरा; पश्यत—जरा देखो तो; अज्ञानम्—अज्ञान; हृदि—हृदय में; रूढम्—स्थित; दुरात्मनः—पापी का; पारक्यस्य—अन्यों के लिए; एव—निश्चय ही; देहस्य—शरीर का; बह्व्यः—अनेकानेक; मे—मेरे द्वारा; अक्षौहिणीः—अक्षौहिणी सेनाए; हताः—मारी गई।

राजा युधिष्ठिर ने कहा : हाय, मैं सबसे पापी मनुष्य हूँए! जरा मेरे हृदय को तो देखो, जो अज्ञान से पूर्ण है! यह शरीर, जो अन्ततः परोपकार के लिए होता है, उसने अनेकानेक अक्षौहिणी सेनाओं का वध करा दिया है।

तात्पर्य : २१,८७० रथों, २१,८७० हाथियों, १,०९,६५०, पैदल तथा ६५, ६०० घुड़सवार का व्यूह अक्षौहिणी कहलाता है। कुरुक्षेत्र के युद्ध में कई अक्षौहिणी सेना मारी गई थी। महाराज युधिष्ठिर, संसार के सर्वश्रेष्ठ धर्मात्मा राजा होने के कारण, इतनी भारी संख्या में जीवों के वध का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते हैं, क्योंकि यह युद्ध उन्हें ही सिंहासनारूढ़ कराने के लिए लड़ा गया था। यह शरीर आखिर परोपकार के लिए है। जब तक शरीर में प्राण रहता है, तब तक यह परोपकार के लिए होता है और मरने के बाद यही कुत्तों तथा शृगालों द्वारा या कीड़ों द्वारा खा लिया जाता है। वे खेदग्रस्त हुए कि इस नश्वर शरीर के लिए इतना बड़ा नर-संहार किया।

बालद्विजसुहृन्मित्रपितृभ्रातृगुरुद्रुहः ।
न मे स्यान्निरयान्मोक्षो ह्यपि वर्षायुतायुतैः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

बाल—लड़के; द्वि-ज—दो बार जन्म लेनेवाले; सुहृत्—शुभचिन्तक; मित्र—मित्र; पितृ—चाचा-ताऊ; भ्रातृ—भाई; गुरु—शिक्षक का; द्रुहः—मारनेवाला; न—कभी नहीं; मे—मेरा; स्यात्—होगा; निरयात्—नरक से; मोक्षः—मुक्ति; हि—निश्चय ही; अपि—यद्यपि; वर्ष—साल; अयुत—लाखों; आयुतैः—जोड़े जाने पर।

मैंने अनेक बालकों, ब्राह्मणों, शुभ-चिन्तकों, मित्रों, चाचा-ताउओं, गुरुओं तथा भाइयों का वध किया है। भले ही मैं लाखों वर्षों तक जीवित रहूँ, लेकिन मैं इन सारे पापों के कारण मिलनेवाले नरक से कभी भी छुटकारा नहीं पा सकूँगा।

तात्पर्य : जब भी युद्ध होता है, तब अनेक निर्दोष प्राणी—यथा बालक, ब्राह्मण, स्त्रियाँ, जिनका वध सर्वाधिक पापपूर्ण माना गया है, वे भी मारे जाते हैं। ये सब निर्दोष प्राणी हैं और समस्त परिस्थितियों में इनका वध शास्त्रों द्वारा वर्जित है। महाराज युधिष्ठर को इस सामूहिक संहार का पता था। इसी प्रकार दोनों ही दलों में मित्र, चाचा-ताऊ तथा शिक्षक थे और वे सभी मारे

गये। उनके लिए ऐसे नरसंहार का सोचना ही भयावह लगता था, अतएव वे लाखों-करोड़ों वर्षों तक नरक में पड़े रहने का विचार कर रहे थे।

नैनो राज्ञः प्रजाभर्तुर्धर्मयुद्धे वधो द्विषाम् ।
इति मे न तु बोधाय कल्पते शासनं वचः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; एनः—पाप; राज्ञः—राजा का; प्रजा-भर्तुः—प्रजा के पालन में व्यस्त रहनेवाले; धर्म—सही निमित्त के लिए; युद्धे—युद्ध में; वधः—संहार; द्विषाम्—शत्रुओं का; इति—ये सब; मे—मेरे लिए; न—कभी नहीं; तु—लेकिन; बोधाय—संतोष के लिए; कल्पते—वे शासन चलाने के लिए हैं; शासनम्—आदेश; वचः—शब्दों का।

जो राजा अपनी प्रजा के पालन में लगा रह कर सही निमित्त के लिए वध करता है, उसे कोई पाप नहीं लगता। लेकिन यह आदेश मेरे ऊपर लागू नहीं होता।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर ने सोचा कि, यद्यपि वे वास्तव में राज्य का शासन नहीं चला रहे थे, क्योंकि दुर्योधन द्वारा नागरिकों का बिना किसी क्षति के शासन तो चलाया जा रहा था, फिर भी दुर्योधन के हाथों से राज्य छीनने हेतु अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए उन्होंने इतने सारे जीवों का संहार कराया। यह संहार शासन चलाने के दौरान नहीं हुआ था, अपितु अपने को बड़ा बनाने के लिए हुआ था, अतएव उन्होंने इस पाप के लिए स्वयं को दोषी समझा।

स्त्रीणां मद्धतबन्धूनां द्रोहो योऽसाविहोत्थितः ।
कर्मभिर्गृहमेधीयैर्नाहं कल्पो व्यपोहितुम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

स्त्रीणाम्—स्त्रियों के; मत्—मेरे द्वारा; हत-बन्धूनाम्—मारे गये मित्रों का; द्रोहः—शत्रुता; यः—जो; असौ—ये सब; इह—यहाँ; उत्थितः—संचित हुई है; कर्मभिः—कार्य करने से; गृहमेधीयैः—भौतिक कल्याण में लगे मनुष्यों द्वारा; न—कभी नहीं; अहम्—मैं; कल्पः—आशा कर सकता हूँ; व्यपोहितुम्—उसे मिटा पाने की।

मैनें अनेक स्त्रियों के बंधुओं का वध किया है और इस तरह मैंने इस हद तक शत्रुता मोल ली है कि भौतिक कल्याण-कार्य के द्वारा इसे मिटा पाना सम्भव नहीं है।

तात्पर्य : *गृहमेधी* वे हैं, जिनका एकमात्र कार्य है भौतिक सम्पन्नता के लिए कल्याण-कार्य करना। कभी-कभी पापकर्मों के कारण ऐसे कल्याण-कार्य में बाधा पहुँचती है, क्योंकि भौतिक

कर्तव्यों को पूरा करते समय, न चाहते हुए भी, भौतिकतावादी से कहीं-न-कहीं पाप हो ही जाता है। ऐसे पापकर्मों से छुटकारा पाने के लिए वेदों में कई प्रकार के यज्ञों का विधान है। वेदों में तो यहाँ तक कहा गया है कि अश्वमेध *यज्ञ* करने से ब्रह्म-हत्या तक से छुटकारा मिल सकता है।

युधिष्ठिर महाराज ने यह अश्वमेघ यज्ञ किया था, लेकिन वे सोचते हैं कि ऐसे यज्ञों के करने से भी, ऐसे घोर पापों से छुटकारा पाना सम्भव नहीं है। युद्ध में पति, भाई, पिता या पुत्र सभी लड़ने जाते हैं और जब वे मारे जाते हैं, तो फिर से नई शत्रुता उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार क्रिया-प्रतिक्रिया का चक्र चलता रहता है, जिसका शमन हजारों अश्वमेध यज्ञों से भी नहीं किया जा सकता।

कर्म का विधान ही ऐसा है। यह एक क्रिया और फिर उसके साथ ही साथ उसकी प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। इस प्रकार भौतिक कार्य-कलापों की शृंखला बढ़ती जाती है और कर्ता को भवबन्धन में जकड़ती जाती है। *भगवद्गीता* (९.२७-२८) में इसका निवारण सुझाया गया है। कर्म के मार्ग में ऐसी क्रिया-प्रतिक्रिया को रोकने का एकमात्र उपाय यह है कि प्रत्येक कर्म परमेश्वर के लिए किया जाय। वास्तव में, कुरुक्षेत्र का युद्ध भगवान् श्रीकृष्ण की इच्छा के कारण लड़ा गया था, जैसाकि उनके कथन से स्पष्ट है और उन्हीं की इच्छा से युधिष्ठिर हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठे थे। अतएव पाण्डवों को किसी तरह का पाप छू भी नहीं पाया, क्योंकि वे भगवान् के आदेश-वाहक थे। अन्य लोग जो निजी स्वार्थ के लिए युद्ध छेड़ते हैं, उन पर ही सारा दोष आता है।

यथा पङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम् ।
भूतहत्यां तथैवैकां न यज्ञैर्मार्ष्टुमर्हति ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; **पङ्केन**—कीचड़ से; **पङ्क-अम्भः**—कीचड़-मिश्रित जल; **सुरया**—मदिरा से; **वा**—अथवा; **सुराकृतम्**—मदिरा के स्पर्श से उत्पन्न अशुद्धि; **भूत-हत्याम्**—पशुओं की हत्या; **तथा**—उसी प्रकार; **एव**—निश्चय ही; **एकाम्**—एक; **न**—कभी नहीं; **यज्ञैः**—यज्ञों के द्वारा; **मार्ष्टुम्**—प्रायश्चित्त करना; **अर्हति**—सम्भव है।

जिस प्रकार गंदे पानी को कीचड़ में डालकर छाना नहीं जा सकता, अथवा जैसे मदिरा से मलिन हुए पात्र को मदिरा से स्वच्छ नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार नर-संहार का प्रायश्चित पशुओं की बलि देकर नहीं किया जा सकता।

तात्पर्य : अश्वमेध-यज्ञ या गोमेध यज्ञ, जिनमें घोड़े या साँड़ की बलि दी जाती है, वास्तव में पशुओं के वध करने के लिए नहीं थे। भगवान् चैतन्य ने बतलाया है कि यज्ञ की वेदी पर बलि किये गये ऐसे पशुओं को पुन: जीवनदान दिया जाता था। यह वेदों के मंत्रों की क्षमता को सिद्ध करने के लिए किया जाता था। निश्चय ही वेदों के मन्त्रों का सही ढंग से पाठ करने पर यज्ञकर्ता पापों से मुक्त हो जाता है, लेकिन ऐसे यज्ञ यदि अनुपयुक्त विधि से अक्षम लोगों द्वारा किये जाते हैं, तो वे पशु-बलि के दोषी बनते हैं। कलह तथा दम्भ के इस युग में ठीक से यज्ञ सम्पन्न करवाना सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा यज्ञ सम्पन्न करानेवाले दक्ष ब्राह्मणों का अभाव है। अतएव महाराज युधिष्ठिर कलियुग में यज्ञ सम्पन्न करने का संकेत देते हैं। कलियुग के लिए एकमात्र संस्तुत यज्ञ *हरिनाम यज्ञ* है, जिसका सूत्रपात भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने किया। लेकिन किसी को पशु-वध करने के बाद ऐसा *हरिनाम यज्ञ* सम्पन्न करके प्रायश्चित्त नहीं करना चाहिए। भगवान् के भक्त कभी भी स्वार्थवश पशुवध नहीं करते, लेकिन वे क्षत्रिय कर्म करने से कभी पीछे नहीं हटते, जैसा भगवान् ने अर्जुन को आदेश दिया था। अतएव जब प्रत्येक वस्तु भगवान् की इच्छा के लिए की जाती है, तो सारा काम बन जाता है। ऐसा करना भक्तों के लिए ही सम्भव है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत ''कुन्ती द्वारा प्रार्थना तथा परीक्षित की रक्षा'' नामक आठवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter नौ

भगवान् कृष्ण की उपस्थिति में भीष्मदेव का देह-त्याग

सूत उवाच
इति भीतः प्रजाद्रोहात्सर्वधर्मविवित्सया ।
ततो विनशनं प्रागाद् यत्र देवव्रतोऽपतत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; भीतः—डरे हुए; प्रजा-द्रोहात्—प्रजा के मारे जाने से; सर्व—समस्त; धर्म—धर्म के कार्य; विवित्सया—जानने के लिए; ततः—तत्पश्चात्; विनशनम्—युद्ध-स्थल; प्रागात्—वे गए; यत्र—जहाँ; देव-व्रतः—भीष्मदेव; अपतत्—मरने के लिये लेटे थे।

सूत गोस्वामी ने कहा : कुरुक्षेत्र के युद्ध स्थल में इतने सारे लोगों का वध करने के कारण घबराये हुए महाराज युधिष्ठिर उस स्थल पर गये, जहाँ नर-संहार हुआ था। वहाँ पर भीष्मदेव मरणासन्न होकर शरशय्या पर लेटे थे।

तात्पर्य : इस नवम अध्याय में, जैसाकि भगवान् श्रीकृष्ण की इच्छा थी, भीष्मदेव राजा युधिष्ठिर को वृत्ति-विषयक कर्तव्यों के सम्बन्ध में उपदेश देंगे। भीष्मदेव इस मर्त्यलोक से प्रयाण करते समय भगवान् से अन्तिम प्रार्थना भी करेंगे और इस प्रकार भावी भौतिक कार्यों के बन्धन से मुक्त हो जाएंगे। भीष्मदेव को वरदान प्राप्त था कि वे इच्छानुसार देह-त्याग कर सकते हैं और वे अपनी इच्छा से ही इस तरह शरशय्या पर लेटे थे। इस महान योद्धा का इस प्रकार से निधन, समस्त समकालीन श्रेष्ठ पुरुषों को आकृष्ट करनेवाला था, अतएव सारे लोग इस महात्मा के प्रति अपने प्यार, सम्मान तथा स्नेह की भावना प्रदर्शित करने के लिए वहाँ एकत्र हुए थे।

तदा ते भ्रातरः सर्वे सदश्वैः स्वर्णभूषितैः ।
अन्वगच्छन् रथैर्विप्रा व्यासधौम्यादयस्तथा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तदा—तब; ते—वे सब; भ्रातरः—भाई; सर्वे—एकत्र; सत्-अश्वैः—श्रेष्ठ घोड़ों द्वारा खींचे जानेवाले; स्वर्ण—सोने से; भूषितैः—विभूषित; अन्वगच्छन्—अनुगमन किया; रथैः—रथों पर; विप्राः—हे ब्राह्मणों; व्यास—व्यासदेव; धौम्य—धौम्य मुनि; आदयः—इत्यादि; तथा—उसी प्रकार।

उस समय उनके सारे भाई स्वर्णाभूषणों से सजे हुए उच्च कोटि के घोड़ों द्वारा खींचे जानेवाले सुन्दर रथों पर उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। उनके साथ व्यासदेव तथा धौम्य जैसे ऋषि (पाण्डवों के विद्वान पुरोहित) तथा अन्य लोग थे।

भगवानपि विप्रर्षे रथेन सधनञ्जयः ।
स तैर्व्यरोचत नृपः कुवेर इव गुह्यकैः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् (श्रीकृष्ण); अपि—भी; विप्र-ऋषे—हे ब्रह्मर्षियों; रथेन—रथ पर; स-धनञ्जयः—धनञ्जय (अर्जुन) सहित; सः—वे; तैः—उनके द्वारा; व्यरोचत—अत्यन्त राजसी प्रतीत हो रहे थे; नृपः—राजा (युधिष्ठिर); कुवेर—देवताओं का भंडारी, कुबेर; इव—सदृश; गुह्यकैः—गुह्यक नामक साथियों से।

हे ब्रह्मर्षी, भगवान् श्रीकृष्ण भी, अर्जुन के साथ रथ पर सवार होकर पीछे-पीछे चले आ रहे थे। इस प्रकार राजा युधिष्ठिर अत्यन्त राजसी प्रतीत हो रहे थे, मानो कुबेर अपने साथियों (गुह्यकों) से घिरा हो।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण चाहते थे कि सारे पाण्डव भीष्मदेव के पास पूरे राजसी ठाठबाट से जाँए, जिससे वे अपने अन्तिम समय उन्हें देखकर प्रसन्न हों। कुबेर देवताओं में सबसे धनी है। यहाँ पर युधिष्ठिर कुबेर की तरह प्रतीत हो रहे थे, क्योंकि श्रीकृष्ण के साथ यह जुलूस राजा युधिष्ठिर के राजपद के अनुकूल था।

दृष्ट्वा निपतितं भूमौ दिवश्च्युतमिवामरम् ।
प्रणेमुः पाण्डवा भीष्मं सानुगाः सह चक्रिणा ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; निपतितम्—लेटे; भूमौ—भूमि पर; दिवः—आकाश से; च्युतम्—गिरे हुए; इव—सदृश; अमरम्—देवता; प्रणेमुः—प्रणाम किया; पाण्डवाः—पाण्डु-पुत्रों ने; भीष्मम्—भीष्म को; स-अनुगाः—अपने छोटे भाइयों सहित; सह—सहित; चक्रिणा—चक्रधारी भगवान्।

आकाश से आ गिरे देवता के समान उन्हें (भीष्मदेव को) भूमि पर लेटे देखकर पाण्डव-सम्राट युधिष्ठिर ने अपने छोटे भाइयों तथा भगवान् कृष्ण समेत उन्हें प्रणाम किया।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण भी महाराज युधिष्ठिर के ममेरे भाई तथा अर्जुन के अन्तरंग सखा थे। लेकिन सारा पाण्डव-परिवार कृष्ण को पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् के रूप में जानता था। भगवान् को, यद्यपि अपने परम पद का आभास रहता था, तो भी वे मनुष्य की तरह आचरण करते थे, अतएव उन्होंने भी मरणासन्न भीष्मदेव को अपने को राजा युधिष्ठिर का छोटा भाई मानकर प्रणाम किया।

तत्र ब्रह्मर्षय: सर्वे देवर्षयश्च सत्तम ।
राजर्षयश्च तत्रासन् द्रष्टुं भरतपुङ्गवम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; ब्रह्म-ऋषयः—ब्राह्मणों में ऋषि; सर्वे—समस्त; देव-ऋषयः—देवताओं में ऋषि; च—तथा; सत्तम—सतोगुण को प्राप्त; राज-ऋषयः—राजाओं में ऋषि; च—तथा; तत्र—उस स्थान पर; आसन्—उपस्थित थे; द्रष्टुम्—देखने के लिए; भरत—राजा भरत के वंशजों में; पुङ्गवम्—प्रधान को।

राजा भरत के वंशजों में प्रधान (भीष्म) को देखने के लिए ब्रह्माण्ड के सारे सतोगुणी महापुरुष, यथा देवर्षि, ब्रह्मर्षि तथा राजर्षि वहाँ पर एकत्र हुए थे।

तात्पर्य : ऋषि वे हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक उपलब्धि द्वारा पूर्णता प्राप्त की है। ऐसी आध्यात्मिक उपलब्धि कोई भी अर्जित कर सकता है, चाहे वह राजा हो या साधु हो। भीष्मदेव स्वयं ब्रह्मर्षि थे और राजा भरत के वंशजों में प्रमुख थे। सारे ऋषि सतोगुणी होते हैं। वे सभी महान योद्धा की आसन्न मृत्यु का समाचार सुनकर वहाँ एकत्र हुए थे।

पर्वतो नारदो धौम्यो भगवान् बादरायण: ।
बृहदश्वो भरद्वाज: सशिष्यो रेणुकासुत: ॥ ६ ॥
वसिष्ठ इन्द्रप्रमदस्त्रितो गृत्समदोऽसित: ।
कक्षीवान् गौतमोऽत्रिश्च कौशिकोऽथ सुदर्शन: ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

पर्वतः—पर्वत मुनि; नारदः—नारद मुनि; धौम्यः—धौम्य; भगवान्—ईश्वर के अवतार; बादरायणः—व्यासदेव; बृहदश्वः—बृहदश्व; भरद्वाजः—भरद्वाज; स-शिष्यः—अपने शिष्यों सहित; रेणुका-सुतः—परशुराम; वसिष्ठः—वशिष्ठ; इन्द्रप्रमदः—इन्द्रप्रमद; त्रितः—त्रित; गृत्समदः—गृत्समद; असितः—असित; कक्षीवान्—कक्षीवान; गौतमः—गौतम; अत्रिः—अत्रि; च—तथा; कौशिकः—कौशिक; अथ—तथा; सुदर्शनः—सुदर्शन।

पर्वत मुनि, नारद, धौम्य, ईश्वर के अवतार व्यास, बृहदश्व, भरद्वाज, परशुराम तथा उनके शिष्य, वसिष्ठ, इन्द्रप्रमद, त्रित, गृत्समद, असित, कक्षीवान्, गौतम, अत्रि, कौशिक तथा सुदर्शन जैसे सारे ऋषि वहाँ उपस्थित थे।

तात्पर्य : *पर्वत मुनि* सबसे ज्येष्ठ मुनि माने जाते हैं। वे नारद मुनि के लगभग निरन्तर संगी होते हैं। वे अन्तरिक्ष यात्री भी हैं, जो किसी भौतिक यान की सहायता के बिना वायु में यात्रा करने में समर्थ हैं। पर्वत मुनि भी नारद के समान ही *देवर्षि* अर्थात् देवताओं में महान ऋषि हैं। वे महाराज परीक्षित के पुत्र महाराज जनमेजय के यज्ञ के समय नारद के साथ उपस्थित थे। इस यज्ञ में विश्व के सारे सर्पों का विनाश किया जाना था। पर्वत मुनि तथा नारद मुनि गंधर्व भी कहलाते हैं, क्योंकि वे भगवान् की महिमा का गायन करते हुए आकाश में विचरण कर सकते हैं। चूँकि वे आकाश में विचरण कर सकते हैं, अतएव उन्होंने वहीं से द्रौपदी का स्वयंवर (पति का चुनाव) देखा था। नारद मुनि की भाँति पर्वत मुनि भी स्वर्ग में राजा इन्द्र के दरबार में जाया करते थे। गंधर्व के रूप में वे कभी-कभी एक महत्त्वपूर्ण देवता कुबेर के राज-दरबार में जाते थे। एक बार नारद तथा पर्वत दोनों के ही सामने महाराज सृञ्जय की पुत्री के कारण समस्या आ खड़ी हुई। महाराज सृञ्जय को पर्वत मुनि के वरदान से पुत्र-लाभ हुआ।

नारद मुनि का पुराणों की कथाओं से अनिवार्य सम्बन्ध है। उनका वर्णन *भागवतम्* में हुआ है। अपने पूर्वजन्म में वे एक दासी के पुत्र थे, लेकिन शुद्ध भक्तों की संगति से उनमें भक्ति जगी और अगले जन्म में वे अद्वितीय सिद्ध पुरुष बने। *महाभारत* में उनके नाम का उल्लेख कई स्थानों पर हुआ है। वे प्रमुख देवर्षि हैं। वे ब्रह्माजी के पुत्र तथा शिष्य हैं और उन्हीं से ब्रह्मा के आगे की शिष्य-परम्परा चलती है। उन्होंने प्रह्लाद महाराज, ध्रुव महाराज तथा अनेक विख्यात भगवद्भक्तों को दीक्षित किया। यहाँ तक कि उन्होंने वैदिक ग्रंथों के प्रणेता व्यासदेव को भी दीक्षा दी।

व्यासदेव से ही मध्वाचार्य को दीक्षा मिली और इस प्रकार मध्व-सम्प्रदाय जिसमें गौड़ीय सम्प्रदाय भी सम्मिलित है, सारे ब्रह्माण्ड में फैल गया। श्री चैतन्य महाप्रभु का सम्बन्ध इसी मध्व सम्प्रदाय से था। अतएव ब्रह्माजी, नारद, व्यास से लेकर मध्व, चैतन्य तथा षड् गोस्वामी—ये सारे एक ही शिष्य-परम्परा से सम्बन्धित थे। नारद जी ने अनादि काल से अनेक राजाओं को दीक्षा दी। *भागवत* में हम उन्हें प्रह्लाद महाराज को माता के गर्भ में उपदेश देते पाते हैं। उन्होंने कृष्ण के पिता वसुदेव तथा महाराज युधिष्ठिर को भी उपदेश दिया था।

धौम्य—ये एक महान ऋषि थे, जिन्होंने उत्कोचक तीर्थ में कठिन तपस्या की और उन्हें पाण्डव राजाओं के राजपुरोहित के रूप में नियुक्त किया गया। उन्होंने पाण्डवों के अनेक संस्कारों में पुरोहिताई की और द्रौपदी की सगाई के समय उन्होंने हरेक पाण्डव का संस्कार कराया। वे पाण्डवों के वनवास के समय भी उपस्थित थे और जब भी उन्हें कोई कठिनाई होती, तो वे उन्हें परामर्श दिया करते थे। उन्होंने उपदेश दिया था कि किस प्रकार एक वर्ष तक अज्ञातवास किया जाय और पाण्डवों ने उनके उपदेश का कठोरता से पालन किया था। कुरुक्षेत्र-युद्ध के बाद जब सामूहिक अंतिम संस्कार सम्पन्न हुआ, तो भी उनका नाम आता है। *महाभारत* के अनुशासन पर्व (१२७.१५-१६) में उन्होंने महाराज युधिष्ठिर को अत्यन्त विस्तृत धार्मिक उपदेश दिया है। वास्तव में वे गृहस्थों के लिए उपयुक्त पुरोहित थे, क्योंकि वे पाण्डवों को धर्म के उचित पथ पर मार्गदर्शन कर सके। पुरोहित का कार्य गृहस्थ को *आश्रम धर्म* या किसी वर्णविशेष की वृत्ति के समुचित मार्ग पर क्रमशः अग्रसर कराना है। एक कुल-पुरोहित तथा आध्यात्मिक गुरु में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। ऋषि, मुनि, सन्त तथा ब्राह्मण ऐसे ही कार्यों के लिये हुआ करते थे।

बादरायण (व्यासदेव)—वे कृष्ण, कृष्ण द्वैपायन, द्वैपायन, सत्यवती-सुत, पाराशर्य, पराशरात्मज, बादरायण, वेदव्यास आदि नामों से विख्यात हैं। वे महान सेनापति पितामह भीष्मदेव के पिता महाराज शन्तनु से, उनकी माता सत्यवती की सगाई होने के पूर्व ही, उनके गर्भ से महामुनि पराशर के पुत्र-रूप में उत्पन्न हुए थे। वे नारायण के शक्त्यावेश अवतार हैं और वे सारे विश्व में वैदिक ज्ञान का प्रसार करते हैं। इसलिये जब किसी वैदिक ग्रंथ का, विशेष रूप से पुराणों

का पारायण करना होता है, तब व्यासदेव को नमस्कार किया जाता है। शुकदेव गोस्वामी इनके पुत्र थे और वेदों की विभिन्न शाखाओं के लिये नियुक्त वैशम्पायन जैसे ऋषि, उनके शिष्य थे। वे महाकाव्य *महाभारत* तथा परम दिव्य ग्रंथ *भागवत* के रचनाकार हैं। उन्होंने *ब्रह्म-सूत्र—वेदान्त सूत्र* या *बादरायण-सूत्र*—का संकलन किया था। अपनी कठिन तपस्या के कारण वे ऋषियों में सर्वाधिक सम्मानित रचनाकार हैं। उन्होंने कलियुग की जनता के कल्याणार्थ जब अपने महाकाव्य *महाभारत* को लिखाना चाहा, तब उन्हें ऐसे समर्थ लिपिक की आवश्यकता हुई, जो उनके श्रुत-लेख को लिखता जाय। ब्रह्माजी के आदेश से श्रीगणेशजी ने यह कार्य इस शर्त पर स्वीकार कर लिया कि व्यासदेव एक क्षण भी रुकेंगे नहीं। इस प्रकार व्यास तथा गणेश के संयुक्त प्रयास से *महाभारत* संकलित हुआ।

अपनी माता सत्यवती के आदेश से, जो बाद में शन्तनु से ब्याही गईं, तथा महाराज शन्तनु की प्रथम पत्नी गंगा से उत्पन्न शन्तनु के सबसे बड़े पुत्र भीष्मदेव के अनुरोध से व्यासदेव ने तीन मेधावी पुत्र उत्पन्न किये, जिनके नाम थे धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा विदुर। व्यासदेव ने कुरुक्षेत्र-युद्ध के बाद तथा *महाभारत* के सारे योद्धाओं की मृत्यु के बाद *महाभारत* का संकलन किया। सर्वप्रथम महाराज परीक्षित के पुत्र महाराज जनमेजय के राज-दरबार में इसे सुनाया गया।

बृहदश्व—ये एक प्राचीन मुनि थे, जो महाराज युधिष्ठिर से यदा-कदा मिला करते थे। सर्वप्रथम वे महाराज युधिष्ठिर से काम्यवन में मिले थे। इन्होंने ही महाराज नल की कथा सुनाई थी। एक अन्य बृहदश्व भी थे, जो इक्ष्वाकु-वंश में उत्पन्न हुए थे *(महाभारत, वन-पर्व,* २०९.४-५)।

भरद्वाज—ये महान सप्तर्षियों में से एक थे और अर्जुन के जन्मोत्सव के समय उपस्थित थे। इस शक्तिशाली ऋषि ने कभी गंगा के तट पर कठिन तपस्या की थी और इनका आश्रम आज भी प्रयाग धाम में विख्यात है। ऐसा कहा जाता है कि जब ये ऋषि गंगा में स्नान कर रहे थे, तो स्वर्ग की एक सुन्दर अप्सरा घृतची से इनकी भेंट हुई। इस कारण से इनका वीर्य स्खलित हुआ, जिसे एक मिट्टी के बर्तन में सुरक्षित रख दिया गया, जिससे द्रोण उत्पन्न हुए। इस तरह द्रोणाचार्य

भरद्वाज मुनि के पुत्र थे। कुछ लोग द्रोण के पिता भरद्वाज को इन महर्षि भरद्वाज से भिन्न मानते हैं। ये ब्रह्मा के महान भक्त थे। ये एक बार द्रोणाचार्य के पास भी गये और इन्होंने उनसे कुरुक्षेत्र-युद्ध बन्द करने का आग्रह किया।

परशुराम या रेणुकासुत—ये महर्षि जमदग्नि तथा श्रीमती रेणुका के पुत्र थे। इस तरह वे रेणुका-सुत भी कहलाते हैं। वे ईश्वर के शक्तिशाली अवतारों में से एक थे और उन्होंने क्षत्रिय-वंश का इक्कीस बार संहार किया था। उन्होंने क्षत्रियों के रक्त से अपने पूर्वजों की आत्माओं को प्रसन्न किया। बाद में उन्होंने महेन्द्र पर्वत पर घोर तपस्या की। उन्होंने सम्पूर्ण पृथ्वी को क्षत्रियों से छीन कर, उसे कश्यप मुनि को दान में दे दिया। परशुराम ने द्रोणाचार्य को धनुर्वेद की शिक्षा प्रदान की, क्योंकि वे ब्राह्मण थे। वे महाराज युधिष्ठिर के राजतिलक के समय उपस्थित थे और अन्य महान ऋषियों के साथ इस उत्सव में सम्मिलित हुए थे।

परशुराम की आयु इतनी अधिक थी कि वे विभिन्न युगों में राम तथा कृष्ण दोनों से मिले थे। उन्होंने राम से युद्ध किया था, लेकिन कृष्ण को उन्होंने भगवान् के रूप में स्वीकार किया था। उन्होंने जब अर्जुन को कृष्ण के साथ देखा, तो उसकी प्रशंसा भी की थी। जब भीष्म ने विवाह की इच्छुक अम्बा से विवाह करने से इनकार कर दिया था, तो अम्बा परशुराम से मिली थी और उसकी प्रार्थना पर उन्होंने भीष्मदेव से उसे पत्नी-रूप स्वीकार करने के लिये कहा था। अपने गुरु होते हुए भी भीष्मदेव ने उनकी बात नहीं मानी थी। अत: परशुराम ने उनसे युद्ध किया था। दोनों में घमासान युद्ध हुआ और अन्त में परशुराम भीष्म से प्रसन्न हुए और उन्होंने उनको विश्व का सबसे बड़ा योद्धा होने का वरदान दिया था।

वसिष्ठ—ये ब्राह्मणों में सबसे विख्यात ऋषि थे और ब्रह्मर्षि वसिष्ठदेव कहलाते थे। वे *रामायण* तथा *महाभारत* दोनों ही कालों के विख्यात व्यक्तित्व थे। उन्होंने भगवान् श्रीराम का राजतिलक सम्पन्न कराया था और वे कुरुक्षेत्र के युद्ध में भी उपस्थित थे। वे समस्त उच्च लोकों तथा अधोलोकों में जा सकते थे और उनका नाम हिरण्यकशिपु के इतिहास के साथ भी जुड़ा हुआ है। विश्वामित्र तथा उनके बीच बहुत तनाव उत्पन्न हुआ था, क्योंकि विश्वामित्र उनकी

कामधेनु गाय लेना चाहते थे। जब वसिष्ठ मुनि ने अपनी कामधेनु देने से इनकार कर दिया, तो विश्वामित्र ने इनके सौ पुत्रों को मार डाला। एक पूर्ण ब्राह्मण होने के नाते वे विश्वामित्र के सारे व्यंग्य सहते रहे। एक बार तो विश्वामित्र के प्रताड़नों से ऊबकर उन्होंने आत्महत्या भी करनी चाही, किन्तु उनकेवे ऐसा कर नहीं पाये। वे पर्वत से कूदे, किन्तु वे जिन पत्थरों पर गिरे, वे रुई के ढेर बन गये और वे बच गये। वे समुद्र में भी कूदे, किन्तु लहरों ने उन्हें पुन: किनारे पर ला दिया। वे नदी में भी कुदे, लेकिन नदी ने उन्हें पुन: किनारे पर ला दिया। इस प्रकार उनके आत्महत्या के सारे प्रयास विफल रहे। वे सप्तर्षियों में से एक हैं और ये सुप्रसिद्ध नक्षत्र अरुन्धती के पति हैं।

इन्द्रप्रमद—ये एक अन्य विख्यात *ऋषि* हैं।

त्रित—वे प्रजापति गौतम के तीन पुत्रों में से एक थे। पुत्रों में वे तीसरे थे और उनके अन्य भाइयों के नाम एकत और द्वित थे। ये सभी भाई महान ऋषि थे और धर्म के चुस्त पालक थे। कठोर तपस्या के बल पर वे ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए थे। एक बार त्रित मुनि कुएँ में भी गिर गये। वे अनेक यज्ञों के व्यवस्थापक थे और महर्षि के रूप में मृत्यु-शय्या पर पड़े भीष्मदेव को अपना सम्मान प्रदर्शित करने वे भी आये थे। वे वरुणलोक के सप्तर्षियों में से एक थे। वे विश्व के पाश्चात्य देशों के रहनेवाले थे। अत:, सम्भवत: वे यूरोपीय देशों के निवासी थे। उस समय सारा जगत एक ही वैदिक संस्कृति के अधीन था।

गृत्समद—स्वर्ग के एक ऋषि। वे स्वर्ग के राजा इन्द्र के घनिष्ठ मित्र थे और वृहस्पति के समान ही महान् थे। महाराज युधिष्ठिर के दरबार में उनका आना जाना रहता था और उस स्थान पर भी वे गये, जहाँ भीष्मदेव ने अपनी अंतिम श्वास ली। कभी-कभी वे महाराज युधिष्ठिर के समक्ष शिवजी का गुणानुवाद किया करते थे। वे वीतहव्य के पुत्र थे और देखने में इन्द्र की आकृति से मिलते-जुलते थे। कुछ बार इन्द्र के शत्रुओं ने उन्हें इन्द्र समझ कर बन्दी बना लिया था। वे ऋग्वेद के विद्वान थे और ब्राह्मणों द्वारा उन्हें अत्यधिक सम्मान दिया जाता था। उन्होंने ब्रह्मचर्य-जीवन बिताया और वे सभी प्रकार से शक्तिसम्पन्न थे।

असित—इसी नाम का एक राजा भी हुआ है, लेकिन यहाँ पर असित का नाम असित देवल ऋषि के लिए प्रयुक्त है, जो अपने समय के शक्तिसम्पन्न ऋषि थे। उन्होंने *महाभारत* के पन्द्रह लाख श्लोकों की व्याख्या अपने पिता को सुनाई। वे जनमेजय के नाग-यज्ञ में सम्मिलित हुए थे। वे अन्य महर्षियों के साथ महाराज युधिष्ठिर के राज्याभिषेक में भी उपस्थित थे। जब महाराज युधिष्ठिर अञ्जन पर्वत पर थे, तो इन्होंने उन्हें उपदेश भी दिया था। वे शिवजी के भी भक्त थे।

कक्षीवान्—गौतम मुनि के पुत्रों में से एक तथा महर्षि चन्दकौशिक के पिता थे। वे महाराज युधिष्ठिर की संसद के सदस्य थे।

अत्रि—अत्रि मुनि महान ब्राह्मण ऋषि थे और ब्रह्माजी के मानसपुत्र थे। ब्रह्माजी इतने शक्तिमान हैं कि चिन्तन मात्र से पुत्र उत्पन्न कर सकते हैं। ये पुत्र *मानसपुत्र* कहलाते हैं। अत्रि, ब्रह्माजी के सप्त *मानसपुत्रों* तथा सप्त ब्रह्मर्षियों में से एक थे। उन्हीं के परिवार में महान् प्रचेतागण भी उत्पन्न हुए थे। अत्रि मुनि के दो *क्षत्रिय* पुत्र थे और दोनों ही राजा बने, जिनमें से एक का नाम राजा अर्थम था। इक्कीस प्रजापतियों में इनकी भी गणना की जाती है। इनकी पत्नी का नाम अनसूया था। इन्होंने महाराज परीक्षित के महान् यज्ञों में उनकी सहायता की थी।

कौशिक—महाराज युधिष्ठिर के राज-दरबार के स्थायी ऋषि सदस्य थे। ये कभी-कभी भगवान् कृष्ण से भी मिलते रहते थे। इसी नाम के अनेक अन्य ऋषि हुए हैं।

सुदर्शन—यह सर्वाधिक शक्तिशाली अस्त्र है, यहाँ तक कि ब्रह्मास्त्र या अन्य विध्वंसक अस्त्रों से भी यह श्रेष्ठ है और इस चक्र को भगवान् ने (विष्णु या कृष्ण ने) अपने अस्त्र के रूप में स्वीकार किया था। किन्हीं-किन्हीं वैदिक ग्रंथों में कहा गया है कि अग्निदेव ने यह अस्त्र श्रीकृष्ण को प्रदान किया था, लेकिन सच्चाई तो यह है कि भगवान् इस अस्त्र को निरन्तर धारण किये रहते हैं। अग्निदेव ने यह अस्त्र श्रीकृष्ण को उसी प्रकार अर्पित किया, जिस प्रकार महाराज रुक्म ने उन्हें अपनी पुत्री रुक्मिणी प्रदान की थी। भगवान् अपने भक्तों की ऐसी भेंटें स्वीकार करते रहते हैं, यद्यपि ये उन्हीं की नित्य सम्पत्ति हैं। *महाभारत* के *आदिपर्व* में इस सुदर्शन अस्त्र का विस्तृत वर्णन मिलता है। भगवान् कृष्ण ने इसका उपयोग अपने प्रतिद्वंद्वी शिशुपाल के वध के लिये

किया। उन्होंने इसी के द्वारा शाल्व का भी वध किया और कभी कभी उन्होंने चाहा था कि अर्जुन अपने शत्रुओं का संहार करने के लिये इस चक्र का प्रयोग करे (*महाभारत, विराट पर्व* ५६.३)।

अन्ये च मुनयो ब्रह्मन् ब्रह्मरातादयोऽमलाः ।
शिष्यैरुपेता आजग्मुः कश्यपाङ्गिरसादयः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अन्ये—अन्य कई; च—भी; मुनयः—मुनिगण; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणों; ब्रह्मरात—शुकदेव गोस्वामी; आदयः—इत्यादि; अमलाः—पूर्ण रूप से शुद्ध; शिष्यैः—शिष्यों के द्वारा; उपेताः—साथ-साथ; आजग्मुः—आये; कश्यप—कश्यप; आङ्गिरस—आंगिरस; आदयः—आदि।

तथा शुकदेव गोस्वामी एवं अन्य पवित्रात्माएँ, कश्यप, आंगिरस इत्यादि अपने-अपने शिष्यों के साथ वहाँ पर आये।

तात्पर्य : *शुकदेव गोस्वामी (ब्रह्मरात)* : ये व्यासदेव के प्रख्यात पुत्र तथा शिष्य थे, जिन्हें उन्होंने सर्वप्रथम *महाभारत* तथा उसके बाद *श्रीमद्भागवत* की शिक्षा दी। शुकदेव गोस्वामी ने गन्धर्वों, यक्षों तथा राक्षसों की सभा में *महाभारत* के चौदह लाख श्लोक सुनाये थे और *श्रीमद्भागवत* सर्वप्रथम महाराज परीक्षित को सुनाया। उन्होंने अपने पिता से सारे वैदिक साहित्य का पूरी तरह अध्ययन किया। इस प्रकार धर्म-सम्बन्धी अपने विस्तृत ज्ञान के कारण वे पूर्ण पवित्रात्मा थे। *महाभारत* के *सभापर्व* (४.११) से ज्ञात होता है कि ये महाराज युधिष्ठिर की राजसभा में तथा महाराज परीक्षित के उपवास के समय भी उपस्थित हुए थे। श्री व्यासदेव के प्रामाणिक शिष्य होने के नाते ये अपने पिता से धार्मिक सिद्धान्तों तथा आध्यात्मिक मूल्यों के विषय में जिज्ञासाएँ करते रहते थे। इनके पिता ने इन्हें योग-पद्धति सिखलाई, जिससे वैकुण्ठ प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने कर्म तथा ज्ञान का अन्तर, आत्म-साक्षात्कार करने के साधन, चारों आश्रम (अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और संन्यास आश्रम), पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का दिव्य पद, उनके साक्षात् दर्शन करने की विधि, ज्ञान प्राप्त करनेवाला सुपात्र, पाँच तत्त्व, बुद्धि की अद्वितीय स्थिति, प्रकृति की चेतना तथा जीव, स्वरूपसिद्ध व्यक्ति के लक्षण, शरीर के सिद्धान्त, प्रकृति के गुणों के लक्षण, कल्पतरु तथा मनोवैज्ञानिक कार्यों के विषय में शिक्षा दी। कभी-कभी

वे अपने पिता तथा नारदजी की अनुमति से सूर्यलोक भी जाया करते थे। *महाभारत* के *शान्ति-पर्व* (३३२) में उनकी अन्तरिक्ष-यात्रा का विवरण प्राप्त है। अन्त में उन्हें परम धाम की प्राप्ति हुई। वे अरणेय, अरुणिसुत, वैयासकि तथा व्यासात्मज इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हैं।

कश्यप—वे मरीचि के पुत्र, प्रजापतियों में से एक तथा प्रजापति दक्ष के दामाद थे। वे उस विराट गरुड़ पक्षी के पिता हैं, जिसे खाने के लिए बड़े-बड़े हाथियों तथा कछुओं को परोसा जाता था। उन्होंने प्रजापति दक्ष की तेरह पुत्रियों से विवाह किया। उनके नाम थे—अदिति, दिति, दनु, काष्ठा, अरिष्टा, सुरसा, इला, मुनि, क्रोधवशा, ताम्रा, सुरभि, सरमा तथा तिमि। इन पत्नियों से उनके अनेक पुत्र हुए, जो देवता तथा असुर दोनों थे। उनकी प्रथम पत्नी अदिति से बारहों आदित्य उत्पन्न हुए थे, जिनमें से वामन ईश्वर के अवतार हैं। ये कश्यप मुनि अर्जुन के जन्म के समय भी विद्यमान थे। परशुराम ने इन्हें सारा विश्व भेंट किया और बाद में इन्होंने परशुराम को विश्व के बाहर जाने की आज्ञा दी। इनका दूसरा नाम अरिष्टनेमि था। ये ब्रह्माण्ड की उत्तरी दिशा में निवास करते हैं।

आङ्गिरस—ये महर्षि अंगिरा के पुत्र हैं और देवताओं के पुरोहित, बृहस्पति नाम से विख्यात हैं। कहा जाता है कि द्रोणाचार्य इनके अंश-अवतार थे। शुक्राचार्य असुरों के गुरु थे और बृहस्पति ने उन्हें ललकारा था। उनके पुत्र कच ने सर्वप्रथम भरद्वाज मुनि को अग्न्यास्त्र प्रदान किया। उन्हें अपनी पत्नी चन्द्रमासी से, जो कि एक विख्यात नक्षत्र है, अग्नि देव के समान छह पुत्र प्राप्त हुए। वे अन्तरिक्ष में विचरण कर सकते थे, अतएव ब्रह्मलोक तथा इन्द्रलोक में भी जा सकते थे। उन्होंने स्वर्ग के राजा इन्द्र को असुरों पर विजय प्राप्त पाने के लिए सलाह दी। एक बार उन्होंने इन्द्र को श्राप दिया, जिससे उसे पृथ्वी पर शूकर बनकर आना पड़ा। वह स्वर्ग वापस जाने से अनिच्छा व्यक्त करने लगे। माया की आकर्षण शक्ति ऐसी होती है कि शूकर भी, धरा के घर-द्वार को छोड़ना नहीं चाहता, भले ही बदले में स्वर्ग मिलता हो। वे विभिन्न लोकवासियों के धर्मोपदेशक थे।

तान् समेतान् महाभागानुपलभ्य वसूत्तमः ।
पूजयामास धर्मज्ञो देशकालविभागवित् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तान्—उन सभी; समेतान्—समवेत; महा-भागान्—अत्यन्त शक्तिशाली पुरुषों को; उपलभ्य—पाकर; वसु-उत्तमः—वसुओं में श्रेष्ठ (भीष्मदेव ने); पूजयाम् आस—स्वागत किया; धर्म-ज्ञः—धर्म का ज्ञाता; देश—स्थान; काल—समय; विभाग-वित्—जो देश-काल के अनुसार अपने को समंजित कर लेता है।.

आठ वसुओं में सर्वश्रेष्ठ भीष्मदेव ने वहाँ पर एकत्र हुए समस्त महान् तथा शक्तिसम्पन्न ऋषियों का स्वागत किया, क्योंकि भीष्मदेव को देश तथा काल के अनुसार समस्त धार्मिक नियमों की भलीभाँति जानकारी थी।

तात्पर्य : पटु धर्मज्ञ भलीभाँति जानते हैं कि किस प्रकार देश-काल के अनुसार धार्मिक सिद्धान्तों को समंजित करना चाहिए। सारे महान् आचार्यों अथवा धर्मोपदेशकों अथवा विश्व के सुधारकों ने देश-काल के अनुसार धार्मिक नियमों को समंजित करके ही अपने उद्देश्य को पूरा किया। विश्व के विभिन्न भागों में तरह-तरह की जलवायु तथा परिस्थितियाँ हैं और यदि किसी को भगवान् के संदेश का उपदेश करना है, तो उसे देश-काल के अनुसार बातें समंजित करने में पटु होना चाहिए। भीष्मदेव इस भक्ति सम्प्रदाय का उपदेश करनेवाले बारह महाजनों में से एक थे, अतएव वे ब्रह्माण्ड के कोने-कोने से आये शक्तिशाली ऋषियों का स्वागत तथा सम्मान अपनी मृत्यु-शय्या पर पड़े-पड़े कर सकते थे। निस्संदेह वे उस समय उनका स्वागत-सम्मान स्वयं उठकर कर पाने में शरीर से असमर्थ थे, क्योंकि उस समय वे न तो घर पर थे न सामान्य रूप से स्वस्थ अवस्था में थे। लेकिन वे अपने मस्तिष्क के सुचारु रूप से कार्य करने से बिलकुल चुस्त थे और वे हार्दिक मृदु वचन बोल सके। इसीलिए सभी आगन्तुकों का ठीक से सत्कार हो पाया। मनुष्य मन से, वाणी से तथा कर्म से अपना कर्तव्य पूरा कर सकता है। वे भलीभाँति जानते थे कि उनका किस तरह समुचित स्थान पर उपयोग करना चाहिए। अतएव शारीरिक रूप से असमर्थ होने पर भी उन्हें लोगों का सत्कार करने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

कृष्णं च तत्प्रभावज्ञ आसीनं जगदीश्वरम् ।

हृदिस्थं पूजयामास माययोपात्तविग्रहम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

कृष्णम्—भगवान् श्रीकृष्ण को; च—भी; तत्—उनका; प्रभाव-ज्ञः—महिमा को जाननेवाले (भीष्म); आसीनम्—बैठे हुए; जगत्-ईश्वरम्—ब्रह्माण्ड के स्वामी को; हृदि-स्थम्—हृदय में आसीन; पूजयाम् आस—पूजा; मायया—अन्तरंगा शक्ति के द्वारा; उपात्त—प्रकट; विग्रहम्—स्वरूप को।

भगवान् श्रीकृष्ण प्रत्येक के हृदय में आसीन हैं, तो भी वे अपनी अन्तरंगा शक्ति से अपना दिव्य रूप प्रकट करते हैं। ऐसे भगवान् साक्षात भीष्मदेव के समक्ष बैठे हुए थे। और चूँकि भीष्मदेव उनकी महिमा से परिचित थे, अतएव उन्होंने उनकी विधिवत् पूजा की।

तात्पर्य : भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता का प्रदर्शन प्रत्येक स्थान में उनकी उपस्थिति द्वारा होता है। वे अपने नित्य धाम गोलोक वृन्दावन में सदैव उपस्थित रहते हैं, तो भी वे जन-जन के हृदय में, यहाँ तक कि प्रत्येक अदृश्य परमाणु के भीतर भी स्थित रहते हैं। जब वे इस भौतिक जगत में अपने नित्य दिव्य रूप को व्यक्त करते हैं, तो वे अपनी अन्तरंगा शक्ति से ऐसा करते हैं। बहिरंगा शक्ति या माया का इस नित्य रूप से कोई सरोकार नहीं होता। ये सारी बातें श्री भीष्मदेव को ज्ञात थीं, अतएव उन्होंने तदनुसार ही उनकी पूजा की।

पाण्डुपुत्रानुपासीनान् प्रश्रयप्रेमसङ्गतान् ।
अभ्याचष्टानुरागाश्रैरन्धीभूतेन चक्षुषा ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

पाण्डु—महाराज युधिष्ठिर तथा उनके भाइयों के दिवंगत पिता के; पुत्रान्—पुत्रों को; उपासीनान्—पास ही शान्त बैठे हुए; प्रश्रय—अभिभूत; प्रेम—प्रेमभाव में; सङ्गतान्—एकत्र हुए; अभ्याचष्ट—बधाई दी; अनुराग—प्रेमपूर्वक; अश्रैः—आनन्दाश्रुओं द्वारा; अन्धीभूतेन—आप्लावित; चक्षुषा—नेत्रों से।

पास ही महाराज पाण्डु के सारे पुत्र शान्त बैठे थे और अपने मरणासन्न पितामह के प्रेम से अभिभूत थे। यह देखकर भीष्मदेव ने उन्हें भावपूर्ण बधाई दी। उनके नेत्रों में आनन्दाश्रु थे, क्योंकि वे प्रेम तथा स्नेह से आप्लावित हो गये थे।

तात्पर्य : जब महाराज पाण्डु का निधन हुआ, तो उनके सारे पुत्र छोटे बालक थे। अतएव स्वाभाविक था कि वे राज-परिवार के ज्येष्ठजनों के, विशेष रूप से भीष्मदेव के, लाड़-प्यार में पले थे। बाद में जब पाण्डव बड़े हो गये, तो वे धूर्त दुर्योधन तथा उसकी टोली द्वारा ठगे गये।

यद्यपि भीष्मदेव जानते थे कि पाण्डव निर्दोष थे और उन्हें व्यर्थ ही कष्ट दिये जा रहे थे, फिर भी राजनीतिक कारणों से वे पाण्डवों का पक्ष नहीं ले पा रहे थे। अपने अन्तिम समय में जब भीष्मदेव ने महाराज युधिष्ठिर समेत अपने यशस्वी पौत्रों को अपनी बगल में बैठे हुए देखा, तो महायोद्धा पितामह अपने प्रेमाश्रुओं को रोक न सके, उनकी आँखों से अश्रु स्वत: छलछला रहे थे। उन्होंने अपने अत्यंत पवित्र पौत्रों द्वारा भोगे गये महान कष्टों का स्मरण किया। निश्चय ही वे सर्वाधिक संतुष्ट व्यक्ति थे, क्योंकि दुर्योधन के स्थान पर युधिष्ठिर सिंहासन पर बैठने जा रहे थे। इसीलिए उन्होंने उन सबों को बधाई दी।

अहो कष्टमहोऽन्याय्यं यद्यूयं धर्मनन्दना: ।
जीवितुं नार्हथ क्लिष्टं विप्रधर्माच्युताश्रया: ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अहो—अहो; कष्टम्—कितना कष्ट; अहो—ओह; अन्याय्यम्—कितना अन्याय; यत्—क्योंकि; यूयम्—तुम सभी; धर्म-नन्दना:—साक्षात् धर्म के पुत्र; जीवितुम्—जीवित रहने के लिए; न—कभी नहीं; अर्हथ—योग्य हो; क्लिष्टम्—कष्ट; विप्र—ब्राह्मण; धर्म—धर्म; अच्युत—ईश्वर द्वारा; आश्रया:—सुरक्षित होकर।

भीष्मदेव ने कहा : ओह, तुम लोगों ने, साक्षात् धर्म के पुत्र होते हुए भी, कितनी यातनाएँ तथा कितना अन्याय सहा है। उन कष्टों के अन्तर्गत तुम सबको जीवित रहने की आशा न थी, फिर भी ब्राह्मणों, ईश्वर तथा धर्म ने तुम्हारी रक्षा की है।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर कुरुक्षेत्र युद्ध के महान नरसंहार से अत्यन्त विचलित थे। भीष्मदेव यह समझ गये। इसीलिए उन्होंने सर्वप्रथम महाराज युधिष्ठिर की घोर विपत्तियों का उल्लेख किया। वे अन्याय के कारण ही इस कठिनाई में पड़े थे और कुरुक्षेत्र का युद्ध इसी अन्याय के विरोध में लड़ा गया था। इसीलिए उन्हें इस घोर नरसंहार के लिए शोक नहीं करना चाहिए था। वे पाण्डवों को विशेष तौर पर यह बताना चाह रहे थे कि वे लोग सदा ही ब्राह्मणों, भगवान् तथा धर्म द्वारा रक्षित होते रहे हैं। अतएव जब तक वे इन तीनों महत्त्वपूर्ण साधनों के द्वारा सुरक्षित हैं, तब तक निराश होने का कोई कारण नहीं है। इस प्रकार भीष्मदेव ने महाराज को उनकी निराशा मिटाने के लिए प्रोत्साहित किया। जब तक कोई मनुष्य भगवान् की इच्छा के साथ

पूरा तालमेल बनाए रखता है, प्रामाणिक ब्राह्मणों तथा वैष्णवों द्वारा निर्देशित होता है और धार्मिक सिद्धान्तों का दृढता से पालन करता है, तब तक उसके निराश होने का कोई कारण नहीं हैं, भले ही जीवन की परिस्थितियाँ कितनी ही विषम क्यों न हों। इस परम्परा में एक महान् सत्ता होने के नाते भीष्मदेव पाण्डवों को यह बात समझाना चाहते थे।

संस्थितेऽतिरथे पाण्डौ पृथा बालप्रजा वधूः ।
युष्मत्कृते बहून् क्लेशान् प्राप्ता तोकवती मुहुः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

संस्थिते—मृत्यु के बाद; अति-रथे—महान सेनानायक; पाण्डौ—पाण्डु की; पृथा—कुन्ती; बाल-प्रजा—छोटे-छोटे बच्चों वाले; वधूः—मेरी पुत्रवधू; युष्मत्-कृते—तुम्हारे कारण; बहून्—अनेक; क्लेशान्—कष्टों को; प्राप्ता—भोगकर; तोक-वती—बड़े-बड़े बालकों के होने पर भी; मुहुः—निरन्तर।

जहाँ तक मेरी पुत्रवधू कुन्ती का सम्बन्ध है, वह महान् सेनापति पाण्डु की मृत्यु होने पर अनेक सारे बच्चों के साथ विधवा हो गई और इस के कारण उसने घोर कष्ट सहे। और अब जब तुम लोग बड़े हो गये हो, तो भी वह तुम्हारे कर्मों के कारण काफी कष्ट उठा रही है।

तात्पर्य : कुन्तीदेवी के कष्टों पर दुगुना शोक प्रकट किया जा रहा है। कम आयु में विधवा हो जाने तथा राज-परिवार में अपने छोटे छोटे बच्चों के पालन-पोषण करने में उसे अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ा। और जब उसके बच्चे बड़े हो गये, तो उनकी करनी से उसे कष्ट उठाना पड़ रहा था। अतएव उसके कष्ट जैसे के तैसे बने हुए थे। इसका अर्थ यह हुआ कि विधाता के द्वारा कष्ट झेलना उसके भाग्य में लिखा हुआ था और विचलित हुए बिना इसको सहना पड़ा।

सर्वं कालकृतं मन्ये भवतां च यदप्रियम् ।
सपालो यद्वशे लोको वायोरिव घनावलिः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

सर्वम्—यह सब; काल-कृतम्—काल द्वारा किया गया; मन्ये—मैं सोचता हूँ; भवताम् च—तुम्हारे लिए भी; यत्—जो भी; अप्रियम्—अप्रिय; स-पालः—शासकों समेत; यत्-वशे—उस काल के वशीभूत; लोकः—प्रत्येक लोक में सभी लोग; वायोः—वायु ले जाती है; इव—सदृश; घन-आवलिः—बादलों का समूह।

मेरे विचार से यह सब प्रबल काल के कारण हुआ है, जिसके वशीभूत होकर हर कोई व्यक्ति प्रत्येक लोक में मारा मारा फिरता है, जिस प्रकार वायु द्वारा बादल इधर से उधर ले जाये जाते हैं।

तात्पर्य : इस ब्रह्माण्ड के भीतर सारे अन्तरिक्ष में काल का नियन्त्रण उसी तरह है, जिस प्रकार सारे लोकों में उसका नियंत्रण है। सारे बड़े-बड़े ग्रह, जिनमें सूर्य भी सम्मिलित है, वायु के बल के द्वारा उसी प्रकार नियन्त्रित हैं, जिस प्रकार वायु के वेग से बादल इधर से उधर ले जाये जाते हैं। इसी प्रकार अपरिहार्य काल वायु तथा अन्य तत्त्वों की क्रिया को भी नियन्त्रित करनेवाला है। अतएव प्रत्येक वस्तु सर्वोपरि काल द्वारा नियन्त्रित है, जो इस भौतिक जगत के अन्दर भगवान् का सबसे शक्तिशाली प्रतिनिधि है। अतएव युधिष्ठिर को इस काल की अकल्पनीय क्रिया से दुखी नहीं होना चाहिए। मनुष्य जब तक इस भौतिक संसार की स्थितियों में रहता है, तब तक उसे काल की क्रिया-प्रतिक्रियाओं को सहन करना होता है। युधिष्ठिर को यह नहीं सोचना चाहिए कि उन्होंने पिछले जन्म में पाप किया था, जिसका परिणाम उन्हें भोगना पड़ रहा है। बड़े-से-बड़े पुण्यात्मा को भी भौतिक प्रकृति की दशाओं को भोगना पड़ता है। लेकिन पुण्यात्मा भगवान् के प्रति श्रद्धावान होता है, क्योंकि वह प्रामाणिक ब्राह्मण तथा धर्मात्मा वैष्णव द्वारा निर्देशित होता है। इन तीन पथ-प्रदर्शक सिद्धान्तों को ही जीवन का लक्ष्य बनाना चाहिए। मनुष्य को शाश्वत काल की चालों से विचलित नहीं होना चाहिए। यहाँ तक कि बह्माण्ड के महान नियन्ता, ब्रह्माजी भी काल के वश में हैं, अतएव धार्मिक सिद्धान्तों का असली पालक होने के बावजूद भी मनुष्य को काल द्वारा नियन्त्रित होने के कारण क्षुब्ध नहीं होना चाहिए।

यत्र धर्मसुतो राजा गदापाणिर्वृकोदरः ।
कृष्णोऽस्त्री गाण्डिवं चापं सुहृत्कृष्णस्ततो विपत् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; धर्म-सुतः—धर्मराज का पुत्र; राजा—राजा; गदा-पाणिः—हाथ में शक्तिशाली गदा धारण करनेवाला; वृकोदरः—भीम; कृष्णः—अर्जुन; अस्त्री—अस्त्र धारण करनेवाला; गाण्डिवम्—गाण्डीव को; चापम्—धनुष; सुहृत्—शुभेच्छु; कृष्णः—भगवान् कृष्ण; ततः—उससे; विपत्—विपत्ति।

ओह, अपरिहार्य काल का प्रभाव कितना आश्चर्यजनक होता है, यह अपरिवर्तनीय है अन्यथा धर्मराज के पुत्र युधिष्ठिर, गदाधारी भीम तथा गाण्डीव अस्त्र धारण करनेवाले बलशाली महान् धनुर्धर अर्जुन एवं सबके ऊपर पाण्डवों के प्रत्यक्ष हितैषी कृष्ण के होते हुए यह विपत्ति क्यों आती?

तात्पर्य : जहाँ तक भौतिक या आध्यात्मिक साधनों की बात थी, पाण्डवों के लिए इनकी कमी न थी। भौतिक दृष्टि से वे अच्छी तरह से सुसज्जित थे, क्योंकि दो महान योद्धा अर्थात् भीम तथा अर्जुन उनके साथ थे। आध्यात्मिक दृष्टि से, राजा स्वयं धर्म के प्रतीक थे और इन सबके ऊपर, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण हितैषी के रूप में उनके लिए स्वयं चिन्ता करते थे। फिर भी पाण्डवों पर इतनी विपत्तियाँ आईं। पुण्य कर्म की शक्ति, व्यक्तित्वों की शक्ति, कुशल प्रबन्ध-क्षमता तथा भगवान् श्रीकृष्ण की प्रत्यक्ष अध्यक्षता में अस्त्र-शक्ति होने पर भी पाण्डवों को अनेक विपत्तियाँ देखनी पड़ीं, जिन्हें अपरिहार्य काल का प्रभाव ही कहा जा सकता है। काल साक्षात् भगवान् से अभिन्न है, अतएव काल का प्रभाव भगवान् की अकथ इच्छा का सूचक है। जब कोई बात किसी मनुष्य के वश के परे हो, तो पछताने से कोई लाभ नहीं।

न ह्यस्य कर्हिचिद्राजन् पुमान् वेद विधित्सितम् ।
यद्विजिज्ञासया युक्ता मुह्यन्ति कवयोऽपि हि ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; हि—निश्चय ही; अस्य—उसका; कर्हिचित्—कोई भी; राजन्—हे राजा; पुमान्—कोई; वेद—जानता है; विधित्सितम्—योजना; यत्—जो; विजिज्ञासया—जिज्ञासा; युक्ताः—लगा हुआ; मुह्यन्ति—मोहग्रस्त; कवयः—बड़े-बड़े विचारक; अपि—भी; हि—निश्चय ही।

हे राजन् भगवान् (श्रीकृष्ण) की योजना को कोई नहीं जान सकता। यद्यपि बड़े-बड़े चिन्तक उनके विषय में जिज्ञासा करते हैं, लेकिन वे मोहित हो जाते हैं।

तात्पर्य : परम विशेषज्ञ (बारह प्राधिकृत पुरुषों में से एक) भीष्म के द्वारा विगत पापों तथा उनसे होने वाले फलों के द्वारा महाराज युधिष्ठिर के मोह का पूरी तरह से निषेध हो जाता है। भीष्म महाराज युधिष्ठिर को जोर देकर बताना चाह रहे थे कि अनादि काल से शिव तथा ब्रह्मा

जैसे देवातओं-समेत कोई भी भगवान् की वास्तविक योजना को नहीं जान पाया है। तो भला हम उसके विषय में कैसे जान सकते हैं? इसके विषय में जिज्ञासा करना भी व्यर्थ ही है। यहाँ तक कि मुनियों द्वारा गहन दार्शनिक जिज्ञासाएँ भी भगवान् की योजना को ठीक से निश्चित् नहीं कर पातीं, अतएव सर्वोत्तम नीति है कि बिना तर्क के भगवान् के आदेशों का सहज भाव से पालन किया जाय। पाण्डवों के कष्ट उनके पूर्व कर्मों के कारण नहीं थे। भगवान् की योजना तो धर्म का राज्य स्थापित करने की थी। अतएव पुण्य की विजय स्थापित करने के लिए उनके ही भक्तों को कुछ देर के लिए कष्ट उठाने पड़े। भीष्मदेव धर्म की विजय देखकर निश्चय ही संतुष्ट थे और राजा युधिष्ठिर को सिंहासनारूढ़ देखकर प्रसन्न थे, यद्यपि वे स्वयं उनके विरुद्ध लड़े थे। भीष्म जैसे महान योद्धा भी कुरुक्षेत्र के युद्ध को नहीं जीत सके, क्योंकि भगवान् यह दिखाना चाहते थे कि पाप कभी पुण्य को नहीं जीत सकता, चाहे कोई कुछ भी करना चाहे। भीष्मदेव भगवान् के महान भक्त थे, लेकिन उन्हें भगवान् की इच्छानुसार पाण्डवों के विरुद्ध युद्ध करना पड़ा, क्योंकि भगवान् यह दिखलाना चाह रहे थे कि गलत पक्ष की ओर से लड़ने पर भीष्म जैसा योद्धा भी जीत नहीं सकता।

तस्मादिदं दैवतन्त्रं व्यवस्य भरतर्षभ ।
तस्यानुविहितोऽनाथा नाथ पाहि प्रजाः प्रभो ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; इदम्—यह; दैव-तन्त्रम्—भाग्य का वशीकरण; व्यवस्य—निश्चित करके; भरत-ऋषभ—हे भरतवंश में श्रेष्ठ; तस्य—उसके द्वारा; अनुविहितः—इच्छित; अनाथाः—असहाय; नाथ—हे स्वामी; पाहि—रक्षा करो; प्रजाः—जनता की; प्रभो—हे प्रभु।

अतएव हे भरतवंश में श्रेष्ठ (युधिष्ठिर), मैं मानता हूँ कि यह सब भगवान् की योजना के अन्तर्गत है। तुम भगवान् की अचिन्त्य योजना को स्वीकार करो और उसका पालन करो। अब तुम नियुक्त किए गये शासनाध्यक्ष हो, अतएव हे महाराज, आपको अब उन लोगों की देखभाल करनी चाहिए जो असहाय हो चुके हैं।

तात्पर्य : एक कहावत है कि गृहस्वामिनी अपनी पुत्री को शिक्षा देते हुए पुत्रवधू को सिखाती है। इसी प्रकार भगवान् भी अपने भक्त को शिक्षा देकर संसार को शिक्षा देते हैं। भक्त को भगवान् से कुछ नया नहीं सीखना होता, क्योंकि भगवान् निष्ठावान भक्त को उसके भीतर से शिक्षा देते हैं। अतएव, जब भी भक्त को शिक्षा देने का प्रदर्शन किया जाता है, जैसा कि *भगवद्गीता* के उपदेश में हुआ है, तो यह कम बुद्धिमान मनुष्यों को शिक्षा देने के लिए होता है। अतएव भक्त का धर्म है कि वह भगवान् द्वारा प्रदत्त विपत्तियों को आशीर्वाद मानकर सह ले। भीष्मदेव ने पाण्डवों को सलाह दी कि वे बिना हिचक के शासनभार स्वीकार कर लें। कुरुक्षेत्र के युद्ध के कारण बेचारी प्रजा असुरक्षित थी और वह महाराज युधिष्ठिर द्वारा राज्य ग्रहण करने की प्रतीक्षा कर रही थी। भगवान् का शुद्ध भक्त सारी विपत्तियों को भगवान् का अनुग्रह मानता है। चूँकि भगवान् परम पूर्ण हैं, अतएव भक्त तथा भगवान् में कोई लौकिक अन्तर नहीं है।

एष वै भगवान्साक्षादाद्यो नारायणः पुमान् ।
मोहयन्मायया लोकं गूढश्चरति वृष्णिषु ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; वै—निश्चय ही; भगवान्—भगवान्; साक्षात्—मूल; आद्यः—प्रथम; नारायणः—परमेश्वर (जल में शयन करनेवाले); पुमान्—परम भोक्ता; मोहयन्—मोहित करनेवाला; मायया—स्वसर्जित शक्ति द्वारा; लोकम्—ग्रहों को; गूढः—अकल्पनीय; चरति—विचरण करता है; वृष्णिषु—वृष्णिकुल में।

ये श्रीकृष्ण अकल्पनीय आदि भगवान् ही हैं। ये प्रथम नारायण अर्थात् परम भोक्ता हैं। लेकिन ये राजा वृष्णि के वंशजों में हमारी ही तरह विचरण कर रहे हैं और हमें स्व-सृजित शक्ति के द्वारा मोहग्रस्त कर रहे हैं।

तात्पर्य : ज्ञान प्राप्त करने की वैदिक पद्धति निगमन की विधि है। वैदिक ज्ञान पूर्ण रूप से अधिकारियों के शिष्य-परम्परा द्वारा प्राप्त किया जाता है। ऐसा ज्ञान कभी मतान्ध नहीं होता, जैसाकि अल्पज्ञों की गलत सोच है। पिता की पहचान की पुष्टि करने की अधिकारिणी माता होती है। ऐसे गुह्य ज्ञान की अधिकारिणी वही होती है। अतएव प्रामाणिक सत्ता का होना रूढ़िमूलक नहीं होता। *भगवद्गीता* के चतुर्थ अध्याय (४.२) में इस सत्य की पुष्टि की गई है और बताया

गया है कि विद्या की सम्यक् पद्धति उसे प्राधिकारी से प्राप्त करने में है। इसी पद्धति को विश्वव्यापी सत्य के रूप में स्वीकार किया जाता है, लेकिन व्यर्थ तर्क करनेवाला ही इसके विपरीत बोलता है। उदाहरणार्थ, आधुनिक अन्तरिक्ष यान आकाश में उड़ते हैं और जब वैज्ञानिक यह कहते हैं कि वे चन्द्रमा के दूसरी ओर यात्रा करते हैं, तो लोग इन कथाओं को आँख मूँदकर स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि उन्होंने आधुनिक विज्ञानियों को प्रमाण (अधिकारी) के रूप में स्वीकार कर लिया है। अधिकारी जो कुछ बोलते हैं, सामान्य जन उस पर विश्वास कर लेते हैं। लेकिन वैदिक सत्यों के विषय में उन्हें विश्वास न करने की शिक्षा दी जाती है। यदि वे उसे स्वीकार करते भी हैं, तो वे उसकी भिन्न प्रकार से व्याख्या करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति वैदिक ज्ञान की प्रत्यक्ष अनुभूति करना चाहता है, लेकिन मूर्खतावश वह इससे इनकार करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि गुमराह व्यक्ति जिस एक प्रमाण पर विश्वास कर सकता है, वह है विज्ञानी, किन्तु वह वेदों के प्रमाण को अस्वीकार कर देता है। इसी का परिणाम यह है कि लोगों का पतन हुआ है।

यहाँ पर एक अधिकारी व्यक्ति श्रीकृष्ण को आदि भगवान् तथा प्रथम नारायण बताया गया है। आचार्य शंकर जैसे निर्विशेषवादी ने भी *भगवद्गीता* के अपने भाष्य के प्रारम्भ में कहा है कि भगवान् नारायण भौतिक सृष्टि से परे हैं। *यह ब्रह्माण्ड एक भौतिक सृष्टि है, किन्तु नारायण ऐसी भौतिक साज–सज्जा से परे हैं।

footnote starts here

नारायणः परोऽव्यक्ताद् अण्डमव्यक्तसम्भवम्।

अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपा च मेदिनी॥

(भगवद्गीता, शंकरभाष्य)

footnote ends here

भीष्मदेव उन बारह *महाजनों* में से एक हैं, जो दिव्य ज्ञान के सिद्धान्तों को जानते हैं। श्रीकृष्ण को आदि भगवान् कहे जाने की उनके द्वारा की गई पुष्टि की निर्विशेषवादी शंकर के द्वारा भी परिपुष्टि हुई है। अन्य सारे आचार्यों ने भी इस कथन की पुष्टि की है। अतएव श्रीकृष्ण को आदि

भगवान् के रूप में स्वीकार न करने की कोई सम्भावना रह जाती है। भीष्म-देव कहते हैं कि वे प्रथम नारायण हैं। इसकी पुष्टि *भागवत* (१०.१४.१४) में ब्रह्माजी द्वारा भी की गई है। कृष्ण प्रथम नारायण हैं। आध्यात्मिक जगत् (वैकुण्ठ) में असंख्य नारायण हैं और वे सभी एक ही भगवान् हैं और ये आदि भगवान् श्रीकृष्ण के पूर्ण विस्तार माने जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का प्रथम विस्तार बलदेव के रूप में होता है और बलदेव अनेक अन्य रूपों में, यथा—संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, वासुदेव, नारायण, पुरुष, राम तथा नृसिंह में—विस्तार करते हैं। ये सारे विस्तार एक ही *विष्णु-तत्त्व* हैं और श्रीकृष्ण इन समस्त पूर्ण अंशों के आदि स्रोत हैं। अतएव वे प्रत्यक्ष भगवान् हैं। वे भौतिक जगत के सृष्टा हैं और नारायण रूप में विख्यात समस्त वैकुण्ठ ग्रहों के अधिष्ठाता देव हैं। अतएव मनुष्यों के बीच में उनका विचरण करना एक अन्य प्रकार का मोह है। अत: *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि मूर्ख लोग उनकी गतिविधियों की जटिलताओं को जाने बिना उन्हें मनुष्यों में से एक मान बैठते हैं।

श्रीकृष्ण के विषय में मोह का कारण उनकी अन्तरंगा तथा बहिरंगा नाम की दो शक्तियों का, तटस्था नामक एक तीसरी शक्ति पर, प्रभाव है। जीव उनकी तटस्था शक्ति के विस्तार (अंश) हैं। अतएव वे कभी अन्तरंगा शक्ति द्वारा मोहग्रस्त होते हैं, तो कभी बहिरंगा शक्ति द्वारा। अपनी अन्तरंगा शक्ति के मोह से श्रीकृष्ण असंख्य नारायणों में अपना विस्तार करते हैं और दिव्य लोक में जीवों से दिव्य सेवा का आदान-प्रदान स्वीकार करते हैं। और अपनी बहिरंगा शक्ति के विस्तार से वे भौतिक जगत में मनुष्यों, पशुओं या देवताओं के मध्य विभिन्न योनियों में जीवों के साथ विस्मृत सम्बन्ध की पुन: स्थापना के लिए अवतरित होते हैं। किन्तु भीष्म जैसे महाजन भगवत्कृपा से उनके मोह से बच जाते हैं।

अस्यानुभावं भगवान् वेद गुह्यतमं शिव: ।
देवर्षिर्नारद: साक्षाद्भगवान् कपिलो नृप ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अस्य—उनकी; अनुभावम्—महिमा; भगवान्—सर्वशक्तिमान; वेद—जानते हैं; गुह्य-तमम्—अत्यन्त गोपनीय; शिवः—शिवजी; देव-ऋषिः—देवताओं में महान ऋषि; नारदः—नारद; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवान्—भगवान्; कपिलः—कपिल; नृप—हे राजा।.

हे राजन्, शिवजी, देवर्षि नारद तथा भगवान् के अवतार कपिल—ये सभी प्रत्यक्ष सम्पर्क द्वारा भगवान् की महिमा के विषय में अत्यन्त गोपनीय जानकारी रखते हैं।

तात्पर्य : भगवान् के सारे शुद्ध भक्त *भाव* हैं अर्थात् ऐसे व्यक्ति हैं, जो दिव्य प्रेममयी सेवा के द्वारा भगवान् की महिमा को जानते हैं। जिस प्रकार भगवान् के पूर्ण रूप के असंख्य विस्तार होते हैं, उसी प्रकार भगवान् के असंख्य शुद्ध भक्त भी हैं जो विभिन्न रसों में सेवा का आदान-प्रदान करने में लगे रहते हैं। सामान्य रूप से भगवान् के बारह महान् भक्त (महाजन) हैं, जिनके नाम हैं—ब्रह्मा, नारद, शिव, कुमारगण, कपिल, मनु, प्रह्लाद, भीष्म, जनक, शुकदेव गोस्वामी, बलि महाराज तथा यमराज। यद्यपि भीष्मदेव इनमें से एक हैं, लेकिन उन्होंने केवल तीन मुख्य नामों का उल्लेख किया है, जो भगवान् की महिमा से अवगत हैं। आधुनिक युग में महान आचार्य श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का कथन है कि *अनुभाव* या भगवान् की महिमा, सर्वप्रथम आनन्दविभोर भक्त द्वारा अनुभव की जाती है, जो प्रस्वेद, कम्पन, रुदन, शारीरिक उद्गारों आदि के लक्षणों द्वारा प्रकट होती है और भगवान् की महिमा के लगातार ज्ञान से इन अनुभावों में वृद्धि होती है। *भावों* के ऐसे ज्ञान का आदान-प्रदान यशोदा तथा भगवान् के मध्य (भगवान् को रस्सी से बाँधना) तथा अर्जुन के साथ प्रेम के आदान-प्रदान के रूप में भगवान द्वारा रथ हाँकने से होता है। भगवान् की इन महिमाएँ अपने भक्तों के समक्ष उनके अधीनस्थ होकर प्रकट की जाती हैं और भगवान् की महिमा का यह एक और लक्षण है। शुकदेव गोस्वामी तथा कुमारगण, दिव्य पद पर स्थित होकर भी, *भाव* के अन्य गुण द्वारा परिवर्तित होकर भगवान् के शुद्ध भक्त बन गये। भगवान् तथा भक्तों के बीच दिव्य *भाव* का आदान-प्रदान तब भी होता है, जब भगवान् भक्तों पर विपत्ति ढाते हैं। भगवान् कहते हैं, "मैं मेरे भक्त को संकट में डालता हूँ और इस प्रकार मेरे साथ दिव्य *भाव* के आदान-प्रदान से भक्त अधिक शुद्ध होता है।" भक्त को भौतिक विपत्तियों में डालकर उसे मायामय भौतिक सम्बन्धों से उद्धार करने की आवश्यकता होती है। ये भौतिक

सम्बन्ध भौतिक भोग के आदान-प्रदान पर आधारित हैं और यह भोग भौतिक साधनों पर निर्भर करता है। अतएव जब भगवान् इन भौतिक साधनों को छीन लेते हैं, तब भक्त भगवान् के प्रेमभाव की ओर शत-प्रतिशत आकृष्ट होता है। इस प्रकार भगवान् पतितात्माओं को संसार के कीचड़ से बाहर निकालते हैं। भगवान् द्वारा भक्तों को प्रदत्त विपत्तियाँ पापकर्मों से उत्पन्न विपत्तियों से भिन्न होती हैं। भगवान् की ये सारी महिमाएँ ब्रह्मा, शिव, नारद, कपिल, कुमार तथा भीष्म जैसे महाजनों को ज्ञात रहती हैं, जैसाकि ऊपर उल्लेख हो चुका है और मनुष्य उनकी कृपा से ही इन्हें ग्रहण करने में समर्थ होता है।

यं मन्यसे मातुलेयं प्रियं मित्रं सुहृत्तमम् ।
अकरोः सचिवं दूतं सौहृदादथ सारथिम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यम्—व्यक्ति; मन्यसे—सोचते हो; मातुलेयम्—ममेरे भाई को; प्रियम्—अत्यन्त प्रिय; मित्रम्—मित्र; सुहृत्-तमम्—अत्यधिक हितैषी; अकरोः—किया गया; सचिवम्—मन्त्री; दूतम्—दूत; सौहृदात्—शुभ कामना से; अथ—तत्पश्चात्; सारथिम्—सारथी।.

हे राजन्, तुमने अज्ञानवश ही जिस व्यक्ति को अपना ममेरा भाई, अपना अत्यन्त प्रिय मित्र, शुभैषी, मन्त्री, दूत, उपकारी इत्यादि माना है, वे स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं।

तात्पर्य : श्रीकृष्ण यद्यपि पाण्डवों के ममेरे भाई, मित्र, हितैषी, मन्त्री, दूत, उपकारी, आदि बने हुए थे, तो भी वे थे तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही। अपनी अहैतुकी कृपावश तथा अपने अनन्य भक्तों पर कृपा जताने के लिए वे सभी प्रकार की सेवा करते हैं, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि उन्होंने परम पुरुष के रूप में अपना पद बदल दिया है। उन्हें सामान्य पुरुष के रूप में सोचना सबसे बड़ी मूर्खता है।

सर्वात्मनः समदृशो ह्यद्वयस्यानहङ्कृतेः ।
तत्कृतं मतिवैषम्यं निरवद्यस्य न क्वचित् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सर्व-आत्मनः—प्रत्येक जीव के हृदय में वास करनेवाले का; सम-दृशः—सबों पर समान रूप से दयालु होनेवाले का; हि—निश्चय ही; अद्वयस्य—परम का; अनहङ्कृतेः—मिथ्या अहंकार की सारी पहचान से मुक्त; तत्-कृतम्—उनके द्वारा सब कुछ किया गया; मति—चेतना; वैषम्यम्—विषमता, अन्तर; निरवद्यस्य—समस्त आसक्ति से मुक्त हुआ; न—कभी नहीं; क्वचित्—किसी अवस्था में।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् होने के कारण वे प्रत्येक के हृदय में विद्यमान हैं। वे सबों पर समान रूप से दयालु हैं और भेदाभेद के मिथ्या अहंकार से सर्वथा मुक्त हैं। अतएव वे जो कुछ करते हैं, वह भौतिक उन्माद से मुक्त होता है। वे समदर्शी हैं।

तात्पर्य : चूँकि वे परम पूर्ण हैं, अतएव उनसे कुछ भी भिन्न नहीं है। वे *कैवल्य* हैं, उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। प्रत्येक वस्तु तथा हर कोई व्यक्ति उनकी शक्ति की अभिव्यक्ति है और इस प्रकार अपनी शक्ति के द्वारा वे सर्वत्र उपस्थित हैं क्योंकि वे उससे अभिन्न हैं। सूर्य की पहचान सूर्य की किरणों के प्रत्येक इंच से तथा किरणों के प्रत्येक सूक्ष्म कण से की जाती है। इसी प्रकार भगवान् अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा सर्वत्र फैले हुए हैं। वे परमात्मा हैं और परम निर्देशक के रूप में सबों में उपस्थित हैं। अतएव वे पहले से ही समस्त जीवों के सारथी तथा उपदेशक (मन्त्री) हैं। अतएव, जब वे अर्जुन के सारथी के रूप में स्वयं प्रकट होते हैं, तो उनके उच्चस्थ स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। यह तो भक्तिमय सेवा की शक्ति है, जो उन्हें सारथी या दूत के रूप में प्रदर्शित करती है। चूँकि जीवन की भौतिक अवधारणा से उनका कोई सरोकार नहीं रहता, क्योंकि वे परम आध्यात्मिक सत्ता हैं, अतएव उनके लिए कोई कर्म न तो उत्कृष्ट है और न निकृष्ट। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् होने के कारण उन्हें मिथ्या अहंकार नहीं होता। अतएव वे अपने को किसी वस्तु से भिन्न नहीं मानते। उनमें अहंकार का भाव सन्तुलित रहता है। अतएव वे अपने शुद्ध भक्त के सारथी बनकर अपने को निकृष्ट नहीं मानते। यह तो शुद्ध भक्त की महिमा ही है कि वह अपने प्रिय भगवान् से सेवा करा लेता है।

तथाप्येकान्तभक्तेषु पश्य भूपानुकम्पितम् ।
यन्मेऽसूंस्त्यजतः साक्षात्कृष्णो दर्शनमागतः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तथापि—फिर भी; एकान्त—एकनिष्ठ; भक्तेषु—भक्तों में; पश्य—देखो; भू-प—हे राजा; अनुकम्पितम्—कितना दयावान; यत्—जिसके लिए; मे—मेरा; असून्—जीवन; त्यजतः—समाप्त करते हुए; साक्षात्—प्रत्यक्ष; कृष्णः—भगवान्; दर्शनम्—सामने; आगतः—कृपा करके आये हैं।.

सबों पर समान रूप से दयालु होते हुए भी वे अब कृपापूर्वक मेरे समक्ष आये हैं, जब में मेरे जीवन का अंत कर रहा हूँ, क्योंकि मैं उनका अनन्य सेवक हूँ।

तात्पर्य : यद्यपि परम भगवान् श्रीकृष्ण समदर्शी हैं, तो भी अपने अनन्य भक्तों के प्रति वे विशेष कृपालु रहते हैं, क्योंकि भक्तगण उन्हीं को अपना रक्षक तथा स्वामी मानकर पूर्णरूपेण उनके शरणागत होते हैं। परमेश्वर को अपना रक्षक, मित्र तथा स्वामी मानकर उनमें अनन्य श्रद्धा रखना शाश्वत जीवन की सहज अवस्था है। सर्वशक्तिमान की इच्छा से जीव इस तरह बनाया गया है कि जब वह पूर्णतया आश्रित रहता है, तब वह सर्वाधिक सुखी होता है।

इसके विपरीत मनोवृति का होना पतन का कारण है। जब जीवात्मा भौतिक जगत् पर प्रभुत्प जताने के लिए अपनी पहचान गलत ठंग से इस प्रकार करता है, मानो कि वह भगवान् से सर्वथा स्वतंत्र है, तब वह पतनशील हो जाता है। सारी कठिनाई की जड़ मिथ्या अहंकार है। मनुष्य को चाहिए कि प्रत्येक दशा में वह भगवान् के प्रति आकृष्ट हो।

भीष्मजी की मृत्यु-शय्या के निकट भगवान् कृष्ण इसीलिए प्रकट हुए, क्योंकि भीष्म उनके अनन्य भक्त थे। अर्जुन का कृष्ण से कुछ शारीरिक सम्बन्ध था, क्योंकि भगवान् उसके ममेरे भाई लगते थे। किन्तु भीष्म से उनका ऐसा कोई सम्बन्ध न था। अतएव आकर्षण का कारण आत्मा से घनिष्ठ सम्बन्ध था। फिर भी चूँकि शारीरिक सम्बन्ध अधिक सुखद तथा स्वाभाविक होता है, इसीलिए भगवान् को जब महाराज नन्द या यशोदा का पुत्र कहा जाता है या राधारानी का प्रेमी कहा जाता है, तो वे अधिक प्रसन्न होते हैं। भगवान् के साथ इस प्रकार का शारीरिक सम्बन्ध होना भी भगवान् की प्रेममय सेवा के आदान-प्रदान का एक और लक्षण है। भीष्मदेव इस दिव्य -भाव की मधुरता से अवगत हैं, इसीलिए वे भगवान् को 'विजय-सखे' 'पार्थ-सखे' आदि कहकर सम्बोधित करते हैं, ठीक वैसे ही जैसे उन्हें 'नन्द-नन्दन' या 'यशोदा-नन्दन' कहा जाता है। उनसे दिव्य मधुर सम्बन्ध स्थापित करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि मान्य भक्तों के

माध्यम से उन तक पहुँचा जाय। मनुष्य को चाहिए कि उनसे सीधे सम्पर्क स्थापित न करे, अपितु किसी माध्यम के द्वारा उन तक पहुँचे, जो पारदर्शी तथा सही पथ पर ले जाने में समर्थ हो।

भक्त्यावेश्य मनो यस्मिन् वाचा यन्नाम कीर्तयन् ।
त्यजन् कलेवरं योगी मुच्यते कामकर्मभिः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

भक्त्या—भक्तिपूर्वक; आवेश्य—चिन्तन करके; मनः—मन; यस्मिन्—जिसमें; वाचा—शब्दों से; यत्—कृष्ण का; नाम—पवित्र नाम; कीर्तयन्—कीर्तन करते हुए; त्यजन्—परित्याग करते हुए; कलेवरम्—इस भौतिक शरीर को; योगी—भक्त; मुच्यते—मोक्ष पाता है; काम-कर्मभिः—सकाम कर्मों से।.

वे पुरुषोत्तम भगवान् जो एकाग्र भक्ति तथा चिन्तन से एवं पवित्र नाम के कीर्तन से भक्तों के मन में प्रकट होते हैं, वे उन भक्तों को उनके द्वारा भौतिक शरीर को छोड़ते समय सकाम कर्मों के बन्धन से मुक्त कर देते हैं।

तात्पर्य : योग का अर्थ है अन्य समस्त विषयों से हटाकर, मन को केन्द्रित करना और वास्तव में ऐसी एकाग्रता *समाधि* है या भगवान् की सेवा में शत-प्रतिशत अनुरक्ति है। जो इस प्रकार अपने चित्त को एकाग्र करता है, वह योगी कहलाता है। भगवान् का ऐसा योगी भक्त,भगवान् की सेवा में प्रतिदिन चौबीसों घण्टे लगा रहता है। फलस्वरूप उसका सारा ध्यान नवधा भक्ति में भगवान् के चिन्तन में लगा रहता है। नवधा भक्ति में श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, स्तुति, दास्य-भाव, आज्ञा-पालन, सख्य-भाव या समर्पण सम्मिलित हैं। योग के ऐसे अभ्यास से अर्थात् भगवान् की सेवा द्वारा उनसे जुड़ने से भगवान् द्वारा मान्यता मिलती है, जैसाकि *समाधि* की सर्वोच्च स्थिति का वर्णन करते हुए *भगवद्गीता* में स्वयं भगवान् व्याख्या करते हैं। भगवान् ऐसे विरले भक्त को योगियों में श्रेष्ठ बतलाते हैं। भगवत्कृपा से ऐसा पूर्ण योगी अपना मन पूर्ण चेतना से भगवान् में एकाग्र करता है और इस प्रकार शरीर त्यागने के पूर्व उनके नाम का कीर्तन करने से वह भगवान् की अन्तरंगा शक्ति द्वारा तुरन्त ऐसे लोक को भेज दिया जाता है, जहाँ भौतिक जीवन तथा उससे सम्बद्ध कारणों का प्रश्न ही नहीं उठता। भौतिक अस्तित्व में जीव को अपने सकाम कर्मों के अनुसार जन्म-जन्मान्तर तीन प्रकार के कष्टों की भौतिक स्थिति को सहना होता है। ऐसा

भौतिक जीवन जीव की स्वाभाविक इच्छाओं के ही कारण उत्पन्न होता है। भगवान् की भक्तिमय सेवा से जीव की स्वाभाविक इच्छाओं को मारा नहीं जाता, अपितु वे भक्तिमय सेवा के सही कार्य में लगाई जाती हैं। इससे इच्छाओं के वैकुण्ठ में अंतरित होने की योग्यता आ जाती है। यहाँ पर सेनापति भीष्मदेव यहाँ पर विशेष प्रकार के योग का उल्लेख कर रहे हैं, जिसे भक्तियोग कहते हैं और वे भाग्यशाली थे कि भौतिक शरीर को त्यागने के पूर्व अपने समक्ष साक्षात् भगवान् को उपस्थित देख रहे थे। अतएव अगले श्लोकों में उन्होंने इच्छा व्यक्त की है कि भगवान् उनकी दृष्टि के समक्ष ही बने रहें।

स देवदेवो भगवान् प्रतीक्षतां
कलेवरं यावदिदं हिनोम्यहम् ।
प्रसन्नहासारुणलोचनोल्लस-
न्मुखाम्बुजो ध्यानपथश्चतुर्भुजः ॥ २४॥

शब्दार्थ

सः—वे; देव-देवः—देवताओं के भी देवता, प्रभुओं में श्रेष्ठ; भगवान्—भगवान्; प्रतीक्षताम्—कृपया प्रतीक्षा करें; कलेवरम्—शरीर को; यावत्—जब तक; इदम्—इस; हिनोमि—त्याग दूँ; अहम्—मैं; प्रसन्न—प्रसन्न; हास—हँसते हुए; अरुण-लोचन—प्रातःकालीन सूर्य के समान लाल नेत्र; उल्लसत्—सुन्दर ढंग से सजाये; मुख-अम्बुजः—कमल के समान उनका मुख; ध्यान-पथः—मेरे ध्यान के मार्ग में; चतुर्-भुजः—चार भुजाओंवाले नारायण (भीष्मदेव द्वारा आराध्य देव)।

चतुर्भुज-रूप, उगते सूर्य की भाँति अरुणनेत्रों तथा सुन्दर रीति से सजाये, मुस्कराते कमलमुख वाले मेरे भगवान्, आप उस क्षण तक यहीं मेरी प्रतीक्षा करें, जब तक मैं अपना यह भौतिक शरीर छोड़ न दूँ।

तात्पर्य : भीष्मदेव अच्छी तरह जानते थे कि भगवान् कृष्ण आदि नारायण हैं। उनके आराध्यदेव चतुर्भुज नारायण थे, लेकिन वे यह जानते थे कि ये चतुर्भुज नारायण भगवान् कृष्ण के पूर्ण अंश हैं। परोक्ष रूप में उन्होंने इच्छा व्यक्त की कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने चतुर्भुज नारायण रूप में प्रकट हों। वैष्णव सदा ही अपने आचरण में विनीत होता है। यद्यपि यह शत-प्रतिशत निश्चित था कि इस शरीर को त्याग कर भीष्मदेव वैकुण्ठलोक जा रहे हैं, तो भी विनीत वैष्णव के रूप में उन्होंने भगवान् की सुन्दर मुखाकृति देखनी चाही, क्योंकि उन्होंने सोचा कि कहीं इस

शरीर को छोड़ने के बाद वे भगवान् का दर्शन न भी कर पाएँ। वैष्णव को कभी गर्व नहीं होता, यद्यपि भगवान् अपने भक्तों को अपने धाम में प्रवेश करने की गारंटी देते हैं। यहाँ पर भीष्मदेव कहते हैं, "जब तक मैं अपना शरीर त्याग न दूँ।" इसका अर्थ यह है कि यह महान सेनापति अपनी इच्छा से शरीर-त्याग करेंगे; वे प्रकृति द्वारा बाध्य नहीं हैं। वे इतने शक्तिशाली थे कि वे जब तक चाहते, अपने शरीर में बने रह सकते थे। यह वर उन्हें अपने पिता से प्राप्त हुआ था। उनकी इच्छा थी कि भगवान् अपने चतुर्भुज नारायमण रूप में उनके समक्ष रहें, जिससे वे उनका ध्यान कर सकें और समाधि दशा को प्राप्त हो लें। तब उनका मन भगवान् का चिन्तन करके पवित्र हो जाय। फिर वे कहीं भी जाँए, इसकी उन्हें परवाह नहीं रहेगी। एक शुद्ध भक्त भगवद्धाम वापस जाने के लिए कभी भी चिन्तित नहीं रहता। वह तो भगवान् की इच्छा पर पूर्णत: आश्रित रहता है। यदि भगवान् उसे नरक भी भेजना चाहें, तो भी वह समान रूप से तुष्ट होता है। शुद्ध भक्त की तो एक ही इच्छा रहती है कि वह सदा भगवान् के चरणकमलों का चिन्तन करता रहे। भीष्मदेव की इतनी ही इच्छा थी कि उनका मन भगवान् के चिन्तन में लीन रहे और वे इसी तरह चल बसें। शुद्ध भक्त की सर्वोच्च अभिलाषा यही होती है।

सूत उवाच
युधिष्ठिरस्तदाकर्ण्य शयानं शरपञ्जरे ।
अपृच्छद्विविधान्धर्मानृषीणां चानुशृण्वताम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; युधिष्ठिरः—राजा युधिष्ठिर; तत्—वह; आकर्ण्य—सुनकर; शयानम्—लेटे हुए; शर-पञ्जरे—बाणों की शय्या पर; अपृच्छत्—पूछा; विविधान्—विविध; धर्मान्—कर्तव्यों को; ऋषीणाम्—ऋषियों का; च—तथा; अनुशृण्वताम्—सुनने के बाद।

सूत गोस्वामी ने कहा : भीष्मदेव को इस प्रकार आग्रहपूर्ण स्वर में बोलते देखकर, महाराज युधिष्ठिर ने समस्त महर्षियों की उपस्थिति में उनसे विभिन्न धार्मिक कृत्यों के अनिवार्य सिद्धान्त पूछे।

तात्पर्य : भीष्मदेव को आग्रहपूर्ण स्वर में बोलते देखकर महाराज युधिष्ठिर समझ गये कि वे शीघ्र ही प्रयाण करनेवाले हैं। अतएव भगवान् श्रीकृष्ण ने महाराज युधिष्ठिर को प्रेरित किया कि वे धर्म के सिद्धान्तों के बारे में उनसे पूछें। भगवान् श्रीकृष्ण ने महाराज युधिष्ठिर को प्रेरित किया कि वे अनेक महर्षियों की उपस्थिति में भीष्मदेव से प्रश्न पूछें, जिससे यह संकेत मिलता है कि यद्यपि भीष्मदेव जैसा भगवद्भक्त सामान्य पुरुष की भाँति रहता है, किन्तु बड़े-बड़े मुनियों से, यहाँ तक कि व्यासदेव से भी कहीं अधिक श्रेष्ठ होता है। दूसरी बात यह है कि भीष्मदेव उस समय न केवल शर-शय्या पर लेटे थे, अपितु अपनी इस अवस्था के कारण वे अत्यन्त कष्टमय स्थिति में थे। ऐसी अवस्था में उनसे प्रश्न नहीं पूछे जाने चाहिए थे, लेकिन भगवान् श्रीकृष्ण यह सिद्ध करना चाहते थे कि उनके शुद्ध भक्त सदैव आध्यात्मिक प्रकाश के कारण शरीर तथा मन से पूर्णरूपेण स्वस्थ रहते हैं, अतएव भगवद्भक्त किसी भी अवस्था में रहकर जीवन की सही दिशा बताने में समर्थ होता है। युधिष्ठिर भी चाहते थे कि वहाँ पर उपस्थित व्यक्तियों से, जो भीष्मदेव से भी अधिक विद्वान लगते थे, उनसे न पूछ करके अपनी समस्याओं का समाधान भीष्मदेव से करें। यह सब चक्रधारी श्रीकृष्ण की योजना थी, क्योंकि वे अपने भक्त की महिमा को संस्थापित करना चाहते हैं। पिता चाहता है कि उसका पुत्र उसकी अपेक्षा अधिक प्रख्यात बने। भगवान् जोर देकर घोषित करते हैं कि उनके भक्तों की पूजा उनकी खुद की पूजा से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

पुरुषस्वभावविहितान् यथावर्णं यथाश्रमम् ।
वैराग्यरागोपाधिभ्यामाम्नातोभयलक्षणान् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

पुरुष—मनुष्य; स्व-भाव—अपने गुणों से; विहितान्—विहित, अनुमत; यथा—के अनुसार; वर्णम्—जातियों का वर्गीकरण; यथा—के अनुसार; आश्रमम्—जीवन के आश्रम; वैराग्य—विरक्ति; राग—आसक्ति; उपाधिभ्याम्—ऐसी उपाधियों से; आम्नात—क्रमबद्ध रूप से; उभय—दोनों; लक्षणान्—लक्षणों को।

महाराज युधिष्ठिर के पूछे जाने पर भीष्मदेव ने सर्वप्रथम व्यक्ति की योग्यताओं के अनुसार जातियों के वर्गीकरण (वर्ण) तथा जीवन के आश्रमों का वर्णन किया। फिर उन्होंने क्रमबद्ध रूप से निवृत्ति तथा प्रवृत्ति नामक दो उपखण्डों का वर्णन किया।

तात्पर्य : चार वर्णों तथा चार आश्रमों की अवधारणा, जैसी स्वयं भगवान् ने (*भगवद्-गीता* ४.१३ में)प्रस्तुत की है, व्यक्ति में दिव्य गुणों को बढ़ाने के लिए है, जिससे वह अपने आध्यात्मिक स्वरूप को जान सके और तदनुसार वह भवबन्धन या बद्ध जीवन से मुक्त हो सके। प्राय: सभी पुराणों में इस विषय का इसी रूप में वर्णन हुआ है और उसी प्रकार *महाभारत* के *शान्ति-पर्व* में, साठवें अध्याय से आगे भीष्मदेव द्वारा किया गया इसका विस्तृत वर्णन है।

सभ्य मनुष्यों के लिए वर्णाश्रम-धर्म की संस्तुति इसलिए की जाती है, जिससे वे मानव जीवन को सफलतापूर्वक समाप्त करने की शिक्षा प्राप्त कर सकें। आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन में रत निम्न पशुओं के जीवन में और आत्म-साक्षात्कार में अन्तर है। भीष्मदेव ने सभी मनुष्यों के लिए नौ योग्यताएँ बताई हैं : (१) क्रोध न करना, (२) झूठ न बोलना, (३) धन-सम्पदा का समान वितरण करना, (४) क्षमा करना, (५) अपनी वैध पत्नी से ही सन्तान उत्पन्न करना, (६) मन से शुद्ध तथा शरीर से स्वच्छ रहना, (७) किसी के प्रति शत्रुभाव न रखना, (८) सरल होना, तथा (९) सेवकों या आश्रितों का पालन करना। उपर्युक्त प्राथमिक योग्यताओं को अर्जित किए बिना मनुष्य को सभ्य नहीं कहा जा सकता। इनके साथ-साथ ब्राह्मणों (बुद्धिमान व्यक्तियों), प्रशासनिक व्यक्तियों (क्षत्रियों), वणिक समुदाय (वैश्य) तथा श्रमिक वर्ग (शूद्र) को समस्त वैदिक शास्त्रों में वर्णित अपनी-अपनी वृत्तियों के अनुसार विशेष योग्यताएं प्राप्त करनी होती हैं। बुद्धिमान व्यक्तियों के लिए इन्द्रियों पर संयम रखना सर्वाधिक अनिवार्य योग्यता है। यह नैतिकता का मूलाधार है। अपनी वैध पत्नी से भी नियंत्रित रूप में मैथुन करना चाहिए, जिससे स्वत: परिवार-नियोजन हो सके। बुद्धिमान मनुष्य यदि वैदिक जीवन-प्रणाली नहीं अपनाता, तो वह अपनी योग्यताओं का दुरुपयोग कर रहा होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उसे वैदिक साहित्य का और विशेष रूप से *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* का गंभीरतापूर्वक अध्ययन करना चाहिए। वैदिक ज्ञान सीखने के लिए उसे ऐसे व्यक्ति के पास जाना चाहिए, जो पूर्णरूपेण भक्तिमय सेवा में लगा हो। उसे *शास्त्र-वर्जित* कोई भी बात नहीं करनी चाहिए। यदि कोई मद्यपान करता है या मादक द्रव्य का सेवन करता है, तो वह शिक्षक नहीं बन सकता। आधुनिक शिक्षण-

प्रणाली में शिक्षक की शैक्षिक योग्यताओं पर ही ध्यान दिया जाता है, उसके नैतिक जीवन पर नहीं। अतएव इस शिक्षा के परिणाम से उच्च बुद्धि का कई प्रकार से दुरुपयोग होता है।

शासक-वर्ग के सदस्यों अर्थात् क्षत्रियों को विशेष सलाह दी जाती है कि वे दान तो दें, किन्तु *किसी भी परिस्थिति में दान न लें।* आधुनिक प्रशासक राजनीतिक कार्यों के लिए धन-संग्रह तो करते हैं, किन्तु वे किसी भी राजकीय समारोह में नागरिकों को दान कभी नहीं देते। यह शास्त्रों के आदेशों के सर्वथा विपरीत है। प्रशासक वर्ग को शास्त्रों में निपुण होना चाहिए, लेकिन उन्हें शिक्षक का पेशा नहीं अपनाना चाहिए। *प्रशासकों को कभी भी अहिंसक बनने का स्वाँग नहीं करना चाहिए,* जिससे उन्हें नरक जाना पड़े। जब अर्जुन कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अहिंसक कायर बनना चाह रहा था, तब भगवान् कृष्ण ने उसकी तीव्र प्रताड़ना की। भगवान् ने अहिंसक पंथ स्वीकार करने के लिए अर्जुन को असभ्य पुरुष तक कह डाला। प्रशासक वर्ग को व्यक्तिगत तौर पर सैन्य-शिक्षा में प्रशिक्षित होना चाहिए। मतों कि संख्या के आधार पर कायरों को राष्ट्रपति के पद तक ऊपर नहीं उठाया जा सकता। एकछत्र राजा अत्यन्त वीर पुरुष होते थे, अतएव यदि एकछत्र राजा को कर्तव्यों का नियमित प्रशिक्षण दिया जाय, तो राजतन्त्र पद्धति को चालु रखना चाहिए। *युद्ध में, राजा या राष्ट्रपति को तब तक घर नहीं लौटना चाहिए जब तक वह शत्रु द्वारा घायल न हो जाय।* आज का तथाकथित राजा कभी युद्धभूमि में तो जाता ही नहीं। वह झूठी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की आशा में सैनिक शक्ति को कृत्रिम रूप से प्रोत्साहित करने में अत्यन्त दक्ष होता है। जैसे-जैसे प्रशासक वर्ग वणिकों तथा श्रमिकों की टोली का रूप धारण कर लेता है, तो सरकार की सारी प्रणाली ही दूषित हो जाती है।

व्यापारी-वर्ग के सदस्यों अर्थात् वैश्यों को विशेष रूप से आदेश है कि वे गायों की रक्षा करें। गायों की रक्षा करने का अर्थ है, दुग्ध उत्पादन अर्थात् दही तथा मक्खन की वृद्धि। व्यापारी वर्ग का मुख्य कर्तव्य है कि कृषि तथा खाद्य सामग्री के वितरण के साथ ही वैदिक ज्ञान की शिक्षा प्राप्त करे और दान देने में प्रशिक्षित हो। जिस प्रकार क्षत्रियों पर प्रजा की सुरक्षा का भार सौंपा जाता था, उसी प्रकार वैश्यों पर पशुओं की सुरक्षा का भार था। पशु कभी भी वध किये जाने के

लिए नहीं होते हैं। पशु-वध बर्बर समाज का ही एक लक्षण है। मनुष्य के लिए कृषि-उत्पाद, फल तथा दुग्ध ही पर्याप्त तथा अनुकूल खाद्य-पदार्थ हैं। मानव-समाज को चाहिए कि पशु-सुरक्षा पर अधिक ध्यान दे। श्रमिक की उत्पादक शक्ति का दुरुपयोग तब होता है, जब उसे औद्योगिक कार्यों में लगा दिया जाता है। विभिन्न प्रकार के उद्योग कभी भी मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकताओं—यथा चावल, गेहूँ, धान्य, दूध, फल, तरकारी—का उत्पादन नहीं कर सकते। मशीनों तथा मशीनी औजारों के उत्पादन से स्वार्थी वर्ग के लोगों के कृत्रिम रहन-सहन को बढ़ावा मिलता है और हजारों लोग भूखों मरते हैं तथा अशान्त बनते हैं। सभ्यता का मानक यह नहीं होना चाहिए।

शूद्र वर्ग कम बुद्धिमान होता है और उसे कभी भी स्वतन्त्रता नहीं मिलनी चाहिए। वे समाज के तीन उच्चतर वर्णों की सेवा करने के निमित्त हैं। शूद्र वर्ग उच्चतर वर्णों की सेवा से ही जीवन की सारी सुविधाएँ प्राप्त कर सकता है। शूद्रों के लिए यह विशेष आदेश है कि वे धन-संचय न करें। ज्योंही शूद्र धन संग्रह कर लेते हैं, त्योंही वे इसका दुरुपयोग सुरा, सुन्दरी तथा जुआ खेलने में करने लगते हैं। *सुरा, सुन्दरी तथा जुआ खेलना इसके सूचक हैं कि जनता शूद्रों से भी नीचे गिर चुकी है।* उच्च-जातियों को चाहिए कि वे हमेशा शूद्रों के पालन का ध्यान रखें और उन्हें अपने इस्तेमाल किये हुए पुराने वस्त्र दें। *शूद्र* अपने मालिक को तब भी न छोड़े, जब वह वृद्ध तथा अशक्त हो जाँय और मालिकों को चाहिए कि वे सेवकों को सभी प्रकार से संतुष्ट रखें। किसी भी यज्ञ के पूर्व सर्व प्रथम शूद्रों को प्रचुर भोजन तथा वस्त्र द्वारा संतुष्ट किया जाना चाहिए। आज के समय में लाखों रुपये खर्च करके अनेकानेक समारोह मनाये जाते हैं*, लेकिन बेचारे श्रमिकों को न तो ठीक से भोजन दिया जाता है, न दान या वस्त्र इत्यादि दिये जाते हैं।* इस प्रकार श्रमिक लोग असंतुष्ट ही बने रहते हैं और इसीलिए उपद्रव मचाते रहते हैं।

एक प्रकार से ये वर्ण विभिन्न वृत्तियों के वर्गीकरण हैं और आश्रम धर्म आत्म-साक्षात्कार के पथ पर क्रमिक प्रगति है। दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं और एक दूसरे पर निर्भर हैं। *आश्रम-धर्म* का मुख्य उद्देश्य ज्ञान तथा वैराग्य जागृत करना है। ब्रह्मचारी आश्रम भावी जीवन के लिये

प्रशिक्षण स्थल है। इस आश्रम में यह शिक्षा दी जाती है कि यह संसार जीवों का वास्तविक घर (आवास) नहीं है। बद्धजीव भवबंधन के अन्तर्गत पदार्थ के बंदी हैं, अतएव आत्म-साक्षात्कार ही जीवन का अनन्तिम लक्ष्य है। *आश्रम धर्म* की सारी प्रणाली वैराग्य का एक साधन है। जो व्यक्ति वैराग्य की इस मूल भावना को आत्मसात् नहीं कर पाता, उसे वैराग्य की उसी भावना से गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने की अनुमति प्रदान की जाती है। अतएव जो व्यक्ति वैराग्य प्राप्त कर लेता है, वह तुरन्त ही चतुर्थ आश्रम अर्थात् *संन्यास* ग्रहण कर सकता है। उसे केवल भिक्षा पर ही निर्भर रहना होता है, धन संग्रह नहीं करना होता, अपितु शरीर तथा आत्मा को चरम साक्षात्कार के लिए बनाये रखना होता है। गृहस्थ जीवन तो *आसक्तों* के लिए है। *वानप्रस्थ* तथा *संन्यास* आश्रम उनके लिये हैं, जो भौतिक जीवन से *विरक्त हो चुके हैं। ब्रह्मचारी आश्रम* तो आसक्त तथा विरक्त दोनों ही के प्रशिक्षण के लिये होता है।

दानधर्मान् राजधर्मान् मोक्षधर्मान् विभागशः ।
स्त्रीधर्मान् भगवद्धर्मान् समासव्यासयोगतः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

दान-धर्मान्—दान के कृत्यों को; राज-धर्मान्—राजाओं के राज्य विषयक कार्य-कलापों को; मोक्ष-धर्मान्—मोक्ष के कार्यों को; विभागशः—विभागानुसार; स्त्री-धर्मान्—स्त्रियों के कर्तव्य को; भगवत्-धर्मान्—भक्तों के कार्यों को; समास—सामान्यता; व्यास—स्पष्ट रूप से; योगतः—योग के द्वारा।

तब उन्होंने दान-कर्मों, राजा के राज्य-विषयक कार्यकलापों तथा मोक्ष-कर्मों की खण्ड-वार व्याख्या की। फिर उन्होंने स्त्रियों तथा भक्तों के कर्तव्यों का संक्षेप में विशद रूप से वर्णन किया।

तात्पर्य : दान देना गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य है और उसे अपनी कठिन कमाई का कम से कम पचास प्रतिशत हिस्सा दान में देने के लिए तैयार रहना चाहिए। ब्रह्मचारी को यज्ञ करने चाहिए, गृहस्थ को दान देना चाहिए और वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम वाले व्यक्ति को तपस्या करनी चाहिए। समस्त आश्रमों अथवा आत्म-साक्षात्कार के पथ पर जीवन के समस्त आश्रमों के लिए ये ही सामान्य कर्तव्य हैं। ब्रह्मचर्य जीवन में काफी प्रशिक्षण दिया जाता है, जिससे मनुष्य

यह समझ ले कि यह संसाररूपी सम्पत्ति भगवान् की है। अतएव कोई भी व्यक्ति संसार की किसी वस्तु का स्वामी होने का दावा नहीं कर सकता। अत: गृहस्थ जीवन, जिसमें विषय भोग के लिये एक प्रकार की छूट है, उसमें मनुष्य को भगवान् की सेवा के निमित्त दान देना चाहिए। भगवान् की शक्ति के भण्डार से ही शक्ति उत्पन्न होती है, जो प्रत्येक को प्रदान की जाती है। अतएव ऐसी शक्ति के द्वारा किए गए कार्यों को भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा के रूप में अर्पित करना चाहिए। जिस प्रकार नदियाँ सागर से बादलों के माध्यम से जल प्राप्त करती हैं और पुन: समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार हमारी शक्ति भगवान् की शक्ति के सर्वोपरि स्रोत से प्राप्त होती है और हमें इसे भगवान् को लौटाना होता है। हमारी शक्ति की पूर्णता इसी में है। अत: *भगवद्गीता* (९.२७) में भगवान् कहते हैं कि हम जो भी करते हैं, जो भी तपस्या करते हैं, जो भी यज्ञ करते हैं, जो भी खाते या दान देते हैं, वह सब उन्हें (भगवान् को) ही अर्पित किया जाना चाहिए। उधार ली गई अपनी शक्ति के उपयोग की यही विधि है। जब हम इस विधि से शक्ति का उपयोग करते हैं, तब हमारी शक्ति भौतिक उन्माद के कल्मष से रहित हो जाती है और इस प्रकार हम भगवान् की सेवा करने के लिये अपने मूल प्राकृतिक जीवन के योग्य बन जाते हैं।

राज-धर्म, राजनीतिक श्रेष्ठता के लिये आधुनिक कूटनीति से भिन्न, एक महान विज्ञान है। राजाओं को केवल कर संग्राहक बनने के बजाय दानवीर बनने की विधिपूर्वक शिक्षा दी जाती थी। उन्हें अपनी प्रजा की सम्पन्नता के लिए ही यज्ञ करने की शिक्षा दी जाती थी। प्रजा को मोक्ष प्राप्त कराना राजा का सबसे बड़ा कर्तव्य था। पिता, गुरु तथा राजा को कभी भी जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से प्रजा को मुक्ति प्राप्त कराने के मार्ग पर लापरवाह नहीं होना चाहिये। जब ये प्राथमिक कर्तव्य सही ढंग से सम्पन्न हो जाते हैं, तो फिर जनता द्वारा, जनता के लिए बनाई गई सरकार की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। आजकल लोग छद्म से बटोरे गये मतों के बल पर शासन-अधिकार पा तो लेते हैं, लेकिन उन्हें राजा के मूल कर्तव्यों का प्रशिक्षण कभी नहीं मिलता और हर एक के लिये ऐसा कर पाना सम्भव भी नहीं है। ऐसी परिस्थितियों में अप्रशिक्षित प्रशासक प्रजा को सभी प्रकार से सुखी बनाने के प्रयत्न में कहर ढाता है। दूसरी ओर, ये

अप्रशिक्षित प्रशासक धीरे-धीरे चोर तथा धूर्त बन जाते हैं और डांवाडोल राज्य पर करों में वृद्धि करते जाते हैं, जिससे प्रशासन के लिये धन प्राप्त हो, जो सभी प्रयोजनों के लिए व्यर्थ होता है। वास्तव में *मनुसंहिता* तथा पराशर कृत *धर्मशास्त्र* जैसे शास्त्रों के अनुसार राजा को समुचित प्रशासनिक निर्देश देने के लिए, योग्यता-प्राप्त ब्राह्मण ठीक माने गये हैं। एक गुणवान राजा जनता का आदर्श होता है, अत: यदि राजा पुण्यात्मा, धर्मात्मा, शौर्यवान तथा दानवीर होता है, तो जनता भी सामान्य रूप से उसका अनुकरण करती है। ऐसा राजा आलसी, विषयी व्यक्ति नहीं होता, जो प्रजा पर आश्रित रहता हो, अपितु चोरों तथा डाकुओं का वध करने में सदैव सतर्क रहता है। पुण्यात्मा राजा कभी भी व्यर्थ की अहिंसा के नाम पर डाकुओं तथा चोरों पर दया नहीं किया करते थे। डाकुओं तथा चोरों को इस प्रकार दण्डित किया जाता था कि भविष्य में कोई सुनियोजित ढंग से ऐसे दुष्कर्म करने का साहस भी न करे। आज की तरह ऐसे डाकू तथा चोर कभी भी प्रशासन चलाने के लिये नहीं होते थे।

तब कर लगाने के नियम सरल थे। न तो कोई जबरदस्ती की जाती थी, न घुसपैठ। राजा को प्रजा की उपज का एक चौथाई लेने का अधिकार था। राजा को किसी को प्राप्त सम्पदा का एक चौथाई पर हक जताने का अधिकार था। किसी को इतना देने में कोई एतराज भी नहीं था, क्योंकि राजा के पुण्यात्मा होने तथा धार्मिक एकता होने के कारण प्रचुर प्राकृतिक सम्पदा होती थी—यथा अन्न, फल, फूल, रेशम, कपास, दूध, हीरे-जवाहरात, खनिज इत्यादि; अतएव कोई भी भौतिकता की दृष्टि से असंतुष्ट नहीं रहता था। प्रजा कृषि तथा पशु-धन में समृद्ध थी। अतएव उसके पास प्रचुर अन्न, फल तथा दूध था और उन्हें साबुन, सौंदर्य प्रसाधन, सिनेमा तथा मदिरालयों की कोई कृत्रिम आवश्यकता न थी।

राजा को यह देखना होता था कि मानवता की संचित शक्ति का सही ढंग से उपयोग हो रहा है। मानव शक्ति पशु जैसी इच्छाओं की पूर्ति के लिए नहीं, अपितु आत्म-साक्षात्कार के लिए होती है। सरकार की सारी योजना इस विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए होती थी। फल:स्वरूप राजा को उचित रीति से मन्त्रियों का चयन करना होता था, मतों की पृष्ठभूमि के बल पर नहीं।

मन्त्री, सेनानायक तथा सामान्य सिपाही तक व्यक्तिगत योग्यताओं के आधार पर चुने जाते थे और अपने-अपने पदों पर नियुक्त होने के पूर्व राजा उन पर समुचित निगरानी रखता था। राजा विशेष रूप से सतर्क रहता था कि ऐसे तपस्वी छूटें नहीं, जिन्होंने आध्यात्मिक ज्ञान के प्रचार-प्रसार में अपना सब कुछ त्याग कर दिया हो। *राजा भलीभाँति जानता था कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कभी भी अपने अनन्य भक्तों का तिरस्कार सहन नहीं करते।* यहाँ तक कि ऐसे तपस्वी उन *चोर-उचक्कों* के भी विश्वस्त जन-नायक होते थे, जो इन *तपस्वियों* की आज्ञाओं का कभी उल्लंघन नहीं करते थे। राजा निरक्षरों, असहायों तथा विधवाओं को विशेष सुरक्षा प्रदान करता था। शत्रु द्वारा आक्रमण किये जाने के पूर्व रक्षा के सारे उपाय किये जाते थे। कर-प्रणाली सरल थी और इसका उद्देश्य संचित कोष को बढ़ाना होता था, लोगों को लूटना नहीं। सैनिकों की भर्ती सारे विश्व भर से की जाती थी और उन्हें विशेष कार्यों के लिए प्रशिक्षित किया जाता था।

जहाँ तक मोक्ष का सम्बन्ध है, मनुष्यों को काम, क्रोध, अवैध इच्छाओं, लोभ तथा मोह पर विजय प्राप्त करनी होती थी। क्रोध पर विजय पाने के लिए मनुष्य को क्षमा करना सीखना चाहिए। अवैध इच्छाओं से मुक्त रहने के लिए आवश्यक है कि व्यर्थ की योजनाएँ न बनाई जाँय। आध्यात्मिक अनुशीलन द्वारा नींद पर विजय प्राप्त की जा सकती है। सहिष्णुता द्वारा इच्छाओं तथा लोभ पर विजय पाई जा सकती है। नियमित एवं संतुलित आहार द्वारा विभिन्न रोगों से होनेवाली गड़बड़ियों से बचा जा सकता है। आत्म-संयम से झूठी आशाओं से मुक्त हुआ जा सकता है और कुसंगति से बचकर धन-संग्रह किया जा सकता है। योगाभ्यास से भूख पर नियन्त्रण किया जा सकता है और नश्वरता का ज्ञान होने से सांसारिकता से बचा जा सकता है। जल्दी उठने से आलस्य को जीता जा सकता है और तथ्यों के निर्धारण से झूठे तर्क समाप्त किये जा सकते हैं। वाचालता को गंभीरता से तथा मौन द्वारा और भय को पराक्रम से जीता जा सकता है। स्वाध्याय द्वारा पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है। मनुष्य को काम, लोभ, क्रोध, स्वप्न इत्यादि से मुक्त होना चाहिए, जिससे असली मोक्ष-मार्ग प्राप्त हो सके।

जहाँ तक स्त्री-वर्ग का सम्बन्ध है, स्त्रियाँ मनुष्यों की प्रेरणा स्रोत मानी जाती रही हैं। इस तरह वे मनुष्यों से अधिक शक्तिशाली होती हैं। पराक्रमी जुलियस सीजर क्लीयोपैत्रा के वश में हो गया था। ऐसी शक्तिशाली स्त्रियाँ लज्जा द्वारा नियन्त्रित होती हैं। अतएव लज्जा स्त्रियों के लिए महत्त्वपूर्ण है। एक बार इस सुरक्षा वाल्व पर से नियंत्रण ढीला पड़ा, तो व्यभिचार द्वारा समाज में उत्पात उठ खड़ा होता है। व्यभिचार का अर्थ है *वर्ण-संकर* अर्थात् अवांछित बालकों की उत्पत्ति, जिससे विश्व में गड़बडी फैल जाती है।

भीष्मदेव की अन्तिम शिक्षा भगवान् को प्रसन्न करने की विधि के विषय में थी। हम सब भगवान् के सनातन दास हैं और जब हम अपने स्वभाव के इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व को भूल जाते हैं, तो हमें जीवन की भौतिक अवस्था में आना पड़ता है। भगवान् को प्रसन्न करने की (विशेष रूप से गृहस्थों के लिए) सरल विधि है घर में भगवान् का अर्चाविग्रह स्थापित किया जाय। अर्चाविग्रह में चित्त एकाग्र करके दैनिक कार्य किये जा सकते हैं। घर में अर्चाविग्रह की पूजा, भक्त की सेवा, *श्रीमद्भागवत* का श्रवण, पवित्र तीर्थस्थान में वास तथा भगवन्नाम का कीर्तन—ये सब बिना व्यय के हो सकने वाले कार्य हैं, जिनसे भगवान् को प्रसन्न किया जा सकता है। इस प्रकार यह विषय पितामह द्वारा अपने पौत्रों को समझाया गया।

धर्मार्थकाममोक्षांश्च सहोपायान् यथा मुने ।
नानाख्यानेतिहासेषु वर्णयामास तत्त्ववित् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

धर्म—वृत्तिपरक कार्य; अर्थ—आर्थिक विकास; काम—इच्छा पूर्ति; मोक्षान्—चरम-मुक्ति; च—तथा; सह—साथ; उपायान्—उपायों के; यथा—जिस तरह; मुने—हे मुनि; नाना—अनेक; आख्यान—ऐतिहासिक कथाओं के पाठ द्वारा; इतिहासेषु—इतिहासों में; वर्णयाम् आस—वर्णन किया; तत्त्व-वित्—सत्य के ज्ञाता। .

तत्पश्चात्, उन्होंने इतिहास से उद्धरण देते हुए, विभिन्न आश्रमों तथा जीवन की अवस्थाओं के वृत्तिपरक कार्यों का वर्णन किया, क्योंकि वे उस सत्य से भलीभाँति परिचित थे।

तात्पर्य : *पुराणों, महाभारत* तथा *रामायण* जैसे वैदिक ग्रंथों में वर्णित घटनाएँ वास्तविक ऐतिहासिक कथाएँ हैं, जो भूतकाल में कभी घटित हुई थीं, यद्यपि वे किसी तिथि-क्रमानुसार नहीं हैं। ऐसे ऐतिहासिक तथ्य, बिना किसी तिथि-क्रम के ही, सामान्य जनों के लिए शिक्षाप्रद होने के कारण चुनकर रखे गये थे। इसके अतिरिक्त ये घटनाएँ विभिन्न ग्रहों या यों कहें कि विभिन्न ब्रह्माण्डों में घटित होती हैं। इसीलिए कथाओं के वर्णनों को कभी-कभी तीनों आयामों में मापा जाता है। हमें तो ऐसी घटनाओं से प्राप्त शिक्षाओं से सरोकार होना चाहिए, भले ही वे हमारे ज्ञान के सीमित दायरे के अनुसार क्रमबद्ध न हों। भीष्मदेव ने महाराज युधिष्ठिर के विभिन्न प्रश्नों के उत्तर में इन कथाओं को कह सुनाया।

धर्मं प्रवदतस्तस्य स काल: प्रत्युपस्थित: ।
यो योगिनश्छन्दमृत्योर्वाञ्छितस्तूत्तरायण: ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

धर्मम्—वृत्तिपरक कार्यों को; प्रवदत:—वर्णन करते हुए; तस्य—उसका; स:—वह; काल:—समय; प्रत्युपस्थित:—प्रकट हुआ; य:—जो है; योगिन:—योगियों के लिए; छन्द-मृत्यो:—इच्छित समय में मृत्यु करनेवाले का; वाञ्छित:—के द्वारा इच्छित; तु—लेकिन; उत्तरायण:—वह अवधि, जब सूर्य उत्तरी क्षितिज पर रहता है।

जब भीष्मदेव वृत्तिपरक कर्तव्यों का वर्णन कर रहे थे, तभी सूर्य उत्तरी गोलार्द्ध की ओर चला गया। इच्छानुसार मरनेवाले योगी इसी अवधि की कामना करते हैं।

तात्पर्य : सिद्ध योगी अपनी इच्छानुसार उपयुक्त समय में भौतिक शरीर त्याग कर, इच्छित लोक को जा सकते हैं। *भगवद्गीता* (८.२४) में कहा गया है कि स्वरूप-सिद्ध आत्माएं, जिन्होंने परमेश्वर के हित को ही सब कुछ मान रखा है, सामान्य रूप से अग्निदेव के तेज के समय तथा जब सूर्य उत्तरायण होता है, तभी अपना शरीर त्याग करते हैं और इस प्रकार दिव्य आकाश प्राप्त कर सकते हैं। वेदों में ऐसे काल को शरीर-त्याग के लिए शुभ माना जाता है और सिद्ध योगी इसका लाभ उठाते हैं। योग की सिद्धि का अर्थ है ऐसी श्रेष्ठ मानसिक अवस्था प्राप्त करना, जिससे इच्छानुसार शरीर का त्याग किया जा सके। योगी किसी भी लोक में किसी भौतिक यान के बिना तुरन्त ही पहुँच सकते हैं। योगी ऊँचे से ऊँचे लोकों में अल्प समय में पहुँच सकते हैं,

लेकिन भौतिकतावादी के लिए ऐसा कर पाना असम्भव है। यदि किसी उच्चतम लोक तक पहुँचने का प्रयास किया भी जाय, तो लाखों मील प्रति घण्टे की गति होने पर भी वहाँ तक पहुँचने में लाखों वर्ष लग जाएँगे। यह एक भिन्न विज्ञान है और भीष्मदेव इसका सदुपयोग करना जानते थे। वे अपना शरीर छोड़ने के लिए उपयुक्त समय की प्रतीक्षा में थे और तब वह स्वर्णिम अवसर आ पहुँचा, जब वे अपने पौत्र पाण्डवों को उपदेश दे रहे थे। इस प्रकार उन्होंने पूज्य भगवान् श्रीकृष्ण, पुण्यात्मा पाण्डव तथा भगवान् व्यास इत्यादि महर्षियों के समक्ष अपना शरीर त्यागने की तैयारी की।

तदोपसंहृत्य गिरः सहस्रणी-
विमुक्तसङ्गं मन आदिपूरुषे ।
कृष्णे लसत्पीतपटे चतुर्भुजे
पुरःस्थितेऽमीलितदृग्व्यधारयत् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; उपसंहृत्य—हटाकर; गिरः—वाणी; सहस्रणीः—भीष्मदेव (जो हजारों विद्याओं तथा कलाओं में निष्णात थे); विमुक्त-सङ्गम्—अन्य सारी बातों से पूर्ण रूप से मुक्त; मनः—मन; आदि-पूरुषे—आदि भगवान्; कृष्णे—कृष्ण में; लसत्-पीत-पटे—पीताम्बर से सुशोभित; चतुर्-भुजे—चार भुजाओं वाले आदि नारायण में; पुरः—समक्ष; स्थिते—खड़े; अमीलित—खुले हुए; दृक्—दृष्टि; व्यधारयत्—स्थिर कर लिया।

तत्पश्चात् वह व्यक्ति, जो हजारों अर्थों से युक्त विभिन्न विषयों पर बोलता था तथा हजारों युद्धों में लड़ चुका था और हजारों व्यक्तियों की रक्षा कर चुका था, उसने बोलना बन्द कर दिया। उसने समस्त बन्धन से पूर्ण रूप से मुक्त होकर, अन्य सभी वस्तुओं से अपना मन हटाकर, अपने खुले नेत्रों को उन आदि भगवान् श्रीकृष्ण पर टिका दिया, जो उनके समक्ष खड़े थे, जो चार भुजाओं वाले थे और जगमग करते एवं चमचमाते हुए पीत वस्त्र धारण किये थे।

तात्पर्य : अपना भौतिक शरीर त्यागते समय, भीष्मदेव ने मनुष्य-जीवन के महत्त्वपूर्ण कार्य से सम्बन्धित यशस्वी उदाहरण प्रस्तुत किया। *मरते हुए व्यक्ति को जो विषय जितना आकर्षित करता है, वह उसके अगले जीवन का शुभारम्भ बनता है।* अतएव यदि कोई परमेश्वर श्रीकृष्ण के

विचारों में लीन रहता है, तो इसमे कोई सन्देह नहीं है कि उसके लिए भगवान् के धाम में वापस जाना निश्चित है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (८.५-१५) में हुई है।

५. और मृत्यु के समय जो केवल मेरा स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करता है, वह तुरन्त मेरे स्वभाव को प्राप्त करता है। इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं है।

६. शरीर त्यागते समय मनुष्य जिस-जिस भाव का स्मरण करता है, वह उस भाव को निश्चित रूप से प्राप्त होता है।

७. अतएव हे अर्जुन, तुन्हें सदैव कृष्ण-रूप में मेरा चिन्तन करना चाहिए और साथ ही युद्ध करने के अपने कर्तव्य को भी पूरा करना चाहिए। अपने कर्मों को मुझे समर्पित करके तथा अपने मन एवं बुद्धि को मुझमें स्थिर करके, तुम निश्चित रूप से मुझे पा सकोगे।

८. हे पार्थ (अर्जुन), जो व्यक्ति अपने मन को मेरा स्मरण करने में निरन्तर लगाये रखकर, अविचल भाव से भगवान् के रूप में मेरा ध्यान करता है, वह अवश्य मेरे पास पहुँच जाता है।

९. मनुष्य को चाहिए कि परम पुरुष का ध्यान सर्वज्ञ, पुरातन, नियन्ता, लघुतर से लघुतम, सबों के पालक, समस्त भौतिक बुद्धि से परे, अचिन्त्य तथा नित्य पुरुष के रूप में करे। वे सूर्य की भाँति तेजस्वी हैं और दिव्य होने के कारण इस भौतिक प्रकृति से परे हैं।

१०. मृत्यु के समय जो व्यक्ति अविचलित मन से योग-शक्ति द्वारा, अपने प्राण को भौंहों के मध्य में स्थिर कर लेता है और पूर्ण भक्ति के साथ परमेश्वर के स्मरण में अपने को लगाता है, वह निश्चित् रूप से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को प्राप्त होता है।

११. जो वेदों के ज्ञाता हैं, जो ॐकार का उच्चारण करते हैं, और जो संन्यास-आश्रम के महान् मुनि हैं, वे ब्रह्म में प्रवेश करते हैं। ऐसी सिद्धि की इच्छा करने वाले को ब्रह्मचर्य-व्रत का आचरण करना होता है। अब मैं तुम्हें वह विधि बताऊँगा, जिससे कोई व्यक्ति मुक्ति-लाभ कर सकता है।

१२. समस्त इन्द्रिय-क्रियाओं से विरक्ति को योग की स्थिति (योगधारण) कहा जाता है। इन्द्रियों के समस्त द्वारों को बन्द करके तथा मन को हृदय में और प्राण वायु को सिर के ऊपरी भाग में स्थापित करके मनुष्य अपने आप को योग में स्थापित करता है।

१३. इस योग में स्थित होकर तथा अक्षरों के परम संयोग, ॐकार का उच्चारण करते हुए, यदि कोई पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का चिन्तन करता है और अपने शरीर का त्याग करता है, तो वह निश्चित रूप से भगवद्धाम को जाता है।

१४. हे पृथापुत्र, जो अनन्य भाव से निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उसके लिए मैं सुलभ हूँ, क्योंकि वह मेरी भक्ति में निरन्तर प्रवृत्त रहता है।

१५. महापुरुष, जो भक्तियोगी हैं, मुझे प्राप्त करने के पश्चात् कभी भी इस दुखों से पूर्ण क्षणिक जगत में नहीं लौटते, क्योंकि उन्हें परम सिद्धि प्राप्त हो चुकी होती है।

श्री भीष्मदेव को इच्छानुसार शरीर त्याग करने की सिद्धि प्राप्त थी और मृत्यु के समय अपने समक्ष अपने अभीष्ट श्रीकृष्ण को पाकर वे धन्य थे। अत: उन्होंने अपने खुले हुए नेत्र उन पर टिका दिये। वे अपने प्रगाढ़ प्रेम के कारण श्रीकृष्ण को दीर्घ काल तक देखना चाह रहे थे। चूँकि वे शुद्ध भक्त थे, अतएव उन्हें योग की विशद् क्रियाओं की आवश्यकता नहीं थी। सिद्धि के लिए सरल भक्तियोग पर्याप्त है। अतएव भीष्मदेव की हार्दिक इच्छा भगवान् कृष्ण को साक्षात् देखने की थी, जो परम प्रेय थे और भगवत्कृपा से श्री भीष्मदेव को अपनी अन्तिम सास लेते समय यह सुअवसर प्राप्त हुआ।

विशुद्धया धारणया हताशुभ-
स्तदीक्षयैवाशु गतायुधश्रमः ।
निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिविभ्रम-
स्तुष्टाव जन्यं विसृजञ्जनार्दनम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

विशुद्धया—विशुद्ध; धारणया—ध्यान से; हत-अशुभः—भौतिक अस्तित्व के अशुभ गुणों को जिसने कम कर दिया है; तत्—उसको; ईक्षया—देखने से; एव—केवल; आशु—तुरन्त; गता—गये हुए; युध—तीरों से; श्रमः—थकान;

निवृत्त—रोका जाकर; सर्व—समस्त; इन्द्रिय—इन्द्रियों के; वृत्ति—कार्यकलाप; विभ्रमः—लिप्त होकर; तुष्टाव—उसने प्रार्थना की; जन्यम्—भौतिक आश्रय; विसृजन्—त्यागते हुए; जनार्दनम्—जीवों के नियन्ता को।.

शुद्ध ध्यान द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण को देखते हुए, वे तुरन्त समस्त भौतिक अशुभ अवस्थाओं से और तीरों के घाव से होनेवाली शारीरिक पीड़ा से मुक्त हो गये। इस प्रकार उनकी सारी इन्द्रियों के कार्यकलाप रूक गये और उन्होंने शरीर को त्यागते हुए समस्त जीवों के नियन्ता की दिव्य भाव से स्तुति की।

तात्पर्य : यह भौतिक शरीर उस भौतिक शक्ति का उपहार है, जिसे माया कहते हैं। भगवान् के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को भूल जाने के कारण मनुष्य भौतिक शरीर को अपना स्वरूप समझने लगता है। भीष्मदेव जैसे भगवान् के शुद्ध भक्त के लिए यह माया भगवान् के आते ही दूर हो गई। भगवान् कृष्ण सूर्य के समान हैं और भ्रामक बहिरंगा भौतिक शक्ति अंधकार तुल्य है। सूर्य की उपस्थिति में यह सम्भव नहीं कि अंधकार टिक सके। अतएव भगवान् कृष्ण का आगमन होते ही सारा भौतिक कल्मष पूर्ण रूप से दूर हो गया और भीष्मदेव पदार्थ के साथ अशुद्ध इन्द्रियाँ के कार्यों को रोककर दिव्य पद को प्राप्त होने में समर्थ हो सके। आत्मा मूलतः शुद्ध होता है और इसीलिए इन्द्रियाँ भी शुद्ध ही होती हैं। भौतिक कल्मष से ही इन्द्रियाँ अपूर्णता तथा अशुद्धता से काम करने लगती हैं। किन्तु परम शुद्ध भगवान् कृष्ण का संसर्ग प्राप्त होते ही इन्द्रियाँ पुनः भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाती हैं। भीष्मदेव को अपना शरीर त्यागने के पूर्व भगवान् की उपस्थिति के कारण ही ऐसी दिव्य अवस्था प्राप्त हो सकी थी। भगवान् सभी जीवों के नियन्ता उपकारी हैं। समस्त वेदों का यही निर्णय है। वे परम शाश्वत तथा समस्त शाश्वत जीवों में परम पुरुष हैं।* तथा वे ही सभी प्रकार के जीवों की सारी आवश्यकताओं को पूरा करने वाले हैं। इस प्रकार उन्होंने अपने परम भक्त श्रीभीष्मदेव की दिव्य इच्छाओं को पूरा करने की सारी सुविधाएँ प्रदान कीं। तब भीष्मदेव ने इस प्रकार प्रार्थना की।

श्रीभीष्म उवाच
इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा

भगवति सात्वतपुङ्गवे विभूम्नि ।
स्वसुखमुपगते क्वचिद्विहर्तुं
प्रकृतिमुपेयुषि यद्भवप्रवाहः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

श्री-भीष्मः उवाच—श्री भीष्मदेव ने कहा; इति—इस प्रकार; मतिः—सोचना, अनुभव करना तथा चाहना; उपकल्पिता—नियुक्त करना; वितृष्णा—समस्त इन्द्रिय इच्छाओं से मुक्त; भगवति—भगवान् में; सात्वत-पुङ्गवे—भक्तों के नेता में; विभूम्नि—परम; स्व-सुखम्—आत्म-तोष; उपगते—प्राप्त हुए; क्वचित्—कभी-कभी; विहर्तुम्—दिव्य आनन्द से; प्रकृतिम्—भौतिक जगत में; उपेयुषि—स्वीकार करें; यत्-भव—जिनसे सृष्टि; प्रवाहः—बनी है तथा विनष्ट होती है।.

footnote start here

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।

एको बहूनां यो विदधाति कामान्॥

(*कठोपनिषद्*)

footnote ends here

भीष्मदेव ने कहा : अभी तक मैं जो सोचता, जो अनुभव करता तथा जो चाहता था, वह विभिन्न विषयों तथा वृत्तियों के अधीन था, किन्तु अब मुझे उसे परम शक्तिमान भगवान् श्रीकृष्ण में लगाने दो। वे सदैव आत्मतुष्ट रहनेवाले हैं, किन्तु कभी-कभी भक्तों के नायक होने के कारण, इस भौतिक जगत में अवतरित होकर दिव्य आनन्द-लाभ करते हैं, यद्यपि यह सारा भौतिक जगत उन्हीं के द्वारा सृजित है।

तात्पर्य : चूँकि भीष्मदेव एक राजपुरुष, कुरुवंश के मुखिया, महान सेनापति तथा क्षत्रियों के अग्रणी थे, अतएव उनका मन अनेक विषयों में बँटा रहता था और उनका चिन्तन, अनुभूति तथा उनकी इच्छाएँ विभिन्न बातों में लगी रहती थीं। अब शुद्ध भक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से, वे परम पुरुष भगवान् कृष्ण पर ही सारे चिन्तन, अनुभूति तथा इच्छाओं को केन्द्रित करना चाहते थे। यहाँ पर उन्हें (श्रीकृष्ण को) भक्तों के नायक तथा सर्वशक्तिमान कहे गये हैं। यद्यपि भगवान् कृष्ण आदि भगवान् हैं, लेकिन वे अपने शुद्ध भक्तों को भक्तिमय सेवा का वरदान देने के निमित्त इस धरा पर स्वयं अवतरित होते हैं। कभी वे भगवान् कृष्ण के रूप में, जो वे स्वयं हैं और कभी

भगवान् चैतन्य के रूप में अवतरित होते हैं। दोनों ही शुद्ध भक्तों के नायक हैं। भगवान् के शुद्ध भक्तों में भगवान् की सेवा करने के अतिरिक्त अन्य कोई इच्छा नहीं रहती। अतएव वे *सात्वत* कहलाते हैं और भगवान् ऐसे *सात्वतों* में अग्रणी हैं। इसीलिए भीष्मदेव को अन्य कोई इच्छा नहीं हुई। जब तक मनुष्य सभी प्रकार की भौतिक इच्छाओं से शुद्ध नहीं हो लेता, तब तक भगवान् उसके अगुवा नहीं बनते। इच्छाओं को मिटाया नहीं जा सकता, लेकिन उन्हें केवल शुद्ध करना होता है। *भगवद्गीता* में स्वयं भगवान् ने पुष्टि की है कि वे भगवान् की सेवा में निरन्तर लीन रहनेवाले शुद्ध भक्त को उसके हृदय के भीतर से उपदेश देते हैं। ऐसा उपदेश किसी भौतिक हेतु के लिए नहीं, अपितु अपने घर, भगवान् के धाम वापस जाने के लिए दिया जाता है। (*भगवद्गीता,* १०.१०) भगवान् सामान्य व्यक्ति के लिए, जो भौतिक प्रकृति पर अपना प्रभुत्व दिखाना चाहता है, न केवल उसकी इच्छा पूर्ति करके उसके कार्यों के साक्षी बनते हैं, अपितु वे अभक्तों को भगवद्धाम जाने के लिए कभी कोई उपदेश नहीं देते। विभिन्न जीवों, भक्तों तथा अभक्तों, के साथ भगवान् के व्यवहार में यही अन्तर है। वे समस्त जीवों के अग्रणी हैं, जिस प्रकार राजा बन्दियों तथा स्वतन्त्र नागरिकों का समान रूप से शासक होता है। लेकिन भक्तों तथा अभक्तों के प्रति उनके व्यवहार भिन्न-भिन्न होते हैं। अभक्त लोग भगवान् से कभी कोई उपदेश ग्रहण करने की परवाह नहीं करते, इसलिए वे उनके विषय में मौन बने रहते हैं, यद्यपि वे उनके सारे कार्यों के साक्षी बनकर उन्हें अच्छा या बुरा फल देते रहते हैं। भक्तगण इस भौतिक अच्छाई-बुराई से परे होते हैं। वे अध्यात्म-पथ पर अग्रसर होते रहते हैं, अतएव उन्हें किसी प्रकार की भौतिक इच्छा नहीं रहती। भक्त यह भी जानता है कि श्रीकृष्ण ही आदि नारायण हैं, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ही अपने पूर्णांश से कारणोदकशायी विष्णु के रूप में प्रकट होते हैं, जो सारी भौतिक सृष्टि के मूल स्रोत हैं। भगवान् अपने शुद्ध भक्तों के साथ संगति करने को भी इच्छुक रहते हैं और उन्हीं के लिए वे इस धरा पर अवतार लेकर उन्हें जीवन-दान देते हैं। भगवान् खुद की इच्छा से प्रकट होते हैं। वे प्रकृति की परिस्थितियों से बाध्य नहीं होते। अतएव उन्हें *विभु* या सर्व-शक्तिमान कहा गया है, क्योंकि वे प्रकृति के नियमों से कभी नहीं बँधते।

त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं
रविकरगौरवराम्बरं दधाने ।
वपुरलककुलावृताननाब्जं
विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

त्रि-भुवन—तीनों लोक; कमनम्—अभीष्ट; तमाल-वर्णम्—तमालवृक्ष जैसे नीले रंगवाले; रवि-कर—सूर्य की किरणों वाला; गौर—सुनहरा रंग; वराम्बरम्—चमचमाता वस्त्र; दधाने—पहने हुए; वपुः—शरीर; अलक-कुल-आवृत—चन्दन की रचना से आवृत; अनन-अब्जम्—कमल के समान मुख; विजय-सखे—अर्जुन के मित्र में; रतिः अस्तु—आसक्ति हो; मे—मेरी; अनवद्या—फल की इच्छा से रहित, निष्काम।

श्रीकृष्ण अर्जुन के घनिष्ठ मित्र हैं। वे इस धरा पर अपने दिव्य शरीर सहित प्रकट हुए हैं, जो तमाल वृक्ष सदृश नीले रंग का है। उनका शरीर तीनों लोकों (उच्च, मध्य तथा अघोलोक) में हर एक को आकृष्ट करनेवाला है। उनका चमचमाता पीताम्बर तथा चन्दनचर्चित मुखकमल मेरे आकर्षण का विषय बने और मैं किसी प्रकार के फल की इच्छा न करूँ।

तात्पर्य : जब श्रीकृष्ण स्वेच्छा से इस धरा पर प्रकट होते हैं, तो वे अपनी अन्तरंगा शक्ति के माध्यम से ऐसा करते हैं। उनके दिव्य शरीर के आकर्षक अंगों को देखने की इच्छा तीनों लोकों अर्थात् ग्रह मंण्डल के उच्चस्थ, मध्यस्थ तथा अधोलोको में होती है। ब्रह्माण्ड भर में कहीं भी भगवान् कृष्ण जैसे सुन्दर आकृति के शरीर वाला कोई नहीं है। अतएव उनके दिव्य शरीर को भौतिक रूप से निर्मित किसी वस्तु से कुछ लेनादेना नहीं है। अर्जुन को यहाँ विजेता कहा गया है और कृष्ण को उसके घनिष्ठ मित्र। कुरुक्षेत्र युद्ध के बाद शरशय्या पर लेटे भीष्मदेव भगवान् कृष्ण की वेशभूषा का स्मरण कर रहे हैं जिसे वे अर्जुन के सारथी रूप में धारण किए हुए थे। जब अर्जुन तथा भीष्म के मध्य युद्ध चल रहा था, तो भीष्म का ध्यान कृष्ण की चमचमाती वेश-भूषा की ओर आकर्षित हुआ था और इस तरह वे अप्रत्यक्ष रूप में अपने तथाकथित शत्रु अर्जुन की प्रशंसा, कृष्ण को अपने मित्र रूप में प्राप्त करने के लिए कर रहे थे। अर्जुन सदा ही विजेता रहा क्योंकि भगवान् उसके सखा थे। भीष्मदेव इस अवसर का लाभ भगवान् को *विजय-सखे* (अर्जुन

के मित्र) सम्बोधित करके उठाते हैं, क्योंकि जब भगवान् को उनके भक्तों के साथ जोड़कर पुकारा जाता है, तो वे अतीव प्रसन्न होते हैं, क्योंकि भक्तगण उनसे विभिन्न दिव्य रसों से बँधे हुए होते हैं। जब कृष्ण अर्जुन के सारथी थे, तो सूर्य की किरणें भगवान् के वस्त्रों पर पड़कर चमक रही थीं और ऐसी किरणों के परावर्तन से उत्पन्न सुन्दर रंग भीष्मदेव से भुलाये भी नहीं भूल रहा था। योद्धा के रूप में वे वीर रस में कृष्ण से अपने सम्बन्ध का आस्वाद कर रहे थे। विभिन्न रसों में किसी भी रस में भगवान् के साथ दिव्य सम्बन्ध होने पर भक्त सर्वाधिक आनन्द प्राप्त करते हैं। अल्पज्ञ संसारी लोग जो भगवान् के दिव्य रूप में अपने को सम्बन्धित दिखाना चाहते हैं, वे सीधे ही व्रजधाम की गोपियों का अनुकरण करते हुए माधुर्य रस का दिखावा करते हैं। भगवान् के साथ ऐसा हल्का प्रेम-सम्बन्ध संसारी व्यक्ति की कुत्सित भावना का द्योतक है, क्योंकि जिसने भगवान् के साथ माधुर्य रस का आनन्द उठा लिया है, वह संसारी शृंगार रस में लिप्त नहीं होता, क्योंकि इसकी भर्त्सना संसारी नीतिशास्त्र ने भी की है। भगवान् के साथ आत्म-विशेष का नित्य सम्बन्ध क्रमानुसार विकसित होता है। परमेश्वर के साथ जीव का सही सम्बन्ध पाँच प्रमुख रसों में से किसी एक में हो सकता है और असली भक्त के लिए इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। भीष्मदेव इसके जीते-जागते उदाहरण हैं। तो हमें ध्यान देकर यह समझना है कि वे महान सेनानायक भगवान् से किस प्रकार दिव्य रूप से जुड़े हुए हैं।

युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्-
कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये ।
मम निशितशरैर्विभिद्यमान-
त्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा ॥ ३४॥

शब्दार्थ

युधि—युद्ध-भूमि में; तुरग—घोड़े; रजः—धूल; विधूम्र—धुएँ के रंग में परिणत; विष्वक्—लहराते; कच—बाल; लुलित—बिखरे हुए; श्रमवारि—पसीना; अलङ्कृत—सुशोभित; आस्ये—मुख पर; मम—मेरे; निशित—नुकीले; शरैः—वाणों से; विभिद्यमान—बिंधा हुआ; त्वचि—खाल में; विलसत्—आनन्द लेते हुए; कवचे—कवच में; अस्तु—हो; कृष्णे—श्रीकृष्ण में; आत्मा—मन।

युद्धक्षेत्र में (जहाँ मित्रतावश श्रीकृष्ण अर्जुन के साथ रहे थे) भगवान् कृष्ण के लहराते केश घोड़ों की टापों से उठी धूल से धूसरित हो गये थे तथा श्रम के कारण उनका मुख-मण्डल पसीने की बूँदों से भीग गया था। मेरे तीक्ष्ण बाणों से बने घावों से इन अलंकरणों की शोभा उन्हें अच्छी लग रही थी। मेरा मन उन्हीं श्रीकृष्ण के पास चले।

तात्पर्य : भगवान् शाश्वतता, ज्ञान एवं आनन्द स्वरूप हैं। अत: जब भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा पाँच प्रमुख सम्बन्धों (*रसों*) अर्थात् *शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य* तथा *माधुर्य* में से किसी एक में वास्तविक प्रेम तथा अनुराग से की जाती है, तो भगवान् उसे ग्रहण करते हैं। श्री भीष्मदेव दास्य भाव से भगवान् के महान भक्त हैं। अतएव भगवान् के दिव्य शरीर पर तीक्ष्ण बाणों की वर्षा, किसी अन्य भक्त द्वारा उन पर की गई कोमल गुलाब के पुष्पों की वर्षा के समान है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् के साथ भीष्मदेव ने जो कुछ किया था, उसके लिए वे पश्चात्ताप कर रहे हैं। लेकिन वास्तविक रूप में अपने दिव्य शरीर के कारण, भगवान् को तनिक भी पीड़ा नहीं हुई थी। उनका शरीर पदार्थ नहीं है। साक्षात् वे तथा उनका शरीर दोनों पूर्ण रूप से आध्यात्मिक हैं। आत्मा को न तो छेदा जा सकता है, न जलाया या सुखाया या गीला किया जा सकता है। इसकी विशद व्याख्या *भगवद्गीता* में की गई है। *स्कन्द पुराण* में भी ऐसा ही कथन मिलता है। उसमें कहा गया है कि आत्मा सदैव कल्मषहीन तथा अविनाशी है। न तो उसे कष्ट दिया जा सकता है, न ही उसे सुखाया जा सकता है। जब भगवान् विष्णु अवतरित होकर हमारे समक्ष प्रकट होते हैं तब वे बद्धजीवों के समान भौतिक बन्धन से जकड़े हुए लगते हैं, लेकिन वे ऐसा असुरों या अविश्वासियों को मोहित करने के लिए करते हैं, जो भगवान् को उनके अवतार लेने के प्रारम्भ से ही मारने की ताक में रहते हैं। कंस कृष्ण को और रावण राम को मारना चाह रहे थे, क्योंकि मूर्खतावश वे इस तथ्य से अनजान थे कि भगवान् कभी मारे नहीं जा सकते, क्योंकि आत्मा का कभी विनाश नहीं होता।

अतएव भीष्मदेव द्वारा भगवान् कृष्ण के शरीर को बाणों से बेधना, अभक्त नास्तिकों के लिए एक मोहजनक समस्या है, लेकिन जो भक्त या मुक्तात्मा हैं, वे मोहित नहीं होते।

भीष्मदेव ने भगवान् की सर्व-करुणामय मुद्रा की प्रशंसा की, क्योंकि उन्होंने अर्जुन को अकेले नहीं छोड़ा, यद्यपि भीष्मदेव के बाणों से वे विचलित थे। न ही उन्हें भीष्म की मृत्युशय्या के निकट आने में कोई संकोच हुआ, यद्यपि भीष्म ने युद्धभूमि में उनके साथ दुर्व्यवहार किया था। इस दशा में भीष्म का पश्चात्ताप तथा भगवान् की करुणामय मुद्रा, दोनों ही अद्वितीय हैं।

महान आचार्य तथा भगवान् के माधुर्य रस के भक्त श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस सम्बन्ध में बहुत महत्त्व की बात कही है। वे कहते हैं कि भीष्मदेव के तीक्ष्ण बाणों से भगवान् के शरीर में उत्पन्न हुए घाव उन्हें उसी प्रकार आनन्ददायक लग रहे थे, जिस प्रकार प्रबल कामेच्छा से भगवान् के शरीर में प्रेमिका की चुटकी। प्रेमिका द्वारा इस प्रकार चिकोटी काटा जाना, चाहे शरीर में घाव ही क्यों न करे, शत्रुता का प्रतीक नहीं माना जाता। अतएव भगवान् तथा उनके भक्त श्री भीष्मदेव के बीच जो युद्ध हुआ, वह दिव्य आनन्द का आदान-प्रदान था। वह किसी भी प्रकार से संसारी न था। इसके अतिरिक्त, चूँकि भगवान् का शरीर तथा भगवान् अभिन्न हैं, अतएव परम पूर्ण शरीर में घाव होने की कोई सम्भावना नहीं थी। तीव्र बाणों के द्वारा उत्पन्न घाव सामान्य व्यक्ति को चकरानेवाले हैं, लेकिन जिसको थोड़ा भी परम ज्ञान है, वह इसे शौर्य का दिव्य आदान-प्रदान समझेगा। भीष्मदेव के तीक्ष्ण बाणों से उत्पन्न घावों से भगवान् परम प्रसन्न थे। *विभिद्यमान* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भगवान् की त्वचा भगवान् से भिन्न नहीं है। चूँकि हमारी त्वचा हमारे आत्मा से भिन्न है, अतएव हमारे लिए *विभिद्यमान* अथवा "रगड़ खाया" एवं "कटा" शब्द अत्यन्त उपुयक्त होगा। दिव्य आनन्द कई तरह का होता है और इस जगत में जितने भी कार्य-कलाप हैं, वे दिव्य आनन्द के उल्टे प्रतिबिम्ब मात्र हैं। चूँकि इस संसार की हर वस्तु सांसारिक है, अतएव वह उन्माद से पूर्ण है, लेकिन परम जगत में प्रत्येक वस्तु एक ही परम स्वभाव की होने के कारण वहाँ तरह-तरह के उन्माद से रहित भोग हैं। भगवान् को अपने परम

भक्त भीष्मदेव द्वारा उत्पन्न घाव आनन्द प्रदान कर रहे थे और चूँकि भीष्मदेव वीर रस के भक्त हैं, अतएव वे उसी क्षत-विक्षत दशा वाले कृष्ण पर अपना ध्यान स्थिर करते हैं।

सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये
निजपरयोर्बलयो रथं निवेश्य ।
स्थितवति परसैनिकायुरक्ष्णा
हृतवति पार्थसखे रतिर्ममास्तु ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सपदि—युद्ध-भूमि में; सखि-वचः—मित्र का आदेश; निशम्य—सुनकर; मध्ये—बीच में; निज—अपना; परयोः—तथा विपक्षीदल; बलयोः—शक्ति; रथम्—रथ में; निवेश्य—प्रविष्ट होकर; स्थितवति—वहाँ रुक कर; पर-सैनिक—विपक्षी दल के सैनिकों की; आयुः—आयु, उम्र; अक्ष्णा—देखने से; हृतवति—कम करने का कार्य, छीन लेना; पार्थ—पृथा-पुत्र अर्जुन का; सखे—मित्र में; रतिः—घनिष्ठ सम्बन्ध, प्रीति; मम—मेरा; अस्तु—हो।

अपने मित्र के आदेश का पालन करते हुए, भगवान् श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन तथा दुर्योधन के सैनिकों के बीच में प्रविष्ट हो गये और वहाँ स्थित होकर उन्होंने अपनी कृपापूर्ण चितवन से विरोधी पक्ष की आयु क्षीण कर दी। यह सब शत्रु पर उनके दृष्टिपात करने मात्र से ही हो गया। मेरा मन उन कृष्ण में स्थिर हो।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१.२१-२५) में अर्जुन ने अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण को आज्ञा दी कि वे उसके रथ को सैनिकों के व्यूह के बीच में ले चलें। उसने उन्हें आज्ञा दी कि वे वहाँ तब तक ठहरें जब तक वह युद्ध में आये हुये उन शत्रुओं का निरीक्षण पूरा न कर ले, जिनसे उसे लड़ना था। जब भगवान् से यह कहा गया, तो उन्होंने झट-से वैसा कर दिया, मानो वे कोई आज्ञापालक हों। भगवान् ने विपक्षी-दल के सभी महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों की ओर संकेत करते हुए कहा, "ये रहे भीष्म, ये रहे द्रोण इत्यादि, इत्यादि।" परम पुरुष होने के कारण भगवान् न तो किसी के आज्ञापालक हैं, न सन्देशवाहक, चाहे वह जो भी हो। लेकिन अपने भक्तों पर अहैतुकी कृपा तथा वत्सलता के कारण, कभी-कभी वे अपने भक्त के आदेश का पालन एक तत्पर दास की तरह करते हैं। अपने भक्त के आदेश का पालन करते हुए वे उसी प्रकार प्रसन्न होते हैं, जिस प्रकार पिता अपने नन्हें बालक के आदेश को पूरा करने से प्रसन्न होता है। यह तभी सम्भव है जब

भगवान् तथा उनके भक्तों के मध्य शुद्ध दिव्य प्रेम हो और भीष्मदेव इस तथ्य से अवगत थे। इसीलिए उन्होंने भगवान् को 'पार्थ-सखे' कह कर सम्बोधित किया।

भगवान् ने अपनी कृपापूर्ण चितवन से विपक्षियों की आयु क्षीण कर दी। कहा जाता है कि कुरुक्षेत्र के युद्धक्षेत्र में सम्मिलित सारे योद्धाओं को मोक्ष-लाभ हो सका, क्योंकि मृत्यु के समय उन्होंने साक्षात् भगवान् का दर्शन किया था। अतएव अर्जुन के शत्रुओं की आयु को क्षीण करने का अर्थ यह नहीं होता कि कृष्ण अर्जुन का पक्ष ले रहे थे। वस्तुत: वे विपक्षियों पर कृपालु थे, क्योंकि यदि वे सामान्य तौर पर घर में मरे होते, तो उन्हें मोक्ष-लाभ न हुआ होता। यहाँ उन्हें मृत्यु के समय भगवान् के दर्शन करने का तथा भौतिक जीवन से मुक्ति पाने का अवसर मिला था। अतएव भगवान् सर्व-मंगलमय हैं और वे जो कुछ करते हैं, वह सबों की भलाई के लिए होता है। ऊपर-ऊपर से यह सब उनके घनिष्ठ मित्र अर्जुन की विजय के लिए प्रतीत हो रहा था, लेकिन वास्तविक रूप में यह अर्जुन के शत्रुओं की भलाई के लिए था। ऐसे हैं भगवान् के दिव्य कार्य-कलाप और जो भी इन्हें समझता है, वह भी इस भौतिक शरीर का त्याग करने के पश्चात् मोक्ष प्राप्त करता है। भगवान् किसी भी हालत में कोई गलत कार्य नहीं करते, क्योंकि वे परम पूर्ण हैं और सर्वदा सबों के लिए मंगलमय हैं।

व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य
स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या ।
कुमतिमहरदात्मविद्यया य-
श्चरणरति: परमस्य तस्य मेऽस्तु ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

व्यवहित—दूर खड़े; पृतना—सैनिकों के; मुखम्—मुँह को; निरीक्ष्य—देखकर; स्व-जन—सम्बन्धीगण; वधात्—मारने से; विमुखस्य—हिचकनेवाले का; दोष-बुद्ध्या—दूषित बुद्धि से; कुमतिम्—अल्पज्ञान; अहरत्—समूल नष्ट किया; आत्म-विद्यया—दिव्य ज्ञान से; य:—जो; चरण—चरणों का; रति:—आकर्षण; परमस्य—परम का; तस्य—उस; मे—मेरा; अस्तु—हो।

जब युद्धक्षेत्र में अर्जुन अपने समक्ष सैनिकों तथा सेनापतियों को देखकर अज्ञान से कलुषित हो रहा लग रहा था, तो भगवान् ने उसके अज्ञान को दिव्य ज्ञान प्रदान करके समूल नष्ट कर दिया। उनके चरणकमल सदैव मेरे आकर्षण के लक्ष्य बने रहें।

तात्पर्य : राजाओं तथा सेनापतियों को लड़नेवाले सैनिकों के समक्ष खड़ा होना पड़ता था। वास्तविक युद्ध की प्रणाली यही है। तब राजा तथा सेनापति आज के तथाकथित राष्ट्रपति या रक्षा-मंत्री जैसे नहीं होते थे। जब बेचारे सैनिक या भाड़े के सिपाही एक दूसरे से आमने-सामने लड़ रहे होते थे, तो राजा या सेनापति घर में बैठे नहीं रह सकते थे। यह आधुनिक प्रजातन्त्र का विधान हो सकता है, लेकिन जब वास्तविक राजतन्त्र था तो सम्राट ऐसे नहीं होते थे जो योग्यता पर विचार किये बिना चुने जानेवाले कायरों जैसे हों। जैसाकि कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल से स्पष्ट है, दोनों पक्षों के कार्यकारी प्रधान यथा द्रोण, भीष्म, अर्जुन तथा दुर्योधन सोये हुए नहीं थे, वे सभी ऐसे युद्ध में भाग ले रहे थे, जो लोक-आवास के स्थानों से कहीं दूर संपन्न होने जा रहा था। इसका अर्थ यह हुआ कि निर्दोष नागरिक प्रतिद्वंद्वी राजसी दलों के युद्ध के प्रभावों से बचे रहते थे। ऐसे युद्ध में जो कुछ हो रहा होता था, उसे नागरिकों द्वारा देखे जाने की कोई आवश्यकता न थी। उन्हें तो अपनी आय का चौथा भाग शासक को देना होता था, चाहे वह अर्जुन हो या दुर्योधन। कुरुक्षेत्र के युद्ध में दोनों दलों के सेनानायक आमने-सामने खड़े थे। अर्जुन ने उन्हें अत्यन्त करुणा से देखा तथा पछताने लगा कि राज्य-लिप्सा के कारण वह अपने स्वजनों को ही मार डालेगा। वह दुर्योधन द्वारा बनाये गये भयानक सैन्य-व्यूह से रंच भर भी भयभीत नहीं था, लेकिन भगवान् का दयालु भक्त होने के कारण यह स्वाभाविक था कि उसे सांसारिक वस्तुओं से वैराग्य होता, अतएव उसने निश्चय किया कि वह सांसारिक वैभव के लिए युद्ध नहीं करेगा। लेकिन यह तो अल्प ज्ञान के कारण था; इसीलिए कहा गया है कि उसकी बुद्धि कलुषित हो गई थी। उसकी बुद्धि को कभी भी कलुषित नहीं होना चाहिए था, क्योंकि वह भगवान् का भक्त तथा सखा था, जैसा कि *भगवद्गीता* के चतुर्थ अध्याय से स्पष्ट है। निश्चय ही अर्जुन की बुद्धि कुलषित हो गई थी, अन्यथा देहात्मबुद्धि के द्वारा भौतिक बन्धन में पड़े कलुषित बद्धजीवों के कल्याण के

लिए *भगवद्गीता* का उपदेश देने का अवसर कैसे प्राप्त हुआ होता? *भगवद्गीता* संसार के बद्धजीवों के उद्धार के लिए सुनाई गई, जिससे वे शरीर को मिथ्या ही आत्मा न मान बैठें और परमेश्वर के साथ आत्मा के नित्य सम्बन्ध को पुन: स्थापित कर सकें। भगवान् द्वारा *आत्म-विद्या* का प्रवचन, मुख्य रूप से ब्रह्माण्ड के सभी भागों के समस्त व्यक्तियों के लाभ के लिए हुआ था।

स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञा-
मृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थ: ।
धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गु-
र्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीय: ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

स्व-निगमम्—अपनी सत्यनिष्ठा; अपहाय—निरस्त करने के लिए; मत्-प्रतिज्ञाम्—मेरी प्रतिज्ञा; ऋतम्—वास्तविक; अधि—अधिक; कर्तुम्—करने के लिए; अवप्लुत:—नीचे उतरते हुए; रथ-स्थ:—रथ से; धृत—ग्रहण करके; रथ—रथ; चरण:—पहिया, चक्र; अभ्ययात्—तेजी से चले; चलद्गु:—पृथ्वी को पद-दलित करते; हरि:—सिंह; इव—सदृश; हन्तुम्—मारने के लिए; इभम्—हाथी को; गत—एक ओर छोड़कर; उत्तरीय:—उत्तरीय, ओढ़ने का वस्त्र, दुपट्टा।.

मेरी इच्छा को पूरी करते हुए तथा अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर, वे रथ से नीचे उतर आये, उसका पहिया उठा लिया और तेजी से मेरी ओर दौड़े, जिस तरह कोई सिंह किसी हाथी को मारने के लिए दौड़ पड़ता है। इसमें उनका उत्तरीय वस्त्र भी रास्ते में गिर गया।

तात्पर्य : यद्यपि कुरुक्षेत्र का युद्ध सैन्य-सिद्धान्तों पर लड़ा गया था, लेकिन साथ ही साथ में खेल जैसी भावना भी थी, मानो वह दो मित्रों के बीच होनेवाला युद्ध हो। दुर्योधन ने भीष्मदेव की आलोचना की और दोषारोपण किया कि वे अर्जुन से पितृवत् स्नेह के कारण उसे मारने से हिचकते हैं। एक क्षत्रिय युद्ध के सिद्धान्त पर किया गया अपमान सह नहीं सकता। अत: भीष्मदेव ने प्रतिज्ञा की कि अगले दिन वे पाँचों पाण्डवों का वध अपने विशिष्ट हथियार से कर देंगे। इससे दुर्योधन संतुष्ट हो गया और उसने अपने पास वह तीर ले लिये, जिसे वह अगले दिन युद्ध के समय देगा। लेकिन अर्जुन ने चाल करके दुर्योधन से वे तीर प्राप्त कर लिये और भीष्मदेव को यह समझते देर न लगी कि यह भगवान् कृष्ण की चाल है। अत: भीष्मदेव ने प्रतिज्ञा की कि अगले दिन कृष्ण को अस्त्र उठाना ही पड़ेगा, अन्यथा उनका मित्र अर्जुन मारा जाएगा। दूसरे दिन

भीष्मदेव ने इतना भयानक युद्ध किया कि अर्जुन तथा कृष्ण दोनों ही संकट में पड़ गये। अर्जुन लगभग हार ही चुका था; परिस्थिति इतनी नाजुक थी कि वह भीष्मदेव द्वारा अगले ही क्षण मारा जाने वाला था। उस समय भगवान् कृष्ण ने भक्त भीष्म की प्रतिज्ञा को रखकर, उन्हें प्रसन्न करना चाहा, क्योंकि यह उनकी अपनी प्रतिज्ञा से अधिक महत्त्वपूर्ण था। ऊपर से एसा लगता है कि उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ी। उन्होंने कुरुक्षेत्र युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व प्रतिज्ञा की थी कि मैं कोई अस्त्र ग्रहण नहीं करूँगा और किसी भी पक्ष पर अपना बल नहीं आजमाऊँगा। लेकिन अर्जुन की रक्षा करने के लिए वे रथ से उतरे, रथ का पहिया उठाया और क्रुद्ध होकर भीष्मदेव पर तेजी से इस तरह झपटे, जैसे सिंह हाथी को मारने झपटता है। इससे रास्ते में उनका अंगवस्त्र गिर गया और क्रोधवश उन्हें इसका होश तक न रहा कि रास्ते में उनसे क्या गिर गया। तब भीष्म ने तुरन्त हथियार डाल दिये और स्वयं अपने प्रिय प्रभु श्रीकृष्ण द्वारा मारे जाने के लिए खड़े हो गये। उस दिन का युद्ध उसी क्षण समाप्त हो गया और अर्जुन की प्राण-रक्षा हो सकी। निस्सन्देह अर्जुन की मृत्यु की कोई सम्भावना नहीं थी, क्योंकि साक्षात् भगवान् रथारूढ़ थे, लेकिन चूँकि भीष्मदेव चाह रहे थे कि श्रीकृष्ण अपने मित्र को बचाने के लिए हथियार उठाए, अतएव भगवान् ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि अर्जुन की मृत्यु सन्निकट जान पड़ी। वे भीष्मदेव के समक्ष यह दिखाने के लिए खड़े रहे कि भीष्म की प्रतिज्ञा पूरी हो गई और उन्होंने पहिया उठा लिया।

शितविशिखहतो विशीर्णदंशः
क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे ।
प्रसभमभिससार मद्वधार्थं
स भवतु मे भगवान् गतिर्मुकुन्दः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

शित—पैना; विशिख—बाण; हतः—से घायल; विशीर्ण-दंशः—छिन्न हुआ कवच; क्षतज—घावों से; परिप्लुतः—रक्त से सने; आततायिनः—महान आक्रामक; मे—मेरा; प्रसभम्—क्रुद्ध मुद्रा में; अभिससार—चलने लगे; मत्-वध-अर्थम्—मुझे मारने के लिए; सः—वे; भवतु—हो; मे—मेरे; भगवान्—भगवान्; गतिः—लक्ष्य; मुकुन्दः—मोक्षदाता।

भगवान् श्रीकृष्ण जो मोक्ष के दाता हैं, वे मेरे अनन्तिम गंतव्य हों। युद्ध-क्षेत्र में उन्होंने मेरे ऊपर आक्रमण किया, मानो वे मेरे पैने बाणों से बने घावों के कारण क्रुद्ध हो गये हों। उनका कवच छितरा गया था और उनका शरीर खून से सन गया था।

तात्पर्य : कुरुक्षेत्र के युद्ध-क्षेत्र में भगवान् कृष्ण तथा भीष्मदेव के आपसी व्यवहार अत्यन्त रोचक हैं, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण की गतिविधियाँ अर्जुन के प्रति पक्षपातपूर्ण और भीष्म के प्रति शत्रुतापूर्ण लग रही थी, लेकिन वास्तव में यह सब कुछ महान् भक्त भीष्मदेव के प्रति विशेष अनुग्रह दिखाने के लिए था। *ऐसे आचरणों की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि भक्त शत्रु का अभिनय करते हुए भी भगवान् को प्रसन्न कर सकता है।* परम पूर्ण होने के कारण भगवान् अपने भक्त की शत्रु-वेश में भी सेवा ग्रहण कर सकते हैं। परमेश्वर का कोई शत्रु नहीं हो सकता, न ही कोई तथाकथित शत्रु उन्हें हानि पहुँचा सकता है, क्योंकि वे *अजित* हैं। तो भी उन्हें आनन्द आता है, जब उनका कोई शुद्ध भक्त उन पर शत्रु की भाँति प्रहार करता है या उच्च पद से उनका आलम्भ करता है, यद्यपि उनसे श्रेष्ठ कोई हो ही नहीं सकता। भक्त तथा भगवान् के मध्य ये कतिपय दिव्य आदान-प्रदान के व्यवहार हैं। किन्तु जिन्हें शुद्ध भक्ति की कोई जानकारी नहीं है वे ऐसे आचरणों के रहस्य को नहीं जान सकते। भीष्मदेव ने एक वीर योद्धा की भूमिका निभाई और उन्होंने जान-बूझकर भगवान् के शरीर को बाणों से वींध कर दिया, जिससे सामान्य लोगों की दृष्टि में भगवान् घायल प्रतीत तो हुए, लेकिन वास्तव में यह अभक्तों को मोहग्रस्त करने के लिए था। पूर्णत: दिव्य शरीर कभी घायल नहीं किया जा सकता और भक्त कभी भी भगवान् का शत्रु नहीं बन सकता। यदि ऐसा ही होता, तो भीष्मदेव उन्हीं भगवान् को अपने जीवन के अनन्तिम गंतव्य के रूप में न चाहे होते। यदि भीष्मदेव कृष्ण के शत्रु होते, तो कृष्ण बिना हिले-डुले ही उनका विनाश कर देते। उन्हें रक्त से सने घाव लेकर भीष्मदेव के समक्ष आने की आवश्यकता नहीं थी। लेकिन उन्होंने ऐसा किया, क्योंकि यह योद्धा भक्त अपने द्वारा उत्पन्न घावों से सुशोभित भगवान् के दिव्य सौंदर्य का दर्शन करना चाह रहा था। यह है दिव्य-रस के आदान-प्रदान की विधि। ऐसे आचरण से भक्त तथा भगवान् अपने-अपने स्थानों में महिमा-मंडित होते हैं। भगवान्

इतने क्रुद्ध थे कि जब वे भीष्मदेव की ओर लपक रहे थे, तो अर्जुन ने उन्हें रोका, लेकिन वे माने नहीं और भीष्मदेव की ओर उसी तरह बढ़े चले जा रहे थे जिस प्रकार एक प्रेमी दूसरे प्रेमी के पास विघ्न-बाधाओं की परवाह न करते हुए बढ़ता जाता है। ऊपरी तौर से उनका संकल्प भीष्मदेव को मारने का था, लेकिन वास्तव में वे अपने महान् भक्त को प्रसन्न करना चाह रहे थे। भगवान् निस्सन्देह समस्त बद्धजीवों के उद्धारक हैं। निर्विशेषवादी उनसे मोक्ष की कामना करते हैं और वे उन्हें मनवांछित फल देते हैं, लेकिन यहाँ तो भीष्मदेव भगवान् के साक्षात् स्वरूप को देखने की इच्छा व्यक्त करते हैं। सारे शुद्ध भक्त ऐसी ही कामना करते हैं।

विजयरथकुटुम्ब आत्ततोत्रे
धृतहयरश्मिनि तच्छ्रियेक्षणीये ।
भगवति रतिरस्तु मे मुमूर्षो-
र्यमिह निरीक्ष्य हता गताः स्वरूपम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

विजय—अर्जुन; रथ—रथ; कुटुम्बे—जान की बाजी लगाकर जिस वस्तु की रक्षा की जाय; आत्त-तोत्रे—दाहिने हाथ में चाबुक लिए; धृत-हय—घोड़ों की लगाम थामे; रश्मिनि—रस्सियाँ; तत्-श्रिया—सुन्दरतापूर्वक खड़े हुए; ईक्षणीये—देखे जाने के लिए; भगवति—भगवान् में; रतिः अस्तु—मेरा आकर्षण हो; मे—मेरा; मुमूर्षोः—मरणासन्न; यम्—जिसको; इह—इस संसार में; निरीक्ष्य—देखने से; हताः—मारे गये; गताः—प्राप्त; स्व-रूपम्—मूल रूप को।

मृत्यु के अवसर पर मेरा चरम आकर्षण भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति हो। मैं अपना ध्यान अर्जुन के उस सारथी पर एकाग्र करता हूँ, जो अपने दाहिने हाथ में चाबुक लिए थे और बाएँ हाथ से लगाम की रस्सी थामे और सभी प्रकार से अर्जुन के रथ की रक्षा करने के प्रति अत्यंत सावधान थे। जिन लोगों ने कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में उनका दर्शन किया, उन सबों ने मृत्यु के बाद अपना मूल स्वरूप प्राप्त कर लिया।

तात्पर्य : भगवान् का शुद्ध भक्त निरन्तर अपने हृदय में भगवान् की उपस्थिति का दर्शन करता है, क्योंकि प्रेममयी सेवा के द्वारा भगवान् से वह दिव्य रूप से सम्बन्धित रहता है। ऐसा शुद्ध भक्त भगवान् को क्षण भर के लिए भी नहीं भूल सकता। यही समाधि है। योगी अपनी इन्द्रियों को अन्य समस्त व्यापारों से हटाकर परमात्मा में एकाग्र करने का प्रयास करता है और

इस तरह अन्ततोगत्वा वह *समाधि* प्राप्त करता है। लेकिन भक्त तो भगवान् के साकार रूप के साथ-साथ उनके नाम, यश, लीलाओं आदि का निरन्तर स्मरण करते हुए, सहज ही समाधि प्राप्त कर लेता है। अतएव *योगी* तथा भक्त की एकाग्रता एक ही स्तर पर नहीं होती। योगी की एकाग्रता यान्त्रिक होती है, जबकि शुद्ध भक्त की एकाग्रता शुद्ध प्रेममय तथा नैसर्गिक स्नेहयुक्त सहज भाव होता है। भीष्मदेव शुद्ध भक्त थे और सेनानायक के रूप में, वे निरन्तर पार्थ-सारथी के रूप में भगवान् के युद्धक्षेत्र वाले स्वरूप का स्मरण कर रहे थे। अतएव पार्थ-सारथी के रूप में भगवान् की लीला भी शाश्वत है। भगवान् की लीलाएँ, कंस के कारागार में अपने जन्म-काल से लेकर, अंत में *मौशल लीला* तक, समस्त ब्रह्माण्डों में एक-एक करके उसी प्रकार चक्कर लगाती हैं जिस प्रकार घड़ी की सुइयाँ एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक चलती जाती हैं। और ऐसी लीला में पाण्डव तथा भीष्म जैसे उनके पार्षद उनके नित्य संगी रहते हैं। इस तरह भीष्मदेव पार्थ-सारथी के रूप में भगवान् के सुन्दर-स्वरूप को, जिसे अर्जुन भी नहीं देख पाया, कभी नहीं भुला पाये। अर्जुन पार्थ-सारथी के पीछे थे, जबकि भीष्मदेव भगवान के बिल्कुल सामने। जहाँ तक भगवान् के सैनिक वेश का सम्बन्ध है, भीष्मदेव ने इसका आस्वादन अर्जुन की अपेक्षा अधिक रुचि से किया।

कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि के सारे सैनिकों तथा व्यक्तियों ने मृत्यु के बाद भगवान् जैसा अपना मूल आध्यात्मिक स्वरूप प्राप्त किया, क्योंकि भगवान् की अहैतुकी कृपा से वे सभी उस अवसर पर उनका साक्षात् दर्शन कर सके। जलचर से लेकर ब्रह्मा तक विकास-चक्र में चक्कर लगाते हुए सभी बद्धजीव माया के रूप में हैं या उस रूप में हैं, जिसे उन्होंने अपने कर्मों से प्राप्त किया है और जो भौतिक प्रकृति ने उन्हें प्रदान किया है। बद्धजीवों के भौतिक रूप बाहरी वस्त्रों की तरह हैं और जब बद्धजीव माया के चंगुल से छूट जाता है, तब उसे अपना मूल स्वरूप प्राप्त होता है। निर्विशेषवादी भगवान् के निराकार ब्रह्म तेज को प्राप्त करने का इच्छुक रहता है, लेकिन भगवान् के अंशस्वरूप जीवित स्फुलिंगों के लिए यह रंचमात्र भी हितकर नहीं है। अतएव निर्विशेषवादी पुन: नीचे गिरते हैं और फिर से भौतिक रूप प्राप्त करते हैं, जो आत्मा के लिए मिथ्या होते हैं।

भगवान् को आध्यात्मिक स्वरूप जैसा रूप, चाहे वह दो भुजाओं वाला हो या चतुर्भुजी, भक्तों को आत्मा की मूल प्रकृति के अनुसार वैकुण्ठ में या गोलोक में प्राप्त होता है। यह स्वरूप जो शत-प्रतिशत आध्यात्मिक है, जीव का *स्वरूप* है और उन सारे व्यक्तियों ने, जिन्होंने कुरुक्षेत्र की युद्ध-भूमि में दोनों ओर से युद्ध किया, अपना-अपना *स्वरूप* प्राप्त किया जिसकी पुष्टि भीष्मदेव कर रहे हैं। अतएव भगवान् श्रीकृष्ण केवल पाण्डवों पर ही कृपालु नहीं थे। वे दूसरें पक्षों पर भी दयालु थे, क्योंकि उन सबों को एक ही जैसा फल प्राप्त हुआ। भीष्मदेव भी वही सुविधा चाह रहे थे और यही भगवान् से उनकी प्रार्थना थी, यद्यपि भगवान् के पार्षद रूप में किसी भी स्थिति में उनका पद सुरक्षित है। निष्कर्ष यह निकला कि जो भी व्यक्ति भगवान् का दर्शन करते हुए मरता है, चाहे वह दर्शन भीतर से हो या बाहर से, वह अपना *स्वरूप* प्राप्त करता है। वही जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है।

ललितगतिविलासवल्गुहास-
प्रणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः ।
कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः
प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

ललित—आकर्षक; गति—हिलना-डुलना; विलास—मुग्ध करनेवाले कृत्य; वल्गुहास—मधुर मुस्कान; प्रणय—प्रेमपूर्ण; निरीक्षण—चितवन; कल्पित—मानसिकता; उरुमानाः—अत्यन्त महिमावान; कृत-मनु-कृत-वत्यः—चाल का अनुकरण करने में; उन्मद-अन्धाः—आनन्द में पागल हुए; प्रकृतिम्—लक्षण; अगन्—प्राप्त किया; किल—निश्चय ही; यस्य—जिसका; गोप-वध्वः—गोपियाँ।

मेरा मन उन भगवान् श्रीकृष्ण में एकाग्र हो, जिनकी चाल तथा प्रेम भरी मुस्कान ने व्रजधाम की रमणियों (गोपियों) को आकृष्ट कर लिया। [रास लीला से] भगवान् के अन्तर्धान हो जाने पर गोपिकाओं ने भगवान् की लाक्षणिक गतियों का अनुकरण किया।

तात्पर्य : व्रजभूमि की गोपियों ने प्रेममय सेवा में अतीव आह्लाद से भगवान् के साथ-साथ नाचकर, माधुर्य रूप में उनका आलिंगन करके, उनके साथ हास-परिहास करके तथा प्रेमपूर्ण भाव में उनकी ओर देखकर उनके साथ एकात्म्य स्थापित किया। अर्जुन के साथ भगवान् का सम्बन्ध,

भीष्मदेव जैसे भक्त द्वारा प्रशंसनीय है, लेकिन गोपियों के साथ भगवान् का सम्बन्ध और भी अधिक शुद्ध प्रेममय सेवा के कारण अधिक प्रशंसनीय है। भगवान् की कृपा से अर्जुन को सारथी के रूप में भगवान् की भ्रातृ सेवा प्राप्त हुई थी, लेकिन भगवान् ने अर्जुन को अपने समान स्तर की शक्ति प्रदान नहीं की। किन्तु गोपियाँ तो भगवान् के बराबर का स्तर प्राप्त करके असल में भगवान के साथ एकात्म हो गईं। भीष्म द्वारा गोपियों के स्मरण उनकी इस आकांक्षा की एक प्रार्थना है, जिससे उन्हें जीवन की अन्तिम अवस्था में गोपियों की कृपा भी प्राप्त हो सके। भगवान् अपने शुद्ध भक्तों को महिमामण्डित होते देखकर अधिक प्रसन्न होते हैं, अतएव भीष्मदेव ने केवल अर्जुन के कृत्यों का ही यशोगान नहीं किया, अपितु गोपियों का भी स्मरण किया, जिन्हें भगवान् की प्रेममयी सेवा करने के कारण भगवान् की अद्वितीय कृपा प्राप्त हो सकी। भगवान् के साथ गोपियों की समता कभी भी निर्विशेषवादियों के *सायुज्य* मोक्ष के समान समझने की गलती नहीं करनी चाहिए। यह समता पूर्ण आह्लाद की है, जहाँ अन्तर पूर्णतया मिट जाता है, क्योंकि प्रेमी–प्रेमिका के हित आपस में जुड़ जाते हैं।

मुनिगणनृपवर्यसङ्कुलेऽन्तः
सदसि युधिष्ठिरराजसूय एषाम् ।
अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो
मम दृशिगोचर एष आविरात्मा ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

मुनि-गण—परम विद्वान साधुजन; नृप-वर्य—महान शासक राजा; सङ्कुले—समूह में से; अन्तः-सदसि—सभा, सम्मेलन में; युधिष्ठिर—महाराज युधिष्ठिर का; राज-सूये—राजा द्वारा सम्पन्न यज्ञ; एषाम्—समस्त महापुरुषों का; अर्हणम्—सादर पूजा; उपपेद—प्राप्त किया; ईक्षणीयः—आकर्षण की वस्तु; मम—मेरी; दृशि—दृष्टि; गोचरः—जितना दिखे उसी के भीतर, समक्ष; एषः आविः—उपस्थिति; आत्मा—आत्मा।

महाराज युधिष्ठिर द्वारा सम्पन्न राजसूय यज्ञ में विश्व के सारे महापुरुषों, राजाओं तथा विद्वानों की एक महान् सभा हुई थी और उस सभा में सबों ने श्रीकृष्ण की पूजा परम पूज्य भगवान् के रूप में की थी। यह सब मेरी आँखों के सामने हुआ और मैंने इस घटना को याद रखा, जिससे मेरा मन भगवान् में लगा रहे।

तात्पर्य : कुरुक्षेत्र युद्ध में विजयी होने के बाद चक्रवर्ती सम्राट् महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ सम्पन्न किया। उन दिनों, सिंहासन पर बैठने के बाद, राजा अपनी श्रेष्ठता घोषित करने के उद्देश्य से विश्वभर में विचरण हेतु एक घोड़ा छोड़ता था और किसी भी राजकुमार या राजा को यह स्वतन्त्रता थी कि वह उस सम्राट की सत्ता को माने या न माने। जो विरोध करता था, उसे सम्राट से युद्ध करके विजय द्वारा अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करनी होती थी। हारने पर उसे अपने जीवन की बलि देनी होती थी जिससे उसके स्थान पर दूसरा राजा या प्रशासक बन सके। अतएव महाराज युधिष्ठिर ने भी ऐसा ही घोड़ा छोड़ा और संसार भर के राजाओं तथा राजकुमारों ने महाराज युधिष्ठिर के नेतृत्व को चक्रवर्ती सम्राट् के रूप में स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् महाराज युधिष्ठिर के राज्य के सारे शासकों को राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया गया। ऐसे यज्ञ में अरबों रुपये व्यय होते थे, अतएव यह छोटे-मोटे राजाओं के बस की बात न थी। ऐसा यज्ञ, अत्यधिक खर्चीला होने तथा वर्तमान परिस्थितियों में सम्पन्न कर पाने में कठिन होने से, इस कलियुग में सम्भव नहीं है। न ही कोई ऐसे पुरोहित रह गये हैं, जो ऐसे यज्ञ का भार अपने ऊपर ले सकें।

इस प्रकार आमन्त्रित होने के बाद, संसार भर के राजा तथा बड़े-बड़े मुनिजन महाराज युधिष्ठिर की राजधानी में एकत्र हुए। इस अवसर पर एक विद्वत्सभा बुलाई गई, जिसमें बड़े-बड़े दार्शनिक, धर्मज्ञ, वैद्य, विज्ञानी तथा सारे महान् ऋषि सम्मिलित हुए। कहने का तात्पर्य यह है कि समाज में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय सर्वोच्च व्यक्ति होते थे, और वे सभी उस सभा में आमन्त्रित थे। समाज में वैश्य तथा शूद्रों का स्थान कम महत्त्वपूर्ण होता था, अतएव यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया गया है। आधुनिक युग में सामाजिक कार्यकलापों में परिवर्तन होने से, वृत्तिपरक पदों के रूप में मनुष्यों की महत्ता भी बदल गई है।

इस तरह उस महान सभा में, भगवान श्रीकृष्ण सबकी आखों के तारे बने हुए थे। प्रत्येक व्यक्ति भगवान् कृष्ण को देखना चाह रहा था और प्रत्येक व्यक्ति उनको विनम्रता के साथ प्रणाम करना चाहता था। भीष्मदेव को यह सब कुछ स्मरण था, अतएव उन्हें प्रसन्नता थी कि उनके

आराध्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् उनकी आँखों के सामने अपने वास्तविक स्वरूप में उपस्थित थे। अतएव परमेश्वर का ध्यान करना उनके कार्यकलापों, रूप, लीलाओं, नाम तथा यश का ध्यान करना है। यह उससे सरल है, जिस को सर्वोपरि के निराकार पक्ष का ध्यान माना जाता है। *भगवद्गीता* (१२.५) में यह स्पष्ट कथन है कि भगवान् के निराकार पक्ष का ध्यान करना अत्यन्त कठिन है। यह वास्तव में कोई ध्यान नहीं, यह तो समय का अपव्यय मात्र है, क्योंकि इससे शायद ही कभी वांछित फल प्राप्त होता है। किन्तु भक्तगण भगवान् के वास्तविक स्वरूप तथा उनकी लीलाओं का ध्यान करते हैं, और ऐसे में भगवान् भक्तों के लिए सहज सुलभ हैं। इसका उल्लेख भी *भगवद्गीता* (१२.९) में हुआ है। भगवान् अपने दिव्य कार्यकलापों से अभिन्न हैं। इस श्लोक में इसका भी संकेत हुआ है कि जब भगवान् कृष्ण मानव समाज के समक्ष वास्तविक रूप में, विशेष रूप से कुरुक्षेत्र के युद्ध में, उपस्थित हुए तो वे उस समय के महानतम पुरुष माने गये, भले ही तब उन्हें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् न स्वीकार किया गया हो। यह प्रचार कि कोई महापुरुष मृत्यु के बाद ईश्वर की भाँति पूजा जाता है, भ्रामक है, क्योंकि मृत्यु के बाद कोई भी मनुष्य को ईश्वर नहीं बनाया जा सकता। न ही भगवान् कभी मनुष्य हो सकते हैं, भले ही वे साक्षात् विद्यमान क्यों न हों। ये दोनों ही विचार भ्रान्तिमूलक हैं। *मानववाद* का विचार भगवान् कृष्ण पर लागू नहीं होता।

तमिममहमजं शरीरभाजां
हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम् ।
प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं
समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस भगवान् को; इमम्—इस समय जो मेरे समक्ष है; अहम्—मैं; अजम्—अजन्मा; शरीर-भाजाम्—बद्धजीव के; हृदि—हृदय में; हृदि—हृदय में; धिष्ठितम्—स्थित; आत्म—परमात्मा; कल्पितानाम्—शुष्क चिन्तकों का; प्रतिदृशम्—प्रत्येक दिशा में; इव—सदृश; न एकधा—एक नहीं; अर्कम्—सूर्य को; एकम्—केवल एक; समधि-गतः अस्मि—मैं ध्यान में समाधिस्थ हूँ; विधूत—मुक्त होकर; भेद-मोहः—द्वैत की भ्रांत धारणा से।

अब मैं पूर्ण एकाग्रता से एक ईश्वर श्रीकृष्ण का ध्यान कर सकता हूँ, जो इस समय मेरे सामने उपस्थित हैं, क्योंकि अब मैं प्रत्येक के हृदय में, यहाँ तक कि मनोधर्मियों के हृदय में भी रहनेवाले उनके प्रति द्वैत भाव की स्थिति को पार कर चुका हूँ। वे सबों के हृदय में रहते हैं। भले ही सूर्य को भिन्न-भिन्न प्रकार से अनुभव किया जाय, किन्तु सूर्य तो एक ही है।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण ही एक परम भगवान् हैं, लेकिन उन्होंने अपनी अकल्पनीय शक्ति के द्वारा अपने आपको अनेक अंशों में विस्तारित कर रखा है। द्वैतभाव उनकी इस अकल्पनीय शक्ति को न जानने से उत्पन्न होता है। *भगवद्गीता* (९.११) में भगवान् कहते हैं कि जो मूर्ख हैं, वे ही उन्हेंमात्र मनुष्य मानते हैं। ऐसे मूर्ख व्यक्ति भगवान् की अकल्पनीय शक्ति से अवगत नहीं रहते। वे अपनी अकल्पनीय शक्ति से सबों के हृदय में उसी प्रकार विद्यमान हैं, जिस प्रकार सूर्य संसार भर के लोगों की आँखों के सामने विद्यमान है। भगवान् का परमात्मा रूप उनके पूर्ण अंश का विस्तार है। वे अपनी अकल्पनीय शक्ति से प्रत्येक के हृदय में परमात्मा-रूप में अपना विस्तार करते हैं। वे अपने व्यक्तिगत तेज के विस्तार के द्वारा ब्रह्मज्योति के जाज्वल्यमान तेज के रूप में अपना विस्तार करते हैं। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि *ब्रह्मज्योति* उनका व्यक्तिगत तेज है। अतएव उनमें तथा उनके तेज *ब्रह्मज्योति* या परमात्मा-रूप में उनके पूर्ण अंशों में कोई अन्तर नहीं है। अल्पज्ञानी लोग, जिन्हें इस तथ्य का पता नहीं है, वे बह्मज्योति तथा परमात्मा को श्रीकृष्ण से भिन्न समझते हैं। भीष्मदेव के मन से द्वैतभाव की यह धारणा पूर्ण रूप से मिट जाती है और वे अब सन्तुष्ट हैं कि वे भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, जो सब कुछ हैं। यह अनुभूति महात्माओं या भक्तों को ही प्राप्त होता है, जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है कि वासुदेव ही सर्वेसर्वा हैं और वासुदेव के बिना, किसी का कोई अस्तित्व नहीं है। वासुदेव या भगवान् श्रीकृष्ण ही आदि परम पुरुष हैं, जिसकी पुष्टि अब एक *महाजन* द्वारा हो रही है, अतएव नवदीक्षितों तथा शुद्ध भक्तों दोनों को समान रूप से उनके चरण-चिह्नों का अनुसरण करने का प्रयास करना चाहिए। भक्ति मार्ग के लिए यही विधि है।

भीष्मदेव के आराध्य, पार्थ-सारथी रूप में भगवान् श्रीकृष्ण हैं और वही कृष्ण वृन्दावन में गोपियों के सर्वाधिक मनोहर श्यामसुन्दर हैं। कभी-कभी अल्पज्ञ अध्येता भूलवश यह सोचते हैं कि वृन्दावन के कृष्ण तथा कुरुक्षेत्र युद्ध वाले कृष्ण पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व हैं। लेकिन भीष्मदेव के मन से यह भ्रान्ति पूरी तरह दूर हो चुकी है। यहाँ तक कि निर्विशेषवादियों के लक्ष्य निराकार *ज्योति* के रूप में कृष्ण ही हैं, और योगियों के लक्ष्य परमात्मा भी कृष्ण हैं। कृष्ण ब्रह्मज्योति तथा अन्तर्यामी परमात्मा दोनों ही हैं, लेकिन ब्रह्मज्योति या परमात्मा में, न तो कृष्ण होते हैं न कृष्ण के मधुर सम्बन्ध। अपने साकार रूप में कृष्ण पार्थसारथी तथा वृन्दावन के श्यामसुन्दर दोनों ही हैं, लेकिन निराकार पक्ष में वे न तो ब्रह्मज्योति में हैं न ही परमात्मा में। भीष्मदेव जैसे महात्मा, श्रीकृष्ण के इन विभिन्न स्वरूपों का अनुभव कर सकते हैं, अतएव वे श्रीकृष्ण को समस्त स्वरूपों का उद्गम जानकर, उन्हीं की पूजा करते हैं।

सूत उवाच
कृष्ण एवं भगवति मनोवाग्दृष्टिवृत्तिभिः ।
आत्मन्यात्मानमावेश्य सोऽन्तःश्वास उपारमत् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; कृष्णे—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण में; एवम्—एकमात्र; भगवति—भगवान् में; मनः—मन से; वाक्—वाणी से; दृष्टि—दृष्टि से; वृत्तिभिः—कार्यों से; आत्मनि—परमात्मा में; आत्मानम्—जीव को; आवेश्य—लीन करके; सः—वे; अन्तः-श्वासः—श्वास खींचकर; उपारमत्—शान्त हो गए।

सूत गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार भीष्मदेव ने मन, वाणी, दृष्टि तथा कार्यों से अपने आपको परमात्मा अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण में लीन कर दिया और शान्त हो गये और उनकी श्वास रुक गई।

तात्पर्य : भीष्मदेव द्वारा अपना भौतिक शरीर त्यागते समय प्राप्त की गई अवस्था *निर्विकल्प-समाधि* कहलाती है, क्योंकि उन्होंने अपने आत्मा को भगवान् का चिन्तन करने में और अपने मन को उनके विभिन्न कार्य-कलापों का स्मरण करने में लीन कर दिया था। उन्होंने भगवान् की महिमा का कीर्तन किया और अपनी दृष्टि से वे अपने समक्ष खड़े साक्षात् भगवान् का

दर्शन करते रहे और इस प्रकार उनके सारे कार्य-कलाप अविचल भाव से भगवान् में एकाग्र हो गये। यह सिद्धि की सर्वोच्च अवस्था है और भक्तिमय सेवा का अभ्यास करके हर किसी के लिए इस अवस्था को प्राप्त करना संभव है। भगवान् की भक्ति में नौ सेवा-सिद्धान्त होते हैं। वे हैं—१) श्रवण, २) कीर्तन, ३) स्मरण, ४) चरणकमल की सेवा, ५) पूजा, ६) स्तुति, ७) आज्ञा-पालन, ८) सख्य तथा ९) आत्म-समर्पण। इनमें से कोई एक या सभी वांछित फल को देनेवाले हैं, लेकिन किसी दक्ष भगवद्भक्त के पथ-प्रदर्शन में ही इनका निरन्तर अभ्यास करना आवश्यक है। इनमें से प्रथम चरण श्रवण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, अतएव जो व्यक्ति अन्त में भीष्मदेव जैसी अवस्था प्राप्त करना चाहता है, उसके लिए *भगवद्गीता* का और फिर *श्रीमद्भागवत* का श्रवण करना आवश्यक है। हमें भी मृत्यु के समय भीष्मदेव को प्राप्त होने वाली अपूर्व स्थिति प्राप्त हो सकती है, भले ही साक्षात् भगवान् कृष्ण उपस्थित न भी हों। *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* के भगवान् के शब्द उनसे अभिन्न हैं। वे भगवान् के शब्द अवतार हैं और कोई भी मनुष्य, आठ वसुओं में से एक श्री भीष्मदेव जैसी अवस्था प्राप्त करके इनका लाभ उठा सकता है। प्रत्येक मनुष्य या पशु को एक निश्चित आयु में मरना होता है, लेकिन जो व्यक्ति भीष्मदेव की तरह मरता है, वह पूर्णता प्राप्त करता है और जो प्रकृति के नियमों से बाध्य होकर मरता है, वह पशु की तरह मरता है। मनुष्य तथा पशु में यही अन्तर है। यह मनुष्य जीवन विशिष्ट रूप से भीष्मदेव-जैसी मृत्यु के लिए है।

सम्पद्यमानमाज्ञाय भीष्मं ब्रह्मणि निष्कले ।
सर्वे बभूवुस्ते तूष्णीं वयांसीव दिनात्यये ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

सम्पद्यमानम्—में लीन होकर; आज्ञाय—इसे जानकर; भीष्मम्—श्री भीष्मदेव के विषय में; ब्रह्मणि—परब्रह्म में; निष्कले—असीम; सर्वे—उपस्थित सभी लोग; बभूवु: ते—वे सब हो गये; तूष्णीम्—मौन; वयांसि इव—पक्षियों की तरह; दिन-अत्यये—दिन के समाप्त होने पर।

यह जानकर कि भीष्मदेव अनन्त परम पूर्ण में लीन हो गये, वहाँ पर उपस्थित सारे लोग उसी तरह मौन हो गये, जिस प्रकार दिन समाप्त होने पर पक्षी मौन हो जाते हैं।

तात्पर्य : परम पूर्ण की अनन्त शाश्वतता में प्रविष्ट होना या लीन होने का अर्थ है, जीव के मूल धाम में प्रविष्ट होना। सारे जीव परमेश्वर के परम व्यक्तित्त्व के ही अंश हैं, अतएव वे उनसे सेवक तथा सेव्य भाव से शाश्वत रूप में सम्बन्धित हैं। भगवान् अपने समस्त अंशों द्वारा उसी तरह सेवित हैं, जिस प्रकार पूरी मशीन अपने कल-पुर्जों से संचालित होती है। यदि मशीन का कोई पुर्जा उससे विलग कर दिया जाय, तो उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती है। इसी प्रकार भगवान् की सेवा से विलग, उनका कोई भी अंश, व्यर्थ हो जाता है। भौतिक जगत में जितने भी जीव हैं, वे सारे परम पूर्ण से पृथक् हुए अंश हैं और वे मूल अंशों के तुल्य महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाते हैं। तथापि कुछ जीव अधिक जुड़े हुए होते हैं, जो नित्य मुक्त होते हैं। भगवान् की भौतिक शक्ति, जिसे दुर्गाशक्ति या बन्दीगृह की अध्यक्षा कहा जाता है, सारे छितराए हुए अंशों का भार अपने ऊपर ले लेती है और इस प्रकार ये जीव प्रकृति के नियमानुसार बद्ध जीवन बिताते हैं। जब जीव को इसका आभास हो जाता है, तब वह अपने घर अर्थात् भगवद्धाम को वापस जाना चाहता है और इस प्रकार जीव में आध्यात्मिक जिज्ञासा जगती है। यह आध्यात्मिक जिज्ञासा *ब्रह्म-जिज्ञासा* कहलाती है। प्रमुख रूप से यह *ब्रह्म-जिज्ञासा* ज्ञान, वैराग्य तथा भगवद्भक्ति से सफलीभूत होती है। *ज्ञान* का अर्थ है, परम ब्रह्म अर्थात् परम पूर्ण विषयक प्रत्येक वस्तु का ज्ञान। वैराग्य का अर्थ है भौतिक आसक्ति से विरक्ति और भक्तिमय सेवा जीव की मूल स्थिति के द्वारा अभ्यास किया जाने वाला पुनर्जागरण है। जो सफल जीव परम पूर्ण के राज्य में प्रवेश करने के अधिकारी होते हैं, वे *ज्ञानी, योगी* तथा *भक्त* कहलाते हैं। *ज्ञानी* तथा *योगी* भगवान् के व्यक्तित्वहीन तेज में प्रविष्ट होते हैं, लेकिन भक्त वैकुण्ठलोक कहे जाने वाले दिव्य लोकों में प्रविष्ट होते हैं। इन दिव्य लोकों में नारायण के रूप में परमेश्वर का आधिपत्य रहता है और स्वस्थ तथा मुक्त जीव दास, सखा, माता-पिता तथा प्रेमी के रूप में भगवान् की प्रेममयी सेवा करते हुए वहाँ रहते हैं। वहाँ मुक्त जीव भगवान् के साथ पूर्ण उन्मुक्तता में रहकर जीवन का आनन्द उठाते हैं, लेकिन निराकारवादी *ज्ञानी* तथा *योगी* वैकुण्ठलोक के निर्विशेष तेज में प्रवेश करते हैं। वैकुण्ठलोक का ग्रह सूर्य के समान स्वत: प्रदीप्त रहते हैं और वैकुणठके ग्रहों की किरणें

ब्रह्मज्योति कहलाती हैं। इस *ब्रह्मज्योति* का अनन्त प्रसार रहता है और यह भौतिक जगत इस *ब्रह्मज्योति* का ढका हुआ एक नगण्य अंश मात्र है। यह आवरण क्षणिक है, अतएव यह एक प्रकार का भ्रम (मोह) है।

भगवान् का शुद्ध भक्त होने के कारण, भीष्मदेव आध्यात्मिक क्षेत्र में वैकुण्ठग्रहों में से एक में प्रविष्ट हुए, जहाँ भगवान् अपने पार्थसारथी रूप में मुक्त जीवों के ऊपर अधिकार जमाये हुए हैं और वे जीव निरन्तर उनकी सेवा में लगे रहते हैं। भगवान् तथा भक्त जिस प्रेम तथा स्नेह से बँधे रहते हैं, वह भीष्मदेव में प्रकट है। भीष्मदेव भगवान् के पार्थसारथी वाले दिव्य स्वरूप को कभी नहीं भूले और जिस समय भीष्मदेव दिव्यलोक को प्रयाण कर रहे थे, तब भगवान् सशरीर उनके समक्ष उपस्थित थे। यह जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है।

तत्र दुन्दुभयो नेदुर्देवमानववादिताः ।
शशंसुः साधवो राज्ञां खात्पेतुः पुष्पवृष्टयः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तत्र—तत्पश्चात्; दुन्दुभयः—नगाड़े; नेदुः—बजने लगे; देव—अन्य ग्रहों के देवता; मानव—सारे देशों के मनुष्य; वादिताः—के द्वारा बजाये जाकर; शशंसुः—प्रशंसा की; साधवः—ईमानदार; राज्ञाम्—राजाओं के द्वारा; खात्—आकाश से; पेतुः—गिरने लगी; पुष्प-वृष्टयः—पुष्पों की वर्षा।

तत्पश्चात् मनुष्यों तथा देवताओं ने सम्मान में नगाड़े बजाये और निष्ठावान राजाओं ने सम्मान तथा आदर प्रदर्शित किया और आकाश से पुष्पों की वर्षा होने लगी।

तात्पर्य : मनुष्य तथा देवता दोनों ही भीष्मदेव का आदर करते थे। मनुष्य पृथ्वी पर एवं ऐसे ही अन्य ग्रहों के समूह भूः तथा भुवः में रहते हैं, लेकिन देवता स्वः अर्थात् स्वर्ग लोक में रहते हैं और वे सभी भीष्मदेव को एक महान योद्धा तथा भगवद्भक्त के रूप में जानते थे। *महाजन* (या अधिकारी) के रूप में वे ब्रह्मा, नारद तथा शिव के तुल्य थे, यद्यपि वे एक मानव थे। देवताओं के तुल्य योग्यता आध्यात्मिक पूर्णता मिलने पर ही होती है। इस प्रकार भीष्मदेव ब्रह्माण्ड में सर्वत्र विख्यात थे और उनके समय में, एक लोक से दूसरे लोक की यात्रा, व्यर्थ के यान्त्रिक अन्तरिक्ष यानों के द्वारा नहीं, अपितु सूक्ष्मतर विधियों से सम्पन्न की जाती थी। जब सुदूर ग्रहों को भीष्मदेव

के निधन की सूचना भेजी गई, तो उच्च लोकों के निवासियों ने तथा पृथ्वी के निवासियों ने दिवंगत महापुरुष के सम्मान में पुष्पों की वर्षा की। स्वर्ग से फूलों की वर्षा देवताओं द्वारा मान्यता का चिह्न है और इसकी तुलना कभी भी शव को फूलों से सजाने से नहीं की जानी चाहिए। आत्म-साक्षात्कार के कारण भीष्मदेव के शरीर का भौतिक प्रभाव मिट चुका था और उनका शरीर उसी प्रकार आध्यात्मिक बन गया था, जिस प्रकार अग्नि के सम्पर्क में आकर लोहा तप्त-लाल हो जाता है। अतएव पूर्णतः स्वरूपसिद्ध व्यक्ति का शरीर भौतिक नहीं माना जाता। ऐसे आध्यात्मिक शरीरों के लिए विशेष उत्सव मनाये जाते हैं। भीष्मदेव के सम्मान का तथा उनकी मान्यता का अनुकरण कभी कृत्रिम साधनों से नहीं करना चाहिए, क्योंकि आजकल हर सामान्य व्यक्ति का *जयन्ती* समारोह मनाया जाता है। प्रामाणिक *शास्त्रों* के अनुसार किसी सामान्य व्यक्ति का, चाहे वह भौतिक दृष्टि से कितना ही बड़ा क्यों न हो, *जयन्ती* उत्सव मनाना भगवान् के प्रति अपराध है, क्योंकि *जयन्ती* तो धरा पर भगवान् के आविर्भाव दिवस के लिए सुरक्षित है। भीष्मदेव अपने कार्य-कलापों के कारण अद्‌भुत थे और उनका ईश्वर के धाम को प्रयाण भी अद्‌भुत है।

तस्य निर्हरणादीनि सम्परेतस्य भार्गव ।
युधिष्ठिरः कारयित्वा मुहूर्तं दुःखितोऽभवत् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; निर्हरण-आदीनि—दाह संस्कार; सम्परेतस्य—मृत देह का; भार्गव—हे भृगुवंशी; युधिष्ठिरः—महाराज युधिष्ठिर; कारयित्वा—सम्पन्न करके; मुहूर्तम्—क्षण भर के लिए; दुःखितः—दुखी; अभवत्—हुए।

हे भृगुवंशी (शौनक), भीष्मदेव के मृत देह का दाह संस्कार सम्पन्न करने के बाद, महाराज युधिष्ठिर क्षण भर के लिए शोकाभिभूत हो गये।

तात्पर्य : भीष्मदेव न केवल महाराज युधिष्ठिर के परिवार के मुखिया थे, अपितु एक महान दार्शनिक और उनके भाइयों एवं माता के लिए मित्र भी थे। चूँकि सबसे ज्येष्ठ युधिष्ठिर समेत पाँच पाण्डवों के पिता महाराज पाण्डु मर चुके थे, अतएव भीष्मदेव ही पाण्डवों के सर्वाधिक वत्सल पितामह और विधवा पुत्रवधू कुन्तीदेवी के संरक्षक थे। यद्यपि महाराज युधिष्ठिर के ताऊ, महाराज

धृतराष्ट्र, उनकी देख-रेख के लिए जीवित थे, लेकिन उनका स्नेह सबसे ज्येष्ठ दुर्योधन आदि अपने सौ पुत्रों की ओर अधिक था। अन्ततोगत्वा पाँचों पितृविहीन भाइयों को हस्तिनापुर राज्य के अधिकार से वंचित करने के लिए षड्यन्त्र रचा गया। राजमहलों में सामान्य रूप से जैसा होता है, कपट चाल चली गई और पाँचों भाइयों को वनवास दे दिया गया। लेकिन भीष्मदेव महाराज युधिष्ठिर के प्रति निष्कपट भाव से अपने अन्तिम क्षण तक भी शुभचिन्तक, पितामह, मित्र तथा दार्शनिक बने रहे। वे महाराज युधिष्ठिर को सिंहासन पर बैठा देखकर, खुशी-खुशी मृत्यू को वरण किए, अन्यथा वे पाण्डवों को दिए जा रहे अनुचित कष्टों के कारण अपने कष्टों को सहने के बजाय, बहुत पहले शरीर त्याग कर चुके होते। वे उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में थे, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि कुरुक्षेत्र के युद्ध में पाण्डुपुत्र अवश्य विजयी होंगे, क्योंकि उनके रक्षक श्रीकृष्ण थे। किन्तु भगवद्भक्त होने के कारण वे जानते थे कि भगवान् के भक्त को कभी विनष्ट नहीं किया जा सकता। महाराज युधिष्ठिर को भीष्मदेव की इन सारी शुभेच्छाओं का पता था, अतएव वे अवश्य ही अत्यधिक वियोग का अनुभव कर रहे होंगे। वे इस महान् आत्मा के विछोह से शोकाकुल थे, उनके उस भौतिक शरीर के लिए नहीं, जो भीष्मदेव ने त्यागा था। अन्त्येष्टि क्रिया एक आवश्यक कर्तव्य था, यद्यपि भीष्मदेव मुक्त आत्मा थे। चूँकि भीष्मदेव निःसन्तान थे, अतएव सबसे बड़े पौत्र, महाराज युधिष्ठिर इस अन्त्येष्टि क्रिया को सम्पन्न करने के समुचित अधिकारी थे। यह भीष्मदेव के लिए वरदानस्वरूप था कि परिवार के समरुप ही एक महान व्यक्ति ने इस महापुरुष के अन्तिम संस्कार सम्पन्न किये।

तुष्टुवुर्मुनयो हृष्टाः कृष्णं तद्गुह्यनामभिः ।
ततस्ते कृष्णहृदयाः स्वाश्रमान् प्रययुः पुनः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

तुष्टुवुः—सन्तुष्ट हुए; मुनयः—व्यासदेव आदि मुनिगण.; हृष्टाः—प्रसन्न मुद्रा में; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण को; तत्—उसका; गुह्य—गोपनीय; नामभिः—उनके नाम से.; ततः—तत्पश्चात्; ते—वे; कृष्ण-हृदयाः—कृष्ण को हृदय में धारण करनेवाले; स्व-आश्रमान्—अपने-अपने आश्रमों को; प्रययुः—लौट गये; पुनः—फिर।

तब समस्त मुनियों ने वहाँ पर उपस्थित भगवान् श्रीकृष्ण का यशोगान गुह्य वैदिक मन्त्रों से किया। वे भगवान् कृष्ण को सदा के लिए अपने हृदय में धारण करके अपने-अपने आश्रमों को लौट गए।

तात्पर्य : भगवान् के भक्त सदा ही भगवान् के हृदय में रहते हैं और भगवान् सदैव भक्तों के हृदय में रहते हैं। भगवान् तथा उनके भक्तों के मध्य यही मधुर सम्बन्ध होता है। भगवान् के लिए अनन्य प्रेम तथा भक्ति के कारण, भक्तगण उन्हें सदा अपने अन्दर देखते हैं और भगवान् भी, यद्यपि उन्हें न कुछ लेना-देना रहता है और न कोई आकांक्षा, अपने भक्तों के कल्याण-कार्य में लगे रहते हैं। सामान्य जीवों के लिए सारे कर्मों तथा फलों के लिए प्रकृति के नियम बने हैं, तथापि भगवान् अपने भक्तों को सन्मार्ग पर लाने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं। अतएव भक्तगण भगवान् की सीधी देख-रेख में रहते हैं, और भगवान् भी स्वेच्छा से अपने आपको भक्तों की देख-रेख में ही रखते हैं। चूँकि व्यासदेव आदि सारे मुनि भगवान् के भक्त थे, अतएव अन्त्येष्टि-क्रिया के बाद सबों ने वहाँ पर उपस्थित भगवान् कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किया। सारे वैदिक मन्त्र भगवान् को प्रसन्न करने के लिए पढ़े जाते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१५.१५) में हुई है। सारे *वेद, उपनिषद्, वेदान्त* आदि उन्हीं को खोजते हैं और सारे मन्त्र उन्हीं के यशोगान के लिए ही हैं। अतएव मुनियों ने अवसर के अनुकूल कृत्य किये और खुशी-खुशी अपने-अपने आश्रमों को लौट गये।

ततो युधिष्ठिरो गत्वा सहकृष्णो गजाह्वयम् ।
पितरं सान्त्वयामास गान्धारीं च तपस्विनीम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; युधिष्ठिरः—महाराज युधिष्ठिर ने; गत्वा—वहाँ जाकर; सह—साथ; कृष्णः—भगवान् के; गजाह्वयम्—गजाह्वय, हस्तिनापुर नाम की राजधानी में; पितरम्—अपने ताऊ (धृतराष्ट्र) को; सान्त्वयाम् आस—ढाढस बँधाया; गान्धारीम्—धृतराष्ट्र की पत्नी को; च—तथा; तपस्विनीम्—तपस्विनी।

तत्पश्चात् महाराज युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्ण के साथ तुरन्त ही अपनी राजधानी, हस्तिनापुर गये और वहाँ पर अपने ताऊ धृतराष्ट्र तथा अपनी ताई तपस्विनी गान्धारी को ढाढस बँधाया।

तात्पर्य : धृतराष्ट्र तथा गान्धारी दुर्योधन आदि सौ भाइयों के पिता-माता थे और नाते में वे महाराज युधिष्ठिर के ताऊ-ताई लगते थे। कुरुक्षेत्र के युद्ध के बाद अपने सारे पुत्र-पौत्रों को खो देने से यह यशस्वी दम्पति महाराज युधिष्ठिर के संरक्षण में था। वे इतनी अपार क्षति से उत्पन्न कष्ट से घोर सन्तप्त थे और तपस्वियों का-सा जीवन बिता रहे थे। धृतराष्ट्र के चाचा, भीष्मदेव की मृत्यु इन राजा-रानी के लिए दूसरा गहरा आघात था, अतएव उन्हें महाराज युधिष्ठिर से सान्त्वना की आवश्यकता थी। महाराज युधिष्ठिर को अपने कर्तव्य का ज्ञान था, अतएव वे कृष्ण सहित तुरन्त उस स्थान पर पहुँचे और शोकाकुल धृतराष्ट्र को दयामय शब्दों से अपनी और भगवान् की ओर से सान्त्वना दी।

यद्यपि गांधारी आज्ञाकारिणी पत्नी तथा दयालु माता का जीवन बिता रही थीं, लेकिन वे शक्तिमान तपस्विनी भी थीं। यह भी कहा जाता है कि उन्होंने अपने पति के अन्धत्व के कारण स्वेच्छा से अपनी भी आँखें बन्द कर रखी थीं। पत्नी का कर्तव्य है कि पति का शत-प्रतिशत अनुगमन करे और गान्धारी इतनी पति-परायणा थीं कि पति के निरन्तर अन्धत्व में उनका अनुगमन करती रहीं। अतएव वे अपने कार्यों से महान तपस्विनी थीं। इसके अतिरिक्त अपने सौ पुत्रों तथा पौत्रों के सामूहिक वध से उन्हें अवश्य ही गहरा आघात लगा होगा, जो किसी भी स्त्री के लिए दुस्तर है। लेकिन उन्होंने, तपस्विनी की भाँति, यह सब कुछ सह लिया। स्त्री होते हुए भी गान्धारी का चरित्र भीष्मदेव से किसी तरह कम नहीं था। ये दोनों *महाभारत* में सुप्रसिद्ध चरित्र हैं।

पित्रा चानुमतो राजा वासुदेवानुमोदितः ।
चकार राज्यं धर्मेण पितृपैतामहं विभुः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

पित्रा—ताऊ धृतराष्ट्र द्वारा; च—तथा; अनुमतः—उनकी अनुमति से; राजा—राजा युधिष्ठिर ने; वासुदेव-अनुमोदितः—भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा पुष्ट किये जाने पर; चकार—चलाया; राज्यम्—राज्य; धर्मेण—राज-नियमों के सिद्धान्त अनुसार; पितृ—पिता; पैतामहम्—पूर्वज जैसा; विभुः—महान्।

तत्पश्चात् परम धर्मात्मा राजा महाराज युधिष्ठिर ने अपने ताऊ द्वारा प्रतिपादित तथा श्रीकृष्ण द्वारा अनुमोदित राजनियमों के सिद्धान्त अनुसार साम्राज्य का संचालन किया।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर मात्र कर-संग्रहकर्ता न थे। वे राजा के कर्तव्य के प्रति सदैव सचेष्ट रहे, क्योंकि राजा पिता या गुरु से कम नहीं होता। राजा को प्रजा की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा आध्यात्मिक उत्थान के सभी दृष्टिकोणों से भलाई देखनी होती है। राजा को जानना चाहिए कि मनुष्य जीवन बद्ध आत्मा को भौतिक बन्धन से मुक्त करने के लिए है, अतएव उसका धर्म है कि वह प्रजा की ठीक से देखभाल करे, जिससे प्रजा सिद्धि की चरमावस्था को प्राप्त कर सके।

महाराज युधिष्ठिर ने इन नियमों का दृढ़ता से पालन किया, जैसाकि अगले अध्याय से पता चलेगा। उन्होंने न केवल नियमों का पालन किया, अपितु अपने वृद्ध ताऊ की सहमति भी प्राप्त की, जो राजनीतिक मामलों में अनुभवी थे और उसकी पुष्टि भगवान् कृष्ण द्वारा भी की गई, जो *भगवद्गीता* दर्शन के वक्ता हैं।

महाराज युधिष्ठिर आदर्श राजा थे और महाराज युधिष्ठिर जैसे प्रशिक्षित राजा के अधीन एक राजतन्त्र सर्वश्रेष्ठ सरकार है, जो आधुनिक गणतन्त्रों या सरकारों से कहीं श्रेष्ठ है। इस कलियुग में अधिकांश लोग जन्मजात शूद्र हैं, जो निम्न कुल में उत्पन्न हैं, जो ठीक से प्रशिक्षित नहीं होते जो अभागे तथा कुसंगति में रहनेवाले हैं। उन्हें जीवन के परम उद्देश्य का भी पता नहीं रहता। अतएव उनके द्वारा किए गए मतदान का कोई महत्त्व नहीं है, अत: ऐसे गैरजिम्मेदार मतों द्वारा चुने गए प्रतिनिधि कभी भी महाराज युधिष्ठिर के समान जिम्मेदार नहीं हो सकते।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत 'भगवान् कृष्ण की उपस्थिति में भीष्मदेव का देह-त्याग' नामक नवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दस

द्वारका के लिए भगवान् कृष्ण का प्रस्थान

शौनक उवाच
हत्वा स्वरिक्थस्पृध आततायिनो युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः ।
सहानुजैः प्रत्यवरुद्धभोजनः कथं प्रवृत्तः किमकारषीत्ततः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

शौनकः उवाच—शौनक ने पूछा; हत्वा—वध करने के बाद; स्वरिक्थ—वैध पैतृक सम्पत्ति; स्पृधः—छीनने की इच्छा से; आततायिनः—आततायी; युधिष्ठिरः—राजा युधिष्ठिर; धर्म-भृताम्—धर्म का पालन करने वालों का; वरिष्ठः—सबसे बड़ा; सह-अनुजैः—अपने छोटे भाइयों सहित; प्रत्यवरुद्ध—रोक दिया; भोजनः—आवश्यकताओं को स्वीकार करना; कथम्—कैसे; प्रवृत्तः—लगा हुआ; किम्—क्या; अकारषीत्—सम्पन्न किया; ततः—तत्पश्चात्।

शौनक मुनि ने पूछा : जो महाराज युधिष्ठिर की वैध पैतृक सम्पत्ति को छीनना चाहते थे,उन शत्रुओं का वध करने के बाद महानतम धर्मात्मा युधिष्ठिर ने अपने भाइयों की सहायता से अपनी प्रजा पर किस प्रकार शासन चलाया? निश्चित ही वे अपने साम्राज्य का उपभोग मुक्त होकर अनियन्त्रित चेतना से नहीं कर सके।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर समस्त धर्मात्माओं में श्रेष्ठ थे। अतएव वे साम्राज्य का भोग करने के लिए अपने चचेरे भाइयों से लड़ने के लिए तैयार नहीं हो रहे थे—वे सही प्रयोजन के लिए लड़े, क्योंकि हस्तिनापुर का राज्य उनकी वैध पैतृक सम्पत्ति था और उनके चचेरे भाई उसको हड़पना चाह रहे थे। अतएव वे भगवान् श्रीकृष्ण के मार्गदर्शन में सही प्रयोजन के लिए लड़े, किन्तु वे अपनी विजय के फलों का भोग न कर पाये, क्योंकि उनके सारे चचेरे भाई युद्ध में मारे गये थे। अतएव उन्होंने साम्राज्य पर शासन तो चलाया, किन्तु इसे कर्तव्य समझ कर और अपने छोटे भाइयों की सहायता से चलाया। शौनक ऋषि की जिज्ञासा महत्त्वपूर्ण थी; वे यह जानना चाह रहे थे कि जब महाराज युधिष्ठिर को साम्राज्य भोगने का अवसर मिला, तब उनका आचरण कैसा था?

सूत उवाच
वंशं कुरोर्वंशदवाग्निनिर्हृतं संरोहयित्वा भवभावनो हरिः ।
निवेशयित्वा निजराज्य ईश्वरो युधिष्ठिरं प्रीतमना बभूव ह ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने उत्तर दिया; वंशम्—वंश; कुरोः—राजा कुरु का; वंश-दव-अग्नि—बाँसों से लगनेवाली जंगल की आग; निर्हृतम्—निःशेष, दग्ध; संरोहयित्वा—वंश की पौध; भव-भावनः—सृष्टि के पालक; हरिः—भगवान् श्रीकृष्ण; निवेशयित्वा—पुनः स्थापित करके; निज-राज्ये—अपने (उनके) राज्य में; ईश्वरः—परमेश्वर; युधिष्ठिरम्—महाराज युधिष्ठिर को; प्रीत-मनाः—अपने मन में प्रसन्न; बभूव ह—हुए।

सूत गोस्वामी ने कहा : विश्व के पालनकर्ता भगवान् श्रीकृष्ण महाराज युधिष्ठिर को उनके साम्राज्य में पुनः प्रस्थापित करके एवं क्रोध की दावाग्नि से विनष्ट हुए कुरुवंश को पुनरुज्जीवित करके अत्यन्त प्रसन्न हुए।

तात्पर्य : इस संसार की तुलना उस दावाग्नि के साथ की जाती है, जो बाँस की झाड़ियों में घर्षण से उत्पन्न होती है। ऐसी दावाग्नि स्वतः लगती है, क्योंकि बाँसों में घर्षण बाह्य कारण के बिना होता है। इसी प्रकार इस संसार में जो लोग प्रकृति पर प्रभुत्व जताना चाहते हैं, उनके क्रोध से युद्ध की अग्नि भड़कती है, जिससे अवांछित प्रजा समाप्त हो जाती है। ऐसी अग्नियाँ या युद्ध भड़कते रहते हैं और भगवान् को उनसे कुछ लेना-देना नहीं होता। लेकिन चूँकि वे सृष्टि का पालन करना चाहते हैं, अतएव वे चाहते हैं कि जन-समूह आत्म-साक्षात्कार के सत्यपथ पर चले, जिससे जीव भगवद्धाम में प्रवेश कर सकें। प्रभु चाहते हैं कि कष्ट भोगनेवाले मनुष्य भगवद्धाम उनके पास वापस आ जाँय और तीनों भौतिक तापों से मुक्त हो जाँय। सृष्टि की सारी योजना यही प्रयोजन के लिए बनाइ गई है, लेकिन जो चेतता नहीं, वह भगवान् की मायाशक्ति द्वारा दिये गये कष्टों को इस संसार में भोगता है। अतएव भगवान् चाहते हैं कि उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि ही संसार पर शासन चलाए। भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार ऐसे राज्य की स्थापना करने तथा ऐसे अवांछित व्यक्तियों का वध करने के लिए हुआ, जिनको उनकी योजना से कुछ सरोकार नहीं रहता। कुरुक्षेत्र का युद्ध भगवान् की योजना के अनुसार लड़ा गया था, जिससे अवाँछित लोगों का सफाया हो जाय और उनके भक्त के अधीन शान्तिपूर्ण साम्राज्य की स्थापना हो। अतएव

जब राजा युधिष्ठिर सिंहासन पर बैठे तथा कुरुवंश की पौध (अंकुर) महाराज परीक्षित के रूप में बच गई, तो भगवान् परम प्रसन्न हुए।

निशम्य भीष्मोक्तमथाच्युतोक्तं
प्रवृत्तविज्ञानविधूतविभ्रमः ।
शशास गामिन्द्र इवाजिताश्रयः
परिध्युपान्तामनुजानुवर्तितः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; भीष्म-उक्तम्—भीष्म द्वारा कहा हुआ; अथ—तथा; अच्युत-उक्तम्—अच्युत भगवान् कृष्ण ने जो कुछ कहा था; प्रवृत्त—लगे रह कर; विज्ञान—पूर्ण ज्ञान; विधूत—पूर्ण रूप से धुल गये; विभ्रमः—सारे सन्देह; शशास—शासन किया; गाम्—पृथ्वी पर; इन्द्र—स्वर्ग का राजा; इव—सदृश; अजित-आश्रयः—दुर्जय भगवान् द्वारा रक्षित; परिधि-उपान्ताम्—समुद्रों सहित; अनुज—छोटे भाई; अनुवर्तितः—उनके द्वारा पालन किया जाकर।

भीष्मदेव तथा अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा था, उससे प्रबुद्ध होकर महाराज युधिष्ठिर परिपूर्ण ज्ञान विषयक मामलों में व्यस्त हो गये, क्योंकि उनके सारे सन्देह दूर हो चुके थे। इस प्रकार उन्होंने पृथ्वी तथा सागरों पर राज्य किया और उनके छोटे भाई उनका साथ देते रहे।

तात्पर्य : जब महाराज युधिष्ठिर समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी पर शासनारूढ़ थे, तो उस समय भी आधुनिक अंग्रेजियत के ज्येष्ठाधिकार या सबसे बड़े को उत्तराधिकार जैसा नियम प्रचलित था। उस काल में हस्तिनापुर (अब दिल्ली का एक अंश) का राजा, समुद्रों समेत, विश्व का (चक्रवर्ती) सम्राट होता था और यह क्रम महाराज युधिष्ठिर के पौत्र महाराज परीक्षित तक चलता रहा। महाराज युधिष्ठिर के छोटे भाई उनके मन्त्री तथा राज्य के सेनानायकों के रूप में कार्य करते थे और राजा के धर्मात्मा भाइयों का आपस में पूर्ण सहयोग था। महाराज युधिष्ठिर पृथ्वी के साम्राज्य पर शासन करने के लिए आदर्श राजा या भगवान् श्रीकृष्ण के आदर्श प्रतिनिधि थे और उनकी तुलना स्वर्ग के प्रतिनिधि शासक राजा इन्द्र से की जा सकती थी। जिस प्रकार इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, वरुण तथा वायु जैसे देवता ब्रह्माण्ड के विभिन्न ग्रहों के प्रतिनिधि राजा हैं, उसी प्रकार महाराज युधिष्ठिर भी पृथ्वी के साम्राज्य पर शासन चलानेवाले प्रतिनिधि राजा थे। वे आधुनिक

प्रजातन्त्र के अल्प तरह के अप्रबुद्ध राजनीतिक नेता जैसे न थे। उन्हें भीष्मदेव ने तथा अच्युत भगवान् ने भी उपदेश दिया था। अतएव उन्हें हर वस्तु का पूरा ज्ञान था।

आजकल, राज्य का निर्वाचित कार्यकारी प्रमुख कठपुतली के समान होता है, क्योंकि उसके पास राज-शक्ति नहीं होती। यदि वह महाराज युधिष्ठिर की तरह प्रबुद्ध भी होता, तो भी वह अपनी संवैधानिक स्थिति के कारण अपनी इच्छा से कुछ नहीं कर सकता। इसीलिए वैचारिक विषमताओं या खुद के स्वार्थों के कारण पृथ्वी के अनेक राज्य परस्पर लड़-झगड़ रहे हैं। लेकिन महाराज युधिष्ठिर जैसे राजा के पास अपनी खुद की विचार-धारा नहीं थी। उन्हें भी अच्युत भगवान् तथा भगवान् के प्रतिनिधि एवं प्रामाणिक दूत भीष्मदेव के उपदेशों का अनुगमन करना होता था। शास्त्रों का उपदेश है कि मनुष्य को चाहिए कि, किसी व्यक्तिगत स्वार्थ तथा स्व-निर्मित विचारधारा के बिना, परम प्रमाण तथा अच्युत भगवान् का अनुगमन करे। इसीलिए महाराज युधिष्ठिर महासागरों सहित सारे संसार पर शासन कर सके, क्योंकि जो नियम थे वे अमोघ थे और वैश्विक रूप से सबों पर समान रूप से लागू होते थे। एक ही विश्व-राज्य की कल्पना तभी पूरी हो सकती है, जब हम अच्युत अधिकारी का अनुगमन करें। एक अपूर्ण मानव ऐसी विचारधारा का सृजन नहीं कर सकता, जो सबके लिए स्वीकार्य हो। केवल पूर्ण तथा अच्युत पुरुष ही ऐसा कार्यक्रम बना सकता है, जो प्रत्येक स्थान पर लागू होता हो और जिसका पालन संसार के सारे लोगों द्वारा हो सके। शासन चलानेवाला तो व्यक्ति होता है, निराकार सरकार नहीं। यदि व्यक्ति पूर्ण है, तो सरकार भी पूर्ण है। यदि व्यक्ति मूर्ख है, तो सरकार भी मूर्खों का घर है। यही प्रकृति का नियम है। अयोग्य राजाओं तथा प्रशासकों के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ हैं। अतएव कार्यकारी प्रमुख को महाराज युधिष्ठिर जैसा प्रशिक्षित व्यक्ति होना चाहिए और विश्व पर शासन चलाने के लिए उसके पास पूरी राजसत्ता होनी चाहिए। विश्व राज्य की कल्पना महाराज युधिष्ठिर जैसे पूर्ण राजा के राज्यकाल में ही साकार हो सकती है। उन दिनों संसार सुखी था, क्योंकि विश्व में महाराज युधिष्ठिर जैसे राजा शासन चलाते थे।

कामं ववर्ष पर्जन्यः सर्वकामदुघा मही ।
सिषिचुः स्म व्रजान् गावः पयसोधस्वतीर्मुदा ॥ ४॥

शब्दार्थ

कामम्—सारी आवश्यक वस्तु; ववर्ष—उपलब्ध हुई; पर्जन्यः—वर्षा; सर्व—प्रत्येक वस्तु; काम—आवश्यकताएँ; दुघा—उत्पन्न करनेवाली; मही—पृथ्वी; सिषिचुः स्म—सिक्त करती थीं; व्रजान्—चरागाहों को; गावः—गाएँ; पयसा उधस्वतीः—भरे हुए थनों के कारण; मुदा—प्रसन्नता के कारण।.

महाराज युधिष्ठिर के राज्य में मनुष्यों को जितना भी पानी चाहिए था, बादल उतना पानी बरसाते थे और पृथ्वी मनुष्यों की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति पर्याप्त मात्रा में करती थी। दूध से भरे थनों वाली तथा प्रसन्न-चित्त गौवें अपने दूध से चरागाही को सिक्त करती रहती थीं।

तात्पर्य : आर्थिक विकास का मूल सिद्धान्त भूमि तथा गायों पर केन्द्रित है। अन्न, फल, दूध, खनिज, वस्त्र, ईंधन इत्यादि मानव-समाज की आवश्यकताएँ हैं। शरीर की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य को इन्हीं वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है। निश्चित ही मनुष्य को मांस और मछली या लोहे के औजार तथा यंत्र नहीं चाहिए। महाराज युधिष्ठिर के शासनकाल में सारे संसार में नियमित वर्षा होती थी। वर्षा मनुष्य के नियंत्रण में नहीं होती। स्वर्ग का राजा इन्द्रदेव वर्षा का अधिष्ठाता है और वह भगवान् का सेवक है। जब राजा तथा राजा के अधीन लोग भगवान् की आज्ञा का पालन करते हैं, तो आकाश से नियमित वर्षा होती है और यही वर्षा पृथ्वी पर विविध प्रकार की उपजों की निमित्त स्वरूप है। नियमित वर्षा से न केवल प्रचुर धान्य तथा फल उत्पन्न होते हैं, अपितु जब नक्षत्रों के साथ वर्षा का संयोग बैठता है, तो बहुमूल्य रत्न तथा मोती बहुतायत से उत्पन्न होते हैं। अनाज तथा शाकों से मनुष्यों तथा पशुओं का भरण-पोषण होता है और मोटी ताजी गाएँ भरपूर दूध देती हैं, जिससे मनुष्य को बल तथा जीवनी शक्ति मिलती है। यदि प्रचुर मात्रा में दुग्ध, अन्न, फल, कपास, रेशम तथा रत्न हों तो फिर लोगों को सिनेमा, वेश्यालयों, कसाईघरों इत्यादि की आवश्यकता क्यों पड़ती है? सिनेमा, कार, रेडियो, मांस तथा होटलों के कृत्रिम विलासमय जीवन की क्या आवश्यकता है? क्या इस सभ्यता ने एक दूसरे से व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय स्तर पर लड़ते रहने के अतिरिक्त और कुछ भी दिया है?

क्या इस सभ्यता ने एक व्यक्ति की सनक पर हजारों व्यक्तियों को नारकीय फैक्टरियों में तथा युद्धस्थलों में भेजकर समानता तथा विश्व बन्धुत्व को बढ़ावा दिया है?

यहाँ पर कहा गया है कि गौवें अपने दुग्ध से चरागाहों को सिक्त करती थीं, क्योंकि उनके थन दूध से भरे रहते थे, और वे अत्यन्त प्रमुदित रहती थीं। तो फिर क्या उन्हें, खेतों में पर्याप्त मात्रा में घास खिलाकर, प्रसन्न जीवन बिताने के लिए समुचित संरक्षण की आवश्यकता नहीं है? तो लोगों को अपने स्वार्थ के लिए उनका वध क्यों करना चाहिए? मनुष्य अन्न, फल, दूध से क्यों नहीं सन्तुष्ट हो लेता, जिनसे हजारों प्रकार के व्यंजन तैयार हो सकते हैं? इन निर्दोष पशुओं का वध करने के लिए सारे विश्व में कसाईघर क्यों हैं? महाराज युधिष्ठिर के पौत्र, महाराज परीक्षित ने अपने विशाल राज्य का दौरा करते हुए देखा कि एक काला व्यक्ति गाय का वध करने का प्रयास कर रहा है। राजा ने तुरन्त उस कसाई को गिरफ्तार करके उसे पर्याप्त मत्रा में दण्डित किया। क्या राजा या शासनाध्यक्ष को इन बेचारे पशुओं की रक्षा नहीं करनी चाहिए, जो अपनी रक्षा स्वयं करने में अक्षम हैं? क्या यह मानवता है? क्या देश के पशु देशवासी नहीं हैं? तो फिर संगठित कसाईघरों में वे उनके वध किये जाने की अनुमति क्यों देते हैं? क्या ये समानता, बन्धुत्व तथा अहिंसा के लक्षण हैं?

अतएव आधुनिक, प्रगतिशील सभ्य स्वरूप की सरकार के विपरीत, महाराज युधिष्ठिर का जैसा राजतन्त्र तथाकथित प्रजातंत्र से कहीं अधिक श्रेष्ठ है, जिसमें पशुओं का वध किया जाता है और पशु से भी गिरे हुए मनुष्य से, पशु से भी निम्न कोटि के दूसरे मनुष्य के लिए, मतदान कराया जाता है।

हम सभी भौतिक प्रकृति के प्राणी हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् स्वयं बीजदाता पिता हैं और प्रकृति *सभी आकार-प्रकार के जीवों* की माता है। इस तरह माता प्रकृति के पास, परम पिता श्रीकृष्ण की कृपा से, पशुओं तथा मनुष्यों दोनों के लिए पर्याप्त भोजन है। मनुष्य अन्य समस्त जीवों का बड़े भाई जैसा है। उसमें पशुओं की अपेक्षा अधिक बुद्धि है, जिससे वह प्रकृति का मार्ग तथा परम पिता के संकेतों को समझ सके। इस संसार में कृत्रिम

विलास तथा इन्द्रिय-तृप्ति के लिए, कृत्रिम लोभ तथा डाँवाडोल शक्ति द्वारा, कृत्रिम ढंग से आर्थिक विकास करने का प्रयास नहीं करना चाहिए, अपितु मानवीय सभ्यता को प्राकृतिक उत्पादन पर आश्रित रहने देना चाहिए। यह तो कूकरों-सूकरों का जीवन है।

नद्यः समुद्रा गिरयः सवनस्पतिवीरुधः ।
फलन्त्योषधयः सर्वाः काममन्वृतु तस्य वै ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

नद्यः—नदियाँ; समुद्राः—समुद्र; गिरयः—पहाड़; सवनस्पति—वनस्पतियाँ; वीरुधः—लताएँ; फलन्ति—सक्रिय, कारगर; ओषधयः—दवाएँ; सर्वाः—समस्त; कामम्—आवश्यकताएँ; अन्वृतु—मौसमी; तस्य—राजा के लिए; वै—निश्चय ही।.

प्रत्येक ऋतु में नदियाँ, समुद्र, पर्वत, जंगल, लताएँ तथा कारगर औषधियाँ प्रचुर मात्रा में राजा को अपना-अपना कर चुकता करती थीं।

तात्पर्य : चूँकि महाराज युधिष्ठिर *अजित* के संरक्षण में थे, जैसाकि पहले उल्लेख हो चुका है, अतएव भगवान् की सम्पत्ति अर्थात् नदियाँ, समुद्र, पर्वत, जंगल आदि प्रसन्न थे और वे राजा को अपना-अपना कर चुकाते रहते थे। सफलता का रहस्य है *भगवान् के संरक्षण में शरण लेना।* उनकी अनुमति के बिना कुछ सम्भव नहीं है। औजारों तथा यंत्रो के बल पर अपने आप से आर्थिक विकास करने के लिए प्रयास करना ही तो सब कुछ नहीं है। उसके लिए परमेश्वर की अनुमति होनी आवश्यक है, अन्यथा सारी यांत्रिक व्यवस्था होने पर भी सब कुछ विफल रहेगा। सफलता का अन्तिम कारण *दैव* या परमेश्वर है। महाराज युधिष्ठिर जैसे राजा यह अच्छी तरह जानते थे कि राजा जनता के कल्याण कार्यों की देखभाल करनेवाला परमेश्वर का दूत होता है। वस्तुतः राज्य परमेश्वर की सम्पत्ति है। नदियाँ, समुद्र, जंगल, पर्वत, औषधियाँ इत्यादि मनुष्य की सृष्टियाँ नहीं हैं। ये सब परमेश्वर की सृष्टियाँ हैं और जीव को भगवान् की इस सम्पत्ति का उपयोग करने की अनुमति भगवान् की सेवा करने के लिए दी जाती है। आज का नारा यह है कि प्रत्येक वस्तु जनता के लिए है, अतएव सरकार जनता द्वारा, जनता के लिए है। लेकिन इस समय ईश्वर-चेतना तथा मानव जीवन की पूर्णता के आधार पर नई तरह की मानवता, अर्थात् ईश्वरीय साम्यवाद

की विचारधारा उत्पन्न करने के लिए संसार को महाराज युधिष्ठिर अथवा परीक्षित जैसे राजाओं के पदचिह्नों का अनुसरण करना होगा। परमेश्वर की इच्छा से प्रत्येक वस्तु की प्रचुरता है और हम इन वस्तुओं का उपभोग मनुष्य तथा मनुष्य के बीच, पशु तथा मनुष्य या प्रकृति के बीच, शत्रु भाव से रहित होकर सुखपूर्वक रहने के लिए कर सकते हैं। भगवान् का नियंत्रण सर्वत्र है और यदि भगवान् प्रसन्न हो जाँय, तो प्रकृति का कोना-कोना पुलकित हो जाए। तब नदियाँ उमड़कर भूमि को उर्वर बनाएँगी, समुद्र प्रचुर मात्रा में खनिज, मोती तथा रत्न प्रदान करेंगे, जंगल पर्याप्त ईंधन, औषधियाँ तथा वनस्पतियों की पूर्ति करेंगे और ऋतु-परिवर्तन से विपुल मात्रा में फल-फूल मिल सकेंगे। फैक्टरियों तथा औजारों पर आश्रित रहकर जीने की कृत्रिम शैली से, कुछ ही व्यक्तियों को, तथाकथित सुख प्राप्त हो सकेगा, और वह भी लाखों लोगों का सुख छीनकर। चूँकि जन-समूह की शक्ति फैक्टरी उत्पादन में लगी है, अतएव प्राकृतिक पदार्थों में गतिरोध आ रहा है और जन-समूह दुखी है। ठीक से शिक्षा पाये बिना, अधिकांश लोग प्राकृतिक भंडारों का दोहन करके स्वार्थी हेतु के पीछे-पीछे चले जा रहे हैं, अतएव व्यक्ति-व्यक्ति तथा राष्ट्र-राष्ट्र के बीच कड़ी स्पर्धा चल रही है। भगवान् के प्रशिक्षित दूत द्वारा नियन्त्रण नहीं हो रहा है। हमें यहीं पर तुलना करके आधुनिक सभ्यता के दोषों पर विचार करना चाहिए और मनुष्य को शुद्ध करने तथा कालदोष को मिटाने के लिए महाराज युधिष्ठिर के पदचिह्नों पर चलना चाहिए।

नाधयो व्याधय: क्लेशा दैवभूतात्महेतव: ।
अजातशत्रावभवन् जन्तूनां राज्ञि कर्हिचित् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; आधय:—चिन्ताएँ; व्याधय:—रोग; क्लेशा:—अधिक गर्मी तथा सर्दी से होनेवाला कष्ट; दैव-भूत-आत्म—शरीर, अलौकिक शक्ति तथा अन्य जीवों के कारण होनेवाले; हेतव:—के कारण से; अजात-शत्रौ—जिसके कोई शत्रु न हो, उनमें; अभवन्—घटित हुआ; जन्तूनाम्—समस्त जीवों का; राज्ञि—राजा में; कर्हिचित्—किसी भी समय।

चूँकि राजा का कोई शत्रु न था, अतएव सारे जीव, किसी भी समय मानसिक क्लेशों, रोगों या अत्यधिक ताप या शीत से विचलित नहीं थे।

तात्पर्य : मनुष्यों के प्रति अहिंसक होना तथा दीन पशुओं का शत्रु या हत्यारा बनना शैतानों का काम है। इस युग में दीन पशुओं के प्रति शत्रुता दिखाई जाती है, फलतः बेचारे प्राणी सदैव चिन्ताकुल रहते हैं। इन दीन पशुओं की प्रतिक्रिया मानव समाज पर लादी जा रही है, अतएव व्यक्तिरूप में, सामूहिक या राष्ट्रीय स्तर पर मनुष्यों के बीच सदैव शीत या गर्म युद्ध का तनाव बना रहता है। महाराज युधिष्ठिर के काल में पृथक्-पृथक् राष्ट्र न थे, भले ही भिन्न-भिन्न अधीनस्थ राज्य थे। सारा संसार एकता के सूत्र में बँधा हुआ था और सर्वोच्च नेता, युधिष्ठिर जैसा प्रशिक्षित राजा होने के कारण, सारे निवासियों को चिन्ता, रोगों तथा अत्यधिक ताप तथा शीत से मुक्त रखता था। वे न केवल आर्थिक रूप से सम्पन्न थे, अपितु शरीर से स्वस्थ थे और अलौकिक शक्ति से, अन्य जीवों के प्रति शत्रु भाव से तथा दैहिक एवं मानसिक क्लेशों से विचलित नहीं थे। बाँग्ला में एक कहावत है कि 'बुरा राजा राज्य को बिगाड़ देता है और बुरी गृहिणी परिवार को'—यही सत्य यहाँ भी लागू होता है। चूँकि राजा पवित्र था और भगवान् तथा मुनियों का आज्ञाकारी था, चूँकि उसका कोई शत्रु न था (अजात-शत्रु) और वह भगवान् का मान्य प्रतिनिधि था, तथा उनके ही द्वारा संरक्षित था, अतएव राजा के संरक्षण में सारी प्रजा एक प्रकार से भगवान् तथा उनके वैध दूतों के प्रत्यक्ष संरक्षण में थी। जब तक कोई स्वयं पवित्र न हो और भगवान् द्वारा मान्य न हो, तो वह अपने अधीनस्थ लोगों को सुखी नहीं बना सकता। मनुष्य तथा ईश्वर के बीच और मनुष्य तथा प्रकृति के बीच पूरा-पूरा सहयोग रहता है और मनुष्य तथा ईश्वर के बीच एवं मनुष्य तथा प्रकृति के बीच ऐसे सचेतन सहयोग से ही संसार में सुख, शान्ति तथा समृद्धि लाई जा सकती है जैसाकि राजा युधिष्ठिर में प्रदर्शित होता है। एक दूसरे के शोषण की प्रवृत्ति, जिसका आजकल बोलबाला है, केवल क्लेश ला सकती है।

उषित्वा हास्तिनपुरे मासान् कतिपयान् हरिः ।
सुहृदां च विशोकाय स्वसुश्च प्रियकाम्यया ॥ ७॥

शब्दार्थ

उषित्वा—ठहर कर; हास्तिनपुरे—हस्तिनापुर नगर में; मासान्—महीने; कतिपयान्—कुछ; हरिः—भगवान् श्रीकृष्ण; सुहृदाम्—सम्बन्धियों को; च—भी; विशोकाय—सान्त्वना देने के लिए; स्वसुः—बहन को; च—तथा; प्रिय-काम्यया—प्रसन्न करने के लिए।

श्री हरि अपने सम्बन्धियों को सान्त्वना देने तथा अपनी बहन (सुभद्रा) को प्रसन्न करने के लिए कुछ महीने हस्तिनापुर में रहे।

तात्पर्य : कुरुक्षेत्र युद्ध के बाद एवं युधिष्ठिर के सिंहासनारूढ़ होने पर, श्रीकृष्ण को अपने राज्य द्वारका के लिए प्रस्थान करना था, लेकिन महाराज युधिष्ठिर को अनुगृहीत करने तथा भीष्मदेव पर विशेष अनुग्रह करने के लिए भगवान् कृष्ण पाण्डवों की राजधानी हस्तिनापुर में रुके रहे। भगवान् ने संतप्त राजा को सान्त्वना देने तथा अपनी बहन सुभद्रा को प्रसन्न करने के लिए भी रुकने का निश्चय किया। सुभद्रा को विशेष रूप से सान्त्वना दिये जाने की आवश्यकता थी, क्योंकि उसका एकमात्र पुत्र, अभिमन्यु, जिसकी शादी हाल ही में हुई थी, मारा गया था। वह युवक अपनी पत्नी, महाराज परीक्षित की माता, उत्तरा को छोड़कर मरा था। भगवान् को अपने भक्तों को प्रसन्न करने में प्रसन्नता होती है। केवल उनके भक्त ही उनके सम्बन्धियों की भूमिका अदा कर सकते हैं। भगवान् तो परम पूर्ण हैं।

आमन्त्र्य चाभ्यनुज्ञातः परिष्वज्याभिवाद्य तम् ।
आरुरोह रथं कैश्चित्परिष्वक्तोऽभिवादितः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

आमन्त्र्य—अनुमति लेकर; च—तथा; अभ्यनुज्ञातः—आज्ञा पाकर; परिष्वज्य—आलिंगन करके; अभिवाद्य—चरणों पर झुककर; तम्—महाराज युधिष्ठिर को; आरुरोह—आरूढ़ हुए; रथम्—रथ में; कैश्चित्—किन्हीं के द्वारा; परिष्वक्तः—आलिंगित होकर; अभिवादितः—अभिवादन किया जाकर।

तत्पश्चात् जब भगवान् ने प्रस्थान करने की अनुमति माँगी और राजा ने अनुमति दे दी तो भगवान् ने महाराज युधिष्ठिर के चरणों में नतमस्तक होकर प्रणाम किया और राजा ने उनको गले लगा लिया। इसके बाद अन्यों द्वारा गले मिलने एवं नमस्कृत होकर, वे अपने रथ में आरूढ़ हुए।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर भगवान् कृष्ण के बड़े फुफेरे भाई थे, अतएव उनसे विदा होते समय, भगवान् राजा के चरणों में नतमस्तक हुए। राजा ने छोटे भाई की तरह उनका आलिंगन किया, यद्यपि राजा भलीभाँति जानते थे कि कृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। भगवान् को प्रसन्नता होती है जब उनका कोई भक्त उन्हें प्रेम में, अपने से घटकर समझता है। भगवान् से बढ़कर या उनके समान अन्य कोई भी नहीं है, तो भी वे अपने भक्तों द्वारा छोटा समझे जाने पर प्रसन्न होते हैं। ये सब भगवान् की दिव्य लीलाएँ हैं। निर्विशेषवादी भगवद्भक्त के द्वारा निभाई जाने-वाली अलौकिक भूमिका को समझ नहीं सकते। तत्पश्चात् भीम तथा अर्जुन भगवान् को गले मिले, क्योंकि वे समवयस्क थे, लेकिन नकुल तथा सहदेव ने उन्हें प्रणाम किया, क्योंकि वे उनसे छोटे थे।

सुभद्रा द्रौपदी कुन्ती विराटतनया तथा ।
गान्धारी धृतराष्ट्रश्च युयुत्सुर्गौतमो यमौ ॥ ९ ॥
वृकोदरश्च धौम्यश्च स्त्रियो मत्स्यसुतादयः ।
न सेहिरे विमुह्यन्तो विरहं शार्ङ्गधन्वनः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सुभद्रा—कृष्ण की बहन; द्रौपदी—पाण्डवों की पत्नी; कुन्ती—पाण्डवों की माता; विराट-तनया—विराट की पुत्री (उत्तरा); तथा—भी; गान्धारी—दुर्योधन की माता; धृतराष्ट्रः—दुर्योधन का पिता; च—तथा; युयुत्सुः—धृतराष्ट्र की वैश्य-पत्नी का पुत्र; गौतमः—कृपाचार्य; यमौ—जुड़वाँ भाई नकुल तथा सहदेव; वृकोदरः—भीम; च—तथा; धौम्यः—धौम्य; च—तथा; स्त्रियः—राजमहल की अन्य स्त्रीयाँ भी; मत्स्य-सुता-आदयः—मछुवारे की पुत्री (सत्यवती, भीष्म की सौतेली माता); न—नहीं; सेहिरे—सह सकीं; विमुह्यन्तः—मूर्छित सी; विरहम्—वियोग; शार्ङ्ग-धन्वनः—श्रीकृष्ण का जो अपने हाथ में शंख धारण किये रहते हैं।

उस समय सुभद्रा, द्रौपदी, कुन्ती, उत्तरा, गान्धारी, धृतराष्ट्र, युयुत्सु, कृपाचार्य, नकुल, सहदेव, भीमसेन, धौम्य तथा सत्यवती, सभी मूर्छित से हो गये, क्योंकि भगवान् कृष्ण का वियोग सह पाना उन सबों के लिए असम्भव था।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण जीवों के लिए, विशेष रूप से भक्तों के लिए, इतने आकर्षक हैं कि उनका वियोग असह्य हो जाता है। बद्धजीव, माया के वशीभूत होकर ही भगवान् को भूल जाता है, अन्यथा ऐसा हो नहीं सकता। ऐसे वियोग की अनुभूति का वर्णन नहीं किया जा सकता,

उसका अनुमान केवल भक्त ही कर सकते हैं। वृन्दावन तथा सीधे सादे ग्रामीण ग्वाल-बालों, बालिकाओं, स्त्रियों तथा अन्यों से श्रीकृष्ण का वियोग सबों को आजीवन आघात पहुँचाता रहा और अत्यन्त प्रिय गोपकुमारी राधारानी का वियोग तो अवर्णनीय है। वे एक बार सूर्यग्रहण के समय कुरुक्षेत्र में मिले और उन्हें जैसी अनुभूति हुई वह हृदय-विदारक है। निस्सन्देह भगवान् के दिव्य भक्तों के गुणों में अन्तर है, लेकिन जिन्होंने कभी भगवान् का सान्निध्य प्राप्त किया है, वे उन्हें क्षण भर के लिए भी नहीं छोड़ सकते। शुद्ध भक्त की यही मनोवृत्ति होती है।

सत्सङ्गान्मुक्तदु:सङ्गो हातुं नोत्सहते बुध: ।
कीर्त्यमानं यशो यस्य सकृदाकर्ण्य रोचनम् ॥ ११ ॥
तस्मिन्न्यस्तधिय: पार्था: सहेरन् विरहं कथम् ।
दर्शनस्पर्शसंलापशयनासनभोजनै: ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सत्-सङ्गात्—शुद्ध भक्तों की संगति से; मुक्त-दु:सङ्ग:—बुरी भौतिक संगति से मुक्त; हातुम्—परित्याग करने के लिए; न उत्सहते—कभी प्रयास नहीं करता है; बुध:—भगवान् को समझनेवाला; कीर्त्यमानम्—यशोगान करता; यश:—ख्याति; यस्य—जिसका; सकृत्—मात्र एक बार; आकर्ण्य—केवल सुनकर; रोचनम्—प्रसन्न करके; तस्मिन्—उसमें; न्यस्त-धिय:—जिसने अपना मन उनको अर्पित कर रखा है; पार्था:—पृथा के पुत्र; सहेरन्—सह सकते हैं; विरहम्—वियोग; कथम्—कैसे; दर्शन—आमने-सामने देखते हुए; स्पर्श—स्पर्श करते हुए; संलाप—परस्पर बातें करते; शयन—सोते; आसन—बैठते; भोजनै:—एक साथ भोजन करते।

वह बुद्धिमान जिस ने शुद्ध भक्तों की संगति से परमेश्वर को समझ लिया है और भौतिक कुसंगति से अपने को छुड़ा लिया है, वह भगवान् के यश को सुनने से चूकेगा नहीं; उसने चाहे उनके विषय में एक ही बार क्यों न सुना हो। तो भला, पाण्डव उनके वियोग को कैसे सह पाते? क्योंकि वे उनसे घनिष्ठतापूर्वक सम्बन्धित थे, वे उन्हें साक्षात् अपने समक्ष देखते थे, उनका स्पर्श करते थे, उनसे बातें करते थे और उन्हीं के पास सोते, उठते-बैठते तथा भोजन करते थे।

तात्पर्य : जीव की स्वाभाविक स्थिति अपने से वरिष्ठ की सेवा करना है। उसे इन्द्रिय-तृप्ति की विभिन्न अवस्थाओं में, माया की आज्ञाओं का पालन करने के लिए बाध्य होना पड़ता है और इन्द्रियों की सेवा करने में वह कभी थकता नहीं। यदि वह थक भी जाय, तो माया उसे इन्द्रियों

की सेवा करने के लिए निरन्तर बाध्य करती है और कभी सन्तुष्ट नहीं होती। ऐसे इन्द्रियतृप्ति-व्यापारों का कोई अन्त नहीं है और बद्धजीव छूटने की आशा के बिना ऐसी सेवा में उलझा रहता है। छुटकारा केवल तभी मिलता है, जब शुद्ध भक्तों की संगति होती है। ऐसी संगति से वह धीरे-धीरे अपनी दिव्य चेतना की ओर उन्नत होता है। इस प्रकार वह जान सकता है कि उसकी शाश्वत स्थिति भगवान् की सेवा करने के लिए है, विकृत इन्द्रियों की काम, क्रोध, प्रभुत्व जताने इत्यादि की इच्छा-पूर्ति के लिए नहीं है। भौतिक समाज, मित्रता तथा प्रेम कामवासना की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। घर, देश, परिवार, समाज, सम्पत्ति तथा अन्य वस्तुएँ भौतिक जगत् में बन्धन के कारणस्वरूप हैं, जहाँ तीन प्रकार के ताप बने हुए हैं। शुद्ध भक्तों की संगति से तथा विनीत भाव से उनका श्रवण करने से भौतिक भोग के प्रति आसक्ति कम होती है और भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के विषय में सुनने के प्रति आकर्षण की प्रधानता होती है। एक बार आकर्षण उत्पन्न हो जाने पर वह बिना रुके चलता रहता है, जिस प्रकार बारूद की आग। ऐसा कहा गया है कि श्री हरि दिव्य रूप से इतने आकर्षक हैं कि जो आत्म-साक्षात्कार द्वारा अपने आप में ही सन्तुष्ट हैं और वास्तव में सारे भव-बन्धनों से मुक्त हो चुके हैं, वे भी भगवान् के भक्त बन जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में यह भलीभाँति समझा जा सकता है कि पाण्डवों की क्या स्थिति हुई होगी, जो भगवान् के नित्य संगी थे? वे श्रीकृष्ण के वियोग की कल्पना भी नहीं कर सकते थे, क्योंकि निरन्तर व्यक्तिगत सम्पर्क के कारण उनका आकर्षण अत्यधिक प्रगाढ़ था। शुद्ध भक्त के लिए भी उनके रूप, गुण, नाम, यश, कार्यकलाप आदि का स्मरण इतना आकर्षक होता है कि वह संसार के सारे रूप, गुण, नाम, यश, कार्यकलाप भूल जाता है और शुद्ध भक्तों की परिपक्व संगति के कारण वह क्षण भर के लिए भी भगवान् के सम्पर्क से दूर नहीं होता।

सर्वे तेऽनिमिषैरक्षैस्तमनुद्रुतचेतसः ।
वीक्षन्तः स्नेहसम्बद्धा विचेलुस्तत्र तत्र ह ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—सभी; ते—वे; अनिमिषैः—बिना पलक झपके; अक्षैः—आँखों से; तम् अनु—उनके पीछे-पीछे; द्रुत-चेतसः—द्रवित हृदय; वीक्षन्तः—उनको देखते हुए; स्नेह-सम्बद्धाः—शुद्ध प्रेम से बँधे; विचेलुः—हिलने-डुलने लगे; तत्र तत्र—इधर-उधर; ह—उन्होंने ऐसा किया।

उन सबके हृदय उनके आकर्षण-रूपी पात्र में द्रवित हो रहे थे। वे उन्हें अपलक नेत्रों से देख रहे थे और (स्नेह-बन्धन में बँधकर) व्यग्रता से इधर-उधर मचल रहे थे।

तात्पर्य : कृष्ण स्वाभाविक रूप से सभी जीवों के लिए आकर्षक हैं, क्योंकि वे समस्त शाश्वतों में प्रधान शाश्वत हैं। एकमात्र वे ही अनेकों शाश्वतों के पालक हैं। यह *कठोपनिषद्* का कथन है और इस प्रकार मनुष्य भगवान् के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध को जागृत करके—जिसे वह भगवान् की भ्रामक शक्ति *माया* के चक्र से वशीभूत होकर भूल चुका है—स्थायी शान्ति तथा समृद्धि प्राप्त कर सकता है। एक बार भी यह सम्बन्ध जब हल्का सा भी पुनर्जागरित हो जाता है, बद्धजीव भौतिक शक्ति के भ्रम से मुक्त हो जाता है और भगवान् की संगति के लिए पागल हो उठता है। यह संगति केवल भगवान् के साक्षात् सम्पर्क से ही नहीं स्थापित होती, अपितु उनके नाम, यश, रूप, तथा गुणों के सान्निध्य से भी होती है। *श्रीमद्भागवत* बद्धजीवों को इस सिद्ध अवस्था को प्राप्त करने के लिए शुद्ध भक्त से विनीत भाव से श्रवण के द्वारा प्रशिक्षित करता है।

न्यरुन्धन्नुद्गलद्बाष्पमौत्कण्ठ्याद्देवकीसुते ।
निर्यात्यगारान्नोऽभद्रमिति स्याद्बान्धवस्त्रियः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

न्यरुन्धन्—बड़ी मुश्किल से रोकते हुए; उद्गलत्—उमड़ते हुए; बाष्पम्—आँसुओं को; औत्कण्ठ्यात्—अत्यधिक उत्सुकता से; देवकी-सुते—देवकी के पुत्र में; निर्याति—बाहर निकल कर; अगारात्—महल से; नः—नहीं; अभद्रम्—अशुभ; इति—इस प्रकार; स्यात्—होए; बान्धव—सम्बन्धियों की; स्त्रियः—स्त्रियाँ।

सगी-सम्बन्धी (नातेदार) स्त्रियाँ, जिनके नेत्रों से कृष्ण के लिए व्याकुलतावश अश्रुधारा निकल रही थी, महल से बाहर आ गईं। वे बड़ी मुश्किल से अपने आँसू रोक पाईं। उन्हें भय था कि प्रस्थान के अवसर पर आँसुओं से अपशकुन हो सकता है।

तात्पर्य : हस्तिनापुर के राजमहल में सैकड़ों महिलाएँ थीं। वे सभी कृष्ण के प्रति स्नेहमयी थीं। वे सभी उनकी रिश्तेदार भी थीं। जब उन्होंने देखा कि कृष्ण अपनी मातृभूमि को जाने के

लिए महल से निकल रहे हैं, तो वे उनके लिए अत्यन्त व्याकुल हो उठीं और जैसा स्वाभाविक था, उनके अश्रु ढुलक-ढुलक कर कपोलों पर आने लगे। उसी समय उन्होंने सोचा कि उस समय उनके अश्रु कृष्ण के लिए अमंगलसूचक हो सकते हैं, अतएव उन्होंने अश्रुओं को रोकना चाहा। ऐसा करना उनके लिए बहुत कठिन था, क्योंकि अश्रु रुक नहीं पा रहे थे। अत: उन्होंने आँखों के अश्रुओं को पोंछा और उनके हृदय धड़कने लगे। वे स्त्रियाँ जिनके पति या श्वसुर युद्ध में मारे गये थे, कृष्ण के प्रत्यक्ष सम्पर्क में नहीं आ सकीं थीं। लेकिन वे सब कृष्ण तथा उनके महान कार्यों के विषय में सुनती रहती थीं। इस प्रकार वे उनके विषय में सोचतीं, उनके नाम तथा यश के विषय में बातें करतीं और उन स्त्रियों के समान स्नेहिल हो गई थीं जो उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में थीं। अतएव जो कोई भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृष्ण के विषय में सोचता है, कृष्ण के विषय में बातें करता है या कृष्ण की पूजा करता है, वह उनके प्रति अनुरक्त हो जाता है। चूँकि कृष्ण परम पूर्ण हैं, अत: उनके नाम, रूप, गुण आदि में कोई अन्तर नहीं है। हम कृष्ण के साथ अपने घनिष्ठ सम्बन्ध को उनके विषय में बातें करके, श्रवण करके या स्मरण करके पुनरुज्जीवित कर सकते हैं। आध्यात्मिक सामर्थ्य से ही ऐसा हो पाता है।

मृदङ्गशङ्खभेर्यश्च वीणापणवगोमुखाः ।
धुन्धुर्यानकघण्टाद्या नेदुर्दुन्दुभयस्तथा ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

मृदङ्ग—मीठी ध्वनि उत्पन्न करनेवाला ढोल; शङ्ख—शंख; भेर्यः—भेरी; च—तथा; वीणा—तंतुयुक्त वाद्ययन्त्र, वीणा; पणव—एक प्रकार की वंशी; गोमुखाः—अन्य प्रकार की बाँसुरी; धुन्धुरी—एक प्रकार का ढोल; आनक—नगाड़ा; घण्टा—बजाया जानेवाला घंटा; आद्याः—इत्यादि; नेदुः—बजे; दुन्दुभयः—विभिन्न प्रकार के ढोल; तथा—उस समय।

हस्तिनापुर के राजमहल से भगवान् के प्रस्थान समय, उनके सम्मान में विभिन्न प्रकार के ढोल—यथा मृदंग, ढोल, नगाड़े, धुंधुरी तथा दुन्दुभी—एवं तरह-तरह की वंशियाँ, वीणा, गोमुख और भेरियाँ एकसाथ बज उठे।

प्रासादशिखरारूढाः कुरुनार्यो दिदृक्षया ।

वव‍ृषुः कुसुमैः कृष्णं प्रेमव्रीडास्मितेक्षणाः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

प्रासाद—राजमहल की; शिखर—छत पर; आरूढाः—चढ़ी हुई; कुरु-नार्यः—कुरुराजवंश की नारियाँ; दिदृक्षया—देखने की इच्छा से; ववृषुः—वर्षा की; कुसुमैः—फूलों से; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण पर; प्रेम—प्रेम तथा स्नेहवश; व्रीडा-स्मित-ईक्षणाः—लजीली हँसी से देखते हुए।

भगवान् को देखने की प्रेममयी इच्छा से कुरुओं की राजवंशी स्त्रियाँ राजमहल की छत पर चढ़ गईं और स्नेह तथा लज्जा से युक्त हँसती हुई भगवान् पर पुष्पों की वर्षा करने लगीं।

तात्पर्य : लज्जा स्त्रियों का विशिष्ट अतिरिक्त प्राकृतिक सौंदर्य है, और इसके कारण उन्हें पुरुषों से आदर मिलता है। *महाभारत* काल में अर्थात् पाँच हजार से अधिक समय पूर्व भी यह प्रथा प्रचलित थी। जो लोग विश्व इतिहास से परिचित नहीं हैं, ऐसे कम बुद्धि वाले लोग ही कहते हैं कि पुरुषों से स्त्रियों को पृथक् रखने की प्रथा भारत में मुसलमानों के आगमन में चालु हुई। *महाभारत* की यह घटना निश्चित रूप से यह सिद्ध करती है कि राजमहल की स्त्रियाँ *पर्दा* करती थीं (पुरुषों से बहुत कम मिलती थीं) और वे सब, नीचे न आकर जहाँ कृष्ण थे, राजमहल की छत पर चढ़ गईं और वहीं से कृष्ण के प्रति सम्मान जताने के लिए उन पर पुष्पों की वर्षा करने लगीं। यहाँ यह भी कहा गया है कि महल की छत पर स्त्रियाँ लज्जा के कारण मुस्करा भी रही थीं। यह लज्जा स्त्रियों को प्रकृति का वरदान है, इससे उनकी सुन्दरता तथा प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है, भले ही वे उच्चकुल की न भी हों या कम सुन्दर हों। हमें इसका निजी अनुभव है। एक मेहतरानी स्त्रियोचित लज्जा के कारण अनेक भद्र पुरुषों की श्रद्धा-भाजन बनी हुई थी। सड़क पर घूमनेवाली अर्धनग्न नारियाँ सम्मान नहीं प्राप्त कर पातीं, लेकिन एक लज्जाशील मेहतरानी सबों से सम्मान पाती है।

मानव सभ्यता मनुष्य को माया के चंगुल से छूटने में सहायक बनने के लिए है, जैसाकि भारत के ऋषियों-मुनियों की संकल्पना थी। स्त्री की भौतिक सुन्दरता मोह है, क्योंकि शरीर वास्तव में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, इत्यादि से बना हुआ है। लेकिन पदार्थ के साथ जीवन्त स्फुलिंग का संयोग है, अतएव यह सुन्दर लगता है। कोई मिट्टी की गुड़िया के प्रति आकृष्ट नहीं होता, यद्यपि यह दूसरों का ध्यान आकृष्ट करने के उद्देश्य से अच्छी से अच्छी बनाई जाती है। मृत

शरीर में कोई सौंदर्य नहीं होता, क्योंकि कोई भी तथाकथित सुन्दर स्त्री के मृत शरीर को स्वीकार नहीं करेगा। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि आत्मा का स्फुलिंग ही सुन्दर है और आत्मा की सुन्दरता से ही मनुष्य बाह्य शरीर के सौंदर्य के प्रति आकृष्ट होता है। इसीलिए वैदिक ज्ञान हमें झूठी सुन्दरता के प्रति आकृष्ट होने से मना करता है। लेकिन चूँकि अब हम अविद्या के अन्धकार में हैं, अतएव वैदिक सभ्यता स्त्री तथा पुरुष को मिलने की सीमित छूट देती है। वेदों का कहना है कि स्त्री अग्नि तुल्य है और मनुष्य नवनीत (मक्खन) के समान है। नवनीत अग्नि के संसर्ग से अवश्य पिघलता है, अतएव आवश्यकता पड़ने पर ही उन्हें पास-पास लाना चाहिए। और लज्जा ही अनियन्त्रित मिलने-जुलने पर प्रतिबन्ध-स्वरूप है। यह प्रकृति का वरदान है और इसका उपयोग होना चाहिए।

सितातपत्रं जग्राह मुक्तादामविभूषितम् ।
रत्नदण्डं गुडाकेशः प्रियः प्रियतमस्य ह ॥ १७॥

शब्दार्थ

सित-आतपत्रम्—सुखद छाता; जग्राह—ले लिया; मुक्ता-दाम—मोतियों तथा झालर से सजा; विभूषितम्—किनारी लगा; रत्न-दण्डम्—रत्नों के हत्थे वाला; गुडाकेशः—अर्जुन, पटु योद्धा के रूप में अथवा जिसने नींद जीत ली है; प्रियः—अत्यन्त प्यारा; प्रियतमस्य—अत्यन्त प्रिय का; ह—ऐसा ही किया।

उस समय महान् योद्धा तथा निद्रा को जीतनेवाले अर्जुन ने, जो परम प्रिय भगवान् का घनिष्ठ मित्र था, एक छाता ले लिया जिसका हत्था रत्नों का था और जिसमें मोतियों की झालर लगी थी।

तात्पर्य : विलासपूर्ण राजसी उत्सवों में सोना, रत्न, मोती तथा मूल्यवान पत्थरों का प्रयोग होता था। ये सब प्रकृति के उपहार हैं और भगवान् के आदेश से पर्वतों, समुद्रों द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं और तब वे उत्पन्न होते हैं, जब मनुष्य आवश्यकता के नाम पर व्यर्थ वस्तुओं के निर्मित करने में अपना अमूल्य समय नहीं गँवाता। औद्योगिक उपक्रमों के तथाकथित विकास से वे सोना, चाँदी, पीतल तथा ताँबा जैसी धातुओं के बजाय गटापारचा के बर्तनों को काम में लाते हैं।

वे शुद्ध घी (मार्गरीन) के स्थान पर कृत्रिम घी का प्रयोग कर रहे हैं और शहरी जनसंख्या के चौथाई भाग के पास रहने के लिए कोई आश्रयस्थान नहीं है।

उद्धवः सात्यकिश्चैव व्यजने परमाद्भुते ।
विकीर्यमाणः कुसुमै रेजे मधुपतिः पथि ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

उद्धवः—कृष्ण का चचेरा भाई; सात्यकिः—उनका सारथी; च—तथा; एव—निश्चय ही; व्यजने—पंखा झलने में व्यस्त; परम-अद्भुते—सजावटी; विकीर्यमाणः—बिखरे हुए (फूलों) पर आसीन; कुसुमैः—फूलों से; रेजे—आदेश दिया; मधु-पतिः—मधु के स्वामी (कृष्ण) ने; पथि—मार्ग पर।

उद्धव तथा सात्यकि अलंकृत पंखों से भगवान् पर पंखा झलने लगे और मधु के स्वामी कृष्ण ने बिखरे हुए पुष्पों पर आसीन होकर उन्हें मार्ग पर चलने के लिए आदेश दिया।

अश्रूयन्ताशिषः सत्यास्तत्र तत्र द्विजेरिताः ।
नानुरूपानुरूपाश्च निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अश्रूयन्त—सुना जाकर; आशिषः—आशीर्वाद; सत्याः—सभी सच हैं; तत्र—यहाँ; तत्र—वहाँ; द्विज-ईरिताः—विद्वान ब्राह्मणों द्वारा उच्चरित; न—नहीं; अनुरूप—अनुरूप; अनुरूपाः—योग्य; च—भी; निर्गुणस्य—परम का; गुण-आत्मनः—मनुष्य की भूमिका निभाते हुए।

जहाँ-तहाँ यह सुनाई पड़ रहा था कि कृष्ण को दिये गये आशीर्वाद, न तो उनके उपयुक्त हैं, न अनुपयुक्त, क्योंकि वे सब उन परम पुरुष के लिए थे जो इस समय मनुष्य की भूमिका निभा रहे थे।

तात्पर्य : जगह-जगह भगवान् श्रीकृष्ण को आशीर्वाद देने के उद्देश्य से वैदिक ध्वनियाँ हो रही थीं। ये आशीर्वाद इस अर्थ में उपयुक्त थे, कि भगवान् एक सामान्य मनुष्य की-सी भूमिका निभा रहे थे मानो वे महाराज युधिष्ठिर के फुफेरे भाई हों। लेकिन ये अनुपयुक्त भी थे, क्योंकि भगवान् परम पुरूष हैं और उन्हें भौतिक रिश्ते-नातों से कुछ भी लेना-देना नहीं होता। वे तो निर्गुण अर्थात् भौतिक गुणों से रहित हैं, फिर भी वे दिव्य गुणों से ओतप्रोत हैं। दिव्य जगत में कुछ भी विरोधाभासी नहीं होता, जबकि इस सापेक्ष जगत में सभी चीजें इसके उलट होती हैं।

उदाहरणार्थ, इस सापेक्ष जगत में श्वेत का विलोम श्याम होता है, लेकिन दिव्य जगत में श्वेत तथा श्याम में कोई अन्तर नहीं होता। अतएव परम पुरुष के प्रसंग में यत्र-तत्र विद्वान ब्राह्मणों द्वारा उच्चरित आशीर्वादात्मक ध्वनियाँ विलोम लग रही थीं, लेकिन जब वे परम पुरुष पर लागू होती हैं तो सारा विरोधाभास दूर हो जाता है और वे दिव्य बन जाती हैं। एक उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर देगा। भगवान् श्रीकृष्ण को कभी-कभी चोर कहा जाता है। अपने शुद्ध भक्तों में वे माखनचोर के नाम से अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। वे बचपन में वृन्दावन में अपने पड़ोसियों के घरों से माखन चुराते थे। तब से वे चोर-रूप में प्रसिद्ध हैं। लेकिन चोर के रूप में प्रसिद्ध होने पर भी उनकी चोर के रूप में पूजा की जाती है, जबकि सांसारिक जगत में चोर की कभी प्रशंसा नहीं की जाती और उसे दंडित किया जाता है। चूँकि वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, अतएव उन पर सब कुछ लागू होता है और समस्त विरोधाभासों के बावजूद वे भगवान् बने रहते हैं।

अन्योन्यमासीत्सञ्जल्प उत्तमश्लोकचेतसाम् ।
कौरवेन्द्रपुरस्त्रीणां सर्वश्रुतिमनोहरः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अन्योन्यम्—एक दूसरे में; आसीत्—था; सञ्जल्पः—बात; उत्तम-श्लोक—परमेश्वर, जिनकी प्रशंसा चुने हुए श्लोकों से की जाती है; चेतसाम्—जिनके हृदय इस प्रकार लीन हैं उनका; कौरव-इन्द्र—कुरुओं का राजा; पुर—राजधानी; स्त्रीणाम्—स्त्रियों का; सर्व—समस्त; श्रुति—वेद; मनः-हरः—मन को मोहित करनेवाला।

चुने हुए छन्दों से जिनकी स्तुति की जाती है, ऐसे भगवान् के दिव्य गुणों के विचार में डूबीं, हस्तिनापुर के सभी घरों की छतों पर चढ़ी हुई स्त्रियाँ, उनके विषय में बातें करने लगीं। ये बातें वैदिक स्तोत्रों से कहीं अधिक आकर्षक थीं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि समस्त वैदिक वाङ्मय का लक्ष्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण हैं। वस्तुतः भगवान् का यशोगान वेदों, *रामायण* तथा *महाभारत* जैसे ग्रंथों में अंकित है। और *भागवत* में तो विशेष रूप से परमेश्वर का यशोगान हुआ है। अतएव जब कुरुवंश के राजाओं की राजधानी में घरों की छतों पर स्त्रियाँ भगवान् के विषय में बातें कर रही थीं, तो उनकी बातें वैदिक स्तोत्रों से अधिक मनोहर लग रही थीं। भगवान् की प्रशंसा में जो भी गाया

जाय, वह *श्रुतिमन्त्र* है। गौड़ीय सम्प्रदायके आचार्य ठाकुर नरोत्तमदास ने सरल बाँग्ला भाषा में अनेक गीत लिखे हैं। लेकिन उसी सम्प्रदाय के एक अत्यन्त अन्य विद्वान आचार्य ठाकुर विश्वनाथ चक्रवर्ती ने नरोत्तमदास के इन गीतों को वैदिक-मन्त्रों के ही समान बताया है। इसका कारण है इनकी विषयवस्तु। भाषा का उतना महत्त्व नहीं है, विषयवस्तु की महत्ता होती है। उन सारी स्त्रियों में, जो कि भगवान् के विचार तथा कार्यों में लीन थीं, भगवान् की कृपा से वैदिक वाङ्मय की सी चेतना का विकास हो आया था। अतएव, भले ही वे स्त्रियाँ संस्कृत की अच्छी विद्वान न रही हों, तो भी उनकी बातें वैदिक स्तोत्रों की अपेक्षा अधिक मनोहर लग रही थीं। *उपनिषदों* में वैदिक स्तोत्र कभी-कभी अप्रत्यक्ष रूप से परमेश्वर के प्रति व्यक्त होते हैं। लेकिन स्त्रियों की बातें प्रत्यक्ष रूप से भगवान् के विषय में थीं, अतएव वे अधिक हृदयग्राही थीं। स्त्रियों की बातें विद्वान ब्राह्मणों के आशीर्वादों से अधिक मूल्यवान लग रही थीं।

स वै किलायं पुरुषः पुरातनो
य एक आसीदविशेष आत्मनि ।
अग्रे गुणेभ्यो जगदात्मनीश्वरे
निमीलितात्मन्निशि सुप्तशक्तिषु ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सः—वे (कृष्ण); वै—जैसा मुझे स्मरण है; किल—निश्चित रूप से; अयम्—यह; पुरुषः—भगवान्; पुरातनः—आदि; यः—जो; एकः—एकमात्र; आसीत्—विद्यमान थे; अविशेषः—भौतिक रूप से अव्यक्त; आत्मनि—स्वयं; अग्रे—सृष्टि के पूर्व; गुणेभ्यः—प्रकृति के गुणों का; जगत्-आत्मनि—परमात्मा में; ईश्वरे—भगवान् में; निमीलित—लीन; आत्मन्—जीव; निशि सुप्त—रात्रि में सोया हुआ; शक्तिषु—शक्तियों का।

वे कहने लगीं : जैसा हमें निश्चित रूप से स्मरण है, यही हैं वे, जो आदि परमेश्वर हैं। प्रकृति के गुणों की व्यक्त सृष्टि के पूर्व, वे ही अकेले विद्यमान थे। चूँकि वे परमेश्वर हैं, अतएव सारे जीव उन्हीं में लीन होते हैं, मानो रात्रि में सोये हुए हों और उनकी शक्ति रुक गई हो।

तात्पर्य : इस दृश्य जगत का विलय दो प्रकार से होता है। हर ४,३२,००,००,००० सौर वर्षों के बाद, जब एक ब्रह्माण्ड विशेष के स्वामी, ब्रह्मा, शयन करते हैं तो एक प्रलय होता है। ब्रह्मा

की एक सौ वर्ष की आयु के अन्त में (हमारी गणना के अनुसार ८,६४,००,००,००० X ३० X १२ X १०० सौर वर्ष) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का पूर्ण प्रलय होता है और दोनों ही बार, *महत्‌तत्त्व* अर्थात् भौतिक शक्ति तथा *जीवतत्व* अर्थात् तटस्था शक्ति, भगवान् के शरीर में लीन हो जाती हैं। सारे जीव भगवान् के शरीर में तब तक सुप्त रहते हैं, जब तक जगत की दूसरी सृष्टि नहीं हो जाती। भौतिक जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार का यही विधान है।

भगवान् द्वारा गतिमान किये जाने पर, भौतिक प्रकृति के तीन गुणों की अन्त:क्रिया से भौतिक सृष्टि होती है, इसीलिए यहाँ पर कहा गया है कि भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के गतिमान होने के पूर्व भगवान् विद्यमान थे। *श्रुति मन्त्र* में कहा गया है कि सृष्टि के पूर्व केवल सर्वोपरि भगवान् विष्णु का अस्तित्व था, तब न तो ब्रह्मा थे, न शिव, न ही कोई अन्य देवता। विष्णु का अर्थ है महाविष्णु, जो कारणार्णव समुद्र में लेटे हुए हैं। उनकी श्वास से ही सारे ब्रह्माण्ड बीज-रूप में उत्पन्न होते हैं और धीरे-धीरे प्रत्येक ब्रह्माण्ड के भीतर असंख्य ग्रहों का विराट रूप विकसित होता है। ब्रह्माण्डों के बीज उसी तरह विशाल आकार ग्रहण करते हैं, जिस प्रकार एक वटवृक्ष के बीजों से असंख्य वटवृक्ष विकसित हो आते हैं।

ये महाविष्णु भगवान् श्रीकृष्ण के पूर्ण अंश हैं, जिनका उल्लेख *ब्रह्म-संहिता* में इस प्रकार हुआ है—

‘‘मैं उन आदि भगवान् गोविंद को सादर नमस्कार करता हूँ, जिनके पूर्ण अंश महाविष्णु हैं। ब्रह्माण्डों के अगुवा सारे ब्रह्मा, उनके दिव्य शरीर के रोमकूपों से उत्पन्न ब्रह्माण्डों के पश्चात्, उतने ही समय तक जीवित रहते हैं जितने में भगवान् श्वास छोड़ते हैं।'' (*ब्रह्म-संहिता* ५.५८)

इस प्रकार गोविन्द अर्थात् भगवान् कृष्ण महाविष्णु के भी कारण-स्वरूप हैं। स्त्रियों ने यह वैदिक सत्य किसी प्रामाणिक स्रोत से सुन रखा होगा, तभी वे इसके विषय में बातें कर रही थीं। दिव्य विषयों के सही-सही ज्ञान पाने का एकमात्र साधन होता है, कोई प्रामाणिक स्रोत। इसका कोई विकल्प नहीं है।

महाविष्णु के शरीर में जीवों का प्रवेश, ब्रह्मा के एक सौ वर्ष बाद स्वतः हो जाता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्तिगत जीव अपनी सत्ता (पहचान) खो देता है। सत्ता तो बनी ही रहती है और ज्योंही भगवान् की परम इच्छा से दूसरी सृष्टि होती है, तो सारे सुप्त, निष्क्रिय जीवों को छोड़ दिया जाता है, जिससे वे अपने पूर्व जीवन के विभिन्न कार्यक्षेत्रों के अनुसार अपने कार्यों को आगे बढ़ा सकते हैं। यह *सुप्तोत्थित* न्याय अर्थात् 'निद्रा से जगकर पुनः अपने कर्म में लग जाना' कहलाता है। रात्रि में जब मनुष्य सोता है, तब वह यह भूल जाता है कि वह कौन है, उसका क्या कर्तव्य है और वह जगते समय की सारी बातें भूल जाता है। किन्तु ज्योंही वह नींद से उठता है, तो उसे जो कुछ करना होता है, सब स्मरण हो आता है और वह फिर से अपने कार्यकलाप में लग जाता है। सारे जीव भी,प्रलय के समय, महाविष्णु के शरीर में लीन रहते हैं, किन्तु ज्योंही दूसरी सृष्टि होती है, वे उठकर अपना अधूरा काम पूरा करने लगते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (८.१८-२०) में भी हुई है।

सृजनात्मक शक्ति के सक्रिय अवस्था में आने के पूर्व भगवान् का अस्तित्व था। भगवान् भौतिक शक्ति से उत्पन्न नहीं हुए हैं। उनका शरीर पूर्ण रूप से आध्यात्मिक है और उनके शरीर तथा उनमें कोई अन्तर नहीं है। सृष्टि के पूर्व भगवान् अपने परम धाम में रहते थे, जो परम पूर्ण और अद्वितीय है।

स एव भूयो निजवीर्यचोदितां
स्वजीवमायां प्रकृतिं सिसृक्षतीम् ।
अनामरूपात्मनि रूपनामनी
विधित्समानोऽनुससार शास्त्रकृत् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सः—वे; एव—इस प्रकार; भूयः—फिर से; निज—अपना; वीर्य—पराक्रम; चोदिताम्—सम्पन्नता का; स्व—अपना; जीव—जीव; मायाम्—बाह्य शक्ति; प्रकृतिम्—भौतिक प्रकृति को; सिसृक्षतीम्—पुनः सृष्टि करते समय; अनाम—बिना उपाधि के; रूप-आत्मनि—आत्मा के स्वरूप; रूप-नामनी—रूप तथा नाम; विधित्समानः—प्रदान करने की इच्छा करते; अनुससार—हस्तान्तरित कर दिया; शास्त्र-कृत्—शास्त्रों के संग्राहक।

तब भगवान् ने अपने अंशस्वरूप जीवों को, नाम तथा रूप प्रदान करने की इच्छा से, उन्हें भौतिक प्रकृति के मार्गदर्शन के अन्तर्गत कर दिया। उनकी ही अपनी शक्ति से भौतिक प्रकृति को पुनः सृष्टि करने के लिए अधिकृत कर दिया गया है।

तात्पर्य : सारे जीव भगवान् के अंश हैं। वे दो प्रकार के हैं—*नित्य मुक्त* तथा *नित्य बद्ध। नित्य मुक्त* शाश्वत रूप से मुक्त जीव हैं और वे भगवान् के दिव्य धाम में, जो दृश्य जगत से परे है, दिव्य प्रेममयी सेवा के आदान-प्रदान में नित्य निमग्न रहते हैं। लेकिन *नित्य बद्ध* अर्थात् शाश्वत रूप से बद्धजीवों का जिम्मा बहिरंगा शक्ति, *माया* पर रहता है कि वह परम पिता के प्रति उनकी विद्रोहात्मक मनोवृत्ति को सुधारे। *नित्य बद्ध* यह सदैव भूले रहते हैं कि भगवान् के साथ उनका सम्बन्ध उनके अंश के रूप में है। वे माया द्वारा पदार्थ के उत्पादों के रूप में मोहग्रस्त रहते हैं और इस तरह वे सुखी बनने के लिए भौतिक जगत में नाना प्रकार की योजनाएँ बनाते रहते हैं। वे इन योजनाओं को खुशी-खुशी आगे बढ़ाते हैं, लेकिन भगवान् की इच्छा से योजना बनानेवाले तथा उनकी योजनाएँ कुछ काल बाद ध्वस्त हो जाती हैं—जैसाकि पहले कहा जा चुका है। *भगवद्गीता* (९.७) में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है, ''हे कुन्ती-पुत्र! कल्प के अन्त में सारे जीव मेरी प्रकृति में लीन हो जाते हैं और जब पुनः सृष्टि करने का समय आता है, तो मैं अपनी बहिरंगा शक्ति से सृष्टि प्रारम्भ करता हूँ।''

भूयः शब्द पुनः पुनः का सूचक है अर्थात् यह बताता है कि सृष्टि, पालन तथा संहार की क्रिया भगवान् की बहिरंगा शक्ति से अनवरत चलती रहती है। वे ही सबके कारण हैं। लेकिन सारे जीव, जो स्वाभाविक रूप से भगवान् के अंश हैं और मधुर सम्बन्ध को भुलाये रहते हैं, उन्हें बहिरंगा शक्ति के चंगुल से छूटने का अवसर पुनः प्रदान किया जाता है। और जीव की चेतना को पुर्नजागृत करने के लिए, शास्त्रों की सृष्टि भी भगवान् ही करते हैं। बद्धजीव के लिए वैदिक वाङ्मय दिशा निर्देश करनेवाला है, जिससे वे भौतिक जगत तथा भौतिक शरीर की सृष्टि तथा संहार के पुनरावर्तन से मुक्त हो सकें।

भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं, ''यह उत्पन्न हुआ जगत तथा भौतिक शक्ति मेरे वश में हैं। प्रकृति के प्रभाव से, वे स्वत: बार-बार उत्पन्न होते हैं और यह सब मेरे द्वारा मेरी बहिरंगा शक्ति के माध्यम से किया जाता है।''

वस्तुत: आध्यात्मिक स्फुलिंग-रूपी जीवों का कोई नाम या रूप नहीं होता। लेकिन भौतिक रूपों तथा नामों की भौतिक शक्ति पर प्रभुत्व जताने की इच्छा-पूर्ति के लिए, उन्हें ऐसे झूठे भोग का अवसर प्रदान किया जाता है और उसी के साथ ही साथ उन्हें शास्त्रों के माध्यम से वास्तविक स्थिति को समझने का अवसर दिया जाता है। मूर्ख तथा भुलक्कड़ जीव सदैव झूठे रूपों तथा झूठे नामों में व्यस्त रहता है। आधुनिक राष्ट्रवाद ऐसे झूठे नामों तथा झूठे रूपों की चरम परिणति है। मनुष्य झूठे नाम और मिथ्या रूप के पीछे पागल बने रहते हैं। किन्हीं परिस्थितियों में प्राप्त शरीर के रूप को वास्तविक मान लिया जाता है और इस प्रकार से प्राप्त नाम भी अनेक ''वादों'' के नाम पर शक्ति का दुरुपयोग करने में बद्धजीवों को मोहित करता है। तथापि शास्त्र वास्तविक स्थिति को समझने के लिए संकेत प्रदान करते हैं, किन्तु लोग विभिन्न देश-काल के लिए भगवान् द्वारा निर्मित शास्त्रों से शिक्षा ग्रहण करते हुए कतराते हैं। उदाहरणार्थ, *भगवद्गीता* प्रत्येक मानव के लिए पथप्रदर्शिका है, लेकिन भौतिक शक्ति के जादू से वे *भगवद्गीता* द्वारा बताई गई जीवन-शैली को नहीं अपनाते। जिसने *भगवद्गीता* के सिद्धान्तों को पूरी तरह समझ लिया है, उसके लिए *श्रीमद्भागवत* स्नातकोत्तर अध्ययन का विषय है। दुर्भाग्यवश लोगों में उसके लिए रुचि नहीं है, अतएव वे माया के चंगुल में फँसकर बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्र में आ जाते हैं।

स वा अयं यत्पदमत्र सूरयो
जितेन्द्रिया निर्जितमातरिश्वन: ।
पश्यन्ति भक्त्युत्कलितामलात्मना
नन्वेष सत्त्वं परिमार्ष्टुमर्हति ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

स:—वह; वै—भगवत्कृपा द्वारा; अयम्—यह; यत्—जो; पदम् अत्र—यहाँ वही भगवान् श्रीकृष्ण हैं; सूरय:—बड़े-बड़े भक्त-गण; जित-इन्द्रिया:—जिन्होंने इन्द्रियों के प्रभाव को जीत लिया है; निर्जित—पूर्ण रूप से संयमित; मातरिश्वन:—

जीवन; पश्यन्ति—देख सकते हैं; भक्ति—भक्तिमय सेवा से; उत्कलित—विकसित; अमल-आत्मना—जिनके मन पूरी तरह विमल हैं उनका; ननु एषः—निश्चित रूप से इसी के द्वारा; सत्त्वम्—जगत, अस्तित्व; परिमार्ष्टुम्—मन को पूरी तरह स्वच्छ करने के लिए; अर्हति—के योग्य है।

ये वे ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, जिनके दिव्य रूप का अनुभव बड़े-बड़े भक्तों द्वारा किया जाता है, जिन्होंने सुदृढ़ भक्ति द्वारा तथा जीवन एवं इन्द्रियों पर पूर्ण संयम द्वारा, भौतिक चेतना से पूर्ण रूप से विशुद्ध हो चुके हैं। तथा अस्तित्व को विमल बनाने का यही एकमात्र मार्ग है।

तात्पर्य : जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भगवान् केवल भक्तिमय सेवा द्वारा अपने वास्तविक रूप में जाने जा सकते हैं। अतएव यहाँ पर बताया गया है कि केवल महान् भगवद्भक्त, जो कठिन भक्तिमय सेवा द्वारा मन के सारे भौतिक मैल को धो सकते हैं, वे ही भगवान् को यथारूप अनुभव कर सकते हैं। *जितेन्द्रिय* का अर्थ है, इन्द्रियों पर पूरा नियन्त्रण रखने वाला। इन्द्रियाँ शरीर की सक्रिय अंग हैं और उनके कार्यों को रोक पाना सम्भव नहीं। इन्द्रियों को निष्क्रिय बनाने के लिए योग के कृत्रिम साधन सर्वथा निष्फल सिद्ध हुए हैं, यहाँ तक कि विश्वामित्र मुनि जैसे महान् *योगी* सरीखे के प्रसंग में भी। विश्वामित्र मुनि ने यौगिक समाधि के द्वारा इन्द्रियों को वश में कर रखा था, किन्तु जब उनकी भेंट मेनका (स्वर्ग की अप्सरा) से हो गई, तो वे काम के शिकार हो गये और इन्द्रियों को वश में करने की उनकी कृत्रिम विधि विफल हो गई। लेकिन शुद्ध भक्त के किस्से में ऐसा नहीं होता कि कृत्रिम साधन से इन्द्रियों को कार्य करने से रोका जाय, अपितु उन्हें अन्य अच्छे कार्यों में व्यस्त रखा जाता है। जब इन्द्रियाँ अधिक आकर्षक कार्यों में लग जाती हैं, तो किन्हीं निकृष्ट कार्यों के प्रति उनके उन्मुख होने की सम्भावना नहीं रह जाती। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि *इन्द्रियों को अच्छे कार्यों में लगाने के ही द्वारा ही वश में रखा जा सकता है।* भक्ति की अनिवार्यता है कि इन्द्रियों को विमल किया जाय या भक्तिमय सेवा में लगाया जाय। भक्ति का अर्थ निष्क्रियता नहीं है। भगवान् की सेवा में जो कुछ भी किया जाता है, वह उनकी भौतिक प्रकृति से तुरन्त ही पवित्र हो जाता है। भौतिक धारणा अज्ञान के कारण ही है। वासुदेव के परे कुछ भी नहीं है। ग्रहणशील इन्द्रियों के दीर्घकालीन अभ्यास से ही विद्वान के हृदय में धीरे-धीरे वासुदेव अनुभूति जागृत होती है। लेकिन 'वासुदेव ही

सब कुछ हैं' ऐसा स्वीकार करने के ज्ञान में ही इस विधि का समापन होता है। भक्तिमय सेवा में यही विधि शुरूआत से स्वीकार की जाती है और भगत्वकृपा से अन्त:करण में भगवान् के आदेश से, सारा वास्तविक ज्ञान प्रकट हो जाता है। अतएव भक्तिमय सेवा द्वारा इन्द्रियों को वश में करना एकमात्र सरलतम साधन है।

स वा अयं सख्यनुगीतसत्कथो
वेदेषु गुह्येषु च गुह्यवादिभिः ।
य एक ईशो जगदात्मलीलया
सृजत्यवत्यत्ति न तत्र सज्जते ॥ २४॥

शब्दार्थ

सः—वे; वै—भी; अयम्—यह; सखि—हे सखी; अनुगीत—वर्णित; सत्-कथः—श्रेष्ठ लीलाएँ; वेदेषु—वेदों में; गुह्येषु—गोपनीय रीति से; च—भी; गुह्य-वादिभिः—गुह्य भक्तों द्वारा; यः—जो; एकः—केवल एक; ईशः—परम नियन्ता; जगत्—सारी सृष्टि के; आत्म—परमात्मा; लीलया—लीलाओं के प्राकट्य द्वारा; सृजति—सृजन करते हैं; अवति अत्ति—पालन करते हैं तथा संहार करते हैं; न—कभी नहीं; तत्र—वहाँ; सज्जते—उसमें आसक्त होते हैं।

हे सखियो, यहाँ पर वही भगवान् हैं, जिनकी आकर्षक तथा गोपनीय लीलाओं का वर्णन बड़े-बड़े भक्तों द्वारा वैदिक साहित्य के गुह्यतम अंशों में हुआ है। वे ही भौतिक जगत की सृष्टि करने वाले, पालने वाले तथा संहार करनेवाले हैं, फिर भी वे उससे अप्रभावित रहते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि सारा वैदिक साहित्य भगवान् श्रीकृष्ण की महानता का यशोगान करता है। यहाँ पर भागवत में भी इसकी पुष्टि की गई है। वेदों की अनेक शाखाएँ तथा उपशाखाएँ हैं और इसका विस्तार महान भक्तों यथा व्यास, नारद, शुकदेव गोस्वामी, कुमारगण, कपिल, प्रह्लाद, जनक, बलि तथा यमराज जैसे भगवान् के शक्त्यावेश अवतारों द्वारा हुआ है, लेकिन उनकी लीलाओं का गुह्य अंश, गुह्य भक्त शुकदेव गोस्वामी द्वारा *श्रीमद्भागवत* में विशेष रूप से वर्णित हुआ है। *वेदान्त-सूत्र* या *उपनिषदों* में उनकी लीलाओं के गुह्य अंशों का संकेत मात्र हुआ है। ऐसे वैदिक साहित्य में, जैसे कि उपनिषदों में भगवान् के स्वरुप को स्पष्ट रूप से संसारी अवधारणा से पृथक् दिखाया गया है। उनकी पहचान पूर्ण रूप से आध्यात्मिक होने

के कारण उनके रूप, नाम, गुण, साज-समान इत्यादि को विस्तारपूर्वक पदार्थ से पृथक् दिखाया गया है। इसीलिए कभी-कभी अल्प बुद्धिवाले उन्हें निराकार मानने का भ्रम कर बैठते हैं। लेकिन वास्तव में वे परम पुरुष, भगवान् हैं और परमात्मा या निराकार ब्रह्म के रूप में उनकी अभिव्यक्ति केवल आंशिक रूप से ही होती है।

यदा ह्यधर्मेण तमोधियो नृपा
जीवन्ति तत्रैष हि सत्त्वत: किल ।
धत्ते भगं सत्यमृतं दयां यशो
भवाय रूपाणि दधद्युगे युगे ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब-जब; हि—निश्चय ही; अधर्मेण—ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध; तम:-धिय:—तमोगुणी पुरुष; नृपा:—राजा तथा प्रशासक; जीवन्ति—पशुओं के समान रहते हैं; तत्र—तत्पश्चात्; एष:—वह; हि—केवल; सत्त्वत:—दिव्य; किल—निश्चय ही; धत्ते—प्रकट होता है; भगम्—परम शक्ति; सत्यम्—सत्य; ऋतम्—सरलता; दयाम्—दया; यश:—अद्भुत कार्यकलाप; भवाय—पालन हेतु; रूपाणि—विभिन्न रूपों में; दधत्—प्रकट; युगे—विभिन्न कालों में; युगे—तथा युगों में।.

जब भी राजा तथा प्रशासक, तमोगुण में स्थित पशुओं की तरह रहते हैं, तो भगवान् अपने दिव्य रूप में अपनी परम शक्ति, सत्य ऋत, को प्रकट करते हैं, श्रद्धालुओं पर विशेष दया दिखाते हैं, अद्भुत कार्य करते हैं तथा विभिन्न कालों तथा युगों में आवश्यकतानुसार विभिन्न दिव्य रूप प्रकट करते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा गया है, दृश्य जगत परमेश्वर की सम्पत्ति है। यह *ईशोपनिषद्* का मूल दर्शन है—प्रत्येक वस्तु परमेश्वर की सम्पत्ति है। अतएव किसी को उनकी सम्पत्ति पर अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। उन्होंने कृपापूर्वक जो कुछ दिया है, उसे ही स्वीकार करना चाहिए। अतएव यह पृथ्वी या कोई भी अन्य ग्रह या ब्रह्माण्ड एक मात्र भगवान् की सम्पत्ति है। सारे जीव निश्चय ही उनके अंश या सन्तानें हैं और इस प्रकार उनमें से हर एक को अपना नियत कार्य करने के लिए उनकी दया पर जीने का अधिकार है। अतएव जब तक किसी को भगवान् से अनुमति प्राप्त न हो, तब तक वह किसी पराये व्यक्ति या पशु के अधिकार पर अतिक्रमण नहीं कर सकता। राजा या प्रशासक भगवान् के इच्छित प्रबन्ध की देख-रेख करने के लिए उनका

प्रतिनिधि होता है। अतएव, उसे महाराज युधिष्ठिर या परीक्षित के समान मान्य व्यक्ति होना चाहिए। ऐसे राजाओं को विश्व पर शासन करने का ज्ञान तथा पूरा-पूरा उत्तरदायित्व प्रामाणिक पुरुषों से प्राप्त होता है। लेकिन समय-समय पर भौतिक प्रकृति के निम्न गुण तमोगुण के प्रभाव से, राजा तथा प्रशासक बिना किसी ज्ञान तथा उत्तरदायित्व के सत्तारूढ हो जाते हैं और ऐसे मूर्ख प्रशासक अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए पशुओं की तरह रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि पूरा वातावरण अराजकता तथा विषाक्त तत्त्वों से परिपूरित हो उठता है। मानव समाज में भाई-भतीजावाद, घूस, धोखाधड़ी, मारामारी तथा इसके कारण दुर्भिक्ष, रोग, युद्ध तथा इसी प्रकार के अन्य उद्विग्नकारी तत्त्वों का प्राधान्य हो जाता है। भगवान् के भक्त या श्रद्धालु लोगों को सभी प्रकार से दण्डित किया जाता है। ये सारे लक्षण इस बात के सूचक हैं कि धर्म की स्थापना करने तथा कुशासन का विनाश करने के लिए भगवान् अवतार लेने वाले हैं। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई है।

भगवान् तब भौतिक गुणों से रंचमात्र भी प्रभावित हुए बिना, अपने दिव्य रूप में प्रकट होते हैं। वे अपनी सृष्टि के राज्य को सामान्य अवस्था में रखने के लिए ही अवतरित होते हैं। सामान्य अवस्था यह है कि प्रत्येक ग्रह के निवासियों की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भगवान् द्वारा प्रबन्ध रहता है। वे प्रामाणिक शास्त्रों में वर्णित विधि-विधानों का अनुसरण करते हुए सुखपूर्वक रह सकते हैं और अपने लिए पूर्व-निश्चित कर्म करते हुए अन्त में मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। इस भौतिक जगत की सृष्टि *नित्य बद्ध* जीवों की मनमानी इच्छाओं की पूर्ति के लिए वैसे ही की जाती है, जिस प्रकार कि शरारती लड़कों के हाथ में खिलौने पकड़ा दिये जाते हैं। अन्यथा भौतिक जगत की कोई आवश्यकता न थी। लेकिन जब ये भगवान् की अनुमति के बिना, विज्ञान की शक्ति द्वारा अवैध रूप से संसाधनों का दोहन करने के लिए उन्मत्त हो उठते हैं और वह भी केवल इन्द्रिय-तृप्ति के लिए, तब आततायियों को दण्ड देने तथा श्रद्धालुओं की रक्षा करने के लिए भगवान् को अवतार लेना पड़ता है।

जब वे अवतरित होते हैं, तब वे अपना परम अधिकार जताने के लिए अलौकिक कार्य करते हैं और रावण, हिरण्यकशिपु तथा कंस जैसे भौतिकतावादियों को समुचित रूप से दण्डित करते हैं। वे इस तरह कर्म करते हैं कि कोई उनकी नकल नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ, जब राम के रूप में भगवान् प्रकट हुए, तो उन्होंने हिन्द महासागर पर सेतु बाँधा। जब वे कृष्ण के रूप में अवतरित हुए, तो उन्होंने बचपन से ही पूतना, अघासुर, शकटासुर, कालिय और अन्त में अपने मामा कंस का बध करके अलौकिक कृत्यों का प्रदर्शन किया। जब वे द्वारका में थे, तो उन्होंने १६,१०८ रानियों से विवाह किया और उन सबसे प्रचुर संख्या में सन्तानें हुईं। उनके निजी परिवार के सदस्यों की संख्या कुल मिलाकर १ लाख तक पहुँच गई, और वे यदु-वंश के नाम से प्रसिद्ध हुए। पुनः उन्होंने अपने जीवन-काल में ही, उन सबका विनाश भी कर दिया। वे गोवर्धनधारी हरि के नाम से प्रसिद्ध हैं, क्योंकि सात वर्ष की अल्प आयु में ही, उन्होंने गोवर्धन नामक पर्वत उठा लिया था। उन्होंने उस काल के अनेक अवांछित राजाओं का वध किया और क्षत्रिय के रूप में उन्होंने वीरतापूर्वक युद्ध किया। वे *असमौर्ध्व,* जिसका अर्थ है, अर्थात् अद्वितीय के नाम से प्रसिद्ध हैं। कोई न तो उनके समान है और न उनसे बढ़कर है।

अहो अलं श्लाघ्यतमं यदोः कुल-
महो अलं पुण्यतमं मधोर्वनम् ।
यदेष पुंसामृषभः श्रियः पतिः
स्वजन्मना चङ्क्रमणेन चाञ्चति ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; अलम्—सचमुच; श्लाघ्य-तमम्—सर्वाधिक यशस्वी; यदोः—यदु राजा के; कुलम्—वंश; अहो—ओह; अलम्—सचमुच; पुण्य-तमम्—अत्यन्त पुण्यात्मा; मधोः वनम्—मथुरा की भूमि; यत्—क्योंकि; एषः—यह; पुंसाम्—समस्त जीवों का; ऋषभः—परम नायक; श्रियः—लक्ष्मी के; पतिः—पति; स्व-जन्मना—अपने आविर्भाव से; चङ्क्रमणेन—विचरण द्वारा; च अञ्चति—महिमा।

ओह, यदुवंश कितना यशस्वी है और मथुरा की भूमि कितनी पुण्यमयी है, जहाँ समस्त जीवों के परम नायक, लक्ष्मीपति ने जन्म लिया और अपने बचपन में विचरण किया है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने दिव्य प्रादुर्भाव, तिरोधान तथा लीलाओं का विशद वर्णन किया है। भगवान् अपनी अकल्पनीय शक्ति से किसी परिवार या स्थान विशेष में प्रकट होते हैं। वे बद्धजीव की भाँति जन्म लेकर एक शरीर को त्याग कर दूसरा शरीर धारण नहीं करते। उनका जन्म सूर्योदय तथा सूर्यास्त की भाँति होता है। सूर्य पूर्वी-क्षितिज में उदय होता है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता कि पूर्वी क्षितिज उसका जनक है। सौरमण्डल के प्रत्येक भाग में सूर्य का अस्तित्व रहता है, किन्तु वह एक निश्चित समय पर दृष्टिगोचर होता है और फिर उसी तरह किसी अन्य निश्चित समय पर अस्त हो जाता है। इसी तरह भगवान् इस ब्रह्माण्ड में सूर्य की भाँति प्रकट होकर फिर हमारी दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। वे हर समय, हर स्थान पर विद्यमान रहते हैं, लेकिन जब वे अपनी अहैतुकी कृपावश हमारे समक्ष प्रकट होते हैं, तो हम मान बैठते हैं कि उन्होंने जन्म लिया है। जो कोई इस सत्य को शास्त्रों के कथनानुसार समझ लेता है, वह वर्तमान शरीर त्याग करते ही मुक्त हो जाता है। मोक्ष अनेक जन्मों के बाद और वह भी धैर्य और लगन एवं ज्ञान तथा वैराग्य में रहते हुए गहन प्रयास के बाद प्राप्त होता है। लेकिन यदि कोई भगवान् के दिव्य जन्म तथा कर्म के मर्म को सचमुच समझ लेता है, तो वह तुरन्त मोक्ष पा लेता है। यह *भगवद्गीता* का निर्णय है। लेकिन जो अविद्या के अन्धकार में हैं, वे यह मान बैठते हैं कि भगवान् के जन्म तथा कर्म भौतिक जगत में एक सामान्य व्यक्ति जैसे होते है। ऐसे अपूर्ण निष्कर्ष से किसी को भी मोक्ष नहीं मिल सकता। अतएव यदुवंश में राजा वसुदेव के पुत्र के रूप में उनका जन्म और मथुरा भूमि में नंद महाराज के परिवार में उनका भेजा जाना—ये सब भगवान् की अन्तरंगा शक्ति की दिव्य योजनाएँ हैं। यदुवंश तथा मथुरावासियों के सौभाग्य का अनुमान भौतिक दृष्टि से नहीं लगाया जा सकता। यदि भगवान् के जन्म तथा कर्म की दिव्य प्रकृति को जान लेने मात्र से सरलता से मोक्ष मिल सकता है, तो फिर जिन लोगों ने उनके पारिवारिक सदस्य के रूप में, या पड़ोसी रूप में, भगवान् की संगति का वास्तविक भोग किया है, उनके भाग्य का क्या कहना? जिन लोगों को लक्ष्मीपति भगवान् के सान्निध्य का सुअवसर प्राप्त हुआ, उन्हें तो

निश्चित रूप से *मुक्ति से बढ़कर* उपलब्धि हुई होगी। अतएव सचमुच ही, भगवान् की कृपा से उनका वंश तथा उनकी भूमि, दोनों ही सदैव यशस्वी हैं।

अहो बत स्वर्यशसस्तिरस्करी
कुशस्थली पुण्ययशस्करी भुवः ।
पश्यन्ति नित्यं यदनुग्रहेषितं
स्मितावलोकं स्वपतिं स्म यत्प्रजाः ॥ २७॥

शब्दार्थ

अहो बत—यह कितना आश्चर्यजनक है; स्वः-यशसः—स्वर्ग की महिमा; तिरस्करी—पराजित करनेवाली; कुशस्थली—द्वारका; पुण्य—शुभकर्म; यशस्करी—प्रसिद्ध; भुवः—पृथ्वीलोक; पश्यन्ति—देखते हैं; नित्यम्—निरन्तर; यत्—जो; अनुग्रह-इषितम्—वर देने के लिए; स्मित-अवलोकम्—मृदु मुसकान भरी चितवन; स्व-पतिम्—जीवों के आत्मा (कृष्ण) को; स्म—करते थे; यत्-प्रजाः—उस स्थान के निवासी।

निस्सन्देह, यह कितना आश्चर्यजनक है कि द्वारका ने स्वर्ग के यश को पिछाड़ कर पृथ्वी की प्रसिद्धि को बढ़ाया है। द्वारका के निवासी उनके प्रिय स्वरूप में समस्त जीवों के आत्मा (कृष्ण) का सदैव दर्शन करते हैं। भगवान् उन पर दृष्टिपात करते हैं और अपनी मुसकान भरी चितवन से उन्हें कृतार्थ करते हैं।

तात्पर्य : स्वर्ग में इन्द्र, चन्द्र, वरुण तथा वायु जैसे देवता निवास करते हैं और पुण्यात्माएँ वहाँ तभी पहुँचते हैं, जब पृथ्वी पर वे अनेक पुण्यकर्म करते हैं। आधुनिक विज्ञानी स्वीकार करते हैं कि उच्चलोकों में काल की व्यवस्था पृथ्वी से भिन्न है। इस प्रकार प्रामाणिक शास्त्रों से यह पता चलता है कि वहाँ पर आयु (हमारी गणना के अनुसार) दस हजार वर्ष है। पृथ्वी के छह मास, स्वर्ग के एक दिन के बराबर होते हैं। इसी प्रकार भोग की सुविधाएँ भी अधिक हैं और वहाँ के निवासियों की सुन्दरता अतिशय है। पृथ्वी के सामान्य लोग स्वर्ग पहुँचने के लिए अत्यन्त इच्छुक रहते हैं, क्योंकि उन्होंने सुन रखा है कि पृथ्वी की अपेक्षा वहाँ जीव को अधिक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। अब वे अन्तरिक्ष यान द्वारा चन्द्रमा पर पहुँचने का प्रयास कर रहे हैं। इन सब बातों पर विचार करते हुए पृथ्वी की अपेक्षा स्वर्ग अधिक प्रसिद्ध है। लेकिन द्वारका के कारण पृथ्वी की प्रसिद्धि ने स्वर्ग को पीछे छोड़ दिया है, क्योंकि यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने राजा के रूप में राज्य

किया। इस पृथ्वी के तीन स्थान—वृन्दावन, मथुरा तथा द्वारका—ब्रह्माण्ड के प्रसिद्ध लोकों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ये तीनों स्थान इसीलिए निरन्तर पवित्र हैं, क्योंकि जब भी भगवान् अवतरित होते हैं, तो वे विशेषकर इन्हीं तीन स्थानों में अपनी दिव्य लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं। ये निरन्तर भगवान् के पवित्र स्थल हैं और आज भी भगवान् के यहाँ दृष्टिगोचर न होने पर भी भक्तगण इन पवित्र स्थानों का लाभ उठाते हैं। भगवान् सभी जीवों के आत्मा हैं और वे चाहते हैं कि सारे जीव अपने *स्वरूप* में रहकर, उनके सान्निध्य में दिव्य जीवन में भाग लेते रहें। उनका आकर्षक रूप तथा उनकी मधुर मुसकान प्रत्येक के हृदय में घर करने वाली है और एक बार ऐसा हो जाने पर जीव भगवान् के धाम में प्रवेश पा जाता है, जहाँ से कोई भी लौटता नहीं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है।

भले ही स्वर्ग के ग्रह भौतिक भोग की अच्छी सुविधाएँ देने के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध क्यों न हों, लेकिन *भगवद्गीता* (९.२०-२१) से हम जान पाते हैं कि ज्योंही संचित पुण्य क्षीण हो जाते हैं, त्योंही मनुष्य को पृथ्वी पर पुनः आना पड़ता है। द्वारका स्वर्गलोक से इसलिए अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जिस किसी को भी भगवान् की स्मित चितवन की प्राप्ति हुई है, उसे इस सड़ी-गली पृथ्वी पर फिर से नहीं आना पड़ता—जिसे भगवान् ने भी जिसे दुख का स्थान बताया है। न केवल यह पृथ्वी, अपितु ब्रह्माण्ड के सारे लोक दुख के स्थान हैं, क्योंकि ब्रह्माण्ड के किसी भी लोक में न तो शाश्वत जीवन है, न शाश्वत आनन्द और न शाश्वत ज्ञान है। जो व्यक्ति भगवान् की भक्तिमय सेवा में लीन रहता है, उसके लिए उपर्युक्त तीनों स्थानों—द्वारका, मथुरा या वृन्दावन—में से किसी एक में रहने की संस्तुति की जाती है। चूँकि इन तीनों स्थानों में भक्ति का प्रवर्द्धन होता है, अतएव जो लोग शास्त्रों की बताई विधि से नियमों का पालन करने के लिए वहाँ जाते हैं, उन्हें वैसा ही फल मिलता है, जैसा भगवान् श्रीकृष्ण के उपस्थित रहने पर मिलता था। उनका धाम तथा स्वयं वे अभिन्न हैं और आज भी कोई शुद्ध भक्त किसी अन्य अनुभवी भक्त के निर्देशन में सारे फल प्राप्त कर सकता है।

नूनं व्रतस्नानहुतादिनेश्वरः
समर्चितो ह्यस्य गृहीतपाणिभिः ।
पिबन्ति याः सख्यधरामृतं मुहु-
र्व्रजस्त्रियः सम्मुमुहुर्यदाशयाः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निश्चय ही पूर्व जन्म में; व्रत—अनुष्ठान, व्रत; स्नान—स्नान; हुत—अग्नि में आहुति; आदिना—आदि द्वारा; ईश्वरः—भगवान्; समर्चितः—पूरी तरह से पूजित; हि—निश्चय ही; अस्य—उनका; गृहीत-पाणिभिः—विवाहिता स्त्रियों द्वारा; पिबन्ति—स्वाद लेते हैं; याः—जो; सखि—हे सखी; अधर-अमृतम्—उनके होंठों का अमृत; मुहुः—पुनः पुनः; व्रज-स्त्रियः—व्रजभूमि की बालाएँ; सम्मुमुहुः—बहुधा मूर्छित हो जाती थीं; यत्-आशयाः—इस प्रकार से अनुग्रह की आशा करते हुए।

हे सखियो, तनिक उनकी पत्नियों के विषय में सोचो, जिनके साथ उनका पाणिग्रहण हुआ था। उन्होंने कैसा व्रत, स्नान, यज्ञ तथा ब्रह्माण्ड के स्वामी की सम्यक् पूजा की होगी, जिससे वे सब उनके अधरामृत का निरन्तर आस्वादन (चुम्बन द्वारा) कर रही हैं? ब्रजभूमि की बालाएँ ऐसी कृपा की कल्पना से ही प्रायः मूर्छित हो जाती होंगी।

तात्पर्य : शास्त्रों में दिये गये धार्मिक अनुष्ठान बद्धजीवों को सांसारिक गुणों से परिशुद्ध करने के निमित्त हैं, जिससे वे धीरे-धीरे परमेश्वर की दिव्य सेवा करने का अवसर पाने की अवस्था तक ऊपर उठ सकें। शुद्ध आध्यात्मिक जीवन की इस अवस्था को प्राप्त करना सर्वोच्च सिद्धि है और यह अवस्था जीवात्मा की वास्तविक पहचान अथवा *स्वरूप* कहलाती है। मुक्ति का अर्थ है, इस स्वरूप अवस्था का नवीकरण। *स्वरूप* की उस पूर्णावस्था में जीव प्रेमाभक्ति की पाँच अवस्थाओं में स्थापित होता है, जिनमें से एक अवस्था *माधुर्य* रस अथवा युगल प्रेम की मनोदशा भी है। भगवान् सदैव अपने में पूर्ण होते हैं, अतएव उन्हें अपने लिए किसी प्रकार की लालसा नहीं रहती। किन्तु अपने भक्त के प्रगाढ़ प्रेम की पूर्ति के लिए वे स्वामी, सखा, पुत्र या पति बनते रहते हैं। यहाँ पर माधुर्य रस के दो प्रकार के भक्तों का उल्लेख हुआ है। एक है *स्वकीय* तथा दूसरा है *परकीय।* दोनों ही सम्बन्ध भगवान् कृष्ण के साथ माधुर्य रस के होते हैं। द्वारका की रानियाँ *स्वकीया* थीं, अर्थात् वे विधिवत रूप से ब्याही हुई थीं, लेकिन व्रज की बालाएँ उनकी तब की तरुण मित्र थीं, जब वे अनब्याहे थे। भगवान् सोलह वर्ष की उम्र तक वृन्दावन में रहे और पास-पड़ोस की लड़कियों के साथ उनका मैत्री भाव *परकीय* था। इन बालिकाओं तथा रानियों को

शास्त्रोक्त व्रत, स्नान तथा अग्नि यज्ञ द्वारा कठिन तपस्याएँ करनी पड़ीं। लेकिन ये सब अनुष्ठान अपने आप में परिपूर्ण नहीं है, न सकाम कर्म और ज्ञान का अनुशीलन या योग की सिद्धि ही अपने में पूर्ण हैं। ये सब *स्वरूप* की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त करने के निमित्त हैं, भगवान् की वैधानिक दिव्य सेवा करने के लिए हैं। प्रत्येक व्यक्ति को इन पाँच अवस्थाओं में से किसी एक से भगवान् से सम्बन्ध स्थापित करना होता है और शुद्ध आध्यात्मिक *स्वरूप* होने पर यह सम्बन्ध किसी सांसारिक आकर्षण के बिना प्रकट होता है। उनकी पत्नियों द्वारा या भगवान् को प्रेमी रूप में चाहनेवाली तरुणी गोपियों द्वारा कृष्ण का चुम्बन लेना कोई विकृत संसारी गुण नहीं है। यदि ऐसा ही होता तो शुकदेव जैसे मुक्तात्मा ने उनका आस्वाद करने का कष्ट न उठाया होता, न ही भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु गृहस्थ जीवन त्याग करने के पश्चात् इन विषयों के प्रति आकृष्ट हुए होते। यह अवस्था कई जन्मों तक तपस्या करने के बाद प्राप्त होती है।

या वीर्यशुल्केन हृताः स्वयंवरे
प्रमथ्य चैद्यप्रमुखान् हि शुष्मिणः ।
प्रद्युम्नसाम्बाम्बसुतादयोऽपरा
याश्चाहृता भौमवधे सहस्रशः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

या—स्त्री; वीर्य—पराक्रम; शुल्केन—मूल्य चुकता करने से; हृताः—बलपूर्वक ले जाई गई; स्वयंवरे—स्वयंवर में; प्रमथ्य—मान-मर्दन करके; चैद्य—राजा शिशुपाल; प्रमुखान्—इत्यादि; हि—निश्चय ही; शुष्मिणः—सभी अत्यन्त शक्तिशाली; प्रद्युम्न—प्रद्युम्न (कृष्ण का पुत्र); साम्ब—साम्ब; अम्ब—अम्ब; सुत-आदयः—सन्तानें; अपराः—अन्य स्त्रियाँ; याः—जो; च—भी; आहृताः—इसी प्रकार ले जाई गई; भौम-वधे—राजाओं का वध करने के बाद; सहस्रशः—हजारों।

इन पत्नियों से सन्तानें हैं—प्रद्युम्न, साम्ब, अम्ब इत्यादि। उन्होंने शिशुपाल के नायकत्व में आए हुए अनेक शक्तिशाली राजाओं को हरा कर रुक्मिणी, सत्यभामा तथा जाम्बवती जैसी स्त्रियों का उनके स्वयंवर-समारोहों से बलपूर्वक अपहरण किया था। उन्होंने भौमासुर तथा उसके हजारों सहायकों का वध करके अन्य स्त्रियों का भी अपहरण किया था। ये सारी स्त्रियाँ धन्य हैं।

तात्पर्य : शक्तिशाली राजाओं की अत्यधिक सुयोग्य कन्याओं को खुली स्पर्धा में अपना पति चुनने की अनुमति दी जाती थी और ऐसे समारोह *स्वयंवर* कहलाते थे। चूँकि स्वयंवर में प्रतियोगी वीर राजकुमारों के मध्य खुली स्पर्धा होती थी, अतएव उन्हें राजकुमारी के पिता आमन्त्रित करते थे और बहुधा आमन्त्रित राजकुमारों में खेल-खेल में नियमित युद्ध हुआ करता था। लेकिन कभी-कभी ऐसे विवाह-द्वन्द्वों में योद्धा राजकुमार की मृत्यु हो जाती तो विजयी राजकुमार को वह राजकुमारी प्रदान की जाती थी, जिसके लिए कई राजकुमारों के जीवन बलिदान हो चुके होते थे। भगवान् कृष्ण की पटरानी रुक्मिणी विदर्भ के राजा की कन्या थी, जिसकी इच्छा थी कि उसकी सुयोग्य तथा सुन्दर कन्या भगवान् कृष्ण को दी जाय। लेकिन रुक्मिणी का सबसे बड़ा भाई चाहता था कि वह राजा शिशुपाल को दी जाय, जो कृष्ण का ममेरा भाई था। फलतः एक खुली स्पर्धा हुई और सदा की तरह भगवान् अपने अद्वितीय पराक्रम से शिशुपाल तथा अन्य राजाओं का मान-मर्दन करके विजयी हुए। रुक्मिणी के प्रद्युम्न जैसे दस पुत्र हुए। भगवान् कृष्ण ने इसी तरह अन्य रानियों का भी अपहरण किया था। दशम स्कंध में भगवान् कृष्ण द्वारा इस तरह के अनुपम अपहरण का विशद वर्णन मिलेगा। ऐसी कुल मिलाकर १६,१०० सुन्दर बालएं थीं, जो अनेक राजाओं की पुत्रियां थीं, भौमासुर द्वारा उन्हें अपहृत करके, अपनी कामपिपासा के लिए बन्दी बनाकर रखा गया था। इन सुन्दरियों ने कृष्ण से अत्यन्त करुण स्वर में अपने उद्धार की प्रार्थना की थी और कृपा के सागर भगवान् ने भौमासुर से युद्ध करके तथा उसे मारकर उन्हें मुक्त किया था। फिर बन्दी बनाई गई इन राजकुमारियों को भगवान् ने अपनी पत्नियों के रूप में स्वीकार किया था, यद्यपि समाज की दृष्टि में, ये सारी लड़कियां पतित हो चुकी थीं। लेकिन सर्वशक्तिमान भगवान् कृष्ण ने इनकी प्रार्थना सुनी और रानियों जैसा सम्मान देते हुए उनसे विवाह किया। इस प्रकार द्वारका में भगवान् कृष्ण की १६,१०८ रानियाँ थीं और प्रत्येक से दस-दस सन्तानें प्राप्त हुईं। ये सभी संतानें बड़ी हुईं और हर एक के उतने ही बच्चे हुए, जितने उनके पिता के थे। इस तरह कुल मिलाकर उनके परिवार की लाखों की संख्या थी।

एताः परं स्त्रीत्वमपास्तपेशलं
निरस्तशौचं बत साधु कुर्वते ।
यासां गृहात्पुष्करलोचनः पति-
र्न जात्वपैत्याहृतिभिर्हृदि स्पृशन् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एताः—ये सब स्त्रियाँ; परम्—सर्वोच्च; स्त्रीत्वम्—स्त्रीत्व; अपास्तपेशलम्—बिना व्यक्तित्व के; निरस्त—विहीन; शौचम्—शुद्धि; बत साधु—धन्य हैं; कुर्वते—करते हैं; यासाम्—जिनके; गृहात्—घर से; पुष्कर-लोचनः—कमल नेत्रोंवाले; पतिः—पति; न जातु—कभी भी नहीं; अपैति—जाता है; आहृतिभिः—भेंट द्वारा; हृदि—हृदय में; स्पृशन्—प्रिय।.

इन सारी स्त्रियों ने व्यक्तित्व तथा शुद्धि से विहीन होते हुए भी, अपने जीवन को धन्य किया। उनके पति कमलनयन भगवान् ने उन्हें घर में कभी अकेले नहीं छोड़ा। वे उन्हें बहुमूल्य भेंट प्रदान करके उनके हृदयों को प्रसन्न बनाते रहे।

तात्पर्य : भगवद्भक्त परिशुद्ध हो चुके जीव होते हैं। ज्योंही भक्त भगवान् के चरणकमलों की शरण में सच्चे हृदय से आ जाते हैं, भगवान् उन्हें स्वीकार कर लेते हैं और भक्त सारे भौतिक कल्मषों से रहित हो जाते हैं। ऐसे भक्त प्रकृति के तीनों गुणों से ऊपर होते हैं। भक्त के लिए कोई शारीरिक अयोग्यता नहीं होती, जिस प्रकार गंगा जल में गंदे नाले का जल मिल जाने पर उसमें कोई गुणात्मक अन्तर नहीं रह जाता। स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र अधिक बुद्धिमान नहीं होते, अतएव उनके लिए ईश्वर-तत्त्व को समझ पाना या भगवान् की भक्तिमय सेवा में लग पाना कठिन होता है। वे अधिक भौतिकतावादी होते हैं और इनसे भी कम किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कश, आभीर, कंक, यवन, खस इत्यादि होते हैं, किन्तु यदि वे सब ठीक से भगवद्भक्ति में लग जाँय तो उन सबका उद्धार हो सकता है। भगवान् की सेवा में लगने पर उपाधियों की अपात्रता हट जाती है और वे शुद्ध आत्माओं के रूप में भगवद्धाम में प्रवेश करने के अधिकारी बन जाते हैं।

भौमासुर के चंगुल में फँसी बालाओं ने अपने उद्धार के लिए निष्ठापूर्वक भगवान् श्रीकृष्ण की प्रार्थना की थी और अपनी इस भक्ति और निष्ठा से वे तुरन्त शुद्ध बन गईं। अतएव भगवान् ने इन्हें पत्नी-रूप में स्वीकार किया और उनके जीवन धन्य हो गये। उनका मान तब और भी बढ़ गया जब भगवान् ने उनके अत्यन्त समर्पित पति के रूप में भूमिका निभाई।

भगवान् अपनी १६,१०८ पत्नियों के साथ अनवरत रहते चले आए थे। उन्होंने अपने आपको १६,१०८ पूर्णांशों में विस्तारित किया और इनमें से प्रत्येक भगवान् थे जो आदि पुरुष से तनिक भी भिन्न न थे। श्रुतिमन्त्र पुष्टि करते हैं कि भगवान् अपना विस्तार अनेक में कर सकते हैं। इतनी सारी पत्नियों के पति रूप में, वे उन सबको मँहगी से मँहगी भेंट देकर प्रसन्न करते रहे। वे स्वर्ग से पारिजात वृक्ष ले आये और उसे अपनी प्रमुख रानीयों में से एक ऐसी सत्यभामा के महल में लगाया। अतएव यदि कोई चाहता है कि कृष्ण उसके पति बनें, तो भगवान् ऐसी इच्छाएँ पूर्णरूपेण पूरी करते हैं।

एवंविधा गदन्तीनां स गिरः पुरयोषिताम् ।
निरीक्षणेनाभिनन्दन् सस्मितेन ययौ हरिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एवंविधाः—इस प्रकार; गदन्तीनाम्—उनके विषय में बातें करती तथा प्रार्थना करती; सः—वे (भगवान); गिरः—वाणी का; पुर-योषिताम्—राजधानी की स्त्रियों के; निरीक्षणेन—उन्हें देखने से; अभिनन्दन्—तथा उनका स्वागत करने; स-स्मितेन—हँसमुख चेहरे से; ययौ—प्रस्थान किया; हरिः—भगवान् ने।

राजधानी हस्तिनापुर की स्त्रियाँ अभी उनका अभिनन्दन कर ही रही थीं और इस प्रकार से बातें चला रही थीं कि भगवान् ने मुस्कराते हुए उनकी बधाइयाँ स्वीकार कीं और उन पर अपनी कृपादृष्टि डालते हुए नगर से प्रस्थान किया।

अजातशत्रुः पृतनां गोपीथाय मधुद्विषः ।
परेभ्यः शङ्कितः स्नेहात्प्रायुङ्क्त चतुरङ्गिणीम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अजात-शत्रुः—जिसका कोई शत्रु न था, महाराज युधिष्ठिर; पृतनाम्—सुरक्षा सेनाएँ; गोपीथाय—रक्षा प्रदान करने के लिए; मधु-द्विषः—मधु के शत्रु (श्रीकृष्ण) का; परेभ्यः—अन्यों (शत्रुओं) से; शङ्कितः—भयभीत; स्नेहात्—स्नेह-वश; प्रायुङ्क्त —संलग्न; चतुः-अङ्गिणीम्—चतुरंगिनी सेना।

यद्यपि महाराज युधिष्ठिर का कोई शत्रु न था, तो भी उन्होंने असुरों के शत्रु, भगवान् श्रीकृष्ण के साथ जाने के लिए चतुरंगिणी सेना (घोड़ा, हाथी, रथ तथा पैदल सेना) लगा दी। शत्रु से बचाव और भगवान् से स्नेह के कारण महाराज ने ऐसा किया।

तात्पर्य : घोड़े, हाथी, रथ तथा मनुष्य—ये प्राकृतिक रक्षासाधन हैं। घोड़ों तथा हाथियों को पर्वतों या जंगलों तथा मैदानों में कहीं भी जाने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। रथ पर सवार योद्धा शक्तिशाली तारों के बल पर अनेक घोड़ो तथा हाथियों से लड़ सकते थे, जो कि आधुनिक आणिक अस्त्र के समान है। महाराज युधिष्ठिर अच्छी तरह जानते थे कि कृष्ण सबों के मित्र तथा शुभचिन्तक हैं, फिर भी ऐसे अनेक असुर भी ते, जो स्वभाववश भगवान् से ईर्ष्या रखते थे। अतएव कोई उन पर आक्रमण न कर दे, तथा स्नेहवश भी, उन्होंने भगवान् कृष्ण के अंगरक्षकों के रूप में चतुरंगिणी सेना लगा दी। आवश्यकता पड़ने पर, श्रीकृष्ण उन लोगों के आक्रमण से अपनी रक्षा कर सकते थे, जो उन्हें अपना शत्रु मानते थे फिर भी उन्होंने महाराज युधिष्ठिर द्वारा किया गया यह प्रबन्ध स्वीकार कर लिया, क्योंकि वे अपने बड़े भाई तथा राजा की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते थे। भगवान् अपनी दिव्य लीला में आश्रित का सा खेल खेलते हैं और इस तरह कभी-कभी वे अपनी तथाकथित असहाय बाल्यावस्था में यशोदा माता की देख-रेख स्वीकार करते हैं। यह दिव्य लीला है। भगवान् तथा उनके भक्त के बीच जितना भी दिव्य आदान-प्रदान होता है, वह मूलत: दिव्य आनन्द प्राप्त करने के लिए होता है, जिसकी तुलना *ब्रह्मानन्द-स्तर* से भी नहीं की जा सकती।

अथ दूरागतान् शौरि: कौरवान् विरहातुरान् ।
सन्निवर्त्य दृढं स्निग्धान् प्रायात्स्वनगरीं प्रियै: ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अथ—इस तरह; दूरागतान्—दूर तक उनके साथ-साथ जाकर; शौरि:—भगवान् कृष्ण; कौरवान्—पाण्डवों को; विरहातुरान्—विछोह भाव से अभिभूत; सन्निवर्त्य—विनम्रतापूर्वक आग्रह किया; दृढम्—कृतसंकल्प; स्निग्धान्—स्नेह से पूरित; प्रायात्—आगे बढ़े; स्व-नगरीम्—अपने नगर (द्वारका) की ओर; प्रियै:—प्रिय संगियों के साथ।

भगवान् कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ स्नेहवश कुरुवंशी पाण्डव उन्हें विदा करने के लिए उनके साथ काफी दूर तक गये। वे भावी विछोह के विचार से अभिभुत थे। किन्तु भगवान् ने उनसे घर लौट जाने का आग्रह किया और स्वयं अपने प्रिय संगियों के साथ द्वारका की ओर रवाना हुए।

कुरुजाङ्गलपाञ्चालान् शूरसेनान् सयामुनान् ।
ब्रह्मावर्तं कुरुक्षेत्रं मत्स्यान् सारस्वतानथ ॥ ३४॥
मरुधन्वमतिक्रम्य सौवीराभीरयोः परान् ।
आनर्तान् भार्गवोपागाच्छ्रान्तवाहो मनाग्विभुः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

कुरु-जाङ्गल—दिल्ली प्रान्त; पाञ्चालान्—पंजाब प्रान्त का भाग; शूरसेनान्—उत्तर प्रदेश का भाग; स—सहित; यामुनान्—यमुना के तटवर्ती जिलों को; ब्रह्मावर्तम्—उत्तरी उत्तर प्रदेश का भाग; कुरुक्षेत्रम्—वह स्थान जहाँ युद्ध लड़ा गया; मत्स्यान्—मत्स्या प्रान्त; सारस्वतान्—पंजाब का एक हिस्सा; अथ—इत्यादि; मरु—मरुस्थल, राजस्थान; धन्वम्—मध्य प्रदेश, जहाँ जल का अभाव है; अति-क्रम्य—निकल कर; सौवीर—सौराष्ट्र; आभीरयोः—गुजरात का हिस्सा; परान्—पश्चिमी दिशा; आनर्तान्—द्वारका प्रान्त; भार्गव—हे शौनक; उपागात्—थक गये; श्रान्त—थकान; वाहः—घोड़े; मनाक् विभुः—लम्बी यात्रा के कारण थोड़ा-सा।

हे शौनक, तब भगवान् कुरुजांगल, पाञ्चाल, शूरसेन, यमुना के तटवर्ती प्रदेश, ब्रह्मावर्त, कुरुक्षेत्र, मत्स्या, सारस्वता, मरुप्रान्त तथा जल के अभाव वाले भाग से होते हुए आगे बढ़े। इन प्रान्तों को पार करने के बाद वे सौवीर तथा आभीर प्रान्त पहुँचे और अन्त में इन सबके पश्चिम की ओर स्थित द्वारका पहुँचे।

तात्पर्य : भगवान् जिन-जिन प्रान्तों से होकर गये, वे उस समय भिन्न नाम से जाने जाते थे, लेकिन जो दिशा दी गई है उससे यह सूचित होता है कि वे दिल्ली, पंजाब, राजस्थान, मध्यप्रदेश, सौराष्ट्र तथा गुजरात से होकर यात्रा करते हुए, अन्त में अपने निवास-स्थान द्वारका पहुँचे। हमें उन दिनों से आज तक इन प्रान्तों के समानार्थी प्रान्तों के नाम ढूँढने से कोई लाभ मिलने वाला नहीं, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि पाँच हजार वर्ष पूर्व भी, राजस्थान का मरुस्थल तथा मध्यप्रदेश जैसे जल के अभाव वाले प्रान्त विद्यमान थे। मृदा-विशेषज्ञों का यह सिद्धान्त कि मरुस्थल हाल ही में विकसित हुए, *भागवत* के कथन से पुष्ट नहीं होता। हम इस विषय को भू-गर्भ विज्ञानियों द्वारा खोजे जाने के लिए छोड़े देते हैं, क्योंकि परिवर्तनशील ब्रह्माण्ड में भूगर्भीय विकास की विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं। हमें प्रसन्नता है कि भगवान् अब कुरु-प्रान्त से अपने निजी प्रान्त द्वारकाधाम में पहुँच गये हैं। कुरुक्षेत्र वैदिककाल से विद्यमान है, अत: जब व्याख्याकार कुरुक्षेत्र के अस्तित्व को नकारते हैं, तो यह उनकी निरी मूर्खता प्रतीत होती है।

तत्र तत्र ह तत्रत्यैर्हरिः प्रत्युद्यतार्हणः ।
सायं भेजे दिशं पश्चाद्गविष्ठो गां गतस्तदा ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तत्र तत्र—विभिन्न स्थानों में; ह—ऐसी घटना घटी; तत्रत्यैः—स्थानीय निवासियों द्वारा; हरिः—भगवान्; प्रत्युद्यत-अर्हणः—भेंटें तथा पूजा-सम्मान अर्पित किया जाकर; सायम्—शाम; भेजे—आने पर; दिशम्—दिशा; पश्चात्—पश्चिमी; गविष्ठः—आकाश में सूर्य; गाम्—समुद्र को; गतः—चला गया; तदा—उस समय।

इन प्रान्तों से होकर यात्रा करते समय उनका स्वागत किया गया, पूजा की गई और उन्हें विविध भेंटें प्रदान की गईं। संध्या समय सारे स्थानों में संध्या-कालीन अनुष्ठान (कृत्य) करने के लिए भगवान् अपनी यात्रा स्थगित करते। सूर्यास्त के बाद नियमित रूप से ऐसा किया जाता।

तात्पर्य : यहाँ यह बतलाया है कि जब भगवान् यात्रा पर थे, तो वे नियमित रूप से धार्मिक नियमों का पालन करते रहे। ऐसे कतिपय दार्शनिक अनुमान हैं कि भगवान् भी सकाम कर्मों को करने के लिए बाध्य हैं। लेकिन वास्तव में बात ऐसी नहीं है। वे किसी अच्छे या बुरे कर्म पर आश्रित नहीं हैं। *चूँकि भगवान् परम पूर्ण हैं, अतएव वे जो भी करते हैं, वह सबों के कल्याण के लिए होता है।* किन्तु जब वे पृथ्वी पर अवतरित होते हैं, तो वे भक्तों की रक्षा के लिए तथा अपवित्र अभक्तों के विनाश के लिए कर्म करते हैं। यद्यपि उनके लिए कुछ भी करना अनिवार्य नहीं, किन्तु वे सब कुछ करते हैं, जिससे अन्य लोग उनका अनुगमन कर सकें। वास्तविक उपदेश की विधि यही है; मनुष्य को चाहिए कि स्वयं उचित कर्म करे और अन्यों को भी यही शिक्षा दे, अन्यथा उसका अन्धानुगमन कोई नहीं करेगा। वे स्वयं कर्मफलों के दाता हैं। वे आत्माराम हैं, फिर भी वे हमें शिक्षा देने के लिए शास्त्रों के अनुसार कर्म करते हैं। यदि वे ऐसा न करें, तो सामान्य लोग कुमार्ग पर चले जाँय। लेकिन आगे चलकर, जब मनुष्य भगवान् की दिव्य प्रकृति को समझ पाता है, तो वह उनका अनुकरण नहीं करता। यह सम्भव नहीं है।

मानव समाज में भगवान् वही करते हैं, जो सबका कर्तव्य होता है, लेकिन कभी-कभी वे ऐसा महान् कर्म करते हैं, जो जीव द्वारा अनुकरणीय नहीं होता। यहाँ पर लिखे अनुसार, उनके

संध्यावन्दन-कार्य का पालन हर जीव को करना चाहिए, लेकिन उनके द्वारा गोवर्धन का उठाया जाना या गोपियों के साथ उनके रास का अनुकरण कर पाना सम्भव नहीं। कोई सूर्य का अनुकरण नहीं कर सकता, क्योंकि वह गन्दे स्थान के भी जल का शोषण कर लेता है; सर्वशक्तिमान ऐसा कुछ भी कर सकता है, जो सबों के लिए कल्याणप्रद हो, लेकिन यदि हम उनका अनुकरण करने लगें, तो हम अनन्त कठिनाइयों में पड़ जाएँगे। अतएव सारे कर्मों में एक अनुभवी मार्गदर्शक की, अर्थात् गुरु की राय लेनी चाहिए, जो भगवत्कृपा के प्रत्यक्ष रूप हैं। इस तरह निश्चित रूप से प्रगति हो सकेगी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत ''द्वारका के लिए भगवान् कृष्ण का प्रस्थान'' नामक दशवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter ग्यारह

भगवान् श्रीकृष्ण का द्वारका में प्रवेश

सूत उवाच
आनर्तान् स उपव्रज्य स्वृद्धाञ्जनपदान्स्वकान् ।
दध्मौ दरवरं तेषां विषादं शमयन्निव ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; आनर्तान्—आनर्तान (द्वारका) नामक देश में; सः—वे; उपव्रज्य—निकट पहुँचकर; स्वृद्धान्—अत्यन्त समृद्ध; जन-पदान्—नगर; स्वकान्—अपना; दध्मौ—बजाया; दरवरम्—शुभ शंख (पाञ्चजन्य) को; तेषाम्—उनकी; विषादम्—निराशा को; शमयन्—शान्त करते हुए; इव—मानो।

सूत गोस्वामी ने कहा : आनर्तों के देश के नाम से विख्यात अपनी अत्यन्त समृद्ध राजनगरी (द्वारका) के निकट पहुँच कर, भगवान् ने अपना आगमन उद्घोषित करने तथा निवासियों की निराशा को शांत करने के लिए अपना शुभ शंख बजाया।

तात्पर्य : कुरुक्षेत्र युद्ध के कारण भगवान् अपनी समृद्ध राजनगरी द्वारका से दीर्घकाल तक बाहर रहे, जिससे नगर-निवासी उनके वियोग के कारण विषाद से अभिभूत थे। जब भगवान् पृथ्वी पर अवतरित होते हैं, तब उनके नित्य पार्षद भी उनके साथ आते हैं, जिस तरह राजा के साथ उसका पूरा दल चलता है। भगवान् के ऐसे पार्षद नित्यमुक्त आत्मा होते हैं और वे अत्यधिक स्नेह के कारण, क्षण भर भी, भगवान् का विछोह सहन नहीं कर पाते। इस प्रकार द्वारका नगरी के निवासी खिन्न थे और किसी भी क्षण होने वाले भगवान् के आगमन की प्रतीक्षा में थे। अतः शुभ शंख की उद्घोषक ध्वनि अत्यन्त उत्साहवर्धक थी और इस ध्वनि से उनकी खिन्नता का शमन हुआ। वे सब भगवान् को अपने बीच देखने के लिए अत्यन्त इच्छुक थे और वे सभी उनका ठीक से स्वागत करने के लिए चौकन्ने हो गये। ये भगवान् के प्रति प्रगाढ़ प्रेम के लक्षण हैं।

स उच्चकाशे धवलोदरो दरो-
ऽप्युरुक्रमस्याधरशोणशोणिमा ।

दाध्मायमान: करकञ्जसम्पुटे
यथाब्जखण्डे कलहंस उत्स्वन: ॥ २ ॥

शब्दार्थ

स:—वह; उच्चकाशे—स्वच्छ हो गया; धवल-उदर:—सफेद तथा बड़े पेटवाला; दर:—शंख; अपि—यद्यपि वह ऐसा है; उरुक्रमस्य—महान् साहसी का; अधरशोण—उनके होठों के दिव्य गुण से; शोणिमा—लाल हुआ; दाध्मायमान:—बजाया जाकर; कर-कञ्ज-सम्पुटे—कर-कमलों की हथेली द्वारा पकड़ा जाकर; यथा—जिस तरह; अब्ज-खण्डे—कमल-दण्डों से; कल-हंस:—सुन्दर हंस; उत्स्वन:—जोर से शब्द करता।

श्वेत तथा मोटे पेंदेवाला शंख, भगवान् के हाथों द्वारा पकड़ा जाकर तथा उनके द्वारा बजाया जाकर, ऐसा लग रहा था मानो उनके दिव्य होठों का स्पर्श करके लाल हो गया हो। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो कोई श्वेत हंस लाल रंग के कमलदण्डों के बीच खेल रहा हो।

तात्पर्य : भगवान् के होठों के स्पर्श से श्वेत शंख की लालिमा आध्यात्मिक महत्ता की सूचक है। भगवान् पूरे के पूरे आत्मा हैं और भौतिक पदार्थ इस आध्यात्मिक अस्तित्व का अज्ञान है। वस्तुत: आध्यात्मिक प्रकाश में पदार्थ नाम की कोई वस्तु नहीं है और परमेश्वर श्रीकृष्ण के स्पर्श मात्र से यह आध्यात्मिक अनुभूति तत्काल हो जाती है। भगवान् जगत के कण-कण में व्याप्त हैं और वे किसी में भी अपनी उपस्थिति प्रकट कर सकते हैं। भगवान् के प्रगाढ़ प्रेम तथा भक्तिमय सेवा से या दूसरे शब्दों में भगवान् के आध्यात्मिक स्पर्श से प्रत्येक वस्तु उसी तरह लाल हो जाती है, जिस प्रकार भगवान् के होठों में लगा शंख। *परमहंस* अर्थात् अत्यन्त बुद्धिमान पुरुष आध्यात्मिक आनन्दरूपी जल में कलहंस के समान है, जो भगवान् के चरणकमलों से नित्य अलंकृत होता रहता है।

तमुपश्रुत्य निनदं जगद्भयभयावहम् ।
प्रत्युद्ययु: प्रजा: सर्वा भर्तृदर्शनलालसा: ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; उपश्रुत्य—सुनकर; निनदम्—शब्द को; जगत्-भय—भौतिक संसार का भय; भय-आवहम्—भयभीत बनानेवाला तत्त्व; प्रति—की ओर; उद्ययु:—तेजी से आगे बढ़े; प्रजा:—नागरिक; सर्वा:—सभी; भर्तृ—रक्षक; दर्शन—दर्शन की; लालसा:—इच्छा वाले।

भौतिक जगत में साक्षात् भय को भी भयभीत बनानेवाले, उस शब्द को सुनकर द्वारका के नागरिक उनकी ओर तेजी से दौड़ने लगे, जिससे वे भक्तों के रक्षक भगवान् का चिर अभिलषित दर्शन कर सकें।

तात्पर्य : जैसाकि पहले कहा जा चुका है, भगवान् कृष्ण के समय द्वारका में जो नागरिक रह रहे थे, वे सभी मुक्त जीव थे, जो भगवान् के साथ उनके पाषदों के रूप में अवतरित हुए थे। वे सभी भगवान् के दर्शन के लिए लालायित थे, यद्यपि आध्यात्मिक स्पर्श के कारण वे उनसे कभी विलग न थे। जिस प्रकार वृन्दावन की गोपियाँ भगवान् कृष्ण के गो–चारण के समय उनके गाँव से दूर जाने पर सदैव उनके विषय में सोचती रहती थीं, उसी प्रकार द्वारका के नागरिक भी द्वारका से दूर कुरुक्षेत्र युद्ध में भाग लेने के लिए गये हुए कृष्ण के विचारों में तल्लीन रहते थे। बंगाल के कुछ सुप्रसिद्ध कथा लेखकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि वृन्दावन, मथुरा तथा द्वारका के कृष्ण भिन्न–भिन्न व्यक्ति थे, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इस निष्कर्ष में कोई सचाई नहीं है। कुरुक्षेत्र के कृष्ण तथा द्वारका के कृष्ण एक ही व्यक्ति हैं।

द्वारका के नागरिक दिव्य नगरी से भगवान् कृष्ण की अनुपस्थिति के कारण, उसी प्रकार शोकाकुल थे, जिस प्रकार रात्रि में सूर्य की अनुपस्थिति के कारण हम सब उद्विग्न हो उठते हैं। भगवान् कृष्ण द्वारा की गयी ध्वनि, प्रभात के समय सूर्योदय जैसी थी। अतएव द्वारका के सारे वासी निद्रा जौसी अवस्था से जाग गये, क्योंकि कृष्णरूपी सूर्य का उदय हो चुका था और वे सब उनका दर्शन पाने के लिए फुर्ती से उनकी ओर आगे बढ़े। भगवद्भक्त भगवान् के सिवा अन्य किसी को अपना रक्षक नहीं मानते।

भगवान् का यह शब्द भगवान् से अभिन्न है, जैसाकि हम भगवान् की द्वंद्वरहित स्थिति की व्याख्या करते समय बता चुके हैं। हमारी वर्तमान भौतिक स्थिति भय से ओत–प्रोत है। आहार, आश्रय, भय तथा मैथुन—भौतिक अवस्था की इन चार समस्याओं में से भय की समस्या हमें सबसे अधिक कष्ट पहुँचाने वाली है। हम अगली समस्या को न जानने के कारण सदैव भयभीत रहते हैं। यह सारा भौतिक जगत समस्याओं से भरा पड़ा है, अतएव भय की समस्या सर्व–प्रमुख रहती है। इसका कारण भगवान् की भ्रामक शक्ति के साथ हमारा सान्निध्य है, जो माया अथवा बहिरंगा शक्ति के रूप में जानी जाती है। फिर भी जैसे ही भगवान् की ध्वनि होती है—जिसका प्रतिनिधित्व उनके पवित्र नाम द्वारा किया जाता है—वैसे ही सारा भय तत्काल दूर हो जाता है। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने निम्नलिखित सोलह शब्दों द्वारा इसे उच्चरित की थी :

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

हम इन शब्दों का लाभ उठा सकते हैं और संसार की भयावह समस्याओं से उबर सकते हैं।

तत्रोपनीतबलयो रवेर्दीपमिवादृताः ।
आत्मारामं पूर्णकामं निजलाभेन नित्यदा ॥ ४॥
प्रीत्युत्फुल्लमुखाः प्रोचुर्हर्षगद्गदया गिरा ।
पितरं सर्वसुहृदमवितारमिवार्भकाः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तत्र—तत्पश्चात्; उपनीत—अर्पित करके; बलयः—भेंटें; रवेः—सूर्य तक; दीपम्—दीपक; इव—सदृश; आदृताः—आदरपूर्वक; आत्म-आरामम्—आत्म-निर्भर को; पूर्ण-कामम्—पूर्णतया संतुष्ट; निज-लाभेन—अपनी निजी शक्ति से; नित्य-दा—निरन्तर पूर्ति करनेवाले; प्रीति—स्नेह; उत्फुल्ल-मुखाः—प्रसन्नमुख; प्रोचुः—कहा; हर्ष—प्रसन्न हुए; गद्गदया—आह्लादयुक्त; गिरा—वाणी; पितरम्—पिता को; सर्व—सारे; सुहृदम्—मित्रों को; अवितारम्—संरक्षक को; इव—सदृश; अर्भकाः—बालक।

सारे नागरिक अपनी-अपनी भेंटें लिये हुए भगवान् के सम्मुख आये और उन्हें उन परम संतुष्ट तथा आत्म-निर्भर भगवान् को अर्पित किया, जो अपनी निजी शक्ति से अन्यों की आवश्यकताओं की निरन्तर पूर्ति करते रहते हैं। ये भेंटें सूर्य को दिये गये दीप-दान जैसी थीं। फिर भी सारे नागरिक भगवान् के स्वागत में ऐसी आह्लादमयी भाषा में बोलने लगे, मानो बच्चे अपने अभिभावक तथा पिता का स्वागत कर रहे हों।

तात्पर्य : परम भगवान् को यहाँ पर *आत्माराम* कहा गया है। वे आत्म-निर्भर हैं और उन्हें अपने से आगे अन्यत्र सुख की खोज करने की आवश्यकता नहीं है। वे आत्मनिर्भर हैं, क्योंकि उनका दिव्य अस्तित्व ही पूर्ण आनन्दमय है। वे शाश्वत विद्यमान हैं; वे सर्वज्ञ हैं और सर्व-आनन्दमय हैं। अतएव, उन्हें किसी भेंट की आवश्यकता नहीं है, चाहे वह कितनी भी मूल्यवान क्यों न हो। फिर भी वे सबों के शुभचिन्तक हैं, अतः यदि शुद्ध भक्तिमय सेवा में कोई उन्हें कुछ अर्पित करता है, तो वे उसे स्वीकार कर लेते हैं। ऐसा नहीं है कि उन्हें ऐसी वस्तुओं की आवश्यकता है, क्योंकि वस्तुएँ स्वयं उनकी ही शक्ति द्वारा उत्पन्न की जाती हैं। यहाँ पर उपमा दी गई है कि भगवान् को भेंट की जाने वाली वस्तुएँ सूर्यदेव की पूजा हेतु दीप-दान जैसी हैं। जो भी वस्तु प्रज्वलित एवं प्रकाशमय होती है, वह सूर्य की शक्ति का उद्भवन है, तो भी सूर्यदेव की पूजा करने के लिए दीप-दान आवश्यक है। सूर्य की पूजा

करते समय पूजा करनेवाला उनसे कुछ न कुछ माँग करता है, लेकिन भगवान् की भक्ति करने पर दोनों ओर से कोई माँग किये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो भगवान् और भक्त के बीच शुद्ध प्रेम तथा स्नेह का प्रतीक है।

भगवान् सभी जीवों के परम पिता हैं, अतएव जो लोग भगवान् के साथ इस जीवन्त सम्बन्ध से अवगत हैं, वे पिता से पुत्र की तरह माँग कर सकते हैं और पिता भी अपने आज्ञाकारी पुत्रों की माँग पूरी करते हुए बिना किसी सौदेबाजी के प्रसन्नता का अनुभव करता है। भगवान् कल्पवृक्ष के तुल्य हैं और उनसे कोई भी व्यक्ति उनकी अहैतुकी कृपा से कुछ भी प्राप्त कर सकता है। किन्तु परम पिता होने के कारण, भगवान् अपने शुद्ध भक्तों को कोई ऐसी वस्तु नहीं देत, जो भक्ति के मार्ग में बाधक हो। जो लोग भगवान् की भक्तिमय सेवा में लगे हैं, वे उनके दिव्य आकर्षण के द्वारा अनन्य भक्ति के पद तक उन्नति कर सकते हैं।

नताः स्म ते नाथ सदाङ्घ्रिपङ्कजं
विरिञ्चवैरिञ्च्यसुरेन्द्रवन्दितम् ।
परायणं क्षेममिहेच्छतां परं
न यत्र कालः प्रभवेत् परः प्रभुः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

नताः स्म—हम नतमस्तक हुए थे; ते—आपके समक्ष; नाथ—हे भगवान्; सदा—सदैव; अङ्घ्रि-पङ्कजम्—चरणकमल; विरिञ्च—ब्रह्मा, प्रथम जीव; वैरिञ्च्य—ब्रह्मा के पुत्र, यथा सनक तथा सनातन; सुर-इन्द्र—स्वर्ग का राजा; वन्दितम्—पूजित; परायणम्—सर्वोपरि; क्षेमम्—कुशल, कल्याण; इह—इस जीवन में; इच्छताम्—इच्छा करनेवाला; परम्—सर्वोच्च; न—कभी नहीं; यत्र—जहाँ; कालः—प्रबल काल; प्रभवेत्—अपना प्रभाव डाल सकता है; परः—दिव्य; प्रभुः—परमेश्वर।

नागरिकों ने कहा : हे भगवन्, आप ब्रह्मा, चारों कुमार तथा स्वर्ग के राजा जैसे समस्त देवताओं द्वारा भी पूजित हैं। आप उन लोगों के परम आश्रय हैं, जो जीवन का सर्वोच्च लाभ उठाने के लिए इच्छुक हैं। आप परम दिव्य भगवान् हैं और प्रबल काल भी आप पर अपना प्रभाव नहीं दिखा सकता।

तात्पर्य : *भगवद्गीता, ब्रह्म-संहिता* तथा अन्य प्रामाणिक वैदिक साहित्य से इस बात की पुष्टि होती है कि श्रीकृष्ण ही परम ईश्वर हैं। न तो कोई उनके समान है, न ही कोई उनसे बढ़कर है और यही सारे शास्त्रों का निर्णय है। सारे जीव जो परमेश्वर के अंशस्वरूप हैं और उन पर आश्रित हैं, उन पर

देश–काल का प्रभाव पड़ता है। सारे जीव अधीनस्थ–ब्रह्म हैं और परमेश्वर परम अधिष्ठता हैं। जैसे ही इस सुस्पष्ट तथ्य को भूल जाते है, हम तत्काल मोहग्रस्त हो जाते हैं और तीनों तापों से उसी तरह ग्रस्त हो जाते हैं, जिस प्रकार किसी को सघन अंधकार में रखा गया हो। सजग जीव की विमल चेतना ईश–चेतना है, जिसके अन्तर्गत मनुष्य सदैव नतमस्तक हो जाता है।

भवाय नस्त्वं भव विश्वभावन
त्वमेव माताथ सुहृत्पतिः पिता ।
त्वं सद्गुरुर्नः परमं च दैवतं
यस्यानुवृत्त्या कृतिनो बभूविम ॥७॥

शब्दार्थ

भवाय—कल्याण के लिए; नः—हम सबों के; त्वम्—आप; भव—बनें; विश्व-भावन—ब्रह्माण्ड के स्रष्टा; त्वम्—आप; एव—निश्चय ही; माता—माता; अथ—तथा; सुहृत्—शुभचिन्तक; पतिः—पति; पिता—पिता; त्वम्—आप; सत्-गुरुः—गुरु; नः—हमारे; परमम्—परम; च—तथा; दैवतम्—पूज्य देव; यस्य—जिसके; अनुवृत्त्या—चरणचिह्नों पर चलकर; कृतिनः—सफल; बभूविम—हम हुए हैं।

हे ब्रह्माण्ड के स्रष्टा, आप हमारे माता, शुभचिन्तक, प्रभु, पिता, आध्यात्मिक गुरु तथा आराध्य देव हैं। हम आपके चरण-चिह्नों पर चलते हुए सभी प्रकार से सफल हुए हैं। अतएव हमारी प्रार्थना है कि आप हमें अपनी कृपा का आशीर्वाद देते रहें।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के स्रष्टा होने के कारण, सबका कल्याण करनेवाले भगवान्, समस्त उत्तम जीवों के कल्याण की भी योजना बनाते हैं। भगवान् इन उत्तम जीवों को आदेश देते हैं कि वे उनके सदुपदेशों का पालन करें। ऐसा करने से वे जीवन के सभी क्षेत्रों में सफलता पाते हैं। भगवान् को छोड़कर किसी अन्य देव की पूजा करने की आवश्यकता नहीं है। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं और यदि वे अपने चरणकमलों के प्रति हमारी आज्ञाकारिता से प्रसन्न हो जाँए, तो वे हमें सभी प्रकार के आशीर्वाद दे सकने में समक्ष हैं, जिनसे हमारे भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों जीवन सफल हो जाते हैं। आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धि के लिए मनुष्य जीवन ही वह अवसर है, जिसमें ईश्वर के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को समझा जा सकता है। उनसे हमारा सम्बन्ध सनातन है; न तो इसको तोड़ा जा सकता है, न विनष्ट किया जा सकता है। भले ही कुछ काल के लिए इसे भुला दिया जाय, लेकिन भगवत्कृपा

से उसे पुनः जागृत किया जा सकता है, यदि हम देश-काल के अनुसार सभी शास्त्रों में दिये गये उनके आदेशों का पालन करें।

अहो सनाथा भवता स्म यद्वयं
त्रैविष्टपानामपि दूरदर्शनम् ।
प्रेमस्मितस्निग्धनिरीक्षणाननं
पश्येम रूपं तव सर्वसौभगम् ॥ ८॥

शब्दार्थ

अहो—ओह, यह तो हमारा सौभाग्य है; स-नाथाः—स्वामी के संरक्षण में होना; भवता—आपके द्वारा; स्म—जैसे हम बन चुके हैं; यत् वयम्—जैसे कि हम हैं; त्रैविष्ट-पानाम्—देवताओं को; अपि—भी; दूर-दर्शनम्—बहुत कम दिखाई पड़ते हैं; प्रेम-स्मित—प्रेम से हँसता हुआ; स्निग्ध—स्नेहपूर्ण; निरीक्षण-आननम्—उस प्रकार से दिखनेवाला मुख; पश्येम—देखें; रूपम्—सौन्दर्य; तव—आपका; सर्व—सम्पूर्ण; सौभगम्—सौभाग्य।

अहो! यह तो हमारा सौभाग्य है कि आज पुनः आपकी उपस्थिति से हम आपके संरक्षण में आ गये, क्योंकि आप स्वर्ग के निवासियों के यहाँ भी कभी-कभी जाते हैं। आपके स्मितमुख को देख पाना हमारे लिए अब सम्भव हो सका है, जो स्निग्ध चितवन से पूर्ण है। अब हम आपके सर्व-सौभाग्यशाली दिव्य रूप का दर्शन कर सकते हैं।

तात्पर्य : केवल शुद्ध भक्त ही भगवान् के नित्य साकार रूप का दर्शन कर सकते हैं। भगवान् कभी भी निराकार नहीं होते, अपितु वे भगवान् के सर्वोपरि परिपूर्ण व्यक्तित्व हैं, जिन्हें भक्तिमय सेवा के द्वारा साक्षात् देखा जा सकता है और जो स्वर्ग के निवासियों के लिए भी दुर्लभ हैं। जब ब्रह्माजी तथा अन्य देवता भगवान् कृष्ण के पूर्ण अंश भगवान् विष्णु से परामर्श लेना चाहते हैं, तो उन्हें क्षीरसागर के तट पर जाकर प्रतीक्षा करनी पड़ती है, जहाँ भगवान् विष्णु श्वेतद्वीप में शयन कर रहे होते हैं। यह क्षीरसागर तथा श्वेतद्वीप ग्रह इस ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत वैकुण्ठलोक की प्रतिकृतियाँ हैं। इस श्वेतद्वीप में न तो ब्रह्माजी, न ही इन्द्र जैसे देवता प्रवेश कर सकते हैं, अपितु उन्हें क्षीरसागर के तट पर खड़े होकर क्षीरोदकशायी विष्णु को अपना सन्देश संप्रेषित करना होता है। अतएव उन्हें यदा-कदा ही भगवान् के दर्शन हो पाते हैं, लेकिन द्वारका के निवासी किसी प्रकार के सकाम कर्म तथा दार्शनिक चिन्तन के भौतिक कल्मष से रहित शुद्ध भक्त होने के कारण भगवत्कृपा से उनका साक्षात् दर्शन कर

सकते हैं। यह जीवों की असली स्थिति है और भक्तिमय सेवा के द्वारा अपनी स्वाभाविक तथा आध्यात्मिक जीवन दशा को जागृत करके प्राप्त की जा सकती है।

यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान्
कुरून् मधून् वाथ सुहृद्दिदृक्षया ।
तत्राब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवेद्
रविं विनाक्ष्णोरिव नस्तवाच्युत ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यर्हि—जब भी; अम्बुज-अक्ष—हे कमलनेत्र; अपससार—आप चले जाते हैं; भो—अरे; भवान्—आप; कुरून्—राजा कुरु के वंशजों को; मधून्—मथुरा (व्रजभूमि) के निवासियों को; वा—अथवा; अथ—अतएव; सुहृत्-दिदृक्षया—भेंट करने के लिए; तत्र—उस समय; अब्द-कोटि—करोड़ों वर्ष; प्रतिमः—सदृश; क्षणः—क्षण; भवेत्—हो जाता है; रविम्—सूर्य; विना—रहित; अक्ष्णोः—आँखों के; इव—समान; नः—हमारी; तव—आपकी; अच्युत—हे अमोघ।

हे कमलनयन भगवान्, आप जब भी अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों से भेंट करने मथुरा, वृन्दावन या हस्तिनापुर चले जाते हैं, तो आपकी अनुपस्थिति में प्रत्येक क्षण हमें करोड़ों वर्षों के समान प्रतीत होता है। हे अच्युत, उस समय हमारी आँखें इस तरह व्यर्थ हो जाती हैं मानो सूर्य से बिछुड़ गई हों।

तात्पर्य : हमें अपनी इन्द्रियों पर गर्व है कि हम ईश्वर का अस्तित्व निश्चित करने के लिए उनका प्रयोग करते हैं। लेकिन हम यह भूल जाते हैं कि हमारी इन्द्रियाँ अपने आप में पूर्ण नहीं हैं। वे कुछ परिस्थितियों में ही कार्य कर सकती हैं। उदाहरण के लिए हमारी आँखों को लीजिए। जब तक सूर्य का प्रकाश होता है, हमारी आँखें कुछ सीमा तक उपयोगी होती हैं। लेकिन सूर्य-प्रकाश के अभाव में आँखें व्यर्थ हो जाती हैं। आदि भगवान्, परम सत्य होने के कारण, श्रीकृष्ण की तुलना सूर्य से की गई है। उनके बिना हमारा सारा ज्ञान या तो असत्य है अथवा अधूरा है। जिस तरह सूर्य का विलोम (दूसरा पक्ष) अंधकार है, इसी प्रकार कृष्ण का विलोम माया है। कृष्ण द्वारा विकीर्ण प्रकाश से भक्तगण सारी वस्तुओं को उनके सही परिप्रेक्ष्य में देख सकते हैं। भगवत्कृपा से शुद्ध भक्त कभी अज्ञान के अंधकार में नहीं रहते। इसलिए यह आवश्यक है कि हम सदा भगवान् कृष्ण की दृष्टि के समक्ष रहें, जिससे हम अपने आपको तथा विभिन्न शक्तियों समेत भगवान् को भी देख सकें। जिस प्रकार सूर्य के अभाव में

हम कुछ भी नहीं देख सकते, उसी प्रकार भगवान् की वास्तविक उपस्थिति के बिना हम कुछ भी नहीं, यहाँ तक कि अपने आपको भी नहीं देख सकते। उनके बिना हमारा सारा ज्ञान माया से ठक जाता है।

कथं वयं नाथ चिरोषिते त्वयि
प्रसन्नदृष्ट्याखिलतापशोषणम्।
जीवेम ते सुन्दरहासशोभित-
मपश्यमाना वदनं मनोहरम्।
इति चोदीरिता वाचः प्रजानां भक्तवत्सलः।
शृण्वानोऽनुग्रहं दृष्ट्या वितन्वन् प्राविशत् पुरम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

कथम्—कैसे; वयम्—हम; नाथ—हे प्रभु; चिरोषिते—सदैव बाहर रहने के कारण; त्वयि—आपके द्वारा; प्रसन्न—प्रसन्नता; दृष्ट्या—झलक से; अखिल—संसार भर का; ताप—दुख; शोषणम्—नष्ट करने के लिए; जीवेम—जीवित रह सकें; ते—आपका; सुन्दर—सुन्दर; हास—हँसता हुआ; शोभितम्—अलंकृत; अपश्यमानाः—बिना देखे; वदनम्—मुख; मनोहरम्—आकर्षक; इति—इस प्रकार; च—तथा; उदीरिताः—बोलते हुए; वाचः—शब्द; प्रजानाम्—नागरिकों का; भक्त-वत्सलः—भक्तों के प्रति दयालु; शृण्वानः—ऐसा जानकर; अनुग्रहम्—दया; दृष्ट्या—चितवन से; वितन्वन्—वितरित करते हुए; प्राविशत्—प्रवेश किया; पुरम्—द्वारका में।

हे स्वामी, यदि आप सारे समय बाहर रहते हैं, तो हम आपके उस मनोहर मुखमण्डल को नहीं देख पाते, जिसकी मुसकान हमारे सारे कष्टों को दूर कर देती है। भला हम आपके बिना कैसे रह सकते हैं?

उनकी वाणी सुनकर, प्रजा तथा भक्तों पर अत्यन्त दयालु भगवान् ने द्वारकापुरी में प्रवेश किया और उन सबों पर अपनी दिव्य दृष्टि डालते हुए उनका अभिनन्दन स्वीकार किया।

तात्पर्य : कृष्ण का आकर्षण इतना प्रबल होता है कि एक बार उनसे आकृष्ट हो जाने पर, उनका विछोह सह पाना कठिन हो जाता है। ऐसा क्यों है? क्योंकि हम उनसे उसी तरह शाश्वत रूप से सम्बन्धित हैं, जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य-मण्डल से सम्बन्धित होती हैं। सूर्य की किरणें सौर विकिरण के आण्विक अंश हैं। इस तरह सूर्य तथा सूर्यप्रकाश को विलग नहीं किया जा सकता। बादलों द्वारा उनका विलगाव क्षणिक तथा कृत्रिम होता है और ज्योंही बादल हट जाते हैं, त्योंही सूर्य की किरणें सूर्य की उपस्थिति में अपना सहज तेज बिखेरने लगती हैं। इसी प्रकार, सारे जीव जो पूर्ण आत्मा के सूक्ष्मांश हैं, वे भ्रामक शक्ति माया के कृत्रिम आवरण के कारण भगवान् से विलग हैं। भ्रामक

शक्ति माया के इस आवरण को हटाना है और ऐसा हो जाने पर, जीव भगवान् को साक्षात् देख सकते हैं और उनके सारे कष्ट तुरन्त ही दूर हो जाएँगे। हममें से प्रत्येक व्यक्ति जीवन के कष्टों को हटाना चाहता है, लेकिन हम जानते नहीं कि इन्हें किस प्रकार हटाया जाय। यहाँ पर इसका समाधान दिया गया है और यह हम पर निर्भर करता है कि हम इसे आत्मसात् करें अथवा नहीं।

मधुभोजदशार्हार्हकुकुरान्धकवृष्णिभिः ।
आत्मतुल्यबलैर्गुप्तां नागैर्भोगवतीमिव ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

मधु—मधु; भोज—भोज; दशार्ह—दशार्ह; अर्ह—अर्ह; कुकुर—कुकुर; अन्धक—अन्धक; वृष्णिभिः—वृष्णि-कुलवालों के द्वारा; आत्म-तुल्य—अपने सदृश; बलैः—शक्ति से; गुप्ताम्—रक्षित; नागैः—नागों द्वारा; भोगवतीम्—नागलोक की राजधानी; इव—सदृश।.

जिस प्रकार नागलोक की राजधानी भोगवती नागों के द्वारा रक्षित है, उसी तरह द्वारका की रक्षा कृष्ण के समान बलवान वृष्णि के वंशजों—भोज, मधु, दशार्ह, अर्ह, कुकुर, अन्धक इत्यादि—द्वारा की जाती थी।

तात्पर्य : नागलोक पृथ्वीलोक के नीचे स्थित है और ऐसा समझा जाता है कि यहाँ सूर्य की किरणें नहीं पहुँच पातीं। लेकिन उस लोक का अंधकार नागों (स्वर्गिक सर्पों) के शिरों पर स्थित मणियों के प्रकाश से दूर होता है। यह भी कहा जाता है कि, वहाँ पर नागों के भोग-विलास के लिए सुन्दर उद्यान, सरोवर आदि हैं। यहाँ पर यह भी कहा गया है कि यह स्थान नागरिकों द्वारा अच्छी तरह सुरक्षित है। उसी प्रकार से द्वारकापुरी भी वृष्णि-वंशियों द्वारा सुरक्षित थी, जो भगवान् कृष्ण के ही समान शक्तिशाली थे, जहाँ तक इस धरती पर उनके शक्ति-प्रदर्शन का सम्बन्ध था।

सर्वर्तुसर्वविभवपुण्यवृक्षलताश्रमैः ।
उद्यानोपवनारामैर्वृतपद्माकरश्रियम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सर्व—सभी; ऋतु—ऋतुएँ; सर्व—समस्त; विभव—ऐश्वर्य; पुण्य—पवित्र; वृक्ष—पेड़; लता—बेलें; आश्रमैः—आश्रमों के साथ; उद्यान—बगीचे; उपवन—पुष्पोद्यान; आरामैः—क्रीडावन (आरामदायक बगीचे) तथा सुन्दर पार्क से; वृत—घिरे हुए; पद्म-आकर—कमलों के जन्म-स्थल या जल के सुन्दर आगार; श्रियम्—सुन्दरता को बढ़ानेवाले।.

द्वारकापुरी समस्त ऋतुओं के ऐश्वर्य से पूर्ण थी। उसमें सर्वत्र आश्रम, उद्यान, पुष्पोद्यान, पार्क तथा कमलों से परिपूर्ण जलाशय थे।

तात्पर्य : मानव सभ्यता की पूर्णता प्रकृति के वरदानों का सदुपयोग उनके सहज रूप में करने से सम्भव बनाई जा सकती है। जैसाकि द्वारका के ऐश्वर्य के वर्णन से प्रकट है, उसके चारों ओर पुष्पोद्यान तथा फलों के बगीचे थे और जलाशय थे, जो कमलों से परिपूर्ण थे। यहाँ पर किसी मिल तथा कसाईघर के बल पर चलने वाली फैक्टरी का उल्लेख नहीं है, जो आधुनिक महानगरों के लिए आवश्यक साज-सामग्री है। फिर भी, आधुनिक सुसंस्कृत मनुष्य के अन्त:करण में भी प्रकृति के वरदानों का उपयोग करने की रुचि बरकरार है। आधुनिक सभ्यता के अग्रणी अपने निजी आवासों को ऐसे स्थानों में बनाते हैं, जहाँ सुन्दर बगीचे तथा जलाशय हों, लेकिन सामान्य व्यक्तियों को वे पार्कों तथा बगीचों से रहित दमघोटू स्थानों में रहने के लिए छोड़ देते हैं। लेकिन यहाँ पर हमें द्वारकापुरी का सर्वथा भिन्न वर्णन प्राप्त होता है। ऐसा लगता है कि सारा धाम ऐसे उद्यानों तथा पार्कों एवं कमलों से परिपूर्ण जलाशयों द्वारा घिरा हुआ था। ऐसा लगता है कि सारे लोग प्रकृति द्वारा प्रदत्त फूलों तथा फलों पर निर्भर थे और वहाँ ऐसे उद्योग नहीं थे, जो गन्दी बस्ती तथा झुग्गी-झोपड़ियाँ बढ़ावा देते है। सभ्यता की प्रगति का अनुमान उन मिलों तथा फैक्टरियों की बढ़ोत्तरी से नहीं लगाया जाता, जिनसे मनुष्य की कोमल भावनाएँ विनष्ट हों, अपितु मनुष्यों में प्रबल आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के विकास से लगाया जाता है, जिससे उन्हें भगवद्धाम वापस जाने का अवसर प्राप्त हो सके। फैक्टरियों तथा मिलों का विकास *उग्रकर्म* कहलाता है और ऐसे कर्म से मनुष्य तथा समाज की सुकोमल भावनाओं का क्षय होकर असुरों का कारागार बना देती हैं।

यहाँ पर हम पवित्र वृक्षों का उल्लेख पाते हैं, जिनमें ऋतु के अनुसार फूल-फल लगते हैं। अपवित्र वृक्ष केवल व्यर्थ के जंगल होते हैं और उनका उपयोग केवल ईंधन के लिए हो सकता है। आधुनिक सभ्यता में ऐसे अपवित्र वृक्षों को सड़क के दोनों किनारों पर रोपा जाता है। मानव शक्ति का सदुपयोग सुकोमल भावनाओं के विकास के लिए होना चाहिए, जिससे आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हो सके और इसी में जीवन का समाधान प्राप्त होता है। मनुष्य के शरीर में सूक्ष्म तन्तुओं के विकास के लिए फल, फूल, सुन्दर उद्यान, पार्क, कमलों के बीच क्रीड़ा करते बतख एवं हंसों से युक्त जलाशय तथा

प्रचुर दूध तथा मक्खन देनेवाली गाएँ आवश्यक हैं। इसके विपरीत, कारागार तुल्य खानें, फैक्टरियाँ तथा कार्यशालाएँ श्रमिक वर्ग में आसुरी प्रवृत्तियों को जन्म देती हैं। श्रमिक वर्ग के बल पर ही शोषण को प्रश्रय मिलता है, फलस्वरूप उनमें अनेक प्रकार के उग्र संघर्ष होते रहते हैं। द्वारकाधाम का वर्णन मानवीय सभ्यता के लिए एक आदर्श प्रस्तुत करता है।

गोपुरद्वारमार्गेषु कृतकौतुकतोरणाम् ।
चित्रध्वजपताकाग्रैरन्त: प्रतिहतातपाम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

गोपुर—नगरी का सिंहद्वार; द्वार—दरवाजा; मार्गेषु—विभिन्न सड़कों पर; कृत—किये गये; कौतुक—उत्सव के कारण; तोरणाम्—सज्जित बन्दन-वार; चित्र—चित्रित; ध्वज—झंडियाँ; पताका-अग्रै:—अग्रणी चिह्नों द्वारा; अन्त:—भीतर; प्रतिहत—अवरुद्ध; आतपाम्—धूप को।

भगवान् के स्वागतार्थ नगर का द्वार, घरों के दरवाजे तथा सड़कों के किनारे झंडियों से सजे बन्दनवार बहुत ही सुन्दर ढंग से केले के वृक्षों तथा आम की पत्तियों जैसे मांगलिक प्रतीकों से सजाये गये थे। झंडियाँ, फूल-मालाएँ तथा चित्रित संकेत एवं लिखे गये सुवाक्य धूप को अवरुद्ध कर रहे थे।

तात्पर्य : विशेष उत्सवों की सजावट के लिए प्रतीक भी प्रकृति के उपहारों से—केले के वृक्षों, आम की वृक्षों, फूलों तथा फलों से लिए गए थे। आज भी आम्रवृक्ष, नारियल तथा कदली वृक्षों को मांगलिक प्रतीक माना जाता है। ऊपर जिन झंडियों का उल्लेख हुआ है, उन सभी में भगवान् के इन दो महान् सेवक गरुड़ अथवा हनुमान के चित्र अंकित थे। अब भी ऐसे चित्र तथा अलंकरण भक्तों द्वारा पूजित हैं और भगवान् की तुष्टि के लिए सेवक को अधिक सम्मान प्रदान किया जाता है।

सम्मार्जितमहामार्गरथ्यापणकचत्वराम् ।
सिक्तां गन्धजलैरुप्तां फलपुष्पाक्षताङ्कुरै: ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

सम्मार्जित—पूर्णतया स्वच्छ किया; महा-मार्ग—राजपथ; रथ्य—मार्ग तथा गलियाँ; आपणक—बाजार; चत्वराम्—चौक; सिक्ताम्—सिक्त; गन्ध-जलै:—सुगन्धित जल से; उप्ताम्—बिखेरे हुए; फल—फल; पुष्प—फूल; अक्षत—बिना टूटे, पूरे-पूरे; अङ्कुरै:—बीजों से।

पथ, मार्गों, बाजारों तथा चौकों को भलीभाँति झाड़-बुहारकर उन पर सुगन्धित जल छिड़का गया था और भगवान् का स्वागत करने के लिए सर्वत्र फल-फूल तथा अक्षत-अंकुर बिखेरे गये थे।

तात्पर्य : द्वारकाधाम के राजमार्गों तथा गली-कूचों को सिक्त करने के लिए गुलाब तथा केवड़ा के फूलों को आसवित करके तैयार किया गया सुगन्धित जल मँगवाया गया था। इनके उपरान्त बाजारों तथा चौकों को भलीभाँति झाड़ा-बुहारा गया था। उपर्युक्त वर्णन से प्रतीत होता है कि द्वारकाधाम बहुत बड़ा था, जिसमें अनेक राजमार्गों, गलियों तथा पार्कों, उद्यानों एवं जलाशयों से युक्त चौक थे और इन सबों को फूलों-फलों से सुन्दर ढंग से सजाया गया था। भगवान् का स्वागत करने के लिए इन फूलों-फलों को अक्षत-अंकुरों के साथ सार्वजनिक स्थलों पर बिखेर दिया गया था। अक्षत बीज व अंकुर शुभ माने जाते थे और उत्सवों के दिनों में हिन्दू लोग आज भी इनका प्रयोग करते हैं।

द्वारि द्वारि गृहाणां च दध्यक्षतफलेक्षुभिः ।
अलङ्कृतां पूर्णकुम्भैर्बलिभिर्धूपदीपकैः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

द्वारि द्वारि—प्रत्येक घर के द्वार पर; गृहाणाम्—सभी घरों के; च—तथा; दधि—दही; अक्षत—सम्पूर्ण; फल—फल; इक्षुभिः—गन्ने से; अलङ्कृताम्—सजाया गया; पूर्ण-कुम्भैः—जल से पूर्ण घटों से; बलिभिः—पूजन सामग्री सहित; धूप—सुगन्ध बत्ती; दीपकैः—दीपों तथा बत्तियों से।

प्रत्येक घर के द्वार पर दही, अक्षत फल, गन्ना तथा पूरे भरे हुए जलपात्रों के साथ ही पूजन की सामग्री, धूप तथा बत्तियाँ सजा दी गयी थीं।

तात्पर्य : वैदिक प्रथा के अनुसार, स्वागत-विधि शुष्क नहीं होती है। जैसाकि ऊपर उल्लेख है, स्वागत के लिए केवल राजमार्ग तथा गली-कूचे ही नहीं सजाये गये थे, अपितु अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार आवश्यक वस्तुओं जैसे धूप-दीप, फूल, मिठाई तथा स्वादिष्ट खाद्यों द्वारा भगवान् की पूजा भी की गई थी। ये सभी वस्तुएँ भगवान् को अर्पित की गईं और वहाँ पर एकत्र नागरिकों में प्रसाद वितरित किया गया। अतएव यह आज के शुष्क स्वागत जैसा न था। प्रत्येक घर भगवान् का ऐसा स्वागत करने के लिए प्रस्तुत था, अतएव राजमार्गों तथा गली-कूचों के घर-घर में ऐसा प्रसाद नागरिकों को बाँटा

गया और यह समारोह सफल रहा। प्रसाद-वितरण के बिना कोई भी उत्सव पूरा नहीं होता और यही वैदिक संस्कृति की शैली है।

निशम्य प्रेष्ठमायान्तं वसुदेवो महामनाः ।
अक्रूरश्चोग्रसेनश्च रामश्चाद्भुतविक्रमः ॥ १६ ॥
प्रद्युम्नश्चारुदेष्णश्च साम्बो जाम्बवतीसुतः ।
प्रहर्षवेगोच्छशितशयनासनभोजनाः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; प्रेष्ठम्—प्रियतम को; आयान्तम्—घर आते हुए; वसुदेवः—वसुदेव (कृष्ण के पिता); महा-मनाः—महामना, उदारचेता; अक्रूरः—अक्रूर; च—तथा; उग्रसेनः—उग्रसेन; च—तथा; रामः—बलराम (कृष्ण के बड़े भाई); च—तथा; अद्भुत—अलौकिक; विक्रमः—शौर्य, पराक्रम; प्रद्युम्नः—प्रद्युम्न; चारुदेष्णः—चारुदेष्ण; च—तथा; साम्बः—साम्ब; जाम्बवती-सुतः—जाम्बवती का पुत्र; प्रहर्ष—अत्यन्त प्रसन्नता; वेग—त्वरा; उच्छशित—से प्रभावित; शयन—लेटना; आसन—बैठना; भोजनाः—भोजन करना।

यह सुनकर कि परम प्रिय कृष्ण द्वारकाधाम पहुँच रहे हैं, महामना वसुदेव, अक्रूर, उग्रसेन, बलराम (अलौकिक शक्तिसम्पन्न), प्रद्युम्न, चारुदेष्ण तथा जाम्बवती-पुत्र साम्ब सभी इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने लेटना, बैठना तथा भोजन करना छोड़ दिया।

तात्पर्य : *वसुदेव*—राजा शूरसेन के पुत्र, देवकी के पति तथा श्रीकृष्ण के पिता। ये कुन्ती के भाई तथा सुभद्रा के पिता थे। सुभद्रा अपने ममेरे भाई अर्जुन को ब्याही गई थी और यह प्रथा आज भी भारत के कुछ भागों में प्रचलित है। वसुदेव को राजा उग्रसेन के मंत्री के रूप में नियुक्त किया गया था और बाद में उन्होंने उग्रसेन के भाई देवक की आठ कन्याओं के साथ विवाह किया। देवकी उनमें से एक थी। कंस उनका साला था और वसुदेव ने स्वेच्छा से, कंस का बन्दी बनना इस शर्तपर स्वीकार किया कि वे देवकी का आठवाँ पुत्र उसे दे देंगे। लेकिन कृष्ण की इच्छा से यह विफल रहा। पाण्डवों के मातुल के रूप में उन्होंने पाण्डवों के समस्त संस्कारों में सक्रिय भाग लिया। उन्होंने शतशृंगं पर्वत पर कश्यप पुरोहित को बुलवाया और सारे कृत्य सम्पन्न करवाये। कृष्ण जब कंस के बन्दीगृह के भीतर प्रकट हुए, तो वसुदेव ने उन्हें कृष्ण के पालक पिता, नन्द महाराज के घर गोकुल पहुँचाया। वसुदेव का तिरोधान होने के पूर्व, कृष्ण बलदेव-सहित अन्तर्धान हो गये और वसुदेव के तिरोधान के बाद अर्जुन (वसुदेव के भांजे) ने उनका दाह संस्कार किया।

अक्रूर—वृष्णिकुल के सेनापति तथा भगवान् कृष्ण के महान् भक्त। उन्होंने एक-मात्र स्तुति की एकाकी विधि द्वारा भगवद्भक्ति में सफलता प्राप्त की। वे अहूक की पुत्री सूतनी के पति थे। जब अर्जुन कृष्ण की इच्छानुसार सुभद्रा का हरण करके ले गये, तो उन्होंने अर्जुन की सहायता की थी। सुभद्रा का सफलतापूर्वक हरण होने के बाद, कृष्ण तथा अक्रूर दोनों ही उसे मिलने गये और इस घटना के बाद अर्जुन को दहेज दिया। सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु का जब महाराज परीक्षित की माता, उत्तरा के साथ विवाह हो रहा था, तब भी अक्रूर उपस्थित थे। अक्रूर के श्वसुर अहूक की उनसे नहीं बनती थी। किन्तु दोनों ही भगवान् के भक्त थे।

उग्रसेन—वृष्णिकुल के सर्वाधिक पराक्रमी राजाओं में से एक और महाराज कुन्तिभोज के चचेरे भाई। इनका दूसरा नाम अहूक था। वसुदेव इनके मंत्री थे और शक्तिशाली कंस इनका पुत्र था। इसी कंस ने अपने पिता को बन्दी बनाया और स्वयं मथुरा का राजा बन गया। भगवान् कृष्ण तथा उनके भाई भगवान् बलराम की कृपा से कंस मारा गया और उग्रसेन पुनः राज्य-सिंहासन पर बैठाये गये। जब शाल्व ने द्वारकापुरी पर आक्रमण कर दिया, तो उग्रसेन वीरता से लड़े और उन्होंने शत्रु को पीछे हटा दिया। उग्रसेन ने नारदजी से भगवान् श्रीकृष्ण की अलौकिकता के विषय में जिज्ञासा की थी। जब यदुवंश का विनाश होना था, तो उग्रसेन को साम्ब के गर्भ से उत्पन्न लोह-पिण्ड सौंपा गया था। इन्होंने लोह-पिण्ड को खण्ड-खण्ड करके इसको घिस घिस कर, द्वारका के समुद्रतट पर समुद्रजल में मिला दिया था। तत्पश्चात् उन्होंने द्वारकापुरी के भीतर तथा राज्य में, मद्यपान की पूर्ण मनाही कर दी थी। मृत्यु के पश्चात् उन्हें मोक्ष प्राप्त हुआ था।

बलदेव—ये वसुदेव की पत्नी रोहिणी के गर्भ से प्रकट हुए, अलौकिक पुत्र थे। इन्हें रोहिणी-नन्दन अर्थात् रोहिणी के प्रिय पुत्र भी कहा जाता है। जब वसुदेव ने कंस से पारस्परिक समझौता करके कारावास स्वीकार कर लिया था, तब बलराम को रोहिणी समेत नन्द महाराज को सौंप दिया गया था। अतएव नन्द महाराज बलदेव तथा भगवान् कृष्ण दोनों के पालक पिता थे। सौतेले भाई होते हुए भी कृष्ण तथा बलराम बचपन से ही निरन्तर एकसाथ ही रहते थे। वे भगवान् कृष्ण के स्वांश हैं, अतएव वे कृष्ण के ही समान उत्तम तथा शक्तिमान हैं। वे *विष्णु-तत्त्व* (ईश्वर तत्त्व) की श्रेणी में हैं। वे कृष्ण के साथ द्रौपदी के स्वयंवर में गये थे। जब श्रीकृष्ण की सुनियोजित योजना से अर्जुन द्वारा सुभद्रा का

हरण किया गया था, तब बलदेव अर्जुन पर अत्यधिक क्रुद्ध हुए थे और तत्काल उनका वध कर देना चाहते थे। लेकिन श्रीकृष्ण अपने प्रिय मित्र के लिए, बलदेव के चरणों पर गिर पड़े और उन्हें इतना क्रुद्ध न होने की विनती की। तब कहीं बलदेव तुष्ट हुए थे। इसी प्रकार वे एक बार कौरवों से भी क्रुद्ध हुए थे और वे उनकी सारी नगरी को यमुना नदी में फेंक देना चाहते थे। लेकिन कौरवों ने उनके चरणकमलों में शरण लेकर उन्हें प्रसन्न किया था। वास्तव में वे कृष्ण के जन्म के पूर्व देवकी के सातवें पुत्र थे, लेकिन कंस के क्रोध से बचने के लिए वे रोहिणी के गर्भ में स्थानान्तरित कर दिये गये थे। अतएव उनका अन्य नाम संकर्षण है, जो श्रीबलदेव के स्वांश भी हैं। चूँकि वे कृष्ण के ही समान शक्तिशाली हैं और भक्तों को आध्यात्मिक शक्ति प्रदान करनेवाले हैं, अतएव वे बलदेव कहलाते हैं। वेदों में भी आदेश है कि बिना बलदेव की कृपा प्राप्त किये कोई भी परमेश्वर को नहीं जान सकता। *बल* का अर्थ भौतिक शक्ति नहीं, अपितु आध्यात्मिक शक्ति है। कतिपय अल्पज्ञ लोग *बल* को शारीरिक बल मानते हैं, लेकिन शारीरिक बल से किसी को आत्म–साक्षात्कार नहीं हो सकता। शारीरिक शक्ति का अन्त भौतिक शरीर के ही साथ हो जाता है, लेकिन आध्यात्मिक बल जन्म–जन्मांतर तक आत्मा के साथ–साथ जाता है, अतएव बलदेव द्वारा प्रदत्त किया गया बल कभी व्यर्थ नहीं जाता। यह बल शाश्वत होता है और इस प्रकार बलदेव समस्त भक्तों के आदि गुरु हैं।

श्री बलदेव सांदीपनि मुनि के शिष्य के रूप में श्रीकृष्ण के सहपाठी भी थे। उन्होंने बचपन में कृष्ण के साथ मिलकर अनेक असुरों का संहार किया था और विशेष रूप से उन्होंने तालवन में धेनुकासुर का वध किया था। कुरुक्षेत्र के युद्ध में वे तटस्थ बने रहे और भरसक प्रयत्न करते रहे कि युद्ध न हो। वे दुर्योधन के पक्षपाती थे, तो भी वे तटस्थ बने रहे। जब दुर्योधन तथा भीमसेन के बीच गदायुद्ध हुआ, तो भी वे वहाँ उपस्थित थे। जब भीमसेन ने दुर्योधन की जाँघ पर या कमर के नीचे प्रहार किया, तो वे उससे क्रोधित हुए थे और इस अनुचित कार्य का बदला लेना चाहते थे। लेकिन श्रीकृष्ण ने भीम को उनके क्रोध से बचाया। लेकिन भीमसेन से अरुचि उत्पन्न होने से, उन्होंने तुरन्त उस स्थान को छोड़ दिया और उनके जाते ही दुर्योधन मृत्यु को प्राप्त होने के लिए भूमि पर गिर पड़ा। उन्होंने अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु का अंतिम संस्कार किया, क्योंकि वे उसके मामा थे। उस समय सारे पाण्डव इतने शोक–सन्तप्त थे कि यह संस्कार करना उनके वश की बात न थी। अन्तिम अवस्था में

उन्होंने अपने मुख से एक महान् श्वेत सर्प को उत्पन्न करके इस जगत् से प्रयाण किया और इस प्रकार वे शेषनाग द्वारा सर्प के रूप में ले जाये गये।

प्रद्युम्न—ये कामदेव के अथवा अन्यों के अनुसार सनत्कुमार के अवतार थे और परमेश्वर श्रीकृष्ण तथा द्वारका की महारानी लक्ष्मीदेवी, श्रीमती रुक्मिणी, के पुत्र के रूप में प्रकट हुए थे। वे उनमें से एक थे, जो अर्जुन को सुभद्रा से ब्याह के बाद बधाई देने गये थे। वे उन प्रधान सेनापतियों में से एक थे, जिन्होंने शाल्व से युद्ध किया था और युद्धभूमि में उससे लड़ते-लड़ते वे मूर्छित हो गये थे। उनका सारथी उन्हें युद्धभूमि से शिविर में ले आया था, किन्तु उन्होंने इस कार्य के लिए उसे कोसा था तथा स्वयं अत्यन्त खिन्न हुए थे। किन्तु उन्होंने पुनः शाल्व से युद्ध किया था और विजयी हुए थे। उन्होंने नारदजी से विभिन्न देवताओं के विषय में सुना। वे भगवान् श्रीकृष्ण के चार पूर्णांशों में तीसरे हैं। उन्होंने अपने पिता कृष्ण से ब्राह्मणों की महिमा के विषय में जिज्ञासा की थी। यदुवंशियों के बन्धुघाती युद्ध में, वे वृष्णियों के राजा भोज के हाथों मारे गये। मृत्यु के बाद उन्हें अपने मूल पद पर स्थापित किया गया।

चारुदेष्ण—श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी देवी के एक और पुत्र। ये भी द्रौपदी-स्वयंवर में उपस्थित थे। ये अपने भाइयों तथा पिता की भाँति महान् योद्धा थे। इन्होंने विविनिधक से युद्ध करके उसे मार डाला।

साम्ब—ये यदुकुल के महान् शूरवीरों में से एक थे। ये श्रीकृष्ण की पत्नी जाम्बवती से उत्पन्न पुत्र थे। इन्होंने अर्जुन से धनुर्विद्या का युद्ध कौशल सीखा था और महाराज युधिष्ठिर की संसद के सदस्य बने थे। ये महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उपस्थित थे। जब प्रभास-यज्ञ में सारे वृष्णि एकत्र थे, तो सात्यकि ने भगवान् बलदेव के समक्ष इनके महिमाशाली गुणों का वर्णन किया था। ये युधिष्ठिर द्वारा सम्पन्न करवाये गये अश्वमेघ यज्ञ के समय अपने पिता श्रीकृष्ण के साथ उपस्थित थे। इनके भाइयों ने इन्हें गर्भवती स्त्री के रूप में कुछ ऋषियों के समक्ष प्रस्तुत किया था और इन्होंने हँसी-हँसी में उनसे पूछा था कि मेरे गर्भ से क्या उत्पन्न होगा? इस पर ऋषियों ने उत्तर दिया था कि तुम्हारे गर्भ से लोह-पिण्ड (मूसल) उत्पन्न होगा, जिससे यदुकुल में बन्धु-घाती युद्ध होगा। दूसरे ही दिन प्रातःकाल, साम्ब के गर्भ से एक बृहद् लोह-पिण्ड (मूसल) उत्पन्न हुआ, जिसे उग्रसेन को उचित कार्यवाही के लिए सौंप दिया गया। बाद में सचमुच ही पूर्वघोषित बन्धुघाती युद्ध हुआ, जिसमें साम्ब मारे गये।

इस तरह भगवान् श्रीकृष्ण के ये पुत्र अपना-अपना स्थान त्याग कर तथा विश्राम करना, बैठना, खाना जैसे कृत्यों से विरत होकर अपने पूज्य पिता की ओर दौड़ पड़े।

वारणेन्द्रं पुरस्कृत्य ब्राह्मणैः ससुमङ्गलैः ।
शङ्खतूर्यनिनादेन ब्रह्मघोषेण चादृताः ।
प्रत्युज्जग्मू रथैर्हृष्टाः प्रणयागतसाध्वसाः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

वारण-इन्द्रम्—मांगलिक कार्यवाले हाथी को; पुरस्कृत्य—सामने करके; ब्राह्मणैः—ब्राह्मणों द्वारा; स-सुमङ्गलैः—समस्त शुभ लक्षणों सहित; शङ्ख—शंख; तूर्य—तुरही की; निनादेन—ध्वनि से; ब्रह्म-घोषेण—वेदों के स्तोत्रों के उच्चारण से; च—तथा; आदृताः—महिमा-मण्डित; प्रति—की ओर; उज्जग्मुः—तेजी में बढ़े; रथैः—रथ पर; हृष्टाः—आनन्द में; प्रणयागत—स्नेह से सिक्त; साध्वसाः—सादर।

वे फूल थामे हुए ब्राह्मणों समेत रथों पर भगवान् की ओर तेजी से बढ़े। उनके आगे-आगे सौभाग्य-के प्रतीक हाथी थे। शंख तथा तुरही बज रहे थे और वैदिक स्तोत्र उच्चरित हो रहे थे। इस प्रकार उन्होंने स्नेहसिक्त अभिवादन किया।

तात्पर्य : किसी महापुरुष के स्वागत की वैदिक विधि से सम्मान का वातावरण उत्पन्न होता है, जो आगन्तुक के लिए स्नेह तथा सत्कार से पूर्ण होता है। ऐसे स्वागत का शुभ वातावरण उपर्युक्त साज-सामग्री पर निर्भर करता है, जिसमें शंख, पुष्प, धूप, सजे हुए हाथी तथा वैदिक साहित्य से स्तोत्रों का पाठ करते हुए योग्य ब्राह्मण सम्मिलित हैं। स्वागत का ऐसा कार्यक्रम स्वागतकर्ता तथा स्वागत किए जाने वाले दोनों की निष्ठा से पूरित होता है।

वारमुख्याश्च शतशो यानैस्तद्दर्शनोत्सुकाः ।
लसत्कुण्डलनिर्भातकपोलवदनश्रियः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

वारमुख्याः—विख्यात वेश्याएँ; च—तथा; शतशः—सैकड़ों; यानैः—सवारियों द्वारा; तत्-दर्शन—उनसे (भगवान् श्रीकृष्ण से) भेंट करने के लिए; उत्सुकाः—अत्यन्त उत्सुक; लसत्—लटकते हुए; कुण्डल—कान के आभूषण; निर्भात—चमकते हुए; कपोल—ललाट; वदन—मुख; श्रियः—सौन्दर्य।

उसी समय सैकड़ों विख्यात वेश्याएँ विविध सवारियों पर आरूढ़ होकर आगे बढ़ चलीं। वे सभी भगवान् से मिलने के लिए अत्यन्त उत्सुक थीं और उनके सुन्दर मुख-मण्डल चमचमाते कुण्डलों से सुशोभित थे, जिनके कारण उनके ललाट की शोभा बढ़ रही थी।

तात्पर्य : यदि वेश्याएँ भगवद्भक्त हों, तो हम उनसे भी घृणा नहीं कर सकते। आज भी भारत के बड़े-बड़े नगरों में ऐसी अनेक वेश्याएँ हैं, जो भगवान् की निष्ठावान् भक्त हैं। समय के फेर से, किसी को ऐसा पेशा ग्रहण करना पड़ जाता है, जो समाज में सम्मानित न हो, लेकिन इसके कारण भगवद्भक्ति करने में कोई व्यवधान नहीं आता। भगवान् की भक्ति समस्त परिस्थितियों में बेरोकटोक रहती है। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व, द्वारका जैसे नगर में भी, जहाँ श्रीकृष्ण निवास कर रहे थे, वेश्याएँ रहती थीं। इसका अर्थ यह है कि समाज के समुचित निर्वाह के लिए वेश्याएँ भी आवश्यक अंग हैं। सरकार शराब की दुकानें खोलने देती है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि सरकार मदिरापान को प्रोत्साहित करती है। भाव यह है कि लोगों का एक ऐसा वर्ग है, जो किसी भी कीमत पर मदिरापान करेगा और ऐसा अनुभव है कि मद्य-निषेध से बड़े-बड़े शहरों में शराब की तस्करी को बढ़ावा मिला है। इसी प्रकार जो व्यक्ति घरों में सन्तुष्ट नहीं हो पाते हैं, उन्हें ऐसी छूट की अपेक्षा रहती है और यदि वेश्याएँ न हों, तो ऐसे निम्न लोग, दुसरों को वेश्यावृत्ति के लिए प्रेरित करेंगे। अच्छा हो कि वेश्याएँ बाजारों में उपलब्ध हों, जिससे समाज की पवित्रता कायम रहे। समाज के अन्दर वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहन देने की अपेक्षा वेश्या-वर्ग को बनाये रखना अच्छा होगा। वास्तविक सुधार तो सभी लोगों को भगवद्-भक्त बनने के लिए प्रबुद्ध करना है, जिससे जीवन के समस्त पतनोन्मुख कारकों पर रोक लगेगी।

विष्णुस्वामी वैष्णव सम्प्रदाय के महान् आचार्य, श्री बिल्वमंगल ठाकुर, अपने गृहस्थ जीवन में एक वेश्या के प्रति अत्यधिक आसक्त थे, जो भगवान् की भक्त थी। एक रात जब घनघोर वर्षा हो रही थी तथा बिजली कड़क रही थी, तो उसी में बिल्वमंगल ठाकुर चिन्तामणि के घर पहुँचे। वह आश्चर्यचकित थी कि ऐसी भयानक रात्रि में बाढ़ से उफनती नदी को पार करके ठाकुर कैसे आ गये। उसने बिल्वमंगल ठाकुर से कहा कि उस नगण्य स्त्री के हाड़-मांस के प्रति उनका जो आकर्षण है, यदि उसे भगवद्भक्ति में भगवान् की दिव्य सुन्दरता के प्रति लगाया जाता, तो अच्छा होता। यह ठाकुर के

लिए परीक्षा की घड़ी थी और वे वेश्या के वचनों से आत्म-साक्षात्कार की ओर मुड़े। बाद में उन्होंने उस वेश्या को अपना गुरु माना और उन्होंने अपने काव्य में कई स्थलों पर चिन्तामणि के नाम का गुणगान किया है, जिसने उन्हें सही मार्ग दिखलाया।

भगवद्गीता (९.३२) में भगवान् कहते हैं, ''हे पृथापुत्र! निम्नकुल में उत्पन्न चंडाल, नास्तिकों के वंश में उत्पन्न मनुष्य तथा वेश्याएँ तक भी, जीवन की पूर्णता प्राप्त करेंगी, यदि वे भगवान् की अनन्य भक्ति का आश्रय ग्रहण कर लें, क्योंकि भक्तिमय सेवा के मार्ग में नीच कुल में जन्म तथा वृत्ति अवरोधक नहीं हैं। यह मार्ग उन सबों के लिए खुला है, जो उसका अनुगमन करना चाहते हैं।''

ऐसा प्रतीत होता है कि द्वारका की वेश्याएँ जो भगवान् से मिलने के लिए इतनी उत्सुक थीं, उनकी अनन्य भक्त थीं और इस तरह *भगवद्गीता* के उपरोक्त वचन के अनुसार वे सभी मोक्ष के पथ पर थीं। अतएव समाज में जिस एकमात्र सुधार की आवश्यकता है, वह है सारे नागरिकों को भगवद्भक्त बनाना। इस तरह उनमें स्वर्ग के निवासियों के समस्त सद्गुण स्वत: आ जाएँगे। दूसरी ओर, जो अभक्त हैं उनमें एक भी सद्गुण नहीं होता हैं, भले ही भौतिक दृष्टि से वे कितने ही उन्नत क्यों न हों। अन्तर इतना ही है कि भगवद्भक्त मोक्ष के पथ पर होते हैं, लेकिन अभक्त भवबन्धन में अधिकाधिक उलझने के मार्ग पर होते हैं। सभ्यता की प्रगति की कसौटी यह है कि लोग मोक्ष के मार्ग के लिए शिक्षित हैं या नहीं और उस पर अग्रसर हैं या नहीं।

नटनर्तकगन्धर्वा: सूतमागधवन्दिन: ।
गायन्ति चोत्तमश्लोकचरितान्यद्भुतानि च ॥ २० ॥

शब्दार्थ

नट—नाटककार; नर्तक—नाचनेवाले; गन्धर्वा:—स्वर्ग के गवैये; सूत—पेशेवर पौराणिक; मागध—पेशेवर वंशावली-विशारद, भाट; वन्दिन:—पेशेवर विद्वान वक्ता; गायन्ति—कीर्तन करते हैं; च—क्रमश:; उत्तमश्लोक—परमेश्वर के; चरितानि—कार्यकलापों को; अद्भुतानि—अलौकिक; च—तथा।

कुशल नाटककार, कलाकार, नर्तक, गायक, पौराणिक, वंशावली-विशारद (भाट) तथा विद्वान वक्ता (वाचक) सबों ने भगवान् के अलौकिक कार्यकलापों से प्रेरित होकर अपना-अपना योगदान दिया। इस प्रकार वे आगे बढ़ते गये।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि पाँच हजार वर्ष पूर्व भी समाज को नाटककारों, कलाकारों, नर्तकों, गायकों, पौराणिकों, वंशावली–विशारदों, सार्वजनिक वक्ताओं की भी आवश्यकता पड़ती थी। नर्तक, गायक तथा नाटक–कलाकार अधिकांशतया शूद्रजाति के होते थे, जबकि विद्वान पौराणिक, वंशावली–विशारद (भाट) तथा सार्वजनिक वक्ता ब्राह्मण जाति के होते थे। ये सभी किसी जाति विशेष से सम्बन्धित होते थे और अपने–अपने कुलों में इतने दक्ष हो जाते थे। ऐसे नट, नर्तक, गायक, पौराणिक, भाट तथा सार्वजनिक वक्ता विभिन्न युगों तथा कल्पों में भगवान् के अलौकिक कार्यकलापों का वर्णन करते थे, किसी सामान्य घटना का नहीं। न ही ये घटनाएँ किसी तिथि–क्रमानुसार होती थीं। सारे पुराण ऐतिहासिक तथ्यों से पूर्ण हैं, जिनमें विभिन्न कालों तथा विभिन्न लोकों में भगवान् से सम्बन्धित विषयों का वर्णन है। अत: इसका कोई काल–क्रम नहीं मिलता है। अतएव जब आधुनिक इतिहासकार कोई शृंखला–सूत्र नहीं पकड़ पाते, तो वे अप्रामाणिक ढंग से यह आलोचना करते हैं कि सारे पुराण कपोल–कल्पित हैं।

यहाँ तक कि एक सौ वर्ष पूर्व भी भारत में सारे नाटकों का कार्य परमेश्वर के अलौकिक कार्यकलापों पर ही केन्द्रित होते थे। नाटकों के खेले जाने पर निश्चित रूप से जनसामान्य का मनोरंजन होता था और यात्रा टोलियाँ (नाटक मंडलियाँ) भगवान् के अलौकिक कार्यों का अभिनय करती थीं। इस प्रकार प्रत्येक निरक्षर किसान शैक्षिक योग्यता न होने पर भी वैदिक साहित्य के ज्ञान में सहभागी होता था। अतएव सामान्य व्यक्ति के आध्यात्मिक प्रकाश के लिए नाटककारों, गायकों, वक्ताओं इत्यादि की आवश्यकता होती है। भाट किसी विशेष परिवार के वंशजों का पूरा ब्यौरा प्रस्तुत करते थे। आज भी भारत के तीर्थस्थानों के पंडे किसी भी नवागंतुक का पूरा वंश–ब्यौरा प्रस्तुत करते हैं। कभी–कभी यह आश्चर्यजनक कृत्य ऐसी महत्त्वपूर्ण जानकारी पाने के कारण अधिक ग्राहकों को आकर्षित करता है।

भगवांस्तत्र बन्धूनां पौराणामनुवर्तिनाम् ।
यथाविध्युपसङ्गम्य सर्वेषां मानमादधे ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् श्रीकृष्ण; तत्र—उस स्थान पर; बन्धूनाम्—मित्रों के; पौराणाम्—नागरिकों के; अनुवर्तिनाम्—स्वागतार्थ आये लोगों का; यथा-विधि—यथायोग्य; उपसङ्गम्य—पास जाकर; सर्वेषाम्—हर एक के लिए; मानम्—सम्मान तथा आदर; आदधे—प्रदान किया।

भगवान् श्रीकृष्ण उनके निकट गये और उन्होंने अपने समस्त मित्रों, सम्बन्धियों, नागरिकों तथा उन समस्त लोगों को, जो उन्हें लेने तथा स्वागत करने के लिए आये थे, यथायोग्य सम्मान तथा आदर प्रदान किया।

तात्पर्य : पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् न तो निराकार हैं, न ऐसी निष्क्रिय वस्तु हैं, जो अपने भक्तों के भावों के साथ आदान-प्रदान करने में असमर्थ हों। यहाँ पर *यथाविधि* शब्द महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है ''यथायोग्य''। वे अपने विभिन्न प्रकार के प्रशंसकों तथा भक्तों के साथ यथायोग्य आदान-प्रदान करते हैं। निस्सन्देह शुद्ध भक्त एक ही तरह के होते हैं, क्योंकि भगवान् के अतिरिक्त उनका कोई अन्य सेवा-पात्र नहीं होता, इसीलिए भगवान् भी ऐसे शुद्ध भक्तों के साथ यथायोग्य आदान-प्रदान करते हैं अर्थात् वे अपने शुद्ध भक्तों के सारे कार्यों के प्रति सतर्क रहते हैं। जो लोग उन्हें निराकार कहते हैं, भगवान् भी उनके प्रति कोई व्यक्तिगत रुचि नहीं दिखाते। वे प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आध्यात्मिक चेतना के विकास के रूप में प्रसन्न करते हैं और ऐसे आदान-प्रदान का नमूना यहाँ पर विभिन्न स्वागत करनेवालों के द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

प्रह्वाभिवादनाश्लेषकरस्पर्शस्मितेक्षणैः ।
आश्वास्य चाश्वपाकेभ्यो वरैश्चाभिमतैर्विभुः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

प्रह्वा—अपना सिर झुकाकर; अभिवादन—शब्दों से अभिवादन; आश्लेष—आलिंगन; कर-स्पर्श—हाथ मिलाना; स्मित-ईक्षणैः—बाँकी हँसी से; आश्वास्य—प्रोत्साहन द्वारा; च—तथा; आश्वपाकेभ्यः—कुत्ता खानेवाली अधम जाति तक; वरैः—आशीर्वादों से; च—तथा; अभिमतैः—जिसकी जैसी इच्छा हो; विभुः—सर्वशक्तिमान ने।

सर्वशक्तिमान भगवान् ने वहाँ पर समुपस्थित लोगों को, यहाँ तक कि नीच से नीच जाति वाले को, अपना मस्तक झुकाकर, बधाई देकर, आलिंगन करके, हाथ मिलाकर, देखकर तथा हँसकर, आश्वासन देकर तथा वरदान देकर उनका अभिवादन किया।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण का स्वागत करने के लिए वहाँ सभी प्रकार के लोग थे—पिता वसुदेव, पितामह उग्रसेन तथा गुरु गर्गमुनि से लेकर वेश्याएँ तथा कुत्ते तक खाने के आदी चण्डाल तक थे। भगवान् ने इन सबों से उनके पद तथा प्रतिष्ठा के अनुसार उनका अभिवादन किया। शुद्ध जीवों के रूप में, सारे लोग भगवान् के भिन्नांश हैं और इस प्रकार अपने सनातन सम्बन्ध के कारण कोई उनसे पराया नहीं है। ऐसे शुद्ध जीव, भौतिक गुणों के संदूषण के अनुसार भिन्न-भिन्न वर्गों में श्रेणीबद्ध किये जाते हैं, लेकिन इन भौतिक श्रेणीयों के बावजूद भगवान् अपने समस्त भिन्नांशों पर समान रूप से वत्सल रहते हैं। वे इन भौतिकता में डूबे जीवों को अपने धाम वापस लौटने के लिए स्मरण दिलाने के लिए ही अवतरित होते हैं और जो बुद्धिमान लोग हैं, वे भगवान् द्वारा सभी जीवों को दिए गए इस अवसर का लाभ उठाते हैं। भगवान् किसी को अपने धाम के लिए अयोग्य नहीं ठहराते, यह तो जीव पर निर्भर करता है कि वह इसे स्वीकार करे या नहीं।

स्वयं च गुरुभिर्विप्रै: सदारै: स्थविरैरपि ।
आशीर्भिर्युज्यमानोऽन्यैर्वन्दिभिश्चाविशत्पुरम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

स्वयम्—अपने आप; च—भी; गुरुभिः—वयस्क स्वजनों द्वारा; विप्रैः—ब्राह्मणों के द्वारा; सदारैः—अपनी-अपनी पत्नियों सहित; स्थविरैः—अशक्तों (वृद्धों) के द्वारा; अपि—भी; आशीर्भिः—आशीर्वाद से; युज्यमानः—प्रशंसित होकर; अन्यैः—अन्यों द्वारा; वन्दिभिः—प्रशंसकों द्वारा; च—तथा; अविशत्—प्रवेश किया; पुरम्—नगर में।

तब भगवान् ने ज्येष्ठ-वरेष्ठ सम्बन्धियों तथा अपनी-अपनी पत्नियों के साथ आए अशक्त ब्राह्मणों के साथ नगर में प्रवेश किया। वे सब आशीर्वाद दे रहे थे और भगवान् के यशों का गान कर रहे थे। दूसरे लोगों ने भी भगवान् की महिमा की प्रशंसा की।

तात्पर्य : समाज में ब्राह्मण कभी भी भावी निवृत्त जीवन के लिए धन संग्रह करने के प्रति ध्यान नहीं देते थे। जब वे वृद्ध एवं अशक्त हो जाते थे, तब वे अपनी पत्नियों सहित राजदरबार पहुँचते थे और केवल राजाओं के महिमायुक्त कार्यों की प्रशंसा करने से उन्हें जीवन की सारी आवश्यकताएँ प्रदान की जाती थीं। ऐसे ब्राह्मण राजा के चाटुकार नहीं होते थे, अपितु इससे राजाओं को वास्तव में यश मिलता था और इन ब्राह्मणों के सम्मानयुक्त कार्यों से वे राजा पुण्यकर्मों को सच्चे दिल से करने के लिए

और भी प्रोत्साहित होते थे। भगवान् श्रीकृष्ण समस्त यशों के पात्र हैं और स्तुति करनेवाले ब्राह्मण तथा अन्य लोग भगवान् की महिमा का गान करने के कारण स्वयं धन्य हो गए।

राजमार्गं गते कृष्णे द्वारकायाः कुलस्त्रियः ।
हर्म्याण्यारुरुहुर्विप्र तदीक्षणमहोत्सवाः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

राज-मार्गम्—आम सड़कों से; गते—जाते हुए; कृष्णे—भगवान् कृष्ण द्वारा; द्वारकायाः—द्वारका नगरी की; कुल-स्त्रियः—प्रतिष्ठित कुलों की स्त्रियाँ; हर्म्याणि—राजमहलों में; आरुरुहुः—चढ़ गईं; विप्र—हे ब्राह्मणों; तत्-ईक्षण—उनका (कृष्ण का) दर्शन करने के लिए; महा-उत्सवाः—महान् उत्सव मानकर।

जब भगवान् राजमार्ग से होकर जा रहे थे, तो द्वारका के प्रतिष्ठित परिवारों की सभी स्त्रियाँ भगवान् का दर्शन करने के लिए अपने-अपने महलों की अटारियों पर चढ़ गईं। इसे वे एक महान् उत्सव समझ रही थीं।

तात्पर्य : भगवान् का दर्शन करना, निस्सन्देह, अपने आप में एक महोत्सव है जैसाकि द्वारका नगर की स्त्रियों ने माना। इसे आज भी भारत की श्रद्धालु स्त्रियाँ इसी तरह मानती हैं। विशेषकर, झूलना तथा जन्माष्टमी-उत्सवों के अवसरों पर, भगवान् के मन्दिर में, जहाँ उनके शाश्वत दिव्य रूप की पूजा की जाती है, स्त्रियाँ सर्वाधिक संख्या में जुटती हैं। मन्दिर में स्थापित भगवान् का दिव्य स्वरूप, साक्षात् भगवान् से भिन्न नहीं होता। भगवान् का ऐसा स्वरूप *अर्चा-विग्रह* या *अर्चा-अवतार* कहलाता है और इस भौतिक जगत के असंख्य भक्तों की भक्ति को सरल बनाने के लिए भगवान् की अन्तरंगा शक्ति द्वारा इसे विस्तार दिया जाता है। भौतिक इन्द्रियाँ भगवान् की आध्यात्मिक प्रकृति की अनुभूति नहीं कर पातीं। अतएव भगवान् *अर्चा-विग्रह* रूप का स्वीकार करते हैं, जो बाह्य रूप से मिट्टी, काठ तथा पत्थर का बना होता है, लेकिन इसमें कोई भौतिक कल्मष नहीं होता। भगवान् *कैवल्य* (एकाकी) होने के कारण उनमें कोई भौतिक पदार्थ नहीं रहता। वे अद्वितीय हैं, अतएव वे भौतिक धारणा से कल्मषग्रस्त हुए बिना किसी भी रूप में प्रकट हो सकते हैं। अतएव भगवान् के मन्दिर के सारे उत्सव, जिस रूप में वे मनाये जाते हैं उन उत्सवों के समान होते हैं, जो लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व द्वारका में भगवान् के वास के दिनों में मनाये जाते थे। प्रामाणिक आचार्य, जो ईश-तत्त्व के विज्ञान से भलीभाँति परिचित होते हैं, ऐसे भगवत्-मन्दिरों की स्थापना विधि-विधानों के अन्तर्गत सामान्य लोगों की सुविधा के लिए

करते हैं, लेकिन जो लोग अल्पज्ञ हैं और इस विज्ञान से परिचित नहीं होते, वे इस महान् प्रयास को मूर्ति-पूजा मानने की गलती करते हैं और ऐसी बातों में अपनी टाँग अड़ाते हैं, जिन तक उनकी पहुँच नहीं होती। अतएव वे स्त्रियाँ या पुरुष, जो भगवान् के दिव्य स्वरूप की झाँकी प्राप्त करने के लिए भगवान् के मन्दिरों में उत्सव रचाते हैं, भगवान् के दिव्य रूप में विश्वास न करनेवालों से हजार गुना धन्य हैं।

इस श्लोक से प्रतीत होता है कि द्वारका के निवासी बड़े-बड़े महलों के मालिक थे। यह नगर की समृद्धि का द्योतक है। स्त्रियाँ जुलूस को देखने तथा भगवान् की झाँकी प्राप्त करने के उद्देश्य से अटारियों पर चढ़ गईं। स्त्रियाँ मार्गों की भीड़ के बीच में नहीं गईं और इस तरह उनकी प्रतिष्ठा भलिभाँतिबनी रही। वहाँ पर मनुष्य के साथ बनावटी समानता नहीं थी। स्त्री को पुरुष से पृथक् रखकर, उसकी प्रतिष्ठा की अधिक अच्छे ढंग से रक्षा की जा सकती है। स्त्री-पुरुषों को बे-रोक-टोक मिलना-जुलना नहीं चाहिए।

नित्यं निरीक्षमाणानां यदपि द्वारकौकसाम् ।
न वितृप्यन्ति हि दृशः श्रियो धामाङ्गमच्युतम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

नित्यम्—नियमित रूप से, सदैव; निरीक्षमाणानाम्—उनको देखनेवालों का; यत्—यद्यपि; अपि—के होते हुए; द्वारका-ओकसाम्—द्वारका के निवासी; न—कभी नहीं; वितृप्यन्ति—तुष्ट होते हैं; हि—ठीक से; दृशः—दृश्य; श्रियः—सौन्दर्य; धाम-अङ्गम्—शरीर रूपी आगार; अच्युतम्—अमोघ।

द्वारकावासी समस्त सौन्दर्य के आगार अच्युत भगवान् को नित्य निहारने के अभ्यस्त थे, फिर भी वे कभी तृप्त नहीं होते थे।

तात्पर्य : जब द्वारका नगर की स्त्रियाँ अपने-अपने महलों की अटारियों पर चढ़ गईं, तो उन्होंने यह कभी नहीं सोचा कि इससे पूर्व, उन्होंने अच्युत भगवान् के सुन्दर शरीर को अनेक बार देखा था। इससे संकेत मिलता है कि उनके भगवद्दर्शन की इच्छा से स्त्रियाँ तृप्त नहीं हुई थीं। यदि कोई भौतिक वस्तु बारम्बार देखी जाती है, तो उसके प्रति तृप्ति के नियमानुसार, आकर्षण का कम होना स्वाभाविक है, लेकिन यह तृप्ति का नियम भौतिक वस्तुओं पर लागू होता है, आध्यात्मिक जगत में इसकी गुंजायश नहीं रहती। यहाँ पर *अच्युत* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यद्यपि भगवान् ने कृपापूर्वक पृथ्वी पर

अवतरित हुए थे, किन्तु तो भी वे अच्युत हैं। सारे जीव च्युत अर्थात् पतनशील हैं, क्योंकि जब वे भौतिक जगत के संसर्ग में आते हैं, तो वे अपनी आध्यात्मिक पहचान खो देते है, जिसके कारण उनका भौतिक शरीर जन्म, वृद्धि, रूपान्तर, परिस्थिति, क्षय तथा विनाश जैसे प्राकृतिक नियमों के अधीन रहता है। किन्तु भगवान् का शरीर ऐसा नहीं होता है। वे अपने वास्तविक रूप में अवतरित होते हैं और भौतिक प्रकृति के नियमों द्वारा कभी भी प्रभावित नहीं होते। उनका शरीर प्रत्येक सम्भावित वस्तु का स्रोत है और अनुभवातीत समस्त शोभा का आगार है। अतएव भगवान् के दिव्य शरीर का दर्शन करके किसी को भी तृप्ति नहीं होती, क्योंकि उसमें नित्य नवीन सौन्दर्य दृष्टिगत होता रहता है। दिव्य नाम, रूप, गुण, पार्षद इत्यादि सभी आध्यात्मिक अभिव्यक्तियाँ हैं और भगवान् के पवित्र नाम का नाम-कीर्तन करने तथा उनके गुणों का कथन करने में कभी तृप्ति नहीं होती और न भगवान् के पार्षदों की ही कोई सीमा है। वे सबों के स्रोत हैं और असीम हैं।

श्रियो निवासो यस्योरः पानपात्रं मुखं दृशाम् ।
बाहवो लोकपालानां सारङ्गाणां पदाम्बुजम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्रियः—लक्ष्मी का; निवासः—निवासस्थान; यस्य—जिसका; उरः—वक्षस्थल; पान-पात्रम्—जल का घड़ा; मुखम्—मुँह; दृशाम्—आँखों का; बाहवः—बांहें; लोक-पालानाम्—प्रशासक देवताओं की; सारङ्गाणाम्—भक्तों का, जो किसी वस्तु के विषय में कुछ कहते या गाते हैं; पद-अम्बुजम्—चरणकमल।

भगवान् का वक्षस्थल लक्ष्मी देवी का निवासस्थल है। उनका चाँद जैसा मुखड़ा उन नेत्रों के लिए जलपात्र के समान है, जो सुन्दर वस्तुओं के लिए सदैव लालायित रहते हैं। उनकी भुजाएँ प्रशासक देवताओं के लिए आश्रयस्थल हैं और उनके चरणकमल उन शुद्ध भक्तों की शरणस्थली हैं, जो भगवान् के अतिरिक्त न तो कुछ कहते हैं, न गाते हैं।

तात्पर्य : मनुष्यों की अनेक कोटियाँ हैं और वे सभी भिन्न-भिन्न वस्तुओं में भिन्न-भिन्न प्रकार का भोग खोजती रहती हैं। कुछ ऐसे व्यक्ति हैं, जो लक्ष्मीदेवी की कृपा के इच्छुक रहते हैं। उन्हें वैदिक साहित्य यह बताता है कि *चिन्तामणिधाम** में भगवान् हजारों-हजार लक्ष्मियों के द्वारा पूरे भक्तिभाव सहित सेवित होते रहते हैं। यह धाम भगवान् का दिव्य घर है, जहाँ सारे वृक्ष कल्पतरु हैं और प्रासाद पारसमणि के बने हुए हैं। वहाँ पर भगवान् अपने स्वाभाविक पेशे के तौर पर सुरभि गायों को चराने में

लगे रहते हैं। यदि हम भगवान् के शारीरिक सौन्दर्य से आकृष्ट हों, तो ये लक्ष्मियाँ स्वत: दिखाई पड़ती हैं। निर्विशेषवादी इन लक्ष्मियों को नहीं देख पाते, क्योंकि वे शुष्क चिन्तक होते हैं। लेकिन जो कलाकार हैं तथा सुन्दर सृष्टि द्वारा अभिभूत रहते हैं, उन्हें चाहिए कि पूर्ण तुष्टि

footnote starts here

चिन्तामणि-प्रकर-सद्मसु कल्पवृक्ष

लक्षावृक्षतेषु सुरभिरभिपालयन्तम्।

लक्ष्मी-सहस्र-शत-सम्भ्रम

सेव्यमानम् गोविन्दामादिपुरुषं तमहं भजामि॥

(*ब्रह्मसंहिता,* ५.२९)

footnote ends here

के लिए भगवान् का सुन्दर मुख देखें। भगवान् का मुख समस्त सुन्दरता का आगार है। जिसे वे सुन्दर प्रकृति कहकर पुकारते हैं, वह तो उनकी मन्द मुस्कान है और जिसे वे पक्षियों का कलरव कहते हैं, वे भगवान् की मर्मर ध्वनियाँ हैं। ब्रह्माण्ड की व्यवस्था के लिए प्रशासनाधिकारी देवता होते हैं और राज्य-स्तर पर भी छोटे-छोटे देवता होते हैं। वे सदैव अन्य प्रतियोगियों से भयभीत रहते हैं, किन्तु यदि वे भगवान् की भुजाओं का आश्रय लें, तो भगवान् शत्रुओं के आक्रमण से सदैव उनकी रक्षा कर सकते हैं। प्रशासनिक सेवा में लगा हुआ भगवान् का श्रद्धालु दास आदर्श प्रशासनाधिकारी होता है और वह सामान्य-जन के हितों की रक्षा भलीभाँति कर सकता है। अन्य तथाकथित प्रशासक राजतंत्र के प्रतीक होते हैं, जिनके द्वारा शासित लोगों को दु:सह दुख सहने पड़ते हैं। प्रशासकगण भगवान् की भुजाओं का संरक्षण प्राप्त करके सुरक्षित रह सकते हैं। परमेश्वर सभी वस्तुओं के सार हैं, अतएव वे *सारम्* कहलाते हैं और जो उनका गुणगान करते हैं, वे *सारंग* या शुद्ध भक्त कहलाते हैं। शुद्ध भक्त तो भगवान् के चरणकमलों के लिए लालायित रहते हैं। कमल में एक प्रकार का मधु होता है, जिसका दिव्य आस्वाद भक्तगण करते हैं। वे उन मधुमखियों के तुल्य हैं, जो मधु के लिए सदा दौड़ती रहती हैं। गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के महान् भक्त आचार्य श्रील रूप गोस्वामी ने अपनी तुलना मधुमक्खी से करते हुए इस कमल-मधु के विषय में एक गीत लिखा है : ''हे मेरे भगवान् कृष्ण! मैं आपकी प्रार्थना करता हूँ। मेरा मन मधुमक्खी के समान है, जो थोड़ा कुछ मधु पाने के लिए लालायित है। अतएव कृपा

करके मेरी मनरूपी मधुमक्खी को अपने चरणकमलों में स्थान प्रदान करें, जो समस्त दिव्य मधु के आगार हैं। मैं जानता हूँ कि ब्रह्मा जैसे बड़े-बड़े देवता, वर्षों तक लगातार गहन ध्यान में तल्लीन रहकर भी, आपके चरणकमलों के नाखूनों की द्युति को भी देख नहीं पाते। फिर भी, हे अच्युत! मेरी ऐसी अभिलाषा है, क्योंकि आप शरणागतों पर अत्यन्त दयालु रहते हैं। हे माधव! मैं यह भी जानता हूँ कि मुझ में आपके चरणों की सेवा के प्रति वास्तविक अनुरक्ति नहीं है, लेकिन आप अकल्पनीय शक्तिशाली हैं, अतएव आप असम्भव से असम्भव कार्य कर सकते हैं। आपके चरणकमलों के समक्ष स्वर्ग का अमृत भी तुच्छ है, अतएव मैं उनके प्रति अत्यधिक अनुरक्त हूँ। अतएव हे परम नित्य! मेरे मन को आपके चरणकमलों में स्थिर होने दे, जिससे मैं आपकी दिव्य सेवा का आस्वाद निरन्तर लेता रहूँ।'' भक्तगण भगवान् के चरणकमलों को प्राप्त करके तुष्ट रहते हैं और उन्हें भगवान् के सर्व-सुन्दर मुख को देखने अथवा उनकी बलिष्ठ भुजाओं के संरक्षण की कोई अभिलाषा नहीं रह जाती। वे स्वभाव से विनम्र होते हैं और भगवान् का ऐसे विनम्र भक्तों के प्रति सदैव झुकाव रहता है।

सितातपत्रव्यजनैरुपस्कृतः
प्रसूनवर्षैरभिवर्षितः पथि ।
पिशङ्गवासा वनमालया बभौ
घनो यथार्कोडुपचापवैद्युतैः ॥ २७॥

शब्दार्थ

सित-आतपत्र—श्वेत छाता; व्यजनैः—चामर से; उपस्कृतः—झला जाकर; प्रसून—फूलों की; वर्षैः—वर्षा से; अभिवर्षितः—आच्छादित होकर; पथि—मार्ग पर; पिशङ्ग-वासाः—पीताम्बर से; वन-मालया—फूलों के हारों से; बभौ—हो गया; घनः—बादल; यथा—जिस प्रकार; अर्क—सूर्य; उडुप—चन्द्रमा; चाप—इन्द्रधनुष; वैद्युतैः—बिजली से।

जब भगवान् द्वारका के राजमार्ग से होकर गुजर रहे थे, तब एक श्वेत छत्र तानकर उनके सिर को धूप से बचाया जा रहा था। श्वेत पंखों वाले पंख (चंवर) अर्धवृत्ताकार में झल रहे थे और मार्ग पर फूलों की वर्षा हो रही थी। पीताम्बर तथा फूलों के हार से वे इस प्रकार प्रतीत हो रहे थे, मानो श्याम बादल एक ही साथ सूर्य, चन्द्रमा, बिजली तथा इन्द्रधनुष से घिर गया हो।

तात्पर्य : सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्रधनुष तथा बिजली एकसाथ आसमान में कभी प्रकट नहीं होते। सूर्य के रहने पर चाँदनी नगण्य बन जाती है और यदि बादल हों तथा इन्द्रधनुष उगा हो, तो फिर बिजली

नहीं चमकती। भगवान् के शरीर की कान्ति वर्षाऋतु के नवीन बादल जैसी है। उनकी तुलना यहाँ पर बादल से की गई है। उनके सिर के ऊपर तना श्वेत छाता मानो सूर्य है। चँवर के हिलने-डुलने की तुलना चन्द्रमा से की गई है। फूलों की वर्षा की उपमा तारों से और उनके पीताम्बर की तुलना इन्द्रधनुष से की गई है। अतएव आकाश की ये सारी गतिविधियाँ कभी भी एकसाथ घटित नहीं हो सकतीं और तुलना द्वारा समंजित नहीं की जा सकतीं। ऐसा सामञ्जस्य तभी सम्भव है, जब हम भगवान् की अचिन्त्य शक्ति का चिन्तन करें। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं और उनकी उपस्थिति में कोई भी असम्भव बात उनकी अचिन्त्य शक्ति से सम्भव बनाई जा सकती है। लेकिन द्वारका के मार्गों से उनके गुजरते समय जो स्थिति उत्पन्न हुई, वह सुन्दर थी और उसकी तुलना प्राकृतिक घटनाओं के वर्णन के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु से नहीं की जा सकती।

प्रविष्टस्तु गृहं पित्रोः परिष्वक्तः स्वमातृभिः ।
ववन्दे शिरसा सप्त देवकीप्रमुखा मुदा ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

प्रविष्टः—प्रवेश करने पर; तु—लेकिन; गृहम्—घर में; पित्रोः—पिता के; परिष्वक्तः—आलिंगित होकर; स्व-मातृभिः—अपनी माताओं द्वारा; ववन्दे—नमस्कार किया; शिरसा—सिर से; सप्त—सात; देवकी—देवकी; प्रमुखा—इत्यादि; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक।

अपने पिता के घर में प्रवेश करने पर उन्हें उनकी माताओं ने गले लगाया और भगवान् ने उनके चरणों पर अपना शिर रखकर उन्हें नमस्कार किया। माताओं में देवकी (उनकी असली माता) प्रमुख थीं।

तात्पर्य : ऐसा लगता है कि भगवान् कृष्ण के पिता वसुदेव का अपना अलग से आवास था, जहाँ वे अपनी अठारह रानियों समेत रहते थे, जिनमें से श्रीमती देवकी कृष्ण की असली माता हैं। लेकिन इतने पर भी, अन्य सौतेली माताएँ उन्हें समान रूप से प्यार करती थीं, जैसाकि अगले श्लोक से पता चल जाएगा। भगवान् कृष्ण भी अपनी असली माता तथा विमाताओं में कोई भेदभाव नहीं करते थे और उन्होंने उस अवसर पर उपस्थित वसुदेव की समस्त पत्नियों को नमस्कार किया। शास्त्रों के अनुसार भी सात प्रकार की माताएँ होती हैं—(१) वास्तविक माता, (२) गुरु-पत्नी, (३) ब्राह्मण-पत्नी, (४) राजा की पत्नी, (५) गाय, (६) धाय तथा (७) पृथ्वी। ये सभी माताएँ हैं। शास्त्रों के इस

आदेश से भी विमाता, जो पिता की पत्नी होती है, माता के तुल्य होती है, क्योंकि पिता गुरु भी होता है। ब्रह्माण्ड के स्वामी भगवान् कृष्ण अन्यों को विमाताओं के साथ व्यवहार करने की शिक्षा देने के लिए एक आदर्श पुत्र की भूमिका निभाते हैं।

ताः पुत्रमङ्कमारोप्य स्नेहस्नुतपयोधराः ।
हर्षविह्वलितात्मानः सिषिचुर्नेत्रजैर्जलैः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ताः—वे सभी; पुत्रम्—पुत्र को; अङ्कम्—गोद में; आरोप्य—बिठाकर; स्नेह-स्नुत—स्नेह से सिक्त; पयोधराः—वक्षस्थल; हर्ष—प्रसन्नता; विह्वलित-आत्मानः—से विभोर; सिषिचुः—नम; नेत्रजैः—आँखों के; जलैः—जल से।

माताओं ने अपने पुत्र को गले लगाने के बाद, उसे अपनी-अपनी गोद में बिठाया। विशुद्ध स्नेह के कारण उनके स्तनों से दूध निकल आया। वे हर्ष से विभोर हो गईं और उनके नेत्रों के अश्रुओं से भगवान् भीग गये।

तात्पर्य : जब भगवान् कृष्ण वृन्दावन में थे, तो गौंवे भी उनके प्रति स्नेहिल हो उठती थीं और वे उनके थनों से दूध दुह लिया करते थे। तो उनकी विमाताओं का क्या कहना, जो उनकी माता तुल्य ही थीं?

अथाविशत् स्वभवनं सर्वकाममनुत्तमम् ।
प्रासादा यत्र पत्नीनां सहस्राणि च षोडश ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; अविशत्—प्रविष्ट हुए; स्व-भवनम्—अपने महलों में; सर्व—समस्त; कामम्—इच्छाएँ; अनुत्तमम्—सब तरह से पूर्ण; प्रासादाः—महल; यत्र—जहाँ; पत्नीनाम्—पत्नियों को; सहस्राणि—हजारों; च—इसके ऊपर; षोडश—सोलह।

तत्पश्चात् भगवान् अपने महलों में प्रविष्ट हुए, जो सभी तरह से परिपूर्ण थे। उनमें उनकी पत्नियाँ रहती थीं और वे सोलह हजार से अधिक थीं।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण की १६,१०८ पत्नियाँ थीं और प्रत्येक के लिए चारदीवारी तथा उद्यान से युक्त पूर्ण रूप से सुसज्जित महल थे। इन महलों का पूरा विवरण दशम स्कंध में दिया गया है। सारे महल सर्वोत्तम संगमरमर पत्थर के बने थे। वे रत्नों से प्रकाशित थे और मखमल तथा रेशम के पर्दों तथा गलीचों से सज्जित थे, जिनके किनारों पर सोने की जरी लगी थी। भगवान् का अर्थ है, जो समस्त

बल, समस्त शक्ति, समस्त ऐश्वर्य, समस्त सौन्दर्य, समस्त ज्ञान तथा समस्त वैराग्य से परिपूर्ण हो। अतएव भगवान् के महलों में कोई वस्तु ऐसी न थी, जिससे भगवान् की सारी इच्छाएँ पूरी न होती हों। भगवान् असीम हैं, अतएव उनकी इच्छाएँ भी असीमित हैं और पूर्ति भी असीमित है। प्रत्येक वस्तु असीम होने के कारण यहाँ पर संक्षेप में *सर्वकामम्,* अर्थात् सभी वांछनीय वस्तुओं से पूर्ण कहा गया है।

पत्न्यः पतिं प्रोष्य गृहानुपागतं
विलोक्य सञ्जातमनोमहोत्सवाः ।
उत्तस्थुरारात् सहसासनाशयात्
साकं व्रतैर्व्रीडितलोचनाननाः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

पत्न्यः—पत्नियाँ (भगवान् कृष्ण की); पतिम्—पति को; प्रोष्य—घर से दूर गया हुआ; गृह-अनुपागतम्—अब घर लौटा हुआ; विलोक्य—देखकर; सञ्जात—उत्पन्न करके; मनः-महा-उत्सवाः—मन के भीतर प्रसन्नतापूर्ण उत्सव का भाव; उत्तस्थुः—उठीं; आरात्—दूर से; सहसा—एकाएक; आसना—आसनों से; आशयात्—ध्यान अवस्था से; साकम्—के साथ; व्रतैः—व्रत के; व्रीडित—लज्जा से देखते; लोचन—नेत्र; आननाः—मुख।

दीर्घकाल तक बाहर रहने के बाद अपने पति को घर आया देखकर श्रीकृष्ण की रानियाँ मन ही मन अत्यन्त हर्षित हुईं। वे अपने-अपने आसनों तथा ध्यानों से तुरन्त उठकर खड़ी हो गईं। सामाजिक प्रथा के अनुकूल, उन्होंने लज्जा से अपने मुख ढक लिये और दृष्टि नीची किये देखने लगीं।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा गया है भगवान् अपनी १६,१०८ रानियों के महलों में प्रविष्ट हुए। इसका अर्थ यह है कि भगवान् ने तुरन्त ही अपना विस्तार उतने अंशों में कर लिया, जितनी रानियाँ तथा महल थे और उन सबों में एकसाथ पृथक्-पृथक् प्रविष्ट हुए। यहाँ पर उनकी अन्तरंगा शक्ति की अन्य अभिव्यक्ति हुई है। वे इच्छानुसार अनेक आध्यात्मिक स्वरूपों में अपना विस्तार कर सकते हैं, यद्यपि वे अद्वितीय हैं। श्रुति मंत्र से प्रतिपादित होता है कि परम पूर्ण एक हैं, किन्तु इच्छानुसार वे अनेक बन जाते हैं। परमेश्वर के ये अनेक विस्तार पूर्ण तथा भिन्नांशों के रूप में होते हैं। भिन्नांश उनकी शक्ति के द्योतक हैं और पूर्णांश उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्तियाँ हैं। इस तरह भगवान् ने अपने १६,१०८ पूर्ण अंश प्रकट किये और प्रत्येक रानी के महल में एक ही साथ प्रविष्ट हुए। इसे *वैभव* या भगवान् की

दिव्य शक्ति कहा जाता है। चूँकि वे ऐसा कर सकते हैं, अतएव वे योगेश्वर भी कहलाते हैं। सामान्यतया कोई योगी अपना अधिक से अधिक दस गुना विस्तार कर सकता है, लेकिन भगवान् इच्छानुसार कई हजार गुना या अनन्त विस्तार कर सकते हैं। अश्रद्धालु लोग यह जानकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं कि कृष्ण ने १६,००० से अधिक रानियों से विवाह किया, क्योंकि वे उन्हें अपने ही समान एक मान कर, अपनी सीमित शक्ति से उनकी शक्ति की तुलना करते हैं। अतएव मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि भगवान् कभी भी जीवों के स्तर पर नहीं होते। जीव उनकी तटस्था शक्ति के विस्तार मात्र हैं। मनुष्य को कभी सोचना भी नहीं चाहिए कि शक्तिमान तथा शक्ति समान होते हैं, यद्यपि शक्ति तथा शक्तिमान में गुण का केवल रंचमात्र अन्तर है। रानियाँ भी उनकी अन्तरंगा शक्ति की विस्तार थीं और इस तरह शक्ति तथा शक्तिमान निरन्तर दिव्य आनन्द का आदान-प्रदान करते हैं। इन्हें ही भगवान् की लीलाएँ कहते हैं। अतएव किसी को यह जानकर आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि भगवान् की इतनी सारी पत्नियाँ थीं। उल्टे, लोगों को यह मानना चाहिए कि यदि भगवान् के लाखों-करोड़ों पत्नियाँ होतीं, तो भी वे अपनी असीम तथा अक्षय शक्ति को पूरी तरह प्रकट नहीं कर रहे। उन्होंने केवल १६,००० पत्नियों से ब्याह किया और उनमें से प्रत्येक के महल में यह दिखाने के लिए प्रवेश किया कि इस पृथ्वी पर कोई मनुष्य कितना ही बलवान क्यों न हो, वह न तो उनकी समता कर सकता है, न उनसे बढ़कर है। अतएव न तो कोई उनके समान है, न उनसे बढ़कर है। भगवान् सभी मामलों में सदा महान् हैं। शाश्वत सत्य भी यही है कि, ''ईश्वर महान् हैं।''

अतएव कुरुक्षेत्र के युद्ध के कारण दीर्घकाल तक घर से दूर रहनेवाले अपने पति को ज्योंही रानियों ने कुछ दूरी पर देखा, तो वे ध्यान की निद्रा से जग गईं और अपने प्रियतम की अगवानी के लिए तैयार हो गईं। याज्ञवल्क्य के धार्मिक आदेशानुसार जिस स्त्री का पति घर से बाहर हो, उसे न तो किसी सामाजिक उत्सव में भाग लेना चाहिए, न शरीर को अलंकृत करना चाहिए, न हँसना चाहिए और न किसी भी परिस्थिति में अपने सम्बन्धी के घर जाना चाहिए। जिन स्त्रियों के पति बाहर हों, उनके लिए यही व्रत है। लेकिन साथ ही साथ यह भी कहा गया है कि पत्नी कभी भी अपने पति के समक्ष मलिन अवस्था में उपस्थित न हो। वह अपने आपको आभूषणों से अलंकृत करे और अच्छे वस्त्र पहने और पति के समक्ष सदैव प्रसन्न तथा हर्षित मुद्रा में जाए। कृष्ण की सारी रानियाँ पति की

अनुपस्थिति का चिन्तन करते हुए ध्यान-मग्न थीं और निरन्तर उन्हीं का ध्यान करती रहती थीं। भगवान् के भक्त भगवान् के ध्यान के बिना पल भर भी नहीं रह सकते, तो फिर रानियों के लिए क्या कहा जाय, जो द्वारका में भगवान् की लीलाओं में रानी के रूप में अवतरित हुई लक्ष्मीयाँ थीं। वे भगवान् की उपस्थिति द्वारा या समाधि द्वारा उनसे कभी विलग नहीं की जा सकतीं। वृन्दावन की गोपियाँ जब भगवान् वन में गाएँ चराने के लिए बाहर जाते थे, तो भगवान् को भुला नहीं पाती थीं। जब बाल-रूप भगवान् कृष्ण गाँव में नहीं होते थे, तो घर पर गोपियाँ, नरम चरणकमलों से कठोर भूमि पर चलते हुए कृष्ण के बारे में चिन्ता करती रहतीं। कभी-कभी इस तरह चिन्तन करते-करते वे समाधि में पहुँच जातीं और हृदय में सन्ताप करतीं। भगवान् के शुद्ध पार्षदों की ऐसी ही दशा होती है। वे सदैव समाधि में रहते हैं। अतएव कृष्ण की अनुपस्थिति में रानियाँ भी समाधिस्थ थीं। इस समय, भगवान् को कुछ दूरी पर देखकर, उन्होंने अपने सारे कार्य छोड़ दिये, जिनमें उपर्युक्त स्त्रियों के व्रत भी सम्मिलित थे। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के मतानुसार इस अवसर पर नियमित मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया हुई। पहले तो वे सभी अपने-अपने आसनों से उठ गईं, क्योंकि अपने-अपने पति को देखना चाहती थीं, किन्तु स्त्री योचित लज्जा के कारण वे रुक गईं, लेकिन प्रबल उत्कंठा के कारण उन्होंने इस दुर्बलता की अवस्था पर काबू पा लिया और भगवान् का आलिंगन करने की भावना से अभिभूत हो गईं और इस विचार ने उन्हें अपने आस-पास के परिवेश से अचेत बना दिया। इस उत्कंठा की मूल दशा के कारण सारी औपचारिकताओं एवं सामाजिक रीति-रिवाजों का अन्त हो गया और इस तरह भगवान् के मिलन-पथ के सारे अवरोध दूर हो गये। आत्मा के प्रभु, श्रीकृष्ण के मिलन की यह चरम अवस्था है।

तमात्मजैर्दृष्टिभिरन्तरात्मना
दुरन्तभावाः परिरेभिरे पतिम् ।
निरुद्धमप्यास्रवदम्बु नेत्रयो-
र्विलज्जतीनां भृगुवर्य वैक्लवात् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस (भगवान्) को; आत्म-जैः—पुत्रों द्वारा; दृष्टिभिः—दृष्टि द्वारा; अन्तर-आत्मना—अन्तरात्मा से; दुरन्त-भावाः—दुर्लंघ्य उत्कंठा; परिरेभिरे—आलिंगन किया; पतिम्—पति को; निरुद्धम्—अवरुद्ध; अपि—होते हुए; आस्रवत्—आँसू; अम्बु—जल

की बूँदों के समान; नेत्रयोः—आँखों से; विलज्जतीनाम्—लज्जा अनुभव करनेवाली; भृगु-वर्य—हे भृगुओं में श्रेष्ठ; वैक्लवात्—अनजाने।

रानियों की दुर्लंघ्य उत्कण्ठा इतनी तीव्र थी कि लजाई होने के कारण उन्होंने सर्वप्रथम अपने अन्तरतम से भगवान् का आलिंगन किया, फिर उन्होंने दृष्टि से उनका आलिंगन किया और तब अपने पुत्रों को उनका आलिंगन करने के लिए भेजा (जो खुद ही आलिंगन करने जैसा है)। लेकिन हे भृगुश्रेष्ठ, यद्यपि वे भावनाओं को रोकने का प्रयास कर रही थीं, किन्तु अनजाने उनके नेत्रों से अश्रु छलक आये।

तात्पर्य : यद्यपि स्त्रियोचित लज्जा के कारण अपने प्रिय पति भगवान् श्रीकृष्ण का आलिंगन करने में अनेक अवरोध थे, लेकिन उन्होंने भगवान् को देखकर, उन्हें अपने अन्तरतम में स्थापित करके तथा आलिंगन करने के लिए अपने पुत्र भेज करके, इसे पूरा कर लिया। लेकिन इस पर भी काम अधूरा ही रहा और अत्यन्त प्रयास करने पर भी उनकी आँखों से आँसू ढुलक आये। पुत्र को पिता का आलिंगन करने के लिए भेजना अप्रत्यक्ष रूप से पति का आलिंगन करने जैसा है, क्योंकि पुत्र माता के शरीर से ही विकसित होता है। पुत्र द्वारा आलिंगन पति-पत्नी द्वारा काम-भावना की दृष्टि से किये जानेवाले आलिंगन-जैसा नहीं होता, लेकिन यह आलिंगन वात्सल्य की दृष्टि से तृप्तिदायक होता है। *युगल सम्बंधों* में दृष्टि द्वारा आलिंगन अधिक प्रभावशाली होता है। अतएव श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, पति तथा पत्नी में इस प्रकार के भाव-विनिमय में कुछ भी गलत नहीं है।

यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगत-
स्तथापि तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवम् ।
पदे पदे का विरमेत तत्पदा-
च्चलापि यच्छ्रीर्न जहाति कर्हिचित् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यदि—यद्यपि; अपि—निश्चय ही; असौ—वे (भगवान् श्रीकृष्ण); पार्श्व-गतः—बगल में; रहः-गतः—अकेले; तथापि—फिर भी; तस्य—उसका; अङ्घ्रि-युगम्—भगवान् के चरण; नवम् नवम्—नये-नये; पदे—पग; पदे—पग पर; का—कौन; विरमेत—विलग किया जा सकता है; तत्-पदात्—उनके चरणों से; चलापि—गतिशील; यत्—जिसको; श्रीः—लक्ष्मी जी; न—कभी नहीं; जहाति—छोड़ती है; कर्हिचित्—कभी भी।

यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण निरन्तर उनके पास थे और बिल्कुल अकेले भी थे, तो भी उनके चरण उन्हें नवीनतर लग रहे थे। यद्यपि लक्ष्मी जी स्वभाव से चंचल हैं, लेकिन वे भी भगवान् के

चरणों को नहीं छोड़ती थीं। तो भला जो स्त्री एक बार उन चरणों की शरण में जा चुकी हो, वह उनसे किस प्रकार विलग की जा सकती है?

तात्पर्य : बद्धजीव लक्ष्मीजी की कृपा के सदैव भूखे रहते हैं, यद्यपि स्वभाव से लक्ष्मीजी एक स्थान से दूसरे स्थान को जाती रहती हैं। भौतिक जगत में कोई कितना ही चतुर क्यों न हो, वह स्थायी रूप से भाग्यशाली नहीं होता। संसार के विभिन्न भागों में न जाने कितने विशाल साम्राज्य हुए हैं, संसार में न जाने कितने शक्तिशाली राजा हुए हैं और न जाने कितने भाग्यशाली पुरुष हो चुके हैं, लेकिन क्रमशः उन सबका क्षय हुआ है। यही प्रकृति का नियम है, लेकिन आध्यात्मिकता में स्थिति भिन्न होती है। *ब्रह्म-संहिता* के अनुसार, भगवान् की सेवा में सैकड़ों-हजारों लक्ष्मियाँ अत्यन्त विनम्रतापूर्वख लगी रहती हैं। वे भगवान् के साथ सदैव एकान्त में होती हैं। तो भी भगवान् का सान्निध्य नित-नित इतना नवीन लगता है कि वे क्षण भर के लिए भी, भगवान् को नहीं छोड़ पाती हैं, यद्यपि वे स्वभाव से चंचल हैं और इधर-उधर विचरण करती रहती हैं। भगवान् के साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध इतना जीवन्त होता है कि एक बार उनकी शरण में आ जाने पर भगवान् का संग नहीं छोड़ा जा सकता।

सारे जीव स्वभाव से स्त्रैण हैं। पुरुष या भोक्ता तो भगवान् हैं और उनकी विभिन्न शक्तियों की सारी अभिव्यक्तियाँ भी स्त्रैण हैं। *भगवद्गीता* में जीवों को *परा-प्रकृति* अर्थात् उच्चतर शक्ति की उपाधि से दी गइ है। भौतिक तत्त्व *अपरा-प्रकृति* या निकृष्ट शक्ति हैं। ऐसी शक्तियाँ भोक्ता की तुष्टि के लिए व्यवहार में लाइ जाती हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा गया है, परम भोक्ता तो स्वयं भगवान् हैं। अतएव जब शक्तियों को सीधे भगवान् की सेवा में लगाया जाता है, तो उन्हें असली रूप प्राप्त होता है और तब शक्ति तथा शक्तिमान में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

सामान्यतया किसी नौकरी में लगे लोग, सदैव राज्य या सरकार के परम भोक्ता के अधीन कोई पद चाहते हैं। चूँकि भगवान् इस ब्रह्माण्ड के भीतर या बाहर की प्रत्येक वस्तु के परम भोक्ता हैं, अतएव उनकी सेवा में लगना हर्ष का विषय है। एक बार भगवान् की परम सरकारी सेवा में लग जाने पर कोई भी जीव कभी उससे मुक्त होना नहीं चाहता। मनुष्य जीवन की सर्वोच्च सिद्धि भगवान् की परम सेवा में कोई कार्य प्राप्त करना है। इससे मनुष्य परम सुखी बनता है। तब उसे भगवान् से सम्बन्ध बनाए बिना चंचला लक्ष्मी को खोजने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

एवं नृपाणां क्षितिभारजन्मना-
मक्षौहिणीभि: परिवृत्ततेजसाम् ।
विधाय वैरं श्वसनो यथानलं
मिथो वधेनोपरतो निरायुध: ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; नृपाणाम्—राजाओं या प्रशासकों के; क्षिति-भार—पृथ्वी का बोझ; जन्मनाम्—इस प्रकार से उत्पन्न; अक्षौहिणीभि:—घोड़ों, हाथियों, रथों तथा पैदल सेना शक्ति के द्वारा शक्ति-सम्पन्न; परिवृत्त—ऐसे परिवेश से गर्वित; तेजसाम्—पराक्रम; विधाय—उत्पन्न करके; वैरम्—शत्रुता; श्वसन:—बाँसों के पौधों तथा वायु के घर्षण से; यथा—जिस प्रकार; अनलम्—अग्नि; मिथ:—एक दूसरे के साथ; वधेन—मारने से; उपरत:—छूटकर; निरायुध:—युद्ध में किसी का पक्ष न करने से।.

पृथ्वी पर भार-स्वरूप राजाओं को मारने के बाद, भगवान् को राहत हुई। वे अपनी सैन्य-शक्ति, अपने घोड़ों, हाथियों, रथों, पैदल सेना के बल पर गर्वित थे। युद्ध में भगवान् किसी दल में सम्मिलित नहीं हुए। उन्होंने बलशाली प्रशासकों में शत्रुता उत्पन्न की और वे आपस में लड़ गये। वे उस वायु के समान थे, जो बाँसों में घर्षण उत्पन्न करके आग लगा देती है।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, जीव उन वस्तुओं का वास्तविक भोक्ता नहीं होता, जो भगवान् की सृष्टि के रूप में प्रकट होती हैं। भगवान् अपनी सृष्टि में प्रकट की गई प्रत्येक वस्तु के असली स्वामी तथा भोक्ता हैं। दुर्भाग्यवश, माया के वश में आकर, जीव प्रकृति के गुणों के आदेशानुसार मिथ्या भोक्ता बन जाता है। ईश्वर बनने की ऐसी मिथ्या भावना से गर्वित होकर मोहित जीव अनेकानेक कार्यों के द्वारा अपनी भौतिक शक्ति बढ़ाता है और इस तरह पृथ्वी का बोझ बन जाता है और यहाँ तक कि पृथ्वी भलेमानस के लिए रहने योग्य नहीं रह जाती। यह अवस्था *धर्मस्य ग्लानि* अर्थात् मानव शक्ति का दुरुपयोग कहलाती है। जब इस प्रकार धर्म की ग्लानि प्रकट होने लगती है, तो धर्मात्मा लोग, धरती के लिए भार-स्वरूप भ्रष्ट प्रशासकों द्वारा उत्पन्न विषम परिस्थिति में व्यग्र हो उठते हैं और तब धर्मात्मा लोगों की रक्षा करने तथा संसार विभिन्न भागों के ऐसे प्रशासकों के भार को कम करने के लिए भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति से अवतरित होते हैं। वे इन अवांछित प्रशासकों पर दया नहीं दिखाते, अपितु अपनी शक्ति से वे उनके बीच शत्रुता उत्पन्न कर देते हैं, ठीक उसी तरह जिस प्रकार वायु बाँसों की रगड़ से जंगल में अग्नि उत्पन्न कर देती है। यह अग्नि जंगल में स्वत: वायु के

प्रकोप से उत्पन्न होती है। इसी प्रकार राजनेताओं के विभिन्न समुहों में शत्रुता का प्रादुर्भाव भगवान् की अदृश्य योजना से होता है। ये अवांछित प्रशासक झूठी शक्ति तथा सैन्य-बल से गर्वित होकर, आदर्शवादी संघर्षों के लिए परस्पर युद्ध करने लगते हैं और अपनी सारी शक्ति का क्षय कर लेते हैं। विश्व का इतिहास भगवान् की इस इच्छाशक्ति को दर्शाता है और यह तब तक चलती रहेगी, जब तक सारे जीव भगवान् की सेवा में अनुरक्त नहीं हो जाते। *भगवद्गीता* (७.१४) में यह तथ्य अत्यन्त विशद रूप से वर्णित है, जिसमें कहा गया है, ''माया मेरी शक्ति है इसलिए आश्रित जीवों के लिए यह सम्भव नहीं है कि वे भौतिक गुणों की शक्ति का अतिक्रमण कर सकें। किन्तु जो लोग मेरी (भगवान् श्रीकृष्ण की) शरण ग्रहण करते हैं, वे इस भौतिक शक्ति विशाल सागर को पार कर सकते हैं।'' इसका अर्थ यह हुआ कि सकाम कर्म द्वारा या चिन्तन या आदर्शवाद द्वारा शान्ति तथा सम्पन्नता नहीं लाई जा सकती। इसका एकमात्र उपाय है परमेश्वर की शरण ग्रहण करना और माया के मोह से मुक्त हो लेना।

दुर्भाग्यवश जो लोग विध्वंसक कार्य में लगे हैं, वे भगवान् की शरण ग्रहण करने में अक्षम हैं। वे अव्वल दर्जे के मूर्ख हैं; वे मनुष्य योनि के निम्नतम् स्तर पर गिरे हुए हैं; उनका सारा ज्ञान हर लिया गया होता है, यद्यपि बाहरी तौर पर शैक्षिक दृष्टि से वे पढ़े-लिखे लगते हैं। वे सारे आसुरी वृत्ति के होते हैं और सदैव ही भगवान् की परम शक्ति को ललकारते रहते हैं। जो अत्यधिक भौतिकतावादी हैं और भौतिक शक्ति एवं सत्ता के लिए लालायित रहते हैं, वे निस्सन्देह पहले दर्जे के मूर्ख हैं, क्योंकि उन्हें जीवंत शक्ति का कोई ज्ञान नहीं होता। वे सर्वोपरि अध्यात्म ज्ञान से अनजान होने के कारण भौतिक विज्ञान में मस्त रहते हैं, जिसका समापन शरीर के अन्त के साथ हो जाता है। वे निपट अधम मनुष्य होते हैं, क्योंकि मनुष्य जीवन तो विशेष रूप से भगवान् के साथ विस्मृत सम्बन्ध को पुन:स्थापित करने के निमित्त मिला है, किन्तु वे भौतिक कार्यकलापों में लगे रहने के कारण इस अवसर को खो देते हैं। उनकी बुद्धि मारी जाती है, क्योंकि दीर्घकालीन तर्क वितर्क के बाद भी वे उन भगवान् को नहीं जान पाते, जो प्रत्येक वस्तु के सार-सर्वस्व हैं। वे सारे के सारे आसुरी सिद्धान्त वाले होते हैं और वे उसी तरह अपने किये कर्मों का फल भोगते हैं, जिस तरह कि रावण, हिरण्यकशिपु, कंस तथा अन्य भौतिकतावादी शूरवीरों ने भोगा।

स एष नरलोकेऽस्मिन्नवतीर्णः स्वमायया ।
रेमे स्त्रीरत्नकूटस्थो भगवान् प्राकृतो यथा ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सः—वे (पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्); एषः—ये सब; नर-लोके—इस मनुष्य-लोक में; अस्मिन्—इस; अवतीर्णः—अवतार लेकर; स्व—निजी, अन्तः; मायया—अहैतुकी कृपा से; रेमे—भोग किया; स्त्री-रत्न—वह स्त्री, जो भगवान् की पत्नी बनने के लिए उपुयक्त है; कूटस्थः—मध्य में; भगवान्—भगवान्; प्राकृतः—संसारी; यथा—जिस प्रकार।

पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण अपनी अहैतुकी कृपा से अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा इस लोक में प्रकट हुए और सुयोग्य स्त्रियों के साथ इस तरह भोग किया, मानो वे संसारी कार्यों में लगे हुए हों।

तात्पर्य : भगवान् ने विवाह किया और गृहस्थ की भाँति रहे। यह निश्चय ही संसारी कार्य जैसा है, किन्तु जब हम यह जान लेते हैं कि उन्होंने १६,१०८ पत्नियों से विवाह किया और वे *उन सबों के साथ पृथक्-पृथक् महलों में रहते थे,* तो यह निश्चित रूप से सांसारिकता नहीं रह जाती। अतएव भगवान् का अपनी सुयोग्य पत्नियों के साथ गृहस्थ के रूप में रहना कभी भी संसारी नहीं हैं और उन सबके साथ उनका व्यवहार कोई संसारी यौन-सम्बन्ध नहीं समझा जाना चाहिए। जो स्त्रियाँ उनकी पत्नी बनी थीं, वे भी सामान्य स्त्रियाँ नहीं थीं, क्योंकि भगवान् को पति-रूप में प्राप्त करना कोटि-कोटि जन्मों की तपस्या का परिणाम ही हो सकता है। जब भगवान् विभिन्न लोकों में या इस मनुष्यलोक में प्रकट होते हैं, तो वे बद्धजीवों को दिव्य लोक में अपना नित्य दास, मित्र, जननी, जनक तथा प्रियतम बनाने हेतु आकर्षित करने के लिए ही अपनी दिव्य लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं, जहाँ भगवान् नित्य सेवा-विनिमय का प्रतिदान करते हैं। इस भौतिक जगत में यह सेवा विकृत रूप में दिखती है और असमय ही छिन्न हो जाती है, जिससे बहुत ही कटु अनुभव होता है। मोहग्रस्त जीव, प्रकृति के द्वारा बद्ध होकर, अज्ञान के कारण समझ नहीं पाता कि हमारे यहाँ के सारे संसारी सम्बन्ध क्षणिक हैं और उन्माद से भरे हैं। ऐसे सम्बन्ध हमें निरन्तर सुखी नहीं रख सकते, किन्तु यदि यही सम्बन्ध भगवान् के साथ स्थापित किये जायें, तो हम इस भौतिक शरीर को त्यागने पर वैकुण्ठ चले जाते हैं और उनके साथ इच्छित शाश्वत सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। अतएव जिन स्त्रियों के बीच में वे पति-रूप में रह रहे थे, वे इस भौतिक जगत् की स्त्रीयाँ न होकर उनकी दिव्य पत्नियाँ थीं और वे भक्तिमय सेवा की पूर्णता के द्वारा दिव्य पद प्राप्त कर चुकी थीं। यही उनकी योग्यता थी। भगवान्

परब्रह्म अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर हैं। बद्धजीव सर्वत्र ही शाश्वत सुख की खोज करते रहते हैं—न केवल इस धरा में, अपितु ब्रह्माण्ड के अन्य लोकों में भी—क्योंकि वैधानिक रूप से आध्यात्मिक स्फुलिंग होने के कारण, जीव ईश्वर की सृष्टि के कोने-कोने में विचरण कर सकता है। लेकिन भौतिक गुणों के द्वारा बद्ध होने से वह अन्तरिक्षयानों द्वारा आकाश में विचरण करना चाहता है और अपने गन्तव्य तक पहुँच पाने में असफल रहता है। गुरुत्वाकर्षण का नियम उसके लिए कैदी की जंजीरों के समान बाँधनेवाला है। वह अन्य विधियों से कहीं भी पहुँच सकता है, लेकिन चाहे वह सर्वोच्च लोक तक क्यों न पहुँच जाय, किन्तु उसे वह शाश्वत सुख नहीं मिल सकता, जिसकी खोज वह जन्म-जन्मांतर से करता रहता है। किन्तु जब वह होश सँभालता है, तो ब्रह्म-सुख की खोज यह जानते हुए करता है कि वह जिस असीम सुख की खोज कर रहा है, वह इस भौतिक जगत में कभी भी प्राप्त होनेवाला नहीं है। अतएव, सर्वोपरि व्यक्ति, परब्रह्म कभी भौतिक जगत में इस सुख की खोज नहीं करते। न ही उनकी सुख-सामग्री इस भौतिक जगत में मिल सकती है। वे निराकार नहीं हैं। चूँकि वे नायक हैं और असंख्य जीवों में सर्वोपरि व्यक्ति हैं, अतएव वे निराकार नहीं हो सकते। वे हमारी ही तरह हैं और उनमें समस्त व्यक्तिगत जीवों की सी प्रवृत्ति पूर्ण रूप में पायी जाती है। वे हमारी ही तरह विवाह करते हैं, किन्तु उनका विवाह न तो संसारी है, न हमारा बद्ध अवस्था के अनुभव से सीमित है। अतएव उनकी पत्नियाँ संसारी लगती तो हैं, किन्तु वास्तव में वे सब दिव्य मुक्तात्माएँ हैं, जो अन्तरंगा शक्ति की पूर्ण अभिव्यक्तियाँ हैं।

उद्दामभावपिशुनामलवल्गुहास-
व्रीडावलोकनिहतो मदनोऽपि यासाम् ।
सम्मुह्य चापमजहात्प्रमदोत्तमास्ता
यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

उद्दाम—अत्यन्त गम्भीर; **भाव**—भाव; **पिशुन**—उत्तेजक; **अमल**—निष्कलंक; **वल्गु-हास**—सुन्दर मुसकान; **व्रीड**—आँख की कोर; **अवलोक**—देखना, चितवन; **निहतः**—जीता गया; **मदनः**—कामदेव (या अमदन; **अपि**—; **यासाम्**—; **सम्मुह्य**—; **चापम्**—; **अजहात्**—; **प्रमद**—; **उत्तमाः**—; **ता**—; **यस्य**—; **इन्द्रियम्**—; **विमथितुम्**—; **कुहकैः**—; **न**—; **शेकुः**—.

उद्दाम—अत्यन्त गम्भीर; भाव—भाव; पिशुन—उत्तेजक; अमल—निष्कलंक; वल्गु-हास—सुन्दर मुसकान; व्रीडा—आँख की कोर; अवलोक—देखना, चितवन; निहतः—जीता गया; मदनः—कामदेव (या अमदन—सहिष्णु शिव); अपि—भी; यासाम्—जिसका; सम्मुह्य—से विजित होकर; चापम्—धनुष; अजहात्—त्याग दिया; प्रमद— मादक बनानेवाली स्त्री; उत्तमाः—उच्च कोटि की; ता—वे सब; यस्य—जिसकी; इन्द्रियम्—इन्द्रियों को; विमथितुम्—विचलित करने के लिए; कुहकैः—हावभाव द्वारा; न—कभी नहीं; शेकुः—समर्थ।

यद्यपि रानियों की मृदु मुस्कानें तथा बाँकी चितवनें अत्यन्त विमल तथा उत्तेजक थीं, जिससे साक्षात् कामदेव भी मोहित होकर अपना धनुष त्यागने के लिए बाध्य हो सकते थे, यहाँ तक कि अत्यन्त सहिष्णु शिवजी भी उनके शिकार हो सकते थे, तो भी, वे अपने समस्त हाव-भाव तथा आकर्षण से भगवान् की इन्द्रियों को विचलित नहीं कर सकीं।

तात्पर्य : मोक्ष का पथ या भगवद्धाम वापस जाने का पथ सदैव स्त्री-संसर्ग का निषेध करता है और सारा सनातन धर्म या वर्णाश्रम-धर्म की सारी व्यवस्था स्त्री की संगति के लिए मना करते हैं या प्रतिबन्धित करते हैं। तो फिर जो व्यक्ति सोलह हजार से अधिक पत्नियों से अनुरक्त हो, उसे भगवान् कैसे मान लिया जाय? यह प्रश्न उन जिज्ञासुओं द्वारा उठाया जा सकता है, जो वास्तव में परमेश्वर की दिव्य प्रकृति को जानने के लिए उत्सुक हैं। ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने के लिए ही नैमिषारण्य में मुनियों ने इस श्लोक में तथा अगले श्लोकों में भगवान् के दिव्य स्वभाव के विषय में विचार-विमर्श किया है। यहाँ यह स्पष्ट है कि स्त्रियों के आकर्षक हाव-भाव, जो कामदेव को या परम सहिष्णु पुरुष शिवजी को भी डिगा सकते हैं, वे भगवान् की इन्द्रियों को नहीं जीत सके। कामदेव का एकमात्र कार्य है संसारी काम-वासना को उद्दीपित करना। सारा ब्रह्माण्ड कामदेव के बाण से विचलित होकर गति कर रहा है। विश्व के सारे कार्य-कलाप, स्त्री तथा पुरुष के केन्द्रीय आकर्षण के कारण गतिशील हैं। पुरुष अपनी रुचि की सहचरी खोजता रहता है और स्त्री उपयुक्त पुरुष की तलाश में रहती है। भौतिक उत्तेजना की यही शैली है। और ज्योंही पुरुष का संयोग स्त्री से हो जाता है, त्योंही यौन-सम्बन्ध के द्वारा जीव दृढ़ भौतिक बन्धन में बँध जाता है। परिणाम यह होता है कि घर, मातृभूमि, सन्तान, समाज तथा मैत्री एवं सम्पत्ति-संग्रह के प्रति नर-नारी का आकर्षण उसके सम्भ्रान्त कार्यक्षेत्र बन जाते हैं और इस तरह नाशवान संसार के प्रति मिथ्या किन्तु अनथक आकर्षण प्रकट होता है। अत: जो लोग अपने घर अर्थात् भगवद्धाम वापस जाने के लिए मोक्षपथ पर अग्रसर हैं, विशेषकर उनके लिए शास्त्रों का आदेश है कि वे इस प्रकार के भौतिक आकर्षण के साज-समानों से बचे रहें। और ऐसा तभी सम्भव है, जब भगवद्भक्तों अर्थात् महात्माओं की संगति की जाय। कामदेव जीवों पर अपना बाण चलाकर उन्हें

विपरीत लिंग के पीछे पागल बनाता है, चाहे वह सुन्दर हो या न हो। कामदेव का प्रभाव उस बर्बर समाज में भी देखा जाता है, जो सभ्य राष्ट्रों की निगाहों में कुरूप हैं। इस तरह कामदेव का प्रभाव कुरूप से कुरूप रूपों में देखा जाता है, तो परम सुन्दरियों के लिए क्या कहा जाय? शिवजी भी, जिन्हें परम सहिष्णु समझा जाता है, कामदेव के बाण द्वारा आहत हुए, क्योंकि वे भगवान् के मोहनी अवतार के पीछे दीवाने हो गये थे और उन्होंने अपनी हार स्वीकार की थी। तो भी वही कामदेव लक्ष्मी के हाव-भाव तथा कटाक्षों से विमोहित हो गया और हताश स्थिति में उसने अपने धनुष-बाण को खुद ही त्याग दिया था। भगवान् कृष्ण की रानियों की सुन्दरता और उनका आकर्षण ऐसा था। फिर भी वे भगवान् की दिव्य इन्द्रियों को विचलित नहीं कर पाईं। इसका कारण यही है कि भगवान् पूर्ण *आत्माराम* हैं अर्थात् स्वयं-संतुष्ट हैं। उन्हें आत्मतुष्टि के लिए किसी बाह्य सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसलिये रानियाँ अपने स्त्रियोचित आकर्षण के द्वारा भगवान् को तुष्ट न होते देख, अपने *एकनिष्ठ स्नेह तथा सेवा से उन्हें तुष्ट कर सकीं।* वे मात्र अनन्य दिव्य प्रेमाभक्ति से ही भगवान् को प्रसन्न कर सकीं और भगवान् ने भी बदले में पत्नियों के रूप में उनके साथ व्यवहार किया। भगवान् ने केवल उनकी अनन्य सेवा से प्रसन्न होकर, पत्नीव्रत पति की भाँति उन्हें प्रतिदान किया। अन्यथा उन्हें इतनी सारी पत्नियों का पति बनने की क्या आवश्यकता थी? वे हर एक के स्वामी (पति) हैं, किन्तु जो उन्हें इस रूप में मानता है, वे उसके साथ वैसा ही प्रतिदान करते हैं। भगवान् के प्रति अनन्य प्रेम की तुलना कभी संसारी कामवासना से नहीं की जानी चाहिए। यह नितान्त दिव्य है। रानियाँ भी जिस स्वाभाविक स्त्रियोचित ढंग से व्यवहार कर रही थीं, वह भी दिव्य था, क्योंकि वे अपने भावों को दिव्य आनन्दवश ही प्रकट कर रही थीं। पिछले श्लोक में यह बताया जा चुका है कि भगवान् एक संसारी पति जैसे प्रतीत हो रहे थे, लेकिन वास्तव में अपनी पत्नियों के साथ उनका यह सम्बन्ध दिव्य, शुद्ध तथा भौतिक प्रकृति के गुणों से मुक्त था।

तमयं मन्यते लोको ह्यसङ्गमपि सङ्गिनम् ।
आत्मौपम्येन मनुजं व्यापृण्वानं यतोऽबुधः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

तम्—भगवान् कृष्ण को; अयम्—ये सब (सामान्य लोग); मन्यते—मन में सोचते हैं; लोकः—बद्धजीव; हि—निश्चय ही; असङ्गम्—अनासक्त; अपि—के होते हुए; सङ्गिनम्—प्रभावित; आत्म—स्वयं; औपम्येन—अपने साथ तुलना करके; मनुजम्—सामान्य मनुष्य; व्यापृण्वानम्—लगे रहकर; यतः—क्योंकि; अबुधः—अज्ञान के कारण मूर्ख।

सामान्य भौतिकतावादी बद्धजीव सोचते रहते हैं कि भगवान् उन्हीं में से एक हैं। अपने अज्ञान के कारण वे सोचते हैं कि पदार्थ का भगवान् पर प्रभाव पड़ता है, भले ही वे अनासक्त रहते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर *अबुध:* शब्द महत्त्वपूर्ण है। केवल अज्ञानवश, मूर्ख संसारी विवादक परमेश्वर को गलत समझते हैं और अबोध लोगों में प्रचार करके अपने मूर्खतापूर्ण विचारों को फैलाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण आदि भगवान् हैं और जब वे साक्षात् सबों के समक्ष विद्यमान थे, तब उन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी पूर्ण दिव्य शक्ति का प्रदर्शन किया था। जैसाकि हम *श्रीमद्‌भागवत* के प्रथम श्लोक में ही स्पष्ट कर चुके हैं, भगवान् अपनी इच्छानुसार कुछ भी करने के लिए पूर्ण रूप से स्वतंत्र हैं, किन्तु उनके सारे कार्य शाश्वतता, ज्ञान तथा आनन्द से परिपूर्ण होते हैं। केवल मूर्ख भौतिकतावादी उनके ज्ञान तथा आनन्द से परिपूर्ण शाश्वत रूप को न जानते हुए उन्हें गलत तरीके से समझते हैं, यद्यपि इसकी पुष्टि भगवद्‌गीता एवं उपनिषदों में हुइ है। उनकी विविध शक्तियाँ पूर्णतया प्राकृतिक क्रम के अनुसार कार्य करती हैं और अपनी विभिन्न शक्तियों के माध्यम से सारे कार्य करते हुए वे निरन्तर परम स्वतंत्र रहते हैं। जब वे विभिन्न जीवों पर अपनी अहैतुकी कृपा करके भौतिक संसार में अवतरित होते हैं, तब वे अपनी निजी शक्ति से ही ऐसा करते हैं। वे किसी तरह भी प्रकृति के गुणों के अधीन नहीं होते और वे अपने मूल रूप में प्रकट होते हैं। मानसिक तर्कवादी उन्हें परम पुरुष के रूप में सही समझ नहीं पाते हैं और वे अव्यक्त ब्रह्मके निराकार पक्ष को ही सब कुछ मान लेते हैं। ऐसी धारणा बद्ध जीवन का ही परिणाम है, क्योंकि वे अपनी व्यक्तिगत क्षमता से आगे नहीं पहुँच पाते। अतएव जो भगवान् को अपनी सीमित शक्ति के स्तर पर समझता है, वह केवल सामान्य व्यक्ति होता है। ऐसे व्यक्ति को यह विश्वास कभी नहीं दिलाया जा सकता कि भगवान् प्रकृति के गुणों से किसी तरह प्रभावित नहीं होते। वह यह नहीं जान पाता कि सूर्य सदैव दूषित पदार्थ से अप्रभावित रहा करता है। मानसिक तर्कवादी सदैव अपने अनुभव के ज्ञान के आधार पर हर वस्तु को तोलते हैं। अत: जब भगवान् विवाह-बन्धन में सामान्य व्यक्ति की भाँति कर्म करते पाये जाते हैं, तो वे उन्हें अपने समान समझने लगते हैं और यह विचार नहीं करते कि भगवान् एकसाथ सोलह हजार या इससे भी अधिक पत्नियाँ से विवाह कर सकते हैं। अल्पज्ञान के कारण, वे चित्र के एक पक्ष को देखते हैं और दूसरे पक्ष

पर अविश्वास दिखाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि अज्ञानवश ही वे कृष्ण को अपने समान मानते हैं और अपने निष्कर्ष निकालते हैं, जो *श्रीमद्भागवत* के मतानुसार निरर्थक तथा अप्रामाणिक होते हैं।

एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः ।
न युज्यते सदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; ईशनम्—दिव्यता, भगवत्ता; ईशस्य—भगवान् की; प्रकृति-स्थः—प्रकृति के सम्पर्क में रहकर; अपि—भी; तत्-गुणैः—गुणों के द्वारा; न—कभी नहीं; युज्यते—प्रभावित होता है; सदा आत्म-स्थैः—शाश्वतता में स्थित रहनेवालों के द्वारा; यथा—जैसा है; बुद्धिः—बुद्धि; तत्—भगवान्; आश्रया—शरणागत।

यह तो भगवान् की अलौकिकता है कि वे भौतिक प्रकृति के गुणों के संसर्ग में रहते हुए भी उनसे प्रभावित नहीं होते। इसी प्रकार जिन भक्तों ने भगवान् की शरण ग्रहण कर ली है, वे भी भौतिक गुणों से प्रभावित नहीं होते।

तात्पर्य : वेदों तथा वैदिक ग्रंथों (श्रुति तथा स्मृति) में पुष्टि की गई है कि दिव्यता में लेशमात्र भौतिकता नहीं होती। भगवान् दिव्य (*निर्गुण*) ही होते हैं—परम ज्ञानमय होते हैं। हरि या भगवान् परम दिव्य पुरुष हैं, जो भौतिक प्रभाव की परिधि के बाहर स्थित होते हैं। इन तथ्यों की पुष्टि आचार्य शंकर द्वारा भी हुई है। कोई यह तर्क कर सकता है कि लक्ष्मीदेवी के साथ उनका सम्बन्ध दिव्य हो सकता है, लेकिन जिस यदुवंश में वे उत्पन्न हुए थे, उसके साथ या जरासंध तथा भौतिक गुणों से लिप्त रहने वाले अन्य असुरों के साथ, उनका ऐसा सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यही है कि किसी भी दशा में भगवान् की भगवत्ता (दिव्यता) कभी भी प्रकृति के गुणों के सम्पर्क में नहीं आती। वस्तुतः वे ऐसे गुणों के सम्पर्क में इसलिए लगते हैं, क्योंकि वे ही हर वस्तु के परम उद्गम हैं। तो भी वे ऐसे गुणकर्मों से ऊपर रहते हैं। इसीलिए वे योगेश्वर कहलाते हैं, अर्थात् दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो वे सर्वशक्तिमान हैं। यहाँ तक कि उनके विद्वान भक्त भी भौतिक गुणों से प्रभावित नहीं होते। वृन्दावन के छः महान् गोस्वामी अत्यन्त सम्पन्न एवं राजसी परिवारों के थे, किन्तु जब वे वृन्दावन में सन्त जीवन बिताने लगे, तो भले ही ऊपरी तौर से उनकी दशा दारुण रही हो, किन्तु वास्तव में वे आध्यात्मिक मूल्यों की दृष्टि से सर्वाधिक सुसम्पन्न थे। ऐसे महाभागवत अर्थात् प्रथम कोटी के भक्त मनुष्यों के बीच विचरण करते हुए भी, प्रकृति के तीन गुणों से उत्पन्न मान या अपमान, भूख या तृप्ति, निद्रा या जागरण

से कलुषित नहीं होते। इसी प्रकार उनमें से कुछ सांसारिक आचरण में रहकर भी उससे अप्रभावित बने रहते हैं। जब तक जीवन में ये उदासीनताएँ नहीं होतीं, तब तक कोई अध्यात्म में स्थित नहीं माना जाता। दिव्यता तथा भगवान् के पार्षद एक ही आध्यात्मिक धरातल पर रहते हैं और उनकी महिमा सदा ही *योगमाया* अर्थात् भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के कर्म द्वारा पुनीत होती रहती है। भगवान् के भक्त सदैव दिव्य होते हैं, भले ही कभी-कभी उनके आचरण का पतन होता दिखता हो। भगवान् *भगवद्गीता* (९.३०) में बलपूर्वक घोषित करते हैं कि यदि पूर्व कल्मष के कारण कोई भक्त पतित हो भी जाय, तो भी उस भक्त को भगवद्भक्ति में पूर्ण रूप से प्रवृत्त रहने के कारण पूर्णतया दिव्य मानना चाहिए। भगवान् उसके द्वारा सेवा करते रहने के कारण उसकी सदैव रक्षा करते हैं, और उसकी पतित अवस्थाओं को आकस्मिक तथा क्षणिक मानना चाहिए। वे देखते ही देखते छूमन्तर हो जाएँगी।

तं मेनिरेऽबला मूढाः स्त्रैणं चानुव्रतं रहः ।
अप्रमाणविदो भर्तुरीश्वरं मतयो यथा ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तम्—श्रीकृष्ण को; मेनिरे—मान बैठते हैं; अबलाः—सुकुमार; मूढाः—सरलता के कारण; स्त्रैणम्—स्त्री के अधीन; च—भी; अनुव्रतम्—पालनकर्ता; रहः—एकान्त स्थान; अप्रमाण-विदः—महिमा से अनजान; भर्तुः—अपने पति की; ईश्वरम्—परम नियन्ता को; मतयः—मत; यथा—जैसे।

वे सरल तथा सुकोमल स्त्रियाँ सचमुच ही सोच बैठीं कि उनके प्रिय पति, भगवान् श्रीकृष्ण, उनसे आकर्षिथ हैं और उनके वशीभूत हैं। वे अपने पति की महिमाओं से उसी तरह अनजान थीं, जिस प्रकार नास्तिक लोग परम नियन्ता के रूप में भगवान् से अनजान रहते हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य पत्नियाँ तक भगवान् की अगाध महिमा को पूर्णतया जानती न थीं। यह अज्ञान सांसारिक नहीं है, क्योंकि भगवान् तथा उनके नित्य पार्षदों के मध्य भावों के आदान-प्रदान में भगवान् की अन्तरंगा शक्ति का कुछ न कुछ हाथ रहता है। भगवान् पाँच प्रकार से दिव्य सम्बन्धों अर्थात् ईश्वर, स्वामी, मित्र, पुत्र, प्रेमी भाव का आदान-प्रदान करते हैं और इन प्रत्येक लीलाओं में वे पूर्णतया अपनी अन्तरंगा शक्ति *योगमाया* द्वारा क्रीड़ा करते हैं। वे गोपों से या अर्जुन जैसे मित्रों के साथ समान स्तर के सखा की भाँति क्रीड़ा करते हैं। माता यशोदा के सामने वे सचमुच के पुत्र के रूप में क्रीड़ा करते हैं। गोपियों के समक्ष वे असली प्रेमी के रूप में और द्वारका की रानियों के

समक्ष साक्षात् पति-रूप में क्रीड़ा करते हैं। भगवान् के ऐसे भक्त कभी भी भगवान् को परमेश्वर के रूप में नहीं सोचते, अपितु सामान्य मित्र, प्रिय पुत्र, या प्रेमी या पति के रूप में सोचते हैं, जो हृदय और आत्मा को बहुत प्रिय हैं। भगवान् तथा उनके उन दिव्य भक्तों के मध्य यही सम्बन्ध होता है, जो चिन्मय आकाश में भगवान् के पार्षद के रूप में कार्य करते हैं, जहाँ अनेक वैकुण्ठ लोक स्थित हैं। जब भगवान् अवतरित होते हैं, तो वे दिव्य जगत की पूरी तस्वीर दिखाने के लिए अपने पार्षदों सहित अवतरित होते हैं, जहाँ भगवान् की सृष्टि के ऊपर किसी प्रकार का प्रभुत्व जताने का कोई नाम भी नहीं लेता और जहाँ भगवान् के प्रति शुद्ध प्रेम तथा भक्ति का ही प्राधान्य रहता है। ऐसे भगवद्-भक्त मुक्तात्मा होते हैं। वे बहिरंगा शक्ति के प्रभाव का निषेध करनेवाली तटस्था या अन्तरंगा शक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति होते हैं। भगवान् की अन्तरंगा शक्ति ने भगवान् कृष्ण की पत्नियों को भगवान् की अगाध महिमाओं को भुलवा दिया, जिससे आदान-प्रदान में कोई त्रुटि न रह जाये और वे यह मान बैठीं कि भगवान् उनके वश में रहनेवाले पति तथा सदैव एकान्त स्थान में उनके पीछे-पीछे जाने वाले पति हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् के निजी पार्षद तक भगवान् को भलीभाँति नहीं जान पाते, अतएव शोधार्थी लेखक अथवा मानसिक तर्कबाज भगवान् की दिव्य महिमाओं के विषय में भला क्या जान सकेंगे? मानसिक तर्कबाज विभिन्न मतों के विषय में अपने विचार प्रकट करते हैं—कि वे सृष्टि के कारण हैं, सृष्टि के अवयव-स्वरूप हैं या सृष्टि के भौतिक तथा सक्षम कारण हैं—किन्तु यह तो भगवान्-विषयक केवल अधूरा ज्ञान है। वास्तव में वे सामान्य मनुष्य की ही तरह अनजान रहते हैं। भगवान् को केवल भगवान् की कृपा से ही जाना जा सकता है, अन्य किसी साधन से नहीं। चूँकि अपनी पत्नियों के साथ भगवान् के सारे आचरण शुद्ध दिव्य प्रेम तथा भक्ति पर आधारित हैं, अतएव सारी पत्नियाँ किसी भौतिक कल्मषरहित दिव्य पद पर आसीन हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत ''भगवान् कृष्ण का द्वारका में प्रवेश'' नामक ग्यारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बारह

सम्राट परीक्षित का जन्म

शौनक उवाच
अश्वत्थाम्नोपसृष्टेन ब्रह्मशीर्ष्णोरुतेजसा ।
उत्तराया हतो गर्भ ईशेनाजीवितः पुनः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

शौनकः उवाच—शौनक मुनि ने कहा; अश्वत्थाम्न—अश्वत्थामा (द्रोणपुत्र) के; उपसृष्टेन—छोड़े जाने से; ब्रह्म-शीर्ष्णा—अजेय अस्त्र, ब्रह्मास्त्र; उरु-तेजसा—उच्च ताप से; उत्तरायाः—उत्तरा (परीक्षित की माता) का; हतः—नष्ट; गर्भः—गर्भ; ईशेन—परमेश्वर द्वारा; आजीवितः—जीवित कर दिया गया; पुनः—फिर से।

शौनक मुनि ने कहा : महाराज परीक्षित की माता उत्तरा का गर्भ अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये अत्यन्त भयंकर तथा अजेय ब्रह्मास्त्र द्वारा विनष्ट कर दिया गया, लेकिन परमेश्वर ने महाराज परीक्षित को बचा लिया।

तात्पर्य : नैमिषारण्य के वन में एकत्रित हुए ऋषियों ने सूत गोस्वामी से महाराज परीक्षित के जन्म के विषय में प्रश्न किया, लेकिन इस वार्ता के बीच अन्य विषयों की चर्चा की गई, जैसे कि, द्रोणपुत्र द्वारा छोड़े गये ब्रह्मास्त्र, अर्जुन द्वारा उसे दण्ड, रानी कुन्तीदेवी की प्रार्थना, पाण्डवों द्वारा भीष्मदेव के पास जाना, उनकी प्रार्थनाएँ, तत्पश्चात् द्वारका के लिए भगवान् का प्रस्थान इत्यादि। फिर कृष्ण का द्वारका आना तथा सोलह हजार रानीयों के साथ निवास करने इत्यादि की भी चर्चा की गई। सारे ऋषि-मुनि इन विवरणों के सुनने में लीन थे, किन्तु अब वे अपने मूल विषय पर लौटना चाह रहे थे, अतएव शौनक ऋषि ने इस तरह की जिज्ञासा की। इस तरह अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये ब्रह्मास्त्र की चर्चा फिर से आ गई।

तस्य जन्म महाबुद्धेः कर्माणि च महात्मनः ।
निधनं च यथैवासीत्स प्रेत्य गतवान् यथा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका (महाराज परीक्षित का); जन्म—जन्म; महा-बुद्धेः—अत्यन्त बुद्धिमान का; कर्माणि—कार्यकलाप; च—भी; महा-आत्मनः—महान्; निधनम्—मृत्यु; च—तथा; यथा—जिस प्रकार; एव—निस्सन्देह; आसीत्—हुआ; सः—वह; प्रेत्य—मृत्यु के पश्चात् गन्तव्य; गतवान्—प्राप्त किया; यथा—जिस तरह।

अत्यन्त बुद्धिमान तथा महान् भक्त महाराज परीक्षित उस गर्भ से कैसे उत्पन्न हुए? उनकी मृत्यु किस तरह हुई? और मृत्यु के बाद उन्होंने कौन सी गति प्राप्त की?

तात्पर्य : कम से कम महाराज परीक्षित के पुत्र के जीवन-काल तक, हस्तिनापुर (अब दिल्ली) का राजा सारे विश्व का सम्राट होता था। महाराज परीक्षित की रक्षा उनकी माता के गर्भ में भगवान् द्वारा की जा चुकी थी। अतएव वे एक ब्राह्मण-पुत्र के शाप से अकाल-मृत्यु से वे निश्चित ही बचाये जा सकते थे। चूँकि महाराज परीक्षित द्वारा राज्य सँभालने के बाद ही कलियुग ने अपना कार्य करना शुरू कर दिया था, अतएव इसका जो पहला कुलक्षण प्रकट हुआ, वह था इतने बुद्धिमान तथा भक्त राजा, महाराज परीक्षित, का शापित होना। राजा तो असहाय नागरिकों का रक्षक होता है और उन सबका कल्याण, शान्ति तथा सम्पन्नता उसी पर निर्भर रहती है। दुर्भाग्यवश, पतित कलियुग के बहकावे में आकर, एक अभागे ब्राह्मण-पुत्र द्वारा निर्दोष महाराज परीक्षित को लांछित कराया गया और इस तरह राजा को सात दिनों में अपनी मृत्यु के लिए तैयार होना था। महाराज परीक्षित, विष्णु द्वारा रक्षा किये जाने के लिए, विशेष रूप से विख्यात हैं। अतएव जब एक ब्राह्मण-पुत्र ने उन्हें वृथा ही शाप दे डाला, तब भी यदि वे चाहते तो अपनी रक्षा के लिए भगवान् की कृपा का आवाहन कर सकते थे, किन्तु शुद्ध भक्त होने के कारण उन्होंने ऐसा नहीं करना चाहा। शुद्ध भक्त कभी भी भगवान् से अनावश्यक कृपा-याचना नहीं करता। महाराज परीक्षित को ज्ञात था और अन्य लोगों को भी पता था कि ब्राह्मण-पुत्र द्वारा दिया शाप अवैध है, किन्तु वे उसका प्रतिकार करना नहीं चाहते थे, क्योंकि वे यह भी जानते थे कि कलियुग का शुभारम्भ हो चुका है और इस युग का पहला लक्षण भी, अत्यन्त प्रतिभावान ब्राह्मण जाति के पतन के साथ प्रकट हो चुका है। वे काल-प्रवाह के मार्ग में बाधक बनना नहीं चाह रहे थे, अपितु वे खुशी-खुशी और उचित ढंग से मृत्यु-वरण करने के लिए तैयार थे। वे भाग्यशाली थे कि मृत्यु के लिए तैयारी करने के लिए उन्हें कम से कम सात दिन का समय मिला था। अतएव उन्होंने इस समय का सदुपयोग परम सन्त तथा भगवद्भक्त शुकदेव गोस्वामी के सान्निध्य में किया।

तदिदं श्रोतुमिच्छामो गदितुं यदि मन्यसे ।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां यस्य ज्ञानमदाच्छुकः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्—सारा; इदम्—यह; श्रोतुम्—सुनने को; इच्छामः—सभी इच्छा कर रहे हैं; गदितुम्—वर्णन करने को; यदि—यदि; मन्यसे—आप सोचते हों; ब्रूहि—कृपा करके कहें; नः—हमसे; श्रद्दधानानाम्—श्रद्धालुओं को; यस्य—जिसका; ज्ञानम्—दिव्य ज्ञान; अदात्—प्रदान किया; शुकः—श्री शुकदेव गोस्वामी ने।

हम सभी अत्यन्त आदरपूर्वक उनके (महाराज परीक्षित के) विषय में सुनना चाहते हैं, जिन्हें शुकदेव गोस्वामी ने दिव्य ज्ञान प्रदान किया। कृपया हमें इस विषय में बताएँ।

तात्पर्य : शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को उनके जीवन के अन्तिम सात दिनों में दिव्य ज्ञान प्रदान किया, जिसे महाराज ने श्रद्धालु शिष्य की भाँति ठीक से सुना। *श्रीमद्भागवत* के इस प्रकार के प्रामाणिक श्रवण तथा कीर्तन का प्रभाव श्रोता तथा वक्ता पर समान रूप से पड़ता है। इससे दोनों लाभान्वित हुए थे। *भागवत* में भक्ति के जिन नौ विभिन्न दिव्य साधनों का वर्णन हुआ है, यदि उनमें से सभी या कुछ का या किसी एक का भी ठीक से पालन हो, तो वे समान रूप से लाभप्रद होते हैं। महाराज परीक्षित तथा शुकदेव गोस्वामी, दोनों ही प्रथम दो साधनों अर्थात् श्रवण तथा कीर्तन के साधक थे। अतएव दोनों ही अपने प्रशंसनीय प्रयास में सफल रहे। दिव्य अनुभूति ऐसे ही गम्भीर श्रवण तथा कीर्तन से होती है, अन्यथा नहीं। इस कलियुग में गुरु तथा शिष्य सम्बन्धी एक विशेष प्रकार का विज्ञापन हो रहा है। कहा जाता है कि गुरु द्वारा उत्पन्न विद्युत्-धारा के द्वारा, शिष्य में आध्यात्मिक शक्ति प्रविष्ट की जाती है, जिससे शिष्य को उसका आघात अनुभव होता है। इससे वह अचेत हो जाता है और गुरु तथाकथित आध्यात्मिक निधि के क्षीण हो जाने पर रोता है। इस युग में इस तरह का झूठा विज्ञापन चल रहा है और निरीह जनता ऐसे विज्ञापन का शिकार बन रही है। किन्तु शुकदेव गोस्वामी तथा उनके महान् शिष्य महाराज परीक्षित के आचरण के विषय में हमें ऐसी लोक-कथाएँ प्राप्त नहीं होतीं। मुनि ने अत्यन्त भक्तिपूर्वक *श्रीमद्भागवत* सुनाई थी और राजा ने उसे अत्यन्त नियमपूर्वक सुना था। राजा ने न तो अपने गुरु से किसी प्रकार की विद्युत्-धारा के आघात का अनुभव किया था, न ही अपने गुरु से ज्ञान प्राप्त करते समय वे अचेत हुए थे। अतएव लोगों को चाहिए कि वे वैदिक ज्ञान के इन निठल्ले प्रतिनिधियों द्वारा किये जा रहे इस प्रकार के अप्रामाणिक विज्ञापनों के बहकावे में न आएँ। नैमिषारण्य के ऋषि-मुनि महाराज परीक्षित के विषय में अत्यन्त आदरपूर्वक श्रवण कर रहे थे, क्योंकि उन्होंने गम्भीर श्रवण द्वारा शुकदेव गोस्वामी से ज्ञान प्राप्त किया था। दिव्य ज्ञान प्राप्त करने का एकमात्र साधन यह है कि उसे प्रामाणिक गुरु से *गम्भीर श्रवण* द्वारा ग्रहण किय जाय। उसके लिए आश्चर्यजनक

प्रभावों को उत्पन्न करने हेतु न तो किसी चिकित्सीय करतब की, न ही योग के चमत्कार की आवश्यकता है। यह विधि सरल है, लेकिन एकनिष्ठ होने पर ही मनोवांछित फल मिल सकता है।

सूत उवाच
अपीपलद्धर्मराजः पितृवद् रञ्जयन् प्रजाः ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः कृष्णपादानुसेवया ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; अपीपलत्—शासित सम्पन्नता; धर्म-राजः—राजा युधिष्ठिर ने; पितृ-वत्—अपने पिता के समान; रञ्जयन्—प्रसन्न करते हुए; प्रजाः—जन्म ग्रहण करने वालों को; निःस्पृहः—बिना किसी व्यक्तिगत आकांक्षा के; सर्व—समस्त; कामेभ्यः—इन्द्रियतृप्ति से; कृष्ण-पाद—भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमल की; अनुसेवया—निरन्तर सेवा करते रहने से।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : सम्राट युधिष्ठिर ने अपने राज्य-काल में सबों के ऊपर उदारतापूर्वक शासन चलाया। वे उनके पिता तुल्य ही थे। उन्हें कोई व्यक्तिगत आकांक्षा न थी और भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों की निरन्तर सेवा करते रहने के कारण, वे सभी प्रकार की इन्द्रियतृप्ति से विरक्त थे।

तात्पर्य : जैसाकि हमने इस ग्रन्थ की भूमिका में कहा है, ''संसार के समस्त कष्ट सह रहे जनसमुदाय के लिए मानव समाज में कृष्ण के विज्ञान की आवश्यकता है और समस्त राष्ट्रों के प्रमुख महापुरुषों से हमारी एक ही विनती है कि वे अपने कल्याण हेतु, समाज के कल्याण हेतु तथा विश्व भर के लोगों के कल्याण हेतु, कृष्णातत्त्व को ग्रहण करें।'' यहाँ पर सत्य की प्रतिमूर्ति, महाराज युधिष्ठिर के उदाहरण से इसकी पुष्टि होती है। भारत में लोग *रामराज्य* की लालसा करते हैं, क्योंकि भगवान् राम आदर्श राजा थे और भारत के सारे राजा या सम्राट, पृथ्वी पर जन्म लेनेवाले प्रत्येक प्राणी की सम्पन्नता के लिए विश्व के भाग्य का नियमन करते थे। यहाँ पर *प्रजाः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका व्युत्पत्तिपरक आशय है, ''जिसने जन्म लिया है वह।'' पृथ्वी पर जीवों की अनेक योनियाँ हैं—जलचर से लेकर पूर्ण मनुष्यों तक और वे सभी *प्रजा* कहलाती हैं। इस ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्माजी प्रजापति कहलाते हैं, क्योंकि जिन लोगों ने जन्म लिया है, उन सबके वे पितामह हैं। इस प्रकार *प्रजा* शब्द जिस अर्थ में आजकल प्रयुक्त होता है, वह उससे अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। राजा सभी जीवों—जलचर, पौधे, वृक्ष, सरीसृप, पक्षी, पशु तथा मनुष्य का प्रतिनिधित्व करता है। इनमें से हर एक प्राणी

परमेश्वर का अंश है (*भगवद्गीता* १४.४) और भगवान् का प्रतिनिधि होने के कारण राजा सबों को उचित सुरक्षा प्रदान करने के लिए वचनबद्ध होता है। किन्तु आज की चरित्रविहीन प्रशासन पद्धतियों के राष्ट्रपति तथा तानाशाहों के साथ ऐसा नहीं है, जहाँ निम्न पशुओं को कोई सुरक्षा प्रदान नहीं की जाती, जबकि उच्चतर पशुओं को तथाकथित सुरक्षा प्रदान प्राप्त रहती है। लेकिन यह एक महान् विज्ञान है, जिसे कृष्णतत्त्व जाननेवाला ही सीख सकता है। कृष्ण के विज्ञान को समझकर कोई भी विश्व का पूर्णतम व्यक्ति बन सकता है और जब तक मनुष्य को इस विज्ञान (तत्त्व) का ज्ञान नहीं होता, तब तक शिक्षा द्वारा अर्जित सारी उपाधियाँ तथा स्नातकोत्तर अनुसंधान की सनदें व्यर्थ और निरर्थक होती हैं। महाराज युधिष्ठिर इस कृष्ण-तत्त्व को भलीभाँति जानते थे, क्योंकि यहाँ पर यह कहा गया है कि इस विज्ञान के निरन्तर अनुशीलन से, या भगवान् कृष्ण की सतत भक्तिमय सेवा से, उन्होंने राज्य पर शासन करने की योग्यता प्राप्त कर ली थी। कभी-कभी पिता अपने पुत्र पर अनावश्यक रूप से निर्दय होते दिखता है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता कि पिता ने पिता होने की योग्यता खो दी है। पिता सदा पिता ही रहता है, क्योंकि उसके ह्रदय में पुत्र का हित ही सर्वोपरि होता है। पिता चाहता है कि उसका हर लड़का उससे बढ़कर हो। अतएव महाराज युधिष्ठिर जैसे राजा, जो सतोगुण की साक्षात् प्रतिमूर्ति थे, चाहते थे कि उनके अधीन सारे लोग, विशेष रूप से मनुष्य जिनकी चेतना अधिक विकसित रहती है, भगवान् कृष्ण के भक्त बनें जिससे वे इस भौतिक संसार की झंझटों से मुक्त हो सकें। उनके शासन का मूलमंत्र था—सभी नागरिकों का कल्याण, क्योंकि मूर्तिमंत सत्त्वगुण होने के कारण वे जानते थे कि नागरिकों की भलाई किसमें है। वे इसी सिद्धान्त पर शासन चलाते रहे, इन्द्रिय-तृप्ति के राक्षसी या आसुरी सिद्धान्त पर नहीं। आदर्श राजा के रूप में, उनकी कोई निजी आकांक्षा न थी और इन्द्रिय-तृप्ति के लिए कोई स्थान न था, क्योंकि उनकी सारी इन्द्रियाँ सदा परमेश्वर की प्रेममयी सेवा में लगी रहती थीं, जिसमें जीवों की आंशिक सेवा सम्मिलित है, क्योंकि जीव परम पूर्ण के अंश रूप हैं। जो लोग पूर्ण को छोड़कर केवल अंश की सेवा में व्यस्त रहते हैं, वे केवल अपने समय तथा शक्ति दोनों का अपव्यय ही करते हैं, जिस तरह कोई मनुष्य जड़ों को न सींच कर वृक्ष की पत्तियों को सींचे। यदि जड़ों में पानी डाला जाता है, तो पत्तियाँ स्वत: पूरी तरह सजीव रहती हैं, किन्तु यदि केवल पत्तियों पर जल डाला जाय तो सारी शक्ति व्यर्थ जाती है। अतएव महाराज युधिष्ठिर भगवान् की सेवा में सदा लीन

रहते थे और इस प्रकार से भगवान् के अंश रूप सारे जीव, उनके सतर्क शासन के अन्तर्गत जीवन की सारी सुविधाएँ प्राप्त करते थे और अगले जीवन में उनकी उन्नति होती थी। राज्य प्रशासन की पूर्ण व्यवस्था की यही विधि होती है।

सम्पदः क्रतवो लोका महिषी भ्रातरो मही ।
जम्बूद्वीपाधिपत्यं च यशश्च त्रिदिवं गतम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सम्पदः—ऐश्वर्य; क्रतवः—यज्ञ; लोकाः—भावी गन्तव्य; महिषी—रानियाँ; भ्रातरः—भाई; मही—पृथ्वी; जम्बू-द्वीप—वह मंडल या ग्रह जिसमें हम रह रहे हैं; आधिपत्यम्—सार्वभौम अधिपत्य; च—भी; यशः—ख्याति; च—तथा; त्रि-दिवम्—स्वर्गलोक तक; गतम्—व्याप्त।.

महाराज युधिष्ठिर की सांसारिक उपलब्धियों, सद्गति प्राप्त करने के लिए किये जानेवाले यज्ञों, उनकी महारानी, उनके पराक्रमी भाइयों, उनके विस्तृत भूभाग, पृथ्वी ग्रह पर उनका सार्वभौम अधिपत्य तथा उनकी ख्याति आदि के समाचार स्वर्ग-लोक तक पहुँच गये।

तात्पर्य : केवल धनी तथा महान् पुरुष का ही नाम तथा यश सारे विश्व में विख्यात होता है। महाराज युधिष्ठिर का नाम तथा यश उनके उत्तम शासन, भौतिक उपलब्धियों, महिमामयी पत्नी द्रौपदी, अपने भाइयों भीम तथा अर्जुन के पराक्रम तथा जम्बूद्वीप नाम से विख्यात विधि में अपनी सार्वभौम शक्ति के कारण स्वर्गलोक तक पहुँच चुके थे। यहाँ *लोकाः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। भौतिक तथा आध्यात्मिक आकाश में विभिन्न लोक बिखरे हुए हैं। इस जीवन में कोई भी व्यक्ति अपने कर्म से उन तक पहुँच सकता है, जैसा कि *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा गया है। वहाँ पर कोई बलपूर्वक प्रवेश नहीं कर सकता। जिन क्षुद्र भौतिक विज्ञानियों तथा इंजीनियरों ने बाह्य अन्तरिक्ष में कुछ हजार मील दूरी तक यात्रा करने के यान खोज निकाले हैं, उन्हें वहाँ प्रवेश करने की अनुमती नहीं दी जाएगी। उत्तम लोकों में पहुँचने की विधि यह नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि यज्ञ तथा सेवा के द्वारा ऐसे सुखी लोकों में प्रवेश करने का पात्र बने। जो पग-पग पर पापी जीवन बिताते हैं, उन्हें पशु जीवन में गिरकर अधिकाधिक भौतिक दुख भोगने की ही आशा करनी चाहिए और *भगवद्गीता* (१६.१९) में भी इसका उल्लेख है। महाराज युधिष्ठिर के उत्तम यज्ञ तथा उनकी योग्यताएँ इतनी महान् तथा यशपूर्ण थीं कि स्वर्गलोक के निवासी भी उन्हें अपने में से एक मानकर उनका स्वागत करने को तैयार थे।

किं ते कामाः सुरस्पार्हा मुकुन्दमनसो द्विजाः ।
अधिजह्रुर्मुदं राज्ञः क्षुधितस्य यथेतरे ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

किम्—किसलिए; ते—वे सब; कामाः—इन्द्रिय भोग के विषय; सुर—स्वर्ग के निवासियों की; स्पार्हाः—आकांक्षाएँ; मुकुन्द-मनसः—पहले से ईश्वर भावना-भावित का; द्विजाः—हे ब्राह्मणो; अधिजह्रुः—सन्तुष्ट कर सके; मुदम्—प्रसन्नता; राज्ञः—राजा का; क्षुधितस्य—भूखे का; यथा—जिस तरह; इतरे—अन्य वस्तुओं में।

हे ब्राह्मणो, राजा का ऐश्वर्य इतना मोहक था कि स्वर्ग के निवासी भी उसकी आकांक्षा करने लगे थे। लेकिन चूँकि वे भगवान् की सेवा में तल्लीन रहते थे, अतएव उन्हें भगवान् की सेवा के अतिरिक्त कुछ भी तुष्ट नहीं कर सकता था।

तात्पर्य : संसार में दो वस्तुएँ होती हैं, जिनसे जीवों की तुष्टि हो सकती है। जब कोई भौतिकता में डूबा हुआ रहता है, तो वह इन्द्रिय-तृप्ति से ही तुष्ट होता है, किन्तु जब कोई भौतिक गुणों से मुक्त होता है, तो वह भगवान् की तुष्टि के लिए प्रेमामयी सेवा करके ही तुष्ट होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जीव वैधानिक रूप से *सेवक* है, *सेव्य* नहीं है। बहिरंगा शक्ति की दशाओं में मोह-ग्रस्त होने के कारण, वह अपने आपको सेव्य (सेवा कराने योग्य) समझता है, जबकि वास्तव में वह सेव्य होता नहीं; वह तो काम, इच्छा, क्रोध, लोभ, गर्व, उन्मत्तता तथा असहिष्णुता जैसी इच्छाओं का दास होता है। जब वह आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति करके अपने होश में आता है, तो वह अनुभव करता है कि वह भौतिक जगत का स्वामी नहीं, अपितु अपनी इन्द्रियों का दास है। उस समय वह भगवत्-सेवा की याचना करता है और तब वह तथाकथित भौतिक सुख के द्वारा मोहग्रस्त हुए बिना सुखी बन जाता है। महाराज युधिष्ठिर मुक्तात्मा थे। अतएव उन्हें विशाल साम्राज्य, उत्तम पत्नी, आज्ञाकारी बन्धुओं, सुखी प्रजा तथा सुसम्पन्न जगत से कोई प्रसन्नता नहीं हो रही थी। शुद्ध भक्त को ये वर स्वतः प्राप्त होते हैं, भले ही वह उनकी कामना न करे। यहाँ पर दिया गया दृष्टान्त अत्यन्त उपयुक्त है। ऐसा कहा जाता है कि भूखे को भोजन के अतिरिक्त, अन्य किसी वस्तु से सन्तोष नहीं मिलता।

सारा संसार भूखे जीवों से भरा पड़ा है। यह भूख उत्तम भोजन, आश्रय या इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं है। *भूख तो आध्यात्मिक वातावरण के लिए है।* अज्ञान-वश ही लोग सोचते हैं कि संसार असंतोष से व्याप्त है, क्योंकि पर्याप्त भोजन, आश्रय, सुरक्षा तथा इन्द्रियतृप्ति के साधन उपलब्ध नहीं हैं। यह

मोह कहलाता है। जब जीव परिलक्षित आध्यात्मिक तुष्टि के लिए भूखा होता है, तो लोगों को उसमें भौतिक भूख दिखती है। लेकिन मूर्ख नेता यह भी नहीं देख पाते कि जो लोग भौतिक दृष्टि से पूरी तरह तृप्त हैं, वे फिर भी भूखे रहते हैं। और उनकी भूख तथा गरीबी है क्या? यह भूख वस्तुत: आध्यात्मिक भोजन, आध्यात्मिक आश्रय, आध्यात्मिक सुरक्षा तथा आध्यात्मिक इन्द्रियतृप्ति के लिए होती है। इन्हें परम आत्मा, भगवान् श्रीकृष्ण के सान्निध्य द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और जिनके पास ये वस्तुएँ हैं, वे भौतिक जगत के तथाकथित भोजन, आश्रय, सुरक्षा तथा इन्द्रियतृप्ति के द्वारा आकृष्ट नहीं होते, यद्यपि स्वर्ग के निवासी भी इनका आनन्द उठाते हैं। अतएव *भगवद्गीता* (८.१६) में भगवान् ने कहा है कि ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोक अर्थात् ब्रह्मलोक में भी, जहाँ जीवन अवधि (आयु) पृथ्वी की गणना से कई लाख गुनी होती है, जीव अपनी भूख नहीं बुझा सकता। ऐसी भूख तभी शमित होती है, जब जीव अमरता को प्राप्त होता है, जिसे वैकुण्ठलोक में ही, जो ब्रह्मलोक से भी काफी दूर है, उन भगवान् मुकुन्द के सान्निध्य द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, जो अपने भक्तों को मुक्ति का दिव्य आनन्द प्रदान करनेवाले हैं।

मातुर्गर्भगतो वीरः स तदा भृगुनन्दन ।
ददर्श पुरुषं कञ्चिद्दह्यमानोऽस्त्रतेजसा ॥ ७॥

शब्दार्थ

मातुः—माता के; गर्भ—गर्भ में; गतः—स्थित होकर; वीरः—महान् योद्धा; सः—शिशु परीक्षित; तदा—उस समय; भृगु-नन्दन—हे भृगुपुत्र; ददर्श—देख सका; पुरुषम्—परमेश्वर को; कञ्चित्—मानो कोई दूसरा; दह्यमानः—जलते हुए; अस्त्र—ब्रह्मास्त्र के; तेजसा—ताप से।

हे भृगुपुत्र (शौनक), जब महान् योद्धा बालक परीक्षित अपनी माता उत्तरा के गर्भ में थे और (अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये) ब्रह्मास्त्र के ज्वलंत ताप से पीड़ित थे, तो उन्होंने परमेश्वर को अपनी ओर आते देखा।

तात्पर्य : मृत्यु सामान्यतया सात मास की समाधि है। जीव, अपने कर्म के अनुसार, पिता के वीर्य के माध्यम से माता के गर्भ में प्रवेश करता है और वांछित शरीर धारण करके विकसित होता रहता है। विशिष्ट जीवों में अपने-अपने विगत कर्मों के अनुसार जन्म का यह नियम है। जब वह इस समाधि से जागृत होता है, तो उसे गर्भ के भीतर बन्दी रहने में असुविधा का अनुभव होने लगता है और वह उससे

बाहर निकलने का प्रयत्न करता है और कभी-कभी ऐसी मुक्ति के लिए सौभाग्यवश वह भगवान् से प्रार्थना करता है। जब महाराज परीक्षित अपनी माता के गर्भ में थे, तो अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये ब्रह्मास्त्र का उन पर प्रहार हुआ, जिससे उन्हें प्रखर ताप का अनुभव हो रहा था। किन्तु उनके भगवद्भक्त होने के कारण, भगवान् अपनी अपार शक्ति से गर्भ के भीतर साक्षात् प्रकट हुए और बालक यह देख सका कि कोई उसे बचाने आया है। उस असहाय अवस्था में भी बालक परीक्षित ने असह्य ताप सहन किया, क्योंकि वे स्वभाव से महान् योद्धा थे। इसीलिए यहाँ *वीरः* शब्द प्रयुक्त हुआ है।

अङ्गुष्ठमात्रममलं स्फुरत्पुरटमौलिनम् ।
अपीव्यदर्शनं श्यामं तडिद्वाससमच्युतम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अङ्गुष्ठ—अँगूठे की माप का; मात्रम्—केवल; अमलम्—दिव्य; स्फुरत्—देदीप्यमान; पुरट—सोना; मौलिनम्—मुकुट; अपीव्य—अत्यन्त सुन्दर; दर्शनम्—देखने के लिए; श्यामम्—श्याम रंग; तडित्—बिजली; वाससम्—वस्त्र; अच्युतम्—अच्युत (भगवान्) को।

वे (भगवान्) केवल अँगूठा भर ऊँचे थे, किन्तु वे थे पूर्णतः दिव्य। उनका शरीर अत्यन्त सुन्दर, श्याम वर्ण का तथा अच्युत था और उनका वस्त्र बिजली के समान चमचमाता पीतवर्ण का तथा उनका मुकुट देदीप्यमान सोने का था। बालक ने उन्हें इस रूप में देखा।

श्रीमद्दीर्घचतुर्बाहुं तप्तकाञ्चनकुण्डलम् ।
क्षतजाक्षं गदापाणिमात्मनः सर्वतोदिशम् ।
परिभ्रमन्तमुल्काभां भ्रामयन्तं गदां मुहुः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्रीमत्—समृद्ध; दीर्घ—लम्बे; चतुः-बाहुम्—चार भुजाओं वाले; तप्त-काञ्चन—पिघला सोना; कुण्डलम्—कान की बालियाँ; क्षतज-अक्षम्—रक्त की लालिमा से युक्त आँखें; गदा-पाणिम्—गदा से युक्त हाथ; आत्मनः—अपना; सर्वतः—सभी; दिशम्—चारों ओर; परिभ्रमन्तम्—घूमते हुए; उल्काभाम्—गिरते हुए तारे (उल्का) की भाँति; भ्रामयन्तम्—घुमाते हुए; गदाम्—गदा को; मुहुः—निरन्तर।

भगवान् चार भुजाओं से युक्त थे, उनके कुण्डल सोने के थे तथा आँखें क्रोध से रक्त जैसी लाल थीं। जब वे चारों ओर घूमने लगे, तो उनकी गदा उनके चारों ओर गिरते तारे (उल्का) की भाँति निरन्तर चक्कर लगाने लगी।

तात्पर्य : *ब्रह्मसंहिता* (अध्याय ५) में कहा गया है कि परम ईश्वर गोविन्द, अपने एक पूर्ण अंश से, ब्रह्माण्ड-मण्डल में प्रवेश करते हैं और वे अपने आप, परमात्मा-रूप में, न केवल प्रत्येक जीव के हृदय में, अपितु भौतिक तत्त्वों के प्रत्येक परमाणु में प्रवेश कर जाते हैं। इस प्रकार भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्ति से सर्वव्यापी हैं और इस तरह वे अपने प्रिय भक्त महाराज परीक्षित की रक्षा करने के लिए उत्तरा के गर्भ में प्रविष्ट हुए। *भगवद्गीता* (९.३१) में भगवान् हर एक को आश्वस्त करते हैं कि उनके भक्तों का कभी भी विनाश नहीं होता। कोई भी भगवान् के भक्त को नहीं मार सकता, क्योंकि भगवान् उसकी रक्षा करते हैं और भगवान् जिसे मारना चाहते हैं, उसे कोई भी बचा नहीं सकता। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं। अतएव वे चाहें तो मार भी सकते हैं और बचा भी सकते हैं। वे उस विषम परिस्थिति में (उत्तरा के गर्भ में) भी, अपने भक्त महाराज परीक्षित को ऐसे रूप में दिखाई पड़े, जो उसकी दृष्टि के अनुरूप था। भगवान् हजारों ब्रह्माण्डों से भी वृहत् रूप धारण कर सकते हैं और साथ ही, परमाणु से भी लघु बन सकते हैं। दयालु तो वे हैं ही, अतएव वे जीव की सीमित दृष्टि के अनुरूप बन जाते हैं। वे असीम हैं। वे हमारी किसी गणना की परिधि से सीमित नहीं हैं। वे हम जितना सोच सकते हैं उससे भी अधिक विशाल और हमारी चिन्तन-शक्ति से भी अधिक लघु बन सकते हैं। किन्तु प्रत्येक दशा में वे वही सर्वशक्तिमान भगवान् बने रहते हैं। उत्तरा के गर्भ में अँगूठे के तुल्य विष्णु में तथा वैकुण्ठधामवासी पूर्ण नारायण रूप में कोई अन्तर नहीं है। वे अपने विभिन्न असमर्थ भक्तों की सेवा स्वीकार करने के लिए ही *अर्चाविग्रह* रूप स्वीकार करते हैं। *अर्चाविग्रह* अर्थात् भौतिक तत्वों से बने भगवान् के रूप की कृपा से, भौतिक जगत के सारे भक्त सरलता से भगवान् तक पहुँच सकते हैं, यद्यपि वे भौतिक इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य हैं। अतएव *अर्चाविग्रह* भगवान् का पूर्ण आध्यात्मिक स्वरूप है, जिसे भौतिक भक्त देख सकते हैं; भगवान् के ऐसे अर्चाविग्रह को कभी भौतिक नहीं माना जाता। यद्यपि बद्धजीवों के लिए पदार्थ तथा आत्मा में काफी अन्तर होता है, किन्तु भगवान् के लिए पदार्थ तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं होता। भगवान् के लिए सारा अस्तित्व केवल आध्यात्मिक है और इसी तरह भगवान् के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाले शुद्ध भक्त के लिए, आध्यात्मिक अस्तित्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।

अस्त्रतेजः स्वगदया नीहारमिव गोपतिः ।
विधमन्तं सन्निकर्षे पर्यैक्षत क इत्यसौ ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अस्त्र-तेजः—ब्रह्मास्त्र का प्रकाश; स्व-गदया—अपनी गदा से; नीहारम्—ओस के बिन्दु; इव—समान; गोपतिः—सूर्य; विधमन्तम्—विनष्ट करने की क्रिया; सन्निकर्षे—निकट; पर्यैक्षत—देखते हुए; कः—कौन; इति असौ—यह शरीर।

भगवान् उस ब्रह्मास्त्र के तेज को विनष्ट करने में इस प्रकार संलग्न थे, जिस तरह सूर्य ओस की बूँदों को उड़ा देता है। वे बालक को दिखाई पड़े, तो वह सोचने लगा कि वे कौन थे?

विधूय तदमेयात्मा भगवान्धर्मगुब् विभुः ।
मिषतो दशमासस्य तत्रैवान्तर्दधे हरिः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

विधूय—पूरी तरह विनष्ट करके; तत्—वह; अमेयात्मा—सर्वव्यापी परमात्मा; भगवान्—भगवान्; धर्म-गुप्—सदाचार के रक्षक; विभुः—परम; मिषतः—निरीक्षण करते हुए; दशमासस्य—जो समस्त दिशाओं के द्वारा वस्त्रावृत हैं, उनका; तत्र एव—तत्क्षण; अन्तः—अदृश्य; दधे—हो गये; हरिः—भगवान्।

इस प्रकार बालक के देखते-देखते, प्रत्येक जीव के परमात्मा तथा धर्म के पालक पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान्, जो सारी दिशाओं में व्याप्त हैं और काल तथा देश की सीमाओं से परे हैं, तुरन्त अन्तर्धान हो गये।

तात्पर्य : बालक परीक्षित कोई ऐसे जीव को नहीं देख रहा था, जो देश तथा काल से बँधा रहता है। भगवान् तथा जीव में जमीन-आसमान का अन्तर होता है। यहाँ पर भगवान् को जो देश-काल की सीमाओं से परे हैं ऐसे परम पुरुष बताया गया है। प्रत्येक जीव देश तथा काल से सीमित है। यद्यपि गुणात्मक रीति से जीव भगवान् से अभिन्न है, लेकिन मात्रात्मक दृष्टि से परमात्मा तथा सामान्य जीवात्मा में काफी अन्तर होता है। *भगवद्गीता* में जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों को सर्वव्यापी कहा गया है (*येन सर्वमिदं ततम्*), फिर भी इन दोनों के सर्वव्यापकत्व में अन्तर होता है। सामान्य जीव या आत्मा, अपने खुद के शरीर में ही सर्वव्यापी हो सकता है, किन्तु परमात्मा समस्त देश तथा काल में व्याप्त है। कोई भी सामान्य जीव अपने सर्वव्यापकत्व से दूसरे जीव को प्रभावित नहीं कर सकता, लेकिन परमात्मा अर्थात् पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् असीम रूप से समस्त स्थानों तथा समस्त कालों एवं समस्त जीवों पर अपना प्रभाव डाल सकते हैं। चूँकि वे सर्वव्यापी हैं, देश तथा काल से परे हैं, अतएव वे बालक

परीक्षित की माता के गर्भ के भीतर भी प्रकट हो सकते हैं। यहाँ पर उन्हें धर्मपालक कहा गया है। जो भी भगवान् के शरणागत हो चुका है, वह धर्मात्मा है और उसका विशेष रूप से भगवान् द्वारा सभी परिस्थितियों में रक्षण किया जाता है। भगवान् परोक्ष रूप से अधर्मियों के भी रक्षक हैं, क्योंकि वे अपनी बहिरंगा शक्ति के द्वारा उनके पापों को परिशोधित करते हैं। यहाँ पर भगवान् को दशों दिशाओं से वस्त्रावृत कहा गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि वे दशों दिशाओं में ऊपर तथा नीचे वस्त्रों से आभूषित हैं। वे सर्वत्र विद्यमान रहते हैं और स्वेच्छा से कहीं भी प्रकट तथा अन्तर्धान हो सकते हैं। बालक परीक्षित की दृष्टि से उनके ओझल होने का यह अर्थ नहीं है कि वे किसी अन्य स्थान से आकर वहाँ प्रकट हुए थे। वे वहीं विद्यमान थे और उनके अन्तर्धान होने के बाद भी वे वहीं थे। हाँ, वे बालक की आँखों को दृष्टिगोचर नहीं हो रहे थे। इस तेजोमय आकाश का भौतिक आवरण भी माता प्रकृति के गर्भ की ही भाँति है और हम सभी जीवों के पिता, भगवान्, द्वारा उस गर्भ में स्थापित किये गये हैं। वे सर्वत्र विद्यमान हैं, यहाँ तक कि माता दुर्गा के भौतिक गर्भ में भी और जो इसके लिए सुयोग्य हैं, वे भगवान् का दर्शन कर सकते हैं।

ततः सर्वगुणोदर्के सानुकूलग्रहोदये ।
जज्ञे वंशधरः पाण्डोर्भूयः पाण्डुरिवौजसा ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; सर्व—सभी; गुण—शुभ लक्षण; उदर्के—क्रमशः विकसित होने पर; स-अनुकूल—सभी अनुकूल; ग्रहोदये—नक्षत्रों का समूह; जज्ञे—जन्म लिया; वंश-धरः—उत्तराधिकारी; पाण्डोः—पाण्डु के; भूयः—होते हुए; पाण्डुः इव—पाण्डु के समान; ओजसा—पराक्रम से।

तत्पश्चात्, जब क्रमशः सारी राशि तथा नक्षत्रों से शुभ लक्षण प्रकट हो आये, तब पाण्डु के उत्तराधिकारी ने जन्म लिया, जो पराक्रम में उन्हीं के समान होगा।

तात्पर्य : जीव पर ग्रह-नक्षत्रों का प्रभाव कोरी कल्पना नहीं है, अपितु वास्तविकता है जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में पुष्टि हो रही है। प्रत्येक जीव, हर क्षण प्रकृति के नियमों द्वारा नियंत्रित होता रहता है, ठीक उसी तरह जिस प्रकार नागरिक राज्य द्वारा नियंत्रित होता है। राज्य के नियमों का पालन स्थूल रूप से होता है, लेकिन प्रकृति के नियम हमारी मोटी बुद्धि के लिए सूक्ष्म होने के कारण स्थूल रूप से अनुभव नहीं किये जा सकते हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* (३.९) में कहा गया है—जीवन के प्रत्येक कर्म

से प्रतिक्रिया (फल) उत्पन्न होती है, जो हम पर बन्धन-स्वरूप होती है और केवल वे कर्म जो *यज्ञ* (विष्णु) के लिए किये जाते हैं, वे फलों से बद्ध नहीं होते। हमारे कर्मों का निर्णय उच्च अधिकारियों अर्थात् भगवान् के दूतों द्वारा होता है और इस तरह हमें अपने-अपने कर्मों के अनुसार शरीर प्राप्त होते हैं। प्रकृति का नियम इतना सूक्ष्म है कि हमारे शरीर के प्रत्येक अंग पर उन्हीं ग्रह-नक्षत्रों का प्रभाव पड़ता है और जीव को यह क्रियाशील शरीर इसीलिए प्राप्त होता है कि वह ऐसे ग्रह-नक्षत्रों के प्रभावों को साध कर, अपनी कारागार-अवधि को पूरा कर सके। अतएव मनुष्य का भाग्य उसके जन्म-काल के ग्रह-नक्षत्रों द्वारा निर्धारित होता है और विद्वान ज्योतिषी उसकी तथ्यपरक कुण्डली तैयार करता है। यह एक महान् विज्ञान है, किन्तु यदि इसका दुरुपयोग होता है, तो इससे यह निरर्थक नहीं बन जाता। महाराज परीक्षित या कि भगवान् भी किसी शुभ नक्षत्र राशि में प्रकट होते हैं और इस शुभ क्षण में जन्म लेने वाले शरीर पर इन नक्षत्रों का प्रभाव पड़ता है। सबसे शुभ नक्षत्र वह है, जब भगवान् इस भौतिक जगत में प्रकट होते हैं और इसे *जयन्ती* कहते हैं। इस शब्द का किसी भी अन्य बात के लिए दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। महाराज परीक्षित केवल एक महान् क्षत्रिय सम्राट ही न थे, अपितु महान् भगवद्भक्त भी थे। अतएव वे किसी भी अशुभ क्षण में जन्म नहीं ले सकते थे। जिस प्रकार किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति का स्वागत उचित स्थान तथा उचित समय पर किया जाता है, उसी प्रकार, भगवान् द्वारा विशेष रूप से सुरक्षित महाराज परीक्षित जैसे व्यक्ति के स्वागतार्थ ऐसा उपयुक्त क्षण चुना गया था, जब सारे शुभ ग्रह एकत्र होकर राजा पर अपना प्रभाव डाल सकें। इस तरह उनका जन्म हुआ और वे *श्रीमद्भागवत* के महान् नायक कहलाये। नक्षत्रों का यह संयोग मनुष्य की इच्छा से उत्पन्न नहीं किया जा सकता, अपितु यह तो परमेश्वर की महती व्यवस्था का प्रबन्ध होता है। निस्सन्देह, जीव के शुभ या अशुभ कर्मों के अनुसार ही, यह व्यवस्था की जाती है। यहीं जीव द्वारा सम्पन्न शुभ कर्मों की महत्ता प्रकट होती है। केवल शुभ कर्मों के द्वारा ही, जीव को उत्तम सम्पत्ति, उत्तम शिक्षा तथा सुन्दर स्वरूप प्राप्त हो सकता है। नक्षत्रों के शुभ प्रभावों के लिए समुचित वातावरण तैयार करनें में, सनातन धर्म मनुष्य का शाश्वत कर्तव्य सम्प्रदाय के संस्कार अत्यन्त उपुयक्त सिद्ध होते हैं। अतएव उच्च वर्णों (द्विजों) के लिए संस्तुत गर्भाधान संस्कार समस्त शुभ कर्मों का शुभारंभ है, जिससे मानव समाज में अत्यन्त पवित्र तथा बुद्धिमान श्रेणी के मनुष्य उत्पन्न होते हैं। उत्तम तथा योग्य जनता के द्वारा ही विश्व में

शान्ति तथा समृद्धि आएगी; अवांछित तथा विषयभोग में लिप्त रहनेवाली अयोग्य प्रजा से अशान्ति फैलेगी और यह संसार नरक बना रहेगा।

तस्य प्रीतमना राजा विप्रैर्धौम्यकृपादिभिः ।
जातकं कारयामास वाचयित्वा च मङ्गलम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; प्रीत-मनाः—सन्तुष्ट; राजा—राजा युधिष्ठिर; विप्रैः—विद्वान ब्राह्मणों द्वारा; धौम्य—धौम्य; कृप—कृप; आदिभिः—इत्यादि; जातकम्—शिशु-जन्म के तुरन्त बाद सम्पन्न होनेवाला संस्कार; कारयाम् आस—सम्पन्न किया; वाचयित्वा—बाँच कर; च—भी; मङ्गलम्—शुभ।

महाराज परीक्षित के जन्म से अत्यन्त सन्तुष्ट हुए राजा युधिष्ठिर ने जात-संस्कार करवाया। धौम्य, कृप इत्यादि विद्वान ब्राह्मणों ने शुभ स्तोत्रों का पाठ किया।

तात्पर्य : वर्णाश्रम धर्म में वर्णित संस्कारों को सम्पन्न कराने में निपुण हो ऐसे श्रेष्ठ तथा बुद्धिमान ब्राह्मणों की आवश्यकता है। जब तक ये संस्कार सम्पन्न नहीं कराये जाते, तब तक अच्छी सन्तान की सम्भावना नहीं है और इस कलियुग में, इस संस्कार विधि के अभाव में, सारे संसार की जनता शूद्र गुण वाली या इससे भी निम्न होती है। किन्तु समुचित सुविधाओं तथा उत्तम ब्राह्मणों के अभाव के कारण, इस युग में वैदिक संस्कारों का पुनरुद्धार कर पाना सम्भव नहीं है। लेकिन इस युग के लिए अन्य पद्धति भी संस्तुत है और वह है पाञ्चरात्रिक पद्धति। यह पांचरात्रिक पद्धति शूद्र श्रेणी के लोगों पर लागू की जाती है, जो कलियुग की प्रजा मानी जाती है और युग तथा काल के अनुरूप संस्तुत की जानेवाली यही संस्कार-विधि है। किन्तु यह संस्कार-विधि केवल आध्यात्मिक विकास के निमित्त है, अन्य किसी कार्य के लिए नहीं। आध्यात्मिक उन्नति कभी उच्च या निम्न पैतृकता से नियंत्रित नहीं होती।

गर्भाधान संस्कार के बाद अन्य संस्कार भी होते हैं—यथा *सीमान्तोन्नयन, सध-भक्षणम्* इत्यादि जो गर्भावस्था-काल में सम्पन्न होते हैं और जब शिशु का जन्म होता है, तो सबसे पहला संस्कार *जातकर्म* है। यह संस्कार महाराज युधिष्ठिर द्वारा राजपुरोहित धौम्य तथा महान् सेनापति एवं पुरोहित कृपाचार्य-जैसे योग्य ब्राह्मणों की सहायता से सम्पन्न कराया गया। महाराज युधिष्ठिर ने इन दोनों विद्वान तथा योग्य पुरोहितों की सहायता के लिए तमाम उत्तम ब्राह्मणों को लगाकर यह उत्सव सम्पन्न कराया। अतएव सारे संस्कार अर्थात् शुद्धीकरण की विधियाँ मात्र औपचारिकताएँ या सामाजिक उत्सव हीं नहीं, अपितु

ये व्यवहारणीय हैं और धौम्य तथा कृप जैसे योग्य ब्राह्मणों द्वारा सफलतापूर्वक सम्पन्न कराए जाते हैं। इस युग में ऐसे ब्राह्मण न केवल विरले हैं, अपितु उपलब्ध भी नहीं होते। अतएव इस पतित युग में आध्यात्मिक उन्नति के लिए गोस्वामीजन वैदिक अनुष्ठानों की अपेक्षा पाञ्चरात्रिक सूत्रों को वरीयता प्रदान करते हैं।

कृपाचार्य महर्षि सर्दबन के पुत्र थे और गौतम के वंश में उत्पन्न हुए थे। उनका जन्म एक अकस्मात घटना कही जाती है। संयोगवश महर्षि सर्दबन की भेंट जनपदी नामक स्वर्ग की एक सुप्रसिद्ध अप्सरा से हुई, तो सर्दबन का वीर्य दो भागों में बँट गया। एक भाग तुरन्त बालक बन गया और दूसरा बालिका। इस प्रकार जुड़वाँ बच्चे उत्पन्न हुए—बालक कृप नाम से और बालिका कृपी नाम से विख्यात हुई। महाराज शान्तनु को जंगल में शिकार करते समय, ये शिशु मिले और घर लाकर, संस्कार कराकर, उन्हें ब्राह्मण-पद प्रदान किया। बाद में कृपाचार्य द्रोणाचार्य के समान महान् सेनापति बने और उसकी बहन कृपी, द्रोणाचार्य को ब्याह दी गई। कालान्तर में कृपाचार्य कुरुक्षेत्र के युद्ध में सम्मिलित हुए और दुर्योधन के दल में चले गये। कृपाचार्य, महाराज परीक्षित के पिता अभिमन्यु को मारने में सहायक बने, किन्तु द्रोणाचार्य के ही समान महान् ब्राह्मण होने के कारण, वे अभी भी पाण्डव-कुल द्वारा सम्मानित थे। जब दुर्योधन से द्यूत-क्रीड़ा में हारकर पाण्डव वन चले गये, तो धृतराष्ट्र ने उनके मार्गदर्शन के लिए कृपाचार्य को नियुक्त किया। युद्ध समाप्त होने पर कृपाचार्य पुनः राजसभा के सदस्य बन गये और महाराज परीक्षित के जन्म के समय जन्मोत्सव को सफल बनाने के लिए उन्हें वेद मंत्रोच्चार करने के लिए आमंत्रित किया गया। जब महाराज युधिष्ठिर जब राजप्रासाद त्यागकर हिमालय के लिए महाप्रयाण करने लगे तब वे महाराज परीक्षित को शिष्य-रूप में कृपाचार्य को ही सौंप गये और उन्होंने सन्तुष्ट होकर घर का त्याग किया, क्योंकि महाराज परीक्षित का भार कृपाचार्य ने संभाल लिया था। बड़े-बड़े शासक, राजा तथा सम्राट तक, कृपाचार्य-जैसे विद्वान ब्राह्मणों के मार्गदर्शन में रहते हुए समुचित रूप से राजनैतिक उत्तरदायित्व निभाते थे।

हिरण्यं गां महीं ग्रामान् हस्त्यश्वान्नृपतिर्वरान् ।
प्रादात्स्वन्नं च विप्रेभ्यः प्रजातीर्थे स तीर्थवित् ॥ १४॥

शब्दार्थ

हिरण्यम्—सोना; गाम्—गौवें; महीम्—भूमि; ग्रामान्—गाँव; हस्ति—हाथी; अश्वान्—घोड़े; नृपतिः—राजा ने; वरान्—पुरस्कार; प्रादात्—दान में दिया; सु-अन्नम्—उत्तम अन्न; च—तथा; विप्रेभ्यः—ब्राह्मणों को; प्रजा-तीर्थे—पुत्र के जन्म-दिवस पर दान देते समय; सः—वह; तीर्थ-वित्—जो जानता है कि कब, कैसे और किसे दान दिया जाय।

पुत्र के जन्म लेने पर राजा ने ब्राह्मणों को सोना, भूमि, ग्राम, हाथी, घोड़े तथा उत्तम अन्न दान में दिया, क्योंकि वे जानते थे कि कैसे, कहाँ और कब दान देना चाहिए।

तात्पर्य : केवल ब्राह्मणों तथा संन्यासियों को गृहस्थियों से दान ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त है। समस्त संस्कारों के विभिन्न अवसरों पर, विशेष रूप से जन्म, विवाह तथा मृत्यु के संस्कारों के समय, ब्राह्मणों को धन वितरीत किया जाता है, क्योंकि ब्राह्मण ही मानव जाति की प्राथमिक आवश्यकता के लिए सर्वश्रेष्ठ सेवा प्रदान करते हैं। इन अवसरों पर स्वर्ण, भूमि, ग्राम, घोड़े, हाथी तथा अन्न के साथ समस्त भोज्य सामग्री के रूप में प्रचुर दान दिया जाता था। अतएव ब्राह्मण वास्तव में निर्धन नहीं होते थे, उल्टे, उनके पास प्रचुर सोना, भूमि, ग्राम, घोड़े, हाथी तथा पर्याप्त अन्न रहता था, जिससे उन्हें कुछ और कमाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। उसके बदले में, वे सम्पूर्ण समाज के कल्याण हेतु अपने को समर्पित कर देते थे।

तीर्थवित् शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि राजा को पता था कि कहाँ और कब दान दिया जाय। दान कभी व्यर्थ नहीं जाता, न वह निरूद्देश्य होता है। शास्त्रों के अनुसार, दान उन व्यक्तियों को दिया जाता था, जो अपनी आध्यात्मिक प्रबुद्धता के बल पर दान लेने के पात्र होते थे। तथाकथित दरिद्र–नारायण, जो अनधिकृत व्यक्तियों द्वारा परम भगवान् के बारे में फैलायी गयी एक भ्रान्त धारणा है, उसका उल्लेख दान के सुपात्र के रूप में शास्त्रों में कभी भी नहीं मिलता है। कोई भी दरिद्र व्यक्ति घोड़े, हाथी, भूमि तथा ग्रामों के रूप में, इतना मुक्तहस्त दान नहीं पा सकता था। निष्कर्ष यह निकला कि बुद्धिमान व्यक्तियों, या भगवान् की सेवा में लगे हुए ब्राह्मणों का इस तरह पालन होता था कि उन्हें शरीर की आवश्यकताओं की चिन्ता नहीं रहती थी तथा राजा एवं अन्य गृहस्थ, खुशी–खुशी उनके सुख का ध्यान रखते थे।

शास्त्रों का आदेश है कि जब तक शिशु नाल द्वारा माता से जुड़ा रहता है, तब तक शिशु तथा माता के शरीर का एक भाग माना जाता है, किन्तु ज्योंही नाल काट दी जाती है और शिशु माता से विलग हो जाता है, त्योंही *जात–कर्म* संस्कार सम्पन्न किया जाता है। नवजात शिशु को देखने के लिए प्रशासी

देवता (लोकपाल) एवं परिवार के पूर्व-पुरखे आते हैं और समाज के आध्यात्मिक विकास के लिए उचित व्यक्तियों को धन वितरित करने के लिए इस अवसर को समुचित माना जाता है।

तमूचुर्ब्राह्मणास्तुष्टा राजानं प्रश्रयान्वितम् ।
एष ह्यस्मिन् प्रजातन्तौ पुरूणां पौरवर्षभ ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; ऊचुः—सम्बोधित किया; ब्राह्मणाः—विद्वान ब्राह्मणों ने; तुष्टाः—अत्यधिक सन्तुष्ट; राजानम्—राजा को; प्रश्रय-अन्वितम्—अत्यधिक कृतज्ञता ज्ञापित करके; एषः—यह; हि—निश्चय ही; अस्मिन्—की शृंखला में; प्रजा-तन्तौ—परम्परा में; पुरूणाम्—पुरुओं की; पौरव-ऋषभ—पुरुओं में प्रमुख।

राजा के दान से अत्यधिक सन्तुष्ट विद्वान ब्राह्मणों ने राजा को पुरुओं में प्रधान कहकर सम्बोधित किया और बताया कि उनका पुत्र निश्चय ही पुरुओं की परम्परा में है।

दैवेनाप्रतिघातेन शुक्ले संस्थामुपेयुषि ।
रातो वोऽनुग्रहार्थाय विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

दैवेन—अतिदैवी शक्ति द्वारा; अप्रतिघातेन—दुर्निवार; शुक्ले—शुद्ध; संस्थाम्—विनाश को; उपेयुषि—विवश किये जाने पर; रातः—फिर रक्षित; वः—तुम्हारे लिए; अनुग्रह-अर्थाय—अनुग्रह करने के लिए; विष्णुना—सर्वव्यापी भगवान् द्वारा; प्रभविष्णुना—सर्वशक्तिमान द्वारा।

ब्राह्मणों ने कहा : यह निष्कलंक पुत्र, आप पर अनुग्रह करने के लिए सर्वशक्तिमान तथा सर्वव्यापी भगवान् विष्णु द्वारा बचाया गया है। उसे तब बचाया गया, जब वह दुर्निवार अतिदैवी अस्त्र द्वारा नष्ट होने ही वाला था।

तात्पर्य : सर्वशक्तिमान तथा सर्वव्यापी विष्णु (भगवान् कृष्ण) द्वारा शिशु परीक्षित को दो कारणों से बचा लिया गया था। पहला कारण यह था कि भगवान् का विशुद्ध भक्त होने के कारण अपनी माता के गर्भ में यह शिशु निष्कलंक था। दूसरा कारण यह था कि यह शिशु पुण्यात्मा राजा युधिष्ठिर के पवित्र पूर्वज, पुरु के वंश का एकमात्र उत्तराधिकारी था। भगवान् चाहते हैं कि पवित्र राजाओं की परम्परा चलती रहे, जिससे वे शान्तिमय तथा सम्पन्न जीवन की वास्तविक प्रगति के लिए उनके प्रतिनिधियों के रूप में पृथ्वी पर राज्य करें। कुरुक्षेत्र के युद्ध के पश्चात्, महाराज युधिष्ठिर की अगली पीढ़ी तक विनष्ट हो चुकी थी और उस महान् राजवंश में कोई ऐसा न था, जो दूसरा पुत्र उत्पन्न कर

सके। अभिमन्यु-पुत्र, महाराज परीक्षित ही परिवार के एकमात्र जीवित उत्तराधिकारी थे और अश्वत्थामा के दुर्निवार ब्रह्मास्त्र द्वारा उनका भी विनाश होनेवाला था। यहाँ पर भगवान् कृष्ण को विष्णु के रूप में वर्णित किया गया है और यह महत्त्वर्पूण भी है। आदि भगवान् श्रीकृष्ण, अपने विष्णु-रूप में रक्षा तथा संहार का कार्य करते हैं और विष्णु उनके पूर्णांश हैं। भगवान् कृष्ण के सारे सर्वव्यापी कार्यकलाप उनके विष्णु-रूप द्वारा ही सम्पन्न किये जाते हैं। शिशु परीक्षित को यहाँ पर निष्कलंक श्वेत कहा गया है, क्योंकि वे भगवान् के अनन्य भक्त थे। भगवान् के ऐसे अनन्य भक्त इस धरा पर भगवान् के कार्य को सम्पन्न करने के लिए ही प्रकट होते हैं। भगवान् चाहते हैं कि भौतिक सृष्टि के आगे-पीछे मँडरानेवाले बद्धजीवों का उद्धार हो, जिससे वे भगवद्धाम वापस आ सकें। इस तरह भगवान् वेदों जैसा दिव्य साहित्य निर्मित करके, सन्तों तथा साधुओं को दूत के रूप में भेजकर तथा अपना प्रतिनिधि अर्थात् गुरु नियुक्त करके, उनकी सहायता करते हैं। ऐसा दिव्य साहित्य, ऐसे दूत तथा भगवान् के ऐसे प्रतिनिधि निष्कलुष श्वेत होते हैं, क्योंकि भौतिक गुणों का कल्मष उन्हें स्पर्श तक नहीं कर पाता। जब भी उन्हें विनाश का संकट आता है, तो भगवान् सदैव उनकी रक्षा करते हैं। ऐसे मूर्खतापूर्ण संकट निपट भौतिकतावादी पुरुषों द्वारा ढाये जाते हैं। अश्वत्थामा ने बालक परीक्षित पर जिस ब्रह्मास्त्र को छोड़ा था, वह निश्चित रूप से अतिदैवी शक्ति से पूर्ण था और भौतिक जगत की कोई भी वस्तु उसकी भेदन-शक्ति को रोकने में समर्थ न थी। किन्तु सर्वत्र विद्यमान, सर्वशक्तिमान भगवान् अपनी अपार शक्ति द्वारा अपने प्रामाणिक सेवक तथा अपनी अहैतुकी कृपा से सदैव अनुग्रहीत अपने और एक भक्त महाराज युधिष्ठिर के वंशज को बचाने के लिए उसे रोकने में समर्थ हुए।

तस्मान्नाम्ना विष्णुरात इति लोके भविष्यति ।
न सन्देहो महाभाग महाभागवतो महान् ॥ १७॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; नाम्ना—नामवाले; विष्णु-रातः—भगवान् विष्णु द्वारा रक्षित; इति—इस प्रकार; लोके—समस्त लोकों में; भविष्यति—विख्यात होगा; न—नहीं; सन्देहः—सन्देह; महा-भाग—हे परम भाग्यशाली; महा-भागवतः—प्रथम कोटि का भगवद्भक्त; महान्—समस्त उत्तम गुणों से समन्वित।

इस कारण यह बालक संसार में विष्णुरात (भगवान् द्वारा रक्षित) नाम से विख्यात होगा। हे महा भाग्यशाली, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह बालक महाभागवत (उत्तम कोटि का भक्त) होगा और समस्त गुणों से सम्पन्न होगा।

तात्पर्य : भगवान् समस्त जीवों को सुरक्षा प्रदान करते हैं, क्योंकि वे उनके सर्वोपरि नेता हैं। वैदिक स्तोत्र इसकी पुष्टि करते हैं कि भगवान् समस्त पुरुषों में परम पुरुष हैं। इन दोनों व्यक्तियों में अन्तर यह है कि इनमें से एक, अर्थात् भगवान्, अन्य समस्त जीवों का पालन करनेवाले हैं और उन्हें जान लेने से ही शाश्वत शान्ति प्राप्त की जा सकती है (*कठोपनिषद्*)। ऐसी सुरक्षा उनकी विभिन्न शक्तियों द्वारा विभिन्न कोटि के जीवों को प्रदान की जाती है। किन्तु जहाँ तक उनके अनन्य भक्तों का सम्बन्ध है, वे व्यक्तिगत रूप से उन्हें सुरक्षा प्रदान करते हैं। अतएव महाराज परीक्षित की रक्षा अपनी माता के गर्भ में प्रकट होते ही, भगवान् द्वारा शुरू हो गई थी। चूँकि उनकी भगवान् द्वारा विशेष रूप से सुरक्षा की गई थी, अतएव इससे संकेत मिलता था कि यह बालक समस्त उत्तम गुणों से समन्वित महाभागवत निकलेगा। भक्तों की तीन कोटियाँ हैं—*महाभागवत, मध्यम अधिकारी* तथा *कनिष्ठ अधिकारी।* ऐसे भक्त जो भगवान् के मन्दिर जाते हैं और आध्यात्मिक विज्ञान में पर्याप्त ज्ञान न होते हुए भी और इस तरह भगवान् के भक्तों के लिए किसी प्रकार का आदर न दिखाकर, अर्चाविग्रह की पूजा करके नमस्कार करते हैं, वे भौतिकतावादी भक्त या *कनिष्ठ* अधिकारी अर्थात् तृतीय कोटि के भक्त कहलाते हैं। दूसरे भक्त वे हैं, जिन्होंने भगवान् की शुद्ध सेवा की चितवृत्ति विकसित कर ली है और इस तरह वे अपने जैसे भक्तों के साथ मैत्री स्थापित करते हैं, नवदीक्षितों का पक्ष ग्रहण करते हैं और नास्तिकों से बचते हैं, वे द्वितीय कोटि के भक्त कहलाते हैं। किन्तु जो लोग भगवान् में सारी वस्तुएँ देखते हैं या प्रत्येक वस्तु को भगवान् की समझते हैं और प्रत्येक वस्तु में भगवान् का नित्य सम्बन्ध देखते हैं, जिससे उन्हें भगवान् के अतिरिक्ति कुछ भी नहीं दिखता, वे *महाभागवत* या प्रथम कोटि के भगवद्भक्त कहलाते हैं। भगवान् के ऐसे प्रथम कोटि के भक्तगण सभी प्रकार से पूर्ण होते हैं। इन कोटियों के अन्तर्गत कोई भी भक्त स्वत: सर्व गुणों से सम्पन्न रहता है और इस तरह महाराज परीक्षित जैसा *महाभागवत* सभी प्रकार से पूर्ण होता है। चूँकि महाराज परीक्षित का जन्म महाराज युधिष्ठिर के कुल में हुआ था, इसीलिए उन्हें *महाभागवत* कहकर सम्बोधित किया गया है। जिस परिवार में

महाभागवत जन्म लेता है, वह भाग्यशाली होता है, क्योंकि ऐसे प्रथम कोटि के भक्त के जन्म से, भगवत्कृपा से, परिवार की भूत, वर्तमान तथा भविष्य की सौ पीढ़ियों के लोग मुक्त हो जाते हैं। अतएव भगवान् का अनन्य भक्त बनने मात्र से परिवार को सबसे बड़ा लाभ पहुँचाया जाता है।

श्रीराजोवाच
अप्येष वंश्यान् राजर्षीन् पुण्यश्लोकान् महात्मनः ।
अनुवर्तिता स्विद्यशसा साधुवादेन सत्तमाः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा—सर्वमंगलकारी राजा (महाराज युधिष्ठिर) ने; उवाच—कहा; अपि—क्या; एषः—इस; वंश्यान्—परिवार में; राज-ऋषीन्—साधु राजाओं का; पुण्य-श्लोकान्—नाम से ही पवित्र; महा-आत्मनः—सभी महान् पुरुष; अनुवर्तिता—अनुयायी; स्वित्—ऐसा होगा; यशसा—उपलब्धियों से; साधु-वादेन—महिमान्वित होने से; सत्-तमाः—हे महान् आत्माओ!.

उत्तम राजा (युधिष्ठिर) ने पूछाः हे महात्माओं, क्या यह बालक इस महान् राजवंश में प्रकट हुए अन्य राजाओं की ही तरह राजर्षि, पवित्र नामवाला, उतना ही विख्यात तथा अपनी उपलब्धियों से महिमामंडित होगा ?

तात्पर्य : राजा युधिष्ठिर के पूर्वज राजर्षि, पुण्यात्मा तथा अपनी महान् उपलब्धियों से महिमामण्डित थे। वे राज-सिंहासन पर बैठकर भी संत थे। फलस्वरूप राज्य के सारे सदस्य सुखी, पुण्यात्मा, सदाचारी, सुसम्पन्न तथा आध्यात्मिकता में प्रबुद्ध थे। ऐसे महान् साधु राजा महात्माओं तथा आध्यात्मिक आदेशों के कठोर मार्गदर्शन में प्रशिक्षित थे। फलस्वरूप, राज्य साधु पुरुषों से परिपूर्ण रहता था और आध्यात्मिक जीवन सुखमय होता था। महाराज युधिष्ठिर स्वयं अपने पूर्वजों की प्रतिमूर्ति थे और उनकी यह अभिलाषा थी कि उनके बाद जो भी राजा हो, वह उनके महान् पूर्वजों के समान हो। वे विद्वान ब्राह्मणों से यह जानकर प्रसन्न थे कि ज्योतिष-गणना के अनुसार, नवजात शिशु *महाभागवत* होगा और वे व्यक्तिगत रूप से यह जानने के इच्छुक थे कि बालक अपने महान् पूर्वजों का अनुगमन करनेवाला होगा या नहीं। यही राज-तंत्र की शैली है। शासन चलाने वाले राजा को पुण्यात्मा, उदार भगवद्भक्त तथा छिछोरों के लिए साक्षात् भय होना चाहिए। उसे अबोध जनता के ऊपर राज्य करने के लिए समान रूप से योग्य उत्तराधिकारी भी छोड़ जाना चाहिए। आज के लोकतांत्रिक ढाँचे में, सारे लोग शूद्र के गुणों या उससे भी अधम गुणों तक पतित हो चुके हैं और इन्हीं के प्रतिनिधि द्वारा

सरकार चलाई जाती है, जो प्रशासनिक शिक्षा की शास्त्रीय शैली से अनजान होता है। इस प्रकार सारा वातावरण शूद्र-गुणों से व्याप्त हो जाता है, जो काम तथा लोभ के रूप में प्रकट होते हैं। ऐसे प्रशासक प्रतिदिन आपस में लड़ते रहते हैं। प्राय: दलों तथा समूहों के स्वार्थ के कारण मंत्रिमण्डल में परिवर्तन होते रहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति मृत्यु-पर्यन्त राज्य के संसाधनों का दोहन करते रहना चाहता है। कोई भी व्यक्ति राजनैतिक जीवन से तब तक निवृत्ति नहीं ले लेता, जब तक उसे ठोकर मार कर बाहर नहीं कर दिया जाता। भला ऐसे निम्न कोटि के लोग जनता का कल्याण कैसे कर सकते हैं? इसी का परिणाम है भ्रष्टाचार, चालबाजी तथा पाखण्ड। उन्हें विभिन्न पदों का भार सँभालने के पूर्व, *श्रीमद्भागवत* से यह सीखना चाहिए कि आदर्श प्रशासक कैसा हो।

ब्राह्मणा ऊचु:
पार्थ प्रजाविता साक्षादिक्ष्वाकुरिव मानव: ।
ब्रह्मण्य: सत्यसन्धश्च रामो दाशरथिर्यथा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणा:—उत्तम ब्राह्मणों ने; ऊचु:—कहा; पार्थ—हे पृथा (कुन्ती) पुत्र; प्रजा—जन्म धारण करनेवाले; अविता—पालक; साक्षात्—प्रत्यक्ष; इक्ष्वाकु: इव—राजा इक्ष्वाकु की तरह; मानव:—मनुपुत्र; ब्रह्मण्य:—ब्राह्मणों का अनुयायी तथा आदर करनेवाला; सत्य-सन्ध:—वचन का पक्का; च—भी; राम:—भगवान् राम; दाशरथि:—महाराज दशरथ के पुत्र; यथा—जिस तरह।.

विद्वान ब्राह्मणों ने कहा : हे पृथापुत्र, यह बालक मनु-पुत्र, राजा इक्ष्वाकु की ही तरह समस्त जीवों का पालन करनेवाला होगा। और जहाँ तक ब्राह्मणीय सिद्धान्तों के पालन की बात है, विशेष रूप से अपने वचन का पालन करने में, यह महाराज दशरथ के पुत्र भगवान् राम जैसा (दृढ़ प्रतिज्ञ) होगा।

तात्पर्य : *प्रजा* का अर्थ है इस भौतिक जगत में जन्म लेनेवाला जीव। वास्तव में जीव का न तो जन्म होता है, न मृत्यु होती है, लेकिन भगवान् की सेवा से विलग होने एवं भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की इच्छा के फलस्वरूप, उसे अपनी भौतिक इच्छाओं की तुष्टि के लिए उपयुक्त शरीर प्रदान किया जाता है। ऐसा होने से, वह जीव भौतिक प्रकृति के नियमों द्वारा बद्ध हो जाता है और *उसका भौतिक शरीर उसके कर्म के अनुसार बदलता रहता है।* इस प्रकार जीव ८४,००,००० योनियों में देहान्तर करता रहता है। किन्तु भगवान् का अंश होने के कारण, भगवान् न केवल उसके जीवन की

सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करके उसका पालन करते हैं, अपितु स्वयं तथा अपने प्रतिनिधियों, राजर्षियों द्वारा उसकी रक्षा भी करते हैं। ये राजर्षि, समस्त *प्रजा* अथवा जीवों को जीवित रहने तथा उन्हें दिये गये बन्दी जीवन को पूरा करने के लिए सुरक्षा प्रदान करते हैं। महाराज परीक्षित वास्तव में एक आदर्श राजर्षि थे, क्योंकि एक बार जब वे अपने राज्य का दौरा कर रहे थे, तो उन्होंने देखा कि साक्षात् कलि एक बेचारी गाय को मारने जा रहा था। उन्होंने उसे तुरन्त बधिक करार करते हुए दण्डित किया। इसका अर्थ यह हुआ कि साधुचरित शासकों द्वारा पशुओं तक को संरक्षण दिया जाता था, जो किसी भावावेश के कारण नहीं था, अपितु इसलिए था कि जिन्होंने इस भौतिक संसार में जन्म लिया है, उन्हें जीवित रहने का अधिकार है। सारे साधु राजा, सूर्य ग्रह के राजा से लेकर पृथ्वी के राजा तक, वैदिक साहित्य के प्रभाव से प्रभावित रहे हैं। वैदिक साहित्य की शिक्षा उच्चतर ग्रहों में भी दी जाती है, जैसा कि *भगवद्गीता* (४.१) में भगवान् द्वारा सूर्यदेव (विवस्वान्) को उपदेश देने का प्रसंग मिलता है। ऐसी शिक्षाएँ गुरू-शिष्य परम्परा द्वारा चलती रहती हैं, क्योंकि सूर्यदेव ने अपने पुत्र मनु को शिक्षा दी, फिर मनु ने महाराज इक्ष्वाकु को शिक्षा दी। ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं और यहाँ पर जिस मनु का उल्लेख हुआ है, वे सातवें मनु हैं, जो *प्रजापतियों* में से एक हैं और वे सूर्यदेव के पुत्र हैं। वे वैवस्वत मनु कहलाते हैं। उनके दस पुत्र थे और महाराज इक्ष्वाकु उन्हीं में से एक थे। महाराज इक्ष्वाकु ने अपने पिता मनु से, *भगवद्गीता* में बताये गये भक्तियोग को भी सीखा। मनु ने इसे अपने पिता सूर्यदेव से प्राप्त किया था। बाद में, महाराज इक्ष्वाकु के बाद, *भगवद्गीता* की शिक्षा परम्परा द्वारा चलती रही, किन्तु कालक्रम से यह शृंखला पाखण्डियों द्वारा छिन्न कर दी गई। अतएव कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन को फिर से इसकी शिक्षा दी गई। इस तरह सारा वैदिक साहित्य, सृष्टि के प्रारम्भ से ही चला आ रहा है और *अपौरुषेय* कहलाता है, जिसका अर्थ है कि वह मनुष्य द्वारा रचित नहीं है। वैदिक ज्ञान का प्रवचन भगवान् द्वारा किया गया और ब्रह्माण्ड के सर्वप्रथम सृजित जीव ब्रह्मा ने सबसे पहले इसे सुना।

महाराज इक्ष्वाकु—ये वैवस्वत मनु के पुत्रों में से एक थे। इनके १०० पुत्र थे। उन्होंने मांसाहार को प्रतिबन्धित किया। उनकी मृत्यु के बाद उनका पुत्र शशाद् राजा बना।

मनु—इस श्लोक में जिन मनु का उल्लेख इक्ष्वाकु के पिता के रूप में हुआ है, वे सातवें मनु, वैवस्वत मनु अर्थात् सूर्यदेव विवस्वान् के पुत्र थे, जिन्हें भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के पूर्व *भगवद्गीता* का उपदेश दिया था। समस्त मानव जाति मनु के वंशज हैं। इन वैवस्वत मनु के दस पुत्र थे, जिनके नाम थे इक्ष्वाकु, नभग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, नाभाग, दिष्ट, करुष, पृषध्र तथा वसुमान। भगवान् का मत्स्य-अवतार वैवस्वत मनु के प्रारम्भ में हुआ था। उन्होंने अपने पिता, सूर्यदेव विवस्वान् से *भगवद्गीता* के नियमों की शिक्षा प्राप्त की और इसे उन्होंने अपने पुत्र महाराज इक्ष्वाकु को प्रदान किया। त्रेतायुग के प्रारम्भ में, सूर्यदेव ने मनु को भक्तिमय सेवा का पाठ पढ़ाया और मनु ने सम्पूर्ण मानव समाज के कल्याण हेतु इक्ष्वाकु को भक्ति की शिक्षा दी।

भगवान् राम—पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् ने साक्षात् श्रीराम के रूप में, अपने विशुद्ध भक्त, अयोध्या के राजा महाराज दशरथ का पुत्रत्व स्वीकार करके स्वयं अवतार लिया। भगवान् राम अपने पूर्ण अंशों के समेत अवतरित हुए और वे सब उनके छोटे भाइयों के रूप में प्रकट हुए। भगवान् त्रेतायुग में, चैत्रमास में शुक्ल पक्ष की नवमी को, हमेशा की तरह धर्म की स्थापना करने तथा अधर्मियों का विनाश करने के लिए अवतरित हुए। अभी वे तरुण ही थे कि उन्होंने सुबाहु को मारकर तथा नैत्यिक कार्यों में बाधा डालनेवाली राक्षसी मारीचा का वध करके विश्वामित्र की सहायता की। ब्राह्मण तथा क्षत्रियों का कार्य जन-कल्याण के लिए एक-दूसरे से सहयोग करने का होता है। ब्राह्मण मुनि अपने पूर्ण ज्ञान द्वारा लोगों को प्रबुद्ध करते हैं और क्षत्रिय उनकी रक्षा करते हैं। भगवान् रामचन्द्र मानवता की उत्कृष्टतम संस्कृति के, जिसे *ब्रह्मण्य धर्म* कहते हैं, पालन तथा संरक्षण के लिए आदर्श राजा हैं। वे विशेष रूप से गायों तथा ब्राह्मणों के रक्षक हैं, अतएव वे जगत की सम्पन्नता को बढ़ानेवाले हैं। उन्होंने प्रशासक देवताओं को विश्वामित्र के माध्यम से असुरों को जीतने के लिए प्रभावशाली अस्त्र प्रदान किये। वे राजा जनक के धनुष-यज्ञ में उपस्थित हुए थे और शिवजी के अजेय धनुष को तोड़कर, महाराज जनक की पुत्री सीतादेवी के साथ ब्याह किया।

विवाह के बाद उन्होंने अपने पिता महाराज दशरथ के आदेश से चौदह वर्ष का वनवास स्वीकार किया। देवताओं के प्रशासन में सहायता करने के लिए, उन्होंने चौदह हजार असुरों का बध किया। रावण ने, असुरों की चाल से, उनकी पत्नी सीतादेवी का अपहरण किया। उन्होंने सुग्रीव से मैत्री

स्थापित की और उसके भाई वालि को मारने में सहायता की। भगवान् राम की सहायता से सुग्रीव वानरों का राजा बना। भगवान् ने हिन्द महासागर में पत्थरों का तैरता हुआ एक सेतु बनाया और सीता के अपरहणकर्ता रावण के राज्य लंका में पहुँचे। तत्पश्चात् उन्होंने रावण का वध किया और लंका के सिंहासन पर रावण के भाई विभीषण को बैठाया। यद्यपि विभीषण राक्षस रावण का भाई था, किन्तु भगवान् राम ने उसे अपने वर से अमर बना दिया। चौदह वर्ष बीतने पर लंका का निपटारा करके, भगवान् पुष्पक विमान द्वारा अपने राज्य अयोध्या लौट आये। उन्होंने अपने भाई शत्रुघ्न को आदेश दिया कि मथुरा पर शासन चलानेवाले असुर लवणासुर पर आक्रमण करे। उन्होंने उस असुर का वध किया। उन्होंने दस *अश्वमेध यज्ञ* सम्पन्न किये और बाद में वे सरयू नदी में स्नान करते-करते अन्तर्धान हो गये। *रामायण* नामक महाकाव्य इस संसार में भगवान् राम की लीलाओं का इतिहास है और प्रामाणिक *रामायण* का लेखन महाकवि वाल्मीकि द्वारा सम्पन्न हुआ।

एष दाता शरण्यश्च यथा ह्यौशीनरः शिबिः ।
यशो वितनिता स्वानां दौष्यन्तिरिव यज्वनाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

एषः—यह बालक; दाता—दानी; शरण्यः—शरणागतों का रक्षक; च—तथा; यथा—जिस तरह; हि—निश्चय ही; औशीनरः—उशीनर नामक देश का; शिबिः—शिबि; यशः—यश; वितनिता—फैलानेवाला; स्वानाम्—स्वजनों का; दौष्यन्तिः इव—दुष्यन्त के पुत्र भरत की तरह; यज्वनाम्—अनेक यज्ञ सम्पन्न करनेवालों का।

यह बालक सुप्रसिद्ध उशीनर नरेश, शिबि, की भाँति उदार दानवीर तथा शरणागतों का रक्षक होगा। यह अपने कुल के नाम तथा यश को उसी तरह फैला देगा, जिस तरह महाराज दुष्यन्त के पुत्र भरत ने किया था।

तात्पर्य : राजा अपने दान-कर्म, यज्ञों की सम्पन्न करने शरणागतों की रक्षा के कारण विख्यात बनता है। क्षत्रिय राजा शरणागतों को सुरक्षा प्रदान करके गर्वित होता है। राजा की यह मनोवृत्ति ईश्वर भाव अर्थात् अच्छे कार्य के लिए सुरक्षा प्रदान करने की वास्तविक शक्ति कहलाती है। *भगवद्गीता* में भगवान् जीवों को उपदेश देते हैं कि तुम मेरी शरण में आओ तो मैं तुम्हें समस्त सुरक्षा का वचन देता हूँ। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं और अपने वचनों के पक्के हैं, अतएव वे अपने विभिन्न भक्तों को सुरक्षा प्रदान करने से कभी चूकते नहीं। राजा में, भगवान् का प्रतिनिधि होने के कारण, अपने प्राण की बाजी

लगाकर भी, शरणागत की रक्षा करने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। उशीनर-नरेश महाराज शिबि महाराज ययाति के घनिष्ठ मित्र थे, जो महाराज शिबि समेत स्वर्ग पहुँचने में समर्थ हुए थे। महाराज शिबि को ज्ञात था कि मृत्यु के बाद उन्हें स्वर्गलोक में जाना है और इस स्वर्गलोक का विवरण *महाभारत* (आदि पर्व ९६.६-९) में दिया हुआ है। महाराज शिबि इतने प्रणव दानी थे कि वे स्वर्गलोक में प्राप्त अपने स्थान को ययाति को देना चाहते थे, लेकिन ययाति ने उसे स्वीकार नहीं किया। ययाति अष्टक तथा अन्य महर्षियों के साथ स्वर्गलोक गये। ऋषियों के पूछे जाने पर ययाति ने, स्वर्ग जाते समय, उनसे शिबि के पुण्यकर्मों का वर्णन किया। वे यमराज की सभा के सदस्य बने जो उनके पूज्यदेव थे। जैसा कि *भगवद्गीता* से पुष्ट होता है, देवताओं का उपासक देवलोक को जाता है (*यान्ति देवव्रता देवान्*), अतएव महाराज शिबि, उस लोक में परम वैष्णव अधिकारी यमराज के पार्षद बन गये। जब वे पृथ्वी पर विद्यमान थे तो वे शरणागतों के रक्षक तथा दानी के रूप में अत्यन्त विख्यात हो चुके थे। एक बार स्वर्ग के राजा (इन्द्र) ने बाज का रूप धारण किया और अग्नि ने कबूतर का रूप धारण किया। इस कबूतर ने बाज द्वारा पीछा किये जाने पर, महाराज शिबि की गोद में आकर शरण ली, किन्तु बाज चाहता था कि राजा उसे छोड़ दे। राजा उसे खाने के लिए दूसरा मांस देना चाहता था। राजा ने कबूतर को न मारने के लिए अनुनय-विनय की। बाज ने पहले राजा का अनुरोध नहीं माना, लेकिन बाद में यह तय हुआ कि राजा अपने शरीर से कबूतर के भार के बराबर मांस काट कर दे। राजा कबूतर के भार के तुल्य अपने शरीर से मांस काट-काट कर तुला पर रखता जाता, लेकिन रहस्यमय कबूतर सदा भारी ही रहता। तब राजा स्वयं तुला पर चढ़ गया जिससे भार पूरा हो जाये। इस पर देवता उस पर प्रसन्न हो गये। स्वर्ग के राजा तथा अग्निदेव ने अपनी पहचान बताई और राजा को आशीर्वाद दिया। देवर्षि नारद ने भी महाराज शिबि के दान तथा शरणागत की रक्षा के लिए किए गए कार्यों के लिए उनकी महिमा का गान किया। उन्होंने अपने राज्य के मनुष्यों की तुष्टि के लिए अपने पुत्र की बलि दे दी। इस प्रकार बालक परीक्षित दान तथा संरक्षण के मामले में दूसरा शिबि बनेगा।

दौष्यन्ति भरत—इतिहास में अनेक भरत हुए हैं, जिनमें से भगवान् राम के भाई भरत, राजा ऋषभ के पुत्र भरत तथा महाराज दुष्यन्त के पुत्र भरत अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से ये सारे भरत विश्व विख्यात हैं। यह पृथ्वीलोक ऋषभ के पुत्र राजा भरत के कारण भारत या भारतवर्ष के नाम से

विख्यात है, लेकिन कुछ लोगों के मतानुसार, यह देश दुष्यन्त के पुत्र के शासन के कारण भारत के नाम से प्रसिद्ध है। लेकिन हमारे मत से इस देश का भारतवर्ष नाम, राजा ऋषभ के पुत्र भरत के शासन के कारण पड़ा है। उनके पूर्व यह भू-भाग इलावर्त-वर्ष कहलाता था, किन्तु ऋषभ-पुत्र भरत के राज्यारोहण के बाद, यह भारतवर्ष नाम से प्रसिद्ध हुआ।

लेकिन इन सबके बावजूद, महाराज दुष्यन्त का पुत्र भरत कम महत्त्वपूर्ण न था। वह सुप्रसिद्ध सुन्दरी शकुन्तला का पुत्र था। महाराज दुष्यन्त वन में इस सुन्दरी के प्रेमपाश में बँधे, तो भरत का गर्भाधान हुआ। तत्पश्चात् दुर्वासा मुनि के शापवश राजा, अपनी पत्नी शकुन्तला को भूल गया। बालक भरत का पालन-पोषण उस वन में ही उसकी माता द्वारा हुआ। वह अपने बाल्यकाल में ही इतना बलशाली था कि वह जंगल के सिंहों तथा हाथियों को ललकारता और उनके साथ वैसे ही लड़ता, जैसे छोटे-छोटे बालक कुत्ते-बिल्लियों से खेलते हैं। बालक के अत्यन्त शक्तिशाली होने से, यहाँ तक कि आधुनिक तथाकथित टार्जन से भी बढ़कर होने से, वन के ऋषिगण उसे सर्वदमन कहते थे। महाराज भरत का पूरा विवरण *महाभारत* के आदि पर्व में दिया हुआ है। कभी-कभी पाण्डवों या कौरवों को भारत कहकर सम्बोधित किया जाता है, क्योंकि वे राजा दुष्यन्त के पुत्र महाराज भरत के कुल में उत्पन्न हुए थे।

धन्विनामग्रणीरेष तुल्यश्चार्जुनयोर्द्वयोः ।
हुताश इव दुर्धर्षः समुद्र इव दुस्तरः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

धन्विनाम्—महान् धनुर्धरों में; अग्रणीः—सर्वश्रेष्ठ; एषः—यह बालक; तुल्यः—समान रूप से उत्तम; च—तथा; अर्जुनयोः—अर्जुनों का; द्वयोः—दो; हुताशः—अग्नि; इव—सदृश; दुर्धर्षः—दुर्निवार, बेरोक; समुद्रः—समुद्र; इव—सदृश; दुस्तरः—दुर्लंघ्य, पार न करने योग्य।.

महान् धनुर्धरों में यह बालक अर्जुन के समान होगा। यह अग्निदेव के समान दुर्निवार तथा समुद्र की भाँति दुर्लंघ्य होगा।

तात्पर्य : इतिहास में दो अर्जुन हुए हैं—एक कार्तवीर्य अर्जुन, जो हैहय के राजा थे और दूसरे इस बालक के दादा। दोनों ही अर्जुन अपनी धनुर्विद्या के लिए विख्यात हैं। बालक परीक्षित के विषय में

भविष्यवाणी की जा रही है कि वह युद्ध-कला में इन दोनों के समान होगा। पाण्डव अर्जुन का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया है।

पाण्डव अर्जुन—ये *भगवद्गीता* के महान् नायक हैं। ये महाराज पाण्डु के क्षत्रिय पुत्र थे। महारानी कुन्ती देवी किसी भी देवता का आवाहन कर सकती थीं और इस तरह जब उन्होंने इन्द्र का आवाहन किया, तो उससे अर्जुन का जन्म हुआ। अतएव अर्जुन स्वर्ग के राजा इन्द्र के पूर्ण अंश हैं। चूँकि उनका जन्म फाल्गुन मास (फरवरी-मार्च) में हुआ था, अतएव वे फाल्गुनि भी कहलाते हैं। जब वे कुन्ती के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए, तो आकाशवाणी हुई कि यह पुत्र महान् होगा। उनके जन्मोत्सव में ब्रह्माण्ड के सारे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति—यथा देवता, गन्धर्व, आदित्य (सूर्य लोकवासी), रुद्र, वसु, नाग, ऋषि तथा अप्सराएँ सम्मिलित हुए थे। अप्सराओं ने अपने स्वर्गिक नृत्य तथा गायन से सबों को प्रमुदित किया था। कृष्ण के पिता तथा अर्जुन के मामा श्री वसुदेव ने अपने पुरोहित कश्यप को, सारे संस्कारों द्वारा अर्जुन को परिशुद्ध करने के लिए भेजा था। उनका नामकरण संस्कार शतश्रृंग के निवासी ऋषियों की उपस्थिति में सम्पन्न हुआ था। उनकी चार पत्नियाँ थीं—द्रौपदी, सुभद्रा, चित्रांगदा तथा उलूपी, जिनसे चार पुत्र उत्पन्न हुए थे। इनके नाम क्रमश: श्रुतकीर्ति, अभिमन्यु, बभ्रुवाहन तथा इरावान थे।

विद्यार्थी जीवन में इन्हें अन्य पाण्डवों तथा कौरवों के साथ महान् आचार्य द्रोणाचार्य की देखरेख में अध्ययन करने के लिए सौंपा गया था। अपने अध्यवसाय के कारण, ये सबों से आगे रहते थे और द्रोणाचार्य भी इनके प्रति शिष्य-प्रेम के कारण अत्यधिक आकृष्ट थे। द्रोणाचार्य ने इन्हें प्रथम कोटि के छात्र के रूप में ग्रहण किया था और हृदय से प्यार करने के कारण, इन्हें सैन्य-विज्ञान के सारे वर दे दिये थे। वे इतने उत्सुक छात्र थे कि वे रात्रि में भी धनुर्विद्या का अभ्यास करते थे, जिसके कारण द्रोणाचार्य इन्हें विश्व का सर्वोपरि धनुर्धर बनाना चाह रहे थे। वे लक्ष्य-वेध की परीक्षा में प्रतिभाशाली रूप से सफल रहे, फलत: द्रोणाचार्य इनसे अतीव प्रसन्न थे। मणिपुर तथा त्रिपुरा के राजपरिवार, अर्जुन के पुत्र बभ्रुवाहन के वंशज हैं। अर्जुन ने द्रोणाचार्य को एक घड़ियाल के हमले से बचाया था और आचार्य ने प्रसन्न होकर उन्हें *ब्रह्मशिरस* नामक एक अस्त्र प्रदान किया था। महाराज द्रुपद का द्रोणाचार्य से वैर था, अतएव जब उसने आचार्य पर आक्रमण किया, तब अर्जुन उसे बन्दी बनाकर द्रोणाचार्य के समक्ष लाये। उन्होंने महाराज द्रुपद की नगरी अहिछत्रा को घेर लिया और इसे जीतकर द्रोणाचार्य को

दिया। द्रोणाचार्य ने ब्रह्मशिरस अस्त्र को चलाने का रहस्य बतलाया और अर्जुन से प्रतिज्ञा ली कि वह आवश्यकता पड़ने पर इसका प्रयोग तभी करेगा, जब स्वयं द्रोणाचार्य शत्रु-रूप में उपस्थित हों। इस तरह आचार्य ने कुरुक्षेत्र के भावी युद्ध की भविष्यवाणी की थी, जिसमें द्रोणाचार्य विपक्ष के साथ थे। यद्यपि महाराज द्रुपद, अर्जुन द्वारा आचार्य के लिए पराजित हुए थे, किन्तु उन्होंने अर्जुन को अपनी पुत्री द्रौपदी समर्पित करने का निश्चय किया। लेकिन जब उन्होंने यह गलत समाचार सुना कि दुर्योधन द्वारा नियोजित लाक्षागृह में अग्नि लगने से अर्जुन की मृत्यु हो गई, तो वे अत्यधिक निराश हुए। अतएव उन्होंने द्रौपदी का स्वयंवर करने का प्रबन्ध किया, जिसमें भावी पति को छत से लटकती मछली की आँख को वेधना था। यह युक्ति जान-बूझकर इसलिए की गई थी, क्योंकि केवल अर्जुन ही ऐसा कर सकते थे। इस तरह वे अपनी योग्य पुत्री को अर्जुन को सौंपने की अपनी योजना में सफल रहे। उस समय अर्जुन व सभी भाई, दुर्योधन से किये गए समझौते के अनुसार, लाक्षागृह की अग्नि से बचकर अज्ञातवास कर रहे थे, अतएव अर्जुन तथा उसके भाइयों ने ब्राह्मण-वेश में द्रौपदी-स्वयंवर में भाग लिया। जब वहाँ पर एकत्रित समस्त क्षत्रिय राजाओं ने देखा कि द्रौपदी ने एक दरिद्र ब्राह्मण को पति रूप में चुना है, तब श्रीकृष्ण ने बलराम से अर्जुन के परिचय का भेद खुला किया।

हरिद्वार (हरद्वार) में उनकी भेंट नागलोक की कन्या उलूपी से हुई। वे उससे आकृष्ट हुए और इस प्रकार इरवान का जन्म हुआ। इसी प्रकार उनकी भेंट मणिपुर के राजा की पुत्री चित्रांगदा से हुई और इससे बभ्रुवाहन प्राप्त हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी बहन सुभद्रा के अपहरण के लिए अर्जुन की सहायता करने की योजना बनाई, क्योंकि बलदेव उसे दुर्योधन को देने पर तुले थे। युधिष्ठिर भी श्रीकृष्ण से सहमत थे और इस तरह अर्जुन ने बलपूर्वक सुभद्रा का अपहरण करके उसके साथ विवाह कर लिया। सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु था, जिसकी मृत्यु के बाद परीक्षित महाराज ने पुत्र-रूप में जन्म लिया। अर्जुन ने खाण्डव वन का अग्निदाह करके जब अग्निदेव को प्रसन्न कर लिया, तो अग्निदेव ने उन्हें एक अस्त्र प्रदान किया। जब अर्जुन ने खाण्डव वन में अग्नि लगा दी, तो इन्द्र अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने अन्य देवताओं की सहायता से अर्जुन पर चढ़ाई कर दी, किन्तु वे सब अर्जुन द्वारा पराजित हुए और इन्द्रदेव को स्वर्ग लौट जाना पड़ा। अर्जुन ने एक मयासुर की भी रक्षा करने का वचन दिया था

और उसने उन्हें एक मूल्यवान शंख प्रदान किया, जिसका नाम देवदत्त था। इसी प्रकार इन्द्रदेव ने उनकी शूरवीरता से प्रसन्न होकर उन्होंने अनेक अस्त्र प्रदान किये।

जब महाराज युधिष्ठिर मगध के राजा जरासन्ध को न हरा पाने से निराश हो रहे थे, तब अर्जुन ने ही उन्हें इस प्रकार से आश्वासन दिया और तब अर्जुन, भीम तथा भगवान् कृष्ण उसका वध करने के लिए मगध के लिए रवाना हुए। जब वे विश्व भर के राजाओं को पाण्डवों के अधीन बनाने के लिए बाहर गये, जैसाकि प्रत्येक सम्राट के राजतिलक के बाद होता है, तो उन्होंने केलिन्द नामक देश को जीता और राजा भगदत्त को अपने अधीन किया। इसके बाद वे अन्तगिरि, उलुकपुर तथा मोदपुर जैसे देशों में विचरते रहे और समस्त राजाओं को अपने अधीन बनाया।

कभी-कभी उन्होंने कठोर तपस्याएँ कीं और बाद में उन्हें इन्ददेव से वरदान भी मिला। शिवजी भी अर्जुन के बल की परीक्षा करना चाहते थे, अतएव वे एक आदिवासी के रूप में अर्जुन से मिले। उन दोनों में भीषण युद्ध हुआ और अन्त में जब शिवजी उनसे प्रसन्न हुए और उन्होंने अपना परिचय प्रकट किया। अर्जुन ने विनीत भाव से उनकी प्रार्थना की और उन्होंने प्रसन्न होकर अर्जुन को *पाशुपत* अस्त्र प्रदान किया। उन्होंने विभिन्न देवताओं से अन्य अनेक अस्त्र प्राप्त किये—यथा यमराज से *दण्डास्त्र,* वरुण से *पाशास्त्र,* स्वर्ग के भंडारी कुवेर से *अन्तर्धान-अस्त्र*। इन्द्र ने चाहा कि अर्जुन चन्द्रलोक से भी आगे इन्द्रलोक नामक स्वर्ग के ग्रह में जायें। उस ग्रह पर स्थानीय निवासियों द्वारा उनका हार्दिक स्वागत हुआ और इन्द्रदेव की स्वर्गीय संसद में उनका भव्य स्वागत हुआ। तब वे इन्द्रदेव से मिले, जिन्होंने न केवल उन्हें *वज्रास्त्र* प्रदान किया, अपितु उन्हें सैन्य तथा संगीत-विद्या भी सिखलाई, जो उस समय स्वर्गलोक में प्रचलित थीं। एक तरह से, इन्द्र ही अर्जुन के वास्तविक पिता थे, अतएव वे अर्जुन का मनोरंजन स्वर्ग की सुन्दर अप्सरा उर्वशी द्वारा कराना चाहते थे। स्वर्ग की अप्सराएँ अत्यन्त कामुक होती हैं और उर्वशी अर्जुन के संसर्ग के लिए अत्यन्त उत्सुक थी, क्योंकि अर्जुन अत्यन्त बलशाली मनुष्य थे। वह उनसे उनके कक्ष में मिली और उनसे अपनी इच्छा व्यक्त की, किन्तु अर्जुन ने अपनी आँखें बन्द करके, उसे कुरुवंश की माता के रूप में सम्बोधित करके अपने निर्दोष चरित्र का परिचय दिया तथा उर्वशी को कुन्ती, माद्री तथा इन्द्रपत्नी शचीदेवी की कोटि में ला दिया। निराश होकर उर्वशी

ने अर्जुन को शाप दे दिया और वहाँ से चली गई। स्वर्ग में ही उनकी भेंट विख्यात साधु लोमश से हुई, जिनसे उन्होंने महाराज युधिष्ठिर की रक्षा करने की प्रार्थना की।

जब उनका घोर विरोधी चचेरा भाई, दुर्योधन गन्धर्वों के चंगुल में था, तो उसकी रक्षा करने के उद्देश्य से अर्जुन ने गन्धर्वों से अनुनय-विनय की थी कि वे उसे छोड़ दें, लेकिन गन्धर्वों के ऐसा करने से मना करने पर उनसे युद्ध करके दुर्योधन को छुड़ाया था। जब समस्त पाण्डव अज्ञातवास कर रहे थे, तो ये राजा विराट के दरबार में क्लीव (हिजड़ा) के रूप में उपस्थित होकर, अपनी भावी पुत्रवधू उत्तरा के संगीत-शिक्षक बने और विराट के दरबार में बृहन्नला के नाम से विख्यात हुए। बृहन्नला के रूप में वे राजा विराट के पुत्र उत्तर के पक्ष से लड़े थे और अज्ञातवास-काल में कुरुओं को हराया था। उनके गुप्त अस्त्र एक *शमी* वृक्ष में सुरक्षित रखे गये थे और उन्होंने उत्तर को आदेश दिया कि वह उन्हें ले आए। बाद में उत्तर को उनका तथा उनके भाइयों की असली पहचान प्रकट कर दी गई। द्रोणाचार्य को कुरुओं तथा विराटों के युद्ध में अर्जुन के उपस्थित होने की सूचना दी गई थी। बाद में अर्जुन ने कुरुक्षेत्र के युद्धक्षेत्र में कर्ण तथा अन्य बड़े-बड़े सेनापतियों का वध किया। कुरुक्षेत्र-युद्ध के पश्चात्, उन्होंने अश्वत्थामा को दण्ड दिया, जिसने द्रौपदी के पाँचों पुत्रों को मौत के घाट उतार दिया था। तब सभी भाई भीष्मदेव के पास गये थे।

यह अर्जुन के कारण ही सम्भव हुआ कि कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में भगवान् ने *भगवद्गीता* का प्रवचन किया। कुरुक्षेत्र की युद्ध-भूमि में उनके आश्चर्यजनक कार्यों का *महाभारत* में विशद वर्णन हुआ है। किन्तु अर्जुन अपने ही पुत्र बभ्रुवाहन द्वारा मणिपुर में पराजित हुए और मूर्छित हो गये, पर उलूपी ने तब उनकी रक्षा की। भगवान् कृष्ण के अन्तर्धान होने का समाचार अर्जुन द्वारा महाराज युधिष्ठिर को दिया गया। पुन: अर्जुन ने द्वारका की यात्रा की, तो कृष्ण की सारी विधवा पत्नियों ने उनके सामने विलाप किया। वे उन सबों को वसुदेव के पास ले गये और सान्त्वना दी। बाद में, वसुदेव के दिवंगत हो जाने पर, कृष्ण की अनुपस्थिति में उन्होंने ही उनका दाह-संस्कार किया। जब अर्जुन कृष्ण की सभी पत्नियों को इन्द्रप्रस्थ ले जा रहे थे, तो मार्ग में उन पर आक्रमण हो गया और वे उन स्त्रियों की रक्षा नहीं कर पाये। अन्त में व्यासदेव के उपदेश से सारे पाण्डव महाप्रस्थान के लिए चल पड़े। मार्ग में उन्होंने अपने भाई के अनुरोध पर, अपने सारे अस्त्रों को व्यर्थ समझकर उन्हें पानी में फेंक दिया।

मृगेन्द्र इव विक्रान्तो निषेव्यो हिमवानिव ।
तितिक्षुर्वसुधेवासौ सहिष्णुः पितराविव ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

मृगेन्द्रः—सिंह; इव—सदृश; विक्रान्तः—शक्तिशाली; निषेव्यः—शरण ग्रहण करने योग्य; हिमवान्—हिमालय पर्वत; इव—सदृश; तितिक्षुः—क्षमावान; वसुधा इव—पृथ्वी के समान; असौ—यह बालक; सहिष्णुः—सहिष्णु; पितरौ—माता-पिता; इव—सदृश।

यह बालक सिंह के समान बलशाली तथा हिमालय की भाँति आश्रय प्रदान करनेवाला होगा। यह पृथ्वी के समान क्षमावान तथा अपने माता-पिता के समान सहिष्णु होगा।

तात्पर्य : जब कोई अपने शत्रु का पीछा करने में अत्यन्त प्रबल होता है, तो उसकी तुलना सिंह से की जाती है। मनुष्य को घर में मेमना बने रहना चाहिए, किन्तु शत्रु का पीछा करते समय उसे सिंह होना चाहिए। सिंह कभी पशु को पकड़ने में असफल नहीं होता। इसी प्रकार राज्य के प्रमुख को शत्रु का पीछा करने में कभी असफल नहीं होना चाहिए। हिमालय पर्वत अपनी समृद्धि के लिए विख्यात है। वहाँ रहने के लिए अनेक कन्दराएँ हैं, खाने के लिए उत्तम फलदार वृक्ष हैं, पानी पीने के लिए निर्मल झरने हैं और रोगों को ठीक करने की अनेक औषधियाँ तथा खनिज हैं। जो व्यक्ति भौतिक रूप से सम्पन्न न हो, उसे चाहिए कि इन पर्वतों की शरण ले, तो उसे सारी वस्तुएँ उपलब्ध हो जाएँगी। भौतिकतावादी तथा अध्यात्मवादी दोनों ही समान रूप से हिमालय की शरण ग्रहण कर सकते हैं। पृथ्वी के निवासियों द्वारा पृथ्वी पर अनेक उत्पात मचाये जाते हैं। आधुनिक युग में लोग पृथ्वी की सतह पर परमाणु अस्त्रों का विस्फोट करने लगे हैं, फिर भी पृथ्वी इन निवासियों के उत्पातों को सहती रहती है। माता-पिता बच्चों की समस्त प्रकार की शैतानियों को सहते रहते हैं जिस प्रकार एक माता छोटे बच्चे को क्षमा करती है। आदर्श राजा में ये सारे उत्तम गुण होने चाहिए और बालक परीक्षित इन सारे गुणों से परिपूर्ण होने की भविष्यवाणी की जा रही है।

पितामहसमः साम्ये प्रसादे गिरिशोपमः ।
आश्रयः सर्वभूतानां यथा देवो रमाश्रयः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

पितामह—पितामह या ब्रह्मा; समः—तुल्य; साम्ये—समता में; प्रसादे—दान या कृपालुता में; गिरिश—शिवजी; उपमः—उपमा, तुलना; आश्रयः—आश्रय, विश्राम-स्थल; सर्व—सभी; भूतानाम्—जीवों का; यथा—जिस तरह; देवः—परमेश्वर; रमा-आश्रयः—भगवान्।

यह बालक मन की समता में अपने पितामह युधिष्ठिर या फिर ब्रह्मा के समान होगा। दानशीलता में यह कैलाशपति शिव के समान होगा। यह देवी लक्ष्मी के भी आश्रय, भगवान् नारायण के समान सबों को आश्रय देनेवाला होगा।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर तथा जीवों के पितामह, ब्रह्मा, दोनों ही मन की समता (समदर्शिता) के द्योतक हैं। श्रीधरस्वामी के अनुसार, *पितामह* शब्द ब्रह्मा के लिए आया है, किन्तु विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार, पितामह स्वयं महाराज युधिष्ठिर हैं। किन्तु दोनों ही तरह से यह उपमा समान रूप से उत्तम है, क्योंकि दोनों ही परमेश्वर के जाने-माने प्रतिनिधि हैं, अतएव दोनों को ही, जीव के कल्याणकार्य में लगे रहने से, मानसिक समता बनाये रखनी होती है। शासन के किसी भी सर्वोच्च जिम्मेदार कार्यकारी व्यक्ति को उन्हीं सबों के घात सहने पड़ते हैं, जिनके लिए वह कार्य करता है। ब्रह्माजी की आलोचना गोपियों तक ने की, जो भगवान् के महान्तम पूर्ण भक्त हैं। गोपियाँ ब्रह्माजी के कार्य से असन्तुष्ट थीं, क्योंकि इस ब्रह्माण्ड-विशेष के स्रष्टा-रूप में, उन्होंने पलकें बनाईं, जिनके कारण भगवान् कृष्ण का दर्शन करने में उन्हें बाधा पहुँचती थी। वे क्षण भर भी पलक झपकाना पसन्द नहीं करती थीं, क्योंकि इससे उनके परम प्रिय भगवान् का दर्शन रुक जाता था। अतएव अन्यों के विषय में क्या कहा जाये, जो किसी भी उत्तरदायी व्यक्ति के हर कार्य की आलोचना करते रहते हैं? इसी प्रकार महाराज युधिष्ठिर को, अपने शत्रुओं द्वारा उत्पन्न की गई अनेक विषम परिस्थितियों का सामना करते रहना होता था, किन्तु सभी नाजुक परिस्थितियों में भी वे मानसिक सन्तुलन पूर्णरूपेण बनाये रहे। अतः मानसिक समता बनाये रखने में दोनों पितामहों का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है।

शिवजी भिखारियों को दान देने के लिए विख्यात देवता हैं। अतएव उनका नाम आशुतोष है, जिसका अर्थ है शीघ्रतापूर्वक प्रसन्न होनेवाले। वे भूतनाथ भी कहलाते हैं, जिसका अर्थ है सामान्य (गँवई) लोगों के स्वामी, जो उनके प्रति इसलिए आकर्षित होते हैं, क्योंकि वे भावी परिणामों का विचार किये बिना उदार वर देते रहते हैं। रावण शिवजी के प्रति अत्यधिक आसक्त था और वह उन्हें सरलता से प्रसन्न करके इतना शक्तिशाली बन गया कि उसने भगवान् राम की सत्ता को चुनौति देना

चाहा। निस्सन्देह, जब रावण शिवजी के आराध्य भगवान् राम से लड़ा, तो शिवजी ने उसकी कोई सहायता नहीं की। शिवजी ने वृकासुर को ऐसा वरदान दिया था, जो न केवल उपहासास्पद था, अपितु भयावह भी था। शिवजी की कृपा से वृकासुर इतना शक्तिशाली बन गया कि वह किसीके भी मस्तक पर हाथ रख कर उसे तुरन्त नष्ट कर सकता था। यद्यपि शिवजी ने ही यह वरदान दिया था, किन्तु उस चालाक असुर ने शिवजी के मस्तक का स्पर्श करके इसकी शक्ति का परीक्षण करना चाहा। इस तरह शिवजी को इस मुसीबत से अपनी रक्षा करने के लिए विष्णु की शरण लेनी पड़ी। भगवान् विष्णु ने अपनी माया से वृकासुर को अपने ही मस्तक का स्पर्श करके परीक्षण करने के लिए कहा। उसने वैसा ही किया, जिससे वह नष्ट हो गया और इस तरह यह संसार देवताओं के चालाक याचक की सारी मुसीबतों से मुक्त हो सका। सबसे मजेदार बात यह है कि शिवजी कभी किसी को किसी प्रकार का वरदान देने से मना नहीं करते। अतएव वे सर्वाधिक उदार हैं, यद्यपि कभी-कभी उनसे ऐसी कुछ भूल हो जाती है।

रमा का अर्थ है भाग्य की देवी। उनके आश्रय भगवान् विष्णु हैं। भगवान् विष्णु समस्त जीवों के पालक हैं। जीव असंख्य होते हैं, जो न केवल इस ग्रह में रहते हैं, अपितु अन्य लाखों ग्रहों में भी रहते हैं। आत्म-साक्षात्कार के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए उन सबको जीवन की समस्त सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं, लेकिन इन्द्रियतृप्ति के मार्ग में वे माया के कारण कठिनाई में फँस जाते हैं, अतएव वे आर्थिक विकास की मिथ्या योजना के मार्ग पर जाते हैं। ऐसा आर्थिक विकास कभी सफल नहीं होता, क्योंकि यह भ्रामक है। ये लोग सदैव भ्रामक लक्ष्मीदेवी के पीछे-पीछे लगे रहते हैं, लेकिन ये लोग यह नहीं जानते कि लक्ष्मीजी केवल विष्णु के संरक्षण में ही रह सकती हैं। विष्णु के बिना, लक्ष्मीजी कोरी माया हैं। अतएव हमें प्रत्यक्ष रूप से लक्ष्मीजी का आश्रय न ढूँढ़ कर विष्णु का आश्रय लेना चाहिए। केवल विष्णु तथा उनके भक्त ही सबों को आश्रय प्रदान कर सकते हैं और चूँकि महाराज परीक्षित की रक्षा स्वयं विष्णु कर रहे थे, अतएव यह सर्वथा सम्भव था कि वे अपने शासन में रहनेवाले सबों को पूरा-पूरा संरक्षण प्रदान कर सकें।

सर्वसद्गुणमाहात्म्ये एष कृष्णमनुव्रतः ।

रन्तिदेव इवोदारो ययातिरिव धार्मिकः ॥ २४॥

शब्दार्थ

सर्व-सत्-गुण-माहात्म्ये—समस्त दैवी गुणों से महिमान्वित; एषः—यह बालक; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण की तरह; अनुव्रतः—उनके पदचिह्नों पर चलनेवाला; रन्तिदेवः—रन्तिदेव; इव—सदृश; उदारः—उदार; ययातिः—ययाति; इव—सदृश; धार्मिकः—धर्म के मामले में।

यह बालक भगवान् श्रीकृष्ण के चरणचिन्हों का पालन करते हुए, उन्हीं के समान होगा। उदारता में यह राजा रन्तिदेव के समान तथा धर्म में यह महाराज ययाति की भाँति होगा।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण का अन्तिम उपदेश यह है कि मनुष्य सब कुछ त्याग कर भगवान् के ही चरणचिह्नों का अनुसरण करे। अल्पज्ञानी लोग इस महान् उपदेश को स्वीकार नहीं करते, जो उनका दुर्भाग्य ही है, किन्तु जो मनुष्य सचमुच बुद्धिमान है, वह इस अलौकिक उपदेश को ग्रहण करके तुरन्त लाभान्वित होता है। मूर्ख लोग यह नहीं जानते कि संगति से ही गुण ग्रहण किये जाते हैं। यहाँ तक कि भौतिक अर्थ में भी, अग्नि की संगति से कोई भी वस्तु गरम हो जाती है। अतएव परम पुरुषोत्तम भगवान् की संगति से मनुष्य भगवान् के ही समान योग्य बन जाता है। जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, भगवान् की घनिष्ठ संगति से हम ७८ प्रतिशत भगवदीय गुण प्राप्त कर सकते हैं। भगवान् के आदेशों का पालन करना ही भगवान् की संगति करना है। *भगवान् कोई भौतिक वस्तु नहीं हैं, जिसकी उपस्थिति का अनुभव ऐसा संग करने के लिए आवश्यक होता है।* भगवान् सर्वत्र और सभी काल में उपस्थित रहते हैं। यह पूरा सम्भव है कि केवल उनके आदेश पालन करने से ही उनकी संगति प्राप्त हो जाए, क्योंकि भगवान् एवं उनका आदेश तथा भगवान् एवं उनका नाम, यश, गुण तथा साज-सामान, परम ज्ञान होने के कारण उनसे अभिन्न हैं। महाराज परीक्षित अपनी माता के गर्भ से लेकर अपने अमूल्य जीवन के अन्तिम क्षणों तक भगवान् की संगति में रहे, अतएव उन्होंने भगवान् के सारे अनिवार्य उत्तम गुण, पूर्णतया अर्जित कर लिये थे।

रन्तिदेव—ये *महाभारत* काल से भी पहले के प्राचीन राजा हैं, जिनका उल्लेख नारदमुनि ने संजय को उपदेश देते हुए किया था, जैसा कि *महाभारत* (द्रोण पर्व ६७) से ज्ञात होता है। ये महान् राजा थे और आतिथ्य के लिए तथा भोजन वितरण करने के लिए विख्यात थे। यहाँ तक कि भगवान् श्रीकृष्ण ने भी इनके दान तथा आतिथ्य की प्रशंसा की थी। वशिष्ठ मुनि को शीतल जल प्रदान करने के कारण उन्हें उनसे वर प्राप्त हुआ, जिस से वे स्वर्गलोक गये। वे ऋषियों को फल, कन्द तथा पत्तियाँ पहुँचाया करते

थे, जिससे इच्छापूर्ति होने के कारण वे आशिष दिया करते थे। *यद्यपि वे जन्म से क्षत्रिय थे, किन्तु उन्होंने अपने जीवन में कभी भी मांस भक्षण नहीं किया।* उन्होंने वशिष्ठ मुनि का विशेष आतिथ्य किया और उनके आशीर्वाद से ही उन्हें स्वर्गलाभ हुआ। वे उन राजाओं में से हैं, जिनका स्मरण हर प्रातः तथा संध्या समय किया जाता है।

ययाति—ये विश्व के महान् सम्राट और आर्य तथा भारोपीय कुल से सम्बन्धित समस्त महान् राष्ट्रों के आदि पूर्वज थे। ये महाराज नहुष के पुत्र थे और अपने बड़े भाई के मुक्त योगी हो जाने पर विश्व के सम्राट बने थे। उन्होंने कई हजार वर्षों तक राज्य किया और अनेक यज्ञ तथा पुण्यकार्य किये जिनका इतिहास साक्षी है, यद्यपि उनका प्रारम्भिक यौवन अत्यन्त वासनामय तथा प्रेमपूर्ण कहानियों से भरा पड़ा था। वे देवयानी के प्रेमपाश में फँस गये, जो शुक्राचार्य की सर्वाधिक प्रिय पुत्री थी। देवयानी उनसे विवाह करना चाहती थी, किन्तु ब्राह्मण की पुत्री होने के कारण, ययाति ने पहले उसे स्वीकार करने से इनकार कर दिया था। शास्त्रों के अनुसार केवल एक ब्राह्मण ही ब्राह्मण की कन्या के साथ विवाह कर सकता था। वे विश्व में *वर्ण-संकर* जनसंख्या के प्रति विशेष सतर्क रहते थे। लेकिन शुक्राचार्य ने वर्जित विवाह के इस नियम को संशोधित करके राजा ययाति से देवयानी को स्वीकार करने के लिए आग्रह किया। देवयानी की एक सखी शर्मिष्ठा थी, वह भी राजा से प्रेम करने लगी थी। अतएव वह अपनी सखी देवयानी के साथ ससुराल गई। शुक्राचार्य ने सम्राट ययाति को मना किया कि वह शर्मिष्ठा को अपने शयन-कक्ष में न बुलाए, लेकिन ययाति उनके आदेशों का दृढ़ता से पालन न कर सके। उन्होंने चुपके से शर्मिष्ठा से भी विवाह कर लिया, जिससे उनके कई पुत्र हुए। जब इसका पता देवयानी को चला, तो वह अपने पिता के पास गई और शिकायत की। ययाति देवयानी के प्रति अत्यन्त आसक्त थे। अतएव जब वे उसे बुलाने अपने श्वसुर के घर गये, तो शुक्राचार्य ने क्रुद्ध होकर उन्हें शाप दे दिया कि वह नपुंसक हो जाये। ययाति ने अपने श्वसुर से विनती की कि वे शाप को वापस ले लें। लेकिन मुनि ने ययाति को यौवन लौटाने की शर्त के तौर पर उनसे कहा कि वे अपने पुत्रों का यौवन लेकर, उन्हें वृद्ध एवं नपुंसक हो जाने दें। उनके पाँच पुत्र थे, जिनमें से दो देवयानी से प्राप्त हुए थे और तीन शर्मिष्ठा से। उनके पाँच पुत्रों (१) यदु, (२) तुर्वसु, (३) द्रुह्यु, (४) अनु तथा (५) पुरु से, क्रमशः पाँच विख्यात वंशों का उद्भव हुआ—(१) यदुवंश, (२) यवन (तुर्क) वंश (३) भोजवंश, (४) म्लेच्छ

वंश (ग्रीक) तथा (५) पौरव। ये सारे वंश विश्व भर में फैल गये। वे अपने पुण्यकर्मों से स्वर्गलोक पहुँच गये, लेकिन आत्म-प्रशंसा तथा अन्य महात्माओं की आलोचना करने के कारण उन्हें वहाँ से नीचे गिरना पड़ा। उनके पतन के बाद, उनकी कन्या तथा पौत्र ने उन्हें अपने सारे संचित पुण्य प्रदान किये और वे अपने पौत्र तथा अपने मित्र शिबि की सहायता से पुनः स्वर्गलोक में पहुँच सके, जहाँ वे यमराज की सभा के सदस्य बने और भक्त के रूप में वहीं रहते रहे। उन्होंने एक हजार से अधिक यज्ञ किये और मुक्तहस्त दान दिया। वे अत्यन्त प्रभावशाली राजा थे। सारे विश्व में उनका दबदबा था। जब वे कामवासना से एक हजार वर्षों तक अत्यधिक पीड़ित रहे, तो उनके सबसे छोटे पुत्र ने उन्हें अपना यौवन अर्पित किया। अन्ततः, वे सांसारिक जीवन से विरक्त हो गये और उन्होंने अपने पुत्र पुरु को उसका यौवन लौटा दिया। उन्होंने पुरु को राज्य भी सौंपना चाहा, लेकिन उनके दरबारी तथा प्रजागण इसके लिए राजी न हुए। किन्तु जब उन्होंने उनसे राजा पुरु की महानता का बखान किया, तो वे उसे राजा स्वीकार करने के लिए राजी हो गये और इस तरह सम्राट ययाति गृहस्थ जीवन से विरक्त होकर गृहत्याग कर, वन चले गये।

धृत्या बलिसमः कृष्णे प्रह्लाद इव सद्ग्रहः ।
आहर्तैषोऽश्वमेधानां वृद्धानां पर्युपासकः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

धृत्या—धैर्य से; बलि-समः—बलि महाराज के समान; कृष्णे—भगवान् कृष्ण के प्रति; प्रह्लाद—प्रह्लाद महाराज; इव—सदृश; सत्-ग्रहः—भक्त; आहर्ता—सम्पन्न करनेवाला; एषः—यह बालक; अश्वमेधानाम्—अश्वमेध यज्ञों का; वृद्धानाम्—वृद्ध तथा अनुभवी व्यक्तियों का; पर्युपासकः—अनुयायी।

यह बालक धैर्य में बलि महाराज के समान होगा और प्रह्लाद महाराज के समान कृष्ण का अनन्य भक्त, यह अनेक अश्वमेध यज्ञों को सम्पन्न करनेवाला तथा वृद्ध एवं अनुभवी व्यक्तियों का अनुयायी होगा।

तात्पर्य : *बलि महाराज*—ये भगवान् की भक्ति के बारह अधिकारियों (महाजनों) में से एक हैं। ये भक्ति के अधिकारी (महान्) इसलिए बने, क्योंकि भगवान् को प्रसन्न करने के लिए इन्होंने सर्वस्व न्यौछावर कर दिया था और अपने तथाकथित गुरु से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था, क्योंकि गुरु ने भगवान् की सेवा में सर्वस्व न्यौछावर करने में बाधा उत्पन्न की थी। धार्मिक जीवन की सर्वोच्च सिद्धि,

बिना किसी कारण के या किसी प्रकार के सांसारिक व्यवधान के, भगवद्भक्ति की अहैतुकी अवस्था प्राप्त करना है। बलि महाराज भगवान् को प्रसन्न करने के लिए सर्वस्व त्याग देने के लिए कृतसंकल्प थे और उन्होंने किसी प्रकार की अड़चन की परवाह नहीं की। ये भक्ति के अन्य प्रामाणिक अधिकारी (महाजन) प्रह्लाद महाराज के पौत्र थे। बलि महाराज तथा विष्णु वामनदेव के साथ उनके व्यवहार की कथा *श्रीमद्भागवत* के आठवें स्कंध (अध्याय ११-२४) में वर्णित है।

प्रह्लाद महाराज—वे भगवान् कृष्ण (विष्णु) के परम भक्त थे। अभी वे केवल पाँच वर्ष के ही थे कि उनके पिता हिरण्यकशिपु ने भगवान् का अनन्य भक्त होने के लिए उन्हें कठोर दण्ड दिया। वे हिरण्यकशिपु के प्रथम पुत्र थे और उनकी माता का नाम कयाधु था। प्रह्लाद महाराज महाभागवत थे, क्योंकि उनके पिता का वध भगवान् नृसिंहदेव ने किया था। इससे यह दृष्टान्त प्रस्तुत हुआ था कि यदि भक्ति मार्ग में पिता बाधक बने, तो उसे भी भक्ति के पथ से दूर कर देना चाहिए। उनके चार पुत्र थे। सबसे बड़े पुत्र, विरोचन के पुत्र-रूप में, बलि महाराज हुए जिनका वर्णन ऊपर किया गया है। प्रह्लाद महाराज के कार्यकलापों का वर्णन *श्रीमद्भागवत* के सातवें स्कंध में मिलता है।

राजर्षीणां जनयिता शास्ता चोत्पथगामिनाम् ।
निग्रहीता कलेरेष भुवो धर्मस्य कारणात् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

राज-ऋषीणाम्—ऋषि तुल्य राजाओं का; जनयिता—उत्पन्न करनेवाला; शास्ता—दण्ड देनेवाला; च—तथा; उत्पथ-गामिनाम्—मर्यादा उल्लंघन करनेवालों का; निग्रहीता—दमनकर्ता; कलेः—उपद्रव करनेवालों का; एषः—यह; भुवः—संसार को; धर्मस्य—धर्म के; कारणात्—कारण से।.

यह बालक ऋषि तुल्य राजाओं का पिता होगा। विश्व-शान्ति तथा धर्म के निमित्त यह मर्यादा तोड़नेवालों तथा उपद्रवकारियों को दण्ड देनेवाला होगा।

तात्पर्य : संसार में सबसे विचक्षण व्यक्ति भगवान् का भक्त होता है। ऋषिगण प्रज्ञावान व्यक्ति कहलाते हैं और ज्ञान की विविध शाखाओं के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के प्रज्ञावान् व्यक्ति होते हैं। अतएव जब तक राजा, या किसी राज्य का अध्यक्ष, सबसे बुद्धिमान व्यक्ति नहीं होता, तब तक वह राज्य के सभी प्रकार के बुद्धिमान व्यक्तियों को वश में नहीं रख सकता। महाराज युधिष्ठिर के कुल की राजसी परम्परा से सारे राजा बिना किसी अपवाद के अपने काल के सर्वाधिक विचक्षण व्यक्ति थे और

ऐसी ही भविष्यवाणी महाराज परीक्षित तथा उनके होनेवाले पुत्र महाराज जनमेजय के विषय में की जा रही थी। ऐसे प्रज्ञावान राजा ही मर्यादा तोड़नेवालों को दण्ड देनेवाले तथा कलि अर्थात् या झगड़ालू तत्त्वों के विच्छेदक बन सकते हैं। जैसाकि अगले अध्यायों से स्पष्ट हो जायेगा, महाराज परीक्षित मूर्तिमंत कलि का वध करना चाहते थे, क्योंकि वह शान्ति तथा धर्म की प्रतीक गाय को मारने का प्रयत्न कर रहा था। कलि के लक्षण हैं—(१) सुरा, (२) स्त्रियाँ, (३) द्यूत क्रीड़ा तथा (४) कसाई घर। समस्त राज्यों के बुद्धिमान शासकों को चाहिए कि वे महाराज परीक्षित से शिक्षा ग्रहण करें कि किस तरह उन मर्यादा भंग करनेवालों का तथा उपद्रव करनेवालों का दमन करके शान्ति तथा नैतिकता स्थिर रखी जाती है, जो सुरा, सुन्दरी, द्यूत क्रीड़ा तथा नियमित रूप से चलाये जा रहे कसाईघरों से मिलनेवाले मांस का सेवन करते हैं। इस कलियुग में कलह उत्पन्न करने वाले इन विभिन्न विभागों को चालू रखने के लिए लाइसेंस दिये जाते हैं। तो ऐसे राज्य में शान्ति तथा नैतिकता की आशा किस तरह की जा सकती है? अतएव राज्य के जनकों को भगवान् की भक्ति द्वारा, अनुशासन को भंग करनेवालों को दण्ड देकर तथा कलह के लक्षणों का उन्मूलन करके चतुर बनने के सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए। यदि हम प्रज्ज्वलित अग्नि चाहते हैं, तो सूखे ईंधन का प्रयोग करना पड़ेगा, क्योंकि प्रज्ज्वलित अग्नि तथा गीले ईंधन का मेल नहीं होता। शान्ति तथा नैतिकता वहीं फल-फूल सकती हैं, जहाँ महाराज परीक्षित तथा उनके अनुयायियों के सिद्धान्तों का पालन होता हो।

तक्षकादात्मनो मृत्युं द्विजपुत्रोपसर्जितात् ।
प्रपत्स्यत उपश्रुत्य मुक्तसङ्गः पदं हरेः ॥ २७॥

शब्दार्थ

तक्षकात्—तक्षक नागराज द्वारा; आत्मनः—अपनी; मृत्युम्—मृत्यु को; द्विज-पुत्र—ब्राह्मण पुत्र द्वारा; उपसर्जितात्—भेजा गया; प्रपत्स्यते—शरण ग्रहण करने पर; उपश्रुत्य—सुनकर; मुक्त-सङ्गः—समस्त आसक्ति से मुक्त; पदम्—पद; हरेः—भगवान् का।

वह ब्राह्मण पुत्र के द्वारा भेजे गये तक्षक नाग के डसने से अपनी मृत्यु होने की बात सुनकर समस्त भौतिक आसक्ति से अपने आपको मुक्त करके, भगवान् को आत्म-समर्पण करके उन्हीं की शरण ग्रहण करेगा।

तात्पर्य : भौतिक आसक्ति तथा भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने में कोई मेल नहीं है। भौतिक आसक्ति का अर्थ है भगवान् की शरण में दिव्य सुख के प्रति अज्ञान। इस संसार में रहते हुए, भगवान् की भक्तिमय सेवा भगवान् के साथ दिव्य सम्बन्ध बनाये रखने के लिए अभ्यास करने का साधन है और जब यह परिपक्व हो जाती है, तो मनुष्य समस्त भौतिक आसक्ति से मुक्त हो जाता है और भगवाद्धाम वापस जाने के लिए सक्षम बन जाता है। महाराज परीक्षित, अपनी माता के गर्भ में शरीर धारण करते हुए ही भगवान् के प्रति विशेष रूप से अनुरक्त हो चुके थे और निरन्तर भगवान् की शरण में रह रहे थे। ब्राह्मण पुत्र द्वारा दिये गये शाप के सात दिन के भीतर ही अपनी मृत्यु की तथाकथित चेतावनी उनके लिए वरदान थी, क्योंकि इससे वे भगवद्धाम वापस जाने की तैयारी कर सकते थे। चूँकि वे भगवान् द्वारा सदा ही रक्षित थे, अतएव यदि वे चाहते तो भगवत्कृपा से इस शाप के प्रभाव से बच सकते थे। लेकिन उन्होंने बिना किसी कारण के भगवत्कृपा का अनुपयुक्त लाभ उठाना पसन्द नहीं किया। प्रत्युत उन्होंने इस नुकसान के सौदे का सर्वोत्तम लाभ उठाया। उन्होंने लगातार सात दिनों तक उपयुक्त पात्र से *श्रीमद्भागवत* सुना और इस तरह वे भगवान् के चरणकमलों का आश्रय प्राप्त कर सके।

जिज्ञासितात्मयाथार्थ्यो मुनेर्व्याससुतादसौ ।
हित्वेदं नृप गङ्गायां यास्यत्यद्धाकुतोभयम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

जिज्ञासित—जिज्ञासा करते हुए; आत्म-याथार्थ्यः—आत्मा का सही ज्ञान; मुनेः—विद्वान, दार्शनिक; व्यास-सुतात्—व्यास के पुत्र से; असौ—वह; हित्वा—त्यागकर; इदम्—इस भौतिक आसक्ति को; नृप—हे राजा; गङ्गायाम्—गंगा के तट पर; यास्यति—जाएगा; अद्धा—सीधे; अकुतः-भयम्—निर्भय जीवन।

व्यासेदव के महान् दार्शनिक पुत्र से समुचित आत्म-ज्ञान के विषय में जिज्ञासा करने पर वह सारी भौतिक आसक्ति का परित्याग करेगा और निर्भय जीवन प्राप्त करेगा।

तात्पर्य : भौतिक ज्ञान का अर्थ है, आत्म-ज्ञान से अनभिज्ञता। दर्शन का अर्थ है सही आत्म-ज्ञान की खोज करना, अर्थात् आत्म-साक्षात्कार का ज्ञान। आत्म-साक्षात्कार के बिना का दर्शन मात्र शुष्क चिन्तन या समय तथा शक्ति का अपव्यय मात्र है। *श्रीमद्भागवत* वास्तविक आत्मज्ञान देता है और *श्रीमद्भागवत* सुनकर मनुष्य भौतिक आसक्ति से मुक्त होकर निर्भयता के साम्राज्य (अभयपद) में

प्रवेश कर सकता है। यह भौतिक जगत भय-प्रद है। इसके बन्दी सदैव इस तरह भयभीत रहते हैं मानो बन्दीगृह के भीतर हों। बन्दीगृह का कोई भी व्यक्ति बन्दीगृह के विधि-विधानों का उल्लंघन नहीं कर सकता और यदि करता है, तो उसका अर्थ है बन्दी-जीवन की एक और कालावधि का विस्तार। इसी प्रकार हम इस भौतिक जगत में हम सदा भयभीत बने रहते हैं। यह भयातुरता चिन्ता कहलाती है। भौतिक जीवन में समस्त योनियों में हर कोई या तो प्रकृति के नियमों को तोड़ने से या तोड़े बिना भी, चिन्ताग्रस्त रहता है। *मुक्ति* का अर्थ है इन अनवरत स्थायी चिन्ताओं से मुक्ति प्राप्त करना। यह तभी सम्भव है, जब चिन्ता को भगवद्-भक्ति में परिणत कर दिया जाय। *श्रीमद्भागवत* हमें अवसर प्रदान करता है कि हम चिन्ता के गुण को पदार्थ से अध्यात्म में बदल दें। ऐसा विद्वान दार्शनिकों की संगति से, जैसे कि श्रीव्यासदेव के महान् पुत्र, स्वरूपसिद्ध शुकदेव गोस्वामी की संगति से सम्भव है। महाराज परीक्षित ने अपनी मृत्यु की चेतावनी मिलने के बाद इस अवसर का लाभ शुकदेव गोस्वामी की संगति करके उठाया और वांछित फल प्राप्त किया।

व्यावसायिक व्यक्तियों द्वारा *श्रीमद्भागवत* के इस तरह से वाचन तथा श्रवण का अनुकरण किया जाता है और मूर्ख श्रोता सोचते हैं कि वे भौतिक आसक्ति के चंगुल से छुटकारा प्राप्त करके अभय-पद का जीवन प्राप्त कर सकेंगे। *श्रीमद्भागवत* का ऐसा अनुकरणात्मक श्रवण उपहासास्पद होता है और मनुष्य को ऐसे मसखरे लालची लोगों द्वारा भौतिक भोग को बनाये रखने के लिए सम्पन्न किये जानेवाले *भागवतम्* सप्ताह के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए।

इति राज्ञ उपादिश्य विप्रा जातककोविदाः ।
लब्धापचितयः सर्वे प्रतिजग्मुः स्वकान् गृहान् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; राज्ञे—राजा को; उपादिश्य—उपदेश देकर; विप्राः—वेदों में पारगंत व्यक्ति; जातक-कोविदाः—फलित ज्योतिष में तथा जन्मोत्सव सम्पन्न कराने में पटु व्यक्ति; लब्ध-अपचितयः—जिन्हें पारिश्रमिक के रूप में प्रचुर राशि प्राप्त हो चुकी थी; सर्वे—वे सब; प्रतिजग्मुः—वापस चले गये; स्वकान्—अपने-अपने; गृहान्—घरों को।

इस प्रकार जो लोग ज्योतिष ज्ञान में तथा जन्मोत्सव सम्पन्न कराने में पटु थे, उन्होंने इस बालक के भविष्य के विषय में राजा युधिष्ठिर को उपदेश दिया। फिर प्रचुर दक्षिणा प्राप्त करके, वे अपने घरों को लौट गये।

तात्पर्य : वेद भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार से ज्ञान के आगार हैं। किन्तु ऐसे ज्ञान का उद्देश्य आत्म-साक्षात्कार की पूर्णता है। दूसरे शब्दों में, सभ्य मनुष्यों के लिए वेद सभी प्रकार से मार्गदर्शक हैं। चूँकि मानव जीवन समस्त प्रकार के कष्टों से छुटकारा पाने का सुअवसर है, अतएव वेदों के ज्ञान द्वारा इसका समुचित ढंग से पथ-प्रदर्शन होता है—चाहे वह भौतिक आवश्यकताएँ हों या आध्यात्मिक मोक्ष। मनुष्यों का ऐसा विशेष वर्ग, जो वेदों के ज्ञान में समर्पित होकर लगा रहता था, विप्र अर्थात् वैदिक ज्ञान का स्नातक कहलाता था। वेदों में ज्ञान की विभिन्न शाखाएँ हैं, जिनमें से ज्योतिष तथा आयुर्वेद दो महत्त्वपूर्ण शाखाएँ हैं, जो सामान्य जन के लिए आवश्यक हैं। अतएव, बुद्धिमान लोग, जिन्हें सामान्यतया ब्राह्मण कहा जाता है, वैदिक ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में पारंगत होकर समाज का मार्गदर्शन करते थे। यहाँ तक कि ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति धनुर्वेद में भी पारंगत होते थे। और विप्रगण ज्ञान के इस अनुभाग के भी शिक्षक होते थे, यथा द्रोणाचार्य, कृपाचार्य इत्यादि हुए हैं।

यहाँ पर वर्णित *विप्र* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *विप्रों* तथा *ब्राह्मणों* में थोड़ा अन्तर होता है। विप्रगण वे हैं जो कर्मकाण्ड में दक्ष होते हैं, जो समाज का मार्गदर्शन करके जीवन की भौतिक आवश्कताओं की पूर्ति करते थे, जबकि ब्राह्मण लोग दिव्यता के आध्यात्मिक ज्ञान में पटु होते हैं। ज्ञान का यह विभाग ज्ञान-काण्ड कहलाता है और इससे भी ऊपर उपासना-काण्ड होता है। उपासना-काण्ड का चरम परिणति भगवान् विष्णु की भक्तिमय सेवा में होती है और जब ब्राह्मण सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, तो वे वैष्णव कहलाते हैं। पूजा की विधियों में विष्णु-पूजा सर्वोच्च विधि है। समुन्नत ब्राह्मण वैष्णव होते हैं, जो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में संलग्न रहते हैं। इस प्रकार *श्रीमद्भागवत,* जो भक्ति का विज्ञान है, वैष्णवों को अत्यन्त प्रिय है। जैसा कि *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में बताया जा चुका है, यह वैदिक ज्ञान का परिपक्व फल है और उपरोक्त तीनों काण्डों अर्थात् कर्म, ज्ञान तथा उपासना काण्डों से कहीं अधिक श्रेष्ठ विषय है।

कर्मकाण्ड के पण्डितों में से जातक कर्म में पटु विप्र अच्छे ज्योतिषी होते थे, जो नवजात शिशु के भविष्य को केवल समय (लग्न) की गणना से बता देते थे। महाराज परीक्षित के जन्मकाल के समय ऐसे पटु जातक विप्र विद्यमान थे और उनके पितामह, महाराज युधिष्ठिर ने इन विप्रों को पर्याप्त सोना, भूमि, गाँव, अन्न तथा गाय समेत अन्य आवश्यक वस्तुएँ भेंट कीं। सामाजिक संरचना में ऐसे विप्रों की

आवश्यकता है और राज्य का यह कर्तव्य है कि ऐसे लोगों का अच्छी तरह पालन करे, जैसाकि वैदिक पद्धति में विधान है। ऐसे पटु विप्र, राज्य द्वारा पर्याप्त धन दिए जाने पर, सामान्य लोगों की निःशुल्क सेवा कर सकते हैं और इस तरह वैदिक ज्ञान का यह विभाग सबों के लिए सुलभ हो सकता है।

स एष लोके विख्यात: परीक्षिदिति यत्प्रभु: ।
पूर्वं दृष्टमनुध्यायन् परीक्षेत नरेष्विह ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—इस; लोके—संसार में; विख्यातः—प्रसिद्ध; परीक्षित्—परीक्षा लेने वाला; इति—इस प्रकार; यत्—जो; प्रभुः—हे राजा; पूर्वम्—पहले; दृष्टम्—देखा जा चुका; अनुध्यायन्—निरन्तर विचारा जाकर; परीक्षेत—परीक्षा लेगा; नरेषु—प्रत्येक व्यक्ति की; इह—यहाँ।

इस तरह यह पुत्र संसार में परीक्षित (परीक्षक) नाम से विख्यात होगा, क्योंकि यह उन व्यक्ति की खोज करने के लिए सारे मनुष्यों का परीक्षण करेगा, जिन्हें इसने अपने जन्म के पूर्व देखा है। इस तरह यह निरन्तर उनका (भगवान् का) चिन्तन करता रहेगा।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित भाग्यशाली थे, क्योंकि माता के गर्भ में रहते हुए ही उन पर भगवान् की छाप पड़ चुकी थी, अतएव वे निरन्तर भगवान् का चिन्तन किया करते थे। एक बार यदि भगवान् के दिव्य रूप की छाप किसी के मन में स्थित हो जाय, तो वह भगवान् को भुलाये नहीं भूल सकता। बालक परीक्षित गर्भ से बाहर आने के बाद, प्रत्येक व्यक्ति की परीक्षा यह देखने के लिए करता रहता था कि कहीं यह वही व्यक्ति तो नहीं हैं, जिसे उसने गर्भ में सर्वप्रथम देखा था। लेकिन भगवान् के समान या उनसे बढ़कर आकर्षक कोई नहीं हो सकता, अतएव वह बालक किसी को स्वीकार नहीं कर सका। लेकिन ऐसी परीक्षा के द्वारा भगवान् निरन्तर उसके साथ रहे और इस तरह स्मरण के द्वारा, महाराज परीक्षित भगवान् की भक्ति में सदैव लगे रहते।

इस प्रसंग में श्रील जीव गोस्वामी की टीका है कि यदि प्रत्येक बालक पर बचपन से ही भगवान् की छाप पड़ जाय, तो वह निश्चित रूप से महाराज परीक्षित की ही भाँति भगवद्भक्त बन सकता है। भले ही कोई महाराज परीक्षित की तरह इतना भाग्यशाली न हो कि उसे माता के गर्भ में ही भगवान् के दर्शन हो लें, लेकिन यदि बालक के माता-पिता चाहें, तो वह ऐसा बन सकता है। इस प्रसंग में मैं अपना व्यावहारिक उदाहरण दे सकता हूँ। मेरे पिता भगवान् के शुद्ध भक्त थे और जब मैं चार-पाँच

वर्ष का था, तो मेरे पिता ने मुझे राधा-कृष्ण की एक युगल मूर्ति प्रदान की थी। मैं खेल-खेल में, अपनी बहन के साथ इन विग्रहों की पूजा किया करता था और मैं निकट के राधा-गोविन्द मन्दिर की पूजाविधि का अनुकरण किया करता था। निरन्तर इस मन्दिर में जाकर तथा वहाँ होनेवाले उत्सवों का अपने खेल के विग्रहों के साथ अनुकरण करके मैंने भगवान् के प्रति सहज आकर्षण विकसित कर लिया। मेरे पिता मेरी स्थिति के अनुरूप इन उत्सवों का अवलोकन करते थे। बाद में स्कूल तथा कालेज जाने के कारण, मेरे ये कार्यकलाप ठप्प हो गये और मेरा अभ्यास छूट गया। किन्तु अपनी युवावस्था में, जब मैं अपने गुरु श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज से मिला, तो मेरी पुरानी अभिरुचि फिर से जागृत हो उठी और वही खेल की मूर्तियाँ मेरे आराध्य अर्चा-विग्रह बन गईं। यह तब तक चलता रहा, जब तक मैंने पारिवारिक सम्बन्ध नहीं तोड़ लिये और मुझे प्रसन्नता है कि मेरे पिता ने मुझ पर जो पहली छाप छोड़ी, वह गुरू की कृपा से बाद में भक्ति में विकसित हो सकी। महाराज प्रह्लाद ने भी यही उपदेश दिया है कि इस प्रकार ईश्वरी छाप बाल्यपन के प्रारम्भ में ही पड़ जानी चाहिए। अन्यथा जीव मनुष्य जीवन रूपी सुअवसर को खो सकता है, जो अन्य रूपों की भाँति नश्वर होते हुए भी अत्यन्त मूल्यवान है।

स राजपुत्रो ववृधे आशु शुक्ल इवोडुपः ।
आपूर्यमाणः पितृभिः काष्ठाभिरिव सोऽन्वहम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; राज-पुत्रः—राजकुमार; ववृधे—बड़ा हो गया; आशु—जल्दी ही; शुक्ले—शुक्लपक्ष; इव—सदृश; उडुपः—चन्द्रमा; आपूर्यमाणः—विलासपूर्ण; पितृभिः—पिता जैसे संरक्षकों द्वारा; काष्ठाभिः—पूर्ण विकास; इव—सदृश; सः—वह; अन्वहम्—दिन-प्रतिदिन।

जिस तरह शुक्लपक्ष में चन्द्रमा दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है, उसी तरह यह राजकुमार (परीक्षित) शीघ्र ही अपने संरक्षक पितामहों की देख-रेख तथा सुख-सुविधाओं के बीच तेजी से विकास करने लगा।

यक्ष्यमाणोऽश्वमेधेन ज्ञातिद्रोहजिहासया ।
राजा लब्धधनो दध्यौ नान्यत्र करदण्डयोः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यक्ष्यमाण:—सम्पन्न करने की इच्छा करते हुए; अश्वमेधेन—अश्वमेध उत्सव द्वारा; ज्ञाति-द्रोह—स्वजनों से युद्ध; जिहासया—मुक्त होने के लिए; राजा—राजा युधिष्ठिर; लब्ध-धन:—कुछ धन प्राप्त करने के लिए; दध्यौ—विचार किया; न अन्यत्र—अन्यथा नहीं; कर-दण्डयो:—लगान तथा जुर्माना।

इसी समय राजा युधिष्ठिर स्वजनों से युद्ध करने के कारण किए गए पापों से मुक्ति पाने के लिए अश्वमेध यज्ञ करने पर विचार कर रहे थे। लेकिन उन्हें कुछ धन प्राप्त करने की चिन्ता सवार थी, क्योंकि लगान तथा जुर्माने से एकत्र कोष के अतिरिक्त और कोई धन-संग्रह न था।

तात्पर्य : जिस तरह ब्राह्मणों तथा विप्रों को राज्य की तरफ से कुछ आर्थिक सहायता का अधिकार मिला हुआ था, उसी तरह राज्य के कार्यकारी अध्यक्ष को अधिकार था कि वह नागरिकों से कर तथा जुर्माने एकत्र करे। कुरुक्षेत्र के युद्ध के पश्चात् राजकोष खाली हो चुका था, अतएव कर तथा जुर्माना-संग्रह के अलावा कोई अतिरिक्त निधि नहीं थी। ऐसा कोष केवल राज्य-व्ययों के लिए ही पर्याप्त था तथा और कोई निधि न होने से राजा चिन्तित थे कि किसी अन्य विधि से वे अधिक धन प्राप्त करे, जिससे अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न हो सके। महाराज युधिष्ठिर इस यज्ञ को भीष्मदेव के आदेशानुसार सम्पन्न करना चाह रहे थे।

तदभिप्रेतमालक्ष्य भ्रातरोऽच्युतचोदिता: ।
धनं प्रहीणमाजह्रुरुदीच्यां दिशि भूरिश: ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तत्—उसका; अभिप्रेतम्—मन की इच्छा, अभिप्राय; आलक्ष्य—देखकर; भ्रातर:—अपने भाई; अच्युत—अच्युत, (भगवान् श्रीकृष्ण); चोदिता:—प्रेरणा पाकर; धनम्—धन; प्रहीणम्—एकत्र करके; आजह्रु:—ले आया; उदीच्याम्—उत्तरी; दिशि—दिशा; भूरिश:—प्रचुर।

राजा की हार्दिक इच्छाओं को जानकर, उसके भाइयों ने अच्युत भगवान् कृष्ण की प्रेरणानुसार, उत्तर दिशा से (राजा मरुत्त द्वारा छोड़ा गया) प्रचुर धन एकत्र किया।

तात्पर्य : *महाराज मरुत्त*—ये विश्व के एक महान् सम्राट थे। इन्होंने महाराज युधिष्ठिर से काफी पहले संसार पर राज्य किया था। ये महाराज अविक्षित के पुत्र थे और सूर्यदेव के यमराज नामक पुत्र के महान् भक्त थे। इनका भाई संवर्त, देवताओं के विद्वान पुरोहित वृहस्पति का प्रतिद्वन्द्वी पुरोहित था। उसने शंकर-यज्ञ का संचालन किया जिससे भगवान् इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने उसे स्वर्ण के पर्वत-

शृंग का अधिकारी बना दिया। यह स्वर्ण-शंगृ हिमालय पर्वत में कहीं पर है और आधुनिक साहसिक यात्री इसकी खोज कर सकते हैं। यह सम्राट इतना शक्तिशाली था कि प्रतिदिन यज्ञ समाप्त होने के बाद, इन्द्र, चन्द्र तथा बृहस्पति लोकों के देवता उसके महल में आया करते थे। चूँकि उसके अधिकार में स्वर्ण-शंगृ था, अतएव उसके पास प्रचुर सोना था। उसके यज्ञ की वेदी का मण्डप पूर्णतया सोने से बनाया गया था। नित्य किये जानेवाले याज्ञिक अनुष्ठानों में, वायुलोक के कुछ निवासियों को रसोई बनाने के काम जल्दी करने के लिए आमंत्रित किया जाता था तथा देवों की सभा का नेतृत्व विश्वदेव करते थे।

अपने निरन्तर पुण्यकर्मों से वे अपने राज्य से समस्त प्रकार की व्यधियों को दूर रखने में समर्थ हुए थे। उनके महान् याज्ञिक उत्सवों से देवलोक तथा पितृलोक के सारे निवासी प्रसन्न थे। वे प्रतिदिन विद्वान ब्राह्मणों को शय्या, आसन, वाहन तथा प्रचुर सोना दान में देते रहते थे। अपने मुक्तहस्त दान तथा असंख्य यज्ञ सम्पन्न करने के कारण, स्वर्ग के राजा इन्द्रदेव उन पर अत्यधिक प्रसन्न थे और सदा उनकी मंगल कामना करते थे। अपने पुण्यकर्मों के कारण, वे आजीवन युवक बने रहे और अपनी सन्तुष्ट प्रजा, मंत्रियों, वैध पत्नी, पुत्रों तथा भाइयों के साथ रहकर, उन्होंने एक हजार वर्षों तक राज्य किया। यहाँ तक कि भगवान् श्रीकृष्ण ने भी उनके पुण्यकर्मों की प्रशंसा की है। उन्होंने अपनी एकमात्र पुत्री का विवाह महर्षि अंगिरा से कर दिया था और उनके आशीर्वाद से वे स्वर्गलोक का भागी बने। पहले तो वे यज्ञों का पौरोहित्य विद्वान बृहस्पति को देना चाहते थे, लेकिन बृहस्पति ने इस पद को अस्वीकार कर दिया, क्योंकि राजा इसी धरती का एक मर्त्य प्राणी होता था। इससे वे अत्यन्त दुखी हुए, लेकिन नारद मुनि के कहने पर, उन्होंने संवर्त को इस पद पर नियुक्त किया और अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त की।

किसी विशेष यज्ञ की सफलता इसके प्रभारी पुरोहित पर निर्भर करती है। इस युग में सभी प्रकार के यज्ञ वर्जित हैं, क्योंकि तथाकथित ब्राह्मणों में कोई ऐसा विद्वान पुरोहित नहीं है। वे बिना किसी योग्यता के ही, ब्राह्मण पुत्र होने से ब्राह्मण बन जाते हैं। अतएव इस कलियुग में केवल एक प्रकार के यज्ञ की संस्तुति की गई है, वह है *सङ्कीर्तन यज्ञ* जिसका उद्घाटन भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा हुआ था।

तेन सम्भृतसम्भारो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
वाजिमेधैस्त्रिभिर्भीतो यज्ञैः समयजद्धरिम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तेन—उस धन से; सम्भृत—एकत्रित; सम्भारः—सामग्री, घटक; धर्म-पुत्रः—पवित्र राजा; युधिष्ठिरः—युधिष्ठिर; वाजिमेधैः—अश्वमेध यज्ञ द्वारा; त्रिभिः—तीन बार; भीतः—कुरुक्षेत्र युद्ध से अत्यधिक भयभीत; यज्ञैः—यज्ञों के द्वारा; समयजत्—ठीक से पूजा की; हरिम्—भगवान् की।.

उस धन से राजा तीन अश्वमेध यज्ञों के लिए सामग्री उपलब्ध कर सके। कुरुक्षेत्र के युद्ध के बाद अत्यन्त भयभीत पुण्यात्मा राजा युधिष्ठिर ने इस प्रकार भगवान् हरि को प्रसन्न किया।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर विश्व के आदर्श एवं विख्यात पुण्यात्मा राजा थे, फिर भी वे कुरुक्षेत्र युद्ध के समापन पर अत्यधिक भयभीत थे, क्योंकि इस युद्ध में में बड़ी मात्रा में नर-संहार हुआ था और यह सब उन्हें सिंहासन पर आरूढ़ करने के लिए किया गया था। अतएव युद्ध में होनेवाले सारे पापों का उत्तरदायित्व उन्होंने अपने ऊपर ले लिया और इन पापों से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने तीन अश्वमेध यज्ञ करने चाहे, जिसमें घोड़े की बलि दी जाती है। ऐसे यज्ञ काफी महँगे पड़ते हैं। इसके लिए महाराज युधिष्ठिर को भी महाराज मरुत्त का सोना तथा उनके द्वारा ब्राह्मणों को दिया गया सोना लाना पड़ा। चूँकि विद्वान ब्राह्मण महाराज मरुत्त द्वारा दान दिया गया सारा सोना अपने साथ नहीं ले जा सके थे, अतएव दान में प्राप्त बहुत सा सोना वे वहीं छोड़ गए थे। महाराज मरुत्त भी इस तरह दान दिये गए सोने को फिर से संग्रह नहीं कर सकते थे। इसके अतिरिक्त यज्ञ में काम आनेवाले सारे स्वर्ण की थालियाँ तथा पात्र कूड़े में फेंक दिये गए थे और यह सोना तब तक बिना किसी के स्वामीत्व का पड़ा रहा, जब तक महाराज युधिष्ठिर ने अपने काम के लिए उसे एकत्र नहीं कर लिया। भगवान् श्रीकृष्ण ने महाराज युधिष्ठिर के भाइयों को सलाह दी कि वे बिना किसी के स्वामीत्व के सोने को ले आयें, क्योंकि यह सोना राजा का था। सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह थी कि राज्य की प्रजा ने ऐसे अनधिकृत सोने को एकत्र करके किसी उद्योग अथवा ऐसे ही किसी उद्यम में नहीं लगाया। इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य की प्रजा अपनी सभी आवश्यकताओं में अत्यन्त सन्तुष्ट थी, अतएव इन्द्रियतृप्ति के लिए व्यर्थ का उद्योग नहीं चलाना चाहती थी। महाराज युधिष्ठिर ने यह स्वर्ण राशि यज्ञ सम्पन्न करने तथा भगवान् हरि को प्रसन्न करने के लिए मँगवाई, अन्यथा राजकोष के लिए संग्रह करने की उनमें कोई आकांक्षा न थी।

हमें चाहिए कि महाराज युधिष्ठिर के कर्मों से शिक्षा ग्रहण करें। वे युद्धस्थल में घटित पापों से भयातुर थे, अतएव वे परम पुरुष को प्रसन्न करना चाह रहे थे। इससे संकेत मिलता है कि हमारे दैनिक कार्यकलापों में अनायास पाप होते रहते हैं और ऐसे अनचाहे पापों के प्रायश्चित्त के लिए, शास्त्रों द्वारा अनुमोदित यज्ञ सम्पन्न करने चाहिए। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं (*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन:*) कि समस्त अवैध कर्म करने या अनिच्छित अपराधों से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को शास्त्रों द्वारा अनुमोदित यज्ञ सम्पन्न करने चाहिए। ऐसा करने से वह सभी प्रकार के पापों से मुक्त हो जाएगा। किन्तु जो ऐसा नहीं करते हैं और स्वार्थ अथवा इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करते हैं, उन्हें अपने द्वारा किये गये पापों का कष्ट उठाना पड़ता है। अतएव यज्ञ करने का मुख्य प्रयोजन परम पुरुष हरि को प्रसन्न करना है। यज्ञ की विधियाँ देश, काल तथा व्यक्ति के अनुसार बदल सकती हैं, किन्तु यज्ञों का उद्देश्य सभी काल में तथा सभी परिस्थितियों में एक ही रहता है और वह है परमेश्वर हरि की तुष्टि। पुण्यमय जीवन की यही रीति है और यही संसार में शान्ति तथा सम्पन्नता लाने की विधि है। महाराज युधिष्ठिर ने संसार के आदर्श पुण्यात्मा राजा के रूप में यह सब किया।

यदि महाराज युधिष्ठिर अपने दैनिक कार्यों को सम्पन्न करने में, राज्य कार्यों के संचालन में, जहाँ मनुष्य तथा पशुओं के वध को मानी हुई कला समझा जाता है, पाप कर बैठते तो जरा अनुमान करें कि कलियुग की अप्रशिक्षित जनता जाने तथा अनजाने में कितना पाप करती होगी, जिनके पास भगवान् को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ सम्पन्न करने का कोई साधन भी नहीं है। अत: *भागवत* का कथन है कि मनुष्य का मुख्य कर्तव्य यह है कि अपने वृत्तिपरक कार्यों को सम्पन्न करके परमेश्वर को प्रसन्न करे (भागवत १.२.१३)।

भले ही कोई, किसी भी स्थान या समुदाय, जाति या सम्प्रदाय का कोई व्यक्ति किसी भी वृत्तिपरक कार्य में क्यों न लगा हो, लेकिन उसे देश, काल तथा पात्र के अनुसार शास्त्रोचित यज्ञ करने चाहिए। वैदिक ग्रंथों में संस्तुति की गई है कि कलियुग में लोग, बिना अपराध के, कृष्ण के पवित्र नाम के कीर्तन द्वारा भगवान् का गुणगान करें (*कीर्तनाद् एव कृष्णस्य मुक्तसङ्ग: परं व्रजेत्*)। ऐसा करने से मनुष्य सभी पापों से मुक्त हो जाता है और भगवद्धाम वापस जा कर जीवन की परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। हम इस ग्रंथ में कई स्थानों पर, विशेष रूप से आरम्भ में भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु का

जीवन-वृत्त प्रस्तुत करते समय, इस विषय में बता चुके हैं और अब भी समाज में शान्ति तथा सम्पन्नता के लिए उसी को दुहरा रहे हैं।

भगवान् ने *भगवद्गीता* में खुलकर घोषणा की है कि वे किस तरह हम पर प्रसन्न होते हैं और वही विधि भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के जीवन तथा उनके उपदेश-कार्य से प्रदर्शित होती है। भगवान् हरि (परम भगवान् जो हमें संसार के सब कष्टों से मुक्त करते हैं) को जो हमें इस भवबंधन से छुटकारा दिलाते हैं, प्रसन्न करने के लिए यज्ञ सम्पन्न करने की सम्यक् विधि यही है कि इस कलह तथा विरोध के अंधकारमय युग में भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के मार्ग का पालन किया जाय।

महाराज युधिष्ठिर को समृद्धि के दिनों में अश्वमेध यज्ञ करने के लिए सामग्री जुटाने हेतु स्वर्ण राशि एकत्र करनी पड़ी थी। अतएव आज के अभावग्रस्त तथा स्वर्ण के सर्वथा अभाव के दिनों में हम ऐसे यज्ञ सम्पन्न करने की बात नहीं सोच सकते हैं। इस समय हमारे पास कागज का अम्बार है और आधुनिक सभ्यता के आर्थिक विकास द्वारा उसे स्वर्ण में बदलने का वादा किया जाता है। फिर भी हम न तो व्यक्तिगत रूप से, न सामूहिक या राज्य संरक्षण में, महाराज युधिष्ठिर के समान प्रचुर धन खर्च कर सकते हैं। अतएव इस युग के लिए शास्त्र सम्मत तथा भगवान् चैतन्य महाप्रभु द्वारा अनुमोदित विधि ही सर्वथा उपयुक्त है। इस विधि में किसी भी प्रकार का खर्च नहीं होता, फिर भी इससे अन्य व्ययसाध्य यज्ञ विधियों से अधिक लाभ पहुँचता है।

वैदिक विधानों द्वारा सम्पन्न होनेवाले अश्वमेध यज्ञों या गोमेध यज्ञों से यह नहीं समझना चाहिए कि ये पशुओं को मारने की विधियाँ हैं। वास्तव में यज्ञ में बलि किये गये पशु वैदिक मंत्रों के उच्चारण की दिव्य शक्ति से नया जीवन प्राप्त करते थे। समुचित विधि से मंत्र उच्चारण करने की शक्ति सामान्य लोगों की समझ से बाहर है। सारे वेद-मंत्र व्यावहारिक हैं और इसका प्रमाण था, बलि किये गये पशु को नवजीवन का प्राप्त होना।

आधुनिक युग के तथाकथित ब्राह्मणों या पुरोहितों द्वारा इस प्रकार से वैदिक मंत्रों का विधिपूर्वक उच्चारण हो पाना सम्भव नहीं है। द्विज कुलों की अप्रशिक्षित सन्तानें अपने पूर्वजों जैसी नहीं हैं। अतएव उनकी गिनती शूद्रों में अर्थात् एक-जन्मा में की जाती है। ऐसा मनुष्य वैदिक मंत्रों का उच्चारण करने के लिए अयोग्य होता है, अतएव मूल-मंत्रों का उच्चारण करने से कोई लाभ नहीं होता है।

भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने इन सबों की रक्षा करने के लिए समस्त व्यावहारिक कार्यों के लिए *सङ्कीर्तन* आन्दोलन या यज्ञ का विधान किया था और आधुनिक युग के लोगों के लिए इस निश्चित तथा संस्तुत मार्ग का अनुसरण करने के लिए पुरजोर संस्तुति की गई है।

आहूतो भगवान् राज्ञा याजयित्वा द्विजैर्नृपम् ।
उवास कतिचिन्मासान् सुहृदां प्रियकाम्यया ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

आहूतः—बुलाये जाने पर; भगवान्—भगवान् श्रीकृष्ण; राज्ञा—राजा द्वारा; याजयित्वा—सम्पन्न कराकर; द्विजैः—विद्वान ब्राह्मणों द्वारा; नृपम्—राजा की ओर से; उवास—निवास किया; कतिचित्—थोड़े; मासान्—महीने; सुहृदाम्—सम्बन्धियों के लिए; प्रिय-काम्यया—प्रसन्नता के लिए।.

महाराज युधिष्ठिर द्वारा यज्ञ में आमंत्रित होकर, भगवान् श्रीकृष्ण ने इस बात का ध्यान रखा कि ये सारे यज्ञ योग्य (द्विज) ब्राह्मणों द्वारा सम्पन्न कराये जाएँ। तत्पश्चात् सम्बन्धियों की प्रसन्नता के लिए, भगवान् वहाँ कुछेक मास रहते रहे।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण को महाराज युधिष्ठिर ने यज्ञ सम्पन्नता का निरीक्षण करने के लिए आमंत्रित किया था और भगवान् ने अपने अग्रज के आदेशों का पालन करने के लिए, विद्वान द्विज ब्राह्मणों द्वारा यज्ञ सम्पन्न कराया। केवल ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से ही कोई यज्ञ कराने का अधिकारी नहीं बन जाता। उसे समुचित प्रशिक्षण तथा प्रामाणिक आचार्य से दीक्षा ग्रहण करके द्विज बनना होता है। ब्राह्मण कुलों की एकजन्मा सन्तानें शूद्रों के तुल्य होती हैं। अतएव ऐसे *ब्रह्म-बन्धुओं* को किसी ऐसे धार्मिक या वैदिक उत्सव के निमित्त अस्वीकार कर देना चाहिए। श्रीकृष्ण को यह प्रबन्ध देखना था और चूँकि वे परम पूर्ण हैं, अतएव उन्होंने सफल सम्पन्नता के लिए प्रामाणिक द्विज ब्राह्मणों द्वारा यज्ञों को सम्पन्न कराया।

ततो राज्ञाभ्यनुज्ञातः कृष्णया सह बन्धुभिः ।
ययौ द्वारवतीं ब्रह्मन् सार्जुनो यदुभिर्वृतः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; राज्ञा—राजा द्वारा; अभ्यनुज्ञातः—अनुमति दिये जाने पर; कृष्णाया—द्रौपदी से भी; सह—सहित; बन्धुभिः—अन्य सम्बन्धियों के साथ; ययौ—गये; द्वारवतीम्—द्वारका धाम; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणों; स-अर्जुनः—अर्जुन के सहित; यदुभिः—यदुवंश के सदस्यों से; वृतः—घिरे हुए।

हे शौनक, तत्पश्चात् भगवान् ने राजा युधिष्ठिर, द्रौपदी तथा अन्य सम्बन्धियों से विदा लेकर, अर्जुन तथा यदुवंश के अन्य सदस्यों के साथ, द्वारका नगरी के लिए प्रस्थान किया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत "सम्राट परीक्षित का जन्म" नामक बारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तेरह

धृतराष्ट्र द्वारा गृह-त्याग

सूत उवाच
विदुरस्तीर्थयात्रायां मैत्रेयादात्मनो गतिम् ।
ज्ञात्वागाद्धास्तिनपुरं तयावाप्तविवित्सितः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; विदुरः—विदुर; तीर्थ-यात्रायाम्—विभिन्न तीर्थ स्थानों की यात्रा करते हुए; मैत्रेयात्—महर्षि मैत्रेय से; आत्मनः—अपनी, स्व की; गतिम्—गति, गन्तव्य; ज्ञात्वा—जानकर; अगात्—लौट आया; हास्तिनपुरम्—हस्तिनापुर नगरी में; तया—उस ज्ञान से; अवाप्त—प्रचुर लाभ उठाने वाला; विवित्सितः—प्रत्येक ज्ञेय विषय में निष्णात।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : तीर्थयात्रा करते हुए विदुर ने महर्षि मैत्रेय से आत्मा की गति का ज्ञान प्राप्त किया और फिर वे हस्तिनापुर लौट आये। वे अपेक्षानुसार इस विषय में पारंगत हो गये।

तात्पर्य : *विदुर—महाभारत* के इतिहास में ये प्रसिद्ध व्यक्तियों में से एक थे। महाराज पाण्डु की माता अम्बिका की दासी के गर्भ से, ये व्यासदेव के द्वारा उत्पन्न हुए थे। वे यमराज के अवतार हैं। मण्डूक मुनि से शाप-ग्रस्त होने के कारण इन्हें शूद्र होना पड़ा। कहानी इस प्रकार है : एक बार राज्य के सिपाहीयों ने कुछ चोर पकड़े, जो मण्डूक मुनि की कुटी में छिपे हुए थे। सिपाहीयों ने चोरों के साथ-साथ जैसे सामान्य रूप से किया जाता है, मण्डूक मुनि को भी बन्दी बना लिया। न्यायाधीश ने

विशेष रूप से मुनि को विशेष रूप से शूली पर चढ़ा कर मार डालने का आदेश दिया। किन्तु जब उन्हें भाला भोंका जाने वाला था, तो इसका समाचार राजा के पास पहुँच गया। अत: उसने तुरन्त ही उनका, महामुनि होने के नाते, वध रोकने का आदेश दिया। राजा ने स्वयं मुनि से अपने व्यक्तियों की गलती के लिए क्षमा माँगी। यह मुनि तुरन्त ही जीवों के भाग्य-विधाता, यमराज के पास पहुँचे। जब मुनि ने उनसे पूछा तो यमराज ने उत्तर दिया कि मुनि ने अपने बचपन में एक तेज नुकीले तिनके से चोंटी को बीध डाला था, इसलिए उसे यह कष्ट उठाना पड़ा। मुनि ने सोचा कि यह यमराज की मूर्खता थी कि उन्हें बचपन के अज्ञान के लिए दण्डित किया गया, अतएव मुनि ने यमराज को शाप दे डाला कि वे शूद्र बन जाये। यमराज का यह शूद्र अवतार विदुर के नाम से विख्यात हुआ, जो धृतराष्ट्र तथा महाराज पाण्डु का शूद्र भ्राता थे। लेकिन भीष्मदेव ने कुरुवंश के इस शूद्र पुत्र के साथ अपने अन्य भतीजों के समान ही व्यवहार किया। कालान्तर में विदुर का विवाह ऐसी कन्या से हुआ, जो एक ब्राह्मण द्वारा शूद्राणी के गर्भ से उत्पन्न हुई थी। यद्यपि विदुर अपने पिता (भीष्मदेव के भाई) की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी नहीं हुए, लेकिन विदुर के बड़े भाई धृतराष्ट्र ने उन्हें पर्याप्त राज्य-सम्पत्ति प्रदान की थी। विदुर अपने बड़े भाई के प्रति अत्यधिक अनुरक्त थे और वे उसे निरन्तर सही मार्ग पर ले जाना चाहते थे। कुरुक्षेत्र के भ्रातृ युद्ध के समय विदुर ने बारम्बार अपने बड़े भाई से अनुनय-विनय की कि वह पाण्डु-पुत्रों के साथ न्याय बरते, लेकिन दुर्योधन को अपने चाचा की यह दखल पसन्द न थी। अतएव उसने विदुर का अपमान कर दिया था। इसके कारण विदुर घर छोड़कर तीर्थाटन करने तथा मैत्रेय से उपदेश ग्रहण करने चले गये।

यावत: कृतवान् प्रश्नान् क्षत्ता कौषारवाग्रत: ।
जातैकभक्तिर्गोविन्दे तेभ्यश्चोपरराम ह ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यावत:—वह सब; कृतवान्—उन्होंने किये; प्रश्नान्—प्रश्न; क्षत्ता—विदुर का नाम; कौषारव—मैत्रेय का नाम; अग्रत:—की उपस्थिति में; जात—बड़े होकर; एक—एक; भक्ति:—दिव्य प्रेममयी सेव; गोविन्दे—भगवान् कृष्ण की; तेभ्य:—अगले प्रश्नों के सम्बन्ध में; च—तथा; उपरराम—विराम ले लिया; ह—भूतकाल में।.

विविध प्रश्न पूछने के बाद तथा भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमामयी सेवा में स्थिर हो चुकने पर, विदुर ने मैत्रेय मुनि से प्रश्न पूछना बन्द किया।

तात्पर्य : विदुर ने मैत्रेय मुनि से तब प्रश्न पूछना बन्द किया, जब मैत्रेय ऋषि ने उन्हें आश्वस्त किया कि जीवन का *आश्रय-तत्त्व* तो अन्ततः भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य प्रेमामयी सेवा में सुस्थापित होना है, जो गोविन्द हैं अर्थात् जो अपने भक्तों को सभी प्रकार से तुष्ट रखते हैं। बद्धजीव अर्थात् भौतिक अस्तित्व में फँसा हुआ जीव भौतिकतागुणों में अपनी इन्द्रियों को लगाकर सुख की खोज करता है, किन्तु इससे उसे सन्तोष नहीं होता। तब वह अनुभव सिद्ध तात्त्विक तर्क करने की विधि से तथा बौद्धिक करतबों से परम सत्य की खोज में जुट जाता है। किन्तु यदि उसे अन्तिम लक्ष्य प्राप्त नहीं होता, तो वह पुनः भौतिक कार्यकलापों में पतित हो जाता है और अपने आप को विविध परोपकारी तथा परमार्थ कार्य करने में लगा देता है, किन्तु इन सबसे उसे संतोष नहीं मिल पाता। अतः न तो सकाम कर्म और न ही शुष्क दार्शनिक चिन्तन से किसी को सन्तोष मिल सकता है, क्योंकि जीव स्वभावतः परमेश्वर श्रीकृष्ण का सेनातन सेवक है और सारे वैदिक ग्रन्थ इसी चरम लक्ष्य की ओर उसका मार्गदर्शन करते हैं। *भगवद्गीता* (१५.१५) द्वारा इस कथन की पुष्टि होती है।

विदुर के समान ही, जिज्ञासु बद्धजीव को, मैत्रेय जैसे प्रामाणिक गुरु के पास पहुँचना चाहिए और बुद्धिपरक जिज्ञासाओं द्वारा कर्म (सकाम कर्म), ज्ञान (परम सत्य को जानने के लिए दार्शनिक अनुसंधान) और योग (आत्म-साक्षात्कार की योग-विधि) के विषय में प्रत्येक वस्तु को जानने का प्रयास करना चाहिए। जो व्यक्ति अपने गुरु से प्रश्न पूछने के प्रति गम्भीरतापूर्वक प्रवृत्त नहीं होता, उसे न तो दिखावटी गुरु करने की आवश्यकता है और न उस व्यक्ति को अन्यों का गुरु होने का दिखावा करना चाहिए, यदि वह अपने शिष्य को भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति की ओर उन्मुख न कर सके। विदुर मैत्रेय जैसे गुरु के पास पहुँचने में सफल हुए थे और उन्हें जीवन का चरम लक्ष्य—गोविन्द की भक्ति—प्राप्त हो सका। अतः उनके लिए आध्यात्मिक प्रगति के विषय में और कुछ जानना शेष न बचा था।

तं बन्धुमागतं दृष्ट्वा धर्मपुत्रः सहानुजः ।
धृतराष्ट्रो युयुत्सुश्च सूतः शारद्वतः पृथा ॥ ३ ॥
गान्धारी द्रौपदी ब्रह्मन् सुभद्रा चोत्तरा कृपी ।

अन्याश्च जामयः पाण्डोर्ज्ञातयः ससुताः स्त्रियः ॥ ४॥

शब्दार्थ

तम्—उस; बन्धुम्—सम्बन्धी को; आगतम्—वहाँ आया हुआ; दृष्ट्वा—देखकर; धर्म-पुत्रः—युधिष्ठिर ने; सह-अनुजः—अपने छोटे भाइयों के साथ; धृतराष्ट्रः—धृतराष्ट्र; युयुत्सुः—सात्यकि; च—तथा; सूतः—संजय; शारद्वतः—कृपाचार्य; पृथा—कुन्ती; गान्धारी—गान्धारी; द्रौपदी—द्रौपदी; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणों; सुभद्रा—सुभद्रा; च—तथा; उत्तरा—उत्तरा; कृपी—कृपी; अन्याः—अन्य लोग; च—तथा; जामयः—अन्य परिवारवालों की पत्नियाँ; पाण्डोः—पाण्डुओं की; ज्ञातयः—पारिवारिक सदस्य; स-सुताः—अपने-अपने पुत्रों सहित; स्त्रियः—स्त्रियाँ।

जब उन्होंने देखा कि विदुर राजमहल लौट आये हैं, तो—महाराज युधिष्ठिर, उनके छोटे भाई, धृतराष्ट्र, सात्यकि, संजय, कृपाचार्य, कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा, उत्तरा, कृपी, कौरवों की अन्य पत्नियाँ तथा अपने-अपने बच्चों के साथ स्त्रियों समेत सारे निवासी—सभी अत्यन्त हर्षित होकर तेजी से उनकी ओर बढ़े। ऐसा प्रतीत हुआ मानो उन्होंने दीर्घकाल के बाद अपनी चेतना फिर से प्राप्त की हो।

तात्पर्य : *गान्धारी*—विश्व के इतिहास की आदर्श सती महिला। ये गान्धार के राजा (अब काबुल का कन्दहार) महाराज सुबल की कन्या थीं। उन्होंने कौमार अवस्था में शिवजी की आराधना की थी। सामान्यतया हिन्दू कुमारिकाएँ उत्तम पति प्राप्त करने के लिए शिवजी की आराधना करती हैं। गान्धारी ने शिवजी को प्रसन्न कर लिया और सौ पुत्र प्राप्त करने का वर प्राप्त करके धृतराष्ट्र से सगाई कर ली, यद्यपि वे जन्मांध थे। जब गान्धारी को पता चला कि उनका होनेवाला पति अन्धा है, तो उन्होंने अपने जीवन-संगी का अनुगमन करने के लिए स्वेच्छा से अन्धा बनने का निश्चय कर लिया। अतएव उन्होंने अपनी आँखों में रेशम की अनेक पट्टियाँ बाँध लीं और वे अपने बड़े भाई शकुनि के मार्गदर्शन में धृतराष्ट्र के साथ ब्याह दी गईं। वे अपने समय की सर्वाधिक सुन्दर कन्या थीं और समान रूप से स्त्री-योचित गुणों से युक्त थीं, जिससे कौरव दरबार का प्रत्येक सदस्य उनसे प्रेम करता था। किन्तु इन सब सद्गुणों के होते हुए भी उनमें स्त्री की सहज दुर्बलताएँ थीं और जब कुन्ती ने पुत्र को जन्म दिया तो ये उसके प्रति ईर्ष्या करने लगीं। यद्यपि दोनों रानियाँ गर्भवती थीं, किन्तु पहले कुन्ती ने पुत्र को जन्म दिया। इस तरह गान्धारी क्रुद्ध हो गईं और अपने उदर पर प्रहार किया। फलस्वरूप उसने मांस के एक पिण्ड को ही जन्म दिया, लेकिन चूँकि वे व्यासदेव की भक्त थीं, अतएव व्यासदेव की आज्ञा से उस पिण्ड को सौ भागों में विभक्त कर दिया गया और इनमें से प्रत्येक भाग धीरे-धीरे बालक के रूप में विकसित हो गया। इस प्रकार, एक सौ पुत्रों की माता बनने की उनकी मनोकामना पूरी हो गई और वे

उन सबों का अपनी उच्च स्थिति के अनुसार पालन-पोषण करने लगीं। जब कुरुक्षेत्र-युद्ध का षड्यंत्र चल रहा था, तो वे पाण्डवों से युद्ध किये जाने के पक्ष में न थीं, अपितु उन्होंने अपने पति धृतराष्ट्र को ऐसे बन्धुघाती युद्ध के लिए लांछित भी किया। वे चाहती थीं कि राज्य को दो भागों में विभक्त किया जाय और पाण्डु पुत्रों तथा अपने पुत्रों को एक-एक भाग दे दिया जाय। जब कुरुक्षेत्र के युद्ध में उनके सारे पुत्र मारे गये तो वे अत्यन्त शोकमग्न हुईं और वे भीमसेन तथा युधिष्ठिर को शाप देना चाहती थीं, किन्तु व्यासदेव ने उन्हें रोक लिया। भगवान् कृष्ण के समक्ष दुर्योधन तथा दु:शासन की मृत्यु पर उनका विलाप अत्यन्त कारुणिक था और भगवान् कृष्ण ने उन्हें दिव्य संदेश द्वारा सान्त्वना दी। वे कर्ण की मृत्यु से भी उतनी ही दुखी थीं और उन्होंने भगवान् कृष्ण से कर्ण की पत्नी का विलपना बतलाया। जब श्रील व्यासदेव ने उन्हें उनके मृत पुत्रों को दिखलाया, जिनकी बाद में स्वर्गलोक में उन्नति हुई, तब उन्हें सान्त्वना प्राप्त हुई। वे गंगा के मुहाने के निकट हिमालय के जंगलों में अपने पति के साथ मरीं; वे दावाग्नि में जल मरीं। महाराज युधिष्ठिर ने अपने चाचा तथा चाची का अन्तिम संस्कार किया।

पृथा—ये महाराज शूरसेन की पुत्री तथा भगवान् कृष्ण के पिता वसुदेव की बहन थीं। बाद में महाराज कुन्तिभोज ने उन्हें गोद ले लिया था, अतएव वे कुन्ती कहलाईं। वे भगवान् की विजया शक्ति की अवतार थीं। जब उच्चतर ग्रहमंडल से स्वर्ग के निवासी राजा कुन्तीभोज को मिलने के लिए आते थे, तो कुन्ती उनके स्वागत में लगी रहती थीं। उन्होंने महान् योगी दुर्वासा मुनि की भी सेवा की थी। दुर्वासा ने उनकी अच्छी सेवा से प्रसन्न होकर उन्हें एक मंत्र दिया, जिससे वे मनवांछित देवता का आवाहन कर सकती थीं। उन्होंने उत्सुकतावश तुरन्त ही सूर्यदेव का आवाहन किया, जिन्होंने उनके साथ समागम करना चाहा, किन्तु उन्होंने ऐसा करने से इनकार किया। लेकिन जब सूर्यदेव ने आश्वस्त किया कि इससे उनका कौमार्य भंग नहीं होगा, तो उन्होंने उनका प्रस्ताव मान लिया। इस समागम के कारण वे गर्भवती हो गईं और उनसे कर्ण का जन्म हुआ। सूर्य की कृपा से वे पुन: कुमारी कन्या में परिणत हो गईं लेकिन माता-पिता के भय से उन्होंने अपने नवजात शिशु, कर्ण का परित्याग कर दिया। तत्पश्चात् जब पति चुनने की बारी आई, तो उन्होंने स्वेच्छा से पाण्डु को पति-रूप में चुना। बाद में महाराज पाण्डु गृहस्थ जीवन त्याग कर संन्यास ग्रहण करना चाहते थे, किन्तु कुन्ती ने अपने पति को ऐसा नहीं करने दिया। अन्त में महाराज पाण्डु ने उन्हें अनुमति दे दी कि वे उपयुक्त महापुरुष का

आवाहन करके पुत्र प्राप्त कर सकती हैं। पहले कुन्ती ने यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया, लेकिन जब पाण्डु ने अनेक उपयुक्त दृष्टान्त प्रस्तुत किये, तो वे राजी हो गईं। इस तरह दुर्वासा मुनि द्वारा प्रदत्त मंत्र से उन्होंने धर्मराज का आवाहन किया, जिससे युधिष्ठिर का जन्म हुआ। इसके बाद उन्होंने वायुदेव का आवाहन किया, तो भीम उत्पन्न हुआ। उन्होंने स्वर्ग के राजा इन्द्र का आवाहन करने पर अर्जुन का जन्म हुआ। नकुल तथा सहदेव का जन्म स्वयं पाण्डु ने अश्विनीकुमारों द्वारा माद्री के गर्भ से कराया। बाद में जब महाराज पाण्डु अल्प आयु में ही दिवंगत हो गये, तो कुन्ती इतनी दुखी हुईं कि उन्हें मूर्छा आ गई। तब कुन्ती तथा माद्री दोनों सह-पत्नियों ने यह निश्चय किया कि कुन्ती पाँचों अल्प-वयस्क बालकों, पाण्डवों को पालने के लिए जीवित रहें और माद्री अपने पति के साथ सती हों। वहाँ पर उपस्थित *शतसृङ्ग* तथा अन्य उपस्थित महर्षियों ने इस निर्णय का समर्थन किया।

बाद में जब दुर्योधन के षड्यंत्र से पाण्डवों को राज्य से बाहर निकाल दिया गया, तब कुन्ती अपने पुत्रों के साथ-साथ रहीं और उन दिनों में उन्होंने सारे कष्ट उठाये। वनवास के समय एक असुर कन्या हिडिम्बा ने भीम को पति बनाना चाहा। भीम ने इनकार कर दिया, किन्तु जब कन्या कुन्ती तथा युधिष्ठिर के पास पहुँची, तो उन्होंने भीम को आदेश दिया कि वह उसका प्रस्ताव स्वीकार करे और उसे पुत्र-प्रदान करे। इस संयोग से घटोत्कच का जन्म हुआ और उसने अपने पिता की ओर से कौरवों के विरुद्ध वीरतापूर्वक युद्ध किया। उनके वनवास-काल में सभी पाण्डव एक ब्राह्मण परिवार के साथ रहे, जो बकासुर राक्षस के कारण अत्यन्त व्यथित था। कुन्ती ने भीम को आदेश दिया कि वह बकासुर का वध करके ब्राह्मण परिवार को असुर के उत्पीड़नों से बचाए। उन्होंने युधिष्ठिर को सलाह दी कि वे पांचाल देश के लिए प्रस्थान करें। इसी पांचाल देश में अर्जुन ने द्रौपदी को प्राप्त किया, लेकिन कुन्ती के आदेश से पाँचों भाई पांचाली या द्रौपदी के समान रूप से पति बने। वह व्यासदेव की उपस्थिति में पाँचों पाण्डवों के साथ ब्याही गई। कुन्तीदेवी अपने प्रथम पुत्र कर्ण को कभी भी नहीं भूल पाईं। उन्होंने कुरुक्षेत्र-युद्ध में कर्ण की मृत्यु होने पर विलाप किया और अपने अन्य पुत्रों के समक्ष स्वीकार किया कि महाराज पाण्डु से विवाह करने के पूर्व ही कर्ण का जन्म हो चुका था। कुरुक्षेत्र-युद्ध के बाद, जब कृष्ण अपने घर वापस जाने लगे, तब तो उन्होंने जो प्रार्थनाएँ की, वे सर्वोत्कृष्ट हैं। बाद में वे गान्धारी

के साथ घोर तपस्या करने के लिए जंगल चली गईं। वे प्रत्येक तीसवें दिन पर भोजन करतीं। अन्तत: वे ध्यान में लीन होकर, दावाग्नि में जलकर भस्म हो गईं।

द्रौपदी—ये महाराज द्रुपद की सर्वश्रेष्ठ सती पुत्री तथा इन्द्रपत्नी देवी शची की अंशावतार थीं। महाराज द्रुपद ने मुनि यज की अधीक्षता में एक महान् यज्ञ सम्पन्न किया। पहली आहुति के साथ धृष्टद्युम्न का जन्म हुआ, और द्वितीय आहुति से द्रौपदी जन्मीं। अतएव ये धृष्टद्युम्न की बहन हैं और पांचाली के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। पाँचों पाण्डवों ने इन्हें पत्नी के रूप में ब्याहा और हर एक पति से इन्हें एक-एक पुत्र प्राप्त हुआ। महाराज युधिष्ठिर से प्रतिभित, भीमसेन से सुतसोम, अर्जुन से श्रुतकीर्ति, नकुल से शतानीक तथा सहदेव से श्रुतकर्मा का जन्म हुआ। ये अपनी सास कुन्ती के ही समान अत्यन्त सुन्दरी बताई गई हैं। इनके जन्म के समय आकाशवाणी हुई थी कि इनका नाम कृष्णा होगा। साथ ही यह भी आकाशवाणी हुई कि इनका जन्म कई क्षत्रियों का वध करने के लिए हुआ है। शंकर के आशीर्वाद से इन्हें एक से एक योग्य पाँच पति मिले। जब उन्होंने स्वयं अपना पति चुनना चाहा, तो विश्व भर के देशों के राजा तथा राजकुमार आमंत्रित किये गये। वह पाण्डवों के वनवास के समय पाण्डवों से विवाहित हुईं। किन्तु जब वे अपने घर वापस गये, तो महाराज द्रुपद ने उन्हें प्रचुर दहेज दिया। धृतराष्ट्र की सभी बहुओं ने द्रौपदी का स्वागत किया। जब वे जुए में हार दी गईं, तो उन्हें सभा-भवन में जबरन घसीट कर लाया गया और दु:शासन द्वारा नग्न किये जाने का यत्न किया गया, यद्यपि वहाँ पर भीष्म तथा द्रोण जैसे गुरुजन उपस्थित थे। वे भगवान् कृष्ण की परम भक्त थीं। उनकी प्रार्थना सुनकर, भगवान् ने स्वयं असीम वस्त्र बनाकर उन्हें अपमान से बचाया। जब जटासुर नाम के राक्षस ने उनका अपहरण किया, तो भीमसेन ने उसका वध करके उनकी रक्षा की। उन्होंने भगवान् कृष्ण की कृपा से पाण्डवों को दुर्वासा मुनि के शाप से बचाया। जब पाण्डव विराट के राजमहल में अज्ञातवास कर रहे थे, तो कीचक उनके अपूर्व सौन्दर्य पर मोहित हो गया। तब भीमसेन की सहायता से इस दुष्ट का वध किया गया और इस तरह वे बच गईं। जब अश्वत्थामा ने उनके पाँचों पुत्रों का वध कर दिया, तो वे अत्यन्त शोकाकुल हुईं। अन्तिम अवस्था में वे अपने पति युधिष्ठिर तथा अन्यों के साथ स्वर्गारोहण के लिए गईं तथा मार्ग पर गिर गईं। युधिष्ठिर ने उनके गिरने का कारण बताया, किन्तु जब युधिष्ठिर स्वर्ग पहुँचे तो उन्होंने देखा कि लक्ष्मीदेवी के रूप में द्रौपदी वहाँ पहले से विद्यमान थीं।

सुभद्रा—वसुदेव की पुत्री तथा भगवान् श्रीकृष्ण की बहिन। ये न केवल वसुदेव की लाड़ली पुत्री थीं, अपितु श्रीकृष्ण तथा बलदेव की भी अत्यन्त प्रिय बहिन थीं। ये दोनों भाई तथा बहन, पुरी के सुप्रसिद्ध जगन्नाथ मन्दिर में मूर्तिमान हैं और आज भी नित्य हजारों तीर्थयात्री इस मन्दिर में दर्शन करते हैं। यह मन्दिर सूर्यग्रहण के अवसर पर भगवान् की कुरुक्षेत्र यात्रा तथा बाद में वृन्दावनवासियों से मिलने का स्मृति-स्वरूप है। इस अवसर पर राधा तथा कृष्ण का मिलन अत्यन्त कारुणिक है और पुरी में, भगवान् श्री चैतन्य राधारानी के भाव में, सदैव भगवान् श्रीकृष्ण के लिए लालायित रहते थे। जब अर्जुन द्वारका में थे, तो उन्होंने सुभद्रा को अपनी रानी बनाना चाहा और भगवान् श्रीकृष्ण से अपनी इच्छा व्यक्त की। श्रीकृष्ण जानते थे कि उनके बड़े भाई, बलदेव, सुभद्रा का विवाह अन्यत्र तय कर रहे हैं। चूँकि श्रीकृष्ण बलदेव द्वारा की जा रही व्यवस्था के विरुद्ध जाने का साहस नहीं कर सकते थे, अतएव उन्होंने अर्जुन को सलाह दी कि वह उसका हरण कर ले। अतएव जब सारे लोग रैवत पर्वत पर आनन्द मनाने गये थे, तो अर्जुन ने कृष्ण की योजना के अनुसार, सुभद्रा का हरण कर लिया। इस पर बलदेव अर्जुन पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए और वे उन्हें मार डालना चाहते थे, किन्तु कृष्ण ने बड़े भाई से अनुनय-विनय की कि वे अर्जुन को क्षमा-दान दें। तब अर्जुन के साथ सुभद्रा का विधिवत् ब्याह हुआ और सुभद्रा से अभिमन्यु का जन्म हुआ। अभिमन्यु की अकाल मृत्यु से सुभद्रा अत्यन्त दुखी थीं, किन्तु परीक्षित के जन्म से वे सुखी तथा संतुष्ट हुईं।

प्रत्युज्जग्मुः प्रहर्षेण प्राणं तन्व इवागतम् ।
अभिसङ्गम्य विधिवत् परिष्वङ्गाभिवादनैः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

प्रति—की ओर; उज्जग्मुः—गया; प्रहर्षेण—अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक; प्राणम्—जीवन, प्राण; तन्वः—शरीर का; इव—सदृश; आगतम्—वापस आया; अभिसङ्गम्य—निकट जाकर; विधि-वत्—अच्छी तरह से; परिष्वङ्ग—आलिंगन; अभिवादनैः—अभिवादन (प्रणाम) द्वारा।.

वे सब परम प्रसन्नतापूर्वक उनके निकट गये, मानो उनके शरीरों में फिर से प्राण का संचार हुआ हो। उन्होंने एक दूसरे को प्रणाम किया और गले मिलते हुए एक दूसरे का स्वागत किया।

तात्पर्य : चेतना के अभाव में शरीर के अंग निष्क्रिय रहते हैं, लेकिन जब चेतना वापस आती है, तो अंग तथा इन्द्रियाँ सक्रिय हो उठती हैं और जीव हर्षित हो उठता है। कौरव-परिवार के लिए विदुर

इतने प्रिय थे कि राजमहल में उनकी अनुपस्थिति की तुलना निष्क्रियता से की गई थी। सभी लोग उनके तीव्र वियोग का अनुभव कर रहे थे। अतएव राजमहल में उनका वापस आना सभी के लिए आनन्ददायक था।

मुमुचुः प्रेमबाष्पौघं विरहौत्कण्ठ्यकातराः ।
राजा तमर्हयाञ्चक्रे कृतासनपरिग्रहम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मुमुचुः—छोड़ा; प्रेम—प्रेम के; बाष्प-ओघम्—भावुकता के अश्रु; विरह—वियोग; औत्कण्ठ्य—उत्कण्ठा, उत्सुकता; कातराः—दुखी; राजा—राजा युधिष्ठिर; तम्—उसको (विदुर को); अर्हयाम् चक्रे—प्रदान किया; कृत—किया गया; आसन—बैठने का स्थान; परिग्रहम्—व्यवस्था।

चिन्ता तथा लम्बे वियोग के कारण, वे सब प्रेम-विवश होकर रूदन करने लगे। तब राजा युधिष्ठिर ने उनके बैठने के लिए आसन की व्यवस्था की और उनका सत्कार किया।

तं भुक्तवन्तं विश्रान्तमासीनं सुखमासने ।
प्रश्रयावनतो राजा प्राह तेषां च शृण्वताम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (विदुर को); भुक्तवन्तम्—ठीक से भोजन कराकर; विश्रान्तम्—तथा विश्राम कराके; आसीनम्—बैठाकर; सुखम् आसने—सुखद आसन पर; प्रश्रय-अवनतः—स्वाभाविक रूप से अत्यन्त भद्र तथा विनीत; राजा—राजा युधिष्ठिर ने; प्राह—बोलना प्रारम्भ किया; तेषाम् च—तथा उनके द्वारा; शृण्वताम्—सुना जाकर।

जब विदुर ठीक से भोजन कर चुके और पर्याप्त विश्राम कर लेने पर उन्हें सुखदायक आसन पर बिठाया गया। तब राजा ने उनसे बोलना शुरू किया और वहाँ पर उपस्थित सारे लोग सुनने लगे।

तात्पर्य : राजा युधिष्ठिर अपने पारिवारिक सदस्य तक का स्वागत करने में पटु थे। सभी पारिवारिक सदस्यों ने विदुर का गले मिलते हुए तथा अभिवादन द्वारा सत्कार किया। तत्पश्चात् स्नान एवं समुचित भोजन की व्यवस्था की। फिर पर्याप्त विश्राम करने दिया गया। विश्राम के बाद उन्हें बैठने के लिए सुखद आसन प्रदान किया गया। तब राजा ने परिवार की तथा अन्य विषयों की बातें शुरू कीं। प्रिय मित्र या यहाँ तक कि शत्रु के भी स्वागत की यही उचित विधि है। भारतीय नीतिशास्त्र के अनुसार, घर आये शत्रु का भी इस तरह स्वागत होना चाहिए कि उसे भय की प्रतीति न हो। शत्रु सदैव अपने

शत्रु से भयभीत रहता है, किन्तु जब शत्रु के घर कोई शत्रु आए, तो ऐसा नहीं होना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि घर आये व्यक्ति का कुटुम्बी के समान सत्कार होना चाहिए; तो विदुर जैसे कुटुम्बी का कहना ही क्या, जो परिवार के सभी सदस्यों के शुभचिन्तक थे। इस प्रकार महाराज युधिष्ठिर अन्य सभी सदस्यों की उपस्थिति में विदुर से बोले।

युधिष्ठिर उवाच
अपि स्मरथ नो युष्मत्पक्षच्छायासमेधितान् ।
विपद्गणाद्विषाग्न्यादेर्मोचिता यत्समातृकाः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

युधिष्ठिरः उवाच—महाराज युधिष्ठिर ने कहा; अपि—क्या; स्मरथ—आपको स्मरण है; नः—हमको; युष्मत्—आपसे; पक्ष—पक्षियों के पंखों सदृश हमारे प्रति पक्षपात; छाया—संरक्षण; समेधितान्—आपके द्वारा पाले गये हम सबों द्वारा; विपत्-गणात्—विभिन्न प्रकार की विपत्तियों से; विष—विष-रूप शासन द्वारा; अग्नि-आदेः—अग्नि-काण्ड आदि से; मोचिताः—छुटकारा दिलाया; यत्—आपने जो किया; स—सहित; मातृकाः—हमारी माता।

महाराज युधिष्ठिर ने कहा : हे चाचा, क्या आपको याद है कि आपने किस तरह सदा हमारी माता तथा हम सबकी समस्त प्रकार की विपत्तियों से रक्षा की है? आपके पक्षपात ने, पक्षियों के पंखों के समान, हमें विष-पान तथा अग्निदाह से बचाया है।

तात्पर्य : अल्पायु में ही पाण्डु की मृत्यु हो जाने से उनके छोटे-छोटे पुत्र तथा विधवा स्त्री परिवार के ज्येष्ठ सदस्यों द्वारा, विशेष रूप से भीष्मदेव तथा महात्मा विदुर द्वारा, संरक्षण प्राप्त करते रहे। पाण्डवों की राजनीतिक स्थिति के कारण विदुर उनका थोड़ा-बहुत पक्षपात करते रहते थे। यद्यपि धृतराष्ट्र भी महाराज पाण्डु के छोटे-छोटे बालकों के प्रति समान रूप से सचेष्ट रहते थे, लेकिन वे उन षड्यंत्रकारी दलों में से एक थे, जो पाण्डु के वंशजों का नामोनिशान मिटा देना चाहते थे और उनके स्थान पर अपने पुत्रों को राज्य का शासक बनाना चाहते थे। महाराज विदुर धृतराष्ट्र तथा उनके दल के इस षड्यंत्र को समझते थे। अतएव अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र के आज्ञाकारी सेवक होते हुए भी उन्हें उनकी यह राजकीय महत्त्वाकांक्षा, जो अपने पुत्रों के निमित्त थी, पसन्द नहीं थी। अतएव वे पाण्डवों एवं उनकी विधवा माता की सुरक्षा के प्रति अत्यधिक सावधान रहते थे। इस प्रकार कह सकते है कि वे पाण्डवों के पक्षपाती थे और उन्हें धृतराष्ट्र के पुत्रों से अधिक चाहते थे, यद्यपि सामान्य दृष्टि से वे दोनों ही उन्हें प्रिय थे। वे अपने भतीजों के दोनों दलों के प्रति इस तरह समान-वत्सल थे, फिर भी

अपने चचेरे भाइयों के प्रति षड्यंत्र करने की नीति के लिए वे दुर्योधन को सदैव प्रताड़ित करते रहते थे। वे अपने अग्रज की आलोचना अपने पुत्रों को बढ़ावा देने की नीति के लिए करते रहते, किन्तु साथ ही पाण्डवों को विशेष संरक्षण प्रदान करने के प्रति सदैव सतर्क रहते। राजमहल के भीतर विदुर के ये सारे कार्यकलाप उन्हें पाण्डवों का पक्षपाती घोषित करनेवाले थे। महाराज युधिष्ठिर ने विदुर के घर से दीर्घकालीन तीर्थाटन के लिए जाने के पूर्व के विगत इतिहास का उल्लेख किया है। महाराज युधिष्ठिर ने उन्हें याद दिलाई कि वे कुरुक्षेत्र–युद्ध जैसी घोर पारिवारिक दुर्घटना के बाद भी अपने बड़े हो चुके भतीजों के प्रति कितने दयालु तथा पक्षपाती बने रहे।

कुरुक्षेत्र–युद्ध के पूर्व, धृतराष्ट्र की नीति यह थी कि वह अपने भतीजों का सफाया शान्तिपूर्ण ढंग से कर दे, अतएव उसने पुरोचन को आज्ञा दी कि वह वारणावत में एक महल निर्मित करे और जब वह महल बन कर तैयार हो गया, तो धृतराष्ट्र ने इच्छा व्यक्त की कि उसके भाई का परिवार वहाँ कुछ काल तक रहे। जब सारे पाण्डव राजकुल के अन्य सदस्यों की उपस्थिति में वहाँ जा रहे थे, तो विदुर ने अत्यन्त चालाकी से पाण्डवों को धृतराष्ट्र की भावी योजना की जानकारी दी। इसका विशेष वर्णन *महाभारत* (आदिपर्व ११४) में हुआ है। उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें संकेत दिया—"ऐसा अस्त्र जो इस्पात या किसी अन्य धातु का न बना हो वह इतना तेज हो सकता है कि शत्रु का वध कर दे। किन्तु जो यह जानता है, वह कभी मारा नहीं जाता।" कहने का तात्पर्य यह था कि उन्होंने संकेत कर दिया कि पाण्डवों को वारणावत इसलिए भेजा जा रहा है कि उनका वध किया जा सके। इस तरह उन्होंने युधिष्ठिर को सचेत किया कि वे नये आवास–महल में अत्यन्त सतर्क रहें। उन्होंने अग्नि का भी संकेत किया और कहा कि अग्नि आत्मा का दहन नहीं कर सकती, लेकिन भौतिक शरीर को विनष्ट कर सकती है। किन्तु जो आत्मा की रक्षा करता है, वह जीवित रह सकता है। महाराज युधिष्ठिर तथा विदुर के ऐसे वार्तालाप को कुन्ती नहीं समझ पाईं, अतएव जब उन्होंने अपने पुत्र से उस वार्तालाप का भावार्थ जानना चाहा, तो युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि विदुर की बातों से लग रहा है कि हम लोग जहाँ रहने जा रहे हैं, उस भवन में अग्नि लगने का संकेत है। बाद में, विदुर अपना वेश बदल कर पाण्डवों के पास पहुँचे और उन्हें सूचित किया कि शुक्लपक्ष की चतुर्दशी को द्वारपाल महल में आग लगाएगा। यह धृतराष्ट्र का षड्यंत्र था कि पाण्डव अपनी माता समेत एकसाथ मर जाँए। उनके सचेत करने से, पाण्डव

पृथ्वी के नीचे बनी सुरंग के द्वारा बच निकले, किन्तु उनके बचने का समाचार धृतराष्ट्र को ज्ञात न हो सका, यहाँ तक कि अग्नि लगने के बाद, सारे कौरव पाण्डवों की मृत्यु के प्रति इतने आश्वस्त थे कि धृतराष्ट्र ने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक उनके अन्तिम संस्कार भी सम्पन्न कर डाले तथा शोक की अवधि में महल के सारे सदस्य शोक-मग्न थे, किन्तु विदुर ने शोक नहीं मनाया, क्योंकि उन्हें पता था कि सारे पाण्डव कहीं पर जीवित हैं। विपत्तियों के ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं और उन सबों में विदुर ने एक ओर जहाँ पाण्डवों को संरक्षण प्रदान किया, तो दूसरी ओर, वे अपने भाई धृतराष्ट्र को ऐसी षड्यंत्रकारी नीतियों से रोकते रहे। इसलिए वे पाण्डवों के प्रति उसी तरह पक्षपात करते रहे, जिस प्रकार पक्षी अपने पंख से अंडों की रक्षा करता है।

कया वृत्त्या वर्तितं वश्चरद्भिः क्षितिमण्डलम् ।
तीर्थानि क्षेत्रमुख्यानि सेवितानीह भूतले ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

कया—किन; वृत्त्या—साधनों से; वर्तितम्—जीविका चलाते रहे; वः—आप; चरद्भिः—विचरण करते हुए; क्षिति-मण्डलम्—पृथ्वी पर; तीर्थानि—तीर्थ-स्थानों; क्षेत्र-मुख्यानि—प्रमुख पवित्र स्थानों; सेवितानि—आपके द्वारा सेवित; इह—इस संसार में; भूतले—इस ग्रह में।

पृथ्वी पर विचरण करते हुए, आपने अपनी जीविका कैसे चलाई? आपने किन-किन पवित्र स्थलों तथा तीर्थस्थानों पर सेवा की?

तात्पर्य : विदुर राजमहल से बाहर इसलिए चले गये थे, क्योंकि वे अपने को घरेलू मामलों से, विशेष रूप से राजनीतिक षड्यंत्रों से विलग करना चाह रहे थे। जैसाकि इसके पूर्व उल्लेख किया जा चुका है, दुर्योधन उन्हें शूद्राणी-पुत्र कहकर उनका एक तरह से अपमान कर चुका था, यद्यपि किसी की पितामही (दादी) के विषय में अनाप-शनाप बातें करना कोई नई बात नहीं है। विदुर की माता शूद्राणी होते हुए भी, दुर्योधन की दादा लगती थी और कभी-कभी दादी तथा नातियों के बीच ऐसा मजाक चलता है। चूँकि यह छींटाकशी एक वास्तविकता थी, अतएव विदुर को बुरी लगनेवाली थी; फलतः इसे प्रत्यक्ष अपमान के रूप में ग्रहण किया गया। फलस्वरूप, विदुर ने तय किया कि वे अपना पैतृक महल त्याग कर, विरक्त जीवन बिताने की तैयारी करेंगे। यह तैयारी की अवस्था *वानप्रस्थ आश्रम* कहलाती है, अर्थात् ऐसा विरक्त जीवन जिसमें पृथ्वी भर में विचरण करके तीर्थस्थलों का दर्शन किया

जाता है। भारत में वृन्दावन, हरिद्वार, जगन्नाथपुरी तथा प्रयाग जैसे तीर्थस्थलों में अनेक महान् भक्त हैं और जो लोग आध्यात्मिक उन्नति करने के इच्छुक हैं, उनके लिए वे मुफ्त अन्नक्षेत्र (लंगर) चलाये जाते हैं। महाराज युधिष्ठिर यह जानने के लिए उत्सुक थे कि क्या विदुर अपना जीवन-निर्वाह ऐसे अन्नक्षेत्रों (छत्र) से कर रहे थे?

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूता: स्वयं विभो ।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्त:स्थेन गदाभृता ॥ १० ॥

शब्दार्थ

भवत्—आप; विधाः—जैसे; भागवताः—भक्त; तीर्थ—तीर्थयात्रा के पवित्र स्थल; भूताः—बने हुए; स्वयम्—अपने आप; विभो—हे शक्तिमान; तीर्थी-कुर्वन्ति—तीर्थस्थान बनाते हैं; तीर्थानि—तीर्थस्थल; स्व-अन्तः-स्थेन—हृदय में स्थित होकर; गदा-भृता—भगवान् के।

हे प्रभु, आप जैसे भक्त, निश्चय ही, साक्षात् पवित्र स्थान होते हैं। चूँकि आप भगवान् को अपने हृदय में धारण किए रहते हैं, अतएव आप समस्त स्थानों को तीर्थस्थानों में परिणत कर देते हैं।

तात्पर्य : भगवान् अपनी विभिन्न शक्तियों के कारण सर्वव्यापी हैं, जिस प्रकार बिजली सर्वत्र फैली हुई रहती है। भगवान् की सर्वव्यापकता का अनुभव तथा उसका प्राकट्य उसी प्रकार विदुर जैसे अनन्य भक्तों द्वारा किया जाता है, जिस प्रकार बिजली के बल्ब में बिजली प्रकट होती है। विदुर जैसा शुद्ध भक्त भगवान् की उपस्थिति को सर्वत्र अनुभव करता है। वह प्रत्येक वस्तु को भगवान् की शक्ति में देखता है और भगवान् को प्रत्येक वस्तु में। पृथ्वी पर जितने भी पवित्र स्थान हैं, वे भगवान् के अनन्य भक्तों की उपस्थिति से परिपूरित वातावरण द्वारा मनुष्य की दूषित चेतना को शुद्ध बनाने के निमित्त हैं। यदि कोई इन पवित्र स्थानों में जाता है, तो उसे चाहिए कि वहाँ रहनेवाले शुद्ध भक्तों को खोजे, उनसे शिक्षा ग्रहण करें, उस शिक्षा को व्यावहारिक जीवन में उतारे और इस तरह धीरे-धीरे अपने आपको मोक्ष के लिए, या भगवद्-धाम वापस जाने के लिए तैयार करे। किसी पवित्र स्थान में जाने का अर्थ मात्र गंगा या यमुना नदी में स्नान करना या उन स्थानों के मन्दिरों का दर्शन करना नहीं होता। उसे विदुर जैसे प्रतिनिधियों को खोजना चाहिए, जिन्हें भगवान् की सेवा करने के अतिरिक्त जीवन में अन्य कोई आकांक्षा नहीं होती। भगवान् सदा से ऐसे शुद्ध भक्तों के साथ रहते हैं, क्योंकि उनकी अनन्य सेवा,

सकाम कर्म या व्यर्थ चिन्तन से किसी प्रकार प्रभावित नहीं होती। वे भगवान् की असली सेवा में, विशेष रूप से श्रवण तथा कीर्तन के माध्यम से लगे रहते हैं। शुद्ध भक्त प्राधिकारियों से श्रवण करते हैं, कीर्तन करते हैं और भगवान् की महिमाओं का लेखन करते हैं। महामुनि व्यासदेव ने नारद से सुना था और तब उन्होंने लिखकर कीर्तन किया; शुकदेव गोस्वामी ने अपने पिता से शिक्षा ग्रहण की और परीक्षित से उसका वर्णन किया, *श्रीमद्भागवत* की यही विधि है। इस तरह भगवान् के शुद्ध भक्त अपने कार्यों से किसी भी स्थान को तीर्थस्थल में बदल सकते हैं और तीर्थस्थलों का नाम उन्हीं के कारण होता है। ऐसे शुद्ध भक्त किसी भी स्थान के दूषित वातावरण को शुद्ध करने में समर्थ होते हैं। तो ऐसे पवित्र स्थान की तो बात ही क्या है, जो उन स्वार्थी व्यक्तियों के सन्देहास्पद कार्यों द्वारा अपवित्र हो रहा हो, जो ऐसे पवित्र स्थान की प्रसिद्धि की परवाह न करते हुए अपना धन्धा चलाते हैं।

अपि नः सुहृदस्तात बान्धवाः कृष्णदेवताः ।
दृष्टाः श्रुता वा यदवः स्वपुर्यां सुखमासते ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अपि—क्या; नः—हमारे; सुहृदः—शुभचिन्तक; तात—हे चाचा; बान्धवाः—मित्र; कृष्ण-देवताः—भगवान् कृष्ण की सेवा में सदैव तत्पर रहनेवाले; दृष्टाः—उन्हें देखकर; श्रुताः—या उनके विषय में सुनकर; वा—अथवा; यदवः—यदुवंशी लोग; स्व-पुर्याम्—अपने-अपने निवास-स्थानों में; सुखम् आसते—सुखी तो हैं।

हे चाचा, आप द्वारका भी गये होंगे? उस पवित्र स्थान में यदुवंशी हमारे मित्र तथा शुभचिन्तक हैं, जो नित्य ही भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में तत्पर रहते हैं। आप उनसे मिले होंगे अथवा उनके विषय में सुना होगा? वे अपने-अपने घरों में सुखपूर्वक रह रहे हैं न?

तात्पर्य : यहाँ पर प्रयुक्त विशिष्ट शब्द *कृष्ण देवताः* महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है, वे जो सदैव भगवान् कृष्ण की सेवा में लगे रहते हैं। यादव तथा पाण्डव, जो सदा ही भगवान् कृष्ण एवं उनकी विभिन्न दिव्य लीलाओं के विचार में मग्न रहते थे, वे सबके सब विदुर के ही समान भगवान् के शुद्ध भक्त थे। विदुर ने इसीलिए गृहत्याग किया था, जिससे वे पूर्णतया भगवान् की सेवा में लग सकें, किन्तु सारे पाण्डव तथा यादव तो सदा ही कृष्ण के विचार में डूबे रहते थे। अतएव उनके शुद्ध भक्ति-गुणों में कोई अन्तर नहीं है। शुद्ध भक्त, चाहे घर में रहे या घर छोड़ दे, उसका वास्तविक गुण तो कृष्ण के विचार में अनुकूल रूप से मग्न रहना होता है अर्थात् भलीभाँति यह जानना कि श्रीकृष्ण पूर्ण पुरूषोत्तम

भगवान् हैं। यद्यपि कंस, जरासंध, शिशुपाल तथा उन्हीं जैसे अन्य असुर भी भगवान् कृष्ण के विचार में सदैव निमग्न रहते थे, किन्तु वे भिन्न प्रकार से—प्रतिकूल होकर—निमग्न रहते थे या उन्हें केवल शक्तिशाली मनुष्य मानते थे। अतएव कंस तथा शिशुपाल को शुद्ध भक्तों का वह पद प्राप्त नहीं है, जो विदुर, पाण्डवों तथा यादवों जैसे शुद्ध भक्तों को प्राप्त है।

महाराज युधिष्ठिर भी भगवान् कृष्ण तथा उनके द्वारका के पार्षदों के विचार में सदैव निमग्न रहा करते थे। अन्यथा, वे विदुर से उन सबके विषय में न पूछते। अतएव महाराज युधिष्ठिर विश्व के राज्य के मामलों में लगे रहकर भी, विदुर के समान भक्ति-पद पर स्थित थे।

इत्युक्तो धर्मराजेन सर्वं तत् समवर्णयत् ।
यथानुभूतं क्रमशो विना यदुकुलक्षयम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्तः—पूछे जाने पर; धर्म-राजेन—राजा युधिष्ठिर द्वारा; सर्वम्—सब कुछ; तत्—यह; समवर्णयत्—ठीक से वर्णन किया; यथा-अनुभूतम्—जैसा उसने अनुभव किया था; क्रमशः—एक के बाद एक; विना—रहित; यदु-कुल-क्षयम्—यदुवंश का विनाश।

महाराज युधिष्ठिर द्वारा इस तरह पूछे जाने पर महात्मा विदुर ने क्रमशः सब कुछ कह सुनाया, जिसका उन्होंने स्वयं अनुभव किया था। केवल यदुवंश के विनाश की बात उन्होंने नहीं कही।

नन्वप्रियं दुर्विषहं नृणां स्वयमुपस्थितम् ।
नावेदयत् सकरुणो दु:खितान् द्रष्टुमक्षमः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

ननु—निश्चय ही; अप्रियम्—अप्रिय; दुर्विषहम्—असह्य; नृणाम्—मानव जाति का; स्वयम्—अपने ढंग से; उपस्थितम्—प्राकट्य; न—नहीं; आवेदयत्—व्यक्त किया; सकरुणः—दयामय; दु:खितान्—दुखी जनों को; द्रष्टुम्—देखने के लिए; अक्षमः—असमर्थ।

दयावान महात्मा विदुर पाण्डवों को कभी भी दुखी नहीं देख सकते थे। अतएव उन्होंने इस अप्रिय तथा असह्य घटना को प्रकट नहीं होने दिया, क्योंकि आपदाएँ तो अपने आप आती हैं।

तात्पर्य : *नीतिशास्त्र* के अनुसार, ऐसा अप्रिय सत्य नहीं कहना चाहिए, जिससे अन्यों को कष्ट हो। विपदा सदैव प्रकृति के नियमानुसार स्वतः आती है। अतएव इसका प्रचार करते हुए इसे अधिक उभारना नहीं चाहिए। विदुर जैसे दयावान व्यक्ति के लिए, विशेष रूप से प्रिय पाण्डवों के साथ व्यवहार

करते हुए, यदुवंश के विनाश जैसी अप्रिय घटना को उद्घाटित करना प्राय: असम्भव था। इसीलिए उन्होंने जानबूझ कर ऐसा नहीं किया।

कञ्चित्कालमथावात्सीत्सत्कृतो देववत्सुखम् ।
भ्रातुर्ज्येष्ठस्य श्रेयस्कृत्सर्वेषां सुखमावहन् ॥ १४॥

शब्दार्थ

कञ्चित्—कुछ दिनों तक; कालम्—समय; अथ—इस प्रकार; अवात्सीत्—रहते रहे; सत्-कृतः—सम्मानित होने पर; देव-वत्—दैवी व्यक्ति के समान; सुखम्—सुविधाएँ; भ्रातुः—भाई का; ज्येष्ठस्य—बड़े भाई का; श्रेयः-कृत्—उनके प्रति अच्छाई करने के कारण; सर्वेषाम्—आप सबों का; सुखम्—सुख; आवहन्—सम्भव बनाया।

इस प्रकार अपने कुटुम्बियों द्वारा देवतुल्य सम्मानित होकर, महात्मा विदुर कुछ काल तक अपने बड़े भाई की मनोदशा को ठीक करने के लिए तथा इस प्रकार अन्य सबों को सुख देने के लिए वहाँ पर रहते रहे।

तात्पर्य : विदुर जैसे महात्मा पुरुषों का सत्कार स्वर्ग के निवासियों जैसा होना चाहिए। उन दिनों, स्वर्ग के निवासी महाराज युधिष्ठिर जैसे लोगों के घरों में आया करते थे और कभी-कभी अर्जुन जैसे व्यक्ति स्वर्ग-लोक की यात्रा किया करते थे। नारद तो ऐसे अन्तरिक्ष-यात्री हैं, जो बिना रोक-टोक के न केवल भौतिक ब्रह्माण्डों में, अपितु आध्यात्मिक लोकों में भी विचरण कर सकते हैं। नारद भी महाराज युधिष्ठिर के महलों में आते जाते थे, तो फिर अन्य देवताओं के विषय में कहना ही क्या। सम्बद्ध लोगों की आध्यात्मिक संस्कृति से ही, विभिन्न लोकों के मध्य इसी शरीर से यात्रा कर पाना सम्भव है। अतएव महाराज युधिष्ठिर ने विदुर का वैसा ही सत्कार किया, जैसा देवताओं का किया जाता है।

महात्मा विदुर पहले ही वानप्रस्थ जीवन स्वीकार कर चुके थे। अतएव वे अपने पैतृक महल में भी कोई भौतिक सुख भोगने नहीं आये थे। उन्होंने अपनी कृपा से ही महाराज युधिष्ठिर द्वारा अर्पित सेवाभाव का स्वीकार किया, लेकिन उस महल में रहने का एकमात्र उद्देश्य अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र का उद्धार करना था, जो सांसारिकता में अत्यधिक आसक्त थे। धृतराष्ट्र ने महाराज युधिष्ठिर से युद्ध करके अपना सारा राजपाट तथा सारे वंशज खो दिये थे; तो भी अपनी असहाय अवस्था के कारण वे महाराज युधिष्ठिर का दान तथा आतिथ्य ग्रहण करने में लज्जा का अनुभव नहीं कर रहे थे। महाराज युधिष्ठिर के

लिए यह बिल्कुल उचित था कि वे अपने ताऊ को समुचित ढंग से रख रहे थे, किन्तु इस प्रकार का भव्य आतिथ्य धृतराष्ट्र के लिए स्वीकार करना उचित न था। उन्होंने इसे स्वीकार कर रखा था, क्योंकि उन्होंने सोचा कि अन्य कोई विकल्प न था। विदुर वहाँ पर विशेष रूप से धृतराष्ट्र को प्रबुद्ध करने तथा उन्हें उच्चतर आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त कराने के उद्देश्य से ही आये थे। प्रबुद्ध व्यक्तियों का यह कर्तव्य है कि वे पतितात्माओं का उद्धार करें और विदुर इसी उद्देश्य से आये थे। किन्तु आध्यात्मिक प्रबोध की बातें इतनी सुहावनी होती हैं कि जब विदुर धृतराष्ट्र को उपदेश दे रहे थे, तो परिवार के सारे सदस्य उनकी ओर आकृष्ट हो गये और सबों ने धैर्यपूर्वक उनकी बातें सुनने में आनन्द का अनुभव किया। आध्यात्मिक अनुभूति की यही विधि है। सन्देश को ध्यानपूर्वक सुनना चाहिए और यदि किसी अनुभूत व्यक्ति द्वारा यह सन्देश दिया जाता है, तो यह बद्धजीव के सुप्त हृदय पर प्रभाव डालता है। और निरन्तर श्रवण करते रहने से मनुष्य आत्म-साक्षात्कार की पूर्ण अवस्था को प्राप्त कर सकता है।

अबिभ्रदर्यमा दण्डं यथावदघकारिषु ।
यावद्दधार शूद्रत्वं शापाद्वर्षशतं यमः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अबिभ्रत्—दिया गया; अर्यमा—अर्यमा; दण्डम्—दण्ड; यथावत्—समुचित; अघ-कारिषु—पाप करनेवालों को; यावत्—जब तक; दधार—स्वीकार किया; शूद्रत्वम्—शूद्र का शरीर; शापात्—शाप के फलस्वरूप; वर्ष-शतम्—सौ वर्षों तक; यमः—यमराज।

मण्डूक मुनि के द्वारा शापित होकर, जब तक विदुर शूद्र का शरीर धारण किये रहे, तब तक पाप कर्म करने वालों को दण्डित करने के लिए यमराज के पद पर अर्यमा कार्य करते रहे।

तात्पर्य : विदुर शूद्र स्त्री के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण, अपने भाइयों—धृतराष्ट्र तथा पाण्डु के साथ राज्य के उत्तराधिकार से भी वंचित थे; तो भला वे धृतराष्ट्र तथा महाराज युधिष्ठिर जैसे विद्वान राजाओं एवं क्षत्रियों के शिक्षक पद पर कैसे रह सकते थे? इसका पहला उत्तर यह है कि यद्यपि वे जन्म से शूद्र माने जाते थे, लेकिन चूँकि उन्होंने ऋषि मैत्रेय के आदेशानुसार आध्यात्मिक उन्नति के लिए संसार का परित्याग कर दिया था और उनसे आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त की थी, अतएव वे आचार्य पद को ग्रहण करने के लिए पूर्णतया सक्षम थे। श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुसार कोई भी व्यक्ति, जो दिव्य ज्ञान या ईश-तत्त्व में निपुण है, वह चाहे ब्राह्मण हो या शूद्र, गृहस्थ हो या संन्यासी, गुरु होने के लिए

योग्य है। यहाँ तक कि सामान्य नीतिशास्त्र में (महान् राजनीतिज्ञ तथा नीतिविद् चाणक्य पंडित के मतानुसार) शूद्र से भी निम्न व्यक्ति से शिक्षा ग्रहण करने में कोई हानि नहीं मानी गई। यह उत्तर का एक अंश हुआ। दूसरा अंश यह है कि विदुर वास्तव में शूद्र न थे। उन्हें मण्डूक मुनि के शाप के कारण, एक सौ वर्षों तक शूद्र की भूमिका निभानी थी। वे यमराज के अवतार थे, जो बारह महाजनों में से एक थे और ब्रह्मा, नारद, शिव, कपिल, भीष्म, प्रह्लाद इत्यादि महापुरुषों के समान उच्च पद पर थे। महाजन होने के कारण, यमराज का कर्तव्य है कि वे विश्व के लोगों को भक्ति सम्प्रदाय का उसी प्रकार उपदेश दें जिस प्रकार नारद, ब्रह्मा तथा अन्य महाजन करते हैं। किन्तु यमराज सदैव अपने राज्य में पापकर्म करनेवालों को दण्ड देने के कार्य में ही व्यस्त रहते हैं। भगवान् ने यमराज को एक विशेष ग्रह के लिए, जो पृथ्वी से कुछ लाखों मील दूरी पर स्थित है, नियुक्त किया है, जहाँ वे मृत्यु के बाद भ्रष्ट जीवात्माओं को ले जाकर उनके पाप कर्मों के अनुसार दण्ड दें। अतएव यमराज को दुष्कर्म करनेवालों को दण्ड देने के उत्तरदायी काम से ही फुरसत नहीं मिल पाती। दुष्कर्म करनेवालों की संख्या सत्कर्मियों से अधिक है। अतएव यमराज को भगवान् द्वारा अधिकृत अन्य देवों की अपेक्षा अधिक कार्य करना पड़ता है। लेकिन यमराज तो भगवान् की महिमा का उपदेश देना चाहते थे। अतएव भगवत् इच्छा से मण्डूक मुनि के शाप के कारण, उन्हें विदुर के अवतार रूप में इस पृथ्वी पर आने का मौका मिला और महान् भक्त की तरह निरन्तर भगवान् की सेवा में जुटने का मौका मिला। ऐसा भक्त न तो शूद्र होता है, न ब्राह्मण। वह संसारी समाज के ऐसे विभाजन से परे होता है, जिस प्रकार भगवान् शूकर के रूप में अवतरित होकर भी न तो शूकर हैं, न ही ब्रह्मा हैं। वे समस्त संसारी प्राणियों के ऊपर हैं। कभी–कभी, भगवान् तथा उनके विभिन्न अधिकृत भक्तों को बद्धजीवों के उद्धार हेतु निम्नतर प्राणियों की भूमिका अदा करनी पड़ती है, किन्तु भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्त दोनों सदैव दिव्य पद पर बने रहते हैं। जब यमराज इस तरह विदुर के रूप में अवतरित हुए, तो कश्यप तथा अदिति के अनेक पुत्रों में से एक, अर्यमा ने यह पद सँभाला। आदित्यगण अदिति के पुत्र हैं और आदित्यों की संख्या बारह है। अर्यमा इन बारह आदित्यों में से एक है। अतएव विदुर की अनुपस्थिति में सौ वर्षों तक यमराज के कार्यभार को सँभालने के लिए अर्यमा का चुनाव ठीक ही था। निष्कर्ष यह है कि विदुर कभी भी शूद्र न थे, वे तो शुद्धतम ब्राह्मण से भी महान् थे।

युधिष्ठिरो लब्धराज्यो दृष्ट्वा पौत्रं कुलन्धरम् ।
भ्रातृभिर्लोकपालाभैर्मुमुदे परया श्रिया ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

युधिष्ठिरः—युधिष्ठिर ने; लब्ध-राज्यः—अपने पैतृक राज्य का अधिकारी होकर; दृष्ट्वा—देखकर; पौत्रम्—नाती को; कुलम्-धरम्—वंश के अनुकूल; भ्रातृभिः—भाइयों से; लोक-पालाभैः—जो सभी पटु प्रशासक थे; मुमुदे—जीवन का भोग किया; परया—असामान्य; श्रिया—ऐश्वर्य से।

अपना राज्य वापस पाकर तथा एक ऐसे पौत्र का जन्म देखकर, जो उनके परिवार की प्रशस्त परम्परा को आगे चलाने में सक्षम था, महाराज युधिष्ठिर ने शान्तिपूर्वक शासन चलाया और उन छोटे भाइयों के सहयोग से, जो सारे के सारे कुशल प्रशासक थे, असामान्य ऐश्वर्य का भोग किया।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर तथा अर्जुन दोनों ही, कुरुक्षेत्र युद्ध के शुरू होने के दिन से ही अप्रसन्न थे, किन्तु युद्ध में स्वजनों को मारने की अनिच्छा होते हुए भी, उन्हें उसे कर्तव्य समझकर करना पड़ रहा था, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण की परम इच्छा से इसकी योजना की गई थी। युद्ध के पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ऐसे सामूहिक संहार से दुखी थे। एक तरह पाण्डवों के बाद कुरु वंश को चलानेवाला कोई नहीं था। यदि एक मात्र आशा शेष थी, तो वह पुत्रवधू उत्तरा के गर्भ में स्थित बालक था और उस पर भी अश्वत्थामा ने हमला कर दिया था, किन्तु भगवान् की कृपा से वह बालक बच गया था। अतएव सभी उपद्रवों के शान्त होने पर तथा राज्य में शान्ति स्थापित होने पर और एकमात्र बचे हुए बालक परीक्षित को देखकर युधिष्ठिर सन्तुष्ट थे और सदैव क्षणिक और भ्रांत करने वाले भौतिक सुख के प्रति आकर्षण न होने पर भी मानव होने के कारण, उन्हें कुछ चैन मिला था।

एवं गृहेषु सक्तानां प्रमत्तानां तदीहया ।
अत्यक्रामदविज्ञातः कालः परमदुस्तरः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; गृहेषु—घरेलू मामलों में; सक्तानाम्—अत्यन्त आसक्त पुरुषों के; प्रमत्तानाम्—बेवकूफी से आसक्त; तत्-ईहया—ऐसे विचारों में निमग्न; अत्यक्रामत्—पार कर गया; अविज्ञातः—अनजाने; कालः—सनातन काल; परम—परम; दुस्तरः—दुर्लंघ्य।

जो लोग घरेलू मामलों में अत्यधिक लिप्त रहते हैं और उन्हीं के विचारों में मग्न रहते जाते हैं, उन्हें दुस्तर सनातन काल अनजाने ही धर दबोचता है।

तात्पर्य : ''मैं अब सुखी हूँ; अब सब कुछ ठीक-ठीक है; मेरे पास बैंक में प्रचुर धन है; अब मैं अपने लड़कों को काफी जागीर दे सकता हूँ; अब मैं सफल हूँ; ये भिखारी संन्यासी ईश्वर पर आश्रित तो रहते हैं, किन्तु वे मेरे सामने हाथ फैलाने आते हैं, अतएव मैं परमेश्वर से भी बढ़कर हूँ।'' ये कुछ विचार हैं, जो उन प्रमत्त आसक्त गृहस्थों के मनों में उमड़ते-घुमड़ते रहते हैं, जो शाश्वत काल के प्रति अन्धे रहते हैं। हमारी आयु सीमित है और परम इच्छा से नियत किये गये काल के विपरीत, इसे एक क्षण भी बढ़ा पाना सम्भव नहीं है। मनुष्यों के लिए ऐसा समय अत्यन्त मूल्यवान है और इसे सतर्कता से बिताया जाना चाहिए, क्योंकि अदृश्य रूप से बीते एक क्षण को कठिन कमाई से संग्रह किये गये हजारों सोने के सिक्कों से भी बदला नहीं जा सकता। मानव जीवन का प्रत्येक क्षण अन्ततः जीवन की समस्याओं को हल करने के निमित्त अर्थात् बारम्बार जन्म-मृत्यु एवं ८४,००,००० योनियों में भटकते रहने से छुटकारा पाने के लिए है। यह भौतिक शरीर, जो जन्म तथा मृत्यु, रोग तथा बुढ़ापे से ग्रस्त होता रहता है, जीव के समस्त कष्टों की जड़ है अन्यथा जीव तो शाश्वत है। न तो वह कभी जन्मता है, न कभी मरता है। मूर्ख लोग इस समस्या को भूल जाते हैं। उन्हें इसका पता ही नहीं रहता कि जीवन की समस्याओं को किस तरह हल किया जाए। उल्टे वे क्षणिक पारिवारिक झंझटों में उलझे रहते हैं और उनकी समझ में यह नहीं आता कि शाश्वत समय, अदृश्य रूप से बीतता जा रहा है, उनकी सीमित आयु हर क्षण घटती जा रही है और जन्म-मृत्यु एवं रोग तथा बुढ़ापे के चक्कर की सबसे बड़ी समस्या ज्यों की त्यों बनी रहती है। ही भ्रम कहलाता है।

किन्तु जो व्यक्ति भगवान् की भक्तिमय सेवा के प्रति जागरूक रहता है, उस पर यह भ्रम प्रभाव नहीं डाल सकता। युधिष्ठिर महाराज तथा उनके भाई पाण्डव सभी भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में लगे रहते थे और उन्हें इस भौतिक जगत के मायावी सुख के प्रति तनिक भी आकर्षण न था। जैसाकि हम पहले बता चुके हैं, महाराज युधिष्ठिर भगवान् मुकुन्द (मोक्षदाता भगवान्) की सेवा में अचल थे, अतएव उन्हें स्वर्ग में उपलब्ध जीवन के सुख का भी आकर्षण न था, क्योंकि ब्रह्मलोक तक में उपलब्ध सुख क्षणिक तथा भ्रामक होता है। चूँकि जीव शाश्वत है, अतएव वह भगवान् के नित्य धाम

(परव्योम) में ही सुखी रह सकता है जहाँ से बारम्बार जन्म-मृत्यु, रोग तथा बुढ़ापे के इस भूभाग में कोई नहीं लौटता। अत: ऐसा कोई भी सुख या भौतिक सुविधा, जो शाश्वत जीवन प्रदान नहीं कर सकती, शाश्वत जीव के लिए भ्रम ही है। जो इस तथ्य को समझ लेता है, वह विद्वान है और ऐसा विद्वान व्यक्ति, *ब्रह्मसुखम्* के नाम से विख्यात वांछित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किसी भी भौतिक सुख का बलिदान कर सकता है। इस सुख के लिए वास्तविक योगी तक लालायित रहते हैं और जिस तरह भूखा व्यक्ति, भोजन के बिना, अन्य समस्त सुख-सुविधाओं से सुखी नहीं बनाया जा सकता, उसी प्रकार जिसे आध्यात्मिक परम सुख की भूख है, उसे कितना ही भौतिक सुख क्यों न प्राप्त हो, किन्तु इसकी यह भूख बुझती नहीं। अतएव इस श्लोक में वर्णित उपदेश को महाराज युधिष्ठिर पर या उनके भाइयों तथा माता पर लागू नहीं किया जा सकता। यह धृतराष्ट्र जैसे व्यक्तियों के लिए है, जिन्हें शिक्षा देने के लिए विदुर विशेष रूप से आये।

विदुरस्तदभिप्रेत्य धृतराष्ट्रमभाषत ।
राजन्निर्गम्यतां शीघ्रं पश्येदं भयमागतम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

विदुरः—महात्मा विदुर ने; तत्—वह; अभिप्रेत्य—ठीक से जानकर; धृतराष्ट्रम्—धृतराष्ट्र से; अभाषत—कहा; राजन्—हे राजा; निर्गम्यताम्—कृपा करके बाहर निकलें; शीघ्रम्—शीघ्र ही; पश्य—देखो; इदम्—इस; भयम्—भय को; आगतम्—पहले से आया हुआ।

महात्मा विदुर यह सब जानते थे, अतएव उन्होंने धृतराष्ट्र को सम्बोधित करते हुए कहा : हे राजन्, कृपा करके यहाँ से शीघ्र ही बाहर निकल चलिये। विलम्ब न कीजिये। जरा देखें तो, भय ने किस प्रकार आपको वशीभूत कर रखा है।

तात्पर्य : क्रूर काल को किसी की परवाह नहीं रहती, चाहे वह धृतराष्ट्र हो या महाराज युधिष्ठिर ही क्यों न हों। अतएव बूढ़े धृतराष्ट्र को जो आध्यात्मिक उपदेश दिया गया, वह उनसे कम आयुवाले महाराज युधिष्ठिर पर भी लागू होता था। एक तरह से, राजमहल का प्रत्येक व्यक्ति, राजा तथा उनके भाइयों एवं माता सहित, विदुर के भाषणों को ध्यान से सुन रहा था। किन्तु विदुर को ज्ञात था कि उनके उपदेश विशेषकर धृतराष्ट्र के ही निमित्त हैं, क्योंकि वे अत्यधिक भौतिकतावादी थे। *राजन्* शब्द से धृतराष्ट्र को विशेष रूप से सम्बोधित किया गया है। धृतराष्ट्र अपने पिता के सबसे बड़े पुत्र थे, अतएव

नियमों के अनुसार, उन्हें हस्तिनापुर के सिंहासन पर आरूढ़ होना था, किन्तु जन्मान्ध होने के कारण, वे अपने न्यायोचित अधिकार से अयोग्य मान लिए गये थे। वे इस शोकावस्था को भूल नहीं पाये, किन्तु अपने छोटे भाई पाण्डु की मृत्यु के बाद, यह निराशा कुछ कम हो गई। उनके छोटे भाई अपने पीछे कुछ अल्पवयस्क पुत्र छोड़ गये थे। अतएव धृतराष्ट्र उनके स्वाभाविक अभिभावक बन चुके थे, किन्तु उनकी हार्दिक अभिलाषा यह थी कि वे असली राजा बनें और अपना राज्य दुर्योधन आदि अपने पुत्रों को हस्तान्तरित कर दें। इन राजसी महत्त्वाकांक्षाओं को लेकर, धृतराष्ट्र राजा बनना चाह रहे थे, अतएव वे अपने साले शकुनी की सलाह से, सभी प्रकार के षड्यंत्र रच रहे थे। किन्तु भगवान् की इच्छा से सारी योजना असफल रही। वे अन्तिम अवस्था में भी अपना सब कुछ, सारे लोग तथा अपना सारा धन खोकर भी, राजा बने रहना चाहते थे, क्योंकि वे महाराज युधिष्ठिर के ताऊ जो थे। अपना कर्तव्य समझकर, महाराज युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र की राजसी प्रतिष्ठा को बनाये रखा और धृतराष्ट्र सुखपूर्वक राजा बने रहने, अथवा महाराज युधिष्ठर के राजसी ताऊ होने के भ्रम में अपने इने-गिने दिन काट रहे थे। विदुर धृतराष्ट्र के छोटे कर्तव्यनिष्ठ स्नेही भाई एवं एक साधु पुरूष होने के कारण, एक साधु पुरूष, उन्हें रोग तथा बुढ़ापे की नींद से जगाना चाह रहे थे। अतएव उन्होंने व्यंग्यपूर्वक धृतराष्ट्र को ''राजन्'' कहकर सम्बोधित किया जबकि वास्तव में वे राजा थे नहीं। हर व्यक्ति सनातन काल का दास है, अतएव कोई भी इस भौतिक जगत में राजा नहीं हो सकता। राजा का अर्थ है, वह जो आज्ञा दे सके। एक सुप्रसिद्ध अंग्रेज राजा काल तथा ज्वार-भाटा को आदेश देना चाहता था, किन्तु काल तथा ज्वार-भाटा ने उसकी आज्ञा का पालन करने से इनकार कर दिया। अतएव इस भौतिक जगत में मनुष्य मिथ्या का राजा होता है और धृतराष्ट्र को विशेष रूप से, उनके मिथ्या पद का तथा उन वास्तविक भयानक घटनाओं का, जो उस समय घट चुकी थीं, स्मरण दिलाया जा रहा था। विदुर ने उनसे तुरन्त ही इस अवस्था से बाहर निकल आने के लिए कहा, यदि वे तेजी से बढ़ने वाली इस भयावह परिस्थिति से बचना चाह रहे हों। उन्होंने महाराज युधिष्ठिर से इस प्रकार नहीं कहा, क्योंकि उन्हें पता था कि महाराज युधिष्ठिर इस विकट संसार की भयावह परिस्थति से अवगत हैं और कालक्रम में वे स्वयं अपनी रक्षा कर सकेंगे, भले ही उस समय विदुर वहाँ उपस्थित न हों।

प्रतिक्रिया न यस्येह कुतश्चित्कर्हिचित्प्रभो ।
स एष भगवान् कालः सर्वेषां नः समागतः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

प्रतिक्रिया—उपचार; न—नहीं है; यस्य—जिसका; इह—इस भौतिक संसार में; कुतश्चित्—किसी प्रकार से भी; कर्हिचित्—या किसी के द्वारा; प्रभो—हे स्वामी; सः—वह; एषः—निश्चित रूप से; भगवान्—भगवान्; कालः—शाश्वत काल; सर्वेषाम्—सबों का; नः—हम सबका; समागतः—आया हुआ।

इस भौतिक संसार में कोई भी व्यक्ति इस भयावह स्थिति का निराकरण नहीं कर सकता। हे स्वामी, शाश्वत काल के रूप में, पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् हम सबों के पास आ पहुँचे हैं।

तात्पर्य : ऐसी कोई बेहतर शक्ति नहीं है, जो मृत्यु के क्रूर पंजे को रोक सके। किसी को चाहे कितना ही शारीरिक कष्ट क्यों न होता हो, तब भी कोई मरना नहीं चाहता। आज की तथाकथित ज्ञान की वैज्ञानिक प्रगति के समय में भी न तो बुढ़ापे का कोई उपचार है, न मृत्यु का। वृद्धावस्था क्रूर काल द्वारा दी गई मृत्यु के आगमन की सूचना है और कोई भी शाश्वत काल के बुलावे को या परम निर्णय को स्वीकार करने से इनकार नहीं कर सकता है। यह सब धृतराष्ट्र को बताया जा रहा है, क्योंकि हो सकता है कि वे विदुर से इस आसन्न भयावह स्थिति से निपटने के लिए कोई उपचार ढूँढ़ निकालने के लिए कहें, जैसाकि वे इसके पूर्व कई बार कह चुके थे। किन्तु आज्ञा देने के पूर्व, विदुर ने धृतराष्ट्र को सूचित किया कि इस जगत में इसका किसी के पास या किसी साधन से कोई उपचार प्राप्त नहीं हो सकता। और चूँकि इस भौतिक जगत में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, अतः मृत्यु भगवान् से अभिन्न है जैसाकि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (१०.३४) में कहा है।

इस भौतिक जगत में मृत्यु को न तो किसी के द्वारा, न ही किसी साधन से रोका जा सकता है। हिरण्यकशिपु अमर होना चाहता था और उसने उग्र तपस्या की थी, जिससे सारा संसार थरथरा रहा था और ब्रह्मा स्वयं उसे ऐसी उग्र तपस्या से विरत कराने के लिए उसके पास गये थे। हिरण्यकशिपु ने ब्रह्मा से यह वर माँगा कि वह अमर हो जाय, किन्तु ब्रह्मा ने कहा कि वे स्वयं सर्वोच्च लोक में रहकर भी मृत्यु के अधीन हैं, अतएव वे उसे अमरत्व का वरदान कैसे दे सकते हैं? अतः इस ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोक में भी मृत्यु है। फिर अन्य लोकों के विषय में तो कहना ही क्या, जो गुणता में ब्रह्मा के आवास के ग्रह ब्रह्मलोक से कहीं निम्न कोटि के हैं? जहाँ कहीं भी सनातन काल का प्रभाव है, वहीं-वहीं जन्म, रोग, बुढ़ापा तथा मृत्यु इन कष्टों की श्रृंखला का अस्तित्व है और ये सारे अपराजेय हैं।

येन चैवाभिपन्नोऽयं प्राणैः प्रियतमैरपि ।
जनः सद्यो वियुज्येत किमुतान्यैर्धनादिभिः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

येन—ऐसे काल द्वारा खींचा गया; च—तथा; एव—निश्चय ही; अभिपन्नः—पकड़ में या प्रभाव में; अयम्—यह; प्राणैः—जीवन से; प्रिय-तमैः—जो सबों को अत्यन्त प्रिय है; अपि—यद्यपि; जनः—व्यक्ति; सद्यः—शीघ्र; वियुज्येत—त्याग दे; किम् उत अन्यैः—अन्य वस्तु के विषय में क्या कहा जाय; धन-आदिभिः—यथा धन, सम्मान, सन्तान, भूमि तथा घर।

जो भी सर्वोपरि काल (शाश्वत समय) के प्रभाव में है, उसे अपना सबसे प्रिय जीवन काल को अर्पित करना पड़ता है, अन्य वस्तुओं यथा धन, सम्मान, सन्तान, भूमि तथा घर का तो कुछ कहना ही नहीं।

तात्पर्य : एक महान् भारतीय वैज्ञानिक जो आयोजन करने के कार्य में व्यस्त रहता था, जब योजना आयोग की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बैठक में भाग लेने जा रहा था, तो सहसा उसे अजेय काल का बुलावा आ गया और उसे अपना जीवन, पत्नी, बच्चे, घर, भूमि, धन इत्यादि सब कुछ त्यागना पड़ा। भारत में राजनीतिक उथल-पुथल तथा पाकिस्तान एवं हिन्दुस्तान में इसके विभाजन के समय अनेक धनी तथा प्रभावशाली भारतीयों को काल के वश में आकर अपना जीवन, सम्पत्ति तथा सम्मान, सभी कुछ समर्पित कर देना पड़ा। सारे विश्व में, सारे ब्राह्मण्ड में, इस तरह के सैकड़ों-हजारों उदाहरण भरे पड़े हैं, जो सारे काल के प्रभाव के कारण हैं। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि ब्रह्माण्ड में कोई भी ऐसा शक्तिशाली जीव नहीं है, जो काल के प्रभाव को जीत सके। अनेक कवियों ने काल के प्रभाव के विषय में विलाप करते हुए कविताएँ लिखीं हैं। काल के प्रभाव से ही ब्रह्माण्डों में अनेक विनाश-की घटनाएँ होती रही हैं और कोई भी उन्हें किसी साधन से रोक नहीं पाया। यहाँ तक कि हमारे हररोज के जीवन में ऐसी अनेक बातें घटती रहती हैं, जिनमें हमारा वश नहीं चलता और हमें उन्हें सहना पड़ता है। उनका कोई निवारक उपाय नहीं होता। यही काल का परिणाम है।

पितृभ्रातृसुहृत्पुत्रा हतास्ते विगतं वयम् ।
आत्मा च जरया ग्रस्तः परगेहमुपाससे ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

पितृ—पिता; भ्रातृ—भाई; सुहृत्—शुभचिन्तक; पुत्राः—पुत्र; हताः—सारे के सारे मृत; ते—आपके; विगतम्—नि:शेष; वयम्—आयु; आत्मा—शरीर; च—भी; जरया—वृद्धावस्था से; ग्रस्तः—अभिभूत, परास्त; पर-गेहम्—दूसरे के घर; उपाससे—जमे रहते हो।

आपके पिता, भाई, शुभचिन्तक तथा पुत्र सभी मर चुके हैं और दूर चले गये हैं। आपने स्वयं भी अपने जीवन का अधिकांश समय व्यतीत कर लिया है, अब आपके शरीर को बुढ़ापे ने आ दबोचा है और आप पराए घर में पड़े हुए हैं।

तात्पर्य : राजा धृतराष्ट्र को क्रूर काल द्वारा वशीभूत उनकी गम्भीर दशा का स्मरण कराया जा रहा है। उन्हें अपने विगत अनुभव के कारण उन्हें अधिक बुद्धिमान हो जाना चाहिए था कि उनके जीवन में क्या घटित होने जा रहा है। उनके पिता, विचित्रवीर्य, काफी पहले मर चुके थे, जब वे तथा उनके छोटे भाई सभी छोटे-छोटे बालक थे। यह तो भीष्मदेव की देखरेख तथा सहृदयता का परिणाम था कि वे सभी अच्छी तरह पल सके। फिर उनके भाई पाण्डु भी चल बसे। तत्पश्चात्, उनके एक सौ पुत्र तथा सारे पौत्र, अपने अन्य समस्त हितैषि समेत, यथा भीष्मदेव, द्रोणाचार्य, कर्ण तथा अन्य बहुत से राजाओं तथा मित्र सभी, कुरुक्षेत्र के युद्ध में काम आ चुके थे। इस प्रकार उनके सारे जन तथा उनका सारा धन नष्ट हो चुका था और अब वे अपने भतीजे की कृपा पर जीवित थे, जिसे उन्होंने सभी प्रकार की मुसीबतों में डाला था। इन सारी विफलताओं के बावजूद, वे सोच रहे थे कि वे अपना जीवन दीर्घ काल तक ऐसे ही चलाते रहेंगे। धृतराष्ट्र को विदुर यह बता देना चाहते थे कि हर एक को अपने कर्म तथा भगवत्कृपा द्वारा अपनी रक्षा करनी होती है। मनुष्य को श्रद्धापूर्वक अपना कर्म करना चाहिए, फल तो परमेश्वर पर आश्रित है। जो व्यक्ति परमेश्वर द्वारा रक्षित नहीं है, उसकी रक्षा न कोई मित्र, न सन्तानें, न पिता, न भाई, न राज्य या अन्य कोई कर सकता है। अतएव मनुष्य को भगवान् के संरक्षण की खोज करनी चाहिए, क्योंकि यह मनुष्य जीवन इसी खोज के लिए मिला है। उन्हें उनकी गम्भीर स्थिति की जानकारी निम्नलिखित शब्दों द्वारा और भी अधिक दी गई।

अन्धः पुरैव वधिरो मन्दप्रज्ञाश्च साम्प्रतम् ।
विशीर्णदन्तो मन्दाग्निः सरागः कफमुद्वहन् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अन्धः—अंधा; पुरा—प्रारम्भ से; एव—निश्चय ही; वधिरः—बहरा; मन्द-प्रज्ञाः—कुन्द स्मृति; च—तथा; साम्प्रतम्—हाल ही में; विशीर्ण—हिलते हुए; दन्तः—दाँत; मन्द-अग्निः—यकृत की क्रिया का कम होना; स-रागः—ध्वनि सहित; कफम्—कफ; उद्वहन्—निकलता हुआ।

आप जन्म से ही अन्धे रहे हैं और हाल ही में आप कुछ बहरे हो चुके हैं। आपकी स्मृति कम हो गई है और आपकी बुद्धि विचलित हो गई है। आपके दाँत हिल चुके हैं, आपका यकृत खराब हो चुका है और आपके कफ निकल रहा है।

तात्पर्य : वृद्धावस्था के सारे लक्षण धृतराष्ट्र में पहले से प्रकट हो चुके थे और उन सबों को एक-एक करके बतलाकर, उन्हें आगाह किया जा रहा है कि उनकी मृत्यु अत्यन्त निकट है; तो भी वे भविष्य के प्रति मूर्ख की तरह लापरवाह थे। धृतराष्ट्र के शरीर में इंगित किये गये सारे लक्षण *अपक्षय* के थे, अर्थात् मृत्यु के अन्तिम आघात के पूर्व शरीर के क्षय होने के लक्षण थे। यह शरीर उत्पन्न होता है, बढ़ता है, बना रहता है, दूसरे शरीरों को जन्म देता है, उसका क्षय होता है और तब वह नष्ट हो जाता है। किन्तु मूर्ख लोग नश्वर शरीर के साथ स्थायी समझौता करना चाहते हैं और सोचते हैं कि उनकी जायदाद, सन्तानें, समाज, देश इत्यादि उन्हें संरक्षण प्रदान करेंगे। ऐसे मूर्खतापूर्ण विचारों में आकर, वे ऐसे अस्थायी कार्यों में व्यस्त हो जाते हैं और यह बिल्कुल भूल जाते हैं कि उन्हें यह अस्थायी शरीर त्याग कर नया शरीर धारण करना है और समाज, मित्रता तथा प्यार की फिर नई व्यवस्था करनी है और अन्त में फिर से नष्ट हो जाना है। वे अपना स्थायी स्वरूप भूल जाते हैं और अपने मूल कर्तव्य को भूलकर अस्थायी कार्यों में सक्रिय हो जाते हैं। विदुर जैसे साधु-सन्त ऐसे लोगों को वास्तविक स्थिति के प्रति सचेत करने के लिए उनके पास पहुँचते हैं, किन्तु वे ऐसे साधु-सन्तों को समाज पर आश्रित अवांछित तत्त्व समझते हैं और लगभग सभी उनकी बातें अनसुनी कर देते हैं, यद्यपि वे अपनी इन्द्रियों को तृप्त करनेवाले तथाकथित दिखावटी साधु-सन्तों का स्वागत करते रहते हैं। विदुर ऐसे साधु न थे, जो धृतराष्ट्र की दुर्भावना की तुष्टि करते। वे जीवन की वास्तविक स्थिति को सही-सही बता रहे थे और यह बता रहे थे कि ऐसी विपत्तियों से अपने आपको किस प्रकार बचाया जाए।

अहो महीयसी जन्तोर्जीविताशा यथा भवान् ।
भीमापवर्जितं पिण्डमादत्ते गृहपालवत् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; महीयसी—शक्तिमान; जन्तोः—जीवों की; जीवित-आशा—जीवन की उम्मीद; यथा—जिस तरह; भवान्—आप हैं; भीम—भीमसेन (युधिष्ठिर के भाई) के; अपवर्जितम्—जूठा; पिण्डम्—भोजन; आदत्ते—खाया गया; गृह-पाल-वत्—घेरलू कुत्ते के समान।.

ओह! प्राणी में जीवित रहने की कितनी प्रबल इच्छा होती है! निश्चय ही आप एक घेरलू कुत्ते की भाँति रह रहे हैं और भीम द्वारा दिये गये जूठन को खा रहे हैं।

तात्पर्य : साधु को कभी भी सुखमय जीवन बिताने की इच्छा से, राजाओं या धनियों की चापलूसी नहीं करनी चाहिए। साधु को चाहिए कि वह गृहस्थों से जीवन के कटु सत्य के बारे में बताए, जिससे वे इस भौतिक अस्तित्व के संकटपूर्ण अनिश्चित जीवन के विषय में सचेत हो सकें। धृतराष्ट्र गृहस्थ जीवन के प्रति आसक्त वृद्ध पुरुष के जीते-जागते उदाहरण हैं। वे वास्तव में दरिद्र हो चुके थे, फिर भी वे पाण्डवों के घर में सुख-पूर्वक जीवन बिताना चाह रहे थे। इनमें से भीमसेन का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है, क्योंकि उसने धृतराष्ट्र के दो प्रमुख पुत्रों—दुर्योधन तथा दुस्शासन का स्वयं वध किया था। ये दोनों पुत्र अपने छल-कपट एवं दुष्ट कार्यों के कारण उन्हें अत्यन्त प्रिय थे और भीमसेन का विशेष उल्लेख इसलिए हुआ है, क्योंकि उसने इन दोनों प्रिय पुत्रों को मारा था। तो धृतराष्ट्र पाण्डवों के घर में क्यों रह रहे थे? क्योंकि सारा अपमान सहकर भी वे सुखपूर्वक जीवन बिताना चाह रहे थे। अतः विदुर को आश्चर्य हो रहा था कि जीवित रहने की आशा कितनी प्रबल होती है। यह जीविताशा सूचित करती है कि जीव शाश्वत है और वह अपने शारीरिक निवासस्थान को बदलना नहीं चाहता। मूर्ख व्यक्ति यह नहीं जानता कि उसे यह शरीर सीमित अवधि के लिए बन्दी के रूप में बिताने के लिए मिला है और मनुष्य शरीर तो अनेकानेक जन्मांतरों के बाद मिलता है, जो भगवद्धाम वापस जाने के लिए आत्म-साक्षात्कार का सुअवसर होता है। लेकिन धृतराष्ट्र जैसे व्यक्ति, लाभ-सहित सुखी रहकर जीवित रहने की योजनाएँ बनाते हैं, क्योंकि उन्हें असली रूप में ज्ञान नहीं होता। धृतराष्ट्र अन्धे थे और जीवन की समस्त विषमताओं के बीच वे सुखपूर्वक जीवित रहने की आशा लगाये हुए थे। विदुर जैसे साधु ऐसे अंधे व्यक्तियों को सावधान करने के लिए तथा शाश्वत जीवन बिताने के लिए भगवद्-धाम जाने में सहायता करने के लिए होते हैं। एक बार वहाँ जाकर कोई इस दुखमय संसार में वापस नहीं आना चाहता। अतएव हम सोच सकते हैं कि महात्मा विदुर जैसे साधु पुरूषों को कितना उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य करने के लिए सौंपा जाता है।

अग्निर्निसृष्टो दत्तश्च गरो दाराश्च दूषिताः ।
हृतं क्षेत्रं धनं येषां तद्दत्तैरसुभिः कियत् ॥ २४॥

शब्दार्थ

अग्निः—अग्नि; निसृष्टः—लगाया हुआ; दत्तः—दिया हुआ; च—तथा; गरः—विष; दाराः—विवाहिता स्त्री; च—तथा; दूषिताः—अपमानित; हृतम्—बलपूर्वक छीना गया; क्षेत्रम्—राज्य; धनम्—सम्पत्ति; येषाम्—जिनका; तत्—उनका; दत्तैः—दिया गया; असुभिः—जीने में; कियत्—अनावश्यक है।

आपने अग्नि लगाकर तथा विष देकर जिन लोगों को मारना चाहा, उन्हीं के दान पर आपको जीवित रहने तथा गिरा हुआ जीवन बिताने की आवश्यकता नहीं है। उनकी एक पत्नी को भी आपने अपमानित किया है और उनका राज्य तथा धन छीन लिया है।

तात्पर्य : *वर्णाश्रम धर्म* पद्धति में मनुष्य जीवन का एक अंश पूर्णतया आत्म-साक्षात्कार के हेतु तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए सुरक्षित रहता है। यह जीवन काल का सामान्य विभाजन है, लेकिन धृतराष्ट्र-जैसे लोग वृद्धावस्था में भी घर में बने रहना चाहते हैं, भले ही दुश्मन से दान स्वीकार करके अधम जीवन ही क्यों न बिताना पड़े। विदुर यह बताना चाह रहे थे और धृतराष्ट्र पर जोर डालना चाहते थे कि इस तरहअपमानित होकर दान स्वीकार करने की अपेक्षा अपने पुत्रों की भाँति मर जाना अधिक श्रेयस्कर है। आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व एक धृतराष्ट्र था, लेकिन इस समय तो घर-घर में धृतराष्ट्र हैं! राजनेता तो विशेष रूप से राजनैतिक गतिविधियों से तब तक अवकाश नहीं लेते, जब तक क्रूर मृत्यु उन्हें घसीटकर नहीं ले जाती या कोई विरोधी तत्त्व उन्हें मार नहीं डालता। अपने मनुष्य जीवन के अन्त तक गृहस्थ जीवन में चिपके रहना सबसे निपट अधमता है। अतएव इस समय भी ऐसे विदुरों की आवश्यकता है, जो धृतराष्ट्रों को मार्ग दिखा सकें।

तस्यापि तव देहोऽयं कृपणस्य जिजीविषोः ।
परैत्यनिच्छतो जीर्णो जरया वाससी इव ॥ २५॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अपि—के बावजूद; तव—तुम्हारा; देहः—शरीर; अयम्—यह; कृपणस्य—कंजूस का; जिजीविषोः—जीवन की इच्छा करनेवाले का; परैति—क्षीण हो जाएगा; अनिच्छतः—न चाहते हुए भी; जीर्णः—टूटा-फूटा; जरया—पुराने; वाससी—वस्त्रों; इव—सदृश।

मरने के लिए आपकी अनिच्छा होने तथा आत्म-सम्मान की बलि देकर जीवित रहने की आपकी इच्छा होने पर भी, आपका यह कृपण शरीर निश्चय ही क्षीण होगा तथा पुराने वस्त्र की भाँति नष्ट हो जाएगा।

तात्पर्य : *कृपणस्य जिजीविषोः* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। मनुष्यों के दो वर्ग होते हैं—एक *कृपण* कहलाते हैं और दूसरे *ब्राह्मण*। *कृपण* अर्थात् कंजूस अपने भौतिक शरीर का कोई मूल्यांकन नहीं कर पाता, किन्तु ब्राह्मण अपना तथा अपने शरीर का पूरा-पूरा मूल्यांकन कर सकता है। कृपण अपने शरीर का गलत मूल्यांकन करने के कारण, इन्द्रियतृप्ति का भरपूर ताकत से भोग करना चाहता है और बुढ़ापे में भी औषधियों के उपचार से या किसी अन्य तरह से जवान बनना चाहता है। धृतराष्ट्र को यहाँ पर कृपण कहा गया है, क्योंकि वह अपने शरीर का कोई मूल्यांकन किये बिना येन-केन-प्रकारेण जीवित रहना चाहता है। विदुर उसकी आँखें खोलना चाह रहे हैं कि वह निश्चित अवधि से अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकता और अब उसे मरने के लिए तैयार रहना चाहिए। चूँकि मृत्यु अवश्यम्भावी है, तो उसे जीवित रहने के लिए ऐसी अपमाजनक स्थिति का स्वीकार क्यों करना चाहिए? श्रेयस्कर तो यही है कि मृत्यु की जोखिम उठाते हुए भी समुचित राह पकड़ी जाय। यह मनुष्य जीवन भौतिक अस्तित्त्व के सारे दुखों को समाप्त करने के लिए मिला है और जीवन को इस प्रकार नियमित बनाना चाहिए कि वांछित लक्ष्य प्राप्त हो सके। धृतराष्ट्र, जीवन के प्रति गलत धारणा के कारण, अपनी अर्जित शक्ति का अस्सी प्रतिशत भाग पहले ही गँवा चुके थे, अतएव उन्हें कृपण जीवन के अन्तिम दिनों का सदुपयोग परम कल्याण के लिए करना चाहिए। ऐसा जीवन कृपण कहलाता है, क्योंकि इस तरह कोई मनुष्य जीवन की सारी निधियों का सही-सही उपयोग नहीं कर पाता। सौभाग्य से ही, ऐसे कृपण मनुष्य की विदुर जैसे स्वरूप-सिद्ध व्यक्ति से भेंट होती है और उसके उपदेश से भवसागर के अज्ञान से छुटकारा प्राप्त होता है।

गतस्वार्थमिमं देहं विरक्तो मुक्तबन्धनः ।
अविज्ञातगतिर्जह्यात् स वै धीर उदाहृतः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

गत-स्व-अर्थम्—ठीक से उपयोग किये बिना; इमम्—इस; देहम्—भौतिक शरीर को; विरक्तः—अन्यमनस्क; मुक्त—मुक्त होकर; बन्धनः—सारे बन्धनों से; अविज्ञात-गतिः—अज्ञात लक्ष्य; जह्यात्—इस शरीर को त्याग देना चाहिए; सः—ऐसा व्यक्ति; वै—निश्चय ही; धीरः—अविचल; उदाहृतः—कहलाता है।

वह धीर कहलाता है, जो किसी अज्ञात सुदूर स्थान को चला जाए और जब यह भौतिक शरीर व्यर्थ हो जाए, तब सारे बन्धनों से मुक्त होकर अपने शरीर को त्यागता है।

तात्पर्य : महान् भक्त तथा गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य नरोत्तमदास ठाकुर का गीत है, ''हे भगवान्! मैंने अपना जीवन व्यर्थ गँवा दिया। मनुष्य शरीर पाने पर भी, मैंने आपकी उपासना की उपेक्षा की है, अत: मैंने जानबूझ कर विषपान किया है।'' दूसरे शब्दों में, मनुष्य का शरीर विशेष रूप से भगवान् की भक्तिमय सेवा के ज्ञान के अनुशीलन के लिए मिला है, जिसके बिना जीवन चिन्ताओं से भरा तथा कष्टमय बन जाता है। अतएव जिसने ऐसे सांस्कृतिक कार्यकलापों के बिना ही अपना जीवन गवाँ दिया हो, तो उसे सलाह दी जाती है कि वह मित्रों तथा सम्बन्धियों को बताये बिना घर छोड़ दे और इस तरह परिवार, समाज, देश इत्यादि के बन्धनों से मुक्त हो ले तथा ऐसे अज्ञात स्थान में शरीर का त्याग करे, जिससे लोग यह न जान सकें कि कब और कैसे उसकी मृत्यु हुई। *धीर* का अर्थ है, जो बहुत उत्तेजित किये जाने पर भी विचलित न हो। मनुष्य अपनी पत्नी और बच्चों के साथ अपने स्नेहमय सम्बन्धों के कारण सुखमय गृहस्थ जीवन का त्याग नहीं कर पाता। परिवार के प्रति ऐसे व्यर्थ के स्नेह से आत्म-साक्षात्कार अवरूद्ध हो जाता है और जो कोई ऐसे सम्बन्ध को भुलाने में समर्थ होता है, वह *धीर* कहलाता है। किन्तु यह तो हताश जीवन का वैराग्य-पथ है। ऐसे वैराग्य का स्थिरीकरण प्रामाणिक सन्तों तथा स्वरूप-सिद्ध महात्माओं के सान्निध्य से ही सम्भव है, जिससे मनुष्य भगवद्भक्ति में प्रवृत्त हो सकता है। दिव्य सेवाभाव को जागृत करके भगवान् के चरणकमलों में एकनिष्ठ शरणागति सम्भव है। भगवान् के शुद्ध भक्तों की संगति से ऐसा सम्भव हो पाता है। धृतराष्ट्र भाग्यशाली थे कि उनका ऐसा भाई था, जिसकी संगति उनके हताश जीवन के लिए मुक्ति का साधन थी।

य: स्वकात्परतो वेह जातनिर्वेद आत्मवान् ।
हृदि कृत्वा हरिं गेहात्प्रव्रजेत्स नरोत्तम: ॥ २७॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; स्वकात्—अपने जागरण से; परतः वा—अथवा अन्यों से सुनकर; इह—इस संसार में; जात—बनता है; निर्वेदः—भौतिक आसक्ति के प्रति अन्यमनस्क; आत्मवान्—चेतना; हृदि—हृदय के भीतर; कृत्वा—ग्रहण किया जाकर; हरिम्—भगवान् को; गेहात्—घर से; प्रव्रजेत्—बाहर चला जाता है; सः—वह; नर-उत्तमः—प्रथम कोटि का मनुष्य है।

अपने आप से या दूसरे के समझाने से जो व्यक्ति जाग जाता है और इस भौतिक जगत की असत्यता तथा दुखों को समझ लेता है तथा अपने हृदय के भीतर निवास करनेवाले भगवान् पर पूर्णतया आश्रित होकर घर त्याग देता है, वह निश्चय ही उत्तम कोटि का मनुष्य है।

तात्पर्य : अध्यात्मवादीयों की तीन श्रेणियाँ हैं—(१) *धीर* अर्थात् वह जो पारिवारिक संगति से दूर रहने के कारण विचलित नहीं होता, (२) *संन्यासी* जो हताश भावना के कारण विरक्त जीवन बिताता है; तथा (३) निष्ठावान भगवद्भक्त, जो श्रवण तथा कीर्तन द्वारा ईश्वर-चेतना जगाता है और हृदय में वास करनेवाले भगवान् पर पूर्णतया आश्रित रहकर गृह-त्याग कर देता है। भाव यह है कि भौतिक जगत में हताश भावनामय जीवन के बाद संन्यास आत्म-साक्षात्कार के मार्ग का प्रथम सोपान हो सकता है, *किन्तु मुक्ति-मार्ग में वास्तविक सिद्धि तभी प्राप्त होती है, जब मनुष्य उन भगवान् पर पूर्णतया आश्रित रहने का अभ्यास कर लेता है,* जो परमात्मा रूप में प्रत्येक के हृदय में स्थित रहते हैं। वह, भले ही घर के परे गहन अंधकारमय जंगल में क्यों न रहे, किन्तु धीर भक्त अच्छी तरह जानता है कि वह अकेला नहीं है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सदैव अपने सच्चे भक्त के साथ रहते हैं और किसी भी विषम परिस्थिति में उसकी रक्षा करते हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि शुद्ध भक्तों की संगति में भगवान् के पवित्र नाम, रूप, लीलाओं, पार्षदों आदि का श्रवण तथा कीर्तन करते हुए घर पर ही भक्ति का अभ्यास करे और यह अभ्यास उसकी निष्ठा के अनुसार उसमें ईश्वर-चेतना जगाने में सहायता करता है। जो व्यक्ति ऐसे कार्यों के द्वारा भौतिक लाभ चाहता है, वह कभी भी भगवान् पर आश्रित नहीं रह सकता, यद्यपि भगवान् हर एक के हृदय में वास करनेवाले हैं। न ही, उन लोगों को जो इस तरह के भौतिक लाभ के लिये भगवान् की पूजा करते हैं, भगवान् कोई निर्देश देते हैं। ऐसे भौतिकतावादी भक्तों को भगवान् भौतिक लाभ का वर दे सकते हैं, किन्तु वे कभी भी उत्तमकोटि के पुरुषों की कोटि को प्राप्त नहीं कर पाते, जैसाकि ऊपर बताया गया है। विश्व के इतिहास में, विशेष रूप से भारत में, ऐसे निष्ठावान भक्तों के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं और वे सब आत्म-साक्षात्कार के पथ में हमारे

मार्गदर्शक हैं। महात्मा विदुर ऐसे ही एक महान् भक्त हैं और आत्म-साक्षात्कार के लिये हमें उनके कमल सदृश चरण-चिह्नों का अनुसरण करने का प्रयास करना चाहिये।

अथोदीचीं दिशं यातु स्वैरज्ञातगतिर्भवान् ।
इतोऽर्वाक्प्रायश: काल: पुंसां गुणविकर्षण: ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतएव; उदीचीम्—उत्तरी; दिशम्—दिशा को; यातु—चले जाइये; स्वै:—अपने सम्बन्धियों द्वारा; अज्ञात—जाने बिना; गति:—गतिविधियाँ; भवान्—आपकी; इत:—इसके बाद; अर्वाक्—सूत्रपात होगा; प्रायश:—सामान्यतया; काल:—काल, समय; पुंसाम्—मनुष्यों के; गुण—गुण; विकर्षण:—ह्रास।

अतएव कृपया आप अपने कुटुम्बियों को बताये बिना, तुरन्त उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान कर दीजिए, क्योंकि शीघ्र ही ऐसा समय आनेवाला है, जिसमें मनुष्य के सद्गुणों का ह्रास होगा।

तात्पर्य : मनुष्य धीर बनकर या अपने सम्बन्धियों को बताये बिना घर छोड़कर, हताश जीवन की क्षतिपूर्ति कर सकता है और विदुर ने अपने अग्रज को अविलम्ब इस मार्ग को अपनाने की सलाह दी, क्योंकि कलियुग का शीघ्र ही आगमन होने वाला था। बद्धजीव भौतिक संसर्ग के कारण पहले से पतित हुआ होता है और कलियुग में तो मनुष्य के सद्गुण निम्नतम स्तर तक पहुँच चुके होंगे। उन्हें सलाह दी गई है कि कलियुग के आगमन के पूर्व ही वे घर छोड़ दें, क्योंकि विदुर ने जीवन के कई सत्य के विषय में अपने बहुमूल्य उपदेशों द्वारा जो वातावरण उत्पन्न किया था, वह कलियुग के तेजी से निकट आने के कारण लुप्त हो जाएगा। सामान्य व्यक्ति के लिए, *नरोत्तम* बनना अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण पर पूर्णतया निर्भर रहनेवाला उत्तम कोटि का मनुष्य बनना सम्भव नहीं है। *भगवद्गीता* (७.२८) में कहा गया है कि जो व्यक्ति पापकर्मों के दूषणों से पूर्णतया रहित हो जाता है, वही भगवान् श्रीकृष्ण पर आश्रित रह सकता है। धृतराष्ट्र को विदुर ने सलाह दी कि यदि वे *संन्यासी* या *नरोत्तम* नहीं बन सकते, तो प्रारम्भ में कम से कम *धीर* तो बन लें। *धीर* अवस्था से *नरोत्तम* अवस्था प्राप्त करने के लिये मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार की दिशा में निरन्तर प्रयास करना पड़ता है। धीर अवस्था योग-पद्धति के दीर्घकालीन अभ्यास से, प्राप्त होती है, किन्तु विदुर की कृपा से धीर अवस्था के साधनों के ग्रहण करने

की इच्छा करने से ही यह अवस्था प्राप्त की जा सकती है, जो संन्यास की प्रारम्भिक अवस्था है। *संन्यास* अवस्था *परमहंस* अवस्था अर्थात् प्रथम श्रेणी के भक्त की प्रारम्भिक अवस्था है।

एवं राजा विदुरेणानुजेन प्रज्ञाचक्षुर्बोधित आजमीढः ।
छित्त्वा स्वेषु स्नेहपाशान्द्रढिम्नो निश्चक्राम भ्रातृसन्दर्शिताध्वा ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; राजा—राजा धृतराष्ट्र; विदुरेण अनुजेन—अपने छोटे भाई विदुर द्वारा; प्रज्ञा—आत्मनिरीक्षण का ज्ञान; चक्षुः—आँखें; बोधितः—समझी जाकर; आजमीढः—धृतराष्ट्र, जो आजमीढ़ वंश की संतान थे; छित्त्वा—तोड़कर; स्वेषु—सम्बन्धियों के विषय में; स्नेह-पाशान्—स्नेह के बन्धनों को; द्रढिम्नः—दृढ़ता के कारण; निश्चक्राम—बाहर चले गये; भ्रातृ—अपने भाई द्वारा; सन्दर्शित—दिखलाये हुए; अध्वा—मुक्तिपथ।

इस प्रकार आजमीढ़ के वंशज महाराज धृतराष्ट्र ने आत्मनिरीक्षणयुक्त ज्ञान (प्रज्ञा) द्वारा पूर्णतः आश्वस्त होकर तुरन्त ही अपने दृढ़ संकल्प से पारिवारिक स्नेह के सारे दृढ़ पाश तोड दिये। तत्पश्चात् वे तत्काल घर छोड़कर, अपने छोटे भाई विदुर द्वारा दिखलाये गये मुक्ति-पथ पर निकल पड़े।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के सिद्धान्तों के महान् प्रचारक भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने साधुओं अर्थात् भगवान् के शुद्ध भक्तों की संगति पर विशेष बल दिया है। उन्होंने बताया है कि शुद्ध भक्त के साथ एक क्षण की संगति से भी उसे सारी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। हम यह स्वीकार करते हुए तनिक भी लज्जित नहीं हैं कि हमने अपने व्यावहारिक जीवन में ऐसा ही अनुभव किया है। यदि कुछ मिनट की प्रथम भेंट के समय कृष्ण कृपामूर्ति श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज की कृपा न हुई होती, तो अंग्रेजी में *श्रीमद्भागवत* के वर्णन का यह गुरुतर कार्य स्वीकार कर पाना हमारे लिए असम्भव होता। उस उपयुक्त क्षण में उनका दर्शन किये बिना हम एक धुरंधर व्यापारी होते, किन्तु मुक्ति के मार्ग पर चलने तथा अपने गुरु के आदेशानुसार भगवान् की सेवा करने के मार्ग पर अग्रसर होने में कभी समर्थ न हुए होते। और यहाँ पर प्रस्तुत है दूसरा व्यावहारिक उदाहरण—धृतराष्ट्र के साथ विदुर की संगति का प्रभाव। महाराज धृतराष्ट्र राजनीति, अर्थशास्त्र तथा पारिवारिक आसक्ति से सम्बद्ध भौतिक आकर्षण के जाल में मजबूती से बँधे हुए थे और अपनी सुनियोजित परियोजनाओं को सफल बनाने के लिये उन्होंने पूरी शक्ति से कार्य किया, किन्तु उन्हें अपने भौतिक कार्यकलापों में अथ से इति तक,

हताशा ही हाथ लगी। इसके बावजूद, अपने जीवन की विफलताओं के होते हुए भी, उन्होंने आदर्श साधु के प्रतीक समान भगवान् के शुद्ध भक्त के शक्तिशाली उपदेशों से आत्म-साक्षात्कार में सर्वाधिक सफलता प्राप्त की। अतएव शास्त्रों का आदेश है कि केवल साधुओं की संगति करनी चाहिये और अन्य समस्त प्रकार की संगतियों का तिरस्कार कर देना चाहिए। ऐसा करने से साधुओं से श्रवण करने के लिए पर्याप्त सुअवसर प्राप्त हो सकेगा, जो इस भौतिक जगत में माया के स्नेह-बन्धन को छिन्न-भिन्न करनेवाले हैं। तथ्य यह है कि यह भौतिक जगत महान् मोह (भ्रम) है, क्योंकि इसमें प्रत्येक वस्तु यथार्थ सत्य प्रतीत होती है, लेकिन दूसरे ही क्षण वह समुद्र के उफनते फेन की भाँति या आकाश में बादलों की भाँति छूमन्तर हो जाती है। आकाश में बादल सचमुच ही वास्तविक प्रतीत होते हैं, क्योंकि उनसे वर्षा होती है और वर्षा के कारण बहुत सारी क्षणभंगुर हरी-हरी वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं, किन्तु काल-क्रम में बादल, वर्षा तथा हरी-हरी वनस्पतियाँ सब कुछ विलुप्त हो जाता हैं। लेकिन आकाश बना रहता है और आकाश में चमचमाते तारे हमेशा ही बने रहते हैं। इसी प्रकार परम सत्य जिसकी उपमा आकाश से दी जाती है, शाश्वत बने रहते हैं और बादल स्वरूप मोह (भ्रम) आता तथा जाता रहता है। मूर्ख जीव क्षणिक बादल के प्रति आकृष्ट होते हैं, लेकिन जो बुद्धिमान हैं, वे शाश्वत आकाश तथा वहाँ की समस्त विविधता से सरोकार रखते हैं।

पतिं प्रयान्तं सुबलस्य पुत्री
पतिव्रता चानुजगाम साध्वी ।
हिमालयं न्यस्तदण्डप्रहर्षं
मनस्विनामिव सत्सम्प्रहारः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

पतिम्—अपने पति को; प्रयान्तम्—घर त्यागते समय; सुबलस्य—राजा सुबल की; पुत्री—योग्य पुत्री; पति-व्रता—अपने पति को समर्पित; च—भी; अनुजगाम—पीछे-पीछे गई; साध्वी—सती; हिमालयम्—हिमालय पर्वत की ओर; न्यस्त-दण्ड—संन्यास आश्रम के दण्ड को स्वीकार करनेवाला; प्रहर्षम्—हर्ष का विषय; मनस्विनाम्—महान् योद्धाओं का; इव—सदृश; सत्—वैध; सम्प्रहारः—अच्छी पिटाई।

कन्दहार (गान्धार) के राजा सुबल की पुत्री, परम साध्वी गान्धारी ने जब यह देखा कि उसके पति हिमालय पर्वत की ओर जा रहे हैं, जो कि संन्यासियों को वैसा ही आनन्द देता है

जैसा कि युद्ध के मैदान में योद्धा को शत्रुओं के प्रहार से प्राप्त होता है, तो वह भी अपने पति के पीछे-पीछे चल पड़ीं।

तात्पर्य : सुबल की पुत्री तथा राजा धृतराष्ट्र की पत्नी, सौबलिनी अर्थात् गान्धारी, अत्यन्त पति-परायणा आदर्श पत्नी थीं। वैदिक सभ्यता में साध्वी तथा पतिव्रता स्त्रियाँ होती थीं, जिनमें से गान्धारी का भी वर्णन इतिहास में पाया जाता है। लक्ष्मीजी सीता देवी एक महान् राजा की पुत्री होते हुए भी अपने पति भगवान् रामचन्द्र के पीछे-पीछे जंगल गईं। इसी प्रकार सामान्य स्त्री की तरह, गान्धारी अपने घर या मायके में रह सकती थीं, किन्तु साध्वी तथा भद्र महिला की भाँति, बिना कुछ विचार किये उन्होंने अपने पति का अनुसरण किया। विदुर ने धृतराष्ट्र को वानप्रस्थ आश्रम के उपदेश दिये थे और गान्धारी अपने पति के साथ-साथ रहीं। किन्तु उन्होंने यह नहीं कहा कि तुम मेरे साथ चलो, क्योंकि उस समय वे उसी तरह दृढ़-संकल्प थे, जिस प्रकार एक महान् योद्धा युद्धभूमि में सभी प्रकार के खतरों को झेलता है। वे तथाकथित पत्नी या सम्बन्धियों के प्रति अब तनिक भी आकृष्ट न थे, उन्होंने अकेले ही जाने का निश्चय किया था, किन्तु साध्वी नारी के रूप में गांधारी ने अन्तिम क्षण तक अपने पति का अनुसरण करने का निश्चय किया। महाराज धृतराष्ट्र ने वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार कर लिया। इस अवस्था में स्त्री को स्वेच्छा से सेविका-रूप में साथ रहने की अनुमति है, लेकिन संन्यास आश्रम में कोई भी पत्नी अपने पूर्व पति के साथ नहीं रह सकती। नागरिकता की दृष्टि से, संन्यासी मृत मनुष्य समझा जाता है, अतएव उसकी स्त्री अपने पूर्व पति से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखने के कारण विधवा हो जाती है। महाराज धृतराष्ट्र ने अपनी श्रद्धालु पत्नी को मना नहीं किया और वह स्वेच्छा से अपने पति का अनुसरण करती रही।

संन्यासी लोग संन्यास आश्रम के प्रतीक-स्वरूप दण्ड धारण करते हैं। संन्यासी दो प्रकार के होते हैं। जो श्रीपाद शंकराचार्य के मायावादी दर्शन का अनुसरण करते हैं, वे केवल एक दण्ड स्वीकार करते हैं (*एक-दण्डी*), किन्तु जो वैष्णव दर्शन का पालन करते हैं, वे तीन संयुक्त दण्ड धारण करते हैं (*त्रि-दण्डी*)। मायावादी संन्यासी एक-दण्डी स्वामी होते हैं जबकि वैष्णव संन्यासी त्रिदण्डी स्वामी, या और स्पष्टता से कहा जाए तो त्रि-दण्डी गोस्वामी कहलाते हैं, जिससे मायावादी चिन्तकों से अन्तर किया जा सके। एक-दण्डी स्वामी अधिकांशतया हिमालय के प्रेमी होते हैं, लेकिन वैष्णव संन्यासी

वृन्दावन तथा पुरी के लिये इच्छुक रहते हैं। वैष्णव संन्यासी *नरोत्तम* होते हैं जबकि मायावादी संन्यासी *धीर* होते हैं। महाराज धृतराष्ट्र को *धीरों* का अनुगमन करने की सलाह दी गई थी, क्योंकि उस अवस्था में उनके लिये *नरोत्तम* बन पाना कठिन था।

अजातशत्रुः कृतमैत्रो हुताग्नि-
विप्रान्नत्वा तिलगोभूमिरुक्मैः ।
गृहं प्रविष्टो गुरुवन्दनाय
न चापश्यत्पितरौ सौबलीं च ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

अजात—जो कभी जन्मा नहीं; शत्रुः—शत्रु; कृत—किया गया; मैत्रः—देवताओं की पूजा करना; हुत-अग्निः—अग्नि में; विप्रान्—ब्राह्मणों को; नत्वा—नमस्कार करके; तिल-गो-भूमि-रुक्मैः—अन्न, गौवों, भूमि तथा स्वर्ण के साथ; गृहम्—महल के भीतर; प्रविष्टः—प्रवेश करके; गुरु-वन्दनाय—गुरुजनों को नमस्कार करने के लिये; न—नहीं; च—भी; अपश्यत्—देखा; पितरौ—अपने चाचाओं को; सौबलीम्—गांधारी को; च—भी।

अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिर ने वन्दना करके, सूर्यदेव को अग्नि-यज्ञ अर्पित करके तथा ब्राह्मणों को नमस्कार करके एवं उन्हें अन्न, गाय, भूमि तथा स्वर्ण अर्पित करके, अपने नैत्यिक प्रातःकालीन कर्म किये। तत्पश्चात् वे गुरुजनों का अभिवादन करने के लिए राजमहल में प्रविष्ट हुए। किन्तु उन्हें न तो उनके ताऊ मिले, न ही राजा सुबल की पुत्री (गांधारी) अर्थात् ताई मिलीं।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर अत्यन्त पवित्र राजा थे, क्योंकि वे स्वयं गृहस्थ के सारे नैत्यिक कर्म किया करते थे। गृहस्थों को प्रातःकाल जल्दी जगना होता है और स्नान करने के बाद, उन्हें प्रार्थना से, अग्नि में आहुति से, ब्राह्मणों को भूमि, गौवें, अन्न, सोना, इत्यादि का दान देकर तथा गुरुजनों को सादर नमस्कार करके अर्चा-विग्रह को अभिवादन करना होता है। जो व्यक्ति, शास्त्रों द्वारा नियत आदेशों का पालन करने को तैयार नहीं होते, वे केवल किताबी ज्ञान से उत्तम व्यक्ति (नरोत्तम) नहीं बन सकते। आधुनिक गृहस्थों को विभिन्न प्रकार की जीवन-शैलियों की आदत हो गई है, जैसे कि देर से जगना और फिर बिना किसी प्रकार की उपरिवर्णित शुद्धि के बिस्तर में लेटे-लेटे चाय पीना। घर के बच्चे अपने माता-पिता को जो कुछ करते देखते हैं, उसी का अभ्यास करते हैं, अतएव सारी की सारी पीढ़ी का नर्क की ओर पतन होता है। जब तक वे साधु की संगति नहीं करते, तब तक उनसे किसी अच्छाई

की आशा नहीं की जा सकती। भौतिकतावादी मनुष्य, धृतराष्ट्र की भाँति, विदुर जैसे साधु से शिक्षा ग्रहण कर सकता है और इस प्रकार आधुनिक जीवन के दुष्प्रभावों से शुद्ध हो सकता है।

लेकिन महाराज युधिष्ठिर को राजमहल में, राजा सुबल की पुत्री गांधारी समेत, उनके चाचा-ताऊ-धृतराष्ट्र तथा विदुर—नहीं मिले। वे उन्हें मिलने को आतुर थे, अतएव उन्होंने धृतराष्ट्र के निजी सचिव सञ्जय से पूछा।

तत्र सञ्जयमासीनं पप्रच्छोद्विग्नमानसः ।
गावल्गणे क्व नस्तातो वृद्धो हीनश्च नेत्रयोः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; सञ्जयम्—संजय को; आसीनम्—बैठा; पप्रच्छ—पूछा; उद्विग्न-मानसः—चिन्ता से पूरित; गावल्गणे—गवल्गण पुत्र, सञ्जय; क्व—कहाँ हैं; नः—हमारा; तातः—ताऊ; वृद्धः—बूढ़ा; हीनः च—तथा विहीन; नेत्रयोः—आँखों से।

चिन्ता से पूरित महाराज युधिष्ठिर संजय की ओर मुड़े, जो वहाँ बैठे थे और उनसे पूछा : हे संजय, हमारे वृद्ध तथा अंधे ताऊ कहाँ हैं?

अम्बा च हतपुत्रार्ता पितृव्यः क्व गतः सुहृत् ।
अपि मय्यकृतप्रज्ञे हतबन्धुः स भार्यया ।
आशंसमानः शमलं गङ्गायां दुःखितोऽपतत् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अम्बा—माता, ताई; च—तथा; हत-पुत्रा—जिनके सारे पुत्र मारे जा चुके थे; आर्ता—अत्यन्त दुखी; पितृव्यः—चाचा विदुर; क्व—कहाँ; गतः—गये हुए; सुहृत्—शुभ-चिन्तक; अपि—क्या; मयि—मुझको; अकृत-प्रज्ञे—कृतघ्न; हत-बन्धुः—जिसके सारे पुत्र नहीं रहे हों; सः—धृतराष्ट्र; भार्यया—अपनी पत्नी सहित; आशंसमानः—संशय-युक्त मन में; शमलम्—अपराध; गङ्गायाम्—गंगा-जल में; दुःखितः—मन में दुखी; अपतत्—गिर पड़े।

मेरे शुभचिन्तक चाचा विदुर तथा अपने सभी पुत्रों के निधन से अत्यन्त शोकाकुल माता गांधारी कहाँ हैं? मेरे ताऊ धृतराष्ट्र भी अपने समस्त पुत्रों तथा पौत्रों की मृत्यु के कारण शोकार्त थे। निस्सन्देह, मैं अत्यन्त कृतघ्न हूँ। अतएव, क्या वे मेरे अपराधों को अत्यन्त गम्भीर मानकर अपनी पत्नी-सहित गंगा में कूद पड़े?

तात्पर्य : पाण्डवों ने और विशेष रूप से महाराज युधिष्ठिर तथा अर्जुन ने, कुरुक्षेत्र युद्ध के परवर्ती प्रभावों की पूर्ण कल्पना कर ली थी, अतएव अर्जुन ने युद्ध करने से इनकार कर दिया था। यह युद्ध

भगवान् की इच्छा से हुआ, लेकिन पारिवारिक शोक के प्रभाव उसी तरह सत्य उतरे, जैसा उन्होंने पहले से सोच रखा था। महाराज युधिष्ठिर अपने ताऊ धृतराष्ट्र तथा ताई गांधारी की दुर्दशा के प्रति सदैव सचेत थे। अतएव उनकी वृद्धावस्था में तथा दुखी अवस्थाओं में, वे उनकी यथा-सम्भव देखभाल करते रहते थे। अतएव जब उन्हें राजमहल में अपने ताऊ तथा ताई नहीं मिले, तो स्वाभाविक था कि उन्हें सन्देह हुआ और उन्होंने सोचा कि वे गंगा की धारा में डूब गये। उन्होंने अपने आपको कृतघ्न माना, क्योंकि जब सारे पाण्डव पितृ-विहीन थे, तब महाराज धृतराष्ट्र ने रहने के लिए उन्हें सारी राजसी सुविधाएँ प्रदान की थीं, किन्तु एक वे हैं कि बदले में उन्होंने धृतराष्ट्र के सारे पुत्रों को कुरुक्षेत्र के युद्ध में मार डाला। पुण्यात्मा के रूप में, महाराज युधिष्ठिर ने अपने सारे अपरिहार्य दुष्कर्मों पर विचार किया, किन्तु उन्होंने कभी भी अपने ताऊ तथा उनके दल के दुष्कर्मों के विषय में नहीं सोचा। धृतराष्ट्र भगवान् की इच्छा से ही अपने दुष्कर्मों के फल भोग चुके थे, लेकिन महाराज युधिष्ठिर अपने अपरिहार्य दुष्कर्मों के ही विषय में सोच रहे थे। एक श्रेष्ठ मनुष्य तथा भगवद्भक्त का ऐसा ही स्वभाव होता है। एक भक्त कभी भी दूसरों में दोष नहीं निकालता, अपितु अपने ही दोषों को खोजने का प्रयास करता है और जहाँ तक सम्भव होता है, उन्हें सुधारने का प्रयास करता है।

पितर्युपरते पाण्डौ सर्वान्नः सुहृदः शिशून् ।
अरक्षतां व्यसनतः पितृव्यौ क्व गतावितः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

पितरि—मेरे पिता के; उपरते—मरने पर; पाण्डौ—महाराज पाण्डु के; सर्वान्—समस्त; नः—हम सबों का; सुहृदः—शुभचिन्तक; शिशून्—छोटे छोटे बालकों को; अरक्षताम्—रक्षा की; व्यसनतः—सभी प्रकार के संकटों से; पितृव्यौ—दोनों चाचाओं ने; क्व—कहाँ; गतौ—चले गये; इतः—इस स्थान से।

जब मेरे पिता पाण्डु की मृत्यु हो गई और हम सभी छोटे-छोटे बालक थे, तो इन दोनों चाचा-ताऊ ने हमें समस्त प्रकार की विपत्तियों से बचाया था। वे सदैव हमारे शुभचिन्तक रहे। हाय! वे यहाँ से कहाँ चले गये?

सूत उवाच
कृपया स्नेहवैक्लव्यात्सूतो विरहकर्शितः ।

आत्मेश्वरमचक्षाणो न प्रत्याहातिपीडितः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; कृपया—करुणा से; स्नेह-वैक्लव्यात्—अत्यधिक स्नेह के कारण मानसिक असंतुलन से; सूतः—सञ्जय; विरह-कर्शितः—वियोग से दुखी; आत्म-ईश्वरम्—अपने स्वामी को; अचक्षाणः—न देखने से; न—नहीं; प्रत्याह—उत्तर दिया; अति-पीडितः—अत्यधिक दुखी होकर।

सूत गोस्वामी ने कहा : करुणा तथा मानसिक क्षोभ के कारण, संजय अपने स्वामी धृतराष्ट्र को न देखने से अत्यन्त दुखी थे, अतएव वे महाराज युधिष्ठिर को ठीक से उत्तर नहीं दे सके।

तात्पर्य : सञ्जय दीर्घकाल तक महाराज धृतराष्ट्र के निजी सहायक रहे, अतएव उन्हें धृतराष्ट्र के जीवन का अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ था। अत: जब उन्होंने देखा कि उनकी जानकारी के बिना धृतराष्ट्र घर से चले गये, तो उनके शोक का ठिकाना नहीं रहा। वे धृतराष्ट्र के प्रति अत्यन्त करुणामय थे, क्योंकि कुरुक्षेत्र युद्धरूपी जुए में, वे सर्वस्व, सारे पुरुष तथा धन, हार चुके थे और अन्त में राजा तथा रानी को हताशा में घर छोड़ देना पड़ा। उन्होंने इस परिस्थिति का अध्ययन अपने ढंग से किया, क्योंकि उन्हें यह ज्ञात न था कि विदुर द्वारा धृतराष्ट्र की अन्तर्दृष्टि जगाई जा चुकी है और वे गृह-रूपी अंधे कुएँ से निकल कर श्रेष्ठतर जीवन बिताने के लिए घर छोड़ गए हैं। जब तक किसी को इस जीवन के त्याग के पश्चात् श्रेष्ठतर जीवन की आशा नहीं होती, तब तक वह केवल कृत्रिम वेश में, अथवा घर से बाहर रह कर संन्यासी-जीवन में चिपका नहीं रह सकता।

विमृज्याश्रूणि पाणिभ्यां विष्टभ्यात्मानमात्मना ।
अजातशत्रुं प्रत्यूचे प्रभोः पादावनुस्मरन् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

विमृज्य—पोंछ कर; अश्रूणि—आँखों के आँसुओं को; पाणिभ्याम्—अपने हाथों से; विष्टभ्य—स्थित; आत्मानम्—मन को; आत्मना—बुद्धि से; अजात-शत्रुम्—महाराज युधिष्ठिर को; प्रत्यूचे—उत्तर देने लगा; प्रभोः—अपने स्वामी के; पादौ—पाँवों का; अनुस्मरन्—चिन्तन करते हुए।

पहले उन्होंने बुद्धि द्वारा अपने मन को शान्त किया, फिर अश्रु पोंछते हुए तथा अपने स्वामी धृतराष्ट्र के चरणों का स्मरण करते हुए, वे महाराज युधिष्ठिर को उत्तर देने लगे।

सञ्जय उवाच
नाहं वेद व्यवसितं पित्रोर्वः कुलनन्दन ।

गान्धार्या वा महाबाहो मुषितोऽस्मि महात्मभि: ॥ ३७॥

शब्दार्थ

सञ्जयः उवाच—संजय ने कहा; न—नहीं; अहम्—मैं; वेद—जानता हूँ; व्यवसितम्—संकल्प; पित्रोः—चाचाओं का; वः—आपके; कुल-नन्दन—हे कुरुवंश की सन्तान; गान्धार्याः—गान्धारी का; वा—अथवा; महा-बाहो—हे महान् राजा; मुषितः—धोखा दिया गया, ठगा गया; अस्मि—हूँ; महा-आत्मभिः—उन महात्माओं द्वारा।

संजय ने कहा : हे कुरुवंशी, मुझे आपके दोनों ताउओं तथा गान्धारी के संकल्प का कुछ भी पता नहीं है। हे राजन्, उन महात्माओं द्वारा मैं तो ठगा गया।

तात्पर्य : यह जानकर आश्चर्य होगा कि महात्मा अन्यों को धोखा देते (ठगते) हैं, किन्तु यह तथ्य है कि महात्मा महत् कार्य के लिए अन्यों को ठगते हैं। कहा जाता है कि भगवान् कृष्ण ने युधिष्ठिर को सलाह दी थी कि वे द्रोणाचार्य के समक्ष असत्य बोलें और यह भी एक महान् उद्देश्य के लिए था। चूँकि भगवान् इसे चाहते थे, अत: यह महान् उद्देश्य था। जो प्रामाणिक भक्त है, उसके समक्ष एकमात्र कसौटी है भगवान् की प्रसन्नता और उसके जीवन की चरम सिद्धि यह है कि अपने धर्म द्वारा भगवान् को प्रसन्न किया जाय। यह *गीता* तथा *भागवत* का निर्णय है।* गांधारी समेत धृतराष्ट्र तथा विदुर ने, संजय से अपना संकल्प प्रकट नहीं किया, यद्यपि वह निजी सहायक के रूप में धृतराष्ट्र के साथ निरन्तर रहता था। संजय ने यह कभी नहीं सोचा था कि धृतराष्ट्र उससे पूछे बिना कोई काम करेंगे। किन्तु धृतराष्ट्र का घर से निकल जाना इतना गोपनीय था कि संजय को भी इसका पता नहीं चल पाया। सनातन गोस्वामी ने भी बन्दी-गृह के पहरेदार को धोखा दिया, तभी वे श्री चैतन्य महाप्रभु से मिल पाये थे। इसी प्रकार रघुनाथ दास गोस्वामी ने भी अपने पुरोहित को धोखा देकर भगवान् को प्रसन्न करने के लिए घर छोड़ा था। भगवान् को प्रसन्न करने के लिए जो कुछ भी किया जाय वह उत्तम है, क्योंकि यह परम सत्य से सम्बन्धित रहता है। हमने भी अपने परिवार वालों को धोखा दिया था और *श्रीमद्भागवत* की सेवा में लगने के लिए घर छोड़ा था। एक महान् कार्य के लिए इस तरह धोखा देना आवश्यक था और ऐसे दिव्य षड्यंत्र में किसी भी पक्ष को कोई क्षति नहीं होती।

अथाजगाम भगवान् नारद: सहतुम्बुरु: ।
प्रत्युत्थायाभिवाद्याह सानुजोऽभ्यर्चयन्मुनिम् ॥ ३८॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; **आजगाम**—आ पहुँचे; **भगवान्**—दैवी पुरुष; **नारदः**—नारद; **सह-तुम्बुरुः**—अपने तंबूरे के साथ; **प्रत्युत्थाय**—अपने-अपने आसनों से उठकर; **अभिवाद्य**—प्रणाम करके; **आह**—कहा; **स-अनुजः**—अपने छोटे भाइयों समेत; **अभ्यर्चयन्**—अच्छे मन से स्वागत करते हुए; **मुनिम्**—मुनि से।.

*footnote starts here

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणातमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ (*भगवद्गीता* १८.४६)

अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रम-विभागशः।

स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरि-तोषणम्॥ (*भागवत* १.२.१३)

footnote ends here

जब संजय इस प्रकार बोल रहे थे, तो शक्तिसम्पन्न दैवी पुरुष श्रीनारद अपना तंबूरा लिए हुए वहाँ प्रकट हुए। महाराज युधिष्ठिर ने अपने भाइयों समेत, अपने-अपने आसन से उठकर प्रणाम करते हुए उनका विधिवत् स्वागत किया।

तात्पर्य : देवर्षि नारद को यहाँ पर भगवान् कहा गया है, क्योंकि वे भगवान् के परम विश्वसनीय भक्त हैं। जो लोग भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगे रहते हैं, उन्हें भगवान् तथा उनके अत्यन्त विश्वास-पात्र भक्तों को एक ही जैसा माना जाता है। भगवान् को ऐसे विश्वास-पात्र भक्त अत्यन्त प्रिय हैं, क्योंकि वे भगवान् के यश का गुणगान करने के लिए अपनी विभिन्न क्षमता के अनुसार सर्वत्र विचरण करते रहते हैं और अभक्तों को भक्त बनाने के लिए प्रयास करते रहते हैं, जिससे उन्हें सचेतन स्तर पर लाया जा सके। वास्तव में कोई भी जीव अपनी वैधानिक स्थिति के कारण अभक्त नहीं हो सकता, किन्तु जब कोई अभक्त या नास्तिक बन जाता है, तो यह समझना चाहिए कि वह व्यक्ति अपने जीवन की समुचित अवस्था में नहीं है। भगवान् के विश्वासपात्र भक्त ऐसे मोहग्रस्त जीवों का उपचार करते हैं, अतएव वे भगवान् की नजरों में प्रिय माने जाते हैं। भगवान् *भगवद्गीता* में कहते हैं कि जो नास्तिकों तथा अभक्तों को भक्त बनाने के लिए भगवान् की महिमा का प्रचार करते हैं, उनसे अधिक प्रिय उन्हें अन्य कोई नहीं है। नारद जैसे महापुरुषों को उसी प्रकार का समुचित सम्मान मिलना चाहिए, जिस प्रकार साक्षात् भगवान् को मिलता है। महाराज युधिष्ठिर अपने सुयोग्य भाइयों समेत नारद जैसे शुद्ध भगवद्भक्त का

सम्मान करना अन्यों के लिए अनुकरणीय हैं, जिनके लिए अपनी वीणा लिए हुए भगवान् का गुणगान करने के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं है।

युधिष्ठिर उवाच
नाहं वेद गतिं पित्रोर्भगवन् क्व गतावितः ।
अम्बा वा हतपुत्रार्ता क्व गता च तपस्विनी ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

युधिष्ठिरः उवाच—महाराज युधिष्ठिर ने कहा; न—नहीं; अहम्—मैं; वेद—जानता हूँ; गतिम्—प्रयाण; पित्रोः—चाचाओं का; भगवन्—हे दैवी पुरुष; क्व—कहाँ; गतौ—चले गये; इतः—इस स्थान से; अम्बा—ताई; वा—अथवा; हत-पुत्रा—अपने पुत्रों के मारे जाने से; आर्ता—दुखी; क्व—कहाँ; गता—गई हुई; च—भी; तपस्विनी—साध्वी।

महाराज युधिष्ठिर ने कहा : हे देव पुरुष, मैं नहीं जानता कि मेरे दोनों चाचा कहाँ चले गये। न ही मैं अपनी उन तपस्विनी ताई को देख रहा हूँ, जो अपने समस्त पुत्रों की क्षति के कारण शोक से व्याकुल थीं।

तात्पर्य : महात्मा तथा भगवद्भक्त के रूप में महाराज युधिष्ठिर सदैव अपनी ताई की महान् क्षति तथा तपस्विनी के रूप में उनके कष्टों के प्रति सदैव जागरूक रहे। तपस्वी सभी प्रकार के कष्टों से कभी विचलित नहीं होता। इससे तो वह और भी मजबूत तथा आध्यात्मिक प्रगति के पथ पर दृढ़ होता है। महारानी गांधारी अनेक अग्नि-परीक्षाओं में अपने अद्भुत चरित्र के कारण तपस्विनी का एक अद्भुत उदाहरण हैं। वे माता, पत्नी तथा तपस्विनी के रूप में एक आदर्श महिला थीं और विश्व के इतिहास में ऐसे चरित्र वाली महिला विरले ही पाई जाती है।

कर्णधार इवापारे भगवान् पारदर्शकः ।
अथाबभाषे भगवान् नारदो मुनिसत्तमः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

कर्ण-धारः—जहाज के कप्तान; इव—सदृश; अपारे—विस्तृत सागर में; भगवान्—भगवान् के प्रतिनिधि; पार-दर्शकः—दूसरी ओर ले जानेवाले; अथ—इस प्रकार; आबभाषे—कहने लगे; भगवान्—देव पुरुष; नारदः—ऋषि नारद; मुनि-सत्-तमः—भक्त-चिन्तकों में सर्वश्रेष्ठ।

आप इस अपार समुद्र में जहाज के कप्तान सदृश हैं और आप ही हमें अपने गन्तव्य का मार्ग दिखा सकते हैं। इस प्रकार से सम्बोधित किये जाने पर, देव-पुरुष, भक्तों में सर्वश्रेष्ठ चिन्तक देवर्षि नारद कहने लगे।

तात्पर्य : दार्शनिक चिन्तक कई प्रकार के होते हैं, किन्तु इनमें सबसे बड़े वे हैं, जिन्होंने भगवान् का दर्शन पा लिया है और भगवान् की प्रेमामयी दिव्य सेवा में अपने को समर्पित कर दिया है। भगवान् के ऐसे समस्त शुद्ध भक्तों में देवर्षि नारद प्रमुख हैं, अतएव यहाँ पर उन्हें सभी दार्शनिक भक्तों में सबसे बड़ा बताया गया है। जब तक कोई प्रामाणिक गुरु से वेदान्त-दर्शन का श्रवण करके विद्वान दार्शनिक नहीं बन लेता, तब तक वह विद्वान दार्शनिक भक्त नहीं हो सकता। उसे अत्यन्त श्रद्धालु, विद्वान तथा विरक्त होना चाहिए, अन्यथा वह शुद्ध भक्त नहीं बन सकता। भगवान् का शुद्ध भक्त ही हमें अज्ञान-सागर की दूसरी ओर जाने का मार्गदर्शन कर सकता है। देवर्षि नारद महाराज युधिष्ठिर के महल में आया करते थे, क्योंकि सारे पाण्डव भगवान् के शुद्ध भक्त थे और देवर्षि नारद आवश्यकता पड़ने पर उन्हें अच्छी सलाह देने के लिए सदैव तैयार रहते थे।

नारद उवाच
मा कञ्चन शुचो राजन् यदीश्वरवशं जगत् ।
लोकाः सपाला यस्येमे वहन्ति बलिमीशितुः ।
स संयुनक्ति भूतानि स एव वियुनक्ति च ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; मा—कभी नहीं; कञ्चन—सभी प्रकार से; शुचः—मत शोक करो; राजन्—हे राजा; यत्—क्योंकि; ईश्वर-वशम्—भगवान् के वश में; जगत्—संसार; लोकाः—सारे जीव; स-पालाः—अपने नेताओं समेत; यस्य—जिसका; इमे—ये सब; वहन्ति—ले जाते हैं; बलिम्—पूजा का साधन; ईशितुः—रक्षित होने के लिए; सः—वह; संयुनक्ति—पास लाता है; भूतानि—सारे जीवों को; सः—वह; एव—भी; वियुनक्ति—विलग करता है; च—तथा।

श्रीनारद ने कहा : हे धर्मराज, आप किसी के लिए शोक मत करो, क्योंकि सारे लोग परमेश्वर के अधीन हैं। अतएव सारे जीव तथा उनके नेता (लोकपाल) अपनी रक्षा के लिए पूजा करते हैं। वे ही सबों को पास-पास लाते हैं तथा उन्हें विलग करते हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक जीव, चाहे वह इस जगत में हो या आध्यात्मिक जगत में, परमेश्वर के अधीन है। इस ब्रह्माण्ड के नायक ब्रह्माजी से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक, सभी परमेश्वर की आज्ञा का पालन

करनेवाले हैं। इस प्रकार जीव की स्वाभाविक स्थिति भगवान् के अधीन रहने की है। मूर्ख जीव, विशेषतया मनुष्य, झूठे ही परमेश्वर के नियम के विरुद्ध विद्रोह करता है और इस तरह असुर या नियम-भंग करने वाले के रूप में प्रताड़ित होता है। कोई भी जीव, परमेश्वर की आज्ञा से किसी विशेष स्थिति को प्राप्त होता है और वह परमेश्वर या उनके अधिकृत दूत के आदेश द्वारा ही किसी अन्य पद पर बिठाया जाता है। ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, चन्द्र, महाराज युधिष्ठिर या आधुनिक इतिहास के नैपोलियन, अकबर, सिकन्दर, गाँधी, सुभाष तथा नेहरू—सभी भगवान् के दास हैं और परमेश्वर की परम इच्छा से ही अपने स्थानों पर बिठाये तथा उनसे हटाये जाते हैं। इनमें से कोई भी स्वतंत्र नहीं है। यद्यपि ऐसे लोग या नेता विद्रोह करके भगवान् की श्रेष्ठता को मान्यता नहीं प्रदान करते, किन्तु इसके लिए उन्हें विभिन्न कष्टों द्वारा भौतिक संसार के और अधिक कठोर नियमों के अन्तर्गत रखा जाता है। अत: जो मूर्ख व्यक्ति होगा, वही कहता है कि ईश्वर नहीं हैं। महाराज युधिष्ठिर को इस कटु सत्य के प्रति आश्वस्त किया जा रहा था, क्योंकि वे अपने चाचाओं तथा ताई के सहसा चले जाने से अत्यधिक व्याकुल थे। महाराज धृतराष्ट्र को यह स्थिति उनके पूर्वकर्मों के अनुसार प्राप्त हुई थी; वे भूतकाल में तमाम कष्ट भोग चुके थे या सुख पा चुके थे, लेकिन सौभाग्य से उन्हें विदुरजैसा छोटा भाई प्राप्त हुआ था और उन्होंने उनके उपदेश से मोक्ष प्राप्त करने के लिए इस संसार के सारे खातों को बन्द करके गृह-त्याग कर दिया था।

सामान्यतया, कोई किसी योजना से अपने सुख तथा दुख के प्रवाह को बदल नहीं सकता। हर एक को काल के सूक्ष्म प्रबन्ध के अन्तर्गत उन्हें उसी रूप में ग्रहण करना होता है। उनका प्रतिरोध करने से कोई लाभ नहीं होता। अतएव सर्वश्रेष्ठ बात तो यह है कि मनुष्य मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न करे और यह जन्मसिद्ध अधिकार मनुष्य को ही प्राप्त है, क्योंकि उसके मन तथा बुद्धि अत्यन्त विकसित होते हैं। मनुष्य जीवन में मोक्ष-लाभ के लिए, मनुष्य को ही, विभिन्न वैदिक आदेश उपलब्ध हैं। जो कोई उन्नत बुद्धि के इस सुअवसर का दुरुपयोग करता है, वह अधम है और उसे इसी जीवन में या भविष्य में विभिन्न प्रकार के कष्ट मिलते हैं। यही तरीका है, जिससे भगवान् सब पर नियंत्रण रखते हैं।

यथा गावो नसि प्रोतास्तन्त्यां बद्धाश्च दामभि: ।

वाक्तन्त्यां नामभिर्बद्धा वहन्ति बलिमीशितुः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; गावः—बैल; नसि—नाक से; प्रोताः—नाथी हुई; तन्त्याम्—डोरी से; बद्धाः—बँधी हुई; च—भी; दामभिः—रस्सियों से; वाक्-तन्त्याम्—वैदिक स्तोत्रों के जाल में; नामभिः—नाम पद्धति से; बद्धाः—बद्ध; वहन्ति—पालन करते हैं; बलिम्—आदेशों को; ईशितुः—परमेश्वर द्वारा नियंत्रित होने के लिए।

जिस प्रकार बैल एक लम्बी रस्सी से नाक से नत्थी होकर बंधन में रहता है, उसी तरह मनुष्य जाति विभिन्न वैदिक आदेशों से बँध कर परमेश्वर के आदेशों का पालन करने के लिए बद्ध है।

तात्पर्य : प्रत्येक जीव, चाहे वह मनुष्य हो या पशु या पक्षी, यही सोचता है कि वह स्वतंत्र है, किन्तु वास्तव में भगवान् के कठोर नियमों से कोई भी स्वतंत्र नहीं है। भगवान् के नियम कठोर हैं, क्योंकि किसी भी परिस्थिति में उनका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। धूर्त लोग मनुष्य-निर्मित नियमों से बच सकते हैं, किन्तु, परम विधि-नियन्ता की संहिता में, नियमों के उल्लंघन की तनिक भी सम्भावना नहीं होती। ईश्वर-निर्मित नियम में थोड़ा-सा भी परिवर्तन करनेवाले नियम-भंजक को काफी कष्ट उठाने पड़ सकते हैं। परमेश्वर के ऐसे नियम विभिन्न अवस्थाओं में धर्म-संहिता कहलाते हैं, किन्तु धर्म का सिद्धान्त सर्वत्र एक सा होता है, यह है, परमेश्वर के आदेशों का पालन करना। ऐसी है भौतिक जगत की दशा। सभी जीवों ने इस भौतिक संसार में अपनी रुचि से बद्ध जीवन का खतरा मोल ले रखा है और इस तरह वे प्रकृति के नियमों द्वारा जकड़े हुए हैं। इस बंधन से छूटने की एकमात्र विधि यह है कि परमेश्वर की आज्ञा का पालन किया जाय। लेकिन, माया के चंगुल से मुक्त होने के बजाय मूर्ख लोग विभिन्न पद-नामों से और अधिक बँध जाते हैं और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, हिन्दू, मुसलमान, भारतीय, यूरोपीय, अमरीकी, चीनी इत्यादि कहलाते हैं और इस तरह वे अपने-अपने शास्त्रों या विधानों के प्रभाव में परमेश्वर के आदेशों का पालन करते हैं। राज्य के संवैधानिक नियम धार्मिक संहिता के अपूर्ण प्रतिरूप हैं। धर्मनिरपेक्ष राज्य या ईश्वर-विहीन राज्य नागरिकों को ईश्वरीय नियमों को तोड़ने की छूट देते हैं, किन्तु राज्य के नियमों का उल्लंघन करने से रोकते हैं; फल यह होता है कि मनुष्य-निर्मित अपूर्ण नियमों का पालन करने की अपेक्षा ईश्वर के नियमों को तोड़ने के कारण जनसामान्य को अधिक कष्ट उठाने पड़ते हैं। प्रत्येक व्यक्ति भौतिक जगत के विधान की परिस्थिति के अन्तर्गत अपूर्ण है और इसकी तनिक भी सम्भावना नहीं है कि भौतिकता में सर्वाधिक उन्नत व्यक्ति भी पूर्ण विधान का पालन कर सके। दूसरी ओर ईश्वर के नियम हैं, जिनमें ऐसी अपूर्णता नहीं है। यदि

नेताओं को भगवान् के नियमों की शिक्षा दी जाय, तो उद्देश्यहीन व्यक्तियों की कामचलाऊ विधान सभा बनाने की कोई आवश्यकता ही न रहे। मानव-निर्मित कामचलाऊ नियमों में परिवर्तन की आवश्यकता तो रहती है, लेकिन ईश्वर-निर्मित नियमों में नहीं, क्योंकि वे परम पूर्ण भगवान् द्वारा पूर्ण बनाये गये हैं। धर्म-संहिताएँ या शास्त्रीय आदेश, जीव की विभिन्न दशाओं को देखते हुए, ईश्वर के मुक्त प्रतिनिधियों द्वारा बनाये गये हैं और सारे जीव, भगवान् के आदेशों का पालन करके, संसार-बंधन से मुक्त हो जाते हैं। किन्तु जीव की वास्तविक स्थिति तो परमेश्वर के सनातन सेवक की है। अपनी मुक्त अवस्था में वह दिव्य प्रेम से भगवान् की सेवा करता है और पूर्ण स्वतंत्रता का जीवन बिताता है—कभी-कभी भगवान् के समान स्तर पर, तो कभी-कभी उनसे भी बढ़कर। लेकिन इस बद्ध भौतिक जगत में प्रत्येक जीव अन्य जीवों के ऊपर प्रभुता जमाना चाहता है। इस तरह माया के भ्रम से यह प्रभुत्व जताने की प्रवृत्ति बद्ध भौतिक जीवन के आगे-आगे बढ़ते रहने का कारण बनती है। अतएव जब तक जीव सनातन सेवक भाव की मूल स्थिति को पुनः प्राप्त करके भगवान् की शरण ग्रहण नहीं करता, तब तक वह इस भौतिक जगत से अधिकाधिक बद्ध होता जाता है। यही *भगवद्गीता* तथा संसार के अन्य सभी मान्य शास्त्रों का अन्तिम उपदेश है।

यथा क्रीडोपस्कराणां संयोगविगमाविह ।
इच्छया क्रीडितुः स्यातां तथैवेशेच्छया नृणाम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; **क्रीड-उपस्कराणाम्**—खेल की वस्तुएँ; **संयोग**—मिलना; **विगमौ**—बिछुड़ना; **इह**—इस संसार में; **इच्छया**—इच्छा से; **क्रीडितुः**—खेल करने के लिए; **स्याताम्**—घटित होता है; **तथा**—उसी तरह; **एव**—निश्चय ही; **ईश**—परमेश्वर की; **इच्छया**—इच्छा से; **नृणाम्**—मनुष्यों की।

यथा क्रीडोपस्कराणां संयोगविगमाविह ।
इच्छया क्रीडितुः स्यातां तथैवेशेच्छया नृणाम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; **क्रीड-उपस्कराणाम्**—खेल की वस्तुएँ; **संयोग**—मिलना; **विगमौ**—बिछुड़ना; **इह**—इस संसार में; **इच्छया**—इच्छा से; **क्रीडितुः**—खेल करने के लिए; **स्याताम्**—घटित होता है; **तथा**—उसी तरह; **एव**—निश्चय ही; **ईश**—परमेश्वर की; **इच्छया**—इच्छा से; **नृणाम्**—मनुष्यों की।

जिस प्रकार खिलाड़ी अपनी इच्छानुसार खिलौनों को सजाता तथा बिगाड़ता है, उसी तरह भगवान् की परम इच्छा मनुष्यों को पास-पास लाती है और उन्हें विलग भी करती है।

तात्पर्य : हमें यह निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि हम जिस पद पर अभी हैं, वह हमारे अपने ही विगत कर्मों के अनुसार, परम इच्छा द्वारा नियोजित है। परमेश्वर प्रत्येक जीव के हृदय में परमात्मा के रूप में स्थित हैं, जैसा कि *भगवद्गीता* (१३.२३) में बताया गया है। अतएव वे हमारे जीवन की प्रत्येक अवस्था की गतिविधियों को जानते रहते हैं। वे हमें किसी विशेष पद पर बिठाकर, हमारे कर्मों का फल प्रदान करते हैं। धनी मनुष्य का बच्चा सम्पन्नता के बीच जन्म लेता है; किन्तु धनी मनुष्य के पुत्र के रूप में आने वाला बच्चा इस स्थान के योग्य था; अत: यह स्थान उसे ईश्वर की इच्छा से मिलता है। यदि उस बच्चे को किसी क्षण किसी दूसरे स्थान में ले जाया जाता है, तो वह भी परमेश्वर की इच्छा से होता है, भले ही बच्चा या पिता ऐसे सुखद सम्बन्ध से वियोग पसन्द न करें। यही बात निर्धन व्यक्ति पर भी लागू होती है। जीवों के मिलने या बिछुड़ने पर धनी या निर्धन कोई भी व्यक्तियों का कोई वश नहीं चलता। खिलाड़ी तथा उसके खिलौने के उदाहरण से किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। कोई यह तर्क कर सकता है कि जब भगवान् हमें हमारे कर्मों का ही फल देने के लिए बाध्य हैं, तो खिलाड़ी का उदाहरण यहाँ पर उपयुक्त नहीं बैठता। लेकिन ऐसा नहीं है। हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि भगवान् की ही इच्छा परम है और वे किसी नियम से बँधे नहीं हैं। सामान्यतया कर्म का नियम यह है कि लोगों को उन्हीं के कर्मों का फल मिलता है, लेकिन विशेष मामलों में भगवान् की इच्छा से ऐसे कर्म-फल बदल भी जाते हैं। लेकिन यह बदलाप भगवान् की इच्छा से ही आ सकता है, अन्य किसी से नहीं। अतएव इस श्लोक में दिया गया खिलाड़ी का उदाहरण सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि भगवान् जो कुछ चाहते हैं, उसे करने के लिए परम स्वतंत्र हैं और चूँकि वे सभी प्रकार से पूर्ण हैं, अतएव उनके कर्मों या फलों में कोई त्रुटि नहीं रहती। जब किसी शुद्ध भक्त का मामला आता है, तब कर्म-फलों में ये परिवर्तन विशेष रूप से परमेश्वर द्वारा किये जाते हैं। *भगवद्गीता* (९.३०-३१) में आश्वासन दिया गया है कि भगवान् अपने उस शुद्ध भक्त को सारे पाप-फलों से बचाते हैं, जिसने उनकी शरण ग्रहण कर ली है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। विश्व के इतिहास में ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं, जहाँ भगवान् द्वारा कर्म-फल बदले गये हैं। यदि भगवान् किसी के

विगत कर्मों के फलों को परिवर्तित कर सकते हैं, तो यह निश्चित है कि वे अपने ही कर्मों से या कर्मों के फलों से बँधे नहीं रहते। वे पूर्ण हैं और सारे नियमों के परे होते हैं।

यन्मन्यसे ध्रुवं लोकमध्रुवं वा न चोभयम् ।
सर्वथा न हि शोच्यास्ते स्नेहादन्यत्र मोहजात् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

यत्—भले ही; मन्यसे—सोचते हो; ध्रुवम्—परम सत्य; लोकम्—लोगों की; अध्रुवम्—अवास्तविकता; वा—अथवा; न—नहीं; च—भी; उभयम्—अथवा दोनों; सर्वथा—सभी परिस्थितियों में; न—कभी नहीं; हि—निश्चय ही; शोच्याः—शोक का विषय; ते—वे; स्नेहात्—स्नेह के कारण; अन्यत्र—अथवा दूसरी तरह; मोह-जात्—मोह-जनित।

हे राजन्, सभी परिस्थितियों में, चाहे आप आत्मा को नित्य मानो अथवा भौतिक देह को नश्वर, अथवा प्रत्येक वस्तु को निराकार परम सत्य में स्थित मानो या प्रत्येक वस्तु को पदार्थ तथा आत्मा का अकथनीय संयोग मानो, वियोग की भावनाएँ केवल मोहजनित स्नेह के कारण हैं, इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

तात्पर्य : वास्तविकता यह है कि प्रत्येक जीव परम पुरुष का व्यक्तिगत अंश है और उसकी स्वाभाविक स्थिति अधीनस्थ सहयोगी सेवक की है। चाहे जीव अपनी बद्ध अवस्था में हो अथवा ज्ञान तथा शाश्वतता से पूर्ण अपनी मुक्त अवस्था में हो, वह नित्य परमेश्वर के ही अधीन रहता है। लेकिन जो वास्तविक ज्ञान के जानकार नहीं हैं, वे जीव की वास्तविक स्थिति के विषय में तरह-तरह की कल्पनाएँ करते हैं। किन्तु दर्शन की सभी विचारधाराओं द्वारा यह स्विकार किया गया है कि जीव शाश्वत है और यह पाँच भौतिक तत्त्वों से बना शरीर रूपी ओढ़न विनाशशील तथा अस्थायी है। यह शाश्वत जीव, कर्म-नियम के द्वारा, एक भौतिक शरीर से दूसरे में देहान्तर करता है और ये भौतिक शरीर, अपनी मूलभूत संरचना के कारण, विनाशशील हैं। अतएव आत्मा के देहान्तरण के कारण या किसी अवस्था में भौतिक शरीर के विनष्ट होने से किसी तरह का शोक नहीं करना चाहिए। कुछ ऐसे लोग हैं, जो भौतिक बन्धन से छूटने पर, परमात्मा में आत्मा के तादात्म्य में विश्वास करते हैं। और कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो आत्मा के अस्तित्व को ही नहीं मानते, अपितु पदार्थ में विश्वास करते हैं। हमारे दैनिक जीवन में हम न जाने कितने पदार्थ अन्य पदार्थों में रूपान्तरित होते देखे जाते हैं, किन्तु हम ऐसे

परिवर्तनशील स्वरूपों के लिये शोक नहीं करते। प्रत्येक दशा में, दैवी शक्ति का वेग अप्रतिहत होता है, इसमें किसी का वश नहीं है, अतएव शोक करने का कोई कारण नहीं होता।

तस्माज्जह्यङ्ग वैक्लव्यमज्ञानकृतमात्मनः ।
कथं त्वनाथाः कृपणा वर्तेरंस्ते च मां विना ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; जहि—छोड़ दो; अङ्ग—हे राजा; वैक्लव्यम्—मानसिक विकलता; अज्ञान—अज्ञान; कृतम्—के कारण; आत्मनः—अपना; कथम्—कैसे; तु—लेकिन; अनाथाः—असहाय; कृपणाः—निरीह प्राणी; वर्तेरन्—जीवित रहने में समर्थ; ते—वे; च—भी; माम्—मेरे; विना—रहित।

अतएव तुम आत्मा को न जानने के कारण उत्पन्न अपनी चिन्ता छोड़ दो। अब आप यह सोच रहे है कि वे असहाय जीव तुम्हारे बिना किस तरह रहेंगे।

तात्पर्य : जब हम अपने सगे-सम्बन्धियों को असहाय तथा अपने ऊपर आश्रित सोचते हैं, तो यह अज्ञान के कारण होता है। परमेश्वर के आदेश से प्रत्येक जीव को इस संसार में उसकी अर्जित स्थिति के अनुसार सुरक्षा प्रदान की गई है। भगवान् *भूत-भृत्* कहलाते हैं, अर्थात् वे जो सभी जीवों को सुरक्षा प्रदान करते हैं। मनुष्य को केवल अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए, क्योंकि परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई किसी को भी सुरक्षा प्रदान नहीं कर सकता। अगले श्लोक में इसकी स्पष्ट व्याख्या की गई है।

कालकर्मगुणाधीनो देहोऽयं पाञ्चभौतिकः ।
कथमन्यांस्तु गोपायेत्सर्पग्रस्तो यथा परम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

काल—शाश्वत समय; कर्म—कर्म; गुण—प्रकृति के गुण; अधीनः—के अधीन; देहः—भौतिक शरीर तथा मन; अयम्—यह; पाञ्च-भौतिकः—पाँच तत्त्वों से बना; कथम्—कैसे; अन्यान्—दूसरे; तु—लेकिन; गोपायेत्—सुरक्षा प्रदान करते हैं; सर्प-ग्रस्तः—साँप द्वारा दंशित; यथा—जिस तरह; परम्—दूसरे।

पाँच तत्त्वों से निर्मित यह स्थूल भौतिक शरीर पहले से ही सनातन काल, कर्म तथा भौतिक प्रकृति के गुणों के अधीन है। तो किस तरह से यह अन्यों की रक्षा कर सकता है, जबकि यह स्वयं सर्प के मुँह में फँसा हुआ है?

तात्पर्य : राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रचार द्वारा विश्व आन्दोलनों से किसी को कोई लाभ होनेवाला नहीं, क्योंकि ये श्रेष्ठ शक्ति द्वारा नियंत्रित होते हैं। बद्धजीव पूरी तरह से भौतिक प्रकृति के नियंत्रण में होता है, जो प्रकृति के तीन गुणों के प्रभाववश होने वाले कर्म तथा सनातन काल के रूप में व्यक्त होता है। प्रकृति के तीन गुण हैं अर्थात् सत, रज तथा तम। सतोगुणी हुए बिना, मनुष्य वस्तुओं को असली रूप में नहीं देख पाता। रजो तथा तमोगुणी व्यक्ति वस्तुओं को उनके असली रूप में कभी नहीं देख पाता। अतएव रजोगुणी तथा तमोगुणी व्यक्ति अपने कार्यों को सही दिशा नहीं दे पाते, केवल सतोगुणी व्यक्ति ही कुछ हद तक ऐसा कर पाता है। चूँकि अधिकांश व्यक्ति राजसी तथा तामसी होते हैं, अतएव उनकी योजनाएँ तथा परियोजनाएँ शायद ही अन्यों को कुछ लाभ पहुँचा सकें। प्रकृति के गुणों के भी ऊपर शाश्वत समय होता है, जो *काल* कहलाता है, क्योंकि यह भौतिक जगत की हर वस्तु की आकृति को बदल देता है। यदि हम अस्थायी रूप से कोई लाभ-प्रद कार्य कर भी लें, तो समय बीतने पर काल द्वारा यह अच्छी परियोजना भी विनष्ट कर दी जाती है। यदि कुछ किया जा सकता है, तो इतना ही कि इस सनातन काल से छुटकारा पा लिया जाय, जिसकी तुलना *काल-सर्प* से की गई है, जिसका दंश सदैव जानलेवा होता है। कोई भी व्यक्ति सर्प-दंश से नहीं बच पाता। अतएव काल-सर्प अथवा प्रकृति के गुणों के चंगुल से बचने का सर्वश्रेष्ठ उपाय भक्तियोग है, जिसकी संस्तुति *भगवद्गीता* (१४.२६) में की गई है। सबसे पूर्ण लोकोपयोगी परियोजना यह है कि हर व्यक्ति को, विश्व भर में, भक्तियोग के प्रचार कार्य में लगाया जाय, क्योंकि उसी के द्वारा लोगों को काल, कर्म तथा गुण द्वारा व्यक्त माया के चंगुल से बचाया जा सकता है। *भगवद्गीता* (१४.२६) से इसकी स्पष्ट रूप से पुष्टि होती है।

अहस्तानि सहस्तानामपदानि चतुष्पदाम् ।
फल्गूनि तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

अहस्तानि—हाथविहीनों के; स-हस्तानाम्—हाथ वालों के; अपदानि—पैर-विहीनों का; चतुः-पदाम्—चार पैर वालों का; फल्गूनि—निर्बल; तत्र—वहाँ; महताम्—शक्तिमानों को; जीवः—जीव; जीवस्य—जीव का; जीवनम्—जीवन निर्वाह, गुजारा।

जो बिना हाथ वाले हैं, वे हाथ वालों के शिकार हैं। जो पाँवों से विहीन हैं, वे चौपायों के शिकार हैं। निर्बल सबल के भोज्य हैं और सामान्य नियम यह है कि एक जीव दूसरे जीव का भोजन बना हुआ है।

तात्पर्य : अस्तित्व टिकाए रखने के लिए जीवन-संघर्ष का नियम भगवान् की परम इच्छा से है और कितनी भी योजनाओं के द्वारा किसी के भी लिए इससे छुटकारा नहीं मिल सकता। जो जीव इस संसार में परम पुरुष की इच्छा के विपरीत आये हैं, वे माया-शक्ति नामक उच्चतर शक्ति के अधीन रहते हैं, जो भगवान् द्वारा नियुक्त होती है। यह *दैवी माया* बद्धजीवों को तीन प्रकार के तापों से सताती रहती है, जिनमें से एक की व्याख्या इस श्लोक में हुई है—*निर्बल सबल का आहार है।* कोई भी, अपने से अधिक सबल के हमले से अपनी रक्षा नहीं कर सकता और भगवान् की इच्छा से निर्बल, सबल तथा सर्वाधिक सबल—ये तीन कोटियाँ बनी हुई हैं। यदि बाघ निर्बल पशु को, जिसमें मनुष्य भी सम्मिलित है, खा जाता है, तो इसमें शोक करने की कोई बात नहीं है, क्योंकि यह तो परमेश्वर का नियम है। यद्यपि नियम यह कहता है कि मनुष्य को किसी अन्य के जीवन पर जीवन-निर्वाह करना होता है, लेकिन सद्भाव का भी नियम है, क्योंकि मनुष्य को शास्त्रों के नियमों का पालन करना होता है। अन्य जीवधारियों द्वारा ऐसा करना सम्भव नहीं होता। मनुष्य आत्म-साक्षात्कार के लिये आया है, इसलिये उसे भगवान् को अर्पित किये बिना कोई भी वस्तु नहीं खानी है। भगवान् अपने भक्तों से शाक, फल, पत्ती तथा अन्न के बने विविध व्यंजन स्वीकार करते हैं। अतएव फल, पत्ती तथा दूध के विविध पकवान भगवान् को अर्पित किये जा सकते हैं और जब भगवान् इन्हें पा लें, तो भक्त इस *प्रसाद* को ग्रहण कर सकता है, जिससे जीवन-संघर्ष के सारे क्लेश क्रमशः दूर हो जायेंगे। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.२६) में हुई है। जो लोग पशुओं का भक्षण करने के आदी हो गये हैं, वे भी सीधे भगवान् को भोज्य-पदार्थ न अर्पित कर, धार्मिक अनुष्ठानों की कतिपय दशाओं में, भगवान् के किसी दूत को अर्पित कर सकते हैं। शास्त्रों का आदेश मांस-भक्षकों को प्रोत्साहित करना नहीं, अपितु नियमों के द्वारा उन पर प्रतिबन्ध लगाना है।

जीव अपने से अधिक सबल अन्य जीव का भक्ष्य होता है। किसी को किसी भी परिस्थिति में अपने जीवन-निर्वाह के लिए चिन्तित नहीं होना चाहिए, क्योंकि सर्वत्र ही जीव हैं और कहीं पर

भोजन के अभाव में एक भी जीव भूखों नहीं मरता। महाराज युधिष्ठिर को नारद जी उपदेश देते हैं कि भोजन के अभाव में अपने चाचाओं के कष्ट भोगने की चिन्ता न करें, क्योंकि वे जंगलों में उपलब्ध शाकों को भगवान् के प्रसाद के रूप में प्राप्त करके जीवित रह सकते हैं और इस तरह मोक्ष-मार्ग प्राप्त कर सकते हैं।

सबल द्वारा दुर्बल का शोषण प्राकृतिक अस्तित्व का नियम है; जीवों के विभिन्न साम्राज्यों में, निर्बल को निगल जाने का सदैव प्रयास होता रहता है। भौतिक परिस्थितियों में, किसी कृत्रिम साधन से इस प्रवृत्ति को रोके जाने की कोई सम्भावना नहीं है। इसे मनुष्य के आध्यात्मिक भाव को, आध्यात्मिक नियमों के अभ्यास द्वारा जगाकर ही रोका जा सकता है। किन्तु आध्यात्मिक विधि-विधान एक ओर मनुष्य को निर्बल पशुओं का वध करने तथा दूसरी ओर शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की शिक्षा नहीं देता। यदि मनुष्य पशुओं को शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की अनुमति नहीं देता, तो फिर वह किस तरह मानव समाज में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की उम्मीद कर सकता है? अतएव अन्धे नेताओं को चाहिए कि वे परम पुरुष को जानें और तब ईश्वर की राजसत्ता को लागू करने का प्रयास करें। विश्व के जन-समुदाय के मन में ईश्वर-चेतना को जगाये बिना ईश्वर राज्य या राम-राज्य असम्भव है।

तदिदं भगवान् राजन्नेक आत्मात्मनां स्वदृक् ।
अन्तरोऽनन्तरो भाति पश्य तं माययोरुधा ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; इदम्—यह अभिव्यक्ति; भगवान्—भगवान्; राजन्—हे राजन्; एकः—एक अद्वितीय; आत्मा—परमात्मा; आत्मनाम्—अपनी शक्तियों से; स्व-दृक्—गुणों में अपने ही जैसा; अन्तरः—बाहर; अनन्तरः—भीतर तथा अपने द्वारा; भाति—प्रकट करता है; पश्य—देखो; तम्—उन्हें ही; मायया—विभिन्न शक्तियों के प्राकट्य से; उरुधा—अनेक प्रतीत होता है।

अतएव हे राजन्, तुम्हें एकमात्र परमेश्वर को देखना चाहिए, जो अद्वितीय हैं और जो विभिन्न शक्तियों से साक्षात् प्रकट होते हैं और भीतर तथा बाहर दोनों में हैं।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अद्वितीय हैं, किन्तु वे अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा स्वयं प्रकट होते हैं, क्योंकि वे स्वभाव से आनन्दमय हैं। सारे जीव भी उनकी तटस्था शक्ति के प्राकट्य हैं, जो गुणों में भगवान् के समान हैं और भगवान् की बहिरंगा तथा अंतरंगा शक्तियों के भीतर तथा बाहर,

दोनों ही जगह असंख्य जीव हैं। चूँकि आध्यात्मिक जगत भगवान् की अन्तरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति हैं, अतएव जो जीव उस अन्तरंगा शक्ति के भीतर हैं, वे बहिरंगा शक्ति से दूषित हुए बिना, गुण में भगवान् समान ही हैं। जीव भगवान् से गुणों में एक होकर भी, भौतिक जगत के कल्मष के कारण विकृत रूप में दिखता है। अतएव उसे भौतिक जगत में तथाकथित सुख तथा दुख का अनुभव होता है। ऐसे अनुभव क्षणिक होते हैं और उनसे आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसे क्षणिक सुख तथा दुख की अनुभूति अपने भगवान् के समान गुण की विस्मृति के कारण होती है। किन्तु भगवान् से भीतर तथा बाहर एक नियमित धारा प्रवाहित होती रहती है, जिससे जीव अपनी पतित अवस्था को सुधार सकता है। भीतर से, वे अन्तर्यामी परमात्मा के रूप में इच्छा करनेवाले जीवों को सुधारते हैं और बाहर से, वे गुरु तथा शास्त्रों के रूप में अपनी अभिव्यक्ति द्वारा सुधारते रहते हैं। मनुष्य को भगवान् की ओर ही दृष्टि लगानी चाहिए। उसे तथाकथित सुख तथा दुख प्रकट होने पर विचलित नहीं होना चाहिए, अपितु पतितात्माओं का सुधार करने के भगवान् के बाह्यकार्यों में उनकी सहायता करनी चाहिए। उन्हीं के आदेश से ही मनुष्य को आध्यात्मिक गुरु बनकर उनको सहयोग देना चाहिए। किसी को अपने निजी लाभ के लिए, आजीविका कमाने के लिए अथवा धन्धे के साधन के लिए गुरु नहीं बनना चाहिए। ऐसे प्रामाणिक गुरु जो भगवान् को सहयोग देने के लिए भगवान् की ओर दृष्टि लगाते हैं, वे गुणात्मक रूप से भगवान् से एक होते हैं और भुलक्कड़ जीव केवल विकृत प्रतिबिम्ब मात्र होते हैं। अतएव युधिष्ठिर महाराज को नारद उपदेश देते हैं कि वे तथाकथित सुख तथा दुख के मामलों से तनिक भी विचलित न हों, अपितु भगवान् के उस ध्येय को पूरा करने के लिए भगवान् की ओर देखें, जिसके लिए भगवान् अवतरित हुए हैं। यही उनका मूल कर्तव्य है।

सोऽयमद्य महाराज भगवान् भूतभावनः ।
कालरूपोऽवतीर्णोऽस्यामभावाय सुरद्विषाम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

सः—वे परमेश्वर; अयम्—भगवान् श्रीकृष्ण; अद्य—इस समय; महाराज—हे राजा; भगवान्—भगवान्; भूत-भावनः—प्रत्येक सृजित वस्तु के स्रष्टा या पिता; काल-रूपः—सर्वभक्षी काल के वेश में; अवतीर्णः—अवतरित; अस्याम्—विश्व पर; अभावाय—निकाल फेंकने के लिए; सुर-द्विषाम्—जो लोग भगवान् की इच्छा के विरुद्ध हैं, उन्हें।

वे ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण, सर्वभक्षी काल के वेश (*कालरूप*) में, अब संसार से द्वेषी लोगों का सर्वनाश करने के लिए पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं।

तात्पर्य : मनुष्य की दो श्रेणियाँ हैं—द्वेषी तथा आज्ञा-पालक। चूँकि परमेश्वर एक हैं और वे सभी जीवों के पिता हैं, अतएव द्वेषी लोग भी उन्हीं की सन्तान हैं, लेकिन वे *असुर* कहलाते हैं। किन्तु जो जीव सर्वोपरि पिता के प्रति आज्ञाकारी है, वे *देवता* कहलाते हैं, क्योंकि वे जीवन की भौतिक अवधारणा द्वारा कलुषित नहीं होते हैं। असुर लोग न केवल भगवान् के अस्तित्व को नकार करके द्वेष दिखाते हैं, अपितु वे अन्य समस्त जीवों से भी द्वेष रखते हैं। जगत में असुरों के प्राधान्य को कभी-कभी भगवान् उनको पूरी तरह विनष्ट करके ठीक करते हैं और पाण्डव जैसे देवताओं का राज्य स्थापित करते हैं। छद्मरूप में काल नाम की उनकी उपाधि महत्त्वपूर्ण है। वे रंचमात्र भी भयावह नहीं हैं, अपितु वे शाश्वतता, ज्ञान तथा आनन्द के दिव्य रूप हैं। जो भक्त हैं, उनके सामने उनका वास्तविक रूप प्रकट होता है, किन्तु जो अभक्त हैं उनके लिए वे *कालरूप* में प्रकट होते हैं, जो उनका कारण-रूप है। भगवान् का यह कारण-रूप असुरों को तनिक भी सुहावना नहीं लगता, अतएव वे भगवान् को निराकार मान लेते हैं, जिससे उनको (झूठी) सुरक्षा की भावना का अनुभव हो और वे ऐसा सोच सकें कि अब उन्हें भगवान् द्वारा नष्ट नहीं किया जाएगा।

निष्पादितं देवकृत्यमवशेषं प्रतीक्षते ।
तावद् यूयमवेक्षध्वं भवेद् यावदिहेश्वरः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

निष्पादितम्—सम्पन्न; देव-कृत्यम्—देवताओं की ओर से जो कुछ होना था; अवशेषम्—शेष; प्रतीक्षते—प्रतीक्षित होकर; तावत्—उस समय तक; यूयम्—आप सारे पाण्डव; अवेक्षध्वम्—देखो तथा प्रतीक्षा करो; भवेत्—हो; यावत्—जब तक; इह—इस संसार में; ईश्वरः—परमेश्वर।

भगवान् ने देवताओं की सहायता करने का अपना कर्तव्य पहले ही पूरा कर दिया है और जो शेष है, उसके लिए वे प्रतीक्षारत हैं। आप सभी पाण्डव तब तक प्रतीक्षा कर सकते हो, जब तक भगवान् इस धरा पर उपस्थित हैं।

तात्पर्य : भगवान् अपने धाम (कृष्णलोक) से, जो आध्यात्मिक आकाश का सर्वोच्च लोक है, इस भौतिक विश्व के देव-शासकों की सहायता करने के लिए तब-तब अवतरित होते हैं, जब-जब वे

उन असुरों द्वारा अत्यधिक सताये जाते हैं, जो न केवल भगवान् से अपितु उनके भक्तों से भी द्वेष रखते हैं। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, बद्धजीव अपनी ही रुचि से भौतिक जगत के साधनों पर प्रभुत्व जताने की अपनी प्रबल इच्छा द्वारा प्रेरित होकर भौतिक संसर्ग में आते हैं और वे सभी वस्तुओं के नकली स्वामी बन बैठते हैं। प्रत्येक व्यक्ति नकली ईश्वर बनना चाहता है; ऐसे नकली ईश्वरों में प्रबल होड़ लगी रहती है और ऐसे प्रतियोगी सामान्यतया *असुर* कहलाते हैं। जब संसार में असुरों की संख्या बढ़ जाती है, तब यह जगत भगवद्भक्तों के लिए नरक बन जाता है। असुरों की वृद्धि के कारण जनता, जो स्वाभाविक रूप से भगवान् की भक्ति को समर्पित होती है और उच्चलोक के देवताओं समेत भगवान् के शुद्ध भक्त उद्धार के लिए भगवान् से प्रार्थना करते हैं, और तब भगवान् या तो स्वयं अपने धाम से नीचे आते हैं या अपने भक्तों में से किसी को मानव या पशु-समाज की गिरी दशा सुधारने के लिए नियुक्त करते हैं। ऐसी अशान्ति केवल मानव समाज में ही नहीं, अपितु पशुओं, पक्षियों या उच्च लोकों के देवताओं सहित अन्य जीवों के बीच भी मचती रहती है। भगवान् श्रीकृष्ण तब कंस, जरासंध तथा शिशुपाल जैसे असुरों का वध करने के लिए स्वयं अवतरित हुए। महाराज युधिष्ठिर के शासनकाल में लगभग इन सारे असुरों का वध भगवान् ने किया। अब वे अपने ही वंश, यदुवंश के विनाश की प्रतीक्षा में थे, जो इस संसार में उनकी अपनी इच्छा से ही प्रकट हुआ था। वे अपने स्वयं के नित्य धाम जाने के पूर्व इस वंश को समेट लेना चाहते थे। नारद ने, विदुर की तरह, यदुवंश के आसन्न विनाश की बात प्रकट नहीं होने दी, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने राजा तथा उनके भाइयों से संकेत कर दिया कि वे इस घटना के घटने तथा भगवान् के प्रयाण करने तक प्रतीक्षा करें।

धृतराष्ट्रः सह भ्रात्रा गान्धार्या च स्वभार्यया ।
दक्षिणेन हिमवत ऋषीणामाश्रमं गतः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

धृतराष्ट्रः—धृतराष्ट्र; सह—साथ; भ्रात्रा—अपने भाई विदुर के; गान्धार्या—गांधारी भी; च—तथा; स्व-भार्यया—अपनी पत्नी; दक्षिणेन—दक्षिण दिशा में; हिमवतः—हिमालय पर्वत के; ऋषीणाम्—ऋषियों का; आश्रमम्—आश्रम में; गतः—गये।

हे राजन्, आपके चाचा धृतराष्ट्र, उनके भाई विदुर तथा उनकी पत्नी गांधारी, हिमालय के दक्षिण की ओर गये हैं, जिधर बड़े-बड़े ऋषियों के आश्रम हैं।

तात्पर्य : शोकातुर महाराज युधिष्ठिर को ढाढ़स बँधाने के लिए, सर्वप्रथम नारद ने दार्शनिक दृष्टि से उपदेश दिया और फिर अपनी दिव्य दृष्टि से देखते हुए, उनके बड़े चाचा की भावी गतिविधियों का वर्णन करना प्रारम्भ किया, जो इस प्रकार है।

स्रोतोभि: सप्तभिर्या वै स्वर्धुनी सप्तधा व्यधात् ।
सप्तानां प्रीतये नाना सप्तस्रोत: प्रचक्षते ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

स्रोतोभि:—धाराओं से; सप्तभि:—सात (भाग); या—नदी; वै—निश्चय ही; स्वर्धुनी—पवित्र गंगा; सप्तधा—सात शाखाएँ; व्यधात्—उत्पन्न किया; सप्तानाम्—सातों की; प्रीतये—तुष्टि के लिए; नाना—विविध; सप्त-स्रोत:—सात स्रोत; प्रचक्षते—नाम से ज्ञात।

यह स्थान सप्तस्रोत (सात द्वारा विभाजित) कहलाता है, क्योंकि यहाँ पर पवित्र गंगा नदी का जल सात शाखाओं में विभाजित किया गया था। ऐसा महान् सप्तर्षियों की तुष्टि के लिए किया गया था।

स्नात्वानुसवनं तस्मिन्हुत्वा चाग्नीन्यथाविधि ।
अब्भक्ष उपशान्तात्मा स आस्ते विगतैषण: ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

स्नात्वा—स्नान करके; अनुसवनम्—नियमित रूप से तीन बार (प्रात:, दोपहर तथा संध्या समय); तस्मिन्—सप्तधा गंगा में; हुत्वा—अग्निहोत्र यज्ञ करके; च—भी; अग्नीन्—अग्नि में; यथा-विधि—शास्त्र के नियमों के अनुसार; अप्-भक्ष:—केवल जल पीकर उपवास करके; उपशान्त—पूर्ण रूप से संयमित; आत्मा—स्थूल इन्द्रियों तथा सूक्ष्म मन; स:—धृतराष्ट्र; आस्ते—स्थित होंगे; विगत—रहित; एषण:—पारिवारिक कुशलता-सम्बन्धी विचार।

इस समय सप्तस्रोत के तट पर धृतराष्ट्र नित्य तीन बार प्रात:, दोपहर तथा संध्या समय, स्नान करके, अग्निहोत्र यज्ञ सम्पन्न करके तथा केवल जल पीकर अष्टांग योग का अभ्यास करने में लगे हैं। इससे मनुष्य को मन तथा इन्द्रियों पर संयम रखने में सहायता मिलती है और वह पारिवारिक स्नेह-सम्बन्धी विचारों से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : योग-पद्धति इन्द्रियों तथा मन को वश में करने तथा उन्हें पदार्थ से आत्मा की ओर मोड़ने की यांत्रिक विधि है। इसकी प्रारम्भिक विधियाँ हैं—आसन, ध्यान, आध्यात्मिक विचार, प्राणायाम, समाधि तथा परम पुरुष परमात्मा की ओर उन्मुख होना। इस तरह की यांत्रिक विधि से

आध्यात्मिक पद तक ऊपर उठने के लिए कुछ विधान नियत किए गए हैं—दिन में तीन बार स्नान करना, जहाँ तक सम्भव हो उपवास करना, आसन मारकर मन को आध्यात्मिक विषयों में एकाग्र करना तथा इस प्रकार धीरे-धीरे विषय अर्थात् भौतिक ध्येय से मुक्त होना। भौतिक जगत का अर्थ है भौतिक विषय में लिप्त होना, जो भ्रम मात्र है। घर, देश, परिवार, समाज, सन्तान, सम्पत्ति तथा व्यापार—ये आत्मा के कतिपय आवरण हैं। योग-पद्धति इन मोहमय विचारों से मुक्त होने और क्रमशः परम पुरुष परमात्मा की ओर मुड़ने में सहायक होती है। भौतिक संगति तथा शिक्षा द्वारा हम व्यर्थ की वस्तुओं में केन्द्रित होना सीखते हैं, लेकिन योग ऐसी विधि है, जिससे हम इन्हें पूरी तरह से भूल जाते हैं। आधुनिक तथाकथित योगी तथा योग-पद्धतियाँ कुछ जादू जैसे करतब दिखाती हैं और अज्ञानी लोग ऐसी झूठी बातों के प्रति आकृष्ट हो जाते हैं, अथवा वे स्थूल शरीर के रोगों को अच्छा करने के लिए, इसे एक सस्ती विधि के रूप में मानते हैं। लेकिन वास्तव में, योग-पद्धति वह विधि है, जिससे हमने जीवन-सघर्ष के दौरान जो कुछ सीखा है, उसे हम भुला सकें। धृतराष्ट्र आजीवन अपने पुत्रों के लिए पाण्डवों की सम्पत्ति छीनकर उनका जीवन-स्तर ऊँचा करके पारिवारिक मामलों को सुधारने में व्यस्त रहे। नितान्त भौतिकतावादी एवं आध्यात्मिक शक्ति के ज्ञान से रहित व्यक्ति के लिए यही सामान्य व्यापार हैं। वह यह नहीं देख पाता कि ये किस तरह उसे स्वर्ग से नरक में घसीट कर ले जा सकते हैं। किन्तु अपने छोटे भाई विदुर के अनुग्रह से, धृतराष्ट्र को ज्ञान हुआ और वे अपने निपट मोहयुक्त व्यापारों को देख पाये और ऐसे ज्ञान के कारण ही वे आत्मानुभूति के लिए अपना घर छोड़ सके। श्री नारददेव ऐसे स्थान पर, जो स्वर्गिक गंगा के प्रवाह से पवित्र था, उनकी आध्यात्मिक प्रगति की भविष्यवाणी कर रहे थे। बिना भोजन किये केवल जल पीकर रहना भी उपवास करना माना जाता है। आध्यात्मिक ज्ञान-प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है। मूर्ख व्यक्ति विधि-विधानों का पालन किये बिना सस्ता योगी बनना चाहता है। सर्वप्रथम जिस व्यक्ति की अपनी जीभ पर लगाम नहीं है, वह कभी योगी नहीं बन सकता। *योगी* तथा *भोगी* दो विरोधी शब्द हैं। भोगी अर्थात् जो खाता-पीता, मौज करता है, वह योगी नहीं बन सकता, क्योंकि योगी को मनमाना खाने तथा पीने की छूट कभी भी नहीं है। हमें इस बात पर ध्यान देने से लाभ होगा कि धृतराष्ट्र ने केवल जल पीकर तथा एकान्त में बैठकर भगवान् हरि के विचारों में तन्मय होकर कैसे अपना योग प्रारम्भ किया था।

जितासनो जितश्वास: प्रत्याहृतषडिन्द्रिय: ।
हरिभावनया ध्वस्तरज:सत्त्वतमोमल: ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

जित-आसनः—जिसने आसनों पर विजय प्राप्त कर ली है; जित-श्वासः—जिसने श्वास-प्रक्रम को वश में कर लिया है; प्रत्याहृत—पीछे मुड़कर; षट्—छः; इन्द्रियः—इन्द्रियाँ; हरि—भगवान् में; भावनया—तन्मय; ध्वस्त—विजित; रजः—रजोगुण; सत्त्व—सत्त्वगुण; तमः—तमोगुण; मलः—कल्मष।

जिसने यौगिक आसनों तथा श्वास लेने की विधि को वश में कर लिया है, वह अपनी इन्द्रियों को पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् के प्रति मोड़कर भौतिक प्रकृति के गुणों अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण के कल्मष के प्रति निर्लिप्त बन जाता है।

तात्पर्य : योग-विधि की प्रारम्भिक गतिविधियाँ हैं आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, इत्यादि। महाराज धृतराष्ट्र को इन प्रारम्भिक कार्यों में सफलता प्राप्त करनी थी, क्योंकि वे पवित्र स्थान पर आसीन थे और एक ही लक्ष्य अर्थात् (हरि) पर ध्यान लगाये हुए थे। इस तरह उनकी सारी इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा में लगी थीं। यह विधि भक्त को भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के कल्मष से मुक्ति दिलाने में सहायक होती है। जब भौतिक सतोगुण भी, जो कि सर्वोच्च गुण है, भव-बन्धन का कारण है, तो अन्य गुणों—रज तथा तम के विषय में क्या कहा जाय। रज तथा तम-गुणों से भौतिक भोग की इच्छा बढ़ती है और प्रबल कामेच्छा से सम्पत्ति तथा शक्ति के संचय को बल मिलता है। जिसने इन दोनों अधम प्रवृत्तियों को जीत लिया है और अपने आप को सत्त्वगुण के स्तर तक उन्नत कर लिया है, जो ज्ञान तथा नैतिकता से परिपूर्ण है, वह भी इन्द्रियों को अर्थात् नेत्र, जीभ, नाक, कान तथा स्पर्शेन्द्रियों को वश में नहीं कर सकता। किन्तु जिसने उपर्युक्त विधि से, भगवान् हरि के चरणों में आत्म-सर्म्पण कर दिया है, वह भौतिक प्रकृति के गुणों के प्रभावों को पार कर सकता है और भगवान् की सेवा में स्थिर हो सकता है। अतएव भक्तियोग-विधि इन्द्रियों को सीधे भगवान् की प्रेमामयी सेवा में लगाती है। इससे कर्ता भौतिक कार्यकलापों में नहीं लग पाता। इन्द्रियों को भौतिक आसक्ति से मोड़कर भगवान् की दिव्य प्रेमामयी सेवा में लगाने की यह विधि *प्रत्याहार* कहलाती है और यह सारी प्रक्रिया *प्राणायाम* कहलाती है, जिसका अन्त *समाधि* में अर्थात् सभी तरह से परमेश्वर हरि को प्रसन्न करने के लिये तन्मय रहने में होता है।

विज्ञानात्मनि संयोज्य क्षेत्रज्ञे प्रविलाप्य तम् ।
ब्रह्मण्यात्मानमाधारे घटाम्बरमिवाम्बरे ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

विज्ञान—शुद्ध पहचान; आत्मनि—बुद्धि में; संयोज्य—ठीक से स्थिर करके; क्षेत्र-ज्ञे—जीव में; प्रविलाप्य—तादात्म्य करके; तम्—उसको; ब्रह्मणि—सर्वोपरि में; आत्मानम्—शुद्ध जीव; आधारे—आधार में; घट-अम्बरम्—घट के भीतर आकाश; इव—सदृश; अम्बरे—परम व्योम में।

धृतराष्ट्र को अपनी शुद्ध सत्ता को बुद्धि में संयोजित करके, तब परम पुरुष के साथ, जीव के रूप में, गुणों के एकात्मकता के बोध सहित, परम ब्रह्म के साथ तदाकार होना होगा। घटाकाश से मुक्त होकर उन्हें आध्यात्मिक आकाश ऊपर तक उठना होगा।

तात्पर्य : जीव भौतिक जगत पर प्रभुता जताने तथा परमेश्वर के साथ सहयोग न करने की इच्छा से महत् तत्त्व से सम्पर्क करता है और इस महत् तत्त्व से भौतिक जगत, बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों के साथ उसकी झूठी पहचान बनती है। इससे उसकी शुद्ध आध्यात्मिक पहचान ठक जाती है। योग-विधि से जब आत्म-साक्षात्कार में उसकी शुद्ध पहचान की अनुभूति हो जाती है, तो उसे पाँच स्थूल तत्त्वों तथा मन और बुद्धि नामक सूक्ष्म तत्त्वों को संयोजित करके मूल स्थिति में अर्थात् पुन: महत्-तत्त्व में लौटना होता है। इस प्रकार उसे महत्-तत्त्व के बन्धन से छूटकर परमात्मा में तदाकार होना होता है। दूसरे शब्दों में, उसे इसकी अनुभूति करनी होती है कि वह गुणात्मक रूप से परमात्मा से अभिन्न है। इस तरह से वह अपनी शुद्ध पहचान करके भौतिक आकाश को पार कर सकता है और इस प्रकार भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लग जाता है। धृतराष्ट्र ने विदुर तथा भगवान् की कृपा से आध्यात्मिक पहचान की यह सर्वोच्च सिद्ध अवस्था प्राप्त कर ली। विदुर के व्यक्तिगत सम्पर्क से उन्हें भगवान् की कृपा प्राप्त हो सकी और जब वे विदुर के उपदेशों का वास्तव में पालन कर रहे थे, तब भगवान् ने सिद्ध अवस्था प्राप्त करने में उनकी सहायता दी।

भगवान् का शुद्ध भक्त न तो भौतिक आकाश के किसी ग्रह पर रहता है, न ही वह भौतिक तत्त्वों से किसी प्रकार के सम्पर्क का अनुभव करता है। भगवान् के उद्देश्य के समान ही उद्देश्य की आध्यात्मिक धारा से परिपूरित होने के कारण उसके तथाकथित भौतिक शरीर का अस्तित्व नहीं रहता और इस तरह वह महत् तत्त्व के सारे कल्मष से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। वह सदैव

आध्यात्मिक आकाश में रहता है, जिसे वह अपनी भक्तिमय सेवा के प्रभाव से सात भौतिक आवरणों को भेदकर प्राप्त करता है। बद्धजीव इन आवरणों के भीतर रहते हैं, जबकि मुक्त जीव इनसे परे होते हैं।

ध्वस्तमायागुणोदर्को निरुद्धकरणाशय: ।
निवर्तिताखिलाहार आस्ते स्थाणुरिवाचल: ।
तस्यान्तरायो मैवाभू: सन्न्यस्ताखिलकर्मण: ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

ध्वस्त—विनष्ट होकर; माया-गुण—भौतिक प्रकृति के गुण; उदर्क:—परवर्ती प्रभाव; निरुद्ध—रुक कर; करण-आशय:—इन्द्रियाँ तथा मन; निवर्तित—रुका हुआ; अखिल—समस्त; आहार:—इन्द्रियों का भोजन; आस्ते—आसीन है; स्थाणु:—अचर; इव—सदृश; अचल:—स्थिर; तस्य—उसके; अन्तराय:—विघ्न, बाधाएँ; मा एव—कभी इस तरह; अभू:—हो; सन्न्यस्त—विरक्त; अखिल—सभी तरह के; कर्मण:—भौतिक कर्तव्य।

उन्हें इन्द्रियों के सारे कार्य बाहर से भी रोक देने होंगे और भौतिक प्रकृति के गुणों से प्रभावित होनेवाली इन्द्रियों की अन्त:क्रियाओं के प्रति भी अभेद्य रहना होगा। इन सारे भौतिक कार्यों का परित्याग करने पर वे अचल हो जायेंगे और मार्ग के सारे अवरोधों को पार कर जायेंगे।

तात्पर्य : धृतराष्ट्र ने योग-विधि के द्वारा सब प्रकार की भौतिक प्रतिक्रिया का निषेध करने का स्तर प्राप्त कर लिया था। प्रकृति के भौतिक गुणों के प्रभाव का शिकार बना जीव पदार्थ को भोगने की दुर्दम्य इच्छा के वश हो जाता है, किन्तु योग-विधि से मनुष्य ऐसे मिथ्या भोग से बच सकता है। प्रत्येक इन्द्रिय सदा अपने भोजन की तलाश में रहती है और इस तरह बद्धजीव पर चारों ओर से हमला होता है और उसे किसी भी कार्य में स्थिर होने का अवसर नहीं मिल पाता। नारद ने महाराज युधिष्ठिर को सलाह दी कि वे अपने ताऊ को घर वापस लाने का प्रयास करके उन्हें विचलित न करें। वे अब किसी भी भौतिक वस्तु के आकर्षण से परे थे। भौतिक प्रकृति के गुणों की कार्य करने की विभिन्न विधियाँ हैं, किन्तु प्रकृति के भौतिक गुणों के भी ऊपर आध्यात्मिक गुण हैं, जो परमपूर्ण हैं। *निर्गुण* का अर्थ है, प्रतिक्रिया-विहीन। आध्यात्मिक गुण तथा इसका प्रभाव समान हैं, अतएव आध्यात्मिक गुण को *निर्गुण* कहकर उसे भौतिक गुण से भिन्न दिखाया जाता है। प्रकृति के भौतिक गुणों से पूर्णत: अवरुद्ध होने पर, मनुष्य आध्यात्मिक मंडल में प्रवेश करता है और आध्यात्मिक गुणों से प्रेरित कर्म *भक्ति* कहलाता है।

अतएव *भक्ति* परम पूर्ण के सीधे सम्पर्क द्वारा प्राप्त किया गया निर्गुण है, जिसे परम-पूर्ण सम्पर्क द्वारा प्राप्त किया जाता है।

स वा अद्यतनाद् राजन् परत: पञ्चमेऽहनि ।
कलेवरं हास्यति स्वं तच्च भस्मीभविष्यति ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वा—सम्भवतया; अद्य—आज; तनात्—से; राजन्—हे राजन्; परतः—आगे; पञ्चमे—पाँचवें; अहनि—दिन; कलेवरम्—शरीर; हास्यति—छोड़ देंगे; स्वम्—अपनी इच्छा से; तत्—वह; च—भी; भस्मी—राख; भविष्यति—हो जायेगा।

हे राजन्, सम्भव यह है कि वे आज से पाँचवें दिन अपना शरीर छोड़ देंगे और उनका शरीर राख हो जायेगा।

तात्पर्य : नारद मुनि की भविष्यवाणी ने युधिष्ठिर महाराज को उस स्थान को जाने से रोक दिया, जहाँ उनके ताऊ रह रहे थे, क्योंकि अपनी योग-शक्ति से अपना शरीर त्यागने के बाद भी धृतराष्ट्र को किसी दाह-संस्कार की आवश्यकता न थी। नारदमुनि ने संकेत किया कि उनका शरीर स्वत: जलकर भस्म हो जायेगा। योग-पद्धति की सिद्धि ऐसी ही योग-शक्ति से प्राप्त की जाती है। योगी इच्छित समय में अपना शरीर-त्याग कर सकता है और अपने इस शरीर को, खुद के लिए सृजित की हुइ अग्नि से भस्म करके इच्छित ग्रह को प्राप्त कर सकता है।

दह्यमानेऽग्निभिर्देहे पत्यु: पत्नी सहोटजे ।
बहि: स्थिता पतिं साध्वी तमग्निमनु वेक्ष्यति ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

दह्यमाने—जलते हुए; अग्निभिः—अग्नि द्वारा; देहे—शरीर में; पत्युः—पति के; पत्नी—पत्नी; सह-उटजे—कुटिया समेत; बहिः—बाहर; स्थिता—स्थित; पतिम्—पति को; साध्वी—सती नारी; तम्—उस; अग्निम्—अग्नि को; अनु वेक्ष्यति—ध्यानपूर्वक देखते हुए अग्नि में प्रवेश करेगी।

बाहर से अपने पति को अपनी योग शक्ति की अग्नि में अपनी कुटिया समेत जलता हुआ देखकर उसकी साध्वी पत्नी एकाग्रता पूर्वक ध्यानमग्न होकर अग्नि में प्रवेश करेगी।

तात्पर्य : गान्धारी एक आदर्श सती नारी थीं। वे अपने पति की जीवन-संगिनी थीं, अतएव जब उन्होंने देखा कि उनके पति योग की अग्नि में पर्णकुटी समेत जल रहे हैं, तो वे निराश हो गईं। उन्होंने

अपने सौ पुत्र खोने के बाद घर छोड़ दिया था और अब जंगल में अपने अत्यन्त प्रिय पति को भी जलते हुए देख रही थीं। अब वे वास्तव में अकेली अनुभव कर रहीं थीं, अतएव वे भी अपने पति की अग्नि में प्रवेश कर, पति का अनुगमन करते हुए मर गईं। सती स्त्री का अपने पति की अग्नि में प्रवेश करना *सती-संस्कार* कहलाता है और यह कर्म स्त्री के लिए अत्युत्तम माना जाता है। बाद के युग में, यह सती-प्रथा अत्यन्त घृणित अपराधी कृत्य बन गयी, क्योंकि यह प्रथा अनिच्छित स्त्री पर भी थोपी जाने लगी। इस पतित युग में किसी भी स्त्री के लिए गान्धारी तथा अन्यों के समान सती-संस्कार का शुद्ध विधि से पालन करना सम्भव नहीं है। गान्धारी-जैसी सती नारी को पति का वियोग वास्तविक अग्नि से अधिक दाहक प्रतीत होता था। ऐसी नारी स्वेच्छा से सती-धर्म का पालन कर सकती है, किन्तु किसी के द्वारा बल प्रयोग नहीं किया जाता है। जब यह प्रथा औपचारिकता बन गयी, तो इस नियम के पालन कराने के लिए नारी पर बलप्रयोग किया जाने लगा, तब यह सचमुच अपराध-पूर्ण बन गयी, अतएव राज-नियम द्वारा इसे बन्द कराना पड़ा। नारदमुनि की इस भविष्यवाणी ने, महाराज युधिष्ठिर को अपनी विधवा ताई के पास जाते रोक दिया।

विदुरस्तु तदाश्चर्यं निशाम्य कुरुनन्दन ।
हर्षशोकयुतस्तस्माद् गन्ता तीर्थनिषेवकः ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

विदुरः—विदुर भी; तु—लेकिन; तत्—वह घटना; आश्चर्यम्—आश्चर्यमय; निशाम्य—देखकर; कुरु-नन्दन—हे कुरुवंश के पुत्र; हर्ष—प्रसन्नता; शोक—दुख; युतः—से प्रभावित; तस्मात्—उस स्थान से; गन्ता—चले जाएँगे; तीर्थ—तीर्थ-स्थान; निषेवकः—शक्ति प्राप्त करने के लिए।

तब हर्ष तथा शोक से अभिभूत होकर, विदुर उस पवित्र तीर्थ-स्थान से चले जाएँगे।

तात्पर्य : विदुर, मुक्त योगी के रूप में अपने भ्राता धृतराष्ट्र के आश्चर्यमय प्रयाण को देखकर चकित थे, क्योंकि वे अपने विगत जीवन में भौतिकतावाद अत्यधिक लिप्त थे। निस्सन्देह, विदुर के ही कारण, उनके भाई को जीवन की वांछित गति प्राप्त हुई। अतएव यह जानकर विदुर परम प्रसन्न थे। लेकिन उन्हें दुख था कि वे अपने भाई को शुद्ध भक्त न बना पाये। विदुर ऐसा न कर पाये, क्योंकि धृतराष्ट्र उन पाण्डवों से शत्रुभाव रखते थे, जो सारे भगवान् के भक्त थे। वैष्णव के चरणकमलों पर किया गया अपराध भगवान् के चरणकमलों पर किये गये अपराध से अधिक घातक होता है। निश्चय ही विदुर

अपने भाई धृतराष्ट्र पर अत्यन्त कृपालु थे, जिनका पिछला जीवन अत्यन्त भौतिकवादी था, किन्तु ऐसी कृपा का वर्तमान जीवन में फल अन्ततः परमेश्वर की इच्छा पर निर्भर होता है। अतएव धृतराष्ट्र को केवल मुक्ति-लाभ हुआ। ऐसे अनेक मुक्त जीवनों के बाद ही भक्ति की अवस्था प्राप्त हो पाती है। विदुर अपने भाई तथा भाभी की मृत्यु से अत्यन्त शोकातुर थे और ऐसे शोक को दूर करने का एकमात्र उपाय था कि वे तीर्थयात्रा के लिए निकल पड़ें। अतएव महाराज युधिष्ठिर के पास अपने जीवित चाचा विदुर को वापस बुलाने का अवसर न था।

इत्युक्त्वाथारुहत् स्वर्गं नारदः सहतुम्बुरुः ।
युधिष्ठिरो वचस्तस्य हृदि कृत्वाजहाच्छुचः ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्त्वा—सम्बोधित करके; अथ—तत्पश्चात्; आरुहत्—चढ़ गये; स्वर्गम्—बाह्य आकाश में; नारदः—महर्षि नारद; सह—के साथ; तुम्बुरुः—तम्बूरा; युधिष्ठिरः—महाराज युधिष्ठिर ने; वचः—उपदेश; तस्य—उनका; हृदि कृत्वा—हृदय में रखकर; अजहात्—त्याग दिया; शुचः—सारा शोक।

ऐसा कहकर महर्षि नारद, अपनी वीणा-समेत बाह्य आकाश में चले गये। युधिष्ठिर ने उनके उपदेश को अपने हृदय में धारण किया, जिससे वे सारे शोकों से मुक्त हो गये।

तात्पर्य : श्री नारदजी शाश्वत अन्तरिक्ष पुरुष हैं, जिन्हें भगवत्कृपा से आध्यात्मिक शरीर प्राप्त हुआ है। वे बिना किसी प्रतिरोध के, भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही जगतों के बाह्य आकाश में विचरण कर सकते हैं और देखते ही देखते, दूर-सूदूर के किसी भी ग्रह में तत्क्षण पहुँच सकते हैं। दासी-पुत्र के रूप में हम उनके विगत जीवन का वर्णन पहले ही कर चुके हैं। शुद्ध भक्तों की संगति करने से ही, उन्हें शाश्वत अन्तरिक्ष-पुरुष का पद प्राप्त हुआ था, अतएव उन्हें विचरण करने की स्वतंत्रता थी। हमें नारदमुनि के चरण-चिह्नों पर चलने का प्रयास करना चाहिए और यांत्रिक साधनों से अन्य लोकों तक पहुँचने का व्यर्थ प्रयास नहीं करना चाहिए। महाराज युधिष्ठिर धर्मात्मा राजा थे, अतएव समय-समय पर उन्हें नारदमुनि के दर्शन होते रहते थे; अतएव जो नारदमुनि का दर्शन करने के इच्छुक हों, उन्हें सर्वप्रथम पवित्र बनना होगा और नारदमुनि के चरण-चिह्नों पर चलना होगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के अन्तर्गत ''धृतराष्ट्र द्वारा गृहत्याग'' नामक तेरहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौदह

भगवान् श्रीकृष्ण का अन्तर्धान होना

सूत उवाच
सम्प्रस्थिते द्वारकायां जिष्णौ बन्धुदिदृक्षया ।
ज्ञातुं च पुण्यश्लोकस्य कृष्णस्य च विचेष्टितम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; सम्प्रस्थिते—जाकर; द्वारकायाम्—द्वारका नगरी में; जिष्णौ—अर्जुन; बन्धु—मित्रों तथा सम्बन्धियों से; दिदृक्षया—मिलने के लिए; ज्ञातुम्—जानने के लिए; च—भी; पुण्य-श्लोकस्य—जिनका यश वैदिक स्तोत्रों द्वारा गाया जाता है; कृष्णस्य—भगवान् कृष्ण का; च—तथा; विचेष्टितम्—अगला कार्यक्रम।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : भगवान् श्रीकृष्ण तथा अन्य मित्रों को मिलने तथा भगवान् से उनके अगले कार्यकलापों के विषय में जानने के लिए अर्जुन द्वारका गये।

तात्पर्य : जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भगवान् इस पृथ्वी पर धर्मात्माओं की रक्षा करने तथा अधर्मियों का संहार करने के लिए अवतीर्ण हुए थे, अतएव कुरुक्षेत्र का युद्ध समाप्त होने तथा महाराज युधिष्ठिर का राज्य स्थापित हो जाने पर भगवान् का कार्य पूर्ण हो चुका था। पाँच पाण्डव और विशेष रूप से अर्जुन, भगवान् कृष्ण के सनातन संगी थे। अतएव कृष्ण से उनके अगले कार्यक्रम के विषय में जानने के लिए अर्जुन द्वारका गये।

व्यतीताः कतिचिन्मासास्तदा नायात्ततोऽर्जुनः ।
ददर्श घोररूपाणि निमित्तानि कुरूद्वहः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

व्यतीताः—व्यतीत करके; कतिचित्—कुछ; मासाः—महीने; तदा—उस समय; न आयात्—नहीं लौटा; ततः—वहाँ से; अर्जुनः—अर्जुन; ददर्श—देखा; घोर—भयानक; रूपाणि—दृश्य; निमित्तानि—विभिन्न कारण; कुरु-उद्वहः—महाराज युधिष्ठिर ने।

कुछ मास बीत गये, किन्तु अर्जुन वापस नहीं लौटे। तब महाराज युधिष्ठिर को कुछ अपशकुन दिखने लगे, जो अपने आप में अत्यन्त भयानक थे।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण अनन्त हैं, हमारे संसार के सर्वाधिक शक्तिमान सूर्य से भी अधिक शक्तिशाली हैं। उनके एक श्वास-काल में लाखों-करोड़ों सूर्यों की सृष्टि और पुनः उनका संहार होता रहता है। भौतिक जगत में, सूर्य को समस्त उत्पादकर्ता तथा सारी भौतिक शक्ति का स्रोत माना जाता है और सूर्य के कारण ही हमें जीवन की आवश्यकताएँ उपलब्ध होती हैं। अतएव जब पृथ्वी पर भगवान् स्वयं उपस्थित थे, तो उस समय उनकी उपस्थिति के कारण हमारी शान्ति तथा सम्पन्नता का सारा साज-सामान, विशेष रूप से धर्म तथा ज्ञान, अपनी चरमावस्था में थे, जिस प्रकार चमकते सूर्य की उपस्थिति में सर्वत्र प्रकाश झलझलाता रहता है। महाराज युधिष्ठिर को अपने राज्य में कुछ न्यूनताएँ दिखीं, अतएव वे अर्जुन के विषय में अत्यधिक चिन्तित हो उठे, जो दीर्घकाल से अनुपस्थित थे और द्वारका की कुशलता का भी कोई समाचार नहीं मिला था। उन्हें भगवान् कृष्ण के अन्तर्धान होने की आशंका हुई, अन्यथा ऐसे भयानक अपशकुनों की सम्भावना नहीं थी।

कालस्य च गतिं रौद्रां विपर्यस्तर्तुधर्मिणः ।
पापीयसीं नृणां वार्तां क्रोधलोभानृतात्मनाम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

कालस्य—शाश्वत समय की; च—भी; गतिम्—दिशा; रौद्राम्—भयानक; विपर्यस्त—विपरीत; ऋतु—मौसम की; धर्मिणः—नियमितताएँ; पापीयसीम्—पापी; नृणाम्—मनुष्य की; वार्ताम्—जीविका का साधन; क्रोध—क्रोध; लोभ—लोभ; अनृत—झूठ; आत्मनाम्—लोगों का।

उन्होंने देखा कि सनातन काल की गति बदल गई है और यह अत्यन्त भयावह था। ऋतु-सम्बन्धी नियमितताओं में व्यतिक्रम हो रहे थे। सामान्य लोग अत्यन्त लालची, क्रोधी तथा धोखेबाज हो गये थे। वे देख रहे थे कि वे सभी जीविका के अनुचित साधन अपना रहे थे।

तात्पर्य : जब सभ्यता का सम्बन्ध पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रेम से टूट जाता है, तो ऋतु की नियमितता में परिवर्तन, जीविका के अनुचित साधन, लोभ, क्रोध तथा धोखाधड़ी जैसे लक्षणों का प्राधान्य हो जाता है। ऋतु-सम्बन्धी नियमितता के परिवर्तन का अर्थ है, एक ऋतु के समय दूसरी ऋतु के लक्षणों का प्रकट होना। उदाहरणार्थ, वर्षाऋतु, शरद्ऋतु में चली जाय या एक ऋतु में फूलने-फलने की क्रिया दूसरी ऋतु में होने लगे। ईश्वरविहीन मनुष्य अनिवार्यतः लालची, क्रोधी तथा धोखेबाज होता है। ऐसा व्यक्ति किसी भी साधन से अपनी जीविका चला सकता है चाहे वह साधन उचित हो या

अनुचित। महाराज युधिष्ठिर के राज्यकाल में ध्यान खींचने वाली बात यह थी कि उपर्युक्त सारे लक्षणों का अभाव था। लेकिन जब महाराज युधिष्ठिर को अपने राज्य के दैवी वातावरण में यत्किंचित् परिवर्तन का अनुभव होने लगा, तो वे चकित हो गए और उन्हें तुरन्त आशंका हुई कि भगवान् अप्रकट हो गये हैं। जीविका के अनुचित साधनों का अर्थ है, अपने वृत्तिपरक कर्म से हटना। हर एक के लिए, चाहे वह ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र, कुछ कर्म नियत हैं, किन्तु यदि कोई इन कर्मों को न करके, अन्यों के कर्म को अपना कर्म घोषित करते हुए उसे अपनाता है, तो वह अनुचित कर्तव्य का पालन करता है। जब मनुष्य के समक्ष उच्चतर जीवन-उद्देश्य नहीं होता और वह सोचता है कि उसका कुछ वर्षों का भौतिक जीवन ही सब कुछ है, तो मनुष्य सम्पत्ति तथा शक्ति के लिए अत्यधिक लोभी बन जाता है। अज्ञान ही मानव समाज की सारी विसंगतियों का कारण है और इस अज्ञान को हटाने के लिए, विशेष रूप से इस अधोगति के युग में, *श्रीमद्भागवत* रूपी प्रबल सूर्य अपना प्रकाश वितरित करने के लिए उपलब्ध है।

जिह्मप्रायं व्यवहृतं शाठ्यमिश्रं च सौहृदम् ।
पितृमातृसुहृद्भ्रातृदम्पतीनां च कल्कनम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

जिह्म-प्रायम्—धोखा देना; व्यवहृतम्—समस्त सामान्य लेन-देन के कार्यों में; शाठ्य—कपट; मिश्रम्—अपमिश्रित; च—तथा; सौहृदम्—मैत्रीपूर्ण शुभचिन्तकों से सम्बन्धित; पितृ—पिता; मातृ—माता-सम्बन्धी; सुहृत्—शुभचिन्तक; भ्रातृ—निजी भाई; दम्-पतीनाम्—पति-पत्नी-विषयक; च—भी; कल्कनम्—पारस्परिक कलह।

सारे सामान्य लेन-देन, यहाँ तक कि मित्रों के बीच के व्यवहार तक, कपट के कारण दूषित हो गये थे। पारिवारिक मामलों में पिता, माता तथा पुत्रों के बीच, शुभचिन्तकों के बीच तथा भाई-भाई के बीच सदैव गलतफहमी होती थी। यहाँ तक कि पति तथा पत्नी के बीच भी सदैव तनाव तथा झगड़ा होता रहता था।

तात्पर्य : बद्धजीव में चार दुर्गुण पाये जाते हैं—त्रुटियाँ करना, मूर्खता, असमर्थता तथा वंचकता (ठगी)। ये अपूर्णता के लक्षण हैं और इन चारों में से अन्यों को ठगने की प्रवृत्ति की प्रधानता रहती है। यह ठगी बद्धजीवों में इसलिए आती है, क्योंकि वे प्रकृति पर प्रभुता जताने की अप्राकृतिक इच्छा से लिप्त होकर भौतिक जगत् में फँसे हुए हैं। शुद्ध अवस्था में जीव नियमों द्वारा बद्ध नहीं रहता,

क्योंकि अपनी शुद्ध अवस्था में उसे यह ज्ञान रहता है कि जीव परम पुरुष के अधीन है और इस तरह अधीन बने रहना उसके हित में है, बजाय इसके कि वह परमेश्वर की सम्पत्ति पर झूठी प्रभुता जताये। बद्ध अवस्था में यदि उसे सर्वस्व मिल जाए जो उसे कभी मिलनेवाला नहीं हैं, तो भी वह तुष्ट नहीं होता, अतएव वह सभी प्रकार की ठगी करने लगता है, यहाँ तक कि वह अपने निकटतम प्रिय सम्बन्धियों को भी ठगता है। ऐसी असंतोषजनक स्थिति में पिता तथा पुत्र या पति तथा पत्नी के बीच भी मेल नहीं रह पाता। लेकिन इन सभी विरोधी कठिनाइयों को एक विधि से दूर किया जा सकता है, और वह है भगवान् की भक्तिमय सेवा। पाखण्डमय संसार को भगवान् की भक्तिमय सेवा की प्रतिक्रिया द्वारा ही रोका जा सकता है, अन्य किसी विधि से नहीं। जब महाराज युधिष्ठिर ने इस प्रकार की विषमता देखी, तो उन्होंने अनुमान लगा लिया कि इस धरती से भगवान् का तिरोभाव हो चुका है।

निमित्तान्यत्यरिष्टानि काले त्वनुगते नृणाम् ।
लोभाद्यधर्मप्रकृतिं दृष्ट्वोवाचानुजं नृपः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

निमित्तानि—कारण; अति—गम्भीर; अरिष्टानि—अशुभ लक्षण, अपशकुन; काले—कालक्रम में; तु—लेकिन; अनुगते—चला जाना; नृणाम्—मानव जाति का; लोभ-आदि—यथा लालच; अधर्म—अधर्म; प्रकृतिम्—आदतें; दृष्ट्वा—देख कर; उवाच—कहा; अनुजम्—छोटे भाई से; नृपः—राजा ने।

कालक्रम में ऐसा हुआ कि लोग लोभ, क्रोध, गर्व इत्यादि के अभ्यस्त हो गये। महाराज युधिष्ठिर ने इन सब अपशकुनों को देखकर अपने छोटे भाई से कहा।

तात्पर्य : जब समाज में लोभ, क्रोध, अधर्म तथा दम्भ जैसे अमानवीय लक्षणों का प्राधान्य हो उठा, तो महाराज युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा राजा अत्यन्त क्षुब्ध हो उठे। इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि पतित समाज के ये सारे लक्षण उस काल के लोगों को अज्ञात थे और कलियुग के आगमन के साथ इनका अनुभव किया जाना उनके लिए आश्चर्यजनक था।

युधिष्ठिर उवाच
सम्प्रेषितो द्वारकायां जिष्णुर्बन्धुदिदृक्षया ।
ज्ञातुं च पुण्यश्लोकस्य कृष्णस्य च विचेष्टितम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

युधिष्ठिरः उवाच—महाराज युधिष्ठिर ने कहा; सम्प्रेषितः—गया हुआ है; द्वारकायाम्—द्वारका; जिष्णुः—अर्जुन; बन्धु—मित्रों से; दिदृक्षया—मिलने के लिए; ज्ञातुम्—जानने के लिए; च—भी; पुण्य-श्लोकस्य—भगवान् का; कृष्णस्य—श्रीकृष्ण का; च—तथा; विचेष्टितम्—कार्यक्रम।

महाराज युधिष्ठिर ने अपने छोटे भाई भीमसेन से कहा : मैंने अर्जुन को द्वारका भेजा था कि वह अपने मित्रों से भेंट कर आये और भगवान् श्रीकृष्ण से उनका कार्यक्रम जानता आये।

गताः सप्ताधुना मासा भीमसेन तवानुजः ।
नायाति कस्य वा हेतोर्नाहं वेदेदमञ्जसा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

गताः—बीत चुके; सप्त—सात; अधुना—इस समय तक; मासाः—महीने; भीमसेन—हे भीमसेन; तव—तुम्हारा; अनुजः—छोटा भाई; न—नहीं; आयाति—आता है; कस्य—किसलिए; वा—अथवा; हेतोः—कारण; न—नहीं; अहम्—मैं; वेद—जानता हूँ; इदम्—यह; अञ्जसा—वास्तव में।

जब से वह गया है, तब से सात मास बीत चुके हैं, फिर भी वह लौटा नहीं। मुझे ठीक से पता नहीं है कि वहाँ क्या हो रहा है।

अपि देवर्षिणादिष्टः स कालोऽयमुपस्थितः ।
यदात्मनोऽङ्गमाक्रीडं भगवानुत्सिसृक्षति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अपि—क्या; देव-ऋषिणा—देवर्षि (नारद) द्वारा; आदिष्टः—आदेश दिया गया; सः—वह; कालः—शाश्वत समय; अयम्—यह; उपस्थितः—आ चुका है; यदा—जब; आत्मनः—अपने आप; अङ्गम्—अंश; आक्रीडम्—प्राकट्य; भगवान्—भगवान्; उत्सिसृक्षति—छोड़ने जा रहे हैं।

क्या वे अपनी मर्त्यलोक की लीलाओं को छोड़ने जा रहे हैं, जैसा देवर्षि नारद ने इंगित किया था? क्या वह समय आ भी चुका है?

तात्पर्य : जैसा हम कई बार बतला चुके हैं, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के कई पूर्ण अंश हैं और इनमें से यद्यपि सभी समान रूप से शक्तिमान हैं, किन्तु वे भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् के कई तरह के कथन हैं और इनमें से प्रत्येक कथन विभिन्न अंशों या अंशांशों के लिए है। उदाहरणार्थ, *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

"हे भारत, जब जब भी और जहाँ जहाँ भी, धर्म का पतन तथा अधर्म का प्राधान्य होने लगता है, तब-तब मैं अवतरित होता हूँ।" (*भगवद्गीता* ४.७)

"भक्तजनों का उद्धार करने, दुष्टों का विनाश करने तथा धर्म के सिद्धान्तों की फिर से स्थापना करने के लिए मैं हर युग में प्रकट होता हूँ।" (*भगवद्गीता* ४.८)

"यदि मैं कर्म न करूँ, तो सारे लोग कुपथगामी हो जाँय। तब मैं अवांछित जन-समुदाय (वर्णसंकर) को उत्पन्न करने का कारण बनूँगा और इस तरह सम्पूर्ण प्राणियों की शान्ति का विनाशकर्ता बनूँगा।" (*भगवद्गीता* ३.२४)

"महापुरुष जो-जो आचरण करता है, सामान्य लोग उसी का अनुसरण करते हैं। वह अपने अनुसरणीय कार्यों से जो भी आदर्श प्रस्तुत करता है, संपूर्ण विश्व उसी का अनुगमन करता है।" (*भगवद्गीता* ३.२१)

उपर्युक्त सारे कथन भगवान् के विभिन्न अंशों पर लागू होते हैं—यथा संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा नारायण—इन सब दिव्य अंशों में वे स्वयं ही हैं। फिर भी श्रीकृष्ण के रूप में भगवान् अपने विभिन्न कोटि के भक्तों से विभिन्न प्रकार की दिव्यानुभूति का आदान-प्रदान करते हैं। तो भी भगवान् कृष्ण अपने मूल रूप में, ब्रह्मा के प्रत्येक चौबीस घण्टों में (या ८,६४,००,००,००० सौर वर्षों के बाद) प्रत्येक ब्रह्माण्ड में एक बार प्रकट होते हैं और उनकी सारी दिव्य लीलाएँ प्रत्येक ब्रह्माण्ड में क्रमश: दिखलाई पड़ती हैं। किन्तु निपट अनजान व्यक्ति के लिए, भगवान् कृष्ण, भगवान् वासुदेव आदि के कार्य जटिल समस्याएँ बने रहते हैं। स्वयं भगवान् तथा भगवान् के दिव्य शरीर में कोई भी अन्तर नहीं है। विभिन्न अंश तरह-तरह के कार्य सम्पन्न करते हैं। किन्तु जब भगवान्, सशरीर श्रीकृष्ण के रूप में प्रकट होते हैं, तब उनके अन्य अंश भी उनकी अचिन्त्य शक्ति *योगमाया* से उनके साथ हो लेते हैं। इस प्रकार वृन्दावन के भगवान् कृष्ण मथुरा या द्वारका के कृष्ण से भिन्न हैं। इसी तरह कृष्ण का *विराट् रूप* भी उनकी अचिन्त्य शक्ति के द्वारा उनसे भिन्न है। कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में प्रदर्शित विराट रूप उनके रूप की भौतिक अवधारणा है। अतएव यह समझ लेना चाहिए कि जब बहेलिया के तीर-कमान से भगवान् कृष्ण बाह्य दृष्टि से मारे गये, तब भगवान् अपना तथाकथित भौतिक शरीर इसी संसार में छोड़ते गये। भगवान् तो *कैवल्य* हैं और उनके लिए पदार्थ तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं है,

क्योंकि उन्हीं से प्रत्येक वस्तु उत्पन्न हुइ है। अतएव उनके द्वारा एक शरीर को त्यागना या दूसरा शरीर ग्रहण करने का अर्थ यह नहीं है कि वे सामान्य जीव जैसे हैं। ऐसे सारे कार्यकलाप उनकी अचिन्त्य शक्ति के कारण एक ही साथ एक तथा भिन्न-भिन्न हैं। जब महाराज युधिष्ठिर उनके अन्तर्धान होने की सम्भावना से शोकाकुल थे, तो यह अपने घनिष्ठ मित्र के अन्तर्धान होने पर शोक करने की प्रथा स्वरूप था, लेकिन वास्तविकता तो यह है कि भगवान् कभी भी अपना दिव्य शरीर नहीं त्यागते, जैसाकि अल्पज्ञानी लोग भ्रमवश सोचते हैं। *भगवद्गीता* में स्वयं भगवान् ने ऐसे अल्पज्ञों की भर्त्सना की है और उन्हें मूढ़ कहा गया है। भगवान् के शरीर-त्याग का अर्थ यह हुआ कि उन्होंने पुनः अपने अंशों को अपने-अपने दिव्य धामों में छोड़ दिया, जिस तरह इस संसार में उन्होंने अपना *विराट् रूप* छोड़ा था।

यस्मान्नः सम्पदो राज्यं दाराः प्राणाः कुलं प्रजाः ।
आसन्सपत्नविजयो लोकाश्च यदनुग्रहात् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यस्मात्—जिससे; नः—हमारा; सम्पदः—ऐश्वर्य; राज्यम्—राज्य; दाराः—पत्नियाँ; प्राणाः—जीवनाधार; कुलम्—वंश; प्रजाः—प्रजागण; आसन्—सम्भव हुए; सपत्न—प्रतियोगी; विजयः—जीतकर; लोकाः—उच्च लोकों में भावी निवास; च—तथा; यत्—जिसके; अनुग्रहात्—अनुग्रह से।

केवल उन्हीं से हमारा सारा राजसी ऐश्वर्य, अच्छी पत्नियाँ, जीवन, सन्तान, प्रजा के ऊपर नियंत्रण, शत्रुओं पर विजय तथा उच्चलोकों में भावी निवास, सभी कुछ सम्भव हो सका। यह सब हम पर उनकी अहैतुकी कृपा के कारण है।

तात्पर्य : भौतिक सम्पन्नता में अच्छी पत्नी, अच्छा घर, पर्याप्त भूमि, अच्छी सन्तानें, राजसी पारिवारिक सम्बन्ध, प्रतियोगियों पर विजय तथा पुण्य कर्म के द्वारा भौतिक सुविधाओं की बेहतर व्यवस्था के लिए उच्चतर दैवी लोकों में निवासस्थान की प्राप्ति सम्मिलित हैं। ये सुविधाएँ न केवल खुद के कठोर श्रम से या अनुचित साधनों से प्राप्त की जाती हैं, अपितु भगवान् की कृपा से प्राप्त होती हैं। किसी के निजी उद्यम से अर्जित सम्पन्नता भी भगवान् की कृपा पर ही निर्भर करती है। भगवान् के आशीर्वाद के साथ-साथ निजी श्रम तो होना ही चाहिए, किन्तु भगवान् के आशीर्वाद के बिना केवल श्रम से ही किसी को सफलता नहीं मिलती। कलियुग का आधुनिकता-प्रिय व्यक्ति निजी उद्यम में

विश्वास करता है और परमेश्वर के आशीर्वाद को नकारता है। यहाँ तक कि भारत के एक महान् संन्यासी ने शिकागो में दिये गये अपने भाषण में परमेश्वर के आशीर्वादों का विरोध किया। लेकिन जहाँ तक वैदिक शास्त्रों का सम्बन्ध है, जैसा कि *श्रीमद्भागवत* के पृष्ठों में देखने में आता है, सभी प्रकार की सफलता का अन्तिम अधिकार परमेश्वर के हाथों में रहता है। महाराज युधिष्ठिर अपनी निजी सफलता के प्रसंग में इस सत्य को स्वीकार करते हैं। अतएव मनुष्य के लिए करने योग्य यही होगा कि वह महान् राजा एवं भगवान् के भक्त के पदचिह्नों का अनुसरण करे, जिससे उसका जीवन पूर्णतया सफल बने। यदि भगवान् की मर्जी के बिना कोई सफलता प्राप्त कर सकता था, तो कोई भी चिकित्सक (वैद्य) अपने रोगी को चंगा करने में असफल न होता। आधुनिकतम चिकित्सक के द्वारा रोगी की उन्नत चिकित्सा होने पर भी उसकी मृत्यु होती है, किन्तु कभी-कभी अत्यन्त आशाहीन रोगी बिना किसी उपचार के आश्चर्यजनक रूप में चंगा हो जाता है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि सारी घटनाएँ, चाहे अच्छी हों या बुरी, भगवान् की मर्जी के कारण ही घटती हैं। किसी भी सफल व्यक्ति को अपनी सफलता के लिए भगवान् के प्रति कृतज्ञता का अनुभव करना चाहिए।

पश्योत्पातान्नरव्याघ्र दिव्यान् भौमान् सदैहिकान् ।
दारुणान् शंसतोऽदूराद्भयं नो बुद्धिमोहनम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

पश्य—जरा देखो तो; उत्पातान्—उत्पातों को; नर-व्याघ्र—हे बाघ-सदृश बलवाले मनुष्य; दिव्यान्—आकाश की या ग्रहों के प्रभाव से घटनेवाली; भौमान्—पृथ्वी पर की घटनाएँ; स-दैहिकान्—शरीर तथा मन की घटनाएँ; दारुणान्—अत्यन्त खतरनाक; शंसतः—सूचित करनेवाली; अदूरात्—निकट के भविष्य में; भयम्—भय, खतरा; नः—हमारी; बुद्धि—बुद्धि को; मोहनम्—मोहग्रस्त करनेवाला।

हे पुरुषव्याघ्र, जरा देखो तो कि दैवी प्रभावों, पृथ्वी की प्रतिक्रियाओं तथा शारीरिक वेदनाओं के कारण उत्पन्न होने वाली कितनी खतरनाक आपदाएँ हमारी बुद्धि को मोहित करके निकट के भविष्य में आने वाले खतरे की सूचना दे रही हैं।

तात्पर्य : सभ्यता की भौतिक उन्नति का अर्थ है तीन प्रकार की आपदाओं की प्रगति, जो दैवी प्रभावों के कारण, पृथ्वी की प्रतिक्रियाओं के कारण एवं शरीर या मन की वेदनाओं के कारण हैं। नक्षत्रों के दैविक प्रभाव से अनेक विपत्तियाँ आती हैं—जैसे अत्यधिक गर्मी, सर्दी, वर्षा या सूखा तथा

इनके बाद के प्रभाव से दुर्भिक्ष, रोग तथा महामारी आती हैं। इन सबका सम्मिलित फल होता है, शारीरिक तथा मानसिक क्लेश। मानवकृत भौतिक विज्ञान इन तीन प्रकार की आपदाओं का प्रतिकार करने के लिए कुछ भी नहीं कर सकता। ये सब परमेश्वर की अध्यक्षता में उच्चतर शक्ति माया द्वारा, दिया जाने वाला दण्ड हैं। अतएव भक्तिमय सेवा द्वारा भगवान् के साथ हमारा निरन्तर सम्पर्क हमें राहत प्रदान कर सकता है और हम विचलित हुए बिना हमारे मनुष्योचित कर्तव्यों का पालन कर सकते हैं। फिर भी असुर जन जो ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास नहीं करते, वे इन तीनों प्रकार की आपदाओं का सामना करने के लिए अपनी खुद की योजनाएँ बनाते हैं, अतएव वे हर बार विफल होते हैं। *भगवद्गीता* (७.१४) में स्पष्ट कहा गया है कि तीनों भौतिक गुणों के बाह्यकारी प्रभावों के कारण भौतिक शक्ति की प्रतिक्रिया को कभी जीता नहीं जा सकता है। इन्हें वे ही जीत सकते हैं, जिन्होंने भक्ति-भाव से भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली है।

ऊर्वक्षिबाहवो मह्यं स्फुरन्त्यङ्ग पुनः पुनः ।
वेपथुश्चापि हृदये आराद्दास्यन्ति विप्रियम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ऊरु—जाँघें; अक्षि—आँखें; बाहवः—भुजाएँ; मह्यम्—मेरे; स्फुरन्ति—फड़कते हैं; अङ्ग—शरीर का बाँया भाग; पुनः पुनः—बारम्बार; वेपथुः—धड़कनें; च—भी; अपि—निश्चय ही; हृदये—हृदय में; आरात्—डर के मारे; दास्यन्ति—सूचित कर रहे हैं; विप्रियम्—अशुभ, अनिष्ट।

मेरे शरीर का बाँयाँ भाग, मेरी जाँघें, भुजाएँ तथा आँखें बारम्बार फड़क रही हैं। भय से मेरा हृदय धड़क रहा है। ये सब अनिष्ट घटना को सूचित करने वाले हैं।

तात्पर्य : यह भौतिक अस्तित्व अनिष्टों से भरा हुआ है। जिन वस्तुओं को हम नहीं चाहते, वे ही किसी उच्चतर शक्ति द्वारा हम पर लाद दी जाती हैं और हम यह नहीं देख पाते कि ये अनिष्ट प्रकृति के तीनों गुणों के नियंत्रण में हैं। जब किसी मनुष्य की जाँघें, भुजाएँ तथा आँखें लगातार फड़कें, तो यह समझ लेना चाहिए कि कुछ अनिष्ट होनेवाला है। इन सब अनिष्टों की तुलना दावग्नि से की जाती है। जंगल में कोई आग लगाने नहीं जाता, फिर भी यह आग स्वतः लग जाती है, जिससे जंगल के जीवों को अकल्पनीय विपत्तियाँ सहनी पड़ती हैं। ऐसी आग को किसी भी मानवीय प्रयास से नहीं बुझाया जा सकता। यह अग्नि केवल भगवान् की कृपा से ही बुझ सकती है, जो अग्नि का शमन करने के लिए

बादलों को भेजते हैं। इसी प्रकार कितनी भी योजनाएँ क्यों न बनाई जाँय, जीवन की अप्रिय घटनाओं को रोका नहीं जा सकता। ऐसी विपत्तियाँ केवल भगवत्कृपा से ही दूर की जा सकती हैं, जिसके निमित्त भगवान् अपने प्रामाणिक प्रतिनिधि को भेजकर मनुष्य को प्रबुद्ध करते हैं और विपत्तियों से बचाते हैं।

शिवैषोद्यन्तमादित्यमभिरौत्यनलानना ।
मामङ्ग सारमेयोऽयमभिरेभत्यभीरुवत् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

शिवा—सियारिन; एषा—यह; उद्यन्तम्—उगता; आदित्यम्—सूर्य को; अभि—की ओर; रौति—रोती हुई; अनल—अग्नि; आनना—मुँह; माम्—मुझको; अङ्ग—हे भीम; सारमेयः—कुत्ता; अयम्—यह; अभिरेभति—भूकता है; अभीरु-वत्—भयरहित।

हे भीम, जरा देखो तो यह सियारिन किस तरह उगते हुए सूर्य को देखकर रो रही है और अग्नि उगल रही है और यह कुत्ता किस तरह निर्भय होकर, मुझ पर भूक रहा है।

तात्पर्य : ये कतिपय अपशकुन हैं, जो निकट के भविष्य में अनिष्ट का संकेत देनेवाले हैं।

शस्ता: कुर्वन्ति मां सव्यं दक्षिणं पशवोऽपरे ।
वाहांश्च पुरुषव्याघ्र लक्षये रुदतो मम ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

शस्ताः—गाय जैसे उपयोगी पशु; कुर्वन्ति—रखते हैं; माम्—मुझको; सव्यम्—बाईं ओर; दक्षिणम्—प्रदक्षिणा करते हुए; पशवः अपरे—अन्य पशु, यथा गधे; वाहान्—घोड़े (वाहक); च—भी; पुरुष-व्याघ्र—हे पुरुषों में बाघ; लक्षये—मैं देख रहा हूँ; रुदतः—रोते हुए; मम—मेरे।

हे भीमसेन, हे पुरुष-व्याघ्र, अब गाय जैसे उपयोगी पशु मेरी बाईं ओर से निकले जा रहे हैं और गधे जैसे निम्न पशु, मेरी प्रदक्षिणा कर रहे हैं। मेरे घोड़े मुझे देखकर रोते प्रतीत होते हैं।

मृत्युदूत: कपोतोऽयमुलूक: कम्पयन् मन: ।
प्रत्युलूकश्च कुह्वानैर्विश्वं वै शून्यमिच्छत: ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

मृत्यु—मृत्यु का; दूतः—दूत; कपोतः—कबूतर; अयम्—यह; उलूकः—उल्लू; कम्पयन्—कँपाती हुई; मनः—मन; प्रत्युलूकः—उल्लुओं के प्रतियोगी, कौवे; च—तथा; कुह्वानैः—चीख; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; वै—अथवा; शून्यम्—शून्य; इच्छतः—चाहते हैं।

जरा देखो तो! यह कबूतर मानो मृत्यु का दूत हो। उल्लुओं तथा उनके प्रतिद्वन्द्वी कौवों की चीख मेरे हृदय को दहला रही है। ऐसा प्रतीत होता है मानो वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को शून्य बना देना चाहते हैं।

धूम्रा दिशः परिधयः कम्पते भूः सहाद्रिभिः ।
निर्घातश्च महांस्तात साकं च स्तनयित्नुभिः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

धूम्राः—धुँधली; दिशः—सभी दिशाएँ; परिधयः—मंडल; कम्पते—काँपती हुई; भूः—पृथ्वी; सह अद्रिभिः—पर्वतों समेत; निर्घातः—आकाश से वज्रपात; च—भी; महान्—विशाल; तात—हे भीम; साकम्—सहित; च—भी; स्तनयित्नुभिः—बिना बादल के गर्जन।

जरा देखो तो, किस तरह धुँआ आकाश को घेरे हुए है। ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो पृथ्वी तथा पर्वत काँप रहे हों। बिना बादलों की यह गर्जन तो जरा सुनो और आकाश से गिरते ब्रजपात को तो देखो!

वायुर्वाति खरस्पर्शो रजसा विसृजंस्तमः ।
असृग् वर्षन्ति जलदा बीभत्समिव सर्वतः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

वायुः—वायु; वाति—बह रही है; खर-स्पर्शः—तेजी से; रजसा—धूल से; विसृजन्—उत्पन्न करते; तमः—अँधेरा; असृक्—रक्त; वर्षन्ति—बरसा रहे हैं; जलदाः—बादल; बीभत्सम्—भयानक; इव—सदृश; सर्वतः—सर्वत्र।

वायु तेजी से बह रही है और वह सर्वत्र धूल बिखरा कर अँधेरा उत्पन्न कर रही है। बादल सर्वत्र रक्तिम आपदाओं की वर्षा कर रहे हैं।

सूर्यं हतप्रभं पश्य ग्रहमर्दं मिथो दिवि ।
ससङ्कुलैर्भूतगणैर्ज्वलिते इव रोदसी ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

सूर्यम्—सूर्य को; हत-प्रभम्—क्षीण पड़ती किरणों वाले; पश्य—जरा देखो; ग्रह-मर्दम्—तारों की भिड़न्त; मिथः—परस्पर; दिवि—आकाश में; स-सङ्कुलैः—एक दूसरे से मिलकर; भूत-गणैः—जीवों द्वारा; ज्वलिते—जलाया जाकर; इव—मानो; रोदसी—रो रहा हो।.

सूर्य की किरणें मन्द पड़ रही हैं और तारे परस्पर भिड़ रहे प्रतीत हो रहे हैं। भ्रमित जीव जलते हुए तथा रोते प्रतीत हो रहे हैं।

नद्यो नदाश्च क्षुभिताः सरांसि च मनांसि च ।
न ज्वलत्यग्निराज्येन कालोऽयं किं विधास्यति ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

नद्यः—नदियाँ; नदाः च—तथा सहायक नदियाँ; क्षुभिताः—सभी विक्षुब्ध; सरांसि—जलाशय; च—तथा; मनांसि—मन; च—भी; न—नहीं; ज्वलति—जलती है; अग्निः—अग्नि; आज्येन—घी की सहायता से; कालः—काल, समय; अयम्—यह कितना असामान्य है; किम्—क्या; विधास्यति—होनेवाला है।.

नदियाँ, नाले, तालाब, जलाशय तथा मन सभी विक्षुब्ध हैं। घी से अग्नि नहीं जल रही हैं, यह कैसा असामान्य समय है? आखिर क्या होने वाला है?

न पिबन्ति स्तनं वत्सा न दुह्यन्ति च मातरः ।
रुदन्त्यश्रुमुखा गावो न हृष्यन्त्यृषभा व्रजे ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; पिबन्ति—पीते हैं; स्तनम्—थन को; वत्साः—बछड़े; न—नहीं; दुह्यन्ति—दुहने देती हैं; च—भी; मातरः—गाएँ; रुदन्ति—रोती हैं; अश्रु-मुखाः—आँसुओं से युक्त मुँह; गावः—गाएँ; न—नहीं; हृष्यन्ति—प्रसन्न होते हैं; ऋषभाः—बैल; व्रजे—चरागाह में।.

बछड़े न तो गौवों के थनों में मुँह लगा रहे हैं, न गौवें दूध देती हैं। वे आँखों में आँसू भरे खड़ी-खड़ी रम्भा रही हैं और बैलों को चरागाहों में कोई प्रसन्नता नहीं हो रही है।

दैवतानि रुदन्तीव स्विद्यन्ति ह्युच्चलन्ति च ।
इमे जनपदा ग्रामाः पुरोद्यानाकराश्रमाः ।
भ्रष्टश्रियो निरानन्दाः किमघं दर्शयन्ति नः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

दैवतानि—मन्दिरों के अर्चाविग्रह; रुदन्ति—रोते प्रतीत हो रहे हैं; इव—सदृश; स्विद्यन्ति—पसीज रहे हैं; हि—निश्चय ही; उच्चलन्ति—मानो बाहर जा रहे हों; च—भी; इमे—ये; जन-पदाः—शहर, नगर; ग्रामाः—गाँव; पुर—कस्बे; उद्यान—बगीचे;

आकर—खानें; आश्रमाः—कुटिया.; भ्रष्ट—रहित; श्रियः—सौन्दर्य से; निरानन्दाः—समस्त आनन्द से विहीन; किम्—किस तरह की; अघम्—आपत्तियाँ; दर्शयन्ति—प्रकट होने वाली हैं; नः—हम पर।

मन्दिर में अर्चाविग्रह रोते, शोक करते तथा पसीजते प्रतीत हो रहे हैं। ऐसा लगता है कि वे प्रयाण करनेवाले हैं। सारे नगर, ग्राम, कस्बे, बगीचे, खानें तथा आश्रम अब सौन्दर्यविहीन तथा समस्त आनन्द से रहित हैं। मैं नहीं जानता कि हम पर किस तरह की विपत्तियाँ आनेवाली हैं।

मन्य एतैर्महोत्पातैर्नूनं भगवतः पदैः ।
अनन्यपुरुषश्रीभिर्हीना भूर्हतसौभगा ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

मन्ये—मैं मान लेता हूँ; एतैः—इन सबसे; महा—महान्; उत्पातैः—उत्पातों से; नूनम्—के अभाव में; भगवतः—भगवान् का; पदैः—पाँव के तलवे में चिह्न; अनन्य—असामान्य; पुरुष—परम पुरुष का; श्रीभिः—शुभ चिह्नों से; हीना—विहीन; भूः—पृथ्वी; हत-सौभगा—सौभाग्य से रहित।

मैं सोचता हूँ कि पृथ्वी पर की ये सारी उथल-पुथल विश्व के सौभाग्य की किसी बहुत बड़ी हानि को सूचित करनेवाले हैं। संसार भाग्यशाली था कि उस पर भगवान् के चरणकमलों के पदचिन्ह अंकित हुए। किन्तु ये लक्षण यह सूचित कर रहे हैं कि अब आगे ऐसा नहीं रह पाएगा।

इति चिन्तयतस्तस्य दृष्टारिष्टेन चेतसा ।
राज्ञः प्रत्यागमद् ब्रह्मन् यदुपुर्याः कपिध्वजः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

इति—इस तरह; चिन्तयतः—अपने आप सोचते हुए; तस्य—उनका; दृष्टा—देखकर; अरिष्टेन—अपशकुन से; चेतसा—मन से; राज्ञः—राजा को; प्रति—वापस; आगमत्—आया; ब्रह्मन्—हे ब्रह्मण; यदु-पुर्याः—यदुओं के राज्य से; कपि-ध्वजः—अर्जुन।

हे ब्राह्मण शौनक, जब महाराज युधिष्ठिर उस समय पृथ्वी पर इन अशुभ लक्षणों को देख रहे थे और अपने मन में इस प्रकार सोच रहे थे, तभी अर्जुन यदुओं की पुरी (द्वारका) से वापस आ गये।

तं पादयोर्निपतितमयथापूर्वमातुरम् ।
अधोवदनमब्बिन्दून् सृजन्तं नयनाब्जयोः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (अर्जुन को); पादयोः—पाँवों पर; निपतितम्—गिर कर; अयथा-पूर्वम्—अपूर्व रीति से; आतुरम्—खिन्न; अधः-वदनम्—मुख नीचा किये; अप्-बिन्दून्—जल के बिन्दु; सृजन्तम्—उत्पन्न करते हुए; नयन-अब्जयोः—कमल-जैसे नेत्रों से।

जब उसने राजा के चरणों पर नमन किया, तो राजा ने देखा कि उनकी निराशा अभूतपूर्व थी। उनका सिर नीचे झुका था और उनके कमल-नेत्रों से आँसू झर रहे थे।

विलोक्योद्विग्नहृदयो विच्छायमनुजं नृपः ।
पृच्छति स्म सुहृन्मध्ये संस्मरन्नारदेरितम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

विलोक्य—देखकर; उद्विग्न—चिन्तित; हृदयः—हृदय; विच्छायम्—पीला चेहरा; अनुजम्—अर्जुन को; नृपः—राजा ने; पृच्छति स्म—पूछा; सुहृत्—मित्रों के; मध्ये—मध्य में; संस्मरन्—स्मरण करते हुए; नारद—नारदमुनि द्वारा; ईरितम्—सूचित।

हृदय की उद्विग्नताओं के कारण अर्जुन को पीला हुआ देखकर, राजा ने नारदमुनि द्वारा बताये गये संकेतों का स्मरण करते हुए, मित्रों के मध्य में ही उनसे पूछा।

युधिष्ठिर उवाच
कच्चिदानर्तपुर्यां नः स्वजनाः सुखमासते ।
मधुभोजदशार्हार्हसात्वतान्धकवृष्णयः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

युधिष्ठिरः उवाच—युधिष्ठिर ने कहा; कच्चित्—क्या; आनर्त-पुर्याम्—द्वारका में; नः—हमारे; स्व-जनाः—सम्बन्धी; सुखम्—सुखपूर्वक; आसते—दिन बिता रहे हैं; मधु—मधु; भोज—भोज; दशार्ह—दशार्ह; आर्ह—आर्ह; सात्वत—सात्वत; अन्धक—अन्धक; वृष्णयः—वृष्णि परिवार के।

महाराज युधिष्ठिर ने कहा : मेरे भाई, मुझे बताओ कि हमारे मित्र तथा सम्बन्धी, यथा मधु, भोज, दशार्ह, आर्ह, सात्वत, अन्धक तथा यदुवंश के सारे सदस्य, अपने दिन सुख से बिता रहे हैं न?

शूरो मातामहः कच्चित्स्वस्त्यास्ते वाथ मारिषः ।
मातुलः सानुजः कच्चित्कुशल्यानकदुन्दुभिः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

शूरः—शूरसेन; मातामहः—नाना; कच्चित्—क्या; स्वस्ति—सभी शुभ; आस्ते—अपने दिन बिता रहे हैं; वा—अथवा; अथ—अतएव; मारिषः—आदरणीय; मातुलः—मामा; स-अनुजः—अपने छोटे भाइयों सहित; कच्चित्—क्या; कुशली—सभी कुशल; आनक-दुन्दुभिः—वसुदेव।

मेरे आदरणीय नाना शूरसेन प्रसन्न तो हैं? तथा मेरे मामा वसुदेव तथा उनके छोटे भाई ठीक से तो हैं?

सप्त स्वसारस्तत्पत्न्यो मातुलान्यः सहात्मजाः ।
आसते सस्नुषाः क्षेमं देवकीप्रमुखाः स्वयम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

सप्त—सात; स्व-सारः—परस्पर बहनें; तत्-पत्न्यः—उनकी पत्नियाँ; मातुलान्यः—मौसियाँ; सह—के साथ; आत्म-जाः—पुत्र तथा पौत्र; आसते—सभी हैं; सस्नुषाः—अपनी बहुओं सहित; क्षेमम्—सुख; देवकी—देवकी; प्रमुखाः—अग्रणी; स्वयम्—स्वयं।

देवकी इत्यादि उनकी सातों पत्नियाँ परस्पर बहिनें हैं। वे तथा उनके पुत्र एवं बहुएँ सब सुखी तो हैं?

कच्चिद्राजाहुको जीवत्यसत्पुत्रोऽस्य चानुजः ।
हृदीकः ससुतोऽक्रूरो जयन्तगदसारणाः ॥ २८॥
आसते कुशलं कच्चिद्ये च शत्रुजिदादयः ।
कच्चिदास्ते सुखं रामो भगवान् सात्वतां प्रभुः ॥ २९॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; राजा—राजा; आहुकः—उग्रसेन का अन्य नाम; जीवति—अब भी जीवित है; असत्—शैतान, दुष्ट; पुत्रः—पुत्र; अस्य—उनका; च—भी; अनुजः—छोटा भाई; हृदीकः—हृदीक; स-सुतः—अपने पुत्र कृतवर्मा समेत; अक्रूरः—अक्रूर; जयन्त—जयन्त; गद—गद; सारणाः—सारण; आसते—सब हैं; कुशलम्—आनन्द से; कच्चित्—क्या; ये—वे; च—भी; शत्रुजित्—शत्रुजित; आदयः—आदि; कच्चित्—क्या; आस्ते—वे हैं; सुखम्—अच्छी तरह; रामः—बलराम; भगवान्—भगवान्; सात्वताम्—भक्तों के; प्रभुः—रक्षक।

क्या उग्रसेन जिसका पुत्र दुष्ट कंस था तथा उनका छोटा भाई अब भी जीवित हैं? क्या हृदीक तथा उसका पुत्र कृतवर्मा कुशल से हैं? क्या अक्रूर, जयन्त, गद, सारण तथा शत्रुजित प्रसन्न हैं? भक्तों के रक्षक भगवान् बलराम कैसे हैं?

तात्पर्य : पाण्डवों की राजधानी हस्तिनापुर आजकल की नई दिल्ली के निकट कहीं पर स्थित थी और उग्रसेन का राज्य मथुरा में था। द्वारका से दिल्ली लौटते हुए, अर्जुन अवश्य ही मथुरा नगरी गये

होंगे, अतएव मथुरा के राजा के विषय में पूछताछ योग्य है। सम्बन्धियों के विविध नामों में से भगवान् कृष्ण के बड़े भाई, राम या बलराम के साथ, भगवान् शब्द जुड़ा हुआ है, क्योंकि भगवान् बलराम *विष्णु-तत्त्व* के तुरन्त के विस्तार हैं और भगवान् कृष्ण के *प्रकाश-विग्रह* हैं। परमेश्वर यद्यपि अद्वितीय हैं, किन्तु वे अन्य तमाम जीवों के रूप में विस्तार करते हैं। विष्णु-तत्त्व, परमेश्वर के अंश (विस्तार) हैं और वे सब गुण तथा परिमाण की दृष्टि से भगवान् के तुल्य हैं। लेकिन *जीवशक्ति* के अंश सामान्य जीवों की श्रेणी में आते हैं और वे जरा भी भगवान् के तुल्य नहीं हैं। जो कोई *जीवशक्ति* तथा *विष्णु-तत्त्व* को समान स्तर पर मानता है, उसे संसार का अधम जीव समझा जाता है। श्रीराम या बलराम भगवद्भक्तों के रक्षक हैं। वे समस्त भक्तों के गुरु हैं और उनकी अहैतुकी कृपा से पतित आत्माओं का उद्धार होता है। भगवान् चैतन्य के आविर्भाव के समय, श्रीबलदेव श्रीनित्यानन्द प्रभु के रूप में प्रकट हुए थे, जिन्होंने जगाइ तथा माधाइ नामक दो अत्यन्त अधम जीवों का उद्धार अपनी अहैतुकी कृपा द्वारा किया। अतएव यहाँ इसका विशेष उल्लेख है कि बलराम भगवद्भक्तों के रक्षक हैं। उनकी दैवी कृपा से ही कोई परमेश्वर कृष्ण तक पहुँच सकता है। अतएव श्रीबलराम भगवान् के कृपा-अवतार हैं, जो गुरु के रूप में, शुद्ध भक्तों के त्राता के रूप में, प्रकट होते हैं।

प्रद्युम्नः सर्ववृष्णीनां सुखमास्ते महारथः ।
गम्भीररयोऽनिरुद्धो वर्धते भगवानुत ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

प्रद्युम्नः—प्रद्युम्न (भगवान् कृष्ण के पुत्र); सर्व—सभी; वृष्णीनाम्—वृष्णि-परिवार के सदस्यों का; सुखम्—सुख; आस्ते—हैं; महा-रथः—महान् सेनापति; गम्भीर—गहराई से; रयः—दक्षता; अनिरुद्धः—अनिरुद्ध (कृष्ण का पौत्र); वर्धते—बढ़ता है; भगवान्—भगवान्; उत—अवश्य चाहिए।

वृष्णि-कुल के महान् सेनापति प्रद्युम्न कैसे हैं? वे प्रसन्न तो हैं? और भगवान् के पूर्ण अंश अनिरुद्ध ठीक से तो हैं?

तात्पर्य : प्रद्युम्न और अनिरुद्ध भी भगवान् के अंश हैं और इस तरह वे दोनों भी विष्णु-तत्त्व हैं। द्वारका में भगवान् वासुदेव, अपने पूर्णांशों—संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध—सहित अपनी दिव्य लीलाओं में व्यस्त रहते हैं। अतएव इनमें से प्रत्येक को भगवान् कहा जा सकता है जैसाकि अनिरुद्ध नाम के साथ कहा जा चुका है।

सुषेणश्चारुदेष्णश्च साम्बो जाम्बवतीसुतः ।
अन्ये च कार्ष्णिप्रवराः सपुत्रा ऋषभादयः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

सुषेणः—सुषेण; चारुदेष्णः—चारुदेष्ण; च—तथा; साम्बः—साम्ब; जाम्बवती-सुतः—जाम्बवती का पुत्र; अन्ये—अन्य; च—भी; कार्ष्णि—भगवान् कृष्ण के पुत्र; प्रवराः—सेना-नायक; स-पुत्राः—अपने-अपने पुत्रों सहित; ऋषभ—ऋषभ; आदयः—इत्यादि।

कृष्ण के सभी सेना-नायक पुत्र यथा सुषेण, चारुदेष्ण, जाम्बवती-पुत्र साम्ब तथा ऋषभ अपने-अपने पुत्रों समेत ठीक से तो रह रहे हैं?

तात्पर्य : जैसाकि पहले कहा चुका है, भगवान् कृष्ण की १६,१०८ पत्नियाँ थीं और हर एक को दस-दस पुत्र थे। अतएव कुल मिलाकर १६,१०८ x १०=१,६१,०८० पुत्र थे। वे सब बड़े हुए तो उनके भी अपने-अपने पिता की तरह दस-दस पुत्र हुए, जिससे भगवान् के परिवार में १६,१०,८०० सदस्य थे। भगवान् असंख्य जीवों के पिता हैं, अतएव उनमें कुछ ही इस पृथ्वी पर भगवान् की द्वारका की दिव्य लीलाओं में उनके संगी रूप में बुलाए गये थे। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि भगवान् के परिवार में इतने सारे लोग थे। अच्छा तो यह होगा कि भगवान् की तुलना अपने साथ करने से बचा जाय और ज्योंही हम भगवान् के दिव्य पद के थोड़े से अंश को ही समझ लेते हैं, त्योंही यह बात एक सच्चाई बन जाती है। राजा युधिष्ठिर ने द्वारका-स्थित भगवान् के पुत्रों तथा पौत्रों का कुशल समाचार पूछते समय उनमें से केवल सेनानायकों के ही नाम लिये हैं, क्योंकि कृष्ण के परिवार भर के सदस्यों के नाम स्मरण रख पाना राजा के लिए सम्भव न था।

तथैवानुचराः शौरेः श्रुतदेवोद्धवादयः ।
सुनन्दनन्दशीर्षण्या ये चान्ये सात्वतर्षभाः ॥ ३२ ॥
अपि स्वस्त्यासते सर्वे रामकृष्णभुजाश्रयाः ।
अपि स्मरन्ति कुशलमस्माकं बद्धसौहृदाः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तथा एव—इसी प्रकार; अनुचराः—नित्य-संगी; शौरेः—भगवान् श्रीकृष्ण के, यथा; श्रुतदेव—श्रुतदेव; उद्धव-आदयः—उद्धव तथा अन्य; सुनन्द—सुनन्द; नन्द—नन्द; शीर्षण्याः—अन्य नायक; ये—वे सब; च—तथा; अन्ये—अन्य; सात्वत—मुक्त जीव; ऋषभाः—श्रेष्ठ पुरुष; अपि—यदि; स्वस्ति—कुशल से; आसते—हैं; सर्वे—वे सब; राम—बलराम; कृष्ण—भगवान् कृष्ण;

भुज-आश्रयाः—के संरक्षण में; अपि—यदि भी; स्मरन्ति—स्मरण करते हैं; कुशलम्—कुशलता; अस्माकम्—हमारे; बद्ध-सौहृदाः—शाश्वत मैत्री से बँधे हुए।

इसके अतिरिक्त, श्रुतदेव, उद्धव तथा अन्य, नन्द, सुनन्द तथा अन्य मुक्तात्माओं के नायक, जो भगवान् के नित्यसंगी हैं, भगवान् बलराम तथा कृष्ण द्वारा सुरक्षित तो हैं? वे सब अपना-अपना कार्य ठीक से चला रहें हैं न? वे जो हमसे नित्य मैत्री-पाश में बँधे हैं, हमारी कुशलता के बारे में पूछते तो हैं?

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण के नित्यसंगी, यथा उद्धव, सबके सब मुक्तात्माएँ हैं और वे भगवान् के ही कार्य को परिपूर्ण करने के लिए इस धरा पर अवतरित हुए थे। पाण्डव-जन भी मुक्तात्माएँ हैं, जो भगवान् के साथ इस पृथ्वी पर उनकी दिव्य लीलाओं में सेवा करने के लिए अवतरित हुए। जैसा कि *भगवद्गीता* (४.८) में कहा गया है, भगवान् तथा भगवान् की ही तरह मुक्तात्माएँ, उनके नित्यसंगी, कुछ-कुछ अन्तरालों के बाद इस पृथ्वी पर आते रहते हैं। भगवान् उन सबों को स्मरण रखते हैं, लेकिन उनके संगी, मुक्तात्माएँ होते हुए भी, *तटस्था* शक्ति होने के कारण भूल जाते हैं। *विष्णु तत्त्व* तथा *जीव तत्त्व* में यही अन्तर होता है। जीव-तत्त्व भगवान् के अत्यन्त सूक्ष्म शक्तिमान कण हैं, अतएव उन्हें सदैव भगवान् की सुरक्षा की आवश्यकता पड़ती है और भगवान् अपने सेवकों को सर्वदा समस्त सुरक्षा प्रदान करने में प्रसन्न रहते हैं। अतएव मुक्तात्माएँ कभी भी अपने को भगवान् के समान मुक्त या भगवान् के समान शक्तिमान नहीं मानतीं, अपितु सभी परिस्थितियों में, चाहे भौतिक जगत में हों या आध्यात्मिक जगत में, भगवान् की सुरक्षा की कामना करती हैं। मुक्तात्मा की यह पराश्रयता स्वाभाविक है, क्योंकि मुक्तात्माएँ अग्नि के स्फुलिंगों की भाँति हैं, जो अग्नि की उपस्थिति में ही अपनी चमक दिखा सकती हैं, स्वतंत्र रूप से नहीं। स्वतंत्र रूप से, स्फुलिंग की चमक बुझ जाती है, भले ही उसमें अग्नि के गुण तथा चमक रहती है। अतएव जो भगवान् की सुरक्षा त्यागकर, आध्यात्मिक अज्ञान के कारण स्वयं प्रभु बन जाते हैं, वे पुनः इस भौतिक जगत में आते हैं, भले ही वे कठोर से कठोर तपस्या क्यों न करें। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का यही मत है।

भगवानपि गोविन्दो ब्रह्मण्यो भक्तवत्सलः ।
कच्चित्पुरे सुधर्मायां सुखमास्ते सुहृद्वृतः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् कृष्ण; अपि—भी; गोविन्दः—जो गायों तथा इन्द्रियों को अनुप्राणित करते हैं; ब्रह्मण्यः—भक्तों या ब्राह्मणों को समर्पित; भक्त-वत्सलः—भक्तों के प्रति स्नेहपूर्ण; कच्चित्—क्या; पुरे—द्वारकापुरी में; सुधर्मायाम्—पवित्र सभा में; सुखम्—सुख; आस्ते—भोग करते हैं; सुहृत्-वृतः—मित्रों से घिरे हुए।

पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण, जो गायों, इन्द्रियों तथा ब्राह्मणों को आनन्द प्रदान करने वाले हैं और अपने भक्तों के प्रति अत्यन्त वत्सल हैं, अपने मित्रों से घिर कर, द्वारकापुरी में पवित्र सभा का भोग तो कर रहे हैं?

तात्पर्य : इस विशिष्ट श्लोक में भगवान् का वर्णन गोविन्द, *ब्रह्मण्य* तथा भक्तवत्सल शब्दों से किया गया है। वे *भगवान् स्वयं* अर्थात् आदि भगवान् हैं और वे समस्त ऐश्वर्य, समस्त शक्ति, समस्त ज्ञान, समस्त सौन्दर्य, समस्त यश तथा समस्त त्याग से परिपूर्ण हैं। कोई न तो उनके तुल्य है, न उनसे बढ़कर है। वे गोविन्द हैं, क्योंकि वे गौवों तथा इन्द्रियों के आनन्द हैं। जिन्होंने भगवान् की भक्तिमय सेवा द्वारा अपनी इन्द्रियों को शुद्ध कर लिया है, वे ही उनकी वास्तविक सेवा कर सकते हैं और ऐसी शुद्ध इन्द्रियों के द्वारा दिव्य आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। केवल अशुद्ध बद्धजीव ही, इन्द्रियों से कोई आनन्द प्राप्त नहीं कर पाते, अपितु इन्द्रियों के मिथ्या आनन्द से मोहग्रस्त हो करके इन्द्रियों के दास बन जाते हैं। अतएव अपने हित के लिए हमें भगवान् के संरक्षण की आवश्यकता है। भगवान् गायों के तथा ब्राह्मण-संस्कृति के रक्षक हैं। जो समाज गो-संरक्षण तथा ब्राह्मण-संस्कृति से विहीन है, वह भगवान् के प्रत्यक्ष संरक्षण में नहीं होता, जिस तरह कि कारागार के बन्दी राजा के संरक्षण में न रहकर, राजा के किसी कठोर प्रतिनिधि के संरक्षण में रहते हैं। गो-संरक्षण तथा मानव समाज में, कम से कम समाज के कुछ सदस्यों में, ब्राह्मण गुणों के अनुशीलन के बिना कोई भी मानव सभ्यता उन्नति नहीं कर सकती। ब्राह्मण संस्कृति से ही ब्राह्मण बना जा सकता है और भगवान् के यथारूप में दर्शन किये जा सकते हैं। ब्राह्मण संस्कृति सुप्त सत्त्वगुणों का विकास है, जिसमें सत्यनिष्ठा, समता, इन्द्रिय निग्रह, सहिष्णुता, सरलता, सामान्य ज्ञान, दिव्य ज्ञान तथा वैदिक वाङ्मय में अटूट श्रद्धा सम्मिलित हैं। ब्राह्मणत्व की पूर्णता पा लेने के बाद, मनुष्य को भगवद्भक्त बनना होता है, जिससे मालिक, स्वामी, मित्र, पुत्र तथा प्रेमी के रूप में उनके स्नेह को दिव्य रूप से प्राप्त किया जा सके। भक्त की अवस्था, जो भगवान् के दिव्य प्रेम को आकर्षित करती है, उसका तब तक विकास नहीं होता, जब तक मनुष्य उपरोक्त ब्राह्मणत्व के गुणों का विकास नहीं करता। भगवान् ब्राह्मण के गुणों की ओर आकृष्ट होते हैं,

उसकी झूठी प्रतिष्ठा की ओर नहीं। जो लोग योग्यता में ब्राह्मण से कम होते हैं, वे भगवान् से किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते हैं, जैसे कि काष्ठ के बिना कच्ची मिट्टी में आग नहीं जलाई जा सकती, यद्यपि काष्ठ तथा मिट्टी में पारस्परिक सम्बन्ध होता है। चूँकि भगवान् परम पूर्ण हैं, अतएव उनकी कुशलता का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव महाराज युधिष्ठिर ने यह प्रश्न नहीं पूछा। उन्होंने केवल उनके आवास स्थान 'द्वारकापुरी' के सम्बन्ध में ही पूछा, जहाँ पुण्यात्मा एकत्र होते हैं। भगवान् वहीं रहते हैं, जहाँ पुण्यात्माएँ एकत्र होती हैं और परम सत्य के गुणगान में आनन्द लेते हैं। महाराज युधिष्ठिर द्वारका के पवित्र व्यक्तियों तथा उनके पुण्य कर्मों के विषय में जानने के लिए उत्सुक थे।

मङ्गलाय च लोकानां क्षेमाय च भवाय च ।
आस्ते यदुकुलाम्भोधावाद्योऽनन्तसखः पुमान् ॥ ३५ ॥
यद्बाहुदण्डगुप्तायां स्वपुर्यां यदवोऽर्चिताः ।
क्रीडन्ति परमानन्दं महापौरुषिका इव ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

मङ्गलाय—कल्याण के लिए; च—भी; लोकानाम्—समस्त लोकों के; क्षेमाय—सुरक्षा के लिए; च—तथा; भवाय—उन्नति के लिए; च—भी; आस्ते—हैं; यदु-कुल-अम्भोधौ—यदुवंश रूपी सागर में; आद्यः—आदि; अनन्त-सखः—अनन्त (बलराम) के साथ; पुमान्—परम भोक्ता; यत्—जिसको; बाहु-दण्ड-गुप्तायाम्—उनके बाहुओं से सुरक्षित होकर; स्व-पुर्याम्—अपनी नगरी में; यदवः—यदुवंश के सदस्य; अर्चिताः—योग्यता के अनुसार; क्रीडन्ति—आनन्द ले रहे हैं; परम-आनन्दम्—दिव्य आनन्द; महा-पौरुषिकाः—वैकुण्ठ के वासी; इव—सदृश।

परम भोक्ता आदि भगवान् तथा जो मूल भगवान् अनन्त हैं, बलराम यदुवंश रूपी सागर में समस्त ब्रह्माण्ड के कल्याण, सुरक्षा तथा उन्नति के लिए निवास कर रहे हैं। और सारे यदुवंशी भगवान् की भुजाओं द्वारा सुरक्षित रहकर, वैकुण्ठवासियों की भाँति जीवन का आनन्द उठा रहे हैं।

तात्पर्य : जैसाकि हम कई बार बता चुके हैं, भगवान् विष्णु प्रत्येक ब्रह्माण्ड में दो रूपों में निवास करते हैं—गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में तथा क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में। क्षीरोदकशायी विष्णु का अपना लोक है, जो ब्रह्माण्ड के उत्तरी शीर्ष पर है और वहाँ क्षीर का एक विशाल समुद्र है, जिसमें वे बलदेव के अवतार अनन्त की शय्या पर वास करते हैं। इस प्रकार महाराज युधिष्ठिर ने यदुवंश की तुलना क्षीरसागर से की है और श्री बलराम की तुलना अनन्त से की है, जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण वास

करते हैं। उन्होंने द्वारका के निवासियों की तुलना वैकुण्ठलोक के मुक्त निवासियों से की है। भौतिक आकाश के परे, जहाँ तक हमारी आँखें देख सकती हैं उससे भी आगे तथा ब्रह्माण्ड के सप्तावरणों के भी आगे कारणार्णव सागर है, जिसमें सारे ब्रह्माण्ड गेंद की तरह तैर रहे हैं। इस कारण सागर के आगे वैकुण्ठलोक का असीम पाट है, जिसे सामान्यतया ब्रह्मतेज कहते हैं। इस तेज में असंख्य आध्यात्मिक ग्रह हैं और वे वैकुण्ठलोक के नाम से जाने जाते हैं। इनमें से प्रत्येक वैकुण्ठ ग्रह इस भौतिक जगत के सबसे बड़े ब्रह्माण्ड से भी बड़ा है और प्रत्येक में असंख्य निवासी रहते हैं, जो बिलकुल भगवान् विष्णु जैसे दिखते हैं। ये निवासी महापौरुषिक कहलाते हैं—अर्थात् ऐसे पुरुष, जो प्रत्यक्ष रुप में भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं। वे उन ग्रहों में सुखी हैं और उन्हें कोई कष्ट नहीं सताता, वे सदैव तरुण बने रहते हैं और पूर्ण आनन्द तथा ज्ञान का जीवन बिताते हैं जिसमें जन्म, मृत्यु, जरा या रोग का कोई भय नहीं रहता और उन पर काल का प्रभाव नहीं पड़ता। महाराज युधिष्ठिर ने द्वारकावासियों की तुलना वैकुण्ठलोक के महापौरुषिकों से की है, क्योंकि वे भगवान् के साथ परम प्रसन्न हैं। *भगवद्गीता* में वैकुण्ठलोकों का कई बार संदर्भ आया है और वहाँ वे *मद्धाम* (मेरे धाम) के रूप में अर्थात् भगवद्धाम के रूप में वर्णित हुए हैं।

यत्पादशुश्रूषणमुख्यकर्मणा
सत्यादयो द्व्यष्टसहस्रयोषित: ।
निर्जित्य सङ्ख्ये त्रिदशांस्तदाशिषो
हरन्ति वज्रायुधवल्लभोचिता: ॥ ३७॥

शब्दार्थ

यत्—जिसका; पाद—पैर; शुश्रूषण—भोग; मुख्य—सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण; कर्मणा—कर्म के; सत्य-आदय:—सत्यभामा इत्यादि रानियाँ; द्वि-अष्ट—आठ का दो गुना (सोलह); सहस्र—हजार; योषित:—स्त्रियाँ; निर्जित्य—दमन करके; सङ्ख्ये—युद्ध में; त्रि-दशान्—स्वर्ग के निवासियों को; तत्-आशिष:—देवताओं द्वारा भोग्य; हरन्ति—हर लेते हैं; वज्र-आयुध-वल्लभा—वज्र के स्वामी की पत्नियाँ; उचिता:—योग्य।

समस्त सेवाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण, भगवान् के चरणकमलों की शुश्रूषा करने मात्र से, द्वारका-स्थित सत्यभामा के अधीक्षण में रानियों ने भगवान् को प्रेरित किया कि वे देवताओं को जीत लें। इस प्रकार रानियाँ उन वस्तुओं का भोग कर रही हैं, जो वज्र के नियंत्रक की पत्नियों द्वारा भोग्य हैं।

तात्पर्य : *सत्यभामा*—द्वारका में भगवान् श्रीकृष्ण की पटरानियों में से एक। नरकासुर का वध करने के बाद, भगवान् श्रीकृष्ण सत्यभामा के साथ नरकासुर के महल में गये। वे इन्द्रलोक भी सत्यभामा के साथ गये थे, जहाँ सत्यभामा का स्वागत शचीदेवी द्वारा हुआ जिन्होंने देवोंकी माता 'अदिति' से उनका परिचय कराया। अदिति सत्यभामा से अत्यन्त प्रसन्न हुईं और उन्होंने वर दिया कि जब तक भगवान् कृष्ण पृथ्वी पर रहें, तब तक वे तरुणी बनी रहें। अदिति ने उन्हें स्वर्गलोक में देवताओं द्वारा भोग्य सारी वस्तुएँ भी दिखलाईं। जब सत्यभामा ने पारिजात पुष्प देखा, तो उन्होंने उसे द्वारका स्थित अपने महल में ले जाने की इच्छा व्यक्त की। तत्पश्चात् वे अपने पति के साथ द्वारका लौट आईं और उनसे इच्छा व्यक्त की कि पारिजात पुष्प को द्वारका में उनके महल में ले आएँ। सत्यभामा का महल बहुमूल्य रत्नों से विशेष रूप से सुसज्जित किया गया था और ग्रीष्मऋतु में भी महल का भीतरी भाग शीतल बना रहता था, मानों वातानुकूलित हो। उन्होंने अपने महल को अनेक पताकाओं से सजा रखा था, जो उनके पति की उपस्थिति की सूचक थीं। एक बार वे अपने पति के साथ जब द्रौपदी से मिलीं, तो वे उत्सुक थीं कि उनसे पति को प्रसन्न करने की कला सीखें। द्रौपदी इस कला में निपुण थीं, क्योंकि उनके पाँच पति थे, जो पाण्डव थे और वे सब उनसे प्रसन्न थे। द्रौपदी से उपदेश लेकर, उन्होंने उनके प्रति शुभकामनाएँ व्यक्त कीं और द्वारका लौट आईं। वे सत्राजित की पुत्री थीं। भगवान् कृष्ण के प्रयाण के बाद, जब अर्जुन द्वारका गये तो सत्यभामा तथा रुक्मिणी समेत सारी रानियाँ कृष्ण के लिए अत्यधिक शोक कर रही थीं। अपने जीवन के अन्त-समय में, उन्होंने जंगल में जाकर कठिन तपस्या की।

सत्यभामा ने अपने पति को उकसाया कि वे स्वर्गलोक से पारिजात पुष्प लायें और भगवान् ने बलपूर्वक देवताओं से उसे प्राप्त किया, ठीक उसी तरह जिस प्रकार एक सामान्य पति अपनी पत्नी को रिझाने के लिए इच्छित वस्तुएँ लाता है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि भगवान् को सामान्य व्यक्ति की भाँति अपनी पत्नियों के आदेशों को पूरा करने की आवश्यकता न थी, लेकिन चूँकि रानियों ने उच्चकोटि की भक्ति—भगवान् की शुश्रूषा—करना स्वीकार किया था, अतएव भगवान् भी आज्ञाकारी पति की भूमिका निभा रहे थे। पृथ्वी का कोई भी व्यक्ति स्वर्गलोक की कोई वस्तु और वह भी पारिजात पुष्प प्राप्त करने की बात सोच भी नहीं सकता, क्योंकि उसका उपयोग केवल देवता करते हैं।

लेकिन भगवान् की आज्ञाकारिणी पत्नियाँ होने के कारण, रानियों को भी स्वर्ग के निवासियों की पत्नियों जैसा विशेषाधिकार प्राप्त था। दूसरे शब्दों में, भगवान् अपनी सृष्टि की प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं, अतएव द्वारका की रानियों के लिए ब्रह्माण्ड की किसी भी दुर्लभ वस्तु को प्राप्त कर पाना आश्चर्यजनक नहीं था।

यद्बाहुदण्डाभ्युदयानुजीविनो
यदुप्रवीरा ह्यकुतोभया मुहुः ।
अधिक्रमन्त्यङ्घ्रिभिराहृतां बलात्
सभां सुधर्मां सुरसत्तमोचिताम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; बाहु-दण्ड—बाँहों के द्वारा; अभ्युदय—प्रभावित; अनुजीविनः—सदैव जीवित रहकर; यदु—यदुवंशी लोग; प्रवीराः—महान् वीर; हि अकुतोभयाः—सभी प्रकार से निर्भय; मुहुः—निरन्तर; अधिक्रमन्ति—पार करते हैं; अङ्घ्रिभिः—पैर से; आहृताम्—लाये गये; बलात्—बलपूर्वक; सभाम्—सभाभवन को; सुधर्माम्—सुधर्मा नामक; सुर-सत्-तम—देवताओं में श्रेष्ठ; उचिताम्—योग्य।

बड़े-बड़े यदुवंशी वीर भगवान् श्रीकृष्ण की बाहुओं द्वारा सुरक्षित रहकर सभी प्रकार से निर्भय बने रहते हैं। अतएव उनके चरण उस सुधर्मा के सभा-भवन में पड़ते रहते हैं, जो सर्वश्रेष्ठ देवताओं के लिए है, किन्तु जो उनसे छीन लिया गया था।

तात्पर्य : जो भगवान् के प्रत्यक्ष रूप में सेवक हैं, वे भगवान् द्वारा सभी प्रकार के भय से सुरक्षित रखे जाते हैं और सर्वोत्कृष्ट वस्तुओं का भोग करते हैं, चाहे वे बलपूर्वक एकत्र क्यों न की गई हों। भगवान् सभी जीवों के साथ समान व्यवहार करते हैं, किन्तु वे अपने भक्तों के प्रति अत्यधिक वत्सल होने के कारण विशेष पक्षपात करते हैं। द्वारकापुरी समुन्नति पर थी, क्योंकि वहाँ भौतिक संसार की श्रेष्ठतम वस्तुएँ उपलब्ध थीं। राज्य का सभा-भवन हर राज्य की प्रतिष्ठा के अनुसार बनाया जाता है। स्वर्गलोक में सुधर्मा नामक सभा-भवन श्रेष्ठ देवताओं की प्रतिष्ठा के अनुरूप था। ऐसा सभा-भवन महिमंडल के किसी भी राज्य के हेतु नहीं होता, क्योंकि पृथ्वी के मनुष्य इसका निर्माण नहीं कर सकते, चाहे कोई राज्य भौतिक रूप से कितना ही समृद्ध क्यों न हो। किन्तु जब भगवान् कृष्ण इस धरा पर विद्यमान थे, तो इस स्वार्गिक सभागार को यदुवंशियों ने छीनकर, इसे द्वारका में लाकर स्थापित किया था। वे ऐसा बल प्रयोग कर सकते थे, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि परम भगवान् श्रीकृष्ण उनकी

रक्षा करेंगे। दूसरे शब्दों में, भगवान् के शुद्ध भक्त भगवान् के लिए ब्रह्माण्ड की श्रेष्ठ वस्तुएँ ला जुटाते हैं। यदुवंशियों ने भगवान् कृष्ण के लिए ब्रह्माण्ड में सुलभ सारे सुख-साधन जुटा दिये थे, जिसके बदले में भगवान् ऐसे भक्तों की रक्षा करते थे जिससे वे निर्भय थे।

भुलक्कड़ बद्धजीव भयभीत रहता है, किन्तु मुक्तात्मा कभी भयभीत नहीं रहता, जिस प्रकार एक छोटा-सा बालक जो अपने पिता की कृपा पर पूर्ण रूप से आश्रित रहता है वह कभी किसी से डरता नहीं। भीरुता जीव के लिए एक प्रकार का मोह है, जिसमें वह निद्रा में रहकर भगवान् के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को भूल जाता है। चूँकि वैधानिक रूप से जीव कभी मरता नहीं, जैसा कि *भगवद्गीता* (२.२०) में कहा गया है, तो फिर भीरुता का क्या कारण है? कोई व्यक्ति स्वप्न में बाघ से डर सकता है, किन्तु उसी की बगल में जगते हुए व्यक्ति को कोई बाघ नहीं दिखता। यह बाघ दोनों के लिए, अर्थात् सोये हुए व्यक्ति के लिए तथा जागते हुए व्यक्ति के लिए मिथ्या है, क्योंकि वास्तव में वहाँ पर बाघ है ही नहीं। लेकिन जो व्यक्ति अपने जाग्रत जीवन को भूल जाता है, वह भयभीत रहता है और जो अपनी स्थिति को नहीं भूलता, वह बिल्कुल नहीं डरता। इस तरह सारे यदुवंशी भगवान् की सेवा के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक थे। अतएव उनके लिए बाघ से किसी समय भी भयभीत होने का प्रश्न ही नहीं था। यदि असली बाघ होता भी, तो भगवान् उनकी रक्षा करने के लिए तो थे ही।

कच्चित्तेऽनामयं तात भ्रष्टतेजा विभासि मे ।
अलब्धमानोऽवज्ञातः किं वा तात चिरोषितः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—कहीं; ते—तुम्हारा; अनामयम्—स्वास्थ्य ठीक तो है; तात—मेरे भ्राता; भ्रष्ट—विहीन; तेजाः—कान्ति; विभासि—प्रतीत होते हो; मे—मुझको; अलब्ध-मानः—सम्मान न पाया हुआ; अवज्ञातः—उपेक्षित; किम्—क्या; वा—अथवा; तात—मेरे भ्राता; चिरोषितः—दीर्घकाल तक रहने के कारण।

मेरे भाई अर्जुन, मुझे बताओ कि तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक तो है? ऐसा लगता है कि तुम्हारे शरीर की कान्ति खो गई है। क्या द्वारका में दीर्घकाल तक रहने से, अन्यों द्वारा असम्मान तथा उपेक्षा दिखलाने से ऐसा हुआ है?

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर ने सभी प्रकार से अर्जुन से द्वारका का कुशलक्षेम पूछा, लेकिन उन्होंने अन्त में यही निष्कर्ष निकाला कि जब तक स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ थे, तब तक कोई अशुभ घटना

नहीं घट सकती थी। लेकिन साथ ही, अर्जुन कान्तिहीन लग रहे थे, अतएव राजा ने उनसे उनकी कुशलता पूछी और साथ ही अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी पूछे।

कच्चिन्नाभिहतोऽभावैः शब्दादिभिरमङ्गलैः ।
न दत्तमुक्तमर्थिभ्य आशया यत्प्रतिश्रुतम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—कहीं; न—नहीं; अभिहतः—सम्बोधित, कहा गया; अभावैः—अमित्रतापूर्ण; शब्द-आदिभिः—शब्दों आदि से; अमङ्गलैः—अशुभ; न—नहीं; दत्तम्—दान में दिया गया; उक्तम्—कहा गया; अर्थिभ्यः—याचक को; आशया—आशा से; यत्—जो; प्रतिश्रुतम्—दिये जाने के लिए वचन-बद्ध।

कहीं किसी ने तुम्हें अपमानजनक शब्द तो नहीं कहे? या तुम्हें धमकाया तो नहीं? क्या तुम याचक को दान नहीं दे सके? या किसी से अपना वचन नहीं निभा पाये?

तात्पर्य : क्षत्रिय या धनी व्यक्ति के पास कभी-कभी ऐसे व्यक्ति आते हैं, जिन्हें धन की आवश्यकता रहती है। जब उन्हें दान देने के लिए कहा जाता है, तो धन के स्वामी का कर्तव्य है कि पात्र, देश तथा काल का विचार करते हुए दान दे। यदि क्षत्रिय या धनी व्यक्ति इस कर्तव्य को पूरा नहीं कर पाता, तो उसे इस विसंगति के लिए खेद होना चाहिए। इसी प्रकार दान देने के अपने वचन को नहीं भूलना चाहिए। ये त्रुटियाँ कभी-कभी निराशा का कारण बनती हैं और विफल होने पर मनुष्य आलोचना का भागी होता है और यही अर्जुन की विपन्नावस्था का कारण हो सकता था।

कच्चित्त्वं ब्राह्मणं बालं गां वृद्धं रोगिणं स्त्रियम् ।
शरणोपसृतं सत्त्वं नात्याक्षीः शरणप्रदः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—कहीं; त्वम्—तुम; ब्राह्मणम्—ब्राह्मणों को; बालम्—बालक को; गाम्—गाय को; वृद्धम्—बूढ़े व्यक्ति को; रोगिणम्—रोगी को; स्त्रियम्—स्त्री को; शरण-उपसृतम्—रक्षा के लिए आये हुए को; सत्त्वम्—किसी जीव को; न—क्या; अत्याक्षीः—शरण नहीं दी हो; शरण-प्रदः—जो शरण का पात्र रहा है।

तुम तो सदा से सुपात्र जीवों के यथा ब्राह्मणों, बालकों, गायों, स्त्रियों तथा रोगियों के रक्षक रहे हो। क्या तुम उनके शरण माँगे जाने पर उन्हें शरण नहीं दे सके?

तात्पर्य : ब्राह्मण-जन समाज के कल्याण-कार्य के लिए भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टि से ज्ञान की खोज में सदैव लगे रहते हैं, अतः वे सभी प्रकार से राजा के संरक्षण के पात्र हैं। इसी प्रकार

राज्य के बालकों, गायों, रोगी व्यक्तियों, स्त्रियों तथा वृद्ध पुरुषों को राज्य या क्षत्रिय राजाओं के संरक्षण की अपेक्षा रहती है। यदि ऐसे जीवों को क्षत्रिय या राजा या राज-सत्ता की ओर से संरक्षण नहीं मिलता, तो यह क्षत्रिय या राज्य के लिए लज्जास्पद है। यदि अर्जुन के साथ सचमुच ही ऐसी घटनाएँ घटी थीं, तो महाराज युधिष्ठिर उनके विषय में जानने के लिए आतुर थे।

कच्चित्त्वं नागमोऽगम्यां गम्यां वासत्कृतां स्त्रियम् ।
पराजितो वाथ भवान्नोत्तमैर्नासमैः पथि ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—कहीं; त्वम्—तुमने; न—नहीं; अगमः—सम्पर्क किया है; अगम्याम्—दुश्चरित्र; गम्याम्—स्वीकार्य; वा—अथवा; असत्-कृताम्—अनुचित व्यवहार; स्त्रियम्—स्त्री से; पराजितः—हराया हुआ; वा—अथवा; अथ—अन्ततः; भवान्—तुम; न—न तो; उत्तमैः—उच्चतर शक्ति द्वारा; न—नहीं; असमैः—समान धर्म वाले द्वारा; पथि—मार्ग में।

क्या तुमने दुश्चरित्र स्त्री से समागम किया है अथवा सुपात्र स्त्री के साथ तुमने भद्र व्यवहार नहीं किया? अथवा तुम मार्ग में किसी ऐसे व्यक्ति के द्वारा पराजित किये गये हो, जो तुमसे निकृष्ट है या तुम्हारे समकक्ष हो?

तात्पर्य : इस श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि पाण्डवों के काल में पुरुष तथा स्त्री को, कतिपय परिस्थितियों में मुक्त ही, समागम करने दिया जाता था। उच्च जाति के लोग अर्थात् ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वैश्य या शूद्र जाति की स्त्री को स्वीकार कर सकते थे, किन्तु निम्न जाति का व्यक्ति उच्च जाति की स्त्री से सम्पर्क नहीं कर सकता था। यहाँ तक कि क्षत्रिय भी ब्राह्मण जाति की स्त्री से समागम नहीं कर सकता था। ब्राह्मण की पत्नी सात माताओं में से एक मानी जाती है (अपनी माता, गुरु अथवा शिक्षक की पत्नी, ब्राह्मणी, राजा की पत्नी, गाय, धाय तथा पृथ्वी—ये सप्त मातृकाएँ हैं)। पुरुष तथा स्त्री के ऐसे समागम को *उत्तम* तथा *अधम* कहा जाता था। ब्राह्मण पुरुष तथा क्षत्रिय स्त्री का समागम उत्तम होता था, किन्तु क्षत्रिय पुरुष तथा ब्राह्मण स्त्री का समागम अधम होता था, अतएव कुत्सित माना जाता था। यदि कोई स्त्री, किसी पुरुष के पास समागम की इच्छा से जाये, तो उसे कभी मना नहीं करना चाहिए, लेकिन जैसाकि ऊपर कहा गया है, विवेक से काम लेना चाहिए। भीम के पास हिडिम्बा आई थी और वह शूद्र से भी निम्न जाति की थी। ययाति ने शुक्राचार्य की पुत्री के साथ विवाह करने से इनकार कर दिया था, क्योंकि शुक्राचार्य ब्राह्मण थे। व्यासदेव ब्राह्मण थे। उनसे पाण्डु तथा धृतराष्ट्र को

जन्म देने के लिए कहा गया था। सत्यवती मछुआरे की जाति की कन्या थी, लेकिन महान् ब्राह्मण पराशर द्वारा उससे व्यासदेव का जन्म हुआ। अतएव स्त्री के साथ समागम के अनेक उदाहरण हैं, किन्तु ये सारे समागम न तो निन्दनीय थे, न ऐसे समागम के परिणाम बुरे थे। पुरुष तथा स्त्री का समागम स्वाभाविक है, लेकिन इसे भी विधानपूर्वक होना चाहिए, जिससे सामाजिक प्रतिष्ठा न बिगड़े या वर्णसंकर की वृद्धि होने से विश्व में अशान्ति न फैले।

क्षत्रिय के लिए यह निन्दनीय है कि वह अपने से निम्न या समकक्ष बलवाले से पराजित हो। यदि कोई हारे, तो उसे किसी श्रेष्ठ शक्ति से हारना चाहिए। अर्जुन भीष्मदेव से पराजित हुए थे और कृष्ण ने उन्हें विपत्ति से बचाया था। यह अर्जुन के लिए अपमान नहीं था, क्योंकि भीष्मदेव सभी प्रकार से अर्जुन से श्रेष्ठ थे—चाहे आयु को लें, सम्मान को लें, या बल को लें। लेकिन कर्ण अर्जुन के समकक्ष था। अतएव कर्ण से युद्ध करते हुए अर्जुन संकट में था। अर्जुन को यह बुरा लगा, अतएव कर्ण छल से भी मारा गया। क्षत्रिय के ऐसे-ऐसे कार्य होते हैं और महाराज युधिष्ठिर ने अपने भाई से पूछा कि द्वारका से घर आते हुए कहीं कोई प्रतिकूल घटना तो नहीं घट गई?

अपि स्वित्पर्यभुङ्क्थास्त्वं सम्भोज्यान् वृद्धबालकान् ।
जुगुप्सितं कर्म किञ्चित्कृतवान्न यदक्षमम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

अपि स्वित्—यदि ऐसा हो तो; पर्य—एक ओर छोड़कर; भुङ्क्था:—खाया है; त्वम्—तुमने; सम्भोज्यान्—साथ-साथ खाने के योग्य; वृद्ध—वृद्ध पुरुषों को; बालकान्—बच्चों को; जुगुप्सितम्—गर्हित; कर्म—काम; किञ्चित्—कुछ; कृतवान्—तूमने किया होगा; न—नहीं; यत्—जो; अक्षमम्—जिसे क्षमा न किया जा सके।

क्या तुमने उन वृद्धों तथा बालकों की परवाह नहीं की, जो तुम्हारे साथ भोजन करने के योग्य थे? क्या उन्हें छोड़कर तुमने अकेले भोजन किया है? क्या तुमने कोई अक्षम्य गलती की है, जो निन्दनीय मानी जाती है?

तात्पर्य : गृहस्थ का धर्म है कि वह पहले बालकों, परिवार के बूढ़ों, ब्राह्मणों तथा अशक्तों को भोजन करा दे। इसके साथ ही, आदर्श गृहस्थ को चाहिए कि यदि कोई अज्ञात भूखा व्यक्ति हो, तो उसे बुलाकर खिला दे और तब स्वयं भोजन करे। उसे ऐसे भूखे व्यक्ति को मार्ग में जाकर तीन बार बुलाना

चाहिए। गृहस्थ के लिए निर्धारित इस कर्तव्य की अवहेलना, विशेषकर बूढ़ों तथा बच्चों की अवहेलना, अक्षम्य है।

कच्चित् प्रेष्ठतमेनाथ हृदयेनात्मबन्धुना ।
शून्योऽस्मि रहितो नित्यं मन्यसे तेऽन्यथा न रुक् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

कच्चित्—कहीं; प्रेष्ठ-तमेन—सर्वाधिक प्रिय को; अथ—मेरा भाई अर्जुन; हृदयेन—अत्यन्त घनिष्ठ; आत्म-बन्धुना—अपने मित्र कृष्ण से; शून्यः—शून्य; अस्मि—हूँ; रहितः—खोकर; नित्यम्—सदा के लिए; मन्यसे—तुम सोचते हो; ते—तुम्हारा; अन्यथा—अन्यथा; न—कभी नहीं; रुक्—मानसिक ताप।

अथवा कहीं ऐसा तो नहीं है कि तुम इसलिए रिक्त अनुभव कर रहे हो, क्योंकि तुमने अपने घनिष्ठ मित्र भगवान् कृष्ण को खो दिया हो? हे मेरे भ्राता अर्जुन, तुम्हारे इतने हताश होने का मुझे कोई अन्य कारण नहीं दिखता।

तात्पर्य : विश्व की विसंगतियों के कारण के विषय में महाराज युधिष्ठिर की सारी जिज्ञासाओं का अन्दाज विश्व की दृष्टि से भगवान् कृष्ण के अन्तर्धान होने के आधार पर लगाया गया था। और अब अर्जुन की घोर निराशा के कारण उसे उन्होंने प्रकट कर दिया, जो अन्यथा सम्भव नहीं हो पाता। अतएव इसके बारे में संशयग्रस्त होते हुए भी, श्रीनारद के संकेत के अनुसार, उन्हें अर्जुन से स्पष्ट पूछने के लिए बाध्य होना पड़ा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत 'भगवान् कृष्ण का अन्तर्धान होना' नामक चौदहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पन्द्रह

पाण्डवों की सामयिक निवृत्ति

सूत उवाच
एवं कृष्णसखः कृष्णो भ्रात्रा राज्ञा विकल्पितः ।
नानाशङ्कास्पदं रूपं कृष्णविश्लेषकर्शितः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; कृष्ण-सखः—कृष्ण का विख्यात मित्र; कृष्णः—अर्जुन; भ्रात्रा—अपने बड़े भाई; राज्ञा—राजा युधिष्ठिर द्वारा; विकल्पितः—सोचा गया; नाना—विविध; शङ्का-आस्पदम्—अनेक संशयों पर आधारित; रूपम्—रूप; कृष्ण—भगवान् श्रीकृष्ण की; विश्लेष—वियोग की भावना से; कर्शितः—अत्यन्त दुखी।

सूत गोस्वामी ने कहा : भगवान् कृष्ण का विख्यात मित्र अर्जुन, महाराज युधिष्ठिर की सशंकित जिज्ञासाओं के अतिरिक्त भी, कृष्ण के वियोग की प्रबल अनुभूति के कारण शोक-संतप्त था।

तात्पर्य : अत्यधिक संतप्त होने के कारण, अर्जुन का गला रुँध-सा गया, अतएव वह महाराज युधिष्ठिर की विभिन्न सशंकित जिज्ञासाओं का ठीक से उत्तर नहीं दे पा रहा था।

शोकेन शुष्यद्वदनहृत्सरोजो हतप्रभः ।
विभुं तमेवानुस्मरन्नाशक्नोत्प्रतिभाषितुम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

शोकेन—विरह से; शुष्यत्-वदन—सूखता मुँह; हृत्-सरोजः—कमल-सदृश हृदय; हत—विहीन; प्रभः—शारीरिक कान्ति; विभुम्—परम; तम्—भगवान् कृष्ण को; एव—निश्चय ही; अनुस्मरन्—भीतर ही भीतर सोचते हुए; न—नहीं; अशक्नोत्—समर्थ हो सका; प्रतिभाषितुम्—ठीक से उत्तर देने के लिए।

शोक से अर्जुन का मुँह तथा कमल-सदृश हृदय सूख चुके थे, अतएव उसकी शारीरिक कान्ति चली गई थी। अब भगवान् का स्मरण करने पर, वह उत्तर में एक शब्द भी न बोल पाया।

कृच्छ्रेण संस्तभ्य शुचः पाणिनामृज्य नेत्रयोः ।
परोक्षेण समुन्नद्धप्रणयौत्कण्ठ्यकातरः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

कृच्छ्रेण—बड़ी कठिनाई से; संस्तभ्य—वेग को रोककर; शुचः—विरह के; पाणिना—अपने हाथों से; आमृज्य—पोंछते हुए; नेत्रयोः—आँखों को; परोक्षेण—दृष्टि से दूर होने के कारण; समुन्नद्ध—अत्यधिक; प्रणय-औत्कण्ठ्य—स्नेह का उत्सुकतापूर्वक स्मरण करते हुए; कातरः—व्याकुल।

उसने बड़ी कठिनाई से आँखों में भरे हुए शोकाश्रुओं को रोका। वह अत्यन्त दुखी था, क्योंकि भगवान् कृष्ण उसकी दृष्टि से ओझल थे और वह उनके लिए अधिकाधिक स्नेह का अनुभव कर रहा था।

सख्यं मैत्रीं सौहृदं च सारथ्यादिषु संस्मरन् ।
नृपमग्रजमित्याह बाष्पगद्गदया गिरा ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

सख्यम्—शुभचिन्तन; मैत्रीम्—आशीर्वाद; सौहृदम्—घनिष्ठतापूर्वक सम्बन्धित; च—भी; सारथ्य-आदिषु—सारथी बनने आदि में; संस्मरन्—इन सबों को स्मरण करते हुए; नृपम्—राजा से; अग्रजम्—बड़ा भाई; इति—इस प्रकार; आह—कहा; बाष्प—उसासें भरते; गद्गदया—अभिभूत होकर; गिरा—वाणी से।

भगवान् कृष्ण को तथा उनकी शुभकामनाओं, आशीषों, घनिष्ठ पारिवारिक सम्बन्ध एवं उनके रथ हाँकने का स्मरण करके, अर्जुन का गला रुँध आया और वह भारी साँस लेता हुआ बोलने लगा।

तात्पर्य : परम पुरुष अपने शुद्ध भक्त के साथ सारे सम्बन्धों में पूर्ण हैं। श्री अर्जुन भगवान् के विशिष्ट भक्तों में से हैं, जो सख्य भाव का आदान-प्रदान कर रहे हैं और अर्जुन के साथ भगवान् का व्यवहार सर्वोच्च कोटि की मित्रता को प्रदर्शित करता है। वे अर्जुन के न केवल शुभचिन्तक थे, अपितु उसको लाभ प्रदान करने वाले भी थे और इसे अधिक परिपूर्ण बनाने के लिए उन्होंने सुभद्रा का विवाह उससे करके, उसे पारिवारिक सम्बन्ध में भी बाँध लिया था। इसके भी ऊपर, भगवान् ने अपने मित्र की युद्ध के संकटों से रक्षा करने के लिए अर्जुन का सारथी बनना स्वीकार किया था और जब उन्होंने पाण्डवों को विश्व पर शासन करने के लिए स्थापित कर दिया, तो वे सचमुच प्रसन्न हुए थे। अर्जुन ने यह सब एक के बाद एक स्मरण किया और इस तरह ऐसे विचारों से अभिभूत हो गया।

अर्जुन उवाच
वञ्चितोऽहं महाराज हरिणा बन्धुरूपिणा ।
येन मेऽपहृतं तेजो देवविस्मापनं महत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; वञ्चितः—त्यक्त; अहम्—मैं; महा-राज—हे राजा; हरिणा—भगवान् द्वारा; बन्धु-रूपिणा—घनिष्ठ मित्र रूपी; येन—जिससे; मे—मेरा; अपहृतम्—छीना गया है; तेजः—पराक्रम; देव—देवता; विस्मापनम्—आश्चर्यजनक; महत्—अत्यधिक प्रबल।

अर्जुन ने कहा : हे राजन्, मुझे अपना घनिष्ठ मित्र माननेवाले भगवान् हरि ने मुझे अकेला छोड़ दिया है। इस तरह मेरा प्रबल पराक्रम, जो देवताओं तक को चकित करनेवाला था, अब मुझमें नहीं रह गया है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१०.४१) में भगवान् कहते हैं, ''कोई चाहे कितना ही शक्तिशाली तथा सम्पत्ति, बल, सौन्दर्य, ज्ञान तथा भौतिक मामलों में ऐश्वर्यवान क्यों न हो, उसे मेरी पूर्ण शक्ति का एक तुच्छ अंश-स्वरूप समझो।'' अतएव कोई भी स्वतंत्र रूप से भगवान् से शक्ति प्राप्त किये बिना शक्तिमान नहीं हो सकता। जब भगवान् पृथ्वी पर अपने नित्यमुक्त पार्षदों के साथ अवतरित होते हैं, तो वे न केवल अपनी दिव्य शक्ति का प्रदर्शन करते हैं, अपितु वे अपने पार्षद भक्तों को अपना अवतारी सन्देश पूरा करने के लिए आवश्यक शक्ति प्रदान करते हैं। *भगवद्गीता* (४.५) में भी कहा गया है कि भगवान् तथा उनके नित्य पार्षद पृथ्वी पर अनेक बार अवतरित होते हैं, किन्तु जहाँ भगवान् सभी विभिन्न अवतारों की भूमिकाओं का स्मरण रखते हैं, वहीं पार्षद उनकी परम इच्छा से उन्हें भूल जाते हैं। इसी प्रकार जब भगवान् इस धरा से अन्तर्धान होते हैं, तब वे सारे पार्षदों को अपने साथ लेते जाते हैं। भगवान् ने अर्जुन को जो पराक्रम तथा शक्ति प्रदान की थी, वह भगवान् के उद्देश्य की पूर्ति के लिए थी, किन्तु जब यह उद्देश्य पूरा हो गया, तो अर्जुन से आपात्कालीन शक्तियाँ वापस ले ली गईं, क्योंकि स्वर्ग के निवासियों को भी चकित करनेवाली अर्जुन की इन प्रबल शक्तियों की और आगे आवश्यकता नहीं रह गई थी। वे उनके भगवद्धाम वापस जाने के निमित्त नहीं थीं। यदि अर्जुन-जैसे महान् भक्त को या स्वर्ग के निवासियों को भगवान् शक्ति प्रदान कर सकते है, एवं शक्ति वापस भी ले सकते हैं, तो उन क्षुद्र प्राणियों के विषय में क्या कहा जा सकता है, जो ऐसे महात्माओं की तुलना में नगण्य हैं। अतएव इससे शिक्षा यह मिलती है कि भगवान् से प्राप्त की हुई शक्ति पर किसी को अभिमान नहीं करना चाहिए। अपितु विज्ञ मनुष्य को भगवान् के प्रति ऐसे वरदान के लिए कृतज्ञ होना चाहिए और ऐसी शक्ति का उपयोग भगवान् की सेवा करने के लिए करना चाहिए। भगवान् ऐसी शक्ति को कभी भी वापस ले सकते हैं, अतएव ऐसी शक्ति तथा ऐश्वर्य का सदुपयोग यह है कि उन्हें भगवान् की सेवा में लगाया जाय।

यस्य क्षणवियोगेन लोको ह्यप्रियदर्शनः ।
उक्थेन रहितो ह्येष मृतकः प्रोच्यते यथा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; क्षण—एक क्षण; वियोगेन—वियोग से; लोकः—सारे ब्रह्माण्ड; हि—निश्चय ही; अप्रिय-दर्शनः—प्रत्येक वस्तु प्रतिकूल लगती है; उक्थेन—जीवन से; रहितः—विहीन; हि—निश्चय ही; एषः—ये सारे शरीर; मृतकः—शव; प्रोच्यते—कहे जाते हैं; यथा—जिस तरह।

मैंने अभी-अभी उन्हें खोया है, जिनके क्षणमात्र वियोग से सारे ब्रह्माण्ड प्रतिकूल तथा शून्य हो जायेंगे, जिस तरह प्राण के बिना शरीर।

तात्पर्य : वास्तव में जीव के लिए भगवान् से बढ़कर अन्य कोई प्रिय नहीं होता। भगवान् अपना विस्तार अपने असंख्य अंशों द्वारा, स्वांश तथा विभिन्नांश रूपों में करते हैं। परमात्मा भगवान् का *स्वांश* है, जबकि सारे जीव *विभिन्नांश* हैं। जिस प्रकार भौतिक शरीर में जीव महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है, क्योंकि जीव के बिना शरीर का कोई मूल्य नहीं होता, उसी तरह परमात्मा के बिना जीव की कोई पूर्वस्थिति नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म या परमात्मा को, भगवान् कृष्ण के बिना प्रवेशाधिकार नहीं है, कोई वास्तविक आधार नहीं है। इसकी विशद व्याख्या *भगवद्गीता* में की गई है। ये सब एक दूसरे से परस्पर सन्नद्ध हैं, या अन्योन्याश्रित हैं। अतः अन्ततः भगवान् ही *आश्रयतत्त्व* हैं, अतएव हर एक वस्तु के लिए जीवन-स्वरूप हैं।

यत्संश्रयाद् द्रुपदगेहमुपागतानां
राज्ञां स्वयंवरमुखे स्मरदुर्मदानाम् ।
तेजो हृतं खलु मयाभिहतश्च मत्स्यः
सज्जीकृतेन धनुषाधिगता च कृष्णा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके कृपामय; संश्रयात्—बल से; द्रुपद-गेहम्—राजा द्रुपद के महल में; उपागतानाम्—सभी एकत्र; राज्ञाम्—राजाओं का; स्वयंवर-मुखे—स्वयंवर के अवसर पर; स्मर-दुर्मदानाम्—समस्त कामुक विचारवालों का; तेजः—बल; हृतम्—हरा गया; खलु—मानो; मया—मेरे द्वारा; अभिहतः—छेदा गया; च—भी; मत्स्यः—मछली का निशाना; सज्जी-कृतेन—धनुष तैयार करके; धनुषा—उस धनुष से; अधिगता—प्राप्त किया; च—भी; कृष्णा—द्रौपदी।

उनकी कृपामयी शक्ति से ही मैं उन समस्त कामोन्मत्त राजकुमारों को परास्त कर सका, जो राजा द्रुपद के महल में स्वयंवर के अवसर पर एकत्र हुए थे। अपने धनुषबाण से मैं मत्स्य लक्ष्य का भेदन कर सका और इस प्रकार द्रौपदी का पाणिग्रहण कर सका।

तात्पर्य : द्रौपदी राजा द्रुपद की सर्वसुन्दरी कन्या थी और जब वह तरुणी हुई तो प्रायः समस्त राजकुमार उससे विवाह करने के इच्छुक थे। लेकिन द्रुपद महाराज ने अपनी पुत्री अर्जुन को ही देने का निश्चय किया, अतएव उन्होंने एक अद्भुत युक्ति सोची। मकान की छत से, एक चक्र के भीतर, एक मछली लटका दी गई। शर्त यह थी कि हर राजकुमार को, रक्षक चक्र से होकर, मछली की आँखें बेधनी होंगी, और उसे लक्ष्य की ओर देखने की अनुमति नहीं होगी। जमीन पर एक जलपात्र था जिसमें लक्ष्य तथा चक्र का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था और पात्र के हिलते हुए जल में पड़नेवाले प्रतिबिम्ब को देखकर लक्ष्य साधना था। महाराज द्रुपद यह भलीभाँति जानते थे कि यह कार्य केवल अर्जुन या फिर कर्ण ही सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकते हैं। फिर भी वे अर्जुन को ही अपनी पुत्री सौंपना चाहते थे। जब उस राजदरबार में, द्रौपदी के भाई धृष्टद्युम्न ने सभी राजकुमारों से अपनी युवा बहन का परिचय कराया, तो उस समय कर्ण भी उपस्थित था। लेकिन द्रौपदी ने अत्यन्त चतुरतापूर्वक अर्जुन के प्रतिद्वन्द्वी कर्ण को हटाने के लिए अपने भाई से इच्छा व्यक्त की कि वह केवल क्षत्रिय राजकुमार को ही स्वीकार करेगी। वैश्य तथा शूद्र, क्षत्रियों की तुलना में कम महत्त्वपूर्ण हैं। कर्ण को एक शूद्र बढ़ई के पुत्र के रूप में जाना जाता था। इस तर्क के आधार पर द्रौपदी ने उसे अस्वीकार कर दिया। जब दरिद्र ब्राह्मण के वेश में अर्जुन ने मत्स्यवेध कर दिया, तो सबों को आश्चर्य हुआ और सबों ने, विशेषतया कर्ण ने, उससे घनघोर युद्ध किया, किन्तु भगवान् कृष्ण की कृपा से अर्जुन राजकुमारों के इस युद्ध में सफल हुआ और उसे द्रौपदी अथवा कृष्णा का हाथ प्राप्त हुआ। अर्जुन जिन भगवान् की शक्ति से ही इतना शक्तिशाली था, उन्हीं की अनुपस्थिति में, इस घटना का स्मरण करके वह शोक कर रहा था।

यत्सन्निधावहमु खाण्डवमग्नयेऽदा-
मिन्द्रं च सामरगणं तरसा विजित्य ।
लब्धा सभा मयकृताद्भुतशिल्पमाया
दिग्भ्योऽहरन्नृपतयो बलिमध्वरे ते ॥ ८॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; सन्निधौ—पास में होने से; अहम्—मैंने; उ—आश्चर्यवाचक शब्द; खाण्डवम्—स्वर्ग के राजा इन्द्र का सुरक्षित वन; अग्नये—अग्निदेव को; अदाम्—प्रदान किया; इन्द्रम्—इन्द्र को; च—भी; स—सहित; अमर-गणम्—देवताओं को; तरसा—कौशल के साथ; विजित्य—जीतकर; लब्धा—प्राप्त करके; सभा—सभा भवन; मय-कृता—मय द्वारा निर्मित;

अद्भुत—अत्यन्त अद्‌भुत; शिल्प—कला तथा कारीगरी; माया—शक्ति; दिग्भ्यः—सभी दिशाओं से; अहरन्—एकत्र; नृपतयः—सारे राजकुमार; बलिम्—भेंटें; अध्वरे—ले आये; ते—आप।

चूँकि वे मेरे निकट थे, अतएव मेरे लिए अत्यन्त कौशलपूर्वक स्वर्ग के शक्तिशाली राजा इन्द्रदेव को उनके देव-पार्षदों सहित जीत पाना सम्भव हो सका और इस तरह अग्निदेव खाण्डव वन को विनष्ट कर सके। उन्हीं की कृपा से, मय नामक असुर को जलते हुए खाण्डव वन से बचाया जा सका। इस तरह हम अत्यन्त आश्चर्यमयी शिल्प-कला वाले सभाभवन का निर्माण कर सके, जहाँ राजसूय-यज्ञ के समय सारे राजकुमार एकत्र हो सके और आपको आदर प्रदान कर सके।

तात्पर्य : मय दानव खाण्डव-वन का निवासी था, किन्तु जब खाण्डव-वन में आग लगा दी गई, तब उसने अर्जुन से रक्षा करने के लिए याचना की। अतः अर्जुन ने उसकी जान बचाई। फलस्वरूप वह अत्यन्त कृतज्ञ था। बदले में उसने पाण्डवों के लिए एक अद्‌भुत सभा-भवन निर्माण कर दिया, जिसके प्रति सभी देशों के राजकुमार अत्यन्त आकृष्ट थे। उन्होंने पाण्डवों की अलौकिक शक्ति का अनुभव किया और सबों ने बिना ईर्ष्या या झिझक के, महाराज को भेंटें प्रदान कीं। असुरों में भौतिक आश्चर्य उत्पन्न करने की अद्‌भुत तथा अलौकिक शक्ति पाई जाती है, लेकिन वे सदैव समाज के लिए उपद्रवकारी तत्त्व होते हैं। आधुनिक असुर तो भौतिक विज्ञानी हैं, जो समाज में उत्पात मचाने के लिये किसी न किसी भौतिक आश्चर्य को जन्म देते रहते हैं। उदाहरणार्थ, परमाणु हथियारों के निर्माण से मानव समाज में कुछ खलबली मची है। मैं भी इसी तरह का भौतिकतावादी था और वह ऐसी आश्चर्यजनक वस्तुएँ तैयार करना जानता था। फिर भी भगवान् कृष्ण उसका वध करना चाह रहे थे। जब अग्नि तथा भगवान् कृष्ण का चक्र दोनों ही उसका पीछा कर रहे थे, तो उसने अर्जुन जैसे भक्त की शरण ग्रहण की और जिसने भगवान् श्रीकृष्ण की क्रोधाग्नि से उसे बचा लिया। अतः भगवान् के भक्त, भगवान् से अधिक दयालु होते हैं और भक्तिमय सेवा में भक्त की दया का महत्त्व भगवान् से भी अधिक होता है। जब अग्नि तथा भगवान् दोनों ने देखा कि असुर को अर्जुन ने शरण दे रखी है, तो उन्होंने उसका पीछा करना बन्द कर दिया। इस असुर ने अर्जुन के प्रति कृतज्ञता का अनुभव करते हुए, अर्जुन की सेवा करनी चाही, लेकिन अर्जुन ने बदले में कुछ भी लेने से इनकार कर दिया। किन्तु भगवान् कृष्ण मय दानव से प्रसन्न हुए, क्योंकि उसने भक्त की शरण ग्रहण की थी; अतएव उन्होंने

उससे कहा कि राजा युधिष्ठिर के लिए वह एक अद्‌भुत सभा-भवन तैयार कर दे। इस तरह प्रक्रिया यह है कि भक्त की दया से भगवान् की कृपा प्राप्त होती है और भगवान् की कृपा से भगवद्‌भक्त की सेवा करने का अवसर मिलता है। भीमसेन की गदा भी मय दानव द्वारा दी गई भेंट थी।

यत्तेजसा नृपशिरोऽङ्घ्रिमहन्मखार्थम्
आर्योऽनुजस्तव गजायुतसत्त्ववीर्यः ।
तेनाहृताः प्रमथनाथमखाय भूपा
यन्मोचितास्तदनयन्बलिमध्वरे ते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; तेजसा—प्रभाव से; नृप-शिरः-अङ्घ्रिम्—जिसके पाँव राजाओं के सिरों से अलंकृत हों; अहन्—मारा हुआ; मख-अर्थम्—यज्ञ हेतु; आर्यः—सम्माननीय, श्रेष्ठ; अनुजः—छोटा भाई; तव—आपका; गज-अयुत—दस हजार हाथी; सत्त्व-वीर्यः—शक्तिशाली जीवन; तेन—उसके द्वारा; आहृताः—एकत्रित; प्रमथ-नाथ—भूतों के देवता (महाभैरव); मखाय—यज्ञ के लिए; भूपाः—राजा; यत्-मोचिताः—जिसके द्वारा वे छोड़े गये; तत्-अनयन्—वे सब लाये; बलिम्—कर; अध्वरे—भेंट किया; ते—आपको।

दस हजार हाथियों की शक्ति रखनेवाले आपके छोटे भाई ने भगवान् की ही कृपा से जरासंध का वध किया, जिसकी पादपूजा अनेक राजाओं द्वारा की जाती थी। ये सारे राजा जरासंध के महाभैरव यज्ञ में बलि चढ़ाये जाने के लिए लाए गये थे, किन्तु उनको छुड़ा दिया गया। बाद में उन्होंने आपका आधिपत्य स्विकार किया।

तात्पर्य : जरासंध मगध का अत्यन्त शक्तिशाली राजा था। उसके जन्म तथा कार्यकलापों की कथा भी अत्यन्त रोचक है। उसका पिता बृहद्रथ राजा भी मगध का अत्यन्त सम्पन्न एवं शक्तिशाली राजा था। उसने काशी के राजा की दो पुत्रियों से विवाह किया था, किन्तु उसको कोई पुत्र नहीं था। दोनों पत्नियों से कोई पुत्र उत्पन्न न होने से निराश होकर राजा अपनी दोनों पत्नियों के साथ जंगल में जाकर तपस्या करने लगा। वहाँ पर एक महर्षि ने उसे पुत्र प्राप्त करने का वरदान दिया और रानियों को खाने के लिये एक आम दिया। रानियों ने आम खा लिया तो वे शीघ्र ही गर्भिणी हो गईं। राजा अत्यन्त प्रसन्न था कि रानियाँ गर्भवती हैं, किन्तु जब समय पूरा हुआ तो दोनों रानियों के गर्भ से दो भागों में विभाजित एक बालक उत्पन्न हुआ। ये दोनों भाग जंगल में फेंक दिये गये, जहाँ एक महान् असुरिनी रहती थी। वह अत्यन्त प्रसन्न हुई कि उसके खाने के लिए नवजात शिशु का रक्त तथा मांस मिला, किन्तु उत्सुकतावश

उसने उन दोनों हिस्सों को जोड़ दिया, तो एक पूर्ण शिशु बन गया और उसमें जान आ गई। यह असुरिनी जरा नाम से विख्यात थी। वह सन्तानहीन राजा के ऊपर दया करके राजा के पास गई और उसे वह सुन्दर बालक भेंट कर आई। राजा उस असुरिनी से अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसे इच्छित पुरस्कार माँगने के लिए कहा। राक्षसी ने इच्छा व्यक्त की कि इस बालक का नाम उसके नाम पर रखा जाय। इस तरह उस बालक का नाम जरासन्ध पड़ा, जिसका अर्थ है जरा नामक असुरिनी द्वारा जोड़ा हुआ। वास्तव में, यह जरासन्ध विप्रचित्ति नामक असुर के अंश-रूप में उत्पन्न हुआ था। जिस साधु ने रानियों को पुत्र का वरदान दिया, वह चन्द्रकौशिक कहलाता था, जिसने राजा के समक्ष उस पुत्र के बारे में भविष्य कथन किया था।

चूँकि जन्म से ही जरासन्ध में आसुरी गुण थे, अतः स्वभावतः वह समस्त भूतप्रेतों के स्वामी, शिवजी का महान् भक्त बना। जिस प्रकार रावण शिवजी का महान् भक्त था, उसी प्रकार जरासन्ध भी था। वह बन्दी बनाये गये सारे राजाओं को महाभैरव (शिव) के समक्ष बलि चढ़ा देता था। इस तरह अपनी सैन्यशक्ति से उसने अनेक छोटे-छोटे राजाओं को हराकर, उन्हें बन्दी बनाकर, महाभैरव के समक्ष बलि चढ़ा दिया था। महाभैरव या कालभैरव के अनेक भक्त बिहार प्रान्त में पाये जाते हैं, जो पहले मगध कहलाता था। जरासन्ध कृष्ण के मामा कंस का सम्बन्धी था, अतएव कंस की मृत्यु के बाद वह कृष्ण का महान् शत्रु बन गया और जरासंध तथा कृष्ण के बीच कई युद्ध हुए। भगवान् कृष्ण उसका वध करना चाहते थे, किन्तु वे यह भी चाहते थे कि जो लोग जरासन्ध के सैनिक-रूप में कार्य कर रहे हैं, वे न मारे जाँय। अतएव उसे मारने की योजना बनाई गई। कृष्ण, भीम तथा अर्जुन तीनों निर्धन ब्राह्मण-वेश में जरासन्ध के पास गये और उससे भिक्षा माँगी। जरासन्ध ब्राह्मणों को भिक्षा देने से कभी इनकार नहीं करता था और उसने अनेक यज्ञ भी किये थे, तो भी वह भक्तिमय सेवा के स्तर पर न था। भगवान् कृष्ण, भीम तथा अर्जुन ने उससे मल्लयुद्ध करने की भिक्षा माँगी और यह तय हुआ कि जरासन्ध केवल भीम से मल्लयुद्ध करेगा। इस तरह वे सब जरासन्ध के अतिथि तथा प्रतिद्वन्द्वी भी थे। भीम तथा जरासन्ध कई दिनों तक मल्लयुद्ध करते रहे। जब भीम हताश हो गया, तो कृष्ण ने उसे संकेत किया कि बचपन में जरासन्ध को जोड़ा गया था। अतः भीम ने पुनः उसे दो भागों में चीर करके मार डाला और जितने राजा महाभैरव के समक्ष बलि किये जाने के लिए बन्दीगृह में रोके गये थे, उन

सबों को भीम ने छुड़ाया। इस तरह पाण्डवों के प्रति कृतज्ञ होने के कारण उन्होंने राजा युधिष्ठिर का आधिपत्य स्वीकार किया।

पत्न्यास्तवाधिमखक्लृप्तमहाभिषेक-
श्लाघिष्ठचारुकबरं कितवैः सभायाम् ।
स्पृष्टं विकीर्य पदयोः पतिताश्रुमुख्या
यस्तत्स्त्रियोऽकृतहतेशविमुक्तकेशाः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

पत्न्याः—पत्नी का; तव—आपकी; अधिमख—विशाल यज्ञोत्सव के समय; क्लृप्त—वस्त्राभूषित; महा-अभिषेक—अच्छी तरह पवित्र की गई; श्लाघिष्ठ—इस प्रकार महिमावान; चारु—सुन्दर; कबरम्—बालों की चोटी; कितवैः—दुष्टों के द्वारा; सभायाम्—सभा में; स्पृष्टम्—पकड़ी जाने पर; विकीर्य—खोलकर; पदयोः—पैरों पर; पतित-अश्रु-मुख्याः—आँखों में अश्रु भरकर चरणों में गिरी हुई का; यः—वह; तत्—उनकी; स्त्रियः—पत्नियाँ; अकृत—हो गई; हत-ईश—पतिविहीन; विमुक्त-केशाः—खुले हुए बाल।

उन्होंने ही उन दुष्टों की पत्नियों के बाल खोल दिये, जिन्होंने आपकी महारानी (द्रौपदी) की उस चोटी को खोलने का दुस्साहस किया था, जो महान् राजसूय-यज्ञ अनुष्ठान के अवसर पर सुन्दर ढंग से सजाई तथा पवित्र की गई थी। उस समय वह अपनी आँखों में आँसू भर कर भगवान् कृष्ण के चरणों पर गिर पड़ी थी।

तात्पर्य : रानी द्रौपदी की चोटी अत्यन्त सुन्दर थी, जिसे राजसूय यज्ञ के अवसर पर पवित्र किया गया था। किन्तु जब वे दाँव में हारी जा चुकी थी, तो दुःशासन ने उनके महिमा-मण्डित केशों को छूकर, उनका अपमान किया था। तब द्रौपदी भगवान् कृष्ण के चरणकमलों पर गिर पड़ी, अतः भगवान् कृष्ण ने निश्चय किया कि वे कुरुक्षेत्र के युद्ध के फलस्वरूप दुःशासन तथा उसके दलवालों की सारी पत्नियों के केश खुलवाकर रहेंगे। इस प्रकार कुरुक्षेत्र के युद्ध के पश्चात्, जब धृतराष्ट्र के सारे पुत्र तथा पौत्र युद्ध में मारे जा चुके थे, तो परिवार की सारी स्त्रियों को विधवाओं के रूप में केश खोलने पड़े। दूसरे शब्दों में, दुःशासन द्वारा भगवान् के महान् भक्त का अपमान किये जाने से ही कुरुवंश की सारी स्त्रियाँ विधवा हो गईं। भगवान् भले ही अपने ऊपर किसी दुष्ट द्वारा किये गये अपमान को सह लें, क्योंकि पिता अपने पुत्र के द्वारा किये गये अपमान को सह लेता है, किन्तु वे अपने भक्तों का अपमान

कभी नहीं सहते। महान् आत्मा का अपमान करने पर मनुष्य को अपने सारे पुण्यों तथा वरों की बलि दे देनी पड़ती है।

यो नो जुगोप वन एत्य दुरन्तकृच्छ्राद्
दुर्वाससोऽरिरचितादयुताग्रभुग् यः ।
शाकान्नशिष्टमुपयुज्य यतस्त्रिलोकीं
तृप्ताममंस्त सलिले विनिमग्नसङ्घः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यः—जिसने; नः—हमको; जुगोप—सुरक्षा प्रदान की; वने—वन में; एत्य—प्रवेश करके; दुरन्त—भयानक; कृच्छ्रात्—संकट से; दुर्वाससः—दुर्वासा मुनि के; अरि—शत्रु द्वारा; रचितात्—बनाया गया; अयुत—दस हजार; अग्र-भुक्—पहले खानेवाला; यः—वह व्यक्ति; शाक-अन्न-शिष्टम्—बचा हुआ भोजन, जूठन; उपयुज्य—स्वीकार करके; यतः—क्योंकि; त्रि-लोकीम्—तीनों संसारों को; तृप्ताम्—संतुष्ट; अमंस्त—मन में सोचा; सलिले—जल के भीतर; विनिमग्न-सङ्घः—सभी जल में विलीन हुए।

हमारे वनवास के समय, दस हजार शिष्यों के साथ भोजन करनेवाले दुर्वासा मुनि ने हमें भयावह संकट में डालने के लिए, हमारे शत्रुओं के साथ मिलकर चाल चली। उस समय उन्होंने (कृष्ण ने) केवल जूठन ग्रहण करके हमें बचाया था। इस तरह उनके भोजन ग्रहण करने से नदी में स्नान करती मुनि-मण्डली ने अनुभव किया कि वह भोजन से पूर्ण रूप से सन्तुष्ट हो गई और तीनों लोक भी सन्तुष्ट हो गये।

तात्पर्य : *दुर्वासा मुनि*—ये शक्तिशाली योगी ब्राह्मण थे, जिन्होंने कठिन तपस्या तथा महान् व्रतों के द्वारा धर्म के नियमों का पालन करने का संकल्प किया था। उनका नाम अनेक ऐतिहासिक घटनाओं के साथ जुड़ा हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें शिवजी की भाँति सरलता से प्रसन्न किया जा सकता था तथा सरलता से रुष्ट किया जा सकता था। प्रसन्न होने पर, वे सेवक का अपार शुभ कर सकते थे और अप्रसन्न होने पर भारी विपदा उत्पन्न कर सकते थे। कुमारी कुन्ती अपने पिता के घर में सभी महान् ब्राह्मणों की सेवा किया करती थीं और उनके अच्छे सत्कार से प्रसन्न होकर दुर्वासा मुनि ने उन्हें ऐसी शक्ति का वर दिया कि जिससे वे इच्छित देवता का आवाहन कर सकती थीं। ऐसा समझा जाता है कि वे शिवजी के अंशावतार थे, अतएव वे शीघ्र ही प्रसन्न या रुष्ट किए जा सकते थे। वे शिव के महान् भक्त थे और शिवजी के आदेश से उन्होंने श्वेतकेतु का पुरोहित बनना स्वीकार किया था, क्योंकि

श्वेतकेतु एक सौ वर्षों तक यज्ञ कर चुके थे। वे कभी–कभी इन्द्रदेव की स्वर्ग–सभा में भी जाया करते थे। वे अपनी महान् योगशक्ति के बल से बाह्यावकाश में यात्रा कर सकते थे और ऐसा समझा जाता है कि उन्होंने बाह्यावकाश में बहुत दूरी तक–भौतिक आकाश से भी परे वैकुण्ठ के ग्रहों तक यात्रा की थी। उन्होंने इतनी लम्बी दूरी एक वर्ष में तब तय की थी, जब उन्होंने चक्रवर्ती सम्राट एवं परम भक्त राजा अम्बरीष से झगड़ा किया था।

उनके लगभग दस हजार शिष्य थे और वे जहाँ कहीं जाते तथा जिन क्षत्रिय राजाओं के अतिथि बनते, वहीं अपने बहुत से शिष्यों को साथ लेते जाते। एक बार वे महाराज युधिष्ठिर के शत्रु चचेरे भाई दुर्योधन के घर गये। दुर्योधन इतना तो बुद्धिमान था कि वह समझे कि ब्राह्मण को सब प्रकार से सन्तुष्ट करना चाहिए और ऐसा करने पर इस महर्षि ने दुर्योधन को कुछ वरदान देना चाहा। दुर्योधन इनकी योगशक्ति से परिचित था और उसे यह भी पता था कि ये योगी ब्राह्मण अप्रसन्न होने पर किस प्रकार ये बवंडर खड़ा कर सकते हैं। अतएव उसने ऐसी चाल सोची कि यह ब्राह्मण अपना क्रोध उनके शत्रु पाण्डवों पर उतारे। जब ऋषि ने दुर्योधन को कुछ वर देना चाहा, तो उसने इच्छा व्यक्त कि अच्छा हो यदि श्रीमान् उसके अग्रज तथा प्रमुख महाराज युधिष्ठिर के घर जायें। लेकिन उसने विनति की कि वे तब पहुँचें, जब युधिष्ठिर अपनी महारानी द्रौपदी के साथ भोजन कर चुके हों। दुर्योधन जानता था कि द्रौपदी के साथ भोजन करने के बाद महाराज युधिष्ठिर इतने सारे ब्राह्मण अतिथियों को भोजन नहीं दे पायेंगे और तब यह ऋषि क्रुद्ध होकर महाराज युधिष्ठिर के लिए संकट उत्पन्न कर देंगे। यह थी दुर्योधन की योजना। दुर्वासा मुनि ने उसके प्रस्ताव को मान लिया और दुर्योधन की योजना के अनुसार ही वनवासी राजा के यहाँ उस समय पहुँचे, जब राजा तथा द्रौपदी भोजन कर चुके थे।

महाराज युधिष्ठिर के द्वार पर पहुँचते ही दुर्वासा ऋषि का स्वागत किया गया और राजा ने उनसे प्रार्थना की कि वे दोपहर का धार्मिक कृत्य नदी के किनारे सम्पन्न करें, क्योंकि तब तक भोजन तैयार हो जाएगा। दुर्वासा अपने अनेक शिष्यों सहित नदी में स्नान करने गये और महाराज युधिष्ठिर इन अतिथियों के कारण बहुत चिन्ता करने लगे। जब तक द्रौपदी नहीं खाती थी, तब तक चाहे कितने ही अतिथि क्यों न आ जाँय, उन्हें भोजन दिया जा सकता था, किन्तु ऋषि तो दुर्योधन की योजना के अनुसार, उस समय पहुँचे थे, जब द्रौपदी भोजन कर चुकी थीं।

जब भक्तगण कठिनाई में होते हैं, तब उन्हें ध्यानमग्न होकर भगवान् का स्मरण करने का अवसर प्राप्त होता है। अतएव द्रौपदी उस विषम स्थिति में भगवान् कृष्ण का स्मरण कर रही थीं और सर्वव्यापी भगवान् तुरन्त अपने भक्तों की कठिन स्थिति को समझ गयी। अत: वे वहाँ पर उपस्थित हुए और द्रौपदी से कहा कि जितना भी भोजन बचा हो, उसे वे ले आयें। भगवान् की बात सुनकर द्रौपदी अत्यन्त खिन्न हुईं, क्योंकि भोजन तो था नहीं और भगवान् भोजन माँग रहे थे। उन्होंने भगवान् से कहा कि यदि वे खा न चुकी होतीं, तो सूर्य द्वारा प्रदत्त रहस्यमयी थाली से वे कितना ही भोजन दे सकती थीं, किन्तु उस दिन वे भोजन कर चुकी थीं, अतएव अब संकट उपस्थित था। वे अपनी कठिनाइयाँ बताकर कृष्ण के समक्ष रोने लगीं, जैसाकि ऐसे अवसरों पर स्त्रियाँ करती हैं। किन्तु भगवान् ने द्रौपदी से रसोई के पात्र लाने को कहा, जिससे वे देख सकें कि उनमें कहीं भोजन का कोई कण लगा तो नहीं रह गया है। द्रौपदी के ऐसा करने पर भगवान् ने देखा कि पात्र में शाक का एक कण लगा हुआ है। भगवान् ने उसे निकाल कर तत्क्षण खा लिया। उसके बाद भगवान् ने द्रौपदी से कहा कि दुर्वासा समेत सारे अतिथियों को बुलायें।

भीम को नदी-तट से उन सबों को बुला लाने के लिए भेजा गया। भीम ने कहा, ''हे महोदय! आप विलम्ब क्यों कर रहे हैं? आइये, आपके लिए भोजन तैयार है।'' किन्तु भगवान् कृष्ण ने भोजन का एक कण ग्रहण कर लिया था, अतएव नदी में स्नान करते समय अतिथियों का भी पेट पूरा भर चुका था। उन्होंने सोचा कि महाराज युधिष्ठिर ने उन सबों के लिए नाना प्रकार के व्यंजन तैयार कराये होंगे और चूँकि उन्हें भूख नहीं लग रही थी और वे खा नहीं सकेंगे, तो महाराज युधिष्ठिर को दुख होगा, अतएव श्रेयस्कर यही होगा कि वे वहाँ जायें ही नहीं। इसलिए उन सबों ने वहाँ से चले जाने का निश्चय किया।

यह घटना सिद्ध करती है कि भगवान् सर्वोत्कृष्ट योगी हैं, अतएव वे योगेश्वर कहलाते हैं। दूसरी शिक्षा यह मिलती है कि प्रत्येक गृहस्थ को चाहिए कि वह भगवान् को भोजन भेंट करे। इसका फल यह होगा कि हर व्यक्ति सन्तुष्ट हो जायेगा, भले ही दस हजार अतिथि क्यों न हों, क्योंकि भगवान् सन्तुष्ट हैं। यही भक्ति की विधि है।

यत्तेजसाथ भगवान् युधि शूलपाणि-
र्विस्मापितः सगिरिजोऽस्त्रमदान्निजं मे ।
अन्येऽपि चाहममुनैव कलेवरेण
प्राप्तो महेन्द्रभवने महदासनार्धम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; तेजसा—प्रभाव से; अथ—एक समय; भगवान्—ईश्वर (शिवजी); युधि—युद्ध में; शूल-पाणिः—त्रिशूलधारी; विस्मापितः—आश्चर्यचकित; स-गिरिजः—हिमालय की पुत्री समेत; अस्त्रम्—अस्त्र; अदात्—दिया; निजम्—अपना; मे—मुझको; अन्ये अपि—और दूसरे भी; च—तथा; अहम्—मैं; अमुना—उनके; एव—निश्चय ही; कलेवरेण—शरीर से; प्राप्तः—प्राप्त; महा-इन्द्र-भवने—इन्द्रदेव के घर में; महत्—महान्; आसन-अर्धम्—आधा ऊँचा आसन।

यह उन्हीं का प्रताप था कि मैं एक युद्ध में शिवजी तथा उनकी पत्नी पर्वतराज हिमालय की कन्या को आश्चर्यचकित करने में समर्थ हुआ। इस तरह वे (शिवजी) मुझ पर प्रसन्न हुए और उन्होंने मुझे अपना निजी अस्त्र प्रदान किया। अन्य देवताओं ने भी मुझे अपने-अपने अस्त्र भेंट किये और इसके अतिरिक्त, मैं इसी वर्तमान शरीर से स्वर्गलोक पहुँच सका, जहाँ मुझे आधे ऊँचे आसन पर बैठने दिया गया।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के अनुग्रह से शिवजी समेत सारे देवता अर्जुन से प्रसन्न थे। भाव यह है कि जिस किसी पर शिवजी की या किसी अन्य देवता की कृपा होती है, उस पर भगवान् श्रीकृष्ण की भी कृपा हो, ऐसा आवश्यक नहीं है। रावण निश्चित रूप से शिवजी का महान् भक्त था, किन्तु वह भगवान् रामचन्द्र के क्रोध से बच नहीं पाया। और पुराणों में ऐसी अनेक घटनाएँ भरी पड़ी हैं। किन्तु यहाँ पर एक ऐसा उदाहरण मिलता है, जिसमें शिवजी अर्जुन से युद्ध करके भी प्रसन्न होते हैं। परमेश्वर के भक्त जानते हैं कि देवताओं का सम्मान किस तरह किया जाय, किन्तु देवताओं के भक्त कभी-कभी मूर्खतावश ऐसा सोचते हैं कि भगवान् देवताओं से बड़े नहीं हैं। ऐसी धारणा से मनुष्य अपराधी बन जाता है और उसका अन्त वैसा ही होता है, जैसा रावण तथा अन्यों का हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण के साथ सख्य भाव में सम्पन्न कार्यों का अर्जुन द्वारा किया गया उल्लेख उन सबों के लिए शिक्षाप्रद है, जो इस शिक्षा से आश्वस्त हैं कि एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण को प्रसन्न करके अन्य सारे वर प्राप्त किये जा सकते हैं। किन्तु देवताओं के भक्तों या पूजकों को केवल आंशिक लाभ होगा, जो खुद देवताओं की ही भाँति विनाशशील होगा।

इस श्लोक की दूसरी महत्ता यह है कि भगवान् कृष्ण की कृपा से अर्जुन इसी शरीर से स्वर्गलोक पहुँच सके, जहाँ स्वर्ग के देवता इन्द्रदेव ने अर्ध-ऊँचे सिंहासन पर अपने साथ बिठाकर उन्हें सम्मानित किया। कोई मनुष्य पुण्य कर्मों से स्वर्गलोक पहुँच सकता है, जैसा कि सकाम कर्मों की श्रेणी में शास्त्रों का अभिमत है। जैसा कि *भगवद्गीता* (९.२१) में कहा गया है, जब ऐसे पुण्य कर्मों का फल क्षीण हो जाता है, तब भोक्ता को पुनः पृथ्वीलोक पर ला गिराया जाता है। चन्द्रमा भी, स्वर्गीय ग्रहों के समान स्तर पर है और जिन लोगों ने यज्ञ सम्पन्न करके, दान देकर तथा कठोर तपस्या करके पुण्य अर्जित किया है, उन्हें ही शरीर की आयु पूरी होने के बाद स्वर्गलोक में प्रविष्ट होने दिया जायेगा। अर्जुन को उसी शरीर में स्वर्ग में प्रविष्ट होने दिया गया जो केवल भगवत्कृपा का प्रसाद था, अन्यथा ऐसा होना सम्भव नहीं है। आधुनिक विज्ञानियों द्वारा स्वर्गलोक में प्रवेश करने के सारे प्रयास व्यर्थ सिद्ध होंगे, क्योंकि ऐसे विज्ञानी अर्जुन के समान स्तर पर नहीं हैं। वे तो सामान्य मनुष्य हैं, जो यज्ञ, दान या तप की निधि से विहीन हैं। यह भौतिक शरीर प्रकृति के तीन गुण—सत्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण से प्रभावित होता रहता है। आधुनिक प्रजा न्यूनाधिक रूप से रजोगुण तथा तमोगुण से प्रभावित है और इस प्रभाव के लक्षण उनके अत्यन्त कामुक तथा लोभी होने से प्रकट होते हैं। ऐसे पतित लोग मुश्किल से स्वर्गलोक पहुँच सकते हैं। स्वर्गलोक के ऊपर भी अन्य अनेक लोक भी हैं, जहाँ केवल सतोगुणी जीव ही पहुँच सकता है। इस ब्रह्माण्ड में, स्वर्ग तथा अन्य लोकों के निवासी अत्यन्त बुद्धिमान होते हैं—मनुष्यों से कई गुना अधिक और वे एक से एक बढ़कर सतोगुणी होते हैं। वे सब भगवान् के भक्त होते हैं और यद्यपि उनका सत्त्वगुण विशुद्ध नहीं होता है, तो भी वे देवता कहलाते हैं, जिनमें इस भौतिक जगत में सम्भव अधिकतम मात्रा में सद्गुण पाये जाते हैं।

तत्रैव मे विहरतो भुजदण्डयुग्मं
गाण्डीवलक्षणमरातिवधाय देवाः ।
सेन्द्राः श्रिता यदनुभावितमाजमीढ
तेनाहमद्य मुषितः पुरुषेण भूम्ना ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तत्र—उस स्वर्गलोक में; एव—निश्चय ही; मे—मैं स्वयं; विहरत:—अतिथि के रूप में रहते हुए; भुज-दण्ड-युग्मम्—अपनी दोनों भुजाओं को; गाण्डीव—गांडीव धनुष; लक्षणम्—चिह्न; अराति—निवातकवच नामक असुर; वधाय—मारने के लिए; देवा:—सारे देवता; स—सहित; इन्द्रा:—स्वर्ग का राजा, इन्द्र; श्रिता:—शरण लेकर; यत्—जिसके; अनुभावितम्—शक्तिमान होने के लिए सम्भव; आजमीढ—हे राजा आजमीढ के वंशज; तेन—उसके द्वारा; अहम्—मैं; अद्य—इस समय; मुषित:—रहित; पुरुषेण—व्यक्ति से; भूम्ना—परम।

जब मैं स्वर्गलोक में अतिथि के रूप में कुछ दिन रुका रहा, तो इन्द्रदेव समेत स्वर्ग के समस्त देवताओं ने निवातकवच नामक असुर को मारने के लिए गाण्डीव धनुष धारण करनेवाली मेरी भुजाओं का आश्रय लिया था। हे आजमीढ के वंशज राजा, इस समय मैं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से विहीन हो गया हूँ, जिनके प्रभाव से मैं इतना शक्तिशाली था।

तात्पर्य : स्वर्गलोक के देवता निश्चय ही अधिक बुद्धिमान, शक्तिमान तथा सुन्दर होते हैं, तो भी उन्हें अर्जुन से उनके गाण्डीव धनुष के कारण सहायता लेनी पड़ी, क्योंकि गाण्डीव धनुष भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से शक्ति-सम्पन्न था। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं और उनकी कृपा से शुद्ध भक्त उनकी इच्छा के अनुसार शक्तिमान हो सकता है, जिसकी कोई सीमा नहीं होती है। किन्तु जब भगवान् किसी से अपनी शक्ति वापस ले लेते हैं, तो वह भगवान् की इच्छा से शक्तिविहीन हो जाता है।

यद्बान्धव: कुरुबलाब्धिमनन्तपार-
मेको रथेन ततरेऽहमतीर्यसत्त्वम् ।
प्रत्याहृतं बहु धनं च मया परेषां
तेजास्पदं मणिमयं च हृतं शिरोभ्य: ॥ १४॥

शब्दार्थ

यत्-बान्धव:—जिनकी मैत्री मात्र से; कुरु-बल-अब्धिम्—कुरुओं की सैन्य-शक्ति-रूपी सागर को; अनन्त-पारम्—दुर्लंघ्य; एक:—एकाकी; रथेन—रथ पर आरूढ़ होकर; ततरे—पार करने में समर्थ था; अहम्—मैं; अतीर्य—अजेय; सत्त्वम्—अस्तित्व; प्रत्याहृतम्—वापस ले लिया; बहु—अत्यधिक; धनम्—धन; च—भी; मया—मेरे द्वारा; परेषाम्—शत्रु का; तेज-आस्पदम्—तेज (प्रकाश) का स्रोत; मणि-मयम्—मणियों से अलंकृत; च—भी; हृतम्—बलपूर्वक लाया गया; शिरोभ्य:—उनके सिरों से।

कौरवों की सैन्यशक्ति उस समुद्र की तरह थी, जिसमें अनेक अजेय प्राणी रहते थे। फलत: वह दुर्लंघ्य थी। किन्तु उनकी मित्रता के कारण, मैं रथ पर आरूढ़ होकर, उसे पार कर सका। यह उन्हीं की कृपा थी कि मैं गौवों को वापस ला सका और बलपूर्वक राजाओं के तमाम मुकुट एकत्र कर सका, जो समस्त तेज के स्रोत रत्नों से जटित थे।

तात्पर्य : कौरवों के पक्ष में भीष्म, द्रोण, कृप तथा कर्ण जैसे बड़े-बड़े सेनानायक थे और उनकी सैन्य-शक्ति विशाल समुद्र की तरह दुर्लंघ्य थी। फिर भी यह श्रीकृष्ण की ही कृपा थी कि अर्जुन ने अकेले ही रथ पर बैठकर उन सबों को एक-एक करके सरलता से समाप्त कर दिया। दूसरे पक्ष के सेनापतियों में अनेक परिवर्तन हुए, किन्तु पाण्डवों की ओर से श्रीकृष्ण द्वारा चालित रथ पर आरूढ़ अर्जुन अकेले इस महायुद्ध का भार सँभाले रहे। इसी प्रकार जब पाण्डव विराट के महल में अज्ञातवास कर रहे थे, तो कौरवों ने राजा विराट से झगड़ा मोल लिया और उनकी बड़ी तादाद में गौवें हर लीं। जब वे गौवें ले जा रहे थे, तो अर्जुन ने उनसे अज्ञात वेष में युद्ध किया और गायों के साथ बलपूर्वक लूटी गई सम्पत्ति तथा राजमुकुटों में लगे रत्नों को भी उनसे छीन लिया। अर्जुन स्मरण करने लगे कि यह सब भगवान् कृष्ण की ही कृपा से सम्भव हो सका।

यो भीष्मकर्णगुरुशल्यचमूष्वदभ्र-
राजन्यवर्यरथमण्डलमण्डितासु ।
अग्रेचरो मम विभो रथयूथपाना-
मायुर्मनांसि च दृशा सह ओज आर्च्छत् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यः—केवल वे ही; भीष्म—भीष्म; कर्ण—कर्ण; गुरु—द्रोणाचार्य; शल्य—शल्य; चमूषु—व्यूह के मध्य; अदभ्र—विशाल; राजन्य-वर्य—बड़े-बड़े राजकुमार; रथ-मण्डल—रथों की शृंखला; मण्डितासु—अलंकृत; अग्रे चरः—आगे-आगे जाते हुए; मम—मेरा; विभो—हे राजा; रथ-यूथ-पानाम्—सारे रथी; आयुः—उम्र अथवा सकाम कर्म; मनांसि—मानसिक उथल-पुथल; च—भी; दृशा—चितवन से; सहः—शक्ति; ओजः—पराक्रम; आर्च्छत्—वापस ले लिया।

एकमात्र वे ही थे जिन्होंने सबों की आयु छीन ली थी और जिन्होंने युद्धभूमि में भीष्म, कर्ण, द्रोण, शल्य, इत्यादि कौरवों द्वारा निर्मित सैन्य-व्यूह की कल्पना तथा उत्साह को हर लिया था। उन सबकी योजना अत्यन्त पटु थी और आवश्यकता से अधिक थी, लेकिन उन्होंने (भगवान् श्रीकृष्ण ने) आगे बढ़कर यह सब कर दिखाया।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण घट-घट व्यापी अपने परमात्मा-अंश से सभी के हृदय में विस्तार करते हैं और इस तरह स्मृति, विस्मृति, ज्ञान, बुद्धिहीनता तथा मनोवैज्ञानिक कार्यकलापों में सबों का निर्देशन करते हैं (*भगवद्गीता* १५.१५)। परमेश्वर होने के नाते, वे जीव की आयु को घटा-बढ़ा सकते हैं। इस तरह भगवान् ने अपनी योजना के अनुसार कुरुक्षेत्र-युद्ध का संचालन किया। वे इस युद्ध को इसलिये

कराना चाह रहे थे, जिससे वे युधिष्ठिर को इस लोक का सम्राट बना सकें। इस दिव्य कार्य को सुगम बनाने के लिये उन्होंने अपनी परम शक्तिमान इच्छा से विरोधी पक्ष के उन सभी लोगों को मार डाला। विरोधी पक्ष में भीष्म, द्रोण तथा शल्य जैसे महान् सेनापति थे, अतएव उस युद्ध में यदि भगवान् ने सब प्रकार की युक्तियों से सहायता न की होती, तो अर्जुन का जीतना असम्भव था। सामान्यतया ऐसी युक्तियाँ आधुनिक राजनीति में भी सभी नीतिज्ञों द्वारा अपनायी जाती हैं, लेकिन ये सब भौतिक शक्तिशाली गुप्तचरी, सैन्य-निपुणता तथा राजनयिक दाँव-पेंच द्वारा सम्पन्न की जाती हैं। चूँकि अर्जुन भगवान् के प्रिय भक्त थे, अतएव भगवान् ने स्वयं यह सब किया, अर्जुन को इसकी चिन्ता नहीं करनी पड़ी। भगवान् की भक्तिमय सेवा की विधि ऐसी होती है।

यद्दोःषु मा प्रणिहितं गुरुभीष्मकर्ण-
नप्तृत्रिगर्तशल्यसैन्धवबाह्लिकाद्यैः ।
अस्त्राण्यमोघमहिमानि निरूपितानि
नोपस्पृशुर्नृहरिदासमिवासुराणि ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके अन्तर्गत; दोःषु—हथियारों की सुरक्षा; मा प्रणिहितम्—स्वयं मेरे स्थित होने पर; गुरु—द्रोणाचार्य; भीष्म—भीष्म; कर्ण—कर्ण; नप्तृ—भूरिश्रवा; त्रिगर्त—राजा सुशर्मा; शल्य—शल्य; सैन्धव—राजा जयद्रथ; बाह्लिक—महाराज शान्तनु (भीष्म के पिता) का भाई; आद्यैः—इत्यादि.; अस्त्राणि—अस्त्रों को; अमोघ—अचूक; महिमानि—अत्यन्त शक्तिशाली; निरूपितानि—व्यवहृत; न—नहीं; उपस्पृशुः—स्पर्श किया; नृहरि-दासम्—नृसिंह देव का सेवक (प्रह्लाद); इव—सदृश; असुराणि—असुरों द्वारा प्रयुक्त हथियार।

भीष्म, द्रोण, कर्ण, भूरिश्रवा, सुशर्मा, शल्य, जयद्रथ तथा बाह्लिक जैसे बड़े-बड़े सेनापतियों ने अपने-अपने अचूक हथियार मुझ पर चलाये, लेकिन उनकी (भगवान् कृष्ण की) कृपा से सब वे मेरा बाल बाँका भी न कर पाये। इसी प्रकार भगवान् नृसिंह देव के परम भक्त प्रह्लाद महाराज असुरों द्वारा प्रयुक्त समस्त शस्त्रास्त्रों से अप्रभावित रहे।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज नृसिंह-देव के परम भक्त थे। उनकी कथा *श्रीमद्भागवत* के सातवें स्कन्ध में दी गई है। प्रह्लाद महाराज अभी पाँच वर्ष के नन्हे बालक ही थे कि वे अपने महान् पिता हिरण्यकशिपु के क्रोध के पात्र बने, क्योंकि वे भगवान् के शुद्ध भक्त थे। असुर पिता ने अपने भक्त पुत्र प्रह्लाद को मारने के लिए सभी हथियारों को आजमाया, लेकिन भगवान् की कृपा से वे अपने पिता की

सभी घातक कार्यवाहियों से बचते गये। उन्हें जलती अग्नि में, उबलते तेल में, पर्वत की चोटी से नीचे, हाथी के पाँव के नीचे फेंका गया और उन्हें विष भी दिया गया। अन्त में पिता ने अपने पुत्र को मारने के लिए गँड़ासा उठाया, तो नृसिंह देव प्रकट हुए और उस जघन्य पिता का पुत्र के समक्ष वध कर दिया। इस तरह भगवान् के भक्त को कोई नहीं मार सकता। इसी प्रकार अर्जुन को भी भगवान् ने बचाया, यद्यपि उन्हें मारने के लिए भीष्म जैसे महान् प्रतिद्वन्द्वी द्वारा सभी घातक हथियार छोड़े गये थे।

कर्ण—ये कुन्ती के पुत्र थे, जो महाराज पाण्डु से विवाह होने के पूर्व सूर्यदेव से प्राप्त हुए थे। कर्ण का जन्म हाथ के कड़े तथा कान के कुण्डल सहित हुआ था, जो दुर्दम वीर के असामान्य लक्षण थे। प्रारम्भ में उसका नाम वसुसेन था, लेकिन जब वह बड़ा हुआ तो उसने अपने प्राकृतिक कड़े तथा कुण्डल इन्द्रदेव को भेंट कर दिये और उसके बाद वैकर्तन कहलाया। कुमारी कुन्ती ने जन्म देने के बाद, उसे गंगा नदी में फेंक दिया गया था। बाद में अधिरथ ने उसे उठा लिया और उसने तथा उसकी पत्नी राधा ने उसे अपनी सन्तान की तरह पाला-पोसा। कर्ण अत्यन्त दानी था, विशेषत: ब्राह्मणों के प्रति। ब्राह्मणों को दान देते समय, वह अपना सर्वस्व देने को प्रस्तुत रहता था। इसी दानी भावना से उसने अपने कड़े तथा कुण्डल इन्द्रदेव को दे दिये थे, जिससे वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने बदले में शक्ति नाम का महान् अस्त्र प्रदान किया। उसकी द्रोणाचार्य के शिष्य-रूप में भर्ती हुई थी और प्रारम्भ से ही उसमें तथा अर्जुन में स्पर्धा चलती थी। अर्जुन से उसकी निरन्तर स्पर्धा देखकर ही दुर्योधन ने उसे अपना संगी बना लिया था और क्रमश: उनमें प्रगाढ़ मैत्री हो गई। वह द्रौपदी के स्वयंवर में भी उपस्थित था और जब उस सभा में उसने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करना चाहा, तो द्रौपदी के भाई ने घोषणा की कि कर्ण उस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकता, क्योंकि वह शूद्र बढ़ई का पुत्र था। यद्यपि उसे उस प्रतियोगिता में भाग लेने नहीं दिया गया, किन्तु जब अर्जुन मत्स्य-भेद में सफल रहा और द्रौपदी ने अर्जुन को माला पहना दी, तो कर्ण तथा हारे हुए राजकुमारों ने द्रौपदी-सहित जाते हुए अर्जुन के लिए असामान्य रूकावट खड़ी की। विशेष रूप से कर्ण उनसे बहादुरी से लड़ा, किन्तु वे सभी अर्जुन द्वारा परास्त हुए। दुर्योधन कर्ण से अत्यधिक प्रसन्न था, क्योंकि अर्जुन से उसकी निरन्तर स्पर्धा चलती रहती थी और जब दुर्योधन राजा बना तो उसने कर्ण को अंगराज्य का राजा बना दिया। द्रौपदी को जीतने का प्रयास असफल होने से कर्ण ने दुर्योधन को सलाह दी कि राजा द्रुपद पर हमला कर

दिया जाये, क्योंकि उसे हराकर द्रौपदी तथा अर्जुन दोनों को बन्दी बनाया जा सकता था। लेकिन द्रोणाचार्य ने इस षड्यंत्र के लिए उनको फटकारा। फलतः वे इस कार्य से विरत हो गये। कर्ण, कई बार हारा था, न केवल अर्जुन से, अपितु भीमसेन से भी। वह बंगाल, उड़ीसा तथा मद्रास के सम्मिलित राज्य का राजा था। बाद में उसने महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सक्रिय भाग लिया और जब शकुनि द्वारा सुझाये जाने पर प्रतिद्वन्द्वी बन्धुओं में जुआ खेला गया, तो कर्ण ने उसमें भाग लिया और जब द्रौपदी दाँव पर चढ़ गई, तो वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ था। इससे उसके पुराने वैर का शोधन हुआ। जब द्रौपदी को दाँव पर लगाया गया, उसने ही अत्यन्त प्रोत्साहित होकर इसकी सूचना दी और उसने ही पाण्डवों तथा द्रौपदी को निर्वस्त्र करने के लिए दुस्शासन को आज्ञा दी। उसने द्रौपदी से दूसरा पति चुनने को कहा, क्योंकि पाण्डवों के द्वारा हारी जाने से वह कुरुओं की दासी बन चुकी थी। वह पाण्डवों का स्थायी दुश्मन बना रहा और जब-जब अवसर मिलता रहा, वह उन्हें नीचा दिखाने का प्रयास करता रहा। कुरुक्षेत्र के युद्ध में उसने पहले ही परिणाम जान लिया था और उसने अपना अभिमत व्यक्त किया था कि अर्जुन के सारथी के रूप में, कृष्ण के होने से, यह युद्ध अर्जुन द्वारा जीता जायेगा। वह भीष्म का सदैव विरोध करता रहा और कभी-कभी गर्वित होकर कहता कि यदि भीष्म उसकी योजना में दखल न दें, तो वह पाण्डवों को पाँच दिनों में जीत सकता है। लेकिन जब भीष्म की मृत्यु हुई, तब वह अत्यन्त दुःखी हुआ। उसने इन्द्र से प्राप्त हुए शक्ति अस्त्र द्वारा घटोत्कच का वध किया। अर्जुन ने उसके पुत्र वृषसेन का वध किया उसने सर्वाधिक पाण्डव सैनिकों को मारा था। अन्त में अर्जुन से उसका घनघोर युद्ध हुआ, और वह अकेल ही ऐसा था, जिसने युद्ध में अर्जुन के मुकुट को मार गिराया था। लेकिन ऐसा हुआ कि उसके रथ का पहिया युद्धभूमि के कीचड़ में फँस गया और जब वह उस पहिये को ठीक करने रथ से नीचे उतरा, तो उसके मना करने पर भी अर्जुन ने उसे मार डाला।

नप्ता अथवा *भूरिश्रवा*—भूरिश्रवा कुरुवंशी सोमदत्त का पुत्र था। शल्य उसका भाई था। दोनों भाई तथा पिता द्रौपदी-स्वयंवर में गये थे। इन सबों ने भगवान् के भक्त-मित्र होने के कारण, अर्जुन की अद्भुत शक्ति की प्रसंशा की थी और भूरिश्रवा ने धृतराष्ट्र के पुत्रों को सलाह दी थी कि वे उनसे झगड़ा मोल न लें अथना युद्ध न करें। इन सबों ने महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भी भाग लिया। उसके

पास एक अक्षौहिणी सेना थी जिसमें पैदल सिपाही, घुड़सवार, हाथी और रथ शामिल थे और यह सेना दुर्योधन की ओर से कुरुक्षेत्र के युद्ध में लड़ी थी। भीम उसे यूथपतियों में से एक मानते थे। कुरुक्षेत्र के युद्ध में वह विशेष तौर पर सात्यकी से लड़ा था और उसने सात्यकी के दस पुत्रों को मार डाला था। बाद में अर्जुन ने उसके हाथ काट दिये तब सात्यकी ने उसे मार डाला। मृत्यु के बाद वह विश्वदेव में समा गया।

त्रिगर्त अथवा *सुशर्मा*—यह महाराज वृद्धक्षेत्र का पुत्र तथा त्रिगर्त देश का राजा था और वह भी द्रौपदी के स्वयंवर में उपस्थित था। यह दुर्योधन का मित्र था और इसने दुर्योधन को मत्स्यदेश (दरभंगा) पर आक्रमण करने की सलाह दी थी। विराट नगर में गायों को चुराते समय, वह महाराज विराट को बन्दी बना ने में सफल हुआ था, लेकिन बाद में भीम ने महाराज विराट को छुड़ा लिया था। कुरुक्षेत्र युद्ध के में भी वह वीरतापूर्वक लड़ा, किन्तु अन्त में अर्जुन द्वारा मारा गया।

जयद्रथ—यह महाराज वृद्धक्षेत्र का ही एक अन्य पुत्र था। यह सिन्धुदेश (आधुनिक सिंध जो पाकिस्तान में है) का राजा था। इसकी पत्नी का नाम दु:शला था। यह भी द्रौपदी के स्वयंवर में उपस्थित था और उससे विवाह करने के लिए बहुत उत्सुक था, किन्तु प्रतियोगिता में असफल रहा। किन्तु तब से वह हमेशा द्रौपदी के निकट आने के फेर में रहा करता था। जब वह अपना विवाह करने शल्यदेश जा रहा था, तो उसने रास्ते में काम्यवन में उसने एक बार फिर द्रौपदी को देखा और वह उसके प्रति अत्यधिक आकर्षित हो गया था। तब अपना राज्य जुए में हारकर पाण्डव तथा द्रौपदी वनवास में थे और तब जयद्रथ ने अपने संगी कोटिशष्य के द्वारा, अनुचित तरीके से द्रौपदी के पास सन्देश भेजा। द्रौपदी ने तुरन्त ही जयद्रथ के प्रस्ताव को बड़ी बुरी तरह ठुकरा दिया था, किन्तु द्रौपदी के सौन्दर्य के प्रति वह इतना आकर्षित था कि वह बारम्बार प्रयास करता रहा और हर बार द्रौपदी ने उसे ठुकरा दिया। उसने द्रौपदी को जबरन रथ पर बैठाना चाहा, लेकिन द्रौपदी ने उसे ऐसी पटकनी दी कि वह कटे हुए वृक्ष की तरह धराशायी हो गया। लेकिन वह हतोत्साहित नहीं हुआ और द्रौपदी को जबरन रथ पर बिठाने में सफल रहा। धौम्य मुनि ने यह घटना देखी तो उन्होंने जयद्रथ के इस कार्य का तीव्र विरोध किया। उन्होंने रथ का पीछा भी किया और धात्रेयिका के द्वारा इसकी जानकारी महाराज युधिष्ठिर तक पहुँचाई। तब पाण्डवों ने आक्रमण करके उसके सारे सैनिकों को मार डाला और अन्त में

भीमसेन ने जयद्रथ को पकड़कर उसकी जमकर पिटाई की ओर वह लगभग मरा सा हो गया। फिर उसके पाँच बाल छोड़कर सिर के सारे बाल काट लिये गये और समस्त राजाओं के समक्ष लाकर, महाराज युधिष्ठिर के दास के रूप में, परिचय कराया गया। उसे सभी राजकुमारों के समक्ष अपने को महाराज युधिष्ठिर का दास स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया और उसे उसी अवस्था में महाराज युधिष्ठिर के सम्मुख लाया गया। महाराज युधिष्ठिर ने दयालु होकर उसे छोड़ने का आदेश दिया और जब उसने त्रिगर्त राजकुमार को महाराज के अधीन बनाने के लिए आत्म-स्वीकृति कर ली, तो महारानी द्रौपदी ने भी उसको मुक्त करने की इच्छा व्यक्त कर दी। इस घटना के बाद उसे अपने देश जाने दिया गया। इस प्रकार अपमानित होने के बाद, वह हिमालय पर्वत पर गंगोत्री चला गया और उसने शिवजी को प्रसन्न करने के लिए कठोर तपस्या की। उसने पाँचों पाण्डवों को कम से कम एक-एक करके हराने का वर माँगा। तत्पश्चात जब कुरुक्षेत्र-युद्ध प्रारम्भ हुआ, तो उसने दुर्योधन का पक्ष लिया। पहले दिन उसने महाराज द्रुपद से, फिर विराट से और तब अभिमन्यु से युद्ध किया। जब अभिमन्यु को सात महान् सेनापति घेरकर निर्दयतापूर्वक मार रहे थे, तो पाण्डव उसकी सहायता करने के लिए पहुँचे, किन्तु जयद्रथ ने शिवजी की कृपा से अपनी शक्ति से उन्हें पीछे हटा दिया। इस पर अर्जुन ने उसका वध करने की प्रतिज्ञा की। यह सुनकर जयद्रथ ने युद्धस्थल छोड़कर भागना चाहा और कौरवों से इसकी अनुमति माँगी, किन्तु उसे ऐसा नहीं करने दिया गया। उल्टे उसे अर्जुन से युद्ध करने के लिए विवश किया गया और जब युद्ध चल रहा था, तो भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को याद दिलाई कि जयद्रथ को शिवजी का यह वरदान प्राप्त है कि जो भी उसका सिर धरती पर गिराएगा, वह तुरन्त मर जायेगा। अतएव उन्होंने अर्जुन को सलाह दी कि वे जयद्रथ के सिर को सीधे उसके पिता की गोद में गिराये, जो समन्तपंचक तीर्थ में तप कर रहा था। अर्जुन ने वास्तव में ऐसा ही किया। जयद्रथ का पिता पुत्र के कटे हुए सिर को अपनी गोद में देखकर अचम्भिंत हो उठा। अतएव उसने तुरन्त ही उस सिर को भूमि पर फेंक दिया। उसके पिता का सिर सात खण्डों में विभक्त हो गया और वह तुरन्त मर गया।

सौत्ये वृत: कुमतिनात्मद ईश्वरो मे
यत्पादपद्ममभवाय भजन्ति भव्या: ।

मां श्रान्तवाहमरयो रथिनो भुविष्ठं
न प्राहरन् यदनुभावनिरस्तचित्ताः ॥ १७॥

शब्दार्थ

सौत्ये—सारथी के विषय में; वृतः—लगा हुआ; कुमतिना—बुरी चेतना के कारण; आत्म-दः—उद्धार करनेवाला; ईश्वरः—परमेश्वर; मे—मेरा; यत्—जिसको; पाद-पद्मम्—चरणकमल को; अभवाय—मोक्ष के मामले में; भजन्ति—सेवा करते हैं; भव्याः—बुद्धिमान पुरुष; माम्—मुझको; श्रान्त—प्यासा; वाहम्—मेरे घोड़े; अरयः—शत्रु; रथिनः—महान् सेनापति; भुवि-ष्ठम्—भूमि पर खड़े हुए; न—नहीं; प्राहरन्—आक्रमण किया; यत्—जिसकी; अनुभाव—कृपा; निरस्त—अनुपस्थित होने से; चित्ताः—मन।

यह उन्हीं की कृपा थी कि जब मैं अपने प्यासे घोड़ों के लिए जल लेने रथ से नीचे उतरा था, तो मेरे शत्रुओं ने मुझे मारने की परवाह न की। यह तो अपने प्रभु के प्रति मेरा असम्मान ही था कि मैंने उन्हें अपना सारथी बनाने का दुस्साहस किया, क्योंकि मोक्ष प्राप्त करने के लिए श्रेष्ठ पुरुष उनकी पूजा तथा सेवा करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण निर्विशेषवादियों तथा भगवद्भक्तों दोनों के द्वारा समान रूप से आराध्य हैं। निर्विशेषवादी उनके जाज्वल्यमान तेज की पूजा करते हैं, जो सच्चिदानन्द-स्वरूप दिव्य देह से उद्भासित होता रहता है और भक्तगण पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् के रूप में उनकी पूजा करते हैं। जो लोग निर्विशेषवादियों से भी नीचे के हैं, वे उन्हें महान् ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं। किन्तु भगवान् तो अपनी विशिष्ट दिव्य लीलाओं के द्वारा सबों को आकृष्ट करने के लिए अवतरित होते हैं और इस तरह वे पूर्ण स्वामी, मित्र, पुत्र तथा प्रेमी की भूमिका निभाते हैं। अर्जुन से उनका दिव्य सम्बन्ध मित्र (सख्य) भावका था, अतएव उन्होंने अपनी भूमिका पूरी तरह निभाई, जिस तरह उन्होंने अपने माता-पिता, प्रेमिकाओं तथा पत्नियों के साथ किया था। इस तरह के पूर्ण दिव्य भाव में भक्त, भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के कारण यह भूल जाता है कि उसका मित्र या पुत्र पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् है, यद्यपि भक्त भी कभी-कभी भगवान् के कार्यों से मोहग्रस्त हो जाता है। भगवान् के प्रयाण के बाद अर्जुन को अपने परम मित्र का बोध था, लेकिन इस विषय में अर्जुन कोई गलती नहीं कर रहा था और न ही उसे भगवान् के विषय में कोई भ्रान्त धारणा थी। बुद्धिमान व्यक्ति अर्जुन जैसे शुद्ध अनन्य भक्तों के प्रति भगवान् की दिव्य करनी के द्वारा आकृष्ट होते हैं।

युद्धभूमि में जल का अभाव सर्वविदित तथ्य है। जल वहाँ दुर्लभ रहता है। और पशु तथा मनुष्य, दोनों ही युद्धक्षेत्र में निरन्तर श्रम करते रहने से प्यासे हो उठते हैं और प्यास बुझाने के लिए जल की

आवश्यकता पड़ती है। विशेष रूप से, घायल सैनिक तथा सेनापति मृत्यु के समय अत्यधिक प्यासे हो उठते हैं और कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जल न मिलने के कारण ही विवश होकर मृत्यु हो जाती है। लेकिन कुरुक्षेत्र के युद्ध में पानी के अभाव को भूमि का बेधन करके पूरा किया गया। भगवान् की कृपा से किसी भी स्थान को बेध करके जल आसानी से प्राप्त किया जा सकता था, यदि वहाँ बेधन करने की सुविधा हो। आधुनिक प्रणाली भी भूमि के बेधन के सिद्धान्त पर कार्य करती है। फिर भी आज के इंजीनियर, आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त खुदाई करने में समर्थ नहीं हो पाते। लेकिन इतिहास से पता चलता है कि पाण्डवों के काल में अर्जुन जैसे बड़े-बड़े सेनानायक घोड़ों तक को तुरन्त जल पिला सकते थे—मनुष्यों की तो बात ही क्या? वे तीक्ष्ण बाण से पृथ्वी की कठोर सतह को भेदकर ही नीचे से जल निकाल सकते थे। यह विधि आधुनिक विज्ञानियों को आज भी अज्ञात है।

नर्माण्युदाररुचिरस्मितशोभितानि
हे पार्थ हेऽर्जुन सखे कुरुनन्दनेति ।
सञ्जल्पितानि नरदेव हृदिस्पृशानि
स्मर्तुर्लुठन्ति हृदयं मम माधवस्य ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

नर्माणि—परिहास में बातचीत; उदार—खुलकर बातें करनेवाले; रुचिर—अच्छी लगनेवाली; स्मित-शोभितानि—हँसीले चेहरे से अलंकृत; हे—हे, अरे (सम्बोधन का चिह्न); पार्थ—हे पृथा-पुत्र; हे—हे; अर्जुन—अर्जुन; सखे—मित्र; कुरु-नन्दन—कुरुवंश के पुत्र; इति—इस प्रकार; सञ्जल्पितानि—ऐसी बातचीत; नर-देव—हे राजा; हृदि—हृदय में; स्पृशानि—स्पर्श करती; स्मर्तुः—उन्हें स्मरण करके; लुठन्ति—अभिभूत करती हैं; हृदयम्—हृदय तथा आत्मा को; मम—मेरे; माधवस्य—माधव (कृष्ण) का।

हे राजन्, उनके परिहास तथा उनकी मुक्त बातें अत्यन्त सुहावनी तथा सौंदर्य से अलंकृत होती थीं। "हे पार्थ, हे सखा, हे कुरुनन्दन" कहकर उनका पुकारना तथा उनकी समस्त सहृदयता की अब मुझे याद आ रही है और मैं अभिभूत हूँ।

शय्यासनाटनविकत्थनभोजनादि-
ष्वैक्याद्वयस्य ऋतवानिति विप्रलब्धः ।
सख्युः सखेव पितृवत्तनयस्य सर्वं
सेहे महान्महितया कुमतेरघं मे ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

शय्या—एक ही बिस्तर पर सोना; आसन—एक ही आसन पर बैठना; अटन—साथ-साथ घूमना; विकत्थन—आत्मश्लाघा; भोजन—साथ-साथ खाना; आदिषु—इत्यादि में; ऐक्यात्—एकत्व होने से; वयस्य—हे मित्र; ऋतवान्—सत्यवादी; इति—इस प्रकार; विप्रलब्धः—बुरा आचरण किया गया; सख्युः—मित्र से; सखा इव—मित्र की भाँति; पितृवत्—पिता की भाँति; तनयस्य—बालक का; सर्वम्—सारे; सेहे—सह लेते; महान्—महान्; महितया—यश से; कुमतेः—दुर्बुद्धि का; अघम्—अपराध; मे—मेरे।

सामान्यतः हम दोनों साथ-साथ रहते और सोते, साथ-साथ बैठते और घूमने जाते। और बहादुरी के कार्यों के लिए आत्म-प्रशंसा करते हुए कभी-कभी यदि कोई भूल होती, तो मैं उन्हें यह कहकर चिढ़ाया करता था "हे मित्र, तुम तो बड़े सत्यवादी हो।" उस समय भी जब उनका महत्व घटता होता, वे परमात्मा होने के कारण, मेरी उटपटांग बातों को सह लेते थे और मुझे उसी प्रकार क्षमा कर देते थे जिस तरह एक सच्चा मित्र अपने सच्चे मित्र को या पिता अपने पुत्र को क्षमा कर देता है।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् श्रीकृष्ण परम-पूर्ण हैं, अतएव शुद्ध भक्तों के साथ उनकी दिव्य लीलाओं में किसी तरह की कमी नहीं रहती, चाहे वह मित्र, पुत्र या प्रेमी के रूप में हों। भगवान् अपने मित्रों, माता-पिता या प्रेमिकाओं की झिड़कियों में बड़े-बड़े विद्वानों तथा धर्म-विशारदों द्वारा विधिपूर्वक अर्पित की जानेवाली वैदिक ऋचाओं से भी अधिक आनन्द उठाते हैं।

सोऽहं नृपेन्द्र रहितः पुरुषोत्तमेन
सख्या प्रियेण सुहृदा हृदयेन शून्यः ।
अध्वन्युरुक्रमपरिग्रहमङ्ग रक्षन्
गोपैरसद्भिरबलेव विनिर्जितोऽस्मि ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अहम्—मैं; नृप-इन्द्र—हे सम्राट; रहितः—विहीन; पुरुष-उत्तमेन—परमेश्वर द्वारा; सख्या—अपने मित्र द्वारा; प्रियेण—अपने सर्वाधिक प्रिय द्वारा; सुहृदा—शुभचिन्तक द्वारा; हृदयेन—हृदय तथा आत्मा से; शून्यः—शून्य, रहित; अध्वनि—हाल ही में; उरुक्रम-परिग्रहम्—सर्वशक्तिमान की पत्नियाँ; अङ्ग—शरीर; रक्षन्—रक्षा करते हुए; गोपैः—ग्वालों द्वारा; असद्भिः—नास्तिक, असभ्य, दुष्ट; अबला इव—निर्बल स्त्री की तरह; विनिर्जितः अस्मि—पराजित हो चुका हूँ।

हे राजन्, अब मैं अपने मित्र तथा सर्वाधिक प्रिय शुभचिन्तक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से विलग हो गया हूँ, अतएव मेरा हृदय हर तरह से शून्य-सा प्रतीत हो रहा है। उनकी अनुपस्थिति

में, जब मैं कृष्ण की तमाम पत्नियों की रखवाली कर रहा था, तो अनेक अविश्वस्त ग्वालों ने मुझे हरा दिया।

तात्पर्य : इस श्लोक की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अर्जुन किस तरह ग्वालों की असभ्य टोली द्वारा हरा दिये गये और किस तरह इन संसारी ग्वालों ने भगवान् की पत्नियों के शरीर का स्पर्श किया होगा, जिनकी रखवाली अर्जुन कर रहे थे। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *विष्णुपुराण* तथा *ब्रह्मपुराण* से खोज करके इस विरोधाभास को मान्य ठहराया है। इन पुराणों में कहा गया है कि एक बार स्वर्ग की सुन्दरियों ने अपनी सेवा से अष्टावक्र मुनि को प्रसन्न कर लिया, तो मुनि ने उन्हें वरदान दिया कि तुम्हें परमेश्वर पति के रूप में प्राप्त होंगे। अष्टावक्र का शरीर आठ स्थानों से टेढ़ा था, अतएव वे एक खास तरह से झुककर टेढ़ा चलते थे। फलतः देवताओं की पुत्रियाँ उनकी चाल देखकर अपनी हँसी रोक न पाईं, तो मुनि ने क्रुद्ध होकर उन्हें शाप दिया कि यदि उन्हें पति-रूप में भगवान् प्राप्त हो भी जायें, तो भी उनका अपहरण दुष्टों के द्वारा होगा। बाद में उन कन्याओं ने स्तुतियों द्वारा मुनि को फिर से प्रसन्न किया, तो मुनि ने फिर वरदान दिया कि अपहरण होने पर भी, उन्हें अपने अपने पति वापस मिल जायेंगे। अतएव मुनि के वचनों को सही बनाने के लिए स्वयं भगवान् ने अपनी पत्नियों का अपहरण अर्जुन की सुरक्षा में रहते हुए भी कर लिया, अन्यथा उन दुष्टों के स्पर्श करते ही सारी की सारी पत्नियाँ अदृश्य हो गई होतीं। इसके साथ ही जिन गोपियों ने कृष्ण की पत्नी बनने के लिए प्रार्थना की थी, वे भी अपनी-अपनी इच्छा पूरी होने पर अपने-अपने स्थानों पर लौट आईं। भगवान् कृष्ण के प्रस्थान के बाद उन्होंने चाहा कि उनके सारे संगी भगवद्धाम वापस आ जाँय और वे सभी विभिन्न अवस्थाओं में वापस बुला लिए गये।

तद्वै धनुस्त इषवः स रथो हयास्ते
सोऽहं रथी नृपतयो यत आनमन्ति ।
सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं
भस्मन्हुतं कुहकराद्धमिवोप्तमूष्याम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तत्—वही; वै—निश्चय ही; धनुः—धनुष; ते इषवः—वही तीर; सः—वही; रथः—रथ; हयाः ते—वे ही घोड़े; सः अहम्—मैं वही अर्जुन हूँ; रथी—रथारूढ़ वीर; नृपतयः—सारे राजा; यतः—जिनको; आनमन्ति—नमस्कार किया करते थे; सर्वम्—सब; क्षणेन—एक क्षण भर में; तत्—वे सब; अभूत्—हो गये; असत्—व्यर्थ; ईश—ईश्वर के कारण; रिक्तम्—रिक्त होने से; भस्मन्—राख; हुतम्—घी की आहुति; कुहक-राद्धम्—जादूगरी से उत्पन्न धन; इव—सदृश; उप्तम्—बोया हुआ; ऊष्याम्—बंजर भूमि में।

मेरे पास वही गाण्डीव धनुष है, वे ही तीर हैं, उन्हीं घोड़ों के द्वारा खींचा जानेवाला वही रथ है और उन्हें इस्तेमाल करनेवाला मैं वही अर्जुन हूँ, जिसके सामने सारे राजा सिर झुकाया करते थे। किन्तु भगवान् कृष्ण की अनुपस्थिति में वे सब एक ही क्षण में शून्य हो गये हैं। यह वैसा ही है जैसे राख में घी की आहूति डालना, जादू की छड़ी से धन एकत्र करना या बंजर भूमि में बीज बोना।

तात्पर्य : जैसाकि हम कई बार कह चुके हैं कि किसी को उधार ली गई पगड़ी पर गर्व नहीं करना चाहिए। सारी शक्तियाँ तथा बल परम स्रोत भगवान् कृष्ण से प्राप्त होते हैं। वे सब तब तक कार्यशील रहते हैं, जब तक भगवान् की इच्छा रहती है। उनके न चाहने पर, वे सब समाप्त हो जाते हैं। जिस तरह सारी विद्युत् शक्ति बिजलीघर से प्राप्त होती है और ज्योंही बिजलीघर विद्युत् ऊर्जा देना बन्द कर देता है कि सारे बल्ब बेकार हो जाते हैं। ऐसी शक्तियाँ भगवान् की इच्छा से क्षण भर में उत्पन्न की जा सकती हैं या वापस ली जा सकती हैं। भगवान् के आशीष के बिना आधुनिक सभ्यता मात्र बच्चों का खेल है। जब तक माता-पिता बच्चे को खेलने देते हैं, तब तक सब कुछ ठीक-ठाक रहता है, लेकिन ज्योंही माता-पिता अपनी अनुमति वापस ले लेते हैं, बच्चे को खेलना बन्द करना पड़ता है। मानवीय सभ्यता तथा इसके सारे कार्यकलापों को भगवान् के परम आशीष का अनुगमन करना चाहिए। इस आशीष के बिना मानवीय सभ्यता की सारी प्रगति किसी शव को सजाने जैसा ही है। यहाँ पर कहा गया है कि मृत सभ्यता तथा उसके कार्यकलाप राख में घी डालने के तुल्य, जादू की छड़ी से धन जुटाने के तुल्य या बंजर भूमि में बीज बोने के तुल्य हैं।

राजंस्त्वयानुपृष्टानां सुहृदां नः सुहृत्पुरे ।
विप्रशापविमूढानां निघ्नतां मुष्टिभिर्मिथः ॥ २२ ॥
वारुणीं मदिरां पीत्वा मदोन्मथितचेतसाम् ।

अजानतामिवान्योन्यं चतु:पञ्चावशेषिता: ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

राजन्—हे राजन्; त्वया—आपके द्वारा; अनुपृष्टानाम्—पूछे गये; सुहृदाम्—मित्रों तथा सम्बन्धियों का; नः—हमारे; सुहृत्-पुरे—द्वारका नगरी में; विप्र—ब्राह्मण के; शाप—शाप से; विमूढानाम्—मूर्खों का; निघ्नताम्—मारे हुओं का; मुष्टिभिः—लाठियों द्वारा; मिथः—परस्पर; वारुणीम्—खमीर उठे चावल को; मदिराम्—शराब को; पीत्वा—पीकर; मद-उन्मथित—नशे में आकर; चेतसाम्—मानसिक स्थिति का; अजानताम्—न जानते हुए; इव—सदृश; अन्योन्यम्—एक दूसरे को; चतुः—चार; पञ्च—पाँच; अवशेषिताः—अब बचे हुए।

हे राजन्, चूँकि आपने द्वारका नगरी के हमारे मित्रों तथा सम्बन्धियों के विषय में पूछा है, अतएव मैं आपको सूचित कर रहा हूँ कि वे सब ब्राह्मणों द्वारा शापित होकर, सड़े हुए चावलों से बनी शराब पीकर उन्मत्त हो उठे और एक-दूसरे को न पहचानने के कारण लाठियाँ लेकर परस्पर लड़ने लगे। अब केवल चार-पाँच को छोड़कर शेष सभी मर चुके हैं।

प्रायेणैतद् भगवत ईश्वरस्य विचेष्टितम् ।
मिथो निघ्नन्ति भूतानि भावयन्ति च यन्मिथ: ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

प्रायेण एतत्—प्रायः यह; भगवतः—भगवान् की; ईश्वरस्य—ईश्वर की; विचेष्टितम्—इच्छा से; मिथः—परस्पर; निघ्नन्ति—मारते हैं; भूतानि—जीवों को; भावयन्ति—तथा पालते हैं; च—भी; यत्—जिसका; मिथः—परस्पर।

वास्तव में यह सब भगवान् की इच्छा के फलस्वरूप है कि कभी-कभी लोग एक दूसरे को मार डालते हैं और कभी एक दूसरे की रक्षा करते हैं।

तात्पर्य : नृतत्त्वशास्त्रियों के अनुसार 'जीवन संघर्ष' तथा 'योग्यतम की दीर्घजीविता' प्राकृतिक नियम हैं। लेकिन वे यह नहीं जानते कि प्राकृतिक नियम के पीछे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का परम निर्देशन है। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि की गई है कि भगवान् के निर्देशन में ही प्रकृति का नियम सम्पन्न होता है। अतएव जब भी विश्व में शान्ति रहती है, तो इसे भगवान् की सदिच्छा समझा जाता है और जब विश्व में उत्पात मचता है, तब भी भगवान् की परम इच्छा रहती है। भगवान् की इच्छा के बिना एक पत्ती भी नहीं हिलती। अतएव जब-जब भगवान् द्वारा स्थापित नियमों का उल्लंघन होता है तब-तब मनुष्यों तथा राष्ट्रों के बीच युद्ध होता है। अतएव शान्ति का निश्चित मार्ग यही है कि भगवान् के द्वारा स्थापित नियमों का पालन किया जाय। स्थापित नियम यह है कि हम जो भी करें, जो भी खायें, जो भी यज्ञ करें या जो भी दान दें, वह भगवान् की पूर्ण तुष्टि के निमित्त किया जाए। भगवान् की

इच्छा के विरुद्ध न तो कुछ किया जाय, न खाया जाय, न यज्ञ किया जाय और न दान दिया जाय। हमें विवेक से उन कार्यों में, जिनसे भगवान् प्रसन्न होते हैं तथा वे कार्य जिनसे भगवान् रुष्ट होते हैं, अन्तर करना सीखना चाहिए। इसी तरह किसी कर्म का निर्णय भगवान् की प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता से किया जाता है। इसमें वैयक्तिक स्वेच्छाचारिताओं के लिए कोई स्थान नहीं रहता; हमें सदैव भगवान् की इच्छा के अनुसार चलना चाहिए। ऐसा कर्म *योग: कर्मसु कौशलम्* कहलाते हैं अर्थात् किए गए कर्म जो भगवान् से संबद्ध होते हैं। यही है किसी वस्तु को ठीक से सम्पन्न करने की कला।

जलौकसां जले यद्वन्महान्तोऽदन्त्यणीयस: ।
दुर्बलान्बलिनो राजन्महान्तो बलिनो मिथ: ॥ २५ ॥
एवं बलिष्ठैर्यदुभिर्महद्भिरितरान् विभु: ।
यदून्यदुभिरन्योन्यं भूभारान् सञ्जहार ह ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

जलौकसाम्—जलचरों का; जले—जल में; यद्वत्—जिस तरह; महान्त:—बड़ा प्राणी; अदन्ति—निगल जाते हैं; अणीयस:—छोटा प्राणी; दुर्बलान्—दुर्बल को; बलिन:—बलवान; राजन्—हे राजन्; महान्त:—सबसे बलवान; बलिन:—कम बली; मिथ:—द्वन्द्व में; एवम्—इस तरह; बलिष्ठै:—सर्वाधिक बलवान द्वारा; यदुभि:—यदुवंशियों द्वारा; महद्भि:—सर्वाधिक शक्तिशाली; इतरान्—सामान्य लोग; विभु:—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्; यदून्—सारे यदुवंशियों; यदुभि:—यदुओं द्वारा; अन्योन्यम्—परस्पर; भू-भारान्—धरती का भार; सञ्जहार—उतार दिया; ह—भूतकाल में।

हे राजन्, जिस तरह समुद्र में बड़े तथा बलशाली जलचर, छोटे-मोटे तथा निर्बल जलचरों को निगल जाते हैं, उसी तरह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने भी धरती का भार हलका करने के लिए, निर्बल यदु को मारने के लिए बलशाली यदु को और छोटे यदु को मारने के लिए बड़े यदु को भिड़ा दिया है।

तात्पर्य : भौतिक जगत का नियम है—जीवन टिकाए रखने के लिए संघर्ष एवं योग्यतम का बचे रहना—क्योंकि भौतिक जगत में बद्धजीवों के मध्य असमानता है, जो भौतिक साधनों पर प्रभुता जताने की इच्छा के कारण है। भौतिक प्रकृति पर प्रभुता जताने की यही प्रवृत्ति बद्ध जीवन का मूल कारण है। ऐसे बनावटी प्रभुओं की सुविधा के लिए ही भगवान् की भ्रामक शक्ति ने बद्धजीवों में प्रत्येक योनि के अन्तर्गत सबल तथा निर्बल की सृष्टि करके अन्तर उत्पन्न कर दिया है। भौतिक प्रकृति तथा सृष्टि पर प्रभुता जताने से ही असमानता की सृष्टि हुई और इसीसे जीवन-संघर्ष का नियम आया। आध्यात्मिक

जगत में न तो ऐसी असमानता होती है, न ऐसा जीवन-संघर्ष होता है। आध्यात्मिक जगत में जीवन-संघर्ष इसलिए नहीं रहता, क्योंकि वहाँ प्रत्येक व्यक्ति का अस्तित्व शाश्वत है। वहाँ असमानता इसलिए नहीं रहती, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति परमेश्वर की सेवा करना चाहता है और कोई भी खुद लाभ लेने के लिए भगवान् बनने की नकल नहीं करता। भगवान् हर वस्तु के, यहाँ तक कि जीवों के भी स्रष्टा होने के कारण प्रत्येक वस्तु के भोक्ता हैं, लेकिन भौतिक जगत में माया के जादू से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के साथ का यह नित्य सम्बन्ध भुला दिया जाता है। अतएव जीव 'जीवन टिकाए रखने के लिए संघर्ष' तथा 'योग्यतम का बचे रहना' नियमों के द्वारा बद्ध हो जाता है।

देशकालार्थयुक्तानि हृत्तापोपशमानि च ।
हरन्ति स्मरतश्चित्तं गोविन्दाभिहितानि मे ॥ २७॥

शब्दार्थ

देश—अवकाश; काल—समय; अर्थ—महत्ता; युक्तानि—से युक्त; हृत्—हृदय; ताप—जलन; उपशमानि—बुझाना; च—तथा; हरन्ति—आकर्षित कर रहे हैं; स्मरतः—स्मरण करने से; चित्तम्—मन को; गोविन्द—हर्ष के परम पुरुष; अभिहितानि—के द्वारा कहा गया; मे—मुझको।.

अब मैं भगवान् (गोविन्द) द्वारा मुझे दिये गये उपदेशों की ओर आकृष्ट हूँ, क्योंकि वे देश-काल की समस्त परिस्थितियों में हृदय की जलन को शान्त करनेवाले आदेशों से परिपूर्ण बनाए गये हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर अर्जुन का संकेत *भगवद्गीता* के उपदेश की ओर है, जिसे भगवान् ने कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल पर प्रदान किया था। भगवान् के द्वारा दिये गये *भगवद्गीता* के उपदेश न केवल अर्जुन के लाभ के लिए थे, अपितु समस्त देशों तथा समस्त काल के लिए हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा कही गयी *भगवद्गीता* समस्त वैदिक वाङ्मय का सार है। जिन लोगों के पास *उपनिषद्, पुराण* तथा *वेदान्त-सूत्र* सरीखे विशाल वैदिक ग्रंथों को पढ़ने के लिए समय नहीं है, उनके लिए स्वयं भगवान् ने यह ग्रंथ सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। यह ग्रंथ महान् पौराणिक महाकाव्य *महाभारत* के अन्तर्गत आता है, जिसे विशेष रूप से कम बुद्धिमान श्रेणी के लोगों के लिए, यथा स्त्रियों, श्रमिकों तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और उच्चवर्गीय वैश्यों की अयोग्य सन्तानों के लिए तैयार किया गया था। अर्जुन के मन में कुरुक्षेत्र के युद्ध-स्थल में जो समस्या उठी थी, वह *भगवद्गीता* की शिक्षाओं से हल हो गई थी। अब, जबकि भगवान्

पृथ्वी के लोगों की दृष्टि से ओझल हो चुके थे और अर्जुन अपने पराक्रम तथा प्राधान्य को खोने जा रहा था, तो उसने पुन: *भगवद्गीता* की महान् शिक्षाओं का स्मरण करना चाहा, क्योंकि वह लोगों को शिक्षा देना चाह रहा था कि न केवल समस्त प्रकार के मानसिक क्लेशों में सान्त्वना दिलाने के लिए, अपितु संकट उपस्थित होने पर बड़ी-बड़ी कठिनाइयों से निकलने के लिए *भगवद्गीता* से निराकरण किया जा सकता है।

कृपासिन्धु भगवान् अपने पीछे *भगवद्गीता* की महान् शिक्षाएँ इसीलिए छोड़ते गये, जिससे मनुष्य भगवान् के भौतिक दृष्टि से अदृश्य होने पर भी उनकी शिक्षाओं को ग्रहण कर सके। भौतिक इन्द्रियों से परमेश्वर का अनुमान कोई नहीं लगा सकता, लेकिन भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्ति से पदार्थ के माध्यम से बद्धजीवों की इन्द्रियों द्वारा अनुभूति किये जाने के लिए अवतार ले सकते हैं, क्योंकि पदार्थ भी भगवान् की प्रकट शक्ति का दूसरा रूप है। इस तरह *भगवद्गीता* या भगवान् की कोई भी प्रामाणिक शास्त्रीय शब्द-अभिव्यक्ति भी भगवान् का अवतार है। भगवान् की ध्वनि-अभिव्यक्ति में और स्वयं भगवान् में कोई अन्तर नहीं है। कोई भी मनुष्य *भगवद्गीता* से वही लाभ उठा सकता है, जो अर्जुन ने भगवान् की व्यक्तिगत उपस्थिति में उठाया था।

कोई भी श्रद्धालु मनुष्य जो भव-बन्धन से मुक्त होने का इच्छुक रहता है, वह *भगवद्गीता* से बहुत आसानी से लाभ उठा सकता है। इसी दृष्टि से भगवान् ने अर्जुन को उपदेश दिया मानो उसे इसकी आवश्यकता थी। *भगवद्गीता* में पाँच महत्त्वपूर्ण ज्ञान की बातें खोज निकाली गई, हैं जिनका सम्बन्ध (१) परमेश्वर (२) जीव (३) प्रकृति (४) देश और काल तथा (५) कर्म-विधान से है। इनमें से परमेश्वर तथा जीव गुणात्मक रूप से एक हैं। दोनों का अन्तर पूर्ण तथा उसके अंश के अन्तर-जैसा है। प्रकृति जड़ पदार्थ है, जिसमें तीन विभिन्न गुणों की अन्त:क्रिया होती रहती है और शाश्वत समय तथा असीम अवकाश भौतिक प्रकृति के जगत के परे माने जाते हैं। जीव के कार्यकलाप विभिन्न प्रकार की मनोवृतियाँ हैं, जो जीव को प्रकृति के भीतर तथा बाहर जकड़ सकती हैं या मुक्त कर सकती हैं। इन सभी विषयों की संक्षिप्त व्याख्या *भगवद्गीता* में हुई है और इसके आगे प्रबुद्ध करने के लिए *श्रीमद्भागवत* में भी उनका विस्तार किया गया है। इन पाँच विषयों में से परमेश्वर, जीव, प्रकृति तथा देश-काल शाश्वत हैं, लेकिन इनमें से जीव, प्रकृति तथा काल परमेश्वर के नियंत्रण में रहते हैं, जो स्वयं

परम तथा किसी अन्य नियंत्रण से पूरी तरह स्वतंत्र होते हैं। परमेश्वर परम नियन्ता हैं। जीव की भौतिक गतिविधि अनादि है, लेकिन इसे आध्यात्मिक गुण में स्थानान्तरित करके ठीक किया जा सकता है। इस तरह यह भौतिक गुणात्मक प्रतिक्रियाओं में नहीं रह जाती। भगवान् तथा जीव दोनों प्रबुद्ध हैं और उनकी पहचान जीवित शक्ति के रूप में होती है; लेकिन प्रकृति की अवस्था, जिसे *महत् तत्त्व* कहते हैं, उसके अन्तर्गत जीव अपनी गलत से पहचान करता है कि वह भगवान् से भिन्न है। वैदिक वाङ्मय की पूरी योजना ऐसी भ्रान्त धारणा को निर्मूल करने के निमित्त है और इस तरह जीव को भौतिक पहचान के भ्रम (मोह) से मुक्त करती है। जब यह भ्रम (मोह) ज्ञान तथा वैराग्य से समूल नष्ट हो जाता है, तो जीव कर्ता तथा भोक्ता दोनों का उत्तरदायित्व सँभालता है। भगवान् में भोग की भावना वास्तविक है, लेकिन जीव में ऐसी भावना मात्र मनचाही इच्छा है। भावना का यह अन्तर ही दो स्वरूपों का—भगवान् तथा जीव का—अन्तर है। अन्यथा भगवान् और जीव में कोई अन्तर नहीं होता। अत: जीव सदैव एकसाथ एक तथा भिन्न होता है। *भगवद्गीता* का सारा उपदेश एकमात्र इसी सिद्धान्त पर आधारित है।

भगवद्गीता में भगवान् तथा जीव दोनों को सनातन कहा गया है और भगवान् का धाम, जो भौतिक आकाश से बहुत दूर है, उसे भी सनातन बताया गया है। जीव को भगवान् के सनातन जगत में रहने के लिए आमंत्रित किया जाता है और जहाँ आत्मा की मुक्त क्रियाशीलता प्रकट होती है, उस भगवान् के धाम में पहुँचने की विधि को सनातन धर्म कहा जाता है। किन्तु भौतिक पहचान की भ्रान्त धारणा से मुक्त हुए बिना कोई भगवद्-धाम नहीं पहुँच सकता। *भगवद्गीता* हमें सिद्धि की इस अवस्था को प्राप्त करने के सूत्र उपलब्ध करती है। भौतिक पहचान की भ्रान्त धारणा से मुक्त होने की विधि अलग-अलग अवस्थाओं में सकाम कर्म से लेकर, अनुभवसिद्ध दर्शन, भक्तिमय सेवा तथा दिव्य अनुभूति कहलाती है। ऐसी दिव्य अनुभूति तभी सम्भव है, जब उपर्युक्त सारी बातें भगवान् के साथ जोड़ दी जाँय। वेदों द्वारा निर्दिष्ट मनुष्यों के कर्तव्य धीरे-धीरे बद्धजीव के पापी मन को धीरे-धीरे शुद्ध कर सकते हैं और उसे ज्ञान की अवस्था तक ले जाते हैं। ज्ञान प्राप्त करने की शुद्ध अवस्था भगवान् की भक्तिमय सेवा का आधार बनती है। जब तक मनुष्य जीवन की समस्याओं का हल ढूँढ़ता रहता है, तब तक उसकी जानकारी ज्ञान या शुद्ध ज्ञान कहलाती है, किन्तु जीवन के वास्तविक हल की अनुभूति होने

पर, मनुष्य भगवान् की भक्तिमय सेवा में लग जाता है। *भगवद्गीता* का शुभारम्भ जीवन की समस्याओं से होता है, जिसमें पदार्थ के तत्त्वों को आत्मा से अलग करके देखा जाता है और हर तर्क से यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा सभी परिस्थितियों में अविनाशी है और पदार्थ का बाह्य आवरण, मन तथा शरीर परिवर्तित होकर फिर से इस संसार में आते हैं, जो दुखों से भरा हुआ होता है। अतएव *भगवद्गीता* विभिन्न प्रकार के कष्टों को समाप्त करने के लिए है और अर्जुन ने इस महान् ज्ञान का आश्रय लिया, जो उन्हें कुरुक्षेत्र के युद्ध में प्रदान किया जा चुका था।

सूत उवाच
एवं चिन्तयतो जिष्णोः कृष्णपादसरोरुहम् ।
सौहार्देनातिगाढेन शान्तासीद्विमला मतिः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; चिन्तयतः—उपदेशों का चिन्तन करते हुए; जिष्णोः—भगवान् के; कृष्ण-पाद—कृष्ण के चरण; सरोरुहम्—कमलों की तरह के; सौहार्देन—घनिष्ठ मित्रता से; अति-गाढेन—अत्यधिक घनिष्ठता में; शान्ता—शान्त; आसीत्—हो गया; विमला—किसी भौतिक कल्मष का रंच भी नहीं; मतिः—मन।

सूत गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार भगवान् के उपदेश, जो अत्यधिक घनिष्ठ मित्रता में प्रदान किये गये थे उसके विषय में सोचने में तथा उनके चरणकमलों का चिन्तन करने में तल्लीन अर्जुन का मन शान्त और समस्त भौतिक कल्मष से रहित हो गया।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् परम पूर्ण हैं, अतएव उनका गहन ध्यान यौगिक समाधि के समान ही है। भगवान् अपने नाम, रूप, गुण, लीलाओं, पार्षदों तथा विशिष्ट कर्मों से अभिन्न हैं। अर्जुन भगवान् कृष्ण द्वारा कुरुक्षेत्र के युद्ध-स्थल में उसे दिये गये उपदेशों का चिन्तन करने लगा। उन्हीं उपदेशों से अर्जुन के मन का भौतिक कल्मष नष्ट होने लगा। भगवान् सूर्य के समान हैं। सूर्योदय का अर्थ है अंधकार या अज्ञान का तत्काल दूर होना और भक्त के मन में भगवान् के प्राकट्य से तुरन्त ही कष्टप्रद भौतिक प्रभाव दूर हो जाते हैं। अतएव संसार के समस्त कल्मष से सुरक्षा के लिए भगवान् चैतन्य ने भगवान् के नाम का निरन्तर कीर्तन करने के लिए संस्तुति की है। निस्सन्देह, भक्त के लिए भगवान् का वियोग कष्टप्रद होता है। लेकिन इसका सम्बन्ध भगवान् से है, अतएव इसका विशेष दिव्य प्रभाव पड़ता है, जो

हृदय को शान्त बनाता है। वियोग की अनुभूति दिव्य आनन्द का स्रोत भी बनती है और इसकी तुलना कभी भी कलुषित भौतिक वियोग से नहीं की जा सकती।

वासुदेवाङ्घ्र्यनुध्यानपरिबृंहितरंहसा ।
भक्त्या निर्मथिताशेषकषायधिषणोऽर्जुनः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

वासुदेव-अङ्घ्रि—भगवान् के चरणकमल; अनुध्यान—निरन्तर स्मरण करने से; परिबृंहित—विस्तीर्ण; रंहसा—अत्यन्त वेग से; भक्त्या—भक्ति से; निर्मथित—शान्त हुआ; अशेष—असीम; कषाय—प्रहार; धिषणः—धारणा; अर्जुनः—अर्जुन।

अर्जुन द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों का निरन्तर स्मरण किये जाने से उसकी भक्ति तेजी से बढ़ गई, जिसके फलस्वरूप उसके विचारों का सारा मैल दूर हो गया।

तात्पर्य : मन की भौतिक इच्छाएँ भौतिक कल्मष के कूड़ा-करकट के समान हैं। ऐसे कल्मष से जीव को अनेक ग्राह्य तथा अग्राह्य वस्तुओं का सामना करना होता है, जो आध्यात्मिक स्वरूप के अस्तित्व को ही हतोत्साहित कर देती है। बद्धजीव जन्म-जन्मांतर तक अनेक रुचिकर तथा अरुचिकर तत्त्वों में फँसा रहता है, जो मिथ्या तथा क्षणिक होते हैं। वे हमारी भौतिक इच्छाओं की प्रतिक्रियास्वरूप एकत्र होते रहते हैं, किन्तु जब हम भक्तिमय सेवा के द्वारा दिव्य भगवान् की विभिन्न शक्तियों के सम्पर्क में आते हैं, तो सारी इच्छाओं के नग्न रूप प्रकट होते हैं और जीव की बुद्धि सही अर्थ में शान्त हो जाती है। ज्योंही अर्जुन ने *भगवद्गीता* में दिये गये उपदेशों की ओर अपना ध्यान मोड़ा, त्योंही भगवान् के साथ नित्य संगति का असली रंग प्रकट हुआ और इस तरह उसे सारे भौतिक कल्मषों से मुक्ति का आभास हुआ।

गीतं भगवता ज्ञानं यत् तत् सङ्ग्राममूर्धनि ।
कालकर्मतमोरुद्धं पुनरध्यगमत् प्रभुः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

गीतम्—उपदिष्ट; भगवता—भगवान् द्वारा; ज्ञानम्—दिव्य ज्ञान; यत्—जो; तत्—वह; सङ्ग्राम-मूर्धनि—युद्ध के बीच में; काल-कर्म—समय तथा कर्म; तमः-रुद्धम्—ऐसे अंधकार से घिरा; पुनः अध्यगमत्—पुनः स्मरण हो आया; प्रभुः—अपनी इन्द्रियों का स्वामी।

भगवान् की लीलाओं तथा कार्यकलापों के कारण तथा उनकी अनुपस्थिति से ऐसा लगा कि अर्जुन भगवान् द्वारा दिये गये उपदेशों को भूल गया हो। लेकिन, वास्तव में बात ऐसी न थी और वह पुनः अपनी इन्द्रियों का स्वामी बन गया।

तात्पर्य : बद्धजीव शाश्वतकाल के प्रभाव से अपने सकाम कर्मों में लिपटा हुआ रहता है। किन्तु जब परमेश्वर इस पृथ्वी पर अवतरित होते हैं, तो वे काल द्वारा—भूत, वर्तमान तथा भविष्य की भौतिक धारणा द्वारा—प्रभावित नहीं होते। भगवान् के कार्यकलाप शाश्वत हैं और वे उनकी *आत्म-माया* या अन्तरंगा शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। भगवान् की सारी लीलाएँ या कार्यकलाप आध्यात्मिक हैं, किन्तु अबूझ लोगों को ये भौतिक कार्यकलापों जैसे दिखते हैं। ऐसा लगता है कि अर्जुन तथा भगवान् कृष्ण दूसरे पक्ष की ही तरह युद्ध में लगे थे, किन्तु वास्तव में भगवान् अपने अवतार के उद्देश्य को तथा अपने शाश्वत सखा अर्जुन की संगति को पूरा कर रहे थे। अतएव ऊपर से भौतिक लगनेवाले अर्जुन के ये कार्यकलाप उसे उसकी दिव्य स्थिति से दूर नहीं ले गये, अपितु इसके विपरीत उसे *भगवद्गीता* की उसकी चेतना का पुनःस्मरण दिलाया जैसे भगवान् ने उसे स्वयं सुनाया था। चेतना की इस पुनः जागृति का आश्वासन भगवान् ने *भगवद्गीता* (१८.६५) में इस प्रकार दिया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

मनुष्य को चाहिए कि वह निरन्तर भगवान् का चिन्तन करे; मन से उन्हें भूले नहीं। मनुष्य को भगवद्भक्त बनकर उनको नमस्कार करना चाहिए। जो इस तरह रहता है, उसे भगवान् के चरणकमलों में शरण प्राप्त होने पर भगवान् का आशीष प्राप्त होता है। इस चिरन्तन सत्य के विषय में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। चूँकि अर्जुन उनका विश्वासपात्र तथा मित्र था, अतएव उससे यह रहस्य प्रकट किया गया।

अर्जुन को अपने सम्बन्धियों से युद्ध करने की कोई इच्छा नही थी, लेकिन उसने भगवान् के ध्येय के कारण युद्ध किया। वह सदा उनके ध्येय की ही पूर्ति में लगा रहा, अतएव भगवान् के प्रयाण के बाद वह उसी दिव्य स्थिति में रहा, यद्यपि ऐसा लग रहा था कि वह *भगवद्गीता* के सारे उपेदशों को भूल गया है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन के कार्यकलापों और भगवान् के ध्येय में

तालमेल पैदा करे। ऐसा करने से उसका भगवद्धाम लौटना निश्चित है। यही जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है।

विशोको ब्रह्मसम्पत्त्या सञ्छिन्नद्वैतसंशयः ।
लीनप्रकृतिनैर्गुण्यादलिङ्गत्वादसम्भवः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

विशोकः—शोक से रहित; ब्रह्म-सम्पत्त्या—आध्यात्मिक सम्पत्ति के अधिकारी होने से; सञ्छिन्न—पूर्ण रूप से कटकर; द्वैत-संशयः—द्वैत के संशय से; लीन—संलग्न; प्रकृति—भौतिक प्रकृति; नैर्गुण्यात्—अध्यात्म में रहने से; अलिङ्गत्वात्—भौतिक शरीर से विहीन होने के कारण; असम्भवः—जन्म तथा मृत्यु से मुक्त।

आध्यात्मिक सम्पत्ति से युक्त होने के कारण उसके द्वैत के संशय पूर्ण रूप से छिन्न हो गये। इस तरह वह भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों से मुक्त होकर अध्यात्म में स्थित हो गया। अब जन्म तथा मृत्यु के पाश में उसके फँसने की कोई आशंका न थी, क्योंकि वह भौतिक रूप से मुक्त हो चुका था।

तात्पर्य : द्वैत के संशय देहात्म-बुद्धि की गलत धारणा से प्रारम्भ होते हैं, क्योंकि अल्पज्ञ लोग शरीर को ही आत्मा मान लेते हैं। हमारी अज्ञानता का सबसे मूर्खतापूर्ण अंश यह है कि हम इस भौतिक शरीर को ही आत्मा के रुप में पहचानने लगते हैं। अज्ञानवश, शरीर से सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु को अपनी निजी मान लिया जाता है। "मैं और मेरा" की भ्रान्तधारणा से उत्पन्न संशय—दूसरे शब्दों में, "मेरा शरीर," "मेरे सम्बन्धी," "मेरी सम्पत्ति," "मेरी पत्नी," "मेरी सन्तान," "मेरा धन," "मेरा देश," "मेरा समाज" तथा इस प्रकार के सैकड़ों-हजारों भ्रामक विचार बद्धजीव के लिए मोह उत्पन्न करनेवाले होते हैं। किन्तु *भगवद्गीता* के उपदेशों को आत्मसात् करने से मनुष्य निश्चित रूप से ऐसे मोह से छुटकारा पा सकता है, क्योंकि वास्तविक ज्ञान यह जान लेना है कि भगवान् वासुदेव या भगवान् कृष्ण ही सब कुछ हैं, जिसमें अपना आत्मा भी सम्मिलित है। प्रत्येक वस्तु उनकी शक्ति की आंशिक अभिव्यक्ति है। शक्ति तथा शक्तिमान अभिन्न हैं, अतएव पूर्ण ज्ञान के प्राप्त होते ही द्वैत का भाव समाप्त हो जाता है। ज्योंही अर्जुन ने *भगवद्गीता* के उपदेशों को ग्रहण किया, जिसमें वह दक्ष था, त्योंही उसके शाश्वत-सखा भगवान् कृष्ण के सम्बन्ध में उसका भौतिक बोध मिट गया। उसे यह अनुभव हुआ कि भगवान् अपने उपदेश के द्वारा अपने रूप, लीलाओं, गुणों इत्यादि के द्वारा अब भी

उसके समक्ष उपस्थित हैं। वह अनुभव कर सका कि उसके मित्र भगवान् कृष्ण विभिन्न अद्वैत शक्तियों में अपनी दिव्य उपस्थिति के कारण अब भी उसके समक्ष उपस्थित थे और देश-काल के प्रभाव के अन्तर्गत शरीर के अन्य परिवर्तन के द्वारा भगवान् की संगति को प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं था। परम ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य इसी जीवन में भी भगवान् की निरन्तर संगति में रह सकता है, यदि वह केवल परमेश्वर का श्रवण, कीर्तन, चिन्तन तथा पूजन करे। इसी जीवन में मनुष्य उन्हें देख सकता है, उनकी उपस्थिति का अनुभव कर सकता है यदि वह केवल भक्तियोग द्वारा, जो कि उनका श्रवण करने से प्रारम्भ होता है, *अद्वयज्ञान* भगवान् को जान ले। भगवान् चैतन्य कहते हैं कि केवल भगवन्नाम-कीर्तन से ही शुद्ध चेतना के दर्पण की धूल को हटाया जा सकता है और इस धूल के हटते ही मनुष्य तत्काल समस्त भौतिक बन्धनों से छूट जाता है। भौतिक बन्धनों से मुक्त होने का अर्थ है, आत्मा को मुक्त करना। अतएव ज्योंही मनुष्य परम ज्ञान में स्थित होता है, त्योंही उसकी देहात्मबुद्धि दूर हो जाती है या वह जीवन के मिथ्याबोध से उबर जाता है। इस प्रकार आध्यात्मिक अनुभूति में शुद्ध आत्मा का कार्य फिर से चालू हो जाता है। जीव की यह व्यावहारिक अनुभूति, प्रकृति के तीनों गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुणों से उसके मुक्त होने पर सम्भव हो पाती है। भगवत्कृपा से शुद्ध भक्त तुरन्त भगवद्धाम को चला जाता है और भक्त की पुनः बद्ध जीवन में फँसने की कोई संभावना नहीं रह जाती। जब तक मनुष्य में प्रामाणिक शास्त्रों द्वारा नियत की गई भक्तिमय सेवा के द्वारा आवश्यक आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक उसे भगवान् की उपस्थिति का अनुभव नहीं हो पाता। अर्जुन को यह अवस्था कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में बहुत ही पहले प्राप्त हो चुकी थी, अतएव ज्योंही उसे भगवान् की अनुपस्थिति का अनुभव हुआ कि तुरन्त ही उसने *भगवद्गीता* के उपदेशों का आश्रय लिया की और इस तरह वह अपनी मूल स्थिति को फिर से प्राप्त हो सका। यह *विशोक* की अवस्था अर्थात् समस्त शोक तथा चिन्ता से मुक्त होने की अवस्था है।

निशम्य भगवन्मार्गं संस्थां यदुकुलस्य च ।
स्व:पथाय मतिं चक्रे निभृतात्मा युधिष्ठिरः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—कहकर; भगवत्—भगवान् के विषय में; मार्गम्—भगवान् के प्रकट तथा अप्रकट होने के रास्ते; संस्थाम्—अन्त; यदु-कुलस्य—राजा यदु के वंश का; च—भी; स्वः—भगवान् का धाम; पथाय—रास्ते में; मतिम्—इच्छा; चक्रे—ध्यान दिया; निभृत-आत्मा—अकेले, एकान्त; युधिष्ठिरः—राजा युधिष्ठिर ने।

भगवान् कृष्ण के स्वधाम गमन को सुनकर तथा यदुवंश के पृथ्वी के अस्तित्व का अन्त समझकर, महाराज युधिष्ठिर ने भगवद्धाम जाने का निश्चय किया।

तात्पर्य : इस संसार के लोगों की दृष्टि से भगवान् के दूर चले जाने की खबर सुनकर, महाराज युधिष्ठिर ने भी अपना ध्यान *भगवद्गीता* के उपदेशों की ओर मोड़ा। वे भगवान् के प्राकट्य तथा प्रयाण की विधि के विषय में सोचने लगे। इस मर्त्य ब्रह्माण्ड में भगवान् के प्रकट होने तथा उनके अन्तर्धान होने का उद्देश्य पूर्ण रूप से भगवान् की परम इच्छा पर निर्भर करता है। वे किसी उच्चतर शक्ति द्वारा प्रकट या अप्रकट होने केक लिए बाध्य नहीं हैं, जिस प्रकार जीव भौतिक प्रकृति के नियमों द्वारा प्रकट या अप्रकट होने के लिए बाध्य होते हैं। जब भी भगवान् चाहते हैं, वे कहीं भी और सर्वत्र प्रकट हो सकते हैं। इससे किसी अन्य स्थान पर उनके प्राकट्य तथा तिरोधान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे सूर्य के समान हैं। सूर्य स्वेच्छा से किसी स्थान पर उदय और अस्त होता है, किन्तु इससे अन्य स्थानों पर उसकी उपस्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सूर्य पश्चिम गोलार्ध में अस्त हुए बिना भारत में प्रात:काल उदय होता है। सूर्य पूरे सौर मण्डल में सर्वत्र उपस्थित रहता है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि किसी एक स्थान में सूर्य निश्चित समय पर प्रात: उदय होता है और शाम को निश्चित समय पर अस्त होता है। जब सूर्य के लिए समय की सीमा कोई अर्थ नहीं रखती, तो फिर परमेश्वर के विषय में क्या कहा जाय, जो सूर्य के भी स्रष्टा तथा नियामक हैं। अतएव *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जो कोई भगवान् की अचिन्त्य शक्ति के द्वारा उनके दिव्य प्राकट्य तथा तिरोधान को वास्तव में समझ लेता है, वह जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है और चिन्म्य आकाश में स्थित हो जाता है, जहाँ पर वैकुण्ठ के ग्रह हैं। वहाँ पर ऐसे मुक्त व्यक्ति जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के भय से रहित होकर शाश्वत रूप से रह सकते हैं। आध्यात्मिक आकाश में भगवान् तथा उनकी दिव्य प्रेममयी सेवा में निरन्तर लगे रहनेवाले सारे लोग सदैव तरुण बने रहते हैं, क्योंकि वहाँ न बुढ़ापा है, न रोग और न मृत्यु। चूँकि वहाँ मृत्यु नहीं होती, अतएव वहाँ जन्म भी नहीं होता। इसलिए निष्कर्ष यह निकलता है कि एकमात्र भगवान् के प्राकट्य तथा तिरोधान को समझ लेने पर मनुष्य जीवन की सिद्ध-अवस्था प्राप्त कर सकता है। अतएव

महाराज युधिष्ठिर भी भगवद्धाम वापस जाने के विषय में सोचने लगे। भगवान् पृथ्वी पर या अन्य किसी लोक में अपने पार्षदों के साथ प्रकट होते हैं, जो उनके साथ नित्य निवास करते हैं और यदुवंश के सारे सदस्य जो भगवान् की लीलाओं में सहायक बने रहे, उनके पार्षद ही थे। उसी तरह महाराज युधिष्ठिर, उनके भाई तथा उनकी माता इत्यादि भी उनके नित्य पार्षद ही थे। चूँकि भगवान् तथा उनके पार्षदों का प्राकट्य तथा तिरोधान दिव्य होता है, अतएव प्राकट्य तथा तिरोधान के बाह्य लक्षणों से किसी को मोहग्रस्त नहीं होना चाहिए।

पृथाप्यनुश्रुत्य धनञ्जयोदितं
नाशं यदूनां भगवद्गतिं च ताम् ।
एकान्तभक्त्या भगवत्यधोक्षजे
निवेशितात्मोपरराम संसृतेः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

पृथा—कुन्ती ने; अपि—भी; अनुश्रुत्य—सुनकर; धनञ्जय—अर्जुन द्वारा; उदितम्—कथित; नाशम्—अन्त; यदूनाम्—यदुवंश का; भगवत्—भगवान् का; गतिम्—तिरोधान; च—भी; ताम्—उन सबको; एक-अन्त—अनन्य; भक्त्या—भक्ति से; भगवति—भगवान् श्रीकृष्ण में; अधोक्षजे—अध्यात्म में; निवेशित-आत्मा—पूर्ण मनोयोग से; उपरराम—मुक्त हो गयी; संसृतेः—भौतिक अस्तित्व से।

अर्जुन द्वारा यदुवंश के नाश तथा भगवान् कृष्ण के अन्तर्धान होने की बात सुनकर, कुन्ती ने पूर्ण मनोयोग से दिव्य भगवान् की भक्ति में अपने को लगा दिया और इस तरह संसार के आवागमन से मोक्ष प्राप्त किया।

तात्पर्य : सूर्य के अस्त होने का यह अर्थ नहीं होता कि सूर्य का अन्त हो गया है। इसका अर्थ यह है कि सूर्य हमारी दृष्टि से ओझल हो गया है। इसी प्रकार किसी विशेष लोक या ब्रह्माण्ड में भगवान् के कार्य के अन्त का अर्थ केवल इतना ही होता है कि वे हमारी दृष्टि से ओझल हो गये हैं। युदवंश के अन्त का यह भी अर्थ नहीं है कि उसका विनाश हो गया। वह भगवान् के साथ हमारी दृष्टि से अप्रकट हो जाता है। जिस तरह महाराज युधिष्ठिर ने भगवद्धाम जाने का निश्चय कर लिया, उसी तरह कुन्ती ने भी किया। अतएव वे भगवान् की दिव्य भक्ति में लग गईं, जिसमें वर्तमान भौतिक इस शरीर को त्यागने के बाद भगवद्धाम जाने के लिए प्रवेश-पत्र निश्चित हो सके। भगवान् की भक्ति का शुभारम्भ इस देह के आध्यात्मिकीकरण की शुरुआत है और इस तरह भगवान् के अनन्य भक्त का इस देह से सारा

भौतिक सम्पर्क छूट जाता है। भगवद्धाम कोई कपोल-कल्पना नहीं है, जैसाकि नास्तिक या अज्ञानी लोग सोचते हैं। लेकिन वहाँ तक स्पुतनिक या अन्तरिक्ष-यान जैसे किसी भौतिक साधन द्वारा पहुँचा नहीं जा सकता। लेकिन इस शरीर को त्यागने के बाद अवश्य ही वहाँ पहुँचा जा सकता है और मनुष्य को चाहिए कि भक्तिमय सेवा के अभ्यास से वह भगवद्धाम वापस जाने की तैयारी करे। यह भगवद्धाम जाने के लिए प्रवेश पत्र का कार्य करती है और कुन्ती ने यही किया।

ययाहरद् भुवो भारं तां तनुं विजहावजः ।
कण्टकं कण्टकेनेव द्वयं चापीशितुः समम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

यया—जिससे; अहरत्—छीन लिया; भुवः—संसार का; भारम्—भार, बोझा; ताम्—उस; तनुम्—शरीर को; विजहौ—त्याग दिया; अजः—अजन्मा ने; कण्टकम्—काँटे को; कण्टकेन—काँटे से; इव—सदृश; द्वयम्—दोनों; च—भी; अपि—यद्यपि; ईशितुः—नियंत्रण करते हुए; समम्—समान।

सर्वोपरि अजन्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने यदुवंश के सदस्यों से अपना-अपना शरीर त्याग करवा दिया और इस तरह उन्होंने पृथ्वी के भार को उतारा। यह कार्य काँटे को काँटे से निकालने जैसा था, यद्यपि नियन्ता के लिए दोनों एक से हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बताते हैं कि शौनक तथा अन्य ऋषि जो नैमिषारण्य में सूत गोस्वामी से *श्रीमद्भागवत* सुन रहे थे, यदुओं के इस प्रकार मदोन्मत्त होकर मरने की बात सुनकर प्रसन्न नहीं थे। अतएव उनकी मनोव्यथा को दूर करने के लिए सूत गोस्वामी ने उन्हें विश्वास दिलाया कि भगवान् ने यदुवंश के सदस्यों से अपना शरीर त्याग करवा दिया, जिससे वे संसार के भार को हल्का कर सकें। भगवान् तथा उनके नित्य संगी इस धरा पर पृथ्वी का भार उतारने में प्रशासनिक देवताओं की सहायता करने के लिए प्रकट हुए थे। अतएव उन्होंने अपने कतिपय विश्वासपात्र देवताओं को यदुवंश में प्रकट होने और उन्हें अपने महान् उद्देश्य में सेवा करने के लिए बुलाया था। उद्देश्य पूरा हो जाने पर भगवान् की इच्छा से देवताओं ने मदोन्मत्त होकर परस्पर लड़भिड़ कर अपने भौतिक शरीर त्याग दिये। देवता *सोमरस* पीने के अभ्यस्त हैं, अतएव शराब तथा मादक द्रव्यों का सेवन उनसे अछूता नहीं है। कभी-कभी उन्हें उन्मत्तता के कारण कष्ट उठाने पड़े थे। एक बार मदोन्मत्त होने के कारण कुबेर के पुत्र नारद के शाप-भाजन बने, लेकिन बाद में भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से उन्हें असली रूप

प्राप्त हो सका। यह कथा दशम स्कंध में मिलेगी। परमेश्वर के लिए असुर तथा देवता (सुर) दोनों समान हैं, लेकिन देवता भगवान् के आज्ञाकारी हैं, किन्तु असुर नहीं हैं। अतएव काँटे से काँटा निकालने का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। एक काँटा जो भगवान् के पाँव में चुभता है, वह निश्चय ही उन्हें कष्टदायक है और दूसरा काँटा जो पीड़ादायक तत्त्वों को निकालता है, निश्चय ही भगवान् की सेवा करता है। यद्यपि प्रत्येक जीव भगवान् का अंश है, फिर भी जो भगवान् को चुभता है, वह असुर है और जो स्वेच्छा से सेवक है, वह देवता कहलाता है। भौतिक जगत में देवता तथा असुर सदा ही लड़ते रहते हैं और देवता सदा ही भगवान् द्वारा असुरों के हाथों से बचाये जाते हैं। ये दोनों ही भगवान् के नियंत्रण में रहते हैं। यह संसार दो प्रकार के जीवों से भरा हुआ है और भगवान् का उद्देश्य सदैव देवताओं की रक्षा करना तथा जब भी संसार में आवश्यकता होती है तब असुरों का विनाश करना है। इस तरह दोनों का कल्याण होता है।

यथा मत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद् यथा नटः ।
भूभारः क्षपितो येन जहौ तच्च कलेवरम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; मत्स्य-आदि—मत्स्य अवतार इत्यादि.; रूपाणि—स्वरूप; धत्ते—स्वीकार करते हैं; जह्यात्—ऊपर से छोड़ देते हैं; यथा—जिस तरह; नटः—नट, जादूगर; भू-भारः—संसार का भार; क्षपितः—उद्धार; येन—जिससे; जहौ—जाने दिया; तत्—उस; च—भी; कलेवरम्—शरीर को।

परमेश्वर ने जिस शरीर को पृथ्वी का भार कम करने के लिए प्रकट किया था, उसे उन्होंने छोड़ दिया। वे एक जादूगर के समान विभिन्न शरीरों को, यथा मत्स्य अवतार तथा अन्य अवतारों में धारण करने के लिए एक शरीर को छोड़ते हैं।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् न तो निर्विशेष हैं, न निराकार, किन्तु उनका शरीर उनसे अभिन्न है। अतएव वे शाश्वतता, ज्ञान तथा आनन्द के स्वरूप जाने जाते हैं। *बृहद् वैष्णव तंत्र* में स्पष्ट उल्लेख है कि जो कोई भगवान् कृष्ण के स्वरूप को भौतिक शक्ति से बना मानता है, उसे समाज से सभी प्रकार से अलग कर दिया जाना चाहिए और यदि संयोगवश कोई ऐसे अविश्वासी का मुँह देख ले, तो उसे वस्त्र-समेत नदी में कूद कर अपने को स्वच्छ करना चाहिए। भगवान् को *अमृत* या मृत्युरहित कहा जाता है, क्योंकि उनका कोई भौतिक शरीर नहीं होता। ऐसी परिस्थितियों में भगवान् का मरना या

शरीर त्याग करना एक जादूगर की जादूगरी जैसा है। जादूगर अपनी कलाबाजियों से दिखाता है कि उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं, वह जलकर राख हो गया है या सम्मोहन द्वारा बेहोश हो गया, लेकिन ये सब झूठे प्रदर्शन मात्र होते हैं। वास्तव में जादूगर का शरीर न तो खंड-खंड होता है, न जलकर राख होता है, न वह मृत होता है, न जादू प्रदर्शन की किसी भी अवस्था के समय वह बेहोश रहता है। इसी प्रकार भगवान् के भी अनन्त शाश्वत रूप हैं, जिनमें इस ब्रह्माण्ड में प्रदर्शित मत्स्य अवतार भी एक है। चूँकि ब्रह्माण्ड अनन्त हैं अतएव यह मत्स्य अवतार किसी न किसी ब्रह्माण्ड में अपनी लीलाएँ प्रदर्शित कर रहा होगा। इस श्लोक में विशिष्ट शब्द *धत्ते* प्रयुक्त है (जिसका अर्थ ''शाश्वत रूप से स्वीकृत'' है *धित्वा* ''विशेष अवसर के लिए स्वीकृत'' शब्द ठीक नहीं है)। भाव यह है कि भगवान् मत्स्य अवतार की सृष्टि नहीं करते, उनका यह रूप शाश्वत होता है और ऐसे अवतार के प्राकट्य से तथा अन्तर्धान होने से विशिष्ट प्रयोजनों की सिद्धि होती है। *भगवद्गीता* (७.२४-२५) में भगवान् कहते हैं, ''निर्विशेषवादी सोचते हैं कि मेरा कोई स्वरूप नहीं होता, मैं निराकार हूँ, लेकिन, चूँकि इस समय मैंने एक प्रयोजन पूरा करने के लिए स्वरूप स्वीकार किया है, अतएव मैं प्रकट हूँ। लेकिन ऐसे चिन्तक वास्तव में बुद्धिहीन होते हैं। भले ही वे वैदिक साहित्य के अच्छे विद्वान हों, लेकिन वे मेरी अचिन्त्य शक्तियों एवं मेरे शाश्वत स्वरूपों के प्रति एक तरह अनजान रहते हैं। इसका कारण यह है कि मैं अपने योग-आवरण से अभक्तों के समक्ष स्वयं को प्रकट न करने का अधिकार बनाए रखता हूँ। अतएव अल्पज्ञानी मूर्ख मेरे शाश्वत रूप से अनजान रहते हैं, जो कभी भी नष्ट नहीं होता और अजन्मा है।'' *पद्मपुराण* में यह कहा गया है कि जो भगवान् से ईर्ष्या करते हैं और सदैव उन पर क्रुद्ध रहते हैं, वे भगवान् के वास्तविक तथा शाश्वत रूप को जानने के लिए सर्वथा अयोग्य हैं। *भागवत्* में भी कहा गया है कि मल्लों के समक्ष भगवान् वज्र के समान प्रकट हुए। जब भगवान् ने शिशुपाल का वध किया, तो वह ब्रह्मज्योति की चकाचौंध से उन्हें कृष्ण के रूप में नहीं देख पाया। अत: कंस द्वारा नियुक्त मल्लों के समक्ष वज्र के रूप में भगवान् का क्षणिक प्राकट्य अथवा शिशुपाल के समक्ष भगवान् का जाज्वल्यमान स्वरूप भगवान् ने त्याग दिया, लेकिन जादूगर के रूप में भगवान् शाश्वत रूप से विद्यमान हैं और किसी दशा में नष्ट नहीं होते। ऐसे रूप असुरों के समक्ष ही कुछ समय के लिए प्रदर्शित किये जाते हैं, किन्तु जब भगवान् ऐसे प्रदर्शन को बन्द कर देते हैं, तो असुर लोग

सोचते हैं कि अब ईश्वर नहीं हैं, जिस प्रकार मूर्ख दर्शकगण सोचते हैं कि जादूगर जल गया या खण्ड-खण्ड हो गया। निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् का कोई भौतिक शरीर नहीं होता, अतएव वे न कभी मारे जाते हैं और न कभी अपना दिव्य शरीर बदलते हैं।

यदा मुकुन्दो भगवानिमां महीं
जहौ स्वतन्वा श्रवणीयसत्कथः ।
तदाहरेवाप्रतिबुद्धचेतसा-
मभद्रहेतुः कलिरन्ववर्तत ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; मुकुन्दः—कृष्ण ने; भगवान्—भगवान्; इमाम्—इस; महीम्—पृथ्वी को; जहौ—छोड़ा; स्व-तन्वा—अपने उसी शरीर के साथ; श्रवणीय-सत्-कथः—उनके विषय में श्रवण करने योग्य है; तदा—उस समय; अहः एव—उसी दिन से; अप्रति-बुद्ध-चेतसाम्—जिनके मन पर्याप्त विकसित नहीं हैं उनके; अभद्र-हेतुः—सारे दुर्भाग्य का कारण; कलिः अन्ववर्तत—कलि पूर्ण रूप से प्रकट हुआ।

जब भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने उसी रूप के साथ इस पृथ्वीलोक को छोड़ दिया, उसी दिन से कलि, जो पहले ही अंशतः प्रकट हो चुका था, अल्पज्ञों के लिए अशुभ परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए पूरी तरह प्रकट हो गया।

तात्पर्य : जो लोग पूर्ण रूप से ईश्वर-भावनाभावित नहीं है, उन्हीं पर कलि का प्रभाव पड़ता है। मनुष्य अपने आप को भगवान् की देख-रेख में रखकर कलियुग के प्रभावों को निरस्त कर सकता है। कलियुग का पदार्पण कुरुक्षेत्र-युद्ध के बाद ही हो गया था, किन्तु भगवान् की उपस्थिति के कारण यह अपना प्रभाव न दिखा सका। लेकिन जब भगवान् अपने ही दिव्य शरीर को साथ लेकर इस धरालोक को छोड़ गये, तो उनके जाते ही कलियुग के लक्षण उसी तरह प्रकट होने लगे, जिस रूप में द्वारका से अर्जुन के आगमन से पूर्व महाराज युधिष्ठिर को दृष्टिगोचर हो रहे थे और महाराज युधिष्ठिर ने ठीक ही इस धरा से भगवान् के प्रयाण की कल्पना कर ली। जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, भगवान् हमारी आँखों से उसी तरह ओझल हो गये, जिस तरह सूर्य अस्त होने पर हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है।

युधिष्ठिरस्तत्परिसर्पणं बुधः
पुरे च राष्ट्रे च गृहे तथात्मनि ।

विभाव्य लोभानृतजिह्महिंसना-
द्यधर्मचक्रं गमनाय पर्यधात् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

युधिष्ठिरः—महाराज युधिष्ठिर; तत्—उस; परिसर्पणम्—विस्तार को; बुधः—पूर्ण अनुभवी; पुरे—राजधानी में; च—भी; राष्ट्रे—राज्य में; च—तथा; गृहे—घर में; तथा—और; आत्मनि—अपने में; विभाव्य—देखकर; लोभ—लालच; अनृत—झूठ; जिह्म—कुटिल नीति; हिंसन-आदि—हिंसा, ईर्ष्या; अधर्म—अधर्म; चक्रम्—छल; गमनाय—प्रस्थान के लिए; पर्यधात्—तदनुसार वस्त्र धारण किये।

महाराज युधिष्ठिर पर्याप्त बुद्धिमान थे कि वे कलियुग के प्रभाव को समझ गये, जिसके विशेष लक्षण होते हैं—बढ़ता लालच, असत्य भाषण, धोखा देना तथा सारी राजधानी, राज्य, घर तथा समस्त व्यक्तियों में हिंसा का आधिक्य इत्यादि। अतएव उन्होंने घर छोड़ने की तैयारी की और तदनुकूल वस्त्र धारण कर लिये।

तात्पर्य : आधुनिक युग कलि के विशिष्ट गुणों से प्रभावित है। कुरुक्षेत्र युद्ध के दिनों से, जिसे लगभग पाँच हजार वर्ष हुए हैं, कलियुग का प्रभाव प्रकट होने लगा है और प्रामाणिक शास्त्रों से पता चलता है कि अभी कलियुग ४,२७,००० वर्ष और चलता रहेगा। कलियुग के जिन लक्षणों का उल्लेख ऊपर किया गया है अर्थात् लोभ, असत्य, छल, भाई-भतीजावाद, हिंसा इत्यादि, उनका पहले से ही बोलबाला है और यह कोई नहीं जानता कि ज्यों-ज्यों कलि का प्रभाव बढ़ेगा, प्रलय होने तक क्या-क्या न हो ले। हम यह पहले ही जान चुके हैं कि कलियुग के प्रभाव ईश्वर-विहीन तथाकथित सभ्य मनुष्य के लिए हैं। जो लोग भगवान् के आश्रय में हैं, उन्हें इस भयावह युग से डरने की कोई बात नहीं है। महाराज युधिष्ठिर भगवान् के महान् भक्त थे, अतएव उन्हें कलियुग से भयभीत होने की आवश्यकता न थी, किन्तु उन्होंने सक्रिय गृहस्थ जीवन से विरक्त होकर अपने घर, भगवद्धाम वापस जाने के लिए तैयारी करना उचित समझा। चूँकि पाण्डव भगवान् के सनातन संगी हैं, अतएव वे अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा भगवान् की संगति के लिए अधिक बेचैन रहते थे। इसके साथ ही, आदर्श राजा होने के नाते महाराज युधिष्ठिर अन्यों के लिए आदर्श स्थापित करने के लिए भी विरत होना चाहते थे। ज्योंही गृहस्थी के कार्यों को देखनेवाला कोई नवयुवक तैयार हो जाय, तो मनुष्य को चाहिए कि वह आध्यात्मिक साक्षात्कार तक ऊपर उठने के लिए तुरन्त गृहस्थ जीवन का परित्याग कर दे। उसे गृहस्थी के अंधकूप में तब तक सड़ते नहीं रहना चाहिए, जब तक यमराज आकर उसे बाहर न खींच निकाले।

आधुनिक राजनेताओं को महाराज युधिष्ठिर से स्वेच्छिक वैराग्य लेने की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए और नई पीढ़ी को अवसर प्रदान करना चाहिए। यही नहीं, सेवा-निवृत्त (रिटायर्ड) वृद्धों को भी उनसे शिक्षा लेनी चाहिए और इसके पूर्व कि वे मृत्यु के लिए बलपूर्वक घसीटे जाँय, उन्हें आध्यात्मिक साक्षात्कार के लिए घर छोड़ देना चाहिए।

स्वराट् पौत्रं विनयिनमात्मनः सुसमं गुणैः ।
तोयनीव्याः पतिं भूमेरभ्यषिञ्चद्गजाह्वये ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

स्व-राट्—सम्राट; पौत्रम्—पौत्र को; विनयिनम्—भली-भाँति प्रशिक्षित; आत्मनः—अपना; सु-समम्—सभी प्रकार से समान; गुणैः—गुणों से; तोय-नीव्याः—समुद्रों से घिरा; पतिम्—स्वामी को; भूमेः—भूमि के; अभ्यषिञ्चत्—सिंहासन पर बिठाया; गजाह्वये—हस्तिनापुर की राजधानी में।

तत्पश्चात् उन्होंने हस्तिनापुर की राजधानी में, उन्होंने अपने पौत्र को सिंहासनारूढ़ किया, जो समुद्र से घिरी सारी भूमि के स्वामी तथा सम्राट के रूप में प्रशिक्षित था और उन्हीं के समान सुयोग्य था।

तात्पर्य : समुद्रों से घिरी हुई सारी भूमि हस्तिनापुर के राजा के अधीन थी। महाराज युधिष्ठिर ने अपने पौत्र महाराज परीक्षित को, जो उन्हीं के समान सुयोग्य था, नागरिक के प्रति राजा के कर्तव्य को ध्यान में रखकर राज्य-प्रशासन में प्रशिक्षित किया। इस तरह महाराज युधिष्ठिर के भगवद्धाम जाने के पूर्व, परीक्षित उनके स्थान पर सिंहासनारूढ़ हो चुके थे। यहाँ पर महाराज परीक्षित के प्रसंग में *विनयिनम्* शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो महत्त्वपूर्ण है। कम से कम महाराज परीक्षित के समय तक, हस्तिनापुर का राजा पूरे संसार का सम्राट क्यों माना जाता था? इसका कारण यही था कि सम्राट के अच्छे शासन के कारण संसार के लोग सुखी थे। नागरिकों के सुख का कारण प्रचुर प्राकृतिक उपज थी—जैसे अन्न, फल, दुग्ध, औषधियाँ, रत्न, खनिज तथा जनता की आवश्यकता की सारी वस्तुएँ। वे शारीरिक व्याधियों, मन की चिन्ताओं तथा प्राकृतिक उत्पातों एवं अन्य जीवों द्वारा दी जाने वाली सारी आपदाओं से मुक्त थे। चूँकि सभी लोग सभी तरह से सुखी थे, अतएव कहीं कोई असन्तोष न था, यद्यपि राजनैतिक कारणों तथा श्रेष्ठता-प्रदर्शन के लिए विभिन्न प्रान्त के राजाओं में कभी-कभी युद्ध हुआ करते थे। प्रत्येक व्यक्ति को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता

था, अतएव लोग छोटी-छोटी बातों को लेकर झगड़ते न थे। किन्तु धीरे-धीरे कलियुग का दुष्प्रभाव राजा तथा प्रजा दोनों के सद्‌गुणों में प्रविष्ट हो गया, अतएव शासक तथा शासित के मध्य तनाव की स्थिति उत्पन्न होने लगी। किन्तु शासक तथा शासित के मध्य विषमता के इस युग में भी आध्यात्मिक विकास तथा ईश्वर-चेतना सम्भव है। यही एक विशेष अधिकार उपलब्ध है।

मथुरायां तथा वज्रं शूरसेनपतिं ततः ।
प्राजापत्यां निरूप्येष्टिमग्नीनपिबदीश्वरः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

मथुरायाम्—मथुरा में; तथा—भी; वज्रम्—वज्र को; शूरसेन-पतिम्—शूरसेन का राजा; ततः—तत्पश्चात्; प्राजापत्याम्—प्रजापति यज्ञ; निरूप्य—सम्पन्न करके; इष्टिम्—लक्ष्य; अग्नीन्—अग्नि को; अपिबत्—अपने में स्थापित किया; ईश्वरः—समर्थ।

तब उन्होंने अनिरुद्ध (भगवान् कृष्ण के पौत्र) के पुत्र वज्र को मथुरा में शूरसेन का राजा बना दिया। तत्पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ने प्राजापत्य यज्ञ किया और गृहस्थ जीवन त्यागने के लिए अपने भीतर अग्नि प्रतिष्ठित की।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर ने महाराज परीक्षित को हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर बैठाकर तथा भगवान् कृष्ण के प्रपौत्र वज्र को मथुरा का राजा बनाकर संन्यास ग्रहण कर लिया। वर्णाश्रम धर्म, गुण और कार्य की दृष्टि से वास्तविक मानव-जीवन का शुभारम्भ है और महाराज युधिष्ठिर तो इस वर्णाश्रम धर्म के रक्षक थे, अतएव उन्होंने शासन का भार प्रशिक्षित राजकुमार, महाराज परीक्षित को सौंप दिया और स्वयं संन्यासी बन गये। वर्णाश्रम धर्म की वैज्ञानिक पद्धति मानव जीवन को चार वृत्तिपरक विभागों तथा चार आश्रमों में विभाजित करती है। जीवन के चार आश्रम हैं—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी। सभी को इन चारों का पालन करना आवश्यक है, चाहे उसका वृत्तिपरक-विभाग कुछ भी हो। आधुनिक राजनेता सक्रिय जीवन से विरत नहीं होना चाहते, भले ही वे कितने ही बूढ़े क्यों न हो जाँय, लेकिन महाराज युधिष्ठिर आदर्श राजा थे, अतएव वे स्वेच्छा से प्रशासनिक जीवन से विरत हो गये, जिससे वे अगले जीवन की तैयारी कर सकें। हर व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने जीवन की ऐसी व्यवस्था करे कि जीवन की अन्तिम व्यवस्था के कम से कम अन्तिम पन्द्रह-बीस वर्ष पूरी तरह भगवान् की सेवा में लगाये जा सकें, जिससे जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त हो सके। यह

सचमुच नादानी है कि जीवन का सारा समय भौतिक भोग तथा सकाम कर्मों में लगाया जाय, क्योंकि जब तक मन भौतिक भोग के लिए सकाम कर्मों में लगा रहता है, तब तक बद्धजीवन या भवबन्धन से बाहर निकलने की कोई गुंजाईश नहीं रहती। किसी भी व्यक्ति को जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त करने के परम कार्य की, अर्थात् भगवद्धाम जाने की, उपेक्षा करने की आत्मघाती नीति नहीं अपनानी चाहिए।

विसृज्य तत्र तत् सर्वं दुकूलवलयादिकम् ।
निर्ममो निरहङ्कारः सञ्छिन्नाशेषबन्धनः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

विसृज्य—त्याग कर; तत्र—वे सब; तत्—यह; सर्वम्—सब कुछ; दुकूल—पेटी; वलय-आदिकम्—कंगन आदि; निर्ममः—उदास; निरहङ्कारः—अनासक्त; सञ्छिन्न—पूर्ण रूप से कटा हुआ; अशेष-बन्धनः—असीम लगाव।

महाराज युधिष्ठिर ने अपने सारे वस्त्र, कमर-पेटी तथा राजसी आभूषण तुरन्त त्याग दिये और वे पूर्ण रूप से उदासीन तथा प्रत्येक वस्तु से विरक्त हो गये।

तात्पर्य : भगवान् का पार्षद बनने के लिए यह आवश्यक है कि भौतिक कल्मष से शुद्ध हो लिया जाय। ऐसी शुद्धि के बिना कोई न तो भगवान् का पार्षद बन सकता है, न भगवद्-धाम वापस जा सकता है। अतएव, आध्यात्मिक दृष्टि से शुद्ध होने के लिए महाराज युधिष्ठिर ने राजसी वेश-भूषा तथा वस्त्रों का त्याग कर राजसी ऐश्वर्य त्याग दिया। संन्यासी का *कषाय* या केसरिया कौपीन बताता है कि उसे आकर्षक वस्त्रों से मुक्ति मिल चुकी है, अतएव उन्होंने अपनी वेशभूषा बदल ली। वे अपने राज्य तथा परिवार के प्रति उदासीन हो गये और समस्त भौतिक कल्मष या भौतिक उपाधि से मुक्त हो गये। लोग सामान्यतया विविध उपाधियों से जुड़े होते हैं जैसे परिवार, समाज, देश, वृत्ति, धन, पद, इत्यादि। जब तक मनुष्य ऐसी उपाधियों से जुड़ा रहता है, तब तक वह भौतिक दृष्टि से अशुद्ध माना जाता है। आधुनिक युग के तथाकथित नेता राष्ट्रीय चेतना से जुड़े रहते हैं, लेकिन वे यह नहीं जानते कि ऐसी मिथ्या चेतना बद्धजीव की दूसरी उपाधि है। भगवद्-धाम जाने के लिए यह आवश्यक है कि ऐसी उपाधियों का परित्याग कर दिया जाय। वे लोग मूर्ख हैं, जो राष्ट्रीय चेतना में मरनेवालों की पूजा करते हैं, लेकिन यहाँ पर महाराज युधिष्ठिर का उदाहरण है, जिन्होंने राजा होते हुए भी ऐसी राष्ट्रीय चेतना से रहित होकर इस संसार से जाने के लिए तैयारी की। फिर भी लोग उन्हें आज तक याद करते हैं,

क्योंकि वे एक महान् पवित्र राजा थे और लगभग भगवान् श्रीराम के ही समान स्तर पर थे। चूँकि संसार में ऐसे पुण्यात्मा राजाओं का प्राधान्य था, अतएव वे सभी तरह से सुखी थे और ऐसे महान् सम्राटों के लिए विश्व पर शासन चलाना सम्भव हो पाया।

वाचं जुहाव मनसि तत्प्राण इतरे च तम् ।
मृत्यावपानं सोत्सर्गं तं पञ्चत्वे ह्यजोहवीत् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

वाचम्—वाणी को; जुहाव—त्याग दिया; मनसि—मन में; तत् प्राणे—मन को श्वास लेने में; इतरे च—अन्य इन्द्रियों को भी; तम्—उसमें; मृत्यौ—मृत्यु में; अपानम्—श्वास; स-उत्सर्गम्—पूर्ण समर्पण को; तम्—उस; पञ्चत्वे—पाँच तत्त्वों से बने शरीर में; हि—निश्चय ही; अजोहवीत्—समाहित कर दिया।.

तब उन्होंने अपनी सारी इन्द्रियों को मन में, मन को जीवन में, जीवन को प्राण में, अपने पूर्ण अस्तित्व को पाँच तत्त्वों के शरीर में तथा अपने शरीर को मृत्यु में समाहित कर दिया। तत्पश्चात् शुद्ध आत्मा के रूप में वे देहात्म-बुद्धि से मुक्त हो गये।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर भी अपने भाई अर्जुन की तरह एकाग्रचित्त होकर क्रमशः सारे भौतिक बन्धन से मुक्त हो गये। सर्वप्रथम उन्होंने इन्द्रियों के समस्त कर्मों को एकाग्र किया और उन्हें मन में समाहित कर दिया, अथवा दूसरे शब्दों में, उन्होंने मन को भगवान् की दिव्य सेवा की ओर मोड़ा। उन्होंने प्रार्थना की कि चूँकि सारे भौतिक कार्यकलाप मन द्वारा इन्द्रियों के कर्मों तथा फलों के रूप में सम्पन्न होते हैं और चूँकि वे भगवद्-धाम जा रहे थे, अतएव मन को अपने भौतिक कार्यकलापों को समेट लेना चाहिए और भगवान् की दिव्य सेवा की ओर मुड़ना चाहिए। तब भौतिक कार्यकलापों की आवश्यकता नहीं रह गयी थी। वस्तुतः मन के कार्यकलापों को रोका नहीं जा सकता, क्योंकि वे सनातन आत्मा के प्रतिबिम्ब हैं, किन्तु कार्यकलापों के गुण को पदार्थ से भगवान् की दिव्य सेवा में बदला जा सकता है। जब मन के मैल को प्राण वायु द्वारा स्वच्छ कर लिया जाता है, तो उसका भौतिक रंग बदल जाता है और वह जन्म-मृत्यु के आवागमन से मुक्त हो जाता है और शुद्ध आध्यात्मिक जीवन में स्थित हो जाता है। भौतिक देह के क्षणिक रुप से धारण होने पर सब कुछ प्रकट होता है और यह शरीर मृत्यु के समय की मन की उपज है, अतएव यदि मन को भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति द्वारा शुद्ध कर लिया जाता है और उसे निरन्तर भगवान् के चरणकमलों की सेवा में प्रवृत्त रखा जाता है, तो मृत्यु

के बाद मन द्वारा अन्य भौतिक शरीर को उत्पन्न कर पाने की सम्भावना ही नहीं रहेगी। तब यह भौतिक कल्मष में डूबे रहने से मुक्त हो जायेगा और शुद्ध आत्मा भगवद्-धाम को लौट जायेगा।

त्रित्वे हुत्वा च पञ्चत्वं तच्चैकत्वेऽजुहोन्मुनिः ।
सर्वमात्मन्यजुहवीद्ब्रह्मण्यात्मानमव्यये ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

त्रित्वे—तीनों गुणों में; हुत्वा—आहुति करके; च—भी; पञ्चत्वम्—पाँच तत्त्व; तत्—वह; च—भी; एकत्वे—एक अविद्या में; अजुहोत्—लीन हो गया; मुनिः—विचारवान; सर्वम्—कुल मिलाकर; आत्मनि—आत्मा में; अजुहवीत्—स्थिर; ब्रह्मणि—आत्मा में; आत्मानम्—आत्मा को; अव्यये—कभी न समाप्त होने वाले।

इस प्रकार उन्होंने पंचत्त्वमय स्थूल शरीर को विनष्ट करके, प्रकृति के तीन गुणों में मिलाकर उसे अज्ञानता में मिला दिया और तब उस अज्ञानता को आत्मा या ब्रह्म में विलीन कर दिया, जो सर्वदा अक्षय है।

तात्पर्य : इस भौतिक संसार में जो कुछ व्यक्त है, वह *महत् तत्त्व अव्यक्त* का प्रतिफल है और हमें जितनी वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हैं, वे ऐसे विविध भौतिक पदार्थों के विविध संयोग हैं। लेकिन जीव ऐसे भौतिक पदार्थों से भिन्न होता है। यह तो जीव द्वारा भगवान् के नित्य दास-रूप में अपना शाश्वत स्वभाव भूलने के कारण तथा प्रकृति पर प्रभुता जताने की मिथ्या धारणा के कारण है कि उसे मिथ्या इन्द्रिय-भोग के संसार में प्रवेश करना पड़ता है। इस तरह भौतिकता द्वारा मन के प्रभावित होने का मुख्य कारण भौतिक शक्ति की साथ-साथ उत्पत्ति है। इस तरह पाँच तत्त्वों का स्थूल शरीर उत्पन्न होता है। महाराज युधिष्ठिर ने इस क्रिया को उलट दिया और उन्होंने शरीर के पाँचों तत्त्वों को भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों में मिला दिया। इससे शरीर के उत्तम, मध्यम या निकृष्ट होने का अन्तर जाता रहता है और पुनः गुणात्मक अभिव्यक्तियाँ भौतिक शक्ति में समाहित हो जाती हैं, जो शुद्ध जीव के मिथ्या भाव से उत्पन्न हैं। इस तरह जब कोई वैकुण्ठलोक के असंख्य लोकों में से किसी एक में, विशेषतया गोलोक वृन्दावन में, भगवान् का पार्षद बनना चाहता है, तो उसे निरन्तर यह सोचना होता है कि वह इस भौतिक शक्ति से भिन्न है, उसे इससे कोई सरोकार नहीं है और उसे अपनी अनुभूति शुद्ध आत्मा या ब्रह्म के रूप में करनी होती है, जो गुण में परम ब्रह्म (परमेश्वर) के तुल्य है। महाराज युधिष्ठिर ने अपना साम्राज्य परीक्षित तथा वज्र को सौंप देने के बाद उन्होंने अपने आपको न तो विश्व का सम्राट

माना, न ही कुरुवंश का अग्रणी माना। भौतिक सम्बन्धों से एवं स्थूल तथा सूक्ष्म आवरणों के भौतिक बन्धन से स्वतंत्रता का यह भाव मनुष्य को भगवान् के दास के रूप में कार्य करने के लिए मुक्त बनाता है, भले ही वह अभी भौतिक जगत में रहता हो। यह अवस्था इसी भौतिक जगत में रहते हुए भी *जीवन्मुक्त* अवस्था कहलाती है। भौतिक अस्तित्व को समाप्त करने की विधि यही है। मनुष्य को न केवल अपने को ब्रह्म समझना चाहिए, अपितु उसे ब्रह्म के समान आचरण भी करना चाहिए। जो अपने को मात्र ब्रह्म समझता है, वह मायावादी (निर्विशेषवादी) है। किन्तु जो ब्रह्म की भाँति कर्म करता है, वह शुद्ध भक्त है।

चीरवासा निराहारो बद्धवाङ्मुक्तमूर्धजः ।
दर्शयन्नात्मनो रूपं जडोन्मत्तपिशाचवत् ।
अनवेक्षमाणो निरगादशृण्वन्बधिरो यथा ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

चीर-वासाः—चिथड़े ग्रहण किये; निराहारः—ठोस भोजन करना त्याग दिया; बद्ध-वाक्—बोलना बन्द कर दिया; मुक्त-मूर्धजः—बाल खोल दिए; दर्शयन्—दिखाने लगे; आत्मनः—अपने; रूपम्—शारीरिक स्वरूप को; जड—निष्क्रिय; उन्मत्त—पागल; पिशाच-वत्—उजड्ड की तरह; अनवेक्षमाणः—प्रतीक्षा किये बिना; निरगात्—स्थित था; अशृण्वन्—बिना सुने; बधिरः—बहरा व्यक्ति; यथा—जिस तरह।

तत्पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ने फटे हुए वस्त्र पहन लिये, ठोस आहार लेना बन्द कर दिया, वे जान कर गूँगे बन गये और बालों को खोल दिया। इन सबके मिल-जुले रुप में, वे एक उजड्ड या वृत्तिविहीन पागल की तरह दिखने लगे। वे किसी वस्तु के लिए अपने भाइयों पर आश्रित नहीं रहे। वे बहरे मनुष्य की तरह कुछ भी न सुनने लगे।

तात्पर्य : इस प्रकार समस्त बाह्य झंझटों से छूटने पर, उन्हें राजसी जीवन या परिवार-प्रतिष्ठा से कुछ लेना-देना नहीं रहा और वे एक तरह से वे निष्क्रिय, पागल, उजड्डु की तरह बन गये और भौतिक मामलों के विषय में कुछ भी बोलना बन्द कर दिया। अब वे अपने उन भाइयों पर आश्रित नहीं रहे जो निरन्तर उनकी सहायता करते थे। सभी प्रकार की इस पूर्ण स्वतंत्रता को निर्भीकता की शुद्ध अवस्था (निर्भयपद) कहते हैं।

उदीचीं प्रविवेशाशां गतपूर्वां महात्मभिः ।
हृदि ब्रह्म परं ध्यायन्नावर्तेत यतो गतः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

उदीचीम्—उत्तरी दिशा; प्रविवेश-आशाम्—वहाँ प्रवेश करने की इच्छा करनेवाले; गत-पूर्वाम्—अपने पूर्वजों द्वारा स्वीकृत पथ; महा-आत्मभिः—विशाल हृदय के कारण; हृदि—हृदय के भीतर; ब्रह्म—परमेश्वर; परम्—परम; ध्यायन्—निरन्तर ध्यान करते हुए; न आवर्तेत—अपने दिन बिताये; यतः—जहाँ कहीं भी; गतः—गये।

तब उन्होंने उत्तर दिशा की ओर अपने पूर्वजों तथा महापुरुषों द्वारा स्वीकृत पथ पर चलते हुए प्रस्थान किया, जिससे वे परमेश्वर के विचार में पूर्ण रूप से लग सकें। वे जहाँ कहीं भी गये, इसी तरह रहे।

तात्पर्य : इस श्लोक से यह विदित होता है कि महाराज युधिष्ठिर ने अपने पूर्वजों तथा भगवान् के महान् भक्तों के चरण-चिह्नों का अनुगमन किया। हम पहले कई बार यह बता चुके हैं कि जिस रूप में वर्णाश्रम-धर्म विश्व के निवासियों द्वारा और विशेष रूप से आर्यावर्त के निवासियों द्वारा पालित होता है, उसमें जीवन की एक अवस्था में, घर-बार के सारे सम्बन्धों को छिन्न करने की महत्ता पर बल दिया जाता है। इसी दृष्टि से प्रशिक्षण तथा शिक्षा दी जाती थी और इस तरह महाराज युधिष्ठिर जैसे सम्मानित व्यक्ति को आत्म-साक्षात्कार करने तथा भगवद्धाम वापस लौटने के लिए सारे पारिवारिक सम्बन्ध छोड़ने पड़ते थे। गृहस्थ जीवन को न कोई राजा, न कोई सम्मानित व्यक्ति, अन्त तक चला सकता है, क्योंकि इसे मानव जीवन की सिद्धि के प्रतिकूल तथा उसकी आत्म-हत्या जैसा माना जाता है। अतएव सारी पारिवारिक झंझटों से मुक्त होने एवं भगवान् कृष्ण की भक्तिमय सेवा में शत-प्रतिशत लगने की हमेशा संस्तुति की जाती है, क्योंकि यह प्रामाणिक पथ है। भगवान् *भगवद्गीता* (१८.६२) में शिक्षा देते हैं कि मनुष्य को, कम से कम अपनी अन्तिम अवस्था में, भगवद्भक्त बनना चाहिए। भगवान् के प्रति एकनिष्ठ आत्मा को अपने हित के लिए महाराज युधिष्ठिर की भाँति भगवान् के उपदेश का पालन करना चाहिए।

ब्रह्म परम् शब्द भगवान् श्रीकृष्ण के सूचक हैं। इसकी पुष्टि अर्जुन द्वारा *भगवद्गीता* (१०.१३) में असित, देवल, नारद तथा व्यास जैसे महापुरुषों के सन्दर्भ में की गई है। इस प्रकार उत्तरापथ के लिए गृहत्याग करते हुए महाराज युधिष्ठिर अपने अन्तःकरण में निरन्तर श्रीकृष्ण का स्मरण करते रहे और अपने पूर्वजों तथा सभी परम भक्तों के चरण-चिह्नों पर चलते रहे।

सर्वे तमनुनिर्जग्मुर्भ्रातरः कृतनिश्चयाः ।
कलिनाधर्ममित्रेण दृष्ट्वा स्पृष्टाः प्रजा भुवि ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—सारे; तम्—उनको; अनुनिर्जग्मुः—पीछा करते हुए घर छोड़ दिया; भ्रातरः—भाइयों ने; कृत-निश्चयाः—निश्चित रूप से; कलिना—कलियुग द्वारा; अधर्म—अधर्म; मित्रेण—मित्र के द्वारा; दृष्ट्वा—देखकर; स्पृष्टाः—प्रभावित, वशीभूत; प्रजाः—सारे नागरिक; भुवि—पृथ्वी पर।

महाराज युधिष्ठिर के छोटे भाईयों ने देखा कि कलियुग का पहले से ही संसार भर में पदार्पण हो चुका है और राज्य के नागरिक पहले से ही अधर्म द्वारा प्रभावित हैं। अतएव उन्होंने अपने बड़े भाई के चरण-चिन्हों का अनुगमन करने का निश्चय किया।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर के छोटे भाई पहले से ही सम्राट के आज्ञाकारी आज्ञापालक थे और जीवन के परम उद्देश्य को जानने के लिए उन्हें पर्याप्त प्रशिक्षण दिया गया था। अतएव उन्होंने भगवान् कृष्ण की भक्ति करने में अपने बड़े भाई का अनुसरण करने का निश्चय किया। सनातन धर्म के नियमानुसार आधी आयु बीत जाने पर गृहस्थ जीवन से विरक्त होकर मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार में प्रवृत्त होना चाहिए। लेकिन इस प्रकार प्रवृत्त होना सदैव निश्चित नहीं रहता। कभी-कभी निवृत्ति-प्राप्त लोग मोहग्रस्त हो जाते हैं कि जीवन के अन्तिम दिनों में अपने को किस तरह लगाये रखा जाये। यहाँ पाण्डव जैसे अधिकारीजनों का निर्णय दिया हुआ है। उन सबों ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की भक्तिमय सेवा के अनुशीलन में अपने आपको प्रवृत्त किया। स्वामी श्रीधर के अनुसार धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष जीवन के चरम लक्ष्य नहीं है, जैसाकि कई लोग सोचते हैं। इनका अभ्यास तो वे करते हैं, जिन्हें जीवन के चरम लक्ष्य की कोई जानकारी नहीं है। स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (१८.६४) में जीवन के चरम उद्देश्य का संकेत किया है और पाण्डवों ने बिना किसी संकोच के उनका पालन करने की बुद्धिमानी की।

ते साधुकृतसर्वार्था ज्ञात्वात्यन्तिकमात्मनः ।
मनसा धारयामासुर्वैकुण्ठचरणाम्बुजम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

ते—वे सब; साधु-कृत—साधु के अनुरूप किया गया; सर्व-अर्थाः—प्रत्येक योग्य वस्तु से युक्त; ज्ञात्वा—जानकर; आत्यन्तिकम्—चरम; आत्मनः—जीव का; मनसा—मन के भीतर; धारयाम् आसुः—पालन किया; वैकुण्ठ—वैकुण्ठ के स्वामी; चरण-अम्बुजम्—चरणकमल का।

उन्होंने धर्म के सारे नियम सम्पन्न कर लिये थे। अतएव उनका यह निश्चय ठीक ही था कि भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमल ही सबों के चरम लक्ष्य हैं। अतएव उन्होंने बिना व्यवधान के उनके चरणों का ध्यान किया।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.२८) में भगवान् कहते हैं कि जिन्होंने पूर्वजन्म में सत्कर्म किये हैं और जो समस्त पापकर्मों के फलों से मुक्त हो चुके हैं, वे ही भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों में अपने को एकाग्र कर सकते हैं। पाण्डवों ने न केवल इस जन्म में, अपितु अपने पूर्वजन्मों में भी सदैव पुण्य कर्म किये थे। और इस प्रकार वे पापकर्मों के फलों से हमेशा मुक्त थे। अत: यह उचित ही है कि उन्होंने अपना ध्यान भगवान् के चरणकमलों पर केन्द्रित किया। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के नियमों को वे ही अपनाते हैं, जो पापकर्म के फलों से मुक्त नहीं हुए हैं। ऐसे लोग उपुर्यक्त चारों नियमों के कल्मष से प्रभावित होने के कारण वैकुण्ठलोक के स्वामी भगवान् के चरणकमलों को तुरन्त ही अपना नहीं पाते। वैकुण्ठ विश्व भौतिक आकाश से बहुत दूर स्थित है। भौतिक आकाश दुर्गादेवी या भगवान् की भौतिक शक्ति के अधीन है, किन्तु वैकुण्ठ विश्व की व्यवस्था भगवान् की निजी शक्ति द्वारा होती है।

तद्ध्यानोद्रिक्तया भक्त्या विशुद्धधिषणाः परे ।
तस्मिन् नारायणपदे एकान्तमतयो गतिम् ॥ ४७ ॥
अवापुर्दुरवापां ते असद्भिर्विषयात्मभिः ।
विधूतकल्मषा स्थानं विरजेनात्मनैव हि ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; ध्यान—ध्यान; उत्रिक्तया—मुक्त होकर; भक्त्या—भक्ति से; विशुद्ध—विशुद्ध; धिषणाः—बुद्धि द्वारा; परे—अध्यात्म में; तस्मिन्—उसमें; नारायण—भगवान् श्रीकृष्ण के; पदे—चरणकमल में; एकान्त-मतयः—जो एक और अनन्य ऐसे भगवान् में स्थित हैं, उनके; गतिम्—गन्तव्य; अवापुः—प्राप्त किया; दुरवापाम्—प्राप्त करना अत्यन्त कठिन; ते—उनके द्वारा; असद्भिः—भौतिकतावादियों द्वारा; विषय-आत्मभिः—भौतिक आवश्यकताओं में लीन; विधूत—धोया हुआ; कल्मषाः—भौतिक मल; स्थानम्—धाम; विरजेन—रजोगुण से रहित; आत्मना एव—ठीक उसी शरीर से; हि—निश्चय ही।

इस प्रकार भक्तिभाव से निरन्तर स्मरण करने से उत्पन्न भक्तिमयी शुद्ध चेतना के द्वारा उन्होंने आदि नारायण भगवान् कृष्ण द्वारा अधिशासित वैकुण्ठलोक प्राप्त किया। यह वैकुण्ठलोक केवल उन्हें प्राप्त होता है, जो अविचल भाव से एक परमेश्वर का ध्यान धरते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का यह धाम गोलोक वृन्दावन कहलाता है और यह उन व्यक्तियों को प्राप्त नहीं होता, जो जीवन की भौतिक अवधारणा में लीन रहते हैं। लेकिन समस्त भौतिक कल्मष से पूर्ण रूप से शुद्ध होने के कारण पाण्डवों ने अपने इसी शरीर में उस धाम को प्राप्त किया।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, यदि कोई व्यक्ति सत्त्व, रजो तथा तमो गुणों से मुक्त हो तथा अध्यात्म में स्थित हो, तो वह शरीर-परिवर्तन हुए बिना ही जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। श्रील सनातन गोस्वामी ने *हरि-भक्ति-विलास* नामक अपनी कृति में कहा है कि कोई भी व्यक्ति प्रामाणिक गुरु के पथ-प्रदर्शन में आध्यात्मिक अनुशासनात्मक कर्म करके द्विजन्मा ब्राह्मण की सिद्धि प्राप्त कर सकता है, ठीक उसी तरह जिस प्रकार एक रसायनशास्त्री रासायनिक प्रक्रिया से पीतल जैसी किसी धातु को सोने में बदल देता है। अतएव शरीर-परिवर्तन के बिना ही ब्राह्मण बनने या बिना शरीर-परिवर्तन के भगवद्धाम जाने में वास्तविक मार्गदर्शन का महत्त्व होता है। श्रील जीव गोस्वामी की टीका है कि यहाँ *हि* शब्द का उपयोग इस सत्य की पुष्टि करता है और इस वास्तविक स्थिति के विषय में कोई सन्देह नहीं है। *भगवद्गीता* (१४.२६) में भी श्रील जीव गोस्वामी के इस कथन की पुष्टि होती है, जब भगवान् कहते हैं कि जो अविचल भाव से विधिपूर्वक भक्ति करता है, वह भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के कल्मष को लाँघ करके ब्रह्मसिद्धि प्राप्त कर सकता है और जब भक्तिमय सेवा के स्वयंस्फूर्त आचरण द्वारा ब्रह्मसिद्धि को और भी उन्नत बनाया जाता है, तो इसमें जरा भी संदेह नहीं रह जाता कि उसे बिना शरीर-परिवर्तन के गोलोक वृन्दावन प्राप्त होता है, जैसा बिना शरीर-परिवर्तन के भगवान् के अपने धाम लौटने के सम्बन्ध में हम पहले ही बता चुके हैं।

विदुरोऽपि परित्यज्य प्रभासे देहमात्मनः ।
कृष्णावेशेन तच्चित्तः पितृभिः स्वक्षयं ययौ ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

विदुरः—विदुर (महाराज युधिष्ठिर के चाचा); अपि—भी; परित्यज्य—त्याग कर; प्रभासे—प्रभास नामक तीर्थस्थल में; देहम् आत्मनः—अपना शरीर; कृष्ण—परमेश्वर; आवेशेन—उसी विचार में लीन होकर; तत्—उनका; चित्तः—विचार तथा कार्य; पितृभिः—पितृलोक के वासियों सहित; स्व-क्षयम्—अपने निजी धाम को; ययौ—चला गये।

तीर्थाटन के लिए गये हुए विदुर ने प्रभास में अपना शरीर त्याग किया। चूँकि वे भगवान् कृष्ण के विचार में मग्न रहते थे, अतएव उनका स्वागत पितृलोक के निवासियों ने किया, जहाँ वे अपने मूल पद पर लौट गये।

तात्पर्य : पाण्डवों तथा विदुर में अन्तर इतना ही है कि पाण्डव भगवान् के नित्य संगी हैं, लेकिन विदुर पितृलोक के प्रशासक देवताओं में से एक हैं और यमराज के रूप में जाने जाते हैं। लोग यमराज से भयभीत रहते हैं, क्योंकि वे ही इस जगत के दुष्टों को दण्ड देते हैं, किन्तु जो भगवान् के भक्त हैं, उन्हें उनसे डरने की कोई बात नहीं है। वे भक्तों के सुहृद मित्र हैं, किन्तु अभक्तों के लिए साक्षात् भय हैं। जैसाकि हम पहले बता चुके हैं, यमराज को मण्डूक मुनि ने शाप दिया था कि वे शूद्र बन जाये, अतएव विदुर यमराज के अवतार थे। उन्होंने भगवान् के सनातन सेवक के रूप में अत्यन्त मनोयोग से भक्ति का प्रदर्शन किया और पुण्यात्मा का जीवन बिताया, यहाँ तक कि धृतराष्ट्र जैसे भौतिकतावादी मनुष्य को भी उनके उपदेश से मोक्ष प्राप्त हो सका। अतएव वे भक्ति के पुण्यकर्मों द्वारा भगवान् के चरणकमलों का स्मरण सदैव कर सकते थे और इस तरह उनके शूद्र-जन्मा जीवन के सारे कल्मष धुल गये। अन्त में पितृलोक के निवासियों ने उनका स्वागत किया और पुनः उन्हें अपना मूल पद मिल गया। देवता भी भगवान् के पार्षद हैं, किन्तु उन्हें भगवान् का व्यक्तिगत संग प्राप्त नहीं हो पाता, जबकि भगवान् के प्रत्यक्ष पार्षदों को उनका निरन्तर संग प्राप्त होता रहता है। भगवान् तथा उनके निजी पार्षद निरन्तर विभिन्न ब्रह्माण्डों में अवतरित होते रहते हैं। भगवान् सभी पार्षदों का स्मरण रखते हैं, किन्तु भगवान् के सूक्ष्म अंश होने के कारण वे उन्हें भूल जाते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण इस तरह भूलना सहज है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.५) में हुई है।

द्रौपदी च तदाज्ञाय पतीनामनपेक्षताम् ।
वासुदेवे भगवति ह्येकान्तमतिराप तम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

द्रौपदी—द्रौपदी (पाण्डव पत्नी); च—तथा; तदा—उस समय; आज्ञाय—भगवान् कृष्ण को भलीभाँति जानते हुए; पतीनाम्—पतियों के; अनपेक्षताम्—उसकी परवाह न करनेवाले; वासुदेवे—भगवान् वासुदेव (कृष्ण) में; भगवति—भगवान्; हि—ठीक उसी तरह; एक-अन्त—पूर्णतया; मतिः—ध्यान; आप—प्राप्त किया; तम्—उसको (भगवान् को)।

द्रौपदी ने भी देखा कि उसके पतिगण, उसकी परवाह किये बिना घर छोड़ रहे हैं। वे भगवान् वासुदेव कृष्ण को भलीभाँति जानती थीं। अतएव वे तथा सुभद्रा दोनों भगवान् कृष्ण के ध्यान में लीन हो गईं और अपने-अपने पतियों की सी गति प्राप्त की।

तात्पर्य : हवाई जहाज उड़ाते समय कोई किसी दूसरे जहाजों की संभाल नहीं ले सकता। हर एक को अपने खुद के जहाज की संभाल लेनी होती है और यदि कोई संकट आ पड़े, तो उस अवस्था में कोई अन्य जहाज दूसरे की सहायता नहीं कर सकता। इसी प्रकार जीवन के अन्त में, जब हर एक को अपने घर, भगवद्धाम वापस जाना होता है, तो उसे दूसरे के ऊपर निर्भर न रह कर, स्वयं अपनी संभाल लेनी होती है। हाँ, उड़ने के पूर्व जमीन पर सहायता की जाती है। इसी प्रकार किसी के जीवन काल में उसे उसका गुरु, पिता, माता, सम्बन्धी, पति तथा अन्य लोग सहायता कर सकते हैं, किन्तु भवसागर पार करते समय हर एक को अपनी खुद की परवाह करनी होती है और पहले से प्राप्त उपदेशों का उपयोग करना होता है। द्रौपदी के पाँच पति थे, किन्तु किसी ने नहीं कहा कि चलो। द्रौपदी को अपने महान् पतियों की प्रतीक्षा किये बिना अपनी परवाह स्वयं करनी थी और चूँकि वे पहले से प्रशिक्षित थीं, अतएव उन्होंने तुरन्त पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव कृष्ण का ध्यान किया। पत्नियों को भी उसी तरह पतियों जैसी गति प्राप्त हुई, अर्थात् वे बिना शरीर बदले, भगवान् के धाम पहुँच गईं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का मत है कि द्रौपदी तथा सुभद्रा दोनों को एक सा ही फल मिला, यद्यपि यहाँ पर उनका नाम उल्लिखित नहीं है। उनमें से किसी को भी अपना शरीर त्यागना नहीं पड़ा।

यः श्रद्धयैतद् भगवत्प्रियाणां
पाण्डोः सुतानामिति सम्प्रयाणम् ।
शृणोत्यलं स्वस्त्ययनं पवित्रं
लब्ध्वा हरौ भक्तिमुपैति सिद्धिम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; एतत्—यह; भगवत्-प्रियाणाम्—भगवान् के अत्यन्त प्रियजनों का; पाण्डोः—पाण्डु के; सुतानाम्—पुत्रों का; इति—इस प्रकार; सम्प्रयाणम्—चरम लक्ष्य के लिए प्रस्थान; शृणोति—सुनता है; अलम्—केवल; स्वस्त्ययनम्—सौभाग्य; पवित्रम्—पूरी तरह शुद्ध; लब्ध्वा—प्राप्त करके; हरौ—भगवान् की; भक्तिम्—भक्ति को; उपैति—प्राप्त करता है; सिद्धिम्—सिद्धि को।

पाण्डु-पुत्रों द्वारा जीवन के परम लक्ष्य भगवद्धाम के लिए प्रस्थान का यह विषय अत्यन्त शुभ तथा परम पवित्र है। अतएव जो भी इस कथा को भक्तिभावपूर्वक सुनता है, वह जीवन की परम सिद्धि भगवद्भक्ति को निश्चय ही प्राप्त करता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् एवं पाण्डवों जैसे भगवद्भक्तों की कथा है। भगवान् और उनके भक्तों की कथा अपने आप में पूर्ण है। अतएव भक्तिभाव से इसे सुनना भगवान् तथा उनके नित्य-संगियों से सान्निध्य प्राप्त करने जैसा है। मनुष्य *श्रीमद्भागवत* का श्रवण करके जीवन की सर्वोच्च सिद्धि अर्थात् भगवद्धाम-प्रस्थान को प्राप्त कर सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत 'पाण्डवों की सामयिक निवृत्ति' नामक पंद्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सोलह

परीक्षित ने कलियुग का सत्कार किस तरह किया

सूत उवाच
ततः परीक्षिद् द्विजवर्यशिक्षया
महीं महाभागवतः शशास ह ।
यथा हि सूत्यामभिजातकोविदाः
समादिशन् विप्र महद्गुणस्तथा ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; ततः—तत्पश्चात्; परीक्षित्—महाराज परीक्षित ने; द्विज-वर्य—श्रेष्ठ ब्राह्मण; शिक्षया—अपने उपदेशों से; महीम्—पृथ्वी को; महा-भागवतः—परम भक्त; शशास—शासन किया; ह—भूतकाल में; यथा—जैसा उन्होंने कहा था; हि—निश्चय ही; सूत्याम्—उनके जन्म के समय; अभिजात-कोविदाः—जन्म के समय पटु ज्योतिषी; समादिशन्—अभिमत व्यक्त किया; विप्र—हे ब्राह्मण; महत्-गुणः—महान् गुण; तथा—उसी के अनुसार सत्य।

सूत गोस्वामी ने कहा : हे विद्वान ब्राह्मणों, तब महाराज परीक्षित श्रेष्ठ द्विज ब्राह्मणों के आदेशों के अनुसार महान् भगवद्भक्त के रूप में संसार पर राज्य करने लगे। उन्होंने उन महान् गुणों के द्वारा शासन चलाया, जिनकी भविष्यवाणी उनके जन्म के समय पटु ज्योतिषियों ने की थी।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित के जन्म के समय निपुण ज्योतिषी ब्राह्मणों ने उनके कुछ गुणों की भविष्यवाणी की थी। भगवान् के महान् भक्त होने के कारण, महाराज परीक्षित में इन सारे गुणों का विकास हो सका। असली योग्यता भगवद्भक्त होना है और धीरे-धीरे सभी ग्राह्य गुणों का विकास होता जाता है। महाराज परीक्षित *महाभागवत* या प्रथम श्रेणी के भक्त थे, जो न केवल भक्ति के विज्ञान में पटु थे अपितु अपने दिव्य उपदेशों से अन्यों को भी भक्त बनाने में समर्थ थे। अतएव महाराज परीक्षित प्रथम श्रेणी के भक्त थे और इस तरह वे बड़े-बड़े मुनियों तथा विद्वान ब्राह्मणों से राय लिया करते थे, जो उन्हें शास्त्रों के आधार पर सलाह दे सकें कि राज्य का शासन किस तरह चलाया जाय। ऐसे महान् राजा आजकल के निर्वाचित प्रशासकों से अधिक जिम्मेदार होते थे, क्योंकि वे महापुरुषों द्वारा वैदिक साहित्य में संकलित अनुदेशों का पालन करके उनके प्रति कृतज्ञ रहते थे। तब ऐसे अव्यावहारिक मूर्खों की आवश्यकता नहीं होती थी, जो नित्य ही नये-नये विधान बनाएँ और अपनी सुविधा को ध्यान में रखकर उसे बारम्बार बदलते रहें। ऐसे विधि-विधान तो मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर तथा अन्य मुक्त मुनियों द्वारा पहले ही स्थापित किये जा चुके थे और उनका प्रचलन सभी युगों तथा सभी स्थानों के लिए उपयुक्त था। अतएव सारे विधि-विधान प्रामाणिक थे और किसी त्रुटि या दोष से रहित होते थे। महाराज परीक्षित जैसे राजाओं की अपनी सलाहकार-समिति होती थी और इस समिति के सदस्य या तो ऋषि-मुनि होते थे या प्रथम श्रेणी के ब्राह्मण होते थे। वे कोई वेतन नहीं लेते थे, न उन्हें ऐसे वेतन की आवश्यकता ही रहती थी। *राजा बिना किसी व्यय के श्रेष्ठ सलाह प्राप्त करता था।* वे स्वयं *समदर्शी* होते थे—सबों के प्रति समदर्शी, चाहे मनुष्य हो या पशु। वे राजा को ऐसी सलाह नहीं देते थे कि मनुष्य को तो सुरक्षा प्रदान की जाय और बेचारे पशुओं का वध किया जाय। समिति के ऐसे सदस्य न तो मूर्ख होते थे, न दिवास्वप्न देखने वाले मूर्खों के प्रतिनिधि होते थे। वे सभी स्वरूपसिद्ध होते थे और वे भलीभाँति जानते थे कि किस तरह राज्य के सारे जीव इस जीवन में तथा

अगले जीवन में सुखी रह सकते हैं। वे 'खाओ, पियो और मौज करो' जैसी भोगवादी विचारधारा के समर्थक न थे। वे वास्तविक अर्थ में विचारक होते थे और यह भलीभाँति जानते थे कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य क्या है। इन सारे प्रतिबन्धों के अन्तर्गत राजा की सलाहकार समिति सही निर्देश देती थी और राजा या प्रशासनाधिकारी स्वयं योग्य भगवद्भक्त होने के कारण राज्य के कल्याण के लिए उन आदेशों की छानबीन करके उनका पालन करता था। महाराज युधिष्ठिर अथवा महाराज परीक्षित के समय का राज्य वास्तव में जन-कल्याणकारी राज्य होता था, क्योंकि राज्य में कोई भी दुखी नहीं रहता था, चाहे वह मनुष्य हो या पशु। महाराज परीक्षित विश्व के जनकल्याणकारी राज्य के एक आदर्श राजा थे।

स उत्तरस्य तनयामुपयेम इरावतीम् ।
जनमेजयादींश्चतुरस्तस्यामुत्पादयत् सुतान् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने; उत्तरस्य—राजा उत्तर की; तनयाम्—पुत्री को; उपयेमे—विवाह किया; इरावतीम्—इरावती को; जनमेजय-आदीन्—महाराज जनमेजय तथा अन्य; चतुरः—चार; तस्याम्—उसमें; उत्पादयत्—जन्म दिया; सुतान्—पुत्रों को।

राजा परीक्षित ने राजा उत्तर की पुत्री इरावती से विवाह किया और उससे उन्हें ज्येष्ठ पुत्र महाराज जनमेजय सहित चार पुत्र प्राप्त हुए।

तात्पर्य : महाराज उत्तर विराट के पुत्र तथा महाराज परीक्षित के मामा थे। इरावती महाराज उत्तर की पुत्री होने से, महाराज परीक्षित की ममेरी बहन थी, लेकिन यदि ममेरे भाइयों तथा बहिनों का गोत्र अर्थात् परिवार एक न हो, तो उन्हें विवाह करने की अनुमति होती थी। विवाह की वैदिक पद्धति में गोत्र या परिवार पर बल दिया जाता था। अर्जुन ने भी सुभद्रा से विवाह किया था, यद्यपि वह उनकी ममेरी बहिन लगती थी।

जनमेजय—राजर्षियों में से एक तथा महाराज परीक्षित के विख्यात पुत्र। इनकी माता का नाम इरावती अथवा कुछ लोगों के अनुसार माद्रवती था। महाराज जनमेजय के दो पुत्र हुए जिनके नाम थे ज्ञातानीक तथा शंकुकर्ण। उन्होंने कुरुक्षेत्र तीर्थस्थल पर अनेक यज्ञ किये। उनके तीन छोटे भाइयों के नाम श्रुतसेन, उग्रसेन तथा भीमसेन-द्वितीय थे। उन्होंने तक्षला (अजन्ता) पर आक्रमण किया और अपने महान् पिता महाराज परीक्षित को दिये गये अवैध शाप का बदला लेने का निश्चय किया। उन्होंने

अपने पिता को डँसनेवाले तक्षक सहित सर्पों की सम्पूर्ण जाति को विनष्ट करने के लिए सर्प–यज्ञ किया। किन्तु अनेक प्रभावशाली देवताओं तथा मुनियों के आग्रह पर, उन्हें सम्पूर्ण सर्प जाति को विनष्ट करने का अपना निर्णय बदलना पड़ा, किन्तु यज्ञ बन्द करने के बावजूद उन्होंने यज्ञ से सम्बन्धित प्रत्येक व्यक्ति को समुचित पुरस्कार देकर उन्हें सन्तुष्ट किया। इस उत्सव में महामुनि व्यासदेव भी उपस्थित थे और उन्होंने स्वयं राजा के समक्ष कुरुक्षेत्र युद्ध का सारा वृत्तान्त सुनाया। बाद में, व्यासदेव की आज्ञा से उनके शिष्य वैशम्पायन ने राजा को *महाभारत* सुनाया। वे अपने पिता के असामयिक निधन से अत्यधिक दुखी थे और उन्हें दुबारा देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक रहते थे। अतएव उन्होंने महामुनि व्यासदेव से अपनी इच्छा व्यक्त की। व्यासदेव ने उनकी इच्छा पूरी की। उनके पिता उनके समक्ष उपस्थित हुए और उन्होंने अपने पिता एवं व्यासदेव का पूजन बड़े ही आदर तथा धूमधाम से किया। उन्होंने उस यज्ञ में उपस्थित समस्त ब्राह्मणों को अत्यन्त प्रसन्न होकर मुक्तहस्त दान दिया।

आजहाराश्वमेधांस्त्रीन् गङ्गायां भूरिदक्षिणान् ।
शारद्वतं गुरुं कृत्वा देवा यत्राक्षिगोचरा: ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

आजहार—सम्पन्न किया; अश्व-मेधान्—अश्वमेध यज्ञ; त्रीन्—तीन; गङ्गायाम्—गंगा तट पर; भूरि—पर्याप्त; दक्षिणान्—दक्षिणाएँ, पुरस्कार; शारद्वतम्—कृपाचार्य को; गुरुम्—गुरु; कृत्वा—चुनकर; देवाः—देवतागण; यत्र—जहाँ पर; अक्षि—आँखें; गोचराः—दृष्टिगत।

महाराज परीक्षित ने कृपाचार्य को अपना गुरु चुनने के बाद गंगा के तट पर तीन अश्वमेध यज्ञ किये। इन्हें आगन्तुकों एवं निमंत्रितों को पर्याप्त दक्षिणा देकर संपन्न किया गया। इन यज्ञों में सामान्य लोग भी देवताओं का दर्शन पा सके।

तात्पर्य : इस श्लोक से लगता है कि स्वर्ग के निवासियों द्वारा अन्तर्ग्रहीय यात्रा सुगम है। *भागवत* में अनेक स्थलों पर हमने देखा है कि प्रभावशाली राजाओं तथा सम्राटों द्वारा सम्पन्न होनेवाले यज्ञों में स्वर्ग के निवासी भी भाग लेने के लिए पृथ्वी पर आया करते थे। यहाँ भी हम पाते हैं कि महाराज परीक्षित के अश्वमेध यज्ञ में अन्य ग्रहों के देवता यज्ञोत्सव के कारण सामान्य व्यक्ति को भी दिखाई दे रहे थे। देवता सामान्यतया आम लोगों को दृष्टिगोचर नहीं होते, ठीक उसी तरह जिस तरह भगवान् नहीं दिखते। किन्तु जिस तरह भगवान् सामान्य व्यक्ति के लिए दृश्य होने के निमित्त अपनी अहैतुकी कृपा से

अवतरित होते हैं, इसी तरह देवता भी सामान्य व्यक्ति को अपनी कृपा से दृष्टिगोचर हुए। यद्यपि स्वर्ग के निवासी इस पृथ्वी के लोगों की आँखों से दिखते नहीं, किन्तु यह महाराज परीक्षित का प्रताप था कि देवताओं ने दृश्य होना स्वीकार कर लिया। राजागण ऐसे यज्ञों के समय जी खोलकर खर्च करते थे, जिस तरह बादल पानी बरसाते हैं। बादल आखिर पानी का दूसरा रूप ही तो है, अथवा दूसरे शब्दों में पृथ्वी का पानी ही बादलों में रूपान्तरित होता है। इसी प्रकार ऐसे यज्ञों में राजाओं द्वारा दिया गया दान प्रजा से ही संग्रह किये गये कर का दूसरा रूप होता है। किन्तु जिस तरह जब प्रचुर वर्षा होती है, तो वह आवश्यकता से अधिक प्रतीत होती है, उसी तरह ऐसे राजाओं द्वारा दिया दान भी प्रजा की आवश्यकताओं से अधिक प्रतीत होता है। संतुष्ट प्रजा कभी राजा के विरुद्ध संघर्ष नहीं करती, अतएव राजतंत्रीय राज्य को बदलने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती थी।

महाराज परीक्षित जैसे राजा के लिए भी मार्गदर्शन के लिए गुरु की आवश्यकता थी। ऐसे मार्गदर्शन के बिना आध्यात्मिक जीवन में प्रगति कर पाना सम्भव नहीं है। गुरु को प्रामाणिक होना चाहिए और जो आत्म-साक्षात्कार के लिए इच्छुक रहते हैं, उन्हें वास्तविक सफलता प्राप्त करने के लिए प्रामाणिक गुरु के पास पहुँचना चाहिए।

निजग्राहौजसा वीरः कलिं दिग्विजये क्वचित् ।
नृपलिङ्गधरं शूद्रं घ्नन्तं गोमिथुनं पदा ॥ ४॥

शब्दार्थ

निजग्राह—पर्याप्त दण्डित; ओजसा—पराक्रम से; वीरः—वीर पुरुष; कलिम्—इस युग के स्वामी, कलि को; दिग्विजये—विश्व को विजित करने के मार्ग पर; क्वचित्—एक बार; नृप-लिङ्ग-धरम्—राजा का वेश धारण करके विचरण करने वाला; शूद्रम्—नीच जाति का; घ्नन्तम्—चोट पहुँचाते हुए; गो-मिथुनम्—गाय तथा बैल की जोड़ी को; पदा—पाँव में।

एक बार, जब महाराज परीक्षित विश्व-दिग्विजय करने निकले, तो उन्होंने देखा कि कलियुग का स्वामी, जो शूद्र से भी निम्न था, राजा का वेश धारण करके गाय तथा बैल की जोड़ी के पाँवों पर प्रहार कर रहा था। राजा ने उसे पर्याप्त दण्ड देने के लिए तुरन्त पकड़ लिया।

तात्पर्य : दिग्विजय करने के लिए राजा के बाहर निकलने का उद्देश्य आत्मश्लाघा नहीं है। महाराज परीक्षित सिंहासन पर बैठने के बाद दिग्विजय करने निकले थे, किन्तु यह अन्य राजाओं के उत्पीड़न के उद्देश्य से नहीं था। वे विश्व के सम्राट थे और समस्त छोटे-छोटे राज्य उनके अधीन ही थे।

उनका बाहर जाने का उद्देश्य यह देखना था कि क्या राज्य का शासन भगवद्भावनामय ढंग से चल रहा था कि नहीं? भगवान् का प्रतिनिधि होने के कारण राजा को भगवान् की इच्छाओं को भलीभाँति पूरा करना होता है। इसमें आत्मश्लाघा का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव ज्योंही महाराज परीक्षित ने एक निम्न जाति के मनुष्य को राजा के वेश में गाय तथा बैल की जोड़ी के पाँव पर प्रहार करते देखा, तो उन्होंने तुरन्त उसे बन्दी बनाकर दण्ड दिया। राजा न तो सबसे महत्त्वपूर्ण पशु गाय का अनादर होते सह सकता है, न वह सबसे महत्त्वपूर्ण मनुष्य ब्राह्मण का अनादर सह सकता है। मानव सभ्यता का अर्थ है, ब्राह्मण संस्कृति को आगे बढ़ाना और उसके पालन के लिए गोरक्षा अनिवार्य है। गाय के दूध में चमत्कार है, क्योंकि इसमें उच्चतर उपलब्धि के लिए मनुष्य की शारीरिक स्थिति को बनाये रखने के लिए सभी आवश्यक विटामिन रहते हैं। ब्राह्मण संस्कृति तभी प्रगति कर सकती है, जब मनुष्य को सतोगुण विकसित करने की शिक्षा दी जाय और उसके लिए दूध, फल तथा अन्न का तैयार किया गया भोजन मूल आवश्यकता है। महाराज परीक्षित यह देखकर चकित थे कि एक काला शूद्र, राजा का वेश बनाये, मानव समाज के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पशु गाय के साथ दुर्व्यवहार कर रहा था।

कलियुग का अर्थ है, कुव्यवस्था तथा कलह। इस कुव्यवस्था तथा कलह का मूल कारण यह है कि निम्न श्रेणी के निकम्मे व्यक्ति, जिनकी कोई उच्चतर महत्त्वाकांक्षा नहीं है, राज्य के प्रबन्ध में अग्रणी बन जाते हैं। राजा के पद पर ऐसे लोग निश्चित रूप से सर्वप्रथम गाय तथा ब्राह्मण संस्कृति को हानि पहुँचाते हैं, जिससे सारा समाज नरक की ओर आगे बढ़ता है। स्वयं महाराज परीक्षित ने प्रशिक्षित होने के कारण, संसार के सारे झगड़े के मूल कारण की गंध पा ली थी। अतएव वे इसे प्रारम्भ में ही रोक देना चाहते थे।

शौनक उवाच
कस्य हेतोर्निजग्राह कलिं दिग्विजये नृपः ।
नृदेवचिह्नधृक्शूद्रकोऽसौ गां यः पदाहनत् ।
तत्कथ्यतां महाभाग यदि कृष्णकथाश्रयम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

शौनकः उवाच—शौनक ऋषि ने कहा; कस्य—किस; हेतोः—कारण से; निजग्राह—पर्याप्त दण्ड दिया; कलिम्—कलियुग के स्वामी को; दिग्विजये—अपनी विश्व यात्रा के समय; नृपः—राजा; नृ-देव—राजसी व्यक्ति; चिह्न-धृक्—के समान सजा हुआ; शूद्रकः—शूद्रों में भी अधम; असौ—वह; गाम्—गाय को; यः—जो; पदा अहनत्—लात से मारा; तत्—वह सब; कथ्यताम्—कृपा करके कहो; महा-भाग—हे परम भाग्यशाली; यदि—यदि, फिर भी; कृष्ण—कृष्ण विषयक; कथा-आश्रयम्—उनकी कथाओं से सम्बन्धित।

शौनक ऋषि ने पूछा : महाराज परीक्षित ने उसे केवल दण्ड क्यों दिया, जबकि वह शूद्रों में अधम था, उसने राजा का वेश बना रखा था तथा गाय पर पाद प्रहार किया था? ये सब घटनाएं यदि भगवान् कृष्ण की कथा से सम्बन्धित हों, तो कृपया इनका वर्णन करें।

तात्पर्य : शौनक तथा ऋषिगण यह सुनकर विस्मित थे कि पुण्यात्मा महाराज परीक्षित ने अपराधी को केवल दण्डित ही क्यों किया, उसे मार क्यों नहीं डाला? इससे यह सूचित होता है कि महाराज परीक्षित जैसे पुण्यात्मा राजा को चाहिए कि वह ऐसे अपराधी को तुरन्त मार डाले, जो राजा का वेश बनाकर जनता को ठगता है और साथ ही पवित्रतम पशु गाय को अपमानित करने का दुस्साहस करता है। उस काल के ऋषियों ने यह स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी कि कलियुग के अग्रगामी दिनों में निम्नतम शूद्रों को प्रशासक के रूप में चुना जायेगा और गोवध करने के लिए खुले सुनियोजित कसाईघर खोल दिये जायेंगे। जो हो, यद्यपि ऋषियों को उस *शूद्रक* के विषय में सुनना अधिक रुचिकर नहीं लगा, जो ठग था तथा गाय का अपमान करने वाला था, फिर भी वे इसके विषय में यह जानने के लिए सुनना चाहते थे कि इसका सम्बन्ध कहीं भगवान् कृष्ण से तो नहीं है। वे केवल कृष्ण कथा में रुचि रखते थे, क्योंकि कृष्ण कथा से जो भी विषय सम्बन्धित हो, वह श्रवण करने योग्य होता है। *भागवत* में समाज विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, सांस्कृतिक मामले इत्यादि के विषय में अनेक प्रसंग हैं, किन्तु वे सभी कृष्ण से सम्बन्धित हैं, अतएव वे सबके सब श्रवणीय हैं। कृष्ण सभी मामलों के शुद्धकर्ता अवयव हैं, चाहे वे जैसे भी हों। इस संसार में हर वस्तु प्रकृति के तीनों गुणों से उत्पन्न होने के कारण अशुद्ध है। किन्तु कृष्ण शुद्धकर्ता तत्त्व हैं।

अथवास्य पदाम्भोजमकरन्दलिहां सताम् ।
किमन्यैरसदालापैरायुषो यदसद्व्ययः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अथवा—अन्यथा; अस्य—उनका (भगवान् कृष्ण का); पद-अम्भोज—चरणकमल; मकरन्द-लिहाम्—कमल पुष्प के मधु को चाटनेवाले; सताम्—निरन्तर जीवित रहनेवालों के; किम् अन्यैः—अन्य किसी वस्तु से क्या लाभ; असत्—भ्रामक; आलापैः—विषय, प्रसंग; आयुषः—आयु में; यत्—जो है; असत्-व्ययः—जीवन का अपव्यय।

भगवान् के भक्त भगवान् के चरणकमलों से प्राप्त मधु के चाटने के आदी हैं। उन कथा प्रसंगों से क्या लाभ जो मनुष्य के बहुमूल्य जीवन को व्यर्थ नष्ट करें?

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण तथा उनके भक्त दोनों ही दिव्य स्तर पर रहते हैं, अतएव भगवान् कृष्ण तथा उनके शुद्ध भक्तों की कथाएँ समान रूप से उत्तम होती हैं। यद्यपि कुरुक्षेत्र का युद्ध राजनीति तथा कूटनीति से भरा हुआ है, परन्तु इसकी कथाएँ भगवान् श्रीकृष्ण से सम्बन्धित हैं, अतएव *भगवद्गीता* सारे विश्व में पूजित है। राजनीति, अर्थशास्त्र या समाज विज्ञान जो संसारियों के लिए भौतिकतामय हों, उनके उच्छेदन की कोई आवश्यकता नहीं है। शुद्ध भक्त के लिए, जो वास्तव में भगवान् से जुड़ा है, ऐसी संसारी वस्तुएँ दिव्य होती हैं, यदि वे कृष्ण या उनके शुद्ध भक्तों के साथ जुड़ी हों। हम पाण्डवों के कार्यकलापों के सम्बन्ध में कह-सुन चुके हैं और अब हम महाराज परीक्षित की कथाओं के विषय में बातें कर रहे हैं, किन्तु ये सब कथाएँ भगवान् श्रीकृष्ण से सम्बन्धित हैं, अतएव ये सबकी सब दिव्य हैं और शुद्ध भक्त इन्हें बड़ी रुचि से सुनते हैं। हम इस बात को भीष्मदेव की स्तुतियों के प्रसंग में पहले ही बता चुके हैं।

हमारी आयु बहुत लम्बी नहीं होती और ऐसा भी कुछ निश्चित नहीं है कि हमें कब अगली मंजिल के लिए हर वस्तु को छोड़ने के लिए आदेश मिल जाँय। अतएव यह हमारा परम धर्म है कि हम कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी विषय में एक क्षण भी व्यर्थ न बिताएँ। कोई भी विषय कितना ही रोचक क्यों न हो, यदि वह कृष्ण से सम्बन्धित नहीं है, तो सुनने योग्य नहीं होता।

आध्यात्मिक ग्रह गोलोक वृन्दावन, जो भगवान् कृष्ण का सनातन धाम है, कमल पुष्प के गुच्छे के आकार का है। जब भगवान् किसी एक भौतिक ग्रह में भी अवतरित होते हैं, तब वे अपने निजी धाम को यथारूप में प्रकट करके ही ऐसा करते हैं। इस प्रकार उनके चरण सदैव उसी कमलदल के बड़े गुच्छे पर रहते हैं। उनके चरण कमल पुष्प के समान ही सुन्दर हैं, इसीलिए ऐसा कहा जाता है कि भगवान् कृष्ण के पांव कमल-स्वरूप हैं।

जीव वैधानिक रूप से शाश्वत है। वह भौतिक शक्ति के सम्पर्क में रहने के कारण जन्म तथा मृत्यु के भँवर में पड़ा हुआ है। ऐसी भौतिक शक्ति से छूटने पर जीव मुक्त हो जाता है और भगवद्धाम जाने के योग्य बन जाता है। जो लोग अपना शरीर बदले बिना सदा-सदा के लिए जीवित रहना चाहते हैं, उन्हें कृष्ण तथा उनके भक्तों की कथाओं के अतिरिक्त अन्य किसी कथा में अपना बहुमूल्य समय नहीं गँवाना चाहिए।

क्षुद्रायुषां नृणामङ्ग मर्त्यानामृतमिच्छताम् ।
इहोपहूतो भगवान्मृत्युः शामित्रकर्मणि ॥ ७॥

शब्दार्थ

क्षुद्र—अत्यन्त छोटी; आयुषाम्—आयु वाले; नृणाम्—मनुष्यों का; अङ्ग—हे सूत गोस्वामी; मर्त्यानाम्—मरनेवालों का; ऋतम्—शाश्वत् जीवन; इच्छताम्—चाहनेवालों का; इह—यहाँ; उपहूतः—उपस्थित होने के लिए बुलाया गया; भगवान्—भगवान् का प्रतिनिधित्व करते हुए; मृत्युः—मृत्यु के नियंत्रक, यमराज; शामित्र—दमन करते हुए; कर्मणि—कार्यों को।

हे सूत गोस्वामी, मनुष्यों में से कुछ ऐसे हैं, जो मृत्यु से मुक्ति पाने के और शाश्वत जीवन प्राप्त करने के इच्छुक होते हैं। वे मृत्यु के नियंत्रक यमराज को बुलाकर वध किये जाने की क्रिया से बच जाते हैं।

तात्पर्य : जैसे-जैसे जीव निम्नतर पशु जीवन से उच्चतर मनुष्य जीवन में विकसित होकर धीरे-धीरे उच्चतर बुद्धि प्राप्त करता है, त्यों-त्यों वह मृत्यु के पाश से मुक्त होने के लिए उत्सुक रहता है। आधुनिक विज्ञानी शरीर सम्बन्धी रासायनिक ज्ञान की प्रगति द्वारा मृत्यु से बचना चाहते हैं, लेकिन दुर्भाग्यवश मृत्यु के नियंत्रक यमराज इतने क्रूर हैं कि वे खुद उस विज्ञानी तक को नहीं छोड़ते। जो विज्ञानी वैज्ञानिक ज्ञान की प्रगति से मृत्यु रोकने का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है, वह खुद यमराज के बुलाने पर मृत्यु का शिकार बन जाता है। मृत्यु रोकने की बात तो कोसों दूर रही, कोई जीवन की लघु अवधि को क्षण के एक अंश भर भी नहीं बढ़ा सकता। यदि यमराज की क्रूर वध-क्रिया को रोकने की कोई आशा है, तो यही है कि उन्हें बुलाकर भगवान् के पवित्र नाम का श्रवण तथा कीर्तन कराया जाय। यमराज भगवान् के परम भक्त हैं और उन्हें उन शुद्ध भक्तों द्वारा कीर्तनों तथा यज्ञों में आमंत्रित किया जाना अच्छा लगता है, जो भगवान् की भक्ति में निरन्तर लगे रहते हैं। इस तरह, शौनक आदि ऋषियों

ने नैमिषारण्य में सम्पन्न हो रहे यज्ञ में यमराज को सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया। यह उन लोगों के लिए अच्छा हुआ, जो मरना नहीं चाहते थे।

न कश्चिन्म्रियते तावद् यावदास्त इहान्तकः ।
एतदर्थं हि भगवानाहूतः परमर्षिभिः ।
अहो नृलोके पीयेत हरिलीलामृतं वचः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; कश्चित्—कोई; म्रियते—मरेगा; तावत्—तब तक; यावत्—जब तक; आस्ते—उपस्थित हैं; इह—यहाँ; अन्तकः—जीवन का अन्त करने वाले; एतत्—यह; अर्थम्—कारण; हि—निश्चय ही; भगवान्—भगवान् के प्रतिनिधि; आहूतः—आमंत्रित; परम-ऋषिभिः—बड़े-बड़े ऋषियों द्वारा; अहो—ओह; नृ-लोके—मानव समाज में; पीयेत—पीने दो; हरि-लीला—भगवान् की दिव्य लीलाएँ; अमृतम्—अमृत; वचः—कथाएँ।

जब तक सबों की मृत्यु के कारण यमराज यहाँ पर उपस्थित हैं, तब तक किसी की मृत्यु नहीं होगी। ऋषियों ने मृत्यु के नियंत्रक यमराज को आमंत्रित किया है, जो भगवान् के प्रतिनिधि हैं। उनकी पकड़ में आनेवाले सारे जीवों को भगवान् की दिव्य लीलाओं की इस वार्ता के रूप में मृत्युरहित अमृत का श्रवण करने का लाभ उठाना चाहिए।

तात्पर्य : प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि उसकी मृत्यु न हो, किन्तु वह यह नहीं जानता कि मृत्यु से छुटकारा कैसे पाया जाय। मृत्यु से बचने की रामबाण औषधि है भगवान् की उन अमृत-तुल्य लीलाओं का श्रवण करने के लिए अपने को अभ्यस्त करना, जो क्रमबद्ध रूप में *श्रीमद्भागवत* में कही गई हैं। अतएव यहाँ पर यह सलाह दी गई है कि कोई भी मनुष्य, जो मृत्यु से मुक्ति पाने का अभिलाषी है, उसे शौनक आदि ऋषियों द्वारा संस्तुत जीवन-शैली अपनानी चाहिए।

मन्दस्य मन्दप्रज्ञस्य वयो मन्दायुषश्च वै ।
निद्रया ह्रियते नक्तं दिवा च व्यर्थकर्मभिः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

मन्दस्य—आलसी का; मन्द—अल्प; प्रज्ञस्य—बुद्धि का; वयः—आयु; मन्द—लघु; आयुषः—आयु का; च—तथा; वै—ठीक-ठीक; निद्रया—सोने में; ह्रियते—बीत जाती है; नक्तम्—रात्रि; दिवा—दिन; च—भी; व्यर्थ—बेकार; कर्मभिः—कार्यों में।

अल्प बुद्धि तथा कम आयु वाले आलसी मनुष्य रात को सोने में तथा दिन को व्यर्थ के कार्यों में बिता देते हैं।

तात्पर्य : अल्पज्ञ लोग मनुष्य-जीवन के वास्तविक महत्त्व को नहीं जानते। भौतिक प्रकृति के द्वारा जीव पर दुखदायी कठोर नियम लागू करने की प्रक्रिया के दौरान जीव को मनुष्य-जीवन प्रदान करना प्रकृति का एक विशेष उपहार है। यह जीवन के सर्वोच्च वरदान को प्राप्त करने, अर्थात् बारम्बार होने वाले जन्म तथा मृत्यु के बन्धन से निकलने के लिए अच्छा अवसर होता है। बुद्धिमान लोग, बन्धन से निकलने के लिए कठिन प्रयत्न द्वारा इस महत्त्वपूर्ण उपहार की रक्षा करते हैं, लेकिन अल्पज्ञ लोग आलसी होते हैं और इस उपहारस्वरूप मानव-शरीर को भव-बन्धन से मोक्ष पाने के लिए प्रयोग करने में असमर्थ रहते हैं। वे तो तथाकथित आर्थिक विकास में अधिक रुचि दिखाते हैं और क्षणिक शरीर के इन्द्रिय-भोग हेतु ही जीवन भर कठिन श्रम करते रहते हैं। प्रकृति ने इन्द्रिय-भोग की अनुमति तो पशुओं को भी दे रखी है और इस तरह मनुष्य को भी, अपने पूर्वजन्म या इस जन्म के अनुसार, कुछ न कुछ इन्द्रियभोग तो दिया ही गया है। लेकिन मनुष्य को इतना अवश्य समझना चाहिए कि इन्द्रियभोग इस मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है। यहाँ कहा गया है कि दिन में मनुष्य व्यर्थ ही कार्य करता है, क्योंकि एकमात्र लक्ष्य इन्द्रियभोग रहता है। हम विशेष करके बड़े-बड़े शहरों में तथा औद्योगिक नगरों में देख सकते हैं कि किस तरह मनुष्य व्यर्थ के कार्यों में लगा रहता है। मानवीय शक्ति से तरह-तरह की वस्तुएँ निर्मित की जाती हैं, किन्तु वे सब इन्द्रियभोग के लिए ही होती हैं, भवबन्धन से छूटने के लिए नहीं। दिन भर कठिन श्रम करने के बाद, थका-हारा मनुष्य रात में या तो सो जाता है या संभोग करता है। अल्पज्ञों के लिए भौतिकतावादी सभ्य जीवन का यही कार्यक्रम होता है। अतएव यहाँ पर उन्हें आलसी, अभागे तथा अल्पायु वाले कहे गये हैं।

सूत उवाच
यदा परीक्षित् कुरुजाङ्गलेऽवसत्
कलिं प्रविष्टं निजचक्रवर्तिते ।
निशम्य वार्तामनतिप्रियां ततः
शरासनं संयुगशौण्डिराददे ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; यदा—जब; परीक्षित्—महाराज परीक्षित; कुरु-जाङ्गले—कुरु प्रदेश की राजधानी में; अवसत्—रहते थे; कलिम्—कलियुग के लक्षण; प्रविष्टम्—प्रवेश किया; निज-चक्रवर्तिते—अपनी सीमा में; निशम्य—इस तरह का सुनकर; वार्ताम्—समाचार को; अनति-प्रियाम्—अधिक रोचक नहीं; ततः—तत्पश्चात्; शरासनम्—धनुष-बाण; संयुग—अवसर पाकर; शौण्डिः—वीरोचित कार्य-कलाप; आददे—ग्रहण किया।.

सूत गोस्वामी ने कहा : जब महाराज परीक्षित कुरु-साम्राज्य की राजधानी में रह रहे थे, तो अपने राज्य की सीमा के भीतर कलियुग के लक्षणों को प्रवेश होते देखा। जब उन्हें इसका पता चला, तो उन्हें यह रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। लेकिन इससे उन्हें उसके विरुद्ध लड़ने का अवसर अवश्य प्राप्त हो सका। अतएव उन्होंने अपना धनुष-बाण उठाया और सैनिक कार्यवाही के लिए सन्नद्ध हो गये।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित का राज्य-प्रशासन इतना चुस्त था कि वे अपनी राजधानी में शान्तिपूर्वक रह रहे थे। लेकिन उन्हें समाचार मिल गया कि कलियुग के लक्षण उनकी राज्य सीमा में प्रवेश पा चुके हैं, और उन्हें यह समाचार अच्छा नहीं लगा। कलियुग के लक्षण क्या हैं? ये इस प्रकार हैं: (१) स्त्रियों के साथ अवैध सम्बन्ध, (२) मांस-भक्षण की लत, (३) मादक द्रव्य सेवन (नशा); तथा (४) द्यूत-क्रीड़ा में रुचि। कलियुग का शाब्दिक अर्थ कलह का युग है और मानव समाज में उपर्युक्त चारों लक्षण सभी प्रकार के कलह के मुख्य कारण होते हैं। महाराज परीक्षित ने सुना कि उनके राज्य के कुछ लोग पहले ही उन लक्षणों के शिकार हो चुके हैं, अतएव वे चाह रहे थे कि अशान्ति के ऐसे कारणों के विरुद्ध अविलम्ब कदम उठाये जाँय। इसका अर्थ यह हुआ कि कम से कम महाराज परीक्षित के राज्य-काल तक जन-जीवन में ऐसे लक्षण व्यावहारिक रूप से अज्ञात थे और ज्योंही उनका थोड़ा पता चला, त्योंही वे उन्हें समूल नष्ट कर देना चाहते थे। यह समाचार उन्हें रुचिकर नहीं लगा, लेकिन एक दृष्टि से महाराज परीक्षित को युद्ध करने का यह अवसर मिल रहा था। यद्यपि छोटे-छोटे राज्यों से लड़ने की आवश्यकता न थी, क्योंकि वे सभी शान्तिपूर्वक उनके अधीन थे, लेकिन कलियुग के दुष्टों ने उन्हें अवसर प्रदान किया कि वे अपनी शूरता का प्रदर्शन कर सकें। पक्का क्षत्रिय, युद्ध का अवसर पाते ही, प्रफुल्लित होता है, जिस तरह खेल के मैच का अवसर उपस्थित होने पर खिलाड़ी उत्सुक हो उठता है। यह कोई तर्क नहीं है कि कलियुग में ऐसे लक्षण पूर्व-निर्धारित होते हैं। यदि ऐसा होता तो फिर ऐसे लक्षणों के विरुद्ध चढ़ाई करने की क्या आवश्यकता थी? ऐसे तर्क

आलसी तथा अभागे लोग ही देते हैं। वर्षाऋतु में वर्षा अवश्यम्भावी है; फिर भी लोग अपनी सुरक्षा के लिये सावधानी बरतते हैं। इसी प्रकार कलियुग में सामाजिक जीवन में उपर्युक्त लक्षणों का प्रविष्ट होना अवश्यम्भावी है, लेकिन यह राज्य का कर्तव्य है कि नागरिकों को कलियुग के एजेण्टों के सम्पर्क से बचाएँ। महाराज परीक्षित कलि के लक्षणों में शरीक होनेवाले दुष्टों को दण्डित करना चाह रहे थे और इस तरह धर्मात्मा एवं निर्दोष नागरिकों को बचाना चाहते थे। राजा का धर्म है कि वह ऐसी सुरक्षा प्रदान करे और यह ठीक ही था कि महाराज परीक्षित लड़ने के लिए तैयार हो गये।

स्वलङ्कृतं श्यामतुरङ्गयोजितं
रथं मृगेन्द्रध्वजमाश्रित: पुरात् ।
वृतो रथाश्वद्विपपत्तियुक्तया
स्वसेनया दिग्विजयाय निर्गत: ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सु-अलङ्कृतम्—अच्छी तरह से सजकर; श्याम—काले; तुरङ्ग—घोड़े; योजितम्—जोते हुए; रथम्—रथ को; मृग-इन्द्र—सिंह; ध्वजम्—ध्वजा लगी; आश्रित:—संरक्षण में; पुरात्—राजधानी से; वृत:—घिरा हुआ; रथ—सारथी; अश्व—अश्वारोही दल; द्विपपत्ति—हाथी; युक्तया—इस तरह सुसज्जित; स्व-सेनया—पैदल सेना के साथ; दिग्विजयाय—जीतने के लिए; निर्गत:—बाहर गया।

महाराज परीक्षित काले घोड़ों द्वारा खींचे जानेवाले रथ पर सवार हो गये। उनकी ध्वजा पर सिंह का चिन्ह अंकित था। इस प्रकार सुसज्जित होकर तथा सारथियों, अश्वारोहियों, हाथीयों तथा पैदल सैनिकों से घिरे हुए, उन्होंने सभी दिशाएँ जीतने के लिए राजधानी से प्रस्थान किया।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित अपने पितामह अर्जुन से इस बात में भिन्न थे कि उनके रथ को खींचनेवाले घोड़े श्वेत रंग के न होकर काले रंग के थे। उनकी ध्वजा का चिह्न सिंह था, जबकि उनके पितामह की ध्वजा पर हनुमानजी चिह्नित थे। महाराज परीक्षित जैसा राजसी जुलूस जिसमें सुसज्जित रथ, घोड़े, हाथी, पैदल सिपाही तथा बैण्ड थे, नेत्रों को अत्यन्त सुहावना लगने वाला था, लेकिन साथ ही ऐसी सभ्यता का प्रतीक है, जो लड़ाई के मैदान में भी सौन्दर्य-परक था।

भद्राश्वं केतुमालं च भारतं चोत्तरान् कुरून् ।
किम्पुरुषादीनि वर्षाणि विजित्य जगृहे बलिम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

भद्राश्वम्—भद्राश्व; केतुमालम्—केतुमाल; च—भी; भारतम्—भारत; च—तथा; उत्तरान्—उत्तरी देश; कुरून्—कुरुवंश का राज्य; किम्पुरुष-आदीनि—हिमालय की उत्तरी दिशा के आगे का देश; वर्षाणि—पृथ्वी-लोक के भागों को; विजित्य—जीतकर; जगृहे—वसूल किया; बलिम्—भेंटें।

तब महाराज परीक्षित ने पृथ्वी-लोक के समस्त भागों—भद्राश्व, केतुमाल, भारत, कुरुजांगल का उत्तरी भाग, किम्पुरुष इत्यादि को जीत लिया और उनके शासकों से भेंटें वसूल कीं।

तात्पर्य : *भद्राश्व*—यह मेरु पर्वत के निकट का द्वीप है और यह गंधमादन पर्वत से खारे पानी के समुद्र तक फैला हुआ है। *महाभारत* (भीष्म पर्व ७.१४-१८) में इस द्वीप का वर्णन है। संजय ने धृतराष्ट्र को इसका वर्णन सुनाया था।

महाराज युधिष्ठिर ने भी इस द्वीप को जीता था और यह प्रान्त उनके राज्य की सीमा के भीतर आ गया था। महाराज परीक्षित को पहले ही अपने पितामह द्वारा शासित सारे देशों का सम्राट घोषित किया गया था, लेकिन उन्हें उस समय अपनी श्रेष्ठता स्थापित करनी थी, जब वे ऐसे राज्यों से भेंटें लेने के लिए राजधानी से बाहर निकले थे।

केतुमाल—यह पृथ्वी-लोक सात समुद्रों द्वारा सात द्वीपों में विभक्त है, और जम्बूद्वीप नामक केन्द्रीय द्वीप नौ वर्षों मे अर्थात् नौ भागों में आठ विशाल पर्वतों द्वारा विभाजित किया जाता है। इनमें से भारतवर्ष भी एक है और केतुमाल को भी उपर्युक्त वर्षों में एक बताया गया है। ऐसा कहा जाता है कि केतुमाल वर्ष की स्त्रियाँ अत्यन्त सुन्दर होती हैं। इस 'वर्ष' अर्थात् भू-भाग को अर्जुन ने भी जीता था। इस भू-भाग का वर्णन *महाभारत* (सभा-पर्व २८.६) में उपलब्ध है।

ऐसा कहा जाता है कि विश्व का यह भाग मेरु पर्वत के पश्चिम में स्थित है और इस प्रान्त के निवासी दस हजार वर्षों तक जीवित रहते थे (भीष्म-पर्व ६.३१)। इस भाग के मनुष्य सुनहरे रंग के होते हैं और स्त्रियाँ स्वर्ग की अप्सराओं के समान होती हैं। यहाँ के निवासी सभी प्रकार के रोगों तथा शोकों से मुक्त होते हैं।

भारतवर्ष—संसार का यह भाग भी जम्बूद्वीप के नौ वर्षों में से एक है। भारतवर्ष का वर्णन *महाभारत* (भीष्म पर्व, अध्याय ९ और १०) में दिया हुआ है।

जम्बूद्वीप के मध्य में इलावृत वर्ष है और इलावृतवर्ष के दक्षिण में हरिवर्ष है। इन वर्षों का वर्णन *महाभारत* (सभापर्व २८.७-८) में इस प्रकार दिया गया है—

नगरांश्च वनांश्चैव नदीश्च विमलोदकाः ।

पुरुषान्देवकल्पांश्च नारीश्च प्रिय-दर्शनाः ॥

अदृष्टपूर्वान् सुभगान् स ददर्श धनञ्जयः ।

सदनानि च शुभ्राणि नारीश्चाप्सरसां निभाः ॥

यहाँ पर उल्लेख है कि इन दोनों वर्षोंकी स्त्रियाँ सुन्दर होती हैं और उनमें से कुछ तो अप्सराओं के तुल्य होती हैं।

उत्तरकुरु—वैदिक भूगोल के अनुसार, जम्बूद्वीप का उत्तरी भाग उत्तरकुरुवर्ष कहलाता है। यह तीन ओर से नमकीन पानी के समुद्र से घिरा है और हिरण्मय वर्ष से शृंगवान् पर्वत के द्वारा विभाजित होता है।

किम्पुरुष वर्ष—बताया जाता है कि यह वर्ष महान् हिमालय पर्वत के उत्तर में स्थित है, जो लम्बाई और ऊँचाई में ८० हजार मील है और चौड़ाई में १६ हजार मील है। विश्व के इन भागों को भी अर्जुन ने जीता था (सभापर्व २८.१-२)। किम्पुरुष लोग दक्ष की पुत्री की सन्तानें हैं। जब महाराज युधिष्ठिर ने अश्वमेघ यज्ञ किया था, तो इन देशों के निवासी भी उस उत्सव में भाग लेने आये थे और उन्होंने सम्राट का यशोगान किया था। विश्व के इस भाग को किम्पुरुष वर्ष या कभी-कभी हिमवती (हिमालय के प्रान्त) कहा जाता है। कहा जाता है कि शुकदेव गोस्वामी इस हिमालय प्रान्त में पैदा हुए थे और वे हिमालय देशों को पार करके भारतवर्ष आये थे।

दूसरे शब्दों में, महाराज परीक्षित ने सारा विश्व जीत लिया था। उन्होंने सभी महाद्वीपों की सभी दिशाओं के समस्त सागरों से सटे हुए भाग अर्थात् पूर्वी, पश्चिमी, उत्तरी और दक्षिणी भागों को जीत लिया था।

तत्र तत्रोपशृण्वानः स्वपूर्वेषां महात्मनाम् ।
प्रगीयमाणं च यशः कृष्णमाहात्म्यसूचकम् ॥ १३ ॥

आत्मानं च परित्रातमश्वत्थाम्नोऽस्त्रतेजसः ।
स्नेहं च वृष्णिपार्थानां तेषां भक्तिं च केशवे ॥ १४॥
तेभ्यः परमसन्तुष्टः प्रीत्युज्जृम्भितलोचनः ।
महाधनानि वासांसि ददौ हारान् महामनाः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तत्र तत्र—जहाँ-जहाँ राजा गये; उपशृण्वानः—निरन्तर सुनते रहे; स्व-पूर्वेषाम्—अपने पुरखों के विषय में; महा-आत्मनाम्—जो सबके सब भगवान् के महान् भक्त थे; प्रगीयमाणम्—इस तरह सम्बोधित करनेवालों को; च—भी; यशः—यश; कृष्ण—भगवान् कृष्ण; माहात्म्य—यशस्वी कार्य; सूचकम्—सूचित करनेवाले; आत्मानम्—अपने को; च—भी; परित्रातम्—उद्धार किया; अश्वत्थाम्नः—अश्वत्थामा का; अस्त्र—हथियार; तेजसः—शक्तिशाली किरणें; स्नेहम्—स्नेह; च—भी; वृष्णि-पार्थानाम्—वृष्णि तथा पृथा की सन्तानों के बीच; तेषाम्—उन सब की; भक्तिम्—भक्ति; च—भी; केशवे—भगवान् कृष्ण में; तेभ्यः—उनको; परम—अत्यधिक; सन्तुष्टः—प्रसन्न; प्रीति—आकर्षण; उज्जृम्भित—हर्ष से खुले; लोचनः—नेत्रोंवाला; महा-धनानि—बहुमूल्य धन; वासांसि—वस्त्र; ददौ—दान में दिया; हारान्—गले के हार; महा-मनाः—विशाल हृदय-वाला।

राजा जहाँ कहीं भी जाते, उन्हें निरन्तर अपने उन महान् पूर्वजों का यशोगान सुनने मिलता, जो सभी भगवद्भक्त थे, तथा भगवान् श्रीकृष्ण के यशस्वी कार्यों की गाथा सुनने को भी मिलती। वे यह भी सुनते कि किस तरह वे स्वयं अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र के प्रचण्ड ताप से भगवान् कृष्ण द्वारा बचाये गये थे। लोग वृष्णि तथा पृथा-वंशियों के मध्य अत्यधिक स्नेह का भी उल्लेख करते, क्योंकि पृथा भगवान् केशव के प्रति अत्यधिक श्रद्धावान थी। राजा ने ऐसे यशोगान करनेवालों से अत्यधिक प्रसन्न होकर परम सन्तोष के साथ अपनी आँखें खोलीं। उदारतावश उन्होंने प्रसन्न होकर उन्हें मूल्यवान मालाएँ तथा वस्त्र भेंट किये।

तात्पर्य : राजाओं तथा राज्य के बड़े-बड़े लोगों को स्वागत के सम्बोधनों द्वारा मान दिया जाता है। यह प्रथा अनादिकाल से चली आ रही है। महाराज परीक्षित तो विश्व के विख्यात सम्राटों में से थे, अतएव वे विश्व के जिन-जिन स्थानों में जाते, वहीं उनको मानपत्र दिया जाता। इन सम्बोधनों के विषय होते थे कृष्ण। कृष्ण का अर्थ है कृष्ण तथा उनके सनातन भक्त, जिस तरह राजा का अर्थ होता है, राजा तथा उसके विश्वासपात्र दरबारी-गण।

कृष्ण तथा उनके अनन्य भक्तों को विलग नहीं किया जा सकता। अतएव भक्त के यशोगान का अर्थ है, भगवान् का यशोगान और भगवान् के यशोगान का अर्थ है भक्त का यशोगान। महाराज परीक्षित को अपने पूर्वज, महाराज युधिष्ठिर तथा अर्जुन का यशोगान सुनकर इतनी प्रसन्नता न होती, यदि वे सब भगवान् कृष्ण के कार्यकलापों से जुड़े न होते। भगवान् अपने भक्तों का उद्धार करने

(*परित्राणाय साधूनाम्*) के उद्देश्य से ही अवतरित होते हैं। भक्तगण भगवान् की उपस्थिति से ही महिमामंडित हो जाते हैं, क्योंकि वे भगवान् तथा उनकी विभिन्न शक्तियों के बिना क्षण भर भी नहीं रह सकते। भक्तों के लिए भगवान् अपने कार्यों तथा महिमा से उपस्थित रहते हैं। अतएव जब भगवान् के कार्यों द्वारा उनका यशोगान किया जा रहा था, तो उन्हें भगवान् की उपस्थिति का अनुभव हुआ, विशेष रूप से जब भगवान् ने माता के गर्भ में ही उनकी रक्षा की थी। भगवान् के भक्त कभी संकट में नहीं होते, किन्तु भौतिक जगत में वे ऊपरी रूप से भयावह परिस्थितियों में पड़ जाते हैं, क्योंकि यह जगत पद-पद पर संकटों से भरा हुआ है। अतएव जब भगवान् द्वारा भक्तों की रक्षा होती है, तो भगवान् का यशोगान किया जाता है। यदि पाण्डव जैसे भगवद्भक्त कुरुक्षेत्र के युद्ध में फँसे न होते, तो भगवान् कृष्ण कभी भी *भगवद्गीता* के उद्घोषक के रूप में महिमामण्डित न किये जाते। स्वागत-उद्बोधन में भगवान् के ऐसे समस्त कार्यों का उल्लेख था, अतएव महाराज परीक्षित ने पूर्ण रूप से सन्तुष्ट होकर ऐसे मानपत्र भेंट करनेवालों को पुरस्कृत किया। आज के तथा तब के स्वागत-उद्बोधन करने में यही अन्तर है कि प्राचीन समय में महाराज परीक्षित जैसे व्यक्ति को ही ऐसे उद्बोधन भेंट किये जाते थे। ऐसे उद्बोधन तथ्यों तथा आँकड़ों से भरे होते थे और जो इन उद्बोधनों को भेंट करता था, वह प्रचुर पुरस्कार पाता था। किन्तु आजकल जो स्वागत-उद्बोधन भेंट किया जाता है, उसमें वास्तविक आँकड़े नहीं रहते। वह किसी पदाधिकारी को प्रसन्न करने के लिए भेंट किया जाता है और प्राय: चापलूसी से भरा हुआ रहता है। और शायद ही ऐसा मान भेंट करनेवाला कभी कोई पुरस्कार पाता हो।

सारथ्यपारषदसेवनसख्यदौत्य-
वीरासनानुगमनस्तवनप्रणामान् ।
स्निग्धेषु पाण्डुषु जगत्प्रणतिं च विष्णो-
र्भक्तिं करोति नृपतिश्चरणारविन्दे ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सारथ्य—सारथी के पद की स्वीकृति; **पारषद**—राजसूय यज्ञ की सभा में प्रधान पद की स्वीकृति (अग्रत्व); **सेवन**—भगवान् की सेवा में मन को निरन्तर लगाना; **सख्य**—भगवान् को मित्र-रूप में सोचना; **दौत्य**—दूत-पद को स्वीकारना; **वीर-आसन**—रात्रि में हाथ में तलवार लिए रखवाले के पद की स्वीकृति; **अनुगमन**—चरणचिह्नों पर चलना; **स्तवन**—प्रार्थना करना; **प्रणामान्**—प्रणाम् करते हुए; **स्निग्धेषु**—जो लोग भगवान् की इच्छा के प्रति विनम्र हैं उनको, विनीत; **पाण्डुषु**—पाण्डवों में;

जगत्—विश्व; प्रणतिम्—जिसकी आज्ञा का पालन किया जाय, उसको; च—तथा; विष्णोः—विष्णु की; भक्तिम्—भक्ति; करोति—करता है; नृ-पतिः—राजा; चरण-अरविन्दे—भगवान् के चरणकमलों पर।

महाराज परीक्षित ने सुना कि जिन भगवान् कृष्ण (विष्णु) की आज्ञा का पालन सारा जगत करता है, उन्होंने अपनी अहैतुकी कृपा से पाण्डु के विनीत पुत्रों की उनकी इच्छानुसार सभी प्रकार से सेवाएँ कीं, जिनमें सारथी बनने से लेकर अग्रपूजा ग्रहण करने तथा दूत बनने, मित्र बनने, रात्रि में रक्षक बनकर सेवाएँ करने के कार्य सम्मिलित हैं। उन्होंने सेवक की भाँति पाण्डवों की आज्ञा का पालन किया तथा आयु में छोटों की भाँति उन्हें प्रणाम किया। जब महाराज परीक्षित ने यह सब सुना, तो वे भगवान् के चरणकमलों की भक्ति से अभिभूत हो उठे।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण पाण्डवों जैसे अनन्य भक्तों के लिए सर्वस्व हैं। वे उनके लिए परमेश्वर, गुरु, आराध्य देव, पथ-प्रदर्शक, सारथी, मित्र, सेवक, दूत तथा जो कुछ भी सोचा जा सकता है, वह सब कुछ थे। इस प्रकार भगवान् ने भी पाण्डवों की भावनाओं का प्रतिदान किया। भगवान् के शुद्ध भक्त के रूप में महाराज परीक्षित भगवान् द्वारा अपने भक्तों की भावनाओं के दिव्य आदान-प्रदान का महत्त्व समझ सकते थे और इस तरह वे स्वयं भगवान् के आचरण से अभिभूत थे। मात्र अपने शुद्ध भक्तों के साथ भगवान् के आचरण के महत्त्व को समझ लेने से ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। यद्यपि भक्तों के साथ भगवान् के आचरण सामान्य मानवीय आचरण जैसे प्रतीत होते हैं, लेकिन जो उन्हें यथार्थ रूप में समझता है, वह तुरन्त ही भगवद्धाम जाने के लिए सुपात्र बन जाता है। पाण्डवजन भगवान् की इच्छा के प्रति इतने विनीत थे कि वे भगवान् की सेवा में कितनी ही शक्ति लगा सकते थे और ऐसे अनन्य संकल्प से वे इच्छित रूप में भगवान् की कृपा के भाजन बन सके थे।

तस्यैवं वर्तमानस्य पूर्वेषां वृत्तिमन्वहम् ।
नातिदूरे किलाश्चर्यं यदासीत् तन्निबोध मे ॥ १७॥

शब्दार्थ

तस्य—महाराज परीक्षित का; एवम्—इस प्रकार; वर्तमानस्य—ऐसे विचारों में लीन रहकर; पूर्वेषाम्—अपने पूर्वजों में; वृत्तिम्—अच्छा कार्य; अन्वहम्—दिन-प्रतिदिन; न—नहीं; अति-दूरे—काफी दूर; किल—निश्चय ही; आश्चर्यम्—आश्चर्यजनक; यत्—वह; आसीत्—था; तत्—जो; निबोध—उसे जानो; मे—मुझसे।

अब तुम लोग मुझसे वह घटना सुन सकते हो, जो तब घटी, जब महाराज परीक्षित अपने पूर्वजों की उत्तम वृत्तियों के विषय में सुनते हुए तथा उन विचारों में डूबे हुए अपने दिन बिता रहे थे।

धर्म: पदैकेन चरन् विच्छायामुपलभ्य गाम् ।
पृच्छति स्माश्रुवदनां विवत्सामिव मातरम् ॥ १८॥

शब्दार्थ

धर्म:—साक्षात् धर्म; पदा—पाँव से; एकेन—एक ही; चरन्—विचरण करते; विच्छायाम्—शोक की छाया से ग्रसित; उपलभ्य—मिलकर; गाम्—गाय को; पृच्छति—पूछते हुए; स्म—सहित; अश्रु-वदनाम्—मुख-मंडल में अश्रुओं सहित; विवत्साम्—बिना बछड़े की; इव—सदृश; मातरम्—माता को।.

साक्षात् धर्म, बैल के रूप में विचरण कर रहा था। उसे गाय के रूप में साक्षात् पृथ्वी मिली, जो ऐसी माता के समान शोकग्रस्त दिखाई पड़ी, जो अपना पुत्र खो चुकी हो। उसकी आँखों में आँसू थे और उसके शरीर का सौन्दर्य उड़ गया था। धर्म ने पृथ्वी से इस प्रकार प्रश्न किया।

तात्पर्य : बैल नैतिक सिद्धान्त का प्रतीक है और गाय पृथ्वी की प्रतिनिधि है। जब बैल तथा गाय प्रसन्न मुद्रा में रहते हैं, तो यह माना जाता है कि संसार भर के लोग भी प्रसन्न हैं। इसका कारण यह है कि बैल खेतों से अन्न उपजाने में सहायता करता है और गाय दूध देती है, जो समग्र भोज्य आहारों में चमत्कारिक पदार्थ है। अत: मानव समाज इन दो महत्त्वपूर्ण पशुओं का बड़ी ही सावधानी से पालन करता है, जिससे वे प्रसन्नतापूर्वक सर्वत्र विचरण कर सकें। लेकिन आज के समय में इस कलियुग में बैल तथा गाय दोनों का वध हो रहा है और दोनों ही उन लोगों द्वारा भोजन के रूप में उपयोग में लाये जा रहे हैं, जो ब्राह्मण संस्कृति को नहीं जानते। समस्त मानव समाज के कल्याण हेतु ब्राह्मण सभ्यता को समस्त सांस्कृतिक मामलों में सर्वोपरि सिद्धि मानकर बैल तथा गाय को बचाया जा सकता है। ऐसी संस्कृति की समृद्धि से समाज का मनोबल समुचित रूप से बना रहता है और इस तरह बिना किसी बाहरी प्रयास के ही शान्ति तथा सम्पन्नता प्राप्त हो जाती है। जब ब्राह्मण संस्कृति का पतन होता है, तो गाय-बैल के साथ दुर्व्यवहार होता है और जो परिणाम निकलता है उसके निम्नलिखित प्रभुख लक्षण हैं।

धर्म उवाच

कच्चिद्भद्रेऽनामयमात्मनस्ते
विच्छायासि म्लायतेषन्मुखेन ।
आलक्षये भवतीमन्तराधिं
दूरे बन्धुं शोचसि कञ्चनाम्ब ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

धर्मः उवाच—धर्म ने पूछा; कच्चित्—क्या; भद्रे—महोदया; अनामयम्—स्वस्थ एवं प्रसन्न; आत्मनः—स्वयं; ते—आपको; विच्छाया असि—शोक की छाया से आवृत प्रतीत होते हैं; म्लायता—श्याम रंग की; ईषत्—कुछ-कुछ; मुखेन—मुख मंडल से; आलक्षये—आप दिखती हो; भवतीम्—आप; अन्तराधिम्—आन्तरिक व्याधि; दूरे—दूर स्थित; बन्धुम्—मित्र के विषय में; शोचसि—चिन्ता कर रहे हैं; कञ्चन—कोई; अम्ब—हे माता।

धर्म ने (बैल रूप में) पूछा : हे महोदया, आप स्वयं स्वस्थ तथा प्रसन्न तो हैं? आप शोक की छाया से आवृत क्यों हैं? आपके मुख से ऐसा लगता है कि आप म्लान पड़ गई हैं। क्या आपको कोई भीतरी रोग हो गया है या आप अपने किसी दूर स्थित सम्बन्धी के विषय में सोच रही हैं?

तात्पर्य : इस कलियुग में विश्व भर के लोग सदैव चिन्ताग्रस्त रहते हैं। हर एक किसी न किसी रोग से ग्रस्त है। इस युग के लोगों के चेहरों से ही उनके मनों की बात पढ़ी जा सकती है। हर व्यक्ति, घर से दूर स्थित अपने सम्बन्धी की अनुपस्थिति का अनुभव करता है। कलियुग का विशेष लक्षण यह है कि कोई भी परिवार अब एकसाथ रहने का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर पाता। जीविकोपार्जन के लिए पिता अपने पुत्र से, अथवा पत्नी अपने पति से दूर रहती है। आन्तरिक रोग, प्रियजनों से विछोह तथा पूर्ववत् स्थिति बनाये रखने की चिन्ता सबों को सताती है। ये कतिपय कारण हैं जिनसे इस युग के लोग सदैव दुखी रहते हैं।

पादैर्न्यूनं शोचसि मैकपाद-
मात्मानं वा वृषलैर्भोक्ष्यमाणम् ।
आहो सुरादीन् हृतयज्ञभागान्
प्रजा उत स्विन्मघवत्यवर्षति ॥ २० ॥

शब्दार्थ

पादैः—तीन पाँवों से; न्यूनम्—विहीन; शोचसि—क्या आप शोक कर रही हो; मा—मेरा; एक-पादम्—केवल एक पाँव; आत्मानम्—अपना शरीर; वा—अथवा; वृषलैः—अवैध मांस-भक्षकों के द्वारा; भोक्ष्यमाणम्—शोषित किये जाने के लिए; आहोः—यज्ञ में; सुर-आदीन्—देवता-गण; हृत-यज्ञ—यज्ञ से रहित; भागान्—हिस्से; प्रजाः—जीव; उत—बढ़ता हुआ; स्वित्—कहीं; मघवति—दुर्भिक्ष में; अवर्षति—वर्षा न होने से।

मेरे तीन पाँव नहीं रहे और अब मैं केवल एक पाँव पर खड़ा हूँ। क्या आप मेरी इस दशा पर शोक कर रही हैं या इस बात पर कि अब आगे अवैध मांस-भक्षक आपका शोषण करेंगे? या आप इसलिए दुखी हैं कि अब देवताओं को यज्ञ की बलि में से अपना हिस्सा नहीं मिल रहा, क्योंकि इस समय कोई यज्ञ सम्पन्न नहीं हो रहे? या आप दुर्भिक्ष तथा सूखे के कारण दुखी जीवों के लिए दुखित हो रही हैं?

तात्पर्य : ज्यों-ज्यों कलियुग आगे बढ़ेगा, त्यों-त्यों चार बातों का विशेष रूप से क्षरण होता जायेगा। ये हैं—आयु, दया, स्मरण-शक्ति तथा नैतिक और धार्मिक सिद्धान्त। चूँकि धर्म के चार भागों में से तीन भाग का लोप हो जायेगा, अतएव प्रतीक-स्वरूप बैल केवल एक पैर पर खड़ा था। जब सारे संसार की तीन चौथाई जनता धर्म-हीन हो जाती है, तो पशुओं के लिए नरक-जैसी-स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कलियुग में ईश्वर-विहीन सभ्यताएँ अनेक तथाकथित समितियों को जन्म देंगी, जिनमें ईश्वर की प्रत्यक्ष या परोक्ष निन्दा की जाएगी। और इस प्रकार नास्तिक समितियाँ दुनिया को ऐसा बना देगी, जिससे दुनिया अच्छे लोगों के लिए बसने योग्य नहीं रहेगी। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति श्रद्धा के अनुपात के अनुसार मनुष्य की कोटियाँ होती हैं। सर्वश्रेष्ठ श्रद्धालु व्यक्ति वैष्णव तथा ब्राह्मण हैं, तब क्षत्रिय, फिर वैश्य, तब शूद्र, फिर म्लेच्छ, यवन और अन्त में चण्डाल आते हैं। मानवीय भाव का पतन म्लेच्छों से प्रारम्भ हो जाता है और मनुष्य जाति के पतन में चण्डाल तो अवनति की अन्तिम अवस्था है। वैदिक साहित्य में उल्लिखित ये सारे शब्द किसी जाति-विशेष या जन्म के लिए प्रयुक्त नहीं हैं। ये सामान्य रूप से मनुष्यों के विभिन्न गुण हैं। जन्म-अधिकार या जाति का कोई प्रश्न नहीं है। कोई भी व्यक्ति अपने निजी प्रयासों से इन गुणों को अर्जित कर सकता है और इस तरह वैष्णव का पुत्र म्लेच्छ बन सकता है या चण्डाल का पुत्र ब्राह्मण से भी बढ़कर हो सकता है। यह सब उनके सत्संग तथा भगवान् के साथ उनके घनिष्ठ सम्बन्ध के सापेक्ष होता है।

सामान्यतया मांस खानेवालों को *म्लेच्छ* कहा जाता है। किन्तु सारे मांस-भक्षक म्लेच्छ नहीं होते। जो लोग शास्त्रीय आदेशानुसार मांस ग्रहण करते हैं, वे म्लेच्छ नहीं हैं, किन्तु जो बिना रोक-टोक के मांस-भक्षण करते हैं, वे म्लेच्छ हैं। शास्त्रों में गो-मांस वर्जित है और वेदों के अनुयायी बैलों तथा गायों को विशेष संरक्षण प्रदान करते हैं। लेकिन इस कलियुग में लोग गाय तथा बैल के शरीर का इच्छानुसार शोषण करेंगे और इस तरह वे नाना प्रकार के कष्टों को बुलावा देते रहेंगे।

इस युग के लोग कोई यज्ञ नहीं करेंगे। म्लेच्छ लोग ऐसे यज्ञों की तनिक भी परवाह नहीं करेंगे, यद्यपि भौतिक इन्द्रिय-भोग में व्यस्त रहनेवालों के लिए यज्ञ करना अनिवार्य है। *भगवद्गीता* (३.१४-१६) में यज्ञों को सम्पन्न करने की जोरदार संस्तुति की गई है।

सारे जीव स्रष्टा ब्रह्मा द्वारा सृजित हैं और उत्पन्न किये गये जीवों को निरन्तर भगवद्धाम की ओर अग्रसर होने के लिए उन्होंने ही यज्ञ सम्पन्न करने की प्रणाली स्थापित की है। पद्धति यह है कि सभी जीव अन्न तथा शाक की उपज पर जाते हैं और ऐसे खाद्यपदार्थ खाकर वे रक्त तथा वीर्य के रूप में शरीर की जीवनी शक्ति को प्राप्त करते है, और रक्त तथा वीर्य से ही एक जीव दूसरे जीवों को उत्पन्न करने के लिए समर्थ बनता है। किन्तु अन्न, घास इत्यादि तभी उत्पन्न होते हैं, जब वर्षा होती है और बताये गये यज्ञों को सम्पन्न करने से ही वर्षा समुचित रूप से बरसती है। 'साम', 'यजुर्', 'ऋग्' तथा 'अथर्व' वेदों के अनुष्ठानों द्वारा ऐसे यज्ञों का निर्देशन होता है। *मनु-स्मृति* में कहा गया है कि अग्नि की वेदी पर यज्ञ करने से सूर्यदेव प्रसन्न होते हैं। जब सूर्यदेव प्रसन्न होते हैं, तब वे समुद्र से उचित रीति से जल एकत्र करते हैं और इस तरह आकाश में प्रचुर बादल जुटते हैं और तब वर्षा होती है। पर्याप्त वर्षा होने पर मनुष्यों तथा पशुओं के लिए प्रचुर अन्न उत्पन्न होता है और इस तरह जीवों में आगे उन्नति करने के लिए शक्ति प्राप्त होती है। लेकिन म्लेच्छ-गण अन्य पशुओं के साथ-साथ बैलों तथा गायों को मारने के लिए कसाईघर स्थापित करते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि फैक्टरियों की संख्या बढ़ाकर वे उन्नति करेंगे और यज्ञों को सम्पन्न किये बिना तथा अन्न उपजाये बिना भी, वे पशु-मांस पर रह लेंगे। लेकिन उन्हें यह जान लेना चाहिए कि पशुओं के लिए भी उन्हें घास तथा वनस्पति उत्पन्न करनी होगी। अन्यथा पशु जीवित नहीं रह सकते। और पशुओं के लिए घास उत्पन्न करने के लिए उन्हें पर्याप्त वर्षा

की आवश्यकता होगी। अतएव अन्ततः उन्हें सूर्यदेव, इन्द्र, चन्द्र जैसे देवों की कृपा पर आश्रित रहना होगा और ऐसे देवताओं को यज्ञ सम्पन्न करके ही प्रसन्न किया जा सकता है।

यह भौतिक जगत एक बन्दीगृह के समान है, जैसाकि हम कई बार बता चुके हैं। देवता भगवान् के सेवक हैं, जो बन्दीगृह के रख-रखाव को देखते हैं। ये देवता चाहते हैं कि जो विद्रोही जीव श्रद्धा-विहीन होकर जीवित रहना चाहते हैं, वे धीरे-धीरे भगवान् की परम शक्ति की ओर मुड़ें। अतएव शास्त्रों में यज्ञ सम्पन्न करने की संस्तुति की गयी है।

भौतिकतावादी मनुष्य कठिन श्रम करके इन्द्रिय-भोग के लिए कर्म-फलों को भोगना चाहते हैं। अतः वे जीवन में पग-पग पर कई प्रकार के पाप करते हैं। किन्तु जो लोग सचेतन रहकर भगवान् की भक्तिमय सेवा में लगे रहते है, वे सभी प्रकार के पाप तथा पुण्यों से परे रहते हैं। उनके कार्य-कलाप प्रकृति के तीनों गुणों के कल्मष से मुक्त होते हैं। भक्तों को संस्तुत यज्ञ करने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि भक्त का सारा जीवन ही यज्ञ का प्रतीक है। किन्तु जो लोग इन्द्रियभोग के लिए सकाम कर्म में लगे रहते हैं, उन्हें संस्तुत यज्ञ करने चाहिए, क्योंकि सकाम-कर्मियों द्वारा किये गये समस्त पाप-कर्मों से मुक्त होने का यही एकमात्र साधन है। यज्ञ ही ऐसे संचित पापों के शमन का साधन है। देवतागण ऐसे यज्ञों के करने से उसी तरह प्रसन्न होते हैं, जिस प्रकार जेल के बन्दियों के आज्ञाकारी बन जाने पर बन्दीगृह के अधिकारी प्रसन्न होते हैं। किन्तु भगवान् चैतन्य ने केवल एक यज्ञ जिसे *सङ्कीर्तन-यज्ञ* कहते हैं, करने के लिए संस्तुति की है, और उसमें प्रत्येक व्यक्ति भाग ले सकता है। इस तरह संकीर्तन यज्ञ अर्थात् हरे कृष्ण का कीर्तन से भक्त तथा सकाम कर्मी दोनों ही समान रूप से लाभ उठा हो सकते हैं।

अरक्ष्यमाणाः स्त्रिय उर्वि बालान्
शोचस्यथो पुरुषादैरिवार्तान् ।
वाचं देवीं ब्रह्मकुले कुकर्म-
ण्यब्रह्मण्ये राजकुले कुलाग्र्यान् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अरक्ष्यमाणाः—अरक्षित; स्त्रियः—स्त्रियाँ; उर्वि—पृथ्वी पर; बालान्—बच्चों को; शोचसि—आपको तरस आ रही है; अथो—इस तरह; पुरुष-आदैः—आदमियों के द्वारा; इव—सदृश; आर्तान्—दुखियारी; वाचम्—वाणी; देवीम्—देवी को; ब्रह्म-कुले—ब्राह्मण-कुल में; कुकर्मणि—धर्म के विरुद्ध कार्य करता है; अब्रह्मण्ये—ब्राह्मण-संस्कृति के विरोधी लोग; राज-कुले—प्रशासनिक वंश में; कुल-अछ्यान्—अधिकांश कुल (ब्राह्मण)।

क्या आप को उन दुखियारी स्त्रियों तथा बच्चों पर दया आ रही है, जिन्हें चरित्रहीन पुरुषों द्वारा अकेले छोड़ दी गई हैं? अथवा आप इसलिए दुखी हैं कि ज्ञान की देवी अधर्म में रत ब्राह्मणों के हाथ में हैं? या यह आप देख कर दुखी हैं कि ब्राह्मणों ने उन राजकुलों का आश्रय ग्रहण कर लिया है, जो ब्राह्मण संस्कृति का आदर नहीं करते?

तात्पर्य : कलियुग में ब्राह्मण तथा गायों के साथ स्त्रियाँ तथा बच्चे अत्यन्त उपेक्षित रहेंगे और अरक्षित छोड़ दिये जायेंगे। इस युग में स्त्रियों के साथ अवैध सम्बन्ध के कारण अनेक स्त्रियाँ तथा बच्चे अरक्षित हो जायेंगे। परिस्थितियों के चलते स्त्रियाँ, पुरुषों के संरक्षण से स्वतंत्र होना चाहेंगी और विवाह, पुरुष तथा स्त्री के मध्य औपचारिक समझौता मात्र बन कर रह जायेगा। अधिकतर बच्चों की ठीक से देख-रेख नहीं हो सकेगी। ब्राह्मण परम्परागत बुद्धिमान व्यक्ति होते हैं, अतएव वे आधुनिक शिक्षा के शीर्ष तक पहुँच सकेंगे, किन्तु जहाँ तक चारित्रिक तथा धार्मिक नियमों का सम्बन्ध है, वे अत्यन्त गिरे हुए होंगे। शिक्षा तथा दुष्चरित्रता का कभी साथ नहीं होता, किन्तु ये दोनों साथ-साथ चलेंगे। प्रशासन के शीर्षस्थ लोग वैदिक वाङ्मय की नीतियों की भर्त्सना करेंगे और तथाकथित धर्म-निरपेक्ष राज्य का संचालन करेंगे और तथाकथित शिक्षित ब्राह्मण ऐसे चरित्रहीन लोगों द्वारा खरीद लिए जायेंगे। यहाँ तक कि दर्शनवेत्ता तथा धर्म पर अनेक पुस्तकें लिखनेवाला भी सरकार से उच्च पद स्वीकार करेगा जिसमें शास्त्रों की आचार-संहिता का तिरस्कार होता है। ब्राह्मणों को ऐसी नौकरी स्वीकार करने पर विशेष रूप से प्रतिबन्ध है। लेकिन इस युग में वे न केवल चाकरी स्वीकार करेंगे, अपितु यदि वह अति अधम प्रकार की नौकरी होगी, फिर भी वे ऐसा करेंगे। ये कलियुग के कुछ लक्षण हैं, जो मानव समाज के सामान्य कल्याण के लिए हानिकारक हैं।

किं क्षत्रबन्धून् कलिनोपसृष्टान्
राष्ट्राणि वा तैरवरोपितानि ।

इतस्ततो वाशनपानवास:
स्नानव्यवायोन्मुखजीवलोकम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; क्षत्र-बन्धून्—अयोग्य प्रशासक; कलिना—कलियुग के प्रभाव से; उपसृष्टान्—मोह-ग्रस्त; राष्ट्राणि—राज्य के मामले; वा—अथवा; तैः—उनके द्वारा; अवरोपितानि—अव्यवस्थित किया गया; इतः—इधर; ततः—उधर; वा—अथवा; अशन—भोजन ग्रहण करते हुए; पान—पेय; वासः—आवास; स्नान—स्नान; व्यवाय—संभोग; उन्मुख—प्रवृत्त; जीव-लोकम्—मानव-समाज।

अब तथाकथित प्रशासक इस कलियुग के प्रभाव से मोहग्रस्त हो गये हैं और इस तरह उन्होंने राज्य के सारे मामलों को अस्त-व्यस्त कर रखा है। क्या आप इस कुव्यवस्था के लिए शोक कर रही हैं? अब सामान्य जनता खाने, पीने, सोने तथा सहवास के विधि-विधानों का पालन नहीं कर रही है और वह सारे कार्य कहीं भी और कैसे भी करने के लिए सन्नद्ध रहती है। क्या आप इस कारण से अप्रसन्न हैं?

तात्पर्य : जीवन की कुछ आवश्यकताएँ ऐसी हैं, जो पशुओं के समान ही हैं—यथा खाना, सोना, डरना तथा सहवास करना। ये शारीरिक आवश्यकताएँ मनुष्य तथा पशु दोनों के लिए हैं। लेकिन मनुष्य को इन इच्छाओं की पूर्ति पशुओं की तरह नहीं, अपितु मानव की भाँति करनी होती है। एक कुत्ता लोगों के समक्ष, बिना हिचक के, कुतिया के साथ संभोग कर सकता है, किन्तु यदि मनुष्य ऐसा करे तो इसे सामान्य रूप से अनाचार कहा जायेगा और उस व्यक्ति को अपराधी की भाँति दण्डित किया जायेगा। अतएव मनुष्य के लिए कुछ विधि-विधान हैं, जो सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी हैं। जब मानव-समाज कलियुग के प्रभाव से मोहग्रस्त हो जाता है, तो ऐसे विधि-विधानों की अनदेखी करता है। लोग इस युग में जीवन की ऐसी आवश्यकताओं में विधि-विधानों का पालन किये बिना लिप्त रहते हैं और सामाजिक तथा चारित्रिक नियमों में ऐसी गिरावट निश्चय ही शोचनीय है, क्योंकि ऐसे पाशविक आचरण के प्रभाव अत्यन्त हानिकारक होते हैं। इस युग में पिता तथा अभिभावक अपने-अपने रक्षितों के आचरण से प्रसन्न नहीं हैं। उन्हें जानना चाहिए कि कितने ही निर्दोष बालक, इस कलि के दुष्प्रभाव में आकर बुरी संगति के शिकार होते हैं। हमें *श्रीमद्भागवत* से पता चलता है कि अबोध ब्राह्मण-पुत्र, अजामिल, एक बार सड़क पर चल रहा था, तो उसने एक शूद्र दम्पत्ति को कामपीड़ित होकर एक दूसरे को आलिंगन करते देखा। इससे बालक आकृष्ट हो गया और

बाद में वह तमाम व्यसनों का शिकार बन गया। वह शुद्ध ब्राह्मण के पद से गिरकर एक अधम आवारा लुच्चा बन गया और यह सब कुसंगति के कारण हुआ। उस समाय अजामिल जैसा एक भुक्तभोगी था, किन्तु इस कलियुग में बेचारे अबोध विद्यार्थी नित्य सिनेमा के शिकार होते हैं, जिससे पुरुष केवल कामवासना की ओर प्रेरित होते हैं। तथाकथित प्रशासक सबके-सब *क्षत्रिय-कर्म* में प्रशिक्षित नहीं हैं। जिस तरह ब्राह्मण ज्ञान तथा मार्ग-दर्शन के लिए होते हैं, उसी तरह क्षत्रिय प्रशासन के लिए होते हैं। *क्षत्र-बन्धु* शब्द उन तथाकथित प्रशासकों या व्यक्तियों का सूचक है, जो संस्कृति तथा परम्परा-विषयक उचित प्रशिक्षण पाये बिना प्रशासक के पद पर बिठा दिये गये हैं। आजकल वे इन उच्च पदों पर उस जनता के मतों द्वारा पहुँच जाते हैं, जिसका स्वयं जीवन के विधि-विधानों में अधोपतन हुआ होता है। जिन लोगों का जीवन-स्तर इतना निम्न हो, वे भला किस तरह उचित व्यक्ति का चुनाव कर सकते हैं? अतएव, कलियुग के प्रभाव से सर्वत्र हर वस्तु—राजनीतिक, सामाजिक, अथवा धार्मिक—उलट-पुलट है, अतएव बुद्धिमान मनुष्य के लिए यह चिन्ता की बात है।

यद्वाम्ब ते भूरिभरावतार
कृतावतारस्य हरेर्धरित्रि ।
अन्तर्हितस्य स्मरती विसृष्टा
कर्माणि निर्वाणविलम्बितानि ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यद्वा—हो सकता है; अम्ब—हे माता; ते—आपका; भूरि—भारी; भर—बोझा; अवतार—बोझा घटाना; कृत—किया गया; अवतारस्य—अवतारी; हरेः—भगवान् श्रीकृष्ण का; धरित्रि—हे पृथ्वी; अन्तर्हितस्य—दृष्टि से ओझल भगवान् का; स्मरती—सोचते हुए; विसृष्टा—किया गया सब कुछ; कर्माणि—कर्म; निर्वाण—मोक्ष; विलम्बितानि—जो निहित हो।

हे माता पृथ्वी, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि ने तुम्हारे भारी बोझ को उतारने के लिए ही श्रीकृष्ण के रूप में स्वयं अवतार लिया। यहाँ के उनके सारे कार्य दिव्य हैं और वे मोक्ष-पथ को पक्का करनेवाले हैं। अब आप उनकी उपस्थिति से विहीन हो गई हैं। शायद अब आप उन्हीं कार्यों को सोच रही हैं और उनकी अनुपस्थिति में दुखी हो रही हैं।

तात्पर्य : भगवान् के कार्यों में मोक्ष सम्मिलित है, किन्तु वे किसी निर्वाण या मोक्ष से प्राप्त होनेवाले आनन्द से अधिक आनन्ददायी हैं। श्रील जीव गोस्वामी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के

मतानुसार, यहाँ पर प्रयुक्त शब्द *निर्वाण-विलम्बितानि* का अर्थ है, ''मोक्ष के महत्त्व को कम करनेवाला'' निर्वाण अर्थात् मुक्ति प्राप्त करने के लिए मनुष्य को कठोर तपस्या करनी होती है, लेकिन भगवान् इतने दयालु हैं कि वे पृथ्वी का भार कम करने के लिए अवतरित होते हैं। मनुष्य ऐसे कार्यों को केवल स्मरण करके निर्वाण से प्राप्त होनेवाले सुख को लात मार कर, भगवान् का सान्निध्य पाने और वहाँ उनकी आनन्दमयी सेवा में लगे रहने के लिए उनके दिव्य धाम में पहुँच सकता है।

इदं ममाचक्ष्व तवाधिमूलं
वसुन्धरे येन विकर्शितासि ।
कालेन वा ते बलिनां बलीयसा
सुरार्चितं किं हृतमम्ब सौभगम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; मम—मुझको; आचक्ष्व—कृपया बताओ; तव—तुम्हारे; आधिमूलम्—आपके दुखों की जड़; वसुन्धरे—हे समस्त धन की खान; येन—जिससे; विकर्शिता असि—इतनी दुर्बल हो; कालेन—समय के प्रभाव से; वा—अथवा; ते—आपका; बलिनाम्—अत्यन्त शक्तिशाली से; बलीयसा—अधिक शक्तिशाली; सुर-अर्चितम्—देवताओं द्वारा वन्दनीय; किम्—क्या; हृतम्—छीन लिया; अम्ब—माता; सौभगम्—सौभाग्य।

हे माता, आप सारे धन की खान हैं। कृपया मुझे अपने उन कष्टों का मूल कारण बतायें, जिससे आप इस दुर्बल अवस्था को प्राप्त हुई हैं। मैं सोचता हूँ कि अत्यन्त बलवानों को भी जीतनेवाले प्रबल काल ने देवताओं द्वारा वन्दनीय आपके सारे सौभाग्य को छीन लिया है।

तात्पर्य : भगवान् की कृपा से प्रत्येक ग्रह पूर्णत: सुसज्जित रूप में सृजित होता है। अतएव यह पृथ्वी अपने निवासियों के पालन हेतु आवश्यक सम्पत्ति से पूर्ण रूप से सुसज्जित है और इतना ही नहीं, अपितु जब भगवान् इस धरा पर अवतरित होते हैं, तब सारी पृथ्वी सभी प्रकार के ऐश्वर्यों से इतनी समृद्ध हो जाती है कि स्वर्ग के निवासी भी बड़े प्यार से इसकी पूजा करते हैं। लेकिन भगवान् की इच्छा से सारी पृथ्वी तुरन्त बदल सकती है। वे अपनी मृदुल इच्छानुसार इसे बना-बिगाड़ सकते हैं। अतएव किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि वह आत्म-निर्भर है या भगवान् से स्वतंत्र है।

धरण्युवाच
भवान् हि वेद तत्सर्वं

यन्मां धर्मानुपृच्छसि ।
चतुर्भिर्वर्तसे येन
पादैर्लोकसुखावहैः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

धरणी उवाच—माता पृथ्वी ने उत्तर दिया; भवान्—आप; हि—निश्चय ही; वेद—जानते हैं; तत् सर्वम्—वह सब, जिसे आप मुझसे पूछा है; यत्—जो; माम्—मुझसे; धर्म—हे धर्म-रूप पुरुष; अनुपृच्छसि—आप एक-एक करके पूछा; चतुर्भिः—चारों; वर्तसे—आप उपस्थित हो; येन—जिससे; पादैः—पाँवों से; लोक—प्रत्येक लोक में; सुख-आवहैः—सुख को बढ़ानेवाला।

(गाय के रूप में) पृथ्वी देवी ने (बैल-रूप में) धर्म-रूप पुरुष को इस प्रकार उत्तर दिया : हे धर्म, आपने मुझसे जो भी पूछा है, वह आपको ज्ञात हो जायेगा। मैं आपके उन सारे प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास करूँगी। कभी आप भी अपने चार पाँवों द्वारा पालित थे और आपने भगवान् की कृपा से सारे विश्व में सुख की वृद्धि की थी।

तात्पर्य : धर्म के नियमों की स्थापना भगवान् स्वयं करते हैं और ऐसे नियमों को कार्यान्वित करनेवाले हैं धर्मराज या यमराज। ऐसे नियम सत्ययुग में पूरी तरह काम करते हैं, त्रेतायुग में इनमें एक चौथाई कमी आ जाती है, द्वापरयुग में आधी कमी आती है और कलियुग में ये एक चौथाई रह जाते हैं और धीरे-धीरे घट कर शून्य पर आ जाते हैं; तब प्रलय हो जाती है। विश्व में सुख धार्मिक नियमों के पालन के अनुपात में मिलता है, चाहे वह व्यक्तिगत रूप से हो या सामूहिक रूप से। सर्वश्रेष्ठ शौर्य यही होगा कि सभी प्रकार की विषमताओं के होते हुए भी, धर्म को धारण किया जाय। इस तरह मनुष्य अपने जीवनकाल में सुखी हो सकता है और अन्ततः भगवद्धाम को लौट सकता है।

सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम् ।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम् ॥ २६ ॥
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः ।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च ॥ २७ ॥
प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः ।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहङ्कृतिः ॥ २८ ॥
एते चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः ।
प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित् ॥ २९ ॥

तेनाहं गुणपात्रेण श्रीनिवासेन साम्प्रतम् ।
शोचामि रहितं लोकं पाप्मना कलिनेक्षितम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सत्यम्—सच्चाई; शौचम्—स्वच्छता; दया—दूसरे के दुखों को न सह पाना; क्षान्तिः—क्रोध का कारण होते हुए भी आत्मसंयम; त्यागः—वैराग्य; सन्तोषः—आत्म-तुष्टि; आर्जवम्—स्पष्टता; शमः—मन की स्थिरता; दमः—इन्द्रियों का संयम; तपः—अपने उत्तरदायित्व के प्रति सच्चाई; साम्यम्—मित्र तथा शत्रु के बीच भेदभाव न करना; तितिक्षा—अन्यों के अपराधों के प्रति सहनशीलता; उपरतिः—लाभ-हानि के प्रति उदासीनता; श्रुतम्—शास्त्रों के आदेशों का पालन; ज्ञानम्—ज्ञान (आत्म-साक्षात्कार); विरक्तिः—इन्द्रियभोग से अनासक्ति; ऐश्वर्यम्—नायकत्व; शौर्यम्—बहादुरी; तेजः—प्रभाव, प्रताप; बलम्—असम्भव को सम्भव बनाना; स्मृतिः—समुचित कर्तव्य की खोज; स्वातन्त्र्यम्—अन्यों पर आश्रित न रहना; कौशलम्—सारी कार्यकुशलता; कान्तिः—सौन्दर्य; धैर्यम्—उपद्रव से मुक्ति; मार्दवम्—दयालुता; एव—इस प्रकार; च—भी; प्रागल्भ्यम्—उदारता; प्रश्रयः—विनय; शीलम्—शील; सहः—संकल्प; ओजः—पूर्ण ज्ञान; बलम्—उपयुक्त दक्षता; भगः—भोग का विषय; गाम्भीर्यम्—प्रसन्नता; स्थैर्यम्—स्थिरता; आस्तिक्यम्—आज्ञाकारिता; कीर्तिः—यश; मानः—पूजित होने के योग्य; अनहङ्कृतिः—निरभिमानता; एते—ये सब; च अन्ये—तथा अन्य अनेक; च—तथा; भगवन्—भगवान्; नित्याः—शाश्वत; यत्र—जहाँ; महा-गुणाः—बड़े-बड़े गुण; प्रार्थ्याः—रखने के योग्य; महत्त्वम्—महानता; इच्छद्भिः—इच्छा करनेवाले; न—कभी नहीं; वियन्ति—घटते हैं; स्म—सदैव; कर्हिचित्—किसी समय; तेन—उनके द्वारा; अहम्—मैं; गुण-पात्रेण—समस्त गुणों का आगार; श्री—भाग्य की देवी; निवासेन—रहने के स्थान द्वारा; साम्प्रतम्—हाल ही में; शोचामि—सोच रही हूँ; रहितम्—विहीन; लोकम्—ग्रह; पाप्मना—समस्त पापों के संग्रह से; कलिना—कलि द्वारा; ईक्षितम्—देखा जाता है।

उनमें निम्नलिखित गुण तथा अन्य अनेक दिव्य गुण पाये जाते हैं, जो शाश्वत रूप से विद्यमान रहते हैं और उनसे कभी विलग नहीं होते। ये हैं (१) सच्चाई (२) स्वच्छता (३) दूसरे के दुखों को सह न पाना, (४) क्रोध को नियंत्रित करने की शक्ति, (५) आत्मतुष्टि, (६) निष्कपटता, (७) मन की स्थिरता, (८) इन्द्रियों का संयम, (९) उत्तरदायित्व, (१०) समता, (११) सहनशीलता, (१२) समदर्शिता, (१३) आज्ञाकारिता, (१४) ज्ञान, (१५) इन्द्रिय भोग से अनासक्ति, (१६) नायकत्व, (१७) बहादुरी, (१८) प्रभाव, (१९) असम्भव को सम्भव बनाना, (२०) कर्तव्य पालन, (२१) पूर्ण स्वतंत्रता,(२२) कार्य कुशलता, (२३) सौन्दर्यमयता, (२४) धैर्य, (२५) दयालुता, (२६) उदारता, (२७) विनय, (२८) शील,(२९) संकल्प, (३०) ज्ञान की पूर्णता, (३१) उपयुक्त दक्षता, (३२) समस्त भोग विषयों का स्वामित्व, (३३) प्रसन्नता, (३४) स्थिरता, (३५) आज्ञाकारिता, (३६) यश, (३७) पूजा, (३८) निरभिमानता, (३९) अस्तित्व (भगवान् के रूप में), (४०) शाश्वतता। समस्त सत्त्व तथा सौन्दर्य के आगार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ने इस धरा पर अपनी दिव्य लीलाएँ बन्द कर दी हैं। उनकी अनुपस्थिति में कलि ने सर्वत्र अपना प्रभाव फैला लिया है। अतएव मैं संसार की यह दशा देखकर अत्यन्त दुखी हूँ।

तात्पर्य : भले ही पृथ्वी को चूर्ण-चूर्ण करके इसके परमाणुओं को गिन लिया जाय, तो भी भगवान् के दिव्य गुणों का अनुमान लगाना दुष्कर होगा। कहा जाता है कि भगवान् अनन्तदेव ने अपनी अनन्त जिह्वाओं से परमेश्वर के दिव्य गुणों का गान करना चाहा, किन्तु भगवान् के गुणों का अनुमान लगा पाना अनन्त वर्षों तक सम्भव न हो पाया। भगवान् के गुणों के विषय में उपर्युक्त कथन उतनी ही दूर तक सही है जहाँ तक मनुष्य उन गुणों को देख पाता है। किन्तु यदि इतने ही गुण मान लिए जाँय, तो भी वे कई उपशीर्षकों में विभाजित किये जा सकते हैं। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, तीसरे गुण, अर्थात् दूसरे के दुखों को न सह पाना, के दो उपविभाग हो सकते हैं—(१) शरणागत जीवों की रक्षा तथा (२) भक्तों के लिए शुभकामनाएँ। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि वे चाहते हैं कि प्रत्येक जीव उन्हीं की शरण में आये और वे आश्वस्त करते हैं कि जो लोग ऐसा करेंगे, उनकी वे सारे पापों से रक्षा करेंगे। जो शरणागत नहीं हैं, वे भगवान् के भक्त नहीं हैं और इस प्रकार हर एक को विशेष सरंक्षण प्रदान नहीं किया जाता है। किन्तु भक्तों के साथ उनकी समस्त शुभकामनाएँ रहती हैं और जो लोग वास्तव में उनकी दिव्य प्रेमामयी सेवा में लगे रहते हैं, भगवान् उन पर विशेष ध्यान देते हैं। वे ऐसे शुद्ध भक्तों का मार्गदर्शन करते हैं, जिससे वे अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए भगवद्धाम लौटने में समर्थ हो सकें। समता (१०) से, भगवान् हर एक पर समान रूप से दयालु हैं, जिस तरह से सूर्य हर एक को समान रूप से अपनी किरणें वितरित करता है। फिर भी ऐसे अनेक लोग होते हैं, जो सूर्य की किरणों का लाभ नहीं उठा पाते। इसी प्रकार, भगवान् कहते हैं कि उनके शरणागत होना एक प्रकार से सुरक्षा की गारन्टी है, किन्तु जो अभागे हैं, वे इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं कर पाते और इस प्रकार भौतिक कष्टों को भोगते रहते हैं। इस तरह यद्यपि भगवान् सबों के समान रूप से शुभचिन्तक हैं, तो भी अभागे जीव कुसंगति के कारण ही उनके उपदेशों को पूरी तरह स्वीकार नहीं कर पाते। इसके लिए भगवान् को कभी भी दोषी नहीं ठहराया जा सकता। वे केवल भक्तों के शुभचिन्तक कहलाते हैं। वे अपने भक्तों के पक्षपाती प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि यह जीव पर निर्भर करता है कि वह भगवान् के समान व्यवहार को स्वीकार करे या ठुकरा दे।

भगवान् कभी अपने वचनों से मुकरते नहीं। जब वे सुरक्षा का आश्वासन दे देते हैं, तो चाहे जो भी हो, वे अपने वचनों को पूरा करते हैं। यह शुद्ध भक्त का कर्तव्य है कि भगवान् ने, या भगवान् के

प्रामाणिक प्रतिनिधि ने अर्थात् गुरु ने, उस पर जो भार सौंपा है, वह उसे पूरा करने के लिए दृढ़ रहे। शेष तो भगवान् अबाध रूप से पूरा करेंगे।

भगवान् का उत्तरदायित्व भी अद्वितीय है। भगवान् का कोई उत्तरदायित्व नहीं है, क्योंकि उनके सारे कार्य उनके द्वारा नियुक्त की गई विभिन्न शक्तियों द्वारा सम्पन्न होते हैं। फिर भी वे अपनी दिव्य-लीलाओं का प्रदर्शन करते समय कुछ स्वैच्छिक जिम्मेदारियाँ निभाते हैं। बालक के रूप में वे ग्वाल-बाल की भूमिका निभा रहे थे। उन्होंने नन्द महाराज के पुत्र के रूप में अपनी जिम्मेदारी बहुत अच्छे से निभाई। इसी प्रकार जब वे महाराज वसुदेव के पुत्र-रूप में क्षत्रिय की भूमिका निभा रहे थे, तब उन्होंने शूरवीर क्षत्रिय की सम्पूर्ण निपुणता दिखलाई। प्राय: सदा ही, क्षत्रिय राजा को युद्ध जीतकर या अपहरण करके पत्नी प्राप्त करनी होती थी। इस तरह का आचरण क्षत्रिय के लिए प्रशंसनीय होता था, क्योंकि क्षत्रिय को अपनी होनेवाली पत्नी के समक्ष बहादुरी का प्रदर्शन करना होता था, जिससे क्षत्रिय पुत्री अपने होनेवाले पति के पराक्रम को देख सके। यहाँ तक कि भगवान् श्रीरामचन्द्र को भी अपने विवाह के समय ऐसे ही शौर्य का प्रदर्शन करना पड़ा। उन्होंने सबसे मजबूत धनुष, *हरधनुर्* को तोड़ा और समस्त ऐश्वर्य की जननी सीतादेवी को वरण किया। क्षत्रियत्व का प्रदर्शन विवाहोत्सव के समय ही होता है और ऐसे युद्ध में कोई दोष नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने इस उत्तरदायित्व को भी पूरी तरह निभाया, क्योंकि यद्यपि उनकी सोलह हजार से अधिक पत्नियाँ थीं, किन्तु उन्होंने हर एक को पाने के लिए वीर क्षत्रिय की भाँति युद्ध किया था। सोलह हजार पत्नियों के लिए सोलह हजार बार युद्ध करना भगवान् के लिए ही सम्भव था। इसी प्रकार उन्होंने प्रत्येक लीला के प्रत्येक कार्य में पूरी जिम्मेदारी दिखाई।

चौदहवाँ गुण है, ज्ञान, जिसे पुन: पाँच उपविभागों में बाँटा जा सकता है, अर्थात्—(१) बुद्धि, (२) कृतज्ञता, (३) देश काल तथा वस्तु के अनुसार परिस्थितियों को समझने की शक्ति, (४) हर वस्तु का पूर्ण ज्ञान; तथा (५) आत्मज्ञान। जो मूर्ख होते हैं, वे ही अपने उपकारियों के प्रति कृतघ्न होते हैं। लेकिन भगवान् तो खुद के अतिरिक्त अन्य किसी से कोई लाभ नहीं चाहते, क्योंकि वे स्वयंसम्पूर्ण हैं; फिर भी वे अपने भक्तों की अनन्य सेवा से लाभान्वित अनुभव करते हैं। भगवान् अपने भक्तों के प्रति ऐसी सरल, अप्रतिबन्धित सेवा के लिए कृतज्ञता का अनुभव करते हैं और सेवा द्वारा प्रतिदान करते

हैं, यद्यपि भक्त के मन में ऐसी कोई इच्छा नहीं रहती। भगवान् की दिव्य सेवा, भक्त के लिए अपने में ही दिव्य लाभ है, अतएव भक्त को भगवान् से किसी वस्तु की आशा नहीं होती। वैदिक नीति-वाक्य, *सर्वं खल्विदं ब्रह्म,* के आधार पर भगवान् अपने तेज की सर्वव्यापी किरणों के द्वारा, जिन्हें ब्रह्मज्योति कहते हैं, प्रत्येक वस्तु के भीतर या बाहर, सर्वव्यापी भौतिक आकाश की तरह, व्याप्त हैं और इस तरह वे सर्वज्ञ भी हैं।

जहाँ तक भगवान् के सौन्दर्य की बात है, उनमें कुछ विशिष्ट लक्षण पाये जाते हैं, जिनसे वे अन्य सारे जीवों से पृथक् हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त, उनके कतिपय विशिष्ट सुन्दर लक्षण अत्यन्त आकर्षक हैं, जिनसे परमेश्वर की सर्वसुन्दर कृति, राधारानी का मन भी आकृष्ट हो जाता है। अतएव वे मदनमोहन कहलाते हैं, अर्थात् वे जो कामदेव के मन को भी आकृष्ट करनेवाले हैं। श्रील जीव गोस्वामी प्रभु ने भगवान् के अन्य दिव्य गुणों का भी विश्लेषण किया है और वे इसकी पुष्टि करते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् (परब्रह्म) हैं। वे अपनी अचिन्त्य शक्तियों के कारण सर्वशक्तिमान हैं, अतएव वे योगेश्वर अर्थात् समस्त यौगिक शक्तियों के सर्वोपरि स्वामी हैं। योगेश्वर होने के कारण उनका शाश्वत स्वरूप आध्यात्मिक है—शाश्वतता, ज्ञान तथा आनन्द का सम्मिश्रण है। अभक्तगण उनके ज्ञान की गतिशील प्रकृति को नहीं समझ सकते, क्योंकि वे उनके ज्ञान के शाश्वत रूप तक पहुँचकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। सारे महापुरुष उनके समान ज्ञानवान बनने की आकांक्षा करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि अन्य सारा ज्ञान सदैव अपर्याप्त, लोचशील तथा माप्य है, किन्तु भगवान् का ज्ञान सदैव स्थिर तथा अगाध है। श्रील सूत गोस्वामी ने *भागवत* में इसकी पुष्टि की है कि यद्यपि द्वारका के निवासी नित्य ही भगवान् के दर्शन करते थे, तो भी वे उन्हें पुन: पुन: देखने के लिए उत्सुक रहते थे। जीव भगवान् के गुणों की सराहना अन्तिम लक्ष्य के रूप में तो कर सकते हैं, किन्तु वे कभी उनकी समता नहीं कर सकते। यह भौतिक जगत महत्-तत्त्व की उपज है, जो भगवान् की कारण सागर में *योगनिद्रा* की स्वप्नावस्था है; फिर भी यह सारी सृष्टि उन्हीं से उत्पन्न प्रतीत होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् की स्वप्नावस्था भी वास्तविक अभिव्यक्ति है। अतएव वे हर वस्तु को अपने दिव्य नियंत्रण में ला सकते हैं। वे जब कभी और जहाँ कहीं भी प्रकट होते हैं, अपने पूर्ण रूप में प्रकट होते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह सब होते हुए, भगवान् सृष्टि का व्यापार चालू रखते हैं और ऐसा करते हुए वे अपने उन शत्रुओं को भी मोक्ष प्रदान करते हैं, जिन्हें उन्होंने स्वयं मारा है। वे सर्वोपरि मुक्तात्मा के लिए भी आकर्षक हैं, अतएव वे सभी देवताओं में महान् ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवताओं द्वारा भी पूज्य हैं। यहाँ तक कि अपने *पुरुष अवतार* में भी वे सृजन-शक्ति के स्वामी हैं। भौतिक सृजनशक्ति उनकी अध्यक्षता में कार्यशील रहती है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.१०) में हुई है। वे भौतिक शक्ति के नियंत्रक कुन्जी समान हैं और असंख्य ब्रह्माण्डों में भौतिक शक्ति के नियंत्रण हेतु वे समस्त ब्रह्माण्डों में असंख्य अवतारों के मूल कारण हैं। अन्य ब्रह्माण्डों में अन्य अवतारों के अतिरिक्त, केवल एक ब्रह्माण्ड में मनु के पाँच लाख से अधिक अवतार होते हैं। लेकिन आध्यात्मिक जगत में, जो महत् तत्त्व के परे है, अवतारों का कोई प्रश्न ही नहीं उठता—लेकिन विभिन्न वैकुण्ठ-लोकों में भगवान् के पूर्ण अंश होते हैं। वैकुण्ठलोक में महत् तत्त्व के असंख्य ब्रह्माण्डों के भीतर पाये जानेवाले ग्रहों से तिगुनी संख्या में ग्रह हैं। और भगवान् के जितने भी नारायण-रूप हैं, वे सब उनके वासुदेव-स्वरूप के अंश हैं। इस तरह वे एक साथ वासुदेव, नारायण तथा कृष्ण हैं। वे *श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव हैं*—एक में सब। अतएव कोई चाहे कितना महान् क्यों न हो, भगवान् के गुणों की गणना नहीं कर सकता।

आत्मानं चानुशोचामि भवन्तं चामरोत्तमम् ।
देवान् पितॄनृषीन् साधून् सर्वान् वर्णांस्तथाश्रमान् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—स्वयं; च—भी; अनुशोचामि—शोक कर रही हूँ; भवन्तम्—आप; च—भी; अमर-उत्तमम्—देवताओं में श्रेष्ठ; देवान्—देवताओं के लिए; पितृन्—पितृलोक के निवासियों के लिए; ऋषीन्—ऋषियों के लिए; साधून्—भक्तों के लिए; सर्वान्—सभी; वर्णान्—जातियों के लिए; तथा—और; आश्रमान्—मानव समाज के चारों आश्रमों के लिए।

हे देवताओं में श्रेष्ठ, मैं अपने विषय में तथा आपके विषय में और उसी के साथ ही साथ सभी देवताओं, ऋषियों, पितृलोक के निवासियों, भगवद्भक्तों तथा वर्णाश्रम-धर्म के पालक सभी मनुष्यों के विषय में सोच रही हूँ।

तात्पर्य : मानव जीवन को पूर्ण बनाने में मनुष्यों, देवातओं, ऋषियों, पितृलोक के निवासियों, भगवद्भक्तों तथा वर्णाश्रम-धर्म की वैज्ञानिक पद्धति का योगदान रहता है। अतएव मानव जीवन तथा

पशुजीवन में जो अन्तर है, वह वर्णाश्रम की वैज्ञानिक प्रणाली से प्रारम्भ होता है जिसका मार्गदर्शन देवताओं के लिए ऋषियों के अनुभव द्वारा होता है और जो धीरे-धीरे उठता हुआ परम पूर्ण सत्य, पूर्ण परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के साथ नित्य सम्बन्ध की स्थापना तक पहुँचता है। जब ईश्वरकृत वर्णाश्रम धर्म, जो पशु-चेतना का मानव-चेतना में और मानव-चेतना का ईश्वरीय-चेतना में विकास के निमित्त होता है, मूर्खों की प्रगति के द्वारा छिन्न कर दिया जाता है, जिससे शान्तिपूर्ण प्रगतिशील जीवन का सारा ढाँचा चरमरा जाता है। कलियुग में, विषधर सर्प का पहला आक्रमण ईश्वरकृत वर्णाश्रम धर्म पर होता है। फलस्वरूप योग्य ब्राह्मण शूद्र कहलाने लगता है और शूद्र की योग्यता वाला ब्राह्मण बन जाता है। यह सब जन्म के झूठे अधिकार से होता है। जन्म के दावे से ब्राह्मण बनना प्रामाणिक नहीं है, भले ही इससे किसी एक शर्त की पूर्ति होती हो। ब्राह्मण की असली योग्यता तो मन तथा इन्द्रियों को वश में करना तथा धैर्य, सरलता, स्वच्छता, ज्ञान, सत्य, भक्ति तथा वैदिक वाङ्मय के प्रति श्रद्धा करना इत्यादि है। आधुनिक युग में, आवश्यक योग्यता पर विचार नहीं किया जाता, यहाँ तक कि *रामचरितमानस* के अत्यन्त लोकप्रिय रचयिता द्वारा भी झूठे जन्म-अधिकार को समर्थन दिया जाता है।

यह सब कलियुग का प्रभाव है। अतएव गोरूप पृथ्वी माता दयनीय दशा पर शोक व्यक्त कर रही थीं।

ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्ष-
कामास्तपः समचरन् भगवत्प्रपन्नाः ।
सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय
यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता ॥ ३२ ॥
तस्याहमब्जकुलिशाङ्कुशकेतुकेतैः
श्रीमत्पदैर्भगवतः समलङ्कृताङ्गी ।
त्रीनत्यरोच उपलभ्य ततो विभूतिं
लोकान् स मां व्यसृजदुत्स्मयतीं तदन्ते ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा जैसे देवता; बहु-तिथम्—अनेक दिनों तक; यत्—लक्ष्मी देवी का; अपाङ्ग-मोक्ष—कृपा-कटाक्ष; कामाः—कामना करनेवाला; तपः—तपस्या; समचरन्—सम्पन्न करते हुए; भगवत्—भगवान् की; प्रपन्नाः—शरणागत; सा—वे (लक्ष्मी); श्रीः—लक्ष्मीजी; स्व-वासम्—अपने धाम को; अरविन्द-वनम्—कमलों के वन को; विहाय—छोड़कर; यत्—

जिनका; पाद—पाँव; सौभगम्—कल्याणमय; अलम्—निःसंकोच भाव से; भजते—पूजती हैं; अनुरक्ता—आकृष्ट हुई; तस्य—उनका; अहम्—मैं; अब्ज—कमल पुष्प; कुलिश—वज्र; अङ्कुश—हाथी हाँकने का अंकुश; केतु—झंडा; केतैः—चिह्न; श्रीमत्—समस्त ऐश्वर्य के स्वामी; पदैः—चरणों के तलवों से; भगवतः—भगवान् का; समलङ्कृत-अङ्गी—इस तरह से सज्जित देहवाले; त्रीन्—तीन; अति—एक से एक बढ़कर; अरोचे—सुन्दरतापूर्वक अलंकृत; उपलभ्य—प्राप्त करके; ततः—तत्पश्चात्; विभूतिम्—विशिष्ट शक्तियों को; लोकान्—लोकों को; सः—उन्होंने; माम्—मुझको; व्यसृजत्—त्याग दिया; उत्स्मयतीम्—गर्व का अनुभव करते हुए; तत्-अन्ते—अन्त में।.

सौभाग्य की देवी लक्ष्मीजी, जिनकी कृपा-कटाक्ष के लिए ब्रह्मा जैसे देवता तरसा करते थे और जिनके लिए वे दिन में अनेक बार भगवान् के शरणागत होते थे, वे कमल-वन के अपने निवासस्थान को त्याग कर भी भगवान् के चरणकमलों की सेवा में संलग्न हुई थीं। मुझे वे विशिष्ट शक्तियाँ प्राप्त हुई थीं, जिनसे मैं ध्वज, वज्र, अंकुश तथा कमल चिह्नों से, जो भगवान् के चरणकमलों के चिन्ह हैं, अलंकृत होकर तीनों लोकों की सम्पत्ति को परास्त कर सकती थी। लेकिन अन्त में, जब मैंने अनुभव किया कि मैं कितनी भाग्यशालिनी हूँ, तब भगवान् ने मुझे त्याग दिया।

तात्पर्य : संसार का सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य भगवान् की कृपा से ही बढ़ सकता है, किसी मानवकृत योजना से नहीं। जब भगवान् श्रीकृष्ण इस पृथ्वी पर विद्यमान थे, तब उनके चरणकमल के विशिष्ट चिह्न धूलि पर अंकित होते थे, जिस विशेष कृपा के कारण सारी पृथ्वी यथासम्भव भरी-पूरी रहती थी। दूसरे शब्दों में, नदियाँ, समुद्र, वन, पर्वत तथा खानें, जो मनुष्यों तथा पशुओं की आवश्यकताओं को पूरा करनेवाली हैं, अपने-अपने कर्तव्यों को भलीभाँति पूरा कर रही थीं। अतएव पृथ्वी की समृद्धि ब्रह्माण्ड के तीनों के अन्य सभी ग्रहों की समृद्धि से बढ़कर थी। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह पृथ्वी पर भगवान् से सदैव कृपा बनाये रखने की याचना करे, जिससे हमें उनकी अहैतुकी कृपा प्राप्त हो और हमें जीवन की सारी सुविधाएँ प्राप्त हों, जिससे हम सुखी रहें। कोई यह प्रश्न कर सकता है कि जब पृथ्वी पर अपना कार्य पूर्ण हो जाने पर भगवान् पृथ्वी छोड़कर अपने धाम चले जाते हैं, तो फिर हम उन्हें किस तरह रोक सकते हैं? इसका उत्तर यह होगा कि भगवान् को रोकने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। भगवान् सर्वव्यापी होने के कारण, हमारे बीच उपस्थित हो सकते हैं, यदि हम उन्हें चाहते हैं। यदि हम श्रवण, कीर्तन, स्मरण इत्यादि द्वारा उनकी भक्ति में अनुरक्त रहें, तो वे सदैव हमारे साथ रह सकते हैं, क्योंकि वे सर्वव्यापी हैं।

संसार की कोई ऐसी वस्तु नहीं जिससे भगवान् जुड़े हुए न हो। हमें चाहिए कि हम जुड़ने के इस सम्बन्ध को ढूँढ निकालें और अपराधरहित सेवा द्वारा उनसे जुड़ जाँय। हम उनके दिव्य शब्द उच्चारण द्वारा उनसे जुड़ सकते हैं। भगवान् का पवित्र नाम तथा स्वयं भगवान् एक ही हैं और जो कोई निरपराध भाव से भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करता है, उसे तुरन्त अनुभूति होती है कि भगवान् उसके समक्ष उपस्थित हैं। यहाँ तक कि रेडियो-ध्वनि के स्पन्दन से हम ध्वनि की आंशिक अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं और दिव्यता के ध्वनि को फिर से उच्चारित करके हम निश्चय ही भगवान् की उपस्थिति का अनुभव कर सकते हैं। इस युग में, जबकि प्रत्येक वस्तु कलि के कल्मष से दूषित है, शास्त्रों का आदेश है तथा भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने भी यही उपदेश दिया है कि भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन से हम तत्काल कल्मष से रहित हो सकते हैं और क्रमश: दिव्य पद तक ऊपर उठकर भगवद्धाम वापस जा सकते हैं। भगवन्नाम का निरपराध रूप से कीर्तन करनेवाला भक्त साक्षात् भगवान् के समान शुभ होता है और संसार भर में भगवद्भक्तों के विचरण करने से संसार के सारे कष्ट दूर हो सकते हैं। केवल भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन के प्रचार-प्रसार द्वारा ही हम कलियुग के दुष्प्रभावों से बच सकते हैं।

यो वै ममातिभरमासुरवंशराज्ञा-
मक्षौहिणीशतमपानुददात्मतन्त्रः ।
त्वां दुःस्थमूनपदमात्मनि पौरुषेण
सम्पादयन् यदुषु रम्यमबिभ्रदङ्गम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

यः—जो; वै—निश्चय ही; मम—मेरा; अति-भरम्—अत्यन्त बोझिल; आसुर-वंश—नास्तिक; राज्ञाम्—राजाओं का; अक्षौहिणी—एक अक्षौहिणी (एक अक्षौहिणी में २१,८७० रथ, इतने ही हाथी, १,०९,३५० पैदल सैनिक तथा ६५,६१० अश्वारोही होते हैं); शतम्—ऐसी सैकड़ों अक्षौहिणी; अपानुदत्—नष्ट कर डाली; आत्म-तन्त्रः—आत्म-निर्भर; त्वाम्—तुमको; दुःस्थम्—कठिनाई में डालकर; ऊन-पदम्—खड़े होने की शक्ति से रहित; आत्मनि—आन्तरिक; पौरुषेण—शक्ति के बल पर; सम्पादयन्—सम्पन्न करने के लिए; यदुषु—यदुवंश में; रम्यम्—दिव्य रूप से सुन्दर; अबिभ्रत्—स्वीकार किया; अङ्गम्—शरीर को।

हे धर्म-पुरुष, मैं नास्तिक राजाओं द्वारा नियोजित अत्यधिक सैन्य-समूह के भार से बोझिल हो उठी थी और अब भगवान् की कृपा से उससे उबर सकी हूँ। इसी प्रकार आप भी कष्टप्रद अवस्था में थे और खड़े भी नहीं हो सकते थे। इस तरह आपको भी उबारने के लिए यदुवंश में वे अपनी अन्तरंगा शक्ति से अवतरित हुए थे।

तात्पर्य : असुरगण दूसरे के सुख को लूटकर भी इन्द्रियतृप्ति का जीवन बिताना चाहते हैं। इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए असुरगण, विशेषतया नास्तिक राजा या राज्य के प्रशासनिक अधिकारी, अपने को अत्यन्त घातक अस्त्रों से सज्जित करके शान्तिपूर्ण समाज में युद्ध कराना चाहते हैं। उन्हें आत्मश्लाघा के अतिरिक्त जीवन में अन्य कोई अभिलाषा नहीं रहती। इस प्रकार पृथ्वी माता, सैन्यशक्ति में अत्यधिक वृद्धि के कारण अत्यधिक बोझिल अनुभव करती है। असुरों की वृद्धि होने से धर्मात्मा लोग, विशेषतया भक्त या देवता, दुखी होते हैं।

ऐसी परिस्थिति में, भगवान् इन अवांछित असुरों को नष्ट करने तथा धर्म की पुन:स्थापना करने के लिए अवतरित होते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का यही उद्देश्य था और इसे उन्होंने पूरा किया।

का वा सहेत विरहं पुरुषोत्तमस्य
प्रेमावलोकरुचिरस्मितवल्गुजल्पैः ।
स्थैर्यं समानमहरन्मधुमानिनीनां
रोमोत्सवो मम यदङ्घ्रिविटङ्किताया: ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

का—कौन; वा—या तो; सहेत—सहन कर सकता है; विरहम्—वियोग; पुरुष-उत्तमस्य—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का; प्रेम—प्रेममयी; अवलोक—चितवन; रुचिर-स्मित—मोहक हँसी; वल्गु-जल्पैः—हृदय को भानेवाली बोली; स्थैर्यम्—गम्भीरता; स-मानम्—प्रणय-सम्बन्धी क्रोध; अहरत्—जीता; मधु—प्रियतमा; मानिनीनाम्—सत्यभामा जैसी स्त्रियों का; रोम-उत्सवः—प्रसन्नता से रोमांच; मम—मेरा; यत्—जिसका; अङ्घ्रि—पाँव; विटङ्किताया:—से अंकित।

अतएव ऐसा कौन है, जो उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विरह की व्यथा को सह सकता है? वे अपनी प्रेमभरी मीठी मुस्कान, सुहावनी चितवन तथा मीठी-मीठी बातों से सत्यभामा जैसी प्रियतमाओं की गम्भीरता तथा प्रणय क्रोध (हाव-भाव) को जीतनेवाले थे। जब वे मेरी (पृथ्वी की) सतह पर चलते थे, तो मैं उनके चरणकमल की धूल में धँस जाती थी और फिर घास से आच्छादित हो जाती थी, जो हर्ष से उत्पन्न मेरे शरीर पर रोमांच जैसा था।

तात्पर्य : भगवान् तथा भगवान् की हजारों रानियों के मध्य, घर से जाने पर, वियोग की अनेक सम्भावनाएँ थीं, लेकिन जहाँ तक पृथ्वी का सम्बन्ध है, भगवान् के चरणकमलों को तो पृथ्वी पर पड़ना ही था, अतएव वियोग की कोई सम्भावना न थी। किन्तु जब भगवान् पृथ्वी को छोड़कर अपने दिव्य-धाम चले गये, तो पृथ्वी की वियोग-भावना अत्यन्त तीव्र हो गई।

तयोरेवं कथयतो: पृथिवीधर्मयोस्तदा ।
परीक्षिन्नाम राजर्षि: प्राप्त: प्राचीं सरस्वतीम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तयोः—उनके मध्य; एवम्—इस प्रकार; कथयतोः—वार्ता में संलग्न; पृथिवी—पृथ्वी; धर्मयोः—तथा धर्म दोनों; तदा—उस समय; परीक्षित्—राजा परीक्षित; नाम—नामक; राज-ऋषिः—राजाओं में ऋषि-तुल्य; प्राप्तः—आ गये; प्राचीम्—पूर्व-वाहिनी; सरस्वतीम्—सरस्वती नदी के तट पर।

जब पृथ्वी तथा धर्म-पुरुष इस प्रकार बातों में संलग्न थे, तो राजर्षि परीक्षित पूर्व की ओर बहनेवाली सरस्वती नदी के तट पर पहुँच गये।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत 'परीक्षित ने कलियुग का सत्कार किस तरह किया' नामक सोलहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सत्रह

कलि को दण्ड तथा पुरस्कार

सूत उवाच
तत्र गोमिथुनं राजा हन्यमानमनाथवत् ।
दण्डहस्तं च वृषलं ददृशे नृपलाञ्छनम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; तत्र—वहाँ; गो-मिथुनम्—गाय तथा बैल को; राजा—राजा; हन्यमानम्—मारे जाते हुए; अनाथ-वत्—अपने मालिक से विलग हुए प्रतीत होनेवाले; दण्ड-हस्तम्—हाथों में लट्ठ लिए; च—भी; वृषलम्—निम्न जाति के शूद्र को; ददृशे—देखा; नृप—राजा की तरह; लाञ्छनम्—वेश धारण किये।

सूत गोस्वामी ने कहा : उस स्थान पर पहुँचकर महाराज परीक्षित ने देखा कि एक नीच जाति का शूद्र, राजा का वेश बनाये, एक गाय तथा एक बैल को लट्ठ से पीट रहा था, मानो उनका कोई स्वामी न हो।

तात्पर्य : कलियुग का मुख्य लक्षण यह है कि निम्न जाति के शूद्र, अर्थात् ब्राह्मण संस्कृति तथा आध्यात्मिक दीक्षा से रहित मनुष्य प्रशासकों या राजाओं का वेश धारण करेंगे और ऐसे अ-क्षत्रिय शासकों का प्रमुख व्यवसाय होगा, निर्दोष पशुओं को, विशेष रूप से ऐसी गायों तथा बैलों को जान से

मारना, जो अपने स्वामियों अर्थात् प्रामाणिक वैश्यों द्वारा अरक्षित होंगी। *भगवद्गीता* (१८.४४) में कहा गया है कि वैश्यों का कार्य कृषि, गोरक्षा तथा व्यापार से सम्बन्धित है। कलियुग में पतित वैश्य गायों को कसाईघरों में पहुँचाने में लगे रहते हैं। क्षत्रियों का कार्य राज्य के नागरिकों की रक्षा करना है, जबकि वैश्य गायों तथा बैलों की रक्षा करने तथा उन्हें अन्न तथा दूध-उत्पादन में उपयोग करने के लिए होते हैं। गाय दूध देने तथा बैल अन्न उत्पादन करने के लिए होता है। लेकिन कलियुग में शूद्र जाति के लोग प्रशासक-पदों पर हैं और माता एवं पिता तुल्य गाएँ तथा बैल, वैश्यों के द्वारा सुरक्षित न होने के कारण, शूद्र प्रशासकों द्वारा संचालित कसाईघरों में भेज दिये जाते हैं।

वृषं मृणालधवलं मेहन्तमिव बिभ्यतम् ।
वेपमानं पदैकेन सीदन्तं शूद्रताडितम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

वृषम्—बैल को; **मृणाल-धवलम्**—श्वेत कमल के समान सफेद; **मेहन्तम्**—पेशाब करता; **इव**—मानो; **बिभ्यतम्**—अत्यधिक डरा हुआ; **वेपमानम्**—काँपता हुआ; **पदा एकेन**—एक ही पैर पर खड़ा; **सीदन्तम्**—डरा हुआ; **शूद्र-ताडितम्**—शूद्र द्वारा मारे जाने से।.

बैल इतना धवल था कि जैसे श्वेत कमल पुष्प हो। वह उस शूद्र से अत्यधिक भयभीत था, जो उसे मार रहा था। वह इतना डरा हुआ था कि एक ही पैर पर खड़ा थरथरा रहा था और पेशाब कर रहा था।

तात्पर्य : कलियुग का दूसरा लक्षण यह है कि धर्म के नियम, जो श्वेत-कमल के समान निष्कलुष तथा श्वेत हैं, उन पर इस युग के असंस्कृत शूद्र जनों का आक्रमण होगा। भले ही वे ब्राह्मण या क्षत्रिय पूर्वजों की सन्तानें हों, लेकिन समुचित शिक्षा तथा वैदिक वाङ्मय की संस्कृति के अभाव में, ऐसे शूद्र-तुल्य लोग धार्मिक नियमों की अवहेलना करेंगे और धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति ऐसे लोगों से भयभीत रहेंगे। वे अपने को किसी भी धर्म के अनुयायी न होने की घोषणा करेंगे और कलियुग में धर्म-रूपी निर्मल बैल को ही मारने के लिए, अनेक 'वाद' तथा सम्प्रदाय उत्पन्न होंगे। राजसत्ता को धर्म-निरपेक्ष अर्थात् किसी विशेष धार्मिक सिद्धान्त से रहित घोषित किया जायेगा; फलस्वरूप धर्म के प्रति पूरी उपेक्षा बरती जाएगी। नागरिक मनमाना कर्म करने के लिए स्वतंत्र होंगे और वे साधु, शास्त्र तथा गुरु का सम्मान नहीं करेंगे। एक पाँव पर खड़ा बैल इस बात का संकेत है कि धर्म के नियम

क्रमशः विलुप्त हो रहे हैं। धार्मिक नियमों का आंशिक अस्तित्व भी अनेक अवरोधों से संशयपूर्ण रहेगा, मानो वह किसी समय लड़खड़ाकर गिरनेवाला है।

गां च धर्मदुघां दीनां भृशं शूद्रपदाहताम् ।
विवत्सामाश्रुवदनां क्षामां यवसमिच्छतीम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

गाम्—गाय को; च—भी; धर्म-दुघाम्—उससे धर्म निकालने के कारण उपयोगी; दीनाम्—अब दीन बनी हुई; भृशम्—दुखी; शूद्र—निम्न जाति; पद-आहताम्—पाँव पर प्रहार की गई; विवत्साम्—बछड़े से रहित; आश्रु-वदनाम्—आँखों से आँसू भरे; क्षामाम्—अत्यन्त कृश, कमजोर; यवसम्—घास को; इच्छतीम्—मानो खाने की इच्छा करती हुई।

यद्यपि गाय उपयोगी है, क्योंकि उससे धर्म प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु अब वह दीन तथा बछड़े से रहित हो गई थी। उसके पाँवों पर शूद्र प्रहार कर रहा था। उसकी आँखों में आँसू थे और वह अत्यन्त दुखी तथा कमजोर थी। वह खेत की थोड़ी-सी घास के लिए लालायित थी।

तात्पर्य : कलि का अगला लक्षण है, गाय की दुखी अवस्था। गाय दुहने का अर्थ है, द्रव-रूप में धर्म प्राप्त करना। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि केवल दुग्धाहार करते थे। श्रील शुकदेव गोस्वामी गृहस्थ के यहाँ तब जाते, जब वह गाय दुहता होता और वे अपने निर्वाह भर के लिए उससे थोड़ा दूध लेते। यहाँ तक कि पचास वर्ष पहले तक, लोग साधु को एक गिलास दूध दिये बिना नहीं रहते थे। प्रत्येक गृहस्थ जल की तरह दूध देता था। सनातनधर्मी (वैदिक नियमों का अनुयायी) के लिए, यह प्रत्येक गृहस्थ का धर्म है कि वह न केवल दूध प्राप्त करने के लिए, अपितु धार्मिक नियमों को प्राप्त करने के लिए गाएँ तथा बैल रखे। सनातनी लोग धार्मिक नियमों के आधार पर गाय की पूजा करते हैं और ब्राह्मणों का सम्मान करते हैं। यज्ञ की अग्नि के लिए गो-दुग्ध की आवश्यकता होती है और यज्ञ करने से गृहस्थ सुखी रहता है। गाय का बछड़ा देखने में सुन्दर होता है और गाय को तुष्टि प्रदान करता है, जिससे वह अधिकाधिक दूध देती है। किन्तु कलियुग में, बछड़े को गाय से उन कारणों से जल्दी से जल्दी विलग कर दिया जाता है, जिसका उल्लेख *श्रीमद्भागवत* के इन पृष्ठों में नही किया जा सकता है। गाय अपनी आँखों में आँसू भर कर खड़ी रहती है और शूद्र ग्वाला कृत्रिम रीति से गाय को दुह लेता है और जब गाय दूध देना बन्द कर देती है, तो उसे काटे जाने के लिए भेज दिया जाता है। आधुनिक समाज में फैले हुए सभी कष्टों के लिए ये अत्यन्त जघन्य कृत्य ही उत्तरदायी हैं। लोगों को

यही पता नहीं चल पाता कि आर्थिक विकास के नाम पर वे क्या कर रहे हैं? कलियुग का प्रभाव उन्हें अज्ञान के अंधकार में रखेगा। शान्ति तथा सम्पन्नता के समस्त प्रयासों के बावजूद, उन्हें चाहिए कि वे गायों तथा बैलों को सभी प्रकार से सुखी रखें। मूर्ख लोग यह नहीं जानते कि गायों तथा बैलों को सुखी रखकर स्वयं सुखी कैसे बना जाये, लेकिन यह तो प्रकृति के नियम के अनुसार हकीकत है। इसके लिए हमें *श्रीमद्‌भागवत* को प्रमाण मानना चाहिए और मानवता के पूर्ण सुख के लिए इन नियमों को अपनाना चाहिए।

पप्रच्छ रथमारूढः कार्तस्वरपरिच्छदम् ।
मेघगम्भीरया वाचा समारोपितकार्मुकः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

पप्रच्छ—पूछा; रथम्—रथ पर; आरूढः—आसीन; कार्तस्वर—सोने से; परिच्छदम्—जटित; मेघ—बादल; गम्भीरया—दोष-मुक्त कराते हुए; वाचा—वाणी; समारोपित—पूरी तरह सज्जित; कार्मुकः—धनुष-बाण।

धनुष-बाण से सज्जित तथा स्वर्ण-जटित रथ पर आसीन, महाराज परीक्षित उससे (शूद्र से) मेघ के समान गर्जना करनेवाली गम्भीर वाणी से बोले।

तात्पर्य : दुष्टों को दण्डित करने के लिए हथियारों से लैस, राजसी प्राधिकार से सम्पन्न, महाराज परीक्षित जैसा शासक या राजा ही कलियुग के एजन्यें को ललकार सकता है। तभी इस अधम युग का सामना कर पाना सम्भव हो पाएगा। ऐसे सशक्त प्रशासनाधिकारी के अभाव में, सदैव शान्ति भंग होती रहती है। चुने हुए दिखावटी प्रशासक, अधम जनता के प्रतिनिधि के रूप में, कभी भी महाराज परीक्षित जैसे बलवान राजा की समता नहीं कर सकते। राजवेष अथवा राजसी-शैली का कोई अर्थ नहीं होता। मनुष्य के कार्य ही हैं, जिनकी गिनती होती है।

कस्त्वं मच्छरणे लोके बलाद्धंस्यबलान् बली ।
नरदेवोऽसि वेषेण नटवत्कर्मणाद्विजः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन हो; त्वम्—तुम; मत्—मेरी; शरणे—संरक्षण में; लोके—इस संसार में; बलात्—बलपूर्वक; हंसि—मार रहे हो; अबलान्—असहायों को; बली—यद्यपि बल से युक्त; नर-देवः—मनुष्य-रूप देवता; असि—प्रतीत होते हो; वेषेण—अपने वेश से; नट-वत्—अभिनेता जैसे; कर्मणा—कामों से; अद्वि-जः—जो द्विज न हो।

अरे, तुम हो कौन? तुम बलवान प्रतीत हो रहे हो, फिर भी तुम उन असहायों को मारने का साहस कर रहे हो, जो मेरे संरक्षण में हैं! वेष से तुम देवतुल्य पुरुष (राजा) बने हुए हो, किन्तु अपने कार्यों से तुम द्विज क्षत्रियों के सिद्धान्तों का उल्लंघन कर रहे हो।

तात्पर्य : ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य द्विज कहलाते हैं, क्योंकि इनका पहला जन्म माता-पिता के संयोग से होता है और दूसरा जन्म प्रामाणिक आचार्य या गुरु द्वारा आध्यात्मिक दीक्षा से सांस्कृतिक संस्कार के फलस्वरूप होता है। इस तरह क्षत्रिय भी ब्राह्मण के समान द्विज होता है और उसका कर्तव्य यह होता है कि वह असहायों को संरक्षण दे। क्षत्रिय राजा असहायों को संरक्षण प्रदान करने तथा दुष्टों को दंड देने के लिए ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है। जब-जब प्रशासकों द्वारा इस नैत्यिक कार्य में अनियमितता आती है, तब धर्म की पुन:स्थापना के लिए भगवान् का अवतार होता है। कलियुग में बेचारे असहाय पशु, विशेष रूप से गाएँ, जिन्हें प्रशासकों से सभी प्रकार का संरक्षण प्राप्त होना चाहिए, वे अंधाधुंध मारी जाती हैं। इस तरह के प्रशासक, जिनकी नजरों के सामने ये घटनाएँ घटती रहती हैं, केवल नाम के ईश्वर-प्रतिनिधि हैं। ऐसे सशक्त प्रशासक वेश या पद के बल पर भले ही गरीब जनता के शासक बने रहें, लेकिन वास्तव में वे व्यर्थ के, निम्नजाति के द्विजो की सांस्कृतिक सम्पन्नता के गुणों से विहीन पुरुष हैं। निम्नजाति के एकजन्मा (असंस्कृत) व्यक्तियों से न्याय या समता की आशा करना व्यर्थ है। अतएव, राज्य के कुशासन के कारण कलियुग में प्रत्येक व्यक्ति दुखी रहता है। आधुनिक मानव-समाज द्विज नहीं है। अतएव ऐसी प्रजा द्वारा प्रजा की सरकार, जो द्विज नहीं है, कलियुग की सरकार होगी जिसमें हर कोई दुखी होगा।

यस्त्वं कृष्णे गते दूरं सहगाण्डीवधन्वना ।
शोच्योऽस्यशोच्यान् रहसि प्रहरन् वधमर्हसि ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यः—जिससे; त्वम्—तुम दुष्ट; कृष्णे—कृष्ण के; गते—चले जाने से; दूरम्—आँख से ओझल; सह—साथ; गाण्डीव—गाण्डीव नामक धनुष; धन्वना—धारण करनेवाला अर्जुन; शोच्यः—अपराधी; असि—हो; अशोच्यान्—निर्दोष; रहसि—एकान्त स्थान में; प्रहरन्—मारते हुए; वधम्—मारे जाने के; अर्हसि—पात्र हो।

अरे धूर्त, क्या तुम इस निर्दोष गाय को मारने का दुस्साहस इसीलिए कर रहे हो कि भगवान् कृष्ण तथा गाण्डीवधारी अर्जुन दृष्टि से बाहर हैं? चूँकि तुम इस निर्दोष को एकान्त स्थान में मार रहे हो, अतएव तुम अपराधी हो और बध किये जाने के योग्य हो।

तात्पर्य : जिस सभ्यता में ईश्वर को देश निकाला दे दिया गया हो और जहाँ अर्जुन जैसा भक्त-योद्धा न हो, वहाँ कलियुग के संगी इस कानून-विहीन राज्य का लाभ उठाकर एकान्त कसाईघरों में गाय जैसे निर्दोष पशुओं का वध करने की व्यवस्था करते हैं। ऐसे पशु-हत्यारें महाराज परीक्षित जैसे पवित्र राजा द्वारा मृत्यु-दण्ड दिये जाने के पात्र हैं। जो अपराधी एकान्त स्थान में पशु का बध करता है, वह पवित्र राजा द्वारा उसी तरह मृत्यु-दण्ड पाने का भागी होता है, जिस तरह एकान्त में अबोध बालक का बध करनेवाला हत्यारा।

त्वं वा मृणालधवलः पादैर्न्यूनः पदा चरन् ।
वृषरूपेण किं कश्चिद् देवो नः परिखेदयन् ॥ ७॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; वा—या तो; मृणाल-धवलः—कमल की तरह सफेद; पादैः—तीन पाँवों वाले; न्यूनः—छीने जाने से; पदा—एक पाँव से; चरन्—चलते हुए; वृष—बैल; रूपेण—के रूप में; किम्—क्या; कश्चित्—कोई; देवः—देवता; नः—हमको; परिखेदयन्—क्लेश पहुँचा रहे हो।

तब उन्होंने (महाराज परीक्षित ने) बैल से पूछाः अरे, तुम कौन हो? तुम श्वेत कमल जैसे धवल बैल हो या कोई देवता हो? तुम अपने तीन पैर खो चुके हो और केवल एक पैर पर चल रहे हो। क्या तुम बैल के रूप में कोई देवता हो, जो हमें इस तरह क्लेश पहुँचा रहे हो?

तात्पर्य : कम से कम महाराज परीक्षित के समय तक कोई गाय तथा बैल की दुर्दशा की कल्पना नहीं कर सकता था। अतएव ऐसा भयावह दृश्य देखकर महाराज परीक्षित आश्चर्यचकित थे। उन्होंने जानना चाहा कि वह बैल कहीं कोई देवता तो नहीं था, जिसने गाय तथा बैल के भविष्य को सूचित करने के लिए ऐसी दुर्दशा बना रखी हो।

न जातु कौरवेन्द्राणां दोर्दण्डपरिरम्भिते ।
भूतलेऽनुपतन्त्यस्मिन् विना ते प्राणिनां शुचः ॥ ८॥

शब्दार्थ

न—नहीं; जातु—किसी समय; कौरव-इन्द्राणाम्—कुरुवंश के राजाओं का; दोर्दण्ड—बाहुबल से; परिरम्भिते—सुरक्षित किया गया; भू-तले—पृथ्वी पर; अनुपतन्ति—शोक करते हुए; अस्मिन्—अब तक; विना—रहित; ते—तुम्हारे; प्राणिनाम्—जीव का; शुचः—आँखों से अश्रु।

कुरुवंश के राजाओं के बाहुबल से सुरक्षित राज्य में, आज मैं पहली बार तुम्हें आँखों में आँसू भरे शोक करते हुए देख रहा हूँ। आज तक किसी ने पृथ्वीतल पर राजा की उपेक्षा के कारण आँसू नहीं बहाए।

तात्पर्य : मनुष्यों तथा पशुओं के प्राणों की रक्षा सरकार का सबसे पहला और महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है। किसी भी सरकार को ऐसे नियमों में भेदभाव नहीं बरतना चाहिए। इस कलियुग में किसी शुद्ध हृदय वाले व्यक्ति के लिए राज्य द्वारा इस प्रकार की प्राणीओं की सुनियोजित कला देखना भयावह है। महाराज परीक्षित बैल की आँखों में अश्रु देखकर शोकाकुल हो रहे थे और उन्हें यह देखकर आश्चर्य हो रहा था कि उनके उत्तम शासन में ऐसी अभूतपूर्व घटना घट रही है। जहाँ तक जीवन का सम्बन्ध है, मनुष्य तथा पशु समान रूप से संरक्षित थे। यही ईश्वर के राज्य की रीति है।

मा सौरभेयात्र शुचो व्येतु ते वृषलाद् भयम् ।
मा रोदीरम्ब भद्रं ते खलानां मयि शास्तरि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

मा—मत; सौरभेय—हे सुरभि पुत्र; अत्र—मेरे राज्य में; शुचः—शोक; व्येतु—होने दो; ते—तुम्हारा; वृषलात्—शूद्र द्वारा; भयम्—भय का कारण; मा—मत; रोदीः—रोओ; अम्ब—गो माता; भद्रम्—कल्याण; ते—तुम्हारा; खलानाम्—ईर्ष्यालुओं का; मयि—मेरे रहते; शास्तरि—शासक या दमनकर्ता।

हे सुरभि-पुत्र, अब तुम और शोक न करो। तुम्हें इस अधम जाति के शूद्र से डरने की आवश्यकता नहीं है। तथा, हे गो-माता, जब तक मैं शासक या खलों के दमनकर्ता के रूप में हूँ, तब तक तुम्हें रोने की आवश्यकता नहीं है। तुम्हारा सभी तरह से कल्याण होगा।

तात्पर्य : बैलों, गायों तथा अन्य समस्त पशुओं की सुरक्षा तभी हो सकती है, जब राज्य का शासन महाराज परीक्षित जैसे शासक द्वारा चलाया जाये। महाराज परीक्षित ने गाय को माता कहकर इसीलिए सम्बोधित किया, क्योंकि वे सभ्य द्विज क्षत्रिय राजा थे। *सुरभि* उन गायों को कहते हैं, जो वैकुण्ठ ग्रहों में रहती हैं और जिन्हें भगवान् कृष्ण स्वयं चराते हैं। जिस प्रकार सारे मनुष्य भगवान् के रूप-आकार

के अनुसार बनाये गये, उसी तरह सारी गाएँ वैकुण्ठ की सुरभि गायों जैसी बनायी गई हैं। भौतिक जगत में मानव-समाज मनुष्य को सभी प्रकार का संरक्षण प्रदान करता है, किन्तु सुरभि की उन सन्तानों को, जो चमत्कारिक-पेय अर्थात् दूध देकर मनुष्य को संरक्षण प्रदान करती हैं, उनको सुरक्षा प्रदान करनेवाला कोई कानून नहीं है। लेकिन महाराज परीक्षित तथा सारे पाण्डव गाय तथा बैल की महत्ता से पूर्ण रूप से अवगत थे और वे गो-हत्यारे को सभी प्रकार के दण्ड देने के लिए तैयार रहते थे, जिसमें मृत्यु-दण्ड भी सम्मिलित था। कभी-कभी गो-रक्षा के लिए आन्दोलन होते रहे हैं, किन्तु धर्मात्मा शासकों तथा पर्याप्त कानूनों के अभाव में, गाय तथा बैल को सुरक्षा प्रदान नहीं की जा सकी। मानव-समाज को चाहिए कि गाय तथा बैल की महत्ता को समझे और महाराज परीक्षित की भाँति, इन्हें सभी प्रकार का संरक्षण प्रदान करे। गाय तथा ब्राह्मण-संस्कृति की रक्षा करने पर भगवान् अत्यन्त प्रसन्न होंगे और हमें वास्तविक शान्ति प्रदान करेंगे, क्योंकि वे गाय तथा ब्राह्मणों के प्रति अत्यन्त दयालु हैं (*गो-ब्राह्मण-हिताय*)।

यस्य राष्ट्रे प्रजा: सर्वास्त्रस्यन्ते साध्व्यसाधुभि: ।
तस्य मत्तस्य नश्यन्ति कीर्तिरायुर्भगो गति: ॥ १० ॥
एष राज्ञां परो धर्मो ह्यार्तानामार्तिनिग्रह: ।
अत एनं वधिष्यामि भूतद्रुहमसत्तमम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; राष्ट्रे—राज्य में; प्रजा:—जीव; सर्वा:—सारे; त्रस्यन्ते—भयभीत रहते हैं; साध्वि—हे साध्वी; असाधुभि:—दुष्टों के द्वारा; तस्य—उस; मत्तस्य—मोह-ग्रस्त का; नश्यन्ति—नष्ट हो जाते हैं; कीर्ति:—यश; आयु:—आयु, उम्र; भग:—सम्पत्ति, धन; गति:—दूसरा जन्म; एष:—ये हैं; राज्ञाम्—राजाओं के; पर:—श्रेष्ठ; धर्म:—वृत्ति, धर्म; हि—निश्चय ही; आर्तानाम्—कष्ट भोगनेवालों के; आर्ति—कष्ट; निग्रह:—दमन; अत:—अतएव; एनम्—इस आदमी को; वधिष्यामि—मैं मार डालूँगा; भूत-द्रुहम्—जीवों की हिंसा करनेवाला; असत्-तमम्—अत्यन्त दुष्ट।

हे साध्वी, यदि राजा के राज्य में भी सभी प्रकार के जीव त्रस्त रहें, तो राजा की ख्याति, उसकी आयु तथा उसका उत्तम पुनर्जन्म (परलोक) नष्ट हो जाते हैं। यह राजा का प्रधान कर्तव्य है कि जो पीड़ित हों, सर्वप्रथम उनके कष्टों का शमन किया जाय। अतएव मैं इस अत्यन्त दुष्ट व्यक्ति को अवश्य मारूँगा, क्योंकि यह अन्य जीवों के प्रति हिंसक है।

तात्पर्य : जब किसी गाँव या नगर में जंगली पशु उत्पात मचाते हैं, तो पुलिस या दूसरे लोग उन्हें मारने की कार्यवाही करते हैं। इसी तरह, सरकार का कर्तव्य है कि वह समस्त असामाजिक तत्त्वों को, यथा चोरों, डकैतों तथा हत्यारों को तुरन्त मार डाले। वही दंड पशु-बधिकों को भी दिया जाना चाहिए, क्योंकि पशु भी राज्य की *प्रजा* हैं। *प्रजा* का अर्थ है, जिसने राज्य में जन्म लिया हो वह, और इसमें मनुष्य तथा पशु दोनों सम्मिलित हैं। जो भी जीव राज्य में जन्म लेता है, उसका मूल अधिकार है कि वह राजा के संरक्षण में रहे। जंगल के पशु भी राजा की प्रजा हैं, अतएव उन्हें भी जीने का अधिकार है। तो भला गाय तथा बैल जैसे घरेलू पशुओं के विषय में क्या कहा जा सकता है।

यदि कोई जीव किसी अन्य जीव को डराता है, तो वह अत्यन्त दुष्ट है और राजा को चाहिए कि वह तुरन्त ऐसे उत्पाती का वध कर दे। जिस प्रकार उत्पात मचानेवाले जंगली पशु को मार दिया जाता है, उसी तरह जो व्यक्ति जंगली पशुओं या अन्य पशुओं को वृथा ही मारता या त्रस्त करता है, उसे तुरन्त दण्डित किया जाना चाहिए। ईश्वरी विधान के अनुसार सारे जीव, चाहे वे जिस स्वरूप के हों, भगवान् की संतान हैं और किसी को अन्य पशु को मारने का कोई अधिकार नहीं है, जब तक ईश्वरी विधि-संहिता उसकी आज्ञा न दे। बाघ अपने जीवन-निर्वाह के लिए छोटे-छोटे पशुओं को मार सकता है, किन्तु मनुष्य अपने निर्वाह के लिए किसी पशु को नहीं मार सकता। यह उस ईश्वर का विधान है, जिन्होंने यह नियम बनाया है कि एक पशु दूसरे को खाकर जीता है। इसी तरह शाकाहारी भी अन्य जीवों को खाकर जीवित रहते हैं। अतएव नियम यह है कि ईश्वरी-विधान में जो भी निश्चित है, उसी के अनुसार विशेष जीवों को खाकर ही जीव को जीवित रहना चाहिए। *ईशोपनिषद्* का निर्देश है कि मनुष्य को भगवान् के निर्देशानुसार रहना चाहिए, अपनी इच्छा के अनुसार नहीं। मनुष्य ईश्वर द्वारा प्रदत्त तरह-तरह के अन्नों, फलों तथा दूध से जीवन-यापन कर सकता है और कुछ मामलों को छोड़कर, उसे पशु-मांस खाने की आवश्यकता नहीं है।

कभी-कभी दार्शनिक तथा विद्वान कहा जाने वाला मोह-ग्रस्त राजा या प्रशासक भी अपने राज्य में कसाईघर चलाने की अनुमति यह जाने बिना दे देता है कि पशुओं के उत्पीड़न से ऐसा मूर्ख राजा या प्रशासक नरक को जाता है। प्रशासक को अपनी प्रजा-जिसमें मनुष्य तथा पशु दोनों आते हैं, उनकी सुरक्षा के प्रति सतर्क रहना चाहिए और पूछ-ताछ करते रहना चाहिए कि कहीं पर कोई जीव किसी

अन्य जीव को सता तो नहीं रहा। सतानेवाले जीव को तुरन्त ही पकड़ कर, मार डालना चाहिए जैसाकि महाराज परीक्षित ने संकेत दिया।

जनता की सरकार को या जनता द्वारा चलाई जानेवाली सरकार को, मूर्ख सरकारी लोगों की इच्छानुसार, निर्दोष पशुओं के वध की आज्ञा नहीं मिलनी चाहिए। उन्हें शास्त्रोक्त ईश्वर की संहिता को जानना चाहिए। महाराज परीक्षित यहाँ उद्धरण देते हैं कि ईश्वर की संहिता के अनुसार, लापरवाह राजा या प्रशासक अपनी ख्याति, आयु, बल तथा अन्त में उन्नतिमय जीवन तथा मृत्यु के बाद मोक्ष प्राप्त करने के अवसर को खतरे में डाल देता है। ऐसे मूर्ख लोग अगले जीवन के अस्तित्व में भी विश्वास नहीं करते।

इस श्लोक की टीका करते समय, हमारे समक्ष एक महान् आधुनिक राजनेता का वक्तव्य है, जिसकी हाल ही में मृत्यु हुई और जो अपनी अन्तिम इच्छा व्यक्त कर गया है, जिससे महाराज परीक्षित द्वारा व्यक्त की गई ईश्वरी संहिता के विषय में उसका अज्ञान प्रकट होता है। यह राजनेता ईश्वरी संहिता से इतना अनजान था कि उसने लिखा है, ''मैं ऐसे किन्हीं अनुष्ठानों में विश्वास नहीं करता और विधि के रूप में भी उनका पालन करना तो एक प्रकार का छलावा और अपने आपको तथा अन्यों को धोखा देना होगा...इस विषय में मेरी कोई धार्मिक भावना नहीं है।''

जब हम आधुनिक युग के महान् राजनेता के इस वक्तव्य एवं महाराज परीक्षित के वक्तव्य में अन्तर ढूँढते हैं, तो हमें जमीन-आसमान का अन्तर दिखता है। महाराज परीक्षित शास्त्रीय संहिता के अनुसार धर्मात्मा थे, जबकि आधुनिक राजनेता अपने निजी विश्वास तथा भावना के अनुसार चलता है। इस संसार का कोई भी महान् पुरुष आखिर बद्धजीव ही है। उसके हाथ-पैर भौतिक प्रकृति की रस्सी से बँधे हैं, फिर भी वह अपने मनमाने विचारों द्वारा कर्म करने के लिए अपने को स्वतंत्र समझता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि महाराज परीक्षित के काल में लोग सुखी थे और पशुओं को समुचित संरक्षण दिया जाता था, क्योंकि प्रशासक न तो मनमानी करता था, न ईश्वरी नियम से अनजान होता था। मूर्ख श्रद्धाविहीन प्राणी ही ईश्वर के अस्तित्व की उपेक्षा करने का प्रयत्न करते हैं और बहुमूल्य मानव-जीवन की बाजी लगाकर अपने आपको धर्म-निरपेक्ष होने का दावा करते रहते हैं। मानव-जीवन विशेष रूप से ईश्वर के विज्ञान को जानने के लिए मिलता है, लेकिन मूर्ख प्राणी, विशेषतया इस

कलियुग में, ईश्वर को यथार्थ रूप में जानने के बदले, धार्मिक विश्वास तथा ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध प्रचार करते हैं, यद्यपि वे जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के लक्षणों द्वारा ईश्वरीय नियमों से जकड़े रहते हैं।

कोऽवृश्चत् तव पादांस्त्रीन् सौरभेय चतुष्पद ।
मा भूवंस्त्वादृशा राष्ट्रे राज्ञां कृष्णानुवर्तिनाम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

कः—वह कौन है; अवृश्चत्—काट लिया; तव—तुम्हारे; पादान्—पाँवों को; त्रीन्—तीन; सौरभेय—हे सुरभि पुत्र; चतुः-पद—चौपाये हो; मा—कभी नहीं; भूवन्—ऐसा हुआ है; त्वादृशाः—जैसे कि तुम हो; राष्ट्रे—राज्य में; राज्ञाम्—राजाओं के; कृष्ण-अनुवर्तिनाम्—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के आदेशों का पालन करने वाले।

उन्होंने (महाराज परीक्षित ने) बैल को बारम्बार सम्बोधित करते हुए इस तरह पूछा : हे सुरभि-पुत्र, तुम्हारे तीन पाँवों को किसने काट लिया है? उन राजाओं के राज्य में, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के नियमों के आज्ञाकारी हैं, तुम्हारे समान दुखी कोई नहीं है।

तात्पर्य : समस्त राज्यों के राजाओं या प्रशासकों को भगवान् कृष्ण की संहिताएँ (सामान्यतया *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत*) जाननी चाहिए और उन्हीं के अनुसार मनुष्य को जीवन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए कर्म करना चाहिए, जिससे भौतिक जीवन के सारे कष्ट विनष्ट हो जाँय। जो मनुष्य भगवान् कृष्ण की संहिताओं को जानता है, उसे यह गति बिना कष्ट के मिल सकती है। *भगवद्गीता* में, संक्षेप में, हम ईश्वर की संहिताएँ समझ सकते हैं, और *श्रीमद्भागवत* में उनकी विस्तृत व्याख्या हुई है।

जिस राज्य में कृष्ण के आदेशों का पालन किया जाता है, वहाँ कोई दुखी नहीं रहता। जहाँ ऐसा नहीं होता, वहाँ प्रथम लक्षण यह है कि धर्म के प्रतिनिधि के तीन पाँव कट जाते हैं; फिर कष्टों की झड़ी लग जाती है। जब कृष्ण साक्षात् विद्यमान थे तो इन आदेशों का, निस्सन्देह, पालन होता था, किन्तु उनकी अनुपस्थिति में ऐसे अन्धे लोगों के लिए, जो उच्चपद पर निहित हैं, *श्रीमद्भागवत* के पृष्ठों में उन्हें अंकित कर दिया गया है।

आख्याहि वृष भद्रं वः साधूनामकृतागसाम् ।
आत्मवैरूप्यकर्तारं पार्थानां कीर्तिदूषणम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

आख्याहि—मुझसे कहो; वृष—हे बैल; भद्रम्—कल्याण; वः—तुम्हारा; साधूनाम्—ईमानदारों का; अकृत-आगसाम्—अपराधहीनों का; आत्म-वैरूप्य—अपना रूप बिगाड़ना; कर्तारम्—कर्ता; पार्थानाम्—पृथा के पुत्रों का; कीर्ति-दूषणम्—यश को कलंकित करना।

हे बृषभ, तुम निरपराध हो और पूर्णतया ईमानदार हो, अतएव मैं तुम्हारे कल्याण की कामना करता हूँ। कृपया मुझे अंग-भंग करनेवाले दुष्ट के बारे में बताओ, जो पृथा के पुत्रों के यश को कलंकित कर रहा है।

तात्पर्य : महाराज रामचन्द्र तथा उनके पद-चिह्नों पर चलनेवाले राजा जैसे पाण्डवों तथा उनके वंशजों के यश को भुलाया नहीं जा सकता, क्योंकि उनके राज्य में निरपराध तथा ईमानदार जीव कभी कष्ट नहीं पाते थे। बैल तथा गाय अत्यन्त निरपराधी-जीवों के प्रतीक हैं, क्योंकि इनके मल तथा मूत्र को भी मानव-समाज उपयोग में लाता है। पृथा-पुत्रों के वंशज, यथा महाराज परीक्षित को भय था कि उनकी ख्याति विनष्ट होगी, किन्तु आजकल के नेता ऐसे निरपराध पशुओं का वध करने से भी डरते नहीं। यहीं वह अन्तर दिखता है, जो उन धर्मात्मा राजाओं के शासन में तथा ईश्वर के आदेशों के ज्ञान से शून्य गैर-जिम्मेदार शासकों द्वारा शासित आधुनिक राज्यों में होता है।

जनेऽनागस्यघं युञ्जन् सर्वतोऽस्य च मद्भयम् ।
साधूनां भद्रमेव स्यादसाधुदमने कृते ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

जने—जीवों में; अनागसि—निरपराध; अघम्—कष्ट; युञ्जन्—लगाकर; सर्वतः—सर्वत्र; अस्य—ऐसे अपराधियों का; च—तथा; मत्-भयम्—मेरा भय; साधूनाम्—ईमानदार व्यक्तियों का; भद्रम्—कल्याण; एव—निश्चय ही; स्यात्—होगा; असाधु—दुष्ट; दमने—दमन में; कृते—ऐसा किये जाने पर।

निरपराध जीवों को जो कोई भी कष्ट पहुँचाता है, उसे चाहिए कि विश्व में जहाँ कहीं भी हो, मुझसे डरे। दुष्टों का दमन करने से निरपराध व्यक्ति को स्वतः लाभ पहुँचता है।

तात्पर्य : बेईमान दुष्ट लोग राज्य के कायर तथा नपुंसक शासनाध्यक्षों के कारण फूलते-फलते हैं। किन्तु जब शासनाध्यक्ष, राज्य के किसी भी कोने के सभी प्रकार के बेईमान दुष्टों का दमन करने में समर्थ होते हैं, तो वे पनप नहीं पाते। जब दुष्टों को दृष्टान्त रूप से दण्डित किया जाता है, तो समस्त भद्रता स्वतः ही उसके पीछे पीछे आती है। जैसा पहले कहा जा चुका है, यह राजा या प्रशासक का

मुख्य कर्तव्य है कि वह शान्त, निरपराध प्रजा को सभी प्रकार से सुरक्षा प्रदान करे। भगवान् के भक्त स्वभाव से शान्त तथा निरपराध होते हैं, अतएव यह राज्य का मूल कर्तव्य है कि वह हर एक को भगवद्-भक्त बनने में सहायता करे। इस तरह स्वत: ही सारे नागरिक शान्त तथा निरपराध होंगे। तब राजा का एकमात्र कर्तव्य रह जायेगा बेईमान दुष्टों का दमन करना। इससे सारे मानव-समाज में शान्ति तथा एकता आयेगी।

अनाग:स्विह भूतेषु य आगस्कृन्निरङ्कुश: ।
आहर्तास्मि भुजं साक्षादमर्त्यस्यापि साङ्गदम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अनागः सु इह—निरपराध; भूतेषु—जीवों में; यः—जो व्यक्ति; आगः-कृत्—अपराध करता है; निरङ्कुशः—उच्छृङ्खल, उद्दंड; आहर्ता अस्मि—मैं काट लूँगा; भुजम्—बाँहें; साक्षात्—प्रत्यक्ष; अमर्त्यस्य अपि—चाहे देवता क्यों न हो; स-अङ्गदम्—बाजू-बन्द तथा अन्य सजावट से युक्त।

जो उद्दंड व्यक्ति निरपराधियों को सता कर अपराध करता है, वह मेरे द्वारा उखाड़ फेंका जायेगा, चाहे वह बाजूबंद तथा अन्य अलंकारों से युक्त स्वर्ग का निवासी ही क्यों न हो।

तात्पर्य : स्वर्ग के निवासी *अमर* कहलाते हैं, क्योंकि उनकी आयु मनुष्यों की अपेक्षा काफी लम्बी होती है। मनुष्य के लिए, जिसकी आयु अधिक से अधिक सौ वर्ष होती है, लाखों वर्ष की आयु निश्चय ही अमर लगेगी। उदाहरणार्थ, *भगवद्गीता* से हमें पता चलता है कि ब्रह्मलोक का एक दिन ४३,००,००० × १,००० सौर वर्षों के तुल्य है। इसी प्रकार स्वर्ग के अन्य ग्रहों का एक दिन इस ग्रह के छह मास के तुल्य होता है और वहाँ के निवासियों की आयु वहाँ के एक करोड़ वर्ष की होती है। अत: स्वर्ग-लोकों में, चूँकि मनुष्य की अपेक्षा उन निवासियों की आयु काफी बड़ी होती है, अतएव कल्पना के आधार पर वहाँ के निवासी अमर कहलाते हैं, यद्यपि भौतिक ब्राह्माण्ड के भीतर अमर कोई भी नहीं है।

महाराज परीक्षित स्वर्ग के ऐसे निवासियों को भी ललकारते हैं, यदि वे निरपराधों को कष्ट पहुँचाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य के शासनाध्यक्ष को महाराज परीक्षित के समान सशक्त होना चाहिए, जिससे वह सब से बलवान अपराधी को भी दंड दे सके। राज्य के शासनाध्यक्ष का यह सिद्धान्त होना चाहिए कि जो ईश्वर के आदेशों की अवमानना करने वाला अपराधी है, उसे सदैव दण्डित किया जाय।

राज्ञो हि परमो धर्मः स्वधर्मस्थानुपालनम् ।
शासतोऽन्यान् यथाशास्त्रमनापद्युत्पथानिह ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

राज्ञः—राजा का; हि—निश्चय ही; परमः—परम; धर्मः—वृत्तिपरक कर्तव्य; स्व-धर्म-स्थ—अपने नियत कर्म के प्रति आज्ञाकारी; अनुपालनम्—सदैव शरण देनेवाला; शासतः—शासन चलाते हुए; अन्यान्—अन्यों को; यथा—जिस तरह; शास्त्रम्—शास्त्रों के अनुसार; अनापदि—बिना खतरे के; उत्पथान्—पथ-भ्रष्ट व्यक्ति; इह—एक प्रकार से।

शासक का यह परम धर्म है कि कानून-पालन करने वाले व्यक्तियों को सभी प्रकार से संरक्षण प्रदान करे और जो सामान्य दिनों में, जब आपात्काल नहीं रहता, शास्त्रों के अध्यादेशों से विपथ हो जाते हैं, उन्हें दण्ड दे।

तात्पर्य : शास्त्रों में *आपद्-धर्म* का उल्लेख है, जिसका अर्थ होता है असामान्य घटनाओं के समय का कर्तव्य। कहा जाता है कि किसी असामान्य भयावह परिस्थिति में ऋषि विश्वामित्र को कुत्ते का मांस खाना पड़ा था। आपात्काल में मनुष्य को किसी भी पशु का मांस खाने की छूट दी जा सकती है, लेकिन इसका अर्थ यह भी तो नहीं है कि मांस खानेवालों के लिए नियमित कसाईघर चलाया जाय और राज्य द्वारा इस प्रणाली को प्रोत्साहन दिया जाय। केवल स्वाद के लिए, सामान्य समय में, किसी को भी मांस खाकर जीवित रहने का प्रयास नहीं करना चाहिए। यदि कोई ऐसा करता है, तो राजा या प्रशासक को चाहिए कि इस अशिष्ट भोग के लिए उसे दण्डित करे।

विभिन्न कर्मों में रत, विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के लिए, शास्त्रों के नियत आदेश हैं और जो उनका पालन करता है, वह *स्वधर्मस्थ* अर्थात् अपने संस्तुत कर्तव्यों का पालन करने वाला कहलाता है। *भगवद्गीता* (१८.४८) में उपदेश दिया गया है कि मनुष्य को चाहिए कि अपने नियत कर्मों (स्वधर्म) को न छोड़े, भले ही वे सर्वथा त्रुटिहीन न हों। ऐसे स्वधर्म का आपात्काल में उल्लंघन किया जा सकता है, यदि परिस्थितियाँ उसे विवश करें, लेकिन सामान्य दिनों में उसका उल्लंघन नहीं किया जाना चाहिए। शासनाध्यक्ष को चाहिए कि वह देखे कि ऐसा स्वधर्म, चाहे जैसी भी परिस्थिति हो, उसके पालन करने वालो द्वारा बदला न जाय और उसे चाहिए कि स्वधर्म पालक को सभी प्रकार का संरक्षण प्रदान करे। उल्लंघन करनेवाले को शास्त्रों के अनुसार दण्ड देना चाहिए और राजा का धर्म है कि वह देखे कि प्रत्येक व्यक्ति शास्त्रों में नियत स्वधर्म का कड़ाई से पालन करता है।

धर्म उवाच
एतद् व: पाण्डवेयानां युक्तमार्ताभयं वच: ।
येषां गुणगणै: कृष्णो दौत्यादौ भगवान् कृत: ॥ १७॥

शब्दार्थ

धर्म: उवाच—मूर्तिमंत धर्म ने कहा; एतत्—ये सारे; व:—आपके द्वारा; पाण्डवेयानाम्—पांडववंशियों का; युक्तम्—के उपयुक्त; आर्त—कष्ट भोगने वाला; अभयम्—समस्त भय से मुक्ति; वच:—शब्द; येषाम्—उन; गुण-गणै:—योग्यताओं से; कृष्ण:—कृष्ण ने भी; दौत्य-आदौ—दूत कर्म इत्यादि.; भगवान्—भगवान्; कृत:—सम्पन्न किया।.

धर्म ने कहा : अभी आपने जो शब्द कहे हैं, वे पाण्डववंशीय व्यक्ति के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं। पाण्डवों के भक्तिपूर्ण गुणों से मोहित होकर ही, भगवान् कृष्ण ने दूत का कर्तव्य निभाया।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित द्वारा जो आश्वासन तथा वचन दिये गये, वे उनकी वास्तविक शक्ति की अतिरंजना करनेवाले न थे। महाराज ने कहा था कि धर्म का उल्लंघन करनेवाले, यदि स्वर्ग के निवासी हों, तो भी वे उनके कठोर शासन से बच नहीं सकते। वे मिथ्या ही गर्वित नहीं थे, क्योंकि भगवद्भक्त भगवान् के ही समान और कभी-कभी उनकी कृपा से उनसे भी बढ़कर शक्तिशाली होता है और यदि भक्त कोई वचन देता है, तो भले ही सामान्य रूप से उसका पूरा होना कठिन लगे, लेकिन भगवान् की कृपा से वह ठीक से पूरा हो जाता है। पाण्डवों ने अपनी अनन्य भक्ति तथा भगवान् के प्रति पूर्ण शरणागति द्वारा भगवान् का सारथी बनना या कभी-कभी पत्रवाहक बनना सम्भव हो पाया। भक्तों के लिए भगवान् द्वारा किये गये ऐसे कार्य उन्हें अत्यन्त भाते हैं, क्योंकि भगवान् उन अनन्य भक्तों की सेवा करना चाहते हैं, जिनके पास भगवान् की प्रेम पूर्ण सेवा करने के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं होता। भगवान् के विख्यात सखा-सेवक अर्जुन के पौत्र, महाराज परीक्षित अपने पितामह की ही भाँति शुद्ध भक्त थे। अतएव भगवान् सदैव उनके साथ थे—यहाँ तक कि जब वे माता के गर्भ में थे और उन पर अश्वत्थामा के ज्वलन्त ब्रह्मास्त्र का प्रहार हुआ था, तब भी वे उनके साथ थे। भक्त सदैव भगवान् के संरक्षण में रहता है, अतएव महाराज परीक्षित द्वारा दिया गया संरक्षण का आश्वासन निरर्थक नहीं हो सकता था। धर्म ने इस तथ्य को स्वीकार किया और राजा को अपनी उच्च प्रतिष्ठा के अनुकूल आश्वासन देने के लिए धन्यवाद दिया।

न वयं क्लेशबीजानि यतः स्युः पुरुषर्षभ ।
पुरुषं तं विजानीमो वाक्यभेदविमोहिताः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वयम्—हम; क्लेश-बीजानि—कष्टों के मूल कारण को; यतः—जहाँ से; स्युः—ऐसा होता है; पुरुष-ऋषभ—हे समस्त पुरुषों में श्रेष्ठ; पुरुषम्—पुरुष को; तम्—उस; विजानीमः—जानो; वाक्य-भेद—मतभेद; विमोहिताः—मोहग्रस्त।

हे पुरुषश्रेष्ठ, यह निश्चित कर पाना अत्यन्त कठिन है कि किस दुष्ट ने हमें कष्ट पहुँचाया है, क्योंकि हम सैद्धान्तिक दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न मतों से भ्रमित हैं।

तात्पर्य : संसार में ऐसे अनेक सैद्धान्तिक दार्शनिक हैं, जो कार्य-कारण सम्बन्धी, विशेष रूप से कष्टों के कारण तथा जीवों पर उनके प्रभावों के विषय में, अपना-अपना मत रखते हैं। सामान्यतया छः महान् दार्शनिक हैं—वैशेषिक दर्शन के लेखक कणाद, तर्कशास्त्र के लेखक गौतम, योग के लेखक पतंजलि, सांख्य-दर्शन के लेखक कपिल, कर्म-मीमांसा के लेखक जैमिनि तथा वेदान्त-दर्शन के लेखक व्यासदेव।

यद्यपि धर्म-रूप बैल तथा पृथ्वी-रूप गाय भलीभाँति जानते थे कि मूर्तिमंत कलि ही उनके क्लेशों का कारण है, फिर भी भगवद्भक्तों के रूप में, वे यह भी जानते थे कि भगवान् की अनुमति के बिना कोई उनको कष्ट नहीं पहुँचा सकता। *पद्मपुराण* के अनुसार, हमारे वर्तमान क्लेश पाप रूपी लता में फल लगने के कारण हैं, किन्तु शुद्ध भक्ति का आचरण करने से ये पाप के अंकुर भी धीरे-धीरे मुरझा जाते हैं। इस तरह उत्पात मचानेवालों को देखते हुए भी भक्त उन्हें कष्ट पहुँचाने का दोषी नहीं ठहराते। वे मान लेते हैं कि उत्पाती व्यक्ति किसी अप्रत्यक्ष कारण से ऐसा कर रहा है। अतएव वे कष्टों को ईश्वर द्वारा मात्र कम करके दिए गए समझकर सहन करते हैं, अन्यथा उनके क्लेश और भी भारी होते।

महाराज परीक्षित चाहते थे कि प्रत्यक्ष उत्पीड़क के विरुद्ध आरोप प्राप्त हो ले, किन्तु उन्होंने उपर्युक्त आधार पर ऐसा करने से इनकार कर दिया। फिर भी मनोधर्मी दार्शनिक भगवान् की स्वीकृति को मान्यता नहीं देते; वे अपने खुद के ढंग से क्लेशों का कारण ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं, जैसाकि अगले श्लोकों में बताया जाएगा। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, ऐसे मनोधर्मी स्वयं भ्रमित रहते हैं, अतएव वे यह नहीं जान पाते कि समस्त कारणों के अन्तिम कारण परमेश्वर ही हैं।

केचिद् विकल्पवसना आहुरात्मानमात्मनः ।
दैवमन्येऽपरे कर्म स्वभावमपरे प्रभुम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

केचित्—उनमें से कोई; विकल्प-वसनाः—सभी प्रकार के द्वैत से इनकार करनेवाले; आहुः—घोषित करते हैं; आत्मानम्—अपने आपको; आत्मनः—अपना; दैवम्—अतिमानव, दैवी; अन्ये—अन्य लोग; अपरे—और भी कोई; कर्म—कर्म; स्वभावम्—भौतिक प्रकृति; अपरे—अन्य कई; प्रभुम्—स्वामी।.

सभी प्रकार के द्वैत से इनकार करनेवाले कतिपय दार्शनिक यह घोषित करते हैं कि मनुष्य अपने सुख तथा दुख के लिए स्वयं ही उत्तरदायी हैं। अन्य लोग कहते हैं कि दैवी शक्तियाँ इसके लिए जिम्मेदार हैं, जबकि कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो कहते हैं कि इसके लिए कर्म जिम्मेदार है और जो निपट भौतिकतावादी हैं, वे मानते हैं कि प्रकृति ही इसका अन्तिम कारण है।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, जैमिनि तथा उनके अनुयायियों जैसे दार्शनिक स्थापित करते हैं कि सकाम कर्म ही सारे सुख तथा दुख का मूल कारण है और यदि कोई श्रेष्ठ अधिकारी, कोई अतिमानवीय शक्तिशाली भगवान् या देवता हैं, तो वे भी सकाम कर्म के प्रभाव के अधीन हैं, क्योंकि वे लोगों के कर्म के अनुसार ही फल देते हैं। उनका कहना है कि कर्म स्वतंत्र नहीं है, क्योंकि कर्म किसी कर्ता द्वारा सम्पन्न होता है, अतएव कर्ता ही अपने सुख या दुख का कारण है। *भगवद्गीता* (६.५) में भी पुष्टि की गई है कि भौतिक राग से मुक्त मन के द्वारा मनुष्य संसार के कष्टों से अपना उद्धार कर सकता है। अतएव किसी को मन के भौतिक राग के कारण अपने आपको बन्धन में नहीं डालना चाहिए। इस तरह मनुष्य का मन ही उसके सुख तथा दुख में उसका मित्र या शत्रु है।

नास्तिक, भौतिकतावादी सांख्यवादी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि भौतिक प्रकृति समस्त कारणों की कारण है। उनके मतानुसार, भौतिक तत्त्वों के संयोग ही भौतिक सुख-दुख के कारण हैं और पदार्थ का विघटन ही समस्त भौतिक तापों से मुक्त होने का कारण है। गौतम तथा कणाद परमाणुओं के संयोग को ही प्रत्येक वस्तु का कारण मानते हैं और अष्टावक्र जैसे निर्विशेषवादी यह पाते हैं कि ब्रह्म का आध्यात्मिक तेज ही समस्त कारणों का कारण है। किन्तु *भगवद्गीता* में स्वयं भगवान् घोषित करते हैं कि वे ही निराकार ब्रह्म के स्रोत हैं। अतएव वे अर्थात् भगवान् का व्यक्तित्व ही समस्त कारणों के परम कारण हैं। *ब्रह्म-संहिता* में भी इसकी पुष्टि हुई है कि भगवान् कृष्ण ही समस्त कारणों के अन्तिम कारण हैं।

अप्रतर्क्यादनिर्देश्यादिति केष्वपि निश्चयः ।
अत्रानुरूपं राजर्षे विमृश स्वमनीषया ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अप्रतर्क्यात्—तर्कशक्ति से परे; अनिर्देश्यात्—चिन्तन-शक्ति से परे; इति—इस प्रकार; केषु—कोई; अपि—भी; निश्चयः—निश्चित रूप से; अत्र—यहाँ पर; अनुरूपम्—उनमें से सही, उचित; राज-ऋषे—हे राजर्षि; विमृश—अपने आप निर्णय लो; स्व—अपनी; मनीषया—बुद्धि की शक्ति द्वारा।

कुछ ऐसे भी चिन्तक हैं, जिनका विश्वास है कि न तो तर्क द्वारा कष्ट का कारण निश्चित किया जा सकता है, न उसे कल्पना से जाना जा सकता है, न ही शब्दों द्वारा उसे व्यक्त किया जा सकता है। हे राजर्षि, आप अपनी बुद्धि से यह सब सोचकर अपने आप निर्णय करें।

तात्पर्य : वैष्णवमतावलम्बी अर्थात् भगवद्भक्तों का ऐसा विश्वास है, जैसाकि ऊपर कहा गया है, कि परमेश्वर की इच्छा के बिना कुछ भी घटित नहीं हो सकता। वे ही परम निर्देशक हैं, क्योंकि वे *भगवद्गीता* (१५.१५) में पुष्टि करते हैं कि सर्वव्यापी परमात्मा के रूप में वे सबों के हृदय में वास करते हैं और सारे कर्मों पर निगरानी रखते हैं तथा सारे कर्मों के साक्षी हैं। यहाँ पर नास्तिकों के इस तर्क का खण्डन होता है कि जब तक किसी न्यायाधीश के समक्ष किसी का दुष्कर्म सिद्ध न हो ले, तब तक उसे दण्डित नहीं किया जा सकता, क्योंकि हम निरन्तर साथ रहने वाले साक्षी तथा जीव के नित्य संगी को स्वीकार करते हैं। जीव ने पूर्वजन्म में या इसी जीवन में शरीर रूपी जो कुछ किया हो, उसे वह भूल सकता है, लेकिन हमें यह जान लेना चाहिए कि भौतिक शरीर रूपी एक ही वृक्ष में जीव तथा परमात्मा दो पक्षियों के रूप में, बैठे हुए हैं। इनमें से एक अर्थात् जीव उस वृक्ष के फल खा रहा है और दूसरा अर्थात् परमात्मा उसके कार्यकलापों का साक्षी बना हुआ है। अतएव परमात्मा ही जीव के सारे कार्यकलापों के साक्षी हैं और उनके निर्देशानुसार जीव स्मरण रख सकता है या भूल सकता है कि उसने पूर्वजन्म में क्या किया। अतएव वे सर्वव्यापी निराकार ब्रह्म तथा प्रत्येक के हृदय में स्थित अन्तर्यामी परमात्मा हैं। वह समस्त भूत, वर्तमान तथा भविष्य के ज्ञाता हैं, उनसे कुछ भी छिपाया नहीं जा सकता। भक्तगण इस सत्य को जानते हैं, अतएव वे फल की आकांक्षा न करके अपना कार्य निष्ठापूर्वक करते हैं। इसके अतिरिक्त, चिन्तन या पाण्डित्य के द्वारा भगवान् की प्रतिक्रियाओं का अनुमान लगाना सम्भव नहीं है। तो फिर वे क्यों कुछ को कष्ट में डालते हैं और कुछ को नहीं? वे

वैदिक ज्ञान के परम ज्ञाता हैं, और इस तरह वे वास्तविक वेदान्ती हैं। साथ ही, वे वेदान्त के संकलनकर्ता हैं। कोई भी उनसे स्वतंत्र नहीं है और हर कोई अलग-अलग ढंग से उनकी सेवा में लगा हुआ है। जीव को बद्ध अवस्था में ऐसी सेवाएँ प्रकृति की शक्ति के अधीन होकर करनी पड़ती है, जबकि मुक्त अवस्था में स्वेच्छा से भगवान् की सेवा के लिए आध्यात्मिक प्रकृति जीव की सहायता करती है। उनके कर्मों में किसी प्रकार असंगति या उन्माद नहीं होता। वे सब परम सत्य के पथ पर होते हैं। भीष्मेदव ने भगवान् के अचिन्त्य कर्मों का ठीक अनुमान लगाया था। अतएव निष्कर्ष यह निकलता है कि महाराज परीक्षित के समक्ष, धर्म के प्रतिनिधि तथा पृथ्वी के प्रतिनिधि के सारे कष्टों को जानबूझ कर यह सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया था, क्योंकि वे भलीभाँति जानते थे कि आध्यात्मिक उन्नति के दो स्तम्भों—गाय (पृथ्वी) तथा ब्राह्मण (धर्म)—को किस तरह संरक्षण प्रदान करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति पूरी तरह भगवान् के वश में है। वे जब किसी के द्वारा कोई काम कराना चाहते हैं, तो उनका कर्म सही होता है। इस प्रकार महाराज परीक्षित की महानता की परीक्षा ली गई। अब हमें देखना है कि वे अपने कुशाग्र मन से इसे कैसे हल करते हैं।

सूत उवाच
एवं धर्मे प्रवदति स सम्राड् द्विजसत्तमाः ।
समाहितेन मनसा विखेदः पर्यचष्ट तम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस तरह; धर्मे—साक्षात् धर्म; प्रवदति—इस तरह बोलकर; सः—वह; सम्राट्—राजा; द्विज-सत्तमाः—हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ; समाहितेन—ध्यानपूर्वक; मनसा—मन से; विखेदः—किसी त्रुटि के बिना; पर्यचष्ट—प्रत्युत्तर दिया; तम्—उसको।

सूत गोस्वामी ने कहा : हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ, धर्म को इस तरह बोलते सुनकर, सम्राट परीक्षित अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और बिना किसी त्रुटि या खेद के उन्होंने इस तरह उत्तर दिया।

तात्पर्य : धर्मरूप बैल का कथन दर्शन तथा ज्ञान से परिपूर्ण था और राजा इससे संतुष्ट हुआ, क्योंकि वह जान गया कि पीड़ित बैल कोई सामान्य जीव न था। जब तक कोई परमेश्वर के नियम से पूरी तरह अवगत न हो, तब तक वह ऐसी मार्मिक बातों का या दार्शनिक सत्य का भाषण नहीं कर

सकता। सम्राट भी समान रूप से कुशाग्र बुद्धिवाला था, अतएव उसने बिना किसी त्रुटि या संशय के उत्तर दिया।

राजोवाच
धर्मं ब्रवीषि धर्मज्ञ धर्मोऽसि वृषरूपधृक् ।
यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद्भवेत् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने कहा; धर्मम्—धर्म; ब्रवीषि—जैसा तुम कहते हो; धर्म-ज्ञ—हे धर्म के नियमों को जाननेवाले; धर्मः—साक्षात् धर्म; असि—तुम हो; वृष-रूप-धृक्—बैल के वेश में; यत्—जो भी; अधर्म-कृतः—अधर्म करता है; स्थानम्—स्थान; सूचकस्य—पहचान करनेवाले का; अपि—भी; तत्—वह; भवेत्—हो जाता है।

राजा ने कहा : अहो! तुम तो बैल के रूप में हो। तुम तो धर्म के सत्य को जानते हो और तुम सिद्धान्त के अनुसार बोल रहे हो कि अधार्मिक कर्मों के अपराधी के लिए वांछित गन्तव्य (गति) वही है, जो उस अपराधी की पहचान करनेवाले की है। तुम साक्षात् धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो।

तात्पर्य : भक्त का निष्कर्ष यही है कि भगवान् की इच्छा के बिना, कोई उपकारी बनने या हानि पहुँचाने वाला बनने के लिए प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी नहीं होता। अतएव भक्त किसी को ऐसे कर्म के लिए प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी नहीं मानता, किन्तु वह दोनों ही किस्सों में यह मान लेता है कि हानि या लाभ ईश्वर प्रदत्त हैं और इस तरह यह उनकी कृपा है। लाभ के विषय में, इससे कोई इनकार नहीं करेगा कि वह ईश्वर प्रदत्त होता है, लेकिन हानि या पराजय के विषय में मनुष्य संशय करता है कि भला भगवान् अपने भक्त पर इतना निष्ठुर क्यों होंगे कि उसे विपत्ति में डाले? ईसा मसीह को जब अज्ञानी लोगों ने क्रूस पर चढ़ा दिया, तो वे महान् विपत्ति में पड़े प्रतीत होते थे, लेकिन वे अपराधकर्ता के ऊपर कभी क्रुद्ध नहीं हुए। अनुकूल या प्रतिकूल वस्तु को स्वीकार करने की यही विधि है। इस तरह भक्त के लिए अपराधी की बुराई करनेवाला अपराधकर्ता के ही समान पापी है। भगवत्कृपा से भक्त सभी प्रकार की विपत्तियाँ सहता है। महाराज परीक्षित ने इसे देखा, इसीलिये वे समझ सके कि यह बैल और कोई न होकर, साक्षात् धर्म है। दूसरे शब्दों में, भक्त को किसी तरह का कष्ट नहीं होता, क्योंकि तथाकथित कष्ट भी भक्त के लिए भगवान् की कृपा है, क्योंकि भक्त भगवान् को हर वस्तु में

देखता है। गाय तथा बैल ने कभी राजा से यह शिकायत नहीं की कि वे कलियुग द्वारा सताये जा रहे हैं, यद्यपि राज्याधिकारियों के समक्ष सभी लोग ऐसी शिकायतें पेश करते हैं। बैल के असाधारण आचरण से ही राजा ने निष्कर्ष निकाला कि बैल साक्षात् धर्म था, क्योंकि धर्म की बारीकियों को अन्य कोई भी इस तरह नहीं समझ सकता।

अथवा देवमायाया नूनं गतिरगोचरा ।
चेतसो वचसश्चापि भूतानामिति निश्चयः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अथवा—या कि; देव—भगवान्; मायायाः—शक्तियाँ; नूनम्—अत्यन्त न्यून; गतिः—चाल; अगोचरा—अचिन्त्य; चेतसः—या तो मन से; वचसः—वाणी से; च—अथवा; अपि—भी; भूतानाम्—सभी जीवों का; इति—इस प्रकार; निश्चयः—निष्कर्ष निकला।.

इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि भगवान् की शक्तियाँ अचिन्त्य हैं। कोई न तो मानसिक चिन्तन द्वारा, न ही शब्द-चातुरी द्वारा उनका अनुमान लगा सकता है।

तात्पर्य : यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि भक्त को कर्ता की पहचान करने से क्यों विरत होना चाहिए, जब वह यह निश्चित रूप से जानता है कि भगवान् ही सब वस्तुओं के कर्ता हैं। अन्तिम कर्ता को जानते हुए, मनुष्य को चाहिए कि वह वास्तविक सम्पन्नकर्ता से अनजान नहीं बना रहे। इस सन्देह का उत्तर यह है कि भगवान् भी प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी नहीं होते, क्योंकि उनके द्वारा नियुक्त मायाशक्ति के द्वारा ही सम्पन्न होता है। माया सदैव भगवान् की परम सत्ता के विषय में सन्देह उत्पन्न करती रहती है। धर्म यह अच्छी तरह जानता था कि परमेश्वर की इच्छा के बिना कुछ भी सम्पन्न नहीं हो सकता, तो भी माया उसे संशय में डाल रही थी, जिससे वह परम कारण बताने से कतराता रहा। यह संशय, कलि तथा माया दोनों के कल्मष के कारण था। कलियुग का सारा वातावरण भ्रामक शक्ति के कारण विशाल रूप में दिखता है और इसकी माप अकथ्य है।

तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः कृते कृताः ।
अधर्मांशैस्त्रयो भग्नाः स्मयसङ्गमदैस्तव ॥ २४॥

शब्दार्थ

तपः—तपस्या; शौचम्—पवित्रता; दया—दया; सत्यम्—सत्यता; इति—इस प्रकार; पादाः—पैर; कृते—सत्ययुग में; कृताः—स्थापित; अधर्म—अधर्म; अंशैः—अंशों द्वारा; त्रयः—तीनों मिलकर; भग्नाः—टूटे हुए; स्मय—अहंकार; सङ्ग—अत्यधिक स्त्री-प्रसंग; मदैः—नशे से; तव—तुम्हारा।

सत्ययुग में तुम्हारे चारों पैर तपस्या, पवित्रता, दया तथा सचाई के चार नियमों द्वारा स्थापित थे। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अहंकार, कामवासना तथा नशे के रूप में सर्वत्र व्याप्त अधर्म के कारण तुम्हारे तीन पाँव टूट चुके हैं।

तात्पर्य : भ्रामक शक्ति या भौतिक प्रकृति जीव पर उस अनुपात में अपना प्रभाव दिखाती है, जिस अनुपात में जीव माया के भ्रामक आकर्षण का शिकार होता है। पतिंगे प्रकाश की चमक से आकृष्ट होते हैं और इस तरह वे अग्नि के शिकार हो जाते हैं। इसी प्रकार, ठगिनी शक्ति माया सदैव बद्धजीवों को मोहित करके उन्हें मोह की अग्नि में झोंकती रहती है। वैदिक शास्त्र बद्धजीवों को आगाह करते हैं कि वे इस भ्रम के शिकार न बनें, अपितु इससे छुटकारा प्राप्त करें। वेद हमें आगाह करते हैं कि हम अज्ञान के अंधकार में न जाकर, प्रकाश के पथ पर अग्रसर हों। भगवान् स्वयं भी हमें आगाह करते हैं कि माया की ठगिनी शक्ति को जीतना अत्यन्त दुष्कर है, किन्तु पूरी तरह जो भगवान् की शरण में चला जाता है, वह सरलता से इसे जीत सकता है। लेकिन भगवान् के चरणकमलों के आश्रय में जाना आसान नहीं है। ऐसी शरण तो तपस्या, पवित्रता, दया तथा सत्य से युक्त पुरुषों को ही मिल सकती है। उन्नत सभ्यता के ये चारों नियम सत्ययुग के उल्लेखनीय लक्षण थे। उस युग में, प्रत्येक मनुष्य एक तरह से उच्चकोटि का योग्य ब्राह्मण होता था और आश्रमों में सभी *परमहंस,* अर्थात् उच्चकोटि के संन्यासी होते थे। सांस्कृतिक आधार के कारण मनुष्यों को माया ठगती नहीं थी। ऐसे प्रबल चरित्रवान व्यक्ति अपने को माया के पाश से दूर रखने में सक्षम थे। लेकिन धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों ब्राह्मण संस्कृति के मूल सिद्धान्तों—तपस्या, पवित्रता, दया तथा सत्य में अहंकार, कामवासना तथा नशे में आनुपातिक वृद्धि के कारण कटौती होती गई, त्यों-त्यों मोक्ष का मार्ग या तो दिव्य आनन्द का मार्ग मानव समाज से दूर और दूर होता चला गया। कलियुग की अवधि बढ़ते रहने से लोग अत्यन्त अहंकारी हो रहे हैं और वे स्त्रियों तथा नशे के प्रति आसक्त रहते हैं। कलियुग के प्रभाव से कंगाल को भी अपनी कौड़ी का अभिमान है; स्त्रियाँ पुरुषों के मन को हरने के लिए, एक से एक आकर्षक वस्त्र पहनती हैं और पुरुष को शराब पीने, धूम्रपान करने, चाय पीने तथा तम्बाखू चबाने की लत पड़ गई है। ये सारी आदतें, या सभ्यता की

तथाकथित प्रगति ही, सारे अधर्म की जड़ है और इसीलिए व्यभिचार, घूस तथा भाई-भतीजावाद व्याप्त हैं। मनुष्य इन बुराइयों को कानूनों तथा पुलिस द्वारा नहीं रोक सकता, लेकिन वह मन के रोग को सही दवा करके ठीक कर सकता है—यह दवा है, ब्राह्मण संस्कृति अर्थात् तप, पवित्रता, दया तथा सत्य के नियमों का पक्षधर बनना। आधुनिक सभ्यता तथा आर्थिक विकास से गरीबी तथा अभाव की नई स्थिति उत्पन्न हो रही है, जिससे उपभोक्ता वस्तुओं की कालाबाजारी की जा रही है। यदि समाज में नेता तथा धन-सम्पन्न व्यक्ति अपनी संचित सम्पत्ति का आधा भाग इन पथभ्रष्ट लोगों पर खर्च करें और उन्हें ईश्वर चेतना अर्थात् *भागवत्* का ज्ञान प्रदान करें, तो निश्चय ही कलियुग इन बद्धजीवों को अपने जाल में फँसाने में असफल होगा। हमें यह निरन्तर स्मरण रखना चाहिए कि मिथ्या अहंकार, अपने जीवन मूल्यों के उच्च अनुमान, स्त्रियों के प्रति अत्यधिक आसक्ति या उनकी संगति तथा नशे से मानवीय सभ्यता शन्ति के मार्ग से विपथ हो जायेगी, चाहे लोग विश्वशान्ति के लिए कितना ही हल्लागुल्ला क्यों न करें। *भागवत* के सिद्धान्तों का उपदेश सारे मनुष्यों को स्वत: संयमी, भीतर-बाहर से स्वच्छ, दुखियों के प्रति दयालु तथा दैनिक आचरण में सच्चा बनायेगा। मानव समाज की बुराइयाँ, जो आज के समय में स्पष्ट रूप से देखने में आती हैं, उन्हें ठीक करने का यही उपाय है।

इदानीं धर्म पादस्ते सत्यं निर्वर्तयेद्यत: ।
तं जिघृक्षत्यधर्मोऽयमनृतेनैधित: कलि: ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

इदानीम्—इस समय; धर्म—हे धर्मरूप; पाद:—पाँव; ते—तुम्हारा; सत्यम्—सत्य; निर्वर्तयेत्—किसी तरह जीना; यत:—जिससे; तम्—उसको; जिघृक्षति—नष्ट करने का प्रयत्न करता है; अधर्म:—अधर्म रूप; अयम्—यह; अनृतेन—छल से, असत्य से; एधित:—बढ़ता हुआ; कलि:—साक्षात् कलि (कलह)।

अब तुम केवल एक पाँव पर खड़े हो, जो तुम्हारा सत्य है और तुम अब किसी न किसी तरह से जी रहे हो। किन्तु छल से फूलने-फलने वाला यह कलह-रूप कलि उस पाँव को भी नष्ट करना चाह रहा है।

तात्पर्य : धर्म के नियम किन्हीं रूढ़ियों या मानवकृत सूत्रों पर नहीं, अपितु चार मूल अनुष्ठानों पर टिके हुए हैं—ये हैं तप, स्वच्छता, दया तथा सत्य। जन-साधारण को बचपन से ही इन सिद्धान्तों का अभ्यास करना सिखाना चाहिए। तपस्या का अर्थ है स्वेच्छा से ऐसी चीजें स्वीकार करना, जो भले ही

शरीर के लिए सुखकर न हों, किन्तु आध्यात्मिक अनुभूति के लिए लाभप्रद हों—यथा उपवास करना। मास में दो या चार बार उपवास करना एक प्रकार का तप है, जिसे केवल आध्यात्मिक अनुभूति के लिए करना चाहिए, किसी अन्य कार्य के लिए नहीं—न राजनीतिक, न अन्य कोई। *भगवद्गीता* (१७.५-६) में आत्म-साक्षात्कार के बजाय अन्य कार्य के लिए किये गये उपवास की भर्त्सना की गई है। इसी प्रकार मन तथा शरीर दोनों के लिए स्वच्छता आवश्यक है। केवल शरीर की स्वच्छता कुछ हद तक सहायक हो सकती है, लेकिन मन की स्वच्छता आवश्यक है और यह भगवान् के यशोगान् से प्राप्त की जाती है। कोई भी व्यक्ति मन के मैल को भगवान् का गुणगान किये बिना साफ नहीं कर सकता। ईश्वरविहीन सभ्यता मन को स्वच्छ नहीं कर सकती, क्योंकि इसे ईश्वर का कोई ज्ञान नहीं होता और यही एक सादा कारण है कि ऐसी सभ्यता में लोगों में उत्तम गुण नहीं आते, भले ही वे भौतिक दृष्टि से पूर्णतया सुसज्ज हों। हमें वस्तुओं को उनसे परिणाम-स्वरूप कर्म से देखना है। कलियुग में असन्तोष ही मानवीय सभ्यता का परिणाम-स्वरूप कर्मफल है, अतएव सभी मन की शान्ति चाहते रहते हैं। यह मन की शान्ति सत्ययुग में पूर्ण थी, कयोंकि मनुष्यों में उपर्युक्त गुण पाये जाते थे। धीरे-धीरे ये गुण घटकर त्रेतायुग में तीन-चौथाई हो गये, द्वापर में वे आधे हुए और इस कलियुग में केवल एक चौथाई रह गये हैं और जिस तरह असत्य का बोलबाला है, उससे इसमें भी कमी आ रही है। अहंकार, चाहे कृत्रिम हो या वास्तविक, तपस्या से प्राप्त फल को विनष्ट करनेवाला है; स्त्री संसर्ग के प्रति अधिक राग होने से स्वच्छता नष्ट होती है और अत्यधिक लत या नशे से दया विनष्ट होती है और अत्यधिक झूठे विज्ञापन से सत्य नष्ट होता है। भागवत धर्म के पुनरुद्धार से ही मानव सभ्यता सभी प्रकार के दोषों से बच सकती है।

इयं च भूमिर्भगवता न्यासितोरुभरा सती ।
श्रीमद्भिस्तत्पदन्यासै: सर्वत: कृतकौतुका ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

इयम्—यह; च—तथा; भूमिः—पृथ्वी की सतह; भगवता—भगवान् द्वारा; न्यासित—स्वयं तथा अन्यों के द्वारा सम्पन्न; उरु—भारी; भरा—बोझ; सती—ऐसा करने पर; श्रीमद्भिः—सर्व कल्याणकारी द्वारा; तत्—वह; पद-न्यासैः—पदचिह्न द्वारा; सर्वतः—चारों ओर; कृत—किया गया; कौतुका—सौभाग्य।

निश्चय ही, पृथ्वी का बोझ भगवान् द्वारा तथा अन्यों द्वारा भी कम किया गया था। जब वे अवतार के रूप में विद्यमान थे, तो उनके शुभ पदचिह्नों द्वारा समस्त कल्याण सम्पन्न होता था।

शोचत्यश्रुकला साध्वी दुर्भगेवोज्झिता सती ।
अब्रह्मण्या नृपव्याजाः शूद्रा भोक्ष्यन्ति मामिति ॥ २७॥

शब्दार्थ

शोचति—शोक करती है; अश्रु-कला—आँखों में अश्रु भर; साध्वी—सती; दुर्भगा—अत्यन्त अभागी; इव—सदृश; उज्झिता—त्यक्ता; सती—ऐसा किये जाने पर; अब्रह्मण्याः—ब्राह्मण संस्कृति से विहीन; नृप-व्याजाः—शासक के बहाने; शूद्राः—निम्नजाति; भोक्ष्यन्ति—भोग करेंगे; माम्—मुझको; इति—इस प्रकार।

अब यह सती दुर्भाग्यवश भगवान् द्वारा परित्यक्त होने के कारण, अपने नेत्रों में अश्रु भरकर अपने भविष्य (भाग्य) के लिए शोक कर रही है, क्योंकि अब वह शासक के जैसा स्वाँग करने वाले निम्न जाति के पुरुषों द्वारा शासित तथा भोग्य है।

तात्पर्य : क्षत्रिय अर्थात् पीड़ितों की रक्षा करने के लिए प्रशिक्षित व्यक्ति राज्य के शासन के निमित्त होता है। अप्रशिक्षित अथवा पीड़ितों की रक्षा करने की इच्छा से रहित निम्न वर्ग के लोगों को प्रशासक के आसन पर नहीं बैठाया जा सकता। दुर्भाग्यवश कलियुग में निम्न वर्ग के लोग प्रशिक्षण के बिना ही जनमत (वोटों) के बल पर शासक का पद ग्रहण किये हुए हैं और ऐसे लोग पीड़ितों की रक्षा करने के बजाय ऐसी स्थिति उत्पन्न करते हैं, जो सबों के लिए असह्य होती है। ऐसे लोग जनता के सारे सुखों की परवाह न करके अपनी ही तृप्ति करते हैं और इस तरह सती धरती माता अपने पुत्रों की—मनुष्य तथा पशुओं दोनों की—दयनीय दशा देखकर प्रलाप करती है। कलियुग में संसार का भविष्य ऐसा ही होगा और तब अधर्म का बोलबाला होगा। अधार्मिक प्रवृत्तियों का दमन करने के लिए उपयुक्त राजा न होने पर लोगों को *श्रीमद्भागवत* की शिक्षाओं से विधिपूर्वक ज्ञात बनाकर अत्याचार, घूस, चोरबाजारी इत्यादि के मलिन वातावरण को निर्मल बनाया जा सकेगा।

इति धर्मं महीं चैव सान्त्वयित्वा महारथः ।
निशातमाददे खड्गं कलयेऽधर्महेतवे ॥ २८॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; धर्मम्—धर्म को; महीम्—पृथ्वी को; च—भी; एव—जिस तरह; सान्त्वयित्वा—सान्त्वना देकर; महा-रथः—हजारों से अकेले लड़ने-वाला सेनापति, महारथी; निशातम्—तेज; आददे—ले लिया; खड्गम्—तलवार; कलये—कलि को मारने के लिए; अधर्म—अधर्म के; हेतवे—मूल कारण।

इस प्रकार, एक साथ हजार शत्रुओं से अकेले लड़ सकनेवाले महाराज परीक्षित ने धर्म तथा पृथ्वी को सान्त्वना दी। तब उन्होंने समस्त अधर्म के कारण साक्षात् कलि को मारने के लिए अपनी तेज तलवार निकाल ली।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, साक्षात् कलि वह है, जो जानबूझ कर शास्त्रों द्वारा वर्जित समस्त प्रकार के पापकर्मों को करता है। यह कलियुग निश्चित रूप से कलि के समस्त कार्यकलापों से भरा हुआ रहेगा, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि समाज के सारे नेता, प्रशासक, विद्वान तथा बुद्धिमान व्यक्ति, या सबसे ऊपर भगवद्भक्त हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें और कलियुग के सारे कार्यों के प्रति निश्चेष्ट हो जाँय। वर्षाऋतु में निश्चित रूप से प्रचुर वर्षा होती है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि लोग वर्षा से बचने के लिए साधन न अपनायें। राज्य के कार्यकारी अध्यक्षों का तथा अन्यों का कर्तव्य है कि वे कलि के कार्यकलापों के विरुद्ध या कलि द्वारा प्रभावित पुरुषों के विरुद्ध आवश्यक कार्यवाही करें। महाराज परीक्षित राज्य के आदर्श कार्यकारी अध्यक्ष हैं, क्योंकि वे अपनी तेज तलवार से कलि को मारने के लिए तुरन्त तैयार हो गये। प्रशासकों को चाहिए कि वे केवल भ्रष्टाचार-विरोधी प्रस्ताव पारित न करें, अपितु उन्हें चाहिए कि भ्रष्टाचार फैलानेवाले पुरुषों को प्रमाणित शास्त्रों की दृष्टि से पैनी तलवार लेकर मारने के लिए उद्यत रहें। शराब की दुकानों को अनुमति देकर प्रशासक लोग भ्रष्टाचारी गतिविधियों को नहीं रोक सकते। उन्हें चाहिए कि मादक औषधियों तथा शराब की सारी दुकानें अविलम्ब बन्द करा दें और जिन लोगों को नशे की लत हो, उन्हें मृत्यु-दण्ड तक देने से न हिचकें। कलि के कार्यकलापों को बन्द करने का यही उपाय है, जैसाकि यहाँ पर महारथी महाराज परीक्षित ने प्रदर्शित किया है।

तं जिघांसुमभिप्रेत्य विहाय नृपलाञ्छनम् ।
तत्पादमूलं शिरसा समगाद् भयविह्वलः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; जिघांसुम्—मारने के लिए इच्छुक; अभिप्रेत्य—ठीक से जानते हुए; विहाय—छोड़कर; नृप-लाञ्छनम्—राजा के वेश को; तत्-पाद-मूलम्—उसके चरणों पर; शिरसा—सिर के बल; समगात्—पूर्ण रूप से शरणागत; भय-विह्वलः—भयभीत।

जब कलि ने समझ लिया कि राजा उसको मार डालना चाह रहा है, तो उसने तुरन्त राजा का वेश त्याग दिया और भयभीत होकर अपना सिर झुका कर पूर्णरूप से उनके समक्ष आत्म-समर्पण कर दिया।

तात्पर्य : कलि का राजवेश नकली था। राजा या क्षत्रिय के लिए राजवेश उपयुक्त होता है, किन्तु जब निम्नजाति का मनुष्य राजा का बनावटी वेश धारण कर लेता है, तो महाराज परीक्षित जैसे प्रामाणिक क्षत्रिय की ललकार से उसकी असली पहचान प्रकट हो जाती है। असली क्षत्रिय कभी आत्म-समर्पण नहीं करता। वह अपने प्रतिद्वंद्वी क्षत्रिय की ललकार को स्वीकार करता है और या तो मरते दम तक लड़ता है या जीतता है। सच्चा क्षत्रिय आत्म-समर्पण करना तो जानता ही नहीं। कलियुग में न जाने कितने ऐसे छद्मवेश धारण करनेवाले हैं, जो प्रशासकों का स्वाँग करते हैं, किन्तु उनका भेद तब खुल जाता है, जब असली क्षत्रिय उन्हें ललकारता है। अतएव जब छद्मवेशधारी कलि ने देखा कि महाराज परीक्षित से युद्ध करना उसके बूते के बाहर है, तो उसने अधीनस्थ के समान अपना सिर झुका दिया और अपना राजवेश उतार दिया।

पतितं पादयोर्वीरः कृपया दीनवत्सलः ।
शरण्यो नावधीच्छ्लोक्य आह चेदं हसन्निव ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

पतितम्—गिरा हुआ; पादयोः—पैरों पर; वीरः—वीर; कृपया—कृपावश; दीन-वत्सलः—दान के प्रति दयालु; शरण्यः—जो शरण स्वीकार करने में योग्य है, शरणागत का रक्षक; न—नहीं; अवधीत्—बध किया; श्लोक्यः—जो गायन किये जाने योग्य है; आह—कहा; च—भी; इदम्—यह; हसन्—मुसकाते हुए; इव—सदृश।

शरणागत के रक्षक तथा इतिहास में प्रशंसनीय महाराज परीक्षित ने उस दीन शरणागत तथा पतित कलि को मारा नहीं, अपितु वे दयापूर्वक हँसने लगे, क्योंकि वे दीनवत्सल जो हैं।

तात्पर्य : जब एक सामान्य क्षत्रिय भी शरणागत व्यक्ति को नहीं मारता, तो महाराज परीक्षित के लिए क्या कहा जाय, जो स्वभाव से दयालु तथा गरीबों पर सदय हैं। वे हँस रहे थे, क्योंकि

छद्मवेशधारी कलि ने निम्नजाति के व्यक्ति के रूप में अपनी पहचान प्रकट कर दी थी और वे सोच रहे थे कि यह कितनी विडम्बना है कि जिस पैनी तलवार से वे जिस किसी का वध कर देते थे, उससे यह दीन निम्न जातिवाला कलि सामयिक आत्मसमर्पण के कारण बचा जा रहा है। इसीलिए इतिहास में महाराज परीक्षित के यश तथा सदयता का गुणगान किया जाता है। वे सदय तथा कृपालु सम्राट थे और अपने शत्रु को भी शरण में लेनेवाले थे। इस तरह दैवी इच्छा से कलि बच गया।

राजोवाच
न ते गुडाकेशयशोधराणां
बद्धाञ्जलेर्वै भयमस्ति किञ्चित् ।
न वर्तितव्यं भवता कथञ्चन
क्षेत्रे मदीये त्वमधर्मबन्धुः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने कहा; न—नहीं; ते—तुम्हारा; गुडाकेश—अर्जुन; यशः-धराणाम्—यश पाने वालों का; बद्ध-अञ्जलेः—हाथ जोड़कर; वै—निश्चय ही; भयम्—भय; अस्ति—है; किञ्चित्—तनिक भी; न—न तो; वर्तितव्यम्—रहने के लिए अनुमति दी जा सकती है; भवता—तुम्हारे द्वारा; कथञ्चन—सभी तरह से; क्षेत्रे—पृथ्वी पर; मदीये—मेरे राज्य में; त्वम्—तुम; अधर्म-बन्धुः—अधर्म के मित्र।

राजा ने इस प्रकार कहा : हम अर्जुन के यश के उत्तराधिकारी हैं और चूँकि तुम हाथ जोड़कर मेरी शरण में आये हो, अतएव तुम्हें अपने प्राणों का भय नहीं होना चाहिए। लेकिन तुम मेरे राज्य में रह नहीं सकते, क्योंकि तुम अधर्म के मित्र हो।

तात्पर्य : सभी प्रकार के अधर्मों के मित्र कलि को क्षमा किया जा सकता है यदि वह आत्म-समर्पण करता है, लेकिन उसे किसी भी दशा में उसे कल्याण-राज्य के किसी भी कोने में नागरिक के रूप में रहने नहीं दिया जा सकता। पाँचों पाण्डव भगवान् कृष्ण के विश्वासपात्र प्रतिनिधि थे, जिनके कारण ही वास्तविक रूप से कुरुक्षेत्र का युद्ध अस्तित्व में आया, लेकिन यह उनके किसी निजी स्वार्थ के लिए नहीं था। वे चाहते थे कि संसार में महाराज युधिष्ठिर तथा उनके वंशज महाराज परीक्षित, जैसे आदर्श राजा राज्य करें, अतएव महाराज परीक्षित जैसे उत्तरदायी राजा, अपने राज्य में अधर्म के मित्र को पाण्डवों की कीर्ति का मूल्य चुकाकर, फूलने-फलने की अनुमति नहीं दे सकते थे। राज्य से

भ्रष्टाचार-उन्मूलन करने का यही एकमात्र उपाय है, अन्य कोई उपाय नहीं है। अधर्म के मित्रों को देश से निकाल दिया जाना चाहिए, इससे राज्य भ्रष्टाचार से बच सकेगा।

त्वां वर्तमानं नरदेवदेहे-
ष्वनुप्रवृत्तोऽयमधर्मपूगः ।
लोभोऽनृतं चौर्यमनार्यमंहो
ज्येष्ठा च माया कलहश्च दम्भः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

त्वाम्—तुमको; वर्तमानम्—उपस्थित; नर-देव—हे नर-देवता या राजा; देहेषु—की देह में; अनुप्रवृत्तः—सर्वत्र घटित होकर; अयम्—ये सारे; अधर्म—अधर्म; पूगः—जनमसूह में; लोभः—लोभ; अनृतम्—असत्य; चौर्यम्—डकैती; अनार्यम्—अशिष्टता; अंहः—विश्वासघात; ज्येष्ठा—दुर्भाग्य; च—तथा; माया—छल; कलहः—झगड़ा; च—तथा; दम्भः—घमंड।

यदि कलि रूपी अधर्म को नर-देवता अर्थात् किसी कार्यकारी प्रशासक के रूप में कर्म करने दिया जाता है, तो निश्चय ही लोभ, असत्य, डकैती, अशिष्टता, विश्वासघात, दुर्भाग्य, कपट, कलह तथा दम्भ जैसे अधर्म का बोलबाला हो जायेगा।

तात्पर्य : किसी भी मत के अनुयायीगण धर्म के सिद्धान्तों जैसे—*तप, स्वच्छता, दया तथा सत्य* का पालन कर सकते हैं, जैसाकि हम पहले कह चुके हैं। इसके लिए हिन्दू से मुसलमान या ईसाई या अन्य कोई मतावलम्बी बनने की आवश्यकता नहीं है, जिससे की स्वधर्मत्यागी बनकर धर्म के सिद्धान्तों का पालन न करना पड़े। *भागवतधर्म, धर्म के सिद्धान्तों* का पालन करने के लिए कहता है। धर्म के सिद्धान्त न तो रूढ़ियाँ हैं, न ही किसी मत के नियामक सिद्धान्त हैं। ऐसे नियामक सिद्धान्त सम्बन्धित देश तथा काल के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। मनुष्य को इतना ही देखना है कि धर्म का उद्देश्य पूरा होता है या नहीं। वास्तविक सिद्धान्तों तक पहुँचे बिना रूढ़ियों तथा सूत्रों में चिपके रहना ठीक नहीं है। धर्म-निरपेक्ष राज्य किसी भी विशेष मत के प्रति निष्पक्ष रह सकता है, किन्तु राज्य उपर्युक्त धर्म के सिद्धान्तों के प्रति उदासीन नहीं रह सकता। लेकिन कलियुग में राजसत्ता के कार्यकारी अध्यक्ष ऐसे धार्मिक सिद्धान्तों के प्रति उदासीन होंगे, अतएव उनके संरक्षण में धार्मिक सिद्धान्तों के विरोधी यथा लालच, असत्य, छल तथा चोरी स्वाभाविक रूप से पनपेंगे और ऐसे में राज्य में भ्रष्टाचार रोकने के लिए विज्ञापनबाजी के हो-हल्ले का कोई अर्थ नहीं होगा।

न वर्तितव्यं तदधर्मबन्धो
धर्मेण सत्येन च वर्तितव्ये ।
ब्रह्मावर्ते यत्र यजन्ति यज्ञै-
र्यज्ञेश्वरं यज्ञवितानविज्ञाः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वर्तितव्यम्—बने रहने के योग्य; तत्—अतएव; अधर्म—अधर्म; बन्धो—मित्र; धर्मेण—धर्म से; सत्येन—सत्य से; च—भी; वर्तितव्ये—स्थित होकर; ब्रह्म-आवर्ते—वह स्थान जहाँ यज्ञ सम्पन्न हो; यत्र—जहाँ; यजन्ति—ठीक से करते हैं; यज्ञैः—यज्ञ या भक्ति से; यज्ञ-ईश्वरम्—भगवान् को; यज्ञ—यज्ञ; वितान—फैलते हुए; विज्ञाः—पटु लोग।

अतएव, हे अधर्म के मित्र, तुम ऐसे स्थान में रहने के योग्य नहीं हो जहाँ पर बड़े-बड़े पण्डित पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को प्रसन्न करने के लिए सत्य तथा धार्मिक नियमों के अनुसार यज्ञ करते हैं।

तात्पर्य : *यज्ञेश्वर* या पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् समस्त प्रकार के याज्ञिक अनुष्ठानों के भोक्ता हैं। ऐसे यज्ञ-अनुष्ठान विभिन्न युगों के लिए शास्त्रों में भिन्न-भिन्न रूप से बताये गये हैं। दूसरे शब्दों में, *यज्ञ* का अर्थ है भगवान् की श्रेष्ठता का स्वीकार करना और इसके लिए ऐसे कर्म करना, जिनसे भगवान् सभी प्रकार से सन्तुष्ट हों। नास्तिक लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते और वे भगवान् को प्रसन्न करने के लिए कोई यज्ञ नहीं करते। कोई भी स्थान या देश जहाँ भगवान् की श्रेष्ठता स्वीकार की जाय तथा यज्ञ सम्पन्न होता हो, वह *ब्रह्मावर्त* कहलाता है। विश्व के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न देश हैं और इनमें से प्रत्येक देश में परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए विभिन्न प्रकार के यज्ञ हो सकते हैं, लेकिन उन्हें प्रसन्न करने का मुख्य उद्देश्य *भागवत* में दिया गया है और यह है सत्य। धर्म का मूल सिद्धान्त सत्य है और सभी धर्मों का चरम लक्ष्य भगवान् को प्रसन्न करना है। इस कलियुग में यज्ञ का सबसे महान् सामान्य सूत्र *सङ्कीर्तन यज्ञ* है। यह मत उन पण्डितों का है, जो यज्ञ विधि का प्रचार करना जानते हैं। भगवान् चैतन्य ने यज्ञ की इस विधि का प्रचार किया और इस श्लोक से यह जाना जा सकता है कि संकीर्तन यज्ञ को कहीं भी कलि को भगाने के लिए तथा मानव समाज को कलि के प्रभाव का शिकार बनने से बचाने के लिए सम्पन्न किया जा सकता है।

यस्मिन् हरिर्भगवानिज्यमान
इज्यात्ममूर्तिर्यजतां शं तनोति ।
कामानमोघान् स्थिरजङ्गमाना-
मन्तर्बहिर्वायुरिवैष आत्मा ॥ ३४॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—ऐसे यज्ञोत्सवों में; हरिः—परमेश्वर; भगवान्—भगवान्; इज्यमानः—पूजित होकर; इज्य-आत्म—समस्त पूज्य देवों के आत्मा; मूर्तिः—रूपों में; यजताम्—पूजा करनेवाले; शम्—कल्याण; तनोति—फैलाता है; कामान्—इच्छाएँ; अमोघान्—अचूक; स्थिर-जङ्गमानाम्—समस्त चरों तथा अचरों का; अन्तः—भीतर; बहिः—बाहर; वायुः—वायु; इव—सदृश; एषः—सबों का; आत्मा—आत्मा।.

समस्त यज्ञोत्सवों में यद्यपि कभी-कभी कोई देवता की पूजा की जाती है, लेकिन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को इसलिए पूजा जाता है, क्योंकि वे प्रत्येक के अन्तरात्मा हैं और वायु के समान भीतर तथा बाहर विद्यमान रहते हैं। इस तरह केवल वे ही हैं, जो पूजा करने वाले का समग्र कल्याण करते हैं।

तात्पर्य : कभी-कभी देखा जाता है कि इन्द्र तथा चन्द्र जैसे देवताओं की भी पूजा की जाती है और उन्हें यज्ञ-फल प्रदान किये जाते हैं; फिर भी ऐसे समस्त यज्ञों का फल पूजा करने वालों को परमेश्वर द्वारा ही प्रदान किया जाता है और केवल भगवान् ही पूजा करनेवाले का ऐसा कल्याण कर सकते हैं। यद्यपि देवताओं की पूजा की जाती है, किन्तु वे भगवान् की अनुमती के बिना कुछ भी नहीं कर सकते, क्योंकि भगवान् चर तथा अचर सबों के परमात्मा हैं।

भगवद्गीता (९.२३) में भगवान् ने स्वयं इसकी पुष्टि इस प्रकार की है :

येऽप्यन्य देवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

"हे कुन्ती पुत्र, मनुष्य अन्य देवों को जो भी अर्पित करता है, वह वास्तव में मेरे निमित्त ही होता है, किन्तु यह यथार्थ को समझे बिना अर्पित किया जाता है।"

तथ्य यह है कि परमेश्वर अद्वितीय हैं। भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई ईश्वर नहीं है। इस प्रकार भगवान् इस भौतिक सृष्टि से सदैव परे रहते हैं। लेकिन ऐसे बहुत से लोग हैं, जो सूर्य, चन्द्र तथा इन्द्र जैसे देवताओं की पूजा करते हैं, किन्तु ये तो परमेश्वर के भौतिक प्रतिनिधि मात्र हैं। ये तो परमेश्वर का अप्रत्यक्ष गुणात्मक प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु एक विद्वान या भक्त जानता है कि कौन क्या है।

अतएव वह सीधे परमेश्वर की पूजा करता है और गुणात्मक भौतिक प्रतिनिधियों के कारण इधर-उधर चित्त नहीं भटकने देता। जो इतने बुद्धिमान नहीं हैं, वे इन गुणात्मक भौतिक प्रतिनिधियों को पूजते हैं, लेकिन उनकी पूजा अनियमित होने के कारण नियम के विपरीत है।

सूत उवाच
परीक्षितैवमादिष्टः स कलिर्जातवेपथुः ।
तमुद्यतासिमाहेदं दण्डपाणिमिवोद्यतम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; परीक्षिता—महाराज परीक्षित द्वारा; एवम्—इस प्रकार; आदिष्टः—आदेश दिये जाने पर; सः—वह; कलिः—साक्षात् कलि; जात—हुआ; वेपथुः—कम्पन; तम्—उसको; उद्यत—उठी हुई; असिम्—तलवार; आह—कहा; इदम्—यह; दण्ड-पाणिम्—यमराज, मृत्युरूप को; इव—सदृश; उद्यतम्—प्रायः तैयार।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार महाराज परीक्षित द्वारा आदेश दिये जाने पर कलि भय के मारे थरथराने लगा। राजा को अपने समक्ष यमराज के समान मारने के लिए उद्यत देखकर कलि ने राजा से इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : राजा कलि को तुरन्त मारने के लिए तैयार थे, यदि वह उनकी आज्ञा का पालन न करता; अन्यथा राजा को उसको जीवन दान देने में कोई आपत्ति न थी। कलि ने भी, विभिन्न प्रकार से दण्ड से बचने का उपाय लगाकर, अन्त में निश्चय किया कि अब वह राजा की शरण में जाय, अत: वह जीवन के भय से काँपने लगा। राजा या शासक को इतना प्रबल होना चाहिए कि वह कलि जैसे व्यक्ति के समक्ष काल पुरुष यमराज की भाँति खड़ा रह सके। राजा के आदेश का पालन होना चाहिए, अन्यथा अपराधी का जीवन संकट में रहता है। इसी विधि से राज्य के नागरिकों के सामान्य जीवन में उत्पात करनेवाले कलि पुरुषों के ऊपर शासन जमाया जाता है।

कलिरुवाच
यत्र क्व वाथ वत्स्यामि सार्वभौम तवाज्ञया ।
लक्षये तत्र तत्रापि त्वामात्तेषुशरासनम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

कलिः उवाच—कलि ने कहा; यत्र—जहाँ कहीं; क्व—तथा कहीं भी; वा—अथवा; अथ—फलस्वरूप; वत्स्यामि—वास करूँगा; सार्व-भौम—हे पृथ्वी के स्वामी (सम्राट); तव—तुम्हारे; आज्ञया—आदेश से; लक्षये—देखता हूँ; तत्र तत्र—वहाँ-वहाँ; अपि—भी; त्वाम्—आपको; आत्त—लिये; इषु—बाण; शरासनम्—धनुष।

हे राजा, मैं आपकी आज्ञा से चाहे जहाँ कहीं भी रहूँ और जहाँ कहीं भी देखूँ, वहाँ केवल आपको ही धनुष-बाण लिए देखूँगा।

तात्पर्य : कलि देख रहा था कि महाराज परीक्षित सारे विश्व के सम्राट थे, अतएव वह चाहे जहाँ कहीं भी रहेगा, उसे राजा उसी मुद्रा में दिखेंगे। कलि उपद्रव के निमित्त था और महाराज परीक्षित कलि जैसे उपद्रवकारियों के दमन हेतु थे। अतएव कलि के लिए तो यही श्रेयस्कर था कि राजा उसे अन्यत्र न मारकर वहीं मार डालते। अब तो वह राजा के समक्ष शरणागत के रूप में था और अब जो कुछ करना था, वह राजा के हाथों में था।

तन्मे धर्मभृतां श्रेष्ठ स्थानं निर्देष्टुमर्हसि ।
यत्रैव नियतो वत्स्य आतिष्ठंस्तेऽनुशासनम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; मे—मेरा; धर्म-भृताम्—धर्म के समस्त रक्षकों में से; श्रेष्ठ—हे प्रमुख; स्थानम्—स्थान; निर्देष्टुम्—निश्चित करने के लिए; अर्हसि—आप समर्थ हैं; यत्र—जहाँ; एव—निश्चय ही; नियतः—सदैव; वत्स्ये—रह सकूँ; आतिष्ठन्—स्थायी रूप से स्थित; ते—आपका; अनुशासनम्—आपके शासन में।

अतएव हे धर्मरक्षकों में श्रेष्ठ, कृपा करके मेरे लिए कोई स्थान निश्चित कर दें, जहाँ मैं आपके शासन के संरक्षण में स्थायी रूप से रह सकूँ।

तात्पर्य : कलि ने महाराज परीक्षित को धर्मरक्षकों में श्रेष्ठ कहकर सम्बोधित किया, क्योंकि राजा उस व्यक्ति को मारने से रुक गये, जिसने उनकी शरण ग्रहण कर ली थी। किसी शरणागत जीव को समस्त सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए, भले ही वह शत्रु क्यों न हो। यही धर्म का नियम है। अतएव हम कल्पना कर सकते हैं कि भगवान् अपने शरणागत व्यक्ति को किस तरह का संरक्षण प्रदान करते होंगे, जो उनकी शरण में शत्रुरूप में नहीं, बल्कि सेवक के रूप में आया हो। भगवान् शरणागत की समस्त पापों तथा पापकर्मों के फलों से रक्षा करते हैं। (*भगवद्गीता* १८.६६)

सूत उवाच
अभ्यर्थितस्तदा तस्मै स्थानानि कलये ददौ ।
द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; अभ्यर्थितः—इस प्रकार से निवेदित; तदा—उस समय; तस्मै—उसको; स्थानानि—स्थानों को; कलये—कलि को; ददौ—अनुमति प्रदान की; द्यूतम्—जुआ खेलना; पानम्—मद्यपान; स्त्रियः—स्त्रियों से अवैध सम्बन्ध; सूना—पशु बध; यत्र—जहाँ भी; अधर्मः—पाप कर्म; चतुः-विधः—चार प्रकार के।

सूत गोस्वामी ने कहा : कलियुग द्वारा इस प्रकार याचना किये जाने पर महाराज परीक्षित ने उसे ऐसे स्थानों में रहने की अनुमति दे दी, जहाँ जुआ खेलना, शराब पीना, वेश्यावृत्ति तथा पशु-वध होते हों।

तात्पर्य : अधर्म के मूल लक्षण यथा अहंकार, वेश्यावृत्ति, मादक द्रव्य-सेवन तथा असत्य भाषण धर्म के चार सिद्धान्तों—तपस्या, स्वच्छता, दया तथा सत्य—के विपरीतार्थी हैं। कलि को जिन चार स्थानों में रहने के लिए राजा ने विशेष रूप से अनुमति दी, वे हैं—द्यूतक्रीड़ा का स्थान, वेश्यालय, मदिरालय तथा कसाईघर।

श्रील जीव गोस्वामी निर्देश देते हैं कि शास्त्रों के सिद्धान्तों विरुद्ध मद्यपान यथा *सौत्रामणी यज्ञ,* बिना विवाह के स्त्रियों की संगति तथा शास्त्रों के आदेश के विरुद्ध पशुवध, ये अधार्मिक कृत्य हैं। वेदों में, *प्रवृत्तों* अर्थात् जो भौतिक भोग में लगे हैं तथा *निवृत्तों* अर्थात् जो भवबन्धन से मुक्त हैं उनके लिए दो भिन्न-भिन्न प्रकार के आदेश हैं। *प्रवृत्तों* के लिए वैदिक आदेश यह है कि वे धीरे-धीरे अपने कर्मों को मोक्षमार्ग की ओर नियमित करें। अतएव जो लोग निपट अज्ञानी हैं और सुरा, सुन्दरी तथा मांस के आदी हैं, उन्हें *सौत्रामणी यज्ञ* करके सुरापान करने, विवाह करके स्त्री का संसर्ग करने तथा यज्ञों द्वारा मांस खाने की कभी कभी अनुमति प्रदान की जाती है। वैदिक साहित्य की ऐसी संस्तुतियाँ एक वर्ग विशेष के लिए हैं, सर्वसाधारण के लिए नहीं। लेकिन चूँकि ये विशिष्ट व्यक्तियों के लिए वैदिक आदेश हैं, अतएव *प्रवृत्तों* द्वारा किये जानेवाले ऐसे कार्य अधर्म नहीं माने जाते। किसी एक का भोजन दूसरे के लिए विष हो सकता है, इसी तरह जो तमोगुणियों के लिए संस्तुत है, सतोगुणियों के लिए विष बन सकता है। अतएव श्रील जीव गोस्वामी प्रभु पुष्टि करते हैं कि किसी वर्ग विशेष के लोगों के लिए शास्त्रों की संस्तुतियों को कभी अधर्म नहीं मानना चाहिए। लेकिन वस्तुतः ऐसे कार्य अधर्म हैं और

उन्हें कभी प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए। शास्त्रों की संस्तुतियाँ ऐसे अधर्म को बढ़ावा देने के लिए नहीं हैं, अपितु क्रमश: अधर्म को धर्म के पथ की ओर अग्रसर कराने के निमित्त हैं।

महाराज परीक्षित के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए, राज्यों के समस्त कार्यकारी प्रमुखों का यह कर्तव्य है कि वे अपने राज्यों में धर्म के सिद्धान्तों—तप, स्वच्छता, दया तथा सत्य—की स्थापना करें और सभी प्रकार से अधर्म को—अहंकार, अवैध स्त्री-संसर्ग या वेश्यावृत्ति, मादक द्रव्य सेवन तथा असत्य को—रोकें। और अच्छा तो यही होगा कि कलि को द्यूत, सुरापान, वेश्यावृत्ति तथा पशु वध होनेवाले स्थानों में भेज दिया जाय, यदि ऐसे स्थान विद्यमान हों। जो लोग इन अधार्मिक आदतों से ग्रस्त हैं, उन्हें शास्त्रों के आदेशों से सुपथ पर लाया जाय। किसी भी परिस्थिति में उन्हें किसी भी राजसत्ता से प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिए। दूसरे शब्दों में, राज्यसत्ता को द्यूतक्रीड़ा, सुरापान, वेश्यावृत्ति तथा असत्य को पूर्णरूपेण बंद करा देना चाहिए। जो राज्य बहुमत द्वारा भ्रष्टाचार का उन्मूलन करना चाहता है, उसे निम्नलिखित विधि से धर्म का प्रवर्तन करना चाहिए—

१. एक मास में यदि अधिक नहीं, तो कम से कम दो दिन अनिवार्य उपवास (तपस्या)। आर्थिक दृष्टि से भी, ऐसे दो दिन के उपवास से राज्य में लाखों टन खाद्यान्न की बचत होगी और इससे नागरिकों के स्वास्थ्य पर भी अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

२. तरुण बालकों तथा बालिकाओं की आयु जब क्रमश: चौबीस वर्ष तथा सोलह वर्ष की हो जाय, उनका अनिर्वायत: विवाह होना चाहिए। यदि लड़कों तथा लड़कियों का वैध विवाह हो चुका हो, तो स्कूलों तथा कालेजों में सह-शिक्षा देने में कोई हानि नहीं है। यदि लड़कों तथा लड़कियों में घनिष्ठता हो भी जाय, तो अवैध सम्बन्ध होने के पूर्व उनका समुचित रीति से विवाह कर दिया जाय। तलाक ऐक्ट से वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है, अतएव इसको मिटा दिया जाय।

३. राज्य के नागरिक राज्य में या समाज में आध्यात्मिक वातावरण उत्पन्न करने के लिए अपनी-अपनी आय का पचास प्रतिशत तक दान में दें। वे *भागवत* के सिद्धान्तों का उपदेश (१) *कर्मयोग* द्वारा अर्थात् भगवान् को प्रसन्न करने के लिए ही प्रत्येक काम करके, (२) प्रामाणिक पुरुषों या मुक्तात्माओं से *श्रीमद्भागवत* का नियमित श्रवण करके, (३) घर पर या पूजा स्थलों पर सामूहिक रूप से भगवान् की महिमा का कीर्तन करके, (४) *श्रीमद्भागवत* के उपदेश में लगे *भागवतों* की सभी प्रकार से सेवा

करके, तथा (५) ईश्वर चेतना से पूरित वातावरण वाले स्थान में रहकर करें। यदि राज्य उपर्युक्त विधि से संचालित हो, तो सहज ही सर्वत्र ईश्वर-चेतना होगी।

सभी प्रकार का जुआ (द्यूत), यहाँ तक कि सट्टेबाजी भी, पतन की ओर ले जानेवाली है और जब राज्य में जुआ खेलने को प्रोत्साहन मिलता है, तो सत्य का सर्वथा लोप हो जाता है। उपर्युक्त आयु से अधिक काल तक, तरुणों तथा तरुणियों को अविवाहित रहने की अनुमति तथा सभी तरह के कसाईघरों को लाइसेंस का, निषेध होना चाहिए। मांसाहारियों को शास्त्रानुमोदित विधि से मांस ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा नहीं। सभी प्रकार का नशा, यहाँ तक कि सिगेरट पीना, तम्बाकू चबाना तथा चाय पीना भी, निषिद्ध होना चाहिए।

पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात्प्रभुः ।
ततोऽनृतं मदं कामं रजो वैरं च पञ्चमम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

पुनः—फिर; च—भी; याचमानाय—भिक्षुक को; जात-रूपम्—सोना; अदात्—दिया; प्रभुः—राजा ने; ततः—जिससे; अनृतम्—असत्य; मदम्—नशा; कामम्—विषयवासना; रजः—रजोगुण के कारण; वैरम्—शत्रुता; च—तथा; पञ्चमम्—पाँचवाँ।

कलि ने जब कुछ और याचना की, तो राजा ने उसे उस स्थान में रहने की अनुमति प्रदान की जहाँ सोना उपलब्ध हो, क्योंकि जहाँ-जहाँ स्वर्ण होता है, वहीं-वहीं असत्य, मद, काम, ईर्ष्या तथा वैमनस्य रहते हैं।

तात्पर्य : यद्यपि महाराज परीक्षित ने कलि को रहने के लिए चार स्थानों में रहने की अनुमति दे दी, किन्तु उनके राज्य में ऐसे स्थानों को ढूँढ़ पाना कठिन था, क्योंकि महाराज परीक्षित के शासनकाल में ऐसे स्थान कहीं भी न थे। अतएव कलि ने राजा से कुछ ऐसा देने के लिए याचना की जो व्यावहारिक हो और उसके कपट-कार्यों के काम आ सके। इस प्रकार महाराज परीक्षित ने उसे उस स्थान में रहने की अनुमति दे दी, जहाँ सोना रहता है, क्योंकि जहाँ सोना होता है, वहाँ उपर्युक्त चारों वस्तुएँ तो पाई ही जाती हैं; उनके अतिरिक्त वैर (वैमनस्य) भी रहता है। इस तरह कलि स्वर्ण-मानकीकृत हो गया। *श्रीमद्भागवत* के अनुसार सोना असत्य भाषण, मादक द्रव्य सेवन, वेश्यावृत्ति, ईर्ष्या तथा शत्रुता को प्रोत्साहन देता है। यहाँ तक कि स्वर्ण-मानक विनिमय तथा मुद्रा भी बुरे होते हैं।

स्वर्ण–मानक मुद्रा भी असत्य पर आधारित है, क्योंकि मुद्रा सुरक्षित सोने के समकक्ष नहीं होती। इसका मूल सिद्धान्त झूठा है, क्योंकि मुद्रा नोटों को वास्तविक सुरक्षित स्वर्ण से अधिक मात्रा में जारी किया जाता है। अधिकारियों की इस कृत्रिम मुद्रा–स्फीति से राज्य की अर्थ–व्यवस्था का दुरुपयोग होता है। बुरे धन या कृत्रिम मुद्रानोटों के कारण वस्तुओं के दाम कृत्रिम रूप से बढ़ जाते हैं। बुरा धन अच्छे धन को बाहर निकाल फेंकता है। अतएव कागजमुद्रा के स्थान पर, असली सोने के सिक्के विनिमय हेतु, प्रयुक्त होने चाहिए। इससे सोने का दुरुपयोग बन्द हो जाएगा। स्त्रियों के स्वर्णाभूषण गुण के अनुसार नहीं, अपितु भार के अनुसार, कण्ट्रोल पर बेचे जाँय। इससे काम, ईर्ष्या तथा शत्रुता को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा। जब सिक्कों के रूप में वास्तविक स्वर्णमुद्रा होगी तो असत्य, वेश्यावृत्ति इत्यादि को जन्म देने में सोने का प्रभाव स्वत: रुक जाएगा। फिर भ्रष्टाचार विरोधी मंत्रालय की जरूरत नहीं रह जाएगी, जो वेश्यावृत्ति तथा असत्य का ही दूसरा नाम है।

अमूनि पञ्च स्थानानि ह्यधर्मप्रभव: कलि: ।
औत्तरेयेण दत्तानि न्यवसत् तन्निदेशकृत् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

अमूनि—ये सब; पञ्च—पाँच; स्थानानि—स्थान; हि—निश्चय ही; अधर्म—अधर्म को; प्रभव:—प्रोत्साहन देनेवाले; कलि:—कलियुग; औत्तरेयेण—उत्तरा के पुत्र द्वारा; दत्तानि—दिये गये; न्यवसत्—रहने लगा; तत्—उसके द्वारा; निदेश-कृत्—आदेश पाकर।

इस प्रकार उत्तरा के पुत्र, महाराज परीक्षित के निर्देश से कलि को उन पाँच स्थानों में रहने की अनुमति मिल गई।

तात्पर्य : इस प्रकार कलियुग का समारम्भ स्वर्ण के मानकीकरण से हुआ, अतएव विश्वभर में असत्य, नशा, पशुवध तथा वेश्यावृत्ति का बोलबाला है और बुद्धिमान लोग भ्रष्टाचार को भगाने के लिए इच्छुक हैं। ऊपर, इनसे बचाव की विधि बताई गई है और हर एक व्यक्ति इस सुझाव से लाभ उठा सकता है।

अथैतानि न सेवेत बुभूषु: पुरुष: क्वचित् ।
विशेषतो धर्मशीलो राजा लोकपतिर्गुरु: ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतएव; एतानि—इन सबों को; न—कभी नहीं; सेवेत—सम्पर्क में आए; बुभूषुः—भलाई चाहनेवाले; पुरुषः—पुरुष; क्वचित्—किसी भी दशा में; विशेषतः—विशेष रूप से; धर्म-शीलः—मुक्ति पथ पर अग्रसर होनेवाले; राजा—राजा; लोक-पतिः—जननेता; गुरुः—ब्राह्मण तथा संन्यासी-गण।.

अतएव जो कोई भी, विशेष रूप से जो राजा, धर्मोपदेशक, जननेता, ब्राह्मण तथा संन्यासी जो अपनी भलाई चाहते हैं, उन्हें उपर्युक्त चार अधार्मिक कार्यों के सम्पर्क में कभी नहीं आना चाहिए।

तात्पर्य : ब्राह्मण अन्य सभी वर्णों के धर्मोपदेशक होते हैं और संन्यासी सभी वर्णों तथा आश्रमों के गुरु होते हैं। उसी प्रकार राजा तथा जननेता भी समस्त लोगों के भौतिक कल्याण के लिए उत्तरदायी होते हैं। अतएव उन्नति के इच्छुक धर्मवेत्ता तथा उत्तरदायी लोगों को अथवा उन्हें जो अपना अमूल्य मनुष्य जीवन बर्बाद नहीं करना चाहते, अधर्म के सिद्धान्तों से, विशेष रूप से स्त्रियों के साथ अवैध सम्बन्ध से बचना चाहिए। यदि कोई ब्राह्मण सत्यवादी नहीं है, तो ब्राह्मण होने के उसके सारे अधिकार तत्काल व्यर्थ एवं निर्मूल हो जाते हैं। यदि संन्यासी का किसी स्त्री से अवैध सम्बन्ध हो जाता है, तो तभी से उसका संन्यासी कहलाने का अधिकार झूठा हो जाता है। इसी प्रकार यदि राजा तथा जननेता अनावश्यक रूप से अहंकारी है या उसे मद्यपान तथा धूम्रपान की लत है, तो वह लोक-कल्याण के कार्य करने के लिए अयोग्य ठहरता है। सत्य (सचाई) सभी धर्मों का मूल सिद्धान्त है। मानव समाज के चार प्रकार के अग्रणी अर्थात् संन्यासी, ब्राह्मण, राजा तथा जननेता की परीक्षा उनके चरित्र तथा गुणों के आधार पर की जानी चाहिए। किसी को गुरु या समाज का स्वामी स्वीकार करने के पूर्व, उसे चरित्र की उपुर्यक्त कसौटियों में परखना चाहिए। ऐसे जननेता भले ही शैक्षिक योग्यता में कम हों, लेकिन उन्हें चार अयोग्यताओं, अर्थात् जुआ, मद, वेश्यावृत्ति तथा पशुवध के दूषणों से सर्वथा मुक्त होना चाहिए।

वृषस्य नष्टांस्त्रीन् पादान् तपः शौचं दयामिति ।
प्रतिसन्दध आश्वास्य महीं च समवर्धयत् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

वृषस्य—(धर्मरूप) बैल का; नष्टान्—विनष्ट; त्रीन्—तीन; पादान्—पाँवों को; तपः—तपस्या; शौचम्—स्वच्छता; दयाम्—दया; इति—इस प्रकार; प्रतिसन्दधे—पुनः स्थापित किया; आश्वास्य—आश्वासन देकर; महीम्—पृथ्वी को; च—तथा; समवर्धयत्—सुधार किया।.

तत्पश्चात् राजा ने धर्म-रूप बैल के विनष्ट पैरों को पुन:स्थापित किया और आश्वासन देनेवाले कार्यों से पृथ्वी की दशा में काफी सुधार किये।

तात्पर्य : कलि के लिए विशेष स्थान नियत करके, महाराज परीक्षित ने उसे एक तरह से छला। कलि, धर्मरूप बैल तथा गायरूप पृथ्वी की उपस्थिति में, वे अपने राज्य की सामान्य स्थिति का आकलन कर सके। अतएव उन्होंने बैल के तीन पाँवों को पुन: स्थापित करने की तुरन्त व्यवस्था की। ये पाँव थे—तप, स्वच्छता तथा दया। और विश्वभर के लोगों के सामान्य लाभ के लिए उन्होंने स्वर्ण-भण्डार को समाज में स्थायित्व लाने के लिए प्रयुक्त किया। सोना निश्चित रूप से असत्य, मद, वेश्यावृत्ति, शत्रुता तथा हिंसा को जन्म देने वाला है, किन्तु सुयोग्य राजा या जननेता अथवा ब्राह्मण या संन्यासी के मार्गदर्शन में वही सोना धर्मरूप बैल के लुप्त पाँवों को फिर से स्थापित करने में प्रयुक्त किया जा सकता है।

अतएव महाराज परीक्षित ने अपने पितामह अर्जुन की भाँति, कलि की तुष्टि के लिए रखे सारे अवैध सोने को एकत्र किया और *श्रीमद्भागवत* के उपदेशानुसार उसे संकीर्तन-यज्ञ में प्रयुक्त किया। जैसाकि हमने पहले सुझाव दिया है, संचित धन के वितरण के लिए इसके तीन भाग करने चाहिए—पचास प्रतिशत भगवान् की सेवा के लिए, पचीस प्रतिशत परिवारजनों के लिए तथा पचीस प्रतिशत निजी आवश्यकताओं के लिए। आय का पचास प्रतिशत भगवान् की सेवा के लिए या संकीर्तन यज्ञ के माध्यम से समाज में आध्यात्मिक ज्ञान के प्रसार हेतु व्यय करना सर्वोच्च मानवीय करुणा का प्रदर्शन होगा। सामान्यतया विश्व के लोग आध्यात्मिक ज्ञान के विषय में, विशेष रूप से भगवद्भक्ति के विषय में, अंधकार में रहते हैं। अतएव भक्तिमय सेवा के क्रमबद्ध दिव्य ज्ञान का प्रसार करना सबसे बड़ी दया है, जो विश्व के प्रति प्रदर्शित की जा सकती है। जब प्रत्येक व्यक्ति को अपने संचित सोने का पचास प्रतिशत हिस्सा भगवान् की सेवा में अर्पित करने के लिए शिक्षी दी जाएगी, तो निश्चय ही तप, स्वच्छता तथा दया स्वत: पीछे पीछे आएँगे और इस तरह धर्म के खोये हुए तीनों पाँव स्वत: स्थापित हो जाएँगे।

जब पर्याप्त तप, स्वच्छता, दया तथा सत्य होगा तो पृथ्वी माता पूर्णत: तुष्ट होंगी और कलि को मानव समाज के ढाँचे में घुसपैठ करने का कोई अवसर प्राप्त नहीं हो सकेगा।

स एष एतर्ह्यध्यास्त आसनं पार्थिवोचितम् ।
पितामहेनोपन्यस्तं राज्ञारण्यं विविक्षता ॥ ४३ ॥
आस्तेऽधुना स राजर्षि: कौरवेन्द्रश्रियोल्लसन् ।
गजाह्वये महाभागश्चक्रवर्ती बृहच्छ्रवा: ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

स:—वह; एष:—यह; एतर्हि—इस समय; अध्यास्ते—शासन कर रहा है; आसनम्—सिंहासन; पार्थिव-उचितम्—राजा के लिए योग्य; पितामहेन—पितामह द्वारा; उपन्यस्तम्—हस्तान्तरित होकर; राज्ञा—राजा द्वारा; अरण्यम्—वन; विविक्षता—इच्छुक; आस्ते—है; अधुना—इस समय; स:—वह; राज-ऋषि:—राजर्षि; कौरव-इन्द्र—कुरु राजाओं में प्रमुख; श्रिया—यश; उल्लसन्—फैलते हुए; गजाह्वये—हस्तिनापुर में; महा-भाग:—सर्वाधिक भाग्यशाली; चक्रवर्ती—सम्राट; बृहत्-श्रवा:—अत्यन्त विख्यात।

वे ही सर्वाधिक भाग्यशाली सम्राट महाराज परीक्षित, जिन्हें महाराज युधिष्ठिर ने वन जाते समय हस्तिनापुर का राज्य सौंपा था, अब कुरुवंशी राजाओं के कार्यों से ख्याति प्राप्त करके अत्यन्त सफलतापूर्वक संसार पर शासन कर रहे हैं।

तात्पर्य : नैमिषारण्य के ऋषियों ने महाराज परीक्षित की मृत्यु के कुछ समय बाद ही, दीर्घकालीन् यज्ञोत्सव प्रारम्भ किया था। इस यज्ञ को एक हजार वर्ष तक चलना था और ऐसा ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में भगवान् कृष्ण के बड़े भाई बलदेव के कुछ समकालीन व्यक्ति यज्ञस्थल पर गये थे। कुछ विद्वानों के मतानुसार वर्तमानकाल का प्रयोग भूतकाल की तुलना में समय की छोटी अवधि को प्रदर्शित करने के लिए भी होता है। उसी अर्थ में यहाँ पर महाराज परीक्षित के शासन के लिए वर्तमान काल का प्रयोग हुआ है। सतत तथ्य के लिए भी वर्तमान काल का प्रयोग किया जा सकता है। महाराज परीक्षित के सिद्धान्तों को अब भी लागु किया जा सकता है और यदि अधिकारियों में संकल्प हो, तो मानव समाज को अब भी सुधारा जा सकता है। अब भी, यदि हम महाराज परीक्षित की भाँति कार्यवाही करने में दृढ़ हो लें, तो कलि द्वारा प्रचारित समस्त अनैतिक कार्यकलापों को समाज से हटा सकते हैं। यद्यपि उन्होंने कलि के लिए कुछ स्थान निश्चित कर दिये थे, किन्तु कलि को संसार भर में ऐसे स्थान नहीं मिल पाये, क्योंकि महाराज परीक्षित इतने सावधान थे कि जुआ खेलने, मद्यपान करने,

वेश्यावृति तथा पशुवध के लिए कोई स्थान ही न रहे। आधुनिक प्रशासक राज्य से भ्रष्टाचार समाप्त करना चाहते हैं, लेकिन वे निपट मूर्ख होने के कारण यह भी नहीं जानते कि इसे कैसे किया जाय। वे जुआ खेलने के अड्डे, मदिरा तथा अन्य नशीली औषधियों के लिए स्थान, वेश्यालय, होटल की वेश्यावृत्ति तथा सिनेमा-घर खोलने तथा हर काम में झूठ के लिए लाइसेंस देते हैं और साथ ही राज्य से भ्रष्टाचार भगाना चाहते हैं। वे ईश्वर-चेतना के बिना ईश्वर का राज्य चाहते हैं। भला दो विरोधी बातें एकसाथ कैसे सम्भव हो सकती हैं? यदि हम राज्य से भष्टाचार दूर करना चाहते हैं, तो हमें सर्वप्रथम समाज को इस तरह संगठित करना होगा कि वह धार्मिक सिद्धान्तों को—तप, स्वच्छता, दया तथा सत्य को—ग्रहण करे और हमें परिस्थिति को अनुकूल बनाने के लिए, जुआ, शराब, वेश्या तथा असत्य के सारे स्थानों को बन्द कर देना पड़ेगा। ये कुछ व्यावहारिक शिक्षाएँ हैं, जो हमें *श्रीमद्भागवत* से प्राप्त होती हैं।

इत्थम्भूतानुभावोऽयमभिमन्युसुतो नृपः ।
यस्य पालयतः क्षौणीं यूयं सत्राय दीक्षिताः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्-भूत—इस प्रकार हुआ; अनुभावः—अनुभव; अयम्—इसका; अभिमन्यु-सुतः—अभिमन्यु का पुत्र; नृपः—राजा; यस्य—जिसका; पालयतः—अपने शासन के कारण; क्षौणीम्—पृथ्वी पर; यूयम्—तुम सब; सत्राय—यज्ञ सम्पन्न करने के लिए; दीक्षिताः—दीक्षित हुए।

अभिमन्यु पुत्र, महाराज परीक्षित, इतने अनुभवी हैं कि उनके पटु शासन तथा संरक्षकत्व के बल पर तुम सब इस प्रकार का यज्ञ सम्पन्न कर रहे हो।

तात्पर्य : ब्राह्मण तथा संन्यासी समाज के आध्यात्मिक उन्नयन में अत्यन्त दक्ष होते हैं, जबकि क्षत्रिय या प्रशासक मानव समाज में भौतिक शान्ति तथा सम्पन्नता लाने में दक्ष होते हैं। दोनों ही सुख के स्तम्भ समान हैं, अतएव वे जन-कल्याण में पूर्ण सहयोग के निमित्त होते हैं। महाराज परीक्षित कलि को अपने कार्यक्षेत्र से भगाने में अत्यन्त अनुभवी थे, जिससे राज्य में आध्यात्मिक प्रबुद्धता के लिए स्थान मिल सका। यदि सामान्य लोग ग्रहणशील न हों, तो आध्यात्मिक प्रबुद्धता की आवश्यकता पर बल दे पाना कठिन होता है। तप, स्वच्छता, दया तथा सत्य—ये धर्म के मूल सिद्धान्त हैं। इनसे आध्यात्मिक ज्ञान को ग्रहण करने की भूमिका तैयार होती है और महाराज परीक्षित ने इसके लिए

अनुकूल परिस्थिति बना ली थी। इस तरह नैमिषारण्य के ऋषि एक हजार वर्षों का यज्ञ करने में सक्षम बने। दूसरे शब्दों में, राज्य की सहायता के बिना, दर्शन का कोई मत या धर्म निरन्तर प्रगति नहीं कर सकता। सभी के लिए कल्याणकारी इस अच्छे कार्य के लिए ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के बीच पूरा सहयोग होना चाहिए। महाराज अशोक के समय तक भी यह भावना बनी रही। राजा अशोक ने भगवान् बुद्ध को पर्याप्त समर्थन प्रदान किया, जिससे उनका सम्प्रदाय सारे विश्व में फैल गया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत 'कलि को दण्ड तथा पुरस्कार' नामक सत्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अठारह

ब्राह्मण बालक द्वारा महाराज परीक्षित को शाप

सूत उवाच
यो वै द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टो न मातुरुदरे मृतः ।
अनुग्रहाद् भगवतः कृष्णस्याद्भुतकर्मणः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; यः—जो; वै—निश्चय ही; द्रौणि-अस्त्र—द्रोणपुत्र के अस्त्र द्वारा; विप्लुष्टः—जलाया गया; न—कभी नहीं; मातुः—माता के; उदरे—गर्भ में; मृतः—मरा हुआ; अनुग्रहात्—कृपा से; भगवतः—भगवान्; कृष्णस्य—कृष्ण की; अद्भुत-कर्मणः—जो अद्भुत कार्य करते हैं।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : भगवान् श्रीकृष्ण अद्भुत कार्य करनेवाले हैं। उनकी कृपा से महाराज परीक्षित द्रोणपुत्र के अस्त्र द्वारा अपनी माता के गर्भ में ही प्रहार किये जाने पर भी जलाये नहीं जा सके।

तात्पर्य : नैमिषारण्य के सारे ऋषि महाराज परीक्षित के अद्भुत शासन के विषय में, विशेष रूप से कलि को दण्डित करने तथा अपने राज्य में उसे कोई भी हानि न पहुँचाने के लिए पूर्ण रूप से अक्षम बनाने के प्रसंगों से आश्चर्यचकित रह गये। सूत गोस्वामी भी महाराज परीक्षित के अद्भुत जन्म तथा मृत्यु का वर्णन करने के लिए कम आतुर न थे और यह श्लोक नैमिषारण्य के ऋषियों की उत्कंठा बढ़ाने के लिए सूत गोस्वामी ने कह सुनाया।

ब्रह्मकोपोत्थिताद् यस्तु तक्षकात्प्राणविप्लवात् ।
न सम्मुमोहोरुभयाद् भगवत्यर्पिताशयः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-कोप—ब्राह्मण के क्रोध से; उत्थितात्—उत्पन्न; यः—जो था; तु—लेकिन; तक्षकात्—तक्षक सर्प द्वारा; प्राण-विप्लवात्—जीवन-क्षय से; न—कभी नहीं; सम्मुमोह—अभिभूत थे; उरु-भयात्—घोर भय; भगवति—भगवान् में; अर्पित—शरणागत; आशयः—चेतना।

इसके अतिरिक्त, महाराज परीक्षित स्वेच्छा से सदैव भगवान् के शरणागत रहते थे, अतएव वे उड़ने वाले सर्प के भय से, जो उन्हें ब्राह्मण बालक के कोपभाजन बनने के कारण काटनेवाला था, न तो भयभीत थे, न अभिभूत थे।

तात्पर्य : भगवान् का आत्म-शरणागत भक्त *नारायण-परायण* कहलाता है। ऐसा व्यक्ति किसी स्थान या व्यक्ति से, यहाँ तक कि मृत्यु से भी भयभीत नहीं होता। उसके लिए परमेश्वर से बढ़कर कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं होता। इस तरह वह स्वर्ग या नरक को एक समान ही महत्त्व देता है। वह अच्छी तरह जानता है कि स्वर्ग तथा नरक दोनों ही भगवान् की सृष्टियाँ हैं और इसी तरह जीवन तथा मृत्यु भी भगवान् द्वारा उत्पन्न की गई जीवन की विभिन्न दशाएँ हैं। किन्तु सभी दशाओं में तथा सभी परिस्थितियों में नारायण का स्मरण आवश्यक है। जो *नारायण-परायण* है, वह इसका निरन्तर अभ्यास करता है। महाराज परीक्षित ऐसे ही शुद्ध भक्त थे। उन्हें एक अनुभवहीन ब्राह्मण बालक ने त्रुटिवश शाप दे दिया था, क्योंकि वह कलि के वशीभूत था, और महाराज परीक्षित ने इस शाप को नारायण द्वारा प्रेषित समझा। वे जानते थे कि जब वे माता के गर्भ में जलाये गये थे, तो नारायण (कृष्ण) ने ही उन्हें बचाया था और यदि उन्हें साँप के काटने से मरना है, तो यह भी भगवान् की कृपा से होगा। भक्त कभी भी भगवान् की इच्छा के विरुद्ध नहीं जाता; भगवान् द्वारा भेजी गई कोई भी वस्तु भक्त के लिए वरदान होती है। अतएव महाराज परीक्षित ऐसी बातों से न तो भयभीत थे, न ही मोह-ग्रस्त थे। यह भगवान् के शुद्ध भक्त का लक्षण है।

उत्सृज्य सर्वतः सङ्गं विज्ञाताजितसंस्थितिः ।
वैयासकेर्जहौ शिष्यो गङ्गायां स्वं कलेवरम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

उत्सृज्य—छोड़कर; सर्वतः—चारों ओर; सङ्गम्—साथ, संग; विज्ञात—समझते हुए; अजित—जो कभी जीते न जा सके (भगवान्); संस्थितिः—वास्तविक स्थिति; वैयासकेः—व्यास के पुत्र को; जहौ—त्याग दिया; शिष्यः—शिष्य के रूप में; गङ्गायाम्—गंगा नदी के तट पर; स्वम्—अपने; कलेवरम्—भौतिक शरीर को।

तत्पश्चात्, अपने समस्त संगियों को छोड़कर, राजा ने शिष्य-रूप में व्यास के पुत्र (शुकेदव गोस्वामी) की शरण ग्रहण की और इस प्रकार वे भगवान् की वास्तविक स्थिति को समझ सके।

तात्पर्य : यहाँ पर *अजित* शब्द महत्त्वपूर्ण है। भगवान् श्रीकृष्ण *अजित* अर्थात् न जीते जा सकनेवाले कहलाते हैं और वे हर प्रकार से अजित हैं। कोई उनकी वास्तविक स्थिति को नहीं जान सकता। वे ज्ञान द्वारा भी अजित हैं। हमने उनके धाम, गोलोक वृन्दावन के विषय में सुना है, लेकिन ऐसे अनेक पंडित हैं, जो इस धाम की कई तरह से व्याख्या करते हैं। किन्तु शुकेदव गोस्वामी जैसे गुरु की कृपा से, जिनकी शरण राजा ने अत्यन्त विनीत शिष्य-रूप में ग्रहण की, मनुष्य भगवान् की वास्तविक स्थिति, उनके सनातन धाम तथा उस धाम की दिव्य साज-सामग्री को समझ सकता है। भगवान् की दिव्य स्थिति को जानते हुए तथा उस दिव्य विधि से, जिससे उस दिव्य धाम तक पहुँचा जा सकता है, राजा अपने चरम गन्तव्य के विषय में आश्वस्त थे और इसे जान लेने के कारण वे प्रत्येक भौतिक वस्तु को, यहाँ तक कि अपने भौतिक शरीर को भी किसी आसक्ति के बिना छोड़ सकते थे। *भगवद्गीता* में कहा गया है—*परं दृष्ट्वा निवर्तते*—परम अर्थात् वस्तुओं के श्रेष्ठ गुण को देख लेने पर मनुष्य सारी भौतिक आसक्ति छोड़ सकता है। *भगवद्गीता* से हम उन भगवान् की शक्ति के गुण को समझते हैं, जो भौतिक शक्ति के गुण से श्रेष्ठ है और शुकदेव गोस्वामी जैसे प्रामाणिक आध्यात्मिक गुरु की कृपा से भगवान् की इस उच्चतर शक्ति के प्रत्येक पक्ष को जाना जा सकता है, जिससे भगवान् अपने शाश्वत नाम गुण, लीलाओं, साज-सामग्री तथा विविधता को प्रकट करते हैं। भगवान् की इस उच्चतर शक्ति को समझे बिना, कोई कितना ही परम सत्य के वास्तविक स्वभाव के विषय में सैद्धान्तिक चिन्तन क्यों न करे, भौतिक शक्ति को छोड़ नहीं पाता। भगवान् कृष्ण की कृपा से, महाराज परीक्षित को शुकदेव गोस्वामी जैसे महापुरुष की अनुकंपा प्राप्त हुइ थी, अतएव वे अजित भगवान् की वास्तविक स्थिति को समझ पाये थे। वैदिक साहित्य से भगवान् को खोज निकालना अत्यन्त कठिन है, किन्तु शुकदेव गोस्वामी जैसे मुक्त भक्त की कृपा से उन्हें समझ पाना अत्यन्त सरल है।

नोत्तमश्लोकवार्तानां जुषतां तत्कथामृतम् ।
स्यात्सम्भ्रमोऽन्तकालेऽपि स्मरतां तत्पदाम्बुजम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; उत्तम-श्लोक—भगवान्, जिनका गायन वैदिक स्तोत्रों से किया जाता है; वार्तानाम्—उन पर जीवित रहनेवालों का; जुषताम्—लगे रहनेवालों का; तत्—उसकी; कथा-अमृतम्—उनकी दिव्य कथाएँ; स्यात्—ऐसा होगा; सम्भ्रमः—भ्रान्ति; अन्त—अन्त; काले—समय में; अपि—भी; स्मरताम्—स्मरण करते हुए; तत्—उसका; पद-अम्बुजम्—चरणकमलों को।

ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि जिन्होंने वैदिक स्तोत्रों से स्तुति किये जानेवाले भगवान् की दिव्य कथाओं के लिए ही अपना जीवन अर्पित कर रखा है और जो निरन्तर भगवान् के चरणकमलों का स्मरण करने में लगे हुए हैं, उन्हें अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में भी किसी प्रकार की भ्रान्ति होने का डर नहीं रहता।

तात्पर्य : जीवन के अन्तिम क्षण में भगवान् की दिव्य प्रकृति को स्मरण करके जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त की जाती है। जीवन की यह सिद्धि उसे ही मिल पाती है, जिसने शुकेदव गोस्वामी जैसे मुक्तात्मा द्वारा गाये जानेवाले वैदिक स्तोत्रों से या उन्हीं की गुरु-शिष्य परम्परा के किसी व्यक्ति से भगवान् की वास्तविक दिव्य प्रकृति के विषय में जाना है। वैदिक स्तोत्रों को किसी मनोधर्मी से सुनने से कोई लाभ नहीं होता। किन्तु जब उन्हें किसी वास्तविक स्वरूप-सिद्ध व्यक्ति से सुना जाता है और सेवा तथा विनयपूर्वक उसे ठीक से समझा जाता है, तब हर बात पारदर्शी रूप से स्पष्ट हो जाती है। इस तरह विनीत शिष्य जीवन के अन्त तक दिव्य स्तर पर रह सकता है। वैज्ञानिक अनुकूलन द्वारा मनुष्य भगवान् को जीवन के अन्त समय तक स्मरण रख सकता है, जब शरीर के जर्जर होने से स्मरण शक्ति ढीली पड़ जाती है। सामान्य व्यक्ति के लिए जीवन के अन्त समय वस्तुओं को यथारूप में स्मरण रख पाना कठिन है, लेकिन भगवान् तथा उनके प्रामाणिक भक्तों या गुरुओं की कृपा से मनुष्य को यह अवसर सहज ही प्राप्त हो जाता है। और महाराज परीक्षित के साथ ऐसा ही हुआ।

तावत्कलिर्न प्रभवेत् प्रविष्टोऽपीह सर्वतः ।
यावदीशो महानुर्व्यामाभिमन्यव एकराट् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब तक; कलिः—कलि-रूप; न—नहीं; प्रभवेत्—बढ़ सकता है; प्रविष्टः—प्रवेश करके; अपि—भी; इह—यहाँ; सर्वतः—सर्वत्र; यावत्—जब तक; ईशः—प्रभु; महान्—महान्; उर्व्याम्—शक्तिशाली; आभिमन्यवः—अभिमन्यु का पुत्र; एक-राट्—अकेला सम्राट।

जब तक अभिमन्यु का महान्-शक्तिशाली पुत्र संसार का सम्राट बना हुआ है, तब तक कलि के पनपने की कोई गुंजाइश नहीं है।

तात्पर्य : जैसाकि पहले बताया जा चुका है, कलि ने इस पृथ्वी में बहुत पहले प्रवेश पा लिया था और वह सारे संसार में अपना प्रभाव फैलाने की ताक में था। किन्तु महाराज परीक्षित की उपस्थिति के कारण वह ऐसा नहीं कर पा रहा था। यही अच्छे प्रशासन का ढंग है। कलि जैसे उपद्रवी तत्त्व सदा ही अपने निन्द्य कृत्यों को फैलाना चाहेंगे, लेकिन सक्षम राज्य का कर्तव्य है कि सभी प्रकार से इन्हें रोके। यद्यपि महाराज परीक्षित ने कलि के लिए कुछ स्थान नियत कर दिये थे, किन्तु उसी के साथ-साथ उन्होंने प्रजा को इसका अवसर नहीं दिया कि वे कलि के प्रभाव में बह जाँय।

यस्मिन्नहनि यर्ह्येव भगवानुत्ससर्ज गाम् ।
तदैवेहानुवृत्तोऽसावधर्मप्रभवः कलिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; अहनि—दिन में; यर्हि एव—जिस क्षण में; भगवान्—भगवान् ने; उत्ससर्ज—त्याग दिया; गाम्—पृथ्वी को; तदा—उस समय; एव—निश्चय ही; इह—इस संसार में; अनुवृत्तः—पीछे आ गया; असौ—वह; अधर्म—अधर्म; प्रभवः—तीव्र करते हुए; कलिः—कलि-रूप।

जिस दिन तथा जिस क्षण भगवान् श्रीकृष्ण ने इस पृथ्वी को छोड़ा, उसी समय, समस्त अधार्मिक कृत्यों को बढ़ावा देनेवाला कलि इस संसार में आ गया।

तात्पर्य : भगवान् तथा उनके नाम, यश, गुण सभी अभिन्न हैं। भगवान् की उपस्थिति के कारण कलि पृथ्वी की सीमा में प्रवेश नहीं कर पा रहा था। इसी प्रकार यदि भगवान् के पवित्र नाम, गुणों आदि के सतत कीर्तन का प्रबन्ध हो, तो कलि के प्रवेश के लिए जरा भी अवसर नहीं मिल पायेगा। संसार से कलि को भगाने की यही युक्ति है। आधुनिक मानव-समाज में भौतिक विज्ञान के कारण बड़े-बड़े विकास हुए हैं, और लोगों ने वायु में ध्वनि का विस्तार करने के लिए रेडियो की खोज कर ली है। अतएव इन्द्रिय भोग के लिए किसी भद्दे स्वर को प्रसारित न करके, यदि राज्य भगवान् के

पवित्र नाम, यश तथा उनके गुणों की दिव्य वाणी को, जिस तरह से वे *भगवद्गीता* या *भागवत* में प्राप्त हैं, प्रसारित करने की व्यवस्था करे, तो उचित वातावरण उत्पन्न होगा, संसार में धर्म की पुन: स्थापना होगी और इस प्रकार प्रशासक लोग, जो संसार से भ्रष्टाचार के उन्मूलन को लेकर इतने उत्सुक हैं, सफल होंगे। कोई भी वस्तु बुरी नहीं है, यदि उसका उपयोग भगवान् की सेवा के लिए किया जाय।

नानुद्वेष्टि कलिं सम्राट् सारङ्ग इव सारभुक् ।
कुशलान्याशु सिद्ध्यन्ति नेतराणि कृतानि यत् ॥ ७॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; अनुद्वेष्टि—ईर्ष्यालु; कलिम्—कलि को; सम्राट्—सम्राट; सारम्-ग—मधुमक्खियों की भाँति यथार्थवादी; इव—सदृश; सार-भुक्—सार को ग्रहण करनेवाला; कुशलानि—शुभ वस्तुएँ; आशु—शीघ्र; सिद्ध्यन्ति—सफल होते हैं; न—कभी नहीं; इतराणि—अशुभ; कृतानि—किये जाने पर; यत्—जितना।

महाराज परीक्षित मधुमक्खियों की तरह यथार्थवादी थे, जो केवल (पुष्प के) सार को ग्रहण करती हैं। वे यह भलीभाँति जानते थे कि इस कलियुग में कल्याणकारी वस्तुएँ तुरन्त ही अपना शुभ प्रभाव डालती हैं, जबकि अशुभ कर्मों को वास्तविक रूप में सम्पन्न करना पड़ता है (जिससे प्रभाव जमा सकें)। अतएव उन्होंने कभी भी कलि से ईर्ष्या नहीं की।

तात्पर्य : कलियुग अधम युग कहलाता है। इस अधम युग में सारे जीव विचित्र स्थिति में रहते हैं, अतएव भगवान् ने उन्हें कुछ विशेष सुविधाएँ दे रखी हैं। अत: भगवान् की कृपा से, जब तक जीव किसी पाप-पूर्ण कार्य को वास्तव में करता नहीं है, तब तक वह उस कर्म का भागी नहीं होता। अन्य युगों में पाप-पूर्ण कर्म का विचार करने से ही मनुष्य कर्म-फल का भागी बन जाता था। इसके विपरीत, इस युग में जीव को शुभ कर्म के चिन्तन मात्र से ही उसका फल प्राप्त हो जाता है। अतएव, अत्यन्त विद्वान एवं अनुभवी राजा होने के कारण, महाराज परीक्षित कलि से कोई अनावश्यक द्वेष नहीं रखते थे, क्योंकि वे उसे कोई पाप-कर्म करने का अवसर ही नहीं देना चाहते थे। उन्होंने अपनी प्रजा को कलियुग के पाप-कर्मों में पड़ने से बचाया और साथ ही उन्होंने कलि के लिए कुछ स्थान नियत करके उसे भी पूरी सुविधा प्रदान की। *श्रीमद्भागवत* के अन्त में कहा गया है कि यद्यपि कलि के निन्द्य कृत्य विद्यमान हैं, तो भी कलियुग में बड़े-बड़े लाभ भी हैं। मनुष्य मात्र भगवन्नाम के जप-कीर्तन द्वारा मोक्ष-लाभ प्राप्त कर सकता है। अतएव महाराज परीक्षित ने भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन के प्रचार

हेतु संगठित प्रयास किया और उन्होंने जनता को कलि के पाश से बचा लिया। इसी लाभ के कारण कभी-कभी बड़े-बड़े मुनि कलियुग की जय मनाते हैं। वेदों में भी कहा गया है कि भगवान् कृष्ण की लीलाओं की चर्चा से मनुष्य कलियुग की सारी बुराइयों से छुटकारा पा सकता है। *श्रीमद्भागवत* के आरम्भ में यह भी कहा गया है कि *श्रीमद्भागवत* के पाठ से परमेश्वर मनुष्य के हृदय में स्थापित हो जाते हैं। ये कलियुग के कुछ लाभ हैं और महाराज परीक्षित ने इन सशक्त लाभों को ग्रहण किया और असली वैष्णव होने के नाते, उन्होंने कलियुग का बुरा नहीं सोचा।

किं नु बालेषु शूरेण कलिना धीरभीरुणा ।
अप्रमत्तः प्रमत्तेषु यो वृको नृषु वर्तते ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; नु—हो सकता है; बालेषु—अल्पज्ञों में से; शूरेण—शक्तिमान; कलिना—कलि द्वारा; धीर—आत्म-संयमी; भीरुणा—डरपोक के द्वारा; अप्रमत्तः—सतर्क; प्रमत्तेषु—लापरवाहों में; यः—जो; वृकः—बाघ; नृषु—मनुष्यों में; वर्तते—विद्यमान है।

महाराज परीक्षित ने विचार किया कि अल्पज्ञ मनुष्य कलि को अत्यन्त शक्तिशाली मान सकते हैं, किन्तु जो आत्मसंयमी हैं, उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं है। राजा बाघ के समान शक्तिमान थे और मूर्ख, लापरवाह मनुष्यों की रखवाली करते थे।

तात्पर्य : जो भगवान् के भक्त नहीं हैं, वे लापरवाह तथा मन्दर्बद्धि होते हैं। जब तक कोई पूरी तरह बुद्धिमान न हो, वह भगवद्भक्त नहीं हो सकता। जो भगवद्भक्त नहीं हैं, वे कलि के कार्यों के शिकार बन जाते हैं। जब तक हम महाराज परीक्षित द्वारा अपनाई गई कार्य-पद्धति को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हो जाते, तब तक समाज में श्रेष्ठतर परिस्थिति ला पाना सम्भव नहीं है। और यह कार्य-पद्धति है, भगवान् की भक्तिमय सेवा का प्रचार करना।

उपवर्णितमेतद्वः पुण्यं पारीक्षितं मया ।
वासुदेवकथोपेतमाख्यानं यदपृच्छत ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

उपवर्णितम्—प्राय: हर बात का वर्णन हो चुका है; एतत्—ये सब; व:—तुमको; पुण्यम्—पवित्र; पारीक्षितम्—महाराज परीक्षित के विषय में; मया—मेरे द्वारा; वासुदेव—भगवान् कृष्ण की; कथा—कथाएँ; उपेतम्—के प्रसंग में; आख्यानम्—कथन; यत्—जो; अपृच्छत—तुमने मुझसे पूछा।.

हे मुनियों, जैसा आपने मुझ से पूछा था, अब मैंने पवित्र राजा परीक्षित के इतिहास से सम्बन्धित भगवान् कृष्ण की कथाओं की लगभग सब बाते सुनाइ हैं।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* भगवान् के कार्यकलापों का इतिहास है। और भगवान् के कार्य-कलाप भगवद्-भक्तों को साथ लेकर ही सम्पन्न होते हैं। अतएव भक्तों का इतिहास भगवान् कृष्ण के कार्यकलापों के इतिहास से भिन्न नहीं है। भगवद्-भक्त भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्तों के कार्यकलापों को एक-सा ही समझता है, क्योंकि ये सभी दिव्य होते हैं।

या या: कथा भगवत: कथनीयोरुकर्मण: ।
गुणकर्माश्रया: पुम्भि: संसेव्यास्ता बुभूषुभि: ॥ १० ॥

शब्दार्थ

या: या:—जो जो; कथा:—कथाएँ; भगवत:—भगवान् के विषय में; कथनीय—मुझे कहनी थीं; उरु-कर्मण:—अद्भुत कर्म करनेवाले की; गुण—दिव्य गुण; कर्म—असामान्य कृत्य; आश्रया:—निहित; पुम्भि:—मनुष्यों द्वारा; संसेव्या:—सुनी जानी चाहिए; ता:—वे सब; बुभूषुभि:—अपना कल्याण चाहनेवालों द्वारा।.

जो लोग जीवन में पूर्ण सिद्धि प्राप्त करने के इच्छुक हैं, उन्हें अद्भुत कर्म करनेवाले भगवान् के दिव्य कार्यकलापों तथा गुणों से सम्बन्धित सारी कथाएँ अत्यन्त विनीत भाव से श्रवण करनी चाहिए।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य कार्यकलापों, गुणों तथा नामों का नियमपूर्वक श्रवण करने से मनुष्य शाश्वत जीवन की ओर अग्रसर होता है। नियमपूर्वक श्रवण करने का अर्थ होता है, उन्हें धीरे-धीरे सही और वास्तविक रूप में जानना और उन्हें इस तरह जानने का अर्थ है, शाश्वत जीवन प्राप्त करना, जिसका उल्लेख *भगवद्गीता* में हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण के ऐसे दिव्य यशस्वी कार्यकलाप जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के उपचार करने के लिए संस्तुत औषधि हैं, जिन्हें बद्धजीव भौतिक पुरस्कार समझता है। इस प्रकार जीवन की सिद्ध अवस्था की परिणति मानव-जीवन का लक्ष्य है और दिव्य आनन्द की उपलब्धि है।

ऋषय ऊचु:
सूत जीव समा: सौम्य शाश्वतीर्विशदं यश: ।
यस्त्वं शंससि कृष्णस्य मर्त्यानाममृतं हि न: ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ऋषय: ऊचु:—ऋषियों ने कहा; सूत—हे सूत गोस्वामी; जीव—जीवित रहो; समा:—अनेक वर्षों तक; सौम्य—गम्भीर; शाश्वती:—शाश्वत; विशदम्—विशेष रूप से; यश:—यश में; य: त्वम्—क्योंकि आप; शंससि—सुन्दर ढंग से कहते हो; कृष्णस्य—भगवान् कृष्ण की; मर्त्यानाम्—मर्त्य प्राणियों की; अमृतम्—जीवन की शाश्वतता, अक्षरता; हि—निश्चय ही; न:—हमारा।

श्रेष्ठ मुनियों ने कहा : हे सौम्य सूत गोस्वामी! आप अनेक वर्षों तक जिएँ तथा शाश्वत यश प्राप्त करें, क्योंकि आप भगवान् श्रीकृष्ण के कार्यकलापों के विषय में उत्तम ढंग से बता रहे हैं। हम जैसे मर्त्य प्राणियों के लिए यह अमृत के समान है।

तात्पर्य : जब हम परमेश्वर के दिव्य गुणों तथा कार्यकलापों के विषय में सुनते हैं, तो हमें सदा *भगवद्गीता* (४.९) में भगवान् ने खुद ने अपने सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उसका स्मरण करना चाहिए। उनके सारे कार्य, यहाँ तक कि जब वे मानव-समाज में कार्य करते हैं, तब भी दिव्य ही होते हैं, क्योंकि वे सब भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति द्वारा अभिप्रेरित होते हैं, जो उनकी भौतिक शक्ति से भिन्न है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, ऐसे कार्य *दिव्यम्* कहलाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वे सामान्य जीवों की भाँति, भौतिक शक्ति के वश में रहकर कार्य नहीं करते हैं, और जन्म नहीं लेते हैं। न ही उनका शरीर सामान्य जीवों के शरीर की भाँति भौतिक होता है, न ही परिवर्तनशील होता है। चाहे भगवान् से या किसी प्रामाणिक स्रोत से जो व्यक्ति इस तथ्य को समझ लेता है, वह इस वर्तमान शरीर को त्यागने के बाद पुन: जन्म नहीं लेता। ऐसे प्रबुद्ध जीव को भगवद्धाम में प्रविष्ट होने दिया जाता है, जहाँ वह भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा में लग जाता है। अतएव जिस रूप में *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* में भगवान् के दिव्य कार्यकलाप उद्धृत हैं, उनके विषय में हम जितना ही श्रवण करते हैं, उतना ही हम उनकी दिव्य प्रकृति के विषय में जान पाते हैं और उतना ही भगवद्धाम के पथ पर अग्रसर होते रहते हैं।

कर्मण्यस्मिन्ननाश्वासे धूमधूम्रात्मनां भवान् ।
आपाययति गोविन्दपादपद्मासवं मधु ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

कर्मणि—सम्पन्न करने में; अस्मिन्—इस; अनाश्वासे—निश्चित रूप से नहीं; धूम—धुआँ; धूम्र-आत्मनाम्—कलुषित शरीर तथा मन; भवान्—आप; आपाययति—अत्यन्त प्रसन्न बना रहे हैं; गोविन्द—भगवान् के; पाद—पाँव; पद्म-आसवम्—कमल पुष्पों का अर्क; मधु—शहद।

हमने अभी-अभी इस सकाम कृत्य, यज्ञ की अग्नि को सम्पन्न करना प्रारम्भ किया है और हमारे कार्य में अनेक अपूर्णताएँ होने के कारण इसके फल की कोई निश्चितता नहीं है। हमारे शरीर धुएँ से काले हो चुके हैं, लेकिन हम भगवान् गोविन्द के चरणकमलों के अमृत रूपी उस मधु से सचमुच तृप्त हैं, जिसे आप हम सबको वितरित कर रहे हैं।

तात्पर्य : नैमिषारण्य के मुनियों ने जो यज्ञाग्नि जलाई थी, वह निश्चय ही धुएँ तथा संशयों से पूर्ण थी, क्योंकि उसमें अनेक दोष थे। पहली कमी यह थी कि इस कलियुग में ऐसा यज्ञ-कार्य सम्पन्न करानेवाले पटु ब्राह्मणों का नितान्त अभाव है। ऐसे यज्ञों में यदि कोई दोष रह जाता है, तो पूरा खेल बिगड़ जाता है और फल भी अनिश्चित रहता है, जैसाकि कृषि-उद्यम में होता है। धान के खेत को जोतने से अच्छा फल तभी मिलता है, जब अच्छी वर्षा हो, अन्यथा फल अनिश्चित है। इसी प्रकार से इस कलियुग में भी किसी भी प्रकार का यज्ञ सम्पन्न कराना अनिश्चित रहता है। कलियुग के निर्लज्ज लोभी ब्राह्मण अबोध जनता को ऐसे अनिश्चित यज्ञों का दिखावा करने के लिए फुसलाते हैं और उन्हें यह शास्त्रीय आदेश नहीं बताते कि कलियुग में कोई भी सकाम यज्ञोत्सव सम्भव नहीं, किन्तु इस युग में केवल एक ही यज्ञ सम्भव है और वह है भगवन्नाम का सामूहिक कीर्तन। सूत गोस्वामी एकत्र हुए मुनियों के समक्ष भगवान् के दिव्य कार्यकलाप सुना रहे थे और वे सब इन दिव्य कार्यकलापों के सुनने के फल का अनुभव कर रहे थे। कोई भी इसे व्यावहारिक रूप से उसी तरह अनुभव कर सकता है, जिस प्रकार भोजन करके उसके फल का अनुभव किया जा सकता है। आध्यात्मिक अनुभूति इसी प्रकार कार्य करती है।

नैमिषारण्य के मुनि यज्ञ की अग्नि से उठनेवाले धुएँ से कष्ट पा रहे थे और फल के विषय में भी संशयपूर्ण थे, किन्तु सूत गोस्वामी जैसे अनुभूत व्यक्ति से सुनने के कारण वे पूरी तरह से संतुष्ट हुए थे। *ब्रह्मवैवर्त पुराण* में विष्णु शिवजी से कहते हैं कि कलियुग में लोग विविध प्रकार की चिन्ताओं से घिरे

होने के कारण सकाम कर्म तथा दार्शनिक चिन्तन में व्यर्थ ही श्रम करेंगे, किन्तु यदि वे भक्तिमय सेवा में लगें तो परिणाम अधिक निश्चित होगा और शक्ति का भी क्षय नहीं होगा। दूसरे शब्दों में, भगवान् की भक्तिमय सेवा के बिना, आध्यात्मिक साक्षात्कार के लिए या तो भौतिक लाभ के लिए जो कुछ भी किया जायेगा, वह फलदायी नहीं हो सकता।

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तुलयाम—के साथ तुलना करना; लवेन—क्षण मात्र से; अपि—भी; न—कभी नहीं; स्वर्गम्—स्वर्गलोक; न—न तो; अपुनः-भवम्—पदार्थ से मोक्ष; भगवत्-सङ्गि—भगवद्भक्त; सङ्गस्य—संगति का; मर्त्यानाम्—मरनेवालों का; किम्—क्या रखा है; उत—कहने में; आशिषः—सांसारिक आशीर्वाद, वर।

भगवद्भक्त के साथ क्षण भर की संगति के महत्त्व की तुलना न तो स्वर्गलोक की प्राप्ति से, न भौतिक-मुक्ति की प्राप्ति से की जा सकती है। तो फिर उन सांसारिक वरदानों के विषय में क्या कहा जाय, जो भौतिक सम्पन्नता के रूप में होते हैं और मर्त्यों के लिए हैं?

तात्पर्य : एक वस्तु की तुलना दूसरी वस्तु से तभी की जा सकती है, जब दोनों में कुछ समान बातें होती हैं। हम शुद्ध भक्त की संगति की तुलना किसी भौतिक वस्तु से नहीं कर सकते। जो लोग भौतिक सुख के आदि बन गये हैं, वे चन्द्र, शुक्र तथा इन्द्रलोक जैसे स्वर्गीय ग्रहों की कामना करते हैं, और जो भौतिक दार्शनिक चिन्तन में उन्नत होते हैं, वे भवबन्धन से मोक्ष की कामना करते हैं। जब मनुष्य सभी प्रकार की भौतिक उन्नति से हताश हो उठता है, तो वह विपरीत प्रकार के मोक्ष की कामना करता है, जो *अपुनर्भव* या पुनर्जन्म न होना कहलाता है। किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त स्वर्गलोक में मिलनेवाले सुख की कामना नहीं करते, न ही वे भवबन्धन से मोक्ष चाहते हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् के शुद्ध भक्तों के लिए स्वर्गलोक में प्राप्य भौतिक सुख मायाजाल के समान होता है और चूँकि वे सुख-दुख की भौतिक धारणाओं से पहले से मुक्त रहते हैं, अतएव वे यथार्थ रूप में भौतिक जगत से भी मुक्त होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् के शुद्ध भक्त इस जगत तथा आध्यात्मिक जगत, दोनों ही में, दिव्य स्थिति में, अर्थात् भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं। जिस प्रकार सरकारी नौकर सदा नौकर रहता है, चाहे वह घर में हो या आफिस में या किसी अन्य स्थान में, उसी प्रकार भक्त को किसी

भी भौतिक वस्तु से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता, क्योंकि वह अनन्य भाव से भगवान् की दिव्य सेवा में लगा रहता है। चूँकि उसे किसी भौतिक वस्तु से कोई सरोकार नहीं रहता, अतएव उसे भौतिक वरदानों से क्या मिलनेवाला है—चाहे वह राजपद हो या इससे भी बड़ा कोई अन्य पद, जो ये शरीर के नष्ट होते ही समाप्त हो जाते हैं? भक्तिमय सेवा शाश्वत है, इसका कोई अन्त नहीं होता, क्योंकि यह आध्यात्मिक होती है। अत:, चूँकि शुद्ध भक्त की निधियाँ भौतिक निधियों से भिन्न होती हैं, अतएव दोनों की कोई तुलना नहीं है। सूत गोस्वामी भगवान् के शुद्ध भक्त थे, अतएव नैमिषारण्य के ऋषियों के साथ उनकी संगति अद्वितीय है। भौतिक जगत में निपट भौतिकतावादी की संगति गर्हित समझी जाती है। भौतिकतावादी को *योषित् सङ्गी* कहा जाता है, क्योंकि उसकी आसक्ति भौतिक मायाजाल, अर्थात् स्त्रियों तथा अन्य साज-सामान से होती है। ऐसी आसक्ति आबद्ध है, क्योंकि इससे जीवन के वरदान तथा सम्पन्नता दोनों दूर चले जाते हैं। इसका बिल्कुल उलट है *भागवत सङ्गी* जो सदैव भगवान् के नाम, यश, गुण आदि की संगति में रहता है। ऐसी संगति सदैव वांछनीय है, पूजनीय है, प्रशंसनीय है और इसे जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य माना जा सकता है।

को नाम तृप्येद् रसवित्कथायां
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
नान्तं गुणानामगुणस्य जग्मु-
र्योगेश्वरा ये भवपाद्ममुख्या: ॥ १४॥

शब्दार्थ

क:—कौन है, वह; नाम—विशेष रूप से; तृप्येत्—पूरा सन्तोष प्राप्त कर ले; रस-वित्—अमृत-रस का आस्वाद करने में पटु; कथायाम्—कथाओं में; महत्-तम—जीवों में सबसे महान्; एकान्त—एकमात्र; परायणस्य—आश्रय का; न—कभी नहीं; अन्तम्—अन्त; गुणानाम्—गुणों का; अगुणस्य—दिव्य का; जग्मु:—निश्चित कर सके; योग-ईश्वरा:—योग-शक्ति के स्वामी; ये—जो; भव—शिवजी; पाद्म—ब्रह्माजी; मुख्या:—प्रमुख।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण (गोविन्द) समस्त महान् जीवों के एकमात्र आश्रय हैं और उनके दिव्य गुणों का मापन शिव तथा ब्रह्मा जैसे यौगिक शक्तियों के स्वामीयों द्वारा भी नहीं किया जा सकता। तो भला जो रसास्वादन में पटु है, वह क्या कभी उनकी कथाओं के श्रवण द्वारा पूरी तरह तृप्त हो सकता है?

तात्पर्य : शिवजी तथा ब्रह्माजी दो प्रधान देवता हैं। वे योगशक्ति से परिपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ, शिवजी ने उस विष का सागर पी लिया, जिसकी एक बूँद ही सामान्य जीव को मारने के लिए पर्याप्त थी। इसी प्रकार ब्रह्माजी ने, शिवजीसमेत, अनेक देवताओं की सृष्टि की। अतएव ये दोनों ईश्वर अथवा ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं। किन्तु वे परम शक्तिमान नहीं हैं। परम शक्तिमान तो गोविन्द अथवा श्रीकृष्ण हैं। वे दिव्य हैं और उनके दिव्य गुणों का मापन शिव तथा ब्रह्मा जैसे शक्तिशाली ईश्वरों द्वारा भी नहीं किया जा सकता। अतएव भगवान् कृष्ण बड़े से बड़े जीव के एकमात्र आश्रय हैं। ब्रह्मा की गिनती जीवों में की जाती है, किन्तु वे हम सबों से महानतम हैं। तो फिर महानतम जीव भगवान् कृष्ण की दिव्य कथाओं के प्रति इतना आसक्त क्यों है? इसलिए कि वे समस्त आनन्द के आगार हैं। हर व्यक्ति हर वस्तु का कुछ न कुछ आस्वाद लेना चाहता है, किन्तु जो व्यक्ति भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा रहता है, वह उसी में असीम आनन्द प्राप्त करता है। भगवान् असीम हैं और उनके नाम, गुण, लीलाएँ, पार्षद, विविधता आदि अनन्त हैं और जो इनका आस्वाद करते हैं, वे असीम रूप से ऐसा करते हुए भी तृप्ति का अनुभव नहीं करते। इस तथ्य की पुष्टि *पद्मपुराण* से होती है—

रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दचिदात्मनि।

इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥

''योगीजन परम सत्य से असीम दिव्य आनन्द प्राप्त करते हैं, इसीलिए परम सत्य भगवान् राम भी कहलाते हैं।''

ऐसी दिव्य वार्ताओं का कोई अन्त नहीं है। संसारी मामलों में तृप्ति का नियम होता है, लेकिन अध्यात्म में ऐसी तृप्ति नहीं है। सूत गोस्वामी नैमिषारण्य के ऋषियों के समक्ष भगवान् कृष्ण की कथा को चालू रखना चाह रहे थे और ऋषियों ने भी उनसे लगातार सुनते रहने की अपनी इच्छा व्यक्त की। चूँकि भगवान् दिव्य हैं और उनके गुण दिव्य हैं, अतएव ऐसी वार्ताएँ शुद्ध श्रोताओं के ग्राही भाव को बढ़ाती हैं।

तन्नो भवान् वै भगवत्प्रधानो
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।

हरेरुदारं चरितं विशुद्धं
शुश्रूषतां नो वितनोतु विद्वन् ॥ १५॥

शब्दार्थ

तत्—अतएव; नः—हम सबका; भवान्—आप; वै—निश्चय ही; भगवत्—भगवान् से सम्बन्धित; प्रधानः—मुख्यतः; महत्-तम—सबसे बड़े; एकान्त—एकमात्र; परायणस्य—आश्रय का; हरेः—भगवान् का; उदारम्—निष्पक्ष; चरितम्—कार्यकलाप; विशुद्धम्—दिव्य; शुश्रूषताम्—सुनने के इच्छुक हैं; नः—हम; वितनोतु—कृपा करके वर्णन करें; विद्वन्—हे विद्वान।

हे सूत गोस्वामी, आप विद्वान हैं तथा भगवान् के शुद्ध भक्त हैं, क्योंकि आपकी सेवा का प्रमुख उद्देश्य भगवान् हैं। अतएव आप कृपया हमें भगवान् की लीलाएँ कह सुनायें, जो समस्त भौतिक विचारधारा से ऊपर हैं, क्योंकि हम ऐसा संदेश प्राप्त करने के लिए आतुर हैं।

तात्पर्य : भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के वक्ता का एक ही लक्ष्य होना चाहिए और वह है पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण की पूजा तथा सेवा। और ऐसी कथाओं के श्रोताओं को इन्हें सुनने के लिए आतुर होना चाहिए। जब ऐसा संयोग संभव हो जाता है अर्थात् जब योग्य वक्ता तथा योग्य श्रोता का संयोग हो जाता है, तभी दिव्य के विषय में अत्यन्त सौहार्दपूर्ण वार्ता हो पाती है। व्यावसायिक वक्ता तथा भौतिकता में लिप्त श्रोता ऐसी वार्ताओं से कभी वास्तविक लाभ नहीं उठा पाते। व्यावसायिक वक्ता (वाचक) अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए *भागवत* सप्ताह का दिखावा करते हैं और भौतिकताग्रस्त श्रोता *भागवत सप्ताह* की इन वार्ताओं को किसी न किसी भौतिक लाभ यथा धार्मिकता, सम्पत्ति, इन्द्रिय-तुष्टि या मोक्ष के लिए सुनते हैं— *भागवत* की ऐसी वार्ताएँ भौतिक गुणों के कल्मष से शुद्ध नहीं रहतीं। लेकिन नैमिषारण्य के मुनियों तथा श्रील सूत गोस्वामी के मध्य चल रही वार्ताएँ दिव्य स्तर पर थीं। इनमें भौतिक लाभ का कोई उद्देश्य नहीं था। ऐसी वार्ताओं में श्रोता तथा वक्ता दोनों को असीम दिव्य आनन्द की प्राप्ति होती है। अतएव वे ऐसी वार्ताओं को हजारों वर्षों तक चालू रख सकते हैं। अब तो *भागवत* सप्ताह केवल सात दिनों तक रखा जाता है और खेल खतम करने के बाद, श्रोता तथा वक्ता दोनों पहले की तरह भौतिक कार्यों में लग जाते हैं। वे ऐसा कर सकते हैं, क्योंकि वक्ता *भागवत-प्रधान* नहीं है और श्रोता भी *शुश्रूषताम्* नहीं है, जैसाकि ऊपर कहा गया है।

स वै महाभागवतः परीक्षिद्
येनापवर्गाख्यमदभ्रबुद्धिः ।

ज्ञानेन वैयासकिशब्दितेन
भेजे खगेन्द्रध्वजपादमूलम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निश्चय ही; महा-भागवतः—उच्चकोटि का भक्त; परीक्षित्—राजा; येन—जिससे; अपवर्ग-आख्यम्—मोक्ष नाम से; अदभ्र—स्थिर; बुद्धिः—बुद्धि; ज्ञानेन—ज्ञान से; वैयासकि—व्यास पुत्र; शब्दितेन—द्वारा उच्चारित; भेजे—ले जाया गया; खग-इन्द्र—पक्षियों का राजा, गरुड़; ध्वज—पताका, झंडा; पाद-मूलम्—पैरों के तलवे।.

हे सूत गोस्वामी, कृपा करके भगवान् की उन्हीं कथाओं का वर्णन करें, जिनसे महाराज परीक्षित, जिनकी बुद्धि मोक्ष पर केन्द्रित थी, उन भगवान् के चरणकमलों को प्राप्त कर सके, जो पक्षिराज गरुड़ के आश्रय हैं। इन्हीं कथाओं का उच्चारण व्यास-पुत्र (श्रील शुकेदव) द्वारा हुआ था।

तात्पर्य : मोक्ष के मार्ग को लेकर जिज्ञासुओं में कुछ मतभेद है। ऐसे दिव्य जिज्ञासु निर्विशेषवादी तथा भगवद्भक्त कहलाते हैं। भगवद्भक्त भगवान् के दिव्य रूप की पूजा करते हैं, जबकि निर्विशेषवादी चमचमाते तेज या भगवान् की शारीरिक किरणों का ध्यान धरते हैं, जिसे *ब्रह्मज्योति* कहते हैं। यहाँ पर यह कहा गया है कि महाराज परीक्षित को भगवान् के चरणकमलों की प्राप्ति व्यासदेव के पुत्र श्रील शुकदेव गोस्वामी के उपदेशों से हुई। श्रील शुकदेव गोस्वामी भी प्रारम्भ में निर्विशेषवादी थे, जैसाकि *भागवत* (२.१.९) में उनकी स्वयं की उक्ति है किन्तु बाद में वे भगवान् की दिव्य लीलाओं के प्रति आकृष्ट हुए और भक्त बन गये। ऐसे पूर्ण ज्ञान से युक्त भक्त *महाभागवत* या प्रथम कोटि के भक्त कहलाते हैं। भक्तों की तीन श्रेणियाँ हैं—*प्राकृत, मध्यम तथा महाभागवत।* प्राकृत अथवा तृतीय श्रेणी के भक्तों को भगवान् तथा उनके भक्तों का कोई विशेष ज्ञान नहीं होता, वे मन्दिर में पूजा करने वाले होते हैं। मध्यम अर्थात् द्वितीय श्रेणी के भक्त भगवान् को, भगवान् के भक्तों को, नवदीक्षितों तथा अभक्तों को भी भलीभाँति जानते हैं। लेकिन महाभागवत या प्रथम श्रेणी के भक्त हर वस्तु को भगवान् से सम्बन्धित और हर वस्तु में भगवान् की उपस्थिति को देखते हैं। अतएव महाभागवत एक भक्त तथा अभक्त में कोई अन्तर नहीं मानता। महाराज परीक्षित ऐसे ही महाभागवत भक्त थे, क्योंकि उनको एक महाभागवत भक्त शुकेदव गोस्वामी से दीक्षा प्राप्त हुई थी। वे सबों पर समान रूप से दयालु थे, यहाँ तक कि कलि पर भी, तो अन्यों के विषय में क्या कहा जाय।

इस प्रकार संसार के दिव्य इतिहास में ऐसे अनेक निर्विशेषवादी हुए हैं, जो बाद में भक्त बन गये हैं। लेकिन एक भक्त कभी भी निर्विशेषवादी नहीं बना है। यह एक तथ्य सिद्ध करता है कि दिव्य सीढ़ियों में जिस सीढ़ी पर भक्त बैठा है, वह उस सीढ़ी से ऊपर है, जिस पर निर्विशेषवादी स्थित है। *भगवद्गीता* (१२.५) में भी कहा गया है कि निराकार की सीढ़ी पर चिपका हुआ व्यक्ति लाभ की अपेक्षा कष्ट अधिक भोगता है। अतएव शुकदेव गोस्वामी द्वारा महाराज परीक्षित को प्रदत्त ज्ञान ने उन्हें भगवद्भक्ति प्राप्त करने में सहायता पहुँचाई। सिद्धि की यह अवस्था *अपवर्ग* या मोक्ष की अवस्था कहलाती है। मोक्ष सम्बन्धी सरल ज्ञान भौतिक ज्ञान है। भौतिक बन्धन से वास्तविक रूप से छूट जाना मुक्ति कहलाती है, लेकिन भगवान् की दिव्य सेवा की उपलब्धि मोक्ष की पूर्ण अवस्था कहलाती है। ऐसी अवस्था ज्ञान तथा वैराग्य से ही प्राप्त हो पाती है, जैसाकि हम पहले बता चुके हैं (*भागवत* १.२.१२) और श्रील शुकेदव गोस्वामी द्वारा जिस तरह का पूर्ण ज्ञान प्रदान किया जाता है, उससे भगवान् की दिव्य सेवा की प्राप्ति होती है।

तन्नः परं पुण्यमसंवृतार्थ-
माख्यानमत्यद्भुतयोगनिष्ठम् ।
आख्याह्यनन्ताचरितोपपन्नं
पारीक्षितं भागवताभिरामम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतएव; नः—हमें; परम्—परम; पुण्यम्—पवित्र करनेवाला; असंवृत-अर्थम्—यथारूप; आख्यानम्—वार्ता; अति—अत्यन्त; अद्भुत—आश्चर्यजनक; योग-निष्ठम्—भक्तियोग में दृढ़; आख्याहि—कहिये; अनन्त—अनन्त; आचरित—कार्यकलाप; उपपन्नम्—पूर्ण; पारीक्षितम्—महाराज परीक्षित से कहे गये; भागवत—शुद्ध भक्तों के; अभिरामम्—विशेषतया अत्यन्त प्रिय।

अतः कृपा करके हमें अनन्त की कथाएँ सुनाएँ, क्योंकि वे पवित्र करनेवाली तथा सर्वश्रेष्ठ हैं। इन्हें ही महाराज परीक्षित को सुनाया गया था और वे भक्तियोग से परिपूर्ण होने के कारण शुद्ध भक्तों को अत्यन्त प्रिय हैं।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित को जो सुनाया गया था और जो शुद्ध भक्तों को अत्यन्त प्रिय है, वह *श्रीमद्भागवत* है। *श्रीमद्भागवत* मुख्यतः परम अनन्त के कार्यकलापों की कथाओं से पूर्ण है, अतएव यह भक्तियोग अर्थात् भगवान् की भक्तिमय सेवा का विज्ञान है। इस प्रकार यह *पर* अर्थात् सर्वोपरि है,

क्योंकि समस्त ज्ञान तथा धर्म से समृद्ध होने पर भी, यह भगवान् की भक्तिमय सेवा में विशेष रूप से समृद्ध है।

सूत उवाच
अहो वयं जन्मभृतोऽद्य हास्म
वृद्धानुवृत्त्यापि विलोमजाता: ।
दौष्कुल्यमाधिं विधुनोति शीघ्रं
महत्तमानामभिधानयोग: ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्रील सूत गोस्वामी ने कहा; अहो—कैसे; वयम्—हम; जन्म-भृतः—जन्म को प्राप्त; अद्य—आज; ह—स्पष्टतया; आस्म—हो चुके हैं; वृद्ध-अनुवृत्त्या—ज्ञान में बढ़े-चढ़े मनुष्यों की सेवा करने से; अपि—यद्यपि; विलोम-जाताः—मिश्र जाति में जन्मे; दौष्कुल्यम्—जन्मजात अयोग्यता; आधिम्—कष्ट; विधुनोति—शुद्ध करती है; शीघ्रम्—तुरन्त; महत्-तमानाम्—महानों का; अभिधान—वार्ता; योगः—सम्बन्ध।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : हे ईश्वर, यद्यपि हम मिश्र (संकर) जाति में उत्पन्न हैं, फिर भी हमें ज्ञान में उन्नत उन महापुरुषों की सेवा करने तथा उनका अनुगमन करने से ही जन्म अधिकार प्राप्त हो गया। ऐसे महापुरुषों से बातचीत करने से ही मनुष्य निम्नकुल में जन्म होने के कारण उत्पन्न अवगुणों से तुरन्त ही निर्मल हो जाता है।

तात्पर्य : सूत गोस्वामी का जन्म ब्राह्मण कुल में नहीं हुआ था। वे एक मिश्र जाति के परिवार *(विलोमज)* में या असंस्कृत निम्नकुल में जन्मे थे। किन्तु महापुरुषों की संगति से यथा श्री शुकेदव गोस्वामी तथा नैमिषारण्य के महर्षियों की संगति से, निम्नकुल में जन्म होने की उनकी अयोग्यता मिट चुकी थी। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु वैदिक प्रथाओं का पालन करने में इसी सिद्धान्त का पालन करते थे और अपनी दिव्य संगति से उन्होंने अनेक निम्नकुल में जन्मे या जन्म अथवा कर्म से अयोग्य ठहराये गये व्यक्तियों को भक्ति का पद दिलाया और उन्हें आचार्य या अधिकारी पद पर स्थापित किया। वे स्पष्ट कहते थे कि कोई भी मनुष्य, चाहे वह जन्म से ब्राह्मण हो या शूद्र, गृहस्थ हो या संन्यासी, यदि वह कृष्ण के विज्ञान में पारंगत है, तो उसे आचार्य या गुरु के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

सूत गोस्वामी ने शुकदेव तथा व्यासदेव जैसे महर्षियों तथा महापुरुषों से कृष्ण का विज्ञान सीखा था और वे इतने सुयोग्य थे कि नैमिषारण्य के मुनि भी उनसे *श्रीमद्भागवत* के रूप में कृष्ण का विज्ञान

उत्सुकता से सुनना चाह रहे थे। इस प्रकार श्रवण करने तथा उपदेश देने द्वारा उन्हें महापुरुषों की दोहरी संगति प्राप्त हुइ थी। दिव्य विज्ञान या कृष्ण का विज्ञान अधिकारियों से सीखना पड़ता है और जब कोई इस विज्ञान का उपदेश देता है, तो वह और भी योग्य बनता जाता है। इस प्रकार सूत गोस्वामी को दोनों लाभ प्राप्त थे, अतएव निम्न कुल में जन्म लेने के समस्त अवगुणों तथा मानसिक क्लेशों से वे पूर्ण रूप से मुक्त थे। यह श्लोक निश्चित रूप से सिद्ध करता है कि श्रील शुकेदव गोस्वामी ने, न तो सूत गोस्वामी को निम्नकुल में जन्म लेने से अध्यात्म विज्ञान की शिक्षा देने से इनकार किया, न ही नैमिषारण्य के मुनियों ने उनके उपदेश सुनने से इनकार किया। इसका अर्थ यह होता है कि हजारों वर्ष पूर्व, निम्नकुल में जन्म होने से किसी को अध्यात्म विज्ञान सीखने या उपदेश देने पर कोई प्रतिबन्ध न था। हिन्दू समाज में तथाकथित जाति प्रथा की कट्टरता पिछले सौ वर्षों में प्रमुख बनी है, जब द्विजबन्धुओं अर्थात् उच्चजाति के कुल में जन्मे अयोग्य मनुष्यों की संख्या बढ़ गई। भगवान् श्री चैतन्य ने मूल वैदिक पद्धति को फिर से जीवित किया और उन्होंने ठाकुर हरिदास को *नामाचार्य* अर्थात् 'भगवान् के पवित्र नाम के महिमा का प्रचार करने वाले अधिकारी' का पद प्रदान किया, यद्यपि श्रील हरिदास ठाकुर का जन्म एक मुसलमान परिवार में हुआ था।

भगवान् के शुद्ध भक्तों का ऐसा प्रताप होता है। गंगाजल को शुद्ध माना जाता है और जो कोई गंगा के जल में स्नान करता है, वह शुद्ध हो जाता है। किन्तु जहाँ तक भगवान् के महान् भक्तों का सम्बन्ध है, वे तो निम्नकुल में उत्पन्न अधम लोगों को अपने दर्शन से ही शुद्ध कर सकते हैं, तो फिर उनका संग करने के बारे में तो कहना ही क्या! भगवान् चैतन्य महाप्रभु संसार के दूषित वातावरण को संसार भर में योग्य प्रचारकों को भेज कर शुद्ध बनाना चाहते थे और अब यह भारतीयों का कर्तव्य है कि इस कार्य को वैज्ञानिक ढंग से हाथों में लें और सर्वोत्तम मानव कल्याण का कार्य करें। आधुनिक पीढ़ी के मानसिक रोग शारीरिक रोगों से अधिक गम्भीर हैं, अतएव यह उपयुक्त समय है कि देर लगाये बिना संसार भर में *श्रीमद्भागवत* के प्रचार का कार्य प्रारम्भ कर दिया जाय। *महत्तमानाम् अभिधान* का अर्थ है महान् भक्तों का शब्दकोश या महान् भक्तों की वाणी से युक्त पुस्तक। महान् भक्तों की तथा भगवान् की वाणी का ऐसा कोश, वेद तथा अन्य सम्बद्ध ग्रंथ, विशेष रूप से *श्रीमद्भागवत* में है।

कुतः पुनर्गृणतो नाम तस्य
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
योऽनन्तशक्तिर्भगवाननन्तो
महद्गुणत्वाद् यमनन्तमाहुः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

कुतः—क्या कहें; पुनः—फिर; गृणतः—कीर्तन करनेवाला; नाम—पवित्र नाम; तस्य—उनका; महत्-तम—महान् भक्त; एकान्त—एकमात्र; परायणस्य—जिसका आश्रय लिया जाय; यः—वह जो; अनन्त—अनन्त है; शक्तिः—शक्ति; भगवान्—भगवान्; अनन्तः—असंख्य; महत्—महान्; गुणत्वात्—ऐसे गुणों के कारण; यम्—जिनको; अनन्तम्—अनन्त नाम से; आहुः—पुकारा जाता है।

और उनके विषय में क्या कहा जाय, जो महान् भक्तों के निर्देशन में अनन्त के पवित्र नाम का कीर्तन करते हैं, जिनकी असीम शक्ति है? भगवान्, जो शक्ति में असीम तथा गुणों में दिव्य हैं, वे अनन्त कहलाते हैं।

तात्पर्य : द्विजबन्धु या अल्पज्ञ, जो उच्च जातियों में उत्पन्न असंस्कृत व्यक्ति हैं, इस जीवन में निम्नजाति के लोगों के ब्राह्मण बनने के विरुद्ध अनेक दलीलें देते हैं। उनकी दलील है कि शूद्र या शूद्र से भी निम्न परिवार में जन्म पूर्व जन्म में किये गये पापकर्मों के कारण होता है। अतएव उसे इस कमी की पूर्ति निम्न-जाति में जन्म लेकर करनी होती है। किन्तु इन मिथ्या तर्क करनेवालों को उत्तर देने के लिए *श्रीमद्भागवत* का कथन है कि जो मनुष्य शुद्ध भक्त के निर्देशन में भगवान् के पवित्र नाम का जप करता है, वह तुरन्त ही निम्न-जाति में जन्म लेने के दोष से छूट जाता है। भगवान् का शुद्ध भक्त भगवान् के पवित्र नाम का जप करते हुए कोई अपराध नहीं करता। भगवान् के नाम-जप करने में दस प्रकार के अपराध होते हैं। किन्तु शुद्ध भक्त के निर्देशन में किया गया जप अपराधरहित होता है और भगवान् का अपराधरहित जप दिव्य होता है, अतएव ऐसा जप पूर्वजन्म के समस्त पापों के प्रभाव को तुरन्त दूर कर सकता है। ऐसा अपराधरहित जप यह संकेत देता है कि मनुष्य ने पवित्र नाम की दिव्य प्रकृति को ठीक से समझ लिया है और इस प्रकार भगवान् की शरण ले ली है। आध्यात्मिक रूप से, भगवान् का नाम तथा स्वयं भगवान् परम अवस्था में होने के कारण एक हैं। भगवान् का पवित्र नाम भगवान् के ही तुल्य शक्तिमान है। भगवान् सर्वशक्तिमान ईश्वरीय व्यक्तित्व हैं और उनके अनन्त नाम हैं, जो उनसे अभिन्न हैं और उन्हीं के समान शक्तिमान भी हैं। *भगवद्गीता* के अन्त में भगवान् बल देकर कहते हैं कि जो भी उनकी शरण में पूर्ण रूप से आता है, उसकी समस्त पापों से रक्षा की जाती है।

चूँकि वे तथा उनके नाम एक हैं, अतएव भगवान् का पवित्र नाम भक्तों को पापों के समस्त प्रभावों से बचा सकता है। भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन निःसन्देह मनुष्य को निम्न कुल में जन्म लेने के दोष से उबार सकता है। भगवान् की असीम शक्ति भक्तों तथा अवतारों के असीम विस्तार से बढ़ती ही जाती है और इस प्रकार प्रत्येक भगवद्भक्त तथा सारे अवतार भी भगवान् की शक्ति से सम्पन्न होते हैं। चूँकि भगवान् का भक्त भगवान् की शक्ति से ओतप्रोत हो जाता है, अतएव निम्न कुल में जन्म लेने का किंचित् मात्र भी दोष उसके रास्ते में बाधक नहीं बन सकता।

एतावतालं ननु सूचितेन
गुणैरसाम्यानतिशायनस्य ।
हित्वेतरान् प्रार्थयतो विभूति-
र्यस्याङ्घ्रिरेणुं जुषतेऽनभीप्सोः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

एतावता—इतनी दूर तक; अलम्—अनावश्यक; ननु—यदि तनिक भी हो तो; सूचितेन—वर्णन से; गुणैः—गुणों से; असाम्य—अमाप्य; अनति-शायनस्य—जिसकी बराबरी न हो सके उसका; हित्वा—छोड़कर; इतरान्—अन्य; प्रार्थयतः—याचना करनेवालों का; विभूतिः—लक्ष्मी की कृपा; यस्य—जिसके; अङ्घ्रि—पैर; रेणुम्—धूल; जुषते—सेवा करता है; अनभीप्सोः—अनिच्छित का।

अब यह निश्चित हो गया कि वे (भगवान्) अनन्त हैं और उनके तुल्य कोई भी नहीं है। फलस्वरूप उनके विषय में कोई भी पर्याप्त रूप से कह नहीं सकता। बड़े-बड़े देवता भी स्तुतियों के द्वारा जिस लक्ष्मी देवी की कृपा प्राप्त नहीं कर पाते, वही देवी भगवान् की सेवा करती हैं, यद्यपि भगवान् ऐसी सेवा के लिए अनिच्छुक रहते हैं।

तात्पर्य : *श्रुतियों* के अनुसार, भगवान् या परमेश्वर परब्रह्म को कुछ भी नहीं करना होता। उनकी समता करनेवाला कोई नहीं है, न ही उनसे कोई बढ़कर है। उनकी अनन्त शक्तियाँ हैं और उनका हर कार्य अपने सहज तथा सम्यक् रूप में नियमानुसार होता रहता है। इस प्रकार भगवान् अपने आप में परिपूर्ण हैं और उन्हें अन्य किसी से कुछ भी लेना नहीं होता, यहाँ तक कि ब्रह्मा जैसे महान् देवताओं से भी नहीं। अन्य लोग जिन लक्ष्मी देवी की कृपादृष्टि के लिए लालायित रहते हैं और अनेक प्रार्थनाओं के बाद भी, वे उन पर कृपा नहीं करतीं, वे भी भगवान् की सेवा करती हैं, यद्यपि उन्हें लक्ष्मीजी से कुछ भी लेना नहीं होता। परमेश्वर अपने गर्भोदकशायी विष्णु रूप में ब्रह्मा को अपनी नाभि से निकले

कलम से भौतिक संसार के प्रथम जीव के रूप में जन्म देते हैं, लक्ष्मीदेवी के गर्भ से नहीं, जो उनकी सेवा में निरन्तर लगी रहती हैं। उनकी पूर्ण स्वतंत्रता तथा परिपूर्णता के ये कुछ उदाहरण हैं। उन्हें कुछ करना नहीं होता—इसका अर्थ यह नहीं है कि वे निराकार हैं। वे दिव्य रूप से अचिन्त्य शक्तियों से इतने परिपूर्ण हैं कि केवल उनके इच्छा करने मात्र से सब कुछ हो जाता है। उन्हें कोई शारीरिक या निजी प्रयास नहीं करना होता। इसीलिए वे योगेश्वर अर्थात् समस्त यौगिक शक्तियों के स्वामी कहलाते हैं।

अथापि यत्पादनखावसृष्टं
जगद्विरिञ्चोपहृतार्हणाम्भः ।
सेशं पुनात्यन्यतमो मुकुन्दात्
को नाम लोके भगवत्पदार्थः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; अपि—निश्चय ही; यत्—जिनके; पाद-नख—पाँव के नाखून; अवसृष्टम्—निकलते हुए; जगत्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड; विरिञ्च—ब्रह्माजी; उपहृत—एकत्र किया; अर्हण—पूजा; अम्भः—जल; स—सहित; ईशम्—शिवजी; पुनाति—शुद्ध करता है; अन्यतमः—और कौन; मुकुन्दात्—भगवान् श्रीकृष्ण के अतिरिक्त; कः—कौन; नाम—नाम; लोके—संसार में; भगवत्—परमेश्वर; पद—पद, स्थित; अर्थः—योग्य।

भगवान् श्रीकृष्ण के अतिरिक्त भला ऐसा कौन है, जो परमेश्वर कहलाने के योग्य हो? ब्रह्माजी ने उनके पाँव के नाखूनों से निकलनेवाले जल को भगवान् शिवजी को मस्तक पर ग्रहण करने के निमित्त एकत्र किया। यही जल (गंगानदी) शिवजी समेत सारे ब्रह्माण्ड को शुद्ध बना रहा है।

तात्पर्य : अज्ञानियों द्वारा वैदिक साहित्य में अनेक देवों की अवधारणा सर्वथा भ्रान्त है। भगवान् एक एवं अद्वितीय हैं, लेकिन वे अनेक प्रकार से अपना विस्तार करते हैं और इसकी पुष्टि वेदों में होती है। भगवान् के ऐसे विस्तार असंख्य हैं, लेकिन उनमें से कुछ जीव भी हैं। जीव भगवान् के पूर्ण अंशों के समान शक्तिशाली नहीं होते, अतएव दो प्रकार के विस्तार (अंश) होते हैं। ब्रह्माजी सामान्यतया जीवों में से एक हैं और शिवजी भगवान् तथा जीवों के बीच माध्यम स्वरूप हैं। दूसरे शब्दों में, ब्रह्माजी तथा शिवजी भी, जो देवताओं में अग्रणी हैं, भगवान् विष्णु के तुल्य या उनसे बढ़कर नहीं हैं। लक्ष्मी देवी तथा ब्रह्मा एवं शिव जैसे शक्तिमान देवता, विष्णु अथवा भगवान् कृष्ण की आराधना में लगे

रहते हैं। अतएव मुकुन्द (भगवान् कृष्ण) के अतिरिक्त और कौन अधिक शक्तिशाली हो सकता है, जो यथार्थ रूप में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कहला सके? लक्ष्मीजी, ब्रह्माजी तथा शिवजी स्वतंत्र रूप से शक्तिमान नहीं हैं; वे परमेश्वर के विस्तार रूप में ही शक्तिमान हैं। वे सभी भगवान् की प्रेममयी दिव्य सेवा में लगे रहते हैं और उन्हीं की तरह सारे जीव भी। भगवान् के पूजक भक्तों के चार सम्प्रदाय हैं, जिनमें से ब्रह्म-सम्प्रदाय, रुद्र-सम्प्रदाय तथा श्री-सम्प्रदाय प्रमुख हैं, जो क्रमशः ब्रह्मा, शिव तथा लक्ष्मी से प्रत्यक्ष आते हैं। इन तीनों के अतिरिक्त, एक चौथा सम्प्रदाय कुमार-सम्प्रदाय है, जो सनत्कुमार से आता है। ये चारों मूल आज भी भगवान् की दिव्य सेवा में लगे हुए हैं और ये सभी घोषित करते हैं कि भगवान् कृष्ण या मुकुन्द ही पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर हैं और अन्य कोई व्यक्ति न तो उनके समान है, न उनसे बढ़कर है।

यत्रानुरक्ताः सहसैव धीरा
व्यपोह्य देहादिषु सङ्गमूढम् ।
व्रजन्ति तत्पारमहंस्यमन्त्यं
यस्मिन्नहिंसोपशमः स्वधर्मः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जिनके प्रति; अनुरक्ताः—दृढ़ता से आसक्त; सहसा—एकाएक; एव—निश्चय ही; धीराः—आत्मसंयमी; व्यपोह्य—एक ओर छोड़कर; देह—स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म मन; आदिषु—से सम्बन्धित; सङ्गम्—आसक्ति; ऊढम्—लगे हुए; व्रजन्ति—जाते हैं; तत्—वह; पारम-हंस्यम्—सिद्धि की सर्वोच्च अवस्था; अन्त्यम्—तथा उसके परे; यस्मिन्—जिसमें; अहिंसा—अहिंसा; उपशमः—तथा वैराग्य; स्व-धर्मः—परिणामी वृत्ति।

परम भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति अनुरक्त आत्म-संयमी पुरुष, स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म मन सहित, एकाएक भौतिक आसक्ति से ओतप्रोत संसार को त्याग सकते हैं और जीवन के संन्यास आश्रम की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने के लिए बाहर चले जाते हैं, जिसके फलस्वरूप अहिंसा तथा वैराग्य उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : केवल आत्म-संयमी व्यक्ति ही धीरे-धीरे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति अनुरक्त हो सकता है। आत्म-संयमी का अर्थ है, जो आवश्यकता से अधिक इन्द्रियभोग में लिप्त न हो। और जो लोग आत्म-संयमी नहीं हैं, वे इन्द्रियभोग में लिप्त हो जाते हैं। शुष्क दार्शनिक चिन्तन मन का सूक्ष्म इन्द्रियभोग है। इन्द्रियभोग मनुष्य को अंधकार के मार्ग की ओर ले जाता है। जो लोग आत्म-संयमी हैं,

वे भौतिक अस्तित्व के बद्ध जीवन से मुक्ति के मार्ग की ओर अग्रसर हो सकते हैं। इसीलिए वेदों का आदेश है कि मनुष्य को अंधकार के मार्ग पर नहीं जाना चाहिए, अपितु प्रकाश के मार्ग अथवा मुक्ति की ओर अग्रसर होना चाहिए। आत्म-संयम इन्द्रियों को कृत्रिम ढंग से भौतिक भोग से रोकने से नहीं आता, अपितु अपनी शुद्ध इन्द्रियों को भगवान् की दिव्य सेवा में लगाकर परमेश्वर में वास्तविक रूप से अनुरक्त होने से आता है। इन्द्रियों को बलपूर्वक दमित नहीं किया जा सकता, अपितु उन्हें उचित कार्य में लगाया जा सकता है। अतएव शुद्ध इन्द्रियाँ सदैव भगवान् की दिव्य सेवा में लगी रहती हैं। इन्द्रियों को संलग्न रखने की यह सिद्धावस्था भक्तियोग कहलाती है। अतएव जो लोग भक्तियोग के साधनों में अनुरक्त हैं, वे वास्तव में आत्म-संयमी हैं और वे भगवान् की सेवा करने के लिए अपना घरेलू या शारीरिक मोह सहसा छोड़ सकते हैं। यह परमहंस अवस्था कहलाती है। हंस दूध तथा पानी के मिश्रण में से केवल दूध ग्रहण करता है। इसी प्रकार जो माया की सेवा न करके, भगवान् की सेवा करना अपनाते हैं, वे परमहंस कहलाते हैं। उनमें स्वभावत: सारे सद्गुण यथा निरभिमानता, अहंकार से मुक्ति, अहिंसा, धैर्य, सरलता, विनयशीलता, पूजा, भक्ति तथा निष्ठा पाये जाते हैं। ये सारे दैवी गुण भगवद्भक्त में सहज रूप से पाये जाते हैं। ऐसे परमहंस, जो भगवान् की सेवा में ही लगे रहते हैं, अत्यन्त दुर्लभ हैं। यहाँ तक कि मुक्तात्माओं में भी ये दुर्लभ हैं। वास्तविक अहिंसा का अर्थ है, द्वेष से मुक्त होना। इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति अपने सहभागी जीव से द्वेष रखता है। किन्तु एक पूर्ण-परमहंस भगवान् की सेवा में संलग्न रहने के कारण पूर्ण रूप से द्वेषरहित होता है। वह प्रत्येक प्राणी को परमेश्वर से सम्बन्धित समझते हुए प्यार करता है। वास्तविक वैराग्य का अर्थ है, ईश्वर पर पूर्ण रूप से आश्रित होना। प्रत्येक जीव किसी अन्य पर आश्रित है, क्योंकि उसे ऐसा ही बनाया गया है। वास्तव में हर कोई भगवान् की कृपा पर आश्रित है, किन्तु जब वह भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाता है, तो वह प्रकृति की दशाओं पर निर्भर रहने लगता है। वैराग्य का अर्थ है भौतिक प्रकृति पर निर्भरता का परित्याग और इस प्रकार भगवान् की कृपा पर पूर्ण रूप से आश्रित होना। वास्तविक स्वतंत्रता का अर्थ है, पदार्थ पर निर्भर न रहकर भगवान् की कृपा पर पूर्ण श्रद्धा। यह परमहंस अवस्था भक्तियोग की सर्वोच्च सिद्ध अवस्था है, जो परमेश्वर के लिए की जाने वाली भक्तिमय सेवा की विधि है।

अहं हि पृष्टोऽर्यमणो भवद्भि-
राचक्ष आत्मावगमोऽत्र यावान् ।
नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्त्रिण-
स्तथा समं विष्णुगतिं विपश्चितः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; हि—निश्चय ही; पृष्टः—आपके द्वारा पूछा गया; अर्यमणः—सूर्य के समान शक्तिशाली; भवद्भिः—आपके द्वारा; आचक्षे—वर्णन करे; आत्म-अवगमः—जहाँ तक मेरी जानकारी है; अत्र—यहाँ पर; यावान्—जहाँ तक; नभः—आकाश; पतन्ति—उड़ते हैं; आत्म-समम्—जहाँ तक हो सकता है; पतत्त्रिणः—पक्षी; तथा—उसी प्रकार; समम्—वैसे ही; विष्णु-गतिम्—विष्णु का ज्ञान; विपश्चितः—विद्वानों के माध्यम से भी।.

हे सूर्य के समान शक्तिशाली ऋषियों, मैं आपको अपने ज्ञान के अनुसार विष्णु की दिव्य लीलाओं के वर्णन करने का प्रयत्न करूँगा। जिस प्रकार पक्षी आकाश में उतनी ही दूर तक उड़ते हैं, जितनी उनमें क्षमता होती है, उसी प्रकार विद्वान भक्त-गण भगवान् की लीलाओं का वर्णन अपनी-अपनी अनुभूति के अनुसार करते हैं।

तात्पर्य : परम पूर्ण सत्य अनन्त है। कोई भी जीव अपनी सीमित क्षमता से अनन्त को नहीं जान सकता। भगवान् निराकार, साकार तथा अन्तर्यामी हैं। अपने निराकार पक्ष से वे सर्वव्यापी ब्रह्म हैं, तो अपने अन्तर्यामी स्वरूप से वे परमात्मा रूप में सभी जीवों के हृदय में विराजमान रहते हैं और अपने परम साकार रूप से वे अपने शुद्ध भक्त रूप में भाग्यशाली पार्षदों द्वारा उनकी दिव्य प्रेममयी सेवा के विषय बनते हैं। इन विभिन्न स्वरूपों में भगवान् की लीलाओं का आंशिक अनुमान बड़े-बड़े विद्वान भक्त ही लगा पाते हैं। अतएव श्रील सूत गोस्वामी ने अपनी अनुभूति के अनुसार भगवान् की लीलाओं का वर्णन करने का जो कार्यभार अपने ऊपर लिया है, वह उचित ही है। वास्तव में स्वयं भगवान् ही अपना वर्णन कर सकते हैं और उनके विद्वान भक्त भी उनका उतना ही वर्णन कर सकते हैं, जितने के लिए वे उन्हें शक्ति प्रदान करते हैं।

एकदा धनुरुद्यम्य विचरन् मृगयां वने ।
मृगाननुगतः श्रान्तः क्षुधितस्तृषितो भृशम् ॥ २४ ॥
जलाशयमचक्षाणः प्रविवेश तमाश्रमम् ।
ददर्श मुनिमासीनं शान्तं मीलितलोचनम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; धनुः—धनुष तथा बाण; उद्यम्य—दृढ़तापूर्वक धारण करके; विचरन्—घूमते हुए; मृगयाम्—शिकार के लिए; वने—जंगल में; मृगान्—हिरनों को; अनुगतः—पीछा करते; श्रान्तः—थका हुआ; क्षुधितः—भूखे; तृषितः—प्यासे होकर; भृशम्—अत्यधिक; जल-आशयम्—जल के आगार को, तालाब को; अचक्षाणः—खोज करते हुए; प्रविवेश—प्रवेश किया; तम्—उस प्रसिद्ध; आश्रमम्—शमीक ऋषि की कुटिया में; ददर्श—देखा; मुनिम्—मुनि को; आसीनम्—आसन लगाये; शान्तम्—चुप, शान्त; मीलित—बन्द किये; लोचनम्—आँखें।

एक बार महाराज परीक्षित वन में धनुष-बाण से शिकार करते हुए, हिरणों का पीछा करते-करते अत्यन्त थक गये और उन्हें अत्यधिक भूख तथा प्यास लग आई। जलाशय की खोज करते हुए वे सुविख्यात शमीक ऋषि के आश्रम में प्रविष्ट हुए, जहाँ उन्होंने आँखें बन्द किये, शान्त भाव से बैठे मुनि को देखा।

तात्पर्य : परमेश्वर अपने शुद्ध भक्तों पर इतने कृपालु हैं कि वे उचित समय पर ऐसे भक्तों को अपने पास बुलाकर भक्त के लिए शुभ स्थिति का निर्माण करते हैं। महाराज परीक्षित भगवान् के शुद्ध भक्त थे, अतएव उनके अत्यधिक थकने, भूखे तथा प्यासे होने का कोई कारण नहीं था, क्योंकि भगवद्भक्त कभी ऐसी शारीरिक आवश्यकताओं से विचलित नहीं होता। लेकिन भगवान् की इच्छा से ऐसा भक्त भी सांसारिक कार्यकलापों से वैराग्य लेने के लिए अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करने के लिए, ऊपरी तौर से थका एवं प्यासा लग सकता है। मनुष्य को भगवद्धाम जाने के पूर्व सारे सांसारिक सम्बन्धों के प्रति आसक्ति का त्याग करना होता है, अतएव जब भक्त सांसारिक मामलों में अधिक तल्लीन रहने लगता है, तो भगवान् ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करते हैं कि उसमें उदासीनता उत्पन्न हो जाती है। परमेश्वर अपने शुद्ध भक्त को कभी भूलते नहीं, भले ही वह तथाकथित सांसारिकता में व्यस्त क्यों न हो। कभी-कभी वे विषम परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं और भक्त को सारी सांसारिकता से वैराग्य लेने के लिए विवश हो जाना पड़ता है। भक्त भगवान् के संकेत को समझ लेता है, लेकिन अन्य लोग इसे प्रतिकूल एवं निराशाजनक मानते हैं। महाराज परीक्षित को भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा *श्रीमद्भागवत* के उद्घाटन का निमित्त बनना था, जिस प्रकार उनके पितामह अर्जुन *भगवद्गीता* के लिए माध्यम बने थे। यदि भगवान् की इच्छा से अर्जुन में परिवार के प्रति स्नेह के फलस्वरूप मोह न उत्पन्न होता, तो भगवान् द्वारा सर्वजन हितार्थ *भगवद्गीता* का प्रवचन न हुआ होता। इसी प्रकार यदि इस समय परीक्षित महाराज थके, भूखे तथा प्यासे न होते, तो भागवत के प्रमुख अधिकारी श्रील शुकेदव गोस्वामी द्वारा

श्रीमद्भागवत न कहा गया होता। अतएव यह उन परिस्थितियों का उपक्रम है, जिनके अन्तर्गत सर्व जनहिताय *श्रीमद्भागवत* कहा गया। अतएव यह उपक्रम *एकदा* अर्थात् 'एक बार' से प्रारम्भ होता है।

प्रतिरुद्धेन्द्रियप्राणमनोबुद्धिमुपारतम् ।
स्थानत्रयात्परं प्राप्तं ब्रह्मभूतमविक्रियम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

प्रतिरुद्ध—रुका हुआ; इन्द्रिय—इन्द्रिय; प्राण—प्राणवायु; मनः—मन; बुद्धिम्—बुद्धि; उपारतम्—निश्चेष्ट; स्थान—जगह; त्रयात्—तीनों से; परम्—दिव्य; प्राप्तम्—प्राप्त किया गया; ब्रह्म-भूतम्—परब्रह्म के समान; अविक्रियम्—अप्रभावित।

मुनि की इन्द्रियाँ, श्वास, मन तथा बुद्धि सभी ने भौतिक कार्यकलाप बन्द कर दिये थे और वे तीनों (जाग्रत, सुप्त तथा सुषुप्ति) स्थितियों से अलग होकर, परम पूर्ण के समान गुणात्मक दृष्टि से दिव्य पद प्राप्त करके, समाधि में स्थित थे।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि वे मुनि, जिनके आश्रम में राजा ने प्रवेश किया था, योग समाधि में थे, यह दिव्य पद तीन विधियों से प्राप्त किया जाता है : ज्ञान अर्थात् सैद्धान्तिक अध्यात्म ज्ञान से, योग अर्थात् शरीर के क्रियात्मक तथा मनोवैज्ञानिक कार्यों को वश में करके समाधि की वास्तविक अनुभूति से तथा भक्ति योग की अत्यन्त स्वीकृत विधि अर्थात् इन्द्रियों को भगवान् की भक्तिमय सेवा में लगाने से। *भगवद्गीता* से भी हमें पदार्थ से जीव तक की अनुभूति के क्रमिक विकास का परिचय प्राप्त होता है। हमारे भौतिक मन तथा शरीर, जीव अर्थात् आत्मा से विकसित होते हैं और हम पदार्थ के तीन गुणों के प्रभाव में आकर अपनी असली पहचान (स्वरूप) को भूल जाते हैं। ज्ञानयोग सैद्धान्तिक रूप से आत्मा की वास्तविकता के विषय में चिन्तन है। लेकिन भक्तियोग आत्मा को सचमुच कर्म में लगाता है। पदार्थ की अनुभूति की अवस्था को पार करने के बाद इन्द्रियों की अधिक सूक्ष्म अवस्थाएं प्राप्त होती हैं। इन्द्रियों की अवस्था को सूक्ष्मतर मन द्वारा, और मन को प्राण की गतिविधियाँ द्वारा और फिर उसे क्रमशः बुद्धि द्वारा पार कर दिया जाता है। बुद्धि से आगे, जीवंत आत्मा को योग पद्धति की यांत्रिक क्रियाओं के द्वारा अथवा इन्द्रियों को वश में करके ध्यान का अभ्यास, प्राणायाम साधना तथा दिव्य पद तक उठने के लिए बुद्धि के प्रयोग के द्वारा अनुभव किया जाता है। यह समाधि शरीर की

सारी भौतिक क्रियाओं को रोक देती है। राजा ने मुनि को इसी अवस्था में देखा। उन्होंने मुनि को निम्न प्रकार से भी देखा।

विप्रकीर्णजटाच्छन्नं रौरवेणाजिनेन च ।
विशुष्यत्तालुरुदकं तथाभूतमयाचत ॥ २७॥

शब्दार्थ

विप्रकीर्ण—बिखरे हुए; जट-आच्छन्नम्—लम्बी-लम्बी जटाओं से ढँका; रौरवेण—मृगछाला से; अजिनेन—चर्म से; च—भी; विशुष्यत्—सूखा हुआ; तालुः—तालू; उदकम्—जल; तथा-भूतम्—उस अवस्था में; अयाचत—माँगा।.

ध्यान-मग्न मुनि मृग-चर्म लपेटे थे और इनकी लम्बी जटाएँ उनके सारे शरीर पर बिखरी हुई थीं। प्यास के मारे सूखे तालू वाले राजा ने उनसे जल माँगा।

तात्पर्य : प्यासे होने के कारण राजा ने मुनि से जल माँगा। ऐसे महान् भक्त राजा ने समाधि में लीन मुनि से जल माँगा यह निश्चय ही दैवकृत था। अन्यथा ऐसी विलक्षण घटना की कोई सम्भावना न थी। इस तरह महाराज परीक्षित विषम परीस्थिति में रखे गये, जिससे आगे चलकर *श्रीमद्भागवत* का प्राकट्य हो सका।

अलब्धतृणभूम्यादिरसम्प्राप्तार्घ्यसूनृतः ।
अवज्ञातमिवात्मानं मन्यमानश्चुकोप ह ॥ २८॥

शब्दार्थ

अलब्ध—न प्राप्त कर सकने से; तृण—दर्भासन; भूमि—स्थान; आदिः—इत्यादि; असम्प्राप्त—ठीक से स्वागत न होकर; अर्घ्य—जल दान; सूनृतः—मधुर वचन; अवज्ञातम्—इस प्रकार उपेक्षित; इव—सदृश; आत्मानम्—स्वयं को; मन्यमानः—इस प्रकार सोचते हुए; चुकोप—क्रुद्ध हुए; ह—इस तरह।.

आसन, बैठने का स्थान, जल तथा मधुर वचनों के द्वारा किसी प्रकार से स्वागत न किये जाने पर, राजा ने अपने आपको उपेक्षित समझा और इस तरह सोचते हुए वे क्रुद्ध हो गये।

तात्पर्य : वैदिक नियमों की संहिता में स्वागत करने का नियम यह है कि यदि घर पर शत्रु भी आये जाये, तो उसका सभी प्रकार से सम्मान किया जाना चाहिए। उसे यह सोचने का अवसर नहीं दिया जाना चाहिए कि वह अपने शत्रु के घर आया है। जब भगवान् कृष्ण, अर्जुन तथा भीमसेन के साथ मगध के राजा जरासन्ध के यहाँ पहुँचे, तो उसने सम्माननीय शत्रुओं का राजकीय स्वागत किया।

अतिथि शत्रु भीम को जरासन्ध से लड़ना था, फिर भी उसका शानदार सत्कार किया गया। रात्रि में वे मित्रों तथा अतिथियों के रूप में परस्पर बातें करते और दिन में जान की बाजी लगाकर मल्लयुद्ध करते। यह था सत्कार का नियम। सत्कार नियमों में यह आदेश है कि जिस निर्धन व्यक्ति के पास अतिथि को देने के लिए कुछ भी न हो, उसे चाहिए कि बैठने के लिए चटाई दे, पीने के लिए एक गिलास जल दे तथा कुछ मधुर वचन कहे। अतएव अतिथि के सत्कार में, चाहे वह मित्र हो या शत्रु, कोई खर्च नहीं लगता। यह तो शिष्टाचार की बात है।

जब महाराज परीक्षित शमीक ऋषि के द्वार में प्रविष्ट हुए तो उन्होंने ऋषि द्वारा राजोचित सत्कार की आशा नहीं की थी, क्योंकि वे जानते थे कि ऋषि-मुनि भौतिक दृष्टि से धन सम्पन्न नहीं होते। लेकिन उन्होंने यह कभी नहीं सोचा था कि उन्हें बैठने का आसन, एक गिलास जल तथा कुछ मीठे वचन भी नहीं मिल पायेंगे। वे, न तो सामान्य अतिथि थे, न ही ऋषि के शत्रु थे, अतएव ऋषि के इस शुष्क सत्कार से राजा को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। वस्तुत: जब राजा को जल की अत्यन्त आवश्यकता थी, तो उनका क्रुद्ध होना उचित था। ऐसी विकट स्थिति में क्रुद्ध होना राजा के लिए अस्वाभाविक न था, लेकिन चूँकि राजा स्वयं किसी महान् सन्त से कम न थे, अतएव उनका क्रुद्ध होना और फिर कार्यवाही करना आश्चर्यजनक था। अत: यह स्वीकार करना चाहिए कि भगवान् की सर्वोपरि इच्छा से ऐसा होना ही था। राजा भगवान् के महान् भक्त थे और ऋषि भी राजा के ही समान थे। लेकिन भगवान् की इच्छा थी कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हों कि जिनसे राजा को अपने पारिवारिक तथा सरकारी कार्यों से अनासक्त होकर भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों में पूर्ण रूप से आत्म-समर्पित होना पड़े। कभी-कभी कृपामय भगवान् अपने शुद्ध भक्तों के लिए ऐसी विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हैं, जिससे वे उन्हें भौतिक संसाररूपी दलदल से अपने पास खींच सकें। लेकिन ऊपर से सारी परिस्थितियाँ भक्तों के लिए अत्यन्त निराशाजनक सी लगती हैं। भगवान् के भक्त सदैव भगवान् के संरक्षण में रहते हैं और किसी भी दशा में, चाहे निराशा हो या सफलता, भगवान् भक्तों के परम पथ-प्रदर्शक रहते हैं। अतएव शुद्ध भक्त, निराशा की, सारी परिस्थितियों को भगवान् के आशीर्वाद के रूप में ग्रहण करते हैं।

अभूतपूर्वः सहसा क्षुत्तृड्भ्यामर्दितात्मनः ।
ब्राह्मणं प्रत्यभूद् ब्रह्मन् मत्सरो मन्युरेव च ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अभूत-पूर्वः—जो पहले कभी न हुआ हो, (पहला); सहसा—एकाएक; क्षुत्—भूख; तृड्भ्याम्—तथा प्यास से; अर्दित—पीड़ित होकर; आत्मनः—अपने आप; ब्राह्मणम्—ब्राह्मण; प्रति—के प्रति; अभूत्—हो गये; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणों; मत्सरः—ईर्ष्यालु; मन्युः—क्रुद्ध; एव—इस प्रकार; च—तथा।

हे ब्राह्मणों, ब्राह्मण मुनि के प्रति राजा का क्रोध तथा द्वेष अभूतपूर्व था, क्योंकि परिस्थितियों ने उन्हें भूखे तथा प्यासे बना दिये थे।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित जैसे राजा के लिए एक मुनि तथा ब्राह्मण पर इस तरह क्रुद्ध तथा द्वेषपूर्ण होना निस्संदेह अभूतपूर्व था। राजा भलीभाँति जानते थे कि ब्राह्मण, साधु, बालक, स्त्रियाँ तथा वृद्ध पुरुष दण्ड के दायरे के बाहर होते हैं। इसी प्रकार, राजा भले ही भंयकर भूल क्यों न करे, कभी गुनहगार नहीं माना जाता। लेकिन यहाँ पर महाराज परीक्षित, भगवान् की इच्छा से, अपनी भूख तथा प्यास के कारण मुनि पर क्रुद्ध हो गये। राजा का अपनी प्रजा को अपना सत्कार न होने या अपनी उपेक्षा करने के लिए दण्ड देना ठीक था, लेकिन चूँकि दोषी एक मुनि तथा ब्राह्मण थे, अतएव यह अभूतपूर्व घटना थी। जिस तरह भगवान् किसी से ईर्ष्या नहीं करते, उसी तरह भगवद्भक्त भी कभी किसी से ईर्ष्या नहीं करता। महाराज परीक्षित के इस आचरण की एकमात्र सफाई यही है कि भगवान् द्वारा ऐसा पूर्वनियोजित था।

स तु ब्रह्मऋषेरंसे गतासुमुरगं रुषा ।
विनिर्गच्छन्धनुष्कोट्या निधाय पुरमागतः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सः—राजा; तु—किसी; ब्रह्म-ऋषेः—ब्राह्मण ऋषि के; अंसे—कंधे पर; गत-असुम्—निर्जीव; उरगम्—सर्प; रुषा—क्रोध में; विनिर्गच्छन्—जाते हुए; धनुः-कोट्या—धनुष के अग्रभाग से; निधाय—रखकर; पुरम्—महल को; आगतः—वापस आये।

इस प्रकार अपमानित होकर, राजा ने लौटते समय अपने धनुष से एक मृत सर्प उठाया और उसे क्रोधवश मुनि के कंधे पर रख दिया; तब वे अपने राजमहल को लौट आये।

तात्पर्य : राजा ने मुनि के साथ 'जैसे को तैसा' का व्यवहार किया; यद्यपि वे इस प्रकार की मूर्खतापूर्ण कार्यवाही के अभ्यस्त न थे। भगवद् इच्छा से, राजा ने लौटते समय, अपने समक्ष एक मरा

हुआ सर्प देखा और सोचा कि जिस मुनि ने उन्हें इस प्रकार उपेक्षित समझा है, यदि उनके गले में मृत सर्प की माला पहना दी जाय, तो वे भी इसी प्रकार उपेक्षित हो जाय। सामान्य व्यवहार में, यह अधिक अस्वाभाविक न था, लेकिन एक ब्राह्मण मुनि के साथ महाराज परीक्षित का यह व्यवहार निश्चित रूप से अभूतपूर्व था। यह भगवान् की इच्छा से ही हुआ।

एष किं निभृताशेषकरणो मीलितेक्षणः ।
मृषासमाधिराहोस्वित्किं नु स्यात्क्षत्रबन्धुभिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; किम्—क्या; निभृत-अशेष—ध्यानमग्न मुद्रा; करणः—इन्द्रियाँ; मीलित—बन्द, मुँदी; ईक्षणः—आँखें; मृषा—झूठी; समाधिः—समाधि; आहो—रहता है; स्वित्—यदि ऐसा है; किम्—या तो; नु—लेकिन; स्यात्—हो सकता है; क्षत्र-बन्धुभिः—निम्न क्षत्रिय के द्वारा।

लौटने पर वे सोचने लगे तथा मन ही मन तर्क करने लगे कि क्या मुनि इन्द्रियों को एकाग्र करके तथा आँखें बन्द किये सचमुच समाधि में थे, अथवा वे निम्न क्षत्रिय का सत्कार करने से बचने के लिए समाधि का स्वाँग रचा रहे थे?

तात्पर्य : भगवद्भक्त होने के कारण, राजा ने अपनी इस कार्यवाही को उचित नहीं समझा, अतएव वे सोचने लगे कि क्या मुनि सचमुच समाधि में थे, अथवा वे बहाना बना रहे थे, जिससे उन्हें राजा का स्वागत न करना पड़े, क्योंकि राजा क्षत्रिय था अतएव पद में उनसे निम्न था। उत्तम जीव जब कभी कोई त्रुटि करता है, तो उसके मन में तुरन्त पश्चात्ताप होता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर तथा श्रील जीव गोस्वामी यह नहीं मानते कि राजा का यह कार्य उनके विगत दुष्कर्मों के कारण था। यह योजना तो भगवान् ने राजा को अपने घर, भगवद्धाम में वापस बुलाने के लिए बनाई थी।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार, यह योजना भगवान् की इच्छा से बनी थी और भगवान् की इच्छा से निराशा की स्थिति उत्पन्न हुई थी। योजना यह थी कि राजा के इस तथाकथित दुष्कर्म के लिए कलि के प्रभाव से दूषित हो चुका एक अनुभव-विहीन ब्राह्मण बालक शाप देगा। इस तरह यह अच्छा ही होगा कि राजा अपने घर-बार को छोड़ सकेगा और श्रील शुकदेव गोस्वामी के साथ सम्बन्ध होने से, *श्रीमद्भागवत* प्रस्तुत होगा, जिसे भगवान् का ग्रंथावतार समझा जाता है। इस ग्रंथावतार से भगवान् की दिव्य लीलाओं के बारे में, विशेष रूप से व्रजभूमि की दिव्य गोपिकाओं के साथ उनकी रासलीला

की अत्यन्त मनोहारी जानकारी प्राप्त होती है। भगवान् की इस विशिष्ट लीला का विशेष महत्त्व है, क्योंकि जो भी भगवान् की इस लीला को ठीक तरह से समझता है, वह निश्चय ही संसारी कामवासना से विरत हो जाता है और भगवान् की भक्तिमय सेवा के भव्य मार्ग पर प्रतिष्ठित हो जाता है। शुद्ध भक्त की संसारी निराशा उसे उच्चतर दिव्य स्थान प्रदान कराने के निमित्त होती है। अर्जुन तथा पाण्डवों को उनके चचेरे बन्धुओं से षड्यंत्र कराकर, भगवान् ने कुरुक्षेत्र युद्ध की भूमिका का निर्माण किया। यह सब भगवान् की वाणी की प्रतिनिधि *भगवद्गीता* का अवतार कराने के लिए था। इसी प्रकार राजा परिक्षित को विषम परिस्थिति में डालकर, भगवान् की इच्छा से *श्रीमद्भागवत* का अवतार कराया गया। भूख तथा प्यास से क्षुब्ध होना तो मात्र दिखावा था, क्योंकि राजा ने माता के गर्भ में रहते हुए भी बहुत सहन किया था। वे अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये ब्रह्मास्त्र के जाज्वल्यमान ताप से कभी विचलित नहीं हुए। राजा की यह व्यथापूर्ण स्थिति निश्चय ही अभूतपूर्व थी। महाराज परीक्षित जैसे भक्त भगवान् की कृपा से ऐसी आपदाओं को सहन करने के लिए काफी शक्तिशाली होते हैं और वे कभी विचलित नहीं होते। अतएव इस प्रसंग में सारी परिस्थिति भगवान् द्वारा नियोजित थी।

तस्य पुत्रोऽतितेजस्वी विहरन् बालकोऽर्भकैः ।
राज्ञाघं प्रापितं तातं श्रुत्वा तत्रेदमब्रवीत् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका (मुनि का); पुत्रः—पुत्र; अति—अत्यधिक; तेजस्वी—शक्तिमान; विहरन्—खेलते हुए; बालकः—बालकों के साथ; अर्भकैः—जो अभी बचकाना थे; राज्ञा—राजा द्वारा; अघम्—विपत्ति; प्रापितम्—दिया गया; तातम्—पिता को; श्रुत्वा—सुनकर; तत्र—वहीं पर; इदम्—यह; अब्रवीत्—बोला।

उस मुनि का एक पुत्र था, जो ब्राह्मण-पुत्र होने के कारण अत्यन्त शक्तिमान था। जब वह अनुभवहीन बालकों के साथ खेल रहा था, तभी उसने अपने पिता की विपत्ति सुनी, जो राजा द्वारा लाई गई थी। वह बालक वहीं पर इस प्रकार बोला।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित के उत्तम शासन के कारण अल्पवय-बालक, जो अभी अन्य अनुभवहीन बालकों के साथ खेल रहा था, योग्य ब्राह्मण के समान तेजस्वी हो सकता था। यह बालक श्रृंगी नाम से जाना जाता था और उसे अपने पिता से ब्रह्मचर्य की अच्छी शिक्षा प्राप्त हुई थी, जिससे वह इसी आयु में एक ब्राह्मण के समान शक्तिशाली (तेजस्वी) हो गया था। लेकिन, चूँकि कलियुग

जीवन के चार आश्रमों की सांस्कृतिक धरोहर को विनष्ट करने के अवसर की ताक में था, अतएव इस अनुभवशून्य बालक ने कलियुग को अवसर प्रदान किया कि वह वैदिक संस्कृति के क्षेत्र में प्रविष्ट हो सके। कलि के प्रभाव से, जीवन के निम्नतर आश्रमों के प्रति घृणा के भाव का प्रारम्भ इस ब्राह्मण बालक से हुआ और इस तरह दिन-प्रति-दिन सांस्कृतिक जीवन क्षीण होता गया। इस तरह ब्राह्मण-अन्याय के पहले शिकार महाराज परीक्षित हुए और इस प्रकार कलि के आघात के प्रति राजा द्वारा दिया जाने वाला संरक्षण शिथिल पड़ गया।

अहो अधर्मः पालानां पीव्नां बलिभुजामिव ।
स्वामिन्यघं यद् दासानां द्वारपानां शुनामिव ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अहो—जरा देखो तो; अधर्मः—अधर्म; पालानाम्—शासकों का; पीव्नाम्—पाले गये का; बलि-भुजाम्—कौवों की तरह; इव—सदृश; स्वामिनि—स्वामी को; अघम्—पाप; यत्—जो है; दासानाम्—नौकरों का; द्वार-पानाम्—दरवाजे की रखवाली करनेवाले; शुनाम्—कुत्ते के; इव—सदृश।

[ब्राह्मण बालक शृंगी ने कहाः] अरे! शासकों के पापों को तो देखो, जो अधिशासी-दास-सिद्धान्तों के विरुद्ध, कौवों तथा द्वार के रखवाले कुत्तों की तरह अपने स्वामियों पर पाप ढाते हैं।

तात्पर्य : ब्राह्मणों को समाज-रूपी शरीर का शिर तथा मस्तिष्क माना जाता है और क्षत्रियों को बाहु। बाहुओं की आवश्यकता शरीर को सभी प्रकार की क्षतियों से बचाने के लिए पड़ती है, लेकिन बाहुओं को सिर तथा मस्तिष्क के निर्देशों के अनुसार कार्य करना होता है। यह प्राकृतिक व्यवस्था है, जो परमेश्वर द्वारा की गई है, क्योंकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है कि चारों वर्ण, जिनके नाम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र हैं, मनुष्यों के गुणों तथा उनके कार्यों के अनुसार निर्धारित किये गये हैं। स्वाभाविक है कि ब्राह्मण के पुत्र के लिए अपने योग्य पिता के निर्देशन में ब्राह्मण बनने के अच्छे अवसर प्राप्त रहते हैं, जिस प्रकार एक चिकित्सक के पुत्र के लिए योग्य चिकित्सक बनने का अच्छा अवसर रहता है। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था अत्यन्त वैज्ञानिक है। पुत्र को पिता की योग्यता का लाभ उठाना चाहिए और एक ब्राह्मण या चिकित्सक बनना चाहिए, अन्य कुछ नहीं। योग्य हुए बिना कोई न तो ब्राह्मण बन सकता है, न चिकित्सक और यही समस्त शास्त्रों तथा सामाजिक व्यवस्थाओं का

अभिमत है। यहाँ पर महान् ब्राह्मण के योग्य पुत्र शृंगी ने, जन्म से तथा प्रशिक्षण दोनों से अपेक्षित ब्राह्मणशक्ति प्राप्त कर ली थी, किन्तु उसमें संस्कृति का अभाव था, क्योंकि वह अनुभव-हीन बालक था। कलि के प्रभाव से, यह ब्राह्मण बालक अपनी ब्राह्मणशक्ति से गर्वित हो उठा और गलत ढंग से महाराज परीक्षित की तुलना कौवों तथा रखवाले कुत्तों से कर बैठा। राजा निश्चय ही इस अर्थ में राज्य के रखवाले कुत्ते की भाँति ही होता है, क्योंकि उसे सीमा की सुरक्षा के लिए उस पर कड़ी निगरानी रखनी पड़ती है तथापि उसे कुत्ता कहकर सम्बोधित करना अल्प-सभ्य बालक का द्योतक है। इस प्रकार ब्राह्मणशक्ति का पतन तब से प्रारम्भ हुआ, जब वे संस्कृति के बिना जन्म-सिद्ध अधिकार पर बल देने लगे। ब्राह्मण जाति का पतन कलियुग में शुरू हुआ। चूँकि ब्राह्मण समाज-व्यवस्था के प्रमुख होते हैं, अतएव समाज के अन्य वर्ण भी पतित होने लगे। ब्राह्मणों के पतन का यह सूत्रपात शृंगी के पिता के लिए अत्यधिक पश्चात्ताप का कारण बना, जैसाकि हम आगे देखेंगे।

ब्राह्मणै: क्षत्रबन्धुर्हि गृहपालो निरूपित: ।
स कथं तद्गृहे द्वा:स्थ: सभाण्डं भोक्तुमर्हति ॥ ३४॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणैः—ब्राह्मणों द्वारा; क्षत्र-बन्धुः—क्षत्रियों के पुत्र; हि—निश्चय ही; गृह-पालः—रक्षक कुत्ते; निरूपितः—नामधारी; सः—वह; कथम्—किस बल पर; तत्-गृहे—अपने (स्वामी) के घर में; द्वाः-स्थः—द्वार पर बैठा; स-भाण्डम्—उसी भांडे में; भोक्तुम्—खाने के लिए; अर्हति—योग्य है।

राजाओं की सन्तानें निश्चित रूप से द्वाररक्षक कुत्ते नियुक्त हुई हैं और उन्हें द्वार पर ही रहना चाहिए। तो किस आधार पर ये कुत्ते घर में घुसकर अपने स्वामी की ही थाली में खाने का दावा करते हैं?

तात्पर्य : अनुभव-हीन ब्राह्मण बालक अच्छी तरह जानता था कि राजा ने उसके पिता से पानी माँगा था और उसके पिता ने कुछ जवाब नहीं दिया। उसने एक असभ्य बालक के लिए उपयुक्त अशिष्ट ढंग से अपने पिता की असत्कारशीलता की सफाई देने का प्रयत्न किया। उसे राजा का ठीक से सत्कार न किये जाने का तनिक भी दुख न था। इसके विपरीत, वह गलत काम को कलियुग के ब्राह्मणों की भाँति, लाक्षणिक ढंग से, वैध ठहरा रहा था। उसने राजा की तुलना दरवाजे के कुत्ते से की, अतएव राजा के लिए ब्राह्मण के घर में घुसकर उसी पात्र से जल माँगना अनुचित था। कुत्ते को स्वामी ही

पालता है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं होता कि वह स्वामी की ही थाली में खायेगा और पियेगा। यह झूठी प्रतिष्ठा की मानसिकता ही पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के पतन का कारण है और हम यह देख सकते हैं कि इसका सूत्रपात एक अनुभव-शून्य ब्राह्मण बालक ने किया था। जिस प्रकार कुत्तों को कमरे तथा चूल्हे-चौके में नहीं घुसने दिया जाता, भले स्वामी ने ही कुत्ता पाल रखा हो, उसी प्रकार शृंगी के अनुसार राजा को कोई अधिकार नहीं था कि वह शमीक ऋषि के घर में घुसता। बालक के मत से राजा ही गलती पर था, उसका अपना पिता नहीं और इस तरह उसने अपने शान्त रहने वाले पिता को न्यायपूर्ण ठहराया।

कृष्णे गते भगवति शास्तर्युत्पथगामिनाम् ।
तद्भिन्नसेतूनद्याहं शास्मि पश्यत मे बलम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

कृष्णे—भगवान् कृष्ण के; गते—इस संसार से प्रयाण करके जाने पर; भगवति—भगवान्; शास्तरि—परम शासक; उत्पथ-गामिनाम्—उत्पातियों को; तत् भिन्न—विलग होने से; सेतून्—रक्षक; अद्य—आज; अहम्—मैं; शास्मि—दण्ड दूँगा; पश्यत—जरा देखना; मे—मेरा; बलम्—पराक्रम।

सबों के परम शासक भगवान् श्रीकृष्ण के प्रस्थान के पश्चात्, हमारे रक्षक तो चले गये, लेकिन ये उपद्रवी फल-फूल रहे हैं। अतएव इस मामले को मैं अपने हाथ में लेकर उन्हें दण्ड दूँगा। अब मेरे पराक्रम को देखो।

तात्पर्य : वह अनुभवहीन ब्राह्मण, अल्प *ब्रह्म-तेज* से गर्वित होकर, कलियुग के जादू से प्रभावित हो उठा। महाराज परीक्षित ने कलियुग को चार स्थानों में रहने की छूट दे दी थी, जैसाकि पहले कहा जा चुका है, किन्तु राजा के अत्यन्त दक्ष शासन में कलि को इन नियत स्थानों में कहीं भी रहने को स्थान न मिल पाया। अतएव कलियुग अपनी सत्ता जताने की ताक में था और भगवान् की कृपा से उसे इस गर्वित अनुभवहीन ब्राह्मण बालक रूप में छिद्र मिल ही गया। यह छोटा सा ब्राह्मण विनाश के लिए अपना तेज दिखाना चाह रहा था और उसने महाराज परीक्षित जैसे महान् राजा को दण्ड देने की घृष्टता की। वह भगवान् कृष्ण के प्रयाण के बाद उनका स्थान ग्रहण करना चाह रहा था। ये उन उपद्रवियों के कुछ महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं, जो कलि के प्रभाव से श्रीकृष्ण का स्थान लेना चाहते हैं। थोड़ी सी शक्ति से सम्पन्न होकर, एक उपद्रवी भगवान् का अवतार बनना चाहता है। इस संसार से भगवान् कृष्ण के प्रयाण

के बाद, कई मिथ्या अवतार हुए हैं और वे भोली-भाली जनता की आध्यात्मिक आज्ञाकारिता का स्वीकार करके अपनी झूठी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए जनता को गुमराह कर रहे हैं। दूसरे शब्दों में, कलि को इस ब्राह्मण पुत्र शृंगी के माध्यम से अपना शासन जताने का अवसर प्राप्त हो सका।

इत्युक्त्वा रोषताम्राक्षो वयस्यानृषिबालकः ।
कौशिक्याप उपस्पृश्य वाग्वज्रं विससर्ज ह ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; रोष-ताम्र-अक्षः—क्रुद्ध होने के कारण लाल-लाल आँखें किये; वयस्यान्—संगियों को; ऋषि-बालकः—ऋषि का पुत्र; कौशिकी—कौशिक नदी का; आपः—जल; उपस्पृश्य—स्पर्श करके; वाक्—शब्द; वज्रम्—वज्र; विससर्ज—फेंका; ह—भूतकाल का सूचक शब्द।

क्रोध से लाल-लाल आँखें किये, अपने संगियों से कहकर, उस ऋषिपुत्र ने कौशिक नदी के जल का स्पर्श किया और निम्नलिखित शब्दरूपी वज्र छोड़ा।

तात्पर्य : जैसाकि इन श्लोक से प्रकट होता है कि जिन परिस्थितियों में महाराज परीक्षित को शाप दिया गया, वे अत्यन्त बचकानी थीं। शृंगी अपने अबोध संगियों के बीच अपना अविवेक दिखा रहा था। कोई भी समझदार व्यक्ति उसे सारे मानव समाज के प्रति इतनी भारी क्षति करने से रोक लेता। किन्तु उस अनुभव-हीन ब्राह्मण-पुत्र ने अपनी अर्जित ब्रह्मशक्ति का दिखावा करने के उद्देश्य से, महाराज परीक्षित जैसे राजा का वध करके बहुत बड़ी भूल की।

इति लङ्घितमर्यादं तक्षकः सप्तमेऽहनि ।
दङ्क्ष्यति स्म कुलाङ्गारं चोदितो मे ततद्रुहम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; लङ्घित—पार करते हुए; मर्यादम्—शिष्टाचार; तक्षकः—तक्षक सर्प; सप्तमे—सातवें; अहनि—दिन; दङ्क्ष्यति—काटेगा; स्म—निश्चय ही; कुल-अङ्गारम्—वंश के दुष्ट को; चोदितः—करके; मे—मेरे; तत-द्रुहम्—पिता के प्रति शत्रुता।

उस ब्राह्मण-पुत्र ने राजा को इस प्रकार शाप दिया : आज से सातवें दिन अपने वंश के इस सर्वाधिक नीच (महाराज परीक्षित) को तक्षक सर्प डस लेगा, क्योंकि इसने मेरे पिता को अपमानित करके शिष्टाचार के नियमों को तोड़ा है।

तात्पर्य : इस प्रकार ब्राह्मण शक्ति का दुरुपयोग करना आरम्भ हो गया और धीरे-धीरे कलियुग में सारे ब्राह्मण, अपने ब्रह्मतेज तथा संस्कृति, दोनों से विहीन हो गये। ब्राह्मण बालक ने महाराज परीक्षित को *कुलाङ्गार* अर्थात् वंश का निकृष्ट व्यक्ति समझा, लेकिन वास्तव में ब्राह्मण बालक ही स्वयं ऐसा था, क्योंकि उसी के कारण ब्राह्मण जाति उसी तरह तेजरहित हो गई, जिस तरह विषदंत तोड़ा गया सर्प। जब तक साँप के विषदंत होते हैं, तब तक वह भयावह होता है, अन्यथा वह सिर्फ बालकों के लिए ही भयावना होता है। कलि ने सर्वप्रथम ब्राह्मण बालक को और धीरे-धीरे अन्य जातियों को जीत लिया। इस प्रकार इस युग में समाज की सारी वैज्ञानिक व्यवस्था ने दूषित जाति प्रथा का रूप धारण कर लिया, जो ऐसी ही दूसरी जाति के लोगों द्वारा उन्मूलन की जा रही है, जो कलियुग के वश में है। मनुष्य को चाहिए कि वह दूषण के मूल कारण को देखे और इस व्यवस्था के वैज्ञानिक महत्त्व को जाने बिना उसकी अवमानना करने का प्रयास न करे।

ततोऽभ्येत्याश्रमं बालो गले सर्पकलेवरम् ।
पितरं वीक्ष्य दुःखार्तो मुक्तकण्ठो रुरोद ह ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; अभ्येत्य—प्रवेश करके; आश्रमम्—आश्रम में; बालः—बालक; गले सर्प—गले में साँप; कलेवरम्—शरीर; पितरम्—पिता को; वीक्ष्य—देखकर; दुःख-आर्तः—दुखित अवस्था में; मुक्त-कण्ठः—जोर से; रुरोद—चिल्लाया; ह—भूतकाल का सूचक शब्द।

तत्पश्चात् जब वह बालक आश्रम को लौट आया, तो उसने अपने पिता के गले में सर्प देखा और उद्विग्नता के कारण वह जोर से चिल्ला पड़ा।

तात्पर्य : वह बालक प्रसन्न तो नहीं हुआ था, क्योंकि उसने बहुत बड़ी भूल की थी और वह रोकर मन को हल्का करना चाह रहा था। अतएव आश्रम में प्रवेश करके जब उसने अपने पिता की दशा देखी तो वह जोर से चिल्लाया, जिससे उसे राहत मिल सके। लेकिन बहुत देर हो चुकी थी। पिता ने पूरी घटना पर खेद प्रकट किया।

स वा आङ्गिरसो ब्रह्मन् श्रुत्वा सुतविलापनम् ।
उन्मील्य शनकैर्नेत्रे दृष्ट्वा चांसे मृतोरगम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—भी; आङ्गिरसः—अंगिरा वंश में उत्पन्न ऋषि; ब्रह्मन्—हे शौनक; श्रुत्वा—सुनकर; सुत—अपने पुत्र का; विलापनम्—दुख में रोदन; उन्मील्य—खोलकर; शनकैः—धीरे-धीरे; नेत्रे—आँखों से; दृष्ट्वा—देखकर; च—भी; अंसे—कंधे पर; मृत—मरा हुआ; उरगम्—साँप को।

हे ब्राह्मणो, अंगिरा मुनि के वंश में उत्पन्न उस ऋषि ने अपने पुत्र का चिल्लाना सुनकर धीरे-धीरे अपनी आँखें खोलीं और अपनी गर्दन के चारों ओर मरा हुआ सर्प देखा।

विसृज्य तं च पप्रच्छ वत्स कस्माद्धि रोदिषि ।
केन वा तेऽपकृतमित्युक्तः स न्यवेदयत् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

विसृज्य—एक ओर फेंककर; तम्—उसको; च—भी; पप्रच्छ—पूछा; वत्स—प्रिय पुत्र; कस्मात्—किसलिए; हि—निश्चय ही; रोदिषि—रो रहे हो; केन—किसके द्वारा; वा—अथवा; ते—वे; अपकृतम्—दुर्व्यवहार किया; इति—इस प्रकार; उक्तः—कहा गया; सः—उस लड़के ने; न्यवेदयत्—सब कुछ बता दिया।

उन्होंने मरा हुआ सर्प एक ओर फेंक दिया और अपने पुत्र से पूछा कि वह क्यों रो रहा है? क्या किसी ने उसे चोट पहुँचाई है? यह सुनकर बालक ने जो कुछ घटना घटी थी, उसे कह सुनाया।

तात्पर्य : पिता ने गले में पड़े हुए सर्प को अधिक गम्भीरता से नहीं लिया। उन्होंने उसे फेंक दिया। वास्तव में महाराज परीक्षित से कोई बहुत बड़ी भूल नहीं हुई थी, लेकिन मूर्ख पुत्र ने उसे गम्भीरता से लिया और कलि के वश में होने से उसने राजा को शाप दे दिया। इस तरह उसने एक सुखद इतिहास के अध्याय का अन्त कर दिया।

निशम्य शप्तमतदर्हं नरेन्द्रं स ब्राह्मणो नात्मजमभ्यनन्दत् ।
अहो बतांहो महदद्य ते कृतमल्पीयसि द्रोह उरुर्दमो धृतः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; शप्तम्—शापित; अतत्-अर्हम्—कभी भी तिरस्कृत नहीं; नर-इन्द्रम्—मनुष्यों में श्रेष्ठ राजा को; सः—वह; ब्राह्मणः—ब्राह्मण ऋषि; न—नहीं; आत्म-जम्—अपने पुत्र को; अभ्यनन्दत्—बधाई दी; अहो—हाय; बत—दुखद; अंहः—पाप; महत्—बड़ा; अद्य—आज; ते—तुम्हारा; कृतम्—किया गया; अल्पीयसि—नगण्य, क्षुद्र; द्रोहे—अपराध; उरुः—बहुत बड़ा; दमः—दण्ड; धृतः—दिया गया।

पिता ने अपने पुत्र से सुना कि राजा को शाप दिया गया है, यद्यपि उसे इस तरह दण्डित नहीं किया जाना था, क्योंकि वह समस्त मनुष्यों में श्रेष्ठ था। ऋषि ने अपने पुत्र को शाबाशी नहीं दी,

अपितु उलटे वे यह कहकर पछताने लगे, हाय! मेरे पुत्र ने कितना बड़ा पाप-कर्म कर लिया। उसने एक तुच्छ अपराध के लिए इतना भारी दण्ड दे दिया है।

तात्पर्य : राजा सारे मनुष्यों में श्रेष्ठ होता है। वह ईश्वर का प्रतिनिधि होता है और उसे उसके किसी भी कार्य के लिए निन्दित नहीं किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, राजा कोई त्रुटि नहीं कर सकता। राजा ब्राह्मण के अपराधी बालक को फाँसी की सजा का आदेश दे सकता है, तब भी वह ब्राह्मण-हत्या का पापी नहीं बन सकता। यदि राजा कभी कुछ त्रुटि कर भी बैठे, तो भी उसकी अवमानना नहीं होनी चाहिए। कोई चिकित्सक गलत उपचार से किसी रोगी को मार सकता है, लेकिन ऐसे मारनेवालों को कभी मृत्युदंड नहीं दिया जाता। अत: महाराज परीक्षित जैसे उत्तम एवं पुण्यात्मा राजा के विषय में क्या कहा जाय। जीवन की वैदिक शैली में राजा को राजर्षि बनने का प्रशिक्षण दिया जाता है, यद्यपि वह राजा के रूप में शासन कर रहा होता है। केवल राजा द्वारा चलाये जा रहे उत्तम शासन में प्रजा शान्तिपूर्वक तथा निर्भय रह सकती है। राजर्षिगण अपने राज्य की व्यवस्था इतने सुचारु रूप से तथा पवित्रता से करते थे कि प्रजा उनका वैसा ही आदर करती थी, मानो वे भगवान् हों। यही वेदों का आदेश है। राजा को *नरेन्द्र* या मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। तो फिर महाराज परीक्षित जैसे राजा को किस तरह एक अनुभवहीन गर्व से फूला ब्राह्मण बालक अपमानित कर सकता था, भले ही उसे योग्य ब्राह्मण का तेज क्यों न प्राप्त हो चुका हो?

चूँकि शमीक ऋषि एक अनुभवी श्रेष्ठ ब्राह्मण थे, अतएव उन्होंने अपने इस अधम पुत्र के कार्यों का समर्थन नहीं किया, अपितु अपने पुत्र के किये हुए पर वे पश्चात्ताप करने लगे। सामान्य नियम के अनुसार, राजा श्राप की सीमा से परे होता है, तो फिर महाराज परीक्षित जैसे उत्तम राजा के विषय में क्या कहा जाय। राजा का अपराध अत्यन्त नगण्य था और उसे मृत्यु दण्ड देना सचमुच ही शृंगी के लिए बहुत बड़ा पाप था। इसीलिए शमीक ऋषि को पूरी घटना पर पश्चात्ताप किया।

न वै नृभिर्नरदेवं पराख्यं
सम्मातुमर्हस्यविपक्वबुद्धे ।
यत्तेजसा दुर्विषहेण गुप्ता

विन्दन्ति भद्राण्यकुतोभयाः प्रजाः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; वै—सचमुच; नृभिः—किसी मनुष्य द्वारा; नर-देवम्—मनुष्यरूपी देवता को; पर-आख्यम्—दिव्य; सम्मातुम्—समान बताना; अर्हसि—तेज से; अविपक्व—अनुभवहीन, अप्रौढ़; बुद्धे—बुद्धि; यत्—जिसका; तेजसा—तेज से; दुर्विषहेण—अलंघ्य; गुप्ताः—सुरक्षित; विन्दन्ति—भोग करता है; भद्राणि—सारी समृद्धि; अकुतः-भयाः—पूर्ण रूप से सुरक्षित, निर्भय; प्रजाः—जनता।

हे बालक, तुम्हारी बुद्धि अपरिपक्व है, अतएव तुम्हें ज्ञान नहीं है कि राजा मनुष्यों में सर्वोत्तम और भगवान् के तुल्य होता है। उसकी तुलना कभी भी सामान्य लोगों के साथ नहीं की जा सकती। उसके राज्य के नागरिक उसके दुर्दम तेज से सुरक्षित रहकर समृद्धिमय जीवन व्यतीत करते हैं।

अलक्ष्यमाणे नरदेवनाम्नि
रथाङ्गपाणावयमङ्ग लोकः ।
तदा हि चौरप्रचुरो विनङ्क्ष्य-
त्यरक्ष्यमाणोऽविवरूथवत् क्षणात् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

अलक्ष्यमाणे—समाप्त किये जाने से; नर-देव—राजा का सा; नाम्नि—नामधारी; रथ-अङ्ग-पाणौ—भगवान् का प्रतिनिधि; अयम्—यह; अङ्ग—हे बालक; लोकः—यह संसार; तदा हि—तुरन्त; चौर—चोर; प्रचुरः—अत्यधिक; विनङ्क्ष्यति—परास्त किया; अरक्ष्यमाणः—सुरक्षित न रहकर; अविवरूथ-वत्—मेमने की भाँति; क्षणात्—तुरन्त।

हे बालक, एकछत्र राजसत्ता द्वारा रथचक्र धारण करनेवाले भगवान् का प्रतिनिधित्व किया जाता है और जब राजसत्ता ही मिट जाती है, तो सारा संसार चोरों से भर जाता है, जो तितर-बितर मेमनों की भाँति असुरक्षित प्रजा को तुरन्त परास्त कर देते हैं।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के अनुसार एकछत्र राजा परमेश्वर का प्रतिनिधित्व करता है। राजा को भगवान् का प्रतिनिधि कहा जाता है, क्योंकि उसे जीवों की रक्षा करने के लिए दैवी-गुण अर्जित करने का प्रशिक्षण दिया जाता है। कुरुक्षेत्र का युद्ध भगवान् ने अपने असली प्रतिनिधि महाराज युधिष्ठिर को प्रतिष्ठित कराने के लिए सुनियोजित किया था। यदि आदर्श राजा को, संस्कृति तथा भक्ति से, युद्ध-कौशल में प्रशिक्षित किया जाय, तो वह पूर्ण राजा बनता है। ऐसी व्यक्तिगत राजसत्ता तथाकथित प्रजातंत्र से श्रेष्ठ होती है, जिसमें कोई प्रशिक्षण तथा उत्तरदायित्व नहीं होता। आधुनिक प्रजातंत्र के चोर

तथा उचक्के जनमत (वोटों) के गोलमाल द्वारा चुनाव लड़ते हैं और विजयी होने पर जनता का भक्षण करते हैं। एक प्रशिक्षित राजा हजारों व्यर्थ के धूर्त मंत्रियों से श्रेष्ठ होता है और यहाँ पर संकेत दिया गया है कि महाराज परीक्षित के से एकछत्र राज्य के उखड़ने से, जनता पर कलियुग के प्रहारों के लिए द्वार खुल जाता है। जनता कभी भी प्रजातंत्र के अति-विज्ञापित रूप में सुखी नहीं रहती। अगले श्लोकों में राजा-विहीन प्रशासन के परिणामों का वर्णन हुआ है।

तदद्य नः पापमुपैत्यनन्वयं
यन्नष्टनाथस्य वसोर्विलुम्पकात् ।
परस्परं घ्नन्ति शपन्ति वृञ्जते
पशून् स्त्रियोऽर्थान् पुरुदस्यवो जनाः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

तत्—इस कारण से; अद्य—आज से; नः—हम पर; पापम्—पाप का फल; उपैति—चढ़ेगा; अनन्वयम्—विघ्न; यत्—क्योंकि; नष्ट—नष्ट होने पर; नाथस्य—राजा का; वसोः—सम्पत्ति का; विलुम्पकात्—लूटा जाकर; परस्परम्—एक दूसरे से; घ्नन्ति—मारेगा; शपन्ति—हानि पहुँचायेगा; वृञ्जते—चुरायेगा; पशून्—पशुओं को; स्त्रियः—स्त्रियाँ; अर्थान्—धन को; पुरु—अत्यधिक; दस्यवः—चोर; जनाः—लोगों का समूह।

राजा की शासन-प्रणाली के समाप्त होने तथा धूर्तों एवं चोरों द्वारा लोगों की सम्पत्ति लुटने के कारण बड़े-बड़े सामाजिक विघ्न आयेंगे; लोग हताहत किये जायेंगे; पशु तथा स्त्रियाँ चुराई जायेंगी और इन सारे पापों के उत्तरदायी होंगे हम सब।

तात्पर्य : इस श्लोक में *नः*(हम) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। राजतंत्रीय शासन का अन्त करने के लिए ब्राह्मणों को एक समुदाय के रूप में जिम्मेदार बताकर मुनि ठीक ही कर रहे हैं और इस प्रकार जो तथाकथित प्रजातंत्रियों को अवसर दिया जा रहा है, जो सामान्यतया राज्य की जनता की सम्पत्ति के लुटेरे होते हैं। ये तथाकथित प्रजातंत्री लोग जनता की सम्पन्नता का उत्तरदायित्व लिए बिना प्रशासनिक तंत्र को हथिया लेते हैं। सारे व्यक्ति निजी तृप्ति के लिए पद हथिया लेते हैं और इस तरह एक राजा के स्थान पर, जनता से कर वसूलने कई राजा बन जाते हैं। यहाँ यह भविष्यवाणी की गई है कि अच्छी राजकीय सरकार के न होने से, प्रत्येक व्यक्ति धन, पशु, स्त्रियों इत्यादि को लूट कर अन्यों के लिए विघ्न खड़े करता रहेगा।

तदार्यधर्मः प्रविलीयते नृणां
वर्णाश्रमाचारयुतस्त्रयीमयः ।
ततोऽर्थकामाभिनिवेशितात्मनां
शुनां कपीनामिव वर्णसङ्करः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; आर्य—प्रगतिशील सभ्यता; धर्मः—कार्य; प्रविलीयते—समाप्त हो जाती है; नृणाम्—मनुष्यों की; वर्ण—जाति; आश्रम—समाज की व्यवस्था; आचार-युतः—शिष्टाचार से युक्त; त्रयी-मयः—वैदिक आदेश के रूप में; ततः—तत्पश्चात्; अर्थ—आर्थिक विकास; काम-अभिनिवेशित—इन्द्रिय-तृप्ति में पूरी तरह लिप्त; आत्मनाम्—मनुष्यों का; शुनाम्—कुत्तों की तरह; कपीनाम्—बन्दरों की तरह; इव—सदृश; वर्ण-सङ्करः—अवांछित प्रजा।.

उस समय सामान्य लोग जाति (वर्ण) तथा समाज-व्यवस्था (आश्रम) के गुणात्मक कार्यों के रूप में प्रगतिशील सभ्यता के मार्ग से तथा वैदिक आदेशों से धीरे-धीरे गिर जायेंगे। इस प्रकार वे इन्द्रियतृप्ति के निमित्त आर्थिक विकास के प्रति अधिक आकृष्ट होंगे जिसके फलस्वरूप कुत्तों तथा बन्दरों के स्तर की अवांछित जनसंख्या को बढ़ावा मिलेगा।

तात्पर्य : यहाँ पर भविष्यवाणी की गई है कि राजतन्त्र के न रहने पर सामान्य लोगों की कुत्तों तथा बन्दरों की तरह अवांछित आबादी हो जायेगी। जिस तरह बन्दर अत्यधिक कामुक और कुत्ते संभोग करने में निर्लज्ज होते हैं, उसी प्रकार अवैध सम्बन्धों से उत्पन्न हुए सामान्य लोग वैदिक सदाचार तथा वर्णाश्रम धर्म से दूर भटक जायेंगे।

वैदिक जीवन-शैली आर्यों की सभ्यता का प्रगतिशील अभियान है। आर्यगण वैदिक सभ्यता में प्रगतिशील होते हैं। वैदिक सभ्यता का गन्तव्य भगवान् के धाम को वापस जाना है, जहाँ न जन्म है, न मृत्यु, न जरा और न रोग। वेद हर एक को भौतिक जगत के अंधेरे से दूर रहने, और भौतिक आकाश से अति दूर आध्यात्मिक जगत के प्रकाश की ओर बढ़ने का आदेश देते हैं। गुण के आधार पर वर्णो की प्रथा तथा आश्रमों का वैज्ञानिक विधि से आयोजन भगवान् तथा उनके प्रतिनिधि रूप महर्षियों द्वारा किया गया है। जीवन की पूर्ण शैली, भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों वस्तुओं के विषय में सभी प्रकार का उपदेश देती है। वैदिक जीवन-शैली किसी भी मनुष्य को बन्दरों तथा कुत्तों की तरह रहने की अनुमति नहीं देती। इन्द्रियतृप्ति तथा आर्थिक विकास की अधम सभ्यता, ईश्वरविहीन या राजा से रहित जनता के द्वारा, जनता के लिए कहे जाने वाले जनतंत्र का उप-उत्पाद है। अतएव लोगों को अपने ही द्वारा चुने गये अधम प्रशासन के लिए चूँ-चपड़ नहीं करनी चाहिए।

धर्मपालो नरपतिः स तु सम्राड् बृहच्छ्रवाः ।
साक्षान्महाभागवतो राजर्षिर्हयमेधयाट् ।
क्षुत्तृट्श्रमयुतो दीनो नैवास्मच्छापमर्हति ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

धर्म-पालः—धर्म का रक्षक; नर-पतिः—राजा; सः—वह; तु—लेकिन; सम्राट्—सम्राट; बृहत्—अत्यधिक; श्रवाः—प्रसिद्ध; साक्षात्—प्रत्यक्ष रूप से; महा-भागवतः—उच्च-कोटि का भगवद्भक्त; राज-ऋषिः—राजाओं में साधु; हय-मेधयाट्—अश्वमेध यज्ञ करनेवाला; क्षुत्—भूख; तृट्—प्यास; श्रम-युतः—थका-हारा; दीनः—विपत्ति का मारा; न—कभी नहीं; एव—इस प्रकार; अस्मत्—हमारे द्वारा; शापम्—श्राप; अर्हति—के योग्य है।

सम्राट परीक्षित एक पवित्र राजा हैं। वे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं और उच्चकोटि के भगवद्भक्त हैं। वे राजाओं में सन्त (राजर्षि) हैं और उन्होंने अनेक अश्वमेध यज्ञ किये हैं। जब ऐसा राजा, भूख तथा प्यास का मारा, थका-हारा होता है, तो वह किसी भी तरह से शाप दिये जाने के योग्य नहीं होता।

तात्पर्य : राजपद-सम्बन्धी सामान्य आचार-संहिता बताने के बाद तथा यह जताने के बाद कि राजा कोई त्रुटि नहीं कर सकता, अतएव कभी निन्दनीय नहीं है, मुनि शमीक राजा परीक्षित के विषय में विशेष रूप से कुछ कहना चाह रहे थे। महाराज परीक्षित के विशिष्ट गुणों को यहाँ पर संक्षेप में दिया गया है। यदि राजा परीक्षित की गणना केवल राजा के ही रूप में की जाय, तो वे अत्यन्त विख्यात शासक थे, जिन्होंने राजा के धार्मिक नियमों के अनुसार शासन चलाया। शास्त्रों में समस्त वर्णों तथा आश्रमों के कर्तव्य बताये गये हैं। *भगवद्गीता* (१८.४३) में क्षत्रिय के जिन गुणों का उल्लेख है, वे सारे के सारे सम्राट परीक्षित में विद्यमान थे। वे भगवान् के महान् भक्त भी थे और स्वरूप-सिद्ध व्यक्ति भी। ऐसे राजा को शाप देना कदापि उचित नहीं है, जब वह भूख और प्यास से थका-माँदा हो। इस तरह शमीक ऋषि ने सब तरह से स्वीकार किया कि महाराज परीक्षित को अत्यन्त अन्यायपूर्वक शाप दिया गया। यद्यपि सारे ब्राह्मण इस घटना से दूर थे, फिर भी उस ब्राह्मण बालक के बचकाना कार्य ने सारे विश्व की स्थिति बदल दी थी। इस प्रकार ब्राह्मण ऋषि शमीक ने संसार की उत्तम व्यवस्था के अध:पतन का सारा उत्तरदायित्व ग्रहण किया।

अपापेषु स्वभृत्येषु बालेनापक्वबुद्धिना ।
पापं कृतं तद्भगवान् सर्वात्मा क्षन्तुमर्हति ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

अपापेषु—समस्त पापों से रहित व्यक्ति को; स्व-भृत्येषु—अधीन व्यक्ति को, जिसकी रक्षा की जानी चाहिए; बालेन—बालक द्वारा; अपक्व—अप्रौढ़; बुद्धिना—बुद्धि से; पापम्—पाप-पूर्ण कर्म; कृतम्—किया गया; तत् भगवान्—अतएव भगवान्; सर्व-आत्मा—सर्वव्यापी; क्षन्तुम्—क्षमा के लिए; अर्हति—योग्य हैं ।

तब ऋषि ने सर्वव्यापी भगवान् से अपने अप्रौढ़ तथा बुद्धिहीन पुत्र को क्षमा करने के लिए प्रार्थना की, जिसने ऐसे व्यक्ति को शाप देने का महान् पाप किया था, जो समस्त पापों से मुक्त था और पराश्रित एवं सभी प्रकार से रक्षा किये जाने के योग्य था।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति अपने पवित्र या पापपूर्ण कार्य के लिए जिम्मेदार होता है। ऋषि शमीक को यह पहले से दिख गया कि उसके पुत्र ने महाराज परीक्षित को शाप देकर महान् पाप किया है, क्योंकि वे एक पवित्र शासक थे और *महाभागवत* होने के कारण समस्त पापों से मुक्त थे, अतएव वे ब्राह्मणों द्वारा रक्षणीय थे। जब भगवद्भक्त के प्रति अपराध किया जाता है, तो उसके फलों से छुटकारा पाना अत्यन्त कठिन होता है। सामाजिक व्यवस्था के प्रधान पद पर होने के कारण, ब्राह्मणों का कर्तव्य है कि वे अपने आश्रितों को सुरक्षा प्रदान करें, न कि शाप दें। ऐसे अवसर आये हैं, जब ब्राह्मण ने अपने अधीन क्षत्रिय या वैश्य को उग्र शाप दिया है, किन्तु महाराज परीक्षित के साथ कोई ऐसी बात न थी, जैसाकि कहा जा चुका है। मूर्ख बालक ने ब्राह्मण पुत्र होने के नाते, निरे गर्व के कारण ऐसा किया था, अतएव वह ईश्वरी नियम द्वारा दण्ड का भागी था। भगवान् ऐसे व्यक्ति को कभी क्षमा नहीं करते, जो उनके शुद्ध भक्त की अवमानना करता है। अतएव राजा को शाप देकर, मूर्ख श्रृंगी ने न केवल पाप किया था, अपितु सबसे बड़ा अपराध किया था। अतएव ऋषि देख सके कि केवल पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही उनके पुत्र को इस पाप से बचा सकते हैं। अतएव उन्होंने क्षमा याचना के लिए सीधे भगवान् से प्रार्थना की, क्योंकि भगवान् ही ऐसी बात को मिटा सकते हैं, जिसको बदलना असम्भव होता है। ऋषि ने उस मूर्ख बालक के नाम पर क्षमायाचना की, जिसमें तनिक भी बुद्धि का विकास नहीं हुआ था।

यहाँ पर प्रश्न उठाया जा सकता है कि चूँकि ऐसी भगवान् की इच्छा थी कि महाराज परीक्षित उस विषम परिस्थिति में पड़ें, जिससे इस जगत से उनका उद्धार हो सके, तो फिर क्यों एक ब्राह्मण बालक

को इस अपराध के लिए उत्तरदायी ठहराया गया? इसका उत्तर यह है कि यह अपराध एक बालक से ही हुआ था, अतएव उसे आसानी से क्षमा किया जा सकता था। इस तरह पिता की प्रार्थना स्वीकार कर ली गई। लेकिन यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि सारी ब्राह्मण जाति को सांसारिक मामलों में कलि को प्रवेश देने के लिए क्यों उत्तरदायी ठहराया गया, तो इसका उत्तर *वराह पुराण* में मिलेगा। इसके अनुसार, जो असुर भगवान् के शत्रु थे, किन्तु जो भगवान् द्वारा मारे नहीं गये थे, उन्हें कलियुग का लाभ उठाने के लिए ब्राह्मण परिवारों में जन्म लेने की अनुमति दी गई। परम दयालु भगवान् ने उन सबों को पवित्र ब्राह्मणों के परिवारों में जन्म लेने का अवसर प्रदान किया, जिससे वे मोक्ष-लाभ कर सकें। लेकिन असुरों ने, इस अवसर का लाभ न उठाकर, ब्राह्मण होने के गर्व से फूलकर, ब्राह्मण संस्कृति का दुरुपयोग किया। इसका ज्वलन्त उदाहरण शमीक ऋषि का पुत्र है। इसके द्वारा ब्राह्मणों के सारे मूर्ख पुत्रों को आगाह किया जाता है कि वे शृंगी की तरह मूर्ख न बनें और उन आसुरी गुणों से सदैव बचते रहें, जो उनमें पूर्व जन्म में विद्यमान थे। निस्सन्देह, भगवान् ने इस मूर्ख बालक को क्षमा कर दिया, लेकिन अन्य लोग जिनके पिता शमीक ऋषि जैसे नहीं हैं, वे महान् कष्ट में पड़ते रहेंगे, यदि वे ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से प्राप्त होनेवाले लाभों का दुरुपयोग करते हैं।

तिरस्कृता विप्रलब्धाः शप्ताः क्षिप्ता हता अपि ।
नास्य तत् प्रतिकुर्वन्ति तद्भक्ताः प्रभवोऽपि हि ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

तिरः-कृताः—अपमानित होकर; विप्रलब्धाः—ठगा जाकर; शप्ताः—शापित होकर; क्षिप्ताः—उपेक्षा के कारण विचलित; हताः—अथवा मारे जाने पर; अपि—भी; न—कभी नहीं; अस्य—इन कृत्यों के लिए; तत्—उनको; प्रतिकुर्वन्ति—प्रतीकार होते हैं; तत्—भगवान् को; भक्ताः—भक्तगण; प्रभवः—शक्तिमान; अपि—यद्यपि; हि—निश्चय ही।

भगवान् के भक्त इतने सहिष्णु होते हैं कि अपमानित होने, ठगे जाने, शापित होने, विचलित किये जाने, उपेक्षित होने अथवा जान से मारे जाने पर भी कभी बदला लेने का विचार नहीं करते।

तात्पर्य : ऋषि शमीक यह भी जानते थे कि भगवान् उस व्यक्ति को क्षमा नहीं करते जो भक्त के चरणों पर अपराध करता है। भगवान् इतना ही आदेश दे सकते हैं कि भक्त की शरण ग्रहण करो। उन्होंने मन में सोचा कि यदि महाराज परीक्षित बदले में शाप दे दें, तो बालक को बचाया जा सकता

है। लेकिन वे यह भी जानते थे कि शुद्ध भक्त सांसारिक लाभों या हानियों के प्रति लापरवाह होता है। अतएव भक्तगण कभी भी निजी अपयश, शाप या उपेक्षा इत्यादि का बदला नहीं लेते। जहाँ तक ऐसी बातों का सम्बन्ध है, भक्तगण निजी मामलों में उनकी परवाह नहीं करते। किन्तु यदि ऐसी चीजें भगवान् तथा भगवद्‌भक्तों के विरुद्ध की जाती हैं, तो भक्तगण बहुत कठोर कार्यवाही करते हैं। चूँकि यह निजी मामला था, अतएव शमीक ऋषि को पता था कि राजा इसका बदला नहीं लेंगे। अतएव अप्रौढ़ बालक के लिए भगवान् से याचना करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प न था।

ऐसा नहीं है कि केवल ब्राह्मण ही अपने अधीनों को शाप देने या आशीर्वाद देने में सक्षम होते हैं; भगवद्‌भक्त, चाहे वह ब्राह्मण न भी हो, तो भी ब्राह्मण से अधिक शक्तिशाली होता है। लेकिन शक्तिशाली भक्त कभी अपने लाभ के लिए शक्ति का दुरुपयोग नहीं करता। भक्त की जितनी भी शक्ति होती है, वह भगवान् तथा उसके भक्तों की सेवा में ही लगती है।

इति पुत्रकृताघेन सोऽनुतप्तो महामुनिः ।
स्वयं विप्रकृतो राज्ञा नैवाघं तदचिन्तयत् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; पुत्र—पुत्र; कृत—किया गया; अघेन—पाप से; सः—वे (मुनि); अनुतप्तः—पश्चात्ताप करते हुए; महा-मुनिः—ऋषि; स्वयम्—स्वयं; विप्रकृतः—इस तरह अपमानित होते हुए; राज्ञा—राजा द्वारा; न—नहीं; एव—निश्चय ही; अघम्—पाप; तत्—वह; अचिन्तयत्—सोचा।

इस प्रकार मुनि ने अपने पुत्र द्वारा किये गये पाप के लिए पश्चात्ताप किया। उसने राजा द्वारा किये गये अपमान को गम्भीरता से ग्रहण नहीं किया।

तात्पर्य : अब सारी घटना स्पष्ट हो गई है। महाराज परीक्षित द्वारा मुनि के गले में मृत सर्प लपेटना कोई गम्भीर अपराध न था, किन्तु शृंगी द्वारा राजा को शापित किया जाना गम्भीर अपराध था। यह गम्भीर अपराध एक मूर्ख बालक द्वारा ही हुआ था, अतएव वह परमेश्वर द्वारा क्षम्य था, यद्यपि पाप के फल से मुक्त होना सम्भव न था। महाराज परीक्षित ने भी मूर्ख ब्राह्मण द्वारा दिये गये शाप की ओर ध्यान नहीं दिया। उल्टे उन्होंने इस विषम स्थिति का लाभ उठाया और भगवान् की महद् इच्छा से, श्रील शुकदेव गोस्वामी की कृपा के माध्यम से जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त की। वास्तव में यह भगवदिच्छा थी और इस इच्छापूर्ति में महाराज परीक्षित, ऋषि शमीक तथा उनका पुत्र शृंगी ये तीनों

निमित्त मात्र थे। अतएव इनमें से किसी को कठिनाई नहीं हुई, क्योंकि हर काम परम पुरुष के सम्बन्ध में किया गया था।

प्रायश: साधवो लोके परैर्द्वन्द्वेषु योजिता: ।
न व्यथन्ति न हृष्यन्ति यत आत्माऽगुणाश्रय: ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

प्रायश:—सामान्यतया; साधव:—सन्त गण; लोके—इस संसार में; परै:—अन्यों द्वारा; द्वन्द्वेषु—द्वैत में; योजिता:—लगाये जाकर; न—कभी नहीं; व्यथन्ति—पीड़ित होते हैं; न—न तो; हृष्यन्ति—हर्ष मानते हैं; यत:—क्योंकि; आत्मा—स्वयं; अगुण-आश्रय:—दिव्य।

सामान्यतया अध्यात्मवादी अन्यों द्वारा संसार के द्वन्द्वों में लगाये जाने पर भी व्यथित नहीं होते। न ही वे (सांसारिक वस्तुओं में) आनन्द लेते हैं, क्योंकि वे अध्यात्म में लगे रहते हैं।

तात्पर्य : अध्यात्मवादी-जन ज्ञानी, योगी तथा भगवद्भक्त होते हैं। ज्ञानियों का लक्ष्य ब्रह्म में तदाकार होने की सिद्धि प्राप्त करना होता है, योगी सर्वव्यापी परमात्मा की अनुभूति करना चाहते हैं और भक्तगण भगवान् के व्यक्तित्व की दिव्य प्रेममयी सेवा में लगे रहते हैं। चूँकि ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् एक ही दिव्यता की विभिन्न अवस्थाएँ हैं, अतएव ये सारे अध्यात्मवादी प्रकृति के तीनों गुणों से परे होते हैं। भौतिक सुख-दुख तीनों गुणों के प्रतिफल हैं, अतएव ऐसे सुखों-दुखों के कारणों से अध्यात्मवादियों को कोई सरोकार नहीं रहता। राजा भक्त थे और ऋषि योगी थे। अतएव दोनों ही परमात्मा की इच्छा से उत्पन्न हुई इस दुर्घटना से अलिप्त थे। खेलने की उम्र वाला बालक भगवान् की इच्छापूर्ति में निमित्त मात्र था।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत 'ब्राह्मण बालक द्वारा महाराज परीक्षित को शाप' नामक अठारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter उन्नीस

शुकदेव गोस्वामी का प्रकट होना

सूत उवाच

महीपतिस्त्वथ तत्कर्म गर्ह्यं
विचिन्तयन्नात्मकृतं सुदुर्मनाः ।
अहो मया नीचमनार्यवत्कृतं
निरागसि ब्रह्मणि गूढतेजसि ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; मही-पतिः—राजा; तु—लेकिन; अथ—इस प्रकार (घर वापस आते समय); तत्—उस; कर्म—कार्य; गर्ह्यम्—घृणित; विचिन्तयन्—इस प्रकार सोचते हुए; आत्म-कृतम्—अपने द्वारा किया हुआ; सु-दुर्मनाः—अत्यन्त अनमना, उदास; अहो—अहो; मया—मेरे द्वारा; नीचम्—जघन्य; अनार्य—असंस्कृत, असभ्य; वत्—सदृश; कृतम्—किया गया; निरागसि—निर्दोष; ब्रह्मणि—ब्राह्मण के प्रति; गूढ—गम्भीर; तेजसि—शक्तिमान।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : घर लौटाते हुए राजा (महाराज परीक्षित) ने अनुभव किया कि उन्होंने निर्दोष तथा शक्तिमान ब्राह्मण के प्रति अत्यन्त जघन्य तथा अशिष्ट व्यवहार किया है। फलस्वरूप वे अत्यन्त उद्विग्न थे।

तात्पर्य : शक्तिमान एवं निर्दोष ब्राह्मण के साथ अपने आकस्मिक अभद्र व्यवहार से पवित्र राजा अत्यन्त दुखी हुए। ऐसा पश्चात्ताप राजा जैसे उत्तम व्यक्ति के लिए स्वाभाविक है और ऐसे पश्चात्ताप से भक्त आकस्मिक किए हुए पापों से उबर जाता है। भक्तगण स्वभावतः दोषरहित होते हैं। भक्त द्वारा होनेवाले आकस्मिक पापों के लिए खेद प्रकट किया जाता है और भगवत्कृपा से ऐसे अनिच्छित पाप पश्चात्ताप की अग्नि में जलकर भस्म हो जाते हैं।

ध्रुवं ततो मे कृतदेवहेलनाद्
दुरत्ययं व्यसनं नातिदीर्घात् ।
तदस्तु कामं ह्यघनिष्कृताय मे
यथा न कुर्यां पुनरेवमद्धा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ध्रुवम्—निश्चित; ततः—अतएव; मे—मेरा; कृत-देव-हेलनात्—भगवान् की आज्ञाओं का उल्लंघन करने से; दुरत्ययम्—अत्यन्त कठिन; व्यसनम्—विपत्ति; न—नहीं; अति—अत्यधिक; दीर्घात्—दूर; तत्—वह; अस्तु—ऐसा हो; कामम्—बिना हिचक की इच्छा; हि—निश्चय ही; अघ—पाप; निष्कृताय—मुक्त होने के लिए; मे—मेरा; यथा—जिससे; न—कभी नहीं; कुर्याम्—करूँगा; पुनः—फिर; एवम्—जैसे मैंने किया है; अद्धा—प्रत्यक्ष रीति से।

[राजा परीक्षित ने सोचा :] भगवान् के आदेशों की अवहेलना करने से मुझे आशंका है कि निश्चित रूप से निकट भविष्य में मेरे ऊपर कोई संकट आनेवाला है। अब मैं बिना हिचक के

कामना करता हूँ कि वह संकट अभी आ जाय, क्योंकि इस तरह मैं पापपूर्ण कर्म से मुक्त हो जाऊँगा और फिर ऐसा अपराध नहीं करूँगा।

तात्पर्य : परमेश्वर का आदेश है कि ब्राह्मणों तथा गायों को सम्पूर्ण संरक्षण प्रदान किया जाय। भगवान् स्वयं ब्राह्मणों तथा गायों की भलाई करने के इच्छुक रहते हैं (*गो-ब्राह्मण-हिताय च*)। महाराज परीक्षित यह सब जानते थे, अतएव उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि उनके द्वारा एक तेजस्वी ब्राह्मण का इस तरह अपमानित किया जाना निश्चित रूप से भगवान् के नियमों के विरुद्ध था और वे निकट के भविष्य में किसी घोर संकट की आशंका कर रहे थे। अतएव वे चाह रहे थे कि जो कुछ होना है, वह उन्हें तुरन्त हो ले, किन्तु उनके परिवारवालों को कुछ न हो। मनुष्य का दुर्व्यवहार उसके पूरे परिवार के सदस्यों को प्रभावित करता है। इसीलिए महाराज परीक्षित ने कामना की कि विपत्ति अकेले उन्हीं पर आये। वे स्वयं कष्ट भोगकर भावी पापों से बच जायेंगे और साथ ही, उन्होंने जो पाप किया है, उसका निराकरण हो जायेगा जिससे उनके वंशजों को कष्ट नहीं भोगना पड़ेगा। एक जिम्मेदार भक्त इसी प्रकार से सोचता है। भक्त के परिवार के सदस्य भी भक्त द्वारा भगवान् की सेवा के प्रभावों का लाभ उठाते हैं। महाराज प्रह्लाद ने अपनी भक्तिमय सेवा से अपने असुर पिता को बचाया था। परिवार में भक्त सन्तान का होना भगवान् का सबसे बड़ा वरदान है।

अद्यैव राज्यं बलमृद्धकोशं
प्रकोपितब्रह्मकुलानलो मे ।
दहत्वभद्रस्य पुनर्न मेऽभूत्
पापीयसी धीर्द्विजदेवगोभ्यः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अद्य—आज; एव—ही; राज्यम्—राज्य; बलम् ऋद्ध—बल तथा धन; कोशम्—खजाना; प्रकोपित—प्रज्ज्वलित; ब्रह्म-कुल—ब्राह्मण कुल द्वारा; अनलः—अग्नि; मे दहतु—मुझे जला दे; अभद्रस्य—अशुभ; पुनः—फिर; न—नहीं; मे—मुझको; अभूत्—होए; पापीयसी—पापपूर्ण; धीः—बुद्धि; द्विज—ब्राह्मण; देव—भगवान्; गोभ्यः—तथा गायों के प्रति।

मैं ब्राह्मण सभ्यता, ईश्वर चेतना तथा गोरक्षा के प्रति उपेक्षा करने के फलस्वरूप अशिष्ट तथा पापी हूँ। अतएव मैं चाहता हूँ कि मेरा राज्य, मेरा पराक्रम तथा मेरा धन ब्राह्मण की

क्रोधाग्नि से तुरन्त भस्म हो जाय, जिससे भविष्य में ऐसे अशुभ विचारों से मेरा मार्गदर्शन न होने पाए।

तात्पर्य : प्रगतिशील मानवीय सभ्यता ब्राह्मण संस्कृति, ईश्वरीय चेतना तथा गोरक्षा पर आधारित है। उपर्युक्त सिद्धान्तों के सम्बन्ध में ही व्यापार, वाणिज्य, कृषि तथा उद्योगों के द्वारा राज्य के सारे आर्थिक विकास को पूरी तरह उपयोग में लाना चाहिए, अन्यथा सारे तथाकथित आर्थिक विकास अवनति के साधन बन जाते हैं। गो-रक्षा का अर्थ है ब्राह्मण संस्कृति को भोजन प्रदान करना, जिससे ईश्वर चेतना प्राप्त होती है और इस तरह मानवीय सभ्यता में पूर्णता आती है। कलियुग का लक्ष्य जीवन के उच्चआदर्शों को विनष्ट करना है और यद्यपि महाराज परीक्षित ने संसार के भीतर कलि के वर्चस्व का बलपूर्वक प्रतिरोध किया, किन्तु कलि का प्रभाव उपयुक्त समय में प्रकट हुआ, जिससे महाराज परीक्षित जैसे प्रबल राजा से भूख तथा प्यास की थोडी सी उत्तेजना के कारण ब्राह्मण संस्कृति की अवमानना हो गयी। महाराज परीक्षित ने इस आकस्मिक घटना के प्रति पश्चात्ताप किया और उन्होंने कामना की कि उनका सारा राज्य, उनका बल तथा उनका कोष, यदि वह ब्राह्मण संस्कृति के काम नहीं आता, तो जलकर भस्म हो जाय।

जहाँ कहीं सम्पत्ति तथा शक्ति का सदुपयोग ब्राह्मण संस्कृति, ईश्वर चेतना तथा गोरक्षा के उन्नयन के लिए नहीं होता, वह राज्य तथा वह घर निश्चित रूप से विनष्ट हो जाता है। यदि हम विश्व में शान्ति तथा सम्पन्नता चाहते हैं, तो हमें इस श्लोक से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। प्रत्येक राज्य तथा प्रत्येक घर को आत्म-शुद्धि के लिए ब्राह्मण संस्कृति को, आत्म-साक्षात्कार के लिए ईश्वर चेतना को तथा पूर्ण सभ्यता को चालू रखने के लिए पर्याप्त दूध तथा उत्तम भोजन प्राप्त करने के लिए गोरक्षा को प्रश्रय देने का प्रयास करना चाहिए।

स चिन्तयन्नित्थमथाशृणोद् यथा
मुनेः सुतोक्तो निर्ऋतिस्तक्षकाख्यः ।
स साधु मेने न चिरेण तक्षका-
नलं प्रसक्तस्य विरक्तिकारणम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

सः—उन्होंने (राजा ने); चिन्तयन्—सोचते हुए; इत्थम्—इस प्रकार; अथ—अब; अशृणोत्—सुना; यथा—जिस तरह; मुनेः—मुनि के; सुत-उक्तः—पुत्र द्वारा कहा गया; निर्ऋतिः—मृत्यु; तक्षक-आख्यः—सर्प-पक्षी के विषय में; सः—उन्होंने (राजा ने); साधु—अच्छा तथा शुभ; मेने—स्वीकार किया; न—नहीं; चिरेण—दीर्घकाल तक; तक्षक—तक्षक सर्प; अनलम्—अग्नि; प्रसक्तस्य—लिप्त रहनेवालों के; विरक्ति—उदासी का; कारणम्—कारण।

जब राजा इस तरह पश्चात्ताप कर रहे थे, तो उन्हें अपनी आसन्न मृत्यु का समाचार प्राप्त हुआ, जो मुनि पुत्र द्वारा दिये गये शाप के अनुसार सर्प-पक्षी के काटने से होनी थी। राजा ने इसे शुभ समाचार के रूप में ग्रहण किया, क्योंकि इससे उन्हें सांसारिकता के प्रति विराग उत्पन्न होगा।

तात्पर्य : सच्चा सुख आध्यात्मिक तत्त्व या जन्म-मृत्यु के चक्र के बन्द होने पर ही प्राप्त होता है। जन्म-मृत्यु के चक्र को भगवद्धाम वापस जाकर ही तोड़ा जा सकता है। भौतिक जगत में सर्वोच्च लोक (ब्रह्मलोक) को प्राप्त करने पर भी जन्म-मृत्यु के चक्र से नहीं छूटा जा सकता; तो भी हम सिद्धि प्राप्त करने के पथ को ग्रहण नहीं करते। यह सिद्धि-पथ मनुष्य को सारी भौतिक आसक्तियों से मुक्त करनेवाला है और इस तरह वह आध्यात्मिक जगत में प्रवेश करने के योग्य बनता है। अतएव जो दीन-हीन हैं, वे सम्पन्न व्यक्तियों की अपेक्षा अच्छे उम्मीदवार हैं। महाराज परीक्षित भगवान् के महान् भक्त थे और भगवान् के धाम जाने के लिए प्रामाणिक उम्मीदवार थे, किन्तु ऐसा होते हुए भी, उनके साथ सबसे बड़ी बाधा चक्रवर्ती सम्राट के रूप में उनकी भौतिक सम्पत्ति थी, जिससे वे दिव्य आकाश में भगवान् के पार्षद के रूप में अपना असली पद प्राप्त नहीं कर पा रहे थे। भगवद्भक्त के रूप में वे यह समझ सके कि यद्यपि ब्राह्मण बालक का शाप मूर्खतापूर्ण था, फिर भी वह उनके लिए आशीर्वाद था, क्योंकि यह सांसारिकता से—राजनीतिक या सामाजिक दोनो से, विरक्ति का कारण था। शमीक मुनि ने भी घटना पर शोक प्रकट करने के बाद अपना कर्तव्य समझकर राजा को यह सूचना भेज दी थी ताकि वे भगवद्धाम जाने के लिए तैयार रहें। शमीक मुनि ने राजा को सन्देश भेजा कि यद्यपि उनका पुत्र शृंगी तेजस्वी ब्राह्मण बालक था, किन्तु मूर्ख होने के कारण उसने अपनी आध्यात्मिक शक्ति का दुरुपयोग राजा को व्यर्थ में शापित करने में किया। राजा द्वारा मुनि के गले में सर्प डालना मृत्यु का शाप देने के लिए पर्याप्त कारण न था। लेकिन चूँकि शाप वापस लेने का कोई उपाय नहीं था, अतएव राजा को सूचित कर दिया गया था कि एक सप्ताह के भीतर मृत्यु के लिए तैयार रहें। शमीक मुनि तथा राजा

दोनों ही स्वरूपसिद्ध आत्मा थे। शमीक मुनि योगी थे और महाराज परीक्षित भक्त थे, अतएव उन दोनों में आत्म-साक्षात्कार के विषय में कोई अन्तर नहीं था। दोनों में से कोई भी मरने से भयभीत न था। महाराज परीक्षित को क्षमा याचना के लिए मुनि के पास जाना चाहिए था, किन्तु राजा को उनकी आसन्न मृत्यु की सूचना मुनि ने इतने खेद सहित भेजी थी कि राजा अब अपनी उपस्थिति से मुनि को अधिक शर्मिन्दा नहीं करना चाहते थे। उन्होंने अपनी आसन्न मृत्यु के लिए तैयारी करने तथा भगवद्धाम जाने का मार्ग खोजने का निश्चय किया।

यह मनुष्य जीवन भगवद्धाम वापस जाने या जन्म-मृत्यु के चक्र से—भवसागर से छूटने के लिए अपने को तैयार करने का सुअवसर है। इस प्रकार *वर्णाश्रम-धर्म* प्रणाली में प्रत्येक पुरुष तथा स्त्री को इस कार्य के लिए शिक्षा दी जाती है। दूसरे शब्दों में, *वर्णाश्रम-धर्म* प्रणाली *सनातन-धर्म* भी कहलाती है। वर्णाश्रम-धर्म प्रणाली मनुष्य को भगवद्धाम वापस जाने के लिए तैयार करती है। इस तरह गृहस्थ को वानप्रस्थ बनकर जंगल में जाकर पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने तथा अपनी अपरिहार्य मृत्यु के पूर्व संन्यास ग्रहण करने का आदेश रहता है। महाराज परीक्षित भाग्यशाली थे कि उन्हें मृत्यु के पूर्व सात दिन की पूर्व सूचना प्राप्त हो सकी। लेकिन सामान्यजनों को ऐसी कोई निश्चित पूर्वसूचना नहीं मिल पाती, यद्यपि मृत्यु सबों के लिए अवश्यम्भावी है। मूर्ख लोग मृत्यु के इस निश्चित तथ्य को भूल जाते हैं और भगवद्धाम जाने की तैयारी करने के अपने कर्तव्य की उपेक्षा करते हैं। वे खाने, पीने तथा आनन्द मनाने की पाशविक वृत्तियों में ही अपना जीवन व्यर्थ कर देते हैं। ऐसा अनुत्तरदायित्व-पूर्ण जीवन कलियुग के लोगों द्वारा अपनाया जाता है, क्योंकि उनमें ब्राह्मण संस्कृति, ईश्वर चेतना तथा गोरक्षा के तिरस्कार की पापपूर्ण इच्छा घर किये रहती है और इसके लिए राजसत्ता उत्तरदायी है। राज्य को चाहिए कि इन तीनों बातों की उन्नति के लिए धन खर्च करे और लोगों को मृत्यु की तैयारी करने की शिक्षा दे। जो राज्य ऐसा करता है, वह असली कल्याणप्रद राज्य है। अच्छा हो कि भारत राज्य आदर्श प्रशासकाध्यक्ष महाराज परीक्षित के आदर्शों का पालन करे; वह अन्य भौतिकतावादी राज्यों का अनुकरण न करे जिनके पास भगवद्धाम की कोई जानकारी नहीं है, जो मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य है। भारतीय सभ्यता के आदर्शों में गिरावट आने से, न केवल भारत में, अपितु विदेशों में भी नागरिक जीवन में गिरावट आई है।

अथो विहायेममुं च लोकं
विमर्शितौ हेयतया पुरस्तात् ।
कृष्णाङ्घ्रिसेवामधिमन्यमान
उपाविशत् प्रायममर्त्यनद्याम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अथो—इस तरह; विहाय—छोड़कर; इमम्—यह; अमुम्—तथा अगला; च—भी; लोकम्—लोक; विमर्शितौ—निर्णय होने पर भी वे सब; हेयतया—निम्नता के कारण; पुरस्तात्—इसके पूर्व; कृष्ण-अङ्घ्रि—भगवान् कृष्ण के चरणकमल की; सेवाम्—दिव्य प्रेमाभक्ति; अधिमन्यमानः—सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि के विषय में सोचनेवाला; उपाविशत्—दृढ़ता से बैठ गया; प्रायम्—उपवास के लिए; अमर्त्य-नद्याम्—दिव्य नदी (गंगा या यमुना) के तट पर।

महाराज परीक्षित आत्म-साक्षात्कार की अन्य समस्त विधियों को छोड़कर अपने मन को कृष्णभावनामृत में एकाग्र करने के लिए गंगा नदी के तट पर दृढ़तापूर्वक बैठ गये, क्योंकि कृष्ण की दिव्य प्रेममयी सेवा सर्वोच्च उपलब्धि है और अन्य समस्त विधियों को मात करनेवाली है।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित जैसे भक्त के लिए कोई भी भौतिक लोक, यहाँ तक कि सर्वोच्च ब्रह्मलोक भी, उतना वांछनीय नहीं जितना कि आदि पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण का धाम गोलोक वृन्दावन है। यह पृथ्वीलोक ब्रह्माण्ड के असंख्य ग्रहों में से एक है और महत् तत्त्व की परिधि में ऐसे असंख्य ब्रह्माण्ड होते हैं। भक्तों को भगवान् द्वारा तथा भगवान् के प्रतिनिधि गुरुओं या आचार्यों द्वारा बतलाया जाता है कि असंख्य ब्रह्मांडों में से कोई भी ग्रह भक्तों के रहने योग्य नहीं है। भक्त सदैव अपने घर भगवद्धाम वापस जाने के इच्छुक रहते हैं जहाँ वे सेवक, मित्र, माता-पिता या भगवान् के प्रेमी के रूप में, उनके पार्षदों में से एक बनकर किसी एक वैकुण्ठलोक में या भगवान् श्रीकृष्ण के धाम गोलोक वृन्दावन में रह सकें। ये सारे लोक *पर-व्योम* में सनातन रूप से स्थित हैं, जो महत् तत्त्व के अन्दर कारणार्णव की दूसरी ओर है। महाराज परीक्षित वैष्णव भक्तों के उच्च कुल में जन्म लेने तथा अपनी संचित धर्मनिष्ठा के कारण पहले से ही इन सारी जानकारी से अवगत थे, अतएव वे कोई भौतिक ग्रह में जाने के लिए जरा भी इच्छुक न थे। आधुनिक विज्ञानी भौतिक व्यवस्था द्वारा चन्द्रमा तक पहुँचने के अत्यन्त उत्सुक हैं, लेकिन वे इस ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोक की कल्पना भी नहीं कर सकते। लेकिन महाराज परीक्षित जैसा भक्त, चन्द्रमा या इस प्रकार के किसी भी भौतिक लोक की, रंच भी परवाह नहीं

करता। अतएव जब उन्हें एक निश्चित तिथि पर मृत्यु का आश्वासन दे दिया गया तो वे दिव्य यमुना नदी के तट पर, जो हस्तिनापुर की राजधानी (अब दिल्ली प्रान्त में) के पास से होकर बहती है, पूर्ण उपवास द्वारा भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति में दृढ़-प्रतिज्ञ हो गये। गंगा तथा यमुना दोनों ही *अमर्त्या* (दिव्य) नदियाँ हैं और यमुना अब भी निम्नलिखित कारणों से अधिक पवित्र है।

या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्र-
कृष्णाङ्घ्रिरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री ।
पुनाति लोकानुभयत्र सेशान्
कस्तां न सेवेत मरिष्यमाण: ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

या—जो नदी; वै—सदा; लसत्—प्रवाहित; श्री-तुलसी—तुलसी-दलों से; विमिश्र—मिश्रित; कृष्ण-अङ्घ्रि—भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमल की; रेणु—धूल; अभ्यधिक—शुभ; अम्बु—जल; नेत्री—ले जानेवाली; पुनाति—पवित्र करता है; लोकान्—लोकों को; उभयत्र—ऊपर-नीचे अथवा भीतर-बाहर दोनों; स-ईशान्—शिवजी समेत; क:—अन्य कौन; ताम्—उस नदी को; न—नहीं; सेवेत—पूजा करते हैं; मरिष्यमाण:—आसन्न मृत्युवाला।

यह नदी (गंगा, जिसके किनारे राजा उपवास करने बैठे थे) अत्यन्त शुभ जल धारण करती है, जिसमें भगवान् के चरण-कमलों की धूल तथा तुलसीदल मिश्रित रहते हैं। अतएव यह जल तीनों लोकों को भीतर-बाहर से पवित्र बनाता है और शिवजी तथा अन्य देवताओं को भी पवित्र करता है। अतएव जिसकी मृत्यु निश्चित हो, उसे इस नदी की शरण ग्रहण करनी चाहिए।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित सात दिनों के भीतर अपनी मृत्यु की सूचना पाते ही तत्काल गृहस्थ जीवन से निवृत्त हो लिए और यमुना नदी के पवित्र तट पर चले गये। सामान्यतया यह कहा जाता है कि राजा ने गंगा नदी के किनारे शरण ली थी, लेकिन श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार राजा ने यमुना-तट पर शरण ली थी। भौगोलिक स्थिति की दृष्टि से श्रील जीव गोस्वामी का कथन अधिक सटीक प्रतीत होता है। महाराज परीक्षित अपनी राजधानी हस्तिनापुर में वास करते थे, जो वर्तमान दिल्ली के निकट स्थित है और यमुना नदी इस नगर के पास से होकर बहती है। स्वाभाविक है कि राजा यमुना नदी के तट पर शरण ग्रहण करेंगे, क्योंकि यह नदी उनके महल के द्वार से होकर बह रही थी। और जहाँ तक पवित्रता की बात है, यमुना नदी गंगा नदी की अपेक्षा भगवान् कृष्ण से अधिक प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है। भगवान् ने इस जगत में अपनी दिव्य लीलाओं के प्रारम्भ से ही यमुना नदी को पवित्र

बनाया। जब उनके पिता वसुदेव बालक कृष्ण को लेकर यमुना पार करके मथुरा से गोकुल ले जा रहे थे, तो भगवान् इस नदी में गिर पड़े थे और भगवान् के चरणकमलों की धूलि का स्पर्श पाकर वह तुरन्त ही पवित्र हो गई थी। यहाँ पर विशेष उल्लेख है कि महाराज परीक्षित ने उस विशेष नदी की शरण ग्रहण की, जो सुन्दर ढंग से बह रही थी और तुलसीदल से मिश्रित भगवान् के चरणकमलों की धूलि लिये जा रही थी। भगवान् कृष्ण के चरणकमलों पर सदैव तुलसीदल चढ़े रहते हैं, अतएव ज्योंही उनके चरणकमल गंगा तथा यमुना-नदी के जल को स्पर्श करते हैं, त्योंही नदियाँ पवित्र हो जाती हैं। लेकिन भगवान् ने गंगा की अपेक्षा यमुना का ही अधिक स्पर्श किया। *वराह पुराण* के अनुसार, जैसाकि श्रील जीव गोस्वामी ने उद्धृत किया है, गंगा तथा यमुना नदियों के जल में कोई अन्तर नहीं है, *किन्तु जब गंगा का जल एक सौ गुना पवित्र हो जाता है, तो वह यमुना कहलाती है।* इसी तरह शास्त्रों में कहा गया है कि विष्णु के एक हजार नाम राम के एक नाम के बराबर हैं और राम के तीन नाम कृष्ण के एक नाम के तुल्य हैं।

इति व्यवच्छिद्य स पाण्डवेयः
प्रायोपवेशं प्रति विष्णुपद्याम् ।
दधौ मुकुन्दाङ्घ्रिमनन्यभावो
मुनिव्रतो मुक्तसमस्तसङ्गः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; व्यवच्छिद्य—निश्चय करके; सः—राजा; पाण्डवेयः—पाण्डवों की योग्य सन्तान; प्राय-उपवेशम्—आमरण उपवास के लिए; प्रति—की ओर; विष्णु-पद्याम्—गंगा नदी के तट पर (भगवान् विष्णु के चरणों से निकल कर); दधौ—त्याग दिया; मुकुन्द-अङ्घ्रिम्—भगवान् कृष्ण के चरणकमलों पर; अनन्य—अविचलित; भावः—आत्मा, भाव; मुनि-व्रतः—मुनि का व्रत लेकर; मुक्त—मुक्त; समस्त—सभी प्रकार की; सङ्गः—संगति से।

इस प्रकार, पाण्डवों की सुयोग्य सन्तान, राजा ने दृढ़ संकल्प किया और आमरण उपवास करने तथा भगवान् कृष्ण के चरणकमलों में अपने आप को समर्पित करने के लिए, वे गंगा नदी के तट पर बैठ गये, क्योंकि एकमात्र कृष्ण ही मुक्ति दिलाने में समर्थ हैं। इस प्रकार उन्होंने अपने आपको समस्त संगतियों तथा आसक्तियों से मुक्त करके मुनि का व्रत स्वीकार किया।

तात्पर्य : गंगा का जल देवों समेत तीनों लोकों को पवित्र करता है, क्योंकि यह भगवान् विष्णु के चरणकमलों से निकलता है। भगवान् कृष्ण विष्णु तत्त्व के स्रोत हैं, अतएव उनके चरणकमलों की

शरण मनुष्य को ब्राह्मण के प्रति राजा द्वारा किये गये अपराध सहित समस्त पापों से उबार सकती है। अतएव महाराज परीक्षित ने मुकुन्द अथवा मुक्तिदाता भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों का ध्यान करने का निश्चय किया। गंगा या यमुना नदी के तट मनुष्य को भगवान् का निरन्तर स्मरण करने का एक अवसर प्रदान करते हैं। महाराज परीक्षित ने अपने आपको सभी प्रकार की भौतिक संगति से विलग कर लिया और भगवान् कृष्ण के चरणकमलों का ध्यान किया और यही मुक्ति का मार्ग है। समस्त प्रकार की भौतिक संगति से मुक्त होने का अर्थ है, आगे और कोई पाप न करना। भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करने का अर्थ है, समस्त पूर्व-पापों के प्रभावों से मुक्त होना। भौतिक जगत में ऐसी परस्थितियाँ बन जाती हैं कि मनुष्यों से, जाने या अनजाने, पाप हो जाता है और इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं स्वयं महाराज परीक्षित, जो माने हुए एक निष्पाप-पवित्र राजा थे। किन्तु वे कोई त्रुटि करना न चाहते हुए भी, अपराध के शिकार हो गये। उन्हें शाप भी दिया गया, किन्तु चूँकि वे भगवान् के बहुत बड़े भक्त थे, अतएव जीवन की ऐसी प्रतिकूलताएँ भी अनुकूल हो गईं। सिद्धान्त यह है कि मनुष्य को जानबूझ कर अपने जीवन में कोई पाप नहीं करना चाहिए और अविचल भाव से भगवान् के चरणकमलों को स्मरण रखना चाहिए। ऐसी ही दशाओं में भक्त को मुक्ति-मार्ग में नियमित प्रगति करने में भगवान् सहायक होंगें और इस तरह भक्त को भगवान् के चरणकमल प्राप्त हो सकेंगे। यदि भक्त से कोई आकस्मिक पाप हो भी जाता है, तो भगवान् इस शरणागत को सभी पापों से बचा लेते हैं, जिसकी पुष्टि सभी शास्त्रों में हुई है—

स्वपादमूलं भजत: प्रियस्य

त्यक्तान्यभावस्य हरि: परेश:।

विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्

धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्ट: ॥

(*भागवत* ११.५.४२)

तत्रोपजग्मुर्भुवनं पुनाना
महानुभावा मुनयः सशिष्याः ।

प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः
स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; उपजग्मुः—पहुँचा; भुवनम्—ब्रह्माण्ड को; पुनानाः—पवित्र करनेवाले; महा-अनुभावाः—बड़े-बड़े मेधावी; मुनयः—विचारक; स-शिष्याः—अपने शिष्यों समेत; प्रायेण—प्रायः; तीर्थ—तीर्थस्थान; अभिगम—यात्रा; अपदेशैः—के बहाने से; स्वयम्—स्वयं; हि—निश्चय ही; तीर्थानि—तीर्थयात्रा से सारे स्थान; पुनन्ति—पवित्र बनाते हैं; सन्तः—मुनिगण।.

उस अवसर पर बड़े-बड़े मेधावी विचारक, अपने शिष्यों के संग एवं अपनी उपस्थिति के द्वारा तीर्थ-स्थानों को निश्चय ही पवित्र करनेवाले मुनिगण तीर्थयात्रा के बहाने वहाँ आ पहुँचे।

तात्पर्य : जब महाराज परीक्षित गंगा के तट पर बैठ गये, तो यह समाचार ब्रह्माण्ड में चारों दिशाओं में फैल गया और अत्यन्त मेधावी मुनिगण, जो इस अवसर के महत्त्व को समझ सकते थे, तीर्थयात्रा का बहाना करके वहाँ आ पहुँचे। वास्तव में वे महाराज परीक्षित से भेंट करने आये थे, स्नान-यात्रा करने नहीं आये थे, क्योंकि वे सभी तीर्थों को पवित्र करने में सक्षम थे। सामान्य लोग अपने समस्त पापों को धोने के लिए तीर्थस्थानों में जाते हैं। इस तरह तीर्थस्थल अन्यों के पापों से बोझिल हो उठते हैं। किन्तु जब ऐसे मुनि बोझिल तीर्थ-स्थानों की यात्रा करते हैं, तो वे अपनी उपस्थिति से उन स्थानों को पवित्र बनाते हैं। अतएव जो मुनि महाराज परीक्षित से भेंट करने आये, उन्हें सामान्य व्यक्तियों की भाँति अपने को शुद्ध करने की परवाह नहीं थी, अपितु वे उस स्थान में स्नान करने के बहाने महाराज परीक्षित से भेंट करने आये थे, क्योंकि उन्होंने यह पूर्वानुमान लगा लिया था कि शुकदेव गोस्वामी द्वारा *श्रीमद्भागवत* का प्रवचन होगा। वे सभी इस महान् अवसर का लाभ उठाना चाहते थे।

अत्रिर्वसिष्ठश्च्यवनः शरद्वा-
नरिष्टनेमिर्भृगुरङ्गिराश्च ।
पराशरो गाधिसुतोऽथ राम
उतथ्य इन्द्रप्रमदेध्मवाहौ ॥ ९ ॥
मेधातिथिर्देवल आर्ष्टिषेणो
भारद्वाजो गौतमः पिप्पलादः ।
मैत्रेय और्वः कवषः कुम्भयोनि-

द्वैपायनो भगवान्नारदश्च ॥ १० ॥

अत्रि से नारद—ये सभी विभिन्न साधु पुरुषों के नाम हैं, जो ब्रह्माण्ड के विभिन्न भागों से यहाँ आये थे।

ब्रह्माण्ड के विभिन्न भागों से बड़े-बड़े मुनि वहाँ आये—यथा अत्रि, च्यवन, शरद्वान्, अरिष्टनेमि, भृगु, वसिष्ठ, पराशर, विश्वामित्र, अङ्गिरा, परशुराम, उतथ्य, इन्द्रप्रमद, इध्मवाहु, मेधातिथि, देवल, आर्ष्टिषेण, भारद्वाज, गौतम, पिप्पलाद, मैत्रेय, और्व, कवष, कुम्भयोनि, द्वैपायन तथा महापुरुष नारद।

तात्पर्य : *च्यवन*—ये महामुनि थे तथा भृगुमुनि के पुत्रों में से एक थे। उनका जन्म समय से पूर्व हुआ था, जब इनकी गर्भिणी माता का अपहरण हुआ था। च्यवन अपने पिता के छः पुत्रों में से एक थे।

भृगु—जब ब्रह्माजी वरुण की ओर से महान् यज्ञ कर रहे थे, तब महर्षि भृगु यज्ञ की अग्नि से उत्पन्न हुए थे। वे महर्षि थे और उनकी प्रिय पत्नी पुलोमा थीं। वे दुर्वासा, नारद तथा अन्यों की भाँति अन्तरिक्ष में विचरण कर सकते थे और वे ब्रह्माण्ड के सारे ग्रहों में विचरने जाया करते थे। कुरुक्षेत्र युद्ध के पूर्व उन्होंने युद्ध रोकने का प्रयास किया। कभी उन्होंने भारद्वाज मुनि को खगोलशास्त्र की शिक्षा दी थी और वे महान् ज्योतिषशास्त्र *बृहद् भृगुसंहिता* के रचियता हैं। उन्होंने बताया कि किस प्रकार आकाश से वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी उत्पन्न होते हैं। उन्होंने बताया कि उदर में वायु किस प्रकार कार्य करती है और आँतों को व्यवस्थित करती है। महान् दार्शनिक के रूप में उन्होंने जीव की शाश्वतता को तर्क से स्थापित किया (*महाभारत*)। वे महान् नृतत्त्वशास्त्री थे। उन्होंने बहुत काल पूर्व विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। वे वर्णाश्रम-व्यवस्था के वैज्ञानिक प्रतिपादकों में थे। उन्होंने क्षत्रिय राजा वीतहव्य को ब्राह्मण बनाया।

वसिष्ठ—देखिये *श्रीमद्भागवत* (१.९.६)।

पराशर—ये वसिष्ठ मुनि के पौत्र तथा व्यासदेव के पिता हैं। ये महर्षि शक्ति के पुत्र थे और इनकी माता का नाम अदृश्यती था। जब वे अपनी माता के गर्भ में थे, तब उनकी माता केवल बारह वर्ष की थीं और माता के गर्भ में ही उन्होंने वेद सीखे थे। उनके पिता का वध कल्माषपाद नामक असुर ने किया था, अतएव इसका बदला लेने के लिए उन्होंने सम्पूर्ण संसार को विनष्ट करना चाहा, किन्तु उनके पितामह वसिष्ठ ने उन्हें रोका। तब उन्होंने राक्षस-वध-यज्ञ सम्पन्न किया, लेकिन महर्षि पुलत्स्य ने उन्हें रोका। सत्यवती से आकर्षित होने पर उन्हें व्यासदेव की प्राप्ति हुई। सत्यवती बाद में महाराज शान्तनु

की पत्नी बनीं। पराशर के आशीर्वाद से ही सत्यवती मीलों तक सुगन्ध फैलाती थीं। वे भीष्म की मृत्यु के समय भी उपस्थित थे। वे महाराज जनक के गुरु थे और शिवजी के महान् भक्त थे। वे अनेक वैदिक शास्त्रों तथा समाजशास्त्रीय निर्देशों के कृतिकार हैं।

गाधिसुत या विश्वामित्र—ये तपस्या तथा योगशक्ति के महान ऋषि थे। ये गाधिसुत के नाम से विख्यात हैं, क्योंकि इनके पिता गाधि कान्यकुब्ज प्रान्त (उत्तर प्रदेश का अंग) के शक्तिशाली राजा थे। यद्यपि ये जन्म से क्षत्रिय थे, लेकिन वे अपनी आध्यात्मिक उपलब्धियों के बल पर उसी शरीर से ब्राह्मण बने। इन्होंने वसिष्ठ मुनि से झगड़ा मोल ले लिया, जब वे क्षत्रिय राजा थे। मतंग मुनि के सहयोग से इन्होंने एक महान् यज्ञ किया। इस प्रकार ये वसिष्ठ के पुत्रों का नाश कर सके। ये महान् योगी बने, किन्तु इन्द्रियों को वश में न रख सकने के कारण इन्हें शकुन्तला का पिता बनना पड़ा जो विश्व इतिहास की परम सुन्दरी है। एक बार जब वे क्षत्रिय राजा थे, तो वे वसिष्ठ मुनि के आश्रम में गये, जहाँ इनका भव्य स्वागत हुआ। विश्वामित्र वसिष्ठ से नन्दिनी नामक गाय चाहते थे, किन्तु मुनि ने उसे देने से इनकार कर दिया। तब विश्वामित्र ने गाय चुरा ली और मुनि तथा राजा के बीच युद्ध छिड़ गया। विश्वामित्र वसिष्ठ की आध्यात्मिक शक्ति से परास्त हुए, अतएव राजा ने ब्राह्मण बनने का निश्चय किया। ब्राह्मण बनने के पूर्व इन्होंने कौशिक नदी के तट पर कठिन तपस्या की। ये उन व्यक्तियों में से थे, जिन्होंने कुरुक्षेत्र युद्ध को रोकना चाहा था।

अङ्गिरा—ये ब्रह्मा के छह मानसपुत्रों में से एक तथा स्वर्ग के देवताओं के अत्यन्त विद्वान पुरोहित बृहस्पति के पिता थे। ये ब्रह्मा के वीर्य से उत्पन्न हुए जिसे उन्होंने अग्नि के एक सुलगते अंगारे को दिया था। उतथ्य तथा संवर्त उनके पुत्र हैं। कहा जाता है कि वे आज भी गंगा के तट पर अलोकानन्दा नामक स्थान पर भगवान् के नाम का कीर्तन करते हैं और तपस्या कर रहे हैं।

परशुराम—देखें *श्रीमद्भागवत* १.९.६।

उतथ्य—ये महर्षि अंगिरा के तीन पुत्रों में से एक तथा महाराज मन्धाता के गुरु थे। उन्होंने सोम (चन्द्रमा) की पुत्री भद्रा से विवाह किया था। जब वरुण ने इनकी पत्नी भद्रा का अपहरण कर लिया, तो जलदेवता वरुण के अपराध का बदला लेने के लिए ये संसार भर का पानी पी गये।

मेधातिथि—प्राचीनकाल के एक वृद्ध मुनि, राजा इन्द्रदेव के सभासद। उनके पुत्र कण्व मुनि थे, जिन्होंने वन में शकुन्तला का पालन किया था। वानप्रस्थ आश्रम का दृढ़ता से पालन करते हुए इन्होंने स्वर्गलोक की प्राप्ति की।

देवल—ये नारद मुनि तथा व्यासदेव की भाँति महान् विशेषज्ञ थे। जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में स्वीकार किया, तो *भगवद्गीता* में उल्लिखित महापुरुषों की सूची में इनका नाम है। ये कुरुक्षेत्र युद्ध के बाद महाराज युधिष्ठिर से मिले थे। ये पाण्डव-परिवार के पुरोहित धौम्य के बड़े भाई थे। क्षत्रियों की भाँति इन्होंने भी अपनी पुत्री को स्वयंवर सभा में अपना पति स्वयं चुनने की अनुमति दी और इस उत्सव में ऋषियों के सभी कुमार पुत्रों को आमंत्रित किया गया था। कुछ लोगों के अनुसार ये असित देवल नहीं हैं।

भारद्वाज—देखें *श्रीमद्भागवत* १.९.६।

गौतम—ये ब्रह्माण्ड के सात महर्षियों में से एक थे। इनके एक पुत्र का नाम शरद्वान गौतम था। आज के गौतम गोत्र के लोग या तो इनके वंशज हैं अथवा इनकी शिष्य-परम्परा के हैं। जो ब्राह्मण अपना गौतम गोत्र बताते हैं, वे इनके वंशज हैं और जितने गौतम गोत्र वाले क्षत्रिय तथा वैश्य हैं, वे उनकी शिष्य-परम्परा के हैं। वे विख्यात अहल्या के पति थे। अहल्या इन्द्रदेव के द्वारा छेड़े जाने पर पत्थर बन गई थी, किन्तु भगवान् रामचन्द्र द्वारा इसका उद्धार हुआ। गौतम कुरुक्षेत्र युद्ध के वीरों में से एक कृपाचार्य के पितामह थे।

मैत्रेय—ये एक प्राचीन ऋषि हैं। ये विदुर के गुरु थे और एक महान् धर्माचार्य थे। इन्होंने धृतराष्ट्र को सलाह दी थी कि वे पाण्डवों से अच्छे मधुर सम्बन्ध बनाये रखें। किन्तु दुर्योधन राजी नहीं हुआ, तो इन्होंने उसे शाप दे दिया। ये व्यासदेव से मिले और उनके साथ इन्होंने धार्मिक चर्चाएँ कीं।

अन्ये च देवर्षिब्रह्मर्षिवर्या
राजर्षिवर्या अरुणादयश्च ।
नानार्षेयप्रवरान् समेता-
नभ्यर्च्य राजा शिरसा ववन्दे ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अन्ये—अन्य अनेक; च—भी; देवर्षि—देवताओं में ऋषि; ब्रह्मर्षि—ऋषितुल्य ब्राह्मण; वर्याः—सर्वश्रेष्ठ; राजर्षि-वर्याः—राजर्षियों में श्रेष्ठ; अरुण-आदयः—राजर्षियों में विशिष्ट पद; च—तथा; नाना—अन्य अनेक; आर्षेय-प्रवरान्—ऋषिवंशों में श्रेष्ठ; समेतान्—एकसाथ, समूहित; अभ्यर्च्य—पूजा करके; राजा—सम्राट ने; शिरसा—भूमि पर सिर झुकाकर; ववन्दे—प्रणाम किया।

इनके अतिरिक्त वहाँ अन्य अनेक देवर्षि, राजा तथा विभिन्न मुनियों के वंशज विशिष्ट राजा आये थे, जिन्हें अरुणादय कहा जाता है। जब वे सब सम्राट (परीक्षित) से मिलने के लिए एकत्र हुए, तो राजा ने सबको शीश नमाकर प्रणाम करते हुए समुचित ढंग से उनका स्वागत किया।

तात्पर्य : गुरुजनों को आदर करने के लिए सिर को भूमि तक झुकाने की प्रथा अत्यन्त उत्तम शिष्टाचार है, जिससे अतिथि अपने को अत्यधिक सम्मानित समझते हैं। यहाँ तक कि उच्च-कोटि के अपराधी के ऐसा करने पर उसे क्षमा कर दिया जाता है और महाराज परीक्षित तो समस्त ऋषियों तथा राजाओं द्वारा अत्यधिक सम्मानित थे। उन्होंने इन समस्त महापुरुषों का विनीत भाव से स्वागत किया, जिससे वे अपने अपराधों के लिए क्षमा किये जा सकें। सामान्यतया जीवन की अन्तिम अवस्था में यह विनीत विधि प्रत्येक संवेदनशील व्यक्ति द्वारा अपनाई जाती है, जिससे प्रयाण के पूर्व उसे क्षमा किया जा सके। इस प्रकार से महाराज परीक्षित ने भगवद्धाम वापस जाने के लिए सबों की शुभ कामनाएँ प्राप्त कीं।

सुखोपविष्टेष्वथ तेषु भूयः
कृतप्रणामः स्वचिकीर्षितं यत् ।
विज्ञापयामास विविक्तचेता
उपस्थितोऽग्रेऽभिगृहीतपाणिः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सुख—सुखपूर्वक; उपविष्टेषु—सभी बैठे हुए; अथ—तत्पश्चात्; तेषु—उनको (आगन्तुकों को); भूयः—फिर; कृत-प्रणामः—प्रणाम करके; स्व—अपना; चिकीर्षितम्—उपवास का निर्णय; यत्—जो; विज्ञापयाम् आस—प्रस्तुत किया; विविक्त-चेताः—सांसारिक मामलों से जिसका मन विरक्त है; उपस्थितः—उपस्थित होकर; अग्रे—उनके सामने; अभिगृहीत-पाणिः—विनीतभाव से हाथ जोड़े।

जब सारे ऋषियों तथा अन्य लोगों ने सुखपूर्वक आसन ग्रहण कर लिया, तो उनके समक्ष हाथ जोड़कर खड़े हुए राजा ने आमरण व्रत करने का अपना संकल्प बतलाया।

तात्पर्य : यद्यपि राजा ने पहले ही गंगा तट पर उपवास करने का निश्चय कर लिया था, किन्तु वहाँ पर उपस्थित महापुरुषों का अभिमत जानने के लिए नियमपूर्वक अपना निर्णय व्यक्त किया। कोई भी निर्णय कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, किसी न किसी अधिकारी द्वारा पुष्ट होना चाहिए। इससे बात पक्की हो जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि उन दिनों जो राजा पृथ्वी पर शासन करते थे, वे गैर-जिम्मेदार तानाशाह नहीं होते थे। वे वैदिक आदेशों के अनुसार सन्तों तथा मुनियों के प्रामाणिक निर्णयों का पालन करते थे। एक पूर्ण राजा के रूप में महाराज परीक्षित ने अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक आचार्यों की सलाह लेकर नियमों का पालन किया।

राजोवाच
अहो वयं धन्यतमा नृपाणां
महत्तमानुग्रहणीयशीलाः ।
राज्ञां कुलं ब्राह्मणपादशौचाद्
दूराद् विसृष्टं बत गर्ह्यकर्म ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—सौभाग्यशाली राजा ने कहा; अहो—ओह; वयम्—हम सब; धन्य-तमाः—अत्यन्त धन्य या कृतज्ञ; नृपाणाम्—समस्त राजाओं का; महत्-तम—महापुरुषों का; अनुग्रहणीय-शीलाः—कृपा प्राप्त करने के लिए प्रशिक्षित; राज्ञाम् कुलम्—राजाओं के समूह; ब्राह्मण-पाद—ब्राह्मणों के चरण; शौचात्—प्रक्षालन से बचा; दूरात्—दूर से; विसृष्टम्—सदा बचा हुआ; बत—के कारण; गर्ह्य—घृणित; कर्म—कार्य।

भाग्यशाली राजा ने कहा : निस्संदेह, मैं समस्त राजाओं में अत्यन्त धन्य हूँ, जो आप जैसे महापुरुषों का अनुग्रह प्राप्त करने के अभ्यस्त हैं। सामान्यतया, आप (ऋषि) लोग राजाओं को किसी दूर स्थान में फेंका जाने योग्य कूड़ा समझते हैं।

तात्पर्य : धार्मिक नियमों के अनुसार मल-मूत्र, धोवन इत्यादि को काफी दूर ले जाकर डालना चाहिए। भले ही घर से लगे स्नानागार, मूत्रालय इत्यादि आधुनिक सभ्यता की सुविधाएँ हों, लेकिन उन्हें रिहायशी मकानों से दूर बनाये जाने का आदेश है। यही उदाहरण यहाँ पर उन राजाओं पर लागू किया गया है, जो भगवद्धाम के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि जो लोग भगवद्धाम जाना चाहते हैं, उनके लिए करोड़पतियों के या राजाओं के घनिष्ठ सम्पर्क में रहना आत्म-हत्या से भी निकृष्ट है। दूसरे शब्दों में, अध्यात्मवादी लोग सामान्यतया ऐसे लोगों की संगति

नहीं करते, जो भगवान् की सृष्टि की बाह्य सुन्दरता द्वारा अत्यधिक आकृष्ट रहते हैं। आध्यात्मिक अनुभूति में उच्च ज्ञान होने से अध्यात्मवादी जानता है कि यह सुन्दर भौतिक जगत वास्तविकता का अर्थात् भगवद्धाम का छायारूप प्रतिबिम्ब मात्र है। अतएव वे राजसी ऐश्वर्य या इसी तरह की अन्य वस्तु से अधिक मोहित नहीं होते। किन्तु महाराज परीक्षित की बात ही कुछ और थी। ऊपरी तौर पर देखने में राजा को एक अनुभवहीन ब्राह्मण बालक द्वारा मृत्यु का शाप मिला था, किन्तु वास्तव में उन्हें भगवान् ने अपने पास बुलाया था। महाराज परीक्षित के आमरण व्रत का समाचार पाकर जितने अध्यात्मवादी, महर्षि तथा योगी वहाँ एकत्र हुए थे, वे उनका दर्शन पाने के लिए उत्सुक थे, क्योंकि वे भगवद्धाम वापस जा रहे थे। महाराज परीक्षित भी इस बात को समझते थे कि वहाँ पर जितने ऋषि एकत्र हुए हैं, वे उनके पूर्वज पाण्डवों की भगवद्भक्ति के कारण उन पर अत्यन्त कृपालु थे। अतएव परीक्षित महाराज अपने जीवन की अन्तिम अवस्था में समस्त मुनियों को वहाँ उपस्थित पाकर अत्यन्त कृतज्ञता का अनुभव कर रहे थे और उन्होंने ऐसा अनुभव किया कि यह सब उनके पूर्वजों तथा पितामहों के प्रताप के कारण था। अतएव उन्हें गर्व हुआ कि वे ऐसे महान् भक्तों के वंशज हैं। भगवान् के भक्तों का ऐसा गर्व भौतिक समृद्धि से उत्पन्न दर्प के तुल्य नहीं होता। इनमें पहला तो वास्तविक है और दूसरा झूठा तथा व्यर्थ है।

तस्यैव मेऽघस्य परावरेशो
व्यासक्तचित्तस्य गृहेष्वभीक्ष्णम् ।
निर्वेदमूलो द्विजशापरूपो
यत्र प्रसक्तो भयमाशु धत्ते ॥ १४॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; एव—निश्चय ही; मे—मेरा; अघस्य—पापी का; परा—दिव्य; अवर—संसारी; ईशः—नियन्ता, भगवान्; व्यासक्त—अत्यधिक आसक्त; चित्तस्य—मन का; गृहेषु—घेरलू मामलों में; अभीक्ष्णम्—सदैव; निर्वेद-मूलः—वैराग्य का कारण; द्विज-शाप—ब्राह्मण द्वारा दिया गया शाप; रूपः—के रूप में; यत्र—जहाँ; प्रसक्तः—प्रभावित; भयम्—भय; आशु—शीघ्र; धत्ते—घटित होते हैं।

आध्यात्मिक तथा प्राकृत जगतों के नियन्ता भगवान् ने ब्राह्मण-शाप के रूप में मुझ पर अत्यन्त कृपा की है। गृहस्थ जीवन में अत्यधिक आसक्त रहने के कारण, मुझे बचाने के लिए भगवान् मेरे समक्ष इस तरह प्रकट हुए हैं कि मैं भयवश अपने आपको संसार से विरक्त कर लूँ।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित यद्यपि महान् भक्त पाण्डवों के परिवार में उत्पन्न हुए थे और यद्यपि उन्हें भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए दिव्य आसक्ति की शिक्षा प्राप्त थी, तो भी उन्हें संसारी गृहस्थ जीवन का आकर्षण इतना प्रबल लग रहा था कि उन्हें भगवान् की योजना द्वारा विलग किया जाना पड़ा। भगवान् विशिष्ट भक्त के लिए ही ऐसी प्रत्यक्ष कार्यवाही करते हैं। महाराज परीक्षित, ब्रह्माण्ड भर से आये श्रेष्ठ अध्यात्मवादियों की उपस्थिति से इसे समझ सके। भगवान् अपने भक्तों के साथ निवास करते हैं, अतएव बड़े-बड़े सन्तों की उपस्थिति भगवान् की उपस्थिति की सूचक थी। अतएव राजा ने महर्षियों की उपस्थिति को परमेश्वर के अनुग्रह का संकेत मानकर उनका स्वागत किया।

तं मोपयातं प्रतियन्तु विप्रा
गङ्गा च देवी धृतचित्तमीशे ।
द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा
दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तम्—इस कारण; मा—मुझको; उपयातम्—शरणागत को; प्रतियन्तु—स्वीकार करें; विप्राः—हे ब्राह्मणों; गङ्गा—गंगा माता; च—भी; देवी—भगवान् की प्रत्यक्ष प्रतिनिधि; धृत—धारण किया; चित्तम्—हृदय; ईशे—भगवान् में; द्विज-उपसृष्टः—ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न; कुहकः—चमत्कार; तक्षकः—तक्षक नाग; वा—या; दशतु—काटे; अलम्—अविलम्ब; गायत—कृपया गाते रहें; विष्णु-गाथाः—विष्णु के कार्यों की कथा।

हे ब्राह्मणों, आप मुझे पूर्ण रूप से शरणागत के रूप में स्वीकार करें और भगवान् की प्रतिनिधि-स्वरूपा माँ गंगा भी मुझे इसी रूप में स्वीकार करें, क्योंकि मैं पहले से अपने हृदय में भगवान् के चरणकमलों को धारण किये हूँ। अब चाहे तक्षक नाग, या ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न कोई भी चमत्कारी वस्तु, मुझे तुरन्त डस ले। मेरी एकमात्र इच्छा यह है कि आप सब भगवान् विष्णु की लीलाओं का गायन करते रहें।

तात्पर्य : ज्योंही कोई परमेश्वर के चरणकमलों में पूर्ण रूप से समर्पित हो जाता है, तो वह मृत्यु से तनिक भी भयभीत नहीं होता। गंगा नदी के तट पर भगवद्भक्तों की उपस्थिति से तथा महाराज परीक्षित द्वारा भगवान् के चरणकमलों में पूर्ण शरणागति से उत्पन्न वातावरण इस बात की गारंटी थी कि राजा भगवद्धाम वापस जा रहे हैं। इस तरह वे मृत्यु के भय से सर्वथा मुक्त हो गये।

पुनश्च भूयाद्भगवत्यनन्ते
रतिः प्रसङ्गश्च तदाश्रयेषु ।
महत्सु यां यामुपयामि सृष्टिं
मैत्र्यस्तु सर्वत्र नमो द्विजेभ्यः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

पुनः—फिर; च—तथा; भूयात्—ऐसा हो; भगवति—भगवान् श्रीकृष्ण में; अनन्ते—अनन्त शक्तिमान; रतिः—आकर्षण; प्रसङ्गः—संगति; च—भी; तत्—उसका; आश्रयेषु—उनके भक्तों से; महत्सु—भौतिक सृष्टि में; याम् याम्—जो जो; उपयामि—मैं ले सकता हूँ; सृष्टिम्—जन्म; मैत्री—मित्रता; अस्तु—हो; सर्वत्र—सभी जगह; नमः—मेरा नमस्कार है; द्विजेभ्यः—ब्राह्मणों को।

मैं आप समस्त ब्राह्मणों को पुनः नमस्कार करके यही प्रार्थना करता हूँ कि यदि मैं इस भौतिक जगत में फिर से जन्म लूँ, तो अनन्त भगवान् कृष्ण के प्रति मेरी पूर्ण आसक्ति हो, उनके भक्तों की संगति प्राप्त हो और समस्त जीवों के साथ मैत्री-भाव रहे।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित ने यहाँ पर यह बताया है कि भगवद्भक्त ही एकमात्र परिपूर्ण जीव होता है। भगवद्भक्त किसी का शत्रु नहीं होता, भले ही उसके अनेक शत्रु हों। भगवद्भक्त अभक्तों की संगति में नहीं रहना चाहता, यद्यपि उनसे उसकी शत्रुता नहीं होती। वह भगवद्भक्तों की ही संगति चाहता है। यह सर्वथा स्वाभाविक है, क्योंकि समान विचारकों में ही मैत्री सम्भव है। और भक्त का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है, समस्त जीवों के पिता भगवान् श्रीकृष्ण में पूर्ण अनुरक्ति। जिस प्रकार एक पिता का अच्छा बेटा अपने समस्त भाइयों से मित्रवत् आचरण करता है, उसी तरह भगवद्भक्त, परम पिता भगवान् श्रीकृष्ण का अच्छा बेटा होने के कारण, अन्य समस्त जीवों को अपने परम पिता से सम्बन्धित देखता है। वह अपने पिता के उद्दंड पुत्रों को सभ्य बनाकर उनसे ईश्वर के परम पितृत्व को स्वीकार कराने का प्रयास करता है। महाराज परीक्षित निश्चित रूप से भगवद्धाम वापस जा रहे थे, किन्तु यदि उन्हें न भी जाना होता, तो भी उन्होंने जिस तरह के जीवन के लिए प्रार्थना की, वह भौतिक जगत के लिए परम पूर्ण विधि है। शुद्ध भक्त कभी ब्रह्मा जैसे महापुरुषों का साथ भी नहीं चाहता है, उसे तो क्षुद्र जीव की भी संगति पसन्द है, बशर्ते कि वह भगवद्भक्त हो।

इति स्म राजाध्यवसाययुक्तः

प्राचीनमूलेषु कुशेषु धीरः ।
उदङ्मुखो दक्षिणकूल आस्ते
समुद्रपत्न्याः स्वसुतन्यस्तभारः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; स्म—भूतकाल के लिए प्रयुक्त; राजा—राजा; अध्यवसाय—धीरज; युक्तः—लगे हुए; प्राचीन—पूर्वी; मूलेषु—जड़ के समेत; कुशेषु—कुश घास से बने आसन पर; धीरः—आत्म-संयमी; उदङ्-मुखः—उत्तराभिमुख; दक्षिण—दक्षिणी; कूले—किनारे पर; आस्ते—स्थित; समुद्र—समुद्र की; पत्न्याः—पत्नी (गंगा); स्व—अपना; सुत—पुत्र; न्यस्त—त्यागा हुआ; भारः—प्रशासन का भार।

पूर्ण आत्म-संयम से, महाराज परीक्षित पूर्वाभिमुख जड़ोंवाले कुशों के बने हुए, गंगा के दक्षिणी तट पर रखे, आसन पर बैठ गये और उन्होंने अपना मुख उत्तर की ओर कर लिया। इसके पूर्व उन्होंने अपने साम्राज्य का सारा भार अपने पुत्र को सौंप दिया था।

तात्पर्य : गंगा नदी समुद्र पत्नी के रूप में विख्यात है। कुश का बना आसन पवित्र माना जाता है, यदि उसे जड़ समेत भूमि से उखाड़ा गया हो और यदि उसकी जड़ें पूर्व की ओर हों तो उसे शुभ माना जाता है। आध्यात्मिक सफलता के लिए उत्तराभिमुख होना और भी अनुकूल होता है। महाराज परीक्षित ने घर छोड़ने के पूर्व प्रशासन का भार अपने पुत्र को सौंप दिया था। इस तरह समस्त परिस्थितियाँ उनके अनुकूल थीं।

एवं च तस्मिन्नरदेवदेवे
प्रायोपविष्टे दिवि देवसङ्घाः ।
प्रशस्य भूमौ व्यकिरन् प्रसूनै-
र्मुदा मुहुर्दुन्दुभयश्च नेदुः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; च—तथा; तस्मिन्—उसमें; नर-देव-देवे—राजा में; प्राय-उपविष्टे—आमरण उपवास में लगा; दिवि—आकाश में; देव—देवता; सङ्घाः—सबके सब; प्रशस्य—कार्य की प्रशंसा करके; भूमौ—पृथ्वी पर; व्यकिरन्—बरसाया; प्रसूनैः—फूलों से; मुदा—प्रसन्न होकर; मुहुः—निरन्तर; दुन्दुभयः—दैवी ढोल; च—भी; नेदुः—बजाये गये।

इस प्रकार महाराज परीक्षित आमरण उपवास करने के लिए बैठ गये। स्वर्गलोक के सारे देवता राजा के इस कार्य की प्रशंसा करने लगे और हर्ष-विभोर होकर पृथ्वी पर निरन्तर पुष्प-वर्षा करने लगे तथा दैवी नगाड़े बजाने लगे।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित के काल तक भी अन्तर्ग्रहीय यातायात था और महाराज परीक्षित के मोक्ष–प्राप्ति हेतु किए जाने वाले आमरण उपवास की खबर आकाश में उच्च लोकों तक फैल गई, जहाँ बुद्धिमान देवता रहते हैं। देवतागण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक समृद्धशाली होते हैं, लेकिन वे सभी परमेश्वर की आज्ञाओं के पालक हैं। स्वर्गलोक में एक भी नास्तिक नहीं है। इस तरह पृथ्वी के किसी भगवद्भक्त की वे प्रशंसा करते हैं और महाराज परीक्षित से तो वे अत्यधिक हर्षित थे, अतएव उन्होंने पुष्पों की वृष्टि करके तथा दैवी नगाड़े बजाकर उनका सम्मान किया। कोई भी देवता किसी भक्त को भगवद्धाम जाते देखकर हर्षित होता है। वह भगवद्भक्त से सदा प्रसन्न रहता है, यहाँ तक कि वह अपनी आधिदैविक शक्ति से भक्तों की सभी प्रकार से सहायता करता है और उनके कार्यों से भगवान् प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार भगवान्, देवता तथा पृथ्वी पर स्थित भगवद्भक्त के बीच पूर्ण सहयोग की अदृश्य शृंखला बनी हुई है।

महर्षयो वै समुपागता ये
प्रशस्य साध्वित्यनुमोदमानाः ।
ऊचुः प्रजानुग्रहशीलसारा
यदुत्तमश्लोकगुणाभिरूपम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

महर्षयः—महर्षिगण; वै—सचमुच; समुपागताः—वहाँ एकत्रित; ये—जो; प्रशस्य—प्रशंसा करके; साधु—बहुत अच्छा; इति—इस प्रकार; अनुमोदमानाः—अनुमोदित करते हुए; ऊचुः—कहा; प्रजा-अनुग्रह—जीवों का कल्याण करने; शील-साराः—गुणात्मक रूप से शक्तिमान; यत्—क्योंकि; उत्तम-श्लोक—चुने हुए श्लोकों से प्रशंसित; गुण-अभिरूपम्—दैवी गुणों के समान सुन्दर।

वहाँ पर एकत्र हुए सारे ऋषियों ने भी महाराज परीक्षित के निर्णय को सराहा और "बहुत अच्छा (साधु-साधु)" कहकर उन्होंने अपना अनुमोदन व्यक्त किया। स्वभावतः मुनिगण सामान्य लोगों का कल्याण करने के लिए उन्मुख रहते हैं, क्योंकि उनमें परमेश्वर के सारे गुण पाये जाते हैं। अतएव वे भगवान् के भक्त महाराज परीक्षित को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : भक्ति मय सेवा का पद प्राप्त करने पर जीव का प्राकृतिक सौन्दर्य बढ़ जाता है। महाराज परीक्षित भगवान् कृष्ण की आसक्ति में लीन थे। यह देखकर वहाँ पर एकत्र सारे ऋषि अत्यन्त प्रसन्न

थे। उन्होंने 'साधु-साधु' कहकर अपनी ओर से अनुमोदन किया। ऐसे ऋषि सामान्य लोगों का कल्याण चाहते रहते हैं और जब वे महाराज परीक्षित जैसे महानुभाव को भक्ति-पथ पर अग्रसर होते देखते हैं, तो उनके हर्ष की सीमा नहीं रहती और वे अपनी शक्ति में जो हैं, वे सब आशीर्वाद देते हैं। भगवद्भक्ति इतनी शुभ है कि सारे देवता तथा ऋषि, यहाँ तक कि स्वयं भगवान् भी भक्त से प्रसन्न हो जाते हैं, इसीलिए भक्त को प्रत्येक वस्तु शुभ दिखती है। प्रगतिशील भक्त के मार्ग से सारी अशुभ बातें हटा ली जाती हैं। मृत्यु के समय महर्षियों से भेंट निश्चय ही महाराज परीक्षित के लिए शुभ थी और इस तरह वे ब्राह्मण बालक के तथाकथित शाप से धन्य हो गये।

न वा इदं राजर्षिवर्य चित्रं
भवत्सु कृष्णं समनुव्रतेषु ।
येऽध्यासनं राजकिरीटजुष्टं
सद्यो जहुर्भगवत्पार्श्वकामाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

न—न तो; वा—इस प्रकार; इदम्—यह; राजर्षि—राजाओं के ऋषि; वर्य—प्रधान; चित्रम्—आश्चर्यजनक; भवत्सु—आप सबों को; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण; समनुव्रतेषु—उस पथ पर दृढ़ रहनेवालों को; ये—जो; अध्यासनम्—सिंहासनारूढ़; राज-किरीट—राजमुकुट; जुष्टम्—अलंकृत; सद्यः—शीघ्र; जहुः—त्याग दिया; भगवत्—भगवान्; पार्श्व-कामाः—संगति प्राप्त करने का इच्छुक।

(मुनियों ने कहा :) हे भगवान् श्रीकृष्ण की परम्परा का पालन करनेवाले पाण्डुवंशी राजर्षियों के प्रमुख! यह तनिक भी आश्चर्यप्रद नहीं कि आप अपना वह सिंहासन, जो अनेक राजाओं के मुकुटों से सुसज्जित है, भगवान् का नित्य सान्निध्य प्राप्त करने के लिए त्याग रहे हैं।

तात्पर्य : मूर्ख राजनीतिज्ञ जो प्रशासनिक पदों पर डटे हुए होते हैं, सोचते हैं कि वे जिन अस्थायी पदों पर हैं, वे जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि हैं। अतएव वे उन पदों पर जीवन के अन्तिम क्षणों तक चिपके रहते हैं, उन्हें इसका ध्यान कहाँ कि मुक्ति प्राप्त करके भगवद्धाम में भगवान् के पार्षदों में से एक पद प्राप्त करना जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य है। मनुष्य जन्म इसी के लिए मिला है। भगवान् ने *भगवद्गीता* में हमें कई बार आश्वस्त किया है कि सनातन भगवद्धाम वापस जाना सर्वोच्च उपलब्धि है। प्रह्लाद महाराज ने भगवान् नृसिंह से प्रार्थना करते हुए कहा, "हे प्रभु! मैं जीवन की भौतिकतावादी शैली से अत्यधिक भयभीत हूँ। मैं आपके इस भयावने नृसिंहदेव रूप से तनिक भी भयभीत नहीं हूँ।

यह भौतिकतावादी जीवन शैली चक्की के पाट के समान है, जिसके द्वारा हम कुचले जा रहे हैं। हम जीवन की उत्ताल तरंगों के भयावह भँवर में गिर गये हैं। अतएव हे भगवान्! मैं आपके चरणकमलों में प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे सेवक के रूप में अपने नित्य धाम में वापस बुला लें। यही इस भौतिकतावादी जीवनशैली की सर्वोच्च मुक्ति है। मुझे इस भौतिकतावादी जीवन का अत्यन्त कटु अनुभव है। मैंने अपने कर्मों के वशीभूत होकर जिस-जिस योनि में जन्म लिया है, मुझे दो बातों का पीड़ादायक अनुभव हुआ है—अपने प्रिय से विछोह तथा अवांछित से भेंट। इनके प्रतिकार के लिए मैंने जो उपचार अपनाये, वे खुद रोग से अधिक भयावह निकले। अत: मैं जन्म-जन्मांतर एक स्थान से दूसरे स्थान में फिरता रहा, और मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे अपने चरणकमलों में शरण दें।''

पाण्डव राजा, जो संसार के अनेक सन्तों से बढ़कर हैं, जीवन की भौतिकतावादी शैली के कटु परिणामों से अवगत थे। वे कभी उस राजसिंहासन की चकाचौंध से मोहित न थे, जिस पर वे बैठे। वे सदैव भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करने के हेतु, उनके द्वारा पुकारे जाने के लिए उत्सुक रहते थे। महाराज परीक्षित महाराज युधिष्ठिर के सुयोग्य पौत्र थे। महाराज युधिष्ठिर ने अपने पौत्र के लिए सिंहासन छोड़ दिया और इसी प्रकार महाराज युधिष्ठिर के पौत्र महाराज परीक्षित ने अपने पुत्र जनमेजय के लिए सिंहासन छोड़ दिया। इस वंश में सारे राजाओं का ऐसा ही रिवाज था, क्योंकि वे सभी कृष्ण की परम्परा का पालन करनेवाले थे। इस तरह भगवद्भक्त कभी भी भौतिकतावादी जीवन की चकाचौंध से मोहित नहीं होते और वे निष्पक्ष भाव से झूठे भ्रामक भौतिकतावादी जीवन के विषयों से अनासक्त रहते हैं।

सर्वे वयं तावदिहास्महेऽथ
कलेवरं यावदसौ विहाय ।
लोकं परं विरजस्कं विशोकं
यास्यत्ययं भागवतप्रधानः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—सभी; वयम्—हमारा; तावत्—तब तक; इह—इस स्थान पर; आस्महे—रुकेंगे; अथ—तत्पश्चात्; कलेवरम्—शरीर; यावत्—जब तक; असौ—राजा; विहाय—त्यागकर; लोकम्—लोक को; परम्—परम; विरजस्कम्—संसारी कल्मष से सर्वथा मुक्त; विशोकम्—सभी प्रकार के शोक से पूर्ण रूप से मुक्त; यास्यति—लौटता है; अयम्—यह; भागवत—भक्त; प्रधानः—प्रमुख।

हम सभी यहाँ पर तब तक प्रतीक्षा करेंगे, जब तक भगवान् के प्रमुख भक्त महाराज परीक्षित परम लोक को लौट नहीं जाते, जो समस्त संसारी कल्मष तथा समस्त प्रकार के शोक से पूर्ण रूप से मुक्त है।

तात्पर्य : भौतिक सृष्टि, जिसकी तुलना आकाश के बादल से की गई है, उसकी सीमा से परे परव्योम अर्थात् आध्यात्मिक आकाश है, जो वैकुण्ठ नामक ग्रहों से भरा हुआ है। ऐसे वैकुण्ठ ग्रह भी भिन्न-भिन्न नामों से जाने जाते हैं यथा पुरुषोत्तमलोक, अच्युतलोक, त्रिविक्रमलोक, हृषीकेशलोक, केशवलोक, अनिरुद्धलोक, माधवलोक, प्रद्युम्नलोक, संकर्षणलोक, श्रीधरलोक, वासुदेवलोक, अयोध्यालोक, द्वारकालोक तथा अन्य अनेकानेक लाखों आध्यात्मिक लोक जहाँ भगवान् अधिष्ठाता हैं। वहाँ के सारे जीव मुक्त आत्मा हैं और उनके शरीर भगवान् के ही समान आध्यात्मिक हैं। वहाँ भौतिक कल्मष नहीं है, हर वस्तु आध्यात्मिक है। अतएव वहाँ कुछ भी शोक करने योग्य नहीं है। ये लोक दिव्य आनन्द से पूर्ण हैं। वहाँ न जन्म है, न जरा, न मृत्यु और न रोग है। उपर्युक्त समस्त वैकुण्ठलोकों में एक परम लोक है, जो गोलोक वृन्दावन कहलाता है, जो भगवान् श्रीकृष्ण तथा विशिष्ट पार्षदों का धाम है। महाराज परीक्षित के लिए यह विशिष्ट धाम पूर्वनिश्चित था और वहाँ पर एकत्र हुए सारे ऋषि इसे पहले से देख सकते थे। वे सभी महान् राजा के महाप्रस्थान के विषय में परस्पर बातें कर रहे थे और वे उन्हें अन्तिम क्षण तक देखना चाह रहे थे, क्योंकि उन्हें फिर ऐसा महान् भगवद्भक्त देखने को नहीं मिलेगा। जब भगवान् का कोई बड़ा भक्त दिवंगत होता है, तो इसमें शोक करने के लिए कुछ नहीं होता, क्योंकि भक्त का भगवद्धाम में प्रवेश पूर्वनिश्चित है। लेकिन दुख की बात तो यह है कि ऐसा महान् भक्त हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है। अतएव दुखी होने की बात तो है ही। जिस तरह भगवान् विरले ही हमारी इन आँखों से दिखते हैं, उसी तरह महान् भक्त भी। अत: महर्षियों ने ठीक ही अपने-अपने स्थानों पर अन्तिम क्षण तक रहने का निश्चय किया।

आश्रुत्य तदृषिगणवचः परीक्षित्
समं मधुच्युद् गुरु चाव्यलीकम् ।
आभाषतैनानभिनन्द्य युक्तान्
शुश्रूषमाणश्चरितानि विष्णोः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

आश्रुत्य—सुनकर; तत्—वह; ऋषि-गण—एकत्रित मुनि; वचः—बोलते हुए; परीक्षित्—महाराज परीक्षित; समम्—निष्पक्ष; मधु-च्युत्—सुनने में मधुर; गुरु—गम्भीर; च—भी; अव्यलीकम्—सर्वथा सत्य; आभाषत—कहा; एनान्—वे सब; अभिनन्द्य—स्वागत किया; युक्तान्—ढंग से प्रस्तुत; शुश्रूषमाणः—सुनने के लिए उत्सुक; चरितानि—कार्यकलापों को; विष्णोः—भगवान् के।

महान् ऋषियों ने जो कुछ कहा, वह सुनने में अति सुमधुर, सार्थक तथा यथार्थ रूप से प्रस्तुत किया गया पूर्ण सत्य था। अतएव उन्हें सुनने के बाद महाराज परीक्षित ने भगवान् श्रीकृष्ण के कार्यकलापों के विषय में सुनने की इच्छा से महर्षियों को अभिनन्दन दिया।

समागताः सर्वत एव सर्वे
वेदा यथा मूर्तिधरास्त्रिपृष्ठे ।
नेहाथ नामुत्र च कश्चनार्थ
ऋते परानुग्रहमात्मशीलम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

समागताः—एकत्रित; सर्वतः—सभी दिशाओं से; एव—निश्चय ही; सर्वे—आप सब; वेदाः—परम ज्ञान; यथा—जैसे; मूर्ति-धराः—मूर्तिमंत; त्रि-पृष्ठे—ब्रह्मा के लोक में (जो उर्ध्व, मध्य तथा अधो तीनों लोकों के ऊपर स्थित है); न—नहीं; इह—इस संसार में; अथ—तत्पश्चात्; न—न तो; अमुत्र—अन्य जगत में; च—भी; कश्चन—अन्य कोई; अर्थः—हित, स्वार्थ; ऋते—के अतिरिक्त; पर—अन्य; अनुग्रहम्—कृपा; आत्म-शीलम्—अपना स्वभाव।

राजा ने कहा : हे महर्षियों, आप ब्रह्माण्ड के कोने-कोने से आकर यहाँ पर कृपापूर्वक एकत्र हुए हैं। आप सभी परम ज्ञान के मूर्तिमंत स्वरूप हैं, जो तीनों लोकों के ऊपर के लोक (सत्यलोक) का वासी है। फलस्वरूप आपकी स्वाभाविक प्रवृत्ति अन्यों का कल्याण करने की है और इसके अतिरिक्त इस जीवन में या अगले जीवन में आपकी अन्य कोई रूचि नहीं है।

तात्पर्य : छह प्रकार के ऐश्वर्य हैं—सम्पत्ति, बल, यश, सौन्दर्य, ज्ञान तथा वैराग्य। ये सब मूलतः भगवान् के गुण हैं। परम पुरुष के अंश रूप जीवों में ये सारे गुण आंशिक रूप से, अधिक से अधिक अठहत्तर प्रतिशत पाये जाते हैं। भौतिक जगत में ये गुण (भगवान् के गुणों के १८% तक) भौतिक

शक्ति द्वारा उसी प्रकार ढके रहते हैं, जिस प्रकार सूर्य बादल से ढका रहता है। मेघों से आच्छन्न सूर्य की शक्ति मूल तेज की तुलना में मन्द रहती है। इसी प्रकार ऐसे गुणों से युक्त जीवों का मूल रंग प्राय: लुप्त रहता है। ब्रह्माण्ड में लोकों के तीन वर्ग हैं, जिनके नाम हैं—अधोलोक, मध्यलोक तथा ऊर्ध्वलोक। पृथ्वी के मनुष्य मध्यलोकों के प्रारम्भ में रहते हैं, लेकिन ब्रह्मा जैसे जीव तथा उनके समकालीन जीव ऊर्ध्वलोकों में रहते हैं, जिनमें से सत्यलोक सबसे ऊपर है। सत्यलोक के सारे निवासी वैदिक विद्या में पूर्ण रूप से निष्णात् होते हैं और इस तरह मायारूपी बादल साफ हो जाते हैं। फलस्वरूप वे साक्षात् वेद कहलाते हैं। ऐसे पुरुष संसारी तथा दिव्य दोनों प्रकार के ज्ञान से पूर्ण अवगत होने से संसारी या दिव्य लोकों में कोई रुचि नहीं रखते। वे एक तरह से इच्छारहित भक्त हैं। संसारी जगत में उन्हें कुछ भी प्राप्त करना नहीं रहता और दिव्य जगत में वे स्वयं में पूर्ण रहते हैं। तो फिर वे संसारी जगत में क्यों आते हैं? वे भगवान् के आदेश से विभिन्न लोकों में पतितात्माओं का उद्धार करने के लिए मसीहा (उद्धारकर्ता) के रूप में आते हैं। वे पृथ्वीलोक में आते हैं और विभिन्न परिस्थितियों में लोगों का कल्याण करते हैं। उन्हें इस संसार में भौतिक शक्ति द्वारा प्रवंचित सड़ रहे पतित आत्माओं का उद्धार करने के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं होता।

ततश्च व: पृच्छ्यमिमं विपृच्छे
विश्रभ्य विप्रा इति कृत्यतायाम् ।
सर्वात्मना म्रियमाणैश्च कृत्यं
शुद्धं च तत्रामृशताभियुक्ता: ॥ २४॥

शब्दार्थ

तत:—इस तरह; च—तथा; व:—आपको; पृच्छ्यम्—पूछा जाने योग्य; इमम्—यह; विपृच्छे—पूछता हूँ; विश्रभ्य—विश्वसनीय; विप्रा:—ब्राह्मणों; इति—इस प्रकार; कृत्यतायाम्—विभिन्न कर्तव्यों में से; सर्व-आत्मना—प्रत्येक के द्वारा; म्रियमाणै:—विशेषरूप से मरणासन्नों के द्वारा; च—तथा; कृत्यम्—आज्ञाकारी; शुद्धम्—एकदम सही; च—तथा; तत्र—वहाँ पर; आमृशत—पूर्ण विचार-विमर्श से; अभियुक्ता:—सर्वथा उपयुक्त।

हे विश्वासपात्र ब्राह्मणों, अब मैं अपने वर्तमान कर्तव्य के विषय में पूछ रहा हूँ। कृपया पूर्ण विचार-विमर्श के पश्चात्, मुझे सभी परिस्थितियों में हर एक के कर्तव्य के विषय में और विशेष रूप से जो तुरन्त मरनेवाला हो (मरणासन्न), उसके कर्तव्य के विषय में बतलाइये।

तात्पर्य : इस श्लोक में राजा ने विद्वान मुनियों के समक्ष दो प्रश्न रखे हैं। पहला प्रश्न है कि सभी परिस्थितियों में हर एक का कर्तव्य क्या है? तथा दूसरा प्रश्न है कि मरणासन्न व्यक्ति का विशिष्ट कर्तव्य क्या है? इन दोनों में से मरणासन्न व्यक्ति विषयक प्रश्न सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि हर व्यक्ति मर रहा व्यक्ति है—चाहे वह तुरन्त मरे या सौ वर्ष बाद। आयु अवधि निरर्थक है, किन्तु मरनेवाले व्यक्ति का कर्तव्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। महाराज परीक्षित ने इन दोनों प्रश्नों को शुकदेव गोस्वामी के आने पर उनके समक्ष भी रखा। एक तरह से सम्पूर्ण *श्रीमद्भागवत,* द्वितीय स्कन्ध से लेकर बारहवें स्कंध तक, इन्हीं दोनों प्रश्नों से सम्बन्धित है। इनसे जो निष्कर्ष निकला है वह यह कि भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति मय सेवा ही जीवन में हर एक का स्थायी कर्तव्य है, जिसकी पुष्टि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* के अन्तिम अंशों में की है। महाराज परीक्षित पहले से इस तथ्य से अवगत थे, लेकिन वे चाहते थे कि समागत महर्षिगण इस विषय में अपना निर्णय एक स्वर से दें, जिससे वे किसी मतभेद के बिना अपना कर्तव्य सुनिश्चित कर सकें। उन्होंने *शुद्ध* शब्द का विशेष उल्लेख किया है। दिव्य अनुभूति या आत्म-साक्षात्कार के लिए विभिन्न दार्शनिकों ने अनेक विधियाँ बताई हैं। इनमें से कुछ प्रथम कोटि की हैं, कुछ द्वितीय कोटि की और कुछ तृतीय कोटि की हैं। सर्वोत्तम विधि में अपेक्षा की गई है कि मनुष्य अन्य सारी विधियों को त्याग कर भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करे और इस तरह सम्पूर्ण पापों एवं उनके फलों से बच जाय।

तत्राभवद्भगवान् व्यासपुत्रो
यदृच्छया गामटमानोऽनपेक्षः ।
अलक्ष्यलिङ्गो निजलाभतुष्टो
वृतश्च बालैरवधूतवेषः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अभवत्—प्रकट हुए; भगवान्—शक्तिशाली; व्यास-पुत्रः—व्यासदेव के पुत्र; यदृच्छया—अपनी इच्छानुसार; गाम्—पृथ्वी में; अटमानः—निरन्तर विचरण करते; अनपेक्षः—उदासीन; अलक्ष्य—अव्यक्त; लिङ्गः—लक्षण; निज-लाभ—स्वरूपसिद्ध; तुष्टः—संतुष्ट; वृतः—घिरे हुए; च—तथा; बालैः—बालकों से; अवधूत—अन्यों द्वारा उपेक्षित; वेषः—वेशभूषा में।.

उसी समय व्यासदेव के शक्तिसम्पन्न पुत्र वहाँ प्रकट हुए, जो सम्पूर्ण पृथ्वी पर उदासीन तथा आत्म-तुष्ट होकर विचरण करते रहते थे। उनमें किसी सामाजिक व्यवस्था या जीवन-स्तर

(वर्णाश्रम-धर्म) का कोई लक्षण प्रकट नहीं होता था। वे स्त्रियों तथा बच्चों से घिरे थे और इस प्रकार का वेश धारण किये थे, मानों सभी लोगों ने उन्हें उपेक्षित (अवधूत) समझ रखा हो।

तात्पर्य : *भगवान्* शब्द कभी-कभी शुकदेव गोस्वामी जैसे परमेश्वर के महान् भक्तों के लिए प्रयुक्त होता है। ऐसे मुक्त जीव इस भौतिक जगत के कार्य-व्यापार में उदासीन रहते हैं, क्योंकि वे भक्तिमय सेवा की महान् उपलब्धियों से ही आत्म-तुष्ट रहते हैं। जैसाकि पहले बताया जा चुका है, शुकदेव गोस्वामी ने न तो कोई औपचारिक गुरु का स्वीकार किया, न ही कोई औपचारिक संस्कार सम्पन्न किये। उनके पिता व्यासदेव उनके नैसर्गिक गुरु थे, क्योंकि शुकदेव गोस्वामी ने *श्रीमद्भागवत* इन्हीं से सुना। इसके बाद वे पूर्ण रूप से आत्मतुष्ट बन गये। इस प्रकार वे किसी औपचारिक विधि पर निर्भर न थे। औपचारिक विधियाँ तो उनके लिए आवश्यक हैं, जो पूर्ण मोक्ष अवस्था को प्राप्त करना चाहते हैं, लेकिन श्रीशुकदेव गोस्वामी तो अपने पिता की कृपा से पहले से उस अवस्था में ही थे। तरुण बालक होने के नाते, उनसे समुचित वेश में रहने की आशा की जाती थी, लेकिन वे नग्न रहते और किसी सामाजिक परिपारी में रुचि न दिखाते। सामान्य जन उनकी उपेक्षा करते थे, किन्तु वे जिज्ञासु बालकों तथा स्त्रियों से ऐसे घिरे रहते जैसे की वे कोई पागल हों। इस प्रकार वे यहाँ पर तब प्रगट हुए, जब वे स्वेच्छा से पृथ्वी पर विचरण कर रहे थे। महाराज परीक्षित की जिज्ञासा से ऐसा प्रतीत होता है कि महर्षिगण एकमत नहीं हो पा रहे थे कि क्या किया जाय। आध्यात्मिक मोक्ष के लिए विभिन्न व्यक्ति विभिन्न प्रकार की युक्तियाँ बताते हैं। किन्तु जीवन का चरम लक्ष्य भक्ति की चरम सिद्ध अवस्था प्राप्त करना है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न डॉक्टर भिन्न-भिन्न नुस्खे लिखते हैं, उसी प्रकार मुनियों में भी मत-भिन्नता होती है। जब ये सारी बातें चल रही थीं, तभी व्यासदेव के शक्तिसम्पन्न (तेजस्वी) पुत्र वहाँ पर प्रकट हुए।

तं द्व्यष्टवर्षं सुकुमारपाद-
करोरुबाह्वंसकपोलगात्रम् ।
चार्वायताक्षोन्नसतुल्यकर्ण-
सुभ्र्वाननं कम्बुसुजातकण्ठम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; द्वि-अष्ट—सोलह; वर्षम्—वर्ष; सु-कुमार—कोमल; पाद—पाँव; कर—हाथ; ऊरु—जाँघें; बाहु—भुजाएँ; अंस—कंधे; कपोल—मस्तक; गात्रम्—शरीर; चारु—सुन्दर; आयत—चौड़ा; अक्ष—आँखें; उन्नस—ऊँची नाक; तुल्य—एक-से; कर्ण—कान; सुभ्रु—अच्छी भौंहे; आननम्—चेहरा, मुखमंडल; कम्बु—शंख; सुजात—अच्छी तरह बना; कण्ठम्—कण्ठ, गर्दन।

श्री व्यासदेव के इस पुत्र की आयु केवल सोलह वर्ष थी। उनके पाँव, हाथ, जाँघें, भुजाएँ, कंधे, ललाट तथा शरीर के अन्य भाग अत्यन्त सुकोमल तथा सुगठित बने थे। उनकी आँखें सुन्दर, बड़ी-बड़ी तथा नाक और कान उठे हुए थे। उनका मुखमण्डल अत्यन्त आकर्षक था और उनकी गर्दन सुगठित एवं शंख जैसी सुन्दर थी।

तात्पर्य : सम्मानित व्यक्ति का वर्णन पाँवों से शुरू किया जाता है और यह सम्मानित प्रणाली शुकदेव गोस्वामी पर भी लागू की गई है। वे केवल सोलह वर्ष के थे। व्यक्ति का सम्मान उसकी उपलब्धियों के लिए किया जाता है, न कि उसकी बड़ी आयु के लिए। व्यक्ति अनुभव के आधार पर अधिक सयाना हो सकता है, आयु से नहीं। श्री शुकदेव गोस्वामी, जिन्हें यहाँ पर व्यासदेव के पुत्र के रूप में बताया गया है, अपने ज्ञान के आधार पर वहाँ उपस्थित समस्त मुनियों से अधिक अनुभवी थे, यद्यपि अभी वे केवल सोलह वर्ष के थे।

निगूढजत्रुं पृथुतुङ्गवक्षस-
मावर्तनाभिं वलिवल्गूदरं च ।
दिगम्बरं वक्त्रविकीर्णकेशं
प्रलम्बबाहुं स्वमरोत्तमाभम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

निगूढ—आवृत; जत्रुम्—हँसली, कंधे की हड्डी; पृथु—चौड़ी; तुङ्ग—उठी हुई; वक्षसम्—छाती, सीना; आवर्त—भँवरदार, लहरदार; नाभिम्—नाभि; वलि-वल्गु—धारीदार; उदरम्—उदर, पेट; च—भी; दिक्-अम्बरम्—दिशाएँ ही जिसके वस्त्र हों (नग्न); वक्त्र—कुंचित, घुँघराले; विकीर्ण—छितरे, बिखरे; केशम्—बाल; प्रलम्ब—काफी लम्बे; बाहुम्—हाथ; सु-अमर-उत्तम—देवताओं में सर्वश्रेष्ठ (कृष्ण); आभम्—कान्ति।

उनकी हँसली मांसल थी, छाती चौड़ी तथा मोटी, नाभि गहरी तथा उदर सुन्दर धारियों से युक्त था। उनकी भुजाएँ लम्बी थीं तथा उनके घुँघराले बाल उनके सुन्दर मुखमंडल पर बिखरे हुए थे। वे नग्न थे और उनके शरीर की कान्ति भगवान् कृष्ण जैसी प्रतिबिम्बित हो रही थी।

तात्पर्य : उनकी शारीरिक संरचना उन्हें सामान्य व्यक्तियों से भिन्न बतानेवाली थी। शुकदेव गोस्वामी की शारीरिक संरचना के सम्बन्ध में जितने चिह्नों का वर्णन हुआ है, वे असामान्य लक्षण हैं और रूपाकृति विज्ञान के अनुसार महापुरुषों के लक्षण हैं। उनकी शारीरिक कान्ति भगवान् कृष्ण जैसी थी, जो देवों, देवताओं तथा समस्त जीवों में सर्वश्रेष्ठ हैं।

श्यामं सदापीव्यवयोऽङ्गलक्ष्म्या
स्त्रीणां मनोज्ञं रुचिरस्मितेन ।
प्रत्युत्थितास्ते मुनयः स्वासनेभ्य-
स्तल्लक्षणज्ञा अपि गूढवर्चसम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्यामम्—श्यामल; सदा—सदैव; अपीव्य—अत्यधिक; वयः—आयु; अङ्ग—लक्षण; लक्ष्म्या—ऐश्वर्य से; स्त्रीणाम्—स्त्रियों का; मनः-ज्ञम्—आकर्षक; रुचिर—सुन्दर; स्मितेन—हँसी से; प्रत्युत्थिताः—खड़े हो गये; ते—वे सब; मुनयः—मुनिगण; स्व—अपने; आसनेभ्यः—आसनों से; तत्—वे; लक्षण-ज्ञाः—शरीरलक्षणों के जानने में पटु; अपि—भी; गूढ-वर्चसम्—छिपी हुई महिमा।

वे श्यामल वर्ण के तथा अपनी युवावस्था के कारण अत्यन्त सुन्दर थे। अपने शरीर की कान्ति तथा आकर्षक मुसकान के कारण, वे स्त्रियों के लिए मोहक थे। यद्यपि वे अपनी प्राकृतिक महिमा को छिपाने का प्रयत्न कर रहे थे, तो भी वहाँ पर उपस्थित सारे महर्षि रूपाकृति शास्त्र में पटु थे, अतएव सबों ने अपने-अपने आसन से उठकर उनका सम्मान किया।

स विष्णुरातोऽतिथय आगताय
तस्मै सपर्यां शिरसाजहार ।
ततो निवृत्ता ह्यबुधाः स्त्रियोऽर्भका
महासने सोपविवेश पूजितः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सः—वे; विष्णु-रातः—महाराज परीक्षित (जिनकी रक्षा सदा भगवान् विष्णु करते हैं); अतिथये—अतिथि बनने के लिए; आगताय—वहाँ आये हुए; तस्मै—उन्हें; सपर्याम्—सम्पूर्ण शरीर से; शिरसा—झुके सिर से; आजहार—प्रणाम किया; ततः—तत्पश्चात्; निवृत्ताः—रुक गये; हि—निश्चय ही; अबुधाः—अल्पज्ञ; स्त्रियः—स्त्रियाँ; अर्भकाः—लड़के; महा-आसने—श्रेष्ठ आसन पर; सः—वे; उपविवेश—बैठ गये; पूजितः—पूजा किये गये।

महाराज परीक्षित जिन्हें विष्णुरात (अर्थात् सदैव विष्णु द्वारा रक्षित) के नाम से भी जाना जाता है, उन्होंने मुख्य अतिथि शुकदेव गोस्वामी का स्वागत करने के लिए अपना मस्तक झुकाया। उस समय सारी अल्पज्ञ स्त्रियाँ तथा बालकों ने श्री शुकदेव गोस्वामी का पीछा करना छोड़ दिया। सबों से सम्मान प्राप्त करके, शुकदेव गोस्वामी अपने श्रेष्ठ आसन पर विराजमान हुए।

तात्पर्य : उस सभा में शुकदेव गोस्वामी के आगमन पर श्रील व्यासदेव, नारद तथा कुछ अन्य ऋषियों के अतिरिक्त सभी लोग खड़े हो गये और महाराज परीक्षित ने इस महान् भगवद्भक्त के समक्ष साष्टांग दंडवत् प्रणाम किया। शुकेदव गोस्वामी ने भी सभी से, विशेषकर अपने पिता तथा नारदमुनि के समक्ष, गले मिलते हुए, हाथ मिलाकर, सिर हिलाकर तथा झुककर स्वागत का उत्तर दिया। तब उन्हें सभा का मुख्य आसन प्रदान किया गया। जब राजा तथा मुनि इस प्रकार से उनका स्वागत कर रहे थे, तो गलियों के छोकरे तथा अल्पज्ञ स्त्रियाँ जो उनके पीछे-पीछे चले आ रहे थे, आश्चर्य तथा भय से स्तम्मित रह गये। उन्होंने अपनी छिछोरी हरकतें बन्द कर दों और सब कुछ शान्त तथा गम्भीर हो गया।

स संवृतस्तत्र महान् महीयसां
ब्रह्मर्षिराजर्षिदेवर्षिसङ्घैः ।
व्यरोचतालं भगवान् यथेन्दु-
र्ग्रहर्क्षतारानिकरैः परीतः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सः—श्री शुकदेव गोस्वामी; संवृतः—घिरे हुए; तत्र—वहाँ; महान्—महान्; महीयसाम्—सबसे महान् से; ब्रह्मर्षि—ब्राह्मणों में ऋषि; राजर्षि—राजाओं में साधु; देवर्षि—देवताओं में साधु; सङ्घैः—के समूह द्वारा; व्यरोचत—भलीभाँति योग्य; अलम्—समर्थ; भगवान्—शक्तिमान; यथा—जिस तरह; इन्दुः—चन्द्रमा; ग्रह—लोक; ऋक्ष—स्वर्ग-लोक; तारा—तारे; निकरैः—समूह द्वारा; परीतः—घिरे हुए।

तब शुकदेव गोस्वामी साधु, मुनियों तथा देवताओं से इस तरह घिरे हुए थे जिस तरह चन्द्रमा तारों, नक्षत्रों तथा अन्य आकाशीय पिण्डों से घिरा रहता है। उनकी उपस्थिति अत्यन्त भव्य थी और वे सबों द्वारा सम्मानित हुए।

तात्पर्य : साधु पुरुषों की महासभा में ब्रह्मर्षि व्यासदेव, देवर्षि नारद और क्षत्रिय राजाओं के महान् शासक परशुराम इत्यादि थे। इनमें से कुछ भगवान् के शक्तिसम्पन्न अवतार थे। शुकदेव गोस्वामी न तो

ब्रह्मर्षि थे, न राजर्षि या देवर्षि, न ही वे नारद, व्यास या परशुराम के समान कोई अवतार थे। फिर भी उनका जो स्वागत किया गया, वह उनसे बढ़कर था। इसका अर्थ यह हुआ कि संसार में भगवान् की अपेक्षा भगवान् के भक्त का अधिक सम्मान होता है। अतएव शुकदेव गोस्वामी जैसे भक्त की महत्ता को कभी कम करके नहीं आँकना चाहिए।

प्रशान्तमासीनमकुण्ठमेधसं
मुनिं नृपो भागवतोऽभ्युपेत्य ।
प्रणम्य मूर्ध्नावहितः कृताञ्जलि-
र्नत्वा गिरा सूनृतयान्वपृच्छत् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

प्रशान्तम्—पूर्ण रूप से शान्त; आसीनम्—बैठे हुए; अकुण्ठ—निःसंकोच भाव से; मेधसम्—पर्याप्त बुद्धि-सम्पन्न; मुनिम्—महर्षि को; नृपः—राजा (महाराज परीक्षित) ने; भागवतः—महान् भक्त; अभ्युपेत्य—निकट जाकर; प्रणम्य—प्रणाम करके; मूर्ध्ना—शिर से; अवहितः—ठीक से; कृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़कर; नत्वा—विनम्रतापूर्वक; गिरा—शब्दों से; सूनृतया—मीठी वाणी से; अन्वपृच्छत्—पूछा।

तब प्रखर मुनि श्री शुकदेव गोस्वामी पूर्ण शान्त भाव से बैठ गये। वे किसी भी प्रश्न का निःसंकोच होकर, बुद्धिमत्ता से उत्तर देने के लिए तैयार थे। तब महान् भक्त महाराज परीक्षित उनके पास पहुँचे और उन्होंने उनके समक्ष सिर झुकाकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर मधुर वाणी से विनीत होकर पूछा।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित द्वारा गुरु से प्रश्न की जो मुद्रा अपनाई गई, वह शास्त्र के आदेशों के सर्वथा उपयुक्त है। शास्त्रीय आदेश यह है कि दिव्य विज्ञान समझने के लिए मनुष्य को चाहिए कि गुरु के पास विनीत होकर जाये। महाराज परीक्षित अब मृत्यु को प्राप्त होने के लिए उद्यत थे और सात दिनों की अल्प अवधि के पश्चात् वे भगवद्-धाम में प्रवेश करने की विधि जाननेवाले थे। ऐसे महत्त्वपूर्ण मामलों में मनुष्य को गुरु के पास पहुँचना पड़ता है। जब तक जीवन की समस्याओं का हल खोजने की आवश्यकता न हो, तब तक गुरु के पास जाने की आवश्यकता नहीं होती है। जिसे गुरु के समक्ष प्रश्न पूछने की समझ न हो, उसे गुरु के पास नहीं जाना चाहिए। गुरु की सारी योग्यताएँ शुकदेव गोस्वामी में पूर्ण रूप से प्रकट थीं। गुरु तथा शिष्य अर्थात् श्री शुकदेव एवं महाराज परीक्षित दोनों ने *श्रीमद्भागवत* के माध्यम से पूर्णता प्राप्त की। शुकदेव गोस्वामी ने अपने पिता व्यासदेव से

श्रीमद्भागवत सीखा, लेकिन उन्हें उसे सुनाने का अवसर नहीं मिला था। अतएव उन्होंने महाराज परीक्षित के समक्ष *भागवत* का पाठ किया और बिना हिचक के महाराज परीक्षित के प्रश्नों के उत्तर दिये। इस प्रकार गुरु तथा शिष्य दोनों को मुक्ति प्राप्त हुई।

परीक्षिदुवाच
अहो अद्य वयं ब्रह्मन् सत्सेव्याः क्षत्रबन्धवः ।
कृपयातिथिरूपेण भवद्भिस्तीर्थकाः कृताः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

परीक्षित् उवाच—भाग्यशाली महाराज परीक्षित ने कहा; अहो—अहो; अद्य—आज; वयम्—हम; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; सत्-सेव्याः—भक्तों की सेवा करने योग्य; क्षत्र—शासक-वर्ग; बन्धवः—मित्र; कृपया—आपकी कृपा से; अतिथि-रूपेण—अतिथि के रूप में; भवद्भिः—आपके द्वारा; तीर्थकाः—तीर्थ-स्थल होने के योग्य; कृताः—किया गया।

भाग्यशाली राजा परीक्षित ने कहा : हे ब्राह्मण, आपने कृपा करके यहाँ पर मेरे अतिथि के रूप में उपस्थित होकर, हम सबों के लिए तीर्थस्थल बनाकर हमें पवित्र बना दिया है। आपकी कृपा से हम अयोग्य राजा भक्त की सेवा करने के सुपात्र बनते हैं।

तात्पर्य : शुकदेव गोस्वामी जैसे सन्त भक्त सामान्यतया किन्हीं भौतिक भोक्ताओं, विशेष रूप से राजाओं के पास नहीं आते। महाराज प्रतापरुद्र भगवान् चैतन्य के अनुयायी थे, किन्तु जब उन्होंने भगवान् का दर्शन करना चाहा, तो भगवान् ने उससे भेंट करने से इनकार कर दिया, क्योंकि वे राजा थे। जो भक्त भगवान् के धाम वापस जाना चाहते हैं, उनके लिए दो बातें वर्जित हैं—सांसारिक भोक्ता तथा स्त्रियाँ। अतएव शुकदेव गोस्वामी के स्तर के भक्त राजाओं से भेंट करने में कभी रुचि नहीं रखते। निस्सन्देह, महाराज परीक्षित की बात दूसरी थी। वे राजा होते हुए भी महान् भक्त थे, अतएव शुकदेव गोस्वामी उन्हें उनके जीवन के अन्तिम क्षणों में मिलने आये। महाराज परीक्षित, अपनी भक्तिमयी विनयशीलता के कारण, अपने को अपने महान् क्षत्रिय पूर्वजों का अयोग्य वंशज अनुभव कर रहे थे, यद्यपि वे अपने पूर्वगामियों के ही समान महान् थे। राजाओं की अयोग्य सन्तानें *क्षत्र-बन्धव* कहलाती हैं, जिस तरह ब्राह्मणों की अयोग्य सन्तानें *द्विज-बन्धु* या *ब्रह्मबन्धु* कहलाती हैं। महाराज परीक्षित शुकदेव गोस्वामी की उपस्थिति से अत्यन्त प्रोत्साहित थे। वे महान् सन्त की उपस्थिति से अपने को

पवित्र हुआ मान रहे थे, क्योंकि ऐसे सन्त की उपस्थिति किसी भी स्थान को तीर्थस्थल में बदल देती है।

येषां संस्मरणात्पुंसां सद्यः शुद्ध्यन्ति वै गृहाः ।
किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

येषाम्—जिसके; संस्मरणात्—स्मृति से; पुंसाम्—पुरुष का; सद्यः—तुरन्त; शुद्ध्यन्ति—स्वच्छ हो जाते हैं; वै—निश्चय ही; गृहाः—सारे घर; किम्—क्या; पुनः—तब; दर्शन—भेंट; स्पर्श—छूना; पाद—पाँव; शौच—धोना; आसन-आदिभिः—आसन प्रदान करने आदि से।

आपके स्मरण मात्र से हमारे घर तुरन्त पवित्र हो जाते हैं। तो आपको देखने, स्पर्श करने, आपके पवित्र चरणों को धोने तथा अपने घर में आपको आसन प्रदान करने के विषय में तो कहना ही क्या?

तात्पर्य : पवित्र तीर्थ स्थानों का महत्त्व बड़े-बड़े मुनियों तथा सन्तों की उपस्थिति के कारण है। कहा जाता है कि पापी लोग पवित्र स्थानों में जाते हैं और अपने पापों को वहाँ छोड़ आते हैं जिससे वे वहाँ संचित हों। लेकिन बड़े-बड़े सन्तों की उपस्थिति से वह स्थान संचित पापों के संदूषण से मुक्त हो जाते हैं और इस तरह वहाँ पर उपस्थित भक्तों तथा सन्तों की कृपा से वे पवित्र स्थान पवित्र बने रहते हैं। यदि ऐसे सन्त सांसारिक लोगों के घरों में प्रकट हों, तो निश्चय ही सांसारिक भोक्ताओं के संचित पाप शमित होते जाते हैं। अतएव पवित्र सन्तों का गृहस्थों से कोई स्वार्थ नहीं रहता; उनका एकमात्र उद्देश्य गृहस्थों के घरों को पवित्र बनाना है। अतएव जब ऐसे सन्त-महात्मा द्वार पर आयें तो गृहस्थों को उनका कृतज्ञ होना चाहिए। जो गृहस्थ ऐसे पवित्र आदेशों का निरादर करता है, वह महान् अपराधी है। अतएव ऐसा आदेश है कि जो गृहस्थ सन्त को देखकर सिर नहीं झुकाता, उसे अपने महान् अपराध को निष्प्रभावित करने के लिए उस दिन उपवास करना चाहिए।

सान्निध्यात्ते महायोगिन्पातकानि महान्त्यपि ।
सद्यो नश्यन्ति वै पुंसां विष्णोरिव सुरेतराः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

सान्निध्यात्—उपस्थिति के कारण; ते—आपकी; महा-योगिन्—हे महान् योगी; पातकानि—सारे पाप; महान्ति—अभेद्य; अपि—के बावजूद; सद्यः—तुरन्त; नश्यन्ति—नष्ट हो जाते हैं; वै—निश्चय ही; पुंसाम्—व्यक्ति; विष्णोः—भगवान् की उपस्थिति; इव—सदृश; सुर-इतराः—देवताओं के अतिरिक्त।

जिस प्रकार भगवान् की उपस्थिति में नास्तिक नहीं टिक सकता, उसी तरह हे सन्त, हे महान् योगी, मनुष्य के अभेद्य पाप भी आपकी उपस्थिति में तुरन्त नष्ट हो जाते हैं।

तात्पर्य : मनुष्यों की दो श्रेणियाँ हैं—नास्तिक तथा भगवद्भक्त। चूँकि भगवद्भक्त दैवी गुणों को प्रकट करता है, अतः वह देवता कहलाता है, जबकि नास्तिक असुर कहलाता है। भगवान् विष्णु की उपस्थिति में असुर (राक्षस) टिक नहीं सकता। असुरगण सदा ही भगवान् को नष्ट करने में जुटे रहते हैं, लेकिन तथ्य यह है कि भगवान् ज्योंही अपने नाम, रूप, गुण, लीला, साज-समान, या विविधता के माध्यम से प्रकट होते हैं, त्योंही असुर तत्काल नष्ट हो जाता है। कहा जाता है कि भगवान् के नाम का कीर्तन करते ही भूत भाग जाता है। बड़े-बड़े सन्त तथा भक्त भगवान् की साज-सामग्री की सूची में सम्मिलित होते हैं और इस प्रकार ज्योंही सन्त-रूपी भक्त उपस्थित होता है कि भूत-सदृश सारे पाप तुरन्त नष्ट हो जाते हैं। यह सारे वैदिक ग्रन्थों का निर्णय है। अतएव मनुष्य के लिए सन्त भक्तों की ही संगति करने की संस्तुति की जाती है, जिससे सांसारिक असुर तथा भूतप्रेत अपना दुष्प्रभाव न डाल सकें।

अपि मे भगवान् प्रीतः कृष्णः पाण्डुसुतप्रियः ।
पैतृष्वसेयप्रीत्यर्थं तद्गोत्रस्यात्तबान्धवः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

अपि—निश्चित रूप से; मे—मुझको; भगवान्—भगवान्; प्रीतः—प्रसन्न; कृष्णः—भगवान्; पाण्डु-सुत—राजा पाण्डु के पुत्र; प्रियः—प्रिय; पैतृ—पिता से सम्बन्धित; स्वसेय—बहन के बेटे; प्रीति—सन्तोष; अर्थम्—के सम्बन्ध में; तत्—उनका; गोत्रस्य—वंशज; आत्त—स्वीकृत; बान्धवः—मित्र के रूप में।

भगवान् कृष्ण जो राजा पाण्डु के पुत्रों को अत्यन्त प्रिय हैं, उन्होंने अपने महान् भाँजों तथा भाइयों को प्रसन्न करने के लिए मुझे भी सम्बन्धी की तरह स्वीकार किया है।

तात्पर्य : एक विशुद्ध अनन्य भगवद्भक्त अपने परिवार की सेवा, झूठे पारिवारिक मामलों में आसक्तों की अपेक्षा, अधिक अच्छे ढंग से करता है। सामान्यतया लोग पारिवारिक मामलों में आसक्त

रहते हैं और मानव समाज का सारा आर्थिक प्रेरक बल पारिवारिक मोह के वशीभूत होकर चलता है। ऐसे मोहग्रस्त लोगों को इतनी जानकारी नहीं रहती कि वे भगवद्भक्त बनकर परिवार की अधिक अच्छी सेवा कर सकते हैं। भगवान् अपने भक्त के पारिवारिक सदस्यों तथा वंशजों को विशेष सुरक्षा प्रदान करते हैं, भले ही ये सदस्य स्वयं अभक्त क्यों न हों! महाराज प्रह्लाद भगवान् के महान् भक्त थे, लेकिन उनका पिता हिरण्यकशिपु घोर नास्तिक तथा घोषित रूप से भगवान् का शत्रु था। किन्तु इतना सारा होते हुए भी, हिरण्यकशिपु को मोक्ष प्रदान किया गया, क्योंकि वह महाराज प्रह्लाद का पिता था। भगवान् इतने दयालु हैं कि वे अपने भक्त के परिवारजनों को सारी सुरक्षा प्रदान करते हैं, जिससे भक्त को अपने परिवार के विषय में चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, यहाँ तक कि चाहे भक्ति करने के लिए वह ऐसे सदस्यों को छोड़ भी दे। महाराज युधिष्ठिर तथा उनके भाई कुन्ती के पुत्र थे और कुन्ती कृष्ण की बुआ थीं। महाराज परीक्षित महान् पाण्डवों के एकमात्र पौत्र होने के कारण, भगवान् कृष्ण का संरक्षण स्वीकार करते हैं।

अन्यथा तेऽव्यक्तगतेर्दर्शनं नः कथं नृणाम् ।
नितरां म्रियमाणानां संसिद्धस्य वनीयसः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

अन्यथा—अन्यथा; ते—आपका; अव्यक्त-गतेः—अदृश्य गतिविधियों वाले का; दर्शनम्—मिलाप, भेंट; नः—हमारे लिए; कथम्—कैसे; नृणाम्—लोगों का; नितराम्—विशेष रूप से; म्रियमाणानाम्—मरणासन्नों का; संसिद्धस्य—परम पूर्ण का; वनीयसः—स्वेच्छा से प्राकट्य।

अन्यथा (भगवान् कृष्ण की प्रेरणा के बिना) यह कैसे सम्भव है कि आप स्वेच्छा से यहाँ प्रकट हुए, जबकि आप सामान्य लोगों से ओझल रहकर विचरण करते हैं और हम मरणासन्नों को दृष्टिगोचर नहीं होते।

तात्पर्य : निश्चित ही महर्षि शुकदेव गोस्वामी भगवान् कृष्ण द्वारा प्रेरित होकर महान् भगवद्भक्त महाराज परीक्षित के समक्ष स्वेच्छा से प्रकट हुए थे, जिससे उन्हें *श्रीमद्भागवत* की शिक्षा दे सकें। मनुष्य अपने गुरु तथा भगवान् की कृपा से ही भगवान् की भक्ति के सार को प्राप्त कर सकता है। गुरु भगवान् के व्यक्त प्रतिनिधि होते हैं, जो उसे अन्तिम सफलता प्राप्त करने में सहायता करते हैं। जिसे भगवान् अधिकार नहीं देते, वह गुरु नहीं बन सकता। श्रील शुकदेव गोस्वामी प्रधिकृत गुरु थे, अतएव

भगवान् ने उन्हें प्रेरणा दी कि वे महाराज परीक्षित के समक्ष प्रकट हों तथा उन्हें *श्रीमद्भागवत* की शिक्षाएँ दें। मनुष्य यदि भगवान् के भेजे गये प्रधिकृत प्रतिनिधि का कृपापात्र होता है, तो वह भगवद्धाम जाने की चरम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। ज्योंही भगवद्भक्त की भेंट भगवान् के असली प्रतिनिधि से होती है, त्योंही वह इस शरीर को त्यागने के बाद भगवद्धाम जाने की गारंटी पा जाता है। किन्तु यह भक्त की खुद की निष्ठा पर निर्भर करता है। भगवान् सभी जीवों के हृदयों में विद्यमान हैं, अतएव वे हर व्यक्ति की गतिविधियों से अवगत रहते हैं। ज्योंही भगवान् देखते हैं कि कोई जीव भगवद्धाम जाने के लिए अत्यधिक उत्सुक है, तो भगवान् तुरन्त ही अपना प्रामाणिक प्रतिनिधि भेजते हैं। इस प्रकार निष्ठावान भक्त का भगवद्धाम जाना सुनिश्चित हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि प्रामाणिक गुरु की सहायता प्राप्त करने का अर्थ है, *साक्षात् भगवान् से प्रत्यक्ष सहायता प्राप्त करना।*

अत: पृच्छामि संसिद्धिं योगिनां परमं गुरुम् ।
पुरुषस्येह यत्कार्यं म्रियमाणस्य सर्वथा ॥ ३७॥

शब्दार्थ

अतः—अतएव; पृच्छामि—पूछता हूँ; संसिद्धिम्—पूर्णता का मार्ग; योगिनाम्—सन्तों का; परमम्—परम; गुरुम्—गुरु; पुरुषस्य—पुरुष का; इह—इस जीवन में; यत्—जो भी; कार्यम्—कर्तव्य; म्रियमाणस्य—मरणासन्न का; सर्वथा—सब प्रकार से।

आप महान् सन्तों तथा भक्तों के गुरु हैं। अतएव मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप सारे व्यक्तियों के लिए और विशेष रूप से जो मरणासन्न हैं, उनके लिए पूर्णता का मार्ग दिखलाइये।

तात्पर्य : जब तक कोई पूर्णता के मार्ग के विषय में पूछने के लिए पूरी तरह उत्सुक न हो, तब तक गुरु के पास जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। गुरु, गृहस्थ के लिए अलंकरण स्वरूप नहीं होते। सामान्यतया फैशनपरस्त भौतिकतावादी बिना किसी लाभ के तथाकथित गुरु नियुक्त कर लेता है। ऐसा छद्म-रूप गुरु तथाकथित शिष्य की चापलूसी करता है और नि:सन्देह इस तरह गुरु तथा शिष्य दोनों ही नरक को जाते हैं। महाराज परीक्षित अच्छे शिष्य थे, क्योंकि वे सबों के लिए और विशेष रूप से मरणासन्न के लिए लाभप्रद प्रश्न पूछते हैं। महाराज परीक्षित द्वारा पूछा गया प्रश्न *श्रीमद्भागवत* के सम्पूर्ण प्रतिपाद्य विषय का मूल सिद्धान्त है। अब हमें देखना है कि महान् गुरु कितनी बुद्धिमत्तापूर्वक इसका उत्तर देते हैं।

यच्छ्रोतव्यमथो जप्यं यत्कर्तव्यं नृभिः प्रभो ।
स्मर्तव्यं भजनीयं वा ब्रूहि यद्वा विपर्ययम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो भी; श्रोतव्यम्—सुनने योग्य; अथो—इससे; जप्यम्—उच्चरित; यत्—जो भी; कर्तव्यम्—किया गया; नृभिः—सामान्यजनों द्वारा; प्रभो—हे स्वामी; स्मर्तव्यम्—स्मरण करने योग्य; भजनीयम्—पूजा के योग्य; वा—अथवा; ब्रूहि—कृपया बताएँ; यद् वा—जो कुछ भी हो; विपर्ययम्—सिद्धान्त के विरुद्ध।

कृपया मुझे बतायें कि मनुष्य को क्या सुनना, जपना, स्मरण करना तथा पूजना चाहिए और यह भी बतायें कि उसे क्या-क्या नहीं करना चाहिए। कृपा करके मुझे यह सब बतलाइए।

नूनं भगवतो ब्रह्मन् गृहेषु गृहमेधिनाम् ।
न लक्ष्यते ह्यवस्थानमपि गोदोहनं क्वचित् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—क्योंकि; भगवतः—आपका, जो शक्तिमान हैं; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; गृहेषु—घरों में; गृह-मेधिनाम्—गृहस्थों का; न—नहीं; लक्ष्यते—देखे जाते हैं; हि—निश्चित ही; अवस्थानम्—ठहराव; अपि—भी; गो-दोहनम्—गाय की दुहाई; क्वचित्—विरले ही।

हे शक्तिसम्पन्न ब्राह्मण, कहा जाता है कि आप लोगों के घर में मुश्किल से उतनी देर भी नहीं रुकते हैं, जितनी देर में गाय दुही जाती है।

तात्पर्य : संन्यास आश्रम में, सन्त तथा मुनि, गृहस्थ के घर प्रात:काल गौवें दुहते समय जाते हैं और अपने उदर-पोषण के लिए कुछ दूध माँगते हैं। गाय का धारोष्ण एक सेर दूध एक प्रौढ़ व्यक्ति के शरीर-पोषण के लिए पर्याप्त होता है। यह सभी विटामिनों से युक्त होता है, अतएव सन्त तथा मुनि केवल दूध पीकर जीवित रहते हैं। गरीब से गरीब गृहस्थ भी, कम से कम दस गौवें रखता है और प्रत्येक गाय कम से कम १२ से २० क्वार्ट दूध देती है, अतएव कोई भी साधुओं के लिए कुछ सेर दूध देने में हिचक नहीं दिखाता। यह गृहस्थों का कर्तव्य है कि बच्चों की भाँति वे संतों तथा मुनियों का पालन करें। इस तरह शुकदेव गोस्वामी जैसे सन्त को किसी गृहस्थ के द्वार पर प्रात:काल पाँच मिनट से अधिक नहीं रुकना होता। दूसरे शब्दों में, ऐसे सन्त गृहस्थों के घरों में विरले ही देखे जाते हैं, इसीलिए महाराज परीक्षित ने उनसे प्रार्थना की कि जितनी जल्दी हो सके वे उपदेश दें। गृहस्थों को भी इतना बुद्धिमान तो होना ही चाहिए कि वे द्वार पर आये हुए मुनि से कुछ दिव्य संदेश प्राप्त कर लें।

गृहस्थ को सन्त से यह नहीं कहना चाहिए कि वे उस चीज के विषय में उपदेश दें; जो बाजार में भी मिलता हो। सन्तों तथा गृहस्थों में पारस्परिक आदान-प्रदान का ऐसा सम्बन्ध होना चाहिए।

सूत उवाच
एवमाभाषितः पृष्टः स राज्ञा श्लक्ष्णया गिरा ।
प्रत्यभाषत धर्मज्ञो भगवान् बादरायणिः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; आभाषितः—बोले जाने पर; पृष्टः—तथा पूछे जाने पर; सः—वे; राज्ञा—राजा द्वारा; श्लक्ष्णया—मीठी; गिरा—भाषा से; प्रत्यभाषत—उत्तर देना प्रारम्भ किया; धर्म-ज्ञः—धर्म के सिद्धान्तों को जाननेवाले; भगवान्—शक्तिमान पुरुष; बादरायणिः—व्यासदेव के पुत्र ने।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : इस तरह मीठी भाषा का प्रयोग करते हुए राजा ने बातें कीं तथा प्रश्न किये। तब व्यासदेव के पुत्र जो महान् तथा शक्तिसम्पन्न पुरुष एवं धर्मवेत्ता थे, उन्होंने उत्तर देना प्रारम्भ किया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत 'शुकदेव गोस्वामी का प्रकट होना' नामक उन्नीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter एक

ईश अनुभूति का प्रथम सोपान

ईश-स्तवन

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय॥

ॐ—हे भगवन्; नमः—मेरा सादर नमस्कार; भगवते—भगवान् को; वासुदेवाय—वसुदेव के पुत्र भगवान् कृष्ण को।

हे सर्वव्यापी भगवन्, मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : वासुदेवाय का अर्थ है 'वसुदेव के पुत्र कृष्ण को'। चूँकि वासुदेव कृष्ण के नाम-कीर्तन से मनुष्य दान तथा तप के सारे शुभ फल प्राप्त कर सकता है, अतएव *ॐ नमो भगवते वासुदेवाय* नामक इस मंत्र के कीर्तन से *श्रीमद्भागवत* का रचयिता, वक्ता या कोई पाठक आनन्द स्वरूप परमेश्वर कृष्ण को सादर नमस्कार करता है। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध में सृष्टि के नियमों का वर्णन है, अतएव प्रथम स्कंध को 'सृष्टि' कहा जा सकता है।

इसी प्रकार द्वितीय स्कंध में 'सृष्टि का परवर्ती दृश्य जगत' वर्णित है। इस स्कंध में विभिन्न लोकों का वर्णन, भगवान् के विराट शरीर के विभिन्न भागों के रूप में किया गया है। इस कारण से, इस द्वितीय स्कंध को 'दृश्य जगत' कहा जा सकता है। द्वितीय स्कंध में दस अध्याय हैं और इन दस अध्यायों में *श्रीमद्भागवत* का ध्येय एवं ध्येय के विभिन्न लक्षणों का वृत्तान्त है। पहले अध्याय में कीर्तन की महिमा का वर्णन है और यह ऐसी विधि का संकेत करता है, जिससे नवदीक्षित भक्त भगवान् के विश्वरूप का ध्यान कर सकता है। इसके प्रथम श्लोक में शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित के उन प्रश्नों का उत्तर देते हैं जिनमें उन्होंने एक मरणासन्न मनुष्य के कर्तव्य के बारे में पूछा था। महाराज परीक्षित को शुकदेव गोस्वामी का स्वागत करते हुए हर्ष हो रहा था और उन्हें गर्व था कि वे कृष्ण के अन्तरंग सखा 'अर्जुन' के वंशज हैं। वे व्यक्तिगत रूप से अत्यन्त विनीत एवं सौम्य थे, लेकिन उन्होंने प्रसन्नता व्यक्त की कि कृष्ण उसके पितामहों, पाण्डु के पुत्रों पर, एवं विशेष रूप से उनके पितामह अर्जुन पर अत्यधिक प्रसन्न थे। चूँकि भगवान् कृष्ण महाराज परीक्षित के परिवार से

सदैव प्रसन्न रहते थे, अतएव महाराज परीक्षित के मरणासन्न होने पर, आत्म-साक्षात्कार की विधि में सहायता पहुँचाने के लिए, शुकदेव गोस्वामी को भेजा गया था। महाराज परीक्षित अपने बाल्यकाल से भगवान् कृष्ण के भक्त थे, अतएव उनका कृष्ण के प्रति सहज स्नेह था। शुकदेव गोस्वामी इस निष्ठा को जानते थे, अतएव उन्होंने राजा के कर्तव्य के विषय में प्रश्नों का स्वागत किया। चूँकि राजा ने यह संकेत किया था कि प्रत्येक जीव का चरम कर्तव्य भगवान् कृष्ण की सेवा करना है, अतएव शुकदेव गोस्वामी ने इस सुझाव का स्वागत करते हुए कहा "चूँकि आपने कृष्ण विषयक प्रश्न पूछे हैं, अतएव आपका प्रश्न अत्यन्त महिमामय है।" प्रथम श्लोक का अनुवाद इस प्रकार है।

श्री-शुक उवाच

वरीयानेष ते प्रश्नः कृतो लोक-हितं नृप ।
आत्मवित्सम्मतः पुंसां श्रोतव्यादिषु यः परः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; वरीयान्—महिमायुक्त; एषः—यह; ते—तुम्हारा; प्रश्नः—प्रश्न, सवाल; कृतः—तुम्हारे द्वारा किया गया; लोक-हितम्—सभी मनुष्यों के लिए लाभप्रद; नृप—हे राजा; आत्मवित्—अध्यात्मवादी, योगी; सम्मतः—स्वीकृत; पुंसाम्—सभी पुरुषों का; श्रोतव्य-आदिषु—सभी प्रकार के श्रवण में; यः—जो है; परः—परम, सर्वश्रेष्ठ।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, आपका प्रश्न महिमामय है, क्योंकि यह समस्त प्रकार के लोगों के लिए बहुत लाभप्रद है। इस प्रश्न का उत्तर श्रवण करने का प्रमुख विषय है और समस्त अध्यात्मवादियों ने इसको स्वीकार किया है।

तात्पर्य : यह प्रश्न स्वयंही इतना उत्तम है कि यह श्रवण करने (सुनने) का सर्वश्रेष्ठ विषय है। ऐसा प्रश्न करने तथा श्रवण करने मात्र से मनुष्य को सर्वोच्च जीवन-सिद्धि प्राप्त हो सकती है। चूँकि भगवान् कृष्ण आदि परम पुरुष हैं, अतएव उनके विषय में कोई भी प्रश्न मौलिक तथा पूर्ण है। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि जीवन की चरम सिद्धि कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति प्राप्त करना है। चूँकि कृष्ण विषयक प्रश्नोत्तर मनुष्य को दिव्य पद प्रदान करनेवाले हैं, अतएव कृष्णदर्शन के विषय में महाराज परीक्षित के प्रश्न अत्यन्त महिमामय हैं। महाराज परीक्षित अपने मन को पूर्ण रूप से कृष्ण में लीन करना चाहते थे और यह कृष्ण के असामान्य कार्यकलापों के श्रवणमात्र से ही सम्भव है। उदाहरणार्थ, *भगवद्गीता* में कहा गया है कि कृष्ण के आविर्भाव, तिरोधान तथा उनकी लीलाओं की

दिव्य प्रकृति को समझ लेने मात्र से ही मनुष्य तुरन्त भगवद्धाम को वापस जा सकता है और इस दुखमय भौतिक जगत में फिर कभी नहीं लौटता। अतएव सदा ही कृष्ण के विषय में श्रवण करना बहुत शुभ होता है। महाराज परीक्षित ने इसीलिए शुकेदव गोस्वामी से प्रार्थना की कि वे कृष्ण के कार्यकलापों का वर्णन करें जिससे वे अपना मन कृष्ण में प्रवृत्त कर सकें। कृष्ण के कार्यकलाप साक्षात् कृष्ण से अभिन्न हैं। जब तक मनुष्य कृष्ण के ऐसे दिव्य कार्यकलापों को सुनने में मग्न रहता है तब तक वह इस जगत के बद्ध जीवन से विलग रहता है। कृष्ण की कथाएँ इतनी मंगलमय हैं कि वे वक्ता, श्रोता तथा जिज्ञासु को परि-शुद्ध बना देती हैं। उनकी तुलना उस गंगाजल से की जाती है, जो भगवान् कृष्ण के अँगूठे से निकलता है। गंगा का जल जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ की भूमि तथा उसमें स्नान करनेवाले व्यक्ति शुद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार कृष्ण कथाएँ इतनी शुद्ध हैं कि जहाँ भी इनका कथन होता है, वह स्थान, उनके श्रोता, जिज्ञासु, वक्ता तथा अन्य सारे सम्बद्ध लोग परि-शुद्ध हो जाते हैं।

श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः ।
अपश्यतामात्म-तत्त्वं गृहेषु गृह-मेधिनाम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्रोतव्य-आदीनि—श्रवण योग्य विषयों में; राजेन्द्र—हे सम्राट; नृणाम्—मानव समाज का; सन्ति—हैं; सहस्रशः—सैकड़ों तथा हजारों; अपश्यताम्—अंधे का; आत्म-तत्त्वम्—आत्म-ज्ञान, परम सत्य; गृहेषु—घर में; गृह-मेधिनाम्—भौतिकता में फँसे व्यक्तियों का।

हे सम्राट, भौतिकता में उलझे उन व्यक्तियों के पास जो परम सत्य विषयक ज्ञान के प्रति अंधे हैं, मानव समाज में सुनने के लिए अनेक विषय होते हैं।

तात्पर्य : शास्त्रों में पारिवारिक जीवन के लिए दो नाम हैं—एक *गृहस्थ* और दूसरा *गृहमेधी*। गृहस्थ वे हैं, जो अपनी पत्नी तथा बच्चों के साथ-साथ रहते हैं, लेकिन परम सत्य की अनुभूति के लिए आध्यात्मिक जीवन बिताते हैं। किन्तु *गृहमेधी* वे हैं, जो केवल पारिवारिक सदस्यों के लाभ के लिए जीवित रहते हैं, चाहे संयुक्त परिवार में रहें या छोटे परिवार में रहें और वे अन्यों से ईर्ष्या करते हैं। *मेधी* शब्द अन्यों से ईर्ष्या का सूचक है। *गृहमेधी* केवल पारिवारिक मामलों में रुचि रखने के कारण, निश्चित रूप से, अन्यों के प्रति ईर्ष्यालु रहते हैं। अतएव एक *गृहमेधी* का दूसरे *गृहमेधी* से अच्छा सम्बन्ध नहीं रहता और व्यापक रूप में एक जाति, समाज या राष्ट्र स्वार्थी रुचि के कारण अन्य

जाति, समाज या राष्ट्र से अच्छे सम्बन्ध नहीं रखते। इस कलियुग में सारे गृहस्थ एक दूसरे से ईर्ष्या करते हैं, क्योंकि वे परम सत्य के ज्ञान के प्रति अन्धे हैं। उनके पास सुनने के लिए अनेक प्रकार के विषय हैं यथा राजनीतिक, वैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक आदि लेकिन अल्पज्ञान के कारण वे जीवन के घोर कष्टों—जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के दुखों की परवाह नहीं करते। वास्तव में मनुष्य जीवन तो जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि का अन्तिम हल खोज निकालने के लिए है, लेकिन भौतिक प्रकृति के द्वारा मोहग्रस्त होने के कारण *गृहमेधी* आत्म-साक्षात्कार के विषय में सब कुछ भूल जाते हैं। जीवन की समस्याओं का अन्तिम हल तो भगवद्धाम को वापस जाना है और जैसाकि *भगवद्गीता* (८.१६) में कहा गया है, वहाँ जगत के सारे क्लेश यथा जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि दूर हो जाते हैं।

भगवद्धाम वापस जाने की विधि है भगवान् तथा उनके नाम, रूप, गुण, लीलाओं, साज-सामान तथा विविधता के विषय में श्रवण करना। मूर्ख लोग इसे नहीं जानते। वे तो प्रत्येक नाशवान वस्तु के नाम, रूप आदि के विषय में कुछ न कुछ सुनना चाहते हैं और वे यह नहीं जानते कि सुनने की इस प्रवृत्ति का सदुपयोग परम कल्याण के लिए किस तरह किया जाय। वे भ्रांत तो रहते ही हैं, अतएव वे परम सत्य के नाम, रूप, गुणों आदि के विषयों में कुछ मिथ्या-साहित्य भी तैयार कर लेते हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह केवल अन्यों से ईर्ष्या करने के लिए *गृहमेधी* न बने; उसे शास्त्रों के आदेशानुसार असली गृहस्थ बनना चाहिए।

निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वयः ।
दिवा चार्थेहया राजन् कुटुम्ब-भरणेन वा ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

निद्रया—सो करके; ह्रियते—नष्ट करते हैं; नक्तम्—रात्रि; व्यवायेन—मैथुन में; च—भी; वा—या तो; वयः—जीवन-अवधि, आयु; दिवा—दिन; च—भी; अर्थ—आर्थिक; ईहया—विकास; राजन्—हे राजा; कुटुम्ब—पारिवारिक सदस्यों के; भरणेन—पालन करने में; वा—अथवा।

ऐसे ईर्ष्यालु गृहस्थ (गृहमेधी) का जीवन रात्रि में या तो सोने या मैथुन में रत रहने तथा दिन में धन कमाने या परिवार के सदस्यों के भरण-पोषण में बीतता है।

तात्पर्य : वर्तमान मानव सभ्यता, मुख्यतः रात्रि में सोने तथा मैथुन करने और दिन में धन कमाने और उसे परिवार के भरण-पोषण हेतु खर्च करने के सिद्धान्तों पर आधारित है। इस तरह की मानव

सभ्यता *भागवत* विचारधारा द्वारा निन्दित है।

चूँकि मानव जीवन भौतिक पदार्थ तथा आत्मा का संमेल है, अतएव वैदिक ज्ञान की पूरी प्रकिया आत्मा को पदार्थ के संदूषण से मुक्त करने की दिशा में प्रेरित रहती है। इससे सम्बन्धित ज्ञान *आत्म-तत्त्व* कहलाता है। जो लोग अत्यधिक भौतिकतावादी हैं, वे इस ज्ञान से अनजान रहते हैं और भौतिक भोग के लिए आर्थिक विकास के प्रति अधिक उन्मुख होते हैं। ऐसे भौतिकतावादी लोग *कर्मी* कहलाते हैं और उन्हें नियमित आर्थिक विकास या यौनाचार के लिए स्त्री-संगति की छूट रहती है। जो लोग *कर्मियों* से ऊपर हैं—यथा *ज्ञानी, योगी* तथा *भक्त,* उन्हें यौनाचार सर्वथा वर्जित है। *कर्मी* लोग *आत्म-तत्त्व* से बहुत कुछ विहीन होते हैं और इस तरह उनका जीवन बिना किसी आध्यात्मिक लाभ के बीत जाता है। यह मनुष्य-जीवन, न तो आर्थिक विकास के लिए कठिन श्रम करने के निमित्त है, न शूकरों-कूकरों की भाँति मैथुन में रत रहने के लिए है। यह तो भौतिक जीवन की समस्याओं तथा उनके फलस्वरूप उत्पन्न कष्टों का हल ढूँढ़ने के लिए है। इस तरह *कर्मीजन* रात्रि को सोकर तथा मैथुन में रत रहकर और दिन को सम्पत्ति-संग्रह करने के लिए कठिन श्रम करके बिता देते हैं। ऐसा करके वे भौतिकतावादी जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयास करते हैं। यहाँ पर भौतिकतावादी जीवन का सारांश-रुप में वर्णन हुआ है और अगले श्लोक में बताया गया है कि किस तरह लोग मनुष्य-जीवन के वरदान को मूर्खतापूर्वक नष्ट करते हैं।

देहापत्य-कलत्रादिष्वात्म-सैन्येष्वसत्स्वपि ।
तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति ॥ ४॥

शब्दार्थ

देह—शरीर; अपत्य—बच्चे; कलत्र—पत्नी; आदिषु—तथा अन्य सारे सम्बन्धों में; आत्म—निजी; सैन्येषु—सिपाहियों में; असत्सु—पतनशील; अपि—के बावजूद; तेषाम्—उन सबों का; प्रमत्तः—अत्यधिक आसक्त; निधनम्—विनाश; पश्यन्—अनुभव करके; अपि—यद्यपि; न—नहीं; पश्यति—देखते हैं।

आत्मतत्त्व से विहीन व्यक्ति जीवन की समस्याओं के विषय में जिज्ञासा नहीं करते, क्योंकि वे शरीर, बच्चे तथा पत्नी रूपी विनाशोन्मुख सैनिकों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं। पर्याप्त अनुभवी होने के बावजूद भी वे अपने अवश्यंभावी मृत्यु को नहीं देख पाते।

तात्पर्य : यह भौतिक जगत मर्त्यलोक कहलाता है। जिनकी आयु लाखों वर्ष होती है, उस ब्रह्म से

लेकर कुछ ही पलों तक जीवित रहने वाले जीवाणुओं तक, ये सब जीवन–संघर्ष कर रहे हैं। इस तरह यह जीवन एक प्रकार से भौतिक प्रकृति के साथ युद्ध की तरह है, जिसमें सबकी मृत्यु होनी है। मानव योनि में, जीव इस विकट संघर्ष को समझने में सक्षम होता है, लेकिन परिजनों, समाज, देश इत्यादि के प्रति अत्यधिक आसक्त रहने से वह अपनी शारीरिक शक्ति, बच्चे, पत्नी, सम्बन्धीजनों इत्यादि की सहायता से दुर्जेय भौतिक प्रकृति पर विजय पाना चाहता है। यद्यपि वह अपने विगत अनुभवों तथा पूर्ववर्ती दिवंगत वंशजों के उदाहरणों से अत्यधिक अनुभवी बन जाता है, तो भी वह यह नहीं देख पाता कि तथाकथित लड़ने वाले सैनिक, अर्थात् बच्चे, परिजन, समाज के सदस्य तथा देशवासी इस महान् संघर्ष में सभी विनाशशील हैं। मनुष्य को इस तथ्य की छान–बीन कर लेनी चाहिए कि उसका पिता या पिता का पिता पहले ही दिवंगत हो चुका है। अतएव उसकी भी मृत्यु अवश्यंभावी है। इसी प्रकार उसके बच्चे भी, जो अपने बच्चों के पिता होंगे, यथासमय मर जायेंगे। भौतिक प्रकृति के साथ इस संघर्ष में कोई भी नहीं बचेगा। मानव समाज का इतिहास इसे पूर्णतः सिद्ध करता है; फिर भी मूर्ख लोग सुझाव रखते हैं कि वे भौतिक विज्ञान की सहायता से भविष्य में अनन्त काल तक जीवित रह सकेंगे। मानव समाज द्वारा प्रदर्शित ऐसा अल्पज्ञान निश्चय ही भ्रामक है और यह सब आत्मा के स्वरूप की अवहेलना करने के कारण है। इस भौतिक जगत का अस्तित्व स्वप्नतुल्य है, जो इसके प्रति हमारी आसक्ति के कारण है। अन्यथा जीवात्मा तो सदा ही भौतिक प्रकृति से भिन्न है। प्रकृति का महासागर समय की तरंगों से आन्दोलित हो रहा है और तथाकथित जीवित अवस्थाएँ फेन के बुदबुदों के सदृश हैं, जो हमारे समक्ष स्वशरीर, पत्नी, बच्चे, समाज, देश इत्यादि के रूप में प्रकट होती हैं। आत्मा के ज्ञान (*आत्मतत्त्व*) के अभाव में हम अज्ञान की शक्ति के शिकार बनते है और इस तरह जीवन की स्थायी परिस्थितियों की व्यर्थ खोज के पीछे मूल्यवान मानवी शक्ति बर्बाद करते हैं, जो इस जगत में असम्भव है।

हमारे मित्र, कुटुम्बी और तथाकथित पत्नी एवं बच्चे न केवल विनाशशील हैं, अपितु जगत की बाह्य चकाचौंध से मोहग्रस्त भी हैं। अतएव वे हमें बचा नहीं सकते। फिर भी हम सोचते हैं कि हम परिवार, समाज या देश के घेरे में सुरक्षित हैं।

मानव सभ्यता का सम्पूर्ण भौतिकतावादी विकास शव की सजावट जैसा है। प्रत्येक व्यक्ति शव तुल्य है, जो कुछ दिनों तक अपने पंख फड़फड़ाता है; फिर भी मनुष्य की सारी शक्ति इस शव को अलंकृत करने में व्यर्थ जाती है। शुकदेव गोस्वामी मोहग्रस्त मानवीय कार्यकलापों की वास्तविक स्थिति का दर्शन कराकर, मनुष्य के कर्तव्य की ओर संकेत कर रहे हैं। जो लोग *आत्मतत्त्व* के ज्ञान से विहीन हैं, वे दिग्भ्रमित हैं, लेकिन जो भगवद्भक्त हैं और जिन्हें दिव्य ज्ञान की पूर्ण अनुभूति है, वे मोहग्रस्त नहीं होते।

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; भारत—हे भरतवंशी; सर्वात्मा—परमात्मा; भगवान्—भगवान्; ईश्वरः—नियामक; हरिः—भगवान्, जो सारे कष्टों को हरनेवाले हैं; श्रोतव्यः—श्रवणीय है; कीर्तितव्यः—महिमागायन के योग्य; च—भी; स्मर्तव्यः—स्मरणीय; च—तथा; इच्छता—इच्छा करनेवाले की; अभयम्—स्वतन्त्रता।

हे भरतवंशी, जो समस्त कष्टों से मुक्त होने का इच्छुक है उसे उन भगवान् का श्रवण, महिमा-गायन तथा स्मरण करना चाहिए जो परमात्मा, नियंता तथा समस्त कष्टों से रक्षा करने वाले हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में श्री शुकदेव गोस्वामी ने यह बताया कि किस प्रकार मूर्ख एवं भौतिकतावादी व्यक्ति सोकर, विषयी जीवन में लिप्त रहकर, आर्थिक दशा सुधारने तथा उन कुटुम्बियों के भरण-पोषण में, जो विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जाने वाले हैं, अपने मूल्यवान समय का अपव्यय करते हैं। इन भौतिकतावादी कार्यकलापों में संलग्न रहने के कारण जीवात्मा सकाम कर्म के चक्र में अपने को उलझा देता है। यह चक्र चौरासी लाख योनियों में—जलचर, वनस्पतियाँ, सरीसृप, पक्षी, पशु, असभ्य मानव तथा उसके बाद फिर से मनुष्य रूप में—जन्म-मृत्यु का चक्र है और यही सकाम कर्म के चक्र से छूटने का सुअवसर है। अत: यदि कोई इस विषाक्त चक्र से मुक्ति चाहता है, तो उसे *कर्मी* नहीं बनना चाहिए, अर्थात् अपने ही अच्छे या बुरे कर्म के फल का भोक्ता नहीं बनना चाहिए। उसे अपने लिये अच्छा या बुरा कोई कर्म नहीं करना चाहिए, अपितु हर वस्तु को सर्वोच्च स्वामी परमेश्वर के निमित्त करना चाहिए। कर्म करने की यह विधि *भगवद्गीता* (९.२७) में भी संस्तुत

है, जिसमें भगवान् के निमित्त कर्म करने के लिए आदेश है। अतएव सर्वप्रथम मनुष्य को भगवान् के विषय में श्रवण करना चाहिए। पूरी तरह छानबीन करके श्रवण कर लेने के बाद, उसे भगवान् के कार्यकलापों का महिमा-गायन करना चाहिए। इस तरह वह निरन्तर भगवान् के दिव्य स्वभाव का स्मरण कर सकेगा। भगवान् का श्रवण तथा महिमा-गायन भगवान् के दिव्य स्वभाव से अभिन्न है और इस तरह करने पर मनुष्य सदैव भगवान् के सान्निध्य में रहेगा। इससे सभी प्रकार के भय से मुक्ति मिल जाती है। भगवान् परमात्मा हैं, जो प्रत्येक जीव के हृदय में विद्यमान हैं। इस प्रकार उपर्युक्त श्रवण तथा महिमा-गायन की विधि से भगवान् समग्र सृष्टि को अपनी संगति करने का आमन्त्रण देते हैं। भगवान् के श्रवण तथा महिमा-गायन की यह विधि सब पर लागू होती है, चाहे वह जो भी हो और इससे उसे प्रत्येक कार्य में परम सफलता प्राप्त होगी। मनुष्यों की कई श्रेणियाँ हैं—*कर्मी, ज्ञानी, योगी* तथा अनन्य भक्त। इन सब पर इच्छित सफलता प्राप्त करने के लिए यही विधि लागू होती है। प्रत्येक व्यक्ति सभी प्रकार के भय से मुक्त होना चाहता है और सर्वाधिक सुख भोगना चाहता है। इसे प्राप्त करने की सम्यक् विधि की संस्तुति यहाँ *श्रीमद्भागवत* में की गई है, जो श्री शुकदेव गोस्वामी-जैसे महान् अधिकारी द्वारा कथित है। भगवान् के श्रवण तथा महिमा-गायन से मनुष्य के सारे कार्यकलाप आध्यात्मिक बन जाते हैं और इस तरह से भौतिक दुखों की सारी अव-धारणाएँ पूरी तरह नष्ट हो जाती हैं।

एतावान् साङ्ख्य-योगाभ्यां स्व-धर्म-परिनिष्ठया ।
जन्म-लाभः परः पुंसामन्ते नारायण-स्मृतिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

एतावान्—ये सब; साङ्ख्य—पदार्थ तथा आत्मा विषयक पूर्ण ज्ञान; योगाभ्याम्—योगशक्ति के ज्ञान से; स्व-धर्म—विशिष्ट वृत्तिपरक कर्तव्य; परिनिष्ठया—पूर्ण अनुभूति के द्वारा; जन्म—जन्म; लाभः—लाभ; परः—परम; पुंसाम्—पुरुष का; अन्ते—अन्त में; नारायण—भगवान् की; स्मृतिः—स्मृति, याद।

पदार्थ तथा आत्मा के पूर्ण ज्ञान से, योगशक्ति से या स्वधर्म का भलीभाँति पालन करने से मानव जीवन की जो सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त की जा सकती है, वह है जीवन के अन्त में भगवान् का स्मरण करना।

तात्पर्य : नारायण इस भौतिक सृष्टि से परे परम पुरुष हैं। प्रत्येक वस्तु जिसका सृजन, पालन तथा

अन्त में संहार होता है, वह महत् तत्त्व की सीमा के अन्तर्गत है और भौतिक जगत के नाम से विख्यात है, किन्तु नारायण या भगवान् का अस्तित्व इस महत् तत्त्व की परिधि के अन्तर्गत नहीं आता, अतएव नारायण के नाम, रूप, गुण आदि भौतिक जगत की सीमा के परे हैं। मनुष्य को सांख्य दर्शन से, जो पदार्थ तथा आत्मा को पृथक्-पृथक् करता है, अथवा योगशक्ति के अनुशीलन से, जिससे मनुष्य इस ब्रह्माण्ड के भीतर या बाहर के किसी लोक तक पहुँचने में समर्थ बनता है या धार्मिक कृत्य करने से, सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त हो सकती है बशर्ते कि मनुष्य *नारायण-स्मृति* अवस्था को अर्थात् भगवान् के निरन्तर स्मरण की अवस्था को प्राप्त कर ले। यह शुद्ध भक्त की संगति से ही सम्भव है, क्योंकि भक्त समस्त ज्ञानियों, योगियों या कर्मियों के दिव्य कार्यकलापों को शास्त्रानुमोदित वृत्तिपरक कार्यों से साज-सँवार सकता है। इतिहास आध्यात्मिक सिद्धि की प्राप्ति के उदाहरणों से भरा पड़ा है यथा सनकादि ऋषि या नौ प्रसिद्ध योगेन्द्र जिन्होंने भगवान् की भक्ति से ही सिद्धि प्राप्त की। भगवान् का कोई भी भक्त ज्ञानियों या योगियों द्वारा अपनाई गई अन्य विधियों को ग्रहण करके भक्ति के मार्ग से कभी विचलित नहीं हुआ। प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य-विशेष में चरम सिद्धि के लिए उत्सुक रहता है और जैसाकि यहाँ पर संकेत किया गया है कि ऐसी सिद्धि नारायण-स्मृति है, जिसके लिए हर एक को उत्तमोत्तम प्रयास करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, जीवन को इस प्रकार ढालना चाहिए कि जीवन के पग-पग पर मनुष्य भगवान् के स्मरण में आगे-आगे ही बढ़ता रहे।

प्रायेण मुनयो राजन्निवृत्ता विधि-षेधतः ।
नैर्गुण्य-स्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

प्रायेण—मुख्यतया; मुनयः—सारे मुनि; राजन्—हे राजा; निवृत्ताः—ऊपर उठे हुए, निवृत्त; विधि—विधि-विधान; षेधतः—प्रतिबन्धों से; नैर्गुण्य-स्थाः—आध्यात्मिक रूप से स्थित; रमन्ते—आनन्द लेते हैं; स्म—प्रकट रूप से; गुण-अनुकथने—महिमा का वर्णन करते हुए; हरेः—भगवान् की।

हे राजा परीक्षित, मुख्यतया सर्वोच्च अध्यात्मवादी, जो विधि-विधानों एवं प्रतिबन्धों से ऊपर हैं, भगवान् का गुणगान करने में आनन्द का अनुभव करते हैं।

तात्पर्य : सर्वोच्च अध्यात्मवादी मुक्त जीव होता है, अतएव वह विधि-विधानों की सीमा में नहीं आता। ऐसा नवदीक्षित, जो आध्यात्मिक स्तर तक उठने का इच्छुक है, विधि-विधानों के अन्तर्गत गुरु

द्वारा मार्गदर्शित होता है। उसकी तुलना ऐसे रोगी से की जा सकती है, जिसका उपचार चिकित्सा की परिधि के अन्तर्गत, विविध प्रतिबन्धों के अन्तर्गत किया जाता है। सामान्यतया मुक्तात्माएँ भी दिव्य कार्यकलापों का वर्णन करने में आनन्द लेती हैं। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, चूँकि नारायण, हरि या भगवान् भौतिक सृष्टि के परे हैं, अत: उनके रूप तथा गुण भौतिक नहीं हैं। सर्वोच्च अध्यात्मवादी या मुक्त जीव अपने दिव्य ज्ञान के उन्नत अनुभव द्वारा उनकी अनुभूति करते हैं। अतएव वे भगवान् की लीलाओं के दिव्य गुणों के कथन में रुचि लेते हैं। *भगवद्गीता* (४.९) में भगवान् घोषित करते हैं कि उनका प्राकट्य तथा उनके कार्यकलाप सभी *दिव्यम्* अर्थात् दिव्य हैं। सामान्य व्यक्ति, माया के वशीभूत होने के कारण, यह मान लेता है कि भगवान् भी हमारी ही तरह के हैं, अतएव वह भगवान् के नाम, रूप आदि की दिव्य प्रकृति को मानने से इनकार करता है। सर्वोच्च अध्यात्मवादी किसी भी भौतिक वस्तु में रुचि नहीं रखता, अतएव भगवान् के कार्यकलापों के प्रति रुचि रखना इसका निश्चित प्रमाण है कि भगवान् इस भौतिक जगत में हम जैसे नहीं हैं। वैदिक ग्रन्थों में भी इसकी पुष्टि हुई है कि परमेश्वर एक हैं, किन्तु वे अपने अनन्य भक्तों के साथ अपनी दिव्य लीलाओं में लगे रहते हैं और उसी के साथ-साथ, बलदेव के अंश रूप में, परमात्मा की तरह, सभी जीवों के हृदय में विद्यमान रहते हैं। अतएव दिव्य अनुभूति की चरम सिद्धि भगवान् के दिव्य गुणों के श्रवण तथा अनुकथन में है, न कि निर्विशेषवादी द्वारा काम्य, भगवान् के निराकार ब्रह्म रूप में तदाकार होने में। वास्तविक दिव्य आनन्द तो दिव्य भगवान् के महिमा-गायन में है, उनके निर्विशेष स्वरूप में स्थित होने की अनुभूति में नहीं। किन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो सर्वोच्च अध्यात्मवादी न होकर उनसे घटकर हैं और जो भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के वर्णन में रुचि नहीं दिखाते प्रत्युत वे भगवान् के ऐसे कार्यकलापों की व्याख्या भगवान् में तदाकार होने के उद्देश्य से करते हैं।

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्म-सम्मितम् ।
अधीतवान् द्वापरादौ पितुर्द्वैपायनादहम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; भागवतम्—श्रीमद्भागवत; नाम—नाम वाला; पुराणम्—वैदिक अनुपूरक, पुराण; ब्रह्म-सम्मितम्—वेदों के सार स्वरूप स्वीकृत; अधीतवान्—अध्ययन किया; द्वापर-आदौ—द्वापर युग के अन्त में; पितु:—अपने पिता से; द्वैपायनात्—द्वैपायन व्यासदेव से; अहम्—मैंने स्वयं।

द्वापर युग के अन्त में अपने पिता श्रील द्वैपायन व्यासदेव से मैंने श्रीमद्भागवत नाम के इस महान् वैदिक साहित्य के अनुपूरक ग्रंथ का अध्ययन किया, जो समस्त वेदों के तुल्य है।

तात्पर्य : श्रील शुकदेव गोस्वामी के इस कथन की उनके ही निजी उदाहरण से पुष्टि होती है कि सर्वोच्च अध्यात्मवादी ही, जो विधि-विधानों की परिधि से परे होता है, भगवान् के श्रवण तथा महिमा-गायन का आश्रय लेता है। सर्वमान्य मुक्तात्मा तथा सर्वोच्च अध्यात्मवादी होने के कारण, शुकदेव गोस्वामी को महाराज परीक्षित के अन्तिम सात दिनों में उस सभा में उपस्थित समस्त सर्वोच्च मुनियों द्वारा मान्यता दी गई। वे अपने जीवन से उदाहरण देते हैं कि वे स्वयं भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के प्रति आकृष्ट हुए और उन्होंने अपने महान् पिता, श्रीद्वैपायन व्यासदेव, से *श्रीमद्भागवत* का अध्ययन किया। *श्रीमद्भागवत* या किसी अन्य वैज्ञानिक साहित्य को अपनी बुद्धि के बल पर घर पर नहीं पढ़ा जा सकता। यद्यपि शरीर रचना या शरीर क्रिया सम्बन्धी चिकित्सा-ग्रन्थ बाजार में उपलब्ध रहते हैं, किन्तु इन पुस्तकों को घर में पढ़कर कोई योग्य चिकित्सक नहीं बन सकता। उसे चिकित्सा विद्यालय में प्रवेश ले करके, विद्वान प्राचार्यों के पथ-प्रदर्शन में पुस्तकों का अध्ययन करना होता है। इसी प्रकार *श्रीमद्भागवत,* जो भगवद्विज्ञान का स्नातकोत्तर अध्ययन है, उसे श्रील व्यासदेव जैसे सिद्ध पुरुष के चरणों में बैठकर ही सीखा जा सकता है। यद्यपि शुकदेव गोस्वामी जन्मजात मुक्तात्मा थे, किन्तु उन्हें भी अपने महान् पिता व्यासदेव से *श्रीमद्भागवत* का अध्ययन करना पड़ा, जिन्होंने इसका संकलन एक अन्य महात्मा, श्रीनारद मुनि, के आदेश पर किया था। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने एक विद्वान ब्राह्मण को व्यक्ति *भागवत* से *श्रीमद्भागवत* का अध्ययन करने के लिए आदेश दिया। *श्रीमद्भागवत* परम पुरुष के दिव्य नाम, रूप, गुणों, लीलाओं, पार्षद तथा विविधताओं पर आधारित है और भगवान् के अवतार, श्रील व्यासदेव, द्वारा इसका प्रवचन हुआ। चूँकि भगवान् की लीलाएँ उनके शुद्ध भक्तों के संग में सम्पन्न होती हैं फलत: इस महान् ग्रन्थ में उन ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख हुआ है क्योंकि इनका सम्बन्ध कृष्ण से है। यह *ब्रह्म-सम्मितम्* कहलाता है, क्योंकि यह भगवान् कृष्ण का वाणीरुप प्रतिनिधि है, जिस तरह कि *भगवद्गीता* भगवान् का वाणी-अवतार है क्योंकि इसका प्रवचन भगवान् से ही हुआ और *श्रीमद्भागवत* भगवान् का वाणी अवतार है क्योंकि

इसका प्रवचन भगवान् के ही अवतार द्वारा भगवान् के कार्यकलापों के विषय में हुआ। जैसाकि इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में कहा गया है यह वैदिक कल्पवृक्ष का सार है और ब्रह्म विषय पर सर्वोच्च शोध ग्रन्थ, *ब्रह्म-सूत्र,* का सहज भाष्य है। व्यासदेव द्वापर युग के अन्त में सत्यवती के पुत्र रूप में अवतीर्ण हुए थे। अतएव इस प्रसंग में *द्वापर-आदौ* का अर्थ होगा कलियुग के शुभारम्भ से ठीक पहले। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, इस कथन का तर्क वृक्ष के ऊपरी भाग को उसका शुभारम्भ कहने की भाँति है। यद्यपि वृक्ष का आदि (शुभारम्भ) उसका मूल है, लेकिन सामान्य जन को वृक्ष का ऊपरी हिस्सा ही पहले दिखता है। इस तरह वृक्ष का अन्तिम भाग उसका आदि भाग मान लिया जाता है।

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तम-श्लोक-लीलया ।
गृहीत-चेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

परिनिष्ठितः—पूर्णतया अनुभूत; **अपि**—भी; **नैर्गुण्ये**—अध्यात्म में; **उत्तम**—प्रबुद्ध; **श्लोक**—श्लोक; **लीलया**—लीलाओं के द्वारा; **गृहीत**—आकृष्ट; **चेताः**—ध्यान; **राजर्षे**—हे राजर्षि; **आख्यानम्**—वर्णन, चित्रण; **यत्**—जो; **अधीतवान्**—मैंने अध्ययन किया है।.

हे राजर्षि, मैं दृढ़तापूर्वक अध्यात्म में पूर्ण रूप से स्थित था तथापि मैं उन भगवान् की लीलाओं के वर्णन के प्रति आकृष्ट हुआ, जिनका वर्णन उत्तम श्लोकों द्वारा किया जाता है।

तात्पर्य : सर्वप्रथम परम सत्य की अनुभूति दार्शनिक चिन्तन द्वारा निर्विशेष ब्रह्म के रूप में की जाती है और दिव्य ज्ञान की प्रगति के साथ-साथ बाद में परमात्मा रूप में की जाती है। किन्तु, यदि भगवत्कृपा से, कोई निर्विशेषवादी *श्रीमद्भागवत* के श्रेष्ठ कथनों से प्रबुद्ध होता है, तो वह भगवान् का दिव्य भक्त बन जाता है। अल्प ज्ञान के सहारे हम परम सत्य के व्यक्तित्व को नहीं समझ सकते एवं भगवान् के साकार कार्यकलापों के प्रति अल्पज्ञ निर्विशेषवादी खेद व्यक्त करते हैं। किन्तु तर्कों के साथ-साथ परम सत्य तक पहुँचने की दिव्य विधि कट्टर से कट्टर निर्विशेषवादी को भी भगवान् के साकार कार्यकलापों के प्रति आकृष्ट होने में सहायक बन सकती है। शुकदेव गोस्वामी जैसा व्यक्ति किसी सांसारिक कार्य के प्रति आकृष्ट नहीं होता, किन्तु जब ऐसे भक्त को श्रेष्ठ विधि द्वारा आश्वस्त कर लिया जाता है, तो वह अवश्य ही भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के प्रति आकृष्ट होता है। भगवान् दिव्य हैं और उसी तरह उनके कार्यकलाप भी दिव्य हैं। वे न तो निष्क्रिय हैं, न निर्विशेष।

तदहं तेऽभिधास्यामि महा-पौरुषिको भवान् ।
यस्य श्रद्दधतामाशु स्यान्मुकुन्दे मतिः सती ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; अहम्—मैं; ते—तुमको; अभिधास्यामि—सुनाऊँगा; महा-पौरुषिकः—भगवान् कृष्ण का अत्यन्त निष्ठावान भक्त; भवान्—आप; यस्य—जिसका; श्रद्दधताम्—पूरी तरह सम्मान तथा ध्यान देनेवाले का; आशु—अत्यन्त शीघ्र; स्यात्—ऐसा हो; मुकुन्दे—भगवान् में, जो मोक्ष-दाता हैं; मतिः—श्रद्धा; सती—निश्चल।

मैं उसी श्रीमद्भागवत को आपको सुनाने जा रहा हूँ, क्योंकि आप भगवान् कृष्ण के अत्यन्त निष्ठावान भक्त हैं। जो व्यक्ति श्रीमद्भागवत को पूरे मनोयोग से तथा सम्मानपूर्वक सुनता है, उसे मोक्षदायक परमेश्वर की अविचल श्रद्धा प्राप्त होती है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* मान्य वैदिक वाङ्मय है और वैदिक ज्ञान को प्राप्त करने की प्रणाली *अवरोहपन्था,* अर्थात् प्रामाणिक शिष्य-परम्परा द्वारा दिव्य ज्ञान प्राप्त करने की विधि कहलाती है। भौतिक ज्ञान की उन्नति के लिए वैयक्तिक सामर्थ्य तथा शोध प्रवृत्ति की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु आध्यात्मिक ज्ञान में सारी प्रगति बहुत कुछ गुरु की कृपा पर निर्भर करती है। गुरु को शिष्य से सन्तुष्ट होना चाहिए, तभी आध्यात्मिक विज्ञान के विद्यार्थी के समक्ष वह ज्ञान स्वतः प्रकट होगा। किन्तु इस विधि को किसी तरह की जादूगरी मानने की भूल नहीं करनी चाहिए जिसमें गुरु जादूगर की तरह शिष्य के भीतर आध्यात्मिक ज्ञान पहुँचा देगा मानो वह उसे विद्युतधारा से आवेशित कर रहा हो। प्रामाणिक गुरु अपने शिष्य को प्रत्येक बात वैदिक वाङ्मय के प्रमाणों के आधार पर बताता है। शिष्य ऐसी शिक्षा को, मात्र बौद्धिक न मानकर, विनीत भाव से जिज्ञासा करके तथा सेवा भाव से ग्रहण कर सकता है। भाव यह है कि शिष्य तथा गुरु दोनों को प्रामाणिक होना चाहिए। यहाँ पर गुरु शुकदेव गोस्वामी ने अपने महान् पिता से जो कुछ सीखा है, उसे वे उसी रूप में सुनाने के लिए उद्यत हैं और शिष्य, महाराज परीक्षित, भगवान् कृष्ण के परम भक्त हैं। भगवान् कृष्ण का भक्त वह होता है, जो निष्ठावान होकर यह विश्वास करता है कि भगवद्भक्त होकर, मनुष्य प्रत्येक आध्यात्मिक वस्तु से पूरी तरह सज-सँवर जाता है। यह शिक्षा साक्षात् भगवान् द्वारा *भगवद्गीता* के पृष्ठों में दी गई है, जिसमें यह स्पष्ट वर्णन है कि भगवान् कृष्ण ही सब कुछ हैं और पूर्णरूप से उनकी शरण ग्रहण करने से मनुष्य पूर्ण रूप से पवित्र व्यक्ति बन जाता है। भगवान् कृष्ण के प्रति ऐसी अविचल श्रद्धा से मनुष्य

श्रीमद्भागवत का विद्यार्थी बन जाता है और वह अन्त में उसी तरह मोक्ष प्राप्त करता है, जिस तरह महाराज परीक्षित ने प्राप्त किया था। *श्रीमद्भागवत* के व्यावसायिक वाचक तथा छद्म भक्त, जिनकी श्रद्धा एक सप्ताह के सुनने पर निर्भर होती है, वे शुकदेव गोस्वामी तथा महाराज परीक्षित से भिन्न होते हैं। श्रीव्यासेदव ने शुकदेव गोस्वामी को *जन्माद्यस्य* श्लोक से प्रारम्भ करके सम्पूर्ण *श्रीमद्भागवत* सुनाई। अतएव शुकदेव गोस्वामी ने भी राजा को पूरी *भागवत* सुनाया। भगवान् कृष्ण को *श्रीमद्भागवत* (ग्यारहवें स्कंध) में महापुरुष के रूप में बताया गया है, जो कि स्वयं ही भक्तिमय स्वरूप में भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु अपनी भक्तिमयी प्रवृत्ति में साक्षात् भगवान् कृष्ण हैं, जो कलियुग की पतितात्माओं पर विशेष कृपा करनेके लिए पृथ्वी पर अवतरित हुए थे। भगवान् कृष्ण के इस महापुरुष स्वरूप की स्तुति करने के उपयुक्त, दो श्लोक हैं :

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ॥
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥
त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं
धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम् ॥
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

(*भागवत* ११.५.३३-३४)

दूसरे शब्दों में, पुरुष का अर्थ है भोक्ता और महापुरुष का अर्थ है परमभोक्ता या भगवान् श्रीकृष्ण। जो व्यक्ति परमेश्वर श्रीकृष्ण के पास तक पहुँचने के योग्य है, वह महापौरुषिक कहलाता है। जो कोई *श्रीमद्भागवत* को प्रामाणिक वाचक से ध्यानपूर्वक सुनता है, वह निश्चित रूप से मोक्ष के प्रदाता भगवान् का निष्ठावान भक्त बन जाता है। *श्रीमद्भागवत* को सुनने के मामले में महाराज परीक्षित जैसा सावधान कोई नहीं था और *श्रीमद्भागवत* को सुनाने के लिए शुकदेव गोस्वामी जैसा कोई सुयोग्य

व्यक्ति नहीं था। इसलिए जो भी आदर्श वाचक या आदर्श श्रोता रूप शुकदेव गोस्वामी तथा महाराज परीक्षित के पदचिह्नों का अनुसरण करता है, निस्सन्देहवह उन्हीं की तरह मोक्ष प्राप्त करेगा। महाराज परीक्षित को केवल श्रवण द्वारा मोक्ष मिला और शुकदेव गोस्वामी ने केवल प्रवचन करके मोक्ष प्राप्त किया। प्रवचन (पाठ) तथा श्रवण, नौ भक्तिमय कार्यों में से दो कार्य हैं और इन सिद्धान्तों के आंशिक या समग्र रूप में पालन करने से मनुष्य को परम पद प्राप्त हो सकता है। अतएव *श्रीमद्भागवत* का सम्पूर्ण पाठ, *जन्माद्यस्य* श्लोक से प्रारम्भ करके बारहवें स्कंध के अन्तिम श्लोक तक, महाराज परीक्षित की मोक्ष-प्राप्ति के निमित्त शुकदेव गोस्वामी द्वारा सुनाया गया। *पद्मपुराण* में इसका उल्लेख है कि गौतम मुनि ने महाराज अम्बरीष को सलाह दी कि वे शुकदेव गोस्वामी द्वारा *श्रीमद्भागवत* के पारायण को नियमित रूप से सुनें। यहाँ इसकी पुष्टि है कि महाराज अम्बरीष ने *श्रीमद्भागवत* को आदि से अन्त तक उसी रूप में सुना जिस रूप में शुकदेव गोस्वामी ने उसका प्रवचन किया। अतएव जिसकी रुचि *भागवत* में है, उसे चाहिए कि वह कुछ अंश यहाँ से और कुछ अंश वहाँ से पढ़कर उसके साथ खिलवाड़ न करें, अपितु वह महाराज अम्बरीष अथवा महाराज परीक्षित जैसे महान् राजाओं के पदचिह्नों का अनुसरण करे और उसे शुकदेव गोस्वामी के किसी प्रामाणिक प्रतिनिधि से ही सुने।

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतो-भयम् ।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह है; निर्विद्यमानानाम्—जो समस्त भौतिक इच्छाओं से पूरी तरह मुक्त हैं, उनका; इच्छताम्—जो समस्त प्रकार के भौतिक भोग के इच्छुक हैं, उनका; अकुतः-भयम्—समस्त सन्देहों तथा भय से मुक्त; योगिनाम्—आत्मतुष्टों का; नृप—हे राजा; निर्णीतम्—निश्चित सत्य; हरेः—भगवान् श्रीकृष्ण का; नाम—पवित्र नाम; अनु—किसी के पीछे, सदैव; कीर्तनम्—कीर्तन।

हे राजन्, महापुरुषों का अनुगमन करके भगवान् के पवित्र नाम का निरन्तर कीर्तन उन समस्त लोगों के लिए सफलता का निःसंशय तथा निर्भीक मार्ग है, जो समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त हैं, अथवा जो समस्त भौतिक भोगों के इच्छुक हैं और उन लोगों के लिए भी, जो दिव्य ज्ञान के कारण आत्मतुष्ट हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में मुकुन्द के प्रति आसक्ति की नितान्त आवश्यकता का प्रतिपादन हुआ

है। ऐसे विभिन्न प्रकार के लोग हैं, जो नाना प्रकार के कार्यों में सफलता प्राप्त करने के इच्छुक होते हैं। सामान्यतया ये लोग भौतिकतावादी हैं, जो भौतिक तृप्ति का सर्वाधिक भोग करना चाहते हैं। उनके बाद अध्यात्मवादियों का नम्बर आता है जिन्होंने भौतिक भोग की प्रकृति के विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है और इस तरह वे जीवन की भ्रामक शैली से दूर रहते हैं। न्यूनाधिक वे आत्म–साक्षात्कार द्वारा अपने आप में सन्तुष्ट रहते हैं। इनसे भी ऊपर भगवद्भक्त हैं, जो न तो भौतिक जगत को भोगने की कामना करते हैं और न इससे छुटकारा पाने की इच्छा करते हैं। वे भगवान् श्रीकृष्ण को तुष्ट करने में लगे रहते हैं। दूसरे शब्दों में, भगवद्भक्त अपने लिए कोई कामना नहीं करते। यदि भगवान् की इच्छा हो, तो भक्त समस्त भौतिक सुविधाओं को स्वीकार करते हैं और यदि भगवान् इसे नहीं चाहते, तो भक्तगण समस्त प्रकार की सुविधाएँ, यहाँ तक कि मोक्ष को भी, ताक पर रख सकते हैं। न ही वे आत्मतुष्ट (आत्माराम) होते हैं क्योंकि वे केवल भगवान् की ही तुष्टि चाहते हैं। इस श्लोक में श्रीशुकदेव गोस्वामी भगवान् के दिव्य कीर्तन की संस्तुति करते हैं। भगवान् के पवित्र नाम के निरपराध भाव से कीर्तन तथा श्रवण से मनुष्य पहले भगवान् के दिव्य रूप से परिचित होता है, फिर भगवान् के गुणों से और तब उनकी लीलाओं इत्यादि की दिव्य प्रकृति से परिचित होता है। यहाँ पर इसका उल्लेख हुआ है कि भगवन्नाम को अधिकारियों से सुनकर उसका निरन्तर कीर्तन करना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि अधिकारियों से श्रवण करना पहली शर्त है। पवित्र नाम का श्रवण करते रहने से, क्रमश: मनुष्य भगवान् के रूप, गुण, लीलाओं आदि के विषय में श्रवण करने की अवस्था को प्राप्त होता है और इस तरह उत्तरोत्तर उनकी महिमा के कीर्तन की आवश्यकता उत्पन्न होती है। यह विधि न केवल भक्ति की सफल सम्पन्नता के लिए संस्तुत की गई है, अपितु उन लोगों के लिए भी है, जो भौतिक रूप से आसक्त हैं। श्रीशुकदेव गोस्वामी के अनुसार, सफलता प्राप्त करने की यह सुस्थापित विधि है, जो न केवल उनके द्वारा अपितु समस्त अन्य पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा स्थापित की गई है। अतएव और आगे प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं रह जाती। यह विधि, न केवल आदर्शवादी सफलता के विभिन्न विभाग के जिज्ञासुओं के लिए संस्तुत है, अपितु उन लोगों के लिए भी है जिन्होंने कर्मी, दार्शनिक या भगवद्भक्त के रूप में पहले ही सफलता प्राप्त कर ली है।

श्रील जीव गोस्वामी का उपदेश है कि भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन उच्चस्वर से और साथ ही *पद्मपुराण* की संस्तुति के अनुसार निरपराध भाव से सम्पन्न किया जाना चाहिए। मनुष्य भगवान् की शरण में जाकर, समस्त पापकर्मों के प्रभावों से अपने को उबार सकता है। मनुष्य भगवान् के नाम की शरण लेकर, अपने को भगवान् के चरणकमलों के प्रति अपराधों से छुड़ा सकता है। किन्तु यदि कोई भगवन्नाम के चरणों पर अपराध करता है, तो वह अपने को बचा नहीं सकता। *पद्मपुराण* में ऐसे अपराधों का उल्लेख है जिनकी संख्या दस बताई गई है। पहला अपराध उन महान् भक्तों को कलंकित करना है, जिन्होंने भगवान् की महिमा का उपदेश किया है। दूसरा अपराध है भगवान् के पवित्र नामों को संसारी ख्याति के रूप में देखना। भगवान् समस्त ब्रह्माण्डों के स्वामी हैं। अतएव वे विभिन्न स्थानों में विभिन्न नामों से जाने जा सकते हैं, किन्तु इससे भगवान् की किसी तरह पूर्णता सिद्ध नहीं होती। भगवान् के लिए प्रयुक्त कोई भी नाम-शब्दावली, अन्य किसी भी नाम जैसी पवित्र है, क्योंकि वे सभी भगवान् के निमित्त हैं। ऐसे पवित्र नाम भगवान् के ही समान शक्तिशाली होते हैं और सृष्टि के किसी भी भाग में, भगवान् के किसी एक स्थानीय तौर पर परिचित नाम का कीर्तन करने तथा भगवान् की महिमा के गायन करने में, कोई रोकटोक नहीं है। सारे नाम कल्याणप्रद हैं और मनुष्य को चाहिए कि ऐसे नामों में भौतिक व्यापारिक वस्तु की तरह भेद-भाव नहीं समझे। तीसरा अपराध है प्रधिकृत आचार्य या गुरु के आदेशों की उपेक्षा करना। चौथा अपराध शास्त्रों को या वैदिक ज्ञान को कलंकित करना है। पाँचवाँ अपराध भगवान् के पवित्र नाम को अपनी संसारी गणना के अनुसार परिभाषित करना है। भगवान् का पवित्र नाम भगवान् से अभिन्न है और मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के पवित्र नाम को उनसे अभिन्न समझे। छठा अपराध है पवित्र नाम की मनमानी व्याख्या। न तो भगवान् काल्पनिक हैं, न ही उनका पवित्र नाम काल्पनिक हैं। किन्तु कुछ ऐसे अल्पज्ञ हैं, जो भगवान् को पूजक की कल्पना मानते हैं और इस तरह उनके पवित्र नाम को काल्पनिक समझते हैं। ऐसे भगवन्नामजापक को पवित्रनाम के कीर्तन में वांछित सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। सातवाँ अपराध है पवित्र नाम के बल पर जानबूझ कर पाप करना। शास्त्रों में कहा गया है कि केवल भगवन्नाम के कीर्तन से समस्त पापकर्मों के प्रभावों से छूटा जा सकता हैं। जो व्यक्ति इस दिव्य विधि का लाभ उठाता है और इस उम्मीद से

पाप करता जाता है कि भगवान् के पवित्र नाम के जप से पापों के प्रभाव निरस्त होते रहेंगे, तो वह पवित्र नाम के चरणों पर सबसे बड़ा अपराधी है। ऐसे अपराधी, शुद्धि की किसी भी संस्तुत विधि से, अपने को शुद्ध नहीं कर सकते। दूसरे शब्दों में, भले ही भगवान् के पवित्र नाम के जप के पूर्व कोई पापी हो, लेकिन भगवान् के पवित्र नाम की शरण ग्रहण कर लेने पर और प्रतिरक्षित बन जाने पर, मनुष्य को चाहिए कि वह इस आशा से पाप करने से विलग रहे कि यह पवित्र नाम-जप उसकी रक्षा करेगा। आठवाँ अपराध है भगवान् के पवित्र नाम तथा उसकी जप-विधि को किसी भौतिक शुभकर्म के तुल्य समझना। भौतिक लाभ के लिए अनेक प्रकार के शुभकर्म हैं, लेकिन पवित्र नाम तथा इसका जप केवल पवित्र शुभ सेवा नहीं हैं। निस्सन्देह पवित्र नाम पवित्र सेवा है, लेकिन इसका उपयोग ऐसे कार्यों के लिए नहीं किया जाना चाहिए। चूँकि पवित्र नाम तथा भगवान् एक ही सत्ता हैं, अतएव पवित्र नाम को मानवता की सेवा में नहीं घसीटना चाहिए। भाव यह है कि परमेश्वर परम भोक्ता है। वह न तो किसी का सेवक है, न ही आदेश पालन है। इसी प्रकार चूँकि भगवान् का पवित्र नाम भगवान् से अभिन्न है, अतएव पवित्र नाम का उपयोग निजी सेवा के लिए नहीं किया जाना चाहिए।

नवाँ अपराध है ऐसे लोगों को पवित्र नाम की दिव्य प्रकृति के विषय में उपदेश देना, जो भगवान् के पवित्र नाम का जप नहीं करना चाहते। यदि ऐसा उपदेश अनिच्छुक श्रोतागण को दिया जाता है, तो इस कार्य को पवित्र नाम के चरणों पर अपराध माना जाता है। दसवाँ अपराध है पवित्र नाम की दिव्य प्रकृति के विषय में सुनने के बाद भी भगवान् के पवित्र नाम के प्रति अरुचि प्रदर्शित करना। भगवान् के पवित्र नाम के जप से जो प्रभाव अनुभव किया जाता है, वह है झूठे अहंकार की धारणा से जापक की मुक्ति। झूठा अहंकार, अपने को विश्व का भोक्ता समझने तथा यह सोचने के कारण प्रकट होता है कि विश्व की सारी वस्तुएँ उसी के उपयोग के लिए हैं। सारा भौतिकतावादी जगत 'मैं' तथा 'मेरा' के झूठे अहंकार के वशीभूत है, किन्तु ऐसी भ्रान्त धारणा से मुक्त होना ही पवित्र नाम के जप का असली प्रभाव होता है।

किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह ।
वरं मुहूर्तं विदितं घटते श्रेयसे यतः ॥ १२॥

शब्दार्थ

किम्—क्या है; प्रमत्तस्य—मोहग्रस्त का; बहुभिः—बहुतों के द्वारा; परोक्षैः—अनुभव-विहीन; हायनैः—वर्षों तक; इह—इस संसार में; वरम्—श्रेष्ठ; मुहूर्तम्—एक क्षण; विदितम्—चेतन; घटते—प्रयास कर सकता है; श्रेयसे—परमार्थ के मामले में; यतः—जिससे।

ऐसे दीर्घ जीवन से क्या लाभ, जिसे इस संसार में वर्षों तक अनुभवहीन बने रहकर गँवा दिया जाये? इससे तो अच्छा है पूर्ण चेतना का एक क्षण, क्योंकि इससे उसके परम कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है।

तात्पर्य : श्रील शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को प्रत्येक प्रगतिशील व्यक्ति द्वारा भगवान् के पवित्र नाम का जप करने की महत्ता का उपदेश दिया। राजा को प्रोत्साहित करने के लिए श्रील शुकदेव गोस्वामी ने जोर देकर कहा कि जीवन की समस्याओं को जाने बिना सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहने से कोई लाभ नहीं—इससे तो परमार्थ की चेतना से युक्त एक क्षण का भी जीवन श्रेयस्कर है। जीवन का परमार्थ सत्, चित् तथा आनन्द से पूर्ण है। जो लोग भौतिक जगत के बाह्य लक्षणों से मोहग्रस्त रहते हैं और 'खाओ, पीओ, मौज करो' जैसी पाशविक वृत्ति में लगे रहते हैं, वे मूल्यवान समय को व्यर्थ ही गुजारते हुए अपने जीवन को गँवा रहे हैं। हमें पूर्ण चेतना में रहकर यह समझ लेना चाहिए कि बद्धजीव को यह मनुष्य-जीवन आध्यात्मिक सफलता प्राप्त करने के लिए प्राप्त हुआ है और इस लक्ष्य को प्राप्त करने की सरलतम विधि है भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन। पिछले श्लोक में हमने इस विषय की कुछ सीमा तक व्याख्या की है और अब आगे हम पवित्र नाम के चरणों पर किये जानेवाले विभिन्न अपराधों पर प्रकाश डालेंगे। श्रील जीव गोस्वामी प्रभु ने प्रामाणिक शास्त्रों से अनेक उद्धरण दिये हैं और पवित्र नाम के चरणों पर किये जानेवाले अपराधों के विषय में व्यक्त विचारों की योग्यतापूर्वक पुष्टि की है। *विष्णुयामल तन्त्र* से, श्रील जीव गोस्वामी ने सिद्ध किया है कि भगवन्नाम के कीर्तन मात्र से मनुष्य सारे पापों के प्रभावों से मुक्त हो सकता है। *मार्कण्डेय पुराण* से उद्धरण देते हुए श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि मनुष्य को चाहिए कि वह न तो भगवद्भक्त की निन्दा करे और न उन लोगों की बातें सुने, जो भगवद्भक्त को छोटा बताने का प्रयास करते रहते हैं। भक्त को चाहिए कि निन्दक की जीभ काटकर, उसे निन्दा करने से रोके और यदि ऐसा न कर सके तो उसे चाहिए कि भगवद्भक्त की निन्दा सुनने की अपेक्षा आत्मघात कर ले। निष्कर्ष यह है कि मनुष्य को न

तो भगवद्भक्त की निन्दा सुननी चाहिए, न किसी को ऐसा करने देना चाहिए। जहाँ तक देवताओं के नामों से भगवान् के पवित्र नाम में अन्तर करने की बात है, शास्त्र (*भगवद्गीता* १०.४१) यह बताते हैं कि सारे असामान्य शक्तिशाली जीव परम शक्तिमान भगवान् कृष्ण के ही अंश हैं। स्वयं भगवान् के अतिरिक्त सभी उनके अधीन हैं, कोई भी भगवान् से स्वतन्त्र नहीं है। चूँकि कोई भी न तो भगवान् से अधिक शक्तिमान है या उनकी शक्ति के तुल्य है, अत: किसी का नाम भगवान् के नाम के समान शक्तिशाली नहीं हो सकता है। भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन मात्र से मनुष्य समस्त स्रोतों से एक ही समय घटित होनेवाली नियत शक्ति प्राप्त कर सकता है। अतएव भगवान् के परम पवित्र नाम की समता अन्य नाम से नहीं करनी चाहिए। ब्रह्मा, शिव या अन्य शक्तिशाली देवता कभी परम भगवान् विष्णु के समान नहीं हो सकते। भगवान् का शक्तिशाली पवित्र नाम निश्चित रूप से मनुष्य को पाप के प्रभावों से उबार सकता है, किन्तु जो व्यक्ति भगवान् के पवित्र नाम की दिव्य शक्ति का उपयोग अपने कुत्सित कार्यों के लिए करना चाहते हैं, वे संसार में सबसे पतित व्यक्ति होते हैं। ऐसे व्यक्तियों को भगवान् या उनके गण कभी भी क्षमा नहीं करते। अतएव मनुष्य को चाहिए कि सभी प्रकार से, बिना किसी अपराध के, अपने जीवन का उपयोग भगवान् के यशोगान में करे। जीवन के ऐसे कार्य की, भले ही वह एक क्षण का हो, तुलना अज्ञानमय दीर्घ जीवन से नहीं की जा सकती, जैसे वृक्ष या अन्य जीवों का दीर्घ जीवन जो किसी प्रकार की आध्यात्मिक प्रगति किये बिना हजारों वर्षों तक जीवित रह सकते हैं।

खट्वाङ्गो नाम राजर्षिर्ज्ञात्वेयत्तामिहायुषः ।
मुहूर्तात्सर्वमुत्सृज्य गतवानभयं हरिम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

खट्वाङ्गः—राजा खट्वांग; नाम—नामक; राज-ऋषिः—ऋषितुल्य राजा; ज्ञात्वा—जानकर; इयत्ताम्—अवधि; इह—इस संसार में; आयुषः—अपने जीवन की; मुहूर्तात्—एक ही क्षण में; सर्वम्—सब कुछ; उत्सृज्य—छोड़कर; गतवान्—स्वीकार किया; अभयम्—पूरी तरह सुरक्षित; हरिम्—भगवान् को।

राजर्षि खट्वांग को जब यह सूचना दी गई कि उनकी आयु का केवल एक क्षण (मुहूर्त) शेष है, तो उन्होंने तुरन्त अपने आपको समस्त भौतिक कार्यकलापों से मुक्त करके परम रक्षक भगवान् की शरण ले ली।

तात्पर्य : पुरी तरह से जिम्मेदार व्यक्ति को अपने वर्तमान मनुष्य–जीवन के मूल कर्तव्य का भान होना चाहिए। भौतिक जीवन की आसन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया गया कर्म ही सब कुछ नहीं है। मनुष्य को अगले जीवन में श्रेष्ठतम पद प्राप्त करने के लिए अपने कर्तव्य के प्रति चौकन्ना रहना चाहिए। मनुष्य–जीवन हमें इसी मुख्य कर्तव्य की तैयारी करने के लिए मिला है। यहाँ पर महाराज खट्वांग का उल्लेख राजर्षि के रूप में हुआ है, क्योंकि वे अपने ऊपर राज्य–प्रबन्ध का उत्तरदायित्व होते हुए भी अपने जीवन के मुख्य कर्तव्य को भूले नहीं थे। यही हाल महाराज युधिष्ठिर तथा महाराज परीक्षित जैसे अन्य राजर्षियों का था। वे अपने मुख्य कर्तव्य को निभाने के प्रति जागरूक रहने के कारण आदर्श व्यक्ति थे। महाराज खट्वांग को देवताओं ने असुरों से युद्ध करने के लिए स्वर्ग में बुलाया था और राजा के रूप में उन्होंने देवताओं को पूरी तरह सन्तुष्ट करते हुए युद्ध किया। इस पर देवताओं ने प्रसन्न होकर उन्हें भौतिक भोग का कोई वर देना चाहा, लेकिन चूँकि महाराज खट्वांग अपने प्रमुख कर्तव्य के प्रति अत्यन्त जागरूक थे, अतएव उन्होंने देवताओं से अपने शेष जीवन के विषय में पूछा। इसका अर्थ यह है कि वे भौतिक वर प्राप्त करने के फेर में न थे, क्योंकि उन्हें अगले जीवन की तैयारी करनी थी। किन्तु देवताओं ने उन्हें बताया कि उनके जीवन का केवल एक क्षण शेष है, तो राजा ने तुरन्त उस स्वर्गधाम को छोड़ दिया, जो उच्चस्तरीय भौतिक भोग से पूरित है और पृथ्वी पर आकर उन्होंने परम रक्षक भगवान् की शरण ली। वे अपने महत्प्रयास में सफल रहे और उन्हें मुक्ति प्राप्त हुई। राजर्षि द्वारा यह प्रयास, यद्यपि एक क्षण के लिए था, किन्तु सफल रहा क्योंकि वे अपने मुख्य कर्तव्य के प्रति सदैव जागरूक रहे। इस तरह से महाराज परीक्षित महान् शुकदेव गोस्वामी द्वारा प्रोत्साहित हुए, यद्यपि उनके जीवन के सात ही दिन शेष थे, जिसमें उन्हें *श्रीमद्भागवत* के रूप में भगवान् की महिमा–श्रवण करने का मुख्य कर्तव्य सम्पन्न करना था। भगवान् की इच्छा से महाराज परीक्षित को तुरन्त शुकदेव गोस्वामी मिल गये और आध्यात्मिक सफलता का जो महान् कोष वे अपने पीछे छोड़ गये हैं, उसका उल्लेख *श्रीमद्भागवत* में सुन्दर ढंग से हुआ है।

तवाप्येतर्हि कौरव्य सप्ताहं जीवितावधिः ।
उपकल्पय तत्सर्वं तावद्यत्साम्परायिकम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

तव—तुम्हारा; अपि—भी; एतर्हि—अतएव; कौरव्य—हे कुरुवंशी; सप्ताहम्—सात दिन, हफ्ता; जीवित—आयु; अवधिः—सीमा; उपकल्पय—सम्पन्न करो; तत्—वे; सर्वम्—समस्त; तावत्—तब तक; यत्—जो है; साम्परायिकम्—अगले जीवन के लिए अनुष्ठान।

हे महाराज परीक्षित, अब आपकी आयु के और सात दिन शेष हैं। अतएव इस अवधि में आप उन समस्त अनुष्ठानों को सम्पन्न कर सकते हैं, जो आपके अगले जीवन के परम कल्याण के लिए आवश्यक हैं।

तात्पर्य : महाराज खट्वांग जिन्होंने अत्यल्प समय में अपने अगले जीवन के लिए अपने आपको तैयार कर लिया था उनका उदाहरण प्रस्तुत करने के बाद शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को यह कहकर प्रोत्साहित किया कि चूँकि उनके पास अब भी सात दिन शेष हैं, अतएव उन्हें अगले जीवन की तैयारी के लिए इस समय का सदुपयोग कर लेना चाहिए। एक तरह से गोस्वामीजी ने महाराज परीक्षित को बताया कि वे भगवान् के शब्द-रूप की शरण ग्रहण कर लें, क्योंकि उनके जीवन के अब भी सात दिन शेष हैं। इस प्रकार से वे मुक्त हो लें। दूसरे शब्दों में, शुकदेव गोस्वामी ने जिस तरह महाराज परीक्षित को *श्रीमद्भागवत* सुनाई थी, उसी रूप में उसका श्रवण करके प्रत्येक व्यक्ति अगले जीवन की अच्छी तरह तैयारी कर सकता है। ये अनुष्ठान औपचारिक नहीं हैं, अपितु कुछ अनुकूल बातें हैं जिनका पालन करना होता है और जिनका आदेश आगे दिया गया है।

अन्त-काले तु पुरुष आगते गत-साध्वसः ।
छिन्द्यादसङ्ग-शस्त्रेण स्पृहां देहेऽनु ये च तम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अन्त-काले—जीवन की अन्तिम अवस्था में; तु—लेकिन; पुरुषः—व्यक्ति; आगते—आ करके; गत-साध्वसः—मृत्यु के भय के बिना; छिन्द्यात्—काट दे; असङ्ग—अनासक्ति; शस्त्रेण—हथियार से; स्पृहाम्—सारी इच्छाओं को; देहे—भौतिक शरीर से; अनु—से सम्बन्धित; ये—वे सब; च—तथा; तम्—उसको।

मनुष्य को चाहिए कि जीवन के अन्तकाल में मृत्यु से तनिक भी भयभीत न हो, अपितु वह भौतिक शरीर से तथा उससे सम्बन्धित सारी वस्तुओं एवं उसकी समस्त इच्छाओं से अपनी आसक्ति तोड़ ले।

तात्पर्य : स्थूल भौतिकतावाद की मूर्खता यह है कि लोग इस संसार में स्थायी रूप से रहना चाहते हैं, जबकि यह निश्चित तथ्य है कि मनुष्य को बहुमूल्य मानवीय शक्ति से सृजित प्रत्येक वस्तु को यहीं

छोड़ना पड़ता है। बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ, विज्ञानी, दार्शनिक आदि आत्मा की कोई जानकारी न होने के कारण मूर्ख हैं और वे सोचते हैं कि कुछ वर्षों का यह जीवन ही सब कुछ है, मृत्यु के बाद कुछ भी नहीं है। संसार के विद्वन्मण्डल में भी, इस तरह का अल्पज्ञान मानवीय शक्ति के प्राणत्व का हनन कर रहा है और इसके भयावह परिणाम देखने को मिल रहे हैं। इतने पर भी मूर्ख भौतिकतावादी लोग इसकी परवाह नहीं करते कि अगले जीवन में क्या होने जा रहा है। *भगवद्गीता* का प्राथमिक उपदेश है कि मनुष्य यह जाने कि इस शरीर का अन्त होने पर जीव की पहचान समाप्त नहीं होती है, क्योंकि शरीर तो मात्र बाहरी वस्त्र है। जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्र बदलता है, उसी तरह जीव शरीर बदलता है और शरीर का यह बदलाव (परिवर्तन) ही मृत्यु कहलाता है। अतएव वर्तमान जीवन-अवधि (आयु) के अन्त में शरीर की मृत्यु परिवर्तन की प्रक्रिया है। बुद्धिमान मनुष्य को इसके लिए तैयार रहना चाहिए और अगले जीवन में सर्वोत्तम प्रकार का शरीर पाने के लिए प्रयास करना चाहिए। सर्वोत्तम प्रकार का शरीर आध्यात्मिक शरीर है। यह उन लोगों को मिलता है, जो भगवद्धाम जाते हैं या ब्रह्म के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। इस स्कंध के द्वितीय अध्याय में इस विषय की विशद व्याख्या की जायेगी, लेकिन जहाँ तक शरीर-परिवर्तन की बात है, मनुष्य को चाहिए कि अभी से अगले जीवन की तैयारी करे। मूर्खलोग वर्तमान नश्वर जीवन को अधिक महत्त्व देते हैं और मूर्ख नेता शरीर तथा शारीरिक सम्बन्धों पर बल देते हैं। ये शारीरिक सम्बन्ध इस शरीर तक ही नहीं सीमित होते, अपितु परिजनों, पत्नी, बच्चों, समाज, देश तथा अन्य अनेक बातों तक विस्तारित होते हैं, जिनका अन्त मृत्यु के साथ हो जाता है। मृत्यु के पश्चात् मनुष्य वर्तमान शारीरिक सम्बन्धों को भूल जाता है। हमें इस प्रकार का थोड़ा अनुभव रात को सोते समय होता है। सोते समय हम इस शरीर को तथा सारे शारीरिक सम्बन्धों को भूल जाते हैं, यद्यपि यह विस्मृति कुछ घण्टों की क्षणिक अवस्था ही होती है। मृत्यु कुछ मासों के लिए निद्रा के अतिरिक्त कुछ नहीं, जिसमें दूसरा शारीरिक बन्धन विकसित होता है, जो हमें प्रकृति के नियम द्वारा हमारी आकांक्षा के अनुसार दिया जाता है। अतएव मनुष्य को इस वर्तमान शरीर की अवधि में आकांक्षा को परिवर्तित करना होता है। अतएव इस मनुष्य-जीवन में इसके लिए प्रशिक्षण की आवश्यकता है। यह प्रशिक्षण जीवन की किसी भी अवस्था में, यहाँ तक कि मृत्यु के

कुछ क्षण पूर्व भी, चालू किया जा सकता है, किन्तु इसकी सामान्य विधि यह है कि यह प्रशिक्षण प्रारम्भ से, ब्रह्मचर्य अवस्था से शुरू किया जाय और धीरे-धीरे गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों की दिशा में इसमें प्रगति की जाये। इस प्रशिक्षण को देने वाली संस्था वर्णाश्रम धर्म या सनातन धर्म पद्धति कहलाती है, जो मनुष्य जीवन को पूर्ण बनाने की सर्वोत्तम विधि है। अतएव यह आवश्यक है कि जब मनुष्य अधिक से अधिक पचास वर्ष की आयु प्राप्त कर ले, तो वह पारिवारिक, सामाजिक या राजनैतिक जीवन से अपना नाता तोड़ ले और उसे वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम का प्रशिक्षण अगले जीवन की तैयारी के लिए दिया जाए। लेकिन जनता के नेता के रूप में मूर्ख भौतिकतावादी लोग पारिवारिक मामलों से सम्बन्ध-विच्छेद न करके उन्हीं के प्रति आसक्त रहते हैं। इस प्रकार वे प्रकृति के नियम के शिकार बनते हैं और अपने कर्म के अनुसार पुन: स्थूल शरीर प्राप्त करते हैं। ऐसे मूर्ख नेताओं को, जीवन के अन्तिम समय, लोगों से कुछ सम्मान प्राप्त हो सकता है, लेकिन इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि वे इस प्राकृतिक नियम से अछूते रहें, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के हाथ-पाँव जकड़े हुए रहते हैं। इसीलिए सबसे अच्छा यही है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छा से पारिवारिक सम्बन्धों को त्याग दे और इस तरह वह परिवार, समाज, देश आदि की आसक्ति को भगवद्भक्ति में स्थानान्तरित कर दे। यहाँ पर यह बताया गया है कि उसे पारिवारिक-आसक्ति की सारी इच्छाएँ त्याग देनी चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि श्रेष्ठतर इच्छाओं को अवसर दे अन्यथा ऐसी कुत्सित इच्छाओं के परित्याग का अवसर नहीं आयेगा। इच्छा तो जीव के साथ जुड़ी है। चूँकि जीव शाश्वत है, अतएव जीव की इच्छाएँ भी जो उसके लिए स्वाभाविक हैं, शाश्वत हैं। अतएव मनुष्य इच्छा करना छोड़ नहीं सकता, किन्तु इच्छाओं की विषयवस्तु तो बदली ही जा सकती है। इस तरह मनुष्य को भगवद्धाम जाने की इच्छा विकसित करनी चाहिए। इससे भक्ति के विकास के अनुपात के अनुसार भौतिक लाभ, भौतिक सम्मान तथा भौतिक लोकप्रियता की इच्छाएँ स्वत: कम होंगी। जीव तो सेवा-कार्यों के निमित्त है और उसकी इच्छाएँ इसी सेवा-मनोवृत्ति के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं। राज्य के सर्वोच्च प्रशासक से लेकर सड़क के नगण्य भिखारी तक सभी लोग दूसरों की कोई न कोई सेवा कर रहे हैं। ऐसी सेवा-मनोवृत्ति को पूर्णता तभी प्राप्त होती है जब सेवा की इच्छा को पदार्थ से आत्मा में, या शैतान से ईश्वर में

स्थानान्तरित कर दिया जाय।

गृहात् प्रव्रजितो धीरः पुण्य-तीर्थ-जलाप्लुतः ।
शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत्कल्पितासने ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

गृहात्—अपने घर से; प्रव्रजितः—बाहर जाकर; धीरः—आत्मसंयमी; पुण्य—पवित्र; तीर्थ—तीर्थ-स्थान; जल-आप्लुतः—पूरी तरह धोया हुआ; शुचौ—स्वच्छ किया; विविक्ते—एकान्त; आसीनः—बैठा हुआ; विधिवत्—नियमानुसार; कल्पित—सम्पन्न करके; आसने—आसन पर।

मनुष्य को घर छोड़ करके आत्मसंयम का अभ्यास करना चाहिए। उसे तीर्थस्थानों में नियमित रूप से स्नान करना चाहिए और ठीक से शुद्ध होकर एकान्त स्थान में आसन जमाना चाहिए।

तात्पर्य : श्रेष्ठतर अगले जीवन की तैयारी के लिए मनुष्य को तथाकथित घर छोड़ देना चाहिए। वर्णाश्रम धर्म या सनातन धर्म की पद्धति कहती है कि पचास वर्ष की आयु पार कर लेने के बाद, जितनी जल्दी हो सके, पारिवारिक भार से वैराग्य ले लेना चाहिए। आधुनिक सभ्यता पारिवारिक सुविधाओं पर आधारित है, जिसे सुख-सुविधाओं का सर्वोच्च मानदण्ड माना जाता है। अतएव हर व्यक्ति, सेवा-निवृत्ति के बाद, ऐसे घर में रहना चाहता है, जो सुन्दर स्त्रियों तथा बच्चों से अलंकृत हो। वह ऐसे सुविधापूर्ण घर से बाहर जाने की रंचमात्र इच्छा नहीं करता। उच्च सरकारी अफसर तथा मन्त्री, मृत्यु के समय तक, अपने उपहार-रुपी पदों पर चिपके रहते हैं और वे इन घेरलू सुविधाओं से बाहर निकलने का स्वप्न में भी विचार नहीं करते। ऐसे व्यामोह से बँधकर, भौतिकतावादी व्यक्ति इससे भी अधिक सुखी जीवन की विविध योजनाएँ तैयार करते हैं। किन्तु क्रूर मृत्यु सहसा बड़े से बड़े योजना-कारों को, उसकी इच्छा के विरुद्ध, उठा लेती है और इस शरीर को त्याग कर दूसरा शरीर धारण करने के लिए बाध्य कर देती है। इस तरह ऐसे योजनाकार को अपने किये गये पूर्व कर्मों के अनुसार ८४,००,००० जीव योनियों में से कोई एक शरीर ग्रहण करने के लिए बाध्य किया जाता है। जो लोग पारिवारिक सुविधाओं के प्रति अधिक आसक्त होते हैं, उन्हें अगले जीवन में इस पापमय लम्बी आयु में किये गये पाप-कर्मों के कारण निम्न योनि प्रदान की जाती है। इस तरह मानव-जीवन की सारी शक्ति नष्ट हो जाती है। मनुष्य-जीवन को इस तरह बर्बाद होने और काल्पनिक वस्तुओं में लिप्त रहने

से बचाने के लिए मनुष्य को यदि पहले नहीं तो कम से कम पचास वर्ष की आयु में सावधान हो जाना चाहिए। सिद्धान्त यह है कि मनुष्य इसे मान ले कि मृत्यु की खतरे की घंटी पचास वर्ष की आयु पूरी करने के पहले ही बज जाती है, अतएव हर हालत में उसे श्रेष्ठतर भावी जीवन के लिए तैयारी करनी चाहिए। सनातन धर्म संस्था की पद्धति ऐसी बनाई गई है कि इसका पालन करने वाला अगले जीवन के विनष्ट होने की किसी प्रकार की सम्भावना के बिना श्रेष्ठतर अगले जीवन के लिए प्रशिक्षित हो जाए। संसार भर में पवित्र स्थल (तीर्थस्थल) उन सेवानिवृत्त व्यक्तियों के आवास के लिए हैं, जो श्रेष्ठतर अगले जीवन की तैयारी करने में लगे रहते हैं। इसीलिए बुद्धिमान मनुष्यों को जीवन के अन्त में, पचास वर्ष की आयु के पश्चात्, जीवन में बन्धनस्वरूप पारिवारिक आसक्ति से मुक्त होने के लिए आध्यात्मिक कायाकल्प का जीवन बिताने के उद्देश्य से तीर्थों में जाना चाहिए। मनुष्य को भौतिक आसक्ति से छुटकारा पाने के लिए गृह-त्याग करने की संस्तुति की जाती है, क्योंकि जो व्यक्ति मृत्यु तक पारिवारिक जीवन से चिपका रहता है, वह भौतिक आसक्ति को त्याग नहीं सकता और जब तक वह भौतिक आसक्ति को नहीं छोड़ता, तब तक वह आध्यात्मिक स्वतन्त्रता को नहीं समझ पाता। लेकिन उसे गृहत्याग करके या तीर्थ स्थान में वैध या अवैध रूप से दूसरा घर बनाकर आत्म-सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। ऐसे अनेक लोग हैं, जो घर छोड़कर ऐसे तीर्थस्थानों में जाते हैं, किन्तु विपरीत-लिंगी कुसंगति में पड़कर पुनः गृहस्थ बन जाते हैं। माया की मोहिनी शक्ति इतनी प्रबल है कि जीवन की प्रत्येक अवस्था में, यहाँ तक कि अपने सुखी घर का त्याग करने के बाद भी, मनुष्य ऐसे मोह में पड़ सकता है। अतएव यह अनिवार्य है कि मनुष्य ब्रह्मचर्य द्वारा यौन-लिप्सा से रहित होकर आत्मसंयम का अभ्यास करे। जो व्यक्ति जीवन सुधारना चाहता है, उसके लिए यौन-लिप्सा आत्मघात या उससे भी बढ़कर है। अतएव पारिवारिक जीवन से पृथक् रहने का अर्थ है समस्त इन्द्रिय इच्छाओं पर और विशेष रूप से यौन-इच्छा पर, संयम रखना। इसकी विधि यह है कि मनुष्य को कुश, मृगचर्म तथा दरी का पवित्र आसन तैयार करना चाहिए और उस पर बैठकर उपर्युक्त विधि से निरपराध भाव से भगवान् के पवित्र नाम का जप करना चाहिए। यह समूची विधि मन को भौतिक कार्यों से खींचकर भगवान् के चरणकमलों में स्थिर करने के निमित्त है। यह सरल विधि ही सर्वोच्च अध्यात्मिक सफलता

दिलाने में सहायक होगी।

अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम् ।
मनो यच्छेज्जित-श्वासो ब्रह्म-बीजमविस्मरन् ॥ १७॥

शब्दार्थ

अभ्यसेत्—अभ्यास करना चाहिए; मनसा—मन से; शुद्धम्—पवित्र; त्रि-वृत्—तीन (अक्षरों) से निर्मित; ब्रह्म-अक्षरम्—दिव्य अक्षर; परम्—परम; मनः—मन; यच्छेत्—वश में करे; जित-श्वासः—श्वास को नियमित करके; ब्रह्म—परम; बीजम्—बीज को; अविस्मरन्—बिना भुलाये।

मनुष्य उपर्युक्त विधि से आसन जमा कर, मन को तीन दिव्य अक्षरों (अ, उ, म्) का स्मरण कराये और श्वास-विधि को नियमित करके मन को वश में करे, जिससे वह दिव्य बीज को नहीं भूले।

तात्पर्य : ॐकार अथवा प्रणव दिव्य अनुभूति का बीज है और यह तीन दिव्य अक्षरों अ, उ, म् से बना है। समाधि प्राप्त करने की दिव्य किन्तु यान्त्रिक विधि के द्वारा, जिसे महान् योगियों के अनुभव से खोजा गया है, श्वास-विधि (प्राणायाम) के साथ-साथ मन से जप करने से भौतिकता में लीन मन को वश में किया जा सकता है। मन की आदत को बदलने की यही विधि है। मन को मारना नहीं होती है। मन या इच्छा को रोका नहीं जा सकता, लेकिन आध्यात्मिक अनुभूति की दिशा में काम करने के लिए मन की व्यस्तता के गुण को बदला जा सकता है। मन सक्रिय इन्द्रियों की धुरी है। अतएव यदि सोचने, अनुभव करने तथा चाहने की प्रकृति परिवर्तित कर दी जाय तो स्वाभाविक है कि कर्मेन्द्रियों के कार्यों की प्रकृति भी बदल जायेगी। ॐकार समस्त दिव्य ध्वनि का बीज है और एकमात्र दिव्य ध्वनि ही मन तथा इन्द्रियों में वांछित परिवर्तन ला सकती है। यहाँ तक कि मानसिक रूप से असन्तुलित व्यक्ति भी दिव्य ध्वनि के उपचार से निरोग बनाया जा सकता है। *भगवद्गीता* में *प्रणव* (ॐकार) को परम सत्य की प्रत्यक्ष शाब्दिक अभिव्यक्ति कहा गया है। जो व्यक्ति उपर्युक्त विधि से भगवान् के पवित्र नाम का प्रत्यक्ष उच्चारण नहीं कर पाता, वह प्रणव (ॐकार) का जप आसानी से कर सकता है। यह ॐकार एक सम्बोधन है—यथा हे भगवान्! जिस प्रकार कि *ॐ हरि ओम्* का अर्थ है, हे मेरे स्वामी, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्। जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, भगवान् का पवित्र नाम भगवान् से अभिन्न होता है। उसी तरह ॐकार भी है। किन्तु जो व्यक्ति अपनी अपूर्ण इन्द्रियों के कारण (यथा नवदीक्षित)

भगवान् के दिव्य साकार रूप या नाम की अनुभूति कर पाने में अक्षम होते हैं, उन्हें प्राणायाम का अभ्यास करने के साथ-साथ मन में प्रणव (ॐकार) का बारम्बार उच्चारण करके आत्म-साक्षात्कार का अभ्यास करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। जैसाकि हम कई बार कह चुके हैं, भगवान् के दिव्य नाम, रूप, गुणों, लीलाओं इत्यादि को वर्तमान इन्द्रियों द्वारा समझ पाना असम्भव है, अतएव यह आवश्यक है कि समस्त विषयों के केन्द्र-बिन्दु मन के माध्यम से ऐसी दिव्य अनुभूति को गति प्रदान की जाय। भक्तगण अपने मन को सीधे ही परम सत्य-रूपी पुरुष पर स्थिर कर लेते हैं, किन्तु जो लोग ब्रह्म के ऐसे साकार स्वरूप को धारण नहीं कर सकते, उन्हें निर्विशेषता के प्रति मन को प्रशिक्षित करके प्रगति करने के लिए अनुशासित किया जाता है।

नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान्मनसा बुद्धि-सारथिः ।
मनः कर्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद्धिया ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

नियच्छेत्—खींच ले; विषयेभ्यः—विषयों से; अक्षान्—इन्द्रियों को; मनसा—मन से; बुद्धि—बुद्धि; सारथिः—हाँकनेवाला; मनः—मन; कर्मभिः—सकाम कर्म से; आक्षिप्तम्—लीन रहकर; शुभ-अर्थे—भगवान् के निमित्त; धारयेत्—धारण करे; धिया—पूर्ण चेतना में।

धीरे-धीरे जब मन उत्तरोत्तर आध्यात्मिक हो जाय, तो उसे इन्द्रिय-कार्यों से खींच लिया जाय (विलग कर लिया जाय)। इससे इन्द्रियाँ बुद्धि द्वारा वशीभूत हो जायेंगी। इससे भौतिक कार्य-कलापों में लीन मन भी भगवान् की सेवा में प्रवृत्त किया जा सकता है और पूर्ण दिव्य भाव में स्थिर हो सकता है।

तात्पर्य : प्रणव (ॐकार) के यान्त्रिक उच्चारण के द्वारा तथा श्वास के अवरोध (प्राणायाम) से मन के अध्यात्मीकरण की प्रथम प्रक्रिया (विधि) प्राणायाम् की यौगिक विधि या श्वास को पूर्ण रूप से नियन्त्रित करने की विधि कहलाती है। इस प्राणायाम-पद्धति की चरम अवस्था समाधि है। किन्तु अनुभव से सिद्ध हो चुका है कि समाधि-अवस्था भी भौतिकता में लीन मन को वश में करने में असफल रहती है। उदाहरणार्थ, विश्वामित्र समाधि-अवस्था प्राप्त करके भी इन्द्रियों के शिकार हो गये और उन्होंने मेनका के साथ सम्भोग किया। इतिहास इसका साक्षी है। यद्यपि मन सम्प्रति विषय-वासनाओं को सोचना बन्द कर देता है, किन्तु अवचेतन-मन से वह विगत विषय-वासनाओं का स्मरण

करता है और इस तरह मनुष्य को शत प्रतिशत आत्म-साक्षात्कार में लगने से रोक देता है। अतएव शुकदेव गोस्वामी विश्वस्त नीति अपनाने के लिए कहते हैं और यह है मन को भगवान् की सेवा में स्थिर करना। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रत्यक्ष विधि की संस्तुति *भगवद्गीता* (६.४७) में भी करते हैं। इस तरह आध्यात्मिक रूप से मन के स्वच्छ होने पर, मनुष्य को तुरन्त श्रवण, कीर्तन आदि भक्ति-कार्यों द्वारा भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लग जाना चाहिए। यदि सही मार्गदर्शन के अन्तर्गत ऐसा किया जाता है, तो विचलित मन भी निश्चित रूप से प्रगति कर सकता है।

तत्रैकावयवं ध्यायेदव्युच्छिन्नेन चेतसा ।
मनो निर्विषयं युक्त्वा ततः किञ्चन न स्मरेत् ।
पदं तत्परमं विष्णोर्मनो यत्र प्रसीदति ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तत्र—तत्पश्चात्; एक—एक-एक करके; अवयवम्—शरीर के अंगों को; ध्यायेत्—ध्यान करे; अव्युच्छिन्नेन—पूर्णस्वरूप से विचलित हुए बिना; चेतसा—मन से; मनः—मन; निर्विषयम्—विषयों से दूषित हुए बिना; युक्त्वा—जुड़ कर के; ततः—तत्पश्चात्; किञ्चन—कुछ भी; न—नहीं; स्मरेत्—सोचे; पदम्—व्यक्तित्व को; तत्—वह; परमम्—परम; विष्णोः—विष्णु का; मनः—मन; यत्र—जहाँ; प्रसीदति—प्रसन्न होता है, रमता है।

तत्पश्चात्, श्रीविष्णु के पूर्ण शरीर की अव-धारणा को हटाये बिना, एक-एक करके विष्णु के अंगों का ध्यान करना चाहिए। इस तरह मन समस्त इन्द्रिय-विषयों से मुक्त हो जाता है। तब चिन्तन के लिए कोई अन्य वस्तु नहीं रह जानी चाहिए। चूँकि भगवान् विष्णु परम सत्य हैं, अतएव केवल उन्हीं में मन पूर्ण रूप से रम जाता है।

तात्पर्य : विष्णु की बहिरंगा शक्ति से मोहित होकर मूर्ख लोग यह नहीं जान पाते कि सुख की लगातार खोज का चरम लक्ष्य भगवान् विष्णु का सान्निध्य प्राप्त करना है। विष्णुतत्त्व भगवान् के विभिन्न दिव्य स्वरूपों का असीम विस्तार है और विष्णुतत्त्व का परम या आदि स्वरूप, गोविन्द अथवा कृष्ण हैं, जो समस्त कारणों के कारण हैं। अतएव विष्णु का चिन्तन या विष्णु के दिव्य रूप का, विशेष रूप से कृष्ण का, ध्यान करना ध्यान की चरम सीमा है। यह ध्यान भगवान् के चरणकमल से शुरू किया जा सकता है। लेकिन मनुष्य को भगवान् के पूर्ण स्वरूप को नहीं भूलना चाहिए। इस तरह उसे एक-एक करके, उनके दिव्य शरीर के सभी अंगों के चिन्तन का अभ्यास करना चाहिए। इस श्लोक में यह निश्चित रूप से आश्वस्त किया गया है कि परब्रह्म निर्विशेष नहीं हैं। वे व्यक्ति तो हैं, किन्तु उनका

शरीर हम-जैसे बद्धजीवों से भिन्न है। अन्यथा पूर्ण आध्यात्मिक सिद्धि की प्राप्ति के लिए शुकदेव गोस्वामी ने प्रणव (ॐकार) से लेकर विष्णु के साकार शरीर के अंग-प्रत्यंग के ध्यान की संस्तुति न की होती। भारत के भव्य मन्दिरों में श्रीविष्णु-विग्रहों की पूजा मूर्तिपूजा नहीं है जैसाकि कुछ अल्पज्ञ लोग गलत अर्थ निकालते हैं, बल्कि ये मन्दिर श्रीविष्णु के दिव्य अंगों पर ध्यान लगाने के आध्यात्मिक केन्द्र हैं। श्रीविष्णु के मन्दिरों में भगवान् की अचिन्त्य शक्ति के कारण भगवान् का पूजनीय विग्रह भगवान् से अभिन्न है। जैसा श्रीशुकदेव गोस्वामी ने, जो एक महान् अधिकारी हैं, अनुशंसा की है, कि जो व्यक्ति एक स्थान पर बैठकर प्रणव (ॐकार) का या विष्णु के अंगों का ध्यान नहीं कर सकते, उनके लिए मन्दिर में विष्णु के दिव्य अंगों का शास्त्र-रीति के अनुसार ध्यान करना, ध्यान का एक सुलभ अवसर है। जन-सामान्य को *अ-उ-म्* इन तीनों अक्षरों के दिव्य मेल से बने ॐकार की अपेक्षा मन्दिर में विष्णु के रूप का ध्यान करने से अधिक लाभ प्राप्त हो सकता है। यद्यपि ॐकार तथा विष्णु के रूपों में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु जो लोग परम सत्य के विज्ञान से अवगत नहीं होते, वे विष्णु के रूपों तथा ॐकार में अन्तर बताकर मतभेद उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं। यहाँ यह संकेत दिया गया है कि विष्णु-रूप ही ध्यान का चरम लक्ष्य है। अतएव निर्विशेष ॐकार की अपेक्षा विष्णु के रूपों पर चित्त को एकाग्र करना श्रेयस्कर है। इनमें से पहली विधि दूसरे की अपेक्षा अधिक कठिन भी है।

रजस्तमोभ्यामाक्षिप्तं विमूढं मन आत्मनः ।
यच्छेद्धारणया धीरो हन्ति या तत्कृतं मलम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

रजः—रजोगुण; तमोभ्याम्—तथा तमोगुण के द्वारा; आक्षिप्तम्—उद्वेलित; विमूढम्—मोहग्रस्त; मनः—मन; आत्मनः—अपना; यच्छेत्—सुधार ले; धारणया—(विष्णु की) धारणा से; धीरः—शान्त; हन्ति—नष्ट करता है; या—वे सब; तत्-कृतम्—उनके द्वारा की गई; मलम्—गंदी वस्तुओं को।

मनुष्य का मन सदैव रजोगुण द्वारा विचलित और तमोगुण द्वारा मोहग्रस्त होता रहता है। किन्तु मनुष्य ऐसी धारणाओं को भगवान् विष्णु के सम्बन्ध द्वारा ठीक कर सकता है और इस तरह उनसे उत्पन्न गंदी वस्तुओं को स्वच्छ करके शान्त बन सकता है।

तात्पर्य : जो लोग सामान्यतया रजो तथा तमोगुणों द्वारा संचालित होते है, वे ईश्वरीय अनुभूति की दिव्य अवस्था प्राप्त करने के प्रामाणिक पात्र नहीं होते। सतोगुण द्वारा संचालित व्यक्ति ही परम सत्य के

ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं। रजो तथा तमोगुण के प्रभाव कांचन तथा कामिनी के प्रति अत्यधिक लालसा के कारण प्रकट होते हैं। और जो लोग कांचन एवं कामिनी के पीछे पड़े रहते है वे अपनी मनोवृत्तियों को भगवान् विष्णु के शक्तिशाली निराकार स्वरूप का निरन्तर स्मरण करके सुधार सकते हैं। सामान्यतया निर्विशेषवादी या अद्वैतवादी ही रजो तथा तमोगुण से प्रभावित होते हैं। ऐसे निर्विशेषवादी अपने को मुक्तात्मा समझते हैं, किन्तु वे परम सत्य के दिव्य साकार-स्वरूप के विषय में कुछ भी नहीं जानते। वस्तुत: ब्रह्म के साकार-स्वरूप विषयक ज्ञान से रहित होने के कारण उनका अन्त:करण अशुद्ध रहता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि सैकड़ों जन्मों के बाद, निर्विशेष चिन्तक भगवान् की शरण ग्रहण करता है। भगवान् के साकार-स्वरूप का साक्षात्कार करने की योग्यता प्राप्त करने के लिए, नवदीक्षित निर्विशेषवादी को ब्रह्मवाद के दर्शन द्वारा प्रत्येक वस्तु के साथ भगवान् के सम्बन्ध की अनुभूति करने का अवसर प्रदान किया जाता है।

अपनी उच्चतर अवस्था में ब्रह्मवाद किसी भी साधक को परम सत्य की निर्विशेष धारणा बनाने की अनुमति नहीं देता, अपितु यह परम सत्य की धारणा को तथाकथित भौतिक शक्ति के क्षेत्र तक विस्तारित करता है। भौतिक शक्ति द्वारा सृजित सारी वस्तुओं को सेवाभाव द्वारा ब्रह्म के साथ जोड़ा जा सकता है, जो जीवन शक्ति का अनिवार्य अंग है। भगवान् का शुद्ध भक्त, अपने इस सेवाभाव से प्रत्येक वस्तु को आध्यात्मिक सत्ता में बदलने की कला से अवगत होता है और इसी भक्तिमय विधि से ब्रह्मवाद के सिद्धान्त को पूर्णता प्रदान की जा सकती है।

यस्यां सन्धार्यमाणायां योगिनो भक्ति-लक्षणः ।
आशु सम्पद्यते योग आश्रयं भद्रमीक्षतः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यस्याम्—ऐसे सुनियोजित स्मरण से; सन्धार्यमाणायाम्—और इस तरह के अभ्यास में स्थिर होकर; योगिनः—योगीजन; भक्ति-लक्षणः—भक्तियोग का अभ्यास करके; आशु—शीघ्र; सम्पद्यते—सफलता प्राप्त करता है; योगः—भक्तिमयी सेवा से सम्बन्ध; आश्रयम्—शरण के अन्तर्गत; भद्रम्—कल्याण; ईक्षतः—देखते हुए।

हे राजन्, स्मरण की इस पद्धति से तथा भगवान् के कल्याणप्रद साकार-स्वरूप का दर्शन करने के अभ्यास में स्थिर होने से, मनुष्य भगवान् के प्रत्यक्ष आश्रय के अन्तर्गत उनकी भक्ति को शीघ्र ही प्राप्त कर सकता है।

तात्पर्य : योग की सिद्धियाँ भक्तिमयी प्रवृत्ति के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती हैं। ब्रह्मवाद, जो कि सर्वशक्तिमान की सर्वत्र उपस्थिति को अनुभव करने की पद्धति है, एक प्रकार का मन का प्रशिक्षण है, जिससे भक्तिमयी धारणा के प्रति अभ्यस्त हुआ जाता है और योगी को इसी भक्तिमयी प्रवृत्ति से ऐसे यौगिक प्रयासों की सफल परिणति संभव होती है। किन्तु भक्ति के रंचमात्र मिश्रण बिना, मनुष्य को ऐसा सफल पद प्राप्त नहीं होता। ब्रह्मवाद की दृष्टि से जो भक्तिमय वातावरण उत्पन्न होता है, वह आगे चलकर भक्ति में विकसित हो जाता है और निर्विशेषवादी के लिए यही एकमात्र लाभ है। *भगवद्गीता* (१२.५) में पुष्टि हुई है कि आत्म-साक्षात्कार का निर्विशेष मार्ग अधिक कष्टप्रद है, क्योंकि यह घूमकर लक्ष्य तक पहुँचता है, यद्यपि निर्विशेषवादी भी काफी समय बाद भगवान् के साकार रूप के प्रति आकृष्ट होता है।

राजोवाच

यथा सन्धार्यते ब्रह्मन् धारणा यत्र सम्मता ।
यादृशी वा हरेदाशु पुरुषस्य मनो-मलम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—सौभाग्यशाली राजा ने कहा; यथा—जिस तरह; सन्धार्यते—धारणा बनाई जाती है; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; धारणा—धारणा; यत्र—जहाँ तथा जैसे; सम्मता—संक्षेप में; यादृशी—जैसी; वा—अथवा; हरेत्—समूल नष्ट करता है; आशु—विलम्ब किये बिना; पुरुषस्य—व्यक्ति के; मनः—मन के; मलम्—मल को।

सौभाग्यशाली राजा परीक्षित ने आगे पूछा : हे ब्राह्मण, कृपा करके विस्तार से यह बतायें कि मन को कहाँ और कैसे लगाया जाये? और धारणा को किस तरह स्थिर किया जाय कि मनुष्य के मन का सारा मैल हटाया जा सके?

तात्पर्य : बद्धजीव के हृदय की सारी मलिनता ही उसके सारे कष्टों की जड़ है। बद्धजीव संसार के अनेक कष्टों से घिरा है, किन्तु अपने निपट अज्ञान के कारण वह इस भौतिक जगत में अपने दीर्घ बन्दी जीवन की अवधि में हृदय में संचित गंदगी (मल) को दूर करने में असमर्थ रहता है। वास्तव में वह परमेश्वर की इच्छानुसार सेवा करने के निमित्त आया होता है, किन्तु हृदय की गंदगी के कारण वह अपनी मनोकल्पित इच्छाओं की पूर्ति करना चाहता है। ये इच्छाएँ उसे मन:शान्ति प्रदान करने के बजाय नई-नई समस्याएँ उत्पन्न करती रहती हैं और इस तरह उसे जन्म-मृत्यु के चक्र से बाँध देती हैं। सकाम

कर्म तथा ज्ञान का यह मल परमेश्वर की संगति करके ही दूर किया जा सकता है। सर्वशक्तिमान होने के कारण भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्तियों के द्वारा अपना सान्निध्य प्रदान कर सकते हैं। अतएव जो लोग ब्रह्म के साकार स्वरूप में श्रद्धा दृढ़ नहीं कर पाते, उन्हें भगवान् के विराट रूप का सान्निध्य प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया जाता है। भगवान् का विराट निर्विशेष स्वरूप उनकी असीम शक्तियों का स्वरूप है। चूँकि शक्तिमान तथा शक्ति अभिन्न हैं, अतएव उनके विराट स्वरूप की निर्विशेष धारणा भी बद्धजीव को अप्रत्यक्ष रूप से भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करने में सहायक होती है और इस तरह क्रमशः साकार सम्पर्क की अवस्था प्राप्त की जा सकती है।

महाराज परीक्षित पहले से भगवान् श्रीकृष्ण के साकार स्वरूप से प्रत्यक्ष रूप से जुड़े थे। अतएव उन्हें शुकदेव गोस्वामी से यह पूछने की आवश्यकता नहीं थी कि मन को कहाँ और कैसे ब्रह्म के निर्विशेष विराट रूप में लगाया जाय। किन्तु उन्होंने उन सबके लाभ के लिए इस विषय में विशद जिज्ञासा की, जो भगवान् के सच्चिदानन्द स्वरूप के दिव्य साकार स्वरूप की कल्पना करने में असमर्थ हैं। अभक्त लोग भगवान् के साकार स्वरूप के विषय में सोच भी नहीं सकते। उनके अल्पज्ञान के कारण, राम या कृष्ण के साकार स्वरूप उनके लिए नितान्त क्रान्तिकारी हैं। उन्हें भगवान् की शक्ति का बहुत ही कम अनुमान होता है। *भगवद्गीता* (९.११) में स्वयं भगवान् ने यह बताया है कि अल्पज्ञ पुरुष, भगवान् को सामान्य व्यक्ति मानकर, उपहास करते हैं। ऐसे व्यक्ति भगवान् की अचिन्त्य शक्ति से अनजान रहते हैं। भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्ति से, मानव-समाज में या जीवों के अन्य समाज में विचरण करते हुए भी अपने दिव्य पद से रंचमात्र हटे बिना वही सर्वशक्तिमान भगवान् बने रहते हैं। अतएव ऐसे व्यक्तियों के लाभ के लिए, जो भगवान् के साकार दिव्य स्वरूप को स्वीकार करने में असमर्थ हैं, महाराज परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा कि प्रारम्भ में मन को भगवान् पर किस तरह स्थिर किया जाय और गोस्वामीजी ने निम्नवत् उसका विस्तार से उत्तर दिया।

श्री-शुक उवाच

जितासनो जित-श्वासो जित-सङ्गो जितेन्द्रियः ।
स्थूले भगवतो रूपे मनः सन्धारयेद्धिया ॥ २३॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; जित-आसनः—संयमित आसन; जित-श्वासः—संयमित श्वास-क्रिया; जित-सङ्गः—संयमित संगति; जित-इन्द्रियः—संयमित इन्द्रियाँ; स्थूले—स्थूल पदार्थ में; भगवतः—भगवान् के; रूपे—स्वरूप में; मनः—मन को; सन्धारयेत्—लगाए; धिया—बुद्धि से।

शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया : मनुष्य को चाहिए कि आसन को नियन्त्रित करे, यौगिक प्राणायाम द्वारा श्वास-क्रिया को नियमित करे और इस तरह मन तथा इन्द्रियों को वश में करे। फिर बुद्धिपूर्वक मन को भगवान् की स्थूल शक्तियों (विराट रूप) में लगाये।

तात्पर्य : भौतिकता में निमग्न बद्धजीव का मन उसे देहात्मबुद्धि से ऊपर उठने नहीं देता, अतएव निपट भौतिकतावादी के चरित्र को ढालने के लिए ध्यान के योग-पद्धति (आसन और श्वास प्रक्रिया को नियंत्रित करने तथा मन को परमेश्वर में स्थिर करने) की संस्तुति की गई है। जब तक ऐसे भौतिकतावादी लोग भौतिकता में निमग्न मन को स्वच्छ नहीं बना लेते, तब तक उनके लिए आध्यात्मिक विचारों में मन को एकाग्र कर पाना असम्भव है। ऐसा करने के लिए अपने मन को भगवान् के स्थूल भौतिक या बाह्य स्वरूप में एकाग्र करना चाहिए। अगले श्लोक में भगवान् के विराट रूप के विभिन्न भागों का वर्णन किया गया है। भौतिकतावादी व्यक्ति ऐसी नियमन-विधि के फलस्वरूप कुछ योग शक्तियाँ प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहते हैं, लेकिन यौगिक अनुष्ठानों का असली प्रयोजन संचित मल को—यथा वासना, क्रोध, ईर्ष्या तथा अन्य भौतिक कल्मषों को—दूर करना है। यदि योगी चमत्कारिक आसनों के प्रदर्शन में पड़ जाता है, तो उसकी यौगिक सफलता का लक्ष्य विफल हो जाता है, क्योंकि उसका परम ध्येय तो ईश-साक्षात्कार है। अतएव उसे भिन्न धारणा के द्वारा, अपने स्थूल भौतिकतावादी मन को स्थिर करने और इस तरह भगवान् की शक्ति की अनुभूति करने की संस्तुति की जाती है। ज्योंही ये शक्तियाँ अध्यात्म (योग) की नैमित्तिक अभिव्यक्तियाँ प्रतीत होने लगती हैं, तो वह स्वतः आगे बढ़ जाता है और क्रमशः उसके लिए पूर्ण अनुभूति की अवस्था प्राप्त कर पाना सम्भव हो जाता है।

विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम् ।
यत्रेदं व्यज्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च सत् ॥ २४॥

शब्दार्थ

विशेषः—साकार; तस्य—उसका; देहः—शरीर; अयम्—यह; स्थविष्ठः—स्थूल रूप से भौतिक; च—तथा; स्थवीयसाम्—समस्त पदार्थ का; यत्र—जहाँ; इदम्—ये सारे नियम; व्यज्यते—अनुभव किया जाता है; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; भूतम्—विगत; भव्यम्—भविष्य; भवत्—वर्तमान; च—तथा; सत्—फलीभूत, परिणामी।

सम्पूर्ण व्यवहार-जगत की यह विराट अभिव्यक्ति परम सत्य का साक्षात् शरीर है, जिसमें ब्रह्माण्ड के भूत, वर्तमान एवं भविष्य का अनुभव किया जाता है।

तात्पर्य : कोई भी वस्तु, चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक, भगवान् की शक्ति का विस्तार मात्र है और जैसाकि *भगवद्गीता* (१३.१३) में कहा गया है, सर्वशक्तिमान भगवान् की अपनी दिव्य आँखें, सिर तथा अन्य शारीरिक अंग होते हैं, जो सर्वत्र व्याप्त हैं। वे कहीं भी और सर्वत्र देख, सुन, छू या अपने को प्रकट कर सकते हैं, क्योंकि वे समस्त सूक्ष्मजीवों में परमात्मा के रूप में सर्वत्र विद्यमान हैं, यद्यपि उनका विशेष धाम परम जगत में है। यह सापेक्ष जगत भी उनका व्यावहारिक प्रस्तुतीकरण है, क्योंकि यह उनकी दिव्य शक्ति के विस्तार के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यद्यपि वे अपने धाम में रहते हैं, किन्तु उनकी शक्ति सर्वत्र उसी तरह वितरित रहती है, जिस प्रकार सूर्य, स्थिर रहकर भी, सर्वत्र प्रसारित रहता है, क्योंकि सूर्य की किरणें सूर्य से अभिन्न होने के कारण सूर्य-गोलक का विस्तार ही मानी जाती है। *विष्णु पुराण* (१.२२.५२) में यह कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि एक स्थान में रहकर, अपनी किरणें तथा उष्मा फैलाती है, उसी प्रकार परमात्मा या भगवान्, अपनी बहुविधि शक्ति से, सर्वत्र अपना विस्तार करते हैं। विराट ब्रह्माण्ड की यह अभिव्यक्ति उनके विराट शरीर का अंश मात्र है। अल्पज्ञ लोग भगवान् के सर्व-आध्यात्मिक दिव्य स्वरूप की कल्पना भी नहीं कर सकते, लेकिन वे उनकी विभिन्न शक्तियों द्वारा उसी तरह आश्चर्यचकित रहते हैं, जिस तरह आदिम प्रजाति के लोग आकाश की बिजली, विशाल पर्वत या विस्तृत बरगद के पेड़ को देखकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं। वे लोग व्याघ्र तथा हाथी के बल की प्रशंसा उनकी श्रेष्ठ शक्ति तथा शौर्य के लिए करते हैं। यद्यपि शास्त्रों में भगवान् का विशद् विवरण दिया हुआ है, यद्यपि भगवान् अवतरित होते हैं और अपनी असामान्य शक्ति तथा शौर्य का प्रदर्शन करते हैं और यद्यपि वे विद्वान पण्डितों तथा भूतकाल के व्यासदेव, नारद, असित एवं देवल जैसे सन्तों तथा *भगवद्गीता* में अर्जुन द्वारा एवं आधुनिक युग में भी शंकर, रामानुज, मध्व तथा भगवान् श्री चैतन्य जैसे आचार्यों के द्वारा, भगवान् के रूप में स्वीकार किये जाते हैं, लेकिन असुरगण भगवान् के अस्तित्व को नहीं मानते। असुरगण शास्त्रों के किसी भी साक्ष्य को स्वीकार नहीं

करते, न ही वे आचार्यों के प्रमाण को मान्यता देते हैं। वे तुरन्त अपनी आँखों से उन्हें देखना चाहते हैं, अतएव वे भगवान् के शरीर को विराट रूप में देख सकते हैं और वही रूप उनकी चुनौती का उत्तर दे सकता है और चूँकि वे व्याघ्र, हाथी या वज्र जैसी श्रेष्ठ भौतिक वस्तुओं के समक्ष श्रद्धावनत होने के आदी हैं, अतएव वे विराट रूप को सम्मान प्रदान करते हैं। अर्जुन द्वारा प्रार्थना किये जाने पर भगवान् कृष्ण ने असुरों के लिए विराट रूप प्रदर्शित किया। भगवान् का शुद्ध भक्त भगवान् के ऐसे संसारी विराट शरीर को देखने का आदी नहीं होता, अतएव इसे देखने के लिए उसे विशेष दृष्टि की आवश्यकता होती है। इसीलिए भगवान् ने अर्जुन को विशेष दृष्टि प्रदान करने की अनुकम्पा की, जिससे वह उनके विराट रूप का दर्शन कर सके, जिसका वर्णन *भगवद्गीता* के ग्यारहवें अध्याय में किया गया है। भगवान् का यह विराट रूप अर्जुन के लाभ के लिए नहीं, अपितु उन अल्पज्ञ व्यक्तियों के लिए है, जो हर किसी को भगवान् का अवतार मान लेते हैं और इस तरह जनसामान्य को गुमराह करते रहते हैं। उनके लिए यह संकेत है कि मनुष्य ऐसे सस्ते अवतार से कहे कि तुम अपना विराट रूप दिखलाओ और अपने को अवतार सिद्ध करो। भगवान् के विराट रूप का प्राकट्य एकसाथ, नास्तिकों के लिए चुनौती तथा असुरों के लिए कृपा है, जो भगवान् को विराट समझ सकें और इस तरह धीरे-धीरे अपने हृदय के मल को स्वच्छ कर सकें, जिससे वे निकट भविष्य में भगवान् के दिव्य रूप को सचमुच देखने के योग्य हो सकें। यह समस्त नास्तिकों तथा निपट भौतिकतावादियों के लिए सर्वदयालु भगवान् का वरदान है।

अण्ड-कोशे शरीरेऽस्मिन् सप्तावरण-संयुते ।
वैराजः पुरुषो योऽसौ भगवान् धारणाश्रयः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

अण्ड-कोशे—ब्रह्माण्ड-रूपी खोल के भीतर; शरीरे—शरीर में; अस्मिन्—इस; सप्त—सात; आवरण—आवरण, खोले; संयुते—ऐसा करके; वैराजः—विराट स्वरूप; पुरुषः—भगवान् के स्वरूप; यः—जो; असौ—वह; भगवान्—भगवान्; धारणा—धारणा का; आश्रयः—वस्तु, विषय।

भौतिक तत्त्वों के द्वारा सात प्रकार से प्रच्छन्न ब्रह्माण्डीय खोल (आवरण) रूपी शरीर के भीतर भगवान् का विराट ब्रह्माण्डीय स्वरूप विराट धारणा का विषय है।

तात्पर्य : एक ही समय में भगवान् के अन्य अनेक रूप होते हैं और वे सभी भगवान् श्रीकृष्ण के

मूल स्रोत रूप से अभिन्न हैं। *भगवद्गीता* में यह सिद्ध किया जा चुका है कि भगवान् का आदि दिव्य तथा शाश्वत रूप श्रीकृष्ण हैं और वे अपनी अचिन्त्य अन्तरंगा शक्ति से अर्थात् आत्ममाया से, अपने आपको विविध रूपों तथा अवतारों में एकसाथ विस्तारित कर सकते हैं, लोभी उनकी पूर्णशक्ति में कोई कमी नहीं आती। वे पूर्ण हैं और यद्यपि उनसे असंख्य पूर्ण रूप उद्भूत होते हैं, तो भी वे पूर्ण हैं और उनमें किसी प्रकार की घटत नहीं आती। यह उनकी आध्यात्मिक या अन्तरंगा शक्ति है। *भगवद्गीता* के ग्यारहवें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने उन अल्पज्ञों को आश्वस्त करने के लिए अपना विराट रूप प्रकट किया, जो यह नहीं सोच पाते कि वे मनुष्य की भाँति प्रकट हो सकते हैं तथा उनमें वास्तव में वह शक्ति है, जिसके बल पर वे बिना किसी प्रतिद्वन्द्वी के परम पुरुष होने का दम भर सकते हैं। यद्यपि भौतिकतावादी लोग अत्यन्त भोंड़े ढंग से विशाल ब्रह्माण्डीय आकाश के विषय में सोच सकते हैं जिसमें सूर्य के समान विशाल असंख्य लोक होते हैं, वे अपने ऊपर के वृत्ताकार आकाश को ही देख सकते हैं और उन्हें इस ब्रह्माण्ड की तथा इसी के साथ-साथ लाखों ब्रह्माण्डों की भी कोई जानकारी नहीं होती जो जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहंकार, प्रकृति तत्त्व तथा प्रकृति के सात आवरणों से ढके हैं जिस प्रकार एक बहुत बड़ा फुटबाल, जिसमें हवा भरी हो और ढका हो, कारणार्णव के जल पर तैर रहा हो, जहाँ *महाविष्णु* के रूप में भगवान् शयन करते हैं। सारे ब्रह्माण्ड बीज-रूप में *महाविष्णु* के श्वास से उद्भूत हो रहे हैं, जो भगवान् के अंश हैं। जब *महाविष्णु* अपना लम्बा श्वास भीतर खींचते हैं, तो ब्रह्मा द्वारा अधिष्ठित सारे ब्रह्माण्ड विनष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार भगवान् की परम इच्छा द्वारा भौतिक जगत उत्पन्न तथा विनष्ट होते रहते हैं। बेचारा, मूर्ख भौतिकतावादी इतनी ही कल्पना कर सकता है कि वह कितनी मूर्खतापूर्वक एक मरणधर्मा नगण्य जीव को दावे के साथ भगवान् के प्रतिद्वन्द्वी अवतार के रूप में प्रस्तुत करता है। यह विराट रूप, विशेष रूप से भगवान् द्वारा अल्पज्ञों को पाठ पढ़ाने के लिए, प्रकट किया गया था जिससे कोई मनुष्य अन्य किसी मनुष्य को तभी भगवान् का अवतार स्वीकार करे जब वह ऐसे विराट रूप को उसी तरह प्रदर्शित कर सके जिस तरह भगवान् कृष्ण ने किया था। भौतिकतावादी व्यक्ति अपने निजी लाभ के लिए, जैसा शुकदेव गोस्वामी ने संस्तुति की है, भगवान् के विराट रूप पर अपने मन को केन्द्रित कर सकता है, किन्तु उसे सावधान रहना चाहिए कि वह उन

वंचकों से पथभ्रष्ट न हो जो अपने को भगवान् कृष्ण से अभिन्न पुरुष होने का दावा करते हैं, किन्तु वे उनकी तरह कर्म नहीं कर पाते या विराट रूप नहीं प्रदर्शित कर पाते।

पातालमेतस्य हि पाद-मूलं
पठन्ति पार्ष्णि-प्रपदे रसातलम् ।
महातलं विश्व-सृजोऽथ गुल्फौ
तलातलं वै पुरुषस्य जङ्घे ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

पातालम्—ब्रह्माण्ड के अधोलोक; एतस्य—उनका; हि—निश्चय ही; पाद-मूलम्—पाँवों के तलवे; पठन्ति—वे अध्ययन करते हैं; पार्ष्णि—एड़ियाँ; प्रपदे—पंजे; रसातलम्—रसातल नाम का लोक; महातलम्—महातल नामक लोक; विश्व-सृजः—ब्रह्माण्ड के स्रष्टा का; अथ—इस प्रकार; गुल्फौ—टखने; तलातलम्—तलातल नामक लोक; वै—वे जैसे हैं; पुरुषस्य—विराट पुरुष की; जङ्घे—पिंडलियाँ।

जिन पुरुषों ने इसकी अनुभूति की है, उन्होंने यह अध्ययन किया है कि पाताल लोक विराट पुरुष के पाँवों के तलवे हैं तथा उनकी एड़ियाँ और पंजे रसातल लोक हैं। टखने महातल लोक हैं तथा उनकी पिंडलियाँ तलातल लोक हैं।

तात्पर्य : भगवान् के शरीर के अतिरिक्त इस दृश्य जगत के अस्तित्व में कोई सचाई नहीं है। व्यक्त जगत की प्रत्येक वस्तु उन्हीं पर आधारित है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.४) में की गई है, किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं होता है कि भौतिकतावादी की दृष्टि से जो भी दिखता है, वही परम पुरुष है। भगवान् के विराट रूप की धारणा भौतिकतावादी को परमेश्वर के विषय में सोचने का अवसर प्रदान करती है, किन्तु भौतिकतावादी को यह निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि प्रभुता दिखाने की भावना रखते हुए जगत की कल्पना करना कभी भी ईश-साक्षात्कार नहीं हो सकता। भौतिक संसाधनों के शोषण का भौतिकतावादी दृष्टिकोण भगवान् की बहिरंगा शक्ति के भ्रम के कारण होता है, अतएव यदि कोई भगवान् के विराट रूप की धारणा से परम सत्य की अनुभूति करना चाहता है, तो उसे सेवा-भाव उत्पन्न करना होगा। सेवा-भाव उत्पन्न किये बिना, दर्शक पर विराट साक्षात्कार की धारणा का नगण्य प्रभाव पड़ेगा। दिव्य भगवान् के स्वरूप की कोई धारणा भौतिक सृष्टि का अंग नहीं होती। वे सम्पूर्ण परिस्थितियों में अपनी सत्ता को परमात्मा रूप में बनाये रखते हैं और तीनों भौतिक गुणों से कभी भी प्रभावित नहीं होते, क्योंकि प्रत्येक भौतिक वस्तु कल्मषग्रस्त है। भगवान् सदैव अपनी

अन्तरंगा शक्ति के बल पर विद्यमान रहते हैं।

यह ब्रह्माण्ड चौदह लोकों में विभक्त है। इनमें से सात लोक, जिनके नाम*। भूर्, भुवर्, स्वर्, महर्, जनस्, तपस्* तथा *सत्य* हैं, ऊर्ध्वलोक कहलाते हैं और वे एक दूसरे के ऊपर स्थित हैं। इसी तरह सात अधोलोक हैं, जो *अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल तथा पाताल* कहलाते हैं और क्रमश: एक दूसरे के नीचे हैं। इस श्लोक में नीचे से वर्णन प्रारम्भ होता है, क्योंकि भक्ति के अनुसार, भगवान् का शारीरिक वर्णन उनके पाँवों से प्रारम्भ करना चाहिए। शुकदेव गोस्वामी भगवान् के मान्य भक्त हैं और उनका यह वर्णन एकदम सही है।

द्वे जानुनी सुतलं विश्व-मूर्ते-
रूरु-द्वयं वितलं चातलं च ।
महीतलं तज्जघनं महीपते
नभस्तलं नाभि-सरो गृणन्ति ॥ २७॥

शब्दार्थ

द्वे—दो; जानुनी—घुटने; सुतलम्—सुतल नामक लोक; विश्व-मूर्तेः—विराट रूप के; ऊरु-द्वयम्—दोनों जाँघें; वितलम्—वितल लोक; च—भी; अतलम्—अतल लोक; च—तथा; महीतलम्—महातल लोक; तत्—उसका; जघनम्—कटि-प्रदेश; महीपते—हे राजा; नभस्तलम्—बाह्य अन्तरिक्ष; नाभि-सरः—नाभि का गड्ढा; गृणन्ति—कहते हैं।

विश्व-रूप के घुटने सुतल नामक लोक हैं तथा दोनों जाँघें वितल तथा अतल लोक हैं। कटि-प्रदेश महीतल है और उसकी नाभि का गड्ढा बाह्य अन्तरिक्ष है।

उरः-स्थलं ज्योतिरनीकमस्य
ग्रीवा महर्वदनं वै जनोऽस्य ।
तपो वराटीं विदुरादि-पुंसः
सत्यं तु शीर्षाणि सहस्र-शीर्ष्णः ॥ २८॥

शब्दार्थ

उरः—उच्च; स्थलम्—स्थान (छाती); ज्योतिः-अनीकम्—ज्योतिष्क; अस्य—उसकी; ग्रीवा—गर्दन; महः—ज्योतिष्कों के ऊपर का लोक; वदनम्—मुख; वै—ठीक उसी तरह; जनः—इस लोक के ऊपर का लोक; अस्य—उनका; तपः—जनः लोक के ऊपर का लोक; वराटीम्—मस्तक; विदुः—जाना जाता है; आदि—मूल; पुंसः—पुरुष; सत्यम्—सर्वोच्च लोक; तु—लेकिन; शीर्षाणि—शिर; सहस्र—एक हजार; शीर्ष्णः—शिरों से युक्त।

विराट रूप वाले आदि पुरुष की छाती ज्योतिष्क (स्वर्ग) लोक है, उसकी गर्दन महर्लोक है, उसका मुख जनःलोक है और उसका मस्तक तपःलोक है। सर्वोच्च लोक, जिसे सत्यलोक

कहते हैं, एक हजार सिरों (मस्तिष्कों) वाले उनआदि पुरुष का सिर है।

तात्पर्य : सूर्य तथा चन्द्रमा जैसे तेजवान ज्योतिर्लोक ब्रह्माण्ड के मध्य में स्थित हैं, अतएव वे भगवान् के आदि विराट रूप के वक्ष:स्थल कहलाते हैं। इस ज्योतिर्लोक के ऊपर जिसे देवताओं का राज्य या स्वर्गलोक भी कहते हैं, महः, जनः तथा तपः लोक हैं और सबके ऊपर सत्य लोक है, जहाँ प्रकृति के समस्त गुणों के मुख्य निर्देशक अर्थात् विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव निवास करते हैं। ये विष्णु *क्षीरोदकशायी विष्णु* कहलाते हैं और ये सभी जीवों में परमात्मा की भाँति कार्य करते हैं। कारणार्णव में असंख्य ब्रह्माण्ड तैरते रहते हैं और इनसब में भगवान् के विराट रूप का प्रतिनिधित्व, असंख्य सूर्यों, चन्द्रमाओं, देवताओं, ब्रह्माओं, विष्णुओं तथा शिवों के रूप में होता है और ये सभी भगवान् कृष्ण की अचिन्त्य शक्ति के एक अंश में स्थित हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.४२) में कहा गया है।

इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः
कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः ।
नासत्य-दस्रौ परमस्य नासे
घ्राणोऽस्य गन्धो मुखमग्निरिद्धः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

इन्द्र-आदयः—स्वर्ग के राजा इन्द्र इत्यादि देवता; बाहवः—बाँहें; आहुः—कहलाते हैं; उस्राः—देवता; कर्णौ—कान; दिशः—चारों दिशाएँ; श्रोत्रम्—सुनने की इन्द्रियाँ; अमुष्य—भगवान् की; शब्दः—ध्वनि; नासत्य-दस्रौ—अश्विनी कुमार नामक देवता; परमस्य—परम के; नासे—नथुने; घ्राणः—सुंगधि की इन्द्रिय; अस्य—उसका; गन्धः—सुगन्धि; मुखम्—मुँह; अग्निः—अग्नि; इद्धः—प्रज्वलित।

इन्द्र इत्यादि देवता उस विराट पुरुष की बाँहें हैं, दसों दिशाएँ उसके कान हैं और भौतिक ध्वनि उसकी श्रवणेन्द्रिय है। दोनों अश्विनीकुमार उसके नथने हैं तथा भौतिक सुगंध उसकी घ्राणेन्द्रिय है। उसका मुख प्रज्वलित अग्नि है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के ग्यारहवें अध्याय में दिये गये भगवान् के विराट रूप का वर्णन यहाँ पर श्रीमद्भागवत् में विस्तार से दिया गया है। *भगवद्गीता* (११.३०) में इस प्रकार वर्णन है, ''हे विष्णु! मैं देख रहा हूँ कि आप अपने प्रज्वलित मुख में सब को निगले जा रहे हैं और समूचे ब्रह्माण्ड को अपनी असह्य किरणों की लपेट में ले रहे हैं। आप समस्त जगत को झुलसाते हुए अपने को व्यक्त कर रहे हैं।'' इस तरह *श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता* के जिज्ञासु के लिए, स्नातकोत्तर अध्ययन का विषय है।

दोनों ही परम सत्य कृष्ण के विज्ञान हैं, अतएव ये अन्योन्याश्रित हैं।

परमेश्वर के विराट पुरुष की अवधारणा में समस्त अधिपति देवता तथा अधिशासित जीव सम्मिलित हैं। जीव का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश भी भगवान् के शक्त्यावेशित दूत द्वारा नियन्त्रित रहता है। चूँकि भगवान् के विराट रूप में देवता भी सन्निहित रहते हैं, अतएव भगवान् की पूजा, चाहे उनके विराट भौतिक रूप में की जाय या भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में उनके शाश्वत दिव्य रूप में की जाय, वह देवताओं तथा अन्य अंशों को भी प्रसन्न करनेवाली होती है, जिस प्रकार कि वृक्ष की जड़ में पानी डालने से वृक्ष के अन्य सभी भागों को शक्ति मिलती है। फलस्वरूप यदि भौतिकतावादी व्यक्ति भगवान् के विश्व विराट रूप की पूजा करता है, तो वह सन्मार्ग पर अग्रसर होता है। मनुष्य को चाहिए कि अपनी विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति के लिए अनेक देवताओं के पास जाकर दिग्भ्रमित न हो। वास्तविक सत्ता तो साक्षात् भगवान् हैं, अन्य सभी काल्पनिक हैं क्योंकि सारी वस्तुएँ केवल भगवान् में सन्निविष्ट हैं।

द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत्पतङ्गः
पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च ।
तद्भ्रू-विजृम्भः परमेष्ठि-धिष्ण्य-
मापोऽस्य तालू रस एव जिह्वा ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

द्यौः—अन्तरिक्ष; अक्षिणी—नेत्र-गोलक; चक्षुः—आँखों के; अभूत्—ऐसा हुआ; पतङ्गः—सूर्य; पक्ष्माणि—पलकें; विष्णोः—भगवान् श्री विष्णु की; अहनी—दिन तथा रात; उभे—दोनों; च—तथा; तत्—उसका; भ्रू—भौहें; विजृम्भः—गतियाँ; परमेष्ठि—सर्वोपरि जीव (ब्रह्मा); धिष्ण्यम्—पद; आपः—वरुण, जल का स्वामी; अस्य—उसका; तालू—तालू; रसः—रस; एव—निश्चय ही; जिह्वा—जीभ।

बाह्य अन्तरिक्ष उसकी आँखों के गड्ढे हैं तथा देखने की शक्ति के लिए सूर्य नेत्र-गोलक हैं। दिन तथा रात पलकें हैं और उसकी भृकुटि की गतियों में ब्रह्मा तथा अन्य महापुरुषों का निवास होता है। जल का अधीश्वर वरुण उसका तालु तथा सभी वस्तुओं का रस या सार उसकी जीभ है।

तात्पर्य : सामान्य ज्ञान के अनुसार इस श्लोक का वर्णन विरोधाभाषी प्रतीत होता है, क्योंकि सूर्य को कभी नेत्र-गोलक कहा गया है, तो कभी बाह्य अन्तरिक्ष। लेकिन शास्त्रों के आदेश में सामान्य ज्ञान

का स्थान नहीं होता। हमें इन आदेशों को स्वीकार करना चाहिए और सामान्य ज्ञान पर केन्द्रित न रहकर विराट रूप में एकाग्र चित्त होना चाहिए। सामान्य ज्ञान सदैव अधूरा होता है, जबकि शास्त्रों का वर्णन सदा पूर्ण होता है। यदि कोई दोष होता है, तो वह हमारी अपूर्णता के कारण होता है, शास्त्रों के कारण नहीं। वैदिक ज्ञान प्राप्त करने की यही विधि है।

छन्दांस्यनन्तस्य शिरो गृणन्ति
दंष्ट्रा यमः स्नेह-कला द्विजानि ।
हासो जनोन्माद-करी च माया
दुरन्त-सर्गो यदपाङ्ग-मोक्षः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

छन्दांसि—वैदिक स्तोत्र; अनन्तस्य—परमेश्वर के; शिरः—मस्तक; गृणन्ति—उनका कहना है; दंष्ट्राः—दाढ़ें; यमः—यमराज, जो पापियों का निदेशक है; स्नेह-कलाः—स्नेह करने की कला; द्विजानि—दाँत; हासः—मुस्कान; जन-उन्माद-करी—अत्यन्त मोहक; च—भी; माया—भ्रामिका शक्ति; दुरन्त—अजेय; सर्गः—भौतिक सृष्टि; यत्-अपाङ्ग—जिसकी चितवन; मोक्षः—विक्षेप।

वे कहते हैं कि वैदिक स्तोत्र भगवान् के मस्तक हैं और मृत्यु का देवता तथा पापियों को दण्ड देनेवाला यम उनकी दाढ़ें हैं। स्नेह की कला ही उनके दाँत हैं और सर्वाधिक मोहिनी माया ही उनकी मुस्कान है। यह भौतिक सृष्टि रूपी महान् सागर उनकी चितवन स्वरूप है।

तात्पर्य : वेदों के अनुसार यह भौतिक सृष्टि भौतिक शक्ति पर भगवान् के दृष्टिपात का प्रतिफल है, जिसे यहाँ पर अत्यन्त मोहिनी माया के रूप में बताया गया है। ऐसे बद्धजीव, जो ऐसी भौतिकता के द्वारा आकृष्ट होते हैं, उन्हें जान लेना चाहिए कि भौतिक नश्वर सृष्टि वास्तविकता का अनुकरणमात्र है और जो लोग भगवान् की ऐसी आकर्षक चितवन से मोहित हैं, वे पापियों के नियन्त्रक यमराज के नियन्त्रण में रख दिये जाते हैं। भगवान् जब स्नेह से हँसते हैं, तो उनके दाँत दिखते हैं। जो बुद्धिमान व्यक्ति भगवान् के विषय में इस सचाई को ग्रहण करता है, वह उनका शरणागत हो जाता है।

व्रीडोत्तरौष्ठोऽधर एव लोभो
धर्मः स्तनोऽधर्म-पथोऽस्य पृष्ठम् ।
कस्तस्य मेढ्रं वृषणौ च मित्रौ
कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थि-सङ्घाः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

व्रीड—लज्जा; उत्तर—ऊपरी; ओष्ठः—होंठ; अधरः—ठुड्डी; एव—निश्चय ही; लोभः—लालसा; धर्मः—धर्म; स्तनः—वक्षस्थल; अधर्म—अधर्म; पथः—मार्ग; अस्य—उसका; पृष्ठम्—पीठ; कः—ब्रह्मा; तस्य—उसकी; मेढ्रम्—जननेन्द्रिय; वृषणौ—अण्डकोश; च—भी; मित्रौ—मित्रावरुण; कुक्षिः—कमर, कोख; समुद्राः—समुद्र; गिरयः—पर्वत; अस्थि—हड्डियाँ; सङ्घाः—समूह।

लज्जा भगवान् का ऊपरी होठ है, लालसा उनकी ठुड्डी है, धर्म उनका वक्षःस्थल तथा अधर्म उनकी पीठ है। भौतिक जगत में समस्त जीवों के जनक ब्रह्मा जी उनकी जननेन्द्रिय (लिंग) हैं और मित्रा-वरुण उनके दोनों अण्डकोश हैं। सागर उनकी कमर है और पर्वत उनकी अस्थियों के समूह हैं।

तात्पर्य : परमेश्वर निर्विशेष नहीं हैं, जैसाकि अल्पज्ञ विचारक सोचा करते हैं। प्रत्युत वे परम पुरुष हैं, जिसकी पुष्टि समस्त प्रामाणिक वैदिक ग्रन्थों द्वारा होती है। लेकिन उनका व्यक्तित्व वैसा नहीं है जैसा हम अनुमान लगा सकते हैं। यहाँ पर यह कहा गया है कि ब्रह्माजी उनकी जननेन्द्रियों का कार्य करते हैं तथा मित्रावरुण उनके दो अण्डकोश हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि पुरुष के रूप में वे समस्त शारीरिक अवयवों से पूर्ण हैं, लेकिन वे भिन्न प्रकार के तथा विभिन्न शक्तियों वाले हैं। अतएव जब भगवान् को निर्विशेष रूप में वर्णित किया जाता है, तो यह समझना चाहिए कि उनका स्वरूप हमारी अपूर्ण कल्पना के ही समरूप नहीं है। किन्तु मनुष्य चाहे तो पर्वतों या समुद्रों तथा आकाश को विराट पुरुष का अंश मानकर उनकी पूजा कर सकता है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को जो विराट रूप प्रदर्शित किया, वह आस्थाहीनों के लिए एक चुनौती है।

नद्योऽस्य नाड्योऽथ तनू-रुहाणि
मही-रुहा विश्व-तनोर्नृपेन्द्र ।
अनन्त-वीर्यः श्वसितं मातरिश्वा
गतिर्वयः कर्म गुण-प्रवाहः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

नद्यः—नदियाँ; अस्य—उसकी; नाड्यः—नाडियाँ, नसें; अथ—तत्पश्चात्; तनू-रुहाणि—शरीर के बाल; मही-रुहाः—पेड़-पौधे; विश्व-तनोः—विश्व-रूप का; नृप-इन्द्र—हे राजा; अनन्त-वीर्यः—सर्व-शक्तिमान; श्वसितम्—श्वास-क्रिया; मातरिश्वा—वायु; गतिः—गति; वयः—व्यतीत होती आयु; कर्म—कर्म; गुण-प्रवाहः—प्रकृति के गुणों की प्रतिक्रियाएँ।

हे राजन्, नदियाँ उस विराट शरीर की नसें हैं, वृक्ष रोम हैं और सर्वशक्तिमान वायु उनकी श्वास है। व्यतीत होते हुए युग उनकी गति तथा प्रकृति के तीनों गुणों की प्रतिक्रियाएँ ही उनके

कार्यकलाप हैं।

तात्पर्य : भगवान् न तो जड़ पत्थर हैं, न ही निष्क्रिय हैं, जैसाकि कुछ विचारधारा वाले हैं। वे समय के साथ गतिशील हैं, अतएव वे अपने वर्तमान कार्यकलापों के साथ-साथ भूत तथा भविष्य के विषय में भी सब कुछ जानते हैं। उनसे कुछ भी अनजान नहीं रहता है। बद्धजीव प्रकृति के गुणों की प्रतिक्रियाओं द्वारा इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं और ये ही भगवान् के कार्यकलाप हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१२) में कहा गया है, प्रकृति के गुण उन्हीं की निर्देशन में कार्य करते हैं, अतएव कोई भी प्राकृतिक कार्य न तो निरुद्देश्य होता है, न ही स्वचालित। सारे कार्यकलापों के पीछे भगवान् की अध्यक्षता की शक्ति कार्य करती है। इस तरह भगवान् कभी निष्क्रिय नहीं होते, जैसाकि भ्रमवश सोचा जाता है। वेदों का कथन है कि परमेश्वर को स्वयं कुछ नहीं करना पड़ता, जैसाकि श्रेष्ठजनों के साथ होता है, लेकिन सृष्टि के सारे कार्य उन्हीं की अध्यक्षता में सम्पन्न होते हैं। जैसा कहा जाता है कि उनकी स्वीकृति के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। *ब्रह्म-संहिता* (५.४८) में कहा गया है कि सारे ब्रह्माण्ड तथा इनके अधीश्वर (ब्रह्मा), उनके श्वास लेने की अवधि तक ही बने रहते हैं। यहाँ पर इसी की पुष्टि की गई है। ब्रह्माण्डों के भीतर जिस वायु में सारे ब्रह्माण्ड तथा लोक स्थित हैं, वह अतर्क्य विराट पुरुष की श्वास का अंश मात्र है। अतएव मनुष्य नदियों, वृक्षों, वायु तथा बीतने वाले युगों के अध्ययन द्वारा भी भगवान् की निर्विशेष धारणा से दिग्भ्रमित न होकर भगवान् की सही धारणा बना सकता है। *भगवद्गीता* (१२.५) में कहा गया है कि जो परम सत्य के निर्विशेष रूप के प्रति आकृष्ट हैं, वे भगवान् के सगुण स्वरूप के उपासकों की अपेक्षा अधिक कष्ट उठाते हैं।

ईशस्य केशान् विदुरम्बुवाहान्
वासस्तु सन्ध्यां कुरु-वर्य भूम्नः ।
अव्यक्तमाहुर्हृदयं मनश्च
स चन्द्रमाः सर्व-विकार-कोशः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

ईशस्य—परम नियन्ता के; केशान्—सिर के बाल; विदुः—तुम मुझसे जान लो; अम्बु-वाहान्—जल ले जाने वाले बादल; वासः तु—वस्त्र; सन्ध्याम्—दिन तथा रात्रि का सन्धि-काल; कुरु-वर्य—हे कुरुओं में श्रेष्ठ; भूम्नः—सर्वशक्तिमान का; अव्यक्तम्—भौतिक सृष्टि का आदि कारण; आहुः—कहा जाता है; हृदयम्—बुद्धि; मनः च—तथा मन; सः—वह; चन्द्रमाः—चन्द्रमा; सर्व-विकार-कोशः—समस्त परिर्वतनों का आगार।

हे कुरुश्रेष्ठ, जल ले जानेवाले बादल उनके सिर के बाल हैं, दिन या रात्रि की सन्धियाँ ही उनके वस्त्र हैं तथा भौतिक सृष्टि का परम कल्याण ही उनकी बुद्धि है। चन्द्रमा ही उनका मन है, जो समस्त परिवर्तनों का आगार है।

विज्ञान-शक्तिं महिमामनन्ति
सर्वात्मनोऽन्तः-करणं गिरित्रम् ।
अश्वाश्वतर्युष्ट्र-गजा नखानि
सर्वे मृगाः पशवः श्रोणि-देशे ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

विज्ञान-शक्तिम्—चेतना; महिम्—पदार्थ का सिद्धान्त; आमनन्ति—वे ऐसा कहते है; सर्व-आत्मनः—सर्व-व्यापी का; अन्तः-करणम्—अहंकार; गिरित्रम्—रुद्र (शिव); अश्व—घोड़ा; अश्वतरि—खच्चर; उष्ट्र—ऊँट; गजाः—हाथी; नखानि—नाखून; सर्वे—अन्य सब; मृगाः—हिरन; पशवः—चौपाये; श्रोणि-देशे—कटि-प्रदेश में।

पदार्थ का सिद्धान्त (महत्-तत्त्व) सर्वव्यापी भगवान् की चेतना है, जैसा कि विद्वानों ने बल देकर कहा है तथा रुद्रदेव उनका अहंकार है। घोड़ा, खच्चर, ऊँट तथा हाथी उनके नाखून हैं तथा जंगली जानवर और सारे चौपाये भगवान् के कटि-प्रदेश में स्थित हैं।

वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रं
मनुर्मनीषा मनुजो निवासः ।
गन्धर्व-विद्याधर-चारणाप्सरः
स्वर-स्मृतीरसुरानीक-वीर्यः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

वयांसि—विभिन्न प्रकार के पक्षी; तत्-व्याकरणम्—शब्दावली; विचित्रम्—कलात्मक; मनुः—मनुष्यों के पिता; मनीषा—विचार; मनुजः—मानव जाति (मनु-पुत्र); निवासः—निवास; गन्धर्व—गन्धर्व नामक मनुष्य; विद्याधर—विद्याधर; चारण—चारण; अप्सरः—देवदूत; स्वर—संगीतात्मक स्वर-लहरी; स्मृतीः—स्मृति; असुर-अनीक—आसुरी सैनिक; वीर्यः—शक्ति।

विभिन्न प्रकार के पक्षी उनकी दक्ष कलात्मक रुचि के सूचक हैं। मानवजाति के पिता, मनु, उनकी आदर्श बुद्धि के प्रतीक हैं और मानवता उनका निवास है। गन्धर्व, विद्याधर, चारण तथा देवदूत जैसी दैवी योनियाँ उनके संगीत की स्वर-लहरी को व्यक्त करती हैं और आसुरी सैनिक उनकी अद्भुत शक्ति के प्रतिरूप हैं।

तात्पर्य : भगवान् का सौन्दर्य-बोध मोर, तोता तथा कोयल जैसे विविध पक्षियों की कलात्मक रंगबिरंगी सृष्टि से प्रकट होता है। गन्धर्व तथा विद्याधर जैसी दैवी मानवी योनियाँ आश्चर्यजनक गायन

करती हैं और स्वर्ग के देवताओं के मन को भी मोहित कर लेती हैं, जो उनकी संगीत लहरी भगवान् का संगीत-बोध व्यक्त करती है। तो वे निर्विशेष कैसे हो सकते हैं? उनकी संगीत रुचि, कलात्मक बोध तथा आदर्श एवं विफल न होनेवाली बुद्धि उनके परम व्यक्तित्व के विभिन्न लक्षण हैं। *मनु संहिता* मानवता के लिए आदर्श विधि ग्रन्थ है और प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक ज्ञान के इस महान् ग्रन्थ का पालन करना होता है। मानव समाज भगवान् का आवास है। इसका अर्थ यह होता है कि मनुष्य ईश-साक्षात्कार एवं ईश्वर की संगति के लिए है। यह जीवन, बद्धजीव के लिए अपनी नित्य ईश-चेतना को पुनः प्राप्त करने के लिए, एक सुअवसर होता है, जिससे वह जीवन के उद्देश्य को पूरा कर सके। महाराज प्रह्लाद असुरों के कुल में भगवान् के सही प्रतिनिधि हैं। कोई भी जीव भगवान् के विराट शरीर से दूर नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का परम शरीर के प्रति विशेष कर्तव्य होता है। प्रत्येक व्यक्ति को दिए गए इस विशेष कर्तव्य को पूरा कर पाने में व्यवधान पड़ने से जीवों के बीच वैमनस्य आता है, किन्तु जब परमेश्वर के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, तो समस्त जीवों में, यहाँ तक कि जंगली पशुओं में तथा मानव समाज में, पूर्ण एकता हो जाती है। भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने इस सजीव एकता का प्रदर्शन मध्यप्रदेश के जंगल में किया, जहाँ व्याघ्र, हाथी तथा अन्य हिंसक पशुओं ने परमेश्वर के यशोगान में पूर्ण सहयोग दिखलाया। सारे विश्व में शान्ति तथा एकता का यही मार्ग है।

ब्रह्माननं क्षत्र-भुजो महात्मा
विड्रूरुरङ्घ्रि-श्रित-कृष्ण-वर्णः ।
नानाभिधाभीज्य-गणोपपन्नो
द्रव्यात्मकः कर्म वितान-योगः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

ब्रह्म—ब्राह्मण; आननम्—मुख; क्षत्र—क्षत्रिय; भुजः—बाँहें; महात्मा—विराट पुरुष; विट्—वैश्य; ऊरुः—जाँघ; अङ्घ्रि-श्रित—उनके चरणों की छाया में; कृष्ण-वर्णः—शूद्र; नाना—विविध; अभिधा—नामों से; अभीज्य-गण—देवता; उपपन्नः—निहित; द्रव्य-आत्मकः—उपलब्ध वस्तुओं से; कर्म—कर्म; वितान-योगः—यज्ञ का सम्पन्न होना।

विराट पुरुष का मुख ब्राह्मण है, उनकी भुजाएँ क्षत्रिय हैं, उनकी जाँघें वैश्य हैं तथा शूद्र उनके चरणों के संरक्षण में हैं। सारे पूज्य देवता उनमें सन्निहित हैं और यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि भगवान् को प्रसन्न करने के लिए यथासम्भव वस्तुओं से यज्ञसम्पन्न करे।

तात्पर्य : यहाँ पर एक प्रकार से एकेश्वरवाद का सुझाव रखा गया है। यद्यपि वैदिक ग्रन्थों में

विभिन्न नामों से अनेक देवताओं को आहुति प्रदान करने का उल्लेख है, किन्तु इस श्लोक में यह सुझाव है कि वे सभी देवता भगवान् के रूप में निहित हैं। वे आदि पूर्ण के अंशमात्र हैं। इसी प्रकार से मानव समाज के विभिन्न वर्ण—यथा ब्राह्मण (प्रबुद्ध जाति), क्षत्रिय (प्रशासक), वैश्य (व्यापारिक जाति) तथा शूद्र (श्रमिक जाति)—परमेश्वर के शरीर में सन्निविष्ट हैं। अतएव इन सबों को उपलब्ध वस्तुओं से भगवान् को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ करने की संस्तुति की गई है। सामान्यतया घी तथा अन्न की आहुति दी जाती है, किन्तु समय की प्रगति के साथ मानव समाज ने ईश्वर की भौतिक प्रकृति द्वारा प्रदत्त वस्तुओं को, तरह-तरह के सामानों में बदल करके, अनेक वस्तुएँ उत्पन्न कर दी हैं। अतएव *मानव समाज को, न केवल घी से आहुति देनी सीखना चाहिए, अपितु भगवान् के यश के प्रसार हेतु, अन्य तैयार सामानों से भी आहुति देनी चाहिए*। इससे मानव समाज में पूर्णता आयेगी। ऐसे यज्ञों के लिए बुद्धिमान जाति के लोग अर्थात् ब्राह्मण, पूर्ववर्ती आचार्यों से सलाह करके, निर्देश दे सकते हैं। प्रशासक वर्ग ऐसे यज्ञों के सम्पन्न किये जाने की सारी सुविधाएँ प्रदान कर सकता है, वैश्य वर्ग या व्यापारिक जाति, जो ऐसे सामान उत्पन्न करती है, जिसे यज्ञ में अर्पित कर सकते हैं और शूद्र वर्ग ऐसे यज्ञ को सफलता से सम्पन्न करने के लिए शारीरिक श्रम प्रदान कर सकता है। इस प्रकार मनुष्य जाति के सारे वर्गों के सहयोग से, इस युग में जिस यज्ञ की संस्तुति की जाती है, वह अर्थात् भगवान् के पवित्र नाम का संकीर्तन है, जिसको मानव जाति के कल्याण हेतु विश्व भर में सम्पन्न किया जा सकता है।

इयानसावीश्वर-विग्रहस्य
यः सन्निवेशः कथितो मया ते ।
सन्धार्यतेऽस्मिन् वपुषि स्थविष्ठे
मनः स्व-बुद्ध्या न यतोऽस्ति किञ्चित् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

इयान्—ये सब; असौ—वह; ईश्वर—परमेश्वर के; विग्रहस्य—स्वरूप का; यः—जो कुछ; सन्निवेशः—जिस तरह वे स्थित हैं; कथितः—कहा गया; मया—मेरे द्वारा; ते—तुमको; सन्धार्यते—एकाग्र कर सकता है; अस्मिन्—इसमें; वपुषि—विराट स्वरूप में; स्थविष्ठे—स्थूल में; मनः—मन; स्व-बुद्ध्या—अपनी बुद्धि से; न—नहीं; यतः—उनसे परे; अस्ति—है; किञ्चित्—कुछ भी।

इस प्रकार मैंने आपको भगवान् के स्थूल भौतिक विराट स्वरूप की अवधारणा का वर्णन

किया। जो व्यक्ति सचमुच मुक्ति की इच्छा करता है, वह भगवान् के इस स्वरूप पर अपने मन को एकाग्र करता है, क्योंकि भौतिक जगत में इससे अधिक कुछ भी नहीं है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.१०) में भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि प्रकृति तो उनकी आदेशवाहिका है। वह भगवान् की विभिन्न शक्तियों में से एक है और केवल उन्हीं के आदेशानुसार कार्य करती है। वे परम दिव्य भगवान् के रूप में भौतिक तत्त्व पर केवल दृष्टिपात करते हैं; इस तरह पदार्थ का विक्षोभ प्रारम्भ होता है और परिणाम-स्वरूप जो कार्य होते हैं, वे क्रमश: छह प्रकार के भेदों के रूप में प्रकट होते हैं। सारी भौतिक सृष्टि इसी प्रकार से गतिशील है और कालक्रम में यह प्रकट और लुप्त होती रहती है।

जो अल्पज्ञ हैं, वे भगवान् श्रीकृष्ण की उस अचिन्त्य शक्ति की भावना को आत्मसात् नहीं कर पाते, जिसके द्वारा वे मनुष्य के रूप में प्रकट होते हैं (*भगवद्गीता* ९.११)। इस संसार में हमारे ही जैसे रूप में उनका अवतरित होना भी पतित आत्माओं पर उनकी अहैतुकी कृपा का फल है। वे समस्त भौतिक धारणाओं से ऊपर हैं, किन्तु अपने शुद्ध भक्तों पर असीम कृपा के कारण वे अवतरित होते हैं और साक्षात् भगवान् के रूप में प्रकट होते हैं। भौतिकतावादी चिन्तक तथा वैज्ञानिक परमाणु शक्ति तथा विश्व-रूप की विराटता में ही अत्यधिक उलझे रहते हैं और इस जगत के आध्यात्मिक तात्विक सिद्धान्त की अपेक्षा बाह्य व्यवहार-पक्ष को अधिक मान्यता देते हैं। भगवान् का दिव्य रूप ऐसे भौतिकतावादी कार्यकलापों की सीमा के बाहर है और यह सोच पाना अत्यन्त कठिन है कि भगवान् एक ही साथ अन्तर्यामी तथा सर्वव्यापी हैं, क्योंकि भौतिकतावादी चिन्तक तथा वैज्ञानिक हर बात को अपने निजी अनुभव के आधार पर सोचते हैं। चूँकि वे भगवान् के साकार रूप को नहीं समझ पाते, अतएव भगवान् सदय होकर उन्हें अपना विराट रूप प्रदर्शित करते हैं और श्रील शुकदेव गोस्वामी ने यहाँ भगवान् के इस स्वरूप का विशद् वर्णन किया है। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भगवान् के इस विराट रूप के परे कुछ भी नहीं है। कोई भी भौतिकतावादी विचारवान व्यक्ति इस विराट रूप की धारणा से आगे नहीं जा सकता। भौतिकतावादी व्यक्तियों के मन चलायमान हैं और वे निरंतर एक पहलू से दूसरे की ओर बदलते रहते हैं। अतएव मनुष्य को यह सलाह दी जाती है कि वह उनके

विराट शरीर के किसी एक अंग का चिन्तन करे और केवल अपनी बुद्धि से ही भौतिक जगत की किसी भी अभिव्यक्ति का चिन्तन कर सकता है—यथा जंगल, पहाड़, समुद्र, मनुष्य, पशु, देवता, पक्षी, पशु या अन्य कुछ। भौतिक अभिव्यक्ति की प्रत्येक वस्तु विराट रूप का कोई न कोई अंग होती है, अतएव चंचल मन भगवान् पर ही स्थिर हो सकता है, अन्य किसी वस्तु पर नहीं। भगवान् के शरीर के विभिन्न अंगों पर ध्यान केन्द्रित करने की इस विधि से आसुरी ईश्वर-विहीनता (निरीश्वरवादी धारणा) की चुनौती क्रमशः क्षीण होती जाएगी और भगवान् की भक्ति में क्रमिक विकास लाया जा सकता है। चूँकि प्रत्येक वस्तु पूर्ण ब्रह्म का अंश है, अतएव नवदीक्षित जिज्ञासु को धीरे-धीरे *ईशोपनिषद्* के उन मन्त्रों की अनुभूति होगी, जो यह बताते हैं कि ईश्वर सर्वत्र है और इस तरह वह भगवान् के शरीर के प्रति अपराध न करने की कला सीख सकेगा। इस भगवद्भाव से ईश्वर के अस्तित्व को चुनौती देने वाले मनुष्य के गर्व में ह्रास होगा। इस तरह मनुष्य सबके प्रति सम्मान प्रदर्शित कर सकेगा क्योंकि सारी वस्तुएँ उस परम शरीर के अंश हैं।

स सर्व-धी-वृत्त्यनुभूत-सर्व
आत्मा यथा स्वप्न-जनेक्षितैकः ।
तं सत्यमानन्द-निधिं भजेत
नान्यत्र सज्जेद् यत आत्म-पातः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (परम पुरुष); सर्व-धी-वृत्ति—सभी प्रकार की बुद्धि द्वारा अनुभूति होने की विधि; अनुभूत—सावधान; सर्वे—हर एक; आत्मा—परमात्मा; यथा—जिस तरह; स्वप्न-जन—सपना देखनेवाला; ईक्षित—देखा हुआ; एकः—एक और वही; तम्—उसको; सत्यम्—परम सत्य; आनन्द-निधिम्—आनन्द का सागर; भजेत—पूजा करे; न—कभी नहीं; अन्यत्र—अन्यत्र; सज्जेत्—अनुरक्त हो; यतः—जिससे; आत्म-पातः—अपना पतन।

मनुष्य को अपना मन भगवान् में एकाग्र करना चाहिए, क्योंकि वे ही अपने को इतने सारे रूपों में उसी तरह वितरित करते हैं, जिस तरह कि सामान्य मनुष्य स्वप्न में हजारों रूपों की सृष्टि करता है। मनुष्य को अपना मन एकमात्र सर्व आनन्दमय परम सत्य पर एकाग्र करना चाहिए अन्यथा वह पथभ्रष्ट हो जायेगा और अपने हाथों ही अपना पतन कर लेगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में महान् गोस्वामी श्रील शुकदेव ने भक्तियोग की ओर संकेत किया है। वे हमें बताना चाहते हैं कि हम आत्म-साक्षात्कार की अनेक शाखाओं की ओर अपना ध्यान न बाँटकर,

भगवान् को ही अनुभूति, पूजा तथा भक्ति का परम लक्ष्य मानकर, उन्हीं में चित्त को एकाग्र करें। ऐसा लगता है, मानो आत्म–साक्षात्कार जीवन–संघर्ष के विरुद्ध नित्य जीवन के लिए युद्ध हो। अतएव बहिरंगा शक्ति की भ्रामक दया से योगी या भक्त को अनेक प्रलोभनों का सामना करना पड़ता है, जो बड़े से बड़े योद्धा को भवबन्धन में पुन: बाँध दें। योगी को भौतिक उपलब्धियों में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हो सकती है—यथा *अणिमा* या *लघिमा* की उपलब्धि जिससे वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और हल्का से हल्का बन सकता है, या सामान्य अर्थों में, मनुष्य सम्पत्ति तथा स्त्रियों के रूप में भौतिक वर प्राप्त कर सकता है। लेकिन ऐसे आकर्षणों के प्रति आगाह किया जाता है, क्योंकि इस प्रकार के मोहमय आनन्द में पुन: फँसने का अर्थ है आत्म–पतन तथा भौतिक जगत में अधिकाधिक बँधना। इस चेतावनी से मनुष्य को अपनी जागरूक बुद्धि का ही अनुसरण करना चाहिए।

परमेश्वर एक है, किन्तु उनके अंश अनेक हैं, अतएव वे सबके परमात्मा हैं। जब मनुष्य कोई वस्तु देखता है, तो उसे यह ज्ञात होना चाहिए कि उसने इसे बाद में देखा है और भगवान् उसे पहले से देख रह हैं। कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु को पहले भगवान् द्वारा देखे बिना देख नहीं सकता। यही वेदों तथा उपनिषदों का उपदेश है। अतएव हम जो भी देखते या करते हैं, उस देखने या करने के समस्त कृत्यों के कर्ता परमात्मा भगवान् ही हैं। आत्मा तथा परमात्मा के एकसाथ एकत्व तथा भिन्न–भिन्न होने के इस सिद्धान्त को श्री चैतन्य महाप्रभु ने *अचिन्त्य भेदाभेद तत्त्व* दर्शन रूप में प्रतिपादित किया है। भगवान् के विराट रूप में प्रत्येक भौतिक वस्तु प्रकट होती है, अतएव भगवान् का यह विराट रूप समस्त चेतन तथा अचेतन का परमात्मा है। किन्तु यही विराट रूप नारायण या विष्णु की भी अभिव्यक्ति है और हम जितना ही आगे बढ़ेंगे, तो अन्ततोगत्वा हम देखेंगे कि भगवान् कृष्ण ही सभी वस्तुओं के अनन्तिम परम आत्मा हैं। निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य को या तो भगवान् कृष्ण का या उनके पूर्ण अंश नारायण का बिना किसी संकोच के पूजक बनना चाहिए, अन्य किसी का भी नहीं। वैदिक मन्त्रों में स्पष्ट कहा गया है कि सर्वप्रथम नारायण ने पदार्थ के ऊपर दृष्टिपात किया और इस तरह सृष्टि बनी। सृष्टि के पूर्व न तो ब्रह्मा थे, न शिव थे अन्यों की तो बात ही नहीं उठती। श्रीपाद शंकराचार्य ने इसे निस्सन्देह स्वीकार किया है कि नारायण भौतिक सृष्टि से परे हैं और अन्य सभी इसी सृष्टि के अन्तर्गत

हैं। अतएव सारी सृष्टि एक ही साथ, नारायण से युक्त तथा पृथक् है और इससे भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के *अचिन्त्य भेदाभेद तत्त्व* दर्शन की पुष्टि होती है। नारायण की चितवन शक्ति से उद्भूत होने के कारण सारी भौतिक सृष्टि उनसे अभिन्न है। किन्तु चूँकि यह उनकी *बहिरंगा शक्ति* (माया) का प्रभाव है और यह अन्तरंगा शक्ति (*आत्म-माया*) से पृथक् है, अतएव सारी भौतिक सृष्टि उनसे पृथक् भी है। इस श्लोक में स्वप्न देखने वाले व्यक्ति का उदाहरण अतीव सुन्दर है। स्वप्न देखनेवाला व्यक्ति अपने स्वप्न में अनेक वस्तुओं की सृष्टि करता रहता है। इस तरह वह स्वप्न का बद्ध दर्शक बन जाता है और उसके परिणामों से भी प्रभावित होता है। यह भौतिक सृष्टि भी भगवान् के स्वप्न जैसी सृष्टि है, किन्तु वे दिव्य परमात्मा होने के कारण, न तो स्वप्नवत् सृष्टि की प्रतिक्रियाओं (बन्धनों) से बँधते हैं, न ही प्रभावित होते हैं। वे सदैव अपने दिव्य पद पर बने रहते हैं, लेकिन वे अनिवार्यतः सब कुछ होते हैं और उनसे विलग कुछ भी नहीं होता। अतएव उनके अंश होने के कारण, मनुष्य को बिना किसी विपथन के उन्हीं पर मन केन्द्रित करना चाहिए अन्यथा मनुष्य धीरे-धीरे भौतिक सृष्टि की शक्तियों का शिकार होता जायेगा। *भगवद्गीता* (९.७) में इस प्रकार से पुष्टि की गई है—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥

"हे कुन्तीपुत्र! कल्पान्त में प्रत्येक भौतिक वस्तु मेरी प्रकृति में प्रवेश करती है और दूसरे कल्प के प्रारम्भ में मैं अपनी शक्ति से पुनः सृष्टि रचता हूँ।"

किन्तु मानव जीवन तो इस सृष्टि तथा प्रलय के चक्र से बाहर निकलने का एक अवसर है। यह ऐसा साधन है, जिससे मनुष्य भगवान् की बहिरंगा शक्ति से अपना पिंड छुड़ाकर उनकी अन्तरंगा शक्ति में प्रवेश करता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के अन्तर्गत "ईश अनुभूति का प्रथम सोपान शुभारम्भ" नामक प्रथम अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दो

हृदय में भगवान्

श्री-शुक उवाच

एवं पुरा धारणयात्म-योनि-
नेष्टां स्मृतिं प्रत्यवरुध्य तुष्टात् ।
तथा ससर्जेदममोघ-दृष्टि-
र्यथाप्ययात् प्राग् व्यवसाय-बुद्धिः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; पुरा—विश्व के प्राकट्य के पूर्व; धारणया—ऐसी धारणा द्वारा; आत्म-योनिः—ब्रह्माजी की; नष्टाम्—विनष्ट; स्मृतिम्—स्मृति, याददाश्त; प्रत्यवरुध्य—पुनः चेतना प्राप्त करके; तुष्टात्—भगवान् को प्रसन्न करने के कारण; तथा—तत्पश्चात्; ससर्ज—सृजन किया; इदम्—यह भौतिक जगत; अमोघ-दृष्टिः—जिसे स्पष्ट दृष्टि प्राप्त है; यथा—जिस प्रकार; अप्ययात्—निर्मित किया; प्राक्—पहले की तरह; व्यवसाय—सुनिश्चित; बुद्धिः—बुद्धि।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस ब्रह्माण्ड के प्राकट्य के पूर्व, ब्रह्माजी ने विराट रूप के ध्यान द्वारा भगवान् को प्रसन्न करके विलुप्त हो चुकी अपनी चेतना प्राप्त की। इस तरह वे सृष्टि का पूर्ववत् पुनर्निर्माण कर सके।

तात्पर्य : यहाँ पर ब्रह्माजी की विस्मृति का उदाहरण दिया गया है। ब्रह्माजी भगवान् के भौतिक गुणों में से एक गुण के अवतार हैं। वे प्रकृति के रजोगुण के अवतार होने के कारण भगवान् द्वारा सुन्दर भौतिक सृष्टि की रचना करने के लिए शक्तिप्रदत्त हैं। तो भी असंख्य जीवों में से एक होने के नाते, वे अपनी सृजनात्मक शक्ति की कला को भूल जाते हैं। जीव की यह विस्मृति, जो ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक पाई जाती है, ऐसी प्रवृत्ति है, जिसका शमन भगवान् के विराट-रूप के ध्यान द्वारा किया जा सकता है। यह अवसर मनुष्य योनि में प्राप्त होता है और यदि मनुष्य *श्रीमद्भागवत* के आदेश का पालन करके, विराट-रूप का ध्यान करना प्रारम्भ कर देता है, तो उसकी शुद्ध चेतना का पुनःउदय हो सकता है तथा साथ ही भगवान् के साथ अपने नित्य सम्बन्ध की विस्मृति का निराकरण हो जाता है। ज्योंही यह विस्मृति दूर हो जाती है त्योंही *व्यवसायबुद्धि* आ जाती है, जिसका यहाँ पर और *भगवद्गीता* (२.४१) में भी उल्लेख हुआ है। जीव के इस सुनिश्चित ज्ञान से भगवान् की प्रेमाभक्ति उत्पन्न होती है, जिसकी जीव को आवश्यकता होती है। ईश्वर का साम्राज्य असीम है, अतएव भगवान्

के सहायक हाथों की संख्या भी अनन्त है। *भगवद्गीता* (१३.१४) बल देकर कहती है कि भगवान् की सृष्टि के कोने-कोने में उनके हाथ, पाँव, मुँह तथा आँखे हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जीव कहलाने वाले भगवान् के अंश ही उनके सहायक हाथ हैं और ये सब विशेष प्रकार की भगवत्सेवा के निमित्त हैं। बद्धजीव, चाहे वह ब्रह्मा के पद पर ही क्यों न हो, मिथ्या अहंकार से उत्पन्न बहिरंगा शक्ति के प्रभाव से इसे भूल जाता है। ऐसे मिथ्या अंहकार का निराकरण मनुष्य ईश-चेतना प्राप्त करके कर सकता है। मुक्ति का अर्थ है विस्मृति की निद्रा से निकल कर बाहर आना और भगवान् की असली प्रेमा-भक्ति को प्राप्त होना, जैसाकि ब्रह्मा के उदाहरण से स्पष्ट है। ब्रह्मा द्वारा की गई सेवा मुक्तावस्था में की जानेवाली सेवा का नमूना है और यह तथाकथित परोपकार से भिन्न है, जो त्रुटियों तथा विस्मृतियों से पूर्ण होता है। मुक्ति कभी भी निष्क्रियता नहीं है, अपितु यह मानवीय त्रुटियों से विहीन सेवा है।

शाब्दस्य हि ब्रह्मण एष पन्था
यन्नामभिर्ध्यायति धीरपार्थैः ।
परिभ्रमंस्तत्र न विन्दतेऽर्थान्
मायामये वासनया शयानः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

शाब्दस्य—वैदिक ध्वनि का; हि—निश्चय ही; ब्रह्मणः—वेदों का; एषः—ये; पन्थाः—मार्ग; यत्—जो है; नामभिः—विभिन्न नामों से; ध्यायति—ध्यान करता है; धीः—बुद्धि; अपार्थैः—व्यर्थ के विचारों से; परिभ्रमन्—घूमते हुए; तत्र—वहाँ; न—कभी नहीं; विन्दते—भोग करता है; अर्थान्—वास्तविकताओं को; माया-मये—मोहमयी वस्तुओं में; वासनया—विभिन्न इच्छाओं से; शयानः—मानो निद्रा में स्वप्न देख रहा हो।

वैदिक ध्वनियों (वेदवाणी) को प्रस्तुत करने की विधि इतनी मोहनेवाली है कि यह व्यक्तियों की बुद्धि को स्वर्ग जैसी व्यर्थ की वस्तुओं की ओर ले जाती है। बद्धजीव ऐसी स्वर्गिक मायामयी वासनाओं के स्वप्नों में मँडराते रहते हैं, लेकिन उन्हें ऐसे स्थानों में सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं हो पाती।

तात्पर्य : बद्धजीव संसार के भीतर ब्रह्माण्ड की सीमा तक भी, सुख के लिए तरह-तरह की योजनाएँ बनाने में सदैव व्यस्त रहता है। यहाँ तक कि इस धरा पर, जहाँ वह अपनी सामर्थ्य भर प्रकृति के संसाधनों का दोहन करता है, उपलब्ध समस्त सुविधाओं से तुष्ट नहीं होता। वह चन्द्रमा या

शुक्रलोक में भी संसाधनों के दोहन के लिए जाना चाहता है, लेकिन भगवान् ने *भगवद्गीता* (८.१६) में इस ब्रह्माण्ड के असंख्य लोकों तथा अन्य लोकों की व्यर्थता के विषय में हमें आगाह किया है। ब्रह्माण्डों की संख्या असंख्य है और इनमें से प्रत्येक में असंख्य लोक हैं। लेकिन इनमें से कोई भी लोक भौतिक जीवन के मुख्य दुखों से, यथा जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के दुखों से, विहीन नहीं है। भगवान् का कहना है कि सर्वोच्चलोक, ब्रह्मलोक अथवा सत्यलोक भी (स्वर्गलोक जैसे लोकों का तो कहना ही क्या) रहने के लिए उपयुक्त नहीं है, क्योंकि यहाँ भी उपर्युक्त दुख पाये जाते हैं। बद्धजीव सकाम कर्म के नियमों से जकड़े हुए हैं। अतएव वे कभी ब्रह्मलोक जाते हैं, तो पुनः पाताल लोक को लौट आते हैं मानो झूले पर चढ़े हुए अज्ञानी बालक हों। असली सुख तो भगवद्धाम में है जहाँ जीव को ये सांसारिक कष्ट नहीं सहन करने होते। अतएव जीवों के लिए सकाम कर्म की वैदिक विधियाँ भ्रामक हैं। मनुष्य इस देश में या अन्यत्र, इस लोक में या दूसरे लोक में, श्रेष्ठतर जीवन की कल्पना करता है, किन्तु संसार में कहीं भी उसकी असली इच्छा की पूर्ति—सच्चिदानन्द रूप जीवन की पूर्ति—नहीं हो पाती। श्रील शुकदेव गोस्वामी अप्रत्यक्ष रूप से, महाराज परीक्षित को यह बताना चाहते हैं कि जीवन की अन्तिम अवस्था में उन्हें अपने मन में स्वर्गलोक जाने की इच्छा नहीं लानी चाहिए, अपितु उन्हें भगवद्धाम जाने की तैयारी करनी चाहिए। न तो कोई भौतिक लोक शाश्वत है, न वहाँ पर उपलब्ध जीवन की सुविधाएँ ही शाश्वत हैं। अतएव उनसे प्राप्त होने वाले क्षणिक सुख को भोगने के लिए वास्तविक विरक्ति ही दिखलानी चाहिए।

अतः कविर्नामसु यावदर्थः
स्यादप्रमत्तो व्यवसाय-बुद्धिः ।
सिद्धेऽन्यथार्थे न यतेत तत्र
परिश्रमं तत्र समीक्षमाणः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अतः—इस कारण; कविः—प्रबुद्ध व्यक्ति; नामसु—केवल नाम के लिए; यावत्—न्यूनतम; अर्थः—आवश्यकता; स्यात्—होए; अप्रमत्तः—उनके पीछे पागल हुए बिना; व्यवसाय-बुद्धिः—बुद्धिपूर्वक स्थित; सिद्धे—सफलता के लिए; अन्यथा—अन्यथा; अर्थे—के हित में; न—कभी नहीं; यतेत—प्रयास करे; तत्र—वहाँ; परिश्रमम्—कठोर श्रम; तत्र—वहाँ; समीक्षमाणः—व्यावहारिक दृष्टि से देखनेवाला।

अतएव प्रबुद्ध व्यक्ति को उपाधियों वाले इस जगत में रहते हुए जीवन की न्यूनतम

आवश्यकताओं के लिए प्रयत्न करना चाहिए। उसे बुद्धिमत्तापूर्वक स्थिर रहना चाहिए और अवांछित वस्तुओं के लिए कभी कोई प्रयत्न नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह इससे व्यावहारिक रूप में यह अनुभव करने में सक्षम होता है कि ऐसे सारे प्रयास कठोर श्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं होते।

तात्पर्य : *भागवत* धर्म या *श्रीमद्भागवत* की विचारधारा सकाम कर्म के मार्ग से सर्वथा पृथक् है, क्योंकि भक्त ऐसे सकाम कर्मों के मार्ग को समय का अपव्यय मात्र मानते हैं। सारा ब्रह्माण्ड, या यों कहें कि सारा भौतिक जगत, गतिशील है ताकि योजना बनाने के लिए मनुष्य की स्थिति अत्यन्त आरामदेह या सुरक्षित बनी रहे, यद्यपि सभी लोग देखते हैं कि यह संसार न तो आरामदेह है, न सुरक्षित है और विकास की किसी अवस्था में ऐसा हो भी नहीं सकता। जो लोग भौतिक सभ्यता की भ्रामक प्रगति से मोहित हैं, वे निश्चय ही पागल (प्रमत्त) हैं। यह सारी भौतिक सृष्टि केवल नामों की जादूगरी है। वास्तव में यह पृथ्वी, जल, अग्नि जैसे पदार्थों से बनी मोहनेवाली सृष्टि के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इमारतें, साज-सामान, कारें, बँगले, मिलें, फैक्टरियाँ, उद्योग, शान्ति, युद्ध या परमाणु शक्ति तथा इलेक्ट्रानिक जैसी भौतिक विज्ञान की सर्वोच्च सिद्धियाँ, भौतिक तत्त्वों तथा तीनों गुणों की मिली-जुली प्रतिक्रिया के मोहक नाम के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। चूँकि भगवान् का भक्त इन्हें पूरी तरह जानता रहता है, अतएव वह उन अवास्तविक वस्तुओं को सृजित करने में रुचि नहीं लेता जो समुद्री तरंगों के बुदबुदों के समान नगण्य हैं। बड़े-बड़े राजा, नेता तथा सैनिक एक दूसरे से इसलिए लड़ते हैं जिससे इतिहास में उनके नाम अक्षुण्ण बने रहें, किन्तु वे कालक्रम में भुला दिये जाते हैं और वे इतिहास में एक दूसरे युग को स्थान दे देते हैं। लेकिन भक्त समझता है कि इतिहास तथा ऐतिहासिक व्यक्ति किस तरह क्षणभंगुर समय की उपज हैं। सकाम कर्मी को सम्पत्ति, स्त्री तथा भौतिक मान-सम्मान की चाह होती है, किन्तु जिन्हें वास्तविकता का ज्ञान है वे ऐसी मिथ्या वस्तुओं में तनिक भी रुचि नहीं रखते। उनके लिए यह समय का अपव्यय है। चूँकि मनुष्य-जीवन का प्रत्येक क्षण महत्त्वपूर्ण है, अतएव प्रबुद्ध व्यक्ति को समय का उपयोग करने में काफी सतर्क रहना चाहिए। इस जगत में सुख की योजना बनाने की शोध में विनष्ट मानव-जीवन का एक पल भी कभी वापस नहीं मिल सकता,

भले ही कोई उसके लिए लाखों स्वर्ण मुद्राएँ क्यों न खर्च करे। अतएव ऐसा अध्यात्मवादी जो माया के चंगुल से छूटना चाहता है, उसे सचेत किया जाता है कि वह सकाम कर्मियों के बाह्य स्वरूप से मोहित न हो। मनुष्य जीवन कभी भी इन्द्रियतप्ति के लिए नहीं बना है, वह तो आत्म-साक्षात्कार के लिए मिला है। *श्रीमद्भागवत* में आदि से अन्त तक इसी विषय का उपदेश मिलता है। मानव-जीवन मात्र आत्म-साक्षात्कार के लिए है। जो सभ्यता इस सर्वाधिक पूर्णता को लक्ष्य बनाती है, वह अवांछित वस्तुओं में लिप्त नहीं होती और ऐसी पूर्ण सभ्यता मनुष्यों को जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएँ स्वीकार करने के लिए या बुरे सौदे का सर्वोत्तम उपयोग करने के सिद्धान्त का पालन करने के लिए तैयार करती है। उस दृष्टि से हमारे भौतिक शरीर तथा हमारे जीवन बुरे सौदे हैं, क्योंकि जीव वास्तव में आत्मा है और जीव की आध्यात्मिक प्रगति अत्यावश्यक है। मानव-जीवन इसी महत्त्वपूर्ण उद्देश्य की प्राप्ति के लिए है, अतएव मनुष्य को जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं को स्वीकार करके भगवान् के उपहार पर आश्रित रहते हुए मानवीय शक्ति को अन्य किसी कार्य में यथा भौतिक भोग के पीछे दीवाना होने में न लगाकर तदनुसार कर्म करना चाहिए। सभ्यता का भौतिकतावादी विकास असुरों की सभ्यता कहलाता है, जिसका अन्त युद्ध तथा अभाव में होता है। यहाँ पर अध्यात्मवादी को मन से स्थिर होने के लिए कहा गया है, जिससे यदि 'सादा जीवन उच्च विचार' में कठिनाई का अनुभव भी हो तो वह अपने दृढ़ संकल्प से रंचमात्र भी नहीं डिगे। विश्व के इन्द्रियतृप्तिकर्ताओं के घनिष्ठ सम्पर्क में आना अध्यात्मवादी के लिए आत्मघात है, क्योंकि इस नीति से जीवन का चरम लक्ष्य ही विफल हो जायेगा। शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित से तब मिले जब महाराज को ऐसी भेंट की आवश्यकता थी। अध्यात्मवादी का कर्तव्य है कि असली मुक्तिकामी व्यक्तियों की सहायता करे और मुक्ति के उद्देश्य को सहयोग दे। ध्यान रहे कि शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित से तब कभी नहीं मिले जब वे महान् राजा के रूप में शासन कर रहे थे। अध्यात्मवादी के लिए कार्य-प्रणाली की विवेचना अगले श्लोक में की गई है।

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासै-
र्बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम् ।
सत्यञ्जलौ किं पुरुधान्न-पात्र्या
दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः ॥ ४॥

शब्दार्थ

सत्याम्—अधिकार में करके; क्षितौ—पृथ्वी का खंड; किम्—क्या आवश्यकता है; कशिपोः—खाट तथा गद्दों की; प्रयासैः—प्रयास करने से; बाहौ—बाँह के; स्व-सिद्धे—आत्म-निर्भर होने के लिए; हि—निश्चय ही; उपबर्हणैः—गद्दा तथा तकिया से; किम्—क्या लाभ है; सति—उपस्थित होकर; अञ्जलौ—हथेली में; किम्—क्या लाभ है; पुरुधा—व्यंजन, किस्में; अन्न—खाद्य पदार्थों के; पात्र्या—बर्तनों से; दिक्—खुला स्थान; वल्कल-आदौ—वृक्षों की छाल; सति—होने से; किम्—क्या लाभ है; दुकूलैः—वस्त्रों से।

जब लेटने के लिए विपुल भूखंड पड़े हैं, तो चारपाइयों तथा गद्दों की क्या आवश्यकता है? जब मनुष्य अपनी बाँह का उपयोग कर सकता है, तो फिर तकिये की क्या आवश्यकता है? जब मनुष्य अपनी हथेलियों का उपयोग कर सकता है, तो तरह-तरह के बर्तनों की क्या आवश्यकता है? जब पर्याप्त ओढ़न अथवा वृक्ष की छाल उपलब्ध हो, तो फिर वस्त्र की क्या आवश्यकता है?

तात्पर्य : शरीर की रक्षा तथा सुविधा के लिए व्यर्थ ही जीवन की आवश्यकताएँ नहीं बढ़ा लेनी चाहिए। ऐसे ही भ्रामक सुख की खोज में मानवशक्ति व्यर्थ नष्ट होती है। यदि मनुष्य फर्श पर लेट सकता है, तो फिर वह लेटने के लिए मुलायम गद्दा पाने के लिए क्यों प्रयत्नशील रहता है? यदि वह बिना तकिये के ही प्रकृति द्वारा प्रदत्त अपनी मुलायम बाहों का उपयोग कर सकता है, तो फिर तकिये की खोज करना व्यर्थ है। यदि हम पशुओं के सामान्य जीवन का अध्ययन करें तो देखेंगे कि उनमें बड़े-बड़े घर, फर्नीचर तथा घर के अन्य साज-सामान बनाने की बुद्धि नहीं है, फिर भी वे खुली भूमि में लेटकर स्वस्थ जीवन बिताते हैं। वे भोजन पकाना नहीं जानते, फिर भी वे मनुष्य की अपेक्षा अधिक सरलता से स्वस्थ जीवन बिताते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं है कि मानव सभ्यता पलट कर पशु-जीवन बिताने लगे या कि मनष्य नंगा होकर जंगलों में विचरण करने लगे और संस्कृति, शिक्षा तथा नैतिकता की विचारधारा से विहीन हो जाय। बुद्धिमान मनुष्य कभी पशु-जीवन नहीं बिता सकता, अपितु मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी बुद्धि का उपयोग कला तथा विज्ञान, कविता तथा दर्शन में करे। इस प्रकार वह मानवीय सभ्यता को आगे बढ़ा सकता है। किन्तु यहाँ पर श्रील शुकदेव गोस्वामी ने जो विचार प्रदान किया है, वह यह है कि मानव-जीवन की आरक्षित शक्ति, जो पशुओं से अधिक

श्रेष्ठ है, उसका उपयोग मात्र आत्म-साक्षात्कार के लिए ही किया जाना चाहिए। मानव सभ्यता की प्रगति ईश्वर के प्रति खोये सम्बन्धों की पुन:स्थापना की ओर लक्षित होनी चाहिए, जो मनुष्य जीवन के अतिरिक्त अन्य किसी योनि में सम्भव नहीं है। मनुष्य को भौतिक परिवर्तनशीलता की निरर्थकता का बोध होना चाहिए, इसे मृगमरीचिका सा मानना चाहिए और जीवन के कष्टों का समाधान खोज निकालने का प्रयत्न करना चाहिए। सुधरी पशु-सभ्यता से युक्त आत्म-तृप्ति, जिसका लक्ष्य इन्द्रियतृप्ति हो, भ्रम है और ऐसी *सभ्यता* सभ्यता कहलाने योग्य नहीं है। ऐसे मिथ्या कर्म करने वाला जीव माया-मोहित है। प्राचीनकाल के सन्त तथा महात्मा कभी अच्छे फर्नीचर से सज्जित एवं तथाकथित जीवन की सुविधाओं से युक्त राजप्रसादों में नहीं रहते थे। वे कुटियों तथा कुंजों में रहा करते थे, भूमि पर बैठते थे; फिर भी वे अपने पीछे उच्च ज्ञान की महान् निधि छोड़ गये हैं। श्रील रूप गोस्वामी तथा श्रील सनातन गोस्वामी राज्य के उच्च-पदासीन मन्त्री थे, लेकिन वे अपने पीछे दिव्य ज्ञान-विषयक प्रभूत ग्रंथ छोड़ गये हैं जबकि वे किसी भी वृक्ष के नीचे केवल एक रात टिकते थे। वे किसी एक वृक्ष के नीचे कभी दो रात भी नहीं रहे, आधुनिक सुविधाओं से सुसज्जित कमरों की बात तो कोसों दूर रही! तो भी उन्होंने हमें अत्यन्त उपादेय आत्म-साक्षात्कार का साहित्य दिया है। प्रगतिशील सभ्यता के लिए तथाकथित जीवन की सुविधाएँ सहायक नहीं बनतीं, अपितु वे ऐसे प्रगतिशील जीवन में बाधक हैं। चार वर्णों तथा चार आश्रमों वाली *सनातन-धर्म* पद्धति में प्रगतिशील जीवन के सुखमय अन्त के लिए पर्याप्त आदेश हैं और उसमें निष्ठावान अनुयायियों को जीवन का वांछित लक्ष्य प्राप्त करने के लिए स्वेच्छा से संन्यास आश्रम स्वीकार करना होता है। यदि कोई प्रारम्भ से ऐसे संन्यासी तथा आत्मोत्सर्ग जीवन का पालन करने का अभ्यस्त नहीं होता, तो उसे बाद के जीवन में इसका अभ्यास करना चाहिए जैसाकि श्रील शुकदेव गोस्वामी ने संस्तुति की है। इससे वांछित सफलता प्राप्त करने में सहायता मिलेगी।

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
नैवाङ्घ्रिपाः पर-भृतः सरितोऽप्यशुष्यन् ।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्
कस्माद् भजन्ति कवयो धन-दुर्मदान्धान् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

चीराणि—फटे-पुराने कपड़े; किम्—क्या; पथि—मार्ग में; न—नहीं; सन्ति—हैं; दिशन्ति—दान देते हैं; भिक्षाम्—भिक्षा; न—नहीं; एव—भी; अङ्घ्रिपाः—वृक्ष; पर-भृतः—अन्यों का पालन करने वाली; सरितः—नदियाँ; अपि—भी; अशुष्यन्—सूख गई हैं; रुद्धाः—बन्द; गुहाः—गुफाएँ; किम्—क्या; अजितः—भगवान्; अवति—सुरक्षा प्रदान करता है; न—नहीं; उपसन्नान्—शरणागतों को; कस्मात्—तब, किसलिए; भजन्ति—चापलूसी करते हैं; कवयः—विद्वान; धन—सम्पत्ति; दुर्मद-अन्धान्—अत्यन्त मतवालों को।

क्या सड़कों पर चिथड़े नहीं पड़े हैं? क्या दूसरों का पालन करनेवाले वृक्ष अब दान में भिक्षा नहीं देते? क्या सूख जाने पर नदियाँ अब प्यासे को जल प्रदान नहीं करतीं? क्या अब पर्वतों की गुफाएँ बन्द हो चुकी हैं? या सर्व-शक्तिमान भगवान् पूर्ण शरणागत आत्माओं की रक्षा नहीं करते? तो फिर विद्वान मुनिजन उनकी चापलूसी क्यों करते हैं, जो अपनी गाढ़ी कमाई की सम्पत्ति के कारण प्रमत्त हो गये हैं?

तात्पर्य : संन्यास कभी भिक्षा माँगने या परजीवी बनकर दूसरों पर निर्भर रह कर जीवित रहने के लिए नहीं है। शब्दकोश के अनुसार परजीवी वह है, जो समाज को किसी प्रकार का योगदान किये बिना, समाज के खर्च पर ही जीवित रहता है। संन्यास आश्रम समाज को महत्त्वपूर्ण योगदान करने के लिए है न कि गृहस्थों की कमाई पर आश्रित रहने के लिए। इसके विपरीत, प्रामाणिक संन्यासियों द्वारा गृहस्थों से भिक्षा लेना दाता के लाभ हेतु सन्तों द्वारा प्रदत्त सुअवसर होता है। *सनातन-धर्म* प्रथा में संन्यासी को भिक्षा देना गृहस्थ का कर्तव्य होता है और शास्त्रों का आदेश है कि वे संन्यासियों को अपने परिवार के बालक जैसा मानें और बिना माँगे भोजन, वस्त्र आदि प्रदान करें। इसलिए छद्म संन्यासियों को श्रद्धालु गृहस्थों की दानवृत्ति का अनुचित लाभ नहीं लेना चाहिए। संन्यास आश्रम के प्रत्येक व्यक्ति का यह प्रथम कर्तव्य है कि वह मनुष्यों के लाभ के लिए कोई साहित्यिक कृति प्रदान करे जिससे उन्हें आत्म-साक्षात्कार की अनुभूति की दिशा प्राप्त हो सके। श्रील सनातन, श्रील रूप तथा वृन्दावन के अन्य गोस्वामियों के संन्यास-काल में अन्य कर्तव्यों में सर्वप्रधान कर्तव्य था वृन्दावन के सेवाकुंज में पारस्परिक विद्वत्तापूर्ण वाद-विवाद (गोष्ठी)। (इस स्थान पर श्री राधा दामोदर मन्दिर की स्थापना श्रील जीव गोस्वामी ने की तथा श्रील रूप गोस्वामी एवं श्रील जीव गोस्वामी की समाधियाँ भी

यहीं स्थित हैं।) वे मानव–समाज के लाभ हेतु दिव्य महत्ता वाला प्रचुर साहित्य अपने पीछे छोड़ गये। इसी प्रकार समस्त आचार्यों ने, जिन्होंने स्वेच्छा से संन्यास आश्रम ग्रहण किया, मानव–समाज को लाभ पहुँचाना ही अपना लक्ष्य बनाया, न कि सुखपूर्ण गैरजिम्मेदार जीवन व्यतीत करके अन्यों के ऊपर भारस्वरूप बनकर रहना। किन्तु जो संन्यासी कोई योगदान नहीं कर पाते, उन्हें चाहिए कि भोजन के लिए गृहस्थों के यहाँ न जाँय, क्योंकि ऐसे साधुओं द्वारा गृहस्थों से भोजन की भीख माँगना इस सर्वोच्च आश्रम का अपमान करना है। शुकदेव गोस्वामी ने यह चेतावनी विशेष रूप से उन साधुओं को दी है, जो अपनी आर्थिक समस्या हल करने के लिए इस वृत्ति को अपनाते हैं। कलियुग में ऐसे संन्यासियों की बहुलता है। जब कोई मनुष्य स्वेच्छा से या परिस्थितिवश संन्यासी बन जाता है, तो उसमें यह दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि परमेश्वर संसार में सर्वत्र समस्त जीवों के पालनकर्ता हैं। तो भला वह क्योंकर अपने उस शरणागत की उपेक्षा करेगा जो शत प्रतिशत उसकी सेवा में लगा रहता है? एक सामान्य मालिक अपने नौकर की आवश्यकताओं का ध्यान रखता है, तो फिर सर्वशक्तिमान सर्व–ऐश्वर्यवान परमेश्वर अपने पूर्ण शरणागत जीव के जीवन की आवश्यकताओं की न जाने कितनी परवाह करता होगा? सामान्य नियम है कि संन्यासी भक्त किसी से माँगे बिना एक छोटा सा साधारण कौपीन धारण करे। वह इसे सड़क में पड़े चिथड़ों से प्राप्त कर लेता है। जब वह भूखा हो तो वह किसी उदार वृक्ष के पास जाये जो उसे फल देगा और जब उसे प्यास लगे तो वह बहती नदी से जल पी ले। उसे आरामदेह घर में रहने की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि उसे चाहिए कि पर्वत की गुफा खोज ले और जंगली पशुओं से भयभीत न हो। उसे ईश्वर में विश्वास होना चाहिए, क्योंकि वे सबों के हृदय में वास करनेवाले हैं। भगवान् व्याघ्रों तथा अन्य जंगली जानवरों को आदेश दे सकते हैं कि वे उनके भक्त को विचलित न करें। भगवान् श्री चैतन्य के परम भक्त हरिदास ठाकुर एक ऐसी ही गुफा में रहा करते थे और संयोगवश एक विषधर सर्प भी उसी गुफा में रहता था। ठाकुर हरिदास का कोई प्रशंसक, जो नित्य ही उनको देखने जाता था, सर्प से भयभीत था और उसने यह सलाह दी कि ठाकुर उस स्थान को छोड़ दें। चूँकि उनके भक्त सर्प से भयभीत थे और वे नियमित रूप से उस गुफा में आते थे, अतएव ठाकुर हरिदास ने उनका प्रस्ताव मान लिया। किन्तु ज्योंही ऐसा हुआ तो साँप उस गुफा के बिल से

बाहर निकल आया और सबों की उपस्थिति में उसने उस स्थान को सदा के लिए छोड़ दिया। अपने हृदय में वास करनेवाले भगवान् के आदेश से साँप ने हरिदास को वरीयता प्रदान करते हुए उस स्थान को छोड़ने का और उन्हें विचलित न करने का निश्चय किया। अतएव यह ऐसा ज्वलन्त उदाहरण है, जिससे पता चलता है कि भगवान् किस प्रकार ठाकुर हरिदास जैसे प्रामाणिक भक्त को सुरक्षा प्रदान करते हैं। *सनातन-धर्म* के विधानों के अनुसार, मनुष्य को प्रारम्भ से सभी परस्थितियों में भगवान् की सुरक्षा पर पूरी तरह निर्भर रहना सिखाया जाता है। संन्यास का मार्ग उन्हीं के लिए ग्रहणीय बताया गया, जो पूर्ण रूप से सिद्ध तथा पवित्र हों। *भगवद्गीता* (१६.५) में भी इस अवस्था का वर्णन दैवी-सम्पत् के रूप में हुआ है। मनुष्य को *दैवी सम्पत्* अर्थात् आध्यात्मिक सम्पत्ति संग्रह करने की आवश्यकता है, अन्यथा इसकी वैकल्पिक सम्पत्ति *आसुरी-सम्पत्,* उसे बुरी तरह पराजित कर देगी और उसे बाध्य होकर संसार के विभिन्न कष्टों के बन्धन में पड़ना होगा। संन्यासी को सदा अकेला रहना चाहिए और निर्भीक होना चाहिए। मनुष्य को कभी अकेले रहने से नहीं डरना चाहिए, यद्यपि वह कभी अकेला होता नहीं। भगवान् सबों के हृदय में वास करते हैं और जब तक मनुष्य मान्य विधि द्वारा शुद्ध नहीं हो लेता, तब तक उसे अकेलेपन का अनुभव होता रहेगा। किन्तु संन्यास आश्रम वाले मनुष्य को विधिपूर्वक शुद्ध होना चाहिए, इस तरह उसे सर्वत्र भगवान् की उपस्थिति का अनुभव होगा और उसे किसी का भय नहीं रह जायेगा (भले ही उसके साथ कोई न रहे)। प्रत्येक व्यक्ति निर्भय तथा ईमानदार बन सकता है यदि वह प्रत्येक आश्रम के नियत कर्तव्य का पालन करे। मनुष्य वैदिक आदेशों का श्रद्धापूर्वक श्रवण करके तथा भगवान् की भक्ति द्वारा वैदिक ज्ञान के सार को आत्मसात् करके अपने नियत कर्तव्यों में स्थिर हो सकता है।

एवं स्व-चित्ते स्वत एव सिद्ध
आत्मा प्रियोऽर्थो भगवाननन्तः ।
तं निर्वृतो नियतार्थो भजेत
संसार-हेतूपरमश्च यत्र ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; **स्व-चित्ते**—अपने हृदय में; **स्वतः**—उनकी सर्वशक्तिमत्ता से; **एव**—निश्चय ही; **सिद्धः**—पूरी तरह प्रस्तुत; **आत्मा**—परमात्मा; **प्रियः**—अत्यन्त प्रिय; **अर्थः**—वस्तु; **भगवान्**—भगवान्; **अनन्तः**—नित्य असीम, अनन्त; **तम्**—उसको;

निर्वृतः—संसार से विरक्त होकर; नियत—स्थायी; अर्थः—परम लाभ; भजेत—पूजा करे; संसार-हेतु—संसार की बद्ध अवस्था का कारण; उपरमः—समाप्ति; च—निश्चय ही; यत्र—जिसमें।.

मनुष्य को इस प्रकार स्थिर होकर, उनकी (भगवान की) सर्वशक्तिमत्ता के कारण अपने हृदय में स्थित परमात्मा की सेवा करनी चाहिए। चूँकि वे सर्वशक्तिमान, भगवान् नित्य एवं असीम हैं, अतएव वे जीवन के चरम लक्ष्य हैं और उनकी पूजा करके मनुष्य बद्ध जीवन के कारण को दूर कर सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६१) में पुष्टि की गई है, भगवान् श्रीकृष्ण सर्वव्यापी परमात्मा हैं। अतएव जो योगी है, वह केवल उन्हीं की पूजा कर सकता है, क्योंकि वे कोई भ्रम नहीं, अपितु एक तथ्य हैं। प्रत्येक जीव किसी न किसी की सेवा में लगा हुआ है। जीव की स्वाभाविक स्थिति सेवा करने की है, किन्तु माया के वातावरण में या अस्तित्व की बद्धावस्था में बद्धजीव भ्रम की ही सेवा करने की सोचता है। बद्धजीव अपने नश्वर शरीर, अपने शारीरिक सम्बन्धियों जैसे पत्नी तथा बच्चों एवं शरीर तथा शरीर के सम्बन्धों यथा घर, भूमि, सम्पत्ति, समाज तथा देश के पालन हेतु, आवश्यक वस्तुओं की सेवा करने में, अपने को लगाता है, लेकिन उसे इसका पता नहीं रहता कि यह सारी सेवा नितान्त भ्रामक है। इसके पूर्व हम कई बार बता चुके हैं कि यह भौतिक जगत स्वयं ही भ्रम है—मरुस्थल की मृगमरीचिका के समान है। मरुस्थल में जल का भ्रम होता है और मूर्ख पशु ऐसे भ्रम का शिकार होकर मरुस्थल में पानी के लिए दौड़ लगाते हैं, यद्यपि वहाँ पानी का नाममात्र भी नहीं होता। लेकिन चूँकि मरुस्थल में जल नहीं रहता, अतएव कोई यह निष्कर्ष नहीं निकालता कि वहाँ पर कहीं भी जल नहीं है। बुद्धिमान मनुष्य जानता है कि जल तो है, लेकिन महासागरों में है, किन्तु ऐसे विशाल जलागार मरुस्थल से बहुत दूर होते हैं। अतएव मनुष्य को जल की खोज समुद्र के निकट करनी चाहिए न कि रेगिस्तान में। हममें से प्रत्येक व्यक्ति जीवन के असली सुख अर्थात् नित्य जीवन, नित्य या असीम ज्ञान तथा अमर आनन्दमय जीवन की खोज में लगा हुआ है। किन्तु जिस मूर्ख व्यक्ति को असलियत का ज्ञान नहीं है, वह जीवन के सत्य को भ्रम में ढूँढता है। यह भौतिक शरीर कभी शाश्वत नहीं होता और इस क्षणिक शरीर से सम्बद्ध सारी वस्तुएँ—यथा पत्नी, बच्चे, समाज तथा देश भी, शरीर के बदलने के साथ-साथ बदलते रहते हैं। यही संसार अर्थात् जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि का

पुनरावर्तन कहलाता है। हम जीवन की इन सारी समस्याओं का हल ढूँढ़ना तो चाहते हैं, लेकिन हमें वह रास्ता ज्ञात नहीं है। यहाँ पर यह सुझाव है कि जो भी जीवन के इन क्लेशों—यथा जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के पुनरावर्तन से छुटकारा पाना चाहता है उसे भगवान् की ही पूजा करनी चाहिए, अन्य किसी की नहीं जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६५) में भी सुझाव दिया गया है। यदि हम सचमुच अपने बद्धजीवन का अन्त चाहते हैं, तो हमें भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा करनी चाहिए जो अपने अंश-रूप समस्त जीवों पर सहज स्नेह के कारण प्रत्येक जीव के हृदय में विद्यमान हैं (*भगवद्गीता* १८.६१)। स्वाभाविक है कि माता की गोद का बालक अपनी माता से आसक्त रहे और माता भी बालक से आसक्त रहती है। किन्तु जब बालक बड़ा हो जाता है और परिस्थितियों से घिर जाता है, तो वह क्रमशः माता से विलग होता जाता है, यद्यपि माता चाहती रहती है कि बालक कुछ न कुछ सेवा करे। स्वयं भी वह उस बालक के प्रति समान रूप से वत्सल रहती है, किन्तु बालक का भूलने का स्वभाव होता है। इसी प्रकार चूँकि हम भगवान् के अंश हैं, भगवान् हम पर सदैव वत्सल रहते हैं और चाहते रहते हैं कि हम उनके धाम वापस जाँय। किन्तु हम ऐसे बद्धजीव हैं कि उनकी परवाह नहीं करते और भ्रामक शारीरिक बन्धनों के पीछे दौड़ते रहते हैं। अतएव हमें चाहिए कि संसार के सारे भ्रामक बन्धनों को तोड़ दें और भगवान् की सेवा करके, उनसे पुनः मिलने का प्रयत्न करें, क्योंकि वे ही परम सत्य हैं। वास्तव में हम उनके लिए वैसे ही लालायित रहते हैं जिस तरह बालक माता को ढूँढता रहता है। भगवान् को ढूँढने के लिए हमें कही दूर नहीं जाना है, क्योंकि वे तो हमारे हृदयों में विद्यमान हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम पूजास्थलों पर यथा मन्दिरों, गिरजाघरों तथा मस्जिदों में न जाँय। पूजा के ये पवित्र स्थल भी भगवान् से युक्त होते हैं, क्योंकि भगवान् तो सर्वव्यापी हैं। सामान्य व्यक्ति के लिये ये पवित्र स्थान ईश-विज्ञान सिखने के केन्द्र हैं। जब मन्दिर कर्मशून्य हो जाते हैं, तो लोगों की रुचि ऐसे स्थानों में नहीं रह जाती जिससे सामान्य जनता धीरे-धीरे ईश्वरविहीन हो जाती है और ईश्वरविहीन सभ्यता का उदय होता है। ऐसी नारकीय सभ्यता से जीवन की समस्याओं में कृत्रिम तौर पर बढ़ोत्तरी होती है और लोगों का जीवन दूभर हो जाता है। ऐसी ईश्वरविहीन सभ्यता के मूर्ख कर्णधार भौतिकतावाद के पैटेण्ट ट्रेडमार्क के अन्तर्गत ईश्वरविहीन जगत में शान्ति तथा समृद्धि लाने की

विविध योजनाएँ बनाते हैं। चूँकि ऐसे प्रयास भ्रामक ही होते हैं, अतएव लोग एक-एक करके अयोग्य अंधे नेताओं को चुनते हैं, जो किसी भी तरह का समाधान प्रस्तुत करने में अक्षम रहते हैं। यदि हम ईश्वरविहीन सभ्यता की इस असंगति को दूर करना चाहते हैं, तो हमें *श्रीमद्भागवत* जैसे शास्त्रों के नियमों का पालन करना चाहिए और श्री शुकदेव गोस्वामी जैसे व्यक्ति के आदेश का पालन करना चाहिए जिन्हें भौतिक लाभ का कोई आकर्षण नहीं था।

कस्तां त्वनादृत्य परानुचिन्ता-
मृते पशूनसतीं नाम कुर्यात् ।
पश्यञ्जनं पतितं वैतरण्यां
स्व-कर्मजान् परितापाञ्जुषाणम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

कः—और कौन; ताम्—उसको; तु—लेकिन; अनादृत्य—उपेक्षा करके; पर-अनुचिन्ताम्—दिव्य विचार; ऋते—बिना; पशून्—भौतिकतावादी; असतीम्—क्षण-भंगुर; नाम—नाम को; कुर्यात्—स्वीकार करेगा; पश्यन्—निश्चित रूप से देखते हुए; जनम्—जनता, सामान्यजन; पतितम्—पतित; वैतरण्याम्—दुखों की नदी वैतरणी में; स्व-कर्म-जान्—अपने कर्मों से उत्पन्न; परितापान्—दुखों को; जुषाणम्—आक्रान्त।

निपट भौतिकतावादी के अतिरिक्त कौन ऐसा होगा जो यह देखकर कि जन-सामान्य अपने कर्मों से मिलने वाले फलों के कारण क्लेशों की नदी में गिरे हुए हैं, ऐसे विचार की उपेक्षा करे और केवल क्षणभंगुर नामों को ग्रहण करे?

तात्पर्य : वेदों में कहा गया है कि जो लोग भगवान् को छोड़कर अन्य देवताओं के प्रति आसक्त रहते हैं, वे उन पशुओं के तुल्य हैं, जो ऐसे व्यक्ति का अनुसरण करते रहते हैं, जो उन्हें कसाई घर की ओर ले जा रहा हो। पशुओं की तरह ये भौतिकतावादी भी यह नहीं जानते कि वे परम पुरुष के दिव्य विचार की उपेक्षा के कारण कुमार्ग पर जा रहे हैं। कोई विचारशून्य नहीं रह सकता। कहा गया है कि खाली दिमाग शैतान का घर होता है, क्योंकि जो व्यक्ति सही दिशा में नहीं सोच सकता, वह ऐसे विषय में सोचेगा जिससे विपत्ति आ खड़ी हो। भौतिकतावादी लोग नित्य ही किन्हीं छोटे-मोटे देवताओं की पूजा करते रहते हैं, यद्यपि *भगवद्गीता* (७.२०) में इसकी भर्त्सना की गई है। जब तक मनुष्य भौतिक लाभ के द्वारा मोहग्रस्त होता रहता है, तब तक वह उन-उन देवताओं से किसी न किसी विशेष लाभ की याचना करता रहता है, जो अन्ततोगत्वा भ्रामक तथा क्षणभंगुर होते हैं। किन्तु प्रबुद्ध

अध्यात्मवादी कभी ऐसी भ्रामक वस्तुओं से मोहित नहीं होता। अतएव वह परमेश्वर के साक्षात्कार की विभिन्न अवस्थाओं में—यथा ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के विचार में—लीन रहता है। पिछले श्लोक में यह सुझाया गया है कि मनुष्य को परमात्मा के विषय में चिन्तन करना चाहिए जो ब्रह्म के निराकार विचार से एक पग आगे है, जिस प्रकार कि भगवान् के विराट-रूप के विषय में सुझाया गया था।

बुद्धिमान व्यक्ति उन जीवों की सामान्य दशाओं को ठीक से देख सकते हैं, जो चौरासी लाख योनियों में तथा मनुष्यों की विभिन्न प्रजातियों में भटकते रहते हैं। कहा जाता है कि यमराज के लोक के द्वार पर वैतरणी नामक निरन्तर प्रवाहित रहनेवाली नदी है। यमराज पापियों को विभिन्न प्रकार से दण्ड देते हैं। ऐसी यातना देने के बाद पाप करनेवाले को उसके पूर्व-कर्मों के अनुसार कोई जीव योनि प्रदान की जाती है। यमराज द्वारा दण्डित ऐसे जीव बद्धजीवन की विभिन्न योनियों में देखे जाते हैं। इनमें से कुछ स्वर्ग में रहते हैं, तो कुछ नरक में रहते हैं। इनमें से कुछ ब्राह्मण होते हैं, तो कुछ कंजूस। किन्तु इनमें से कोई भी इस संसार में सुखी नहीं रहता। वे सभी प्रथम, द्वितीय या तृतीय श्रेणी के कैदी बनकर अपने-अपने कर्मों के कारण कष्ट भोगते हैं। भगवान् जीवों के कष्टों की समस्त परिस्थितियों के प्रति निरपेक्ष बने रहते हैं, किन्तु जो उनके चरणकमलों की शरण ग्रहण करते हैं, उन्हें वे समुचित सुरक्षा प्रदान करते हैं और ऐसे जीवों को अपने धाम वापस ले जाते हैं।

केचित् स्व-देहान्तर्हृदयावकाशे
प्रादेश-मात्रं पुरुषं वसन्तम् ।
चतुर्भुजं कञ्ज-रथाङ्ग-शङ्ख-
गदा-धरं धारणया स्मरन्ति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

केचित्—अन्य लोग; स्व-देह-अन्तः—अपने शरीर के भीतर; हृदय-अवकाशे—हृदय-प्रदेश में; प्रादेश-मात्रम्—एक बित्ता (लगभग आठ इंच); पुरुषम्—भगवान् को; वसन्तम्—वास करते हुए; चतुः-भुजम्—चार हाथों वाले; कञ्ज—कमल; रथ-अङ्ग—रथ का चक्र (पहिया); शङ्ख—शंख; गदा-धरम्—तथा हाथ में गदा लिए; धारणया—इस प्रकार की धारणा से; स्मरन्ति—उनका स्मरण करते हैं।

अन्य लोग शरीर के हृदय प्रदेश में वास करनेवाले एवं केवल एक बित्ता परिमाण के, चार हाथोंवाले तथा उनमें से प्रत्येक में क्रमशः कमल, रथ का चक्र, शंख तथा गदा धारण किये हुए भगवान् का ध्यान करते हैं।

तात्पर्य : सर्वव्यापी भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में परमात्मा रूप में वास करते हैं। अन्तर्यामी परमात्मा का परिमाण बीच की अंगुली से अंगूठे तक, अर्थात् एक बित्ता या आठ इंच माना जाता है। इस श्लोक में वर्णित भगवान् का रूप विभिन्न प्रतीकों से युक्त—दाहिने हाथ के निचले भाग से बाएँ हाथ के निचले भाग में क्रमश: कमल, चक्र, शंख तथा गदा धारण किये हुए हैं—जनार्दन कहलाता है, जिसका अर्थ है जन-सामान्य को वश में रखनेवाला भगवान् का अंश। इसी प्रकार कमल, शंख आदि प्रतीकों से युक्त भगवान् के अनेक अन्य रूप हैं और वे पुरुषोत्तम, अच्युत, नरसिंह, त्रिविक्रम, हृषीकेश, केशव, माधव, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण, श्रीधर, वासुदेव, दामोदर, जनार्दन, नारायण, हरि, पद्मनाभ, वामन, मधुसूदन, गोविन्द, कृष्ण, विष्णुमूर्ति, अधोक्षज तथा उपेन्द्र नामों से जाने जाते हैं। अन्तर्यामी भगवान् के ये चौबीस रूप विभिन्न लोकों में पूजे जाते हैं और प्रत्येक लोक में भगवान् का एक अवतार होता है, जिसका परव्योम में एक वैकुण्ठ लोक है, जिसमें भगवान् का अवतार होता है। इनके अतिरिक्त भी भगवान् के सैकड़ों हजारों रूप हैं और इनमें से प्रत्येक का परव्योम में विशिष्ट लोक होता है, जिनमें से यह भौतिक आकाश एक खंडमात्र है। भगवान् पुरुष के रूप में विद्यमान रहते हैं, यद्यपि इस भौतिक जगत के पुरुष से उनकी कोई तुलना नहीं की जा सकती, लेकिन ऐसे सारे रूप एक दूसरे से अभिन्न-अद्वैत होते हैं और इनमें से प्रत्येक रूप नित्य तरुण होता है। चतुर्भुजी तरुण भगवान् सुंदर ढंग से अलंकृत रहते हैं, जैसाकि नीचे वर्णन किया गया है।

प्रसन्न-वक्त्रं नलिनायतेक्षणं
कदम्ब-किञ्जल्क-पिशङ्ग-वाससम् ।
लसन्महा-रत्न-हिरण्मयाङ्गदं
स्फुरन्महा-रत्न-किरीट-कुण्डलम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

प्रसन्न—प्रसन्नता सूचित करता; वक्त्रम्—मुख; नलिन-आयत—कमल की पंखड़ियों के समान फैली; ईक्षणम्—आँखें; कदम्ब—कदम्ब पुष्प; किञ्जल्क—केसर; पिशङ्ग—पीला; वाससम्—वस्त्र; लसत्—लटकता हुआ; महा-रत्न—बहुमूल्य रत्न; हिरण्मय—स्वर्ण निर्मित; अङ्गदम्—आभूषण; स्फुरत्—चमकता; महा-रत्न—मूल्यवान रत्न; किरीट—मुकुट; कुण्डलम्—कान के कुण्डल।

उनका मुख उनकी प्रसन्नता को व्यक्त करता है। उनकी आँखें कमल की पंखड़ियों के समान हैं और उनका वस्त्र कदम्ब पुष्प के केसर के समान पीले रंग का तथा बहुमूल्य रत्नों से जटित है।

उनके सारे आभूषण स्वर्ण से निर्मित तथा रत्नों से जटित हैं। वे चमकीला मुकुट तथा कुण्डल धारण किये हुए हैं।

उन्निद्र-हृत्पङ्कज-कर्णिकालये
योगेश्वरास्थापित-पाद-पल्लवम् ।
श्री-लक्षणं कौस्तुभ-रत्न-कन्धर-
मम्लान-लक्ष्म्या वन-मालयाचितम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

उन्निद्र—खिले हुए; हृत्—हृदय; पङ्कज—कमल का फूल; कर्णिका-आलये—पुष्पगुच्छ की सतह पर; योग-ईश्वर—महान् योगी; आस्थापित—रखा हुआ; पाद-पल्लवम्—चरणकमल; श्री—लक्ष्मी या सुन्दर बछड़ा; लक्षणम्—इस प्रकार के चिह्न से युक्त; कौस्तुभ—कौस्तुभि मणि; रत्न—अन्य रत्न; कन्धरम्—कन्धे पर; अम्लान—ताजा; लक्ष्म्या—सौन्दर्य; वन-मालया—पुष्पहार से; आचितम्—फैला हुआ।

उनके चरण-कमल महान् योगियों के कमल-सदृश हृदयों के गुच्छों के ऊपर रखे हैं। उनके वक्षस्थल पर कौस्तुभ मणि है, जिसमें सुन्दर बछड़ा अंकित है और उनके कंधों पर अनेक रत्न हैं। उनका पूर्ण स्कंध-प्रदेश ताजे फूलों की माला से सज्जित है।

तात्पर्य : भगवान् के दिव्य शरीर के आभूषण पुष्प, वस्त्र तथा अन्य सारे अलंकरण भगवान् के शरीर से अभिन्न हैं। इनमें से कुछ भी भौतिक अवयवों से नहीं बना है, अन्यथा वह भगवान् के शरीर को अलंकृत नहीं कर सकता था। इसी तरह परव्योम में आध्यात्मिक किस्मों को भौतिक विविधता से पृथक् किया जाता है।

विभूषितं मेखलयाङ्गुलीयकै-
र्महा-धनैर्नूपुर-कङ्कणादिभिः ।
स्निग्धामलाकुञ्चित-नील-कुन्तलै-
र्विरोचमानानन-हास-पेशलम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

विभूषितम्—सुसज्जित; मेखलया—करधनी से; अङ्गुलीयकैः—अँगूठियों से; महा-धनैः—अत्यन्त मूल्यवान; नूपुर—पायल; कङ्कण-आदिभिः—कंकण आदि से; स्निग्ध—चिकना; अमल—निष्कलंक; आकुञ्चित—घुँघराले; नील—नीले रंग के; कुन्तलैः—बालों से; विरोचमान—अत्यन्त सुहावना; आनन—मुख; हास—मुस्कान; पेशलम्—सुन्दर।

उनकी कमर अलंकृत करधनी से सुशोभित है और उनकी अंगुलियों में बहुमूल्य रत्नों से जटित अँगूठियाँ हैं। उनके नूपुर, उनके कंकण, उनके घुँघराले नीले रंग के चिकने बाल तथा

उनका सुन्दर मुस्कान-युक्त मुख—ये सभी अत्यन्त लुभावने हैं।

तात्पर्य : भगवान् सर्वाधिक सुन्दर पुरुष हैं। श्रील शुकदेव गोस्वामी उनके अंग-प्रत्यंग के दिव्य सौन्दर्य का वर्णन निर्विशेषवादियों को यह पाठ पढ़ाने के लिए करते हैं कि भगवान् पूजा की सुविधा के लिए भक्त की कोरी कल्पना नहीं हैं, अपितु यथार्थ में और स्वरुप से परम पुरुष हैं। परम सत्य का निराकार स्वरूप उनका विकिरण मात्र है, जिस तरह सूर्य की किरणें सूर्य के विकिरण हैं।

अदीन-लीला-हसितेक्षणोल्लसद्-
भ्रू-भङ्ग-संसूचित-भूर्यनुग्रहम् ।
ईक्षेत चिन्तामयमेनमीश्वरं
यावन्मनो धारणयावतिष्ठते ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अदीन—अत्यन्त उदार, दैन्यरहित; लीला—लीलाएँ; हसित—हास; ईक्षण—चितवन से; उल्लसत्—चमकता; भ्रू-भङ्ग—भौहों का बाँकपन; संसूचित—सूचित; भूरि—विशाल; अनुग्रहम्—वर, कृपा; ईक्षेत—एकाग्र करे; चिन्तामयम्—दिव्य; एनम्—इस विशेष; ईश्वरम्—परमेश्वर को; यावत्—जब तक; मनः—मन; धारणया—ध्यान से; अवतिष्ठते—स्थिर किया जा सकता है।

भगवान् की भव्य लीलाएँ तथा उनके हास्यमय मुख की उल्लासमयी चितवन उनके व्यापक वरदानों के संकेत हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि जब तक ध्यान द्वारा उसका मन भगवान् पर स्थिर रखा जा सके, तब तक मन को उनके इसी दिव्य रूप में एकाग्र करे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१२.५) में कहा गया है कि निर्विशेषवादी अपने निराकार ध्यान के कारण अनेक कठिनाइयों से गुजरता है। लेकिन भगवान् की साकार सेवा के कारण भक्त सरलता से प्रगति करता रहता है। अतएव निराकार ध्यान निर्विशेषवादी के लिए कष्ट का कारण है। यहाँ पर भक्त को निर्विशेषवादी चिन्तक की तुलना में एक लाभ है। निर्विशेषवादी भगवान् के साकार रूप के विषय में संशय-युक्त रहता है, अतएव वह सदैव ऐसी वस्तु का ध्यान करने का प्रयास करता है, जो साकार नहीं है। इसी कारण से *भागवत* में भगवान् के यथार्थ स्वरूप पर ध्यान एकाग्र करने के लिए, प्रामाणिक वक्तव्य दिया गया है।

यहाँ पर ध्यान की जिस विधि का अनुमोदन किया गया है, वह *भक्तियोग* अर्थात् भौतिक अवस्थाओं से मुक्त होने के बाद की भक्ति विधि है। ज्ञानयोग भौतिक अवस्थाओं से मुक्ति की विधि है। संसार की अवस्थाओं से मुक्त हो लेने के बाद अर्थात् निवृत्त होने पर, जैसाकि पहले कहा जा चुका

है या जब कोई समस्त भौतिक आवश्यकताओं से मुक्त हो जाता है, तो वह भक्तियोग विधि को सम्पन्न करने के योग्य बन जाता है। अतएव भक्तियोग में ज्ञानयोग निहित है, अथवा दूसरे शब्दों में शुद्धभक्ति की विधि एकसाथ ज्ञानयोग का भी काम करती है; शुद्ध भक्ति के क्रमिक विकास से भौतिक दशाओं से स्वत: मुक्ति प्राप्त हो जाती है। भक्तियोग के ये प्रभाव *अनर्थ-निवृत्ति* कहलाते हैं। भक्तियोग की प्रगति के साथ-साथ कृत्रिम रूप से अर्जित की गई वस्तुएँ क्रमश: लुप्त होती जाती हैं। भगवान् के चरणकमलों का ध्यान, जो प्रथम सोपान के रूप में है, *अनर्थ-निवृत्ति* के द्वारा अपना प्रभाव दिखायेगा। अनर्थ का सबसे स्थूल प्रकार, जो बद्धजीव को जगत से बाँधता है, वह कामवासना है और यह कामवासना धीरे-धीरे विकसित होकर नर तथा नारी का मेल कराती है। नर-नारी का मिलाप हो जाने पर घर, बच्चे, मित्र, सम्बन्धी तथा सम्पत्ति के जुट जाने से कामवासना और अधिक बढ़ती है। जब इन सबकी प्राप्ति हो जाती है, तो बद्धजीव इन सारे बन्धनों से अभिभूत हो उठता है और मिथ्या अंहकार भाव, या ''मैं'' और ''मेरा'' का भाव प्रधान बन जाता है और कामवासना विविध राजनीतिक, सामाजिक, परोपकारी तथा अन्य अवांछित कार्यकलापों में विस्तारित हो जाती है मानो समुद्री लहरों पर तैरता फेन हो जो कभी तो स्पष्ट दिखता है, किन्तु दूसरे ही क्षण उसी तरह लुप्त हो जाता है, जिस प्रकार आकाश से बादल लुप्त हो जाते हैं। बद्धजीव ऐसी वस्तुओं से तथा कामवासना की वस्तुओं से घिरा रहता है, किन्तु भक्तियोग से कामवासना धीरे-धीरे छूमन्तर हो जाती है, जिसका सारांश लाभ, पूजन तथा ख्याति इन तीन शीर्षकों से दिया गया है। सारे बद्धजीव कामवासना के इन विविध रूपों के पीछे पागल बने रहते हैं और मनुष्य यह स्वयं देख सकता है कि कामवासना पर आधारित ऐसी भौतिक लालसाओं से वह किस हद तक मुक्त हुआ है। जिस प्रकार भोजन के हर कौर खाने से मनुष्य की भूख बुझती जाती है, उसी तरह उसे पता चल सकेगा कि वह कामवासना से किस हद तक मुक्त हुआ है। भक्तियोग की प्रक्रिया से यह कामवासना अपने विविध रूपों सहित घटती जाती है, क्योंकि भक्तियोग से भगवत्कृपा से स्वत: ज्ञान तथा वैराग्य उत्पन्न होता है, भले ही भक्त भौतिक दृष्टि से ठीक से शिक्षित न हो। ज्ञान का अर्थ है वस्तुओं को उनके उसी रूप में जानना और यदि विचार-विमर्श से यह ज्ञात हो जाय कि कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं, जो सर्वथा अनावश्यक हैं, तो यह स्वाभाविक है कि जिसने

ज्ञान अर्जित किया है, वह ऐसी अवांछित वस्तुओं को छोड़ देगा। जब बद्धजीव ज्ञान के अनुशीलन द्वारा यह देखता है कि भौतिक आवश्यकताएँ अवांछित हैं, तो वह उनसे अपना नाता तोड़ लेता है। ज्ञान की यह अवस्था वैराग्य अर्थात् अवांछित वस्तुओं से विरक्ति कहलाती है। हम इससे पूर्व बता चुके हैं कि अध्यात्मवादी को स्वावलम्बी होना चाहिए और उसे अपने जीवन की नैत्यिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धनी अन्धे पुरुषों से भीख नहीं माँगनी चाहिए। शुकदेव गोस्वामी ने जीवन की ऐसी आवश्यकताओं यथा खाने, सोने तथा रहने की समस्याओं के लिए विकल्प सुझाये हैं, लेकिन उन्होंने कामवासना की तुष्टि के लिए कोई विकल्प नहीं सुझाया। जिसके अन्त:करण में कामवासना तब भी आन्दोलित हो रही हो, उसे संन्यास आश्रम नहीं ग्रहण करना चाहिए। जिसने यह अवस्था नहीं प्राप्त की है, उसके लिए संन्यास आश्रम ग्रहण करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार सही गुरु के मार्गदर्शन में क्रमिक भक्तियोग द्वारा तथा *भागवत* के सिद्धान्तों के अनुसरण द्वारा मनुष्य संन्यास आश्रम ग्रहण करने के पूर्व कम से कम स्थूल काम-वासना को तो वश में कर सकेगा।

इस तरह शुद्धि (परिष्कार) का अर्थ है क्रमश: कामवासना से मुक्त होना और इसकी प्राप्ति यहाँ पर वर्णित विधि द्वारा—भगवान् के चरणों से प्रारम्भ करके उनके ध्यान द्वारा—की जा सकती है। मनुष्य को चाहिए कि पहले वह स्वयं यह देख ले कि कामवासना से वह कितना मुक्त हुआ है, तभी ऊपर उठने (भगवान् के ऊपरी अंगों पर ध्यान) का प्रयत्न करे। *श्रीमद्भागवत* का दशम स्कन्ध भगवान् का हास्यमय मुखमंडल है। ऐसे अनेक नवसिखिये हैं, जो तुरन्त ही दशम स्कन्ध से अध्ययन प्रारम्भ करने लगते हैं और उसमें भी विशेष रूप से वे पाँच अध्याय जिनमें भगवान् की रासलीला का वर्णन है। यह निश्चय ही अनुचित है। *भागवत* के ऐसे अनुचित अध्ययन या श्रवण से भौतिक अवसरवादियों ने *भागवत* के नाम पर विषयी जीवन में लिप्त होकर ऊधम मचा रखा है। *भागवत* को इस तरह लांछित करने का कार्य तथाकथित भक्तों के कार्यों से सम्पन्न हुआ है। इसके पूर्व कि कोई भागवत-वाचन का प्रदर्शन करे, उसे समस्त प्रकार की कामवासनाओं से मुक्त होना चाहिए। श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने शुद्धि का अर्थ कामविषयों में निर्लिप्त होना बताया है। वे कहते हैं—*यथा यथा धीश्च शुध्यति विषयलाम्पट्यं त्यजति, तथा तथा धारयेदिति चित्तशुद्धितारतम्येनैव ध्यानतारतम्यमुक्तम्* और ज्योंही कोई

बुद्धि के परिष्कार से कामलिप्सा के नशे से मुक्त हो जाता है तब उसे आगे बढ़कर ध्यान करना चाहिए। अर्थात् दूसरे शब्दों में, भगवान् के दिव्य शरीर के विभिन्न अंगों के ध्यान को हृदय की शुद्धि के अनुपात से बढ़ाना चाहिए। निष्कर्ष यह निकला कि जो लोग अब भी कामवासना में अनुरक्त होकर फँसे हुए हैं, उन्हें कभी भगवान् के चरणों के ऊपर के अंगों पर ध्यान नहीं करना चाहिए, अतएव उन्हें अपने आपको *श्रीमद्भागवत* के प्रथम दो स्कन्धों का ही पाठ करने तक सीमित कर लेना चाहिए। मनुष्य को पहले प्रथम नौ स्कन्धों की विषयवस्तु को आत्मसात् करके शुद्धि की प्रक्रिया पूरी करनी चाहिए। तब उसे *श्रीमद्भागवत* के दशम स्कन्ध में प्रवेश की अनुमति दी जानी चाहिए।

एकैकशोऽङ्गानि धियानुभावयेत्
पादादि यावद्धसितं गदाभृतः ।
जितं जितं स्थानमपोह्य धारयेत्
परं परं शुद्ध्यति धीर्यथा यथा ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

एक-एकशः—एक-एक करके, या एक के पश्चात् दूसरा; अङ्गानि—अंगों को; धिया—ध्यान से; अनुभावयेत्—ध्यान करे; पाद-आदि—पाँव इत्यादि; यावत्—जब तक; हसितम्—मुसकान; गदा-भृतः—भगवान्; जितम् जितम्—धीरे-धीरे मन को नियन्त्रित करते हुए; स्थानम्—स्थान को; अपोह्य—छोड़ कर; धारयेत्—ध्यान करे; परम् परम्—उच्च से उच्चतर; शुद्ध्यति—शुद्ध होती है; धीः—बुद्धि; यथा यथा—जितनी।

ध्यान की प्रक्रिया भगवान् के चरण-कमलों से प्रारंभ करते हुए उसे उनके हँसते मुखमंडल तक ले आये। इस तरह पहले ध्यान को चरण-कमलों पर एकाग्र करे, फिर पिंडलियों पर, तब जाँघों पर और क्रमश : ऊपर की ओर उठता जाये। मन जितना ही एक-एक करके भगवान् के विभिन्न अंगों पर स्थिर होगा, बुद्धि उतनी ही अधिक परिष्कृत होगी।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में ध्यान की जिस विधि की संस्तुति की गई है, वह किसी विशेष वस्तु या शून्य पर मन को स्थिर करने की नहीं है। ध्यान को तो भगवान् पर एकाग्र करना चाहिए, चाहे वह उनका विराट-रूप अर्थात् विराट विश्व-रुप हो या शास्त्रों में वर्णित उनका सच्चिदानन्द विग्रह रूप। विष्णु रूपों के प्रामाणिक विवरण प्राप्त हैं और मन्दिरों में अर्चा-विग्रह के प्रामाणिक प्रतिरूप हैं। इस प्रकार मनुष्य अर्चा-विग्रह का ध्यान करना प्रारम्भ कर सकता है, जिसमें उसे अपने मन को भगवान् के चरणकमलों पर एकाग्र करते हुए क्रमशः ऊपर-ऊपर उठते हुए उनके मुसकाते मुख तक आना चाहिए।

भागवत-विचारधारा के अनुसार भगवान् का रासनृत्य भगवान् का मुसकाता मुखमंडल है। चूँकि इस श्लोक में संस्तुति की गई है कि मनुष्य भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करता हुआ, मुसकाते मुखमंडल तक क्रमशः ऊपर उठे, अतएव हमें चाहिए कि रासनृत्य में भगवान् की लीलाएँ समझने के लिए हम छलाँग न लगायें। श्रेयस्कर यही होगा कि हम भगवान् के चरणकमलों पर पुष्प तथा तुलसी-दल अर्पित करके अपने ध्यान को एकाग्र करने का अभ्यास करें। इस प्रकार धीरे-धीरे हम अर्चना-विधि से शुद्ध हो जाते हैं। हम भगवान् को वस्त्र पहनाते हैं, उन्हें नहलाते हैं, इत्यादि-इत्यादि, जो सारे के सारे दिव्य कार्यकलाप होते हैं। ये हमें जीवन को शुद्ध बनाने में सहायक होते हैं। जब हम शुद्धि के उच्चतर स्तर तक पहुँच जाते हैं और यदि हम भगवान् का मुसकाता मुखमंडल देखते हैं या भगवान् की रासलीला का श्रवण करते हैं, तो हम उनके कार्यकलापों का रसास्वाद कर सकते हैं। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* में रासलीला को दशम स्कन्ध में उद्धृत किया गया है (अध्याय २९-३४)।

मनुष्य भगवान् के दिव्य रूप पर चित्त को जितना ही एकाग्र करता है, चाहे वह चरणकमलों पर हो या पिंडलियों या जंघाओं अथवा वक्ष-स्थल पर, वह उतना ही शुद्ध होता जाता है। इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि, "बुद्धि उतनी ही अधिक परिष्कृत होगी" जिसका अर्थ है कि मनुष्य इन्द्रियतृप्ति से जितना ही विरक्त होता जाता है बुद्धि उतनी ही अधिक परिष्कृत होगी। वर्तमान बद्ध अवस्था में हमारी बुद्धि अशुद्ध है, क्योंकि वह इन्द्रियतृप्ति में व्यस्त लगी हुई रहती है। भगवान् के दिव्य रूप का ध्यान करने का फल मनुष्य की इन्द्रियतृप्ति से विरक्ति द्वारा प्रकट होगा, अतएव ध्यान का चरम उद्देश्य अपनी बुद्धि की शुद्धि (परिष्कार) है।

वे लोग, जो इन्द्रियतृप्ति में अत्यधिक लोग रहते हैं, उन्हें अर्चना में सम्मिलित होने या राधा-कृष्ण के दिव्य स्वरूप या विष्णु अर्चा-विग्रहों का स्पर्श करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। उनके लिए यह श्रेयस्कर होगा कि वे भगवान् के विराट-रूप का ध्यान धरें, जैसाकि अगले श्लोक में कहा गया है। अतएव निर्विशेषवादियों तथा शून्यवादियों को सलाह दी जाती है कि वे भगवान् के विराट-रूप का ध्यान धरें, किन्तु भक्तों को मन्दिर में अर्चा-विग्रह का ध्यान करने की संस्तुति की जाती है। चूँकि निर्विशेषवादी तथा शून्यवादी अपने आध्यात्मिक कार्य-कलापों में पर्याप्त शुद्ध नहीं होते, अतएव

अर्चना की विधि उनके निमित्त नहीं है।

यावन्न जायेत परावरेऽस्मिन्
विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्ति-योगः ।
तावत् स्थवीयः पुरुषस्य रूपं
क्रियावसाने प्रयतः स्मरेत ॥ १४॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; न—नहीं; जायेत—विकसित होता है; पर—दिव्य; अवरे—संसारी; अस्मिन्—इस रूप में; विश्व-ईश्वरे—समस्त जगतों के स्वामी; द्रष्टरि—देखनेवाले को; भक्ति-योगः—भक्तिमयी सेवा, भक्ति; तावत्—तब तक; स्थवीयः—स्थूल भौतिकतावादी; पुरुषस्य—विराट पुरुष का; रूपम्—विश्वरूप; क्रिया-अवसाने—अपने कर्तव्यों के पूरा होने पर; प्रयतः—सावधानीपूर्वक; स्मरेत—स्मरण करे।

जब तक स्थूल भौतिकतावादी व्यक्ति दिव्य तथा भौतिक दोनों ही जगतों के द्रष्टा परमेश्वर की प्रेमाभक्ति विकसित न कर ले, तब तक उसे अपने कर्तव्यों को पूरा कर लेने के बाद भगवान् के विराट रूप का स्मरण या ध्यान करना चाहिए।

तात्पर्य : परमेश्वर सभी जगतों के द्रष्टा हैं, चाहे भौतिक जगत हो या आध्यात्मिक। दूसरे शब्दों में, परमेश्वर सभी जगतों के परम भोक्ता हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* (५.२९) में पुष्टि हुई है। आध्यात्मिक जगत उनकी अन्तरंगा शक्ति का प्राकट्य है, जबकि भौतिक जगत उनकी बहिरंगा शक्ति का। सारे जीव भी उनकी तटस्था शक्ति हैं और वे अपनी रुचि के अनुसार भौतिक जगत या आध्यात्मिक जगत में रह सकते हैं। यह भौतिक जगत जीवात्माओं के लिए उपयुक्त वासस्थान नहीं है, क्योंकि सारे जीव आध्यात्मिक दृष्टि से भगवान् से अभिन्न हैं, किन्तु भौतिक जगत में सारे जीव भौतिक जगत के नियमों के द्वारा बद्ध हो जाते हैं। चूँकि सारे जीव उनके अंश-रूप हैं, अतः भगवान् चाहते हैं कि वे सभी उनके साथ आध्यात्मिक जगत में रहें। भौतिक जगत में जीवों को प्रबुद्ध करने के लिए सारे वेद तथा शास्त्र उपलब्ध हैं जिनके द्वारा उन्हें विशेष रूप से भगवद्धाम वापस बुलाया जा सकता है। दुर्भाग्यवश, जीव बद्धजीवन के तीन प्रकार के कष्टों को सहता हुआ भी भगवद्धाम जाने के प्रति बहुत गंभीर नहीं रहता। यह उसकी पथभ्रष्ट जीवन-शैली के कारण है, जो पापों तथा पुण्यों के कारण जटिल बन गई है। जीवों में से कुछ जीव, जो पुण्य कर्म करते हैं, भगवान् के साथ अपने भूले हुए सम्बन्ध को पुनःस्थापित करना आरम्भ करते हैं, किन्तु वे भगवान् के साकार रूप को नहीं समझ पाते। जीवन का असली उद्देश्य

भगवान् के साथ सम्पर्क स्थापित करना और उनकी सेवा में लग जाना है। यही जीवों की स्वाभाविक स्थिति है। किन्तु जो निर्विशेषवादी हैं और भगवान् की प्रेमाभक्ति कर पाने में असमर्थ रहते हैं, उन्हें भगवान् के निराकार रूप या विराट-रूप का ध्यान करने की सलाह दी गई है। यदि मनुष्य तनिक भी चाहता है कि जीवन का वास्तविक सुख प्राप्त हो तथा उसे बंधनहीन सहज अवस्था प्राप्त हो, तो उसे चाहिए कि जिस तरह से भी हो सके भगवान् के साथ अपने विस्मृत सम्बन्धों को पुन:स्थापित करने का प्रयत्न करे। कम बुद्धिमान नौसिखियों द्वारा निर्विशेष स्वरूप या विराट स्वरूप का ध्यान क्रमश: उन्हें साकार स्वरूप के सम्पर्क में आने के योग्य बना देगा। यहाँ पर मनुष्य को पिछले अध्यायों में वर्णित विराट-रूप का ध्यान करने की सलाह दी गई है, जिससे वह समझ सके कि किस तरह विभिन्न लोक, समुद्र, पर्वत, नदियाँ, पक्षी, पशु, मनुष्य, देवता तथा अन्य जो कुछ सोचा जा सकता है, भगवान् के विराट रूप के ही अंग-प्रत्यंग हैं। इस प्रकार का चिन्तन भी एक प्रकार से परम सत्य का ध्यान ही है। ज्योंही ऐसा ध्यान प्रारम्भ हो जाता है, मनुष्य में दैवी गुण आ जाते हैं और सारा संसार समस्त लोगों के लिए एक सुखमय तथा शान्तिमय आवास लगने लगता है। ईश्वर के ऐसे निराकार या साकार रूप के ध्यान के बिना मनुष्य के सारे सद्गुण उसकी अपनी स्वाभाविक स्थिति के विषय में भ्रान्तियों से ढके रहते हैं और ऐसे उच्च ज्ञान के बिना सारा संसार मनुष्य के लिए नरक बन जाता है।

स्थिरं सुखं चासनमास्थितो यति-
र्यदा जिहासुरिममङ्ग लोकम् ।
काले च देशे च मनो न सज्जयेत्
प्राणान् नियच्छेन्मनसा जितासुः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

स्थिरम्—स्थिर; सुखम्—आरामदेह; च—भी; आसनम्—बैठने का आसन; आस्थितः—स्थित होकर; यतिः—साधु; यदा—जब भी; जिहासुः—त्यागना चाहता है; इमम्—इसे; अङ्ग—हे राजा; लोकम्—शरीर को; काले—समय में; च—तथा; देशे—उचित स्थान में; च—भी; मनः—मन; न—नहीं; सज्जयेत्—उद्विग्न न हो; प्राणान्—प्राणों को; नियच्छेत्—वश में करे; मनसा—मन से; जित-असुः—प्राणवायु को जीतकर।

हे राजन्, जब भी योगी इस मानव लोक को छोड़ने की इच्छा करे तो वह उचित काल या स्थान की तनिक भी इच्छा न करते हुए, सुविधापूर्वक अविचल भाव से आसन लगा ले और प्राणवायु को नियमित करके मन द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में करे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (८.१४) में स्पष्ट कहा गया है कि जो व्यक्ति भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में पूर्णतः निरत रहता है और जो पग-पग पर उन्हीं का निरन्तर स्मरण करता है, वह भगवान् का साक्षात् सान्निध्य प्राप्त करके, आसानी से उन की दया प्राप्त करता है। ऐसे भक्तों को वर्तमान शरीर-त्याग के लिए उपयुक्त समय ढूँढने की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु जो मिश्रित भक्त हैं और सकाम कर्म या ज्ञान को मिलाए हुए हैं, उन्हें इस शरीर का त्याग करने के लिए *उपयुक्त क्षण की अपेक्षा रहती* है। उनके लिए ऐसे उपयुक्त क्षणों का उल्लेख *भगवद्गीता* (८.२३-२६) में हुआ है। लेकिन ये उपयुक्त क्षण उतने महत्त्वपूर्ण नहीं होते, जितना कि मनुष्य का ऐसा सफल योगी होना जो इच्छानुसार शरीर का त्याग कर सके। ऐसे योगी को मन द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में करने में सक्षम होना चाहिए। मन को सहज भाव से भगवान् के चरणकमलों में लगाकर सरलता से जीता जा सकता है। ऐसी सेवा से क्रमशः सारी इन्द्रियाँ स्वतः भगवान् की सेवा में लग जाती हैं। परम सत्य से तदाकार होने का यही मार्ग है।

मनः स्व-बुद्ध्यामलया नियम्य
क्षेत्र-ज्ञ एतां निनयेत् तमात्मनि ।
आत्मानमात्मन्यवरुध्य धीरो
लब्धोपशान्तिर्विरमेत कृत्यात् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

मनः—मन को; स्व-बुद्ध्या—अपनी बुद्धि से; अमलया—विशुद्ध; नियम्य—नियमित करके; क्षेत्र-ज्ञे—जीव को; एताम्—ये सब; निनयेत्—विलीन करे; तम्—उसको; आत्मनि—आत्मा में; आत्मानम्—आत्मा को; आत्मनि—परम आत्मा में; अवरुध्य—बँधकर; धीरः—पूर्ण रूप से तुष्ट; लब्ध-उपशान्तिः—जिसने पूर्ण आनन्द प्राप्त कर लिया है; विरमेत—विराम लेता है; कृत्यात्—अन्य कृत्यों से।

तत्पश्चात् योगी को चाहिए कि वह अपनी विशुद्ध बुद्धि के द्वारा अपने मन को जीवात्मा में तदाकार करे और फिर जीवात्मा को परम आत्मा में विलीन कर दे। ऐसा करने के बाद, पूर्णतया तुष्ट जीव, तुष्टि की चरमावस्था को प्राप्त होता है, जिससे वह अन्य सारे कार्यकलाप बन्द कर देता है।

तात्पर्य : मन के कार्य हैं—सोचना, अनुभव करना और इच्छा करना। जब मन भौतिकतावादी होता है या भौतिक संसर्ग में लीन रहता है, तो वह ज्ञान की भौतिक उन्नति के लिए कार्य करता है, जिसकी

चरम परिणति नाभिकीय अस्त्रों की खोज में होती है। किन्तु जब मन आध्यात्मिक संवेग के अन्तर्गत कार्य करता है, तो वह जीवन में पूर्ण आनन्द तथा नित्यता के लिए अपने घर अर्थात् भगवद्धाम वापस जाने के लिए आश्चर्यजनक ढंग से काम करता है। अतएव मन को उत्तम तथा विशुद्ध बुद्धि के द्वारा सुनियोजित किया जाना चाहिए। परि-पूर्ण बुद्धि भगवान् की सेवा करने के निमित्त होती है। मनुष्य को इतना तो समझ ही लेना चाहिए कि जीव समस्त परिस्थितियों में परिस्थितियों का दास है। प्रत्येक जीव इच्छा, क्रोध, वासना, भ्रम, पागलपन तथा ईर्ष्या के आदेशों के अनुसार सेवा करता है और ये सब की सब भौतिकता से प्रभावित हैं। किन्तु इन समस्त संवेगों के आदेशों का पालन करने हेतु वह निरन्तर दुखी रहता है। जब वह वास्तव में इसका अनुभव करता है और सही स्रोतों से इसकी खोज करने के लिए अपनी बुद्धि दौड़ाता है, तो उसे भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति का पता लगता है। तब बुद्धि शरीर के उपर्युक्त रसों की भौतिकता की दृष्टि से सेवा न करके, भौतिकतावादी मनोवृत्ति के दुखद भ्रम से मुक्त हो जाती है और इस प्रकार मन विशुद्ध बुद्धि से भगवान् की सेवा में लग जाता है। भगवान् एवं उनकी सेवा, परम धरातल पर होने के कारण अभिन्न हैं। अतएव अमिश्रित बुद्धि तथा मन भगवान् में तदाकार हो जाते हैं और इस तरह जीव मात्र दृष्टा नहीं रह जाता, अपितु भगवान् के दिव्यगुण द्वारा दृश्य हो उठता है; जब जीव भगवान् द्वारा प्रत्यक्षत: देख लिया जाता है, तो वे अपनी इच्छानुसार जीव को आदेशित करते हैं और जब जीव उनके आदेशों का पूर्णत: पालन करने लगता है, तो जीव अपनी भ्रामक तुष्टि के लिए अन्य कार्य करना बन्द कर देता है। जीव अपनी शुद्ध अवस्था में पूर्ण आनन्द की *उपलब्धि*—लब्धोपशान्ति—करता है और समस्त भौतिक लालसाओं से निवृत्त हो जाता है।

न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः
कुतो नु देवा जगतां य ईशिरे ।
न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च
न वै विकारो न महान् प्रधानम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यत्र—जहाँ; काल:—विनाशकारी काल; अनिमिषाम्—देवताओं का; पर:—श्रेष्ठ; प्रभु:—नियन्ता; कुत:—कहाँ है; नु—निश्चय ही; देवा:—देवता; जगताम्—संसारी प्राणी; ये—जो; ईशिरे—नियम; न—नहीं; यत्र—जहाँ; सत्त्वम्—संसारी अच्छाई, सतोगुण; न—न तो; रज:—संसारी काम; तम:—संसारी अज्ञान, तमोगुण; च—भी; न—न तो; वै—निश्चय ही; विकार:—रूपान्तर; न—न तो; महान्—भौतिक कारणार्णव; प्रधानम्—भौतिक प्रकृति।

उस लब्धोपशान्ति की दिव्य अवस्था में विनाशकारी काल की श्रेष्ठता नहीं रह पाती, जो उन देवी-देवताओं का भी नियामक है, जिन्हें संसारी प्राणियों के ऊपर शासन करने की शक्ति प्राप्त है। (तो फिर स्वयं देवताओं के विषय में क्या कहा जाये?)। इस अवस्था में न तो सतोगुण, रजोगुण या तमोगुण रहते हैं, न ही मिथ्या अहंकार, भौतिक कारणार्णव अथवा न भौतिक प्रकृति ही रह पाती है।

तात्पर्य : विनाशकारी काल, जो भूत, वर्तमान तथा भविष्य के रूप में, स्वर्गस्थ देवताओं को भी नियन्त्रित करता है, आध्यात्मिक धरातल पर अपना प्रभाव नहीं दिखा पाता। काल का प्रभाव जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के रूप में प्रकट होता है और ये चारों नियम भौतिक ब्रह्माण्ड के किसी भी भाग में, ब्रह्मलोक तक जहाँ लोगों की आयु अत्यधिक है, सर्वत्र पाये जाते हैं, । दुर्जेय काल ब्रह्मा तक की मृत्यु का कारण बनता है, तो इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, वायु तथा वरुण जैसे अन्य देवताओं के विषय में क्या कहा जाये? विभिन्न देवताओं द्वारा संसारी प्राणियों पर निक्षिप्त ज्योतिष-प्रभाव भी स्पष्ट रुप से अनुपस्थित रहता है। भौतक जगत में सारे जीव शैतान से भयभीत रहते हैं, किन्तु दिव्य पद पर स्थित भक्त को ऐसा भय नहीं रहता। सारे जीव प्राकृतिक विभिन्न गुणों के प्रभाव से विभिन्न रूपों तथा आकारों से अपने-अपने भौतिक शरीर बदलते रहते हैं, लेकिन दिव्य स्थिति में भक्त गुणातीत अर्थात् सतो, रजो तथा तमो गुणों से परे होता है। इस प्रकार ''मैं जहाँ तक जा सकता हूँ, उसका स्वामी हूँ'' यह मिथ्या अहंकार वहाँ नहीं उठ पाता। भौतिक जगत में प्रकृति के ऊपर प्रभुता दिखाने का मिथ्या अहंकार प्रज्ज्वलित अग्नि में पतंगों के गिरने के समान है। पतंगा अग्नि के दीप्तिमान सौन्दर्य पर मोहित होता है, किन्तु जब वह इसका भोग करने चलता है, तो अग्नि उसे जलाकर राख कर देती है। दिव्य स्थिति में जीव की चेतना शुद्ध रहती है, अतएव प्रकृति पर प्रभुता जताने का उसमें मिथ्या अहंकार नहीं रहता प्रत्युत उसकी शुद्ध चेतना उसे परमेश्वर की शरण में जाने के लिए निर्देशित करती है, जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है—*वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ:।* इससे संकेत मिलता है कि दिव्य स्थिति में न तो भौतिक सृष्टि रहती है, न ही भौतिक प्रकृति के लिए कारणार्णव रहता है।

उपर्युक्त परिस्थिति दिव्य धरातल पर वास्तविक है। किन्तु यह योगी की शुद्ध चेतना की उच्च

अवस्था में प्रकट होती है। ऐसे योगी दो प्रकार के होते हैं—निर्विशेषवादी तथा भक्त। निर्विशेषवादियों का चरम लक्ष्य रहता है परव्योम की ब्रह्मज्योति, किन्तु भक्तों का लक्ष्य वैकुण्ठ लोक रहता है। भक्तों को उपर्युक्त स्थिति का अनुभव भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति के लिए सक्रिय होने हेतु दिव्य रूप पा कर होता है। लेकिन निर्विशेषवादी भगवान् की संगति की उपेक्षा करने के कारण आध्यात्मिक सक्रियता के लिए आध्यात्मिक शरीर विकसित नहीं कर पाता, अपितु भगवान् की ब्रह्मज्योति में आध्यात्मिक स्फुलिंग के रूप में विलीन हो जाता है। भगवान् पूर्णतः सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं, जबकि निर्विशेष ब्रह्मज्योति केवल सत् तथा चित् है। वैकुण्ठ लोक भी सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं, अतएव भगवान् के वे भक्त भी, जो भगवान् के धाम में प्रवेश पाते हैं, सच्चिदानन्द-स्वरूप प्राप्त करते हैं। इस तरह उनमें परस्पर कोई अन्तर नहीं रहता। भगवान् के धाम, नाम, यश, पार्षद आदि एक ही दिव्य गुण वाले हैं और यह दिव्य गुण भौतिक जगत से किस प्रकार भिन्न होता है, इसकी व्याख्या इस श्लोक में की गई है। *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण ने तीन प्रमुख विषयों—कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग—का वर्णन किया है, किन्तु इनमें से केवल भक्तियोग द्वारा ही मनुष्य वैकुण्ठ लोक पहुँच सकता है। अन्य दो विषय वैकुण्ठ लोक पहुँचाने में अक्षम रहते हैं, भले ही वे ब्रह्मज्योति तक सुगमता से पहुँचा दें जैसाकि ऊपर वर्णन किया गया है।

परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्
यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः ।
विसृज्य दौरात्म्यमनन्य-सौहृदा
हृदोपगुह्यार्ह-पदं पदे पदे ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

परम्—परम; पदम्—पद; वैष्णवम्—भगवान् के साथ; आमनन्ति—वे जानते हैं; तत्—वह; यत्—जो; न इति—यह नहीं; न इति—यह नहीं; इति—इस प्रकार; अतत्—ईश्वर-विहीन; उत्सिसृक्षवः—जो बचना चाहते हैं; विसृज्य—पूर्ण रूप से त्याग कर; दौरात्म्यम्—जटिलताएँ; अनन्य—पूर्णतया; सौहृदाः—उत्तम अभिलाषा से; हृदा उपगुह्य—हृदय में धारण करके; अर्ह—एकमात्र पूज्य; पदम्—चरणकमल; पदे पदे—क्षण-क्षण में।

योगीजन ईश्वर-विहीन प्रत्येक वस्तु से बचना चाहते हैं, क्योंकि उन्हें उस परम स्थिति का पता है, जिसमें प्रत्येक वस्तु भगवान् विष्णु से सम्बन्धित है। अतएव वह शुद्ध भक्त, जो कि भगवान् से पूर्ण ऐक्य रखता है, जटिलताएँ उत्पन्न नहीं करता, अपितु भगवान् के चरण-कमलों

को हृदय में धारण करके उनकी प्रत्येक क्षण पूजा करता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में *मद्धाम* (मेरा धाम) का कई बार उल्लेख आया है और भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार परव्योम असीम है, जिसमें स्थित लोक वैकुण्ठ या भगवान् के धाम कहलाते हैं। उस व्योम में जो भौतिक व्योम से तथा इसके सात आवरणों से बहुत ही दूरी पर है, वहाँ न तो सूर्य या चाँद की आवश्यकता है, न ही प्रकाश के लिए बिजली की, क्योंकि ये लोक स्वयं प्रकाशित हैं और भौतिक सूर्यों से अधिक चमकीले हैं। सारे भगवद्भक्त भगवान् के घनिष्ठ सम्पर्क में रहते हैं अथवा दूसरे शब्दों में, वे भगवान् को अपना एकमात्र विश्वस्त मित्र तथा सुहृद मानते हैं। वे ब्रह्माण्ड के स्वामी ब्रह्मा समेत सारे संसारी प्राणियों की कोई परवाह नहीं करते। केवल उन्हें ही सारे वैकुण्ठ लोक स्पष्ट दिखते हैं। ऐसे शुद्ध भक्त परमेश्वर के निर्देशन में रहकर दिव्य ज्ञान की किसी कृत्रिम चिन्ता में नहीं पड़ते और न ब्रह्म क्या है, माया क्या है, इसकी व्याख्या में समय गँवाते हैं। वे न तो अपने को भगवान् के साथ झूठा तदाकार हुआ मानते हैं, न यह तर्क करते हैं कि ईश्वर का अलग से अस्तिव नहीं है या कि ईश्वर है ही नहीं या जीव ही ईश्वर है या जब ईश्वर अवतार ग्रहण करता है, तो वह भौतिक शरीर धारण करता है। न ही वे किसी अस्पष्ट चिन्तन-सिद्धान्त से चिन्तित रहते हैं, जो वास्तव में दिव्य ज्ञान के मार्ग में कई प्रकार से अवरोधक होते हैं। निर्विशेषवादी या अभक्त-वर्ग के अतिरिक्त ऐसे भी वर्ग हैं, जो अपने को भगवद्भक्त कहते हैं, किन्तु अपने अन्त:करण में मोक्ष की भावना छिपाये रहकर निर्विशेष ब्रह्म से तदाकार होना चाहते हैं। वे खुले विलास द्वारा भक्ति का अपना ग़लत मार्ग निकाल लेते हैं और दूसरे ऐसे लोगों को मार्गच्युत करते हैं, जो निरे मूर्ख या उन्हीं के समान व्यसनी होते हैं। विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार, ये सारे अभक्त तथा व्यसनी महात्माओं के वेश में दुरात्मा होते हैं। ऐसे अभक्त तथा लम्पट इस श्लोक में शुकदेव गोस्वामी द्वारा योगियों की सूची से विलग कर दिये गये हैं।

इस तरह वैकुण्ठ लोक वास्तव में श्रेष्ठतम आवास-स्थान हैं, जिन्हें परं पदम् कहा जाता है। निर्विशेष ब्रह्मज्योति भी परं पदम् कहलाती है, क्योंकि सूर्य की किरणों के ही समान ये वैकुण्ठ लोक की किरणें हैं। *भगवद्गीता* (१४.२७) में स्पष्ट कहा गया है कि निर्विशेष ब्रह्मज्योति भगवान् के शरीर पर आधारित रहती है और चूँकि प्रत्येक वस्तु प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से ब्रह्मज्योति पर निर्भर रहती

है, अतएव प्रत्येक वस्तु भगवान् से उत्पन्न होती है, उन्हीं पर आश्रित रहती है और प्रलय के बाद उन्हीं में विलीन हो जाती है। अतएव उनसे कोई भी वस्तु स्वतन्त्र नहीं। भगवान् का शुद्ध भक्त अपना समय अब्रह्म एवं ब्रह्म में अन्तर करने में नहीं गँवाता, क्योंकि वह भलीभाँति जानता रहता है कि भगवान् परब्रह्म अपनी ब्रह्मशक्ति से हर वस्तु में गुँथे हुए हैं। इस तरह भक्त प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सम्पत्ति के रूप में देखता है। भक्त हर वस्तु का उपयोग उन्हीं की सेवा में करना चाहता है और वह प्रकृति पर अपनी अनुचित प्रभुता जता कर के किसी प्रकार की जटिलता उत्पन्न नहीं करता। वह इतना आज्ञाकारी होता है कि अपने आपको तथा हर वस्तु को भगवान् की दिव्य सेवा में लगाता है, भक्त हर वस्तु में भगवान् का दर्शन करता है और भगवान् में हर वस्तु को देखता है। दुरात्मा द्वारा उत्पन्न किया गया उत्पात उसकी इस धारणा के कारण उपजता है कि भगवान् का दिव्य रूप भौतिक है।

इत्थं मुनिस्तूपरमेद् व्यवस्थितो
विज्ञान-दृग्वीर्य-सुरन्धिताशयः ।
स्व-पार्ष्णिनापीड्य गुदं ततोऽनिलं
स्थानेषु षट्सून्नमयेज्जित-क्लमः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार ब्रह्म-साक्षात्कार से; मुनिः—दार्शनिक; तु—लेकिन; उपरमेत्—अलग हो ले; व्यवस्थितः—भलीभाँति स्थित; विज्ञान-दृक्—वैज्ञानिक दृष्टि से; वीर्य—बल; सु-रन्धित—भलीभाँति नियमित; आशयः—जीवन-उद्देश्य; स्व-पार्ष्णिना—अपनी एड़ी से; आपीड्य—रोककर; गुदम्—वायुद्वार को; ततः—तत्पश्चात्; अनिलम्—प्राणवायु को; स्थानेषु—स्थानों में; षट्सु—छः मुख्य; उन्नमयेत्—ऊपर उठाये; जित-क्लमः—भौतिक इच्छाओं को दमित करके।

वैज्ञानिक ज्ञान के बल पर मनुष्य को परम अनुभूति में पूर्ण रूप से स्थिर हो जाना चाहिए और इस तरह समस्त भौतिक इच्छाओं को शमन करने में समर्थ हो जाना चाहिए। मनुष्य को वायु-द्वार (गुदा) को पाँव की एड़ी से बन्द करके तथा प्राणवायु को एक-एक करके क्रमशः छः प्रमुख स्थानों (चक्रों) में एक-एक करके ऊपर ले जाना चाहिए और तब भौतिक शरीर का त्याग कर देना चाहिए।

तात्पर्य : ऐसे अनेक दुरात्मा हैं, जो दावा करते हैं कि उन्हें ब्रह्म की अनुभूति हो चुकी है, लेकिन फिर भी वे भौतिक इच्छाओं को जीत पाने में असमर्थ रहते हैं। *भगवद्गीता* (१८.५४) में स्पष्ट बताया गया है कि स्वरूप-सिद्ध आत्मा समस्त भौतिक इच्छाओं से पूरी तरह विलग रहता है। भौतिक इच्छाएँ

जीव के मिथ्या अहंकार पर आधारित होती हैं और ये उसके बचकाना तथा व्यर्थ के कार्यकलापों द्वारा प्रकृति के नियमों पर विजय पाने के रूप में तथा पाँच तत्त्वों के संसाधनों पर प्रभुत्व जताने की इच्छा के रूप में प्रकट होती हैं। ऐसी मनोवृत्ति होने पर मनुष्य को भौतिक विज्ञान की शक्ति पर विश्वास हो जाता है, जिसमें परमाणु ऊर्जा की खोज तथा यान्त्रिक यानों द्वारा अन्तरिक्ष-यात्रा सम्मिलित हैं और भौतिक विज्ञान की ऐसी क्षुद्र उपलब्धियों के द्वारा छद्म अहंकारवादी उस परमेश्वर की भी शक्ति को ललकारने का प्रयत्न करता है, जो क्षण भर से कम समय में मनुष्य के इन सारे क्षुद्र प्रयासों को समाप्त कर सकती है। सुस्थित आत्मा या ब्रह्म-सिद्ध आत्मा भलीभाँति समझता है कि परब्रह्म या भगवान् ही सर्वशक्तिमान वासुदेव हैं और वह (स्वरूप-सिद्ध जीव) परम पूर्ण का अंश ही है। इस तरह उसकी स्वाभाविक स्थिति सेवक तथा सेव्य के दिव्य सम्बन्ध के रूप में भगवान् के साथ सहयोग करने की है। ऐसा स्वरूपसिद्ध जीव भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताने के अपने व्यर्थ के कार्यकलाप को प्रदर्शित करना बन्द कर देता है। वैज्ञानिक विधि से अच्छी तरह परिचित होने के कारण वह भगवान् की श्रद्धापूर्ण भक्ति में पूरी तरह जुट जाता है।

सक्षम योगी जो योग-पद्धति की स्वीकृत विधि द्वारा प्राणवायु को नियन्त्रित करने का अभ्यास कर लेता है, उसे इस प्रकार शरीर त्याग करने की सलाह दी जाती है—उसे गुदाद्वार को अपने पैर की एड़ी से दबाना चाहिए और तब प्राणवायु को क्रमशः छहों स्थानों (चक्रों) में घुमाना चाहिए—ये स्थान हैं नाभि, उदर, हृदय, वक्षस्थल, तालु, भौंह तथा ब्रह्मरंध्र। स्वीकृत योगविधि द्वारा प्राणवायु को नियन्त्रित करना यान्त्रिक है और यह विधि आध्यात्मिक पूर्णता (सिद्धि) के लिए न्यूनाधिक एक तरह का भौतिक प्रयास है। प्राचीन काल में ऐसा अभ्यास योगी के लिए बहुत सामान्य बात होती थी, क्योंकि उन दिनों जीवन तथा चरित्र की शैली अनुकूल थी। किन्तु वर्तमान समय में जब कलियुग का प्रभाव इतना विचलित करनेवाला बन गया है, तो लगभग प्रत्येक व्यक्ति इस शारीरिक व्यायाम की कला में अप्रशिक्षित होता है। इन दिनों भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करके, मन की एकाग्रता सरलता से प्राप्त की जा सकती है। इस तरह प्राप्त फल प्राणवायु के भीतरी अभ्यास द्वारा प्राप्त होने वाले फल से अधिक प्रभावशाली होते हैं।

नाभ्यां स्थितं हृद्यधिरोप्य तस्मा-
दुदान-गत्योरसि तं नयेन्मुनिः ।
ततोऽनुसन्धाय धिया मनस्वी
स्व-तालु-मूलं शनकैर्नयेत ॥ २० ॥

शब्दार्थ

नाभ्याम्—नाभि में; स्थितम्—स्थित; हृदि—हृदय में; अधिरोप्य—रखकर; तस्मात्—वहाँ से; उदान—उदान, ऊपर उठाते हुए; गत्य—वेग से; उरसि—छाती पर; तम्—तत्पश्चात्; नयेत्—ले जाय; मुनिः—ध्यानवान भक्त; ततः—उनको; अनुसन्धाय—खोज करने के लिए; धिया—बुद्धि से; मनस्वी—ध्यानशील; स्व-तालु-मूलम्—तालू के निचले भाग में; शनकैः—धीरे-धीरे; नयेत—ले जाये।

ध्यानमग्न भक्त को चाहिए कि वह प्राणवायु को धीरे-धीरे नाभि से हृदय में, हृदय से छाती में और वहाँ से तालु के निचले भाग तक ले जाये। उसे बुद्धि से समुचित स्थानों को ढूँढ निकालना चाहिए।

तात्पर्य : वायु की गति के छः चक्र हैं। बुद्धिमान भक्त को चाहिए कि बुद्धि तथा ध्यान लगाकर इन स्थानों को खोजे। इनमें से उसके पूर्व जिस चक्र का उल्लेख है, वह *स्वाधिष्ठान चक्र* या प्राणवायु का शक्ति-आगार है और इसके ऊपर नाभि के नीचे *मणिपूरक चक्र* है। जब हृदय में ऊपरी स्थान की खोज की जाती है, तो *अनाहत चक्र* मिलता है और इससे भी ऊपर जब प्राणवायु को तालुमूल पर स्थिर किया जाता है, तो *विशुद्धि चक्र* मिलता है।

तस्माद् भ्रुवोरन्तरमुन्नयेत
निरुद्ध-सप्तायतनोऽनपेक्षः ।
स्थित्वा मुहूर्तार्धमकुण्ठ-दृष्टि-
र्निर्भिद्य मूर्धन् विसृजेत्परं गतः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—वहाँ से; भ्रुवोः—भौहों के; अन्तरम्—बीच में; उन्नयेत—ले जाना चाहिए; निरुद्ध—रोककर; सप्त—सात; आयतनः—प्राणवायु के बहिर्द्वार; अनपेक्षः—समस्त भौतिक भोग से स्वतन्त्र; स्थित्वा—रखकर; मुहूर्त—क्षण भर; अर्धम्—आधा; अकुण्ठ—भगवान् के धाम वापस; दृष्टिः—जिसका ध्येय है; निर्भिद्य—भेदकर; मूर्धन्—ब्रह्मरन्ध्र; विसृजेत्—अपना शरीर त्याग दे; परम्—परमेश्वर; गतः—गया हुआ।

तत्पश्चात्, भक्तियोगी को अपनी प्राणवायु दोनों भौहों के मध्य लाना चाहिए और तब प्राणवायु के सातों बहिर्द्वारों को बन्द करके, उसे भगवद्धाम वापस जाने को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। यदि वह भौतिक भोग की सारी इच्छाओं से मुक्त है, तब उसे ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचना

चाहिए तथा भगवान् के पास चले जाने पर अपने सारे भौतिक बन्धनों को त्याग देना चाहिए।

तात्पर्य : यहाँ पर सारे भौतिक बन्धनों को त्यागने और भगवद्धाम वापस जाने की विधि संस्तुत की गई है। इसकी शर्त यह है कि मनुष्य को पहले भौतिक भोग की इच्छा से पूरी तरह मुक्त हो जाना चाहिए। आयु तथा इन्द्रियतृप्ति के अनुसार, भौतिक भोग की कई कोटियाँ हैं। *भगवद्गीता* (९.२०) में सबसे अधिक जीवनावधि तक इन्द्रिय-भोग के सर्वोच्च धरातल का उल्लेख हुआ है। ये सारे के सारे भौतिक भोग हैं और मनुष्य को इससे आश्वस्त हो जाना चाहिए कि उसे ब्रह्मलोक तक की इतनी दीर्घ आयु की भी आवश्यकता नहीं होती। उसे भगवद्धाम लौटना ही होगा। उसे अत्यधिक भौतिक सुविधाओं से आकृष्ट नहीं होना चाहिए। *भगवद्गीता* (२.५९) में कहा गया है कि ऐसी भौतिक विरक्ति तभी प्राप्त की जा सकती है, जब मनुष्य जीवन की परम संगति से परिचित हो जाए। *परं दृष्ट्वा निवर्तते।* जब तक मनुष्य आध्यात्मिक जीवन की प्रकृति को पूरी तरह समझ नहीं लेता, तब तक वह मुक्त नहीं हो सकता। निर्विशेषवादियों की एक श्रेणी द्वारा यह प्रचार करना कि आध्यात्मिक जीवन सभी प्रकार से शून्य है, घातक है और जीवों को बहका कर अधिकाधिक भौतिक भोग की ओर ले जानेवाला है; फलस्वरूप, अल्पज्ञों को *परम्* या परमेश्वर की कोई धारणा नहीं हो पाती; वे अपने को ब्रह्म-सिद्ध जीव कहकर भले ही मन को बहला लें, किन्तु वे नाना प्रकार के भौतिक भोगों से चिपके रहना चाहते हैं। ऐसे अल्पज्ञों के पास *परम्* की कोई अव-धारणा नहीं हो सकती, जैसाकि इस श्लोक में बताया गया है, अतएव वे परमेश्वर के पास नहीं पहुँच पाते। भक्तों को आध्यात्मिक जगत, भगवान् तथा वैकुण्ठ लोक कहलाने वाले असीम लोकों में उनकी दिव्य संगति का पूरा-पूरा ज्ञान रहता है। यहाँ पर *अकुण्ठ-दृष्टिः* का उल्लेख हुआ है। *अकुण्ठ* या *वैकुण्ठ* का एक ही भाव है और जिस किसी ने भी आध्यात्मिक जगत तथा भगवान् के साथ साक्षात् संगति को अपना लक्ष्य बना रखा है, केवल वही इस संसार में रहते हुए भी अपने भौतिक बन्धनों को त्याग सकता है। यह *परम्* शब्द तथा *भगवद्गीता* में कई स्थानों पर आया परं धाम शब्द एक ही है। जो भी परम धाम को जाता है, वह कभी इस जगत में लौट कर नहीं आता। ऐसी मुक्ति भौतिक जगत के सर्वोच्च लोक को प्राप्त करने पर भी नहीं मिल सकती।

प्राणवायु सात छिद्रों द्वारा निकलती है। ये हैं—दो आँखें, दो नथुने, दो कान तथा एक मुँह। सामान्यतया मनुष्य की मृत्यु के समय यह वायु मुँह से होकर निकलती है। किन्तु जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, जो योगी प्राणवायु को अच्छी तरह से वश में करता है, वह सिर में ब्रह्मरन्ध्र को भेद करके प्राणवायु का त्याग करता है। अतएव योगी उपुर्यक्त सातों छिद्रों को बन्द कर देता है, जिससे प्राणवायु सहज ही ब्रह्मरन्ध्र से होकर फूट निकले। यह महान् भक्त के भौतिक बन्धन त्यागने का निश्चित चिह्न है।

यदि प्रयास्यन् नृप पारमेष्ठ्यं
वैहायसानामुत यद् विहारम् ।
अष्टाधिपत्यं गुण-सन्निवाये
सहैव गच्छेन्मनसेन्द्रियैश्च ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; प्रयास्यन्—इच्छा करने पर; नृप—हे राजा; पारमेष्ठ्यम्—भौतिक जगत का अधिष्ठाता लोक; वैहायसानाम्—वैहायस नामक जीवों का; उत—कहा जाता है; यत्—जो है; विहारम्—भोग का स्थान; अष्ट-आधिपत्यम्—अष्टसिद्धियों का स्वामी; गुण-सन्निवाये—त्रिगुणात्मक जगत में; सह—साथ; एव—निश्चय ही; गच्छेत्—जाना चाहिए; मनसा—मन से; इन्द्रियैः—तथा इन्द्रियों से; च—भी।

तथापि, हे राजन्, यदि योगी में अत्यधिक भौतिक भोगों की, यथा सर्वोच्चलोक ब्रह्मलोक जाने की, या अष्ट-सिद्धियाँ प्राप्त करने की, अथवा वैहायसों के साथ बाह्य अन्तरिक्ष में यात्रा करने, या लाखों लोकों में से किसी एक में स्थान प्राप्त करने की इच्छा बनी रहती है, तो उसे भौतिकता में ढले मन तथा इन्द्रियों को अपने साथ-साथ ले जाना होता है।

तात्पर्य : ऊर्ध्व लोकों में अधलोकों की अपेक्षा हजारों-हजार गुना अधिक भौतिक भोग की सुविधाएं हैं। सर्वोच्च लोकों में ब्रह्मलोक, ध्रुवलोक इत्यादि हैं और वे सब महर्लोक के ऊपर हैं। इन लोकों के निवासियों को अष्टसिद्धियाँ प्राप्त हैं। उन्हें योग सीखने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती और वे कण के समान लघु होने की शक्ति (*अणिमा सिद्धि*) या पंख से भी हल्का होने की शक्ति (*लघिमा सिद्धि*) प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें भारी से भारी होने की (*महिमा सिद्धि*), कोई आश्चर्यजनक वस्तु उत्पन्न करने या कि इच्छानुसार किसी वस्तु को विनष्ट करने के लिए स्वतन्त्रापूर्वक कार्य करने की (*ईशित्व सिद्धि*) या सारे तत्त्वों को वश में करने की (*वशित्व सिद्धि*), किसी भी इच्छा के विफल न होने की

शक्ति रखने की (*प्राकाम्य सिद्धि*) या इच्छानुसार कोई भी रूप धारण करने (*कामवसायिता सिद्धि*) के लिए, कोई वस्तु किसी स्थान-विशेष से प्राप्त करने की (*प्राप्ति सिद्धि*) की आवश्यकता नहीं पड़ती। ये सारी *सिद्धियाँ* उच्च लोक के वासियों को प्राकृतिक उपहार के रूप में मिली होती हैं। उन्हें बाह्य अन्तरिक्ष में विचरण करने के लिए किसी यान्त्रिक सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती और वे पलक मारते एक लोक से दूसरे लोकों में इच्छानुसार विचरण कर सकते हैं। पृथ्वी के निवासी तो निकटतम लोक तक भी यान्त्रिक यान, यथा अन्तरिक्ष यान के बिना, यात्रा नहीं कर सकते, किन्तु ऐसे उच्चलोकों के प्रतिभा सम्पन्न निवासी सारा काम आसानी से कर लेते हैं।

चूँकि भौतिकतावादी ऐसे लोकों में वास्तव में जो कुछ है उसका अनुभव प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहता है, अतएव वह हर वस्तु को स्वयं देखना चाहता है। जैसे उत्सुक व्यक्ति पूरे संसार में घूमकर प्रत्यक्ष स्थानीय अनुभव प्राप्त करना चाहता है, उसी तरह अल्पज्ञ आध्यात्मिक व्यक्ति उन लोकों का कुछ अनुभव प्राप्त करना चाहता है, जिनके विषय में उसने विस्मयपूर्ण बातें सुन रखी हैं। किन्तु योगी अपने मन तथा इन्द्रियों सहित वहाँ जाकर अपनी इच्छा आसानी से पूरी कर सकता है। भौतिकतावादी मस्तिष्क की मूल प्रवृत्ति भौतिक जगत पर प्रभुत्व जताने की है और यहाँ पर वर्णित सारी सिद्धियाँ भौतिक जगत पर प्रभुत्व की द्योतक हैं। भगवद्भक्त इतने महत्त्वाकांक्षी नहीं होते कि मिथ्या तथा क्षणभंगुर घटना पर प्रभुत्व जताना चाहें। इसके विपरित भक्त तो परम अधिष्ठाता भगवान् द्वारा शासित होना चाहते हैं। भगवान् या परम अधिष्ठाता की सेवा करने की इच्छा आध्यात्मिक या दिव्य है और आध्यात्मिक जगत में प्रवेश पाने के लिए मनुष्य को मन तथा इन्द्रियों की यह शुद्धि प्राप्त करनी होती है। भौतिकतावादी मन से मनुष्य ब्रह्माण्ड के सर्वश्रेष्ठ लोक में पहुँच सकता है, लेकिन वह भगवद्धाम में नहीं जा सकता। इन्द्रियतृप्ति में रत न रहने पर इन्द्रियाँ आध्यात्मिक रीति से शुद्ध कहलाती हैं। इन्द्रियाँ कार्यरत रहना चाहती हैं और जब वे ही इन्द्रियाँ भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में पूर्ण रूप से प्रवृत्त रहती हैं, तो वे भौतिक दूषणों से कलुषित नहीं हो पातीं।

योगेश्वराणां गतिमाहुरन्त-
र्बहिस्त्रि-लोक्याः पवनान्तरात्मनाम् ।
न कर्मभिस्तां गतिमाप्नुवन्ति
विद्या-तपो-योग-समाधि-भाजाम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

योग-ईश्वराणाम्—महान् सन्तों तथा भक्तों का; गतिम्—गन्तव्य; आहुः—कहा जाता है; अन्तः—भीतर; बहिः—बाहर; त्रि-लोक्याः—तीनों लोकों का; पवन-अन्तः—वायु के भीतर; आत्मनाम्—सूक्ष्म शरीर का; न—कभी नहीं; कर्मभिः—सकाम कर्मों के द्वारा; ताम्—उस; गतिम्—चालक को; आप्नुवन्ति—प्राप्त करते हैं; विद्या—भक्ति; तपः—तपस्या; योग—योग-शक्ति; समाधि—ज्ञान; भाजाम्—पात्रों को।

योगियों का सम्बन्ध आध्यात्मिक शरीर के होता है। फलस्वरूप अपनी भक्ति, तपस्या, योगशक्ति तथा दिव्य ज्ञान के बल पर वे भौतिक जगत के भीतर तथा बाहर अबाघ रुप से विचरण कर सकते हैं। किन्तु सकाम-कर्मी या निपट भौतिकतावादी इस तरह मुक्त भाव से कभी विचरण नहीं कर सकते।

तात्पर्य : भौतिकतावादी विज्ञानियों द्वारा, यान्त्रिक यानों की सहायता से, अन्य लोकों तक पहुँचने के सारे प्रयास केवल निरर्थक हैं। तथापि पुण्यकर्मों द्वारा मनुष्य स्वर्ग-लोक पहुँच सकता है। किन्तु ऐसे यान्त्रिक या भौतिकतावादी कार्यों द्वारा, चाहे वे स्थूल हों या सूक्ष्म, मनुष्य स्वर्ग या जनलोक से आगे नहीं जा सकता। चूँकि योगियों को स्थूल शरीर से कुछ लेना-देना नहीं रहता, अतएव वे भौतिक जगत के भीतर या बाहर कहीं भी विचरण कर सकते हैं। भौतिक जगत के भीतर वे महः, जनः, तपः तथा सत्यलोकों में और भौतिक जगत के परे वैकुण्ठ लोकों में, बिना रोकटोक के, अन्तरिक्ष यात्री के रूप में विचरण कर सकते हैं। नारद मुनि ऐसे ही अन्तरिक्ष-यात्री का उदाहरण हैं और दुर्वासा मुनि ऐसे ही योगियों में से एक हैं। प्रत्येक व्यक्ति भक्ति, तपस्या, योग-शक्ति तथा दिव्य ज्ञान के बल पर नारद मुनि या दुर्वासा मुनि की भाँति विचरण कर सकता है। ऐसा कहा जाता है कि दुर्वासा मुनि ने, केवल एक वर्ष में ही, सम्पूर्ण भौतिक व्योम तथा परव्योम के कुछ भाग की यात्रा की थी। स्थूल या सूक्ष्म भौतिकतावादी योगियों की गति को कभी नहीं पा सकते।

वैश्वानरं याति विहायसा गतः
सुषुम्णया ब्रह्म-पथेन शोचिषा ।
विधूत-कल्कोऽथ हरेरुदस्तात्
प्रयाति चक्रं नृप शैशुमारम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

वैश्वानरम्—अग्निदेव; याति—जाता है; विहायसा—आकाश मार्ग (आकाश-गंगा) से; गतः—पार करके; सुषुम्णया—सुषुम्णा द्वारा; ब्रह्म—ब्रह्मलोक; पथेन—पथ से; शोचिषा—प्रकाशमान; विधूत—धुला हुआ; कल्कः—धूल, मल; अथ—तत्पश्चात्; हरेः—हरि के; उदस्तात्—ऊपर; प्रयाति—पहुँचता है; चक्रम्—चक्र; नृप—हे राजा; शैशुमारम्—शिशुमार नामक।

हे राजन्, जब योगी सर्वोच्चलोक ब्रह्मलोक पहुँचने के लिए प्रकाशमान सुषुम्णा द्वारा आकाश-गंगा के ऊपर से गुजरता है, तो वह सर्वप्रथम अग्निदेव के लोक वैश्वानर जाता है, जहाँ वह सारे कल्मषों से परि-शुद्ध हो जाता है। तब वह भगवान् से तादात्म के लिए उससे भी ऊपर शिशुमार चक्र को जाता है।

तात्पर्य : ध्रुवतारा तथा उसके आसपास का मंडल शिशुमार चक्र कहलाता है, जहाँ पर भगवान् (क्षीरोदकशायी विष्णु) का निवास-स्थान है। वहाँ तक पहुँचने के पूर्व योगी को आकाश-गंगा के ऊपर से होकर ब्रह्मलोक पहुँचना होता है। वहाँ जाते समय सर्वप्रथम वह वैश्वानर लोक पहुँचता है, जहाँ का देवता अग्नि पर नियंत्रण रखता है। इस वैश्वानर में योगी भौतिक जगत के संसर्ग में रहने के रहने कारण अर्जित समस्त पापों के मल से पूर्ण रूप से स्वच्छ हो जाता है। यहाँ पर आकाश गंगा को सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक को जानेवाले मार्ग के रूप में दिखाया गया है।

तद् विश्व-नाभिं त्वतिवर्त्य विष्णो-
रणीयसा विरजेनात्मनैकः ।
नमस्कृतं ब्रह्म-विदामुपैति
कल्पायुषो यद् विबुधा रमन्ते ॥ २५॥

शब्दार्थ

तत्—उस; विश्व-नाभिम्—विराट पुरुष की नाभि को; तु—लेकिन; अतिवर्त्य—पार कर; विष्णोः—भगवान् विष्णु की; अणीयसा—योग-सिद्धि के कारण; विरजेन—शुद्ध की गई; आत्मना—जीव द्वारा; एकः—अकेला; नमस्कृतम्—पूज्य; ब्रह्म-विदाम्—अध्यात्म-पद पर स्थित रहनेवालों का; उपैति—पहुँचता है; कल्प-आयुषः—४,३००,०००,००० सौर वर्ष; यत्—जहाँ पर; विबुधाः—स्वरूपसिद्ध व्यक्ति; रमन्ते—भोग करते हैं।

यह शिशुमार चक्र संपूर्ण ब्रह्माण्ड के घूमने की कीली है और यह विष्णु (गर्भोदकशायी विष्णु) की नाभि कहलाती है। केवल योगी ही इस शिशुमार चक्र को पार करता है और ऐसे

लोक (महर्लोक) को प्राप्त करता है, जहाँ भृगु जैसे परि-शुद्ध हो चुके महर्षि ४,३००,०००,००० सौर वर्षों की आयु भोगते हैं। यह लोक उन सन्तों द्वारा भी पूजित है, जो अध्यात्मपद को प्राप्त हैं।

अथो अनन्तस्य मुखानलेन
दन्दह्यमानं स निरीक्ष्य विश्वम् ।
निर्याति सिद्धेश्वर-युष्ट-धिष्ण्यं
यद् द्वै-परार्ध्यं तदु पारमेष्ठ्यम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अथो—तत्पश्चात्; अनन्तस्य—ईश्वर के विश्राम करनेवाले अवतार अनन्त के; मुख-अनलेन—मुख से निकलनेवाली अग्नि से; दन्दह्यमानम्—भस्मीभूत करते हुए; सः—वह; निरीक्ष्य—देखकर; विश्वम्—ब्रह्माण्ड को; निर्याति—बाहर जाता है; सिद्धेश्वर-युष्ट-धिष्ण्यम्—शुद्धात्मा द्वारा प्रयुक्त वायुयान; यत्—स्थान; द्वै-परार्ध्यम्—१५,४८०,०००,०००,००० सौर वर्ष; तत्—वह; उ—महान्; पारमेष्ठ्यम्—सत्यलोक, जहाँ ब्रह्मा निवास करते हैं।

संपूर्ण ब्रह्माण्ड के अन्तिम संहार के समय (ब्रह्मा के जीवन के अन्त में), अनन्त के मुख से (ब्रह्माण्ड के नीचे से) अग्नि की ज्वाला फूट निकलती है। योगी ब्रह्माण्ड के समस्त लोकों को भस्म होकर क्षार होते हुए देखता है और वह शुद्धात्माओं द्वारा प्रयुक्त होनेवाले वायुयानों के द्वारा सत्यलोक के लिए प्रस्थान करता है। सत्यलोक में जीवन की अवधि दो परार्ध अर्थात् १५४८०,०००,०००,००० सौर वर्ष आँकी जाती है।

तात्पर्य : यहाँ यह संकेत किया गया है कि महर्लोक, जहाँ शुद्ध आत्माओं या देवताओं की आयु ४,३००,०००,००० सौर वर्ष आँकी जाती है, वहाँ के निवासियों के पास वायु-यान होते हैं, जिनसे वे ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोक सत्य-लोक में पहुँचते हैं। दूसरे शब्दों में, *श्रीमद्भागवत* हमें अन्य लोकों के विषय में अनेक संकेत देता है, जो हमसे बहुत ही दूर हैं और जिन तक काल्पनिक वेग से भी अधिकगति वालेआधुनिक यान तथा अन्तरिक्ष यान नहीं पहुँच सकते। *श्रीमद्भागवत* के इन कथनों को श्रीधर स्वामी, रामानुजाचार्य तथा वल्लभाचार्य जैसे महान् आचार्यों ने स्वीकार किया है। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु तो *श्रीमद्भागवत* को निर्मल वैदिक प्रमाण के रूप में मानते हैं, अतएव कोई भी विचारवान व्यक्ति *श्रीमद्भागवत* के कथनों की अवहेलना नहीं कर पाता जब कि इसके प्रवचनकर्ता स्वरूपसिद्ध व्यक्ति श्री शुकदेव गोस्वामी जो समस्त वैदिक वाङ्मय के संकलनकर्ता अपने पिता श्रील

व्यासदेव के पदचिह्नों का अनुसरण करनेवाले हैं। भगवान् की इस सृष्टि में ऐसी अनेक आश्चर्यजनक वस्तुएँ हैं, जिन्हें हम अपनी आँखों से सदैव देखते रहते हैं, किन्तु आधुनिक भौतिकतावादी विज्ञान द्वारा उन तक पहुँचने में अक्षम रहते आए हैं। अतएव हमें वैज्ञानिक परिधि से परे वस्तुओं को जानने के लिए भौतिकतावादी विज्ञान के खण्डित प्रमाण पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। सामान्य व्यक्ति को आधुनिक विज्ञान तथा वैदिक विद्या दोनों ही ग्रहण करनी चाहिए, क्योंकि वह न तो आधुनिक विज्ञान की, न ही वैदिक साहित्य के एक भी कथन की जांच कर सकता है। सामान्य व्यक्ति के सामने एक ही विकल्प रह जाता है कि या तो वह इनमें से किसी एक पर विश्वास करे या दोनों पर करे। किन्तु समझने की वैदिक विधि अधिक प्रामाणिक है, क्योंकि उसे उन आचार्यों ने स्वीकार किया है, जो न केवल श्रद्धालु एवम् विद्वान व्यक्ति हैं, अपितु मुक्त व्यक्ति भी हैं तथा बद्धजीवों के समस्त दोषों से रहित हैं। आधुनिक विज्ञानी तो ऐसे बद्धजीव हैं, जो अनेक त्रुटियाँ कर सकते हैं। अतएव अच्छा यही होगा कि *श्रीमद्भागवत* जैसे वैदिक ग्रंथों के प्रामाणिक वचन को स्वीकार किया जाय, जिसे महान् आचार्यों ने एकस्वर से स्वीकार किया है।

न यत्र शोको न जरा न मृत्यु-
नार्तिर्न चोद्वेग ऋते कुतश्चित् ।
यच्चित्ततोऽदः कृपयानिदं-विदां
दुरन्त-दुःख-प्रभवानुदर्शनात् ॥ २७॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; यत्र—जहाँ है; शोकः—शोक; न—न तो; जरा—बुढ़ापा; न—न तो; मृत्युः—मृत्यु; न—न तो; अर्तिः—पीड़ा; न—न तो; च—भी; उद्वेगः—चिन्ताएँ; ऋते—के अतिरिक्त, बिना; कुतश्चित्—कभी-कभी; यत्—के कारण; चित्—चेतना; ततः—तत्पश्चात्; अदः—दया; कृपया—हार्दिक दया से; अन्-इदम्-विदाम्—भक्तियोग के अनभिज्ञों का; दुरन्त—दुर्लंघ्य; दुःख—कष्ट; प्रभव—बारम्बार जन्म तथा मृत्यु; अनुदर्शनात्—क्रमिक अनुभव से।.

सत्यलोक में न तो शोक है, न बुढ़ापा, न मृत्यु। वहाँ किसी प्रकार की वेदना नहीं है, जिसके कारण किसी तरह की चिन्ता भी नहीं है। हाँ, कभी-कभी चेतना के कारण उन लोगों पर दया उमड़ती है, जो भक्तियोग से अवगत न होने से भौतिक जगत के दुर्लंघ्य कष्टों को भोग रहे हैं।

तात्पर्य : भौतिकतावादी स्वभाव के मूर्ख व्यक्ति परम्परागत प्रामाणिक ज्ञान का कोई लाभ नहीं

उठाते। वैदिक ज्ञान प्रामाणिक है और इसकी प्राप्ति प्रयोग द्वारा नहीं, अपितु प्रामाणिक व्यक्तियों (अधिकारियों) द्वारा बताये गये ग्रन्थों के प्रामाणिक कथनों द्वारा होती है। मात्र पण्डित हो जाने से कोई वैदिक कथनों को नहीं समझ सकता, उसे उस वास्तविक विद्वान् के पास जाना होता है, जिसने शिष्य-परम्परा से वैदिक ज्ञान प्राप्त किया हो, जैसाकि *भगवद्गीता* (४.२) में स्पष्ट कहा गया है। भगवान् कृष्ण जोर देते हुए कहते हैं कि *भगवद्गीता* में जिस ज्ञान-पद्धति की व्याख्या की गई है, वह सूर्यदेव को बताई गई थी और यही ज्ञान शिष्य-परम्परा द्वारा सूर्यदेव से उनके पुत्र मनु को प्राप्त हुआ और मनु से राजा इक्ष्वाकु (भगवान् रामचन्द्र के पितामह) को प्राप्त हुआ। इस प्रकार यह ज्ञान पद्धति एक-एक करके महान् ऋषियों को प्राप्त होती रही। किन्तु कालानुक्रम में यह प्रामाणिक परम्परा टूट गई, अतएव ज्ञान की पुन:स्थापना के लिए, भगवान् ने वही ज्ञान अर्जुन को प्रदान किया, क्योंकि भगवद्भक्त होने के कारण वह इसे समझने का योग्य पात्र था।अर्जुन ने *भगवद्गीता* को जिस रूप में समझा उसका भी वर्णन हुआ है (*भगवद्गीता* १०.१२-१३), किन्तु ऐसे अनेक मूर्ख व्यक्ति हैं, जो *भगवद्गीता* के सार को समझने के लिए अर्जुन के पदचिह्नों का अनुसरण नहीं करते। वे अपनी व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं, जो उन्हीं के समान मूर्खतापूर्ण होती हैं और वास्तविक ज्ञान के मार्ग में रोड़े का काम करती हैं तथा अल्पज्ञों या शूद्रों को गुमराह करने वाली हैं। यह कहा गया है कि वैदिक कथनों को समझने के पूर्व मनुष्य को ब्राह्मण बन जाना चाहिए। यह आक्षेप उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि यह आक्षेप कि स्नातक हुए बिना कोई वकील नहीं बन सकता। ऐसा आक्षेप किसी की भी प्रगति में बाधक नहीं होता, अपितु किसी विशेष विज्ञान को अच्छी तरह समझने के लिए अनिवार्य है। जो योग्य ब्राह्मण नहीं हैं, वे वैदिक ज्ञान की मनमानी व्याख्या करते हैं। सुपात्र ब्राह्मण वह है, जिसने प्रामाणिक गुरु के मार्गदर्शन में कठिन प्रशिक्षण प्राप्त किया हो।

वैदिक विद्या हमें परमेश्वर श्रीकृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को समझने में और भगवद्धाम वापस जाने के इच्छित फल को प्राप्त करने के लिए तदनुकूल कर्म करने में, मार्गदर्शन का कार्य करती है। लेकिन भौतिकतावादी लोग इसे नहीं समझ पाते। वे ऐसे स्थान में सुखी रहने की योजना बनाना चाहते हैं जहाँ सुख है ही नहीं। वे मिथ्या सुख के लिए या तो वैदिक कर्मकाण्ड द्वारा, या अन्तरिक्षयान द्वारा

अन्य लोकों तक पहुँचने का प्रयास करते हैं, लेकिन उन्हें यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि ऐसे स्थान में जहाँ दुख ही दुख है, सुखी होने के लिए भौतिक समंजन की कोई भी मात्रा पथभ्रष्ट व्यक्ति को लाभ नहीं पहुँचा सकती, क्योंकि अन्ततोगत्वा इस ब्रह्माण्ड को कुछ काल बाद अपने समस्त वस्तुओं सहित विनष्ट होना है। तब भौतिकतावादी सुख की सारी योजनाएँ जैसी की तैसी धरी रह जायेंगी। इसीलिए बुद्धिमान मनुष्य भगवद्धाम वापस जाने की योजना बनाता है। ऐसा व्यक्ति संसार के सभी तापों—जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि—को पार कर जाता है। वह वास्तव में इसीलिए सुखी रहता है, क्योंकि उसे संसार की एक भी चिन्ता नहीं घेरती, अपितु वह दयालु होने के कारण उन भौतिकतावादी लोगों के लिए दुखी रहता है, जो कष्ट भोग रहे हैं और इस प्रकार से वह कभी-कभी ऐसे लोगों को भगवद्धाम वापस जाने की आवश्यकता का उपदेश देने के लिए उनके समक्ष आता है। सारे प्रामाणिक आचार्य भगवद्धाम वापस जाने की सत्यता का उपदेश देते हैं और लोगों को सचेत करते रहते हैं कि ऐसे स्थान में सुख की कोई योजना न बनायें जहाँ सुख कोरी कल्पना है।

ततो विशेषं प्रतिपद्य निर्भय-
स्तेनात्मनापोऽनल-मूर्तिरत्वरन् ।
ज्योतिर्मयो वायुमुपेत्य काले
वाय्वात्मना खं बृहदात्म-लिङ्गम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; विशेषम्—विशेषरूप से; प्रतिपद्य—प्राप्त करके; निर्भयः—बिना किसी सन्देह के; तेन—उससे; आत्मना—शुद्ध आत्मा; आपः—जल; अनल—अग्नि; मूर्तिः—रूप; अत्वरन्—पार करके; ज्योतिः-मयः—तेजवान; वायुम्—वायुमण्डल में; उपेत्य—पहुँचकर; काले—कालक्रम से; वायु—वायु; आत्मना—आत्मा से; खम्—आकाश में; बृहत्—विशाल; आत्म-लिङ्गम्—आत्मा का असली स्वरूप।

सत्यलोक पहुँचकर भक्त अपने सूक्ष्म शरीर से, अपने स्थूल शरीर जैसी सत्ता में निर्भय होकर समाविष्ट हो जाता है और क्रमशः वह भूमि से जल, अग्नि, तेज तथा वायु की अवस्थाएँ पार करता हुआ अन्त में स्वर्गीय आकाश में पहुँच पाता है।

तात्पर्य : जो व्यक्ति आध्यात्मिक सिद्धि तथा अभ्यास से ब्रह्मलोक या सत्यलोक तक पहुँच जाता है, वह तीन विभिन्न प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त करने का पात्र बन जाता है। जो व्यक्ति अपने पूर्व पुण्यकर्मों के कारण कोई विशेष लोक प्राप्त करता है, तो वह अपने आनुपातिक पुण्यकर्मों के आधार

पर ही ऐसे स्थान पाता है। जो व्यक्ति विराट या हिरण्यगर्भ की पूजा करके स्थान प्राप्त करता है, वह भी ब्रह्मा की मुक्ति के साथ-साथ मुक्त हो जाता है। किन्तु भक्ति के बल पर व्यक्ति जो स्थान प्राप्त करता है, जिसका यहाँ पर विशेष रूप से उल्लेख हुआ है, वह ब्रह्माण्ड के विभिन्न आवरणों को भेदकर अन्ततः परम अस्तित्व से परिपूर्ण वायुमण्डल में अपने आध्यात्मिक स्वरूप को प्रकट कर पाता है।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार सारे ब्रह्माण्ड ऊपर-नीचे एक दूसरे से संपुंजित हैं और इनमें से प्रत्येक में सात-सात आवरण हैं। जलमय अंश इन सप्तावरणों से परे होता है और प्रत्येक सप्तावरण अपने पूर्ववर्ती आवरण से दसगुना अधिक विस्तीर्ण है। जो भगवान् इन सारे ब्रह्माण्डों को अपनी श्वास से सृजित करता है, वह ब्रह्माण्डों के पुंज के ऊपर शयन करता है। कारणार्णव का जल ब्रह्माण्ड के जल-आवरण से पृथक् स्थित रहता है। ब्रह्माण्ड को आवरित करनेवाला जल भौतिक जल है, जबकि कारणार्णव का जल आध्यात्मिक जल है। फलस्वरूप, यहाँ जिस जल-आवरण का उल्लेख हुआ है, वह समस्त जीवों के मिथ्या अहंकार का आवरण माना जाता है। यहाँ पर एक-एक करके भौतिक आवरणों से क्रमिक मुक्ति का जो उल्लेख हुआ है, वह स्थूल शरीर की मिथ्या अंहकार अवधारणाओं से क्रमशः मुक्त होने तथा उसके पश्चात् सूक्ष्म शरीर में तब तक लीन रहने की प्रक्रिया है जब तक भगवद्धाम में शुद्ध आध्यात्मिक शरीर प्राप्त न हो ले।

श्रील श्रीधर स्वामी पुष्टि करते हैं कि भगवान् द्वारा संस्कारित किए जाने के बाद प्रकृति का एक अंश महत्-तत्त्व कहलाता है। इस महत्-तत्त्व का ही एक अंश मिथ्या अंहकार कहलाता है। अहंकार का एक अंश शब्द-ध्वनि है और शब्द-ध्वनि का एक अंश वायुमंडल की वायु है। इस वायु का एक अंश स्वरूपों में बदल जाता है और इन स्वरूपों से विद्युत् या उष्मा बनती है। उष्मा से पृथ्वी की गंध उत्पन्न होती है तथा इस गंध से स्थूल पृथ्वी उत्पन्न होती है। ये सब मिलकर दृश्य जगत बनाते हैं। दृश्य जगत का विस्तार ४ अरब मील (दोनों ओर का व्यास) है। तब ब्रह्मांड के आवरणों का शुभारम्भ होता है। पहले आवरण का विस्तार ८ करोड़ मील है। इसके पश्चात् ब्रह्मांड के आवरण क्रमशः अग्नि, तेज, वायु तथा आकाश के हैं और प्रत्येक अपने पूर्ववर्ती आवरण से दसगुना विस्तार वाला होता है। भगवान्

का निर्भीक भक्त इन्हें क्रमशः भेदकर परम वायुमण्डल में प्रवेश करता है जहाँ प्रत्येक वस्तु एक ही आध्यात्मिक सत्ता है। तब भक्त किसी एक वैकुण्ठ लोक में प्रवेश करता है जहाँ वह भगवान् जैसा ही स्वरूप धारण करके उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति में लग जाता है। भक्तिमय जीवन की यही सर्वोच्च सिद्धि है। पूर्ण योगी को इससे अधिक कुछ प्राप्त करने की इच्छा नहीं रहती।

घ्राणेन गन्धं रसनेन वै रसं
रूपं च दृष्ट्या श्वसनं त्वचैव ।
श्रोत्रेण चोपेत्य नभो-गुणत्वं
प्राणेन चाकूतिमुपैति योगी ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

घ्राणेन—सूँघने से; गन्धम्—सुगन्ध; रसनेन—स्वाद से; वै—ठीक-ठीक; रसम्—स्वाद; रूपम्—स्वरूप; च—भी; दृष्ट्या—दृष्टि से; श्वसनम्—सम्पर्क; त्वचा—स्पर्श; एव—मानो; श्रोत्रेण—कान के कम्पन से; च—भी; उपेत्य—प्राप्त करके; नभः-गुणत्वम्—आकाश की पहचान; प्राणेन—इन्द्रियों से; च—भी; आकूतिम्—भौतिक कार्य-कलाप; उपैति—प्राप्त करता है; योगी—भक्त।

इस प्रकार भक्त विभिन्न इन्द्रियों के सूक्ष्म विषयों को पार कर जाता है, यथा सूँघने से सुगन्धि को, चखने से स्वाद को, स्वरूप देखने से दृष्टि को, सम्पर्क द्वारा स्पर्श को, आकाशीय पहचान से कान के कम्पनों को तथा भौतिक कार्य-कलापों से इन्द्रियों को।

तात्पर्य : आकाश से परे सूक्ष्म आवरण हैं, जो ब्रह्माण्डों के प्राथमिक आवरणों के समान हैं। ये स्थूल आवरण, सूक्ष्म कारणों के आंशिक अवयवों के विकास हैं। इस तरह योगी या भक्त, स्थूल तत्त्वों के विलीन होने के साथ-साथ सूँघने से सुगन्ध जैसे सूक्ष्म कारणों का परित्याग कर देता है। इस तरह शुद्ध आध्यात्मिक स्फुलिंग-स्वरूप जीव सारे भौतिक कल्मष से शुद्ध होकर भगवद्धाम में प्रवेश करने के योग्य बन जाता है।

स भूत-सूक्ष्मेन्द्रिय-सन्निकर्षं
मनोमयं देवमयं विकार्यम् ।
संसाद्य गत्या सह तेन याति
विज्ञान-तत्त्वं गुण-सन्निरोधम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सः—वह (भक्त); भूत—स्थूल; सूक्ष्म—तथा सूक्ष्म; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; सन्निकर्षम्—उदासीनता का बिन्दु; मनः-मयम्—मानसिक स्तर; देव-मयम्—सतोगुण में; विकार्यम्—अहंकार; संसाद्य—पार करके; गत्या—प्रगति से; सह—साथ-साथ; तेन—उनके; याति—जाता है; विज्ञान—पूर्ण ज्ञान; तत्त्वम्—सत्य; गुण—गुण; सन्निरोधम्—पूर्ण रूप से अवरुद्ध।

इस तरह से भक्त स्थूल तथा सूक्ष्म आवरणों को पार करके अहंकार के स्तर में प्रवेश करता है। उस अवस्था में वह भौतिक गुणों (रजो तथा तमो गुणों) को इस उदासीन बिन्दु में विलीन कर देता है और इस तरह वह सतोगुणी अहंकार को प्राप्त होता है। इसके पश्चात् सारा अहंकार महत् तत्त्व में विलीन हो जाता है और वह शुद्ध आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त होता है।

तात्पर्य : जैसाकि हम कई बार बता चुके हैं, शुद्ध आत्म-साक्षात्कार अपने को भगवान् के नित्य दास के रूप में स्वीकार करने की शुद्ध चेतना है। इस तरह मनुष्य भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति की अपनी मूल स्थिति में पुन: आरूढ़ होता है, जैसाकि अगले श्लोक में स्पष्ट बताया गया है। भगवान् से किसी प्रकार का पारिश्रमिक पाये बिना या अन्य रूप में भगवान् की प्रेमाभक्ति करने की यह अवस्था तभी प्राप्त हो सकती है जब भौतिक इन्द्रियाँ शुद्ध हों तथा इन्द्रियों की आदि शुद्ध अवस्था पुन: प्राप्त हो सके। यहाँ पर यह सुझाया गया है कि इन्द्रियों को योग के द्वारा शुद्ध किया जा सकता है—इसमें स्थूल इन्द्रियाँ तमोगुण में लीन हो जाती हैं और सूक्ष्म इन्द्रियाँ रजोगुण में। मन का सम्बन्ध सतोगुण से होता है, अतएव यह देवमय कहलाता है। मन की पूर्ण शुद्धि तभी सम्भव हो पाती है जब मनुष्य भगवान् का नित्य दास बनकर स्थिर हो जाता है। अतएव सत्त्व की कोरी उपलब्धि भी भौतिक गुण है; मनुष्य को सत्त्व की यह भौतिक अवस्था पार करके शुद्ध सत्त्व या *वसुदेव सत्त्व* तक पहुँचना होता है। यह *वसुदेव सत्त्व* मनुष्य को भगवद्धाम में प्रविष्ट कराने में सहायक होता है।

इस प्रसंग में हमें स्मरण रखना होगा कि उपर्युक्त विधि की तुलना में भक्तों के क्रमिक उत्थान की विधि यद्यपि प्रामाणिक है, किन्तु वर्तमान युग के लिए उपयोगी नहीं है, क्योंकि लोग योग-अभ्यास से मूलत: अनजान हैं। व्यावसायिक समर्थकों द्वारा तथाकथित योगाभ्यास भले ही शारीरिक क्रियाओं के लिए लाभप्रद हो, किन्तु इतनी छोटी सी सफलता यहाँ पर वर्णित आध्यात्मिक उत्थान की प्राप्ति में सहायक नहीं बन सकती। पाँच हजार वर्ष पूर्व जब मानव समाज का स्तर पूर्ण रूप से वैदिक व्यवस्था के अनुसार था, तो यहाँ पर वर्णित योग विधि प्रत्येक व्यक्ति के लिए सामान्य बात थी, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को, विशेष रूप से ब्राह्मण तथा क्षत्रिय को घर से दूर रहकर ब्रह्मचर्य आश्रम में गुरु की संरक्षण

में दिव्य कला में प्रशिक्षित किया जाता था। किन्तु आधुनिक मनुष्य इसे ठीक से समझ पाने में अक्षम है।

इसीलिए भगवान् श्री चैतन्य ने इस युग के भावी भक्तों के लिए इसे निम्नलिखित विधि से अत्यन्त सुगम बना दिया। अन्तिम प्राप्त होने वाले फल में इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। सबसे मुख्य बात तो यह है कि मनुष्य को भक्तियोग की मूल महत्ता को समझना चाहिए। सारे जीव अपने-अपने कर्मों तथा फलों के अनुसार विविध योनियों में विभिन्न प्रकार का बन्धनों को भोग रहे हैं। किन्तु विभिन्न कार्यों को सम्पन्न करने के दौरान जिस व्यक्ति की भक्ति तक थोड़ी भी पैठ हो जाती है, वह भगवान् तथा गुरु की अहैतुकी कृपा से भगवान् की सेवा की महत्ता को समझ सकता है। भगवान् निष्ठावान् व्यक्ति की सहायता गुरु की भेंट कराकर करते हैं, जो भगवान् का ही प्रतिनिधि होता है। ऐसे गुरु के उपदेश से मनुष्य को भक्तियोग का बीज प्राप्त होता है। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु की संस्तुति है कि भक्त अपने हृदय में भक्ति का बीज बोये और भगवान् के पवित्र नाम तथा महिमा के श्रवण तथा कीर्तन द्वारा उसे सींचकर पल्लवित करे। अपराधरहित होकर भगवान् के पवित्र नाम के श्रवण तथा कीर्तन की यह सरल विधि धीरे-धीरे मनुष्य को मोक्ष की अवस्था तक पहुँचा देगी। भगवान् के पवित्र नाम-कीर्तन की तीन अवस्थाएँ हैं। पहली अवस्था है भगवन्नाम का सापराध कीर्तन करना, दूसरी अवस्था है पवित्र नाम के कीर्तन की आभास अवस्था और तीसरी अवस्था है अपराधरहित भगवन्नाम का कीर्तन। दूसरी अवस्था में ही, जो कि सापराध तथा निरपराध के बीच की अवस्था है, मनुष्य स्वत: मोक्ष की अवस्था प्राप्त कर लेता है। इस निरपराध अवस्था में ही मनुष्य वास्तव में भगवद्धाम में प्रवेश करता है, यद्यपि शारीरिक रूप से वह भौतिक जगत में ही रहता है। निरपराध अवस्था प्राप्त करने के लिए उसे निम्नलिखित प्रकार से सतर्क रहना होगा।

जब हम श्रवण तथा कीर्तन की बात करते हैं, तो हमारा अभिप्राय केवल भगवान् के—राम-कृष्ण नामों के—कीर्तन तथा श्रवण (या सोलह नामों—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे का क्रमबद्ध कीर्तन) से ही नहीं होता, अपितु भक्तों की संगति में रहकर *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* को पढ़ना और सुनना भी इसमें सम्मिलित रहता है। भक्तियोग के

प्रारम्भिक अभ्यास से हृदय में पहले से बोया हुआ बीज अंकुरित हो उठेगा और, जैसाकि ऊपर उल्लेख हो चुका है, नियमित सिंचाई करने से भक्तियोग की लता बढ़ने लगेगी। ठीक से पालन-पोषण करने से यह लता इस हद तक बढ़ जायेगी कि यह ब्रह्माण्ड के आवरणों को भेद करके, जैसाकि हमने पिछले श्लोकों में सुना है, तेजवान आकाश या ब्रह्मज्योति तक पहुँच जायेगी और आगे बढ़ती हुई असंख्य वैकुण्ठ लोकों तक चली जायेगी। इन लोकों के आगे कृष्णलोक या गोलोक वृन्दावन है जहाँ यह लता प्रविष्ट होकर आदि भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों का आश्रय ग्रहण करती है। जब मनुष्य गोलोक वृन्दावन स्थित भगवान् के चरणकमलों तक पहुँच जाता है, तो श्रवण तथा वाचन की सिंचन विधि तथा पवित्र नाम की कीर्तन विधि फलीभूत होती है और भगवत्प्रेम रूपी जो फल लगते हैं, वे भक्तों द्वारा आस्वाद्य होते हैं, भले ही वे इस लोक में रह रहे होते हैं। भगवत्प्रेम रूपी पक्व फल का आस्वादन वे ही भक्त कर पाते हैं, जो निरन्तर सिंचन कार्यों में लगे रहते हैं जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है। लेकिन इस काम में लगे भक्त को सदैव सचेष्ट रहना चाहिए जिससे वह लता जो इतनी बड़ी हुई है छिन्न-भिन्न न हो जाय। अतएव उसे निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना होगा।

(१) शुद्ध भक्त के चरणों पर किये गये अपराध की तुलना उस प्रमत्त हाथी से की जा सकती है, जो अत्यन्त सुन्दर उद्यान में घुस जाने पर उसे विनष्ट कर देता है।

(२) मनुष्य को चाहिए कि शुद्ध भक्तों के चरणों पर ऐसे अपराध न करने के लिए अपने को सावधान रखे जिस प्रकार मनुष्य एक लता की रक्षा चारों ओर बाड़ बनाकर करता है।

(३) ऐसा हो सकता है कि सिंचाई के कारण कुछ खर-पतवार भी उग आयें, अत: जब तक ऐसे खर-पतवार को समूल नष्ट न कर दिया जाय तब तक मुख्य लता या भक्ति योग की लता की वृद्धि अवरुद्ध हो सकती है।

(४) वास्तव में ये खर-पतवार हैं—भौतिक भोग, आत्मा को ब्रह्म में पृथक् अस्तित्व के बिना लीन करना तथा धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष के क्षेत्र में अन्य अनेक सांसारिक इच्छाएँ।

(५) अन्य खर-पतवार भी हैं—यथा शास्त्रों के नियमों का उल्लंघन, वृथा की व्यस्तताएँ, पशु हत्या तथा भौतिक लाभ, प्रतिष्ठा एवं सम्मान की लालसा।

(६) यदि पर्याप्त सावधानी नहीं बरती जाती तो सिंचाई से केवल खर-पतवारों की वृद्धि होगी, स्वस्थ लता ठिगनी रह जायेगी जिससे उसमें भगवत्प्रेम रूपी फल नहीं लग पायेंगे।

(७) अतएव भक्त को चाहिए कि प्रारम्भ में ही विभिन्न खर-पतवारों को समूल नष्ट कर दे। तभी मुख्य लता का स्वस्थ विकास हो सकेगा और वह ठिगनी नहीं रहेगी।

(८) ऐसा करने पर भक्त को भगवत्प्रेम-रूपी फल चखने को मिलता है और वह अपने इसी जीवन में भगवान् कृष्ण के साथ रह सकता है तथा पग-पग पर भगवान् के दर्शन कर सकता है।

जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है भगवान् की सतत संगति में जीवन का निरन्तर सुख भोगना और जिसने इसका स्वाद चख लिया है, वह किसी और तरीके से भौतिक जगत के किसी क्षणिक भोग की कामना नहीं करता।

तेनात्मनात्मानमुपैति शान्त-
मानन्दमानन्दमयोऽवसाने ।
एतां गतिं भागवतीं गतो यः
स वै पुनर्नेह विषज्जतेऽङ्ग ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तेन—उस शुद्ध; आत्मना—आत्मा द्वारा; आत्मानम्—परमात्मा को; उपैति—प्राप्त करता है; शान्तम्—शान्त; आनन्दम्—प्रसन्नता; आनन्द-मयः—स्वाभाविक रूप से ऐसा होने पर; अवसाने—सारे भौतिक कल्मष से रहित होकर; एताम्—ऐसा; गतिम्—गन्तव्य; भागवतीम्—भक्तिमयी; गतः—द्वारा प्राप्त; यः—जो व्यक्ति; सः—वह; वै—निश्चय ही; पुनः—फिर; न—कभी नहीं; इह—इस जगत में; विषज्जते—आकृष्ट होता है; अङ्ग—हे महाराज परीक्षित।

केवल विशुद्धात्मा ही भगवान् की संगति की पूर्णता अपनी स्वाभाविक स्थिति में परि-पूर्ण आनन्द तथा तुष्टि के साथ प्राप्त कर सकता है। जो कोई भी ऐसी भक्तिमयी पूर्णता को पुनः जागृत करने में समर्थ होता है, वह इस भौतिक जगत के प्रति फिर से आकृष्ट नहीं होता और इसमें लौटकर कभी नहीं आता।

तात्पर्य : इस श्लोक में *गतिं भागवतीम्* का वर्णन ध्यान देने योग्य है। ब्रह्मवादी-निर्विशेषवादी द्वारा इच्छित परब्रह्म भगवान् की किरणों से तादात्म्य *भागवतीम्* पूर्णता नहीं है। भागवतजन कभी भी भगवान् की निर्विशेष किरणों में लीन होना नहीं चाहते। वे तो सदैव ही आध्यात्मिक आकाश में किसी एक वैकुण्ठ लोक में परमेश्वर की संगति के लिए आकांक्षा करते हैं। सम्पूर्ण आध्यात्मिक आकाश

असंख्य वैकुण्ठ लोकों से भरा पड़ा है और भौतिक आकाश तो इस आध्यात्मिक आकाश का एक नगण्य अंश मात्र है। *भागवत* (भक्त) का लक्ष्य किसी एक वैकुण्ठ लोक में प्रवेश करना होता है जिनमें से प्रत्येक में भगवान् अपने असीम साकार अंशों के रूप में असंख्य शुद्ध भक्त पार्षदों की संगति का आनन्द भोगते रहते हैं। इस भौतिक जगत में बद्धजीवों को भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त करने पर इन लोकों में भेज दिया जाता है। किन्तु नित्य मुक्त आत्माओं की संख्या इस जगत के बद्धजीवों से कहीं अधिक रहती है और वैकुण्ठ लोक वासी नित्यमुक्त आत्माएँ इस दुखी भौतिक जगत में आना कभी भी पसन्द नहीं करतीं।

परमेश्वर की निर्विशेष ब्रह्मज्योति में लीन होने के इच्छुक निर्विशेषवादियों को भगवान् के साकार रूप की प्रेमाभक्ति की कोई धारणा नहीं होती। उनकी तुलना उन मछलियों से की जा सकती है, जो नदियों तथा नालों में उत्पन्न होकर महासागर में प्रवास के लिए चली जाती हैं। वे बहुत काल तक महासागर में नहीं रह सकतीं, क्योंकि इन्द्रिय तृप्ति की उनकी इच्छा उन्हें पुन: नदियों-नालों में वापस ला देती है। इसी प्रकार जब भौतिकतावादी सीमित जगत में भोग करने के अपने प्रयत्नों में विफल होता है, तो वह या तो कारणार्णव में लीन होकर या निर्विशेष ब्रह्मज्योति तेज में लीन होकर निर्विशेष मोक्ष की खोज करता है। किन्तु न तो कारणार्णव और न ही निर्विशेष ब्रह्मज्योति इन्द्रियों की संगति तथा व्यस्तता के लिए श्रेष्ठ विकल्प प्रस्तुत कर पाते हैं, फलत: निर्विशेषवादी एक बार फिर इन्द्रिय-तृप्ति की अतृप्त कामना में भौतिक जगत में जन्म-मृत्यु के चक्र में फँस जाता है। किन्तु कोई भी भक्त जो अपनी इन्द्रियों को भक्ति में लगाकर भगवद्धाम में प्रवेश करता है और वहाँ पर मुक्तात्माओं तथा भगवान् की संगति करता है। वह भौतिक जगत की सीमित चाहारदीवारियों की ओर कभी आकृष्ट नहीं होता।

भगवद्गीता (८.१५) में भी इसी की पुष्टि की गई है, जैसाकि भगवान् कहते हैं ''बड़े-बड़े महात्मागण या भक्तियोगी मेरी संगति प्राप्त करने के बाद इस दुखमय तथा अस्थायी जगत में फिर कभी वापस नहीं आते।'' अतएव जीवन की सर्वोच्च सिद्धि भगवान् की संगति प्राप्त करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भगवान् की सेवा में लगा रहने के कारण, भक्तियोगी को, ज्ञान या योग जैसी अन्य मोक्ष

की विधि के लिए कोई आकर्षण नहीं होता। शुद्ध भक्त शत प्रतिशत भगवान् का भक्त होता है, अन्य कुछ भी नहीं।

इस श्लोक के अन्य दो शब्दों *शान्तम्* तथा *आनन्दम्* पर भी हमें ध्यान देना होगा, क्योंकि ये बोध कराते हैं कि भगवद्भक्ति भक्त को वास्तव में दो महत्त्वपूर्ण वर देनेवाली है। ये हैं—शान्ति तथा तुष्टि। निर्विशेषवादी ब्रह्म से एकाकार होने का इच्छुक रहता है या दूसरे शब्दों में, वह ब्रह्म बनना चाहता है। यह कोरी कल्पना है। योगी विविध प्रकार की योगशक्तियों से ऊब उठता है, जिसके कारण उसे न तो शान्ति मिलती है, न सन्तोष। अतएव न तो निर्विशेषवादी, न ही योगी को वास्तविक शान्ति तथा सन्तोष मिल पाता है, किन्तु भक्त पूर्ण रूप से शान्त तथा सन्तुष्ट रह सकता है क्योंकि उसकी संगति पूर्ण ब्रह्म से रहती है। अतएव ब्रह्म में लीन होने या कतिपय योग-शक्तियों की उपलब्धि में भक्त को कोई आकर्षण नहीं रहता।

ईश-प्रेम की प्राप्ति का अर्थ है अन्य समस्त आकर्षणों से पूर्ण मुक्ति। बद्धजीव अनेक इच्छाएँ करता है—जैसे धार्मिक व्यक्ति बनना, धनी बनना, प्रथम कोटि का भोक्ता होना, या स्वयं ईश्वर होना या योगी आदि की भाँति शक्तिशाली बनना और कुछ भी पा कर या करके आश्चर्यजनकरूप से कार्य करना। ये समस्त महत्त्वाकांक्षाएँ उस भावी भक्त द्वारा ठुकरा दी जानी चाहिए जो अपने सुप्त भगवत्प्रेम को पुनः जागृत करना चाहता है। अशुद्ध भक्त भक्ति सम्पन्न करके उपर्युक्त सारी भौतिक वस्तुओं की कामना करता है, किन्तु शुद्ध भक्त में उपर्युक्त कल्मष लेशमात्र भी नहीं रहते। इनमें भौतिक इच्छाएँ, निर्विशेष का चिन्तन तथा योग शक्तियों की प्राप्ति सम्मिलित हैं। शुद्ध भक्ति-मय सेवा के द्वारा अपने वांछनीय उद्देश्य अर्थात् भगवान् के लिए मनुष्य भगवत्प्रेम की स्थिति प्राप्त कर सकता है।

यदि हम अधिक स्पष्ट करना चाहें तो कह सकते हैं कि यदि कोई भगवत्प्रेम प्राप्त करना चाहता है, तो उसे भौतिक भोग की सारी इच्छाओं का परित्याग कर देना चाहिए, उसे किसी भी देवता की पूजा से दूर रहना चाहिए और उसे केवल पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा में लगे रहना चाहिए। उसे भगवान् से तदाकार होने के मूर्खतापूर्ण विचार का परित्याग कर देना चाहिए और संसार में प्रतिष्ठा पाने के लिए आश्चर्यजनक शक्तियों को प्राप्त करने की इच्छा त्याग देनी चाहिए। शुद्ध भक्त किसी

पारिश्रमिक की आशा न करके भगवान् की सेवा में ही लगा रहता है। इससे भगवत्प्रेम प्राप्त होगा या, जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है, *शान्तम्* तथा *आनन्दम्* की स्थिति प्राप्त हो सकेगी।

एते सृती ते नृप वेद-गीते
त्वयाभिपृष्टे च सनातने च ।
ये वै पुरा ब्रह्मण आह तुष्ट
आराधितो भगवान् वासुदेवः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

एते—ये सब, जिनका वर्णन किया गया; सृती—मार्ग; ते—तुम तक; नृप—हे महाराज परीक्षित; वेद-गीते—वेदों के कथनानुसार; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अभिपृष्टे—ठीक से पूछे जाने पर; च—भी; सनातने—नित्य सत्य के मामले में; च—सचमुच; ये—जो; वै—निश्चय ही; पुरा—पहले; ब्रह्मणे—ब्रह्माजी से; आह—कहा; तुष्टः—सन्तुष्ट होकर; आराधितः—पूजित होकर; भगवान्—भगवान्; वासुदेवः—भगवान् कृष्ण ने।

हे महाराज परीक्षित, आप इतना जान लें कि मैंने आपकी समुचित जिज्ञासा के प्रति जो भी वर्णन किया है, वह वेदों के कथनानुसार है और वही नित्य सत्य है। इसे साक्षात् भगवान् कृष्ण ने ब्रह्मा से कहा था, क्योंकि वे ब्रह्मा द्वारा समुचित रुप से पूजे जाने पर उनसे प्रसन्न थे।

तात्पर्य : परव्योम तक पहुँचने और फिर समस्त भौतिक बन्धन से मोक्ष पाने के दो भिन्न-भिन्न मार्ग हैं—या तो भगवद्धाम पहुँचने का सीधा मार्ग (सद्यःयुक्ति) या अन्य उच्चलोकों से होकर धीरे-धीरे पहुँचने की क्रमिक विधि (क्रमयुक्ति)। ये वेदों के कथनानुसार यहाँ पर प्रस्तुत किये गये हैं। इस प्रसंग में वैदिक कथन इस प्रकार हैं—यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते (बृहदारण्यक उपनिषद् ४.४.७) तथा *तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति* (बृहदारण्यक उपनिषद ६.२.१५) : ''जो हृदयरोग तुल्य समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त हैं, वे मृत्यु को जीतने में समर्थ हैं और अर्चिलोक से होकर भगवद्धाम में प्रवेश करते हैं।'' ये वैदिक कथन *श्रीमद्भागवत* के कथन का समर्थन करनेवाले हैं और इनकी पुष्टि शुकदेव गोस्वामी द्वारा की जा रही है, जो जोर देकर यह कहते हैं कि इस सत्य का उद्घाटन वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण ने वेदों के प्रथम प्रमाण ब्रह्माजी से किया। शिष्य-परम्परा के अनुसार सर्वप्रथम भगवान् कृष्ण ने ब्रह्मा को वेद सुनाया, ब्रह्मा ने नारद को और नारद ने व्यासदेव को। तब व्यास ने शुकदेव गोस्वामी को यही ज्ञान दिया और इसी प्रकार आगे चलता रहा। इस तरह इन समस्त प्राधिकृत पुरुषों के कथनों में कोई अन्तर नहीं है। चूँकि सत्य नित्य है,

अतएव सत्य के विषय में कोई नवीन मत नहीं हो सकता। वेदों में निहित ज्ञान को जानने का यही साधन है। इसे न तो प्रकाण्ड पाण्डित्य द्वारा समझा जा सकता है, न संसारी पंडितों की फैशनपरस्त व्याख्याओं द्वारा। इसमें न कुछ जोड़ने को है, न घटाने को, क्योंकि सत्य तो सत्य है। किन्तु अन्ततः किसी न किसी प्रमाण को स्वीकार करना होता है। आधुनिक विज्ञानी भी कतिपय वैज्ञानिक सत्यों के लिए सामान्य व्यक्तियों के हेतु प्रमाणतुल्य हैं। सामान्य व्यक्ति विज्ञानी के कथन का पालन करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि सामान्य व्यक्ति प्रमाण का अनुगमन करता है। वैदिक ज्ञान भी इसी रीति से प्राप्त किया जाता है। सामान्य व्यक्ति यह तर्क नहीं कर सकता कि आकाश या ब्रह्माण्ड के परे क्या है; उसे चाहिए कि वह वेदों के कथनों को उसी तरह स्वीकार करे जिस तरह वे प्रामाणिक शिष्य-परम्परा द्वारा स्वीकृत किये जाते रहे हैं। *भगवद्गीता* में भी चतुर्थ अध्याय में, गीता को समझने की यही विधि बताई गई है। यदि कोई आचार्यों के प्रामाणिक कथन को नहीं मानता, तो वेदों में वर्णित सत्य की उसकी खोज व्यर्थ ही होगी।

न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह ।
वासुदेवे भगवति भक्ति-योगो यतो भवेत् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; हि—निश्चय ही; अतः—इसके परे; अन्यः—अन्य कुछ; शिवः—कल्याणप्रद; पन्थाः—साधन; विशतः—भटकते हुए; संसृतौ—भौतिक जगत में; इह—इस जीवन में; वासुदेवे—भगवान् वासुदेव कृष्ण में; भगवति—भगवान्; भक्ति-योगः—प्रत्यक्ष भक्ति; यतः—जहाँ; भवेत्—ऐसा हो।

जो लोग भौतिक विश्व में भटक रहे हैं, उनके लिए भगवान् कृष्ण की प्रत्यक्ष भक्ति से बढ़कर मोक्ष का कोई अधिक कल्याणकर साधन नहीं है।

तात्पर्य : जैसाकि अगले श्लोक से स्पष्ट हो जायेगा, भक्ति या प्रत्यक्ष भक्तियोग ही भवबन्धन से उद्धार का एकमात्र पूर्ण एवं कल्याणप्रद साधन है। भवबन्धन से उद्धार पाने के अनेक अप्रत्यक्ष उपाय हैं, लेकिन इनमें से कोई भी भक्तियोग के समान सरल तथा कल्याणप्रद नहीं है। ज्ञान तथा योग के साधन एवं अन्य सम्बद्ध विधाएँ कर्ता का उद्धार करने के लिए स्वतन्त्र नहीं हैं। ऐसे कार्यों से मनुष्य अनेकानेक वर्षों बाद भक्तियोग की अवस्था को प्राप्त होता है। *भगवद्गीता* (१२.५) में कहा गया है कि जो लोग ब्रह्म के निर्विशेष स्वरूप के प्रति आसक्त रहते हैं, उन्हें अपने इच्छित लक्ष्य तक पहुँचने में

अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं और परम सत्य की खोज करनेवाले ज्ञानी अनेकानेक जन्मों के बाद वासुदेव-अनुभूति की महत्ता को समझ पाते हैं (भगवद्गीता ७.१९)। जहाँ तक योग पद्धति का सम्बन्ध है, *भगवद्गीता* (६.४७) में यह भी कहा गया है कि योगियों में जो योगी परम सत्य का अनुगमन करता है और जो भगवान् की सेवा में सतत लगा रहता है, वह योगियों में सर्वोच्च है। *भगवद्गीता* (१८.६६) का अन्तिम उपदेश है कि आत्म-साक्षात्कार तथा भवबन्धन से मोक्ष की विभिन्न विधियों या अन्य सारे कार्यों को छोड़कर भगवान् की शरण में आओ। मनुष्य को सभी प्रकार से भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति स्वीकार करने के लिए प्रेरित करना ही समस्त वैदिक ग्रंथों का तात्पर्य है।

जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के उद्धरणों में (प्रथम स्कन्ध में) बताया जा चुका है, या तो प्रत्यक्ष भक्तियोग या वे सारे साधन ही जिनका पर्यवसान भक्तियोग में होता है, धर्म के सर्वोच्च रूप हैं। इसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ कर्ता के समय का अपव्यय मात्र है।

श्रील श्रीधर स्वामी तथा जीव गोस्वामी जैसे अन्य सारे आचार्य यह स्वीकार करते हैं कि भक्तियोग सरल, सहज, प्राकृतिक तथा चिन्तामुक्त होने के साथ ही मानवमात्र के सुख का एकमात्र स्रोत है।

भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया ।
तदध्यवस्यत् कूट-स्थो रतिरात्मन् यतो भवेत् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

भगवान्—महापुरुष ब्रह्माजी ने; ब्रह्म—वेद; कार्त्स्न्येन—संक्षिप्तीकरण द्वारा; त्रिः—तीन बार; अन्वीक्ष्य—परीक्षा करके; मनीषया—अत्यन्त विद्वत्तापूर्वक; तत्—वह; अध्यवस्यत्—निश्चित किया; कूट-स्थः—मन की एकाग्रता से; रतिः—आकर्षण; आत्मन् (आत्मनि)—भगवान् श्रीकृष्ण में; यतः—जिसके द्वारा; भवेत्—ऐसा होता है।

महापुरुष ब्रह्मा ने अत्यन्त मनोयोग से वेदों का तीन बार अध्ययन किया और उनकी भलीभाँति संवीक्षा कर लेने के बाद, वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति आकर्षण (रति) ही धर्म की सर्वोच्च सिद्धि है।

तात्पर्य : श्री शुकदेव गोस्वामी वेदों के परम प्रमाण, ब्रह्मा, का उल्लेख कर रहे हैं, जो भगवान् के गुणावतार हैं। भौतिक सृष्टि के प्रारम्भ में ही ब्रह्माजी को वेदों की शिक्षा दी गई। यद्यपि ब्रह्माजी ने साक्षात् भगवान् से वैदिक उपदेशों का श्रवण किया, लेकिन वेदों के भावी जिज्ञासुओं की उत्सुकता को तुष्ट करने के लिए ही ब्रह्माजी ने, एक जिज्ञासु की तरह, वेदों का तीन बार अध्ययन किया जैसाकि सारे

जिज्ञासु करते हैं। उन्होंने बड़े मनोयोग से अध्ययन किया और वेदों के प्रयोजन पर भी मन को केन्द्रित रखा और सारी विधि की सम्यक् परीक्षण करने के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भगवान् श्रीकृष्ण का शुद्ध अनन्य भक्त बनना ही समस्त धार्मिक सिद्धान्तों की सर्वोच्च सिद्धि है। *भगवद्गीता* का अन्तिम उपदेश भी यही है, जिसे स्वयं भगवान् ने दिया। इस प्रकार वैदिक निर्णय सभी आचार्यों द्वारा मान्य है और जो इस निर्णय के विरुद्ध हैं, वे वेदवादरत हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४२) में कहा गया है।

भगवान् सर्व-भूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः ।
दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणैरनुमापकैः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; सर्व—समस्त; भूतेषु—सारे जीवों में; लक्षितः—देखे जाते हैं; स्व-आत्मना—आत्मा सहित; हरिः—भगवान्; दृश्यैः—देखे जाने के द्वारा; बुद्धि-आदिभिः—बुद्धि के द्वारा; द्रष्टा—देखने वाला; लक्षणैः—विभिन्न लक्षणों से; अनुमापकैः—परिकल्पना द्वारा।

आत्मा के साथ भगवान् श्रीकृष्ण प्रत्येक जीव में हैं। यह तथ्य हमारे देखने से तथा बुद्धि से सहायता लेने पर अनुभूत तथा परिकल्पित होता है।

तात्पर्य : जनसामान्य का यह आम तर्क है कि चूँकि भगवान् हमारी आँखों को नहीं दिखते तो फिर कोई किस तरह उनकी शरण में जाय या उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति करे? ऐसे जनसामान्य के लिए यहाँ पर श्रील शुकदेव गोस्वामी द्वारा व्यावहारिक सुझाव दिया गया है कि मनुष्य तर्क तथा अनुभूति द्वारा किस तरह परमेश्वर का दर्शन पा सकता है। वास्तव में, भगवान् हमारी वर्तमान भौतिक इन्द्रियों द्वारा देखे नहीं जा सकते, किन्तु जब कोई व्यावहारिक सेवा-भाव से भगवान् की उपस्थिति के बारे में आश्वस्त हो लेता है, तो भगवत्कृपा से उनका प्राकट्य होता है और भगवान् का ऐसा शुद्ध भक्त सदैव तथा प्रत्येक स्थान में भगवान् का दर्शन कर सकता है। वह यह अनुभव कर सकता है कि बुद्धि भगवान् के पूर्ण अंश परमात्मा का रूप-निर्देशन है। सामान्य व्यक्ति के लिए भी यह अनुभव कर सकना कि परमात्मा जन-जन के साथ हैं कठिन नहीं है। इसकी विधि इस प्रकार है—मनुष्य आत्म-पहचान का अनुभव करे और सकारात्मक रूप से ऐसा अनुभव करे कि वह विद्यमान है। उसे यह एकाएक नहीं, अपितु थोड़ी बुद्धि लगाने पर अनुभव होगा कि वह शरीर नहीं है। उसे अनुभव होगा कि हाथ, पाँव, सिर, बाल तथा अंग-प्रत्यंग उसके शरीर के अंश हैं, किन्तु हाथ पाँव, सिर इत्यादि से उसके आत्मस्वरुप की

पहचान नहीं हो सकती। अतएव अपनी बुद्धि से वह अपनी आत्मा को अन्य दृश्य वस्तुओं से अन्तर करके, उन्हें विलग कर सकता है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि जीव, चाहे मनुष्य हो या पशु, वह द्रष्टा है और वह अपने अतिरिक्त सबों को देख सकता है। अतएव द्रष्टा तथा दृश्य में अन्तर होता है। अब थोड़ी बुद्धि लगाने पर, हम यह मान सकते हैं कि जो जीव अपने से दूर वस्तुओं को साधारण दृष्टि से देखता है, वह स्वतन्त्र रूप से देख या चल नहीं सकता। हमारे सारे कार्य तथा अनुभूतियाँ उन विभिन्न शक्तियों पर निर्भर हैं, जो हमें प्रकृति द्वारा विभिन्न संयोगों के रूप में प्रदान की जाती हैं। हमारी कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ, हमें प्राकृतिक शक्ति के स्थूल या सूक्ष्म रूपों, में हमें प्राप्त होती हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं—(१) श्रवण (२) स्पर्श (३) दर्शन (४) स्वाद तथा (५) गंध। इसी तरह कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच हैं—(१) हाथ (२) पाँव (३) वाणी (४) मल निकासी अंग; तथा (५) जननेन्द्रियाँ। हमारी तीन सूक्ष्म इन्द्रियाँ इस प्रकार हैं—(१) मन (२) बुद्धि; तथा (३) अहंकार। (कुल मिलाकर तेरह इन्द्रियाँ हैं)। यह भी समान रूप से स्पष्ट है कि हमारे अनुभव के विषय (वस्तुएँ) प्राकृतिक शक्ति के असीम संयोग के प्रतिफल हैं। चूँकि इससे यह सिद्ध हो जाता है कि सामान्य जीव अनुभव या गति के मामले में स्वतन्त्र नहीं है और हमारा अस्तित्व प्रकृति की शक्ति द्वारा प्रतिबन्धित है, अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जो देखता है (द्रष्टा), वह आत्मा है तथा हमारी समस्त इन्द्रियाँ एवं अनुभव के विषय भौतिक हैं। द्रष्टा का आध्यात्मिक गुण हमारी भौतिक बद्धावस्था की सीमित स्थिति के साथ हमारे असंतोष द्वारा परिलक्षित होता है। आत्मा तथा पदार्थ का यही अन्तर है। कुछ अल्पज्ञ तर्क करते हैं कि भौतिक पदार्थ से देखने तथा चलने की शक्ति विकसित होती है, किन्तु ऐसा तर्क स्वीकार्य नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा प्रयोगात्मक साक्ष्य प्राप्त नहीं है, जिसमें पदार्थ से कहीं भी जीव उत्पन्न हुआ हो। भविष्य कितना ही आकर्षक क्यों न हो, उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। भौतिक तत्त्वों से आत्मा के विकास की बात व्यर्थ व मूर्खतापूर्ण है, क्योंकि आज तक विश्व में कहीं भी पदार्थ में देखने तथा गति करने की शक्ति विकसित नहीं हुई। अतएव यह निश्चित है कि पदार्थ तथा आत्मा दो पृथक् सत्ताएँ हैं और बुद्धि द्वारा इस निष्कर्ष तक पहुँचा जा सकता है। अब हम इस बात पर आते हैं कि जो वस्तुएँ थोड़ी बुद्धि लगाने पर दिखती हैं, वे

चलित नहीं हो सकतीं जब तक कि हम किसी को बुद्धि का प्रयोगकर्ता या निर्देशक स्वीकार न कर लें। बुद्धि उसी प्रकार निर्देश करती है, जिस प्रकार उच्च अधिकारी निर्देश देता है और बुद्धि का प्रयोग किये बिना जीव न तो देख सकता है, न हिल–डुल सकता है, न खा सकता है और न कोई कार्य ही कर सकता है। जब मनुष्य बुद्धि का उपयोग नहीं कर पाता तो वह बेसुध बन जाता है, अतएव जीव बुद्धि पर अथवा किसी श्रेष्ठ व्यक्ति के निर्देशन पर निर्भर रहता है। ऐसी बुद्धि सर्वव्यापी है। प्रत्येक जीव में बुद्धि होती है और यह बुद्धि, किसी श्रेष्ठतर अधिकारी का निर्देशन होने के कारण, उस पिता के तुल्य है, जो अपने पुत्र को मार्गनिर्देश देता रहता है। यह उच्च अधिकारी परमात्मा हैं, जो प्रत्येक जीव में उपस्थित रहकर उसके भीतर वास कर रहा हैं।

अपनी खोज के सिलसिले में यहाँ हम निम्नलिखित प्रश्न पर विचार कर सकते हैं: एक ओर हम यह अनुभव करते हैं कि हमारी सारी अनुभूतियाँ तथा कार्य प्रकृति की व्यवस्था द्वारा नियन्त्रित हैं, तो भी हम ऐसा अनुभव करते हैं और कहते हैं ''मैं देख रहा हूँ'' या ''मैं कर रहा हूँ''। अतएव हम कह सकते हैं कि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ गतिशील हैं, क्योंकि हम अपनी पहचान भौतिक शरीर के रूप में कर रहे हैं और परमात्मा हमारी इच्छानुसार हमारा मार्गदर्शन कर रहे हैं तथा हमारी इच्छा के अनुसार हमें फल दे रहे हैं। बुद्धि के रूप में परमात्मा के मार्गदर्शन का लाभ उठाकर, हम यह अध्ययन करते रहते हैं और अपने निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि, ''मैं शरीर नहीं हूँ'' या हम झूठी पहचान करते रह सकते हैं और अपने को ही स्वामी तथा कर्ता मानते रह सकते हैं। हमारी स्वतन्त्रता इतनी ही है कि हम अपनी इच्छा को अज्ञान, भौतिक भ्रान्त धारणाओं की ओर, या सही आध्यात्मिक धारणाओं की ओर ले जाँय। हम परमात्मा को अपना मित्र तथा मार्गदर्शक मानकर तथा उसी पर अपनी बुद्धि लगाकर, असली आध्यात्मिक धारणा प्राप्त कर सकते हैं। परमात्मा तथा आत्मा दोनों ही आत्मा हैं, अतएव दोनों के गुण एक से हैं और वे पदार्थ से भिन्न हैं। लेकिन परमात्मा तथा आत्मा समान स्तर पर नहीं हो सकते, क्योंकि परमात्मा निर्देश देता है या बुद्धि प्रदान करता है और आत्मा उस निर्देश का पालन करता है, जिससे सही ढंग से कार्य सम्पन्न होते हैं। व्यक्ति पूर्ण रूप से परमात्मा के निर्देश पर आश्रित रहता है, क्योंकि देखने, सुनने, सोचने, अनुभव करने तथा इच्छा करने इत्यादि में, वह पद–पद पर परमात्मा

के निर्देश का पालन करता है।

जहाँ तक सामान्य ज्ञान का प्रश्न है, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तीन प्रकार की सत्ताएँ हैं—पदार्थ, आत्मा तथा परमात्मा। अब यदि हम *भगवद्गीता* या वैदिक ज्ञान में प्रवेश करें, तो हम यह भी समझ सकेंगे कि ये तीनों सत्ताएँ पूर्ण पुरुषोत्तमभगवान् पर आश्रित हैं। परमात्मा तो भगवान् की आंशिक अभिव्यक्ति है। *भगवद्गीता* पुष्टि करती है कि भगवान् अपनी आंशिक अभिव्यक्ति से ही सारे भौतिक जगत में आधिपत्य बनाए हुए हैं। ईश्वर महान् हैं और वे जीवात्मा के आज्ञापालक मात्र नहीं हो सकते। अतएव परमात्मा पुरुषोत्तम भगवान् की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो सकता। जीवात्मा द्वारा परमात्मा की अनुभूति किया जाना आत्म-साक्षात्कार का शुभारम्भ है और इस आत्म-साक्षात्कार की प्रगति होने से मनुष्य बुद्धि द्वारा, मान्य शास्त्रों द्वारा तथा मुख्यतया भगवत्कृपा द्वारा भगवान् की अनुभूति कर पाने में सक्षम होता है। *भगवद्गीता* भगवान् श्रीकृष्ण की प्रारम्भिक अव-धारणा है और *श्रीमद्भागवत* उसके आगे ईश-विज्ञान की व्याख्या है। अतएव यदि हम अपने संकल्प में दृढ़ रहें तथा उसी शरीर-रूपी वृक्ष में आसीन बुद्धि के निर्देशक के कृपा की याचना करें, जो पक्षी रूप में अन्य पक्षी के साथ आसीन है (जैसाकि उपनिषदों में कहा गया है) तो वेदों में दी गई सूचनाएँ हमारे समक्ष स्पष्ट हो जाएँगी और तब भगवान् वासुदेव को समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी। अतएव बुद्धिमान व्यक्ति बुद्धि के ऐसे उपयोग से अनेक जन्मों के बाद भी वासुदेव के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है, जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में पुष्टि हुई है।

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान्नृणाम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; सर्व—सभी; आत्मना—आत्मा; राजन्—हे राजा; हरिः—भगवान्; सर्वत्र—सभी जगह; सर्वदा—सदैव; श्रोतव्यः—सुना जाना चाहिए; कीर्तितव्यः—गुणगान किया जाना चाहिए; च—भी; स्मर्तव्यः—स्मरण किया जाना चाहिए; भगवान्—भगवान्; नृणाम्—मनुष्यों द्वारा।

हे राजन्, अतएव यह आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य सर्वत्र तथा सदैव भगवान् का श्रवण करे, गुणगान करे तथा स्मरण करे।

तात्पर्य : श्री शुकदेव गोस्वामी इस श्लोक को *तस्मात्* अर्थात् अतएव से प्रारम्भ करते हैं, क्योंकि

वे पिछले श्लोक में बता चुके हैं कि भक्तियोग की भव्य विधि के अतिरिक्त मोक्ष का कोई शुभ उपाय नहीं है। भक्तों द्वारा विभिन्न विधियों यथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्म-निवदेन से भक्तियोग का अभ्यास किया जाता है। ये नवों प्रामाणिक विधियाँ हैं और निष्ठावान भक्त इनमें से सभी या कुछ या केवल एक विधि द्वारा वांछित फल पा सकता है। किन्तु इनमें से पहली विधि अर्थात् श्रवण विधि भक्तियोग में सर्व-प्रमुख है। पर्याप्त तथा समुचित विधि से श्रवण किये बिना, अन्य विधियों के अभ्यास से कोई प्रगति नहीं हो पाती और केवल श्रवण के लिए तो समूचा वैदिक वाङ्मय भरा पड़ा है, जिसे व्यासदेव जैसे भगवान् के शक्त्यावेश अवतार ने संकलित किया है। चूँकि यह सुनिश्चित हो चुका है कि भगवान् प्रत्येक वस्तु के परमात्मा हैं, अतएव उनका श्रवण तथा कीर्तन सर्वत्र एवं सदैव होना चाहिए। यह मनुष्य का विशिष्ट कर्तव्य है। जब मनुष्य सर्वव्यापी भगवान् के विषय में सुनना बन्द कर देता है, तो वह मानवनिर्मित यन्त्रों द्वारा प्रसारित कूड़ा-करकट सुनने का अभ्यस्त बन जाता है। कोई यन्त्र बुरा नहीं है, क्योंकि यन्त्र से मनुष्य भगवान् के विषय में सुन सकता है, किन्तु प्रच्छन्न कार्यों के लिए प्रयुक्त होने से यन्त्र मानव सभ्यता के स्तर में त्वरित ह्रास ला रहा है। यहाँ पर यह कहा गया है कि मनुष्य को सुनना अनिवार्य है, क्योंकि *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* जैसे ग्रंथ इसी उद्देश्य से लिखे गये हैं। मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य कोई सजीव प्राणी ऐसे वैदिक ग्रंथों का श्रवण नहीं कर सकता। यदि मानव समाज वैदिक साहित्य का श्रवण करे तो वह उन अपवित्र व्यक्तियों द्वारा उच्चरित अपवित्र शब्द-ध्वनि को नहीं सुन पायेगा, जो पूरे समाज के स्तर को गिराने वाले हैं। श्रवण की पुष्टि कीर्तन द्वारा होती है। जो व्यक्ति उचित स्रोत से सुनता है, वह सर्वव्यापी भगवान् के विषय में आश्वस्त हो जाता है और तब वह भगवान् का गुणगान करने के लिए प्रोत्साहित होता है। सभी बड़े-बड़े आचार्यों ने, यथा रामानुज, मध्व, चैतन्य, सरस्वती ठाकुर ने, या कि अन्य देशों में मुहम्मद, ईसा तथा अन्यों ने, कीर्तन द्वारा सदैव तथा सर्वत्र भगवान् का यशोगान किया है। चूँकि भगवान् सर्वव्यापी हैं, अतएव सर्वत्र तथा सदैव उनका गुणगान अनिवार्य है। भगवान् का गुणगान करने में देश तथा काल का बन्धन नहीं होना चाहिए। यही *सनातन धर्म* या *भागवत* धर्म कहलाता है। *सनातन* का अर्थ है शाश्वत, सदैव तथा सर्वत्र। *भागवत* का अर्थ है भगवान्

सम्बन्धी। भगवान् सारे देश-काल के स्वामी हैं, अतएव भगवान् के नाम का विश्व भर में श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण होना चाहिए। ऐसा करने से पूरे विश्व के लोगों द्वारा उत्पुकतावश प्रतीक्षित व इच्छित शांति व वैभव का प्रादुर्भाव होगा। *च* शब्द भक्तियोग की अन्य विधियों को सम्मिलित करता है, जैसाकि ऊपर वर्णित है।

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां
कथामृतं श्रवण-पुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषय-विदूषिताशयं
व्रजन्ति तच्चरण-सरोरुहान्तिकम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

पिबन्ति—पीते हैं; ये—जो; भगवतः—भगवान् का; आत्मनः—अत्यन्त प्रिय; सताम्—भक्तों के; कथा-अमृतम्—सन्देश-रूपी अमृत; श्रवण-पुटेषु—कान के छेदों के भीतर; सम्भृतम्—परिपूरित; पुनन्ति—पवित्र करते हैं; ते—उनके; विषय—भौतिक भोग; विदूषित-आशयम्—कलुषित जीवन लक्ष्य; व्रजन्ति—वापस जाते हैं; तत्—भगवान् के; चरण—चरण; सरोरुह-अन्तिकम्—कमल के निकट।

जो लोग भक्तों के अत्यन्त प्रिय भगवान् कृष्ण की अमृत-तुल्य कथा को कर्णरूपी पात्रों से भर-भर कर पीते हैं, वे भौतिक भोग के नाम से विख्यात दूषित जीवन-उद्देश्य को पवित्र कर लेते हैं और इस प्रकार पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर के चरणकमलों में भगवद्धाम को वापस जाते हैं।

तात्पर्य : मानव समाज के सारे कष्ट दूषित जीवन-उद्देश्य अर्थात् भौतिक संसाधनों पर प्रभुत्व जताने के कारण हैं। मानव समाज अविकसित संसाधनों का जितना ही दोहन अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए करता है, वह उतना ही भगवान् की भ्रामक भौतिक शक्ति (माया) द्वारा बँधता जाता है और विश्व के कष्ट घटने के बजाय बढ़ते जाते हैं। भगवान् मानव जीवन की सारी आवश्यकताओं की यथा अन्न, दूध, फल, लकड़ी, पत्थर, चीनी, रेशम, रत्न, कपास, नमक, जल, तरकारी आदि की प्रचुर मात्रा में पूर्ति करता है, जिससे विश्व की मानव जाति के साथ ही ब्रह्माण्ड के प्रत्येक लोक के अन्य जीवों का भी भरण-पोषण हो सके। पूर्ति के सारे साधन हैं और सही प्रणाली से अपनी आवश्यकता प्राप्त करने के लिए मनुष्य को थोड़ी सी शक्ति व्यय करने की आवश्यकता होती है। जीवन में कृत्रिम रूप से सुविधाएँ उत्पन्न करने के लिए यन्त्रों तथा औजारों या बड़े-बड़े इस्पात उद्योगों की आवश्यकता नहीं है। जीवन कभी कृत्रिम आवश्यकताओं द्वारा आरामदेह नहीं बनाया जा सकता; वह तो 'सादा जीवन

उच्च विचार' से ही आरामदेह बनता है। यहाँ पर शुकदेव गोस्वामी ने मानव समाज के लिए उच्चतम चिन्तन का सुझाव दिया है—यह है श्रीमद्‌भागवत का ठीक से श्रवण करना। इस कलियुग के मनुष्यों ने जीवन की पूर्ण दृष्टि खो दी है और यह श्रीमद्‌भागवत उनके लिए टार्चलाइट के समान है, जिससे असली मार्ग देखा जा सकता है। श्रील जीव गोस्वामी प्रभुपाद ने इस श्लोक में आये कथामृतम् की व्याख्या की है और यह संकेत किया है कि श्रीमद्‌भागवत भगवान् का अमृतमय संदेश है। श्रीमद्‌भागवत के पर्याप्त श्रवण से जीवन के दूषित लक्ष्य, प्रकृति पर प्रभुता जताना शमित होगा और संसार भर के लोग ज्ञान तथा आनन्द के साथ शान्तिमय जीवन बिता सकेंगे।

शुद्ध भगवद्‌भक्त के लिए भगवान् के नाम, यश, गुण, पार्षद आदि से सम्बन्धित कोई भी कथा मोहक होती है और चूँकि ऐसी कथाओं का अनुमोदन नारद, हनुमान, नन्द महाराज तथा वृन्दावन के अन्य वासियों द्वारा हुआ है, अतएव ऐसे संदेश निश्चय ही दिव्य तथा हृदय एवं आत्मा को भानेवाले हैं।

यहाँ पर श्री शुकदेव गोस्वामी आश्वस्त करते हैं कि *भगवद्‌गीता* तथा उसके बाद *श्रीमद्‌भागवत* की कथाओं के निरन्तर सुनते रहने से मनुष्य भगवान् के पास पहुँचकर विशाल कमल-सदृश गोलोक वृन्दावन में भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति कर सकेगा।

इस प्रकार इस श्लोक में बताई गई भक्तियोग की विधि को प्रत्यक्ष स्वीकार कर लेने से, अर्थात् भगवान् की दिव्य कथा के पर्याप्त श्रवण से, भगवान् के निर्विशेष विराट स्वरूप का चिन्तन किये बिना ही, मनुष्य का भौतिक कल्मष दूर हो जाता है। यदि अभ्यासकर्ता भक्तियोग का अभ्यास करने से भौतिक कल्मष से शुद्ध नहीं हो पाता, तो उसे छद्म भक्त समझना चाहिए। ऐसे पाखण्डी के लिए भवबन्धन से छूटने के लिए कोई उपाय नहीं है।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के द्वितीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''हृदय में भगवान्'' नामक द्वितीय अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तीन

शुद्ध भक्ति-मय सेवा : हृदय-परिवर्तन

श्री-शुक उवाच

एवमेतन्निगदितं पृष्टवान् यद्भवान् मम ।
नृणां यन्म्रियमाणानां मनुष्येषु मनीषिणाम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस तरह; एतत्—यह सब; निगदितम्—उत्तरित; पृष्टवान्—तुम्हारे पूछे जाने पर; यत्—जो; भवान्—आपने; मम—मुझसे; नृणाम्—मानव का; यत्—जो; म्रियमाणानाम्—मरणासन्न; मनुष्येषु—मनुष्यों में; मनीषिणाम्—बुद्धिमान मनुष्यों के।.

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे महाराज परीक्षित, आपने मुझसे मरणासन्न बुद्धिमान मनुष्य के कर्तव्य के विषय में जिस प्रकार जिज्ञासा की, उसी प्रकार मैंने आपको उत्तर दिया है।

तात्पर्य : सारे विश्व में मानव समाज में लाखों करोड़ों नर-नारी हैं और वे प्राय: सभी अल्पज्ञ हैं, क्योंकि उन्हें आत्मा के विषय में बहुत अल्प ज्ञान है। प्राय: सबों को जीवन की मिथ्या अव-धारणा है, क्योंकि वे अपनी पहचान स्थूल तथा सूक्ष्म भौतिक शरीर के रूप में करते हैं, जबकि वे ऐसे हैं नहीं। भले ही वे मानव समाज की नजरों में उच्च तथा निम्न पदों पर स्थित हों, किन्तु मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि जब तक वह अपने शरीर तथा मन से परे, अपने आत्मा के विषय में जिज्ञासा नहीं करता, तब तक मनुष्य-जीवन के उसके सारे कार्य नितान्त निष्फल हैं। इसलिए हजारों-हजार मनुष्यों में से कोई एक अपने आत्मा के विषय में जिज्ञासा करता है और *वेदान्त-सूत्र, भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* जैसे शास्त्रों को पढ़ता है। किन्तु ऐसे शास्त्रों के पढ़ने तथा सुनने के बावजूद भी, जब तक वह स्वरुपसिद्ध गुरु के सम्पर्क में नहीं आता, तब तक वह आत्मा की वास्तविक प्रकृति को नहीं समझ सकता। और ऐसे हजारों-लाखों व्यक्तियों में से कोई एक ऐसा निकलेगा जो वास्तव में भगवान् कृष्ण को जान सके। *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य २०.१२२-१२३) में कहा गया है कि भगवान् कृष्ण ने, अपनी अहैतुकी कृपावश, व्यासदेव का अवतार लेकर मानव समाज के बुद्धिमान वर्ग पठन-पाठन के लिए वैदिक साहित्य तैयार किया, क्योंकि यह वर्ग भगवान् से अपने असली सम्बन्ध को प्राय: पूरी तरह भूला हुआ है। ऐसा बुद्धिमान वर्ग भी भगवान् के साथ अपना सम्बन्ध भूल सकता है। अतएव सम्पूर्ण

भक्तियोग भूले हुए सम्बन्ध को पुन: जागृत करने के लिए है। यह पुन:जागरण केवल मनुष्य–जीवन में सम्भव है, जो चौरासी लाख योनियों का चक्र पूरा होने पर ही मिलता है। बुद्धिमान वर्ग के मनुष्यों को इस अवसर का लाभ उठाना चाहिए। चूँकि सारे मनुष्य बुद्धिमान नहीं होते, अतएव मनुष्य–जीवन की महत्ता हमेशा ठीक से समझ में नहीं आती। यहाँ पर *मनीषिणाम्* अर्थात् बुद्धिमान का विशेष प्रयोग हुआ है। महाराज परीक्षित जैसे *मनीषिणाम्* को भगवान् कृष्ण के चरणकमल ग्रहण करने चाहिए तथा भगवान् के पवित्र नाम तथा उनकी लीलाओं के श्रवण, कीर्तन आदि में अपने को लगाना चाहिए, क्योंकि ये सभी *हरिकथामृत* हैं। यह कृत्य विशेष रूप से मरणासन्न व्यक्ति के लिए संस्तुत है।

ब्रह्म-वर्चस-कामस्तु यजेत ब्रह्मणः पतिम् ।
इन्द्रमिन्द्रिय-कामस्तु प्रजा-कामः प्रजापतीन् ॥ २ ॥
देवीं मायां तु श्री-कामस्तेजस्कामो विभावसुम् ।
वसु-कामो वसून् रुद्रान् वीर्य-कामोऽथ वीर्यवान् ॥ ३ ॥
अन्नाद्य-कामस्त्वदितिं स्वर्ग-कामोऽदितेः सुतान् ।
विश्वान्देवान् राज्य-कामः साध्यान्संसाधको विशाम् ॥ ४ ॥
आयुष्कामोऽश्विनौ देवौ पुष्टि-काम इलां यजेत् ।
प्रतिष्ठा-कामः पुरुषो रोदसी लोक-मातरौ ॥ ५ ॥
रूपाभिकामो गन्धर्वान् स्त्री-कामोऽप्सर उर्वशीम् ।
आधिपत्य-कामः सर्वेषां यजेत परमेष्ठिनम् ॥ ६ ॥
यज्ञं यजेद् यशस्कामः कोश-कामः प्रचेतसम् ।
विद्या-कामस्तु गिरिशं दाम्पत्यार्थ उमां सतीम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म—परम; वर्चस—तेज; कामः तु—जो उनकी कामना करता है; यजेत—पूजें; ब्रह्मणः—वेदों के; पतिम्—स्वामी को; इन्द्रम्—स्वर्ग के राजा को; इन्द्रिय-कामः तु—लेकिन जो प्रबल इन्द्रिय का इच्छुक है; प्रजा-कामः—सन्तान चाहनेवाला; प्रजापतीन्—प्रजापतियों को; देवीम्—देवी को; मायाम्—संसार की स्वामिनी को; तु—भी; श्री-कामः—सौन्दर्य की कामना करनेवाला; तेजः—शक्ति; कामः—चाहनेवाला; विभावसुम्—अग्निदेव को; वसु-कामः—सम्पत्ति चाहनेवाला; वसून्—वसुओं को; रुद्रान्—शिवजी के रुद्र अंशों को; वीर्य-कामः—बलिष्ठ बनने का इच्छुक; अथ—इसीलिए; वीर्यवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; अन्न-अद्य—अनाज की; कामः—कामना करनेवाला; तु—लेकिन; अदितिम्—देवताओं की माता अदिति को; स्वर्ग—स्वर्ग की; कामः—अभिलाषा करनेवाला; अदितेः सुतान्—अदिति के पुत्रों को; विश्वान्—विश्वदेव को; देवान्—देवताओं को; राज्य-कामः—राज्य की लालसा रखनेवाले; साध्यान्—साध्यदेवों को; संसाधकः—इच्छा पूरी करनेवाला; विशाम्—वणिक वर्ग की; आयुः-कामः—दीर्घायु चाहनेवाला; अश्विनौ—अश्विनीकुमार नामक; देवौ—दोनों देवताओं को; पुष्टि-कामः—सुगठित शरीर चाहनेवाला; इलाम्—पृथ्वी को; यजेत्—पूजे; प्रतिष्ठा-कामः—यश या पद में स्थिरता चाहनेवाला; पुरुषः—ऐसे व्यक्ति; रोदसी—अन्तरिक्ष; लोक-मातरौ—तथा पृथ्वी को; रूप—सौन्दर्य; अभिकामः—निश्चित रूप से कामना करनेवाला; गन्धर्वान्—गन्धर्वों को, जो गंधर्व लोक के रहनेवाले हैं तथा गायन में अत्यन्त पटु होते हैं; स्त्री-कामः—अच्छी पत्नी चाहनेवाला; अप्सरः उर्वशीम्—स्वर्गलोक की अप्सराओं को; आधिपत्य-कामः—दूसरों पर शासन चलाने की

इच्छा रखनेवाला; सर्वेषाम्—सबों की; यजेत—पूजा करे; परमेष्ठिनम्—ब्रह्माण्ड के प्रमुख ब्रह्मा को; यज्ञम्—भगवान् को; यजेत्—पूजे; यशः-कामः—प्रसिद्ध होने का इच्छुक; कोश-कामः—अच्छी बैंक-बचत का इच्छुक; प्रचेतसम्—स्वर्ग के कोषाध्यक्ष वरुण को; विद्या-कामः तु—लेकिन जो विद्या का इच्छुक हो; गिरिशम्—हिमालय के स्वामी शिवजी को; दाम्पत्य-अर्थः—तथा दाम्पत्य प्रेम के लिए; उमाम् सतीम्—शिवजी की सती पत्नी को, जो उमा के नाम से विख्यात हैं।

जो व्यक्ति निर्विशेष ब्रह्मज्योति तेज में लीन होने की कामना करता है, उसे वेदों के स्वामी (भगवान् ब्रह्मा या विद्वान पुरोहित बृहस्पति) की पूजा करनी चाहिए; जो प्रबल कामवासना का इच्छुक हो, उसे स्वर्ग के राजा इन्द्र की और जो अच्छी सन्तान का इच्छुक हो, उसे प्रजापतियों की पूजा करनी चाहिए। जो सौभाग्य का आकांक्षी हो, उसे भौतिक जगत की अधीक्षिका दुर्गादेवी की पूजा करनी चाहिए। जो अत्यन्त शक्तिशाली बनना चाहे, उसे अग्नि की और जो केवल धन की इच्छा करता हो, उसे वसुओं की पूजा करनी चाहिए। यदि कोई महान् वीर बनना चाहता है, तो उसे शिवजी के रुद्रावतारों की पूजा करनी चाहिए। जो प्रचुर अन्न की राशि चाहता हो, उसे अदिति की पूजा करनी चाहिए। जो स्वर्ग-लोक की कामना करे, उसे अदिति के पुत्रों की पूजा करनी चाहिए। जो व्यक्ति सांसारिक राज्य चाहता हो, उसे विश्वदेव की और जो जनता में लोकप्रियता का इच्छुक हो, उसे साध्यदेव की पूजा करनी चाहिए। जो दीर्घायु की कामना करता हो, उसे अश्विनीकुमारों की और जो पुष्ट शरीर चाहे, उसे पृथ्वी की पूजा करनी चाहिए। जो अपनी नौकरी (पद) के स्थायित्व की कामना करता हो, उसे क्षितिज तथा पृथ्वी दोनों की सम्मिलित पूजा करनी चाहिए। जो सुन्दर बनना चाहता हो, उसे गन्धर्व-लोक के निवासियों की और जो सुन्दर पत्नी चाहता हो, उसे अप्सराओं तथा स्वर्ग की उर्वशी अप्सराओं की पूजा करनी चाहिए। जो अन्यों पर शासन करना चाहता हो, उसे ब्रह्माण्ड के प्रमुख भगवान् ब्रह्माजी की पूजा करनी चाहिए। जो स्थायी कीर्ति का इच्छुक हो, उसे भगवान् की तथा जो अच्छी बैंक-बचत चाहता हो, उसे वरुणदेव की पूजा करनी चाहिए। और यदि कोई अच्छा वैवाहिक सम्बन्ध चाहता है, तो उसे शिवजी की पत्नी, सती देवी उमा, की पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : विभिन्न विषयों में सफलता के इच्छुक विभिन्न पुरुषों के लिए, पूजा की विधियाँ भिन्न-भिन्न हैं। इस भौतिक जगत की सीमा में रहनेवाला बद्धजीव प्रत्येक प्रकार की योग्य वस्तु में दक्ष नहीं हो सकता, किन्तु जैसाकि ऊपर बताया गया है, वह विशेष देवता की पूजा करके उस विशेष पदार्थ के

ऊपर प्रभूत प्रभाव डाल सकता है। शिवजी की पूजा करने से रावण, अत्यन्त शक्तिशाली बन गया था, वह शिवजी को प्रसन्न करने के लिए अपने शिरों को काटकर उन्हें अर्पित करता था। वह शिवजी की कृपा से तब तक इतना शक्तिशाली बनता गया कि सारे देवता उससे भयभीत रहने लगे, जब तक कि वह भगवान् श्रीरामचन्द्र को ललकार कर स्वयं नष्ट नहीं हो गया। दूसरे शब्दों में, ऐसे सारे व्यक्ति, जो कुछ या सारे भोग-विषयों की प्राप्ति करने में लगे रहते हैं, या स्थूल भौतिकतावादी व्यक्ति कुल मिलाकर अल्पज्ञ हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* (७.२०) में पुष्टि की गई है। उसमें कहा गया है कि जो सद्विवेक से विहीन हैं या जिनकी बुद्धि माया की भ्रामक शक्ति से हर ली गई है, वे जीवन में विभिन्न देवताओं को प्रसन्न करके, या वैज्ञानिक प्रगति के नाम पर भौतिक सभ्यता में उन्नति करके, जीवन के सारे भोगों को प्राप्त करना चाहते हैं। इस भौतिक जगत में जीवन की मुख्य समस्या जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि का समाधान ढूँढना है। कोई अपने जन्म-अधिकार को बदलना नहीं चाहता, कोई मरना नहीं चाहता, कोई वृद्ध या अशक्त नहीं होना चाहता और कोई रोगग्रस्त नहीं होना चाहता। किन्तु ये समस्याएँ, न तो किसी देवता के अनुग्रह से हल हो पाती हैं, न तथाकथित भौतिक विज्ञान की उन्नति से। *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* में ऐसे अल्पज्ञ व्यक्तियों का वर्णन सभी प्रकार के सद्विचारों से विहीन व्यक्तियों के रूप में हुआ हैं। शुकदेव गोस्वामी ने बताया कि जीवों की ८४,००,००० योनियों में से मनुष्य जीवन अत्यन्त दुर्लभ एवं मूल्यवान है और ऐसे व्यक्तियों में भी वे लोग और भी दुर्लभ हैं, जो भौतिक समस्याओं के प्रति सचेष्ट हों। इनमें से भी ऐसे लोग अत्यन्त दुर्लभ हैं, जो *श्रीमद्भागवत* के महत्त्व से अवगत हों, जिसमें भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्तों की कथाएँ मिलती हैं। मृत्यु सबके लिए अपरिहार्य है, चाहे वह बुद्धिमान हो या मूर्ख। लेकिन शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को *मनीषी* कहकर सम्बोधित किया है, जिसका अर्थ है कि वे अत्यधिक विकसित मन वाले पुरुष थे, क्योंकि उन्होंने मृत्यु निकट आने पर सारे भौतिक भोग छोड़ दिये थे और शुकदेव गोस्वामी जैसे योग्य व्यक्ति से भगवान् की कथाएँ सुन करके, उनके चरणकमलों में आत्म-समर्पण कर दिया था। लेकिन प्रयत्नशील पुरुषों द्वारा भौतिक भोग के लिए की जानेवाली आकांक्षाओं की भर्त्सना की गई है। ऐसी आकांक्षाएँ पतित मानव समाज के लिए नशे के तुल्य हैं। बुद्धिमान मनुष्यों को चाहिए कि इन

आकांक्षाओं से बचें और बजाय इसके भगवद्धाम वापस जाकर स्थायी जीवन को खोजें।

धर्मार्थ उत्तम-श्लोकं तन्तुः तन्वन् पितॄन् यजेत् ।
रक्षा-कामः पुण्य-जनानोजस्कामो मरुद्गणान् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

धर्म-अर्थः—आध्यात्मिक विकास के लिए; उत्तम-श्लोकम्—परमेश्वर या उनके प्रति आसक्त व्यक्तियों को; तन्तुः—सन्तान के लिए; तन्वन्—तथा उनकी सुरक्षा के लिए; पितॄन्—पितृलोक के वासियों को; यजेत्—पूजे; रक्षा-कामः—सुरक्षा चाहनेवाला; पुण्य-जनान्—पवित्र व्यक्तियों को; ओजः-कामः—शक्ति चाहनेवाला; मरुत्-गणान्—देवताओं को।

ज्ञान के आध्यात्मिक विकास के लिए मनुष्य को चाहिए कि भगवान् विष्णु या उनके भक्त की पूजा करे और वंश की रक्षा के लिए तथा कुल की उन्नति के लिए उसे विभिन्न देवताओं की पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : धर्म-पथ आध्यात्मिक विकास के पथ पर उन्नति करने, अन्ततोगत्वा भगवान् विष्णु के साथ उनके निर्विशेष तेज, उनके अन्तर्यामी परमात्मा-स्वरूप तथा अन्ततोगत्वा ज्ञान में आध्यात्मिक विकास के द्वारा उनके साकार स्वरूप के साथ नित्य सम्बन्ध को पुन:जागरित करने की ओर ले जाता है। जो व्यक्ति अच्छा वंश स्थापित करना चाहता है और क्षणिक शारीरिक सम्बन्धों की उन्नति से सुखी रहना चाहता है, उसे पितरों तथा अन्य पवित्र लोकों के देवताओं की शरण में जाना चाहिए। ऐसे विभिन्न देवताओं की भिन्न-भिन्न श्रेणियों के पूजक अन्ततोगत्वा उन-उन देवताओं के लोकों में पहुँच ही सकेंगे, किन्तु जो ब्रह्मज्योति में स्थित वैकुण्ठ लोकों तक पहुँच जाता है, उसे सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त होती है।

राज्य-कामो मनून् देवान् निर्ऋतिं त्वभिचरन् यजेत् ।
काम-कामो यजेत् सोममकामः पुरुषं परम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

राज्य-कामः—राज्य की इच्छा करनेवाला; मनून्—ईश्वर के अर्धअवतार मनुओं को; देवान्—देवताओं को; निर्ऋतिम्—असुरों को; तु—लेकिन; अभिचरन्—शत्रु पर विजय पाने की इच्छा रखते हुए; यजेत्—पूजे; काम-कामः—इन्द्रिय तृप्ति का इच्छुक; यजेत्—पूजा करे; सोमम्—चन्द्र देवता की; अकामः—निष्काम; पुरुषम्—परमेश्वर की; परम्—परम।

जो व्यक्ति राज्य-सत्ता पाने का इच्छुक हो, उसे मनुओं की पूजा करनी चाहिए। जो व्यक्ति शत्रुओं पर विजय पाने का इच्छुक हो, उसे असुरों की और जो इन्द्रियतृप्ति चाहता हो, उसे

चन्द्रमा की पूजा करनी चाहिए। किन्तु जो किसी प्रकार के भोग की इच्छा नहीं करता, उसे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : मुक्तात्माओं के लिए ऊपर गिनाये गये सारे भोग पूरी तरह से अर्थहीन हैं। जो लोग बहिरंगा शक्ति के गुणों द्वारा बद्ध हैं, वे ही विभिन्न प्रकार के भौतिक भोगों द्वारा मोहित होते रहते हैं। दूसरे शब्दों में, योगी की भौतिक भोग को पूरा करने की कोई इच्छा नहीं होती जबकि भौतिकतावादी समस्त प्रकार की इच्छाओं से युक्त रहता है। भगवान् ने घोषित किया है कि जो भौतिकतावादी, भौतिक भोग चाहते हैं और उनके लिए विभिन्न देवताओं से कृपा-याचना करते हैं, जैसाकि ऊपर कहा गया है, वे अपने विवेक में नहीं रहते हैं और मूर्ख सिद्ध होते हैं। अतएव मनुष्य को कभी किसी तरह के भौतिक भोग की इच्छा नहीं करनी चाहिए। उसे तो पूर्ण-पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा करने के लिए सजक रहना चाहिए। ऐसे विमूढ़ व्यक्तियों के नेता उनसे बढ़कर विमूढ़ होते हैं, क्योंकि वे खुल कर यह प्रचार करते हैं कि मनुष्य किसी भी देवता की पूजा करके एक सा फल प्राप्त कर सकता है। ऐसा प्रचार न केवल *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* की शिक्षाओं के विपरीत है, अपितु मूर्खतापूर्ण भी है। यह उसी तरह है, जैसे किसी भी यात्री-टिकट के बल पर किसी भी गन्तव्य तक पहुँचने का अधिकार जताना। यदि कोई बड़ौदा का टिकट खरीदे तो वह उससे बम्बई या दिल्ली नहीं जा सकता। यहाँ यह स्पष्ट बताया गया है कि विभिन्न इच्छाओं से युक्त व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न प्रकार से पूजा करनी चाहिए, लेकिन जिसे कोई भोग-वासना नहीं है, उसे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा करनी चाहिए। यह पूजा प्रक्रिया भक्ति-मय सेवा कहलाती है। शुद्ध भक्ति का अर्थ होता है कि किसी भी प्रकार की भौतिक इच्छा के बिना, जिसमें सकाम कर्म तथा ज्ञान की इच्छा भी सम्मिलित है, भगवान् की सेवा करना। भौतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य चाहे तो परमेश्वर की पूजा कर सकता है, किन्तु ऐसी पूजा से प्राप्त होनेवाला फल भिन्न होता है, जिसकी व्याख्या अगले श्लोक में की जायेगी। सामान्यतया भगवान् किसी की इन्द्रियभोग की कामनाओं को पूरा नहीं करते, किन्तु वे अपने पूजकों को ऐसा वरदान देते हैं जिससे अन्त में वे भौतिक भोग की इच्छा न करने के बिन्दु पर पहुँच जाते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य को भौतिक भोग की इच्छाएँ कम कर देनी चाहिए और इसके लिए उसे पूर्ण

पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा करनी चाहिए जिन्हें यहाँ परम् या किसी भी भौतिक वस्तु के परे कहा गया है। श्रीपाद शंकराचार्य ने भी कहा है— *नारायण: परोऽव्यक्तात्*—परमेश्वर भौतिक चक्र से परे है।

अकाम: सर्व-कामो वा मोक्ष-काम उदार-धी: ।
तीव्रेण भक्ति-योगेन यजेत पुरुषं परम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अकाम:—जिसने भौतिक इच्छाओं को पार कर लिया है; सर्व-काम:—जिसमें समग्र भौतिक इच्छाएँ हैं; वा—अथवा; मोक्ष-काम:—मुक्ति की इच्छा रखनेवाला; उदार-धी:—व्यापक बुद्धि वाला; तीव्रेण—तीव्र शक्ति के साथ; भक्ति-योगेन—भगवद्भक्ति द्वारा; यजेत—पूजे; पुरुषम्—भगवान् को; परम्—परम पूर्ण।

जिस व्यक्ति की बुद्धि व्यापक है, वह चाहे सकाम हो या निष्काम अथवा मुक्ति का इच्छुक हो, उसे चाहिए कि सभी प्रकार से परमपूर्ण भगवान् की पूजा करे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण को पुरुषोत्तम अर्थात् परम पुरुष कहा गया है। वे ही हैं, जो निर्विशेषवादियों को ब्रह्मज्योति में लीन करके उन्हें मोक्ष प्रदान करने वाले हैं। यह ब्रह्मज्योति भगवान् से पृथक् नहीं है, जिस प्रकार प्रकाशमान सूर्य किरणें सूर्यगोलक से पृथक् नहीं होती हैं। अतएव जो परम निर्विशेष ब्रह्मज्योति में लीन होना चाहता है, उसे भी भक्तियोग द्वारा भगवान् की पूजा करनी चाहिए जैसी कि यहाँ पर संस्तुति की गई है। यहाँ पर सर्वसिद्धि प्राप्ति के साधन, भक्तियोग, पर विशेष बल दिया गया है। पिछले अध्यायों में बताया गया है कि कर्मयोग तथा ज्ञानयोग दोनों का चरम लक्ष्य भक्तियोग है, उसी तरह इस अध्याय में यह घोषणा की गई है कि विभिन्न देवताओं की भिन्न-भिन्न प्रकार से पूजा करने का चरम लक्ष्य भक्तियोग है। आत्म-साक्षात्कार का परम साधन होने के कारण इस प्रकार यहाँ पर भक्तियोग की संस्तुति की गई है। चाहे कोई भौतिक भोग की या भवबन्धन से मुक्ति की आकांक्षा रखता हो, प्रत्येक व्यक्ति को गम्भीरतापूर्वक भक्तियोग अपनाना चाहिए।

अकाम: वह है, जिसे कोई भौतिक इच्छा न हो। *पुरुषं पूर्णम्* अर्थात् परम पूर्ण का अंश होने के कारण परमेश्वर की सेवा करना जीव का स्वाभाविक कार्य है, जिस तरह कि शरीर के अंग पूर्ण शरीर की सेवा करने के निमित्त होते हैं। अतएव *अकाम:* का अर्थ पत्थर की तरह निष्क्रिय या जड़ होना नहीं है, अपितु अपनी वास्तविक स्थिति के प्रति सचेष्ट रहना है और इस तरह से केवल परमेश्वर से तुष्टि की

कामना करना है। श्रील जीव गोस्वामी ने अपने ग्रन्थ सन्दर्भ में इस अकाम-भाव का *भजनीय परम-पुरुष सुख-मात्र-स्वसुखत्वम्* कहकर व्याख्या की है। इसका अर्थ है कि परमेश्वर की प्रसन्नता का अनुभव करके मनुष्य प्रसन्न होता है। जीव की यह अन्तश्चेतना भौतिक जगत में जीव की बद्ध अवस्था में भी कभी-कभी प्रकट होती है और यही अन्तश्चेतना अल्पज्ञ व्यक्तियों के अविकसित मनों द्वारा परोपकार, समाजवाद, साम्यवाद इत्यादि में अभिव्यकत होती है। सांसारिक क्षेत्र में समाज, समुदाय, परिवार, देश या मानवता के रूप में अन्यों की भलाई करने का दिखावा उसी मूल भावना की आंशिक अभिव्यक्ति होता है, जिसमें शुद्ध जीव परमेश्वर की प्रसन्नता को अपनी प्रसन्नता समझता है। ऐसी उत्कृष्ट भावनाएँ व्रजभूमि की गोपियों द्वारा भगवान् की प्रसन्नता के लिए प्रकट की गई थीं। गोपियों ने, किसी प्रतिफल के बिना, भगवान् से प्रेम किया और यह *अकाम* भावना की पूर्ण अभिव्यञ्जना है। *काम* मनो-भाव अर्थात् अपनी तुष्टि के भाव की पूर्ण अभिव्यञ्जना भौतिक जगत में होती है, जबकि *अकाम:* भाव पूर्ण रुप से आध्यात्मिक जगत में प्रकट होता है।

भगवान् में तदाकार होने का भाव या ब्रह्मज्योति में लीन होने का भाव भी *काम* भाव का प्रदर्शन माना जा सकता है यदि ये भाव, भौतिक कष्टों से मुक्त होने के लिए हों। इसीलिए, भक्त कभी भी मोक्ष इसलिए नहीं चाहता कि वह जीवन के कष्टों से मुक्त हो जाय। ऐसे मोक्ष के बिना भी शुद्ध भक्त सदैव भगवान् की तुष्टि की कामना करता है। अर्जुन ने *काम* भाव से प्रेरित होकर कुरुक्षेत्र की युद्ध-भूमि में लड़ने से इनकार कर दिया था, क्योंकि वह अपनी तुष्टि के लिए अपने सम्बन्धियों को बचाना चाह रहा था। किन्तु शुद्ध भक्त होने के कारण भगवान् के आदेश पर वह युद्ध करने के लिए तैयार हो गया, क्योंकि उसे ज्ञान हो चुका था और उसने अनुभव किया कि अपनी तुष्टि की बलि देकर भगवान् की तुष्टि करना उसका परम कर्तव्य है। इस तरह वह *अकाम* हो गया। यह पूर्णजीव की पूर्णावस्था (सिद्धावस्था) है।

उदार-धी: का अर्थ है व्यापक दृष्टिवाला या उदार-चेता। जो लोग भौतिक भोग की कामना करते हैं, वे छोटे-मोटे देवताओं को पूजते हैं। *भगवद्गीता* (७.२०) में ऐसी बुद्धि को *हृतज्ञान* अर्थात् ऐसे व्यक्ति की बुद्धि जो संज्ञाशून्य हो चुका हो, कह कर भर्त्सना की गई है। कोई भी व्यक्ति परमेश्वर की

स्वीकृति लिए बिना देवताओं से कोई भी फल प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए व्यापक दृष्टिवाला व्यक्ति यह देख सकता है कि भौतिक लाभों के लिए भी अन्तिम प्राधिकारी (सत्ता) भगवान् ही हैं। ऐसी परिस्थिति में, व्यापक दृष्टिवाले व्यक्ति को चाहिए कि वह सीधे भगवान् की पूजा करे, भले ही वह भौतिक भोग या मुक्ति की कामना क्यों न कर रहा हो। चाहे कोई *अकाम* हो या *सकाम* या *मोक्षकाम,* हर एक को तत्परता से भगवान् की पूजा करनी चाहिए। इसका अर्थ यह होता है कि कर्म तथा ज्ञान के किसी प्रकार के मिश्रण के बिना ही, भक्तियोग पूरी तरह लागू किया जा सकता है। जैसे अमिश्रित सूर्य की किरण अत्यन्त तीव्र होती है। इसी तरह श्रवण, कीर्तन इत्यादि का अमिश्रित भक्तियोग आन्तरिक उद्देश्य से निरपेक्ष होकर सबों के द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है।

एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः ।
भगवत्यचलो भावो यद् भागवत-सङ्गतः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

एतावान्—ये भिन्न पूजक; एव—निश्चय ही; यजताम्—पूजा करते हुए; इह—इस जीवन में; निःश्रेयस—सर्वोच्च वर; उदयः—विकास; भगवति—परमेश्वर पर; अचलः—निश्चल; भावः—आकर्षण; यत्—जो; भागवत—भगवान् के शुद्ध भक्त की; सङ्गतः—संगति से।

अनेक देवताओं की पूजा करनेवाले विविध प्रकार के लोग, भगवान् के शुद्ध भक्त की संगति से ही सर्वोच्च सिद्धिदायक वर प्राप्त कर सकते हैं, जो भगवान् पर अविचल आकर्षण के रूप में होता है।

तात्पर्य : इस भौतिक सृष्टि में प्रथम देवता ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक विभिन्न योनियों के सारे जीव, प्रकृति के नियम या भगवान् की बहिरंगा शक्ति के अधीन हैं। जीव अपनी शुद्ध अवस्था में जानता रहता है कि वह भगवान् का अंश है, किन्तु जब जीव, भौतिक शक्ति पर प्रभुत्व जताने की इच्छा के कारण, भौतिक जगत में आ गिरता है, तो वह प्रकृति के तीन गुणों द्वारा बद्ध हो जाता है और वह अधिकाधिक लाभ के लिए जीवन-संघर्ष करता है। यह जीवन-संघर्ष, भौतिक भोग के वशीभूत होकर, मायाजाल के पीछे भागने के सदृश है। भौतिक भोग की सारी योजनाएँ, चाहे वे विभिन्न देवताओं की पूजा द्वारा सम्पन्न हों जैसाकि इसी अध्याय के पिछले श्लोकों में बताया गया है अथवा ईश्वर या देवता की सहायता के बिना वैज्ञानिक ज्ञान की आधुनीकृत प्रगति हो, मात्र भ्रम हैं, क्योंकि

सुख की इन समस्त योजनाओं के बावजूद बद्धजीव भौतिक सृष्टि के सम्पर्क में रहकर जीवन की समस्याओं को—जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग को—कभी हल नहीं कर सकता। विश्व का इतिहास ऐसे योजना-निर्माताओं से भरा पड़ा है। अनेक राजा-महाराज आते-जाते रहते हैं, लेकिन उनकी कहानी ही शेष रह जाती है और जीवन की मुख्य समस्या इन योजना-निर्माताओं के बावजूद जैसी की तैसी बनी रहती है।

वास्तव में यह मनुष्य जीवन, जीवन की समस्याओं का हल ढूँढ़ने के लिए प्राप्त हुआ है। किन्तु विभिन्न देवताओं को प्रसन्न करके, पूजा की विविध विधियों से या ईश्वर अथवा देवताओं की सहायता लिए बिना ज्ञान के तथाकथित वैज्ञानिक विकास से, मनुष्य इन समस्याओं को हल नहीं कर सकता। ईश्वर या देवता की परवाह न करनेवाले निपट भौतिकतावादियों के अतिरिक्त, सारे वेद विभिन्न लाभों के लिए विभिन्न देवताओं की पूजा करने की संस्तुति करते हैं। अतएव ये देवता न तो मिथ्या हैं, न काल्पनिक। देवता हमारी ही तरह वास्तविक हैं, लेकिन ब्रह्माण्डीय-सरकार के विभिन्न विभागों का प्रबन्ध करने में वे भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा में लगे रहने से अत्यधिक शक्तिशाली होते हैं। *भगवद्गीता* से इसकी पुष्टि होती है और उसमें परमदेव ब्रह्मा समेत देवताओं के विभिन्न लोकों का उल्लेख है। निपट भौतिकतावादी लोग ईश्वर या देवताओं के अस्तित्व पर विश्वास नहीं करते। न ही वे यह विश्वास करते हैं कि भिन्न-भिन्न लोकों में विभिन्न देवताओं का आधिपत्य है। वे निकटतम दैवी पिंड (उपग्रह) चन्द्रलोक तक पहुँचने में काफी हंगामा खड़ा कर रहे हैं, लेकिन इतने यान्त्रिक शोध के बाद भी वे चन्द्रमा के विषय में बहुत कम सूचना एकत्र कर पाये हैं और चन्द्रमा में भूखण्ड बेचने के झूठे विज्ञापन के बावजूद गर्वित विज्ञानी या निपट भौतिकतावादी वहाँ रह नहीं सकते। अन्य लोकों की तो बातें करना व्यर्थ है, क्योंकि वे उनकी गणना भी नहीं कर सकते। किन्तु वेदों के अनुयायी भिन्न विधि से ज्ञान प्राप्त करते हैं। वे वैदिक साहित्य के कथनों को प्रमाण मानते हैं, जैसाकि हम प्रथम स्कंध में कह चुके हैं। अतएव उन्हें ईश्वर तथा देवताओं के विषय में और उसी के साथ-साथ भौतिक जगत की परिधि में स्थित भौतिक आकाश की सीमा से परे विभिन्न आवासीय लोकों का पूरा-पूरा एवं संतोषजनक ज्ञान होता है। जिस सर्वाधिक प्रामाणिक साहित्य को शंकर, रामानुज, मध्व, विष्णुस्वामी,

निम्बार्क तथा चैतन्य जैसे भारतीय आचार्यों ने स्वीकार किया है और जिसका अध्ययन सभी महत्त्वपूर्ण महापुरुषों ने किया है, वह *भगवद्गीता* है, जिसमें देवताओं की पूजा तथा उनके अपने-अपने आवासीय लोकों का उल्लेख है। *भगवद्गीता* (९.२५) पुष्टि करती है—

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

''देवताओं के उपासक देवताओं के लोकों को जाते हैं और पितरों के पूजक पितृलोक को जाते हैं। निपट भौतिकतावादी भिन्न-भिन्न भौतिक लोक में रह जाते हैं, किन्तु भगवद्भक्त भगवान् के धाम पहुँच जाते हैं।''

भगवद्गीता से हमें यह भी जानकारी मिलती है कि इस जगत के सारे लोक, जिनमें ब्रह्मलोक भी सम्मिलित है, अस्थायी रूप से स्थित होते हैं और कुछ काल के बाद उनका विनाश हो जाता है। अतएव देवता तथा उनके अनुयायी भी प्रलय के समय विनष्ट हो जाते हैं, किन्तु जो भगवद्धाम पहुँच जाता है, वह शाश्वत जीवन का लाभ भोगता है। यह वैदिक साहित्य का मत है। देवताओं के उपासकों को नास्तिकों की तुलना में केवल एक लाभ है कि वे वैदिक निर्णय से आश्वस्त रहते हैं जिससे वे भगवद्भक्तों की संगति में रहकर परमेश्वर की पूजा के लाभ की जानकारी प्राप्त करते हैं। किन्तु निपट भौतिकतावादी को वैदिक निर्णय में कोई श्रद्धा नहीं होती, अतएव वह सदैव अपूर्ण प्रयोगात्मक ज्ञान या तथाकथित भौतिक ज्ञान के आधार पर झूठे विचार को प्राप्त होता है, जो कभी दिव्य ज्ञान को नहीं पा सकता।

अतएव जब तक निपट भौतिकतावादी या क्षणभंगुर देवताओं के उपासक किसी भगवद्भक्त के सम्पर्क में नहीं आ जाते तब तक उनके सारे प्रयास व्यर्थ जाते हैं। केवल दैवी पुरुषों, या भगवद्भक्तों के अनुग्रह से ही मनुष्य शुद्ध भक्ति प्राप्त कर सकता है और वही मानव जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है। केवल शुद्ध भक्त ही उसे उन्नतिशील जीवन का सही मार्ग दिखला सकता है। अन्यथा ईश्वर या देवताओं के विषय में कोई सूचना न होना तथा क्षणिक भोग की खोज में देवताओं की पूजा में संलग्न जीवन—ये दोनों ही भौतिकतावादी जीवन-शैलियाँ मृग-मरीचिका के विभिन्न पहलू हैं। इनकी सुन्दर व्याख्या

भगवद्गीता में भी हुई है, लेकिन उसे भक्तों की संगति में ही समझा जा सकता है, राजनीतिज्ञों या शुष्क ज्ञानियों की विवेचनाओं से नहीं।

ज्ञानं यदाप्रतिनिवृत्त-गुणोर्मि-चक्र-
मात्म-प्रसाद उत यत्र गुणेष्वसङ्गः ।
कैवल्य-सम्मत-पथस्त्वथ भक्ति-योगः
को निर्वृतो हरि-कथासु रतिं न कुर्यात् ॥ १२॥

शब्दार्थ

ज्ञानम्—ज्ञान; यत्—जो; आ—की सीमा तक; प्रतिनिवृत्त—पूर्णतया निवृत्त; गुण-ऊर्मि—भौतिक गुणों की तरंगें; चक्रम्—भँवर; आत्म-प्रसादः—आत्म-संतोष; उत—और भी; यत्र—जहाँ; गुणेषु—प्रकृति के गुणों में; असङ्गः—अनासक्ति; कैवल्य—दिव्य; सम्मत—स्वीकृत; पथः—पथ, रास्ता; तु—लेकिन; अथ—अतएव; भक्ति-योगः—भक्ति; कः—कौन; निर्वृतः—लीन; हरि-कथासु—भगवान् की दिव्य कथाओं में; रतिम्—आकर्षण; न—नहीं; कुर्यात्—करेंगे।

भगवान् हरि विषयक दिव्य ज्ञान वह ज्ञान है, जिससे भौतिक गुणों की तरंगें तथा भँवरें पूरी तरह थम जाती हैं। ऐसा ज्ञान भौतिक आसक्ति से रहित होने के कारण आत्मतुष्टि प्रदान करनेवाला है और दिव्य होने के कारण महापुरुषों द्वारा मान्य है। तो भला ऐसा कौन है, जो इससे आकृष्ट नहीं होगा?

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१०.९) के अनुसार, शुद्ध भक्त के लक्षण अत्यन्त अद्‌भुत हैं। शुद्ध भक्त अपने सभी कार्यों को सदा भगवान् की सेवा में लगाता है। इस प्रकार शुद्ध भक्त आह्लाद की भावनाओं का परस्पर विनिमय और दिव्य आनन्द का आस्वादन करते हैं। यदि किसी प्रामाणिक गुरु के मार्गदर्शन में उचित ढंग से साधना की जाय तो *साधन-अवस्था* में भी यह दिव्य आनन्द अनुभव किया जाता है। परिपक्व अवस्था में इस विकसित दिव्य भाव की परिणति भगवान् के साथ विशेष सम्बन्ध की अनुभूति में होती है, जिस के द्वारा जीवात्मा का भौतिक स्वभाव बना होता है (भगवान् के साथ माधुर्य प्रेम तक, जो सर्वोच्च दिव्य आनन्द माना गया है)। इसलिए *ईश-साक्षात्कार* का एकमात्र साधन होने के कारण भक्तियोग कैवल्य कहलाता है। इस सन्दर्भ में श्रील जीव गोस्वामी एक वैदिक कथन उद्‌धृत करते हैं (*एको नारायणो देवः परावराणां परम आस्ते कैवल्य-संज्ञितः*) और यह प्रतिपादित करते हैं कि भगवान् नारायण ही कैवल्य हैं और जिस साधन से मनुष्य भगवान् तक पहुँचता है, वह *कैवल्यपन्था* अर्थात् भगवान तक पहुँचने का एकमात्र साधन कहा जाता है। *कैवल्यपन्था* भगवान्-सम्बन्धी कथाओं के

श्रवण से प्रारम्भ होता है और ऐसी हरिकथा सुनने का स्वाभाविक परिणाम दिव्य ज्ञान का लाभ है, जिससे संसारी कथाओं से विरक्ति उत्पन्न होती है और विषयों के लिए भक्त में कोई रुचि नहीं रह जाती। भक्त के लिए सारे कार्यकलाप, चाहे वे सामाजिक हों या राजनीतिक, अनाकर्षक प्रतीत होते हैं और परिपक्व अवस्था में ऐसे भक्त को अपने शरीर तक से अरुचि हो जाती है, शारीरिक सम्बन्धियों की बात तो उठती ही नहीं। ऐसी दशा में वह भौतिक गुणों की तरंगों से विचलित नहीं होता। प्रकृति के विभिन्न गुण हैं और जिन कार्यों में सामान्य व्यक्ति अत्यधिक रुचि लेता है या भाग लेता है, वे भक्त के लिए अनाकर्षक होते हैं। यहाँ पर इस अवस्था को *प्रतिनिवृत्त-गुणोर्मि* कहा गया है और यह *आत्म-प्रसाद* अर्थात् किसी प्रकार के भौतिक सम्बन्ध के बिना आत्मतुष्टि द्वारा सम्भव है। प्रथम कोटि का भगवद्-भक्त (*महाभागवत*) भक्ति द्वारा इस अवस्था को प्राप्त होता है, किन्तु अपनी महानता के बावजूद, वह भगवान् की तुष्टि के लिए भगवान् की महिमा का उपदेशक बन सकता है और वह इसी भक्ति में अपने सांसारिक स्वार्थ तक को लगा देता है, जिससे नवदीक्षित भक्तों को अपने सांसारिक स्वार्थों को दिव्य आनन्द में परिणत करने का अवसर मिल सके। श्रील रूप गोस्वामी ने शुद्ध भक्त के इस कार्य को *निर्बन्धः कृष्ण-सम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते* कहा है। यदि सांसारिक कार्यों को भगवद्भक्ति से जोड़ दिया जाय, तो वे भी दिव्य या प्रमाणित *कैवल्य* कार्य बन जाते हैं।

शौनक उवाच

इत्यभिव्याहृतं राजा निशम्य भरतर्षभः ।
किमन्यत्पृष्टवान् भूयो वैयासकिमृषिं कविम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

शौनकः उवाच—शौनक ने कहा; इति—इस प्रकार; अभिव्याहृतम्—जो कुछ कहा गया; राजा—राजा ने; निशम्य—सुनकर; भरत-ऋषभः—महाराज परीक्षित; किम्—क्या; अन्यत्—अधिक; पृष्टवान्—पूछा; भूयः—पुनः; वैयासकिम्—व्यास के पुत्र से; ऋषिम्—दक्ष; कविम्—काव्यमय।.

शौनक ने कहा : व्यास-पुत्र श्रील शुकेदव गोस्वामी अत्यन्त विद्वान ऋषि थे और बातों को काव्यमय ढंग से प्रस्तुत करने में सक्षम थे। अतएव जो कुछ उन्होंने कहा, उसे सुनने के बाद महाराज परीक्षित ने उनसे और क्या पूछा?

तात्पर्य : भगवद्भक्त में सारे दैवीगुण स्वतः विकसित होते हैं। इन गुणों में से कुछ महत्त्वपूर्ण गुण

इस प्रकार हैं—वह दयालु, शान्त, सत्यवादी, समदर्शी, त्रुटिरहित, उदार, मृदु, स्वच्छ, अनासक्त, सर्व शुभैषी, सन्तुष्ट, कृष्ण का शरणागत, लालसा-रहित, सरल, स्थिर, आत्माराम, नियमित आहार करनेवाला, ज्ञानी, शिष्ट, निरभिमान, गम्भीर, सहानुभूतिशील, मैत्री भाववाला, कवि-हृदय, दक्ष होता है तथा मौन रहता है। भक्त के इन छब्बीस गुणों में, जिनका वर्णन कृष्णदास कविराज ने *चैतन्य-चरितामृत* में किया है, कवि-हृदय का विशेष उल्लेख शुकदेव गोस्वामी के लिए हुआ है। उन्होंने *श्रीमद्भागवत* को सुनकर जिस तरह प्रस्तुत किया, वह उनकी कवित्व-शक्ति का परिचायक है। वे स्वरूप-सिद्ध विद्वान ऋषि थे। दूसरे शब्दों में, वे ऋषियों में कवि थे।

एतच्छुश्रूषतां विद्वन् सूत नोऽर्हसि भाषितुम् ।
कथा हरि-कथोदर्का: सतां स्यु: सदसि ध्रुवम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; शुश्रूषताम्—सुनने के लिए उत्सुक रहनेवालों का; विद्वन्—हे विद्वान; सूत—सूत गोस्वामी; न:—हम सबों को; अर्हसि—आप कर सकते हैं; भाषितुम्—समझाने के लिए; कथा:—कथाएँ; हरि-कथा-उदर्का:—भगवत्कथा में प्रतिफलित हो; सताम्—भक्तों का; स्यु:—हों; सदसि—सभा में; ध्रुवम्—निश्चय ही।

हे विद्वान सूत गोस्वामी, आप हम सबों को ऐसी कथाएँ समझाते रहें, क्योंकि हम सुनने को उत्सुक हैं। इसके अतिरिक्त, ऐसी कथाएँ, जिनसे भगवान् हरि के विषय में विचार-विमर्श हो सके, भक्तों की सभा में अवश्य ही कही-सुनी जाँय।

तात्पर्य : जैसाकि हम रूप गोस्वामी कृत *भक्ति-रसामृत-सिन्धु* से पहले उद्धृत कर चुके हैं, यदि सांसारिक वस्तुओं को भी भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा से जोड़ दें, तो वे दिव्य बन जाती हैं। उदाहरणार्थ, *रामायण* तथा *महाभारत* जैसे महाकाव्य भी जो कि विशेष रूप से कम बुद्धिमान श्रेणी के लिए (स्त्रियों, शूद्रों तथा द्विजबन्धुओं के लिए) संस्तुत किये जाते हैं, वैदिक साहित्य माने जाते हैं, क्योंकि उनका संकलन भगवान् के कार्यकलापों के सम्बन्ध में किया गया है। *महाभारत* को पाँचवाँ वेद स्वीकार किया जाता हैं। अन्य चार विभाग है—*साम, यजु, ऋग्* तथा *अथर्व*। अल्पज्ञानी लोग *महाभारत* को वेदों का अंग (वेदांग) नहीं मानते, लेकिन महर्षि तथा आचार्य इसे पाँचवाँ वेद मानते हैं। *भगवद्गीता* भी *महाभारत* का एक अंश है और यह अल्पज्ञ लोगों के लिए भगवान् के उपदेशों से परिपूर्ण है। कुछ अल्पज्ञ यह कहते हैं कि *भगवद्गीता* गृहस्थों के लिए नहीं है, लेकिन ऐसे मूर्ख यह भूल जाते हैं कि

इसी *भगवद्गीता* का उपदेश अर्जुन को दिया गया जो गृहस्थ था और भगवान् स्वयं भी गृहस्थ की भूमिका में थे। अतएव, यद्यपि *भगवद्गीता* में वैदिक विद्या का उच्च दर्शन पाया जाता है, तो भी यह दिव्य विज्ञान के नौसिखियों के लिए है और *श्रीमद्भागवत* स्नातकों तथा उत्तर-स्नातकों के लिए है। अतएव *महाभारत,* पुराण तथा अन्य ऐसे ही ग्रंथ जो भगवान् की लीलाओं से ओतप्रोत हैं, सभी दिव्य ग्रंथ हैं और उनकी व्याख्या महान् भक्तों के समाज में अत्यन्त श्रद्धापूर्वक की जानी चाहिए।

कठिनाई तो यह है कि जब ऐसा साहित्य व्यावसायिक व्यक्तियों द्वारा व्याख्यायित होता है, तो यह इतिहास या महाकाव्यों की तरह संसारी साहित्य लगता है, क्योंकि इसमें अनेक ऐतिहासिक तथ्य तथा आँकड़े रहते हैं। इसीलिए यह कहा गया है कि ऐसे साहित्य की व्याख्या भक्तों के समाज में की जाय। जब तक ऐसे ग्रन्थों की व्याख्या भक्तों द्वारा नहीं की जाती, तब तक उच्च श्रेणी के लोग ऐसे साहित्य का रसास्वाद नहीं कर सकते। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि अन्ततोगत्वा भगवान् निर्विशेष नहीं हैं। वे परम पुरुष हैं और उनके कार्यकलाप विविध हैं। वे समस्त जीवों के पथ-प्रदर्शक हैं और पतितात्माओं के उद्धार हेतु अपनी निजी शक्ति तथा इच्छा से अवतरित होते हैं। इस तरह वे एक सामाजिक, राजनीतिक या धार्मिक नेता की तरह भूमिका निभाते हैं। चूँकि ऐसी भूमिकाएँ अन्ततः भगवान् की कथाओं की चर्चा में समाप्त होती हैं, अतएव ऐसी सारी प्रारम्भिक कथाएँ भी दिव्य हैं। मानव समाज के नागरिक कर्तव्यों के अध्यात्मीकरण का यही उपाय है। लोगों में इतिहास तथा अन्य संसारी साहित्य यथा कहानी, उपन्यास, नाटक, पत्रिका, समाचारपत्र पढ़ने की प्रवृत्ति होती है, अतएव उन्हें भगवान् की सेवा के साथ क्यों न जोड़ लिया जाय जिससे वे सभी भक्तों द्वारा आस्वादनीय कथाएँ बन जाँय? भगवान् निर्विशेष हैं, उनमें कोई क्रियाशीलता नहीं होती, वे पत्थर की तरह जड़ हैं, एवं उनके न कोई नाम हैं, न रूप—इस तरह के प्रचार ने लोगों को ईश्वरविहीन, श्रद्धाविहीन असुरों में परिणत कर दिया है। इस तरह वे, जितना ही भगवान् के दिव्य कार्यकलापों से दूर हटते जाते हैं, उतना ही अधिक संसारी कार्यों के अभ्यस्त होते जाते हैं जिससे भगवद्धाम जाने के बजाय उनका नरक जाने का मार्ग साफ होता रहता है।* *श्रीमद्भागवत* पाण्डवों के इतिहास (आवश्यक राजनीति तथा सामाजिक कार्यों से युक्त) से प्रारम्भ होता है, तो भी यह परमहंस संहिता अथवा श्रेष्ठ योगी के लिए

वैदिक साहित्य कहलाता है और इसमें *परं ज्ञानम्* अर्थात् सर्वोच्च दिव्य ज्ञान का वर्णन मिलता है। भगवान् के सारे शुद्ध भक्त परमहंस हैं। वे उन हंसों के समान हैं, जो दूध तथा पानी के मिश्रण में से दूध विलग करके पीने की कला जानते हैं।

start footnote here

पचास वर्ष पूर्व तक सभी भारतीयों की सामाजिक संरचना इतनी सुव्यवस्थित थी कि लोग ऐसा साहित्य नहीं पढ़ा करते थे, जो भगवान् के कार्यकलापों से जुड़ा न हो। वे ऐसा नाटक नहीं खेलते थे, जो भगवान् से सम्बन्धित न हो। वे ऐसे मेले या उत्सव का आयोजन भी नहीं करते थे, जो ईश्वर से सम्बन्धित न हो। न ही वे ऐसे स्थानों में जाते थे, जो पवित्र न हो तथा भगवान् की लीलाओं से पवित्र न हुआ हो। इसीलिए देहात का सामान्य व्यक्ति तक *रामायण, महाभारत,* गीता तथा *भागवत* के बारे में अपने बचपन से ही चर्चाएँ करने लगता था। किन्तु कलियुग के प्रभाव से, वे सब कूकरों-सूकरों की सभ्यता को प्राप्त हो चुके हैं और दिव्य ज्ञान की परवाह किये बिना, रोटी कमाने के लिए श्रम करते रहते हैं।

foot note ends here

स वै भागवतो राजा पाण्डवेयो महा-रथः ।
बाल-क्रीडनकैः क्रीडन् कृष्ण-क्रीडां य आददे ॥ १५॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निश्चय ही; भागवतः—भगवान् के महान् भक्त; राजा—महाराज परीक्षित; पाण्डवेयः—पाण्डवों का पौत्र; महा-रथः—महान् योद्धा; बाल—बाल्यावस्था में ही; क्रीडनकैः—खिलौनों के साथ; क्रीडन्—खेलते हुए; कृष्ण—भगवान् कृष्ण के; क्रीडाम्—कार्य-कलापों को; यः—जिसने; आददे—स्वीकार किया।

पाण्डवों के पौत्र महाराज परीक्षित अपने बाल्यकाल से भगवान् के महान् भक्त थे। वे खिलौनों से खेलते समय भी अपने कुलदेव की पूजा का अनुकरण करते हुए भगवान् कृष्ण की पूजा किया करते थे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में यह कहा गया है कि जो व्यक्ति समुचित रीति से योगाभ्यास करने में विफल रह जाता है, उसे भी ब्राह्मणों या सम्पन्न क्षत्रिय राजाओं या वणिकों के घर में जन्म लेने का अवसर प्रदान किया जाता है। किन्तु महाराज परीक्षित तो इनसे बढ़कर थे, क्योंकि वे अपने पूर्वजन्म में

भी महान् भगवद्‌भक्त थे। अतएव उन्होंने कुरुओं के राजवंश में और विशेष रूप से पाण्डवों के कुल में, जन्म लिया। अत: उन्हें बचपन से ही अपने परिवार में भगवान् कृष्ण की भक्ति से भलीभाँति परिचित होने का अवसर प्राप्त हुआ। सारे पाण्डव स्वयं भगवान् के भक्त होने के कारण राजमहल के कुलदेवता का सम्मान करते थे। सौभाग्यवश ऐसे परिवारों में जन्म लेनेवाले बालक अपने बाल्यकाल के खेलों में भी ऐसी देवपूजा का अनुसरण करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से हमें भी एक वैष्णव कुल में जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और हमने अपने पिता का अनुकरण करते हुए बचपन में भगवान् कृष्ण की पूजा का अनुसरण किया। हमारे पिता हमें सभी उत्सव मनाने के लिए प्रोत्साहित करते रहे, चाहे वह रथ यात्रा हो या दोल यात्रा और हम बालकों को तथा हमारे मित्रों को *प्रसाद* वितरित करने में खुले दिल से धन भी व्यय करते रहे। हमारे गुरु भी वैष्णव कुल में उत्पन्न हुए थे और उन्हें अपने महान् वैष्णव पिता ठाकुर भक्तिविनोद से सारा प्रोत्साहन प्राप्त होता रहा। सारे भाग्यशाली वैष्णव परिवारों में ऐसा ही होता है। सुप्रसिद्ध मीराबाई गोवर्धन–धारी भगवान् कृष्ण की महान् भक्तिन थीं।

ऐसे भक्तों का जीवन बहुधा एक–जैसा होता है, क्योंकि भगवान् के सभी बड़े–बड़े भक्तों के प्रारम्भिक जीवन में समानता रहती है। जीव गोस्वामी के अनुसार, महाराज परीक्षित ने भगवान् कृष्ण की वृन्दावन की बाललीलाओं को अवश्य सुना होगा, क्योंकि वे अपने किशोर सखाओं के साथ इन लीलाओं का अनुकरण करते थे। श्रीधर स्वामी के अनुसार, महाराज परीक्षित गुरुजनों द्वारा कुलदेवता की पूजा का अनुकरण करते थे। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भी श्रील जीव गोस्वामी के कथन की पुष्टि की है। उनके मतानुसार महाराज परीक्षित को बाल्यकाल से ही भगवान् कृष्ण की भक्ति में आसक्ति थी। उन्होंने उपर्युक्त कार्यकलापों में से किसी का अनुकरण किया होगा और ये सभी कार्यकलाप यह सिद्ध करते हैं कि वे बाल्यकाल से भक्त थे, जो कि *महाभागवत* का लक्षण है। ऐसे *महाभागवत* नित्य–सिद्ध कहलाते हैं, जिसका अर्थ है जन्म से ही मुक्तात्मा होना, किन्तु ऐसे भी लोग हैं, जो जन्म से ही मुक्त न हों, अपितु संगति से भक्ति की प्रवृत्ति विकसित करते हों। ऐसे लोग *साधन–सिद्ध* कहलाते हैं। अन्ततोगत्वा इन दोनों में कोई अन्तर नहीं रहता अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि

शुद्ध भक्तों की संगति से कोई भी *साधनसिद्ध* भगवद्भक्त बन सकता है। इसका ज्वलन्त उदाहरण हमारे महान् गुरु श्री नारद मुनि हैं। अपने पूर्व-जन्म में वे मात्र एक दासीपुत्र थे, किन्तु महान् भक्तों की संगति से, वे ऐसे भगवद्भक्त बन गये जो भक्ति-मय सेवा के इतिहास में अद्वितीय हैं।

वैयासकिश्च भगवान् वासुदेव-परायणः ।
उरुगाय-गुणोदाराः सतां स्युर्हि समागमे ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

वैयासकिः—व्यासदेव के पुत्र; च—भी; भगवान्—दिव्य ज्ञान से पूर्ण; वासुदेव—भगवान् कृष्ण पर; परायणः—अनुरक्त; उरुगाय—महान् दार्शनिकों द्वारा महिमान्वित भगवान् कृष्ण का; गुण-उदाराः—महान् गुण; सताम्—भक्तों का; स्युः—अवश्य हुआ; हि—निश्चय ही; समागमे—उपस्थिति से ।.

व्यासपुत्र शुकदेव गोस्वामी दिव्य ज्ञान से पूर्ण भी थे और वसुदेव-पुत्र भगवान् श्रीकृष्ण के महान् भक्त भी थे। अतएव भगवान् कृष्ण-विषयक चर्चाएँ अवश्य चलती रही होंगी, क्योंकि बड़े-बड़े दार्शनिकों द्वारा तथा महान् भक्तों की सभा में कृष्ण के गुणों का बखान होता ही रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *सताम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *सताम्* का अर्थ है 'शुद्ध भक्त' जिसे भगवान् की सेवा करने के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की इच्छा नहीं रहती। ऐसे भक्तों की संगति में ही भगवान् कृष्ण के दिव्य यश का सही-सही वर्णन हो सकता है। भगवान् ने कहा है कि उनकी कथाएँ आध्यात्मिक महत्त्व से युक्त होती हैं और यदि कोई एक बार भी *सताम्* की संगति में भगवान् के विषय में श्रवण करता है, तो उसे इस महान् शक्ति का आभास मिल जाता है और उसमें स्वतः भक्ति उत्पन्न हो जाती है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, महाराज परीक्षित जन्म से ही भगवान् के भक्त थे। उसी तरह शुकदेव गोस्वामी भी थे। वे दोनों समान स्तर पर थे, यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि महाराज परीक्षित राजसी सुविधाओं के अभ्यस्त थे जबकि शुकदेव गोस्वामी एक आदर्श महान् त्यागी थे, यहाँ तक कि वे शरीर में वस्त्र भी नहीं धारण करते थे। ऊपर-ऊपर से दोनों में विरोधाभास दिख सकता है, लेकिन मूलतः दोनों ही अनन्य शुद्ध भगवद्भक्त थे। जब ऐसे भक्त इकट्ठे जुटते हैं, तो उनके पास भगवान् की महिमा-चर्चा करने या भक्तियोग के अतिरिक्त अन्य कोई विषय नहीं रहता। *भगवद्गीता* में भी जब भगवान् तथा उनके भक्त अर्जुन के बीच वार्ता हुई तो भक्तियोग के अतिरिक्त कोई दूसरी चर्चा

नहीं हो सकती थी। फिर भी इस पर संसारी विद्वान अपने-अपने तरीके से सोच सकते हैं। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, *वैयासकि:* शब्द के बाद च शब्द का प्रयोग यह बताता है कि शुकदेव गोस्वामी तथा महाराज परीक्षित दोनों ही पहले से ही एक कोटि के थे, यद्यपि उनमें से एक गुरु की भूमिका निभा रहा था और दूसरा शिष्य की। चूँकि श्रीकृष्ण ही कथाओं के केन्द्र हैं, अतएव *वासुदेव-परायण:* शब्द वासुदेव के भक्त को सामान्य लक्ष्य के तौर पर सूचित करता है। यद्यपि वहाँ पर अनेक अन्य लोग एकत्रित थे जहाँ महाराज परीक्षित उपवास कर रहे थे, लेकिन सहज निष्कर्ष यह निकलता है कि वहाँ पर कृष्ण के महिमा-गायन के अतिरिक्त अन्य कोई चर्चा नहीं हुई होगी, क्योंकि प्रमुख वक्ता शुकदेव गोस्वामी थे और प्रमुख श्रोता महाराज परीक्षित थे। अतएव भगवान् के दो प्रमुख भक्तों के बीच कहे तथा सुने जाने के कारण *श्रीमद्भागवत* भगवान् श्रीकृष्ण के महिमा-गायन के ही निमित्त है।

आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ ।
तस्यर्ते यत्क्षणो नीत उत्तम-श्लोक-वार्तया ॥ १७॥

शब्दार्थ

आयु:—उम्र; हरति—घटाता है; वै—निश्चय ही; पुंसाम्—लोगों की; उद्यन्—उदय होते; अस्तम्—अस्त होते; च—भी; यन्—चलते हुए; असौ—सूर्य; तस्य—भगवान् की महिमा का गायन करनेवाले का; ऋते—सिवाय; यत्—जिससे; क्षण:—समय; नीत:—उपयोग किया हुआ; उत्तम-श्लोक—सर्वोत्तम भगवान् की; वार्तया—वार्ताओं में।

उदय तथा अस्त होते हुए सूर्य सबों की आयु को क्षीण करता है, किन्तु जो सर्वोत्तम भगवान् की कथाओं की चर्चा चलाने में अपने समय का सदुपयोग करता हैं, उसकी आयु क्षीण नहीं होती।

तात्पर्य : यह श्लोक, अप्रत्यक्ष रूप से, भक्ति-मय सेवा को त्वरित करके भगवान् के भूले सम्बन्धों की अनुभूति कराने के लिए मानव जीवन का सदुपयोग करने की महत्ता की पुष्टि करता है। कहा गया है कि काल तथा ज्वार-भाटा किसी की प्रतीक्षा नहीं करते। अतएव सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक का समय व्यर्थ ही बीतेगा, यदि इसका उपयोग आध्यात्मिक मूल्यों की पहचान के लिए नहीं किया जाता। जीवन-काल के किसी अंश के नष्ट हो जाने पर कितनी भी स्वर्ण-राशि देकर इसकी भरपाई नहीं की जा सकती। जीव को यह मनुष्य-जीवन इसलिए प्रदान किया जाता है कि वह अपनी आध्यात्मिक पहचान एवं अपने सुख के स्थायी स्रोत को जान सके। जीव तो और वह भी मनुष्य, सुख

की तलाश में रहता है, क्योंकि सुख जीव की प्राकृतिक अवस्था है। किन्तु वह भौतिक परिवेश में व्यर्थ ही उसकी खोज करता है। जीव स्वाभाविक दृष्टि से परम पूर्ण का आध्यात्मिक स्फुलिंग है और उसका सुख उसके आध्यात्मिक कार्यों से पूर्णत: अनुभवगम्य है। भगवान् पूर्ण आत्मा हैं और उनका नाम, रूप, गुण, लीलाएँ, पार्षद तथा व्यक्तित्व सभी उनसे अभिन्न हैं। मानव के एक बार भक्ति के सही मार्ग से भगवान् की उपर्युक्त शक्तियों में से किसी एक के भी सम्पर्क में आते ही, तुरन्त उसके लिए सिद्धि के द्वार खुल जाते हैं। *भगवद्गीता* (२.४०) में भगवान् ने ऐसे सम्पर्क की व्याख्या इन शब्दों में की है, ''भक्ति के लिए किये गये प्रयास निष्फल नहीं होते। ऐसे कार्यों का शुभारम्भ भी मनुष्य को भौतिक भय के पारावार से उबारने के लिए पर्याप्त है।'' जिस प्रकार उच्चतम क्षमता की औषधि नसों के माध्यम से इंजेक्शन लगाते ही सारे शरीर पर अपना प्रभाव दिखा देती है, उसी प्रकार भगवद्भक्त के कर्ण-कुहरों में प्रविष्ट होनेवाली भगवान् की कथाएँ बड़ी तेजी से कार्य करती हैं। दिव्य कथाओं का श्रवण द्वारा पान करने का अर्थ है पूर्ण अनुभूति, जिस तरह वृक्ष के किसी अंग में फल लगने का अर्थ है पूरे वृक्ष का फलित होना। शुकदेव गोस्वामी जैसे शुद्ध भक्त के संग में की गई यह क्षणमात्र की अनुभूति मनुष्य-जीवन को अमरत्व प्रदान करती है। इस प्रकार सूर्य शुद्ध भक्त की आयु को चुरा नहीं पाता, क्योंकि भक्त भगवान् की सेवा में लगा रहकर अपने जीवन को शुद्ध कर लेता है। मृत्यु शाश्वत जीव के भौतिक संदूषण का लक्षण है। इसी संदूषण के कारण जीव जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के नियमों के अधीन हो जाता है।

जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने उद्धरण दिया है, दान जैसे पुण्य कर्म की भौतिक रीति की संस्तुति *स्मृति* शास्त्रों द्वारा की गई है। सुपात्र को दान में दिया गया धन अगले जीवन के लिए सुनिश्चित बैंक-बचत जैसा है। ऐसा दान ब्राह्मण को दिये जाने की संस्तुति है। यदि यह धन अब्राह्मण (ब्राह्मण गुणों से विहीन) को दान में दिया जाता है, तो वह उसी अनुपात में अगले जन्म में वापस हो जाता है। यदि यह धन अर्धशिक्षित ब्राह्मण को दिया जाता है, तो भी यह दुगुना होकर लौट आता है। किन्तु यदि यह धन पूर्णत: योग्य ब्राह्मण को दिया जाता है, तो वह सैंकड़ों हजारों गुना होकर वापस मिलता है। यदि यही धन *वेद-पारग* (जिसे सचमुच वेदों के पथ की अनुभूति हो चुकी है) को दिया

जाता है, तो वह असंख्य गुना होकर मिलता है। वैदिक ज्ञान का चरम लक्ष्य भगवान् कृष्ण की अनुभूति है जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*)। दान में जो भी धन दिया जाता है उसके लौटने की गारंटी है, चाहे उसका अनुपात जो भी हो। इसी प्रकार, शुद्ध भक्त की संगति से भगवान् की दिव्य कथाओं के श्रवण तथा कीर्तन में बिताया गया एक क्षण शाश्वत जीवन या भगवद्धाम लौटने की पूरी गारंटी है *। मद्धाम गत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।* दूसरे शब्दों में, भगवद्भक्त को शाश्वत जीवन की गारंटी रहती है। इस जीवन में भक्त का बुढ़ापा या रोग ऐसे गारंटीयुक्त शाश्वत जीवन के लिए प्रोत्साहन मात्र ही है।

तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत ।
न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामे पशवोऽपरे ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तरवः—वृक्ष; किम्—क्या; न—नहीं; जीवन्ति—जीवित रहते हैं; भस्त्राः—धौंकनी; किम्—क्या; न—नहीं; श्वसन्ति—साँस लेते हैं; उत—भी; न—नहीं; खादन्ति—खाते हैं; न—नहीं; मेहन्ति—वीर्य स्खलित करते हैं; किम्—क्या; ग्रामे—स्थान में; पशवः—पशु-तुल्य जीव; अपरे—अन्य।

क्या वृक्ष जीते नहीं हैं? क्या लुहार की धौंकनी साँस नहीं लेती? हमारे चारों ओर क्या पशुगण भोजन नहीं करते? या वीर्यपात नहीं करते?

तात्पर्य : आधुनिक युग का भौतिकतावादी व्यक्ति तर्क करेगा कि जीवन या इसका कोई भी अंश अध्यात्म-विद्या या धर्मशास्त्र-विषयक वाद-विवाद के लिए नहीं है। जीवन तो अधिकाधिक काल तक खाने, पीने, संभोग करने, मौज-मस्ती करने और आनन्द लूटने के लिए है। आधुनिक व्यक्ति भौतिक विज्ञान की उन्नति के द्वारा सदा-सदा के लिए जीवित रहना चाहता है। अधिकतम अवधि तथा जीवन को दीर्घ बनाने के लिए अनेक मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त हैं। किन्तु *श्रीमद्भागवत* आगाह करती है कि यह जीवन केवल आर्थिक विकास या खाने, पीने, मौज उड़ाने के भोगवादी दर्शन के लिए अथवा भौतिकतावादी विज्ञान के विकास के लिए नहीं मिला है। जीवन तो एकमात्र *तपस्या* के लिए, शुद्धि के लिए मिला है, जिससे मनुष्य इस जीवन के अन्त होने पर शाश्वत जीवन में प्रवेश कर सके।

भौतिकतावादी इस जीवन को अधिक से अधिक दीर्घ बनाना चाहते हैं, क्योंकि उन्हें अगले जीवन की कोई खबर नहीं रहती। वे इसी जीवन में अधिकतम सुख चाहते हैं, क्योंकि वे अन्तिम रूप से

सोचते हैं कि मृत्यु के बाद जीवन नहीं होता। जीव की नित्यता के विषय में अज्ञानता तथा भौतिक जगत में आवरण के परिवर्तन ने आधुनिक मानव समाज की संरचना में उत्पात मचा रखा है, फलस्वरुप अनेक समस्याएँ आ गई हैं, जिन्हें आधुनिकीकृत मनुष्य की विविध योजनाओं ने द्विगुणित कर दिया है। समाज की समस्याओं को हल करने की योजनाओं ने इन कठिनाइयों को और ही भड़का दिया है। यदि यह मान लिया जाय कि मनुष्य की आयु बढ़कर एक सौ वर्ष से भी ऊपर हो जाय तो जरुरी नहीं है कि मानव सभ्यता का विकास होगा। *भागवत* का कथन है कि कुछ वृक्ष सैकड़ों-हजारों वर्षों तक जीवित रहते हैं। वृन्दावन में एक इमली का वृक्ष है (यह स्थान इमलीताल कहलाता है) जो वहाँ पर भगवान् श्रीकृष्ण के समय से स्थित बताया जाता है। कलकत्ते के वानस्पतिक उद्यान में एक बरगद का वृक्ष है, जो पाँच सौ वर्षों से भी पुराना कहा जाता है और विश्वभर में ऐसे अनेक वृक्ष हैं। स्वामी शंकाराचार्य केवल ३२ वर्ष जीवित रहे और भगवान् चैतन्य महाप्रभु केवल ४८ वर्ष रहे। तो क्या इसका अर्थ यह हुआ कि उपर्युक्त वृक्षों का दीर्घजीवन शंकर या चैतन्य से अधिक महत्त्वपूर्ण है? बिना आध्यात्मिक महत्त्व के दीर्घजीवन अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होता। मनुष्य सन्देह कर सकता है कि वृक्ष इसीलिए जीवित हैं क्योंकि वे श्वास नहीं लेते, किन्तु आधुनिक विज्ञानियों ने, यथा बोस ने, यह पहले ही सिद्ध कर दिया है कि पौधों में भी प्राण है, अतएव श्वास लेना वास्तविक जीवन का लक्षण नहीं है। *भागवत* का कहना है कि लुहार की धौंकनी तेजी से श्वास लेती है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि धौंकनी में प्राण है। भौतिकतावादी तर्क करेगा कि पौधे का प्राण तथा मनुष्य का प्राण एकसमान नहीं, क्योंकि पौधा न तो नाना प्रकार के पकवान खा सकता है और न सम्भोग-सुख उठा सकता है। इसके उत्तर में *भागवत* यह पूछती है कि क्या एक ही गाँव में मनुष्यों के साथ रहनेवाले कूकर-सूकर नहीं खाते या विषयी जीवन नहीं बिताते? *श्रीमद्भागवत* में 'अन्य पशुओं' का जो विशेष उल्लेख हुआ है, उसका अर्थ यह है कि जो पुरुष केवल खाने, श्वास लेने तथा संभोग करने के पाशविक जीवन को कुछ बेहतर बनाने में लगे रहते हैं, वे मनुष्य के रूप में पशु होते हैं। बेहतर दिखने वाले इस प्रकार के पशुओं का समाज दुखी मानवता को कभी लाभ नहीं पहुँच सकता, क्योंकि एक पशु दूसरे पशु को हानि तो पहुँचा सकता है, किन्तु कोई विरला ही लाभ पहुँचा सकता है।

श्व-विड्वराहोष्ट्र-खरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः ।
न यत्कर्ण-पथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

श्व—कुत्ता; विट्-वराह—ग्रामीण शूकर, जो विष्ठा खाता है; उष्ट्र—ऊँट; खरैः—तथा गधों से; संस्तुतः—पूर्णतया प्रशंसित; पुरुषः—व्यक्ति; पशुः—पशु; न—कभी नहीं; यत्—उसका; कर्ण—कान; पथ—रास्ता; उपेतः—पहुँचा हुआ; जातु—किसी समय; नाम—पवित्र नाम; गदाग्रजः—समस्त बुराइयों से उद्धार करनेवाले भगवान् कृष्ण।.

कुत्तों, सूकरों, ऊँटों तथा गधों जैसे पुरुष, उन पुरुषों की प्रशंसा करते हैं, जो समस्त बुराइयों से उद्धार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य लीलाओं का कभी भी श्रवण नहीं करते।

तात्पर्य : जन-सामान्य को यदि जीवन के उच्चतर आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा नहीं दी जाती तो वे पशु से भी अधम हैं और इस श्लोक में उनकी समता कुत्तों, शूकरों, ऊँटों तथा गधों से की गई है। आधुनिक विश्वविद्यालय की शिक्षा एक तरह से मनुष्य को कूकरों की मनोवृत्ति प्रदान करती है, जिससे किसी बड़े मालिक की सेवा की जाय। तथाकथित शिक्षा को पूरी कर लेने के बाद तथाकथित शिक्षित व्यक्ति किसी नौकरी के लिए द्वार-द्वार कुत्तों की भाँति घूमते रहते हैं और उनमें से अधिकतर यह कहकर दुत्कार दिये जाते हैं कि कोई स्थान नहीं हैं। जिस प्रकार कुत्ते उपेक्षित पशु हैं और एक रोटी के टुकड़े के लिए अपने स्वामी की आज्ञापूर्वक सेवा करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी पर्याप्त फल पाये बिना स्वामी की आज्ञा का पालन करता है।

जो लोग खाने के मामले में कोई भेदभाव नहीं बरतते और सभी प्रकार की सड़ी-गली वस्तुएँ खाते हैं, वे शूकर तुल्य हैं। शूकरों को मल खाना पसन्द है। इस तरह मल पशु विशेष का प्रिय खाद्य है। इसी तरह कुछ पशु या पक्षी पत्थर तक खाते हैं। किन्तु मनुष्य सभी तरह की वस्तुएँ खाने के लिए नहीं बना; वह तो अन्न, शाक, फल, दूध, चीनी इत्यादि खाने के लिए आया है। पशु-आहार मनुष्यों के लिए नहीं है। ठोस भोजन चबाने के लिए मनुष्य में विशेष प्रकार के दाँत होते हैं जिनसे वह फल तथा शाक काट सकता है। मनुष्य के दो कुकुर-दाँत भी होते हैं जिनसे, यदि वह चाहे तो, पशु-भोजन खा सकता है। यह सबों को ज्ञात है कि एक मनुष्य के लिए जो भोजन है, वही दूसरे मनुष्य के लिए विष हो सकता है। मनुष्यों से अपेक्षा की जाती है कि वे भगवान् श्रीकृष्ण को अर्पित भोग के बचे-खुचे

अंश को ग्रहण करेंगे और भगवान् पत्र, पुष्प, फल आदि ग्रहण करते हैं (*भगवद्गीता* ९.२६)। वैदिक शास्त्रों में कहा गया है कि भगवान् को कभी पशु–आहार अर्पित नहीं करना चाहिए। अतएव मनुष्य विशेष प्रकार का भोजन करने के लिए है। उसे तथाकथित विटामिनों की पूर्ति के लिए पशुओं का अनुकरण नहीं करना चाहिए। अतएव जो व्यक्ति भोजन के मामले में विवेक से काम नहीं लेता, उसे शूकर के तुल्य बताया गया है।

ऊँट एक ऐसा पशु है, जो कँटीली वस्तुएँ खाने से आनन्दित होता है। जो व्यक्ति पारिवारिक जीवन या तथाकथित भोग का सांसारिक जीवन बिताना चाहता है, उसकी तुलना ऊँट से की गई है। भौतिकतावादी जीवन काँटों से भरा हुआ है अतएव मनुष्य को चाहिए कि वैदिक अनुष्ठानों की संस्तुत विधि के अनुसार जीवनयापन करे, जिससे बुरे से बुरे सौदे से भी लाभ लिया जा सके। भौतिक जगत में अपना ही खून चूस कर पालन–पोषण करना होता है। भौतिक भोग का आकर्षण–केन्द्र विषयी जीवन है। विषयी जीवन का भोग अपना खून चूसना होता है, इस प्रसंग में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। ऊँट भी, कँटीली टहनियाँ चबाते समय, अपना रक्त चूसता है। ऊँट जिन कँटीली टहनियों को खाता है, वे उसकी जीभ को काट देती हैं, जिससे उसके मुँह के भीतर खून आने लगता है। रक्त के साथ मिलकर काँटे मूर्ख ऊँट के लिए स्वाद उत्पन्न कर देते हैं और वह झूठे आनन्द के साथ काँटे खाने में लगा रहता है। इसी प्रकार बड़े–बड़े व्यापारी और उद्योगपति जो विभिन्न साधनों से या संदेहास्पद साधनों से धन कमाने के लिए कठोर श्रम करते हैं, अपने रक्त से मिश्रित अपने कर्मों का कँटीला फल खाते हैं। इसीलिए *भागवत* में इन रुग्ण पुरुषों की गणना ऊँटों के साथ की गई है।

गधा ऐसा पशु है, जो पशुओं में सबसे बड़ा मूर्ख माना जाता है। गधा कठिन श्रम करता है और, बिना किसी लाभ के, भारी से भारी बोझ ढोता है*

START FOOTNOTE

मनुष्य जीवन मूल्यों की प्राप्ति के लिए है। यह जीवन अर्थदम् अर्थात् मूल्य प्रदान करनेवाला कहलाता है। और जीवन का सबसे बड़ा मूल्य क्या है? यह है भगवद्धाम वापस जाना, जैसाकि

भगवद्गीता (८.१५) में इंगित हुआ है। मनुष्य के स्वार्थ का लक्ष्य भगवद्धाम वापस जाना होना चाहिए। गधा अपना हित नहीं पहचानता। वह दूसरों के लिए कठिन श्रम करता है। जो व्यक्ति मानव जीवन में, अपने निजी हित को भूलकर केवल दूसरों के लिए ही कार्य करता है, वह गधे के समान है। *ब्रह्मवैवर्त पुराण* में कहा गया है—

अशीतिं चतुरश्चैव लक्षांस्ताञ्जीवजातिषु।

भ्रमद्भि: पुरुषै: प्राप्यं मानुष्यं जन्म-पर्ययात्॥

तदप्यभलतां जात: तेषां आत्माभिमानिनाम्।

वराकाणाम् अनाश्रित्य गोविन्दचरणद्वयम्॥

मानव जीवन इतना महत्त्वपूर्ण है कि स्वर्ग-लोक के देवता भी कभी-कभी इस धरा पर मनुष्य-देह की कामना करते हैं, क्योंकि मानव शरीर में ही मनुष्य भगवद्धाम को सरलता से वापस जा सकता है। यदि ऐसा महत्त्वपूर्ण शरीर प्राप्त करके भी कोई गोविन्द, श्रीकृष्ण के साथ अपने भूले हुए नित्य सम्बन्ध को पुन:स्थापित नहीं कर पाता, तो वह निश्चय ही मूर्ख है, जिसने अपना सारा स्वार्थ भुला दिया है। यह मनुष्य-देह चौरासी लाख योनियों में क्रमश: घूमने के बाद प्राप्त होती है। और बेचारा मनुष्य अपने स्वार्थ को भूलकर राजनीतिक उत्थान तथा आर्थिक विकास के नेता के रूप में अन्यों को ऊपर उठाने के अनेक भ्रामक कार्यों में संलग्न रहता है। राजनीतिक उत्थान या आर्थिक विकास के लिए प्रयास करने में कोई हानि नहीं है, किन्तु मनुष्य को जीवन के असली उद्देश्य को भूलना नहीं चाहिए। ऐसे सारे परोपकारी कार्यों को भगवद्धाम वापस जाने के साथ जोड़ देना चाहिए। जो मनुष्य यह नहीं जानता, वह उस गधे के तुल्य है, जो दुसरों या अपने कल्याण की परवाह न करके अन्यों के लिए ही कार्य करता है।

END FOOTNOTE

सामान्यतया धोबी गधे को रखता है, जिसकी स्वयं की स्थिति सम्मानजनक नहीं होती और गधे की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि गधी द्वारा उसे डुलत्ती मारे जाने पर वह उसका अभ्यस्त हो जाता

है। जब गधा मैथुन के लिए ललचाता है, तो गधी दुलत्ती चलाती है, फिर भी गधा मैथुन के लिए उसके पीछे-पीछे लगा रहता है। अतएव पत्नी के गुलाम की तुलना गधे से की जाती है। जनसामान्य, इस कलियुग में विशेषरूप से, अत्यधिक श्रम करता है। वह गधे के कार्य में लगा रहता है, वह भारी बोझा ढोता है और ठेला तथा रिक्शा खींचता है। मानव सभ्यता के तथाकथित विकास ने मनुष्य को गधे के कार्य में लगा रखा है। बड़ी-बड़ी फैक्टरियों तथा कार्यशालाओं में भी श्रमिक-गण भारी काम में लगे रहते हैं और दिन भर कठिन श्रम करने के बाद फिर से बेचारे मजदूर को घर पर न केवल कामसुख के लिए अपितु अनेक घरेलू कार्यों के लिए उसकी स्त्री लतियाती है।

अतएव *श्रीमद्भागवत* द्वारा आध्यात्मिक प्रकाश के बिना सामान्य मनुष्य को कूकरों, शूकरों, ऊँटों तथ गधों की श्रेणी में रखा जाना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं है। भले ही ऐसे अज्ञानी जनसमूह के नेता तमाम शूकरों द्वारा पूजित होने के लिए गर्वित हों, किन्तु यह कोई सम्मान नहीं है। *भागवत* तो खुला घोषित करती है कि कोई व्यक्ति भले ही ऐसे कूकरों-सूकरों के वेश में मनुष्यों का नेता हो, किन्तु यदि उसे कृष्ण के विज्ञान से अवगत होने में अभिरुचि नहीं है, तो ऐसा व्यक्ति पशु के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उसे शक्तिशाली प्रबल पशु या विशाल पशु कहा जा सकता है, किन्तु *श्रीमद्भागवत* के अनुसार, उसे अपने नास्तिकतावादी स्वभाव के कारण मनुष्य की कोटि में कभी नहीं रखा जा सकता। अथवा दूसरे शब्दों में, कूकरों-सूकरों जैसे व्यक्तियों के ईश्वर-विहीन नेता पशुओं से भी बढ़कर हैं, जिनमें पाशविक गुणों का अनुपात अधिक है।

बिले बतोरुक्रम-विक्रमान् ये
न शृण्वतः कर्ण-पुटे नरस्य ।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत
न चोपगायत्युरुगाय-गाथाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

बिले—साँपों के बिल; बत—सदृश; उरुक्रम—अद्‌भुत कार्य करनेवाले भगवान्; विक्रमान्—शौर्य; ये—जो सब; न—कभी नहीं; शृण्वतः—सुनते हैं; कर्ण-पुटे—कर्ण-छिद्रों में; नरस्य—मनुष्य के; जिह्वा—जीभ; असती—व्यर्थ; दार्दुरिका—मेंढकों के; इव—सदृश; सूत—हे सूत गोस्वामी; न—कभी नहीं; च—भी; उपगायति—तेजी से उच्चारण करती है; उरुगाय—गाने योग्य; गाथाः—गीत।

जिसने भगवान् के शौर्य तथा अद्‌भुत कार्यों की कथाएँ नहीं सुनी हैं तथा जिसने भगवान्

के विषय में गीतों को गाया या उच्चस्वर से उच्चारण नहीं किया है, उसके श्रवण-रंध्र मानो साँप के बिल हैं और जीभ मानो मेंढक की जीभ है।

तात्पर्य : भगवान् की भक्ति-मय सेवा शरीर के सभी अंगों या उपागों द्वारा सम्पन्न होती है। यह आत्मा की दिव्य गतिशील शक्ति है। अतएव भक्त भगवान् की सेवा में शत-प्रतिशत लग जाता है। भक्ति कोई तभी कर सकता है, जब उसके शरीर की इन्द्रियाँ भगवान् के सम्बन्ध की दृष्टि से शुद्ध हों और वह अपनी समस्त इन्द्रियों से भगवान् की सेवा कर सकता हो। फलत: जब तक इन्द्रियाँ केवल इन्द्रिय-तृप्ति में लगी रहती हैं, तब तक इन्द्रियों तथा उनके कार्यों को अशुद्ध या भौतिकतावादी ही मानना चाहिए। शुद्ध इन्द्रियाँ इन्द्रिय-तृप्ति में नहीं, अपितु पूर्णत: भगवान् की सेवा में लगी रहती हैं। भगवान् अपनी समस्त इन्द्रियों समेत परमेश्वर हैं और सेवक, जो भगवान् का अंश-स्वरूप है, वह भी उन्हीं इन्द्रियों से युक्त होता है। भगवान् की सेवा इन्द्रियों का नितान्त शुद्ध उपयोग है, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है। भगवान् ने पूर्ण इन्द्रियों से उपदेश दिया और अर्जुन ने पूर्ण इन्द्रियों से उसे ग्रहण किया। इस प्रकार यह गुरु तथा शिष्य के मध्य ज्ञेय तथा तार्किक ज्ञान का पूर्ण विनिमय था। आध्यात्मिक ज्ञान कोई विद्युत् आवेश नहीं है, जो गुरु से शिष्य में प्रवेश करता है, जैसाकि कुछ प्रचारक मूर्खतावश दावा करते हैं। प्रत्येक वस्तु ज्ञान तथा तर्क से पूर्ण है और गुरु तथा शिष्य के मध्य विचारों का आदान-प्रदान तभी सम्भव है, जब उसे विनीत भाव तथा सचाई से ग्रहण किया जाय। *चैतन्य-चरितामृत* में कहा गया है कि मनुष्य को चाहिए कि बुद्धि तथा पूर्ण चेतना से युक्त होकर भगवान् चैतन्य की शिक्षाएँ ग्रहण करे, जिससे वह महान् ध्येय को तर्क द्वारा समझ सके।

जीव की विभिन्न इन्द्रियाँ अशुद्ध अवस्था में संसारी कार्यों में संलग्न रहती हैं। यदि उसके कान, *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* का श्रवण करते हुए भगवान् की सेवा में नहीं लगे रहते, तो यह निश्चित है कि उसके कानों के छेद कूड़ा-करकट से भर जायेंगे। अतएव *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के सन्देशों का प्रसार उच्च स्वर से विश्व भर में होना चाहिए। यह उस शुद्ध भक्त का कर्तव्य है, जिसने सही स्रोत से उनके विषय में श्रवण किया है। बहुत से लोग दूसरों से कुछ बोलना चाहते रहते हैं, लेकिन चूँकि उन्हें वैदिक विद्या के विषय में बोलने की शिक्षा नहीं दी गई रहती, अतएव वे व्यर्थ की

बातें करते हैं और लोग उन्हें बिना समझे सुनते रहते हैं। सांसारिक खबरों को फैलाने के एक नहीं सैकड़ों- हजारों साधन हैं और संसार भर के लोग उन्हें ग्रहण भी करते रहते हैं। इसी तरह संसार भर के लोगों को भगवान् की दिव्य कथाएँ सुनने के लिए शिक्षा दी जानी चाहिए और भगवान् के भक्त को चाहिए कि उच्चस्वर से बोले, जिससे लोग सुन सकें। मेंढ़क उच्चस्वर से टर्राते हैं, जिनके कारण वे साँपों को आमन्त्रण देते हैं, जो उन्हें खा जाते हैं। मनुष्य को विशेषरूप से वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के लिए जीभ प्रदान की गई है, मेंढकों के समान टर्राने के लिए नहीं। इस श्लोक में प्रयुक्त *असती* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है 'ऐसी स्त्री जो वेश्या बन गई है।' वेश्या अपने उत्तम स्त्री-गुणों के लिए विख्यात नहीं है। इसी प्रकार जीभ, जो मनुष्य को वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के लिए मिली है, वेश्या मानी जायेगी यदि उसे किसी सांसारिक प्रलाप के लिए प्रयुक्त किया जाये।

भारः परं पट्ट-किरीट-जुष्ट-
मप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम् ।
शावौ करौ नो कुरुते सपर्यां
हरेर्लसत्काञ्चन-कङ्कणौ वा ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

भारः—बहुत बड़ा बोझा; परम्—भारी; पट्ट—रेशम; किरीट—पगड़ी; जुष्टम्—से सज्जित; अपि—भी; उत्तम—उत्कृष्ट; अङ्गम्—शरीर के अंग; न—कभी नहीं; नमेत्—झुकते हैं; मुकुन्दम्—उद्धार करनेवाले भगवान् कृष्ण को; शावौ—मृतक शरीर; करौ—दो हाथ; नो—नहीं; कुरुते—करते हैं; सपर्याम्—पूजा; हरेः—भगवान् की; लसत्—चमचमातेहुए; काञ्चन—सुनहरे; कङ्कणौ—दो कंगन; वा—यद्यपि।

शरीर का ऊपरी भाग, भले ही रेशमी पगड़ी से सज्जित क्यों न हो, किन्तु यदि मुक्ति के दाता भगवान् के समक्ष झुकाया नहीं जाता तो वह केवल एक भारी बोझ के समान है। इसी प्रकार चाहे हाथ चमचमाते कंकणों से अलंकृत हों, यदि भगवान् हरि की सेवा में नहीं लगे रहते, तो वे मृत पुरुष के हाथों के तुल्य हैं।

तात्पर्य : जैसाकि पहले कहा जा चुका है, भगवद्भक्त तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम श्रेणी के भक्त (*महाभागवत*) प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् की सेवा में ही लगा हुआ देखते हैं, किन्तु द्वितीय श्रेणी के भक्त भक्तों तथा अभक्तों में अन्तर करते हैं। अतएव ये द्वितीय श्रेणी के भक्त धर्मोपदेश के लिए उपयुक्त हैं और जैसाकि ऊपर के श्लोक में कहा गया है, उन्हें उच्चस्वर से भगवान् की महिमा का प्रचार करना

चाहिए। इस श्रेणी के भक्त तृतीय श्रेणी के भक्तों या अभक्तों में से अपना शिष्य बनाते हैं। कभी-कभी प्रथम श्रेणी के भक्त भी द्वितीय श्रेणी में आ कर प्रचार-कार्य करते हैं। किन्तु सामान्य व्यक्ति को, जिससे यह आशा की जाती है कि वह कम से कम तृतीय श्रेणी का भक्त तो बन ले, यहाँ पर सलाह दी गई है कि वह भगवान् के मन्दिर में जाय और अर्चाविग्रह के समक्ष झुके, भले ही वह अत्यन्त धनी व्यक्ति या रेशमी पगड़ी अथवा मुकुट पहने राजा ही क्यों न हो। भगवान् तो हर एक के स्वामी हैं, चाहे वह महान् राजा तथा सम्राट ही क्यों न हो। जो लोग संसारी व्यक्तियों की दृष्टि में धनी हैं, उन्हें चाहिए कि वे भगवान् कृष्ण के मन्दिर में जाँय और नियमित रूप से अर्चाविग्रह के समक्ष नतमस्तक हों। मन्दिर में भगवान् पूजनीय रूप को कभी भी पत्थर या लकड़ी का बना न मानें, क्योंकि भगवान् अपने अर्चा-विग्रह अवतार रुप में अपनी शुभ उपस्थिति द्वारा पतितात्माओं पर अतीव कृपा करनेवाले हैं। जैसाकि इसके पूर्व उल्लेख हो चुका है, श्रवण-विधि से मंदिर में भगवान् के अस्तित्व की यह अनुभूति सम्भव है। अतएव भक्ति के नैत्यिक कार्यों में पहली विधि श्रवण है, जो अत्यावश्यक है। सभी श्रेणी के भक्तों को *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* जैसे प्रामाणिक स्रोतों से श्रवण करना अनिवार्य है। जो व्यक्ति अपने भौतिक पद से गर्वित होकर, मन्दिर में भगवान् के अर्चाविग्रह के समक्ष नतमस्तक नहीं होता या जो बिना किसी ज्ञान के मन्दिर-पूजा का तिरस्कार करता है, उसे यह जान लेना चाहिए कि उसकी यह पगड़ी या मुकुट उसे भवसागर में डुबोने में ही सहायक बनेंगे। यदि डूबते व्यक्ति के सिर पर भारी बोझ हो, तो वह बिना भारवाले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक तेजी से डूबेगा। मूर्ख तथा अहंकारी व्यक्ति ईश-विज्ञान का निरादर करता है और कहता है कि उसे ईश्वर से कुछ लेना-देना नहीं, किन्तु जब वह ईश्वर के नियम की पकड़ में आता है और जब उसे मस्तिष्क-शून्यता जैसी बीमारी आ घेरती है, तो वह ईश-विहीन व्यक्ति अपनी भौतिक उपलब्धि के भार से अज्ञान-सागर में डूब जाता है। ईश-चेतना के बिना भौतिक विज्ञान की प्रगति मानव समाज पर सिर के बोझ के तुल्य है। अतएव लोगों को इस प्रबल चेतावनी पर ध्यान देना चाहिए।

यदि सामान्य व्यक्ति को भगवान् की पूजा करने के लिए समय न मिले, तो उसे कम से कम भगवान् के मन्दिर की साप-सफाई में ही सही, कुछ क्षणतो अवश्य बिताने चाहिए। उड़ीसा के अत्यन्त

शक्तिशाली राजा, महाराज प्रतापरुद्र, यद्यपि राज्य के उत्तरदायित्व के भारी बोझ के कारण सदैव व्यस्त रहते थे, फिर भी वे वर्ष में एक बार भगवान् के उत्सव के समय पुरी के जगन्नाथ मन्दिर की सफाई अपने हाथों से करते थे। भाव यह है कि मनुष्य, चाहे कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, उसे परमेश्वर की श्रेष्ठता स्वीकार करनी चाहिए। यह ईश-चेतना मनुष्य को उसकी भौतिक सम्पन्नता में भी सहायक बनती है। भगवान् जगन्नाथ के समक्ष महाराज प्रतापरुद्र की अधीनता ने उन्हें इतना शक्तिशाली राजा बना दिया था कि उनके समय का महान् पठान तक उड़ीसा में न घुस पाया। अन्त में महाराज प्रतापरुद्र की संसार के स्वामी भगवान् की शरणागति से भगवान् श्री चैतन्य ने उन पर कृपा की। इस प्रकार, भले ही धनी पुरुष की स्त्री के हाथ में सोने के कंकण क्यों न हों, उसे भगवान् की सेवा अपने हाथों से करनी चाहिए।

बर्हायिते ते नयने नराणां
लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये ।
पादौ नृणां तौ द्रुम-जन्म-भाजौ
क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ ॥ २२॥

शब्दार्थ

बर्हायिते—मोर पंखों की भाँति; ते—वे; नयने—आँखें; नराणाम्—मनुष्यों के; लिङ्गानि—स्वरूप; विष्णोः—भगवान् के; न—नहीं; निरीक्षतः—देखते हैं; ये—ऐसे सब; पादौ—पाँव; नृणाम्—मनुष्यों के; तौ—वे; द्रुम-जन्म—वृक्ष से उत्पन्न; भाजौ—उसके सदृश; क्षेत्राणि—पवित्र स्थल; न—नहीं; अनुव्रजतः—जाते हैं; हरेः—भगवान् के; यौ—जो।

जो आँखें भगवान् विष्णु की प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियों (उनके रूप, नाम, गुण आदि) को नहीं देखतीं, वे मोर पंख में अंकित आँखों के तुल्य हैं और जो पाँव तीर्थ-स्थानों की यात्रा नहीं करते (जहाँ भगवान् का स्मरण किया जाता है) वे वृक्ष के तनों जैसे माने जाते हैं।

तात्पर्य : विशेष रूप से गृहस्थ भक्तों के लिए अर्चाविग्रह की पूजा की जोरदार संस्तुति की गई है। जहाँ तक सम्भव हो, हर गृहस्थ को, गुरु के आदेशानुसार, विष्णु के श्रीविग्रह की यथा राधाकृष्ण, लक्ष्मीनारायण या सीताराम जैसे स्वरूपों की या नृसिंह, वराह, गौर-निताई, मत्स्य, कूर्म, *शालग्राम शिला,* या भगवान् के किसी अन्य रूप तथा त्रिविक्रम, केशव, अच्युत, वासुदेव, नारायण तथा दामोदर जैसे विष्णु के अन्य रूप जिनकी संस्तुति *वैष्णव तन्त्रों* या पुराणों में की गई है, इनकी स्थापना करनी चाहिए और पूरे परिवार को अर्चन विधि के नियमों का कड़ाई से पालन करते हुए पूजा करनी चाहिए।

परिवार का हर सदस्य, जो बारह वर्ष से ऊपर की आयु का हो, प्रामाणिक गुरु से दीक्षा ले और घर के सारे सदस्य भोर से लेकर रात्रि तक मंगल आरात्रिका, निरञ्जन, अर्चन, पूजा, कीर्तन, शृंगार, भोग-वैकाली,सन्ध्या आरात्रिका पाठ, भोग (रात्रि का), शयन आरात्रिका इत्यादि करके भगवान् की सेवा में लगा रहे। प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में इस तरह अर्चाविग्रह की पूजा में संलग्न रहने से गृहस्थों को अपना जीवन विमल बनाने तथा आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नति करने में सहायता मिलेगी। किसी नौसिखिये भक्त के लिए साधारण पुस्तकीय ज्ञान पर्याप्त नहीं है। किताबी ज्ञान सैद्धान्तिक होता है, जबकि अर्चन-विधि व्यावहारिक है। आध्यात्मिक ज्ञान का विकास सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक ज्ञान के मेल से किया जाना चाहिए। इससे आध्यात्मिक सिद्धि निश्चित है। नवदीक्षित भक्त के लिए भक्ति का प्रशिक्षण कुशल गुरु पर निर्भर करता है, क्योंकि वह जानता रहता है कि भगवद्धाम जाने के मार्ग में क्रमिक प्रगति करने के लिए शिष्य को किस तरह ले जाया जाय। किसी को अपने परिवार का खर्च चलाने के लिए छद्म गुरु नहीं बनना चाहिए, अपितु उसे कुशल गुरु होना चाहिए, जिससे वह शिष्य को आसन्न मृत्यु के चंगुल से उबार सके। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने गुरु के प्रामाणिक गुणों का बखान किया है और उन श्लोकों में से एक इस प्रकार है—

श्रीविग्रहाराधननित्यनानाशृंगारतन्मन्दिरमार्जनादौ।

युक्तस्य भक्तांश्च नियुञ्जतोऽपि वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥

श्रीविग्रह, अर्चा अथवा भगवान् का उपयुक्त पूजनीय स्वरूप है और शिष्य को चाहिए कि वह शृंगार द्वारा अर्थात् समुचित अलंकरण तथा वस्त्रों द्वारा एवं मन्दिर-मार्जन अर्थात् मन्दिर की सफाई द्वारा श्रीविग्रह की पूजा करे। गुरु, नवदीक्षित भक्त को अत्यन्त अनुग्रहपूर्वक स्वयं ही ये सारी बातें सिखाता है और धीरे-धीरे भगवान् के दिव्य नाम, रूप, गुण आदि की अनुभूति प्राप्त करने में सहायता करता है।

भगवान् को वस्त्र पहनाने तथा मन्दिर को सजाने जैसी सेवा में ध्यान लगाने के साथ ही संगीतमय *कीर्तन* एवं शास्त्रों से आध्यात्मिक उपदेशों के द्वारा ही सामान्य व्यक्ति नारकीय सिनेमा के आकर्षण तथा सर्वत्र रेडियो द्वारा प्रसारित होनेवाले भद्दे कामुक गीतों से बच सकता है। यदि कोई घर में मन्दिर नहीं

बना सकता है, तो उसे किसी अन्य के मन्दिर में जाना चाहिए, जहाँ उपर्युक्त सारे कार्य नियमित रूप से सम्पन्न होते हों। भक्त के मन्दिर में जाने तथा भगवान् के अलंकृत रूप का दर्शन करने से संसारी मन में आध्यात्मिक प्रेरणा उत्पन्न होगी। मनुष्यों को चाहिए कि वे वृन्दावन जैसे तीर्थ-स्थानों में जायें, जहाँ ऐसे मन्दिर तथा श्रीविग्रह-पूजन की व्यवस्था रहती है। प्राचीनकाल में सारे धनी व्यक्ति, जैसा राजा तथा धनी व्यापारी, ऐसे मन्दिरों का निर्माण षड्गोस्वामियों जैसे कुशल भगवद्भक्तों के निर्देशानुसार कराते थे और जनसामान्य का कर्तव्य है कि इन मन्दिरों का तथा तीर्थस्थलों में सम्पन्न होनेवाले उत्सवों का लाभ महान् भक्तों के पद-चिह्नों का अनुसरण करते हुए (*अनुव्रज*) उठायें। मनुष्यों को चाहिए कि इन पवित्र तीर्थस्थलों तथा मन्दिरों की यात्रा सैर-सपाटे करने की भावना से न करें, अपितु उन्हें भगवान् की दिव्य लीलाओं से अमर हुआ मानकर तथा ईश-विज्ञान जानने वाले व्यक्ति के मार्गदर्शन में करें। यह *अनुव्रज* कहलाता है। अनु का अर्थ है पीछे-पीछे जाना। अतएव उत्तम होगा कि मन्दिरों तथा तीर्थस्थानों को देखने जाने में भी गुरु के आदेश का पालन किया जाय। जो इस विधि से यात्रा नहीं करता, वह उस जड़ वृक्ष के सदृश है, जिसे भगवान् ने जड़ बने रहने का शाप दिया है। मनुष्य की चल-फिर सकने की प्रवृत्ति का दुरुपयोग दृश्य देखने या पर्यटन करने के लिए स्थानों की यात्रा करने में होता है। ऐसी यात्रा की प्रवृत्ति का सदुपयोग यही है कि महान् आचार्यों द्वारा संस्थापित तीर्थस्थलों में जाया जाय और उन धन कमानेवाले व्यक्तियों के नास्तिक प्रचार से गुमराह न हुआ जाय, जिन्हें आध्यात्मिक विषयों का कोई ज्ञान नहीं है।

जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रि-रेणुं
न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु ।
श्री-विष्णु-पद्या मनुजस्तुलस्याः
श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम् ॥ २३॥

शब्दार्थ

जीवन्—जीवित रहते हुए; शवः—मृत शरीर; भागवत-अङ्घ्रि-रेणुम्—शुद्ध-भक्त के चरणों की धूलि; न—कभी नहीं; जातु—किसी भी समय; मर्त्यः—मरणशील, मर्त्य; अभिलभेत—विशेष रूप से प्राप्त; यः—जो व्यक्ति; तु—लेकिन; श्री—ऐश्वर्य से; विष्णु-पद्याः—विष्णु के चरणकमलों का; मनु-जः—मनु की संतान (मनुष्य); तुलस्याः—तुलसीदल; श्वसन्—श्वास लेते हुए; शवः—फिर भी शव; यः—जो; तु—लेकिन; न वेद—अनुभव नहीं किया; गन्धम्—सुगन्धि को।

जिस व्यक्ति ने कभी भी भगवान् के शुद्धभक्त की चरण-धूलि अपने मस्तक पर धारण नहीं

की, वह निश्चित रूप से शव है तथा जिस व्यक्ति ने भगवान् के चरणकमलों पर चढ़े तुलसीदलों की सुगन्धि का अनुभव नहीं किया, वह श्वास लेते हुए भी मृत शरीर के तुल्य है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार, श्वास लेता शव प्रेत होता है। जब मनुष्य मरता है, तो वह मृत कहलाता है, किन्तु जब वह पुन: हमारी वर्तमान दृष्टि से अदृश्य, सूक्ष्म रूप में प्रकट होता है और कार्य करता है, तो ऐसा मृत शरीर प्रेत कहलाता है। प्रेत सदैव ही बुरे तत्त्व होते हैं, जो दूसरों के लिए भयानक स्थिति उत्पन्न करते हैं। इसी तरह प्रेत-सदृश अभक्त, जिन्हें न तो शुद्ध भक्तों के लिए, न मन्दिरों के विष्णु श्रीविग्रहों के लिए कोई सम्मान रहता है, वे भक्तों के लिए सदैव भयानक स्थिति उत्पन्न करते रहते हैं। भगवान् ऐसे अशुद्ध प्रेतों की कोई भेंट स्वीकार नहीं करते। एक आम कहावत है कि प्रेयसी के प्रति प्रेमभाव दिखाने के पूर्व मनुष्य को प्रेयसी के कुत्ते को प्यार करना होता है। शुद्धभक्ति की अवस्था भगवान् के शुद्ध भक्त की निष्ठापूर्वक सेवा द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। अतएव भगवान् की भक्ति की पहली शर्त है शुद्ध भक्त का दास होना और इस शर्त की पूर्ति इस कथन से होती है ''उस शुद्ध भक्त के चरणों की धूलि को धारण करना, जिसने दूसरे शुद्ध भक्त की सेवा की है।'' यही शुद्ध शिष्य-परम्परा या भक्ति परम्परा है।

जब महाराज रहूगण ने परम सन्त जड़भरत से पूछा कि उन्होंने परमहंस की मुक्तावस्था कैसे प्राप्त की, तो उन्होंने निम्नानुसार उत्तर दिया (*भागवत* ५.१२.१२)।

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।

नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥

''हे राजा रहूगण! महान् भक्तों के चरणकमलों की धूलि से सम्पूर्ण शरीर को पवित्र किए बिना भक्ति की पूर्णावस्था या जीवन की परमहंस अवस्था की प्रतीति नहीं हो सकती। यह तपस्या वैदिक पूजनविधि, संन्यास ग्रहण, गृहस्थ के कर्तव्य पालन, वैदिक स्तोत्रों के उच्चारण या गर्म धूप में अथवा जल के भीतर या तपती अग्नि के समक्ष तपस्या करने से कभी भी प्राप्त नहीं की जा सकती।''

दूसरे शब्दों में, भगवान् श्रीकृष्ण अपने शुद्ध मुक्त भक्तों की सम्पत्ति हैं, फलत: कृष्ण को केवल भक्त ही दूसरे भक्त को सौंप सकता हैं; कृष्ण कभी भी प्रत्यक्ष विधि से प्राप्त नहीं होते। अतएव

भगवान् चैतन्य ने स्वयं को *गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदास:* "अर्थात् वृन्दावन में गोपबालाओं का पालन करनेवाले भगवान् के दासों का अत्यन्त आज्ञाकारी दास" कहा। शुद्ध भक्त कभी भी भगवान् तक सीधे नहीं पहुँचता, अपितु वह भगवान् के दासों के दास को प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है और इस तरह भगवान् प्रसन्न होते हैं। तभी भक्त भगवान् के चरणकमलों पर चढ़े तुलसीदलों का आस्वाद कर सकता है। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि वैदिक साहित्य का महान् पंडित बनने से भगवान् नहीं मिलते, अपितु वे अपने शुद्ध भक्त के माध्यम से सरलता से प्राप्त हो जाते हैं। वृन्दावन के सारे लोग भगवान् कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति, श्रीमती राधा रानी, से कृपा की प्रार्थना करते हैं, जो परम पूर्ण की सुकुमार हृदय अर्धाङ्गिनी हैं, जो संसार की स्त्रीरूपा प्रकृति की सिद्धावस्था के अनुरूप हैं। अतएव निष्ठावान भक्तों को राधारानी की कृपा सरलता से प्राप्त हो जाती है और एक बार जब वे भगवान् कृष्ण से ऐसे भक्त का अनुमोदन करती हैं, तो भगवान् उसे तुरन्त ही अपना संगी बना लेते हैं। अतएव निष्कर्ष यही निकला कि मनुष्य को सीधे भगवान् की कृपा की खोज न करके, भक्त की कृपा प्राप्त करनी चाहिए। ऐसा करने से (भक्त की कृपा से) भगवान् की सेवा करने का स्वाभाविक आकर्षण पुन: जागृत हो उठेगा।

तदश्म-सारं हृदयं बतेदं
यद् गृह्यमाणैर्हरि-नाम-धेयैः ।
न विक्रियेताथ यदा विकारो
नेत्रे जलं गात्र-रुहेषु हर्षः ॥ २४॥

शब्दार्थ

तत्—वह; अश्म-सारम्—फौलाद का बना; हृदयम्—हृदय; बत इदम्—निश्चय ही यह; यत्—जो; गृह्यमाणैः—उच्चारण करने पर भी; हरि-नाम—भगवान् का पवित्र नाम; धेयैः—मन की एकाग्रता से; न—नहीं; विक्रियेत—बदले; अथ—इस तरह; यदा—जब; विकारः—प्रतिक्रिया; नेत्रे—आँखों में; जलम्—अश्रु; गात्र-रुहेषु—छिद्रों पर; हर्षः—उल्लास का प्रस्फुटन।

निश्चय ही वह हृदय फौलाद का बना है, जो एकाग्र होकर भगवान् के पवित्र नाम का उच्चारण करने पर भी नहीं बदलता; जब हर्ष होता है, तो आँखों में आँसू नहीं भर आते और शरीर के रोम-रोम खड़े नहीं हो जाते।

तात्पर्य : हमें ध्यान देना होगा कि द्वितीय स्कन्ध के प्रथम तीन अध्यायों में किस तरह भक्ति के क्रमिक विकास को प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रथम अध्याय में श्रवण तथा कीर्तन द्वारा ईश-चेतना के

लिए भक्ति के प्रथम चरण पर बल दिया गया है और नवदीक्षितों के लिए भगवान् के विश्व रूप में उनकी स्थूल अवधारणा की संस्तुति की गई है। ईश्वर की ऐसी स्थूल अवधारणा से, जो उनकी शक्ति की भौतिक अभिव्यक्ति के माध्यम से प्राप्त होती है, मनुष्य का मन तथा इन्द्रियाँ आध्यात्मिक बनती हैं और धीरे-धीरे मन, उन भगवान् विष्णु पर एकाग्र होता है, जो प्रत्येक के हृदय में सर्वत्र और भौतिक ब्रह्माण्ड के प्रत्येक परमाणु में परमात्मा रुप में स्थित हैं। इसीलिए पञ्च *उपासना* पद्धति भी कार्य रूप में अपवाई जाती है, जिसमें पाँच मानसिक प्रवृत्तियों की संस्तुति की जाती है। ये हैं क्रमिक विकास, श्रेष्ठ की पूजा जो अग्नि, विद्युत, सूर्य, जीव, शिवजी तथा अन्ततः निराकार परमात्मा जो भगवान् विष्णु की आंशिक अभिव्यक्ति के रूप में हो सकती है। इन सबका सुन्दर वर्णन द्वितीय अध्याय में हुआ है। किन्तु तृतीय अध्याय में विष्णु पूजा की स्थिति अर्थात् शुद्ध भक्ति प्राप्त करने के बाद विष्णु पूजा की परिपक्क अवस्था का वर्णन है, जिसमें हृदय परिवर्तन की बात कही गई है।

आध्यात्मिक संस्कृति की सम्पूर्ण प्रक्रिया का उद्देश्य जीव के हृदय में परिवर्तन लाना है, जिससे वह परमेश्वर के प्रति नित्य अपने आपको अधीन दास के रूप में माने, क्योंकि यही उसकी शाश्वत स्वाभाविक स्थिति है। इस तरह भक्ति की प्रगति के साथ-साथ हृदय-परिवर्तन का प्रदर्शन, संसार पर प्रभुता दिखाने की मिथ्या भावना से उत्पन्न भौतिक भोग की भावना की क्रमिक विरक्ति तथा भगवान् की प्रेमाभक्ति करने की प्रवृत्ति में वृद्धि के द्वारा होता है। यहाँ पर *विधि भक्ति* अर्थात् शरीर के अंगों द्वारा (आँख, नाक, कान, हाथ, पाँव इत्यादि जिनका वर्णन पहले हो चुका है) की गई नियमित भक्ति पर शरीर के अंगों की समस्त गतिविधियों को प्रेरणा प्रदान करनेवाले मन के आधार पर बल दिया जा रहा है। ऐसी अपेक्षा की जाती है कि नियमित भक्ति-मय सेवा करने से हृदय में परिवर्तन अवश्य दिखना चाहिए। यदि परिवर्तन नहीं आता, तो समझना चाहिए कि हृदय फौलाद का बना है, क्योंकि भगवान् के पवित्र नाम के उच्चारण किये जाने पर भी यह नहीं पिघलता। हमें सदैव स्मरण रखना चाहिए कि भक्तिमय कार्यों को सम्पन्न करनें में श्रवण तथा कीर्तन दो मूलभूत सिद्धान्त हैं और यदि इन्हें ठीक से सम्पन्न किया जाय, तो इससे हर्ष उत्पन्न होगा जो आँखों में आँसू तथा शरीर में रोमांच द्वारा लक्षित होगा। ये स्वाभाविक परिणाम हैं और *भाव दशा* के प्रारम्भिक लक्षण हैं, जो *प्रेम* या भगवत्प्रेम

की पूर्णावस्था प्राप्त होने के पूर्व प्रकट होते हैं।

यदि भगवान् के पवित्र नाम के निरन्तर श्रवण तथा कीर्तन से भी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, तो यह समझना चाहिए कि यह केवल अपराध के कारण है। यही *सन्दर्भ* का अभिमत है। भगवान् के पवित्र नाम का उच्चारण प्रारम्भ करते समय, यदि भक्त पवित्र नाम के चरणों पर दस प्रकार के अपराधों से बचने के प्रति सावधान नहीं रहता, तो यह निश्चित मानें कि विरह की भावना आँखों में आँसू तथा शरीर में रोमांच के रूप में नहीं प्रकट होगी।

भाव दशा का प्राकट्य आठ दिव्य लक्षणों से होता है। ये हैं—निष्क्रियता, प्रस्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कम्पन, शरीर का पीला पड़ना, अश्रुपात तथा अन्ततः समाधि। श्रील रूप गोस्वामी द्वारा विरचित *भक्ति रसामृत सिंधु* नामक कृति के सार रूप भक्तिरसामृत सिंधु में इन लक्षणों का तथा स्थायी एवं संचारी भावों का विशद वर्णन किया गया है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कतिपय दुराचारी नवदीक्षितों द्वारा उपर्युक्त लक्षणों को सस्ती ख्याति के लिए अनुकरण करने के प्रसंग में इन सारे भावों की आलोचनात्मक व्याख्या की है। न केवल विश्वनाथ चक्रवर्ती ने, अपितु श्रील रूप गोस्वामी ने भी इनका आलोचनात्मक विवरण दिया है। कभी-कभी उपर्युक्त भाव के आठों लक्षणों का अनुकरण कतिपय संसारी भक्तों (प्राकृत सहजिया) द्वारा किया जाता है, किन्तु ऐसे छद्म लक्षणों का तब तुरन्त ही पता चलता है जब छद्म भक्त अनेक वर्जित कार्यों को करते पाया जाता है। कोई भक्त के चिह्नों से कितना ही अलंकृत क्यों न हो, यदि वह धूम्रपान, मद्यपान या स्त्रियों के साथ अवैध मैथुन करता है, तो उसमें उपर्युक्त भाव दशाएँ नहीं हो सकतीं। किन्तु ऐसा देखा गया है कि कभी-कभी जानबूझ कर इन लक्षणों का अनुकरण किया जाता है, इसीलिए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने ऐसे अनुकरणकर्ता को पाषाण हृदय कहा है। कभी-कभी ऐसे लोग ऐसे दिव्य लक्षणों की झलक से प्रभावित भी होते हैं, किन्तु यदि इतने पर भी वे वर्जित आदतें नहीं छोड़ते, तो उनसे दिव्य अनुभूति की आशा नहीं की जानी चाहिए।

जब भगवान् चैतन्य गोदावरी के तट पर कावौर के श्री रामानन्द राय से मिले थे, तो उनमें ये समस्त लक्षण उत्पन्न हुए थे, किन्तु वहाँ पर राय के अनुयायी कतिपय अभक्त ब्राह्मणों के होने से

भगवान् चैतन्य ने इन लक्षणों को दबा लिया था। अतएव परिस्थितिवश कभी-कभी, ये लक्षण *महाभागवत* के शरीर में भी प्रकट नहीं हो पाते। अतएव असली स्थायी भाव भौतिक इच्छाओं के अन्त होने (*क्षान्ति*), प्रत्येक क्षण को प्रेमाभक्ति में लगाने (*अव्यार्थ-कालत्वम्*), निरन्तर भगवान् की महिमा के गायन के प्रति उत्सुकता (*नाम गाने सदा रुचि*), भगवान् के धाम में रहने के लिए आकर्षण (*प्रीतिस्तद्वसति स्थले*), भौतिक सुख से पूर्ण वैराग्य (*विरक्ति*), निरभिमानता (मानशून्यता) द्वारा प्रकट होते हैं। जिसमें ये समस्त दिव्य गुण उत्पन्न होते हैं उसे ही असली भाव दशा प्राप्त होती है, पाषाण हृदय अनुकरणकर्ता या संसारी भक्त को नहीं।

सम्पूर्ण प्रक्रिया को संक्षेप में इस प्रकार बताया जा सकता है—पूर्ण रूप से निरपराध होकर भगवान् के पवित्र नाम का जप करनेवाला तथा प्रत्येक व्यक्ति के प्रति मैत्री भाव रखनेवाला प्रगत भक्त ही वास्तव में भगवान् के यशोगान का दिव्य आस्वादन कर सकता है। ऐसी अनुभूति का परिणाम समस्त भौतिक इच्छाओं की समाप्ति द्वारा परिलक्षित होता है, जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है। नवदीक्षित भक्त, भक्ति की निम्नतर अवस्था में रहने के कारण, ईर्ष्यालु होते हैं और अपने आचार्यों का अनुगमन न करके स्वयं भक्ति के विधि-विधानों का आविष्कार करते हैं। फलस्वरूप, वे कितना ही भगवन्नाम जप का प्रदर्शन क्यों न करें, वे पवित्र नाम का दिव्य स्वाद प्राप्त नहीं कर पाते। अतएव आँखों में आँसू आना, काँपना, पसीजना या मूर्छित होना—इन सबकी भर्त्सना की जाती है। हाँ, वे भगवान् के शुद्ध भक्त की संगति करके, अपनी बुरी आदतों को सुधार सकते हैं, अन्यथा वे पाषाण-हृदय बने रहेंगे और किसी भी उपचार के योग्य नहीं हो सकेंगे। भगवद्धाम जाने के मार्ग की पूरी प्रगति, स्वरुप सिद्ध भक्त के द्वारा निर्देशत शास्त्रों के आदेशों पर निर्भर करती हैं।

अथाभिधेह्यङ्ग मनोऽनुकूलं
प्रभाषसे भागवत-प्रधानः ।
यदाह वैयासकिरात्म-विद्या--
विशारदो नृपतिं साधु पृष्टः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतएव; अभिधेहि—कृपा करके बताएँ; अङ्ग—हे सूत गोस्वामी; मनः—मन; अनुकूलम्—हमारी मनोवृत्ति के उपयुक्त; प्रभाषसे—आप कहें; भागवत—परम भक्त; प्रधानः—प्रमुख; यत् आह—जो कुछ उसने कहा; वैयासकिः—शुकदेव गोस्वामी ने; आत्म-विद्या—दिव्य ज्ञान में; विशारदः—पटु; नृपतिम्—राजा से; साधु—अत्युत्तम; पृष्टः—पूछे जाने पर।

हे सूतगोस्वामी, आपके वचन हमारे मनों को भानेवाले हैं। अतएव कृपा करके आप हमें यह उसी तरह बतायें जिस तरह से दिव्य ज्ञान में अत्यन्त कुशल परम भक्त शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित के पूछे जाने पर उनसे कहा।

तात्पर्य : जो विद्या शुकदेव गोस्वामी जैसे पूर्ववर्ती आचार्य द्वारा प्रदान की जाती है और फिर सूत गोस्वामी जैसे व्यक्ति द्वारा जिसका अनुकरण किया जाता है, वह सदा शक्तिशाली दिव्य विद्या होती है, इसीलिए वह अन्तर्ग्राही तथा समस्त विनीत जिज्ञासुओं के लिए लाभप्रद होती है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कंध के अन्तर्गत ''शुद्धभक्तिमय सेवा: हृदय-परिवर्तन'' नामक तीसरे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चार

सृष्टि का प्रक्रम

सूत उवाच

वैयासकेरिति वचस्तत्त्व-निश्चयमात्मनः ।
उपधार्य मतिं कृष्णे औत्तरेयः सतीं व्यधात् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; वैयासकेः—शुकदेव गोस्वामी के; इति—इस प्रकार; वचः—शब्द; तत्त्व-निश्चयम्—सत्य की पुष्टि करनेवाले; आत्मनः—अपने में; उपधार्य—ठीक से समझ करके; मतिम्—मन की एकाग्रता; कृष्णे—कृष्ण के प्रति; औत्तरेयः—उत्तरा के पुत्र ने; सतीम्—संयत, निष्ठावान; व्यधात्—लगाया।

सूत गोस्वामी ने कहा : शुकदेव गोस्वामी से आत्मा के सत्य के विषय में बातें सुनकर, उत्तरा के पुत्र महाराज परीक्षित ने आस्थापूर्वक अपना ध्यान भगवान् कृष्ण में लगा दिया।

तात्पर्य : *सतीम्* शब्द अत्यन्त सार्थक है। इसके दो अर्थ हैं 'निष्ठावान' तथा 'संयत'। ये दोनों ही आशय महाराज परीक्षित पर पूर्ण रूप से लागू होते हैं। सारा वैदिक अध्यवसाय मनुष्य के ध्यान को पूर्णतः भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की ओर आकृष्ट करना है, जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में निर्दिष्ट है। सौभाग्यवश महाराज परीक्षित अपनी माता के गर्भ में अपना शरीर धारण करके प्रारम्भ से ही भगवान् के प्रति आकृष्ट हो चुके थे। जब वे अपनी माता के गर्भ में थे तभी अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये ब्रह्मास्त्र या परमाणु बम से उन पर प्रहार हुआ था किन्तु भगवत्कृपा, से वे उस अग्नि-अस्त्र से जलने से बच गये थे। तबसे ही उन्होंने अपना मन भगवान् कृष्ण पर एकाग्र कर रखा था जिससे वे भक्ति में पूर्ण रूप से संयत हो गये। अतएव स्वाभाविक रुप से वे भगवान् के संयत शुद्ध भक्त थे तथा जब उन्होंने श्रील शुकदेव गोस्वामी से सुना कि उन्हें भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी की पूजा नहीं करनी चाहिए, चाहे सकाम भाव से हो या निष्काम भाव से, तो कृष्ण के प्रति उनका सहज प्रेम और भी दृढ़ हो गया। हम इन विषयों को पहले ही बता चुके हैं।

भगवान् कृष्ण का शुद्ध भक्त बनने के लिए दो बातें अत्यावश्यक हैं—भक्त-कुल में जन्म लेना तथा प्रामाणिक गुरु का आशीष प्राप्त होना। भगवान् कृष्ण की कृपा से महाराज परीक्षित को ये दोनों सुअवसर प्राप्त थे। वे पाण्डवों-जैसे भक्त कुल में उत्पन्न हुए थे और भगवान् ने पाण्डव वंश को बनाये रखने तथा उन पर विशेष कृपा दिखाने के कारण ही महाराज परीक्षित को बचा लिया था जिन्हें बाद में

ब्राह्मण बालक ने शाप दिया और फिर शुकदेव गोस्वामी जैसे गुरु का सान्निध्य प्राप्त हो सका। *चैतन्य-चरितामृत* में कहा गया है कि गुरु तथा भगवान् कृष्ण की कृपा से भाग्यशाली व्यक्ति को ही भक्ति का मार्ग प्राप्त होता है। यह महाराज परीक्षित पर पूरी तरह लागू होता है। भक्त कुल में जन्म लेने के कारण वे स्वत: कृष्ण के सम्पर्क में आ सके और इस तरह सम्पर्क में रहने से वे भगवान् का निरन्तर स्मरण करते रहे। फलस्वरूप भगवान् कृष्ण ने उन्हें भगवान् के सर्वोच्च भक्त तथा आत्मज्ञान में पूर्ण शुकदेव गोस्वामी से परिचित कराकर भक्ति का विकास करने के लिए आगे भी अवसर प्रदान किया। कालक्रम से प्रामाणिक गुरु से श्रवण करके वे अपने शुद्ध मन को भगवान् कृष्ण पर एकाग्र कर सके।

आत्म-जाया-सुतागार-पशु-द्रविण-बन्धुषु ।
राज्ये चाविकले नित्यं विरूढां ममतां जहौ ॥ २ ॥

शब्दार्थ

आत्म—शरीर; जाया—पत्नी; सुत—पुत्र; आगार—महल; पशु—हाथी घोड़े; द्रविण—खजाना; बन्धुषु—मित्रों तथा सम्बन्धियों में; राज्ये—राज्य में; च—भी; अविकले—अविचल, निष्कंटक; नित्यम्—निरन्तर; विरूढाम्—गहरी; ममताम्—ममता, लगाव; जहौ—त्याग दिया।

भगवान् कृष्ण के प्रति एकनिष्ठ आकर्षण के फलस्वरूप महाराज परीक्षित ने अपने निजी शरीर, अपनी पत्नी, अपनी सन्तान, अपने महल, अपने पशु, हाथी-घोड़े, अपने खजाने, मित्र तथा सम्बन्धी और अपने निष्कंटक राज्य के प्रति प्रगाढ़ ममता त्याग दी।

तात्पर्य : मुक्त होने का अर्थ है *देहात्मबुद्धि* से स्वतन्त्र होना, जो निजी शारीरिक आवरणों तथा शरीर से सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु तथा पत्नी, सन्तान और अन्य सारी झंझटों के प्रति भ्रामक आसक्ति है। मनुष्य अपने शारीरिक आराम के लिए पत्नी का चयन करता है और इसका परिणाम होता है सन्तान का जन्म। पत्नी तथा सन्तान के लिए निवासस्थान की आवश्यकता होती है और इस तरह घर बनाने की आवश्यकता पड़ती है। घोड़े, हाथी, गाय तथा कुत्ते—ये सब घरेलू पशु हैं और गृहस्थ को गृहस्थी सामान के तौर पर इन सबों को रखना होता है। आधुनिक सभ्यता में घोड़ों तथा हाथियों का स्थान पर्याप्त शक्तिशाली कारों तथा वाहनों ने ले लिया है। गृहस्थी चलाने के लिए मनुष्य को अपनी बैंक-पूँजी बढ़ानी पड़ती है और खजाने के विषय में सतर्क रहना होता है। भौतिक सम्पत्ति के ऐश्वर्य-प्रदर्शन के लिए मनुष्य को अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखना होता है और साथ

ही अपनी पूर्वस्थिति सँभालनी होती है। इसे भौतिक आसक्ति की भौतिक सभ्यता कहते हैं। भगवान् की भक्ति का अर्थ है समस्त भौतिक आसक्तियों का निषेध, जिनका ऊपर विस्तार से वर्णन हुआ है। भगवान् की कृपा से, महाराज परीक्षित को सारी भौतिक सुविधाएँ तथा अकंटक राज्य प्राप्त था जिससे वे राजा की अवचिल स्थिति को भोग सकते थे, लेकिन भगवत्कृपा से उन्होंने भौतिक आसक्ति से सारे सम्बन्ध तोड़ लिये। विशुद्ध भक्त की ऐसी ही स्थिति होती है। भगवान् के भक्त तथा उनके प्रति सहज प्रेम होने के कारण महाराज परीक्षित भगवान् की ओर से राज्य का कालि सँभाले थे और उत्तरदायी राजा की भाँति वे सतर्क थे कि उनके राज्य में कलियुग का प्रवेश न हो पाये। भगवद्भक्त कभी भी अपने घर की वस्तुओं को अपना नहीं मानता, अपितु प्रत्येक वस्तु को वह भगवान् की सेवा में समर्पित कर देता है। फलस्वरूप, भक्त की देखरेख में जीवों को ईश–अनुभूति का अवसर प्राप्त होता है।

घरेलू वस्तुओं के प्रति आसक्ति तथा भगवान् कृष्ण के प्रति आसक्तिका साथ–साथ चल पाना असंभव है। एक आसक्ति अंधकार का मार्ग है, तो दूसरी आसक्ति प्रकाश का मार्ग है। जहाँ प्रकाश होता है, वहाँ अंधकार नहीं रहता और जहाँ अंधकार है, वहाँ प्रकाश नहीं रहता। किन्तु पटुभक्त भगवान् के प्रति भक्तिभाव से हरवस्तु को प्रकाश के मार्ग की ओर मोड़ सकता है और इसका श्रेष्ठ उदाहरण पाण्डव हैं। महाराज युधिष्ठिर तथा उन्हीं की तरह के सारे गृहस्थ अपनी सारी तथाकथित भौतिक सम्पत्ति को भगवान् की सेवा से जोड़कर हर वस्तु को प्रकाश की ओर मोड़ सकते हैं, किन्तु जो प्रशिक्षित नहीं है अथवा हर वस्तु को भगवान् की सेवा में नहीं लगा सकता (*निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे*) उसे सारे भौतिक सम्बन्धों का परित्याग कर देना चाहिए। तभी वह भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन का पात्र बन सकता है। दूसरे शब्दों में, जिसने महाराज परीक्षित की भाँति शुकदेव गोस्वामी जैसे योग्य व्यक्ति से *श्रीमद्‌भागवत* का एक दिन भी निष्ठापूर्वक श्रवण किया है, वह भौतिक वस्तुओं के प्रति सारी ममता को छोड़ने में समर्थ होता है। महाराज परीक्षित का अनुकरण मात्र करने और पेशेवर व्यक्ति से *श्रीमद्‌भागवत* का सात सौ वर्षों तक भी श्रवण करने से कोई लाभ नहीं हो सकता। *श्रीमद्‌भागवत* को पारिवारिक खर्च चलाने के लिए साधन बनाना भगवान् के चरणों पर सबसे भोंड़ा नामापराध है (*सर्वशुभक्रियासाम्यमपि प्रमादः*)।

पप्रच्छ चेममेवार्थं यन्मां पृच्छथ सत्तमाः ।
कृष्णानुभाव-श्रवणे श्रद्दधानो महा-मनाः ॥ ३॥
संस्थां विज्ञाय सन्न्यस्य कर्म त्रै-वर्गिकं च यत् ।
वासुदेवे भगवति आत्म-भावं दृढं गतः ॥ ४॥

शब्दार्थ

पप्रच्छ—पूछा; च—भी; इमम्—यह; एव—इसी तरह; अर्थम्—प्रयोजन; यत्—जो; माम्—मुझसे; पृच्छथ—आप पूछते हैं; सत्तमाः—हे महर्षियो; कृष्ण-अनुभाव—कृष्ण के विचार में लीन; श्रवणे—सुनने में; श्रद्दधानः—श्रद्धा से पूर्ण; महा-मनाः—महात्मा; संस्थाम्—मृत्यु; विज्ञाय—जानकर; सन्न्यस्य—त्याग कर; कर्म—सकाम कर्म; त्रै-वर्गिकम्—धर्म, अर्थ तथा काम नामक तीन सिद्धान्त; च—भी; यत्—जो भी हो; वासुदेवे—भगवान् कृष्ण में; भगवति—भगवान्; आत्म-भावम्—प्रेम का आकर्षण; दृढम्—ठीक से स्थिर; गतः—प्राप्त किया।

हे महर्षियो, महात्मा महाराज परीक्षित ने भगवान् कृष्ण के विचार में निरन्तर लीन रहते हुए, अपनी मृत्यु को आसन्न जानकर, सारे सकाम कर्म अर्थात् धर्म के कार्य, आर्थिक विकास तथा इन्द्रिय तृप्ति त्याग दिए और कृष्ण के लिए सहज प्रेम में अपने को दृढ़ता से स्थिर कर लिया। तब उन्होंने इन सारे प्रश्नों को उसी तरह पूछा जिस तरह तुम सब मुझसे पूछ रहे हो।

तात्पर्य : इस संसार में जीवन-संघर्ष में रत बद्धजीवों के लिए सामान्यतया धर्म, आर्थिक विकास तथा इन्द्रिय तृप्ति—ये तीन कर्म आकर्षक होते हैं। वेदों में बताये गये ऐसे नियमित कार्यकलाप जीवन की कर्म-काण्डीय धारणा कहलाते हैं और सामान्य रूप से गृहस्थों से कहा जाता है कि इस जीवन में तथा अगले जीवन में भौतिक सम्पन्नता भोगने के लिए इन नियमों का पालन करें। अधिकांश लोग ऐसे कार्यकलापों के प्रति आकृष्ट होते हैं। यहाँ तक कि आधुनिक ईश्वरविहीन सभ्यता के कार्यकलापों में भी लोग धार्मिक भावना के बिना ही आर्थिक विकास तथा इन्द्रिय तृप्ति के विषय में अधिक चिन्तित रहते हैं। महाराज परीक्षित को चक्रवर्ती सम्राट होने के नाते वैदिक कर्मकाण्डीय अनुभाग के ऐसे विधि-विधानों का पालन करना अनिवार्य था, लेकिन शुकदेव गोस्वामी की संगति मात्र से वे यह भलीभाँति जान सके कि भगवान् श्रीकृष्ण (वासुदेव) ही सर्वेसर्वा हैं, जिनके प्रति उन्हें अपने जन्म से ही सहज प्रेम था। इस प्रकार उन्होंने समस्त वैदिक कर्मकाण्डीय कार्यों को त्याग कर भगवान् पर अपना मन स्थिर कर लिया। यह सिद्धि-अवस्था ज्ञानियों को कई जन्मों के बाद प्राप्त हो पाती है। मुक्ति के लिए प्रयत्नशील ये ज्ञानी सकाम कर्मियों से हजार गुना अच्छे हैं और ऐसे लाखों ज्ञानियों में कोई एक वास्तव में मुक्त हो पाता है। ऐसे लाखों मुक्त व्यक्तियों में से विरला ही कोई एक ऐसा होता

है, जो भगवान् के चरणकमलों में अपने मन को स्थिर कर पाता है जैसाकि भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* (७.१९) में घोषित किया है। महाराज परीक्षित को विशेष रूप से *महामना:* शब्द से विभूषित किया गया है, जो उन्हें *भगवद्गीता* में वर्णित महात्माओं के समान बना देता है। बाद के युगों में भी इस तरह के अनेक महात्मा हुए हैं। वे भी जीवन की समस्त कर्मकाण्डीय धारणाओं का परित्याग करके भगवान् पर पूर्ण-रूपेण आश्रित रहे। भगवान् चैतन्य ने, जो साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, *शिक्षाष्टक* (८) में शिक्षा दी है—

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मामदर्शनान् मर्महतां करोतु वा।

यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत्प्राणनाथस्तु स एव नापर:॥

"अनेक भक्तों (स्त्रियों) के प्रेमी भगवान् कृष्ण, चाहे मुझ शरणागत दासी का आलिंगन करें, या अपने पाँवों के नीचे रौंद दें, या मेरे समक्ष दीर्घकाल तक प्रकट न होकर मेरे हृदय को भग्न कर दें, तो भी वे मेरे हृदय के परमेश्वर हैं।"

श्रील रूप गोस्वामी ने इस प्रकार कहा है—

विरचय मयि दण्डं दीनबन्धो दयामी वा

गतिरिह न भवत्त: काचिदन्या ममास्ति।

निपततु शतकोटिनिर्भरं वा नवाम्भ:

तदपि किलपयोद: स्तूयते चातकेन॥

"हे दीनों के स्वामी! आप जैसा चाहें मेरे साथ करें। चाहे आप दया दिखायें या दण्ड दें, लेकिन इस जगत में आपके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं जिसको मैं निहारूँ। चातक पक्षी सदैव बादल से प्रार्थना करता है, चाहे वह वृष्टि करे या वज्र गिरा दे।"

श्री भगवान् चैतन्य के दादागुरु, श्रील माधवेन्द्रपुरी, ने निम्नलिखित शब्दों के साथ समस्त कर्मकाण्डीय उत्तरदायित्वों से छुट्टी पा ली थी।

सन्ध्यावन्दन भद्रमस्तु भवतो भो: स्नान तुभ्यं नमो

भो देवाः पितरश्च तर्पणविधौ नाहं क्षमः क्षम्यताम्।

यत्र क्वापि निषद्य यादवकुलोत्तमस्य कंसद्विषः

स्मारं स्मारमघं हरामि तदलं मन्ये किमन्येन मे॥

"हे सन्ध्यावन्दन! तुम्हारा कल्याण हो। हे प्रातःस्नान! मैं तुम्हें अन्तिम नमस्कार करता हूँ। हे देवो तथा पितरो! आप मुझे क्षमा करें। मैं आपकी प्रसन्नता के लिए और अधिक अर्पण करने में अक्षम हूँ। अब मैंने महान् यदुवंशी तथा कंस के महान् शत्रु (भगवान् श्रीकृष्ण) को सर्वत्र स्मरण करते हुए, अपने समस्त पापों के फलों से अपने को मुक्त करने का निश्चय किया है। मैं सोचता हूँ कि यही मेरे लिए पर्याप्त है। अतएव अब आगे प्रयास करने से क्या लाभ?"

श्रील माधवेन्द्रपुरी ने आगे कहा है—

मुग्धं मां निगदन्तु नीतिनिपुणा भ्रान्तं मुहुर्वैदिकाः

मन्दं बान्धवसञ्चया जडधियं मुक्तादराः सोदराः।

उन्मत्तं धनिनो विवेकचतुराः कामम् महादाम्भिकम्

मोक्तुं न क्षामते मनागपि मनो गोविन्दपादस्पृहाम्॥

"भले ही नीतिनिपुण लोग मुझ पर भ्रमित होने का दोषारोपण करें, किन्तु मुझे इसकी परवाह नहीं है। वैदिक कर्मों में पटु लोग मुझे पथभ्रष्ट कह लें, मेरे मित्र तथा सम्बन्धी मुझे हताश कहें, मेरे भाई मुझे मूर्ख कहें और धनवान लोग मुझे पागल कहकर अँगुली उठायें और विद्वान दार्शनिक भले ही मुझे अतीव दम्भी कहें, तो भी मेरा मन गोविन्द के चरणकमलों की सेवा के संकल्प से रंचमात्र भी नहीं हटता यद्यपि मैं ऐसा कर पाने में असमर्थ हूँ।"

और प्रह्लाद महाराज ने भी कहा है—

धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग

ईक्षा त्रयी नयदमौ विविधा च वार्ता।

मन्ये तदेतद् अखिलं निगमस्य सत्यं

स्वात्मार्पणं स्वसुहृद: परमस्य पुंस: ॥

"मोक्ष पथ प्राप्त करने के तीन उपाय माने गये हैं—धर्म, अर्थ तथा काम। इनमें से विशेष रूप से इच्छात्रयी—आत्मज्ञान, सकाम कर्म का ज्ञान, तर्क तथा राजनीति एवं अर्थशास्त्र—जीविका के विभिन्न साधन हैं। ये सब वैदिक शिक्षा के विभिन्न विषय हैं, अतएव मैं इन्हें क्षणिक गतिविधियाँ मानता हूँ। इसके विपरीत, भगवान् विष्णु की शरणागति जीवन का वास्तविक लाभ है और मैं इसे परम सत्य मानता हूँ।" (*भागवत* ७.६.२६)

भगवद्गीता (२.४१) में इस सारे विषय को व्यवसायात्मिका बुद्धि के रूप में या सिद्धि के परम पथ के रूप में माना गया है। महान् वैष्णव विद्वान श्री बलदेव विद्याभूषण ने इसकी परिभाषा *भगवद्-अर्चना-रूपैक-निष्काम-कर्मभिर्विशुद्धचित्त:* के रूप में दी है अर्थात् सकाम कर्मफल से मुक्त होकर भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति को मूल कर्तव्य समझना।

अतएव महाराज परीक्षित बिल्कुल सही थे जब उन्होंने जीवन की समस्त कर्मकाण्डीय धारणाओं को त्यागकर भगवान् के चरणकमलों को दृढ़ता से अपना लिया।

राजोवाच

समीचीनं वचो ब्रह्मन् सर्व-ज्ञस्य तवानघ ।
तमो विशीर्यते मह्यं हरे: कथयत: कथाम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने कहा; समीचीनम्—सर्वथा उचित; वच:—वाणी; ब्रह्मन्—हे विद्वान ब्राह्मण; सर्व-ज्ञस्य—सब कुछ जाननेवाले का; तव—तुम्हारा; अनघ—निष्पाप; तम:—अज्ञान का अंधकार; विशीर्यते—क्रमशः लुप्त हो रहा है; मह्यम्—मेरे लिए; हरे:—भगवान् की; कथयत:—जिस तरह आप कह रहे हैं; कथाम्—कथा।

महाराज परीक्षित ने कहा : हे विद्वान ब्राह्मण, आप भौतिक दूषण से रहित होने के कारण सब कुछ जानते हैं, अतएव आपने मुझसे जो भी कहा है, वह मुझे पूर्ण रूप से उचित प्रतीत होता है। आपकी बातें क्रमशः मेरे अज्ञानरूपी अंधकार को दूर कर रही हैं, क्योंकि आप भगवान् की कथाएँ कह रहे हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर महाराज परीक्षित के व्यावहारिक अनुभव का उद्घाटन हुआ है, जिससे पता

चलता है कि भगवान् की दिव्य कथाएँ जब भौतिकता से रहित व्यक्ति से एक निष्ठावान भक्त को प्राप्त होती हैं, तो वे इंजेक्शन के समान प्रभाव दिखलाती हैं। दूसरे शब्दों में, जब पेशेवर लोगों से *श्रीमद्भागवत* की कथाएँ कर्मकाण्डी श्रोता द्वारा सुनी जाती हैं, तो वे ऊपर कहे गये चामत्कारिक ढंग से कार्य नहीं करतीं। भगवान् की कथाओं का भक्तिमय श्रवण सामान्य वार्ताओं के सुनने जैसा नहीं है, अतएव निष्ठावान श्रोता द्वारा इसका प्रभाव तभी अनुभव किया जायेगा जब अज्ञान का क्रमशः तिरोधान हो।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

(श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.२३)

जब भूखे व्यक्ति को भोजन दिया जाता है, तो उसकी भूख शान्त होती है और साथ ही भोजन करने का आनन्द प्राप्त होता है। इस तरह उसे यह पूछने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि वास्तव में उसे भोजन मिला है या नहीं। *श्रीमद्भागवत* के सुनने की अग्नि परीक्षा यह है कि मनुष्य को निश्चयात्मक प्रकाश प्राप्त हुआ या नहीं।

भूय एव विवित्सामि भगवानात्म-मायया ।
यथेदं सृजते विश्वं दुर्विभाव्यमधीश्वरैः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

भूयः—फिर; एव—भी; विवित्सामि—मैं जानने का इच्छुक हूँ; भगवान्—भगवान्; आत्म—निजी; मायया—शक्तियों से; यथा—जिस तरह; इदम्—यह व्यवहार जगत; सृजते—सृजन करता है; विश्वम्—ब्रह्माण्ड को; दुर्विभाव्यम्—अचिन्त्य; अधीश्वरैः—महान् देवताओं द्वारा।

मैं आपसे यह जानना चाहता हूँ कि भगवान् किस प्रकार अपनी निजी शक्तियों से इस रूप में इन दृश्य ब्रह्माण्डों की सृष्टि करते हैं, जो बड़े से बड़े देवताओं के लिए भी अचिन्त्य हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक जिज्ञासु मन में इस दृश्य जगत की सृष्टि का महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता रहता है। अतएव महाराज परीक्षित जैसे व्यक्ति के द्वारा इस तरह का प्रश्न असामान्य नहीं है, क्योंकि उन्हें अपने गुरु से भगवान् के सारे कार्यकलाप समझने थे। हमें प्रत्येक अपरिचित वस्तु को

किसी विद्वान से जानना तथा पूछना होता है। सृष्टि का प्रश्न भी ऐसा ही है, जिसे सही व्यक्ति से पूछना चाहिए। अतएव गुरु को ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो सर्वज्ञ हो, जैसाकि यहाँ पर शुकदेव गोस्वामी के विषय में कहा गया है। इस तरह ईश्वर सम्बन्धी ऐसे सारे प्रश्न जो शिष्य को ज्ञात न हों, योग्य गुरु से पूछे जाने चाहिए और यहाँ पर महाराज परीक्षित इसका व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। किन्तु महाराज परीक्षित को यह पहले से ज्ञात था कि प्रत्येक दिखाई देने वाली वस्तु भगवान् की शक्ति से उत्पन्न होती है, जैसाकि हम *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में ही सीख चुके हैं (*जन्माद्यस्य यतः*)। अतः महाराज परीक्षित सृष्टि-रचना की प्रक्रिया जानना चाहते थे। उन्हें सृष्टि का उद्गम ज्ञात था अन्यथा वे यह प्रश्न कैसे कर सकते थे कि भगवान् ने अपनी विभिन्न शक्तियों से इस व्यवहार जगत की सृष्टि कैसे की? सामान्य व्यक्ति भी जानता है कि यह सृष्टि किसी स्रष्टा द्वारा बनाई गई है, स्वतः उत्पन्न नहीं हुई है। हमें संसार में ऐसा कोई अनुभव नहीं है जहाँ कोई वस्तु स्वतः उत्पन्न हुई हो। मूर्ख लोग कहते हैं कि सृजनात्मक शक्ति स्वतन्त्र है और उसी तरह स्वतःकार्यशील है, जिस तरह कि विद्युतशक्ति होती है। किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति जानता है कि विद्युतशक्ति भी स्थानीय शक्तिघर में दक्ष इंजीनियर (शिल्पी) के निर्देन में उत्पन्न की जाती है और रेजिडेन्ट इंजीनियर के निरीक्षण में सर्वत्र वितरित की जाती है। सृष्टि के सम्बन्ध में भगवान् की अध्यक्षता का वर्णन *भगवद्गीता* (९.१०) में भी मिलता है और वहाँ पर यह स्पष्ट उल्लेख है कि भौतिक शक्ति परमेश्वर की ऐसी अनेक शक्तियों में से एक का प्राकट्य है (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*)। एक अनुभवशून्य बालक इलेक्ट्रानिकी के निराकार कार्यकलापों को देखकर या विद्युत शक्ति से सम्बन्धित अनेक आश्चर्यजनक वस्तुओं को देखकर आश्चर्यचकित हो सकता है, लेकिन एक अनुभवी व्यक्ति जानता है कि इन कार्यों के पीछे एक सजीव व्यक्ति रहता है, जो ऐसी शक्ति उत्पन्न करता है। इसी प्रकार संसार के तथाकथित विद्वान तथा विचारक अपने-अपने मानसिक चिन्तन द्वारा ब्रह्माण्ड की निराकार सृष्टि के विषय में अनेक स्वप्नदर्शी सिद्धान्त प्रस्तुत कर सकते हैं, किन्तु एक बुद्धिमान भगवद्भक्त *भगवद्गीता* का अध्ययन करके जान सकता है कि

इस सृष्टि के पीछे परमेश्वर का हाथ है, ठीक उसी तरह जिस तरह विद्युत शक्तिघर के पीछे रेजिडेंट इंजीनियर का हाथ रहता है। एक शोधार्थी प्रत्येक वस्तु के कारण तथा कार्य को ढूँढ़ता है, किन्तु जब ब्रह्मा, शिव, इन्द्र तथा अन्य देवताओं जैसे बड़े-बड़े शोधार्थी कभी-कभी भगवान् की आश्चर्यजनक सृजनात्मक शक्ति देखकर भ्रमित हो जाते हैं, तो उन क्षुद्र संसारी शोधार्थियों का क्या कहा जाय जो क्षुद्र वस्तुओं में लगे रहते हैं? जिस तरह ब्रह्माण्ड में विभिन्न लोकों के रहन-सहन में अन्तर है और जिस तरह एक लोक दूसरे से श्रेष्ठ है, उसी तरह उन लोकों के निवासियों के मस्तिष्क भी विभिन्न कोटियों के हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है ब्रह्माजी के लोक के निवासियों की दीर्घ आयु, जो इस धरा लोक के निवासियों के लिए अचिन्त्य है, की तुलना ब्रह्माजी के मस्तिष्क की कोटि के मूल्य से की जा सकती है, जो इस लोक के किसी भी महान् विज्ञानी के लिए अचिन्त्य है। इतनी बड़ी मस्तिष्क शक्ति होने पर भी ब्रह्माजी ने अपनी महान् संहिता (*ब्रह्म-संहिता* ५.१) में इस प्रकार वर्णन किया है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।

अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

''ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जिनमें भगवान् के गुण पाये जाते हैं, लेकिन उनमें कृष्ण सर्वोच्च हैं, क्योंकि कोई उनसे बढ़कर नहीं है। वे परम पुरुष हैं और उनका शरीर सच्चिदानन्द स्वरूप है। वे आदि भगवान् गोविन्द है और समस्त कारणों के कारण हैं।''

ब्रह्माजी भगवान् कृष्ण को समस्त कारणों का कारण स्वीकार करते हैं। लेकिन इस क्षुद्र धरालोक के अतिलघु मस्तिष्क वाले व्यक्ति भगवान् को अपने जैसा समझते हैं। इस प्रकार जब *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि मैं सर्वेसर्वा हूँ तो ज्ञानी तथा संसारी विवादक उनका उपहास करते हैं जिससे भगवान् को अत्यन्त खेदपूर्वक कहना पड़ता है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

परं भावमजान्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

''जब मैं मनुष्य रूप में अवतरित होता हूँ तो मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। वे मेरी दिव्य प्रकृति को

और समस्त चराचर पर मेरे परम प्रभुत्व को नहीं जानते।'' (*भगवद्गीता* ९.११)। ब्रह्मा तथा शिव (अन्य देवताओं की बात ही क्या) *भूत* हैं अर्थात् शक्तिमान उत्पन्न देवता हैं, जो विश्व के कार्यों को उसी तरह चलाते हैं, जिस तरह राजा द्वारा नियुक्त मन्त्री चलाते हैं। ये मन्त्री ईश्वर या नियन्त्रक हो सकते हैं, लेकिन परमेश्वर तो *महेश्वर* हैं अर्थात् इन नियंत्रकों के भी स्रष्टा हैं। अल्पज्ञ इसे नहीं जानते, अतएव वे भगवान् का खुला उपहास करते हैं, क्योंकि वे मनुष्यों पर यदाकदा अहैतुकी कृपा करके हमारे समक्ष मनुष्य रूप में प्रकट होते हैं। भगवान् मनुष्य की तरह नहीं हैं। वे *सच्चिदानन्द विग्रह* या पूर्ण परमेश्वर भगवान् हैं और उनके शरीर तथा उनकी आत्मा में कोई भेद नहीं है। वे शक्ति तथा शक्तिमान दोनों हैं।

महाराज परीक्षित ने अपने गुरु शुकदेव गोस्वामी से भगवान् कृष्ण की वृन्दावन लीलाओं का वर्णन करने के लिए नहीं कहा। वे सर्वप्रथम भगवान् की सृष्टि के विषय में सुनना चाह रहे थे। न ही शुकदेव गोस्वामी ने यह कहा कि राजा को भगवान् की दिव्य लीलाएँ सुननी चाहिए। चूँकि समय कम था, अतएव गोस्वामी चाहते तो सब बातों को छोड़कर सीधे दशम स्कंध में पहुँच जाते, जैसाकि पेशेवर वाचक करते हैं। लेकिन न तो राजा ने, न ही *श्रीमद्भागवत* के महान् वक्ता ने *भागवत* के प्रबन्धकों की भाँति उछल-कूद की। दोनों ही विधिपूर्वक आगे बढ़ते गये, जिससे भविष्य के श्रोता तथा वाचक दोनों ही *श्रीमद्भागवत* सुनाने की विधि से शिक्षा ग्रहण कर सकें। जो लोग भगवान् की बहिरंगा शक्ति के वश में हैं, अथवा दूसरे शब्दों में, जो लोग इस भौतिक जगत में हैं, उन्हें सर्वप्रथम यह जानना चाहिए कि भगवान् की बहिरंगा शक्ति किस तरह से परम पुरुष के निर्देशानुसार कार्य करती है। बाद में उनकी अन्तरंगा शक्ति के कार्यकलापों में वह प्रवेश कर सकता है। संसारी लोग अधिकांशतया कृष्ण की बहिरंगा शक्ति, दुर्गादेवी, के उपासक होते हैं, लेकिन वे यह नहीं जानते कि दुर्गादेवी भगवान् की शक्ति की छायामात्र हैं। उनकी चमत्कारी शक्ति के पीछे भगवान् का निर्देशन कार्य करता रहता है, जैसाकि *भगवद्गीता* (९.१०) में पुष्टि की गई है। *ब्रह्म-संहिता* इस बात की पुष्टि करती है कि दुर्गाशक्ति गोविन्द के निर्देशानुसार कार्य करती है और उनकी अनुमति के बिना शक्तिशालिनी दुर्गाशक्ति एक पत्ती भी नहीं हिला सकतीं। अतएव नवदीक्षित भक्त को चाहिए कि भगवान् की अन्तरंगा शक्ति द्वारा प्रस्तुत

की जानेवाली दिव्य लीलाओं में छलाँग न लगाकर, उनकी सृजनात्मक शक्ति की विधि के विषय में जिज्ञासा करते हुए जाने कि परमेश्वर कितने महान् हैं। *चैतन्य-चरितामृत* में भी सृजनात्मक शक्ति के वर्णन की और उसमें भगवान् के हाथ के होने की व्याख्या की गई है और *चैतन्य-चरितामृत* के रचयिता नवदीक्षित भक्तों को आगाह करते हैं कि वे कृष्ण की महानता विषयक इस ज्ञान की उपेक्षा करके गड्ढे में न गिरें। कृष्ण की महानता को जान लेने के बाद ही कोई उन पर अविचल विश्वास कर सकता है अन्यथा लोगों के महान् नेता भी सामान्य लोगों की तरह भगवान् कृष्ण को अनेक देवताओं में से एक या कोई ऐतिहासिक व्यक्ति या कोरी कपोलकल्पना मानने की भूल करेंगे। भगवान् की वृन्दावन या द्वारका की दिव्य लीलाएँ उन्हीं व्यक्तियों द्वारा आस्वाद्य हैं, जिन्होंने पहले से अपने को उच्च आध्यात्मिक बारीकियों से अवगत करा लिया है। सामान्य व्यक्ति ऐसे स्तर को सेवा तथा जिज्ञासा की क्रमिक विधि से प्राप्त करता है, जैसाकि हम महाराज परीक्षित के आचरण से देखेंगे।

यथा गोपायति विभुर्यथा संयच्छते पुनः ।
यां यां शक्तिमुपाश्रित्य पुरु-शक्तिः परः पुमान् ।
आत्मानं क्रीडयन् क्रीडन् करोति विकरोति च ॥ ७॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; गोपायति—पालन करता है; विभुः—महान्; यथा—जिस तरह; संयच्छते—समेट लेता है; पुनः—फिर; याम् याम्—जैसे-जैसे; शक्तिम्—शक्तियाँ; उपाश्रित्य—लगाकर; पुरु-शक्तिः—सर्वशक्तिमान; परः—परम; पुमान्—भगवान्; आत्मानम्—पूर्ण अंश को; क्रीडयन्—उन्हें लगा करके; क्रीडन्—जिस तरह स्वयं भी लगे रहकर; करोति—करता है; विकरोति—करवाता है; च—तथा।

कृपया बतायें कि सर्व-शक्तिमान परमेश्वर किस तरह अपनी विभिन्न शक्तियों तथा विभिन्न अंशों को इस व्यवहार जगत के पालन करने में लगाते हैं और एक खिलाड़ी के खेल की तरह फिरसे इसे समेट लेते हैं?

तात्पर्य : *कठोपनिषद्* (२.२.१३) में भगवान् को अन्य सभी नित्य जीवों में प्रधान नित्य जीव के रूप में (*नित्यो नित्यानां चेतश्चेतनानाम्*) तथा एकमेव परमेश्वर के रूप में वर्णित किया गया है, जो अन्य असंख्य जीवों का पालन करता है (*एको बहूनां यो विदधाति कामान्*)। इस तरह समस्त जीव, चाहे बद्ध अवस्था में हों या मुक्त अवस्था में, सर्व-शक्तिमान परमेश्वर द्वारा पालित हैं। परि-पालन का यह कार्य भगवान् स्वयं के विभिन्न विस्तारों तथा तीन प्रमुख शक्तियों द्वारा—जिनके नाम अन्तरंगा, बहिरंगा

तथा तटस्था शक्तियाँ हैं—सम्पन्न करते हैं। सारे जीव उनकी तटस्था शक्तियाँ हैं और उनमें से कुछ को विश्वास पात्र होने के कारण सृष्टि करने का भी कार्यभार सौंपा जाता है, यथा ब्रह्मा, मरीचि आदि को और उन्हें सृष्टि-कार्य करने की प्रेरणा भगवान् देते हैं (*तेने ब्रह्म हृदा*)। बहिरंगाशक्ति (माया) को भी जीवों से अथवा बद्ध आत्माओं से व्याप्त किया जाता है। अबद्ध तटस्था शक्ति आध्यात्मिक जगत (*वैकुण्ठ*) में कार्य करती है और भगवान् अपने विविध अंशों द्वारा दिव्य आकाश में प्रदर्शित विभिन्न दिव्य सम्बन्धों में इसे बनाए रखते हैं। इस तरह एक ही भगवान् अपने को अनेक रूपों (*बहु स्याम्*) में प्रकट करते हैं। इस तरह उनमें सारी विविधताएँ हैं और समस्त विविधताओं में वे रहते हैं, यद्यपि इतने पर भी वे इन सबसे पृथक् रहते हैं। यही है भगवान् की अचिन्त्य योगशक्ति। इस तरह प्रत्येक वस्तु एक ही साथ उनकी अचिन्त्य शक्तियों के कारण उनसे एक तथा पृथक् है (*अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्त्व*)।

नूनं भगवतो ब्रह्मन् हरेरद्भुत-कर्मणः ।
दुर्विभाव्यमिवाभाति कविभिश्चापि चेष्टितम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—फिर भी अपर्याप्त; भगवतः—भगवान् का; ब्रह्मन्—हे विद्वान ब्राह्मण; हरेः—भगवान् का; अद्भुत—आश्चर्यजनक; कर्मणः—कर्म करनेवाला; दुर्विभाव्यम्—अचिन्त्य; इव—सृदश; आभाति—प्रतीत होता है; कविभिः—अत्यधिक विद्वानों द्वारा भी; च—भी; अपि—के होते हुए; चेष्टितम्—प्रयास करने पर भी।

हे विद्वान ब्राह्मण, भगवान् के दिव्य कार्यकलाप अद्भुत हैं और वे अचिन्त्य प्रतीत होते हैं, क्योंकि अनेक विद्वान पंडितों के अनेक प्रयास भी उन्हें समझने में अपर्याप्त सिद्ध होते रहे हैं।

तात्पर्य : अकेले इस ब्रह्माण्ड के सृजन में ही परमेश्वर के कार्य अचिन्त्य तथा अद्भुत प्रतीत होते हैं। फिर ऐसे असंख्य ब्रह्माण्ड हैं और वे सब मिलकर सृजित भौतिक जगत कहलाते हैं और उनकी सृष्टि का यह अंश सम्पूर्ण सृष्टि का एक भिन्नांश मात्र है। यह भौतिक जगत के केवल अंश मात्र है (*एकांशेन स्थितो जगत्*)। यदि यह कल्पना करें कि यह भौतिक जगत उनकी शक्ति के एक अंश का प्रदर्शन है, तो फिर शेष तीन-चौथाई वैकुण्ठ जगत है, जिसका वर्णन *भगवद्गीता* में *मद्धाम* या *सनातन* धाम के रूप में हुआ है। हम पिछले श्लोक में देख चुके हैं कि भगवान् पहले सृष्टि करते हैं और फिर उसे समेट लेते हैं। यह कार्य केवल भौतिक जगत पर लागू होता है, क्योंकि उनकी सृष्टि का बहुत बड़ा भाग वैकुण्ठ लोक न तो सृजित होता है और न उसका विनाश होता है, अन्यथा उसे *सनातन* धाम न

कहा जाता। भगवान् अपने धाम में रहते हैं और उनका दिव्य नाम, गुण, लीलाएँ, पार्षद तथा व्यक्तित्व—ये सभी उनकी विभिन्न शक्तियों तथा अंशों के प्रदर्शन हैं। भगवान् *अनादि* अर्थात् जिसका स्रष्टा न हो तथा आदि या सभी वस्तुओं का उद्गम कहलाते हैं। हम अपनी अधूरी विधि से सोचते हैं कि भगवान् भी सृजित होते हैं, लेकिन वेदान्त हमें बताता है कि वे सृजित नहीं होते, प्रत्युत अन्य सारी वस्तुएँ उनके द्वारा सजित हैं (*नारायण: परोऽव्यक्तात्*)। अतएव सामान्य व्यक्ति के लिए ये सभी अद्भुत विषय विचारणीय हैं। ये विषय बड़े-बड़े विद्वानों के लिए भी अचिन्त्य हैं। अतएव ये विद्वान एक दूसरे से विपरीत सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। यहाँ तक कि इस ब्रह्माण्ड-विशेष का भी, जो कि सृजित जगत का एक नगण्य अंश है, उन्हें पूरा-पूरा ज्ञान नहीं है कि यह सीमित आकाश कितनी दूरी तक फैला है या कि कितने नक्षत्र तथा लोक हैं या कि इन अनन्त लोकों में कैसी परिस्थितियाँ हैं? आधुनिक वैज्ञानिकों को इन सबके विषय में अपर्याप्त ज्ञान है। उनमें से कुछ यह विचार प्रकट करते हैं कि सारे आकाश में १० करोड़ लोक हैं। २१ फरवरी १९६० को मास्को से एक समाचार विज्ञापित हुआ, जो इस प्रकार है—

रूस के प्रसिद्ध ज्योतिर्विज्ञान के प्रोफेसर बोरिस वोरोन्तसोव-वेलियामिनोव ने कहा है कि ब्रह्माण्ड में ऐसे असंख्य लोक होने चाहिए, जहाँ तर्कशील प्राणियों का निवास है।

ऐसा सम्भव है कि ऐसे लोकों में पृथ्वी-जैसा ही जीवन फल-फूल रहा हो।

"रसायन-विज्ञान के डाक्टर निकोलाई चिरोव ने अन्य लोकों के वायुमण्डल की समस्या पर विचार करते हुए इंगित किया है कि उदाहरण के तौर पर कहा जा सकता है कि मंगल-लोक का जीव शरीर के कम ताप से सामान्य जीवन के लिये अपने को अच्छी तरह अनुकूल बना सका।

"उसने कहा कि उसे लगता है कि मंगल-लोक के वायुमंडल का संघटन उस लोक के अभ्यस्त प्राणियों के जीवन के लिए सर्वथा उपयुक्त है और उन्होंने अपने को तदानुसार ढाल लिया है"

विभिन्न लोकों में प्राणी की अनुकूलन-क्षमता का वर्णन *ब्रह्म-संहिता* में *विभूति भिन्नम्* के रूप में वर्णित है अर्थात् ब्रह्माण्ड के असंख्य लोकों में से प्रत्येक में एक विशेष प्रकार का वायुमण्डल है और वहाँ के प्राणी विज्ञान तथा मनोविज्ञान के क्षेत्र में काफी बढ़े-चढ़े हैं, क्योंकि वहाँ का वायुमण्डल

बेहतर है। विभूति का अर्थ है 'विशिष्ट शक्तियाँ' और भिन्नम् का अर्थ है 'विविध'। जो विज्ञानी बाह्य अन्तरिक्ष की खोज करने का प्रयास करके यान्त्रिक व्यवस्था द्वारा अन्य लोकों तक पहुँचने का प्रयत्न कर रहे हैं, उन्हें यह भलीभाँति जान लेना चाहिए कि जिन प्राणियों के शरीर को पृथ्वी के वायुमण्डल के अनुकूल है, वे अन्य लोकों के वायुमण्डल में नहीं रह सकते (हमारी 'अन्य लोकों की सुगम यात्रा' पुस्तक देखें)। मनुष्य को इस शरीर को त्यागने के बाद एक भिन्न लोक में जाने के लिए अपने को तैयार रखना होगा, जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा गया है—

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

"जो लोग देवताओं की पूजा करते हैं, वे देवताओं के बीच जन्म लेंगें; जो भूत-प्रेतों को पूजते हैं, वे उन्हीं के बीच जन्म लेंगे और जो मेरी पूजा करते हैं, वे मेरे साथ रहेंगे।"

भगवान् की सृजनात्मक शक्ति के विषय में महाराज परीक्षित का वक्तव्य यह बताता है कि वे सृष्टि-प्रक्रम के विषय में सब कुछ जानते थे। तो फिर उन्होंने शुकदेव गोस्वामी से ऐसी जानकारी क्यों चाही? पाण्डवों के वंशज महाराज परीक्षित महान् सम्राट थे तथा भगवान् श्रीकृष्ण के महान् भक्त थे। अतएव वे जगत की सृष्टि के विषय में बहुत कुछ जानथे में सक्षम थे, लेकिन उनका ज्ञान इतना पर्याप्त न था। इसलिए उन्होंने कहा कि बड़े-बड़े विद्वान काफी प्रयत्न करने के बाद भी इसे जानने में असफल रहते हैं। भगवान् अनन्त हैं और उनके कार्यकलाप भी अथाह हैं। सीमित ज्ञान तथा अपूर्ण इन्द्रियों के कारण कोई भी जीव, यहाँ तक कि इस ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च पूर्ण जीव ब्रह्माजी भी, अनन्त के विषय में जान लेने की कल्पना तक नहीं कर सकते। हम अनन्त के विषय में थोड़ा बहुत तभी समझ सकते हैं, जब यह अनन्त द्वारा बताया जाये जैसाकि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* में बतलाया है। शुकदेव गोस्वामी-जैसे प्रबुद्ध व्यक्तियों से भी इस बारे में कुछ हद तक जाना जा सकता है, क्योंकि उन्होंने नारद के शिष्य व्यासदेव से इसे सीखा था। इस तरह शिष्य-परम्परा द्वारा ही पूर्ण ज्ञान प्रकट हो सकता है, किसी भी व्यावहारिक ज्ञान द्वारा नहीं, चाहे वह प्राचीन हो या आधुनिक।

यथा गुणांस्तु प्रकृतेर्युगपत् क्रमशोऽपि वा ।
बिभर्ति भूरिशस्त्वेकः कुर्वन् कर्माणि जन्मभिः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह वे हैं; गुणान्—गुणों को; तु—लेकिन; प्रकृतेः—भौतिक शक्ति के; युगपत्—एकसाथ; क्रमशः—धीरे-धीरे; अपि—भी; वा—अथवा; बिभर्ति—पालन करता है; भूरिशः—अनेक रूपों में; तु—लेकिन; एकः—सर्वोच्च एक; कुर्वन्—कार्य करते हुए; कर्माणि—कार्यकलाप; जन्मभिः—अवतारों के द्वारा।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् एक हैं, चाहे वे प्रकृति के गुणों से अकेले कर्म करें या एकसाथ कई रूपों में विस्तार करें या कि प्रकृति के गुणों के निर्देशन हेतु बारी-बारी से विस्तार करें।

विचिकित्सितमेतन्मे ब्रवीतु भगवान् यथा ।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परस्मिंश्च भवान्खलु ॥ १० ॥

शब्दार्थ

विचिकित्सितम्—सन्देहपूर्ण प्रश्न; एतत्—यह; मे—मुझे; ब्रवीतु—स्पष्ट करें; भगवान्—भगवान् के समान शक्तिशाली; यथा—जिस तरह; शाब्दे—दिव्य शब्द में; ब्रह्मणि—वैदिक साहित्य में; निष्णातः—पूर्णतया प्रबुद्ध या पारंगत; परस्मिन्—अध्यात्म में; च—भी; भवान्—आप; खलु—वास्तव में।

कृपया इन सारे संशयप्रद प्रश्नों का निवारण कर दें, क्योंकि आप न केवल वैदिक साहित्य के परम विद्वान एवं अध्यात्म में आत्मसिद्ध हैं, अपितु आप भगवान् के महान् भक्त हैं अतएव आप भगवान् के ही समान हैं।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि परम सत्य गोविन्द यद्यपि अद्वितीय हैं, तथापि वे अपने को अच्युत भाव से असंख्य रूपों में प्रकट करते हैं, जो एक दूसरे से अभिन्न होते हैं और यद्यपि वे आदि पुरुष हैं, तो भी वे सदैव युवा प्रतीत होते हैं और स्थायीतरुण शक्ति से युक्त रहते हैं। वेदों का अध्यात्म-ज्ञान जान लेने मात्र से ही उन्हें नहीं जाना जा सकता, किन्तु उनके शुद्ध भक्त उन्हें सरलता से अनुभव कर पाते हैं।

भगवान् के विभिन्न रूपों के सारे विस्तार जैसे श्रीकृष्ण से बलदेव, बलदेव से संकर्षण, संकर्षण से वासुदेव, वासुदेव से अनिरुद्ध, अनिरुद्ध से प्रद्युम्न तथा प्रद्युम्न से पुनः द्वितीय संकर्षण और उनसे नारायण पुरुषावतार तथा अन्य असंख्य रूप, जो नदी की असंख्य तरंगों की भाँति निरन्तर प्रवाहित होते रहते हैं, वे सब एक हैं। वे समान शक्तिवाले दीपकों की भाँति हैं, जो एक दूसरे को प्रदीप्त करते हैं। यही भगवान् की दिव्य शक्ति है। वेदों का कथन है कि वे इतने पूर्ण हैं कि यद्यपि सम्पूर्ण सत्ता (जगत)

उनसे उद्‌भूत होती है, फिर भी वे ज्यों के त्यों पूर्ण बने रहते हैं (*पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते*)। अतएव ज्ञानियों के द्वारा बनाई गई भगवान् की भौतिक अवधारणा की कोई वैधता नहीं है। इस तरह वे (भगवान्) संसारी विद्वान् के लिए सदैव रहस्य बने रहते हैं, भले ही वह वैदिक साहित्य में कितना ही पंडित क्यों न हो (*वेदेषु दुर्लभम् अदुर्लभम् आत्मभक्तौ*)। अतएव भगवान् संसारी विद्वान पंडितों, दार्शनिकों या विज्ञानियों की धारणाओं से सर्वथा परे हैं। वे शुद्ध भक्त द्वारा सहज गम्य हैं, क्योंकि *भगवद्‌गीता* (१८.५४) में भगवान् घोषित करते हैं कि जब कोई ज्ञान की अवस्था को पार करके भगवान् की भक्ति में लीन हो जाता है, तभी वह भगवान् के वास्तविक स्वभाव को समझ सकता है। जब तक कोई भगवान् की भक्ति में प्रवृत्त नहीं होता, तब तक उसे भगवान् या उनके पवित्र नाम, रूप, लक्षण, लीलाओं आदि के विषय में कोई स्पष्ट धारणा नहीं बन सकती। *भगवद्‌गीता* का यह कथन कि सर्वप्रथम मनुष्य अन्य सारी व्यस्तताओं से मुक्त होकर भगवान् की शरण में जाये, यह बताता है कि मनुष्य को भगवान् का शुद्ध, मुक्त भक्त होना चाहिए। तभी वह भक्ति के बल पर उन्हें जान सकता है।

पिछले श्लोक में महाराज परीक्षित ने स्वीकार किया कि भगवान् बड़े से बड़े विद्वानों के लिए भी अचिन्त्य हैं। तो वे शुकदेव गोस्वामी से अपने उस अपर्याप्त ज्ञान को स्पष्ट करने का अनुरोध क्यों करते हैं? इसका कारण स्पष्ट है। शुकदेव गोस्वामी न केवल वैदिक साहित्य में प्रकाण्ड विद्वान् थे, अपितु वे महान् स्वरूपसिद्ध पुरुष और भगवान् के शक्तिसम्पन्न भक्त भी थे। भगवत्कृपा से भगवान् का शक्तिशाली भक्त भगवान् से भी बढ़कर होता है। भगवान् श्रीरामचन्द्र हिन्द महासागर पर सेतु बनाकर लंका द्वीप पहुँचने का प्रयास कर रहे थे, किन्तु उनके अनन्य भक्त श्री हनुमानजी छलांग मार कर उस सागर को पार कर गये। भगवान् अपने भक्तों के ऊपर इतने दयालु रहते हैं कि वे अपने प्रिय भक्तों को अपने से बढ़कर प्रस्तुत करते हैं। भगवान् ने दुर्वासा मुनि की रक्षा करने में अपनी असमर्थता व्यक्त कर दी थी, यद्यपि दुर्वासा मुनि इतने शक्तिशाली थे कि भौतिक दशाओं में ही भगवान् के पास सीधे पहुँच गये। लेकिन दुर्वासा मुनि की रक्षा की तो एक भगवद्‌भक्त अर्थात् महाराज अम्बरीष ने। अतएव भगवद्‌भक्त न केवल भगवान् से अधिक शक्तिशाली होता है, अपितु भक्त की पूजा भी भगवान् की प्रत्यक्ष पूजा से अधिक प्रभावशाली मानी जाती है (*मद्‌भक्तपूजाभ्यधिका*)।

अतएव निष्कर्ष यह निकला है कि गम्भीर भक्त को सर्वप्रथम ऐसे गुरु के समीप जाना चाहिए जो न केवल वैदिक साहित्य में निष्णात हो, अपितु महान् भक्त भी हो, जिसे भगवान् की एवं उनकी विभिन्न शक्तियों की वास्तविक अनुभूति हो। ऐसे भक्त-गुरु की सहायता के बिना कोई व्यक्ति भगवान् के अध्यात्म-विज्ञान में प्रगति नहीं कर सकता। शुकदेव गोस्वामी जैसा प्रामाणिक गुरु न केवल भगवान् की अन्तरंगा शक्तियों के विषय में बताता है, अपितु वह यह भी बताता है कि वे किस तरह अपनी बहिरंगा शक्ति के साथ रहते हैं।

अन्तरंगा शक्ति में भगवान् की लीलाएँ उनके वृन्दावन के कार्यकलापों के रूप में प्रदर्शित होती हैं, किन्तु उनकी बहिरंगा शक्ति के कार्यकलाप उनके कारणार्णवशायी विष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु के रूपों में प्रकट होते हैं। श्रील विश्वनाथचक्रवर्ती वैष्णवों को उपदेश देते हुए कहते हैं कि उन्हें केवल भगवान् के कार्यकलापों (यथा रासलीला) के सुनने में ही रुचि नहीं लेनी चाहिए, अपितु उनके पुरुषावतारों के रूप में की गई सृष्टि तत्त्व लीलाओं में भी रुचि लेनी चाहिए, जैसाकि महाराज परीक्षित ने आदर्श शिष्य के रूप में आदर्श गुरु शुकदेव गोस्वामी से ली।

सूत उवाच

इत्युपामन्त्रितो राज्ञा गुणानुकथने हरेः ।
हृषीकेशमनुस्मृत्य प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उपामन्त्रितः—अनुरोध किये जाने पर; राज्ञा—राजा द्वारा; गुण-अनुकथने—दिव्य गुणों के वर्णन में; हरेः—भगवान् के; हृषीकेशम्—इन्द्रियों के स्वामी को; अनुस्मृत्य—ठीक से स्मरण करके; प्रतिवक्तुम्—उत्तर देने के लिए; प्रचक्रमे—औपचारिकताएँ पूरी कीं।

सूत गोस्वामी ने कहा : जब राजा ने शुकदेव गोस्वामी से इस प्रकार प्रार्थना की कि वे भगवान् की सृजनात्मक शक्ति का वर्णन करें, तो उन्होंने इन्द्रियों के स्वामी (श्रीकृष्ण) का ठीक से स्मरण किया और उपयुक्त उत्तर देने के लिए इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : भगवद्भक्तों को जब कोई व्याख्यान देना होता है तथा भगवान् के दिव्य गुणों का वर्णन करना होता है, तो वे यह नहीं सोचते कि वे कोई भी बात स्वतन्त्र रूप से कर सकते हैं। वे सोचते है कि वे तभी ऐसा कर सकते है जब इन्द्रियों के स्वामी भगवान् उन्हें बोलने की प्रेरणा न दें। जीव की

इन्द्रियाँ उसकी नहीं होतीं; भक्तगण जानते हैं कि ऐसी इन्द्रियाँ परमेश्वर की हैं और उनका समुचित प्रयोग तभी हो सकता है, जब उनका उपयोग भगवान् की सेवा में किया जाय। इन्द्रियाँ तो यन्त्र हैं और तत्त्व अवयव हैं, जो भगवान् द्वारा प्रदत्त हैं, अतएव मनुष्य जो भी करता, बोलता, देखता है, वह केवल भगवान् के निर्देश पर करता है। *भगवद्गीता* (१५.१५) इसकी पुष्टि करती है*: सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।* कोई भी स्वतन्त्र भाव से कर्म करने के लिए मुक्त नहीं हैं, अतएव मनुष्य को सदा कर्म करने, खाने या बोलने की अनुमति भगवान् से ले लेनी चाहिए और भगवान् के आशीर्वाद से भक्त जो कुछ करता है, वह बद्धजीव द्वारा किये गये चार प्रकार के दोषों के सिद्धान्तों से मुक्त होता है।

श्री-शुक उवाच

नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे
सदुद्भव-स्थान-निरोध-लीलया ।
गृहीत-शक्ति-त्रितयाय देहिना-
मन्तर्भवायानुपलक्ष्य-वर्त्मने ॥ १२॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; नमः—नमस्कार; परस्मै—परम; पुरुषाय—भगवान् को; भूयसे—परम पूर्ण को; सद्-उद्भव—भौतिक जगत की सृष्टि; स्थान—इसका पालन-पोषण; निरोध—तथा इसका संहार, समेटा जाना; लीलया—लीलाओं से; गृहीत—स्वीकार किया; शक्ति—शक्ति; त्रितयाय—तीन गुण; देहिनाम्—समस्त देहधारियों का; अन्तः-भवाय—अन्तःकरण में निवास करनेवाले को; अनुपलक्ष्य—अचिन्त्य; वर्त्मने—ऐसी गतियों वाला।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : मैं उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ, जो भौतिक जगत की सृष्टि के लिए प्रकृति के तीन गुणों को स्वीकार करते हैं। वे प्रत्येक शरीर के भीतर निवास करनेवाले परम पूर्ण हैं और उनकी गतियाँ अचिन्त्य हैं।

तात्पर्य : यह भौतिक जगत सतो, रजो तथा तमो गुणों की अभिव्यक्ति है और इस जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार के लिए ब्रह्माजी, विष्णु तथा शंकर (शिव) इन तीन प्रमुख रूपों को स्वीकार करते हैं। विष्णु के रूप में वे भौतिक रूप से सृजित प्रत्येक जीव में प्रवेश कर जाते हैं। गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में वे प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश करते हैं और क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में वे प्रत्येक जीव के शरीर में प्रवेश करते हैं। समस्त विष्णुतत्त्वों के उद्गम होने के कारण भगवान् कृष्ण को यहाँ पर परः

पुमान् या पुरुषोत्तम के रूप में सम्बोधित किया गया है, जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१८) में वर्णन आया है। वे परम पूर्ण हैं, अतएव सारे पुरुषावतार उनके अंश हैं। भक्तियोग ही वह एकमात्र विधि है, जिससे कोई उन्हें जानने में सक्षम हो सकता है। चूँकि ज्ञानी तथा योगी भगवान् की अनुभूति नहीं कर पाते, अतएव वे *अनुपलक्ष्यवर्त्मने* या अचिन्त्य गति या भक्तियोग वाले भगवान् कहलाते हैं।

भूयो नमः सद्वृजिन-च्छिदेऽसता-
मसम्भवायाखिल-सत्त्व-मूर्तये ।
पुंसां पुनः पारमहंस्य आश्रमे
व्यवस्थितानामनुमृग्य-दाशुषे ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

भूयः—पुनः; नमः—मेरा नमस्कार; सत्—भक्तों या पुण्यात्माओं का; वृजिन—आपत्तियाँ; छिदे—मुक्तिदाता; असताम्—नास्तिकों या अभक्त असुरों का; असम्भवाय—अगले दुखों का अन्त; अखिल—पूर्ण; सत्त्व—सतोगुण; मूर्तये—पुरुष को; पुंसाम्—योगियों का; पुनः—फिर; पारमहंस्ये—आध्यात्मिक सिद्धि; आश्रमे—आश्रम में; व्यवस्थितानाम्—विशिष्ट रूप से स्थित; अनुमृग्य—लक्ष्य; दाशुषे—उद्धारकर्ता।

मैं पुनः पूर्ण जगत-रुप तथा अध्यात्म-रूप उन भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ, जो पुण्यात्मा भक्तों को समस्त संकटों से मुक्ति दिलानेवाले तथा अभक्त असुरों की नास्तिक मनोवृत्ति की वृद्धि को विनष्ट करनेवाले हैं। वे सर्वोच्च आध्यात्मिक सिद्धि-प्राप्त योगियों को उनके विशिष्ट पद प्रदान करने वाले हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण समस्त जगत के, भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही के, पूर्ण रूप हैं। अखिल का अर्थ है पूर्ण अथवा जो *खिल* या निकृष्ट नहीं है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, प्रकृति दो तरह की है—भौतिक प्रकृति तथा आध्यात्मिक प्रकृति, जो भगवान् की बहिरंगा तथा अन्तरंगा शक्तियाँ हैं। भौतिक प्रकृति *अपरा* या निकृष्ट कहलाती है और आध्यात्मिक प्रकृति *परा* या दिव्य कहलाती है। अतएव भगवान् का स्वरूप निकृष्ट भौतिक प्रकृति नहीं है। वे तो पूर्ण ब्रह्म हैं। वे *मूर्ति* हैं अर्थात् दिव्य स्वरूपवाले हैं। अल्पज्ञानी व्यक्ति उनके दिव्य स्वरूप से परिचित न होने के कारण उन्हें निराकार ब्रह्म के रूप में बताते हैं। लेकिन ब्रह्म तो उनके दिव्य शरीर की किरणें मात्र है (*यस्य प्रभा*)। भक्त-गण उनके दिव्य स्वरूप से परिचित होने के कारण उनकी सेवा करते हैं, अतएव भगवान् भी अपनी अहैतुकी कृपा का प्रतिदान करते हैं और अपने भक्तों को समस्त विपत्तियों से उबारते हैं। वे

पवित्रात्मा, जो वेदों के आदेशों का पालन करनेवाले हैं, भगवान् को अत्यन्त प्रिय हैं। अतएव वे उनकी भी रक्षा करते हैं। *दुरात्मा* तथा अभक्तगण वेदों के नियमों के विरुद्ध रहते हैं, अतएव ऐसे व्यक्तियों के निन्द्य कार्यकलापों की प्रगति में बाधा डाली जाती है। इनमें से कुछ, जिन पर भगवान् की विशेष कृपा होती है, उन्हीं के द्वारा मारे जाते हैं, जैसे रावण, हिरण्यकशिपु तथा कंस। इस प्रकार असुरों को मोक्ष प्राप्त होता है और उनके आसुरी कार्यकलापों को आगे बढ़ने से रोक दिया जाता है। चाहे भक्तों पर कृपा-भाव हो या असुरों का वध, भगवान् एक पिता की भाँति, सबों पर दयालु रहते हैं, क्योंकि वे प्रत्येक जीव के पूर्ण स्वामी हैं।

जीव की परमहंस अवस्था अध्यात्म की सर्वोच्च सिद्धावस्था है। श्रीमती कुन्तीदेवी के अनुसार, परमहंस ही भगवान् को वास्तव में जान पाते हैं। जिस तरह अध्यात्म की अनुभूति निर्विशेष ब्रह्म से अन्तर्यामी परमात्मा तथा उससे बढ़कर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में होती है, उसी प्रकार संन्यास के आध्यात्मिक जीवन में भी मनुष्य का पद क्रमश: ऊपर उठता है। संन्यास की क्रमिक अवस्थाएँ हैं *कुटीचक, बहूदक, परिव्राजकाचार्य* तथा *परमहंस*। इनका उल्लेख पाण्डवों की माता श्रीमती कुन्तीदेवी ने भगवान् कृष्ण की प्रार्थना के अन्तर्गत किया है (प्रथम स्कन्ध, अध्याय ८)। सामान्यतया परमहंस निर्विशेषवादियों तथा भक्तों दोनों में ही पाये जाते हैं, लेकिन *श्रीमद्भागवत* के अनुसार (जैसाकि कुन्ती देवी ने स्पष्ट कहा है), केवल परमहंस ही शुद्ध भक्तियोग को समझ पाते हैं। कुन्तीदेवी ने स्पष्ट कहा है कि भगवान् परमहंसों को भक्तियोग प्रदान करने के लिये ही विशेष रूप से अवतरति होते हैं (*परित्राणाय साधूनाम्*)। इस तरह एक प्रकार से अन्ततोगत्वा परमहंस भगवान् के अनन्य भक्त ही हैं। श्रील जीव गोस्वामी ने प्रत्यक्ष स्वीकार किया है कि परम गति तो भक्तियोग है, जिसके द्वारा मनुष्य भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति स्वीकार करते हैं। जो लोग भक्तियोग के मार्ग को ग्रहण करते हैं, वे ही वास्तविक परमहंस हैं।

चूँकि भगवान् सबों पर अत्यन्त दयालु रहते हैं, अतएव जो निर्विशेषवादी भगवान् की निर्विशेष ब्रह्मज्योति में तदाकार होने के लिए साधन-स्वरूप भक्ति ग्रहण करते हैं, उन्हें भी उनका मनोवांछित लक्ष्य प्राप्त होता है। उन्होंने *भगवद्गीता* (४.११) में सबों को आश्वस्त किया है—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते*।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार, परमहंसों की दो श्रेणियाँ हैं—*ब्रह्मानन्दी* (निर्विशेषवादी) तथा *प्रेमानन्दी* (भक्त) और इन दोनों को ही वांछित गति प्राप्त होती है, यद्यपि ब्रह्मानन्दियों की अपेक्षा प्रेमानन्दी अधिक भाग्यवान हैं। लेकिन ये दोनों श्रेणियाँ अध्यात्मवादी हैं और इन्हें अपरा प्रकृति से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता, जो जीवन के कष्टों से पूर्ण है।

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां
विदूर-काष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम् ।
निरस्त-साम्यातिशयेन राधसा
स्व-धामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ॥ १४॥

शब्दार्थ

नमः नमः ते—मैं आपको नमस्कार करता हूँ; अस्तु—हैं; ऋषभाय—महान् पार्षद को; सात्वताम्—यदुवंश के सदस्यों को; विदूर-काष्ठाय—संसारी द्वन्द्वों से दूर रहनेवाला; मुहुः—सदैव; कु-योगिनाम्—अभक्तों का; निरस्त—ध्वस्त; साम्य—समान पद; अतिशयेन—महानता से; राधसा—ऐश्वर्य से; स्व-धामनि—अपने धाम में; ब्रह्मणि—वैकुण्ठ लोक में; रंस्यते—भोग करता है; नमः—मैं नमस्कार करता हूँ।

मैं उन्हें सादर नमस्कार करता हूँ जो यदुवंशियों के संगी हैं और अभक्तों के लिए सदैव समस्या बने रहते हैं। वे भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों जगतों के परम भोक्ता हैं, फिर भी वे वैकुण्ठ स्थित अपने धाम का भोग करते हैं। कोई भी उनके समतुल्य नहीं है, क्योंकि उनका दिव्य ऐश्वर्य अमाप्य है।

तात्पर्य : परमेश्वर श्रीकृष्ण के दिव्य स्वरूपों के दो पहलू हैं। शुद्ध भक्तों के वे नित्य संगी हैं—यथा यदुवंशी होकर या अर्जुन के सखा बनकर या वृन्दावनवासियों के संगी-पड़ोसी बनकर, नन्द-यशोदा के पुत्र बनकर, सुदामा, श्रीदामा तथा मधुमंगल के मित्र बनकर या व्रजभूमि की बालाओं के प्रेमी बनकर इत्यादि-इत्यादि। यह उनके साकार स्वरूप का अंग है। अपने निर्विशेष रूप में वे ब्रह्मज्योति की किरणें प्रसारित करतें हैं, जो असीम तथा सर्वव्यापी हैं। सूर्य किरणों के तुल्य इस सर्वव्यापी ब्रह्म-ज्योति का एक अंश महत् तत्त्व के अंधकार से आच्छादित रहता है और यही नगण्य अंश भौतिक जगत कहलाता है। इस भौतिक जगत में ऐसे असंख्य ब्रह्माण्ड हैं जिस तरह के ब्रह्माण्ड का हम अनुभव कर रहे हैं और इनमें लाखों ऐसे लोक हैं—जैसे उनमें से एक लोक में हम रह रहे हैं। संसारी लोग भगवान् की किरणों के असीम विस्तार से किसी न किसी प्रकार से मोहित होते हैं, किन्तु

भक्तों को भगवान् के साकार रूप से ही प्रयोजन रहता है, क्योंकि उसी से प्रत्येक वस्तु उद्‌भूत होती है (*जन्माद्यस्य यतः*)। जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य-मण्डल में संकेन्द्रित रहती हैं, उसी तरह ब्रह्मज्योति सर्वोच्च लोक गोलोक वृन्दावन में संकेन्द्रित रहती है। असीम आध्यात्मिक आकाश वैकुण्ठ-लोकों से भरा हुआ है और भौतिक आकाश से बहुत दूर है। जहाँ संसारी लोगों को सांसारिक आकाश के विषय में ही अपर्याप्त ज्ञान हो, भला वे आध्यात्मिक आकाश के विषय में किस तरह सोच सकते हैं? अतएव संसारी लोग सदैव भगवान् से बहुत दूर रहते हैं। भविष्य में यदि वे ऐसा यन्त्र बना भी लें, जिसकी गति वायु या मन के वेग के तुल्य हो, तो भी संसारी मनुष्य आध्यात्मिक आकाश के लोकों तक पहुँचने की कल्पना नहीं कर सकते। अतः भगवान् तथा उनका वासस्थान सदा-सदा के लिए रहस्य या कल्पना बना रहेगा। किन्तु भगवान् भक्तों के लिए सदैव संगी के रूप में बने रहेंगे।

आध्यात्मिक आकाश में उनका ऐश्वर्य अपरिमेय है। भगवान् समस्त दिव्य वैकुण्ठ लोकों में अपने अंशों का विस्तार करके मुक्त पार्षदों के साथ निवास करते हैं, किन्तु जो निर्विशेषवादी भगवान् से तदाकार होना चाहते हैं उनको, ब्रह्मज्योति की एक आध्यात्मिक स्फुलिंग के रूप में तदाकार होने दिया जाता है। उनमें इतनी योग्यता नहीं होती कि वे वैकुण्ठ लोकों में, या परमलोक, गोलोक वृन्दावन में भगवान् के पार्षद बन सकें, जिसका उल्लेख *भगवद्‌गीता* में *मद्धाम* के रूप में हुआ है और इस श्लोक में *स्वधाम* कहा गया है।

भगवद्‌गीता (१५.६) में *मद्धाम* या *स्वधाम* का वर्णन इस प्रकार हुआ है।

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्‌गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम् परमं मम॥

भगवान् के स्वधाम में न तो सूर्यप्रकाश की आवश्यकता पड़ती है, न चाँदनी की, न बिजली जगमगाने की। वह धाम या स्थान सर्वश्रेष्ठ है और जो भी वहाँ जाता है, वह फिर कभी इस भौतिक जगत में वापस नहीं आता।

वैकुण्ठ लोक तथा गोलोक वृन्दावन स्वतः प्रकाशित रहते हैं और भगवान् के इस स्वधाम से

विकीर्ण किरणें ही ब्रह्मज्योति का निर्माण करती हैं। इसकी पुष्टि *मुण्डक* (२.२.१०), *कठ* (२.२.१५) तथा *श्वेताश्वतर* (६.१४) उपनषिदों में भी हुई है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं

नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयम् अग्निः।

तमेव भान्तम् अनु भाति सर्वं

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

भगवान् के स्वधाम में प्रकाश के लिए सूर्य, चन्द्रमा या तारों की आवश्यकता नहीं पड़ती। न ही वहाँ बिजली की आवश्यकता है; तो फिर दीपकों के विषय में क्या कहा जाय? दूसरी ओर इन लोकों के स्वतः प्रकाशित होने के कारण ही सारा तेज सम्भव है और वहाँ जो भी जाज्वल्यमान है, वह उस स्वधाम के परावर्तन के कारण है।

जो निर्विशेष ब्रह्मज्योति से चकाचौंध हो जाता है, वह साक्षात् भगवान् को नहीं जान सकता। अतएव *ईशोपनिषद्* (१५) में यह प्रार्थना की गई है कि भगवान् अपने चमत्कृत तेज को हटा लें, जिससे भक्त वास्तविकता का दर्शन कर सके। यह श्लोक इस प्रकार है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

"हे भगवान्! आप भौतिक तथा आध्यात्मिक सभी वस्तुओं के पालक हैं और प्रत्येक वस्तु आपकी कृपा से फलती-फूलती है। आपका भक्तियोग ही धर्म का वास्तविक सिद्धान्त अर्थात् *सत्यधर्म* है और मैं उस सेवा में लगा हुआ हूँ। कृपया अपने असली मुख का दर्शन देकर मेरी रक्षा करें। अतएव आप अपनी ब्रह्मज्योति किरणों के इस अवगुण्ठन को हटा लें, जिससे मैं आपके सच्चिदानन्द स्वरूप का दर्शन कर सकूँ।"

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम् ।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं
तस्मै सुभद्र-श्रवसे नमो नमः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसका; कीर्तनम्—महिमागान; यत्—जिसका; स्मरणम्—स्मरण; यत्—जिसका; ईक्षणम्—दर्शन्; यत्—जिसका; वन्दनम्—प्रार्थना; यत्—जिसका; श्रवणम्—श्रवण; यत्—जिसका; अर्हणम्—पूजा; लोकस्य—लोगों का; सद्यः—तुरन्त; विधुनोति—विशेष रूप से स्वच्छ करता है; कल्मषम्—पापों के प्रभावों को; तस्मै—उसको; सुभद्र—मंगलमय; श्रवसे—श्रवण किया गया; नमः—नमस्कार; नमः—पुनः पुनः।.

मैं उन सर्वमंगलमय भगवान् श्रीकृष्ण को सादर नमस्कार करता हूँ जिनके यशोगान, स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण तथा पूजन से पाप करनेवाले के सारे पाप-फल तुरन्त धुल जाते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर सर्वोच्च अधिकारी श्री शुकदेव गोस्वामी द्वारा समस्त पापों के फलों (कल्मषों) से मुक्त होने के लिए भव्य धार्मिक कृत्यों का सुझाव रखा दिया है। *कीर्तन* अर्थात् यशोगान कई प्रकार से सम्पन्न किया जा सकता है—यथा स्मरण करने, देवदर्शन के लिए मन्दिरों में जाने, भगवान् के समक्ष प्रार्थना करने तथा *श्रीमद्भागवत* या *भगवद्गीता* में वर्णित विधि से भगवान् की महिमा का पाठ सुनने से। मुधर संगीत के साथ भगवान् के यश का गायन करके तथा *श्रीमद्भागवत* या *भगवद्गीता* जैसे शास्त्रों का पाठ करके *कीर्तन* सम्पन्न किया जा सकता है।

भक्तों को चाहिए कि वे भगवान् की सदेह अनुपस्थिति से निराश न हों, भले ही वे अपने को उनकी संगति में न पा रहे हों। कीर्तन, श्रवण, स्मरण आदि (या तो सभी या इनमें से कुछ या केवल एक) की भक्ति-विधि हमें उपयुक्त प्रकार से भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति सम्पन्न करके उनके सान्निध्य का वांछित फल प्रदान कर सकती है। यहाँ तक कि कृष्ण या राम के नाम के उच्चारण मात्र से वायुमण्डल आध्यात्मिक हो उठता है। हमें भलीभाँति जान लेना चाहिए कि जहाँ भी ऐसी शुद्ध दिव्य सेवा की जाती है, वहाँ भगवान् विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार निरपराध *कीर्तनम्* सम्पन्न करनेवाले को भगवान् का सकारात्मक सान्निध्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार कुशल मार्गदर्शन के अन्तर्गत सम्पन्न स्मरण तथा वन्दन से भी वांछित फल प्राप्त हो सकता है। मनुष्य को चाहिए कि भक्ति के स्वरूपों को मनमाना नहीं गढ़े। वह किसी मन्दिर में जाकर भगवान् के स्वरूप की पूजा कर सकता है या किसी मस्जिद या गिरजाघर में भगवान् की निर्विशेष भक्तिमयी प्रार्थना कर सकता है। मनुष्य निश्चय ही पाप-

फलों से छूट सकता है बशर्ते कि वह मन्दिर, मस्जिद या गिरजाघर में पूजा करके पापों के फलों से मुक्त होने की आशा से जानबूझकर पाप न करने के बारे में सावधान रहे। भक्तिमय सेवा के बल पर जानबूझकर पाप करने की यह मनोवृत्ति *नाम्नो बलाद् यस्य हि पापबुद्धि:* कहलाती है और भक्ति के मार्ग में यह सबसे बड़ा अपराध है। अतएव ऐसे पापगर्तों से सावधान रहने के लिए श्रवण अत्यन्त आवश्यक है। इस श्रवण विधि पर विशेष बल देने के उद्देश्य से ही शुकदेव गोस्वामी समस्त कल्याण का आह्वान करते हैं।

विचक्षणा यच्चरणोपसादनात्
सङ्गं व्युदस्योभयतोऽन्तरात्मन: ।
विन्दन्ति हि ब्रह्म-गतिं गत-क्लमा-
स्तस्मै सुभद्र-श्रवसे नमो नम: ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

विचक्षणा:—अत्यन्त बुद्धिमान; यत्—जिसका; चरण-उपसादनात्—चरणकमलों में आत्म-समर्पण करके; सङ्गम्—आसक्ति; व्युदस्य—पूर्णतया त्यागकर; उभयत:—वर्तमान एवं भविष्य में; अन्त:-आत्मन:—हृदय तथा आत्मा का; विन्दन्ति—आगे प्रगति करता है; हि—निश्चय ही; ब्रह्म-गतिम्—आध्यात्मिक जगत की ओर; गत-क्लमा:—बिना कठिनाई के; तस्मै—उसको; सुभद्र—शुभ; श्रवसे—जो सुना गया है उसे; नम:—मेरा नमस्कार; नम:—पुन: पुन: ।.

मैं सर्व-मंगलमय भगवान् श्रीकृष्ण को बारम्बार प्रणाम करता हूँ। उनके चरण-कमलों की शरण ग्रहण करने मात्र से उच्च कोटि के बुद्धिमान जन वर्तमान तथा भावी जगत की सारी आसक्तियों से छुटकारा पा जाते हैं और बिना किसी कठिनाई के आध्यात्मिक जगत की ओर अग्रसर होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को या उन सबों को, जो उनके अनन्य भक्त बनना चाहते हैं, बारम्बार उपदेश दिया है। उन्होंने *भगवद्गीता* (१८.६४-६६) में अपने अन्तिम उपदेश में, अत्यन्त गुह्य उपदेश दिया है—

सर्वगुह्यतमं भूय: शृणु मे परमं वच: ।

इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

''हे प्रिय अर्जुन! तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो। अतएव तुम्हारे ही कल्याण के लिए मैं अपने गुह्यतम उपदेश को प्रकट करूँगा। वह इस तरह है—तुम मेरे शुद्ध भक्त बन जाओ और मुझे आत्म-समर्पण कर दो। मैं तुम्हें पूर्ण आध्यात्मिक जीवन का वचन देता हूँ, जिससे तुम मेरी दिव्य प्रेमाभक्ति का नित्य अधिकार प्राप्त कर सकोगे। तुम अन्य सारी धार्मिकता की विधियाँ त्याग दो और एकमात्र मेरी शरण में आ जाओ और यह विश्वास करो कि मैं तुम्हें सारे पाप पूर्ण कृत्यों से बचाऊँगा और तुम्हारा उद्धार करूँगा। तुम तनिक भी चिन्ता न करो।''

जो लोग बुद्धिमान हैं, वे भगवान् के इस अन्तिम उपदेश पर ध्यान देते हैं। आध्यात्मिक अनुभूति गुह्यज्ञान कहलाती है और आत्म-ज्ञान इस दिशा में पहला कदम है। इसके बाद का कदम ईश-साक्षात्कार है, जो गुह्यतर ज्ञान कहलाता है। '*भगवद्गीता*' के ज्ञान की चरम परिणति ईश-साक्षात्कार है और जब कोई इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तो वह स्वेच्छा से भगवान् का भक्त बन कर उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति करने लगता है। भगवान् की यह भक्ति सदैव ईशप्रेम पर निर्भर रहती है और कर्म-योग, ज्ञानयोग या ध्यानयोग में स्वीकृत औपचारिक सेवा से भिन्न है। *भगवद्गीता* में विभिन्न वर्ग के लोगों के लिए विभिन्न उपदेश हैं और वर्णाश्रम धर्म, संन्यास धर्म, यति धर्म, जीवन की विरक्त अवस्था, इन्द्रिय-दमन, ध्यान, यौगिक शक्तियों की सिद्धि इत्यादि के विभिन्न वर्णन मिलते हैं, किन्तु जो व्यक्ति भगवान् की सेवा करने के उद्देश्य से रागानुग प्रेम से उनकी शरण में जाता है, वही वेदों में वर्णित ज्ञान के सार को आत्मसात् कर पाता है। जो इस विधि को कौशल के साथ ग्रहण करता है, वह तुरन्त जीवन की सिद्धि प्राप्त कर लेता है। यही जीवन-सिद्धि *ब्रह्मगति* कहलाती है। जैसाकि श्रील जीव गोस्वामी ने वैदिक आश्वासनों के आधार पर बताया है ब्रह्मगति का अर्थ है भगवान् जैसा आध्यात्मिक रूप प्राप्त करना और उस रूप में मुक्तजीव परव्योम में किसी एक वैकुण्ठ लोक में नित्य निवास करता है। जीवन की यह सिद्धि भगवान् के शुद्ध भक्त को सिद्धि की कठोर साधना किये बिना प्राप्त होती है।

ऐसा भक्तिमय जीवन *कीर्तनम्, स्मरणम्, ईक्षणम्* आदि से पूर्ण होता है जैसाकि पिछले श्लोक में उल्लेख हुआ है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि भक्तिमय जीवन की इस शैली को ग्रहण करके विश्व के किसी भी भाग में मानव जीवन की किसी भी श्रेणी में सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करे। जब ब्रह्माजी वृन्दावन में क्रीड़ा करते हुए बालक रूप में भगवान् कृष्ण से मिले, तो उन्होंने इस प्रकार से स्तुति की—

श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो

क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।

तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते

नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

(*भागवत* १०.१४.४) भक्तियोग उच्चकोटि की सिद्धि है, जिसे बुद्धिमान व्यक्ति, प्रचुर आध्यात्मिक कार्य के बदले में प्राप्त करता है। यहाँ पर दिया गया उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। मुट्ठी भर चावल धान की भूसी के ढेर से कहीं अधिक मूल्यवान होता है। इस प्रकार मनुष्य को चाहिए कि वह कर्मकाण्ड या ज्ञानकाण्ड या योग आसनों के इन्द्रजाल के प्रति आकृष्ट न हो, अपितु प्रामाणिक गुरु के निर्देश में *कीर्तनम्, स्मरणम्* जैसी सरल विधियों को ग्रहण करके बिना किसी कठिनाई के चरम सिद्धि प्राप्त करे।

तपस्विनो दान-परा यशस्विनो
मनस्विनो मन्त्र-विदः सुमङ्गलाः ।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं
तस्मै सुभद्र-श्रवसे नमो नमः ॥ १७॥

शब्दार्थ

तपस्विनः—बड़े-बड़े विद्वान् ऋषि; दान-पराः—बड़े-बड़े दानी; यशस्विनः—बड़े-बड़े लब्धप्रतिष्ठ; मनस्विनः—बड़े-बड़े दार्शनिक या योगी; मन्त्र-विदः—वैदिक मन्त्रों के उच्चारण करनेवाले; सु-मङ्गलाः—वैदिक सिद्धान्तों के कट्टर अनुयायी; क्षेमम्—सकाम फल; न—कभी नहीं; विन्दन्ति—प्राप्त करते हैं; विना—रहित; यत्-अर्पणम्—समर्पण; तस्मै—उसको; सुभद्र—शुभ; श्रवसे—उसके विषय में सुनकर; नमः—मेरा नमस्कार; नमः—पुनः पुनः।

मैं समस्त मंगलमय भगवान् श्रीकृष्ण को पुनः पुनः सादर नमस्कार करता हूँ, क्योंकि बड़े-बड़े विद्वान ऋषि, बड़े-बड़े दानी, यश-लब्ध कार्यकर्ता, बड़े-बड़े दार्शनिक तथा योगी, बड़े

बड़े वेदपाठी तथा बड़े-बड़े वैदिक सिद्धान्तों के बड़े-बड़े अनुयायी तक भी ऐसे महान् गुणों को भगवान् की सेवा में समर्पित किये बिना कोई क्षेम (कुशलता) प्राप्त नहीं कर पाते।

तात्पर्य : विद्या में प्रगति, दानशीलता, मानव-समाज का राजनीतिक, सामाजिक या धार्मिक नेतृत्व, दार्शनिक चिन्तन, योगाभ्यास, वैदिक अनुष्ठानों में निपुणता तथा मनुष्य के ऐसे ही सारे उत्तम गुण उसकी सिद्धि-प्राप्ति में तभी सहायक बनते हैं जब उनका उपयोग भगवान् की सेवा में किया जाय। ऐसा किये बिना ये सारे गुण मनुष्य के लिए कष्ट के कारण बन जाते हैं। प्रत्येक वस्तु का उपयोग या तो अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए या फिर अपने अतिरिक्त अन्यों की सेवा के लिए हो सकता है। स्वार्थ के भी दो प्रकार हैं—निजी स्वार्थ तथा विस्तारित स्वार्थ। लेकिन इन दोनों प्रकार के स्वार्थों में कोई गुणात्मक यअन्तर नहीं है। चोरी चाहे निजी स्वार्थ के लिए की जाय या पारिवारिक स्वार्थ के लिए, वह एक-जैसी होती है—अर्थात् अपराधमय। यदि कोई चोर अपने लिए नहीं, अपितु समाज या देश के हित के लिए चोरी करने के कारण अपने को निर्दोष बताये, तो किसी भी देश के कानून द्वारा उसे क्षमा नहीं किया जा सकता। सामान्य लोगों को इसका ज्ञान नहीं रहता कि जीव का स्वार्थ तभी पूर्णता को प्राप्त होता है जब ऐसा स्वार्थ भगवान् के स्वार्थ से अभिन्न होता है। उदाहरणार्थ, शरीर तथा आत्मा का एकसाथ पालन-पोषण करने में क्या स्वार्थ है? मनुष्य शरीर पालने के लिए (निजी या सामाजिक) धन कमाता है, किन्तु जब तक ईश-चेतना न रहे, जब तक शरीर का पालन ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध की अनुभूति प्राप्त करने के लिए न हो तब तक शरीर तथा आत्मा का एकसाथ पालन करने के सारे प्रयास पशु द्वारा शरीर तथा आत्मा का पालन करने के सदृश ही हैं। मनुष्य शरीर के पालन-पोषण का प्रयोजन पशुओं से भिन्न होता है। इसी प्रकार विद्या की प्रगति, आर्थिक विकास, दार्शनिक शोध, वैदिक साहित्य का अध्ययन या कि पुण्यकर्मों को सम्पन्न करना (यथा दान, अस्पताल खोलना, अन्नदान), ये सारे कार्य भगवान् से सम्बन्धित होने चाहिए। ऐसे सारे कार्यों तथा प्रयासों का उद्देश्य भगवान् की प्रसन्नता होना चाहिए, किसी सत्ता, व्यक्ति या समूह की तुष्टि नहीं (*संसिद्धिर्हरि तोषणम्*)। भगवद्गीता (९.२७) में इसी सिद्धान्त की पुष्टि की गई है जहाँ पर यह कहा गया है कि हम जो भी दान दें तथा जो भी तपस्या करें, वह सब भगवान् को अर्पित कर देना चाहिए या उन्हीं के

निमित्त करना चाहिए। ईश्वरविहीन मानवीय सभ्यता के पटु नेतागण, तब तक शैक्षिक उन्नति या आर्थिक उन्नति के विविध प्रयासों में कोई सफलता प्राप्त नहीं कर सकते, जब तक वे ईशभावनाभावित न हों। ईश्वरभावनाभावित होने के लिए मनुष्य को सर्वमंगलमय भगवान् के विषय में उस तरह से श्रवण करना होता है, जिस रूप में *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* में उनका वर्णन हुआ है।

किरात-हूणान्ध्र-पुलिन्द-पुल्कशा
आभीर-शुम्भा यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

किरात—प्राचीन भारत का एक प्रान्त; हूण—जर्मनी तथा रूस का एक अंग; आन्ध्र—दक्षिणी भारत का प्रान्त; पुलिन्द—ग्रीक; पुल्कशाः—अन्य प्रान्त; आभीर—प्राचीन सिंध का एक भाग; शुम्भाः—अन्य प्रान्त; यवनाः—तुर्क; खस-आदयः—मंगोल का प्रान्त; ये—वे भी; अन्ये—अन्य; च—भी; पापाः—पाप में प्रवृत्त रहनेवाले; यत्—जिसका; अपाश्रय-आश्रयाः—भगवद्भक्तों की शरण ग्रहण करके; शुध्यन्ति—तुरन्त शुद्ध हो जाते हैं; तस्मै—उस; प्रभविष्णवे—शक्तिमान विष्णु को; नमः—मेरा सादर नमस्कार।

किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कश, आभीर, शुम्भ, यवन, खस आदि जातियों के सदस्य तथा अन्य लोग, जो पाप कर्मों में लिप्त रहते हुए परम शक्तिशाली भगवान् के भक्तों की शरण ग्रहण करके शुद्ध हो सकते हैं, मैं उन भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : *किरात*—यह प्राचीन भारतवर्ष का एक प्रान्त था जिसका उल्लेख *महाभारत* के 'भीष्मपर्व' में हुआ है। सामान्यतया, किरात भारत के आदिवासियों के रूप में विख्यात हैं और आजकल के बिहार तथा छोटा नागपुर के सन्ताल परगने किरात नामक प्राचीन प्रान्त कहलाते थे।

हूण—पूर्वी जर्मनी का क्षेत्र तथा रूस का एक भाग हूण प्रान्त कहलाते हैं। तदनुसार कभी-कभी पर्वतीय आदिवासी जाति हूण कहलाती है।

आन्ध्र—यह दक्षिण भारत का एक प्रान्त था जिसका उल्लेख *महाभारत* के भीष्मपर्व में मिलता है। यह आज भी इसी नाम से प्रसिद्ध है।

पुलिन्द—इसका उल्लेख *महाभारत* (आदि पर्व १७४.३८) में पुलिन्द नामक प्रान्त के निवासियों के लिए हुआ है। भीमसेन तथा सहदेव ने इस देश को जीता था। ग्रीसवासी *पुलिन्द* कहलाते हैं और *महाभारत* के *वन-पर्व* में उल्लेख हुआ है कि इस भू भाग की अवैदिक जाति संसार के ऊपर राज्य

करेगी। यह पुलिन्द प्रान्त भारत के प्रान्तों में से था और इसके वासियों की गणना क्षत्रिय राजाओं में की जाती थी। किन्तु बाद में, ब्राह्मण संस्कृति का परित्याग कर देने के कारण, उन्हें *म्लेच्छ* कहा गया (जिस प्रकार इस्लामी संस्कृति को न माननेवाले काफिर कहलाते हैं और जो क्रिस्तानी संस्कृति के अनुयायी नहीं हैं, वे 'हीदन्स' कहलाते हैं)।

आभीर—यह नाम *महाभारत* के *सभा-पर्व* तथा *भीष्म-पर्व* दोनों में ही आता है। यह उल्लेख मिलता है कि यह प्रान्त सिंध प्रदेश में सरस्वती नदी के तट पर स्थित था। आधुनिक सिंध प्रान्त पहले अरब सागर के दूसरी ओर भी फैला हुआ था और इस प्रान्त के सारे निवासी आभीर कहलाते थे। ये सब महाराज युधिष्ठिर के अधीन थे और *मार्कण्डेय पुराण* के अनुसार इस भू भाग के *म्लेच्छ* भारत पर भी शासन करेंगे। आगे चलकर यह सही साबित हुआ, जैसाकि पुलिन्दों के साथ हुआ। पुलिन्दों की ओर से सिकन्दर महान् ने भारत को जीता और आभीरों की ओर से मुहम्मद गोरी ने भारत जीता। ये आभीरगण पहले ब्राह्मण-संस्कृति के अन्तर्गत क्षत्रिय थे, किन्तु बाद में उन्होंने सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। जो क्षत्रिय परशुराम से भयभीत होकर काकेशस के पर्वतीय भागों में छिप गये थे बाद में वे ही आभीर कहलाये और जिस स्थान में वे बस गये, वह आभीर देश कहलाया।

शुम्भ या कंक—ये प्राचीन भारत के कंक प्रान्त के निवासी थे जिनका उल्लेख *महाभारत* में हुआ है।

यवनगण—महाराज ययाति के पुत्र का नाम यवन था जिसे तुर्की नामक भू भाग पर शासन चलाने का भार सौंपा गया। अतएव तुर्क यवन हैं क्योंकि वे महाराज यवन के वंशज हैं। इसलिए यवन लोग क्षत्रिय थे, जो कालान्तर में अपनी ब्राह्मण संस्कृति त्याग कर *म्लेच्छ* यवन बन गये। यवनों के वर्णन *महाभारत* (आदि पर्व ८५.३४) में मिलते हैं। तुर्वसु नामक एक अन्य राजा भी यवन कहलाता था। पाण्डवों में से सहदेव ने उसके देश को जीता। पश्चिमी यवन कर्ण के दबाव से कुरुक्षेत्र के युद्ध में दुर्योधन के साथ सम्मिलित हो गये। यह भविष्यवाणी की गई थी कि यवन लोग भारत को जीत लेंगे और यह खरी उतरी।

खस—खस देश के निवासियों का उल्लेख *महाभारत* (द्रोण पर्व) में हुआ है। जिनके ऊपरी होठ

पर ठिगने केश (मूँछ) उगते हैं, वे सामान्यतया खस कहलाते हैं। फलस्वरूप मंगोल, चीनी तथा अन्य लोग खस हैं।

उपर्युक्त ऐतिहासिक नाम विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के नाम हैं। निरन्तर पाप कर्म करते रहनेवाले व्यक्ति भी तो सुधरने पर पूर्ण मनुष्य के स्तर को प्राप्त होते हैं, यदि वे भगवद्भक्त की शरण ग्रहण कर लें। जीसस क्राइस्ट तथा मुहम्मद—इन दो शक्तिशाली भगवद्भक्तों ने इस भू-मंडल में भगवान् की ओर से अपार सेवाएँ की हैं। श्रील शुकदेव गोस्वामी के कथन से प्रतीत होता है कि विश्व की वर्तमान परिस्थिति में ईश्वरविहीन सभ्यता चलाने से अच्छा तो यह होगा कि संसार के मामलों का नेतृत्व भगवद्भक्तों को सौंप दिया जाय जिसके लिए पहले से कृष्णभावनामृत नामक अन्तर्राष्ट्रीय संघ चल रहा है। तब भगवत्कृपा से सारे विश्व के मनुष्यों के हृदयों में परिवर्तन हो सकेगा, क्योंकि भगवद्भक्त सामान्य लोगों के धूलधूसरित मनों को शुद्ध करके ऐसा परिवर्तन ला सकने में सक्षम हैं। संसार के राजनीतिज्ञ अपने-अपने स्थानों में बने रहेंगे, क्योंकि भगवद्भक्तों को नेतृत्व या राजनायिक उलझन में कोई रुचि नहीं रहती। भक्तों को केवल इतनी ही रुचि रहती है कि सामान्य जन राजनीतिक प्रचार से दिग्भ्रमित न हों, लोग ऐसी सभ्यता का अनुसरण करके बिगड़ न जाँय जो अन्ततोगत्वा विनाश की ओर ले जानेवाली हो। अतएव, यदि राजनीतिज्ञ लोग भक्तों से मार्गदर्शन प्राप्त करें तो निश्चय ही भक्तों के शुद्धिकरण आन्दोलन से विश्व की परिस्थिति में महान् परिवर्तन आयेगा जैसाकि भगवान् चैतन्य ने कर दिखाया है। जिस प्रकार शुकदेव गोस्वामी ने अपनी स्तुति यत् *कीर्तनम्* शब्द से प्रारम्भ की है उसी तरह भगवान् चैतन्य ने भी संस्तुति की कि केवल भगवान् के पवित्र नाम के यशोगान से हृदयों में महान् परिवर्तन आयेगा जिससे राजनीतिज्ञों द्वारा मानवीय राष्ट्रों के बीच जो मनोमालिन्य उत्पन्न हुआ है, वह तुरन्त मिट सकेगा। भ्रम की अग्नि बुझ जाने पर दूसरे लाभ भी मिलने लगेंगे। हमरा लक्ष्य भगवद्धाम वापस जाने का है, जिसका उल्लेख हम पिछले पृष्ठों में अनेक बार कर चुके हैं।

भक्ति-सम्प्रदाय के अनुसार, जिसे सामान्तया वैष्णव सम्प्रदाय कहा जाता है, ईश-साक्षात्कार के विषय में किसी के भी अग्रसर होने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। वैष्णव इतना शक्तिसम्पन्न होता है कि वह किरात इत्यादि को भी वैष्णव बना लेता है, जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है। *भगवद्गीता* (९.३२)

में भगवान् ने कहा है कि भगवद्भक्त होने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है (यहाँ तक कि निम्न कुल में उत्पन्न व्यक्तियों अथवा स्त्रियों, शूद्रों या वैश्यों पर भी) और भगवद्भक्त होने पर प्रत्येक व्यक्ति भगवद्धाम जाने का भागी बन जाता है। इसके लिए एकमात्र योग्यता यह है कि ऐसे भगवद्भक्त की शरण लेनी चाहिए जिसे कृष्ण के दिव्य विज्ञान (*भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत*) का सम्यक् ज्ञान हो। विश्व के किसी भी भाग का व्यक्ति, जो कृष्ण विज्ञान से अवगत है, शुद्ध भक्त बन सकता है और सामान्य लोगों का गुरु बन कर उनके हृदयों को शुद्ध करके उनका उद्धार कर सकता है। कोई कितना ही बड़ा पापी क्यों न हो, शुद्ध वैष्णव के सम्पर्क से वह तुरन्त शुद्ध हो जाता है। अतएव कोई वैष्णव, विश्व के किसी भी भाग से, जाति-पाँति का विचार किये बिना शिष्य बना सकता है और विधि-विधानों द्वारा उसे शुद्ध वैष्णव का पद दिला सकता है, जो ब्राह्मण संस्कृति से परे है। *वर्णाश्रम-धर्म* की सत्ता अब इस प्रणाली के तथाकथित अनुयायियों में भी नहीं रह गयी है। न ही वर्तमान सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक उथल-पुथल के सन्दर्भ में *वर्णाश्रम धर्म* की पुन:स्थापना कर पाना सम्भव है। किसी भी देश के किसी विशेष रीति-रिवाज का ध्यान रखे बिना आध्यात्मिक दृष्टि से, किसी को वैष्णव-सम्प्रदाय में स्वीकार किया जा सकता है और इस दिव्य विधि में कोई बाधा नहीं है। अतएव भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के आदेश से *श्रीमद्भागवत* या *भगवद्गीता* सम्प्रदाय का सारे विश्व में प्रचार किया जा सकता है और जो इस दिव्य सम्प्रदाय को स्वीकार करने के इच्छुक हों, उनका उद्धार हो सकता है। भक्तों के इस प्रकार के आन्दोलन को ऐसे सारे लोग स्वीकार करेंगे जो विवेकपूर्ण तथा जिज्ञासु हैं और जो किसी देश की रीति-रिवाज के प्रति द्वेष नहीं रखते। एक वैष्णव दूसरे वैष्णव को जन्म-अधिकार के आधार पर स्वीकार नहीं करता, जिस तरह कि वह मंदिर में स्थित भगवान् के श्रीविग्रह को कभी मूर्ति नहीं मानता। इस सम्बन्ध में सारे संशयों को दूर करने के लिए श्रील शुकदेव गोस्वामी ने सर्वशक्तिमान के आशीर्वाद की कामना की है (*प्रभविष्णवे नम:*)। जिस प्रकार सर्व-शक्तिमान भगवान् मन्दिर में पूजनीय अपने विग्रह के रूप में अर्चन के भक्तिमय कार्यकलापों के अन्तर्गत अपने भक्त की तुच्छ सेवाएँ ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार जब शुद्ध वैष्णव भगवान् की सेवा में अपने को अर्पित कर देता है और योग्य वैष्णव द्वारा प्रशिक्षित किया जाता है, तो उसका शरीर तुरन्त ही दिव्य बन जाता है। इस

प्रसंग में वैष्णव नियम का आदेश है—*अर्च्ये विष्णौ शिलाधीर्गुरुषु नरमतिर्वैष्णवे जातिबुद्धिः श्रीविष्णोर्नाम्नि शब्दसामान्यबुद्धिः*—मनुष्य को चाहिए कि मन्दिर में पूजित भगवान् के श्रीविग्रह को न तो मूर्ति समझे, न वैध गुरु को सामान्य पुरुष समझे; न ही शुद्ध वैष्णव को किसी जाति से सम्बन्धित माने (*पद्म-पुराण*)।

निष्कर्ष यह निकला कि सर्वशक्तिमान होने के कारण भगवान् किसी भी परिस्थिति में विश्व के किसी भी व्यक्ति को, चाहे स्वयं या गुरु रूप में, अपनी प्रामाणिक अभिव्यक्ति द्वारा स्वीकार कर सकते हैं। भगवान् चैतन्य ने वर्णाश्रम धर्म के अतिरिक्त अन्य जातियों के अनेक भक्तों को स्वीकार किया और हम सबों को शिक्षा देने के लिए यह घोषित किया कि वे स्वयं किसी जाति या वर्ण के नहीं हैं, अपितु वे वृन्दावन की गोपियों के पालनकर्ता भगवान् (कृष्ण) के दासों के दास हैं। यही आत्म-साक्षात्कार की विधि है।

स एष आत्मात्मवतामधीश्वर-
स्त्रयीमयो धर्ममयस्तपोमयः ।
गत-व्यलीकैरज-शङ्करादिभि-
र्वितर्क्य-लिङ्गो भगवान् प्रसीदताम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—यह है; आत्मा—परमात्मा; आत्मवताम्—स्वरूपसिद्धों का; अधीश्वरः—परमेश्वर; त्रयी-मयः—साक्षात् वेद; धर्म-मयः—साक्षात् शास्त्र; तपः-मयः—साक्षात् तप; गत-व्यलीकैः—आडंबररहितों द्वारा; अज—ब्रह्माजी; शङ्कर-आदिभिः—शिवजी तथा अन्यों द्वारा; वितर्क्य-लिङ्गः—आश्चर्य तथा सम्मान के साथ देखा जानेवाला; भगवान्—भगवान्; प्रसीदताम्—मेरे प्रति दयालु हों।.

वे परमात्मा हैं तथा समस्त स्वरूपसिद्ध पुरुषों के परमेश्वर हैं। वे साक्षात् वेद, धर्मग्रंथ (शास्त्र) तथा तपस्या हैं। वे ब्रह्माजी, शिवजी तथा कपट से रहित समस्त व्यक्तियों द्वारा पूजित हैं। आश्चर्य तथा सम्मान से ऐसे पूजित होनेवाले पूर्ण पुरुषोत्तम मुझ पर प्रसन्न हों।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् आत्म-साक्षात्कार के विभिन्न पंथों के अनुयायियों के स्वामी हैं, तो भी वे उन्हीं लोगों द्वारा ज्ञेय हैं, जो आडंबर से परे हैं। प्रत्येक व्यक्ति नित्य शान्ति या शाश्वत जीवन की खोज में रहता है, जिसके लिए वह या तो वैदिक शास्त्रों का या अन्य धर्मशास्त्रों का अध्ययन करता है या ज्ञानमार्गी दार्शनिकों या योगियों अथवा अनन्य भक्तों इत्यादि की तरह भक्ति करता है। लेकिन परमेश्वर

की पूर्ण अनुभूति केवल भक्तों को ही हो पाती है, क्योंकि वे समस्त छल–छद्म से ऊपर होते हैं। जो लोग आत्म–साक्षात्कार के पथ पर होते हैं, वे सामान्यतया कर्मी, ज्ञानी, योगी या भगवद्भक्त के रूप में वर्गीकृत किये जाते हैं। जो कर्मी वैदिक कर्मकाण्डों के सकाम कर्मों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं, वे *भुक्तिकामी* अर्थात् भौतिक–भोग की इच्छा रखनेवाले कहलाते हैं। जो ज्ञानी मानसिक चिन्तन (ज्ञान) द्वारा परमेश्वर से तदाकार होना चाहते हैं, वे *मुक्तिकामी* अर्थात् भौतिक जीवन से मुक्ति के इच्छुक कहलाते हैं। जो योगी आठ प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए विभिन्न प्रकार की तपस्याएँ करते हैं और अन्ततः समाधि में परमात्मा से मिलते हैं, वे *सिद्धिकामी* कहलाते हैं। ये योगी सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम बनने, भारीतर से भारीतम बनने, इच्छित वस्तु प्राप्त करने, सबों पर नियन्त्रण करने, इच्छानुसार वस्तुएँ उत्पन्न करने इत्यादि की इच्छा करते हैं। ये सब शक्तिमान योगी की क्षमताएँ हैं। लेकिन भगवद्भक्त आत्मतुष्टि के लिए इस प्रकार की कोई चीज नहीं चाहते हैं। वे केवल भगवान् की सेवा करना चाहते हैं, क्योंकि भगवान् महान् हैं और जीवात्माओं के रुप में वो भगवान के नित्य अधीन अंश–प्रत्यंश हैं। भक्त द्वारा इस प्रकार आत्मा की पूर्ण अनुभूति उसे निष्काम बनने में सहायक बनती है और ऐसे भक्त *निष्कामी* कहलाते हैं। जीव अपनी स्वाभाविक स्थिति के कारण समस्त इच्छाओं से रहित नहीं हो सकता (भुक्तिकामी, मुक्तिकामी तथा सिद्धिकामी—सभी आत्मतुष्टि के लिए कुछ न कुछ पाने की इच्छा करते हैं), लेकिन निष्कामी भक्त भगवान् के लिए ही सब कुछ इच्छा करता है। वह भगवान् के आदेशों पर पूरी तरह आश्रित रहता है और भगवान् की तुष्टि के लिए अपना कर्तव्य निभाने के लिए सदैव उद्यत रहता है।

प्रारम्भ में अर्जुन ने अपने को इस प्रकार प्रस्तुत किया मानो वह आत्मतुष्टि का इच्छुक है, क्योंकि वह कुरुक्षेत्र युद्ध में लड़ना नहीं चाह रहा था, लेकिन भगवान् ने उसे निष्काम बनाने के लिए *भगवद्गीता* का उपदेश दिया जिसमें कर्मयोग, ज्ञानयोग, हठयोग तथा भक्तियोग की भी व्याख्या मिलती है। चूँकि अर्जुन निष्कपट था, अतएव उसने अपना निर्णय बदल दिया और युद्ध करने के लिए राजी होकर भगवान् को तुष्ट किया (*करिष्ये वचनं तव*)। इस तरह वह निष्कामी बना।

यहाँ पर ब्रह्माजी तथा शिवजी के उदाहरण जानबूझकर दिये गये हैं, क्योंकि ब्रह्माजी, शिवजी,

श्रीमती लक्ष्मीजी तथा चारों कुमार (सनक, सनातन आदि) ये चारों निष्काम *वैष्णव-सम्प्रदायों* के अग्रणी हैं। ये सभी सारे छल-छद्मों से रहित हैं। श्रील जीव गोस्वामी *गतव्यलीकैः* शब्द की व्याख्या *प्रोज्झित कैतवैः* के रूप में करते हैं जिसका अर्थ है : वे जो समस्त कपटों से मुक्त हैं (केवल अनन्य भक्त)। *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य १९.१४९) में यह कहा गया है—

कृष्णभक्त—निष्काम, अत एव 'शान्त'।

भुक्ति-मुक्ति—सिद्धि-कामी, सकलि 'अशान्त'॥

जो लोग अपने पुण्यकार्यों के लिए सकाम फल चाहते हैं, जो मुक्ति चाहते हैं तथा ब्रह्म से तदाकार होना चाहते हैं तथा जो योग की सिद्धियों के इच्छुक हैं, वे सभी अशान्त हैं, क्योंकि वे अपने लिए कुछ न कुछ चाहते हैं, लेकिन भक्त तो पूर्ण रूप से शान्त होता है, क्योंकि उसे अपने लिए कुछ भी नहीं चाहिए। किन्तु वह भगवान् की इच्छा पूरी करने के लिए सदैव उद्यत रहता है। अतएव यह निष्कर्ष निकला कि भगवान् सबों के हैं, क्योंकि उनकी मर्जी के बिना कोई भी इच्छित फल प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* (८.९) में कहा है, वे ही सबों को ऐसे फल प्रदान करते हैं, क्योंकि वे सबों के—वेदान्तियों, कर्मकाण्डियों धार्मिक नेताओं, तपस्वियों तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयत्न करने वालों के अधीश्वर (आदि नियन्ता) हैं। लेकिन अन्ततोगत्वा निष्कपट भक्त ही उन्हें प्राप्त कर पाते हैं। इसीलिए श्रील शुकदेव गोस्वामी ने यहाँ पर भक्तिमय सेवा पर विशेष बल दिया है।

श्रियः पतिर्यज्ञ-पतिः प्रजा-पति-
धियां पतिर्लोक-पतिर्धरा-पतिः ।
पतिर्गतिश्चान्धक-वृष्णि-सात्वतां
प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्रियः—समस्त ऐश्वर्य; पतिः—स्वामी; यज्ञ—यज्ञ का; पतिः—निर्देशक; प्रजा-पतिः—समस्त जीवों के नायक; धियाम्—बुद्धि का; पतिः—स्वामी; लोक-पतिः—समस्त लोकों के स्वामी; धरा—पृथ्वी का; पतिः—परम; पतिः—अग्रणी; गतिः—गन्तव्य; च—भी; अन्धक—यदुवंश के राजाओं में से एक; वृष्णि—यदुवंश का पहला राजा; सात्वताम्—यदुगण; प्रसीदताम्—कृपालु हों; मे—मुझ पर; भगवान्—श्रीकृष्ण; सताम्—भक्तों के; पतिः—स्वामी।

भगवान् श्रीकृष्ण, जो समस्त भक्तों द्वारा पूज्य हैं, यदुवंश के अंधक तथा वृष्णि जैसे समस्त

राजाओं के रक्षक तथा उनके यश हैं, लक्ष्मी देवी के पति, समस्त यज्ञों के निर्देशक अतएव समस्त जीवों के अग्रणी, समस्त बुद्धि के नियन्ता, समस्त दिव्य एवं भौतिक लोकों के अधिष्ठाता तथा पृथ्वी पर परम अवतार (सर्वेसर्वा) हैं, वे मुझ पर कृपालु हों।

तात्पर्य : चूँकि शुकदेव गोस्वामी प्रमुख *गतव्यलीक* अर्थात् निष्कपट हैं, अतएव वे भगवान् श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में अपनी अनुभूति को समस्त सिद्धियों का सार भगवान् बताते हैं। प्रत्येक व्यक्ति लक्ष्मी जी की कृपा का आकांक्षी रहता है, लेकिन लोग यह नहीं जानते कि भगवान् श्रीकृष्ण लक्ष्मीजी के प्रियतम पति हैं। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि भगवान् अपने दिव्य धाम गोलोक वृन्दावन में सुरभि गायों को चराते रहते हैं और वहाँ लाखों लक्ष्मियाँ उनकी सेवा करती रहती हैं। ये सारी लक्ष्मियाँ उनकी अन्तरंगा शक्ति के अन्तर्गत ह्लादिनी शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं और जब भगवान् इस पृथ्वी पर प्रकट हुए हैं, तो उन्होंने इस ह्लादिनी शक्ति के कार्यकलापों का आंशिक प्रदर्शन उन बद्धजीवों को आकृष्ट करने के लिए रासलीला के रूप में किया जो तुच्छ कामवासना की मृगतृष्णा के पीछे दौड़ते रहते हैं। शुकदेव गोस्वामी जैसे भगवान् के शुद्ध भक्त ने जो भौतिक जगत के गर्हित विषयी जीवन से पूर्ण रूप से विरक्त हैं, भगवान् की ह्लादिनी शक्ति के इस कार्य को कामवासना (यौन) से सम्बन्धित करके कभी विवेचन नहीं किया,अपितु उन संसारी लोगों के लिए जो विषयीजीवन के पीछे दौड़ते हैं अचिन्त्य दिव्य रस का आस्वादन कराने के लिए इसका विवेचन किया। संसार में मोह की जंजीरों में बद्ध होने का मूल कारण विषयी जीवन ही है, किन्तु शुकदेव गोस्वामी कभी भी संसारी विषयी जीवन के प्रति रुचि नहीं रखते थे। न ही भगवान् की ह्लादिनी शक्ति की अभिव्यक्ति का ऐसी पतित वस्तुओं से कोई सम्बन्ध होता है। भगवान् चैतन्य एक दृढ़ संन्यासी थे, यहाँ तक कि वे किसी भी स्त्री को अपने निकट नहीं आने देते थे, न ही उन्हें नमन करने तथा प्रणाम करने देते थे। उन्होंने जगन्नाथ मन्दिर में देवदासियों द्वारा की जानेवाली प्रार्थनाएँ तक कभी नहीं सुनीं, क्योंकि संन्यासी को स्त्री जाति द्वारा गाये गये गीत भी सुनने की मनाही है। फिर भी दृढ़ संन्यासी पद पर रहते हुए भी उन्होंने वृन्दावन की गोपियों द्वारा की गई पूजा की विधि को भगवान् की सर्वोच्च प्रेमाभक्ति के रूप में मान्यता दी। श्रीमती राधारानी तो ऐसी लक्ष्मियों में प्रधान हैं, अतएव वे भगवान् की ह्लादिनी अर्धांगिनी हैं और कृष्ण से

अभिन्न हैं।

जीवन में सर्वोच्च लाभ प्राप्त करने के लिए वैदिक अनुष्ठानों में विभिन्न प्रकार के यज्ञों के करने की संस्तुतियाँ की गई हैं। बड़े-बड़े यज्ञ करने से प्राप्त होनेवाले वर अन्ततः लक्ष्मीजी द्वारा की गई कृपा ही हैं और लक्ष्मीजी के पति या प्रियतम होने के कारण भगवान् समस्त यज्ञों के भी स्वामी हैं। वे सभी प्रकार के यज्ञों के अन्तिम भोक्ता हैं, अतएव विष्णु का एक अन्य नाम यज्ञपति भी है। *भगवद्गीता* में संस्तुति की गई है कि प्रत्येक कार्य यज्ञपति के लिए किया जाय (*यज्ञार्थात् कर्मण:*), अन्यथा मनुष्य के कार्य प्रकृति के नियम द्वारा उसके बन्धन का कारण होंगे। जो लोग समस्त भ्रान्त धारणाओं (*व्यलीकम्*) से मुक्त नहीं हैं, वे छोटे-छोटे देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ करते हैं, लेकिन भगवद्भक्त अच्छी तरह जानते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त यज्ञ-अनुष्ठानों के परम भोक्ता हैं, अतएव वे संकीर्तन यज्ञ (*श्रवणं कीर्तनं विष्णो:*) करते हैं, जो इस कलियुग के लिए विशेषरूप से संस्तुत है। कलियुग में अन्य प्रकार के यज्ञों को सम्पन्न करना सम्भव नहीं है, क्योंकि व्यवस्था अपर्याप्त है और कुशल पुरोहित भी नहीं मिल पाते।

भगवद्गीता से (३.१०-११) हमें यह सूचना मिलती है कि ब्रह्मा ने, ब्रह्माण्ड में बद्धजीवों को जन्म देने के पश्चात्, उन्हें यज्ञ करने तथा सम्पन्न जीवन बिताने का आदेश दिया। ऐसे यज्ञों के सम्पन्न करने से बद्धजीवों को कभी भी जीवन-निर्वाह करने में कठिनाई नहीं होती। अन्ततोगत्वा वे अपने जीवन को शुद्ध कर सकते हैं। वे देखेंगे कि उनकी उन्नति आध्यात्मिक जगत में सहज में ही हो गई है और जीव का वही वास्तविक स्वरूप है। बद्धजीव को चाहिए कि वह कभी भी यज्ञ, दान तथा तपस्या का परित्याग किसी भी दशा में न करे। ऐसे सभी यज्ञों का उद्देश्य यज्ञपति अर्थात् भगवान् को प्रसन्न करना है, इसीलिए भगवान् प्रजापति भी हैं। *कठोपनिषद्* के अनुसार अकेले भगवान् असंख्य जीवों के नायक हैं। सारे जीव भगवान् द्वारा पालित हैं (*एको बहूनां यो विदधाति कामान्*) इसीलिए भगवान् परम भूतभृत् या सभी जीवों के पालक कहलाते हैं।

जीवों को उनके पूर्वकर्मों के अनुसार ही बुद्धि प्रदान की जाती है। सारे जीवों को एकसमान गुणवाली बुद्धि प्रदान नहीं की जाती क्योंकि बुद्धि के ऐसे विकास के पीछे भगवान् का नियन्त्रण रहता

है जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में घोषणा की गई है। परमात्मा-रूप में भगवान् जन-जन के हृदय में वास करते हैं और उन्हीं से स्मृति, ज्ञान की शक्ति तथा विस्मृति आती है (*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*)। एक व्यक्ति भगवत्कृपा से अपने पूर्वकर्मों को भलीभाँति स्मरण कर सकता है जब कि दूसरा व्यक्ति नहीं कर पाता। कोई व्यक्ति भगवत्कृपा से अत्यधिक बुद्धिमान होता है, किन्तु उसी नियन्त्रण से दूसरा व्यक्ति मूर्ख होता है। अतएव भगवान् धियाम्पति अथवा बुद्धि के स्वामी हैं।

बद्धजीव भौतिक जगत के स्वामी बनने का प्रयास करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी उच्चतम बुद्धि का प्रयोग करके भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताना चाहता है। बद्धजीव द्वारा बुद्धि का यह दुरुपयोग पागलपन कहलाता है। मनुष्य को अपनी बुद्धि का उपयोग *भवबन्धन* से मुक्त होने के लिए करना चाहिए। लेकिन बद्धजीव अपने पागलपन के कारण इन्द्रियतृप्ति में ही सारी शक्ति तथा बुद्धि लगा देता है और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह सभी प्रकार के दुष्कर्म करता है। परिणाम यह होता है कि पागल बद्धजीव मुक्त जीवन प्राप्त न करके पुनः पुनः अनेक प्रकार के बन्धनों में पड़ता रहता है। भौतिक जगत में हम जो कुछ देखते हैं, वह भगवान् की ही सृष्टि है। अतएव समस्त ब्रह्माण्डों में प्रत्येक वस्तु के वे ही असली स्वामी हैं। बद्धजीव भगवान् के वश में रहकर इस सृष्टि के एक अंश का ही भोग कर सकता है, लेकिन आत्म-निर्भर बनकर नहीं। यही *ईशोपनिषद्* का उपदेश है। मनुष्य को ब्रह्माण्ड के स्वामी द्वारा प्रदत्त वस्तुओं से सन्तुष्ट रहना चाहिए। यह तो निरा पागलपन है कि कोई दूसरे के हिस्से की भौतिक सम्पत्ति में अधिकार जताने का प्रयास करता है।

ब्रह्माण्ड के स्वामी बद्धजीवों पर अपनी अहैतुकी कृपावश अपनी ही शक्ति (आत्म-माया) द्वारा बद्धजीवों के साथ नित्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अवतरित होते हैं। वे सबों को उनके नियन्त्रण में कुछ हद तक झूठे ही भोक्ता बनने के बजाय अपनी शरण में आने के लिए आदेश देते हैं। जब वे इस तरह अवतरित होते हैं, तो वे यह दिखा देते हैं कि उनमें भोगने का कितना बड़ा सामर्थ्य है और वे एकसाथ सोलह हजार पत्नियों के साथ विवाह करके भोग की अपनी शक्ति का प्रदर्शन उदाहरण के तौर पर करते हैं। बद्धजीव केवल एक पत्नी का पति बनकर गर्व का अनुभव करता है, लेकिन भगवान् इस पर हँसते हैं; बुद्धिमान व्यक्ति जान सकता है कि असली पति कौन है। वास्तव में भगवान् ही

अपनी सृष्टि की सारी स्त्रियों के पति हैं, लेकिन भगवान् के वशीभूत बद्धजीव अपने को एक या दो पत्नियों का पति होने पर गर्व का अनुभव करता है।

इस श्लोक में वर्णित विभिन्न प्रकार के पतियों की ये योग्यताएँ भगवान् श्रीकृष्ण को ही शोभा देती हैं, अतएव शुकदेव गोस्वामी ने यदुवंश के *पति* तथा *गति* का विशेष उल्लेख किया है। यदुवंश के सभी सदस्य जानते थे कि श्रीकृष्ण ही सब कुछ हैं और जब उन्होंने पृथ्वी पर अपनी दिव्य लीलाएँ समाप्त कर लीं, तो वे सभी उनके पास लौटना चाह रहे थे। यदुवंश का विनाश भगवान् की इच्छा से हुआ, क्योंकि इसके सदस्यों को भगवान् के साथ भगवद्धाम वापस जाना था। यदुवंश का संहार परमेश्वर द्वारा सृजित एक भौतिक प्रदर्शन था अन्यथा यदुवंश के सारे सदस्य तथा भगवान् नित्य संगी थे। अतएव भगवान् समस्त भक्तों के मार्गदर्शक हैं, इसीलिए शुकदेव गोस्वामी ने प्रेमपूरित भावों से भगवान् को सादर नमस्कार किया।

यदङ्घ्र्यभिध्यान-समाधि-धौतया
धियानुपश्यन्ति हि तत्त्वमात्मनः ।
वदन्ति चैतत् कवयो यथा-रुचं
स मे मुकुन्दो भगवान् प्रसीदताम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यत्-अङ्घ्रि—जिसके चरणकमल; अभिध्यान—प्रत्येक क्षण चिन्तन करते; समाधि—समाधि; धौतया—धुल जाने से; धिया—ऐसी विमल बुद्धि से; अनुपश्यन्ति—महापुरुषों का अनुसरण करते हुए देखते हैं; हि—निश्चय ही; तत्त्वम्—परम सत्य को; आत्मनः—परमेश्वर का तथा अपना; वदन्ति—कहते हैं; च—भी; एतत्—यह; कवयः—दार्शनिक या विद्वान पंडित; यथा-रुचम्—जैसा वह सोचता है; सः—वह; मे—मेरा; मुकुन्दः—भगवान् कृष्ण (जो मुक्ति के दाता हैं); भगवान्—भगवान्; प्रसीदताम्—मुझ पर प्रसन्न हों।

भगवान् श्रीकृष्ण ही मुक्तिदाता हैं। भक्त प्रतिपल उनके चरण-कमलों का चिन्तन करके और महापुरुषों के चरणचिन्हों पर चलते हुए समाधि में परम सत्य का दर्शन कर सकता है। तथापि विद्वान ज्ञानीजन उनके विषय में अपनी सनक के अनुसार चिन्तन करते हैं। ऐसे भगवान् मुझ पर प्रसन्न हों।

तात्पर्य : योगी-जन इन्द्रियों को वश में करने का कठिन प्रयास करके प्रत्येक के भीतर स्थित परमात्मा की झलक पाने के लिए योग की समाधि में स्थित होते हैं, किन्तु शुद्ध भक्त प्रतिपल भगवान् के चरणकमलों का स्मरण करते हुए वास्तविक समाधि को तुरन्त ही प्राप्त होते हैं, क्योंकि ऐसी

अनुभूति के द्वारा उनके मन तथा बुद्धि भवरोग से धुल कर पूर्ण रूप से स्वच्छ हो जाते हैं। शुद्ध भक्त अपने आपको जन्म-मृत्यु के सागर में पतित हुआ सोचता है, अतएव वह अपने को उबारने के लिए भगवान् से निरन्तर प्रार्थना करता है। वह भगवान् के चरणकमलों की धूलि का एक कण बनना चाहता है। शुद्ध भक्त भगवत्कृपा से भौतिक भोग के सारे आकर्षण से पूरी तरह रहित हो जाता है और कल्मष से दूर रहने के लिए वह निरन्तर भगवान् के चरणकमलों का चिन्तन करता रहता है। भगवान् के परम भक्त राजा कुलशेखर ने प्रार्थना की है—

कृष्ण त्वदीयपदपंकजपञ्जरान्तम्

अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः।

प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः

कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते॥

"हे भगवान् कृष्ण! मेरी प्रार्थना है कि मेरा मन रूपी हंस तुरन्त आपके चरणकमल के डंठलों तक डूब कर उनके जाल में उलझ जाय अन्यथा मृत्यु के समय, जब मेरा गला कफ से रुद्ध हो जायेगा, तो भला मैं आपका चिन्तन कैसे कर सकूँगा?"

हंस तथा कमलनाल के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव यह उपमा अत्यन्त उपयुक्त है: हंस या *परमहंस* बने बिना भगवान् के चरणकमलों के डंठलों के जाल तक प्रवेश कर पाना असम्भव है। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि ज्ञानी अपने पाण्डित्य के बावजूद अनन्त काल तक चिन्तन करने पर भी परम सत्य का स्वप्न तक नहीं देख सकता। भगवान् को अधिकार है कि ऐसे *ज्ञानियों* के समक्ष प्रकट न हों और चूँकि ऐसे लोग भगवान् के चरणकमलों के डंठलों के जाल में प्रवेश नहीं कर पाते, अतएव सारे ज्ञानी अपना-अपना निष्कर्ष निकालते हैं और अन्त में अपनी-अपनी रुचि के अनुसार (*यथारुचम्*) यह कहकर समझौता करते हैं "जितने पंथ उतने मत"। लेकिन भगवान् कोई दुकानदार तो हैं नहीं जो ज्ञान के विनिमय में सभी प्रकार के ग्राहकों को प्रसन्न करने का प्रयास कर सकें। भगवान् तो पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर हैं और वे चाहते हैं कि वे लोग पूर्ण रूप से उनके ही शरणागत हों। लेकिन शुद्ध भक्त पूर्ववर्ती आचार्यों के पथ का अनुसरण करते हुए अपने गुरु के पारदर्शी

माध्यम से परमेश्वर का दर्शन कर सकता है (*अनुपश्यन्ति*)। शुद्ध भक्त मानसिक चिन्तन (ज्ञान) द्वारा भगवान् का दर्शन करने का प्रयास कभी नहीं करता अपितु वह आचार्यों के पदचिह्नों पर चलता है (*महाजनो येन गतः स पन्थाः*)। अतएव वैष्णव आचार्यों में भगवान् तथा भक्तों को लेकर कोई भेद नहीं रहता। भगवान् चैतन्य जोर देकर कहते हैं कि जीव भगवान् का नित्य दास है और वह एक ही साथ भगवान् से एक तथा पृथक् है। भगवान् चैतन्य के इस तत्त्व को वैष्णव मत के चारों सम्प्रदाय समान रूप से मानते हैं (मोक्ष के बाद भी भगवान् की नित्य दासता सभी स्वीकार करते हैं) और ऐसा कोई वैध वैष्णव आचार्य नहीं है, जो भगवान् तथा अपने आपको एक सोच सके।

भगवान् की सेवा में शत प्रतिशत लगे रहनेवाले भक्त की यह विनम्रता भगवद्भक्त को समाधि दशा प्राप्त कराती है, जिससे वह प्रत्येक वस्तु की अनुभूति करता है, क्योंकि भगवान् निष्ठावान भक्त के समक्ष प्रकट होते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.१०) में कहा गया है। भगवान् प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि के स्वामी होने से (यहाँ तक कि अभक्तों के भी) अपने भक्त को समुचित बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे भक्त स्वतः भगवान् तथा उनकी विभिन्न शक्तियों के विषय में असली तथ्यों से अवगत हो जाता है। भगवान् न तो किसी की चिन्तन शक्ति से, न परम सत्य विषयक वाग्जाल से प्रकट होते हैं। वे भक्त के समक्ष तभी प्रकट होते हैं जब भक्त के सेवा-भाव की प्रवृत्ति से पूर्ण रूप से संतुष्ट होते हैं। शुकेदव गोस्वामी न तो चिन्तक हैं, न ही 'जितने पंथ उतने मत' सिद्धान्त के समर्थक हैं। अपितु वे केवल भगवान् से उनके दिव्य आनन्द का आह्वान करते हुए प्रार्थना करते हैं। भगवान् को जानने का यही तरीका है।

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि ।
स्व-लक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यतः
स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

प्रचोदिता—प्रेरित; येन—जिसके द्वारा; पुरा—सृष्टि के प्रारम्भ में; सरस्वती—विद्या की देवी; वितन्वता—विस्तारित; अजस्य—प्रथम जीव ब्रह्मा का; सतीम् स्मृतिम्—शक्तिशाली स्मरण शक्ति; हृदि—हृदय में; स्व—अपना; लक्षणा—लक्षित; प्रादुरभूत्—उत्पन्न किया गया; किल—मानो; आस्यतः—मुँह से; सः—वह; मे—मुझ पर; ऋषीणाम्—शिक्षकों का; ऋषभः—प्रमुख; प्रसीदताम्—प्रसन्न हों।

जिन्होंने सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा के हृदय में शक्तिशाली ज्ञान का विस्तार किया और सृष्टि तथा अपने विषय में पूर्ण ज्ञान की प्रेरणा दी और जो ब्रह्मा के मुख से प्रकट हुए प्रतीत हुए, वे भगवान् मुझ पर प्रसन्न हों।

तात्पर्य : हम पहले ही यह बता चुके हैं, कि ब्रह्मा से लेकर क्षुद्र चींटी तक सारे जीवों के परमात्मा-रूप में भगवान् प्रत्येक जीव को वांछित ज्ञान प्रदान करते हैं। प्रत्येक जीव भगवान् से ५०:६४ के अनुपात में या पूर्ण ज्ञान का ७८% अर्जित करने की क्षमता रखता है। चूँकि जीव भगवान् का स्वाभाविक अंशमात्र है, अतएव वह भगवान् के सम्पूर्ण ज्ञान को आत्मसात् करने में असमर्थ होता है। बद्ध अवस्था में जीव, शरीर के परिवर्तन या मृत्यु के साथ सब कुछ भूल जाता है। यही ज्ञान पुन: प्रत्येक जीव में भगवान् द्वारा जीव के हृदय के भीतर से प्रेरित किया जाता है और यही ज्ञान की जागृति कहलाती है, क्योंकि यह निद्रा या अचेतनावस्था से जागरण के तुल्य है। यह ज्ञान की जागृति भगवान् के पूर्ण रूप से अधीन है, अतएव व्यवहारजगत में विभिन्न व्यक्तियों में ज्ञान की विभिन्न कोटियाँ पाई जाती हैं। यह ज्ञान की जागृति न तो स्वत: घटित होती है, न भौतिक अन्त:क्रिया है। इसकी पूर्ति करनेवाले साक्षात् भगवान् हैं (*धियां पति:*), क्योंकि ब्रह्मा तक परम स्रष्टा के इस नियम के अधीन हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा माता-पिता के बिना उत्पन्न होते हैं, क्योंकि तब कोई अन्य जीव न था। ब्रह्मा उस कमल से उत्पन्न होते हैं, जो गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से प्रकट होता है और इसीलिए वे अज कहलाते हैं। ये ब्रह्मा या अज भी भगवान् के अंशरूप जीव हैं, लेकिन भगवान् के परम पवित्र भक्त होने के नाते, भगवान् मुख्य सृष्टि कर लेने के बाद प्रकृति के द्वारा उन्हें सृष्टि करने की प्रेरणा देते हैं। अतएव न तो प्रकृति, न ही ब्रह्मा भगवान् से स्वतन्त्र हैं। भौतिक विज्ञानी प्रकृति की प्रतिक्रियाओं का अवलोकन ही कर सकते हैं, वे ऐसे कार्यकलापों के पीछे कार्यरत निर्देशन को नहीं समझ पाते जिस तरह कि एक शिशु बिजली के करतब को तो देखता है, किन्तु उसे बिजलीघर के इंजीनियर का कोई ज्ञान नहीं होता। भौतिक विज्ञानी का यह अपूर्ण ज्ञान उसकी अल्पज्ञता के कारण है। अतएव वैदिक ज्ञान सर्वप्रथम ब्रह्मा के अन्त:करण में प्रविष्ट कराया गया जिससे ऐसा लगता है कि ब्रह्मा ही वैदिक ज्ञान का वितरण करनेवाले हैं। निस्सन्देह, ब्रह्मा वैदिक ज्ञान के प्रवक्ता हैं, किन्तु वास्तव में भगवान् ने

ही उन्हें ऐसा दिव्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया, क्योंकि यह ज्ञान सीधे भगवान् से अवतरित होता है। इसीलिए वेदों को अपौरुषेय अर्थात् किसी सृजित जीव द्वारा प्रदत्त न किये गये, कहा जाता है। सृष्टि के पूर्व भगवान् उपस्थित थे (*नारायण: परोऽव्यक्तात्*), अतएव भगवान् द्वारा उच्चरित शब्द दिव्य ध्वनि की लहरियाँ हैं। ध्वनि के दो प्रकारों, *प्राकृत* तथा *अप्राकृत,* में बहुत बड़ा अन्तर है। भौतिक-शास्त्री केवल *प्राकृत* ध्वनि या भौतिक आकाश में स्पन्दित ध्वनि पर ही विचार कर सकता है, अतएव हमें यह जान लेना चाहिए कि सांकेतिक अभिव्यंजनाओं के रूप में अंकित वैदिक ध्वनियाँ इस ब्रह्माण्ड में किसी के द्वारा तब तक नहीं समझी जा सकतीं जब तक उन्हें *अप्राकृत* ध्वनि के स्पन्दनों द्वारा प्रेरित न किया जाय जो शिष्य-परम्परा द्वारा भगवान् से ब्रह्मा को, ब्रह्मा से नारद को, नारद से व्यास को और आगे इसी क्रम में प्राप्त होती है। कोई भी संसारी विद्वान वैदिक मन्त्रों के असली आशय को न तो प्रकट कर सकता है, न उनको अनुदित कर सकता है। इन्हें तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक कोई वैध गुरु द्वारा प्रेरित या दीक्षित न होले। आदि गुरु तो स्वयं भगवान् हैं और परम्परा से यह ज्ञान चलता रहा है जैसाकि *भगवद्गीता* के चतुर्थ अध्याय में स्पष्ट कहा गया है। अतएव दिव्य ज्ञान जब तक किसी वैध परम्परा से प्राप्त नहीं होता, तब तक उसे विफल (*विफला मता:*) मानना चाहिए, भले ही वह कला या विज्ञान में कितनी ही प्रगति क्यों न कर ले।

शुकदेव गोस्वामी अपने अन्त:करण में भगवान् द्वारा प्रेरित होकर ही भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं जिससे वे महाराज परीक्षित द्वारा पूछे गये सृष्टि-सम्बन्धी तथ्यों को सही-सही बतला सकें। गुरु संसारी विद्वान की तरह, सैद्धान्तिक चिन्तक नहीं होता, अपितु वह *श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्* होता है।

भूतैर्महद्भिर्य इमा: पुरो विभु-
निर्माय शेते यदमूषु पूरुषः ।
भुङ्क्ते गुणान् षोडश षोडशात्मकः
सोऽलङ्कृषीष्ट भगवान् वचांसि मे ॥ २३॥

शब्दार्थ

भूतैः—तत्त्वों के द्वारा; महद्भिः—भौतिक सृष्टि के; यः—जो; इमाः—ये सब; पुरः—शरीर; विभुः—भगवान् के; निर्माय—तैयार करने के लिए; शेते—लेटते हैं; यत् अमूषु—अवतीर्ण होनेवाला; पूरुषः—भगवान् विष्णु; भुङ्क्ते —प्रभावित करते हैं; गुणान्—तीनों गुणों को; षोडश—सोलह भागों में; षोडश-आत्मकः—इन सोलह का जनक होने से; सः—वह; अलङ्क षीष्ट—सुसज्जित करे; भगवान्—भगवान्; वचांसि—वाणी को; मे—मेरी।

ब्रह्माण्ड के भीतर लेटकर जो तत्त्वों से निर्मित शरीरों को प्राणमय बनाते हैं और जो अपने पुरुष-अवतार में जीव को भौतिक गुणों के सोलह विभागों को, जो जीव के जनक रूप हैं अधीन करते हैं, वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् मेरे प्रवचनों को अलंकृत करने के लिए प्रसन्न हों।

तात्पर्य : पूर्ण आश्रित भक्त के रूप में (अपनी सामर्थ्य पर गर्व करनेवाले संसारी व्यक्ति से सर्वथा विपरीत) शुकदेव गोस्वामी भगवान् से प्रसन्न होने के लिए प्रार्थना करते हैं जिससे उनके प्रवचन सफल हो और श्रोताओं द्वारा समादृत हो। भक्त सदैव अपने आपको किसी भी सफलता में निमित्त मात्र मानता है और अपने द्वारा किये गये किसी भी कृत्य का श्रेय लेने से इनकार करता है, जबकि ईशविहीन नास्तिक कार्यकलापों का सारा श्रेय लेना चाहता है, जो यह भी नहीं जानता कि परमात्मा भगवान् की मर्जी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। अतएव शुकदेव गोस्वामी उन परमेश्वर के निर्देशानुसार आगे बढ़ना चाहते हैं, जिन्होंने ब्रह्माजी को वैदिक ज्ञान व्यक्त करने के लिए प्रेरणा दी। वैदिक ग्रंथों में वर्णित सत्य न तो संसारी कल्पना के सिद्धान्त हैं, न वे कपोलकल्पित हैं जैसाकि अल्पज्ञ लोग कभी-कभी सोचते हैं। वैदिक सत्य वास्तविक सत्य के पूर्ण विवरण हैं जिनमें न तो त्रुटि है, न भ्रम। शुकदेव गोस्वामी सृष्टि सम्बन्धी सत्यों को वास्तविक तथ्यों के रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं, न कि दार्शनिक चिन्तक के किसी तत्त्व-ज्ञान के सिद्धान्त के रूप में, क्योंकि वे उसी तरह भगवान् के इशारे पर चलेंगे जिस तरह ब्रह्माजी अनुप्राणित हुए थे। जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है, भगवान् स्वयं *वेदान्त-ज्ञान* के जनक हैं और वेदान्त-दर्शन के वास्तविक तात्पर्य को जाननेवाले एकमात्र वही हैं। अतएव वेदों में वर्णित धर्म के सिद्धान्तों से बढ़कर कोई सत्य नहीं है। ऐसा वैदिक ज्ञान या धर्म शुकदेव गोस्वामी जैसे प्रामाणिक पुरुष द्वारा फैलता है क्योंकि वे भगवान् के विनीत दास थे जिन्हें स्व-नियुक्त व्याख्याकार बनने की कोई इच्छा न थी। वैदिक ज्ञान की व्याख्या की यही विधि है, जिसे *परम्परा* प्रणाली कहते हैं।

बुद्धिमान व्यक्ति यह देख सकता है कि चाहे कोई भी भौतिक सृष्टि (चाहे अपना शरीर हो, या फल या फूल) हो, आध्यात्मिक स्पर्श के बिना वह सुन्दरता के साथ वृद्धि नहीं कर पाती। संसार का सर्वाधिक बुद्धिमान व्यक्ति या विज्ञानी किसी भी वस्तु को तभी ढंग से प्रस्तुत कर सकता है जब उसमें

जीवन हो या आध्यात्मिक स्पर्श हो। अतएव समस्त सत्यों का स्रोत परमात्मा है, स्थूल पदार्थ नहीं, जैसाकि भ्रमवश निपट भौतिकतावादी सोचता है। वैदिक साहित्य से हमें पता चलता है कि सर्वप्रथम भगवान् ने भौतिक ब्रह्माण्ड के शून्य में प्रवेश किया और तब सारी वस्तुएँ एक-एक करके विकसित हुईं। इसी प्रकार भगवान् परमात्मा के रूप में प्रत्येक प्राणी के घर-घर में स्थित हैं, अतएव उनके द्वारा सारे कार्य अच्छे ढंग से सम्पन्न होते हैं। सोलह प्रमुख सृजनकारी तत्त्व, जिनके नाम हैं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तथा ग्यारह इन्द्रियाँ, साक्षात् भगवान् से विकसित हुए और तब जीवों में बँट गए। इस तरह भौतिक तत्त्वों का सृजन जीवों के भोग के लिए किया गया। अतएव समस्त भौतिक अभिव्यक्तियों के पीछे जो सुन्दर व्यवस्था है, वह भगवान् की शक्ति द्वारा सम्भव होती है और प्रत्येक जीव उसे ठीक से समझने के लिए भगवान् से प्रार्थना ही कर सकता है। चूँकि भगवान् परम चेतना हैं और शुकदेव गोस्वामी से भिन्न हैं, अतएव उनकी प्रार्थना की जानी चाहिए। भगवान् भौतिक सृष्टि का भोग करने में जीव की सहायता करते हैं, किन्तु वे ऐसे झूठे भोग से पृथक् रहते हैं। शुकदेव गोस्वामी भगवान् से कृपा करने के लिए प्रार्थना करते हैं जिससे वे सत्य को प्रस्तुत करने में स्वयं सहायता पाने के साथ-साथ उन लोगों की भी सहायता करें जिन्हें वे सुनाने जा रहे हैं।

नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय वेधसे ।
पपुर्ज्ञानमयं सौम्या यन्मुखाम्बुरुहासवम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

नमः—मेरा नमस्कार है; तस्मै—उस; भगवते—भगवान् को; वासुदेवाय—वासुदेव या उनके अवतारों को; वेधसे—वैदिक ग्रंथों के संकलनकर्ता; पपुः—पान किया गया; ज्ञानम्—ज्ञान; अयम्—यह वैदिक ज्ञान; सौम्याः—भक्तगण, विशेष रूप से भगवान् कृष्ण की प्रेमिकाएँ; यत्—जिनके; मुख-अम्बुरुह—कमल सदृश मुख का; आसवम्—अमृत।

मैं साक्षात् वासुदेव के अवतार उन श्रील व्यासदेव को सादर नमस्कार करता हूँ जिन्होंने वैदिक शास्त्रों का संकलन किया। शुद्ध भक्तगण भगवान् के कमल सदृश मुख से टपकते हुए अमृतोपम दिव्य ज्ञान का पान करते हैं।

तात्पर्य : *वेधसे* शब्द की व्याख्या करते हुये श्रील श्रीधर स्वामी ने टीका की है कि इस शब्द द्वारा श्रील व्यासदेव को सादर नमस्कार किया गया है, जो वासुदेव के अवतार हैं। श्रील जीव गोस्वामी ने इसे स्वीकार किया है, लेकिन श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर एक कदम आगे हैं कि भगवान् कृष्ण के

मुख से टपकता अमृत उनकी विभिन्न प्रेमिकाओं के मुखों में चला जाता है, जिससे वे संगीत, नृत्य, वेशसज्जा, अलंकरण जैसी ललित कलाएँ एवं वे सारी बातें जानती हैं, जो भगवान् को आस्वाद्य हैं। भगवान् द्वारा आस्वाद्य ऐसा संगीत, नृत्य तथा अलंकरण संसारी नहीं होता, क्योंकि भगवान् को प्रारम्भ में ही परम् अर्थात् दिव्य कहकर सम्बोधित किया गया है। भुलक्कड़ बद्ध-जीवों को यह दिव्य ज्ञान अज्ञात है। भगवान् के अवतार श्रील व्यासदेव ने वैदिक साहित्य का इसीलिये संकलन किया जिससे बद्धजीव भगवान् के साथ अपने विसरे हुए सम्बन्धों को फिर से स्मरण कर सकें, अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह वैदिक शास्त्रों को, या कहें कि माधुर्य रस में भगवान् द्वारा अपनी प्रेमिकाओं को किये गये अमृत दान को, समझने के लिए व्यासदेव या शुकदेव के कमलमुख से सुनें। दिव्य ज्ञान के क्रमिक विकास द्वारा मनुष्य संगीत तथा नृत्य की उस दिव्य कला को प्राप्त हो सकता है, जिसे भगवान् ने अपनी रासलीला के समय प्रदर्शित किया। लेकिन वैदिक ज्ञान के अभाव में भगवान् के रास-नृत्य तथा संगीत की दिव्य प्रकृति को समझ पाना कठिन है। किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त इस अमृत का आस्वादन अगाध दार्शनिक वार्ताओं के रूप में तथा रास-नृत्य में भगवान् द्वारा चुम्बन के रूप में करते हैं, क्योंकि इन दोनों में कोई भौतिक अन्तर नहीं है।

एतदेवात्म-भू राजन् नारदाय विपृच्छते ।
वेद-गर्भोऽभ्यधात् साक्षाद् यदाह हरिरात्मनः ॥ २५॥

शब्दार्थ

एतत्—इस विषय में; एव—इसी तरह; आत्म-भूः—प्रथम जन्मा (ब्रह्माजी); राजन्—हे राजा; नारदाय—नारदमुनि से; विपृच्छते—पूछा जाकर; वेद-गर्भः—जन्म से ही वैदिक ज्ञान से संपृक्त है, जो; अभ्यधात्—बतलाया; साक्षात्—प्रत्यक्ष; यत् आह—उसने जो कहा; हरिः—भगवान्; आत्मनः—अपने ही से(ब्रह्मा से)।

हे राजन्, नारद द्वारा पूछे जाने पर प्रथम-जन्मा ब्रह्माजी ने इस विषय में ठीक वही बात बतलाई जो भगवान् ने अपने पुत्र (ब्रह्मा) से प्रत्यक्ष कही थी जो जन्म से ही वैदिक ज्ञान से संपृक्त थे।

तात्पर्य : ज्योंही विष्णु के नाभि-कमल से ब्रह्मा का जन्म हुआ, वे वैदिक ज्ञान से संपृक्त थे, अतएव वे *वेदगर्भ* या जन्म से वेदान्ती कहलाते हैं। वैदिक ज्ञान के या कि पूर्ण अच्युत ज्ञान के बिना कोई भी सृष्टि नहीं कर सकता। सारा वैज्ञानिक ज्ञान तथा पूर्ण ज्ञान वैदिक है। वेदों से सभी तरह की

जानकारी प्राप्त की जा सकती हैं। इसीलिए ब्रह्माजी परिपूर्ण ज्ञान से संपृक्त थे जिससे वे सृष्टि करने में समर्थ हो सके। अतएव ब्रह्माजी सृष्टि के पूर्ण विवरण से अवगत थे, क्योंकि भगवान् हरि ने उन्हें इससे अवगत कराया था। जब नारद ने ब्रह्मा से जिज्ञासा की तो उन्होंने नारद को ठीक उसी तरह सुनाया जैसा उन्होंने साक्षात् भगवान् से सुना था। नारद ने ठीक यही बात व्यास को बताई और व्यास ने भी शुकदेव गोस्वामी को उसी रूप में सुनाया जिस तरह उन्होंने नारद से सुन रखा था। शुकदेव गोस्वामी वे ही बातें अब सुनाने जा रहे थे जिन्हें उन्होंने व्यास से सुना था। वैदिक ज्ञान को समझने की यही विधि है। केवल उपर्युक्त परम्परा द्वारा ही वेदों की भाषा समझी जा सकती है, अन्यथा नहीं।

सिद्धान्तों से कोई लाभ होनेवाला नहीं। ज्ञान को वास्तविक होना चाहिए। बहुत सी ऐसी बातें हैं, जो जटिल होती हैं और कोई उन्हें तब तक नहीं समझ पाता जब तक वे किसी ज्ञाता द्वारा न बताई जायें। वैदिक ज्ञान को जानना भी कठिन है। उसे उपर्युक्त प्रणाली से सीखना चाहिए, अन्यथा वह समझ में नहीं आता।

अतएव शुकदेव गोस्वामी ने भगवान् से कृपा करने के लिए प्रार्थना की, जिससे वे उनके द्वारा ब्रह्मा को प्रत्यक्ष कहे गये सन्देश को या ब्रह्मा ने जो कुछ नारद से कहा, उसे दुहरा सकें। अतएव शुकदेव गोस्वामी द्वारा वर्णित सृष्टि-विषयक कथन सैद्धान्तिक नहीं हैं, जैसाकि कुछ संसारी कहते हैं, अपितु पूर्ण रूप से सत्य हैं। जो इन सन्देशों (कथाओं) को सुनता है और आत्मसात् करने का प्रयास करता है, वह भौतिक सृष्टि-विषयक पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के द्वितीय स्कंध के अन्तर्गत ''सृष्टि का प्रक्रम'' नामक चतुर्थ अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पाँच

समस्त कारणों के कारण

नारद उवाच

देव-देव नमस्तेऽस्तु भूत-भावन पूर्वज ।
तद् विजानीहि यज्ज्ञानमात्म-तत्त्व-निदर्शनम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—श्री नारद ने कहा; देव—समस्त देवताओं के; देव—देवता; नमः—नमस्कार; ते—तुमको; अस्तु—है; भूत-भावन—समस्त प्राणियों के जनक; पूर्व-ज—सर्वप्रथम जन्मा; तत् विजानीहि—उस ज्ञान को बताएँ; यत् ज्ञानम्—जो ज्ञान; आत्म-तत्त्व—दिव्य; निदर्शनम्—विशेष रूप से निर्देश करता है।

श्री नारद मुनि ने ब्रह्माजी से पूछा : हे देवताओं में प्रमुख देवता, हे अग्रजन्मा जीव, मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ। कृपा करके मुझे वह दिव्य ज्ञान बतायें, जो मनुष्य को आत्मा तथा परमात्मा के सत्य तक ले जाने वाला है।

तात्पर्य : *परम्परा* प्रणाली की पूर्णता की और भी पुष्टि हो रही है। पिछले अध्याय में यह स्थापना हुई थी कि आदि-जीव ब्रह्माजी ने सीधे परमेश्वर से ज्ञान प्राप्त किया और उन्होंने वह ज्ञान अगले शिष्य नारद को प्रदान किया। नारद ने ज्ञान प्रदान किये जाने की प्रार्थना की, तो ब्रह्माजी ने ज्ञान प्रदान किया। अतएव सही व्यक्ति से दिव्य ज्ञान के लिए याचना करना और सही ढंग से उसे प्राप्त करना परम्परा का विधान है। इस विधि की संस्तुति *भगवद्गीता* (४.२) में की गई है। जिज्ञासु शिष्य को चाहिए कि वह समर्पण, विनीत जिज्ञासा तथा सेवा द्वारा दिव्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए सुयोग्य गुरु के पास जाय। इस तरह विनीत जिज्ञासा तथा सेवा द्वारा प्राप्त ज्ञान धन के बदले प्राप्त होनेवाले ज्ञान से अधिक प्रभावात्मक होता है। ब्रह्मा तथा नारद की परम्परा का गुरु कभी डालर तथा सेंट (रुपये-पैसे) नहीं चाहता। प्रामाणिक शिष्य को अपनी प्रतिष्ठावान् सेवा से उसे प्रसन्न करके आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्ध तथा स्वभाव का ज्ञान प्राप्त करना होता है।

यद्रूपं यदधिष्ठानं यतः सृष्टमिदं प्रभो ।
यत्संस्थं यत्परं यच्च तत् तत्त्वं वद तत्त्वतः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; रूपम्—लक्षण; यत्—जो; अधिष्ठानम्—पृष्ठभूमि; यतः—जहाँ से; सृष्टम्—उत्पन्न; इदम्—यह संसार; प्रभो—हे पिता; यत्—जिसमें; संस्थम्—प्रतिष्ठित; यत्—जो; परम्—वश में; यत्—जो हैं; च—तथा; तत्—इसका; तत्त्वम्—लक्षण; वद—कृपया वर्णन करें; तत्त्वतः—वास्तव में।

हे पिता, आप इस व्यक्त जगत के वास्तविक लक्षणों का वर्णन करें। इसका आधार क्या है? यह किस तरह उत्पन्न हुआ? यह किस तरह संस्थित है? और यह सब किसके नियन्त्रण में किया जा रहा है?

तात्पर्य : वास्तविक कारण तथा कार्य के आधार पर नारद मुनि द्वारा उठाये गये प्रश्न अत्यन्त तर्कसंगत प्रतीत होते हैं। किन्तु नास्तिक लोग स्वनिर्मित अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत करते रहते हैं जिनमें कारण-कार्य का लेशमात्र भी नहीं रहता। यह व्यक्त जगत तथा आत्मा, अब भी इन ईशविहीन नास्तिकों द्वारा प्रयोगात्मक ज्ञान के आधार पर, अविवेचित है, यद्यपि उन्होंने अपने उर्वर मस्तिष्क द्वारा निर्मित अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। किन्तु नारद मुनि ऐसे मानसिक चिन्तनपरक सिद्धान्तों के विपरीत सृष्टि सम्बन्धी सारे तथ्यों को जानने के इच्छुक थे, उन सिद्धान्तों के द्वारा नहीं।

आत्मा तथा परमात्मा सम्बन्धी दिव्य ज्ञान में जगत तथा इसकी सृष्टि की पृष्ट-भूमि का ज्ञान सम्मिलित होता है। व्यवहार-जगत में किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति को यथार्थ रुप तीन बातें दिखती हैं—जीव, व्यक्त जगत तथा इनके ऊपर अनन्तिम नियन्त्रण। बुद्धिमान व्यक्ति देख सकता है कि न तो जीव, न ही व्यवहार-जगत संयोगजन्य सृष्टियाँ हैं। सृष्टि एवं इसके नियमनकारी कार्य-कारणों से इसके पीछे किसी बुद्धिमान मस्तिष्क की योजना कार्यशील प्रतीत होती है। शुद्ध जिज्ञासा द्वारा और किसी ऐसे व्यक्ति की सहायता से, जो उन्हें वास्तव में जानता हो, परम कारण को खोजा जा सकता है।

सर्वं ह्येतद् भवान् वेद भूत-भव्य-भवत्प्रभुः ।
करामलक-वद् विश्वं विज्ञानावसितं तव ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सर्वम्—सारी वस्तुएँ; हि—निश्चय ही; एतत्—यह; भवान्—आप; वेद—जानते हैं; भूत—जो भी उत्पन्न है; भव्य—जो उत्पन्न होंगे; भवत् प्रभुः—आप, सबों के स्वामी; कर-आमलक-वत्—हथेली के आँवले के समान; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; विज्ञान-अवसितम्—आपके वैज्ञानिक ज्ञान के अन्तर्गत; तव—आपका।

हे पिता, आप यह सब वैज्ञानिक ढंग से जानते हैं, क्योंकि भूतकाल में जो कुछ रचा गया, भविष्य में जो भी रचा जायेगा या वर्तमान में जो कुछ रचा जा रहा है तथा इस ब्रह्माण्ड के भीतर

जितनी सारी वस्तुएँ हैं, वे सब आपकी हथेली में आँवले के सदृश हैं।

तात्पर्य : इस व्यक्त ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्माण्ड के भीतर की प्रत्येक वस्तु के प्रत्यक्ष स्रष्टा ब्रह्माजी हैं; अतएव वे जानते हैं कि भूतकाल में क्या घटा, भविष्य में क्या घटित होगा और इस समय क्या घट रहा है। तीन मुख्य वस्तुएँ यथा जीव, दृश्य जगत तथा नियन्ता—ये सतत कार्यशील हैं चाहे भूत हो, वर्तमान या भविष्य और प्रत्यक्ष व्यवस्थापक इन सारे कार्यकारणों को जानता रहता है, जिस तरह कि हथेली में रखे हुए आमलक के विषय में सब कुछ ज्ञात रहता है। किसी वस्तु विशेष का असली निर्माता जानता रहता है कि उसने निर्माण-कला किस तरह सीखी, कहाँ से उसे आवश्यक सामग्री मिली, किस तरह उसे जोड़ा गया और किस तरह से निर्माण-क्रिया के फलस्वरूप वस्तुएँ बन रही हैं। चूँकि ब्रह्माजी प्रथम-जन्मा जीव हैं, अतएव उनसे अपेक्षा है कि वे सृष्टि के सारे कार्यों के विषय में जानें।

यद्विज्ञानो यदाधारो यत्परस्त्वं यदात्मकः ।
एकः सृजसि भूतानि भूतैरेवात्म-मायया ॥ ४॥

शब्दार्थ

यत्-विज्ञानः—ज्ञान का स्रोत; यत्-आधारः—जिसके संरक्षण में; यत्-परः—जिसकी अधीनता में; त्वम्—तुम; यत्-आत्मकः—किस हैसियत से; एकः—अकेले; सृजसि—सृष्टि करते हो; भूतानि—जीवों को; भूतैः—भौतिक तत्त्वों के द्वारा; एव—निश्चय ही; आत्म—स्व; मायया—शक्ति से।

हे पिता, आपके ज्ञान का स्रोत क्या है? आप किसके संरक्षण में रह रहे हैं? आप किसकी अधीनता में कार्य करते हैं? आपकी वास्तविक स्थिति क्या है? क्या आप अकेले ही सारे जीवों को अपनी निजी शक्ति के द्वारा भौतिक तत्त्वों से उत्पन्न करते हैं?

तात्पर्य : यह श्री नारद मुनि को ज्ञात था कि ब्रह्माजी ने कठिन तपस्या करके सृजन-शक्ति प्राप्त की थी। अतएव वे यह जान सके कि ब्रह्माजी से भी श्रेष्ठ कोई है, जिसने ब्रह्मा को सृजन-शक्ति से भरपूर किया है। इसीलिए उन्होंने ये सारे प्रश्न पूछे। अतएव प्रगतिशील वैज्ञानिक उपलब्धियों की खोजें स्वतन्त्र नहीं होतीं। *वैज्ञानिक* को पहले से विद्यमान वस्तु का ज्ञान अन्य किसी के द्वारा प्रदत्त अद्भुत मस्तिष्क द्वारा प्राप्त करना होता है। एक *वैज्ञानिक* इस प्रकार से प्रदत्त मस्तिष्क से कार्य कर सकता है, लेकिन उसके लिए अपना मस्तिष्क या इसी तरह का अन्य मस्तिष्क उत्पन्न कर पाना सम्भव नहीं है। अतएव किसी भी सृष्टि के मामले में न तो कोई स्वतन्त्र है, न ऐसी सृष्टि स्वचालित है।

आत्मन् भावयसे तानि न पराभावयन् स्वयम् ।
आत्म-शक्तिमवष्टभ्य ऊर्णनाभिरिवाक्लमः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

आत्मन् (आत्मनि)—अपने द्वारा; भावयसे—प्रकट करते हैं; तानि—वे सब; न—नहीं; पराभावयन्—पराजित होकर; स्वयम्—खुद, अपने आप; आत्म-शक्तिम्—आत्मनिर्भर शक्ति; अवष्टभ्य—नियुक्त होकर; ऊर्ण-नाभिः—मकड़ी; इव—सदृश; अक्लमः—बिना सहायता के।

जिस प्रकार मकड़ी अपने जाले को सरलता से उत्पन्न करती है और अन्यों के द्वारा पराजित हुए बिना अपनी सृजन-शक्ति प्रकट करती है, उसी प्रकार आप अपनी आत्म-निर्भर शक्ति को प्रयुक्त करके दूसरे से सहायता लिये बिना सृजन करते हैं।

तात्पर्य : आत्मनिर्भरता का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण सूर्य है। सूर्य को प्रकाशित होने के लिए किसी दूसरे तत्त्व की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रत्युत सूर्य ही समस्त प्रकाशमान वस्तुओं का सहायक बनता है, क्योंकि सूर्य के होने पर अन्य कोई प्रकाशमान वस्तु महत्त्वपूर्ण नहीं होती। नारद ने ब्रह्मा की स्थिति की तुलना उस मकड़ी की आत्म-निर्भरता से की है, जो अन्य किसी से सहायता लिये बिना अपनी लार के शक्तिशाली सृजन से अपना जाला बनाती है।

नाहं वेद परं ह्यस्मिन्नापरं न समं विभो ।
नाम-रूप-गुणैर्भाव्यं सदसत् किञ्चिदन्यतः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; वेद—जानता हूँ; परम्—श्रेष्ठ; हि—क्योंकि; अस्मिन्—इस संसार में; न—न तो; अपरम्—निकृष्ट; न—न तो; समम्—समान; विभो—हे महान्; नाम—नाम; रूप—लक्षण; गुणैः—योग्यता से; भाव्यम्—सृजित, सृष्ट; सत्—नित्य, शाश्वत; असत्—क्षण भंगुर; किञ्चित्—या अन्य इसी तरह की कोई वस्तु; अन्यतः—किसी अन्य स्रोत से।

हम किसी विशेष वस्तु—श्रेष्ठ, निकृष्ट या समतुल्य, नित्य या क्षणिक—इनके नामों, लक्षणों तथा गुणों से जो भी समझ पाते हैं, वह आपके अतिरिक्त अन्य किसी स्रोत से सृजित नहीं होती, क्योंकि आप इतने महान् हैं।

तात्पर्य : यह व्यक्त जगत ८४,००,००० योनियों में उत्पन्न विविध प्रकार के जीवों से परिपूर्ण है। इनमें से कुछ श्रेष्ठ हैं, तो कुछ निकृष्ट। मानव समाज में मनुष्य श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है और मनुष्यों में भी विभिन्न किस्में होती हैं यथा उत्तम, निकृष्ट, समान इत्यादि। लेकिन नारदमुनि ने यह मान लिया कि

उनके पिता ब्रह्मा के अतिरिक्त अन्य किसी में सृजन का स्रोत नहीं है। अतएव वे ब्रह्माजी से उनके विषय में सब कुछ जान लेना चाहते थे।

स भवानचरद् घोरं यत् तपः सुसमाहितः ।
तेन खेदयसे नस्त्वं परा-शङ्कां च यच्छसि ॥ ७॥

शब्दार्थ

सः—वह; भवान्—आपने; अचरत्—किया; घोरम्—कठिन; यत् तपः—ध्यान; सु-समाहितः—पूर्ण अनुशासन में; तेन—उस कारण से; खेदयसे—कष्ट देते हैं; नः—हमको; त्वम्—आप; परा—अन्तिम सत्य; शङ्काम्—सन्देह; च—तथा; यच्छसि—हमें अवसर प्रदान करते हैं।.

फिर भी जब हम आपके द्वारा पूर्ण अनुशासन में रहते हुए सम्पन्न कठिन तपस्याओं के विषय में सोचते हैं, तो हमें आपसे भी अधिक शक्तिशाली किसी व्यक्ति के अस्तित्व के विषय में आश्चर्य-चकित रह जाना होता है, यद्यपि आप सृष्टि के मामले में इतने शक्तिशाली हैं।

तात्पर्य : श्री नारद मुनि के चरण-चिह्नों का अनुसरण करते हुए मनुष्य को चाहिए कि वह अंधे की तरह गुरु को साक्षात् ईश्वर न मान ले। गुरु का सम्मान ईश्वर के समान ही किया जाता है, लेकिन जो गुरु अपने को साक्षात् ईश्वर कहे, उसे तुरन्त त्याग देना चाहिए। नारद मुनि ने ब्रह्मा को सृष्टि करने के अद्भुत कार्य के कारण परमेश्वर मान लिया था, लेकिन जब उन्होंने देखा कि ब्रह्माजी भी किसी श्रेष्ठ पुरुष की पूजा कर रहे हैं, तो उनको सन्देह हुआ। परमेश्वर तो श्रेष्ठतम हैं ही। उनका कोई आराध्य नहीं है। *अहङ्ग्रहोपासिता* या जो साक्षात् ईश्वर बनने के उद्देश्य से अपनी पूजा करता है भ्रामक है, लेकिन बुद्धिमान शिष्य तुरन्त पहचान सकता है कि परमेश्वर को ईश्वर बनने के लिए किसी की, यहाँ तक कि अपनी भी, पूजा करने की आवश्यकता नहीं रहती। भले ही दिव्य अनुभूति के लिए *अहङ्ग्रहोपासना* एक विधि हो, लेकिन इससे वह कभी ईश्वर नहीं बन सकता। कोई भी व्यक्ति आत्म-अनुभूति की विधि से ईश्वर नहीं बनता। नारद मुनि ने ब्रह्माजी को परम पुरुष के रूप में सोचा था, किन्तु जब उन्होंने देखा कि वे दिव्य अनुभूति की विधि में लगे हैं, तो उन्हें सन्देह हुआ। अतएव वे सही-सही जानकारी चाह रहे थे।

एतन्मे पृच्छतः सर्वं सर्व-ज्ञ सकलेश्वर ।
विजानीहि यथैवेदमहं बुध्येऽनुशासितः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह सब; मे—मुझको; पृच्छतः—उत्सुक, जिज्ञासु; सर्वम्—जो कुछ पूछा जाता है; सर्व-ज्ञ—सब कुछ जाननेवाला; सकल—सम्पूर्ण; ईश्वर—नियन्ता; विजानीहि—कृपा करके बतायें; यथा—जिस तरह; एव—वे हैं; इदम्—यह; अहम्—मैं; बुध्ये—समझ सकूँ; अनुशासितः—आपसे सीखकर।

हे पिता, आप सब कुछ जाननेवाले हैं और सबों के नियन्ता हैं। अतएव मैंने आपसे जितने सारे प्रश्न किये हैं, उन्हें कृपा करके बताइये, जिससे मैं आपके शिष्य के रूप में उन्हें समझ सकूँ।

तात्पर्य : नारद मुनि द्वारा पूछे गये सारे प्रश्न सबों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अतएव उन्होंने ब्रह्माजी से प्रार्थना की कि वे इन्हें उपयुक्त समझें, जिससे ब्रह्म-सम्प्रदाय की परम्परा के अन्य सभी लोग बिना कठिनाई के उन्हें समझ सकें।

ब्रह्मोवाच

सम्यक् कारुणिकस्येदं वत्स ते विचिकित्सितम् ।
यदहं चोदितः सौम्य भगवद्वीर्य-दर्शने ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; सम्यक्—ठीक ढंग से; कारुणिकस्य—आपका, जो अत्यन्त दयालु हैं; इदम्—यह; वत्स—मेरे बच्चे; ते—तुम्हारी; विचिकित्सितम्—जिज्ञासा; यत्—जिससे; अहम्—मैं; चोदितः—प्रेरित; सौम्य—हे भद्र; भगवत्—भगवान् का; वीर्य—पराक्रम के; दर्शने—सम्बन्ध में, विषयक।

ब्रह्माजी ने कहा : हे मेरे वत्स नारद, तुमने सबों पर (मुझ सहित) करुणा करके ही ये सारे प्रश्न पूछे हैं, क्योंकि इनसे मैं भगवान् के पराक्रम को बारीकी से देखने के लिए प्रेरित हुआ हूँ।

तात्पर्य : नारद जी द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर ब्रह्माजी ने उनको बधाई दी, क्योंकि जब भी भक्तों से भगवान् के विषय में प्रश्न पूछे जाते हैं, तो वे अत्यन्त प्रफुल्लित हो उठते हैं। यह भगवान् के शुद्ध भक्त का लक्षण है। भगवान् के दिव्य कार्यकलापों से सम्बन्धित ऐसी वार्ताओं से वह वायुमण्डल शुद्ध हो जाता है, जिसमें ये वार्ताएँ होती हैं और ऐसे प्रश्नों का उत्तर देते समय भक्तगण जीवन्त हो उठते हैं। यह प्रश्नकर्ता तथा उत्तरदाता दोनों को ही शुद्ध करनेवाला है। शुद्ध भक्त भगवान् के विषय में प्रत्येक वस्तु जानकर न केवल तुष्ट होते हैं, अपितु वे इस जानकारी को अन्यों तक प्रसारित करना चाहते हैं, क्योंकि वे यह देखना चाहते हैं कि भगवान् का यश प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञात हो। अतएव जब उन्हें ऐसा

अवसर प्रदान किया जाता है, तो वे अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। धर्मोपदेश-कार्यों का यही मूल सिद्धान्त है।

नानृतं तव तच्चापि यथा मां प्रब्रवीषि भोः ।
अविज्ञाय परं मत्त एतावत्त्वं यतो हि मे ॥ १० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अनृतम्—झूठ; तव—तुम्हारा; तत्—वह; च—भी; अपि—जैसा तुमने कहा है; यथा—विषय में; माम्—मेरे; प्रब्रवीषि—जिस तरह तुम कहते हो; भोः—हे पुत्र; अविज्ञाय—बिना जाने; परम्—परम; मत्तः—मुझसे परे; एतावत्—जो कुछ कहा है; त्वम्—तुमने; यतः—के कारण से; हि—निश्चय ही; मे—मेरे विषय में।

तुमने मेरे विषय में जो कुछ कहा है, वह असत्य नहीं है, क्योंकि जब तक कोई उन भगवान् के विषय में अवगत नहीं हो लेता, जो मुझसे परे परम सत्य रूप हैं, तब तक वह मेरे सशक्त कार्यकलापों से निश्चित रूप से मोहित होता रहेगा।

तात्पर्य : *कूपमण्डूक* तर्क यह बताता है कि कुएँ की चहारदीवारी तथा वातावरण के भीतर रहनेवाला मेढ़क (मण्डूक) विशाल सागर की लम्बाई-चौड़ाई का अनुमान नहीं लगा सकता। ऐसे मेढ़क को यदि विशाल सागर की लम्बाई-चौड़ाई बताई जाय तो पहले तो वह विश्वास नहीं करेगा कि ऐसा समुद्र हो सकता है और यदि कोई उसे आश्वस्त कर भी दे कि समुद्र सचमुच ऐसा ही होता है, तो वह मेढ़क अपने पेट को फुला कर कल्पना से उसे मापने का प्रयास करता है, जिससे उसका छोटा सा पेट फट जाता है और वह बेचारा वास्तविक समुद्र का अनुभव किये बिना ही मर जाता है। इसी प्रकार भौतिक विज्ञानी भी भगवान् की अचिन्त्य शक्ति को अपने मेढ़क सरीखे मस्तिष्क से तथा अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों के द्वारा, मापकर चुनौती देना चाहते हैं, किन्तु अन्त में वे विफल हो कर मेढ़क की मौत मरते हैं।

कभी-कभी भौतिक दृष्टि से शक्तिशाली व्यक्ति को ईश्वर या ईश्वर का अवतार मान लिया जाता है, यद्यपि उसे वास्तविक ईश्वर का कोई ज्ञान नहीं रहता। ऐसे भौतिक मूल्यांकन को धीरे-धीरे बढ़ाकर ब्रह्माजी की सर्वोत्तम सीमा तक पहुँचा जा सकता है, जो इस ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च जीव हैं और जिनकी आयु भौतिक वैज्ञानिकों के लिए अकल्पनीय है। जैसाकि हमें *भगवद्गीता* नामक सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रंथ (८.१७) से विदित होता है, ब्रह्मा का एक दिन और रात मिलकर हमारे लोक के लाखों वर्षों के

तुल्य होते हैं। इस दीर्घ आयु पर 'कूप-मण्डूक' भले ही विश्वास न करे, किन्तु जिन व्यक्तियों को *भगवद्गीता* में वर्णित सत्यों की अनुभूति है, वे ऐसे महापुरुष के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, जो पूर्ण ब्रह्माण्ड की विविधता का सृजन करता है। शास्त्रों से यह भी प्रकट होता है कि इस ब्रह्माण्ड के ब्रह्माजी इस ब्रह्माण्ड से परे अनेक अन्यान्य ब्रह्माण्डों के ब्रह्माओं से अपेक्षतया छोटे हैं, लेकिन इनमें से कोई भी भगवान् के समकक्ष नहीं है।

नारद जी मुक्तात्मा हैं। मुक्ति मिलने के बाद ही वे नारद कहलाये अन्यथा इसके पूर्व वे दासी-पुत्र थे। यहाँ प्रश्न पूछा जा सकता है कि नारद को परमेश्वर का ज्ञान क्यों न था और उन्होंने ब्रह्माजी को परमेश्वर क्यों मान लिया था? जबकि वास्तविकता ऐसी न थी? मुक्तात्मा कभी ऐसे भ्रमात्मक विचार से मोहित नहीं होता, तो फिर नारद एक सामान्य व्यक्ति की भाँति इस तरह के प्रश्न क्यों पूछ रहे थे? ऐसा ही मोह अर्जुन को भी हुआ था, यद्यपि वे भगवान् के नित्य सखा थे। अर्जुन या नारद जैसा मोह भगवान् की इच्छा से ही उत्पन्न होता है, जिससे अन्य अमुक्त (बद्ध) व्यक्ति भी भगवान् के असली सत्य तथा ज्ञान की अनुभूति प्राप्त कर सकें। नारद के मन में ब्रह्माजी के सर्वशक्तिमान होने का जो सन्देह उठा, वह कूप-मण्डूकों के लिए अच्छा पाठ है कि वे भगवान् की गलत पहचान करके मोहित न हो जाँय (यहाँ तक की ब्रह्माजी जैसे पुरुष से तुलना करके; उनकी तो कोई बात ही नहीं, जो क्षुद्र मानव अपने को ईश्वर या ईश्वर-अवतार कहते हैं)। परमेश्वर सदैव सर्वश्रेष्ठ रहता है और जैसाकि हमने अपने तात्पर्यों में कई बार प्रतिपादित किया है, कोई भी जीव, यहाँ तक कि ब्रह्मा भी, स्वयं के भगवान् होने का दावा नहीं कर सकता। जब लोग किसी महापुरुष की मृत्यु के बाद, वीर-पूजा के रूप में उसको ईश्वर की भाँति पूजने लगें तो इससे किसी को दिग्भ्रमित नहीं होना चाहिए। अयोध्या के राजा रामचन्द्र जी जैसे अनेक राजा हुए हैं, किन्तु शास्त्रों में कहीं भी ऐसे राजाओं का उल्लेख ईश्वर के रूप में नहीं हुआ है। भगवान् राम होने के लिए आवश्यक योग्यता एक अच्छा राजा होना नहीं, अपितु भगवान् होने के लिए कृष्ण-जैसा महान् पुरुष होना आवश्यक है। यदि हम कुरुक्षेत्र-युद्ध में भाग लेनेवाले पात्रों के बारे में अध्ययन करें, तो हम देखेंगे कि महाराज युधिष्ठिर भगवान् रामचन्द्र से कम पवित्र राजा न थे और पात्रों अध्ययन से महाराज युधिष्ठिर कृष्ण से अच्छे नैतिकतावादी थे। भगवान्

कृष्ण ने महाराज युधिष्ठिर से झूठ बोलने के लिए कहा, किन्तु महाराज युधिष्ठिर ने इसका प्रतिरोध किया। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि महाराज युधिष्ठिर भगवान् रामचन्द्र या भगवान् कृष्ण के तुल्य थे। महापुरुषों ने महाराज युधिष्ठिर को पुण्यात्मा कहा है, किन्तु उन्होंने राम या कृष्ण को भगवान् के रूप में स्वीकार किया है। अतएव भगवान् सभी परिस्थितियों में भिन्न सत्ता होते हैं और उसके विषय में कोई अवतारवाद लागू नहीं होता। भगवान् सदैव भगवान् रहते हैं और सामान्य प्राणी कभी भी उनकी समता नहीं कर सकता।

येन स्व-रोचिषा विश्वं रोचितं रोचयाम्यहम् ।
यथार्कोऽग्निर्यथा सोमो यथर्क्ष-ग्रह-तारकाः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

येन—जिसके द्वारा; स्व-रोचिषा—अपने तेज से; विश्वम्—सारा जगत; रोचितम्—पहले से रचा हुआ; रोचयामि—प्रकट करता हूँ; अहम्—मैं; यथा—जिस तरह; अर्कः—सूर्य; अग्निः—अग्नि; यथा—जिस तरह; सोमः—चन्द्रमा; यथा—जिस तरह; ऋक्ष—आकाश; ग्रह—प्रभावशाली लोक; तारकाः—तारे।

भगवान् द्वारा अपने निजी तेज (ब्रह्मज्योति) से की गई सृष्टि के बाद मैं उसी तरह सृजन करता हूँ जिस तरह कि सूर्य द्वारा अग्नि प्रकट होने के बाद चन्द्रमा, आकाश, प्रभावशाली ग्रह तथा टिमटिमाते तारे भी अपनी चमक प्रकट करते हैं।

तात्पर्य : ब्रह्माजी ने नारद से यह कहा कि उनका अनुमान कि ब्रह्मा सृष्टि में परम प्रमाण नहीं है, ठीक ही था। कभी-कभी अल्पज्ञानी पुरुषों की ऐसी धारणा बनती है कि ब्रह्मा ही सभी कारणों के कारण हैं। लेकिन नारद इस बात को ब्रह्माण्ड के परम प्रमाण ब्रह्माजी के कथनों से स्पष्ट कर लेना चाहते थे। जिस प्रकार राज्य के सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय अन्तिम होता है, उसी तरह ब्रह्माजी का निर्णय ज्ञान प्राप्त करने की वैदिक विधि के अनुसार अन्तिम था। जैसाकि हम पिछले श्लोक में पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं, नारद जी मुक्तात्मा थे। अतएव वे कोई ऐसे अल्पज्ञ व्यक्ति न थे, जो झूठे देवता या देवताओं को मनमाने ढंग से स्वीकार कर लेते। वे अपने को अल्पज्ञ के रूप में प्रस्तुत कर रहे थे, किन्तु बुद्धिमानी के साथ संदेह को समक्ष रख रहे थे जिसका स्पष्टीकरण परम प्रमाण द्वारा हो जिससे अज्ञानी लोग इसको समझ सकें और सृष्टि तथा स्रष्टा की जटिलताओं के विषय में सही-सही जानकारी प्राप्त कर लें।

इस श्लोक में ब्रह्माजी अल्पज्ञों की गलत धारणा को स्पष्ट कर देते हैं और पुष्टि करते हैं कि वे विश्व की विविधता का सृजन भगवान् श्रीकृष्ण के प्रकाशमान तेज द्वारा उत्पन्न सृष्टि के बाद करते हैं। ब्रह्माजी ने अलग से भी यही बात *ब्रह्म संहिता* (५.४०) में इस प्रकार कही है—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-

कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्।

तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की सेवा करता हूँ, जिनका दिव्य शारीरिक तेज जो ब्रह्मज्योति के नाम से प्रसिद्ध है, जो असीम, अगाध तथा सर्वव्यापी हैं और जो उन असंख्य लोकों आदि की सृष्टि के कारण हैं, जिनमें नाना प्रकार की जलवायु तथा जीवन की दशाएँ हैं।''

यही वक्तव्य *भगवद्गीता* (१४.२७) में पाया जाता है। भगवान् कृष्ण ही ब्रह्मज्योति के आधार हैं (*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*)। *निरुक्ति* अर्थात् वैदिक कोश में प्रतिष्ठा का उल्लेख 'जो स्थापित करता है' के रूप में हुआ है। इस तरह ब्रह्मज्योति स्वतन्त्र या आत्म-निर्भर नहीं है। भगवान् कृष्ण ही अन्ततोगत्वा ब्रह्मज्योति के स्रष्टा हैं, जिसे इस श्लोक में स्व-रोचिषा या भगवान् के दिव्य शरीर का तेज कहा गया है। यह ब्रह्मज्योति सर्वव्यापी है और इसकी निहित शक्ति से सारी सृष्टि सम्भव होती है। अतएव वैदिक स्तोत्र घोषित करते हैं कि जितनी वस्तुओं का अस्तित्व है, वे ब्रह्मज्योति द्वारा धारित हैं (*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*)। इस प्रकार सारी सृष्टि का बीज ब्रह्मज्योति है और यही असीम तथा अगाध ब्रह्मज्योति भगवान् द्वारा स्थापित की जाती है। अतएव भगवान् (श्रीकृष्ण) ही सारी सृष्टि के परम कारण हैं (*अहं सर्वस्य प्रभवः*)।

हमें यह अपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि भगवान् लुहार की तरह हथौड़े तथा अन्य औजारों से सृजन करते होंगे। वे तो अपनी शक्तियों से सृजन-कार्य करते हैं। उनकी बहुगुणित शक्तियाँ हैं (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*)। जिस प्रकार एक छोटे से वट-बीज में विशाल वट-वृक्ष उत्पन्न करने की क्षमता रहती है, उसी प्रकार भगवान् अपनी ब्रह्मज्योति (स्व-रोचिषा) से सभी प्रकार के बीजों को फैलाते हैं

और ये बीज ब्रह्मा जैसे व्यक्तियों द्वारा सींचे जाने पर विकसित होते हैं। ब्रह्मा बीजों को उत्पन्न नहीं कर सकते, किन्तु वे बीज को वृक्ष के रूप में दिखला सकते हैं जिस प्रकार माली जल से सींच-सींच कर पौधों को तथा अमराइयों को बड़ा बनाता है। यहाँ पर दिया गया सूर्य का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। भौतिक जगत में सूर्य ही समस्त प्रकाश का यथा अग्नि, बिजली, चन्द्रमा की किरणों का कारण है। आकाश के सारे ज्योतिष्क सूर्य की सृष्टियाँ हैं, सूर्य ब्रह्मज्योति की सृष्टि है और ब्रह्मज्योति भगवान् का तेज है। इस प्रकार सृष्टि के अनन्तिम कारण भगवान् हैं।

तस्मै नमो भगवते वासुदेवाय धीमहि ।
यन्मायया दुर्जयया मां वदन्ति जगद्‌गुरुम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उस; नमः—नमस्कार करता हूँ; भगवते—भगवान् को; वासुदेवाय—भगवान् कृष्ण को; धीमहि—उनका ध्यान करता हूँ; यत्—जिस; मायया—शक्ति के द्वारा; दुर्जयया—दुर्जय; माम्—मुझको; वदन्ति—कहते हैं; जगत्—जगत; गुरुम्—स्वामी।

मैं उन भगवान् कृष्ण (वासुदेव) को नमस्कार करता हूँ तथा उनका ध्यान करता हूँ, जिनकी दुर्जय शक्ति उन्हें (अल्पज्ञ मनुष्यों को) इस तरह प्रभावित करती है कि वे मुझे ही परम नियन्ता कहते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि अगले श्लोक में अधिक स्पष्ट रूप से बतलाया जायेगा, अल्पज्ञ को भगवान् की शक्ति इस तरह मोहित करती है कि वह ब्रह्माजी को या अन्य किसी व्यक्ति को परमेश्वर मान बैठता है। किन्तु ब्रह्माजी को ऐसा कहलाना पसन्द नहीं है। वे भगवान् वासुदेव या श्रीकृष्ण को उसी तरह सादर नमस्कार करते हैं जिस तरह उन्होंने *ब्रह्म-संहिता* (५.१) में उनका अभिवादन किया है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणं॥

"परमेश्वर तो भगवान् श्रीकृष्ण हैं, जो अपने दिव्य शरीर से आदि भगवान् हैं और समस्त कारणों के परम कारण हैं। मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ।"

ब्रह्माजी अपनी असली स्थिति से अवगत हैं और वे जानते हैं कि किस तरह अल्पज्ञानी व्यक्ति

भगवान् की भ्रामक शक्ति द्वारा मोहित होकर हर एक को ईश्वर मान लेते हैं। ब्रह्माजी जैसे उत्तरदायी पुरुष अपने शिष्यों या आश्रितों से परमेश्वर कहलाना पसन्द नहीं करते, लेकिन मूर्ख व्यक्ति कुत्तों, शूकरों, ऊँटों तथा घोड़ों जैसे पुरुषों से प्रशंसित होने एवं परमेश्वर के रूप में सम्बोधित किये जाने पर अत्यन्त प्रफुल्लित होते हैं। ऐसे लोग ईश्वर कहलाने या मूर्ख प्रशंसकों द्वारा ईश्वर कहकर पुकारे जाने पर क्यों पुलकित होते हैं इसकी व्याख्या अगले श्लोक में दी गई है।

विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षा-पथेऽमुया ।
विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

विलज्जमानया—लज्जित व्यक्ति द्वारा; यस्य—जिसका; स्थातुम्—ठहरने के लिए; ईक्षा-पथे—समक्ष; अमुया—भ्रामिका शक्ति द्वारा; विमोहिताः—जो मोहित हैं; विकत्थन्ते—प्रलाप करते हैं; मम—यह मेरा है; अहम्—मैं ही सब कुछ हूँ; इति—इस तरह भला-बुरा कहकर; दुर्धियः—इस प्रकार बुरा सोचा गया।

भगवान् की भ्रामिका शक्ति (माया) अपनी स्थिति से लज्जित होने के कारण सामने ठहर नहीं पाती, लेकिन जो लोग इसके द्वारा मोहित होते हैं, वे ''यह मैं हूँ'' और ''यह मेरा है'' के विचारों में लीन रहने के कारण व्यर्थ की बातें करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् की दुर्जेय शक्तिशाली छलिनी शक्ति या तीसरी शक्ति, जो अज्ञान का प्रतिनिधित्व करती है, सम्पूर्ण जगत को मोहित कर सकती है, तो भी वह इतनी प्रबल नहीं होती कि परमेश्वर के समक्ष ठहर सके। अविद्या तो भगवान् के पीछे रहकर वहीं से जीवों को गुमराह करती है। मोहग्रस्त जीव का मुख्य लक्षण है कि वह व्यर्थ की बकवास करता है। यह वैदिक साहित्य के सिद्धान्तों से समर्थित नहीं रहती और सबसे अधिक निकृष्ट बकवास है—''यह मैं हूँ, यह मेरा है।'' ईशविहीन सभ्यता ऐसे झूठे विचारों पर ही चलती है और ऐसे व्यक्ति ईश्वर की वास्तविक अनुभूति के बिना ही मिथ्या ईश्वर को मानते हैं या उन लोगों को, जो पहले से ठगिनी शक्ति द्वारा मोहग्रस्त होते हैं, गुमराह करने के लिए अपने को ही ईश्वर घोषित कर देते हैं। किन्तु जो भगवान् के समक्ष रहते हैं तथा जो उनकी शरण ग्रहण किये रहते हैं, वे ठगिनी शक्ति द्वारा प्रभावित नहीं होते। अतएव वे इस भ्रान्त धारणा से कि, ''यह मैं हूँ, यह मेरा है'' मुक्त रहते हैं। इस तरह वे न तो मिथ्या ईश्वर को स्वीकार करते हैं, न अपने को परमेश्वर के तुल्य कहते हैं। इस श्लोक में मोहग्रस्त व्यक्ति की पहचान स्पष्ट रुप से की गई

है।

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च ।
वासुदेवात्परो ब्रह्मन्न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः ॥ १४॥

शब्दार्थ

द्रव्यम्—अवयव (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश); कर्म—अन्योन्य क्रियाएँ; च—तथा; कालः—शाश्वत काल; च—भी; स्व-भावः—स्वभाव; जीवः—जीव; एव—निश्चय ही; च—तथा; वासुदेवात्—वासुदेव से; परः—भिन्न अंश; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; न—कभी नहीं; च—भी; अन्यः—पृथक्; अर्थः—महत्त्व; अस्ति—है; तत्त्वतः—वास्तव में।

सृष्टि के पाँच मूल अवयव शाश्वत काल द्वारा उनसे उत्पन्न अन्योन्य क्रिया तथा जीव का स्वभाव—ये सब भगवान् वासुदेव के भिन्नांश हैं और सच बात तो यह है कि उनका कोई अन्य महत्व नहीं है।

तात्पर्य : यह व्यवहार-जगत निर्विशेषतया वासुदेव की अभिव्यक्ति है, क्योंकि इसके सृजनकारी अवयव, उनकी अन्योन्य क्रिया तथा फल का भोक्ता जीव—ये सभी भगवान् कृष्ण की बहिरंगा तथा अन्तरंगा शक्तियों द्वारा उत्पन्न हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.४-५) में हुई है। सारे अवयव यथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश एवं इन्हीं के साथ भौतिक पहचान की अवधारणा, बुद्धि तथा मन भगवान् की बहिरंगा शक्ति से उत्पन्न हैं। शाश्वत काल द्वारा निर्धारित इन स्थूल तथा सूक्ष्म अवयवों का भोग करनेवाला जीव अन्तरंगा शक्ति की उपज है, जिसे इस जगत में या वैकुण्ठ लोक में रहने की छूट है। भौतिक जगत में जीव ठगिनी अविद्या से छला जाता है, किन्तु वैकुण्ठ लोक में वह किसी भ्रम के बिना सामान्य अवस्था में रहता है। जीव को भगवान् की तटस्था शक्ति कहा जाता है, लेकिन सभी परिस्थितियों में न तो भौतिक अवयव और न आध्यात्मिक भिन्नांश ही भगवान् वासुदेव से स्वतन्त्र हैं, क्योंकि सारी वस्तुएँ, चाहे वे भगवान् की बहिरंगा, अन्तरंगा या तटस्था शक्तियों के प्रतिफल हों, उसी तरह भगवान् के तेज के प्रदर्शन हैं जिस प्रकार प्रकाश, उष्मा तथा धुआँ एक ही अग्नि के प्रदर्शन हैं। इनमें से कोई अग्नि से भिन्न नहीं—सभी मिलकर अग्नि कहलाते हैं। इसी प्रकार सारी व्यावहारिक अभिव्यक्तियाँ तथा वासुदेव के शरीर का तेज उनके निर्विशेष गुण हैं, जबकि भगवान् उपर्युक्त भौतिक अवयवों की अवधारणाओं से सर्वथा पृथक् *सच्चिदानन्द विग्रह* नामक अपने दिव्य रूप में रहते हैं।

नारायण-परा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः ।
नारायण-परा लोका नारायण-परा मखाः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

नारायण—परमेश्वर; पराः—कारण-स्वरूप तथा उसी के निमित्त; वेदाः—ज्ञान; देवाः—देवता; नारायण—परमेश्वर के; अङ्ग-जाः—सहायक; नारायण—भगवान्; पराः—के लिए; लोकाः—सारे लोक; नारायण—परमेश्वर; पराः—उन्हें प्रसन्न करने के लिए; मखाः—सारे यज्ञ।

सारे वैदिक ग्रंथ परमेश्वर से ही बने हैं और उन्हीं के निमित्त हैं। देवता भी भगवान् के शरीर के अंगों के रूप में उन्हीं की सेवा के लिए हैं। विभिन्न लोक भी भगवान् के निमित्त हैं और विभिन्न यज्ञ उन्हीं को प्रसन्न करने के लिए सम्पन्न किये जाते हैं।

तात्पर्य : *वेदान्त सूत्र* (*शास्त्रयोनित्वात्*) के अनुसार परमेश्वर समस्त शास्त्रों के रचयिता हैं और सारे शास्त्र इन्हीं परमेश्वर को जानने के लिए हैं। वेद का अर्थ है भगवान्-विषयक ज्ञान। वेदों की रचना बद्धजीव की विस्मृत चेतना को जागृत करने के लिए हुई और ऐसा साहित्य जो ईश-चेतना को जागृत करनेवाला नहीं होता, वह *नारायणपर* भक्तों द्वारा त्याज्य है। जिन ग्रंथों का लक्ष्य नारायण नहीं होता, ऐसे भ्रामक ग्रंथ ज्ञान नहीं हैं अपितु उन कौवों के क्रीड़ास्थल हैं, जो विश्व भर का जूठन खाने में रुचि रखते हैं। ज्ञान (विज्ञान या कला) के किसी भी ग्रंथ से नारायण का ज्ञान होना चाहिए, अन्यथा वह त्यागने योग्य है। ज्ञान की प्रगति का यही साधन है। परम पूज्य विग्रह नारायण हैं। पूजन के लिए देवताओं को नारायण से गौण स्थान प्रदान किया जाता है, क्योंकि देवता तो विश्व के कार्यों की व्यवस्था में सहायक होते हैं। जिस तरह किसी राज्य के अधिकारियों का आदर इसीलिए होता है क्योंकि राजा से उनका सम्बन्ध होता है, उसी तरह देवताओं की पूजा भगवान् के साथ उनके सम्बन्ध के कारण होती है। भगवान् से सम्बन्ध न होने पर देवाताओं की पूजा अनुचित है (*अविधिपूर्वकम्*), ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि जड़ को न सींच कर वृक्ष की पत्तियों तथा टहनियों को सींचना। अतएव सारे देवता भी नारायण पर आश्रित रहते हैं। विभिन्न लोक इसलिए आकर्षक लगते हैं, क्योंकि उनमें तरह-तरह का जीवन है तथा आनन्द है, जो *सच्चिदानन्द विग्रह* की आंशिक अभिव्यक्ति है। प्रत्येक व्यक्ति शाश्वत आनन्द तथा ज्ञानमय जीवन चाहता है। भौतिक जगत में ऐसा आनन्द तथा ज्ञानमय शाश्वत जीवन उच्चतर लोकों में ही सम्भव है, लेकिन वहाँ तक पहुँचने पर वह भगवद्धाम जाने के लिये उन्मुख हो सकता है। जीवन की अवधि (आयु) भी आनन्द तथा ज्ञान की मात्रा के अनुपात में, एक

लोक से दूसरे लोक में, अधिक हो सकती है। विभिन्न लोकों में जीव की आयु हजारों–लाखों साल तक बढ़ सकती है, किन्तु कहीं भी शाश्वत जीवन नहीं है। किन्तु जो व्यक्ति सर्वोच्च लोक अर्थात् ब्रह्मलोक तक पहुँच जाता है, वह वैकुण्ठ लोक जाने की कामना कर सकता है, जहाँ जीवन शाश्वत है। अतएव एक लोक से दूसरे लोक की यात्रा का अन्त भगवान् के परम लोक (*मद्धाम*) पहुँचने पर हो जाता है, जहाँ जीवन शाश्वत है और ज्ञान तथा आनन्द से पूर्ण है। जितने सारे यज्ञ किये जाते हैं, वे भगवान् नारायण को प्रसन्न करके उन तक पहुँचने के लिए होते हैं और इस कलियुग के लिए जिस सर्वश्रेष्ठ यज्ञ की संस्तुति की जाती है, वह *संकीर्तन यज्ञ* है, जो नारायण–पर भक्त की भक्तिमय सेवा का मूलाधार है।

नारायण-परो योगो नारायण-परं तपः ।
नारायण-परं ज्ञानं नारायण-परा गतिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

नारायण-परः—नारायण को जानने के लिए; योगः—मन की एकाग्रता; नारायण-परम्—नारायण को प्राप्त करने के उद्देश्य से; तपः—तपस्या; नारायण-परम्—नारायण की झलक पाने के लिए; ज्ञानम्—दिव्य ज्ञान की संस्कृति; नारायण-परा—नारायण के धाम में प्रवेश करते ही मोक्ष का पथ समाप्त हो जाता है; गतिः—उत्तरोत्तर पथ।

सभी प्रकार के ध्यान या योग नारायण की अनुभूति प्राप्त करने के लिए हैं। सारी तपस्याओं का लक्ष्य नारायण को प्राप्त करने के निमित्त है। दिव्य ज्ञान का संवर्धन नारायण की झलक प्राप्त करने के लिए है और चरम मोक्ष तो नारायण के धाम में प्रवेश करने के लिए ही है।

तात्पर्य : ध्यान योग की दो पद्धतियाँ है—*अष्टांग योग* तथा *सांख्य योग*। *अष्टांग योग* मन को एकाग्र करने का अभ्यास है, जिसमें ध्यान, धारण, आसन, प्राणायाम आदि की विधियों से अपने को समस्त व्यस्तताओं से मुक्त कर लिया जाता है। *सांख्य योग* क्षणिक और सत्य का अन्तर बताने वाला है। लेकिन दोनों ही पद्धतियाँ अन्ततोगत्वा निर्विशेष ब्रह्म की अनुभूति के लिए हैं, जो भगवान् नारायण की आंशिक अभिव्यक्ति है। जैसाकि हम पहले कह चुके हैं निर्विशेष ब्रह्मतेज भगवान् का अंशमात्र है। निर्विशेष ब्रह्म साक्षात् भगवान् पर स्थित है, फलस्वरूप ब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् का महिमा–गायन है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* तथा *मत्स्यपुराण* दोनों से होती है। गति शब्द चरम गन्तव्य या मोक्ष की अन्तिम स्थिति का सूचक है। निर्विशेष *ब्रह्मज्योति* से तादात्म्य चरम मोक्ष नहीं है। इससे तो श्रेष्ठ है अनन्त

वैकुण्ठ लोकों में से किसी एक में भगवान् की भव्य संगति। अतएव निष्कर्ष निकलता है कि नारायण या भगवान् सभी प्रकार की योग-पद्धतियों तथा सभी प्रकार के मोक्ष के चरम लक्ष्य हैं।

तस्यापि द्रष्टुरीशस्य कूट-स्थस्याखिलात्मनः ।
सृज्यं सृजामि सृष्टोऽहमीक्षयैवाभिचोदितः ॥ १७॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अपि—निश्चय ही; द्रष्टुः—देखनेवाले का; ईशस्य—नियन्ता का; कूट-स्थस्य—जो सबों की बुद्धि के ऊपर है, उसका; अखिल-आत्मनः—परमात्मा का; सृज्यम्—पहले से सृष्ट; सृजामि—मैं खोजता हूँ; सृष्टः—सृजित; अहम्—मैं; ईक्षया—झलक मात्र से; एव—सही-सही; अभिचोदितः—उससे प्रेरित होकर।

उनके ही द्वारा प्रेरित होकर मैं भगवान् नारायण द्वारा सर्वव्यापी परमात्मा के रूप में उनकी ही दृष्टि के सामने पहले जो सृजित हो चुका है, उसी की फिर खोज करता हूँ और मैं भी केवल उन्हीं के द्वारा सृजित हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्माजी भी स्वीकार करते हैं कि वे असली स्रष्टा नहीं, अपितु भगवान् नारायण द्वारा प्रेरणा-प्राप्त हैं। अतएव उन्हीं की अध्यक्षता में वे समस्त जीवों के परमात्मास्वरूप उन्हीं के द्वारा पहले से निर्मित वस्तुओं का सृजन करते हैं। परमात्मा तथा आत्मा, इन दो को ब्रह्माण्ड के बड़े-बड़े महापुरुषों तक ने जीव में निहित माना है। परमात्मा तो भगवान् है, जबकि आत्मा भगवान् का नित्य सेवक है। भगवान् आत्मा (जीव) को प्रेरित करते हैं कि उन्होंने जो कुछ पहले सृष्टि की है, वह उसका सृजन करे और भगवत्कृपा से इस संसार में जो कोई किसी भी वस्तु की खोज करता है, वह उसका खोजी मान लिया जाता है। कहा जाता है कि कोलम्बस ने पश्चिमी गोलार्द्ध की खोज की, लेकिन वास्तविकता यह है कि उस भूभाग का सृजन कोलम्बस ने नहीं किया। यह विशाल भूखण्ड परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता के कारण पहले से वहाँ था और कोलम्बस को भगवान् की विगत सेवा के बल पर अमरीका की खोज करने का श्रेय प्राप्त हुआ। इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति भगवान् की इच्छा के विरुद्ध कुछ भी सृजन नहीं कर सकता, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार ही देखता है। यह क्षमता भी मनुष्य द्वारा भगवान् की सेवा करने की रजामन्दी के अनुसार भगवान् द्वारा प्रदान की जाती है। अतएव मनुष्य को स्वेच्छा से भगवान् की सेवा करने के लिए इच्छुक होना चाहिए। इस तरह भगवान् कर्ता को उसी अनुपात में शक्ति प्रदान करते हैं, जिस अनुपात में वह भगवान् के चरणकमलों

में आत्मसमर्पण करता है। ब्रह्माजी भगवान् के महान् भक्त हैं, अतएव भगवान् ने उन्हें शक्ति दी, या यों कहें कि यह प्रेरणा दी कि हमारे समक्ष जैसा विश्व है, वे वैसे ही विश्व की सृष्टि करें। भगवान् ने इसी तरह अर्जुन को कुरुक्षेत्र में युद्ध करने के लिए प्रेरित किया था (*भगवद्गीता* ११.३३)।

तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व

जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।

मयैवैते निहताः पूर्वमेव

निमित्तमात्रम् भव सव्यसाचिन्॥

चाहे कुरुक्षेत्र का युद्ध हो या किसी अन्य स्थान अथवा अन्य समय में लड़ा गया कोई युद्ध हो, वह भगवान् की इच्छा से लड़ा जाता है, क्योंकि भगवान् की मर्जी के बिना कोई इतना बड़ा जन-संहार नहीं कर सकता। दुर्योधन के दल ने कृष्ण की परम भक्त द्रौपदी का अपमान किया और द्रौपदी ने भगवान् से तथा वहाँ पर उपस्थित सारे मूक दर्शकों से इस अनुचित अपमान से बचने के लिए याचना की। तब अर्जुन को भगवान् ने सलाह दी कि वह लड़कर बदला ले अन्यथा दुर्योधन का दल भगवान् की इच्छा से किसी न किसी प्रकार मारा जायेगा। इस तरह अर्जुन को निमित्तमात्र बनने तथा भीष्म एवं कर्ण जैसे महान् सेनापतियों का बध करने का श्रेय लेने के लिए कहा गया।

कठोपनिषद् जैसे वैदिक ग्रंथ में भगवान् को सर्वभूत अन्तरात्मा के रूप में वर्णित किया गया है अर्थात् वे प्रत्येक शरीर के भीतर निवास करनेवाले तथा उनकी शरण में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को निर्देश देनेवाले हैं। जो शरणागत नहीं हैं उन्हें प्रकृति के संरक्षण में रखा जाता है (*भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया*)। इस तरह उन्हें अपने ढंग से कार्य करने दिया जाता है और स्वयं दुष्परिणाम भोगने दिया जाता है। ब्रह्मा तथा अर्जुन जैसे भक्त अपनी ओर से कुछ भी नहीं करते, अपितु पूर्ण शरणागत होने के कारण भगवान् के संकेतों की प्रतीक्षा करते रहते हैं। अतएव वे कुछ ऐसा करने का प्रयास करते हैं, जो सामान्य दृष्टि में अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। भगवान् का एक नाम उरुक्रम है, जिसका अर्थ है, वह जिसके कार्य अत्यन्त अद्‌भुत और जीव की कल्पना से परे होते हैं; अतएव भगवान् के भक्तों के कार्य कभी-कभी अत्यन्त अद्‌भुत प्रतीत होते हैं, क्योंकि उनमें भगवान् का

निर्देशन रहता है। ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च बुद्धिमान जीव ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक सारे जीवों की बुद्धि भगवान् द्वारा सारे कार्यों के साक्षी रूप में देखी जाती है। भगवान् की सूक्ष्म उपस्थिति का अनुभव उस बुद्धिमान व्यक्ति को होता है, जो सोचने, अनुभव करने तथा चाहने के मनोवैज्ञानिक प्रभावों का अध्ययन कर सकता है।

सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः ।
स्थिति-सर्ग-निरोधेषु गृहीता मायया विभोः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतोगुण; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; इति—ये सब; निर्गुणस्य—ब्रह्म के; गुणाः त्रयः—तीन गुण हैं; स्थिति—पालन; सर्ग—उत्पत्ति; निरोधेषु—संहार में; गृहीताः—स्वीकृत; मायया—बहिरंगा शक्ति के द्वारा; विभोः—परमेश्वर की।

परमेश्वर अपने शुद्ध आध्यात्मिक रूप में सारे भौतिक गुणों से परे होते हैं, फिर भी भौतिक जगत की सृष्टि, उसके पालन तथा संहार के लिए वे अपनी बहिरंगा शक्ति के माध्यम से प्रकृति के गुणों को—सतो, रजो तथा तमो गुणों को—स्वीकार करते हैं।

तात्पर्य : परमेश्वर उस बहिरंगा शक्ति के स्वामी हैं, जो सतो, रजो तथा तमो—इन तीन गुणों द्वारा व्यक्त होती है और इस शक्ति के स्वामी होने के कारण वे कभी भी इस मोहक शक्ति से प्रभावित नहीं होते। किन्तु जीव ऐसे गुणों से या तो प्रभावित रहते हैं या उनके प्रभावित होने की सम्भावना बनी रहती है—भगवान् तथा जीव में यही प्रमुख अन्तर है। यद्यपि जीव मूलतः गुणात्मक दृष्टि से भगवान् से एक हैं, किन्तु जीव इन गुणों द्वारा प्रभावित होते रहते हैं। दूसरे शब्दों में, ये भौतिक गुण भगवान् की बहिरंगा शक्ति से उत्पन्न होने के कारण निश्चय ही भगवान् से सम्बन्धित होते हैं, लेकिन यह सम्बन्ध स्वामी तथा दास जैसा होता है। परमेश्वर भौतिक शक्ति के नियामक हैं, किन्तु सारे जीव भौतिक जगत में फँसे होने के कारण न तो स्वामी हैं, न नियामक प्रत्युत वे ऐसी शक्ति द्वारा नियन्त्रित होते हैं या उसके अधीन हो जाते हैं। वास्तव में, भगवान् अपनी अन्तरंगा या आध्यात्मिक शक्ति से उसी प्रकार नित्य प्रकट रहते हैं, जिस तरह स्वच्छ आकाश में सूर्य तथा उसकी किरणें प्रकट होती हैं। लेकिन कभी-कभी वे भौतिक शक्ति उत्पन्न करते हैं, जिस तरह सूर्य निर्मल आकाश में बादल उत्पन्न कर देता है। जिस प्रकार सूर्य बादल के टुकड़े से अप्रभावित रहता है, उसी प्रकार अनन्त भगवान् भौतिक शक्ति

के धब्बे से जो कभी-कभी भगवान् की ब्रह्मज्योति की किरणों के असीम विस्तार में प्रकट हो जाता है, अप्रभावित रहते हैं।

कार्य-कारण-कर्तृत्वे द्रव्य-ज्ञान-क्रियाश्रयाः ।
बध्नन्ति नित्यदा मुक्तं मायिनं पुरुषं गुणाः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

कार्य—प्रभाव, फल; कारण—कारण; कर्तृत्वे—कार्यों में; द्रव्य—पदार्थ; ज्ञान—ज्ञान; क्रिया-आश्रयाः—ऐसे लक्षणों से प्रकट; बध्नन्ति—बद्ध करते हैं; नित्यदा—नित्य; मुक्तम्—दिव्य; मायिनम्—भौतिक शक्ति से प्रभावित; पुरुषम्—जीव को; गुणाः—भौतिक गुण।

भौतिक प्रकृति के ये तीनों गुण आगे चलकर पदार्थ, ज्ञान तथा क्रियाओं के रूप में प्रकट होकर दिव्य जीव को कार्य-कारण के प्रतिबन्धों के अन्तर्गत डाल देते हैं और ऐसे कार्यों के लिए उसे उत्तरदायी बना देते हैं।

तात्पर्य : चूँकि नित्य शाश्वत जीव अन्तरंगा तथा बहिरंगा शक्तियों के मध्य में स्थित हैं, अतएव वे भगवान् की तटस्था शक्ति कहलाते हैं। वास्तव में जीव भौतिक शक्ति द्वारा बद्ध होने के लिए नहीं हैं, लेकिन भौतिक शक्ति पर प्रभुता जताने के मिथ्या भाव के कारण वे ऐसी शक्ति के वशीभूत हो जाते हैं और इस तरह तीनों गुणों द्वारा बँध जाते हैं। भगवान् की यह बहिरंगा शक्ति उस जीव के शुद्ध ज्ञान को प्रच्छन्न कर लेती है, जो शाश्वत रूप से भगवान् के साथ रहनेवाला है। यह आवरण इतना स्थायी होता है कि बद्धजीव नित्य अज्ञानी प्रतीत होता है। माया या बहिरंगा शक्ति का प्रभाव इतना अद्‌भुत होता है मानो यह भूतों से उत्पन्न हुआ हो। भौतिक शक्ति की आवरणात्मक मजबूती के कारण भौतिक-विज्ञानी भौतिक कारणों से परे नहीं देख पाता लेकिन वस्तुतः भौतिक अभिव्यक्तियों के पीछे *अधिभूत, अध्यात्म* तथा *अधिदैव* क्रियाएँ होती हैं, जिन्हें तमोगुणी बद्धजीव नहीं देख पाता। *अधिभूत* अभिव्यक्ति के अन्तर्गत बुढ़ापा तथा रोग समेत जन्म-मृत्यु की पुनरावृत्ति होती है, *अध्यात्म* अभिव्यक्ति में आत्मा बद्ध होती है और *अधिदैव* अभिव्यक्ति नियामक पद्धति है। ये कार्य-कारण तथा बद्ध कर्ताओं में उत्तरदायित्व के भावों की भौतिक अभिव्यक्तियाँ हैं। आखिर कार ये सब बद्ध अवस्था की अभिव्यक्तियाँ हैं और ऐसी बद्ध अवस्था से मनुष्य का स्वतन्त्र होना ही सर्वोच्च सिद्धि है।

स एष भगवाँल्लिङ्गैस्त्रिभिरेतैरधोक्षजः ।
स्वलक्षित-गतिर्ब्रह्मन् सर्वेषां मम चेश्वरः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—यह; भगवान्—भगवान्; लिङ्गैः—लक्षणों से; त्रिभिः—तीन; एतैः—इन सबों से; अधोक्षजः—परम द्रष्टा ब्रह्म; सु-अलक्षित—अदृश्य; गतिः—चाल-फेर; ब्रह्मन्—हे नारद; सर्वेषाम्—हर एक का; मम—मेरा; च—भी; ईश्वरः—नियन्ता।

हे ब्राह्मण नारद, परम द्रष्टा परब्रह्म प्रकृति के उपर्युक्त तीनों गुणों के कारण जीवों की इन्द्रियों की अनुभूति से परे हैं। लेकिन वे मुझ समेत सबों के नियन्ता हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.२४-२५) में भगवान् ने यह स्पष्टतः घोषित किया है कि निर्विशेषवादी जो ब्रह्मज्योति रूप भगवान् की दिव्य किरणों को अधिक महत्त्व देता है तथा यह निष्कर्ष निकालता है कि परम सत्य वास्तव में निर्विशेष है तथा आवश्यकता पड़ने पर अपना रूप प्रकट करता है, ऐसा निर्विशेषवादी सगुणवादी से कम बुद्धिमान होता है, चाहे वह वेदान्त के अध्ययन में कितना ही क्यों न लगा रहे। तथ्य तो यह है कि ऐसा निर्विशेषवादी उपर्युक्त गुणों से आच्छादित रहता है, अतएव वह भगवान् तक पहुँचने में असमर्थ रहता है। भगवान् प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुगम्य नहीं हैं, क्योंकि वे अपनी योगमाया शक्ति से आवृत रहते हैं। लेकिन इससे यह त्रुटिपूर्ण निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि भगवान् मूलतः अव्यक्त थे और अब मनुष्य रूप में प्रकट हुए हैं। भगवान् के रूपविहीन होने की यह भ्रान्त धारणा भगवान् के योगमाया आवरण के कारण है और जब बद्धजीव भगवान् की शरण में जाता है, तो परम इच्छा से ही यह दूर हो सकता है। भगवद्भक्त जो उपर्युक्त तीनों गुणों से परे रहते हैं, भक्तिभाव में अपनी प्रेम दृष्टि से उनके सर्व आनन्दमय दिव्य रूप का दर्शन कर सकते हैं।

कालं कर्म स्वभावं च मायेशो मायया स्वया ।
आत्मन् यदृच्छया प्राप्तं विबुभूषुरुपाददे ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कालम्—नित्य काल; कर्म—जीव का भाग्य; स्वभावम्—प्रकृति; च—भी; माया—शक्ति; ईशः—नियन्ता; मायया—शक्ति से; स्वया—अपनी; आत्मन्—(आत्मनि) अपने को; यदृच्छया—स्वतन्त्रतापूर्वक; प्राप्तम्—तदाकार होकर; विबुभूषुः—भिन्न दिखनेवाले; उपाददे—पुनः सृजित होना स्वीकार किया।

समस्त शक्तियों के नियन्ता भगवान् अपनी ही शक्ति से नित्य काल, समस्त जीवों के भाग्य तथा उनके विशिष्ट स्वभाव की सृष्टि करते हैं और फिर स्वतन्त्र रूप से उन्हें अपने में विलीन कर

लेते हैं।

तात्पर्य : इस भौतिक संसार की सृष्टि, जिसमें परमेश्वर बद्धजीवों को अपने अधीन रखकर कर्म करने देते हैं, हर बार यह प्रलय के बाद बार बार होता रहता है। भौतिक सृष्टि असीम आकाश में बादल के समान है। वास्तविक आकाश तो आध्यात्मिक आकाश है, जो ब्रह्मज्योति की किरणों से निरन्तर पूर्ण रहता है और इस असीम आकाश का एक अंश भौतिक सृष्टिरूपी महत्तत्व के बादल से आच्छादित रहता है, जिसमें भगवान् की बहिरंगा शक्ति के नियन्त्रण में रहकर इच्छानुसार कर्म करने के लिए बद्धजीवों को छोड़ दिया जाता है, जो भगवान् की इच्छा के विरुद्ध अपनी प्रभुता जताना चाहते हैं। जिस प्रकार वर्षा ऋतु हर बार आती है और चली जाती है उसी तरह सृष्टि उत्पन्न होती है और भगवान् के नियन्त्रण में पुन: विलीन हो जाती है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (८.१९) में हुई है। इस तरह भौतिक जगतों की सृष्टि तथा प्रलय भगवान् का नियमित कार्य है, जिसमें बद्धजीवों को इच्छानुसार क्रीड़ा करने और अपना-अपना भाग्य निर्मित करके प्रलय के समय अपनी स्वतन्त्र इच्छाओं के अनुसार पुन: जन्म लेने के लिए छोड़ दिया जाता है। इस तरह सृष्टि एक ऐतिहासिक तिथि से प्रारम्भ होती है (जैसाकि हम अपने अल्प अनुभव से सोचने के आदी हैं)। सृष्टि तथा प्रलय का प्रक्रम *अनादि* है अर्थात् इसकी उत्पत्ति पहले पहल कब हुई, इसका पता नहीं हैं, क्योंकि आंशिक सृष्टि की ही अवधि ८,६४०,०००,००० वर्ष है, लेकिन वैदिक साहित्य में वर्णित सृष्टि का नियम यह है कि वह कुछ-कुछ अन्तरालों में सृजित होती है और भगवान् की इच्छा से पुन: विनष्ट हो जाती है। सारी भौतिक सृष्टि या आध्यात्मिक सृष्टि भी भगवान् की शक्ति की वैसी ही अभिव्यक्ति है जैसे कि अग्नि का प्रकाश तथा उष्मा अग्नि की शक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। अतएव भगवान् शक्ति के ऐसे विस्तार द्वारा ही निर्विशेष रूप में विद्यमान रहते हैं और सम्पूर्ण सृष्टि उनके निर्विशेष स्वरूप पर आश्रित है। तो भी वे अपने को ऐसी सृष्टि से *पूर्णम्* के रूप में पृथक् रखते हैं। अतएव किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि वे अपने निर्विशेष असीम विस्तार के कारण साकार रूप में विद्यमान नहीं होते। उनका निर्विशेष विस्तार उनकी शक्ति की अभिव्यक्ति है और वे अपने असंख्य निर्विशेष विस्तारों के होते हुए भी सदा अपने साकार रूप में रहते हैं (*भगवद्गीता* ९.५-७)। मानवी बुद्धि के लिए यह कल्पना कर

पाना अत्यन्त कठिन है कि किस तरह सारी सृष्टि भगवान् की शक्ति के विस्तार पर टिकी है, लेकिन भगवान् ने *भगवद्गीता* में एक बहुत सुन्दर उदाहरण दे रखा है। उसमें कहा है कि यद्यपि वायु तथा परमाणु आकाश के विशाल विस्तार में टिके हैं, जो प्रत्येक भौतिक वस्तु के लिए विश्राम का आगार है, तो भी यह आकाश पृथक् तथा अप्रभावित रहता है। इसी प्रकार यद्यपि परमेश्वर अपनी शक्ति के विस्तार से उत्पन्न प्रत्येक वस्तु का पालन करते हैं, तो भी वे पृथक् रहते हैं। इसे तो निराकार ब्रह्म के प्रबल समर्थक शंकराचार्य तक ने स्वीकार किया है। वे कहते हैं *नारायण: परोऽव्यक्तात्* अर्थात् नारायण अपनी निर्विशेष सृजनात्मक शक्ति से पृथक् विद्यमान हैं। इस तरह, प्रलय के समय यह सारी सृष्टि नारायण के दिव्य शरीर के भीतर लीन हो जाती है और यह सृष्टि पुन: भाग्य तथा स्वभाव की उन्हीं अपरिवर्तित कोटियों समेत उन्हीं के शरीर से उद्भूत होती है। सारे जीव भगवान् के अंश होने के कारण कभी-कभी *आत्मा* के रूप में वर्णित होते हैं—जो आध्यात्मिक संरचना में एक से है। चूँकि ऐसे जीव भौतिक सृष्टि के प्रति पूरी आसक्ति के साथ आकृष्ट होते रहते हैं, अतएव वे भगवान् से भिन्न होते हैं।

कालाद् गुण-व्यतिकर: परिणाम: स्वभावत: ।
कर्मणो जन्म महत: पुरुषाधिष्ठितादभूत् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

कालात्—नित्यकाल से; गुण-व्यतिकर:—प्रतिक्रिया द्वारा गुणों का रूपान्तर; परिणाम:—रूपान्तर; स्वभावत:—स्वभाव से; कर्मण:—कर्मों से; जन्म—सृष्टि; महत:—महत्तत्व का; पुरुष-अधिष्ठितात्—भगवान् के पुरुष-अवतार के कारण; अभूत्—हुआ।

प्रथम पुरुष के अवतार (कारणार्णवशायी विष्णु) के बाद महत्-तत्त्व अथवा भौतिक सृष्टि के तत्त्व अर्थात् भौतिक सृष्टि के सिद्धान्त घटित होते हैं, तब काल प्रकट होता है और काल-क्रम से तीनों गुण प्रकट होते हैं। प्रकृति का अर्थ है तीन गुणात्मक अभिव्यक्तियाँ, जो कार्यों में रूपान्तरित होती हैं।

तात्पर्य : परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता से सारी भौतिक सृष्टि का विकास रूपान्तरण तथा प्रतिक्रियाओं की क्रमागत विधि से होता है और इसी सर्वशक्तिमत्ता से वे क्रमश: समेट लिए जाते हैं और परमेश्वर के शरीर में संरक्षित रहते हैं। काल प्रकृति का पर्यायवाची है और भौतिक सृष्टि के

सिद्धान्तों का रूपान्तरित स्वरूप है। इस तरह *काल* को सृष्टि का प्रथम कारण माना जा सकता है और प्रकृति के रूपान्तरणों से ही भौतिक जगत के विभिन्न कार्यकलाप दृष्टिगोचर होते हैं। इन कार्यकलापों को ही प्रत्येक जीव या कि जड़ पदार्थों की सहज प्रवृत्ति माना जा सकता है और कार्यकलापों की अभिव्यक्ति के बाद तो उसी के अनुसार नाना प्रकार के फल और प्रतिफल उत्पन्न होते हैं। मूलत: ये सब परमेश्वर के कारण हैं। इसीलिए, *वेदान्त-सूत्र* तथा *भागवत* परम सत्य को समस्त सृष्टियों का मूल मानकर चलते हैं (*जन्माद्यस्य यत:*)।

महतस्तु विकुर्वाणाद्रज:-सत्त्वोपबृंहितात् ।
तम:-प्रधानस्त्वभवद् द्रव्य-ज्ञान-क्रियात्मक: ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

महत:—महत् तत्त्व का; तु—लेकिन; विकुर्वाणात्—रूपान्तरित होकर; रज:—रजोगुण; सत्त्व—सतोगुण; उपबृंहितात्—बढ़ जाने से; तम:—तमोगुण; प्रधान:—प्रमुख होने से; तु—लेकिन; अभवत्—घटित हुआ; द्रव्य—पदार्थ; ज्ञान—भौतिक ज्ञान; क्रिया-आत्मक:—प्रधानत: भौतिक कार्यकलाप।

महत् तत्त्व के विक्षुब्ध होने पर भौतिक क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। सर्वप्रथम सतो तथा रजोगुणों का रूपान्तरण होता है और बाद में तमोगुण के कारण पदार्थ, ज्ञान तथा ज्ञान के विभिन्न कार्यकलाप प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : सभी तरह की भौतिक सृष्टियाँ, न्यूनाधिक रूप में, रजोगुण के विकास से होती हैं। महत् तत्त्व भौतिक सृष्टि का तत्त्व (मूल कारण) है और जब भगवान् की इच्छा से यह विक्षुब्ध होता है, तो सर्वप्रथम रजो तथा सतोगुण प्रकट होते हैं। बाद में विभिन्नप्रकार के भौतिक कार्य-कलापों के द्वारा उत्पन्न रजोगुण मुखर होता है और जीव अधिकाधिक तमोगुण में लिप्त होते जाते हैं। ब्रह्मा रजोगुण के प्रतिनिधि हैं, तो विष्णु सतोगुण के, किन्तु तमोगुण का प्रतिनिधित्व भौतिक कार्य-कलापों के जनक शिवजी द्वारा किया जाता है। भौतिक प्रकृति माता कहलाती है और भौतिक जीवन के प्रवर्तक हैं पिता रूप शिवजी। इसीलिए जीवों द्वारा की गई सारी सृष्टि रजोगुण से प्रसूत है। किसी युग विशेष में, जीवन की अवधि बढ़ने के साथ क्रमिक विकास के कारण विभिन्न गुण कार्यशील होते हैं। कलियुग में (जिसमें तमोगुण प्रधान है) मानवी सभ्यता के विकास के नाम पर विभिन्न प्रकार के भौतिक कार्य-कलाप सम्पन्न होते हैं और जीव अपने असली स्वरूप—आध्यात्मिक स्वरूप—को अधिकाधिक भूलते

जाते हैं। सतोगुण के नाममात्र अनुशीलन से आध्यात्मिक स्वभाव की झलक प्राप्त की जाती है, किन्तु रजोगुण की प्रधानता के कारण सतोगुण मिलावट हो जाती है। अतएव मनुष्य भौतिक गुणों की सीमाओं को लाँघ नहीं पाता, जिससे जीवों के लिए भौतिक गुणों से अतीत रहनेवाले भगवान् का साक्षात्कार कठिन हो जाता है, भले ही ये जीव अनुशीलन की विभिन्न विधियों द्वारा सतोगुण में ही स्थित क्यों न रहें। दूसरे शब्दों में, स्थूल पदार्थ *अधिभूतम्* हैं, उनका पालन अधिदैवम् है और भौतिक कार्यकलापों का शुभारम्भ करनेवाला अध्यात्मम् है। भौतिक जगत में ये तीनों नियम प्रमुख गुणों के रूप में कार्य करते हैं, अर्थात् कच्चा माल, इसकी नियमित पूर्ति तथा मोहग्रस्त जीवों द्वारा इन्द्रिय-भोग के लिए विविध रूपों में इनका उपयोग।

सोऽहङ्कार इति प्रोक्तो विकुर्वन् समभूत्त्रिधा ।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेति यद्भिदा ।
द्रव्य-शक्तिः क्रिया-शक्तिर्ज्ञान-शक्तिरिति प्रभो ॥ २४॥

शब्दार्थ

सः—वही; अहङ्कारः—अहंकार; इति—इस प्रकार; प्रोक्तः—कहा गया; विकुर्वन्—रूपान्तरित होकर; समभूत्—प्रकट हुआ; त्रिधा—तीन रूपों में; वैकारिकः—सतो गुणो में; तैजसः—रजोगुण में; च—तथा; तामसः—तमोगुण में; च—भी; इति—इस प्रकार; यत्—जो है; भिदा—विभक्त; द्रव्य-शक्तिः—पदार्थ को विकसित करनेवाली शक्ति; क्रिया-शक्तिः—सृजन करने की प्रेरणा; ज्ञान-शक्तिः—मार्गदर्शक बुद्धि; इति—इस तरह; प्रभो—हे स्वामी।

इस प्रकार आत्म-केन्द्रित भौतिकतावादी अहंकार तीनों स्वरूपों में रूपान्तरित होकर सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण बन जाता है। ये तीन स्वरूप हैं : पदार्थ को विकसित करने वाली शक्तियाँ, भौतिक सृष्टियों का ज्ञान तथा ऐसी भौतिकतावादी क्रियाओं का मागदर्शन करनेवाली बुद्धि। हे नारद, तुम इसे समझने के लिए पूर्ण सक्षम हो।

तात्पर्य : भौतिकतावादी अहंकार या पदार्थ के साथ पहचान का भाव निपट आत्मकेन्द्रित एवं ईश्वर के अस्तित्व के स्पष्ट ज्ञान से रहित होता है और भौतिकतावादी जीवों का यही आत्म-केन्द्रित अहंकार अन्य वस्तुओं द्वारा उनके बद्ध होने तथा संसार के बन्धन में पड़े रहने का कारण होता है। यह आत्म-केन्द्रित अहंकार *भगवद्गीता* के सप्तम अध्याय में (श्लोक २४ से २७ तक) भलीभाँति समझाया गया है। आत्म-केन्द्रित निर्विशेषवादी भगवान् की स्पष्ट अवधारणा के बिना ही अपने ढंग से यह निष्कर्ष निकालता है कि भगवान् किसी उद्देश्य विशेष से अपने मूल निर्विशेष आध्यात्मिक

अस्तित्व से भौतिक स्वरूप ग्रहण करते हैं। और उसकी भगवान्–सम्बन्धी यह भ्रामक धारणा उसी तरह बनी रहती है, भले ही वह ब्रह्मसूत्र तथा अन्य बौद्धिक ज्ञान जैसे वैदिक साहित्य में रुचि रखता प्रतीत हो। भगवान् के साकार स्वरूप के प्रति यह अज्ञानता विभिन्न गुणों के मिश्रण को न जानने के कारण है। इस प्रकार निर्विशेषवादी भगवान् के सच्चिदानन्द स्वरूप के विषय में धारणा नहीं बना पाते। इसका कारण यह है कि भगवान् यह अधिकार अपने पास सुरक्षित रखते हैं कि वे ऐसे अभक्त के समक्ष प्रकट न हों जो *भगवद्गीता* जैसे ग्रंथ का अध्ययन करने के बाद भी हठ–वश (मूढ़ता से) निर्विशेषवादी बने रहते हैं। यह हठ भगवान् की निजी शक्ति योगमाया के प्रभाव के कारण होता है और हठी निर्विशेषवादी की दृष्टि को आच्छादित करने में सहायक का कार्य करता है। ऐसे मोहग्रस्त व्यक्ति को मूढ़ अर्थात् निपट अज्ञानी कहा जाता है, क्योंकि वह भगवान् के दिव्य रूप को अजन्मा तथा अक्षर समझने में असमर्थ रहता है। यदि भगवान् अपने मूल निर्विशेष स्वरूप से भिन्न कोई स्वरूप या भौतिक आकार ग्रहण करते हैं, तो इसका अर्थ होता है कि वे जन्म लेते हैं और निर्विशेष से साकार रूप में परिवर्तित होते हैं। लेकिन वे परिवर्तनशील नहीं हैं। न ही वे बद्धजीव की भाँति कभी नया जन्म धारण करते हैं। बद्धजीव अपनी भौतिक स्थिति के कारण एक जन्म के बाद दूसरा जन्म ले सकता है, लेकिन आत्म–केन्द्रित निर्विशेषवादी अपनी निरी अज्ञानता वश अहंकार के कारण भगवान् को अपने जैसा मानकर चलते हैं, यद्यपि *वेदान्त* के ज्ञान में वे तथाकथित रूप से बहुत आगे बढ़े होते हैं। प्रत्येक जीव के हृदय में निवास करने के कारण भगवान् ऐसे जीवों की भूत, वर्तमान तथा भविष्य की प्रवृत्तियों से भलीभाँति अवगत रहते हैं, लेकिन मोहग्रस्त बद्धजीव शायद ही उन्हें उनके शाश्वत रूप में जान सके। अतएव निर्विशेषवादी भगवान् के ब्रह्म तथा परमात्मा स्वरूपों को जान लेने के बाद भी उनके नित्य साकार स्वरूप नारायण से, जो समस्त भौतिक सृष्टि से परे है, अनजान रहते हैं।

ऐसी निपट अज्ञानता (मूढ़ता) का कारण भौतिकतावादी व्यक्ति के द्वारा कृत्रिम रूप से बढ़ती हुई भौतिक माँगों में जगे रहना है। भगवान् की अनुभूति प्राप्त करने के लिए मनुष्य को भक्ति द्वारा भौतिकतावादी इन्द्रियों को शुद्ध करना होता है। सतोगुण या वैदिक साहित्य में वर्णित ब्राह्मण संस्कृति ऐसी आध्यात्मिक अनुभूति कराने में सहायक है। इस तरह बद्धजीव की *ज्ञानशक्ति* अवस्था अन्य दो

अवस्थाओं—*द्रव्यशक्ति* तथा *क्रियाशक्ति*—से अच्छी है। समस्त भौतिक संस्कृति पदार्थों के विपुल संग्रह द्वारा या दूसरे शब्दों में, औद्योगिक कार्यों के लिए कच्चे-माल के संग्रह द्वारा व्यक्त होती है और सारे औद्योगिक कार्यकलाप (*क्रियाशक्ति*) आध्यात्मिक जीवन के प्रति निपट अज्ञान के कारण हैं। द्रव्यशक्ति तथा क्रियाशक्ति के सिद्धान्तों पर आधारित भौतिकतावादी सभ्यता की इस महान् विडम्बना को ठीक करने के लिए *भगवद्गीता* (९.२७) में व्यक्त कर्मयोग के सिद्धान्तों के अनुसार भक्तियोग को ग्रहण करना होगा। यथा—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

"हे कुन्तीपुत्र! तुम जो भी करो, जो भी खाओ, जो भी अर्पित करो और दान दो तथा जो भी तपस्याएँ करो, वे सब मुझे भेंट के रूप में की जाँय।"

तामसादपि भूतादेर्विकुर्वाणादभून्नभः ।
तस्य मात्रा गुणः शब्दो लिङ्गं यद् द्रष्टृ-दृश्ययोः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तामसात्—मिथ्या अहंकार के अंधकार से; अपि—निश्चय ही; भूत-आदेः—भौतिक तत्त्वों का; विकुर्वाणात्—रूपान्तरण के कारण; अभूत्—उत्पन्न हुआ; नभः—आकाश; तस्य—उसका; मात्रा—सूक्ष्म रूप; गुणः—गुण; शब्दः—ध्वनि; लिङ्गम्—लक्षण; यत्—जो; द्रष्टृ—द्रष्टा; दृश्ययोः—देखे गये का।

मिथ्या अंहकार के अंधकार से पाँच तत्त्वों में से पहला तत्त्व आकाश उत्पन्न होता है। इसका सूक्ष्म रूप शब्द का गुण है, ठीक उसी प्रकार जिस तरह द्रष्टा का दृश्य से सम्बन्ध होता है।

तात्पर्य : पाँच तत्त्व, जिनके नाम आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी हैं, मिथ्या अहंकार के अंधकार के ही विभिन्न गुण हैं। इसका अर्थ हुआ कि महत् तत्त्व के रूप में मिथ्या अहंकार भगवान् की तटस्था शक्ति से उत्पन्न होता है और भौतिक सृष्टि पर प्रभुता जताने के इस मिथ्या अहंकार के कारण ही जीव के मिथ्या भोग के लिए सारे अवयव उत्पन्न होते हैं। जीव भोक्ता के रूप में भौतिक तत्त्वों के ऊपर प्रधान कारक बना रहता है यद्यपि पृष्ठभूमि में परमेश्वर रहता है। वास्तव में भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई भोक्ता नहीं कहा जा सकता, लेकिन जीव झूठे ही भोक्ता बनना चाहता है। मिथ्या अहंकार का यही मूल है। जब मोहग्रस्त जीव इसकी इच्छा करता है, तो भगवान् की इच्छा से छाया तत्त्व उत्पन्न

होतें हैं और जीवों को उनके पीछे उसी तरह दौड़ने दिया जाता है, जिस तरह मृगमरीचिका के पीछे मृग।

यह कहा गया है कि पहले *ध्वनि* तन्मात्रा उत्पन्न होती है और उसके बाद आकाश तत्त्व निर्माण होता है, और इस श्लोक में पुष्टि की गई है कि वास्तव में ऐसा ही होता है, लेकिन ध्वनि आकाश का सूक्ष्मरूप है और इनमें जो अन्तर है, वह द्रष्टा तथा दृश्य के अन्तर जैसा है। ध्वनि वास्तविक वस्तु का प्रतिरूप है, जिस तरह वस्तु के बारे में बोला हुआ शब्द या ध्वनि उस वस्तु के वर्णन का बोध कराता है। अतएव ध्वनि वस्तु का सूक्ष्म गुण है। इसी प्रकार भगवान् का ध्वनि रूप उनके लक्षणों के सम्बन्ध में भगवान् का पूर्ण रूप है जैसाकि भगवान् कृष्ण तथा भगवान् राम के पिता वसुदेव तथा महाराज दशरथ ने देखा था। भगवान् का ध्वनि रूप साक्षात् भगवान् से अभिन्न है, क्योंकि भगवान् तथा उनका ध्वनि रूप परम ज्ञान हैं। भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने हमें उपदेश दिया है कि भगवान् के पवित्र नाम में, जो भगवान् का ध्वनि रूप है, भगवान् की सारी शक्तियाँ निहित हैं। अतएव भगवान् के पवित्र नाम के ध्वनि रूप के उच्चारण से मनुष्य तुरन्त भगवान् के सान्निध्य का आनन्द उठा सकता है और शुद्ध भक्त को तुरन्त ही भगवान् का स्वरूप प्रकट हो जाता है। अतएव शुद्ध भक्त भगवान् से एक क्षण के लिए भी विलग नहीं होता। अतएव जो भक्त निरन्तर भगवान् के सम्पर्क में रहने की कामना करता है उसे शास्त्रों द्वारा अनुमोदित भगवान् के पवित्र नाम—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का कीर्तन करना चाहिए। जो इस प्रकार भगवान् का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है, वह निश्चित रूप से मिथ्या अहंकार से उत्पन्न जगत के अंधकार से उबर आता है (*तमसो मा ज्योतिर्गमय*)।

नभसोऽथ विकुर्वाणादभूत् स्पर्श-गुणोऽनिलः ।
परान्वयाच्छब्दवांश्च प्राण ओजः सहो बलम् ॥ २६ ॥
वायोरपि विकुर्वाणात् काल-कर्म-स्वभावतः ।
उदपद्यत तेजो वै रूपवत् स्पर्श-शब्दवत् ॥ २७ ॥
तेजसस्तु विकुर्वाणादासीदम्भो रसात्मकम् ।
रूपवत् स्पर्शवच्चाम्भो घोषवच्च परान्वयात् ॥ २८ ॥

विशेषस्तु विकुर्वाणादम्भसो गन्धवानभूत् ।
परान्वयाद् रस-स्पर्श-शब्द-रूप-गुणान्वितः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

नभसः—आकाश का; अथ—इस प्रकार; विकुर्वाणात्—रूपान्तरित होकर; अभूत्—उत्पन्न हुआ; स्पर्श—स्पर्श; गुणः—गुण; अनिलः—वायु; पर—पूर्ववर्ती, पिछली; अन्वयात्—परम्परा से; शब्दवान्—ध्वनि से पूर्ण; च—भी; प्राणः—प्राण, जीवन; ओजः—इन्द्रिय बोध; सहः—मोटा; बलम्—बल; वायोः—वायु के; अपि—भी; विकुर्वाणात्—रूपान्तरण से; काल—समय; कर्म—पिछले कर्म; स्वभावतः—स्वभाव के अनुसार; उदपद्यत—उत्पन्न हुआ; तेजः—अग्नि; वै—ठीक से; रूपवत्—रूप के साथ; स्पर्श—स्पर्श; शब्दवत्—शब्द के साथ भी; तेजसः—अग्नि का; तु—लेकिन; विकुर्वाणात्—रूपान्तरित होकर; आसीत्—ऐसा हुआ; अम्भः—जल; रस-आत्मकम्—रस से निर्मित; रूपवत्—रूप के साथ; स्पर्शवत्—स्पर्श के साथ; च—तथा; अम्भः—जल; घोषवत्—ध्वनि के साथ; च—तथा; पर—पूर्व; अन्वयात्—परम्परा से; विशेषः—नानारूपता; तु—लेकिन; विकुर्वाणात्—रूपान्तरण से; अम्भसः—जल का; गन्धवान्—सुगन्धित; अभूत्—हो गया; पर—पूर्व; अन्वयात्—परम्परा से; रस—रस; स्पर्श—स्पर्श; शब्द—ध्वनि; रूप-गुण-अन्वितः—गुणात्मक रूप से।.

चूँकि आकाश रूपान्तरित होता है, अतएव स्पर्शगुण से युक्त वायु उत्पन्न होती है और पूर्व परम्परा के अनुसार वायु शब्द तथा आयु के मूलभूत तत्त्वों अर्थात् स्पर्श, मानसिक-शक्ति तथा शारीरिक बल से भी पूर्ण होती है। काल तथा प्रकृति के साथ ही जब वायु रूपान्तरित होती है, तो अग्नि उत्पन्न होती है और यह स्पर्श तथा ध्वनि का रूप धारण करती है। चूँकि अग्नि भी रूपान्तरित होती है, अतएव जल प्रकट होता है, जो रस तथा स्वाद से पूरित होता है। परम्परानुसार यह भी रूप, स्पर्श तथा शब्द से परिपूर्ण होता है। और जब यही जल अपनी नानारूपता समेत पृथ्वी में रूपान्तरित होता है, तब वह सुगन्धिमय प्रतीत होता है और परम्परानुसार यह रस, स्पर्श, शब्द तथा रूप के गुणों से पूरित हो उठता है।

तात्पर्य : सम्पूर्ण सृष्टि का प्रक्रम क्रमिक विकास कार्य है तथा एक तत्त्व से दूसरे तत्त्व का विकास है, जिससे पृथ्वी में नानारूपता प्राप्त होती है, जिसमें इतने सारे वृक्ष, पौधे, पर्वत, नदियाँ, सरीसृप, पक्षी, पशु तथा तरह-तरह के मनुष्य मिलते हैं। इन्द्रिय-अनुभूति का गुण भी विकासमान है अर्थात् यह शब्द से उत्पन्न होता है फिर स्पर्श और स्पर्श से रूप बनता है। आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी के क्रमिक विकास के साथ-साथ स्वाद तथा गन्ध भी उत्पन्न होते हैं। वे एक दूसरे के पारस्परिक कारण तथा कार्य होते हैं, किन्तु मूल कारण तो अंशरूप में साक्षात् भगवान् होते हैं, जो महत् तत्त्व के कारण-जलशायी महाविष्णु हैं। इसीलिए *ब्रह्म-संहिता* में भगवान् कृष्ण को समस्त कारणों का कारण बताया गया है और *भगवद्गीता* (१०.८) में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है :

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

इन्द्रिय अनुभूति के सारे गुण पृथ्वी में पूरी तरह से आते हैं और वे ही, कुछ कम हद तक, अन्य तत्त्वों में प्रकट होते हैं। आकाश में केवल शब्द होता है, किन्तु वायु में शब्द तथा स्पर्श दोनों होते हैं। अग्नि में ध्वनि, स्पर्श तथा आकार होते हैं तथा जल में अन्य अनुभूतियों यथा ध्वनि, स्पर्श तथा आकार के अतिरिक्त स्वाद भी होता है। किन्तु पृथ्वी में उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त गन्ध का भी अतिरिक्त विकास होता है। अतएव पृथ्वी पर जीवन की विविधता का पूर्ण प्रदर्शन होता है, उस जीवन का जो मूलतः वायु को मूल तत्त्व मानकर प्रारम्भ होता है। शारीरिक रोग जीवों के भौतिक शरीर के भीतर वायु में विकार आ जाने से होते हैं, मानसिक रोग शरीर के भीतर वायु के विशेष कुपित होने से होता है अतएव योगिक व्यायाम वायु को ठीक से रखने में विशेष लाभप्रद होते हैं और ऐसे व्यायामों से शरीर के रोग प्रायः न के बराबर हो जाते हैं। योगासनों को ठीक से करने पर आयु भी बढ़ती है और ऐसे अभ्यासों से मृत्यु को भी वश में किया जा सकता है। एक पूर्णयोगी मृत्यु पर भी वर्चस्व रख सकता है और ठीक समय पर शरीर को त्याग सकता है किन्तु तभी जब वह अपने को उपयुक्त लोक तक ले जाने में सक्षम होता है। किन्तु भक्तियोगी समस्त योगियों से बढ़कर होता है क्योंकि वह अपनी भक्तिमय सेवा से भौतिक आकाश से परे वाले लोक को भेज दिया जाता है और सबों के नियन्ता भगवान् की परम इच्छा से उसे वैकुण्ठ के किसी भी लोक में रखा जाता है।

वैकारिकान्मनो जज्ञे देवा वैकारिका दश ।
दिग्वातार्क-प्रचेतोऽश्वि-वह्नीन्द्रोपेन्द्र-मित्र-काः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

वैकारिकात्—सतोगुण से; मनः—मन; जज्ञे—उत्पन्न किया; देवाः—देवता; वैकारिकाः—सतोगुण में; दश—दस; दिक्—दिशाओं का अधिष्ठाता; वात—वायु का अधिष्ठाता; अर्क—सूर्य; प्रचेतः—वरुण; अश्वि—अश्विनीकुमार; वह्नि—अग्निदेव; इन्द्र—स्वर्ग का राजा; उपेन्द्र—स्वर्ग का देव (श्री विग्रह); मित्र—बारह आदित्यों में से एक; काः—प्रजापति ब्रह्मा।

सतोगुण से मन उत्पन्न होकर व्यक्त होता है, साथ ही शारीरिक गतियों के नियन्त्रक दस देवता भी प्रकट होते हैं। ऐसे देवता दिशाओं के नियन्त्रक, वायु के नियन्त्रक, सूर्यदेव, दक्ष प्रजापति के पिता, अश्विनीकुमार, अग्निदेव, स्वर्ग का राजा (इन्द्र), स्वर्ग के पूजनीय अर्चाविग्रह, आदित्यों के प्रमुख तथा प्रजापति ब्रह्माजी कहलाते हैं। सभी इस तरह अस्तित्व में

आते हैं।

तात्पर्य : *वैकारिक* सृष्टि की उदासीन अवस्था है और *तेजस* सृष्टि का शुभारम्भ है, जबकि तमस अज्ञान के अन्तर्गत इस भौतिक सृष्टि का पूर्ण प्रदर्शन है। फैक्टरियों तथा कार्यशालाओं में 'जीवन की आवश्यकताओं' का निर्माण ही कलियुग में सर्वाधिक प्रमुख है और यही निर्माण अज्ञान की सर्वोच्च अवस्था है। मानव समाज द्वारा ऐसे निर्माणकारी उद्योग तमोगुण में सम्पन्न होते हैं, क्योंकि वास्तव में निर्मित सामग्रियों की कोई आवश्यकता नहीं होती। मानव समाज को मूलत: अपने भरण-पोषण के लिए भोजन की आवश्यकता होती है, सोने के लिए आश्रय, रक्षा के लिए संरक्षण तथा इन्द्रियतृप्ति के लिए वस्तओं की चाहत होती है। इन्द्रियाँ जीवन के व्यावहारिक चिह्न हैं, जैसाकि अगले श्लोक में बताया जायेगा। मानवीय सभ्यता इन्द्रियों की शुद्धि के लिए है और इन्द्रियतृप्ति के विषयों की पूर्ति केवल आवश्यकता के अनुसार होनी चाहिए, न कि कृत्रिम ऐन्द्रिय आवश्यकताओं को भड़काने के लिए। भोजन, आश्रय, सुरक्षा तथा इन्द्रियतृप्ति—ये भौतिक जीवन की आवश्यकताएँ हैं। अन्यथा अपने शुद्ध मूल जीवन की संदुषण रहित अवस्था में जीव को इनकी आवश्यकताएँ नहीं होतीं। अतएव आवश्यकताएँ कृत्रिम होती हैं और जीवन की विशुद्ध अवस्था में ऐसी आवश्यकताएँ नहीं उठतीं। इस तरह कृत्रिम आवश्यकताएँ बढ़ाना जैसाकि भौतिक सभ्यता का मानक बन गया है या मानव-समाज का आर्थिक विकास करना एक प्रकार से ज्ञान के बिना अन्धकार में हाथ चलाना है। ऐसी व्यस्तता से मनुष्य की शक्ति नष्ट होती है, क्योंकि मानवीय शक्ति इन्द्रियों को शुद्ध करने के लिए है, जिससे उन्हें भगवान् की इन्द्रियों को तुष्ट करने में लगाया जा सके। परमेश्वर समस्त इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश हैं, क्योंकि वे आध्यात्मिक इन्द्रियों के अधिकारी हैं। हृषीक का अर्थ है इन्द्रियाँ तथा ईश का अर्थ है स्वामी। भगवान् इन्द्रियों के दास नहीं हैं दूसरे शब्दों में, वे इन्द्रियों के निर्देश पर नहीं चलते। हाँ, बद्धजीव या जीव विशेष इन्द्रियों के दास होते हैं। वे इन्द्रियों के इशारों पर चलते हैं, इसीलिए यह भौतिक सभ्यता एक प्रकार से इन्द्रियतृप्ति की व्यस्तता मात्र है। मानव सभ्यता का मापदण्ड इन्द्रियतृप्ति रूपी रोग का उपचार होना चाहिए और यदि कोई भगवान् की आध्यात्मिक इन्द्रियों के तुष्ट करने का निमित्त मात्र बन जाये तो ऐसा कर सकता है। इन्द्रियों को कभी उनके व्यापारों से रोकना नहीं चाहिए

अपितु उन्हें इन्द्रियों के स्वामी (हृषीकेश) की इन्द्रियतृप्ति की शुद्ध सेवा में लगाकर उन्हें पवित्र बनाना चाहिए। सम्पूर्ण *भगवद्गीता* का यही उपदेश है। अर्जुन अपने सगे-सम्बन्धियों के साथ युद्ध न करने का निर्णय करके अपनी इन्द्रियों की तुष्टि करना चाह रहा था, लेकिन भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे *भगवद्गीता* की शिक्षा दी जिससे वह इन्द्रियतृप्ति सम्बन्धी अपने निर्णय को पवित्र कर सके। अतएव अर्जुन ने भगवान् की इन्द्रियों को तुष्ट करना स्वीकार किया और भगवान् की इच्छानुसार उसने कुरुक्षेत्र के युद्ध में भाग लिया।

वेद हमें अंधकार की स्थिति से निकलकर प्रकाश के मार्ग पर अग्रसर होने का आदेश देते हैं (*तमसि मा ज्योतिर्गम*), अतएव प्रकाश का मार्ग भगवान् की इन्द्रियों की तुष्टि के लिए है। किन्तु जो दिग्भ्रमित हैं या अल्पज्ञ हैं, वे अर्जुन तथा अन्य भगवद्भक्तों द्वारा दिखाये गये मार्ग का पालन करते हुए भगवान् की दिव्य इन्द्रियों को तुष्ट करने का कोई प्रयास किये बिना ही आत्म-साक्षात्कार के पथ का अनुसरण करते हैं। इसके विपरीत वे इन्द्रियों की क्रियाओं को रोकने का कृत्रिम प्रयास करते हैं (योग पद्धति) या भगवान् की दिव्य इन्द्रियों की अवहेलना करते हैं (ज्ञानयोग)। लेकिन भक्तगण योगियों तथा ज्ञानियों के ऊपर होते हैं, क्योंकि वे भगवान् की इन्द्रियों से इनकार नहीं करते; वे तो भगवान् की इन्द्रियों को तुष्ट करना चाहते हैं। ज्ञानी तथा योगी मात्र अपने अज्ञान रूपी अन्धकार के कारण भगवान् की इन्द्रियों को नकारते हैं और कृत्रिम रीति से अपनी रुग्ण इन्द्रियों के कार्यकलापों पर नियन्त्रण प्राप्त करना चाहते हैं। इन्द्रियों के रुग्ण होने पर उनमें भौतिक आवश्यकताओं के प्रति व्यस्तता बढ़ जाती है। जब कोई व्यक्ति इन्द्रियों के कार्यकलापों को बढ़ाने की हानियों को देखता है, तो वह ज्ञानी कहलाता है और जब कोई व्यक्ति योग के नियमों के अभ्यास द्वारा उन्हीं इन्द्रियों के कार्यकलापों को रोकना चाहता है, तो वह योगी कहलाता है, किन्तु जब वही व्यक्ति भगवान् की दिव्य इन्द्रियों से पूर्ण रूप से अवगत हो जाता है और उन इन्द्रियों को तुष्ट करना चाहता है, तो वह भगवद्भक्त कहलाता है। भगवद्भक्त कभी भी भगवान् की इन्द्रियों को नकारते नहीं, न ही वे कृत्रिम रूप से इन्द्रियों के कार्यों को रोकते हैं। किन्तु वे स्वेच्छा से अपनी पवित्र इन्द्रियों को इन्द्रियों के स्वामी की सेवा में लगाते हैं जैसाकि अर्जुन ने किया था और इस तरह वे भगवान् को तृप्त करने की पूर्णता प्राप्त करते हैं, जो सारी सिद्धि का चरम

लक्ष्य है।

तैजसात् तु विकुर्वाणादिन्द्रियाणि दशाभवन् ।
ज्ञान-शक्तिः क्रिया-शक्तिर्बुद्धिः प्राणश्च तैजसौ ।
श्रोत्रं त्वग्घ्राण-दृग्जिह्वा वाग्दोर्मेढ्राङ्घ्रि-पायवः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तैजसात्—रजोगुणी अहंकार से; तु—लेकिन; विकुर्वाणात्—रूपान्तरण से; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; दश—दस; अभवन्—उत्पन्न की गई; ज्ञान-शक्तिः—ज्ञान प्राप्त करने की पाँच इन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ; क्रिया-शक्तिः—कार्य की पाँच इन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ; बुद्धिः—बुद्धि; प्राणः—जीवनशक्ति; च—भी; तैजसौ—रजोगुण के सारे पदार्थ; श्रोत्रम्—सुनने की इन्द्रिय; त्वक्—स्पर्शेन्द्रिय; घ्राण—सूँघने की इन्द्रिय; दृक्—देखने की इन्द्रिय; जिह्वाः—स्वाद लेने की इन्द्रिय; वाक्—बोलने की इन्द्रिय; दोः—ग्रहण करने की इन्द्रिय; मेढ्र—जननेन्द्रिय; अङ्घ्रि—पाँव; पायवः—मल-विसर्जन इन्द्रिय।

रजोगुण में और अधिक विकार आने से बुद्धि तथा प्राण के साथ ही श्रवण, त्वचा, नाक, आँख, जीभ, मुँह, हाथ, जननेन्द्रिय, पाँव तथा मल विसर्जन की इन्द्रियाँ सभी उत्पन्न होती हैं।

तात्पर्य : भौतिक जगत में जीवन न्यूनाधिक रूप में बुद्धि तथा प्राणशक्ति पर निर्भर करता है। कठिन जीवन-संघर्ष का सामना करने के लिए ज्ञानेन्द्रियाँ बुद्धि की सहायता करती हैं और प्राणशक्ति की धारणा हाथ तथा पाँव जैसी सक्रिय इन्द्रियों के संचालन से होती है। अतएव कुल मिलाकर यह जीवन-संघर्ष रजोगुण का कार्यान्वयन होता है। अतएव बुद्धि तथा प्राण समेत सारी इन्द्रियाँ प्रकृति के द्वितीय गुण, रजोगुण, के विविध उत्पाद तथा उपोत्पाद हैं। किन्तु यह रजोगुण वायु तत्त्व से उत्पन्न है जैसाकि पहले कहा जा चुका है।

यदैतेऽसङ्गता भावा भूतेन्द्रिय-मनो-गुणाः ।
यदायतन-निर्माणे न शेकुर्ब्रह्म-वित्तम ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब तक; एते—ये सब; असङ्गताः—एकत्र हुए बिना; भावाः—इस तरह स्थित होकर; भूत—तत्त्व; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; मनः—मन; गुणाः—प्रकृति के गुण; यदा—जब तक; आयतन—शरीर; निर्माणे—निर्मित होता रहता है; न शेकुः—सम्भव नहीं था; ब्रह्म-वित्-तम—हे दिव्य ज्ञान के दाता नारद।

हे योगियों में श्रेष्ठ नारद, जब तक ये सृजित अंग यथा तत्त्व, इन्द्रियाँ, मन तथा प्रकृति के गुण जुड़ नही जाते, तब तक शरीर स्वरूप धारण नहीं कर सकता।

तात्पर्य : जीवों की विविध प्रकार की शरीर-संरचनाएँ उन विभिन्न प्रकार की मोटर-कारों जैसी हैं, जिन्हें विभिन्न पूर्जों को जोड़ करके निर्मित किया जाता है। जब मोटरकार तैयार हो जाती है, तो

चालक उसमें बैठकर अपनी इच्छानुसार उसे चलाता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१८.६१) में भी हुई है—जीव मानो शरीर रूपी यंत्र पर आरूढ़ है और शरीर रूपी मोटरकार प्रकृति के वश में रहकर चलती-फिरती है, ठीक उसी तरह जिस तरह रेलगाड़ियाँ नियन्त्रक के मार्ग-निर्देशन में रहकर चलती हैं। लेकिन ये जीव शरीर नहीं हैं, वे तो शरीर रूपी यान से पृथक् होते हैं। लेकिन अल्पज्ञ भौतिक विज्ञानी शरीर के अंगों के जोड़े जाने की विधि को नहीं जान पाता जो इन्द्रिय, मन तथा गुण के रूप में होते हैं। प्रत्येक जीव आध्यात्मिक स्फुलिंग है, परम पुरुष का अंश है और जिस तरह पिता पुत्र के प्रति दयालु होता है उसी तरह भगवत्कृपा से प्रत्येक जीव को स्वल्प स्वतन्त्रता दी गई है कि वह प्रकृति के गुणों पर प्रभुता जता कर स्वेच्छा से कर्म करे। जिस प्रकार पिता रोते हुए बालक को चुप करने के लिए खिलौने थमा देता है उसी तरह, भगवान् की इच्छा से, मोहग्रस्त जीवों को भगवान् के प्रतिनिधि के नियंत्रण में अपनी-अपनी इच्छित वस्तुओं पर प्रभुता जताने की छूट देने के लिए सारी भौतिक सृष्टि बनी हुई है। सारे जीव उन छोटे छोटे बालकों की भाँति भौतिक क्रीड़ा-क्षेत्र में खेल रहे हैं जिनकी निगरानी भगवान् की दासी (प्रकृति) कर रही है। वे इस दासी या माया को सर्वेसर्वा मानकर परम सत्य को स्त्री (दुर्गादेवी आदि) मान बैठते हैं। मूर्ख बाल-तुल्य भौतिकतावादी दासी प्रकृति की अवधारणा से ऊपर नहीं उठ पाते, किन्तु भगवान् के बुद्धिमान सयाने पुत्र भलीभाँति जानते हैं कि प्रकृति के सारे कार्य भगवान् द्वारा उसी प्रकार नियन्त्रित होते हैं जिस तरह दासी अविकसित बालकों के पिता-रूप अपने मालिक के अधीन रहती है।

शरीर के अंग, यथा इन्द्रियाँ महत्तत्त्व द्वारा निर्मित हैं और जब भगवान् की इच्छा से ये अंग एक साथ जुड़ जाते हैं, तो भौतिक शरीर अस्तित्व में आता है और जीव को इसे अपने आगे के कार्यों के लिए उपयोग में लाने दिया जाता है। इसकी व्याख्या आगे दी गई है।

तदा संहत्य चान्योन्यं भगवच्छक्ति-चोदिताः ।
सदसत्त्वमुपादाय चोभयं ससृजुर्ह्यदः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तदा—वे सब; संहत्य—समवेत होकर; च—भी; अन्योन्यम्—एक दूसरे को; भगवत्—भगवान् द्वारा; शक्ति—शक्ति; चोदिताः—प्रयुक्त होकर; सत्-असत्त्वम्—मूलतः तथा गौणतः; उपादाय—स्वीकार करके; च—भी; उभयम्—दोनों; ससृजुः—उत्पन्न हुआ; हि—निश्चय ही; अदः—यह संसार।

जब पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शक्ति के बल से ये सब एकत्र हो गये तो सृष्टि से मूल तथा गौण कारणों को स्वीकार करते हुए यह ब्रह्माण्ड अस्तित्व में आया।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि सृष्टि के लिए भगवान् अपनी विभिन्न शक्तियाँ प्रयुक्त करते हैं। ऐसा नहीं है कि वे स्वयं भौतिक जगत में रूपान्तरित हो जाते हैं। वे अपनी विभिन्न शक्तियों द्वारा तथा अपने पूर्ण अंशों द्वारा अपना विस्तार करते हैं। कभी-कभी ब्रह्मज्योति के आध्यात्मिक आकाश के एक कोने में आध्यात्मिक बादल प्रकट होता है और इस तरह आच्छादित भाग महत् तत्त्व कहलाता है। तब भगवान् अपने महाविष्णु अंश द्वारा इस महत्तत्व के जल में शयन करते हैं और इस जल को कारणार्णव अर्थात् कारण-जल कहा जाता है। जब महाविष्णु इस कारण-जल में सोते रहते हैं, तो उनकी श्वास के साथ असंख्य ब्रह्माण्ड जन्म लेते रहते हैं। ये ब्रह्माण्ड तैरते रहते हैं और समस्त कारण-जल में चारों ओर बिखर जाते हैं। वे महाविष्णु की श्वास के समय तक ही टिके रहते हैं। यही महाविष्णु पुन: गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश करते हैं और वहाँ यह नाग जैसे शेष-अवतार पर लेटे रहते हैं। उनकी नाभि से कमलनाल फूट निकलता है और इस कमल के ऊपर ब्रह्माण्ड के स्वामी ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। तब वे इस ब्रह्माण्ड के भीतर सभी प्रकार के जीवों को अपनी इच्छानुसार विभिन्न प्रकार का आकार प्रदान करते हैं। वे सूर्य, चन्द्रमा तथा अन्य देवताओं को भी उत्पन्न करते हैं।

अतएव इस भौतिक सृष्टि के मुख्य शिल्पी स्वयं भगवान् हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (९.१०) में पुष्टि हुई है। वे ही प्रकृति को सारे चर तथा अचर प्राणियों को उत्पन्न करने के लिए निर्देश करते हैं।

भौतिक सृष्टि दो प्रकार की है—महाविष्णु द्वारा सामूहिक ब्रह्माण्डों की सृष्टि, जैसा ऊपर बताया गया है तथा एकाकी ब्रह्माण्ड की सृष्टि। इन दोनों का सृजन भगवान् द्वारा होता है और इस तरह ब्रह्माण्ड अपना स्वरूप धारण करता है जैसा हम देख सकते हैं।

वर्ष-पूग-सहस्रान्ते तदण्डमुदकेशयम् ।
काल-कर्म-स्वभाव-स्थो जीवोऽजीवमजीवयत् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

वर्ष-पूग—अनेक वर्ष; सहस्र-अन्ते—हजारों वर्षों का; तत्—वह; अण्डम्—ब्रह्माण्ड; उदके—कारण-जल में; शयम्—डूबकर; काल—नित्य समय; कर्म—कर्म; स्वभाव-स्थ:—प्रकृति के गुणों के अनुसार; जीव:—जीवों के स्वामी; अजीवम्—अचर; अजीवयत्—जीवित किया।

इस प्रकार सारे ब्रह्माण्ड हजारों युगों तक जल के भीतर (कारण-जल में) पड़े रहे। समस्त जीवों के स्वामी ने उन सबमें प्रवेश करके उन्हें पूरी तरह सजीव बनाया।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् को *जीव* कहा गया है, क्योंकि वे अन्य सारे जीवों के नायक हैं। वेदों में उन्हें नित्य, समस्त नित्यों का नायक कहा गया है। जीवों के साथ भगवान् का सम्बन्ध वैसा ही है जैसा पिता का पुत्रों के साथ। गुणात्मक रूप में पुत्र तथा पिता समान होते हैं, किन्तु पिता न तो पुत्र होता है, न पुत्र कभी उत्पन्न करनेवाला पिता होता है। इस तरह, जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, गर्भोदकशायी विष्णु या हिरण्यगर्भ परमात्मा प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश कर जाते हैं और प्रकृति के गर्भ से जीवों को उत्पन्न करके उसे सजीव बनाते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.३) में पुष्टि हुई है। भौतिक सृष्टि के प्रत्येक प्रलय के बाद, सारे जीव भगवान् के शरीर में लीन हो जाते हैं और सृष्टि की समाप्ति पर वे पुन: भौतिक शक्ति के रूप में गर्भस्थ होते हैं। अतएव भौतिक जगत में भौतिक शक्ति ही जीवों की माता और भगवान् उनके पिता प्रतीत होते हैं। तथापि जब जीवन प्रदान किया जाता है, तो सारे जीव काल तथा शक्ति के वशीभूत होकर अपना स्वाभाविक कार्य पुन: करने लगते हैं और इस तरह नाना प्रकार के जीव प्रकट होते हैं। अतएव भगवान् ही इस जगत को सजीव बनाने के कारणस्वरूप हैं।

स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गत: ।
सहस्रोर्वङ्घ्रि-बाह्वक्ष: सहस्रानन-शीर्षवान् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

स:—वह (भगवान्); एव—साक्षात्; पुरुष:—भगवान्; तस्मात्—ब्रह्माण्ड के भीतर से; अण्डम्—हिरण्यगर्भ; निर्भिद्य—विभाजित करके; निर्गत:—बाहर निकल आया; सहस्र—हजारों; ऊरु—जाँघें; अङ्घ्रि—पाँव; बाहु—भुजाएँ; अक्ष:—आँखें; सहस्र—हजारों; आनन—मुँह; शीर्षवान्—सिर सहित।

यद्यपि भगवान् (महाविष्णु) कारणार्णव में शयन करते रहते हैं, किन्तु वे उससे बाहर निकल कर और अपने को हिरण्यगर्भ के रूप में विभाजित करके प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट हो गये और उन्होंने हजारों-हजारों पाँव, भुजा, मुँह, सिर वाला विराट रूप धारण कर लिया।

तात्पर्य : प्रत्येक ब्रह्माण्ड के भीतर लोकों का विस्तार भगवान् के विराट रूप के विभिन्न अंगों के रूप में होता है, जिनका वर्णन अगले श्लोक में हुआ है।

यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः ।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; इह—इस ब्रह्माण्ड में; अवयवैः—शरीर के अंगों के द्वारा; लोकान्—सारे लोक; कल्पयन्ति—कल्पना करते हैं; मनीषिणः—बड़े-बड़े दार्शनिक; कटि-आदिभिः—कमर से नीचे; अधः—नीचे की ओर; सप्त—सात लोक; सप्त ऊर्ध्वम्—तथा सात लोक ऊपर की ओर; जघन-आदिभिः—सामने का हिस्सा।

बड़े-बड़े दार्शनिक कल्पना करते हैं कि ब्रह्माण्ड में सारे लोक भगवान् के विराट शरीर के विभिन्न ऊपरी तथा निचले अंगों के प्रदर्शन हैं।

तात्पर्य : *कल्पयन्ति* शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है 'कल्पना करते हैं।' भगवान् का विराट रूप उन दार्शनिकों की कल्पना है, जो भगवान् श्रीकृष्ण के दो भुजाओं वाले शाश्वत रूप को नहीं मानते। यद्यपि महान् दार्शनिकों द्वारा कल्पित भगवान् का विराट रूप भगवान् के स्वरूपों में से एक है, किन्तु यह न्यूनाधिक काल्पनिक ही है। कहा गया है कि सात ऊर्ध्वलोक इस विराट रूप की कटि के ऊपर स्थित हैं और सात अधोलोक उनकी कटि के नीचे स्थित हैं। कहने का भाव यह है कि भगवान् अपने शरीर के प्रत्येक अंग से अवगत हैं और सृष्टि का कोई भी भाग उनके नियन्त्रण से परे नहीं है।

पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमेतस्य बाहवः ।
ऊर्वोर्वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रो व्यजायत ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

पुरुषस्य—भगवान् का; मुखम्—मुँह; ब्रह्म—ब्राह्मण हैं; क्षत्रम्—क्षत्रिय; एतस्य—इसके; बाहवः—भुजाएँ; ऊर्वोः—जाँघें; वैश्यः—वणिक वर्ग; भगवतः—भगवान् के; पद्भ्याम्—पाँवों से; शूद्रः—श्रमिक वर्ग; व्यजायत—प्रकट हुआ।

ब्राह्मण वर्ग भगवान् के मुख का, क्षत्रिय उनकी भुजाओं का और वैश्य उनकी जाँघों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जबकि शूद्र वर्ग उनके पाँवों से उत्पन्न हुआ है।

तात्पर्य : सारे जीव भगवान् के अंश बताये जाते हैं। इस श्लोक में बताया गया है कि वे ऐसे किस तरह हैं। मानव समाज के चार विभाग हैं—बुद्धिमानवर्ग (ब्राह्मण), प्रशासकवर्ग (क्षत्रिय), व्यापारीवर्ग (वैश्य) तथा श्रमिकवर्ग (शूद्र)। ये सब भगवान् के शरीर के विविध अंग हैं। इस तरह कोई भी वर्ग

भगवान् से भिन्न नहीं है। मुँह तथा पाँव स्वाभाविक दृष्टि से अभिन्न हैं, किन्तु शरीर में गुण की दृष्टि से मुँह या सिर पाँवों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। लेकिन साथ ही साथ मुँह, पाँव, भुजाएँ तथा जाँघे शरीर के अवयव हैं। भगवान् के शरीर के ये अंग परम पूर्ण सेवा के निमित्त हैं। मुँह बोलने तथा खाने के लिए हैं, भुजाएँ शरीर की रक्षा के लिए हैं, पाँव शरीर को इधर-उधर ले जाने के लिए होते हैं तथा कमर शरीर को स्थित रखने के लिए होती है। अतएव समाज के बुद्धिमान वर्ग को विराट रूप का मुख होने के नाते, बोलना चाहिए और शरीर की क्षुधा-तृप्ति के लिए भोजन भी करना चाहिए। भगवान् की क्षुधा यज्ञ के फल को ग्रहण करना है। बुद्धिमान वर्ग या ब्राह्मणों को ऐसे यज्ञ सम्पन्न करने में अत्यन्त कुशल होना चाहिए और अधीन वर्गों को चाहिए कि ऐसे यज्ञों में हाथ बँटायें। परमेश्वर के लिए बोलने का अर्थ है भगवान् के असली स्वभाव का एवं सम्पूर्ण शरीर के अन्य समस्त भागों की स्थिति का प्रसार करना। इसीलिए ब्राह्मणों को ज्ञान के चरम स्रोत वेदों को जानना चाहिए। वेद का अर्थ है ज्ञान तथा अन्त का अर्थ है उसका छोर। *भगवद्गीता* के अनुसार भगवान् समस्त वस्तुओं के स्रोत हैं (*अहं सर्वस्य प्रभव:*) और इस तरह ज्ञान का अन्त (*वेदान्त*) भगवान् को जानने, भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को जानने तथा इस सम्बन्ध के अनुसार कार्य करने में है। जिस तरह शरीर के अंग शरीर से सम्बन्धित होते हैं, उसी प्रकार जीव को भगवान् के साथ अपना सम्बन्ध जानना चाहिए। मनुष्य-जीवन विशेष रूप से इसी प्रयोजन के लिए अर्थात् भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को जानने के लिए मिला है। इस सम्बन्ध को जाने बिना मनुष्य-जीवन व्यर्थ है। इसीलिए बुद्धिमान वर्ग के लोगों या ब्राह्मणों का विशेष उत्तरदायित्व है कि भगवान् के साथ हमारे इस सम्बन्ध का प्रसार करें और सामान्य जनता को सही मार्ग पर लायें। प्रशासक वर्ग जीवों की रक्षा के निमित्त है, जिससे सारे जीव इस प्रयोजन में सफल रहें। व्यापारी वर्ग अन्न उत्पन्न करने तथा उसे सारे समाज में वितरित करने के लिए है, जिससे सारी जनता को अवसर मिले कि वे सुखपूर्वक रह सकें और मनुष्य जीवन के कर्तव्यों को निभा सकें। व्यापारी वर्ग का यह भी दायित्व है कि वह गायों को सुरक्षा प्रदान करे, जिससे पर्याप्त दुग्ध तथा दुग्ध-उत्पाद प्राप्त हों। इन्हीं से समुचित स्वास्थ्य तथा बुद्धि प्राप्त हो सकती हैं, जो परम सत्य के ज्ञान के निमित्त सभ्यता को स्थापित रखने में समर्थ हैं। श्रमिक वर्ग, जो न तो बुद्धिमान होता है न शक्तिमान,

वह अन्य उच्चतर वर्गों की सेवा करके सहायता पहुँचा सकता है और उनके सहयोग से लाभान्वित हो सकता है। अतएव यह ब्रह्माण्ड भगवान् के परिप्रेक्ष्य में एक पूर्ण इकाई है। भगवान् के साथ इस सम्बन्ध के अभाव में सारा मानव समाज अस्त-व्यस्त रहता है, उसमें शान्ति तथा सम्पन्नता नहीं रहती। इसकी पुष्टि वेदों में हुई है—*ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहूराजन्यः कृतः।*

भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः ।
हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

भूः—पाताल तक सारे अध:लोक; लोकः—लोक; कल्पितः—कल्पना किया गया या कहा गया; पद्भ्याम्—पाँवों से; भुवः—ऊर्ध्व; लोकः—लोक; अस्य—उसकी (भगवान् की); नाभितः—नाभि से; हृदा—हृदय से; स्वर्लोकः—देवताओं द्वारा निवासित लोक; उरसा—वक्षस्थल से; महर्लोकः—ऋषियों मुनियों से विभूषित लोक; महा-आत्मनः—भगवान् का।

पृथ्वी-तल तक सारे अधोलोक उनके पाँवों में स्थित हैं। भुवर्लोक इत्यादि मध्य लोक उनकी नाभि में स्थित हैं और इनसे भी उच्चतर लोक, जो देवताओं तथा सुसंस्कृत ऋषियों-मुनियों द्वारा निवसित हैं, वे भगवान् के वक्षस्थल में स्थित हैं।

तात्पर्य : इस ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत चौदह लोक हैं। अधोलोक भूर्लोक कहलाते हैं, बीच के भुवर्लोक तथा ब्रह्माण्ड तक के सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक है, वहाँ तक के सारे ऊर्ध्वलोक स्वर्लोक कहलाते हैं। ये सभी लोक भगवान् के शरीर में स्थित हैं। दूसरे शब्दों में, इस ब्रह्माण्ड के भीतर कोई ऐसा लोक नहीं है, जिसका सम्बन्ध भगवान् के साथ न हो।

ग्रीवायां जनलोकोऽस्य तपोलोकः स्तन-द्वयात् ।
मूर्धभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

ग्रीवायाम्—गर्दन तक; जनलोकः—जनलोक; अस्य—उसका; तपोलोकः—तपोलोक; स्तन-द्वयात्—वक्षस्थल से प्रारम्भ होकर; मूर्धभिः—सिर से; सत्यलोकः—सत्यलोक; तु—लेकिन; ब्रह्मलोकः—आध्यात्मिक लोक; सनातनः—शाश्वत।

भगवान् के विराट रूप के वक्षस्थल से गर्दन तक के प्रदेश में जनलोक तथा तपोलोक स्थित हैं जबकि सर्वोच्च लोक, सत्यलोक, इस विराट रूप के सिर पर स्थित है। किन्तु आध्यात्मिक लोक शाश्वत हैं।

तात्पर्य : इसी ग्रंथ में हम अनेक बार बता चुके हैं कि आध्यात्मिक लोक भौतिक आकाश से परे

स्थित हैं और इस श्लोक से उस वर्णन की पुष्टि होती है। यहाँ पर सनातन शब्द महत्त्वपूर्ण है। *भगवद्गीता* (८.२०) में नित्यता का यही भाव व्यक्त हुआ है, जहाँ यह कहा गया है कि इस भौतिक जगत के परे आध्यात्मिक आकाश है, जहाँ प्रत्येक वस्तु शाश्वत है। कभी-कभी सत्यलोक, जहाँ ब्रह्मा निवास करते हैं, ब्रह्मलोक भी कहा जाता है। किन्तु यहाँ जिस ब्रह्म-लोक का उल्लेख हुआ है, वह सत्यलोक नहीं है। यह ब्रह्मलोक शाश्वत है, जबकि सत्यलोक शाश्वत नहीं होता। इन दोनों में अन्तर बताने के लिए सनातन विशेषण का प्रयोग किया गया है। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, ब्रह्मलोक ब्रह्म या परमेश्वर का लोक या आवास है। आध्यात्मिक आकाश में सारे लोक साक्षात् भगवान् जैसे हैं। भगवान् परमात्मा हैं और उनका नाम, यश, गुण, लीलाएँ इत्यादि उनसे अभिन्न हैं, क्योंकि वे परम पूर्ण हैं। इस तरह भगवान् के धाम के लोक भी उनसे अभिन्न हैं। उन लोकों में न तो शरीर तथा न आत्मा में कोई अन्तर होता है, न वहाँ इस जगत में अनुभव किये जानेवाले काल का प्रभाव ही है। वहाँ पर काल का प्रभाव न होने के अतिरिक्त ब्रह्मलोक के सारे लोक आध्यात्मिक होने के कारण, कभी विनष्ट नहीं होते। आध्यात्मिक लोकों की सारी विविधता भगवान् से तदाकार है। अतएव इस वैदिक सूक्ति *एकम् एवाद्वितीयम्* की पूरी-पूरी अनुभूति उस विविधतामय आकाश में हो जाती है। यह भौतिक जगत भगवान् के आध्यात्मिक जगत की मृगमरीचिका मात्र है। छाया होने के कारण यह कभी शाश्वत नहीं होता। इस द्वैतपूर्ण (आत्मा तथा पदार्थ) भौतिक जगत की विविधता की तुलना आध्यात्मिक जगत से नहीं की जा सकती। कभी-कभी अल्पज्ञानी व्यक्ति ज्ञान के अभाव में छाया रूपी संसार को आध्यात्मिक जगत के तुल्य मान बैठते हैं और इस तरह से वे इस संसार में भगवान् तथा उनकी लीलाओं को और बद्धजीव तथा उनके कार्यकलापों को एक समान मान लेते हैं। भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.११) में ऐसे अल्पज्ञों की भर्त्सना की है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

जब भी भगवान् अवतरित होते हैं, तो वे अपनी पूर्ण अंतरंगा शक्ति (आत्ममाया) से ऐसा करते हैं, किन्तु अल्पज्ञ उन्हें भौतिक सृष्टि में से एक समझ बैठते हैं। अतएव इस श्लोक की टीका करते हुए

श्रील श्रीधर स्वामी ठीक ही कहते हैं कि यहाँ पर उल्लिखित ब्रह्मलोक वैकुण्ठ है, जो सनातन है, अतएव वह पूर्व-वर्णित भौतिक सृष्टियों जैसा नहीं है। भगवान् का विराट स्वरूप भौतिक जगत की कल्पना है। इसका आध्यात्मिक जगत या भगवान् के धाम से कोई सरोकार नहीं है।

तत्कट्यां चातलं क्लृप्तमूरुभ्यां वितलं विभोः ।
जानुभ्यां सुतलं शुद्धं जङ्घाभ्यां तु तलातलम् ॥ ४० ॥
महातलं तु गुल्फाभ्यां प्रपदाभ्यां रसातलम् ।
पातालं पाद-तलत इति लोकमयः पुमान् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

तत्—उसकी; कट्याम्—कमर में; च—भी; अतलम्—पृथ्वी के नीचे प्रथम लोक; क्लृप्तम्—स्थित; ऊरुभ्याम्—जाँघों में; वितलम्—नीचे का द्वितीय लोक; विभोः—भगवान् का; जानुभ्याम्—घुटनों में; सुतलम्—नीचे का तृतीय लोक; शुद्धम्—शुद्ध; जङ्घाभ्याम्—जोड़ों में; तु—लेकिन; तलातलम्—नीचे का चौथा लोक; महातलम्—नीचे का पाँचवाँ लोक; तु—लेकिन; गुल्फाभ्याम्—टखने या पिण्डलियों में; प्रपदाभ्याम्—पाँवों के ऊपरी या सामने के भाग पर; रसातलम्—नीचे का छठा लोक; पातालम्—नीचे का सातवाँ लोक; पाद-तलतः—पाँवों के तलुओं में; इति—इस प्रकार; लोक-मयः—लोकों से पूर्ण; पुमान्—भगवान्।

हे पुत्र नारद, तुम मुझसे जान लो कि चौदह लोकों में से सात अधोलोक हैं। इनमें पहला लोक अतल है, जो कटि में स्थित है, दूसरा लोक वितल जाँघों में स्थित है, तीसरा लोक सुतल घुटनों में, चौथा लोक तलातल पिंडलियों में, पाचवाँ लोक महातल टखनों में, छठा लोक रसातल है, जो पाँवों के ऊपरी भाग में स्थित है तथा सातवाँ लोक पाताल लोक है, जो तलवों में स्थित है। इस प्रकार भगवान् का विराट रूप समस्त लोकों से पूर्ण है।

तात्पर्य : आधुनिक साहसिक व्यक्ति (अन्तरिक्ष यात्री) *श्रीमद्भागवत* से यह सूचना प्राप्त कर सकते हैं कि अन्तरिक्ष में चौदह लोक हैं। इनकी स्थिति पृथ्वी लोक से परिगणित की जाती है, जिसे भूर्लोक कहा जाता है। भूर्लोक के ऊपर भुवर्लोक है और सबसे ऊपरी लोक सत्यलोक है। ये सात ऊर्ध्व लोक हैं। इसी प्रकार सात अधोलोक हैं, जिनके नाम हैं—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल तथा पाताल लोक। ये सभी लोक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में बिखरे हुए हैं और इस ब्रह्माण्ड का क्षेत्रफल २०० करोड़ गुणा २०० करोड़ वर्गमील है। आधुनिक अन्तरिक्ष-यात्री पृथ्वी से कुछ हजार मील दूरी तक ही यात्रा कर सकते हैं, अतएव आकाश में यात्रा करने का उनका प्रयास, विस्तीर्ण सागर के तट पर बच्चे के खिलवाड़ जैसा है। चन्द्रमा ऊर्ध्वलोकों के तीसरे स्तर पर स्थित है और

श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध से हम अपार भौतिक आकाश में बिखरे विभिन्न लोकों की दूरी जान सकते हैं। हम जिस लोक में रह रहे हैं, उसके परे असंख्य ब्रह्माण्ड हैं और ये सभी मिलाकर उस आध्यात्मिक आकाश का, जिसे ऊपर सनातन ब्रह्मलोक कहा गया है, एक नगण्य अंश मात्र है। भगवान् *भगवद्गीता* के निम्नलिखित श्लोक (८.१६) में बुद्धिमान मनुष्यों को कृपापूर्वक अपने धाम वापस बुलाते हैं।

आब्रह्मभुवनाँल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

ब्रह्माण्ड का सर्वोच्च लोक, सत्यलोक, जो शाश्वत ब्रह्मलोक के नीचे स्थित है और जिसका वर्णन ऊपर दिया गया है तथा अन्य सारे लोक भौतिक हैं। इन भौतिक लोकों में किसी व्यक्ति का स्थान अब भी प्रकृति के नियमों अर्थात् जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के अधीन है। किन्तु जब मनुष्य नित्य ब्रह्मलोक के सनातन आकाश में, जो ईश्वर का धाम है, प्रवेश करता है, तो उसे उपर्युक्त भौतिक कष्टों से पूर्ण मुक्ति मिल जाती है। अतएव चिन्तनशील दार्शनिकों (ज्ञानियों) तथा योगियों द्वारा कल्पित मुक्ति तभी प्राप्त होती है, जब कोई भगवान् का भक्त बन जाता है। जो भगवद्भक्त नहीं है, वह भगवद्धाम में प्रविष्ट नहीं हो सकता। आध्यात्मिक स्थिति में सेवावृत्ति की प्राप्ति द्वारा ही मनुष्य भगवद्धाम में प्रवेश कर सकता है। अतएव दार्शनिकों तथा योगियों को सर्वप्रथम भक्ति-सम्प्रदाय की ओर आकृष्ट होना चाहिए, तभी वे वास्तव में मुक्ति-लाभ कर सकते हैं।

भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः ।
स्वर्लोकः कल्पितो मूर्ध्ना इति वा लोक-कल्पना ॥ ४२॥

शब्दार्थ

भूर्लोकः—पाताल से लेकर धरालोक तक के समग्र लोक; कल्पितः—कल्पना पर आधारित; पद्भ्याम्—पाँवों पर स्थित; भुवर्लोकः—भुवर्लोक; अस्य—भगवान् के विश्व-रूप की; नाभितः—नाभि से; स्वर्लोकः—स्वर्गलोक से प्रारम्भ होने वाले ऊर्ध्व लोक; कल्पितः—कल्पना किये गये; मूर्ध्ना—वक्षस्थल से लेकर सिर तक; इति—इस प्रकार; वा—अथवा; लोक—लोक; कल्पना—कल्पना।

अन्य लोग सम्पूर्ण लोकों को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। इनके नाम हैं—परम पुरुष के पाँवों पर अधोलोक (पृथ्वी तक), नाभि पर मध्यलोक तथा वक्षस्थल से सिर तक

ऊर्ध्व लोक (स्वर्गतक)।

तात्पर्य : यहाँ पर सम्पूर्ण लोकों के तीन विभागों का उल्लेख हुआ है, कुछ लोग लोकों की संख्या चौदह मानते हैं। यहाँ इसकी भी व्याख्या हुई है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''समस्त कारणों के कारण'' नामक पाँचवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छः

पुरुष सूक्त की पुष्टि

ब्रह्मोवाच

वाचां वह्नेर्मुखं क्षेत्रं छन्दसां सप्त धातवः ।
हव्य-कव्यामृतान्नानां जिह्वा सर्व-रसस्य च ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; वाचाम्—वाणी का; वह्नेः—अग्नि का; मुखम्—मुख; क्षेत्रम्—जनन-विन्दु; छन्दसाम्—वैदिक मन्त्रों का, यथा गायत्री का; सप्त—सात; धातवः—त्वचा तथा अन्य छः स्तर; हव्य-कव्य—देवताओं तथा पितरों को दी गई भेंट; अमृत—मनुष्यों का भोजन; अन्नानाम्—सभी प्रकार के खाद्य पदार्थों का; जिह्वा—जीभ; सर्व—समस्त; रसस्य—समस्त व्यंजनों का; च—भी।

ब्रह्माजी ने कहा : विराट पुरुष का मुख वाणी का उद्गम-विन्दु है और उसका नियामक देव अग्नि है। उनकी त्वचा तथा अन्य छह स्तर (आवरण) वैदिक मन्त्रों के उद्गम-विन्दु हैं और उनकी जीभ देवताओं, पितरों तथा सामान्यजनों को अर्पित करनेवाले विभिन्न खाद्यों तथा व्यंजनों (रसों) का उद्गम है।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् के विराट रूप के ऐश्वर्यों का वर्णन हुआ है। यह कहा गया है कि उनका मुख सभी प्रकार की वाणी का उद्गम-केन्द्र है और इसका अधिष्ठाता देव अग्निदेव है। उनकी त्वचा तथा शारीरिक रचना के अन्य छः स्तर, गायत्री जैसे सात प्रकार के वैदिक मन्त्रों के सृजन-केन्द्र हैं। गायत्री समस्त मन्त्रों का शुभारम्भ है और *श्रीमद्भागवत* के प्रथम खण्ड में इसकी व्याख्या हुई है। चूँकि जितने जनन-केन्द्र हैं, वे भगवान् के विराट रूप के विभिन्न अंग हैं और चूँकि भगवान् का रूप भौतिक सृष्टि से परे है, अतएव यह समझना चाहिए कि वाणी, जीभ, त्वचा आदि से यह बोध होता है कि भगवान् का दिव्य रूप इनसे रहित नहीं होता। भौतिक वाणी या भोजन ग्रहण करने की शक्ति मूलतः भगवान् से उत्पन्न होती है। ऐसी क्रियाएँ मूल आगारों के विकृत प्रतिबिम्ब हैं—दिव्य अवस्था भी आध्यात्मिक विविधता से रहित नहीं होती। आध्यात्मिक जगत में भौतिक विविधता के विकृत स्वरूप अपने दिव्य मूल स्वरूप में पूरी तरह दिखते हैं। अन्तर केवल इतना ही होता है कि भौतिक कार्य-कलाप प्रकृति के तीन गुणों से कलुषित हो जाते हैं, जबकि आध्यात्मिक जगत में सारी शक्तियाँ

शुद्ध होती हैं, क्योंकि वे भगवान् की अनन्य दिव्य भक्ति में लगी रहती हैं। आध्यात्मिक जगत में भगवान् प्रत्येक वस्तु के भव्य भोक्ता हैं और सारे जीव भौतिक प्रकृति के गुणों के कल्मष से रहित भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहते हैं। आध्यात्मिक जगत के कार्यकलाप भौतिक जगत के किसी भी उन्माद से रहित होते हैं, किन्तु आध्यात्मिक पद पर निर्विशेषवादी जिस निर्विशेष शून्यता की बात करते हैं वहाँ वह नहीं पाई जाती। नारद पञ्चरात्र में भक्तिमय सेवा की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।

हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥

चूँकि मूलत: सारी इन्द्रियाँ भगवान् के इन्द्रिय-आगार से उत्पन्न होती हैं, अतएव भौतिक जगत के कामोद्दीपक कार्यों को भक्ति की विधि से शुद्ध करना होता है और इस तरह हम अपने भौतिक कार्यों की वर्तमान अवस्था को शुद्ध करके जीवन की सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। शुद्धिकरण की यह प्रक्रिया विभिन्न उपाधियों की धारणा से मुक्त होने की अवस्था से प्रारम्भ होती है। प्रत्येक जीव किसी न किसी सेवा में लगा है, चाहे वह अपनी सेवा हो या अपने परिवार, समाज या देश की सेवा हो, लेकिन दुर्भाग्यवश ऐसी सारी सेवाएँ भौतिक आसक्ति के कारण ही सम्पन्न की जाती हैं। भौतिक आसक्तियों को मात्र भगवान् की सेवा में बदल देना चाहिए और इस प्रकार इस भौतिक आसक्ति से मुक्त होने का उपचार स्वत: प्रारम्भ हो जाता है। इस तरह मुक्ति की विधि अन्य सभी विधियों की अपेक्षा भक्तिमय सेवा के माध्यम से सरल है, क्योंकि *भगवद्गीता* (१२.५) में कहा गया है कि यदि कोई निर्विशेष रूप में आसक्त होता है, तो उसे नाना प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं— *क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।*

सर्वासूनां च वायोश्च तन्नासे परमायणे ।
अश्विनोरोषधीनां च घ्राणो मोद-प्रमोदयो: ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सर्व—सभी; असूनाम्—विभिन्न प्रकार की प्राणवायु; च—तथा; वायो:—वायु का; च—भी; तत्—उसकी; नासे—नाक में; परम-आयणे—दिव्य जनन-बिन्दु में; अश्विनो:—अश्विनीकुमार देवताओं का; ओषधीनाम्—समस्त जड़ी-बूटियों का; च—भी; घ्राण:—घ्राण-शक्ति; मोद—आनन्द; प्रमोदयो:—विशिष्ट खेल।

उनके दोनों नथुने हमारे श्वास के तथा अन्य सभी प्रकार के वायु के जनन-केन्द्र हैं; उनकी

घ्राण शक्ति से अश्विनीकुमार तथा समस्त प्रकार की जड़ी-बूटियाँ उत्पन्न होती हैं और उनकी श्वास-शक्ति से विभिन्न प्रकार की सुगन्धियाँ उत्पन्न होती हैं।

रूपाणां तेजसां चक्षुर्दिवः सूर्यस्य चाक्षिणी ।
कर्णौ दिशां च तीर्थानां श्रोत्रमाकाश-शब्दयोः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

रूपाणाम्—सभी प्रकार के रूपों के लिए; तेजसाम्—सभी प्रकाशमानों का; चक्षुः—आँखें; दिवः—चमकने वाला; सूर्यस्य—सूर्य के; च—भी; अक्षिणी—नेत्र-गोलक; कर्णौ—दो कान; दिशाम्—समस्त दिशाओं का; च—तथा; तीर्थानाम्—समस्त वेदों का; श्रोत्रम्—श्रवणेन्द्रिय; आकाश—आकाश; शब्दयोः—सारी ध्वनियों का।

उनके नेत्र सभी प्रकार के रूपों के उत्पत्ति-केन्द्र हैं। वे चमकते हैं तथा प्रकाशित करते हैं। उनकी पुतलियाँ (नेत्र-गोलक) सूर्य तथा दैवी नक्षत्रों की भाँति हैं। उनके कान सभी दिशाओं में सुनते हैं और समस्त वेदों को ग्रहण करनेवाले हैं। उनकी श्रवणेन्द्रिय आकाश तथा समस्त प्रकार की ध्वनियों की उद्गम है।

तात्पर्य : कभी-कभी तीर्थानाम् शब्द की व्याख्या तीर्थस्थलों के रूप में की जाती है, किन्तु श्रील जीव गोस्वामी का कहना है कि यह वैदिक दिव्य ज्ञान के ग्रहण करने के लिए प्रयुक्त है। वैदिक ज्ञान के समर्थकों को तीर्थ कहा भी जाता है।

तद्गात्रं वस्तु-साराणां सौभगस्य च भाजनम् ।
त्वगस्य स्पर्श-वायोश्च सर्व-मेधस्य चैव हि ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

तत्—उसका; गात्रम्—शरीर; वस्तु-साराणाम्—सभी वस्तुओं के सार का; सौभगस्य—समस्त शुभ अवसरों का; च—तथा; भाजनम्—उत्पादन-क्षेत्र; त्वक्—त्वचा; अस्य—उसकी; स्पर्श—स्पर्श; वायोः—गतिशील वायु का; च—भी; सर्व—सभी प्रकार के; मेधस्य—यज्ञों का; च—भी; एव—निश्चय ही; हि—सही-सही।

उनके शरीर की ऊपरी सतह सभी वस्तुओं के सार एवं समस्त शुभ अवसरों की जन्म-स्थली है। उनकी त्वचा गतिशील वायु की भाँति सभी प्रकार के स्पर्श का उद्गम तथा समस्त प्रकार के यज्ञों को सम्पन्न करने का स्थान है।

तात्पर्य : वायु सारे लोकों का गतिशील तत्त्व है, अतएव इच्छित लोकों को जाने के जनन-केन्द्र हैं, ये यज्ञ उनके शरीर का ऊपरी सतह हैं और समस्त शुभ अवसरों के उद्गम हैं।

रोमाण्युद्भिज्ज-जातीनां यैर्वा यज्ञस्तु सम्भृतः ।
केश-श्मश्रु-नखान्यस्य शिला-लोहाभ्र-विद्युताम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

रोमाणि—देह के रोम; उद्भिज्ज—वनस्पति; जातीनाम्—जातियों का; यैः—जिसके द्वारा; वा—या; यज्ञः—यज्ञ; तु—लेकिन; सम्भृतः—विशेष रूप से सेवित; केश—बाल; श्मश्रु—मूछें; नखानि—नाखून; अस्य—उसका; शिला—पत्थर; लोह—लौह अयस्कों; अभ्र—बादल; विद्युताम्—बिजली।

उनके शरीर के रोम समस्त प्रकार की वनस्पति के कारण हैं, विशेष रूप से उन वृक्षों के, जो यज्ञ की सामग्री (अवयव) के रूप में काम आते हैं। उनके सिर तथा मुख के बाल बादलों के आगार हैं और उनके नाखून बिजली, पत्थरों तथा लौह अयस्कों के उद्गम-स्थल हैं।

तात्पर्य : भगवान् के चमकदार नाखून बिजली उत्पन्न करते हैं और सारे बादल उनके सिर के बालों पर टिके रहते हैं। अतएव भगवान् के शरीर से जीवन की सभी प्रकार की आवश्यक वस्तुएँ एकत्र की जा सकती हैं। इसीलिए वेद इसकी पुष्टि करते हैं कि भगवान् समस्त उत्पन्न वस्तुओं के कारण हैं। भगवान् समस्त कारणों के परम कारण हैं।

बाहवो लोक-पालानां प्रायशः क्षेम-कर्मणाम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

बाहवः—भुजाएँ; लोक-पालानाम्—लोकों के अधिपति या देवताओं के; प्रायशः—प्रायः; क्षेम-कर्मणाम्—जन-सामान्य के नेताओं तथा रक्षकों के।

भगवान् की भुजाएँ बड़े-बड़े देवताओं तथा जनसामान्य की रक्षा करनेवाले अन्य नायकों के उद्गम-स्थल हैं।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के इस महत्त्वपूर्ण श्लोक की *भगवद्गीता* (१०.४१-४२) में निम्नलिखित प्रकार से पुष्टि और व्याख्या हुई है—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तद् तद् एवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशंसम्भवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहम् इदं कृत्स्नम् एकांशेन स्थितो जगत्॥

तमाम शक्तिशाली राजा, नेता, वैज्ञानिक, कलाकार, शिल्पी, अन्वेषक, पुरातत्त्वविद्, उद्योगपति,

राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री, श्रेष्ठ व्यापारी तथा अनेक शक्तिशाली देव यथा ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, वरुण तथा मरुत जैसे देवता, जो अपने-अपने पदों पर विश्व के कार्यों की देख-रेख कर रहे हैं, सभी परमेश्वर के विभिन्न शक्तिशाली अंश हैं। परमेश्वर श्रीकृष्ण उन समस्त जीवों के पिता हैं, जो अपनी-अपनी इच्छाओं-आकांक्षाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न उच्च तथा निम्न पदों पर आसीन हैं। उनमें से कुछ, जैसाकि विशेष रूप से ऊपर कहा जा चुका है, भगवान् की इच्छानुसार विशिष्ट शक्ति से सम्पन्न हैं। बुद्धिमान मनुष्य को यह निश्चित रूप से समझ लेना होगा कि जीव, चाहे कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, न तो पूर्ण होता है, न स्वतन्त्र। सारे प्राणियों को इस श्लोक में लिखे अनुसार अपनी विशिष्ट शक्ति का मूल उद्गम स्वीकार करना चाहिए। यदि वे इसके अनुसार कर्म करते हैं, तो वे अपने-अपने वृत्तिपरक कर्मों को करने मात्र से जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं और यह सिद्धि है शाश्वत जीवन, पूर्ण ज्ञान तथा अक्षय आशीष। जब तक विश्व के शक्तिशाली व्यक्ति अपनी-अपनी शक्तियों के उद्गम को अर्थात् भगवान् को स्वीकार नहीं करते, तब तक माया के सारे कार्यकलाप चलते रहेंगे। माया के कार्य ऐसे होते हैं कि शक्तिशाली व्यक्ति भ्रामक भौतिक शक्ति द्वारा दिग्भ्रमित होकर अपने को इस विश्व में सर्वेसर्वा मान बैठता है और ईश-चेतना का विकास नहीं कर पाता। फलस्वरूप संसार में मिथ्या अहंकार-भाव मैं (तथा मेरा) का प्राधान्य हो गया है और अस्तित्व के लिए मानव समाज में कठिन जीवन-स्पर्धा चल रही है। अतएव बुद्धिमान वर्ग के लोगों को चाहिए कि भगवान् को समस्त शक्तियों का चरम स्रोत स्वीकार करें और उनका आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए उनको सम्मान प्रदर्शित करें। भगवान् को प्रत्येक वस्तु का परम स्वामी स्वीकार कर लेने से, मनुष्य को जीवन की सर्वोच्च सिद्धि मिल सकती है क्योंकि वे वास्तव में ऐसे हैं। समाज की दृष्टि में मनुष्य का चाहे जो भी स्थान हो, किन्तु यदि वह भगवान् से प्रेम भाव का आदान-प्रदान करने का प्रयत्न करता है और भगवान् के आशीर्वादों से तुष्ट रहता है, तो उसे सर्वाधिक मानसिक शान्ति का अनुभव होता है, जिसके लिए वह जन्म-जन्मान्तर से लालायित रहता है। मानसिक शान्ति तभी प्राप्त की जा सकती है जब मन भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति में स्थित हो। भगवान् के अंशों को भगवान् की सेवा करने की विशिष्ट शक्ति प्रदत्त है ठीक उसी तरह जिस तरह श्रेष्ठ व्यापारी के पुत्रों को प्रशासन की विशिष्ट शक्ति

प्राप्त रहती है। आज्ञाकारी पुत्र कभी भी अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध कार्य नहीं करता, अतएव वह परिवार के अध्यक्ष अर्थात् पिता की सहमति से अत्यन्त शान्तिपूर्ण जीवन बिताता है। इसी प्रकार चूँकि भगवान् पिता हैं, अतएव सारे जीवों को आज्ञाकारी पुत्रों की भाँति अपना कर्तव्य पूर्ण-रूपेण और सन्तोषजनक तरीके से निभाना चाहिए और पिता की इच्छा पूरी करनी चाहिए। इस प्रवृत्ति से ही मानव समाज में तुरन्त शान्ति तथा सम्पन्नता आ सकेगी।

विक्रमो भूर्भुवः स्वश्च क्षेमस्य शरणस्य च ।
सर्व-काम-वरस्यापि हरेश्चरण आस्पदम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

विक्रमः—अगले चरण; भूः भुवः—अधो तथा ऊर्ध्व लोकों के; स्वः—तथा स्वर्ग का; च—भी; क्षेमस्य—हमारे पास जो कुछ है, उसकी सुरक्षा का; शरणस्य—निर्भयता का; च—भी; सर्व-काम—वह सब, जिसकी हमें आवश्यकता पड़ती है; वरस्य—समस्त वरदानों का; अपि—ठीक-ठीक; हरेः—भगवान् के; चरणः—चरणकमल; आस्पदम्—शरण।

भगवान् के अगले डग ऊर्ध्व, अधो तथा स्वर्गलोकों के एवं हमें जो भी चाहिए, उसके आश्रय हैं। उनके चरणकमल सभी प्रकार के भय के लिए सुरक्षा का काम करते हैं।

तात्पर्य : सभी प्रकार के भय से पूर्ण सुरक्षा के लिए तथा जीवन की हमारी जितनी आवश्यकताएँ हैं, उनके लिए हमको न केवल इस लोक में अपितु ऊर्ध्व, अधो तथा स्वर्गलोक में भी भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए। भगवान् के चरणकमलों पर इस पूर्ण निर्भरता को ही शुद्ध भक्ति-मय सेवा कहते हैं और इस श्लोक में इसका प्रत्यक्ष संकेत किया गया है। इसके विषय में न तो कोई सन्देह होना चाहिए, न किसी को किसी अन्य देवता की शरण ग्रहण करने के लिए उन्मुख होना चाहिए, क्योंकि वे सब भगवान् पर ही आश्रित हैं। भगवान् के अतिरिक्त प्रत्येक जीव भगवान् की दया पर आश्रित है, यहाँ तक कि सर्वव्यापी परमात्मा तक भगवान् के परम स्वरूप पर आश्रित हैं।

अपां वीर्यस्य सर्गस्य पर्जन्यस्य प्रजापतेः ।
पुंसः शिश्न उपस्थस्तु प्रजात्यानन्द-निर्वृतेः ॥ ८॥

शब्दार्थ

अपाम्—जल का; वीर्यस्य—वीर्य का; सर्गस्य—सृष्टि का; पर्जन्यस्य—वर्षा का; प्रजापतेः—स्रष्टा का; पुंसः—भगवान् का; शिश्नः—जननांग; उपस्थः तु—गुदा-भाग; प्रजाति—जन्म देने के कारण; आनन्द—आनन्द के; निर्वृतेः—कारण।

भगवान् के जननांगों से जल, वीर्य, सृष्टि, वर्षा तथा प्रजापतियों का जन्म होता है। उनके

जननांग उस आनन्द के कारण-स्वरूप हैं, जिससे जनन के कष्ट का प्रतिकार किया जा सकता है।

तात्पर्य : जननांग तथा जनन का सुख पारिवारिक भार के कष्टों को संतुलित करता रहता है। यदि भगवत्कृपा से जननांगों के ऊपर एक आनन्द-प्रदायक वस्तु का आवरण न हो, तो जनन-क्रिया बन्द हो जाय। यह वस्तु इतना प्रखर आनन्द प्रदान करती है कि इससे पारिवारिक भार का कष्ट भूल जाता है। पुरुष इस आनन्दायक वस्तु से इतना मोहित हो जाता है कि वह एक ही सन्तान को जन्म देकर सन्तुष्ट नहीं होता, अपितु सन्तानों की संख्या बढ़ाता जाता है और इस आनन्दादायक वस्तु के कारण ही उनके पालन-पोषण में कठिनाई उठाने की झंझट अपने सिर पर ले लेता है। किन्तु यह आनन्ददायक वस्तु मिथ्या नहीं होती, क्योंकि यह भगवान् के दिव्य शरीर से निकलती है। दूसरे शब्दों में, आनन्दप्रदायक वस्तु वास्तविकता है, लेकिन भौतिक संसर्ग के कारण इसने भौतिक कल्मष ग्रहण कर लीया है। भौतिक जगत में, भौतिक संसर्ग के कारण विषयी जीवन अनेक दुखों का कारण बनता है। अतएव भौतिक जगत में ऐसे जीवन को आवश्यकता से अधिक प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए। भौतिक जगत में भी सन्तान उत्पन्न करने की आवश्यकता है, लेकिन सन्तानोत्पत्ति का कार्य आध्यात्मिक मूल्यों का पूर्ण उत्तरदायित्व निभाते हुए करना होगा। जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों को भौतिक जगत में मानव रूप में ही साकार बनाया जा सकता है और मनुष्य को आध्यात्मिक मूल्यों के प्रसंग में ही परिवार-नियोजन करना चाहिए, अन्यथा नहीं। संतति-निरोधक के उपयोग के द्वारा परिवार-नियोजन अत्यन्त घृणित है और भौतिक संदूषण का अत्यन्त स्थूल रूप है। जो भौतिकतावादी इन उपायों का उपयोग करते हैं, वे कृत्रिम विधियों द्वारा जननांग के ऊपर आवरण की आनन्द-शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग करना चाहते हैं और इसके आध्यात्मिक महत्त्व को नहीं जानते। और आध्यात्मिक मूल्यों के ज्ञान के बिना, कम बुद्धिमान व्यक्ति जननांगों का उपयोग केवल भौतिक इन्द्रिय आनन्द के लिए करना चाहता है।

पायुर्यमस्य मित्रस्य परिमोक्षस्य नारद ।
हिंसाया निर्ऋतेर्मृत्योर्निरयस्य गुदं स्मृतः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

पायुः—गुदा; यमस्य—मृत्यु का नियामक देव; मित्रस्य—मित्र का; परिमोक्षस्य—मलद्वार का; नारद—हे नारद; हिंसायाः—ईर्ष्या का; निर्ऋतेः—दुर्भाग्य का; मृत्योः—मृत्यु का; निरयस्य—नरक का; गुदम्—गुदा; स्मृतः—समझा जाता है।

हे नारद, भगवान् के विराट रूप का गुदाद्वार मृत्यु के नियामक देव, मित्र, का धाम है और भगवान् की बड़ी आँत का छोर ईर्ष्या, दुर्भाग्य, मृत्यु, नरक आदि का स्थान माना जाता है।

पराभूतेरधर्मस्य तमसश्चापि पश्चिमः ।
नाड्यो नद-नदीनां च गोत्राणामस्थि-संहतिः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

पराभूतेः—उद्विग्नता का; अधर्मस्य—अनैतिकता का; तमसः—अज्ञान का; च—तथा; अपि—भी; पश्चिमः—पीठ; नाड्यः—नसों का; नद—बड़ी नदियों का; नदीनाम्—नालों का; च—भी; गोत्राणाम्—पर्वतों की; अस्थि—हड्डियाँ; संहतिः—संकलन।

भगवान् की पीठ समस्त प्रकार की उद्विग्नता तथा अज्ञान एवं अनैतिकता का स्थान है। उनकी नसों से नदियाँ तथा नाले प्रवाहित होते हैं और उनकी हड्डियों पर बड़े-बड़े पहाड़ बने हैं।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की निराकार अवधारणा को खंडन करने के लिए यहाँ पर भगवान् के दिव्य शरीर की संरचना का क्रमबद्ध विश्लेषण दिया गया है। भगवान् के शरीर (विराट रूप) के प्राप्य वर्णन से स्पष्ट है कि भगवान् का स्वरूप सामान्य संसारी अवधारणा से भिन्न है। किसी भी दशा में वे निराकार नहीं हैं। चूँकि अज्ञान भगवान् का पृष्ठ भाग (पीठ) है, अतएव अल्पज्ञों का अज्ञान भी भगवान् की शारीरिक अवधारणा से पृथक् नहीं होता। चूँकि उनका शरीर प्रत्येक वस्तु का समग्र रूप है, अतएव कोई यह डींग नहीं हाँक सकता कि वे केवल निर्विशेष हैं। इसके विपरीत, भगवान् के पूर्ण वर्णन से सिद्ध होता है कि वे एकसाथ साकार तथा निर्विशेष दोनों हैं। भगवान् का साकार रूप उनका मूल रूप है और उनका निर्विशेष प्रकाश उनके दिव्य शरीर का प्रतिबिम्ब मात्र है। जो लोग सामने से भगवान् का दर्शन करने का अवसर पाते हैं, वे ही भगवान् के साकार रूप का साक्षात्कार कर सकते हैं। किन्तु जो कुण्ठित हैं और इसलिए भगवान् के अज्ञान पक्ष की ओर रखे जाते हैं, अथवा जो भगवान् का दर्शन पीछे की ओर से करते हैं, वे उनके निर्विशेष रूप का ही साक्षात्कार कर सकते हैं।

अव्यक्त-रस-सिन्धूनां भूतानां निधनस्य च ।
उदरं विदितं पुंसो हृदयं मनसः पदम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अव्यक्त—निर्विशेष स्वरूप; रस-सिन्धूनाम्—जल के सागरों का; भूतानाम्—भौतिक जगत में जन्म लेने वालों का; निधनस्य—संहार का; च—भी; उदरम्—उसका पेट; विदितम्—बुद्धिमान लोगों द्वारा ज्ञेय; पुंसः—महापुरुष का; हृदयम्—हृदय; मनसः—सूक्ष्म शरीर का; पदम्—स्थान, पद।

भगवान् का निराकार स्वरूप महासागरों का धाम है और उनका उदर भौतिक दृष्टि से विनष्ट जीवों का आश्रय है। उनका हृदय जीवों के सूक्ष्म भौतिक शरीरों का धाम है। बुद्धिमान लोग इसे इस प्रकार से जानते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (८.१७-१८) में कहा गया है कि मनुष्यों की गणना के अनुसार ब्रह्मा का एक दिन चारों युगों के एक हजार युगों के तुल्य (प्रत्येक ४३०००००० वर्ष) होता है और ब्रह्मा की रात भी इतनी ही बड़ी होती है। ब्रह्मा ऐसे सौ वर्षों तक जीवित रहते हैं और तब उनकी मृत्यु हो जाती है। ब्रह्मा, जो सामान्यतया भगवान् के बहुत बड़े भक्त हैं, अपनी मृत्यु के बाद ही मुक्ति प्राप्त करते हैं। इस प्रकार ब्रह्माण्ड (ब्रह्माजी द्वारा नियंत्रित फुटबाल जैसा गोलाकार पिण्ड) का संहार हो जाता है और किसी लोक-विशेष के या कि पूरे ब्रह्माण्ड के निवासी भी विनष्ट हो जाते हैं। इस श्लोक में उल्लिखित अव्यक्त शब्द का अर्थ ब्रह्मा की रात है जब आंशिक प्रलय होती है और उस विशेष ब्रह्माण्ड के जीव, यहाँ तक कि ब्रह्मलोक बड़े-बड़े समुद्रों आदि सहित, विराट पुरुष के उदर में आश्रय ग्रहण करते हैं। ब्रह्मा की रात बीतने पर पुनः सृष्टि होती है और भगवान् के उदर में स्थित सारे जीव अपनी-अपनी भूमिका निभाने के लिए छोड़ दिए जाते हैं मानो वे गहरी निद्रा से जगे हों। चूँकि जीव कभी नष्ट नहीं होते, अतएव भौतिक जगत का संहार होने पर जीवों का अस्तित्व नहीं मिटता, लेकिन जब तक मुक्ति प्राप्त नहीं होती, तब तक जीव को एक शरीर त्याग कर पुनः पुनः दूसरा शरीर धारण करना होता है। यह मनुष्य-जीवन शरीर के बारम्बार परिवर्तन का समाधान निकालने के लिए होता है, जिसके फलस्वरूप चिदाकाश में स्थान प्राप्त हो सके जहाँ प्रत्येक वस्तु सच्चिदानन्द स्वरूप है। दूसरे शब्दों में, जीवों के सूक्ष्म रूप परम पुरुष के हृदय में रहते हैं और सृष्टि के समय वे आकार ग्रहण कर लेते हैं।

धर्मस्य मम तुभ्यं च कुमाराणां भवस्य च ।
विज्ञानस्य च सत्त्वस्य परस्यात्मा परायणम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

धर्मस्य—धार्मिक नियमों का या यमराज का; मम—मेरा; तुभ्यम्—तुम्हारा; च—तथा; कुमाराणाम्—चारों कुमारों का; भवस्य—शिवजी का; च—तथा; विज्ञानस्य—दिव्य ज्ञान का; च—भी; सत्त्वस्य—सत्य का; परस्य—महापुरुष की; आत्मा—चेतना; परायणम्—आश्रित।

तथापि उस महापुरुष की चेतना धार्मिक सिद्धान्तों का, मेरा, तुम्हारा तथा चारों कुमारों—सनक, सनातन, सनत्कुमार तथा सनन्दन—का निवास-स्थान है। यही चेतना सत्य तथा दिव्य ज्ञान का वास-स्थान है।

अहं भवान् भवश्चैव त इमे मुनयोऽग्रजाः ।
सुरासुर-नरा नागाः खगा मृग-सरीसृपाः ॥ १३ ॥
गन्धर्वाप्सरसो यक्षा रक्षो-भूत-गणोरगाः ।
पशवः पितरः सिद्धा विद्याध्राश्चारणा द्रुमाः ॥ १४ ॥
अन्ये च विविधा जीवा जल-स्थल-नभौकसः ।
ग्रहर्क्ष-केतवस्तारास्तडितः स्तनयित्नवः ॥ १५ ॥
सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत् ।
तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; भवान्—आप; भवः—शिवजी; च—भी; एव—निश्चय ही; ते—वे; इमे—सभी; मुनयः—मुनिगण; अग्र-जाः—तुमसे बड़े; सुर—देवता; असुर—असुर; नराः—मनुष्य; नागाः—नागलोक के निवासी; खगाः—पक्षी; मृग—पशु; सरीसृपाः—रेंगनेवाले जीव; गन्धर्व-अप्सरसः, यक्षाः, रक्षः-भूत-गण-उरगाः, पशवः, पितरः, सिद्धाः, विद्याध्राः, चारणाः—विभिन्न लोकों के सारे वासी; द्रुमाः—वनस्पति जगत; अन्ये—अन्य अनेक; च—भी; विविधाः—विभिन्न प्रकार के; जीवाः—जीव; जल—जल; स्थल—भूमि; नभ-ओकसः—आकाश के वासी या पक्षी; ग्रह—ग्रह-नक्षत्र; ऋक्ष—प्रभावशाली नक्षत्र; केतवः—पुच्छलतारा; ताराः—सितारे; तडितः—बिजली; स्तनयित्नवः—बादलों का गर्जन; सर्वम्—हर वस्तु; पुरुषः—भगवान्; एव इदम्—निश्चय ही ये सब; भूतम्—सृष्ट; भव्यम्—जो रचा जायेगा; भवत्—जो रचा जा चुका है; च—भी; यत्—जो कुछ; तेन इदम्—वह सब उनके कारण है; आवृतम्—ढका हुआ; विश्वम्—विश्व; वितस्तिम्—एक बालिश्त; अधितिष्ठति—स्थित।

मुझसे (ब्रह्मा से) लेकर तुम तथा भव (शिव) तक जितने भी बड़े-बड़े ऋषि-मुनि तुमसे पूर्व हुए हैं, वे, देवतागण, असुरगण, नाग, मनुष्य, पक्षी, पशु, सरीसृप आदि तथा समस्त ब्रह्माण्डों की सारी दृश्य-अभिव्यक्तियाँ यथा ग्रह, नक्षत्र, पुच्छलतारे, सितारे, विद्युत, गर्जन तथा विभिन्न लोकों के वासी यथा गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, भूतगण, उरग, पशु, पितर, सिद्ध, विद्याधर, चारण एवं अन्य विविध प्रकार के जीव जिनमें पक्षी, पशु तथा वृक्ष एवं अन्य जो कुछ

हो सकता है, सभी सम्मिलित हैं—वे सभी भूत, वर्तमान तथा भविष्य सभी कालों में भगवान् के विराट रूप द्वारा आच्छादित हैं यद्यपि वे इन सबों से परे रहते हैं और सदैव एक बालिश्त आकार के रूप में रहते हैं।

तात्पर्य : भगवान् अपनी आंशिक अभिव्यक्ति द्वारा परमात्मा के रूप में नौ इंच से अधिक माप के नहीं होते। वे अपनी योगमाया से विराट रूप में विस्तार करते हैं, जिसमें चराचर जीवों की विभिन्न किस्मों के रूप में व्यक्त जैविक तथा अजैविक सारी वस्तुएँ आ जाती हैं। अतएव ब्रह्माण्ड की व्यक्त किस्में भगवान् से भिन्न नहीं होतीं, जिस प्रकार विभिन्न रूप-रंग के सुनहले आभूषण स्वर्ण की मूल राशि से भिन्न नहीं होते। दूसरे शब्दों में, भगवान् वह परम पुरुष है, जो सृष्टि के भीतर प्रत्येक वस्तु पर नियन्त्रण रखता है और फिर भी वह समस्त व्यक्त भौतिक सृष्टि से भिन्न पृथक् परम सत्ता बना रहता है। इसीलिए *भगवद्गीता* (९.४-५) में उन्हें योगेश्वर कहा गया है। प्रत्येक वस्तु भगवान् श्रीकृष्ण की शक्ति पर निर्भर है, फिर भी वे ऐसे रूपों से पृथक् और परे रहते हैं। ऋग मन्त्र के वैदिक *पुरुष-सूक्त* में भी इसकी पुष्टि हुई है। एक ही साथ एकात्म तथा वैभिन्य के इस दार्शनिक सत्य का प्रतिपादन भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने किया था और यह *अचिन्त्य भेदाभेद तत्त्व* कहलाता है। ब्रह्मा, नारद तथा अन्य सभी एक ही समय भगवान् के साथ एक तथा उनसे पृथक् हैं। हम सभी उनके साथ उसी तरह हैं जिस तरह सोने के आभूषण गुण में स्वर्णराशि के समान हैं, लेकिन सोने का कोई भी एक आभूषण मात्रा में स्वर्ण-राशि के तुल्य नहीं होता। यह स्वर्ण-राशि कभी समाप्त नहीं होती, चाहे उससे असंख्य आभूषण क्यों न बनाये जाँय, क्योंकि यह राशि *पूर्णम्* है; यदि *पूर्णम्* में से पूर्णम् निकाल लिया जाय तो भी *परम पूर्णम्, पूर्णम्* ही बना रहता है। यह तथ्य हमारी वर्तमान अपूर्ण इन्द्रियों द्वारा अचिन्त्य है। इसीलिए भगवान् चैतन्य अपने दार्शनिक सिद्धान्त को *अचिन्त्य* कहते हैं और जैसाकि *भगवद्गीता* तथा *भागवत* से भी पुष्टि होती है, भगवान् चैतन्य का *अचिन्त्य भेदाभेद* तत्त्व परम सत्य विषयक पूर्ण दर्शन है।

स्व-धिष्ण्यं प्रतपन् प्राणो बहिश्च प्रतपत्यसौ ।
एवं विराजं प्रतपंस्तपत्यन्तर्बहिः पुमान् ॥ १७॥

शब्दार्थ

स्व-धिष्ण्यम्—विकिरण, प्रकाश; प्रतपन्—विस्तार से; प्राणः—प्राण; बहिः—बाहर; च—भी; प्रतपति—प्रकाशित करता है; असौ—सूर्य; एवम्—इस तरह से; विराजम्—विराट स्वरूप; प्रतपन्—के विस्तार से; तपति—जीवन प्रदान करता है; अन्तः—भीतर से; बहिः—बाहर से; पुमान्—परम पुरुष।

सूर्य अपने विकिरणों का विस्तार करके भीतर तथा बाहर प्रकाश वितरित करता है। इसी प्रकार से भगवान् अपने विराट रूप का विस्तार करके इस सृष्टि में प्रत्येक वस्तु का भीतर से तथा बाहर से पालन करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् के विराट रूप का, या उनके निर्विशेष स्वरूप का जो ब्रह्मज्योति कहलाता है, स्पष्ट विवेचन हुआ है और उसकी तुलना सूर्य-प्रकाश के वितरण से की गई है। सूर्य-प्रकाश सारे ब्रह्माण्ड में फैल सकता है, लेकिन सूर्यलोक या सूर्य नारायण, जो कि उसका स्रोत है, वही ऐसे प्रकाश का मूलाधार है। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण ब्रह्मज्योति या भगवान् के निर्विशेष स्वरूप के आधार हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.२७) में हुई है। अतएव भगवान् का विराट रूप उनके निर्विशेष स्वरूप की गौण कल्पना है किन्तु मूल स्वरूप तो दो हाथोंवाला अपनी शाश्वत बंशी बजाता श्यामसुन्दर स्वरूप है। भगवान् के वितरित प्रकाश का पचहत्तर प्रतिशत आध्यात्मिक आकाश (*त्रिपाद् विभूति*) में व्यक्त होता है और शेष पचीस प्रतिशत भौतिक ब्रह्माण्डों के समग्र विस्तार को आलोकित करता है। इसकी विवेचना तथा उल्लेख *भगवद्गीता* (१०.४२) में मिलते हैं। इस तरह भगवान् के प्रकाश का पचहत्तर प्रतिशत विस्तार उनकी अन्तरंगा शक्ति कहलाती है और शेष पचीस प्रतिशत बहिरंगा शक्ति कहलाती है। सारे जीव आध्यात्मिक तथा भौतिक विस्तारों के निवासी हैं, वे उनकी *तटस्था शक्ति* कहलाते हैं और उन्हें छूट मिलती है कि चाहे वे बहिरंगा शक्ति में रहें या अन्तरंगा शक्ति में। जो लोग भगवान् के आध्यात्मिक विस्तार की परिधि में रहते हैं, वे मुक्तात्मा कहलाते हैं और जो बाह्य विस्तार में रहते हैं, वे बद्धजीव हैं। हम इन दोनों विस्तारों के निवासियों की संख्या का अनुमान लगा सकते हैं और आसानी से इस तरह इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि मुक्तात्माओं की संख्या बद्धजीवों की तुलना में कहीं अधिक है।

सोऽमृतस्याभयस्येशो मर्त्यमन्नं यदत्यगात् ।
महिमैष ततो ब्रह्मन् पुरुषस्य दुरत्ययः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (भगवान्); अमृतस्य—अमरता का; अभयस्य—निर्भयता का; ईशः—नियन्ता; मर्त्यम्—मरणशील; अन्नम्—सकाम कर्म; यत्—जो; अत्यगात्—पार कर गया है; महिमा—यश; एषः—उसका; ततः—अतएव; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण नारद; पुरुषस्य—परम पुरुष का; दुरत्ययः—अमाप्य।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अमरता तथा निर्भयता के नियन्त्रक हैं और वे मृत्यु तथा भौतिक जगत के सकाम कर्मों से परे हैं। हे नारद, हे ब्राह्मण, इसलिए परम पुरुष के यश का अनुमान लगा पाना कठिन है।

तात्पर्य : भगवान् की अन्तरंगा शक्ति का दिव्य पचहत्तर प्रतिशत भगवान् का यश है, जिसका वर्णन *पद्म पुराण* (उत्तर खण्ड) में हुआ है। उसमें यह बताया गया है कि आध्यात्मिक आकाश भगवान् की अन्तरंगा शक्ति का पचहत्तर प्रतिशत है, जिसमें स्थित लोक भगवान् की बहिरंगा शक्ति से संरचित सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों के लोकों से कहीं अधिक विशाल हैं। *चैतन्य-चरितामृत* में भगवान् की बहिरंगा शक्ति के समस्त ब्रह्माण्डों की तुलना बाल्टी भर सरसों के बीजों से की गई है। सरसों का प्रत्येक बीज अपने में एक ब्रह्माण्ड जैसा है। इनमें से एक ब्रह्माण्ड में, जिसमें हम अब रह रहे हैं, लोकों की संख्या की गणना कर पाना मनुष्य की शक्ति के परे है, तो भला हम उन सारे ब्रह्माण्डों के विषय में कैसे सोच सकते हैं, जो बाल्टी भर सरसों के बीजों के तुल्य हैं? यही नहीं, आध्यात्मिक आकाश में लोकों की संख्या भौतिक आकाश की तुलना में कम से कम तीन गुनी अधिक है। ऐसे लोक आध्यात्मिक होने के कारण भौतिक गुणों से परे होते हैं, अतएव वे केवल विशुद्ध सतोगुण से बने हुए होते हैं। इन लोकों में *ब्रह्मानन्द* का बोलबाला रहता है। इनमें से प्रत्येक शाश्वत, अविनाशी तथा भौतिक जगत में अनुभव किये जाने वाले सभी प्रकार के उन्माद से रहित होता है। इनमें से प्रत्येक लोक स्वत:प्रकाशित है और लाखों भौतिक सूर्यों के प्रकाश से (यदि हम अनुमान लगा सकें)—कहीं अधिक चकाचौंध वाला है। उन लोकों के निवासी जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग से मुक्त होते हैं और उन्हें हर वस्तु का पूर्ण ज्ञान होता है। वे सभी भगवद्भावना से युक्त होते हैं और भौतिक तृष्णाओं से रहित होते हैं। उन्हें उन परमेश्वर नारायण की दिव्य प्रेममयी सेवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना होता, जो ऐसे वैकुण्ठ लोक के प्रमुख श्रीविग्रह हैं। वे मुक्तात्माएँ सामवेद के गीतों के गायन में निरन्तर व्यस्त रहती हैं (*वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः*)। वे सब पाँचों उपनिषदों के साक्षात् रूप हैं। *त्रिपाद-विभूति,* जो भगवान् की अन्तरंगा शक्ति का ७५ प्रतिशत है, भगवान् का वह धाम है, जो भौतिक आकाश से

बहुत परे है, किन्तु जब हम *पाद-विभूति* की बात करते हैं, जो भगवान् की बहिरंगा शक्ति का २५ प्रतिशत होता है, भौतिक जगत के गोलक को द्योतित करता है। *पद्म पुराण* में कहा गया है कि त्रिपाद-विभूति का साम्राज्य शाश्वत है, किन्तु *पाद-विभूति* अनित्य है। इस दिव्य साम्राज्य (धाम) में भगवान् तथा उनके शाश्वत सेवकों के स्वरूप शाश्वत होते हैं और वे शुभ, अच्युत, आध्यात्मिक तथा चिर युवा रहते हैं। दूसरे शब्दों में, वहाँ पर जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग नहीं होते। यह शाश्वत स्थान दिव्य आनन्द, सौन्दर्य तथा सुख से पूर्ण रहता है। इसी तथ्य का समर्थन *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक से भी होता है और इसमें दिव्य प्रकृति को अमृत कहा गया है। जैसाकि वेदों में वर्णित है *उतामृतत्त्वस्येशानः*— परमेश्वर अमरत्व के स्वामी हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् अमर हैं और चूँकि वे अमरत्व के स्वामी हैं, अतएव वे अपने भक्तों को अमरत्व प्रदान कर सकते हैं। *भगवद्गीता* (८.१६) में भगवान् यह भी विश्वास दिलाते हैं कि जो भी उनके इस अमरत्व धाम को जाता है, वह फिर कभी तापमय मर्त्यलोक में नहीं लौटता। भगवान् उस संसारी स्वामी की तरह नहीं हैं, जो न तो कभी अपने अधीनस्थों के साथ समभाव से भोग करता है, न अमर होता है, न अपने अधीनस्थों को वह अमरत्वप्रदान कर सकता है। समस्त जीवों के नायक परमेश्वर अपने भक्तों को सारे गुण प्रदान कर सकते हैं, जिनमें अमरत्व तथा आध्यात्मिक आनन्द भी सम्मिलित हैं। भौतिक जगत में समस्त जीवों के हृदयों में सदैव चिन्ता या भय सवार रहता है, किन्तु भगवान् स्वयं परम निर्भय होने के कारण निर्भयता का यह गुण अपने शुद्ध भक्तों को भी प्रदान करते हैं। संसारी अस्तित्व स्वयं में एक प्रकार का भय होता है, क्योंकि सारे जीव जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग से सदा भयभीत रहते हैं। इस जगत में सदैव काल का प्रभाव बना रहता है, जिससे वस्तुएँ एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त होती हैं और जो जीव मूलतः *अविकार* होता है, वह समय के प्रभाव से काफी परिवर्तित हो जाता है। किन्तु शाश्वत काल के परिवर्तनशील प्रभाव भगवद्धाम में अनुपस्थित रहते हैं, अतएव यह समझना चाहिए कि उस पर काल का प्रभाव नहीं पड़ता, जिसके कारण वहाँ किसी प्रकार का भय नहीं रहता। भौतिक जगत में तथाकथित सुख मनुष्य के स्वकर्म का फल होता है। कोई मनुष्य अपने कठोर श्रम के बल पर धनवान बन सकता है और ऐसे अर्जित सुख की अवधि के विषय में सदैव भय तथा आशंका बनी रहती है। किन्तु भगवद्धाम में किसी को सुख

प्राप्त करने के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। सुख तो आत्मा का स्वभाव है, जैसाकि *वेदान्त सूत्र* में कहा गया है *आनन्दमयोऽभ्यासात्*—आत्मा स्वभाव से सुखमय है। आत्मा का यह सुख सदैव वर्धित होता रहता है, इस आनन्द के क्षीण होने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसा अनन्य आध्यात्मिक आनन्द भौतिक ब्रह्माण्ड की परिधि में कहीं प्राप्य नहीं है, यहाँ तक कि जनलोक में या कि महर्लोक या सत्यलोक में भी नहीं, क्योंकि ब्रह्माजी भी सकाम कर्म तथा जन्म-मृत्यु के नियमों से बँधे हैं। इसीलिए यहाँ पर कहा गया है *दुरत्ययः* या दूसरे शब्दों में, भगवद्धाम के आध्यात्मिक सुख की कल्पना बड़े से बड़े ब्रह्मचारी या संन्यासी भी नहीं कर पाते, जो स्वर्ग से परे लोकों को प्राप्त करने के पात्र हैं। अथवा परमेश्वर इतने महान् हैं कि उनकी महानता की कल्पना बड़े-बड़े ब्रह्मचारी या संन्यासी तक नहीं कर पाते, किन्तु भगवत्कृपा से भगवान् के अनन्य भक्त इस सुख को सचमुच प्राप्त करते हैं।

पादेषु सर्व-भूतानि पुंसः स्थिति-पदो विदुः ।
अमृतं क्षेममभयं त्रि-मूर्ध्नोऽधायि मूर्धसु ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

पादेषु—एक चौथाई में; सर्व—सभी; भूतानि—जीव; पुंसः—परम पुरुष का; स्थिति-पदः—समस्त भौतिक ऐश्वर्य का आगार; विदुः—तुम जानो; अमृतम्—अमरत्व; क्षेमम्—सुख, जरा, रोग आदि की चिन्ता से मुक्त.; अभयम्—निर्भयता; त्रि-मूर्ध्नः—तीन उच्चतर लोकों से परे; अधायि—विद्यमान हैं; मूर्धसु—भौतिक आवरणों के पार।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अपनी एक चौथाई शक्ति के द्वारा समस्त भौतिक ऐश्वर्य के परम आगार के रूप में जाने जाते हैं, जिसमें सारे जीव रह रहे हैं। भगवान का धाम जो तीन उच्चतर लोकों से तथा भौतिक आवरणों से परे स्थित है उस में अमरता, निर्भयता तथा जरा और व्याधि से चिन्तामुक्ति का नित्य निवास है।

तात्पर्य : भगवान् की *सन्धिनी* शक्ति की समग्र अभिव्यक्ति का एक चौथाई भौतिक जगत में प्रदर्शित होता है और तीन चौथाई आध्यात्मिक जगत में। भगवान् की शक्ति के तीन अंग है—*सन्धिनी, संवित्* तथा *ह्लादिनी*। दूसरे शब्दों में, वे पूर्णतया सचिच्दानन्द-स्वरूप हैं। भौतिक जगत में ऐसे स्वरूप का प्राकट्य कम ही हो पाता है और सारे जीव, जो भगवान् के क्षुद्रांश हैं, सच्चिदानन्द स्वरूप का रंचमात्र आस्वाद केवल मुक्त अवस्था में कर पाते हैं, जबकि बद्ध अवस्था में वे बहुत कठिनाई से यह समझ पाते हैं कि जीवन का वास्तविक ज्ञातव्य तथा शुद्ध सुख क्या है। मुक्तात्माएँ भौतिक जगत में

वास करनेवाली आत्माओं से संख्या में अधिक हैं और वे ही अमरता, निर्भयता एवं जरा एवं व्याधि से मुक्ति के मामले में भगवान् की उपर्युक्त *संधिनी, संवित्* तथा *ह्लादिनी* शक्तियों के महत्त्व को समझ सकती हैं।

भौतिक जगत में सारे लोक तीन गोलकों में व्यवस्थित हैं, जिन्हें *त्रिलोक* कहा जाता है। ये हैं स्वर्ग, मर्त्य तथा पाताल। ये सब मिलाकर भगवान् की कुल *संधिनी* शक्ति के एक चौथाई भाग के बराबर हैं। इसके परे आध्यात्मिक आकाश है, जिसमें वैकुण्ठ लोक है, जो सप्तावरणों के परे है। त्रिलोक के किसी भी लोक में अमरता, पूर्ण ज्ञान तथा पूर्ण आनन्द की स्थिति का अनुभव नहीं किया जा सकता। ऊपर के तीन लोक *सात्त्विक* लोक कहलाते हैं, क्योंकि वे दीर्घायु, जरा तथा व्याधि से मुक्ति एवं निर्भयता की प्रासंगिक सुविधा प्रदान करानेवाले हैं। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि स्वर्गलोक से आगे स्थित महर्लोक को प्राप्त करते हैं, किन्तु यह भी पूर्ण निर्भयता का स्थान नहीं है, क्योंकि कल्पान्त होने पर महर्लोक का संहार हो जाता है और उसके निवासियों को उच्चतर लोकों में स्थानान्तरण करना होता है। इन लोकों में भी मृत्यु से छुटकारा नहीं मिल पाता। भले ही इनमें अपेक्षतया जीवन, ज्ञान और आनन्द का विस्तार अधिक हो, किन्तु वास्तविक अमरता, निर्भयता तथा जरा और व्याधि से मुक्ति तो सप्तावरणों से परे ही सम्भव है। ऐसी वस्तुएँ सिर में स्थित हैं (*अधायि मूर्धसु*)।

पादास्त्रयो बहिश्चासन्नप्रजानां य आश्रमाः ।
अन्तस्त्रि-लोक्यास्त्वपरो गृह-मेधोऽबृहद्व्रतः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

पादाः त्रयः—भगवान् की शक्ति के तीन चौथाई का जगत; बहिः—इस प्रकार बाहर स्थित; च—तथा; आसन्—थे; अप्रजानाम्—जिनका पुनर्जन्म नहीं होता; ये—जो; आश्रमाः—जीवन के स्तर; अन्तः—भीतर; त्रि-लोक्याः—तीनों जगतों का; तु—लेकिन; अपरः—अन्य; गृह-मेधः—गृहस्थी में आसक्त; अबृहत्-व्रतः—कठोर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किये बिना।

आध्यात्मिक जगत, जो भगवान् की तीन चौथाई शक्ति से बना है, इस भौतिक जगत से परे स्थित है और यह उन लोगों के निमित्त है, जिनका पुनर्जन्म नहीं होता। अन्य लोगों को जो गृहस्थ जीवन के प्रति आसक्त हैं और ब्रह्मचर्य व्रत का कठोरता से पालन नहीं करते, तीन लोकों के अन्तर्गत रहना ही होता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक में वर्णाश्रम धर्म या सनातन धर्म की सर्वोच्चता का स्पष्ट

उल्लेख है। मनुष्य को जो सबसे बड़ा लाभ प्रदान किया जा सकता है, वह उसे विषयी जीवन से विरक्त होने की शिक्षा का दान है, क्योंकि विषय-वासना में लिप्त रहने के कारण ही बद्धजीवन जन्म-जन्मातर चलता रहता है। जिस मानवीय सभ्यता में विषयी जीवन पर कोई नियन्त्रण नहीं होता, वह चतुर्थ कोटि की सभ्यता है, क्योंकि ऐसे वातावरण में भौतिक शरीर में बन्दी आत्मा की मुक्ति सम्भव नहीं है। जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग भौतिक शरीर से जुड़े हैं; उन्हें आत्मा से कुछ भी लेना-देना नहीं होता। किन्तु जब तक ऐन्द्रिय भोग के लिए शारीरिक आसक्ति को प्रोत्साहन मिलता रहता है, तब तक भौतिक शरीर के कारण आत्मा को बाध्य होकर जन्म तथा मृत्यु के चक्कर में आना पड़ता है, जिसकी तुलना वस्त्रों की जीर्णता से की जा सकती है।

मनुष्य जीवन का सर्वोच्च लाभ प्रदान करने के लिए वर्णाश्रम-प्रणाली में अनुयायी को ब्रह्मचारी आश्रम से ही ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने की शिक्षा दी जाती है। ब्रह्मचारी-जीवन उन विद्यार्थियों के लिए हैं, जिन्हें ब्रह्मचर्य का कठोरता से पालन करने की शिक्षा दी जाती है। जिन किशोरों ने विषयी जीवन का आस्वाद नहीं किया, वे सरलतापूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर सकते हैं और एक बार इस आश्रम में स्थिर हो जाने पर वे सर्वोच्च सिद्धावस्था तक पहुँचकर भगवान् की तीन चौथाई शक्तिवाले लोक को प्राप्त कर सकते हैं। यह पहले बताया जा चुका है कि भगवान् की तीन चौथाई शक्तिवाले लोक में न तो मृत्यु है, न भय और वहाँ मनुष्य-जीवन आनन्द तथा ज्ञान से ओतप्रोत रहता है। यदि गृहस्थ ब्रह्मचारी जीवन के नियमों में प्रशिक्षित किया जाता है, तो वह सरलता से विषयी जीवन का परित्याग कर सकता है। गृहस्थ को पचास वर्ष की आयु में गृहत्याग करने (*पञ्चशोर्ध्वं वनं व्रजेत्*) और जंगल में जीवन व्यतीत करने की संस्तुति की जाती है। इससे वह पारिवारिक स्नेह से पूर्णतया विरक्त होकर, संन्यासी बनकर पूरी तरह से भगवान् की सेवा में लग सकता है। धार्मिक सिद्धान्तों का कोई भी रूप जिसमें अनुयायियों को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना सिखलाया जाता है, मानवसमाज के लिए कल्याणकर है, क्योंकि जिन्हें इस प्रकार का प्रशिक्षण मिला है, केवल वे ही संसार के दुखमय जीवन का अन्त कर सकते हैं। भगवान् बुद्ध द्वारा बताये गये निर्वाण के नियम भी दुखमय जीवन का अन्त करने के लिए हैं। और यही विधि यहाँ पर अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में *श्रीमद्भागवत* में संस्तुत की

जा रही है, यद्यपि बौद्ध, शंकरवादी तथा वैष्णव विधियों में कोई अन्तर नहीं है। जीवन की सर्वोच्च सिद्धावस्था, जिसमें जन्म, मृत्यु, चिन्ता तथा भय से मिलती है, प्राप्त करने के लिए इनमें से किसी भी विधि में अनुयायी द्वारा ब्रह्मचर्य-व्रत को खण्डित नहीं होने दिया जाता।

जो गृहस्थ तथा व्यक्ति जानबूझ कर ब्रह्मचर्य-व्रत भंग करते हैं, उन्हें अमर लोक में प्रविष्ट होने नहीं दिया जाता। पवित्र गृहस्थ या भ्रष्ट योगी को इसी भौतिक जगत के भीतर उच्चतर लोकों में भेजा जाता है (जो भगवान् की चतुर्थांश शक्ति हैं), किन्तु वे अमरलोक में प्रविष्ट नहीं हो पाते। *अबृहद्-व्रत* वे हैं, जो ब्रह्मचर्य व्रत का खंडन करते हैं। वानप्रस्थ तथा संन्यासी यदि वे इस विधि में सफलता चाहते हैं, इस ब्रह्मचर्य-व्रत को खंडित नहीं कर सकते। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी न तो पुनर्जन्म चाहते हैं (अप्रज), न ही वे लुक-छिप कर विषयी जीवन में लिप्त होते हैं। ऐसे अध्यात्मवादी भ्रष्ट होने पर विद्वान ब्राह्मणों या धनी व्यापारियों के परिवार में पुनः मनुष्य-जन्म धारण करते हैं, जिससे वे पुनः ऊपर उठ सकें, किन्तु सबसे अच्छी बात यह होगी कि ज्योंही मनुष्य योनि प्राप्त हो त्योंही अमरता की चरम सिद्धि प्राप्त कर ली जाय, अन्यथा मनुष्य जीवन की सारी नीतिकुशलता असफल हो जायेगी। भगवान् चैतन्य अपने अनुयायियों को ब्रह्मचर्य पालन करने की शिक्षा देने में अत्यन्त कट्टर थे। उन्होंने अपने एक निजी सेवक छोटे हरिदास को ब्रह्मचर्य व्रत पालन न कर सकने के लिए कठोर सजा दी थी। अतएव जो योगी भौतिक दुखों से परे के लोक में जाने का इच्छुक हो उसके लिए जान-बूझकर विषयी जीवन में लिप्त होना आत्मघात के तुल्य होगा और संन्यासी के लिए तो विशेष रूप से। संन्यास आश्रम में विषयी जीवन धार्मिक जीवन का सर्वाधिक विकृत रूप है और ऐसे पथभ्रष्ट व्यक्ति की रक्षा तभी हो सकती है, जब भाग्यवश उसकी भेंट किसी शुद्ध भक्त से हो सके।

सृती विचक्रमे विश्वङ् साशनानशने उभे ।
यदविद्या च विद्या च पुरुषस्तूभयाश्रयः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सृती—जीवों की गति; विचक्रमे—होती है; विश्वङ्—सर्वव्यापी भगवान्; साशन—प्रभुता जतानेवाले कार्यकलाप; अनशने—भक्ति के कार्यकलाप; उभे—दोनों; यत्—जो है; अविद्या—अज्ञान; च—भी; विद्या—वास्तविक ज्ञान; च—तथा; पुरुषः—परम पुरुष; तु—लेकिन; उभय—दोनों के लिए; आश्रयः—स्वामी।

सर्व-व्यापी भगवान् अपनी शक्तियों के कारण व्यापक अर्थों में नियन्त्रण-कार्यों के तथा

भक्तिमय सेवा के स्वामी हैं। वे समस्त परिस्थितियों में अविद्या तथा विद्या दोनों के परम स्वामी हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *विश्वङ्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जो व्यक्ति कार्य के प्रत्येक क्षेत्र में कुशलतापूर्वक विचरण कर सके, वह *पुरुष* या *क्षेत्रज्ञ* कहलाता है। ये दोनों शब्द आत्मा तथा परमात्मा अर्थात् भगवान् दोनों के लिए समान रूप से लागू होते हैं। *भगवद्गीता* (१३.३) में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

क्षेत्र का अर्थ है स्थान और जो उस स्थान को जानता है, वह *क्षेत्रज्ञ* कहलाता है। आत्मा अपने सीमित कार्यक्षेत्र के बारे में जानता रहता है, लेकिन परमात्मा असीमित कार्य-क्षेत्र के बारे में जानता है। आत्मा अपने ही चिन्तन, अनुभूति तथा आकांक्षाओं के विषय में जानता है, लेकिन परमात्मा परम नियन्ता होने तथा सर्वत्र उपस्थित रहने के कारण हर एक के चिन्तन, अनुभूति तथा आकांक्षाओं को जानते रहते हैं और इस तरह प्रत्येक जीव अपने निजी व्यापारों का सूक्ष्म स्वामी होता है, जबकि भगवान् सबों के भूत, वर्तमान तथा भविष्य के व्यापारों के स्वामी हैं (*वेदाहं समतीतानि*)। जो अज्ञानी है, वही भगवान् तथा जीवों के इस अन्तर को नहीं जानता। जीव संज्ञानहीन जड़ पदार्थ से भिन्न होते हुए गुणात्मक रूप से भगवान् के तुल्य होता है, किन्तु भूत, वर्तमान तथा भविष्य की पूर्ण जानकारी के मामले में, वह कभी भगवान् के समकक्ष नहीं हो सकता।

तथा चूँकि जीव आंशिक रूप से ज्ञाता है, अतएव वह कभी-कभी अपनी पहचान भूल जाता है। यह विस्मृति भगवान् की *एकपाद विभूति* के क्षेत्र में या भौतिक जगत में विशेष रूप से व्यक्त होती है, किन्तु *त्रिपाद विभूति* के कार्य-क्षेत्र में या आध्यात्मिक जगत में जीव में यह विस्मृति नहीं पाई जाती, क्योंकि वे विस्मृति से उत्पन्न होने वाले सभी प्रकार के कल्मषों से मुक्त होते हैं। भौतिक शरीर विस्मृति के स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों का प्रतीक है; इसलिए भौतिक जगत का सम्पूर्ण वातावरण अविद्या कहलाता है, जबकि आध्यात्मिक जगत का सारा वातावरण विद्या कहलाता है। इस अविद्या की विभिन्न

अवस्थाएँ हैं और वे धर्म, अर्थ तथा मोक्ष के नाम से जानी जाती हैं। मोक्ष का जो भाव अद्वैतवादियों द्वारा मान्य है और जीव का भगवान् में तदाकार होना बताता है, वह भी भौतिकतावाद या विस्मृति की अन्तिम अवस्था है। आत्मा तथा परमात्मा के गुणात्मक तादात्म्य का ज्ञान अधूरा ज्ञान है तथा अज्ञान है, क्योंकि इससे मात्रात्मक अन्तर का ज्ञान नहीं हो पाता, जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है। जीवात्मा कभी भी ज्ञान में भगवान् के तुल्य नहीं हो सकता, अन्यथा वह विस्मृति की अवस्था को प्राप्त न होता। इस तरह, चूँकि जीवात्मा में विस्मृति की अवस्था पाई जाती है, अतएव जीव तथा भगवान् में वैसा ही अन्तर होता है जैसाकि एक अंश तथा पूर्ण में होता है। अंश कभी पूर्ण के बराबर नहीं हो सकता। अतएव भगवान् के साथ जीव की शत-प्रतिशत समता की अवधारणा भी अविद्या है।

अविद्या के क्षेत्र में सारे कार्य प्रकृति पर प्रभुता जताने की दिशा में निर्देशित रहते हैं। अतएव भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति प्रभुता जताने के लिए भौतिक ऐश्वर्य अर्जित करने में जुटा रहता है। अतएव सदैव कलह या हताशा व्याप्त रहती है, जो अविद्या के लक्षण हैं। किन्तु ज्ञान के क्षेत्र में भगवान् की भक्तिमय सेवा की जाती है। अतएव भक्ति कार्यों को मुक्त अवस्था में *अविद्या* के द्वारा दूषित होने का अवसर ही नहीं मिल पाता। इस तरह भगवान् अविद्या तथा विद्या, दोनों ही क्षेत्रों के स्वामी (क्षेत्रज्ञ) हैं और यह तो जीव की रुचि पर निर्भर करता है कि वह इन क्षेत्रों में से किसमें रहे।

यस्मादण्डं विराड् जज्ञे भूतेन्द्रिय-गुणात्मकः ।
तद् द्रव्यमत्यगाद् विश्वं गोभिः सूर्य इवातपन् ॥ २२॥

शब्दार्थ

यस्मात्—जिससे; अण्डम्—ब्रह्माण्ड; विराट्—तथा विराट रूप; जज्ञे—प्रकट हुआ; भूत—तत्त्व; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; गुण-आत्मकः—गुणात्मक; तत् द्रव्यम्—ब्रह्माण्ड तथा विराट रूप आदि.; अत्यगात्—पार कर गया; विश्वम्—समस्त ब्रह्माण्डों को; गोभिः—किरणों से; सूर्यः—सूर्य; इव—सदृश; आतपन्—किरणों तथा ताप को वितरित किया।

भगवान् से सारे ब्रह्माण्ड तथा समस्त भौतिक तत्त्वों, गुणों एवं इन्द्रियों से युक्त विराट रूप उत्पन्न होते हैं। फिर भी वे ऐसे भौतिक प्राकट्यों से उसी तरह पृथक् रहते हैं जिस तरह सूर्य अपनी किरणों तथा ताप से पृथक् रहता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में परम सत्य को *पुरुष* या पुरुषोत्तम कहा गया है। परम पुरुष तो अपनी विभिन्न शक्तियों के कारण ईश्वर या परम नियंता होता है। भगवान् की भौतिक शक्ति का *एकपाद*

विभूति प्राकट्य भगवान् की अनेक दासियों में से एक दासी की तरह है, जिसके प्रति भगवान् अधिक आकृष्ट नहीं होते, जिसे *गीता* में भिन्ना प्रकृतिः कहा गया है। किन्तु *त्रिपाद विभूति* क्षेत्र भगवान् की शक्ति का शुद्ध आध्यात्मिक प्राकट्य होने के कारण एक प्रकार से उन्हें अधिक आकृष्ट करने वाला है। अतएव भगवान् भौतिक शक्ति को गर्भस्थ करके, भौतिक प्राकट्यों को उत्पन्न करते हैं और इस प्राकट्य में अपने को विश्व-रूप में विस्तारित करते हैं। अर्जुन को दिखाया गया विश्वरूप भगवान् का मूल रूप नहीं है। भगवान् का मूल रूप तो पुरुषोत्तम या साक्षात् कृष्ण का दिव्य रूप है। यहाँ पर बड़े सुन्दर ढंग से बताया गया है कि भगवान् सूर्य की भाँति प्रसार करते हैं। सूर्य अपने असह्य ताप तथा किरणों के द्वारा अपना विस्तार करता है फिर भी सूर्य ऐसी किरणों एवं ताप से सदा पृथक् रहता है। निर्विशेषवादी भगवान् की किरणों पर तो विचार करता है, लेकिन उसे भगवान् के यथार्थ दिव्य नित्य रूप के विषय में कोई जानकारी नहीं होती, जो कृष्ण के नाम से जाना जाता है। अतएव, अपने परम साकार रूप में दो भुजाओं एवं बाँसुरी से युक्त कृष्ण निर्विशेषवादियों को भ्रमित करनेवाले हैं, क्योंकि वे भगवान् के विराट विश्व-रूप को ही देखने के आदी हैं। उन्हें ज्ञान होना चाहिए कि सूर्य की किरणें सूर्य के लिए गौण हैं, उसी तरह भगवान् का निर्विशेष विराट रूप भी साकार पुरुषोत्तम रूप से गौण है। *ब्रह्म-संहिता* (५.३७) द्वारा इस कथन की पुष्टि निम्न प्रकार से होती है—

आनन्द चिन्मयरसप्रतिभाविताभिस्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः।

गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

“भगवान् गोविन्द, जो अपनी शारीरिक किरणों के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की इन्द्रियों को सजीव बनाते हैं, अपने दिव्य धाम गोलोक में निवास करते हैं। तो भी वे अपनी ह्लादिनी शक्ति के तुल्य प्रसन्न आध्यात्मिक किरणों के प्रसार से अपनी सृष्टि के कोने-कोने में उपस्थित रहते हैं। अतएव वे अपनी अचिन्त्य शक्ति के द्वारा एकसाथ साकार तथा निर्विशेष हैं, अथवा वे अद्वितीय हैं और भौतिक तथा आध्यात्मिक प्राकट्यों की विभिन्नता में पूर्ण एकता प्रदर्शित करते हैं। यद्यपि वे हर वस्तु से पृथक् हैं, फिर भी कोई वस्तु उनसे पृथक् नहीं है।”

यदास्य नाभ्यान्नलिनादहमासं महात्मनः ।
नाविदं यज्ञ-सम्भारान् पुरुषावयवानृते ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; अस्य—उसकी; नाभ्यात्—नाभि से; नलिनात्—कमल के फूल से; अहम्—मैंने; आसम्—जन्म लिया; महा-आत्मनः—महापुरुष की; न अविदम्—नहीं जाना; यज्ञ—यज्ञ की; सम्भारान्—सामग्री; पुरुष—भगवान् के; अवयवान्—शरीर के अंग; ऋते—के बिना।

जब मैं महापुरुष भगवान् (महा-विष्णु) के नाभि-कमल पुष्प से उत्पन्न हुआ था, तो मेरे पास यज्ञ-अनुष्ठानों के लिए उस महापुरुष के शारीरिक अंगों के अतिरिक्त अन्य कोई सामग्री न थी।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्माजी स्वयम्भू कहे जाते हैं, जिसका अर्थ है, वह जो माता-पिता के बिना उत्पन्न हुआ हो। सृष्टि का सामान्य नियम यह है कि माता (मादा) तथा पिता (नर) के संसर्ग के फलस्वरूप ही जीव उत्पन्न होता है। किन्तु आदि-जीव ब्रह्मा भगवान् कृष्ण के पूर्ण अंश महाविष्णु के नाभि-कमल से उत्पन्न होते हैं। यह नाभि-कमल भगवान् के शरीर का एक अंग है और ब्रह्माजी इसी कमल से उत्पन्न होते हैं। अतएव ब्रह्माजी भी भगवान् के शरीर के अंग हैं। प्रकट होने के बाद ब्रह्माजी को ब्रह्माण्ड के विराट शून्य में अन्धकार के अतिरिक्त कुछ नहीं दिखा। उन्हें बेचैनी हुई और उनके हृदय में से भगवान् ने उन्हें प्रेरित किया कि वे तपस्या करें, जिससे यज्ञ-अनुष्ठान के लिए सामग्री प्राप्त हो सके। लेकिन, इन दोनों अर्थात् महाविष्णु तथा ब्रह्मा के अलावा वहाँ अन्य कुछ भी न था। यज्ञ अनुष्ठान के लिए अनेक सामग्रियों की, विशेष रूप से पशुओं की, आवश्यकता थी। पशु-यज्ञ कभी भी पशु-हत्या के निमित्त नहीं किया जाता, अपितु यज्ञ को सफल बनाने के लिए किया जाता है। यद्यपि यज्ञ-अग्नि में भेंट किया गया पशु नष्ट हो जाता है, किन्तु पटु पुरोहित द्वारा उच्चारित वैदिक मन्त्रों से अगले क्षण उसे नवीन जीवन प्रदान कर दिया जाता है। जब ऐसा पटु पुरोहित उपलब्ध नहीं होता, तो यज्ञ की बलि-वेदी में पशु-यज्ञ करना वर्जित है। इस तरह ब्रह्मा ने यज्ञ की सामग्री भी गर्भोदकशायी विष्णु के अंगों से ही तैयार की, जिसका अर्थ यह हुआ कि ब्रह्मा ने इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि की। यद्यपि कुछ नहीं से कुछ नहीं उत्पन्न होता है, किन्तु भगवान् के शरीर से प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है। *भगवद्गीता* (१०.८) में भगवान् कहते हैं—*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते*—प्रत्येक वस्तु मेरे शारीरिक अंगों से निर्मित है, अतएव मैं ही समस्त सृष्टि का मूल स्रोत हूँ।

निर्विशेषवादियों का तर्क है कि जब प्रत्येक वस्तु साक्षात् भगवान् के अतिरिक्त कुछ नहीं है, तो भगवान् की पूजा करने से क्या लाभ है? किन्तु सगुणवादी बड़ी ही कृतज्ञता के साथ भगवान् की पूजा भगवान् के शारीरिक अंगों से उत्पन्न सामग्री का उपयोग करते हुए करता है। फल तथा फूल पृथ्वी के शरीर से प्राप्त होते हैं, फिर भी बुद्धिमान भक्त पृथ्वी से ही उत्पन्न सामग्री से माता पृथ्वी की पूजा करते हैं। इसी प्रकार माता गंगा की पूजा गंगा-जल से की जाती है, फिर भी पूजक को ऐसी पूजा का फल भोगने को मिलता है। भगवान् की भी पूजा भगवान् के शारीरिक अंगों से उत्पन्न सामग्री द्वारा की जाती है, तो भी पूजक जो स्वयं भगवान् का अंश है भगवान् की भक्ति का फल प्राप्त करता है। एक ओर जहाँ निर्विशेषवादी त्रुटिवश इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि वह साक्षात् भगवान् है, वहीं सगुणवादी कृतज्ञता-पूर्वक भक्ति से भगवान् की पूजा करता है और जानता रहता है कि भगवान् से भिन्न कुछ भी नहीं है। अतएव भक्त प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सेवा में लगाना चाहता है, क्योंकि वह यह जानता है कि प्रत्येक वस्तु तो भगवान् की सम्पत्ति है, उसे कोई अपनी नहीं कह सकता। यह एकात्म की पूर्ण धारणा पूजक को भगवान् की प्रेमाभक्ति में रत रहने में सहायक होती है, लेकिन निर्विशेषवादी झूठे ही गर्वित होकर सदा अभक्त बना रहता है और भगवान् कभी उसे मान्यता प्रदान नहीं करते।

तेषु यज्ञस्य पशवः सवनस्पतयः कुशाः ।
इदं च देव-यजनं कालश्चोरु-गुणान्वितः ॥ २४॥

शब्दार्थ

तेषु—ऐसे यज्ञों में; यज्ञस्य—यज्ञ की सम्पन्नता का; पशवः—पशु या यज्ञ की सामग्री; स-वनस्पतयः—फल-फूल सहित; कुशाः—कुश; इदम्—ये सब; च—भी; देव-यजनम्—यज्ञ की वेदी; कालः—उपयुक्त समय; च—भी; उरु—अत्यधिक; गुण-अन्वितः—योग्य।

यज्ञोत्सवों को सम्पन्न करने के लिए फूल, पत्ती, कुश जैसी यज्ञ-सामग्रियों के साथ-साथ यज्ञ-वेदी तथा उपयुक्त समय (वसन्त) की भी आवश्यकता होती है।

वस्तून्योषधयः स्नेहा रस-लोह-मृदो जलम् ।
ऋचो यजूंषि सामानि चातुर्होत्रं च सत्तम ॥ २५॥

शब्दार्थ

वस्तूनि—पात्र; ओषधयः—अन्न; स्नेहाः—घी; रस-लोह-मृदः—शहद, सोना तथा मिट्टी; जलम्—जल; ऋचः—ऋग्वेद; यजूंषि—यजुर्वेद; सामानि—सामवेद; चातुः-होत्रम्—यज्ञ सम्पन्न करनेवाले चार व्यक्ति; च—ये सब; सत्तम—हे परम पवित्र।

यज्ञ की अन्य आवश्यकताएँ हैं—पात्र, अन्न, घी, शहद, सोना, मिट्टी, जल, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा यज्ञ सम्पन्न करानेवाले चार पुरोहित।

तात्पर्य : यज्ञ को विधिवत् सम्पन्न करने के लिए कम से कम चार पटु पुरोहितों की आवश्यकता होती है—एक आहुति करनेवाला (*होता*), एक उच्चारण करने वाला (*उद्गाता*), एक अग्नि को पृथक् अग्नि की सहायता के बिना जलानेवाला (*अध्वर्यु*) तथा एक निरीक्षण करनेवाला (*ब्रह्मा*)। ऐसे यज्ञ प्रथम जीव ब्रह्मा के जन्म-काल से ही होते आये हैं और महाराज युधिष्ठिर के शासन-काल तक चलते रहे। किन्तु आज के कलह तथा भ्रष्टाचार के युग में ऐसे पटु ब्राह्मण पुरोहित अत्यन्त दुर्लभ हैं, अतएव इस युग में केवल भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन-यज्ञ की संस्तुति की गई है।

शास्त्रों का आदेश है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

नाम-धेयानि मन्त्राश्च दक्षिणाश्च व्रतानि च ।
देवतानुक्रमः कल्पः सङ्कल्पस्तन्त्रमेव च ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

नाम-धेयानि—देवाताओं के नामों का आवाहन; मन्त्राः—देवता-विशेष को अर्पित किये जानेवाले विशिष्ट मन्त्र; च—भी; दक्षिणाः—पुरस्कार; च—तथा; व्रतानि—व्रत; च—तथा; देवता-अनुक्रमः—एक-एक करके सारे देवता; कल्पः—विशिष्ट शास्त्र; सङ्कल्पः—विशिष्ट प्रयोजन; तन्त्रम्—विशिष्ट विधि; एव—वे जैसी हैं; च—भी।

यज्ञ की अन्य आवश्यकताओं में देवताओं का विभिन्न नामों से विशिष्ट मंत्रों तथा दक्षिणा के व्रतों द्वारा आवाहन सम्मिलित हैं। ये आवाहन विशिष्ट प्रयोजनों से तथा विशिष्ट विधियों द्वारा विशेष शास्त्र के अनुसार होने चाहिए।

तात्पर्य : यज्ञ करने की पूरी विधि सकाम कर्म के अन्तर्गत आती है और ऐसे कार्य-कलाप अत्यन्त वैज्ञानिक होते हैं। इनमें विशेष स्वर के साथ शब्दोच्चारण करना होता है। यह एक महान् विज्ञान है, किन्तु चार हजार वर्षों से काम में न लाये जाने तथा योग्य ब्राह्मणों के अभाव के कारण ऐसे कृत्य अब प्रभावपूर्ण नहीं रह गये। न ही इस पतित काल में इनकी संस्तुति की जाती है। इस युग में प्रदर्शन के रूप में किया जानेवाला ऐसा यज्ञ चालक पुरोहितों द्वारा मात्र ठगी का कार्य है। अतएव यज्ञों

का ऐसा दिखावा कभी भी प्रभावशाली नहीं हो सकता। सकाम कर्म भौतिक विज्ञान द्वारा और कुछ हद तक स्थूल भौतिक सहायता द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं, किन्तु भौतिकतावादी लोग शब्दोच्चारण की विधि में सूक्ष्मतर प्रगति चाहते हैं, जिस पर वैदिक मन्त्रों की स्थापना हुई है। स्थूल भौतिक विज्ञान मानव जीवन के वास्तविक उद्देश्य को नहीं बदल सकता। हाँ, वे जीवन की समस्याओं को हल किये बिना कृत्रिम आवश्यकताओं में वृद्धि अवश्य कर सकते हैं, फलत: भौतिकतावादी जीवन-शैली त्रुटिपूर्ण मानव सभ्यता की ओर ले जाती है। चूँकि जीवन का परम उद्देश्य आध्यात्मिक अनुभूति है, अतएव जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, भगवान् चैतन्य ने भगवान् के पवित्र नाम के आवाहन की प्रत्यक्ष विधि की संस्तुति की है। आधुनिक युग के लोग इस सरल विधि का लाभ उठा सकते हैं, क्योंकि यह जटिल सामाजिक संरचना की परिस्थिति में अपनाए जाने योग्य है।

गतयो मतयश्चैव प्रायश्चित्तं समर्पणम् ।
पुरुषावयवैरेते सम्भाराः सम्भृता मया ॥ २७॥

शब्दार्थ

गतय:—चरम लक्ष्य (विष्णु) की प्राप्ति; मतय:—देवताओं की पूजा; च—भी; एव—निश्चय ही; प्रायश्चित्तम्—पश्चात्ताप; समर्पणम्—अन्तिम रूप से भेंट; पुरुष—भगवान्; अवयवै:—भगवान् के शरीर के अंगों से; एते—ये; सम्भारा:—अवयव, सामग्री; सम्भृता:—आयोजित; मया—मेरे द्वारा।

इस प्रकार मुझे भगवान् के शारीरिक अंगों से ही यज्ञ के लिए इन आवश्यक सामग्रियों की तथा साज-सामान की व्यवस्था करनी पड़ी। देवताओं के नामों के आवाहन से चरम लक्ष्य विष्णु की क्रमश: प्राप्ति हुई और इस प्रकार प्रायश्चित्त तथा पूर्णाहुति पूरी हुई।

तात्पर्य : इस श्लोक में समस्त सामग्रियों के स्रोत के रूप में, भगवान् के व्यक्तिगत स्वरूप पर अधिक बल दिया है, न कि निर्विशेष ब्रह्मज्योति पर। भगवान् नारायण समस्त यज्ञ-फलों के लक्ष्य हैं, अतएव वैदिक मन्त्र अन्ततोगत्वा इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए होते हैं। इस तरह नारायण को प्रसन्न करके तथा वैकुण्ठधाम में नारायण के प्रत्यक्ष सान्निध्य द्वारा समाधिस्थ होकर जीवन को सफल बनाया जा सकता है।

इति सम्भृत-सम्भारः पुरुषावयवैरहम् ।
तमेव पुरुषं यज्ञं तेनैवायजमीश्वरम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; सम्भृत—सम्पन्न किया गया; सम्भारः—अपने को अच्छी तरह तत्पर किया; पुरुष—भगवान्; अवयवैः—अंशों द्वारा; अहम्—मैं; तम् एव—उनके; पुरुषम्—भगवान् को; यज्ञम्—समस्त यज्ञों के भोक्ता को; तेन एव—उन सबके द्वारा ही; अयजम्—पूजा की; ईश्वरम्—परम नियन्ता की।

इस प्रकार मैंने यज्ञ के भोक्ता परमेश्वर के शरीर के अंगों से यज्ञ के लिए सारी सामग्री तथा साज-समान उत्पन्न किये और भगवान् को प्रसन्न करने के लिए मैंने यज्ञ सम्पन्न किया।

तात्पर्य : सामान्य लोग सदैव मन:शान्ति या विश्वशान्ति के लिए चिन्तित रहते हैं, किन्तु वे यह नहीं जान पाते कि विश्व-शान्ति का ऐसा कोई मानक किस तरह प्राप्त किया जाय। ऐसी विश्वशान्ति यज्ञ तथा तप द्वारा प्राप्त की जा सकती है। *भगवद्गीता* (५.२९) में निम्नलिखित सूत्र दिया गया है :

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

"कर्मयोगी जानते हैं कि परमेश्वर समस्त यज्ञों के तथा संयमी जीवन के असली भोक्ता तथा पालक हैं। वे यह भी जानते हैं कि भगवान् समस्त लोकों के परम स्वामी हैं तथा समस्त जीवों के वास्तविक मित्र हैं। ऐसा ज्ञान अनन्य भक्तों की संगति के माध्यम से कर्मयोगी को भगवान् धीरे धीरे शुद्ध भक्त बना देते हैं और इस तरह वे भवबन्धन से मुक्त होने में समर्थ होते हैं।"

इस भौतिक जगत के आदि-जीव ब्रह्मा ने हमें यज्ञ की विधि बतलाई। यज्ञ शब्द अन्य पुरुष की तुष्टि के लिए अपने स्वार्थों के समर्पण का द्योतक है। समस्त कार्यों की यही विधि है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के लिए अपने हितों की बलि चढ़ाता रहता है, चाहे वह परिवार के रूप में हो, या समाज या जाति अथवा देश या सम्पूर्ण मानव समाज हो। किन्तु ऐसे यज्ञों को पूर्णता तभी प्राप्त होती है, जब वे परम पुरुष भगवान् के निमित्त किये जाते हैं। चूँकि भगवान् प्रत्येक वस्तु के स्वामी, समस्त प्राणियों के सखा, यज्ञकर्ता के पालक एवं यज्ञ-सामग्री के दाता हैं, अतएव समस्त यज्ञों द्वारा केवल उन्हीं को तुष्ट करना चाहिए, अन्य किस को नहीं।

सारा संसार विद्या, सामाजिक उत्थान, आर्थिक विकास तथा मानव दशा को पूर्णत: सुधारने की योजनाओं को समुन्नत बनाने में अपनी शक्ति की आहुति करने में लगा है, किन्तु कोई भी व्यक्ति

भगवान् के निमित्त यज्ञ करने में रुचि नहीं रखता, जिसका उपदेश *भगवद्गीता* में किया गया है। अतएव संसार में शान्ति नहीं है। यदि सारे लोग सचमुच विश्व शान्ति चाहते हैं, तो उन्हें परम स्वामी तथा सबों के सखा के निमित्त यज्ञ सम्पन्न करना चाहिए।

ततस्ते भ्रातर इमे प्रजानां पतयो नव ।
अयजन् व्यक्तमव्यक्तं पुरुषं सु-समाहिताः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; ते—तुम्हारे; भ्रातरः—भाई; इमे—ये; प्रजानाम्—प्राणियों के; पतयः—स्वामी; नव—नौ; अयजन्—यज्ञ किया; व्यक्तम्—प्रकट; अव्यक्तम्—अप्रकट; पुरुषम्—पुरुष को; सु-समाहिताः—उचित अनुष्ठानों से।

हे पुत्र, तत्पश्चात् तुम्हारे नौ भाइयों ने, जो प्रजापति हैं, व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों प्रकार के पुरुषों को प्रसन्न करने के लिए समुचित अनुष्ठानों सहित यज्ञ सम्पन्न किया।

तात्पर्य : व्यक्त पुरुषों में स्वर्ग के राजा इन्द्र तथा देवता जैसे उनके पार्षद आते हैं और अव्यक्त पुरुष में साक्षात् भगवान् आते हैं। व्यक्त पुरुष भौतिक कार्यों के नियन्त्रक हैं, जबकि अव्यक्त भगवान् दिव्य हैं और भौतिक व्योम की सीमा के परे हैं। इस कलियुग में व्यक्त देवता भी नहीं दिखते, क्योंकि अन्तरिक्ष-यात्रा पूर्ण रूप से बन्द है। अतएव आधुनिक मनुष्य की ढकी हुई आँखों के लिए शक्तिशाली देवता तथा भगवान् दोनों ही अव्यक्त बने हुए हैं। आधुनिक व्यक्ति प्रत्येक वस्तु को अपनी आँखों से देखना चाहते हैं, भले ही वे पर्याप्त रुप से दक्ष न हों। फलस्वरूप वे देवताओं में या परमेश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। उन्हें चाहिए कि प्रामाणिक शास्त्रों के पृष्ठों को पलटें और मात्र अपनी अक्षम आँखों पर ही विश्वास न करें। आज भी, ईश्वर-प्रेम रूपी अंजन लगा कर दक्ष आँखों से ईश्वर के दर्शन किये जा सकते हैं।

ततश्च मनवः काले ईजिरे ऋषयोऽपरे ।
पितरो विबुधा दैत्या मनुष्याः क्रतुभिर्विभुम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; च—भी; मनवः—मानव जाति के पूर्वज, सारे मनु; काले—कालान्तर में; ईजिरे—पूजा की; ऋषयः—ऋषिगण; अपरे—अन्य; पितरः—पुरखे; विबुधाः—विद्वान पंडित; दैत्याः—देवताओं के महान् भक्त; मनुष्याः—मानव जाति; क्रतुभिः विभुम्—परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए यज्ञों के द्वारा।

तत्पश्चात्, मनुष्यों के पिताओं यानी मनुओं, महर्षियों, पितरों, विद्वान् पंडितों, दैत्यों तथा

मनुष्यों ने परमेश्वर को प्रसन्न करने के निमित्त यज्ञ सम्पन्न किये।

तात्पर्य : दैत्य *दैत्य* देवताओं के भक्त होते हैं, क्योंकि वे उनसे अधिकाधिक भौतिक सुविधाएँ हासिल करना चाहते हैं। किन्तु भगवान् के भक्त *एकनिष्ठ* होते हैं, अर्थात् वे भगवान् की भक्तिमय सेवा में तल्लीन रहते हैं, अतएव उनके पास भौतिक सुविधाएँ माँगने के लिए थोड़ा-सा समय भी नहीं रहता। क्योंकि आध्यात्मिक सत्ता की अनुभूति होने के कारण वे भौतिक सुविधाओं की तुलना में आध्यात्मिक उत्थान की अधिक चिन्ता करते हैं।

नारायणे भगवति तदिदं विश्वमाहितम् ।
गृहीत-मायोरु-गुणः सर्गादावगुणः स्वतः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

नारायणे—नारायण में; भगवति—भगवान्; तत् इदम्—ये समस्त भौतिक अभिव्यक्तियाँ; विश्वम्—सारे ब्रह्माण्ड; आहितम्—स्थित; गृहीत—स्वीकार; माया—भौतिक शक्तियाँ; उरु-गुणः—अत्यन्त शक्तिमान; सर्ग-आदौ—सृजन, पालन तथा संहार में; अगुणः—गुणों के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति से रहित; स्वतः—स्वयमेव, आत्म-निर्भरतापूर्वक।

अतएव सारे ब्रह्माण्डों की भौतिक अभिव्यक्तियाँ उनकी शक्तिशाली भौतिक शक्तियों में स्थित हैं, जिन्हें वे स्वतः स्वीकार करते हैं, यद्यपि वे भौतिक गुणों से नित्य निर्लिप्त रहते हैं।

तात्पर्य : इस तरह नारद ने ब्रह्माजी से भौतिक सृष्टि के विषय में जो प्रश्न पूछा था, उसका उत्तर मिल जाता है। भौतिक विज्ञानी जिस रूप में ऊपर से भौतिक क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं का अवलोकन कर सकता है वे वास्तव में सृजन, पालन तथा संहार के सम्बन्ध में अन्तिम सत्य नहीं होतीं। भौतिक शक्ति भगवान् की शक्ति है, जो यथासमय पर सतो, रजो तथा तमो गुणों को स्वीकार करते हुए विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव के रूप में प्रदर्शित की जाती है। इस तरह भौतिक शक्ति भगवान् के पूर्ण नियन्त्रण में कार्य करती है, यद्यपि वे ऐसे भौतिक कार्यकलापों से सदा परे रहनेवाले हैं। कोई धनी व्यक्ति एक बड़े मकान का निर्माण अपने संसाधनों के रूप में अपनी शक्ति व्यय करके करता है। इसी प्रकार, वह अपने संसाधनों से ही एक बड़े मकान को विनष्ट भी कर देता है, किन्तु उसका रख-रखाव सदैव उसकी देखरेख में होता है। भगवान् धनियों में सबसे धनी हैं, क्योंकि वे छहों बड़े ऐश्वर्यों से सदा ओतप्रोत रहते हैं। अतएव उन्हें कुछ करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, लेकिन संसार की प्रत्येक घटना उनकी इच्छा तथा उनके निर्देश से स्वयं घटती है, अतएव सम्पूर्ण भौतिक अभिव्यक्ति भगवान्

नारायण में स्थित है। परम सत्य विषयक निर्विशेष धारणा ज्ञान के अभाव के कारण है और इस तथ्य को ब्रह्माजी ने स्पष्ट बताया है, क्योंकि वे ब्रह्माण्ड के कार्यकलापों के स्रष्टा हैं। ब्रह्माजी वैदिक वाङ्मय के सर्वोच्च अधिकारी (प्रमाण) हैं, अतएव इस विषय में उनका कथन परम सूचना के रूप में है।

सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः ।
विश्वं पुरुष-रूपेण परिपाति त्रि-शक्ति-धृक् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

सृजामि—सृजन करता हूँ; तत्—उसके द्वारा; नियुक्तः—नियुक्त होकर; अहम्—मैं; हरः—शिवजी; हरति—नाश करता है; तत्-वशः—उनके अधीन; विश्वम्—सम्पूर्ण विश्व का; पुरुष—भगवान्; रूपेण—अपने नित्य रूप से; परिपाति—पालन करता है; त्रि-शक्ति-धृक्—तीन शक्तियों का नियन्त्रक।

उनकी इच्छा से मैं सृजन करता हूँ, शिवजी विनाश करते हैं और स्वयं वे अपने नित्य भगवान् रूप से सबों का पालन करते हैं। वे इन तीनों शक्तियों के शक्तिमान नियामक हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर अद्वितीय की धारणा की स्पष्ट पुष्टि होती है। वे वासुदेव भगवान् ही हैं और उनकी विभिन्न शक्तियों एवं अंशों के द्वारा ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ—भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों में—पालित होती हैं। भौतिक जगत में भी भगवान् वासुदेव ही सब कुछ हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है। *वासुदेवः सर्वम् इति*—सब कुछ वासुदेव ही हैं। वैदिक मंत्रों में भी इन्हीं वासुदेव को सर्वोच्च माना गया है। वेदों का कथन है—*वासुदेवात् परो ब्रह्मन्न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः*—वास्तव में वासुदेव से बढ़कर कोई सत्य नहीं है। और *भगवद्गीता* (७.७) में भगवान् कृष्ण उसी सत्य की पुष्टि करते हैं—*मत्तः परतरं नान्यत्*—मुझसे (कृष्ण से) बढ़कर अन्य कोई नहीं है। इस तरह एकात्म की धारणा, जिस पर निर्विशेषवादी अत्यधिक बल देता है, भगवान् के सगुणवादी भक्त द्वारा भी मान्य है। अन्तर इतना ही है कि निर्विशेषवादी पुरुष स्वरूप को नहीं मानता, जबकि भक्त भगवान् के पुरुष रूप को अधिक महत्त्व प्रदान करता है। *श्रीमद्भागवत* में यह सत्य इसी श्लोक में बताया गया है—भगवान् वासुदेव अद्वितीय हैं, किन्तु सर्व-शक्तिमान होने के कारण वे अपना विस्तार कर सकते हैं और अपनी शक्तियों का प्रदर्शन कर सकते हैं। यहाँ पर भगवान् को तीन शक्तियों द्वारा (*त्रिशक्ति-धृक्*) सर्वशक्तिमान बताया गया है। अतः उनकी तीन शक्तियाँ हैं—अन्तरंगा, तटस्था तथा बहिरंगा। इनमें से बहिरंगा शक्ति सतो, रजो तथा तमो, इन तीन गुणों द्वारा प्रदर्शित होती है। इसी प्रकार

अन्तरंगा शक्ति भी तीन आध्यात्मिक गुणों द्वारा प्रदर्शित होती है। ये हैं—*संवित्, संधिनी* तथा *ह्लादिनी*। तटस्था शक्ति या जीव भी आध्यात्मिक है (*प्रकृति विद्धि मे पराम्*), लेकिन जीव कभी भगवान् के तुल्य नहीं होते। भगवान् *निरस्त-साम्य-अतिशय* हैं। दूसरे शब्दों में, न कोई भगवान् के तुल्य है, न उनसे बढ़कर। अतएव, सारे जीव जिनमें ब्रह्माजी तथा शिवजी जैसे महापुरुष सम्मिलित हैं, सभी भगवान् के अधीन हैं। भौतिक जगत में भी भगवान् अपने विष्णु-रूप में ब्रह्मा तथा शिव समेत सारे देवताओं का पालन करते हैं तथा उनके सारे कार्यों का नियन्त्रण करते है।

इति तेऽभिहितं तात यथेदमनुपृच्छसि ।
नान्यद्भगवतः किञ्चिद्भाव्यं सदसदात्मकम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ते—तुमको; अभिहितम्—बताया; तात—हे पुत्र; यथा—जिस प्रकार; इदम्—ये सब; अनुपृच्छसि—तुमने पूछा है; न—कभी नहीं; अन्यत्—अन्य कुछ; भगवतः—भगवान् से परे; किञ्चित्—कुछ भी; भाव्यम्—कभी सोचने योग्य; सत्—कारण; असत्—कार्य; आत्मकम्—के विषय में।

प्रिय पुत्र, तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था, उसको मैंने इस तरह तुम्हें बतला दिया। तुम यह निश्चय जानो कि जो कुछ भी यहाँ है (चाहे वह कारण हो या कार्य, दोनों ही—आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों में) वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् पर आश्रित है।

तात्पर्य : भगवान् की शक्तियों का प्राकट्य, चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक, पहले तो कारण-रूप में कार्यशील होता है और गतिमान बनता है और फिर कार्य-रूप में सामने आता है। किन्तु मूल कारण तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। मूल कारण के कार्य (प्रभाव) ही अन्य कार्यों के कारण बनते है और इस तरह प्रत्येक वस्तु, चाहे वह स्थायी हो या अस्थायी, कारण-कार्य के रूप में कार्य करती है। और चूँकि भगवान् सभी पुरुषों तथा शक्तियों के आदि कारण हैं, अतएव वे समस्त कारणों के कारण कहलाते हैं जिसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* तथा *भगवद्गीता* दोनों में हुई है।

ब्रह्म-संहिता (५.१) पुष्टि करती है कि—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।

अनादिराआदिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

तथा *भगवद्गीता* (१०.८) में भी कहा गया है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

अतएव आदि कारण *विग्रह* साकार हैं और निर्विशेष आध्यात्मिक तेज, ब्रह्मज्योति, भी परब्रह्म भगवान् कृष्ण का प्रभाव है (*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*)।

न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते
न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः ।
न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे
यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; भारती—कथन; मे—मन; अङ्ग—हे नारद; मृषा—असत्य; उपलक्ष्यते—प्रमाणित होता है; न—कभी नहीं; वै—निश्चय ही; क्वचित्—कभी; मे—मेरा; मनसः—मन को; मृषा—असत्य; गतिः—प्रगति; न—न तो; मे—मेरी; हृषीकाणि—इन्द्रियाँ; पतन्ति—पतित होती हैं; असत्-पथे—अस्थायी पदार्थ में; यत्—क्योंकि; मे—मेरे; हृदा—हृदय में; औत्कण्ठ्यवता—महान् उत्कण्ठा के द्वारा; धृतः—धारण किया; हरिः—भगवान्।.

हे नारद, चूँकि मैंने भगवान् हरि के चरणकमलों को अत्यन्त उत्कण्ठा के साथ पकड़ रखा है, अतएव मैं जो कुछ कहता हूँ, वह कभी असत्य नहीं होता। न तो मेरे मन की प्रगति कभी अवरुद्ध होती है, न ही मेरी इन्द्रियाँ कभी भी पदार्थ की क्षणिक आसक्ति से पतित होती हैं।

तात्पर्य : नारद को दी गई वैदिक विद्या के प्रथम वक्ता ब्रह्माजी हैं और नारद अपने विभिन्न शिष्यों सहित व्यासदेव तथा अन्यों के द्वारा इस दिव्य ज्ञान को पूरे विश्व में वितरित करनेवाले हैं। वैदिक ज्ञान के अनुयायी ब्रह्माजी के कथनों को अकाट्य सत्य मानते हैं। इस तरह यह दिव्य ज्ञान सारे संसार में सृष्टि के प्रारम्भ से अनादि काल से शिष्य-परम्परा द्वारा वितरित होता रहा है। ब्रह्माजी इस भौतिक जगत के पूर्ण मुक्त जीव हैं और अध्यात्मज्ञान के किसी भी निष्ठावान जिज्ञासु को ब्रह्माजी के वचनों को अच्युत मानना पड़ेगा। वैदिक ज्ञान अच्युत है, क्योंकि यह परमेश्वर से सीधे ब्रह्मा के हृदय में जाता है और चूँकि ब्रह्माजी सर्वोच्च पूर्ण जीव हैं, अतएव उनके कथन अक्षरशः सत्य होते हैं। ऐसा इसलिए है, क्योंकि वे भगवान् के परम भक्त हैं और उन्होंने भगवान् के चरणकमलों को परम सत्य के रूप में उत्कंठा पूर्वक स्वीकार किया है। वे अपने ही द्वारा संकलित *ब्रह्म-संहिता* में इस सूक्ति को दोहराते हैं—गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि—मैं आदि भगवान् गोविन्द का पूजक हूँ। अतएव वे जो कुछ

कहते हैं, जो भी सोचते हैं और जो भी करते हैं, उसे सत्य मानकर ग्रहण करना चाहिए क्योंकि आदि भगवान् गोविन्द के साथ उनका प्रत्यक्ष एवं अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्रीगोविन्द, जो अपने भक्तों की प्रेममयी सेवा को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करते हैं, अपने भक्तों के वचनों तथा कार्यों का प्रतिपालन करते हैं। भगवान् *भगवद्गीता* (९.३१) में कहते हैं—*कौन्तेय प्रतिजानीहि*—हे कुन्तीपुत्र! तुम यह घोषित कर दो। भगवान् अर्जुन से घोषणा करने को कहते हैं, तो क्यों? क्योंकि कभी-कभी साक्षात् गोविन्द की घोषणा संसारी जीवों को विरोधात्मक लग सकती है, किन्तु संसारी व्यक्ति कभी भी भगवद्भक्त के वचनों में कोई विरोधाभास नहीं पायेगा। भगवान् भक्तों की विशेष रूप से इसीलिए रक्षा करते हैं, जिससे वे अच्युत रहें। अतएव भक्तियोग उस भक्त की सेवा से प्रारम्भ होता है, जो शिष्य-परम्परा में होता है। भक्तगण सदैव मुक्त हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि वे निर्विशेष हैं। भगवान् शाश्वत पुरुष हैं और भगवद्भक्त भी शाश्वत पुरुष है। चूँकि मुक्त अवस्था में भी भक्त की इन्द्रियाँ रहती हैं, अतएव वह सदैव पुरुष रहता है। चूँकि भक्त की सेवा भगवान् द्वारा पूर्ण आदान-प्रदान के रूप में स्वीकार की जाती है, अतएव भगवान् भी अपने पूर्ण आध्यात्मिक शरीर में पुरुष हैं। भक्त की इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा में लगी रहने के कारण मिथ्या भौतिक भोग के आकर्षण द्वारा विपथ नहीं होतीं। भक्त की योजनाएँ कभी व्यर्थ नहीं जातीं। इसका कारण है भक्त की भगवान् की सेवा में श्रद्धापूर्ण आसक्ति। सिद्धि तथा मुक्ति का यही मानदण्ड है। ब्रह्माजी से लेकर मनुष्य तक सारे जीव तुरन्त ही मुक्ति के पथ पर अग्रसर होते हैं, यदि उनकी आसक्ति आदि भगवान् श्रीकृष्ण में अपार निष्ठा के साथ होती है। भगवान् *भगवद्गीता* (१४.२६) में इसकी पुष्टि करते हैं :

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

अतएव, जो कोई हृदय तथा आत्मा से दिव्य प्रेमाभक्ति के माध्यम से भगवान् के घनिष्ठ सम्पर्क में आने का इच्छुक है, उसके वचन तथा कर्म सदैव अच्युत होंगे। इसका कारण यह है कि परमेश्वर परम सत्य हैं तथा जो भी वस्तु सच्ची निष्ठा से परम सत्य से जोड़ दी जाती है, वह उसी दिव्य गुण को प्राप्त कर लेती है। इसके विपरीत, भौतिक विज्ञान तथा ज्ञान पर आधारित कितना ही मानसिक चिन्तन क्यों

न हो, वह परम सत्य के प्रामाणिक संसर्ग के बिना संसारी असत्य होने से असफल होता है, केवल इसलिए कि उसका संसर्ग परम सत्य के साथ नहीं होता। ऐसे ईश्वर-विहीन अश्रद्धापूर्ण वचन तथा कर्म भौतिक दृष्टि से कितने ही समृद्ध क्यों न हों विश्वास के योग्य नहीं होते। इस महत्त्वपूर्ण श्लोक का यही तात्पर्य है। भक्ति का एक कण भी अश्रद्धा के कई टन से अधिक मूल्यवान है।

सोऽहं समाम्नायमयस्तपोमयः
प्रजापतीनामभिवन्दितः पतिः ।
आस्थाय योगं निपुणं समाहित-
स्तं नाध्यगच्छं यत आत्म-सम्भवः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सः अहम्—मैं स्वयं (महान् ब्रह्मा); समाम्नाय-मयः—वैदिक ज्ञान की शिष्य-परम्परा की श्रेणी में; तपः-मयः—समस्त तपस्याओं से युक्त; प्रजापतीनाम्—जीवों के समस्त पुरखों का; अभिवन्दितः—पूज्य; पतिः—स्वामी; आस्थाय—सफलतापूर्वक अभ्यास किया हुआ; योगम्—योगशक्ति; निपुणम्—अत्यन्त पटु; समाहितः—स्वरूप-सिद्ध; तम्—परमेश्वर को; न—नहीं; अध्यगच्छम्—ठीक से समझा; यतः—जिससे; आत्म—स्वयं; सम्भवः—उत्पन्न।

यद्यपि मैं वैदिक ज्ञान की शिष्य-परम्परा में दक्ष महान् ब्रह्मा के रूप में विख्यात हूँ और यद्यपि मैंने सारी तपस्याएँ की हैं तथा यद्यपि मैं योगशक्ति एवं आत्म-साक्षात्कार में पटु हूँ और मुझे सादर प्रणाम करनेवाले जीवों के महान् प्रजापति मुझे इसी रूप में मानते हैं, तो भी मैं उन भगवान् को नहीं समझ सकता, जो मेरे जन्म के मूल उद्गम हैं।

तात्पर्य : इस ब्रह्माण्ड में समस्त जीवों में श्रेष्ठ ब्रह्माजी स्वीकार कर रहे हैं कि वे वैदिक ज्ञान में अपने पाण्डित्य, अपनी तपस्या, योगशक्ति तथा आत्म-साक्षात्कार के बावजूद एवं जीवों के पुरखों, महान् प्रजापतियों द्वारा पूजित होने पर भी, परमेश्वर को जान पाने में अक्षम हैं। अतएव परमेश्वर को जानने के लिए इतनी योग्यताएँ पर्याप्त नहीं हैं। ब्रह्माजी भगवान् को थोड़ा-थोड़ा तब समझ पाये जब वे अपने हृदय की उत्कण्ठा से (*हृदौत्कण्ठ्यवता*) उनकी सेवा करने का प्रयत्न कर रहे थे, जो भक्तियोग है। अतएव भगवान् को सेवा की निष्ठापूर्ण उत्कण्ठा द्वारा ही जाना जा सकता है, वैज्ञानिक या ज्ञानी होने या योगशक्ति की प्राप्ति की भौतिक योग्यता द्वारा नहीं। इस तथ्य की पुष्टि *भगवद्गीता* (१८.५४-५५) में स्पष्ट रूप से हुई है :

ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

वैदिक ज्ञान, तपस्या आदि उपर्युक्त उच्च योग्यताओं को प्राप्त करके भक्ति-मार्ग में केवल आत्म-साक्षात्कार सहायक बन सकता है। किन्तु भक्ति-मय सेवा के अभाव में मनुष्य अपूर्ण बना रहता है, क्योंकि उस आत्म-साक्षात्कार की स्थिति में भी वह परमेश्वर को ठीक से नहीं जान पाता। आत्म-साक्षात्कार द्वारा मनुष्य भक्त बनने का पात्र हो जाता है और भक्त सेवा-भाव से (*भक्त्या*) ही क्रमशः भगवान् को जान सकता है, किन्तु *विशते* (में प्रवेश करता है) का यह गलत आशय नहीं लेना चाहिए कि इससे परमेश्वर के अस्तित्व में लीन होने का निर्देश मिलता है। इस भौतिक जगत में भी मनुष्य भगवान् के अस्तित्व में लीन हो सकता है। कोई भी भौतिकतावादी आत्मा को पदार्थ से विलग नहीं कर सकता, जिस प्रकार कोई अबूझ व्यक्ति दूध से मक्खन विलग नहीं कर सकता, क्योंकि आत्मा भगवान् की बहिरंगा शक्ति में लीन रहता है। भक्ति से (*भक्त्या*) इस *विशते* का अर्थ है साक्षात् भगवान् का सान्निध्य करने में समर्थ होना। *भक्ति* का अर्थ है भवबन्धन से मुक्त होना और भगवान् की तरह बनकर उनके धाम में प्रवेश करना। *भक्तियोग* या भक्तों का लक्ष्य अपनी सत्ता खोना नहीं है। मुक्ति के पाँच प्रकार हैं, जिनमें सायुज्य भक्ति भगवान् के अस्तित्व या शरीर में लीन होना है। मुक्ति के अन्य प्रकारों में सूक्ष्म आत्मा की सत्ता बनी रहती है और वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगी रहती है। *भगवद्गीता* के श्लोक में *विशते* शब्द उन भक्तों के लिए आया है, जो किसी प्रकार की मुक्ति के लिए इच्छुक नहीं रहते। भक्तगण अपनी स्थिति की परवाह न करते हुए भगवान् की सेवा में संलग्न रहने मात्र से तुष्ट रहते हैं।

ब्रह्माजी प्रथम जीव हैं, जिन्होंने सीधे भगवान् से वैदिक ज्ञान सीखा (*तेने ब्रह्म हृदा य आदि-कवये*)। अतः ब्रह्माजी से बढ़कर वेदान्ती कौन विद्वान हो सकता है? किन्तु वे स्वीकार करते हैं कि वेदों का पूर्ण ज्ञान होने पर भी वे भगवान् की महिमाओं को समझने में अक्षम हैं। चूँकि ब्रह्मा से बढ़कर कोई नहीं हो सकता, अतएव तथाकथित वेदान्ती परम सत्य के विषय में कैसे जान सकते हैं?

अतएव तथाकथित वेदान्ती *भक्ति* के साथ *वेदांत* (*भक्तिवेदांत*) में प्रशिक्षित हुए बिना भगवान् के अस्तित्व में प्रवेश नहीं कर सकते। *वेदांत* का अर्थ है आत्म-साक्षात्कार और *भक्ति* का अर्थ है कुछ हद तक भगवान् का साक्षात्कार। भगवान् को कोई भी पूर्णतः नहीं जान सकता लेकिन आत्म-समर्पण तथा भक्ति-भाव से उन्हें कुछ कुछ जाना जा सकता है, अन्य किसी भी विधि से नहीं। *ब्रह्म-संहिता* में भी कहा गया है—*वेदेषु दुर्लभम्* अर्थात् वेदान्त के अध्ययन से शायद ही भगवान् के अस्तित्व को जाना जा सके किन्तु भगवान् *अदुर्लभम् आत्म-भक्तौ*—अपने भक्तों के लिए सहज सुलभ हैं। अतएव श्रील व्यासदेव को वेदान्त सूत्र के संकलन से सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने इसके बाद अपने गुरु नारद के उपदेश से *श्रीमद्भागवत* का संकलन किया, जिससे वेदान्त के असली आशय को समझा जा सकता है।

नतोऽस्म्यहं तच्चरणं समीयुषां
भवच्छिदं स्वस्त्ययनं सुमङ्गलम् ।
यो ह्यात्म-माया-विभवं स्म पर्यगाद्
यथा नभः स्वान्तमथापरे कुतः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

नतः—नमस्कार करता हूँ; अस्मि—हूँ; अहम्—मैं; तत्—उस भगवान् के; चरणम्—चरणों पर; समीयुषाम्—शरणागत का; भवत्-छिदम्—जन्म-मरण के चक्र को रोकनेवाला; स्वस्ति-अयनम्—समस्त सुख की अनुभूति; सु-मङ्गलम्—शुभ कल्याणप्रद; यः—जो; हि—निश्चय ही; आत्म-माया—व्यक्तिगत शक्ति; विभवम्—शक्ति; स्म—निश्चय ही; पर्यगात्—अनुमान नहीं लगा सकता; यथा—जिस तरह; नभः—आकाश; स्व-अन्तम्—अपनी सीमा; अथ—अतएव; अपरे—अन्य; कुतः—किस तरह।

अतएव मेरे लिए श्रेयस्कर होगा कि मैं उनके चरणों में आत्म-समर्पण कर दूँ, क्योंकि केवल वे ही मनुष्य को जन्म-मृत्यु के चक्र से उबार सकते हैं। ऐसा आत्म-समर्पण कल्याणप्रद है और इससे समस्त सुख की अनुभूति होती है। आकाश भी अपने विस्तार की सीमाओं का अनुमान नहीं लगा सकता। अतएव जब भगवान् ही अपनी सीमाओं का अनुमान लगाने में अक्षम रहते हैं, तो भला दूसरे क्या कर सकते हैं?

तात्पर्य : जीवों में सर्वाधिक विद्वान, सर्वोच्च यज्ञकर्ता, सर्वोच्च तपस्वी तथा सर्वोच्च स्वरूपसिद्ध योगी ब्रह्माजी हमें समस्त जीवों के परम गुरु के रूप में उपदेश देते हैं कि सारी सफलता प्राप्त करने के लिए, यहाँ तक कि भौतिक जीवन के कष्टों से मुक्ति पाने तथा कल्याणमय आध्यात्मिक जीवन के लिए भी, हमें भगवान् के चरणकमलों में आत्म-समर्पण करना ही चाहिए। ब्रह्माजी *पितामह* कहलाते हैं,

अर्थात् वे पिता के भी पिता हैं। एक नवयुवक अपना कर्तव्य पालन करने के लिए अपने अनुभवी पिता से सलाह लेता है, अतएव पिता श्रेष्ठ उपदेशक (सलाहकार) होता है। किन्तु ब्रह्मा सभी के पिताओं के पिता हैं। वे उस मनु के पिता के पिता हैं, जो सारे ब्रह्माण्डों के मनुष्यों के पिता हैं। अतएव इस क्षुद्र लोक के लोगों को ब्रह्मा का आदेश कृपापूर्वक मानना चाहिए और अच्छा यही होगा कि वे भगवान् की शक्तियों की नाप-जोख न करके, उनके चरणकमलों पर आत्म-समर्पण कर दें। उनकी शक्तियाँ असीम हैं, जैसी कि वेदों द्वारा पुष्टि होती है— *परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च* (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.८)। वे सबों से बड़े हैं और अन्य लोग, यहाँ तक कि समस्त जीवों में श्रेष्ठ ब्रह्माजी भी, स्वीकार करते हैं कि हमारे लिए सर्वोत्तम यही होगा कि उनकी शरण ग्रहण की जाय। अतएव जो अल्पज्ञ हैं, वे ही अपने को सर्वेसर्वा होने का दावा करते हैं, लेकिन उनकी पहुँच कितनी है? वे एक छोटे से ब्रह्माण्ड के क्षुद्र आकाश की भी लम्बाई-चौड़ाई नहीं माप सकते। तथाकथित भौतिक विज्ञानी कहता है कि उसे ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोक तक पहुँचने में चालीस हजार वर्ष लगेंगे, यदि वह यह यात्रा अन्तरिक्ष-यान से करे। यह भी काल्पनिक आदर्श है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति चालीस हजार वर्ष तक जीवित नहीं रह सकता। इसके अतिरिक्त, जब अन्तरिक्ष-यात्री वापस लौटेगा तो जैसाकि आज के मोहग्रस्त विज्ञानियों में फैशन बन चुका है, सर्वश्रेष्ठ अन्तरिक्ष-यात्री के रूप में उसका स्वागत करने के लिए कोई नहीं होगा। एक विज्ञानी, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता था, अपने भौतिक जीवन की योजनाएँ बनाने के लिए अत्यन्त उत्सुक था, अतएव उसने जीवित व्यक्तियों को बचाने के लिए एक बहुत बड़ा अस्पताल खोला। किन्तु अस्पताल खोलने के छह मास के भीतर ही वह स्वयं मर गया। अतएव मनुष्य को चाहिए कि चौरासी लाख योनियों में शरीर के बारबार बदलने के बाद प्राप्त अपने उस मनुष्य जीवन को, आर्थिक उन्नति तथा वैज्ञानिक ज्ञान के विकास के नाम पर कृत्रिम आवश्यकताएँ बढ़ाकर मनगढ़ंत भौतिक जीवन-सुख के हेतु व्यर्थ न गँवाये। प्रत्युत जीवन के समस्त दुखों को हल करने के लिए भगवान् के चरणों की शरण ग्रहण करे। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण का यही आदेश है और *श्रीमद्भागवत* में समस्त जीवों के परम पिता ब्रह्माजी का भी यही आदेश है।

जो व्यक्ति *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत,* इन दोनों द्वारा संस्तुत आत्म-समर्पण (शरणागति) की इस विधि से इनकार करता है और इस तरह वह समस्त वैध शास्त्रों को नकारता है, तो उसे प्रकृति के नियमों के समक्ष आत्म-समर्पण के लिए बाध्य होना पड़ेगा। अपनी स्वाभाविक स्थिति के अनुसार जीव स्वतन्त्र नहीं है। उसे या तो भगवान् को या प्रकृति को आत्म-समर्पण करना पड़ेगा। प्रकृति भी भगवान् से स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि स्वयं भगवान् ने प्रकृति को मम माया अर्थात् मेरी माया (*भगवद्गीता* ७.१४ में) तथा *मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा* (*भगवद्गीता* ७.४) अर्थात् आठ विभागों वाली मेरी भिन्ना शक्ति कहकर सम्बोधित किया है। अतएव प्रकृति भी भगवान् के वश में है, जैसाकि उन्होंने (*भगवद्गीता* ९.१०) दावा किया है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयतेसचराचरम्*—मेरी अध्यक्षता में, यह प्रकृति कार्य करती है और इस तरह सारी वस्तुएँ गतिशील हैं। जीव पदार्थ की तुलना में श्रेष्ठ (परा) शक्ति होने के कारण, चाहे तो भगवान् को आत्म-समर्पण करे, चाहे प्रकृति को। भगवान् को आत्म-समर्पण करने पर मनुष्य सुखी तथा मुक्त बन जाता है, किन्तु प्रकृति को आत्म-समर्पण करने पर जीव दुख ही दुख उठाता है। अतएव समस्त दुखों के अन्त का अर्थ है भगवान् को आत्म-समर्पण करना, क्योंकि यह आत्म-समर्पण की प्रक्रिया स्वयं ही *भवच्छिदम्* (समस्त भौतिक कष्टों से मुक्ति), *स्वस्त्ययनम्* (समस्त सुख की अनुभूति) तथा *सुमङ्गलम्* (समस्त कल्याण का स्रोत) है।

अतएव भगवान् को आत्म-समर्पण करके ही स्वतन्त्रता, सुख तथा सौभाग्य की प्राप्ति की जा सकती है, क्योंकि वे पूर्ण स्वतन्त्रता, पूर्ण सुख-मय तथा पूर्ण कल्याण-मय हैं। ऐसी मुक्ति तथा सुख असीम भी होते हैं और इनकी तुलना आकाश से की गई है, यद्यपि वे आकाश से भी बढ़कर हैं। हम अपनी वर्तमान स्थिति में इस विशालता को आकाश की तुलना द्वारा समझ जाते हैं। हम आकाश को मापने में असमर्थ हैं, किन्तु भगवान् के सान्निध्य से जो सुख तथा मुक्ति प्राप्त होती है, वह आकाश की तुलना में वृहत्तर है। यह आध्यात्मिक सुख इतना विशाल है कि स्वयं भगवान् भी इसे नहीं माप पाते, अन्यों की तो कोई बात ही नहीं है।

शास्त्रों में कहा गया है—*ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम्*—आध्यात्मिक आनन्द असीम है। यहाँ पर कहा गया है कि भगवान् भी ऐसे सुख को नहीं माप पाते। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि चूँकि भगवान् इसे

माप नहीं सकते, अतएव वे इस दिशा में अपूर्ण हैं। वास्तविक स्थिति यह है कि भगवान् इसे माप सकते हैं, लेकिन भगवान् में जो सुख है, वह परम ज्ञान के कारण भगवान् से अभिन्न भी है। अतएव भगवान् से प्राप्त होनेवाला सुख भगवान् द्वारा मापा जा सकता है, लेकिन यह सुख पुन: बढ़ जाता है और जब भगवान् इसे दुबारा मापते हैं, तो यह सुख और बढ़ता जाता है। इस प्रकार वृद्धि तथा माप में लगातार स्पर्धा चलती है, यहाँ तक कि यह कभी रुकती नहीं और अनन्त रूप से चलती रहती है। आध्यात्मिक सुख *आनन्दाम्बुधि-वर्धनम्* है, अर्थात् सुख का सागर है, जो बढ़ता जाता है। भौतिक समुद्र तो रुका हुआ रहता है, लेकिन आध्यात्मिक समुद्र गतिशील है। कविराज गोस्वामी ने *चैतन्य-चरितामृत* (*आदि-लीला,* चतुर्थ अध्याय) में भगवान् कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति, श्रीमती राधारानी, के दिव्य शरीर में इस आध्यात्मिक सुख के सिन्धु की गतिशील वृद्धि का सुन्दर वर्णन किया है।

नाहं न यूयं यद्दतां गतिं विदु-
र्न वामदेवः किमुतापरे सुराः ।
तन्मायया मोहित-बुद्धयस्त्विदं
विनिर्मितं चात्म-समं विचक्ष्महे ॥ ३७॥

शब्दार्थ

न—न तो; अहम्—मैं; न—न तो; यूयम्—तुम सब मेरे पुत्र; यत्—जिसका; ऋताम्—वास्तविक; गतिम्—गति; विदुः—जानते हैं; न—न तो; वामदेवः—शिवजी; किम्—क्या; उत—और कुछ; अपरे—अन्य; सुराः—देवता; तत्—उसकी; मायया—माया से; मोहित—मुग्ध; बुद्धयः—ऐसी बुद्धि से; तु—लेकिन; इदम्—यह; विनिर्मितम्—जो उत्पन्न किया जाता है; च—भी; आत्म-समम्—अपनी शक्ति के बल पर; विचक्ष्महे—देखते हैं।

जब न शिवजी, न तुम और न मैं ही आध्यात्मिक आनन्द की सीमाएँ तय कर सके हैं, तो अन्य देवता इसे कैसे जान सकते हैं? चूँकि हम सभी भगवान् की माया से मोहित हैं, अतएव हम अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही इस व्यक्त विश्व को देख सकते हैं।

तात्पर्य : हमने अनेक बार बारह चुने हुए प्रामाणिक पुरुषों (द्वादश महाजन) के नामों का उल्लेख किया है, जिनमें ब्रह्मा, नारद तथा शिवजी के नाम उस सूची में क्रमानुसार प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय स्थान पर आते हैं, जो परमेश्वर के विषय में काफी-कुछ जानते हैं। अन्य देवता, उपदेवता, गन्धर्व, चारण, विद्याधर, मनुष्य या असुर सम्भवत: भगवान् श्रीकृष्ण की शक्तियों के विषय में पूरी तरह कभी नहीं जान सकते। इनमें से देवता, उपदेवता, गन्धर्व आदि उच्चतर लोकों के उच्च कोटि के बुद्धिमान

व्यक्ति हैं, मनुष्य मध्य लोक के वासी हैं और असुर अधोलोकों के वासी हैं। इनमें से सबों की परम सत्य-विषयक अपनी-अपनी अवधारणाएँ हैं, जिस प्रकार कि मानव समाज में विज्ञानी या ज्ञानमार्गी दार्शनिकों की होती हैं। ये सारे जीव भौतिक प्रकृति के प्राणी हैं, अतः ये सब प्रकृति के तीन गुणों के चमत्कारिक प्रदर्शन से मोहित होते रहते हैं। ऐसे मोह का उल्लेख *भगवद्गीता* (७.१३) में हुआ है—*त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्*—प्रत्येक जीव, ब्रह्मा से लेकर चींटी तक प्रकृति के गुणों—सतो, रजो तथा तमो—के द्वारा अपनी-अपनी तरह से मोहित है। हर कोई अपनी व्यक्तिगत क्षमता के अनुसार सोचता है कि हमारे समक्ष व्यक्त यह ब्रह्माण्ड ही सब कुछ है। इसी तरह बीसवीं सदी के मानव समाज का विज्ञानी ब्रह्माण्ड के इति-अथ की गणना अपने ढंग से करता है। लेकिन ऐसे विज्ञानी क्या जान सकेंगे? एक बार ब्रह्मा भी अपने आपको भगवान् का एकमात्र कृपा-पात्र ब्रह्मा मानकर मोहग्रस्त हुए थे, लेकिन बाद में भगवत्कृपा से उन्हें ज्ञात हो सका कि ऐसे असंख्य अधिक शक्तिशाली ब्रह्मा हैं, जो इससे भी बड़े ब्रह्माण्डों में रहते हैं और ये सारे ब्रह्माण्ड मिलकर *एकपाद विभूति* या भगवान् की सृजनात्मक शक्ति का एक चतुर्थांश बनते हैं। उनकी शक्ति का शेष तीन चौथाई अंश आध्यात्मिक जगत में प्रदर्शित होता है, अतएव छोटे से मस्तिष्क वाला एक क्षुद्र विज्ञानी भगवान् श्रीकृष्ण के विषय में क्या जान पायेगा? अतएव भगवान् कहते हैं *मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्*—प्रकृति के गुणों से मोहित होने के कारण वे यह नहीं समझ पाते कि इन अभिव्यक्तियों के परे एक ऐसा परम पुरुष है, जो सबों का परम नियंता है। चूँकि ब्रह्मा, नारद तथा शिव भगवान् के विषय में काफी जानते हैं, अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह इन महापुरुषों के उपदेशों का अनुगमन करे, न कि क्षुद्र मस्तिष्क के खिलवाड़पूर्ण अनुसन्धानों से—यथा अन्तरिक्ष यान तथा विज्ञान की अन्य वस्तुओं—से सन्तुष्ट हो। जिस प्रकार माता ही बालक के पिता की पहचान करने में एकमात्र प्रमाण-स्वरूप है, उसी प्रकार ब्रह्मा, नारद या शिव जैसे मान्य अधिकारियों द्वारा प्रस्तुत वेदरूपी माता परम सत्य के विषय में सूचित करने की एकमात्र अधिकारिणी है।

यस्यावतार-कर्माणि गायन्ति ह्यस्मदादयः ।
न यं विदन्ति तत्त्वेन तस्मै भगवते नमः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; अवतार—अवतार; कर्माणि—कार्यकलाप; गायन्ति—महिमा का गायन करते हैं; हि—निस्सन्देह; अस्मत्-आदयः—हम जैसे व्यक्ति; न—नहीं; यम्—जिसको; विदन्ति—जानते हैं; तत्त्वेन—शत-प्रतिशत उसी रूप में; तस्मै—उन; भगवते—भगवान् श्रीकृष्ण को; नमः—नमस्कार करता हूँ।.

हम उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को सादर प्रणाम करते हैं, जिनके अवतारों तथा कार्य-कलापों का गायन हमारे द्वारा उनके महिमा-मण्डन के लिए किया जाता है, यद्यपि वे अपने यथार्थ रूप में बड़ी कठिनाई से ही जाने जा सकते हैं।

तात्पर्य : यह कहा जाता है कि भगवान् के दिव्य नाम, रूप, गुण, लीलाओं, साज-समान, व्यक्तित्व आदि की अनुभूति संभवतः स्थूल भौतिकतावादी इन्द्रियों द्वारा नहीं की जा सकती। किन्तु जब इन्द्रियों को श्रवण, कीर्तन, स्मरण तथा श्रीविग्रह के चरणकमलों की पूजा आदि की प्रक्रिया के द्वारा शुद्ध कर लिया जाता है, तो भगवान् भक्तिमय सेवा की गुणता के अनुसार अपने आपको प्रकट करते हैं (*ये यथा मां प्रपद्यन्ते*)। मनुष्य को भगवान् से यह उम्मीद नहीं करनी चाहिए कि वे हमारे आदेश पूरक एजेण्ट की भाँति हैं, जो हमारे चाहते ही हमारे समक्ष उपस्थित हो जायेगा। हमें ब्रह्मा, नारद तथा अन्य अधिकारिक शिष्य परम्परा के हमारे पूर्वगामियों द्वारा दिखलाए गये पथ का अनुगमन करते हुए निर्दिष्ट भक्ति-कार्यों को सम्पन्न करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। ज्यों-ज्यों प्रामाणिक भक्ति से इन्द्रियाँ क्रमशः शुद्ध होती जाती हैं, त्यों-त्यों भगवान् भक्त की आध्यात्मिक प्रगति के अनुसार अपनी सत्ता का उद्घाटन करते चलते हैं। किन्तु जो भक्ति सम्प्रदाय में नहीं आया है, वह केवल आकलनों और दार्शनिक अनुमानों से उनकी अनुभूति नहीं कर सकता है। ऐसा कठोर-कर्मी भले ही श्रोताओं के समक्ष शब्दजाल प्रस्तुत कर दे, किन्तु वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को उनके साकार रूप में कभी नहीं जान सकता। भगवान् ने *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा है कि कोई भी उन्हें केवल भक्ति के द्वारा जान सकता है। कोई भी व्यक्ति किसी आड़बर पूर्ण भौतिक चुनौती के द्वारा भगवान को नहीं जान सकता, लेकिन विनीत भक्त अपने सच्चे भक्ति-कार्यों से भगवान् को प्रसन्न कर सकता है। इस तरह भगवान् भक्त के समक्ष, एक अनुपात में ही प्रगट होते हैं। अतएव ब्रह्माजी प्रामाणिक गुरु के रूप में सादर नमस्कार करते हैं और हमें भी *श्रवण* तथा *कीर्तन* की विधि का अनुसरण करने का उपदेश देते हैं। केवल इसी विधि से या भगवान् के अवतार के कार्यकलापों की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन से मनुष्य

अपने अन्त:करण में भगवान् की सत्ता का दर्शन कर सकता है। इस विषय पर *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कन्ध में निम्नलिखित श्लोक के प्रसंग पर हम पहले ही व्याख्या कर चुके हैं—

तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया।

पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया॥

(भागवत१.२.१२)

निष्कर्ष यह है कि भगवान् को किसी भी विधि से पूरी तरह नहीं जाना जा सकता, किन्तु वे श्रवण, कीर्तन आदि की भक्ति-विधि द्वारा अंशत: देखे तथा अनुभव किये जा सकते हैं।

स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः ।
आत्मात्मन्यात्मनात्मानं स संयच्छति पाति च ॥ ३९॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—वही; आद्यः—आदि भगवान्; पुरुषः—महाविष्णु अवतार, गोविन्द, श्रीकृष्ण के पूर्णांश; कल्पे कल्पे—प्रत्येक कल्प में; सृजति—सृष्टि करता है; अजः—अजन्मा; आत्मा—स्वयं; आत्मनि—स्वयं में; आत्मना—स्वयं से; आत्मानम्—स्वयं को; सः—वह; संयच्छति—लीन कर लेता है; पाति—पालन करता है; च—भी।

वे परम आदि भगवान् श्रीकृष्ण, प्रथम अवतार महाविष्णु के रूप में अपना विस्तार करके इस व्यक्त जगत की सृष्टि करते हैं, किन्तु वे अजन्मा रहते हैं। फिर भी सृष्टि उन्हीं से है, भौतिक पदार्थ तथा अभिव्यक्ति भी वे ही हैं। वे कुछ काल तक उनका पालन करते हैं और फिर उन्हें अपने में समाहित कर लेते हैं।

तात्पर्य : यह सृष्टि भगवान् से अभिन्न है, फिर भी वे सृष्टि में नहीं हैं। *भगवद्गीता* (९.४) में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थित:॥

परम सत्य की निर्विशेष अवधारणा भी भगवान् का एक रूप है, जिसे *अव्यक्त-मूर्ति* कहते हैं। *मूर्ति* का अर्थ है 'रूप', लेकिन चूँकि हमारी सीमित इन्द्रियाँ उनके निर्विशेष स्वरूप का वर्णन नहीं कर पातीं, अतएव वे *अव्यक्तमूर्ति* हैं और इसी अव्यक्त रूप में सारी सृष्टि स्थित है। अथवा दूसरे शब्दों में, सारी सृष्टि ही साक्षात् भगवान् है और यह सृष्टि उनसे अभिन्न भी है, किन्तु साथ ही आदि भगवान्

श्रीकृष्ण के रूप में वे सृजित जगत से पृथक् हैं। निर्विशेषवादी भगवान् के निर्विशेष रूप पर बल देते हैं और भगवान् के आदि व्यक्तित्व पर विश्वास नहीं करते, किन्तु वैष्णवजन भगवान् के आदि रूप को स्वीकार करते हैं, जिनका निर्विशेष रूप अनेक स्वरूपों में से केवल एक है। भगवान् की साकार तथा निर्विशेष अवधारणाएँ साथ-साथ पाई जाती हैं और *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* में तथा अन्य वैदिक शास्त्रों में इस तथ्य का स्पष्ट वर्णन हुआ है। यह विचार मानवबुद्धि के लिए अकल्पनीय है, अतएव इसे शास्त्रों के प्रमाण के आधार पर स्वीकार कर लेना चाहिए। इसकी व्यावहारिक अनुभूति तो भक्ति की प्रगति होने पर ही सम्भव है, किसी मानसिक चिन्तन या शुष्क तर्क के आधार पर नहीं। निर्विशेषवादी अधिकतर शुष्क तर्क पर आश्रित रहते हैं, अतएव वे आदि भगवान् श्रीकृष्ण के विषय में सदैव अन्धकार में रहते हैं। उनकी कृष्ण-विषयक अवधारणा स्पष्ट नहीं हो पाती, यद्यपि यह सारे वैदिक शास्त्रों में स्पष्ट मिलती है। अल्पज्ञान से भगवान् के आदि साकार रूप का अस्तित्व समझ में नहीं आ सकता, क्योंकि भगवान् का सभी वस्तुओं में विस्तार है। यह अर्पूणता न्यूनाधिक इस भौतिक धारणा के कारण है कि जो वस्तु अपने अंशों में वितरित हो जाती है, वह अपने आदि (मूल) रूप में विद्यमान नहीं रह सकती।

आदि भगवान् (*आद्यः*) गोविन्द, महाविष्णु अवतार के रूप में, अपना विस्तार करते हैं और अपने ही द्वारा उत्पन्न किये गये कारणार्णव में विश्राम करते हैं। *ब्रह्म-संहिता* (५.४७) में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—

यः कारणार्णवजले भजति स्म योग-

निद्रामनन्तजगदण्डसरोमकूपः

आधारशक्तिमवलम्ब्य परां स्वमूर्तिं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

ब्रह्म-संहिता में ब्रह्माजी कहते हैं "मैं आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अपने पूर्णांश महाविष्णु के रुप में कारणार्णव में शयन करते हैं और जिनके दिव्य शरीर के रोम-कूपों से समस्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं और जो शाश्वत योगनिद्रा ग्रहण किये रहते हैं।"

अतएव ये महाविष्णु इस सृष्टि के प्रथम अवतार हैं और उन्हीं से सारे ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं तथा एक-एक करके सारी भौतिक अभिव्यक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। कारणार्णव की उत्पत्ति भगवान् द्वारा महत् तत्त्व के रूप में की जाती है, जो आध्यात्मिक आकाश में बादल के रूप में होता है और उनकी विभिन्न अभिव्यक्तियों में से केवल एक भाग है। आध्यात्मिक आकाश उनकी व्यक्तिगत किरणों का विस्तार है और वे महत् तत्त्व बादल भी हैं। वे लेटे रहते हैं और अपनी श्वास से ब्रह्माण्डों को उत्पन्न करते हैं और फिर गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में, प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश करके, उसके पालन हेतु ब्रह्मा, शिव तथा अन्य अनेक देवताओं की सृष्टि करते हैं तथा अन्त में इन सबों को अपने शरीर में समाहित कर लेते हैं, जैसी कि *भगवद्गीता* (९.७) में पुष्टि हुई है—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।

कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥

"हे कुन्ती-पुत्र! जब कल्प अर्थात् ब्रह्मा की आयु समाप्त होती है, तो सारी सृजित अभिव्यक्तियाँ मेरी प्रकृति अर्थात् शक्ति में प्रवेश कर जाती हैं और जब मैं पुन: इच्छा करता हूँ तो पुन: वही सृष्टि मेरी आत्म-शक्ति से प्रकट होती है।"

निष्कर्ष यह है कि यह सब भगवान् की अचिन्त्य आत्मशक्तियों का प्रदर्शन मात्र है, जिसके विषय में किसी को भी पूरी जानकारी नहीं हो सकती। हम इस बात को पहले भी बता चुके हैं।

विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यगवस्थितम् ।
सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम् ॥ ४० ॥
ऋषे विदन्ति मुनय: प्रशान्तात्मेन्द्रियाशया: ।
यदा तदेवासत्तर्कैस्तिरोधीयेत विप्लुतम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

विशुद्धम्—भौतिक कल्मष के बिना; केवलम्—शुद्ध तथा पूर्ण; ज्ञानम्—ज्ञान; प्रत्यक्—सर्वव्यापी; सम्यक्—पूर्ण रूप से; अवस्थितम्—स्थित; सत्यम्—सत्य; पूर्णम्—पूर्ण; अनादि—जिसका आदि न हो; अन्तम्—जिसका अन्त न हो; निर्गुणम्—गुणों से रहित; नित्यम्—शाश्वत; अद्वयम्—अद्वितीय; ऋषे—हे ऋषि नारद; विदन्ति—समझ सकते हैं; मुनय:—बड़े-बड़े विचारक; प्रशान्त—शान्त-चित्त; आत्म—स्वयं; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आशया:—शरणागत; यदा—जब; तत्—वह; एव—निश्चय ही; असत्—न लागू होनेवाला; तर्कै:—तर्कों द्वारा; तिर:-धीयेत—विलुप्त हो जाता है; विप्लुतम्—विकृत।

भगवान् पवित्र हैं और भौतिक क्लेश के समस्त कल्मष से रहित हैं। वे परम सत्य हैं और साक्षात् पूर्ण ज्ञान हैं। वे सर्वव्यापी, अनादि, अनन्त तथा अद्वय हैं। हे नारद, हे ऋषि, बड़े-बड़े

मुनि उन्हें तभी जान सकते हैं, जब वे समस्त भौतिक लालसाओं से मुक्त हो जाते हैं और अविचलित इन्द्रियों की शरण ग्रहण कर लेते हैं। अन्यथा व्यर्थ के तर्कों से सब कुछ विकृत हो जाता है और भगवान् हमारी दृष्टि से ओझल हो जाते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर क्षणिक भौतिक सृष्टियों में भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के अतिरिक्त भगवान् का मूल्यांकन किया गया है। मायावादी दर्शन भगवान् को, जब वे अवतरित होते हैं, भौतिक शरीर से कलुषित हुआ बताता है। यहाँ पर भगवान् की स्थिति को सभी परिस्थितियों में शुद्ध तथा विशुद्ध कहकर इस प्रकार की व्याख्या को पूर्णतया अस्वीकार किया गया है। मायावाद दर्शन के अनुसार, अज्ञान से आच्छादित आत्मा को *जीव* की संज्ञा प्रदान की जाती है, किन्तु जब वह इस अज्ञान या अविद्या से मुक्त हो जाता है, तो परम सत्य के निर्विशेष स्वरूप में लीन हो जाता है। किन्तु यहाँ पर यह कहा गया है कि भगवान् पूर्णज्ञान के शाश्वत प्रतीक हैं। यह तो उनकी विशिष्टता है कि वे समस्त भौतिक कल्मष से पूर्ण रूप से मुक्त हैं। यह विशेषता सामान्य जीवों से भगवान् को पृथक् करती है, क्योंकि जीवों में अज्ञान के वशीभूत होने की प्रवृत्ति पाई जाती है और इस तरह वे भौतिक उपाधियाँ ग्रहण करते हैं। वेदों में कहा गया है कि भगवान् *विज्ञानम् आनन्दम्* हैं अर्थात् ज्ञान तथा आनन्द से पूर्ण हैं। बद्धजीवों की तुलना उनसे नहीं की जा सकती, क्योंकि जीवों में *कल्मष-ग्रस्त* होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। यद्यपि मुक्ति के बाद जीव भी भगवान् जैसा गुण ग्रहण कर सकता है, किन्तु कल्मषग्रस्त होने की प्रवृत्ति के कारण ही जो प्रवृत्ति भगवान् में नहीं होती जीव भगवान् से भिन्न है। वेदों में कहा गया है: *शुद्धम् अपापविद्धम्*—जीवात्मा पाप से दूषित हो जाता है, लेकिन भगवान् पापों से कभी दूषित नहीं होते। भगवान् की उपमा शक्तिशाली सूर्य से दी गई है। सूर्य शक्तिमान होने कारण किसी प्रकार संक्रमणसे-ग्रस्त नहीं होता। इसके विपरीत, सूर्य की किरणों से संदूषित वस्तुएँ विसंक्रमित हो जाती हैं। इसी तरह भगवान् पापों से कल्मषग्रस्त नहीं होते, अपितु पापी जीव उनके संसर्ग में आकर पवित्र हो जाते हैं। इसका अर्थ हुआ कि भगवान् भी सूर्य के समान सर्वव्यापी हैं। फलस्वरूप इस श्लोक में *प्रत्यक्* शब्द व्यवहृत हुआ है। भगवान् की शक्ति के विस्तारों में किसी वस्तु को बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। भगवान् सबके भीतर हैं और व्यक्तिगत जीव के कार्यकलापों से प्रभावित हुए बिना वे

सबको आच्छादित करनेवाले हैं। अतएव वे असीम हैं और जीव अतिसूक्ष्म हैं। वेदों में कहा गया है कि अकेले भगवान् का ही अस्तित्व है और अन्य सबका अस्तित्व उन पर निर्भर है। वे हर एक की अस्तित्व-क्षमता के जनन-आगार हैं, वे समस्त निरपेक्ष सत्यों के परम सत्य हैं। वे प्रत्येक जीव के ऐश्वर्य के स्रोत हैं, अतएव ऐश्वर्य में कोई उनकी समता नहीं कर सकता। समस्त ऐश्वर्यों—धन, यश, बल, सौन्दर्य, ज्ञान तथा त्याग—से पूर्ण होने के कारण निश्चित ही वे परम पुरुष हैं। चूँकि वे पुरुष हैं, अतएव उनमें अनेक व्यक्तिगत गुण हैं, भले ही वे भौतिक गुणों से परे होते हैं। हम पहले ही *इत्थं भूत्गुणो हरिः* (*भागवत* १.७.१०) इस कथन की व्याख्या कर चुके हैं। उनके दिव्य गुण इतने आकर्षक हैं कि आत्माराम तक उनसे आकृष्ट होते हैं। यद्यपि वे समस्त निजी गुणों से युक्त हैं, तो भी वे सर्वशक्तिमान हैं। अतएव उन्हें कुछ करना नहीं पड़ता, क्योंकि उनकी सर्वशक्तिसम्पन्न शक्तियों से सब कुछ सम्पन्न हो जाता है। इसकी भी पुष्टि वैदिक मन्त्र द्वारा हुई है—*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।* इससे भगवान् के विशिष्ट आध्यात्मिक रूप का संकेत मिलता है, जो भौतिक इन्द्रियों द्वारा कभी अनुभूत नहीं होता। उनका दर्शन तभी किया जा सकता है, जब इन्द्रियाँ भक्तिमय सेवा द्वारा शुद्ध हो जाती हैं (*यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः*)। इस तरह भगवान् तथा जीवों में कई बातों में अन्तर है। किसी की तुलना भगवान् से नहीं की जा सकती, जैसाकि वेदों की घोषणा है (*एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, द्वैताद्वै भयं भवति*)। भगवान् का कोई प्रतियोगी नहीं है, अतएव उन्हें किसी से न तो भय है, न कोई उनके समान हो सकता है। यद्यपि वे समस्त जीवों के मूल कारण हैं, किन्तु उनमें तथा अन्य जीवों में मूलभूत अन्तर है। अन्यथा पिछले श्लोक में यह कहने की आवश्यकता न होती कि कोई उन्हें शत-प्रतिशत यथार्थ रूप में नहीं जान सकता (*न यं विदन्ति तत्त्वेन*)। इस श्लोक में यह भी बताया गया है कि उन्हें कोई भी पूर्ण रूप से नहीं जान सकता, लेकिन कुछ हद तक उन्हें समझ पाने के लिए योग्यताओं का उल्लेख किया गया है। केवल *प्रशान्त* अर्थात् भगवान् के विशुद्ध भक्त ही उन्हें काफी हद तक जान पाने में समर्थ हो पाते हैं। इसका कारण यह है कि भक्तों को किसी वस्तु की कामना नहीं होती। वे तो उनके आज्ञाकारी दास बने रहना चाहते हैं, लेकिन अन्य लोगों को—ज्ञानमार्गी दर्शनिक, योगी तथा सकाम-कर्मी—कुछ न कुछ माँग रहती है, अतएव वे प्रशान्त नहीं हो सकते।

सकाम-कर्मी अपने कर्म का पुरस्कार चाहते हैं, योगी जीवन की कोई सिद्धि चाहते हैं और ज्ञानमार्गी दार्शनिक भगवान् के अस्तित्व में लीन होना चाहते हैं। किन्तु जब तक इन्द्रियतृप्ति की माँग बनी रहती है, तब तक प्रशान्त होने का अवसर नहीं आ पाता। इसके विपरीत, अनावश्यक शुष्क तर्कों से सारा मामला बिगड़ जाता है और इस तरह भगवान् हमारी समझ से और भी दूर होते जाते हैं। किन्तु शुष्क चिन्तक तपस्या के सिद्धान्तों का पालन करते रहने से भगवान् के निर्विशेष स्वरूप को कुछ हद तक जान सकते हैं, फिर भी वे उनके परम गोविन्द स्वरूप को नहीं समझ सकते, क्योंकि जो पूर्ण रूप से निष्पाप हैं या *अमलात्मन* हैं, वे ही भगवान् की शुद्ध भक्ति को अंगीकार करते हैं, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.२८) में हुई है :

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रताः॥

आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य
कालः स्वभावः सदसन्मनश्च ।
द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि
विराट् स्वराट् स्थास्नु चरिष्णु भूम्नः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

आद्यः—प्रथम; अवतारः—अवतार; पुरुषः—कारणार्णवशायी विष्णु; परस्य—भगवान् का; कालः—काल, समय; स्वभावः—आकाश; सत्—फल; असत्—कारण; मनः—मन; च—भी; द्रव्यम्—तत्त्व; विकारः—भौतिक अहंकार; गुणः—प्रकृति के गुण; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; विराट्—पूर्ण शरीर; स्वराट्—गर्भोदकशायी विष्णु; स्थास्नु—अचर; चरिष्णु—चर; भूम्नः—भगवान् का।

कारणार्णवशायी विष्णु ही परमेश्वर के प्रथम अवतार हैं। वे नित्य काल, आकाश, कार्य-कारण, मन, तत्त्वों, भौतिक अहंकार, प्रकृति के गुणों, इन्द्रियों, भगवान् के विराट रूप, गर्भोदकशायी विष्णु तथा समस्त चर एवं अचर जीवों के स्वामी हैं।

तात्पर्य : इसके पूर्व हम कई बार बता चुके हैं कि यह भौतिक सृष्टि स्थायी नहीं है। यह सर्वशक्तिमान ईश्वर की भौतिक शक्ति का अस्थायी प्रदर्शन मात्र है। यह भौतिक सृष्टि उन बद्धजीवों के लिए सुअवसर प्रदान करने के लिए आवश्यक है, जो दिव्य प्रेमाभक्ति द्वारा भगवान् के साथ सम्बन्ध बनाने के इच्छुक नहीं होते। ऐसे बद्धजीवों को दिव्य लोक के मुक्त जीवन में प्रविष्ट होने नहीं दिया

जाता, क्योंकि वे हृदय से भगवान् की सेवा नहीं करना चाहते। बजाय इसके वे छद्म ईश्वर के रूप में भोग करना चाहते हैं। सारे जीव स्वभावत: भगवान् के नित्य सेवक हैं, किन्तु उनमें से कुछ, अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करने के कारण सेवा नहीं करना चाहते, अतएव उन्हें भौतिक प्रकृति अर्थात् माया या भ्रम का भोग करने दिया जाता है। यह भ्रम इसलिए कहलाता है, क्योंकि माया के चंगुल में फँसे जीव वास्तविक भोक्ता नहीं होते, यद्यपि माया द्वारा मोहग्रस्त होने के कारण वे अपने को ही भोक्ता समझते हैं। ऐसे मोहग्रस्त लोगों को रह-रह कर अवसर प्रदान किया जाता है कि वे प्रकृति के मिथ्या स्वामी बनने की अपनी विकृत प्रवृत्ति को सुधार लें। उन्हें भगवान् कृष्ण के साथ शाश्वत सम्बन्ध के विषय में वेदों की शिक्षा दी जाती है (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:*)। अतएव इस अस्थायी भौतिक सृष्टि की अभिव्यक्ति भगवान् की बहिरंगा भौतिक शक्ति का प्रदर्शन है और सम्पूर्ण खेल की व्यवस्था करने के लिए भगवान् कारणार्णवशायी विष्णु के रूप में उसी तरह अवतरित होते हैं, जिस तरह सरकारी कार्यों की अस्थायी देखरेख के लिए एक मैजिस्ट्रेट की नियुक्ति सरकार द्वारा की जाती है। ये कारणार्णवशायी विष्णु अपनी भौतिक शक्ति के ऊपर दृष्टिपात करके (*स ऐक्षत*) भौतिक सृष्टि करते हैं। श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में *जगृहे पौरुषं रूपम्* श्लोक की व्याख्या हम कुछ हद तक पहले ही दे चुके हैं। भौतिक सृष्टि की माया के खेल की अवधि कल्प कहलाती है और हम एक कल्प के बाद दूसरे कल्प में सृष्टि की चर्चा पहले ही कर चुके हैं। उनके अवतार तथा शक्तिमय कार्यकलापों से, सृष्टि के सम्पूर्ण अवयव प्रगट होते हैं। ये अवयव हैं काल, आकाश, कारण, फल, मन, स्थूल तथा सूक्ष्म तत्त्व तथा उनके साथ अन्त:क्रिया करनेवाले गुण—सतो, रजो तथा तमो—फिर इन्द्रियाँ तथा उनका आगार स्रोत, विराट विश्वरूप जो गर्भोदकशायी विष्णु के रुप में द्वितीय अवतार है तथा समस्त सचराचर जीव जो द्वितीय अवतार से उत्पन्न होते हैं, ये सारे प्रकट हो जाते हैं। अन्ततोगत्वा ये सारे सृष्टिकारी तत्त्व तथा स्वयं सृष्टि, भगवान् की शक्ति की अभिव्यक्तियाँ ही हैं, उनके नियन्त्रण से स्वतन्त्र कुछ भी नहीं है। सृष्टि में यह पहला अवतार कारणार्णवशायी विष्णु के रूप में है, जो आदि भगवान् कृष्ण का पूर्णांश है, जिसका वर्णन *ब्रह्म-संहिता* (५.४८) में इस प्रकार हुआ है :

यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य

जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः।

विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

सारे अनन्त ब्रह्माण्ड महाविष्णु या कारणार्णवशायी विष्णु के श्वासोच्छ्वास की अवधि तक ही रहते हैं, ये आदि भगवान् कृष्ण या गोविन्द के केवल पूर्णांश हैं।

अहं भवो यज्ञ इमे प्रजेशा
दक्षादयो ये भवदादयश्च ।
स्वर्लोक-पालाः खगलोक-पाला
नृलोक-पालास्तललोक-पालाः ॥ ४३॥
गन्धर्व-विद्याधर-चारणेशा
ये यक्ष-रक्षोरग-नाग-नाथाः ।
ये वा ऋषीणामृषभाः पितृणां
दैत्येन्द्र-सिद्धेश्वर-दानवेन्द्राः ।
अन्ये च ये प्रेत-पिशाच-भूत--
कूष्माण्ड-यादो-मृग-पक्ष्यधीशाः ॥ ४४॥
यत्किञ्च लोके भगवन्महस्व-
दोजः-सहस्वद् बलवत् क्षमावत् ।
श्री-ह्री-विभूत्यात्मवदद्भुतार्णं
तत्त्वं परं रूपवदस्व-रूपम् ॥ ४५॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं (ब्रह्मा); भवः—शिवजी; यज्ञः—भगवान् विष्णु; इमे—ये सब; प्रजा-ईशाः—जीवों के पिता; दक्ष-आदयः—दक्ष, मरीचि, मनु, आदि.; ये—जो; भवत्—आप; आदयः च—तथा कुमारगण (सनत्कुमार तथा उनके भाई); स्वर्लोक-पालाः—स्वर्ग लोक के नायक; खगलोक-पालाः—अन्तरिक्ष यात्रियों के नायक; नृलोक-पालाः—मनुष्यों के नेता; तललोक-पालाः—निम्नलोकों के नायक; गन्धर्व—गन्धर्वलोक-वासी; विद्याधर—विद्याधर लोक के वासी; चारण-ईशाः—चारणों के नेता; ये—तथा अन्य; यक्ष—यक्षों के नेता; रक्ष—राक्षस; उरग—सर्प; नाग-नाथाः—नागलोक (पृथ्वी के नीचे) के नायक; ये—अन्य; वा—भी; ऋषीणाम्—ऋषियों के; ऋषभाः—प्रमुख; पितृणाम्—पितरों के; दैत्य-इन्द्र—नास्तिकों के नायक; सिद्ध-ईश्वर—सिद्धलोक के नायक (अन्तरिक्ष पुरुष); दानव-इन्द्राः—अनार्यों के नायक; अन्ये—उनके अतिरिक्त; च—भी; ये—जो; प्रेत—मृतक; पिशाच—दुष्टात्माएँ; भूत—जिन्न; कूष्माण्ड—विशेष प्रकार का पिशाच; यादः—जलचर; मृग—पशु; पक्षि-अधीशाः—विशाल चील्ह; यत्—कुछ भी; किम् च—तथा प्रत्येक वस्तु; लोके—संसार में; भगवत्—भगयुक्त या अद्वितीय शक्तिसम्पन्न; महस्वत्—विशेष मात्रा का; ओजः-सहस्वत्—विशिष्ट मानसिक तथा ऐंद्रिय कौशल; बलवत्—बल से सम्पन्न; क्षमावत्—क्षमा से युक्त; श्री—सौन्दर्य; ह्री—पाप कृत्य से लज्जित; विभूति—धन; आत्मवत्—बुद्धि-सम्पन्न; अद्भुत—आश्चर्यजनक; अर्णम्—जाति; तत्त्वम्—विशिष्ट सत्य; परम्—दिव्य; रूपवत्—रूपवाला; अस्व-रूपम्—भगवत्स्वरूप का नहीं।

मैं स्वयं (ब्रह्मा), शिवजी, भगवान् विष्णु, दक्ष आदि प्रजापति, तुम (नारद तथा

कुमारगण), इन्द्र तथा चन्द्र जैसे देवता, भूर्लोक के नायक, भूलोक के नायक, अधोलोक के नायक, गन्धर्वलोक के नायक, विद्याधरलोक के नायक, चारणलोक के नायक, यक्षों, राक्षसों तथा उरगों के नेता, ऋषि, बड़े-बड़े दैत्य, बड़े-बड़े नास्तिक तथा अन्तरिक्ष पुरुष तथा मृतक, प्रेत, शैतान, जिन्न, कूष्माण्ड, बड़े-बड़े जलचर, बड़े-बड़े पशु तथा पक्षी आदि या अन्य शब्दों में ऐसी कोई भी वस्तु जो बल, ऐश्वर्य, मानसिक तथा ऐन्द्रिय कौशल, शक्ति, क्षमा, सौन्दर्य, विनम्रता, ऐश्वर्य तथा प्रजनन से युक्त हो, चाहे रूपवान या रूप-विहीन, वे सब भले ही विशिष्ट सत्य तथा भगवान् के रूप प्रतीत हों, लेकिन वास्तव में वे वैसे हैं नहीं। वे सभी भगवान् की दिव्य शक्ति के अंशमात्र हैं।

तात्पर्य : ऊपर की सूची में जिनके नाम हैं, उनमें ब्रह्माण्ड के प्रथम प्राणी ब्रह्माजी से लेकर शिवजी, विष्णु, नारद तथा अन्य शक्तिशाली देवता, मनुष्य, अतिमानव, मुनि, ऋषि तथा अद्वितीय शक्ति एवं ऐश्वर्यवाले निम्न प्राणी जिसमें भूत, शैतान, प्रेत, जिन्न, जलचर, पक्षी तथा पशु सम्मिलित हैं, ये सब परमेश्वर प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तव में इनमें से एक भी परमेश्वर नहीं है। इनमें से हर एक में परमेश्वर की महान् शक्ति का एक अंश ही रहता है। अल्पज्ञ मनुष्य भौतिक घटनाओं के आश्चर्यजनक कार्यों को देखकर उसी तरह विस्मित रह जाते हैं, जिस प्रकार आदिवासी वज्रपात, विशाल वटवृक्ष या जंगल में उत्तुंग पर्वत देखकर विस्मित होते हैं। ऐसे अविकसित मानवों के लिए भगवान् की शक्ति का रंचमात्र प्रदर्शन भी मोहनेवाला है। इससे आगे सभ्य मनुष्य देवी-देवताओं की शक्ति से मोहित होते हैं। अतएव जो लोग भगवान् के विषय में कोई वास्तविक सूचना के बिना भगवान् की सृष्टि की किसी भी वस्तु की शक्ति से चकित होते हैं, वे शाक्त या महान् शक्तियों के पूजक कहलाते हैं। आधुनिक विज्ञानी भी प्राकृतिक घटनाओं की आश्चर्यजनक क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं से मोहित हो जाते हैं, अतएव वे भी *शाक्त* हैं। ये निम्नकोटि के व्यक्ति, धीरे-धीरे उठकर, *सौरीय* (सूर्य देवता के उपासक) या *गाणपत्य* (गणपति के रूप में *जनताजनार्दन* या *दरिद्र नारायण*—अर्थात् जनता के पूजक) बन जाते हैं और फिर अमर आत्मा की खोज में शिवजी की उपासना करने वालों के स्तर तक उठ जाते हैं; फिर वे भगवान् विष्णु, परमात्मा आदि की पूजा करने वालों के स्तर तक पहुँच जाते हैं, किन्तु उन्हें आदि भगवान् विष्णु-रूप

गोविन्द या कृष्ण की कोई जानकारी नहीं होती। अन्य विधियों में, कुछ लोग जाति, राष्ट्रीयता, पक्षी, पशु, प्रेत, शैतान आदि के पूजक होते हैं। जनता में, कष्टों के स्वामी शनिदेव तथा चेचक की देवी शीतलादेवी की पूजा सामान्य है और ऐसे अनेक मूर्ख हैं, जो जनता के दरिद्रों की पूजा करते हैं। अतएव विभिन्न व्यक्ति, समाज तथा परिवार भगवान् की किसी न किसी शक्तिमयी अभिव्यक्ति की पूजा करते हैं और उसे त्रुटिवश ईश्वर समझ लेते हैं। लेकिन इस श्लोक में ब्रह्माजी ने उपदेश दिया है कि इनमें से कोई भी परमेश्वर नहीं हैं; वे आदि शक्तिमान भगवान् श्रीकृष्ण के मूल-मोरपंख से उधार लिए हुए पंख जैसे हैं। जब *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण केवल अपनी पूजा करने का उपदेश देते हैं, तो यह समझना चाहिए कि भगवान् कृष्ण की पूजा में उपर्युक्त सब या सभी की पूजा सम्मिलित है, क्योंकि भगवान् कृष्ण में सभी सम्मिलित हैं।

जब वैदिक साहित्य में भगवान् को रूपविहीन बताया जाता है, तो यह समझना चाहिए कि ऊपर जितने रूप बताये गये हैं, वे सब विश्वज्ञान के अनुभव के अन्तर्गत भगवान् की दिव्य शक्तियों के ही विभिन्न प्रदर्शन हैं; इनमें से कोई भी भगवान् के दिव्य रूप का यथार्थ प्रतिनिधित्व नहीं करता। किन्तु जब भगवान् पृथ्वी पर या ब्रह्माण्ड के भीतर कहीं भी अवतरित होते हैं, तो अल्पज्ञानी लोग उन्हें भी अपने-जैसा समझने की भूल करते हैं और इस तरह वे ब्रह्म को रूपविहीन या निर्विशेष मानते हैं। वास्तव में, भगवान् न तो रूपविहीन हैं, न ही वे विराट रूपों के भीतर अनुभव किये जानेवाले बहुरूपों में से किसी से सम्बद्ध होते हैं। मनुष्य को चाहिए कि ब्रह्माजी के उपदेश का पालन करते हुए भगवान् विषयक सत्य को जानने का प्रयास करे।

प्राधान्यतो यानृष आमनन्ति
लीलावतारान् पुरुषस्य भूम्नः ।
आपीयतां कर्ण-कषाय-शोषा-
ननुक्रमिष्ये त इमान् सुपेशान् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

प्राधान्यतः—मुख्यतया; यान्—वे सब; ऋषे—हे नारद; आमनन्ति—पूजते हैं; लीला—लीलाएँ; अवतारान्—सभी अवतार; पुरुषस्य—भगवान् के; भूम्नः—सर्वश्रेष्ठ, परम; आपीयताम्—तुम्हारे द्वारा आस्वादन के लिए; कर्ण—कान; कषाय—मैल; शोषान्—भाप बन जानेवाला; अनुक्रमिष्ये—एक के बाद एक वर्णन करेंगे; ते—वे; इमान्—जिस रूप में वे मेरे हृदय में हैं; सु-पेशान्—सुनने में मधुर।

हे नारद, अब मैं एक-एक करके भगवान् के दिव्य अवतारों का वर्णन करूँगा, जो लीला अवतार कहलाते हैं। उनके कार्यकलापों के सुनने से कान में संचित सारा मैल हट जाता है। ये लीलाएँ सुनने में मधुर हैं और आस्वाद्य हैं, अतएव ये मेरे हृदय में सदैव बनी रहती हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.५.८) के प्रारम्भ में कहा गया था कि मनुष्य श्रवण करके तब तक पूर्ण संतुष्ट नहीं हो पाता, जब तक उसे भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के श्रवण करने का अवसर प्राप्त न हो। अतएव इस श्लोक में ब्रह्माजी भी भगवान् की दिव्य लीलाओं के बताने की महत्ता पर बल देना चाहते हैं कि किस प्रकार भगवान् इस भौतिक लोक पर आते हैं और स्वयं को प्रकट करते हैं। प्रत्येक जीव में सुहावने समाचार सुनने की प्रवृत्ति होती है, अतएव हममें से प्रत्येक व्यक्ति को रेडियोस्टेशनों द्वारा प्रसारित समाचार तथा वार्ताएँ सुननी अच्छी लगती हैं। लेकिन कठिनाई तो यह है कि इन सारे समाचारों को सुनकर कोई भी व्यक्ति हृदय में तुष्टि का अनुभव नहीं करता। इस असंतुष्टि का कारण यह है कि हमारे अन्तरतम के साथ इन संवादों का कोई मेल नहीं हो पाता। इस दिव्य ग्रंथ का सृजन श्रील व्यासदेव ने भगवान् के कार्यकलापों को सुनाकर सामान्य लोगों को अधिकाधिक संतुष्टि प्रदान करने के उद्देश्य से किया, क्योंकि नारद मुनि ने उन्हें इसके लिए आदेश दिया था। भगवान् के ऐसे कार्यकलाप मुख्यत: दो प्रकार के हैं। पहला भौतिक सृजनात्मक शक्ति की संसारी अभिव्यक्ति से सम्बन्धित है और दूसरा देश-काल के अनुसार विभिन्न अवतारी रूपों में उनकी लीलाओं से सम्बद्ध है। भगवान् के असंख्य अवतार हैं, जिस तरह नदी में निरन्तर तरंगें आती जाती रहती हैं। अल्प-ज्ञानी व्यक्ति भौतिक जगत में भगवान् की सृजनात्मक शक्तियों में अधिक रुचि लेते हैं और भगवान् से सम्बन्ध-विच्छेद रहने के कारण वे वैज्ञानिक शोध के नाम पर सृष्टि-सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। किन्तु भगवान् के भक्त यह भलीभाँति जानते हैं कि किस तरह भगवान् की भौतिक शक्तियों के घात-प्रतिघात से सृजनात्मक शक्तियाँ कार्य करती हैं। अतएव जब भगवान् इस भौतिक जगत पर स्वयं अवतरित होते हैं, तो वे भगवान् के दिव्य कार्यकलापों में अधिक रुचि लेते हैं। *श्रीमद्भागवत* भगवान् के ऐसे कार्यकलापों का इतिहास है और जो लोग *श्रीमद्भागवत* को सुनने में रुचि लेते हैं, उनके हृदयों पर संचित संसारी धूल साफ हो जाती है। बाजार में हजारों रद्दी ग्रंथ हैं, किन्तु जो व्यक्ति

श्रीमद्भागवत में रुचि उत्पन्न कर लेता है, वह ऐसे गन्दे साहित्य में रुचि खो देता है। इस प्रकार श्रीब्रह्माजी भगवान् के प्रमुख अवतारों का वर्णन करने का प्रयास कर रहे हैं, जिससे नारद उन्हें दिव्य अमृत की भाँति पी सकें।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के अन्तर्गत "पुरुष-सूक्त की पुष्टि" नामक छठे अध्याय के भक्ति वेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सात

विशिष्ट कार्यों के लिए निर्दिष्ट अवतार

ब्रह्मोवाच

यत्रोद्यतः क्षिति-तलोद्धरणाय बिभ्रत्
क्रौडीं तनुं सकल-यज्ञ-मयीमनन्तः ।
अन्तर्महार्णव उपागतमादि-दैत्यं
तं दंष्ट्रयाद्रिमिव वज्र-धरो ददार ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; यत्र—उस समय (जब); उद्यतः—तत्पर; क्षिति-तल—पृथ्वीलोक के; उद्धरणाय—उठाने के लिए; बिभ्रत्—धारण किया; क्रौडीम्—लीलाएँ; तनुम्—रूप; सकल—समग्र; यज्ञ-मयीम्—यज्ञों से युक्त; अनन्तः—असीम; अन्तर्—ब्रह्माण्ड के भीतर; महा-अर्णवे—विशाल गर्भ सागर में; उपागतम्—पहुँचकर; आदि—प्रथम; दैत्यम्—असुर को; तम्—उस; दंष्ट्रया—दाढ़ से; अद्रिम्—उड़ते पर्वत; इव—सदृश; वज्र-धरः—वज्रों को धारण करने वाला; ददार—छेद दिया।

ब्रह्माजी ने कहा : जब अनन्त शक्तिशाली भगवान् ने लीला के रूप में ब्रह्माण्ड के गर्भोदक नामक महासागर में डूबी हुई पृथ्वी को ऊपर उठाने के लिए वराह का रूप धारण किया, तो सबसे पहले एक असुर (हिरण्याक्ष) प्रकट हुआ। भगवान् ने उसे अपने अगले दाँत से विदीर्ण कर दिया।

तात्पर्य : सृष्टि के प्रारम्भ से ही ब्रह्माण्डों के लोकों में, प्रमुख रूप से असुर तथा देवता अर्थात् वैष्णव—जीवों की ये दो श्रेणियाँ रही हैं। इस ब्रह्माण्ड के प्रथम देवता ब्रह्माजी हैं और हिरण्याक्ष इसका प्रथम असुर है। कतिपय निश्चित परिस्थितियों के अन्तर्गत ही सभी लोक वायु में भारहीन गेंद के समान तैरते हैं और ज्योंही ये परिस्थितियाँ विचलित होती हैं, ये लोक आधे ब्रह्माण्ड में व्याप्त गर्भोदक सागर में गिर पड़ते हैं। दूसरे आधे गोलार्द्ध में जो गोल गुंबद के रूप में है असंख्य लोकान्तर प्रणाली स्थित हैं। भारहीन वायु में लोकों का तैरना गोलकों की भीतरी संरचना के कारण है। आजकल तेल प्राप्त करने के लिए जिस प्रकार पृथ्वी के गर्भ का वेधन किया जाता है, वह आधुनिक असुरों द्वारा एक प्रकार का उत्पात है, जिससे पृथ्वी का तैरना (संतरण) अत्यन्त हानिकारक रूप में विचलित हो सकता है। ऐसा ही उत्पात पहले हिरण्याक्ष (जो स्वर्णदस्यु था) के समय उत्पन्न हुआ था जिससे पृथ्वी

भारहीन स्थिति से निकल गई थीं और गर्भोदक सागर में गिर गई थी। फलतः समग्र भौतिक सृष्टि के पालनहार के रुप में भगवान् ने उपयुक्त थूथनी वाले विशाल शूकर का रूप धारण करके पृथ्वी को गर्भोदक सागर से बाहर निकाला। परम वैष्णव कवि श्रीजयदेव गोस्वामी का गीत है—

वसति दशनशिखरे धरणी तव लग्ना,

शशिनि कलंककलेव निमग्ना।

केशव धृतशूकररूप,

जय जगदीश हरे॥

"हे केशव! हे शूकर रूप धारण करने वाले परमेश्वर! हे भगवान्! पृथ्वी आपकी दाढ़ों पर स्थित थी और वह कलंक युक्त चन्द्रमा की भाँति प्रतीत हो रही थी।"

भगवान् के अवतार का ऐसा लक्षण होता है। भगवान् का अवतार कुछ मनचले लोगों का मनगढ़ंत विचार नहीं, जो अपनी कल्पना से ही कोई अवतार उत्पन्न कर लेते है। भगवान् का अवतार कुछ असाधारण परिस्थितियों में होता है, जैसे ऊपर उल्लेख हुआ है और अवतार ऐसे-ऐसे कार्य सम्पन्न करता है, जिसकी कल्पना कर पाना लघु मानव मस्तिष्क के लिए सम्भव नहीं है। आजकल के सस्ते अवतार स्रष्टाओं को भगवान् के वास्तविक विराट शूकर अवतार से, जिसमें पृथ्वी लोक को उठाने के लिए उपयुक्त थूथन थी, शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

जब भगवान् पृथ्वी उठाने के लिए प्रकट हुए तो हिरण्याक्ष ने उनके इस योजनाबद्ध कार्य में बाधा डालनी चाही, फलतः भगवान् ने उसे अपने लम्बे दांढ़ से बेध कर मार डाला। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार हिरण्याक्ष का वध भगवान् के हाथों से हुआ। उनका कथन है कि पहले हाथों से मारने के बाद भगवान् ने उसे अपने लम्बे दांढ़ से बेध डाला। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस कथन की पुष्टि की है।

जातो रुचेरजनयत् सुयमान् सुयज्ञ
आकूति-सूनुरमरानथ दक्षिणायाम् ।
लोक-त्रयस्य महतीमहरद् यदार्तिं
स्वायम्भुवेन मनुना हरिरित्यनूक्तः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

जातः—उत्पन्न हुआ; रुचेः—प्रजापति की पत्नी के; अजनयत्—जन्म हुआ; सुयमान्—सुयम इत्यादि; सुयज्ञः—सुयज्ञ; आकूति-सूनुः—आकूति का पुत्र; अमरान्—देवता; अथ—इस प्रकार; दक्षिणायाम्—दक्षिणा नामक पत्नी से; लोक—लोक; त्रयस्य—तीनों का; महतीम्—अति विशाल; अहरत्—कम किया; यत्—वे सब; आर्तिम्—क्लेश; स्वायम्भुवेन—स्वायंभुव मनु द्वारा; मनुना—मनुष्यों के पिता द्वारा; हरिः—हरि; इति—इस प्रकार; अनूक्तः—नाम रखा।

सर्वप्रथम प्रजापति की पत्नी आकूति के गर्भ से सुयज्ञ उत्पन्न हुआ; फिर सुयज्ञ ने अपनी पत्नी दक्षिणा से सुयम इत्यादि देवताओं को उत्पन्न किया। सुयज्ञ ने इन्द्रदेव के रूप में तीनों लोकों के महान् क्लेश कम कर दिए थे, फलतः मानवमात्र के परम पिता स्वायंभुव मनु ने उसे हरि नाम से पुकारा।

तात्पर्य : मनमौजी अल्पज्ञ पुरुष नये-नये अवैधानिक अवतारों की खोज करते रहते हैं। इनसे बचने के लिए धर्मग्रन्थों में प्रामाणिक अवतार के पिता का नाम भी दिया रहता है। फलतः यदि शास्त्रों में किसी अवतार के पिता का तथा प्रकट होने वाले ग्राम या स्थान का उल्लेख नहीं है, तो उसे भगवान् का अवतार नहीं माना जा सकता। *भागवत-पुराण* में कल्कि अवतार के पिता तथा जहाँ अवतार होगा उस ग्राम का नाम निर्देशित है। फलतः कोई भी बुद्धिमान पुरुष किसी सस्ते अवतार को शास्त्रों को देखे बिना स्वीकार नहीं करेगा।

जज्ञे च कर्दम-गृहे द्विज देवहूत्यां
स्त्रीभिः समं नवभिरात्म-गतिं स्व-मात्रे ।
ऊचे ययात्म-शमलं गुण-सङ्ग-पङ्क-
मस्मिन् विधूय कपिलस्य गतिं प्रपेदे ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

जज्ञे—जन्म लिया; च—भी; कर्दम—कर्दम नामक प्रजापति के; गृहे—घर में; द्विज—हे ब्राह्मण; देवहूत्याम्—देवहूति के गर्भ में; स्त्रीभिः—स्त्रियों द्वारा; समम्—के साथ में; नवभिः—नौ; आत्म-गतिम्—आत्मबोध; स्व-मात्रे—अपनी माता से; ऊचे—कहा; यया—जिससे; आत्म-शमलम्—आत्मा का आवरण; गुण-सङ्ग—गुणों के साथ; पङ्कम्—कीचड़; अस्मिन्—इस जीवन में; विधूय—धुल कर; कपिलस्य—भगवान् कपिल की; गतिम्—मुक्ति; प्रपेदे—प्राप्त किया।

इसके पश्चात् भगवान् कपिल रूप में अवतरित हुए और प्रजापति ब्राह्मण कर्दम तथा उनकी पत्नी देवहूति के पुत्र रूप में अन्य नौ स्त्रियों (बहनों) के साथ जन्म लिया। उन्होंने अपनी माता

को आत्म-साक्षात्कार के विषय में शिक्षा दी, जिससे वे उसी जीवन काल में सांसारिक गुण रूपी कीचड़ से विमल हो गईं और उन्होंने मुक्ति प्राप्त की जो कपिल का मार्ग है।

तात्पर्य : भगवान् कपिल ने अपनी माता देवहूति को जो उपदेश दिये, वे *श्रीमद्भागवत* के तृतीय स्कंध (अध्याय २५-३२) में दिये गये हैं और जो भी उनका पालन करता है उसे देवहूति के समान मुक्ति प्राप्त हो सकती है। भगवान् ने अुर्जन को *भगवद्गीता* सुनाई जिससे उसे आत्म-साक्षात्कार प्राप्त हुआ। आज भी जो कोई अर्जुन के पथ का अनुसरण करता है, वह अर्जुन के ही समान लाभ प्राप्त कर सकता है। शास्त्र इसीलिए हैं। मूर्ख तथा अल्पज्ञानी मनुष्य अपनी कल्पना से उनकी विवेचना करके अपने अनुयायियों को गुमराह करते हैं और उन्हें संसार के गर्त में पड़े रहने देते हैं। किन्तु आज भी यदि कोई भगवान् श्रीकृष्ण या कपिल के उपदेशों का पालन करे, तो उसे परम लाभ हो सकता है।

आत्म-गतिम् शब्द परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के प्रसंग में महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य को भगवान् तथा जीव के केवल गुणों की समता को जान लेने भर से सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। उसे चाहिए कि अपने सीमित ज्ञान से जितना तक सम्भव हो भगवान् के विषय में जानने का प्रयास करे। भगवान् को पूरी तरह जान पाना शिव या ब्रह्मा जैसे मुक्त पुरुषों के लिए भी कठिन है, तो भला उन्हें अन्य देवता या संसारी पुरुष कैसे जान सकते हैं? तो भी महान् भक्तों तथा शास्त्रों में उपलब्ध आदेशों का पालन करते हुए भगवान् के विषय में बहुत कुछ जाना जा सकता है। भगवान् के अवतार, महामुनि कपिल, ने अपनी माता को भगवान् के स्वरूप के विषय में पूरी तरह उपदेश दिया जिससे उन्हें भगवान् का साक्षात्कार हो सका और वे वैकुण्ठ लोक में स्थान प्राप्त कर सकीं जहाँ पर कपिल का आधिपत्य है। भगवान् के प्रत्येक अवतार का परव्योम में अपना-अपना धाम होता है, अत: श्रीकपिल का भी अपना पृथक् वैकुण्ठ लोक है। परव्योम शून्य नहीं है। इसमें अनेक वैकुण्ठ लोक हैं और प्रत्येक में भगवान् अपने असंख्य विस्तारों के द्वारा शासन करते हैं और वहाँ पर रहने वाले शुद्ध भक्त भी भगवान् तथा उनके पार्षदों के समान जीवन-यापन करते हैं।

जब भगवान् स्वयं या अपने अंश रूप में अवतरित होते हैं, तो इन अवतारों को *अंश, कला, गुण, युग* तथा *मन्वन्तर* अवतार कहा जाता है और जब भगवान् के आदेश से उनका कोई पार्षद अवतार

लेता है, तो ऐसे अवतार को *शक्त्यावेश* अवतार कहा जाता है। किन्तु प्रत्येक दशा में इन सभी अवतारों की पुष्टि प्रामाणिक शास्त्रों के निर्विवाद कथनों द्वारा की जाती है, न कि अपना विज्ञापन करने वाले की किसी कल्पना से। उपर्युक्त दोनों प्रकार के सभी अवतार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को ही परम सत्य घोषित करते हैं। परम सत्य की निर्विशेष अवधारणा भगवान् के उस स्वरूप का निषेध मात्र ही है, जो परम सत्य की सांसारिक धारणा से उत्पन्न है।

जीवात्माएँ आध्यात्मिकता में स्वभाविक रूप से भगवान् के समान ही उत्तम हैं—दोनों में केवल इतना ही अन्तर है कि भगवान् सदा परम तथा शुद्ध हैं और प्रकृति के गुणों से दूषित नहीं होते, जबकि जीवात्माएँ सत्त्व, रज तथा तम के भौतिक गुणों की संगति से दूषित होती रहती हैं। तीनों गुणों से उत्पन्न यह दूषण ज्ञान, त्याग तथा भक्ति के द्वारा पूर्ण रुप से धोया जा सकता है। जीवन का अन्तिम लक्ष्य तो भगवद्भक्ति है, अत: जो सीधे ही भगवान् की भक्ति में लगे हैं, वे आत्मज्ञान तो प्राप्त करते ही हैं, साथ ही सांसारिकता से विरक्ति भी प्राप्त कर लेते हैं और इस तरह परम मुक्त होकर भगवान् के धाम जाते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.२६) में कहा गया है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

जीवात्मा अ-मुक्त अवस्था में भी, भगवान् श्रीकृष्ण या उनके अंशरूप राम तथा नृसिंह की दिव्य प्रेमाभक्ति कर सकता है। इस प्रकार दिव्य भक्ति-मय सेवा द्वारा भक्त क्रमश: *ब्रह्मगतिम्* या *आत्मगतिम्* की ओर अग्रसर होता रहता है और अन्त में बिना किसी कठिनाई के *कपिलस्य गतिम्* अर्थात् भगवान् के धाम को प्राप्त करता है। भगवद्भक्ति की निर्विश-शक्ति इतनी अधिक है कि वह भक्त के वर्तमान जीवन के भौतिक संदूषण को भी निष्प्रभावित कर सकती है। पूर्णमुक्ति के लिए भक्त को अगले जन्म की प्रतीक्षा नहीं करनी होती।

अत्रेरपत्यमभिकाङ्क्षत आह तुष्टो
दत्तो मयाहमिति यद् भगवान् स दत्तः ।
यत्पाद-पङ्कज-पराग-पवित्र-देहा
योगर्द्धिमापुरुभयीं यदु-हैहयाद्याः ॥ ४॥

शब्दार्थ

अत्रेः—अत्रि मुनि की; अपत्यम्—सन्तान; अभिकाङ्क्षतः—आकांक्षा करते हुए; आह—यह कहा; तुष्टः—प्रसन्न; दत्तः—दिया गया; मया—मेरे द्वारा; अहम्—अपने आपको; इति—इस प्रकार; यत्—क्योंकि; भगवान्—श्रीभगवान्; सः—वह; दत्तः—दत्तात्रेय; यत्-पाद—जिसके पाँव; पङ्कज—कमल; पराग—धूलि; पवित्र—पवित्र; देहाः—शरीर; योग—योग की; ऋद्धिम्—ऐश्वर्य; आपुः—प्राप्त किया; उभयीम्—दोनों लोकों के लिए; यदु—यदुवंश के पिता; हैहय-आद्याः—राजा हैहय इत्यादि।

अत्रि मुनि ने भगवान् से सन्तान के लिए प्रार्थना की और उन्होंने प्रसन्न होकर स्वयं ही अत्रि के पुत्र दत्तात्रेय (दत्त, अत्रि का पुत्र) के रूप में अवतार ग्रहण करने का वचन दिया। और भगवान् के चरणकमलों की कृपा से अनेक यदु, हैहय इत्यादि पवित्र हुए और उन्होंने भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही वर प्राप्त किये।

तात्पर्य : भगवान् तथा जीवात्माओं के मध्य पाँच प्रकार से आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य। अत्रि मुनि भगवान् से वात्सल्य भाव से जुड़े थे, अत: वे अपनी भक्ति की सिद्धि में भगवान् को पुत्र रूप में चाह रहे थे। भगवान् ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और उनके पुत्र रूप में स्वयं जन्म लिया। भगवान् तथा शुद्ध भक्त के बीच इस प्रकार के पुत्रत्व (वात्सल्य भाव) के सम्बन्ध के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। चूँकि भगवान् असीम हैं अत: उनके पिता-भक्तों की संख्या अनन्त है। वास्तव में भगवान् समस्त जीवात्माओं के पिता हैं, किन्तु भक्तों के आध्यात्मिक प्रेमवश वे पिता बनने की अपेक्षा किसी भक्त का पुत्र बनना अधिक पसन्द करते हैं। वस्तुत: पिता पुत्र की सेवा करता है, जबकि पुत्र पिता से सभी प्रकार की सेवाओं की माँग करता रहता है, अत: जो शुद्ध भक्त भगवान् की सेवा करना चाहता है, वह उन्हें पुत्र रूप में चाहता है, पिता रूप में नहीं। भगवान् भी भक्त की ऐसी सेवा स्वीकार करते हैं और इस प्रकार भक्त भगवान् से बढ़कर हो जाता है। निर्विशेषवादी भगवान् से एकाकार होना चाहता है, किन्तु भक्त तो भगवान् से बढ़कर होता है और बड़े से बड़े एकेश्वरवादी से आगे होता है। इस गूढ़ सम्बन्ध के कारण भगवान् के माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धी योग की सभी ऋद्धियों को स्वत: प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी ऋद्धियों में सभी प्रकार का भौतिक सुख, मुक्ति तथा सिद्धियाँ सम्मिलित रहती हैं। अत: भगवद्भक्त अलग से इनकी खोज करने में

वृथा अपना समय नहीं गँवाता। मनुष्य को चाहिए कि जीवन के बहुमूल्य समय को भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में पूरी तरह लगाए। तब अन्य वांछित वस्तुएँ स्वत: प्राप्त हो जायेंगी। किन्तु इन सब उपलब्धियों के होते हुए भी मनुष्य को चाहिए कि भक्तों के चरणों पर अपराध करके गड्ढे में गिरने से अपनी सुरक्षा करे। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैहय है, जिसने भक्ति के द्वारा सारी सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं, किन्तु भक्त के चरणों पर अपराध करने के कारण परशुराम ने उसका वध कर दिया। भगवान् अत्रि मुनि के पुत्र बने और दत्तात्रेय कहलाये।

तप्तं तपो विविध-लोक-सिसृक्षया मे
आदौ सनात् स्व-तपस: स चतु:-सनोऽभूत् ।
प्राक्कल्प-सम्प्लव-विनष्टमिहात्म-तत्त्वं
सम्यग् जगाद मुनयो यदचक्षतात्मन् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तप्तम्—तपस्या करके; तप:—तपस्या; विविध-लोक—विभिन्न लोक; सिसृक्षया—सृष्टि करने की इच्छा से; मे—मेरा; आदौ—सर्वप्रथम; सनात्—श्रीभगवान् से; स्व-तपस:—अपनी तपस्या के बल से; स:—वह (भगवान्); चतु:-सन:—चारों कुमार जिनके नाम हैं, सनत्कुमार, सनक, सनन्दन तथा सनातन; अभूत्—प्रकट हुए; प्राक्—पूर्व; कल्प—सृष्टि; सम्प्लव—बाढ़ में; विनष्टम्—नष्ट; इह—इस संसार में; आत्म—आत्मा; तत्त्वम्—सत्य; सम्यक्—पूर्णत:; जगाद—प्रकट हुआ; मुनय:—मुनिगण; यत्—जिन्होंने; अचक्षत—स्पष्ट देखा; आत्मन्—आत्मा।

विभिन्न लोकों की उत्पत्ति करने के लिए मुझे तपस्या करनी पड़ी और तब भगवान् ने मुझसे प्रसन्न होकर चारों कुमारों (सनक, सनत्कुमार, सनन्दन तथा सनातन) के रूप में अवतार लिया। पिछली सृष्टि में आध्यात्मिक सत्य (आत्मज्ञान) का विनाश हो चुका था, किन्तु इन चारों कुमारों ने इतने स्पष्ट ढंग से उसकी व्याख्या की कि मुनियों को तुरन्त सत्य का साक्षात्कार हो गया।

तात्पर्य : *विष्णुसहस्रनाम* स्तोत्रों में भगवान् का नाम *सनात* तथा *सनातनतम* है। यद्यपि भगवान् तथा जीवात्मा गुणात्मक दृष्टि से *सनातन* अर्थात् शाश्वत हैं, किन्तु भगवान् *सनातनतम* अर्थात् सनातनों में सर्वश्रेष्ठ हैं। जीवात्माएँ निस्सन्देह *सनातन* हैं किन्तु सनातनतम नहीं, क्योंकि ये अ-शाश्वत जगत में पतित हो सकती हैं। अत: जीवात्माएँ *सनातनतम* भगवान् से मात्रा की दृष्टि से भिन्न हैं।

सन् शब्द दान के अर्थ में भी आया है, अत: जब भक्त भगवान् को अपना सर्वस्व दान-रूप में सौंप देता है, तो बदले में भगवान् अपने आपको भक्त को सौंप देते हैं। *भगवद्गीता* (४.११) में भी इसकी पुष्टि हुई है—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते।* ब्रह्माजी ने पूर्व कल्प की भाँति फिर से सृष्टि की उत्पत्ति

करनी चाही और चूँकि पिछले प्रलय में, ब्रह्माण्ड से ब्रह्म-ज्ञान विलुप्त हो चुका था, इसीलिए वे उसे पुन: जीवित करना चाह रहे थे। चूँकि दिव्य ज्ञान मूलभूत आवश्यकता है, अत: सृष्टि के प्रत्येक कल्प में नित्य बद्धजीवों को मुक्ति का अवसर प्रदान किया जाता है। ब्रह्माजी की इस इच्छा की पूर्ति भगवान् ने चारों कुमारों अर्थात् सनक, सनत्कुमार, सनन्दन तथा *सनातन* को उनके पुत्र रूप में उत्पन्न करके की। ये चारों कुमार परमेश्वर के ज्ञानावतार थे, अत: उन्होंने दिव्य ज्ञान की ऐसी स्पष्ट व्याख्या की कि सभी मुनि बिना किसी कठिनाई के उस ज्ञान को प्राप्त कर सके। इन चारों कुमारों के पदचिह्नों पर चल कर कोई भी अपने अंत:करण में भगवान् का दर्शन कर सकता है।

धर्मस्य दक्ष-दुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां
नारायणो नर इति स्व-तप:-प्रभाव: ।
दृष्ट्वात्मनो भगवतो नियमावलोपं
देव्यस्त्वनङ्ग-पृतना घटितुं न शेकु: ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

धर्मस्य—धर्म की; दक्ष—दक्ष प्रजापति; दुहितरि—पुत्री से; अजनिष्ट—जन्म लिया; मूर्त्याम्—मूर्ति नाम की; नारायण:—नारायण; नर:—नर; इति—इस प्रकार; स्व-तप:—अपनी तपस्या की; प्रभाव:—शक्ति; दृष्ट्वा—देखकर; आत्मन:—अपना; भगवत:—श्रीभगवान् का; नियम-अवलोपम्—व्रत को भंग करके; देव्य:—नैसर्गिक सुन्दरियाँ; तु—लेकिन; अनङ्ग-पृतना:—कामदेव के सखा; घटितुम्—होने के लिए; न—कभी नहीं; शेकु:—सम्भव हो सका।

उन्होंने अपनी तपस्या की विधि प्रदर्शित करने के लिए धर्म की पत्नी तथा दक्ष की पुत्री मूर्ति के गर्भ से नर तथा नारायण युगल-रूपों में जन्म लिया। कामदेव की सखियाँ, स्वर्ग की सुन्दरियाँ, उनका व्रत भंग करने आईं, किन्तु वे असफल रहीं, क्योंकि उन्हें भगवान् के शरीर से अपने समान अनेक सुन्दरियाँ उत्पन्न होती दिखाई पड़ीं।

तात्पर्य : भगवान् सभी वस्तुओं के स्रोत तो हैं ही, वे समस्त प्रकार की तपस्याओं के भी उद्‌गम हैं। आत्म-साक्षात्कार में सफलता प्राप्त करने के लिए मुनि तपस्या का महान् व्रत लेते हैं। मानव जीवन ब्रह्मचर्य के व्रत के साथ-साथ ऐसी तपस्या के लिए ही मिला है। तपस्या में स्त्रियों की संगति के लिए कोई स्थान नहीं है। और चूँकि मनुष्य जीवन तपस्या के निमित्त है, इसीलिए *सनातन धर्म* अथवा वर्णाश्रम धर्म पद्धति में जीवन के तीनों स्तरों पर स्त्री से दूर रहने की कठोर सलाह दी गई है। सांस्कृतिक विकास क्रम के अनुसार, जीवन के चार विभाग किये जा सकते हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ,

वानप्रस्थ तथा संन्यास। जीवन की प्रथम अवस्था में, जो प्रथम पच्चीस वर्षों तक रहती है, मनुष्य को प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में ब्रह्मचारी के रूप में शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे वह यह समझ सके कि स्त्री ही इस संसार की वास्तविक बन्धक शक्ति है। यदि कोई बद्ध जीवन के बन्धन से मुक्ति चाहता है, तो उसे स्त्री के आकर्षण से मुक्त होना चाहिए। जीवात्माओं के लिए स्त्री ही सम्मोहक तत्त्व है, किन्तु नर-रूप विशेष रूप से मनुष्य जीवन में तो आत्म-साक्षात्कार के लिए है। सारा संसार स्त्री-आकर्षण के जादू से गतिशील है और मनुष्य स्त्री से जुड़ा नहीं कि वह भव-बन्धन की कठोर ग्रन्थि से जकड़ जाता है। स्त्री के साथ जुड़ाव हो जाने पर स्वामित्व की झूठी प्रतिष्ठा के नशे के अन्तर्गत भौतिक जगत पर अपना प्रभुत्व जताने की लालसा उत्पन्न होती है। घर, भूमि तथा सन्तान प्राप्त करने, समाज में महत्त्वपूर्ण बनने, जाति तथा जन्मभूमि के लिए प्रेम, धन के लिए लोलुपता ये सब जो मायाजाल अथवा स्वप्न के तुल्य हैं, मनुष्य को घेर लेते हैं और मनुष्य अपने जीवन के असली उद्देश्य को भूल जाता है और आत्म-साक्षात्कार की दिशा में उसकी प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। ब्रह्मचारी जो प्राय: उच्चजाति का अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य जाति का बालक होता है, प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में पाँच वर्ष की अवस्था से पच्चीस वर्ष की अवस्था तक शिक्षा प्राप्त करता है और जीवन के मूल्यों तथा जीविका के लिए विशिष्ट शिक्षण प्राप्त करने का अनुभव प्राप्त करता है। तत्पश्चात् ब्रह्मचारी को घर जाने दिया जाता है, जहाँ वह गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के लिए किसी अनुकूल स्त्री के साथ विवाह करता है। किन्तु ऐसे अनेक ब्रह्मचारी हैं, जो गृहस्थ बनने के लिए घर नहीं जाते किन्तु वे स्त्रियों से किसी प्रकार का सम्पर्क न करके नैष्ठिक ब्रह्मचारी का जीवन बिताते हैं। वे संन्यास आश्रम स्वीकार करते हैं। वे यह भलीभाँति जानते हैं कि स्त्री की संगति एक झंझट है, जिससे आत्म-साक्षात्कार में बाधा पड़ती है। चूँकि आयु विशेष में कामेच्छा अत्यन्त प्रबल हो उठती है इसलिए गुरु ब्रह्मचारी को विवाह करने की अनुमति दे सकता है; यह छूट केवल उन्हें दी जाती है, जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी नहीं रह सकते। और ऐसा भेद करपाना प्रामाणिक गुरु के लिए ही सम्भव है, इस प्रकार तथाकथित परिवार-नियोजन का कार्यक्रम आवश्यक है। जो गृहस्थ ब्रह्मचर्य की सम्यक शिक्षा के बाद शास्त्रानुमोदित रीति से स्त्री की संगति करता है, वह गृहस्थ कुत्ते-बिल्लियों की तरह का नहीं होता। ऐसा गृहस्थ पचास

वर्ष की आयु के पश्चात् स्त्री की संगति त्याग कर वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करके स्त्री के बिना रहने का अभ्यास करता है। जब अभ्यास पूरा हो जाता है, तो वानप्रस्थी संन्यास ग्रहण करता है तथा स्त्री से, यहाँ तक कि अपनी विवाहिता पत्नी से भी, अपने को अलग कर लेता है। स्त्री से वियुक्त होने की पूरी योजना के अध्ययन से प्रतीत होता है कि आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में स्त्री बाधक है और भगवान् नारायण रूप में स्त्री से वियुक्त होने की शिक्षा देने के लिए ही प्रकट हुए। दृढ़ ब्रह्मचारी के तपस्वी जीवन से ईर्ष्यालु होकर उसका व्रत भंग करने के उद्देश्य से देवता काम देव के सैनिकों को भेजते हैं। किन्तु भगवान् के समक्ष उनकी एक भी नहीं चली, क्योंकि जब दैवी सुन्दरियों ने देखा कि उनकी योगमाया से असंख्य सुन्दरियाँ प्रकट हो सकती हैं और उन्हें बाह्य रूप से आकृष्ट होने की आवश्यकता नहीं है। आम कहावत है कि हलवाई कभी मिठाइयों से ललचाता नहीं। हलवाई जो सदा ही मिठाइयाँ बनाता है, उन्हें खाने की कोई इच्छा नहीं रखता; इसी प्रकार भगवान् अपनी ह्लादिनी शक्ति से असंख्य दैवी सुन्दरियाँ उत्पन्न कर सकते हैं, अत: वे भौतिक संसार की छद्म सुन्दरियों से लेशमात्र भी आकृष्ट नहीं होते। जो यह नहीं जानता, वह मूर्खतावश दोष देता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने वृन्दावन की रास लीला में स्त्रियों के साथ या कि द्वारका में अपनी सोलह हजार पत्नियों के साथ रमण किया।

कामं दहन्ति कृतिनो ननु रोष-दृष्ट्या
रोषं दहन्तमुत ते न दहन्त्यसह्यम् ।
सोऽयं यदन्तरमलं प्रविशन् बिभेति
काम: कथं नु पुनरस्य मन: श्रयेत ॥ ७॥

शब्दार्थ

कामम्—वासना; दहन्ति—दण्ड देते हैं; कृतिनः—बड़े-बड़े अग्रणी; ननु—लेकिन; रोष-दृष्ट्या—क्रोधपूर्ण चितवन से; रोषम्—क्रोध; दहन्तम्—अभिभूत; उत—यद्यपि; ते—वे; न—नहीं; दहन्ति—वश में करते हैं; असह्यम्—दु:सह; सः—वह; अयम्—उसको; यत्—क्योंकि; अन्तरम्—भीतर; अलम्—फिर भी; प्रविशन्—भीतर जाकर; बिभेति—भयभीत होता है; कामः—वासना से; कथम्—कैसे; नु—वस्तुतः; पुनः—फिर; अस्य—उसका; मनः—मन; श्रयेत—शरण ग्रहण करता है।

शिव जैसे महापुरुष अपनी रोषपूर्ण चितवन से वासना (काम) को जीतकर उसे दण्डित तो कर सकते हैं, किन्तु वे स्वयं अपने क्रोध के अत्यधिक प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकते। ऐसा क्रोध कभी भी उनके (भगवान् के) हृदय में प्रवेश नहीं पाता, क्योंकि वे इससे ऊपर हैं। तो फिर भला उनके मन में वासना को आश्रय कैसे प्राप्त हो सकता है?

तात्पर्य : जब शिवजी कठिन तपस्या में तल्लीन थे तो कामदेव ने अपना काम-बाण उन पर छोड़ा। शिव ने घोर कुपित दृष्टि से कामदेव की ओर देखा तो उसका शरीर तुरन्त भस्म हो गया। शिव इतने शक्तिशाली होते हुए भी क्रोध के प्रभाव से मुक्त न थे। किन्तु भगवान् विष्णु के आचरण में कभी भी क्रोध करने की कोई घटना नहीं पाई जाती। इसके विपरीत, जब भृगु मुनि ने जान बूझकर उनके वक्षस्थल पर चरण-प्रहार किया, तो मुनि पर क्रुद्ध होने के बजाय भगवान् ने यह कहकर क्षमा माँगी कि उनका वक्षस्थल अत्यधिक कठोर है, कहीं मुनि के पाँव में ज्यादा चोट तो नहीं लगी। भगवान् के वक्षस्थल पर अंकित भृगुपाद चिह्न उनकी सहिष्णुता का प्रतीक है। अत: जब भगवान् क्रोध से किसी प्रकार प्रभावित नहीं होते, तो फिर क्रोध से कम शक्तिशाली कामेच्छा के लिए वहाँ किस तरह कोई स्थान हो सकता है? जब काम या इच्छा की पूर्ति नहीं होती तो क्रोध उत्पन्न होता है; अत: जब क्रोध अनुपस्थित हो तो फिर काम कैसे उत्पन्न हो सकता है? भगवान् को आप्तकाम कहा जाता है, क्योंकि वे अपनी इच्छाओं की तुष्टि स्वयं करते हैं। उन्हें अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए किसी की सहायता नहीं चाहिए। भगवान् असीम हैं अत: उनकी इच्छाएँ भी असीम हैं। भगवान् के अतिरिक्त समस्त जीवात्माएँ हर तरह से ससीम हैं, अत: जो ससीम हैं, वे असीम की इच्छाओं की तुष्टि कैसे कर सकते हैं? निष्कर्ष यह निकला कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् में न तो काम है, न क्रोध और यदि कभी उनमें इनका दर्शन हो भी तो इसे परम आशीर्वाद (वरदान) समझना चाहिए।

विद्धः सपत्न्युदित-पत्रिभिरन्ति राज्ञो
बालोऽपि सन्नुपगतस्तपसे वनानि ।
तस्मा अदाद् ध्रुव-गतिं गृणते प्रसन्नो
दिव्याः स्तुवन्ति मुनयो यदुपर्यधस्तात् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

विद्धः—बिंध कर; सपत्नि—सौतेली माता; उदित—कहे गये; पत्रिभिः—तीखे वचनों से; अन्ति—समक्ष; राज्ञः—राजा के; बालः—बालक; अपि—यद्यपि; सन्—ऐसा होते हुए; उपगतः—ग्रहण कर लिया; तपसे—कठोर तपस्या; वनानि—वन में; तस्मै—अतः; अदात्—पुरस्कार रूप में दिया; ध्रुव-गतिम्—ध्रुवलोक का मार्ग; गृणते—प्रार्थना किये जाने पर; प्रसन्नः—प्रसन्न होकर; दिव्याः—उच्चलोक के वासी; स्तुवन्ति—प्रार्थना करते हैं; मुनयः—बड़े-बड़े साधु; यत्—जिससे; उपरि—ऊपर; अधस्तात्—नीचे।

राजा की उपस्थिति में सौतली माता के कटु वचनों से अपमानित होकर राजकुमार ध्रुव, बालक होते हुए भी, वन में कठिन तपस्या करने लगे और भगवान् ने उनकी प्रार्थना से प्रसन्न

होकर उन्हें ध्रुवलोक प्रदान किया जिसकी पूजा ऊपर तथा नीचे के लोकों के सभी मुनि करते हैं।

तात्पर्य : महाराज उत्तानपाद के पुत्र तथा परम भक्त राजकुमार ध्रुव, जब पाँच वर्ष के थे तो वे अपने पिता की गोद में बैठे थे, किन्तु उनकी सौतेली माँ को राजा द्वारा अपने सौतेले पुत्र को इस प्रकार प्यार किया जाना अच्छा नहीं लगा। उसने उन्हें यह कहते हुए खींचकर उतार दिया कि चूँकि वह उसकी कोख से उत्पन्न नहीं है, अत: राजा की गोद में बैठने का अधिकार नहीं है। वह नन्हा बालक अपनी सौतेली माँ के इस व्यवहार से अत्यन्त अपमानित हुआ। उसके पिता ने कोई भी प्रतिवाद नहीं किया, क्योंकि वह अपनी इस दूसरी पत्नी के प्रति अत्यधिक आसक्त था। इस घटना के बाद राजकुमार ध्रुव अपनी माँ के पास गये और शिकायत की। उनकी सगी माँ भी इस अपमानजनक आचरण के प्रति कोई कदम नहीं उठा सकती थीं, इसीलिए वह रोने लगीं। बालक ने माँ से पूछा कि वह किस प्रकार अपने पिता के सिंहासन पर बैठ सकता है। बेचारी माँ ने कहा कि भगवान् ही एकमात्र उसके सहायक हो सकते हैं। बालक ने पूछा कि भगवान् कहाँ मिलेंगे, तो माँ ने कहा कि लोग कहते हैं कि भगवान् मुनियों को कभी-कभी घने वन में दिखते हैं। बालक राजकुमार ने निश्चय किया कि वह अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए जंगल जाकर कठोर तपस्या करेगा।

राजकुमार ध्रुव ने अपने गुरु नारद के आदेशानुसार, जिन्हें भगवान् ने इस कार्य के लिए विशेष तौर पर नियुक्त किया था, कठिन तपस्या की। नारद ने उन्हें अठारह अक्षरों वाले मंत्र के जपने की दीक्षा दी। यह मंत्र है—*ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।* भगवान् वासुदेव ने स्वयं पृश्निगर्भ नामक चतुर्भुज भगवान् के रूप में अवतरित होकर, राजकुमार को सप्त नक्षत्रों से ऊपर विशिष्ट लोक प्रदान किया। अपनी तपस्या में सफलता प्राप्त कर लेने के बाद राजकुमार ध्रुव को भगवान् के साक्षात् दर्शन हुए। इस प्रकार उनकी सारी कामनाएँ पूरी हो गईं और वे संतुष्ट हो गए।

राजुकमार ध्रुव महाराज को जो लोक मिला वह भगवान् वासुदेव की इच्छा से भौतिक आकाश में स्थित अचल वैकुण्ठ लोक है। इस लोक का, भौतिक संसार में होने के बावजूद भी, प्रलय के समय विनाश नहीं होगा प्रत्युत वह अपने स्थान पर अचल रहेगा। क्योंकि यह कभी न नष्ट होने वाला वैकुण्ठ

लोक है, इसलिए न केवल उसके नीचे स्थित सप्त नक्षत्रों के वासी उसकी पूजा करते हैं वरन् जो लोक उससे ऊपर हैं उनके वासी भी वैसा ही करते हैं। महर्षि भृगु का लोक ध्रुव लोक से ऊपर स्थित है।

अत: भगवान् ने अपने भक्त की इच्छापूर्ति के लिए पृश्निगर्भ के रूप में अवतार लिया और राजकुमार ध्रुव ने भगवान् के अन्य शुद्ध भक्त नारद से दीक्षा लेकर केवल मंत्र के जप से सिद्धि प्राप्त की। अत: एक शुद्ध भक्त से पथ-प्रदर्शन प्राप्त करके गम्भीर महापुरुष अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। ऐसा पथ-प्रदर्शक हर सम्भव प्रकार से भगवान् से मिलने की दृढ़ इच्छा होने पर स्वत: मिल जाता है।

राजकुमार ध्रुव के कार्यकलापों का वर्णन *श्रीमद्भागवत* के चतुर्थ स्कंध में पढ़ने को मिलेगा।

यद्वेनमुत्पथ-गतं द्विज-वाक्य-वज्र--
निष्प्लुष्ट-पौरुष-भगं निरये पतन्तम् ।
त्रात्वार्थितो जगति पुत्र-पदं च लेभे
दुग्धा वसूनि वसुधा सकलानि येन ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यत्—जब; वेनम्—राजा वेन को; उत्पथ-गतम्—पथभ्रष्ट; द्विज—ब्राह्मणों के; वाक्य—शाप के वचन; वज्र—वज्र; निष्प्लुष्ट—भस्म किया जाकर; पौरुष—महान् कार्य; भगम्—ऐश्वर्य; निरये—नरक में; पतन्तम्—गिरते हुए; त्रात्वा—उद्धार करके; अर्थित:—प्रार्थित; जगति—संसार में; पुत्र-पदम्—पुत्र का स्थान; च—भी; लेभे—प्राप्त किया; दुग्धा—दोहन किया; वसूनि—उपज; वसुधा—पृथ्वी; सकलानि—सभी प्रकार की; येन—जिसके द्वारा।

महाराज वेन कुमार्गगामी हो गया, अत: ब्राह्मणों ने वज्रशाप से उसे दण्डित किया। इस प्रकार राजा वेन अपने सत्कर्मों तथा ऐश्वर्य के सहित भस्म हो गया और नरक के पथ पर जाने लगा। किन्तु भगवान् ने, अपनी अहैतुकी कृपा से, उसके पुत्र पृथु के रूप में जन्म लेकर शापित राजा वेन को नरक से उबारा और पृथ्वी का दोहन करके उससे सभी प्रकार की उपजें प्राप्त कीं।

तात्पर्य : वर्णाश्रम धर्म-पद्धति के अनुसार पवित्र तथा विद्वान ब्राह्मण समाज के स्वाभाविक संरक्षक होते थे। ब्राह्मणजन प्रशासकों-राजाओं को अपने विद्वत्तापूर्ण प्रेम से अनुदेश देते थे कि किस प्रकार पूर्ण सत्यनिष्ठा से देश का शासन सँभाला जाय। इस प्रकार पूर्ण कल्याणकारी राज्य के रुप में यह प्रक्रिया चलती थी। राजा अथवा क्षत्रिय प्रशासक सदैव विद्वान ब्राह्मणों की परिषद से सलाह लेते थे। वे कभी भी तानाशाह नहीं होते थे। प्रजा पर शासन करने के लिए *मनुसंहिता* तथा महान् मुनियों द्वारा

लिखित अन्य प्रामाणिक कृतियाँ निर्देशक नियम प्रदान करने वाली होती थीं। अल्पबुद्धि वाले मनुष्यों को प्रजातन्त्र के नाम पर विधि संहिता बनाने की कोई आवश्यकता नहीं होती थी। जिस प्रकार शिशु को अपने भावी कल्याण का कोई ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार अल्पबुद्धि मनुष्यों को अपने ही कल्याण के विषय में बहुत कम ज्ञान होता है। जिस प्रकार अनुभवी पिता अबोध शिशु को उन्नति के पथ की ओर ले जाता है उसी प्रकार शिश-रूप जनता को भी वैसे ही पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता होती है। मनुसंहिता तथा अन्य वैदिक साहित्य में मानक कल्याण संहिता पहले से विद्यमान है। विद्वान ब्राह्मण राजा को ज्ञान के इन मानक ग्रन्थों के अनुसार तथा देश-काल की विशेष स्थिति के अनुसार सलाह देते रहते थे। ऐसे ब्राह्मण राजा के वेतनभोगी सेवक नहीं होते थे, फलतः वे धर्मग्रन्थों के नियमों के लिए राजा को आदेश देने का सामर्थ्य रखते थे। यह पद्धति महाराज चन्द्रगुप्त के काल तक भी चली और ब्राह्मण चाणक्य उसका अवैतनिक प्रधानमन्त्री था।

महाराज वेन ने शासन के नियमों का पालन नहीं किया। उसने विद्वान ब्राह्मणों की अवज्ञा की। ये ब्राह्मण अत्यन्त विशाल-हृदय थे और अपने हित की परवाह न करके समस्त प्रजा के पूर्ण कल्याण को ही सर्वोपरि मानते थे। उन्होंने राजा वेन को उसके दुराचरण के लिए दण्डित करना चाहा। अतः उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की और राजा को शाप भी दिया।

महापुरुष की अवज्ञा मात्र से दीर्घायु, आज्ञापालन, ख्याति, सत्यता, उच्चलोक जाने का अवसर तथा महापुरुषों के आशीष—ये सभी विनष्ट हो जाते हैं। मनुष्य को चाहिए कि महापुरुषों के पदचिह्नों पर दृढ़ता से चले। निस्सन्देह अपने पूर्व पुण्यों से महाराज वेन राजा बना था, किन्तु जान बूझकर महापुरुषों की अवज्ञा से उसे उपरोक्त सभी गुणों से वंचित होकर दण्डित होना पड़ा। *वामन पुराण* में महाराज वेन के इतिहास तथा उसके पतन का पूर्ण वर्णन मिलता है। जब महाराज पृथु को अपने पिता वेन की इस नारकीय दशा का पता चला कि वे एक म्लेच्छ परिवार में कुष्ट रोगी के रूप में पीड़ित हैं, तो वे शुद्धि के लिए उन्हें तुरन्त कुरुक्षेत्र ले आये और उन्होंने उन्हें समस्त कष्टों से छुटकारा दिलाया।

महाराज पृथु भगवान् के अवतार थे, जो पृथ्वी की अव्यवस्था को दूर करने के लिए ब्राह्मणों की प्रार्थना से अवतरित हुए थे। उन्होंने सभी प्रकार की फसलें उत्पन्न कीं, किन्तु उसके साथ ही एक पुत्र

के धर्म का निर्वाह भी किया जो पिता को नारकीय स्थिति से उबारता है। पुत्र का अर्थ है पुत नामक नरक से उद्धार करने वाला। ऐसा ही पुत्र योग्य है।

नाभेरसावृषभ आस सुदेवि-सूनु-
यो वै चचार सम-दृग् जड-योग-चर्याम् ।
यत् पारमहंस्यमृषयः पदमामनन्ति
स्वस्थः प्रशान्त-करणः परिमुक्त-सङ्गः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

नाभेः—महाराज नाभि के द्वारा; असौ—श्रीभगवान्; ऋषभः—ऋषभ; आस—हुआ; सुदेवि—सुदेवी का; सूनुः—पुत्र; यः—जिसने; वै—निश्चय ही; चचार—सम्पन्न किया; सम-दृक्—समदर्शी; जड—भौतिक; योग-चर्याम्—योग अभ्यास; यत्—जो; पारमहंस्यम्—सिद्धि की परम अवस्था; ऋषयः—ऋषिगण; पदम्—पद; आमनन्ति—स्वीकार करते हैं; स्वस्थः—अपने में स्थित; प्रशान्त—स्थिर; करणः—इन्द्रियाँ; परिमुक्त—पूर्णतया मुक्त; सङ्गः—भौतिक कल्मष।

राजा नाभि की पत्नी सुदेवी के पुत्र के रूप में भगवान् प्रकट हुए और ऋषभ-देव कहलाये। अपने मन को समदर्शी बनाने के लिए उन्होंने जड़-योग साधना की। इस अवस्था को मुक्ति का सर्वोच्च सिद्ध पद भी माना जाता है, जिसमें मनुष्य अपने में ही स्थित रहकर पूर्ण रूप से सन्तुष्ट रहता है।

तात्पर्य : आत्म-साक्षात्कार के लिए जितनी प्रकार की योग-साधनाएँ की जाती हैं उनमें जड़-योग को भी विशेषज्ञों द्वारा मान्यता प्राप्त है। इस जड़-योग में पत्थर के समान मूक बनकर किसी प्रकार के भौतिक फल से अप्रभावित रहने का प्रयास करना पड़ता है। जिस प्रकार पत्थर सभी प्रकार के बाह्य घात-प्रतिघात के प्रति उदासीन रहता है, उसी प्रकार जड़-योग की साधना करने वाला भौतिक देह को स्वेच्छा से पहुँचाये जाने वाले समस्त कष्टों को सहन करता है। ऐसे योगी बाल नहीं बनाते और अपने सिर के बालों को किसी मशीनी साधन की सहायता लिए बिना हाथ से उखाड़ कर अपने आपको पीड़ा पहुँचाते हैं, जो स्वेच्छा से अपने आप को कष्ट पहुँचाने की बहुत सी विधियों में से एक है। किन्तु ऐसे जड़-योग का असली उद्देश्य समस्त भौतिक मोह से छुटकारा पाना और पूर्ण रूप से अपने में स्थित होना है। अपने जीवन की अन्तिम अवस्था में महाराज ऋषभदेव मूक, पागल पुरुष की भाँति विचरण करते रहे—उन पर किसी भी शारीरिक दुर्व्यवहार का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। उन्हें पागल की भाँति जटा बढ़ाये तथा नंगा घूमते देख कर, गली-कूचों के अल्पबुद्धि बालक तथा मनुष्य उन पर

थूकते और उन पर पेशाब करते थे। वे अपनी ही विष्टा पर लेटे रहते थे और हटते नहीं थे। किन्तु उनका मल सुगंधित पुष्पों की भाँति दूर-दूर तक सुगन्धि फैलाता था और साधु पुरुष उन्हें परमहंस अर्थात् मानव सिद्धी की सर्वोच्च अवस्था में मानते थे। जो अपने मल को सुगन्धित न बना सके उसे सम्राट ऋषभदेव की नकल नहीं करनी चाहिए। जड़-योग का अभ्यास ऋषभदेव तथा उसी स्तर के सिद्ध लोगों के लिए सम्भव है, सामान्य लोगों के लिए यह असाधारण अभ्यास दुष्कर है।

जड़-योग का असली उद्देश्य *प्रशान्त-करण:* अर्थात् इन्द्रियों को वश में करना है, जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है। योग की समूची प्रक्रिया, चाहे इसे जो भी नाम दें, असंयमित इन्द्रियों को वश में करने तथा आत्म-साक्षात्कार के लिए तैयारी करने के लिए होती है। इस युग में विशेषत: जड़-योग का कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं है। इसके विपरीत भक्तियोग इस युग के लिए व्यावहारिक है, जो सर्वथा उपयुक्त है। उपयुक्त स्रोत से श्रवण करने की सहज विधि अर्थात् *श्रीमद्भागवत* को सुनकर योग की परम सिद्ध अवस्था प्राप्त की जा सकती है। ऋषभदेव राजा नाभि के पुत्र तथा राजा आग्नीध्र के पौत्र थे। वे राजा भरत के पिता थे जिनके नाम से इस पृथ्वीलोक का नाम भारतवर्ष पड़ा। ऋषभदेव की माता का नाम मेरुदेवी भी था, जिसे यहाँ पर सुदेवी कहा गया है। कभी-कभी लोग सुझाव देते हैं कि सुदेवी राजा नाभि की दूसरी पत्नी थी, किन्तु क्योंकि अन्यत्र ऋषभदेव को मेरुदेवी का पुत्र कहा गया है, अत: यह स्पष्ट है कि मेरुदेवी तथा सुदेवी एक ही व्यक्ति (स्त्री) के भिन्न-भिन्न नाम हैं।

सत्रे ममास भगवान् हय-शीरषाथो
साक्षात् स यज्ञ-पुरुषस्तपनीय-वर्ण: ।
छन्दोमयो मखमयोऽखिल-देवतात्मा
वाचो बभूवुरुशती: श्वसतोऽस्य नस्त: ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सत्रे—यज्ञोत्सव में; मम—मेरे; आस—प्रकट हुए; भगवान्—श्रीभगवान्; हय-शीरषा—घोड़े का सिर धारण करके; अथ—इस प्रकार; साक्षात्—प्रत्यक्ष; स:—वह; यज्ञ-पुरुष:—ऐसा पुरुष जो यज्ञ सम्पन्न करने से प्रसन्न होता है; तपनीय—सुनहले; वर्ण:—रंग; छन्द:-मय:—साक्षात् वैदिक स्तोत्र; मख-मय:—साक्षात् यज्ञ; अखिल—जो कुछ सम्भव है, वह सब; देवता-आत्मा—देवताओं की आत्मा; वाच:—वाणी; बभूवु:—सुने जाते हैं; उशती:—कानों को अत्यन्त मधुर लगने वाले; श्वसत:—साँस लेते हुए; अस्य—इसके; नस्त:—नथुनों से।

मेरे (ब्रह्मा) द्वारा सम्पन्न यज्ञ में भगवान् हयग्रीव अवतार के रूप में प्रकट हुए। वे साक्षात् यज्ञ हैं और उनके शरीर का रंग सुनहला है। वे साक्षात् वेद भी हैं और समस्त देवताओं के

परमात्मा हैं। जब उन्होंने श्वास ली, तो उनके नथुनों से समस्त मधुरवैदिक स्तोत्रों की ध्वनियाँ प्रकट हुईं।

तात्पर्य : वैदिक स्तोत्र प्राय: उन कर्मियों के लिए हैं, जो यज्ञ करते हैं और फल प्राप्ति की अभिलाषा से देवताओं को भी प्रसन्न करना चाहते हैं। किन्तु भगवान् साक्षात् यज्ञ तथा वैदिक स्तोत्र हैं। अत: जो भगवान् का प्रत्यक्ष भक्त होता है उससे यज्ञ सम्पन्न करने तथा देवताओं को प्रसन्न करने के कार्य स्वत: सम्पन्न हो जाते हैं। भगवान् के भक्त भले ही कोई यज्ञ न करें या वैदिक आदेशों के अनुसार किसी देवता को प्रसन्न न करें, किन्तु फिर भी वे कर्मियों अथवा विभिन्न देवों के उपासकों से उच्चतर पद पर रहते हैं।

मत्स्यो युगान्त-समये मनुनोपलब्ध:
क्षोणीमयो निखिल-जीव-निकाय-केत: ।
विस्त्रंसितानुरु-भये सलिले मुखान्मे
आदाय तत्र विजहार ह वेद-मार्गान् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

मत्स्य:—मत्स्यावतार; युग-अन्त—कल्प के अन्त में; समये—का समय; मनुना—भावी वैवस्वत मनु द्वारा; उपलब्ध:—दृश्य; क्षोणीमय:—पृथ्वी तक; निखिल—समस्त; जीव—जीवात्माएँ; निकाय-केत:—आश्रय; विस्त्रंसितान्—से उद्भूत; उरु—महान्; भये—भय से; सलिले—जल में; मुखात्—मुख से; मे—मेरा; आदाय—लाकर; तत्र—वहाँ; विजहार—उपभोग किया; ह—निश्चय ही; वेद-मार्गान्—समस्त वेदों का।

कल्प के अन्त में भावी वैवस्वत मनु, सत्यव्रत, देखेंगे कि मत्स्य अवतार के रूप में श्रीभगवान् पृथ्वी पर्यन्त सभी प्रकार की जीवात्माओं के आश्रय हैं। तब कल्प के अन्त में, जल में मेरे भय से, सभी वेद मेरे (ब्रह्मा) मुँह से निकलते हैं तथा भगवान् उस प्रवाह जल का राशि आनन्द उठाते हुए वेदों की रक्षा करते हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा का एक दिन चौदह मनुओं के तुल्य है और प्रत्येक मनु के अन्त में पृथ्वी-पर्यन्त सब कुछ नष्ट हो जाता है और तब ब्रह्मा को भी वह जल भयानक लगता है। अत: भावी वैवस्वत मनु के आरम्भ में वह ऐसे संहार को देखेगा। ऐसी अन्य अनेक घटनाएँ होंगी—यथा प्रसिद्ध शंखासुर का वध। ऐसी भविष्यवाणी ब्रह्मा के गत अनुभव पर आधारित है, क्योंकि उन्हें पता था कि उस प्रलयंकारी दृश्य में उनके मुख से वेद प्रकट होंगे, किन्तु मत्स्यावतार रूप में श्रीभगवान् न केवल समस्त

जीवात्माओं—यथा देवताओं, पशुओं, मनुष्यों तथा मुनियों—की रक्षा करेंगे वरन् वेदों को भी बचाएँगे।

क्षीरोदधावमर-दानव-यूथपाना-
मुन्मथ्नताममृत-लब्धय आदि-देवः ।
पृष्ठेन कच्छप-वपुर्विदधार गोत्रं
निद्राक्षणोऽद्रि-परिवर्त-कषाण-कण्डूः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

क्षीर—दूध; उदधौ—समुद्र में; अमर—देवता; दानव—असुर; यूथ-पानाम्—दोनों दलों के नायकों का; उन्मथ्नताम्—मन्थन करते हुए; अमृत—अमृत; लब्धय—प्राप्त करने हेतु; आदि-देवः—आदि परमेश्वर; पृष्ठेन—पीठ से; कच्छप—कछुवे का; वपुः—शरीर; विदधार—धारण किया; गोत्रम्—मन्दर पर्वत; निद्राक्षणः—निद्रा में; अद्रि-परिवर्त—पर्वत के घूमने से; कषाण—रगड़ से; कण्डूः—खुजली।.

तब आदि भगवान् मथानी की तरह उपयोग में लाऐ जा रहे मन्दराचल पर्वत के लिए धुरी (आश्रय स्थल) के रूप में कच्छप रूप में अवतरित हुए। देवता तथा असुर अमृत निकालने के उद्देश्य से मन्दराचल को मथानी बनाकर क्षीर सागर का मंथन कर रहे थे। यह पर्वत आगे-पीछे घूम रहा था जिससे भगवान् कच्छप की पीठ पर रगड़ पड़ रही थी,तब वे अधजगी निद्रा में थे और खुजलाहट का अनुभव कर रहे थे, उनकी पीठ रगड़ी जाने लगी।

तात्पर्य : यद्यपि हमें अनुभव नहीं हैं, किन्तु इस ब्रह्माण्ड में क्षीर सागर विद्यमान है। यहाँ तक कि आज के विज्ञानी भी स्वीकार करते हैं कि हमारे सिर के ऊपर सैकड़ों-लाखों लोक मँडरा रहे हैं और हर एक लोक की जलवायु भी भिन्न है। *श्रीमद्भागवत* ऐसी अनेक सूचनाएँ प्रदान करता है, जो हमारे वर्तमान अनुभव से मेल नहीं खातीं। किन्तु जहाँ तक भारतीय मुनियों का प्रश्न है, वे बिना हिचक के स्वीकार करते हैं कि हम प्रामाणिक ज्ञान ग्रन्थों (*शास्त्र-चक्षुर्वत्*) का अवलोकन करें क्योंकि ज्ञान वैदिक ग्रन्थों से ही प्राप्त होता है। अत: हम *श्रीमद्भागवत* में वर्णित क्षीर सागर की उपस्थिति को तब तक नहीं नकार सकते जब तक हम अन्तरिक्ष में मँडराने वाले समस्त लोकों का प्रायोगिक परीक्षण न कर लें। चूँकि ऐसा प्रयोग सम्भव नहीं है, अत: हमें *श्रीमद्भागवत* के कथन को यथावत् रूप में स्वीकार करना होगा क्योंकि श्रीधर स्वामी, जीव गोस्वामी, विश्वनाथ चक्रवर्ती तथा अन्य आध्यात्मिक अग्रगण्य जनों ने इसे स्वीकार किया है। वैदिक विधि यही है कि परम अधिकारियों के पदचिह्नों का अनुसरण किया जाय और जो हमारी कल्पना के परे है उसे जानने की यही एकमात्र विधि है।

आदि भगवान् सर्व-शक्तिमान होने के कारण, चाहे जो भी कर सकते हैं, अत: किसी विशेष उद्देश्य से कच्छप या मत्स्य का अवतार ग्रहण करना तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं है। हमें *श्रीमद्भागवत* जैसे प्रामाणिक शास्त्रों के कथनों को स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए।

देवों तथा असुरों के सामूहिक प्रयास से क्षीर सागर के मन्थन के गुरुतर कार्य के लिए विशाल मन्दराचल पर्वत के लिए गुरुतर आधार की आवश्यकता थी। फलत: आदि भगवान् देवताओं की सहायता के उद्देश्य से विशाल कच्छप के रूप में अवतरित हुए और क्षीर सागर में तैरने लगे। इस पर्वत की रगड़ से उनकी पीठ पर खुजली हो रही थी, किन्तु कुछ-कुछ सोये रहने से उन्हें इसका आभास नहीं हुआ।

त्रै-पिष्टपोरु-भय-हा स नृसिंह-रूपं
कृत्वा भ्रमद्भ्रुकुटि-दंष्ट्र-कराल-वक्त्रम् ।
दैत्येन्द्रमाशु गदयाभिपतन्तमारा-
दूरौ निपात्य विददार नखैः स्फुरन्तम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

त्रै-पिष्टप—देवता; उरु-भय-हा—महान् भय को मिटाने वाला; सः—उसने (श्रीभगवान् ने); नृसिंह-रूपम्—नृसिंह अवतार; कृत्वा—करके; भ्रमत्—घूमती हुई; भ्रु-कुटि—भौंहे; दंष्ट्र—दाँत; कराल—अत्यन्त भयानक; वक्त्रम्—मुँह; दैत्य-इन्द्रम्—असुरों के राजा को; आशु—तुरन्त; गदया—गदा से; अभिपतन्तम्—गिरते हुए; आरात्—पास ही; ऊरौ—जाँघों पर; निपात्य—रखकर; विददार—विदीर्ण कर दिया; नखैः—नाखूनों से; स्फुरन्तम्—ललकारते हुए।

श्रीभगवान् ने देवताओं के अदम्य भय को मिटाने के लिए नृसिंह-देव का अवतार ग्रहण किया। उन्होंने असुरों के उस राजा (हिरण्यकशिपु) को अपनी जाँघों में रखकर अपने नाखूनों से विदीर्ण कर डाला, जो हाथ में गदा लेकर भगवान् को ललकार रहा था। उस समय उनकी भौंहें क्रोध से फड़क रही थीं और दाँतों के कारण उनका मुख भयावना लग रहा था।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु तथा उसके पुत्र महान् भगवद्भक्त प्रह्लाद महाराज का जीवन चरित्र *श्रीमद्भागवत* के सप्तम स्कन्ध में वर्णित है। भौतिक उपलब्धियों के कारण हिरण्यकशिपु अत्यन्त बलशाली बन गया था और ब्रह्माजी की कृपा से वह अपने को अमर मानने लगा था। ब्रह्माजी ने उसे अमरत्व का वर नहीं दिया, क्योंकि वे स्वयं अमर जीव नहीं हैं। किन्तु उसे ब्रह्माजी से जो वर प्राप्त हुआ था वह गोल-मोल था, जो लगभग अमर होने के तुल्य था। उसे विश्वास था कि वह न तो किसी

मनुष्य या देवता द्वारा और न किसी ज्ञात हथियार से मारा जा सकता है; न ही वह दिन में अथवा रात में मारा जा सकता है। फिर भी भगवान् ने आधा नर तथा आधा सिंह रूप में अवतार ग्रहण किया जो हिरण्यकशिपु जैसे भौतिक असुर के लिए अकल्पनीय था। इस प्रकार उन्होंने ब्रह्मा के वर को ध्यान में रखते हुए उसका वध कर दिया। उन्होंने उसे अपनी गोद में रखकर मारा जिससे उसका वध न तो पृथ्वी पर हुआ, न जल या आकाश में हुआ। भगवान् नृसिंह ने अपने नाखूनों से हिरण्यकशिपु को विदीर्ण किया, जो उसकी बुद्धि से परे मानवीय हथियार था। हिरण्यकशिपु का शाब्दिक अर्थ है—वह जो स्वर्ण तथा मृदु शय्या के चक्कर में रहे, जो भौतिकतावादी मनुष्यों का परम लक्ष्य है। ऐसे आसुरी पुरुष, जिनका भगवान् से कोई वास्ता नहीं रहता, भौतिक समृद्धि से प्राय: इतराने लगते हैं और भगवान् की सत्ता को ललकारते हुए उनके भक्तों का उत्पीड़न प्रारम्भ कर देते हैं। प्रह्लाद महाराज हिरण्यकशिपु के ही पुत्र थे और चूँकि वे परम भक्त थे, इसलिए पिता उन्हें भरसक कष्ट पहुँचाता था। इस परिस्थिति में भगवान् नृसिंहदेव के रूप में अवतरित हुए और देवों के शत्रु हिरण्यकशिपु को इस प्रकार मारा जो उसकी बुद्धि के लिए अकल्पनीय था। सर्वशक्तिमान भगवान् सदा ही ईश्वरहीन असुरों की भौतिकतावादी योजनाओं को विफल करने वाले हैं।

अन्त:-सरस्युरु-बलेन पदे गृहीतो
ग्राहेण यूथ-पतिरम्बुज-हस्त आर्त: ।
आहेदमादि-पुरुषाखिल-लोक-नाथ
तीर्थ-श्रव: श्रवण-मङ्गल-नामधेय ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अन्त:-सरसि—नदी के भीतर; उरु-बलेन—श्रेष्ठ शक्ति से; पदे—पाँव; गृहीत:—पकड़ा गया; ग्राहेण—मगर द्वारा; यूथ-पति:—हाथियों के नायक का; अम्बुज-हस्त:—हाथ में कमल का पुष्प लेकर; आर्त:—अत्यधिक पीड़ित; आह—सम्बोधन किया; इदम्—इस प्रकार; आदि-पुरुष—आदि भोक्ता; अखिल-लोक-नाथ—ब्रह्माण्ड के स्वामी; तीर्थ-श्रव:—तीर्थस्थल की भाँति विख्यात; श्रवण-मङ्गल—जिसके नाम के सुनने मात्र से सारा कल्याण हो; नाम-धेय—जिसका पवित्र नाम जप के योग्य है।.

अत्यन्त बलशाली मगर के द्वारा नदी के भीतर पाँव पकड़ लिये जाने से हाथियों का नायक अत्यन्त पीड़ित था, उसने अपनी सूँड़ में कमल का फूल लेकर भगवान् को इस प्रकार सम्बोधित किया, ''हे आदि भोक्ता, ब्रह्माण्ड के स्वामी, हे उद्धारक, हे तीर्थ के समान विख्यात, आपके पवित्र नाम जो जपे जाने के योग्य है, उनके श्रवण मात्र से ही सभी लोग पवित्र हो जाते हैं।''

तात्पर्य : नदी के भीतर बलशाली मगर (ग्राह) द्वारा हाथियों के नायक (गजेन्द्र) का पैर पकड़ लिये जाने की कथा *श्रीमद्भागवत* के अष्टम स्कंध में वर्णित है। चूँकि भगवान् ही परम ज्ञान हैं, अत: उनके पवित्र नाम तथा भगवान् में कोई भेद नहीं है। मगर द्वारा आक्रमण किये जाने पर गजेन्द्र अत्यधिक विपत्ति में था। यद्यपि हाथी मगर से बलवान होता है, किन्तु जल में होने पर मगर हाथी से कहीं अधिक बलशाली बन जाता है। चूँकि हाथी अपने पूर्वजन्म में भगवान् का परम भक्त था, अत: अपने पुण्य कर्मों के कारण वह भगवान् का नाम उच्चारण करने में समर्थ था। इस जगत में प्रत्येक जीवात्मा सदैव कष्ट में रहता है, क्योंकि यह जगत ही ऐसा है कि पग-पग पर विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। किन्तु जिसने पूर्वजन्म में पुण्य किये हैं वह अपने आप को भगवान् की भक्तिमय सेवा में लगाए रखता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१६) में हुई है। किन्तु जो पापकर्म करते हैं, वे भले ही पीड़ित रहें, किन्तु भगवद्भक्ति में नहीं लगते। इसकी भी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१५) में की गई है। भगवान् हरि तुरन्त अपने शाश्वत वाहन गरुड़ पर आसीन होकर प्रकट हुए और हाथी को उबार लिया।

हाथी को भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध का ज्ञान था। उसने भगवान् को आदि पुरुष कह कर सम्बोधित किया। भगवान् तथा जीवात्माएँ दोनों चेतन हैं, फलत: भोक्ता हैं, किन्तु समस्त वस्तुओं का स्रष्टा होने के कारण भगवान् आदि भोक्ता (पुरुष) हैं। परिवार में पिता तथा उसके पुत्र निश्चित रूप से भोक्ता होते हैं, किन्तु पिता आदि-भोक्ता होता है और पुत्र परवर्ती भोक्ता। शुद्ध भक्त यह भली-भाँति जानता है कि इस ब्रह्माण्ड की सारी वस्तुएँ भगवान् की सम्पत्ति स्वरूप हैं और जीवात्मा किसी भी वस्तु का उपभोग उनकी आज्ञा के अनुसार ही कर सकता है। यदि उनकी आज्ञा न रहे, तो मनुष्य निर्दिष्ट वस्तु का स्पर्श तक नहीं कर सकता। आदि-भोक्ता की विशद व्याख्या *ईशोपनिषद्* में की गई है। जो भगवान् तथा अपने में अन्तर को समझता है, वह भगवान् को पहले अर्पित किये बिना कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं करता।

हाथी ने भगवान् को *अखिल-लोकनाथ* कहकर सम्बोधित किया, अत: वे हाथी के भी स्वामी हुए। हाथी भगवान् का शुद्ध भक्त होने के कारण ग्राह के आक्रमण से रक्षा किए जाने का अधिकारी था ही और चूँकि भगवान् का व्रत है कि उनके भक्त कभी भी नष्ट नहीं होंगे, अत: यह उचित ही था कि

हाथी ने भगवान् को अपनी रक्षा के लिए बुलाया और दयालु भगवान् तुरन्त आये। यों तो भगवान् सबके रक्षक हैं, किन्तु जो उनकी श्रेष्ठता को स्वीकार करता है और वृथा गर्व नहीं करता या उनकी समता का दम नहीं भरता उसको वे वरीयता प्रदान करते हैं। वे सदैव श्रेष्ठ हैं। शुद्ध भक्त अपने तथा भगवान् के इस अन्तर को जानता है, अत: शुद्ध भक्त को पूर्णत: आश्रित होने के कारण वरीयता प्राप्त होती है, किन्तु जो भगवान् के अस्तित्व को नकारता है और अपने को भगवान् घोषित करता है, वह असुर है। अत: उसे सीमित संरक्षण प्राप्त होता है और वह भी उतना ही जितना भगवान् चाहते हैं। चूँकि भगवान् सर्वश्रेष्ठ हैं, अत: उनकी सिद्धि भी श्रेष्ठतम है। इसकी कोई कल्पना तक नहीं कर सकता।

हाथी ने भगवान् को *तीर्थश्रव:* कहकर सम्बोधित किया है, जिसका अर्थ है, ''तीर्थस्थान के समान विख्यात।'' लोग तीर्थ स्थान में अपने अज्ञात पापों के फलों से निवृत्त होने के लिए जाते हैं। किन्तु मनुष्य केवल भगवान् का पवित्र नाम लेने से ही अपने पापकर्मों से निवृत्त हो सकता है। अत: भगवान् तीर्थस्थान के समान ही उत्तम हैं। मनुष्य तीर्थस्थान में जाने पर पापमुक्त हो सकता है, किन्तु भगवान् का पवित्र नाम लेकर वह घर बैठे या अन्यत्र रहते हुए भी पापों से छुटकारा पा लेता है। शुद्ध भक्त के लिए तीर्थस्थानों में जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि वह श्रद्धा से भगवान् के नाम का स्मरण करे तो समस्त पापकर्मों से उबर सकता है। भगवान् का शुद्ध भक्त कभी कोई पापकर्म नहीं करता, किन्तु यह सारा जगत पापमय वातावरण से पूरित है, अत: अनजाने में शुद्ध भक्त से भी पाप हो सकते हैं। जो जान बूझकर पापकर्म करता है, वह भगवान् का भक्त होने के योग्य नहीं है, किन्तु यदि शुद्ध भक्त अनजाने में कोई पापकर्म कर बैठता है, तो भगवान् उसका उद्धार कर देते हैं, क्योंकि वह सदैव उनका स्मरण करता रहता है।

भगवान् का पवित्र नाम *श्रवण-मंगल* कहलाता है। इसका भावार्थ यह है कि केवल पवित्र नाम के सुनने मात्र से मनुष्य को समस्त शुभ वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं। *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र भगवन्नाम को *पुण्य-श्रवण-कीर्तन* कहा गया है। भगवान् के विषय में जप तथा श्रवण करना ही पुण्य है। भगवान् इस पृथ्वी पर अवतरित होकर सामान्य मनुष्यों की भाँति आचरण करते हैं जिससे लोगों के सुनने के लिए कुछ कार्यकलापों की सृष्टि हो, अन्यथा भगवान् का इस जगत से कोई सरोकार नहीं है और न उन्हें

कुछ करने की ही आवश्यकता है। वे अपनी अहैतुकी कृपा से प्रकट होते हैं और इच्छानुसार कार्य करते हैं। समस्त वेद तथा पुराण उनके विविध कार्यकलापों के विवरणों से भरे हैं, ताकि सामान्य लोग उनके विषय में सुनने तथा पढ़ने के इच्छुक रहें। तो भी सामान्य रूप से आधुनिक कथाएँ तथा उपन्यास लोगों का अधिकांश मूल्यवान समय ले लेते हैं। ऐसा साहित्य कभी कोई भलाई नहीं कर सकता, उल्टे वह नवयुवकों के मन को आन्दोलित करने वाला होता है, जिसमें रजो तथा तमो गुणों की वृद्धि होती है, जिससे भव-बन्धन प्रगाढ़ होता जाता है। सुनने तथा पढ़ने की इस प्रवृत्ति का सदुपयोग भगवान् के कार्यकलापों को सुनने और पढ़ने में किया जा सकता है। इससे चतुर्दिक् लाभ होगा।

अत: निष्कर्ष यह निकलता है कि भगवन्नाम तथा उनके आख्यान श्रवणीय हैं, इसीलिए उन्हें यहाँ पर *नाम-धेय* कहा गया है।

श्रुत्वा हरिस्तमरणार्थिनमप्रमेय-
श्चक्रायुधः पतगराज-भुजाधिरूढः ।
चक्रेण नक्र-वदनं विनिपाट्य तस्मा-
द्धस्ते प्रगृह्य भगवान् कृपयोज्जहार ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर; हरिः—श्रीभगवान् ने; तम्—उसको; अरण-अर्थिनम्—सहायता चाहने वाला; अप्रमेयः—अनन्त शक्तिशाली भगवान्; चक्र—चक्र; आयुधः—अपने अस्त्र से सज्जित; पतग-राज—पक्षियों के राजा (गरुड़) के; भुज-अधिरूढः—पंखों पर आसीन; चक्रेण—चक्र से; नक्र-वदनम्—मगर के मुख को; विनिपाट्य—दो खंड करके; तस्मात्—मगर के मुख से; हस्ते—हाथ में; प्रगृह्य—सूँड़ पकड़ कर; भगवान्—श्रीभगवान् ने; कृपया—अहैतुकी कृपा से; उज्जहार—उद्धार किया।

हाथी की पुकार सुनकर श्रीभगवान् को लगा कि उसे उनकी अविलम्ब सहायता की आवश्यकता है, क्योंकि वह घोर संकट में था। तब पक्षिराज गरुड़ के पंखों पर आसीन होकर भगवान् अपने आयुध चक्र से सज्जित होकर वहाँ पर तुरन्त प्रकट हुए। उन्होंने हाथी की रक्षा करने के लिए अपने चक्र से मगर के मुँह के खण्ड-खण्ड कर दिये और हाथी के सूँड़से पकड़ कर उसे बाहर निकाल दिया।

तात्पर्य : श्रीभगवान् वैकुण्ठ लोक में रहते हैं। कोई यह नहीं अनुमान कर सकता कि यह लोक कितनी दूर स्थित है। किन्तु ऐसा कहा जाता है कि यदि कोई वायुयान से या मन से उस लोक पर पहुँचना चाहे तो लाखों वर्षों तक यात्रा करने पर भी वहाँ नहीं पहुँच सकेगा। आधुनिक विज्ञानियों ने

वायुयानों का आविष्कार किया है, किन्तु वे भौतिक हैं जबकि योगी मन रूपी यान से यात्रा करने का प्रयास करते हैं। ये योगी अपने मन-यान से तुरन्त ही कितनी भी दूर पहुँच सकते हैं। किन्तु ईश्वर के राज्य वैकुण्ठ लोक तक न तो वायुयान की, न मन-यान की ही पहुँच है, क्योंकि वह भौतिक आकाश से बहुत परे स्थित है। ऐसी स्थिति में भला हाथी की प्रार्थना उतनी दूर तक कैसे सुन पड़ी और भगवान् तत्क्षण उस स्थान पर कैसे पहुँच गये? मानव कल्पना से इन बातों की गणना सम्भव नहीं। यह सब भगवान् की अनन्त शक्ति से ही सम्भव हो सका, इसीलिए भगवान् को यहाँ अप्रमेय कहा गया है, क्योंकि सर्वाधिक बुद्धिमान मनुष्य का मस्तिष्क भी गणित की गणना से उनकी शक्तियों की कल्पना नहीं कर सकता। भगवान् इतनी दूरी से भी सुन सकते हैं, खा सकते हैं और एक पल के अन्तराल में सभी स्थानों में एकसाथ प्रकट हो सकते हैं। ऐसी है भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता।

ज्यायान् गुणैरवरजोऽप्यदितेः सुतानां
लोकान् विचक्रम इमान् यदथाधियज्ञः ।
क्ष्मां वामनेन जगृहे त्रिपद-च्छलेन
याच्ञामृते पथि चरन् प्रभुभिर्न चाल्यः ॥ १७॥

शब्दार्थ

ज्यायान्—सबसे बड़ा; गुणैः—गुणों में; अवरजः—दिव्य; अपि—यद्यपि वह ऐसा है; अदितेः—अदिति के; सुतानाम्—सभी पुत्रों का (जो आदित्य कहे जाते हैं); लोकान्—सभी लोक; विचक्रमे—बढ़कर; इमान्—इस ब्रह्माण्ड में; यत्—जो; अथ—अतः; अधियज्ञः—श्रीभगवान्; क्ष्माम्—समस्त पृथ्वी; वामनेन—वामन अवतार से; जगृहे—स्वीकार किया; त्रिपद—तीन पग; छलेन—छल से; याच्ञाम्—भिक्षा; ऋते—बिना; पथि चरन्—सत्य मार्ग पर चलते हुए; प्रभुभिः—अधिकारियों द्वारा; न—कभी नहीं; चाल्यः—से रहित होना, च्युत।

भगवान् समस्त भौतिक गुणों से परे होते हुए भी अदिति के पुत्रों (आदित्यों) के गुणों से कहीं बढ़ कर थे। वे अदिति के सबसे कनिष्ठ पुत्र के रूप में प्रकट हुए। और क्योंकि उन्होंने ब्रह्माण्ड के समस्त ग्रहों को पार किया, अतः वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। उन्होंने तीन पग भूमि माँगने के बहाने से बलि महाराज की सारी भूमि ले ली। उन्होंने याचना इसीलिए की क्योंकि बिना याचना के, सन्मार्ग पर चलने वाले से कोई उसकी अधिकृत सम्पत्ति नहीं ले सकता।

तात्पर्य : बलि महाराज तथा उनके द्वारा वामनदेव को दान दिये जाने की कथा *श्रीमद्भागवत* के अष्टम स्कन्ध में वर्णित है। बलि महाराज ने अपने बल से ब्रह्माण्ड के समस्त लोकों को जीत लिया था। कोई भी राजा अपने पराक्रम से अन्य राजाओं को जीत सकता है और ऐसा आधिपत्य अधिकृत

समझा जाता है। अत: बलि महाराज के पास ब्रह्माण्ड की सारी भूमि आ गई और वे ब्राह्मणों को उदारतापूर्वक दान देने लगे। फलत: भगवान् ने ब्राह्मण भिक्षुक का वेष धारण किया और बलि महाराज से तीन पग भूमि माँगी। भगवान् तो सभी वस्तुओं के स्वामी हैं, अत: वे चाहते तो बलि महाराज की सारी भूमि ले सकते थे, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया, क्योंकि बलि ने यह सारी भूमि राजा के अधिकारों के अनुसार प्राप्त की थी। जब भगवान् ने बलि महाराज से इतना तुच्छ दान माँगा, तो बलि के गुरु शुक्राचार्य ने इस प्रस्ताव का विरोध किया, क्योंकि उन्हें पता था कि भिक्षुक के रूप में वामन विष्णु ही थे। जब बलि महाराज को पता चल गया कि भिक्षुक विष्णु ही हैं, तो उन्होंने अपने गुरु की आज्ञा की परवाह न करते हुए माँगी गई भूमि तुरन्त ही दान में देना स्वीकार कर लिया। इस समझौते के अनुसार भगवान् वामन ने ब्रह्माण्ड की सारी भूमि पहले दो पगों में ही नाप ली और बलि महाराज से अपना तीसरा पग रखने के लिए भूमि माँगी। बलि महाराज ने अपने मस्तक पर उनका तीसरा पग रखे जाने में प्रसन्नता व्यक्त की। इस प्रकार अपने पास जो कुछ था, उसे बलि महाराज ने खोया नहीं, वरन् भगवान् से आशीर्वाद प्राप्त किया कि वह उनका नित्य साथी और द्वारपाल बनकर उनके साथ रहे। अत: भगवान् के लिए सर्वस्व अर्पित करके मनुष्य कुछ भी खोता नहीं, वरन् सब कुछ प्राप्त करता है, जिसकी अन्यथा उसे कोई आशा नहीं रहती।

नार्थो बलेरयमुरुक्रम-पाद-शौच-
मापः शिखा-धृतवतो विबुधाधिपत्यम् ।
यो वै प्रतिश्रुतमृते न चिकीर्षदन्य-
दात्मानमङ्ग मनसा हरयेऽभिमेने ॥ १८॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; अर्थः—की तुलना में किसी महत्त्व का; बलेः—शक्ति का; अयम्—यह; उरुक्रम-पाद-शौचम्—श्रीभगवान् के पादप्रक्षालन से प्राप्त; आपः—जल; शिखा-धृतवतः—सिर के ऊपर धारण करने वाले का; विबुध-अधिपत्यम्—देवों के साम्राज्य के ऊपर प्रमुखता; यः—जो; वै—निश्चय ही; प्रतिश्रुतम्—दिया गया वचन; ऋते न—उसके अतिरिक्त; चिकीर्षत्—प्रयास किया गया; अन्यत्—अन्य कुछ; आत्मानम्—अपना शरीर भी; अङ्ग—हे नारद; मनसा—मन से; हरये—हरि के प्रति; अभिमेने—समर्पित।

अपने सिर पर भगवान् के कमल-पाद प्रक्षालित जल को धारण करने वाले बलि महाराज ने अपने गुरु द्वारा मना किये जाने पर भी अपने वचन के अतिरिक्त मन में अन्य कुछ धारण नहीं किया। राजा ने भगवान् के तीसरे पग को पूरा करने के लिए अपना शरीर समर्पित कर दिया।

ऐसे महापुरुष के लिए अपने बाहुबल से जीते गये स्वर्ग के साम्राज्य का भी कोई महत्व नहीं था।

तात्पर्य : बलि महाराज को इतना बड़ा भौतिक त्याग करने के बदले में भगवान् की दिव्य कृपा प्राप्त करने से वैकुण्ठ लोक में स्थान प्राप्त हुआ था जहाँ शाश्वत भोग की उतनी ही अथवा उससे भी अधिक सुविधाएँ उपलब्ध थीं। अत: बाहुबल से जीते गये स्वर्ग के साम्राज्य को त्याग करके, उन्होंने कुछ खोया नहीं था। दूसरे शब्दों में, जब भगवान् किसी की गाढ़ी कमाई को छीन कर बदले में शाश्वत जीवन के लिए अपनी दिव्य भक्ति, आनन्द तथा ज्ञान प्रदान करते हैं, तो इसे ऐसे शुद्ध भक्त पर भगवान् की विशेष कृपा समझनी चाहिए।

भौतिक सम्पत्ति, चाहे कितनी ही मोहक क्यों न हो, कभी स्थायी नहीं हो सकती। अत: मनुष्य को चाहिए कि स्वेच्छा से ऐसी सम्पत्ति का परित्याग कर दे, अन्यथा इस शरीर का त्याग करते समय इस सारी सम्पत्ति को छोड़ना ही पड़ता है। बुद्धिमान मनुष्य जानता है कि समस्त भौतिक सम्पत्ति नाशवान है और इसका सर्वोत्तम उपयोग है कि इसे भगवान् की सेवा में अर्पित कर दिया जाय जिससे भगवान् प्रसन्न होकर उसे अपने परम धाम में स्थायी निवास दे सकें।

भगवद्गीता (१५.५-६) में परम धाम की व्याख्या भगवान् ने इस प्रकार की है—

निर्माणमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामा:।

द्वन्द्वैर्विमुक्ता: सुखदु:खसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढा: पदमव्ययं तत्॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावक:।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

जिस मनुष्य के पास इस जगत में घर, भूमि, सन्तान, समाज, मित्रता तथा सम्पत्ति के रूप में आवश्यकता से अधिक जितना होता है, वह सब थोड़े समय के लिए उसके पास रहता है। कोई भी माया द्वारा उत्पन्न इस भ्रामक सामग्री को स्थायी रूप में नहीं रख सकता। ऐसा मालिक आत्म-साक्षात्कार के विषय में अत्यधिक मोहग्रस्त रहता है, अत: मनुष्य के पास या तो बिल्कुल कम हो या कुछ न हो जिससे वह बनावटी प्रतिष्ठा से दूर रह सके। हम इस जगत में तीनों गुणों से संसर्ग के कारण कलुषित रहते हैं। अत: जो कोई जितना ही इस क्षणिक सम्पत्ति के बजाय भगवद्भक्ति के द्वारा

आध्यात्मिक उन्नति करता है, वह उतना ही भौतिक मोहासक्ति से मुक्त रहता है। जीवन की इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अपने आध्यात्मिक अस्तित्व तथा इसके स्थायी प्रभावों के विषय में पूरा विश्वास होना चाहिए। स्व-अस्तित्व के स्थायित्व के विषय में सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए स्वेच्छा से कम रखने या जीवन निर्वाह की आवश्यकता पूरी करने के लिए रखना चाहिए। मनुष्य को कृत्रिम आवश्यकताएँ न उत्पन्न करके न्यूनतम से संतुष्ट रहना चाहिए। कृत्रिम आवश्यकताएँ इन्द्रियों के कार्यकलाप हैं। आधुनिक सभ्यता की प्रगति इन्हीं इन्द्रियों के कार्यकलापों पर आधारित है अथवा दूसरे शब्दों में, यह सभ्यता इन्द्रिय-तृप्ति की सभ्यता है। पूर्ण सभ्यता तो आत्मा की सभ्यता है। इन्द्रिय-तुष्टि चाहने वाला सुसंस्कृत मनुष्य पशुओं के तुल्य है, क्योंकि पशु इन्द्रियों के कार्यकलापों से ऊपर नहीं उठ सकते।

इन्द्रियों से ऊपर मन है। मानसिक चिन्तन की सभ्यता भी पूर्ण नहीं, क्योंकि मन के ऊपर बुद्धि है और *भगवद्गीता* हमें बौद्धिक सभ्यता की जानकारी देती है। वैदिक साहित्य में मानवीय सभ्यता की अनेक दिशाएँ बताई गई हैं जिसमें इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा आत्मा की सभ्यताएँ सम्मिलित हैं। *भगवद्गीता* में मूलत: मनुष्य की बुद्धि का विवरण मिलता है, जिससे वह क्रमश: आत्मा की सभ्यता की ओर अग्रसर होता है। *श्रीमद्भागवत* तो आत्मा से सम्बद्ध विषय की पूर्ण मानवीय सभ्यता है। जैसे ही मनुष्य आत्मा की सभ्यता के पद तक उठ जाता है, वह ईश्वर के राज्य में जाने के योग्य बन जाता है, जिसका वर्णन *भगवद्गीता* के उपर्युक्त श्लोकों में मिलता है।

ईश्वर के साम्राज्य की प्रारम्भिक जानकारी से हमें पता लगता है कि वहाँ सूर्य, चन्द्र या बिजली की आवश्यकता नहीं होती, लेकिन अंधकार से युक्त भौतिक जगत में इनकी आवश्यकता पड़ती है। दूसरे यह कि जो भी आत्मा की सभ्यता अर्थात् भक्तियोग की विधि से उस साम्राज्य तक पहुँचता है उसको जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त हो जाती है। तब मनुष्य आत्मा में स्थायी रूप से स्थित हो जाता है और उसे भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है। बलि महाराज ने अपनी सारी भौतिक सम्पत्ति देकर बदले में आत्मा की सभ्यता स्वीकार की और इस प्रकार वे भगवान् के साम्राज्य में पहुँचने के योग्य हो सके। स्वर्ग का साम्राज्य, जिसे उन्होंने अपनी भौतिक शक्ति के बल से प्राप्त किया

था, ईश्वर के साम्राज्य के समक्ष तुच्छ था।

जो लोग इन्द्रिय-तुष्टि के लिए बनी भौतिक सभ्यता के सुख-साधनों को प्राप्त कर चुके हैं, उन्हें बलि महाराज के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए भगवद्धाम प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए जिन्होंने अपने अर्जित भौतिक समृद्धि के बदले में भक्तियोग की विधि स्वीकार की जिसकी संस्तुति *भगवद्गीता* में है और विस्तृत व्याख्या *श्रीमद्भागवत* में है।

तुभ्यं च नारद भृशं भगवान् विवृद्ध-
भावेन साधुपरितुष्ट उवाच योगम् ।
ज्ञानं च भागवतमात्म-सतत्त्व-दीपं
यद्वासुदेव-शरणा विदुरञ्जसैव ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तुभ्यम्—तुमको; च—भी; नारद—हे नारद; भृशम्—अत्यन्त सुन्दर ढंग से; भगवान्—श्रीभगवान्; विवृद्ध—विकसित; भावेन—दिव्य प्रेम से; साधु—साधु रूप आप; परितुष्टः—भली-भाँति संतुष्ट; उवाच—कहा; योगम्—सेवा; ज्ञानम्—ज्ञान; च—भी; भागवतम्—भगवान् तथा उनकी भक्ति का विज्ञान; आत्म—स्व; स-तत्त्व—समस्त विवरणों सहित; दीपम्—अंधकार में प्रकाश की भाँति; यत्—जो; वासुदेव-शरणाः—भगवान् वासुदेव के शरणागत; विदुः—उन्हें जानते हैं; अञ्जसा—भली-भाँति; एव—उसी रूप में।

हे नारद, तुम्हें श्रीभगवान् ने अपने हंसावतार में ईश्वर के विज्ञान तथा दिव्य प्रेमभाव के विषय में शिक्षा दी थी। वे तुम्हारी अगाध भक्ति से अत्यधिक प्रसन्न हुए थे। उन्होंने तुम्हें भक्ति का पूरा विज्ञान भी अत्यन्त सुबोध ढंग से समझाया था, जिसे केवल भगवान् वासुदेव के प्रति पूर्ण समर्पित व्यक्ति ही समझ सकते हैं।

तात्पर्य : भक्त तथा भक्ति दो परस्पर सम्बद्ध पद हैं। जब तक कोई भगवान् का भक्त नहीं होना चाहता तब तक वह भक्तिमय सेवा के गूढ़ रहस्यों को नहीं जान सकता। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को *भगवद्गीता* अर्थात् भक्ति का विज्ञान समझाना चाहा, क्योंकि वह उनका न केवल मित्र वरन् परम भक्त भी था। बात यह है कि सभी जीवात्माएँ, स्वभावतः परम व्यक्तित्व, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अंश रूप होने के कारण, कर्म करने के लिए अपेक्षतया कुछ सीमा तक स्वतन्त्र भी हैं। अतः भगवान् की भक्ति प्राप्त करने के लिए स्वेच्छ-सहयोगी बनना है और पहले से भक्ति में लगे लोगों के साथ स्वेच्छा से सहयोग करना पहली योग्यता है। ऐसे व्यक्तियों को सहयोग प्रदान करने से प्रत्याशित भक्त क्रमशः भक्ति की प्रविधियाँ सीख सकेगा और धीरे-धीरे ज्ञान प्राप्त करके भौतिक संगति के कल्मष से मुक्त हो

सकेगा। ऐसी शुद्धि-प्रक्रिया से प्रत्याशित भक्त में श्रद्धा उत्पन्न होगी और वह उसे भक्ति की दिव्य आस्वाद्य स्थिति तक ऊपर ले जाएगी। इससे उसमें भगवद्भक्ति के प्रति शुद्ध आसक्ति उत्पन्न होगी और उसे दिव्य प्रेम की अवस्था के निकट तक पहुँचाने से पहले आह्लाद के बिन्दु तक ले जाएगी।

भक्ति सम्बन्धी ऐसे ज्ञान के दो उपविभाग किये जा सकते हैं—भक्ति के स्वभाव से सम्बन्धित प्रारम्भिक ज्ञान तथा इसके अनुपालन का गौण ज्ञान। *भागवत* में श्रीभगवान् का, उनकी सुन्दरता का, उनके यश, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, आकर्षण तथा प्रेम के बदले अपनी ओर आकर्षित करने वाले दिव्य गुणों का वर्णन हुआ है। जीवात्मा में भगवान् की प्रेमाभक्ति करने का सहज आकर्षण होता है। भौतिक संगति के प्रभाव से यह आकर्षण कृत्रिम रूप से आच्छादित होता है और *श्रीमद्भागवत* इस कृत्रिम आवरण को सही तौर पर हटाने में सहायक है। अत: इस श्लोक में विशेष उल्लेख है कि *श्रीमद्भागवत* दिव्य ज्ञान के दीप के तुल्य है। भक्ति में दिव्य ज्ञान के ये दोनों उपविभाग उन व्यक्तियों में प्रकट होते हैं, जो वासुदेव की शरण में जा चुके हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है—वासुदेव के चरणकमलों में पूर्ण रूप से समर्पित महापुरुष अत्यन्त दुर्लभ हैं।

चक्रं च दिक्ष्वविहतं दशसु स्व-तेजो
मन्वन्तरेषु मनु-वंश-धरो बिभर्ति ।
दुष्टेषु राजसु दमं व्यदधात् स्व-कीर्तिं
सत्ये त्रि-पृष्ठ उशतीं प्रथयंश्चरित्रैः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

चक्रम्—भगवान् का सुदर्शन चक्र; च—भी; दिक्षु—समस्त दिशाओं में; अविहतम्—किसी रोकटोक के बिना; दशसु—दसों दिशाएँ; स्व-तेजः—व्यक्तिगत पराक्रम; मन्वन्तरेषु—मनु के विभिन्न अवतारों में; मनु-वंश-धरः—मनु-वंश के वंशज रूप में; बिभर्ति—शासन करता है; दुष्टेषु—दुष्टों पर; राजसु—उस प्रकार के राजाओं पर; दमम्—उत्पीड़न; व्यदधात्—सम्पन्न किया; स्व-कीर्तिम्—अपना यश; सत्ये—सत्यलोक में; त्रि-पृष्ठे—तीनों लोकों में; उशतीम्—महिमामय; प्रथयन्—स्थापित; चरित्रैः—गुणों द्वारा।

भगवान् ने मनु-अवतार लिया और वे मनुवंश के वंशज बन गये। उन्होंने अपने शक्तिशाली सुदर्शन चक्र से दुष्ट राजाओं का दमन करके उन पर शासन किया। समस्त परिस्थितियों में अबाध रहते हुए, उनका शासन तीनों लोकों तथा ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च सत्यलोक तक फैला था और उनकी महिमामयी कीर्ति से मंडित था।

तात्पर्य : प्रथम स्कंध में मनु के अवतारों की व्याख्या की जा चुकी है। ब्रह्मा के एक दिन में एक-

एक करके चौदह मनु बदलते हैं। इस प्रकार से ब्रह्मा के एक मास में ४२० मनु और एक वर्ष में ५,०४० मनु होते हैं। अपनी गणना के अनुसार, ब्रह्माजी १०० वर्ष तक जीवित रहते हैं, अतः एक ब्रह्मा की जीवन अवधि में ५,०४,००० मनु होते हैं। ऐसे ब्रह्मा असंख्य हैं और वे महाविष्णु के एक उच्छ्वास की अवधि तक जीवित रहते हैं। इस प्रकार हम कल्पना कर सकते हैं कि समस्त संसारों में, जो भगवान् के चतुर्थांश शक्ति के ही बराबर होते हैं, भगवान् के अवतार कैसे कार्य करते हैं।

मन्वन्तर अवतार चक्रधारी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के ही समान शक्ति से विभिन्न लोकों के दुष्ट शासकों को दण्डित करता है। *मन्वन्तर* अवतार भगवान् की दिव्य महिमाओं का प्रसार करते हैं।

धन्वन्तरिश्च भगवान् स्वयमेव कीर्ति-
र्नाम्ना नृणां पुरु-रुजां रुज आशु हन्ति ।
यज्ञे च भागममृतायुरवावरुन्ध
आयुष्य-वेदमनुशास्त्यवतीर्य लोके ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

धन्वन्तरिः—धन्वन्तरि नामक अवतार; च—तथा; भगवान्—श्रीभगवान्; स्वयम् एव—स्वतः; कीर्तिः—साक्षात् कीर्ति; नाम्ना—नाम से; नृणाम् पुरु-रुजाम्—रुग्ण जीवात्माओं के; रुजः—रोग; आशु—तुरन्त; हन्ति—अच्छा करता है; यज्ञे—यज्ञ में; च—भी; भागम्—भाग, हिस्सा; अमृत—अमृत; आयुः—उम्र; अव—से; अवरुन्धे—प्राप्त करता है; आयुष्य—जीवन काल का; वेदम्—ज्ञान; अनुशास्ति—निर्देश करता है; अवतीर्य—अवतार लेकर; लोके—ब्रह्माण्ड में।

अपने धन्वन्तरि अवतार में भगवान् अपने साक्षात् यश के द्वारा निरन्तर रुग्ण रहने वाली जीवात्माओं के रोगों का तुरन्त उपचार कर देते हैं और उनके कारण ही सभी देवता दीर्घायु प्राप्त करते हैं। इस प्रकार भगवान् सदा के लिए महिमामण्डित हो जाते हैं। उन्होंने यज्ञों में से भी एक अंश निकाल लिया और उन्होंने ही विश्व में ओषधि विज्ञान (आयुर्वेद) का प्रवर्तन किया।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा जा चुका है, प्रत्येक वस्तु श्रीभगवान् रूपी परम स्रोत से ही उद्भूत है, अतः इस श्लोक से यही ध्वनित होता है कि श्रीभगवान् ने अपने धन्वन्तरि अवतार में आयुर्वेद का भी प्रवर्तन किया और इस प्रकार यह ज्ञान वेदों में वर्णित है। वेद समस्त ज्ञान के स्रोत हैं, अतः जीवों के रोगों को पूर्ण रूप से ठीक करने की सारी जानकारी भी उनमें वर्णित है। देहधारी जीवात्माएँ शरीर की रचना के कारण रुग्ण होती रहती हैं। यह शरीर व्याधि का प्रतीक है। रोग तरह-तरह के हो सकते हैं, किन्तु वे शरीर में उसी तरह रहते हैं जैसे प्रत्येक के साथ जन्म तथा मृत्यु।

अत: भगवत्कृपा से न केवल शरीर तथा मन के रोग अच्छे होते हैं, वरन् आत्मा को भी निरन्तर आवागमन से मुक्ति मिल जाती है। भगवान् का एक नाम *भवौषधि* भी है, जिसका अर्थ है भव रोगों से बचाव का स्रोत।

क्षत्रं क्षयाय विधिनोपभृतं महात्मा
ब्रह्म-ध्रुगुज्झित-पथं नरकार्ति-लिप्सु ।
उद्धन्त्यसाववनिकण्टकमुग्र-वीर्य-
स्त्रिः-सप्त-कृत्व उरुधार-परश्वधेन ॥ २२॥

शब्दार्थ

क्षत्रम्—राजवंश; क्षयाय—घटाने के लिए; विधिना—दैववश; उपभृतम्—बढ़े हुए; महात्मा—परम साधु परशुराम के रूप में भगवान्; ब्रह्म-धुक्—ब्रह्मा का परम सत्य; उज्झित-पथम्—जिन्होंने परम सत्य मार्ग को त्याग दिया है; नरक-आर्ति-लिप्सु—नरक की यातना के इच्छुक; उद्धन्ति—बाध्य करते हैं; असौ—वे सब; अवनिकण्टकम्—संसार के काँटे; उग्र-वीर्य:—महापराक्रमी; त्रि:-सप्त—इक्कीस बार; कृत्व:—सम्पन्न; उरुधार—अत्यन्त तीक्ष्ण; परश्वधेन—विशाल फरसे से।

जब शासक वर्ग जो क्षत्रिय नाम से जाने जाते थे, परम सत्य के पथ से भ्रष्ट हो गये और नरक भोगने के इच्छुक हो उठे, तो भगवान् ने परशुराम मुनि का अवतार लेकर उन अवांछित राजाओं का उच्छेद किया जो पृथ्वी के लिए कंटक बने हुए थे। इस तरह उन्होंने अपने तीक्ष्ण फरसे के द्वारा क्षत्रियों का इक्कीस बार उच्छेदन किया।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के किसी भी भाग में, चाहे वह इस लोक में हो या अन्य लोकों में, शासन करने वाले क्षत्रिय वास्तव में सर्वशक्तिमान भगवान् के प्रतिनिधि होते हैं और वे प्रजा को भगवत्साक्षात्कार की ओर अभिमुख कराने के निमित्त होते हैं। प्रत्येक राज्य तथा इसके प्रशासक का, चाहे प्रशासन जैसा भी हो—राज्यतंत्र, तानाशाही लोकतंत्र इत्यादि—मुख्य कर्तव्य प्रजा को भगवत्साक्षात्कार की ओर अभिमुख करना है। यह सभी मनुष्यों के लिए अनिवार्य है और पिता, गुरु तथा अन्तत: राज्य का यह कर्तव्य है कि वे प्रजा को इस ओर ले जाँए। भौतिक संसार की सृष्टि इसी उद्देश्य से हुई है कि उन पतित आत्माओं को अवसर प्राप्त हो सके जो भगवान् की इच्छाओं के विरुद्ध कार्य करके प्रकृति द्वारा बद्ध हो गई है। भौतिक प्रकृति की शक्ति मनुष्य को धीरे-धीरे नित्य दुखों तथा कष्टों की नारकीय अवस्था की ओर ले जाती है। जो बद्ध जीवन के निर्धारित विधानों के विपरीत कार्य करते हैं, वे *ब्रह्मोज्झित-पथ* कहलाते हैं जिसका अर्थ है कि वे परम सत्य के मार्ग का विरोध कर रहे

हैं, अत: वे दण्ड के भागी होते हैं। भगवान् परशुराम, जो श्रीभगवान् के अवतार हैं, ऐसी ही सांसारिक परिस्थिति में प्रकट हुए और उन्होंने सभी उत्पाती राजाओं का इक्कीस बार संहार किया। उस समय अनेक क्षत्रिय राजा भाग कर भारतवर्ष से बाहर चले गये और *महाभारत* साक्षी है कि मिस्र के राजा परशुराम के उत्पीड़न से ही शुरु-शुरु में भारत से प्रवासी बने। जब भी राजा या प्रशासकगण ईश्वरविहीन बन कर ईश्वरविहीन सभ्यता की व्यवस्था करते हैं तब उन्हें इसी प्रकार सभी परिस्थितियों में दण्डित होना पड़ता है। यही सर्वशक्तिमान की व्यवस्था है।

अस्मत्प्रसाद-सुमुखः कलया कलेश
इक्ष्वाकु-वंश अवतीर्य गुरोर्निदेशे ।
तिष्ठन् वनं स-दयितानुज आविवेश
यस्मिन् विरुध्य दश-कन्धर आर्तिमार्च्छत् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अस्मत्—हम सब पर, ब्रह्मा से लेकर क्षुद्र चीटीं तक; प्रसाद—अहैतुकी कृपा; सुमुखः—अत्यन्त उन्मुख; कलया—अपने अंशों सहित; कलेशः—समस्त शक्तियों के स्वामी; इक्ष्वाकु—महाराज इक्ष्वाकु जो सूर्यवंशी थे; वंशे—कुल में; अवतीर्य—जन्म लेकर; गुरोः—पिता अथवा गुरु की; निदेशे—आज्ञा से; तिष्ठन्—स्थित होकर; वनम्—वन में; स-दयिता-अनुजः—अपनी पत्नी तथा अनुज सहित; आविवेश—प्रवेश किया; यस्मिन्—जिसको; विरुध्य—विरोध करके; दश-कन्धरः—दस सिरों वाले, रावण ने; आर्तिम्—महान् कष्ट; आर्च्छत्—प्राप्त किया।

इस ब्रह्माण्ड के समस्त जीवों पर अहैतुकी कृपा के कारण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अपने अंशों सहित महाराज इक्ष्वाकु के कुल में अपनी अन्तरंगा शक्ति, सीताजी, के स्वामी के रूप में प्रकट हुए। वे अपने पिता महाराज दशरथ की आज्ञा से वन गये और अपनी पत्नी तथा छोटे भाई के साथ कई वर्षों तक वहाँ रहे। अत्यन्त शक्तिशाली दस सिरों वाले रावण ने उनके प्रति कई वर्षों तक अपराध किया और जिससे अन्तत: वह विनष्ट हो गया।

तात्पर्य : भगवान् श्री राम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं और उनके भाई भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न उनके अंश हैं। चारों भाई विष्णुतत्त्व हैं। वे कभी भी सामान्य मानव प्राणी नहीं रहे। *रामायण* के अनेक अनैतिक और अज्ञानी टीकाकार भगवान् रामचन्द्रजी के छोटे भाइयों को सामान्य जीवात्माएँ बताते हैं। किन्तु ईश्वरी-विज्ञान (भगवत्तत्व) के सर्वाधिक प्रामाणिक शास्त्र, इस *श्रीमद्भागवत,* में यह स्पष्ट उल्लेख है कि उनके भाई उनके स्वांश थे। मूल रूप में भगवान् रामचन्द्र वासुदेव के अवतार हैं, लक्ष्मण संकर्षण के, भरत प्रद्युम्न के तथा शत्रुघ्न अनिरुद्ध के अवतार हैं, जो भगवान् के ही अंश हैं। लक्ष्मीजी

सीता के रुप में भगवान् की अन्तरंगा शक्ति हैं; वे न तो सामान्य स्त्री हैं और न ही दुर्गा की बहिरंगा शक्ति की अवतार हैं। दुर्गा जी भगवान् की बहिरंगा शक्ति हैं और वे शिवजी की संगिनी हैं।

जैसाकि *भगवद्गीता* (४.७) में कहा गया है, जब-जब धर्म पालन में कमी आती है तब-तब भगवान् प्रकट होते हैं। भगवान् रामचन्द्र भी ऐसी ही परिस्थितियों में प्रकट हुए; उनके साथ उनकी अंतरंगा शक्ति के ही अंश-रूप भ्राता और लक्ष्मीजी सीता देवी थीं।

भगवान् रामचन्द्र को उनके पिता, महाराज दशरथ, ने अत्यन्त अटपटी परिस्थितियों में वन जाने का आदेश दिया था। भगवान् ने, आदर्श पुत्र की भाँति, उनकी आज्ञा का पालन किया, यद्यपि उन्हें उस समय अयोध्या का राजा घोषित किया गया था। उनके छोटे भाई लक्ष्मण ने उनके साथ जाने की इच्छा व्यक्त की और उनकी शाश्वत पत्नी सीता ने भी वैसी ही इच्छा व्यक्त की। भगवान् ने इन दोनों का आग्रह स्वीकार किया और इन्हें साथ लेकर दण्डकारण्य वन में चौदह वर्षों तक रहने के लिए उन्होंने वन में प्रवेश किया। वन में रहते हुए राम तथा रावण में संघर्ष हुआ और रावण ने राम की पत्नी सीताजी का अपहरण कर लिया। इस संघर्ष का अन्त महान् शक्तिशाली रावण का उसके राज्य तथा परिवार समेत विनाश के साथ हुआ।

सीता जी ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी जी हैं, किन्तु वे किसी अन्य जीव के द्वारा भोग्या नहीं हैं। वे समस्त जीवों द्वारा, अपने पति रामचन्द्रजी के साथ पूजनीय हैं। रावण जैसा भौतिकतावादी व्यक्ति इस महान् सत्य को नहीं समझ पाता; उल्टे वह, राम से सीता देवी को छीनकर कष्टों का आह्वान करता है। जो भौतिकतावादी व्यक्ति ऐश्वर्य तथा सम्पत्ति के पीछे पड़े रहते हैं, वे *रामायण* से शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं कि परमेश्वर की श्रेष्ठता को स्वीकार किये बिना भगवान् की प्रकृति का अपहरण (शोषण) रावण की नीति है। रावण अत्यन्त समृद्ध था, यहाँ तक कि उसने अपनी राजधानी लंका को शुद्ध सोने से बनवाया था। चूँकि उसे भगवान् रामचन्द्र की श्रेष्ठता मान्य न थी और उसने उनकी पत्नी सीता का अपहरण किया था, फलत: वह मारा गया और उसके साथ उसका ऐश्वर्य तथा पराक्रम नष्ट हो गया।

भगवान् रामचन्द्र छहों पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त अवतार हैं, इसीलिए उन्हें इस श्लोक में *कलेश:* अर्थात् समस्त ऐश्वर्यों का स्वामी कहा गया है।

यस्मा अदादुदधिरूढ-भयाङ्ग-वेपो
मार्गं सपद्यरि-पुरं हरवद् दिधक्षोः ।
दूरे सुहृन्मथित-रोष-सुशोण-दृष्ट्या
तातप्यमान-मकरोरग-नक्र-चक्रः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

यस्मै—जिसको; अदात्—प्रदान किया; उदधिः—हिन्द महासागर ने; ऊढ-भय—भयभीत; अङ्ग-वेपः—काँपते हुए शरीर से; मार्गम्—मार्ग; सपदि—तुरन्त; अरि-पुरम्—शत्रु की नगरी; हर-वत्—हर (महादेव) के समान; दिधक्षोः—भस्म करने के लिए उद्यत; दूरे—दूरी पर; सु-हृत्—घनिष्ठ मित्र; मथित—पीड़ित; रोष—क्रोध में; सु-शोण—लाल-लाल; दृष्ट्या—ऐसी दृष्टि से; तातप्यमान—ज्वलित; मकर—मगरमच्छ; उरग—साँप; नक्र—घड़ियाल; चक्रः—वृत्त, गोला।.

दूरस्थ अपनी घनिष्ठ संगिनी (सीता) के वियोग से दुखी श्रीरामचन्द्र ने अपने शत्रु रावण की नगरी पर हर (शिव जो स्वर्ग के राज्य को भस्म कर देना चाहते थे) के जैसे ज्वलित लाल-लाल नेत्रों से दृष्टि डाली। अपार समुद्र ने उन्हें भय से काँपते हुए मार्ग दे दिया, क्योंकि उसके परिवार के सभी जलचर सदस्य यथा मगरमच्छ, सर्प तथा घड़ियाल भगवान् के रक्त नेत्रों की क्रोधाग्नि से जले जा रहे थे।

तात्पर्य : भगवान् में भी अन्य संवेदनशील जीवों की भाँति अनुभूति होती है, क्योंकि वे प्रधान एवं आदि व्यक्ति हैं और अन्य समस्त जीवों के परम स्रोत हैं। वे नित्य हैं, प्रमुख हैं अर्थात् अन्य सभी शाश्वत जिवात्माओं में प्रधान हैं। ये अनेक अधीनस्थ नित्य एक-नित्य पर आश्रित हैं, अतः गुणात्मक रूप से ये दोनों एक ही हैं। इसी एकरूपता के कारण इन दोनों नित्यों में सभी रसानुभूतियाँ तो हैं, किन्तु प्रमुख नित्य और अधीनस्थ नित्यों की महानता में मात्रा का अन्तर रहता है। जब रामचन्द्रजी क्रुद्ध होकर लाल लाल जलती हुई आँखें दिखाने लगे तो सारा समुद्र उस शक्ति से इतना तप्त हो उठा कि उसके सारे जलचर जलने लगे और साक्षात् समुद्र भय के मारे काँपने लगा। उसने उन्हें शत्रु की नगरी में पहुँचने का सरल मार्ग दे दिया। निर्विशेषवादियों को भगवान् के इस उग्रभाव पर आपत्ति हो सकती है, क्योंकि वे पूर्णता में नकारात्मकता देखना चाहते हैं। भगवान् के परम होने से निर्विशेषवादी सोचते हैं कि भगवान् में सांसारिक क्रोधभाव नहीं प्रकट होना चाहिए। अल्पज्ञान के कारण ये लोग यह नहीं समझ पाते कि परम पुरुष की भावना गुण और मात्रा की समस्त सांसारिक कल्पना से परे है। यदि भगवान् रामचन्द्र की भावना संसारी होती तो सारा समुद्र तथा उसके जलचर क्यों विचलित होते ? क्या

किसी सांसारिक व्यक्ति की लाल-लाल आँखें विशाल सागर को गर्म कर सकती हैं? ये ऐसे कारण हैं जिनके द्वारा, सगुण तथा निर्गुण विचारधाराओं के अनुसार, परम सत्य में अन्तर किया जाना चाहिए। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है, परम सत्य ही प्रत्येक वस्तु का मूल है, अतः परम पुरुष नश्वर संसार में प्रतिबिम्बित भावनाओं से विहीन नहीं हो सकता। अपितु, परमेश्वर में पाई जाने वाली विभिन्न रसानुभूतियाँ, चाहे क्रोध की हों या करुणा की, गुणात्मक दृष्टिकोण से समान प्रभाव डालती हैं। दूसरे शब्दों में, इन अनुभूतियों के गुणों में कोई सांसारिक अन्तर नहीं होता। भले ही ये सभी परम पद पर होती हैं। ऐसी अनुभूतियाँ परमेश्वर में निश्चय ही अनुपस्थित नहीं रहतीं जैसाकि निर्विशेषवादी सोचते हैं और दिव्य जगत के विषय में संसारी अनुमान लगाते हैं।

वक्षः-स्थल-स्पर्श-रुग्न-महेन्द्र-वाह--
दन्तैर्विडम्बित-ककुब्जुष ऊढ-हासम् ।
सद्योऽसुभिः सह विनेष्यति दार-हर्तु-
र्विस्फूर्जितैर्धनुष उच्चरतोऽधिसैन्ये ॥ २५॥

शब्दार्थ

वक्षः-स्थल—छाती; स्पर्श—छूने से; रुग्न—खंडित; महा-इन्द्र—स्वर्ग के राजा के; वाह—वाहन की; दन्तैः—सूँड़ से; विडम्बित—प्रकाशित; ककुप्-जुषः—सभी दिशाएँ; ऊढ-हासम्—अट्टहास; सद्यः—तुरन्त; असुभिः—प्राण; सह—सहित; विनेष्यति—मार डाला गया; दार-हर्तुः—स्त्री को चुराने वाला; विस्फूर्जितैः—सिहरन उत्पन्न करने वाले; धनुषः—धनुष के द्वारा; उच्चरतः—तेजी से विचरण करते हुए; अधिसैन्ये—दोनों पक्षों के सैनिकों के बीच।

जब रावण युद्ध कर रहा था, तो उसकी छाती से टकराकर स्वर्ग के राजा इन्द्र के हाथी की सूँड़ खण्ड-खण्ड हो गई और ये खण्ड बिखरकर चारों दिशाओं को चकाचौंध करने लगे। अतः रावण को अपने शौर्य पर गर्व होने लगा और वह अपने को समस्त दिशाओं का विजेता समझ कर सैनिकों के बीच इतराने लगा। किन्तु भगवान् श्री रामचन्द्र द्वारा अपने धनुष पर टंकार करने पर उसकी वह प्रसन्नता की हँसी उसकी प्राणवायु के साथ ही सहसा बन्द हो गई।

तात्पर्य : कोई कितना ही प्रभावशाली क्यों न हो, जब उससे भगवान् रूठ जाते हैं, तो उसे कोई नहीं बचा सकता। इसी प्रकार, कोई कितना ही निर्बल क्यों न हो, यदि भगवान् उसके रक्षक हैं, तो उसको कोई मार नहीं सकता।

भूमेः सुरेतर-वरूथ-विमर्दितायाः
क्लेश-व्ययाय कलया सित-कृष्ण-केशः ।
जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्य-मार्गः
कर्माणि चात्म-महिमोपनिबन्धनानि ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

भूमेः—सारे संसार का; सुर-इतर—देवताओं के अतिरिक्त अन्य; वरूथ—सैनिक; विमर्दितायाः—भार से पीड़ित; क्लेश—कष्ट; व्ययाय—कम करने के लिए; कलया—अपने अंश समेत; सित-कृष्ण—न केवल सुन्दर किन्तु कृष्ण भी; केशः—केशों से युक्त; जातः—प्रकट होकर; करिष्यति—करेगा; जन—सामान्य लोग; अनुपलक्ष्य—कम दिखने वाला; मार्गः—पथ; कर्माणि—कार्य; च—भी; आत्म-महिमा—स्वयं भगवान् की महिमा के; उपनिबन्धनानि—प्रसंग में।

जब पृथ्वी पर, ईश्वर में श्रद्धा न रखने वाले, परस्पर लड़ने वाले राजाओं का भार बढ़ जाता है, तो भगवान् संसार का कष्ट कम करने के लिए अपने अंश समेत अवतरित होते हैं। वे सुन्दर काले-काले केशों से युक्त अपने आदि रूप में आते हैं और अपनी दिव्य महिमा के विस्तार के लिए ही अलौकिक कार्य करते हैं। कोई उनकी महानता का अनुमान नहीं लगा सकता।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण और उनके निकटतम अंश, भगवान् बलदेव, के प्राकट्य का वर्णन हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलदेव दोनों एक ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं और अनेक रूपों तथा शक्तियों के रूप में अपना विस्तार करते हैं और यह सम्पूर्ण इकाई परब्रह्म कहलाती है। भगवान् के ऐसे विस्तारों के दो विभाग हैं—स्वांश तथा विभिन्नांश। सारे स्वांश विस्तार विष्णु-तत्त्व कहलाते हैं और भिन्नांश विस्तार जीव-तत्त्व कहलाते हैं। ऐसे विस्तारों में भगवान् बलदेव, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के प्रथम स्वांश विस्तार हैं।

विष्णुपुराण तथा *महाभारत* दोनों में श्रीकृष्ण तथा बलदेव की वृद्धावस्था हो जाने पर भी काले-काले बाल बताये गये हैं। भगवान् को *अनुपलक्ष्य मार्गः* अथवा वैदिक पारिभाषिक शब्दावली में *अवाङ्मनसा गोचरः* कहा गया है—अर्थात् सामान्यजनों के लिए सीमित इन्द्रिय-अनुभूति से अनुभवगम्य या दृश्य नहीं हैं। *भगवद्गीता* (७.२५) में कहा गया है—*नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।* दूसरे शब्दों में, उन्हें अधिकार प्राप्त है कि वे जिसके समक्ष चाहें प्रकट हों या न हों। केवल प्रामाणिक भक्त ही उनके विशिष्ट लक्षणों से उन्हें जान सकते हैं और ऐसे अनेक लक्षणों में से इस श्लोक में एक लक्षण का वर्णन है—*सितकृष्ण केशः*—अर्थात् जिनके सुन्दर काले-काले बाल हैं। भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलदेव दोनों के सिरों पर वृद्धावस्था में भी ऐसे बाल रहते हैं। वे बुढ़ापे में

भी सोलह वर्ष के बालकों-से प्रतीत होते थे। श्रीभगवान् का यही विशिष्ट लक्षण है। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि यद्यपि वे समस्त जीवात्माओं में सबसे वृद्ध हैं, किन्तु वे सदैव तरुण लगते हैं। आध्यात्मिक देह का यही लक्षण है। भौतिक देह में जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा तथा रोग के लक्षण दिखते हैं, किन्तु आध्यात्मिक देह में इन लक्षणों का अभाव रहता है। वैकुण्ठ लोक में रहने वाले जीवात्माओं का भी ऐसा ही आध्यात्मिक शरीर होता है, जिसमें वृद्धावस्था के कोई लक्षण नहीं दिखते। *भागवत* के षष्ठम स्कंध में कहा गया है कि अजामिल को यमदूतों से छुड़ाने के लिए जो विष्णुदूत आये वे तरुण लग रहे थे। इससे भी इस श्लोक के वर्णन की पुष्टि होती है। अत: यह निश्चित हो गया है कि वैकुण्ठ-लोकों में भगवान् या अन्य निवासियों के आध्यात्मिक शरीर इस संसार के मनुष्यों के शरीरों से भिन्न होते हैं। अत: जब भगवान् उस लोक से इस संसार में अवतरित होते हैं, तो वे अपनी आत्ममाया के आध्यात्मिक शरीर समेत आते हैं जिसमें बहिरंगा माया छू तक नहीं पाती। जो यह कहते हैं कि निर्गुण ब्रह्म भौतिक देह धारण करके इस संसार में प्रकट होता है, सर्वथा अनर्गल प्रलाप है। अत: जब भगवान् यहाँ पर आते हैं, तो वे आध्यात्मिक देह में ही आते हैं, भौतिक देह में नहीं। निर्विशेष, ब्रह्मज्योति उनके शरीर से निर्गत मात्र तेज ही है, अत: भगवान् के शरीर तथा उनकी निर्विशेष ब्रह्मज्योति के गुण में कोई अन्तर नहीं होता।

प्रश्न यह है कि दुष्ट राजाओं द्वारा संसार में उत्पन्न भार को कम करने के लिए सर्वशक्तिमान भगवान् यहाँ पर क्यों आते हैं? निस्सन्देह भगवान् को ऐसे कार्यों के लिए स्वयं आने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु वे अपने शुद्ध भक्तों को प्रोत्साहित करने के लिए अपने दिव्य कार्यकलाप प्रदर्शित करने हेतु यहाँ आते हैं, क्योंकि भक्त भगवान् की महिमा का गान करके जीवन का सुख भोगना चाहते हैं। *भगवद्गीता* (९.१३-१४) में कहा गया है कि महात्मागण भगवान् के कार्यकलापों के गान में आनन्द का अनुभव करते हैं। समग्र वैदिक साहित्य का ध्येय मनुष्य के ध्यान को भगवान् तथा उनके कार्यकलापों की ओर उन्मुख करना है। सांसारिक लोगों से सम्बन्धित भगवान् के ये कार्यकलाप शुद्ध भक्तों की चर्चा के विषय बनते हैं।

तोकेन जीव-हरणं यदुलूकि-काया-
स्त्रै-मासिकस्य च पदा शकटोऽपवृत्तः ।
यद् रिङ्गतान्तर-गतेन दिवि-स्पृशोर्वा
उन्मूलनं त्वितरथार्जुनयोर्न भाव्यम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

तोकेन—बालक द्वारा; जीव-हरणम्—जीव का वध; यत्—जो; उलूकि-काया:—असुर का विशाल शरीर धारण कर लिया; त्रै-मासिकस्य—तीन मास का; च—भी; पदा—पैर से; शकटः अपवृत्तः—छकड़े को पलट दिया; यत्—जो; रिङ्गता—घुटने के बल चलते; अन्तर-गतेन—बीच में जाकर; दिवि—आकाश में ऊँचे; स्पृशोः—छूते हुए; वा—अथवा; उन्मूलनम्—जड़ समेत उखाड़ लेना; तु—लेकिन; इतरथा—के अतिरिक्त अन्य; अर्जुनयोः—अर्जुन के दो वृक्षों का; न भाव्यम्—सम्भव न था।

भगवान् श्रीकृष्ण के परमेश्वर होने में कोई सन्देह नहीं है, अन्यथा जब वे अभी अपनी माता की गोद में थे तो पूतना जैसी राक्षसी का वध किस तरह कर सकते थे; तीन मास की आयु में ही अपने पाँव से छकड़े को कैसे पलट सकते थे और जब घुटने के बल चल रहे थे तभी गगनचुम्बी अर्जुन वृक्षों के जोड़े को समूल कैसे उखाड़ सकते थे? ये सभी कार्य स्वयं भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी के लिए असम्भव हैं।

तात्पर्य : भगवान् का निर्माण मानसिक कल्पना या वोटों की गणना से कोई भगवान को निर्मित नहीं कर सकता जैसाकि आजकल के अल्पज्ञानी लोग करने लगे हैं। ईश्वर तो सदैव ईश्वर ही रहता है और सामान्य जीवात्मा नित्य ईश्वर का एक अंश ही है। ईश्वर अद्वितीय है, किन्तु जीवात्माएँ अनगिनत हैं। इन सभी जीवात्माओं का पालन ईश्वर द्वारा होता है। वेदों का यही मत है। जब श्रीकृष्ण अभी माँ की गोद में ही थे तो पूतना राक्षसी उनकी माता के समक्ष प्रकट हुई और उसने शिशु को अपनी गोद में खिलाने के लिए याचना की। माता यशोदा राजी हो गईं और वह शिशु को सम्मानीय स्त्री वेश में आई पूतना की गोद में दे दिया गया। पूतना अपने स्तनों के अग्रभाग में विष लगाकर आई थी और इस शिशु को मारना चाह रही थी। और जब सब कुछ पूरा हो गया, तब बाल रूप भगवान् ने उसके स्तनों को इतनी जोर से चूसा कि उसके प्राण निकल गये। उसका तथाकथित छह मील लम्बा शरीर भूमि पर गिर पड़ा। भगवान् को अपने शरीर का पूतना राक्षसी के शरीर जितना विस्तार नहीं करना पड़ा यद्यपि वे चाहते तो छह मील से भी अधिक विशाल बन सकते थे। वामन अवतार में उन्होंने स्वयं को बौना ब्राह्मण बना लिया था, किन्तु जब बलि महाराज ने भूमि देने का वचन दे दिया तो उन्होंने अपने अंगों को ब्रह्माण्ड की चोटी तक लाखों मील लम्बा कर लिया। अत: अपने शरीर को विस्तृत करके

चमत्कार दिखाना श्रीकृष्ण के लिए कोई कठिन कार्य नहीं था, किन्तु उन्होंने प्रगाढ़ मातृप्रेम के कारण ऐसा नहीं किया। यशोदा यदि अपने पुत्र को पूतना की गोद में छह मील तक विस्तृत होते देख लेतीं तो उनके मातृत्व को धक्का लगता और वे जान जातीं कि उनका यह तथाकथित पुत्र श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं। तब यशोदा माई को अपने पुत्र के प्रति सहज मातृप्रेम न रह पाता। किन्तु जहाँ तक श्रीकृष्ण का सम्बन्ध है वे तो सदैव ईश्वर हैं, चाहे वे अपनी माता की गोद में शिशु रूप में हों या वामनदेव के रूप में, सारे ब्रह्माण्ड को नापने वाले हों। उन्हें कठिन तपस्या करके ईश्वर बनने की आवश्यकता नहीं रहती, यद्यपि कुछ लोग ऐसा करके ईश्वर बनने की बात सोचते हैं। कठिन तपस्या द्वारा कोई न तो ईश्वर से एकाकार हो सकता है, न उनके तुल्य बन सकता है, किन्तु वह मात्र अनेक दैवी गुण प्राप्त कर सकता है। जीवात्मा बहुत हद तक दैवी गुण प्राप्त कर सकता है, किन्तु वह ईश्वर नहीं बन सकता। श्रीकृष्ण बिना किसी तपस्या के सदैव ईश्वर हैं, चाहे वे अपनी माँ की गोद में खेल रहे हों या बड़े होने की अवस्था में हों।

इस प्रकार जब वे तीन मास के थे तो उन्होंने यशोदा माई के घर में छकड़े के पीछे छिपे शकटासुर का वध किया। जब श्रीकृष्ण घुटने के बल रेंग-रेंग कर अपनी माता के कार्यों में बाधा डाल रहे थे, तो उनकी माता ने उन्हें ऊखल में बाँध दिया था, किन्तु नटखट बालक ऊखल को घसीटते हुए यशोदा माई के आँगन में उगे बहुत ऊँचे अर्जुन वृक्षों की जोड़ी के बीच पहुँच गये और जब ऊखल उनमें फँस गया तो उनके खींचने पर दोनों वृक्ष धम्म से गिर पड़े। जब यशोदा माई ने यह घटना देखी तो उन्होंने ईश्वर को धन्यवाद दिया कि उनका बालक गिरे वृक्षों से बच गया है, उन्हें इसका कोई ज्ञान न था कि उन्हीं के बालक ने आँगन में रेंगते-रेंगते यह कृत्य किया है। भगवान् तथा उनके भक्तों के बीच प्रेम का पारस्परिक आदान-प्रदान ऐसा ही है। यशोदा माई ने भगवान् को पुत्र रूप में चाहा और भगवान् उनकी गोदी में शिशुवत् क्रीड़ा करते रहे, किन्तु साथ ही जब-जब आवश्यकता पड़ी, उन्होंने सर्वशक्तिमान भगवान् की भी भूमिका निभाई। ऐसी लीलाओं की यही विशेषता रही कि वे सबों की आकांक्षाओं को पूरा करते रहे। जुड़वाँ विशाल अर्जुन वृक्षों को गिराने के पीछे भगवान् का उद्देश्य था नारद के शाप से वृक्ष बने कुबेर के दोनों पुत्रों को शाप से उबारना और उसके साथ ही यशोदा माई के आँगन में घुटने

के बल सरक-सरक कर चलना जिसे देख कर यशोदा को दिव्य आनन्द प्राप्त हो।

भगवान् चाहे जैसी भी स्थिति में रहें, रहते तो भगवान् ही हैं, वे इच्छानुसार विराट या लघु रूप धारण कर सकते हैं।

यद् वै व्रजे व्रज-पशून् विषतोय-पीतान्
पालांस्त्वजीवयदनुग्रह-दृष्टि-वृष्ट्या ।
तच्छुद्धयेऽति-विष-वीर्य-विलोल-जिह्व-
मुच्चाटयिष्यदुरगं विहरन् ह्रदिन्याम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; वै—निश्चय ही; व्रजे—वृन्दावन में; व्रज-पशून्—वहाँ के पशु; विष-तोय—विषाक्त जल; पीतान्—पीने वालों को; पालान्—ग्वालों को; तु—भी; अजीवयत्—जीवित किया; अनुग्रह-दृष्टि—कृपापूर्ण चितवन की; वृष्ट्या—वृष्टि से; तत्—वह; शुद्धये—शुद्धि के लिए; अति—अत्यधिक; विष-वीर्य—अत्यधिक प्रभावशाली विष; विलोल—लपलपाती; जिह्वम्—जीभ वाला; उच्चाटयिष्यत्—कठोर दण्ड देगा; उरगम्—सर्प को; विहरन्—विनोद में; ह्रदिन्याम्—नदी में।

और जब ग्वालों तथा उनके पशुओं ने यमुना नदी का विषैला जल पी लिया और जब भगवान् ने (अपने बचपन में) अपनी कृपादृष्टि से ही उन्हें जीवित कर दिया। तब यमुना नदी के जल को शुद्ध करने के लिए ही वे उसमें मानो खेल-खेल में कूद पड़े। उन्होंने विषैले कालिय नाग को दण्ड दिया जो अपनी लपलपाती जीभ से विष की लहरें निकाल रहा था। भला परमेश्वर के अतिरिक्त ऐसा महान् कार्य करने में और कौन समर्थ है?

तत् कर्म दिव्यमिव यन्निशि निःशयानं
दावाग्निना शुचि-वने परिदह्यमाने ।
उन्नेष्यति व्रजमतोऽवसितान्त-कालं
नेत्रे पिधाप्य सबलोऽनधिगम्य-वीर्यः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस; कर्म—कार्य; दिव्यम्—अलौकिक; इव—सदृश; यत्—जो; निशि—रात्रि में; निःशयानम्—चिन्तामुक्त सोते हुए; दाव-अग्निना—वन की अग्नि की लपट से; शुचि-वने—शुष्क वन में; परिदह्यमाने—आग लगाये जाने पर; उन्नेष्यति—उबार लेंगे; व्रजम्—व्रज के समस्त वासी; अतः—अतः; अवसित—निश्चय ही; अन्त-कालम्—जीवन के अन्तिम क्षण; नेत्रे—आँखों में; पिधाप्य—मात्र बन्द करके; स-बलः—बलदेव सहित; अनधिगम्य—अगाध; वीर्यः—पराक्रम।

कालिय नाग को दण्डित करने के दिन ही रात्रि के समय, जब ब्रजभूमि के समस्त वासी निश्चिन्त होकर सो रहे थे तो सूखी पत्तियों के कारण जंगल में अग्नि धधक उठी और ऐसा लगा मानो उनकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। किन्तु आँखें बन्द करके बलराम जी के साथ भगवान् ने उन

सबको बचा लिया। ऐसे हैं भगवान् के अलौकिक कार्यकलाप!

तात्पर्य : यद्यपि इस श्लोक में कहा गया है कि भगवान् का यह कार्य अलौकिक है, किन्तु यह समझ लेना चाहिए भगवान् के सारे कार्यकलाप सदैव ही अलौकिक होते हैं और इस प्रकार वे सामान्य जीवों से भिन्न हैं। विशाल अर्जुन वृक्ष को उखाड़ना तथा आँखें बन्द करके वन की धधकती आग को बुझा देना, निश्चय ही मनुष्य द्वारा किसी प्रकार सम्भव नहीं हैं। न केवल ये कार्यकलाप सुनने में आश्चर्यजनक लगते हैं, किन्तु वस्तुत: भगवान् के सारे कार्यकलाप अलौकिक होते हैं जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.९) में की गई है। जो भी भगवान् के इन दिव्य एवं अलौकिक कार्यों को समझ लेता है, वह श्रीकृष्ण के धाम में प्रवेश करने का अधिकारी हो जाता है और इस वर्तमान भौतिक शरीर को त्यागने के बाद भगवान् के दिव्य कार्यकलापों का ज्ञाता भगवान् के धाम को जाता है।

गृह्णीत यद् यदुपबन्धममुष्य माता
शुल्बं सुतस्य न तु तत् तदमुष्य माति ।
यज्जृम्भतोऽस्य वदने भुवनानि गोपी
संवीक्ष्य शङ्कित-मनाः प्रतिबोधितासीत् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

गृह्णीत—ग्रहण करके; यत् यत्—जो भी; उपबन्धम्—बाँधने की रस्सियाँ; अमुष्य—उसकी; माता—माता; शुल्बम्—रस्सी; सुतस्य—अपने पुत्र का; न—नहीं; तु—तो भी; तत् तत्—क्रमशः; अमुष्य—उसका; माति—पर्याप्त था; यत्—जो; जृम्भतः—जम्हाई लेता; अस्य—उसके; वदने—मुख में; भुवनानि—समस्त लोक; गोपी—ग्वालिन, ग्वालबाला; संवीक्ष्य—अतः इसे देखकर; शङ्कित-मनाः—सन्देहपूर्ण मन; प्रतिबोधिता—भिन्न प्रकार से आश्वस्त; आसीत्—था।

जब गोपी (कृष्ण की धात्री माता यशोदा) अपने पुत्र के दोनों हाथों को रस्सियों से बाँधने का प्रयास कर रही थी तो उसने देखा कि रस्सी हमेशा छोटी पड़ जाती थी, अतः हार कर जब उसने प्रयास करना बन्द कर दिया, तब श्रीकृष्ण ने अपना मुँह खोल दिया तो माता यशोदा को मुख के भीतर सारे ब्रह्माण्ड स्थित दिखे। यह देख कर उसे सन्देह हुआ, किन्तु उसे अपने पुत्र की योग-शक्ति का पता भिन्न तरीके से लगा।

तात्पर्य : एक दिन नटखट बालक की तरह कृष्ण ने अपनी माता यशोदा को खिझाना शुरू किया, तो वह दण्ड देने के लिए बालक को रस्सी से बाँधने लगी। किन्तु वह रस्सी को जितना ही बढ़ाती, रस्सी हमेशा छोटी पड़ जाती। आखिर वह थक गई, किन्तु इसी बीच भगवान् ने अपना मुँह खोला और

ममतामयी माँ ने उसके भीतर सभी ब्रह्माण्ड उपस्थित देखे। उसे अत्यन्त आश्चर्य हुआ, किन्तु उसने सोचा कि सर्व-शक्तिमान नारायण ने उसके पुत्र की सभी प्रकार के संकटों से रक्षा करने के लिए चौकसी वश ऐसा कर रखा है। कृष्ण के लिए प्रगाढ़ प्यार होने के कारण वह कभी सोच ही नहीं पाई कि उसका पुत्र साक्षात् भगवान् नारायण ही है। यह भगवान् की अंतरंगा शक्ति योगमाया है, जिसमें विभिन्न प्रकार के भक्तों के साथ भगवान् की लीलाएँ पूरी होती हैं। ईश्वर के बिना ऐसे विचित्र खेल कौन खेल सकता है ?

नन्दं च मोक्ष्यति भयाद् वरुणस्य पाशाद्
गोपान् बिलेषु पिहितान् मय-सूनुना च ।
अह्न्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण
लोकं विकुण्ठमुपनेष्यति गोकुलं स्म ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

नन्दम्—नन्द (कृष्ण के धर्मपिता) को; च—भी; मोक्ष्यति—बचाता है; भयात्—भय से; वरुणस्य—जल के देव वरुण के; पाशात्—चंगुल से; गोपान्—ग्वालों को; बिलेषु—पर्वत गुफा में; पिहितान्—रखे गये; मय-सूनुना—मय के पुत्र द्वारा; च—भी; अह्नि आपृतम्—दिन के समय व्यस्तता वश; निशि—रात में; शयानम्—लेटे हुए; अतिश्रमेण—कठिन श्रम के कारण; लोकम्—लोक; विकुण्ठम्—वैकुण्ठ; उपनेष्यति—प्रदान किया; गोकुलम्—सर्वोच्च लोक; स्म—निश्चय ही।.

भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने पिता नन्द महाराज को वरुण के भय से बचाया और ग्वालबालों को पर्वत की कन्दरा में से, जहाँ मय के पुत्र ने उन्हें बन्दी कर रखा था, मुक्त किया। यही नहीं, भगवान् श्रीकृष्ण ने वृन्दावन के समस्त वासियों को, जो दिन भर काम में व्यस्त रहकर रात में थक कर निश्चिन्त सोते थे, परव्योम में सर्वोच्च लोक का भागी बना दिया। ये सारे कार्य दिव्य हैं और उनके ईश्वरत्व को सिद्ध करने वाले हैं।

तात्पर्य : एक बार भ्रमवश अर्धरात्रि में ही श्रीकृष्ण के धर्मपिता नन्द महाराज यह सोच कर कि रात समाप्त हो चुकी है, यमुना में स्नान करने गये, तो वरुण देव यह सोचकर उन्हें वरुण लोक लेते गये कि वे भगवान् कृष्ण के दर्शन कर पायेंगे। भगवान् श्रीकृष्ण अपने पिता को छुड़ाने गये। वास्तव में नन्द महाराज बन्दी नहीं थे, क्योंकि वृन्दावन के सारे निवासी अहर्निश श्रीकृष्ण का चिन्तन करते हुए भक्तियोग की समाधि में निमग्न रहते थे। उन्हें किसी भौतिक कष्ट का भय न था। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि की गई है कि दिव्य प्रेमवश पूर्णतः आत्म-समर्पण करके, भगवान् की संगति में रहने से,

मनुष्य को सांसारिक कष्टों से मुक्ति मिल जाती है। यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि वृन्दावन के वासी दिन भर कठिन परिश्रम करते थे और थक कर रात में चैन की नींद सोते थे। फलतः उन्हें पूजा करने या आध्यात्मिक कार्यों के लिए प्रायः बहुत कम समय मिल पाता था। किन्तु वास्तव में वे सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक कार्यों में ही मग्न रहते थे। उनका हर कार्य आध्यात्मिक होता था, क्योंकि वह श्रीकृष्ण के साथ उनके सम्बन्धों से ही जुड़ा होता था। उनके कार्यों के केन्द्रबिन्दु श्रीकृष्ण थे, फलतः उनके सारे तथाकथित भौतिक कार्य आध्यात्मिक शक्ति से संतृप्त होते थे। भक्तियोग पद्धति का यही लाभ है। मनुष्य को चाहिए कि वह हर कार्य भगवान् के निमित्त करे और इस प्रकार उसके सम्पूर्ण कार्य कृष्ण के विचार से संतृप्त होंगे जो आध्यात्मिक साक्षात्कार में समाधि का उच्चतम रूप है।

गोपैर्मखे प्रतिहते व्रज-विप्लवाय
देवेऽभिवर्षति पशून् कृपया रिरक्षुः ।
धर्तोच्छिलीन्ध्रमिव सप्त-दिनानि सप्त-
वर्षो महीध्रमनघैक-करे सलीलम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

गोपैः—ग्वालों के द्वारा; मखे—स्वर्ग के राजा को बलि प्रदान करने में; प्रतिहते—बाधा डाले जाने पर; व्रज-विप्लवाय—श्रीकृष्ण की लीलास्थली व्रजभूमि को तहस-नहस करने के लिए; देवे—स्वर्ग के राजा द्वारा; अभिवर्षति—मूसलाधार वर्षा करके; पशून्—पशु; कृपया—उन पर अहैतुकी कृपा द्वारा; रिरक्षुः—उन्हें बचाने की इच्छा की; धर्त—धारण किया हुआ; उच्छिलीन्ध्रम्—छाते की भाँति उठा लिया; इव—सदृश; सप्त-दिनानि—लगातार सात दिनों तक; सप्त-वर्षः—यद्यपि वे सात वर्ष के थे; महीध्रम्—गोवर्द्धन पर्वत; अनघ—बिना थके; एक-करे—केवल एक हाथ में; सलीलम्—खेल-खेल में।

जब वृन्दावन के ग्वालों ने श्रीकृष्ण के आदेश से स्वर्ग के राजा इन्द्र को आहुति देना बन्द कर दिया तो लगातार सात दिनों तक मूसलाधार वर्षा होती रही और ऐसा लग रहा था मानो सारी ब्रजभूमि बह जायेगी। तब केवल सात वर्ष की आयु के श्रीकृष्ण ने ब्रजवासियों पर अपनी अहैतुकी कृपावश अपने एक हाथ से गोवर्द्धन पर्वत को उठा लिया। ऐसा उन्होंने वर्षा से पशुओं की रक्षा करने के लिए ही किया।

तात्पर्य : बच्चे प्रायः कुकुरमुत्ता (छत्रक) से खेलते हैं। अभी श्रीकृष्ण सात वर्ष के ही थे कि उन्होंने वृन्दावन स्थित विशाल गोवर्द्धन पर्वत को पकड़ कर छत्रक की भाँति उठा लिया और व्रजवासियों द्वारा इन्द्र को यज्ञ की आहुतियाँ देने से इनकार किए जाने के कारण पशुओं तथा व्रजवासियों की इन्द्र के रोष से रक्षा करने के लिए वे उसे लगातार सात दिन तक धारण किये रहे।

वास्तव में यदि कोई परमेश्वर की सेवा में निरत रहे तो देवताओं को बलि देने की कोई आवश्यकता नहीं है। वैदिक साहित्य में देवताओं को संतुष्ट रखने के लिए यज्ञों का जो विधान है, वह याजक के लिए एक प्रकार की प्रेरणा है, जिससे उसे उच्चतर अधिकारियों की उपस्थिति का बोध हो सके। श्रीभगवान् के द्वारा भौतिक कार्यों के नियन्त्रण हेतु देवताओं की नियुक्ति की जाती है और *भगवद्गीता* के अनुसार यदि कोई देवता की पूजा करता है, तो इसे परमेश्वर-पूजन की अप्रत्यक्ष विधि माना जाता है। किन्तु जब कोई परमेश्वर की प्रत्यक्ष पूजा करता है, तो उसके लिए देवताओं के पूजने या विशेष अवस्था में यज्ञ करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। फलत: भगवान् श्रीकृष्ण ने व्रजवासियों को सलाह दी कि वे स्वर्ग के राजा इन्द्र को किसी प्रकार की बलि भेंट न करें। किन्तु यह जाने बिना कि व्रजभूमि में भगवान् कृष्ण हैं, इन्द्र व्रजवासियों पर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने इस अपराध का बदला लेना चाहा। किन्तु भगवान् होने के कारण, श्रीकृष्ण ने व्रजभूमि के निवासियों तथा पशुओं को अपनी अन्तरंगा शक्ति से बचा लिया और यह सिद्ध कर दिया कि यदि कोई परमेश्वर का भक्त बन कर उनकी सेवा करता है, तो उसे अन्य देवताओं को प्रसन्न करने की कोई आवश्यकता नहीं है, चाहे वह ब्रह्मा या शिव जैसे उच्चपद वाला देव ही क्यों न हो। इस प्रकार इस घटना से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो गया कि श्रीकृष्ण ही श्रीभगवान् हैं और वे ऐसे ही हर परिस्थिति में रहते हैं, चाहे अपनी माँ की गोद में शिशु रूप में हों या सप्तवर्षीय बालक के रूप में अथवा १२५ वर्षीय वृद्ध पुरुष हों। लेकिन प्रत्येक अवस्था में वे सामान्य मनुष्य के स्तर तक कभी नहीं पहुँचे, यहाँ तक कि वृद्धावस्था में भी वे सोलह वर्ष के युवक लगते थे। भगवान् के दिव्य शरीर के ये कुछ विशेष लक्षण हैं।

क्रीडन् वने निशि निशाकर-रश्मि-गौर्यां
रासोन्मुखः कल-पदायत-मूर्च्छितेन ।
उद्दीपित-स्मर-रुजां व्रज-भृद्वधूनां
हर्तुर्हरिष्यति शिरो धनदानुगस्य ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

क्रीडन्—खेलते हुए; वने—वृन्दावन के जंगल में; निशि—रात्रि में; निशाकर—चन्द्रमा; रश्मि-गौर्याम्—श्वेत चाँदनी का; रास-उन्मुखः—रास करने के लिए इच्छुक; कल-पदायत—मधुर गीतों; मूर्च्छितेन—तथा मूर्च्छना (मधुर संगीत) समेत; उद्दीपित—जागृत; स्मर-रुजाम्—कामेच्छा; व्रज-भृत्—व्रजवासी; वधूनाम्—पत्नियों का; हर्तुः—हरण करने वाले का; हरिष्यति—काट लेंगे; शिरः—सिर; धनद-अनुगस्य—कुबेर के अनुचर का।

जब भगवान् वृन्दावनवासियों की पत्नियों में अपने मधुर तथा सुरीले गीतों द्वारा कामोत्तेजना जागृत करते हुए वृन्दावन में रासलीला में मग्न थे तो कुबेर के एक धनी अनुचर शंखचूड़ नामक राक्षस द्वारा गोपियों का हरण किये जाने पर भगवान् ने उसका सिर धड़ से अलग कर दिया।

तात्पर्य : यहाँ पर व्यक्त कथनों पर ध्यान देने की आवश्यकता है, क्योंकि ये नारद के प्रति ब्रह्मा के वचन हैं। वे नारद से भगवान् के अवतार लेने के बाद की घटनाओं का उल्लेख कर रहे हैं। जो भूत, वर्तमान तथा भविष्य के ज्ञाता हैं उन्हें भगवान् की लीलाएँ ज्ञात हैं और ब्रह्माजी उनमें से एक हैं, अत: उन्होंने भविष्य में जो होगा उसकी भविष्यवाणी कर दी। भगवान् द्वारा शंखचूड़ का वध निकट की घटना थी, जो रासलीला के बाद घटी न कि उसके साथ साथ। पिछले श्लोकों में हम कालिया नाग को दण्ड देने की लीलाओं के साथ साथ दावाग्नि का वर्णन पढ़ चुके हैं। इसी तरह रासलीला और शंखचूड़ के वध का भी यहाँ वर्णन किया गया है। ये सारी घटनाएँ ब्रह्माजी द्वारा नारद से कही जाने के बाद भविष्य में घटित होनी हैं। भगवान् ने शंखचूड़ का वध होरिका लीला के अवसर पर फाल्गुन मास में किया और आज तक यह उत्सव सारे भारत में होली नाम से विख्यात है और भगवान् की होरिका लीला से एक दिन पूर्व यह उत्सव शंखचूड़ का पुतला जला कर मनाया जाता है।

सामान्य रूप से भगवान् अथवा उनके अवतारों के भावी प्राकट्य तथा उनके कार्यों का वर्णन धर्मग्रन्थों में भविष्यवाणी के रूप में किया जाता है, अत: छद्म अवतारी उन लोगों को धोखा नहीं दे पाते जो प्रामाणिक धर्म-ग्रन्थों के द्वारा घटनाओं से परिचित होते हैं।

ये च प्रलम्ब-खर-दर्दुर-केश्यरिष्ट--
मल्लेभ-कंस-यवनाः कपि-पौण्ड्रकाद्याः ।
अन्ये च शाल्व-कुज-बल्वल-दन्तवक्र--
सप्तोक्ष-शम्बर-विदूरथ-रुक्मि-मुख्याः ॥ ३४॥
ये वा मृधे समिति-शालिन आत्त-चापाः
काम्बोज-मत्स्य-कुरु-सृञ्जय-कैकयाद्याः ।
यास्यन्त्यदर्शनमलं बल-पार्थ-भीम--
व्याजाह्वयेन हरिणा निलयं तदीयम् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

ये—ये सब; च—पूर्णतः; प्रलम्ब—प्रलम्ब नामक असुर; खर—धेनुकासुर; दर्दुर—बकासुर; केशी—केशी नामक असुर; अरिष्ट—अरिष्टासुर; मल्ल—कंस के दरबार का पहलवान; इभ—कुवलयापीड़; कंस—मथुरा का राजा तथा श्रीकृष्ण का मामा; यवनाः—फारस तथा अन्य निकटवर्ती देशों के राजा; कपि—द्विविद; पौण्ड्रक-आद्याः—पौण्ड्रक इत्यादि; अन्ये—अन्य; च—भी; शाल्व—राजा शाल्व; कुज—नरकासुर; बल्वल—राजा बल्वल; दन्तवक्र—मृत शिशुपाल का भाई, कृष्ण के प्रतिद्वन्द्वी; सप्तोक्ष—राजा सप्तोक्ष; शम्बर—राजा शम्बर; विदूरथ—राजा विदूरथ; रुक्मि-मुख्याः—श्रीकृष्ण की प्रथम रानी रुक्मिणी का भाई; ये—ये सब; वा—अथवा; मृधे—युद्ध भूमि में; समिति-शालिनः—अत्यन्त शक्तिमान; आत्त-चापाः—धनुष-बाण से सज्जित; काम्बोज—काम्बोज का राजा; मत्स्य—द्रुभंग का राजा; कुरु—धृतराष्ट्र के पुत्र; सृञ्जय—राजा सृञ्जय; कैकय-आद्याः—केकय का राजा तथा अन्य; यास्यन्ति—प्राप्त करेंगे; अदर्शनम्—ब्रह्मज्योति से निर्विशेष मिलन; अलम्—क्या कहें, बस; बल—बलदेव, श्रीकृष्ण के अग्रज; पार्थ—अर्जुन; भीम—भीम, पाण्डवों में दूसरे; व्याज-आह्वयेन—छद्म नामों से; हरिणा—हरि के द्वारा; निलयम्—धाम; तदीयम्—उसका।

प्रलम्ब, धेनुक, बक, केशी, अरिष्ट, चाणूर, मुष्टिक, कुवलयापीड़ हाथी, कंस, यवन, नरकासुर तथा पौण्ड्रक जैसे असुर, शाल्व, द्विविद वानर तथा बल्वल, दन्तवक्र, सातों साँड़, शम्बर, विदूरथ तथा रुक्मी जैसे सिपहसालार तथा काम्बोज, मत्स्य, कुरु, सृञ्जय तथा केकय जैसे वीर योद्धा, साक्षात् हरि से अथवा बलदेव, अर्जुन, भीम आदि नामों की आड़ में स्वयं श्रीभगवान् से भीषण युद्ध करेंगे और इस प्रकार से मारे गये सभी असुर या तो निर्विशेष ब्रह्मज्योति को प्राप्त होंगे या वैकुण्ठ लोक में स्थित भगवान् के धाम को प्राप्त होंगे।

तात्पर्य : भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत दोनों में जितने ही अवतार होते हैं, वे भगवान् श्रीकृष्ण की विभिन्न शक्तियों के प्रदर्शन हैं। बलदेव तो श्रीभगवान् के निकटतम स्वांश विस्तार हैं, किन्तु अर्जुन, भीम उनके निजी पार्षद हैं। जब भगवान् अपने समस्त पार्षदों तथा शक्तियों समेत प्रकट होंगे (और जब वे प्रकट होते हैं, तो इसी तरह) तो उपद्रवी व्यक्ति तथा प्रलम्ब जैसे असुर तथा आसुरी लोग या तो स्वयं भगवान् द्वारा या उनके पार्षदों द्वारा मारे जाएंगे। इन सबका स्पष्ट वर्णन दशम स्कंध में किया जाएगा। किन्तु हमें ज्ञात होना चाहिए कि उपर्युक्त सभी जीवात्माएँ या तो ब्रह्म-ज्योति में मिल करके या भगवान् के धाम वैकुण्ठ लोक में प्रविष्ट होकर मोक्ष प्राप्त करेंगी। इसकी व्याख्या भीष्मदेव द्वारा पहले ही (प्रथम स्कंध में) हो चुकी है। जिन व्यक्तियों ने कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में या अन्यत्र भगवान् या बलदेव इत्यादि के साथ युद्ध किया है, वे मृत्यु के समय अपनी मानसिक अवस्था के अनुसार आध्यात्मिक पद प्राप्त करेंगे। जो ईश्वर को पहचान गए थे वे वैकुण्ठ में प्रविष्ट होंगे और जिन्होंने ईश्वर को परमशक्तिमान रूप में अनुभव किया है वे ब्रह्मज्योति में विलीन होकर मोक्ष प्राप्त करेंगे। लेकिन उनमें से सभी भौतिक संसार से मुक्त हो जाएँगे। जब भगवान् के साथ शत्रुता रखने का ऐसा लाभ

मिलता है, तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जिन्होंने भक्तिपूर्वक भगवान् की सेवा की है, उनकी स्थिति क्या होगी?

कालेन मीलित-धियामवमृश्य नृणां
स्तोकायुषां स्व-निगमो बत दूर-पारः ।
आविर्हितस्त्वनुयुगं स हि सत्यवत्यां
वेद-द्रुमं विट-पशो विभजिष्यति स्म ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

कालेन—समय के साथ; मीलित-धियाम्—कम बुद्धिमान मनुष्यों का; अवमृश्य—कठिनाई को ध्यान में रखते हुए; नृणाम्—मनुष्यों की; स्तोक-आयुषाम्—अल्पजीवी लोगों का; स्व-निगमः—अपने द्वारा संकलित वैदिक साहित्य; बत—ठीक-ठीक; दूर-पारः—अत्यन्त कठिन; आविर्हितः—के रूप में प्रकट होकर; तु—लेकिन; अनुयुगम्—युग के अनुसार; सः—वह (भगवान्); हि—निश्चय ही; सत्यवत्याम्—सत्यवती के गर्भ में; वेद-द्रुमम्—वेदरूपी कल्पवृक्ष; विट-पशः—शाखाओं के विभाजन द्वारा; विभजिष्यति—बाँट देगा; स्म—मानो।

सत्यवती के पुत्र (व्यासदेव) रूप में अवतार ग्रहण करके स्वयं भगवान् वैदिक साहित्य के संग्रह को अल्पजीवी अल्पज्ञों के लिए कठिन समझकर वैदिक ज्ञानरूपी वृक्ष को युग विशेष की परिस्थितियों के अनुसार शाखाओं में विभाजित कर देंगे।

तात्पर्य : यहाँ पर ब्रह्मा ने कलियुग के अल्पजीवी मनुष्यों के लिए *श्रीमद्भागवत* के भावी संकलन का उल्लेख किया है। जैसाकि प्रथम स्कन्ध में बताया जा चुका है कलियुग के अल्पज्ञ मनुष्य अल्पजीवी होंगे और साथ ही ईश्वरविहीन मानव समाज होने के कारण जीवन की अनेक समस्याओं से उद्विग्न होंगे। भौतिक प्रकृति के नियमों के अनुसार, शरीर की भौतिक सुविधाओं में उन्नति का होना तमोगुण का सूचक है। ज्ञान की वास्तविक उन्नति का अर्थ है आत्म-साक्षात्कार। किन्तु कलियुग के अल्पज्ञानी पुरुष भ्रमवश एक सौ वर्ष की लघुजीवन-अवधि को ही (जो अब घट कर ४० या ६० वर्ष हो चुकी है) सब कुछ मान बैठते हैं। वे अल्पज्ञानी हैं, क्योंकि उन्हें जीवन की नित्यता का ज्ञान नहीं होता; वे चालीस वर्षों तक रहने वाले क्षणिक भौतिक शरीर को जीवन का मूल तत्त्व मान लेते हैं। ऐसे मनुष्य गधों तथा बैलों के तुल्य हैं। किन्तु भगवान् समस्त जीवों को, दयालु पिता की भाँति, *भगवद्गीता* जैसे ग्रन्थों के रूप में और स्नातकों के लिए *श्रीमद्भागवत* के रूप में विपुल वैदिक ज्ञान प्रदान करते रहते हैं। इसी प्रकार विभिन्न प्राकृतिक गुणों से युक्त विभिन्न प्रकार के मनुष्यों के लिए व्यासदेव ने पुराणों तथा *महाभारत* की रचना की। किन्तु इनमें से कोई भी ग्रन्थ वैदिक सिद्धान्तों से

पृथक् नहीं है।

देव-द्विषां निगम-वर्त्मनि निष्ठितानां
पूर्भिर्मयेन विहिताभिरदृश्य-तूर्भिः ।
लोकान् घ्नतां मति-विमोहमतिप्रलोभं
वेषं विधाय बहु भाष्यत औपधर्म्यम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

देव-द्विषाम्—भगवद्भक्तों के प्रति ईर्ष्या रखने वालों का; निगम—चारों वेद; वर्त्मनि—के पथ पर; निष्ठितानाम्—भलीभाँति स्थिर हुओं का; पूर्भिः—प्रक्षेपास्त्रों (राकेटों) से; मयेन—परम विज्ञानी मय द्वारा; विहिताभिः—निर्मित; अदृश्य-तूर्भिः—आकाश में अलक्ष्य; लोकान्—विभिन्न लोक; घ्नताम्—संहार करने वालों का; मति-विमोहम्—मन का मोह; अतिप्रलोभम्—अत्यन्त आकर्षक; वेषम्—वेष, पहनावा; विधाय—ऐसा करके; बहु भाष्यते—अत्यधिक बातें करेगा; औपधर्म्यम्—उपधर्म।

जब नास्तिक लोग वैदिक विज्ञान में अत्यन्त दक्ष बनकर परम विज्ञानी मय के द्वारा निर्मित श्रेष्ठ प्रक्षेपास्त्रों में चढ़कर आकाश में अदृश्य उड़ते हुए विभिन्न लोकों के वासियों का संहार करेंगे, तो बुद्ध रूप में अत्यन्त आकर्षक वेष धारण करके भगवान् उनके मस्तिष्कों को मोह लेंगे और उन्हें उपधर्मों का उपदेश देंगे।

तात्पर्य : भगवान् बुद्ध का यह अवतार और आधुनिक मानव इतिहास के अवतारी बुद्ध एक नहीं हैं। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, इस श्लोक में वर्णित बुद्ध अवतार एक अन्य कलियुग में हुआ था। एक मनु के जीवन काल में बहत्तर से अधिक कलियुग होते हैं और इनमें से एक में यहाँ पर वर्णित बुद्ध अवतार लेंगे। भगवान् बुद्ध का अवतार तब होता है जब लोग अत्यधिक भौतिकतावादी हो जाते हैं और तब वे सामान्य धर्म का उपदेश देते हैं। ऐसी अहिंसा स्वयं में धर्म न होकर धार्मिक लोगों का महत्त्वपूर्ण गुण होती है। यह एक सामान्य बुद्धि का धर्म है, क्योंकि इसमें मनुष्य को उपदेश दिया जाता है कि वह किसी पशु या जीवित प्राणी को हानि न पहुँचाये, क्योंकि उसके हानिकारक कर्म कर्ता को भी हानि पहुँचाने वाले होते हैं। किन्तु अहिंसा के इन सिद्धान्तों को सीखने के पूर्व, उसे दो अन्य नियम भी सीखने पड़ते हैं। ये हैं—विनम्र बनना तथा निरभिमानी होना। विनम्र तथा निरभिमानी बने बिना वह निरापद तथा अहिंसक नहीं बन सकता। अहिंसक बनने के बाद उसे सहिष्णुता तथा सादगी सीखनी पड़ती है। मनुष्य को महान् धर्मोपदेशकों तथा आध्यात्मिक नेताओं का सम्मान करना चाहिए और इन्द्रियों पर संयम रखने, घर तथा परिवार के प्रति विरक्त रहने और भगवान् की सेवा करने का

अभ्यास करना चाहिए। अन्ततः उसे भगवान् को स्वीकार करके उनका भक्त बनना होता है अन्यथा यह धर्म नहीं कहलाता। धार्मिक सिद्धान्तों के केन्द्र में भगवान् होने अन्यथा सामान्य नैतिक उपदेश मात्र उपधर्म होते हैं, जो धर्म के ही निकट होते हैं।

यर्ह्यालयेष्वपि सतां न हरेः कथाः स्युः
पाषण्डिनो द्विज-जना वृषला नृदेवाः ।
स्वाहा स्वधा वषडिति स्म गिरो न यत्र
शास्ता भविष्यति कलेर्भगवान् युगान्ते ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

यर्हि—जब ऐसा होता है; आलयेषु—घर में; अपि—भी; सताम्—सभ्य व्यक्ति; न—नहीं; हरेः—श्री भगवान् की; कथाः—कथा; स्युः—होगी; पाषण्डिनः—नास्तिक; द्विज-जनाः—अपने को उच्च जाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) वाला घोषित करने वाले; वृषलाः—निम्नवर्गीय शूद्र; नृ-देवाः—राज्य के मन्त्री; स्वाहा—यज्ञ-स्तोत्र; स्वधा—यज्ञ की सामग्री; वषट्—यज्ञ वेदी; इति—ये सब; स्म—होंगे; गिरः—शब्द; न—कभी नहीं; यत्र—कहीं भी; शास्ता—दण्ड देने वाला; भविष्यति—प्रकट होगा; कलेः—कलियुग का; भगवान्—श्री भगवान्; युग-अन्ते—युग के अन्त में।

तत्पश्चात् कलियुग के अन्त में, जब तथाकथित सन्तों तथा द्विजों के घरों में भी ईश्वर की कथा नहीं होगी और जब सरकार की शक्ति निम्न कुल में उत्पन्न शूद्रों अथवा उनसे भी निम्न लोगों में से चुने गये मन्त्रियों के हाथों में चली जाएगी और जब यज्ञ विधि के विषय में कुछ भी, यहाँ तक कि उच्चारण भी, ज्ञात नहीं रहेंगे तो उस समय भगवान् परम दण्डदाता के रूप में प्रकट होंगे।

तात्पर्य : यहाँ पर इस कलियुग के अन्तिम चरण में भौतिक जगत की निकृष्ट अवस्थाओं के लक्षणों का उल्लेख हुआ है। इन अवस्थाओं का सार-समाहार ईश्वरविहीनता है। यहाँ तक कि तथाकथित सन्त व समाज के उच्च वर्ण, जिन्हें सामान्य रूप से द्विज-जन कहा जाता है, नास्तिक हो जाएँगे। फलतः वे सब ईश्वर का पवित्र नाम तक भूल जाएँगे उनके, कार्यकलाप की बात तो दूर रही। समाज के उच्च वर्ण अर्थात् समाज के भाग्य-विधायक ज्ञानी पुरुष, समाज में शान्ति तथा व्यवस्था के उत्तरदायी प्रशासक वर्ग तथा समाज की आर्थिक उन्नति के प्रदर्शक व्यवसायी वर्ग—इस सबों को परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए; उन्हें उनके नाम, गुण, लीला, पार्षद, सामग्री, व्यक्तित्व आदि से परिचित होना चाहिए। समाज के उच्च वर्गों तथा सन्तों की पहचान उनके तत्त्व-ज्ञान के अनुपात से की जाती है, उनके जन्म या शारीरिक उपाधियों से नहीं। तत्त्व-ज्ञान तथा भक्ति के व्यावहारिक ज्ञान के बिना ये उपाधियाँ शवों

के अलंकरणों के तुल्य समझी जाती हैं और जब समाज में ऐसे अलंकरणों की बाढ़ आ जाती है, तो मनुष्य के प्रगतिशील, शान्त जीवन में अनेक विषमताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। समाज के उच्च वर्गों में प्रशिक्षण या संस्कृति का अभाव होने से वे अब द्विज-जन कहलाने के अधिकारी नहीं रहते। द्विज की महत्ता की व्याख्या इन महान् ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर मिलती है, किन्तु यहाँ पुन: बता देना अभीष्ट है कि माता-पिता के सम्भोग से होने वाला जन्म पशु जन्म कहलाता है। किन्तु ऐसा पशु जन्म तथा आहार, निद्रा, भय, मैथुन पर आधारित पशु जीवन आध्यात्मिक जीवन की किसी वैज्ञानिक संस्कृति के बिना शूद्र जीवन अर्थात् निम्न श्रेणी के व्यक्तियों का असंस्कृत जीवन है। यहाँ पर उल्लेख है कि कलियुग में समाज की प्रशासन शक्ति असंस्कृत, ईश्वरविहीन श्रमजीवी वर्ग के हाथों में चली जाएगी और नृदेव (अथवा सरकारी मन्त्रीगण) वृषल अर्थात् समाज के निम्न असंस्कृत लोग होंगे। यदि मानव समाज ऐसे असंस्कृत निम्न श्रेणी के लोगों से भरा रहे तो सुख तथा शान्ति की आशा व्यर्थ है। मनुष्यों में ऐसे असंस्कृत सामाजिक पशुओं के लक्षण पहले से विद्यमान हैं। जन-नायकों का कर्तव्य है कि इस ओर ध्यान दें और तत्त्व ज्ञान में प्रशिक्षित द्विज लोगों को प्रतिष्ठित करके सामाजिक व्यवस्था में सुधार लाने का प्रयास करें। सारे विश्व में *श्रीमद्भागवत* की संस्कृति के प्रसार से ही यह सम्भव है। मानव समाज की अधोगति होने पर भगवान् कल्कि अवतार के रूप में प्रकट होते हैं और निर्दय बनकर समस्त आसुरी लोगों का बध कर देते हैं।

सर्गे तपोऽहमृषयो नव ये प्रजेशाः
स्थानेऽथ धर्म-मख-मन्वमरावनीशाः ।
अन्ते त्वधर्म-हर-मन्यु-वशासुराद्या
माया-विभूतय इमाः पुरु-शक्ति-भाजः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सर्गे—सृष्टि के प्रारम्भ में; तपः—तपस्या; अहम्—मैं; ऋषयः—ऋषिगण; नव—नौ; ये प्रजेशाः—जो उत्पन्न करने वाले हैं; स्थाने—सृष्टि का पालन करते समय मध्य में; अथ—निश्चय ही; धर्म—धर्म; मख—भगवान् विष्णु; मनु—मनुष्यों के पिता; अमर—देवता जिन पर पालन का भार है; अवनीशाः—विभिन्न लोकों के राजा; अन्ते—अन्त में; तु—लेकिन; अधर्म—अधर्म; हर—शिव; मन्यु-वश—क्रोध के वशीभूत; असुर-आद्याः—नास्तिक, भक्तों के शत्रु; माया—शक्ति; विभूतयः—शक्तिशाली प्रतिनिधि; इमाः—ये सब; पुरु-शक्ति-भाजः—परम शक्तिशाली भगवान् के।

सृष्टि के प्रारम्भ में तपस्या, मैं (ब्रह्मा) तथा जन्म देने वाले ऋषि प्रजापति रहते हैं; फिर सृष्टि के पालन के अवसर पर भगवान् विष्णु, नियामक देवता तथा विभिन्न लोकों के राजा रहते हैं।

किन्तु अन्त काल में अधर्म बचा रहता है और रहते हैं शिव तथा क्रोधी नास्तिक इत्यादि। ये सब के सब परम शक्ति रूप भगवान् की शक्ति के विभिन्न प्रतिनिधियों के रूप में रहते हैं।

तात्पर्य : यह भौतिक जगत भगवान् की शक्ति से उत्पन्न है, जिसका प्राकट्य सृष्टि के प्रारम्भ में आदि प्राणी ब्रह्मा की तपस्या से होता है। इसके बाद नौ प्रजापति आते हैं, जिन्हें महर्षि कहते हैं। जब सृष्टि के पालन की अवस्था आती है, तो भगवान् विष्णु की भक्ति या यथार्थ धर्म, विभिन्न देवता तथा विभिन्न लोकों के राजा प्रकट होते हैं, जो विश्व का भरण-पोषण करते हैं। जब इस सृष्टि का अन्त होने को होता है, तो सर्वप्रथम अधर्म प्रकट होता है, फिर क्रोधी नास्तिकों के साथ-साथ शिव रहते हैं। किन्तु ये सब परमेश्वर के विभिन्न स्वरूपों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। फलत: ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव (शिव) प्रकृति के विभिन्न गुणों के भिन्न-भिन्न अवतार हैं। विष्णु सतोगुण के, ब्रह्मा रजोगुण के तथा शिव तमोगुण के स्वामी हैं। इस प्रकार यह भौतिक सृष्टि क्षणिक अस्तित्व के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं और इसका उद्देश्य उन बद्धजीवों को, जो इस भौतिक जगत में आ फँसे हैं, मुक्ति का अवसर प्रदान करना है और इसमें जो मनुष्य भगवान् विष्णु के संरक्षण में सतोगुण प्राप्त कर लेता है, उसे वैष्णव नियमों का पालन करने के कारण, मुक्त होने का और भगवद्धाम जाने का सर्वाधिक अवसर मिलता है जहाँ से इस दुखमय जगत में फिर कभी लौटना नहीं होता।

विष्णोर्नु वीर्य-गणनां कतमोऽर्हतीह
यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि ।
चस्कम्भ यः स्व-रहसास्खलता त्रि-पृष्ठं
यस्मात् त्रि-साम्य-सदनादुरु-कम्पयानम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

विष्णोः—भगवान् विष्णु का; नु—लेकिन; वीर्य—पराक्रम; गणनाम्—गिनती में; कतमः—ऐसा कौन है; अर्हति—इसे करने में सक्षम है; इह—इस जगत में; यः—जो; पार्थिवानि—परमाणु; अपि—भी; कविः—महान् विज्ञानी; विममे—गिन पाया होगा; रजांसि—कणों को; चस्कम्भ—पकड़ सके; यः—जो; स्व-रहसा—अपने पैर से; अस्खलता—बिना रुके; त्रि-पृष्ठम्—उच्चतम अन्तरिक्ष; यस्मात्—जिससे; त्रि-साम्य—तीनों गुणों का सन्तुलन; सदनात्—उस स्थान तक; उरु-कम्पयानम्—अत्यधिक विचलित।

भला ऐसा कौन है, जो विष्णु के पराक्रम का पूरी तरह से वर्णन कर सके? यहाँ तक कि वह विज्ञानी भी, जिसने ब्रह्माण्ड के समस्त कणों के परमाणुओं की गणना की होगी, वह भी ऐसा नहीं कर सकता। वे ही एकमात्र ऐसे हैं जिन्होंने त्रिविक्रम के रूप में जब अपने पाँव को

बिना प्रयास के सर्वोच्च लोक, सत्यलोक, से भी आगे प्रकृति के तीनों गुणों की साम्यावस्था तक हिलाया था, तो सारा ब्रह्माण्ड हिलने लगा था।

तात्पर्य : भौतिक विज्ञानियों की सर्वोच्च वैज्ञानिक प्रगति परमाणु शक्ति है, किन्तु किसी भी भौतिक विज्ञानी को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के कणों में निहित परमाणुओं का कोई अनुमान नहीं है। और यदि कोई इन सूक्ष्म कणों को गिन भी ले अथवा आकाश को बिस्तर की भाँति मोड़ भी सके, तो भी वह परमेश्वर के वीर्य तथा शक्ति का अनुमान लगाने में असमर्थ होगा। वे त्रिविक्रम कहलाते हैं, क्योंकि अपने वामन अवतार में उन्होंने अपने पदचाप को सर्वोच्च सत्यलोक से भी आगे फैला दिया था और वे तीनों गुणों की साम्यावस्था तक पहुँच गये थे जिसे भौतिक जगत का छादन (कोश) कहा जाता है। भौतिक आकाश के ऊपर भौतिक छादन के सात स्तर (कोश) हैं और भगवान् ने इन सातों को भेद दिया था। उन्होंने अपने अँगूठे से छेद बना दिया जिससे होकर कारणार्णव का जल भौतिक आकाश में छन कर पहुँचता है और यह धारा पवित्र गंगा नदी कहलाती है, जो तीनों लोकों को पवित्र बनाती है। दूसरे शब्दों में, विष्णु के समान दिव्य शक्ति वाला अन्य कोई नहीं। वे सर्वशक्तिमान हैं और न तो कोई उनके समान है, न उनसे बढ़कर।

नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्र-जास्ते
माया-बलस्य पुरुषस्य कुतोऽवरा ये ।
गायन् गुणान् दश-शतानन आदि-देवः
शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; अन्तम्—अन्त, पार; विदामि—जानता हूँ; अहम्—मैं; अमी—तब ये सब; मुनयः—मुनिगण; अग्र-जाः—तुमसे पूर्व उत्पन्न; ते—तुम; माया-बलस्य—सर्वशक्तिमान का; पुरुषस्य—पुरुष (भगवान्) का; कुतः—अन्यों की क्या बात; अवराः—हमारे बाद उत्पन्न; ये—जो; गायन्—गीत के द्वारा; गुणान्—गुण; दश-शत-आननः—एक सहस्र मुखों वाला; आदि-देवः—भगवान् का प्रथम अवतार; शेषः—शेष नामक; अधुना—आज तक; अपि—भी; समवस्यति—पा सकता है; न—नहीं; अस्य—उसका; पारम्—पार, अन्त।

न तो मैं और न तुमसे पहले उत्पन्न हुए मुनिगण ही सर्वशक्तिमान भगवान् को भलीभाँति जानते हैं। अतः जो हमारे बाद उत्पन्न हुए हैं, वे उनके विषय में क्या जानेंगे? यहाँ तक कि भगवान् के आदि-अवतार शेष भी, जो अपने एक सहस्र मुखों से भगवान् के गुणों का वर्णन करते रहते हैं, ऐसे ज्ञान का अन्त नहीं पा सके हैं।

तात्पर्य : सर्वशक्तिमान भगवान् की तीन मूल शक्तियाँ हैं—अन्तरंगा, बहिरंगा तथा तटस्था और इन तीनों शक्तियों के अनन्त विस्तार हैं। अत: शक्तियों के विस्तार की गणना कर पाना किसी के लिए सम्भव नहीं है, यहाँ तक कि भगवान् स्वयं शेष अवतार में इन शक्तियों का अनुमान नहीं लगा पाते, यद्यपि वे अपने सहस्र मुखों से इनका वर्णन करते रहते हैं।

येषां स एष भगवान् दययेदनन्तः
सर्वात्मनाश्रित-पदो यदि निर्व्यलीकम् ।
ते दुस्तरामतितरन्ति च देव-मायां
नैषां ममाहमिति धीः श्व-शृगाल-भक्ष्ये ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

येषाम्—केवल उन्हीं पर; सः—भगवान्; एषः—यह; भगवान्—श्रीभगवान्; दययेत्—दया दिखाता है; अनन्तः—अनन्त शक्तियाँ; सर्व-आत्मना—सभी प्रकार से, बिना हिचक के; आश्रित-पदः—शरणागत जीव; यदि—यदि इस प्रकार शरण में आता है; निर्व्यलीकम्—बिना बनावट के; ते—केवल वे; दुस्तराम्—दुर्लंघ्य; अतितरन्ति—पार पा सकते हैं; च—तथा सामग्री; देव-मायाम्—भगवान् की चतुर्दिक् शक्तियाँ; न—नहीं; एषाम्—उनका; मम—मेरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; धीः—चेतना; श्व—कुत्ते; शृगाल—सियार; भक्ष्ये—भोजन के मामले में।

किन्तु यदि भगवान् की सेवा में निश्छल भाव से आत्मसमर्पण करने से परमेश्वर की किसी पर विशेष कृपा होती है, तो वह माया के दुर्लंघ्य सागर को पार कर सकता है और भगवान् को जान पाता है। किन्तु जिसे अन्त में कुत्तों तथा सियारों का भोजन बनना है, ऐसे इस शरीर के प्रति जो आसक्त हैं, वे ऐसा नहीं कर सकते।

तात्पर्य : भगवान् के निश्छल भक्त भगवान् की महिमा से परिचित होते हैं और वे इतना तो समझते ही हैं कि ईश्वर कितना महान् है और उनकी विविध शक्तियों का कितना विस्तार है। जो इस नश्वर शरीर के प्रति आसक्त रहते हैं, वे तत्त्व-ज्ञान के क्षेत्र में प्रविष्ट नहीं हो पाते हैं। यह सारा संसार, देहात्मबुद्धि की अवधारणा के कारण, तत्त्व ज्ञान से अपरिचित है। भौतिकतावादी व्यक्ति न केवल अपने भौतिक शरीर वरन् अपने बच्चों व सम्बन्धियों, जाति वालों, देशवासियों के शरीरों के कल्याण-कार्य में सदैव व्यस्त रहता है। ऐसे भौतिकतावादी व्यक्ति भले ही राजनैतिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से परमार्थ के कई प्रकार के कार्य करते हों, किन्तु इनका यह सारा कार्य देहात्मबुद्धि की गलत धारणा से ऊपर नहीं उठ पाता। अत: जब तक मनुष्य देहात्मबुद्धि की भ्रांत धारणा से मुक्त नहीं हो लेता, उसे तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती और इस तत्त्व-ज्ञान के बिना भौतिक सभ्यता की उन्नति की सारी

चमक-दमक व्यर्थ है।

वेदाहमङ्ग परमस्य हि योग-मायां
यूयं भवश्च भगवानथ दैत्य-वर्यः ।
पत्नी मनोः स च मनुश्च तदात्मजाश्च
प्राचीनबर्हिर्ऋभुरङ्ग उत ध्रुवश्च ॥ ४३ ॥
इक्ष्वाकुरैल-मुचुकुन्द-विदेह-गाधि--
रघ्वम्बरीष-सगरा गय-नाहुषाद्याः ।
मान्धात्रलर्क-शतधन्वनु-रन्तिदेवा
देवव्रतो बलिरमूर्त्तरयो दिलीपः ॥ ४४ ॥
सौभर्युतङ्क-शिबि-देवल-पिप्पलाद--
सारस्वतोद्धव-पराशर-भूरिषेणाः ।
येऽन्ये विभीषण-हनूमदुपेन्द्रदत्त--
पार्थार्ष्टिषेण-विदुर-श्रुतदेव-वर्याः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

वेद—इसे जानो; अहम्—मैं; अङ्ग—हे नारद; परमस्य—परमेश्वर की; हि—निश्चय ही; योग-मायाम्—शक्ति; यूयम्—तुम; भवः—शिव; च—तथा; भगवान्—परम देव; अथ—भी; दैत्य-वर्यः—नास्तिक के कुल में उत्पन्न भगवद्भक्त, प्रह्लाद महाराज; पत्नी—शतरूपा; मनोः—मनु की; सः—वह; च—भी; मनुः—स्वायंभुव; च—तथा; तत्-आत्म-जाः च—तथा उनकी सन्तानें यथा प्रियव्रत, उत्तानपाद, देवहूति इत्यादि.; प्राचीनबर्हिः—प्राचीनबर्हि; ऋभुः—ऋभु; अङ्गः—अंग; उत—भी; ध्रुवः—ध्रुव; च—तथा; इक्ष्वाकुः—इक्ष्वाकु; ऐल—ऐल; मुचुकुन्द—मुचुकुन्द; विदेह—महाराज जनक; गाधि—गाधि; रघु—रघु; अम्बरीष—अम्बरीष; सगराः—सगर; गय—गय; नाहुष—नाहुष; आद्याः—इत्यादि; मान्धातृ—मान्धाता; अलर्क—अलर्क; शतधनु—शतधनु; अनु—अनु; रन्तिदेवाः—रन्तिदेव; देवव्रतः—भीष्म; बलिः—बलि; अमूर्त्तरयः—अमूर्तरय; दिलीपः—दिलीप; सौभरि—सौभरि; उतङ्क—उतंक; शिबि—शिबि; देवल—देवल; पिप्पलाद—पिप्पलाद; सारस्वत—सारस्वत; उद्धव—उद्धव; पराशर—पराशर; भूरिषेणाः—भूरिषेण; ये—जो; अन्ये—अन्य; विभीषण—विभीषण; हनूमत्—हनुमान; उपेन्द्र-दत्त—शुकदेव गोस्वामी; पार्थ—अर्जुन; आर्ष्टिषेण—आर्ष्टिषेण; विदुर—विदुर; श्रुतदेव—श्रुतदेव; वर्याः—अग्रणी, श्रेष्ठ।

हे नारद, यद्यपि भगवान् की शक्तियाँ अज्ञेय तथा अपरिमेय हैं फिर भी शरणागत जीव होने के नाते, हम समझ सकते हैं कि वे योगमाया की शक्तियों के द्वारा किस प्रकार कार्य करते हैं। इसी प्रकार भगवान् की शक्तियाँ सर्वशक्तिमान शिव, नास्तिक कुल के महान् राजा प्रह्लाद महाराज, स्वायंभुव मनु, उनकी पत्नी शतरूपा, उनके पुत्र तथा पुत्रियाँ यथा प्रियव्रत, उत्तानपाद, आकूति, देवहूति तथा प्रसूति; प्राचीनबर्हि, ऋभु, वेन के पिता अंग, महाराज ध्रुव, इक्ष्वाकु, ऐल, मुचुकुन्द, महाराज जनक, गाधि, रघु, अम्बरीष, सगर, गय, नाहुष, मान्धाता, अलर्क, शतधनु, अनु, रन्तिदेव, भीष्म, बलि, अमूर्त्तरय, दिलीप, सौभरि, उतङ्क, शिबि, देवल, पिप्पलाद, सारस्वत, उद्धव, पराशर, भूरिषेण, विभीषण, हनुमान, शुकदेव गोस्वामी, अर्जुन, आर्ष्टिषेण,

विदुर, श्रुतदेव इत्यादि को भी ज्ञात हैं।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा गया है, भूतकाल या वर्तमान काल में भगवान् के जितने भक्त हुए हैं तथा भविष्य में जितने भी भक्त होंगे, वे सब भगवान् की विभिन्न शक्तियों के साथ-साथ उनके नाम, गुण, लीला, संगी, व्यक्तित्व इत्यादि की शक्तियों से अवगत रहते हैं। वे उन्हें किस प्रकार जानते हैं? निश्चय ही, ऐसा न तो कल्पना से और न ज्ञानेन्द्रियों की सीमित सहायता से होता है। सीमित ज्ञानेन्द्रियों द्वारा (चाहे शारीरिक इन्द्रियाँ हों या भौतिक सूक्ष्मदर्शी तथा दूरदर्शी जैसे उपकरण) हम अपनी आँखों के सामने प्रकट होने वाली भगवान् की भौतिक शक्तियों को भी ठीक से नहीं जान पाते। उदाहरणार्थ, विज्ञानियों की गणना से परे कोटि-कोटि ग्रह (लोक) विद्यमान हैं किन्तु ये भगवान् की भौतिक शक्ति के ही स्वरूप हैं। विज्ञानी ऐसे भौतिक प्रयासों द्वारा भला भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति के विषय में जानने की क्या आशा कर सकता है? "यदि" तथा "हो सकता है" जैसी दर्जनों कल्पनाओं से ज्ञान की प्रगति नहीं हो सकती—उल्टे, ऐसी कल्पना से ईश्वर का अस्तित्व न होना बताया जाएगा और निराशा ही हाथ लगेगी और बात आई गई कर दी जाएगी। अत: बुद्धिमान मनुष्य अपने लघु मस्तिष्क की सीमा से परे विषयों के सम्बन्ध में चिन्तन नहीं करता, अपितु वह परमेश्वर को आत्म-समर्पण करना सीखता है, क्योंकि वही उसे वास्तविक ज्ञान तक पहुँचा सकता है। उपनिषदों में स्पष्ट उल्लेख है कि मात्र कठिन श्रम करने तथा मस्तिष्क पर जोर लगाने से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को कभी नहीं जाना जा सकता, न ही उसे कल्पना तथा शब्दजाल द्वारा जाना जा सकता है। ईश्वर को तो वही जान पाता है, जो उनकी शरणागत है। यहाँ पर जीवों में सर्वोच्च, ब्रह्माजी, ने इस सत्य को अंगीकार किया है। अत: प्रयोगात्मक ज्ञान के मार्ग का अनुसरण करने में शक्ति का अपव्यय करना छोड़ देना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के प्रति समर्पित होकर तथा यहाँ पर वर्णित अधिकारी पुरुषों की प्रामाणिकता को स्वीकार करके ज्ञान-लाभ करे। भगवान् अनन्त होने के कारण योगमाया की कृपा से उसे स्वयं को जानने में शरणागत की क्रमश: सहायता करते हैं।

ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देव-मायां
स्त्री-शूद्र-हूण-शबरा अपि पाप-जीवाः ।
यद्यद्भुत-क्रम-परायण-शील-शिक्षा-
स्तिर्यग्जना अपि किमु श्रुत-धारणा ये ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

ते—ऐसे पुरुष; वै—निस्सन्देह; विदन्ति—जानते हैं; अतितरन्ति—आगे निकल जाते हैं; च—भी; देव-मायाम्—भगवान् की आच्छादन शक्ति; स्त्री—यथा स्त्री; शूद्र—श्रमिक वर्ग के लोग; हूण—पर्वती लोग; शबराः—साइबेरिया वासी या शूद्रों से भी निम्न; अपि—यद्यपि; पाप-जीवाः—पापी जीव; यदि—बशर्ते कि; अद्भुत-क्रम—आश्चर्यजनक कार्य करने वाला; परायण—भक्त; शील—आचरण; शिक्षाः—के द्वारा प्रशिक्षित; तिर्यक्-जनाः—वे भी जो मनुष्य नहीं हैं; अपि—भी; किम्—क्या; उ—कहा जाय; श्रुत-धारणाः—जिन्होंने भगवान् के विषय में सुनकर भगवान् का भाव ग्रहण किया है; ये—वे।

पापी जीवन बिताने वाले समुदायों में से भी शरणागत लोग, जैसे स्त्री, शूद्र, हूण तथा शबर, यहाँ तक कि पशु-पक्षी भी, तत्त्व ज्ञान के विषय में जान सकते हैं। वे भगवान् के शुद्ध भक्तों की शरण में जाकर तथा भक्तिपथ पर उनके पदचिह्नों का अनुसरण कर माया के चंगुल से छूट जाते हैं।

तात्पर्य : कभी-कभी प्रश्न पूछा जाता है कि भगवान् की शरण में किस प्रकार जाया जाय। *भगवद्गीता* (१८.६६) में भगवान् ने अर्जुन से कहा कि वह उनकी शरण में आए, अतः जो लोग ऐसा नहीं करना चाहते, वे प्रश्न करते हैं कि ईश्वर है कहाँ जिसकी शरण में वे जाँए! ऐसे प्रश्नों का यहाँ उपयुक्त उत्तर दिया गया है। श्रीभगवान् भले ही आँखों के समक्ष उपस्थित न हों, किन्तु यदि कोई सच्चे दिल से मार्ग-दर्शन का इच्छुक है, तो भगवान् कोई प्रामाणिक व्यक्ति भेज सकता है, जो उसे भगवान् के धाम का ठीक ठीक रास्ता बता सके। आत्म-साक्षात्कार के पथ पर अग्रसर होने के लिए किसी भौतिक योग्यता की आवश्यकता नहीं होती। भौतिक जगत में यदि कोई किसी विशेष सेवा (नौकरी) को अपनाता है, तो उसके पास इस के लिए विशेष योग्यता भी होनी चाहिए। इसके बिना मनुष्य नौकरी के लिए अयोग्य रहता है। किन्तु भगवद्भक्ति के लिए जिस एकमात्र योग्यता की आवश्यकता है, वह है समर्पण (शरण में जाना)। यह समर्पण अपने हाथ की बात है। यदि मनुष्य चाहे तो तुरन्त समर्पण कर दे और उसी समय से उसका आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ हो जाता है। ईश्वर का प्रामाणिक प्रतिनिधि ईश्वर के ही समान श्रेष्ठ है अथवा दूसरे शब्दों में, ईश्वर का प्रेमी प्रतिनिधि अधिक दयालु और अधिक सरलता से प्राप्य है। पापात्मा भगवान् के पास सीधे नहीं पहुँच पाता, किन्तु ऐसा पापी मनुष्य भगवद्भक्त के पास सरलता से पहुँच सकता है। यदि कोई ऐसे भगवद्भक्त के मार्गदर्शन में चलना

स्वीकार कर ले, तो उसे तत्त्व-ज्ञान प्राप्त हो सकता है; वह भी दिव्य शुद्ध भगवद्भक्त बन सकता है और मुक्त होकर भगवान् के धाम लौट सकता है जहाँ नित्य सुख प्राप्त है।

अत: इच्छुक व्यक्ति के लिए तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति तथा संसार के अनावश्यक, वृथा-संघर्ष से मुक्ति तनिक भी कठिन नहीं हैं। हाँ, उनके लिए ये अवश्य कठिन हैं, जो शरणागत नहीं हैं, मात्र व्यर्थ के कल्पनाकारी हैं।

शश्वत् प्रशान्तमभयं प्रतिबोध-मात्रं
शुद्धं समं सदसतः परमात्म-तत्त्वम् ।
शब्दो न यत्र पुरु-कारकवान् क्रियार्थो
माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना ।
तद् वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो
ब्रह्मेति यद्विदुरजस्त्र-सुखं विशोकम् ॥

शब्दार्थ

शश्वत्—नित्य; प्रशान्तम्—शान्त; अभयम्—निर्भय; प्रतिबोध-मात्रम्—भौतिक चेतना के बिल्कुल विपरीत चेतना; शुद्धम्—शुद्ध, मलरहित; समम्—भेद रहित; सत्-असतः—कारण तथा कार्य का; परमात्म-तत्त्वम्—आदि कारण का नियम; शब्दः—काल्पनिक ध्वनि; न—नहीं; यत्र—जहाँ; पुरु-कारकवान्—सकाम कर्म देने वाला; क्रिया-अर्थः—यज्ञ के हेतु; माया—माया; परैति—भग जाती है; अभिमुखे—के समक्ष; च—भी; विलज्जमाना—लज्जित होकर; तत्—वह; वै—निश्चय ही; पदम्—परम अवस्था; भगवतः—श्रीभगवान् का; परमस्य—परम; पुंसः—पुरुष का; ब्रह्म—ब्रह्म; इति—इस प्रकार; यत्—जो; विदुः—विदित; अजस्त्र—असीम; सुखम्—सुख; विशोकम्—शोकरहित।

परब्रह्म के रूप में जिसकी अनुभूति की जाती है, वह शोकरहित असीम आनन्द से युक्त है। यह निश्चय ही परमभोक्ता भगवान् की अनन्तिम अवस्था है। वह शाश्वत रूप में सारे विघ्नों से रहित तथा निर्भय है। वह पदार्थ नहीं, अपितु परिपूर्ण चेतना है। वह संदूषण मुक्त है, भेदरहित है और समस्त कारणों तथा कार्यों का आदि कारण है, जिसमें सकाम कर्मों के लिए न तो यज्ञ करना होता है और न जिसके सामने माया ठहरती है।

तात्पर्य : परमभोक्ता भगवान् ही परब्रह्म या परम आश्रय है, क्योंकि वही समस्त कारणों का कारण है। इस भौतिक संसार की भ्रान्त धारणा से नितान्त भिन्न होने के कारण निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार पहला चरण है। दूसरे शब्दों में, निर्गुण ब्रह्म, ब्रह्म का लक्षण है, जो भौतिक विविधता से भिन्न है, ठीक वैसे ही जिस प्रकार प्रकाश अंधकार का प्रतिरूप है, किन्तु प्रकाश में विविधता है, जिसे प्रकाश की ओर अग्रसर होने वाले ही जान पाते हैं; इस तरह ब्रह्म का साक्षात्कार ब्रह्मज्योति के स्रोत, पूर्ण पुरुषोत्तम

भगवान् का अर्थात् प्रत्येक वस्तु के अनन्तिम स्रोत का परम साक्षात्कार है। इस प्रकार ब्रह्म के साक्षात्कार में, पहले भौतिक उन्माद की अपेक्षा निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार सम्मिलित रहता है। भगवान् तो ब्रह्म-साक्षात्कार की तीसरी अवस्था है। जैसाकि प्रथम स्कंध में वर्णित है, मनुष्य को चाहिए कि ब्रह्म के तीनों स्वरूपों—ब्रह्म, परमात्मा तथा श्रीभगवान् को जाने।

प्रतिबोध-मात्रम् सांसारिक बोध से सर्वथा विपरीत अनुभूति है। पदार्थ में भौतिक क्लेश होते हैं, अत: ब्रह्म के प्रथम बोध में ऐसे भौतिक उन्माद का निषेध होता है और उसमें जन्म, मृत्यु, रोग तथा बुढ़ापे की छरपराहट से सर्वथा भिन्न शाश्वत अस्तित्व की अनुभूति होती है। यह निर्विशेष ब्रह्म की प्रारंभिक अवधारणा है।

परमेश्वर हर वस्तु का परम आत्मा है, अत: परम अवधारणा में प्रेम का बोध होता है। प्रेम का बोध आत्मा से आत्मा के सम्बन्ध के कारण होता है। पिता अपने पुत्र से प्रेम करता है, क्योंकि पुत्र तथा पिता में निकटता का कोई सम्बन्ध होता है। किन्तु भौतिक जगत में जिस प्रकार का प्रेम है, वह उन्माद से भरा हुआ होता है। जब भगवान् से भेंट होती है, तो वास्तविक प्रेम के कारण पूर्ण प्रेम प्रकट होता है। वह देह तथा मन की भौतिकता के द्वारा प्रेम किये जाने की वस्तु नहीं, अपितु समस्त जीवात्माओं के लिए पूर्ण, निरावृत, शुद्ध प्रेम की वस्तु है, क्योंकि वह हर एक के हृदय में स्थित परमात्मा स्वरूप है। मुक्त अवस्था में भगवान् के लिए पूर्ण प्रेम उमड़ता है।

इस तरह शाश्वत सुख की अजस्र धारा प्रवाहित होती है और उसके बन्द होने की कोई आशंका नहीं रहती जैसा हम भौतिक संसार में अनुभव कर चुके होते हैं। भगवान् का सम्बन्ध अविछिन्न होता है, अत: उसमें न शोक है, न भय। ऐसा सुख शकों मेंअवर्णनीय है और यज्ञों तथा व्यवस्था के द्वारा सकाम कर्मों के करने से ऐसा सुख उत्पन्न नहीं किया जा सकता। किन्तु हमें यह भी जान लेना चाहिए कि इस श्लोक में परम पुरुष, भगवान् के साथ जिस अविच्छिन्न सुख के आदान-प्रदान की चर्चा है, वह उपनिषदों की निर्गुण विचारधारा से बढ़कर है। उपनिषदों में किया गया वर्णन न्यूनाधिक, वस्तुओं की भौतिक अवधारणा की एक प्रकार से अनदेखी है, किन्तु यह परमेश्वर की दिव्य इन्द्रियों की अस्वीकृति नहीं है। यहाँ पर भौतिक तत्त्वों के विषय में उसी कथन की पुष्टि हुई है; वे सभी दिव्य तथा

भौतिक कल्मष से रहित हैं। यही नहीं, मुक्त जीव भी इन्द्रियों से रहित नहीं हैं अन्यथा उनके बीच अविच्छिन्न दिव्य सुख का आदान-प्रदान असम्भव होता। भगवान् तथा भक्त दोनों ही की सारी इन्द्रियाँ भौतिक कल्मष से रहित (शुद्ध) हैं। इसका कारण यह है कि वे भौतिक कारण तथा कार्य से परे हैं, जिसका यहाँ स्पष्ट उल्लेख हुआ है (*सद्-असत: परम्*)। वहाँ पर माया का वश नहीं चलता, क्योंकि भगवान् तथा उनके दिव्य भक्तों के समक्ष माया लजाती है। भौतिक जगत में इन्द्रियों के कार्य-कलाप शोकरहित नहीं होते, किन्तु यहाँ पर स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि भगवान् तथा भक्तों की इन्द्रियाँ शोकरहित हैं। भौतिक तथा आध्यात्मिक इन्द्रियों में स्पष्ट अन्तर है और मनुष्य को चाहिए कि भौतिक अवधारणा के कारण आध्यात्मिक इन्द्रियों की अवहेलना न करते हुए इसे समझे।

भौतिक जगत में इन्द्रियाँ अविद्या से पूर्ण रूप से प्रभावित होती हैं। विद्वानों ने प्रत्येक दशा में इन्द्रियों की भौतिक अवधारणा से शुद्धि की आवश्यकता पर बल दिया है। भौतिक जगत में आत्मतुष्टि के लिए इन्द्रियों को काम में लाया जाता है, जबकि आध्यात्मिक जगत में इनका उपयोग उन प्रयोजनों के निमित्त जिसके निमित्त ये मूल रूप में बनी है, अर्थात् परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है। ऐसे ऐन्द्रिय कर्म स्वाभाविक हैं, अत: भौतिक कल्मष से अप्रभावित रहकर उन से अविच्छिन्न इन्द्रियतृप्ति होती है क्योंकि इन्द्रियाँ आध्यात्मिकता के कारण शुद्ध होती हैं। फलस्वरूप ऐसी तृप्ति का दिव्य आदान-प्रदान होता रहता है। चूँकि ऐसे कार्य अनन्त हैं और लगातार बढ़ते जाते हैं, अत: भौतिक प्रयासों या कृत्रिम व्यवस्थाओं की कोई गुंजायश नहीं रह जाती। ऐसे दिव्य सुख को *ब्रह्म सौख्यम्* कहा जाता है, जिसका स्पष्ट उल्लेख पंचम स्कंध में होगा।

सध्र्यङ् नियम्य यतयो यम-कर्त-हेतिं ।
जह्यु: स्वराडिव निपान-खनित्रमिन्द्र: ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

सध्र्यक्—कृत्रिम कल्पना या चिन्तन; नियम्य—वश में करके; यतय:—योगीजन; यम-कर्त-हेतिम्—आध्यात्मिक अनुशीलन की प्रक्रिया; जह्यु:—त्याग दी जाती है; स्वराट्—पूर्णतया स्वतन्त्र; इव—सदृश; निपान—कुँआ; खनित्रम्—खोदने का कष्ट; इन्द्र:—वर्षा का नियामक देवता।

ऐसी दिव्य अवस्था में ज्ञानियों तथा योगियों द्वारा न तो कृत्रिम रीति से मन को वश में करने की, न ही कल्पना या चिन्तन की आवश्यकता रहती है। मनुष्य ऐसी विधियों को उसी प्रकार

त्याग देता है, जिस प्रकार स्वर्ग का राजा इन्द्र कुँआ खोदने का कष्ट नहीं उठाता।

तात्पर्य : कोई गरीब आदमी पानी की चाहत के कारण कुँआ खोदता है और खोदने का कष्ट झेलता है। इसी प्रकार जिनका दिव्य बोध कमजोर है, वे या तो मानसिक चिन्तन करते हैं या इन्द्रियों को वश में करके ध्यान करते हैं। किन्तु उन्हें इसका ज्ञान नहीं होता कि जब कोई परम पुरुष, भगवान् की दिव्य प्रेमपूर्ण सेवा में संलग्न होता है, तो इन्द्रियों का नियन्त्रण तथा आत्मसिद्धि एकसाथ प्राप्त हो सकते हैं। इसीलिए परम मुक्त जीवात्माएँ भगवान् के कार्यकलापों को सुनने और जपने की इच्छुक रहती हैं। इस प्रसंग में इन्द्र का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। स्वर्ग का राजा इन्द्र इस जगत में बादल लाने की व्यवस्था करने तथा वर्षा कराने के लिए नियंत्रणकारी देवता है, अत: उसे अपनी व्यक्तिगत जलपूर्ति के लिए कुँआ खोदने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता। उसे अपने लिए कुँआ खोदना हास्यास्पद होगा। इसी प्रकार जो भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगे हुए हैं, उन्हें जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त हो चुका है, अत: उनके लिए भगवान् का वास्तविक स्वभाव जानने या उनके कार्यकलापों को ज्ञात करने के लिए कल्पना करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। न ही ऐसे भक्तों को भगवान् की काल्पनिक या वास्तविक सत्ता के विषय में चिन्तन की आवश्यकता पड़ती है। भगवद्भक्ति में लगे रहने के कारण, शुद्ध भक्त पहले से ही कल्पना तथा चिन्तन से मिलने वाले फल प्राप्त कर चुके होते हैं। अत: जीवन की सिद्धि इसी में है कि भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रह जाये।

स श्रेयसामपि विभुर्भगवान् यतोऽस्य
भाव-स्वभाव-विहितस्य सतः प्रसिद्धिः ।
देहे स्व-धातु-विगमेऽनुविशीर्यमाणे
व्योमेव तत्र पुरुषो न विशीर्यतेऽजः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; श्रेयसाम्—समस्त कल्याण; अपि—भी; विभुः—स्वामी; भगवान्—भगवान्; यतः—क्योंकि; अस्य—जीवात्मा का; भाव—गुण; स्व-भाव—अपना स्वभाव; विहितस्य—कार्य; सतः—समस्त उत्तम कार्य; प्रसिद्धिः—अन्तिम सफलता; देहे—शरीर के; स्व-धातु—निर्माणक तत्त्व; विगमे—नष्ट होने पर; अनु—बाद में; विशीर्यमाणे—त्याग दिये जाने पर; व्योम—आकाश; इव—समान; तत्र—तत्पश्चात्; पुरुषः—जीवात्मा; न—कभी नहीं; विशीर्यते—नष्ट होता है; अजः—अजन्मा।

जो कुछ भी कल्याणकर है उसके परम स्वामी भगवान् हैं, क्योंकि जीवात्मा जो भी कर्म करता है, चाहे वे भौतिक अथवा आध्यात्मिक अवस्था में किये जाँय, सबका फल देनेवाले

भगवान् हैं। इस प्रकार वह परम उपकारी है। प्रत्येक जीवात्मा अजन्मा है, अतः इस भौतिक तत्त्वमय शरीर के विनष्ट होने के बाद भी, यह शरीर उसी प्रकार बना रहता है, जिस प्रकार शरीर के भीतर वायु रह जाती है।

तात्पर्य : जीव अजन्मा तथा नित्य है और जैसा *भगवद्गीता* (२.३०) में पुष्टि की गई है भौतिक तत्त्वमय देह के विनष्ट होने पर भी जीव नष्ट नहीं होता। जब तक जीव इस संसार में रहता है तब तक उसके द्वारा किये गये कर्मों का फल उसे अगले जीवन में अथवा इसी जीवन में मिलता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन के कार्य भी भगवान् द्वारा पाँच प्रकार की मुक्ति के रूप में पुरस्कृत होते हैं। यहाँ तक कि निर्विशेषवादी भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की कृपा के बिना परमेश्वर का तादात्म्य प्राप्त नहीं कर सकते। *भगवद्गीता* (४.११) में पुष्टि की गई है कि वे मनुष्य को इसी जीवन में उसके वांछित फल प्रदान करते हैं। जीवों को अपनी इच्छा करने की छूट रहती है और भगवान् उन्हें तदनुसार फल देते हैं।

अत: यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि अभिलिषित उद्देश्य की पूर्ति के लिए केवल भगवान् की दृढ़ता से भक्ति करे। निर्विशेषवादी भी चाहे तो चिन्तन या मनन करने के बजाय भगवान् की नियमित भक्तिमय सेवा करके आसानी से वांछित फल प्राप्त कर सकता है।

किन्तु भक्तजन स्वभावत: भगवान् के पार्षद रूप में रहना पसन्द करते हैं। वे निर्विशेषवादियों की भाँति तादात्म्य नहीं चाहते। अत: भक्तजन अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार भगवान् के दास, मित्र, पिता, माता तथा युगल-प्रेमी बनकर मनवांछित उद्देश्य की प्राप्ति करते हैं। भगवद्भक्ति की नौ दिव्य विधियाँ हैं—यथा श्रवण, कीर्तन इत्यादि और ऐसी सरल तथा स्वाभाविक भक्ति का अनुसरण करके भक्त उच्चतम सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं, जो ब्रह्म के साथ तदाकार होने की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठतर हैं। अत: भक्तों को ब्रह्म के विषय में मनन करने अथवा शून्य में कृत्रिम रूप से चिन्तन करने की कभी सलाह नहीं दी जाती।

फिर भी भूल कर भी यह नहीं सोचना चाहिए कि इस वर्तमान देह के विनाश के बाद, ऐसी दूसरी देह नहीं होती, जिससे भगवान् का साक्षात्कार किया जा सके। जीव तो अजन्मा है। ऐसा नहीं है कि

भौतिक देह की उत्पत्ति के साथ जीव प्रकट होता हो। दूसरी ओर, इस शरीर का विकास जीव की इच्छाओं के फलस्वरूप ही होता है। इस प्रकार जीवात्मा की इच्छा से भौतिक शरीर का प्राकट्य होता है। अत: आत्मतत्त्व से भौतिक शरीर, जीवनी शक्तीयों से उत्पन्न होकर अलिप्त में आता है चूँकि जीव शाश्वत है, अत: वह शरीर के भीतर वायु की तरह विद्यमान रहता है। शरीर के भीतर तथा बाहर वायु ही वायु है, अत: जब बाहरी आवरण अर्थात् भौतिक शरीर नष्ट हो जाता है, तो जीवित स्फुल्लिग शरीर में वायु की भाँति रहता चला आता है। परम उपकारी भगवान् के निर्देशानुसार, जीव को उचित आध्यात्मिक शरीर प्राप्त होता है, जो भगवान् से उनकी संगति के अनुसार सारूप्य (समान शारीरिक अंग), सालोक्य (भगवान् के साथ उसी लोक में रहने की समान सुविधा), सार्ष्टि (भगवान् की तरह समान ऐश्वर्य की प्राप्ति) तथा सामीप्य (भगवान् के साथ समान संगति) रूप में होता है।

भगवान् इतने दयालु हैं कि यदि कोई भक्त भौतिक संगति से अकलुषित तथा अमिश्रित भक्ति मय सेवा का चरण पूरा नहीं कर पाता तो उसे किसी भक्त या धनी के परिवार में उत्पन्न करके, बिना किसी जीवन-संघर्ष के दूसरे जन्म में पुन: अवसर प्रदान किया जाता है, जिससे वह अपने जीवन के शुद्धीकरण की शेषप्रक्रिया को पूरा कर ले और इस देह को त्याग करने पर तुरन्त ही भगवद्धाम को जा सके। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है।

इस प्रसंग में श्रील जीव गोस्वामी प्रभुपाद कृत *भागवत-संदर्भ* में विस्तृत जानकारी उपलब्ध है। एक बार आध्यात्मिक जीवन प्राप्त करके भक्त निरन्तर उसी में बना रहता है जैसाकि पिछले श्लोक में कहा जा चुका है।

सोऽयं तेऽभिहितस्तात भगवान् विश्व-भावनः ।
समासेन हरेर्नान्यदन्यस्मात् सदसच्च यत् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अयम्—वही; ते—तुमको; अभिहितः—मेरे द्वारा कहा गया; तात—हे पुत्र; भगवान्—भगवान्; विश्व-भावनः—प्रकट ब्राह्मणों के स्त्रष्टा; समासेन—संक्षेप में; हरेः—हरि अर्थात् भगवान् के बिना; न—कभी नहीं; अन्यत्—अन्य कोई वस्तु; अन्यस्मात्—कारणस्वरूप; सत्—प्रकट, गोचर; असत्—तात्त्विक; च—तथा; यत्—चाहे जो भी हो।

हे पुत्र, मैंने तुम्हें संक्षेप में प्रकट जगतों के स्त्रष्टा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विषय में बतलाया है। गोचर तथा तात्विक अस्तित्व का कारण हरि के अतिरिक्त और कोई नहीं है।

तात्पर्य : चूँकि सामान्य रूप से हमें नाशवान भौतिक जगत तथा भौतिक जगत पर अधिकार प्राप्त करने में प्रयत्नशील बद्धजीवों का ही अनुभव है, अत: ब्रह्माजी ने नारददेव को बताया कि यह अनित्य जगत भगवान् की बहिरंगा शक्ति की करामात है और यहाँ पर संघर्ष कर रहे बद्धजीव भगवान् की तटस्था शक्ति हैं। इन गोचर कार्यकलापों का एकमात्र कारण परमेश्वर, अर्थात् हरि हैं, जो समस्त कारणों के कारणस्वरूप हैं। किन्तु इससे यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि भगवान् निर्गुण रूप में सर्वत्र व्याप्त हैं। वे इन समस्त बहिरंगा तथा तटस्था शक्तियों की अन्त:क्रिया से पृथक् रहने वाले हैं। *भगवद्गीता* (९.४) में पुष्टि की गई है कि भगवान् अपनी शक्तियों के द्वारा ही सर्वत्र व्याप्त हैं। जो कुछ भी प्रकट रूप में है, वह उनकी शक्ति पर निर्भर है, किन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् होने के कारण वे प्रत्येक वस्तु से विलग रहते हैं। शक्ति तथा शक्तिमान एक होने पर भी एक दूसरे से पृथक् हैं।

भगवान् को इस दुखमय संसार की सृष्टि के लिए भला-बुरा नहीं कहा जा सकता जिस प्रकार कि राजा को राज्य में कारागार बनाने के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता। जो राजसत्ता की आज्ञा उल्लंघन करते हैं उनके लिए कारागार रूपी संख्या अनिवार्य है। इसी प्रकार भगवान् ने इस दुखमय भौतिक संसार की क्षणिक सृष्टि उन लोगों के लिए की है, जो उनको भूल गये हैं और इस झूठे संसार पर प्रभुत्व जमाने का प्रयास कर रहे हैं। फिर भी वे पतित आत्माओं को अपने धाम में वापस ले जाने के लिए इच्छुक रहते हैं और इसके लिए प्रामाणिक धर्मशास्त्रों, प्रतिनिधियों तथा अवतारों के रूप में बद्धजीवों को अनेक अवसर प्रदान करते रहते हैं। चूँकि उनका इस भौतिक जगत से कोई प्रत्यक्ष जुड़ाव नहीं है, अत: इसकी सृष्टि के लिए उन्हें दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितम् ।
सङ्ग्रहोऽयं विभूतीनां त्वमेतद् विपुली कुरु ॥५१॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; भागवतम्—तत्त्वज्ञान; नाम—नामक; यत्—जो; मे—मुझको; भगवता—श्रीभगवान् से; उदितम्—प्रकाशित; सङ्ग्रहः—संकलन; अयम्—उसकी; विभूतीनाम्—विभिन्न शक्तियों का; त्वम्—तुम; एतत्—यह तत्त्वज्ञान; विपुली—विस्तार; कुरु—करो।

हे नारद, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने ही मुझे यह श्रीमद्भागवत नामक तत्त्व-ज्ञान संक्षिप्त रूप में बतलाया था और यह उनकी विभिन्न शक्तियों का संग्रह है। अब तुम स्वयं इस ज्ञान का

विस्तार करो।

तात्पर्य : *भागवत* का सार लगभग आधे दर्जन श्लोकों में श्रीभगवान् द्वारा वर्णित है, जो आगे दिया गया है। यह तत्त्व-ज्ञान है और भगवान् का समर्थ प्रतिनिधित्व करता है। परम होने के कारण यह *श्रीमद्भागवत तत्त्व*-ज्ञान से अभिन्न है। ब्रह्माजी को यह ज्ञान सीधे भगवान् से प्राप्त हुआ जिसे उन्होंने नारद को सौंपा फिर नारद ने श्रीव्यासदेव से उसे विस्तार करने का आदेश दिया। अत: परमेश्वर का दिव्य ज्ञान संसारी झगड़ालू व्यक्तियों द्वारा कपोल-कल्पित नहीं है वरन् यह शुद्ध, शाश्वत, संपूर्ण एवं तीनों गुणों की सीमा से परे है। इस प्रकार *भागवत-पुराण* दिव्य वाणी के रूप में भगवान् का साक्षात् अवतार है, अत: मनुष्य को चाहिए कि वह इस ज्ञान को भगवान् से ब्रह्मा, ब्रह्मा से नारद, नारद से व्यास, व्यास से शुकदेव, शुकदेव से सूत गोस्वामी की शृंखला में चली आ रही शिष्य-परम्परा में भगवान् के प्रामाणिक प्रतिनिधि से प्राप्त करे। वैदिक वृक्ष का पक्व फल, अचानक ऊँची शाखा से पृथ्वी पर गिरकर टूटे बिना एक हाथ से दूसरे हाथ में जाता रहता है। अत: जब तक उपर्युक्त परम्परा के प्रामाणिक प्रतिनिधि से इस तत्त्व-ज्ञान को नहीं सुना जाता तब तक मनुष्य इस ज्ञान को समझ नहीं सकता। इसे उन व्यवसायी *भागवत* वाचकों से नहीं सुनना चाहिए जो श्रोताओं की इन्द्रियों को तुष्ट करके जीविकोपार्जन करते हैं।

यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति ।
सर्वात्मन्यखिलाधारे इति सङ्कल्प्य वर्णय ॥५२॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; हरौ—हरि में; भगवति—भगवान् में; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; भक्तिः—भक्ति; भविष्यति—प्रकाशित हो; सर्व-आत्मनि—परम पूर्ण; अखिल-आधारे—सबके आश्रय को; इति—इस प्रकार; सङ्कल्प्य—दृढ़ निश्चय द्वारा; वर्णय—वर्णन करो।.

तुम इस भगवद्ज्ञान का संकल्पपूर्वक इस विधि से वर्णन करो जिससे कि सभी मनुष्य, प्रत्येक जीव के परमात्मा तथा समस्त शक्तियों के आधारस्वरूप भगवान् हरि के प्रति दिव्य भक्ति उत्पन्न कर सकें।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* भक्ति तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के साथ मनुष्य के सम्बन्ध की वैज्ञानिक प्रस्तुति का दर्शन है। कलियुग के पूर्व भगवान् तथा उनकी शक्तियों को जानने के लिए इस प्रकार के

ज्ञान-ग्रन्थ की आवश्यकता नहीं थी, लेकिन कलियुग के आरम्भ होते ही, मानव समाज धीरे-धीरे पापाचार—यथा पर स्त्री से अवैध सम्बन्ध, मादक द्रव्य सेवन, द्यूत क्रीड़ा तथा अनावश्यक पशु-हिंसा—से प्रभावित होने लगा। इन आधारभूत पापकर्मों के फलस्वरूप मनुष्य ईश्वर के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध भूलने लगा। इस तरह मनुष्य जीवन के परम उद्देश्य के प्रति एक प्रकार से अंधा हो गया। जीवन का परम उद्देश्य, गैरजिम्मेदार पशुवत् जीवन अर्थात् आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन—इन चार पाशविक कृत्यों में कृत्रिम ढंग से लगे रहना नहीं है। इस प्रकार अविद्या के अंधकार में ग्रस्त अंधे मानव समाज के लिए *श्रीमद्भागवत* वस्तुओं को उचित परिपेक्ष्य में देखने हेतु दीपक का कार्य करता है। अत: तत्त्व-ज्ञान के वर्णन की आवश्यकता आरम्भ से या परिवर्तनशील सृष्टि के आदिकाल से ही हुई।

जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, *श्रीमद्भागवत* का प्रस्तुतीकरण इतना वैज्ञानिक है कि कोई भी निष्ठावान छात्र इसे ध्यानपूर्वक पढ़ करके या प्रामाणिक वक्ता से नियमित रूप से सुनकर भगवद्ज्ञान को समझ सकता है। इस युग में मानव समाज के सभी लोग जीवन-सुख के पीछे इतने दीवाने हैं कि अंधकार में रहने के कारण उन्हें इतनी भी दृष्टि प्राप्त नहीं है कि वे जानें कि श्रीभगवान् ही समस्त सुख के आगार हैं, क्योंकि वे प्रत्येक वस्तु के परम स्रोत हैं (*जन्माद्यस्य यत:*)। भगवान् की भक्ति के द्वारा ही अबाध सुख की पूर्ण उपलब्धि सम्भव है और उन्हीं की संगति से हम इस दुखमय संसार से छुटकारा पा सकते हैं। जो लोग इस भौतिक जगत का सुखोपभोग करना चाहते हैं, वे भी *श्रीमद्भागवत* के महान् ज्ञान की शरण ले सकते हैं और अन्त में सफलता प्राप्त कर सकते हैं। अत: नारद को उनके गुरु उपदेश देते हैं, या यह कहें कि आदेश देते हैं कि वे इस ज्ञान को संकल्प के साथ व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करें। नारदजी को जीविकोपार्जन हेतु *भागवत* के सिद्धान्तों का उपदेश देने के लिए कभी नहीं कहा गया, वरन् उनके गुरु ने आदेश दिया कि इसे गम्भीरतापूर्वक प्रचारक की भावना से ग्रहण करें।

मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्यानुमोदतः ।
शृण्वतः श्रद्धया नित्यं माययात्मा न मुह्यति ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

मायाम्—बहिरंगा शक्ति के व्यापार; वर्णयतः—वर्णन करते हुए; अमुष्य—भगवान् के; ईश्वरस्य—श्रीभगवान् के; अनुमोदतः—इस प्रकार प्रशंसित; शृण्वतः—इस प्रकार सुनते हुए; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; नित्यम्—नियमित रूप से; मायया—माया के द्वारा; आत्मा—जीवात्मा; न—कभी नहीं; मुह्यति—मोहग्रस्त होता है।.

विभिन्न शक्तियों से सम्बंधित भगवान् के कार्यकलापों का वर्णन, उनकी प्रशंसा तथा उनका श्रवण परमेश्वर की शिक्षाओं के अनुसार होना चाहिए। यदि नियमित रूप से श्रद्धा तथा सम्मानपूर्वक ऐसा किया जाता है, तो मनुष्य निश्चित रूप से भगवान् की माया से उबर जाता है।

तात्पर्य : किसी विषय का गम्भीर ज्ञान मनचले लोगों के भावों से सर्वथा भिन्न होता है। ये मनचले या मूर्ख लोग बहिरंगा शक्ति के प्रसंग में भगवान् के कार्यकलापों को व्यर्थ मानकर अपने को झूठ-मूठ भगवान् की अन्तरंगा शक्ति में उच्च स्तर पर सम्मिलित बता सकते हैं, किन्तु सत्य तो यह है कि भगवान् की बहिरंगा तथा अन्तरंगा शक्तियों से सम्बन्धित कार्यकलाप समान रूप से श्रेष्ठ हैं। दूसरी ओर, जो भगवान् की बहिरंगा शक्ति के चंगुल से अभी तक छूट नहीं पाये, उन्हें बहिरंगा शक्ति के प्रसंग में भगवान् के कार्यकलापों का नियमित श्रवण करना चाहिए। उन्हें मूर्खतावश रासलीला जैसे अन्तरंगा शक्ति के कार्यकलापों से नहीं आकर्षित होना चाहिए। सस्ते कथावाचक भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के विषय में अत्यन्त उत्साह दिखाते हैं और भौतिक सुखोपभोग में मग्न छद्मभक्त गलती से मुक्त जीव की अवस्था पर पहुँचना चाहते हैं और इस प्रकार बहिरंगा शक्ति के चंगुल में बुरी तरह आ फँसते हैं।

इनमें से कुछेक का विचार है कि भगवान् की लीलाओं के श्रवण का अर्थ है गोपियों के साथ उनके कार्यकलाप या गोवर्धन-धारण जैसी लीला के विषय में सुनना। उन्हें भगवान् के पुरुषावतारों जैसे स्वांश विस्तारों से तथा भौतिक जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार जैसी लीलाओं से कोई सरोकार नहीं रहता। किन्तु प्रबुद्ध भक्त जानता है कि भगवान् की लीलाओं में, चाहे वह रासलीला हो, चाहे सृष्टि की उत्पत्ति, पालन या संहार, कोई अन्तर नहीं है। अपितु पुरुषावतारों के रूप में भगवान् के कार्यकलापों का वर्णन उन पुरुषों के लिए है, जो बहिरंगा शक्ति के चंगुल में हैं। रासलीला जैसी कथाएँ बद्धजीवों के लिए न होकर मुक्त जीवों के लिए हैं। अत: बद्धजीवों को चाहिए कि बहिरंगा शक्ति के प्रसंग में भगवान् की लीलाओं को भक्ति तथा प्रशंसा के साथ सुनें। यह कार्य मुक्त अवस्था में रासलीला के श्रवण के समान उत्तम है। बद्धजीव को कभी भी मुक्त जीवों के कार्यों की नकल नहीं

करनी चाहिए। भगवान् श्री चैतन्य कभी भी सामान्य मनुष्यों के साथ रासलीला नहीं सुनते थे।

श्रीमद्‌भागवत के प्रथम नौ स्कंध दशम स्कंध को सुनने की भूमिका बाँधते हैं। इस स्कन्ध के अन्तिम अध्याय में पुनः इसकी चर्चा की जावेगी। तीसरे स्कन्ध में यह और अधिक स्पष्ट हो सकेगी। अतः भगवान् के शुद्ध भक्त को चाहिए कि वह *श्रीमद्‌भागवत* को प्रारम्भ से सुनना प्रारम्भ करे, सीधे दशम स्कन्ध को नहीं। हमसे कई बार कुछ तथाकथित भक्तों ने निवेदन किया है कि हम तुरन्त ही दशम स्कंध को हाथ में लें, किन्तु हम सदैव इससे बचते रहे, क्योंकि हम *श्रीमद्‌भागवत* को तत्त्व-ज्ञान के रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं, बद्धजीवों के लिए विषयी ज्ञान के रूप में नहीं। श्रीब्रह्माजी जैसे अधिकारियों ने इसके लिए वर्जित किया है। *श्रीमद्‌भागवत* को वैज्ञानिक प्रस्तुति के रूप में पढ़कर तथा सुनकर बद्धजीव इन्द्रिय-तृप्ति की उत्तरोत्तर माया से मुक्तहोकर दिव्य ज्ञान के उच्चतर पद को प्राप्त हो सकेंगे।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के द्वितीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''विशिष्ट कार्यों के लिए निर्दिष्ट अवतार'' नामक नामक सातवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter आठ

राजा परीक्षित द्वारा पूछे गये प्रश्न

राजोवाच

ब्रह्मणा चोदितो ब्रह्मन् गुणाख्यानेऽगुणस्य च ।
यस्मै यस्मै यथा प्राह नारदो देव-दर्शनः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

राजा—राजा ने; उवाच—कहा; ब्रह्मणा—ब्रह्माजी द्वारा; चोदितः—आदेशित होकर; ब्रह्मन्—हे विद्वान ब्राह्मण (शुकदेव गोस्वामी); गुण-आख्याने—दिव्य गुणों के वर्णन में; अगुणस्य—गुणरहित भगवान् का; च—तथा; यस्मै यस्मै—तथा जिनको; यथा—जितना; प्राह—बतलाया; नारदः—नारद मुनि ने; देव-दर्शनः—वह, जिसका श्रोता देवता के समान उत्तम है।

राजा परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा कि नारद मुनि ने, जिनके श्रोता श्रीब्रह्मा द्वारा उपदेशित भाग्यशाली श्रोता हैं, किस प्रकार निर्गुण भगवान् के दिव्य गुणों का वर्णन किया और वे किन-किन के समक्ष बोले?

तात्पर्य : देवर्षि नारद को सीधे ब्रह्माजी ने उपेदश दिया था। ब्रह्मा को भी परमेश्वर ने स्वयं उपदेश दिया था; अत: नारद द्वारा विविध शिष्यों को दिये गये उपदेश स्वयं परमेश्वर द्वारा प्रदत्त उपदेशों के तुल्य हैं। वैदिक ज्ञान को समझने की यही विधि है। यह शिष्य-परम्परा द्वारा भगवान् से प्राप्त होकर अवरोही क्रम से सारे विश्व में फैलता है। किन्तु मानसिक चिन्तकों से वैदिक ज्ञान प्राप्त करने का अवसर ही नहीं आता। अत: नारद मुनि जहाँ कहीं भी जाते हैं, ईश्वर का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनका प्राकट्य परमेश्वर के ही समान उत्तम होता है। इसी प्रकार जो शिष्य-परम्परा दिव्य उपदेश का कड़ाई से अनुसरण करती है, वही प्रामाणिक होती है और इन प्रामाणिक गुरुओं की परीक्षा यह है कि प्रारम्भ में भगवान् ने अपने भक्तों को जो उपदेश दिया था और अब शिष्य-परम्परा में जो उपदेश दिया जाता है उसमें कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। नारद मुनि ने भगवान् के दिव्य ज्ञान को जिस प्रकार वितरित किया उसका वर्णन बाद के स्कन्धों में किया जाएगा।

ऐसा भी प्रतीत हो सकता है कि भौतिक सृष्टि के पूर्व भी भगवान् का अस्तित्व था; फलत: उनके दिव्य नाम, गुण इत्यादि किसी भौतिक गुण को सूचित करने वाले नहीं हैं। अत: जब भी भगवान् को

अगुण कहा जाता है, तो इसका अभिप्राय यह नहीं होता कि वे गुणरहित हैं वरन् यह कि उनमें सतो, रजो या तमोगुण जैसे भौतिक गुण नहीं पाये जाते जो बद्धजीवों में पाये जाते हैं। समस्त भौतिक अवधारणाओं से परे होने के कारण ही उन्हें *अगुण* कहा जाता है।

एतद् वेदितुमिच्छामि तत्त्वं तत्त्व-विदां वर ।
हरेरद्भुत-वीर्यस्य कथा लोक-सुमङ्गलाः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; वेदितुम्—जानने के लिए; इच्छामि—इच्छा करता हूँ; तत्त्वम्—सच्चाई; तत्त्व-विदाम्—तत्त्वविदों का; वर—हे श्रेष्ठ; हरेः—भगवान् का; अद्भुत-वीर्यस्य—अद्भुत शक्तिसम्पन्न की; कथाः—कथा; लोक—समस्त लोकों के लिए; सु-मङ्गलाः—शुभ, कल्याणकर।

राजा ने कहा : मैं जानने का इच्छुक हूँ। अद्भुत शक्तियों से सम्पन्न भगवान् से सम्बन्धित कथाएँ निश्चय ही समस्त लोकों के प्राणियों के लिए शुभ हैं।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* परमेश्वर की लीलाओं के वर्णनों से भरा पड़ा है और प्रत्येक लोक में निवास करने वाले जीवों के लिए मंगलकारी है। जो इसे सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्धित मान बैठता है, वह निश्चित रूप से भ्रम में रहता है। *श्रीमद्भागवत* भगवान् के समस्त भक्तों के लिए अत्यन्त प्रिय शास्त्र है, लेकिन अभक्तों के लिए भी यह कल्याणप्रद है, क्योंकि इसके अनुसार भौतिक शक्ति के चक्कर में पड़े हुए अभक्त लोग भी चंगुल से छूट जाते हैं यदि वे श्रद्धा तथा मनोयोग से शिष्य-परम्परा के समुचित स्रोत से *श्रीमद्भागवत* की कथा को सुनते हैं।

कथयस्व महाभाग यथाहमखिलात्मनि ।
कृष्णे निवेश्य निःसङ्गं मनस्त्यक्ष्ये कलेवरम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

कथयस्व—कृपया आगे कहें; महाभाग—हे परमभाग्यशाली; यथा—जिस प्रकार; अहम्—मैं; अखिल-आत्मनि—परमात्मा को; कृष्णे—भगवान् श्रीकृष्ण को; निवेश्य—स्थापित करके; निःसङ्गम्—भौतिक गुणों से मुक्त होकर; मनः—मन; त्यक्ष्ये—परित्याग कर सकूँ; कलेवरम्—शरीर।

हे परम भाग्यशाली शुकदेव गोस्वामी, आप मुझे कृपा करके श्रीमद्भागवत सुनाते रहें जिससे मैं अपना मन परमात्मा, भगवान् श्रीकृष्ण में स्थिर कर सकूँ और इस प्रकार भौतिक गुणों से सर्वथा मुक्त होकर अपना यह शरीर त्याग सकूँ।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में वर्णित कथा में पूर्ण रूप से तन्मय होने का अर्थ है परमात्मा श्रीकृष्ण के साथ निरन्तर साहचर्य और ऐसे साहचर्य का अर्थ होता है भौतिक गुणों से मुक्त हो जाना। भगवान् श्रीकृष्ण सूर्य के समान हैं और भौतिक कल्मष अन्धकार के तुल्य है। जिस प्रकार सूर्य की उपस्थिति में अंधकार हट जाता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण का निरन्तर साहचर्य भौतिक गुणों के कल्मष को दूर करने वाला है। भौतिक गुणों का कल्मष बारबार जन्म तथा मृत्यु का कारण है और भौतिक गुणों से मुक्ति गुणातीत (सत्व) होना है। मुक्ति के इस रहस्य को जान लेने के कारण महाराज परीक्षित को अब आत्म-साक्षात्कार हो चुका था क्योंकि श्रील शुकदेव गोस्वामी ने राजा को बता दिया था कि परम सिद्धि तो मृत्यु के समय नारायण के स्मरण में निहित है। महाराज परीक्षित को सात दिनों के पश्चात् शरीर त्याग करना था, अत: उन्होंने *श्रीमद्भागवत* की कथा के माध्यम से भगवान् का स्मरण करते रहने और इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण के समक्ष पूर्णत: सचेष्ट रहकर शरीर त्यागने का निश्चय किया।

जो लोग वृत्तिक रूप में *श्रीमद्भागवत* सुनते हैं उनका सुनना महाराज परीक्षित के दिव्य श्रवण करने से भिन्न होता है। महाराज परीक्षित को परम सत्य रूप भगवान् श्रीकृष्ण का साक्षात्कार हो चुका था। सकाम भौतिकतावादी मुक्त-आत्मा नहीं होता; वह *श्रीमद्भागवत* को सुनकर कोई भौतिक लाभ उठाना चाहता है। निस्सन्देह ऐसे श्रोता, वृत्तिकवाचक से *श्रीमद्भागवत* सुनकर कुछ यथेष्ट भौतिक लाभ उठा सकते हैं किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि एक सप्ताह तक *श्रीमद्भागवत* का कृत्रिम श्रवण करना महाराज परीक्षित द्वारा श्रवण करने के समान लाभदायक है।

विचारवान् व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह आत्म-साक्षात्कार प्राप्त व्यक्ति से *श्रीमद्भागवत* सुने और वृत्तिक लोगों के द्वारा ठगा न जाय। मनुष्य को चाहिए कि वह जीवन के अन्तिम समय तक इसी प्रकार *श्रीमद्भागवत* सुनता रहे जिससे वास्तव में भगवान् की दिव्य संगति प्राप्त हो सके और इस प्रकार मुक्त हो सके।

यद्यपि महाराज परीक्षित ने अपना राज्य तथा परिवार, जो भौतिकतावाद के सर्वाकर्षक अंग हैं, पहले ही त्याग दिये थे किन्तु तो भी वे अपने भौतिक शरीर के प्रति सचेत थे। वे भगवान् की निरन्तर संगति द्वारा ऐसे बन्धन से भी मुक्त होना चाह रहे थे।

श‍ृण्वत: श्रद्धया नित्यं गृणतश्च स्व-चेष्टितम् ।
कालेन नातिदीर्घेण भगवान् विशते हृदि ॥ ४॥

शब्दार्थ

श‍ृण्वत:—सुनने वालों का; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; नित्यम्—नियमित रूप से सदैव; गृणत:—ग्रहण करते हुए; च—भी; स्व-चेष्टितम्—अपने प्रयास से गम्भीरतापूर्वक; कालेन—अवधि; न—नहीं; अति-दीर्घेण—अत्यन्त दीर्घकाल; भगवान्—श्रीभगवान्; विशते—प्रकट होते हैं; हृदि—हृदय में।

जो लोग नियमित रूप से श्रीमद्भागवत सुनते हैं और इसे अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक ग्रहण करते हैं, उनके हृदय में अल्प समय में ही भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हो जाते हैं।

तात्पर्य : सस्ते भक्त या भौतिकतावाद में ग्रस्त भक्त आवश्यक योग्यताएँ न होते हुए भी भगवान् को साक्षात् देखने के लिए बहुत अधिक लालयित रहते हैं। ऐसे निम्नकोटि के भक्तों को यह जान लेना चाहिए कि भौतिक आसक्ति तथा भगवान् का साक्षात्कार एकसाथ नहीं रह सकते। यह ऐसी यान्त्रिक प्रकिया नहीं है कि परमेश्वर *भागवत*-वाचक निम्नकोटि के भौतिकतावादी छद्म भक्तों के लिए यह कार्य कर सकें। ये पेशेवर लोग ऐसा करने में अक्षम हैं, क्योंकि न तो उन्हें आत्म-साक्षात्कार हुआ रहता है और न ही श्रोताओं की मुक्ति में उनकी कोई अभि रुचि होती है। वे तो अपनी गृहस्थी बनाये रखकर अपने पेशे से कुछ भौतिक लाभ उठाने में रुचि रखते हैं। महाराज परीक्षित को केवल सात दिन जीवित रहना था, किन्तु दूसरों के हित में वे स्वत: बताते हैं कि लोग *श्रीमद्भागवत* को नित्य अपने प्रयास से तथा भक्तिपूर्वक सुनें। इससे हृदय के भीतर श्रीकृष्ण का शीघ्र दर्शन करने में उन्हें सहायता मिलेगी।

किन्तु छद्म-भक्त अपनी सनक के अनुसार भगवान् का दर्शन करने का बहुत इच्छुक रहता है। वह *श्रीमद्भागवत* को नित्य सुनने के लिए न तो कोई प्रयास करता है और न ही भौतिक लाभ की इच्छा से विरक्त हो पाता है। यह महाराज परीक्षित जैसे अधिकारी द्वारा संस्तुत विधि नहीं है जिन्होंने *श्रीमद्भागवत* सुनकर उससे लाभ उठाया।

प्रविष्ट: कर्ण-रन्ध्रेण स्वानां भाव-सरोरुहम् ।
धुनोति शमलं कृष्ण: सलिलस्य यथा शरत् ॥ ५॥

शब्दार्थ

प्रविष्टः—इस प्रकार प्रवेश करके; कर्ण-रन्ध्रेण—कान के छिद्रों से; स्वानाम्—अपनी मुक्त स्थिति के अनुसार; भाव—स्वाभाविक सम्बन्ध; सरः-रुहम्—कमल का फूल; धुनोति—निर्मल करता है; शमलम्—काम, क्रोध ईर्ष्या तथा गर्व जैसे गुण को; कृष्णः—भगवान् श्रीकृष्ण; सलिलस्य—जलाशय का; यथा—जिस प्रकार; शरत्—शरद ऋतु।

परमात्मा रूप भगवान् श्रीकृष्ण का शब्दावतार (अर्थात् श्रीमद्भागवत) स्वरूप-सिद्ध भक्त के हृदय में प्रवेश करता है, उसके भावात्मक सम्बन्ध रूपी कमल-पुष्प पर आसीन हो जाता है और इस प्रकार काम, क्रोध तथा लोभ जैसी भौतिक संगति की धूल को धो ड़ालता है। इस प्रकार यह गँदले जल के तालाबों में शरद ऋतु की वर्षा के समान कार्य करता है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि भगवान् का एक अकेला शुद्ध भक्त संसार के समस्त पतितों को उबार सकता है। अत: जिसे नारद या शुकदेव गोस्वामी जैसे शुद्ध भक्त का विश्वास प्राप्त है और जो अपने गुरु से शक्ति प्राप्त करता है, जिस प्रकार नारद ने ब्रह्माजी से प्राप्त की थी, वह न केवल स्वयं को माया के चंगुल से छुड़ाता है वरन् अपनी शुद्ध तथा शक्तिसम्पन्न भक्ति की शक्ति से सारे संसार को उबार सकता है। गँदले जलाशयों में गिरने वाली शारदीय वर्षा से उपमा देना अत्यन्त उपयुक्त है। वर्षा ऋतु में सारी नदियों का पानी गँदला हो जाता है किन्तु शरद ऋतु में, जब हल्की वर्षा होती है, तो संसार भर में नदियों का जल स्वच्छ हो जाता है। किसी रसायन की अल्प मात्रा से शहरी जलागार की तरह किसी छोटे जलाशय का जल स्वच्छ किया जा सकता है, किन्तु ऐसे अल्प प्रयास से नदियों का जल स्वच्छ नहीं किया जा सकता। किन्तु भगवान् का शक्तिसम्पन्न शुद्ध भक्त न केवल अपने को उबार सकता है, वरन् अपनी संगति से अनेकों को उबारता है।

दूसरे शब्दों में, अन्य विधियों से (यथा ज्ञान-मार्ग या योगासन द्वारा) अपना ही कलुषित हृदय स्वच्छ किया जा सकता है, किन्तु भगवद्भक्ति इतनी शक्तिशाली होती है कि वह शुद्ध शक्तिसम्पन्न भक्त की भक्ति से समस्त लोगों के हृदयों को स्वच्छ कर सकती है। नारद, शुकदेव गोस्वामी, भगवान् चैतन्य, छहों गोस्वामी तथा उनके बाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर तथा श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर इत्यादि जैसे भगवान् के वास्तविक प्रतिनिधि अपनी शक्तिसम्पन्न भक्ति के द्वारा सभी लोगों का उद्धार कर सकते हैं।

श्रीमद्भागवत को सुनने के सद्प्रयासों द्वारा मनुष्य को भगवान् के साथ दास, सखा, वात्सल्य अथवा माधुर्य प्रेम के दिव्य भाव में अपने स्वाभाविक सम्बन्ध का बोध हो जाता है और इस प्रकार के

आत्म-साक्षात्कार से वह तुरन्त भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति का भागी बन जाता है। नारद जैसे समस्त शुद्ध भक्त न केवल स्वरूपसिद्ध जीव थे, वरन् वे स्वान्त:सुखाय उपदेश देने के कार्य में लगे रहते थे और इस तरह से माया के गुणों में फँसे अनेक हीन जीवों का उद्धार करते थे। वे इतने शक्तिसम्पन्न इसीलिए हो सके, क्योंकि वे नियमित रूप से *भागवत* के सिद्धान्तों का श्रवण एवं पूजन करते थे। संचित हो चुकी भौतिक वासनाएँ, भगवान् के अपने प्रयासों से, ऐसे कार्यों द्वारा स्वच्छ हो जाती हैं। भगवान् जीवों के हृदय में सदैव विद्यमान रहते हैं, किन्तु वे भक्ति-मय सेवा से प्रकट होते हैं।

ज्ञान के अनुशीलन या योग द्वारा हृदय की शुद्धि किसी एक व्यक्ति के लिए कुछ काल के लिए उपयुक्त सिद्ध हो सकती है, किन्तु यह स्थिर जल की अल्प मात्रा को रासायनिक विधियों से स्वच्छ करने के समान है। इस प्रकार से शुद्ध किया जल, मैल के कुछ काल तक तलछट बैठ जाने के कारण स्वच्छ रह सकता है, किन्तु तनिक भी हिलाने पर पुन: गँदला हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान् की भक्ति-मय सेवा ही हृदय को सदा के लिए स्वच्छ बनाने की एकमात्र विधि है। अन्य विधियाँ भले ही कुछसमय के लिए श्रेष्ठ हों, किन्तु मन के विचलित होने से पुन: गँदले होने की आशंका रहती है। माया के चंगुल से मुक्ति के लिए सर्वोत्तम विधि यही है कि भगवद्भक्ति के साथ ही नियमित रूप से *श्रीमद्भागवत* का ध्यानपूर्वक श्रवण किया जाय।

धौतात्मा पुरुष: कृष्ण-पाद-मूलं न मुञ्चति ।
मुक्त -सर्व-परिक्लेश: पान्थ: स्व-शरणं यथा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

धौत-आत्मा—जिनके हृदय विमल हो चुके हैं; पुरुष:—जीव; कृष्ण—श्रीभगवान् के; पाद-मूलम्—चरणकमल की शरण; न—नहीं; मुञ्चति—छोड़ता है; मुक्त—मुक्त; सर्व—समस्त; परिक्लेश:—जीवन के समस्त क्लेशों का; पान्थ:—पथिक; स्व-शरणम्—अपने धाम में; यथा—जिस प्रकार।

भगवान् का शुद्ध भक्त, जिस का हृदय एक बार भक्ति के द्वारा स्वच्छ हो चुका होता है, वह श्रीकृष्ण के चरणकमलों का कभी भी परित्याग नहीं करता, क्योंकि उसे भगवान् वैसी ही परम तुष्टि देते हैं, जैसी कि कष्टकारी यात्रा के पश्चात् पथिक को अपने घर में प्राप्त होती है।

तात्पर्य : जो परमेश्वर श्रीकृष्ण का शुद्ध भक्त नहीं है उसका हृदय पूर्णत: स्वच्छ नहीं होता, किन्तु पूर्णत: शुद्ध हृदय वाला व्यक्ति भगवान् की भक्ति कभी नहीं छोड़ता। ब्रह्माजी ने नारद को

श्रीमद्भागवत का उपदेश देते समय जैसा आदेश दिया था, उस प्रकार की भक्ति का पालन करने में कभी–कभी उपदेश कार्य में लगे हुए भगवान् के प्रतिनिधि को अनेक तथाकथित कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जगाई तथा माधाई नामक दो पतितों का उद्धार करते समय श्रीनित्यानन्द के साथ ऐसा ही हुआ। इसी प्रकार अविश्वासियों द्वारा जीससक्राइस्ट को क्रूस पर चढ़ा दिया गया। किन्तु उपदेशक भक्त ऐसे कष्टों को, जो ऊपर से बहुत घोर दिखते हैं, सहर्ष सहन कर लेते हैं, क्योंकि ऐसे कार्यों से भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं जिससे भक्तों को दिव्य आनन्द प्राप्त होता है। यद्यपि प्रह्लाद महाराज को घोर यातनाएँ सहनी पड़ीं, तो भी उन्होंने भगवान् के चरणकमलों को विस्मृत नहीं किया। इसका एकमात्र कारण यह है कि शुद्ध भक्त का हृदय इतना पवित्र होता है कि वह किसी भी स्थिति में भगवान् कृष्ण की शरण का परित्याग नहीं कर सकता। ऐसी सेवा में कोई स्वार्थ निहित नहीं रहता। *ज्ञानियों* को ज्ञान का अनुशीलन अथवा *योगियों* को शारीरिक आसन का अन्ततः परित्याग करना होता है, किन्तु भक्त भगवान् की भक्ति नहीं छोड़ सकता, क्योंकि उसे गुरु से इसका आदेश प्राप्त हुआ होता है। नारद तथा नित्यानन्द प्रभु जैसे शुद्ध भक्त गुरु की आज्ञा को प्राणाधार मानते हैं। वे अपने भविष्य की तनिक भी परवाह नहीं करते। वे इस मामले को बहुत गंभीरता से लेते हैं क्योंकि यह आदेश भगवान् के प्रतिनिधि से या स्वयं भगवान् से प्राप्त हुआ होता है।

यहाँ पर दिया गया उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। पथिक (यात्री) धन कमाने के लिए घर छोड़ कर दूर–दूर के देशों को जाता है, कभी वह वन से होकर जाता है, तो कभी समुद्र से होकर या कभी कभी पर्वतों की चोटियों से होकर जाता है। निस्सन्देह ऐसे अपरिचित स्थानों में जाने पर पथिक को अनेक कष्ट मिलते हैं। किन्तु ये सारे कष्ट उस क्षण कम हो जाते हैं जब वह अपने परिवार का स्मरण करता है और फिर जब वह घर लौट आता है, तो मार्ग के सारे कष्टों को भूल जाता है।

भगवान् का शुद्ध भक्त भगवान् के साथ पारिवारिक रूप में बँधा होता है, अतः वह अपने कर्तव्य को बिना रुके प्रेमपूर्वक निभाता रहता है।

यदधातु-मतो ब्रह्मन् देहारम्भोऽस्य धातुभिः ।
यदृच्छया हेतुना वा भवन्तो जानते यथा ॥७॥

शब्दार्थ

यत्—क्योंकि; अधातु-मत:—भौतिक रूप से निर्मित न होते हुए; ब्रह्मन्—हे विद्वान ब्राह्मण; देह—भौतिक शरीर; आरम्भ:—शुभारम्भ; अस्य—जीव का; धातुभि:—पदार्थ से; यदृच्छया—अकारण, आकस्मिक; हेतुना—किसी कारण से; वा—अथवा; भवन्त:—आप; जानते—जैसा जानते हों; यथा—उसी रूप में मुझे बताएँ।.

हे विद्वान ब्राह्मण, दिव्य आत्मा भौतिक देह से पृथक् है। तो फिर क्या उसे (आत्मा को) किसी कारणवश या अकस्मात् ही देह की प्राप्ति होती है? आपको यह ज्ञात है, अत: कृपा करके मुझे समझाइये।

तात्पर्य : विशिष्ट भक्त होने के कारण महाराज परीक्षित शिष्य-पराम्परा से ब्रह्माजी के प्रतिनिधी द्वारा *श्रीमद्भागवत* सुनने के महत्त्व की पुष्टि से ही सन्तुष्ट नहीं होते वरन् वे *श्रीमद्भागवत* के दार्शनिक आधार को भी स्थापित करना चाहते हैं। *श्रीमद्भागवत* पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान विषयक तत्त्व-ज्ञान है, अत: किसी जिज्ञासु के मन में इसके विषय में जितने भी प्रश्न उठें, उनका स्पष्टीकरण प्रामाणिक कथनों के द्वारा होना चाहिए। भक्ति-मय सेवा के पथ का पथिक ईश्वर तथा जीव विषयक सारी जिज्ञासाएँ अपने गुरु के समक्ष रख सकता है। *भगवद्गीता* के साथ ही साथ *श्रीमद्भागवत* से यह स्पष्ट है कि भगवान् तथा जीव गुणात्मक रूप से एक हैं। भौतिक संसार में बद्ध अवस्था में होने के कारण, जीव भौतिक शरीर का निरन्तर देहान्तरण करता हुआ अनेक योनियों में जाता रहता है। किन्तु भगवान् के अंश द्वारा शरीर धारण करने के कारण कौन-कौन से हैं? महाराज परीक्षित, आत्म-साक्षात्कार के पथ तथा भगवान् की भक्ति में अग्रसर होने वाले समस्त वर्गों के प्राणियों के हेतु इस महत्त्वपूर्ण विषय के सम्बन्ध में जिज्ञासा व्यक्त कर रहे हैं।

अप्रत्यक्ष रूप से इसकी पुष्टि होती है कि परमात्मा शरीर को इस प्रकार बदलता नहीं रहता। आध्यात्मिक दृष्टि से वह पूर्ण है और बद्ध-जीवों के विपरीत उसके शरीर तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं होता। मुक्त जीव, जो सदेह भगवान् के साथ रहते हैं, भगवान् के ही समान होते हैं। केवल वे बद्धजीव अपना शरीर बदलते हैं, जो मुक्ति की प्रतीक्षा में हैं, किन्तु यह क्रिया सर्वप्रथम किस प्रकार प्रारम्भ हुई?

भक्तियोग में प्रथम सोपान गुरु की शरण ग्रहण करना और फिर भक्ति के विषय में गुरु से जिज्ञासा करना है। ऐसी जिज्ञासा अनिवार्य है, जिससे भक्तिमार्ग में होने वाले समस्त प्रकार के अपराधों के प्रति

निश्चेष्टता बनी रहे। महाराज परीक्षित की भाँति भक्ति में स्थित होते हुए भी भक्त को आत्मसिद्ध गुरु से इसके विषय में जिज्ञासा करनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, गुरु को भी अत्यन्त सक्षम एवं पारंगत होना चाहिए जिससे वह भक्तों की इन समस्त जिज्ञासाओं को शमित कर सके। अत: जो प्रामाणिक शास्त्रों में दक्ष न हो और इन संगत जिज्ञासाओं का उत्तर देने में समर्थ न हो, उसे भौतिक लाभ के लिए गुरु बनने का स्वाँग नहीं करना चाहिए। जो शिष्य का उद्धार करने में असमर्थ हो उसका गुरु बनना है।

आसीद् यदुदरात् पद्मं लोक-संस्थान-लक्षणम् ।
यावानयं वै पुरुष इयत्तावयवै: पृथक् ।
तावानसाविति प्रोक्त: संस्थावयववानिव ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

आसीत्—जिस प्रकार निकला; यत्-उदरात्—जिसके उदरसे; पद्मम्—कमल का फूल; लोक—संसार; संस्थान—स्थिति; लक्षणम्—लक्षण; यावान्—जैसा था; अयम्—यह; वै—निश्चय ही; पुरुष:—श्रीभगवान्; इयत्ता—माप; अवयवै:—अवयवों से; पृथक्—भिन्न; तावान्—वैसा; असौ—वह; इति प्रोक्त:—ऐसा कहा जाता है; संस्था—स्थिति; अवयववान्—अवयव से युक्त; इव—सदृश।

यदि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, जिनके उदर से कमलनाल बाहर निकला है, अपने माप के अनुसार विराट शरीर धारण कर सकते हैं, तो फिर भगवान् के शरीर तथा सामान्य जीवात्माओं के शरीर में कौन-सा विशेष अन्तर है?

तात्पर्य : यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि महाराज परीक्षित कितनी बुद्धिमानी से भगवान् के दिव्य शरीर के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपने गुरु से प्रश्न करते हैं। इसके पूर्व कई बार कहा जा चुका है कि भगवान् ने कारणोदकशायी विष्णु के सदृश विराट शरीर धारण किया जिनके रोमकूपों से असंख्य ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुए। गर्भोदकशायी विष्णु के शरीर से निकले कमलनाल के शीर्ष पर कमल पुष्प होता है, जिससे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। निस्सन्देह, भौतिक संसार की रचना के समय भगवान् विराट शरीर धारण करते हैं और जीवात्माएँ भी आवश्यकतानुसार लघु या दीर्घ शरीर प्राप्त करती हैं। उदाहरणार्थ, हाथी को आवश्यकतानुसार विशाल देह प्राप्त होती है और चींटी को अपनी आवश्यकता के अनुसार लघु देह मिलती है। इसी तरह, यदि भगवान् ब्रह्माण्डों या किसी ब्रह्माण्ड के लोकों को समाहित करने के लिए विराट शरीर धारण करते हैं, तो आवश्यकतानुसार किसी विशेष प्रकार के शरीर को धारण करने के नियम में कोई अन्तर नहीं पड़ता। जीव तथा ईश्वर को केवल शरीर के आकार

(प्रमाप) के कारण पर विभेदित नहीं किया जा सकता। अत: इसका उत्तर इस पर निर्भर करता है कि भगवान् के शरीर का सामान्य जीव के शरीर की तुलना में विशिष्ट महत्त्व क्या है।

अजः सृजति भूतानि भूतात्मा यदनुग्रहात् ।
ददृशे येन तद्रूपं नाभि-पद्म-समुद्भवः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अजः—किसी भौतिक साधन के बिना जन्म लेने वाला; सृजति—सृष्टि करता है; भूतानि—जीवों को; भूत-आत्मा—पदार्थ से बने शरीर वाले; यत्—जिसकी; अनुग्रहात्—कृपा से; ददृशे—देख सके; येन—जिसके द्वारा; तत्-रूपम्—उसके शरीर का स्वरूप; नाभि—नाभि से; पद्म—कमल का फूल; समुद्भवः—उत्पन्न।

ब्रह्माजी जो किसी भौतिक स्रोत से नहीं, अपितु भगवान् की नाभि से प्रकट होने वाले कमल के फूल से उत्पन्न हुए है, वे उन सबके स्रष्टा हैं, जो इस संसार में जन्म लेते हैं। निस्सन्देह भगवत्कृपा से ही ब्रह्माजी भगवान् के स्वरूप को देख सके।

तात्पर्य : ब्रह्मा प्रथम सजीव प्राणी हैं, जो *अजः* कहलाते हैं, क्योंकि उन्होंने भौतिक संसार में उत्पन्न किसी माता के गर्भ से जन्म नहीं लिया। वे भगवान् के कमल-पुष्प के शारीरिक विस्तार से सीधे प्रकट हुए थे। इस प्रकार यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि भगवान् तथा ब्रह्मा के शरीर एक ही तरह के हैं या भिन्न-भिन्न। इसे भी अच्छी तरह समझ लेना होगा। किन्तु एक बात जो निश्चित है, वह यह है कि ब्रह्माजी श्रीभगवान् की कृपा पर पूर्णत: आश्रित थे, क्योंकि जन्म के पश्चात् वे भगवान् की कृपा से ही जीवों को उत्पन्न कर सके थे और भगवान् का दर्शन कर सके थे। किन्तु उन्होंने भगवान् के जिस रूप को देखा था, वह ब्रह्मा जैसे गुण वाला था या नहीं, यह चकराने वाला प्रश्न है। इसीलिए महाराज परीक्षित इसके उत्तर को श्रील शुकदेव गोस्वामी से स्पष्ट कर लेना चाहते थे।

स चापि यत्र पुरुषो विश्व-स्थित्युद्भवाप्ययः ।
मुक्त्वात्म-मायां मायेशः शेते सर्व-गुहाशयः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सः—वह; च—भी; अपि—जैसाकि वह है; यत्र—जहाँ; पुरुषः—भगवान्; विश्व—संसार; स्थिति—पालन; उद्भव—सृष्टि; अप्ययः—संहार; मुक्त्वा—बिना स्पर्श किये; आत्म-मायाम्—अपनी शक्ति; माया-ईशः—समस्त शक्तियों का स्वामी; शेते—शयन करता है; सर्व-गुहा-शयः—प्रत्येक हृदय में स्थित रहने वाला।

कृपया उन भगवान् के विषय में भी बताएँ जो प्रत्येक हृदय में परमात्मा और समस्त शक्तियों

के स्वामी के रूप में स्थित हैं, किन्तु जिनकी बहिरंगा शक्ति उनका स्पर्श तक नहीं कर पाती।

तात्पर्य : निश्चित रूप से, ब्रह्मा ने भगवान् के जिस रूप को देखा था वह दिव्य रहा होगा, अन्यथा वे बिना स्पर्श किये सृजनात्मक शक्ति पर किस प्रकार निर्भर रहे होते? ऐसा ज्ञात है कि वही पुरुष प्रत्येक जीवात्मा के हृदय में स्थित है। इसकी भी समुचित व्याख्या होनी चाहिए।

पुरुषावयवैर्लोकाः सपालाः पूर्व-कल्पिताः ।
लोकैरमुष्यावयवाः स-पालैरिति शुश्रुम ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

पुरुष—विराट पुरुष; अवयवैः—शरीर के विभिन्न भागों से; लोकाः—समस्त लोक; स-पालाः—अपने-अपने पालकों सहित; पूर्व—पहले; कल्पिताः—विवेचित; लोकैः—विभिन्न लोकों द्वारा; अमुष्य—उसके; अवयवाः—शरीर के विभिन्न अंग; स-पालैः—पालकों सहित; इति—इस प्रकार; शुश्रुम—मैंने सुना है।

हे विद्वान ब्राह्मण, इसके पूर्व व्याख्या की गई थी कि ब्रह्माण्ड के समस्त लोक अपने-अपने लोकपालकों सहित विराट पुरुष के विराट शरीर के विभिन्न अंगों में ही स्थित हैं। मैंने भी यह सुना है कि विभिन्न लोकमंडल विराट पुरुष के विराट शरीर में स्थित माने जाते हैं। किन्तु उनकी वास्तविक स्थिति क्या है? कृपा करके मुझे समझाइये।

यावान् कल्पोविकल्पो वा यथा कालोऽनुमीयते ।
भूत-भव्य-भवच्छब्द आयुर्मानं च यत् सतः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यावान्—जिस रूप में; कल्पः—सृष्टि तथा प्रलय के बीच की अवधि; विकल्पः—गौण सृष्टि तथा प्रलय; वा—अथवा; यथा—और भी; कालः—समय; अनुमीयते—मापा जाता है; भूत—विगत; भव्य—भविष्य; भवत्—वर्तमान; शब्दः—शब्द; आयुः—जीवन अवधि, उम्र; मानम्—माप; च—भी; यत्—जो; सतः—समस्त लोकों के जीवों का।

कृपा करके सृष्टि तथा प्रलय के मध्य की अवधि (कल्प) तथा अन्य गौण सृष्टियों (विकल्प) एवं भूत, वर्तमान तथा भविष्य शब्द से सूचित होने वाले काल के विषय में भी मुझे बताएँ। साथ ही, ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों के विभिन्न जीवों यथा देवों, मनुष्यों इत्यादि की आयु की अवधि के विषय में भी मुझे बताएँ।

तात्पर्य : भूत, वर्तमान तथा भविष्य, ये काल के विभिन्न अंश हैं जिनसे इस ब्रह्माण्ड पर तथा इसकी सारी की सारी साज-सामग्री में से, जिसमें विभिन्न लोकों के प्राणी सम्मिलित हैं, जीवन की

अवधि (आयु) सूचित होती है।

कालस्यानुगतिर्या तु लक्ष्यतेऽण्वी बृहत्यपि ।
यावत्यः कर्म-गतयो यादृशीर्द्विज-सत्तम ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

कालस्य—शाश्वत काल का; अनुगतिः—प्रारम्भ; या तु—वे जिस रूप में; लक्ष्यते—अनुभव किये जाते हैं; अण्वी—लघु; बृहती—विशाल; अपि—भी; यावत्यः—जब तक; कर्म-गतयः—कर्म के अनुसार; यादृशीः—जिस प्रकार की; द्विज-सत्तम—हे ब्राह्मणों में शुद्धतम।

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, कृपा करके मुझे काल की लघु तथा दीर्घ अवधियों एवं कर्म की प्रक्रिया के क्रम में काल के शुभारम्भ के विषय में भी बतलाएँ।

यस्मिन् कर्म-समावायो यथा येनोपगृह्यते ।
गुणानां गुणिनां चैव परिणाममभीप्सताम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; कर्म—कर्म; समावायः—संग्रह; यथा—जहाँ तक; येन—जिससे; उपगृह्यते—ग्रहण करता है; गुणानाम्—विभिन्न गुणों का; गुणिनाम्—जीवों का; च—भी; एव—निश्चय ही; परिणामम्—बची हुई, शेष; अभीप्सताम्—आकांक्षाओं का।

इसके आगे आप कृपा करके बताएँ कि किस प्रकार भौतिक प्रकृति के विभिन्न गुणों से उत्पन्न फलों का आनुपातिक संचय इच्छा करनेवाले जीव पर अपना प्रभाव दिखाते हुए उसे विभिन्न योनियों में—देवताओं से लेकर अत्यन्त क्षुद्र प्राणियों तक को—ऊपर उठाता या नीचे गिराता है।

तात्पर्य : प्रकृति के भौतिक गुणों में समस्त कर्म और कर्मफल, लघु रुप में अथवा बृहद् रुप में, संचित होते रहते हैं और इस प्रकार इन संचित कर्मों के फल उसी अनुपात में प्रकट होते हैं। महाराज परीक्षित ब्राह्मणश्रेष्ठ शुकदेव गोस्वामी से पूछते हैं कि ये कर्म तथा उनके फल किस प्रकार घटित होते हैं, इसके लिए कौन सी विभिन्न विधियाँ हैं और वे किस अनुपात में कार्यशील होते हैं ?

उच्च लोक, जिन्हें स्वर्ग के देवों का धाम कहते हैं, अन्तरिक्षयान के बल पर नहीं (जैसी कि अब अनुभवहीन वैज्ञानिकों द्वारा कल्पना की जाती है), अपितु सात्विक कर्मों से प्राप्त किये जाते हैं।

जिस लोक में हम अब रह रहे हैं उसमें भी जिस देश के लोग समृद्ध हैं उसके भीतर विदेशियों का

प्रवेश प्रतिबन्धित है। उदाहरणार्थ, अमरीकी सरकार ने कम समृद्ध देशों से आने वाले विदेशियों के प्रवेश में अनेक प्रतिबन्ध लगा रखे हैं। इसका कारण यह है कि अमरीकी ऐसे किसी विदेशी के साथ अपनी सम्पन्नता में साझेदार नहीं बनना चाहते, जिन्होंने अपने आप को अमरीका के नागरिकों की भाँति योग्य नहीं बनाया है। यही मनोवृत्ति उन लोकों में पाई जाती है जहाँ के निवासी अधिक बुद्धिमान हैं। उच्च लोकों का रहन-सहन सतोगुणी है, अत: जो भी चन्द्र, सूर्य तथा शुक्र जैसे उच्चतर लोकों में प्रवेश करना चाहता है उसे सतोगुणी कर्मों द्वारा पूर्ण रूप से योग्य होना चाहिए।

महाराज परीक्षित के प्रश्न सतोगुणी कर्मों के अनुपात पर आधारित हैं जिनके कारण इस लोक का प्राणी ब्रह्माण्ड के उच्चतम लोकों में जाने के योग्य हो सकता है।

जिस लोक में हम रह रहे हैं उसमें भी जब तक कोई आनुपातिक रुप से उत्तम कर्म नहीं करता तब तक उसे समाज में अच्छा स्थान प्राप्त नहीं होता। कोई व्यक्ति उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति की कुर्सी पर बिना उस पद के लिए योग्यता के बल-प्रयोग से नहीं बैठ सकता। इसी प्रकार जब तक इस जीवन में उत्तम कर्म नहीं किये जाते, तब तक उच्चतर लोकों में प्रविष्ट नहीं हुआ जा सकता। रजो तथा तमोगुणी व्यक्ति केवल इलेक्ट्रानिक यंत्रो के बल से उच्च लोकों में प्रवेश नहीं कर सकते।

भगवद्गीता (९.२५), के कथन के अनुसार जो लोग उच्चतर लोकों में जाने के लिए अपने को योग्य बनाते हैं, वे वहाँ पहुँच सकते हैं; इसी प्रकार जो लोग पितृलोक जाना चाहते हैं, वे वहाँ जा सकते हैं। ठीक इसी प्रकार से, इस पृथ्वी पर रह कर जो दशा सुधारना चाहते हैं, वे ऐसा कर सकते हैं और जो लोग भगवान् के धाम जाने के काम में लगे हैं, वे वैसा परिणाम पा सकते हैं। सतोगुण में सम्पन्न समस्त कर्म, भक्तियुक्त शुभ कर्म, भक्तियुक्त ज्ञान का अनुशीलन, भक्तियुक्त योग तथा (अन्त में) नितान्त शुद्ध भक्ति के नाम से जाने जाते हैं। यह शुद्ध भक्ति दिव्य होती है और परा भक्ति कहलाती है। केवल इसी के द्वारा ईश्वर के दिव्य धाम को पाया जा सकता है। ऐसा दिव्य धाम कोई पौराणिक कल्पना नहीं है, अपितु उतना ही वास्तविक है जितना कि चन्द्रमा। ईश्वर तथा ईश्वर के धाम को समझने के लिए मनुष्य में दिव्य गुण होने चाहिए।

भू-पाताल-ककुब्व्योम-ग्रह-नक्षत्र-भूभृताम् ।
सरित्समुद्र-द्वीपानां सम्भवश्चैतदोकसाम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

भू-पाताल—भूमि के नीचे; ककुप्—स्वर्ग की चारों दिशाएँ; व्योम—आकाश; ग्रह—लोक, ग्रह; नक्षत्र—तारे; भूभृताम्—पर्वतों का; सरित्—नदी; समुद्र—समुद्र; द्वीपानाम्—द्वीपों की; सम्भवः—उत्पत्ति; च—भी; एतत्—उनके; ओकसाम्—निवासियों का।

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, कृपा करके यह भी बताएँ कि ब्रह्माण्ड भर के गोलकों, स्वर्ग की चारों दिशाओं, आकाश, ग्रहों, नक्षत्रों, पर्वतों, नदियों, समुद्रों तथा द्वीपों एवं इन सबके विविध प्रकार के निवासियों की उत्पत्ति किस प्रकार होती है?

तात्पर्य : विभिन्न किस्म के भूभागों इत्यादि के वासी भिन्न प्रकार से स्थित होते हैं और वे सभी मामलों में एकसमान नहीं होते। स्थल के वासी जल या आकाश के वासियों से भिन्न होते हैं। इसी प्रकार विभिन्न ग्रहों तथा आकाश के नक्षत्रों के वासी भी एक दूसरे से भिन्न होते हैं। ईश्वरीय नियम के अनुसार, कोई भी स्थान रिक्त नहीं है, किन्तु एक स्थान के वासी दूसरे से भिन्न होते हैं। यहाँ तक कि मानव समाज में भी जंगलों अथवा मरुस्थलों के वासी, ग्रामों तथा नगरों के वासियों से भिन्न होते हैं। ऐसे वे प्रकृति के विभिन्न गुणों के अनुसार निर्मित होते हैं। प्रकृति के नियमों का यह समंजन अंधाधुंध नहीं होता। इस व्यवस्था के पीछे विशाल आयोजन होता है। महाराज परीक्षित इन सब बातों को प्रामाणिक रीति से महामुनि श्रील शुकदेव गोस्वामी से जानने की प्रार्थना करते हैं।

प्रमाणमण्ड-कोशस्य बाह्याभ्यन्तर-भेदतः ।
महतां चानुचरितं वर्णाश्रम-विनिश्चयः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

प्रमाणम्—विस्तार तथा माप; अण्ड-कोशस्य—ब्रह्माण्ड का; बाह्य—बाहरी अवकाश; अभ्यन्तर—आन्तरिक अवकाश; भेदतः—के विभाग में; महताम्—महापुरुषों का; च—भी; अनुचरितम्—चरित्र तथा कार्य; वर्ण—जातियाँ; आश्रम—जीवन के चार आश्रम; विनिश्चयः—विशेष रूप से वर्णन करें।

साथ ही कृपा करके ब्रह्माण्ड के बाहरी तथा भीतरी विशिष्ट विभागों, महापुरुषों के चरित्र तथा कार्यों और विभिन्न वर्णों एवं जीवन के चारों आश्रमों के वर्णीकरण का भी वर्णन करें।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित भगवान् श्रीकृष्ण के विलक्षण भक्त हैं, अतः वे भगवान् की सृष्टि की सम्पूर्ण महत्ता को जानने के इच्छुक हैं। वे ब्रह्माण्ड के आन्तरिक तथा बाहरी अवकाश के विषय में

जानना चाहते हैं। ज्ञान के वास्तविक खोजी के लिए इस विषय में पूरी तरह जानना सर्वथा उपयुक्त है। जिनका यह मत है कि भगवद्भक्त मात्र भावनाओं से सन्तुष्ट हो जाते हैं, वे महाराज परीक्षित की जिज्ञासाओं से यह देख सकते हैं कि विशुद्ध भक्त वस्तुओं को पूरी तरह जानने के लिए कितने उत्सुक रहते हैं। आधुनिक विज्ञानी जब ब्रह्माण्ड-अन्तरिक्ष के आन्तरिक अवकाश के विषय में जान पाने में अक्षम हैं, तो फिर ब्रह्माण्ड को आच्छादित करने वाले अन्तरिक्ष (अवकाश) के विषय में क्या कहा जा सकता है ?

महाराज परीक्षित मात्र भौतिक ज्ञान से तुष्ट होने वाले नहीं हैं। वे भगवद्-भक्तों या महापुरुषों के चरित्र तथा कार्यों के विषय में जानने की उत्सुकता प्रकट करते हैं। भगवान् की महिमा तथा उनके भक्तों की महिमा से मिलकर *श्रीमद्भागवत* का पूर्ण ज्ञान बना है। श्रीकृष्ण ने अपनी माँ को अपने मुख के भीतर सारा ब्रह्माण्ड दिखलाया, किन्तु उनकी माँ अपने पुत्र-प्रेम से पूर्ण रूप से मुग्ध होने के कारण यह देखना चाह रही थीं कि उन्होंने मुँह के भीतर कितनी मिट्टी खाई है। किन्तु भगवत्कृपा से भक्त लोग भगवान् के मुख के भीतर ही ब्रह्माण्ड की सारी वस्तुएँ देखने में सक्षम होते हैं।

मानव समाज का चार वर्णों तथा चार आश्रमों में जैसा वैज्ञानिक विभाजन हुआ, उसके सम्बन्ध में भी यहाँ पर वैयक्तिक गुणत्व के आधार पर जिज्ञासा व्यक्त की गई है। ये चार विभाग मनुष्य के निजी शरीर के चार भागों के ही समान हैं। शरीर के अंग शरीर से अभिन्न होकर भी स्वयं में अंग मात्र होते हैं। चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों की वैज्ञानिक प्रणाली की यही विशिष्टता है। मानव समाज के ऐसे वैज्ञानिक विभाजन की महत्ता भगवान् की भक्ति के आनुपातिक विकास द्वारा आँकी जा सकती है। सरकारी नौकरी में रत कोई भी व्यक्ति, जिसमें राष्ट्रपति भी सम्मिलित है, सम्पूर्ण सरकार का अंग होता है। प्रत्येक व्यक्ति सरकारी कर्मचारी है, किन्तु इनमें से कोई भी सरकार नहीं है। परमेश्वर के राज्य में जीवात्माओं की ठीक यही स्थिति है। कोई भी व्यक्ति कृत्रिम रूप से भगवान् के परमपद का अधिकारी नहीं बन सकता, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति परमेश्वर की सेवा के निमित्त है।

युगानि युग-मानं च धर्मो यश्च युगे युगे ।
अवतारानुचरितं यदाश्चर्यतमं हरेः ॥ १७॥

शब्दार्थ

युगानि—विभिन्न युग; युग-मानम्—प्रत्येक युग की अवधि; च—भी; धर्मः—विशिष्ट कार्य; यः च—तथा जो; युगे युगे—प्रत्येक युग में; अवतार—अवतार; अनुचरितम्—तथा अवतार के कार्य; यत्—जो; आश्चर्यतमम्—सर्वाधिक अद्‌भुत कार्य; हरेः—परमेश्वर का।

कृपा करके सृष्टि के विभिन्न युगों तथा उन सबकी अवधियों का वर्णन कीजिये। मुझे विभिन्न युगों में भगवान् के विभिन्न अवतारों के कार्य-कलापों के विषय में भी बताइये।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण आदि भगवान् हैं और परमेश्वर के समस्त अवतार उनसे अभिन्न होते हुए भी उन्हीं से उद्‌भूत हैं। महाराज परीक्षित ने परम विद्वान एवं महामुनि शुकदेव गोस्वामी से ऐसे अवतारों के कार्यकलापों के विषय में पूछा जिससे भगवान् के अवतार की पुष्टि प्रामाणिक शास्त्रों में उल्लिखित उनके कार्यकलापों के आधार पर की जा सके। महाराज परीक्षित सामान्य मनुष्य की विचारधारा में बहकर भगवान् के अवतार को आसानी से स्वीकार करने वाले जीव न थे, अपितु वे वैदिक साहित्य में वर्णित और श्रील शुकदेव गोस्वामी जैसे आचार्य द्वारा पुष्ट लक्षणों के आधार पर ही उसे स्वीकार करना चाहते थे। भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति से प्राकृतिक नियमों की किसी अनिवार्यता के बिना अवतरित होते हैं; फलतः उनके कार्यकलाप भी असामान्य होते हैं। भगवान् के विशिष्ट कार्यकलाप उल्लिखित हैं और हमें यह जान लेना होगा कि भगवान् के कार्यकलाप तथा स्वयं भगवान् एक हैं क्योंकि वे परम स्तर पर स्थित हैं। अतः भगवान् के कार्यकलापों के विषय में सुनने का अर्थ है भगवान् की प्रत्यक्ष संगति करना और भगवान् की प्रत्यक्ष संगति का अर्थ है भौतिक कल्मष से शुद्धि। इसकी विवेचना हम पिछले खण्ड में कर चुके हैं।

नृणां साधारणो धर्मः सविशेषश्च यादृशः ।
श्रेणीनां राजर्षीणां च धर्मः कृच्छ्रेषु जीवताम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

नृणाम्—मानव समाज का; साधारणः—सामान्य; धर्मः—धार्मिक सम्पर्क-सूत्र; स-विशेषः—विशिष्ट; च—भी; यादृशः—वे जिस प्रकार से हैं; श्रेणीनाम्—तीन वर्णों के; राजर्षीणाम्—राजर्षि का; च—भी; धर्मः—धर्म; कृच्छ्रेषु—दुखी अवस्था (विपत्ति) में; जीवताम्—जीवों का।

कृपा करके यह भी बताइये कि मानव समाज के सामान्य धार्मिक सम्पर्क सूत्र क्या हों, धर्म में उनके विशिष्ट कर्तव्य क्या हों, सामाजिक व्यवस्था तथा प्रशासकीय राजकीय व्यवस्था का वर्गीकरण तथा विपत्तिग्रस्त मनुष्य का धर्म क्या हो?

तात्पर्य : मनुष्यों की सभी श्रेणियों का, चाहे वे कोई या कुछ भी हों, सामान्य धर्म भक्तिमय सेवा है। यहाँ तक कि भगवद्भक्ति में पशुओं को भी सम्मिलित किया जा सकता है और इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण भगवान् श्रीराम के भक्त बजरंगबली या हनुमान जी द्वारा प्रस्तुत हुआ है। हम पहले ही कह चुके हैं कि यदि भगवान् के असली भक्त का पथ प्रदर्शन प्राप्त हो, तो आदिवासी तथा मानवभक्षी लोग भी भगवान् की भक्ति में लग सकते हैं। *स्कन्द पुराण* में एक कथा है कि एक बहेलिया श्री नारदमुनि के प्रभाव से किस प्रकार भगवान् का भक्त बन गया। अत: भगवद्भक्ति प्रत्येक जीव द्वारा समान रूप से भोग्य है।

विभिन्न देशों में विभिन्न सांस्कृतिक परिस्थितियों में जो धार्मिक लगाव होता है, वह स्पष्टत: मानव का सामान्य धर्म नहीं हैं, अपितु मूल सिद्धान्त भक्तिमय सेवा है। यदि कोई धर्म परमेश्वर की श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं भी करता तो भी किसी विशेष नेता द्वारा निर्दिष्ट आनुशासनिक नियमों का पालन करना होता है। धार्मिक सम्प्रदाय का ऐसा नेता कभी भी सर्वश्रेष्ठ नहीं होता, क्योंकि ऐसा नेता अपने पद पर किसी तपस्या के माध्यम से आता है। किन्तु नेता बनने के लिए भगवान् को ऐसे आनुशासनिक कार्य नहीं करने पड़ते जैसाकि हम भगवान् श्रीकृष्ण के क्रिया-कलापों में देखते हैं।

समाज की जातियों तथा आश्रमों के कर्तव्य जीविका के नियमों पर आधारित होते हुए भक्ति सिद्धान्तों पर भी निर्भर करते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि मनुष्य अपने कर्मों के फल को भगवान् की भक्ति में अर्पित करने मात्र से जीवन की परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। भगवान् की भक्ति करने वाला कभी कष्ट नहीं भोगता, अत: *आपद्-धर्म* का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जैसाकि परम अधिकारी श्रील शुकदेव गोस्वामी द्वारा इस ग्रन्थ में बताया जाएगा, भगवद्भक्ति के अतिरिक्त कोई अन्य धर्म नहीं है, भले ही वह विभिन्न रूपों में प्रकट क्यों न हो।

तत्त्वानां परिसङ्ख्यानं लक्षणं हेतु-लक्षणम् ।
पुरुषाराधन-विधिर्योगस्याध्यात्मिकस्य च ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तत्त्वानाम्—सृष्टि को निर्मित करने वाले तत्त्वों की; परिसङ्ख्यानम्—संख्या का; लक्षणम्—लक्षण; हेतु-लक्षणम्—कारणों के लक्षण; पुरुष—भगवान् के; आराधन—भक्ति का; विधि:—विधि-विधान; योगस्य—योग पद्धति का; अध्यात्मिकस्य—भक्ति तक पहुँचाने वाली आध्यात्मिक विधियाँ; च—भी।

कृपा करके सृष्टि के तत्त्वमूलक सिद्धान्तों, इन सिद्धान्तों की संख्या, इनके कारणों तथा इनके विकास और इनके साथ-साथ भक्ति की विधि तथा योगशक्तियों की विधि के विषय में भी बताइये।

योगेश्वरैश्वर्य-गतिर्लिङ्ग-भङ्गस्तु योगिनाम् ।
वेदोपवेद-धर्माणामितिहास-पुराणयोः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

योग-ईश्वर—योग शक्तियों के स्वामी का; ऐश्वर्य—ऐश्वर्य; गतिः—प्रगति; लिङ्ग—सूक्ष्म शरीर; भङ्गः—विरक्ति; तु—लेकिन; योगिनाम्—योगियों का; वेद—दिव्य ज्ञान; उपवेद—वेदों का अप्रत्यक्ष ज्ञान; धर्माणाम्—धर्मशास्त्रों का; इतिहास—इतिहास; पुराणयोः—पुराणों का।

महान् योगियों के ऐश्वर्य क्या हैं और उनकी परम गति क्या है? पूर्ण योगी किस प्रकार सूक्ष्म शरीर से विरक्त होता है? इतिहास की शाखाओं तथा पूरक पुराणों समेत वैदिक साहित्य का मूलभूत ज्ञान क्या है?

तात्पर्य : योगेश्वर आठ प्रकार की सिद्धियाँ प्रदर्शित कर सकता है, जिनमें परमाणु से भी सूक्ष्म बनना या पंख से भी हल्का होना, इच्छानुसार वस्तु को प्राप्त करना और जहाँ भी इच्छा हो चले जाना, आकाश में किसी लोक का निर्माण करना इत्यादि कृत्य सम्मिलित हैं। ऐसे अनेक योगेश्वर हैं, जो ऐसी भिन्न-भिन्न सिद्धियों में दक्ष होते हैं, किन्तु इनमें से सर्वश्रेष्ठ हैं शिवजी। शिवजी सर्वश्रेष्ठ योगी हैं और सामान्य जीवों से कहीं बढ़कर अद्‌भुत कार्य करने वाले हैं। भगवद्‌भक्त योग शक्तियों का प्रत्यक्ष रूप से अभ्यास नहीं करते, किन्तु भगवत्कृपा से वे दुर्वासा मुनि जैसे महान् योगेश्वर को परास्त कर सकते हैं, जो महाराज अम्बरीष से झगड़ा मोल लेकर उन्हें अपनी योगशक्ति की अद्‌भुत उपलब्धियाँ दिखाना चाहते थे। महाराज अम्बरीष भगवान् के शुद्ध भक्त थे, अतः भगवान् ने अम्बरीष महाराज द्वारा किसी प्रयास के बिना ही उन्हें योगेश्वर दुर्वासा मुनि के रोष से बचा लिया और मुनि को राजा से क्षमा माँगनी पड़ी। इसी प्रकार जब द्रौपदी को कुरु लोग मिलकर भरी सभा में नग्न करके देखना चाह रहे थे, तो भगवान् ने इस संकट की घड़ी में अशेष साड़ी प्रदान करके रक्षा की थी और द्रोपदी को तो किसी योगशक्ति का ज्ञान भी नहीं था। अतः भगवान् की असीम शक्ति के बल पर भक्त भी योगेश्वर होते हैं, ठीक उसी तरह जिस प्रकार बालक अपने माता-पिता की शक्ति से शक्तिशाली बनता है। वे किसी

कृत्रिम उपाय से अपनी रक्षा नहीं करते, किन्तु माता-पिता के अनुग्रह से बच जाते हैं।

महाराज परीक्षित ने ब्राह्मणश्रेष्ठ शुकदेव गोस्वामी से ऐसे महान् योगियों के परम गन्तव्य के विषय में अथवा वे जिस प्रकार अपने प्रयासों से या भगवत्कृपा से ऐसी अद्वितीय शक्तियाँ प्राप्त करते हैं, उसके विषय में भी प्रश्न किये। उन्होंने सूक्ष्म तथा स्थूल भौतिक शरीर से उनकी विरक्ति के विषय में भी प्रश्न किये। उन्होंने वैदिक ज्ञान के सार के विषय में भी जिज्ञासा प्रकट की। जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है, समस्त वेदों का सार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को जानना और इस प्रकार भगवान् का दिव्यरुप प्रिय दास बनना है।

सम्प्लवः सर्व-भूतानां विक्रमः प्रतिसङ्क्रमः ।
इष्टा-पूर्तस्य काम्यानां त्रि-वर्गस्य च यो विधिः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सम्प्लवः—पूर्ण विनाश, सम्यक साधन; सर्व-भूतानाम्—समस्त जीवों का; विक्रमः—विशिष्ट शक्ति या स्थिति; प्रतिसङ्क्रमः—चरम विनाश; इष्टा—वैदिक अनुष्ठानों का सम्पन्न किया जाना; पूर्तस्य—धर्म के पवित्र कार्य; काम्यानाम्—आर्थिक विकास के हेतु अनुष्ठान; त्रि-वर्गस्य—धर्म, अर्थ तथा काम ये तीन साधन; च—भी; यः—जो भी; विधिः—विधियाँ।

कृपा करके मुझे बताइये कि जीवों की उत्पत्ति, पालन और उनका संहार किस प्रकार होता है? भगवान् की भक्तिमय सेवा करने से जो लाभ तथा हानियाँ होती हैं, उन्हें भी समझाइये। वैदिक अनुष्ठान तथा उपवैदिक धार्मिक कृत्यों के आदेश क्या हैं? धर्म, अर्थ तथा काम के साधनों की विधियाँ क्या हैं?

तात्पर्य : *सम्प्लवः "सम्यक साधन"* के अर्थ में भक्ति करने के लिए प्रयुक्त होता है जब कि *प्रतिसम्प्लवः* इसके बिल्कुल विपरीत है और भक्ति की प्रगति को विनष्ट करने वाले का द्योतक है। जो व्यक्ति भगवान की भक्तिमय सेवा में दृढ़तापूर्वक स्थित है, वह सरलतापूर्वक बद्ध जीवन बिता सकता है। बद्ध जीवन-बिताना समुद्र के बीच में नाव के खेने जैसा है। इसमें मनुष्य को समुद्र की कृपा पर आश्रित रहना पड़ता है, क्योंकि किसी भी क्षण, थोड़े से विक्षोभ से, नाव डूब सकती है। हाँ, यदि मौसम अच्छा रहा तो निस्संदेह नाव सरलता से चलती रहती है, किन्तु यदि थोड़ा भी तूफान, कुहरा, झंझा या बादल रहा, तो नाव किसी भी क्षण डूब सकती है। कोई कितना ही साधनसम्पन्न क्यों न हो, वह समुद्र की तरंग को नियन्त्रित नहीं कर सकता। जिन्होंने जलयानों के द्वारा समुद्र पार किया है उन्हें

समुद्र की कृपा पर निर्भर रहने का पर्याप्त अनुभव होगा। किन्तु भगवत्कृपा से भवसागर को बिना झंझा या कुहरे के भय के सरलता से पार किया जा सकता है। यह सब भगवान् की इच्छा पर निर्भर करता है; यदि बद्ध जीवन में कोई दुर्भाग्यपूर्ण खतरा उत्पन्न हो जाए तो कोई कुछ नहीं कर सकता। किन्तु भगवान् के भक्त भव-सागर को चिन्तारहित होकर पार कर लेते हैं, क्योंकि भगवान् उनकी सदैव रक्षा करता है (*भगवद्गीता* ९.१३)। भगवान् अपने भक्तों के भौतिक बद्ध जीवन के कार्यकलापों की ओर विशेष ध्यान देते हैं (*भगवद्गीता* ९.२९)। अत: प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए और सब तरह से शुद्ध भक्त बनना चाहिए।

अत: मनुष्यों को सक्षम गुरु से उसी प्रकार यह जानना चाहिए कि भक्ति करने से क्या-क्या लाभ तथा हानियाँ हैं, जिस प्रकार श्रील शुकदेव गोस्वामी से महाराज परीक्षित ने पूछा था। *भक्ति रसामृत सिन्धु* के अनुसार मनुष्य को चाहिए कि शरीर तथा आत्मा के पोषण के लिए जितने भोजन की आवश्यकता हो, उतना ही खाए। मानव शरीर के निर्वाह के लिए दूध तथा शाकाहार पर्याप्त है, अत: स्वाद की पूर्ति हेतु इससे अधिक कुछ खाने की कोई आवश्यकता नहीं है। भौतिक जगत में अपने को बड़ा दिखाने के लिए धन का संग्रह नहीं करना चाहिए। ईमानदारी के साथ अपनी जीविका सुगमता से चलानी चाहिए, क्योंकि जोड़-तोड़ से समाज में बड़ा आदमी बनने की अपेक्षा ईमानदारी से कुली बन कर रहना श्रेयस्कर है। यदि कोई ईमानदारी से विश्व का सबसे बड़ा धनी पुरुष बनता है, तो कोई हर्ज नहीं, किन्तु केवल धन संग्रह के लिए जीविका कमाते समय ईमान बेचना उचित नहीं। इस प्रकार का प्रयत्न भक्ति में बाधक है। मनुष्य को ऊल-जुलूल नहीं बोलना चाहिए (प्रलाप नहीं करना चाहिए)। भक्त का कार्य तो भगवान् की कृपा प्राप्त करना है। अत: भक्त को सदैव ईश्वर की अद्भुत सृष्टि के लिए उनकी महिमा का वर्णन करना चाहिए। भक्त को ईश्वर की सृष्टि को यह कह कर नहीं नकारना चाहिए कि यह संसार झूठा (असत्य) है। यह संसार असत्य नहीं है। वस्तुत: हमें अपने पालन के लिए इस संसार से अनेक वस्तुएँ ग्रहण करनी होती हैं, अत: हम यह कैसे कह सकते हैं कि यह संसार असत्य है? इसी प्रकार हम यह कैसे कह सकते हैं कि ईश्वर का कोई रूप नहीं है? भला कोई निर्विशेष होकर समस्त बुद्धि तथा चेतना से किस प्रकार युक्त हो सकता है? अत: शुद्ध भक्त के जानने

के लिए अनेक बातें हैं और उन्हें शुकदेव गोस्वामी जैसे प्रामाणिक महापुरुष से सीखना चाहिए।

भक्तिमय सेवा करने के लिए उपयुक्त परिस्थिति यही है कि ईश्वर की सेवा अत्यन्त उत्साह के साथ की जाय। भगवान् ने अपने श्री चैतन्य महाप्रभु रूप में यह चाहा है कि सारे संसार के कोने-कोने में भक्ति-सम्प्रदाय का प्रचार किया जाय; अत: शुद्ध भक्त का परम कर्तव्य है कि जहाँ तक सम्भव हो, वह इस आदेश को पूरा करे। प्रत्येक भक्त को न केवल दैनिक भक्ति-अनुष्ठानों के प्रति उत्साह होना चाहिए, अपितु भगवान् चैतन्य के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए सम्प्रदाय का शान्तिपूर्वक प्रचार करना चाहिए। यदि उसे ऊपरी तौर पर इसमें सफलता नहीं मिलती तो उसे अपने कर्तव्य से विमुख नहीं होना चाहिए। शुद्ध भक्त के लिए सफलता-असफलता का कोई अर्थ नहीं होता, क्योंकि वह युद्ध-भूमि में सैनिक के समान होता है। भक्तिमय सेवा की विचारधारा का प्रचार ठीक कुछ-कुछ वैसा ही है जैसे कि भौतिक जीवन के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करना। भौतिकतावादी कई प्रकार के हैं—यथा सकामकर्मी, ज्ञानी, चमत्कारी योगी इत्यादि जैसे और भी। वे सभी ईश्वर के अस्तित्व के विरोधी हैं। वे अपने को ही ईश्वर घोषित करते हैं, भले ही वे पग-पग पर प्रत्येक कार्य के लिए ईश्वर की कृपा पर आश्रित क्यों न रहें। अत: शुद्ध भक्त को चाहिए कि इन नास्तिकों के गिरोहों का साथ न दे। भगवान् का सबल भक्त अभक्तों के ऐसे नास्तिकतावादी प्रचार से कभी गुमराह नहीं होता, किन्तु नवदीक्षित भक्त को इनसे बहुत सतर्क रहना चाहिए। भक्त को, प्रामाणिक गुरु के पथप्रदर्शन में ठीक से भक्ति करनी चाहिए, मात्र औपचारिकताओं से नहीं चिपके रहना चाहिए। प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में यह देखना चाहिए कि कितनी भक्तिमय सेवा की जा रही है, मात्र अनुष्ठान के सम्बन्ध में नहीं। भक्त को किसी वस्तु के पीछे नहीं दौड़ना चाहिए वरन् भगवान् की इच्छा से जो प्राप्त हो उसी से सन्तुष्ट रहना चाहिए। भक्तिमय जीवन का यही सिद्धान्त होना चाहिए। ऐसे सभी सिद्धान्त शुकदेव गोस्वामी जैसे गुरु के निर्देशन में सरलता से सीखे जा सकते हैं। महाराज परीक्षित ने शुकदेव जी से ठीक ही पूछा और मनुष्य को उनके इस उदाहरण का अनुकरण करना चाहिए।

महाराज परीक्षित ने संसार की उत्पत्ति, पालन तथा संहार, वैदिक अनुष्ठानों की विधि तथा पुराणों एवं *महाभारत* जैसे *उपवेदों* में वर्णित पवित्र कार्यों के करने की विधि के विषय में पूछा। जैसे कि पहले

व्याख्या की जा चुकी है, *महाभारत* प्राचीन भारत का इतिहास है और पुराण भी वैसे ही हैं। पुण्यकार्यों का उल्लेख *उपवेदों* (*स्मृतियों*) में हुआ है और इनमें सामान्य जनता को जल उपलब्ध कराने के लिए तालाब तथा कुएँ खोदने जैसे कार्य सम्मिलित हैं। सड़कों के किनारे वृक्ष लगाना, मन्दिर तथा ईश्वर की पूजा के स्थल बनवाना, निर्धनों को अन्न देने के लिए दान-केन्द्र खोलना तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य *पूर्त* कहलाते हैं।

इसी प्रकार राजा ने सभी के लाभ और इन्द्रियतुष्टि के लिए प्राकृतिक इच्छाओं की पूर्ति की विधि के विषय में जानने की भी जिज्ञासा प्रकट की।

यो वानुशायिनां सर्गः पाषण्डस्य च सम्भवः ।
आत्मनो बन्ध-मोक्षौ च व्यवस्थानं स्व-रूपतः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यः—जो सब; वा—अथवा; अनुशायिनाम्—भगवान् के शरीर में समाहित; सर्गः—सृष्टि; पाषण्डस्य—पाखंडियों का; च—तथा; सम्भवः—प्राकट्य; आत्मनः—जीवों का; बन्ध—बद्ध; मोक्षौ—मुक्त हुए; च—भी; व्यवस्थानम्—स्थित हुए; स्व-रूपतः—मुक्त अवस्था में।

कृपया यह भी समझाएँ कि भगवान् के शरीर में समाहित जीव किस प्रकार उत्पन्न होते हैं और पाखंडीजन किस तरह इस संसार में प्रकट होते हैं? यह भी बताएँ कि किस प्रकार अबद्ध जीवात्माएँ विद्यमान रहती हैं?

तात्पर्य : भगवान् के प्रगतिशील भक्त को प्रामाणिक गुरु से पूछना चाहिए कि सृष्टि के समय भगवान् के शरीर में समाहित जीवात्माएँ किस प्रकार वापस आती हैं। जीवात्माएँ दो प्रकार की होती हैं—नित्यमुक्त जीव तथा नित्यबद्ध जीव। नित्यबद्ध जीव के भी दो प्रकार हैं—आज्ञाकारी तथा अवज्ञाकारी। आज्ञाकारी जीव के पुनः दो भेद हैं—भक्त तथा चिन्तक। चिन्तक भगवान् के शरीर से तादात्म्य चाहते हैं जबकि भक्त अपनी पृथक् सत्ता बनाये रखकर भगवान् की सेवा में निरन्तर लगे रहना चाहते हैं। ऐसे भक्त जो पूर्ण रूप से शुद्ध नहीं होते तथा ज्ञानमार्गी दार्शनिक अगली सृष्टि में और अधिक शुद्धिकरण के लिए पुनः बद्ध हो जाते हैं। ऐसे बद्धजीव भगवान् की भक्ति में प्रगति के साथ मुक्त हो जाते हैं। महाराज परीक्षित ने ये सारे प्रश्न अपने गुरु से पूछे जिससे वह तत्त्व-ज्ञान में निष्णात हो सकें।

यथात्म-तन्त्रो भगवान् विक्रीडत्यात्म-मायया ।
विसृज्य वा यथा मायामुदास्ते साक्षिवद् विभुः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; आत्म-तन्त्रः—स्वतन्त्र; भगवान्—श्रीभगवान्; विक्रीडति—लीला करते हैं; आत्म-मायया—अपनी अन्तरंगा शक्ति से; विसृज्य—त्याग कर; वा—भी; यथा—वे जिस प्रकार चाहते हैं; मायाम्—बहिरंगा शक्ति; उदास्ते—रहता है; साक्षिवत्—साक्षी की तरह; विभुः—सर्वशक्तिमान।.

स्वतन्त्र भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति से अपनी लीलाओं का आस्वादन करते हैं और प्रलय के समय वे इन्हें बहिरंगा शक्ति को प्रदान कर देते हैं और स्वयं साक्षी रूप में बने रहते हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान होने तथा समस्त अन्य अवतारों के स्रोत होने के कारण वे ही एकमात्र स्वतन्त्र पुरुष हैं। वे अपनी इच्छानुसार सृष्टि द्वारा लीलाओं का आस्वादन करते हैं और प्रलय के समय इन्हें बहिरंगा शक्ति को प्रदान कर देते हैं। केवल अन्तरंगा शक्ति से ही वे पूतना का वध करते हैं, यद्यपि वे माता यशोदा की गोद में लीलाएँ करते हैं। जब वे इस संसार से प्रयाण करना चाहते हैं, तो वे अपने ही वंश (यदु-कुल) के संहार की लीला रचाते हैं और ऐसे विनाश से अप्रभावित बने रहते हैं। जो कुछ घटित हो रहा है, वे उसके साक्षी हैं, तो भी उससे उन्हें कुछ लेना-देना नहीं। वे सब प्रकार से स्वतन्त्र हैं। शुद्ध भक्त को यह सब अच्छी तरह जानना चाहिए इसीलिए महाराज परीक्षित ने पूरी तरह जान लेने की जिज्ञासा प्रकट की।

सर्वमेतच्च भगवन् पृच्छतो मेऽनुपूर्वशः ।
तत्त्वतोऽर्हस्युदाहर्तुं प्रपन्नाय महा-मुने ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

सर्वम्—ये सब; एतत्—प्रश्न; च—न पूछ सकने के कारण भी; भगवन्—हे ऋषि; पृच्छतः—जिज्ञासु का; मे—मैं स्वयं; अनुपूर्वशः—प्रारम्भ से; तत्त्वतः—सत्य के अनुसार; अर्हसि—कृपा करके बताएँ; उदाहर्तुम्—जैसे आप बताएँगे; प्रपन्नाय—घिरा हुआ; महा-मुने—हे ऋषि!.

हे भगवान् के प्रतिनिधिस्वरूप महर्षि, आप मेरी उन समस्त जिज्ञासाओं को जिनके विषय में मैंने आपसे प्रश्न किये हैं तथा उनके विषय में भी जिन्हें मैं जिज्ञासा करने के प्रारंभ से प्रस्तुत नहीं कर सका, उनके बारे में कृपाकरके जिज्ञासा शान्त कीजिये। चूँकि मैं आपकी शरण में आया हूँ, अतः मुझे इस सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान प्रदान करें।

तात्पर्य : गुरु अपने शिष्य को ज्ञान प्रदान करने के लिए सदैव उद्यत रहता है, विशेष रूप से तब जबकि शिष्य अत्यन्त उत्सुक हो। प्रगतिशील शिष्य के लिए उत्सुकता बनाए रखना अत्यावश्यक है। महाराज परीक्षित विलक्षण शिष्य थे, क्योंकि वे नितान्त उत्सुक थे। यदि कोई आत्म-साक्षात्कार के लिए अत्यधिक उत्सुक नहीं होता, तो केवल शिष्यता दिखाने के लिए गुरु के पास नहीं जाना चाहिए। महाराज परीक्षित न केवल जो कुछ उन्होंने पूछा है उसके विषय में जानने के उत्सुक हैं, वरन् जो कुछ वे नहीं पूछ पाये, उसके विषय में भी जानने के लिए उत्सुक हैं। वस्तुत: मनुष्य के लिए गुरु से हर एक बात पूछना संभव नहीं है, किन्तु प्रामाणिक गुरु सब प्रकार से शिष्य के लाभ हेतु उसे प्रकाश दे सकता है।

अत्र प्रमाणं हि भवान् परमेष्ठी यथात्म-भूः ।
अपरे चानुतिष्ठन्ति पूर्वेषां पूर्व-जैः कृतम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

अत्र—इस विषय में; प्रमाणम्—प्रमाण; हि—निश्चय ही; भवान्—आप; परमेष्ठी—ब्रह्मा, ब्रह्माण्ड का स्रष्टा; यथा—जिस प्रकार; आत्म-भूः—सीधे भगवान् से उत्पन्न; अपरे—अन्य लोग; च—केवल; अनुतिष्ठन्ति—केवल अनुकरण करने के लिए; पूर्वेषाम्—प्रथानुसार; पूर्व-जैः—पूर्ववर्ती दार्शनिक द्वारा सुझाया ज्ञान; कृतम्—किया हुआ।

हे महर्षि, आप आदि प्राणी ब्रह्मा के तुल्य हैं। अन्य लोग केवल प्रथा का पालन करते हैं जिस प्रकार पूर्ववर्ती दार्शनिक चिन्तक किया करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ यह दलील रखी जा सकती है कि शुकदेव गोस्वामी ही अध्यात्म सम्बन्धी पूर्णज्ञान के एकमात्र अधिकारी नहीं—अनेक अन्य मुनि तथा उनके अनुयायी भी अधिकारी हैं। व्यासदेव के समकालीन अथवा उनसे भी पूर्व अनेक महर्षि हुए हैं यथा गौतम, कणाद, जैमिनि, कपिल तथा अष्टावक्र और इन सभी ने अपने-अपने दार्शनिक मार्ग प्रस्तुत किये हैं। पतञ्जलि भी इनमें से एक हैं। इस प्रकार इन छहों ऋषियों की, आधुनिक दार्शनिकों तथा चिन्तकों के ही समान, अपनी-अपनी विचारधाराएँ हैं। श्रीशुकदेव गोस्वामी तथा उपर्युक्त छहों ऋषियों के दार्शनिक मार्गों में यही अन्तर है कि जहाँ छहों ऋषि अपने चिन्तन के अनुसार तथ्यों का वर्णन करते हैं, वहीं *श्रीमद्भागवत* में शुकदेव गोस्वामी प्रत्यक्ष ब्रह्मा से प्राप्त ज्ञान को प्रस्तुत करते हैं, जिन्हें *आत्मभू:* कहा जाता है अर्थात् वे जो सर्वशक्तिमान भगवान् से जन्मे हों और उन्हीं से शिक्षित किए हुए हों।

वैदिक दिव्य ज्ञान का अवतरण सीधे भगवान् से होता है। भगवत्कृपा से ब्रह्माण्ड के प्रथम जीव ब्रह्माजी को ज्ञान प्राप्त हुआ; ब्रह्मा से नारद को और नारद से व्यास को ज्ञान मिला। शुकदेव गोस्वामी ने इस दिव्य ज्ञान को सीधे अपने पिता व्यासदेव से प्राप्त किया। इस प्रकार शिष्य-परम्परा से प्राप्त ज्ञान परिपूर्ण है। जब तक कोई शिष्य-परम्परा से ज्ञान प्राप्त नहीं करता तब तक वह पूर्ण रूप से गुरु नहीं बन सकता। दिव्य ज्ञान प्राप्त करने का यही रहस्य है। भले ही उपर्युक्त छहों ऋषि महान् चिन्तक हों, किन्तु चिन्तन द्वारा प्राप्त उनका ज्ञान पूर्ण नहीं है। दार्शनिक मत प्रस्तुत करने में कोई ज्ञानमार्गी चाहे कितना ही पूर्ण क्यों न हो ऐसा ज्ञान कभी भी पूर्ण नहीं होता, क्योंकि वह अपूर्ण मस्तिष्क (मन) की उपज होता है। ऐसे ऋषियों की भी शिष्य-परम्पराएँ होती हैं, किन्तु ये प्रामाणिक नहीं होतीं, क्योंकि वे स्वतन्त्र, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् नारायण से प्राप्त नहीं हैं। नारायण के अतिरिक्त कोई भी स्वतन्त्र नहीं हो सकता, अत: किसी का भी ज्ञान पूर्ण नहीं है, क्योंकि हर एक का ज्ञान चलायमान मन (मस्तिष्क) पर आश्रित है। मन पदार्थ है, अत: भौतिक चिन्तकों द्वारा प्रस्तुत ज्ञान कभी भी दिव्य और पूर्ण नहीं हो सकता। संसारी दार्शनिक स्वयं अपूर्ण होने के कारण अन्य दार्शनिकों से मतभेद रखता है और संसारी दार्शनिक का कोई अपना सिद्धान्त न होने से वह दार्शनिक कभी नहीं कहा जा सकता। महाराज परीक्षित जैसे बुद्धिमान पुरुष इन चिन्तकों को नहीं मानते, चाहे वे कितने ही बड़े क्यों न हों। वे तो केवल शुकदेव गोस्वामी जैसे अधिकारी से सुनते हैं, जो परम्परा-पद्धति के द्वारा श्रीभगवान् से अभिन्न होते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* में विशेष बल के साथ कहा गया है।

न मेऽसवः परायन्ति ब्रह्मन्ननशनादमी ।
पिबतोऽच्युत-पीयूषम् तद् वाक्याब्धि-विनिःसृतम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; मे—मेरा; असवः—प्राण; परायन्ति—निकल सकता है; ब्रह्मन्—हे विद्वान ब्राह्मण; अनशनात् अमी—अनशन (उपवास) के कारण; पिबतः—पीने के कारण; अच्युत—न गिरने वाले; पीयूषम्—अमृत; तत्—तुम्हारे; वाक्य-अब्धि—वाणी रूपी सिन्धु से; विनिःसृतम्—निकलने वाला।

हे विद्वान ब्राह्मण, अच्युत भगवान् की कथा के अमृत का, जो आपकी वाणी रूपी समुद्र से बह रहा है, मेरे द्वारा पान करने से मुझे उपवास रखने के कारण किसी प्रकार की कमजोरी नहीं लग रही।

तात्पर्य : ब्रह्मा, नारद, व्यास तथा शुकदेव गोस्वामी की शिष्य-परम्परा अन्यों से विशेष रूप से भिन्न है। अन्य मुनियों की शिष्य-परम्पराएँ समय की बरबादी जैसी हैं, क्योंकि वे अच्युत कथा से विहीन हैं। कारण तथा तर्क के द्वारा चिन्तक अपने-अपने सिद्धान्तों को अच्छी तरह से प्रस्तुत कर सकते हैं, किन्तु ये कारण तथा तर्क अचूक नहीं होते, क्योंकि उनसे उत्तम अन्य चिन्तकों द्वारा वे परास्त कर दिये जाते हैं। महाराज परीक्षित को चंचल मन के शुष्क चिन्तन के प्रति तनिक भी रुचि नहीं थी, वे तो भगवद्‌कथा में रुचि रखते थे, क्योंकि उन्हें लगा कि शुकदेव गोस्वामी के मुख से ऐसी अमृतकथा सुनने के कारण उन्हें कमजोरी का अनुभव नहीं हो रहा था, यद्यपि वे आसन्न मृत्यु के कारण अनशन कर रहे थे।

कोई चाहे तो ऐसे चिन्तकों को सुन सकता है, किन्तु दीर्घकाल तक ऐसा नहीं चल पाता। मनुष्य ऐसे घिसे-पिटे चिन्तन को सुनकर शीघ्र ही ऊब उठेगा और संसार का कोई भी व्यक्ति ऐसे व्यर्थ के चिन्तन को सुनकर तुष्टि नहीं पाता। शुकदेव गोस्वामी जैसे महापुरुष से भगवान् की कथा सुनते हुए कोई थकेगा नहीं, भले ही अन्य कारणों से वह क्षीण क्यों न हो चुका हो।

श्रीमद्‌भागवत के कुछ संस्करणों में इस श्लोक की अन्तिम पंक्ति का पाठ इस प्रकार है—*अन्यत्र कुपिताद् द्विजात्* जिसका अर्थ है कि राजा सर्पदंश के कारण सन्निकट मृत्यु के विचार से भाव-विह्वल हो सकता है। सर्प भी द्विजन्मा होता है और इसका क्रोध अज्ञानी ब्राह्मण बालक के शाप के तुल्य माना जाता है। महाराज परीक्षित मृत्यु से बिल्कुल भयभीत नहीं थे, क्योंकि उन्हें भगवत्कथा से पूर्ण रूप से प्रेरणा प्राप्त हो चुकी थी। जो अच्युत कथा में पूर्ण रूप से निमग्न रहता है, वह इस जगत में किसी से भयभीत नहीं हो सकता।

सूत उवाच

स उपामन्त्रितो राज्ञा कथायामिति सत्पतेः ।
ब्रह्मरातो भृशं प्रीतो विष्णुरातेन संसदि ॥ २७॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्रील सूत गोस्वामी ने कहा; सः—वह (शुकदेव गोस्वामी); उपामन्त्रितः—इस प्रकार पूछे जाने पर; राज्ञा—राजा द्वारा; कथायाम्—कथाओं में; इति—इस प्रकार; सत्-पतेः—सर्वोच्च सत्य की; ब्रह्म-रातः—शुकदेव गोस्वामी; भृशम्—अत्यधिक; प्रीतः—प्रसन्न; विष्णु-रातेन—महाराज परीक्षित द्वारा; संसदि—सभा में।

सूत गोस्वामी ने कहा—महाराज परीक्षित द्वारा भक्तों से संबंधित भगवान् श्रीकृष्ण की कथाएँ कहने के लिए आमन्त्रित किये जाने पर शुकदेव गोस्वामी अत्यधिक प्रसन्न हुए।

तात्पर्य : नियमानुसार *श्रीमद्भागवत* की चर्चा केवल भगवद्भक्तों के बीच ही की जा सकती है। जिस प्रकार *भगवद्गीता* की आधिकारिक व्याख्या श्रीकृष्ण तथा अर्जुन (क्रमश: भगवान् तथा भक्त) के बीच हुई उसी प्रकार *श्रीमद्भागवत,* जो *भगवद्गीता* का स्नातकोत्तर अध्ययन है, की व्याख्या शुकदेव गोस्वामी तथा महाराज परीक्षित जैसे विद्वानों तथा भक्तों के बीच हो सकती है। अन्यथा अमृत का वास्तविक स्वाद नहीं चखा जा सकता। शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित से प्रसन्न थे, क्योंकि वे भगवान् की कथाएँ सुनने से तनिक भी नहीं ऊबे थे, अपितु वे उन्हें रुचिपूर्वक अधिकाधिक सुनना चाह रहे थे। मूर्ख व्याख्याकार वृथा ही *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* में अपना हाथ लगाते हैं, जबकि इन विषयों तक उनकी पैठ नहीं है। अभक्तों को इन दोनों सर्वश्रेष्ठ वैदिक ग्रन्थों में दखल देने से कोई लाभ नहीं मिलेगा, अत: शंकराचार्य ने *श्रीमद्भागवत* का भाष्य करने में हाथ नहीं लगाया। श्रीपाद शंकराचार्य ने, अपने *भगवद्गीता* के भाष्य में, श्रीकृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु बाद में उन्होंने निर्विशेषवादी दृष्टि से टीका की है। किन्तु अपनी स्थिति से अवगत होते हुए उन्होंने *श्रीमद्भागवत* की टीका नहीं की।

श्रील शुकदेव गोस्वामी को श्रीकृष्ण का प्रश्रय प्राप्त था (देखें ब्रह्मवैवर्त पुराण) इसीलिए उन्हें ब्रह्मरात कहा गया है। श्रीमान् परीक्षित महाराज को *विष्णुरात* कहा जाता है, क्योंकि उन्हें भगवान् विष्णु का संरक्षण प्राप्त था। भगवद्भक्त के रूप में वे भगवान् द्वारा सदैव संरक्षित रहते हैं। इस सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट है कि *विष्णुरात* को और किसी से न सुनकर *ब्रह्मरात* से ही *श्रीमद्भागवत* सुननी चाहिए, क्योंकि अन्य लोग दिव्य ज्ञान को ठीक से प्रस्तुत नहीं करते और इस तरह मूल्यवान समय को नष्ट करते हैं।

प्राह भागवतं नाम पुराणं ब्रह्म-सम्मितम् ।
ब्रह्मणे भगवत्प्रोक्तं ब्रह्म-कल्प उपागते ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

प्राह—कहा; भागवतम्—तत्त्वज्ञान; नाम—नामक; पुराणम्—उपवेद; ब्रह्म-सम्मितम्—वेदों के अनुकरण में; ब्रह्मणे—ब्रह्माजी से; भगवत्-प्रोक्तम्—भगवान् द्वारा कही गई; ब्रह्म-कल्पे—उस युग में जिसमें सर्वप्रथम ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई; उपागते—प्रारम्भ में ही।

उन्होंने महाराज परीक्षित के प्रश्नों का उत्तर देना यह कहकर प्रारम्भ किया कि इस तत्त्व ज्ञान को सर्वप्रथम स्वयं भगवान् ने ब्रह्मा से उनके जन्म के समय कहा। श्रीमद्भागवत उपवेद है और वेदों का ही अनुकरण करता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत तत्त्व*-ज्ञान (भगवान् का विज्ञान) है। इस महान् ज्ञान को न जानने के कारण निर्विशेषवादी सदैव भगवान् के सगुण रूप को ठीक से प्रस्तुत नहीं करते। *श्रीमद्भागवत* वेदों तथा तत्त्व-ज्ञान का ही अनुकरण है। इस ज्ञान को सीखने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह श्रील शुकदेव के प्रतिनिधि की शरण में जाय और महाराज परीक्षित के पदचिह्नों का अनुसरण करे। वह अज्ञानतावश इसकी व्याख्या का प्रयास करके भगवान् के चरणों के प्रति अपराध न करे। अभक्तों द्वारा हानिकारक ढंग से *श्रीमद्भागवत* की व्याख्या किये जाने से इसको समझने में काफी अराजकता उत्पन्न हुई है। जिज्ञासु को चाहिए कि यदि वह तत्त्व-ज्ञान जानने का इच्छुक हो तो वह इस ढंग से सतर्क रहे।

यद् यत् परीक्षिदृषभः पाण्डूनामनुपृच्छति ।
आनुपूर्व्येण तत्सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

यत् यत्—जो जो; परीक्षित्—राजा; ऋषभः—श्रेष्ठ; पाण्डूनाम्—पाण्डुवंश में; अनुपृच्छति—पूछते जाते; आनुपूर्व्येण—आदि से अन्त तक; तत्—वह सब; सर्वम्—पूर्णतः; आख्यातुम्—वर्णन करने के लिए; उपचक्रमे—अपने आपको तैयार किया।

उन्होंने अपने आपको राजा परीक्षित द्वारा जो कुछ पूछा गया था उसका उत्तर देने के लिए तैयार किया। महाराज परीक्षित पाण्डुवंश में सर्वश्रेष्ठ थे, अतः वे उचित व्यक्ति से उचित प्रश्न पूछने में समर्थ हुए।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित ने बातों को यथारुप में जानने के लिए अनेक प्रश्न पूछे जिनमें से कुछ अत्यन्त उत्सुकतापूर्ण थे, किन्तु गुरु के लिए आवश्यक नहीं कि वह उसी क्रम में उत्तर दे जिस क्रम में शिष्य प्रश्न पूछे। किन्तु शुकदेव गोस्वामी ने, अनुभवी शिक्षक होने के नाते, सभी प्रश्नों का उत्तर क्रमबद्ध रीति से दिया, जिस रूप में उन्हें ये शिष्य-परम्परा से प्राप्त हुए थे। उन्होंने सभी प्रश्नों के उत्तर दिए, किसी को छोड़ा नहीं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कंध के अन्तर्गत ''राजा परीक्षित द्वारा पूछे गये प्रश्न'' नामक अष्टम अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter नौ

श्रीभगवान् के वचन का उद्धरण देते हुए प्रश्नों के उत्तर

श्री-शुक उवाच

आत्म-मायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः ।
न घटेतार्थ-सम्बन्धः स्वप्न-द्रष्टुरिवाञ्जसा ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; आत्म—भगवान्; मायाम्—शक्ति; ऋते—बिना; राजन्—हे राजा; परस्य—शुद्ध आत्मा का; अनुभव-आत्मनः—विशुद्ध रूप से चेतन का; न—कभी नहीं; घटेत—इस प्रकार घटित होता है; अर्थ—अभिप्राय; सम्बन्धः—भौतिक शरीर के साथ सम्बन्ध; स्वप्न—सपना; द्रष्टुः—देखने वाले का; इव—सदृश; अञ्जसा—पूर्णतः ।.

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे राजन्, जब तक मनुष्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शक्ति से प्रभावित नहीं होता तब तक भौतिक शरीर के साथ शुद्ध चेतना में शुद्ध आत्मा के सम्बन्ध कोई अर्थ नहीं होता। ऐसा सम्बन्ध स्वप्न देखने वाले द्वारा अपने ही शरीर को कार्य करते हुए देखने के समान है।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित के इस प्रश्न का कि भौतिक देह तथा मन से पृथक् होते हुए भी जीवात्मा ने किस प्रकार भौतिक जीवन प्रारम्भ किया, यहाँ पर सही-सही उत्तर दिया गया है। आत्मा जीवन के भौतिक बोध से पृथक् हैं, किन्तु भगवान् की बहिरंगा शक्ति, जिसे *आत्ममाया* कहते हैं, उसके द्वारा प्रभावित होने से वह ऐसे भौतिक बोध में लीन रहता है। इसकी व्याख्या प्रथम अध्याय में व्यासदेव द्वारा भगवान् के साक्षात्कार तथा उनकी बहिरंगा शक्ति के प्रसंग में पहले की जा चुकी है। बहिरंगा शक्ति का नियंत्रण भगवान् द्वारा होता है और जीवात्माएँ, भगवान् की इच्छा द्वारा, इस बहिरंगा शक्ति से नियंत्रित होती हैं। अत: अपनी शुद्ध अवस्था में यद्यपि जीवात्मा नितान्त सचेत रहता है, किन्तु भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा प्रभावित होने से वह भगवान् की इच्छा के अधीन रहता है। *भगवद्गीता* (१५.१५) में भी इस तथ्य की पुष्टि की गई है। भगवान् प्रत्येक जीवात्मा के हृदय में स्थित हैं और जीवात्मा की सारी चेतना तथा विस्मृति भगवान् द्वारा प्रभावित है।

अब जो दूसरा प्रश्न उठता है, वह यह है कि भगवान् जीवात्मा की चेतना तथा विस्मृति को इस

प्रकार क्यों प्रभावित करते हैं? इसका उत्तर यह है कि भगवान् की यह इच्छा है कि प्रत्येक जीवात्मा भगवान् के अंश रूप शुद्ध चेतना में रहे और भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगा रहे, क्योंकि वह स्वभावत: इसीलिए बना है। किन्तु जीवात्मा अंशत: स्वतन्त्र भी है, अत: वह भगवान् की सेवा करना नहीं भी चाह सकता और भगवान् की ही तरह स्वतन्त्र रहने का प्रयास कर सकता है। समस्त अभक्त जीवात्माएँ भगवान् के ही समान शक्तिमान बनना चाहती हैं, यद्यपि वे इस योग्य नहीं हैं। भगवान् की इच्छा से वे मोहग्रस्त रहती हैं, क्योंकि वे उनके समान बनना चाहती हैं। जैसे कोई व्यक्ति आवश्यक पात्रता के बिना राजा बनना चाहे, उसी प्रकार जब जीवात्मा स्वयं भगवान् बनना चाहता है, तो वह स्वप्नावस्था को प्राप्त होता है, जिसमें वह अपने को राजा मानता है। अत: जीवात्मा की पहली पापपूर्ण इच्छा है कि वह भगवान् बन जाय; फलस्वरूप भगवान् की इच्छा होती है कि जीवात्मा अपने वास्तविक जीवन को भूलकर स्वप्नलोक में विचरण करने लगे जहाँ वह अपने को भगवान् के तुल्य माने। बालक अपनी माता से चाँद लाने के लिए हठ करता है और माता उसका रोना बन्द कराने के लिए, उसे दर्पण दे देती है, जिससे वह चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को देख सके। अत: भगवान् अपने रोते बालक को भौतिक जगत रूपी प्रतिबिम्ब प्रदान करते हैं जिस पर कर्मी के रूप में वह निजत्व दिखाता है और ऊब कर इसका परित्याग करके ईश्वर के साथ एकाकार होना चाहता है। ये दोनों ही अवस्थाएँ स्वप्निल मोह हैं। इसे जानने के लिए इतिहास को खोजने की आवश्यकता नहीं कि जीवात्मा ने सबसे पहले कब ऐसी इच्छा की। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि ज्योंही उसने ऐसी इच्छा की, वह भगवान् के निर्देशन में माया के वशीभूत कर दिया गया। अत: भौतिक अवस्था में जीवात्मा झूठा स्वप्न देखता है कि यह ''मैं हूँ'' और यह ''मेरा है।'' बद्धजीव स्वप्नवश अपने भौतिक शरीर को ''मैं'' सोचता है अथवा अपने को झूठे ही भगवान् मानने लगता है और इस भौतिक शरीर से जो भी सम्बन्धित है, वह 'मेरा' है। इस तरह 'मैं' तथा 'मेरा' की भ्रान्त धारणा जन्म-जन्मान्तर तक केवल स्वप्न में ही बनी रहती है। जब तक जीवात्मा अपने को भगवान् का पराधीन अंश नहीं मानता तब तक जन्म-जन्मान्तर ऐसा ही बना रहता है।

किन्तु शुद्ध चेतना में ऐसा भ्रान्त धारणा युक्त स्वप्न नहीं रहता और जीवात्मा यह नहीं भूलता कि

वह कभी भगवान् नहीं बन सकता प्रत्युत वह तो दिव्य प्रेममय अवस्था में उनका शाश्वत सेवक है।

बहु-रूप इवाभाति मायया बहु-रूपया ।
रममाणो गुणेष्वस्या ममाहमिति मन्यते ॥ २ ॥

शब्दार्थ

बहु-रूपः—विविधरूप वाली; इव—मानो; आभाति—प्रकट होती है; मायया—बहिरंगा शक्ति के प्रभाव से; बहु-रूपया—विविध रूपों में; रममाणः—मानो रमण (भोग) कर रहा हो; गुणेषु—विभिन्न गुणों में; अस्याः—बहिरंगा शक्ति का; मम—मेरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; मन्यते—सोचता है।

मोहग्रस्त जीवात्मा भगवान् की बहिरंगा शक्ति के द्वारा प्रदत्त अनेक रूप धारण करता है। जब बद्ध जीवात्मा भौतिक प्रकृति के गुणों में रम जाता है, तो वह भूल से सोचने लगता है कि यह ''मैं हूँ'' और यह ''मेरा'' है।

तात्पर्य : जीवात्माओं के विभिन्न रूप भगवान् की मोहमयी बहिरंगा शक्ति द्वारा प्रदत्त विभिन्न प्रकार के वस्त्र हैं, जो जीवात्मा के द्वारा भोगे जाने वाले वांछित गुणों के अनुसार होते हैं। बहिरंगा भौतिक शक्ति तीन गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुण—द्वारा प्रकट होती है। इस प्रकार प्रकृति में भी, जीवात्मा के लिए चुनाव करने की स्वतन्त्रता रहती है और उसके चुनाव के ही अनुसार बहिरंगा शक्ति उसे विभिन्न प्रकार के शरीर प्रदान करती है। इस तरह ९ लाख प्रकार के जल जीव, २० लाख वनस्पति जीव, ११ लाख कीड़े-मकोड़े तथा सरीसृप, १० लाख पक्षी, ३० लाख विभिन्न जंगली पशु तथा ४ लाख मनुष्य रूप पाये जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्माण्ड के समस्त लोकों में ८४,००,००० प्रकार के जीव (योनियाँ) पाये जाते हैं और जीवात्मा अपने भीतर विभिन्न गुणों में रमने वाले आत्मा के अनुसार अनेक देहान्तरों द्वारा घूमता रहता है। यहाँ तक कि एक ही शरीर में जीवात्मा बालपन से लड़कपन और लड़कपन से युवावस्था, फिर युवावस्था से बुढ़ापा और बुढ़ापे से अपने कर्म के अनुसार अन्य शरीर में परिवर्तित होता है। जीवात्मा अपनी निजी इच्छा से शरीर कल्पित करता है और बहिरंगा शक्ति उसे वह रूप प्रदान करती है, जिसका वह पूरी तरह से भोग कर सके। चीते की इच्छा अन्य पशु का रक्तपान करने की थी, अतः बहिरंगा शक्ति ने उसे सुविधासम्पन्न चीते का शरीर प्रदान किया जिससे वह अन्य पशुओं का रक्तपान कर सके। इस प्रकार जो जीवात्मा उच्च लोक में देवता का शरीर पाना चाहता है उसे ईश्वर की कृपा से वैसा शरीर मिल सकता है और यदि वह बुद्धिमान है, तो भगवान् के साहचर्य के लिए

आध्यात्मिक शरीर पाने की इच्छा कर सकता है और उसे वह प्राप्त हो जाता है। अत: जीवात्मा को जो थोड़ी बहुत स्वतन्त्रता प्राप्त है उसका उपयोग पूर्णरूपेण किया जा सकता है और ईश्वर इतने दयालु हैं कि वह मनुष्य को इच्छित शरीर प्रदान करते हैं। जीवात्मा की इच्छापूर्ति सुनहले पर्वत का स्वप्न देखने के समान है। मनुष्य जानता है कि पर्वत क्या है और वह यह भी जानता है कि स्वर्ण क्या होता है। किन्तु मात्र इच्छावश वह सुनहले पर्वत का सपना देखता है और जब सपना टूटता है, तो अपने सामने कुछ और ही पाता है। उसके समक्ष न तो सोना होता है, न पर्वत; सुनहले पर्वत की बात तो कोसों दूर रह जाती है।

भौतिक जगत में जीवात्माओं की विभिन्न स्थितियाँ विविध शारीरिक रूप में ''मैं'' तथा 'मेरा' भ्रान्त धारणाओं के कारण हैं। कर्मी इस जगत को 'मेरा' रूप में सोचता है और ज्ञानी सोचता है ''मैं'' ही सब कुछ हूँ। राजनीति, समाजविज्ञान, परोपकार, परार्थवाद आदि की सारी धारणा बद्धजीवों की इसी 'मैं' तथा 'मेरी' की भ्रान्त धारणा पर आधारित है, जो भौतिक जीवन के भोग की प्रबल इच्छा से जन्य है। समाजवाद, राष्ट्रवाद, पारिवारिक प्रेम आदि विभिन्न विचारधाराओं के अन्तर्गत शरीर और शरीर के जन्मस्थान से आत्मा का सम्बन्ध मानना जीवात्मा द्वारा असली स्वभाव के भूल जाने के कारण है। मोहग्रस्त जीवात्मा की यह सारी भ्रान्त धारणा शुकदेव गोस्वामी तथा महाराज परीक्षित की संगति करके ही दूर की जा सकती है, जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है।

यर्हि वाव महिम्नि स्वे परस्मिन् काल-माययोः ।
रमेत गत-सम्मोहस्त्यक्त्वोदास्ते तदोभयम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यर्हि—किसी समय; वाव—निश्चय ही; महिम्नि—महिमा में; स्वे—अपने आप का; परस्मिन्—परमेश्वर में; काल—समय; माययोः—भौतिक शक्ति (माया) का; रमेत—भोग करता है; गत-सम्मोहः—भ्रान्त धारणा (सम्मोह) से मुक्त होकर; त्यक्त्वा—त्याग कर; उदास्ते—पूर्णतः; तदा—तब; उभयम्—दोनों (मैं तथा मेरे की भ्रान्त धारणा)।

जैसे ही जीवात्मा अपनी स्वाभाविक महिमा में स्थित हो जाता है और काल तथा माया से गुणातीत हो जाता है, वैसे ही वह जीवन की दोनों भ्रान्त धारणाओं (मैं तथा मेरा) को त्याग देता है और शुद्ध आत्मस्वरूप में प्रकट हो जाता है।

तात्पर्य : 'मैं' तथा 'मेरा', जीवन के ये दो भाव दो श्रेणियों के मनुष्यों में प्रकट होते हैं। निम्न

अवस्था में 'मेरा' भाव प्रमुख रहता है और उच्चतर अवस्था में 'मैं' का भाव। पशुओं में 'मेरा' भाव कुत्तों तथा बिल्लियों तक में देखा जा सकता है, जो इसी 'मेरा' भाव की भ्रान्ति के अन्तर्गत परस्पर लड़ते रहते हैं। मानव जीवन की निम्न अवस्था में भी यही भाव, 'यह मेरा शरीर है', 'यह मेरा परिवार है', 'यह मेरी जाति है', 'यह मेरा राष्ट्र है', 'यह मेरा देश है' इत्यादि रूपों में उभरता है। चिन्तन की उच्च अवस्था में यही 'मेरा' की भ्रान्त धारणा''मैं हूँ'' अथवा ''मैं ही सब कुछ हूँ'' रूप में बदल जाती है। मनुष्यों की नाना श्रेणियाँ हैं, जो 'मैं' और 'मेरे' को विभिन्न रूपों में ग्रहण करती हैं। किन्तु 'मैं' की वास्तविक महत्ता का बोध तभी होता है जब मनुष्य की चेतना हो कि मैं ''भगवान् का शाश्वत दास हूँ''। यही शुद्ध चेतना है और सारा वैदिक साहित्य हमें जीवन के इसी भाव की शिक्षा देता है।

मैं भगवान् हूँ'' या ''मैं परब्रह्म हूँ'' की भ्रान्त धारणा 'मेरे' की धारणा से भी अधिक घातक है। यद्यपि वैदिक साहित्य में कहीं-कहीं ऐसे निर्देश हैं कि मनुष्य अपने को भगवान् के समरूप समझे, किन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि वह सभी प्रकार से भगवान् के ही समान हो जाता है। निस्सन्देह, अनेक बातों में जीवात्मा तथा भगवान् में एकरूपता है, किन्तु जीवात्मा अन्ततः भगवान् के अधीन होता है और स्वाभाविक दृष्टि से वह भगवान् की इन्द्रियों की तुष्टि के निमित्त बना है। इसीलिए भगवान् बद्धजीव को अपनी शरण में बुलाते हैं; यदि जीवात्माएँ परम इच्छा के अधीन न होतीं, तो उन्हें शरण में आने के लिए क्यों कहा जाता? यदि जीव सभी प्रकार से ईश्वर के समकक्ष होता, तो फिर वह माया के अधीन क्यों रखा गया है? हम इसकी व्याख्या कई बार कर चुके हैं कि भौतिक शक्ति (माया) भगवान् के द्वारा नियन्त्रित है। *भगवद्गीता* (९.१०) में माया के ऊपर भगवान् की नियामक शक्ति की पुष्टि की गई है। क्या कोई जीवात्मा जो अपने को परमेश्वर के समकक्ष मानता है, माया को वश में कर सकता है? मूर्ख 'मैं' जवाब देगा कि भविष्य में वह कर सकता है। यदि यह मान लिया जाय कि भविष्य में वह ऐसा कर सकेगा तो फिर वह अभी माया के वश में क्यों है? *भगवद्गीता* का कथन है कि परमेश्वर की शरण में जा करके मनुष्य माया के वश से मुक्त हो सकता है, किन्तु यदि वह समर्पण नहीं करता, तो फिर जीवात्मा माया से कभी भी पार नहीं पा सकता। अतः मनुष्य को चाहिए कि भक्ति के अभ्यास से अथवा भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में दृढ़ता से स्थित रहकर 'मैं' की भ्रान्ति

को त्यागे। बिना किसी काम-धंदे या नौकरी के गरीब मनुष्य जीवन में अनेक कष्ट भोगता रहता है, किन्तु सौभाग्यवश यदि उसे सरकारी नौकरी मिल जाती है, तो वह तुरन्त सुखी हो जाता है। सभी शक्तियों के नियामक भगवान् की श्रेष्ठता को अस्वीकार करने में कोई लाभ नहीं। किन्तु मनुष्य को चाहिए वह अपने को भगवान् का शाश्वत दास मानते हुए अपनी स्वाभाविक महिमा को प्राप्त करे। बद्धजीवन में जीवात्मा माया का दास रहता है, किन्तु मुक्त अवस्था में वह भगवान् का शुद्ध अकिंचन दास रहता है। भगवान् की सेवा करने के लिए आवश्यक है कि प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहा जाय। जब तक मनुष्य मनोरथों का दास है, वह "मैं" तथा 'मेरा' के रोग से पूर्ण रूप से मुक्त नहीं हो सकता।

परम सत्य माया की शक्ति के द्वारा दूषित नहीं होता, क्योंकि वही उस शक्ति का नियंता है। आपेक्षिक सत्य माया से आवृत हो सकते हैं किन्तु जब कोई परम सत्य का साक्षात्कार कर रहा होता है, तो सर्वोत्तम उद्देश्य की पूर्ति होती है, जिस तरह सूर्य को समक्ष देखने पर। सिर के ऊपर आकाश में सूर्य प्रकाश से पूर्ण रहता है, किन्तु जब वह दृश्य आकाश में नहीं दिखता तो अंधकार छा जाता है। इसी प्रकार जब मनुष्य परमेश्वर के समक्ष होता है, तो उसके सारे मोह नष्ट हो जाते हैं और जो उनके समक्ष नहीं होता वह माया के अन्धकार में रहता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.२६) में इस प्रकार हुई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

अत: मनुष्य को चाहिए कि निष्ठापूर्वक भगवान् का पूजन, भगवान् की महिमा का गायन, सुपात्र से (न कि पेशेवर मनुष्य से प्रत्युत किसी '*भागवत*' व्यक्ति से) *श्रीमद्भागवत* का श्रवण तथा शुद्ध भक्तों की संगति करके—इस प्रकार भक्तियोग के विज्ञान को गंभीरता से ग्रहण करे। उसे "मैं" या "मेरा" की भ्रान्तियों से गुमराह नहीं होना चाहिए। कर्मियों को "मेरा" भाव प्रिय है, तो ज्ञानियों को "मैं" भाव और ये दोनों ही माया के बन्धन से मुक्त होने के योग्य नहीं हैं। *श्रीमद्भागवत* तथा मुख्यत: भागवद्गीता ये दोनों मनुष्य को "मैं" तथा "मेरा" की भ्रान्ति से उबारने के लिए हैं और श्रील

व्यासदेव ने इन दोनों को पतित आत्माओं की मुक्ति के लिए ही लिखा है। जीवात्मा को ऐसी दिव्य स्थिति में रहना चाहिए जहाँ काल तथा माया का वश न चले। बद्धजीवन में जीवात्मा को भूत, वर्तमान तथा भविष्य काल के सपनों द्वारा प्रभावित होना पड़ता है। चिन्तक ज्ञान के अनुशीलन द्वारा तथा अहंकार को जीत करके भविष्य चिन्तन द्वारा वासुदेव या परमेश्वर बनकर काल पर विजय पाना चाहता है। किन्तु यह विधि परिपूर्ण नहीं है। सही विधि तो यह है कि भगवान् वासुदेव को हर प्रकार से परमेश्वर मान लिया जाय और ज्ञान के अनुशीलन की परम सिद्धि यह है कि भगवान् की शरण में जाया जाय, क्योंकि वे ही हर वस्तु के स्रोत हैं। केवल इसी भाव में "मैं" तथा "मेरा" की भ्रान्ति से छुटकारा मिल सकता है। *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* दोनों ही इसकी पुष्टि करते हैं। श्रील व्यासदेव ने अपने महान् ग्रन्थ *श्रीमद्भागवत* द्वारा मोहग्रस्त जीवात्माओं के लिए *आत्मतत्त्व* तथा भक्तियोग विधि में विशिष्ट योगदान किया है। बद्धजीव को चाहिए कि वह इस महान् ज्ञान का पूरा-पूरा लाभ उठाए।

आत्म-तत्त्व-विशुद्ध्यर्थं यदाह भगवानृतम् ।
ब्रह्मणे दर्शयन् रूपमव्यलीक-व्रतादृतः ॥ ४॥

शब्दार्थ

आत्म-तत्त्व—ईश्वर का ज्ञान अथवा जीवात्मा का ज्ञान; विशुद्धि—शुद्धीकरण; अर्थम्—लक्ष्य; यत्—जो; आह—कहा; भगवान्—भगवान् ने; ऋतम्—सचमुच; ब्रह्मणे—ब्रह्माजी को; दर्शयन्—दिखलाकर; रूपम्—नित्य रूप; अव्यलीक—निष्कपट भाव से; व्रत—संकल्प; आदृतः—पूजित।

हे राजन्, भगवान् ने ब्रह्माजी की भक्तियोग की निष्कपट तपस्या से अत्यन्त प्रसन्न होकर उनके समक्ष अपना शाश्वत दिव्य रूप प्रकट किया और बद्धजीव की शुद्धि के लिए यही परम लक्ष्य भी है।

तात्पर्य : *आत्म-तत्त्व* ईश्वर तथा जीवात्मा दोनों ही का विज्ञान है। परमेश्वर तथा जीवात्मा दोनों ही आत्मा कहलाते हैं। परमेश्वर परमात्मा कहलाते हैं और जीवात्मा *आत्मा, ब्रह्म* या *जीव* कहलाता है। परमात्मा तथा जीव भौतिक शक्ति (माया) से परे होने के कारण आत्मा कहलाते हैं। अतः शुकदेव गोस्वामी ने इस श्लोक की व्याख्या परमात्मा तथा जीवात्मा दोनों के सत्य की शुद्धि के उद्देश्य से की है। साधारणतया, लोगों की इन दोनों के बारे में बहुत सी मिथ्या धारणाएँ हैं। जीवात्मा की भ्रान्त धारणा भौतिक शरीर को शुद्ध आत्मा के रूप में पहचानना है और परमात्मा के बारे में भ्रान्त धारणा उसे

जीवात्मा के समकक्ष मानना है। किन्तु ये दोनों भ्रान्तियाँ *भक्तियोग* के एक ही प्रहार से ध्वस्त हो सकती हैं जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में सूर्य तथा सूर्य प्रकाश के नीचे का सारा लोक दिखाई पड़ने लगता है। अन्धकार में न तो कोई सूर्य को देख पाता है, न अपने आपको और न ही जगत को, किन्तु सूर्य के प्रकाश में वह सूर्य को, अपने आपको तथा अपने चारों ओर के जगत को देख सकता है। अत: श्रील शुकदेव गोस्वामी कहते हैं कि इन दोनों भ्रान्तियों को हटाने के लिए भगवान् ने ब्रह्मा के भक्तियोग के निष्कपट प्रण से प्रसन्न होकर उन्हें अपने शाश्वतरूप का दर्शन दिया। भक्तियोग के अतिरिक्त आत्म-तत्त्व को जानने की कोई भी विधि अन्तत: भ्रम सिद्ध होगी।

भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं कि केवल भक्तियोग के द्वारा उन्हें पूर्ण रूप से जाना जा सकता है और तब आत्म-तत्त्व में प्रवेश सम्भव है। भक्तियोग सम्पन्न करने में ब्रह्माजी ने कठिन तपस्या की थी, अत: वे भगवान् के दिव्य रूप को देख पाये। उनका दिव्य रूप शत-प्रतिशत आध्यात्मिक है और शुद्ध भक्तियोग में समुचित तपस्या के बाद दिव्य दृष्टि से ही उनका दर्शन किया जा सकता है। ब्रह्मा के समक्ष जो रूप प्रकट हुआ था वह इस भौतिक संसार में हमारे द्वारा अनुभव किया जाने वाला रूप नहीं था। ब्रह्माजी ने उतनी कठिन तपस्या ऐसे भौतिक रूप के साक्षात्कार के लिए नहीं की थी। अत: महाराज परीक्षित द्वारा पूछे गये प्रश्न का उत्तर मिल जाता है। भगवान् सच्चिदानन्द स्वरूप अर्थात् शाश्वत ज्ञान से परिपूर्ण और आनन्द से परिपूर्ण हैं। किन्तु जीवात्मा का भौतिक रूप न तो सत् है, न चित् और न आनन्द ही। यही भगवान् के रूप तथा बद्धजीव के रूपों में अन्तर है। किन्तु बद्धजीव अपना चिदानन्द रूप भक्तियोग द्वारा भगवान् का दर्शन करके पुन: प्राप्त कर सकता है।

सारांश यह है कि अविद्या के कारण बद्धजीव अनेक प्रकार के नश्वर भौतिक रूपों में जकड़ा रहता है। किन्तु भगवान् के बद्धात्माओं जैसे नश्वर रूप नहीं होते। वे सदैव चिदानन्द रूप में रहते हैं; यही जीवात्मा तथा परमात्मा में अन्तर है। भक्तियोग के द्वारा इस अन्तर को समझा जा सकता है। तब भगवान् ने ब्रह्मा को चार मूल श्लोकों में *श्रीमद्भागवत* का सार कह सुनाया। इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* चिन्तकों की सृष्टि नहीं है। *श्रीमद्भागवत* की ध्वनि दिव्य है और इसकी अनुगूँज वेदों के ही समान है। इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* की कथा भगवान् तथा जीवात्मा दोनों के ज्ञानस्वरूप है। *श्रीमद्भागवत* का

नियमित पाठ करना या उसका श्रवण करना भी भक्तियोग की साधना है और *श्रीमद्भागवत* की संगति मात्र से बड़ी-से-बड़ी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। शुकदेव गोस्वामी तथा महाराज परीक्षित दोनों ने *श्रीमद्भागवत* के माध्यम से सिद्धि प्राप्त की।

स आदि-देवो जगतां परो गुरुः
स्वधिष्ण्यमास्थाय सिसृक्षयैक्षत ।
तां नाध्यगच्छद् दृशमत्र सम्मतां
प्रपञ्च-निर्माण-विधिर्यया भवेत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; आदि-देवः—प्रथम देवता; जगताम्—ब्रह्माण्ड का; परः—परम; गुरुः—गुरु; स्वधिष्ण्यम्—अपने कमल-आसन का; आस्थाय—स्त्रोत जानने के लिए; सिसृक्षया—सांसारिक व्यापार की सृष्टि करने के लिए; ऐक्षत—सोचने लगा; ताम्—उस विषय में; न—नहीं; अध्यगच्छत्—समझ सका; दृशम्—दिशा; अत्र—वहाँ; सम्मताम्—उचित राह; प्रपञ्च—भौतिक; निर्माण—रचना; विधिः—विधि, ढंग; यया—जितना कि; भवेत्—होना चाहिए।

प्रथम गुरु एवं ब्रह्माण्ड के सर्वश्रेष्ठ जीव होते हुए भी ब्रह्माजी अपने कमल आसन के स्त्रोत का पता न लगा सके और जब उन्होंने भौतिक जगत की सृष्टि करनी चाही तो वे यह भी न जान पाये कि किस दिशा से यह कार्य प्रारम्भ किया जाय, न ही ऐसी सृष्टि करने के लिए कोई विधि ही ढूँढ पाये।

तात्पर्य : यह श्लोक भगवान् के रूप तथा धाम की दिव्य प्रकृति की व्याख्या की प्रस्तावना है। *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में यह कहा जा चुका है कि परमेश्वर अपने धाम में वंचक शक्ति के सम्पर्क में आये बिना रहते हैं। अतः भगवान् का धाम कल्पना न होकर एक भिन्न दिव्य लोकों का क्षेत्र है, जिसे वैकुण्ठ कहते हैं। इस अध्याय में इसकी भी व्याख्या की जाएगी।

इस भौतिक आकाश से बहुत ऊपर परव्योम का ज्ञान तथा उसकी सारी सामग्री की जानकारी भक्तियोग के द्वारा सम्भव है। ब्रह्माजी ने भक्तियोग के बल पर ही सृष्टि करने की शक्ति प्राप्त की थी। सृष्टि करते समय ब्रह्माजी भ्रमित हो गये थे और वे अपनी स्थिति तक का पता नहीं लगा पा रहे थे, किन्तु उन्हें यह सारा ज्ञान भक्तियोग के द्वारा ही प्राप्त हो सका। भक्तियोग से ईश्वर को जाना जा सकता है और ईश्वर को सर्वोच्च मान कर शेष सब कुछ जाना जा सकता है। जो परमेश्वर को जानता है, वह सब कुछ जानता है। यही समस्त वेदों का कथन है। इस ब्रह्माण्ड के आदि गुरु ब्रह्मा को भी भगवान्

की कृपा से प्रकाश प्राप्त हुआ था; तो ऐसा और कौन होगा जो उनकी कृपा के बिना सब कुछ जान सके? जो हर एक विषय की पूर्ण जानकारी प्राप्त करना चाहता है उसे चाहिए कि भगवत्कृपा प्राप्त करे; इसके अलावा कोई दूसरा उपाय नहीं है। अपने निजी बल पर ज्ञान की खोज करने का प्रयास समय का अपव्यय होगा।

स चिन्तयन् द्व्यक्षरमेकदाम्भ-
स्युपाशृणोद् द्विर्गदितं वचो विभुः ।
स्पर्शेषु यत्षोडशमेकविंशं
निष्किञ्चनानां नृप यद् धनं विदुः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने; चिन्तयन्—सोचते हुए; द्वि—दो; अक्षरम्—अक्षर; एकदा—एक बार; अम्भसि—जल में; उपाशृणोत्—पास ही सुना; द्विः—दो बार; गदितम्—उच्चरित; वचः—शब्द; विभुः—महान्; स्पर्शेषु—स्पर्शाक्षिर; यत्—जो; षोडशम्—सोलहवाँ; एकविंशम्—तथा इक्कीसवाँ; निष्किञ्चनानाम्—संन्यासियों का; नृप—हे राजा; यत्—जो हैं; धनम्—सम्पत्ति; विदुः—जैसाकि ज्ञात है।.

इस प्रकार जब जल में स्थित ब्रह्माजी सोच रहे थे तब पास ही उन्होंने परस्पर जुड़े हुए दो शब्द दो बार सुने। इनमें से एक सोलहवाँ और दूसरा इक्कीसवाँ स्पर्श अक्षर था। ये दोनों मिलकर विरक्त जीवन की निधि बन गए।

तात्पर्य : संस्कृत भाषा में व्यञ्जन शब्दों के दो विभाग हैं—स्पर्श वर्ण तथा तालव्य वर्ण। क से लेकर म तक के अक्षर स्पर्श वर्ण कहलाते हैं और इस समूह का सोलहवाँ अक्षर त है, जबकि इक्कीसवाँ अक्षर प है। अतः जब वे दोनों मिल जाते हैं, तो *तप* शब्द अर्थात् तपस्या बनता है। यह तप ब्राह्मणों तथा तपस्वियों का सौंदर्य तथा धन है। *भागवत* दर्शन के अनुसार, प्रत्येक मनुष्य तप के निमित्त बना है और किसी निमित्त नहीं, क्योंकि एकमात्र तपस्या के द्वारा उसे आत्मबोध हो सकता है। मानव जीवन का धर्म इन्द्रियतृप्ति नहीं, अपितु आत्म-साक्षात्कार है। यह तप सृष्टि के आदि काल से ही चला आ रहा है और सर्वप्रथम परमगुरु ब्रह्माजी ने इसे ग्रहण किया था। तपस्या के ही द्वारा मनुष्य को मानव जीवन का लाभ प्राप्त हो सकता है, पशु जीवन की दिखलावटी सभ्यता से नहीं। पशु खाने, पीने तथा मजा उड़ाने द्वारा इन्द्रियतृप्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानता, किन्तु मनुष्य का जन्म तपस्या करके भगवान् के धाम वापस जाने के लिए हुआ है।

जब ब्रह्माजी की समझ में नहीं आ रहा था कि ब्रह्माण्ड की सृष्टि किस प्रकार की जाय तो वे कमल-आसन के स्रोत का तथा सृष्टि के साधन का पता लगाने के लिए जल के भीतर गये जहाँ उन्होंने तप शब्द की दो बार गूँज सुनी। तप के पथ को ग्रहण करना जिज्ञासु का मानो दूसरा जन्म हो। यहाँ पर *उपाशृणोत्* शब्द अत्यन्त सार्थक है। यह उपनयन के समान है, अर्थात् तप के मार्ग पर शिष्य को गुरु के समीप लाने के समान है। अत: ब्रह्माजी को श्रीकृष्ण ने दीक्षा दी और इसकी पुष्टि स्वयं ब्रह्माजी ने अपनी कृति *ब्रह्म-संहिता* में की है। *ब्रह्म-संहिता* में प्रत्येक श्लोक में ब्रह्माजी ने *गोविन्दमादि-पुरुषं तमहं भजामि* स्तुति की है। इस तरह श्रीकृष्ण ने कृष्ण महामन्त्र द्वारा ब्रह्मा को दीक्षा दी जिससे विशाल ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने के पूर्व वे वैष्णव अर्थात् भगवान् के भक्त हो सके। *ब्रह्म-संहिता* में उल्लेख है कि ब्रह्माजी को अठारह अक्षर वाले कृष्ण मन्त्र में दीक्षित किया गया जिसे प्राय: कृष्ण के समस्त भक्त स्वीकार करते हैं। हम उसी सिद्धान्त का पालन करते हैं, क्योंकि हमारा ब्रह्म सम्प्रदाय से सम्बन्ध है, जो सीधे ब्रह्मा से नारद, नारद से व्यास, व्यास से मध्वमुनि, मध्वमुनि से माधवेन्द्र पुरी तथा माधवेन्द्र पुरी से ईश्वर पुरी, ईश्वर पुरी से भगवान् चैतन्य और क्रमश: हमारे गुरु भगवत्कृपामूर्ति भक्तिसिद्धान्त सरस्वती की शिष्य-परम्परा में है।

इस प्रकार जो मनुष्य शिष्य-परम्परा में दीक्षित होता है उसे वैसा ही फल या सृष्टि करने की शक्ति प्राप्त होती है। कामनारहित भगवद्भक्त के लिए इस पवित्र मन्त्र का जप ही एकमात्र आसरा है। केवल ऐसी तपस्या से भगवद्भक्त ब्रह्माजी के समान सारी सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है।

निशम्य तद्वक्तृ-दिदृक्षया दिशो
विलोक्य तत्रान्यदपश्यमान: ।
स्वधिष्ण्यमास्थाय विमृश्य तद्धितं
तपस्युपादिष्ट इवादधे मन: ॥ ७॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; तत्—उस; वक्तृ—वक्ता; दिदृक्षया—यह जानने के लिए कि कौन बोला; दिश:—सभी ओर; विलोक्य—देखकर; तत्र—वहाँ; अन्यत्—अन्य कोई; अपश्यमान:—न पाकर; स्वधिष्ण्यम्—अपने कमल आसन पर; आस्थाय—बैठ गये; विमृश्य—सोचकर; तत्—इसको; हितम्—कल्याण; तपसि—तपस्या में; उपादिष्ट:—उसे जैसा आदेश मिला था; इव—के पालन में; आदधे—दिया; मन:—ध्यान।

जब उन्होंने वह ध्वनि सुनी तो वे ध्वनिकर्ता को चारों ओर ढूँढ़ने का प्रयत्न करने लगे।

किन्तु जब वे अपने अतिरिक्त किसी को न पा सके, तो उन्होंने कमल-आसन पर दृढ़तापूर्वक बैठ जाना और आदेशानुसार तपस्या करने में ध्यान देना ही श्रेयस्कर समझा।

तात्पर्य : जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए ब्रह्माजी के उदाहरण का अनुसरण करना चाहिए, क्योंकि वे सृष्टि के आदि-प्राणी हैं। परमेश्वर द्वारा तपस्या में दीक्षित किये जाने पर उन्होंने तपस्या करने का संकल्प किया और अपने चारों ओर अपने सिवा अन्य किसी को न पाकर वे ठीक ही समझ सके कि वह ध्वनि स्वयं भगवान् ने की थी। उस समय ब्रह्मा बिल्कुल अकेले थे, क्योंकि तब कोई सृष्टि नहीं हुई थी और न उनके अतिरिक्त वहाँ अन्य कोई था। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध के प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक में ब्रह्मा को श्रीभगवान् ने अन्त:करण से ही दीक्षा दी थी। भगवान् प्रत्येक जीवात्मा के भीतर परमात्मा के रूप में स्थित हैं और उन्होंने ब्रह्मा को इसलिए दीक्षित किया क्योंकि वे दीक्षा लेने के लिए इच्छुक थे। इसी प्रकार जो भी दीक्षा लेने का इच्छुक हो उसे भगवान् दीक्षा दे सकते हैं।

जैसाकि बताया जा चुका है ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड के आदि गुरु हैं और चूँकि स्वयं भगवान् ने उन्हें दीक्षा दी थी अत: *श्रीमद्भागवत* की कथा शिष्य-परम्परा से चली आ रही है, इसीलिए *श्रीमद्भागवत* की वास्तविक कथा (संदेश) प्राप्त करने के लिए, मनुष्य को चाहिए कि शिष्य-परम्परा से चले आ रहे गुरु के पास जाए। फिर उस परम्परा में योग्य गुरु से दीक्षित होकर उसे भक्ति करने के लिए तपस्या में रत हो जाना चाहिए। किन्तु उसे अपने आपको ब्रह्मा के समान समझ कर सीधे भगवान् द्वारा अन्त:करण से दीक्षा दिये जाने की बात नहीं सोचनी चाहिए, क्योंकि इस युग में कोई भी व्यक्ति ब्रह्मा के समान शुद्ध नहीं माना जा सकता। ब्रह्माण्ड-सृष्टि के लिए ब्रह्मा-पद का भार सर्वाधिक शुद्ध जीव को सौंपा जाता है और जब तक वह उतना ही योग्य न हो, उसे ब्रह्मा के समान नहीं माना जा सकता। किन्तु उसे वैसी ही सुविधाएँ भगवान् के शुद्ध भक्तों द्वारा, शास्त्रों के आदेशों द्वारा (जैसाकि विशेष रूप से *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* में प्रकट हैं) तथा प्रामाणिक गुरु द्वारा प्राप्त हो सकती हैं। जो मनुष्य हृदय से भगवान् की सेवा में निष्ठा रखता है, उसके समक्ष भगवान् स्वयं गुरु रूप में प्रकट होते हैं। अत: उस प्रामाणिक गुरु को, जो दैववश निष्ठावान शिष्य को प्राप्त होता है, भगवान् का सबसे

विश्वासपात्र तथा प्रिय प्रतिनिधि मानना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति ऐसे प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में रहता है, तो यह निस्सन्देह समझना चाहिए कि उसे भगवत्कृपा प्राप्त हो गई है।

दिव्यं सहस्राब्दममोघ-दर्शनो
जितानिलात्मा विजितोभयेन्द्रियः ।
अतप्यत स्माखिल-लोक-तापनं
तपस्तपीयांस्तपतां समाहितः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

दिव्यम्—स्वर्ग के देवताओं का; सहस्र—एक हजार; अब्दम्—वर्ष; अमोघ—निर्मल, निष्कलंक; दर्शनः—ऐसी जीवन-दृष्टि वाला; जित—नियंत्रित; अनिल—प्राण; आत्मा—मन; विजित—वशीकृत; उभय—दोनों; इन्द्रियः—इन्द्रियों वाला; अतप्यत—तपस्या की; स्म—भूतकाल में; अखिल—समस्त; लोक—ग्रह; तापनम्—प्रकाशनार्थ; तपः—तपस्या; तपीयान्—अत्यन्त कठिन तप; तपताम्—समस्त तपस्वियों का; समाहितः—इस प्रकार स्थित।

ब्रह्माजी ने देवताओं की गणना के अनुसार एक हजार वर्षों तक तपस्या की। उन्होंने आकाश से यह दिव्य अनुगूँज सुनी और इसे ईश्वरीय मान लिया। इस प्रकार उन्होंने अपनी इन्द्रियों तथा मन को वश में किया। उन्होंने जो तपस्या की, वह जीवात्माओं के लिए महान् शिक्षा बन गई। इस प्रकार ब्रह्मा जी तपस्वियों में महानतम माने जाते हैं।

तात्पर्य : ब्रह्माजी ने तप की रहस्यमय ध्वनि सुनी, किन्तु वे यह नहीं देख पाये कि इसको कौन उच्चरित कर रहा है। फिर भी उन्होंने इस आदेश को उपयोगी समझ कर स्वीकार कर लिया और वे एक हजार दिव्य वर्षों तक तपस्या करते रहे। एक दिव्य वर्ष हमारे ६×३०×१२×१००० वर्षों के तुल्य होता है। ध्वनि को स्वीकार करने का मूल कारण यह था कि उनमें भगवान् विषयक विशुद्ध दृष्टि थी और इस सही दृष्टि के कारण उन्होंने भगवान् तथा भगवान् के आदेश में कोई अन्तर नहीं माना। भले ही भगवान् स्वयं उपस्थित न हों, किन्तु उनमें तथा उनकी ध्वनि में कोई अन्तर नहीं होता। ईश्वर को जानने की सर्वोत्तम विधि यही है कि ऐसे ईश्वरीय आदेश को शिरोधार्य कर लिया जाय और ब्रह्मा, जो हर एक के आदि गुरु हैं, दिव्य ज्ञान प्राप्त करने की इस विधि के जीते-जागते उदाहरण हैं। दिव्य ध्वनि की शक्ति कभी क्षीण नहीं होती, क्योंकि ध्वनिकर्ता ओझल रहता है। अतः *श्रीमद्भागवत* या *भगवद्गीता* या संसार के किसी अन्य शास्त्र को कभी भी दिव्य शक्ति से विहीन सामान्य संसारी ध्वनि (वाणी) नहीं समझना चाहिए।

मनुष्य को इस दिव्य ध्वनि को उपयुक्त स्रोत से प्राप्त करके उसे सत्य मानकर बिना किसी हिचक के आदेश के तौर पर पालन करना होता है। सफलता का रहस्य यही है कि प्रामाणिक गुरु से अर्थात् उपयुक्त स्रोत से ध्वनि ग्रहण की जाय। संसारी कृत्रिम ध्वनि में शक्ति नहीं होती, अतः अप्रामाणिक व्यक्ति से प्राप्त तथाकथित दिव्य ध्वनि में कोई शक्ति नहीं होती। ऐसी दिव्य शक्ति को जान लेने की योग्यता होनी चाहिए और जिसे अपने विवेक से या कि भाग्य से गुरु द्वारा यह दिव्य ध्वनि प्राप्त हो सके, समझिये कि उसकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो गया। किन्तु शिष्य को गुरु के आदेश का पालन करने के लिए उद्यत रहना चाहिए जिस प्रकार ब्रह्माजी ने अपने प्रामाणिक गुरु साक्षात् भगवान् के आदेश का पालन किया था। शिष्य का एकमात्र कर्तव्य है कि वह प्रामाणिक गुरु का आदेश माने और प्रामाणिक गुरु के आदेश का पूर्ण श्रद्धा-सहित पालन करना ही सफलता का रहस्य है।

ब्रह्माजी ने अपनी दोनों प्रकार की इन्द्रियों—कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों—पर नियन्त्रण प्राप्त किया, क्योंकि इनका उपयोग भगवान् के आदेश पालन में करना था। अतः इन्द्रियों के नियन्त्रण का अर्थ है उन्हें भगवान् की दिव्य सेवा में लगाना। भगवान् का आदेश तो प्रामाणिक गुरु के माध्यम से शिष्य-परम्परा में अवतरित होता है, अतः प्रामाणिक गुरु के आदेश के पालन का अर्थ है इन्द्रियों को सचमुच नियन्त्रित करना। पूर्ण श्रद्धा तथा निष्ठा के साथ ऐसी तपस्या करके ब्रह्माजी इतने शक्तिसम्पन्न बन सके कि वे ब्रह्माण्ड के स्रष्टा हो गए। ऐसी शक्ति प्राप्त करने के कारण ही उन्हें तपस्वियों में सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है।

तस्मै स्व-लोकं भगवान् सभाजितः
सन्दर्शयामास परं न यत्परम् ।
व्यपेत-सङ्क्लेश-विमोह-साध्वसं
स्व-दृष्टवद्भिर्पुरुषैरभिष्टुतम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उसको; स्व-लोकम्—अपना धाम; भगवान्—भगवान् ने; सभाजितः—ब्रह्मा की तपस्या से प्रसन्न होकर; सन्दर्शयाम् आस—प्रकट किया; परम्—सर्वश्रेष्ठ; न—नहीं; यत्—जिसका; परम्—उससे भी श्रेष्ठ; व्यपेत—पूर्ण रूप से त्यक्त; सङ्क्लेश—पाँच प्रकार के भौतिक ताप; विमोह—बिना मोह; साध्वसम्—संसार का भय; स्व-दृष्ट-वद्भिः—जो स्वरूपसिद्ध हैं उनके द्वारा; पुरुषैः—पुरुषों द्वारा; अभिष्टुतम्—पूजित।

श्री भगवान् ने ब्रह्माजी की तपस्या से अत्यधिक प्रसन्न होकर उन्हें समस्त लोकों में श्रेष्ठ

अपने निजी धाम, वैकुण्ठ लोक, को दिखलाया। यह दिव्य लोक उन समस्त स्वरूपसिद्ध व्यक्तियों द्वारा पूजित है, जो समस्त प्रकार के क्लेशों तथा सांसारिक भय से सर्वथा मुक्त हैं।

तात्पर्य : ब्रह्माजी ने जो तप-कष्ट सहे, वे निश्चय ही भक्ति की श्रेणी में थे। अन्यथा ब्रह्मा को *स्वलोकम्* अर्थात् भगवान् का निजी धाम वैकुण्ठ लोक न दिखता। भगवान् का स्वलोक अर्थात् वैकुण्ठ न तो काल्पनिक है, न भौतिक जैसाकि निर्विशेषवादी सोचते हैं। किन्तु भगवान् के इन दिव्य धामों की प्राप्ति भक्ति द्वारा ही सम्भव है और इस प्रकार भक्त लोग ही इन धामों में प्रवेश करते हैं। निस्सन्देह, तप करना कष्टप्रद है, किन्तु भक्ति योग साधना में जो कष्ट सहे जाते हैं, वे आरम्भ से ही दिव्य आनन्द प्रदान करने वाले होते हैं, किन्तु आत्म-साक्षात्कार की अन्य विधियों (ज्ञान योग, ध्यान योग इत्यादि) में तप कष्टदायी होता है; उससे अन्ततः कष्ट ही मिलता है और वैकुण्ठ की प्राप्ति नहीं हो पाती। दानों से रहित भूसी को चबाने से क्या लाभ! इसी प्रकार आत्म-साक्षात्कार के लिए भक्तियोग के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की कष्टप्रद तपस्या करने से कोई लाभ नहीं है।

भक्तियोग साधना श्रीभगवान् के उदर से निकले कमल पर आसन जमाने के समान है, क्योंकि ब्रह्माजी उसी पर आसीन थे। ब्रह्माजी भगवान् को प्रसन्न कर सके और भगवान् ने भी प्रसन्न होकर उन्हें अपना धाम दिखलाया। श्रील जीव गोस्वामी ने *श्रीमद्भागवत* की क्रम-संदर्भ नामक अपनी टीका में गर्ग उपनिषद से वह उद्धरण दिया है, जिसमें कहा गया है कि याज्ञवल्क्य ने गार्गी से भगवान् के दिव्य लोक के विषय में वर्णन किया और बताया यह लोक ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक के ऊपर स्थित है। भगवान् का यह धाम अल्पज्ञानियों के लिए गुत्थी बना रहता है, यद्यपि *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* जैसे ग्रंथों में इसका वर्णन हुआ है। यहाँ पर *स्वदृष्टवद्भिः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जो वास्तव में स्वरूपसिद्ध है, वही अपने दिव्य स्वरूप को समझ पाता है। स्व तथा परमेश्वर का निर्विशेष साक्षात्कार पूर्ण नहीं है, क्योंकि संसारी व्यक्तियों का यह विरोधी विचार है। भगवान् तथा भगवद्भक्त सभी दिव्य हैं। उनके कोई भौतिक शरीर नहीं होता। भौतिक शरीर में पाँच प्रकार के क्लेशों का आवरण रहता है ये हैं—अविद्या, भौतिक बोध, आसक्ति, घृणा तथा अवशोषण। जब तक मनुष्य इन पाँचों क्लेशों से घिरा रहता है, तब तक वैकुण्ठ लोक में उसके प्रविष्ट होने का प्रश्न ही नहीं उठता। स्व

की निर्विशेष विचारधारा भौतिक व्यक्तित्व का निषेध है और दिव्य स्वरूप के अस्तित्व से कोसों दूर है। अगले श्लोकों में दिव्य धाम के सगुण रूपों की व्याख्या की जाएगी। ब्रह्माजी ने भी सर्वोच्च लोक, वैकुण्ठ लोक, को गोलोक वृन्दावन कहा है जहाँ भगवान् गोप के रूप में दिव्य सुरभि गायों सहित सैकड़ों-हजारों लक्ष्मियों से घिरे हुए रहते हैं।

चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्षलक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्।

लक्ष्मीसहस्रशतसंभ्रमसेव्यमानं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

(*ब्रह्म-संहिता* ५.२९)

भगवद्गीता के इस कथन—*यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम*—की भी पुष्टि होती है। परम का अर्थ है परब्रह्म। अतः भगवान् का धाम भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से अभिन्न है, ब्रह्म भी है। भगवान् वैकुण्ठ कहलाते हैं और उनका धाम भी वैकुण्ठ है। ऐसे वैकुण्ठ का साक्षात्कार तथा पूजा दिव्य रूप तथा इन्द्रिय द्वारा ही सम्भव है।

प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः
सत्त्वं च मिश्रं न च काल-विक्रमः ।
न यत्र माया किमुतापरे हरे-
रनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

प्रवर्तते—रहता है; यत्र—जहाँ पर; रजः तमः—रजो तथा तमोगुण; तयोः—उन दोनों का; सत्त्वम्—सतोगुण; च—तथा; मिश्रम्—मिश्रण; न—कभी नहीं; च—तथा; काल—समय; विक्रमः—प्रभाव; न—न तो; यत्र—जहाँ पर; माया—छलना, बहिरंगा शक्ति; किम्—क्या; उत—वहाँ है; अपरे—अन्य; हरेः—भगवान् के; अनुव्रताः—भक्त; यत्र—जहाँ पर; सुर—देवताओं; असुर—तथा असुरों द्वारा; अर्चिताः—पूजित।

भगवान् के उस स्वधाम में न तो रजोगुण और तमोगुण रहते हैं, न ही सतोगुण पर इनका कोई प्रभाव दिखता है। वहाँ पर काल को प्रधानता प्राप्त नहीं है। फिर बहिरंगा शक्ति (माया) का तो कहना ही क्या? इसका तो वहाँ प्रवेश भी नहीं हो सकता। देवता तथा असुर, बिना भेदभाव के, भक्तों के रूप में भगवान् की पूजा करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् का धाम या वैकुण्ठ लोक का वातावरण जिसे *त्रिपादविभूति* कहते हैं, भौतिक ब्रह्माण्डों की अपेक्षा तीन गुना विशाल है, जिसका वर्णन यहाँ पर तथा *भगवद्गीता* में संक्षेप में हुआ

है। यह ब्रह्माण्ड, अपने करोड़ों ग्रहों तथा नक्षत्रों सहित महत्-तत्त्व की परिधि में संपुंजित अरबों ब्रह्माण्डों में से एक है। ये समस्त ब्रह्माण्ड मिलकर भगवान् की सृष्टि के चुतर्थांश के तुल्य हैं। वहाँ दिव्य आकाश भी है, जिसके परे वैकुण्ठ नामक आध्यात्मिक लोक हैं और ये सब मिलकर शेष तीन-चौथाई भाग बनाते हैं। ईश्वर की सृष्टियाँ सदा अनन्त होती हैं। यहाँ तक कि एक वृक्ष की पत्तियों या मनुष्य के सिर के बालों की गणना कर पाना असम्भव है। फिर भी मूर्ख व्यक्ति ईश्वर बनने के विचार से फूले-फूले फिरते हैं, भले ही वे अपने शरीर का एक बाल भी न बना सकें। मनुष्य यात्रा करने के नाना प्रकार के यानों का भले ही आविष्कार कर ले और बहुप्रचारित अन्तरिक्षयान द्वारा चन्द्रमा पर पहुँच भी जाय, किन्तु वह वहाँ रह नहीं सकता। फलतः जो मनुष्य बुद्धिमान हैं, वे अपने को ब्रह्माण्ड का ईश्वर मानने का दम्म नहीं करते, वे सत्त्वज्ञान प्राप्त करने के सरलतम साधन वैदिक साहित्य के आदेशों का पालन करते हैं। अतः हमें चाहिए कि *श्रीमद्भागवत* से हम भौतिक आकाश से परे दिव्य जगत की प्रकृति तथा रचना के विषय में ज्ञान प्राप्त करें। उस आकाश में भौतिक गुणों, विशेष रूप से रजो तथा तमोगुण, का सर्वथा अभाव रहता है। तमोगुण के कारण जीवात्मा में काम तथा वासना की आदतें उत्पन्न होती हैं, जिसका अर्थ यह हुआ कि वैकुण्ठ लोक में जीवात्माएँ इन दोनों बातों से मुक्त हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है, मनुष्य ब्रह्मभूत अवस्था में वासना तथा शोक दोनों से मुक्त हो जाता है। अतः इससे निष्कर्ष यह निकला कि वैकुण्ठ लोक के निवासी ब्रह्मभूत जीवात्माएँ हैं, जबकि संसारी जीव वासना तथा शोक से पूर्ण रहते हैं। जब भौतिक जगत में कोई व्यक्ति रजोगुणी तथा तमोगुणी नहीं होता तो उसका यही अर्थ होता है कि वह सतोगुणी है। किन्तु भौतिक जगत में सतोगुण भी कभी-कभी रजो तथा तमोगुण से दूषित हो जाता है। वैकुण्ठ लोक में केवल अमिश्र सतोगुण पाया जाता है।

वहाँ की सारी परिस्थिति बहिरंगा शक्ति की मोहमय सृष्टि से मुक्त रहती है। यद्यपि माया भी परमेश्वर की अंशस्वरूप है, किन्तु वह परमेश्वर से भिन्न है, परन्तु वह मिथ्या (मृषा) नहीं है जैसाकि एकेश्वरवादी दार्शनिक मानते हैं। रस्सी को साँप समझना किसी व्यक्ति विशेष के लिए भ्रम हो सकता है, किन्तु रस्सी तो वास्तविकता है और सर्प भी वास्तविकता है। गर्म मरुस्थल में जल ढूँढ़ते हुए मूर्ख

पशु के लिए मृगतृष्णा भ्रम हो सकती है, किन्तु मरुस्थल तथा जल दोनों सत्य हैं। अत: अभक्त के लिए भले ही भगवान् की भौतिक सृष्टि भ्रम लगे, किन्तु भगवान् के भक्त के लिए वही सत्य है और वह भगवान् की बहिरंगा शक्ति का प्राकट्य है। किन्तु भगवान् की यह शक्ति ही सब कुछ नहीं है। भगवान् की एक अन्तरंगा शक्ति भी होती है, जिसकी एक अन्य सृष्टि होती है, जिसे वैकुण्ठ लोक कहते हैं जहाँ न अविद्या है, न वासना, न भ्रम और न भूत न वर्तमान। अल्पज्ञान के कारण मनुष्य वैकुण्ठ लोक जैसी इन वस्तुओं को भले ही न समझ पाए, किन्तु इससे उनका अस्तित्व समाप्त नहीं होता। यदि अन्तरिक्षयान ऐसे लोकों तक नहीं पहुँच पाते तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि ऐसे लोक हैं ही नहीं, क्योंकि हमारे शास्त्रों में इनका वर्णन मिलता है।

जैसाकि श्रील जीव गोस्वामी ने उद्‌धृत किया है, *नारद पंचरात्र* से हम जान सकते हैं कि दिव्य जगत अर्थात् वैकुण्ठ लोक दिव्यगुणों से युक्त है। ये दिव्यगुण जो भगवान् की भक्ति के माध्यम से प्रकाश में आते हैं सांसारिक रजो, तमो तथा सतो गुणों से सर्वथा भिन्न होते हैं। ऐसे गुण अभक्तों द्वारा प्राप्त नहीं किये जा सकते। *पद्म पुराण* के उत्तरखण्ड में कहा गया है कि भगवान् की एक चौथाई सृष्टि से परे शेष तीन चौथाई संसार है। भौतिक सृष्टि तथा आध्यात्मिक सृष्टि के बीच की विभाजक रेखा विरजा नदी है, जो भगवान् के शरीर के पसीने से निकली है। इसके परे ही शेष तीन चौथाई सृष्टि है। यह अंश शाश्वत, अमर, अक्षय तथा अनन्त है और इसमें जीवन की परम सिद्ध स्थिति विद्यमान रहती है। *सांख्य कौमुदी* में कहा गया है कि अमिश्रित सतोगुण अर्थात् सत्त्व अथवा दिव्यता भौतिक गुणों के सर्वथा विपरीत है। वहाँ की समस्त जीवात्माएँ अखंडित, शाश्वत रूप से परस्पर सम्बन्धित हैं और भगवान् प्रधान तथा सर्वोपरि सत्ता हैं। आगम पुराणों में भी दिव्य धाम का वर्णन इस प्रकार मिलता है—पार्षदों को भगवान् की सृष्टि में कहीं भी जाने की छूट है और ऐसी सृष्टि की कोई सीमा नहीं है, विशेष रूप से तीन-चौथाई क्षेत्र में असीम क्षेत्र होने के कारण। इस संयोग का न तो इतिहास है, न इसका कोई अन्त है।

यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वहाँ पर भौतिक रजो तथा तमो गुणों के सर्वथा अभाव के कारण, सृष्टि या प्रलय का प्रश्न ही नहीं उठता। भौतिक जगत में प्रत्येक वस्तु की सृष्टि होती है और

फिर उसका विनाश होता है और सृष्टि तथा विनाश की मध्यावधि क्षणिक है। दिव्यलोक में न तो सृष्टि होती है और न विनाश, फलतः जीवन की अवधि अनन्त होती है। दूसरे शब्दों में, दिव्यलोक की प्रत्येक वस्तु अमर है, वह ज्ञान तथा आनन्द से परि-पूर्ण है और अविनश्वर है। विनाश न होने से, कालानुमान हेतु, वहाँ पर न तो भूत है, न वर्तमान और न भविष्य। इस श्लोक में स्पष्ट उल्लेख है कि काल का प्रभाव उसकी अनुपस्थिति से प्रकट है। सारा संसार तत्त्वों के घात-प्रतिघात से प्रकट होता है, जिससे भूत, वर्तमान तथा भविष्य के रूप में समय का प्रभाव सुस्पष्ट दिखता है। किन्तु वहाँ पर कार्य-कारण के ऐसे घात-प्रतिघात नहीं होते, अतः जन्म-चक्र, वृद्धि, अस्तित्व, रूपान्तर, क्षय तथा प्रलय—ये छः भौतिक परिवर्तन नहीं पाये जाते। यह तो भगवान् की शक्ति का शुद्ध प्राकट्य है और इसमें कोई माया नहीं है जैसाकि इस भौतिक संसार में अनुभव होता है। वैकुण्ठ का समग्र अस्तित्व बताता है कि वहाँ का प्रत्येक जीव भगवान् का अनुचर है। वहाँ भगवान् ही मुख्य नेता हैं वहाँ नायकत्त्व के लिए कोई होड़ नहीं है और सारे लोग भगवान् के अनुगामी हैं। अतः वेदों में पुष्टि की गई है कि भगवान् ही प्रधान नायक हैं और शेष सारी जीवात्माएँ उनके अधीन हैं, क्योंकि ईश्वर ही इन सभी की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले हैं।

श्यामावदाताः शत-पत्र-लोचनाः
पिशङ्ग-वस्त्राः सुरुचः सुपेशसः ।
सर्वे चतुर्बाहव उन्मिषन्मणि--
प्रवेक-निष्काभरणाः सुवर्चसः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्याम—नीलवर्ण; अवदाताः—आभा से युक्त; शत-पत्र—कमल-पुष्प; लोचनाः—आँखें; पिशङ्ग—पीले रंग का; वस्त्राः—वस्त्र; सु-रुचः—अत्यन्त आकर्षक; सु-पेशसः—तरुण; सर्वे—सभी; चतुः—चार; बाहवः—बाहें, हाथ; उन्मिषन्—कान्तिमान्; मणि—मोती; प्रवेक—उत्त कोटि के; निष्क-आभरणाः—आलंकारिक आभूषण; सु-वर्चसः—तेजमय।

वैकुण्ठ लोक के वासियों को आभामय श्यामवर्ण का बताया गया है। उनकी आँखें कमल-पुष्प के समान, उनके वस्त्र पीलाभ रंग के और उनकी शारीरिक संरचना अत्यन्त आकर्षक है। वे उभरते हुए तरुणों की तरह हैं, उन सबके चार-चार हाथ हैं। वे मोती के हारों तथा अलंकृत पदकों से भली-भाँति विभूषित होकर अत्यन्त तेजवान् प्रतीत होते हैं।

तात्पर्य : वैकुण्ठ लोक के वासी दिव्य अंग प्रत्यंगों वाले ऐसे महापुरुष हैं, जो इस लोक में नहीं

पाये जाते। इनका वर्णन हमें *श्रीमद्भागवत* जैसे ग्रन्थों में ही मिलता है। इन ग्रन्थों में दिव्यता के जो निर्विशेष वर्णन प्राप्त होते हैं, वे यह इंगित करते हैं कि वैकुण्ठ लोक की सी शारीरिक रचना ब्रह्माण्ड में अन्यत्र कहीं नहीं देखी जाती है। जिस प्रकार किसी एक लोक के विभिन्न स्थानों में शारीरिक रचना पृथक्-पृथक् होती है या विभिन्न लोकों के प्राणियों के शरीरों की पृथक्-पृथक् रचना होती है, उसी प्रकार वैकुण्ठ लोक के वासियों की शारीरिक रचना भी भौतिक जगत के वासियों से सर्वथा भिन्न है। उदाहरणार्थ, वहाँ के चार हाथ इस संसार के दो हाथ से भिन्न हैं।

प्रवाल-वैदूर्य-मृणाल-वर्चसः ।
परिस्फुरत्कुण्डल-मौलि-मालिनः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

प्रवाल—मूँगा; वैदूर्य—विशेष मणि; मृणाल—स्वर्गिक कमल; वर्चसः—किरणें; परिस्फुरत्—फूल रही है; कुण्डल—कान के आभूषण; मौलि—सिर; मालिनः—हारों से युक्त।.

उनमें से कुछ की आकृतियाँ मूँगे तथा हीरे की भाँति तेजस्वी हैं और वे अपने सिरों पर मालाएँ धारण किए हैं, जो कमल-पुष्प के समान खिली हुई हैं। कुछ ने कानों में कुण्डल पहन रखे हैं।

तात्पर्य : कुछ निवासी ऐसे हैं, जिन्हें सारूप्य मुक्ति प्राप्त है, अर्थात् उनके शारीरिक लक्षण श्रीभगवान् जैसे हैं। वैदूर्य मणि विशेषतः भगवान् के निमित्त है, किन्तु जिसे भगवान् का सारूप्य प्राप्त होता है, उसको ऐसा मणि धारण करने का विशेष सौभाग्य प्राप्त होता है।

भ्राजिष्णुभिर्यः परितो विराजते
लसद्विमानावलिभिर्महात्मनाम् ।
विद्योतमानः प्रमदोत्तमाद्युभिः
सविद्युदभ्रावलिभिर्यथा नभः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

भ्राजिष्णुभिः—आभा से; यः—वैकुण्ठ लोक; परितः—घिरा हुआ; विराजते—स्थित है; लसत्—तेजमान; विमान—विमान के; अवलिभिः—समूह से; महा-आत्मनाम्—भगवान् के महान् भक्तों का; विद्योतमानः—बिजली के समान सुन्दर; प्रमद—स्त्रियाँ; उत्तम—स्वर्गिक; अद्युभिः—मुखड़ों से; स-विद्युत्—बिजली सहित; अभ्रावलिभिः—आकाश में बादलों से; यथा—जिस प्रकार; नभः—आकाश।.

सारे वैकुण्ठ लोक विभिन्न चमचमाते विमानों से भी घिरे हैं। ये विमान महात्माओं या

भगवद्‌भक्तों के हैं। स्त्रियाँ अपने स्वर्गिक मुखमण्डल के कारण बिजली के समान सुन्दर लगती हैं और ये सब मिलकर ऐसी प्रतीत होती हैं मानो बादलों तथा बिजली से आकाश सुशोभित हो।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि वैकुण्ठ लोकों में चमचमाते विमान रहते हैं जिनमें भगवान् के परमभक्त तथा बिजली के समान द्युतिमान नैसर्गिक सुन्दर स्त्रियाँ बैठी रहती हैं। विमानों जैसे तरह-तरह के अन्य वाहन भी होंगे, किन्तु वे सम्भवत: यन्त्रों द्वारा न चलाये जाते हों जैसाकि हमारा अनुभव इस संसार में हैं। चूँकि हर वस्तु *सच्चिदानन्दस्वरूप* है, अत: विमान तथा वाहन भी ब्रह्म के ही समान गुणों वाले होंगे। यद्यपि वहाँ ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, किन्तु इसका यह गलत अर्थ नहीं समझना चाहिए कि वहाँ केवल शून्य है और विविधता नहीं है। ऐसा सोचना ज्ञान के अभाव का द्योतक है, अन्यथा ब्रह्म में रिक्तता की ऐसी भ्रांति किसी को क्यों हो? जिस प्रकार वहाँ विमान, स्त्रियाँ तथा पुरुष हैं उसी तरह लोक विशेष के अनुरूप नगर, घर तथा अन्य वस्तुएँ भी होती होंगी। मनुष्य को इस जगत के आधार पर दिव्य जगत के सम्बन्ध में अपूर्णता का आरोप नहीं करना चाहिए और वायुमण्डल (आकाश) को काल के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं समझना चाहिए, जैसाकि पहले कहा जा चुका है।

श्रीर्यत्र रूपिण्युरुगाय-पादयो:
करोति मानं बहुधा विभूतिभि: ।
प्रेङ्खं श्रिता या कुसुमाकरानुगै-
र्विगीयमाना प्रिय-कर्म गायती ॥ १४॥

शब्दार्थ

श्री:—लक्ष्मी जी; यत्र—वैकुण्ठ लोक में; रूपिणी—अपने दिव्य रूप में; उरुगाय—भगवान्, जिनकी स्तुति बड़े-बड़े भक्त करते हैं; पादयो:—भगवान् के चरणकमलों में; करोति—करती है; मानम्—सादर सेवा; बहुधा—विविध सामग्री से; विभूतिभि:—अपने पार्षदों के सहित; प्रेङ्खम्—प्रसन्नता से संचलन (थिरकन); श्रिता—शरणागत; या—जो; कुसुमाकर—वसन्त; अनुगै:—भौरों से; विगीयमाना—गुण-गान करते हुए; प्रिय-कर्म—अपने प्रियतम के कार्यकलापों; गायती—गाती हुई।

दिव्य रूपधारी लक्ष्मीजी भगवान् के चरणकमलों की प्रेमपूर्ण सेवा में लगी हुई हैं और वसन्त के अनुचर भौरों के द्वारा विचलित होकर, वे न केवल विविध विलास—अपनी सहेलियों सहित भगवान् की सेवा—में तत्पर हैं, अपितु भगवान् की लीलाओं का गुणगान भी कर रही हैं।

ददर्श तत्राखिल-सात्वतां पतिं
श्रियः पतिं यज्ञ-पतिं जगत्पतिम् ।
सुनन्द-नन्द-प्रबलार्हणादिभिः
स्व-पार्षदाग्रैः परिसेवितं विभुम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

ददर्श—ब्रह्मा ने देखा; तत्र—वहाँ (वैकुण्ठ लोक में); अखिल—सम्पूर्ण; सात्वताम्—परम भक्तों के; पतिम्—स्वामी; श्रियः—लक्ष्मी के; पतिम्—स्वामी; यज्ञ—यज्ञ के; पतिम्—स्वामी; जगत्—ब्रह्माण्ड के; पतिम्—स्वामी; सुनन्द—सुनन्द; नन्द—नन्द; प्रबल—प्रबल; अर्हण—अर्हण; आदिभिः—आदि से; स्व-पार्षद—अपने संगी; अग्रैः—अग्रणी; परिसेवितम्—दिव्य प्रेम में सेवित; विभुम्—परम शक्तिमान।

ब्रह्माजी ने वैकुण्ठ लोक में उन श्रीभगवान् को देखा जो सारे भक्त समुदाय के स्वामी, लक्ष्मीजी के पति, समस्त यज्ञों के स्वामी तथा ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं और जो नन्द, सुनन्द, प्रबल तथा अर्हण आदि अपने अग्रणी पार्षदों द्वारा सेवित हैं।

तात्पर्य : जब हम राजा की बात करते हैं, तो इससे यही समझा जाता है कि राजा के साथ उनके विश्वासपात्र पार्षद—यथा उनका सचिव, निजी सचिव, मन्त्री, सलाहकार रहते हैं। इसी प्रकार जब हम भगवान् का दर्शन करते हैं, तो उनके साथ उनकी विभिन्न शक्तियाँ, पार्षद, विश्वासपात्र सेवक आदि भी देखते हैं। अतः परमेश्वर जो समस्त जीवों, समस्त भक्त सम्प्रदायों, ऐश्वर्यों, यज्ञों का स्वामी हैं और अपनी सारी सृष्टि की प्रत्येक वस्तु का भोक्ता हैं, न केवल परम पुरुष हैं वरन् अपनी दिव्य सेवा करने वाले पार्षदों से निरन्तर घिरे रहते है।

भृत्य-प्रसादाभिमुखं दृगासवं
प्रसन्न-हासारुण-लोचनाननम् ।
किरीटिनं कुण्डलिनं चतुर्भुजं
पीतांशुकं वक्षसि लक्षितं श्रिया ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

भृत्य—दास; प्रसाद—स्नेह; अभिमुखम् दृक्—दृष्टि; आसवम्—मादक पदार्थ; प्रसन्न—अत्यन्त प्रसन्न; हास—हँसी; अरुण—लाल; लोचन—नेत्र; आननम्—मुख; किरीटिनम्—मुकुटयुक्त; कुण्डलिनम्—कुण्डलों सहित; चतुः-भुजम्—चारों हाथों से युक्त; पीत—पीला; अंशुकम्—वस्त्र; वक्षसि—छाती पर; लक्षितम्—अंकित; श्रिया—लक्ष्मी से।

अपने प्रिय दासों की ओर कृपा दृष्टि डालते हुए, मादक तथा आकर्षक दृष्टि वाले भगवान् अत्यधिक तुष्ट लगे। उनका मुस्काता मुख मोहक लाल रंग से सुशोभित था। वे पीले वस्त्र पहने थे और कानों में कुण्डल तथा सिर में मुकुट धारण किये हुए थे। उनके चार हाथ थे और उनका

वक्षस्थल लक्ष्मीजी की रेखाकृतियों से चिह्नित था।

तात्पर्य : *पद्म पुराण* के उत्तर खंड में योगपीठ का अर्थात् उस स्थान का जहाँ भगवान् अपने नित्य भक्तों को दर्शन देते हैं, पूर्ण विवरण दिया हुआ है। उस योगपीठ में साक्षात् धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य तथा त्याग भगवान् के चरणकमलों पर आसीन हैं। वहाँ पर ऋक्, साम, यजु: तथा अथर्व—ये चारों वेद भगवान् को सलाह देने के लिए उपस्थित हैं। चण्ड आदि सोलहों शक्तियाँ वहाँ विद्यमान हैं। चण्ड तथा कुमुद प्रथम दो द्वारपाल हैं; बीच के द्वार पर भद्र तथा सुभद्र और अन्तिम द्वार पर जय तथा विजय हैं। कुमुद, कुमुदाक्ष, पुण्डरीक, वामन, शंकुकर्ण, सर्वनेत्र, सुमुख आदि अन्य द्वारपाल भी हैं। भगवान् का महल अच्छी तरह सजा हुआ तथा उपर्युक्त द्वारपालों द्वारा रक्षित है।

अध्यर्हणीयासनमास्थितं परं
वृतं चतु:-षोडश-पञ्च-शक्तिभि: ।
युक्तं भगै: स्वैरितरत्र चाध्रुवै:
स्व एव धामन् रममाणमीश्वरम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

अध्यर्हणीय—अत्यन्त पूज्य; आसनम्—सिंहासन पर; आस्थितम्—बैठे हुए; परम्—परमेश्वर; वृतम्—घिरे हुए; चतु:—चार: प्रकृति, पुरुष, महत् तथा अहंकार; षोडश—सोलह; पञ्च—पाँच; शक्तिभि:—शक्तियों से; युक्तम्—युक्त; भगै:—ऐश्वर्य से; स्वै:—अपने; इतरत्र—अन्य छोटे-छोटे पराक्रम; च—भी; अध्रुवै:—क्षणिक; स्वे—अपने; एव—निश्चय ही; धामन्—धाम; रममाणम्—रमण करते हुए; ईश्वरम्—परमेश्वर।

भगवान् अपने सिंहासन पर विराजमान थे और विभिन्न शक्तियों से—यथा चार, सोलह, पाँच तथा छ: प्राकृतिक ऐश्वर्यों के साथ अन्य छोटी एवं क्षणिक शक्तियों से घिरे हुए थे। किन्तु वे वास्तविक परमेश्वर थे और अपने धाम में आनन्द ले रहे थे।

तात्पर्य : भगवान् अपने छ: ऐश्वर्यों से युक्त होते हैं। विशेषत: वे सबसे धनी, सर्वशक्तिमान, सर्वाधिक प्रसिद्ध, सर्वाधिक सुन्दर, सर्वाधिक ज्ञानी तथा सबसे बड़े त्यागी होते हैं और उनकी चार भौतिक सर्जनात्मक शक्तियों के लिए प्रकृति, पुरुष, महत् तत्त्व के सिद्धान्त तथा अहंकार तो उनकी सेवा करते हैं। उनकी सेवा सोलह तत्त्व भी करते हैं—पाँच तत्त्व (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर), पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (नाक, कान, आँख, जीभ तथा त्वचा) तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ (हाथ, पाँव, पेट, मल-त्याग इन्द्रियां मूत्र तथा जननेन्द्रियाँ) तथा मन। पाँच के अन्तर्गत रूप, स्वाद, गंध, शब्द तथा स्पर्श

नामक पाँच तन्मात्राएँ आती हैं। ये पच्चीस शक्तियाँ सृष्टि करते समय भगवान् की सहायक बनती हैं और भगवान् की सेवा में प्रत्यक्ष रूप में लगी रहती हैं। लघु ऐश्वर्यों की संख्या आठ है (अस्थायी प्रभुत्व के लिए योगियों द्वारा प्राप्त की गई अष्ट सिद्धियाँ) और ये भी उनके वश में रहते हैं, किन्तु बिना प्रयास के इन समस्त शक्तियों से स्वाभाविक रुप से पूर्ण रहते हैं और इस कारण ही वे परमेश्वर हैं।

जीव कठिन तप तथा शारीरिक आसनों के द्वारा अस्थाई रुप से विलक्षण शक्ति प्राप्त कर सकता है, किन्तु इतने से वह परमेश्वर नहीं बन जाता। परमेश्वर अपनी शक्ति से ही किसी भी योगी से कहीं अधिक शक्तिमान है, किसी भी ज्ञानी की अपेक्षा अधिक ज्ञानवान, किसी भी धनी की तुलना में अत्यन्त धनवान, किसी भी सुन्दर जीव की अपेक्षा अनन्त रूपवान तथा किसी भी उपकारी की अपेक्षा अधिक दानी है। वे सर्वोपरि हैं; कोई न तो उनके समान है, न उनसे बढ़कर। कोई कितना ही तप या योगिक प्रदर्शन क्यों न करे, उपर्युक्त किन्हीं भी शक्तियों में उनकी समता नहीं कर सकता। योगी उनकी कृपा पर आश्रित रहते हैं। अपनी असीम दानशीलता के कारण वे शक्ति के पीछे दौड़ने वाले योगियों को कुछ अस्थायी शक्तियाँ प्रदान कर सकते हैं, किन्तु अपने शुद्ध भक्तों को, जो भगवान् से उनकी दिव्य सेवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहते, वे प्रसन्न होकर शुद्ध सेवा के बदले में अपने आपको दे डालते हैं।

तद्दर्शनाह्लाद-परिप्लुतान्तरो
हृष्यत्तनुः प्रेम-भराश्रु-लोचनः ।
ननाम पादाम्बुजमस्य विश्व-सृग्
यत् पारमहंस्येन पथाधिगम्यते ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तत्—भगवान् के उस; दर्शन—दर्शन से; आह्लाद—प्रसन्नता; परिप्लुत—लबालब भरा हुआ, आप्लावित; अन्तरः—हृदय के भीतर; हृष्यत्—पुलकित; तनुः—शरीर; प्रेम-भर—पूर्ण दिव्य प्रेम में; अश्रु—आँसू; लोचनः—आँखों में; ननाम—नतमस्तक हुआ; पाद-अम्बुजम्—चरणकमलों पर; अस्य—भगवान् के; विश्व-सृक्—ब्रह्माण्ड का स्त्रष्टा; यत्—जो; पारमहंस्येन—परम मुक्त पुरुष द्वारा; पथा—पथ; अधिगम्यते—अनुसरण किया जाता है।

इस तरह भगवान् को उनके पूर्ण रूप में देखकर ब्रह्माजी का हृदय आनन्द से आप्लावित हो उठा और दिव्य प्रेम तथा आनन्द से उनके नेत्रों में प्रेमाश्रु आ गये। वे भगवान् के समक्ष नतमस्तक हो गये। जीव (परमहंस) के लिए परम सिद्धि की यही विधि है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है कि यह महान् ग्रंथ परमहंसों के लिए है। *परमो निर्मत्सराणां सताम्— श्रीमद्भागवत* ईर्ष्या से पूर्णत: मुक्त पुरुषों के हेतु है। बद्ध जीवन में ईर्ष्या सबसे ऊपर से अर्थात् श्रीभगवान् के विरुद्ध ईर्ष्या रखने से शुरू होती है। सभी शास्त्र भगवान् की सत्ता को मानते हैं और *भगवद्गीता* में तो परमेश्वर के सगुण रूप का विशेष वर्णन हुआ है। यहाँ तक कि इस ग्रंथ के अन्त में इस बात पर बल दिया गया है कि जीवन के क्लेशों से बचने के लिए मनुष्य को भगवान् की शरण में जाना चाहिए। दुर्भाग्यवश अपवित्र पृष्ठभूमि वाले व्यक्ति ईश्वर में विश्वास नहीं करते और हर व्यक्ति बिना किसी योग्यता के ईश्वर बनना चाहता है। बद्धजीवों का यह ईर्ष्यालु स्वभाव ईश्वर के साथ तदाकार होने की अवस्था तक बना रहता है, अत: बड़े से बड़ा दार्शनिक भी जो ईश्वर के साथ तादात्म्य चाहता है अपने ईर्ष्यालु मन के कारण कभी भी परमहंस नहीं बन सकता। अत: जो लोग भक्तियोग में रत हैं केवल वे ही जीवन की परमहंस अवस्था को प्राप्त होते हैं। यदि मनुष्य का यह दृढ़ विश्वास हो जाय कि दिव्य प्रेम में भगवान् की भक्ति करने मात्र से वह परम सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो सकता है, तो बस वहीं से भक्तियोग की शुरुआत हो जाती है। ब्रह्माजी को इस भक्तियोग की कला पर विश्वास था उन्होंने भगवान् द्वारा तप करने के आदेश पर विश्वास किया और कठिन तप के द्वारा वैकुण्ठ लोक तथा भगवान् के दर्शन प्राप्त करने में सफलता पाई। कोई भी मनुष्य मन या मशीन के साधनों द्वारा परमेश्वर के धाम तक नहीं पहुँच सकता। केवल भक्तियोग के बल पर वह वैकुण्ठ लोक को जा सकता है, क्योंकि भगवान् का साक्षात्कार भक्तियोग के द्वारा ही किया जा सकता है। ब्रह्माजी अपने कमल-आसन पर विराजमान थे और वे वहीं से अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक भक्तियोग की साधना द्वारा चित्र-विचित्र वैकुण्ठ लोक को भगवान् तथा उनके पार्षदों सहित देख सके।

ब्रह्माजी के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए आज भी कोई व्यक्ति यहाँ पर बताये परमहंस के पथ पर चलकर वैसी ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी इस युग में मनुष्यों के लिए आत्म-साक्षात्कार की इस विधि की संस्तुति की है। सर्वप्रथम मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् श्रीकृष्ण में पूर्ण विश्वास करे। चिन्तन द्वारा समझने करने का कोई प्रयत्न न करे, पहले *श्रीमद्भगवद्गीता* से उनके विषय में सुने और फिर *श्रीमद्भागवत* से सुने। ऐसे उपदेशों को वह

भागवत व्यक्ति से सुने, पेशेवर कथावाचक या किसी कर्मी, ज्ञानी या योगी से नहीं। ज्ञान प्राप्त करने का यही रहस्य है। मनुष्य को संन्यासी बनना आवश्यक नहीं है; वह अपनी वर्तमान अवस्था में बना रह सकता है, किन्तु उसे भगवद्भक्त की संगति ढूँढ़नी चाहिए और श्रद्धा तथा विश्वास के साथ उससे भगवान् की दिव्य कथा सुननी चाहिए। यहाँ पर संस्तुत परमहंस का पथ यही है। भगवान् के अनेक पवित्र नामों में से 'अजित' भी एक नाम है, जिसका अर्थ है किसी दूसरे के द्वारा कभी न जीता जाने वाला। फिर भी उन्हें परमहंस पथ से जीता जा सकता है जैसाकि परम गुरु ब्रह्मा ने करके दिखाया है। ब्रह्मा ने स्वयं इस *परमहंस पन्था:* को *श्रीमद्भागवत* (१०.१४.३) में अपने शब्दों में इस प्रकार बताया है—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीय वार्ताम्।
स्थाने स्थिता: श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये
प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥

ब्रह्माजी ने कहा, "हे भगवान् श्रीकृष्ण! जो भक्त परमात्मा के अस्तित्व में मिल जाने के उद्देश्य से चिन्तन मार्ग को त्याग कर प्रामाणिक साधु या संत से आपकी महिमा तथा लीलाओं का श्रवण करता है और अपने सामाजिक जीवन में वृत्तिपरक कर्तव्य का पालन करता हुआ निष्कपट जीवन व्यतीत करता है, वह आपकी कृपा तथा दया को जीत सकता है, यद्यपि आप अजित हैं।" यही परमहंसों का पथ है, जिसका अनुसरण स्वयं ब्रह्माजी ने किया और बाद में सफलता प्राप्त करने के लिए औरों के लिए इसीकी संस्तुति की।

तं प्रीयमाणं समुपस्थितं कविं
प्रजा-विसर्गे निज-शासनार्हणम् ।
बभाष ईषत्स्मित-शोचिषा गिरा
प्रिय: प्रियं प्रीत-मना: करे स्पृशन् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तम्—ब्रह्माजी को; प्रीयमाणम्—प्रिय पात्र; समुपस्थितम्—सामने उपस्थित; कविम्—महान् विद्वान; प्रजा—जीवात्माओं की; विसर्गे—सृष्टि के कार्य में; निज—अपना; शासन—नियन्त्रण; अर्हणम्—उपयुक्त; बभाषे—सम्बोधित किया; ईषत्—मन्द;

स्मित—हँसते हुए; शोचिषा—उत्साहवर्धक; गिरा—वाणी; प्रियः—प्रिय; प्रियम्—प्रेमी को; प्रीत-मनाः—अत्यन्त प्रसन्न होकर; करे—हाथ से; स्पृशन्—छूते हुए।

भगवान् ने ब्रह्माजी को अपने समक्ष देखकर उन्हें जीवों की सृष्टि करने तथा जीवों को अपनी इच्छानुसार नियन्त्रित करने के लिए उपुयक्त (पात्र) समझा। इस प्रकार प्रसन्न होकर भगवान् ने ब्रह्मा से मंद-मंद हँसते हुए हाथ मिलाया और उन्हें इस प्रकार से सम्बोधित किया।

तात्पर्य : जगत की सृष्टि न तो निरुद्देश्य हुई है न आकस्मिक। इस तरह नित्यबद्ध जीवात्माओं को भगवान् द्वारा ब्रह्माजी जैसे अपने ही प्रतिनिधि के मार्ग-दर्शन में मुक्ति के लिए अवसर प्रदान किया जाता है। ब्रह्माजी को वैदिक ज्ञान का उपदेश देते हैं जिससे इस ज्ञान का प्रसार बद्धजीवों तक हो सके। बद्धजीव भगवान् से अपने सम्बन्ध को भूलते रहते हैं, अत: भगवान् के लिए आवश्यक है कि वे सृष्टि करें और वैदिक ज्ञान का प्रसार करें। बद्धजीवों के उद्धार का महान् उत्तरदायित्व ब्रह्माजी पर है, इसीलिए वे भगवान् को अत्यन्त प्रिय हैं।

ब्रह्माजी भी अपने कर्तव्य को भलीभाँति निबाहते हैं—वे न केवल जीवात्माओं को उत्पन्न करते हैं वरन् पतित जीवों के उद्धार के लिए अपने दल को चारों ओर फैला देते हैं। यह दल *ब्रह्म सम्प्रदाय* कहलाता है और इस दल का हर सदस्य आज भी पतित जीवों का उद्धार करके भगवान् के धाम भेजने में संलग्न है। भगवान् अपने अंशों को वापस पाने के लिए अत्यन्त उत्सुक रहते हैं—जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है। जो पतितों को भगवान् के धाम ले जाने का कार्य करता है, उन्हें उससे अधिक प्रिय अन्य कोई नहीं है।

ब्रह्म सम्प्रदाय में कुछ ऐसे स्वधर्म त्यागी भी हैं जिनका एकमात्र कार्य ईश्वर की विस्मृति कराकर मनुष्यों को इस भौतिक संसार में अधिकाधिक फँसाना है। ऐसे मनुष्य कभी भी भगवान् के प्रिय नहीं बन सकते। भगवान् इन ईर्ष्यालु असुरों को ऐसे अंधकार में भेज देते हैं जहाँ वे परमेश्वर को जान भी नहीं सकें।

किन्तु ब्रह्म सम्प्रदाय का कोई भी व्यक्ति जो भगवान् के सन्देश का उपदेश देता है, भगवान् को प्रिय है और ऐसे ही प्रामाणिक भक्ति सम्प्रदाय के प्रचारक से प्रसन्न होकर वे उससे हाथ मिलाते हैं।

श्री-भगवानुवाच

त्वयाहं तोषितः सम्यग् वेद-गर्भ सिसृक्षया ।
चिरं भृतेन तपसा दुस्तोषः कूट-योगिनाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—परम सुन्दर भगवान् ने कहा; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अहम्—मैं; तोषितः—प्रसन्न हूँ; सम्यक्—पूर्ण; वेद-गर्भ—वेद से संपृक्त; सिसृक्षया—उत्पत्ति के हेतु; चिरम्—दीर्घकाल से; भृतेन—संचित; तपसा—तपस्या से; दुस्तोषः—कठिनाई से प्रसन्न होने वाला; कूट-योगिनाम्—छद्मयोगियों के लिए।

परम सुन्दर भगवान् ने ब्रह्मा को सम्बोधित किया—हे वेदों से संपृक्त ब्रह्मा, सृष्टि की इच्छा से की गई तुम्हारी दीर्घकालीन तपस्या से मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ। मैं छद्मयोगियों से बहुत ही मुश्किल से प्रसन्न हो पाता हूँ।

तात्पर्य : तपस्या दो प्रकार की होती है—एक तो इन्द्रियतृप्ति हेतु और दूसरी आत्म-साक्षात्कार हेतु। ऐसे अनेक छद्मयोगी हैं, जो अपनी तृप्ति के लिए कठिन तपस्या करते हैं, किन्तु ऐसे भी योगी हैं, जो भगवान् की इन्द्रिय-तृप्ति के लिए तप करते हैं। उदाहरणार्थ यदि परमाणु हथियार की खोज के लिए तप किया जाय तो इससे भगवान् प्रसन्न नहीं होंगे, क्योंकि ऐसा तप कभी भी सन्तोषप्रद नहीं होगा। प्रत्येक मनुष्य को मरना है, किन्तु यदि किसी के तप द्वारा मृत्यु की प्रक्रिया त्वरित हो जाये, तो इससे भगवान् को प्रसन्नता नहीं होगी। भगवान् चाहते हैं कि उनके सारे अंश भगवान् के धाम पहुँच कर शाश्वत जीवन पाएँ और आनन्द भोगें और सारी भौतिक सृष्टि की रचना इसी उद्देश्य से की गई है। ब्रह्मा ने इसी उद्देश्य के लिए—अर्थात् सृष्टि क्रम को नियमित करने के लिए तपस्या की, जिससे भगवान् प्रसन्न हो सकें। इसीलिए भगवान् उनसे इतने प्रसन्न हुए और ब्रह्माजी को वैदिक ज्ञान से पूरित कर दिया। वैदिक ज्ञान का चरम लक्ष्य भगवान् को जानना है, अन्य कार्यों में इसका दुरुपयोग करना नहीं। जो वैदिक ज्ञान का उपयोग इस कार्य के लिए नहीं करते, वे *कूट योगी* कहलाते हैं, जो निरुद्देश्य अपना जीवन विनष्ट कर देते हैं।

वरं वरय भद्रं ते वरेशं माभिवाञ्छितम् ।
ब्रह्मञ्छ्रेयः-परिश्रामः पुंसां मद्दर्शनावधिः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

वरम्—वरदान; वरय—मुझसे माँगो; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारा; वर-ईशम्—समस्त वरों के दाता; मा (माम्)—मुझसे; अभिवाञ्छितम्—जो चाहो, मुँह माँगा; ब्रह्मन्—हे ब्रह्मा; श्रेयः—परम सफलता; परिश्रामः—समस्त तपस्या के लिए; पुंसाम्—सबों के लिए; मत्—मेरा; दर्शन—साक्षात्कार; अवधिः—पर्यवसान, अन्तिम सीमा।

तुम्हारा कल्याण हो। हे ब्रह्मा, तुम मुझसे जो चाहो माँग सकते हो, क्योंकि मैं समस्त वरों का वरदाता हूँ; तुम्हें ज्ञात हो कि सारी तपस्या के फलस्वरूप जो अन्तिम वर प्राप्त होता है, वह मेरा दर्शन है।

तात्पर्य : परमेश्वर का परम साक्षात्कार उनको जानना और अपने समक्ष उनका दर्शन करना है। निर्विशेष ब्रह्म तथा अन्तर्यामी परमात्मा का साक्षात्कार परम साक्षात्कार नहीं है। जब मनुष्य को परमेश्वर का साक्षात्कार हो जाता है, तो उसे ऐसी तपस्या के लिए संघर्ष करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। जीवन की दूसरी अवस्था है ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए उनकी भक्ति करना। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि जिसने भगवान् के दर्शन कर लिए हैं उसे पूर्णसिद्धि प्राप्त हो चुकी है, क्योंकि उस उच्चतम सिद्धि में सभी कुछ सम्मिलित है। किन्तु निर्विशेषवादी तथा छद्मयोगी इस अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकते।

मनीषितानुभावोऽयं मम लोकावलोकनम् ।
यदुपश्रुत्य रहसि चकर्थ परमं तपः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

मनीषित—पटुता; अनुभावः—दर्शन; अयम्—यह; मम—मेरा; लोक—धाम; अवलोकनम्—वास्तविक अनुभव से देखते हुए; यत्—क्योंकि; उपश्रुत्य—सुनकर; रहसि—परम तप में; चकर्थ—सम्पन्न करके; परमम्—सर्वोच्च; तपः—तपस्या।

सर्वोच्च सिद्धिमयी पटुता है मेरे धाम का साक्षात् दर्शन और यह दर्शन तुम्हें मेरे आदेश के अनुसार कठिन तपस्या के प्रति तुम्हारी विनम्र प्रवृत्ति के कारण सम्भव हो सका है।

तात्पर्य : जीवन की सर्वोच्च सिद्धि की अवस्था भगवान् की कृपा के फलस्वरूप वास्तविक दर्शन द्वारा भगवान् को जानना है। इसकी प्राप्ति उस प्रत्येक व्यक्ति को हो सकती है, जो शास्त्रोक्त तथा प्रामाणिक आचार्यों द्वारा स्वीकृत मानदण्ड के अनुसार भक्तिमय सेवा का इच्छुक है। उदाहरणार्थ, *भगवद्गीता* समस्त महान् आचार्यों, यथा शंकर, रामानुज, मध्व, चैतन्य, विश्वनाथ, बलदेव, सिद्धान्त सरस्वती तथा अनेक अन्यों द्वारा स्वीकृत प्रामाणिक वैदिक ग्रन्थ है। उसी *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरा ही ध्यान धरो, मेरे भक्त बनो, मेरी ही पूजा करो और सदैव मेरे ही समक्ष झुको। ऐसा करने से निस्सन्देह मनुष्य का भगवान् के धाम को जाना निश्चित है। अन्य स्थानों में भी

इसी तरह कहा गया है कि अन्य सारे कार्यों को त्यागकर नि:संकोच भाव से भगवान् की शरण में जाओ। भगवान् ऐसे भक्त को समस्त सुरक्षा प्रदान करते हैं। सर्वोच्च सिद्ध-अवस्था प्राप्त करने के ये गुप्त गुर हैं। ब्रह्माजी ने इन्हीं नियमों का किसी श्रेष्ठता का विचार किए बिना पालन किया जिससे उन्हें भगवान् के धाम को सारी साज-सामग्री के साथ देखने तथा भगवान् के साक्षात्कार का सुयोग प्राप्त हो सका। न तो भगवान् के शरीर के तेज का निर्गुण दर्शन सर्वोच्च सिद्धावस्था है, न ही परमात्मा की अनुभूति की अवस्था। *मनीषिता* शब्द सार्थक है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने तथाकथित ज्ञान का झूठा या सही गर्व होता है, किन्तु भगवान् का कथन है कि ज्ञान की सर्वोच्च सिद्धावस्था उनको तथा उनके धाम को मायारहित होकर जान लेना है।

प्रत्यादिष्टं मया तत्र त्वयि कर्म-विमोहिते ।
तपो मे हृदयं साक्षादात्माहं तपसोऽनघ ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

प्रत्यादिष्टम्—आदेश प्राप्त; मया—मेरे द्वारा; तत्र—के कारण; त्वयि—तुमको; कर्म—कर्तव्य; विमोहिते—मोहग्रस्त होकर; तप:—तपस्या; मे—मेरा; हृदयम्—हृदय; साक्षात्—प्रत्यक्ष रूप से; आत्मा—जीवन तथा आत्मा; अहम्—मैं स्वयं; तपस:—तपस्या करने वाले का; अनघ—हे निष्पाप।

हे निष्पाप ब्रह्मा, तुम्हें ज्ञात हो कि जब तुम अपने कर्तव्य के प्रति असमंजस में थे तो सबसे पहले मैंने ही तुम्हें तपस्या करने का आदेश दिया था। ऐसी तपस्या ही मेरा हृदय और मेरी आत्मा है, अत: तपस्या मुझसे अभिन्न है।

तात्पर्य : जिस तपस्या से भगवान् का साक्षात् दर्शन किया जा सकता है, उसे भगवान की भक्तिमय सेवा को समझना चाहिए और कुछ नहीं, क्योंकि केवल दिव्य प्रेमपूर्ण भक्ति भाव के द्वारा ही भगवान् तक पहुँचा जा सकता है। ऐसी तपस्या भगवान् की अन्तरंगा शक्ति होती है और उनसे अभिन्न होती है। ऐसी अन्तरंगा शक्ति के कार्य भौतिक सुख से विरक्ति होने पर प्रगट होते हैं। अत्यधिक प्रभुत्व जताने की प्रवृत्ति के कारण ही जीवात्मा भौतिक बन्धन में बन्दी हो जाती हैं। किन्तु भगवान् की भक्ति करने से मनुष्य सुख-भोग की प्रवृत्ति से विरक्त होता है। भक्तजन स्वत: भौतिक सुख से विरक्त हो जाते हैं और यह विरक्ति पूर्णज्ञान का प्रतिफल है। अत: भक्ति की तपस्या में ज्ञान तथा विरक्ति निहित होते हैं और यही दिव्य शक्ति का प्राकट्य है।

यदि कोई भगवान् के धाम वापस जाने का इच्छुक है, तो वह भौतिक मायावी सम्पत्ति का भोग नहीं कर सकता। जिसे भगवान् की संगति के दिव्य आनन्द का पता नहीं है, वही मूर्खतावश क्षणिक भौतिक सुख की कामना करता है। *चैतन्य-चरितामृत* में कहा गया है कि यदि कोई सचमुच भगवान् के दर्शन करना चाहता है और उसके साथ-साथ भौतिक सुख का भोग करना चाहता है, तो उसे मूर्ख ही समझना चाहिए। जो सुखोपभोग के लिए इस संसार में रहना चाहता है उसे भगवान् के शाश्वत धाम जाने से कोई मतलब नहीं है। भगवान् ऐसे मूर्ख भक्त की सारी भौतिक सम्पत्ति छीन कर उसे कृतार्थ करते हैं। यदि ऐसा मूर्ख भक्त पुनः सम्पत्ति बटोरना चाहता है, तो दयालु भगवान् उसे दुबारा छीन लेते हैं। बारम्बार भौतिक संपन्नता में ऐसी असफलता के कारण वह अपने कुटुम्बियों तथा मित्रों में बहुत अलोकप्रिय हो जाता है। भौतिक जगत में कुटुम्बी तथा मित्र तो उसी का आदर करते हैं, जो येन-केन प्रकारेण धन संचित करता है। फलस्वरूप, ऐसे मूर्ख भक्त को भगवत्कृपा से बाध्य होकर तपस्या करनी पड़ती है और अन्त में वह भगवद्भक्ति में संपन्न होने के कारण पूर्ण सुखी हो जाता है। अतः भगवद्भक्ति में सिद्धि प्राप्त करने के लिए तपस्या आवश्यक है, चाहे वह स्वैच्छिक भाव से हो या ईश्वर द्वारा बलपूर्वक लादी गई हो और ऐसी तपस्या ही भगवान् की अन्तरंगा शक्ति है।

किन्तु समस्त पापों से पूर्ण रूप से मुक्त हुए बिना भक्त तपस्या में संलग्न नहीं हो सकता। जैसाकि *भगवद्गीता* का कथन है, वही व्यक्ति भगवान् की पूजा में रत हो सकता है, जो समस्त पापों से मुक्त हो। ब्रह्माजी निष्पाप थे, अतः उन्होंने भगवान् के "तप तप" आदेश का श्रद्धापूर्वक पालन किया और भगवान् ने प्रसन्न होकर उन्हें वांछित फल प्रदान किया। अतः प्रेम तथा तपस्या दोनों के मेल से ही भगवान् प्रसन्न होते हैं और उनकी पूर्ण कृपा प्राप्त की जा सकती है। वे निष्पाप का निर्देशन करते हैं और निष्पाप भक्त जीवन की परम सिद्धि प्राप्त करता है।

सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः ।
बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तपः ॥ २४॥

शब्दार्थ

सृजामि—उत्पन्न करता हूँ; तपसा—तपस्या की उसी शक्ति से; एव—निश्चय ही; इदम्—यह; ग्रसामि तपसा—उसी शक्ति से अपने में लीन करता हूँ; पुनः—फिर; बिभर्मि—पालन करता हूँ; तपसा—तप से; विश्वम्—विश्व; वीर्यम्—शक्ति; मे—मेरा; दुश्चरम्—कठिन; तपः—तपस्या।

मैं ऐसे ही तप से इस विश्व की रचना करता हूँ, इसी शक्ति से इसका पालन करता हूँ और इसीसे इसको अपने में लीन करता हूँ। अत: तप ही वास्तविक शक्ति है।

तात्पर्य : तपस्या करते समय मनुष्य को भगवान् के धाम लौट जाने का संकल्प करना चाहिए और इसके लिए सभी प्रकार के कष्ट सहने के लिए तैयार रहना चाहिए। भौतिक सम्पत्ति, नाम तथा यश के लिए भी तो कठिन तपस्या करनी पड़ती है, क्योंकि उसके बिना कोई भी भौतिक संसार में प्रसिद्ध नहीं हो सकता। तो फिर, भक्ति की सिद्धि के लिए ही कठिन तपस्या क्यों करनी होती है? सुविधासम्पन्न जीवन तथा दिव्य साक्षात्कार के लिए सिद्धि की प्राप्ति दोनों साथ-साथ सम्भव नहीं हैं। भगवान् जीवात्मा से अधिक चतुर हैं, अत: वे देखना चाहते हैं कि भक्ति-मय सेवा के लिए भक्त कितना कष्ट उठाता है। तपस्या का आदेश भगवान् से सीधे या प्रामाणिक गुरु के माध्यम से प्राप्त होता है और यह आदेश आपको चाहे कितना ही कष्ट-प्रद क्यों न हो इसका पालन करना ही कठिन तपस्या है। जो इस नियम का दृढ़ता से पालन करता है उसे निश्चित रूप से भगवान् की कृपा प्राप्त करने में सफलता प्राप्त होती है।

ब्रह्मोवाच

भगवन् सर्व-भूतानामध्यक्षोऽवस्थितो गुहाम् ।
वेद ह्यप्रतिरुद्धेन प्रज्ञानेन चिकीर्षितम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; भगवन्—हे भगवान्; सर्व भूतानाम्—समस्त जीवात्माओं का; अध्यक्ष:—नियन्ता; अवस्थित:—स्थित; गुहाम्—हृदय के भीतर; वेद—जानो; हि—निश्चय ही; अप्रतिरुद्धेन—बिना बाधा के; प्रज्ञानेन—अन्त:ज्ञान द्वारा; चिकीर्षितम्—प्रयास करता है।.

ब्रह्माजी ने कहा, हे भगवान्, आप प्रत्येक जीवात्मा के हृदय में परम नियन्ता के रूप में स्थित हैं, अत: आप किसी भी प्रकार की बाधा के बिना अपने अन्त:-ज्ञान (प्रज्ञा) द्वारा समस्त प्रयासों से अवगत हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* पुष्टि करती है कि भगवान् साक्षी रूप से प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित हैं, फलस्वरूप वे परम नियन्ता हैं। नियन्ता कर्मफलों का भोक्ता नहीं है, क्योंकि उनकी स्वीकृति के बिना कोई सुख नहीं भोग सकता। उदाहरणार्थ, निषिद्ध क्षेत्र का अभ्यस्त शराबी शराब के निदेशक को

आवेदन पत्र भेजता है और निदेशक आवेदन पत्र पर विचार करके शराब की कुछ मात्रा की स्वीकृति देता है। इसी प्रकार यह संसार मानो ऐसे ही शराबियों से भरा पड़ा है प्रत्येक जीवात्मा कुछ-न-कुछ चाहता है और प्रत्येक जीवात्मा उसकी पूर्ति के लिए व्यग्र रहता है। जिस प्रकार पिता पुत्र पर दयालु होता है उसी प्रकार परमेश्वर प्रत्येक जीवात्मा पर सदय होने के कारण उसकी बचकानी इच्छाओं की पूर्ति करता रहता है। मन में ऐसी इच्छाओं को लेकर जीवात्मा वास्तव में कभी भी उन्हें भोग नहीं पाता, बल्कि बिना किसी लाभ के व्यर्थ की शारीरिक सनकों को पूरा करता है। शराबी को शराब पीने से कोई लाभ नहीं मिलता, किन्तु लत पड़ने के कारण वह उसका दास बनकर उससे छुटकारा नहीं चाहता, अत: दयालु भगवान् उसकी इच्छाओं की पूर्ति के लिए उसे सारी सुविधाएँ प्रदान कर देते हैं।

निर्विशेषवादी चाहते हैं कि मनुष्य इच्छारहित हो और अन्य लोग इच्छाओं का पूर्ण दमन चाहते हैं। यह असम्भव है इच्छाओं का लोप नहीं हो सकता, क्योंकि इच्छा करना जीवन का लक्षण है। इच्छाओं के बिना जीवात्मा मृत हो जाएगा, जो वह नहीं है। अत: जीवन तथा इच्छाएँ साथ-साथ हैं। यदि मनुष्य ईश्वर की सेवा करने की इच्छा करता है, तो इच्छाओं की पूर्ति हो जाती है और ईश्वर भी चाहते हैं कि जीवात्मा अपनी निजी इच्छाएँ त्यागकर उनकी इच्छाओं के साथ सहयोग करे। यही *भगवद्गीता* का अन्तिम उपदेश है। ब्रह्माजी ने इस प्रस्ताव को माना और इसलिए शून्य ब्रह्माण्ड में सृष्टि करने का उन्हें उत्तरदायित्व सौंपा गया। अत: ईश्वर के साथ तादात्म्य का अर्थ है भगवान् की इच्छाओं के साथ अपनी इच्छाओं को जोड़ना। इसीसे समस्त कामनाओं की सिद्धि होती है।

प्रत्येक जीवात्मा के हृदय में स्थित होने के कारण भगवान् को हर एक के मन की बात ज्ञात रहती है और कोई भी व्यक्ति अन्त:स्थित भगवान् की जानकारी के बिना कुछ भी नहीं कर सकता। अपनी श्रेष्ठ प्रज्ञा द्वारा भगवान् सबको अपनी इच्छा-पूर्ति का पूर्णरूपेण अवसर प्रदान करते हैं और तदनुरुप फल भी भगवान द्वारा ही दिया जाता है।

तथापि नाथमानस्य नाथ नाथय नाथितम् ।
परावरे यथा रूपे जानीयां ते त्वरूपिण: ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तथा अपि—फिर भी; नाथमानस्य—याचक का; नाथ—हे भगवान्; नाथय—प्रदान करो; नाथितम्—इच्छित; पर-अवरे—संसारी तथा दिव्य विषयों में; यथा—जिस प्रकार; रूपे—रूप में; जानीयाम्—जान सकूँ; ते—तुम्हारा; तु—लेकिन; अरूपिणः—निराकार।

तथापि हे भगवान्, मेरी आपसे प्रार्थना है कि मेरी इच्छा पूरी करें। कृपया मुझे बताएँ कि दिव्य रूप के होते हुए भी आप संसारी रूप किस प्रकार धारण करते हैं, यद्यपि आपका ऐसा कोई रूप नहीं होता।

यथात्म-माया-योगेन नाना-शक्त्युपबृंहितम् ।
विलुम्पन् विसृजन् गृह्णन् बिभ्रदात्मानमात्मना ॥ २७॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; आत्म—स्व; माया—शक्ति; योगेन—संयोग से; नाना—विविध; शक्ति—शक्ति; उपबृंहितम्—संचय द्वारा; विलुम्पन्—संहार के लिए; विसृजन्—सृष्टि के लिए; गृह्णन्—स्वीकृति के लिए; बिभ्रत्—पालन के लिए; आत्मानम्—अपने आप को; आत्मना—अपने द्वारा।

तथा कृपा करके मुझे यह भी बताएँ कि आप अपने से किस प्रकार से विभिन्न संयोगों के द्वारा संहार, उत्पत्ति, स्वीकृति तथा पालन की विविध शक्तियों को प्रकट करते हैं।

तात्पर्य : यह सारा संसार भगवान् की विभिन्न शक्तियों—अन्तरंगा, बहिरंगा तथा तटस्था शक्तियों—के प्रसार से साक्षात् भगवान् है, जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सूर्यलोक की शक्ति का प्राकट्य है। ऐसी शक्ति भगवान् से तदाकार है और भिन्न भी है, जिस प्रकार सूर्य-प्रकाश सूर्यलोक से अभिन्न होकर भी भिन्न रहता है। ये शक्तियाँ विविध संयोगों के द्वारा भगवान् के संकेत पर कार्य करती हैं और ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव जैसे प्रतिनिधि कर्ता भी भगवान् के विभिन्न अवतार हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है फिर भी वे ऐसे प्रकट कार्यों से पृथक् है। यह किस प्रकार से होता है, इसकी व्याख्या बाद में की जाएगी।

क्रीडस्यमोघ-सङ्कल्प ऊर्णनाभिर्यथोर्णुते ।
तथा तद्विषयां धेहि मनीषां मयि माधव ॥ २८॥

शब्दार्थ

क्रीडसि—जिस प्रकार खिलवाड़ करते हो; अमोघ—अचूक; सङ्कल्प—निश्चय; ऊर्णनाभिः—मकड़ी; यथा—जिस प्रकार; ऊर्णुते—ढक लेती है; तथा—उसी प्रकार; तत्-विषयाम्—उनके विषय में; धेहि—मुझे बताएँ; मनीषाम्—दार्शनिक विधि से; मयि—मुझको; माधव—समस्त शक्तियों के स्वामी।

हे माधव, मुझे उन सबके विषय में दार्शनिक विधि से बताएँ। आप मकड़ी के समान खेल

करने वाले हैं, जो अपनी ही शक्ति से अपने को ढक लेती है। आपका संकल्प अचूक है।

तात्पर्य : भगवान् की अकल्पनीय शक्ति से प्रत्येक तत्त्व में उसकी निजी शक्तियाँ होती हैं, जिन्हें तत्त्व-शक्ति, ज्ञान-शक्ति तथा कार्य-कारण की शक्ति कहते हैं। भगवान् की ऐसी शक्तियों के संयोग से यथासमय सृष्टि, पालन तथा संहार का प्राकट्य होता है जिनके विभिन्न कर्ता ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर हैं। ब्रह्मा सृष्टिकर्ता हैं, विष्णु पालनकर्ता हैं और शिव संहारकर्ता हैं। किन्तु ये सभी कर्ता तथा शक्तियाँ भगवान् के ही प्रतिकप हैं, अत: भगवान् के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, अथवा विभिन्न विविधताओं का एक ही परम स्रोत है। इसका सही उदाहरण मकड़ी तथा मकड़ी का जाला है। यह जाला मकड़ी द्वारा बुना जाता है, उसी के द्वारा उसकी रक्षा की जाती है और जब मकड़ी की इच्छा होती है, तो वह उसे अपने भीतर समेट लेती है। मकड़ी जाले के भीतर ढकी रहती है। यदि एक तुच्छ मकड़ी अपनी इच्छानुसार कार्य करने की इतनी शक्ति रखती है, तो फिर परमात्मा अपनी परम इच्छा से सांसारिक प्राकट्य के सृजन, पालन तथा संहार का कार्य क्यों नहीं कर सकते? भगवत्कृपा से ही ब्रह्मा जैसा कोई भक्त या उन्हीं के समान शिष्य-परम्परा में से कोई अन्य भक्त सर्वशक्ति-मान भगवान् को समझ सकता है, जो विभिन्न शक्तियों के द्वारा अपनी दिव्य लीलाओं में नित्य लगे रहते हैं।

भगवच्छिक्षितमहं करवाणि ह्यतन्द्रितः ।
नेहमानः प्रजा-सर्गं बध्येयं यदनुग्रहात् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

भगवत्—भगवान् द्वारा; शिक्षितम्—शिक्षा प्राप्त; अहम्—मैं; करवाणि—कार्य के द्वारा; हि—निश्चय ही; अतन्द्रितः—कारणस्वरूप; न—कभी नहीं; इहमानः—यद्यपि कार्य करते हुए; प्रजा-सर्गम्—जीवात्माओं की उत्पत्ति; बध्येयम्—बद्ध होऊँ; यत्—जिससे; अनुग्रहात्—कृपा से।

कृपा करके मुझे बतलाएँ जिससे आपकी आज्ञानुसार मैं इस विषय की शिक्षा प्राप्त कर सकूँ और इस तरह ऐसे कार्यों से आबद्ध हुए बिना जीवात्माओं को यंत्रवत् उत्पन्न करने का कार्य करता रहूँ।

तात्पर्य : ब्रह्माजी नहीं चाहते कि वे अपने निजी ज्ञान पर आश्रित रहने वाले शुष्क चिन्तक बने रहें और भौतिक बन्धन में फँसे रहें। हर एक व्यक्ति को यह समझ लेना चाहिए कि समस्त कार्यों के सम्पादन में वह निमित्त (कारण) मात्र होता है। बद्धजीव बाह्यशक्ति अर्थात् गुणमयी माया के हाथों की

कठपुतली बना रहता है और मुक्त होते समय वह सीधे भगवान् की इच्छा पर आश्रित रहता है। भगवान् की प्रत्यक्ष इच्छा पर आश्रित रहना जीवात्मा की स्वाभाविक स्थिति है, जबकि गुणमयी माया के हाथों की कठपुतली होना भवबन्धन है। उस बद्ध अवस्था में जीवात्मा परम सत्य भगवान् तथा उनके विविध कार्यकलापों का चिन्तन करता है, किन्तु अबद्ध (मुक्त) अवस्था में जीवात्मा को सीधे भगवान् से ज्ञान प्राप्त होता है और ऐसा मुक्त जीव बिना कल्पना किये, बिना त्रुटि के, कार्य करता है। *भगवद्गीता* (१०.१०-११) में इसकी दृढ़तापूर्वक पुष्टि की गई है कि भगवान् स्वयं उपदेश देते हैं जिससे शुद्ध भक्तगण, जो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में रत हैं, बिना डगमगाये भगवान् के धाम की ओर अग्रसर होते रहते हैं। अत: शुद्ध भक्तों को अपनी निश्चित प्रगति पर किसी प्रकार का गर्व नहीं रहता, जबकि अभक्त ज्ञानी सदा ही माया के अन्धकार में रहता है और बिना किसी निश्चित पथ के कल्पना पर आधारित पथभ्रष्ट ज्ञान पर इतराता रहता है। ब्रह्माजी अंहकार के उस गर्त से बचना चाहते थे, यद्यपि वे ब्रह्माण्ड में सबसे उच्च पद पर आरूढ़ थे।

यावत् सखा सख्युरिवेश ते कृत:
प्रजा-विसर्गे विभजामि भो जनम् ।
अविक्लवस्ते परिकर्मणि स्थितो
मा मे समुन्नद्ध-मदोऽजमानिन: ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यावत्—चूँकि; सखा—मित्र; सख्यु:—मित्र को; इव—समान; ईश—हे भगवान्; ते—तुम; कृत:—स्वीकार किया है; प्रजा—जीवात्माएँ; विसर्गे—सृष्टि के कार्य में; विभजामि—क्योंकि मैं इसे भिन्न रीति से करूँगा; भो:—हे भगवान्; जनम्—जन्म लेने वाले; अविक्लव:—विचलित हुए बिना; ते—तुम्हारा; परिकर्मणि—सेवा कार्य में; स्थित:—स्थित; मा—कभी न हो; मे—मुझको; समुन्नद्ध—उदय होने पर; मद:—उन्माद; अज—हे अजन्मा; मानिन:—ऐसे माने जाने वाले।

हे अजन्मा भगवान्, आपने मुझसे उसी प्रकार हाथ मिलाया है, जिस प्रकार कोई मित्र अपने मित्र से मिलाता है (मानो पद में समान हो)। अब मैं विभिन्न जीवात्माओं की सृष्टि करने में लगूँगा और आपकी सेवा करता रहूँगा। मैं किसी तरह विचलित नहीं होऊँगा। किन्तु मेरी प्रार्थना है कि कहीं इन सबसे मुझे गर्व न हो जाय कि मैं ही परमेश्वर हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्माजी भगवान् के साथ निश्चय ही सख्यभाव में स्थित हैं। प्रत्येक जीव भगवान् के साथ पाँच विभिन्न दिव्य भावों में से किसी न किसी एक के द्वारा नित्य रूप से सम्बद्ध है। ये हैं—शान्त,

दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य। हम भगवान् के प्रसंग में इन पाँचों भावों की व्याख्या पहले ही कर चुके हैं। यहाँ पर यह स्पष्ट है कि ब्रह्माजी भगवान् के साथ दिव्य सख्यभाव में स्थित थे। शुद्ध भक्त भगवान् से इन पाँचों में से किसी एक भाव से बँधा हो सकता है। वह वात्सल्य भाव भी हो सकता है, किन्तु भगवद्भक्त सदैव भगवान् का दिव्य दास (सेवक) होता है। कोई न तो उनके समान है, न उनसे बढ़कर। यही *भगवद्गीता* की उक्ति है। यद्यपि भगवान् के साथ ब्रह्माजी का सख्यभाव है और उन पर विभिन्न योनि वाले जीवों को उत्पन्न करने का सर्वोच्च पद भार सौंपा गया है, किन्तु उन्हें अपनी स्थिति का बोध निरन्तर बना रहता है कि वे न तो परमेश्वर हैं न परम शक्तिसम्पन्न। सम्भव है कि इस ब्रह्माण्ड में या इसके बाहर कोई अत्यन्त शक्तिशाली व्यक्ति भगवान् से भी अधिक शक्तिशाली निकल आए। फिर भी शुद्ध भक्त जानता है कि यह शक्ति तो भगवान् द्वारा प्रदत्त विभूति है और ऐसी शक्ति से युक्त जीवात्मा कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकता। श्रीहनुमानजी ने कूद कर समुद्र पार कर लिया था, किन्तु श्रीरामचन्द्र ने सेतु पर चढ़कर ही पार किया जिसका अर्थ यह नहीं है कि हनुमानजी उनसे अधिक बलशाली थे। कभी-कभी भगवान् भक्त को असामान्य शक्ति प्रदान करते हैं, किन्तु भक्त हमेशा जानता रहता है कि यह शक्ति भगवान् की ही है और वह स्वयं एक निमित्त मात्र है। भक्त कभी भी उन अभक्तों के समान फूला फूला नहीं फिरता जो भ्रमवश अपने को भगवान् मान लेते हैं। यह आश्चर्यजनक बात है कि जो व्यक्ति भगवान् की माया के नियमों के द्वारा पग-पग पर पाद-प्रहार पाता है, वह भगवान् से तदाकार होने की झूठी बात सोचे। इस प्रकार सोचना बद्धजीवों के ऊपर फेंका गया माया का आखिरी पाश होता है। पहली भ्रांति यह होती है कि वह सम्पत्ति एवं शक्ति बटोरकर संसार का स्वामी बनना चाहता है, किन्तु जब वह इस प्रयास में हताश हो जाता है, तो भगवान् के साथ तदाकार होना चाहता है। इस प्रकार संसार का सबसे अधिक शक्तिशाली व्यक्ति बनना और भगवान् से तादात्म्य करना माया के ही भिन्न-भिन्न जाल हैं। चूँकि भगवान् के शुद्ध भक्त शरणागत होते हैं, अत: वे माया के मोह पाश से ऊपर हैं। किन्तु ब्रह्माजी शुद्ध भक्त होने के कारण अल्पज्ञानी अभक्तों को भगवान् से तादात्म्य की बात के बारे में सोचना कभी पसन्द नहीं करते यद्यपि वे विश्व के आदि देव हैं और अनेक अद्भुत कार्य करने में सक्षम हैं। अल्पज्ञानियों को, जब वे ईश्वर होने के झूठे विचार से फूल

उठते हैं, ब्रह्माजी से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

वस्तुत: ब्रह्माजी जीवात्माओं को उत्पन्न नहीं करते। उन्हें सृष्टि के प्रारम्भ में यह अधिकार दिया गया कि वे जीवात्माओं को पूर्व कल्प में किये गये कर्मों के अनुसार शरीर प्रदान करें। ब्रह्माजी का कार्य इन जीवात्माओं को निद्रा से जगाकर उन्हें उनके समुचित कार्यों में लगाना है। ब्रह्माजी जीवात्माओं की सृष्टि मनमाने ढंग से नहीं करते, अपितु उन्हें विविध प्रकार के शरीर प्रदान करने का कार्यभार सौंपा जाता है, जिससे वे तदनुसार कर्म कर सकें। इतने पर भी ब्रह्माजी को इसका बोध बना रहता है कि वे निमित्तमात्र हैं जिससे वे अपने को परमेश्वर न मान बैठें।

भक्तजन भगवान् द्वारा प्रदत्त कार्यों में संलग्न रहते हैं और ऐसे कार्य निर्बाध चलते रहते हैं, क्योंकि भगवान् से आदेश जो प्राप्त है। सफलता का श्रेय कर्ता को नहीं बल्कि भगवान् को मिलता है। किन्तु जो अल्पज्ञ हैं, वे सफलता का कारण अपने को मानते हैं और भगवान् को कोई श्रेय नहीं देते। यह अभक्त पुरुषों का लक्षण है।

श्री-भगवानुवाच

ज्ञानं परम-गुह्यं मे यद् विज्ञान-समन्वितम् ।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; ज्ञानम्—प्राप्त ज्ञान; परम—अत्यधिक; गुह्यम्—गोपनीय; मे—मेरा; यत्—जो; विज्ञान—बोध; समन्वितम्—से युक्त; स-रहस्यम्—भक्ति सहित; तत्—उसकी; अङ्गम् च—आवश्यक सामग्री; गृहाण—ग्रहण करने का यत्न करो; गदितम्—व्याख्या की गई; मया—मेरे द्वारा।

श्रीभगवान् ने कहा—शास्त्रों में वर्णित मुझसे सम्बन्धित ज्ञान अत्यन्त गोपनीय है उसे भक्ति के समन्वय द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इस विधि के लिए आवश्यक सामग्री की व्याख्या मेरे द्वारा की जा चुकी है। तुम इसे ध्यानपूर्वक ग्रहण करो।

तात्पर्य : ब्रह्माजी इस ब्रह्माण्ड में भगवान् के सर्वोच्च भक्त हैं, अत: भगवान् ने उनके चार प्रश्नों का उत्तर चार महत्त्वपूर्ण वक्तव्यों के रूप में दिया है, जो चतु:श्लोकी मूल *भागवत* के नाम से ज्ञात हैं। ब्रह्माजी के प्रश्न इस प्रकार थे—(१) पदार्थ में तथा अध्यात्म में भगवान् के कौन-कौन से रूप हैं? (२) भगवान् की विभिन्न शक्तियाँ किस प्रकार कार्य करती हैं? (३) भगवान् अपनी शक्तियों को किस

प्रकार संचालित करते हैं? (४) ब्रह्मा को उन्हें सौंपे गये कार्य के सम्बन्ध में किस प्रकार आदेशित किया जाय? इन प्रश्नों का पूर्वाभास इस श्लोक में मिलता है। भगवान् ब्रह्मा को सूचित करते हैं कि शास्त्रों में वर्णित भगवान् विषयक ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म है और जब तक कोई भगवत्कृपा से स्वरूपसिद्ध न हो, इसे समझ नहीं सकता। भगवान् कहते हैं कि जिस तरह वे व्याख्या करते जाँए उसे वे उत्तर के रूप में ग्रहण करते जाँय। इसका अर्थ यह हुआ कि परमेश्वर सम्बन्धी दिव्य ज्ञान को तभी प्राप्त किया जा सकता है जब भगवान् स्वयं उसे प्रदान करें। बड़े से बड़े संसारी चिन्तक भी चिन्तन द्वारा परम सत्य भगवान् को नहीं समझ पाते। चिन्तन से निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार तो हो सकता है, किन्तु वस्तुत: पूर्ण दिव्य ज्ञान तो निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान के परे है। इसीलिए इसे परम गुह्य ज्ञान कहा गया है। अनेक मुक्त जीवों में से विरला ही भगवान् को जान पाने का अधिकारी होता है। *भगवद्गीता* में भी स्वयं भगवान् ने कहा है कि लाखों में से कोई एक मनुष्य सिद्धि प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है और अनेक मुक्त जीवों में से कोई एक ही उन्हें जान पाता है। अत: केवल भक्ति द्वारा ही भगवान् को जाना जा सकता है। *रहस्यम्* का अर्थ है भगवद्भक्ति। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को *भगवद्गीता* का उपदेश इसीलिए दिया, क्योंकि अर्जुन उनका भक्त तथा मित्र था। ऐसी योग्यता के बिना *भगवद्गीता* के रहस्य को नहीं समझा जा सकता। अत: जब तक कोई भक्त बन कर भक्तिमय सेवा नहीं करने लगता, तब तक वह श्रीभगवान् को समझ नहीं पाता। यह रहस्य ईश्वर प्रेम है। श्रीभगवान् को जानने का रहस्य इस योग्यता में निहित है। ईश्वर के दिव्य प्रेम को प्राप्त करने के लिए भक्ति सम्बन्धी विधि-विधानों का पालन आवश्यक है। इन विधि-विधानों को *विधि-भक्ति* कहा जाता है और नवदीक्षित भक्त अपनी वर्तमान इन्द्रियों से इनका पालन कर सकता है। ऐसे विधि-विधान मुख्यत: भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन पर आधारित हैं जिनका पालन भक्तों की संगति द्वारा ही सम्भव है। फलत: भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने भगवान् की भक्ति में पूर्णता पाने के लिए पाँच मुख्य नियमों की संस्तुति की है। पहला है— भक्तों की संगति (श्रवण), दूसरा भगवान् की महिमा का कीर्तन, तीसरा है, शुद्ध भक्त से *श्रीमद्भागवत* सुनना, चौथा भगवान् से सम्बन्धित किसी पवित्र स्थान में वास करना तथा पाँचवा है भक्ति सहित भगवान् के श्रीविग्रहको पूजना। ऐसे विधि-विधान भक्ति-मय सेवा के अंगस्वरूप हैं। अत: ब्रह्माजी की

प्रार्थना के अनुसार भगवान् इन चारों प्रश्नों तथा इनके अंगभूत प्रश्नों के विषय में अपनी व्याख्या प्रस्तुत करेंगे।

यावानहं यथा-भावो यद्रूप-गुण-कर्मकः ।
तथैव तत्त्व-विज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यावान्—मेरे जितने दिव्य रूप हैं; अहम्—मैं; यथा—जिस प्रकार; भावः—दिव्य अस्तित्व; यत्—उन; रूप—विभिन्न रूप तथा रंग; गुण—गुण; कर्मकः—कार्य; तथा—उसी प्रकार से; एव—निश्चय ही; तत्त्व-विज्ञानम्—वास्तविक बोध; अस्तु—हो; ते—तुमको; मत्—मेरी; अनुग्रहात्—अहैतुकी कृपा से।

मेरी अहैतुकी कृपा से तुम्हारे अन्तःकरण में उदय होने वाले वास्तविक बोध से तुम्हें मेरे विषय में सब कुछ—मेरा वास्तविक शाश्वत रूप तथा मेरा दिव्य अस्तित्व, रंग, गुण तथा कार्य—ज्ञात हो सकेगा।

तात्पर्य : परम सत्य, भगवान् विषयक ज्ञान की दुरूहता को समझने में सफलता का रहस्य भगवान् की अहैतुकी कृपा है। भौतिक जगत में भी जिस प्रकार अनेक पुत्रों का पिता अपने किन्हीं लाड़ले पुत्रों को ही अपने पद का रहस्य बताता है। पुत्रों में से जिसे वह योग्य समझता है उससे ही रहस्योद्घाटन करता है। समाज में महत्त्वपूर्ण मनुष्य अपनी दयालुता के द्वारा जाना जाता है। इसी प्रकार भगवान् को जानने के लिए मनुष्य को उनका अत्यन्त लाड़ला होना चाहिए। भगवान् असीम हैं। कोई भी उन्हें पूरी तरह नहीं जान सकता, केवल भगवान् के प्रति प्रेमाभक्ति की उन्नति के सहारे ही भगवान् को जानने के लिए प्रिय पात्र बना जा सकता है। यहाँ हम देखते हैं कि भगवान् ब्रह्माजी पर अत्यन्त प्रसन्न हैं, अतः वे उन्हें अपनी अहैतुकी कृपा प्रदान करते हैं, जिससे वे भगवान् का वास्तविक बोध प्राप्त कर सकें।

वेदों में भी कहा गया है कि कोई मनुष्य केवल सांसारिक शिक्षा या बौद्धिक अभ्यास से परम सत्य, परमेश्वर को नहीं जान सकता। प्रामाणिक गुरु तथा भगवान् में अटल विश्वास होने पर ही परम सत्य परमेश्वर को जाना जा सकता है। ऐसा श्रद्धालु व्यक्ति भले ही सांसारिक दृष्टि से अशिक्षित क्यों न हो, भगवत्कृपा से भगवान् को स्वतः जान सकता है। *भगवद्गीता* में भी कहा गया है कि यह भगवान् पर निर्भर करता है कि वे किसके समक्ष प्रकट हों और किसके समक्ष नहीं। वे अपनी योगमाया शक्ति

से अपने को अश्रद्धालुओं से छिपा कर रखते हैं।

जो श्रद्धालु हैं उनके समक्ष भगवान् अपना रूप, गुण तथा लीलाएँ प्रकट करते हैं। भगवान् निर्विशेष नहीं हैं जैसाकि निर्विशेषवादी सोचते हैं, किन्तु उनका वह रूप नहीं होता जिसका हमें अनुभव प्राप्त है। वे अपने भक्तों के समक्ष अपना रूप, यहाँ तक कि अपनी प्रमाप, भी प्रकट करते हैं और *यावान्* का यही अर्थ है जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के महान् पंडित श्रील जीव गोस्वामी ने बताया है।

भगवान् अपने अस्तित्व की दिव्य प्रकृति को उद्घाटित करते हैं। संसारी विवादक भगवान् के रूप की संसारी अवधारणा बनाते हैं। शास्त्रों में बताया गया है कि भगवान् का कोई संसारी रूप नहीं है, अत: जो अल्पज्ञानी हैं, वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भगवान् निराकार (निर्विशेष) हैं। वे संसारी तथा आध्यात्मिक रूप में अन्तर नहीं कर पाते। उनके अनुसार जिसका भौतिक रूप नहीं है, वह निर्विशेष होगा। यह निष्कर्ष भी संसारी है, क्योंकि रूपहीनता रूप की विपरीत अवधारणा है। संसारी अवधारणा को नकारने से दिव्य स्वरूप स्थापित नहीं होता। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि भगवान् का दिव्य रूप होता है और वे अपनी इन्द्रियों में से किसी भी इन्द्रिय का उपयोग किसी भी कार्य के लिए कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, वे अपने नेत्रों से भोजन कर सकते हैं और अपने पाँव से देख सकते हैं। रूप की संसारी धारणा में कोई न तो आँख से खा सकता है, न ही पाँव से देख सकता है। संसारी शरीर तथा सच्चिदानन्द के दिव्य शरीर में यही अन्तर है। आध्यात्मिक शरीर रूपविहीन नहीं होता; यह भिन्न प्रकार का होता है, जिसके विषय में हम अपनी संसारी इन्द्रियों से धारणा नहीं बना सकते। अत: रूपविहीन का अर्थ है संसारी रूप से रहित अथवा दिव्य शरीर धारण करने वाला जिसके विषय में अभक्तों को काल्पनिक विधि द्वारा बोध नहीं हो पाता।

भगवान् अपने भक्तों के समक्ष अनन्त प्रकार के दिव्य शरीर प्रकट करते रहते हैं, जो एक दूसरे के समान होते हुए भी स्वरूपों में भिन्न होते हैं। भगवान् के कुछ दिव्य शरीर श्यामवर्ण होते हैं, तो कुछ श्वेत वर्ण। कुछ लाल-लाल होते हैं, तो कुछ पीतवर्ण। कुछ चतुर्भुजी होते हैं, तो कुछ दो भुजाओं से युक्त। इनमें से कुछ मछली की तरह होते हैं, तो कुछ सिंह के समान। भगवान् के ये विभिन्न दिव्य रूप भगवत्कृपा से ही भक्त के समक्ष प्रकट होते हैं और इस प्रकार निर्विशेषवादियों के ये झूठे तर्क कि

भगवान् के रूप नहीं होता, भगवद्भक्तों को नहीं भाते, भले ही वे भक्त भक्ति में बहुत बढ़े-चढ़े न हों।

भगवान् में अनगिनत दिव्य गुण पाये जाते हैं। इनमें से एक है शुद्ध भक्त के प्रति उनका प्रेम। इस संसार के इतिहास में हम उनके दिव्य गुणों की सराहना कर सकते हैं। भगवान् अपने भक्तों की रक्षा करने तथा अधर्मियों का विनाश करने के लिए अवतरित होते हैं। उनके सारे कार्य भक्तों से सम्बन्धित होते हैं। *श्रीमद्भागवत* भक्तों से सम्बद्ध भगवान् के ऐसे अनेक कार्यों से भरा पड़ा है, किन्तु अभक्तों को भगवान् की इन लीलाओं का कोई ज्ञान भी नहीं होता। जब भगवान् सात वर्ष के ही थे तो उन्होंने गोवर्धन पर्वत उठाकर वृन्दावन के अपने शुद्ध भक्तों को इन्द्र के कोप से बचाया था, जो वर्षा के द्वारा उस स्थान को आप्लावित कर रहा था। सात वर्ष के बालक द्वारा गोवर्धन पर्वत का उठाया जाना भले ही श्रद्धाविहीनों के लिए अविश्वसनीय लगे, किन्तु भक्तों के लिए यह सर्वथा विश्वसनीय है। भक्त को भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता पर विश्वास है, किन्तु श्रद्धाविहीन लोग भगवान् को सर्वशक्तिमान मानते हुए भी इस पर विश्वास नहीं करते। ऐसे अल्पज्ञानी यह नहीं समझते कि भगवान् तो शाश्वत रूप से भगवान् हैं और वे लोग लाखों करोड़ों वर्षों तक ध्यान या दार्शनिक चिन्तन करके भी भगवान् नहीं बन सकते।

इस श्लोक से संसारी विवादकों की निर्विशेष व्याख्या का खण्डन हो जाता है, क्योंकि यहाँ पर स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि मनुष्य की ही तरह भगवान् के भी गुण, रूप, लीलाएँ तथा कार्य होते हैं। भगवान् की दिव्य प्रकृति के ये सारे विवरण भगवद्भक्तों द्वारा अनुभूत तथ्य हैं। ये भगवत्कृपा से केवल शुद्ध भक्तों को ही ज्ञात हो पाते हैं, अन्य किसी को नहीं।

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं, भगवान्; एव—निश्चय ही; आसम्—था; एव—केवल; अग्रे—सृष्टि के पहिले; न—कभी नहीं; अन्यत्—अन्य कुछ; यत्—जो; सत्—कार्य; असत्—कारण; परम्—परम; पश्चात्—अन्त में; अहम्—मैं भगवान्; यत्—ये सब; एतत्—सृष्टि; च—भी; यः—प्रत्येक वस्तु; अवशिष्येत—बचा रहता है; सः—वह; अस्मि—हूँ; अहम्—मैं, भगवान्।

हे ब्रह्मा, वह मैं ही हूँ जो सृष्टि के पूर्व विद्यमान था, जब मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। तब इस सृष्टि की कारणस्वरूपा भौतिक प्रकृति भी नहीं थी। जिसे तुम अब देख रहे हो, वह भी मैं ही हूँ और प्रलय के बाद जो शेष रहेगा वह भी मैं ही हूँ।

तात्पर्य : हमें ध्यान देना होगा कि ब्रह्माको पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सम्बोधित कर रहे हैं और पुरजोर शब्दों में स्वयं स्पष्ट कर रहे हैं कि मैं ही वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हूँ, जो सृष्टि के पूर्व विद्यमान था, मैं ही सृष्टि का पालनकर्ता हूँ और प्रलय के पश्चात् मैं ही बचा रहता हूँ। ब्रह्मा भी इन्हीं परमेश्वर की सृष्टि हैं। निर्विशेषवादी तादात्म्य का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि ब्रह्मा भगवान् के समरूप हैं, क्योंकि वे भी परम सत्य ''मैं'' से उद्भूत ''मैं'' हैं, अत: जैसाकि इस श्लोक में वर्णित है ''मैं'' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। निर्विशेषवादियों के तर्क को मानते हुए यह स्वीकार करना होगा कि भगवान् स्रष्टा ''मैं'' हैं और ब्रह्मा सृष्ट ''मैं''। अत: इन दोनों ''मैं'' के बीच अन्तर है—अधिष्ठाता मैं तथा अधीनस्त मैं। अत: निर्विशेषवादियों के तर्क को मान लेने पर भी दो ''मैं'' रहते हैं। किन्तु हमें यह ध्यान देना होगा कि वैदिक साहित्य (*कठोपनिषद्*) में ये दो ''मैं'' गुण के अर्थ में स्वीकृत हैं। *कठोपनिषद्* का वचन है—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।

एको बहूनां यो विदधाति कामान्॥

वेदों में स्रष्टा ''मैं'' तथा सृष्ट ''मैं'' दोनों ही गुणात्मक रूप से एक हैं, क्योंकि ये दोनों ही नित्य और चेतन हैं। किन्तु एकवचन ''मैं'' स्रष्टा ''मैं'' है और सृष्ट ''मैं'' बहुवचन में है, क्योंकि ब्रह्मा तथा उनके द्वारा सृजित अनेक ''मैं'' हैं। यही सामान्य सत्य है। पिता से पहले एक पुत्र उत्पन्न होता है, इस पुत्र से कई पुत्र उत्पन्न होते हैं और वे सभी मानव प्राणी के रूप में एक हैं, किन्तु पुत्र तथा पौत्र, पिता से भिन्न भी हैं। पुत्र पिता का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता है और न पौत्र ही। इस प्रकार पिता, पुत्र तथा पौत्र एक होते हुए भी पृथक् हैं। इसीलिए स्रष्टा तथा सृष्ट का आपेक्षिक अन्तर वेदों में यह कह कर किया गया है कि आधिष्ठाता ''मैं'' अधीनस्थ ''मैं'' का पोषक है और इस प्रकार दोनों ''मैं'' के बीच व्यापक अन्तर है।

इस श्लोक की दूसरी विशेषता यह है कि भगवान् तथा ब्रह्मा दोनों के व्यक्तित्वों को नकारा नहीं जा सकता। फलत: अधिष्ठाता और अधीनस्थ अन्ततोगत्वा दोनों ही व्यक्ति हैं। इससे निर्विशेषवादियों के इस मत का खण्डन हो जाता है कि अन्तत: प्रत्येक वस्तु निराकार है। अल्पज्ञ निर्विशेषवादियों द्वारा

बहुसमर्थित निर्विशेष रूप का खण्डन इसलिए हो जाता है कि प्रधान "मैं" परम सत्य है और वह व्यक्ति है। ब्रह्मा, जो अधीनस्थ "मैं" है, वह भी व्यक्ति है, किन्तु भगवान् नहीं है। आध्यात्मिक मनोविज्ञान 'स्व' का बोध अपने आपको परम सत्य मानने में भले ही सुविधा प्रधान करने वाला हो, किन्तु प्रधान तथा आश्रित में अन्तर सदैव रहता है, जिसकी ओर इस श्लोक में स्पष्टत: इंगित है और जिसका निर्विशेषवादी अत्यधिक दुरुपयोग करते हैं। ब्रह्मा अपने समक्ष अपने अधिष्ठाता स्वामी को देख रहे हैं, जो सृष्टि की प्रलय के बाद भी दिव्य रूप में विद्यमान रहते हैं। ब्रह्मा ने जिस रूप का दर्शन किया वह सृष्टि के पहले भी विद्यमान था। संसार में जो कुछ भी दिख रहा है, वह भी भगवान् की शक्ति का विस्तार है और भगवान् की शक्ति के प्रदर्शन के अन्त में जो कुछ बचता है, वह भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् है। अत: भगवान् का रूप, सृष्टि, पालन तथा संहार इन सभी परिस्थितियों में बना रहता है। वैदिक स्तोत्रों में इस कथन की पुष्टि हुई है—*वासुदेवो वा इदम् अग्र आसीन् न ब्रह्मा न च शंकर एको नारायण आसीन्, न ब्रह्मा नेशान* आदि। सृष्टि के पूर्व वासुदेव के अतिरिक्त कुछ नहीं था, न तो ब्रह्मा थे, न शंकर। केवल नारायण थे, कोई दूसरा नहीं, न ब्रह्मा, न ईशान। श्रीपाद शंकराचार्य ने भी *भगवद्गीता* के भाष्य में इसकी पुष्टि की है कि नारायण समस्त सृष्टि से परे हैं और समग्र सृष्टि अव्यक्त का फल है। अत: स्रष्टा तथा सृष्ट में सदैव अन्तर रहता है भले ही दोनों एकसमान गुण वाले क्यों न हों।

इस कथन की तीसरी विशेषता यह है कि भगवान् परम सत्य हैं। श्रीभगवान् तथा उनके धाम की पहले ही व्याख्या की जा चुकी है। भगवान् का धाम शून्य (रिक्त) नहीं है जैसाकि निर्विशेषवादी बताते हैं। वैकुण्ठ लोक विविधता से पूर्ण हैं—उसमें चार भुजाओं वाले निवासी भी हैं जिनके पास विपुल वैभव है और महापुरुषों के पास विमान तथा अन्य सुविधाजनक साधन तक उपलब्ध है। अत: श्रीभगवान् सृष्टि के पूर्व भी स्थित रहते हैं और वे वैकुण्ठ लोक में समस्त दिव्य विविधता के साथ रहते हैं। भगवद्गीता में भी इन वैकुण्ठ लोकों को सनातन बताया गया है। ये इस विश्व के संहार के पश्चात् भी नष्ट नहीं होते। ये दिव्य लोक पूरी तरह से भिन्न प्रकृति के हैं; उन पर सृष्टि, पालन तथा संहार के

नियम लागू नहीं होते। भगवान् के अस्तित्व से वैकुण्ठ लोकों का अस्तित्व सिद्ध होता है, जिस प्रकार राजा से राज्य का अस्तित्व सिद्ध होता है।

श्रीमद्भागवत तथा अन्य शास्त्रों में विभिन्न स्थलों पर भगवान् के अस्तित्व का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ, *श्रीमद्भागवत* (२.८.१०) में महाराज परीक्षित प्रश्न करते हैं—

स चापि यत्र पुरुषो विश्वस्थित्युद्भवाप्ययः।

मुक्त्वात्ममायां मायेशः शेते सर्वगुहाशयः॥

"जो भगवान् सृष्टि, पालन तथा संहार के कारणस्वरूप हैं, जो माया के प्रभाव से सदैव मुक्त रहते हैं और उसके नियन्ता हैं, वे किस प्रकार प्रत्येक मनुष्य के हृदय में स्थित रहते हैं?" इसी प्रकार विदुर का भी प्रश्न है—

तत्त्वानां भगवंस्तेषां कतिधा प्रतिसंक्रमः।

तत्रेमं क उपासीरन् क उ स्विदनुशेरते॥

(*भागवत* ३.७.३७)

श्रीधर स्वामी ने अपनी टिप्पणियों में इसकी व्याख्या इस प्रकार की है, "सृष्टि के प्रलय के समय शेषशायी भगवान् की सेवा कौन करता है...।" इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् अपने नाम, यश, गुण तथा सामग्री सहित शाश्वत रूप से विद्यमान हैं। इसी की पुष्टि *स्कन्द-पुराण* के *काशी-खण्ड* में ध्रुवचरित के प्रसंग में हुई है।

न च्यवन्तेऽपि यद्भक्ता महत्यां प्रलयापदि।

अतोऽच्युतोऽखिले लोके स एकः सर्वगोऽव्ययः॥

भगवान् की बात तो और, यहाँ तक कि भगवान् के भक्तों का भी संसार के पूर्ण प्रलय के समय विनष्ट नहीं होता। भगवान् परिवर्तन की तीनों अवस्थाओं में सर्वदा-विद्यमान रहते हैं।

निर्विशेषवादी परमेश्वर पर कर्मरहित होने का आरोप लगाते हैं, किन्तु ब्रह्मा तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की इस वार्ता में भगवान् को रूप तथा गुण से युक्त होने के साथ-ही-साथ कर्मों से युक्त बताया गया है। सृष्टि के पालन के समय ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं के कार्यों को भी भगवान् के कार्य

ही समझना होगा। भले ही राजा या राज्य का कार्यकारी अध्यक्ष सरकारी कार्यालयों में दिखाई न दे और वह राजसी विलास में लगा हो तो भी यह समझा जाता है कि जो कुछ भी हो रहा है, वह उसी के निर्देशन तथा आदेश के अनुसार हो रहा है। भगवान् कभी भी रूपविहीन नहीं होते। भौतिक जगत में वह अल्पज्ञों को भले ही साकार रूप में न दिखे जिससे उसे रूपविहीन कह लिया जाय, किन्तु वे अपने धाम वैकुण्ठ लोक में तथा अपने विभिन्न अवतारों में अन्य विभिन्न लोकों में नित्य रूप में सैदव रहते हैं। इस प्रसंग में सूर्य का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त होगा। रात्रि के समय भले ही मनुष्यों को अँधेरे में सूर्य न दिखे, किन्तु जब सूर्योदय हो जाता है, तो वह दिखता है। यदि पृथ्वी के किसी एक भूभाग पर सूर्य दृष्टिगोचर नहीं होता तो इसका अर्थ यह तो नहीं है कि सूर्य का कोई रूप नहीं है।

बृहदारण्यक उपनिषद (१.४.१) में एक मन्त्र है—*आत्मैवेदम् अग्र आसीत् पुरुषविध:*। इससे पुरुष अवतार के भी पूर्व पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् (कृष्ण) की उपस्थिति सूचित होती है। *भगवद्गीता* (१५.१८) में कहा गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम हैं, क्योंकि वे परम पुरुष हैं, *पुरुष-अक्षर* तथा *पुरुष-क्षर* से भी परे हैं। अक्षर पुरुष या महाविष्णु प्रकृति पर दृष्टिपात करते हैं, किन्तु पुरुषोत्तम तो उनसे भी पहले से विद्यमान थे। अत: *बृहदारण्यक-उपनिषद्* से *भगवद्गीता* के इस कथन की पुष्टि होती है कि श्रीकृष्ण ही परम पुरुष (पुरुषोत्तम) हैं।

कुछ वेदों में यह भी कहा गया है कि प्रारम्भ में केवल निर्गुण ब्रह्म था। किन्तु इस श्लोक के अनुसार निर्गुण ब्रह्म को, जो परमेश्वर के रूप की चमचमाती दीप्ति है, कारणस्वरूप कहा जा सकता है, क्योंकि समस्त कारणों के कारण तो पूर्ण पुरुषोत्तम .भगवान् हैं। भगवान् का निर्गुण रूप भौतिक जगत में इसीलिए विद्यमान है, क्योंकि भौतिक नेत्रों या इन्द्रियों से भगवान् को देखा नहीं जा सकता। भगवान् का दर्शन करने की आशा से पूर्व इन्द्रियों को आध्यात्मिक (दिव्य) बनाना होगा। किन्तु वे सदैव साकार रूप में रहते हैं और वैकुण्ठ लोक के वासियों को साक्षात् दिखते हैं। अत: वे राज्य के उस कार्यकारी अध्यक्ष की भाँति भौतिक दृष्टि से निराकार रहते हैं, जो राजभवन में निराकार नहीं रहता। इसी प्रकार भगवान् भी अपने धाम में निराकार नहीं रहते, उनका धाम तो *निरस्त-कुहकम्* है जैसाकि *भागवत* के प्रारम्भ में ही कहा गया है। अत: जैसाकि शास्त्रों से प्रकट है, भगवान् के साकार तथा

निराकार दोनों ही रूप ग्राह्य हैं। *भगवद्गीता* (१४.२७) में भगवान् के इस रूप को जोर देकर इस प्रकार वर्णित किया गया है—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*। इस प्रकार सभी प्रकार से आध्यात्मिक ज्ञान का गुह्य अंश भगवान् का साक्षात्कार है, उनका निराकार ब्रह्म रूप नहीं। अत: मनुष्य का लक्ष्य परम सत्य के इसी साकार रूप का साक्षात्कार है, न कि निराकार रूप का। परम सत्य की विश्वचेतना को समझने हेतु जिज्ञासु के लिए घट के भीतर तथा घट के बाहर आकाश का दृष्टान्त उपयोगी हो सकता है। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि झूठे दावे से भगवान् का अंश परब्रह्म हो सकता है। इसका अर्थ यही होता है कि बद्धजीव मायाजाल के अन्तिम दाँव का शिकार बन चुका है। भगवान् की विश्वचेतना के साथ तादात्म्य का दावा करना दैवी माया द्वारा तैयार किया गया अन्तिम फन्दा होता है। भगवान् के निराकार होने पर भी मनुष्य को भौतिक सृष्टि की भाँति साकार रूप के साक्षात्कार की आकांक्षा रखनी चाहिए और *पश्चादहं यद् एतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्* का यही भावार्थ है।

नारद को उपदेश देते समय ब्रह्माजी ने भी इस सत्य को स्वीकार किया है। वे *भाग*वत (२.७.५०) में कहते हैं—सोऽयं तेऽभिहितस्तात भगवान् विश्वभावन:। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि के अतिरक्ति समस्त कारणों का कारण कोई अन्य नहीं है। अत: अहमेव इत्यादि श्लोक परमेश्वर के अतिरिक्त और कुछ सूचित नहीं करता। अत: मनुष्य को "ब्रह्म सम्प्रदाय" अर्थात् ब्रह्मा से नारद, फिर व्यास इत्यादि का अनुसरण करना चाहिए और श्रीभगवान् हरि या श्रीकृष्ण को प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य बनाना चाहिए। शुद्ध भक्तों को दिया गया यह परमगुह्य उपदेश अर्जुन को तथा सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा को भी दिया गया था। निस्सन्देह ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, इन्द्र, चन्द्र, वरुण इत्यादि देवता विभिन्न कार्यों को सम्पन्न करने के लिए भगवान् के ही विभिन्न रूप हैं; सृष्टि के विभिन्न अवयव, अनेक शक्तियाँ भी उसी भगवान् की हैं, किन्तु इन सबों के मूल श्रीभगवान् श्रीकृष्ण हैं। मनुष्य को चाहिए कि शाखाओं तथा पत्तियों से मोहग्रस्त न होकर, मूल को ही ग्रहण करे। यही इस श्लोक की शिक्षा है।

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथा तम: ॥ ३४॥

शब्दार्थ

ऋते—रहित; अर्थम्—सार; यत्—जो; प्रतीयेत—प्रतीत होता है; न—नहीं; प्रतीयेत—प्रतीत होता है; च—तथा; आत्मनि—मेरे प्रसंग में; तत्—वह; विद्यात्—तुम्हें जानना चाहिए; आत्मनः—मेरी; मायाम्—माया; यथा—जिस तरह; आभासः—प्रतिबिम्ब; यथा—जिस प्रकार; तमः—अंधकार।

हे ब्रह्मा, जो भी सारयुक्त प्रतीत होता है, यदि वह मुझसे सम्बन्धित नहीं है, तो उसमें कोई वास्तविकता नहीं है। इसे मेरी माया जानो, इसे ऐसा प्रतिबिम्ब मानो जो अन्धकार में प्रकट होता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में यह निष्कर्ष प्राप्त हो चुका है कि विश्व सम्बन्धी प्राकट्य की कोई भी अवस्था—इसकी उत्पत्ति, पालन, विकास, विभिन्न शक्तियों की अन्योन्य क्रियाएँ इसका क्षय तथा विलोप—सभी भगवान् के अस्तित्व से सम्बद्ध हैं। अत: जब भी भगवान् के साथ इस मूल सम्बन्ध को विस्मृत कर दिया जाता है और वस्तुओं को भगवान् से सम्बद्ध किये बिना सत्य मान लिया जाता है, तो इस धारणा को भगवान् की माया का फल समझना चाहिए। चूँकि भगवान् के बिना किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता, इसलिए माया भी भगवान् की एक शक्ति है। प्रत्येक वस्तु को भगवान् से सम्बन्धित करने का समुचित निष्कर्ष "योगमाया" कहलाता है और भगवान् से विलग करने की भ्रान्त धारणा (विच्छेद) भगवान् की दैवी माया या "महामाया" कहलाती है। दोनों प्रकार की माया का भगवान् से सम्बन्ध रहता है, क्योंकि उनके सम्बन्ध के बिना किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं रह सकता। इस प्रकार, भगवान् से सम्बन्ध-विच्छेद की भ्रान्त धारणा असत्य नहीं वरन् भ्रमपूर्ण है।

किसी एक वस्तु को दूसरी वस्तु समझना भ्रम कहलाता है। उदाहरणार्थ, रस्सी को साँप मान लेना भ्रम है, किन्तु रस्सी असत्य (मृषा) नहीं है। रस्सी भ्रमग्रस्त व्यक्ति के समक्ष होने से असत्य नहीं है। हाँ, इसको सर्प मान लेना भ्रमपूर्ण है। अत: भौतिक अस्तित्व के विषय में भ्रान्त धारणा भगवान् की शक्ति से त्यक्त हो चुकने पर भ्रम है, किन्तु असत्य नहीं है। यह भ्रान्त धारणा ही अविद्या के अन्धकार में सत्य का प्रतिबिम्ब (छाया) कहलाती है। कोई भी वस्तु जो "मेरी शक्ति से उत्पन्न" नहीं लगती है, वह माया है। जीवात्मा को रूपविहीन मानना या परमेश्वर के निराकार होने की धारणा भी भ्रम है। *भगवद्गीता* (२.१२) में भगवान् ने युद्धभूमि में स्थित होकर कहा है कि अर्जुन, अर्जुन के समक्ष खड़े योद्धा तथा भगवान् स्वयं इसके पूर्व भी विद्यमान थे, वे कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में भी विद्यमान हैं और भविष्य में भी वर्तमान देह के विनष्ट हो जाने पर और भवबन्धन से छुटकारा पा लेने पर भी इसी रूप में

विद्यमान रहेंगे। समस्त अवस्थाओं में भगवान् तथा जीवात्माएँ अपना अस्तित्व बनाये रखती हैं और इन दोनों के साकार रूप कभी नष्ट नहीं होते। केवल माया का प्रभाव, जो अंधकार में प्रकाश के प्रतिबिम्बस्वरूप है, भगवत्कृपा से दूर हो सकता है। भौतिक जगत में सूर्य का प्रकाश भी स्वतन्त्र नहीं है, न ही चन्द्रमा का प्रकाश। प्रकाश का असली स्रोत तो ब्रह्मज्योति है, जो भगवान् के दिव्य शरीर से प्रकाश को उद्भूत करती है और यही प्रकाश अनेक प्रकार के प्रकाशों में प्रतिबिम्बित होता है—यथा सूर्य-प्रकाश, चन्द्रमा का प्रकाश, अग्नि का प्रकाश, बिजली का प्रकाश। अत: परमात्मा से असम्बद्ध होकर आत्मा की सत्ता भी भ्रम है और ''मैं परम हूँ'' यह झूठा दावा उसी माया का अर्थात् भगवान् की बहिरंगा शक्ति का अन्तिम पाश होता है।

वेदान्त-सूत्र प्रारम्भ में ही पुष्टि करता है कि प्रत्येक वस्तु परमेश्वर से उत्पन्न है, अत: समस्त जीवात्माएँ परम पुरुष भगवान् की शक्ति से उत्पन्न हैं जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है। ब्रह्मा स्वयं भगवान् की शक्ति से उत्पन्न हैं और अन्य समस्त जीवात्माएँ भी ब्रह्मा के माध्यम से भगवान् की ही शक्ति से उत्पन्न हैं। भगवान् से सम्बन्धित हुए बिना किसी का कोई अस्तित्व नहीं होता।

प्रत्येक जीवात्मा की स्वतन्त्रता वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं है, अपितु यह परम पुरुष भगवान् में निहित वास्तविक स्वतन्त्रता का प्रतिबिम्ब मात्र होती है। बद्धजीवों द्वारा परम स्वतन्त्रता का झूठा दावा भ्रम ही है, इस निष्कर्ष को इस श्लोक में स्वीकारा गया है।

अल्पज्ञानी पुरुष भ्रमग्रस्त हो जाते हैं, इसीलिए तथाकथित विज्ञानी, शरीर-विज्ञानी, चिन्तक इत्यादि सूर्य, चन्द्र, बिजली इत्यादि के आभायुक्त प्रतिबिम्ब से चकाचौंध होते रहते हैं और प्रत्येक भौतिक वस्तु की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के विषय में नाना प्रकार के सिद्धान्त तथा कल्पनाएँ प्रस्तुत करके भगवान् के अस्तित्व को नकारते रहते हैं। कोई चिकित्सक मानव के शरीर के भीतर आत्मा के अस्तित्व को नकार सकता है, किन्तु मृत शरीर में वह प्राण नहीं फूँक सकता, यद्यपि मृत्यु के बाद भी शरीर का सारा तन्त्र जैसे का तैसा बना रहता है। मनोवैज्ञानिक मस्तिष्क की बनावट के विषय में गम्भीर अध्ययन करता है, उसके लिए मानो मस्तिष्क के लोथड़े की बनावट ही मानसिक-क्रिया की मशीन हो, किन्तु मृत शरीर के मस्तिष्क को वह क्रियाशील नहीं बना सकता। परमेश्वर से स्वतन्त्र

मानकर ब्रह्माण्ड विषयक अथवा शारीरिक रचना विषयक ये वैज्ञानिक अध्ययन केवल बौद्धिक व्यायाम हैं और अन्ततः भ्रम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होते। आधुनिक भौतिक सभ्यता के प्रसंग में विज्ञान तथा ज्ञान सम्बन्धी ऐसी सारी प्रगति माया के आच्छादक प्रभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं होती। माया की दो अवस्थाएँ होती हैं—आच्छादक प्रभाव तथा क्षेपक प्रभाव। क्षेपक प्रभाव के कारण माया जीवों को अविद्या के अन्धकार में गिरा देती है और आच्छादक प्रभाव से वह अल्प ज्ञानियों की आँखें ढक देती है, जिससे वह परम पुरुष के अस्तित्व के विषय में, जिसने सर्वोपरि जीवात्मा ब्रह्मा को प्रकाश दिया, अज्ञानी बना रहता है। यहाँ पर परमेश्वर के साथ ब्रह्मा के तादात्म्य का दावा नहीं किया गया है, अतः अल्पज्ञानियों द्वारा ऐसा मूर्खतापूर्ण दावा भगवान् की माया का दूसरा प्रदर्शन है। भगवान् ने *भगवद्गीता* (१६.१८-२०) में कहा है—ईश्वर के अस्तित्व को न मानने वाले आसुरी लोगों को अविद्या के अन्धकार में बारबार डाला जाता है, जिससे वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को जाने बिना जन्म-जन्मान्तर देहान्तर करते रहते हैं।

किन्तु विचारवान पुरुष स्वयं भगवान् से उपदिष्ट ब्रह्माजी की शिष्य-परम्परा से, जिन्हें भगवान् ने स्वयं उपदेश दिया या अर्जुन की शिष्य-परम्परा से जिन्हें स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* का उपदेश दिया, प्रबुद्ध होते हैं। उसे भगवान् का यह कथन मान्य होता है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

(*भगवद्गीता* १०.८)

भगवान् समस्त तेजों तथा जो कुछ भगवान् की शक्ति से उत्पन्न हुआ है, पालित है और विनाश को प्राप्त होता है, उन सबके मूल स्रोत हैं। जो विचारवान मनुष्य इसे जान लेता है, वही वास्तव में विद्वान है और वही भगवान् का शुद्ध भक्त बनकर भगवान् की प्रेमाभक्ति में रत होता है।

यद्यपि अल्पज्ञानी के समक्ष भगवान् की प्रतिबिम्बक शक्ति अनेक भ्रम उत्पन्न करती है, किन्तु विचारवान व्यक्ति जानता है कि भगवान् अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा हमारी दृष्टि से दूर से दूरतर स्थान में रहकर उसी प्रकार कार्य कर सकते हैं जिस प्रकार दूर स्थान में रखी अग्नि गर्मी तथा प्रकाश

फैलाती है। प्राचीन ऋषियों के औषधि विज्ञान आयुर्वेद में भगवान् की श्रेष्ठता को निम्नलिखित शब्दों में स्वीकार किया गया है—

जगद्योनेरनिच्छस्य चिदानन्दैकरूपिण:।

पुंसोऽस्ति प्रकृतिर्नित्या प्रतिच्छायेव भास्वत:॥

अचेतनापि चैतन्ययोगेन परमात्मन:।

अकरोद्विश्वमखिलम् अनित्यम् नाटकाकृतिम्॥

इस विश्व का एक जनक है, जिसे परम पुरुष कहते हैं और जिसकी शक्ति प्रतिबिम्ब रूप में चकाचौंध करती हुई भौतिक प्रकृति के रूप में कार्य करती है। प्रकृति के ऐसे भ्रमपूर्ण कार्य से मृत पदार्थ भी भगवान् की जीवित शक्ति के सहयोग से गति करने लगता है और अज्ञानी नेत्रों को यह भौतिक जगत नाटक के खेल की तरह प्रतीत होता है। अत: प्रकृति के नाटक में अज्ञानी पुरुष विज्ञानी अथवा शरीरक्रिया विज्ञानी भी हो सकता है, किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति जानता है कि प्रकृति भगवान् की माया है। ऐसे निष्कर्ष से, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* द्वारा होती है, यह स्पष्ट है कि जीवात्माएँ भी भगवान् की ज्येष्ठा शक्ति (पराप्रकृति) के प्रदर्शनस्वरूप हैं जिस प्रकार भौतिक जगत भगवान् की कनिष्ठा शक्ति (अपरा शक्ति) का प्रदर्शन है। भगवान् की ज्येष्ठा शक्ति कभी भी भगवान् के समान नहीं हो सकती, यद्यपि शक्ति तथा शक्तिमान में थोड़ा ही अन्तर है जितना कि अग्नि तथा ताप में। अग्नि में ताप होता है, किन्तु ताप अग्नि नहीं है। अल्पज्ञानी की समझ में इतनी सामान्य बात नहीं चढ़ती और वह झूठे ही अग्नि तथा ताप को एक ही बताता है। अग्नि की इस शक्ति (ताप) को सीधे अग्नि न कहकर उसका प्रतिबिम्ब कहा गया है। अत: जीवात्मा के रूप में जीवित शक्ति का प्रदर्शन भगवान् न होकर भगवान् का प्रतिबिम्ब होता है। भगवान् का प्रतिबिम्ब होने के कारण जीवात्मा का अस्तित्व भगवान् पर आश्रित है, जो मूल प्रकाश है। इस भौतिक शक्ति की तुलना अन्धकार से की जा सकती है, क्योंकि वह वस्तुत: अन्धकारस्वरूप होती है और अन्धकार में जीवात्माओं के कार्यकलाप मूल प्रकाश के प्रतिबिम्ब होते हैं। इस श्लोक के आधार पर भगवान् को समझना होगा। भगवान् की दोनों शक्तियों की अ-पराश्रिता को माया या भ्रम कहा गया है। केवल प्रकाश के प्रतिबिम्ब से अविद्याजन्य अन्धकार

को दूर करना मुश्किल है। इसी प्रकार सामान्य पुरुष के प्रतिबिम्बित प्रकाश से इस भौतिक संसार से बाहर निकल पाना कठिन है, जब तक मूल प्रकाश से प्रकाश प्राप्त न हो ले। अंधकार में सूर्य का प्रतिबिम्ब अंधकार को दूर करने में असमर्थ रहता है, किन्तु प्रतिबिम्ब से बाहर सूर्य का प्रकाश अन्धकार को दूर कर देता है। यदि कमरे में अंधकार हो तो कोई भी वस्तु नहीं दिखती। इसीलिए अंधकार में मनुष्य को साँपों तथा बिच्छुओं से भय लगता है, भले ही वे वहाँ पर न हों। किन्तु प्रकाश में कमरे की सारी वस्तुएँ स्पष्ट दिखती हैं और साँप-बिच्छुओं का भय भी तुरन्त जाता रहता है। अत: मनुष्य को भगवान् के प्रकाश की—जैसे *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* की शरण ग्रहण करनी चाहिए, किन्तु ऐसे प्रतिबिम्ब रूपी पुरुषों की नहीं जो भगवान् के सम्पर्क में नहीं रहते। किसी भी मनुष्य को *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* का श्रवण ऐसे पुरुष से नहीं करना चाहिए जो भगवान् के अस्तित्व पर विश्वास नहीं रखता (आस्तिक नहीं है)। ऐसे व्यक्ति का विनाश होना ही है और जो ऐसे पुरुष की संगति करता है उसका भी विनाश होता है।

पद्म पुराण के अनुसार भौतिक ब्रह्माण्ड अनन्त है और वे सारे के सारे अंधकार से पूर्ण हैं। सभी जीव, ब्रह्मा (अनन्त ब्रह्माण्डों में असंख्य ब्रह्मा हैं) से लेकर नगण्य चीटियों तक, अन्धकार में ही उत्पन्न होते हैं और इसके लिए कि वे भगवान् को प्रत्यक्ष देख सकें, भगवान् से प्रकाश प्राप्त करने की आवश्यकता होती है, जिस प्रकार सूर्य को सूर्य के सीधे प्रकाश द्वारा ही देख पाना सम्भव है। किसी भी दीपक या मनुष्यनिर्मित टार्च के प्रकाश से सूर्य को नहीं देखा जा सकता भले ही वह कितना भी शक्तिशाली हो। सूर्य अपने को स्वयं प्रकाशित करता है, अत: भगवान् की विभिन्न शक्तियों के कर्म को अथवा भगवान् को अहैतुकी कृपा द्वारा प्रकट किये गये प्रकाश से ही अनुभव किया जा सकता है। निर्विशेषवादियों का कहना है कि ईश्वर देखा नहीं जा सकता। ईश्वर को तो ईश्वर के प्रकाश से ही देखा जा सकता है, मानवीय चिन्तन द्वारा नहीं। यहाँ इस प्रकाश को विशेष रूप से *विद्यात्* कहा गया है, जो ब्रह्मा के लिए भगवान् का आदेश है। भगवान् का यह प्रत्यक्ष आदेश उनकी अन्तरंगा शक्ति का प्राकट्य है और इसी शक्ति विशेष द्वारा भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन किया जा सकता है। ऐसा नहीं है कि केवल ब्रह्मा को ही ऐसा अवसर प्राप्त हो, अपितु जिस किसी पर भगवान् की कृपा होती है, वह अन्तरंगा

शक्ति के द्वारा कल्पना के बिना ही श्रीभगवान् का साक्षात्कार कर सकता है।

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु ।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; महान्ति—सर्वव्यापी; भूतानि—तत्त्व; भूतेषु उच्च-अवचेषु—लघु तथा विराट में; अनु—पीछे; प्रविष्टानि—प्रवेश कर लिया; अप्रविष्टानि—प्रविष्ट नहीं; तथा—उसी तरह; तेषु—उनमें; न—नहीं; तेषु—उनमें; अहम्—मैं।

हे ब्रह्मा, तुम यह जान लो कि ब्रह्माण्ड के सारे तत्त्व विश्व में प्रवेश करते हुए भी प्रवेश नहीं करते हैं। उसी प्रकार मैं उत्पन्न की गई प्रत्येक वस्तु में स्थित रहते हुए भी साथ ही साथ प्रत्येक वस्तु से पृथक् रहता हूँ।

तात्पर्य : भौतिक सृष्टि के महान् तत्त्व अर्थात् क्षिति, जल, पावक, समीर तथा गगन समस्त प्रकट वस्तुओं, चाहे समुद्र हो या पर्वत, अथवा जलचर, पौधे, सरीसृप, पक्षी, पशु, मनुष्य, देवता अथवा जिनका भी अस्तित्व है, उनके शरीर में प्रवेश करते हैं, किन्तु साथ ही साथ वे उनसे पृथक् भी स्थित रहते हैं। चेतना के विकसित होने पर मनुष्य शरीरक्रिया तथा भौतिक विज्ञान का अध्ययन कर सकता है, किन्तु ऐसे विज्ञानों के मूल सिद्धान्त भौतिक तत्त्वों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं। चाहे मनुष्य का शरीर हो या पर्वत हो, चाहे ब्रह्मा समेत देवताओं का शरीर हो, वे सभी एक से तत्त्वों क्षिति, जल इत्यादि से बने और उसी के साथ ही ये तत्त्व शरीर से बाहर भी हैं। पहले तत्त्वों की उत्पत्ति हुई, अत: वे शरीर में बाद में प्रविष्ट हुए, किन्तु दोनों ही दशाओं में वे विश्व में प्रविष्ट हुए और नहीं भी प्रविष्ट हुए। इसी प्रकार परमेश्वर अपनी विभिन्न शक्तियों—अन्तरंगा तथा बहिरंगा—सहित इस ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु के भीतर स्थित हैं और उसी के साथ-साथ वे प्रत्येक वस्तु के बाहर वैकुण्ठ लोक में स्थित रहते हैं, जैसाकि पहले कहा जा चुका है। *ब्रह्म-संहिता* (५.३७) में इसका वर्णन अति सुन्दर ढंग से इस प्रकार मिलता है—

आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभिस्

ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभि: ।

गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन आदि श्रीभगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अपनी सच्चिदानन्द रूप अन्तरंगा शक्ति के विस्तार से, स्व तथा अंशों का सुख उठाते हैं और साथ ही वे सृष्टि के कण-कण में भी व्याप्त रहते हैं।''

उसी *ब्रह्म-संहिता* (५.३५) में उनके अंशों के इस विस्तार का और भी ठीक तरह से वर्णन हुआ है। यथा

एकोऽप्यसौ रचयितुं जगदण्डकोटिं

यच्छक्तिरस्ति जगदण्डचया यदन्तः।

अण्डान्तरस्थ परमाणुचयान्तरस्थं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन आदि श्रीभगवान् गोनिन्द की पूजा करता हूँ जो अपने एक अंश के द्वारा प्रत्येक ब्रह्माण्ड तथा प्रत्येक परमाणु में प्रविष्ट होते हैं और इस प्रकार समग्र सृष्टि भर में अपनी अनन्त शक्ति का असीम प्राकट्य करते हैं।''

निर्विशेषवादी कल्पना कर सकते हैं और चाहें तो देख सकते हैं कि परब्रह्म सर्वव्यापी हैं। इस प्रकार वे इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि उनके साकार होने की कोई संभावना नहीं है। यही भगवान् के दिव्य ज्ञान का रहस्य है। यह रहस्य भगवान् का दिव्य प्रेम है और जो भी भगवान् के ऐसे दिव्य प्रेम से पूरित होता है, वही प्रत्येक परमाणु तथा जड़ एवं चेतन पदार्थ में भगवान् के दर्शन कर सकता है। साथ ही वह भगवान् को उनके धाम गोलोक में अपने नित्य पार्षदों के साथ, जो उनके ही विस्तार हैं, नित्य लीला करते देख सकता है। यही दृष्टि आध्यात्मिक ज्ञान का वास्तविक रहस्य है, जैसाकि भगवान् ने प्रारम्भ में कहा है (*स रहस्यं तदंगं च*)। यह रहस्य परमेश्वर के ज्ञान का परम गुह्य भाग है और इसे चिन्तक बौद्धिक व्यायाम द्वारा कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते। यह रहस्य *ब्रह्म-संहिता* (५.३८) में ब्रह्माजी द्वारा बताई निम्नलिखित विधि से प्रकाश में आता है—

प्रेमांजनच्छुरितभक्तिविलोचनेन

सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन आदि श्रीभगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जिनका दर्शन शुद्ध भक्त अपनी आँखों में भगवद्प्रेम रूपी अञ्जन लगाकर सदैव अपने हृदयों के भीतर करते हैं। यह गोविन्द समस्त दिव्य गुणों से पूर्ण श्यामसुन्दर स्वरूप हैं।''

अतः पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् प्रत्येक परमाणु में स्थित होकर भी शुष्क चिन्तकों के लिए अदृश्य बने रहते हैं; तो भी शुद्ध भक्तों के नेत्रों के समक्ष सारा रहस्य खुल जाता है, क्योंकि उनमें प्रेमांजन जो लगा रहता है। यह भगवद्प्रेम भगवान् की प्रेमाभक्ति की साधना से ही प्राप्त हो सकता है और किसी तरह नहीं। भक्त की दृष्टि सामान्य नहीं होती वह भक्ति-मय सेवा के द्वारा परिष्कृत हो जाती है। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार ब्रह्माण्ड के सारे तत्त्व बाहर तथा भीतर हैं उसी तरह भगवान् के नाम, रूप, गुण लीलाएँ, पार्षद आदि जिस तरह उनका शास्त्रों में वर्णन हैं या भौतिक संसार से परे वे वैकुण्ठ लोक में दिखते हैं ये सभी भक्त के हृदय में उसी प्रकार दिखते हैं जैसे टेलीविजन में वस्तुएँ दिखती हैं। अल्पज्ञानी पुरुष इसे नहीं समझ पाता यद्यपि वह भौतिक विज्ञान के अन्तर्गत टेलीविजन के द्वारा दूर-दूर की वस्तुएँ देख सकता है। वस्तुतः आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत हुआ व्यक्ति अपने हृदय में भगवान् के धाम का टेलीविजन प्रतिबिम्ब सदैव प्राप्त कर सकता है। भगवान् के ज्ञान का यही रहस्य है।

भगवान् प्रत्येक प्राणी को इस संसार के बन्धन से मुक्ति दिला सकते हैं, किन्तु विरले ही वे भगवत्प्रेम का अधिकार प्रदान करते हैं जिसकी पुष्टि नारद ने भी की है (*मुक्तिं दधाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्*)। भगवान् की यह दिव्य भक्ति इतनी अद्‌भुत है कि सुपात्र भक्त परम सत्य से ध्यान हटाए बिना मनोनुकूल शारीरिक कार्य में तल्लीन रहता है। इस प्रकार भक्त के हृदय में भगवत्प्रेम का उदय एक महान् रहस्य है। ब्रह्माजी पहले ही नारद से कह चुके हैं कि भगवान् की दिव्यभक्ति में लीन रहने के कारण उनकी इच्छाएँ कभी भी अतृप्त नहीं रहतीं, न ही उनके मन में भक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई इच्छा रहती है। भक्तियोग की यही सुन्दरता है तथा यही रहस्य है। जिस प्रकार अच्युत होने के कारण

उनकी इच्छा अचूक है उसी प्रकार दिव्यभक्ति में लगे भक्तों की इच्छाएँ भी अच्युत हैं। किन्तु जिसे भक्ति के रहस्य का ज्ञान नहीं, ऐसे अज्ञानी के लिए यह समझ पाना कठिन है, जिस प्रकार कि पारस पत्थर की शक्ति को समझ पाना। पारस पत्थर अत्यन्त विरल है उसी प्रकार भगवान् का शुद्ध भक्त भी लाखों मुक्त पुरुषों में विरले ही पाया जाता है। (*कोटिष्वपि महामुने*)। ज्ञान के द्वारा जितनी भी सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं, उनमें से भक्ति में योग सिद्धि सर्वोच्च और सर्वाधिक गुह्य सिद्धि है, यहाँ तक कि योगाभ्यास से प्राप्त होने वाली अष्ट सिद्धियों में से भी अधिक गुप्त। अतः भगवान् ने *भगवद्गीता* (१८.६४) में अर्जुन को इस भक्तियोग का उपदेश दिया है।

सर्वगुह्यतमम् भूयः शृणु मे परमं वचः—भगवद्गीता में सब गोपनीयों में भी गोपनीय मेरे परम सार वचन को फिर से सुन। इसी वचन की पुष्टि ब्रह्माजी द्वारा नारद को कहे गये शब्दों से होती है—

इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितम्।

संग्रहोऽयं विभूतीनां त्वमेतद्विपुलीकुरु॥

ब्रह्माजी ने नारद से कहा, ''मैंने *भागवत* के विषय में तुमसे जो कुछ कहा है, वही मुझसे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने कहा था और मैं तुम्हें परमार्श दे रहा हूँ जिससे तुम इन कथाओं का उत्तम ढंग से विस्तार कर दो जिससे लोग भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति से गुह्य भक्तियोग को सरलता से समझ सकें।'' यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि ब्रह्मा को भक्तियोग का रहस्य भगवान् ने स्वयं बतलाया था। ब्रह्मा ने उस रहस्य को नारद को, नारद ने उसे व्यास को और व्यास ने शुकदेव गोस्वामी को समझाया और यही ज्ञान शुद्ध शिष्य-परम्परा से अब तक चला आ रहा है। यदि कोई इतना भाग्यशाली हो कि उसे शिष्य-परम्परा का यह ज्ञान प्राप्त हो सके तो वह भगवान् के रहस्य तथा उनके शब्द अवतार *श्रीमद्भागवत* के रहस्य को समझ सकता है।

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्व-जिज्ञासुनात्मनः ।
अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

एतावत्—यहाँ तक; **एव**—निश्चय ही; **जिज्ञास्यम्**—पूछा जाना चाहिए; **तत्त्व**—परम सत्य; **जिज्ञासुना**—विद्यार्थी द्वारा; **आत्मनः**—स्व का; **अन्वय**—प्रत्यक्ष; **व्यतिरेकाभ्याम्**—अप्रत्यक्ष रूप से; **यत्**—जो भी; **स्यात्**—सम्भव है; **सर्वत्र**—सभी जगह तथा सर्वकाल में; **सर्वदा**—समस्त परिस्थितियों में।

जो व्यक्ति परम सत्य रूप श्रीभगवान् की खोज में लगा हो उसे चाहिए कि वह समस्त परिस्थितियों में सर्वत्र और सर्वदा प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों ही प्रकार से इसकी खोज करे।

तात्पर्य : जैसा पिछले श्लोक में कहा गया है भक्तियोग के रहस्य को जान लेना ही जिज्ञासु के लिए समस्त जिज्ञासाओं की परम अवस्था या उनका परम लक्ष्य है। प्रत्येक व्यक्ति भिन्न-भिन्न ढंग से आत्म-साक्षात्कार की खोज में लगा हुआ है—चाहे वह कर्म-योग से हो, ज्ञानयोग से हो, या कि ध्यानयोग या राजयोग से हो, अथवा भक्तियोग से हो। प्रत्येक चेतनायुक्त जीवात्मा का कर्तव्य है कि आत्म-साक्षात्कार में प्रवृत्त हो। जो चेतना में उन्नत है, वह निश्चय ही आत्मा के विषय में, विश्व के विषय में तथा जीवन के समस्त क्षेत्रों के विषय में—यथा सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आचार सम्बन्धी विषयों तथा उनकी विविध शाखाओं के विषय में जिज्ञासा करता है। किन्तु यहाँ पर तो ऐसी समस्त जिज्ञासाओं के लक्ष्य को बताया गया है।

वेदान्त सूत्र दर्शन जीवन विषयक इसी जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है और *भागवत* ऐसी समस्त जिज्ञासाओं का इस बिन्दु तक अथवा समस्त जिज्ञासाओं के रहस्य का उत्तर देता है। ब्रह्माजी चाहते थे कि भगवान् उन्हें पूरी तरह शिक्षित कर दें और यहाँ पर भगवान् द्वारा दिया गया उत्तर चार संक्षिप्त श्लोकों में *अहमेव* श्लोक से लेकर *एतावदेव* तक है। यही आत्म-साक्षात्कार विधियों का समापन है। अन्धकार में चकाचौंध से मोहग्रस्त होने के कारण मनुष्य यह नहीं जान पाते कि जीवन का चरम लक्ष्य श्रीभगवान् विष्णु हैं; फलस्वरूप प्रत्येक प्राणी अनियन्त्रित इन्द्रियों द्वारा घुमाया-फिराया जाकर इस संसार के गहनतम अंधकार में धँसता जाता है। समग्र भौतिक संसार इन्द्रिय-तृप्ति, मुख्यतया कामवासना पर आधारित कामनाओं के कारण उत्पन्न हुआ है फलस्वरूप ज्ञान की समस्त प्रगति के बावजूद समस्त जीवों का अन्तिम लक्ष्य इन्द्रिय-तृप्ति ही रहता है। किन्तु यहाँ पर वास्तविक जीवन-लक्ष्य बताया गया है, जिसे भक्तियोग के ज्ञान में दक्ष प्रामाणिक गुरु या जीवित *भागवत* जीवन के जीवन्त पुरुष समक्ष जिज्ञासा करके जानना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति अनेक प्रकार की धर्म सम्बन्धी जिज्ञासाओं में लगा हुआ है, किन्तु *श्रीमद्भागवत* आत्म-साक्षात्कार के समस्त जिज्ञासुओं को उत्तर प्रदान करने वाला है। जीवन का यह परम-लक्ष्य कठोर परिश्रम अथवा लगन के बिना नहीं खोजा जा

सकता। जो व्यक्ति ऐसी सच्ची जिज्ञासाओं से प्रेरित होता हो उसे चाहिए कि ब्रह्माजी की शिष्य-परम्परा के प्रामाणिक गुरु से पूछे। यही इस श्लोक में निर्देशित है। चूँकि भगवान् ने इस रहस्य को ब्रह्माजी के समक्ष प्रकट किया था, अतः आत्म-साक्षात्कार सम्बन्धी सारी जिज्ञासाएँ ऐसे गुरु के समक्ष प्रकट की जानी चाहिए, जो शिष्य-परम्परा से मान्य भगवान् का सीधा प्रतिनिधि हो। ऐसा प्रामाणिक गुरु शास्त्रों के प्रमाण के आधार पर प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से सारी बात को स्पष्ट करने में समर्थ होता है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति को छूट है कि वह इस सम्बन्ध में शास्त्रों का अवलोकन करे, किन्तु फिर भी उसे प्रामाणिक गुरु के पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता पड़ती है। इस श्लोक में यही आदेश है। प्रामाणिक गुरु भगवान् का सबसे अधिक विश्वासपात्र प्रतिनिधि होता है, अतः मनुष्य को चाहिए कि गुरु से उसी भाव से आदेश प्राप्त करे जिस प्रकार ब्रह्माजी ने भगवान् श्रीकृष्ण से प्राप्त किया था। उस शिष्य-परम्परा में प्रामाणिक गुरु कभी भी अपने को भगवान् नहीं कहता, यद्यपि ऐसा गुरु भगवान् से भी बड़ा होता है, क्योंकि वह अपने व्यक्तिगत अनुभव से भगवान् को दूसरों को सौंप सकता है। भगवान् को केवल शिक्षा या उर्वर मस्तिष्क के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता, किन्तु प्रामाणिक गुरु के पारदर्शी माध्यम से जिज्ञासु को उसकी प्राप्ति हो सकती है।

शास्त्रों में इसके सीधे निर्देश प्राप्त हैं, किन्तु जीवात्माएँ अन्धकार में चकाचौंध के द्वारा मोहग्रस्त होने के कारण अंधी होने से शास्त्रों के सत्य को खोज पाने में अक्षम रहती हैं। उदाहरणार्थ, *भगवद्गीता* में सारा आदेश भगवान् श्रीकृष्ण की ओर लक्षित है, किन्तु ब्रह्माजी की परम्परा में प्रामाणिक गुरु के अभाव में, अथवा अर्जुन जैसे प्रत्यक्ष श्रोता के अभाव में, अनेक अवैध पुरुष अपनी सनकों की तुष्टि के लिए इस दिव्य ज्ञान को तोड़-मोड़ कर प्रस्तुत करते हैं। निस्सन्देह, परव्योम के क्षितिज में *भगवद्गीता* सर्वाधिक प्रकाशमान नक्षत्र है, किन्तु इस महान् ज्ञान-ग्रंथ की व्याख्याएँ इतनी बुरी तरह से तोड़ी-मरोड़ी गई हैं कि *भगवद्गीता* का प्रत्येक जिज्ञासु भौतिक चमक-दमक के अंधकार में अभी भी पड़ा हुआ है। ऐसे जिज्ञासुओं को शायद ही *भगवद्गीता* से प्रकाश मिल पाता हो। गीता में मुख्य रूप से वही आदेश दिया गया है, जो *भागवत* के इन चार मूल श्लोकों में प्राप्त है, किन्तु अनधिकृत व्यक्तियों द्वारा इसकी गलत तथा फैशनपरस्त व्याख्या से कोई सही निष्कर्ष तक नहीं पहुँच पाता। *भगवद्गीता*

(१८.६१) में स्पष्ट उल्लेख है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

भगवान् परमात्मा रूप में सभी जीवों के हृदयों में स्थित हैं और अपनी बहिरंगा शक्ति के द्वारा संसार के समस्त प्राणियों को नियन्त्रण में रखते हैं। अत: यह स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् परम नियन्ता हैं और जीवात्माएँ भगवान् द्वारा नियन्त्रित हैं। उसी *भगवद्गीता* (१८.६५) में भगवान् आदेश देते हैं कि—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

इससे स्पष्ट है कि भगवान् का आदेश है कि मनुष्य को भगवतो-मुखी, भगवान् का भक्त, उन्हीं का उपासक होना चाहिए और भगवान् श्रीकृष्ण को ही नमस्कार करना चाहिए। ऐसा करने से भक्त निस्संदेह भगवान् के धाम को प्राप्त होगा।

अप्रत्यक्ष रूप से यह कहा जाता है कि मानव समाज की सम्पूर्ण वैदिक संरचना इस प्रकार बनी हुई है कि प्रत्येक व्यक्ति भगवान् के पूरे शरीर के अंग-प्रत्यंग के रुप में कार्यकरता है। ज्ञानी पुरुष अर्थात् ब्राह्मण भगवान् के मुख पर स्थित हैं शासक वर्ग अर्थात् क्षत्रिय उनकी बाहुओं पर व्यापारी वर्ग अर्थात् वैश्य भगवान् के कटि भाग पर तथा श्रमिक वर्ग या शूद्र भगवान् के पाँवों पर स्थित हैं। अत: सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचा भगवान् का शरीर है और शरीर के विविध भाग—यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सभी मिलकर भगवान् के पूरे शरीर की सेवा करने के निमित्त हैं, अन्यथा ये भाग एकता की परम चेतना में समन्वित किए जाने के योग्य नहीं रह जाते। श्रीभगवान् से सम्बद्ध सभी की समन्वित सेवा से विश्वचेतना प्राप्त की जा सकती है, अत: बड़े से बड़े वैज्ञानिक, महान् दार्शनिक, चिन्तक, राजनीतिज्ञ, उद्योगपति, समाज सुधारक इत्यादि तक भी इस संसार के अशान्त समाज को कोई राहत नहीं दिला सकते, क्योंकि वे *भागवत* के इस श्लोक में वर्णित सफलता के रहस्य अर्थात् *भक्तियोग* के रहस्य को नहीं जानते। *भगवद्गीता* (७.१५) में भी कहा गया है :

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमः।

माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

चूँकि मानव समाज के तथाकथित बड़े-बड़े नेता भक्तियोग के इस महान् ज्ञान से अनजान रहते हैं और भगवान् की बहिरंगा शक्ति से मोहित होकर सदैव इन्द्रिय-तृप्ति के निकृष्ट कार्यों में संलग्न रहते हैं, अतः वे परमेश्वर की श्रेष्ठता के कट्टर विरोधी होते हैं और वे भगवान् की शरण में जाना कभी स्वीकार नहीं करते, क्योंकि वे मूर्ख, बदमाश तथा नराधम हैं। ऐसे श्रद्धारहित नास्तिक चाहे उन्हें कितनी ही उच्च शिक्षा प्राप्त क्यों न हो, वास्तव में संसार के सबसे बड़े मूर्ख हैं, क्योंकि बहिरंगा प्रकृति के प्रभाव से उनका सारा ज्ञान व्यर्थ हो जाता है। अतः सारा आधुनिक समुन्नत ज्ञान कुत्ते-बिल्लियों के समान इन्द्रिय-तुष्टि के लिए आपस में लड़ने में लग जाता है और विज्ञान, दर्शन, कला, राष्ट्रीयता, आर्थिक विकास, धर्म के सम्बन्ध में अर्जित सारा ज्ञान तथा सारे महान् कार्य उसी प्रकार व्यर्थ कर दिये जाते हैं जिस प्रकार शव के लिए प्रयुक्त वस्त्र। शव-शय्या को विविध प्रकार के वस्त्रों से ढक कर मूर्ख जनता से झूठी वाहवाही लूटने से कोई लाभ नहीं। अतः *श्रीमद्भागवत* बारम्बार कहता है कि भक्तियोग का पद प्राप्त किये बिना मानव समाज के सारे कार्यकलाप निष्फल होते हैं। कहा गया है—

पराभवस्तावदबोधजातो

यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम्।

यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै

कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः॥

(*भागवत* ५.५.५)

जब तक मनुष्य आत्म-साक्षात्कार की जिज्ञासा की उपेक्षा करता है तब तक बड़े से बड़े भौतिक कार्यकलाप पराजय-स्वरूप होते हैं, क्योंकि मानव जीवन का उद्देश्य ऐसे अवांछित तथा व्यर्थ के कार्यों से पूर्ण नहीं होता। मनुष्य शरीर का कार्य भव-बन्धन से मुक्त होना है, किन्तु जब तक कोई भौतिक कार्यों में लीन रहेगा तब तक उसका मन पदार्थ की भँवर में घूमता रहेगा और वह जन्म-जन्मान्तर देह के बन्धन में फँसता रहेगा।

एवं मन: कर्मवशं प्रयुङ्क्ते

अविद्ययात्मन्युपधीयमाने।

प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे

न मुच्यते देहयोगेन तावत्॥

(*भागवत* ५.५.६)

मन के ही कारण विविध देह धारण करके, सभी प्रकार की भौतिक यातनाएँ भोगनी होती हैं। अत: जब तक मन सकाम कर्म में लीन रहता है, उसे अज्ञान में लगा हुआ समझना चाहिए, अत: जब तक कि मनुष्य परम पुरुष भगवान् वासुदेव के प्रति दिव्य प्रेम उत्पन्न नहीं कर लेता तब तक वह पुन:पुन: विभिन्न देहों में भवबन्धन में पड़ता रहेगा। परम पुरुष वासुदेव के दिव्य नाम, गुण, रूप तथा लीलाओं में मग्न रहने का अर्थ है मन की वृत्ति को पदार्थ से परम ज्ञान में बदल देना जिससे परम बोध के पथ पर अग्रसर हुआ जा सकता है और इस प्रकार भवबन्धन तथा विभिन्न देहों के जाल से छुटकारा पाया जा सकता है।

अत: श्रील जीव गोस्वामी प्रभुपाद सर्वत्र सर्वदा शब्दों की टीका इस अर्थ में करते हैं कि भक्तियोग के नियम सभी परिस्थितियों के लिए उपयुक्त हैं, अर्थात् भक्तियोग समस्त शास्त्रों में संस्तुत है यह समस्त अधिकारियों द्वारा प्रयुक्त है यह सभी स्थानों पर महत्त्व रखता है यह समस्त कार्य-कारणों में उपयोगी है इत्यादि। जहाँ तक सभी शास्त्रों का सम्बन्ध है, वे स्कन्द पुराण से ब्रह्मा तथा नारद की कथा का निम्न उद्धरण देते हैं—

संसारेऽस्मिन् महाघोरे जन्ममृत्युसमाकुले।

पूजनं वासुदेवस्य तारकं वादिभि: स्मृतम्॥

यह संसार अंधकार तथा भय के साथ-साथ जन्म-मरण तथा विभिन्न चिन्ताओं से पूर्ण है और इस विशाल जाल से निकलने का एकमात्र उपाय भगवान् वासुदेव की दिव्य प्रेमाभक्ति को स्वीकार करना है। सभी वर्ग के दार्शनिकों ने इसे स्वीकार किया है।

श्रील जीव गोस्वामी एक अन्य व्यापक उद्धरण देते हैं, जो *पद्म पुराण, स्कन्द पुराण* तथा *लिंग*

पुराण—इन तीनों में पाया जाता है। यह इस प्रकार है—

आलोड्य सर्वशास्त्रानि विचार्य च पुनः पुनः।

इदम् एकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥

"शास्त्रों के आलोडन तथा उनके बारम्बार पुनरीक्षण से यह निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् नारायण ही परम सत्य हैं, अतः केवल उन्हीं की पूजा करनी चाहिए।"

यही सत्य अप्रत्यक्ष रूप में *गरुड़ पुराण* में इस प्रकार बताया गया है—

पारंगतोऽपि वेदानां सर्वशास्त्रार्थवेद्यपि।

यो न सर्वेश्वरे भक्तस्तं विद्यात् पुरुषाधमम्॥

"भले ही कोई समस्त वेदों का अवगाहन कर चुका हो और समस्त शास्त्रों में निपुण हो, किन्तु यदि वह परमेश्वर का भक्त नहीं है, तो उसे नराधम समझना चाहिए।" इसी प्रकार *श्रीमद्भागवत* (५.१८.१२) में भी अपरोक्ष रीति से कहा गया है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना

सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।

हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा

मनोरथेनासति धावतो बहिः॥

जिसमें भगवान् के प्रति अटल भक्ति है उसमें देवताओं के समस्त सद्गुण रहते हैं, किन्तु इसके विपरीत जो भगवान् का भक्त नहीं है, वह कल्पना (चिन्तन) के अन्धकार में भटकता रहता है और नाशवान भौतिकता में लगा रहता है। *श्रीमद्भागवत* (११.११.१८) का कथन है—

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि।

श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥

"भले ही कोई वेदों के समस्त दिव्य साहित्य में निष्णात् हो, किन्तु यदि वह परमेश्वर को नहीं जानता तो यह समझना चाहिए कि उसकी सारी शिक्षा पशु का भार उठाने तुल्य अथवा दूध न देने वाली गाय के पालने के समान है।"

इसी प्रकार भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करने की छूट प्रत्येक व्यक्ति यहाँ तक कि स्त्री, शूद्र, वन्य जातियों या अन्य किसी भी पापमय स्थितियों में जी रहे जीवों के लिए भी है।

ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां

स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पापजीवाः।

यद्यद्भुतक्रमपरायणशीलशिक्षा-

स्तिर्यग्जना अपि किमु श्रुतधारणा ये॥

(*भागवत* २.७.४६)

यदि भगवद्भक्ति में निष्णात् प्रामाणिक गुरु द्वारा नराधमों को भी शिक्षा मिले तो वे भक्ति के उच्चस्थ पद तक उठ सकते हैं। जब नराधम तक भी इतने ऊँचे उठ सकते हैं, तो जो वैदिक ज्ञान में निष्णात् सर्वोच्च हैं उनके विषय में कुछ कहना ही क्या है! निष्कर्ष यह निकला कि भगवद्भक्ति के द्वार सबों के लिए खुले हैं, चाहे वे जो भी हों। यह सब प्रकार के लोगों द्वारा भक्ति से लाभ उठाये जाने की पुष्टि है।

अतः हर एक के लिए, यहाँ तक कि यदि वह मनुष्य न हो तो भी, प्रामाणिक गुरु की शिक्षा द्वारा प्राप्त पूर्णज्ञान सहित भगवान् की भक्ति की सलाह दी गई है। *गरुड़ पुराण* में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—

कीटपक्षिमृगाणां च हरौ संन्यस्तचेतसाम्।

ऊर्ध्वामेव गतिं मन्ये किं पुनर्ज्ञानिनां नृणाम्॥

"जहाँ कीटों, पक्षियों तथा पशुओं तक को भगवान् की दिव्य भक्ति के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित होने पर उच्चतम सिद्धि-पद तक ऊपर उठने का आश्वासन प्राप्त हो, वहाँ मनुष्यों में *ज्ञानियों* के विषय में क्या कहा जाय?"

अतः भगवान् की भक्तिमय सेवा करने के लिए समुचित योग्य पात्रों के ढूँढ़े जाने की आवश्यकता नहीं होती है चाहे वे शिष्ट हों या अशिक्षित, विद्वान हों अथवा मूर्ख आसक्त हों या विरक्त मुक्त हों या मुक्ति के कामी भक्ति करने में सक्षम हों या अक्षम। सभी लोग उचित पथ-प्रदर्शन से भक्ति करते हुए

परम पद को प्राप्त हो सकते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.३०, ३२) में इस प्रकार हुई है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

यदि समस्त प्रकार के पापकर्मों में रत कोई व्यक्ति उचित पथ-निर्देशन में भगवान् की भक्ति करता है, तो उसे निस्सन्देह परम पवित्र पूर्ण पुरुष समझना चाहिए। अतः कोई भी पुरुष या स्त्री, चाहे वह जो भी हो और जैसा भी हो—यहाँ तक कि पतित स्त्री, शूद्र, वैश्य या इनसे भी निम्नपुरुष, यदि भगवान् के चरणकमलों की निष्ठापूर्वक शरण ग्रहण करता है, तो वह भगवान् के धाम को लौटकर जीवन की परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। यही निष्ठा एकमात्र पात्रता (योग्यता) है, जिससे वह जीवन के उच्च पूर्ण पद को प्राप्त कर सकता है और जब तक ऐसी निष्ठा जागृत नहीं होती तब तक भौतिक दृष्टि से शुद्धि, अथवा अशुद्धि, ज्ञान अथवा अज्ञान में अन्तर दिखता है। अग्नि तो सदैव अग्नि रहती है, अतः जब कोई जाने या अनजाने अग्नि को छूता है, तो अग्नि बिना भेदभाव के अपना कार्य करती है। नियम है—*हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।* सर्वशक्तिमान भगवान् भक्त के सभी प्रकार के समस्त पापफलों को शुद्ध कर सकता है, जिस प्रकार सूर्य अपनी शक्तिशाली किरणों से सभी प्रकार के संदूषणों को संदमित करता है। "भगवान् के शुद्ध भक्त पर भौतिक सुख के आकर्षण का रंग नहीं चढ़ता"। शास्त्रों में सैकड़ों-हजारों ऐसी सूक्तियाँ हैं—*आत्मारामाश्च मुनयः*—स्वरूपसिद्ध पुरुष भी भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति के प्रति अकृष्ट होते हैं। *केचित् केवलया भक्त्या वासुदेव परायणाः*—केवल श्रवण तथा कीर्तन से मनुष्य भगवान् वासुदेव का परम भक्त बन जाता है। न चलति *भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धम् अपि स वैष्णवाग्र्यः*—जो व्यक्ति भगवान् के चरणकमलों से एक क्षण के लिए भी नहीं हटता उसे समस्त वैष्णवों में सबसे बड़ा समझा जाता हैं। *भगवत्पार्षदतां प्राप्ते मत्सेवया प्रतीतं ते*—शुद्ध भक्तों को भगवान् की संगति प्राप्त करने का पूरा-पूरा विश्वास रहता है और इस तरह वे भगवान् की दिव्य सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं। अतः समस्त भूखण्डों, लोकों तथा

ब्रह्माण्डों में भक्तियोग प्रचलित है। यही *श्रीमद्भागवत* तथा अन्य शास्त्रों का कथन है। *सर्वत्र* का अर्थ है भगवान् की सृष्टि के प्रत्येक भाग में। भगवान् की सेवा समस्त इन्द्रियों से या मन से की जा सकती है। दक्षिण भारत में जिस ब्राह्मण ने केवल अपने मन के बल पर भगवान् की सेवा की थी उसे यथार्थ में भगवान् के दर्शन हुए। जो भक्त अपनी किसी भी इन्द्रिय को पूर्णत: भक्ति गुण में लगाता है उसकी सफलता निश्चित है। भगवान् की सेवा किसी भी वस्तु से—यहाँ तक कि सर्व साधारण वस्तु जैसे फल, फूल, पत्ती या कि थोड़े से जल द्वारा जो संसार भर में सर्वत्र बिना मूल्य के ही उपलब्ध हैं, की जा सकती है। भगवान् ब्रह्माण्ड भर के जीवों द्वारा इसी प्रकार सेवित हैं। केवल श्रवण, कीर्तन या उनकी लीलाओं के पठन से, पूजन से या उन्हें मानने से ही उनकी सेवा हो जाती है।

भगवद्गीता में कहा गया है कि मनुष्य स्वकीय कर्मों के फल अर्पण करने से भी भगवान् की सेवा कर सकता है, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि वह करता क्या है। सामान्य रूप से लोग कह सकते हैं कि वे जो भी करते हैं वह ईश्वर की प्रेरणा से करते हैं, किन्तु यही सब कुछ नहीं है। मनुष्य को वास्तव में भगवान् के सेवक के रूप में कार्य करना चाहिए। *भगवद्गीता* (९.२७) में भगवान् कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

जो तुम्हें अच्छा लगे या आसान लगे, वही करो जो चाहो सो खाओ; जो भी यज्ञ करना हो करो जो भी दान देना हो दो और जो भी तपस्या करनी हो करो किन्तु प्रत्येक कार्य केवल भगवान् के लिए होना चाहिए। यदि तुम कोई कार्य करते हो या कोई नौकरी स्वीकार करते हो तो भगवान् के हेतु करो। जो भी खाओ, वही भगवान् को भी अर्पित करो और आश्वस्त रहो कि वे उस भोजन को पाने के बाद तुम्हें लौटा देंगे। वे परम पूर्ण हैं, अत: जो भी भक्त द्वारा अर्पित किया जाता है उसे वे भक्त के प्रेमवश ग्रहण करते हैं, किन्तु पुन: प्रसाद के रूप में भक्त को लौटा देते हैं जिसे खाकर वह प्रसन्न रहे। दूसरे शब्दों में, ईश्वर के सेवक बनो और उसी भाव में शान्तिपूर्वक रहकर अन्त में भगवान् के धाम को प्राप्त करो।

स्कन्द पुराण में कहा गया है—

यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु।

नूनं सम्पूर्णतामेति सद्यो वन्दे तमच्युतम्॥

"मैं अच्युत भगवान् को नमस्कार करता हूँ, क्योंकि केवल उनके पवित्र नाम के स्मरण या उच्चारण से समस्त तपों, सकाम कर्मों, यज्ञों का फल प्राप्त होता है और इस विधि का सर्वत्र पालन किया जा सकता है।" *भागवत* (२.३.१०) में भी कहा गया है—

अकाम: सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी:।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

"मनुष्य को चाहिए कि वह पूर्ण सिद्धि के लिए अच्युत भक्तियोग पथ का अनुसरण करे, भले ही वह सकाम हो अथवा निष्काम"। मनुष्य को प्रत्येक देव तथा देवी की पूजा करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भगवान् उन सबों के मूलरूप हैं। जिस प्रकार वृक्ष की जड़ों को सींचने से उसकी समस्त टहनियाँ तथा पत्तियाँ हरी-भरी हो जाती हैं उसी प्रकार भगवान् की सेवा करने से अन्य सभी देवों तथा देवियों की सेवा बिना किसी प्रयास के, हो जाती है। भगवान् सर्वव्यापी हैं, अत: उनकी सेवा भी सर्वव्यापी है। इस तथ्य का समर्थन *स्कन्द पुराण* में इस प्रकार हुआ है—

अर्चिते देवदेवेशे शंखचक्रगदाधरे।

अर्चिता: सर्वदेवा: स्युर्यत: सर्वगतो हरि:॥

जब शंख, चक्र, गदा तथा पद्मधारी श्रीभगवान् की पूजा की जाती है, तो अन्य सभी देवों की पूजा स्वत: हो जाती है, क्योंकि श्रीभगवान् हरि सर्वव्यापी हैं। अत: सभी प्रकार से प्रत्येक प्राणी ऐसी भगवद्-भक्ति से लाभान्वित होता है। ऐसे कार्य से भगवान् की पूजा करने वाला, पूजित होने वाले भगवान्, जिस हेतु पूजा की जाती है, पूर्ति का स्रोत, जहाँ पूजा की जाती है—ये सभी लाभान्वित होते हैं।

यहाँ तक कि भौतिक संसार के प्रलय के समय भी भक्तियोग की विधि व्यवहृत हो सकती है। *कालेन नष्टा प्रलये वाणीयम्*—प्रलय के समय भगवान् की पूजा की जाती है, क्योंकि वे वेदों की नष्ट होने से रक्षा करते हैं। वे प्रत्येक युग में पूजे जाते हैं। *श्रीमद्भागवत* (१२.३.५२) में कहा गया है—

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।

द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

विष्णु पुराण में लिखा गया है—

स हानिस्तन्महच्छिद्रं स मोहः स च विभ्रमः।

यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवं न चिन्तयेत्॥

''यदि एक क्षण के लिए भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान, वासुदेव का स्मरण नहीं किया जाता तो यह सबसे बड़ी हानि है, सबसे बड़ा भ्रम है और सबसे बड़ी विडम्बना है।'' जीवन की समस्त अवस्थाओं में भगवान् पूजे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, महाराज प्रह्लाद तथा महाराज परीक्षित ने अपनी माताओं के गर्भ में भी भगवान् की पूजा की; ध्रुव महाराज ने केवल पाँच वर्ष की आयु में भगवान् की पूजा की; महाराज अम्बरीष ने अपनी पूर्ण युवावस्था में भगवान् की पूजा की और महाराज धृतराष्ट्र ने अपनी वृद्धायु में अत्यन्त विक्षिप्तावस्था में भी भगवान् की पूजा की। अजामिल ने मृत्यु के सन्निकट रहते हुए भी भगवान् की पूजा की और चित्रकेतु ने स्वर्ग तथा नरक में रहकर भी भगवान् की पूजा की। नरसिंह पुराण में कहा गया है कि जब नरक में रहने वालों ने भगवान् के पवित्र नाम का जप प्रारम्भ किया, तो वे नरक से स्वर्ग जाने लगे। दुर्वासा मुनि ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है—मुच्येत यन्नाम्न्युदिते नारकोऽपि—केवल भगवन्नाम-जप से नरक के वासी अपनी-अपनी नारकीय यातना से मुक्त हो गये। अतः शुकदेव गोस्वामी द्वारा महाराज परीक्षित को जो उपदेश दिया गया उसका निष्कर्ष श्रीमद्‌भागवत (२.१.११) में इस प्रकार है—

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम्।

योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्॥

''हे राजन्! अन्ततः यह तय हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह संन्यासी हो, योगी हो अथवा सकाम कर्मी हो, वांछित फल की प्राप्ति के लिए निर्भय होकर भगवान् के पवित्र नाम का जप करना चाहिए।''

इसी प्रकार विभिन्न शास्त्रों में अप्रत्यक्ष रूप से इंगित किया गया है—

१. भले ही कोई समस्त वेदों तथा शास्त्रों में निष्णात् हो, किन्तु यदि वह परमेश्वर का भक्त नहीं है, तो वह नराधम माना जाता है।

२. *गरुड़ पुराण, बृहन्नारदीय पुराण* तथा *पद्म पुराण* में भी इसी की पुनरावृत्ति की गई है—जो भगवद्भक्ति से रहित है उसके वैदिक ज्ञान तथा तपस्या से क्या लाभ?

३. हजारों प्रजापतियों की एक भगवद्भक्त से तुलना कैसी?

४. शुकदेव गोस्वामी ने *श्रीमद्भागवत* (२.४.१७) में कहा है कि भगवद्भक्ति के बिना न संन्यासी, न ही दयालु, प्रसिद्ध व्यक्ति, महान् दार्शनिक, महान् तान्त्रिक या अन्य कोई भी व्यक्ति वांछित फल नहीं पा सकते।

५. भले ही कोई स्थान स्वर्ग से भी अधिक महिमामय हो, किन्तु यदि वहाँ वैकुण्ठ के स्वामी या उनके भक्त की महिमा का गान नहीं होता तो उसको तुरन्त छोड़ देना चाहिए।

६. शुद्ध भक्त भगवान् की सेवा में लगे रहने के लिए पाँच प्रकार की मुक्तियों को अस्वीकार कर देता है।

अत: अन्तिम निष्कर्ष यही है कि सर्वत्र तथा सर्वदा भगवान् की महिमा का गान होना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि उनकी महिमा का श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण करे, क्योंकि जीवन की परम सिद्ध अवस्था यही है। सकाम कर्म तो भोग्य शरीर तक सीमित है योग-शक्तियों की प्राप्ति तक, योग शुष्क दर्शन दिव्य ज्ञान की उपलब्धि तक और जहाँ तक दिव्य ज्ञान का सम्बन्ध है, वह मोक्ष-लाभ तक सीमित है। यदि इन सबको सम्पन्न किया भी जाता है, तो इनके मार्ग में त्रुटियों के होने की सम्भावना रहती है। किन्तु भगवान् की दिव्य भक्ति को ग्रहण करने की न तो कोई सीमा है न ही नीचे गिरने का कोई भय है। भगवत्कृपा से यह विधि स्वत: अन्तिम अवस्था को प्राप्त होती है। भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था में ज्ञान आवश्यक है, किन्तु उच्चतर अवस्था में ऐसे ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं होती। अत: उन्नति का सर्वोत्तम तथा निश्चित पथ भक्तियोग ही है।

कभी-कभी *श्रीमद्भागवत* के उपर्युक्त चार श्लोकों के निचोड़ का उपयोग निर्विशेषवादी अपने पक्ष के समर्थन हेतु करता है, किन्तु ध्यान देना होगा कि इन चारों श्लोकों का वर्णन सर्वप्रथम श्रीभगवान् ने

स्वयं किया था। अत: भगवान् के विषय में कोई धारणा न होने से निर्विशेषवादी को उनमें प्रवेश करने की कोई गुंजाईश नहीं है। अत: इन श्लोकों के निचोड़ की निर्विशेषवादी चाहे जो भी व्याख्या करे, वह ब्रह्मा से प्राप्त शिष्य-परम्परा में दीक्षित व्यक्तियों द्वारा मान्य नहीं होगी जैसाकि निम्नलिखित श्लोकों से स्पष्ट हो जाएगा। इसके अतिरिक्त श्रुति पुष्टि करती है कि जिसे अपने शैक्षणिक ज्ञान का गर्व होता है उसके समक्ष श्रीभगवान् कभी प्रकट नहीं होते। *कठोपनिषद्* के (१.२.२३) श्रुति मन्त्र का स्पष्ट कथन है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो

न मेधया न बहुधा श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-

स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

यह सारी बात श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं, अत: जिसकी पहुँच भगवान् के सगुण रूप तक नहीं है, वह *श्रीमद्भागवत* के सार को शिष्य-परम्परा में किसी *भागवत* से शिक्षा ग्रहण किये बिना शायद ही समझ सके।

एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना ।
भवान् कल्प-विकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; मतम्—निष्कर्ष, निर्णय; समातिष्ठ—स्थित रहते हैं; परमेण—परम; समाधिना—समाधि द्वारा, ध्यान के एकाग्रीकरण से; भवान्—आप; कल्प—बीच की प्रलय; विकल्पेषु—अन्तिम प्रलय में; न विमुह्यति—मोहित नहीं करेगा; कर्हिचित्—कुछ भी।

हे ब्रह्मा, तुम मन को एकाग्र करके इस निर्णय का पालन करो। तुम्हें, न तो आंशिक और न ही पूर्ण प्रलय के समय किसी प्रकार का गर्व विचलित कर सकेगा।

तात्पर्य : जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* के दसवें अध्याय में सम्पूर्ण गीता का सारांश चार श्लोकों में—*अहं सर्वस्य प्रभव:* इत्यादि में दिया है, उसी प्रकार सम्पूर्ण *श्रीमद्भागवत* के सार को चार श्लोकों में—*अहं एवासम् एवाग्रे* इत्यादि में रख दिया गया है। इस प्रकार *भागवत* के महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष का गुह्य सार *श्रीमद्भागवत* के मूल वक्ता द्वारा रख दिया गया है और वे ही अर्थात् भगवान्

श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* के भी मूल वक्ता थे। अनेक वैयाकरणों तथा झगड़ालू अभक्तों ने *श्रीमद्भागवत* के इन चार श्लोकों की झूठी व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, किन्तु स्वयं भगवान् ने ब्रह्माजी को उपदेश दिया कि वे उनके द्वारा बताए गये सुस्थिर निर्णय (निष्कर्ष) से विचलित न हों। *श्रीमद्भागवत* के साररूपी इन चार श्लोकों के शिक्षक भगवान् थे और ब्रह्मा ज्ञान प्राप्तकर्ता थे। शब्दाडम्बर द्वारा *अहं* शब्द की भ्रान्त व्याख्या से *श्रीमद्भागवत* के कट्टर अनुयायियों को विचलित नहीं होना चाहिए। *श्रीमद्भागवत* श्रीभगवान् तथा उनके भक्तों का, जो *भागवत* कहलाते हैं, मूल पाठ है और किसी भी बाहरी व्यक्ति को भक्ति के इस गुह्य साहित्य तक पैठ नहीं होने देना चाहिए। किन्तु दुर्भाग्यवश निर्विशेषवादी, जिसका भगवान् से कोई सम्बन्ध नहीं है, कभी-कभी अपने व्याकरण सम्बन्धी अल्पज्ञान तथा शुष्कचिन्तन से *श्रीमद्भागवत* की व्याख्या करता है। अत: भगवान् ब्रह्माजी को आगाह करते हैं (और ब्रह्मा के माध्यम से शिष्य-परम्परा के समस्त भावी भक्तों को भी) कि मनुष्य को तथाकथित वैयाकरणों के निर्णय से या अन्य अल्पज्ञानियों के निर्णय से पथ-विचलित न होकर अपने मन को परम्परा पद्धति में सदैव स्थिर रखना चाहिए। संसारी ज्ञान के बल पर किसी को नवीन व्याख्या करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। अत: ब्रह्मा द्वारा प्राप्त ज्ञान पद्धति के आधार पर पहला सोपान है परम्परा पद्धति का पालन करने वाले प्रामाणिक गुरु के पास पहुँचना जो भगवान् का प्रतिनिधि होता है। किसी को अपने अधूरे संसारी ज्ञान के आधार पर अपना निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। गुरु समस्त प्रामाणिक वैदिक साहित्य के आधार पर शिष्य को सही मार्ग की शिक्षा देने में समर्थ होता है। वह अपने शिष्य को शब्दजाल में नहीं फँसाता। वह अपने शिष्य को अपने स्वयं के कार्यकलापों द्वारा भक्ति-सिद्धान्तों की शिक्षा देता है। मनुष्य सगुण भक्ति के बिना निर्विशेषवादियों तथा शुष्कचिन्तकों की तरह चिंतन करता रहता है और जन्म-जन्मातर तक भी अन्तिम निष्कर्ष तक नहीं पहुँच पाता। प्रामाणिक गुरु के आदेशों के साथ-साथ शास्त्रों के नियमों का पालन करके शिष्य पूर्णज्ञान के पद को प्राप्त करता है, जिसका प्राकट्य सांसारिक इन्द्रिय-तृप्ति की विरक्ति के रूप में होता है। संसारी विवादकों को मनुष्य द्वारा इन्द्रिय-तृप्ति से विरक्त देखकर आश्चर्य होता है और भगवान् के साक्षात्कार करने का कोई भी प्रयास उन्हें रहस्यमय लगता है। ऐन्द्रिय जगत से विरक्त होना आत्म-

साक्षात्कार ब्रह्मभूत अवस्था कहलाती है, जो पराभक्ति की प्रारम्भिक अवस्था है। ब्रह्मभूत अवस्था आत्माराम अवस्था भी कहलाती है, जिसमें मनुष्य आत्मतुष्ट रहता है और सांसारिक इन्द्रिय-सुख की कामना नहीं करता। श्रीभगवान् के दिव्य ज्ञान को समझने के लिए यह पूर्ण तुष्टि की अवस्था उपयुक्त स्थिति है। *श्रीमद्भागवत* (१.२.२०) इसका समर्थन करता है।

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।

भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते॥

इस आत्माराम स्थिति में, जो भक्ति करने के फलस्वरूप सांसारिक इन्द्रिय सुखोपभोग से पूर्ण विरक्ति के द्वारा प्रकट होती है, मनुष्य भगवत-तत्त्व को समझ सकता है।

ऐन्द्रिय जगत की इस पूर्ण तुष्टि तथा विरक्ति अवस्था में ही भगवत-तत्त्व के रहस्य को सभी गुह्य उलझनों सहित समझा जा सकता है, किसी व्याकरण या शुष्क चिन्तन से नहीं। चूँकि ब्रह्मा ऐसे ज्ञान को प्राप्त करने के योग्य थे, अतः भगवान् ने प्रसन्न होकर *श्रीमद्भागवत* के उद्देश्य को प्रकट किया। भगवान् का यह प्रत्यक्ष आदेश किसी भी भक्त के लिए, जो सांसारिक इन्द्रिय-तृप्ति से विरक्त है, सुलभ है, जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.१०) में कहा गया है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

जो भक्त प्रीतिपूर्वक भगवान् की दिव्य भक्ति में लगे रहते हैं उन्हें भगवान् अपनी अहैतुकी कृपा से प्रत्यक्ष आदेश देते हैं जिससे वे भगवान् के धाम को लौटने के मार्ग में अग्रसर हो सकें। अतः केवल चिन्तन के आधार पर *श्रीमद्भागवत* के इन चार श्लोकों को समझने का प्रयास नहीं करना चाहिए, अपितु भगवान् के साक्षात् अनुभूति से उनके धाम वैकुण्ठ लोक के विषय में जानने का प्रयास करना चाहिए जैसाकि ब्रह्माजी ने किया। भक्तिजन्य दिव्य स्थिति को प्राप्त भक्त ही ऐसा वैकुण्ठ-साक्षात्कार करने में समर्थ हैं।

गोपालतापनी उपनिषद (श्रुति) में कहा गया है—*गोपवेशो मे पुरुषः पुरस्ताद् आविर्बभुव*—ब्रह्माजी के समक्ष भगवान् ग्वाले के रूप में अर्थात् श्रीकृष्ण के रूप में प्रकट हुए जिसका वर्णन बाद में

ब्रह्माजी ने *ब्रह्म-संहिता* (५.२९) में किया है।

चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्ष-

लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्।

लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रम सेव्यमानं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

ब्रह्माजी भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा करना चाहते हैं, जो सर्वोच्च वैकुण्ठ लोक, गोलोक वृन्दावन में वास करते हैं जहाँ वे ग्वाले के वेश में सुरभि गौवें पालते हैं और जहाँ हजारों लक्ष्मियाँ (गोपियाँ) प्रेम तथा आदरपूर्वक उनकी सेवा करती हैं।

अत: श्रीकृष्ण ही परमेश्वर के मूल रूप हैं (कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्)। इस आदेश से भी यही स्पष्ट है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही तो श्रीकृष्ण हैं, वे सीधे नारायण या पुरुष-अवतार नहीं हैं। ये तो बाद के रूप हैं, अत: *श्रीमद्भागवत* का अर्थ है पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण का बोध और *श्रीमद्भागवत भगवद्गीता* की तरह भगवान् की वाणी का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि *श्रीमद्भागवत* भगवद्विज्ञान है, जिसमें भगवान् तथा उनके धाम का पूरी तरह बोध होता है।

श्री-शुक उवाच

सम्प्रदिश्यैवमजनो जनानां परमेष्ठिनम् ।
पश्यतस्तस्य तद् रूपमात्मनो न्यरुणद्धरिः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; सम्प्रदिश्य—ब्रह्माजी को पूरी तरह उपदेश देकर; एवम्—इस प्रकार; अजनः—परमेश्वर; जनानाम्—जीवात्माओं के; परमेष्ठिनम्—परम नेता, ब्रह्मा को; पश्यतः—देखते हुए; तस्य—उसका; तत् रूपम्—उस दिव्य रूप को; आत्मनः—परमेश्वर का; न्यरुणत्—अन्तर्धान हो गये; हरिः—भगवान्।

शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित से कहा—जीवात्माओं के नायक ब्रह्मा को अपने दिव्य रूप में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि इस प्रकार उपदेश देते दिखे और फिर अन्तर्धान हो गये।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् *अजन:* अर्थात् परम पुरुष हैं और वे ब्रह्मा को

अपना दिव्य रूप (*आत्मनो रूपम्*) दिखाते हुए चार श्लोकों में *श्रीमद्भागवत* के सार का उपदेश दे रहे थे। वे *जनानाम्* अर्थात् समस्त पुरुषों में *अजनः* अर्थात् परम पुरुष हैं। समस्त जीवात्माएँ पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं और ऐसे व्यक्तियों में भगवान् हरि सर्वश्रेष्ठ हैं जैसी कि इस श्रुति मन्त्र से पुष्टि होती है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*। अतः दिव्य जगत में निराकार रूप के लिए कोई स्थान नहीं है जैसाकि भौतिक संसार में कोई निराकार रूप नहीं है। जब भी चेतना (ज्ञान) होती है, तो साकार रूप सामने आता है। आध्यात्मिक जगत में प्रत्येक वस्तु ज्ञान से पूर्ण है, अतः दिव्य जगत की प्रत्येक वस्तु स्थल, जल, वृक्ष, पर्वत, नदी, मनुष्य पशु, पक्षी इसी गुण अर्थात् चेतना से पूर्ण है, अतः वहाँ की प्रत्येक वस्तु व्यष्टि तथा साकार है। सर्वश्रेष्ठ वैदिक साहित्य *श्रीमद्भागवत* से हमें यह जानकारी प्राप्त होती है और श्रीभगवान् ने यह सूचना ब्रह्माजी को इसीलिए दी थी कि जीवात्माओं के नायक होने के कारण वे इस सन्देश को सारे विश्व में प्रसारित करके भक्तियोग की परम ज्ञानमयी शिक्षा प्रदान कर सकें। ब्रह्माजी ने अपने प्रिय पुत्र नारद को *श्रीमद्भागवत* के इसी सन्देश का उपदेश दिया। नारद ने इसे व्यासदेव को दिया और उन्होंने शुकदेव गोस्वामी को। शुकदेव स्वामी के सौजन्य तथा महाराज परीक्षित की कृपा से हमें यह *श्रीमद्भागवत* प्राप्त है, जिससे हम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के विज्ञान को स्थायी रूप से सीख सकते हैं।

अन्तर्हितेन्द्रियार्थाय हरये विहिताञ्जलिः ।
सर्व-भूतमयो विश्वं ससर्जेदं स पूर्ववत् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

अन्तर्हित—अन्तर्धान होने पर; इन्द्रिय-अर्थाय—समस्त इन्द्रियों के लक्ष्य, श्रीभगवान् के लिए; हरये—भगवान् के लिए; विहित-अञ्जलिः—हाथ जोड़कर; सर्व-भूत—समस्त जीवात्माओं; मयः—से पूर्ण; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; ससर्ज—उत्पन्न किया; इदम्—यह; सः—उसने (ब्रह्माजी); पूर्व-वत्—पहले की भाँति।

भक्तों की इन्द्रियों को दिव्य आनन्द प्रदान करने वाले पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि के अन्तर्धान हो जाने पर ब्रह्माजी हाथ जोड़े हुए ब्रह्माण्ड की जीवात्माओं से पूर्ण वैसी ही सृष्टि पुनः करने लगे जिस प्रकार वह इसके पूर्व थी।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि समस्त जीवात्माओं की इन्द्रियों को परिपूर्ण करने के उपादान हैं। बहिरंगा शक्ति की चकाचौंध में मोहित होकर जीवात्माएँ परमात्मा के इच्छाओं की पूर्ति करने की

बजाय अपनी इन्द्रियों की पूजा प्रारम्भ कर देती हैं।

हरि-भक्ति-सुधोदय (१३.२) में निम्नलिखित श्लोक आया है—

अक्ष्णोः फलं त्वादृशदर्शनं हि

तनोः फलं त्वादृशगात्रसङ्गः।

जिह्वाफलं त्वादृशकीर्तनं हि

सुदुर्लभा भागवता हि लोके॥

"हे भगवद्भक्त! आँखें तुम्हें देखकर सफल हो जाती हैं और तुम्हारे देह के स्पर्श से स्पर्श की पूर्ति हो जाती है। जिह्वा तुम्हारे गुणों के गान के लिए है, क्योंकि इस संसार में भगवान् का शुद्ध भक्त पाना अत्यन्तदुर्लभ है।"

प्रारम्भ में जीवात्माओं को इन्द्रियाँ इस प्रयोजन के लिए प्रदान की गई थीं कि वे उनसे भगवान् अथवा उनके भक्तों की प्रीतिपूर्वक सेवा करें, किन्तु बद्धजीव बहिरंगा शक्ति के मोह में आकर इन्द्रियसुख से सम्मोहित हो गये। अतएव ईश्वर चेतना की सारी प्रक्रिया इन्द्रियों के बद्ध कार्यों को सही मार्ग पर लाना और फिर से उन्हें भगवान् की सेवा में लगाना है। इसलिए ब्रह्माजी ने पुनः सृष्ट ब्रह्माण्ड में कार्य करने के लिए बद्धजीवों की फिर से सृष्टि करके अपनी इन्द्रियों को भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा में लगाया। इस प्रकार यह ब्रह्माण्ड भगवान् की इच्छा से उत्पन्न और विनष्ट होता है। इसकी सृष्टि बद्धजीवों को अवसर प्रदान करने के लिए की जाती है, जिससे वे भगवान् के धाम वापस जाने की दिशा में कार्य कर सकें और ब्रह्माजी, नारदजी, व्यासजी तथा उनकी मंडली इसी उद्देश्य से भगवान् के कार्य में लग जाते हैं। यह कार्य है इन्द्रियतुष्टि के दायरे से बद्धजीवों का उद्धार करना तथा इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में प्रवृत्त करने की सामान्य स्थिति में वापस ले जाना। किन्तु निर्विशेषवादी ऐसा करने के बजाय बद्धजीवों को और भगवान् को भी चेतनाहीन बनाने लगे रहते हैं। बद्धजीवों के साथ यह दुर्व्यवहार है। इन्द्रियों की रुग्ण अवस्था दोष के उपचार द्वारा ठीक की जा सकती है न कि इन्द्रियों के उच्छेदन से। यदि आँखों में कोई रोग हो जाय तो ठीक से देखने के लिए उनका उपचार करना चाहिए। आँखों को निकाल लेना तो कोई उपचार नहीं हुआ। इसी प्रकार सारा भवरोग इन्द्रिय-तृप्ति पर

आधारित है और रुग्णावस्था से मुक्ति का अर्थ है कि इन्द्रियों को भगवान् का सौंदर्य निहारने, उनकी महिमा सुनने तथा उनके लिए कर्म करने की ओर लगाया जाय। इस प्रकार ब्रह्माजी ने फिर से ब्रह्माण्ड के कार्यों की सृष्टि की।

प्रजापतिर्धर्म-पतिरेकदा नियमान् यमान् ।
भद्रं प्रजानामन्विच्छन्नातिष्ठत् स्वार्थ-काम्यया ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

प्रजा-पतिः—समस्त जीवात्माओं के पूर्वज; धर्म-पतिः—धर्म के पिता; एकदा—एक बार; नियमान्—विधि-विधानों; यमान्—संयम के नियम; भद्रम्—कल्याण; प्रजानाम्—जीवों का; अन्विच्छन्—इच्छा से; आतिष्ठत्—स्थित; स्व-अर्थ—अपना हित; काम्यया—कामना करते हुए।

एक बार जीवों के पूर्वज तथा धर्म के पिता ब्रह्माजी ने समस्त जीवात्माओं के कल्याण में ही अपना हित समझते हुए विधिपूर्वक यम-नियमों को धारण किया।

तात्पर्य : यम-नियमों को धारण किये बिना कोई उच्च पद पर आसीन नहीं हो सकता। इन्द्रियतृप्ति का असंयमित जीवन पशु जीवन है और ब्रह्माजी ने अपनी संततियों को उच्चतर कर्तव्यों के निर्वाह हेतु इन्द्रियों पर संयम रखने की शिक्षा दी। वे भगवान् के दास के रूप में सभी का कल्याण चाह रहे थे और जो भी अपने कुल तथा पीढ़ियों के कल्याण की कामना करता है उसे नैतिक धार्मिक जीवन बिताना होता है। उच्चतम नैतिक जीवन है भगवद्भक्त बनना, क्योंकि शुद्ध भक्त में भगवान् के सभी गुण आ जाते हैं। इसके विपरीत, जो ईश्वर भक्त नहीं है, वह सांसारिकता में कितना ही पटु क्यों न हो, किसी उत्तम गुण से सम्पन्न नहीं कहा जा सकता। ब्रह्मा तथा उनकी शिष्य-परम्परा के अनेक व्यक्ति जो भगवान् के शुद्ध भक्त हैं जब तक स्वयं वैसा आचरण नहीं करते तब तक अपने आश्रितों को किसी भी प्रकार का उपदेश नहीं देते।

तं नारदः प्रियतमो रिक्थादानामनुव्रतः ।
शुश्रूषमाणः शीलेन प्रश्रयेण दमेन च ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; नारदः—नारद मुनि; प्रियतमः—अत्यन्त प्रिय; रिक्थ-आदानाम्—उत्तराधिकारी पुत्रों का; अनुव्रतः—अत्यन्त आज्ञाकारी; शुश्रूषमाणः—सदैव सेवा के लिए उद्यत; शीलेन—सदाचरण से; प्रश्रयेण—विनयशीलता से; दमेन—इन्द्रिय-संयम से; च—भी।

ब्रह्मा के उत्तराधिकारी पुत्रों में सर्वाधिक प्रिय नारद अपने पिता की सेवा के लिए सदैव तत्पर रहते हैं और अपने पिता के उपदेशों का अत्यन्त संयम, विनय तथा सौम्यता से पालन करते हैं।

मायां विविदिषन् विष्णोर्मायेशस्य महा-मुनिः ।
महा-भागवतो राजन् पितरं पर्यतोषयत् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

मायाम्—शक्तियाँ; विविदिषन्—जानने की इच्छा से; विष्णोः—भगवान् की; माया-ईशस्य—समस्त शक्तियों के स्वामी का; महा-मुनिः—ऋषि; महा-भागवतः—भगवान् का उत्कृष्ट भक्त; राजन्—हे राजा; पितरम्—अपने पिता को; पर्यतोषयत्—अत्यन्त प्रसन्न किया।

हे राजन्, नारद ने अपने पिता को अत्यधिक प्रसन्न कर लिया और समस्त शक्तियों के स्वामी विष्णु की शक्तियों के विषय में जानने की इच्छा प्रकट की, क्योंकि नारद समस्त ऋषियों तथा समस्त भक्तों में सर्वोपरि हैं।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के समस्त जीवों के स्रष्टा होने के कारण ब्रह्मा अनेक विख्यात पुत्रों के जनक हैं, यथा दक्ष नारद तथा सनकादि के जनक हैं। वेदों द्वारा प्रचारित मानव ज्ञान के तीन विभागों—कर्म काण्ड, ज्ञान काण्ड तथा उपासना काण्ड—में से देवर्षि नारद ने अपने पिता ब्रह्मा से उपासना काण्ड, दक्ष ने कर्म काण्ड तथा सनक, सनातनादि ने ज्ञान काण्ड को उत्तराधिकार में प्राप्त किया। किन्तु इन सबमें से नारद को उनके सदाचार, आज्ञापालन, विनयशीलता तथा पिता के प्रति सेवा सन्नद्धता के कारण ब्रह्मा का अत्यन्त प्रिय पुत्र कहा गया है। नारद मुनियों में सर्वश्रेष्ठ हैं, क्योंकि समस्त भक्तों में वे श्रेष्ठ हैं। नारद भगवान् के अनेक प्रसिद्ध भक्तों के गुरु हैं। वे प्रह्लाद, ध्रुव, व्यास से लेकर वन पशुओं के हन्ता किरात तक के गुरु हैं। उनका एकमात्र कार्य हर एक को भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति की ओर उन्मुख करना है। इसीलिए इन सारे गुणों के कारण वे अपने पिता के सर्वाधिक प्रिय पुत्र हैं और नारद का प्रथम कोटि का भगवद्भक्त होना इसका एकमात्र कारण है। भक्तगण समस्त शक्तियों के स्वामी परमेश्वर के विषय में अधिकाधिक जानने के इच्छुक रहते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.९) में कहा गया है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

परमेश्वर अनन्त हैं और उनकी शक्तियाँ भी असीम हैं। उन्हें कोई पूर्णत: नहीं जान सकता। ब्रह्माजी इस ब्रह्माण्ड के सबसे महान जीव होने तथा भगवान् से प्रत्यक्ष उपदेश प्राप्त करने के कारण अन्यों की अपेक्षा अधिक जानते हैं, यद्यपि ऐसा ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकता। अत: प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह ब्रह्मा की शिष्य-परम्परा में, जो नारद से व्यास और व्यास से शुकदेव आदि से आगे चली आ रही है, गुरु से अनन्त भगवान् के विषय में जिज्ञासा करें।

तुष्टं निशाम्य पितरं लोकानां प्रपितामहम् ।
देवर्षि: परिपप्रच्छ भवान्यन् मानुपृच्छति ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तुष्टम्—प्रसन्न; निशाम्य—देखकर; पितरम्—पिता को; लोकानाम्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का; प्रपितामहम्—परदादा; देवर्षि:—नारद ऋषि ने; परिपप्रच्छ—पूछा; भवान्—तुम; यत्—जो; मा—मुझसे; अनुपृच्छति—पूछ रहे हो।

जब नारद ने देखा कि समस्त ब्रह्माण्ड के प्रपितामह ब्रह्माजी मुझ पर प्रसन्न हैं, तो महर्षि नारद ने अपने पिता से विस्तार में भी पूछा।

तात्पर्य : किसी सिद्ध महात्मा से आध्यात्मिक या दिव्य ज्ञान को समझने की विधि पाठशाला के शिक्षक से कोई सामान्य प्रश्न पूछने जैसी नहीं है। आजकल शिक्षकों को ज्ञान प्रदान करने के एवज में धन दिया जाता है, किन्तु गुरु वेतनभोगी नहीं होता, न ही वह बिना अधिकार के शिक्षा दे सकता है। *भगवद्गीता* (४.३४) में दिव्य ज्ञान को समझने की विधि का निर्देश इस प्रकार है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन: ॥

अर्जुन को सलाह दी गई थी कि वह किसी सिद्ध पुरुष से समर्पण, प्रश्न तथा सेवा द्वारा दिव्य ज्ञान प्राप्त करे। दिव्य ज्ञान प्राप्त करना डालरों के विनिमय जैसा व्यापार नहीं हैं। ऐसा ज्ञान गुरु की सेवा करके प्राप्त किया जाता है। जिस प्रकार से ब्रह्माजी ने भगवान् को पूरी तरह तुष्ट करके उनसे प्रत्यक्ष दिव्य ज्ञान प्राप्त किया, उसी प्रकार गुरु को प्रसन्न करके दिव्य ज्ञान प्राप्त करना होता है। गुरु की तुष्टि से ही दिव्य ज्ञान आत्मसात् होता है। केवल वैयाकरण बन जाने से दिव्य ज्ञान नहीं समझा जा सकता।

वेदों की घोषणा है (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.२३)—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

''जिसकी अडिग भक्ति भगवान् तथा गुरु में होती है, उसके ही लिए दिव्य ज्ञान स्वतः प्रकट होता है।'' शिष्य तथा गुरु का ऐसा सम्बन्ध शाश्वत है। आज जो शिष्य है, वही आगे चलकर गुरु बनेगा। और जब तक शिष्य अपने गुरु की आज्ञा का कड़ाई से पालन नहीं करता तब तक वह प्रामाणिक तथा वैध गुरु नहीं बन सकता। ब्रह्माजी ने भगवान् से शिष्य रूप में वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया और इसे अपने प्रिय शिष्य नारद को प्रदान किया। इसी प्रकार नारद ने गुरु के रूप में यह ज्ञान व्यास को हस्तान्तरित किया और आगे भी ऐसा ही हुआ। अतः तथाकथित औपचारिक गुरु तथा शिष्य ब्रह्मा तथा नारद अथवा नारद तथा व्यास के प्रतिरूप नहीं हो सकते। ब्रह्मा तथा नारद का सम्बन्ध एक वास्तविकता (सत्य) थी, किन्तु ठग तथा ठगे जाने वाले का सम्बन्ध तथाकथित औपचारिकता है। यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि नारद न केवल शिष्ट, विनीत तथा आज्ञाकारी थे, वरन् वे आत्मसंयमी भी थे। जो आत्मसंयमी नहीं है, विशेष रूप से कामी जीवन में, वह न तो शिष्य बन सकता है, न गुरु। मनुष्य को वाणी, क्रोध, जीभ, मन, उदर तथा कामेन्द्रियों पर संयम रखने की अनुशासनिक शिक्षा मिलनी चाहिए। जो उपर्युक्त विशिष्ट इन्द्रियों पर संयम प्राप्त कर लेता है, वह गोस्वामी कहलाता है। गोस्वामी हुए बिना न तो कोई शिष्य बन सकता है और न गुरु। इन्द्रिय-संयम के बिना तथाकथित गुरु निश्चय ही वंचक (ठग) है और उसका शिष्य वंचित है।

हमें इस लोक के अनुभव की तरह ब्रह्माजी को मृत प्रपितामह नहीं समझना चाहिए। वे सबसे बड़े प्रपितामह हैं और अब भी जीवित हैं। नारद भी जीवित हैं। *भगवद्गीता* में ब्रह्मलोक के निवासियों की आयु का उल्लेख है। ये क्षुद्र पृथ्वीलोकवासी मुश्किल से ब्रह्मा के एक दिन की अवधि की गणना कर सकते हैं।

तस्मा इदं भागवतं पुराणं दश-लक्षणम् ।
प्रोक्तं भगवता प्राह प्रीतः पुत्राय भूत-कृत् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

तस्मै—तत्पश्चात्; इदम्—यह; भागवतम्—भगवान् की महिमा, अथवा भगवद्-ज्ञान; पुराणम्—उपवेद; दश-लक्षणम्—दस विशिष्टताएँ; प्रोक्तम्—वर्णित; भगवता—भगवान् द्वारा; प्राह—कहा; प्रीतः—संतुष्ट होकर; पुत्राय—पुत्र से; भूत-कृत्—ब्रह्माण्ड के स्रष्टा।

तब जाकर पिता (ब्रह्मा) ने अपने पुत्र नारद को श्रीमद्भागवत नामक उपवेद पुराण कह सुनाया जिसका वर्णन श्रीभगवान् ने उनसे किया था और जो दस लक्षणों से युक्त है।

तात्पर्य : यद्यपि चतु:श्लोकी *श्रीमद्भागवत* का उपदेश दिया गया था, किन्तु वह दस लक्षणों से सम्पन्न था, जिनकी व्याख्या अगले अध्याय में की जाएगी। चार श्लोकों में पहले यह बताया गया है कि सृष्टि के पूर्व भगवान् का अस्तित्व था, अत: *श्रीमद्भागवत* का शुभारम्भ वेदान्त सूक्ति *जन्माद्यस्य* से होता है। यद्यपि *जन्माद्यस्य* शुभारम्भ है, तो भी जिन चार श्लोकों में यह वर्णित है और जिनमें कहा गया है कि भगवान् सृष्टि से लेकर भगवद्धाम तक प्रत्येक वस्तु के मूल हैं, उसमें दस लक्षणों की व्याख्या हुई है। मनुष्य को गलत व्याख्या करके यह भूल नहीं करनी चाहिए कि भगवान् ने केवल चार श्लोक कहे थे, अत: शेष १७,९९४ श्लोक व्यर्थ हैं। इन दस लक्षणों की समुचित व्याख्या के लिए जैसाकि अगले अध्याय में बताया जाएगा, न जाने कितने श्लोकों की आवश्यकता होगी। ब्रह्मा ने नारद को पहले यह भी सलाह दी थी कि उन्होंने जो उपदेश दिया है उसका वे विस्तार करें। श्री चैतन्य महाप्रभु ने श्रील रूप गोस्वामी को संक्षेप में इसका उपदेश दिया, किन्तु शिष्य रूप गोस्वामी ने इसको अत्यधिक विस्तार दिया। इसके बाद इसी विषय को जीव गोस्वामी ने और फिर श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने विस्तार दिया। हम इन्हीं अधिकारियों के पदचिह्नों पर चलने का प्रयास कर रहे हैं। अत: *श्रीमद्भागवत* न तो कोई साधारण उपन्यास है, न ही संसारी साहित्य। इसकी शक्ति अपार है, इसे अपनी बुद्धि के अनुसार चाहे जितना बढ़ाया जा सकता है। इससे *भागवत* का अन्त नहीं होगा। *श्रीमद्भागवत* भगवान् की वाणी का प्रतिनिधित्व करता है, अत: इसे चाहे चार श्लोकों में कहा जाय या चार अरब श्लोकों में, यह एक जैसा है ठीक वैसे ही जैसे भगवान् अणु से भी सूक्ष्म और अनन्त आकाश से भी विस्तृत हैं। *श्रीमद्भागवत* की शक्ति ऐसी ही है।

नारदः प्राह मुनये सरस्वत्यास्तटे नृप ।
ध्यायते ब्रह्म परमं व्यासायामित-तेजसे ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

नारदः—नारद मुनि ने; प्राह—उपदेश दिया; मुनये—मुनि को; सरस्वत्याः—सरस्वती नदी के; तटे—तट पर; नृप—हे राजन; ध्यायते—ध्यानमग्न; ब्रह्म—परम सत्य; परमम्—परमेश्वर; व्यासाय—श्रील व्यासदेव के लिए; अमित—अपार; तेजसे—शक्तिमान को।

हे राजन्, उसी परम्परा में नारद मुनि ने श्रीमद्भागवत का उपदेश अनन्त शक्तिमान उन व्यासदेव को दिया जो सरस्वती नदी के तट पर भक्ति में स्थित होकर परम सत्य, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का ध्यान कर रहे थे।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध के पाँचवें अध्याय में नारद ने व्यासदेव को निम्नलिखित उपदेश दिया है—

अथो महाभाग भवान् अमोघदृक्
शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः।
उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये
समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम्॥

"हे महाभाग्यशाली पवित्र विद्वान! तुम्हारा नाम तथा यश विश्वव्यापी है और तुम अपने निष्कलंक चरित्र तथा अच्युत दृष्टि से परम सत्य में स्थित हो। मैं तुम्हें भगवान् की अतुलनीय लीलाओं का ध्यान करने को कहता हूँ।"

इस प्रकार ब्रह्मसम्प्रदाय की शिष्य-परम्परा में योग ध्यान के अभ्यास की उपेक्षा नहीं की जाती। लेकिन भक्तियोगी होने के कारण भक्त निर्गुण ब्रह्म का ध्यान नहीं धरते। वे तो जैसा यहाँ इंगित किया गया है, परम ब्रह्म (*ब्रह्म परमम्*) का ध्यान करते हैं। ब्रह्म साक्षात्कार ब्रह्मज्योति से प्रारम्भ होता है और अधिक ध्यान करने से परमात्मा का प्राकट्य होता है। अधिक आगे बढ़ने पर भगवान् का साक्षात्कार स्थिर हो जाता है। श्रीनारद मुनि, व्यासदेव के गुरु होने के नाते, व्यासदेव की स्थिति से अवगत थे, अतः उन्होंने प्रमाणित किया कि श्रील व्यासदेव भगवान् की लीलाओं के ध्यान में पूर्ण निष्ठा से स्थित हैं। नारद ने भगवान् की दिव्य लीलाओं का ध्यान करने का उपदेश दिया। निर्विशेष ब्रह्म की कोई लीला नहीं होती, किन्तु सगुण ब्रह्म की लीलाएँ अनेक हैं और ये सारी लीलाएँ दिव्य होती हैं और इनमें भौतिक गुणों का स्पर्श तक नहीं होता। यदि परब्रह्म की लीलाएँ भौतिक होतीं तो नारद ने

कभी भी व्यासदेव को उनका ध्यान करने का उपदेश न दिया होता। परमब्रह्म तो भगवान् श्रीकृष्ण हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है। *भगवद्गीता* के दशम अध्याय में अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण की वास्तविक स्थिति का बोध हुआ तो उन्होंने श्रीकृष्ण को सम्बोधित करते हुए निम्नलिखित शब्द कहे (*भगवद्गीता* १०.१२-१३)।

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।

पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥

आहुस्त्वामृषय: सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।

असितो देवलो व्यास: स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥

अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण का दर्शन करके *भगवद्गीता* के उद्देश्य का सार संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए कहा, "हे प्रभो! आप परम ब्रह्म, परम धाम, पावन परम सत्य और सनातन दिव्य पुरुष हैं। आप चिन्मय आदि देव हैं। नारद, असित, देवल, व्यास आदि सारे ऋषि इसकी पुष्टि करते हैं और आप स्वयं मुझसे इसकी पुष्टि कर रहे हैं।"

जब व्यासदेव ने अपना मन ध्यान में स्थित किया, तो उन्होंने भक्तियोग समाधि में किया और परम पुरुष का माया सहित साक्षात् दर्शन किया। जैसाकि पहले कहा जा चुका है भगवान् की माया भी एक प्रतिरूप है, क्योंकि माया का भगवान् के बिना कोई अस्तित्व नहीं होता। अन्धकार प्रकाश से स्वतंत्र नहीं होता। बिना प्रकाश के अन्धकार का अनुभव नहीं हो पाता। किन्तु यह माया भगवान् से पार नहीं पा सकती, यह उनसे दूर (*अपाश्रयम्*) खड़ी रहती है।

अत: ध्यान की सिद्धि भगवान् की दिव्य लीलाओं समेत भगवान् का साक्षात्कार (बोध) है। निर्विशेष ब्रह्म का ध्यान ध्यानकर्ता के लिए कष्टकारक होता है जैसाकि *भगवद्गीता* (१२.५) में कहा गया है—*क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।*

यदुताहं त्वया पृष्टो वैराजात् पुरुषादिदम् ।
यथासीत्तदुपाख्यास्ते प्रश्नानन्यांश्च कृत्स्नश: ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; उत—हैं; अहम्—मैं; त्वया—तुम्हारे द्वारा; पृष्टः—पूछा जाकर; वैराजात्—विराट रूप; पुरुषात्—भगवान् से; इदम्—यह जगत; यथा—जिस प्रकार; आसीत्—था; तत्—वह; उपाख्यास्ते—मैं कहूँगा; प्रश्नान्—समस्त प्रश्न; अन्यान्—अन्य; च—भी; कृत्स्नशः—विस्तार से।

हे राजन्, तुम्हारे इस प्रश्न का कि यह ब्रह्माण्ड भगवान् के विराट रूप से किस प्रकार प्रकट हुआ तथा अन्य प्रश्नों का उत्तर मैं पूर्वोक्त चारों श्लोकों की व्याख्या के रूप में विस्तारपूर्वक दूँगा।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है यह महान् दिव्य साहित्य वैदिक ज्ञान रूपी वृक्ष का पक्व फल है, अत: सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर विश्व से सम्बन्धित जितने भी प्रश्न हो सकते हैं उन सबका उत्तर *श्रीमद्भागवत* में दिया गया है। ये उत्तर व्याख्या करने वाले व्यक्ति की योग्यता पर निर्भर करते हैं। जैसाकि परम वक्ता श्रील शुकदेव गोस्वामी ने कहा है *श्रीमद्भागवत* के दस विभागों में सारे प्रश्न समाहित हो जाते हैं और बुद्धिमान पुरुष उनका उचित उपयोग करके समुचित लाभ उठा सकेंगे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के अन्तर्गत "श्रीभगवान् के वचन का उद्धरण देते हुए प्रश्नों के उत्तर" नामक नवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दस

भागवत सभी प्रश्नों का उत्तर है

श्री-शुक उवाच

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः ।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; अत्र—इस श्रीमद्भागवत में; सर्गः—ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का वर्णन; विसर्गः—उप-सृष्टि का वर्णन; च—भी; स्थानम्—लोक; पोषणम्—संरक्षण; ऊतयः—सृष्टि की प्रेरणा; मन्वन्तर—मनुओं का परिवर्तन; ईश-अनुकथाः—ईश्वर का ज्ञान; निरोधः—भगवान् के धाम को वापस जाना; मुक्तिः—मुक्ति; आश्रयः—आधार।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—इस श्रीमद्भागवत में दस विभाग हैं, जो ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, उप-सृष्टि, लोकान्तर, भगवान् द्वारा पोषण, सृष्टि प्रेरणा, मनुओं के परिवर्तन, ईश्वर ज्ञान, अपने घर-भगवद्धाम गमन, मुक्ति तथा आश्रय से सम्बन्धित हैं।

दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम् ।
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

दशमस्य—दसवें (आश्रय) का; विशुद्धि—एकमात्र; अर्थम्—कारण; नवानाम्—अन्य नौ के; इह—इसी श्रीमद्भागवत में; लक्षणम्—लक्षण; वर्णयन्ति—वर्णन करते हैं; महा-आत्मानः—ऋषिगण; श्रुतेन—वैदिक साक्ष्यों से; अर्थेन—प्रत्यक्ष व्याख्या द्वारा; च—तथा; अञ्जसा—संक्षिप्त रूप में।

इनमें से जो दसवाँ 'आश्रय' तत्त्व है उसकी दिव्यता को अन्यों से पृथक् करने के लिए, उन सबका वर्णन कभी वैदिक साक्ष्य से, कभी प्रत्यक्ष व्याख्या से और कभी महापुरुषों द्वारा दी गई संक्षिप्त व्याख्याओं से किया जाता है।

भूत-मात्रेन्द्रिय-धियां जन्म सर्ग उदाहृतः ।
ब्रह्मणो गुण-वैषम्याद् विसर्गः पौरुषः स्मृतः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

भूत—पाँच स्थूल तत्त्व (क्षिति, जल आदि); मात्रा—इन्द्रियों द्वारा दृश्य वस्तुएँ; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; धियाम्—मन; जन्म—उत्पत्ति; सर्गः—प्राकट्य; उदाहृतः—सृष्टि कहलाती है; ब्रह्मणः—आदि पुरुष ब्रह्मा का; गुण-वैषम्यात्—तीनों गुणों की अन्तः क्रिया से; विसर्गः—दुबारा सृष्टि; पौरुषः—चेष्टाएँ; स्मृतः—कहलाती हैं।

पदार्थ के सोलह प्रकार—अर्थात् पाँच तत्त्व (क्षिति, जल, पावक, गगन तथा वायु), ध्वनि, रूप, स्वाद, गंध, स्पर्श तथा नेत्र, कान, नाक, जीभ, त्वचा एवं मन—की तात्विक सृष्टि

सर्ग कहलाती है और प्रकृति के गुणों की बाद की अन्त:क्रिया विसर्ग कहलाती है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के दस विभागों के लक्षणों की व्याख्या के लिए लगातार सात श्लोक आये हैं। इनमें से प्रथम प्रस्तुत श्लोक जो सोलह तत्त्वों—यथा पृथ्वी, जल इत्यादि के साथ बुद्धि तथा मन के प्राकट्य को बताता है। परवर्ती सृष्टि आदि पुरुष एवं गोविन्द के अवतार महाविष्णु की उपर्युक्त सोलह शक्तियों की प्रतिक्रियाओं का फल है जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.४७) में ब्रह्माजी ने कहा है—

य: कारणार्णवजले भजति स्म योग-

निद्रामनन्तजगदण्डसरोमकूप: ।

आधारशक्तिमवलम्ब्य परां स्वमूर्तिं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

गोविन्द, श्रीकृष्ण का प्रथम पुरुष अवतार महाविष्णु कहलाता है। ये योगनिद्रा में रहते हैं और इनके दिव्य शरीर के प्रत्येक रोमछिद्र में असंख्य ब्रह्माण्ड स्थित रहते हैं।

जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की विशिष्ट शक्तियों के प्राकट्य से ही *श्रुतेन* अर्थात् वैदिक निर्देश से यह सृष्टि सम्भव है। बिना वैदिक निर्देश के यह सृष्टि प्रकृति की उपज प्रतीत होती है। ऐसा निष्कर्ष अल्पज्ञान के कारण ही निकलता है। वैदिक निर्देश से स्पष्ट है कि समस्त शक्तियों (अन्तरंगा, बहिरंगा तथा तटस्था) के मूल तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही हैं और जैसा पहले बताया गया है, यह तो भ्रमपूर्ण निष्कर्ष है कि यह सृष्टि जड़ प्रकृति द्वारा बनी है। वैदिक निष्कर्ष दिव्य प्रकाश है, जबकि अवैदिक निष्कर्ष भौतिक अन्धकार है। परमेश्वर की अन्तरंगा शक्ति तथा परमेश्वर एक हैं और बहिरंगा शक्ति अन्तरंगा शक्ति के सम्पर्क में ही प्रकाशित होती है। अन्तरंगा शक्ति के अंश-प्रत्यंश जो बहिरंगा शक्ति से सर्म्पक जो क्रिया होती है, वह तटस्था शक्ति अथवा जीवात्मा कहलाती है।

इस प्रकार आदि सृष्टि तो प्रत्यक्ष पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् या परब्रह्म से होती है और गौण सृष्टि, जो मूल अवयवों की प्रतिक्रियाओं का फल है, ब्रह्मा द्वारा रची जाती है। इस तरह समस्त ब्रह्माण्ड के कार्य प्रारम्भ होते हैं।

स्थितिर्वैकुण्ठ-विजयः पोषणं तदनुग्रहः ।
मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्म-वासनाः ॥ ४॥

शब्दार्थ

स्थितिः—उचित दशा; वैकुण्ठ-विजयः—वैकुण्ठ के स्वामी की विजय; पोषणम्—पालन; तत्-अनुग्रहः—अहैतुकी कृपा; मन्वन्तराणि—मनुओं के शासन; सत्-धर्मः—पूर्ण धर्म; ऊतयः—कार्य करने की प्रेरणा; कर्म-वासनाः—सकाम कर्म की आकांक्षा।.

जीवात्मा के लिए उचित तो यही है कि वह भगवान् के नियमों का पालन करे और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के संरक्षण में पूरी तरह से मानसिक शान्ति प्राप्त करे। सभी मनु तथा उनके नियम जीवन को सही दिशा प्रदान करने के लिए हैं। कार्य करने की प्रेरणा ही सकाम कर्म की आकांक्षा है।

तात्पर्य : यह भौतिक संसार सृजित होता है, कुछ काल तक बना रहता है और भगवान् की इच्छा से पुनः विनष्ट हो जाता है। सृष्टि के अवयवों तथा उपस्रष्टा ब्रह्मा की उत्पत्ति भगवान् विष्णु द्वारा अपने प्रथम तथा द्वितीय अवतारों में की जाती है। प्रथम पुरुष अवतार महाविष्णु हैं और दूसरे पुरुष अवतार गर्भोदकशायी विष्णु हैं, जिनसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए। तृतीय पुरुष अवतार क्षीरोदकशायी विष्णु हैं, जो ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु में परमात्मास्वरूप स्थित रहते हैं और ब्रह्मा द्वारा रची गई सृष्टि का पालन करते हैं। ब्रह्मा के अनेक पुत्रों में से शिव भी एक हैं जिनका कार्य इस सृष्टि का संहार है। अतः ब्रह्माण्ड के मूल स्रष्टा तो विष्णु हैं और वे अपनी अहैतुकी कृपा से उत्पन्न जीवों के पालक भी हैं। इस प्रकार समस्त बद्धजीवों को भगवान् की श्रेष्ठता स्वीकार करनी चाहिए और उनके शुद्ध भक्त बनकर इस कष्टमय तथा संकटमय संसार में शान्तिपूर्वक रहना चाहिए। इस संसार को अपनी इन्द्रिय-तुष्टि के लिए उपयुक्त समझने और इस प्रकार विष्णु की बहिरंगा शक्ति द्वारा मोहग्रस्त होने के कारण बद्धजीव को सृष्टि तथा विनाश के प्राकृतिक नियमों को फिर से भोगने के लिए रहना पड़ता है।

भगवद्गीता में कहा गया है कि ब्रह्माण्ड के सर्वोच्चलोक से लेकर सबसे निचले लोक पाताललोक तक के सारे लोक नाशवान हैं और बद्धजीव अपने अच्छे या बुरे कर्मों से या आधुनिक अन्तरिक्ष यान से अन्तरिक्ष में विचरण कर सकते हैं, किन्तु कही पर भी उनकी मृत्यु निश्चित है। हाँ, भिन्न-भिन्न लोकों में उनकी आयु पृथक्-पृथक् होती है। किन्तु शाश्वत जीवन प्राप्त करने का एकमात्र

उपाय है भगवान् के धाम को वापस जाना जहाँ पर भौतिक लोकों की भाँति पुनर्जन्म नहीं होता। वैकुण्ठ के स्वामी के साथ अपने सम्बन्धों को विसरा देने के कारण बद्धजीव इस सीधी-सी बात से अनजान रहकर इस भौतिक जगत में स्थायी जीवन बिताने की योजना बनाने का प्रयास करते हैं। बहिरंगा शक्ति से मोहित होने के कारण वे विभिन्न प्रकार के आर्थिक तथा धार्मिक विकास कार्यों में व्यस्त हो जाते हैं और यह भूल जाते हैं कि उनका उद्देश्य भगवान् के धाम वापस जाना है। माया के प्रभाव से यह विस्मृति इतनी प्रबल होती है कि बद्धजीव भगवान् के धाम वापस जाना ही नहीं चाहते। इन्द्रिय-सुख के कारण वे बार-बार जन्म-मरण के चक्र में फँसते रहते हैं और मनुष्य जीवन को बिगाड़ लेते हैं जिसमें ही भगवान् के धाम को वापस जाने के अवसर प्राप्त होते हैं। विभिन्न युगों तथा कल्पों में मनु ने जो आदेशात्मक शास्त्र बनाये वे *सद्धर्म* कहलाते हैं। वे मनुष्यों के लिए सन्मार्ग दिखाने वाले हैं, अत: मनुष्यों को चाहिए कि वे अपने हित में तथा अन्त-काल को सफल बनाने के लिए इन शास्त्रों का उपयोग करें। सृष्टि मिथ्या नहीं है, किन्तु यह अस्थायी प्राकट्य है और बद्धजीवों को भगवान् के धाम वापस जाने के लिए अवसर प्रदान करने के लिए है। भगवान् के पास जाने की इच्छा तथा उस दिशा में किये गये कार्यों से ही कर्म का सन्मार्ग बनता है। जो ऐसे नियमित पथ का अनुसरण करते हैं, भगवान् अपने उन भक्तों को अहैतुकी कृपावश संरक्षण प्रदान करते हैं, किन्तु जो अभक्त हैं, वे सकाम कर्मों के बन्धन में फँसकर अपने को कार्यकलापों के जोखिम में डाल देते हैं। इस प्रसंग में *सद्धर्म* शब्द महत्त्वपूर्ण है। सद्धर्म अर्थात् *भगवान्* के धाम वापस जाने के लिए अपना कर्तव्य करना और इस तरह शुद्ध भक्त बनना पवित्र कार्य है। अन्य सभी लोग पवित्र होने का ढोंग रचते हैं, किन्तु वास्तव में वे ऐसे होते नहीं। इसीलिए भगवान् ने *भगवद्गीता* में उपदेश दिया है कि मनुष्य को समस्त तथाकथित धार्मिक कार्यों को त्यागकर भगवान् की भक्ति-मय सेवा में लग जाना चाहिए जिससे वह इस भौतिक संसार के भयावह जीवन के समस्त कष्टों से मुक्त हो सके। सद्धर्म में स्थित रहने के लिए कार्य करना ही जीवन की सही दिशा है। मनुष्य का उद्देश्य भगवान् के धाम जाना होना चाहिए न कि अस्थायी जीवन के लिए उत्तम या निष्कृष्ट शरीर ग्रहण करके इस संसार के जन्म-मरण के आवागमन में फँसना। इसी में मानव जीवन की बुद्धिमत्ता है और मनुष्य को ऐसे ही जीवन के कार्यकलापों की आकांक्षा

करनी चाहिए।

अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम् ।
पुंसामीश-कथाः प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अवतार—भगवान् का अवतार; अनुचरितम्—कार्यकलाप; हरेः—भगवान् के; च—भी; अस्य—उसके; अनुवर्तिनाम्—अनुयायी; पुंसाम्—मनुष्यों का; ईश-कथाः—ईश्वर का विज्ञान, भगवत्तत्व; प्रोक्ताः—कहा गया; नाना—विविध; आख्यान—कथाएँ; उपबृंहिताः—वर्णित।

ईश्वर-विज्ञान (ईश-कथा) श्रीभगवान् के विविध अवतारों, उनकी लीलाओं तथा साथ ही उनके भक्तों के कार्यकलापों का वर्णन करता है।

तात्पर्य : इस ब्रह्माण्ड के अस्तित्व काल में इतिहास का अनुक्रम बनता है, जिसमें जीवात्माओं के कार्यों का लेखा-जोखा अंकित होता है। सामान्य रूप से लोगों में विभिन्न व्यक्तियों तथा कालों के इतिहास तथा आख्यानों को जानने की प्रवृत्ति होती है, किन्तु ईश्वर-विज्ञान (ईश कथा) के विषय सम्बन्धी ज्ञान के अभाव के कारण वे भगवान् के अवतारों के इतिहास का अध्ययन करने में सक्षम नहीं होते। यह सदैव स्मरण रखा जाना चाहिए है कि यह सृष्टि बद्धजीवों के मोक्ष के लिए बनी है। भगवान् अपनी अहैतुकी कृपा के कारण इस भौतिक संसार के विविध लोकों में अवतरित होकर बद्धजीवों के मोक्ष के लिए कार्य करते हैं। इससे इतिहास तथा आख्यान पठनीय बन जाता है। *श्रीमद्भागवत* में भगवान् तथा उनके भक्तों के सम्बन्ध में अनेक दिव्य कथाएँ हैं। फलतः भक्तों तथा भगवान् की कथाओं को आदरपूर्वक सुनना चाहिए।

निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः ।
मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्व-रूपेण व्यवस्थितिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

निरोधः—जगत का लय; अस्य—उसका; अनुशयनम्—पुरुष अवतारी महाविष्णु का योगनिद्रा में लेटना; आत्मनः—जीवात्माओं का; सह—साथ; शक्तिभिः—शक्तियों के साथ; मुक्तिः—मुक्ति; हित्वा—त्याग कर; अन्यथा—नहीं तो; रूपम्—रूप; स्व-रूपेण—स्वरूप में; व्यवस्थितिः—स्थायी पद।

अपनी बद्धावस्था के जीवन-सम्बन्धी प्रवृत्ति के साथ जीवात्मा का शयन करते हुए महाविष्णु में लीन होना प्रकट ब्रह्माण्ड का परिसमापन कहलाता है। परिवर्तनशील स्थूल तथा

सूक्ष्म शरीरों को त्याग कर जीवात्मा के रूप की स्थायी स्थिति 'मुक्ति' है।

तात्पर्य : जैसाकि हम कई बार कह चुके हैं जीवात्मा दो प्रकार के होते हैं। उनमें से अधिकांश नित्य-मुक्त होता हैं और कुछ नित्य-बद्ध होते हैं। नित्य-बद्ध जीवों में प्रकृति के ऊपर स्वामित्व प्राप्त करने की मानसिकता के विकास की संभावना होती है, अत: उन्हें दो प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करने के लिए भौतिक विश्व का प्राकट्य होता है। पहली सुविधा के अनुसार बद्धजीव स्वेच्छा से विश्व पर अधिकार जमा सकता है और दूसरी सुविधा के अनुसार वह भगवान् के धाम को वापस जा सकता है। अत: विश्व के लय होने पर अधिकांश बद्धजीव योगनिद्रा में लेटे हुए भगवान् महाविष्णु में लीन हो जाते हैं जिससे वे अगली सृष्टि में पुन: जन्म लें। किन्तु कुछ बद्धजीव वैदिक साहित्य की दिव्य ध्वनि का अनुसरण करते हुए भगवान् के धाम को वापस जाने में समर्थ होते हैं और अपने बद्ध स्थूल तथा सूक्ष्म भौतिक शरीरों को त्याग कर आध्यात्मिक एवं आदि शरीर प्राप्त करते हैं। ईश्वर से अपने सम्बन्धों को भूल जाने से जीवात्माओं को भौतिक बद्ध शरीर प्राप्त होते हैं और विश्व के प्राकट्य होने पर बद्धजीवों को शास्त्रों की सहायता से, जिन्हें भगवान् ने अपने विभिन्न अवतारों के समय कृपावश संकलित किया है, अपनी मूल स्थिति को पुनरुज्जीवित करने का अवसर प्रदान किया जाता है। ऐसे दिव्य साहित्य के श्रवण या पठन से बद्ध अवस्था में होते हुए भी जीव को मुक्त होने में सहायता मिलती है। समस्त वैदिक साहित्य का उद्देश्य श्रीभगवान् की भक्ति-मय सेवा करना है और जैसे ही इस पद पर कोई स्थित हो जाता है उसे तुरन्त ही बद्धजीवन से छुटकारा मिल जाता है। भौतिक स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों का कारण मात्र बद्धजीव की अज्ञानता है और ज्योंही वह भगवान् की भक्ति में स्थित हो जाता है, वह बद्ध अवस्था से मुक्ति पाने का अधिकारी बन जाता है। यह भक्ति परमेश्वर के लिए दिव्य आकर्षण होती है, क्योंकि परमेश्वर समस्त भावों (रसों) के स्रोत हैं। प्रत्येक प्राणी किसी न किसी भाव के आनन्द का इच्छुक होता है, किन्तु वह समस्त आकर्षण के परम स्रोत को नहीं जानता (*रसो वै स: रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति*)। वैदिक स्तोत्र समस्त आनन्द के परम स्रोत की जानकारी देते हैं, समस्त आनन्द का अजस्र स्रोत भगवान् हैं और जो भाग्यशाली मनुष्य *श्रीमद्भागवत* जैसे दिव्य ग्रन्थों के द्वारा इस सन्देश को प्राप्त करने में समर्थ है, वह सदा के लिए मुक्त होकर वैकुण्ठ में अपना उचित

स्थान ग्रहण करता है।

आभासश्च निरोधश्च यतोऽस्त्यध्यवसीयते ।
स आश्रय: परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते ॥ ७॥

शब्दार्थ

आभास:—जगत की उत्पत्ति; च—तथा; निरोध:—तथा लय; च—भी; यत:—स्त्रोत से; अस्ति—है; अध्यवसीयते—प्रकट होता है; स:—वह; आश्रय:—आगार; परम्—परम; ब्रह्म—जीव; परमात्मा—परम-आत्मा; इति—इस प्रकार; शब्द्यते—कहा गया है।

परम पुरुष अथवा परमात्मा कहलाने वाले परमेश ही दृश्य जगत के परम स्त्रोत, इसके आगार (आश्रय) तथा लय हैं। इस प्रकार वे परम स्त्रोत, परम सत्य हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है समस्त शक्तियों के परम स्त्रोत के पर्याय *जन्माद्यस्य यत:, वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानम् अद्वयम् ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते,* परब्रह्म, परमात्मा या भगवान् कहलाते हैं। इस श्लोक में इति शब्द के प्रयोग से पर्यायों का अन्त हो जाता है और इस प्रकार भगवान् का द्योतक है। इसकी और व्याख्या बाद के श्लोकों में की जाएगी, किन्तु, अन्तत: इस भगवान् का अर्थ है भगवान् कृष्ण, क्योंकि *श्रीमद्भागवत* ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को कृष्ण रूप में पहले ही मान लिया है। कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् समस्त शक्तियों का मूलाधार परम सत्य है, जो परब्रह्म इत्यादि कहलाता है और भगवान् परम सत्य के लिए अन्तिम शब्द है। किन्तु भगवान् के पर्यायों में से—यथा नारायण, विष्णु तथा पुरुष में से अन्तिम शब्द कृष्ण है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है—*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्त: सर्वं प्रवर्तते।* इसके अतिरिक्त *श्रीमद्भागवत* भगवान् के शब्द अवतार रूप में भगवान् कृष्ण का प्रतिरूप है—

कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभि: सह।
कलौ नष्टदृशामेष: पुराणार्कोऽधुनोदित: ॥

(*भागवत* १.३.४३)

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकला कि भगवान् श्रीकृष्ण समस्त शक्तियों के परम स्त्रोत हैं और कृष्ण शब्द का अर्थ भी यही है। कृष्ण अथवा कृष्ण-तत्त्व की व्याख्या के लिए ही *श्रीमद्भागवत* की रचना की गई है। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध में सूत गोस्वामी तथा शौनक जैसे महान् ऋषियों के प्रश्नोत्तर

से इस सत्य की जानकारी मिलती है और इसी स्कंध के प्रथम तथा द्वितीय अध्यायों में इसकी व्याख्या है। तृतीय अध्याय में विषय को स्पष्ट किया गया है तथा चतुर्थ अध्याय में यह और भी स्पष्ट होती जाती है। द्वितीय स्कंध में श्रीभगवान् के रूप में परम सत्य पर बल दिया गया है और परम-ईश्वर श्रीकृष्ण हैं, ऐसा दर्शाया गया है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है चार श्लोकों में *श्रीमद्भागवत* का सार संक्षेप में दिया गया है। इन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विषय की अन्ततः ब्रह्मा ने *ब्रह्म-संहिता* में इस प्रकार पुष्टि की है—*ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द-विग्रहः।* ऐसा ही श्रीमद्भागवत् के तृतीय स्कंध से निष्कर्ष निकलता है। पूर्ण विषय की विस्तृत व्याख्या श्रीमद्भागवत् के दशम तथा एकादश स्कंधों में मिलती है। स्वायंभुव मन्वन्तर तथा चाक्षुष मन्वन्तर जैसे मन्वन्तरों के प्रसंग में, जिनकी व्याख्या तृतीय, चर्तुथ, पंचम, पष्ठ तथा सप्तम स्कंध में की गई है, श्रीकृष्ण का ही संकेत है। अष्टम स्कंध में वैवस्वत मन्वन्तर से भी अप्रत्यक्ष रूप में उसी विषय की व्याख्या होती है। नवम स्कंध का भी वही सार है। बारहवें स्कंध में विशेष रूप से भगवान् के विविध अवतारों के विषय में आगे व्याख्या की गई है। इस प्रकार सम्पूर्ण *श्रीमद्भागवत* के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त शक्ति के परम स्रोत हैं। उपासकों की कोटियों के अनुसार नारायण, ब्रह्म, परमात्मा इत्यादि नामों की व्याख्या अलग-अलग हो जाती है।

योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः ।
यस्तत्रोभय-विच्छेदः पुरुषो ह्याधिभौतिकः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; अध्यात्मिकः—इन्द्रियों से युक्त; अयम्—यह; पुरुषः—व्यक्ति; सः—वह; असौ—वह; एव—भी; अधिदैविकः—नियामक देव; यः—जो; तत्र—वहाँ; उभय—दोनों का; विच्छेदः—वियोग; पुरुषः—व्यक्ति; हि—क्योंकि; आधिभौतिकः—दृश्य शरीर अथवा देहवान जीवात्मा।

विभिन्न इन्द्रियों से युक्त व्यक्ति आध्यात्मिक पुरुष कहलाता है और इन इन्द्रियों को वश में रखने वाला देव (श्रीविग्रह) अधिदैविक कहलाता है। नेत्रगोलकों में दिखने वाला स्वरूप अधिभौतिक पुरुष कहलाता है।

तात्पर्य : परम नियन्ता आश्रय तत्त्व परमात्मा के अपने रुप (स्वांश रुप) भगवान् हैं। *भगवद्गीता* (१०.४२) में कहा गया है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव जैसे सभी नियामक देव पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के परमात्मा रूप के विविध प्राकट्य हैं, जो उनके ही द्वारा उत्पन्न प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट होकर अपने को इसी प्रकार प्रकट करते हैं। फिर भी नियन्त्रक तथा नियन्त्रित के भी विभाग हैं। उदहारणार्थ, खाद्य विभाग का नियन्त्रक व्यक्ति उन्हीं अवयवों से निर्मित होता है जिनसे नियन्त्रित व्यक्ति। इसी प्रकार भौतिक जगत का प्रत्येक प्राणी उच्च देवताओं द्वारा नियन्त्रित होता है। उदाहरणार्थ, हमारी इन्द्रियों के नियन्त्रक वरिष्ठ नियामक देवता हैं। हम प्रकाश के बिना देख नहीं सकते, किन्तु प्रकाश का परम नियामक सूर्य है। सूर्यदेव सूर्यलोक में रहते हैं और जहाँ तक हमारी आँखों की बात है मनुष्य अथवा अन्य जीव इस पृथ्वी पर होने के कारण सूर्यदेव द्वारा नियन्त्रित होते हैं। इसी प्रकार हमारी समस्त इन्द्रियाँ वरिष्ठ देवताओं द्वारा नियन्त्रित हैं, जो हमारी ही तरह की नियन्त्रित जीवात्माएँ हैं, किन्तु ये शक्तिसम्पन्न हैं और हम उनके द्वारा नियन्त्रित हैं। नियन्त्रित (शासित) जीवात्मा अध्यात्मिक पुरुष कहलाता है और नियन्त्रक अधिदैविक पुरुष कहलाता है। संसार के ये सारे पद विभिन्न कर्मों के फलस्वरूप हैं। कोई भी जीव अपने पुण्यकर्म के द्वारा सूर्यदेव, यहाँ तक कि ब्रह्मा अथवा उच्च लोकों का कोई अन्य देवता, बन सकता है। इसी प्रकार निम्न श्रेणी के सकाम कार्यों के कारण वह उच्चतर देवताओं द्वारा नियन्त्रित होता है। इस प्रकार प्रत्येक जीवात्मा परमात्मा के परम नियन्त्रण में रहता है, जो प्रत्येक व्यक्ति को नियन्त्रक तथा नियन्त्रित के विभिन्न पदों पर आसीन करते हैं।

जो नियन्त्रक तथा नियन्त्रित में भेद का कारण है अर्थात् भौतिक देह, वह अधिभौतिक पुरुष कहलाता है। शरीर को कभी-कभी पुरुष कहा जाता है, जिसकी पुष्टि वेदों के इस सूत्र में हुई है—*स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।* यह शरीर *अन्न-रस* रूप है। यह शरीर अन्न पर निर्भर है, किन्तु शरीर में रहने वाला जीवात्मा कुछ खाता नहीं, क्योंकि मूलतः स्वामी आत्मा है। भौतिक शरीर के क्षय होने के पश्चात् उसके बदलने की आवश्यकता होती है। अतः एक जीवात्मा तथा नियन्त्रक देव का अन्तर अन्न-रस-मय देह में है। सूर्य का शरीर विराट हो सकता है और मनुष्य का लघु, किन्तु सभी दृश्य देह पदार्थ से

निर्मित हैं, तो भी सूर्य तथा पुरुष, जो नियन्त्रक तथा नियन्त्रित सम्बन्ध से बँधे हैं, परमेश्वर के एक-से अध्यात्मिक अंश हैं और इन अंशों को विभिन्न पदों में बैठाने वाला परमेश्वर ही है। इस तरह यह निष्कर्ष निकला कि परम पुरुष सभी का आश्रय है।

एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे ।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एकम्—एक; एकतर—अन्य; अभावे—के न होने पर; यदा—क्योंकि; न—नहीं; उपलभामहे—दृश्य; त्रितयम्—तीन अवस्थाएँ; तत्र—वहाँ; यः—जो; वेद—जानता है; सः—वह; आत्मा—परमात्मा; स्व—निज; आश्रय—शरण; आश्रयः—शरण का।

विभिन्न जीवात्माओं की उपर्युक्त तीनों अवस्थाएँ अन्योन्याश्रित हैं। किसी एक के अभाव में दूसरे को नहीं समझा जा सकता। किन्तु परमेश्वर इन सबको एक दूसरे के आश्रय रूप में देखता हुआ इन सबसे स्वतन्त्र है, अतः वह परम आश्रय है।

तात्पर्य : जीवात्माएँ असंख्य हैं और नियन्त्रक तथा नियन्त्रित सम्बन्ध द्वारा एक दूसरे पर आश्रित हैं। किन्तु बिना देखे कोई यह नहीं जान सकता है कि कौन नियन्त्रक है और कौन नियन्त्रित है। उदाहरणार्थ, सूर्य हमारी दृष्टि का नियन्त्रक है हम सूर्य को देखते हैं, क्योंकि सूर्य के शरीर है और सूर्य का प्रकाश केवल इसीलिए उपयोगी है, क्योंकि हमारे नेत्र हैं (हम देखते हैं)। बिना नेत्र के सूर्य-प्रकाश अर्थहीन है और सूर्य-प्रकाश के बिना नेत्र व्यर्थ हैं। इस प्रकार वे अन्योन्याश्रित हैं। इनमें से कोई भी स्वतन्त्र नहीं है। अतः स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि किसने इन्हें अन्योन्याश्रित बनाया? जिसने ऐसा किया होगा वह अवश्य ही पूर्णतः स्वतन्त्र होगा। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है समस्त अन्योन्याश्रित वस्तुओं का परम स्रोत पूर्ण स्वतन्त्र तत्त्व होता है। इन सभी अन्योन्याश्रित तत्त्वों का ऐसा स्रोत परम सत्य या परमात्मा है, जो अन्य किसी वस्तु पर आश्रित नहीं है। वह *स्वाश्रयाश्रयः* है। वह केवल अपने आप पर आश्रित है, अतः प्रत्येक वस्तु का परम आश्रय वह है। यद्यपि परमात्मा तथा ब्रह्म भगवान् के आश्रित हैं, क्योंकि भगवान् ही पुरुषोत्तम या परम पुरुष हैं, किन्तु वह परमात्मा का भी स्रोत है। *भगवद्गीता* (१५.१८) में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि वे पुरुषोत्तम हैं और हर वस्तु के स्रोत हैं, अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रीकृष्ण समस्त जीवों के, यहाँ तक कि

परमात्मा तथा परब्रह्म के भी, परमस्रोत तथा आश्रय हैं। यदि हम यह मान भी लें कि परमात्मा तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं है, तो भी आत्मा माया के मोह से मुक्त होने के लिए परमात्मा पर आश्रित है। प्रत्येक व्यक्ति माया के चंगुल में फँसा है, अत: गुणात्मक रूप से परमात्मा से अभिन्न होते हुए भी वह अपने को पदार्थ मानने के मोह से ग्रस्त है और इस यथार्थ जीवन के मोहमय विचार से उबर पाने के लिए आत्मा को परमात्मा के आश्रित रहना होता है, जिससे वह उसी रूप में मान्य हो। इस दृष्टि से भी परमात्मा परम आश्रय है और इसके विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

जीवात्मा या जीव सदा परमात्मा पर आश्रित है, क्योंकि आत्मा अपनी पहचान (सत्ता) भूल जाता है, किन्तु परमात्मा अपनी दिव्य स्थिति को नहीं भूलता। *भगवद्गीता* में जीवात्मा तथा परमात्मा की पृथक्-पृथक् स्थितियों का उल्लेख हुआ है। चतुर्थ अध्याय में जीवात्मा रूप अर्जुन को इस प्रकार चित्रित किया गया है, जिसे अपने अनेक पूर्वजन्मों की स्मृति नहीं हैं, किन्तु परमात्मास्वरूप भगवान् को सब कुछ स्मरण रहता है। भगवान् को इतना तक स्मरण है कि करोड़ों वर्ष पूर्व उन्होंने सूर्यदेव को *भगवद्गीता* की शिक्षा दी थी। भगवान् लाखों-करोड़ों वर्ष पुरानी घटनाएँ स्मरण रख सकते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (७.२६) में कहा गया है—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

सच्चिदानन्द रूप भगवान् को इसका पूरा ज्ञान है कि भूतकाल में क्या हुआ, वर्तमान काल में क्या हो रहा है और भविष्य में क्या होगा। ऐसे परमात्मा तथा ब्रह्म के आश्रय भगवान् को अल्पज्ञ नहीं समझ पाते।

विश्वचेतना तथा जीवात्मा की चेतना को एकरूप मानने का प्रचार भ्रामक है, क्योंकि अर्जुन जैसा व्यक्ति, जो सदैव भगवान् के साथ रहा, अपने अतीत के कर्मों को स्मरण नहीं रख सका तो भला तुच्छ मनुष्य अपने को झूठमूठ विश्वचेतना से एकरूप बताकर किस प्रकार अपने भूत, वर्तमान तथा भविष्य को जान सकता है?

पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य यदासौ स विनिर्गतः ।
आत्मनोऽयनमन्विच्छन्नपोऽस्राक्षीच्छुचिः शुचीः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

पुरुषः—परम पुरुष, परमात्मा; अण्डम्—ब्रह्माण्ड को; विनिर्भिद्य—प्रत्येक को अलग-अलग स्थापित करके; यदा—जब; असौ—वही; सः—वह (भगवान्); विनिर्गतः—बाहर निकल आया; आत्मनः—अपना; अयनम्—स्थान पर पड़े हुए; अन्विच्छन्—चाहते हुए; अपः—जल; अस्राक्षीत्—उत्पन्न किया; शुचिः—परम पवित्र; शुचीः—दिव्य।

विभिन्न ब्रह्माण्डों को पृथक् करके विराट स्वरूप भगवान् (महाविष्णु), जो प्रथम पुरुष अवतार के प्रकट होने के स्थान कारणार्णव से बाहर आये थे, सृजित दिव्य जल (गर्भोदक) में शयन करने की इच्छा से उन विभिन्न ब्रह्माण्डों में प्रविष्ट हुए।

तात्पर्य : जीवात्माओं तथा सभी प्राणियों के स्वतंत्र स्रोत, परमात्मास्वरूप परमेश्वर का विश्लेषण करने के पश्चात् श्रील शुकदेव गोस्वामी अब भगवद्भक्ति की अनिवार्यता बता रहे हैं, जो समस्त जीवात्माओं का एकमात्र धर्म है। भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनके अंश और अंशांश एक दूसरे से अभिन्न हैं और इस प्रकार इनमें से प्रत्येक स्वतन्त्र हैं। इसे सिद्ध करने की दृष्टि से शुकदेव गोस्वामी (परीक्षित को दिये गये वचन के अनुसार) भौतिक सृष्टि के क्षेत्र में भी पुरुष अवतार की स्वतन्त्र सत्ता का वर्णन कर रहे हैं। भगवान् के ऐसे कार्य भी दिव्य होते हैं, अत: वे भी परमेश्वर की लीला कहलाते हैं। भक्ति के क्षेत्र में आत्म-साक्षात्कार चाहने वालों के लिए ऐसी लीलाओं का श्रवण करना अत्यन्त अनुकूल होता है। कुछ लोग यह तर्क कर सकते हैं, तो फिर क्यों न मथुरा तथा वृन्दावन में की गई भगवान् की लीलाओं का रसास्वादन किया जाय जो संसार की सभी वस्तुओं से अधिक मधुर है? श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर उत्तर देते हैं कि भगवान् की वृन्दावन की लीलाएँ सिद्ध भक्तों के आस्वादनार्थ हैं। नवदीक्षित भक्त भगवान् की ऐसी परम दिव्य लीलाओं का गलत अर्थ लगा सकते हैं, अत: इस संसार में सृष्टि, पालन तथा संहार विषयक भगवान् की लीलाएँ प्राकृत अर्थात् संसारी भक्तों के द्वारा आस्वाद्य हैं। जिस प्रकार योग-पद्धति प्रणाली उन पुरुषों के निमित्त होती है, जो देह के प्रति अत्यधिक आसक्त होते हैं इसी प्रकार भगवान् की सृष्टि तथा संहार विषयक लीलाएँ अत्यधिक आसक्त संसारी पुरुषों के लिए होती हैं। अत: ऐसे संसारी पुरुषों को विधि-निर्माता भगवान् के विषय में ज्ञान कराने के लिए शरीर तथा ब्रह्माण्ड के कार्यों को सम्मिलित कर लिया जाता है। विज्ञानी लोग भौतिक विधि के अनेक पारिभाषिक शब्दों द्वारा भौतिक कार्यों की व्याख्या करते हैं, किन्तु ये अंधे विज्ञानी विधि-निर्माता

(भगवान्) को भूल जाते हैं। *श्रीमद्‌भागवत* विधि-निर्माता का संकेत करता है। मनुष्य को चाहिए कि वह मोटर या डायनैमो की यांत्रिक रचना से विस्मित न हो वरन् उस इंजीनियर को सराहे जिसने ऐसी अद्‌भुत काम करने वाली मशीन बनाई। एक भक्त तथा अभक्त का यही अन्तर है। भक्तगण सदैव भौतिक नियमों के निर्देशक भगवान् की प्रशंसा करते हैं। *भगवद्‌गीता* (९.१०) में भौतिक प्रकृति के विषय में भगवान् का निर्देश इस प्रकार है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

"भौतिक नियमों से पूर्ण भौतिक प्रकृति मेरी विभिन्न शक्तियों में से एक है, अतः यह न तो स्वतन्त्र हैं, न निरुद्देश्य है। चूँकि मैं दिव्य रूप से सर्वशक्तिमान हूँ, अतः प्रकृति पर मेरे दृष्टि डालने से ही प्रकृति के नियम इतने अद्‌भुत ढंग से चल रहे हैं। इसीलिए भौतिक नियमों की क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है और इस जगत का बारम्बार सृजन, पालन तथा संहार होता रहता है।"

किन्तु जो अल्पज्ञानी हैं, वे मनुष्य शरीर की रचना तथा इस ब्रह्माण्ड के भीतर भौतिक नियमों का अध्ययन करके अचम्भित होते हैं और मूर्खतावश ईश्वर के अस्तित्व को यह मानकर नकारते हैं कि भौतिक नियम स्वतन्त्र हैं और उन पर कोई पराभौतिक नियंत्रण नहीं हैं। ऐसी मूर्खता का उत्तर *भगवद्‌गीता* (९.११) में निम्न शब्दों में मिलता है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

"मेरे मनुष्य रुप में अवतरित होने पर मूर्ख (मूढ़) मेरा उपहास करते हैं। वे मुझ परमेश्वर के दिव्य स्वभाव को नहीं जानते।" मूढ़ लोग भगवान् के दिव्य शरीर को अपने शरीर जैसा समझते हैं, अतः वे उन भगवान् की अपार नियामक शक्ति के विषय में सोच नहीं पाते, जो भौतिक नियमों के संचालन में दृश्य नहीं होते। किन्तु जब भगवान् अपनी सगुण शक्ति से अवतरित होते हैं, तो सामान्य लोगों की आँखों से दिखते हैं। भगवान् कृष्ण अपने यावत् रूप में प्रकट हुए और उन्होंने अनेक अद्‌भुत कार्य किये और *भगवद्‌गीता* का सम्बन्ध ऐसे ही कार्यों तथा ज्ञान से है। फिर भी मूर्ख लोग भगवान् श्रीकृष्ण

को परमेश्वर नहीं मानते। सामान्य रूप से वे भगवान् के अणु व अनन्त रूपों को मानते हैं, क्योंकि वे स्वयं अणु अथवा अनन्त नहीं हो सकते, किन्तु उन्हें यह समझना चाहिए कि यह अणु और अनन्त रूप ही भगवान् की सर्वोच्च महिमा नहीं है। उनकी शक्ति का सबसे अद्‌भुत प्रदर्शन तब होता है जब अनन्त भगवान् हमारे बीच हमारी ही तरह प्रकट होते हैं। तो भी उनकी लीलाएँ साधारण मनुष्यों से पृथक् होती हैं। सात वर्ष की आयु में गोवर्धन पर्वत को उठाना तथा अपनी तरुणावस्था में सोलह हजार पत्नियों से विवाह करना—ये उनकी अपार शक्ति के कुछ उदाहरण हैं, किन्तु मूढ़ लोग इन्हें देखकर या सुनकर भी इन्हें कपोलकल्पित कह कर नकारते हैं और भगवान् को अपने समान मानते हैं। वे यह नहीं समझ पाते कि यद्यपि वे अपनी ही शक्ति से मानव-रूप में हैं फिर भी वे परमेश्वर हैं और परम नियामक की शक्ति से ओत-प्रोत हैं।

किन्तु जब ऐसे मूढ़जन *श्रीमद्‌भगवद्‌गीता* अथवा *श्रीमद्‌भागवत* में दिये गये भगवान् के संदेशों को शिष्य-परम्परा द्वारा आत्मसमर्पण तथा श्रवण द्वारा प्राप्त करते हैं, तो वे भी शुद्ध भक्तों की कृपा से भक्त बन जाते हैं। इसीलिए ऐसे ही अल्पज्ञानियों के हित के लिए भगवान् की संसारी लीलाओं को *भगवद्‌गीता* या *श्रीमद्‌भागवत* में चित्रित किया गया है।

तास्ववात्सीत् स्व-सृष्टासु सहस्रंपरिवत्सरान् ।
तेन नारायणो नाम यदापः पुरुषोद्भवाः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तासु—उसमें; अवात्सीत्—रह रहे; स्व—अपनी; सृष्टासु—सृष्टि करने में; सहस्रम्—एक हजार; परिवत्सरान्—वर्ष; तेन—उस कारण से; नारायणः—नारायण; नाम—नाम; यत्—क्योंकि; आपः—जल; पुरुष-उद्भवाः—परम पुरुष से उद्‌भूत।

परम पुरुष निराकार नहीं हैं, अतः वे स्पष्टतः नर अथवा पुरुष हैं। इसीलिए इन परम नर द्वारा उत्पन्न दिव्य जल नार कहलाता है। चूँकि वे इसी जल में शयन करते हैं इसीलिए नारायण कहलाते हैं।

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च ।
यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

द्रव्यम्—भौतिक तत्त्व; कर्म—कर्म; च—तथा; कालः—समय; च—भी; स्व-भावः जीवः—जीवात्माएँ; एव—निश्चय ही; च—भी; यत्—जिसके; अनुग्रहतः—अनुग्रह से; सन्ति—हैं, स्थित हैं; न—नहीं; सन्ति—स्थित हैं; यत्-उपेक्षया—उपेक्षा से।

मनुष्य को यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि समस्त भौतिक तत्त्व, कर्म, काल तथा गुण और इन सब को भोगने वाली जीवात्माएँ भगवत्कृपा से ही विद्यमान हैं। उनके द्वारा उपेक्षित होते ही ये सारी वस्तुओं अस्तित्वहीन हो जाती हैं।

तात्पर्य : जीवात्माएँ प्रकृति पर अपना प्रभुत्व जताना चाहती हैं, अतः वे ही भौतिक तत्त्वों, काल, गुण आदि की भोक्ता हैं। भगवान् परम भोक्ता हैं और जीवात्माएँ उन्हें उनके भोग में सहायक बनने और इस प्रकार हर एक के दिव्य भोग में सम्मिलित होने के लिए हैं। भोग में भोक्ता तथा भोग्य दोनों भाग लेते हैं, किन्तु माया के वशीभूत होकर जीवात्माएँ भगवान् के समान स्वयं भोक्ता बनना चाहती हैं, यद्यपि वे इसके निमित्त हैं नहीं। *भगवद्गीता* में जीवों अर्थात् जीवात्माओं को भगवान् की पराप्रकृति कहा गया है। *विष्णु पुराण* में भी ऐसा ही उल्लेख है। अतः जीवात्माएँ कभी पुरुष या वास्तविक भोक्ता नहीं होतीं, अतः इस संसार में जीवात्मा द्वारा सुखभोग की इच्छा झूठी है। आध्यात्मिक जगत में जीवात्माएँ शुद्ध होती हैं, अतः वे परमेश्वर के सुख में हाथ बँटाने वाली होती हैं। भौतिक जगत में अपने कर्म के द्वारा जीवात्मा के सुखोपभोग की भावना प्राकृतिक नियमों के कारण क्रमशः क्षीण होती जाती है और माया बद्धजीवों का कान भरती रहती है कि वे भगवान् से तदाकार हों। यह माया का आखिरी जाल है। जब भगवत्कृपा से यह अन्तिम जाल भी दूर हो जाता है, तो जीवात्मा अपनी पूर्वस्थिति को प्राप्त होता है और इस प्रकार वास्तव में मुक्त हो जाता है। भगवान् भव-बन्धन से मुक्ति देने के लिए ही इस जगत की सृष्टि करते हैं, कुछ काल तक पालते हैं (अपनी गणना के अनुसार एक हजार वर्षों तक, जैसाकि पिछले श्लोक में आया है) और तब अपनी ही इच्छानुसार उसका संहार कर देते हैं। अतः जीवात्माएँ भगवत्कृपा पर पूर्णतः आश्रित रहती हैं और इसीलिए जब भगवान् चाहते हैं तो वैज्ञानिक विकास द्वारा उत्पन्न तथाकथित सुखोपभोगों को मिट्टी में मिला देते हैं।

एको नानात्वमन्विच्छन् योग-तल्पात् समुत्थितः ।
वीर्यं हिरण्मयं देवो मायया व्यसृजत् त्रिधा ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

एकः—अकेला, वह; नानात्वम्—अनेक; अन्विच्छन्—ऐसी इच्छा से; योग-तल्पात्—योगनिद्रा की शय्या से; समुत्थितः—उत्पन्न; वीर्यम्—वीर्य; हिरण्मयम्—सुनहले रंग का; देवः—देवता; मायया—माया से; व्यसृजत्—रचना की; त्रिधा—तीन भागों में।

योगनिद्रा की शय्या में लेटे हुए भगवान् ने एकाकी रूप में से नाना प्रकार के जीवों को प्रकट करने की इच्छा करते हुए अपनी बहिरंगा शक्ति से सुनहरे रंग का वीर्य-प्रतीक उत्पन्न किया।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.७-८) में भौतिक जगत की सृष्टि तथा संहार का वर्णन इस प्रकार से हुआ है—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।

कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।

भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥

"हे कुन्तीपुत्र! कल्प के अन्त होने पर सृजनात्मक शक्तियां अर्थात् भौतिक प्रकृति एवं भौतिक प्रकृति में संघर्ष रत सारे जीव मेरी दिव्य प्रकृति में लीन हो जाते हैं और फिर से उन्हें प्रकट करने की मेरी इच्छा करने पर मैं उन्हें अपनी शक्ति से पुनः उत्पन्न करता हूँ।"

सम्पूर्ण दृश्य जगत मेरे अधीन कार्य करता है। यह मेरी इच्छा से बारम्बार स्वतः प्रकट होता रहता है और मेरी ही इच्छा से अन्त में विनष्ट होता है।"

इस प्रकार ब्रह्माण्ड की सृष्टि के पूर्व भगवान् अपनी पूर्ण शक्ति (*महा-समष्टि*) के रूप में विद्यमान रहते हैं और अपने को अनेक करने की इच्छा से वे अपने को बहुमुखी पूर्ण शक्ति (समष्टि) में विस्तारित करते हैं। फिर वे इससे व्यष्टि रूप में अध्यात्मिक, अधिदैविक तथा अधिभौतिक आयामों में विस्तार करते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि तथा सृजन-शक्तियाँ अभिन्न होते हुए भी भिन्न-भिन्न होती हैं। चूँकि प्रत्येक प्राणी उन्हीं (*महाविष्णु* या महासमष्टि) से उद्भूत है, अतः विश्व की कोई शक्ति उनसे पृथक् नहीं हैं, किन्तु इन सभी विस्तारित शक्तियों के अपने-अपने विशिष्ट कार्य तथा ईश्वरनिर्मित खेल हैं, अतः वे भगवान् से भिन्न भी हैं। जीवात्माएँ भी भगवान् की ऐसी ही शक्ति (तटस्था शक्ति) हैं, अतः वे एक ही समय भगवान् से अभिन्न होते हुए भिन्न भी हैं।

अप्रकट अवस्था में जीवित शक्तियाँ भगवान् के भीतर ही सामर्थ्यमुक्त रहती हैं और जब जगत में निर्बन्ध छोड़ दिया जाता है, तो वे प्रकृति के गुणों के अधीन विभिन्न इच्छाओं के अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रदर्शित होती हैं। जीवित शक्तियों के ऐसे असमान प्राकट्य जीवों की बद्ध अवस्था के सूचक हैं। लेकिन अपने *सनातन* प्राकट्य में मुक्त जीवात्मा अबद्ध रुप में शरणागत हो चुके होते हैं, अत: वे सृष्टि तथा संहार के अधीन नहीं आते। इस तरह योगनिद्रा में अपनी शैय्या में लेटे हुए भगवान् की चितवन से इस सृष्टि का सृजन होता है। और इस तरह सारे ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्माण्ड के स्वामी, ब्रह्मा बारम्बार प्रकट होते और विनष्ट होते रहते हैं।

अधिदैवमथाध्यात्ममधिभूतमिति प्रभुः ।
अथैकं पौरुषं वीर्यं त्रिधाभिद्यत तच्छृणु ॥ १४॥

शब्दार्थ

अधिदैवम्—नियंत्रक जीव; अथ—अब; अध्यात्मम्—नियन्त्रित जीव; अधिभूतम्—भौतिक शरीर; इति—इस प्रकार; प्रभुः—भगवान्; अथ—इस प्रकार; एकम्—केवल एक; पौरुषम्—पुरुष की, भगवान् की; वीर्यम्—शक्ति; त्रिधा—तीन भागों में; अभिद्यत—विभक्त हुई; तत्—वह; शृणु—सुनो।

मुझसे सुनो कि भगवान् अपनी एक शक्ति को किस प्रकार अधिदैव, अध्यात्म तथा अधिभूत नामक तीन भागों में विभक्त करते हैं, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

अन्तःशरीर आकाशात् पुरुषस्य विचेष्टतः ।
ओजः सहो बलं जज्ञे ततः प्राणो महानसुः ॥ १५॥

शब्दार्थ

अन्तः शरीरे—शरीर के भीतर; आकाशात्—आकाश से; पुरुषस्य—महाविष्णु के; विचेष्टतः—चेष्टा करते हुए; ओजः—इन्द्रिय बल; सहः—मानसिक बल; बलम्—शारीरिक बल; जज्ञे—उत्पन्न किया; ततः—तत्पश्चात्; प्राणः—प्राण, जीवनी शक्ति; महान् असुः—प्रत्येक जीवन का उत्स।

महाविष्णु के दिव्य शरीर के भीतर स्थित आकाश से इन्द्रिय बल, मानसिक बल तथा शारीरिक बल उत्पन्न होते हैं। इनके साथ ही सम्पूर्ण जीवनी शक्ति (प्राण) का समग्र उत्स (स्त्रोत) उत्पन्न होता है।

अनुप्राणन्ति यं प्राणाः प्राणन्तं सर्व-जन्तुषु ।
अपानन्तमपानन्ति नर-देवमिवानुगाः ॥ १६॥

शब्दार्थ

अनुप्राणन्ति—जीवित लक्षणों का अनुसरण करते हैं; यम्—जिसको; प्राणाः—इन्द्रियाँ; प्राणन्तम्—चेष्टावान्; सर्व-जन्तुषु—समस्त जीवों में; अपानन्तम्—चेष्टा रोकने पर; अपानन्ति—अन्य सभी रुक जाते हैं; नर-देवम्—राजा; इव—सदृश; अनुगाः—अनुयायी।

जिस प्रकार राजा के अनुयायी अपने स्वामी का अनुसरण करते हैं उसी तरह सम्पूर्ण शक्ति के गतिशील होने पर अन्य समस्त जीव हिलते-डुलते (गति करते) हैं और जब सम्पूर्ण शक्ति निश्चेष्ट हो जाती है, तो अन्य समस्त जीवों की इन्द्रिय-क्रियाशीलता रुक जाती है।

तात्पर्य : व्यष्टि जीवात्माएँ परम पुरुष की पूर्णतया शक्ति पर निर्भर रहती हैं। किसी का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता, जिस प्रकार विद्युत बल्ब में स्वतन्त्र तेज नहीं होता। बिजली का प्रत्येक यंत्र बिजलीघर पर पूर्ण रूप से निर्भर रहता है, यह बिजलीघर बिजली उत्पादन के लिए जलाशय पर निर्भर रहता है, जलाशय बादलों पर, बादल सूर्य पर और सूर्य सृष्टि पर निर्भर रहती है और यह सृष्टि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की चेष्टा अथवा गति पर निर्भर करती है। इस प्रकार भगवान् समस्त कारणों के कारण स्वरूप हैं।

प्राणेनाक्षिपता क्षुत् तृडन्तरा जायते विभोः ।
पिपासतो जक्षतश्च प्राङ्मुखं निरभिद्यत ॥ १७॥

शब्दार्थ

प्राणेन—जीवनी शक्ति से; आक्षिपता—विचलित होकर; क्षुत्—भूख; तृट्—प्यास; अन्तरा—भीतर से; जायते—उत्पन्न करती हैं; विभोः—परमेश्वर की; पिपासतः—प्यास बुझाने के लिए इच्छुक; जक्षतः—खाने के लिए इच्छुक; च—तथा; प्राक्—पहले; मुखम्—मुँह; निरभिद्यत—प्रकट हुआ।

विराट पुरुष द्वारा विचलित किए जाने पर जीवनी शक्ति (प्राण) ने भूख तथा प्यास को उत्पन्न किया और जब विराट पुरुष ने पीने तथा खाने की इच्छा की तो मुँह खुल गया।

तात्पर्य : जिस प्रकार से माता के गर्भ में जीवों के अंगों तथा ऐन्द्रिक अनुभूतियों का विकास होता है उसी प्रकार से समस्त जीवों से समष्टि रूप विराट पुरुष का भी विकास होता प्रतीत होता है, अतः समस्त सृजन कार्य का परम कारण निर्गुण या निश्चेष्ट नहीं है। भगवान् में भी समस्त प्रकार की कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों की अनुभूतियाँ रहती हैं और इस तरह वे प्रत्येक व्यक्ति में घटित होती हैं। यह इच्छा या चेष्टा परम पुरुष का स्वभाव है। चूँकि वे समस्त मुखों की समष्टि हैं, अतः अलग-अलग जीवात्माओं में मुख होता है। इसी प्रकार से अन्य सारी इन्द्रियाँ तथा उनके अंग भी होते हैं। यहाँ पर

मुख समस्त इन्द्रियों का प्रतीक स्वरुप है, क्योंकि अन्यों पर भी यही नियम लागू होते हैं।

मुखतस्तालु निर्भिन्नं जिह्वा तत्रोपजायते ।
ततो नाना-रसो जज्ञे जिह्वया योऽधिगम्यते ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

मुखतः—मुख से; तालु—तालू; निर्भिन्नम्—उत्पन्न; जिह्वा—जीभ; तत्र—तत्पश्चात्; उपजायते—प्रगट होती है; ततः—तत्पश्चात्; नाना-रसः—अनेक स्वाद; जज्ञे—प्रकट हुए; जिह्वया—जीभ से; यः—जो; अधिगम्यते—आस्वादित होते हैं।

मुख से तालू प्रकट हुआ और फिर जीभ भी उत्पन्न हुई। इन सबके बाद विविध स्वादों की उत्पत्ति हुई जिससे जीभ उनका स्वाद ले सके।

तात्पर्य : विकास की यह क्रमिक प्रक्रिया नियामक देवों (अधिदैव) की व्याख्या प्रस्तुत करती है, क्योंकि आस्वाद्य रसों का नियामक देव वरुण है। अत: मुख जीभ का आश्रय-स्थल बनता है, जो विभिन्न रसों का आस्वाद करती है, जिनका नियामक देव वरुण है। इससे ऐसा लगता है कि जीभ के साथ ही वरुण भी उत्पन्न हुआ। जीभ तथा तालू निमित्तमात्र होने के कारण अधिभूत या पदार्थ के रूप हैं जब कि कार्य करने वाला देव अधिदैव है, जो कि जीव है तथा जिस पुरुष पर कार्य किया जाता है, वह अध्यात्म है। इस प्रकार विराट पुरुष के मुख खुलने के पश्चात् तीनों श्रेणियों के जन्म की व्याख्या हो जाती है। प्रस्तुत श्लोक में चार सिद्धान्त दिए गये हैं जिनसे पहले बताए गये तीन प्रमुख तत्त्वों—अध्यात्म, अधिदैव तथा अधिभूतम्—की व्याख्या हो जाती है।

विवक्षोर्मुखतो भूम्नो वह्निर्वाग् व्याहृतं तयोः ।
जले चैतस्य सुचिरं निरोधः समजायत ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

विवक्षोः—जब बोलने की आवश्यकता हुई; मुखतः—मुख से; भूम्नः—परमेश्वर की; वह्निः—अग्नि या अग्निदेव; वाक्—शब्द; व्याहृतम्—वाणी; तयोः—दोनों के द्वारा; जले—जल में; च—फिर भी; एतस्य—इन सबका; सुचिरम्—दीर्घ काल तक; निरोधः—अवरोध; समजायत—बना रहा।

जब परम पुरुष की बोलने की इच्छा हुई तो उनके मुख से वाणी गूँजी। फिर मुख से अधिष्ठाता देव अग्नि की उत्पत्ति हुई। किन्तु जब वे जल में शयन कर रहे थे तो ये सारे कार्य बन्द पड़े थे।

तात्पर्य : विभिन्न इन्द्रियों के क्रमिक विकास की विचित्रता की पुष्टि उनके अधिष्ठाता देवों से हो

जाती है। अत: यह समझ लेना चाहिए कि इन्द्रियों के कार्य परमेश्वर की इच्छा द्वारा नियन्त्रित होते हैं। ये इन्द्रियाँ एक प्रकार से बद्धजीवों को छूट प्रदान करती हैं, जिन्हें इनका उपयोग परमेश्वर द्वारा नियुक्त अधिष्ठाता देवों के नियन्त्रण में करना होता है। जो इन विधानों का उल्लंघन करता है उसे निम्नस्तर के जीवन में गिरा कर दण्डित किया जाता है। उदाहरणार्थ, जीभ तथा इसके अधिष्ठाता देव वरुण पर विचार करें। जीभ खाने के लिए है और मनुष्य, पशु तथा पक्षी अपनी-अपनी स्वतन्त्रता के कारण अलग-अलग स्वाद रखते हैं। एक मनुष्य तथा एक शूकर के स्वाद एक-से नहीं होते। किन्तु जब विशिष्ट जीवात्मा विभिन्न गुणों के अनुसार कोई स्वाद विकसित कर लेता है, तो अधिष्ठाता देव उसे विशिष्ट प्रकार का शरीर प्रदान करता है। किन्तु यदि विवेकहीन होकर मनुष्य शूकर की भाँति स्वाद विकसित करता है, तो उसे अगले जन्म में शूकर का शरीर मिलता है। शूकर सभी प्रकार का भोजन स्वीकार करता है, यहाँ तक कि विष्ठा भी खाता है, अत: जो मनुष्य बिना बिचारे ऐसा स्वाद विकसित करता है उसे अगले जीवन में निम्न जीवन बिताने के लिए तैयार रहना चाहिए। ऐसा जीवन भी भगवत्कृपा ही है, क्योंकि बद्धजीव ने जिस विशिष्ट प्रकार के भोजन का स्वाद चाहा उसे वैसा ही शरीर मिला। यदि मनुष्य को शूकर का शरीर मिले तो इसे भगवत्कृपा ही समझनी चाहिए, क्योंकि भगवान् वैसी ही सुविधा प्रदान करते हैं। मृत्यु के पश्चात् जो शरीर प्राप्त होता है, वह अन्धाधुन्ध नहीं वरन् परम नियन्ता द्वारा प्रदान किया जाता है। अत: मनुष्य को सचेत रहना चाहिए कि अगले जीवन में उसे किस प्रकार का शरीर मिलने वाला है। अविवेकपूर्ण गैरजिम्मेदार जीवन घातक होता है और सभी शास्त्रों की यही घोषणा है।

नासिके निरभिद्येतां दोधूयति नभस्वति ।
तत्र वायुर्गन्ध-वहो घ्राणो नसि जिघृक्षतः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

नासिके—नथुनों में; निरभिद्येताम्—विकसित होकर; दोधूयति—तेजी से निकलती हुई; नभस्वति—श्वास; तत्र—तत्पश्चात्; वायुः—वायु; गन्ध-वहः—सुगन्धि; घ्राणः—घ्राण शक्ति; नसि—नाक में; जिघृक्षतः—सुगन्ध सूँघने की इच्छा करते हुए।

तत्पश्चात् जब परम पुरुष को सुगन्धि सूँघने की इच्छा हुई तो नथुने तथा श्वास, घ्राणेन्द्रिय तथा सुगन्धियों की उत्पत्ति हुई और सुंगधि को वहन करने वाली वायु के अधिष्ठाता देव भी

प्रकट हुए।

तात्पर्य : जब भगवान् को सूँघने की इच्छा हुई तो नासिका, सुगन्ध, अधिष्ठाता वायुदेव, घ्राणशक्ति इत्यादि एकसाथ प्रकट हो गये। उपनिषदों में आये इस कथन की वैदिक मन्त्रों द्वारा पुष्टि होती है कि जीवात्मा द्वारा कोई कार्य करने के पूर्व ईश्वर प्रत्येक वस्तु के लिए इच्छा प्रकट करते हैं। जीवात्मा तभी देख सकता है जब ईश्वर देख रहा हो, जीवात्मा तभी सूँघ सकता है जब ईश्वर सूँघे, इत्यादि। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवात्मा कोई भी कार्य स्वतन्त्र रूप से नहीं कर सकता। भले ही वह किसी कार्य को स्वतन्त्र रूप से करने के विषय में सोचे, किन्तु वह स्वतन्त्र रूप से कोई कार्य कर नहीं सकता। भगवत्कृपा से सोचने की स्वतन्त्रता तो है, किन्तु कार्य रूप में उसकी परिणति भगवत्कृपा से ही होती है इसीलिए यह आम कहावत है—आपन सोची होत नहिं प्रभु सोची तत्काल, सारी व्याख्या का विषय है कि जीवात्मा परतन्त्र है और परमेश्वर पूर्ण स्वतन्त्र है। जो अल्पज्ञानी पुरुष अपने को ईश्वर के समकक्ष बताते हैं उन्हें पहले अपने आपको स्वतन्त्र तथा परम सिद्ध प्रमाणित करना चाहिए। तब उन्हें ईश्वर से अपनी एकात्मकता का दावा प्रमाणित करना चाहिए।

यदात्मनि निरालोकमात्मानं च दिदृक्षतः ।
निर्भिन्ने ह्यक्षिणी तस्य ज्योतिश्चक्षुर्गुण-ग्रहः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; आत्मनि—अपने को; निरालोकम्—बिना प्रकाश के; आत्मानम्—अपना दिव्य शरीर; च—अन्य शारीरिक रूप भी; दिदृक्षतः—देखने की इच्छा की; निर्भिन्ने—प्रगट होने से; हि—क्योंकि; अक्षिणी—आँखों के; तस्य—उसका; ज्योतिः—सूर्य; चक्षुः—आँखें; गुण-ग्रहः—देखने की शक्ति।

इस प्रकार जब सारी वस्तुएँ अन्धकार में विद्यमान थीं तो भगवान् की अपने आपको तथा जो कुछ उन्होंने रचा था, उन सबको देखने की इच्छा हुई। तब आँखें, प्रकाशमान सूर्यदेव, देखने की शक्ति तथा दिखने वाली वस्तु—ये सभी प्रकट हुईं।

तात्पर्य : यह ब्रह्माण्ड यथार्थ में घना अंधकार है और इसलिए समग्र सृष्टि *तमस्* या अंधकार कहलाती है। रात्रि ही ब्रह्माण्ड का वास्तविक स्वरूप है, क्योंकि तब मनुष्य को कुछ भी नहीं दिखता, यहाँ तक कि वह स्वयं को भी नहीं देख सकता। भगवान् ने अपनी अहैतुकी कृपा से सर्वप्रथम अपने आपको तथा अपनी सारी सृष्टि को देखना चाहा। इस तरह सूर्य प्रकट हुआ; समस्त जीवों में देखने की

शक्ति उत्पन्न हुई और दिखनेवाली वस्तुएँ भी प्रकट हुईं। इसका अर्थ यह हुआ कि सूर्य की सृष्टि के बाद ही सारा व्यवहार-जगत दिखाई पड़ने लगा।

बोध्यमानस्य ऋषिभिरात्मनस्तज्जिघृक्षतः ।
कर्णौ च निरभिद्येतां दिशः श्रोत्रं गुण-ग्रहः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

बोध्यमानस्य—जानने की इच्छा से; ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा; आत्मनः—परमेश्वर का; तत्—वह; जिघृक्षतः—ग्रहण करने की इच्छा होने पर; कर्णौ—दो कान; च—भी; निरभिद्येताम्—प्रकट हुए; दिशः—दिशा अथवा वायु देवता; श्रोत्रम्—सुनने की शक्ति; गुण-ग्रहः—तथा सुनने की वस्तुएँ।

महान् ऋषियों द्वारा जानने की इच्छा विकसित होने से कान, सुनने की शक्ति, सुनने के अधिष्ठाता देव तथा सुनने की वस्तुएँ प्रकट हुईं। ऋषिगण आत्मा के विषय में सुनना चाह रहे थे।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है ज्ञान के द्वारा प्रत्येक वस्तु के आश्रय रूप परमेश्वर के विषय में जानने का प्रयत्न करना चाहिए। ज्ञान का अर्थ केवल उन प्राकृतिक नियमों का ज्ञान नहीं है, जो भगवान् के निर्देश से कार्य कर रही हैं। विज्ञानी प्रकृति में कार्यशील भौतिक नियमों के विषय में जानने के लिए उत्सुक रहते हैं। वे अपने से दूर अन्य ग्रहों में घटित होने वाली घटनाओं के विषय में रेडियो तथा टेलीविजन द्वारा सुनने के लिए उत्सुक रहते हैं, किन्तु उन्हें यह समझना चाहिए कि भगवान् ने सुनने की शक्ति अथवा सुनने के उपकरण उन्हें अपने विषय में या भगवान् के विषय में सुनने के लिए ही प्रदान किये थे। दुर्भाग्यवश सुनने की शक्ति का गलत प्रयोग सांसारिक विषयों सम्बन्धी शब्दों के सुनने में किया जाता है। महान् ऋषिगण वैदिक ज्ञान के द्वारा केवल ईश्वर के विषय में सुनने की इच्छा रखते थे। श्रवण द्वारा ज्ञान ग्रहण करने की शुरुआत यही है।

वस्तुनो मृदु-काठिन्य-लघु-गुर्वोष्ण-शीतताम् ।
जिघृक्षतस्त्वङ् निर्भिन्ना तस्यां रोम-मही-रुहाः ।
तत्र चान्तर्बहिर्वातस्त्वचा लब्ध-गुणो वृतः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

वस्तुनः—समस्त पदार्थ की; मृदु—कोमलता; काठिन्य—कठोरता; लघु—हल्कापन; गुरु—भारीपन; ओष्ण—उष्णता; शीतताम्—शीतलता; जिघृक्षतः—देखने की इच्छा से; त्वक्—स्पर्श; निर्भिन्ना—वितरित; तस्याम्—त्वचा में; रोम—रोएँ; मही-रुहाः—तथा वृक्ष, अधिष्ठाता देव; तत्र—वहाँ; च—भी; अन्तः—भीतर; बहिः—बाहर; वातः त्वचा—स्पर्श इन्द्रिय या चमड़ी; लब्ध—देखकर; गुणः—स्पर्शेन्द्रिय का विषय; वृतः—उत्पन्न।

जब पदार्थ के भौतिक गुणों—यथा कोमलता, कठोरता, उष्णता, शीतलता, हल्कापन तथा भारीपन—को देखने की इच्छा हुई तो अनुभूति की पृष्ठभूमि त्वचा, त्वचा के छिद्र, रोम तथा उनके अधिष्ठाता देवों (वृक्षों) की उत्पत्ति हुई। त्वचा के भीतर तथा बाहर वायु की खोल है, जिसके माध्यम से स्पर्श का अनुभव होने लगा।

तात्पर्य : पदार्थ की कोमलता जैसे भौतिक गुण ऐन्द्रिय अनुभूति के विषय हैं, अत: भौतिक ज्ञान स्पर्श का विषय है। पदार्थ का ताप हाथ से स्पर्श करके जाना जा सकता है किसी वस्तु का भार उसको हाथ में उठाकर ज्ञात किया जा सकता है, जिससे उसके भारीपन या हल्केपन का अनुमान लग सकता है। शरीर की त्वचा, छिद्र (रोमकूप) तथा रोम—ये सब स्पर्श के अन्योन्याश्रित हैं। त्वचा के बाहर तथा भीतर बहने वाली वायु भी स्पर्शेन्द्रिय का एक माध्यम है। यह स्पर्शेन्द्रिय ज्ञान का स्रोत भी है, इसीलिए यह सुझाया जाता है कि जैसा ऊपर वर्णित है, भौतिक या शारीरिक ज्ञान आत्मज्ञान के अधीन है। आत्मज्ञान बढ़कर व्यावहारिक ज्ञान हो सकता है, किन्तु भौतिक ज्ञान कभी आत्मज्ञान नहीं बन सकता।

किन्तु शरीर के रोमों तथा पृथ्वी के शरीर पर उगी वनस्पति में निकट का सम्बन्ध है। जैसाकि तृतीय स्कंध में कहा गया है वनस्पतियाँ त्वचा के लिए पोषक हैं, भोजन के रूप में तथा औषधि के रूप में भी—*त्वचमस्य विनिर्भिन्नां विविशुर्धिष्ण्यम् ओषधी: ।*

हस्तौ रुरुहतुस्तस्य नाना-कर्म-चिकीर्षया ।
तयोस्तु बलवानिन्द्र आदानमुभयाश्रयम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

हस्तौ—दो हाथ; रुरुहतु:—प्रकट हुए; तस्य—उसके; नाना—विविध; कर्म—कर्म; चिकीर्षया—इच्छा से; तयो:—उनका; तु—किन्तु; बलवान्—शक्ति देने के लिये; इन्द्र:—स्वर्ग का देवता; आदानम्—हाथ के कार्य; उभय-आश्रयम्—देवता तथा हाथ दोनों पर आश्रित।

तत्पश्चात् जब परम पुरुष को नाना प्रकार के कार्य करने की इच्छा हुई तो दो हाथ तथा उनकी नियामक शक्ति एवं स्वर्ग के देवता इन्द्र के साथ ही दोनों हाथों तथा देवता पर आश्रित कार्य भी प्रकट हुए।

तात्पर्य : हम यह देख सकते हैं कि जीवात्मा की इन्द्रियाँ किसी भी अवस्था में स्वतन्त्र नहीं

रहतीं। भगवान् को इन्द्रियों का स्वामी (हृषीकेश) कहा गया है। इस प्रकार जीवात्माओं की इन्द्रियाँ भगवान् की इच्छा से प्रकट होती हैं और प्रत्येक अंग किसी न किसी विशेष देवता द्वारा नियन्त्रित होता है। अत: कोई भी अपने को इन्द्रियों का स्वामी नहीं कह सकता। जीवात्मा इन्द्रियों द्वारा नियन्त्रित है, इन्द्रियाँ देवताओं द्वारा नियन्त्रित हैं और देवता परमेश्वर के दास होते हैं। सृष्टि की यही व्यवस्था है। अन्तत: सब कुछ परमेश्वर द्वारा नियन्त्रित होता है और प्रकृति अथवा जीवात्मा को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। जो मोहग्रस्त जीवात्मा अपने को अपनी इन्द्रियों का स्वामी होने का दावा करता है, वह भगवान् की बहिरंगा शक्ति के चंगुल में रहता है। जब तक जीवात्मा को अपने क्षुद्र अस्तित्व के घमंड में रहता है तब तक उसे भगवान् की बहिरंगा शक्ति के कठोर नियन्त्रण में समझना चाहिए और माया के चंगुल से मुक्ति पाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, चाहे वह अपने को कितना ही मुक्त जीव क्यों न घोषित करता रहे।

गतिं जिगीषत: पादौ रुरुहातेऽभिकामिकाम् ।
पद्भ्यां यज्ञ: स्वयं हव्यं कर्मभि: क्रियते नृभि: ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

गतिम्—चाल; जिगीषत:—इच्छा करने पर; पादौ—दो पाँव; रुरुहाते—प्रकट होकर; अभिकामिकाम्—सार्थक; पद्भ्याम्—पाँवों से; यज्ञ:—भगवान् विष्णु; स्वयम्—स्वयं; हव्यम्—कर्तव्य; कर्मभि:—अपने कर्म से; क्रियते—कराता है; नृभि:—विभिन्न मनुष्यों द्वारा।

तत्पश्चात् गति (इधर उधर चलना) को नियन्त्रित करने की इच्छा से उनकी टाँगें प्रकट हुईं और टाँगों से उनके अधिष्ठाता देव विष्णु की उत्पत्ति हुई। इस कार्य की स्वयं विष्णु द्वारा निगरानी करने से सभी प्रकार के मनुष्य अपने-अपने निर्धारित यज्ञों (कार्यों) में संलग्न हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य विशेष में संलग्न रहता है और जब वह इधर-उधर जाता है, तो ये कार्य प्रकट होते हैं। संसार के बड़े-बड़े शहरों में यह सुस्पष्ट दिखता है, लोग इन शहरों में एक स्थान से दूसरे स्थान को बड़े-बड़े कार्य लेकर घूमते हैं। यह गतिशीलता बड़े-बड़े शहरों तक ही सीमित नहीं होती, यह शहरों से बाहर भी विभिन्न वाहनों द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान तक या एक शहर से दूसरे शहर तक देखी जाती है। लोग व्यापार की सफलता हेतु सड़कों पर कारों तथा रेलों द्वारा चलते हैं और पृथ्वी के भीतर भूमिगत रेलों द्वारा तथा आकाश में वायुयानों द्वारा यात्रा करते हैं। किन्तु

इन समस्त गतियों का मूल उद्देश्य सुखी जीवन के लिए धन अर्जित करना होता है। इस सुखी जीवन के लिए सारे विज्ञानी, कलाकार, इंजीनियर, टेक्नीशियन मानव-क्रियाशीलता की विभिन्न शाखाओं में लगे रहते हैं। किन्तु वे यह नहीं जानते कि मानव जीवन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए कार्यों को किस प्रकार सार्थक बनाया जाए। इस रहस्य से अनजान होने से उनके सारे कार्य अनियन्त्रित इन्द्रियतृप्ति के उद्देश्य से किये जाते हैं, अत: वे ऐसा करके अनजाने ही अन्धकार के गहन क्षेत्रों में प्रवेश करते हैं।

भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा मोहित होने से वे परम भगवान् विष्णु को पूरी तरह भूल चुके हैं और यह मान बैठते हैं कि यह जीवन जैसाकि आजकल भौतिक प्रकृति के अन्तर्गत प्रदर्शित होता है, अधिकाधिक इन्द्रिय-भोग के लिए है। किन्तु ऐसी गलत देहात्मबुद्धि से वांछित मन:शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती, अत: प्रकृति के समस्त साधनों का उपयोग करते हुए ज्ञान में वृद्धि करके भी इस भौतिक सभ्यता में कोई सुखी नहीं रहता। रहस्य यह है कि उन्हें विश्वशान्ति के लिए कदम-कदम पर यज्ञ करने का प्रयास करना चाहिए। *भगवद्गीता* (१८.४५-४६) में भी इसी रहस्य का उपदेश दिया गया है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर:।
स्वकर्मनिरत: सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
यत: प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव:॥

भगवान् ने अर्जुन से कहा, ''अब इसके तत्त्व को मुझसे सुनो कि अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य किस प्रकार संसिद्धि को प्राप्त हो जाता है। परमेश्वर की पूजा द्वारा तथा जिस परम भगवान् विष्णु में यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त है और जिसके नियंत्रण में प्रत्येक जीवात्मा अपनी प्रवृत्ति के अनुसार अपनी वांछित सुविधाएँ प्राप्त करता है, उसके लिए यज्ञ करके मनुष्य जीवन की परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है।''

जीवन में विभिन्न प्रकार के लगावों का होना हानिकर नहीं है, क्योंकि विभिन्न कार्यों द्वारा अपने जीवन की योजना बनाने के लिए मनुष्य कुछ अनुपात में स्वतन्त्र है, किन्तु उसे यह भलीभाँति समझ

लेना चाहिए कि इस जीवन में वह पूर्णत: स्वतन्त्र नहीं है। मनुष्य निश्चित रूप से परमेश्वर तथा उनके अधीन माध्यमों के वश में होता है। यह जानते हुए उसे नियमपूर्वक अपने कार्य तथा श्रम के फलस्वरूप भगवान् विष्णु की प्रेमाभक्ति में दक्ष अधिकारी विद्वानों द्वारा बताई गई विधि से भगवान् की सेवा करनी चाहिए। ऐसे कार्य करने के लिए शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग टाँगें होती है, क्योंकि इनके बिना एक स्थान से दूसरे स्थान को जाया नहीं जा सकता, अत: भगवान् मनुष्यों की टाँगों पर विशेष नियन्त्रण रखते हैं, क्योंकि ये यज्ञ करने के निमित्त बने हैं।

निरभिद्यत शिश्नो वै प्रजानन्दामृतार्थिनः ।
उपस्थ आसीत् कामानां प्रियं तदुभयाश्रयम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

निरभिद्यत—बाहर आया; शिश्नः—पुरुष का लिंग; वै—निश्चय ही; प्रजा-आनन्द—काम-रस; अमृत-अर्थिनः—अमृत को चखने की इच्छा रखने वाला; उपस्थः—जननेन्द्रियाँ; आसीत्—संसार में आई; कामानाम्—विषय सुख का; प्रियम्—अत्यन्त प्रिय; तत्—वह; उभय-आश्रयम्—दोनों का आश्रय।

तत्पश्चात् काम-सुख, सन्तानोत्पत्ति तथा स्वर्गिक अमृत सुख के आस्वादन के लिए भगवान् ने जननेन्द्रियाँ उत्पन्न कीं। इस प्रकार जननेन्द्रिय तथा उसके अधिष्ठाता देव प्रजापति उत्पन्न हुए। काम-सुख की वस्तु तथा अधिष्ठाता देव भगवान् की जननेन्द्रियों के अधीन रहते हैं।

तात्पर्य : बद्धजीवों के लिए काम-सुख स्वर्गिक आनन्द प्रदान करने वाला है और यह सुख जननेन्द्रियों द्वारा आस्वाद्य है। स्त्री काम-सुख का माध्यम है तथा काम-सुख की ऐन्द्रिक अनुभूति एवं स्त्री ये दोनों ही प्रजापति द्वारा नियन्त्रित हैं, जो स्वयं भगवान् के जननेन्द्रिय के अधीन है। निर्विशेषवादियों को चाहिए कि वे इस श्लोक से सीखें कि भगवान् निराकार नहीं हैं, क्योंकि उनके जननेन्द्रियाँ होती हैं जिन पर काम-सुख की सारी वस्तुएँ आश्रित हैं। यदि संभोग से स्वर्गिक अमृत की अनुभूति न होती तो संतान के पालन-पोषण की बला कोई अपने सिर न लेता। यह संसार बद्धजीवों को पुनर्यौवन प्राप्ति का अवसर प्रदान करता है, जिससे वे भगवान् के धाम वापस जा सकें, फलत: सृष्टि के उद्देश्य को बनाए रखने के लिए जीवों की उत्पत्ति अनिवार्य है। इस कार्य में काम-सुख प्रेरक बनता है, अत: मनुष्य चाहे तो इस सुख के बीच भगवान् की भी सेवा करता रह सकता है। यह सेवा तभी सार्थक होती है जब काम-सुख से उत्पन्न सन्तान भगवत्-चेतना में समुचित शिक्षा प्राप्त करे। भौतिक सृष्टि का

एकमात्र उद्देश्य जीवों की सुप्त भगवत्-चेतना को जागृत करना है। मनुष्य शरीर को छोड़कर अन्य किसी भी जीव में काम-सुख भगवान् के सेवा भाव से प्रेरित नहीं होता। किन्तु मनुष्य रूप में बद्धजीव मोक्ष प्राप्ति के लिए उपयुक्त सन्तानों को भगवत्-चेतना की ओर अभिमुख कर सके तो चाहे तो सैकड़ों सन्तानें उत्पन्न करके वह अपार इन्द्रियसुख द्वारा दिव्य सुख लूट सकता है। अन्यथा सन्तानें उत्पन्न करना शूकरों जैसा कार्य है; अपितु शूकर मनुष्य से बढ़कर निपुण है, क्योंकि वह एक ही बार में दर्जनों बच्चे पैदा करता है, जबकि मनुष्य एक बार में केवल एक सन्तान उत्पन्न कर सकता है। अतः मनुष्य को स्मरण रखना चाहिए कि जननेन्द्रियाँ, काम-सुख, स्त्री तथा सन्तान—ये सब भगवान् की सेवा से सम्बन्धित हों और जो भगवान् के साथ अपने सेवा सम्बन्ध को भूल जाता है, वह प्रकृति-नियमों के द्वारा तीन प्रकार के तापों से पीड़ित होता रहता है। कुत्ते को भी विषय-भोग का अनुभव होता है, किन्तु उसमें ईश्वर-चेतना का भाव नहीं उठता। मानव जीवन ईश्वर-चेतना का अनुभव होने से कुत्ते से भिन्न है।

उत्सिसृक्षोर्धातु-मलं निरभिद्यत वै गुदम् ।
ततः पायुस्ततो मित्र उत्सर्ग उभयाश्रयः ॥ २७॥

शब्दार्थ

उत्सिसृक्षोः—मल त्याग की इच्छा से; धातु-मलम्—खाद्य पदार्थों का मल; निरभिद्यत—प्रकट हुआ; वै—निश्चय ही; गुदम्—गुदा द्वार; ततः—तत्पश्चात्; पायुः—विसर्जन इन्द्रिय; ततः—तत्पश्चात्; मित्रः—अधिष्ठाता देवता; उत्सर्गः—बाहर निकलने वाली वस्तु; उभय—दोनों; आश्रयः—शरण।

तत्पश्चात् जब उन्हें खाये हुए भोजन के मल त्याग की इच्छा हुई तो गुदा द्वार और फिर पायु-इन्द्रिय और उनके अधिष्ठातादेव मित्र विकसित हुए। पायु इन्द्रिय तथा उत्सर्जित पदार्थ ये दोनों अधिष्ठाता देव के आश्रय में रहते हैं।

तात्पर्य : जहाँ मलत्याग करते हुए मल पर भी नियन्त्रण होता हो वहाँ जीवात्मा अपने को स्वतन्त्र होने का दावा कैसे कर सकता है?

आसिसृप्सोः पुरः पुर्या नाभि-द्वारमपानतः ।
तत्रापानस्ततो मृत्युः पृथक्त्वमुभयाश्रयम् ॥ २८॥

शब्दार्थ

आसिसृप्सोः—सर्वत्र जाने की इच्छा से; पुरः—विभिन्न शरीरों में; पुर्याः—एक शरीर से; नाभि-द्वारम्—उदर के छिद्र या नाभि; अपानतः—प्रकट हुआ; तत्र—तत्पश्चात्; अपानः—प्राण का रुकना; ततः—तत्पश्चात्; मृत्युः—मृत्यु; पृथक्त्वम्—पृथक् रूप से; उभय—दोनों; आश्रयम्—शरण।

तत्पश्चात् जब उन्हें एक शरीर से दूसरे में जाने की इच्छा हुई तो नाभि तथा अपानवायु एवं मृत्यु की एकसाथ सृष्टि हुई। मृत्यु तथा अपानवायु दोनों का ही आश्रय नाभि है।

तात्पर्य : प्राणवायु जीवनदाता है और अपानवायु प्राण को रुद्ध करता है। इन दोनों के कम्पन नाभि से उत्पन्न होते हैं। यह नाभि एक शरीर से दूसरे शरीर को जोड़ने वाली गाँठ है। ब्रह्माजी गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से पृथक् शरीर के रूप में प्रकट हुए और यही नियम सामान्य शरीर के जन्म में भी लागू होता है। शिशु का शरीर माता के शरीर से विकसित होता है और जब शिशु माता के शरीर से विलग होता है, तो नाभि-ग्रन्थि (नारा) काटकर उसे अलग (पृथक्) किया जाता है। इसी विधि से परमेश्वर ने अपने आपको नाना रूपों में पृथक् किया। अत: जीवात्माएँ भिन्न अंश हैं और उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं होती।

आदित्सोरन्न-पानानामासन् कुक्ष्यन्त्र-नाडयः ।
नद्यः समुद्राश्च तयोस्तुष्टिः पुष्टिस्तदाश्रये ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

आदित्सोः—प्राप्त करने की इच्छा; अन्न-पानानाम्—भोजन तथा जल का; आसन्—हुई; कुक्षि—उदर; अन्त्र—आँतें; नाडयः—तथा धमनियाँ; नद्यः—नदियाँ; समुद्राः—समुद्र; च—भी; तयोः—उन दोनों का; तुष्टिः—पोषण पालन; पुष्टिः—उपापचय (रस प्रक्रिया); तत्—उनका; आश्रये—स्रोत।

जब भोजन तथा जल लेने की इच्छा हुई तो उदर, आँतें तथा धमनियाँ प्रकट हुईं। नदियाँ तथा समुद्र इनके पोषण तथा उपापचय के स्रोत हैं।

तात्पर्य : आँतों के अधिष्ठाता देव नदियाँ हैं और धमनियों के समुद्र हैं। उदर को भोजन तथा जल प्रदान करने से पोषण होता है और भोजन तथा जल के उपापचय से क्षय हुई शारीरिक शक्तियों की प्रतिपूर्ति होती है। अत: शारीरिक स्वास्थ्य आँतों तथा धमनियों की स्वस्थ क्रिया पर निर्भर रहता है। नदियाँ तथा समुद्र इन दोनों के अधिष्ठाता देव हैं और ये आँतों तथा धमनियों को स्वस्थ रखते हैं।

निदिध्यासोरात्म-मायां हृदयं निरभिद्यत ।
ततो मनश्चन्द्र इति सङ्कल्पः काम एव च ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

निदिध्यासोः—जानने का इच्छुक; आत्म-मायाम्—अपनी शक्ति को; हृदयम्—मन का स्थान; निरभिद्यत—प्रकट हुआ; ततः—तत्पश्चात्; मनः—मन; चन्द्रः—मन का अधिष्ठाता देव, चन्द्रमा; इति—इस प्रकार; सङ्कल्पः—दृढ़ निश्चय; कामः—इच्छा; एव—भी; च—भी।

जब उन्हें अपनी शक्ति के कार्यकलापों के विषय में सोचने की इच्छा हुई तो हृदय (मन का स्थान), मन, चन्द्रमा, संकल्प तथा सारी इच्छा का उदय हुआ।

तात्पर्य : प्रत्येक जीव का हृदय पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान के अंश-रूप, परमात्मा का निवास स्थान है। उसकी उपस्थिति के बिना जीवात्मा अपने पूर्वकर्मों के अनुसार कार्य करने की शक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जीवात्मा इस संसार में बद्ध हैं और अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार इस सृष्टि में प्रकट होते हैं और इनमें से प्रत्येक को परमात्मा के निर्देशन के अन्तर्गत भौतिक शक्ति द्वारा आवश्यक भौतिक शरीर प्राप्त होता है। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* (९.१०) में की गई है। अत: जब परमात्मा बद्धजीव के हृदय में स्थित हो जाता है, तो बद्धजीव में मन उत्पन्न होता है और वह अपने कार्य के प्रति उसी प्रकार सचेष्ट हो उठता है, जिस प्रकार नींद से जगने पर मनुष्य को अपने कार्य का भान होता है। अत: जीवात्मा में भौतिक मन तभी उत्पन्न होता है जब परमात्मा हृदय में बसता है। इसके बाद मन, इसका अधिष्ठाता देव (चन्द्रमा) और फिर मन के कार्य (सोचना, अनुभव करना तथा इच्छा करना) उत्पन्न होते हैं। मन के कार्य हृदय के प्रकट हुए बिना प्रारम्भ नहीं हो सकते और हृदय तभी प्रकट होता है जब भगवान् भौतिक सृष्टि के कार्यकलाप देखने की इच्छा करते हैं।

त्वक्चर्म-मांस-रुधिर-मेदो-मज्जास्थि-धातवः ।
भूम्यप्तेजोमयाः सप्त प्राणो व्योमाम्बु-वायुभिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

त्वक्—चमड़ी के ऊपर पतली परत; चर्म—चमड़ी; मांस—मांस; रुधिर—रक्त; मेदः—चर्बी; मज्जा—मज्जा; अस्थि—हड्डी; धातवः—तत्त्व; भूमि—पृथ्वी; अप्—जल; तेजः—अग्नि; मयाः—प्रधानतः; सप्त—सात; प्राणः—श्वास; व्योम—आकाश; अम्बु—जल; वायुभिः—वायु से।

त्वचा, चर्म, मांस, रक्त, मेदा, मज्जा तथा अस्थि—शरीर के ये सात तत्त्व पृथ्वी, जल तथा अग्नि से बने हैं जबकि प्राण की उत्पत्ति आकाश, जल तथा वायु से हुई है।

तात्पर्य : सम्पूर्ण भौतिक जगत की रचना प्रमुखत: पृथ्वी, जल तथा अग्नि इन तीन तत्त्वों से हुई है, किन्तु प्राण की रचना आकाश, वायु तथा जल से हुई। इस प्रकार स्थूल तथा सूक्ष्म भौतिक सृष्टि

दोनों में ही जल उभयनिष्ठ तत्त्व है और भौतिक सृष्टि में अत्यधिक विशिष्ट तथा आवश्यक होने के कारण जल इन पंचतत्त्वों में प्रमुख है। इस तरह भौतिक शरीर पाँच तत्त्वों से बना है, जबकि स्थूल सृष्टि केवल तीन तत्त्वों—पृथ्वी, जल तथा अग्नि—से बनी है। स्पर्श का अनुभव चमड़ी पर पतली परत (त्वचा) के कारण होता है और अस्थि पत्थर के समान कठोर होती है। श्वास (प्राण-वायु) आकाश, वायु तथा जल से उत्पन्न है, अतः शुद्ध वायु, नियमित स्नान तथा रहने के लिए प्रचुर स्थान स्वस्थ जीवन के लिए अनुकूल होते हैं। स्थूल शरीर को ठीक से बनाए रखने के लिए पृथ्वी से उत्पन्न अन्न तथा शाक के साथ ही शुद्ध जल तथा उष्मा लाभप्रद हैं।

गुणात्मकानीन्द्रियाणि भूतादि-प्रभवा गुणाः ।
मनः सर्व-विकारात्मा बुद्धिर्विज्ञान-रूपिणी ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

गुण-आत्मकानि—गुणों से लिप्त; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; भूत-आदि—अहंकार; प्रभवाः—से प्रभावित; गुणाः—प्राकृतिक गुण; मनः—मन; सर्व—समस्त; विकार—तनाव (सुख तथा दुख); आत्मा—रूप; बुद्धिः—बुद्धि; विज्ञान—तर्क-वितर्क; रूपिणी—के रूप वाली।

इन्द्रियाँ प्रकृत्ति के गुणों से जुड़ी होती हैं और भौतिक प्रकृति के ये गुण मिथ्या अहंकार से जनित हैं। मन पर समस्त प्रकार के भौतिक अनुभवों (सुख-दुख) का प्रभाव पड़ता है और बुद्धि मन के तर्क-वितर्क स्वरूप है।

तात्पर्य : भौतिक प्रकृति से भ्रमित होकर जीवात्मा मिथ्या अंहकार करता है। अधिक स्पष्ट रूप में कहना चाहें तो जीवात्मा भौतिक शरीर के भीतर बँध जाने पर तुरन्त देहात्मक सम्बन्ध बना लेता है और आत्मा के रूप में अपनी स्थिति को भुला देता है। यह अहंकार भौतिक प्रकृति के विभिन्न गुणों से मिल-जुल जाता है और इस प्रकार इन्द्रियों का गुणों की ओर लगाव हो जाता हैं। मन वह यंत्र है, जिससे विभिन्न भौतिक अनुभवों का आभास होता है, किन्तु बुद्धि तर्कशील होती है और हर वस्तु को अच्छे के लिए बदल सकती है। अतः बुद्धिमान मनुष्य बुद्धि के सदुपयोग से इस संसार के मोह से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। बुद्धिमान मनुष्य इस संसार की विषम परिस्थिति का पता लगा सकता है और इस खोज में लग जाता है कि वह कौन है, उसे तरह-तरह के कष्ट क्यों मिलते हैं, इनसे कैसे छुटकारा पाया जा सकता है और इस प्रकार अच्छी संगति से बुद्धिमान मनुष्य आत्म-साक्षात्कार के

जीवन की ओर उन्मुख हो सकता है। अत: यह सलाह दी जाती है कि बुद्धिमान मनुष्य उन ऋषियों-मुनियों की संगति करे जो मुक्ति के पथ पर अग्रसर हैं। ऐसी संगति से वह ऐसे उपदेश प्राप्त कर सकता है जिनसे बद्धजीव की पदार्थ के प्रति आसक्ति कम हो सकती है। इस प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति धीरे-धीरे पदार्थ के मोह तथा अहंकार से छूटकर सच्चिदानन्दमय जीवन को प्राप्त होता है।

एतद्भगवतो रूपं स्थूलं ते व्याहृतं मया ।
मह्यादिभिश्चावरणैरष्टभिर्बहिरावृतम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

एतत्—ये सब; भगवत:—भगवान् के; रूपम्—रूप; स्थूलम्—स्थूल; ते—तुमको; व्याहृतम्—बतलाया गया; मया—मेरे द्वारा; मही—लोक; आदिभि:—इत्यादि; च—निरन्तर; अवरणै:—आवरणों से; अष्टभि:—आठ; बहि:—बाह्य; आवृतम्—ढका हुआ।

इस तरह भगवान् का बाह्य रूप अन्य लोकों की ही तरह स्थूल रूपों से घिरा हुआ है, जिनका वर्णन मैं तुमसे पहले ही कर चुका हूँ।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (७.४) में कहा गया है, भगवान् की वियुक्त भौतिक शक्ति आठ प्रकार के भौतिक आवरणों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—से घिरी है। ये सारे आवरण श्रीभगवान् की बाह्यशक्ति के रूप में उद्भूत हैं। ये सूर्य के चारों ओर बादलों के आवरण तुल्य हैं। यद्यपि बादल सूर्य के ही द्वारा सृजित है, किन्तु वास्तव में आँखों के सामने इसके आने से सूर्य नहीं दिखता। सूर्य बादलों से नहीं ढका जा सकता, क्योंकि बादल आकाश में कुछ सौ मीलों तक ही फैले रह सकते हैं, किन्तु सूर्य लाखों मील से भी अधिक विशाल है। अत: सौ मील का आवरण लाखों मील को नहीं ढक सकता। अतएव भगवान् की ही कोई एक शक्ति पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को आच्छादित नहीं कर सकती। किन्तु ये शक्तियाँ भगवान् द्वारा उन बद्धजीवों की आँखें बन्द करने के लिए हैं, जो प्रकृति पर अपना अधिकार जताना चाहते हैं। वास्तव में बद्धजीव पदार्थ के मोहजन्य बादल से आच्छादित रहते हैं और यह भगवान् के ऊपर है कि वे उन्हें दिखें या नहीं। चूँकि बद्धजीवों के दिव्य दृष्टि नहीं होती और वे भगवान् को देख नहीं सकते, अत: वे भगवान् के अस्तित्व तथा उनके दिव्य रूप को नकारते हैं। अल्पज्ञानी पुरुष विराट भौतिक रूप का आवरण स्वीकार कर लेते हैं। यह कैसे होता है इसकी व्याख्या अगले श्लोक में की गई है।

अतः परं सूक्ष्मतममव्यक्तं निर्विशेषणम् ।
अनादि-मध्य-निधनं नित्यं वाङ्मनसः परम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

अतः—अतः; परम्—दिव्य; सूक्ष्मतमम्—सूक्ष्म से भी सूक्ष्म; अव्यक्तम्—अप्रकट; निर्विशेषणम्—बिना भौतिक रूप के; अनादि—आदिरहित; मध्य—माध्यमिक अवस्था के बिना; निधनम्—अन्तरहित; नित्यम्—शाश्वत; वाक्—शब्द; मनसः—मन का; परम्—दिव्य।

अतः इस (स्थूल संसार) से परे दिव्य संसार है, जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है। न तो इसका आदि है, न मध्य और न अन्त, अतः यह व्याख्या अथवा चिन्तन की सीमाओं के परे है और भौतिक बोध से भिन्न है।

तात्पर्य : परमेश्वर का स्थूल बाह्य रूप बीच-बीच में प्रकट होता रहता है, अतः यह रूप शाश्वत रूप नहीं हैं जिसका न तो आदि है, न मध्य और न कोई अन्त। जिस वस्तु का आदि, मध्य और अन्त होता है, वह भौतिक कहलाती है। इस भौतिक जगत का प्रारम्भ भगवान् से हुआ, अतः जगत के प्रारम्भ के पूर्व भगवान् निश्चय ही सूक्ष्म से सूक्ष्म दिव्यरूप में रहते हैं। भौतिक जगत का आकाश सूक्ष्मतम माना जाता है। इससे सूक्ष्म मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार होते हैं। किन्तु आठों बाह्य आवरणों को परम सत्य के बाह्य आवरणों के रूप में बताया जाता है, अतः परम सत्य भौतिक अवधारणाओं की व्याख्या एवं कल्पना से परे हैं। वे निश्चित ही सभी भौतिक चिंतन से परे हैं। यह *निर्विशेषणम्* कहलाता है, किन्तु निर्विशेषणम् को दिव्य गुणों से विहीन समझने की गलती नहीं करनी चाहिए। विशेषणम् का अर्थ है गुण, अतः निर् के जुड़ने से *निर्विशेषणम्* का अर्थ भौतिक गुणों या विविधताओं से रहित हो जाता है। इस निषेधात्मक पद में चार दिव्य गुण हैं—अप्रकट, दिव्य, शाश्वत तथा मन एवं वाणी से परे। शब्दों की सीमाओं से परे का अर्थ है भौतिक बोध का निषेध। जब तक मनुष्य दिव्य पद को प्राप्त नहीं होता वह भगवान् के दिव्य रूप को नहीं जान सकता।

अमुनी भगवद्रूपे मया ते ह्यनुवर्णिते ।
उभे अपि न गृह्णन्ति माया-सृष्टे विपश्चितः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

अमुनी—ये सब; भगवत्—श्रीभगवान् को; रूपे—रूपों में; मया—मेरे द्वारा; ते—तुमको; हि—निश्चय ही; अनुवर्णिते—क्रमशः वर्णित; उभे—दोनों; अपि—भी; न—कभी नहीं; गृह्णन्ति—स्वीकार करता है; माया—बाह्य; सृष्टे—इस प्रकार से प्रकट होकर; विपः-चितः—जानने वाला विद्वान।

मैंने तुमसे भौतिक दृष्टिकोण से भगवान् के जिन दो रूपों का ऊपर वर्णन किया है, उनमें से कोई भी भगवान् को जानने वाले शुद्ध भक्तों द्वारा स्वीकार नहीं किया जाता।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, निर्विशेषवादी भगवान् को दो भिन्न विधियों से मानते हैं। एक ओर वे विश्वरूप भगवान् की पूजा करते हैं और दूसरी ओर वे भगवान् के अव्यक्त, अप्रकट सूक्ष्म रूप का चिन्तन करते हैं। ''सर्वेश्वरवाद'' तथा ''एकेश्वरवाद'' के सिद्धान्त क्रमशः भगवान् के स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों के लिए व्यवहृत हैं, किन्तु भगवद्भक्त इन दोनों सिद्धान्तों का अस्वीकार करते हैं, क्योंकि उन्हें वास्तविक स्थिती का बोध होता है। इसका स्पष्ट उल्लेख *भगवद्गीता* के ग्यारहवें अध्याय (११.४५) में हुआ है जहाँ अर्जुन द्वारा परम भगवान् श्रीकृष्ण के विश्वरूप का अनुभव अंकित है—

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।

तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥

भगवान् के शुद्ध भक्त के रूप में अर्जुन ने इसके पूर्व कभी भी भगवान् के विश्वरूप को नहीं देखा था, किन्तु जब उसने उसे देखा तो उसकी उत्सुकता शान्त हो गई। लेकिन वह एक शुद्ध भक्त के रूप में अपने लगाव के कारण भगवान् के इस प्रकार के रूप को देखकर प्रसन्न नहीं हुआ। वह भगवान् के विराट रूप को देखकर भयभीत हुआ, अतः उसने भगवान् से अपना चतुर्भुज नारायण रुप या कृष्ण रूप धारण करने के लिए प्रार्थना की, क्योंकि वह उसी से प्रसन्न हो सकता था। निस्सन्देह भगवान् अपने को अनेक रूपों में प्रकट करने की परम शक्ति से पूर्ण हैं, किन्तु भक्तजन तो भगवान् के धाम त्रिपाद-विभूति में शाश्वत दिखाई पड़ने वाले रूप में रुचि रखते हैं। त्रिपाद विभूति धाम में भगवान दो रूपों में प्रकट होते हैं—चतुर्भुज रूप अथवा दो भुजाओं वाला रूप। किन्तु भौतिक विश्व में उनका जो विश्वरूप प्रकट है उसमें अनेक भुजाएँ होती हैं और अनेक आयाम होते हैं और सभी कुछ असीम आकार के होते हैं। भगवान् के शुद्ध भक्त वैकुण्ठ रूप में नारायण या श्रीकृष्ण की पूजा करते हैं। कभी-कभी वे ही वैकुण्ठ रूप इस भौतिक जगत में उन्हीं की कृपा से श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीनृसिंहदेव के रूप में प्रकट

होते हैं और इसलिए भक्तजन इनकी भी पूजा करते हैं। सामान्यतया भौतिक जगत में जो भौतिक रूप प्रकट होते हैं, वे वैकुण्ठ लोक में नहीं पाये जाते, अत: शुद्ध भक्त इन रूपों को नहीं मानते। भक्तजन प्रारम्भ से ही वैकुण्ठ लोक में स्थित भगवान् के शाश्वत रूपों को पूजते आ रहे हैं। अभक्त निर्विशेषवादी भगवान् के भौतिक रूपों की कल्पना करते हैं और अन्तत: भगवान् की निर्विशेष ब्रह्मज्योति में लीन होते हैं, किन्तु भगवान् के भक्त तो प्रारम्भिक तथा मुक्ति की अवस्था इन दोनों ही स्थितियों में सदैव पूजा करने वाले हैं। शुद्ध भक्त की पूजा कभी रुकती नहीं, किन्तु निर्विशेषवादी की पूजा ब्रह्मज्योति में उसके लीन होने पर और मुक्ति मिलने पर रुक जाती है। इसीलिए शुद्ध भक्तों को *विपश्चित* अर्थात् विद्वान कहा गया है, जिन्हें भगवान् का पूरा-पूरा ज्ञान रहता है।

स वाच्य-वाचकतया भगवान् ब्रह्म-रूप-धृक् ।
नाम-रूप-क्रिया धत्ते सकर्माकर्मकः परः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वाच्य—अपने रूपों तथा कार्यों से; वाचकतया—अपने दिव्य गुणों एवं परिवेश से; भगवान्—भगवान्; ब्रह्म—परम; रूप-धृक्—दृश्य रूपों को ग्रहण करके; नाम—नाम; रूप—रूप, आकार; क्रिया—लीलाएँ; धत्ते—स्वीकार करता है; स-कर्म—कार्य में संलग्न; अकर्मकः—प्रभावित हुए बिना; परः—दिव्यातीत।

अपने दिव्य नाम, गुण, लीलाओं, परिवेश तथा विभिन्नताओं के कारण भगवान् अपने आपको दिव्य रूप में प्रकट करते हैं। यद्यपि इन समस्त कार्यकलापों का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु वे व्यस्त से प्रतीत होते हैं।

तात्पर्य : जब भी भौतिक सृष्टि करने की आवश्यकता होती है, तो श्रीभगवान् सृष्टि, पालन तथा संहार के लिए इस संसार में विविध रूप धारण करते हैं। मनुष्य को इतना बुद्धिमान तो होना ही चाहिए कि वह उनकी लीलाओं को सही-सही जान सके और यह न सोच बैठे कि वे भौतिक प्रकृति द्वारा निर्मित सांसारिक रूप धारण करके इस जगत में अवतरित होते हैं। भौतिक प्रकृति से गृहीत कोई भी रूप इस संसार में किए गए प्रत्येक कार्य से अनुराग रखता है। जो बद्धजीव किसी कार्य के प्रयोजन से भौतिक रूप ग्रहण करता है उस पर भौतिक नियम लागू होते हैं। किन्तु इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि यद्यपि भगवान् के रूप तथा कार्य बद्धजीव जैसे होते हैं, किन्तु वे अलौकिक होते हैं और बद्धजीव के लिए असम्भव होते हैं। वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ऐसे कार्यों से सदैव अप्रभावित रहते हैं।

भगवद्गीता (४.१४) में भगवान् कहते हैं—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

भगवान् कभी न तो उन कर्मों द्वारा बँधते हैं, जिन्हें वे अपने विभिन्न अवतारों के द्वारा सम्पन्न करते हैं, न ही उन्हें सकाम कर्म द्वारा सफलता प्राप्त करने की आकांक्षा रहती है। भगवान् धन, बल, यश, सौंदर्य, ज्ञान तथा त्याग की विविध शक्तियों से पूरित हैं, अत: बद्धजीव के समान उन्हें परिश्रम करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। अत: ऐसा बुद्धिमान पुरुष जो भगवान् के दिव्य कार्यों तथा बद्धजीवों के कार्यों में भेद कर सकता है, वह भी कर्मफल में नहीं बँधता। ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के रूप में भगवान् प्रकृति के त्रिगुणों का सञ्चालन करने वाले हैं। विष्णु से ब्रह्मा और ब्रह्मा से शिव उत्पन्न हैं। कभी-कभी ब्रह्मा विष्णु के पृथक् अंश होते हैं, तो कभी ब्रह्मा स्वयं विष्णु होते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा ब्रह्माण्ड भर की समस्त योनियों को उत्पन्न करते हैं, जिसका अर्थ होता है कि भगवान् सम्पूर्ण सृष्टि को या तो स्वयं उत्पन्न करते हैं या फिर अपने अधिकृत सहायक के माध्यम से करते हैं।

प्रजा-पतीन्मनून् देवानृषीन् पितृ-गणान् पृथक् ।
सिद्ध-चारण-गन्धर्वान् विद्याध्रासुर-गुह्यकान् ॥ ३७॥
किन्नराप्सरसो नागान् सर्पान् किम्पुरुषान्नरान् ।
मातृ रक्ष:-पिशाचांश्च प्रेत-भूत-विनायकान् ॥ ३८॥
कूष्माण्डोन्माद-वेतालान् यातुधानान् ग्रहानपि ।
खगान्मृगान् पशून् वृक्षान् गिरीन्नृप सरीसृपान् ॥ ३९॥
द्वि-विधाश्चतुर्विधा येऽन्ये जल-स्थल-नभौकस: ।
कुशलाकुशला मिश्रा: कर्मणां गतयस्त्विमा: ॥ ४०॥

शब्दार्थ

प्रजा-पतीन्—ब्रह्मा तथा उनके पुत्र, यथा दक्ष इत्यादि; मनून्—वैवस्वत मनु जैसे समय-समय पर होने वाले प्रधान; देवान्—यथा इन्द्र, चन्द्र तथा वरुण; ऋषीन्—यथा भृगु तथा वसिष्ठ; पितृ-गणान्—पितर लोक के निवासी; पृथक्—अलग से; सिद्ध—सिद्ध लोक के वासी; चारण—चारण लोक के वासी; गन्धर्वान्—गन्धर्व लोक के प्राणी; विद्याध्र—विद्याधर लोक के वासी; असुर—नास्तिक लोग; गुह्यकान्—यक्ष लोक के वासी; किन्नर—किन्नर लोक के वासी; अप्सरस:—अप्सरा लोक की सुन्दरियाँ; नागान्—नागलोक के नागतुल्य वासी; सर्पान्—सर्प-लोक के वासी; किम्पुरुषान्—किम्पुरुष लोक के बन्दर जैसे वासी; नरान्—पृथ्वी के वासी; मातृ—मातृ लोक के वासी; रक्ष:—राक्षसी लोक के वासी; पिशाचान्—पिशाच लोक के वासी; च—भी; प्रेत—प्रेत लोक के वासी; भूत—भूत आत्माएँ; विनायकान्—पिशाच, विनायक; कूष्माण्ड—मायाजाल; उन्माद—पागल; वेतालान्—वेताल, जिन्न; यातुधानान्—भूत विशेष; ग्रहान्—शुभ तथा अशुभ नक्षत्र; अपि—भी; खगान्—पक्षी; मृगान्—जंगली पशु; पशून्—घरेलू पशु; वृक्षान्—भूत; गिरीन्—पर्वत; नृप—हे राजन्; सरीसृपान्—रेंगने वाले जीव;

द्वि-विधाः—जड़ तथा चेतन प्राणी; चतुः-विधाः—भ्रूण, अंड, स्वेदज तथा बीज से उत्पन्न चार प्रकार के प्राणी; ये—अन्य; अन्ये—समस्त; जल—पानी; स्थल—भूमि; नभ-ओकसः—पक्षी; कुशल—सुखी; अकुशलाः—दुखी; मिश्राः—सुखी-दुखी दोनों; कर्मणाम्—अपने पूर्व कर्मों के अनुसार; गतयः—गति, फल; तु—लेकिन; इमाः—वे सब।

हे राजन्, मुझसे यह जान लो कि सभी जीवात्माएँ अपने विपत कर्मों के अनुसार परमेश्वर द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं। इसमें ब्रह्मा तथा उनके दक्ष जैसे पुत्र, वैवस्वत मनु जैसे सामयिक प्रधान, इन्द्र, चन्द्र तथा वरुण जैसे देवता, भृगु, व्यास, वसिष्ठ जैसे महर्षि, पितृलोक तथा सिद्धलोक के वासी, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, असुर, यक्ष, किन्नर तथा देवदूत, नाग, बन्दर जैसे किम्पुरुष, मनुष्य, मातृलोक के वासी, असुर, पिशाच, भूत-प्रेत, उन्मादी, शुभ-अशुभ नक्षत्र, विनायक, जंगली पशु, पक्षी, घरेलू पशु, सरीसृप, पर्वत, जड़ तथा चेतन जीव, जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज जीव तथा अन्य समस्त जल, स्थल या आकाश के सुखी, दुखी अथवा मिश्रित सुखी-दुखी जीव सम्मिलित हैं। ये सभी अपने पूर्व कर्मों के अनुसार परमेश्वर द्वारा सृजित होते हैं।

तात्पर्य : इस सूची में जीवात्माओं की विविध किस्में बताई गई हैं। सर्वोच्च लोक से लेकर ब्रह्माण्ड के निम्नतम लोक के सारे जीवों की विभिन्न योनियाँ सर्वशक्तिमान पिता विष्णु द्वारा उत्पन्न की गई हैं। अत: कोई भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से स्वतन्त्र नहीं है। इसीलिए भगवान् ने *भगवद्गीता* (१४.४) में निम्नलिखित श्लोक में सभी जीवात्माओं को अपनी संतति कहा है—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तय: सम्भवन्ति या: ।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रद: पिता ॥

प्रकृति की तुलना माता से की गई है। यद्यपि प्रत्येक जीव अपनी माँ से उत्पन्न होता देखा जाता है, किन्तु सत्य तो यह है कि ऐसे जन्म का वास्तविक कारण माता नहीं है। जन्म का वास्तविक कारण पिता होता है। पिता के वीर्य के बिना शिशु को माता जन्म नहीं दे सकती। अत: असंख्य ब्रह्माण्डों में विभिन्न योनियों तथा स्थितियों में सभी जीव शक्तिमान पिता, परमेश्वर के बीज से उत्पन्न होते हैं। केवल अल्पज्ञानी ही इन्हें भौतिक प्रकृति से जन्मा हुआ मानते है। परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति के वशीभूत होकर ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक सारे जीव अपने पूर्वकर्मों के अनुसार विभिन्न शरीर धारण करते हैं।

भौतिक प्रकृति भगवान् की शक्तियों में से एक है (*भगवद्गीता* ७.४)। भौतिक प्रकृति परा प्रकृति अर्थात् जीवात्मा की तुलना में निम्नतर होती है। भगवान् की परा प्रकृति तथा अपरा प्रकृति संयोग करके सारे सांसारिक व्यापारों को प्रकट करती हैं।

कुछ जीवात्माएँ अपेक्षतया सुखी हैं, तो कुछ दुखमय स्थितियों में जीवन बिताती हैं। किन्तु वास्तव में इनमें से कोई भी भौतिक बद्ध जीवन में सुखी नहीं है। बन्दी जीवन में कोई सुखी नहीं रहता, भले ही कोई प्रथम श्रेणी का कैदी हो या तृतीय श्रेणी का कैदी। बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह तृतीय श्रेणी के बन्दी जीवन से प्रथम श्रेणी के बन्द जीवन में उन्नत किए जाने की अपेक्षा बन्दीगृह से ही मुक्त होने का प्रयत्न करे। किसी की प्रथम श्रेणी के कैदी में प्रोन्नति हो सकती है, किन्तु अगली अवधि में उसे तृतीय श्रेणी में फिर जाना पड़ सकता है। मनुष्य को चाहिए कि वह बन्दी जीवन से मुक्त होने और भगवान् के धाम जाने का प्रयास करे। समस्त प्रकार के जीवों के लिए यही असली गन्तव्य है।

सत्त्वं रजस्तम इति तिस्रः सुर-नृ-नारकाः ।
तत्राप्येकैकशो राजन् भिद्यन्ते गतयस्त्रिधा ।
यदैकैकतरोऽन्याभ्यां स्व-भाव उपहन्यते ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतोगुण; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; इति—इस प्रकार; तिस्रः—तीन; सुर—देवता; नृ—मनुष्य; नारकाः—नारकीय अवस्था में पड़ा हुआ; तत्र अपि—वहाँ भी; एकैकशः—दूसरा; राजन्—हे राजा; भिद्यन्ते—में बाँट देते हैं; गतयः—गतियाँ; त्रिधा—तीन; यदा—उस समय, जब; एकैकतरः—एक दूसरे के प्रति; अन्याभ्याम्—दूसरे से; स्व-भावः—स्वभाव, आदत; उपहन्यते—प्राप्त करता है।

प्रकृति के विभिन्न गुण—सतो गुण, रजो गुण तथा तमो गुणों—के अनुसार विभिन्न प्रकार के प्राणी होते हैं, जो देवता, मनुष्य तथा नारकीय जीव कहलाते हैं। हे राजन्, यही नहीं, जब कोई एक गुण अन्य दो गुणों से मिलता है, तो वह तीन में विभक्त होता है और इस प्रकार प्रत्येक प्राणी अन्य गुणों से प्रभावित होता है और उसकी आदतों को अर्जित कर लेता है।

तात्पर्य : अलग-अलग प्राणी किसी एक विशेष गुण के द्वारा संचालित होते हैं, किन्तु इस के साथ अन्य दो गुणों का भी उन पर प्रभाव पड़ सकता है। सामान्य रूप से सभी बद्धजीव भौतिक बन्धन के कारण रजोगुण से प्रभावित होते हैं, क्योंकि प्रत्येक जीव अपनी इच्छापूर्ति के लिए प्रकृति पर प्रभुत्व जताना चाहता है। किन्तु पृथक् से रजोगुण होने पर भी अन्य गुणों के संसर्ग में होने से उनके द्वारा

प्रभावित हो जाने की संभावना सदैव बनी रहती है। यदि कोई अच्छी संगति करता है, तो वह सतोगुणी हो सकता है और यदि कुसंगति करता है, तो तमोगुणी बन सकता है। लेकिन कुछ भी एक ही तरह से नहीं घटता है। मनुष्य अच्छी या बुरी संगति से अपना स्वभाव बदल सकता है, अत: अच्छे तथा बुरे में भेद कर सकने के लिए बुद्धिमान होना आवश्यक है। सर्वोत्तम संगति तो भगवान् के भक्तों की सेवा होती है और उस संगति से मनुष्य भगवान् के शुद्ध भक्तों की कृपा से सर्वाधिक योग्य व्यक्ति बन सकता है। जैसाकि हम श्रील नारद मुनि के जीवन में देख चुके हैं, वे केवल शुद्ध भगवद्भक्तों की संगति से सर्वाधिक योग्य बन सके। वे जन्म से एक दासी के पुत्र थे, वे अपने पिता तक को नहीं जानते थे और न उनमें न्यूनतम शैक्षिक योग्यता ही थी। किन्तु केवल भक्तों की संगति करने तथा उनका ही बचा-खुचा खाना खाने से उनमें उत्तरोत्तर भक्तों के दिव्य गुण आते गये। ऐसी संगति करने के कारण उनमें भगवान् की दिव्य महिमा को सुनने और कीर्तन करने की प्रवृत्ति उभरती गई और चूँकि भगवान् की महिमा भगवान् से अभिन्न है, अत: *शब्दोच्चारण* (कीर्तन) के कारण उन्हें भगवान् की प्रत्यक्ष संगति प्राप्त हो सकी। इसी तरह अजामिल का भी जीवन (छठे स्कंध में) है, जो एक ब्राह्मण का पुत्र था और जिसे ब्राह्मण के कर्तव्यों के पालन की समुचित शिक्षा दी गई थी, किन्तु इतने पर भी वेश्या के कुसंग ने उसे चंडाल अर्थात् (मानव जाति की) सबसे अधम स्थिति पर पहुँचा दिया। अत: मुक्तिद्वार खोलने के लिए *भागवत* सदैव महत् संगति की शिक्षा देता है। ऐसे पुरुषों की संगति करना जो इस भौतिक संसार पर अधिकार जताना चाहते हैं नरक के घोर अंधकारपूर्ण भाग में प्रवेश करना होता है। मनुष्य को चाहिए कि महापुरुष की संगति द्वारा अपने को ऊपर उठाए। जीवन-सिद्धि का यही मार्ग है।

स एवेदं जगद्धाता भगवान् धर्म-रूप-धृक् ।
पुष्णाति स्थापयन् विश्वं तिर्यङ्नर-सुरादिभि: ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

स:—वह; एव—निश्चय ही; इदम्—यह; जगत्-धाता—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के पालक; भगवान्—भगवान्; धर्म-रूप-धृक्—धर्म का रूप धारण करते हुए; पुष्णाति—पालन करता है; स्थापयन्—स्थापित करने के पश्चात्; विश्वम्—ब्रह्माण्ड को; तिर्यक्—मनुष्य से निम्न श्रेणी के जीव; नर—मनुष्य; सुर-आदिभि:—देवता रुप से।

वे भगवान् ब्रह्माण्ड में सबके पालक रूप में सृष्टि की स्थापना करके विभिन्न अवतारों में प्रकट होते हैं और मनुष्यों, अमानवों तथा देवताओं में से समस्त बद्धजीवों का उद्धार करते हैं।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु जीवों के विभिन्न समाजों में उनको माया के चंगुल से उबारने हेतु अवतरित होते हैं और भगवान् के ऐसे कार्यकलाप केवल मानव समाज तक ही सीमित नहीं रहते। वे एक मछली, शूकर, वृक्ष तथा अन्य अनेक रूपों में अवतरित होते हैं, किन्तु अल्पज्ञानी पुरुष भगवान् को न जानने के कारण उनका उपहास करते हैं चाहे वे मानव समाज में मनुष्य रूप में ही क्यों न हों। अत: भगवान् *भगवद्गीता* (९.११) में कहते हैं—

अवजान्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

जैसाकि हम पिछले श्लोकों में बता चुके हैं, निष्कर्ष यह निकलता है कि भगवान् कभी भी भौतिक सृष्टि की उत्पत्ति नहीं होते। उनकी दिव्य स्थिति सदैव अपरिवर्तित रहती है। वे ज्ञान तथा आनन्द के शाश्वत रूप हैं और अपनी विभिन्न शक्तियों द्वारा अपनी सर्वशक्तिमय इच्छा की पूर्ति करते हैं। इस प्रकार वे अपने किसी कार्य के फल को नहीं भोगते। वे कार्य-कारण के ऐसी सभी अवधारणों से परे हैं। यदि वे जगत में दिखते भी हैं, तो यह प्रदर्शन केवल अन्तरंगा शक्तियों का होता है, क्योंकि वे इस भौतिक जगत की अच्छी-बुरी अवधारणाओं से ऊपर हैं। इस जगत में मछली या शूकर को मनुष्य से निम्न माना जा सकता है, किन्तु जब भगवान् मछली या शूकर रूप में प्रकट होते हैं, तो वे भौतिक दृष्टि से इनमें से एक भी नहीं होते। यह उनकी अहैतुकी कृपा है कि वे प्रत्येक समाज तथा योनि में प्रकट होते हैं, किन्तु उन्हें उनमें से एक कभी नहीं माना जा सकता। भौतिक संसार की अवधारणाएँ जैसे अच्छे तथा बुरे, निम्न तथा उच्च, महत्त्वपूर्ण तथा नगण्य जैसी धारणाएँ भौतिक शक्ति के अनुमान होते हैं और परमेश्वर ऐसी सभी अवधारणाओं से परे होते हैं। *परम भावम्* शब्द अर्थात् दिव्य स्वभाव की तुलना कभी भी भौतिक धारणा से नहीं हो सकती। मनुष्य को यह नहीं भूलना चाहिए कि भगवान् की शक्तियाँ सदैव एकसी रहती हैं, कभी घटती नहीं, क्योंकि भगवान् निम्न पशुओं का रूप धारण करते रहते हैं। श्रीराम, श्रीकृष्ण तथा मछली, शूकर रूप में उनके अवतारों में कोई अन्तर नहीं होता। वे सर्वव्यापी होने के साथ ही साथ किसी एक तथा प्रत्येक स्थान में अन्तर्यामी हैं। किन्तु अल्पज्ञानी मनुष्य भगवान् के *परं भावम्* के अभाव में यह नहीं समझ पाते कि भगवान् ने किस प्रकार मछली या मनुष्य

का रूप धारण किया होगा। हर व्यक्ति अपने ज्ञान के मानदण्ड के अनुसार प्रत्येक वस्तु की तुलना करता है जैसे कोई कूपमण्डूक समुद्र को कुएँ के समान समझता है। कूपमण्डूक कभी समुद्र के विषय में सोच भी नहीं पाता और जब ऐसे मण्डूक को समुद्र की विशालता का पता चलता है, तो उसकी बुद्धि में यही सूझता है कि समुद्र कूप से थोड़ा ही बड़ा है। इस तरह जो ईश्वर के दिव्य विज्ञान को नहीं जानता वह मुश्किल से समझ पाता है कि भगवान् विष्णु किस प्रकार जीवों के प्रत्येक समाज में समान रूप से प्रकट हो सकते हैं।

ततः कालाग्नि-रुद्रात्मा यत्सृष्टमिदमात्मनः ।
सन्नियच्छति तत् काले घनानीकमिवानिलः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्, अन्त में; काल—विनाश, मृत्यु; अग्नि—आग; रुद्र-आत्मा—रुद्र रूप में; यत्—जो भी; सृष्टम्—उत्पन्न; इदम्—ये सब; आत्मनः—अपने आप; सम्—पूर्णतया; नियच्छति—संहार करता है; तत् काले—युग (कल्प) के अन्त में; घन-अनीकम्—बादलों का समूह; इव—सदृश; अनिलः—वायु।

तत्पश्चात् युग के अन्त में भगवान् स्वयं संहारकर्ता रुद्र-रूप में सम्पूर्ण सृष्टि का उसी तरह संहार करेंगे जिस प्रकार वायु बादलों को हटा देती है।

तात्पर्य : इस सृष्टि की उपमा उचित रूप से बादलों से दी गई है। बादल आकाश में उत्पन्न किये जाते हैं या स्थित रहते हैं और जब उन्हें अस्त-व्यस्त किया जाता है, तो वे उसी आकाश में अनदिखे रहते हैं। इसी प्रकार यह सारी सृष्टि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा अपने ब्रह्मा रूप में रची जाती है। उन्हीं के द्वारा विष्णु रूप में पालित होती है और यथासमय रुद्र रूप में विनष्ट कर दी जाती है। *भगवद्गीता* (८.१९-२०) में यह सृष्टि, इसका पालन तथा संहार अच्छे ढंग से व्याख्यायित हुए हैं—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥
परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

इस जगत का स्वभाव है कि पहले अच्छे ढंग से इसकी उत्पत्ति होती है, फिर यह अच्छी तरह विकसित होता है और अनेक वर्षों तक (बड़े से बड़े गणितज्ञ की गणना से परे) स्थित रहता है और

फिर ब्रह्मा की रात्रि के समय बिना किसी अवरोध के इसका पुन: विनष्ट हो जाता है। ब्रह्मा की रात्रि के बीतने पर सृष्टि रूप में यह पुनः प्रकट होकर पुनः पालन तथा संहार के चक्र से होकर गुजरता है। जो मूर्ख बद्धजीव इस क्षणिक संसार को स्थायी मानता है उसे यह बुद्धिपूर्वक सीखना चाहिए कि ऐसी सृष्टि तथा विनाश क्यों घटित होते हैं। भौतिक जगत के सकाम कर्मी परमेश्वर के भौतिक कारकों द्वारा प्रदत्त भौतिक पदार्थों तथा शक्ति से बड़े-बड़े उद्योग, बड़े-बड़े घराने, बड़े-बड़े साम्राज्य तथा अन्य बड़ी-बड़ी चीजें उत्पन्न करने के लिए अत्यन्त उत्सुक रहते हैं। बद्धजीव इन साधनों से तथा मूल्यवान शक्ति से उत्पत्ति करके अपनी सनक तो पूरी कर लेता है, किन्तु इच्छा न होते हुए उसे इन सारी वस्तुओं को छोड़ करके बारम्बार इसी तरह उत्पत्ति करने के लिए जीवन के दूसरे पहलू में प्रविष्ट होना पड़ता है। ऐसे मूर्ख बद्धजीवों को जो इस क्षणिक संसार में अपनी शक्ति का अपव्यय करते हैं भगवान् आशान्वित करने के लिए सूचित करते हैं कि एक अन्य प्रकृति भी है, जो बार-बार सृष्टि या विनष्ट हुए बिना शाश्वत है और बद्धजीव यह समझ सकता है कि वह क्या करे और शक्ति का किस प्रकार सदुपयोग करे। परम इच्छा से यथासमय निश्चित रूप से नष्ट होने वाले पदार्थ में अपनी शक्ति को नष्ट करने के बजाय बद्धजीव को चाहिए कि इस शक्ति को भगवान् की भक्ति में लगाए जिससे वह अन्य शाश्वत प्रकृति में जा सके जहाँ न जन्म है, न मृत्यु, न सृष्टि है और न प्रलय—वरन् वहाँ ज्ञान से परिपूर्ण और असीमित आनन्द भरा शाश्वत जीवन हैं। इस प्रकार इस नश्वर जगत की सृष्टि और विनाश बद्धजीव को, जो क्षणिक वस्तुओं के प्रति आसक्त रहता है, सचेत करने के लिए ही होता है। इसका उद्देश्य बद्धजीव को आत्म-साक्षात्कार का अवसर प्रदान करना है, न कि इन्द्रियतृप्ति का जो सभी सकाम कर्मियों का मूल लक्ष्य होता है।

इत्थम्भावेन कथितो भगवान् भगवत्तमः ।
नेत्थम्भावेन हि परं द्रष्टुमर्हन्ति सूरयः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इन रूपों में; भावेन—सृष्टि तथा संहार का विचार; कथितः—कहा गया; भगवान्—भगवान्; भगवत्-तमः—महान् तत्त्वज्ञानियों द्वारा; न—नहीं; इत्थम्—इसमें; भावेन—स्वरूप; हि—केवल; परम्—अत्यन्त महिमावान; द्रष्टुम्—देखने के लिए; अर्हन्ति—योग्य होते हैं; सूरयः—परम भक्त।

बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के कार्यकलापों का ऐसा ही वर्णन करते हैं,

किन्तु शुद्ध भक्त भावातीत दशा में ऐसे रूपों से भी बढ़कर महिमामय वस्तुएँ देखने के अधिकारी होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् केवल अपनी विविध शक्तियों से उत्पन्न भौतिक संसार के ही स्रष्टा तथा संहारक नहीं है। वे मात्र स्रष्टा तथा संहारक से बढ़कर हैं, क्योंकि उनका एक आनन्द-रूप भी है। भगवान् का यह आनन्द रूप केवल शुद्ध भक्तों के लिए गम्य है, अन्यों के द्वारा नहीं। निर्विशेषवादी भगवान् के सर्वव्यापी प्रभाव को समझ कर ही तुष्ट हो जाता है। यह ब्रह्म-साक्षात्कार कहलाता है। निर्विशेषवादी से भी बड़ा वह योगी है, जो भगवान् को उनके अंश रूप परमात्मा के रूप में अपने हृदय में स्थित देखता है। किन्तु ऐसे शुद्ध भक्त भी हैं, जो प्रेमाभक्ति के आदान-प्रदान से भगवान् की आनन्द शक्ति में हिस्सा बँटाते हैं। भगवान् अपने शाश्वत धाम वैकुण्ठ लोक में सदैव अपने पार्षदों के साथ रहते हैं और अपने भक्तों की विभिन्न दिव्य रसों में की गई दिव्य प्रेममयी सेवा का आनन्द उठाते हैं। इस प्रकार सृष्टि के प्राकट्य की अवधि में शुद्ध भक्त भगवान की भक्तिमय सेवा का अभ्यास करते हैं और वे अपने को भगवान् के धाम जाने के लिए योग्य बनाकर पूरा लाभ उठाते हैं। *भगवद्गीता* (१८.५५) में इसकी पुष्टि यों हुई है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

शुद्ध भक्ति-मय सेवा के विकास से ही भगवान् के वास्तविक रूप को जाना जा सकता है और इस प्रकार उनकी प्रामाणिक सेवा में प्रशिक्षित हुआ जा सकता है और अन्याय रूपों में भगवान् की प्रत्यक्ष संगति में पहुँचा जा सकता। भगवान् की सर्वोच्च संगति गोलोक वृन्दावन लोक में सम्भव है जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण गोपियों तथा अपनी चहेती सुरभि गायों के साथ रमण करते हैं। *ब्रह्म-संहिता* में श्रीकृष्ण की इस दिव्यभूमि का वर्णन आया है, जिसे भगवान् श्री चैतन्य इस विषय का अत्यन्त प्रामाणिक साहित्य मानते हैं।

नास्य कर्मणि जन्मादौ परस्यानुविधीयते ।
कर्तृत्व-प्रतिषेधार्थं माययारोपितं हि तत् ॥ ४५॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; अस्य—इस सृष्टि के; कर्मणि—कार्य में; जन्म-आदौ—सृष्टि तथा संहार; परस्य—परमेश्वर का; अनुविधीयते—इस प्रकार वर्णित है; कर्तृत्व—कौशल; प्रतिषेध-अर्थम्—निषेध करने के लिए; मायया—बहिरंगा शक्ति द्वारा; आरोपितम्—प्रकट होता है; हि—क्योंकि; तत्—स्रष्टा।

भौतिक जगत की सृष्टि तथा संहार के लिए भगवान् के द्वारा किसी प्रकार का प्रत्यक्ष कौशल नहीं किया जाता। उनके प्रत्यक्ष हस्तक्षेप के विषय में वेदों में जो कुछ वर्णित है, वह केवल इस विचार का निराकरण करने के लिए है कि भौतिक प्रकृति ही स्रष्टा है।

तात्पर्य : भौतिक जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार के विषय में वैदिक आदेश इस प्रकार है—*यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति* अर्थात् प्रत्येक वस्तु ब्रह्म द्वारा उत्पन्न है, सृजन के पश्चात् प्रत्येक वस्तु ब्रह्म द्वारा पालित है और संहार के पश्चात् ब्रह्म में संरक्षित रहती है। निपट भौतिकतावादी ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् के विषय में कुछ भी न जानने के कारण प्रकृति को भौतिक संसार का परम कारण मानते हैं और आधुनिक विज्ञानी भी यही मत व्यक्त कर देता है कि भौतिक संसार की सभी वस्तुओं का चरम कारण प्रकृति है। सारा का सारा वैदिक साहित्य इस दृष्टिकोण का खण्डन करता है। वेदान्त दर्शन का कथन है कि समस्त सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय का मूल स्रोत–मुख ब्रह्म है और वेदान्त दर्शन के सहज भाष्य *श्रीमद्भागवत* का कथन है कि *जन्माद्यस्य यतोऽन्वयाद् इतरताश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्...।*

जड़ पदार्थ में निस्सन्देह क्रिया करने की शक्ति निहित होती है, किन्तु इसमें कोई स्वतः प्रेरणा नहीं होती। अतः *श्रीमद्भागवत जन्माद्यस्य* सूक्ति की टीका यह कहते हुए करता है कि *अभिज्ञः* तथा *स्वराट्* अर्थात् परब्रह्म जड़ पदार्थ नहीं है, अपितु परम चेतन और स्वतन्त्र है। अतः भौतिक जगत की सृष्टि, स्थिति तथा संहार का परम कारण जड़ पदार्थ नहीं हो सकता। ऊपर से प्रकृति ही सृष्टि, स्थिति तथा संहार का कारणस्वरूप जान पड़ती है, किन्तु यह प्रकृति परम चेतन भगवान् द्वारा सृष्टि के लिए प्रेरित होती है। वे ही समस्त सृष्टि, पालन तथा संहार का मूलाधार हैं और इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.१०) में हुई है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

प्रकृति भी भगवान् की शक्तियों में से एक है और वह भगवान् के आदेश (*अध्यक्षेण*) से ही कार्य कर सकती है। भगवान् जब प्रकृति पर अपनी दिव्य दृष्टि फेरते हैं तभी वह कार्य कर सकती है, जिस प्रकार पिता के संसर्ग से ही माता गर्भ धारण करती है। यद्यपि अबूझ व्यक्ति को लगता है कि माता पुत्र को जन्म देती है, किन्तु अनुभवी व्यक्ति जानता है कि पिता ही पुत्र का जन्मदाता है। अत: भौतिक प्रकृति परम पिता के सम्पर्क में आने पर ही जड़ तथा चेतन पदार्थों को जन्म देती है, स्वतन्त्र रूप से नहीं। प्रकृति को ही सृष्टि, पालन तथा संहार का कारण मानना ''बकरी के गले में लटकते मांसल-तोथड़ों को स्तन मानने का तर्क जैसा है।'' श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी ने *श्रीचैतन्य-चरितामृत* में अजागलस्तन तर्क की व्याख्या इस प्रकार की है (इसका उल्लेख कृष्णकृपामूर्ति श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज ने किया है) ''प्रकृति भौतिक कारण के रूप में प्रधान कहलाती है और सक्षम कारण के रूप में माया कहलाती है। किन्तु, चूँकि यह जड़ पदार्थ है, अत: यह सृष्टि का परोक्ष कारण नहीं है।'' कविराज गोस्वामी इसे इस प्रकार कहते हैं—

अतएव कृष्ण मूल-जगत्-कारण।

प्रकृति—कारण यैछे अजागलस्तन॥

(*चैतन्यचरि.* आदि ५.६१)

चूँकि कारणार्णवशायी विष्णु, श्रीकृष्ण के अंश हैं, अत: वे ही पदार्थ को गतिशील होने के लिए विद्युत शक्ति प्रदान करते हैं। विद्युत प्रदान करने (विद्युतीकरण) का उदाहरण उपयुक्त है। लोहे का टुकड़ा अवश्य ही अग्नि नहीं है, किन्तु जब इसे तपाकर लाल कर दिया जाता है, तो इसमें जलाने की क्षमता के कारण अग्नि का गुण आ जाता है। पदार्थ की तुलना लोहे के खंड से की जाती है और यह विष्णु की परम चेतना की चितवन से या युक्ति से विद्युतमय या लाल अंगारा हो जाता है। ऐसे विद्युतीकरण से ही विभिन्न कार्य-कारणों में पदार्थ की शक्ति परिलक्षित होती है। अत: जड़ पदार्थ न तो सक्षम है, न दृश्य जगत का कारणस्वरूप। *भागवत* (३.२८.४०) में श्रीकपिल देव का कथन है—

यथोल्मुकाद्विस्फुलिङ्गाद्धूमाद्वापि स्व: सम्भवात्।

अप्यात्मत्वेनाभिमताद्यथाग्नि: पृथगुल्मुकात्॥

मूल अग्नि, इसकी लपट (ज्वाला), इसकी चिनगरियाँ तथा इसका धुँआ—सभी एक हैं, क्योंकि अग्नि अग्नि होकर भी लपट से भिन्न है, लपट चिनगारी से और चिनगारी धुँए से भिन्न है। इन सब में अर्थात् लपटों, चिनगारियों और धुँए में, अग्नि की सत्ता विद्यमान है, तो भी ये सभी पृथक्-पृथक् सत्ता के साथ अलग-अलग होते हैं। दृश्य जगत धुँए के समान है, क्योंकि जब धुँआ आकाश में चला जाता है, तो वह अनेक रूप धारण करता है, जो अनेक ज्ञात एवं अज्ञात रूपों से मिलता जुलता होता है। चिनगारियाँ जीवों के तुल्य हैं और लपटें भौतिक प्रकृति (प्रधान) के समान हैं। मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि इनमें से प्रत्येक अपना प्रभाव केवल इसलिए दिखाती है, क्योंकि उन्हें मूल अग्नि के गुण की शक्ति प्राप्त है। अत: ये सभी—भौतिक प्रकृति, दृश्य जगत तथा जीव ईश्वर (अग्नि) की विभिन्न शक्तियाँ है। अत: जो लोग प्रकृति को दृश्य जगत का मूल कारण (सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि का कारण प्रकृति है) मान बैठते हैं, वे अपने इस निष्कर्ष में सही नहीं हैं। भौतिक प्रकृति का भगवान् के बिना पृथक् अस्तित्व नहीं रहता है। अत: परमेश्वर को समस्त कारणों का कारण न बताना ही अजागलस्तन न्याय का तर्क है—भले ही बकरी के गलस्तन दुग्धमय लगें, किन्तु उनसे दूध निकालने के लिए प्रयास करना मूर्खता है।

अयं तु ब्रह्मण: कल्प: सविकल्प उदाहृत: ।
विधि: साधारणो यत्र सर्गा: प्राकृत-वैकृता: ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

अयम्—सृष्टि तथा संहार की यह क्रिया; तु—लेकिन; ब्रह्मण:—ब्रह्मा का; कल्प:—ब्रह्मा का एक दिन; स-विकल्प:—ब्रह्माण्डों की अवधि समेत; उदाहृत:—उदाहरण के रूप में; विधि:—विधि-विधान; साधारण:—संक्षेप में; यत्र—जिसमें; सर्गा:—सृष्टि; प्राकृत—प्रकृति के विषय में; वैकृता:—विनियोग, व्यय।

यहाँ पर सारांश रुप में वर्णित सृष्टि तथा संहार का यह प्रक्रम ब्रह्मा के एक दिन (कल्प) के लिए विधि-विधान स्वरूप है। यही महत्-सृष्टि का भी नियामक-विधान है, जिसमें प्रकृति विसर्जित हो जाती है।

तात्पर्य : सृष्टि के तीन प्रकार हैं—*महाकल्प, विकल्प* तथा *कल्प*। महाकल्प में भगवान् महत् तत्त्व तथा सोलह प्रकार के सृजक तत्त्वों तथा साधनों की समस्त शक्तियों सहित कारणोदकशायी विष्णु के रूप में प्रथम पुरुष अवतार धारण करते हैं। सृजक कारणों की संख्या ग्यारह है, अवयवों की पाँच है

और ये सभी महत् अर्थात् भौतिक अहंकार के फलस्वरूप हैं। कारणोदकशायी विष्णु के रूप में भगवान् द्वारा की गई सृष्टि *महाकल्प* कहलाती है। ब्रह्मा की सृष्टि तथा भौतिक अवयवों का विसर्जन विकल्प कहलाता है और ब्रह्मा के जीवन के प्रत्येक दिन की सृष्टि कल्प कहलाती है। इसीलिए ब्रह्मा का एक-एक दिन कल्प कहलाता है और ब्रह्मा के दिनों में ऐसे तीस कल्प होते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (८.१७) में भी इस प्रकार हुई है—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।

रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥

उच्चतर लोकों का एक दिन तथा एक रात्रि पृथ्वी के एक पूरे वर्ष के तुल्य होते हैं। इसको आज के विज्ञानी भी मानते हैं और अन्तरिक्ष यात्रियों ने भी इसकी पुष्टि की है। इसी तरह और उच्चतर लोकों में दिन-रात्रि की अवधि स्वर्गलोकों से दीर्घतर होती है। चारों युगों की गणना स्वर्गिक पंचांगों के आधार पर की जाती है। इस प्रकार इनका काल स्वर्गलोकों की परिभाषा में बारह हजार वर्ष है। यह दिव्य युग कहलाता है। ऐसे एक हजार दिव्य युग ब्रह्मा के एक दिन के तुल्य होते हैं। ब्रह्मा के एक दिन की सृष्टि को कल्प कहते हैं। ब्रह्मा की सृष्टि विकल्प कहलाती है। जब महाविष्णु की श्वास से विकल्प सम्भव होते हैं, तो यह महाकल्प कहलाता है। इस प्रकार महाकल्प, विकल्प तथा कल्प का नियमित चक्र चलता रहता है। इसके सम्बन्ध में महाराज परीक्षित द्वारा पूछे गये प्रश्नों के जो उत्तर शुकदेव गोस्वामी ने दिये वे *स्कन्द पुराण* के प्रभास खण्ड में दिये गये हैं और वे इस प्रकार हैं—

प्रथमः श्वेतकल्पश्च द्वितीयो नीललोहितः।

वामदेवस्तृतीयस्तु ततो गाथान्तरोऽपरः॥

रौरवः पञ्चमः प्रोक्तः षष्ठः प्राण इति स्मृतः।

सप्तमोऽथ बृहत्कल्पः कन्दर्पोऽष्टम उच्यते॥

सद्योथ नवमः कल्प ईशानो दशमःस्मृतः।

ध्यान एकादशः प्रोक्तास्तथा सारस्वतोऽपरः॥

त्रयोदश उदानस्तु गरुडोऽथ चतुर्दशः।

कौर्मः पञ्चदशो ज्ञेयः पौर्णमासी प्रजापतेः ॥

षोडशो नारसिंहस्तु समाधिस्तु ततोऽपरः ।

आग्नेयो विष्णुजः सौरः सोमकल्पस्ततोऽपरः ॥

द्वाविंशो भावनः प्रोक्तः सुपुमानिति चापरः ।

वैकुण्ठश्चार्ष्टिषस्तद्वद्वलीकल्पस्ततोऽपरः ॥

सप्तविंशोऽथ वैराजो गौरीकल्पस्तथापरः ।

माहेश्वरस्तथा प्रोक्तस्त्रिपुरो यत्र घातितः ।

पितृकल्पस्तथाचान्ते यः कुहूर्ब्रह्मणः स्मृता ॥

इस प्रकार ब्रह्मा के तीस कल्प ये हैं: (१) श्वेतकल्प, (२) नीललोहित, (३) वामदेव, (४) गाथान्तर, (५) रौरव, (६) प्राण, (७) बृहत्-कल्प, (८) कन्दर्प, (९) सद्योथ, (१०) ईशान, (११) ध्यान, (१२) सारस्वत, (१३) उदान, (१४) गरुड, (१५) कौर्म, (१६) नारसिंह, (१७) समाधि, (१८) आग्नेय, (१९) विष्णुज, (२०) सौर, (२१) सोम-कल्प, (२२) भावन, (२३) सुपुम, (२४) *वैकुण्ठ,* (२५) अर्चिष, (२६) वलीकल्प, (२७) वैराज, (२८) गौरीकल्प, (२९) माहेश्वर, (३०) पैतृ-कल्प।

ये तीसों ब्रह्मा के दिन हैं और उन्हें महीनों से लेकर लगातार एक सौ वर्षों तक रहना होता है, अतः हम अनुमान लगा सकते हैं कि केवल कल्पों में कितनी सृष्टियाँ होती होंगी। इसके बाद विकल्प होते हैं जिनकी उत्पत्ति महाविष्णु की श्वास से होती है जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है (*यस्यैकनिश्वासितकालम् अथावलम्ब्य जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः*)। सारे ब्रह्मा महाविष्णु के निश्वास अवधि के दौरान ही जीवित रहते हैं। अतः विष्णु के श्वास-निश्वास महाकल्प हैं। ये सब पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के ही कारण हैं, क्योंकि उनके अतिरिक्त सारी सृष्टियों का अन्य कोई स्वामी नहीं है।

परिमाणं च कालस्य कल्प-लक्षण-विग्रहम् ।
यथा पुरस्ताद्व्याख्यास्ये पाद्मं कल्पमथो शृणु ॥ ४७॥

शब्दार्थ

परिमाणम्—माप; च—भी; कालस्य—समय की; कल्प—ब्रह्मा का एक दिन; लक्षण—लक्षण; विग्रहम्—रूप; यथा—जिस तरह; पुरस्तात्—इसके बाद; व्याख्यास्ये—बताया जाएगा; पाद्मम्—पाद्म नाम से; कल्पम्—एक दिन की अवधि; अथो—इस तरह; शृणु—सुनो।

हे राजन्, आगे चलकर मैं काल के स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों की माप का उनके विशिष्ट लक्षणों सहित वर्णन करूँगा, किन्तु इस समय मैं तुमसे पाद्म कल्प के विषय में कहना चाहता हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्मा के कल्प की वर्तमान अवधि *वराह कल्प* अथवा *श्वेत वराह कल्प* कहलाती है, क्योंकि जब विष्णु के उदर से निकले हुए कमल (पद्म) से ब्रह्मा उत्पन्न हुए तो उस समय भगवान् वराह के रूप में अवतरित हुए थे। इसीलिए वराह कल्प को *पाद्मकल्प* भी कहते हैं और *भागवत* के प्रथम भाष्यकार स्वामी श्रीधर का अनुसरण करते हुए जीव गोस्वामी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर जैसे आचार्यों ने इसकी पुष्टि की है। अत: ब्रह्मा के वराह कल्प तथा पाद्मकल्प में कोई विरोधाभास नहीं है।

शौनक उवाच

यदाह नो भवान् सूत क्षत्ता भागवतोत्तमः ।
चचार तीर्थानि भुवस्त्यक्त्वा बन्धून् सुदुस्त्यजान् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

शौनकः उवाच—श्री शौनक मुनि ने कहा; यत्—जैसा; आह—आपने कहा; नः—हमको; भवान्—आप; सूत—हे सूत; क्षत्ता—विदुर; भागवत-उत्तमः—भगवान् का श्रेष्ठ भक्त; चचार—अभ्यास किया; तीर्थानि—तीर्थ स्थानों; भुवः—पृथ्वी पर; त्यक्त्वा—त्याग कर; बन्धून्—सम्बन्धियों को; सु-दुस्त्यजान्—त्याग कर पाना अत्यन्त कठिन।

सृष्टि के विषय में यह सब सुनने के बाद शौनक ऋषि ने सूत गोस्वामी से विदुर के विषय में पूछा, क्योंकि सूत गोस्वामी ने पहले ही उन्हें बता रखा था कि विदुर ने किस प्रकार अपने उन परिजनों को छोड़कर गृहत्याग किया था जिनको छोड़ पाना बहुत दुष्कर होता है।

तात्पर्य : शौनक आदि ऋषि विदुर के विषय में जानने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे जिनकी भेंट विश्व के तीर्थस्थलों की यात्रा करते समय मैत्रेय ऋषि से हुई।

क्षत्तुः कौशारवेस्तस्य संवादोऽध्यात्म-संश्रितः ।
यद्वा स भगवांस्तस्मै पृष्टस्तत्त्वमुवाच ह ॥ ४९ ॥

ब्रूहि नस्तदिदं सौम्य विदुरस्य विचेष्टितम् ।
बन्धु-त्याग-निमित्तं च यथैवागतवान् पुनः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

क्षत्तुः—विदुर की; कौशारवेः—मैत्रेय की; तस्य—उनका; संवादः—समाचार; अध्यात्म—दिव्य ज्ञान के विषय; संश्रितः—से पूरित; यत्—जो; वा—अन्य कुछ; सः—वह; भगवान्—भगवान्; तस्मै—उससे; पृष्टः—पूछा; तत्त्वम्—सत्य; उवाच—उत्तर दिया; ह—पुराकाल में; ब्रूहि—कृपया कहें; नः—हमसे; तत्—वे विषय; इदम्—यहाँ; सौम्य—हे सौम्य; विदुरस्य—विदुर का; विचेष्टितम्—कार्यकलाप; बन्धु-त्याग—मित्रों के परित्याग का; निमित्तम्—कारण; च—भी; यथा—जिस प्रकार; एव—भी; आगतवान्—(घर) वापस आया; पुनः—फिर से।

शौनक ऋषि ने कहा—आप हमें बताएँ कि विदुर तथा मैत्रेय के बीच अध्यात्म पर चर्चा हुई, विदुर ने क्या पूछा और मैत्रेय ने क्या उत्तर दिया था। कृपा करके हमें यह भी बताएँ कि विदुर ने अपने कुटुम्बियों को क्यों छोड़ा था और वे पुनः घर क्यों लौट आये? तीर्थस्थानों की यात्रा के समय उन्होंने जो कार्य किये उन्हें भी बतलाएँ।

तात्पर्य : श्रीसूत गोस्वामी संसार की सृष्टि तथा संहार की कथाएँ सुना रहे थे, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि शौनक आदि ऋषि अध्यात्म विषयों को, जो भौतिक विषयों से ऊँचे स्तर पर हैं, सुनने के लिए अधिक इच्छुक थे। मनुष्यों की दो श्रेणी होती हैं—एक तो वे जो स्थूल देह तथा भौतिक संसार में अधिक लिप्त रहते हैं और दूसरे वे जो उच्च स्तर पर रहने के कारण दिव्य ज्ञान के प्रति अधिक उत्सुक होते हैं। *श्रीमद्भागवत* प्रत्येक व्यक्ति के लिए, चाहे वह भौतिकतावादी हो अथवा गुणातीतवादी (अध्यात्मवादी) हो, सुविधा प्रदान करने वाला है। लोग *भागवत* से, भौतिक जगत में तथा दिव्य जगत में भगवान् के महिमामंडित कार्यकलापों को सुनकर समान लाभ उठा सकते हैं। भौतिकतावादी भौतिक नियमों एवं उनकी कार्यविधि में अधिक रुचि रखते हैं, वे भौतिक चकाचौंध में आश्चर्य देखते हैं। कभी-कभी इसी चकाचौंध में वे भगवान् की महिमा को भूल जाते हैं। उन्हें यह जान लेना चाहिए कि सारे भौतिक कार्यकलाप तथा आश्चर्य भगवान् द्वारा ही प्रेरित हैं। उद्यान में गुलाब का फूल धीरे-धीरे विकसित होकर रूप-रंग ग्रहण करके सुन्दर तथा सुरभित बनता है, वह किसी अन्धाधुंध भौतिक नियम के अधीन होकर ऐसा नहीं करता, यद्यपि प्रतीत ऐसा ही होता है। इस भौतिक नियम के पीछे परमेश्वर की पूर्ण चेतना का निर्देशन होता है, अन्यथा वस्तुएँ इतना नियमित रूप धारण नहीं कर सकतीं। कलाकार सम्पूर्ण मनोयोग और कलात्मक अनुभूति से गुलाब का चित्र बनाता है, किन्तु तो भी वह असली गुलाब की तरह पूर्ण नहीं होता। यदि यह सत्य है, तो हम यह किस तरह कह सकते हैं

कि असली गुलाब ने बिना बुद्धि के ऐसा सुन्दर रूप प्राप्त किया? अल्पज्ञता के कारण ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है। सृष्टि तथा संहार के उपर्युक्त वर्णन से हमें यह समझना चाहिए कि सर्वव्यापी होने से परम चेतना प्रत्येक वस्तु का पूरा ध्यान रखती है। परमेश्वर की सर्वव्यापकता का तथ्य यही है। निपट भौतिकतावादियों से भी बढ़कर मूर्ख व्यक्ति अपने को गुणातीतवादी (अध्यात्मवादी) कहते हैं और अपने में सर्वव्यापी चेतना पाये जाने का दावा तो करते हैं, किन्तु कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं करते। ऐसे मूर्ख व्यक्तियों को यह भी पता नहीं चल पाता कि दीवाल के उस ओर क्या हो रहा है। फिर भी वे परम पुरुष की सर्वव्यापी चेतना से अपने को समन्वित होने का झूठा गर्व करते हैं। ऐसे लोगों के लिए भी *श्रीमद्भागवत* का सुनना सहायक बनता है। इससे उनकी आँखें खुल जाएँगी और उन्हें पता चलेगा कि परम चेतना का दावा करने से ही कोई परम भावना से भावित नहीं हो जाता। इस भौतिक संसार में उन्हें प्रमाण देना होता है कि उन्हें ऐसी परम चेतना प्राप्त है। किन्तु नैमिषारण्य के ऋषि कोरे भौतिकतावादियों तथा झूठे अध्यात्मवादियों से ऊपर थे, अतः वे अधिकारी व्यक्तियों से दिव्य विषयों की वास्तविक सत्यता जानने के लिए सदैव इच्छुक थे।

सूत उवाच

राज्ञा परीक्षिता पृष्टो यदवोचन्महा-मुनिः ।
तद्वोऽभिधास्ये शृणुत राज्ञः प्रश्नानुसारतः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्रीसूत गोस्वामी ने उत्तर दिया; राज्ञा—राजा; परीक्षिता—परीक्षित द्वारा; पृष्टः—पूछे जाने पर; यत्—जो; अवोचत्—कहा; महा-मुनिः—महा-मुनि ने; तत्—वही बात; वः—तुमको; अभिधास्ये—मैं बताऊँगा; शृणुत—कृपया सुनें; राज्ञः—राजा द्वारा; प्रश्न—सवाल; अनुसारतः—के अनुसार।

श्रीसूत गोस्वामी ने बताया—अब मैं तुम्हें वे सारे विषय बताऊँगा जिन्हें राजा परीक्षित के द्वारा पूछे जाने पर महा-मुनि ने उनसे कहा था। कृपया उन्हें ध्यानपूर्वक सुनो।

तात्पर्य : प्रत्येक पूछे गये प्रश्न का उत्तर यदि किसी अधिकारी विद्वान का उद्धरण देकर दिया जाता है, तो उससे बुद्धिमानों की तुष्टि होती है। यहाँ तक कि न्यायालयों में भी यही विधि अपनाई जाती है। सर्वश्रेष्ठ वकील अपने मुकद्दमे की स्थापना के लिए बिना कोई कष्ट उठाये पूर्ववर्ती फैसले से साक्ष्य प्रस्तुत करता है। यह परम्परा विधि कही जाती है और विद्वान अधिकारी इधर-उधर के व्यर्थ तर्क न देकर इसका पालन करते हैं।

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।

अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

(*ब्रह्म-संहिता* ५.१)

हमें चाहिए कि हम परमेश्वर की आज्ञा मानें, क्योंकि प्रत्येक वस्तु में उनका हाथ है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कंध के अन्तर्गत "भागवत सभी प्रश्नों का उत्तर है" नामक दसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

preliminary pages are as follows:

preliminary page 1

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।

योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्॥

(*श्रीमद्भागवत* २.१.११)

preliminary page 5

विषय-सूची

श्रीमद्भागवतम्
विषय-सूची
आमुख
प्रस्तावना
अध्याय एक
ईश अनूभूति का पहला सोपान
ईश-स्तवन
कृष्ण कथा श्रवण का महत्त्व
ईर्ष्यालु गृहस्थों के कार्यकलाप
सांसारिक मनुष्य का मोह
भगवान् के विषय में श्रवण तथा महिमागायन
कृष्ण का स्मरण ही मनुष्य जीवन की सर्वोच्च सिद्धि

सर्वोच्च अध्यात्मवादी
श्रीशुकदेव गोस्वामी द्वारा 'श्रीमद्भागवत' का सुना जाना
प्रामाणिक गुरु से श्रवण की आवश्यकता
पवित्र नाम के प्रति अपराध
महाराज खट्वांग का उत्तम उदाहरण
अगले जीवन के लिए सर्वश्रेष्ठ तैयारी
मन को वश में करने की विधि—प्राणायाम
विष्णु के स्वरूप का ध्यान
विराट रूप का ध्यान
विराट रूप का वर्णन
विभिन्न लोक
उनके बाहु, कान, नथुने, मुँह
उनकी आँखें, तालू, जीभ
उनके जबड़े, ब्रह्मरन्ध, दाँत, मुस्कान
उनके होठ, ठुड्डी, वक्षस्थल, पृष्ठ, कटि, अस्थियाँ
उनकी नसें, बाल, श्वास, गतियाँ
उनकी वेशभूषा, बुद्धि, मन
उनकी चेतना, अहंकार, नाखून
उनकी कलाप्रियता, आवास, संगीत-लय, अद्भुत पराक्रम
उनका मुखमंडल, बाहें, जाँघ, पाँव
सबके परमात्मा कृष्ण की पूजा
अध्याय दो
हृदय में भगवान्
श्री ब्रह्माजी तक विस्मृति की निद्रा में
वेदों के अलंकारिक शब्द भ्रामक हैं
भौतिक सृष्टि: मात्र नामों का वाग्जाल
जीवन की तथाकथित सुविधाएँ
आध्यात्मिक प्रगति में बाधक
संन्यास जीवन के कर्तव्य
परमात्मा की सेवा करना परम धर्म
निपट भौतिकतावदियों की मूर्खता
भगवान् विष्णु के चौबीस रूप
तरुण भगवान् का दिव्य सौन्दर्य
कामेच्छा बद्धजीव को बाँधती है
भगवान् के अंगों का ध्यान

जीवात्माओं की स्वाभाविक स्थिति
भगवद्धाम जाने में शुद्ध मन द्वारा आश्चर्यजनक क्रिया
आध्यात्मिक स्तर पर विनाशकारी काल नहीं आता
केवल शुद्ध भक्तों को वैकुण्ठ लोक की स्पष्ट झलक
कुशल योगी व्यर्थ के कार्य नहीं करते
भक्तियोगी किस प्रकार भौतिक सम्बन्धों को त्यागता है
अन्य लोकों की सुगम यात्रा
वैदिक कथन की प्रामाणिकता
दृश्य जगत का वर्णन
भक्ति-लता का सिंचन
केवल शुद्ध आत्मा ही ईशप्रेम पाने की अधिकारी
परम्परा से प्राप्त वैदिक ज्ञान
मुक्ति का एकमात्र साधन—भक्तियोग
परमात्मा—हमारा मित्र तथा पथप्रदर्शक
'श्रीमद्‌भागवत' सुनने से दूषित जीवन शुद्ध हो जाता है
अध्याय तीन
शुद्ध भक्ति: हृदय परिवर्तन
मृत्यु आने पर बुद्धिमान व्यक्ति का कर्तव्य
पूजा की विविध विधियाँ
समस्त यज्ञों के परम भोक्ता—कृष्ण
भगवान् से शुद्ध भक्त की संगति
हरिकथा समस्त संसारी कथाओं को पराजित करती है
परमहंसों द्वारा अनुभूत हरि की विवेचना
भाग्यशाली वैष्णव परिवारों की जीवन शैली
महाराज परीक्षित तथा शुकदेव गोस्वामी दोनों ही
अनन्य भक्त
कृष्ण भक्त को शाश्वत जीवन की गांरटी
परिष्कृत पशुओं का समाज दुखी मानवता को लाभ
नहीं पहुँचा सकता
कूकर, शूकर, ऊँट तथा गधों के तुल्य मनुष्य
भक्तों की तीन श्रेणियाँ
संसारी शब्दों का कीर्तन करने वाली जीभ
वेश्या तुल्य है
अर्चाविग्रह पूजा से जीवन सफल हो जाता है
शुद्ध भक्त भगवान् के दासों के दास को प्रसन्न

करने का यत्न करता है
हृदय परिवर्तन के लक्षण
अध्याय चार
सृष्टि प्रक्रम
वैदिक महत्त्वाकांक्षा
गृहस्थ जीवन का अन्धकूप
महाराज परीक्षित द्वारा समस्त सकाम कर्मों का परित्याग
महाराज परीक्षित द्वारा पुछे गये सृष्टि सम्बन्धी प्रश्न
कृष्ण की अंतरंगा, बहिरंगा तथा तटस्था शक्तियाँ
भगवान् के कार्य अत्यन्त अद्‌भुत होते हैं
कृष्ण के अनन्त स्वरूप
शुकदेव गोस्वामी द्वारा स्तुति
संसारीजन वैकुण्ठ लोक में जाने के अयोग्य
भगवान् का श्रवण, यशोगान तथा स्मरण करना
कृष्ण की सेवा में सारे गुणों को लगा देना
भक्तगण सारे दिखावे से मुक्त
कृष्ण सर्वेसर्वा
शुद्ध भक्त की विनम्रता
दिव्य शब्दोच्चार
परमात्मा ही हर वस्तु का स्रोत
कृष्ण के मुख से अमृत
अध्याय पाँच
समस्त कारणों के कारण
ब्रह्माजी से श्रीनारद की जिज्ञासा
नारद द्वारा ब्रह्मा को समस्त कारणों का कारण मान बैठना
मिशनरी कार्यकलापों का मूल सिद्धान्त
भगवान् सदैव भगवान् रहता है
ब्रह्म ज्योति—समस्त सृष्टि की बीज स्वरूप
मोहग्रस्त व्यक्तियों द्वारा प्रलाप
सृष्टि के मूलभूत अवयव
नारायण ही चरम लक्ष्य
सृजन के लिए भगवान् द्वारा आत्मा को शक्ति प्रदान करना
सृष्टि का नियम
सतो, रजो तथा तमो गुण
आत्मकेन्द्रित अहंकार

आकाश तथा इसका सूक्ष्म स्वरूप : शब्द
विकास का वर्णन
प्रकाश का पथ : कृष्ण की इन्द्रियों की तुष्टि
शरीर यन्त्र
भगवान् की दासी
महाविष्णु का साँस लेना
विराट रूप
मानव समाज के चार विभाग
लोकों का वर्णन
अध्याय छह
पुरुष सूक्ति की पुष्टि
विश्व रूप के ऐश्वर्य
समस्त शक्ति के स्रोत—श्रीकृष्ण
भगवान् के चरणकमल
ब्रह्मण्ड का लय
परम सत्ता स्वरूप कृष्ण
स्वयं प्रकाशित वैकुण्ठ लोक
ब्रह्मचर्य व्रत आवश्यक
अविद्या और अध्यात्म
सूर्यवत् पुरुषोत्तम
यज्ञों के लिए आवश्यक वस्तुएँ
शान्ति का गुर
ब्रह्मा, विष्णु और शिव
परम्परा से प्राप्त वैदिक विद्या
भक्तिवेदान्त का तात्पर्य
आध्यात्मिक आनन्द का सागर
संस्तुत भक्तिकार्य
भगवान् की अचिन्त्य निजी शक्तियाँ
कृष्ण निष्कलुष हैं
भौतिक सृष्टि का झूठा खिलवाड़
'श्रीमद्‌भागवत' से परम तुष्टि की प्राप्ति
अध्याय सात
विशिष्ट कार्यों के लिए निर्दिष्ट अवतार
विशाल शूकर अवतार
महामान्य कपिल

चारों कुमार
स्त्री–आकर्षण का जादू
राजकुमार ध्रुव
सम्राट ऋषभदेव
हयग्रीव अवतार
भगवान् मस्त्य
भगवान् कच्छप
नृसिंह देव
पवित्र नाम का जप करने योग्य है
वामनदेव द्वारा बलि महाराज का पक्षपात
हंसावतार द्वारा नारद को उपदेश
मनु अवतार
धन्वतरि द्वारा ओषधि विज्ञान का उद्घाटन
परशुराम द्वारा पृथ्वी को निष्कंटक बनाना
श्रीमद्रामायण का सार–संक्षेप
सुन्दर काले बालों वाले भगवान्
श्रीकृष्ण द्वारा पूतना का वध
विषधर कालिय नाग को दण्ड
भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत का उठाया जाना
असुर किस तरह मोक्ष प्राप्त करें
वैदिक ज्ञान का वृक्ष
कल्कि: परम दण्डदाता
विष्णु का पराक्रम
परमार्थवाद का ढकोसला
भगवान् के प्रति समर्पण
परम उपकारकर्ता
संक्षिप्त भागवत
अध्याय आठ
राज परीक्षित द्वारा पूछे गये प्रश्न
शिष्य परम्परा का अवरोही क्रम
पेशेवर भागवत कथावाचक व्यर्थ है
पंकमय तालों पर शारदीय वर्षा
कष्टप्रद यात्रा के बाद घर
भागवत की दार्शनिक आधारशिला स्थापित करने के प्रश्न
कर्म के कारण तथा फल

मानवसमाज का वैज्ञानिक विभाजन
सामान्य धार्मिक सम्पर्क
भक्तों द्वारा योगी पराजित
समुद्र में नाव चलाना
आज्ञाकारी तथा अवज्ञाकारी
संदेश का अमृत
विष्णुरत लोगों को 'श्रीमद्भागवत' सुनना चाहिए
अध्याय नौ
श्रीभगवान् के वचन का उद्धरण देते हुए प्रश्नों के उत्तर
स्वप्न में अपने को राजा देखना
माया द्वारा प्रदत्त विभिन्न वस्त्र
''मैं'' तथा ''मेरा'' का भ्रम
सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण
तप—ब्राह्मणों का धन
उपयुक्त स्रोत से दिव्य ध्वनि
ब्रह्मा को परव्योम का दर्शन
काल की प्रकट अनुपस्थिति
बिजली के समान सुन्दर स्त्रियाँ
भगवान् का मादक दर्शन
परमहंस द्वेष से रहित होता है
भगवान् द्वारा ब्रह्मा से हाथ मिलाया जाना
सर्वोच्च सिद्धि
तप ही वास्तविक शक्ति है
जीवन का लक्षण है कामना
मकड़ी की तरह कृष्णलीला
गर्व का पतन
भक्ति की सामग्री
स्रष्टा ''मैं'' तथा सृजित ''मैं''
भगवान् की ज्योति की शरण गहो
प्रेमाजंन से अंजित नेत्र
जीवन का परम उद्देश्य—विष्णु
मृत मनुष्यों के लिए वस्त्र
अग्नि सदैव अग्नि ही रहती है
'श्रीमद्भागवत' नवनीत
जीवन की परम तुष्ट अवस्था

ब्रह्मा द्वारा ब्रह्माण्ड की पुनः सृष्टि
अपने पिता के लाड़ले पुत्र—नारद
ब्रह्म सम्प्रदाय
अध्याय दस
भागवत सभी प्रश्नों का उत्तर है
सोलह प्रकार के प्राकट्य
जीवन की सही दिशा
दृश्य जगत का संहार
परम स्रोत
नियन्ता और नियन्त्रित
अभियन्ता की प्रशंसा की जाय
भगवान् की चितवन
इन्द्रियाँ और इन्द्रियबोध
आपन सोची होत नहिं, प्रभु सोची तत्काल
ज्ञान का श्रवण
कर्तव्यनिष्ठ यज्ञ
सन्तानोत्पत्ति
हृदय में परमात्मा का वास
भगवान् के दिव्य रूप
विष्णु—सर्वशक्तिमान पिता
कूपमंडूक
कृष्ण का आनन्द स्वरूप
सौंदर्य के पीछे बुद्धि
परिशिष्ट

Chapter एक

विदुर द्वारा पूछे गये प्रश्न

श्रीशुक उवाच
एवमेतत्पुरा पृष्टो मैत्रेयो भगवान्किल ।
क्षत्रा वनं प्रविष्टेन त्यक्त्वा स्वगृहमृद्धिमत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; एतत्—यह; पुरा—पूर्व काल में; पृष्टः—पूछने पर; मैत्रेयः—मैत्रेय ऋषि ने कहा; भगवान्—अनुग्रहकारी; किल—निश्चय ही; क्षत्रा—विदुर द्वारा; वनम्—जंगल में; प्रविष्टेन—प्रविष्ट हुए; त्यक्त्वा—त्याग कर; स्व-गृहम्—अपना घर; ऋद्धिमत्—समृद्ध।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : अपना समृद्ध घर त्याग कर जंगल में प्रवेश करके महान् भक्त राजा विदुर ने अनुग्रहकारी मैत्रेय ऋषि से यह प्रश्न पूछा।

यद्वा अयं मन्त्रकृद्वो भगवानखिलेश्वरः ।
पौरवेन्द्रगृहं हित्वा प्रविवेशात्मसात्कृतम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो घर; वै—और क्या कहा जा सकता है; अयम्—श्रीकृष्ण; मन्त्र-कृत्—मंत्री; वः—तुम लोग; भगवान्—भगवान्; अखिल-ईश्वरः—सबके स्वामी; पौरवेन्द्र—दुर्योधन के; गृहम्—घर को; हित्वा—त्याग कर; प्रविवेश—प्रविष्ट हुए; आत्मसात्—अपना ही; कृतम्—स्वीकार किया हुआ।

पाण्डवों के रिहायशी मकान के विषय में और क्या कहा जा सकता है? सबों के स्वामी श्रीकृष्ण तुम लोगों के मंत्री बने। वे उस घर में इस तरह प्रवेश करते थे मानो वह उन्हीं का अपना घर हो और वे दुर्योधन के घर की ओर कोई ध्यान ही नहीं देते थे।

तात्पर्य : गौडीय अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्व दर्शन के अनुसार जो भी वस्तु भगवान् श्रीकृष्ण की इन्द्रियों को तुष्ट करती हो वह भी श्रीकृष्ण है। उदाहरणार्थ, श्रीवृन्दावन धाम श्रीकृष्ण से अभिन्न है (*तद्धाम वृन्दावनम्*), क्योंकि भगवान् वृन्दावन में अपनी अन्तरंगा शक्ति का दिव्य आनन्द भोगते हैं। इसी तरह पाण्डवों का घर भी भगवान् के लिए दिव्य आनन्द का स्रोत था। यहाँ इसका उल्लेख हुआ है कि भगवान् ने इस घर को अपने ही घर की तरह समझा। अतएव पाण्डवों का घर वृन्दावन के समान था और विदुर को उस दिव्य आनन्द वाले स्थान का परित्याग नहीं करना चाहिए था। अत: उनके द्वारा घर छोड़ने का कारण वास्तव में पारिवारिक अनबन नहीं थी, प्रत्युत विदुर ने इस अवसर का लाभ ऋषि मैत्रेय से मिलने और दिव्य ज्ञान की चर्चा करने के लिए उठाया। विदुर जैसे साधु पुरुष के लिए सांसारिक मामलों को लेकर उठने वाला कोई विघ्न महत्त्वहीन था। किन्तु कभी-कभी ऐसे विघ्न

उच्चतर अनुभूति के लिए अनुकूल होते हैं, अतएव विदुर ने पारिवारिक अनबन का लाभ मैत्रेय ऋषि से भेंट करने में उठाया।

राजोवाच
कुत्र क्षत्तुर्भगवता मैत्रेयेणास सङ्गमः ।
कदा वा सह संवाद एतद्वर्णय नः प्रभो ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने कहा; कुत्र—कहाँ; क्षत्तुः—विदुर के साथ; भगवता—तथा अनुग्रहकारी; मैत्रेयेण—मैत्रेय के साथ; आस—हुई थी; सङ्गमः—मिलन, भेंट; कदा—कब; वा—भी; सह—साथ; संवादः—विचार-विमर्श; एतत्—यह; वर्णय—वर्णन कीजिये; नः—मुझसे; प्रभो—हे प्रभु।

राजा ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा : सन्त विदुर तथा अनुग्रहकारी मैत्रेय मुनि के बीच कहाँ और कब यह भेंट हुई तथा विचार-विमर्श हुआ? हे प्रभु, कृपा करके यह कहकर मुझे कृतकृत्य करें।

तात्पर्य : जिस तरह शौनक ऋषि ने सूत गोस्वामी से पूछा था और सूत गोस्वामी ने उत्तर दिया, ठीक उसी तरह श्रील शुकदेव गोस्वामी ने राजा परीक्षित की जिज्ञासाओं का उत्तर दिया। राजा इन दो महात्माओं के बीच सम्पन्न सार्थक विचार-विमर्श के विषय में जानने के लिए अत्यन्त उत्सुक था।

न ह्यल्पार्थोदयस्तस्य विदुरस्यामलात्मनः ।
तस्मिन्वरीयसि प्रश्नः साधुवादोपबृंहितः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; हि—निश्चय ही; अल्प-अर्थ—लघु (महत्त्वहीन) कार्य; उदयः—उठाया; तस्य—उसका; विदुरस्य—विदुर का; अमल-आत्मनः—सन्त पुरुष का; तस्मिन्—उसमें; वरीयसि—अत्यन्त सार्थक; प्रश्नः—प्रश्न; साधु-वाद—सन्तों तथा ऋषियों द्वारा अनुमोदित वस्तुएँ; उपबृंहितः—से पूर्ण।

सन्त विदुर भगवान् के महान् एवं शुद्ध भक्त थे, अतएव कृपालु ऋषि मैत्रेय से पूछे गये उनके प्रश्न अत्यन्त सार्थक, उच्चस्तरीय तथा विद्वन्मण्डली द्वारा अनुमोदित रहे होंगे।

तात्पर्य : विभिन्न श्रेणी के व्यक्तियों के बीच के प्रश्नों तथा उत्तरों का भिन्न-भिन्न महत्त्व होता है। व्यापार-विनिमय में व्यापारी-व्यक्तियों द्वारा किये गये प्रश्नों का आध्यात्मिक महत्त्व नहीं हो सकता। विभिन्न श्रेणी के व्यक्तियों में उठने वाले प्रश्नों तथा उनके उत्तरों का अनुमान सम्बद्ध व्यक्तियों के बौद्धिक स्तर से लगाया जा सकता है। *भगवद्गीता* में जो विचार-विमर्श हुआ वह श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के बीच हुआ जो क्रमशः परम पुरुष तथा परम भक्त थे। भगवान् ने अर्जुन को अपना भक्त तथा मित्र स्वीकार किया (*भगवद्गीता* ४.३), अतएव कोई भी विवेकवान व्यक्ति अनुमान लगा सकता है कि यह

विचार-विमर्श *भक्तियोग* के सिद्धान्त पर आधारित था। वास्तव में सम्पूर्ण *भगवद्‌गीता* भक्तियोग के सिद्धान्त पर ही आधारित है। *कर्म* तथा *कर्मयोग* में अन्तर है। कर्म तो कर्ता द्वारा फल के भोग हेतु नियमित कार्य है, किन्तु कर्मयोग भगवान् की तुष्टि हेतु भक्त द्वारा सम्पन्न किया गया कार्य है। कर्मयोग भक्ति पर अर्थात् भगवान् को प्रसन्न करने पर आश्रित है, जबकि कर्म स्वयं कर्ता की इन्द्रियों को प्रसन्न करने पर आधारित है। *श्रीमद्‌भागवत* के अनुसार जब कोई व्यक्ति आध्यात्मिक ज्ञान के उच्च स्तर पर प्रश्न पूछना चाहता हो तो उसे प्रामाणिक गुरु के पास जाने की सलाह दी जाती है। उस सामान्य व्यक्ति को, जिसे आध्यात्मिक बातों में कोई रुचि नहीं होती, फैशन के रूप में गुरु के पास जाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

महाराज परीक्षित, छात्र के रूप में ईश-विज्ञान समझने के प्रति जिज्ञासु थे और शुकदेव गोस्वामी दिव्य विज्ञान के प्रामाणिक गुरु थे। दोनों ही जानते थे कि विदुर तथा ऋषि मैत्रेय के द्वारा जिन विषयों पर विचार-विमर्श हुआ होगा वे उच्चस्तरीय रहे होंगे, अतएव महाराज परीक्षित को अपने गुरु से यह जानने के लिए अतीव उत्कण्ठा थी।

सूत उवाच

स एवमृषिवर्योऽयं पृष्टो राज्ञा परीक्षिता ।
प्रत्याह तं सुबहुवित्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; सः—वह; एवम्—इस प्रकार; ऋषि-वर्यः—महान् ऋषि; अयम्—शुककदेव गोस्वामी; पृष्टः—पूछे जाने पर; राज्ञा—राजा; परीक्षिता—महाराज परीक्षित द्वारा; प्रति—से; आह—कहा; तम्—उस राजा को; सु-बहु-वित्—अत्यन्त अनुभवी; प्रीत-आत्मा—पूर्ण तुष्ट; श्रूयताम्—कृपया सुनें; इति—इस प्रकार।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : महर्षि शुकदेव गोस्वामी अत्यन्त अनुभवी थे और राजा से प्रसन्न थे। अतः राजा द्वारा प्रश्न किये जाने पर उन्होंने उससे कहा; ‘‘कृपया इस विषय को ध्यानपूर्वक सुनें।’’

श्रीशुक उवाच

यदा तु राजा स्वसुतानसाधून्
पुष्णन्न धर्मेण विनष्टदृष्टिः ।
भ्रातुर्यविष्ठस्य सुतान्विबन्धून्
प्रवेश्य लाक्षाभवने ददाह ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; यदा—जब; तु—लेकिन; राजा—राजा धृतराष्ट्र; स्व-सुतान्—अपने पुत्रों को; असाधून्—बेईमान; पुष्णन्—पोषण करते हुए; न—कभी नहीं; धर्मेण—उचित मार्ग पर; विनष्ट-दृष्टिः—जिसकी अन्तःदृष्टि खो चुकी है; भ्रातुः—अपने भाई के; यविष्ठस्य—छोटे, सुतान्; सुतान्—पुत्रों को; विबन्धून्—अनाथ; प्रवेश्य—प्रवेश करा कर; लाक्षा—लाख के; भवने—घर में; ददाह—आग लगा दी।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : राजा धृतराष्ट्र अपने बेईमान पुत्रों का पालन-पोषण करने की अपवित्र इच्छाओं के वश में होकर अन्तर्दृष्टि खो चुका था और उसने अपने पितृविहीन भतीजों, पाण्डवों को जला डालने के लिए लाक्षागृह में आग लगा दी।

तात्पर्य : धृतराष्ट्र जन्मान्ध था, किन्तु अपने बेईमान पुत्रों के समर्थन हेतु अपवित्र कार्य करने में उसका अन्धापन, दृष्टि के शारीरिक दोष से कहीं बड़ा था। दृष्टि की शारीरिक कमी से किसी की आध्यात्मिक प्रगति नहीं रुकती। किन्तु जब कोई कायिक रूप से स्वस्थ होते हुए भी आध्यात्मिक रूप से अन्धा होता है, तो वह अन्धापन मनुष्य जीवन के उन्नति-मार्ग में भयावह रूप से बाधक होता है।

यदा सभायां कुरुदेवदेव्याः
केशाभिमर्शं सुतकर्म गर्ह्यम् ।
न वारयामास नृपः स्नुषायाः
स्वास्रैर्हरन्त्याः कुचकुङ्कुमानि ॥ ७॥

शब्दार्थ

यदा—जब; सभायाम्—सभा में; कुरु-देव-देव्याः—देवतुल्य युधिष्ठिर की पत्नी द्रौपदी का; केश-अभिमर्शम्—उसके बाल पकड़ने के अपमान; सुत-कर्म—अपने पुत्र द्वारा किया गया कार्य; गर्ह्यम्—निन्दनीय; न—नहीं; वारयाम् आस—मना किया; नृपः—राजा; स्नुषायाः—अपनी पुत्रबधू के; स्वास्रैः—उसके अश्रुओं से; हरन्त्याः—धोती हुई; कुच-कुङ्कुमानि—अपने वक्षस्थल के कुंकुम को।

(इस) राजा ने अपने पुत्र दुःशासन द्वारा देवतुल्य राजा युधिष्ठिर की पत्नी द्रौपदी के बाल खींचने के निन्दनीय कार्य के लिए मना नहीं किया, यद्यपि उसके अश्रुओं से उसके वक्षस्थल का कुंकुम तक धुल गया था।

द्यूते त्वधर्मेण जितस्य साधोः
सत्यावलम्बस्य वनं गतस्य ।
न याचतोऽदात्समयेन दायं
तमोजुषाणो यदजातशत्रोः ॥ ८॥

शब्दार्थ

द्यूते—जुआ खेलकर; तु—लेकिन; अधर्मेण—कुचाल से; जितस्य—पराजित; साधोः—सन्त पुरुष का; सत्य-अवलम्बस्य—जिसने सत्य को शरण बना लिया है; वनम्—जंगल; गतस्य—जाने वाले का; न—कभी नहीं; याचतः—माँगे जाने पर; अदात्—दिया; समयेन—समय आने पर; दायम्—उचित भाग; तमः-जुषाणः—मोह से अभिभूत; यत्—जितना; अजात-शत्रोः—जिसके कोई शत्रु न हो, उसका।

युधिष्ठिर, जो कि अजातशत्रु हैं, जुए में छलपूर्वक हरा दिये गये। किन्तु सत्य का व्रत लेने के कारण वे जंगल चले गये। समय पूरा होने पर जब वे वापस आये और जब उन्होंने साम्राज्य का अपना उचित भाग वापस करने की याचना की तो मोहग्रस्त धृतराष्ट्र ने देने से इनकार कर दिया।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर अपने पिता के साम्राज्य के सही अधिकारी थे। किन्तु दुर्योधन इत्यादि अपने पुत्रों का पक्षपात करने के लिए महाराज युधिष्ठिर के ताऊ धृतराष्ट्र ने अपने भतीजों को उनके राज्याधिकार से वंचित करने के लिए अनेक छलपूर्ण युक्तियों का सहारा लिया। अन्त में पाण्डवों ने पाँचों भाइयों के लिए केवल पाँच गाँव माँगे, किन्तु अनधिकृत वंचको ने उससे भी इनकार कर दिया। इस घटना के फलस्वरूप कुरुक्षेत्र का युद्ध हुआ। अत: कुरुक्षेत्र का युद्ध पाण्डवों द्वारा नहीं, अपितु कौरवों द्वारा उकसाया गया था।

क्षत्रियों के रूप में पाण्डवों की सही जीविका तो एकमात्र शासन करना था, न कि कोई अन्य कार्य स्वीकार करना। एक ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य किसी भी परिस्थिति में अपनी जीविका के लिए नौकरी स्वीकार नहीं करेगा।

यदा च पार्थप्रहित: सभायां
जगद्गुरुर्यानि जगाद कृष्ण: ।
न तानि पुंसाममृतायनानि
राजोरु मेने क्षतपुण्यलेश: ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; च—भी; पार्थ-प्रहित:—अर्जुन द्वारा सलाह दिये जाने पर; सभायाम्—सभा में; जगत्-गुरु:—संसार के गुरु को; यानि—उन; जगाद—गया; कृष्ण:—भगवान् कृष्ण; न—कभी नहीं; तानि—शब्दों को; पुंसाम्—सभी विवेकवान व्यक्तियों के; अमृत-अयनानि—अमृत तुल्य; राजा—राजा (धृतराष्ट्र या दुर्योधन); उरु—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण; मेने—विचार किया; क्षत—क्षीण; पुण्य-लेश:—पुण्यकर्मों का अंश।.

अर्जुन ने श्रीकृष्ण को जगद्गुरु के रूप में (धृतराष्ट्र की) सभा में भेजा था और यद्यपि उनके शब्द कुछेक व्यक्तियों (यथा भीष्म) द्वारा शुद्ध अमृत के रूप में सुने गये थे, किन्तु जो लोग पूर्वजन्म के पुण्यकर्मों के लेशमात्र से भी वंचित थे उन्हें वे वैसे नहीं लगे। राजा (धृतराष्ट्र या दुर्योधन) ने कृष्ण के शब्दों को गम्भीरतापूर्वक नहीं लिया।

तात्पर्य : जगद्गुरु भगवान् कृष्ण ने दूतकार्य स्वीकार किया और अर्जुन द्वारा नियुक्त होकर वे शान्ति-मिशन में राजा धृतराष्ट्र की सभा में गये। कृष्ण सबों के स्वामी हैं फिर भी अर्जुन के दिव्य सखा

होने के कारण उन्होंने यह दूत-कर्म प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया मानो वे कोई सामान्य मित्र हों। अपने शुद्ध भक्तों के साथ भगवान् के बर्ताव का यही अनूठापन है। उन्होंने सभा में जाकर शान्ति के विषय में बातें कीं। इस सन्देश का आस्वाद भीष्म तथा अन्य प्रमुख जनों ने किया, क्योंकि यह सन्देश स्वयं भगवान् के मुख से निकला था। किन्तु पूर्वजन्म के पुण्यकर्मों के क्षीण होने से दुर्योधन अथवा उसके पिता धृतराष्ट्र ने इस सन्देश को गम्भीरता से नहीं लिया। जिन व्यक्तियों के पुण्य क्षीण हो जाते हैं, वे ऐसा ही करते हैं। कोई व्यक्ति अपने विगत पुण्यकर्मों के बल पर देश का राजा बन सकता है, किन्तु दुर्योधन तथा उसकी टोली के पुण्यकर्मों के फल क्षीण हो चुके थे, अतएव उनके कार्यों से स्पष्ट हो गया था कि वे पाण्डवों के पक्ष में अपना राज्य खोने वाले थे। ईश्वर का सन्देश भक्तों के लिए तो सदैव अमृततुल्य होता है, किन्तु अभक्तों के लिए यह बिल्कुल उल्टा होता है। मिश्री स्वस्थ व्यक्ति को सदैव मीठी लगती है, किन्तु पीलिया रोग से पीड़ित व्यक्ति को यह अत्यन्त तीखी लगती है।

यदोपहूतो भवनं प्रविष्टो
मन्त्राय पृष्टः किल पूर्वजेन ।
अथाह तन्मन्त्रदृशां वरीयान्
यन्मन्त्रिणो वैदुरिकं वदन्ति ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; उपहूतः—बुलाया गया; भवनम्—राजमहल में; प्रविष्टः—प्रवेश किया; मन्त्राय—मंत्रणा के लिए; पृष्टः—पूछे जाने पर; किल—निस्सन्देह; पूर्वजेन—बड़े भाई द्वारा; अथ—इस प्रकार; आह—कहा; तत्—वह; मन्त्र—उपदेश; दृशाम्—उपयुक्त; वरीयान्—श्रेष्ठतम; यत्—जो; मन्त्रिणः—राज्य के मंत्री अथवा पटु राजनीतिज्ञ; वैदुरिकम्—विदुर द्वारा उपदेश; वदन्ति—कहते हैं।

जब विदुर अपने ज्येष्ठ भ्राता (धृतराष्ट्र) द्वारा मंत्रणा के लिए बुलाये गये तो वे राजमहल में प्रविष्ट हुए और उन्होंने ऐसे उपदेश दिये जो उपयुक्त थे। उनका उपदेश सर्वविदित है और राज्य के दक्ष मन्त्रियों द्वारा अनुमोदित है।

तात्पर्य : विदुर द्वारा दिये गये राजनीति विषयक सुझाव पटु होते हैं, जिस तरह आधुनिक काल में राजनीतिक तथा आचरण-सम्बन्धी अनुदेशों के विषय में अच्छी सलाह के लिए चाणक्य पण्डित प्रमाण माने जाते हैं।

अजातशत्रोः प्रतियच्छ दायं

तितिक्षतो दुर्विषहं तवागः ।
सहानुजो यत्र वृकोदराहिः
श्वसन्रुषा यत्त्वमलं बिभेषि ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अजात-शत्रोः—युधिष्ठिर का, जिसका कोई शत्रु नहीं है; प्रतियच्छ—लौटा दो; दायम्—उचित भाग; तितिक्षतः—सहिष्णु का; दुर्विषहम्—असह्य; तव—तुम्हारा; आगः—अपराध; सह—सहित; अनुजः—छोटे भाइयों; यत्र—जिसमें; वृकोदर—भीम; अहिः—बदला लेने वाला सर्प; श्वसन्—उच्छ्वास भरा; रुषा—क्रोध में; यत्—जिससे; त्वम्—तुम; अलम्—निश्चय ही; बिभेषि—डरते हो।

[विदुर ने कहा] तुम्हें चाहिए कि युधिष्ठिर को उसका न्यायोचित भाग लौटा दो, क्योंकि उसका कोई शत्रु नहीं है और वह तुम्हारे अपराधों के कारण अकथनीय कष्ट सहन करता रहा है। वह अपने छोटे भाइयों सहित प्रतीक्षारत है जिनमें से प्रतिशोध की भावना से पूर्ण भीम सर्प की तरह उच्छ्वास ले रहा है। तुम निश्चय ही उससे भयभीत हो।

पार्थांस्तु देवो भगवान्मुकुन्दो
गृहीतवान्सक्षितिदेवदेवः ।
आस्ते स्वपुर्यां यदुदेवदेवो
विनिर्जिताशेषनृदेवदेवः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

पार्थान्—पृथा (कुन्ति) के पुत्रों को; तु—लेकिन; देवः—प्रभु; भगवान्—भगवान्; मुकुन्दः—मुक्तिदाता श्रीकृष्ण ने; गृहीतवान्—ग्रहण कर लिया है; स—सहित; क्षिति-देव-देवः—ब्राह्मण तथा देवता; आस्ते—उपस्थित है; स्व-पुर्याम्—अपने परिवार सहित; यदु-देव-देवः—यदुवंश के राजकुल द्वारा पूजित; विनिर्जित—जीते हुए; अशेष—असीम; नृदेव—राजा; देवः—स्वामी।

भगवान् कृष्ण ने पृथा के पुत्रों को अपना परिजन मान लिया है और संसार के सारे राजा श्रीकृष्ण के साथ हैं। वे अपने घर में अपने समस्त पारिवारिक जनों, यदुकुल के राजाओं तथा राजकुमारों के साथ, जिन्होंने असंख्य शासकों को जीत लिया है, उपस्थित हैं और वे उन सबों के स्वामी हैं।

तात्पर्य : विदुर ने धृतराष्ट्र को पृथा के पुत्र, पाण्डवों के साथ राजनीतिक सन्धि करने की बहुत अच्छी सलाह दी। पहली बात जो उन्होंने कही वह यह थी कि भगवान् कृष्ण उनके फुफेरे भाई के रूप में उनके निकट सम्बन्धी हैं। चूँकि कृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, अतएव वे समस्त ब्राह्मणों तथा देवताओं द्वारा पूज्य हैं, जो ब्रह्माण्ड के कार्यकलापों का नियंत्रण करते हैं। इसके साथ ही, भगवान् कृष्ण तथा उनके यदुवंशी पारिवारिक जन संसार के समस्त राजाओं के विजेता हैं।

क्षत्रियगण विभिन्न राज्यों के राजाओं से युद्ध करते थे और उन्हें हराकर उनकी सुन्दर राजकुमारियों का अपहरण कर लेते थे। यह प्रणाली प्रशंसनीय थी, क्योंकि क्षत्रियों तथा राजकुमारियों का विवाह विजेता क्षत्रिय की वीरता के आधार पर होता था। यदुवंश के समस्त राजकुमारों ने वीरता के बल पर इसी तरह से अन्य राजाओं की कन्याओं से विवाह किया था। इस तरह वे संसार के समस्त राजाओं के विजेता थे। विदुर अपने भाई के मन में यह बात बैठा देना चाहते थे कि पाण्डवों से युद्ध करना अनेक खतरों से पूर्ण है, क्योंकि उनकी सहायता श्रीकृष्ण कर रहे थे, जिन्होंने अपने बाल्यकाल में ही कंस तथा जरासन्ध जैसे असुरों को और ब्रह्मा तथा इन्द्र जैसे देवताओं को जीत लिया था। अतएव विश्व की सम्पूर्ण शक्ति पाण्डवों के साथ थी।

स एष दोषः पुरुषद्विडास्ते
गृहान्प्रविष्टो यमपत्यमत्या ।
पुष्णासि कृष्णाद्विमुखो गतश्रीस्
त्यजाश्वशैवं कुलकौशलाय ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—यह; दोषः—साक्षात् अपराध; पुरुष-द्विट्—श्रीकृष्ण का ईर्ष्यालु; आस्ते—विद्यमान है; गृहान्—घर में; प्रविष्टः—प्रवेश किया हुआ; यम्—जिसको; अपत्य-मत्या—अपना पुत्र सोचकर; पुष्णासि—पालन कर रहे हो; कृष्णात्—कृष्ण से; विमुखः—विरुद्ध; गत-श्रीः—प्रत्येक शुभ वस्तु से विहीन; त्यज—त्याग दो; आशु—यथाशीघ्र; अशैवम्—अशुभ; कुल—परिवार; कौशलाय—के हेतु।

तुम साक्षात् अपराध रूप दुर्योधन का पालन-पोषण अपने अच्युत पुत्र के रूप में कर रहे हो, किन्तु वह भगवान् कृष्ण से ईर्ष्या करता है। चूँकि तुम इस तरह से कृष्ण के अभक्त का पालन कर रहे हो, अतएव तुम समस्त शुभ गुणों से विहीन हो। तुम यथाशीघ्र इस दुर्भाग्य से छुटकारा पा लो और सारे परिवार का कल्याण करो।

तात्पर्य : अच्छा पुत्र *अपत्य* कहा जाता है अर्थात् वह पिता को नीचे नहीं गिरने देता। पिता के मरने पर पुत्र भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ सम्पन्न करके अपने पिता की आत्मा की रक्षा कर सकता है। यह प्रथा भारत में अब भी प्रचलित है। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् पुत्र भगवान् विष्णु के चरणकमलों पर यज्ञ करने के लिए गया जाता है और इस तरह, पितापथच्युत यदि हो गया हो, पिताकी आत्मा का उद्धार करता है। किन्तु यदि पुत्र पहले से विष्णु का शत्रु हो तो भला ऐसे शत्रु भाव में वह भगवान् विष्णु के चरणकमलों में यज्ञ कैसे कर सकता है? श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष भगवान् विष्णु

हैं और दुर्योधन उनकी ओर शत्रुवत् था। अतएव वह अपने पिता धृतराष्ट्र की मृत्यु के बाद उसकी रक्षा नहीं कर सकता था। विष्णु की ओर अपनी श्रद्धा विहीनता के कारण, उसका तो स्वयं का पतन होना है। तो फिर वह अपने पिता की रक्षा कैसे कर सकेगा? विदुर ने धृतराष्ट्र को सलाह दी कि यदि वह अपने परिवार का कल्याण देखना चाहता है, तो यथाशीघ्र वह दुर्योधन जैसे अयोग्य पुत्र से अपना पिंड छुड़ा ले।

चाणक्य पण्डित के नीति-उपदेशों के अनुसार "ऐसे पुत्र से क्या लाभ जो न तो विद्वान है, न भगवद्भक्त?" यदि पुत्र भगवद्भक्त नहीं है, तो वह अंधे नेत्रों के समान पीड़ा का कारण होता है। कभी कभी चिकित्सक ऐसी व्यर्थ आँखों को उनके गोलकों से निकाल देने की सलाह देता है, जिससे निरन्तर पीड़ा से छुटकारा मिल सके। दुर्योधन अन्धे कष्टकारक नेत्रों के तुल्य था। वह धृतराष्ट्र के परिवार के लिए महान् विपदा का स्रोत होगा, जैसाकि विदुर ने पहले ही देख लिया था। अत: विदुर ने अपने ज्येष्ठ भ्राता को इस कष्ट के स्रोत से छुटकारा पाने की ठीक ही सलाह दी थी। धृतराष्ट्र ऐसे साक्षात् अपराध को इस भ्रमपूर्ण धारणा से पाल-पोस रहा था कि दुर्योधन अच्छा पुत्र है, जो अपने पिता को मुक्ति दिलाने में समर्थ है।

इत्यूचिवांस्तत्र सुयोधनेन
प्रवृद्धकोपस्फुरिताधरेण ।
असत्कृतः सत्स्पृहणीयशीलः
क्षत्ता सकर्णानुजसौबलेन ॥ १४॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ऊचिवान्—कहते हुए; तत्र—वहाँ; सुयोधनेन—दुर्योधन द्वारा; प्रवृद्ध—फूला हुआ; कोप—क्रोध से; स्फुरित—फड़कते हुए; अधरेण—होठों से; असत्-कृतः—अपमानित; सत्—सम्मानित; स्पृहणीय-शीलः—वांछित गुण; क्षत्ता—विदुर; स—सहित; कर्ण—कर्ण; अनुज—छोटे भाइयों; सौबलेन—शकुनि सहित।

विदुर जिनके चरित्र का सभी सम्मानित व्यक्ति आदर करते थे, जब इस तरह बोल रहे थे तो दुर्योधन द्वारा उनको अपमानित किया गया। दर्योधन क्रोध के मारे फूला हुआ था और उसके होंठ फड़क रहे थे। दुर्योधन कर्ण, अपने छोटे भाइयों तथा अपने मामा शकुनी के साथ था।

तात्पर्य : कहा जाता है कि मूर्ख व्यक्ति उपदेश देने पर क्रुद्ध होता है, जिस तरह सर्प को दूध पिलाने से उसका विष बढ़ता है। सन्त विदुर इतने आदरणीय थे कि सारे सम्मानित व्यक्ति उनके चरित्र

की ओर देखते थे। किन्तु दुर्योधन इतना मूर्ख था कि उसने विदुर का अपमान करने का दुस्साहस कर डाला। यह उसके मामा शकुनि तथा उसके मित्र कर्ण की कुसंगति का फल था, जो उसके दुष्कृत्यों में सदा ही उसे उकसाते रहते थे।

क एनमत्रोपजुहाव जिह्मं
दास्याः सुतं यद्बलिनैव पुष्टः ।
तस्मिन्प्रतीपः परकृत्य आस्ते
निर्वास्यतामाशु पुराच्छ्वसानः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन; एनम्—यह; अत्र—यहाँ; उपजुहाव—बुलाया; जिह्मम्—कुटिल; दास्याः—रखैल के; सुतम्—पुत्र को; यत्—जिसके; बलिना—भरण से; एव—निश्चय ही; पुष्टः—बड़ा हुआ; तस्मिन्—उसको; प्रतीपः—शत्रुता; परकृत्य—शत्रु का हित; आस्ते—स्थित है; निर्वास्यताम्—बाहर निकालो; आशु—तुरन्त; पुरात्—महल से; श्वसानः—उसकी केवल साँस चलने दो।

"इस रखैल के पुत्र को यहाँ आने के लिए किसने कहा है? यह इतना कुटिल है कि जिनके बल पर यह बड़ा हुआ है उन्हीं के विरुद्ध शत्रु-हित में गुप्तचरी करता है। इसे तुरन्त इस महल से निकाल बाहर करो और इसकी केवल साँस भर चलने दो।"

तात्पर्य : विवाह करते समय क्षत्रिय राजा अन्य कई युवतियों को विवाहित राजकुमारी के साथ लेते जाते थे। राजा की ये युवती-परिचारिकाएँ दासी कहलाती थीं। ये दासियाँ राजा के सहवास से पुत्र उत्पन्न करती थीं। ऐसे पुत्र दासीपुत्र कहलाते थे। इनका राज सिंहासन पर कोई अधिकार नहीं होता था, किन्तु उन्हें भरणपोषण तथा अन्य सुविधाएँ राजकुमारों के ही समान प्राप्त रहती थीं। विदुर ऐसी ही एक दासी के पुत्र थे, अतएव उनकी गणना क्षत्रियों में नहीं की जाती थी। राजा धृतराष्ट्र अपने इस छोटे दासीपुत्र भाई से अत्यधिक स्नेह करता था और विदुर उसके महान् मित्र तथा दार्शनिक सलाहकार थे। दुर्योधन यह भलीभाँति जानता था कि विदुर महात्मा तथा हितैषी हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश उसने अपने निर्दोष चाचा को मर्माहत करने वाले कठोर शब्दों का प्रयोग किया था। दुर्योधन ने न केवल विदुर के जन्म पर कटाक्ष किया, अपितु उसे कृतघ्न भी कहा, क्योंकि वह युधिष्ठिर का समर्थक प्रतीत होता था जिसे दुर्योधन अपना शत्रु मानता था। उसने चाहा कि विदुर को तुरन्त महल से निकाल दिया जाय और उसकी सारी सम्पत्ति छीन ली जाय। यदि सम्भव होता तो वह उसके तब तक बेंत लगवाता जब तक उसके पास साँस के अतिरिक्त कुछ बाकी न बचता। उसने आरोप लगाया कि वह पाण्डवों का गुप्तचर

है, क्योंकि उसने धृतराष्ट्र को उनके पक्ष में सलाह दी थी। राजमहल के जीवन तथा कूटनीति की बारीकियों की ऐसी स्थिति होती है कि विदुर जैसे निर्दोष व्यक्ति पर भी गर्हित आरोप लगाया जाता है और दण्डित किया जाता है। विदुर अपने भतीजे दुर्योधन के ऐसे अप्रत्याशित व्यवहार से आश्चर्यचकित थे और इसके पूर्व कि सचमुच कोई घटना घट जाए उन्होंने राजमहल को सदा के लिए त्यागने का निश्चय किया।

स्वयं धनुर्द्वारि निधाय मायां
भ्रातु: पुरो मर्मसु ताडितोऽपि ।
स इत्थमत्युल्बणकर्णबाणै-
र्गतव्यथोऽयादुरु मानयान: ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

स्वयम्—स्वयं; धनु: द्वारि—दरवाजे पर धनुष; निधाय—रखकर; मायाम्—माया, बाहरी प्रकृति को; भ्रातु:—भाई के; पुर:—राजमहल से; मर्मसु—अपने हृदय में; ताडित:—दुखी होकर; अपि—भी; स:—वह (विदुर); इत्थम्—इस तरह; अति-उल्बण—अत्यंत कठोरता से; कर्ण—कान; बाणै:—तीरों से; गत-व्यथ:—दुखी हुए बिना; अयात्—उत्तेजित हुआ; उरु—अत्यधिक; मान-यान:—इस प्रकार विचारते हुए।

इस तरह अपने कानों से होकर वाणों द्वारा बेधे गये और अपने हृदय के भीतर मर्माहत विदुर ने अपना धनुष दरवाजे पर रख दिया और अपने भाई के महल को छोड़ दिया। उन्हें कोई खेद नहीं था, क्योंकि वे माया के कार्यों को सर्वोपरि मानते थे।

तात्पर्य : भगवान् का शुद्ध भक्त ईश्वर की बहिरंगा शक्ति द्वारा उत्पन्न विषम परिस्थिति से कभी विचलित नहीं होता। *भगवद्गीता* (३.२७) में कहा गया है—

प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश: ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

बद्धात्मा बहिरंगा शक्ति के विभिन्न गुणों के प्रभाव के अन्तर्गत संसार में निमग्न रहता है। मिथ्या अहंकार में डूबा हुआ वह सोचता है कि हर कार्य वह स्वयं कर रहा है। भगवान् की बहिरंगा शक्ति अर्थात् भौतिक प्रकृति पूरी तरह से परमेश्वर के अधीन है और बद्धात्मा बहिरंगा शक्ति के पूर्ण नियंत्रण में होता है। अत: बद्धजीव पूर्णत: भगवान् के नियमों के अधीन होता है। किन्तु केवल मायावश वह अपने को अपने कर्मों में स्वतंत्र मानता है। दुर्योधन बहिरंगा प्रकृति के ऐसे प्रभाव के अन्तर्गत कार्य कर रहा था जिसके फलस्वरूप अन्त में उसका सफाया हो जाएगा। उसने विदुर के परामर्श को नहीं माना,

उल्टे उन महात्मा को अपमानित किया, जो उसके सारे परिवार के हितैषी थे। विदुर इसे समझते थे, क्योंकि वे भगवान् के शुद्ध भक्त थे। दुर्योधन के वचनों से बुरी तरह अपमानित होने पर भी विदुर यह देख सके कि दुर्योधन माया (बहिरंगा शक्ति) के वश में होने से अपने ही विनाश के पथ पर अग्रसर हो रहा है। अतएव उन्होंने बहिरंगा शक्ति के कार्यों को सर्वोपरि माना; तथापि उन्होंने यह भी देखा कि भगवान् की अन्तरंगा शक्ति उस विशिष्ट स्थिति में किस तरह उनकी सहायता कर रही थी। भक्त सदैव विरक्त भाव से रहता है, क्योंकि सांसारिक आकर्षण उसको कभी तुष्ट नहीं कर पाते। विदुर कभी भी अपने भाई के राजमहल द्वारा आकृष्ट नहीं थे। वे सदैव उस राजमहल को त्याग कर भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में अपने को पूरी तरह लगाने के लिए तैयार रहते थे। अब दुर्योधन की कृपा से उन्हें अवसर मिला था। अत: अपमान के कटु वचनों से दुखी होने की बजाय उन्होंने मन ही मन उसे धन्यवाद दिया, क्योंकि उसके कारण उन्हें पवित्र स्थान में अकेले रहने और भगवद्भक्ति में लगे रहने का अवसर प्राप्त हुआ। *गत-व्यथ:* शब्द (बिना दुखी हुए) यहाँ पर महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि विदुर उन यातनाओं से मुक्त हो गये जिनसे भौतिक कार्यों में बँधा हुआ प्रत्येक व्यक्ति पीड़ित होता रहता है। अतएव उन्होंने सोचा कि धनुष के द्वारा अपने भाई की रक्षा करने की कोई आवश्यकता नहीं रही, क्योंकि उसके भाई का विनाश तो निश्चित ही है। इसलिए इसके पूर्व कि दुर्योधन कोई कार्यवाही करे उन्होंने महल छोड़ दिया। यहाँ पर भगवान् की परम शक्ति माया ने अंदर से तथा बाहर से दोनों प्रकार से कार्य किया।

स निर्गत: कौरवपुण्यलब्धो
गजाह्वयात्तीर्थपद: पदानि ।
अन्वाक्रमत्पुण्यचिकीर्षयोर्व्याम्
अधिष्ठितो यानि सहस्रमूर्ति: ॥ १७॥

शब्दार्थ

स:—वह (विदुर); निर्गत:—छोड़ने के बाद; कौरव—कुरु वंश; पुण्य—पुण्य; लब्ध:—प्राप्त किया हुआ; गज-आह्वयात्—हस्तिनापुर से; तीर्थ-पद:—भगवान् की; पदानि—तीर्थयात्राओं की; अन्वाक्रमत्—शरण ली; पुण्य—पुण्य; चिकीर्षया—ऐसी इच्छा करते हुए; उर्व्याम्—उच्चकोटि की; अधिष्ठित:—स्थित; यानि—वे सभी; सहस्र—हजारों; मूर्ति:—स्वरूप।

अपने पुण्य के द्वारा विदुर ने पुण्यात्मा कौरवों के सारे लाभ प्राप्त किये। उन्होंने हस्तिनापुर छोड़ने के बाद अनेक तीर्थस्थानों की शरण ग्रहण की जो कि भगवान् के चरणकमल हैं। उच्चकोटि का पवित्र जीवन पाने की इच्छा से उन्होंने उन पवित्र स्थानों की यात्रा की जहाँ

भगवान् के हजारों दिव्य रूप स्थित हैं।

तात्पर्य : विदुर निस्सन्देह अति उच्चोकिट के पुण्यात्मा थे, अन्यथा वे कौरव वंश में उत्पन्न न हुए होते। उच्च कुल पाना ऐश्वर्यमय होना, उच्च विद्वान होना और शरीर से अति सुन्दर होना—ये सब विगत पुण्यकर्मों के फलस्वरूप मिलते हैं। किन्तु भगवान् की कृपा पाने तथा उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहने के लिए ऐसी पवित्र वस्तुएँ ही पर्याप्त नहीं हैं। विदुर अपने आपको कम पवित्र मानते थे, अतएव उन्होंने अधिक पुण्य प्राप्त करने तथा भगवान् के निकट पहुँचने के लिए संसार के सभी महान् तीर्थ स्थानों की यात्रा करने का निश्चय किया। उस समय यद्यपि भगवान् कृष्ण सदेह इस जगत में उपस्थित थे और विदुर तत्काल सीधे उनके पास पहुँच सकते थे, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया, क्योंकि वे पापों से पूरी तरह मुक्त नहीं हुए थे। जब तक पाप के प्रभावों से पूरी तरह मुक्त न हो लिया जाय तब तक कोई मनुष्य भगवान् के प्रति शत प्रतिशत अनुरक्त नहीं हो सकता। विदुर को इसका भान था कि कूटनीतिज्ञ धृतराष्ट्र तथा दुर्योधन की संगति के कारण उनका पुण्य समाप्त हो चुका है, अतएव वे तुरन्त ही भगवान् की संगति करने के योग्य नहीं हैं। *भगवद्गीता* (७.२८) में इसकी पुष्टि निम्नलिखित श्लोक में हुई है—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

कंस तथा जरासन्ध जैसे पापी असुर व्यक्ति सोच ही नहीं सकते कि कृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अर्थात् परम सत्य हैं। केवल वे, जो शुद्ध भक्त हैं, जो शास्त्रों में निर्दिष्ट धार्मिक जीवन के नियामक सिद्धान्तों का पालन करते हैं, अपने को कर्मयोग में, तत्पश्चात् ज्ञानयोग में लगा पाते हैं और उसके बाद शुद्ध ध्यान द्वारा विशुद्ध चेतना को समझ सकते हैं। ईशचेतना (भावनामृत) उत्पन्न होने पर मनुष्य शुद्ध भक्तों की संगति का लाभ उठा सकता है। *स्यान् महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्*—इसी जीवन काल में भगवान् की संगति की जा सकती है।

तीर्थ स्थान तीर्थयात्रियों के पापों का निवारण करने के निमित्त होते हैं और शुद्ध जीवन तथा ईश-साक्षात्कार प्राप्त करने वालों की सुविधा के लिए ये तीर्थस्थान ब्रह्माण्ड भर में फैल हुए हैं। किन्तु मनुष्य को केवल तीर्थस्थानों में जाने तथा अपने नियत कर्मों को करने से ही तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए।

उसे उन महात्माओं से मिलने के लिए उत्सुक रहना चाहिए जो पहले से वहाँ भगवान् की सेवा में लगे हुए हैं, प्रत्येक तीर्थस्थान में भगवान् अपने विविध दिव्य स्वरूपों में वर्तमान रहते हैं।

ये स्वरूप *अर्चामूर्ति* कहलाते हैं—अर्थात् भगवान् के वे रूप जिन्हें सामान्य व्यक्ति आसानी से समझ सकता है। भगवान् हमारी सांसारिक इन्द्रियों के लिए अगम्य हैं। वे हमारी वर्तमान आँखों से देखे नहीं जा सकते हैं, न ही वे हमारे वर्तमान कानों से सुने जा सकते हैं। हम उस मात्रा में जितना कि हम भगवत्सेवा में प्रविष्ट हो चुके हैं या उस अनुपात में जितना हमारे जीवन पापों से मुक्त हुए रहते हैं, भगवान् का अनुभव कर सकते हैं। किन्तु यद्यपि हम पापों से मुक्त नहीं होते, भगवान् इतने कृपालु हैं कि वे मन्दिर में अपनी अर्चामूर्तियों के रूप में हमें अपना दर्शन देने की सुविधा प्रदान करते हैं। ईश्वर सर्वशक्तिमान हैं, अतएव वे अपना अर्चा रूप प्रस्तुत करके हमारी सेवाएँ स्वीकार कर सकते हैं। इसलिए किसी को यह सोचने की मूर्खता नहीं करनी चाहिए कि मन्दिर का *अर्चारूप* एक मूर्ति है। ऐसी *अर्चामूर्ति* मूर्ति नहीं, अपितु स्वयं भगवान् होती है और जो जिस अनुपात में पापों से मुक्त हुआ होता है, उसी के अनुसार वह अर्चामूर्ति के महत्त्व को समझ सकता है। अतएव मार्गदर्शन पाने के लिए किसी शुद्ध भक्त की आवश्यकता सदैव बनी रहती है।

भारतवर्ष में देश भर में लाखों तीर्थस्थल फैले हुए हैं और परम्परानुसार सामान्य व्यक्ति वर्ष की सारी ॠतुओं में इन पवित्र स्थानों की यात्रा करता है। विभिन्न तीर्थस्थानों में स्थित कतिपय अर्चा स्वरूपों का उल्लेख इस प्रकार है : वे मथुरा में (कृष्ण का जन्मस्थान) आदिकेशव रूप में, पुरी (उड़ीसा) में भगवान् जगन्नाथ (पुरुषोत्तम भी) के रूप में, इलाहाबाद (प्रयाग) में बिन्दु-माधव के रूप में, मन्दराचल में मधुसूदन रूप में, आनन्दारण्य में वासुदेव, पद्मनाभ, तथा जनार्दन रूप में, विष्णुकाञ्ची में विष्णु रूप में तथा मायापुर में हरि रूप में विराजमान हैं। ब्रह्माण्ड भर में भगवान् की ऐसी करोड़ों अर्चामूर्तियाँ हैं। इन समस्त अर्चामूर्तियों का सारांश *चैतन्य-चरितामृत* में इस प्रकार दिया हुआ है—

सर्वत्र प्रकाश ताँर—भक्ते सुख दिते।

जगतेर अधर्म नाशि' धर्म स्थापिते॥

''भगवान् ने अपने को ब्रह्माण्ड भर में इस तरह फैला रखा है, जिससे भक्तों को आनन्द मिले,

सामान्य जनों को अपने पापों से निवारण करने की सुविधा प्राप्त हो तथा संसार में धर्म की स्थापना की जा सके।''

पुरेषु पुण्योपवनाद्रिकुञ्जे-
ष्वपङ्कतोयेषु सरित्सरःसु ।
अनन्तलिङ्गैः समलङ्कृतेषु
चचार तीर्थायतनेष्वनन्यः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

पुरेषु—अयोध्या, द्वारका तथा मथुरा जैसे स्थानों में; पुण्य—पुण्य; उप-वन—वायु; अद्रि—पर्वत; कुञ्जेषु—बगीचों में; अपङ्क—पापरहित; तोयेषु—जल में; सरित्—नदी; सरःसु—झीलों में; अनन्त-लिङ्गैः—अनन्त के रूपों; समलङ्कृतेषु—इस तरह से अलंकृत किये गये; चचार—सम्पन्न किया; तीर्थ—तीर्थस्थान; आयतनेषु—पवित्र भूमि; अनन्यः—एकमात्र या केवल कृष्ण का दर्शन करना।

वे एकमात्र कृष्ण का चिन्तन करते हुए अकेले ही विविध पवित्र स्थानों यथा अयोध्या, द्वारका तथा मथुरा से होते हुए यात्रा करने निकल पड़े। उन्होंने ऐसे स्थानों की यात्रा की जहाँ की वायु, पर्वत, बगीचे, नदियाँ तथा झीलें शुद्ध तथा निष्पाप थीं और जहाँ अनन्त के विग्रह मन्दिरों की शोभा बढ़ाते हैं। इस तरह उन्होंने तीर्थयात्रा की प्रगति सम्पन्न की।

तात्पर्य : भगवान् के अर्चारूपों को नास्तिक जन मूर्तियाँ मान सकते हैं, किन्तु विदुर या उनके अन्य अनेक सेवक ऐसा नहीं मानते। भगवान् के स्वरूपों का उल्लेख यहाँ पर *अनन्त लिंग* के रूप में हुआ है। भगवान् के ऐसे रूपों में असीम शक्ति होती है, जो स्वयं भगवान् जैसी ही होती है। अर्चा की शक्तियों तथा भगवान् के साकार रूपों की शक्तियों में कोई अन्तर नहीं होता। यहाँ पर पत्रपेटी (पोस्ट बाक्स) तथा डाकघर (पोस्ट आफिस) का उदाहरण लागू होता है। शहर भर में लगी छोटी छोटी पत्रपेटियों में सार्वजनिक डाक व्यवस्था के समान ही शक्ति होती है। डाकघर का कार्य पत्रों का एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाना है। यदि कोई व्यक्ति सार्वजनिक डाकघर द्वारा मान्य पत्रपेटियों में पत्र डालता है, तो पत्र ले जाने का कार्य निश्चित रूप से सम्पन्न होता है। इसी तरह *अर्चामूर्ति* भगवान् के साक्षात् उपस्थित होने जैसी असीम शक्ति प्रदान कर सकती है। इसलिए विदुर को विविध अर्चारूपों में कृष्ण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखा और अन्ततः वे एकमात्र कृष्ण का साक्षात्कार कर सके, अन्य किसी का नहीं।

गां पर्यटन्मेध्यविविक्तवृत्तिः
सदाप्लुतोऽधः शयनोऽवधूतः ।
अलक्षितः स्वैरवधूतवेषो
व्रतानि चेरे हरितोषणानि ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

गाम्—पृथ्वी पर; पर्यटन्—भ्रमण करते; मेध्य—शुद्ध; विविक्त-वृत्तिः—जीने के लिए स्वतंत्र पेशा; सदा—सदैव; आप्लुतः—पवित्र किया गया; अधः—पृथ्वी पर; शयनः—लेटे हुए; अवधूतः—(बाल, नाखून इत्यादि) बिना सँवारे या कटे.); अलक्षितः—किसी के द्वारा बिना देखे हुए; स्वैः—अकेले; अवधूत-वेषः—साधू की तरह वेश धारण किये; व्रतानि—व्रत; चेरे—सम्पन्न किया; हरि-तोषणानि—भगवान् को प्रसन्न करने वाले।

इस तरह पृथ्वी का भ्रमण करते हुए उन्होंने भगवान् हरि को प्रसन्न करने के लिए कृतकार्य किये। उनकी वृत्ति शुद्ध एवं स्वतंत्र थी। वे पवित्र स्थानों में स्नान करके निरन्तर शुद्ध होते रहे, यद्यपि वे अवधूत वेश में थे—न तो उनके बाल सँवरे हुए थे न ही लेटने के लिए उनके पास बिस्तर था। इस तरह वे अपने तमाम परिजनों से अलक्षित रहे।

तात्पर्य : तीर्थयात्री का सर्वप्रमुख कर्तव्य (कृतकार्य) भगवान् हरि को प्रसन्न करना है। तीर्थयात्रा करते समय उसे समाज की प्रसन्नता की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। उसे सामाजिक औपचारिकताओं या वृत्ति या वेश पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रहती। उसे सदा भगवान् को प्रसन्न करने वाले कार्य में लीन रहना चाहिए। इस तरह विचार तथा कर्म से शुद्ध हुआ तीर्थयात्री तीर्थ यात्रा की विधि से परमेश्वर का साक्षात्कार कर सकता है।

इत्थं व्रजन्भारतमेव वर्षं
कालेन यावद्गतवान्प्रभासम् ।
तावच्छशास क्षितिमेक चक्रा-
मेकातपत्रामजितेन पार्थः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस तरह से; व्रजन्—विचरण करते हुए; भारतम्—भारत; एव—केवल; वर्षम्—भूखण्ड; कालेन—यथासमय; यावत्—जब; गतवान्—गया; प्रभासम्—प्रभास तीर्थस्थान; तावत्—तब; शशास—शासन किया; क्षितिम्—पृथ्वी पर; एक-चक्राम्—एक सैन्य बल से; एक—एक; आतपत्राम्—ध्वजा; अजितेन—अजित कृष्ण की कृपा से; पार्थः—महाराज युधिष्ठिर।

इस तरह जब वे भारतवर्ष की भूमि में समस्त तीर्थस्थलों का भ्रमण कर रहे थे तो वे प्रभास क्षेत्र गये। उस समय महाराज युधिष्ठिर सम्राट थे और वे सारे जगत को एक सैन्य शक्ति तथा एक ध्वजा के अन्तर्गत किये हुए थे।

तात्पर्य : पाँच हजार से अधिक वर्ष पूर्व जब सन्त विदुर तीर्थयात्री के रूप में पृथ्वी का भ्रमण कर रहे थे तो 'इण्डिया' भारतवर्ष के नाम से विख्यात था, जैसाकि आज भी है। विश्व इतिहास भूत काल के तीन हजार वर्षों से अधिक का क्रमबद्ध विवरण नहीं दे सकता, किन्तु उसके पूर्व सारा संसार महाराज युधिष्ठिर के ध्वज एवं सैन्य शक्ति के अधीन था और वे संसार के सम्राट (चक्रवर्ती राजा) थे। आज के समय में संयुक्त राष्ट्र में सैकड़ों हजारों ध्वज फहराते हैं, किन्तु विदुर के समय, भगवान् कृष्ण अर्थात् अजित की कृपा से, केवल एक ध्वज था। संसार के सारे राष्ट्र पुनः एक ध्वज के नीचे एक सत्ता के लिए अत्यन्त उत्सुक हैं, किन्तु इसके लिए उन्हें भगवान् कृष्ण की कृपा प्राप्त करनी होगी, क्योंकि केवल वे ही एक विश्वव्यापी राष्ट्र बनाने में सहायक बन सकते हैं।

तत्राथ शुश्राव सुहृद्विनष्टिं
वनं यथा वेणुजवह्निसंश्रयम् ।
संस्पर्धया दग्धमथानुशोचन्
सरस्वतीं प्रत्यगियाय तूष्णीम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अथ—तत्पश्चात्; शुश्राव—सुना; सुहृत्—प्रियजन; विनष्टिम्—मृत; वनम्—जंगल; यथा—जिस तरह; वेणुज-वह्नि—बाँस के कारण लगी अग्नि; संश्रयम्—एक दूसरे से घर्षण; संस्पर्धया—उग्र कामेच्छा द्वारा; दग्धम्—जला हुआ; अथ—इस प्रकार; अनुशोचन्—सोचते हुए; सरस्वतीम्—सरस्वती नदी को; प्रत्यक्—पश्चिम की ओर; इयाय—गया; तूष्णीम्—मौन होकर।

प्रभास तीर्थ स्थान में उन्हें पता चला कि उनके सारे सम्बन्धी उग्र आवेश के कारण उसी तरह मारे जा चुके हैं जिस तरह बाँसों के घर्षण से उत्पन्न अग्नि सारे जंगल को जला देती है। इसके बाद वे पश्चिम की ओर बढ़ते गये जहाँ सरस्वती नदी बहती है।

तात्पर्य : कौरव तथा यादवगण दोनों ही विदुर के सम्बन्धी थे। विदुर ने बन्धुघाती युद्ध के फलस्वरूप उनके सर्वनाश का समाचार सुना। जंगली बाँसों के घर्षण की तुलना आवेशपूर्ण (विक्षुब्ध) मानव समाज से करना उपयुक्त है। सम्पूर्ण संसार की तुलना जंगल से की गई है। जंगल में घर्षण के कारण किसी भी क्षण आग भड़क सकती है। जंगल में कोई आग लगाने नहीं जाता, किन्तु बाँसों के बीच संघर्षण मात्र से अग्नि उत्पन्न हो जाती है, जो सारे जंगल को जला डालती है। इसी तरह सांसारिक मेरा-तेरा रूपी महत्तर जंगल में माया के द्वारा मोहित बद्ध आत्माओं के उग्र आवेश के कारण युद्ध रूपी अग्नि लग जाती है। ऐसी सांसारिक अग्नि सन्तों की कृपा रूपी बादल के जल से ही बुझाई

जा सकती है, जिस तरह जंगल की आग केवल बादल से बरसने वाली वर्षा से बुझाई जा सकती है।

तस्यां त्रितस्योशनसो मनोश्च
पृथोरथाग्नेरसितस्य वायोः ।
तीर्थं सुदासस्य गवां गुहस्य
यच्छ्राद्धदेवस्य स आसिषेवे ॥ २२॥

शब्दार्थ

तस्याम्—सरस्वती नदी के किनारे; त्रितस्य—त्रित नामक तीर्थस्थल; उशनसः—उशना नामक तीर्थस्थल; मनोः च—मनु नामक तीर्थस्थल भी; पृथोः—पृथु के; अथ—तत्पश्चात्; अग्नेः—अग्नि के; असितस्य—असित के; वायोः—वायु के; तीर्थम्—तीर्थस्थान; सुदासस्य—सुदास नाम का; गवाम्—गो नामक; गुहस्य—तथा गुह का; यत्—तत्पश्चात्; श्राद्धदेवस्य—श्राद्धदेव का; सः—विदुर ने; आसिषेवे—ठीक से देखा और कर्मकाण्ड किया।

सरस्वती नदी के तट पर ग्यारह तीर्थस्थल थे जिनके नाम हैं (१) त्रित (२) उशना (३) मनु (४) पृथु (५) अग्नि (६) असित (७) वायु (८) सुदास (९) गो (१०) गुह तथा (११) श्राद्धदेव। विदुर इन सबों में गये और ठीक से कर्मकाण्ड किये।

अन्यानि चेह द्विजदेवदेवैः
कृतानि नानायतनानि विष्णोः ।
प्रत्यङ्गमुख्याङ्कितमन्दिराणि
यद्दर्शनात्कृष्णमनुस्मरन्ति ॥ २३॥

शब्दार्थ

अन्यानि—अन्य; च—तथा; इह—यहाँ; द्विज-देव—महर्षियों द्वारा; देवैः—तथा देवताओं द्वारा; कृतानि—स्थापित; नाना—विविध; आयतनानि—विविध रूप; विष्णोः—भगवान् के; प्रति—प्रत्येक; अङ्ग—अंग; मुख्य—प्रमुख; अङ्कित—चिन्हित; मन्दिराणि—मन्दिर; यत्—जिनके; दर्शनात्—दूर से देखने से; कृष्णम्—आदि भगवान् को; अनुस्मरन्ति—निरन्तर स्मरण कराते हैं।

वहाँ महर्षियों तथा देवताओं द्वारा स्थापित किये गये पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु के विविध रूपों से युक्त अनेक अन्य मन्दिर भी थे। ये मन्दिर भगवान् के प्रमुख प्रतीकों से अंकित थे और आदि भगवान् श्रीकृष्ण का सदैव स्मरण कराने वाले थे।

तात्पर्य : मानव समाज चार सामाजिक वर्णों तथा चार आध्यात्मिक प्रयागों में विभाजित है, जो प्रत्येक मनुष्य पर लागू होता है। यह प्रणाली *वर्णाश्रम धर्म* कहलाती है और इस महान् ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर इसकी व्याख्या की जा चुकी है। साधु सन्त या वे व्यक्ति जो सम्पूर्ण मानव समाज के आध्यात्मिक उत्थान में पूर्णतः लगे रहते थे *द्विज देव* कहलाते थे, अर्थात् द्विजों में सर्वश्रेष्ठ। चन्द्रलोक से ऊपर के

उत्कृष्ट लोकों के वासी *देव* कहलाते थे। *द्विजदेव* तथा *देव* दोनों ही विष्णु के विविध स्वरूपों वाले, यथा गोविन्द, मधुसूदन, नृसिंह, माधव, केशव, नारायण, पद्मनाभ, पार्थसारथी आदि नामों वाले मन्दिरों की स्थापना करते हैं। भगवान् असंख्य रूपों में अपना विस्तार करते हैं, किन्तु वे सभी रूप एक दूसरे से अभिन्न होते हैं। भगवान् विष्णु के चार हाथ रहते हैं और प्रत्येक हाथ में विशेष वस्तु—यथा शंख, चक्र, गदा या कमल का फूल रहता है। इन चार चिह्नों में से चक्र प्रमुख है; आदि विष्णु रूप होने से कृष्ण के एक ही चिह्न, चक्र, होता है, इसीलिए कभी-कभी उनको चक्री भी कहा जाता है। भगवान् का चक्र शक्ति का प्रतीक है, जिससे वे सारे जगत का नियंत्रण करते हैं। विष्णु मन्दिरों के शिखरों पर चक्र का प्रतीक रहता है, जिससे लोग दूर से इस प्रतीक को देख सकें और तुरन्त भगवान् कृष्ण का स्मरण कर सकें। अत्यन्त ऊँचे मन्दिरों के निर्माण का उद्देश्य लोगों को दूर से दर्शन करने का सुयोग प्रदान करना है। भारत में जब भी कोई नया मन्दिर बनाया जाता है, तो यही शैली अपनायी जाती है और ऐसा प्रतीत होता है कि लिखित इतिहास के पहले से ही यह शैली चली आ रही है। नास्तिकों द्वारा किये जाने वाले इस मूर्खतापूर्ण प्रचार का कि मन्दिरों का निर्माण बाद में हुआ, यहाँ पर खण्डन हो जाता है, क्योंकि कम से कम पाँच हजार वर्ष पूर्व विदुर ने इन मन्दिरों को देखा था और विष्णु के ये मन्दिर विदुर द्वारा देखे जाने के बहुत पहले से विद्यमान थे। महर्षियों तथा देवताओं ने कभी भी मनुष्यों या देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित नहीं कीं, किन्तु सामान्य लोगों के लाभार्थ, उन्हें ईशभावनामृत के स्तर तक उठाने के लिए, उन्होंने विष्णु मन्दिरों की स्थापना की।

ततस्त्वतिव्रज्य सुराष्ट्रमृद्धं
सौवीरमत्स्यान्कुरुजाङ्गलांश्च ।
कालेन तावद्यमुनामुपेत्य
तत्रोद्धवं भागवतं ददर्श ॥ २४॥

शब्दार्थ

ततः—वहाँ से; तु—लेकिन; अतिव्रज्य—पार करके; सुराष्ट्रम्—सूरत का राज्य; ऋद्धम्—अत्यन्त धनवान; सौवीर—सौवीर, साम्राज्य; मत्स्यान्—मत्स्य साम्राज्य; कुरुजाङ्गलान्—दिल्ली प्रान्त तक फैला पश्चिमी भारत का साम्राज्य; च—भी; कालेन—यथासमय; तावत्—ज्योंही; यमुनाम्—यमुना नदी के किनारे; उपेत्य—पहुँच कर; तत्र—वहाँ; उद्धवम्—यदुओं में प्रमुख, उद्धव को; भागवतम्—भगवान् कृष्ण के भक्त; ददर्श—देखा।

तत्पश्चात् वे अत्यन्त धनवान प्रान्तों यथा सूरत, सौवीर और मत्स्य से होकर तथा कुरुजांगल नाम से विख्यात पश्चिमी भारत से होकर गुजरे। अन्त में वे यमुना के तट पर पहुँचे जहाँ उनकी

भेंट कृष्ण के महान् भक्त उद्धव से हुई।

तात्पर्य : आधुनिक दिल्ली से लेकर उत्तर प्रदेश के मथुरा जिले तक का लगभग एक सौ वर्गमील का भूखण्ड जिसमें हरियाणा प्रदेश के गुड़गाँव जिले का कुछ अंश सम्मिलित हैं इन्हें सारे भारत में तीर्थयात्रा के लिए सर्वोपरि स्थान माना जाता है। यह भूभाग पवित्र है, क्योंकि भगवान् कृष्ण ने इस भूभाग की कई बार यात्रा की थी। अपने आविर्भाव काल से अपने मामा कंस के वहाँ पैदा होकर वे वृन्दावन में अपने पालक पिता महाराज नन्द के यहाँ पले। आज भी वहाँ पर भगवान् के कई भक्त कृष्ण तथा उनकी बाल सहेलियों, गोपियों, की खोज में भाव-विभोर होकर रह रहे हैं। ऐसा नहीं है कि ऐसे भक्त उस भूभाग में कृष्ण का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं, किन्तु भक्त का उत्सुकतापूर्वक कृष्ण की खोज करते रहना उनके साक्षात् दर्शन करने के ही समान है। ऐसा कैसे है ? इसकी व्याख्या तो नहीं की जा सकती है, किन्तु जो भगवान् के शुद्ध भक्त हैं उनके द्वारा ऐसा अनुभव किया जाता है। दार्शनिक रूप से मनुष्य यह समझ सकता है कि भगवान् कृष्ण तथा उनकी स्मृति परम स्तर पर होती है और शुद्ध ईशचेतना में वृन्दावन में उनकी खोज करने का विचार उनके साक्षात् दर्शन करने की अपेक्षा अपने में भक्त को अधिक आनन्द प्रदान करने वाला है। ऐसे भगवद्भक्त उनका दर्शन प्रतिक्षण करते हैं जिसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (५.३८)में हुई है—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन

सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"जो लोग भगवान् श्यामसुन्दर (कृष्ण) से भावाविष्ट प्रेम करते हैं, वे भगवान् के प्रति प्रेम तथा अपनी भक्ति के कारण उन्हें सदैव अपने हृदयों में देखते हैं।" विदुर तथा उद्धव दोनों ही ऐसे उच्चस्थ भक्त थे, अतएव दोनों ही यमुना के तट पर आ पहुँचे और एक दूसरे से मिले।

स वासुदेवानुचरं प्रशान्तं
बृहस्पतेः प्राक्तनयं प्रतीतम् ।
आलिङ्ग्य गाढं प्रणयेन भद्रं

स्वानामपृच्छद्भगवत्प्रजानाम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, विदुर; वासुदेव—कृष्ण का; अनुचरम्—नित्य संगी; प्रशान्तम्—अत्यन्त शान्त एवं सौम्य; बृहस्पतेः—देवताओं के विद्वान गुरु बृहस्पति का; प्राक्—पूर्वकाल में; तनयम्—पुत्र या शिष्य; प्रतीतम्—स्वीकार किया; आलिङ्ग्य—आलिगंन करके; गाढम्—गहराई से; प्रणयेन—प्रेम में; भद्रम्—शुभ; स्वानाम्—निजी; अपृच्छत्—पूछा; भगवत्—भगवान् के; प्रजानाम्—परिवार का।

तत्पश्चात् अत्यधिक प्रेम तथा अनुभूति के कारण विदुर ने भगवान् कृष्ण के नित्य संगी तथा बृहस्पति के पूर्व महान् शिष्य उद्धव का आलिंगन किया। तत्पश्चात् विदुर ने भगवान् कृष्ण के परिवार का समाचार पूछा।

तात्पर्य : विदुर उद्धव से आयु में बड़े थे, पितृतुल्य थे, अतएव जब दोनों मिले तो उद्धव ने विदुर को शीश झुकाया और विदुर ने उद्धव का आलिंगन किया, क्योंकि उद्धव छोटे थे, अतएव पुत्रतुल्य थे। विदुर के भाई पाण्डु कृष्ण के फूफा थे और उद्धव कृष्ण के चचेरे भाई थे। अतएव सामाजिक प्रथा के अनुसार विदुर का सम्मान उद्धव द्वारा पिता के स्तर पर होना चाहिए था। उद्धव तर्कशास्त्र के महान् विद्वान थे और वे देवताओं के गुरु तथा परम विद्वान पुरोहित बृहस्पति के शिष्य के रूप में विख्यात थे। विदुर ने उद्धव से उनके सम्बन्धियों की कुशलता के विषय में पूछा, यद्यपि उन्हें ज्ञात था कि वे सब इस लोक में नहीं रहे। यह जिज्ञासा अजीब लगती है, किन्तु श्रील जीव गोस्वामी कहते है कि यह समाचार विदुर के लिए आघात था इसीलिए उन्होंने अतीव उत्कण्ठावश पुनः पूछा। उनकी यह जिज्ञासा मनोवैज्ञानिक ही थी, व्यावहारिक नहीं।

कच्चित्पुराणौ पुरुषौ स्वनाभ्य-
पाद्मानुवृत्त्येह किलावतीर्णौ ।
आसात उर्व्याः कुशलं विधाय
कृतक्षणौ कुशलं शूरगेहे ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; पुराणौ—आदि; पुरुषौ—दो भगवान् (कृष्ण तथा बलराम); स्वनाभ्य—ब्रह्मा; पाद्म-अनुवृत्त्या—कमल से उत्पन्न होने वाले के अनुरोध पर; इह—यहाँ; किल—निश्चय ही; अवतीर्णौ—अवतरित; आसाते—हैं; उर्व्याः—जगत में; कुशलम्—कुशल-क्षेम; विधाय—ऐसा करने के लिए; कृत-क्षणौ—हर एक की सम्पन्नता के उन्नायक; कुशलम्—सर्वमंगल; शूर-गेहे—शूरसेन के घर में।

[कृपया मुझे बतलाएँ] कि (भगवान् की नाभि से निकले कमल से उत्पन्न) ब्रह्मा के अनुरोध पर अवतरित होने वाले दोनों आदि भगवान्, जिन्होंने हर व्यक्ति को ऊपर उठा कर

सम्पन्नता में वृद्धि की है, शूरसेन के घर में ठीक से तो रह रहे हैं?

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण तथा बलराम दो पृथक्-पृथक् भगवान् नहीं हैं। ईश्वर अद्वितीय हैं, किन्तु वे अनेक रूपों में, जो एक दूसरे से भिन्न नहीं होते, अपना विस्तार करते हैं। ये सभी स्वांश होते हैं। कृष्ण के निकटतम अंश बलदेव हैं और गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से निकले कमल से उत्पन्न ब्रह्मा बलदेव के अंश हैं। यह सूचित करता है कि कृष्ण तथा बलदेव पर ब्रह्माण्ड के विधि-विधान लागू नहीं होते। उल्टे, सारा ब्रह्माण्ड उनके अधीन है। वे ब्रह्मा की प्रार्थना पर संसार का भार हटाने के लिए प्रकट हुए थे और उन्होंने अनेक अतिमानवीय कार्यों द्वारा संसार को इससे छुटकारा दिलाया जिससे हर व्यक्ति सुखी तथा सम्पन्न हो सका। भगवत्कृपा के बिना कोई व्यक्ति सुखी तथा सम्पन्न नहीं हो सकता। चूँकि भगवान् के भक्तों के परिवार का सुख भगवान् के सुख पर निर्भर करता है, अतएव विदुर ने सबसे पहले भगवान् की कुशल-क्षेम पूछी।

कच्चित्कुरूणां परमः सुहृन्नो
भामः स आस्ते सुखमङ्ग शौरिः ।
यो वै स्वसृणां पितृवद्ददाति
वरान्वदान्यो वरतर्पणेन ॥ २७॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; कुरूणाम्—कुरुओं के; परमः—सबसे बड़े; सुहृत्—शुभचिन्तक; नः—हमारा; भामः—बहनोई; सः—वह; आस्ते—है; सुखम्—सुखी; अङ्ग—हे उद्धव; शौरिः—वसुदेव; यः—जो; वै—निस्सन्देह; स्वसृणाम्—बहनों का; पितृ-वत्—पिता के समान; ददाति—देता है; वरान्—इच्छित वस्तुएँ; वदान्यः—अत्यन्त उदार; वर—स्त्री; तर्पणेन—प्रसन्न करके।

[कृपया मुझे बताएँ] कि कुरुओं के सबसे अच्छे मित्र हमारे बहनोई वसुदेव कुशलतापूर्वक तो हैं? वे अत्यन्त दयालु हैं। वे अपनी बहनों के प्रति पिता के तुल्य हैं और अपनी पत्नियों के प्रति सदैव हँसमुख रहते हैं।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण के पिता वसुदेव के सोलह पत्नियाँ थीं जिनमें से एक का नाम पौरवी या रोहिणी था, जो बलदेव की माता थीं और विदुर की बहिन थीं। इसीलिए वसुदेव विदुर की बहिन के पति थे और वे दोनों साले-बहनोई थे। वसुदेव की बहन कुन्ती विदुर के बड़े भाई पाण्डु की पत्नी थीं और उस तरह से भी वसुदेव विदुर के साले थे। कुन्ती वसुदेव से छोटी थीं और बड़े भाई का कर्तव्य है कि वह अपनी छोटी बहिनों को पुत्रियों के समान माने। जब भी कुन्ती को किसी भी प्रकार की

आवश्यकता पड़ती तो वसुदेव अपनी छोटी बहिन के प्रति अत्यधिक प्रेम के कारण उसे उदारतापूर्वक प्रदान करते थे। वसुदेव ने अपनी पत्नियों को कभी असन्तुष्ट नहीं होने दिया और साथ ही साथ वे अपनी बहिन को इच्छित वस्तुएँ प्रदान करते रहे। वे कुन्ती का विशेष ध्यान रखते, क्योंकि वे अल्पायु में ही विधवा हो चुकी थीं। वसुदेव की कुशलता पूछते समय विदुर को ये सारी बातें तथा पारिवारिक सम्बन्ध स्मरण हो आये।

कच्चिद्वरूथाधिपतिर्यदूनां
प्रद्युम्न आस्ते सुखमङ्ग वीरः ।
यं रुक्मिणी भगवतोऽभिलेभे
आराध्य विप्रान्स्मरमादिसर्गे ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; वरूथ—सेना का; अधिपतिः—नायक; यदूनाम्—यदुओं का; प्रद्युम्नः—कृष्ण का पुत्र प्रद्युम्न; आस्ते—है; सुखम्—सुखी; अङ्ग—हे उद्धव; वीरः—महान् योद्धा; यम्—जिसको; रुक्मिणी—कृष्ण की पत्नी, रुक्मिणी ने; भगवतः—भगवान् से; अभिलेभे—पुरस्कारस्वरूप प्राप्त किया; आराध्य—प्रसन्न करके; विप्रान्—ब्राह्मणों को; स्मरम्—कामदेव; आदि-सर्गे—अपने पूर्व जन्म में।

हे उद्धव, मुझे बताओ कि यदुओं का सेनानायक प्रद्युम्न, जो पूर्वजन्म में कामदेव था, कैसा है? रुक्मिणी ने ब्राह्मणों को प्रसन्न करके उनकी कृपा से भगवान् कृष्ण से अपने पुत्र रुपमें उसे उत्पन्न किया था।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार स्मर (कामदेव) भगवान् कृष्ण के नित्यसंगियों में से है। इसकी व्याख्या उन्होंने अपने भाष्य *कृष्ण सन्दर्भ* में विस्तार से की है।

कच्चित्सुखं सात्वतवृष्णिभोज-
दाशार्हकाणामधिपः स आस्ते ।
यमभ्यषिञ्चच्छतपत्रनेत्रो
नृपासनाशां परिहृत्य दूरात् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; सुखम्—सब कुशल मंगल है; सात्वत—सात्वत जाति; वृष्णि—वृष्णि वंश; भोज—भोज वंश; दाशार्हकाणाम्—दाशार्ह जाति; अधिपः—राजा उग्रसेन; सः—वह; आस्ते—है; यम्—जिसको; अभ्यषिञ्चत्—प्रतिष्ठित; शत-पत्र-नेत्रः—श्रीकृष्ण ने; नृप-आसन-आशाम्—राजसिंहासन की आशा; परिहृत्य—त्याग कर; दूरात्—दूरस्थान पर।

हे मित्र, (मुझे बताओ) क्या सात्वतों, वृष्णियों, भोजों तथा दाशार्हों के राजा उग्रसेन अब

कुशल-मंगल तो हैं? वे अपने राजसिंहासन की सारी आशाएँ त्यागकर अपने साम्राज्य से दूर चले गये थे, किन्तु भगवान् कृष्ण ने पुनः उन्हें प्रतिष्ठित किया।

कच्चिद्धरेः सौम्य सुतः सदृक्ष
आस्तेऽग्रणी रथिनां साधु साम्बः ।
असूत यं जाम्बवती व्रताढ्या
देवं गुहं योऽम्बिकया धृतोऽग्रे ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; हरेः—भगवान् का; सौम्य—हे गम्भीर; सुतः—पुत्र; सदृक्षः—समान; आस्ते—ठीक से रह रहा है; अग्रणीः—अग्रगण्य; रथिनाम्—योद्धाओं के; साधु—अच्छे आचरण वाला; साम्बः—साम्ब; असूत—जन्म दिया; यम्—जिसको; जाम्बवती—कृष्ण की पत्नी जाम्बवती ने; व्रताढ्या—व्रतों से सम्पन्न; देवम्—देवता; गुहम्—कार्तिकेय नामक; यः—जिसको; अम्बिकया—शिव की पत्नी से; धृतः—उत्पन्न; अग्रे—पूर्व जन्म में।

हे भद्रपुरुष, साम्ब ठीक से तो है? वह भगवान् के पुत्र सदृश ही है। पूर्वजन्म में वह शिव की पत्नी के गर्भ से कार्तिकेय के रूप में जन्मा था और अब वही कृष्ण की अत्यन्त सौभाग्यशालिनी पत्नी जाम्बवती के गर्भ से उत्पन्न हुआ है।

तात्पर्य : भगवान् के तीन गुणावतारों में शिव भगवान् के स्वांश हैं। उनसे उत्पन्न कार्तिकेय भगवान् कृष्ण के अन्य पुत्र प्रद्युम्न के ही समकक्ष है। जब भगवान् कृष्ण भौतिक जगत में अवतरित होते हैं, तो उनके सभी स्वांश भी उनके साथ उनके विभिन्न कार्यों को प्रकट करने हेतु उत्पन्न होते हैं। किन्तु वृन्दावन की लीलाओं के अतिरिक्त भगवान् के सारे कार्य उनके विभिन्न स्वांशों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। वासुदेव नारायण के स्वांश हैं, अतः जब भगवान् देवकी तथा वसुदेव के समक्ष वासुदेव रूप में प्रकट हुए तो वे अपने नारायण के रूप में ही प्रकट हुए। इसी तरह स्वर्ग के सारे देवता प्रद्युम्न, साम्ब, उद्धव इत्यादि भगवान् के संगियों के रूप में प्रकट हुए। इस श्लोक से यह समझा जा सकता है कि कामदेव प्रद्युम्न के रूप में, कार्तिकेय साम्ब के रूप में और वसुओं में से एक वसु उद्धव के रूप में प्रकट हुए। इन सबों ने भगवान् की लीलाओं को सम्वर्धित करने के लिए विभिन्न पदों पर रहकर सेवा की।

क्षेमं स कच्चिद्युयुधान आस्ते
यः फाल्गुनाल्लब्धधनूरहस्यः ।

लेभेऽञ्जसाधोक्षजसेवयैव
गतिं तदीयां यतिभिर्दुरापाम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

क्षेमम्—सर्वमंगल; सः—वह; कच्चित्—क्या; युयुधानः—सात्यकि; आस्ते—है; यः—जिसने; फाल्गुनात्—अर्जुन से; लब्ध—प्राप्त किया है; धनुः-रहस्यः—सैन्यकला के भेदों का जानकार; लेभे—प्राप्त किया है; अञ्जसा—भलीभाँति; अधोक्षज—ब्रह्म का; सेवया—सेवा से; एव—निश्चय ही; गतिम्—गन्तव्य; तदीयाम्—दिव्य; यतिभिः—बड़े-बड़े संन्यासियों द्वारा; दुरापाम्—प्राप्त कर पाना अत्यन्त कठिन।

हे उद्धव, क्या युयुधान कुशल से? उसने अर्जुन से सैन्य कला की जटिलताएँ सीखीं और उस दिव्य गन्तव्य को प्राप्त किया जिस तक बड़े-बड़े संन्यासी भी बहुत कठिनाई से पहुँच पाते हैं।

तात्पर्य : अध्यात्म का गन्तव्य है भगवान् *अधोक्षज* का, जो इन्द्रियों की पहुँच के परे हैं, पार्षद बन जाना। ब्रह्मसुख का आनन्द प्राप्त करने के लिए संन्यासी लोग समस्त सांसारिक सम्बन्धों को, यथा परिवार, पत्नी, सन्तान, मित्र, घर, सम्पत्ति, को त्याग देते हैं। किन्तु *अधोक्षज* सुख ब्रह्मसुख से बढ़कर है। ज्ञानीजन परब्रह्म के विषय में दार्शनिक चिन्तन करते हुए आनन्द के दिव्य गुण का भोग करते हैं, किन्तु इस आनन्द के परे वह सुख है, जिसका भोग भगवान् का नित्य स्वरूप ब्रह्म करता है। जीवों द्वारा ब्रह्मानन्द का भोग भवबन्धन से मोक्ष पाने के बाद ही हो पाता है। किन्तु परब्रह्म अपनी ही शक्ति का, जिसे *ह्लादिनी* शक्ति कहते हैं, नित्य आनन्द भोग करता है। ज्ञानी, जो कि बाह्य गुणों के निषेध द्वारा ब्रह्म का अध्ययन करता है, ब्रह्म की *ह्लादिनी शक्ति* को नहीं समझ पाता। सर्वशक्तिमान की अनेक शक्तियों में उनकी अन्तरंगा शक्ति के तीन रूप हैं—ये हैं *संवित, सन्धिनी* तथा *ह्लादिनी*। महान् *योगी* तथा *ज्ञानीजन यम, नियम, आसन, ध्यान, धारणा* तथा *प्राणायाम* के नियमों का दृढ़ता से पालन करने पर भी भगवान् की अन्तरंगा शक्ति में प्रवेश नहीं कर पाते। किन्तु भगवद्भक्तों को भक्ति के बल पर इस अन्तरंगा शक्ति की अनुभूति सहज ही हो जाती है। युयुधान जीवन की इस अवस्था को उसी तरह प्राप्त कर चुका था जिस तरह उसने अर्जुन से सैन्यविज्ञान का पटु ज्ञान प्राप्त किया था। इस तरह उसका जीवन भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से सर्वथा सफल था। भगवान् की भक्ति का यही मार्ग है।

कच्चिद्बुधः स्वस्त्यनमीव आस्ते

श्वफल्कपुत्रो भगवत्प्रपन्नः ।
यः कृष्णपादाङ्कितमार्गपांसु-
ष्वचेष्टत प्रेमविभिन्नधैर्यः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; बुधः—अत्यन्त विद्वान; स्वस्ति—ठीक से; अनमीवः—त्रुटिरहित; आस्ते—है; श्वफल्क-पुत्रः—श्वफल्क का पुत्र अक्रूर; भगवत्—भगवान् के; प्रपन्नः—शरणागत; यः—वह जो; कृष्ण—भगवान् श्रीकृष्ण; पाद-अङ्कित—चरणचिह्नों से शोभित; मार्ग—रास्ता; पांसुषु—धूल में; अचेष्टत—प्रकट किया; प्रेम-विभिन्न—दिव्य प्रेम में निमग्न; धैर्यः—मानसिक संतुलन।

कृपया मुझे बताएँ कि श्वफल्क पुत्र अक्रूर ठीक से तो है? वह भगवान् का शरणागत एक दोषरहित आत्मा है। उसने एक बार दिव्य प्रेम-भाव में अपना मानसिक सन्तुलन खो दिया था और उस मार्ग की धूल में गिर पड़ा था जिसमें भगवान् कृष्ण के पदचिन्ह अंकित थे।

तात्पर्य : जब अक्रूर कृष्ण की खोज में वृन्दावन आये तो उन्होंने नन्दग्राम की धूलि में भगवान् के चरणचिह्न देखे और वे भावावेश में तुरन्त ही उन पर गिर पड़े। यह भाव उसी भक्त में सम्भव है, जो कृष्ण के सतत विचारों में पूर्णतया निमग्न हो। भगवान् का ऐसा शुद्ध भक्त स्वभावतः दोष रहित होता है, क्योंकि वह परम रुप से शुद्ध भगवान् से सदैव सम्बद्ध रहता है। भगवान् का निरन्तर ध्यान करना भौतिक गुणों के दूषण से अपने को मुक्त रखने की प्रतिसंदूषण विधि है। भगवान् का शुद्ध भक्त भगवान् के विषय में सोचते रहने के कारण सदैव उनकी संगति में रहता है। तो भी देश तथा काल के विशेष सन्दर्भ में दिव्य भावनाएँ विभिन्न मोड़ लेती हैं और इससे भक्त का मानसिक सन्तुलन डगमगा जाता है। भगवान् चैतन्य ने दिव्य भाव का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत किया जैसाकि ईश्वर के इस अवतार के जीवन से हम समझ पाते हैं।

कच्चिच्छिवं देवकभोजपुत्र्या
विष्णुप्रजाया इव देवमातुः ।
या वै स्वगर्भेण दधार देवं
त्रयी यथा यज्ञवितानमर्थम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; शिवम्—ठीकठाक; देवक-भोज-पुत्र्याः—राजा देवक भोज की पुत्री का; विष्णु-प्रजायाः—भगवान् को जन्म देने वाली; इव—सदृश; देव-मातुः—देवताओं की माता (अदिति) का; या—जो; वै—निस्सन्देह; स्व-गर्भेण—अपने गर्भ से; दधार—धारण किया; देवम्—भगवान् को; त्रयी—वेद; यथा—जितना कि; यज्ञ-वितानम्—यज्ञ के प्रसार का; अर्थम्—उद्देश्य।

जिस तरह सारे वेद याज्ञिक कार्यों के आगार हैं उसी तरह राजा देवक-भोज की पुत्री ने

देवताओं की माता के ही सदृश भगवान् को अपने गर्भ में धारण किया। क्या वह (देवकी) कुशल से है?

तात्पर्य : सारे वेद दिव्य ज्ञान तथा आध्यात्मिक मूल्यों से परिपूर्ण हैं। इस तरह भगवान् कृष्ण की माता देवकी ने वेदों के साक्षात् अर्थ रूप में भगवान् को अपने गर्भ में धारण किया। वेदों में तथा भगवान् में कोई अन्तर नहीं है। वेदों का उद्देश्य भगवान् को समझना है और भगवान् साक्षात् वेद हैं। देवकी की तुलना अर्थपूर्ण वेदों से तथा भगवान् की तुलना उनके उद्देश्य से की गई है।

अपिस्विदास्ते भगवान्सुखं वो
यः सात्वतां कामदुघोऽनिरुद्धः ।
यमामनन्ति स्म हि शब्दयोनिं
मनोमयं सत्त्वतुरीयतत्त्वम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

अपि—भी; स्वित्—क्या; आस्ते—है; भगवान्—भगवान्; सुखम्—समस्त सुख; वः—तुम्हारा; यः—जो; सात्वताम्—भक्तों की; काम-दुघः—समस्त इच्छाओं का स्रोत; अनिरुद्धः—स्वांश अनिरुद्ध; यम्—जिसको; आमनन्ति—स्वीकार करते हैं; स्म—प्राचीन काल से; हि—निश्चय ही; शब्द-योनिम्—ऋग्वेद का कारण; मनः-मयम्—मन का स्रष्टा; सत्त्व—दिव्य; तुरीय—चौथा विस्तार; तत्त्वम्—तत्व, सिद्धान्त।

क्या मैं पूछ सकता हूँ कि अनिरुद्ध कुशलतापूर्वक है? वह शुद्ध भक्तों की समस्त इच्छाओं की पूर्ति करने वाला है और प्राचीन काल से ऋग्वेद का कारण, मन का स्रष्टा तथा विष्णु का चौथा स्वांश माना जाता रहा है।

तात्पर्य : आदि चतुर्भुज (व्यूह) बलदेव के आदि अंश वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध हैं। ये सभी विष्णु-तत्त्व हैं। श्रीराम के अवतार में ये सारे के सारे अंश विशिष्ट लीलाओं के लिए प्रकट हुए। भगवान् राम आदि वासुदेव हैं और संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध उनके भाई थे। अनिरुद्ध महाविष्णु के कारण भी हैं जिनके श्वास से ऋग्वेद प्रकट हुआ। *मार्कण्डेय पुराण* में इसकी सुन्दर ढंग से व्याख्या हुई है। भगवान् कृष्ण के अवतार में अनिरुद्ध उनके पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। द्वारका में भगवान् कृष्ण आदि व्यूह के वासुदेव अंश हैं। आदि भगवान् कृष्ण गोलोक वृन्दावन कभी नहीं छोड़ते। समस्त स्वांश एक ही विष्णुतत्त्व हैं और उनकी शक्ति में कोई अन्तर नहीं है।

अपिस्विदन्ये च निजात्मदैव-

मनन्यवृत्त्या समनुव्रता ये ।
हृदीकसत्यात्मजचारुदेष्ण
गदादयः स्वस्ति चरन्ति सौम्य ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

अपि—भी; स्वित्—क्या; अन्ये—अन्य; च—तथा; निज-आत्म—अपने ही; दैवम्—श्रीकृष्ण; अनन्य—पूर्णरूपेण; वृत्त्या—श्रद्धा; समनुव्रताः—अनुयायीगण; ये—वे जो; हृदीक—हृदीक; सत्य-आत्मज—सत्यभामा का पुत्र; चारुदेष्ण—चारुदेष्ण; गद—गद; आदयः—इत्यादि; स्वस्ति—कुशलतापूर्वक; चरन्ति—समय बिताते हैं; सौम्य—हे भद्रःपुरुष।

हे भद्र पुरुष, अन्य लोग, यथा हृदीक, चारुदेष्ण, गद तथा सत्यभामा का पुत्र जो श्रीकृष्ण को अपनी आत्मा के रूप में मानते हैं और बिना किसी विचलन के उनके मार्ग का अनुसरण करते हैं-ठीक से तो हैं?

अपि स्वदोर्भ्यां विजयाच्युताभ्यां
धर्मेण धर्मः परिपाति सेतुम् ।
दुर्योधनोऽतप्यत यत्सभायां
साम्राज्यलक्ष्म्या विजयानुवृत्त्या ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

अपि—भी; स्व-दोर्भ्याम्—अपनी भुजाएँ; विजय—अर्जुन; अच्युता-भ्याम्—श्रीकृष्ण समेत; धर्मेण—धर्म द्वारा; धर्मः—राजा युधिष्ठिर; परिपाति—पालनपोषण करता है; सेतुम्—धर्म का सम्मान; दुर्योधनः—दुर्योधन; अतप्यत—ईर्ष्या करता था; यत्—जिसका; सभायाम्—राज दरबार; साम्राज्य—राजसी; लक्ष्म्या—ऐश्वर्य; विजय-अनुवृत्त्या—अर्जुन की सेवा द्वारा।

अब मैं पूछना चाहूँगा कि महाराज युधिष्ठिर धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार तथा धर्मपथ के प्रति सम्मान सहित राज्य का पालन-पोषण कर तो रहे हैं? पहले तो दुर्योधन ईर्ष्या से जलता रहता था, क्योंकि युधिष्ठिर कृष्ण तथा अर्जुन रूपी दो बाहुओं के द्वारा रक्षित रहते थे जैसे वे उनकी अपनी ही भुजाएँ हों।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर धर्म के प्रतीक थे। जब वे भगवान् कृष्ण तथा अर्जुन की सहायता से अपने साम्राज्य पर शासन करते थे तो उनके साम्राज्य का ऐश्वर्य स्वर्ग के भी ऐश्वर्य की सभी कल्पनाओं को मात कर चुका था। उनकी असली बाहें तो भगवान् कृष्ण तथा अर्जुन थे। इस तरह वे हर एक के ऐश्वर्य से बहुत आगे थे। दुर्योधन इस ऐश्वर्य से ईर्ष्या करता था, अतएव उसने युधिष्ठिर को संकट में डालने के लिए अनेक चालें चलीं और अन्त में कुरुक्षेत्र का युद्ध हुआ। कुरुक्षेत्र युद्ध के बाद महाराज युधिष्ठिर एक बार फिर से अपने वैध साम्राज्य पर शासन कर सके तथा उन्होंने धर्म के प्रति सम्मान तथा आदर भाव की पुनर्स्थापना की। महाराज युधिष्ठिर जैसे पुण्यात्मा राजा द्वारा शासित साम्राज्य की यही

शोभा है।

किं वा कृताघेष्वघमत्यमर्षी
भीमोऽहिवद्दीर्घतमं व्यमुञ्चत् ।
यस्याङ्घ्रिपातं रणभूर्न सेहे
मार्गं गदायाश्चरतो विचित्रम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; वा—अथवा; कृत—सम्पन्न; अघेषु—पापियों के प्रति; अघम्—क्रुद्ध; अति-अमर्षी—अजेय; भीमः—भीम; अहि-वत्—काले सर्प की भाँति; दीर्घ-तमम्—दीर्घ काल से; व्यमुञ्चत्—विमुक्त किया; यस्य—जिसका; अङ्घ्रि-पातम्—पदचाप; रण-भूः—युद्ध भूमि; न—नहीं; सेहे—सह सका; मार्गम्—मार्ग; गदायाः—गदाओं द्वारा; चरतः—चलाते हुए; विचित्रम्—विचित्र।

[कृपया मुझे बताएँ] क्या विषैले सर्प तुल्य एवं अजेय भीम ने पापियों पर अपना दीर्घकालीन क्रोध बाहर निकाल दिया है? गदा-चालन के उसके कौशल को रण-भूमि भी सहन नहीं कर सकती थी, जब वह उस पथ पर चल पड़ता था।

तात्पर्य : भीम के बल से विदुर परिचित थे। जब भी भीम युद्धक्षेत्र में होता तो पथ पर उसकी पदचाप तथा उसके अद्भुत गदा-कौशल शत्रु के लिए असह्य होते। बलशाली भीम ने लम्बे समय तक धृतराष्ट्र के पुत्रों के विरुद्ध कोई कदम नहीं उठाया। विदुर की जिज्ञासा थी कि क्या उसने अभी तक सताये हुए विषैले सर्प की भाँति अपना क्रोध बाहर निकाला है? जब सर्प लम्बेसमय से पनप रहे क्रोध के पश्चात् अपना विष छोड़ता है, तो शिकार जीवित नहीं रह सकता।

कच्चिद्यशोधा रथयूथपानां
गाण्डीवधन्वोपरतारिरास्ते ।
अलक्षितो यच्छरकूटगूढो
मायाकिरातो गिरिशस्तुतोष ॥ ३८॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; यशः-धा—विख्यात; रथ-यूथपानाम्—महान् रथियों के बीच; गाण्डीव—गाण्डीव; धन्व—धनुष; उपरत-अरिः—जिसने शत्रुओं का विनाश कर दिया है; आस्ते—ठीक से है; अलक्षितः—बिना पहचाने हुए; यत्—जिसका; शर-कूट-गूढः—बाणों से आच्छादित होकर; माया-किरातः—छद्म शिकारी; गिरिशः—शिवजी; तुतोष—सन्तुष्ट हो गये थे।

[कृपया मुझे बताएँ] कि अर्जुन, जिसके धनुष का नाम गाण्डीव है और जो अपने शत्रुओं का विनाश करने में रथियों में सदैव विख्यात है, ठीक से तो है? एक बार उसने न पहचाने जानेवाले छद्म शिकारी के रूप में आये हुए शिवजी को बाणों की बौछार करके उन्हें तुष्ट किया

था।

तात्पर्य : शिवजी ने अर्जुन के बल की परीक्षा एक सुअर के शिकार को लेकर हुए झगड़े के द्वारा ली। उन्होंने शिकारी के छद्म वेश में अर्जुन का सामना किया। अर्जुन उन्हें तब तक बाणों से आच्छादित करता रहा जब तक कि वे अर्जुन के युद्ध से तुष्ट नहीं हो गये उन्होंने अर्जुन को पाशुपति अस्त्र दिया और आशीर्वाद दिया। यहाँ पर विदुर इसी महान् योद्धा की कुशलक्षेत्र के विषय में पूछ रहे हैं।

यमावुतस्वित्तनयौ पृथायाः
पार्थैर्वृतौ पक्ष्मभिरक्षिणीव ।
रेमात उद्दाय मृधे स्वरिक्थं
परात्सुपर्णाविव वज्रिवक्त्रात् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

यमौ—**जुड़वाँ (नकुल तथा सहदेव)**; उतस्वित्—**क्या**; तनयौ—**पुत्र**; पृथायाः—**पृथा के**; पार्थैः—**पृथा के पुत्रों द्वारा**; वृतौ—**संरक्षित**; पक्ष्मभिः—**पलकों द्वारा**; अक्षिणी—**आँखों के**; इव—**सदृश**; रेमाते—**असावधानीपूर्वक खेलते हुए**; उद्दाय—**छीन कर**; मृधे—**युद्ध में**; स्व-रिक्थम्—**अपनी सम्पत्ति**; परात्—**शत्रु दुर्योधन से**; सुपर्णौ—**विष्णु का वाहन गरुड़**; इव—**सदृश**; वज्रि-वक्त्रात्—**इन्द्र के मुख से**।.

क्या अपने भाइयों के संरक्षण में रह रहे जुड़वाँ भाई कुशल पूर्वक हैं? जिस तरह आँख पलक द्वारा सदैव सुरक्षित रहती है उसी तरह वे पृथा पुत्रों द्वारा संरक्षित हैं जिन्होंने अपने शत्रु दुर्योधन के हाथों से अपना न्यायसंगत साम्राज्य उसी तरह छीन लिया है, जिस तरह गरुड़ ने वज्रधारी इन्द्र के मुख से अमृत छीन लिया था।

तात्पर्य : स्वर्ग का राजा इन्द्र अपने हाथ में वज्र धारण करता है और अत्यन्त बलशाली है, किन्तु भगवान् विष्णु के वाहन गरुड़ ने उसके मुख से अमृत छीन लिया था। इसी तरह दुर्योधन स्वर्ग के राजा के ही समान बलशाली था फिर भी पृथापुत्र पाण्डव दुर्योधन से अपना साम्राज्य छीनने में सफल रहे। गरुड़ तथा पार्थगण दोनों ही लाड़ले भगवद्भक्त हैं, इसीलिए वे ऐसे प्रबल शत्रुओं का सामना कर सके।

विदुर की जिज्ञासा पाण्डवों के सबसे छोटे दो भाइयों नकुल तथा सहदेव के विषय में थी। ये जुड़वाँ भाई माद्री के पुत्र थे, जो अन्य पाण्डवों की विमाता थी। जब माद्री अपने पति महाराज पाण्डु के साथ प्रयाण कर गई तो कुन्ती ने उनका भार सँभाला था। यद्यपि ये सौतेले भाई थे, किन्तु नकुल तथा सहदेव अन्य तीन पाण्डवों अर्थात् युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन के ही समान थे। ये पाँचों भाई विश्व में

सगे भाईयों के रूप में विख्यात हैं। तीनों ज्येष्ठ पाण्डवों ने अपने छोटे भाइयों की उसी तरह देखरेख की जिस तरह आँख की रखवाली पलक करती है। विदुर यह जानने के लिए उत्सुक थे कि दुर्योधन के हाथों से अपना साम्राज्य जीत लेने के बाद पांडवों के छोटे भाई बड़े भाइयों के संरक्षण में सुखपूर्वक तो रह रहे हैं।

अहो पृथापि ध्रियतेऽर्भकार्थे
राजर्षिवर्येण विनापि तेन ।
यस्त्वेकवीरोऽधिरथो विजिग्ये
धनुर्द्वितीयः ककुभश्चतस्रः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; पृथा—कुन्ती; अपि—भी; ध्रियते—अपना जीवन बिताती है; अर्भक-अर्थे—पितृविहीन बच्चों के निमित्त; राजर्षि—राजा पाण्डु; वर्येण—सर्वश्रेष्ठ; विना अपि—बिना भी; तेन—उसके; यः—जो; तु—लेकिन; एक—अकेला; वीरः—योद्धा; अधिरथः—सेनानायक; विजिग्ये—जीत सका; धनुः—धनुष; द्वितीयः—दूसरा; ककुभः—दिशाएँ; चतस्रः—चारों।

हे स्वामी, क्या पृथा अब भी जीवित है? वह अपने पितृविहीन बालकों के निमित्त ही जीवित रही अन्यथा राजा पाण्डु के बिना उसका जीवित रह पाना असम्भव था, जो कि महानतम सेनानायक थे और जिन्होंने अकेले ही अपने दूसरे धनुष के बल पर चारों दिशाएँ जीत ली थीं।

तात्पर्य : एक पतिव्रता पत्नी अपने स्वामी अर्थात् पति के बिना जीवित नहीं रह सकती, इसीलिए समस्त विधवाएँ स्वेच्छा से उस प्रज्ज्वलित अग्नि को गले लगाती थीं जो मृत पति को भस्म कर देती थी। भारत में यह अत्यन्त सामान्य प्रथा थी, क्योंकि सारी पत्नियाँ सती तथा पतिव्रता होती थीं। बाद में, कलियुग के आगमन के साथ ही पत्नियों का पतिपरायण होना कम होता गया और विधवाओं द्वारा स्वेच्छा से अग्निदाह अब अतीत की बात हो गई है। अभी थोड़े ही वर्षों पूर्व यह प्रथा समाप्त कर दी गई, क्योंकि स्वेच्छिक प्रथा ने बलात् सामाजिक प्रथा का रूप धारण कर लिया था।

जब महाराज पाण्डु मरे तो उनकी दोनों ही पत्नियाँ, माद्री तथा कुन्ती, अग्निदाह के लिए तैयार थीं, किन्तु माद्री ने कुन्ती से अनुरोध किया कि वे पाँच पाण्डवों के, जो छोटे बच्चे ही थे, निमित्त जीवित रहें। जब व्यासदेव ने भी यही आग्रह किया, तो कुन्ती ने ऐसा करना स्वीकार कर लिया। अतिशय विछोह के बावजूद कुन्ती ने अपने पति की अनुपस्थिति में जीवन का भोग करने के लिए नहीं, अपितु बच्चों को संरक्षण प्रदान करने के लिए जीवित रहने का निश्चय किया। विदुर इसी घटना

का प्रसंग दे रहे हैं, क्योंकि वे अपनी भावज कुन्तीदेवी के विषय में सारी बातें जानते थे। यह ज्ञात होता है कि महाराज पाण्डु महान् योद्धा थे और उन्होंने धनुषबाण की सहायता से अकेले ही विश्व की चारों दिशाओं को जीता था। ऐसे पति की अनुपस्थिति में कुन्ती के लिए विधवा के रूप में भी जीवित रहना असम्भव था, तो भी पाँच पुत्रों के लिए उन्हें ऐसा करना पड़ा।

सौम्यानुशोचे तमध:पतन्तं
भ्रात्रे परेताय विदुद्रुहे य: ।
निर्यापितो येन सुहृत्स्वपुर्या
अहं स्वपुत्रान्समनुव्रतेन ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

सौम्य—हे भद्रपुरुष; अनुशोचे—शोक करता हूँ; तम्—उसको; अध:-पतन्तम्—नीचे गिरते हुए; भ्रात्रे—अपने भाई पर; परेताय—मृत्यु; विदुद्रुहे—विद्रोह किया; य:—जिसने; निर्यापित:—भगा दिया गया; येन—जिसके द्वारा; सुहृत्—शुभैषी; स्व-पुर्या:—अपने ही घर से; अहम्—मैं; स्व-पुत्रान्—अपने पुत्रों समेत; समनु-व्रतेन—वैसी ही कार्यवाही को स्वीकार करते हुए।.

हे भद्रपुरुष, मैं तो एकमात्र उस (धृतराष्ट्र) के लिए शोक कर रहा हूँ जिसने अपने भाई की मृत्यु के बाद उसके प्रति विद्रोह किया। उसका निष्ठावान हितैषी होते हुए भी उसके द्वारा मैं अपने घर से निकाल दिया गया, क्योंकि उसने भी अपने पुत्रों के द्वारा अपनाए गये मार्ग का ही अनुसरण किया था।

तात्पर्य : विदुर ने अपने जेष्ठ भ्राता की कुशलता के बारे में नहीं पूछा, क्योंकि उसके कल्याण का कोई अवसर नहीं था, उसके अध:पतित होने का ही समाचार हो सकता था। विदुर धृतराष्ट्र के निष्ठावान हितैषी थे और उनके मन के भीतर उसके विषय में एक विचार था। उन्होंने शोक व्यक्त किया कि धृतराष्ट्र ने अपने मृत भ्राता पाण्डु के पुत्रों के विरुद्ध विद्रोह कर सकता था और यह की उसने अपने कुटिल पुत्रों के आदेश पर उन्हें ही (विदुर को) उनके घर से निकाल दिया। इन कार्यों के बावजूद विदुर कभी भी धृतराष्ट्र के शत्रु नहीं बने, प्रत्युत उसके हितैषी बने रहे, यहाँ तक कि धृतराष्ट्र के अन्तिम दिनों में विदुर ही उसके एकमात्र असली मित्र सिद्ध हुए। विदुर जैसे वैष्णव का आचरण ही ऐसा होता है—वह अपने शत्रुओं का भी भला सोचता है।

सोऽहं हरेर्मर्त्यविडम्बनेन

दृशो नृणां चालयतो विधातुः ।
नान्योपलक्ष्यः पदवीं प्रसादा-
च्चरामि पश्यन्गतविस्मयोऽत्र ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

सः अहम्—इसलिए मैं; हरेः—भगवान् का; मर्त्य—इस मर्त्यलोक में; विडम्बनेन—बिना जाने-पहचाने; दृशः—देखने पर; नृणाम्—सामान्य लोगों के; चालयतः—मोहग्रस्त; विधातुः—इसे करने के लिए; न—नहीं; अन्य—दूसरा; उपलक्ष्यः—दूसरों द्वारा देखा गया; पदवीम्—महिमा; प्रसादात्—कृपा से; चरामि—घूमता हूँ; पश्यन्—देखते हुए; गत-विस्मयः—बिना संशय के; अत्र—इस मामले में।

अन्यों द्वारा अलक्षित रहकर विश्वभर में भ्रमण करने के बाद मुझे इस पर कोई आश्चर्य नहीं हो रहा। भगवान् के कार्यकलाप जो इस मर्त्यलोक के मनुष्य जैसे हैं, अन्यों को मोहित करने वाले हैं, किन्तु भगवान् की कृपा से मैं उनकी महानता को जानता हूँ, अतएव मैं सभी प्रकार से सुखी हूँ।

तात्पर्य : धृतराष्ट्र का भाई होते हुए भी विदुर सर्वथा भिन्न थे। भगवान् कृष्ण की कृपा से वे अपने भाई की तरह मूर्ख न थे, अतएव भाई की संगति उन पर प्रभाव नहीं डाल पाई। धृतराष्ट्र तथा उसके भौतिकतावादी पुत्र अपने बल से विश्व पर अपना झूठा दबदबा बनाना चाह रहे थे। इसमें भगवान् ने उन्हें प्रोत्साहित किया इस प्रकार वे अधिकाधिक मोहग्रस्त होते रहे। किन्तु विदुर तो भगवान् की निष्ठायुक्त भक्ति चाहते थे, अतएव उन्होंने पूरी तरह से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण ग्रहण कर ली। वे अपनी तीर्थयात्रा के समय इसका अनुभव कर पाये, फलतः वे समस्त संशयों से मुक्त हो गये। उन्हें अपने घर-बार से वंचित होने का तनिक भी खेद न था, क्योंकि अब उन्हें अनुभव हो रहा था कि भगवान् की कृपा पर आश्रित रहना घर पर रहने की तथाकथित स्वतंत्रता से कहीं बढ़कर है। मनुष्य को तब तक संन्यास ग्रहण नहीं करना चाहिए जब तक उसे पूर्णविश्वास न हो ले कि वह भगवान् द्वारा रक्षित है। *भगवद्गीता* में जीवन की इस अवस्था को *अभयं सत्त्वसंशुद्धिः* कहा गया है—प्रत्येक जीव वस्तुतः भगवत्कृपा पर पूर्णतया आश्रित है, किन्तु शुद्ध जीवन प्राप्त किये बिना वह इस पद पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। यह आश्रित अवस्था *सत्त्वसंशुद्धिः* कहलाती है। ऐसी संशुद्धि का फल निर्भीकता में प्रकट होता है। भगवद्भक्त जो कि *नारायण-पर* कहलाता है कभी किसी वस्तु से भयभीत नहीं होता, क्योंकि वह इस तथ्य से सदैव अवगत रहता है कि सभी परिस्थितियों में भगवान् उसकी रक्षा करेंगे। इसी संकल्प के साथ विदुर अकेले ही यात्रा कर रहे थे और उन्हें न तो किसी मित्र ने न किसी शत्रु ने

देखा अथवा पहचाना था। इस तरह वे संसार के अनेक कर्तव्यों को करने के लिए बाध्य हुए बिना जीवन की स्वतंत्रता का उपभोग कर पाए थे।

जब भगवान् श्रीकृष्ण इस मर्त्यलोक में अपने नित्य आनन्दमय श्यामसुन्दर रूप में उपस्थित थे तो जो लोग भगवान् के शुद्ध भक्त नहीं थे वे न तो उन्हें पहचान सके, न उनकी महिमा को जान पाये। *अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्* (*भगवद्गीता* ९.११)—वे अभक्तों को सदैव मोहित करने वाले हैं, किन्तु भक्तगण भगवान् की शुद्ध भक्ति के कारण उन्हें सदैव देख सकते हैं।

नूनं नृपाणां त्रिमदोत्पथानां
महीं मुहुश्चालयतां चमूभिः ।
वधात्प्रपन्नार्तिजिहीर्षयेशो-
ऽप्युपैक्षताघं भगवान्कुरूणाम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निस्सन्देह; नृपाणाम्—राजाओं के; त्रि—तीन; मद-उत्पथानाम्—मिथ्या गर्व से बहके हुए; महीम्—पृथ्वी को; मुहुः—निरन्तर; चालयताम्—क्षुब्ध करते; चमूभिः—सैनिकों की गति से; वधात्—हत्या के कार्य से; प्रपन्न—शरणागत; आर्ति-जिहीर्षय—पीड़ितों के दुख को दूर करने के लिए इच्छुक; ईशः—भगवान् ने; अपि—के बावजूद; उपैक्षत—प्रतीक्षा की; अघम्—अपराध; भगवान्—भगवान्; कुरूणाम्—कुरुओं के।

(कृष्ण) भगवान् होते हुए भी तथा पीड़ितों के दुख को सदैव दूर करने की इच्छा रखते हुए भी, वे कुरुओं का वध करने से अपने को बचाते रहे, यद्यपि वे देख रहे थे कि उन लोगों ने सभी प्रकार के पाप किये हैं और यह भी देख रहे थे कि, अन्य राजा तीन प्रकार के मिथ्या गर्व के वश में होकर अपनी प्रबल सैन्य गतिविधियों से पृथ्वी को निरन्तर क्षुब्ध कर रहे हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में घोषणा की गई है भगवान् इस मर्त्यलोक में दुष्टों का वध करने तथा पीड़ित श्रद्धावानों की रक्षा करने के उद्देश्य को पूरा करने के लिए प्रकट होते हैं। इस उद्देश्य के बावजूद भगवान् कृष्ण कौरवों द्वारा द्रौपदी के अपमान को तथा पाण्डवों के प्रति किये जा रहे अन्याय के साथ-साथ अपने अपमान को सहते रहे। यह प्रश्न उठाया जा सकता है, ''उन्होंने अपनी उपस्थिति में ऐसे अन्यायों तथा अपमानों को क्यों सहा? उन्होंने कुरुओं को तुरन्त दण्ड क्यों नहीं दिया?'' जब कौरवों द्वारा सबों की उपस्थिति में द्रौपदी को भरी सभा में नुग्न देखने के प्रयास में उन्हें अपमानित किया गया तो भगवान् ने उनके वस्त्र को असीमित रुप में बढ़ाकर उनकी रक्षा की। किन्तु उन्होंने अपमान करने वाले पक्ष को तुरन्त दण्ड नहीं दिया। इस चुप्पी का यह अर्थ नहीं होता कि उन्होंने

कुरुओं के अपराधों को क्षमा कर दिया था। पृथ्वी पर ऐसे अनेक राजा थे, जो तीन प्रकार की सम्पत्तियों—धन, शिक्षा तथा अनुयायियों—के कारण गर्वित हो उठे थे और वे सैन्यबल की गतिविधियों से पृथ्वी को लगातार उद्विग्न बना रहे थे। भगवान् इस ताक में थे कि वे सभी कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में एकत्र हों तो उन सबों का एकसाथ सफाया कर दिया जाय जिससे उनका वध करने का उद्देश्य थोड़े में पूरा हो सके। ईशविहीन राजागण या राज्यों के प्रधान जब धन, शिक्षा तथा जनसंख्या वृद्धि से गर्वित हो उठते हैं, तो वे सैन्यबल का प्रदर्शन करते हैं और निर्दोषों को कष्ट देते हैं। जब भगवान् कृष्ण स्वयं उपस्थित थे तो संसार भर में ऐसे अनेक राजा थे, अत: भगवान् ने कुरुक्षेत्र युद्ध के लिए योजना तैयार की। अपने विश्वरूप के प्राकट्य में भगवान् ने वध करने के अपने उद्देश्य को इस प्रकार व्यक्त किया है, ''मैं अवांछित जनसंख्या को कम करने के लिए क्रूर कालरूप में इस पृथ्वी पर स्वेच्छा से अवतरित हुआ हूँ। मैं तुम पाण्डवों के अतिरिक्त यहाँ पर एकत्रित सारे लोगों का सफाया कर डालूँगा। यह वध कार्य तुम्हारी भागीदारी की प्रतीक्षा नहीं करेगा। यह पहले से नियोजित है। सारे लोग मेरे द्वारा वध किये जाएँगे। यदि तुम युद्धभूमि में वीर की तरह प्रसिद्ध बनना चाहते हो और युद्ध में लूटी हुई सम्पत्ति का भोग करना चाहते हो तो हे सव्यसाची! तुम अविलम्ब इस वध के निमित्त बनकर इसका श्रेय प्राप्त करो। द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य महान् योद्धा पहले ही मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं। तुम चिन्ता मत करो। तुम युद्ध करो और महान् योद्धा के रूप में विख्यात बनो। (*भगवद्गीता* ११.३२-३४)

भगवान् सदैव चाहते रहते हैं कि उनका भक्त उनके द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले किसी उपाख्यान का नायक बने। वे अपने भक्त तथा मित्र अर्जुन को कुरुक्षेत्र युद्ध के वीर के रूप में देखना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने संसार के सारे दुष्टों को एकत्र होने की प्रतीक्षा की। उनके प्रतीक्षा करने का यही कारण है, और कोई अन्य कारण नहीं है।

अजस्य जन्मोत्पथनाशनाय
कर्माण्यकर्तुर्ग्रहणाय पुंसाम् ।
नन्वन्यथा कोऽर्हति देहयोगं
परो गुणानामुत कर्मतन्त्रम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

अजस्य—अजन्मा का; जन्म—प्राकट्य; उत्पथ-नाशनाय—दुष्टों का विनाश करने के लिए; कर्माणि—कार्य; अकर्तुः—निठल्ले का; ग्रहणाय—ग्रहण करने के लिए; पुंसाम्—सारे व्यक्तियों का; ननु अन्यथा—नहीं तो; कः—कौन; अर्हति—योग्य हो सकता है; देह-योगम्—शरीर का सम्पर्क; परः—दिव्य; गुणानाम्—तीन गुणों का; उत—क्या कहा जा सकता है; कर्म-तन्त्रम्—कार्य-कारण का नियम।.

भगवान् का प्राकट्य दुष्टों का संहार करने के लिए होता है। उनके कार्य दिव्य होते हैं और समस्त व्यक्तियों के समझने के लिए ही किये जाते हैं। अन्यथा, समस्त भौतिक गुणों से परे रहने वाले भगवान् का इस पृथ्वी में आने का क्या प्रयोजन हो सकता है?

तात्पर्य : *ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः* (*ब्रह्म-संहिता* ५.१)—भगवान् का स्वरूप नित्य, आनन्दमय तथा सर्वज्ञ है। अतएव उनका तथाकथित जन्म एक तरह से केवल प्राकट्य होता है, जिस तरह क्षितिज से सूर्य का उत्पन्न होना है। उनका जन्म जीवों जैसा प्रकृति के प्रभाव तथा विगत कर्मों के फलों के बन्धन के अन्तर्गत नहीं होता। उनके कार्य एवं गतिविधियाँ स्वतंत्र लीलाएँ हैं और भौतिक प्रकृति के कर्मफलों के अधीन नहीं हैं। *भगवद्गीता* (४.१४) में कहा गया है—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

जीवों के लिए भगवान् द्वारा बनाया गया कर्म का नियम स्वंय भगवान् पर लागू नहीं होता, न ही वे सामान्य जीवों की तरह कर्मों के द्वारा अपने को सुधारने के लिए इच्छुक रहते हैं। साधारण जीव अपने बद्ध जीवन को सुधारने के लिए कर्म करते हैं, किन्तु भगवान् पहले से समस्त ऐश्वर्य, समस्त बल, समस्त यश, समस्त सौन्दर्य, समस्त ज्ञान तथा समस्त त्याग से परिपूर्ण हैं। तो फिर वे सुधार के लिए इच्छा क्यों करें? कोई व्यक्ति किसी भी ऐश्वर्य में उनसे आगे नहीं जा सकता, अतएव सुधार की इच्छा उनके लिए सर्वथा निरर्थक है। मनुष्य को सदैव भगवान् तथा सामान्य जीवों के कार्यकलापों में अन्तर करना चाहिए। तभी वह भगवान् के दिव्य पद के विषय में सही निर्णय पर पहुँच सकता है। जो भगवान् की दिव्यता के विषय में किसी निर्णय पर पहुँच जाता है, वह भगवान् का भक्त बन सकता है और अपने विगत कर्मों के समस्त फलों से तुरन्त मुक्त हो सकता है। कहा गया है *कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजाम्;* भगवान् भक्त के विगत कर्मों के फलों को या तो कम कर देते हैं या एकदम निष्प्रभावित कर देते हैं (*ब्रह्म-संहिता* ५.५४)

भगवान् के कार्यकलाप सभी जीवों द्वारा अपनाए जाने तथा आस्वाद किये जाने के लिए हैं। उनके कार्यकलाप सामान्य व्यक्ति को भगवान् के प्रति आकृष्ट करने के लिए होते हैं। भगवान् सदैव भक्तों के हित में कार्य करते हैं, अतएव सामान्य व्यक्ति, जो कि सकामकर्मी होते हैं या मोक्षकामी होते हैं, भगवान् के प्रति आकृष्ट हो सकते हैं जब वे भक्तों के रक्षक के रूप में कार्य करते हैं। सकाम *कर्मी* भक्ति-मय सेवा द्वारा अपने लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं और मोक्षकामी भी भगवद्भक्ति द्वारा अपना जीवन लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं। भक्तगण न तो अपने कर्म का फल चाहते हैं न ही वे किसी प्रकार का मोक्ष चाहते हैं। वे तो भगवान् के यशस्वी अतिमानवीय कार्यों का, यथा उनके द्वारा गोवर्धन पर्वत के उठाये जाने तथा बाल्यावस्था में ही पूतना राक्षसी का वध किये जाने का, आस्वादन करते हैं। उनके कार्य सभी प्रकार के लोगों—*कर्मियों, ज्ञानियों* तथा *भक्तों*—को आकृष्ट करने के लिए सम्पन्न किये जाते हैं। चूँकि वे कर्म के समस्त नियमों से परे हैं, अतएव उनके लिए माया के रूप को स्वीकार करने की सम्भावना नहीं रहती, जिस प्रकार अपने कर्मों के फलों से बद्ध सामान्य जीव बाध्य हो जाते हैं।

उनके प्राकट्य का गौण प्रयोजन दुष्ट असुरों का संहार करने तथा अल्पज्ञों द्वारा अनर्गल नास्तिकतावादी प्रचार को रोकना है। भगवान् की अहैतुकी कृपा से भगवान् द्वारा मारे जाने वाले असुरों को मोक्ष प्राप्त होता है। भगवान् का सार्थक प्राकट्य सामान्य जन्म से सदैव भिन्न होता है। यहाँ तक कि शुद्ध भक्तों का भी भौतिक देह से कोई सम्बन्ध नहीं होता और सच्चिदानन्द रूप में प्रकट होने वाले भगवान् निश्चित रूप से भौतिक स्वरूप द्वारा परि-सीमित नहीं होते।

तस्य प्रपन्नाखिललोकपाना-
मवस्थितानामनुशासने स्वे ।
अर्थाय जातस्य यदुष्वजस्य
वार्तां सखे कीर्तय तीर्थकीर्तेः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; प्रपन्न—शरणागत; अखिल-लोक-पानाम्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के सारे शासकों के; अवस्थितानाम्—स्थित; अनुशासने—नियंत्रण में; स्वे—अपने; अर्थाय—स्वार्थ हेतु; जातस्य—उत्पन्न होने वाले का; यदुषु—यदु कुल में; अजस्य—अजन्मा की; वार्ताम्—कथाएँ; सखे—हे मित्र; कीर्तय—कहो; तीर्थ-कीर्तेः—तीर्थस्थानों में जिन के यश का कीर्तन होता है, उन भगवान् का।

अतएव हे मित्र, उन भगवान् की महिमा का कीर्तन करो जो तीर्थस्थानों में महिमामंडित किये जाने के निमित्त हैं। वे अजन्मा हैं फिर भी ब्रह्माण्ड के सभी भागों के शरणागत शासकों

पर अपनी अहैतुकी कृपा द्वारा वे प्रकट होते हैं। उन्हीं के हितार्थ वे अपने शुद्ध भक्त यदुओं के परिवार में प्रकट हुए।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड भर में नाना प्रकार के लोकों में असंख्य शासक हैं—सूर्यलोक में सूर्यदेव, चन्द्रलोक में चन्द्रदेव, स्वर्गलोक में इन्द्र, वायु, वरुण, तथा ब्रह्मलोक में देवता जिसमें ब्रह्माजी निवास करते हैं। ये सभी भगवान् के आज्ञाकारी सेवक हैं; जब भी विभिन्न ब्रह्माण्डों के असंख्य लोकों के प्रशासन में कोई विपत्ति आती है, तो उनके शासक भगवान् से प्रकट होने के लिए प्रार्थना करते हैं और वे प्रकट होते हैं। इसकी पुष्टि *भागवत* (१.३.२८) में निम्नलिखित श्लोक में पहले ही हुई है—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे॥

हर युग में, जब भी आज्ञाकारी शासकों पर कोई विपत्ति आती है, तो भगवान् प्रकट होते हैं। वे अपने शुद्ध अनन्य भक्तों के लिए भी प्रकट होते हैं। शरणागत शासक तथा शुद्ध भक्तगण सदैव भगवान् के कठोर नियंत्रण में रहते हैं और वे कभी भी भगवान् की इच्छाओं का उल्लंघन नहीं करते। इसीलिए भगवान् सदैव उनका ध्यान रखते हैं।

तीर्थाटन का उद्देश्य भगवान् का निरन्तर स्मरण करना है इसीलिए भगवान् *तीर्थकीर्ति* कहलाते हैं। तीर्थस्थान की यात्रा करने का उद्देश्य भगवान् की महिमा के गायन का अवसर प्राप्त करना है। आज भी, यद्यपि समय बदल चुका है, फिर भी भारत में तीर्थयात्रा के अनेक स्थल हैं। उदाहरणार्थ, मथुरा तथा वृन्दावन में, जहाँ हमें ठहरने का अवसर प्राप्त हुआ है, लोग प्रातः काल चार बजे से जग कर रात होने तक किसी न किसी रूप में भगवान् की महिमा के गायन में लगे रहते हैं। ऐसे तीर्थस्थान की शोभा यह है कि मनुष्य को स्वतः भगवान् की पवित्र महिमा का स्मरण हो आता है। उनका नाम, यश, गुण, रूप, लीलाएँ तथा साज-सामग्री भगवान् से अभिन्न हैं, अतएव भगवान् की महिमा के कीर्तन से भगवान् की साकारता का आवाहन होता है। किसी भी समय या कहीं भी शुद्ध भक्त-गण मिल कर भगवान् की महिमा का कीर्तन करते हैं, तो निस्सन्देह भगवान् आकर उपस्थित होते हैं। भगवान् ने स्वयं कहा है कि जहाँ उनके शुद्ध भक्त उनकी महिमाओं का गायन करते हैं वहाँ वे सदैव निवास करते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''विदुर द्वारा पूछे गये प्रश्न'' नामक प्रथम अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दो

भगवान् कृष्ण का स्मरण

श्रीशुक उवाच
इति भागवतः पृष्टः क्षत्त्रा वार्तां प्रियाश्रयाम् ।
प्रतिवक्तुं न चोत्सेह औत्कण्ठ्यात्स्मारितेश्वरः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; भागवतः—महान् भक्त; पृष्टः—पूछे जाने पर; क्षत्त्रा—विदुर द्वारा; वार्ताम्—सन्देश; प्रिय-आश्रयाम्—प्रियतम के विषय में; प्रतिवक्तुम्—उत्तर देने के लिए; न—नहीं; च—भी; उत्सेहे—उत्सुक हुआ; औत्कण्ठ्यात्—अत्यधिक उत्सुकता वश; स्मारित—स्मृति; ईश्वरः—ईश्वर।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब विदुर ने महान् भक्त उद्धव से प्रियतम (कृष्ण) का सन्देश बतलाने के लिए कहा तो भगवान् की स्मृति के विषय में अत्यधिक विह्वलता के कारण उद्धव तुरन्त उत्तर नहीं दे पाये।

यः पञ्चहायनो मात्रा प्रातराशाय याचितः ।
तन्नैच्छद्रचयन्यस्य सपर्यां बाललीलया ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; पञ्च—पाँच; हायनः—वर्ष का; मात्रा—अपनी माता द्वारा; प्रातः-आशाय—कलेवा के लिए; याचितः—बुलाये जाने पर; तत्—उस; न—नहीं; ऐच्छत्—चाहा; रचयन्—खेलते हुए; यस्य—जिसकी; सपर्याम्—सेवा; बाल-लीलया—बचपन।

वे अपने बचपन में ही जब पाँच वर्ष के थे तो भगवान् कृष्ण की सेवा में इतने लीन हो जाते थे कि जब उनकी माता प्रातःकालीन कलेवा करने के लिए बुलातीं तो वे कलेवा करना नहीं चाहते थे।

तात्पर्य : अपने जन्म से ही उद्धव भगवान् कृष्ण के सहज भक्त अर्थात् नित्य-सिद्ध, मुक्त-आत्मा थे। वे अपने बचपन में भी स्वाभाविक अन्तःप्रेरणा के कारण कृष्ण की सेवा करते थे। वे कृष्ण के स्वरूप वाले गुड्डों से खेला करते, उन्हें वस्त्र पहनाते, खिलाते और पूजा किया करते। इस तरह वे दिव्य साक्षात्कार की क्रीड़ा में निरन्तर लीन रहते। ये ही सब नित्य मुक्तात्मा के लक्षण हैं। नित्य मुक्तात्मा भगवान् का भक्त होता है, जो उनको कभी नहीं भुलाता। मानव जीवन भगवान् के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को पुनर्जागृत करने के लिए होता है और सारे धार्मिक आदेश जीव की इस सुप्त अन्तः प्रेरणा को जागृत करने के लिए होते हैं। यह जागृति जितनी ही जल्दी लाई जा सके उतनी ही तेजी से मानव

जीवन का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। भक्तों के अच्छे परिवार में बालक को भगवान् की सेवा करने का अनेक प्रकार से अवसर मिलता है। ऐसा व्यक्ति जो पहले से भक्ति में प्रगति कर चुका होता है, उसे ऐसे प्रबुद्ध परिवार में जन्म लेने का अवसर प्राप्त होता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (६.४१) में हुई है—*शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते*—पतित भक्त को भी सुसम्पन्न ब्राह्मण परिवार में, या धनी वैश्य परिवार में जन्म लेने का अवसर प्राप्त होता है। इन दोनों परिवारों में ईश-भावनामृत के अपने बोध को स्वत: पुनरुज्जीवित करने का अच्छा अवसर रहता हैं, क्योंकि इन परिवारों में नियमित रूप से भगवान् कृष्ण की पूजा की जाती है और बालक को पूजाविधि अर्थात् अर्चना का अनुकरण करने का सुअवसर प्राप्त होता है।

भक्ति में लोगों को प्रशिक्षित करने के लिए *पाञ्चरात्रिकी विधि* मन्दिर पूजा है, जिसके द्वारा नवदीक्षितों को भगवद्भक्ति सीखने का अवसर मिलता है। महाराज परीक्षित भी अपने बचपन में कृष्ण के गुड्डों से खेला करते थे। अब भी भारत में अच्छे परिवारों में बच्चों को खेलने के लिए राम तथा कृष्ण के खिलौने या कभी-कभी देवताओं के खिलौने दिये जाते हैं जिससे उनमें भगवान् की सेवा करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो। भगवत्कृपा से हमें भी हमारे माता-पिता ने ऐसा ही सुअवसर प्रदान किया और हमारे जीवन का शुभारम्भ इसी सिद्धान्त पर आधारित था।

स कथं सेवया तस्य कालेन जरसं गतः ।
पृष्टो वार्तां प्रतिब्रूयाद्भर्तुः पादावनुस्मरन् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सः—उद्धव; कथम्—कैसे; सेवया—ऐसी सेवा से; तस्य—उसका; कालेन—समय के साथ; जरसम्—अशक्तता को; गतः—प्राप्त; पृष्टः—पूछे जाने पर; वार्ताम्—सन्देश; प्रतिब्रूयात्—उत्तर देने के लिए; भर्तुः—भगवान् के; पादौ—चरण कमलों का; अनुस्मरन्—स्मरण करते हुए।

इस तरह उद्धव अपने बचपन से ही लगातार कृष्ण की सेवा करते रहे और उनकी वृद्धावस्था में सेवा की वह प्रवृत्ति कभी शिथिल नहीं हुई। जैसे ही उनसे भगवान् के सन्देश के विषय में पूछा गया, उन्हें तुरन्त उनके विषय में सब कुछ स्मरण हो आया।

तात्पर्य : भगवान् के प्रति दिव्य सेवा लौकिक नहीं होती। भक्त की सेवा-प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ती जाती है और वह कभी शिथिल नहीं पड़ती। सामान्यतया वृद्धावस्था में व्यक्ति को संसारी सेवा से

निवृत्ति लेने की अनुमति दे दी जाती है, किन्तु भगवान् की दिव्य सेवा से कोई निवृत्त नहीं होता। विपरित इसके आयु बढ़ने के साथ-साथ भक्ति की प्रवृत्ति अधिकाधिक बढ़ती जाती है। चूँकि दिव्य सेवा में तृप्ति नहीं होती, अतः इससे कोई निवृत्ति नहीं होती है। भौतिक दृष्टि से जब मनुष्य अपने भौतिक शरीर से सेवा करते करते थक जाता है, तो उसे सेवा से निवृत्ति की अनुमति दे दी जाती है, किन्तु दिव्य सेवा में थकान का अनुभव नहीं होता, क्योंकि यह आध्यात्मिक सेवा होती है और शारीरिक स्तर पर नहीं होती। शारीरिक स्तर पर होने वाली सेवा शरीर के वृद्ध होने के साथ घटती जाती है, किन्तु आत्मा कभी वृद्ध नहीं होता, अतः आध्यात्मिक स्तर पर सेवा कभी उबाऊ नहीं लगती।

निस्सन्देह, उद्धव वृद्ध हो चुके थे, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी आत्मा वृद्ध हो गई थी। दिव्य स्तर पर उनकी सेवा-प्रवृत्ति परिपक्व हो चुकी थी, अतएव जब विदुर ने कृष्ण के विषय में प्रश्न किया, तो उन्होंने तुरन्त भगवान् को सारे सन्दर्भों सहित स्मरण किया और वे शारीरिक स्तर पर स्वयं को भूल गये। यह शुद्ध भगवद्भक्ति का लक्षण है, जैसाकि बाद में भगवान् कपिल द्वारा अपनी माता देवहूति को दिये गये (*लक्षणं भक्ति योगस्य...*) उपदेशों के प्रसंग में बतलाया जाएगा।

स मुहूर्तमभूत्तूष्णीं कृष्णाङ्घ्रिसुधया भृशम् ।
तीव्रेण भक्तियोगेन निमग्नः साधु निर्वृतः ॥४॥

शब्दार्थ

सः—उद्धव; मुहूर्तम्—क्षण भर के लिए; अभूत्—हो गया; तूष्णीम्—मौन; कृष्ण-अङ्घ्रि—भगवान् के चरणकमलों के; सुधया—अमृत से; भृशम्—सुपक्व; तीव्रेण—अत्यन्त प्रबल; भक्ति-योगेन—भक्ति द्वारा; निमग्नः—डूबे हुए; साधु—उत्तम; निर्वृतः—प्रेम पूर्ण।

वे क्षणभर के लिए एकदम मौन हो गये और उनका शरीर हिला-डुला तक नहीं। वे भक्तिभाव में भगवान् के चरणकमलों के स्मरण रूपी अमृत में पूरी तरह निमग्न हो गये और उसी भाव में वे गहरे उतरते दिखने लगे।

तात्पर्य : विदुर द्वारा कृष्ण के विषय में पूछे जाने पर ऐसा प्रतीत हुआ मानो उद्धव नींद से जगे हों। वे यह खेद करते प्रतीत हुए कि उन्होंने भगवान् के चरणकमलों को भुला दिया है। इस पर उन्होंने पुनः भगवान् के चरणकमलों का स्मरण किया और उनके प्रति अपनी दिव्य प्रेमाभक्ति का स्मरण किया। ऐसा करने से उन्हें वैसा ही आनन्द मिला जैसाकि वे भगवान् की उपस्थिति में अनुभव करते

थे। चूँकि भगवान् परम पूर्ण हैं, अतएव उनकी स्मृति तथा उनकी सदेह उपस्थिति में कोई अन्तर नहीं है। इस तरह उद्धव एक क्षण के लिए पूर्णत: मौन रहे, किन्तु वे उस आनन्द में अधिकाधिक गहरे जाते प्रतीत हुए। भावावेश का प्रदर्शन महाभागवतों द्वारा किया जाता है। शरीर में आठ प्रकार के दिव्य परिवर्तन होते हैं। ये हैं अश्रु, कम्पन, प्रस्वेदन, बेचैनी, रोमांच, गले का रुँधना इत्यादि और विदुर के समक्ष उद्धव में इन सबका प्राकट्य हुआ।

पुलकोद्भिन्नसर्वाङ्गो मुञ्चन्मीलद्दृशा शुचः ।
पूर्णार्थो लक्षितस्तेन स्नेहप्रसरसम्प्लुतः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

पुलक-उद्भिन्न—दिव्य भाव के शारीरिक परिवर्तन; सर्व-अङ्गः—शरीर का हर भाग; मुञ्चन्—लेपते हुए; मीलत्—खोलते हुए; दृशा—आँखों द्वारा; शुचः—शोक के अश्रु; पूर्ण-अर्थः—पूर्ण सिद्धि; लक्षितः—इस तरह देखा गया; तेन—विदुर द्वारा; स्नेह-प्रसर—विस्तृत प्रेम; सम्प्लुतः—पूर्णरूपेण स्वात्मीकृत।

विदुर ने देखा कि उद्धव में सम्पूर्ण भावों के कारण समस्त दिव्य शारीरिक परिवर्तन उत्पन्न हो आये हैं और वे अपनी आँखों से विछोह के आँसुओं को पोंछ डालने का प्रयास कर रहे हैं। इस तरह विदुर यह जान गये कि उद्धव ने भगवान् के प्रति गहन प्रेम को पूर्णरूपेण आत्मसात् कर लिया है।

तात्पर्य : भगवान् के एक अनुभवी भक्त विदुर ने उद्धव में भक्तिमय जीवन के उच्चतम लक्षण देखे और उन्होंने उनके भगवत्प्रेम की सिद्धावस्था की पुष्टि की। ऐसे भावमय शारीरिक परिवर्तन आध्यात्मिक स्तर पर प्रगट होते हैं और ये अभ्यास द्वारा उत्पन्न की गई कृत्रिम अभिव्यक्तियाँ नहीं होते। भक्ति के विकास की तीन विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम अवस्था है भक्ति संहिताओं में संस्तुत विधि-विधानों का पालन करना। दूसरी अवस्था है भक्ति की स्थायी दशा का आत्मसात् होना तथा उसकी अनुभूति होना और अन्तिम अवस्था है दिव्य शारीरिक अभिव्यक्ति के लक्षणों वाली भाव-अवस्था। भक्ति की नौ विभिन्न विधियाँ यथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण इत्यादि इस विधि के शुभारम्भ हैं। भगवान् की महिमाओं तथा लीलाओं के नियमपूर्वक श्रवण से शिष्य के हृदय की अशुद्धियाँ धुलने लगती हैं। जिस शिष्य की अशुद्धियाँ जितनी अधिक धुल जाती है, वह भक्ति में उतना ही अधिक दृढ़ होता जाता है। क्रमशः ये भक्ति कार्य एक-एक करके स्थिरता, दृढ़ विश्वास, स्वाद, अनुभूति तथा

आत्मसात् का रूप धारण कर लेते हैं। क्रमिक विकास की ये विभिन्न अवस्थाएँ ईश प्रेम को सर्वोच्च अवस्था तक पहुँचा देती हैं और इस सर्वोच्च अवस्था में भी स्नेह, क्रोध तथा अनुराग जैसे अन्य लक्षण पाये जाते हैं। धीरे-धीरे विशेष दशाओं में ये *महाभाव* की दशा को प्राप्त कर लेते हैं, जो जीवों में सामान्यतया सम्भव नहीं हैं। ये सभी ईश्वर प्रेम के साक्षात् रूप श्री चैतन्य महाप्रभु में प्रकट होते थे।

श्री चैतन्य महाप्रभु के मुख्य शिष्य श्री रूप गोस्वामी कृत *भक्ति-रसामृत-सिन्धु* में इन दिव्य लक्षणों का क्रमबद्ध वर्णन हुआ है, जो उद्धव जैसे शुद्ध भक्तों द्वारा प्रदर्शित किये जाते हैं। हमने भी *भक्ति-रसामृत-सिन्धु* का सार रूप में *दि नेक्टर आफ डिवोशन* शीर्षक से एक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक को भक्ति विज्ञान पर अधिक जानकारी हेतु देखा जा सकता है।

शनकैर्भगवल्लोकान्नृलोकं पुनरागतः ।
विमृज्य नेत्रे विदुरं प्रीत्याहोद्धव उत्स्मयन् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

शनकैः—धीरे-धीरे; भगवत्—भगवान्; लोकात्—धाम से; नृलोकम्—मनुष्य लोक को; पुनः आगतः—फिर से आकर; विमृज्य—पोंछकर; नेत्रे—आँखें; विदुरम्—विदुर से; प्रीत्या—स्नेहपूर्वक; आह—कहा; उद्धवः—उद्धव ने; उत्स्मयन्—उन स्मृतियों के द्वारा।

महाभागवत उद्धव तुरन्त ही भगवान् के धाम से मानव-स्तर पर उतर आये और अपनी आँखें पोंछते हुए उन्होंने अपनी पुरानी स्मृतियों को जगाया तथा वे विदुर से प्रसन्नचित्त होकर बोले।

तात्पर्य : जब उद्धव ईशप्रेम के दिव्य भाव में मग्न थे तो वे बाह्य जगत के विषय में सब कुछ भूल गये थे। शुद्ध भक्त निरन्तर भगवद्धाम में रहता है यहाँ तक कि वर्तमान शरीर में भी जो कि इस जगत से सम्बन्धित है। शुद्ध भक्त पूरी तरह शारीरिक स्तर पर नहीं रहता, क्योंकि वह परमात्मा के दिव्य विचार में निमग्न रहता है। चूँकि अब उद्धव विदुर से बात करना चाह रहे थे, अतः उद्धव भगवद्धाम द्वारका से नीचे उतर कर मनुष्यों के भौतिक स्तर पर आ गये। यद्यपि शुद्ध भक्त इस मर्त्य जगत में उपस्थित रहता है, किन्तु भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे होने के कारण ही वह यहाँ पर रहता है, किसी अन्य भौतिक कारण से नहीं। जीव अपने अस्तित्व की स्थिति के अनुसार या तो भौतिक स्तर पर रह सकता है या भगवान् के दिव्य धाम में। जीव में होनेवाले पारिस्थितिक परिवर्तनों की व्याख्या भगवान् श्री चैतन्य द्वारा श्रील रूप गोस्वामी को दिए गये उपदेशों में *चैतन्य चरितामृत* में की गई है, "समस्त

ब्रह्माण्डों में सारे जीव अपने कर्म का फल जन्म-जन्मांतर भोगते हैं। इनमें से कुछ जीव शुद्ध भक्तों की संगति में आकर रस प्राप्ति के द्वारा भक्ति करने का अवसर प्राप्त कर पाते हैं। यही आस्वाद भक्ति का बीज है और जो इस बीज को प्राप्त करने का परम भाग्यशाली होता है उसे सलाह दी जाती है कि वह अपने हृदय के अन्तस्थल में इस बीज को बो दे। जिस तरह बीज बोने के बाद उसमें फल लगने के लिए पानी देकर सींचना पड़ता है उसी तरह भक्त के हृदय में बोया हुआ भक्ति का बीज भगवान् के नाम तथा लीलाओं के श्रवण तथा कीर्तन रूपी जल से सींच कर बड़ा किया जा सकता है। इस तरह से पोषित भक्ति की लता क्रमशः बढ़ती जाती है और भक्त माली के रूप में निरन्तर श्रवण तथा कीर्तन रूपी जल से उसे सींचता रहता है। यह भक्तिलता धीरे-धीरे इतनी ऊँची बढ़ जाती है कि सारे भौतिक ब्रह्माण्ड को पार करते हुए वह वैकुण्ठलोक में पहुँचती है जहाँ से आगे बढ़ते हुए वह गोलोक वृन्दावन पहुँच जाती है। भक्त रूपी माली मात्र श्रवण तथा कीर्तन द्वारा भगवान् की भक्ति करने से भौतिक स्तर पर होते हुए भी भगवद्धाम के सम्पर्क में रहता है। जिस तरह लता किसी अन्य बलवान् वृक्ष की शरण लेती है उसी तरह भक्ति रूपी लता भक्त द्वारा पोषित होकर भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करती है और इस तरह स्थिर हो जाती है। जब लता स्थिर हो जाती है, तो उसमें फल लग जाता है और तब जिस माली ने इसका पोषण किया था वह प्रेम रूपी फल का आस्वाद कर सकता है और उसका जीवन सफल हो जाता है।" उद्धव को यह अवस्था प्राप्त हो गई थी, यह उनके व्यवहार से स्पष्ट है। वे परम धाम पहुँच सकते थे और उसी के साथ-साथ इस जगत में भी प्रकट हो सकते थे।

उद्धव उवाच

कृष्णद्युमणि निम्लोचे गीर्णेष्वजगरेण ह ।
किं नु नः कुशलं ब्रूयां गतश्रीषु गृहेष्वहम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; कृष्ण-द्युमणि—कृष्ण सूर्य; निम्लोचे—अस्त होने पर; गीर्णेषु—निगला जाकर; अजगरेण—अजगर सर्प द्वारा; ह—भूतकाल में; किम्—क्या; नु—अन्य; नः—हमारी; कुशलम्—कुशल-मंगल; ब्रूयाम्—मैं कहूँ; गत—गई हुई, विहीन; श्रीषु गृहेषु—घर में; अहम्—मैं।

श्री उद्धव ने कहा : हे विदुर, संसार का सूर्य कृष्ण अस्त हो चुका है और अब हमारे घर को काल रूपी भारी अजगर ने निगल लिया है। मैं आपसे अपनी कुशलता के विषय में क्या कह सकता हूँ?

तात्पर्य : कृष्ण रूपी सूर्य के अस्त होने की व्याख्या श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका के अनुसार इस प्रकार की जा सकती है : जब विदुर को महान् यदुवंश के तथा अपने परिवार कुरुवंश के संहार का संकेत मिला तो वे अत्यधिक उद्विग्न हो उठे। उद्धव विदुर के शोक को समझ गये, अत: उन्होंने सर्वप्रथम यह कहकर कि सूर्य के अस्त होने पर सारे लोग अंधकार में हैं, संवदेना प्रकट करनी चाही। चूँकि सारा जगत शोक के अंधकार में डूबा था अत: न तो विदुर, न उद्धव, न ही अन्य कोई प्रसन्न रह सकता था। विदुर जितने ही उद्धव भी दुखी थे, अत: उनके कुशलक्षेम के विषय में इससे अधिक कहने के लिए उनके पास कुछ न था।

सूर्य से कृष्ण की तुलना उपयुक्त है। सूर्य के अस्त होते ही अंधकार स्वत: छा जाता है। किन्तु सामान्य व्यक्ति द्वारा अनुभव किया गया अंधकार सूर्य को प्रभावित नहीं करता चाहे समय सूर्योदय का हो या सूर्यास्त का। कृष्ण का आविर्भाव तथा उनका तिरोभाव सूर्य के ही समान हैं। वे असंख्य ब्रह्माण्डों में प्रकट होते तथा अन्तर्धान होते रहते हैं और जब तक वे किसी ब्रह्माण्ड विशेष में विद्यमान रहते हैं तब तक उस ब्रह्माण्ड में दिव्य प्रकाश रहता है, किन्तु जिस ब्रह्माण्ड से वे चले जाते हैं वह अंधकार में समा जाता है। तो भी उनकी लीलाएँ शाश्वत हैं। भगवान् सदैव किसी न किसी ब्रह्माण्ड में विद्यमान रहते हैं जिस तरह सूर्य पूर्वी या पश्चिमी गोलार्ध में विद्यमान रहता है। सूर्य सदा ही भारत में या अमरीका में रहता है, किन्तु जब सूर्य भारत में रहता है, तो अमरीका देश अंधकार में रहता है और जब सूर्य अमरीका में रहता है, तो भारतीय गोलार्ध अंधकार में रहता है।

जिस तरह सूर्य प्रात:काल उदय होता है और क्रमश: मध्याकाश में पहुँचता है, तत्पश्चात् किसी गोलार्ध में अस्त होकर उसी के साथ किसी अन्य गोलार्ध में उदय होता है उसी तरह किसी एक ब्रह्माण्ड से भगवान् कृष्ण के अन्तर्धान होने के साथ ही अन्य ब्रह्माण्ड में उनकी विभिन्न लीलाओं का शुभारम्भ होना है। ज्योंही यहाँ कोई एक लीला समाप्त हो जाती है, त्योंही वह अन्य ब्रह्माण्ड में प्रकट होती है। इस तरह उनकी नित्य लीलाएँ निरन्तर चलती रहती हैं। जिस तरह सूर्योदय चौबीस घण्टों में एक बार होता है उसी तरह एक ब्रह्माण्ड में कृष्ण की लीलाएँ ब्रह्मा के एक दिन में सम्पन्न होती है। *भगवद्गीता* में ब्रह्मा के एक दिन का विवरण ४,३०,००,००,००० सौर वर्ष दिया गया है। किन्तु भगवान् जहाँ भी उपस्थित रहते हैं, उनकी समस्त विविध लीलाएँ नियमित अन्तराल पर होती रहती हैं

जैसाकि शास्त्रों में बतलाया गया है।

सूर्यास्त के समय सर्प प्रबल हो उठते हैं, चोरों को प्रोत्साहन मिलता है, भूत-प्रेत सक्रिय हो उठते हैं, कमल म्लान हो जाते हैं तथा चक्रवाकी विलाप करने लगती है। उसी तरह भगवान् कृष्ण के तिरोभाव से नास्तिक प्रफुल्लित होते हैं और भक्तगण दुखी होते हैं।

दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि ।
ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

दुर्भगः—अभागा; बत—निश्चय ही; लोकः—ब्रह्माण्ड; अयम्—यह; यदवः—यदुकुल; नितराम्—विशेषरूप से; अपि—भी; ये—जो; संवसन्तः—एकसाथ रहते हुए; न—नहीं; विदुः—जान पाये; हरिम्—भगवान् को; मीनाः—मछलियाँ; इव उडुपम्—चन्द्रमा की तरह।

समस्त लोकों समेत यह ब्रह्माण्ड अत्यन्त अभागा है। युदुकुल के सदस्य तो उनसे भी बढ़कर अभागे हैं, क्योंकि वे श्री हरि को भगवान् के रूप में नहीं पहचान पाये जिस तरह मछलियाँ चन्द्रमा को नहीं पहचान पातीं।

तात्पर्य : उद्धव इस संसार के उन अभागे लोगों के प्रति शोक व्यक्त कर रहे थे, जो भगवान् कृष्ण के समस्त दिव्य सद्गुणों को देखते हुए भी उन्हें नहीं पहचान पाते। राजा कंस के बन्दीघर के सीकचों के भीतर उनके प्राकट्य से लेकर उनकी मौसल लीला तक मूर्ख लोग यह नहीं समझ पाये कि वे भगवान् थे, यद्यपि उन्होंने भगवान् के रूप में अपना षडेश्वर्य धन, बल, यश, सौंदर्य, ज्ञान तथा त्याग—प्रदर्शित किया था। मूर्ख लोगों ने उन्हें एक अद्वितीय ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में समझा होगा, क्योंकि भगवान् से उनका घनिष्ठ सम्पर्क नहीं था, किन्तु इनसे भी अधिक अभागे भगवान् के पारिवारिक सदस्य यदुवंशी थे, जो भगवान् के संग में सदैव रहते हुए भी उन्हें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में नहीं पहचान पाये। उद्धव ने अपने भाग्य पर भी शोक व्यक्त किया, क्योंकि कृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में जानते हुए भी वे इस अवसर का लाभ भगवान् की भक्ति करने में नहीं उठा पाये। उन्होंने स्वयं समेत सबों के भाग्य पर खेद प्रकट किया। भगवान् का शुद्ध भक्त अपने को सर्वाधिक अभागा सोचता है। ऐसा भगवत्प्रेम की अधिकता के कारण होता है और यह विरह की दिव्य अनुभूतियों में से एक है।

शास्त्रों से यह जानकारी मिलती है कि चन्द्रमा का जन्म क्षीर सागर से हुआ। क्षीर सागर ऊपरी लोकों में है और उसमें भगवान् विष्णु जो परमात्मा रूप में हर जीव के हृदय को नियंत्रित करने वाले हैं, क्षीरोकदशायी विष्णु के रूप में निवास करते हैं। जो लोग क्षीर सागर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते, उन्होंने समुद्र में केवल नमकीन (खारे) जल का अनुभव किया है, उन्हें यह जान लेना चाहिए कि यह संसार *गो* भी कहलाता है, जिसका अर्थ है गाय। गाय का मूत्र नमकीन होता है और आयुर्वेदिक ओषधि में गाय का मूत्र यकृत से पीड़ित रोगियों का उपचार करने में अत्यधिक प्रभावशाली होता है। ऐसे रोगियों को गाय के दूध का अनुभव नहीं होगा, क्योंकि यकृत रोगियों को दूध कभी नहीं दिया जाता। किन्तु यकृत रोगी को जानना चाहिए कि गाय दूध भी देती है भले ही उस रोगी ने दूध कभी न चखा हो। इसी तरह जिन लोगों को इस क्षुद्र लोक का ही अनुभव है, जिसमें केवल नमकीन जल का सागर विद्यमान है, वे शास्त्रों से यह जानकारी प्राप्त कर सकते हैं कि दूध का भी सागर (क्षीर सागर) होता है, भले ही उन्होंने उसे न देखा हो। इस क्षीर सागर से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ था, किन्तु क्षीर सागर की मछलियाँ यह नहीं पहचान पाईं कि चन्द्रमा उन जैसी मछली नहीं है। मछलियों ने चन्द्रमा को अपने जैसी मछली या कोई चमकीली वस्तु से अधिक कुछ नहीं मान रखा था। वे अभागे लोग जो कृष्ण को नहीं पहचान पाते वे ऐसी ही मछलियों के तुल्य हैं। वे उन्हें अपने में से एक, किन्तु ऐश्वर्य, बल आदि में कुछ अद्वितीय करके, मानते हैं। *भगवद्गीता* (९.११) में ऐसे मूर्ख व्यक्तियों को सर्वाधिक अभागा कहा गया है—*अवजानन्ति मां मूढा: मानुषीं तनुमाश्रितम्*।

इङ्गितज्ञाः पुरुप्रौढा एकारामाश्च सात्वताः ।
सात्वतामृषभं सर्वे भूतावासममंसत ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

इङ्गित-ज्ञाः—मनोवैज्ञानिक अध्ययन में पटु; पुरु-प्रौढाः—अत्यन्त अनुभवी; एक—एक; आरामाः—विश्राम; च—भी; सात्वताः—भक्तगण या अपने ही लोग; सात्वताम् ऋषभम्—परिवार का मुखिया; सर्वे—समस्त; भूत-आवासम्—सर्व-व्यापी; अमंसत—जान सके।

यदुगण अनुभवी भक्त, विद्वान तथा मनोवैज्ञानिक अध्ययन में पटु थे। इससे भी बड़ी बात यह थी कि वे सभी लोग समस्त प्रकार की विश्रान्ति में भगवान् के साथ रहते थे, फिर भी वे उन्हें केवल उस ब्रह्म के रूप में जान पाये जो सर्वत्र निवास करता है।

तात्पर्य : वेदों में कहा गया है कि परमात्मा को मात्र विद्वत्ता या मानसिक चिन्तन के बल पर नहीं समझा जा सकता—*नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन*। (*कठ् उपनिषद् १.२.२३*) वे केवल उसके द्वारा ज्ञेय हैं जिसे भगवत्कृपा प्राप्त होती है। सारे यादव असाधारण विद्वान एवं अनुभवी थे, किन्तु भगवान् को हर एक के हृदय में वास करने वाले के रूप में जानते हुए भी वे यह न समझ पाये कि वे आदि भगवान् हैं। ज्ञान की यह कमी उनके अपर्याप्त पाण्डित्य के कारण नहीं, अपितु उनके दुर्भाग्य के कारण था। किन्तु वृन्दावन में भगवान् परमात्मा रूप में भी विख्यात नहीं थे, क्योंकि वृन्दावन के निवासी भगवान् के शुद्ध अनौपचारिक भक्त थे और वे उन्हें अपने प्रेम का एकमात्र लक्ष्य समझते थे। वे यह नहीं जानते थे कि वे भगवान् हैं। किन्तु यदुगण अथवा द्वारकापुरी के निवासी कृष्ण को वासुदेव के रूप में या सर्वत्र निवास करने वाले परमात्मा के रूप में जानते थे, परन्तु परमेश्वर के रूप में नहीं जानते थे। वेदों के विद्वान होने के नाते वे वेदों के स्तोत्रों *एकोदेवः...सर्वभूताधिवासः... अन्तर्यामी...* तथा *वृष्णीनां परदेवता* की पुष्टि करते थे। इसलिए यदुओं ने भगवान् कृष्ण को परमात्मा के रूप में स्वीकार किया जिन्होंने उनके परिवार में अवतार लिया था, इससे अधिक और कुछ नहीं।

देवस्य मायया स्पृष्टा ये चान्यदसदाश्रिताः ।
भ्राम्यते धीर्न तद्वाक्यैरात्मन्युप्तात्मनो हरौ ॥ १० ॥

शब्दार्थ

देवस्य—भगवान् की; मायया—माया के प्रभाव से; स्पृष्टाः—दूषित हुए; ये—जो लोग; च—तथा; अन्यत्—अन्य लोग; असत्—मायावी; आश्रिताः—वशीभूत; भ्राम्यते—मोहग्रस्त बनाते हैं; धीः—बुद्धि; न—नहीं; तत्—उनके; वाक्यैः—वचनों से; आत्मनि—परमात्मा में; उप्त-आत्मनः—शरणागत आत्माएँ; हरौ—हरि के प्रति।.

भगवान् की माया द्वारा मोहित व्यक्तियों के वचन किसी भी स्थिति में उन लोगों की बुद्धि को विचलित नहीं कर सकते जो पूर्णतया शरणागत हैं।

तात्पर्य : वेदों के समस्त प्रमाणों के अनुसार श्रीकृष्ण ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। सभी आचार्यों ने, यहाँ तक कि श्रीपाद शंकराचार्य ने उन्हें भगवान् स्वीकार किया है, किन्तु जब कृष्ण इस संसार में विद्यमान थे तो विभिन्न श्रेणी के व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से उन्हें स्वीकार किया। अतएव भगवान् विषयक उनके अनुमान भी भिन्न-भिन्न थे। सामान्यतया जिन लोगों को शास्त्रों में विश्वास था उन्होंने भगवान् को यथारूप में स्वीकार किया और इस जगत से भगवान् के अन्तर्धान होने पर सारे लोग उनके

विकट विछोह में डूब गये। प्रथम स्कन्ध में हम अर्जुन तथा युधिष्ठिर के शोक की विवेचना कर चुके हैं, जिनके लिए कृष्ण का अन्तर्धान होना उनके जीवन के अन्त तक अतीव असह्य बना रहा।

यादवगण भगवान् से आंशिक रूप में अवगत थे। वे भी महिमावान हैं, क्योंकि उन्हें अपने परिवार के प्रमुख के रूप में भगवान् की संगति करने का अवसर मिला था और उन लोगों ने भगवान् की अन्तरंग सेवा भी की थी। यादवगण तथा भगवान् के अन्य भक्त उन लोगों से भिन्न हैं, जिन्होंने गलत आकलन द्वारा उन्हें सामान्य व्यक्ति मान लिया था। ऐसे लोग निश्चित रूप से माया द्वारा भ्रमित होते हैं। वे नारकीय होते हैं और भगवान् से ईर्ष्या करते हैं। उन पर माया अत्यन्त बलपूर्वक कार्य करती है, क्योंकि ऐसे लोग उच्च संसारी शिक्षा के बावजूद श्रद्धाविहीन होते हैं तथा नास्तिकता की मानसिकता से संदूषित होते हैं। वे लोग यह स्थापित करने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं कि कृष्ण सामान्य पुरुष थे, जो पृथ्वी के आसुरी राजाओं अर्थात्, धृतराष्ट्र के पुत्रों तथा जरासन्ध को मारने का षड्यंत्र करने के पापों के फलस्वरूप एक शिकारी द्वारा मार डाले गये। वे *भगवद्गीता* के इन कथनों में कोई विश्वास नहीं रखते कि भगवान् कर्मफलों से अप्रभावित रहते हैं—*न मां कर्माणि लिम्पन्ति*। नास्तिकतावादी दृष्टिकोण के अनुसार भगवान् कृष्ण का सारा परिवार यदुवंश, कृष्ण द्वारा धृतराष्ट्र के पुत्रों का वध करने आदि के फलस्वरूप किये गये पापों के कारण ब्राह्मणों से शापित होने से विनष्ट हो गया। ये लांछन भगवद्भक्तों के हृदय को स्पर्श नहीं करते, क्योंकि वे वास्तविकता जानते रहते हैं। भगवान् के सम्बन्ध में उनकी बुद्धि कभी विचलित नहीं होती। किन्तु जो लोग असुरों के कथनों से विचलित हो उठते हैं उनकी भी भर्त्सना की जाती है। इस श्लोक में उद्धव यही कहना चाहते हैं।

प्रदर्श्यातप्ततपसामवितृप्तदृशां नृणाम् ।
आदायान्तरधाद्यस्तु स्वबिम्बं लोकलोचनम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

प्रदर्श्य—दिखलाकर; अतप्त—बिना किये; तपसाम्—तपस्या; अवितृप्त-दृशाम्—दर्शन को पूरा किया; नृणाम्—लोगों का; आदाय—लेकर; अन्तः—अन्तर्धान; अधात्—सम्पन्न किया; यः—जिसने; तु—लेकिन; स्व-बिम्बम्—अपने ही स्वरूप को; लोक-लोचनम्—सार्वजनिक दृष्टि में।

भगवान् श्रीकृष्ण, जिन्होंने पृथ्वी पर सबों की दृष्टि के समक्ष अपना नित्य स्वरूप प्रकट किया था, अपने स्वरूप को उन लोगों की दृष्टि से हटाकर अन्तर्धान हो गये जो वांछित तपस्या न

कर सकने के कारण उन्हें यथार्थ रूप में देख पाने में असमर्थ थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अवितृप्त-दृशाम्* शब्द अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। भौतिक जगत में बद्धात्माएँ विविध प्रकार से अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करने में लगी हुई हैं, किन्तु वे वैसा करने में असफल रही हैं, क्योंकि ऐसे प्रयासों से तुष्ट हो पाना असम्भव है। स्थल पर मछली का दृष्टान्त अत्यन्त उपयुक्त है। यदि कोई मछली को पानी से बाहर निकाल कर स्थल पर रख देता है, तो वह सुखी नहीं रह पाती चाहे उसे कितना ही आनन्द क्यों न प्रदान किया जाय। आत्मा परम पुरुष भगवान् के ही सान्निध्य में सुखी रह सकता है, अन्यत्र नहीं। भगवान् की असीम अहैतुकी कृपा से उनके पास आध्यात्मिक जगत में *ब्रह्मज्योति* मण्डल में असंख्य वैकुण्ठलोक और उस दिव्य जगत में जीवों के असीम आनन्द के लिए अनन्त व्यवस्था है।

भगवान् स्वयं अपनी उन दिव्य लीलाओं को प्रदर्शित करने के लिए आते हैं, जो विशेष रूप से वृन्दावन, मथुरा तथा द्वारका में सम्पन्न की जाती हैं। वे बद्धात्माओं को शाश्वत लोक भगवद्धाम के लिए आकृष्ट करने हेतु प्रकट होते हैं। किन्तु पर्याप्त पुण्य के अभाव में दर्शकगण भगवान् की ऐसी लीलाओं के प्रति आकृष्ट नहीं होते। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जिन्होंने पापमार्ग को पूरी तरह लाँघ लिया है, वे ही भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में अपने को लगा सकते हैं। सम्पूर्ण वैदिक कर्मकाण्ड का उद्देश्य प्रत्येक बद्धात्मा को पुण्य मार्ग पर लगाना है। समस्त वर्णों के लिए नियत नियमों का कड़ाई से पालन करने पर मनुष्य सत्य, मनोनिग्रह, इन्द्रियनिग्रह, धैर्य इत्यादि गुणों को प्राप्त कर सकता है और भगवान् की शुद्ध भक्ति करने के पद तक उठ सकता है। ऐसी दिव्य दृष्टि से ही मनुष्य की भौतिक लालसाएँ पूर्णतया तुष्ट हो सकती हैं।

जब भगवान् विद्यमान थे तो जो लोग उन्हें असली रूप में देखने की अपनी भौतिक लालसा पूरी कर सके वे उन के साथ भगवद्धाम वापस जा सके। किन्तु जो लोग भगवान् को यथारूप में नहीं देख पाये वे भौतिक लालसाओं से बद्ध रहे और भगवद्धाम वापस नहीं जा सके। जब भगवान् सबों की दृष्टि से परे चले गये तो उन्होंने अपने आदि नित्य रूप में ऐसा किया जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है। उन्होंने सशरीर प्रयाण किया। उन्होंने अपना शरीर छोड़ा नहीं जैसाकि बद्धात्माएँ सामान्य रूप से गलती से समझती हैं। यह कथन उन श्रद्धाविहीन अभक्तों के इस मिथ्या प्रचार को झुठला देता है कि भगवान्

सामान्य बद्धात्मा की तरह दिवगंत हुए। भगवान् इस जगत से अविश्वासी असुरों का अनुचित भार हटाने के लिए प्रकट हुए थे और ऐसा करने के बाद संसार की दृष्टि से ओझल हो गये।

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग-
मायाबलं दर्शयता गृहीतम् ।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः
परं पदं भूषणभूषणाङ्गम् ॥ १२॥

शब्दार्थ

यत्—उनका जो नित्यरूप; मर्त्य—मर्त्यजगत; लीला-उपयिकम्—लीलाओं के लिए उपयुक्त; स्व-योग-माया-बलम्—अन्तरंगा शक्ति का बल; दर्शयता—अभिव्यक्ति के लिए; गृहीतम्—ढूँढ निकाला; विस्मापनम्—अद्भुत; स्वस्य—अपना; च—तथा; सौभग-ऋद्धेः—ऐश्वर्यवान् का; परम्—परम; पदम्—गन्तव्य; भूषण—आभूषण; भूषण-अङ्गम्—आभूषणों का।

भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति योगमाया के द्वारा मर्त्यलोक में प्रकट हुए। वे अपने नित्य रूप में आये जो उनकी लीलाओं के लिए उपयुक्त है। ये लीलाएँ सबों के लिए आश्चर्यजनक थीं, यहाँ तक कि उन लोगों के लिए भी जिन्हें अपने ऐश्वर्य का गर्व है, जिसमें वैकुण्ठपति के रूप में भगवान् का स्वरूप भी सम्मिलित है। इस तरह उनका (श्रीकृष्ण का) दिव्य शरीर समस्त आभूषणों का आभूषण है।

तात्पर्य : वैदिक स्रोतों के अनुसार—(*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*) भगवान् भौतिक जगत में समस्त ब्रह्माण्डों के भीतर के अन्य सारे जीवों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट हैं। वे समस्त जीवों में प्रधान हैं। धन, बल, यश, सौन्दर्य, ज्ञान अथवा त्याग के क्षेत्र में न तो कोई उनके समकक्ष है न उनसे बढ़कर है। जब भगवान् कृष्ण इस ब्रह्माण्ड में थे तो वे मनुष्य प्रतीत होते थे, क्योंकि वे मर्त्यलोक की अपनी लीलाओं के लिए उपयुक्त रूप में प्रकट हुए थे। वे मानव समाज में अपने चतुर्भुजी वैकुण्ठ स्वरूप में प्रकट नहीं हुए, क्योंकि यह स्वरूप उनकी लीलाओं के उपयुक्त न होता। किन्तु मनुष्य के रूप में प्रकट होते हुए भी कोई व्यक्ति विविध षडैश्वर्यों में से किसी एक में भी न तो उनके तुल्य था, न है। हर व्यक्ति इस जगत में अपने ऐश्वर्य के प्रति न्यूनाधिक गर्वित रहता है, किन्तु जब भगवान् कृष्ण मानव समाज में थे तो वे ब्रह्माण्ड में अपने समस्त समकालीन व्यक्तियों से बढ़कर थे।

जब भगवान् की लीलाएँ मनुष्य को दृष्टिगोचर होती हैं, तो वे *प्रकट* कहलाती हैं और जब वे दृष्टिगोचर नहीं होतीं तो *अप्रकट* कहलाती हैं। वस्तुतः भगवान् की लीलाएँ कभी नहीं रुकतीं जिस तरह

सूर्य कभी आकाश को नहीं छोड़ता। सूर्य सदैव आकाश में सही कक्ष्या पर बना रहता है, किन्तु हमारी सीमित दृष्टि में वह कभी दिखता है, तो कभी ओझल रहता है। इसी तरह भगवान् की लीलाएँ सदैव किसी न किसी ब्रह्माण्ड में चलती रहती हैं। जब कृष्ण द्वारका के दिव्य धाम से अन्तर्धान हो गये तो यह वहाँ के लोगों की आँखों से उनका ओझल होना था। इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि उनका दिव्य शरीर जो मर्त्यलोक की लीलाओं के लिए उपयुक्त था, वैकुण्ठलोक में उनके विभिन्न अंशों से किसी तरह निकृष्ट था। भौतिक जगत में प्रकट होने वाला उनका शरीर इस बात में सर्वोत्कृष्ट है कि मर्त्यलोक में उनकी लीलाएँ वैकुण्ठलोक में प्रदर्शित उनकी कृपा से बढ़कर हैं। वैकुण्ठलोक में भगवान् मुक्त या *नित्यमुक्त* जीवों के प्रति ही दयालु होते हैं, किन्तु मर्त्य जगत की अपनी लीलाओं में वे उन पतितात्माओं पर भी दयालु होते हैं, जो *नित्यबद्ध* हैं। मर्त्यलोक में अपनी अन्तरंगा शक्ति या *योगमाया* के द्वारा प्रदर्शित *षड् ऐश्वर्य* वैकुण्ठलोक तक में दुर्लभ हैं। उनकी समस्त लीलाएँ किसी भौतिक शक्ति द्वारा नहीं, अपितु आध्यात्मिक शक्ति द्वारा प्रदर्शित की गई थीं। वृन्दावन में उनकी रासलीला की अनुपमता तथा सोलह हजार पत्नियों के साथ उनका गृहस्थ जीवन वैकुण्ठ में नारायण के लिए भी आश्चर्यजनक है और इस मर्त्यलोक के अन्य जीवों के लिए भी निश्चित रूप से ऐसा ही है। उनकी लीलाएँ भगवान् के अन्य अवतारों के लिए भी, यथा श्रीराम, नृसिंह तथा वराह के लिए भी, आश्चर्यजनक हैं। उनका ऐश्वर्य इतना सर्वोत्कृष्ट था कि उनकी लीलाओं की प्रशंसा वैकुण्ठ के स्वामी द्वारा भी की गई जो कि स्वयं भगवान् कृष्ण से भिन्न नहीं हैं।

यद्धर्मसूनोर्बत राजसूये
निरीक्ष्य दृक्स्वस्त्ययनं त्रिलोकः ।
कात्स्न्र्येन चाद्येह गतं विधातुर्
अर्वाक्सृतौ कौशलमित्यमन्यत ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो रूप; धर्म-सूनोः—महाराज युधिष्ठिर के; बत—निश्चय ही; राजसूये—राजसूय यज्ञ शाला में; निरीक्ष्य—देखकर; दृक्—दृष्टि; स्वस्त्ययनम्—मनोहर; त्रि-लोकः—तीनों लोक के; कात्स्न्र्येन—सम्पूर्णतः; च—इस तरह; अद्य—आज; इह—इस ब्रह्माण्ड के भीतर; गतम्—पार करके; विधातुः—स्त्रष्टा (ब्रह्मा) का; अर्वाक्—अर्वाचीन मानव; सृतौ—भौतिक जगत में; कौशलम्—दक्षता; इति—इस प्रकार; अमन्यत—सोचा।

महाराज युधिष्ठिर द्वारा सम्पन्न किये गये राजसूय यज्ञ शाला में उच्चतर, मध्य तथा अधोलोकों से सारे देवता एकत्र हुए। उन सबों ने भगवान् कृष्ण के सुन्दर शारीरिक स्वरूप को

देखकर विचार किया कि वे मनुष्यों के स्रष्टा ब्रह्मा की चरम कौशलपूर्ण सृष्टि हैं।

तात्पर्य : जब भगवान श्रीकृष्ण इस जगत में वर्तमान थे तो उनके शारीरिक स्वरूप की तुलना करने वाली कोई वस्तु नहीं थी। भौतिक जगत के सुन्दरतम पदार्थ की तुलना नीले कमल से या आकाश में पूर्ण चन्द्रमा से की जा सकती है, किन्तु कमल तथा चन्द्रमा भी कृष्ण के शारीरिक सौन्दर्य के समक्ष पराजित हो जाते थे जिसकी पुष्टि ब्रह्माण्ड के सबसे सुन्दर प्राणियों अर्थात् देवताओं द्वारा की गई। देवताओं ने सोचा कि उन्हीं की तरह भगवान् कृष्ण भी ब्रह्मा द्वारा सृजित हुए हैं। जब कि तथ्य यह है कि ब्रह्मा का सृजन भगवान् कृष्ण द्वारा हुआ। भगवान् के दिव्य सौन्दर्य का सर्जन करना ब्रह्मा की शक्ति में न था। कोई भी व्यक्ति कृष्ण का स्रष्टा नहीं है, प्रत्युत वे हर एक के स्रष्टा हैं। *भगवद्गीता* (१०.८) में कहा गया है—*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते* ।

यस्यानुरागप्लुतहासरास-
लीलावलोकप्रतिलब्धमानाः ।
व्रजस्त्रियो दृग्भिरनुप्रवृत्त
धियोऽवतस्थुः किल कृत्यशेषाः ॥ १४॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसकी; अनुराग—आसक्ति; प्लुत—वर्धित; हास—हँसी; रास—मजाक, विनोद; लीला—लीलाएँ; अवलोक—चितवन; प्रतिलब्ध—से प्राप्त; मानाः—व्यथित; व्रज-स्त्रियः—व्रज की बालाएँ; दृग्भिः—आँखों से; अनुप्रवृत्त—अनुगमन करती; धियः—बुद्धि द्वारा; अवतस्थुः—चुपचाप बैठ गईं; किल—निस्सन्देह; कृत्य-शेषाः—घर का काम काज।

हँसी, विनोद तथा देखादेखी की लीलाओं के पश्चात् व्रज की बालाएँ कृष्ण के चले जाने पर व्यथित हो जातीं। वे अपनी आँखों से उनका पीछा करती थीं, अतः वे हतबुद्धि होकर बैठ जातीं और अपने घरेलू कामकाज पूरा न कर पातीं।

तात्पर्य : वृन्दावन में अपनी बाल्यावस्था में भगवान् कृष्ण समवयस्का सारी बालाओं को दिव्य प्रेमवश छेड़छाड़ करने के लिए प्रख्यात थे। उनके प्रति कृष्ण का प्रेम इतना प्रगाढ़ था कि उस आनन्द की कोई तुलना नहीं है और व्रज बालाएँ उन पर इतनी अनुरक्त थीं कि ब्रह्मा तथा शिव जैसे महान् देवताओं के भी स्नेह से बढ़कर उनका स्नेह था। भगवान् कृष्ण ने अन्त में गोपियों के दिव्य स्नेह के समक्ष अपनी पराजय स्वीकार की और घोषित किया कि वे उनके विशुद्ध स्नेह से कभी उऋण नहीं हो सकते। यद्यपि गोपियाँ भगवान् के तंग करने के व्यवहार पर व्यथित प्रतीत होती थीं, किन्तु जब कृष्ण

उन्हें छोड़ कर जाते तो वे इस विरह को न सह सकतीं और अपने नेत्रों तथा मन से उनका पीछा करती थीं। वे इस स्थिति से इतनी स्तब्ध हो उठतीं कि वे अपने घरेलू कामकाज पूरा न कर पातीं। युवकों तथा युवतियों के मध्य प्रेम-व्यापार में भी कोई उनसे आगे न बढ़ सकता। शास्त्रों में कहा गया है कि भगवान् स्वयं कभी भी वृन्दावन की सीमा से बाहर नहीं जाते। वे वहाँ के निवासियों के दिव्य प्रेम के वशीभूत होकर निरन्तर वहाँ रहते जाते हैं। इस तरह यद्यपि आज कल वे दृष्टिगोचर नहीं हैं, किन्तु वे क्षण भर के लिए भी वृन्दावन से दूर नहीं जाते।

स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपै-
रभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा ।
परावरेशो महदंशयुक्तो
ह्यजोऽपि जातो भगवान्यथाग्निः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

स्व-शान्त-रूपेषु—अपने शान्त भक्तों के प्रति; इतरैः—अन्यों, अभक्तों; स्व-रूपैः—अपने गुणों के अनुसार; अभ्यर्द्यमानेषु—सताए जाकर; अनुकम्पित-आत्मा—सर्वदयामय भगवान्; पर-अवर—आध्यात्मिक तथा भौतिक; ईशः—नियंत्रक; महत्-अंश-युक्तः—महत् तत्त्व अंश के साथ; हि—निश्चय ही; अजः—अजन्मा; अपि—यद्यपि; जातः—उत्पन्न है; भगवान्—भगवान्; यथा—मानो; अग्निः—आग।

आध्यात्मिक तथा भौतिक सृष्टियों के सर्वदयालु नियन्ता भगवान् अजन्मा हैं, किन्तु जब उनके शान्त भक्तों तथा भौतिक गुणों वाले व्यक्तियों के बीच संघर्ष होता है, तो वे महत् तत्त्व के साथ उसी तरह जन्म लेते हैं जिस तरह अग्नि उत्पन्न होती है।

तात्पर्य : भगवद्भक्त स्वभाव से शान्त होते हैं, क्योंकि उनमें कोई भौतिक लालसा नहीं होती। मुक्तात्मा लालसारहित होता है, अतएव उसे शोक नहीं होता। जो व्यक्ति कुछ सम्पत्ति पाना चाहता है, और जब वह उसे खो देता है, तो वह भी शोक करता है। भक्तों में भौतिक सम्पत्ति के लिए अथवा आध्यात्मिक मोक्ष के लिए कोई लालसा नहीं होती। वे कर्तव्य के रूप में भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में स्थित होते हैं और वे इसकी परवाह नहीं करते कि वे कहाँ हैं अथवा उन्हें किस तरह कार्य करना चाहिए। *कर्मी, ज्ञानी* तथा *योगी,* सभी कुछ न कुछ भौतिक या आध्यात्मिक सम्पत्ति के लिए लालायित रहते हैं। *कर्मीजन* भौतिक सम्पत्ति चाहते हैं, *ज्ञानी* तथा योगीजन आध्यात्मिक सम्पत्ति चाहते हैं, किन्तु भक्तगण कोई भौतिक या आध्यात्मिक सम्पत्ति नहीं चाहते। वे भौतिक अथवा आध्यात्मिक लोकों में कहीं भी भगवान् की इच्छानुसार केवल उनकी सेवा करना चाहते हैं और भगवान् ऐसे भक्तों के प्रति

सदैव ही विशेषरूप से ही दयालु रहते हैं।

कर्मियों, ज्ञानियों तथा *योगियों* की प्रकृति के गुणों में विशेष प्रवृत्तियाँ होती हैं, अतएव वे *इतर* या अभक्त कहलाते हैं। ये इतरजन जिनमें योगी भी सम्मिलित हैं, कभी-कभी भगवद्भक्तों को सताते हैं। महान् योगी दुर्वासा मुनि ने महाराज अम्बरीष को इसलिए सताया कि वे भगवान् के महान् भक्त थे। महान् कर्मी तथा ज्ञानी हिरण्यकशिपु ने अपने ही वैष्णव पुत्र प्रह्लाद महाराज को सताया। इतरों द्वारा शान्त भगवद्भक्तों के सताये जाने के ऐसे अनेक उदाहरण हैं। जब ऐसा टकराव होता छिड़ता है, तो भगवान् अपने शुद्ध भक्तों के प्रति महान् कृपा-वश महत् तत्त्व को नियंत्रित करने वाले अपने स्वांशों के साथ साकार रूप में प्रकट होते हैं।

भगवान् सर्वत्र, भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही जगतों में हैं और जब उनके भक्तों तथा अभक्तों के बीच संघर्ष छिड़ता है, तो वे अपने भक्तों के लिए प्रकट होते हैं। जिस तरह पदार्थ के घर्षण से कहीं भी बिजली उत्पन्न हो जाती है, उसी तरह भगवान् सर्वव्यापी होने के कारण भक्तों तथा अभक्तों के संघर्ष के कारण कहीं भी उत्पन्न होते हैं। जब भगवान् कृष्ण किसी उद्देश्य (मिशन) के लिए प्रकट होते हैं, तो उनके सारे स्वांश उनके साथ होते हैं। जब वे वसुदेव के पुत्र रूप में प्रकट हुए तो उनके अवतार के विषय में मतभेद था। कुछ ने कहा "वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं।" कुछ ने कहा "वे नारायण के अवतार हैं।" दूसरों ने कहा "वे क्षीरोदकशायी विष्णु के अवतार हैं" किन्तु वास्तव में वे आदि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं—*कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्* तथा नारायण, सारे पुरुष एवं अन्य अवतार, उनकी लीलाओं के विभिन्न अंगों का कार्य करने के लिए उनके साथ आते हैं। *महद्-अंश-युक्तः* यह संकेत देता है कि उनके साथ पुरुष रहते हैं, जो महत् तत्त्व की सृष्टि करते हैं। इसकी पुष्टि इस वैदिक स्तुति *महान्तं विभुमात्मानम्* से होती है।

जब कंस तथा वसुदेव एवं उग्रसेन के बीच टकराव हुआ तो भगवान् कृष्ण बिजली की तरह प्रकट हो गये। वसुदेव तथा उग्रसेन भगवान् के भक्त थे और कंस *कर्मियों* तथा *ज्ञानियों* का प्रतिनिधि अभक्त था। कृष्ण अपने यथारूप में सूर्य के समान हैं। वे सर्वप्रथम देवकी के गर्भरूपी सागर से उदित हुए, धीरे-धीरे उन्होंने मथुरा के निकटवर्ती स्थानों के निवासियों को तुष्ट किया जिस तरह सूर्य प्रातःकाल कमल के फूल को प्रफुल्लित कर देता है। क्रमशः द्वारका के मध्याकाश तक उठकर भगवान् सूर्य की

ही तरह सारी वस्तुओं को अंधकार में छोड़ते हुए अस्त हो गये जैसाकि उद्धव ने वर्णन किया।

मां खेदयत्येतदजस्य जन्म-
विडम्बनं यद्वसुदेवगेहे ।
व्रजे च वासोऽरिभयादिव स्वयं
पुराद्व्यवात्सीद्यदनन्तवीर्यः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; खेदयति—पीड़ा पहुँचाता है; एतत्—यह; अजस्य—अजन्मा का; जन्म—जन्म; विडम्बनम्—मोहित करना; यत्—जो; वसुदेव-गेहे—वसुदेव के घर में; व्रजे—वृन्दावन में; च—भी; वासः—निवास; अरि—शत्रु के; भयात्—भय से; इव—मानो; स्वयम्—स्वयं; पुरात्—मथुरा पुरी से; व्यवात्सीत्—भाग गया; यत्—जो हैं; अनन्त-वीर्यः—असीम बलशाली।

जब मैं भगवान् कृष्ण के बारे में सोचता हूँ कि वे अजन्मा होते हुए किस तरह वसुदेव के बन्दीगृह में उत्पन्न हुए थे, किस तरह अपने पिता के संरक्षण से व्रज चले गये और वहाँ शत्रु-भय से प्रच्छन्न रहते रहे तथा किस तरह असीम बलशाली होते हुए भी वे भयवश मथुरा से भाग गये—ये सारी भ्रमित करने वाली घटनाएँ मुझे पीड़ा पहुँचाती हैं।

तात्पर्य : चूँकि श्रीकृष्ण आदि पुरुष हैं जिनसे सारी वस्तुएँ और सारे जीव उद्भूत हुए हैं—*अहं सर्वस्य प्रभवः* (*भगवद्गीता* १०.८), *जन्माद्यस्य यतः* (*वेदान्त सूत्र* १.१.२) अतएव उनके तुल्य या उनसे बढ़कर कोई वस्तु नहीं हो सकती। भगवान् परम पूर्ण हैं और जब भी वे पुत्र, प्रतिद्वन्द्वी या शत्रुवत् अपनी दिव्यलीला करते हैं, तो वे अपनी भूमिका इतनी पूर्णता से निभाते हैं कि उद्धव जैसे शुद्ध भक्त भी मोहग्रस्त हो उठते हैं। उदाहरणार्थ, उद्धव यह भलीभाँति जानते थे कि श्रीकृष्ण नित्य विद्यमान रहते हैं और वे सदा के लिए कभी न तो मर सकते हैं न विलुप्त हो सकते हैं फिर भी वे कृष्ण के लिए शोक कर रहे थे। ये सारी घटनाएँ उनके परम यश को पूर्णता प्रदान करने के लिए मानो पूर्ण व्यवस्थाएँ हैं। यह सब आनन्द के निमित्त है। जब पिता अपने नन्हें बेटे के साथ खेलता है और वह जमीन पर लेट जाता है मानो बेटे द्वारा पराजित हो गया हो तो यह केवल उस नन्हें बेटे को आनन्द प्रदान करने के लिए है और कुछ नहीं। चूँकि भगवान् सर्वशक्तिमान हैं, अतएव वे जन्म-अजन्म, शक्ति तथा पराजय, भय तथा अभय जैसे विलोमों को समंजित कर सकते हैं। एक शुद्ध भक्त भली भाँति जानता है कि भगवान् के लिए विरोधाभासों को समंजित करना कैसे सम्भव है, किन्तु वह उन अभक्तों के लिए शोक करता है, जो भगवान् के परम यशों को न जानते हुए उन्हें इसलिए काल्पनिक सोचते हैं क्योंकि शास्त्रों

में ऊपरी तौर पर अनेक विरोधी कथन पाये जाते हैं। वस्तुत: कुछ भी विरोध-मूलक नहीं है। जब हम भगवान् को भगवान् के रूप में समझ लेते हैं और अपूर्णताओं से युक्त अपने समान उन्हें नहीं मानते, तो सब कुछ सम्भव हो जाता है।

दुनोति चेतः स्मरतो ममैतद्
यदाह पादावभिवन्द्य पित्रोः ।
तताम्ब कंसादुरुशङ्कितानां
प्रसीदतं नोऽकृतनिष्कृतीनाम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

दुनोति—मुझे पीड़ा पहुँचाता है; चेतः—हृदय; स्मरतः—सोचते हुए; मम—मेरा; एतत्—यह; यत्—जितना; आह—कहा; पादौ—चरणों की; अभिवन्द्य—पूजकर; पित्रोः—माता-पिता के; तात—हे पिता; अम्ब—हे माता; कंसात्—कंस से; उरु—महान्; शङ्कितानाम्—भयभीतों का; प्रसीदतम्—प्रसन्न हों; नः—हमारा; अकृत—सम्पन्न नहीं हुआ; निष्कृतीनाम्—आपकी सेवा करने के कर्तव्य।

भगवान् कृष्ण ने अपने माता-पिता से उनके चरणों की सेवा न कर पाने की अपनी (कृष्ण तथा बलराम की) अक्षमता के लिए क्षमा माँगी, क्योंकि कंस के विकट भय के कारण वे घर से दूर रहते रहे। उन्होंने कहा, ''हे माता, हे पिता, हमारी असमर्थता के लिए हमें क्षमा करें।'' भगवान् का यह सारा आचरण मेरे हृदय को पीड़ा पहुँचाता है।

तात्पर्य : ऐसा लगता है कि कृष्ण तथा बलराम दोनों ही कंस से अत्यधिक भयभीत थे, इसीलिए उन्हें अपने आपको छिपा कर रखना पड़ा। किन्तु यदि कृष्ण तथा बलराम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, तो यह कैसे सम्भव हो सकता है कि वे कंस से भयभीत थे? क्या ऐसे कथनों में कोई विरोध है? वसुदेव कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेम के कारण उन्हें संरक्षण प्रदान करना चाहते थे। उन्होंने यह कभी नहीं सोचा कि कृष्ण परमेश्वर हैं और वे स्वयं अपनी रक्षा कर सकते हैं। उन्होंने कृष्ण को अपना पुत्र समझा। चूँकि वसुदेव महाभागवत थे, अतएव वे यह सोचना नहीं चाहते थे कि कृष्ण उनके अन्य पुत्रों की तरह मार डाले जाँए। नैतिक दृष्टि से वसुदेव कृष्ण को कंस के हाथों सौंपने के लिए वचनबद्ध थे, क्योंकि उन्होंने सारी सन्तानें उसे दे देने का वचन दिया था। किन्तु कृष्ण के प्रति अगाध प्रेम के कारण उन्होंने अपना वचन तोड़ा। वसुदेव की इस दिव्य मनोवृत्ति पर भगवान् अत्यधिक प्रसन्न थे। वे वसुदेव के अगाध स्नेह को विचलित नहीं करना चाहते थे, अतएव उन्होंने अपने पिता द्वारा नन्द तथा यशोदा के घर ले जाया जाना स्वीकार कर लिया। फिर वसुदेव के प्रगाढ़ प्रेम की परीक्षा करने के लिए ही जब

उनके पिता नदी पार कर रहे थे तो भगवान् कृष्ण यमुना के जल में गिर पड़े थे तब वसुदेव अपने पुत्र को उफनती नदी के बीच में फिर से पा लेने के प्रयास में बावले हो गये थे।

ये सब भगवान् की महिमामण्डित लीलाएँ हैं और ऐसे प्रदर्शन में कोई विरोधाभास नहीं है। चूँकि कृष्ण परमेश्वर हैं, अतएव वे कंस से कभी भी भयभीत नहीं थे, किन्तु अपने पिता को प्रसन्न करने के लिए उन्होंने ऐसा करना स्वीकार किया। उनके परम चरित्र का सबसे यशस्वी अंश यह था कि उन्होंने अपने माता-पिता से इसके लिए क्षमा माँगी कि कंस के भय से घर से अनुपस्थित रहने के कारण वे उनके चरणों की सेवा नहीं कर सके। वे भगवान्, जिनके चरणकमलों की पूजा ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवताओं द्वारा की जाती है, वसुदेव के चरणों की पूजा करना चाहते थे। भगवान् द्वारा विश्व को दिया गया ऐसा उपदेश अत्यन्त उपयुक्त है। चाहे कोई भगवान् ही क्यों न हो उसे अपने माता-पिता की सेवा करनी चाहिए। पुत्र अनेक प्रकार से अपने माता-पिता का ऋणी होता है और पुत्र चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो उसका यह कर्तव्य है कि वह अपने माता-पिता की सेवा करे। अप्रत्यक्ष रूप से, कृष्ण उन नास्तिकों को, जो ईश्वर के परम पितृत्व को स्वीकार नहीं करते, शिक्षा देना चाहते थे और वे इस कार्य से यह सीख सकते हैं कि परम पिता का कितना अधिक सम्मान किया जाना चाहिए। उद्धव भगवान् के ऐसे यशस्वी आचरण पर आश्चर्यचकित थे और वे अत्यन्त दुखी थे कि वे उनके साथ क्यों नहीं कूच कर सके।

को वा अमुष्याङ्घ्रिसरोजरेणुं
विस्मर्तुमीशीत पुमान्विजिघ्रन् ।
यो विस्फुरद्भ्रूविटपेन भूमे-
र्भारं कृतान्तेन तिरश्चकार ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

कः—और कौन; वा—अथवा; अमुष्य—भगवान् के; अङ्घ्रि—पाँव; सरोज-रेणुम्—कमल की धूल; विस्मर्तुम्—भुलाने के लिए; ईशीत—समर्थ हो सके; पुमान्—मनुष्य; विजिघ्रन्—सूँघते हुए; यः—जो; विस्फुरत्—विस्तार करते हुए; भ्रू-विटपेन—भौहों की पत्तियों के द्वारा; भूमेः—पृथ्वी का; भारम्—भार; कृत-अन्तेन—मृत्यु प्रहारों से; तिरश्चकार—सम्पन्न किया।

भला ऐसा कौन होगा जो उनके चरणकमलों की धूल को एकबार भी सूँघ कर उसे भुला सके? कृष्ण ने अपनी भौहों की पत्तियों को विस्तीर्ण करके उन लोगों पर मृत्यु जैसा प्रहार किया है, जो पृथ्वी पर भार बने हुए थे।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण को मनुष्य नहीं माना जा सकता, भले ही उन्होंने आज्ञाकारी पुत्र की भूमिका ही क्यों न निबाही हो। उनके कार्य इतने असामान्य थे कि केवल अपनी भौंहों को उठाकर वे उन लोगों पर मृत्यु-प्रहार कर सके जो पृथ्वी पर भार बने हुए थे।

दृष्टा भवद्भिर्ननु राजसूये
चैद्यस्य कृष्णं द्विषतोऽपि सिद्धिः ।
यां योगिनः संस्पृहयन्ति सम्यग्
योगेन कस्तद्विरहं सहेत ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

दृष्टा—देखी गयी; भवद्भिः—आपके द्वारा; ननु—निस्सन्देह; राजसूये—महाराज युधिष्ठिर द्वारा सम्पन्न राजसूय यज्ञ की सभा में; चैद्यस्य—चेदिराज (शिशुपाल) के; कृष्णम्—कृष्ण के प्रति; द्विषतः—ईर्ष्या से; अपि—के बावजूद; सिद्धिः—सफलता; याम्—जो; योगिनः—योगीजन; संस्पृहयन्ति—तीव्रता से इच्छा करते हैं; सम्यक्—पूर्णरूपेण; योगेन—योग द्वारा; कः—कौन; तत्—उनका; विरहम्—विच्छेद; सहेत—सहन कर सकता है।

आप स्वयं देख चुके हैं कि चेदि के राजा (शिशुपाल) ने किस तरह योगाभ्यास में सफलता प्राप्त की यद्यपि वह भगवान् कृष्ण से ईर्ष्या करता था। वास्तविक योगी भी अपने विविध अभ्यासों द्वारा ऐसी सफलता की सुरुचिपूर्वक कामना करते हैं। भला उनके विछोह को कौन सह सकता है?

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण की अहैतुकी कृपा का प्राकट्य महाराज युधिष्ठिर की विराट सभा में हुआ। वे अपने शत्रु चेदि के राजा पर भी कृपालु थे, जो सदैव भगवान् का ईर्ष्यालु प्रतिद्वन्द्वी बनने का प्रयास करता रहा। चूँकि भगवान् का प्रामाणिक प्रतिद्वन्द्वी बनना सम्भव नहीं है, अतः चेदि का राजा भगवान् कृष्ण का अत्यधिक द्रोही था। इस बात में वह अन्य असुरों यथा कंस तथा जरासंध की ही तरह था। शिशुपाल ने महाराज युधिष्ठिर द्वारा सम्पन्न होने वाले *राजसूय यज्ञ* की खुली सभा में भगवान् कृष्ण का अपमान किया और अन्त में वह भगवान् द्वारा मार डाला गया। किन्तु उस सभा के हर व्यक्ति ने देखा कि चेदि के राजा के शरीर से प्रकाश की एक किरण निकली जो भगवान् कृष्ण के शरीर में लीन हो गई। इसका अर्थ हुआ कि चेदिराज को सायुज्य मुक्ति प्राप्त हुई जिसकी तीव्र इच्छा *ज्ञानियों* तथा *योगियों* को रहती है और जिसके लिए वे अनेक प्रकार के दिव्य कार्य सम्पन्न करते हैं।

यह तथ्य है कि जो लोग मानसिक चिन्तन, या *योग* शक्तियों के निजी प्रयासों द्वारा परब्रह्म को समझने का प्रयास कर रहे हैं उन्हें वही लक्ष्य प्राप्त होता है, जो उन लोगों को प्राप्त होता है जिनका

वध स्वयं भगवान् द्वारा किया जाता है। दोनों ही को भगवान् के दिव्य शरीर की ब्रह्मज्योति की किरणों में तादात्म्य होने की मुक्ति प्राप्त होती है। भगवान् अपने शत्रु पर भी कृपालु थे और चेदिराज की सफलता उन सबों द्वारा देखी गई जो सभा में उपस्थित थे। विदुर भी वहाँ उपस्थित थे, इसीलिए उद्धव ने इस घटना का स्मरण कराया।

तथैव चान्ये नरलोकवीरा
य आहवे कृष्णमुखारविन्दम् ।
नेत्रै: पिबन्तो नयनाभिरामं
पार्थास्त्रपूत: पदमापुरस्य ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तथा—भी; एव च—तथा निश्चय ही; अन्ये—अन्य; नर-लोक—मानव समाज; वीरा:—योद्धा; ये—जो; आहवे—युद्धभूमि (कुरुक्षेत्र की) में; कृष्ण—भगवान् कृष्ण का; मुख-अरविन्दम्—कमल के फूल जैसा मुँह; नेत्रै:—नेत्रों से; पिबन्त:—देखते हुए; नयन-अभिरामम्—आँखों को अतीव अच्छा लगने वाले; पार्थ—अर्जुन के; अस्त्र-पूत:—बाणों से शुद्ध हुआ; पदम्—धाम; आपु:—प्राप्त किया; अस्य—उनका।

निश्चय ही कुरुक्षेत्र युद्धस्थल के अन्य योद्धागण अर्जुन के बाणों के प्रहार से शुद्ध बन गये और आँखों को अति मनभावन लगने वाले कृष्ण के कमल-मुख को देखकर उन्होंने भगवद्धाम प्राप्त किया।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण इस जगत में दो उद्देश्यों से प्रकट होते हैं—श्रद्धावानों का उद्धार करने तथा दुष्टों का संहार करने, किन्तु परम पूर्ण होने से भगवान् के ये दो प्रकार के कार्य भले ही ऊपर से भिन्न लगें, किन्तु अन्तत: एक ही होते हैं। शिशुपाल जैसे व्यक्ति का उनके द्वारा संहार किया जाना उतना ही शुभ है जितना कि श्रद्धावान की रक्षा के लिए किया जानेवाला कार्य। उन सारे योद्धाओं ने, जिन्होंने अर्जुन के विरुद्ध युद्ध किया था, किन्तु युद्धभूमि में भगवान् के कमलवत् मुख का दर्शन किया था, उसी तरह भगवद्धाम प्राप्त किया जिस तरह भगवान् के भक्त प्राप्त करते हैं। ‘‘द्रष्टा की आखों को अच्छा लगने वाले’’ ये शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। जब युद्धभूमि के दूसरे पक्ष के योद्धाओं ने भगवान् कृष्ण को सामने से देखा तो उन्होंने उनके सौन्दर्य को सराहा और ईश्वर के प्रति उनकी सुसुप्त भावना जागृत हो उठी। शिशुपाल ने भी भगवान् को देखा, किन्तु उसने उन्हें अपने शत्रु के रूप में देखा जिससे उसका प्रेम जागृत नहीं हुआ। इसलिए शिशुपाल ने भगवान् के शरीर की निर्विशेष ज्योति, ब्रह्मज्योति में लीन होकर भगवान् से तादात्म्य प्राप्त किया। अन्य लोगों को जो तटस्थ थे, जो न

तो मित्र थे न शत्रु, किन्तु भगवान् के मुख के सौन्दर्य को सराहने के कारण यत्किंचित भगवान् के प्रेम में थे, उन्हें तुरन्त वैकुण्ठलोक भेज दिया गया। भगवान् का निजी धाम गोलोक वृन्दावन कहलाता है और वे धाम, जहाँ उनके स्वांश निवास करते हैं वैकुण्ठलोक कहलाते हैं जहाँ भगवान् नारायण रूप में विद्यमान रहते हैं। हर जीव में भगवत्प्रेम प्रसुप्त रहता है और भगवान् की भक्ति की समूची विधि इस प्रसुप्त नित्य भगवत्प्रेम को जागृत करने के लिए होती है। किन्तु ऐसी दिव्य जागृति की कोटियाँ होती हैं। जिन लोगों में भगवत्प्रेम पूरी तरह जागृत हुआ रहता है वे आध्यात्मिक आकाश में गोलोक वृन्दावन लोक जाते हैं, किन्तु जिन लोगों में संयोगवश या संगति के द्वारा भगवत्प्रेम ठीक से जागृत हुआ होता है वे वैकुण्ठलोक भेज दिये जाते हैं। तात्विक दृष्टि से गोलोक तथा वैकुण्ठ में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु वैकुण्ठ में भगवान् की सेवा असीम ऐश्वर्य द्वारा की जाती है, जबकि गोलोक में उनकी सेवा सहज स्नेह भाव में की जाती है।

यह भगवत्प्रेम भगवान् के शुद्ध भक्तों की संगति से जागृत होता है। यहाँ पर *पार्थास्त्र-पूत:* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जिन लोगों ने कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में भगवान् की सुन्दर मुखाकृति देखी थी, उन्हें पहले अर्जुन ने अपने बाणों के प्रहार से शुद्ध बना दिया था। भगवान् संसार का भार हल्का करने के उद्देश्य से प्रकट हुए थे और अर्जुन उनकी ओर से युद्ध करके उनकी सहायता कर रहे थे। अर्जुन ने व्यक्तिगत रूप से युद्ध करने से इनकार कर दिया था और अर्जुन को युद्ध में लगाने के लिए *भगवद्गीता* का सम्पूर्ण उपदेश दिया गया था। भगवान् के शुद्ध भक्त के रूप में अर्जुन ने अपने निर्णय के समक्ष इसे वरीयता देते हुए युद्ध करना स्वीकार किया। इस तरह अर्जुन ने संसार के भार को कम करने के भगवान् के उद्देश्य में सहायक बनने के लिए युद्ध किया। शुद्ध भक्त द्वारा सारे कार्य भगवान् की ओर से सम्पन्न किये जाते हैं, क्योंकि भगवान् के शुद्ध भक्त के पास करने के लिए निजी कुछ भी नहीं रहता। अर्जुन द्वारा संहार किया जाना स्वयं भगवान् द्वारा किये जाने वाले संहार के तुल्य था। ज्योंही अर्जुन किसी शत्रु पर बाण चलाते, वह शत्रु सारे भौतिक कल्मष से शुद्ध बनकर वैकुण्ठ जाने का पात्र बन जाता। जिन योद्धाओं ने भगवान् के चरणकमलों की प्रशंसा की तथा सामने से भगवान् के मुख को देखा उनमें सुप्त भगवत्प्रेम जाग उठा और इस तरह वे लोग शिशुपाल की ही तरह ब्रह्मज्योति की निर्विशेष दशा में नहीं, अपितु सीधे, वैकुण्ठलोक भेज दिये गये। शिशुपाल भगवान् की प्रशंसा किये बिना मर गया, किन्तु

अन्य लोग भगवान् की प्रशंसा करके मरे थे। दोनों ही को आध्यात्मिक आकाश में भेज दिया गया, किन्तु जिनमें भगवत्प्रेम जागृत हो चुका था वे दिव्य आकाश के लोकों में भेज दिये गये।

उद्धव ऊपर से शोक कर रहे थे कि उनका अपना पद कुरुक्षेत्र युद्धभूमि के योद्धाओं से भी न्यून है, क्योंकि उन लोगों को तो वैकुण्ठलोक मिल चुका था, जबकि उद्धव भगवान् के तिरोधान का शोक ही करते रह गये।

स्वयं त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः
स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः ।
बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः
किरीटकोट्येडितपादपीठः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

स्वयम्—स्वयं; तु—लेकिन; असाम्य—अद्वितीय; अतिशयः—महत्तर; त्रि-अधीशः—तीन का स्वामी; स्वाराज्य—स्वतंत्र सत्ता; लक्ष्मी—सम्पत्ति; आप्त—प्राप्त किया; समस्त-कामः—सारी इच्छाएँ; बलिम्—पूजा की साज सामग्री; हरद्भिः—प्रदत्त; चिर-लोक-पालैः—सृष्टि की व्यवस्था को नित्य बनाये रखने वालों द्वारा; किरीट-कोटि—करोड़ों मुकुट; एडित-पाद-पीठः—स्तुतियों द्वारा सम्मानित पाँव।

भगवान् श्रीकृष्ण समस्त त्रयियों के स्वामी हैं और समस्त प्रकार के सौभाग्य की उपलब्धि के द्वारा स्वतंत्र रूप से सर्वोच्च हैं। वे सृष्टि के नित्य लोकपालों द्वारा पूजित हैं, जो अपने करोड़ों मुकुटों द्वारा उनके पाँवों का स्पर्श करके उन्हें पूजा की साज-सामग्री अर्पित करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण अत्यन्त उदार तथा कृपालु हैं जैसाकि ऊपर के श्लोकों में बतलाया गया है, फिर भी वे समस्त त्रयियों के स्वामी हैं। वे तीन लोकों, प्रकृति के तीन गुणों तथा तीन पुरुषों (कारणोदकशायी, गर्भोदकशायी तथा क्षीरोदकशायी विष्णु) के स्वामी हैं। ब्रह्माण्ड अनन्त हैं और इनमें से प्रत्येक ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र के विभिन्न स्वरूप हैं। इनके अतिरिक्त, शेषमूर्ति भी हैं, जो समस्त ब्रह्माण्डों को अपने फनों पर धारण करते हैं। भगवान् कृष्ण इन सबों के स्वामी हैं। मनु के अवतार रूप में वे असंख्य ब्रह्माण्डों में समस्त मनुओं के आदि स्रोत हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में ५,०४,००० मनु होते हैं। भगवान् तीन प्रधान शक्तियों—*चितशक्ति, मायाशक्ति* तथा *तटस्थशक्ति* के स्वामी हैं और वे षडैश्वर्यों—धन, बल, यश, सौन्दर्य, ज्ञान तथा वैराग्य—के समग्रस्वामी हैं। ऐसा अन्य कोई नहीं जो भोग की किसी बात में उनसे बढ़कर हो और उनसे बड़ा तो कोई है ही नहीं। कोई उनके तुल्य या उनसे बढ़कर नहीं है। हर व्यक्ति चाहे वह जो भी हो तथा जहाँ भी हो, उसका यह कर्तव्य है कि पूरी

तरह उनकी शरण ग्रहण करे। अतएव यह आश्चर्यजनक नहीं है कि सारे लोकपाल उनके शरणागत बनकर उन्हें पूजा की सारी वस्तुएँ अर्पित करते हैं।

तत्तस्य कैङ्कर्यमलं भृतान्नो
विग्लापयत्यङ्ग यदुग्रसेनम् ।
तिष्ठन्निषण्णं परमेष्ठिधिष्ण्ये
न्यबोधयद्देव निधारयेति ॥ २२॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; तस्य—उसकी; कैङ्कर्यम्—सेवा; अलम्—निस्सन्देह; भृतान्—सेवकों को; नः—हम; विग्लापयति—पीड़ा देती है; अङ्ग—हे विदुर; यत्—जितनी कि; उग्रसेनम्—राजा उग्रसेन को; तिष्ठन्—बैठे हुए; निषण्णम्—सेवा में खड़े; परमेष्ठि-धिष्ण्ये—राजसिंहासन पर; न्यबोधयत्—निवेदन किया; देव—मेरे प्रभु को सम्बोधित करते हुए; निधारय—आप जान लें; इति—इस प्रकार।

अतएव हे विदुर, क्या उनके सेवकगण हम लोगों को पीड़ा नहीं पहुँचती जब हम स्मरण करते हैं कि वे (भगवान् कृष्ण) राजसिंहासन पर आसीन राजा उग्रसेन के समक्ष खड़े होकर, ''हे प्रभु, आपको विदित हो कि'' यह कहते हुए सारे स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते थे।

तात्पर्य : अपने तथाकथित गुरुजनों, यथा अपने पिता, बाबा तथा ज्येष्ठ भाई, के समक्ष भगवान् कृष्ण का भद्र व्यवहार, अपनी तथाकथित पत्नियों, मित्रों तथा समसामयिकों के साथ मिलनसार आचरण, अपनी माता यशोदा के समक्ष शिशु रूप में उनका व्यवहार तथा अपनी तरुणी सखियों के प्रति उनका नटखट व्यवहार, उद्धव जैसे शुद्ध भक्त को मोहित नहीं कर सकता। अन्य लोग जो कि भक्त नहीं हैं, मनुष्य जैसा आचरण करने वाले भगवान् के ऐसे व्यवहार से मोहित हो उठते हैं। भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* (९.११) में ऐसे मोह की व्याख्या निम्न प्रकार से की है—

अवजानन्ति मां मूढा: मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।

अल्पज्ञ व्यक्ति भगवान् कृष्ण के इस उच्च पद को कि वे हर वस्तु के स्वामी हैं, न जानते हुए भगवान् को कम महत्त्व का बताते हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् ने अपने पद की स्पष्टतया व्याख्या की है, किन्तु आसुरी नास्तिक अध्येता अपने निजी उद्देश्य से मनमानी व्याख्या निकाल लेता है और अभागे अनुयायियों को उसी मनोवृत्ति में भटकाता बनाता है। ऐसे अभागे व्यक्ति ज्ञान के महान् ग्रंथ में से मात्र कुछ नारे चुन लेते हैं, किन्तु भगवान् का सही आकलन करने में असमर्थ रहते हैं। किन्तु उद्धव जैसे

शुद्ध भक्त कभी भी ऐसे नास्तिक अवसरवादियों द्वारा गुमराह नहीं बनाये जा सकते।

अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; बकी—असुरिनी (पूतना); यम्—जिसको; स्तन—अपने स्तन में; काल—घातक; कूटम्—विष; जिघांसया—ईर्ष्यावश; अपाययत्—पिलाया; अपि—यद्यपि; असाध्वी—कृतघ्न; लेभे—प्राप्त किया; गतिम्—गन्तव्य; धात्री-उचिताम्—धाई के उपयुक्त; ततः—जिसके आगे; अन्यम्—दूसरा; कम्—अन्य कोई; वा—निश्चय ही; दयालुम्—कृपालु; शरणम्—शरण; व्रजेम—ग्रहण करूँगा।

ओह, भला मैं उनसे अधिक दयालु किसी और की शरण कैसे ग्रहण करूँगा जिन्होंने उस असुरिनी (पूतना) को माता का पद प्रदान किया, यद्यपि वह कृतघ्न थी और उसने अपने स्तन से पिलाए जाने के लिए घातक विष तैयार किया था?

तात्पर्य : यहाँ पर अपने शत्रु पर भी भगवान् की चरम कृपा का उदाहरण मिलता है। कहा जाता है कि नेक पुरुष संदिग्ध चरित्र वाले व्यक्ति के भी सद्गुणों को स्वीकार करता है, जिस तरह विष के आगार से अमृत ले लिया जाता है। कृष्ण को बाल्यकाल में पूतना नामक असुरिनी ने घातक विष पिलाया था, क्योंकि वह इस अद्भुत शिशु को मार डालना चाहती थी। चूँकि वह असुरिनी थी, इस कारण से उसके लिए यह जान पाना असम्भव था कि भगवान् शिशु की भूमिका निभाते हुए भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से कम न थे। अपनी भक्त यशोदा को प्रसन्न करने के लिए उनका शिशु बनने से भगवान् का मान घटा नहीं। भगवान् चाहे शिशु का रूप धारण करें या मनुष्य के अतिरिक्त अन्य कोई रूप धारण करें, इससे तनिक भी अन्तर नहीं पड़ता। वे सदैव वही ब्रह्म बने रहते हैं। कोई सजीव प्राणी अपनी कठिन तपस्या के बल पर कितना ही शक्तिशाली क्यों न बन जाए किन्तु वह कभी भी भगवान् के तुल्य नहीं हो सकता।

भगवान् कृष्ण ने पूतना का मातृत्व स्वीकार किया, क्योंकि उसने स्नेहिल माता का स्वाँग करते हुए कृष्ण को अपना स्तन पीने दिया। भगवान् जीव की न्यूनतम योग्यता स्वीकार करते हैं और उसे सबसे बड़ा पुरस्कार प्रदान करते हैं। उनके चरित्र का यही मानदण्ड है। अतएव भगवान् के अतिरिक्त दूसरा कौन परम आश्रय हो सकता है?

मन्येऽसुरान्भागवतांस्त्र्यधीशे
संरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तान् ।
ये संयुगेऽचक्षत तार्क्ष्यपुत्र-
मंसे सुनाभायुधमापतन्तम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

मन्ये—मैं सोचता हूँ; असुरान्—असुरों को; भागवतान्—महान् भक्तों को; त्रि-अधीशे—तीन के स्वामी को; संरम्भ—शत्रुता; मार्ग—मार्ग से होकर; अभिनिविष्ट-चित्तान्—विचारों में मग्न; ये—जो; संयुगे—युद्ध में; अचक्षत—देख सका; तार्क्ष्य-पुत्रम्—भगवान् के वाहन गरुड़ को; अंसे—कन्धे पर; सुनाभ—चक्र; आयुधम्—हथियार धारण करनेवाला; आपतन्तम्—सामने आता हुआ।

मैं उन असुरों को जो भगवान् के प्रति शत्रुभाव रखते हैं, भक्तों से बढ़कर मानता हूँ, क्योंकि शत्रुता के भावों से भरे वे सभी युद्ध करते हुए भगवान् को तार्क्ष्य (कश्यप) पुत्र गरुड़ के कन्धों पर बैठे तथा अपने हाथ में चक्रायुध लिए देख सकते हैं।

तात्पर्य : जिन असुरों ने भगवान् से आमने-सामने युद्ध किया, उन्होंने भगवान् द्वारा मारे जाने के कारण मोक्ष प्राप्त किया। असुरों का यह मोक्ष उनके भगवद्भक्त होने के कारण नहीं है, अपितु भगवान् की अहैतुकी कृपा के परिणामस्वरूप है। जो कोई भगवान् के तनिक भी सम्पर्क में आता है, वह भगवान् की सर्वोत्कृष्टता के कारण मोक्ष तक का महानतम लाभ पा लेता है। वे इतने दयालु हैं कि अपने शत्रुओं तक को मोक्ष प्रदान करते हैं, क्योंकि वे लोग उनके सम्पर्क में आते हैं और अपने शत्रुवत् विचारों के कारण अप्रत्यक्ष रूप से भगवान् में लीन रहते हैं। वस्तुत: असुरगण कभी भी भक्तों के तुल्य नहीं हो सकते, किन्तु उद्धव विछोह-भावना के कारण उस तरह से सोच रहे थे। वे सोच रहे थे कि अपने जीवन की अन्तिम अवस्था में हो सकता है कि वे भगवान् को अपने समक्ष न देख सकें जिन्हें देखने का अवसर असुरों तक को मिला था। तथ्य तो यह है कि जो भक्त सदैव भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहकर उन्हें आध्यात्मिक लोकों में भेजे जाने से वे असुरों की अपेक्षा लाखों गुना अधिक पुरस्कृत होते हैं जहाँ वे भगवान् के साथ नित्य आनन्दमय जीवन बिताते हैं। असुरों तथा निर्विशेषवादियों को भगवान् की ब्रह्मज्योति में लीन होने की सुविधा प्रदान की जाती है, जबकि भक्तों को आध्यात्मिक लोक में प्रवेश करने दिया जाता है। तुलना के लिए आकाश में तैरत रहने और आकाश के किसी लोक में निवास करने में जो अन्तर है उसकी कल्पना की जा सकती है। इन लोकों में जीवों का आनन्द उनकी तुलना में अधिक होता है जिनके कोई शरीर नहीं होता (अशरीरी) और जो

सूर्य की किरणों के अणुओं में लीन हो जाते हैं। इसलिए भगवान् द्वारा निर्विशेषवादियों पर अपने शत्रुओं की अपेक्षा अधिक कृपा नहीं की जाती, प्रत्युत दोनों ही आध्यात्मिक मोक्ष के समान स्तर पर होते हैं।

वसुदेवस्य देवक्यां जातो भोजेन्द्रबन्धने ।
चिकीर्षुर्भगवानस्याः शमजेनाभियाचितः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

वसुदेवस्य—वसुदेव की पत्नी के; देवक्याम्—देवकी के गर्भ में; जातः—उत्पन्न; भोज-इन्द्र—भोजों के राजा के; बन्धने—बन्दीगृह में; चिकीर्षुः—करने के लिए; भगवान्—भगवान्; अस्याः—पृथ्वी का; शम्—कल्याण; अजेन—ब्रह्म द्वारा; अभियाचितः—याचना किये जाने पर।

पृथ्वी पर कल्याण लाने के लिए ब्रह्मा द्वारा याचना किये जाने पर भगवान् श्री कृष्ण को भोज के राजा के बन्दीगृह में वसुदेव ने अपनी पत्नी देवकी के गर्भ से उत्पन्न किया।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् के आविर्भाव तथा तिरोभाव में कोई अन्तर नहीं होता, किन्तु भक्तगण सामान्यतया उनके तिरोभाव के विषय में चर्चा नहीं करते। विदुर ने उद्धव से कृष्णकथा सुनाने के लिए आग्रह करके भगवान् के तिरोधान की घटना के विषय में उद्धव से अप्रत्यक्ष रूप से पूछा। अतः उद्धव ने भोजों के राजा कंस के मथुरा बन्दीगृह में वसुदेव तथा देवकी के पुत्र रूप में उनके आविर्भाव से कथा कहनी प्रारम्भ की। इस जगत में भगवान् के लिए कोई काम नहीं हैं, किन्तु जब ब्रह्मा जैसे भक्तों द्वारा उनसे अनुरोध किया जाता है, तो वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के कल्याण हेतु पृथ्वी पर अवतरित होते हैं। *भगवद्गीता* (४.८) में इसका उल्लेख हुआ है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।

ततो नन्दव्रजमितः पित्रा कंसाद्विबिभ्यता ।
एकादश समास्तत्र गूढार्चिः सबलोऽवसत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; नन्द-व्रजम्—नन्द महाराज के चरागाहों में; इतः—पाले-पोषे जाकर; पित्रा—अपने पिता द्वारा; कंसात्—कंस से; विबिभ्यता—भयभीत होकर; एकादश—ग्यारह; समाः—वर्ष; तत्र—वहाँ; गूढ-अर्चिः—प्रच्छन्न अग्नि; स-बलः—बलराम सहित; अवसत्—रहे।

तत्पश्चात् कंस से भयभीत होकर उनके पिता उन्हें नन्द महाराज के चरागाहों में ले आये जहाँ

वे अपने बड़े भाई बलदेव सहित ढकी हुई अग्नि की तरह ग्यारह वर्षों तक रहे।

तात्पर्य : प्रकट होते ही भगवान् को मार डालने के कंस के संकल्प के भय से उन्हें नन्द महाराज के घर भेज देने की कोई आवश्यकता नहीं थी। यह असुरों का ही कार्य होता है कि भगवान् को मार डालने का प्रयास करें या सभी प्रकार से यह सिद्ध करें कि ईश्वर नहीं है या कि कृष्ण सामान्य मनुष्य हैं और वे ईश्वर नहीं हैं। भगवान् कृष्ण कंस जैसे व्यक्तियों के ऐसे संकल्प से तनिक भी प्रभावित नहीं होते, किन्तु शिशु की भूमिका के निर्वाह हेतु उन्होंने अपने पिता द्वारा नन्द महाराज के चरागाहों तक ले जाया जाना स्वीकार किया, क्योंकि वसुदेव कंस से भयभीत थे। महाराज नन्द को अपने पुत्र रूप में उन्हें प्राप्त करना ही था और यशोदा माई को भी भगवान् की बाल-लीलाओं का आनन्द लेना था, इसलिए सबों की इच्छापूर्ति हेतु कंस के बंदीगृह में उनके आविर्भाव के तुरन्त बाद उन्हें मथुरा से वृन्दावन ले जाया गया। वे वहाँ ग्यारह वर्षों तक रहे और उन्होंने अपने बड़े भाई तथा अपने प्रथम अंश बलदेव के साथ बाल्यकाल, कुमारावस्था तथा किशोरावस्था की मनोहारी लीलाएँ पूरी कीं। कंस के क्रोध से कृष्ण की रक्षा करने का वसुदेव का विचार दिव्य सम्बन्ध का एक अंश है। भगवान् को तब अधिक आनन्द प्राप्त होता है जब कोई व्यक्ति उन्हें अपने अधीनस्थ पुत्र के रूप में स्वीकार करता है, जिसे पिता के संरक्षण की आवश्यकता होती है अपेक्षा इसके कि कोई उन्हें भगवान् रूप में स्वीकार करे। वे सबों के पिता हैं और सबों की रक्षा करते हैं, किन्तु जब उनका भक्त यह मान लेता है कि भगवान् को भक्त की देखरेख में रहकर सुरक्षा प्राप्त करनी है, तो इससे उन्हें दिव्य हर्ष होता है। अतएव जब कंस के भय से वसुदेव उन्हें वृन्दावन ले गये तो भगवान् को आनन्द प्राप्त हुआ अन्यथा उन्हें कंस से या अन्य किसी से कोई भय नहीं था।

परीतो वत्सपैर्वत्सांश्चारयन्व्यहरद्विभुः ।
यमुनोपवने कूजद्द्विजसङ्कुलिताङ्घ्रिपे ॥ २७॥

शब्दार्थ

परीतः—घिरे; वत्सपैः—ग्वालबालों से; वत्सान्—बछड़ों को; चारयन्—चराते हुए; व्यहरत्—विहार का आनन्द लिया; विभुः—सर्वशक्तिमान; यमुना—यमुना नदी; उपवने—तट के बगीचे में; कूजत्—शब्दायमान; द्विज—पक्षी; सङ्कुलित—सघन; अङ्घ्रिपे—वृक्षों में।

अपने बाल्यकाल में सर्वशक्तिमान भगवान् ग्वालबालों तथा बछड़ों से घिरे रहते थे। इस

तरह वे यमुना नदी के तट पर सघन वृक्षों से आच्छादित तथा चहचहाते पक्षियों की ध्वनि से पूरित बगीचों में विहार करते थे।

तात्पर्य : नन्द महाराज कंस के भूमिधर थे, किन्तु जाति से वैश्य होने के कारण उन्होंने हजारों गौवें पाल रखी थीं। वैश्यों का कर्तव्य है कि गौवों को सुरक्षा प्रदान करें जिस तरह क्षत्रियों को मनुष्यों को सुरक्षा प्रदान करनी होती है। चूँकि भगवान् बालक थे, इसीलिए उन्हें अन्य ग्वालमित्रों के साथ बछड़ों को चराने का भार सौंप दिया गया था। ये ग्वालबाल अपने पूर्वजन्म में *महर्षि* तथा योगी थे और ऐसे अनेक पवित्र जन्मों के बाद उन्हें भगवान् की संगति प्राप्त हुई थी जिससे वे उनके साथ समान स्तर पर खेल सकते थे। ऐसे ग्वालबालों ने यह जानने की कभी परवाह नहीं की कि कृष्ण कौन हैं, किन्तु वे अत्यन्त घनिष्ठ तथा प्रिय मित्र के रूप में उनके साथ खेलते थे। वे भगवान् को इतना चाहते थे कि रात में भी वे यही सोचते कि कब भोर हो और वे भगवान् से मिलकर एकसाथ गौवें चराने जंगल जाँए।

यमुना के किनारे के सारे जंगल सुन्दर बगीचे थे, जो आम, कटहल, सेब, अमरूद, नारंगी, अंगूर, बेर, ताड़फल के पेड़ों तथा अन्य कई पौधों और सुगन्धित पुष्पों से भरे पड़े थे। चूँकि यह जंगल यमुना के तट पर था, अतएव स्वाभाविक है कि यहाँ बत्तख, सारस तथा वृक्षों की शाखाओं पर मोर होते। ये सारे वृक्ष तथा पक्षी एवं पशु पवित्र जीव थे, जो वृन्दावन के दिव्य धाम में भगवान् को एवं उनके नित्य संगी ग्वालबालों को आनन्द प्रदान करने के लिए थे।

भगवान् ने अपने संगियों के साथ छोटे शिशु की तरह खेलते हुए अघासुर, बकासुर, प्रलम्बासुर तथा गर्दभासुर असुरों का वध किया। यद्यपि वे वृन्दावन में एक बालक रूप में प्रकट हुए थे, किन्तु वास्तव में वे अग्नि की ढकी हुई लपटों के तुल्य थे। आग की एक चिनगारी ईंधन से मिलकर भीषण अग्नि उत्पन्न कर सकती है; उसी तरह भगवान् ने नन्द महाराज के घर में अपने बाल्यकाल से ही आरम्भ करके इन सभी महान् असुरों का वध किया। भगवान् के बाल्यकाल की क्रीड़ास्थली वृन्दावन की भूमि आज भी है और जो कोई भी इन स्थानों में जाता है, वह वही दिव्य आनन्द पाता है, यद्यपि भगवान् हमारी अपूर्ण आँखों को सदेह दृष्टिगोचर नहीं होते। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भगवान् की इस भूमि को भगवान् से अभिन्न बतलाया, अतएव भक्तों द्वारा यह पूजनीय है। इस उपदेश को चैतन्य

महाप्रभु के अनुयायी, जो गौड़ीय वैष्णव कहलाते है, विशेषरूप से मानते हैं। चूँकि यह भूमि भगवान् से अभिन्न है, अतएव उद्धव तथा विदुर जैसे भक्तों ने ५००० वर्ष पूर्व इन स्थानों का भ्रमण किया जिससे वे दृश्य या अदृश्य भगवान् से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित कर सकें। आज भी भगवान् के हजारों भक्त वृन्दावन के इन पवित्र स्थानों में भ्रमण करते हैं और इस तरह वे भगवद्धाम जाने की तैयारी करते हैं।

कौमारीं दर्शयंश्चेष्टां प्रेक्षणीयां व्रजौकसाम् ।
रुदन्निव हसन्मुग्धबालसिंहावलोकनः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

कौमारीम्—बचपन के लिए उपयुक्त; दर्शयन्—दिखलाते हुए; चेष्टाम्—कार्यकलाप; प्रेक्षणीयाम्—देखने के योग्य, दर्शनीय; व्रज-ओकसाम्—वृन्दावन के वासियों द्वारा; रुदन्—चिल्लाते; इव—सदृश; हसन्—हँसते; मुग्ध—आश्चर्यचकित; बाल-सिंह—सिंह-शावक; अवलोकनः—उसी तरह का दिखते हुए।

जब भगवान् ने बालोचित कार्यों का प्रदर्शन किया, तो वे एकमात्र वृन्दावनवासियों को ही दृष्टिगोचर थे। वे शिशु की तरह कभी रोते तो कभी हँसते और ऐसा करते हुए वे सिंह के बच्चे के समान प्रतीत होते थे।

तात्पर्य : यदि कोई व्यक्ति भगवान् की बाल-लीलाओं का आनन्द लेना चाहता है, तो उसे नन्द, उपनन्द तथा वृन्दावन के अन्य पितृवत् निवासियों के पदचिह्नों का अनुसरण करना होगा। बालक किसी वस्तु को पाने के लिए हठ कर सकता है और इसे पाने के लिए कितना भी रो सकता है, जिससे सारे पड़ोस की शान्ति भंग हो सकती है, किन्तु वांछित वस्तु के मिलते ही वह बालक तुरन्त हँसने लगता है। ऐसा रोना तथा हँसना माता-पिता तथा परिवार के गुरुजनों के लिए आनन्ददायक होता है। उसी तरह भगवान् एक ही समय रोते तथा हँसते और अपने भक्त माता-पिता को दिव्य आनन्द रस में निमग्न कर देते। ये घटनाएँ एकमात्र व्रजवासियों द्वारा, यथा नन्द महाराज द्वारा, आस्वाद्य हैं, ब्रह्म या परमात्मा के निर्विशेषवादी पूजकों द्वारा नहीं। कभी-कभी जब जंगल में कृष्ण पर असुर आक्रमण कर देते तो वे आश्चर्यचकित प्रतीत होते, किन्तु वे उन पर सिंह के बच्चे के समान दृष्टि डालते और उनको मार डालते; उनके बचपन के संगी भी आश्चर्यचकित हो उठते और जब वे घर लौटकर आते तो सारी कहानी अपने माता-पिता से कह सुनाते जिससे सारे लोग अपने कृष्ण के गुणों की सराहना करते।

बालक कृष्ण मात्र अपने माता–पिता नन्द तथा यशोदा के ही नहीं थे। वे वृन्दावन के समस्त वयोवृद्ध निवासियों के पुत्र थे और समस्त समवयस्क बालकों तथा बालिकाओं के मित्र थे। सारे लोग कृष्ण से प्रेम करते थे। वे पशुओं–गौवों बछड़ों समेत सभी लोगों के प्राणाधार थे।

स एव गोधनं लक्ष्म्या निकेतं सितगोवृषम् ।
चारयन्ननुगान्गोपान्रणद्वेणुररीरमत् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (कृष्ण); एव—निश्चय ही; गो-धनम्—गौ रूपी खजाना; लक्ष्म्याः—ऐश्वर्य से; निकेतम्—आगार; सित-गो-वृषम्—सुन्दर गौवें तथा बैल; चारयन्—चराते हुए; अनुगान्—अनुयायियों को; गोपान्—ग्वाल बालों को; रणत्—बजती हुई; वेणुः—वंशी; अरीरमत्—उल्लसित किया।

अत्यन्त सुन्दर गाय-बैलों को चराते हुए समस्त ऐश्वर्य तथा सम्पत्ति के आगार भगवान् अपनी वंशी बजाया करते। इस तरह वे अपने श्रद्धावान् अनुयायी ग्वाल-बालों को प्रफुल्लित करते थे।

तात्पर्य : जब भगवान् छः–सात वर्ष के हुए तो उन्हें चरागाहों में गौवों तथा बैलों की देखभाल करने का काम सौंप दिया गया। वे ऐसे सम्पन्न भूमिधर के पुत्र थे जिसके पास हजारों गौवें थीं। वैदिक अर्थशास्त्र के अनुसार मनुष्य अपने अन्न भंडार तथा गौवों के बल पर धनी व्यक्ति माना जाता है। केवल इन्हीं दो वस्तुओं, गौवों तथा अन्न, से मनुष्य अपनी खाद्य समस्या हल कर सकता है। मानव समाज को अपनी आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए केवल पर्याप्त अन्न तथा पर्याप्त गौवों की आवश्यकता होती है। इन दोनों वस्तुओं के अतिरिक्त बाकी सारी वस्तुएँ कृत्रिम आवश्यकताएँ हैं, जिन्हें मनुष्य ने अपने मूल्यवान जीवन का हनन करने तथा व्यर्थ की वस्तुओं में अपना समय नष्ट करने के लिए उत्पन्न किया है। मानव समाज के शिक्षक रूप में भगवान् कृष्ण ने अपने कार्यों से यह दिखलाया कि वैश्यों को गौवें तथा बैल पालने चाहिए और मूल्यवान पशुओं को संरक्षण प्रदान करना चाहिए। स्मृति के नियमों के अनुसार गाय मनुष्य जाति की माता और बैल पिता है। गाय माता है, क्योंकि मनुष्य जिस तरह माता के स्तन का दूध पीता है, मानव समाज गाय का दूध पीता है। इसी तरह बैल मानव समाज का पिता है, क्योंकि पिता बच्चों के लिए उसी प्रकार कमाता है, जिस तरह कि बैल अन्न उत्पन्न करने के लिए भूमि जोतता है। मानव समाज पिता तथा माता का वध करके जीवन–आत्मा

का हनन कर देगा। यहाँ इसका उल्लेख हुआ है कि सुन्दर गौवें तथा बैल विभिन्न चौकड़ीदार रंगों वाले थे लाल, काले, हरे, पीले, धूसर इत्यादि। उनके रंगों तथा स्वस्थ हँसमुख चेहरों के कारण वातावरण उल्लासपूर्ण था।

इन सबसे भी अधिक था, भगवान् अपनी सुविख्यात वंशी बजाया करते। उनकी वंशी की ध्वनि उनके मित्रों को दिव्य आनन्द प्रदान करती जिससे वे निर्विशेषवादियों द्वारा बहुप्रशंसित *ब्रह्मानन्द* की बातें भूल जाते थे। जैसाकि शुकदेव गोस्वामी बतलायेंगे, ये ग्वालबाल ऐसे जीव थे जिन्होंने ढेरों पुण्यकर्म संचित किये थे और जो भगवान् के साथ आनन्द ले रहे थे तथा उनकी दिव्य वंशी सुन रहे थे। *ब्रह्म-संहिता* से (५.३०) उनके द्वारा दिव्य वंशी बजाने की पुष्टि होती है :

वेणुं क्वणन्तम् अरविन्ददलायताक्षं

बर्हावतंसमसिताम्बुदसुन्दरांगम् ।

कन्दर्पकोटिकमनीयविशेषशोभं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।

ब्रह्माजी ने कहा, ''मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अपनी दिव्य वंशी बजाते हैं। उनकी आँखें कमल के फूलों जैसी हैं। वे मोरपंखों से सुशोभित हैं, और उनके शरीर का रंग नवीन श्याम बादल के सदृश है। उनका शारीरिक स्वरूप करोड़ों कामदेवों से भी अधिक सुन्दर है।'' ये भगवान् के विशिष्ट गुण हैं।

प्रयुक्तान्भोजराजेन मायिनः कामरूपिणः ।
लीलया व्यनुदत्तांस्तान्बालः क्रीडनकानिव ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

प्रयुक्तान्—लगाये गये; भोज-राजेन—कंस द्वारा; मायिनः—बड़े-बड़े जादूगर, मायावी; काम-रूपिणः—इच्छानुसार रूप धारण करने वाले; लीलया—लीलाओं के दौरान; व्यनुदत्—मार डाला; तान्—उनको; तान्—जैसे ही वे निकट आये; बालः—बालक; क्रीडनकान्—खिलौनों; इव—सदृश।

भोज के राजा कंस ने कृष्ण को मारने के लिए बड़े-बड़े जादूगरों को लगा रखा था, जो कैसा भी रूप धारण कर सकते थे। किन्तु अपनी लीलाओं के दौरान भगवान् ने उन सबों को उतनी ही आसानी से मार डाला जिस तरह कोई बालक खिलौनों को तोड़ डालता है।

तात्पर्य : नास्तिक कंस कृष्ण को जन्मते ही मार डालना चाहता था। वह ऐसा करने में विफल रहा, किन्तु बाद में उसे यह जानकारी मिली कि कृष्ण वृन्दावन में नन्द महाराज के घर में रह रहे हैं। अतएव उसने कई जादूगर लगाये जो अद्भुत कार्य कर सकते थे और इच्छानुसार कोई भी रूप धारण कर सकते थे। वे सभी बालक भगवान् के समक्ष विविध रूपों में, यथा अघ, बक, पूतना, शकट, तृणावर्त, धेनुक तथा गर्दभ रूपों में प्रकट हुए और हर बार उन्होंने भगवान् को मार डालने का प्रयास किया। किन्तु भगवान् ने एक-एक करके सबों को इस तरह मार डाला मानो वे खिलौनों से खेल रहे हों। बच्चे सिंह, हाथी, भालू तथा अन्य ऐसे ही विविध खिलौनों से खेलते हैं और खेलते खेलते वे इनको तोड़ डालते हैं। शक्तिशाली भगवान् के सामने कोई भी शक्तिशाली जीव खेलते हुए बच्चे के हाथों में सिंह के खिलौने के समान होता है। कोई भी व्यक्ति किसी भी तरह ईश्वर से बढ़कर नहीं हो सकता। अतएव कोई भी व्यक्ति न तो उनके समान हो सकता है, न उनसे बड़ा। न ही किसी भी प्रकार के प्रयत्न से कोई व्यक्ति ईश्वर की समता कर सकता है। *ज्ञान, योग* तथा *भक्ति* ये आध्यात्मिक साक्षात्कार की तीन मान्य विधियाँ हैं। ऐसी विधियों की पूर्णता मनुष्य को आध्यात्मिक मूल्यों में जीवन के वांछित गन्तव्य तक पहुँचा सकती है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ऐसे प्रयत्नों से मनुष्य भगवान् की ही जैसी पूर्णता प्राप्त कर सकता है। भगवान् प्रत्येक अवस्था में भगवान् रहते हैं। जब वे यशोदामाई की गोद में शिशु की तरह या जब वे ग्वलाबाल के रूप में अपने दिव्य मित्रों के साथ खेल रहे थे तो वे अपने षडैश्वर्यों में किञ्चित कमी किये बिना ईश्वर बने रहे। इस तरह वे सदैव अद्वय हैं।

विपन्नान्विषपानेन निगृह्य भुजगाधिपम् ।
उत्थाप्यापाययद्गावस्तत्तोयं प्रकृतिस्थितम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

विपन्नान्—महान् विपदाओं में परेशान; विष-पानेन—विष पीने से; निगृह्य—दमन करके; भुजग-अधिपम्—सर्पों के मुखिया को; उत्थाप्य—बाहर निकाल कर; अपाययत्—पिलाया; गावः—गौवें; तत्—उस; तोयम्—जल को; प्रकृति—स्वाभाविक; स्थितम्—स्थिति में।.

वृन्दावन के निवासी घोर विपत्ति के कारण परेशान थे, क्योंकि यमुना के कुछ अंश का जल सर्पों के प्रमुख (कालिय) द्वारा विषाक्त किया जा चुका था। भगवान् ने सर्पराज को जल के भीतर प्रताड़ित किया और उसे दूर खदेड़ दिया। फिर नदी से बाहर आकर उन्होंने गौवों को

जल पिलाया तथा यह सिद्ध किया कि वह जल पुनः अपनी स्वाभाविक स्थिति में है।

अयाजयद्गोसवेन गोपराजं द्विजोत्तमैः ।
वित्तस्य चोरुभारस्य चिकीर्षन्सद्व्ययं विभुः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अयाजयत्—सम्पन्न कराया; गो-सवेन—गौवों की पूजा द्वारा; गोप-राजम्—ग्वालों के राजा; द्विज-उत्तमैः—विद्वान ब्राह्मणों द्वारा; वित्तस्य—सम्पत्ति का; च—भी; उरु-भारस्य—महान् ऐश्वर्य; चिकीर्षन्—कार्य करने की इच्छा से; सत्-व्ययम्—उचित उपभोग; विभुः—महान्।

भगवान् कृष्ण महाराज नन्द की ऐश्वर्यशाली आर्थिक शक्ति का उपयोग गौवों की पूजा के लिए कराना चाहते थे और वे स्वर्ग के राजा इन्द्र को भी पाठ पढ़ाना चाह रहे थे। अतः उन्होंने अपने पिता को सलाह दी थी कि वे विद्वान ब्राह्मणों की सहायता से गो अर्थात् चरागाह तथा गौवों की पूजा कराएँ।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् सबों के शिक्षक हैं, अतएव उन्होंने अपने पिता नन्द महाराज को भी शिक्षा दी। नन्द महाराज एक सम्पन्न भूमिधर तथा अनेक गौवों के स्वामी थे और प्रथा के अनुसार वे प्रतिवर्ष स्वर्ग के राजा इन्द्र की पूजा बड़ी ही सजधज के साथ किया करते थे। वैदिक वाङ्मय में भी जनता द्वारा देवताओं की इस पूजा की सलाह दी गई है, जिससे लोग भगवान् की श्रेष्ठता को स्वीकार करें। देवता तो भगवान् के दास हैं, जिन्हें ब्रह्माण्ड विषयक विविध कार्यों का प्रबन्ध देखने के लिए नियुक्त किया गया हैं। इसलिए वैदिक शास्त्रों में सलाह दी गई हैं कि देवताओं को प्रसन्न करने के लिए मनुष्य यज्ञ सम्पन्न करें। किन्तु जो व्यक्ति परमेश्वर की भक्ति करता है उसे देवताओं को प्रसन्न करने की कोई आवश्यकता नहीं है। सामान्यजनों द्वारा देवताओं की पूजा परमेश्वर की सर्वश्रेष्ठता स्वीकार करने की एक व्यवस्था है किन्तु ऐसा करना आवश्यक नहीं है। ऐसा तुष्टीकरण सामान्यतया भौतिक लाभों के लिए ही किया जाता है। जैसे कि इस ग्रन्थ के द्वितीय स्कन्ध में हम पहले ही कह चुके हैं, जो व्यक्ति भगवान् की सर्वश्रेष्ठता स्वीकार कर लेता है, उसे गौण देवताओं की पूजा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। कभी-कभी अल्पज्ञ जीवों द्वारा पूजा तथा आराधना किये जाने से देवता गर्वित हो उठते हैं और वे भगवान् की श्रेष्ठता को भूल जाते हैं। ऐसी ही घटना तब घटी जब भगवान् कृष्ण इस ब्रह्माण्ड में उपस्थित थे, अतः भगवान् ने स्वर्ग के राजा इन्द्र को पाठ सिखाना चाहा। उन्होंने नन्द महाराज से कहा

कि वे इन्द्र को अर्पित किया जाने वाला यज्ञ बन्द कर दें और गौवों तथा गोवर्धन पर्वत पर स्थित चरागाहों की पूजा करके धन का समुचित उपयोग करें। इस कार्य से भगवान् कृष्ण ने मानव समाज को शिक्षा दी, जैसाकि *भगवद्गीता* में भी उन्होंने उपदेश दिया है कि मनुष्य को अपने समस्त कर्मों तथा उनके फलों द्वारा ब्रह्म की पूजा करनी चाहिए। इससे वांछित सफलता प्राप्त हो सकेगी। वैश्यों को विशेषरूप से सलाह दी गई है कि वे गौवों तथा उनके चरागाहों की कृषियोग्य भूमि को संरक्षण प्रदान करें और गाढ़ी कमाई को व्यर्थ न फूँकें। इससे भगवान् तुष्ट होंगे। अपने व्यवसायपरक कर्तव्य की पूर्णता, चाहे वह कर्तव्य अपने प्रति, अपनी जाति के प्रति या अपने राष्ट्र के प्रति हो, भगवान् की तुष्टि की कोटि से आँकी जाती है।

वर्षतीन्द्रे व्रजः कोपाद्भग्नमानेऽतिविह्वलः ।
गोत्रलीलातपत्रेण त्रातो भद्रानुगृह्णता ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

वर्षति—जब बरसात में; इन्द्रे—इन्द्र द्वारा; व्रजः—गौवों की भूमि (वृन्दावन); कोपात् भग्नमाने—अपमानित होने से क्रुद्ध; अति—अत्यधिक; विह्वलः—विचलित; गोत्र—गायों के लिए पर्वत; लीला-आतपत्रेण—छाता की लीला द्वारा; त्रातः—बचा लिये गये; भद्र—हे सौम्य; अनुगृह्णता—कृपालु भगवान् द्वारा।

हे भद्र विदुर, अपमानित होने से राजा इन्द्र ने वृन्दावन पर मूसलाधार वर्षा की। इस तरह गौवों की भूमि व्रज के निवासी बहुत ही व्याकुल हो उठे। किन्तु दयालु भगवान् कृष्ण ने अपने लीलाछत्र गोवर्धन पर्वत से उन्हें संकट से उबार लिया।

शरच्छशिकरैर्मृष्टं मानयन्रजनीमुखम् ।
गायन्कलपदं रेमे स्त्रीणां मण्डलमण्डनः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

शरत्—शरद् कालीन; शशि—चन्द्रमा की; करैः—किरणों से; मृष्टम्—चमकीला; मानयन्—सोचते हुए; रजनी-मुखम्—रात का मुख; गायन्—गाते हुए; कल-पदम्—मनोहर गीत; रेमे—विहार किया; स्त्रीणाम्—स्त्रियों का; मण्डल-मण्डनः—स्त्रियों की सभा के मुख्य आकर्षण के रूप में।

वर्ष की तृतीय ऋतु में भगवान् ने स्त्रियों की सभा के मध्यवर्ती सौन्दर्य के रूप में चाँदनी से उजली हुई शरद् की रात में अपने मनोहर गीतों से उन्हें आकृष्ट करके उनके साथ विहार किया।

तात्पर्य : गौवों की भूमि वृन्दावन छोड़ने के पूर्व भगवान् ने अपनी युवा-सखियों अर्थात् दिव्य गोपियों को अपनी रासलीला द्वारा आनन्दित किया। यहाँ पर उद्धव ने भगवान् के कार्यों का वर्णन

करना रोक दिया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''भगवान् कृष्ण का स्मरण'' नामक दूसरे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तीन

वृन्दावन से बाहर भगवान् की लीलाएँ

उद्धव उवाच

ततः स आगत्य पुरं स्वपित्रो-
श्चिकीर्षया शं बलदेवसंयुतः ।
निपात्य तुङ्गाद्रिपुयूथनाथं
हतं व्यकर्षद्व्यसुमोजसोर्व्याम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

उद्धवः उवाच—श्रीउद्धव ने कहा; ततः—तत्पश्चात्; सः—भगवान्; आगत्य—आकर; पुरम्—मथुरा नगरी में; स्व-पित्रोः—अपने माता पिता की; चिकीर्षया—चाहते हुए; शम्—कुशलता; बलदेव-संयुतः—बलदेव के साथ; निपात्य—नीचे खींचकर; तुङ्गात्—सिंहासन से; रिपु-यूथ-नाथम्—जनता के शत्रुओं के मुखिया को; हतम्—मार डाला; व्यकर्षत्—खींचा; व्यसुम्—मृत; ओजसा—बल से; उर्व्याम्—पृथ्वी पर।

श्री उद्धव ने कहा : तत्पश्चात् भगवान् कृष्ण श्री बलदेव के साथ मथुरा नगरी आये और अपने माता पिता को प्रसन्न करने के लिए जनता के शत्रुओं के अगुवा कंस को उसके सिंहासन से खींच कर अत्यन्त बलपर्वूक भूमि पर घसीटते हुए मार डाला।

तात्पर्य : यहाँ पर कंस की मृत्यु का संक्षिप्त वर्णन हुआ है, क्योंकि ऐसी लीलाएँ दशम स्कन्ध में स्पष्टता से और विस्तार से वर्णित हैं। भगवान् ने सोलह वर्ष की आयु में ही अपने को माता-पिता का योग्य पुत्र सिद्ध किया। दोनों भाई कृष्ण तथा भगवान् बलराम वृन्दावन से मथुरा गये और उन्होंने अपने मामा कंस का वध किया जिसने उनके माता-पिता वसुदेव तथा देवकी को अत्यधिक कष्ट दे रखा था। कंस एक विराट दैत्य था और वसुदेव एवं देवकी ने कभी सोचा भी नहीं था कि कृष्ण तथा बलराम (बलदेव) इतने बड़े तथा बलवान शत्रु का संहार कर सकेंगे। जब दोनों भाइयों ने सिंहासनारूढ़ कंस पर आक्रमण किया, तो उनके माता पिता डर गये कि अब कंस को हमारे उन पुत्रों को मार डालने का अवसर प्राप्त हो जाएगा, जिन्हें हमने इतने दीर्घकाल तक नन्द महाराज के घर में छिपा रखा था। भगवान् के माता-पिता संतति के प्रति स्नेहवश अत्यधिक त्रास का अनुभव कर रहे थे और वे मूर्छित से हो गये थे। उन्हीं को आश्वस्त करने के लिए ही कृष्ण तथा बलराम ने कंस को मारा और उन्हें प्रोत्साहित करने के लिए ही उसके मृत शरीर को धरती पर घसीटा।

सान्दीपनेः सकृत्प्रोक्तं ब्रह्माधीत्य सविस्तरम् ।
तस्मै प्रादाद्वरं पुत्रं मृतं पञ्चजनोदरात् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सान्दीपनेः—सान्दीपनि मुनि के; सकृत्—केवल एक बार; प्रोक्तम्—कहा गया; ब्रह्म—ज्ञान की विभिन्न शाखाओं समेत सारे वेद; अधीत्य—अध्ययन करके; स-विस्तरम्—विस्तार सहित; तस्मै—उसको; प्रादात्—दिया; वरम्—वरदान; पुत्रम्—उसके पुत्र का; मृतम्—मरे हुए; पञ्च-जन—मृतात्माओं का क्षेत्र; उदरात्—के भीतर से।

भगवान् ने अपने शिक्षक सान्दीपनि मुनि से केवल एक बार सुनकर सारे वेदों को उनकी विभिन्न शाखाओं समेत सीखा और गुरुदक्षिणा के रूप में अपने शिक्षक के मृत पुत्र को यमलोक से वापस लाकर दे दिया।

तात्पर्य : एकमात्र कृष्ण ऐसे हैं, जो अपने गुरु के मुख से एक बार सुन कर ही वैदिक विद्या की समस्त शाखाओं में पारंगत हो सकते हैं। यमराज के क्षेत्र में आत्मा के चले जाने पर कोई व्यक्ति मृत शरीर को जीवित नहीं कर सकता है। किन्तु भगवान् कृष्ण ने यमलोक तक जाने का साहस किया और अपने गुरु के मृतपुत्र को ढूँढा तथा उसे वापस लाकर उनसे प्राप्त शिक्षा के लिए गुरुदक्षिणा के रूप में सौंप दिया। भगवान् स्वभावत: सारे वेदों में सिद्धहस्त हैं, किन्तु सबों के समक्ष यह दृष्टान्त प्रस्तुत करने के लिए कि प्रामाणिक गुरु से वेदों का अध्ययन करना चाहिए और सेवा तथा दक्षिणा द्वारा गुरु को प्रसन्न करना चाहिए, उन्होंने स्वयं इस पद्धति को अपनाया। भगवान् ने अपने गुरु सान्दीपनि मुनि की सेवा की और भगवान् की शक्ति को समझ करके ही मुनि ने ऐसी वस्तु माँगी जिसे पूरा कर पाना अन्य किसी के लिए असम्भव था। गुरु ने कहा कि उसका मृत पुत्र लाकर के उसे दिया जाय और भगवान् ने उनके इस आग्रह को पूरा किया। अतएव भगवान् अपने प्रति किसी भी प्रकार की सेवा करने वाले के प्रति कृतघ्न नहीं हैं। भगवान् के वे भक्त जो सदैव उनकी प्रेमाभक्ति में व्यस्त रहते हैं कभी भी भक्ति के प्रगतिशील प्रयाण में निराश नहीं होते।

समाहुता भीष्मककन्यया ये
श्रियः सवर्णेन बुभूषयैषाम् ।
गान्धर्ववृत्त्या मिषतां स्वभागं
जह्रे पदं मूर्ध्नि दधत्सुपर्णः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

समाहुताः—आमंत्रित; भीष्मक—राजा भीष्मक की; कन्यया—पुत्री द्वारा; ये—जो; श्रियः—सम्पत्ति; स-वर्णेन—उसी तरह के क्रम में; बुभूषया—ऐसा होने की आशा से; एषाम्—उनका; गान्धर्व—ब्याह की; वृत्त्या—ऐसी प्रथा द्वारा; मिषताम्—ले जाते हुए; स्व-भागम्—अपना हिस्सा; जह्रे—ले गया; पदम्—पाँव; मूर्ध्नि—सिर पर; दधत्—रखते हुए; सुपर्णः—गरुड़।

राजा भीष्मक की पुत्री रुक्मिणी के सौन्दर्य तथा सम्पत्ति से आकृष्ट होकर अनेक बड़े-बड़े राजकुमार तथा राजा उससे ब्याह करने के लिए एकत्र हुए। किन्तु भगवान् कृष्ण अन्य आशावान् अभ्यर्थियों को पछाड़ते हुए उसी तरह अपना भाग जान कर उसे उठा ले गये जिस तरह गरुड़ अमृत ले गया था।

तात्पर्य : राजा भीष्मक की पुत्री कुमारी रुक्मिणी सचमुच ही लक्ष्मी जैसी आकर्षक थीं, क्योंकि वे रंग तथा गुण दोनों में ही स्वर्ण जैसी मूल्यवान थीं। चूँकि लक्ष्मीजी भगवान् की सम्पत्ति हैं, अतः रुक्मिणी वास्तव में कृष्ण के ही निमित्त थीं। किन्तु रुक्मिणी के बड़े भाई ने शिशुपाल को उसके पति के रूप में चुना था, यद्यपि राजा भीष्मक अपनी पुत्री का विवाह कृष्ण से करना चाहते थे। रुक्मिणी ने शिशुपाल के चंगुल से अपने को छुड़ाने के लिए कृष्ण को आमंत्रित किया, अतः जब दूल्हा बनकर शिशुपाल अपनी टोली सहित रुक्मिणी से विवाह करने की इच्छा से वहाँ आया तो कृष्ण सहसा ही सभी राजकुमारों को पछाड़ते हुए रुक्मिणी को वहाँ से ऐसे उठा ले गये जिस तरह गरुड़ असुरों के हाथ से अमृत ले भागा था। इस घटना की स्पष्ट विवेचना दशम स्कन्ध में की जाएगी।

ककुद्मिनोऽविद्धनसो दमित्वा
स्वयंवरे नाग्नजितीमुवाह ।
तद्भग्नमानानपि गृध्यतोऽज्ञा-
ञ्जघ्नेऽक्षतः शस्त्रभृतः स्वशस्त्रैः ॥ ४॥

शब्दार्थ

ककुद्मिनः—बैल जिनकी नाकें छिदी हुई नहीं थीं; अविद्ध-नसः—नाकें छिदी हुई; दमित्वा—दमन करके; स्वयंवरे—दुलहिन चुनने के लिए खुली स्पर्धा में; नाग्नजितीम्—राजकुमारी नाग्नजिती को; उवाह—ब्याहा; तत्-भग्नमानान्—इस तरह निराश हुओं को; अपि—यद्यपि; गृध्यतः—चाहा; अज्ञान्—मूर्खजन; जघ्ने—मारा तथा घायल किया; अक्षतः—बिना घायल हुऐ; शस्त्र-भृतः—सभी हथियारों से लैस; स्व-शस्त्रैः—अपने हथियारों से।

बिना नथ वाले सात बैलों का दमन करके भगवान् ने स्वयंवर की खुली स्पर्धा में राजकुमारी नाग्नजिती का हाथ प्राप्त किया। यद्यपि भगवान् विजयी हुए, किन्तु उनके प्रत्याशियों ने राजकुमारी का हाथ चाहा, अतः युद्ध हुआ। अतः शस्त्रों से अच्छी तरह लैस, भगवान् ने उन सबों को मार डाला या घायल कर दिया, परन्तु स्वयं उन्हें कोई चोट नहीं आई।

प्रियं प्रभुर्ग्राम्य इव प्रियाया
विधित्सुरार्च्छद्द्युतरुं यदर्थे ।
वज्र्याद्रवत्तं सगणो रुषान्धः
क्रीडामृगो नूनमयं वधूनाम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

प्रियम्—प्रिय पत्नी के; प्रभुः—स्वामी; ग्राम्यः—सामान्य जीव; इव—सदृश; प्रियायाः—प्रसन्न करने के लिए; विधित्सुः—चाहते हुए; आर्च्छत्—ले आये; द्युतरुम्—पारिजात पुष्प का वृक्ष; यत्—जिसके; अर्थे—विषय में; वज्री—स्वर्ग का राजा इन्द्र; आद्रवत् तम्—उससे लड़ने आया; स-गणः—दलबल सहित; रुषा—क्रोध में; अन्धः—अन्धा; क्रीडा-मृगः—कठपुतली; नूनम्—निस्सन्देह; अयम्—यह; वधूनाम्—स्त्रियों का।

अपनी प्रिय पत्नी को प्रसन्न करने के लिए भगवान् स्वर्ग से पारिजात वृक्ष ले आये जिस तरह कि एक सामान्य पति करता है। किन्तु स्वर्ग के राजा इन्द्र ने अपनी पत्नियों के उकसाने पर (क्योंकि वह स्त्रीवश्य था) लड़ने के लिए दलबल सहित भगवान् का पीछा किया।

तात्पर्य : एक बार जब भगवान् देवताओं की माता अदिति को कान के कुण्डल भेंट करने स्वर्गलोक गये तो उनकी पत्नी सत्यभामा भी उनके साथ गई थीं। पारिजात नामक एक विशेष पुष्प वृक्ष केवल स्वर्ग में ही उगता है। सत्यभामा ने इस वृक्ष को लेने की इच्छा प्रकट की। भगवान् अपनी पत्नी को प्रसन्न करने के लिए सामान्य पति की तरह वह वृक्ष अपने साथ ले आये। इससे वज्री अर्थात् वज्र का नियन्ता इन्द्र कुपित हो उठा। इन्द्र की पत्नियों ने उसे युद्ध करने के लिए भगवान् का पीछा करने को उकसाया। चूँकि इन्द्र स्त्रीवश्य पति था और मूर्ख भी था, अतः वह उनके कहने में आ गया और उसने कृष्ण से युद्ध करने का दुस्साहस किया। वह इस अवसर पर मूर्ख बना, क्योंकि वह भूल गया कि प्रत्येक वस्तु भगवान् की है।

यद्यपि भगवान् स्वर्गलोक से वृक्ष ले आये थे, किन्तु इसमें उनका कोई दोष नहीं था। फिर भी शची जैसी सुन्दर पत्नियों का वशीभूत इन्द्र, स्त्रीवश्य होने से, मूर्ख बना जिस तरह स्त्री के वश में रहने वाले सामान्य व्यक्ति मूर्ख होते हैं। इन्द्र ने सोचा कि कृष्ण स्त्रीवश्य पति हैं जिसने अपनी पत्नी सत्यभामा की इच्छा मात्र से स्वर्ग की सम्पत्ति का हरण किया है, अतः उसने कृष्ण को दण्ड देने की सोची। वह यह भूल गया कि भगवान् प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं, और वे स्त्रीवश्य नहीं हो सकते। भगवान् पूर्णतया स्वतंत्र हैं, और इच्छा मात्र से वे सत्यभामा जैसी हजारों पत्नियाँ पा सकते हैं। अतः वे सत्यभामा पर इसलिए अनुरक्त नहीं थे कि वह सुन्दर पत्नी थी, अपितु वे उसकी भक्ति से प्रसन्न थे,

अत: वे अपने भक्त की शुद्ध भक्ति का प्रतिदान देना चाह रहे थे।

सुतं मृधे खं वपुषा ग्रसन्तं
दृष्ट्वा सुनाभोन्मथितं धरित्र्या ।
आमन्त्रितस्तत्तनयाय शेषं
दत्त्वा तदन्त:पुरमाविवेश ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सुतम्—पुत्र को; मृधे—युद्ध में; खम्—आकाश; वपुषा—अपने शरीर से; ग्रसन्तम्—निगलते हुए; दृष्ट्वा—देखकर; सुनाभ—सुदर्शन चक्र से; उन्मथितम्—मार डाला; धरित्र्या—पृथ्वी द्वारा; आमन्त्रित:—प्रार्थना किये जाने पर; तत्-तनयाय—नरकासुर के पुत्र को; शेषम्—उससे लिया हुआ; दत्त्वा—लौटा कर; तत्—उसके; अन्त:-पुरम्—घर के भीतर; आविवेश—घुसे।

धरित्री अर्थात् पृथ्वी के पुत्र नरकासुर ने सम्पूर्ण आकाश को निगलना चाहा जिसके कारण युद्ध में वह भगवान् द्वारा मार डाला गया। तब उसकी माता ने भगवान् से प्रार्थना की। इससे नरकासुर के पुत्र को राज्य लौटा दिया गया और भगवान् उस असुर के घर में प्रविष्ट हुए।

तात्पर्य : अन्य पुराणों में यह कहा गया है कि नरकासुर भगवान् द्वारा उत्पन्न धरित्री पृथ्वी का पुत्र था। किन्तु वह एक अन्य असुर बाण की कुसंगति के कारण असुर बन गया। नास्तिक को असुर कहा जाता है और यह एक तथ्य है कि अच्छे माता पिता से उत्पन्न व्यक्ति भी कुसंगति से असुर बन सकता है। किसी का जन्म ही सदैव अच्छाई की कसौटी नहीं है। जब तक कोई व्यक्ति अच्छी संगति की शिक्षा नहीं पाता तब तक वह अच्छा नहीं बन सकता।

तत्राहृतास्ता नरदेवकन्या:
कुजेन दृष्ट्वा हरिमार्तबन्धुम् ।
उत्थाय सद्यो जगृहु: प्रहर्ष-
व्रीडानुरागप्रहितावलोकै: ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तत्र—नरकासुर के घर के भीतर; आहृता:—अपहृत, भगाई हुई; ता:—उन सबों को; नर-देव-कन्या:—अनेक राजाओं की पुत्रियों को; कुजेन—असुर द्वारा; दृष्ट्वा—देखकर; हरिम्—भगवान् को; आर्त-बन्धुम्—दुखियारों के मित्र; उत्थाय—उठकर; सद्य:—वहीं पर, तत्काल; जगृहु:—स्वीकार किया; प्रहर्ष—हँसी खुशी के साथ; व्रीड—लज्जा; अनुराग—आसक्ति; प्रहित-अवलोकै:—उत्सुक चितवनों से।

उस असुर के घर में नरकासुर द्वारा हरण की गई सारी राजकुमारियाँ दुखियारों के मित्र भगवान् को देखते ही चौकन्नी हो उठीं। उन्होंने अतीव उत्सुकता, हर्ष तथा लज्जा से भगवान की ओर देखा और अपने को उनकी पत्नियों के रूप में अर्पित कर दिया।

तात्पर्य : नरकासुर ने बड़े-बड़े राजाओं की अनेक पुत्रियों का अपरहण किया था और उन्हें अपने राजमहल में बन्दी बनाकर रखा था। किन्तु जब वह भगवान् द्वारा मार डाला गया और जब भगवान् उस असुर के घर में प्रविष्ट हुए तो सारी राजकुमारियाँ हर्ष से प्रफुल्लित हो उठीं और उन्होंने उनकी पत्नियाँ बनने के लिए स्वयं को अर्पित कर दिया, क्योंकि भगवान् ही दुखियारों के एकमात्र मित्र हैं। यदि भगवान् उन्हें स्वीकार नहीं करते तो उन सबों के विवाहित होने की कोई सम्भावना नहीं थी, क्योंकि उस असुर ने उनको उनके पिता के संरक्षण से अपहरण किया था, अत: कोई भी व्यक्ति उनसे विवाह करने के लिए राजी न होता। वैदिक समाज की रीति के अनुसार कन्याएँ पिता के संरक्षण से पति के संरक्षण में भेजी जाती हैं। चूँकि ये कन्याएँ पहले ही अपने-अपने पिता के संरक्षण से अपहृत की जा चुकी थीं, अतएव भगवान् के अतिरिक्त उनके लिए अन्य कोई पति प्राप्त कर पाना असम्भव होता।

आसां मुहूर्त एकस्मिन्नानागारेषु योषिताम् ।
सविधं जगृहे पाणीननुरूप: स्वमायया ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

आसाम्—सबों को; मुहूर्ते—एक समय; एकस्मिन्—एकसाथ; नाना-आगारेषु—विभिन्न कमरों में; योषिताम्—स्त्रियों के; स-विधम्—विधिपूर्वक; जगृहे—स्वीकार किया; पाणीन्—हाथों को; अनुरूप:—के अनुरूप; स्व-मायया—अपनी अन्तरंगा शक्ति से।

वे सभी राजकुमारियाँ अलग-अलग भवनों में रखी गई थीं और भगवान् ने एकसाथ प्रत्येक राजकुमारी के लिए उपयुक्त युग्म के रूप में विभिन्न शारीरिक अंश धारण कर लिये। उन्होंने अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा विधिवत् उनके साथ पाणिग्रहण कर लिया।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* (५.३३) में भगवान् उनके असंख्य स्वांशों के साथ निम्नवत् वर्णन हुआ है—

अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्

आद्यं पुराणपुरुषंनवयौवनं च।

वेदेषु दुर्लभमदुर्लभमात्मभक्तौ

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

“मैं उन भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो आदि भगवान् हैं। वे अपने असंख्य स्वांशों से

अभिन्न हैं; वे अच्युत, आदि, तथा असीम हैं एवं नित्य स्वरूपों वाले हैं। यद्यपि वे सबसे प्राचीन पुरुष हैं, किन्तु वे सदैव नवीन तथा युवा रहते हैं।'' भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति से *स्वयं प्रकाश* के विविध पुरुषों में और पुन: *प्राभव* तथा *वैभव* रूपों में विस्तार कर सकते हैं। ये सारे रूप एक दूसरे से अभिन्न होते हैं। भगवान् ने विभिन्न भवनों में रह रही राजकुमारियों के साथ विवाह करने के लिए जिन रूपों में अपना विस्तार किया वे उनमें से हर एक के अनुरूप होने से कुछ-कुछ भिन्न थे। वे भगवान् के *वैभव-विलास* रूप कहलाते हैं और उनकी अन्तरंगा शक्ति *योग-माया* द्वारा क्रियाशील होते हैं।

तास्वपत्यान्यजनयदात्मतुल्यानि सर्वत: ।
एकैकस्यां दश दश प्रकृतेर्विबुभूषया ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तासु—उनके; अपत्यानि—सन्तानें; अजनयत्—उत्पन्न किया; आत्म-तुल्यानि—अपने ही समान; सर्वत:—सभी तरह से; एक-एकस्याम्—उनमें से हर एक में; दश—दस; दश—दस; प्रकृते:—अपना विस्तार करने के लिए; विबुभूषया—ऐसी इच्छा करते हुए।

अपने दिव्य स्वरूपों के अनुसार ही अपना विस्तार करने के लिए भगवान् ने उनमें से हर एक से ठीक अपने ही गुणों वाली दस-दस सन्तानें उत्पन्न कीं।

कालमागधशाल्वादीननीकै रुन्धत: पुरम् ।
अजीघनत्स्वयं दिव्यं स्वपुंसां तेज आदिशत् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

काल—कालयवन; मागध—मगध का राजा (जरासन्ध); शाल्व—शाल्व राजा; आदीन्—इत्यादि; अनीकै:—सैनिकों से; रुन्धत:—घिरा हुआ; पुरम्—मथुरा नगरी; अजीघनत्—मार डाला; स्वयम्—स्वयं; दिव्यम्—दिव्य; स्व-पुंसाम्—अपने ही लोगों को; तेज:—तेज; आदिशत्—प्रकट किया।

कालयवन, मगध के राजा तथा शाल्व ने मथुरा नगरी पर आक्रमण किया, किन्तु जब नगरी उनके सैनिकों से घिर गई तो भगवान् ने अपने जनों की शक्ति प्रदर्शित करने के उद्देश्य से उन सबों को स्वयम् नहीं मारा।

तात्पर्य : कंस की मृत्यु के बाद जब मथुरा नगरी कालयवन, जरासन्ध तथा शाल्व के सैनिकों द्वारा घेर ली गई तो भगवान् इस नगरी से एक तरह से भाग निकले और इस तरह वे *रणछोड़* अर्थात् वह जो युद्ध से भाग जाये- कहलाते हैं। वस्तुत: तथ्य यह है कि भगवान् उन सबों को अपने-जनों से अर्थात् मुचुकुंद तथा भीम जैसे भक्तों से, मरवाना चाहते थे। कालयवन तथा मगधराज का वध क्रमश: मुचुकुंद

तथा भीम द्वारा किया गया जिन्होंने भगवान् के प्रतिनिधि (एजेन्ट) की भूमिका निभाई। ऐसे कार्यों द्वारा भगवान् अपने भक्तों के पराक्रम (तेज) को प्रदर्शित कराना चाहते थे मानो वे स्वयं उनसे युद्ध करने में असमर्थ हों, परन्तु उनके भक्त उन लोगों का वध कर सकते थे। भगवान् का अपने भक्तों के साथ जो सम्बन्ध है, वह अत्यन्त सुखद है। वस्तुतः भगवान् संसार के अवांछित तत्त्वों का वध करने के लिए ब्रह्मा के अनुरोध पर अवतरित हुए थे, किन्तु यश का श्रेय विभाजित करने के उद्देश्य से उन्होंने कभी-कभी यह श्रेय दिलाने के लिए अपने भक्तों को लगाया। कुरुक्षेत्र का युद्ध स्वयं भगवान् द्वारा नियोजित था, किन्तु अपने भक्त अर्जुन को श्रेय देने के लिए (*निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्*), उन्होंने सारथी की भूमिका निभाई और अर्जुन को योद्धा की भूमिका निभाने का अवसर प्रदान किया। इस तरह अर्जुन कुरुक्षेत्र युद्ध के नायक बने। कृष्ण अपनी दिव्य योजनाओं द्वारा जो कुछ स्वयं करना चाहते हैं उसे वे अपने विश्वस्त भक्तों के माध्यम से सम्पन्न कराते हैं। अपने शुद्ध अनन्य भक्तों के प्रति भगवान् की कृपा की यही रीति है।

शम्बरं द्विविदं बाणं मुरं बल्वलमेव च ।
अन्यांश्च दन्तवक्रादीनवधीत्कांश्च घातयत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

शम्बरम्—शम्बर; द्विविदम्—द्विविद; बाणम्—बाण; मुरम्—मुर; बल्वलम्—बल्वल; एव च—तथा; अन्यान्—अन्यों को; च—भी; दन्तवक्र-आदीन्—दन्तवक्र इत्यादि को; अवधीत्—मारा; कान् च—तथा अनेक अन्यों को; घातयत्—मरवाया।

शम्बर, द्विविद, बाण, मुर, बल्वल जैसे राजाओं तथा दन्तवक्र इत्यादि बहुत से असुरों में से कुछ को उन्होंने स्वयं मारा और कुछ को अन्यों (यथा बलदेव इत्यादि) द्वारा मरवाया।

अथ ते भ्रातृपुत्राणां पक्षयोः पतितान्नृपान् ।
चचाल भूः कुरुक्षेत्रं येषामापततां बलैः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; ते—तुम्हारे; भ्रातृ-पुत्राणाम्—भतीजों के; पक्षयोः—दोनों पक्षों के; पतितान्—मारे गये; नृपान्—राजाओं को; चचाल—हिला दिया; भूः—पृथ्वी; कुरुक्षेत्रम्—कुरुक्षेत्र युद्धस्थल; येषाम्—जिसके; आपतताम्—चलते समय; बलैः—बल द्वारा।

तत्पश्चात्, हे विदुर, भगवान् ने शत्रुओं को तथा लड़ रहे तुम्हारे भतीजों के पक्ष के समस्त राजाओं को कुरुक्षेत्र के युद्ध में मरवा डाला। वे सारे राजा इतने विराट तथा बलवान थे कि जब

वे युद्धभूमि में विचरण करते तो पृथ्वी हिलती प्रतीत होती।

स कर्णदु:शासनसौबलानां
कुमन्त्रपाकेन हतश्रियायुषम् ।
सुयोधनं सानुचरं शयानं
भग्नोरुमूर्व्यां न ननन्द पश्यन् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

स:—वह (भगवान्); कर्ण—कर्ण; दु:शासन—दु:शासन; सौबलानाम्—सौबल; कुमन्त्र-पाकेन—कुमंत्रणा की जटिलता से; हत-श्रिय—सम्पत्ति से विहीन; आयुषम्—आयु से; सुयोधनम्—दुर्योधन; स-अनुचरम्—अनुयायियों सहित; शयानम्—लेटे हुए; भग्न—टूटी; ऊरुम्—जंघाएँ; ऊर्व्याम्—अत्यन्त शक्तिशाली; न—नहीं; ननन्द—आनन्द मिला; पश्यन्—इस तरह देखते हुए।

कर्ण, दु:शासन तथा सौबल की कुमंत्रणा के कपट-योग के कारण दुर्योधन अपनी सम्पत्ति तथा आयु से विहीन हो गया। यद्यपि वह शक्तिशाली था, किन्तु जब वह अपने अनुयायियों समेत भूमि पर लेटा हुआ था उसकी जाँघें टूटी थीं। भगवान् इस दृश्य को देखकर प्रसन्न नहीं थे।

तात्पर्य : धृतराष्ट्र के अग्रणी पुत्र दुर्योधन का पतन भगवान् को अच्छा नहीं लगा, यद्यपि वे अर्जुन के पक्ष में थे और उन्होंने ही भीम को सलाह दी थी कि युद्ध में दुर्योधन की जाँघें किस तरह तोड़े। भगवान् को बाध्य होकर बुराई करने वाले को दण्ड देना पड़ता है, किन्तु ऐसा दण्ड देते हुए वे प्रसन्न नहीं होते, क्योंकि सारे जीव मूलत: उनके भिन्नांश होते हैं। वे बुराई करने वाले के प्रति वज्र से भी कठोर तथा श्रद्धावानों के प्रति गुलाब के फूल से भी कोमल रहते हैं। बुराई करने वाला कुसंगियों द्वारा तथा कुमंत्रणा द्वारा दिग्भ्रमित हो जाता है, जो भगवान् के आदेश के अन्तर्गत स्थापित सिद्धान्तों के प्रतिकूल है, और इस प्रकार वह दण्ड का भागी बनता है। सुख का सबसे निश्चित मार्ग भगवान् द्वारा बनाये गये सिद्धान्तों का पालन करना तथा उनके द्वारा स्थापित नियमों का उल्लंघन न करना है। ये नियम भुलक्कड़ जीवों के लिए वेदों तथा पुराणों में निरूपित हैं।

कियान्भुवोऽयं क्षपितोरुभारो
यद्द्रोणभीष्मार्जुनभीममूलै: ।
अष्टादशाक्षौहिणिको मदंशै-
रास्ते बलं दुर्विषहं यदूनाम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

किंयान्—यह क्या है; भुवः—पृथ्वी पर; अयम्—यह; क्षपित—घटा हुआ; उरु—बहुत बड़ा; भारः—भार, बोझा; यत्—जो; द्रोण—द्रोण; भीष्म—भीष्म; अर्जुन—अर्जुन; भीम—भीम; मूलैः—सहायता से; अष्टादश—अठारह; अक्षौहिणिकः—सैन्यबल की व्यूह रचना (देखें भागवत १.१६.३४); मत्-अंशैः—मेरे वंशजों के साथ; आस्ते—अब भी हैं; बलम्—महान् शक्ति; दुर्विषहम्—असह्य; यदूनाम्—यदुवंश की।

[कुरुक्षेत्र युद्ध की समाप्ति पर भगवान् ने कहा] अब द्रोण, भीष्म, अर्जुन तथा भीम की सहायता से अठारह अक्षौहिणी सेना का पृथ्वी का भारी बोझ कम हुआ है। किन्तु यह क्या है? अब भी मुझी से उत्पन्न यदुवंश की विशाल शक्ति शेष है, जो और भी अधिक असह्य बोझ बन सकती है।

तात्पर्य : यह एक गलत सिद्धान्त है कि जनसंख्या वृद्धि से संसार अतिबोझिल हो उठता है और इसीलिए युद्ध तथा अन्य संहारक प्रक्रियाएँ होती हैं। पृथ्वी कभी भी अतिबोझिल नहीं होती। पृथ्वी पर स्थित गुरुतम पर्वतों तथा समुद्रों में मनुष्यों की अपेक्षा अधिक जीव रहते हैं, किन्तु वे कभी अतिबोझिल नहीं होते। यदि पृथ्वी की सतह पर रहने वाले समस्त जीवों की गणना की जाय तो यह निश्चित रूप से पाया जाएगा कि मनुष्यों की जनसंख्या समस्त जीवों की संख्या का पाँच प्रतिशत भी नहीं है। यदि मनुष्यों की जन्म दर बढ़ रही है, तो उसी अनुपात में अन्य जीवों की जन्म दर भी बढ़ रही है। निम्नतर पशुओं—थलचरों, जलचरों, पक्षियों—की जन्म दर मनुष्यों की अपेक्षा कहीं अधिक है। भगवान् के आदेश से पृथ्वी के सारे जीवों के लिए भोजन की पर्याप्त व्यवस्था है और यदि जीवों में असमानुपातिक वृद्धि हो तो वे और अधिक की व्यवस्था कर सकते हैं।

इसलिए जनसंख्या में वृद्धि से भार बढ़ने का प्रश्न ही नहीं उठता। पृथ्वी *धर्मग्लानि* अर्थात् भगवान् की इच्छा के अनियमित पालन से अतिबोझिल हो गई थी। भगवान् दुष्टों की वृद्धि रोकने के लिए पृथ्वी पर प्रकट हुए, न कि जनसंख्या में वृद्धि के कारण जैसाकि संसारी अर्थशास्त्रियों द्वारा मिथ्या कथन किया जाता है। जब भगवान् कृष्ण प्रकट हुए तो ऐसे दुष्टों की संख्या काफी बढ़ गई थी जो भगवान् की इच्छाओं का उल्लंघन कर रहे थे। यह भौतिक सृष्टि भगवान् की इच्छापूर्ति के लिए है और उनकी यह इच्छा है कि वे बद्धजीव जो भगवद्धाम में प्रवेश पाने के अयोग्य हैं उन्हें प्रवेश पाने के लिए अपनी स्थिति सुधारने का अवसर प्राप्त हो। विश्व व्यवस्था की समूची प्रक्रिया का मन्तव्य बद्धजीव को भगवद्धाम में प्रवेश करने का अवसर प्रदान करना है। और भगवान् ने उनके भरण-पोषण के लिए पर्याप्त व्यवस्था कर रखी है।

इसलिए भले ही पृथ्वी पर जनसंख्या की महती वृद्धि क्यों न हो, यदि लोग ईशभावनामृत का सही ढंग से पालन करते हैं और दुष्ट नहीं हैं, तो पृथ्वी का यह भार उसके लिए आनन्द का स्रोत है। भार दो प्रकार के होते हैं—पशु-भार तथा प्रेम-भार। पशु-भार असह्य होता है, किन्तु प्रेम-भार आनन्द का स्रोत होता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने प्रेम-भार का अत्यन्त व्यावहारिक वर्णन किया है। वे कहते हैं कि युवा पत्नी पर पति का भार, माता की गोद में शिशु का भार तथा व्यापारी पर सम्पत्ति का भार, ये यद्यपि गुरुता की दृष्टि से वास्तव में भार हैं, किन्तु ये आनन्द के स्रोत हैं और ऐसी बोझिल वस्तुओं के अभाव में वियोग का बोझ अनुभव हो सकता है, जो प्रेम के वास्तविक भार की अपेक्षा सहन किये जाने में अधिक भारी होता है। जब भगवान् कृष्ण ने पृथ्वी पर यदुवंश के भार की बात की, तो उन्होंने पशुभार से कुछ भिन्न वस्तु का प्रसंग छेड़ा। कृष्ण से उत्पन्न पारिवारिक सदस्यों की संख्या लाखों में थी और यह सचमुच ही पृथ्वी की जनसंख्या में महान् वृद्धि थी, किन्तु वे सब उनके दिव्य स्वांशों से उत्पन्न भगवान् के ही अंश थे, अतएव पृथ्वी के लिए वे महान् आनन्द के स्रोत थे। जब पृथ्वी के भार के सम्बन्ध में भगवान् ने उनका उल्लेख किया, तो उनके मन में पृथ्वी से उनके आसन्न लोप का भाव था। भगवान् कृष्ण के परिवार के सारे सदस्य विभिन्न देवताओं के अवतार थे और उन्हें भगवान् के साथ ही पृथ्वी से विलुप्त होना था। जब उन्होंने यदुवंश के सम्बन्ध में पृथ्वी के असह्य भार का उल्लेख किया, तो वे उनके विछोह भार का ही संकेत कर रहे थे। श्रील जीव गोस्वामी ने इस निष्कर्ष की पुष्टि की है।

मिथो यदैषां भविता विवादो
मध्वामदाताम्रविलोचनानाम् ।
नैषां वधोपाय इयानतोऽन्यो
मय्युद्यतेऽन्तर्दधते स्वयं स्म ॥ १५॥

शब्दार्थ

मिथः—परस्पर; यदा—जब; एषाम्—उनके; भविता—होगा; विवादः—झगड़ा; मधु-आमद—शराब पीने से उत्पन्न नशा; आताम्र-विलोचनानाम्—ताँबे जैसी लाल आँखों के; न—नहीं; एषाम्—उनके; वध-उपायः—लोप का साधन; इयान्—इस जैसा; अतः—इसके अतिरिक्त; अन्यः—वैकल्पिक; मयि—मुझ पर; उद्यते—लोप; अन्तः-दधते—विलुप्त होंगे; स्वयम्—अपने से; स्म—निश्चय है।

जब वे नशे में चूर होकर, मधु-पान के कारण ताँबें जैसी लाल-लाल आँखें किये, परस्पर लड़ेंगे-झगड़ेंगे तभी वे विलुप्त होंगे अन्यथा यह सम्भव नहीं है। मेरे अन्तर्धान होने पर यह घटना

घटेगी।

तात्पर्य : भगवान् तथा उनके संगी भगवान् की इच्छा से प्रकट तथा अप्रकट होते हैं। उन पर भौतिक प्रकृति के नियम लागू नहीं होते। भगवान् के परिवार का वध कर सकने में कोई भी समर्थ न था, न ही प्रकृति के नियमों द्वारा उनकी स्वाभाविक मृत्यु की सम्भावना थी। इसलिए उनके विलोप का एकमात्र साधन था कि वे परस्पर छद्म युद्ध करें मानो मदिरा पीकर वे उन्मत्त हो रहे हों। यह तथाकथित युद्ध भी भगवान् की इच्छा से हो सकता था अन्यथा उन सबके लड़ने का कोई कारण नहीं था। जिस तरह अर्जुन पारिवारिक स्नेह के कारण मोहित हो उठा था और तब उससे *भगवद्गीता* कही गई थी उसी तरह यदुवंश को भगवान् की इच्छा से ही मदोन्मत्त बनाया गया था। इससे अधिक कुछ नहीं था। भगवान् के भक्त तथा संगी पूर्णतया शरणागत आत्माएँ हैं। अतएव वे भगवान् के हाथों में दिव्य साधन हैं और भगवान् जैसा चाहें उनका उपयोग हो सकता है। शुद्ध भक्त भी भगवान् की ऐसी लीलाओं का आनन्द लेते हैं, क्योंकि वे भगवान् को प्रसन्न देखना चाहते हैं। भगवान् के भक्त कभी भी स्वतंत्र व्यक्तित्व पर बल नहीं देते, उल्टे वे अपनी वैयक्तिकता का उपयोग भगवान् की इच्छाओं को पूरा करने में करते हैं। भगवान् के साथ भक्तों का यह सहयोग भगवान् की लीलाओं को पूर्णता प्रदान करता है।

एवं सञ्चिन्त्य भगवान्स्वराज्ये स्थाप्य धर्मजम् ।
नन्दयामास सुहृदः साधूनां वर्त्म दर्शयन् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सञ्चिन्त्य—अपने मन में सोचकर; भगवान्—भगवान् ने; स्व-राज्ये—अपने राज्य में; स्थाप्य—स्थापित करके; धर्मजम्—महाराज युधिष्ठिर को; नन्दयाम् आस—हर्षित किया; सुहृदः—मित्र गणों; साधूनाम्—सन्तों के; वर्त्म—मार्ग; दर्शयन्—दिखलाते हुए।

इस तरह अपने आप सोचते हुए भगवान् कृष्ण ने पुण्य के मार्ग में प्रशासन का आदर्श प्रदर्शित करने के लिए संसार के परम नियन्ता के पद पर महाराज युधिष्ठिर को स्थापित किया।

उत्तरायां धृतः पूरोर्वंशः साध्वभिमन्युना ।
स वै द्रौण्यस्त्रसम्प्लुष्टः पुनर्भगवता धृतः ॥ १७॥

शब्दार्थ

उत्तरायाम्—उत्तरा के; धृतः—स्थापित; पूरोः—पूरु का; वंशः—उत्तराधिकारी; साधु-अभिमन्युना—वीर अभिमन्यु द्वारा; सः—वह; वै—निश्चय ही; द्रौणि-अस्त्र—द्रोण के पुत्र द्रौणि के हथियार द्वारा; सम्प्लुष्टः—जलाया जाकर; पुनः—दुबारा; भगवता—भगवान् द्वारा; धृतः—बचाया गया था।

महान् वीर अभिमन्यु द्वारा अपनी पत्नी उत्तरा के गर्भ में स्थापित पूरु के वंशज का भ्रूण द्रोण के पुत्र के अस्त्र द्वारा भस्म कर दिया गया था, किन्तु बाद में भगवान् ने उसकी पुनः रक्षा की।

तात्पर्य : महान् वीर अभिमन्यु से उत्तरा द्वारा गर्भधारण करने के बाद जब परीक्षित का शरीर भ्रूणावस्था में था, तो अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र द्वारा वह भस्म कर दिया गया था, किन्तु भगवान् ने गर्भ के भीतर दूसरा शरीर प्रदान किया। इस तरह पूरु का वंशज बचा लिया गया। यह घटना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि शरीर तथा जीव अर्थात् आध्यात्मिक स्फुलिंग भिन्न-भिन्न हैं। जब पुरुष के वीर्य के प्रवेश से स्त्री के गर्भ में जीव आश्रय पाता है, तो पुरुष तथा स्त्री के स्रावों का मिश्रण होता है, जिससे मटर के आकार का शरीर निर्मित होता है, जो धीरे-धीरे बढ़कर पूर्ण शरीर में विकसित हो जाता है। किन्तु यदि किसी तरह यह भ्रूण नष्ट कर दिया जाता है, तो जीव को दूसरे शरीर में या दूसरी स्त्री के गर्भ में आश्रय लेना पड़ता है। वह विशिष्ट जीव, जिसे महाराज पूरु या पाण्डवों का वंशज बनने के लिए चुना गया था, कोई सामान्य जीव न था और भगवान् की महती इच्छा से उसे महाराज युधिष्ठिर का उत्तराधिकारी होना था। अतएव जब अश्वत्थामा ने महाराज परीक्षित के भ्रूण को विनष्ट कर दिया तो भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा अपने स्वांश से उत्तरा के गर्भ में भावी एवं संकटग्रस्त महाराज परीक्षित को दर्शन देने के लिए प्रविष्ट हुए। गर्भ के भीतर अपने प्राकट्य से भगवान् ने शिशु को प्रोत्साहित किया और अपनी सर्वशक्तिमत्ता से नवीन शरीर में उसे पूर्ण सुरक्षा प्रदान की। वे अपनी सर्वव्यापकता की शक्ति से उत्तरा तथा पाण्डव परिवार के अन्य जनों के भीतर तथा बाहर उपस्थित थे।

अयाजयद्धर्मसुतमश्वमेधैस्त्रिभिर्विभुः ।
सोऽपि क्ष्मामनुजै रक्षन्रेमे कृष्णमनुव्रतः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अयाजयत्—सम्पन्न कराया; धर्म-सुतम्—धर्म के पुत्र (महाराज युधिष्ठिर) द्वारा; अश्वमेधैः—यज्ञ द्वारा; त्रिभिः—तीन; विभुः—परमेश्वर; सः—महाराज युधिष्ठिर; अपि—भी; क्ष्माम्—पृथ्वी को; अनुजैः—अपने छोटे भाइयों सहित; रक्षन्—रक्षा करते हुए; रेमे—भोग किया; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण; अनुव्रतः—निरन्तर अनुगामी।

भगवान् ने धर्म के पुत्र महाराज युधिष्ठिर को तीन अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करने के लिए प्रेरित किया और उन्होंने भगवान् कृष्ण का निरन्तर अनुगमन करते हुए अपने छोटे भाइयों की सहायता

से पृथ्वी की रक्षा की और उसका भोग किया।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर पृथ्वी पर आदर्श राजकीय प्रतिनिधि थे, क्योंकि वे भगवान् कृष्ण के निरन्तर अनुगामी थे। जैसाकि वेदों में (*ईशोपनिषद्*) में कहा गया है भगवान् इस दृश्य विराट सृष्टि के स्वामी हैं, जो बद्धजीवों को अपने साथ उनका सम्बन्ध पुनरुज्जीवित करने का और इस तरह भगवद्धाम वापस जाने का अवसर प्रदान करती है। भौतिक जगत की सम्पूर्ण प्रणाली उसी कार्यक्रम तथा योजना द्वारा व्यवस्थित है। जो भी इस योजना का उल्लंघन करता है, वह प्रकृति के नियम द्वारा दण्डित होता है, क्योंकि प्रकृति परमेश्वर के निर्देशानुसार कार्य करती है। महाराज युधिष्ठिर पृथ्वी के सिंहासन पर भगवान् के प्रतिनिधि के रूप में प्रतिष्ठापित हुए थे। राजा से सदैव भगवान् का प्रतिनिधि होने की अपेक्षा की जाती है। पूर्ण एकाधिपत्य के लिए भगवान् की इच्छा का प्रतिनिधित्व आवश्यक होता है और महाराज युधिष्ठिर इस परम नियम के अनुसार एक आदर्श राजा थे। राजा तथा प्रजा दोनों ही अपने कर्तव्य-निर्वाह से सुखी थे और इस तरह भौतिक प्रकृति के पूर्ण सहयोग से प्रजा की सुरक्षा तथा स्वाभाविक जीवन का भोग महाराज युधिष्ठिर तथा महाराज परीक्षित जैसे योग्य वंशजों के शासन में अपने आप प्राप्त थे।

भगवानपि विश्वात्मा लोकवेदपथानुगः ।
कामान्सिषेवे द्वार्वत्यामसक्तः साङ्ख्यमास्थितः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; अपि—भी; विश्व-आत्मा—ब्रह्माण्ड के परमात्मा; लोक—लोक व्यवहार; वेद—वैदिक सिद्धान्त; पथ-अनुगः—मार्ग का अनुकरण करने वाला; कामान्—जीवन की आवश्यकताएँ; सिषेवे—भोग किया; द्वार्वत्याम्—द्वारकापुरी में; असक्तः—बिना आसक्त हुए; साङ्ख्यम्—सांख्य दर्शन के ज्ञान में; आस्थितः—स्थित होकर।

उसी के साथ-साथ भगवान् ने समाज के वैदिक रीति-रिवाजों का दृढ़ता से पालन करते हुए द्वारकापुरी में जीवन का भोग किया। वे सांख्य दर्शन प्रणाली के द्वारा प्रतिपादित वैराग्य तथा ज्ञान में स्थित थे।

तात्पर्य : जब महाराज युधिष्ठिर पृथ्वी के सम्राट थे तो श्रीकृष्ण द्वारका के राजा थे और द्वारकाधीश कहलाते थे। अन्य अधीन राजाओं की तरह वे भी महाराज युधिष्ठिर के शासन के अधीन थे। यद्यपि भगवान् कृष्ण सम्पूर्ण सृष्टि के परम सम्राट हैं, किन्तु जब तक वे धराधाम में रहे उन्होंने कभी भी

वैदिक आदेशों का उल्लंघन नहीं किया, क्योंकि ये मानव जीवन के लिए मार्गदर्शक होते हैं। सांख्य दर्शन नामक ज्ञान-प्रणाली पर आधारित वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार नियमित मानव जीवन ही जीवन की आवश्यकताओं का भोग करने का असली मार्ग है। वैराग्य तथा लोक-व्यवहार के ऐसे ज्ञान के अभाव में तथाकथित मानव सभ्यता खाने, पीने तथा भोगविलास करने वाले पशु-समाज के तुल्य है। भगवान् अपनी इच्छानुसार स्वतंत्र रूप से कार्य कर रहे थे; फिर भी उन्होंने अपने व्यावहारिक दृष्टान्त द्वारा ऐसा जीवन बिताने की शिक्षा दी जो वैराग्य तथा ज्ञान के सिद्धान्तों के विरुद्ध न हो। ज्ञान तथा वैराग्य की प्राप्ति जीवन की वास्तविक पूर्णता है जैसाकि सांख्य दर्शन में विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया गया है। ज्ञान का अर्थ होता है यह जानना कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य संसार के सारे कष्टों को समाप्त करना है और शारीरिक आवश्यकताओं की नियमित रूप से पूर्ति करने के बावजूद मनुष्य का ऐसे पाशविक जीवन से विरक्त होना है। शरीर की माँगों की पूर्ति करना पाशविक जीवन है और आत्मा के उद्देश्य की पूर्ति करना मानव उद्देश्य है।

स्निग्धस्मितावलोकेन वाचा पीयूषकल्पया ।
चरित्रेणानवद्येन श्रीनिकेतेन चात्मना ॥ २० ॥

शब्दार्थ

स्निग्ध—सौम्य; स्मित-अवलोकेन—मृदुहँसी से युक्त चितवन द्वारा; वाचा—शब्दों से; पीयूष-कल्पया—अमृत के तुल्य; चरित्रेण—चरित्र से; अनवद्येन—दोषरहित; श्री—लक्ष्मी; निकेतेन—धाम; च—तथा; आत्मना—अपने दिव्य शरीर से।

वे वहाँ पर लक्ष्मी देवी के निवास, अपने दिव्य शरीर, में सदा की तरह के अपने सौम्य तथा मधुर मुसकान युक्त मुख, अपने अमृतमय वचनों तथा अपने निष्कंलक चरित्र से युक्त रह रहे थे।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बतलाया गया है कि सांख्य दर्शन के सत्यों में स्थित भगवान् कृष्ण सभी प्रकार के विषयों से विरक्त हैं। प्रस्तुत श्लोक में यह बतलाया गया है कि वे लक्ष्मीदेवी के निवास हैं। ये दोनों बातें तनिक भी परस्पर विरोधी नहीं हैं। भगवान् कृष्ण बहिरंगा प्रकृति की विविधता से विरक्त हैं, किन्तु वे आध्यात्मिक प्रकृति या अपनी अन्तरंगा शक्ति का नित्य, आनन्दमय भोग करते हैं। जो अल्पज्ञ हैं, वे बहिरंगा तथा अन्तरंगा शक्तियों के इस अन्तर को नहीं समझ सकते। *भगवद्गीता* में अन्तरंगा शक्ति को *परा प्रकृति* कहा गया है। *विष्णु पुराण* में भी विष्णु की अन्तरंगा शक्ति को *परा शक्ति* कहा गया है। भगवान् कभी भी पराशक्ति की संगति से विलग नहीं होते। इस पराशक्ति का तथा इसकी

अभिव्यक्तियों का वर्णन *ब्रह्म-संहिता* (५.३७) में *आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभि:* के रूप में हुआ है। भगवान् नित्य आनन्दमय हैं और ऐसे दिव्य आनन्द से प्राप्त होने वाले आस्वाद से ज्ञात हैं। बहिरंगा शक्ति की विविधता के निषेध के लिए आवश्यक नहीं कि आध्यात्मिक जगत के सकारात्मक दिव्य आनन्द का निषेध किया जाय। अतएव भगवान् की सौम्यता, उनकी मुसकान, उनका चरित्र तथा उनसे सम्बद्ध सारी बातें दिव्य हैं। अन्तरंगा शक्ति की ऐसी अभिव्यक्तियाँ वास्तविक हैं जिनका भौतिक प्रतिबिम्ब (छाया) एकमात्र क्षणिक स्वरूप है, जिससे हर ज्ञानवान व्यक्ति को विरक्त रहना चाहिए।

इमं लोकममुं चैव रमयन्सुतरां यदून् ।
रेमे क्षणदया दत्तक्षणस्त्रीक्षणसौहृद: ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

इमम्—यह; **लोकम्**—पृथ्वी; **अमुम्**—तथा अन्य लोक; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **रमयन्**—मनोहर; **सुतराम्**—विशेष रूप से; **यदून्**—यदुओं को; **रेमे**—आनन्द लिया; **क्षणदया**—रात में; **दत्त**—प्रदत्त; **क्षण**—विश्राम; **स्त्री**—स्त्रियों के साथ; **क्षण**—दाम्पत्य प्रेम; **सौहृद:**—मैत्री।

भगवान् ने इस लोक में तथा अन्य लोकों में (उच्च लोकों में), विशेष रूप से यदुवंश की संगति में अपनी लीलाओं का आनन्द लिया। रात्रि में विश्राम के समय उन्होंने अपनी पत्नियों के साथ दाम्पत्य प्रेम की मैत्री का आनन्द लिया।

तात्पर्य : भगवान् ने अपने शुद्ध भक्तों के साथ इस जगत में आनन्द प्राप्त किया। यद्यपि वे भगवान् हैं और समस्त भौतिक आसक्ति से परे हैं, किन्तु फिर भी उन्होंने पृथ्वी पर अपने शुद्ध भक्तों के साथ तथा उन देवताओं के साथ जो समस्त भौतिक कार्यकलापों की व्यवस्था में शक्तिप्रदत्त निर्देशकों की भाँति स्वर्ग में उनकी सेवा में लगे रहते हैं, अत्यधिक अनुरक्ति प्रदर्शित की। उन्होंने अपने पारिवारिक जनों, यदुओं, के प्रति तथा उन सोलह हजार पत्नियों के प्रति जिन्हें रात्रि में विश्राम के समय भगवान् से मिलने का सुअवसर प्राप्त होता था विशेष आसक्ति प्रदर्शित की। भगवान् की ये सारी आसक्तियाँ उनकी अन्तरंगा शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं जिनकी बहिरंगा शक्ति केवल छायास्वरूप है। *स्कन्द-पुराण* के *प्रभास-खण्ड* में शिव तथा गौरी के मध्य हुई वार्ताओं से उनकी अन्तरंगा शक्ति की अभिव्यक्तियों की पुष्टि होती है। भगवान् द्वारा सोलह हजार गोपियों से मिलने का उल्लेख हुआ है, यद्यपि भगवान् हंस (दिव्य) परमात्मा हैं और सारे जीवों के पालनकर्ता हैं। ये सोलह हजार गोपियाँ सोलह प्रकार की

अन्तरंगा शक्तियों का प्रदर्शन हैं। इसकी विशद व्याख्या दशम् स्कन्ध में की जाएगी। उसमें कहा गया है कि भगवान् कृष्ण चन्द्रमा के सदृश हैं और अन्तरंगा शक्ति रूपी गोपियाँ चन्द्रमा के चारों ओर के तारों के तुल्य हैं।

तस्यैवं रममाणस्य संवत्सरगणान्बहून् ।
गृहमेधेषु योगेषु विरागः समजायत ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; एवम्—इस प्रकार; रममाणस्य—रमण करने वाले; संवत्सर—वर्षों; गणान्—अनेक; बहून्—कई; गृहमेधेषु—गृहस्थ जीवन में; योगेषु—यौन जीवन में; विरागः—विरक्ति; समजायत—जागृत हुई।

इस तरह भगवान् अनेकानेक वर्षों तक गृहस्थ जीवन में लगे रहे, किन्तु अन्त में नश्वर यौन जीवन से उनकी विरक्ति पूर्णतया प्रकट हुई।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् कभी भी किसी प्रकार के भौतिक यौन जीवन में लिप्त नहीं होते, किन्तु जगद्गुरु के रूप में दूसरों को यह शिक्षा देने के लिए कि किस तरह गृहस्थ जीवन बिताना चाहिए वे स्वयं अनेकानेक वर्षों तक गृहस्थ बने रहे। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि *समजायत* शब्द का अर्थ ''पूर्णतया प्रकट किया'' है। जब तक वे पृथ्वी पर उपस्थित रहे भगवान् ने अपने सारे कार्यों में विरक्ति प्रदर्शित की। इसका पूर्ण प्रदर्शन तब हुआ जब उन्होंने दृष्टान्त द्वारा यह शिक्षा देनी चाही कि मनुष्य को अपने सम्पूर्ण जीवनभर गृहस्थ जीवन में आसक्त नहीं रहना चाहिए। मनुष्य को स्वभावतः विरक्ति उत्पन्न करनी चाहिए। भगवान् द्वारा गृहस्थ जीवन से विरक्ति यह नहीं सूचित करती कि उन्होंने अपने नित्य संगियों, दिव्य गोपियों से विरक्ति ले ली थी। किन्तु भगवान् प्रकृति के तीन गुणों के प्रति अपनी तथाकथित आसक्ति को समाप्त करना चाहते थे। वे अपने दिव्य संगियों यथा रुक्मिणी तथा लक्ष्मियों की सेवा से कभी भी विरक्त नहीं हो सकते जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.२९) में वर्णन हुआ है—*लक्ष्मीसहस्र शत सम्भ्रमसेव्यमानम्*।

दैवाधीनेषु कामेषु दैवाधीनः स्वयं पुमान् ।
को विश्रम्भेत योगेन योगेश्वरमनुव्रतः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

दैव—अलौकिक; अधीनेषु—नियंत्रित होकर; कामेषु—इन्द्रिय भोग विलास में; दैव-अधीनः—अलौकिक शक्ति द्वारा नियंत्रित; स्वयम्—अपने आप; पुमान्—जीव; कः—जो भी; विश्रम्भेत—श्रद्धा रख सकता हो; योगेन—भक्ति से; योगेश्वरम्—भगवान् में; अनुव्रतः—सेवा करते हुए।

प्रत्येक जीव एक अलौकिक शक्ति द्वारा नियंत्रित होता है और इस तरह उसका इन्द्रिय भोग भी उसी अलौकिक शक्ति के नियंत्रण में रहता है। इसलिए कृष्ण के दिव्य इन्द्रिय-कार्यकलापों में वही अपनी श्रद्धा टिका सकता है, जो भक्ति-मय सेवा करके भगवान् का भक्त बन चुका हो।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भगवान् के दिव्य जन्म तथा कर्मों को कोई नहीं समझ सकता है। इसी तथ्य की यहाँ पर पुष्टि हुई है—भगवान् की भक्ति द्वारा प्रबुद्ध व्यक्ति ही भगवान् के कार्यों तथा अलौकिक शक्ति द्वारा नियंत्रित अन्य लोगों के कार्यों के अन्तर को समझ सकता है। इस भौतिक ब्रह्माण्ड में दृष्टिगत समस्त पशुओं, मनुष्यों तथा देवताओं का इन्द्रिय भोगविलास एक अलौकिक शक्ति द्वारा नियंत्रित होता है, जो *प्रकृति* या *दैवी माया* कहलाती है। कोई भी व्यक्ति इन्द्रिय भोग-विलास प्राप्त करने में स्वतंत्र नहीं है और इस जगत में हर व्यक्ति इन्द्रिय भोग-विलास के पीछे पड़ा रहता है। ऐसे लोग जो स्वयं ही अलौकिक शक्ति के नियंत्रण में होते हैं इस पर विश्वास नहीं कर सकते कि इन्द्रिय भोग विलास के मामले में भगवान् कृष्ण अपने से परे किसी अन्य नियंत्रण के अधीन नहीं होते। वे यह समझ ही नहीं पाते कि भगवान् की इन्द्रियाँ दिव्य हैं। *ब्रह्म-संहिता* में भगवान् की इन्द्रियों को सर्वशक्तिमान बतलाया गया है—अर्थात् वे किसी एक इन्द्रिय से अन्य इन्द्रिय के कार्य सम्पन्न कर सकते हैं। जिसका इन्द्रियाँ सीमित हैं उसे विश्वास ही नहीं होता कि भगवान् अपनी श्रवण की दिव्य शक्ति से भोजन कर सकते हैं और मात्र देखने से संभोग कर सकते हैं। नियंत्रित जीव अपने बद्ध जीवन में ऐसे इन्द्रिय कार्यों के विषय में स्वप्न तक नहीं देख सकता। किन्तु भक्तियोग के कार्यों से वह यह समझ सकता है कि भगवान् तथा उनके कार्य सदैव दिव्य हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५५) में भगवान् कहते हैं—*भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः*—यदि कोई व्यक्ति भगवान् का शुद्ध भक्त नहीं है, तो वह भगवान् के कार्यों के एक अंश को भी नहीं जान सकता।

पुर्यां कदाचित्क्रीडद्भिर्यदुभोजकुमारकैः ।
कोपिता मुनयः शेपुर्भगवन्मतकोविदाः ॥ २४॥

शब्दार्थ

पुर्याम्—द्वारका पुरी में; कदाचित्—एक बार; क्रीडद्भिः—क्रीड़ाओं द्वारा; यदु—यदुवंशी; भोज—भोज के वंशज; कुमारकैः—राजकुमारों द्वारा; कोपिताः—क्रुद्ध हुए; मुनयः—मुनियों ने; शेपुः—शाप दिया; भगवत्—भगवान् की; मत—इच्छा; कोविदाः—जानकार।

एक बार यदुवंशी तथा भोजवंशी राजकुमारों की क्रीड़ाओं से महामुनिगण क्रुद्ध हो गये तो उन्होंने भगवान् की इच्छानुसार उन राजकुमारों को शाप दे दिया।

तात्पर्य : भगवान् के वे संगी जो कि यदु तथा भोज वंशों के राजकुमारों की भूमिका निभा रहे थे सामान्य जीव न थे। ऐसा सम्भव नहीं कि वे किसी सन्त पुरुष या मुनि का अपमान करते या मुनिगण जो कि भगवान् के शुद्ध भक्त थे पवित्र यदु या भोज वंशों में उत्पन्न राजकुमारों की किसी प्रकार की क्रीड़ा पर क्रुद्ध होते, क्योंकि स्वयं भगवान् इन्हीं के वंशज के रूप में अवतरित हुए थे। मुनियों द्वारा राजकुमारों का शापित होना क्रोध-प्रदर्शन के लिए भगवान् की एक दिव्य लीला थी। राजकुमारों को इसलिए शाप दिया गया था कि लोग जान सकें कि भगवान् के वे वंशज भी भगवान् के महान् भक्तों के कोपभाजन हो सकते हैं, जिन्हें प्रकृति के किसी भी कार्य द्वारा कभी भी विनष्ट नहीं किया जा सकता था। इसलिए मनुष्य को बड़ी सावधानी बरतनी चाहिए कि वह भगवद्भक्त के चरणों पर कोई अपराध न करे।

ततः कतिपयैर्मासैर्वृष्णिभोजान्धकादयः ।
ययुः प्रभासं संहृष्टा रथैर्देवविमोहिताः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; कतिपयैः—कुछेक; मासैः—मास बिता कर; वृष्णि—वृष्णि के वंशज; भोज—भोज के वंशज; अन्धक-आदयः—अन्धक के पुत्र इत्यादि; ययुः—गये; प्रभासम्—प्रभास नामक तीर्थस्थान; संहृष्टाः—अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक; रथैः—अपने अपने रथों पर; देव—कृष्ण द्वारा; विमोहिताः—मोहग्रस्त।

कुछेक महीने बीत गये तब कृष्ण द्वारा विमोहित हुए समस्त वृष्णि, भोज तथा अन्धक वंशी, जो कि देवताओं के अवतार थे, प्रभास गये। किन्तु जो भगवान् के नित्य भक्त थे वे द्वारका में ही रहते रहे।

तत्र स्नात्वा पितॄन्देवानृषींश्चैव तदम्भसा ।
तर्पयित्वाथ विप्रेभ्यो गावो बहुगुणा ददुः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ पर; स्नात्वा—स्नान करके; पितृन्—पितरों को; देवान्—देवताओं को; ऋषीन्—ऋषियों को; च—भी; एव—निश्चय ही; तत्—उसके; अम्भसा—जल से; तर्पयित्वा—प्रसन्न करके; अथ—तत्पश्चात्; विप्रेभ्यः—ब्राह्मणों को; गावः—गौवें; बहु-गुणाः—अत्यन्त उपयोगी; ददुः—दान में दीं।

वहाँ पहुँचकर उन सबों ने स्नान किया और उस तीर्थ स्थान के जल से पितरों, देवताओं तथा ऋषियों का तर्पण करके उन्हें तुष्ट किया। उन्होंने राजकीय दान में ब्राह्मणों को गौवें दीं।

तात्पर्य : भगवद्भक्तों में कई विभाग हैं जिनमें *नित्यसिद्ध* तथा *साधनसिद्ध* मुख्य हैं। *नित्यसिद्ध* भक्त कभी भी भौतिक वातावरण के क्षेत्र में नीचे नहीं गिरते भले ही कभी-कभी भगवान् का मिशन पूरा करने के लिए उन्हें भौतिक धरातल पर क्यों न आना पड़ता हो। *साधनसिद्ध* भक्त बद्धात्माओं में से चुने जाते हैं। *साधन* भक्तों में से कुछ मिश्रित तथा कुछ शुद्ध भक्त होते हैं। मिश्रित भक्त कभी-कभी सकाम कर्मों के प्रति उल्लास प्रदर्शित करते हैं और दार्शनिक चिन्तन में लगे रहते हैं। शुद्ध भक्त इन समस्त मिश्रणों से स्वतंत्र होते हैं और भगवान् की सेवा में पूर्णतया लीन रहते हैं, चाहे वे कहीं भी हों और किसी भी अवस्था में स्थित हों। भगवान् के शुद्ध भक्त पवित्र तीर्थस्थानों में जाने के लिए भगवान् की सेवा को ताक पर नहीं रखते। आधुनिक काल के महान् भगवद्भक्त श्रीनरोत्तम दास ठाकुर का गीत है, ''तीर्थस्थानों में जाना मन का दूसरा मोह है, क्योंकि किसी भी स्थान पर की गई भगवान् की सेवा आध्यात्मिक सिद्धि की चरम परिणति है।''

उन भक्तों के लिए जो भगवान् की प्रेमाभक्ति से पूरी तरह तुष्ट होते हैं, विभिन्न तीर्थस्थलों में जाने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु जो लोग उतने बढ़े-चढ़े नहीं हैं उन्हें तीर्थस्थानों में जाने तथा अनुष्ठान सम्पन्न करने के नियत कार्य करने होते हैं। यदुवंश के जो राजुकमार प्रभास गये उन्होंने तीर्थस्थान में सम्पन्न किये जाने वाले सारे कर्तव्यों को पूरा किया और अपने-अपने पितरों तथा अन्यों को अपने पुण्यकर्मों की भेंट चढ़ाई।

नियमत: हर मनुष्य ईश्वर, देवताओं, महान् ऋषियों, अन्य जीवों, सामान्य-जनों, पूर्वजों इत्यादि का ऋणी होता है, क्योंकि वह उनसे विविध प्रकार का योगदान प्राप्त करता है। अत: हर व्यक्ति को कृतज्ञता का ऋण चुकाना होता है। जो यदुगण प्रभास तीर्थस्थल गये उन्होंने राजसी दान में भूमि, स्वर्ण तथा अच्छी तरह पाली-पोसी गौवें भेंट करके अपना कर्तव्य निभाया जैसाकि अगले श्लोक में बतलाया गया है।

हिरण्यं रजतं शय्यां वासांस्यजिनकम्बलान् ।
यानं रथानिभान्कन्या धरां वृत्तिकरीमपि ॥ २७॥

शब्दार्थ

हिरण्यम्—सोना; रजतम्—रजत; शय्याम्—बिस्तर; वासांसि—वस्त्र; अजिन—आसन के लिए पशुचर्म; कम्बलान्—कम्बल; यानम्—घोड़े; रथान्—रथ; इभान्—हाथी; कन्याः—लड़कियाँ; धराम्—भूमि; वृत्ति-करीम्—आजीविका प्रदान करने के लिए; अपि—भी।

ब्राह्मणों को दान में न केवल सुपोषित गौवें दी गईं, अपितु उन्हें सोना, चाँदी, बिस्तर, वस्त्र, पशुचर्म के आसन, कम्बल, घोड़े, हाथी, कन्याएँ तथा आजीविका के लिए पर्याप्त भूमि भी दी गई।

तात्पर्य : ये सारे दान उन ब्राह्मणों के लिए थे जिनके जीवन आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों दृष्टियों से समाज-कल्याण में पूरी तरह लगे होते थे। ब्राह्मण-गण अपनी सेवाएँ वेतनभोगी सेवकों की तरह नहीं प्रदान कर रहे थे, अपितु समाज उन्हें सारी आवश्यकताएँ प्रदान करता था। कुछ ब्राह्मण, जिनका विवाह नहीं हो पाता था, उन्हें कन्याएँ दी जाती थीं। अतएव ब्राह्मणों के समक्ष कोई आर्थिक समस्या नहीं थी। क्षत्रिय राजा तथा धनी व्यापारी लोग उनको सभी आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करते थे और ब्राह्मण-जन बदले में समाज के उत्थान के प्रति पूर्णतया समर्पित थे। विभिन्न जातियों के बीच सामाजिक सहयोग का यही मार्ग था। जब ब्राह्मण वर्ग या जाति, जिसमें ब्राह्मण योग्यताएँ नहीं थीं, समाज द्वारा पोषित होकर धीरे-धीरे आरामतलब बन गई, तो वे पतित होकर ब्रह्मबन्धु अर्थात् अयोग्य ब्राह्मण बन गये। इसी तरह समाज के अन्य सदस्य प्रगतिशील जीवन के सामाजिक मानदण्ड से क्रमशः नीचे गिर गये। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, जाति प्रथा भगवान् द्वारा निर्मित है और समाज के प्रति किये गये कार्य के गुण के अनुसार व्यवस्थित है, जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में नहीं जैसाकि वर्तमान पतित समाज में झूठे ही दावा किया जाता हैं।

अन्नं चोरुरसं तेभ्यो दत्त्वा भगवदर्पणम् ।
गोविप्रार्थासवः शूराः प्रणेमुर्भुवि मूर्धभिः ॥ २८॥

शब्दार्थ

अन्नम्—खाद्यवस्तुएँ; च—भी; उरु-रसम्—अत्यन्त स्वादिष्ट; तेभ्यः—ब्राह्मणों को; दत्त्वा—देकर; भगवत्-अर्पणम्—जिन्हें सर्वप्रथम भगवान् को अर्पित किया गया; गो—गौवें; विप्र—ब्राह्मण; अर्थ—प्रयोजन, उद्देश्य; असवः—जीवन का प्रयोजन; शूराः—सारे बहादुर क्षत्रिय; प्रणेमुः—प्रणाम किया; भुवि—भूमि छूकर; मूर्धभिः—अपने सिरों से।

तत्पश्चात् उन्होंने सर्वप्रथम भगवान् को अर्पित किया गया अत्यन्त स्वादिष्ट भोजन उन ब्राह्मणों को भेंट किया और तब अपने सिरों से भूमि का स्पर्श करते हुए उन्हें सादर नमस्कार किया। वे गौवों तथा ब्राह्मणों की रक्षा करते हुए भलीभाँति रहने लगे।

तात्पर्य : प्रभास तीर्थस्थल में यदुवंशियों द्वारा प्रदर्शित आचरण सुसंस्कृत तथा मानवसिद्धि के सर्वथा अनुरूप था। मानव जीवन की सिद्धि सभ्यता के निम्नलिखित तीन सिद्धान्तों द्वारा प्राप्त की जाती है। ये हैं; गौवों की रक्षा करना, ब्राह्मण संस्कृति को बनाये रखना तथा सर्वोपरि है भगवद्भक्त बनना। भगवद्भक्त बने बिना कोई मनुष्य अपने मानव जीवन को पूर्ण नहीं बना सकता। मानव जीवन की पूर्णता आध्यात्मिक जगत तक ऊपर उठना है जहाँ न जन्म है, न मृत्यु है, न रोग, न वृद्धावस्था। मानव जीवन का परम उद्देश्य यही सर्वोच्च सिद्धि है। इस उद्देश्य के बिना तथाकथित सुख सुविधाओं में कोई कितनी ही उन्नति क्यों न करे, उससे मनुष्य जीवन की पराजय ही होती है।

ब्राह्मण तथा वैष्णवजन ऐसी कोई खाद्य वस्तु स्वीकार नहीं करते जो पहले से भगवान् को अर्पित न की जा चुकी हो। भगवान् को अर्पित भोज्य वस्तु भक्तों द्वारा भगवत्कृपा के रूप में स्वीकार की जाती है। आखिर, भगवान् ही सब प्रकार का भोज्य पदार्थ मनुष्यों तथा पशुओं को प्रदान करते हैं। मनुष्य को इस तथ्य के प्रति सचेत रहना चाहिए कि समस्त खाद्य पदार्थ, यथा अन्न, शाक, दूध, जल इत्यादि, जो कि जीवन की मुख्य आवश्यकताएँ हैं, भगवान् द्वारा मनुष्य को प्रदान की जाती हैं। उन्हें न तो किसी विज्ञानी द्वारा या भौतिकतावादी द्वारा मानवप्रयास से स्थापित की गई प्रयोगशाला या फैक्टरी में तैयार किया जा सकता है। बुद्धिमान श्रेणी के लोग ब्राह्मण कहलाते हैं और जिन्होंने परब्रह्म के परम साकार रूप में उनका साक्षात्कार किया है वे वैष्णव कहलाते हैं। किन्तु दोनों ही यज्ञ के उच्छिष्ट को भोज्य पदार्थ के रूप में ग्रहण करते हैं। यज्ञ अन्ततः *यज्ञ पुरुष* विष्णु को तुष्ट करने के निमित्त हैं। *भगवद्गीता* (३.१३) में कहा गया है कि जो यज्ञ-उच्छिष्ट को भोज्य पदार्थ के रूप में ग्रहण करता है, वह समस्त पापों से छूट जाता है और जो अपने शरीर के पालन-पोषण के लिए भोजन बनाता है, वह सभी तरह के कष्टप्रद पाप ग्रहण करता है। प्रभास तीर्थस्थान में प्रामाणिक ब्राह्मणों को भेंट देने के लिए यदुओं ने जो भोज्य पदार्थ तैयार कराये थे वे सभी भगवान् विष्णु को अर्पित किये गये थे। यदुओं ने अपने सिरों से भूमि का स्पर्श करते हुए सादर नमस्कार किया। वैदिक संस्कृति में चाहे यदुगण हों या

अन्य कोई प्रबुद्ध परिवार, उन्हें विभिन्न वर्णों के मध्य सेवा के पूर्ण सहयोग द्वारा मानव-सिद्धि प्राप्ति के लिए प्रशिक्षण दिया जाता है।

उरु-रसम् शब्द भी यहाँ पर महत्त्वपूर्ण है। अन्न, शाक तथा दूध को मिलाकर सैकड़ों प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजन तैयार किये जा सकते हैं। ऐसे समस्त व्यञ्जन सात्विक होते हैं, अतएव इन्हें भगवान् को अर्पित किया जा सकता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (३.१३) में कहा गया है कि भगवान् केवल फल, फूल, पत्ती तथा तरल पदार्थों से तैयार भोज्य पदार्थों को ही स्वीकार करते हैं, बशर्ते कि वे पूर्ण भक्ति के साथ अर्पित किये जाँय। भक्ति ही भगवान् को प्रामाणिक भेंट की एकमात्र कसौटी है। भगवान् आश्वासन देते हैं कि भक्तों द्वारा अर्पित ऐसे भोज्य पदार्थ वे अवश्य खाते हैं। इस तरह सभी दृष्टियों से निर्णय करने पर यदुगण पूर्णरूपेण प्रशिक्षित सभ्य पुरुष थे और ब्राह्मण मुनियों द्वारा उनका शापित होना एकमात्र भगवान् की इच्छा के फलस्वरूप था। यह समूची घटना समस्त सम्बद्ध लोगों के लिए चेतावनी थी कि ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के साथ किसी को अनुचित व्यवहार नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत ''वृन्दावन से बाहर भगवान् की लीलाएँ'' नामक तीसरे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चार

विदुर का मैत्रेय के पास जाना

उद्धव उवाच

अथ ते तदनुज्ञाता भुक्त्वा पीत्वा च वारुणीम् ।
तया विभ्रंशितज्ञाना दुरुक्तैर्मर्म पस्पृशुः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

उद्धवः उवाच—उद्धव ने कहा; अथ—तत्पश्चात्; ते—वे (यादवगण); तत्—ब्राह्मणों द्वारा; अनुज्ञाताः—अनुमति दिये जाकर; भुक्त्वा—खाकर; पीत्वा—पीकर; च—तथा; वारुणीम्—मदिरा; तया—उससे; विभ्रंशित-ज्ञानाः—ज्ञानसे विहीन होकर; दुरुक्तैः—कर्कश शब्दों से; मर्म—हृदय के भीतर; पस्पृशुः—छू गया।

तत्पश्चात् उन सबों ने (वृष्णि तथा भोज वंशियों ने) ब्राह्मणों की अनुमति से प्रसाद का उच्छिष्ट खाया और चावल की बनी मदिरा भी पी। पीने से वे सभी संज्ञाशून्य हो गये और ज्ञान से रहित होकर एक दूसरे को वे मर्मभेदी कर्कश वचन कहने लगे।

तात्पर्य : उत्सवों में जब ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को भलीभाँति भोजन कराया जाता है, तो अतिथियों द्वारा अनुमति दिये जाने पर आतिथेय भोजन का उच्छिष्ट खाता है। अतएव वृष्णि तथा भोज वंशियों ने ब्राह्मणों से औपचारिक अनुमति ली और तब तैयार किया हुआ भोज्य पदार्थ खाया। क्षत्रियों को कतिपय अवसरों पर मदिरा पीने की छूट है, अतएव उन सबों ने चावल से बनी हल्की मदिरा का पान किया। ऐसे मदिरापान से वे इतने संज्ञाशून्य तथा मूर्छित हो उठे कि वे पारस्परिक सम्बन्धों को भूल गये और ऐसे कटु वचनों का प्रयोग करने लगे जो आपस में एक दूसरे के हृदय को आहत करने लगे थे। मदिरापान इतना हानिकारक है कि कोई अत्यन्त सुसंस्कृत परिवार भी नशे से प्रभावित हो जाता है और नशे की अवस्था में अपने आपको भूल सकता है। वृष्णि तथा भोज वंशियों से इस तरह अपने आपको भूल जाने की आशा नहीं की जाती थी। किन्तु परमेश्वर की इच्छा से ऐसा हुआ और वे एक दूसरे के प्रति कटु बन गये।

तेषां मैरेयदोषेण विषमीकृतचेतसाम् ।
निम्लोचति रवावासीद्वेणूनामिव मर्दनम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उनके; मैरेय—नशे के; दोषेण—दोष से; विषमीकृत—असंतुलित; चेतसाम्—जिनके मन; निम्लोचति—अस्त होता है; रवौ—सूर्य; आसीत्—घटित होता है; वेणूनाम्—बाँसों का; इव—सदृश; मर्दनम्—विनाश।

जिस तरह बाँसों के आपसी घर्षण से विनाश होता है उसी तरह सूर्यास्त के समय नशे के दोषों की अन्त:क्रिया से उनके मन असंतुलित हो गये और उनका विनाश हो गया।

तात्पर्य : जब जगंल में आग की आवश्यकता होती है, तो परमेश्वर की इच्छा से बांसों के आपसी घर्षण से आग लग जाती है। इसी तरह यदुवंशियों का विनाश भगवान् की इच्छा से आत्मविनाश की विधि से हो गया। जिस तरह मानव प्रयास से जंगल के बीच अग्नि लगने की संभावना नहीं रहती उसी तरह ब्रह्माण्ड में ऐसी कोई शक्ति नहीं थी जो भगवान् द्वारा रक्षित यदुवंशियों का विनाश कर सकती। भगवान् ने उनके इस तरह से विनष्ट होने की इच्छा की, अतएव उन्होंने उनके आदेश का पालन किया जैसाकि *तदनुज्ञात* शब्द से सूचित होता है।

भगवान्स्वात्ममायाया गतिं तामवलोक्य सः ।
सरस्वतीमुपस्पृश्य वृक्षमूलमुपाविशत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; स्व-आत्म-मायायाः—अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा; गतिम्—अन्त; ताम्—उसको; अवलोक्य—देखकर; सः—वे (कृष्ण); सरस्वतीम्—सरस्वती नदी का; उपस्पृश्य—जल का आचमन करके; वृक्ष-मूलम्—वृक्ष की जड़ के पास; उपाविशत्—बैठ गये।

भगवान् श्रीकृष्ण अपनी अन्तरंगा शक्ति से (अपने परिवार का) भावी अन्त देखकर सरस्वती नदी के तट पर गये, जल का आचमन किया और एक वृक्ष के नीचे बैठ गये।

तात्पर्य : यदुओं तथा भोजों के उपर्युक्त समस्त कार्य भगवान् की अन्तरंगा शक्ति द्वारा सम्पन्न हुए, क्योंकि वे अपने अवतार के उद्देश्य को पूरा कर लेने के बाद उन सबों को अपने-अपने धामों को भेज देना चाहते थे। वे सभी उनके पुत्र-पौत्र थे और उन्हें भगवान् के पैतृक स्नेह द्वारा पूर्ण संरक्षण प्राप्त था। भगवान् के समक्ष उनका विनाश किस तरह हो सका, इसका उत्तर इस श्लोक में दिया गया है। प्रत्येक कार्य स्वयं भगवान् द्वारा सम्पन्न किया गया। (*स्वात्ममायाया:*) भगवान् के पारिवारिक जन या तो उनके स्वांश अवतार थे या स्वर्ग-लोकों के देवता थे; अतएव अपने प्रस्थान के पूर्व उन्होंने अपनी अन्तरंगा शक्ति से उन्हें पृथक् कर दिया। उन्हें अपने-अपने धामों में भेजे जाने के पूर्व, प्रभास नामक पवित्र स्थान पर भेजा गया जहाँ उन्होंने पुण्यकर्म किये और भोजन किया तथा जी भर कर मदपान किया। इसके बाद उन्हें अपने अपने धाम वापस भेजे जाने की व्यवस्था की गई, जिससे अन्य लोग यह देख

सकें कि शक्तिशाली यदुवंश अब इस जगत में नहीं रहा। पिछले श्लोक में *अनुज्ञात* शब्द महत्त्वपूर्ण है, जो यह सूचित करता है कि सम्पूर्ण घटनाक्रम की व्यवस्था भगवान् द्वारा की गई थी। भगवान् की ये विशिष्ट लीलाएँ उनकी बहिरंगा शक्ति अथवा भौतिक प्रकृति की अभिव्यक्ति नहीं हैं। उनकी अन्तरंगा शक्ति का ऐसा प्रदर्शन शाश्वत है, अतएव यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि यदु तथा भोज वंशी सामान्य भ्रातृघाती युद्ध में उन्मत्तावस्था में मरे। श्रील जीव गोस्वामी ने इन घटनाओं की टीका जादूगरी की कला के रूप में की है।

अहं चोक्तो भगवता प्रपन्नार्तिहरेण ह ।
बदरीं त्वं प्रयाहीति स्वकुलं सञ्जिहीर्षुणा ॥ ४॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; च—तथा; उक्तः—कहा गया; भगवता—भगवान् द्वारा; प्रपन्न—शरणागत का; आर्ति-हरेण—कष्टों को हरण करने वाले के द्वारा; ह—निस्सन्देह; बदरीम्—बदरी; त्वम्—तुम; प्रयाहि—जाओ; इति—इस प्रकार; स्व-कुलम्—अपने ही परिवार को; सञ्जिहीर्षुणा—विनष्ट करना चाहा।

भगवान् उनके कष्टों का विनाश करते हैं, जो उनके शरणागत हैं। अतएव जब उन्होंने अपने परिवार का विनाश करने की इच्छा की तो उन्होंने पहले ही बदरिकाश्रम जाने के लिए मुझसे कह दिया था।

तात्पर्य : उद्धव जब द्वारका में थे तो उन्हें उन कष्टों से बचने के लिए सचेत किया गया था, जो भगवान् के तिरोधान तथा यदुवंश के विनाश के बाद आने वाले थे । उन्हें बदरिकाश्रम जाने की सलाह दी गई थी, क्योंकि वहाँ वे नर-नारायण के भक्तों का सान्निध्य प्राप्त कर सकते थे और उनकी भक्ति की संगति में वे कीर्तन, श्रवण, ज्ञान तथा वैराग्य की अपनी उत्सुकता में वृद्धि कर सकते थे।

तथापि तदभिप्रेतं जानन्नहमरिन्दम ।
पृष्ठतोऽन्वगमं भर्तुः पादविश्लेषणाक्षमः ॥ ५॥

शब्दार्थ

तथा अपि—तिस पर भी; तत्-अभिप्रेतम्—उनकी इच्छा; जानन्—जानते हुए; अहम्—मैं; अरिम्-दम—हे शत्रुओं के दमनकर्ता (विदुर); पृष्ठतः—पीछे; अन्वगमम्—अनुसरण किया; भर्तुः—स्वामी का; पाद-विश्लेषण—उनके चरणकमलों से बिलगाव; अक्षमः—समर्थ न होकर।

हे अरिन्दम (विदुर), (वंश का विनाश करने की) उनकी इच्छा जानते हुए भी मैं उनका अनुसरण करता रहा, क्योंकि अपने स्वामी के चरणकमलों के बिछोह को सह पाना मेरे लिए

सम्भव न था।

अद्राक्षमेकमासीनं विचिन्वन्दयितं पतिम् ।
श्रीनिकेतं सरस्वत्यां कृतकेतमकेतनम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अद्राक्षम्—मैंने देखा; एकम्—अकेले; आसीनम्—बैठे हुए; विचिन्वन्—गम्भीर चिन्तन करते हुए; दयितम्—संरक्षक; पतिम्—स्वामी को; श्री-निकेतम्—लक्ष्मीजी के आश्रय को; सरस्वत्याम्—सरस्वती के तट पर; कृत-केतम्—आश्रय लिए हुए; अकेतनम्—बिना आश्रय के स्थित।

इस तरह उनका पीछा करते हुए मैंने अपने संरक्षक तथा स्वामी (भगवान् श्रीकृष्ण) को सरस्वती नदी के तट पर आश्रय लेकर अकेले बैठे और गहन चिन्तन करते देखा, यद्यपि वे देवी लक्ष्मी के आश्रय हैं।

तात्पर्य : जो लोग संन्यासी हो जाते हैं, वे प्राय: किसी वृक्ष के नीचे आश्रय लेते हैं। उद्धव ने भगवान् को उस स्थिति में आश्रय लिए हुए देखा जैसा आश्रयहीन व्यक्ति करते हैं। क्योंकि वे प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं, अत: उनका आश्रय हर स्थान पर है और हर स्थान उनके आश्रय में है। सम्पूर्ण भौतिक तथा आध्यात्मिक विराट जगत उन्हीं के द्वारा धारण किया हुआ है, अतएव वे हर वस्तु के आश्रय हैं। अतएव संन्यासियों की तरह आश्रयहीन होकर उनका आश्रय लेना तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं था।

श्यामावदातं विरजं प्रशान्तारुणलोचनम् ।
दोर्भिश्चतुर्भिर्विदितं पीतकौशाम्बरेण च ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

श्याम-अवदातम्—श्याम वर्ण से सुन्दर; विरजम्—शुद्ध सतोगुण से निर्मित; प्रशान्त—शान्त; अरुण—लाल लाल; लोचनम्—नेत्र; दोर्भि:—भुजाओं द्वारा; चतुर्भि:—चार; विदितम्—पहचाने जाकर; पीत—पीला; कौश—रेशमी; अम्बरेण—वस्त्र से; च—तथा।

भगवान् का शरीर श्यामल है, किन्तु वह सच्चिदानन्दमय है और अतीव सुन्दर है। उनके नेत्र सदैव शान्त रहते हैं और वे प्रात:कालीन उदय होते हुए सूर्य के समान लाल हैं। मैं उनके चार हाथों, विभिन्न प्रतीकों तथा पीले रेशमी वस्त्रों से तुरन्त पहचान गया कि वे भगवान् हैं।

वाम ऊरावधिश्रित्य दक्षिणाङ्घ्रिसरोरुहम् ।

अपाश्रितार्भकाश्वत्थमकृशं त्यक्तपिप्पलम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

वामे—बाईं; ऊरौ—जाँघ पर; अधिश्रित्य—रख कर; दक्षिण-अङ्घ्रि-सरोरुहम्—दाहिने चरणकमल को; अपाश्रित—टिका कर; अर्भक—छोटा; अश्वत्थम्—बरगद का वृक्ष; अकृशम्—प्रसन्न; त्यक्त—छोड़े हुए; पिप्पलम्—घरेलू आराम।

भगवान् अपना दाहिना चरण-कमल अपनी बाईं जांघ पर रखे एक छोटे से बरगद वृक्ष का सहारा लिए हुए बैठे थे। यद्यपि उन्होंने सारे घरेलू सुपास त्याग दिये थे, तथापि वे उस मुद्रा में पूर्ण रुपेण प्रसन्न दीख रहे थे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भगवान् की बैठने की मुद्रा—नये बरगद के पेड़ पर पीठ टिकाये—भी अर्थपूर्ण है। बरगद का पेड़ अश्वत्थ इसलिए कहलाता है, क्योंकि यह तुरन्त नहीं नष्ट होता; यह अनेकानेक वर्षों तक जीवित रहता है। इस पेड़ के पाँव तथा उनकी शक्तियाँ भौतिक अवयव हैं जिनकी संख्या पाँच है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश। बरगद के पेड़ द्वारा प्रदर्शित भौतिक शक्तियाँ भगवान् की बहिरंगा शक्तियों की प्रतिफल हैं, अतएव वे उनकी पीठ के पीछे रखी गई हैं। चूँकि यह ब्रह्माण्ड सबसे छोटा है इसलिए बरगद के वृक्ष को छोटा या शिशु कहा गया है। त्यक्त-पिप्पलम् सूचित करता है कि अब वे इस छोटे से ब्रह्माण्ड में अपनी लीलाएँ समाप्त कर चुके थे, किन्तु भगवान् नित्य तथा सदैव आनन्दमय रहते हैं, इसलिए उनके द्वारा किसी वस्तु को त्यागने या स्वीकार करने में कोई अन्तर नहीं है। अब भगवान् इस ब्रह्माण्ड को त्यागने तथा किसी अन्य ब्रह्माण्ड में जाने के लिए तैयार थे, जिस तरह सूर्य किसी एक लोक में उदय होता है और उसी समय दूसरे में अस्त होता है, किन्तु इससे उसकी अपनी स्थिति परिवर्तित नहीं होती।

तस्मिन्महाभागवतो द्वैपायनसुहृत्सखा ।
लोकाननुचरन्सिद्ध आससाद यदृच्छया ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—तब; महा-भागवतः—भगवान् का महान् भक्त; द्वैपायन—कृष्ण द्वैपायन व्यास का; सुहृत्—हितैषी; सखा—मित्र; लोकान्—तीनों लोकों में; अनुचरन्—विचरण करते हुए; सिद्धे—उस आश्रम में; आससाद—पहुँचा; यदृच्छया—अपनी पूर्ण इच्छा से।

उसी समय संसार के अनेक भागों की यात्रा करके महान् भगवद्भक्त तथा महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास के मित्र एवं हितैषी मैत्रेय अपनी इच्छा से उस स्थान पर आ पहुँचे।

तात्पर्य : मैत्रेय व्यासदेव के पिता महर्षि पराशर के शिष्यों में से थे। इस तरह व्यासदेव तथा मैत्रेय

परस्पर मित्र तथा हितैषी थे। सौभाग्यवश मैत्रेय उस स्थान पर पहुँचे जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण विश्राम कर रहे थे। भगवान् से भेंट होना कोई सामान्य घटना नहीं है। मैत्रेय एक महर्षि तथा विद्वान् दार्शनिक थे, किन्तु शुद्ध भगवद्भक्त नहीं थे, अतएव उस समय भगवान् से उनकी भेंट किसी *अज्ञात सुकृति* अर्थात् अज्ञात भक्ति के कारण हुई होगी। शुद्ध भक्त सदैव शुद्ध भक्तिमय सेवा में लगे रहते हैं, अतएव भगवान् से उनकी भेंट स्वाभाविक है। किन्तु जब भगवान् से ऐसे लोग मिलते हैं, जो उस उचित स्तर पर नहीं होते, तो यह भेंट आकस्मिक भक्ति के अदृश्य भाग्य के कारण होती है।

तस्यानुरक्तस्य मुनेर्मुकुन्दः
प्रमोदभावानतकन्धरस्य ।
आशृण्वतो मामनुरागहास-
समीक्षया विश्रमयन्नुवाच ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अनुरक्तस्य—अनुरक्त का; मुनेः—मुनि (मैत्रेय) का; मुकुन्दः—मोक्ष प्रदान करने वाले भगवान्; प्रमोद-भाव—प्रसन्न मुद्रा में; आनत—नीचे किये; कन्धरस्य—कन्धों का; आशृण्वतः—इस तरह सुनते हुए; माम्—मुझको; अनुराग-हास—दयालु हँसी से; समीक्षया—मुझे विशेष रूप से देखकर; विश्र-मयन्—मुझे विश्राम पूरा करने देकर; उवाच—कहा।

मैत्रेय मुनि उनमें (भगवान् में) अत्यधिक अनुरक्त थे और वे अपना कंधा नीचे किये प्रसन्न मुद्रा में सुन रहे थे। मुझे विश्राम करने का समय देकर, भगवान् मुसकुराते हुए तथा विशेष चितवन से मुझसे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : यद्यपि उद्धव तथा मैत्रेय दोनों ही महात्मा थे, किन्तु भगवान् का ध्यान उद्धव पर अधिक था क्योंकि वे निष्कलंक शुद्ध भक्त थे। *ज्ञान-भक्त* अर्थात् वह जिसकी भक्ति एकत्ववाद के दृष्टिकोण से मिश्रित होती है, शुद्ध भक्त नहीं होता। यद्यपि मैत्रेय भक्त थे, किन्तु उनकी भक्ति मिश्रित थी। भगवान् दिव्य प्रेम के आधार पर अपने भक्तों से प्रतिदान करते हैं, ज्ञान या सकाम कर्मों के आधार पर नहीं। भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में एकत्ववाद ज्ञान अथवा सकाम कर्मों के लिए कोई स्थान नहीं होता। वृन्दावन की गोपियाँ न तो परम विद्वान् थीं, न योगी थीं। उनमें भगवान् के लिए रागानुग प्रेम था। अतः वे उनके प्राणाधार बन गए और गोपियाँ भी उनकी प्राणाधार हो गईं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भगवान् के साथ गोपियों के सम्बन्ध को सर्वोत्कृष्ट माना है। यहाँ पर उद्धव के प्रति भगवान् का दृष्टिकोण मैत्रेय मुनि की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ था।

श्रीभगवानुवाच
वेदाहमन्तर्मनसीप्सितं ते
ददामि यत्तद्दुरवापमन्यैः ।
सत्रे पुरा विश्वसृजां वसूनां
मत्सिद्धिकामेन वसो त्वयेष्टः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; वेद—जानता हूँ; अहम्—मैं; अन्तः—भीतर; मनसि—मन में; ईप्सितम्—इच्छित; ते—तुम्हें; ददामि—देता हूँ; यत्—जो है; तत्—वह; दुरवापम्—प्राप्त कर पाना अतीव कठिन; अन्यैः—अन्यों द्वारा; सत्रे—यज्ञ में; पुरा—प्राचीन काल में; विश्व-सृजाम्—इस सृष्टि का सृजन करने वालों के; वसूनाम्—वसुओं का; मत्-सिद्धि-कामेन—मेरी संगति प्राप्त करने की इच्छा से; वसो—हे वसु; त्वया—तुम्हारे द्वारा; इष्टः—जीवन का चरम लक्ष्य।

हे वसु, मैं तुम्हारे मन के भीतर से वह जानता हूँ, जिसे पाने की तुमने प्राचीन काल में इच्छा की थी जब विश्व के कार्यकलापों का विस्तार करने वाले वसुओं तथा देवताओं ने यज्ञ किये थे। तुमने विशेषरूप से मेरी संगति प्राप्त करने की इच्छा की थी। अन्य लोगों के लिए इसे प्राप्त कर पाना दुर्लभ है, किन्तु मैं तुम्हें यह प्रदान कर रहा हूँ।

तात्पर्य : उद्धव भगवान् के नित्यसंगियों में से एक हैं और उद्धव का स्वांश प्राचीन काल में आठ वसुओं में से एक था। आठ वसु तथा स्वर्गलोक के देवताओं ने, जो विश्व के कर्मों की व्यवस्था के लिए उत्तरदायी हैं, प्राचीन काल में अपने-अपने जीवन के चरम लक्ष्यों की पूर्ति की इच्छा से एक यज्ञ किया। उस समय उद्धव के एक अंश ने, एक वसु के रूप में, भगवान् का संगी बनने की इच्छा प्रकट की थी। भगवान् इसे जानते थे, क्योंकि वे हर जीव के हृदय में परमात्मा या पराचेतना के रूप में उपस्थित रहते हैं। हर एक के हृदय में पराचेतना का प्रतिनिधित्व होता है, जो हर जीव की आंशिक चेतना को स्मृति प्रदान करता है। आंशिक चेतना के रूप में जीव अपने विगत जीवन की घटनाएँ भूल जाता है, किन्तु पराचेतना उसे स्मरण कराती है कि ज्ञान के विगत अनुशीलन के अनुसार किस तरह कर्म किया जाय। *भगवद्गीता* में इस तथ्य की पुष्टि अनेक प्रकार से हुई है—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्* (*भगवद्गीता* ४.११) तथा *सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।* (*भगवद्गीता* १५.१५)

हर जीव को अपनी पसंद के अनुसार इच्छा करने की छूट है, किन्तु इस इच्छा की पूर्ति भगवान् द्वारा की जाती है। हर व्यक्ति सोचने या इच्छा करने के लिए स्वतंत्र हैं, किन्तु उसकी पूर्ति परम इच्छा

पर निर्भर करती है। इस नियम को "मोरें मन कछु और है कर्ता के मन और" द्वारा व्यक्त किया जाता है। प्राचीन-काल में जब देवताओं तथा वसुओं ने यज्ञ किया, तो एक वसु के रूप में उद्धव ने भगवान् की संगति करने की इच्छा प्रकट की थी जो ज्ञानियों या सकाम कर्मियों के लिए अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसे लोगों को भगवान् का संगी बनने के विषय में कोई व्यावहारिक बातें ज्ञात नहीं होतीं। केवल शुद्ध भक्त भगवत्कृपा से ही जान सकते हैं कि भगवान् की निजी संगति जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है। भगवान् ने उद्धव को आश्वासन दिया कि वे उनकी इच्छा पूरी करेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि जब भगवान् ने संकेत द्वारा उद्धव को इसकी जानकारी दी तो महर्षि मैत्रेय भगवान् की संगति प्राप्त करने की महत्ता से अन्त में अवगत हो गए।

स एष साधो चरमो भवानाम्
आसादितस्ते मदनुग्रहो यत् ।
यन्मां नृलोकान्रह उत्सृजन्तं
दिष्ट्या ददृश्वान्विशदानुवृत्त्या ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—उनका; साधो—हे साधु; चरमः—चरम; भवानाम्—तुम्हारे सारे अवतारों (वसु रूप में) में से; आसादितः—अब प्राप्त; ते—तुम पर; मत्—मेरी; अनुग्रहः—कृपा; यत्—जिस रूप में; यत्—क्योंकि; माम्—मुझको; नृ-लोकान्—बद्धजीवों के लोक; रहः—एकान्त में; उत्सृजन्तम्—त्यागते हुए; दिष्ट्या—देखने से; ददृश्वान्—जो तुम देख चुके हो; विशद-अनुवृत्त्या—अविचल भक्ति से।

हे साधु, तुम्हारा वर्तमान जीवन अन्तिम तथा सर्वोपरि है, क्योंकि तुम्हें इस जीवन में मेरी चरम कृपा प्राप्त हुई है। अब तुम बद्धजीवों के इस ब्रह्माण्ड को त्याग कर मेरे दिव्य धाम वैकुण्ठ जा सकते हो। तुम्हारी शुद्ध तथा अविचल भक्ति के कारण इस एकान्त स्थान में मेरे पास तुम्हारा आना तुम्हारे लिए महान् वरदान है।

तात्पर्य : मुक्तावस्था को प्राप्त एक परिपूर्ण जीवात्मा द्वारा जितना भगवत्ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है उससे जब वह पूर्णतया अवगत हो लेता है, तो उसे आध्यात्मिक आकाश में प्रवेश करने दिया जाता है जहाँ वैकुण्ठलोक विद्यमान हैं। भगवान् एकान्त में इस ब्रह्माण्ड के निवासियों की दृष्टि से अन्तर्धान होने के लिए बैठे हुए थे और ऐसे समय में भी उनका दर्शन करने और इस तरह वैकुण्ठ में प्रवेश करने के लिए उनकी अनुमति पाने के लिए उद्धव भाग्यशाली थे। भगवान् सदैव सर्वत्र रहते हैं और उनका प्राकट्य तथा अन्तर्धान होना किसी विशेष ब्रह्माण्ड के निवासियों का अनुभव मात्र है। वे

सूर्यवत् हैं। सूर्य आकाश में प्रकट या अन्तर्धान नहीं होता। यह तो लोगों का अनुभव है कि सूर्य प्रात:काल उदय होता है और सांयकाल अस्त हो जाता है। भगवान् एक ही समय वैकुण्ठ में तथा वैकुण्ठ के भीतर तथा बाहर सर्वत्र रहते हैं।

पुरा मया प्रोक्तमजाय नाभ्ये
पद्मे निषण्णाय ममादिसर्गे ।
ज्ञानं परं मन्महिमावभासं
यत्सूरयो भागवतं वदन्ति ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

पुरा—प्राचीन काल में; मया—मेरे द्वारा; प्रोक्तम्—कहा गया था; अजाय—ब्रह्मा से; नाभ्ये—नाभि से बाहर; पद्मे—कमल पर; निषण्णाय—स्थित; मम—मेरा; आदि-सर्गे—सृष्टि के प्रारम्भ में; ज्ञानम्—ज्ञान; परम्—परम; मत्-महिमा—मेरी दिव्य कीर्ति; अवभासम्—जो निर्मल बनाती है; यत्—जिसे; सूरय:—महान् विद्वान् मुनि; भागवतम्—श्रीमद्भागवत; वदन्ति—कहते हैं।

हे उद्धव, प्राचीन काल में कमल कल्प में, सृष्टि के प्रारम्भ में मैंने अपनी नाभि से उगे हुए कमल पर स्थित ब्रह्मा से अपनी उस दिव्य महिमाओं के विषय में बतलाया था, जिसे बड़े-बड़े मुनि श्रीमद्भागवत कहते हैं।

तात्पर्य : परमात्मा विषयक जो व्याख्या ब्रह्मा से कही गई तथा जो इस ग्रंन्थ के द्वितीय स्कन्ध में पहले ही बताई गई है, उसका और अधिक स्पष्टीकरण यहाँ पर हुआ है। भगवान् ने कहा कि ब्रह्मा को बतलाया गया *श्रीमद्भागवत* का संक्षिप्त रूप मेरे व्यष्टित्व स्वरूप की व्याख्या के लिए था। द्वितीय स्कन्ध के उन चार श्लोकों की निर्विशेष व्याख्या यहीं निरस्त हो जाती हैं। इस सन्दर्भ में श्रीधर स्वामी ने भी व्याख्या की है कि *भागवत* का वही संक्षिप्त रूप भगवान् कृष्ण की लीलाओं से सम्बन्धित था और वह निर्विशेष तोषण के लिए कदापि नहीं था।

इत्यादृतोक्त: परमस्य पुंस:
प्रतिक्षणानुग्रहभाजनोऽहम् ।
स्नेहोत्थरोमा स्खलिताक्षरस्तं
मुञ्चञ्छुच: प्राञ्जलिराबभाषे ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; आदृत—अनुग्रह किये गये; उक्त:—सम्बोधित; परमस्य—परम का; पुंस:—भगवान्; प्रतिक्षण—हर क्षण; अनुग्रह-भाजन:—कृपापात्र; अहम्—मैं; स्नेह—स्नेह; उत्थ—विस्फोट; रोमा—शरीर के रोएँ; स्खलित—शिथिल; अक्षर:—आँखों के; तम्—उसको; मुञ्चन्—पोंछकर; शुच:—आँसू; प्राञ्जलि:—हाथ जोड़े; आबभाषे—कहा।

उद्धव ने कहा : हे विदुर, जब मैं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा इस प्रकार से प्रतिक्षण कृपाभाजन बना हुआ था और उनके द्वारा अतीव स्नेहपूर्वक सम्बोधित किया जा रहा था, तो मेरी वाणी रुक कर आँसुओं के रूप में बह निकली और मेरे शरीर के रोम खड़े हो गये। अपने आँसू पोंछ कर और दोनों हाथ जोड़ कर मैं इस प्रकार बोला।

को न्वीश ते पादसरोजभाजां
सुदुर्लभोऽर्थेषु चतुर्ष्वपीह ।
तथापि नाहं प्रवृणोमि भूमन्
भवत्पदाम्भोजनिषेवणोत्सुकः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

कः नु ईश—हे प्रभु; ते—तुम्हारे; पाद-सरोज-भाजाम्—आपके चरणकमलों की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे भक्तों के; सु-दुर्लभः—प्राप्त कर पाना अतीव कठिन; अर्थेषु—विषय में; चतुर्षु—चार पुरुषार्थों के; अपि—बावजूद; इह—इस जगत में; तथा अपि—फिर भी; न—नहीं; अहम्—मैं; प्रवृणोमि—वरीयता प्रदान करता हूँ; भूमन्—हे महात्मन्; भवत्—आपके; पद-अम्भोज—चरणकमल; निषेवण-उत्सुकः—सेवा करने के लिए उत्सुक।

हे प्रभु, जो भक्तगण आपके चरणकमलों की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे हुए हैं उन्हें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों के क्षेत्र में कुछ भी प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती। किन्तु हे भूमन्, जहाँ तक मेरा सम्बन्ध हैं मैंने आपके चरणकमलों की प्रेमाभक्ति में ही अपने को लगाना श्रेयस्कर माना है।

तात्पर्य : जो लोग वैकुण्ठलोक में भगवान् के सान्निध्य में हैं, वे भगवान् के सारे शारीरिक गुण प्राप्त कर लेते हैं और भगवान् विष्णु जैसे ही प्रतीत होते हैं। ऐसी मुक्ति *सारूप्य-मुक्ति* कहलाती है, जो पाँच प्रकार की मुक्तियों में से एक है। भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे भक्तगण *सायुज्य-मुक्ति* को कभी भी स्वीकार नहीं करते जो ब्रह्मज्योति में तादात्मय है। भक्तगण न केवल मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं, अपितु धर्म, अर्थ, अथवा काम के क्षेत्र में स्वर्ग में स्थित देवताओं के स्तर की कोई भी सफलता प्राप्त कर सकते हैं किन्तु उद्धव जैसे भक्त को ऐसी समस्त सुविधाएँ स्वीकार्य नहीं हैं। शुद्ध भक्त एकमात्र भगवान् की सेवा में लगा रहना चाहता है; वह अपने निजी लाभ पर विचार नहीं करता।

कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते
दुर्गाश्रयोऽथारिभयात्पलायनम् ।

कालात्मनो यत्प्रमदायुताश्रमः
स्वात्मन्रतेः खिद्यति धीर्विदामिह ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

कर्माणि—कर्म; अनीहस्य—न चाहने वाले का; भवः—जन्म; अभवस्य—कभी भी न जन्मे का; ते—तुम्हारा; दुर्ग-आश्रयः—किले की शरण लेकर; अथ—तत्पश्चात्; अरि-भयात्—शत्रु के डर से; पलायनम्—पलायन, भागना; काल-आत्मनः—नित्यकाल के नियन्ता का; यत्—जो; प्रमदा-आयुत—स्त्रियों की संगति में; आश्रमः—गृहस्थ जीवन; स्व-आत्मन्—अपनी आत्मा में; रतेः—रमण करने वाली; खिद्यति—विचलित होती है; धीः—बुद्धि; विदाम्—विद्वान की; इह—इस जगत में।

हे प्रभु, विद्वान मुनियों की बुद्धि भी विचलित हो उठती है जब वे देखते हैं कि आप समस्त इच्छाओं से मुक्त होते हुए भी सकाम कर्म में लगे रहते हैं; अजन्मा होकर भी जन्म लेते हैं; अजेय काल के नियन्ता होते हुए भी शत्रुभय से पलायन करके दुर्ग में शरण लेते हैं तथा अपनी आत्मा में रमण करते हुए भी आप अनेक स्त्रियों से घिरे रहकर गृहस्थ जीवन का आनन्द लेते हैं।

तात्पर्य : भगवान् के शुद्ध भक्त भगवान् के दिव्य ज्ञान विषयक दार्शनिक चिन्तन से बहुत अधिक वास्ता नहीं रखते। न ही भगवान् का पूर्णज्ञान प्राप्त कर पाना सम्भव है। उन्हें भगवान् के विषय में जो भी अल्पज्ञान रहता है, वह उनके लिए पर्याप्त होता है, क्योंकि भक्तगण भगवान् की दिव्य लीलाओं के श्रवण तथा कीर्तन से ही तुष्ट रहते हैं। इससे उन्हें समस्त दिव्य आनन्द मिलता है। किन्तु भगवान् की कुछ लीलाएँ इन शुद्ध भक्तों तक को परस्पर विरोधी प्रतीत होती हैं। अतः उद्धव ने भगवान् से उनकी लीलाओं की कुछ परस्पर विरोधी घटनाओं के विषय में पूछा। ऐसा वर्णन किया जाता है कि भगवान् को स्वयं कुछ नहीं करना पड़ता और वस्तुतः ऐसा ही है, क्योंकि भौतिक जगत की सृष्टि तथा उसके पालन तक में भगवान् को कुछ नहीं करना होता। तब यह सुनना विरोधी प्रतीत होता है कि भगवान् अपने शुद्ध भक्तों की रक्षा हेतु गोवर्धन पर्वत को स्वयं उठाते हैं। भगवान् तो परब्रह्म, परम सत्य हैं, जो मनुष्य की तरह प्रकट होते हैं, किन्तु उद्धव को संदेह था कि क्या वे अनेक दिव्य कार्य कर सकते हैं।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तथा निर्विशेष ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। तो फिर भगवान् को इतने सारे कार्य कैसे करने होते हैं, जबकि निर्विशेष ब्रह्म के लिए यह कहा गया है कि उन्हें भौतिक या आध्यात्मिक रूप से कुछ भी नहीं करना पड़ता? यदि भगवान् सदा अजन्मा हैं, तो फिर वे वसुदेव तथा देवकी के पुत्र रूप में कैसे जन्म लेते हैं? वे काल के लिए भी भयावने हैं, फिर भी वे जरासन्ध से लड़ने से भयभीत रहते हैं और दुर्ग में शरण लेते हैं। जो अपने में पूर्ण हों वे किस तरह अनेक स्त्रियों की संगति में रस लेते हैं? वे किस तरह पत्नियाँ स्वीकार करते हैं और गृहस्थ की तरह पारिवारिक-

जनों, सन्तानों, सम्बन्धियों, तथा माता-पिता में आनन्द पाते हैं? ये सारी परस्पर विरोधी दिखने वाली घटनाएँ बड़े से बड़े विद्वान को विमोहित करती हैं, जो इस तरह मोहित होने के कारण यह नहीं समझ पाते कि अकर्मण्यता तथ्य है या उनके कार्यकलाप मात्र अनुकृत्य नकल हैं।

इसका हल यह है कि भगवान् को किसी भी संसारी वस्तु से कोई सरोकार नहीं होता। उनके सारे कार्यकलाप दिव्य हैं। इसे संसारी चिन्तक नहीं समझ पाते। संसारी चिन्तकों के लिए निश्चय ही एक प्रकार का मोह होता है, किन्तु दिव्य भक्तों के लिए इसमें कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं होता। परम सत्य की ब्रह्म धारणा निश्चय ही समस्त संसारी कार्यों से नकारती है किन्तु परब्रह्म अवधारणा दिव्य कार्यों से ओतप्रोत है। जो व्यक्ति ब्रह्म तथा परब्रह्म अवधारणाओं के अन्तर को जानता है, वही असली योगी अर्थात् अध्यात्मवादी है। ऐसे योगियों के लिए कोई विभ्रम नहीं होता। *भगवद्गीता* (१०.२) में भगवान् स्वयं भी घोषित करते हैं "बड़े बड़े मुनि तथा देवता तक मेरे कार्यों तथा मेरी दिव्य शक्तियों के बारे में कुछ नहीं जान सकते।" भगवान् के कार्यों की सही व्याख्या भीष्म पितामह ने (*भागवत* १.९.१६) इस प्रकार की है—

न ह्यस्य कर्हिचिद् राजन् पुमान् वेद विधित्सितम्।

यद् विजिज्ञासया युक्ता मुह्यन्ति कवयोपि हि॥

मन्त्रेषु मां वा उपहूय यत्त्व-
मकुण्ठिताखण्डसदात्मबोधः ।
पृच्छेः प्रभो मुग्ध इवाप्रमत्तस्
तन्नो मनो मोहयतीव देव ॥ १७॥

शब्दार्थ

मन्त्रेषु—मन्त्रणाओं या परामर्शों में; माम्—मुझको; वै—अथवा; उपहूय—बुलाकर; यत्—जितना; त्वम्—आप; अकुण्ठित—बिना हिचक के; अखण्ड—विना अलग हुए; सदा—सदैव; आत्म—आत्मा; बोधः—बुद्धिमान; पृच्छेः—पूछा; प्रभो—हे प्रभु; मुग्धः—मोहग्रस्त; इव—मानो; अप्रमत्तः—यद्यपि कभी मोहित नहीं होता; तत्—वह; नः—हमारा; मनः—मन; मोहयति—मोहित करता है; इव—मानो; देव—हे प्रभु।

हे प्रभु, आपकी नित्य आत्मा कभी भी काल के प्रभाव से विभाजित नहीं होती और आपके पूर्णज्ञान की कोई सीमा नहीं है। इस तरह आप अपने आप से परामर्श लेने में पर्याप्त सक्षम थे, किन्तु फिर भी आपने परामर्श के लिए मुझे बुलाया मानो आप मोहग्रस्त हो गए हैं, यद्यपि आप कभी भी मोहग्रस्त नहीं होते। आपका यह कार्य मुझे मोहग्रस्त कर रहा है।

तात्पर्य : उद्धव वास्तव में कभी भी मोहग्रस्त नहीं थे, किन्तु वे कहते हैं कि ये सभी विरोधी बातें मोहग्रस्त बनाने वाली प्रतीत होती हैं। कृष्ण तथा उद्धव के बीच का सारा विचार-विमर्श मैत्रेय के लाभार्थ था, जो पास ही बैठे थे। भगवान् उद्धव को परामर्श के लिए बुलाते रहते थे जब नगर पर जरासन्ध तथा अन्यों ने आक्रमण किया था और जब उन्होंने द्वारकाधीश के रूप में अपनी नैत्यिक राजसी कार्य के अंग स्वरूप महान् यज्ञ किये थे। भगवान् के लिए कोई भूत, वर्तमान तथा भविष्य नहीं होता, क्योंकि शाश्वत काल का उन पर कोई प्रभाव नहीं होता और उनसे कुछ भी छुपा नहीं है। वे शाश्वत आत्म-प्रबुद्ध हैं। अतएव परामर्श-रूपी प्रकाश पाने के लिए उनका उद्धव को बुलाना निश्चित रूप से आश्चर्यप्रद है। भगवान् के ये सारे कार्य परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, यद्यपि भगवान् के नैत्यिक कार्यों में कोई विरोध नहीं है। इसलिए उन्हें उसी रूप में देखना अच्छा होगा और उनकी व्याख्या करने का कोई प्रयास नहीं किया जाना चाहिए।

ज्ञानं परं स्वात्मरह:प्रकाशं
प्रोवाच कस्मै भगवान्समग्रम् ।
अपि क्षमं नो ग्रहणाय भर्त-
र्वदाञ्जसा यद्वृजिनं तरेम ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ज्ञानम्—ज्ञान; परम्—परम; स्व-आत्म—निजी आत्मा; रहः—रहस्य; प्रकाशम्—प्रकाश; प्रोवाच—कहा; कस्मै—क (ब्रह्माजी) से; भगवान्—भगवान्; समग्रम्—पूर्ण रूपेण; अपि—यदि ऐसा; क्षमम्—समर्थ; नः—मुझको; ग्रहणाय—स्वीकार्य; भर्तः—हे प्रभु; वद—कहें; अञ्जसा—विस्तार से; यत्—जिससे; वृजिनम्—कष्टों को; तरेम—पार कर सकूँ।

हे प्रभु, यदि आप हमें समझ सकने के लिए सक्षम समझते हों तो आप हमें वह दिव्य ज्ञान बतलाएँ जो आपके विषय में प्रकाश डालता हो और जिसे आपने इसके पूर्व ब्रह्माजी को बतलाया है।

तात्पर्य : उद्धव जैसे शुद्ध भक्त को भौतिक क्लेश नहीं होते, क्योंकि वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर लगा रहता है। एक भक्त भगवान् के सान्निध्य के बिना दुखी रहता है। भगवान् के कार्यों का सतत स्मरण भक्त को जीवित रखता है, अतएव उद्धव ने भगवान् से प्रार्थना की कि वे उन्हें भी ब्रह्माजी को पहले उपदेशित किए गये *श्रीमद्भागवत* के ज्ञान से प्रबुद्ध करें।

इत्यावेदितहार्दाय मह्यं स भगवान्परः ।
आदिदेशारविन्दाक्ष आत्मनः परमां स्थितिम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

इति आवेदित—मेरे द्वारा इस प्रकार प्रार्थना किये जाने पर; हार्दाय—मेरे हृदय के भीतर से; मह्यम्—मुझको; सः—उन; भगवान्—भगवान् ने; परः—परम; आदिदेश—आदेश दिया; अरविन्द-अक्षः—कमल जैसे नेत्रों वाला; आत्मनः—अपनी ही; परमाम्—दिव्य; स्थितिम्—स्थिति।

जब मैंने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से अपनी यह हार्दिक इच्छा व्यक्त की तो कमलनेत्र भगवान् ने मुझे अपनी दिव्य स्थिति के विषय में उपदेश दिया।

तात्पर्य : इस श्लोक में *परमाम् स्थितिम्* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् की दिव्य स्थिति के विषय में तब भी ब्रह्माजी से कुछ नहीं कहा गया था जब *श्रीमद्भागवत* के चार श्लोकों (२.९.३३-३६) की व्याख्या की गई थी। यह दिव्य स्थिति द्वारका तथा वृन्दावन में प्रदर्शित उन भक्तों के प्रति भगवान् के बर्तावों से युक्त है, जो उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे हुए थे। जब भगवान् ने अपनी विशिष्ट दिव्य स्थिति की व्याख्या की तो वह उद्धव के ही लिए थी, इसलिए उद्धव ने विशेष रूप से *मह्यम्* (मुझको) कहा, यद्यपि महर्षि मैत्रेय भी वहीं बैठे थे। ऐसी दिव्य स्थिति उन लोगों की समझ में नहीं आती जिनकी भक्ति ज्ञान या सकाम कर्मों से मिश्रित होती है। भगवान् के गुह्य प्रेम के कार्यकलाप उन सामान्य भक्तों को विरले ही प्रकट किये जाते हैं, जो ज्ञान तथा योग से मिश्रित भक्ति द्वारा आकृष्ट रहते हैं। ऐसे कार्यकलाप भगवान् की अचिन्त्य लीलाएँ होते हैं।

स एवमाराधितपादतीर्थाद्
अधीततत्त्वात्मविबोधमार्गः ।
प्रणम्य पादौ परिवृत्य देव-
मिहागतोऽहं विरहातुरात्मा ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सः—अतएव मैं; एवम्—इस प्रकार; आराधित—पूजित; पाद-तीर्थात्—भगवान् से; अधीत—अध्ययन किया हुआ; तत्त्व-आत्म—आत्मज्ञान; विबोध—ज्ञान, जानकारी; मार्गः—पथ; प्रणम्य—प्रणाम करके; पादौ—उनके चरणकमलों पर; परिवृत्य—प्रदक्षिणा करके; देवम्—भगवान्; इह—इस स्थान पर; आगतः—पहुँचा; अहम्—मैं; विरह—वियोग; आतुर-आत्मा—आत्मा में दुखी, दुखित आत्मा से।

मैंने अपने आध्यात्मिक गुरु भगवान् से आत्मज्ञान के मार्ग का अध्ययन किया है, अतएव उनकी प्रदक्षिणा करके मैं उनके विरह-शोक से पीड़ित होकर इस स्थान पर आया हूँ।

तात्पर्य : श्री उद्धव का वास्तविक जीवन *चतुः श्लोकी भागवत* का प्रत्यक्ष प्रतीक है, जिसे

भगवान् ने सर्वप्रथम ब्रह्माजी से कहा था। *श्रीमद्भागवत* के इन अत्यन्त महान् तथा महत्त्वपूर्ण श्लोकों को मायावादी चिन्तक, विशेष रूप से अलग करके, अपने अद्वैतवादी निर्विशेष मत का अनुमोदन करने के लिए इनका भिन्न तात्पर्य निकालते हैं। यहाँ पर ऐसे अनधिकृत चिन्तकों के लिए सही उत्तर दिया गया है। *श्रीमद्भागवत* के श्लोक शुद्ध आस्तिक विज्ञान हैं, जिन्हें *भगवद्गीता* के परास्नातक अध्येता समझ सकते हैं। अनधिकृत शुष्क चिन्तक तो भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों पर अपराधी हैं, क्योंकि वे लोग जनता को गुमराह करने के लिए *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के तात्पर्यों को तोड़ते मरोड़ते हैं और इस तरह अन्धतामिस्र नामक नरक में जाने का सीधा मार्ग प्रशस्त करते हैं। *भगवद्गीता* (१६.२०) में पुष्टि की गई है कि ऐसे ईर्ष्यालु चिन्तक ज्ञानरहित होते हैं और जन्म-जन्मांतर निन्दा के पात्र बनते हैं। वे व्यर्थ ही श्रीपाद शंकराचार्य का आश्रय लेते हैं, जो स्वयं इतने उग्र न थे कि भगवान् कृष्ण के चरणकमलों पर अपराध करते। श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुसार श्रीपाद शंकराचार्य ने किसी विशेष उद्देश्य से मायावाद दर्शन का प्रचार किया। ऐसा दर्शन आत्मा के अनस्तित्व वाले बौद्ध दर्शन को परास्त करने के लिए आवश्यक था। किन्तु इसका उद्देश्य शाश्वत स्वीकृति के लिए कभी नहीं था। यह एक आकस्मिता थी। इसीलिए शंकराचार्य ने *भगवद्गीता* पर लिखे अपने भाष्य में कृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् स्वीकार किया। चूँकि वे कृष्ण के महान् भक्त थे, अतएव उन्होंने *श्रीमद्भागवत* पर कोई टीका लिखने का दुस्साहस नहीं किया, क्योंकि यह भगवान् के चरणकमलों पर सीधा अपराध होता। किन्तु मायावाद दर्शन के नाम पर परवर्ती-चिन्तक बिना किसी प्रामाणिक उद्देश्य के चतु:श्लोकी *भागवत* पर अपनी टीका करते हैं।

अद्वैतवादी शुष्क चिन्तकों का *श्रीमद्भागवत* से कोई सरोकार नहीं है, क्योंकि इस विशेष वैदिक ग्रंथ के महान् प्रणेता ने स्वयं इसका निषेध उनके लिए किया है। श्रील व्यासदेव ने धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में लगे हुए व्यक्तियों को *श्रीमद्भागवत* के समझने का प्रयास करने के लिए निश्चित रूप से मना किया है, क्योंकि यह ग्रन्थ उनके लिए नहीं है। (*भागवत१.१.२*) *श्रीमद्भागवत* के महान् टीकाकार श्रीपाद श्रीधर स्वामी ने मोक्षवादियों या अद्वैतवादियों को *श्रीमद्भागवत* के विषय में कुछ भी सरोकार रखने से मना किया है। यह उनके लिए नहीं है। फिर भी ऐसे अनधिकृत व्यक्ति *श्रीमद्भागवत* को समझने का हठपूर्वक प्रयास करते हैं, जो दुस्साहस श्रीपाद शंकराचार्य तक नहीं कर सके। इस तरह

वे भगवान् के चरणकमलों पर अपराध करते रहते हैं और अपना दुखी जीवन बनाये रखते हैं। यहाँ पर यह विशेष ध्यान देने की बात है कि उद्धव ने *चतु:श्लोकी भागवत* सीधे भगवान् से पढ़ी जिन्होंने इसे सर्वप्रथम ब्रह्माजी से कहा और इस बार *परमां स्थितिं* के रूप में आत्मज्ञान की अधिक गुह्य रूप से व्याख्या की। प्रेम के ऐसे आत्मज्ञान को सीख कर उद्धव भगवान् के विरह भावों से अत्यधिक दुखी हुए। जब तक उद्धव की अवस्था तक जागृत न हो लिया जाय तब तक *श्रीमद्भागवत* के इन चार अनिवार्य श्लोकों का असली अर्थ नहीं समझा जा सकता। उद्धव जैसी अविरत वियोग की यह अवस्था श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी प्रकट की थी। किसी को *श्रीमद्भागवत* के अर्थ को तोड़ने मरोड़ने के अनधिकृत कार्य में प्रवृत्त होकर अपराध के घातक मार्ग पर अपने को नहीं डालना चाहिए।

सोऽहं तद्दर्शनाह्लादवियोगार्तियुतः प्रभो ।
गमिष्ये दयितं तस्य बदर्याश्रममण्डलम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सः अहम्—इस तरह स्वयं मैं; तत्—उसका; दर्शन—दर्शन; आह्लाद—आनन्द के; वियोग—विरह; आर्ति-युतः—दुख से पीड़ित; प्रभो—हे प्रभु; गमिष्ये—जाऊँगा; दयितम्—इस तरह उपदेश दिया गया; तस्य—उसका; बदर्याश्रम—हिमालय स्थित बदरिकाश्रम; मण्डलम्—संगति।

हे विदुर, अब मैं उनके दर्शन से मिलने वाले आनन्द के अभाव में पागल हो रहा हूँ और इसे कम करने के लिए ही अब मैं संगति के लिए हिमालय स्थित बदरिकाश्रम जा रहा हूँ जैसा कि उन्होंने मुझे आदेश दिया है।

तात्पर्य : उद्धव के स्तर का शुद्ध भगवद्भक्त एकसाथ विरह तथा मिलन की दुहरी अनुभूति में निरन्तर भगवान् की संगति करता है। शुद्ध भक्त क्षण भर भी भगवान् की दिव्य सेवा से विरत नहीं होता। भगवान् की सेवा करना ही शुद्ध भक्त का मुख्य कार्य है। उद्धव को भगवान् का वियोग असह्य था, अतएव भगवान् के आदेश का पालन करने के लिए ही वे बदरिकाश्रम के लिए चल पड़े, क्योंकि भगवान् का आदेश तथा भगवान् अभिन्न हैं। जब तक मनुष्य भगवान् के आदेश का पालन करने में सचेष्ट रहता है तब तक उनसे वास्तविक वियोग नहीं सताता।

यत्र नारायणो देवो नरश्च भगवानृषिः ।
मृदु तीव्रं तपो दीर्घं तेपाते लोकभावनौ ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; नारायणः—भगवान्; देवः—अवतार से; नरः—मनुष्य; च—भी; भगवान्—स्वामी; ऋषिः—ऋषि; मृदु—मिलनसार; तीव्रम्—कठिन; तपः—तपस्या; दीर्घम्—दीर्घकाल; तेपाते—करते हुए; लोक-भावनौ—सारे जीवों का मंगल।

वहाँ बदरिकाश्रम में नर तथा नारायण ऋषियों के रूप में अपने अवतार में भगवान् अनादिकाल से समस्त मिलनसार जीवों के कल्याण हेतु महान् तपस्या कर रहे हैं।

तात्पर्य : हिमालय स्थित बदरिकाश्रम नर-नारायण ऋषियों का धाम है और हिन्दुओं का एक महान् तीर्थस्थल है। अभी भी लाखों पवित्र हिन्दू लोग भगवान् के अवतार नर नारायण के प्रति श्रद्धा अर्पित करने जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पाँच हजार वर्ष पूर्व भी उद्धव जैसे पवित्र व्यक्ति इस भारी स्थल में जाते थे और उस समय भी यह अत्यन्त प्राचीन स्थान के नाम से विख्यात था। सामान्य लोगों के लिए इस विशेष तीर्थस्थल तक पहुँच पाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि हिमालय में यह विकट जगह पर स्थित है, जो प्राय: वर्ष भर बर्फ से ढकी रहती है। ग्रीष्म-ऋतु के कुछ महीनों में ही महान् व्यक्तिगत असुविधा सहन करके लोग इस स्थान को जा सकते हैं। इस पृथ्वी पर चार धाम अर्थात् ईश्वर के राज्य हैं, जो आध्यात्मिक आकाश के लोकों के प्रतीक हैं जिनमें *ब्रह्मज्योति* तथा वैकुण्ठलोक आते हैं। ये चार धाम हैं—बदरिकाश्रम, रामेश्वर, जगन्नाथ पुरी तथा द्वारका। श्रद्धालु हिन्दू आध्यात्मिक साक्षात्कार की सिद्धि हेतु उद्धव जैसे भक्तों के चरणचिह्नों का अनुसरण करते हुए अब भी इन सभी पवित्र स्थानों में जाते हैं।

श्रीशुक उवाच

इत्युद्धवादुपाकर्ण्य सुहृदां दुःसहं वधम् ।
ज्ञानेनाशमयत्क्षत्ता शोकमुत्पतितं बुधः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकगोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उद्धवात्—उद्धव से; उपाकर्ण्य—सुनकर; सुहृदाम्—मित्रों तथा सम्बन्धियों का; दुःसहम्—असह्य; वधम्—संहार; ज्ञानेन—दिव्य ज्ञान से; अशमयत्—स्वयं को सान्त्वना दी; क्षत्ता—विदुर ने; शोकम्—वियोग; उत्पतितम्—उत्पन्न हुआ; बुधः—विद्वान्।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : उद्धव से अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों के संहार के विषय में सुनकर विद्वान् विदुर ने स्वयं के दिव्य ज्ञान के बल पर अपने असह्य शोक को प्रशमित किया।

तात्पर्य : विदुर को बताया गया कि कुरुक्षेत्र के युद्ध के परिणाम-स्वरूप उनके मित्रों तथा सम्बन्धियों के संहार के साथ-साथ यदुवंश का विनाश तथा भगवान् का प्रयाण हो चुका है। इन सबसे

कुछ समय तक वे शोकाकुल हो उठे, किन्तु दिव्य ज्ञान में अत्यधिक बढ़े-चढ़े होने से वे अपने को उस ज्ञान द्वारा शान्त करने में पर्याप्त समर्थ थे। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, शारीरिक सम्बन्धों के साथ दीर्घकालीन संगति के फलस्वरूप मित्रों तथा सम्बन्धियों के संहार के कारण शोक का होना तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं है, किन्तु मनुष्य को उच्चतर दिव्य ज्ञान के द्वारा ऐसे शोक को दमित करने की कला सीखनी चाहिए। उद्धव तथा विदुर के बीच कृष्ण विषयक वार्ता की शुरुआत संध्या समय हुई और अब उद्धव की संगति से विदुर का ज्ञान और भी बढ़ गया।

स तं महाभागवतं व्रजन्तं कौरवर्षभः ।
विश्रम्भादभ्यधत्तेदं मुख्यं कृष्णपरिग्रहे ॥ २४॥

शब्दार्थ

सः—विदुर ने; तम्—उद्धव से; महा-भागवतम्—भगवान् का महान् भक्त; व्रजन्तम्—जाते हुए; कौरव-ऋषभः—कौरवों में सर्वश्रेष्ठ; विश्रम्भात्—विश्वास वश; अभ्यधत्त—निवेदन किया; इदम्—यह; मुख्यम्—प्रधान; कृष्ण—भगवान् कृष्ण की; परिग्रहे—भगवद्भक्ति में।

भगवान् के प्रमुख तथा अत्यन्त विश्वस्त भक्त उद्धव जब जाने लगे तो विदुर ने स्नेह तथा विश्वास के साथ उनसे प्रश्न किया।

तात्पर्य : विदुर उद्धव से काफी बड़े थे। पारिवारिक सम्बन्ध में उद्धव कृष्ण के समकालीन भाई थे जबकि विदुर कृष्ण के पिता वसुदेव की उम्र के थे। किन्तु उद्धव उम्र में कम होते हुए भी भगवद्भक्ति में अत्यधिक बढ़े-चढ़े थे, इसीलिए उन्हें यहाँ पर भगवान् के भक्तों में प्रमुख कहा गया है। विदुर को इसका विश्वास था, अतः उन्होंने उद्धव को उसी उच्चतर श्रेणी का मान कर सम्बोधित किया। दो भक्तों के बीच शिष्ट बर्ताव की यही रीति है।

विदुर उवाच

ज्ञानं परं स्वात्मरहःप्रकाशं
यदाह योगेश्वर ईश्वरस्ते ।
वक्तुं भवान्नोऽर्हति यद्धि विष्णो
र्भृत्याः स्वभृत्यार्थकृतश्चरन्ति ॥ २५॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; ज्ञानम्—ज्ञान; परम्—दिव्य; स्व-आत्म—आत्मा विषयक; रहः—रहस्य; प्रकाशम्—प्रबुद्धता; यत्—जो; आह—कहा; योग-ईश्वरः—समस्त योगों के स्वामी; ईश्वरः—भगवान् ने; ते—तुमसे; वक्तुम्—कहने के लिए;

भवान्—आप; नः—मुझसे; अर्हति—योग्य हैं; यत्—क्योंकि; हि—कारण से; विष्णोः—भगवान् विष्णु के; भृत्याः—सेवक; स्व-भृत्य-अर्थ-कृतः—अपने सेवकों के हित के लिए; चरन्ति—विचरण करते हैं।.

विदुर ने कहा : हे उद्धव, चूँकि भगवान् विष्णु के सेवक अन्यों की सेवा के लिए विचरण करते हैं, अतः यह उचित ही है कि आप उस आत्मज्ञान का वर्णन करें जिससे स्वयं भगवान् ने आपको प्रबुद्ध किया है।

तात्पर्य : भगवान् के सेवक वास्तव में समाज के सेवक होते हैं। मानव समाज को दिव्य ज्ञान में प्रबुद्ध बनाने के अतिरिक्त उनकी कोई रुचि नहीं होती। वे परमेश्वर से जीव के सम्बन्ध, उस दिव्य सम्बन्ध में कार्यकलाप तथा मानव जीवन के चरम उद्देश्य विषयक ज्ञान को प्रदान करने में रुचि लेते हैं। यही असली ज्ञान है, जो मानव कल्याण के असली लक्ष्य को प्राप्त करने में समाज की सहायता कर सकता है। खाने, सोने, संभोग करने तथा भयभीत रहने की शारीरिक आवश्यकताओं से सम्बन्धित ज्ञान उन्नति की विविध शाखाओं में रूपान्तरित होकर भी नश्वर होता है। जीव भौतिक शरीर नहीं, अपितु परम पुरुष का नित्य अंश है, अतः उसके आत्मज्ञान को पुनर्जागरित करना आवश्यक है। इस ज्ञान के बिना मानव-जीवन उलझन में पड़ जाता है। भगवान् विष्णु के सेवकों को यह उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य सौंपा गया है, अतः वे पृथ्वी पर तथा ब्रह्माण्ड के अन्य लोकों में विचरण करते हैं। इसप्रकार उद्धव को सीधे भगवान् से जो ज्ञान प्राप्त हुआ था वह मानव समाज में वितरण करने के योग्य है, विशेष रूप से विदुर जैसे पुरुषों में जो भगवद्भक्ति में अत्यधिक बढ़े-चढ़े हैं।

असली दिव्य ज्ञान भगवान् से उद्धव, उद्धव से विदुर और ऐसे ही आगे शिष्य-परम्परा द्वारा आगे-आगे उतरता जाता है। ऐसे परम दिव्य ज्ञान को उस अधूरी चिन्तन विधि से प्राप्त कर पाना सम्भव नहीं जैसाकि लौकिक झगड़ालू तथाकथित विद्वान् करते हैं। विदुर उद्धव से उस गुह्य ज्ञान को जानने के लिए उत्सुक थे, जो *परमां स्थितिम्* कहलाता है, जिसमें भगवान् अपनी दिव्य लीलाओं द्वारा जाने जाते हैं। यद्यपि विदुर उद्धव से बड़े थे, किन्तु आध्यात्मिक सम्बन्ध में वे उद्धव का सेवक बनने को उत्सुक थे। दिव्य शिष्य-परम्परा का यह सूत्र चैतन्य महाप्रभु ने भी सिखाया है। श्री चैतन्य महाप्रभु सलाह देते हैं कि मनुष्य को किसी से भी, चाहे ब्राह्मण हो या शूद्र, गृहस्थ हो या संन्यासी, दिव्य ज्ञान ग्रहण करना चाहिए बशर्ते कि वह व्यक्ति कृष्ण-विज्ञान में यथार्थ रूप में पटु हो। वस्तुतः, जो व्यक्ति कृष्ण-विज्ञान जानता है, वही प्रामाणिक गुरु है।

उद्धव उवाच
ननु ते तत्त्वसंराध्य ऋषिः कौषारवोऽन्तिके ।
साक्षाद्भगवतादिष्टो मर्त्यलोकं जिहासता ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

उद्धवः उवाच—उद्धव ने कहा; ननु—लेकिन; ते—तुम्हारा; तत्त्व-संराध्यः—दिव्य ज्ञान को ग्रहण करने के लिए पूजनीय; ऋषिः—विद्वान्; कौषारवः—कौषारु पुत्र (मैत्रेय) को; अन्तिके—निकट; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवता—भगवान् द्वारा; आदिष्टः—आदेश दिया गया; मर्त्य-लोकम्—मर्त्यलोक को; जिहासता—छोड़ते हुए।

श्री उद्धव ने कहा : आप महान् विद्वान ऋषि मैत्रेय से शिक्षा ले सकते हैं, जो पास ही में हैं और जो दिव्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए पूजनीय हैं। जब भगवान् इस मर्त्यलोक को छोड़ने वाले थे तब उन्होंने मैत्रेय को प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा दी थी।

तात्पर्य : कोई भले ही दिव्य विज्ञान में पारंगत क्यों न हो, उसे *मर्यादा-व्यतिक्रम* अर्थात् अपने से उच्च पुरुष की धृष्टता-पूर्वक अवमानना के अपराध के विषय में सतर्क रहना चाहिए। शास्त्रों के आदेशानुसार मनुष्य को *मर्यादा-व्यतिक्रम* नियम का उल्लंघन करने के प्रति अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से उसकी आयु, उसका ऐश्वर्य, यश तथा पुण्य और सारे जगत के शुभाशीषों का विनाश होता है। दिव्य ज्ञान में पारंगत होने के लिए आध्यात्मिक विज्ञान की तकनीकों के प्रति जानकारी होना आवश्यक है। दिव्य ज्ञान की इन सारी बारीकियों से भलीभाँति परिचित होने के कारण उद्धव ने विदुर को सलाह दी कि दिव्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए वे मैत्रेय ऋषि के पास जाँए।

विदुर उद्धव को अपना गुरु मानना चाहते थे, किन्तु उद्धव ने यह पद स्वीकार नहीं किया, क्योंकि विदुर उद्धव के पिता जितनी उम्र के थे, अतएव उद्धव उन्हें शिष्य रूप में स्वीकार नहीं कर सकते थे, विशेष रूप से जब मैत्रेय पास में ही उपस्थित थे। नियम यह है कि अपने से बड़े पुरुष की उपस्थिति में उपदेश देने के लिए किसी को उत्सुक नहीं होना चाहिए चाहे कोई कितना ही दक्ष तथा निष्णात क्यों न हो। इसलिए उद्धव ने विदुर-जैसे वयोवृद्ध व्यक्ति को एक अन्य वयोवृद्ध व्यक्ति मैत्रेय के पास भेजने का निर्णय लिया। वे भी निष्णात थे, क्योंकि भगवान् ने मर्त्यलोक से प्रयाण करते समय उन्हें भी स्वयं उपदेश दिया था। चूँकि उद्धव तथा मैत्रेय दोनों ही को सीधे भगवान् ने उपदेश दिया था, अतएव दोनों को विदुर का या अन्य किसी का गुरु बनने का अधिकार था। किन्तु वयोवृद्ध होने के कारण मैत्रेय को विदुर का गुरु बनने का पहला अधिकार था, क्योंकि विदुर आयु में उद्धव से काफी बड़े थे। किसी

मनुष्य को लाभ तथा यश के लिए सस्ता आध्यात्मिक गुरु बनने के लिए उत्सुक नहीं होना चाहिए, अपितु केवल भगवान् की सेवा के निमित्त ही गुरु बनना चाहिए। भगवान् कभी भी *मर्यादा-व्यतिक्रम* की धृष्टता को सहन नहीं करते। मनुष्य को चाहिए कि अपने निजी लाभ तथा यश के लिए वयोवृद्ध गुरुओं को प्राप्य सम्मान में ऊपर-चढ़ी न करे। छद्म गुरु के लिए ढिठाई करना आध्यात्मिक साक्षात्कार में प्रगति के लिए अत्यन्त घातक है।

श्रीशुक उवाच
इति सह विदुरेण विश्वमूर्ते-
र्गुणकथया सुधया प्लावितोरुतापः ।
क्षणमिव पुलिने यमस्वसुस्तां
समुषित औपगविर्निशां ततोऽगात् ॥ २७॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; सह—साथ; विदुरेण—विदुर के; विश्व-मूर्तेः—विराट पुरुष का; गुण-कथया—दिव्य गुणों की बातचीत के दौरान; सुधया—अमृत के तुल्य; प्लावित-उरु-तापः—अत्यधिक कष्ट से अभिभूत; क्षणम्—क्षण; इव—सदृश; पुलिने—तट पर; यमस्वसुः ताम्—उस यमुना नदी के; समुषितः—बिताया; औपगविः—औपगव का पुत्र (उद्धव); निशाम्—रात्रि; ततः—तत्पश्चात्; अगात्—चला गया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, इस तरह यमुना नदी के तट पर विदुर से (भगवान् के) दिव्य नाम, यश, गुण इत्यादि की चर्चा करने के बाद उद्धव अत्यधिक शोक से अभिभूत हो गये। उन्होंने सारी रात एक क्षण की तरह बिताई। तत्पश्चात् वे वहाँ से चले गये।

तात्पर्य : यहाँ पर कृष्ण के लिए *विश्वमूर्ति* शब्द का प्रयोग हुआ है। उद्धव तथा विदुर दोनों ही भगवान् कृष्ण के प्रयाण से अत्यधिक दुखी थे। वे भगवान् के दिव्य नाम, यश तथा गुणों के बारे में जितनी अधिक चर्चा करते गये उतना ही उन्हें भगवान् का चित्र सर्वत्र दृष्टिगोचर होने लगा। भगवान् के दिव्य स्वरूप का ऐसा मानस-दर्शन न तो मिथ्या है न काल्पनिक, अपितु वास्तविक परम सत्य है। जब भगवान् को विश्वमूर्ति के रूप में देखा जाता है, तो वे न तो अपना व्यक्तित्व खोते हैं न ही अपना दिव्य नित्य स्वरूप, अपितु वे सर्वत्र उसी रूप में दृष्टिगोचर होते हैं।

राजोवाच
निधनमुपगतेषु वृष्णिभोजे-
ष्वधिरथयूथपयूथपेषु मुख्यः ।

स तु कथमवशिष्ट उद्धवो यद्
धरिरपि तत्यज आकृतिं त्र्यधीशः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने पूछा; निधनम्—विनाश; उपगतेषु—हो जाने पर; वृष्णि—वृष्णिवंश; भोजेषु—भोजवंश का; अधिरथ—महान् सेनानायक; यूथ-प—मुख्य सेनानायक; यूथ-पेषु—उनके बीच; मुख्यः—प्रमुख; सः—वह; तु—केवल; कथम्—कैसे; अवशिष्टः—बचा रहा; उद्धवः—उद्धव; यत्—जबकि; हरिः—भगवान् ने; अपि—भी; तत्यजे—समाप्त किया; आकृतिम्—सम्पूर्ण लीलाएँ; त्रि-अधीशः—तीनों लोकों के स्वामी।

राजा ने पूछा : तीनों लोकों के स्वामी श्रीकृष्ण की लीलाओं के अन्त में तथा उन वृष्णि एवं भोज वंशों के सदस्यों के अन्तर्धान होने पर, जो महान् सेनानायकों में सर्वश्रेष्ठ थे, अकेले उद्धव क्यों बचे रहे?

तात्पर्य : श्री जीव गोस्वामी के अनुसार *निधनम्* का अर्थ है भगवान् का दिव्य धाम। *नि* का अर्थ है सर्वोच्च तथा *धनम्* का अर्थ हैं ऐश्वर्य। चूँकि भगवान् का धाम दिव्य ऐश्वर्य की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है, अतएव उनके धाम को *निधनम्* कहा जा सकता है। व्याकरणिक स्पष्टीकरण के अतिरिक्त *निधनम्* शब्द का असली उद्देश्य यह सूचित करना है कि वृष्णि तथा भोज कुलों के सारे सदस्य भगवान् के प्रत्यक्ष संगी थे और भगवान् की लीलाओं की समाप्ति पर उन संगियों को दिव्यधाम में उनके अपने-अपने पदों पर भेज दिया गया था।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *आकृतिम्* शब्द का अर्थ लीलाओं के रूप में किया है। *आ* का अर्थ है पूर्ण और *कृतिम्* का अर्थ दिव्य लीलाएँ है। चूँकि भगवान् अपने दिव्य शरीर से अभिन्न हैं, अतएव उनके शरीर के बदलने या त्यागने का प्रश्न ही नहीं है। भौतिक जगत के रीति-रिवाजों और नियमों के अनुसार कर्म करने के लिए भगवान् जन्म धारण करते या शरीर-त्याग करते हैं, किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त वास्तविकता से सुपरिचित होते हैं। इसलिए *श्रीमद्भागवत* के गम्भीर अध्येताओं के लिए आवश्यक है कि वे जीव गोस्वामी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती जैसे महान् आचार्यों की टीका-टिप्पणियों का अनुसरण करें। अन्य लोग, जो कि भगवद्भक्त नहीं हैं, उनके लिए ऐसे आचार्यों की टीकाएँ एवं व्याख्याएँ व्याकरणिक वाग्जाल प्रतीत हो सकती हैं, किन्तु शिष्य-परम्परा का अनुसरण करने वाले छात्रों के लिए महान् आचार्यों की व्याख्याएँ अत्यन्त उपयुक्त हैं।

उपगतेषु शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। वृष्णि तथा भोज कुलों के सारे सदस्य सीधे भगवान् के धाम पहुँच गये। अन्य भक्तगण भगवद्धाम सीधे नहीं पहुँचते, किन्तु भगवान् के शुद्ध संगियों को भौतिक

जगत के किसी भी लोक के ऐश्वर्य के प्रति कोई आकर्षण नहीं होता। कभी-कभी जिज्ञासा-वश भगवद्धाम पहुँचने वाले कुछ भक्तों का पृथ्वी के ऊपर के उच्चतर लोकों के ऐश्वर्य के प्रति कुछ आकर्षण होता है, अतएव सिद्धि प्राप्त करते समय वे उन्हें देखने की इच्छा करते हैं। किन्तु वृष्णियों तथा भोजों को सीधे ही वहाँ भेज दिया गया, क्योंकि उन्हें भौतिक लोकों के प्रति कोई आकर्षण नहीं था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर भी सुझाव देते है कि *अमरकोश* के अनुसार *आकृति* का अर्थ 'संकेत'' भी है। भगवान् कृष्ण ने अपने प्रयाण के पश्चात् संकेत द्वारा उद्धव को बदरिकाश्रम जाने का आदेश दिया और शुद्ध भक्त होने से उद्धव ने भगवद्धाम वापस जाने की अपेक्षा अधिक श्रद्धापूर्वक उस आदेश का पालन किया। पृथ्वी के धरातल से भगवान् के प्रयाण के बाद भी उनके अकेले रहते जाने का यही कारण था।

श्रीशुक उवाच
ब्रह्मशापापदेशेन कालेनामोघवाञ्छितः ।
संहृत्य स्वकुलं स्फीतं त्यक्ष्यन्देहमचिन्तयत् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; ब्रह्म-शाप—ब्रह्मणों द्वारा शाप दिया जाना; अपदेशेन—बहाने से; कालेन—नित्य काल द्वारा; अमोघ—अचूक; वाञ्छितः—ऐसा चाहने वाला; संहृत्य—बन्द करके; स्व-कुलम्—अपने परिवार को; स्फीतम्—असंख्य; त्यक्ष्यन्—त्यागने के बाद; देहम्—विश्व रूप को; अचिन्तयत्—अपने आप में सोचा।

शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया : हे प्रिय राजन्, ब्राह्मण का शाप तो केवल एक बहाना था, किन्तु वास्तविक तथ्य तो भगवान् की परम इच्छा थी। वे अपने असंख्य पारिवारिक सदस्यों को भेज देने के बाद पृथ्वी के धरातल से अन्तर्धान हो जाना चाहते थे। उन्होंने अपने आप इस तरह सोचा।

तात्पर्य : इस श्लोक में श्रीकृष्ण द्वारा अपना शरीर परित्याग करने के सम्बन्ध में *त्यक्ष्यन्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। चूँकि वे सच्चिदानन्द विग्रह हैं, अत: उनका शरीर तथा उनकी आत्मा अभिन्न हैं। अतएव यह कैसे सम्भव हो सकता है कि वे अपना शरीर त्यागें और तब इस जगत की दृष्टि से ओझल हों? भगवान् के रहस्यमय तिरोधान के विषय में अभक्तों या मायावादियों के बीच अत्यधिक विवाद है और अल्पज्ञों की शंकाओं को श्रील जीव गोस्वामी ने अपने *कृष्ण सन्दर्भ* में विस्तार से स्पष्ट किया है।

ब्रह्म-संहिता के अनुसार भगवान् के अनेक स्वरूप हैं। उसमें कहा गया है कि भगवान् के असंख्य

रूप हैं और जब वे जीवों की दृष्टि के अन्तर्गत प्रकट होते हैं जैसाकि भगवान् कृष्ण वास्तव में प्रकट हुए, तो ये सारे स्वरूप उनमें मिल जाते हैं। इन अच्युत रूपों के अतिरिक्त उनका विश्वरूप है, जिसे उन्होंने कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन के समक्ष प्रकट किया। इस श्लोक में *स्फीतम्* शब्द भी प्रयुक्त हुआ है, जो यह संकेत करता है कि उन्होंने अपने *विराट् रूप* का परित्याग किया, अपने आदि नित्य रूप का नहीं, क्योंकि उनके सच्चिदानन्द स्वरूप के बदलने की कोई सम्भावना नहीं है। भगवान् के भक्तगण इस सरल ज्ञान से तुरन्त अवगत हो जाते हैं, किन्तु जो अभक्त हैं और भगवान् की कोई भक्ति भक्तिमय सेवा नहीं करते, वे या तो इस सरल तथ्य को समझते नहीं या जान बूझकर भगवान् के दिव्य शरीर की नित्यता को झुठलाने के लिए विवाद खड़ा करते हैं। यह उस दोष के कारण है, जिसे अपूर्ण जीवों को ठगने की प्रवृति कहते हैं।

व्यावहारिक अनुभव से भी आज तक यह देखा जाता है कि भगवान् के दिव्य स्वरूप की पूजा भक्तों द्वारा विभिन्न मन्दिरों में की जाती है और भगवान् के सारे भक्त यथार्थ के रूप में अनुभव करते हैं कि मन्दिर में अर्चाविग्रह का स्वरूप भगवान् के स्वरूप से अभिन्न है। भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के इस अचिन्त्य कार्य का वर्णन *भगवद्गीता* (७.२५) में किया गया है—*नाहं प्रकाश: सर्वस्य योगमायासमावृत: ।* भगवान् को यह अधिकार है कि वे सबों के समक्ष प्रकट न हों। *पद्म पुराण* में कहा गया है—*अत: श्रीकृष्ण नामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियै: ।* भगवान् का नाम तथा रूप भौतिक इन्द्रियों द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता। किन्तु जब वे संसारी लोगों को दृष्टिगोचर होते हैं, तो वे *विराट् रूप* धारण कर लेते हैं। यह स्वरूप का अतिरिक्त भौतिक प्रदर्शन है और विशेष्य तथा इसके विशेषणों के तर्क द्वारा मान्य है। व्याकरण में जब किसी विशेषण का विशेष्य अलग कर दिया जाता है, तो इसके द्वारा विशेषित विशेष्य बदलता नहीं। इसी तरह जब भगवान् अपना विराट् रूप त्यागते हैं, तो उनका नित्य रूप बदलता नहीं, यद्यपि उनमें तथा उनके असंख्य रूपों में से किसी एक में कोई अन्तर नहीं है। पंचम स्कन्ध में यह देखने को मिलेगा कि किस तरह विभिन्न लोकों में अब भी भगवान् की पूजा विभिन्न रूपों में की जाती है और इस पृथ्वी पर भी विभिन्न मन्दिरों में किस तरह उनकी पूजा की जाती है।

श्रील जीव गोस्वामी तथा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अपनी टीकाओं में वैदिक साहित्य के

विभिन्न प्रामाणिक संस्करणों से उद्धरण देते हुए भगवान् के तिरोधान की इस घटना की विस्तृत व्याख्या दी है। इस ग्रन्थ की आकार-वृद्धि के भय से हम जानबूझकर उन सबों को यहाँ समाविष्ट नहीं कर रहे हैं। यह सारा प्रसंग *भगवद्गीता* में विवेचित है जैसाकि ऊपर उद्धरण दिया गया है; भगवान् को अधिकार है कि वे हर एक के समक्ष प्रकट न हों। वे उन अभक्तों की दृष्टि से, जो प्रेम तथा भक्ति से विहीन हैं, अपने को सदैव दूर रखते हैं और इस तरह उन्हें अपने से अधिकाधिक दूर करते जाते हैं। ब्रह्मा के अनुरोध पर भगवान् प्रकट हुए थे, क्योंकि उन्होंने क्षीरोदकशायी विष्णु के समक्ष प्रार्थना की थी, अतएव जब भगवान् प्रकट हुए तो विष्णु के सारे रूप उन्हीं में मिल गये और जब उद्देश्य पूरा हो गया तो वे यथासमय उनसे विलग हो गये।

अस्माल्लोकादुपरते मयि ज्ञानं मदाश्रयम् ।
अर्हत्युद्धव एवाद्धा सम्प्रत्यात्मवतां वरः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अस्मात्—इस (ब्रह्माण्ड) से; लोकात्—पृथ्वी से; उपरते—ओझल होने पर; मयि—मेरे विषय के; ज्ञानम्—ज्ञान; मत्-आश्रयम्—मुझसे सम्बन्धित; अर्हति—योग्य होता है; उद्धवः—उद्धव; एव—निश्चय ही; अद्धा—प्रत्यक्षतः; सम्प्रति—इस समय; आत्मवताम्—भक्तों में; वरः—सर्वोपरि।

अब मैं इस लौकिक जगत की दृष्टि से ओझल हो जाऊँगा और मैं समझता हूँ कि मेरे भक्तों में अग्रणी उद्धव ही एकमात्र ऐसा है, जिसे मेरे विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से सौंपा जा सकता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *ज्ञानं मद्-आश्रयम्* महत्त्वपूर्ण है। दिव्य ज्ञान के तीन विभाग हैं—निर्विशेष ब्रह्म का ज्ञान, सर्वव्यापक परमात्मा का ज्ञान तथा भगवान् का ज्ञान। इन तीनों में से भगवान् के दिव्य ज्ञान का विशेष महत्त्व है और यह *भगवत्-तत्त्व-विज्ञान* कहलाता है। यह विशिष्ट ज्ञान शुद्ध भक्ति द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, अन्य किसी साधन द्वारा नहीं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१८-५५) में हुई है—*भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः*—एकमात्र भक्तिमय सेवा में लगे व्यक्ति ही भगवान् की दिव्य स्थिति को ठीक से जान सकते हैं। उद्धव उस काल के भक्तों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे, अतएव भगवत्कृपा से उन्हें सीधे उपेदश दिया गया जिससे इस जगत की दृष्टि से भगवान् के ओझल हो जाने के बाद लोग उद्धव के ज्ञान का लाभ उठा सकें। उद्धव को बदरिकाश्रम जाने के लिए, जहाँ

भगवान् नर-नारायण अर्चाविग्रह के रूप में स्थित हैं, सलाह दिये जाने के कारणों में से यह एक कारण है। जो मनुष्य आध्यात्मिक रूप से अग्रणी है, वह मन्दिर-अर्चाविग्रह से प्रत्यक्ष प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। इस तरह भगवद्भक्त सदैव दिव्य ज्ञान में भगवत्कृपा से उल्लेखनीय प्रगति करने के लिए भगवान् के मान्यता प्राप्त मन्दिर की शरण ग्रहण करता है।

नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः ।
अतो मद्वयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठतु ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; उद्धवः—उद्धव; अणु—रंचभर; अपि—भी; मत्—मुझसे; न्यूनः—घटकर; यत्—क्योंकि; गुणैः—प्रकृति के गुणों के द्वारा; न—न तो; अर्दितः—प्रभावित; प्रभुः—स्वामी; अतः—इसलिए; मत्-वयुनम्—मेरा (भगवान् का) ज्ञान; लोकम्—संसार; ग्राहयन्—प्रसार करने के लिए; इह—इस संसार में; तिष्ठतु—रहता रहे।

उद्धव किसी भी तरह मुझसे घटकर नहीं है, क्योंकि वह प्रकृति के गुणों द्वारा कभी भी प्रभावित नहीं हुआ है। अतएव भगवान् के विशिष्ट ज्ञान का प्रसार करने के लिए वह इस जगत में रहता रहे।

तात्पर्य : भगवान् का प्रतिनिधि बनने के लिए जिस विशिष्ट योग्यता की आवश्यकता होती है, वह है : प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहना। भौतिक जगत में मनुष्य की सर्वोच्च योग्यता ब्राह्मण बनना है। किन्तु, चूँकि ब्राह्मण सतोगुणी होता है, अतः ब्राह्मण होना ही भगवान् का प्रतिनिधि बनने के लिए पर्याप्त नहीं है। मनुष्य को सतोगुण को भी लाँघ कर शुद्ध सत्त्व में स्थित होना पड़ता है, जो प्रकृति के किसी भी गुण से प्रभावित नहीं होता है। दिव्य योग्यता की यह अवस्था *शुद्ध सत्त्व* या *वसुदेव* कहलाती है और इस अवस्था में ईश-विज्ञान की अनुभूति की जा सकती है। जिस तरह भगवान् प्रकृति के गुणों से प्रभावित नहीं होते उसी तरह भगवान् का शुद्ध भक्त भी प्रकृति के गुणों से प्रभावित नहीं होता। भगवान् से तादात्म्य होने की यह प्राथमिक योग्यता है। जो व्यक्ति इस दिव्य योग्यता को प्राप्त कर लेता है, वह *जीवन्मुक्त* कहलाता है, यद्यपि वह भौतिक अवस्था में रहता है। यह मुक्ति उसे प्राप्त होती है, जो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर लगा रहता है। *भक्तिरसामृत-सिन्धु* (१.२.१८७) में कहा गया है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

"जो कोई भी अपने कार्यों, मन तथा वाणी से एकमात्र भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति के लिए जीता है, वह निश्चय ही मुक्तात्मा है, भले ही वह इस जगत की भौतिक संसार की अवस्था में प्रतीत होता हो।" उद्धव ऐसे ही दिव्य पद को प्राप्त थे, इसीलिए उन्हें इस जगत की दृष्टि से भगवान् की शारीरिक अनुपस्थिति में भगवान् का वास्तविक प्रतिनिधि चुना गया था। ऐसा भगवद्भक्त भौतिक शक्ति, बुद्धि या वैराग्य से भी कभी प्रभावित नहीं होता। भगवान् का ऐसा भक्त भौतिक प्रकृति के समस्त आघातों को सह सकता है और इसीलिए वह *गोस्वामी* कहलाता है। ऐसे गोस्वामी ही भगवान् के दिव्य प्रेममय सम्बन्धों के रहस्यों का भेदन कर सकते हैं।

एवं त्रिलोकगुरुणा सन्दिष्टः शब्दयोनिना ।
बदर्याश्रममासाद्य हरिमीजे समाधिना ॥ ३२॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; त्रि-लोक—तीनों जगत के; गुरुणा—गुरु द्वारा; सन्दिष्टः—ठीक से शिक्षा दी जाकर; शब्द-योनिना—जो समस्त वैदिक ज्ञान का स्रोत है उसके द्वारा; बदर्याश्रमम्—बदरिकाश्रम के तीर्थस्थान में; आसाद्य—पहुँचकर; हरिम्—भगवान् को; ईजे—तुष्ट किया; समाधिना—समाधि द्वारा।.

शुकदेव गोस्वामी ने राजा को सूचित किया कि इस तरह समस्त वैदिक ज्ञान के स्रोत और तीनों लोकों के गुरु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा उपदेश दिये जाने पर उद्धव बदरिकाश्रम तीर्थस्थल पहुँचे और भगवान् को तुष्ट करने के लिए उन्होंने अपने को समाधि में लगा दिया।

तात्पर्य : वस्तुतः भगवान् श्रीकृष्ण तीनों लोकों के गुरु हैं और वे समस्त वैदिक ज्ञान के आदि उद्गम हैं। किन्तु परम सत्य के साकार रूप को वेदों के द्वारा भी समझ पाना अत्यन्त कठिन है। परम सत्य के रूप में भगवान् को समझ पाने के लिए उनके निजी उपदेशों की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे दिव्य ज्ञान का प्रमाण सार रूप में *भगवद्गीता* है। परमेश्वर को कोई तब तक नहीं जान सकता जब तक भगवान् स्वयं कृपा न करें। भगवान् कृष्ण ने यह विशेष कृपा अर्जुन तथा उद्धव पर प्रकट की जब वे इस भौतिक जगत में थे।

निस्सन्देह, भगवान् द्वारा *भगवद्गीता* का प्रवचन कुरुक्षेत्र युद्धस्थल में अर्जुन को युद्ध के प्रति प्रोत्साहित करने के लिए हुआ था। फिर भी *भगवद्गीता* के दिव्य ज्ञान को पूर्ण बनाने के लिए भगवान्

ने उद्धव को उपदेश दिया। भगवान् की इच्छा थी कि उद्धव उनके मिशन को पूरा करें तथा जो ज्ञान *भगवद्गीता* में भी नहीं दिया गया उस ज्ञान का प्रसार करें। जो लोग वेदों के वचनों के प्रति आसक्त रहते हैं, वे भी इस श्लोक से यह जान सकते हैं कि भगवान् समस्त वैदिक ज्ञान के स्रोत हैं। जो व्यक्ति वेदों के पृष्ठों का अध्ययन करने के बाद भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को नहीं समझ पाते वे भगवान् विषयक ज्ञान में आगे बढ़ने के उद्देश्य से उद्धव जैसे किसी भगवद्भक्त की शरण ग्रहण कर सकते हैं। *ब्रह्म-संहिता* का कथन है कि वेदों से भगवान् को समझ पाना अत्यन्त कठिन है, किन्तु उद्धव जैसे शुद्ध भक्त से उन्हें आसानी से समझा जा सकता है। भगवान् ने बदरिकाश्रम में रहने वाले महर्षियों पर कृपा करके उद्धव को अपनी ओर से बोलने के लिए अधिकृत किया। ऐसा अधिकार प्राप्त किये बिना न तो कोई व्यक्ति भगवद्भक्ति को समझ सकता है न ही उसका उपदेश दे सकता है।

जब भगवान् इस धरा पर विद्यमान थे तो उन्होंने अन्तरिक्ष की भी यात्रा करके स्वर्ग से पारिजात लाने तथा अपने गुरु (सान्दीपनि मुनि) के पुत्र को यमलोक से वापस लाने जैसे बहुत से असामान्य कार्यकलाप सम्पन्न किये। उद्धव को निश्चित रूप से अन्य लोकों में जीवन की स्थितयों के विषय में बतलाया गया था और सारे ऋषि उन लोकों के बारे में जानने के लिए उसी तरह उत्सुक थे जिस तरह हम अन्तरिक्ष के ग्रहों के विषय में जानने के लिए उत्सुक रहते हैं। उद्धव को यह संदेश बदरिकाश्रम को ले जाने के लिए, न केवल उस तीर्थस्थल के ऋषियों के लिए, अपितु नर-नारायण अर्चाविग्रहों के लिए भी विशेष रूप से नियुक्त किया गया था। ऐसा सन्देश वेदों के पृष्ठों में वर्णित ज्ञान की अपेक्षा अधिक गुह्य रहा होगा।

भगवान् निस्सन्देह समस्त ज्ञान के स्रोत हैं और उद्धव के माध्यम से नर-नारायण तथा अन्य ऋषियों के पास भेजे गये सन्देश भी वैदिक ज्ञान के अंश थे, किन्तु वे अधिक गुह्य थे और वे एकमात्र उद्धव जैसे शुद्ध भक्त के माध्यम से ही भेजे या समझे जा सकते थे। चूँकि ऐसा गुह्य ज्ञान केवल भगवान् तथा उद्धव को ही ज्ञात था, अतएव यह कहा जाता है कि उद्धव स्वयं भगवान् के सदृश थे। उद्धव की ही तरह हरेक जीव भी भगवान् के ही स्तर पर दिव्य सन्देशवाहक बन सकता है बशर्ते कि वह प्रेमाभक्ति के द्वारा स्वयं विश्वस्त हो ले। ऐसा गुह्य ज्ञान उद्धव तथा अर्जुन जैसे शुद्ध भक्तों को ही सौंपा जाता है, जैसी कि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है और मनुष्य को उन्हीं से यह रहस्य सीखना होता

है, अन्य उपाय से नहीं। *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* को भगवान् के ऐसे विश्वस्त भक्तों की सहायता के बिना नहीं समझा जा सकता। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार वह गुह्य सन्देश अवश्य ही भगवान् के प्रयाण के रहस्य तथा इस लोक में उनके प्राकट्य के एक सौ वर्षों बाद उनके वंश के संहार के विषय में जानने से सम्बन्धित रहा होगा। हर व्यक्ति यदुवंश के संहार के रहस्य को जानने के लिए अतीव उत्सुक रहा होगा और वह संदेश भगवान् द्वारा उद्धव को बतलाया गया होगा तथा नर-नारायण एवं अन्य शुद्ध भगवद्भक्तों की जानकारी के लिए बदरिकाश्रम भेजा गया होगा।

विदुरोऽप्युद्धवाच्छ्रुत्वा कृष्णस्य परमात्मनः ।
क्रीडयोपात्तदेहस्य कर्माणि श्लाघितानि च ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

विदुरः—विदुर; अपि—भी; उद्धवात्—उद्धव के स्रोत से; श्रुत्वा—सुनकर; कृष्णस्य—भगवान् कृष्ण का; परम-आत्मनः—परमात्मा का; क्रीडया—मर्त्यलोक में लीलाओं के लिए; उपात्त—असाधारण रूप से स्वीकृत; देहस्य—शरीर के; कर्माणि—दिव्य कर्म; श्लाघितानि—अत्यन्त प्रशंसनीय; च—भी।

विदुर ने उद्धव से इस मर्त्यलोक में परमात्मा अर्थात् भगवान् कृष्ण के आविर्भाव तथा तिरोभाव के विषय में भी सुना जिसे महर्षिगण बड़ी ही लगन के साथ जानना चाहते हैं।

तात्पर्य : परमात्मा अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण के आविर्भाव तथा तिरोभाव का विषय महर्षियों तक के लिए रहस्य बना हुआ है। इस श्लोक में *परमात्मनः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। सामान्य जीव प्रायः आत्मा कहलाता है, किन्तु भगवान् कृष्ण कभी भी सामान्य जीव नहीं हैं, क्योंकि वे *परमात्मा* हैं। फिर भी मनुष्य के रूप में उनका आविर्भाव तथा इस मर्त्यलोक से पुनः उनका तिरोभाव उन शोधार्थियों के लिए शोध का विषय है, जो बड़ी ही लगन के साथ शोधकार्य करते हैं। ऐसे विषय निश्चय ही अधिकाधिक रोचक हैं, क्योंकि शोधार्थियों को भगवान् का दिव्य धाम खोजना होता है, जिसमें भगवान् मर्त्यलोक की लीलाएँ समाप्त करने के बाद प्रवेश करते हैं। किन्तु महर्षियों तक को कोई जानकारी नहीं है कि इस भौतिक आकाश के परे आध्यात्मिक आकाश है जहाँ श्रीकृष्ण अपने संगियों समेत नित्य निवास करते हैं यद्यपि, उसी के साथ-साथ, वे सारे ब्रह्माण्डों में बारी-बारी से अपनी मर्त्यलोक की लीलाएँ प्रदर्शित करते रहते हैं। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (५.३७)में हुई है—*गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः*—भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्ति से अपने नित्य धाम गोलोक में रहते हैं फिर भी

साथ-साथ परमात्मा रूप में वे सर्वत्र—आध्यात्मिक तथा भौतिक आकाशों में—अपने विविध रूपों द्वारा विद्यमान रहते हैं। अतएव उनके आविर्भाव तथा तिरोभाव साथ-साथ चलते रहते हैं और कोई भी निश्चित रूप से यह नहीं कह सकता कि उनमें से कौनसा अथ है और कौनसा इति है। उनकी नित्य लीलाओं का कोई आदि-अन्त नहीं है। उन्हें शुद्ध भक्त से ही जाना जा सकता है, अत: तथाकथित शोधकार्य में मूल्यवान समय नष्ट नहीं किया जाना चाहिए।

देहन्यासं च तस्यैवं धीराणां धैर्यवर्धनम् ।
अन्येषां दुष्करतरं पशूनां विक्लवात्मनाम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

देह-न्यासम्—शरीर में प्रवेश; च—भी; तस्य—उसका; एवम्—भी; धीराणाम्—महर्षियों का; धैर्य—धीरज; वर्धनम्—बढ़ाते हुए; अन्येषाम्—अन्यों के लिए; दुष्कर-तरम्—निश्चित कर पाना अत्यन्त कठिन; पशूनाम्—पशुओं के; विक्लव—बेचैन; आत्मनाम्—ऐसे मन का।

भगवान् के यशस्वी कर्मों तथा मर्त्यलोक में असाधारण लीलाओं को सम्पन्न करने के लिए उनके द्वारा धारण किये जाने वाले विविध दिव्य रूपों को समझ पाना उनके भक्तों के अतिरिक्त अन्य किसी के लिए अत्यन्त कठिन है और पशुओं के लिए तो वे मानसिक विक्षोभ मात्र हैं।

तात्पर्य : भगवान् के दिव्य स्वरूपों तथा लीलाओं का *भगवद्गीता* में जिस रूप में वर्णन हुआ है अभक्तों के लिए उन्हें समझ पाना कठिन कार्य है। भगवान् कभी भी *ज्ञानियों* तथा *योगियों* जैसे व्यक्तियों के समक्ष अपने को उद्घाटित नहीं करते। कुछ अन्य लोग भी हैं जिनकी गणना हृदय की गहराई से भगवान् से ईर्ष्या करने के कारण पशुओं में की जाती है। ऐसे ईर्ष्यालु पशुओं के लिए भगवान् के आविर्भाव तथा तिरोधान का विषय केवल मानसिक विक्षोभ है। जैसी कि *भगवद्गीता* (७.१५) में पुष्टि की गई है, ऐसे दुर्जन जिन्हें मात्र भौतिक भोग की ही चिन्ता रहती है, जो भारवाही पशुओं की तरह कठिन श्रम करते हैं, *आसुरिक-भाव* के कारण किसी भी अवस्था में भगवान् को नहीं जान पाते।

मर्त्यलोक में अपनी लीलाओं के लिए भगवान् द्वारा प्रदर्शित दिव्य शारीरिक अंशों तथा ऐसे दिव्य अंशों का आविर्भाव तथा तिरोभाव कठिन विषय हैं और जो लोग भक्त नहीं हैं उन्हें सलाह दी जाती है कि वे भगवान् के आविर्भाव तथा तिरोधान भाव की चर्चा न करें अन्यथा वे भगवान् के चरणकमलों

पर और अधिक अपराध कर सकते हैं। वे आसुरी भाव से भगवान् के दिव्य आविर्भाव तथा तिरोभाव के विषय में जितनी ही अधिक चर्चा करेंगे उतना ही अधिक वे नरक के गहनतम भागों में प्रवेश करेंगे जैसाकि *भगवद्गीता* (१६.२०) में कहा गया है। जो भी व्यक्ति भगवान् की दिव्य प्रेम-युक्त सेवाभाव के विरुद्ध है, वह न्यूनाधिक पशु है, जिसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक में हुई है।

आत्मानं च कुरुश्रेष्ठ कृष्णेन मनसेक्षितम् ।
ध्यायन्गते भागवते रुरोद प्रेमविह्वलः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—स्वयं; च—भी; कुरु-श्रेष्ठ—हे कुरुओं में श्रेष्ठ; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; मनसा—मन से; ईक्षितम्—स्मरण किया गया; ध्यायन्—इस तरह सोचते हुए; गते—चले जाने पर; भागवते—भक्त के; रुरोद—जोर से चिल्लाया; प्रेम-विह्वलः—प्रेमभाव से अभिभूत हुआ।

यह सुनकर कि (इस जगत को छोड़ते समय) भगवान् कृष्ण ने उनका स्मरण किया था, विदुर प्रेमभाव से अभिभूत होकर जोर-जोर से रो पड़े।

तात्पर्य : जब विदुर जान पाये कि अन्तिम समय पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण ने उनका स्मरण किया था, तो वे प्रेमभाव से अभिभूत हो उठे। यद्यपि वे अपने को नगण्य मानते थे, फिर भी भगवान् ने अपनी अहैतुकी कृपावश उनका स्मरण किया। विदुर ने इसे महान् कृपा के रूप में स्वीकार किया, इसीलिए वे रो पड़े। ऐसा रोना भक्ति-मार्ग में अग्रसर होने का अंतिम संकेत है। जो व्यक्ति प्रेमवश भगवान् के लिए चिल्ला सकता है, वह भक्तिमय सेवा के मार्ग में निश्चय ही सफल है।

कालिन्द्याः कतिभिः सिद्ध अहोभिर्भरतर्षभ ।
प्रापद्यत स्वःसरितं यत्र मित्रासुतो मुनिः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

कालिन्द्याः—यमुना के तट पर; कतिभिः—कुछ; सिद्धे—बीत जाने पर; अहोभिः—दिन; भरत-ऋषभ—हे भरत वंश में श्रेष्ठ; प्रापद्यत—पहुँचा; स्वः-सरितम्—स्वर्ग की गंगा नदी; यत्र—जहाँ; मित्रा-सुतः—मित्र का पुत्र; मुनिः—मुनि।

यमुना नदी के तट पर कुछ दिन बिताने के बाद स्वरूपसिद्ध आत्मा विदुर गंगा नदी के तट पर पहुँचे जहाँ मैत्रेय मुनि स्थित थे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत 'विदुर का मैत्रेय के पास जाना'' नामक चौथे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पाँच

मैत्रेय से विदुर की वार्ता

श्रीशुक उवाच
द्वारि द्युनद्या ऋषभः कुरूणां
मैत्रेयमासीनमगाधबोधम् ।
क्षत्तोपसृत्याच्युतभावसिद्धः
पप्रच्छ सौशील्यगुणाभितृप्तः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; द्वारि—उद्गम पर; द्यु-नद्याः—स्वर्गलोक की गंगा नदी; ऋषभः—श्रेष्ठ; कुरूणाम्—कुरुओं के; मैत्रेयम्—मैत्रेय से; आसीनम्—बैठे हुए; अगाध-बोधम्—अगाध ज्ञान का; क्षत्ता—विदुर ने; उपसृत्य—पास आकर; अच्युत—अच्युत भगवान्; भाव—चरित्र; सिद्धः—पूर्ण; पप्रच्छ—पूछा; सौशील्य—सुशीलता; गुण-अभितृप्तः—दिव्य गुणों से तृप्त।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह कुरुवंशियों में सर्वश्रेष्ठ विदुर, जो कि भगवद्भक्ति में परिपूर्ण थे, स्वर्ग लोक की नदी गंगा के उद्गम (हरद्वार) पहुँचे जहाँ विश्व के अगाध विद्वान महामुनि मैत्रेय आसीन थे। भद्रता से ओत-प्रोत में पूर्ण तथा अध्यात्म में तुष्ट विदुर ने उनसे पूछा।

तात्पर्य : विदुर पहले से अच्युत भगवान् की शुद्ध भक्ति करने के कारण परिपूर्ण थे। भगवान् तथा जीव स्वभावतः गुणात्मक दृष्टि से एक है, किन्तु मात्रा की दृष्टि से भगवान् किसी भी प्राणी से बहुत विशाल हैं। वे सदा अच्युत हैं, जबकि जीव माया के अधीन होने के कारण किसी समय भी डगमगा सकते हैं। विदुर पहले ही *अच्युत-भाव* होने के कारण बद्धजीव के पतनशील स्वभाव (च्युत) को लाँघ चुके थे। जीवन की यह अवस्था *अच्युत-भाव-सिद्ध* कहलाती है अर्थात् भक्ति द्वारा सिद्धि-प्राप्त अवस्था। इसलिए जो कोई भी भगवद्भक्ति में लीन रहता है, वह मुक्तात्मा है और उसमें सारे प्रशंसनीय गुण रहते है। विद्वान ऋषि मैत्रेय हरद्वार में गंगा के तट पर एकान्त स्थान में बैठे थे और विदुर जो भगवान् के पूर्ण भक्त थे तथा समस्त दिव्य सद्गुणों से युक्त थे, जिज्ञासावश उनके पास पहुँचे।

विदुर उवाच
सुखाय कर्माणि करोति लोको
न तैः सुखं वान्यदुपारमं वा ।

विन्देत भूयस्तत एव दुःखं
यदत्र युक्तं भगवान्वदेन्नः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; सुखाय—सुख प्राप्त करने के लिए; कर्माणि—सकाम कर्म; करोति—हर कोई करता है; लोकः—इस जगत में; न—कभी नहीं; तैः—उन कर्मों के द्वारा; सुखम्—कोई सुख; वा—अथवा; अन्यत्—भिन्न रीति से; उपारमम्—तृप्ति; वा—अथवा; विन्देत—प्राप्त करता है; भूयः—इसके विपरीत; ततः—ऐसे कार्यों के द्वारा; एव—निश्चय ही; दुःखम्—कष्ट; यत्—जो; अत्र—परिस्थितिवश; युक्तम्—सही मार्ग; भगवान्—हे महात्मन्; वदेत्—कृपया प्रकाशित करें; नः—हमको।

विदुर ने कहा : हे महर्षि, इस संसार का हर व्यक्ति सुख प्राप्त करने के लिए सकाम कर्मों में प्रवृत्त होता है, किन्तु उसे न तो तृप्ति मिलती है न ही उसके दुख में कोई कमी आती है। विपरीत इसके ऐसे कार्यों से उसके दुख में वृद्धि होती है। इसलिए कृपा करके हमें इसके विषय में हमारा मार्गदर्शन करें कि असली सुख के लिए कोई कैसे रहे?

तात्पर्य : विदुर ने मैत्रेय से कुछ सामान्य प्रश्न पूछे, किन्तु उनका मूल अभिप्राय यह नहीं था। उद्धव ने विदुर से मैत्रेय मुनि के पास जाकर भगवान् के नाम, यश, गुण, रूप, लीलाओं, पार्षद इत्यादि के सारे सत्यों के विषय में जिज्ञासा करने के लिए कहा था, अतएव जब विदुर मैत्रेय के पास पहुँचे तो उन्हें केवल भगवान् के विषय में पूछना चाहिए था। किन्तु स्वाभाविक विनयशीलतावश उन्होंने एक दम भगवान् के विषय में नहीं पूछा, प्रत्युत ऐसे विषय पर प्रश्न पूछा जो जनसामान्य के लिए अत्यधिक महत्त्व का हो सकता था। कोई सामान्य मनुष्य भगवान् को नहीं समझ सकता। सर्वप्रथम, उसे माया के वशीभूत अपने जीवन की असली स्थिति जाननी चाहिए। मोह में आकर मनुष्य सोचता है कि वह मात्र सकाम कर्मों के द्वारा सुखी हो सकता है, किन्तु होता यह है कि मनुष्य कर्म तथा कर्म-फल के जंजाल में और अधिक उलझता जाता है और जीवन की समस्या का कोई समाधान नहीं खोज पाता। इस सन्दर्भ में एक सुन्दर गीत है "जीवन का सारा सुख प्राप्त करने की महती इच्छा के कारण, मैने यह घर बनाया किन्तु दुर्भाग्यवश सारी योजना ध्वस्त हो गई, क्योंकि घर में अप्रत्याशित रूप से आग लगा दी गई।" प्रकृति का नियम ऐसा ही है। हर व्यक्ति भौतिक जगत में योजना बनाकर रहने से सुखी बनना चाहता है, किन्तु प्रकृति का नियम इतना क्रूर है कि यह उस योजना में आग लगा देता है। सकामकर्मी अपनी योजनाओं से सुखी नहीं रहता, न ही सुख के लिए उसकी निरन्तर दौड़धूप से उसे कोई तृप्ति मिलती है।

जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य दैवा-
दधर्मशीलस्य सुदु:खितस्य ।
अनुग्रहायेह चरन्ति नूनं
भूतानि भव्यानि जनार्दनस्य ॥ ३॥

शब्दार्थ

जनस्य—सामान्य व्यक्ति की; कृष्णात्—भगवान् कृष्ण से; विमुखस्य—विमुख, मुँह फेरने वाले का; दैवात्—माया के प्रभाव से; अधर्म-शीलस्य—अधर्म में लगे हुए का; सु-दु:खितस्य—सदैव दुखी रहने वाले का; अनुग्रहाय—उनके प्रति दयालु होने के कारण; इह—इस जगत में; चरन्ति—विचरण करते हैं; नूनम्—निश्चय ही; भूतानि—लोग; भव्यानि—अत्यन्त परोपकारी आत्माएँ; जनार्दनस्य—भगवान् की।

हे प्रभु, महान् परोपकारी आत्माएँ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की ओर से पृथ्वी पर उन पतित आत्माओं पर अनुकंपा दिखाने के लिए विचरण करती है, जो भगवान् की अधीनता के विचार मात्र से ही विमुख रहते हैं।

तात्पर्य : परमेश्वर की इच्छाओं के प्रति आज्ञाकारी होना हर जीव की स्वाभाविक स्थिति है। किन्तु विगत दुष्कर्मों के कारण ही जीव भगवान् की अधीनता के विचार से मुख मोड़ता है और भौतिक संसार के सारे कष्टों को भोगता है। किसी को भगवान श्रीकृष्ण की भक्तिमय सेवा के अलावा कुछ भी नहीं करना होता है। अतएव भगवान की दिव्य प्रेमाभक्ति के अतिरिक्त कोई भी कार्य न्यूनाधिक परम इच्छा के विरुद्ध कार्य है। समस्त सकाम कर्म, अनुभवगम्य दर्शन तथा योग भगवान् की अधीनता-भावना के न्यूनाधिक विरुद्ध है और जो जीव ऐसे विद्रोहपूर्ण कार्यों में लगा हुआ है, वह प्रकृति के उन नियमों द्वारा प्राय: तिरस्कृत किया जाता है, जो भगवान् के अधीन है। भगवान् के महान् शुद्ध भक्त पतितों के प्रति दयालु होते हैं, इसलिए वे आत्माओं को भगवद्धाम वापस लाने के उद्देश्य से संसार भर में विचरण करते रहते हैं। ऐसे शुद्ध भगवद्भक्त पतितात्माओं का उद्धार करने के लिए उन के पास ईश्वर का सन्देश लेकर जाते हैं, अतएव सामान्य व्यक्ति को, जो भगवान् की बहिरंगा शक्ति के प्रभाव से मोहग्रस्त हुआ रहता है, उनकी संगति का लाभ उठाना चाहिए।

तत्साधुवर्यादिश वर्त्म शं न:
संराधितो भगवान्येन पुंसाम् ।
हृदि स्थितो यच्छति भक्तिपूते
ज्ञानं सतत्त्वाधिगमं पुराणम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; साधु-वर्य—हे सन्तों में सर्वश्रेष्ठ; आदिश—आदेश दें; वर्त्म—मार्ग; शम्—शुभ; नः—हमारे लिए; संराधितः—पूरी तरह सेवित; भगवान्—भगवान्; येन—जिससे; पुंसाम्—जीव का; हृदि स्थितः—हृदय में स्थित; यच्छति—प्रदान करता है; भक्ति-पूते—शुद्ध भक्त को; ज्ञानम्—ज्ञान; स—वह; तत्त्व—सत्य; अधिगमम्—जिससे कोई सीखता है; पुराणम्—प्रामाणिक, प्राचीन।

इसलिए, हे महर्षि, आप मुझे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की दिव्य भक्ति के विषय में उपदेश दें जिससे हर एक के हृदय में स्थित भगवान् भीतर से परम सत्य विषयक वह ज्ञान प्रदान करने के लिए प्रसन्न हों जो कि प्राचीन वैदिक सिद्धान्तों के रूप में उन लोगों को ही प्रदान किया जाता है, जो भक्तियोग द्वारा शुद्ध हो चुके है।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध में पहले ही बतलाया जा चुका है, ज्ञाता की बोध-क्षमता के अनुसार परम सत्य की अनुभूति तीन विभिन्न अवस्थाओं में की जाती है यद्यपि वे एक ही हैं। सबसे समर्थ योगी (अध्यात्मवादी) भगवान् का शुद्ध भक्त है, जो सकाम कर्मों या दार्शनिक चिन्तन से रंचमात्र भी कलुषित नहीं होता। एकमात्र भक्ति द्वारा ही मनुष्य का हृदय कर्म, ज्ञान तथा योग जैसे भौतिक आवरणों से पूर्णतया शुद्ध हो जाता है। केवल ऐसी ही शुद्ध अवस्था में हर जीव के हृदय में व्यष्टि आत्मा के साथ विराजमान भगवान् उपदेश देते हैं जिससे भक्त अन्तिम गन्तव्य अर्थात् भगवद्धाम पहुँच सकता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१०.१०) में हुई है—*तेषां सततयुक्तानां भजताम्*। जब भगवान् भक्त की भक्ति से तुष्ट होते हैं तभी वे ज्ञान प्रदान करते हैं जिस तरह उन्होंने अर्जुन तथा उद्धव के साथ किया।

ज्ञानी, योगी तथा *कर्मीजन* भगवान् के ऐसे प्रत्यक्ष सहयोग की अपेक्षा नहीं कर सकते। वे न तो भगवान् को दिव्य प्रेमाभक्ति द्वारा तुष्ट करने में समर्थ होते हैं, न ही वे भगवान् की इस प्रकार की सेवा में विश्वास रखते हैं। *वैधी भक्ति* के नियमों के अन्तर्गत सम्पन्न की गई *भक्ति-विधि* की परिभाषा शास्त्रों द्वारा दी गई है और महान् आचार्यों द्वारा इनकी संपुष्टि हुई है। ऐसा अभ्यास नवदीक्षित भक्त को *राग भक्ति* के पद तक पहुँचने में सहायक बन सकता है, जिसमें भगवान् *चैत्यगुरु* अर्थात् अतिचेतना स्वरूप गुरु के रूप में भीतर से उत्तर देते हैं। भक्तों के अतिरिक्त सारे अध्यात्मवादी व्यष्टि आत्मा तथा परमात्मा में कोई अन्तर नहीं करते, क्योंकि वे अतिचेतना तथा व्यष्टि चेतना को एक ही समझने की गलती करते हैं। अभक्तों द्वारा की गई ऐसी गलती उन्हें भीतर से कोई निर्देशन पाने के अयोग्य बनाती है, अत: वे

भगवान् के प्रत्यक्ष सहयोग से वंचित रह जाते हैं। जब अनेकानेक जन्मों बाद ऐसे अद्वैतवादी होश में आते हैं कि भगवान् आराध्य हैं और भक्त भगवान् से एक होते हुए भी भिन्न हैं तभी वे भगवान् वासुदेव की शरण ग्रहण कर सकते हैं। शुद्ध भक्तियोग इस बिन्दु से प्रारम्भ होता है। दिग्भ्रांत अद्वैतवादी द्वारा परम सत्य को समझने के लिए अपनाई गई विधि अत्यन्त कठिन होती है, जबकि परम सत्य को समझने के लिए भक्ति की विधि प्रत्यक्ष रूप से भगवान् से आती है, क्योंकि वे भक्तिमय सेवा से प्रसन्न होते हैं। विदुर ने पहुँचते ही अनेक नवदीक्षित भक्तों की ओर से मैत्रेय से उस भक्तिमय सेवा मार्ग के विषय में पूछताछ की जिससे हृदय के भीतर आसीन भगवान् को प्रसन्न किया जा सके।

करोति कर्माणि कृतावतारो
यान्यात्मतन्त्रो भगवांस्त्र्यधीशः ।
यथा ससर्जाग्र इदं निरीहः
संस्थाप्य वृत्तिं जगतो विधत्ते ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

करोति—करता है; कर्माणि—दिव्य कर्म; कृत—स्वीकार करके; अवतारः—अवतार; यानि—वे सब; आत्म-तन्त्रः—स्वतंत्र; भगवान्—भगवान्; त्रि-अधीशः—तीनों लोकों के स्वामी; यथा—जिस तरह; ससर्ज—उत्पन्न किया; अग्रे—सर्वप्रथम; इदम्—इस विराट जगत को; निरीहः—यद्यपि इच्छारहित; संस्थाप्य—स्थापित करके; वृत्तिम्—जीविकोपार्जन का साधन; जगतः—ब्रह्माण्डों का; विधत्ते—जिस तरह वह नियमन करता है।.

हे महर्षि, कृपा करके बतलाएँ कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् जो तीनों लोकों के इच्छारहित स्वतंत्र स्वामी तथा समस्त शक्तियों के नियन्ता हैं, किस तरह अवतारों को स्वीकार करते हैं और किस तरह विराट जगत को उत्पन्न करते हैं, जिसके परिपालन के लिए नियामक सिद्धान्त पूर्ण रुप से व्यवस्थित हैं।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण आदि भगवान् हैं जिनसे कारणार्णवशायी विष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु—ये तीनों *पुरुष-अवतार* विस्तार पाते हैं। सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि भगवान् की बहिरंगा शक्ति के अन्तर्गत तीन पुरुषों द्वारा क्रमशः तीन अवस्थाओं में संचालित होती है और इस तरह भौतिक प्रकृति उन्हीं के द्वारा नियंत्रित होती है। भौतिक प्रकृति को स्वतंत्र मानना वैसा ही है जैसे कि बकरी के गलस्तनों में दूध की खोज करना। भगवान् स्वतंत्र हैं और इच्छारहित हैं। वे भौतिक जगत की सृष्टि अपनी तुष्टि के लिए नहीं करते जिस तरह हम अपनी भौतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए घरेलू कामकाज की सृष्टि करते हैं। वस्तुतः, भौतिक जगत उन बद्धजीवों के मोहमय भोग के लिए उत्पन्न

किया जाता है, जो अनादि काल से भगवान् की दिव्य सेवा के विरुद्ध रहते आये हैं। किन्तु भौतिक ब्रह्माण्ड अपने में परिपूर्ण है। भौतिक जगत में भरण-पोषण का कोई अभाव नहीं है। अल्पज्ञान के कारण भौतिकतावादी जन पृथ्वी पर जनसंख्या की दिखावटी वृद्धि होने पर विचलित हो उठते हैं। किन्तु जब भी पृथ्वी पर कोई जीव आता है भगवान् तुरन्त ही उसके जीवन-निर्वाह की व्यवस्था करते हैं। अन्य योनियाँ, जिनकी संख्या मानव समाज से कहीं अधिक है, भरणपोषण के लिए कभी चिन्तित नहीं होतीं। वे कभी भी भूख से मरती नहीं देखी जातीं। यह तो एकमात्र मानव समाज है, जो खाद्य स्थिति के विषय में चिन्तित रहता है और प्रशासनिक कुव्यवस्था को छिपाने के लिए यह दलील दी जाती है कि जनसंख्या अत्यधिक गति से बढ़ रही है। यदि संसार में कोई अभाव है, तो वह ईश-चेतना का अभाव है अन्यथा भगवत्कृपा से अभाव किसी वस्तु का नहीं है।

यथा पुनः स्वे ख इदं निवेश्य
शेते गुहायां स निवृत्तवृत्तिः ।
योगेश्वराधीश्वर एक एत-
दनुप्रविष्टो बहुधा यथासीत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; पुनः—फिर; स्वे—अपने में; खे—आकाश के रूप (विराट रूप) में; इदम्—यह; निवेश्य—प्रविष्ट होकर; शेते—शयन करता है; गुहायाम्—ब्रह्माण्ड के भीतर; सः—वह (भगवान्); निवृत्त—बिना प्रयास के; वृत्तिः—आजीविका का साधन; योग-ईश्वर—समस्त योगशक्तियों के स्वामी; अधीश्वरः—सभी वस्तुओं के स्वामी; एकः—अद्वितीय; एतत्—यह; अनुप्रविष्टः—बाद में प्रविष्ट होकर; बहुधा—असंख्य प्रकारों से; यथा—जिस तरह; आसीत्—विद्यमान रहता है।

वे आकाश के रूप में फैले अपने ही हृदय में लेट जाते हैं और उस आकाश में सम्पूर्ण सृष्टि को रखकर वे अपना विस्तार अनेक जीवों में करते हैं, जो विभिन्न योनियों के रूप में प्रकट होते हैं। उन्हें अपने निर्वाह के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता क्योंकि वे समस्त यौगिक शक्तियों के स्वामी और प्रत्येक वस्तु के मालिक है। इस प्रकार वे जीवों से भिन्न है।

तात्पर्य : सृष्टि, पालन तथा संहार विषयक प्रश्न, जिनका उल्लेख *श्रीमद्भागवत* के अनेक भागों में हुआ है, विभिन्न कल्पों से सम्बन्ध रखते हैं; अतएव विभिन्न जिज्ञासुओं द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर विभिन्न अधिकारियों द्वारा उनका वर्णन भिन्न-भिन्न रूपों में हुआ है। सृजन के सिद्धान्तों तथा उन पर भगवान् के नियंत्रण के विषय में कोई मतभेद नहीं है, किन्तु विभिन्न कल्पों में होने से उनकी बारीकियों में यत्किंचित अन्तर रहता है। विराट आकाश भगवान् का भौतिक शरीर है, जो विराट रूप कहलाता है

और समस्त भौतिक सृष्टियाँ आकाश में अर्थात् भगवान् के हृदय में टिकी हुई है। अतएव आकाश से लेकर जो स्थूल दृष्टि के लिए सर्वप्रथम भौतिक अभिव्यक्ति है, पृथ्वी तक हर वस्तु ब्रह्म कहलाती है। *सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—भगवान् के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है और वे अद्वय है—जीव परा शक्ति है, जबकि पदार्थ अपरा शक्ति है और इन दोनों शक्तियों के मेल से इस भौतिक जगत की अभिव्यक्ति होती है, जो भगवान् के हृदय में स्थित है।

क्रीडन्विधत्ते द्विजगोसुराणां
क्षेमाय कर्माण्यवतारभेदैः ।
मनो न तृप्यत्यपि शृण्वतां नः
सुश्लोकमौलेश्चरितामृतानि ॥ ७॥

शब्दार्थ

क्रीडन्—लीलाएँ करते हुए; विधत्ते—सम्पन्न करता है; द्विज—द्विजन्मा; गो—गौवें; सुराणाम्—देवताओं के; क्षेमाय—कल्याण के लिए; कर्माणि—दिव्य कर्म; अवतार—अवतार; भेदैः—पृथक्-पृथक्; मनः—मन; न—कभी नहीं; तृप्यति—तुष्ट होता है; अपि—के बावजूद; शृण्वताम्—निरन्तर सुनते हुए; नः—हमारा; सु-श्लोक—शुभ, मंगलमय; मौलेः—भगवान् की; चरित—विशेषताएँ; अमृतानि—अमर।

आप द्विजों, गौवों तथा देवताओं के कल्याण हेतु भगवान् के विभिन्न अवतारों के शुभ लक्षणों के विषय में भी वर्णन करें। यद्यपि हम निरन्तर उनके दिव्य कार्यकलापों के विषय में सुनते हैं, किन्तु हमारे मन कभी भी पूर्णतया तुष्ट नहीं हो पाते।

तात्पर्य : भगवान् इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न अवतारों के रूप में, यथा मत्स्य, कूर्म, वराह तथा नृसिंह रूपों में प्रकट होते हैं और द्विजों, गौवों तथा देवताओं के कल्याण हेतु विविध दिव्य कार्यों को प्रदर्शित करते हैं। भगवान् द्विजों अर्थात् सभ्य पुरुषों की प्रत्यक्ष रूप से चिन्ता करते हैं। सभ्य व्यक्ति वह है, जिसने दो बार जन्म लिया हो। जीव इस संसार में नर तथा मादा के संसर्ग से जन्म लेता है। मनुष्य माता-पिता की संयुक्ति से उत्पन्न होता है, किन्तु सभ्य मनुष्य का दूसरा जन्म गुरु के सम्पर्क से होता है, जो वास्तविक पिता बनता है। भौतिक देह प्रदान करने वाले माता-पिता केवल एक जन्म के लिए ही माता-पिता हैं, किन्तु अगले जन्म में, माता-पिता अन्य जोड़ा हो सकता है। किन्तु प्रामाणिक गुरु तो भगवान् के प्रतिनिधि के रूप में नित्य पिता होता है, क्योंकि उस पर शिष्य को आध्यात्मिक मोक्ष या जीवन के चरम लक्ष्य तक पहुँचाने का उत्तरदायित्व रहता है। इसलिए सभ्य व्यक्ति को द्विजन्मा होना ही चाहिए, अन्यथा वह निचले दर्जे के पशुओं जैसा ही है।

मनुष्य शरीर को पूर्णता प्रदान करने के लिए गाय सबसे महत्त्वपूर्ण पशु है। शरीर का पालनपोषण किसी भी तरह के भोज्यपदार्थ से किया जा सकता है, किन्तु मनुष्य के मस्तिष्क के सूक्ष्मतर कोशिकाओं के विकास के लिए गाय का दूध विशेषरूप से आवश्यक होता है, जिससे मनुष्य दिव्य ज्ञान की पेचीदगियों को समझ सके। किसी सभ्य मनुष्य से अपेक्षा की जाती है कि वह फल, शाक, अन्न, चीनी तथा दूध से युक्त भोज्य पदार्थों पर जीवन-निर्वाह करे। बैल अन्न इत्यादि उत्पन्न करने की कृषि प्रक्रिया में सहायता करता है। एक तरह से बैल मानव जाति का पिता है, जबकि गाय माता है क्योंकि वह मानव समाज को दुग्ध प्रदान करती है। अतएव किसी सभ्य मनुष्य से अपेक्षा की जाती है कि वह बैलों तथा गौवों को सभी प्रकार का संरक्षण प्रदान करे।

उच्चतर लोकों में रहने वाले देवतागण अथवा जीवात्माएँ मनुष्यों से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। क्योंकि उनके जीवन-की स्थितियाँ बेहतर ढंग से व्यवस्थित होती है, अत: वे मनुष्यों की अपेक्षा कहीं अधिक विलासिता में रहते हैं। इतना होते हुए भी वे सब भगवद्भक्त होते हैं। भगवान् सभ्य मनुष्यों, गौओं तथा देवताओं को, जो आत्म-साक्षात्कार के निमित्त नियमित जीवन के लिए सीधे उत्तरदायी होते हैं, सुरक्षा प्रदान करने हेतु विविध रूपों में अवतरित होते हैं, जैसे मत्स्य, कूर्म, वराह तथा नृसिंह रूप। भौतिक सृष्टि की संपूर्ण प्रणाली योजना-बद्ध है ताकि बद्धजीवों को आत्म-साक्षात्कार के लिए अवसर मिल सके। जो कोई इस व्यवस्था का लाभ उठाता है, देवता अथवा सभ्य पुरुष कहलाता है। गौधन जीवन के ऐसे उच्चस्तर को बनाए रखने में सहायता के निमित्त है।

द्विजन्मा सभ्य मनुष्यों, गौवों तथा देवताओं की रक्षा के लिए भगवान् की लीलाएँ दिव्य होती है। मनुष्य में अच्छी कथा-कहानियाँ सुनने की प्रवृत्ति होती है, अतएव विकसित आत्मा की रुचियों की तुष्टि हेतु बाजार में अनेकानेक पुस्तकें, पत्रिकाएँ तथा समाचारपत्र हैं। किन्तु एक बार पढ़ लेने के बाद ऐसे साहित्य का आनन्द बासी पड़ जाता है और ऐसे साहित्य को बारम्बार पढ़ने में लोगों की रुचि नहीं रह जाती। वस्तुत: समाचारपत्र एक घण्टे से भी कम समय तक पढ़े जाते हैं और उसके बाद कूड़ादान में फेंक दिये जाते हैं। अन्य समस्त लौकिक साहित्य का भी यही हाल है। परन्तु *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* जैसे दिव्य ग्रन्थों का सौन्दर्य यह है कि वे कभी पुराने नहीं पड़ते। इस संसार में उन्हें सभ्य मनुष्य द्वारा विगत पाँच हजार वर्षों से पढ़ा जाता रहा है; फिर भी वे कभी पुराने नहीं पड़े।

विद्वानों तथा भक्तों के लिए वे चिरनवीन है और *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के श्लोकों के नित्य पाठ से विदुर जैसे भक्तों की भी तृप्ति नहीं होती। विदुर ने मैत्रेय से भेंट करने के पूर्व भगवान् की लीलाओं का न जाने कितनी बार श्रवण किया होगा, किन्तु वे फिर भी उन्हीं कथाओं की पुनरावृत्ति चाह रहे थे, क्योंकि उन्हें सुनने से वे तृप्त नहीं हो पाये थे। भगवान् की महिमामंडित लीलाओं की दिव्य प्रकृति ऐसी ही होती है।

यैस्तत्त्वभेदैरधिलोकनाथो
लोकानलोकान्सह लोकपालान् ।
अचीक्लिपद्यत्र हि सर्वसत्त्व-
निकायभेदोऽधिकृतः प्रतीतः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यैः—जिसके द्वारा; तत्त्व—सत्य; भेदैः—अन्तर द्वारा; अधिलोक-नाथः—राजाओं के राजा; लोकान्—लोकों को; अलोकान्—अधोभागों के लोकों; सह—के सहित; लोक-पालान्—उनके राजाओं को; अचीक्लिपत्—आयोजना की; यत्र—जिसमें; हि—निश्चय ही; सर्व—समस्त; सत्त्व—अस्तित्व; निकाय—जीव; भेदः—अन्तर; अधिकृतः—अधिकार जमाये; प्रतीतः—ऐसा लगता है।.

समस्त राजाओं के परम राजा ने विभिन्न लोकों की तथा आवास स्थलों की सृष्टि की जहाँ प्रकृति के गुणों और कर्म के अनुसार सारे जीव स्थित है और उन्होंने उनके विभिन्न राजाओं तथा शासकों का भी सृजन किया।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण समस्त राजाओं के प्रधान राजा हैं। उन्होंने सभी प्रकार के जीवों के लिए भिन्न-भिन्न लोकों की रचना की है। इस लोक तक में विभिन्न प्रकार के लोगों के आवास हेतु भिन्न-भिन्न स्थान हैं। इसमें मरुस्थल, हिमप्रदेश, तथा पर्वतीय क्षेत्रों में घाटियाँ जैसे स्थान हैं और उनमें से हर एक में विभिन्न गुणों वाले नाना प्रकार के लोग अपने पूर्वकर्मों के अनुसार उत्पन्न होते हैं। लोग अरब के मरुस्थल में हैं और हिमालय पर्वत की घाटियों में हैं और इन दोनों स्थानों के निवासी परस्पर भिन्न होते हैं जिस तरह हिमप्रदेशों के लोग भी उनसे भिन्न है। इसी तरह भिन्न-भिन्न लोक भी हैं। पृथ्वी से नीचे पाताल लोक तक के लोक विभिन्न प्रकार के जीवों से पूर्ण हैं। कोई लोक रिक्त नहीं है, जैसाकि आधुनिक तथाकथित विज्ञानी भ्रमवश कल्पना करते हैं। *भगवद्गीता* में हम भगवान् को यह कहते पाते हैं कि जीव *सर्वगत* है, अर्थात् जीवन के हर क्षेत्र में उपस्थित हैं। अतएव इसमें कोई संदेह नहीं कि अन्य लोकों में भी हमारी ही तरह के निवासी हैं, कभी-कभी हमसे अधिक बुद्धि तथा अधिक ऐश्वर्य

वाले। उन अधिक बुद्धिमानों के रहने के लिए जो स्थितियाँ हैं, वे इस पृथ्वी की अपेक्षा अधिक विलासपूर्ण हैं। ऐसे भी लोक हैं जहाँ सूर्यप्रकाश नहीं पहुँचता और ऐसे भी जीव हैं, जिन्हें अपने विगत कर्मों के कारण वहाँ रहना पड़ रहा है। रहने की स्थितियों की ऐसी सारी योजनाएँ भगवान् द्वारा बनाई गई है। इस पर और अधिक प्रकाश डालने के उद्देश्य से विदुर ने मैत्रेय से इसका वर्णन करने के लिए अनुरोध किया।

येन प्रजानामुत आत्मकर्म-
रूपाभिधानां च भिदां व्यधत्त ।
नारायणो विश्वसृगात्मयोनि-
रेतच्च नो वर्णय विप्रवर्य ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

येन—जिससे; प्रजानाम्—उत्पन्न लोगों के; उत—जैसा भी; आत्म-कर्म—नियत व्यस्तता; रूप—स्वरूप तथा गुण; अभिधानाम्—प्रयास; च—भी; भिदाम्—अन्तर; व्यधत्त—बिखरे हुए; नारायणः—नारायण; विश्वसृक्—ब्रह्माण्ड के स्रष्टा; आत्म-योनिः—आत्मनिर्भर; एतत्—ये सभी; च—भी; नः—हमसे; वर्णय—वर्णन कीजिये; विप्र-वर्य—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ।

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, आप यह भी बतलाएँ कि ब्रह्माण्ड के स्रष्टा तथा आत्मनिर्भर प्रभु नारायण ने किस तरह विभिन्न जीवों के स्वभावों, कार्यों, रूपों, लक्षणों तथा नामों की पृथक्-पृथक् रचना की है।

तात्पर्य : प्रत्येक जीव प्रकृति के गुणों के अनुसार अपनी सहज प्रवृत्तियों की योजना के अन्तर्गत है। उसके कार्य प्रकृति के तीन गुणों के अनुसार अभिव्यक्त होते हैं और उसका स्वरूप तथा शारीरिक लक्षण उसके कर्म के अनुसार गढ़े जाते हैं और उसका नाम उसके शारीरिक स्वरूप के अनुसार प्रदान किया जाता है। उदाहरणार्थ, उच्च जाति के लोग श्वेत (*शुक्ल*) होते हैं और निम्न जाति के लोग काले होते हैं। यह गोरे–काले का विभाजन मनुष्य के जीवन के श्याम तथा शुक्ल कार्यों के अनुसार होता है। पवित्र कार्यों से मनुष्य का जन्म अच्छे तथा उच्च परिवार में होता है, वह धनी बनता है, विद्वान बनता है और सुन्दर शारीरिक स्वरूप प्राप्त करता है। अपवित्र कार्यों से मनुष्य वंश की स्थिति के फलस्वरूप निर्धन बनता है, सदैव अभावग्रस्त रहता है, मूर्ख या अशिक्षित रहता है और कुरूप शरीर पाता है। विदुर ने मैत्रेय से अनुरोध किया कि वे भगवान् नारायण द्वारा निर्मित समस्त जीवों के इन अन्तरों का वर्णन् करें।

परावरेषां भगवन्व्रतानि
श्रुतानि मे व्यासमुखादभीक्ष्णम् ।
अतृप्नुम क्षुल्लसुखावहानां
तेषामृते कृष्णकथामृतौघात् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

पर—उच्चतर; अवरेषाम्—इन निम्नतरों का; भगवन्—हे प्रभु, हे महात्मन्; व्रतानि—वृत्तियाँ, पेशे; श्रुतानि—सुना हुआ; मे—मेरे द्वारा; व्यास—व्यास के; मुखात्—मुँह से; अभीक्ष्णम्—बारम्बार; अतृप्नुम—मैं तुष्ट हूँ; क्षुल्ल—अल्प; सुख-आवहानाम्—सुख लाने वाला; तेषाम्—उनमें से; ऋते—बिना; कृष्ण-कथा—भगवान् कृष्ण विषयक बातें; अमृत-ओघात्—अमृत से।

हे प्रभु, मैं व्यासदेव के मुख से मानव समाज के इन उच्चतर तथा निम्नतर पदों के विषय में बारम्बार सुन चुका हूँ और मैं इन कम महत्व वाले विषयों तथा उनके सुखों से पूर्णतया तृप्त हूँ। पर वे विषय बिना कृष्ण विषयक कथाओं के अमृत से मुझे तुष्ट नहीं कर सके।

तात्पर्य : चूँकि लोग सामाजिक तथा ऐतिहासिक प्रस्तुतियों को सुनने में अत्यधिक रुचि लेते हैं, अतएव श्रील व्यासदेव ने *पुराण* तथा *महाभारत* जैसे अनेक ग्रन्थों की रचना की है। ये ग्रन्थ सामान्यजनों के लिए पठनीय सामग्री हैं और इनकी रचना उनमें उस ईशचेतना को जागृत करने के लिए की गई थी जिसे लोग भौतिक जगत के बद्धजीवन में अब भूल चुके हैं। ऐसे ग्रन्थों का असली प्रयोजन उतना ऐतिहासिक सन्दर्भों की कथाएँ प्रस्तुत करना नहीं है जितना कि लोगों में ईशभावनामृत को जागृत करना है। उदाहरणार्थ, *महाभारत* कुरुक्षेत्र के युद्ध का इतिहास है और सामान्यजन इसे पढ़ते हैं, क्योंकि यह मानव समाज विषयक सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं की कथाओं से भरापड़ा है। किन्तु वास्तव में *महाभारत* का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग *भगवद्गीता* है, जिसे कुरुक्षेत्र के युद्ध के ऐतिहासिक वर्णनों के साथ-साथ पाठकों को स्वत: पढ़ा दिया जाता है।

विदुर ने मैत्रेय को बताया कि वे लौकिक, सामाजिक तथा राजनीतिक कथाओं के ज्ञान से पूर्णतया तृप्त हो चुके हैं, अतएव अब उनमें उनके लिए रुचि नहीं है। वे भगवान् कृष्ण विषयक दिव्य कथाएँ सुनने के लिए लालायित थे। चूँकि पुराणों, *महाभारत* इत्यादि में कृष्ण से सीधा सम्बन्ध रखने वाली कथाएँ अपर्याप्त थीं, अतएव वे तुष्ट न हो सके और कृष्ण के बारे में और अधिक जानना चाह रहे थे। कृष्णकथाएँ दिव्य हैं और ऐसी कथाओं के सुनने से तृप्ति नहीं होती। कृष्णकथा, अथवा कृष्ण के प्रवचन होने के कारण *भगवद्गीता* महत्त्वपूर्ण है। कुरुक्षेत्र के युद्ध की कहानी आम जनता के लिए

रोचक हो सकती है, किन्तु भगवद्भक्ति में अत्यधिक आगे बढ़ चुके विदुर जैसे व्यक्ति के लिए कृष्णकथा तथा कृष्णकथा से जुड़ी कथा ही रोचक है। विदुर मैत्रेय के मुख से सारी बातें सुनना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने उनसे पूछा, किन्तु उन्होंने इच्छा प्रकट की कि ये सारी कथाएँ कृष्ण के सम्बन्ध में हों। जिस तरह अग्नि कितना भी ईंधन जला डाले कभी तुष्ट नहीं होती उसी तरह शुद्ध भगवद्भक्त कृष्ण के विषय में जितना सुनता है, वह कम ही होता है। ऐतिहासिक घटनाएँ तथा अन्य सामाजिक एवं राजनीतिक बातें कृष्ण से सम्बन्धित होते ही दिव्य बन जाती हैं। लेकिन सांसारिक बातों को आध्यात्मिक रूप में बदलने का यही तरीका है। यह सारा जगत वैकुण्ठ में परिणत हो जाय यदि सारे सांसारिक कार्य कृष्णकथा से जुड़ जायें।

संसार में दो महत्त्वपूर्ण कृष्ण कथाएँ प्रचलित हैं—*भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत*। *भगवद्गीता* कृष्णकथा है, क्योंकि इसे कृष्ण ने कहा है, जबकि *श्रीमद्भागवत* इसलिए कृष्णकथा है, क्योंकि इसमें कृष्ण के विषय में कहा गया है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने सारे शिष्यों से संसार भर में बिना भेदभाव के कृष्णकथा का प्रचार करने के लिए कहा, क्योंकि कृष्णकथा की दिव्य शक्ति हर एक को भौतिक कल्मष से शुद्ध बना सकती है।

कस्तृप्नुयात्तीर्थपदोऽभिधानात्
सत्रेषु वः सूरिभिरीड्यमानात् ।
यः कर्णनाडीं पुरुषस्य यातो
भवप्रदां गेहरतिं छिनत्ति ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

कः—वह कौन मनुष्य है; तृप्नुयात्—जो तुष्ट किया जा सके; तीर्थ-पदः—जिसके चरणकमल तीर्थस्थल हैं; अभिधानात्—की बातों से; सत्रेषु—मानव समाज में; वः—जो है; सूरिभिः—महान् भक्तों द्वारा; ईड्यमानात्—इस तरह पूजित होने वाला; यः—जो; कर्ण-नाडीम्—कानों के छेदों में; पुरुषस्य—मनुष्य के; यातः—प्रवेश करते हुए; भव-प्रदाम्—जन्म-मृत्यु प्रदान करने वाला; गेह-रतिम्—पारिवारिक स्नेह; छिनत्ति—काट देता है।

जिनके चरणकमल समस्त तीर्थों के सार रूप हैं तथा जिनकी आराधना महर्षियों तथा भक्तों द्वारा की जाती है, ऐसे भगवान् के विषय में पर्याप्त श्रवण किये बिना मानव समाज में ऐसा कौन होगा जो तुष्ट होता हो? मनुष्य के कानों के छेदों में ऐसी कथाएँ प्रविष्ट होकर उसके पारिवारिक मोह के बन्धन को काट देती हैं।

तात्पर्य : कृष्णकथा इतनी शक्तिशाली होती है कि मनुष्य के कान में प्रवेश करने मात्र से

पारिवारिक स्नेह के बन्धन से उसका उद्धार तुरन्त कर सकती है। पारिवारिक स्नेह बहिरंगा शक्ति की भ्रामक अभिव्यक्ति है और समस्त लौकिक कार्यकलापों की यही एकमात्र प्रेरक है। जब तक लौकिक क्रियाशीलता रहती है और मन ऐसे कार्य में लीन रहता है तब तक चालू भौतिक अज्ञानता में बारम्बार जन्म-मृत्यु को भोगना पड़ता है। लोग भौतिक प्रकृति के तमोगुण से सर्वाधिक प्रभावित होते हैं और कुछ लोग रजोगुण से प्रभावित होते हैं और इन दो गुणों के बन्धन में जीव देहात्मबुद्धि द्वारा गतिशील होता है। लौकिक गुण जीव को अपनी सही स्थिति को समझने नहीं देते। तमो तथा रजो दोनों ही गुण मनुष्य को मोहमयी देहात्मबुद्धि से जकड़ देते हैं। इस तरह से भ्रमित हुए लोगों में से सबसे बड़े मूर्ख वे होते हैं, जो रजोगुण के प्रभाव में आकर परोपकारी कार्यों में संलग्न होते हैं। *भगवद्गीता* जो प्रत्यक्ष कृष्णकथा है, मानवता को यह मूलभूत पाठ पढ़ाती है कि शरीर नाशवान है और सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त चेतना अनश्वर है। चेतन जीव अर्थात् अविनश्वर आत्मा, शाश्वत विद्यमान रहता है और शरीर के विघटन के बाद भी किसी भी तरह मारा नहीं जा सकता। जो कोई भी इस नश्वर शरीर को आत्मा समझता है और समाज शास्त्र, राजनीति, परोपकार, परार्थवाद, राष्ट्रीयता या अन्तर्राष्ट्रीयता के नाम पर देहात्मबुद्धि की दुहाई देकर काम करता है, वह निश्चय ही मूर्ख है और वास्तविकता (सत्) तथा अवास्तविकता (असत्) की जटिलताओं को नहीं जानता। इनमें से कुछ तमो तथा रजो गुणों से ऊपर होते हैं और सतोगुण में स्थित होते हैं, किन्तु लौकिक सत्त्व सदैव तमो तथा रजो गुणों से कलुषित रहता है। लौकिक सत्त्व मनुष्य को यह समझा सकता है कि शरीर तथा आत्मा भिन्न हैं और जो सतोगुणी है, वह आत्मा की परवाह करता है, शरीर की नहीं। किन्तु कलुषित होने से लौकिक सतोगुणी लोग व्यक्ति के रूप में आत्मा के असली स्वभाव को नहीं समझ सकते। उनकी शरीर से पृथक् आत्मा विषयक निर्विशेष धारणा उन्हें भौतिक प्रकृति के अन्तर्गत सतोगुण में रखती है और जब तक वे कृष्णकथा के प्रति आकृष्ट नहीं होते तब तक वे भवबन्धन से कभी भी मोक्ष नहीं पा सकते। कृष्णकथा संसार के सभी लोगों के लिए एकमात्र ओषधि है, क्योंकि यह मनुष्य को आत्मा की शुद्ध चेतना में स्थित कर सकती है और उसे भवबन्धन से मुक्त कर सकती है। श्री चैतन्य महाप्रभु की संस्तुति के अनुसार विश्वभर में कृष्णकथा का प्रचार करना सबसे बड़ा धर्मोपदेश कार्य है और संसार के समस्त विवेकवान नर-नारी श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा चलाये गये इस महान् आन्दोलन में सम्मिलित हो सकते हैं।

मुनिर्विवक्षुर्भगवद्गुणानां
सखापि ते भारतमाह कृष्णः ।
यस्मिन्नृणां ग्राम्यसुखानुवादै-
र्मतिर्गृहीता नु हरेः कथायाम् ॥ १२॥

शब्दार्थ

मुनिः—मुनि ने; विवक्षुः—वर्णन किया; भगवत्—भगवान् के; गुणानाम्—दिव्य गुणों का; सखा—मित्र; अपि—भी; ते—तुम्हारा; भारतम्—महाभारत; आह—वर्णन किया है; कृष्णः—कृष्ण-द्वैपायन व्यास; यस्मिन्—जिसमें; नृणाम्—मनुष्यों के; ग्राम्य—सांसारिक; सुख-अनुवादैः—लौकिक कथाओं से प्राप्य आनन्द; मतिः—ध्यान; गृहीता नु—अपनी ओर खींचने के लिए; हरेः—भगवान् की; कथायाम्—भाषणों का (भगवद्गीता)।

आपके मित्र महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास पहले ही अपने महान् ग्रन्थ महाभारत में भगवान् के दिव्य गुणों का वर्णन कर चुके हैं। किन्तु इसका सारा उद्देश्य सामान्य जन का ध्यान लौकिक कथाओं को सुनने के प्रति उनके प्रबल आकर्षण के माध्यम से कृष्णकथा (भगवद्गीता) की ओर आकृष्ट करना है।

तात्पर्य : महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास समस्त वैदिक वाङ्मय के रचयिता हैं जिसमें से *वेदान्त सूत्र, श्रीमद्भागवत* तथा *महाभारत* नामक कृतियाँ अत्यन्त लोकप्रिय हैं। जैसाकि *भागवत* (१.४.२५) में कहा गया है श्रील व्यासदेव ने *महाभारत* की रचना उन अल्प बुद्धिवाले मनुष्यों के लिए की जो जीवन के दर्शन की अपेक्षा लौकिक कथाओं में अधिक रुचि लेते हैं। *वेदान्त सूत्र* की रचना ऐसे व्यक्तियों के लिए की गई थी जो पहले से लौकिक कथाओं से ऊपर हों और जिन्होंने लौकिक कार्यकलापों के तथाकथित सुख की कटुता का पहले से आस्वादन किया हो। *वेदान्त सूत्र* का पहला सूत्र है *अथातो ब्रह्मजिज्ञासा* अर्थात् जब किसी ने इन्द्रियतृप्ति के बाजार में लौकिक जिज्ञासाओं का सौदा पूरा कर लिया हो तभी वह ब्रह्म के विषय में प्रासंगिक जिज्ञासाएँ कर सकता है। जो लोग ऐसी लौकिक जिज्ञासाओं में व्यस्त रहते हैं जिनसे समाचारपत्र तथा अन्य ऐसे ग्रंथ भरे रहते हैं, वे *स्त्रीशूद्रद्विजबन्धु* अर्थात् स्त्रियों, श्रमिकों तथा उच्च जाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) के अयोग्य पुत्रों की श्रेणी में आते हैं। ऐसे अल्पज्ञ लोग *वेदान्त सूत्र* के प्रयोजन को नहीं समझ सकते यद्यपि वे विकृत रूप में सूत्रों का अध्ययन करने का स्वांग कर सकते हैं। *वेदान्त सूत्र* के असली प्रयोजन की व्याख्या प्रणेता ने स्वयं *श्रीमद्भागवत* में की है और *श्रीमद्भागवत* के सन्दर्भ के बिना *वेदान्त सूत्र* को समझने का प्रयास करने वाला कोई भी व्यक्ति निश्चय ही दिग्भ्रमित हो जाता है। ऐसे दिग्भ्रमित लोगों को जो शरीर को आत्मा

समझने की गलत धारणा के अधीन, लौकिक परोपकारी कार्यों में रुचि दिखाते हैं, *महाभारत* से लाभ उठाना चाहिए जिसे श्रीव्यासदेव ने विशेष रूप से उन्हीं के लाभार्थ लिखा है। इस महान् प्रणेता ने *महाभारत* की रचना इस प्रकार की है कि ऐसे अल्पज्ञ लोग, जिन्हें लौकिक कथाओं में अधिक रूचि है, बड़े चाव से *महाभारत* को पढ़ सकते हैं और ऐसे लौकिक सुख के दौरान वे *भगवद्गीता* का भी लाभ उठा सकते हैं, जो कि *श्रीमद्भागवत* या *वेदान्त सूत्र* का प्रारम्भिक अध्ययन है। श्रील व्यासदेव द्वारा लौकिक कार्यकलापों का इतिहास लिखने में, अल्पज्ञों के लिए *भगवद्गीता* के माध्यम से दिव्य साक्षात्कार का अवसर प्रदान करने के अतिरिक्त, कोई अन्य प्रयोजन न था। विदुर द्वारा *महाभारत* का संदर्भ सूचित करता है कि उन्होंने अपने असली पिता व्यासदेव से *महाभारत* सुनी जब वे घर से दूर रहकर तीर्थ स्थलों का भ्रमण कर रहे थे।

सा श्रद्दधानस्य विवर्धमाना
विरक्तिमन्यत्र करोति पुंसः ।
हरेः पदानुस्मृतिनिर्वृतस्य
समस्तदुःखाप्ययमाशु धत्ते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सा—कृष्णकथा; श्रद्दधानस्य—श्रद्धापूर्वक सुनने के इच्छुक लोगों के; विवर्धमाना—क्रमशः बढ़ती हुई; विरक्तिम्—अन्यमनस्कता; अन्यत्र—अन्य बातों (ऐसी कथाओं के अतिरिक्त) में; करोति—करता है; पुंसः—ऐसे व्यस्त व्यक्ति का; हरेः—भगवान् का; पद-अनुस्मृति—भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर स्मरण; निर्वृतस्य—ऐसा दिव्य आनन्द प्राप्त करने वाले का; समस्त-दुःख—सारे कष्ट; अप्ययम्—दूर हुए; आशु—तुरन्त; धत्ते—सम्पन्न करता है।

जो व्यक्ति ऐसी कथाओं का निरन्तर श्रवण करते रहने के लिए आतुर रहता है, उसके लिए कृष्णकथा क्रमशः अन्य सभी बातों के प्रति उसकी उदासीनता को बढ़ा देती है। वह भक्त जिसने दिव्य आनन्द प्राप्त कर लिया हो उसके द्वारा भगवान् के चरणकमलों का ऐसा निरन्तर स्मरण तुरन्त ही उसके सारे कष्टों को दूर कर देता है।

तात्पर्य : हमें निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि परम स्तर पर कृष्णकथा तथा कृष्ण एक हैं। भगवान् परम सत्य हैं, अतएव उनका नाम, रूप, गुण, इत्यादि, जिन्हें कृष्णकथा समझा जाता है, उनसे अभिन्न होते हैं। भगवान् द्वारा कही गई *भगवद्गीता* स्वयं कृष्ण के ही समान है, जब कोई शुद्ध भक्त *भगवद्गीता* पढ़ता है, तो यह भगवान् को अपने सामने देखने जैसा होता है, किन्तु लौकिक बखेड़ा करने वाले के लिए यह ऐसा नहीं है। जब कोई *भगवद्गीता* पढ़ता है, बशर्ते कि वह उस रीति से पढ़ी

जाय जिस रूप में स्वयं भगवान् ने *गीता* में संस्तुति की है, तो भगवान् की सारी शक्तियाँ वहाँ होती हैं। ऐसा नहीं है कि कोई *भगवद्गीता* की मूर्खतापूर्ण व्याख्या करके दिव्य लाभ पा सके। जो व्यक्ति किसी प्रच्छन्न उद्देश्य के लिए *भगवद्गीता* का कोई कृत्रिम अर्थ या व्याख्या करना चाहता है, वह *श्रद्दधान पुंस:* अर्थात् कृष्ण कथा के प्रामाणिक श्रवण में उत्सुकतापूर्वक लगा रहने वाला नहीं है। ऐसा व्यक्ति *भगवद्गीता* के पठन से कोई लाभ नहीं प्राप्त कर सकता चाहे वह सामान्य जन की दृष्टि में कितना बड़ा विद्वान क्यों न हो। *श्रद्दधान* अथवा श्रद्धावान भक्त *भगवद्गीता* के सारे लाभ प्राप्त कर सकता है, क्योंकि वह भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता के द्वारा दिव्य आनन्द प्राप्त करता है, जो आसक्ति को दूर करता है और समस्त भौतिक कष्टों को निरस्त करता है। अपने वास्तविक अनुभव से एकमात्र भक्त ही विदुर द्वारा कहे गये इस श्लोक का आशय समझ सकता है। शुद्ध भक्त कृष्णकथा सुनकर भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर स्मरण करते रहने से जीवन का आनन्द लेता है। ऐसे भक्त के लिए भौतिक जगत जैसी कोई वस्तु नहीं होती और अत्यधिक विज्ञापित *ब्रह्मानन्द* का सुख उस भक्त के लिए नगण्य होता है, जो आनन्द के दिव्य सागर में डुबकी लगा रहा हो।

ताञ्छोच्यशोच्यानविदोऽनुशोचे
हरे: कथायां विमुखानघेन ।
क्षिणोति देवोऽनिमिषस्तु येषा-
मायुर्वृथावादगतिस्मृतीनाम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

तान्—उन सब; शोच्य—दयनीय; शोच्यान्—दयनीयों का; अविद:—अज्ञ; अनुशोचे—मुझे तरस आती है; हरे:—भगवान् की; कथायाम्—कथाओं के; विमुखान्—विमुखों पर; अघेन—पापपूर्ण कार्यों के कारण; क्षिणोति—क्षीण पड़ते; देव:—भगवान्; अनिमिष:—नित्यकाल; तु—लेकिन; येषाम्—जिसकी; आयु:—आयु; वृथा—व्यर्थ; वाद—दार्शनिक चिन्तन; गति—चरमलक्ष्य; स्मृतीनाम्—विभिन्न अनुष्ठानों का पालन करने वालों के।

हे मुनि, जो व्यक्ति अपने पाप कर्मों के कारण दिव्य कथा-प्रसंगों से विमुख रहते हैं और फलस्वरूप महाभारत (भगवद्गीता) के उद्देश्य से वंचित रह जाते हैं, वे दयनीय द्वारा भी दया के पात्र होते हैं। मुझे भी उन पर तरस आती है, क्योंकि मैं देख रहा हूँ कि किस तरह नित्यकाल द्वारा उनकी आयु नष्ट की जा रही है। वे दार्शनिक चिन्तन, जीवन के सैद्धान्तिक चरम लक्ष्यों तथा विभिन्न कर्मकाण्डों की विधियों को प्रस्तुत करने में स्वयं को लगाये रहते हैं।

तात्पर्य : प्रकृति के गुणों के अनुसार मनुष्यों तथा भगवान् के बीच तीन प्रकार के सम्बन्ध होते हैं।

जो लोग तमोगुणी तथा रजोगुणी हैं, वे ईश्वर के अस्तित्व के विमुख रहते हैं या वे ईश्वर के अस्तित्व को औपचारिक आपूर्तिकर्ता के पद पर मानते हैं। उनके ऊपर वे हैं, जो सतोगुणी होते हैं। ये दूसरी श्रेणी के लोग परब्रह्म को निर्विशेष मानते हैं। वे भक्ति सम्प्रदाय को स्वीकार करते हैं जिसमें कृष्णकथा सुनना सर्वप्रथम साधन के रूप में होता है, साध्य रूप में नहीं। उनसे भी ऊपर वे हैं, जो शुद्ध भक्त हैं। वे भौतिक सतोगुण के ऊपर दिव्य अवस्था में स्थित होते हैं। ऐसे लोग निश्चित रूप से आश्वस्त रहते हैं कि भगवान् के नाम, रूप, यश, गुण इत्यादि परम स्तर पर एक दूसरे से अभिन्न होते हैं। उनके लिए कृष्णकथा का सुनना कृष्ण के आमने-सामने मिलने के तुल्य होता है। इस श्रेणी के लोगों के अनुसार जो भगवान् की शुद्ध भक्ति को प्राप्त होते हैं, मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य *पुरुषार्थ* है अर्थात् भगवान् की भक्ति है, जो जीवन का असली मिशन है। चूँकि निर्विशेषवादी लोग मानसिक चिन्तन में लगे रहते हैं और भगवान् में श्रद्धा नहीं रखते, अतएव उनका कृष्णकथा सुनने से कोई सरोकार नहीं होता। ऐसे लोग उच्चकोटि के शुद्ध भक्तों की दया के पात्र हैं। दयनीय निर्विशेषवादी उन पर तरस खाते हैं, जो तमो तथा रजो गुणों द्वारा प्रभावित होते हैं, किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त इन दोनों पर तरस खाते हैं, क्योंकि ये दोनों ही मानव जीवन का अपना अमूल्य समय झूठे कार्यों, इन्द्रियभोगों तथा विभिन्न वादों एवं जीवन लक्ष्यों के मानसिक चिन्तन के प्रदर्शन में नष्ट करते हैं।

तदस्य कौषारव शर्मदातु-
हरेः कथामेव कथासु सारम् ।
उद्धृत्य पुष्पेभ्य इवार्तबन्धो
शिवाय नः कीर्तय तीर्थकीर्तेः ॥ १५॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; अस्य—उसका; कौषारव—हे मैत्रेय; शर्म-दातुः—सौभाग्य प्रदान करने वाले; हरेः—भगवान् की; कथाम्—कथाएँ; एव—एकमात्र; कथासु—सभी कथाओं में; सारम्—सार; उद्धृत्य—उद्धरण देकर; पुष्पेभ्यः—फूलों से; इव—सदृश; आर्त-बन्धो—हे दुखियों के बन्धु; शिवाय—कल्याण के लिए; नः—हमारे; कीर्तय—कृपया वर्णन कीजिये; तीर्थ—तीर्थयात्रा; कीर्तेः—कीर्तिवान को।

हे मैत्रेय, हे दुखियारों के मित्र, एकमात्र भगवान् की महिमा सारे जगत के लोगों का कल्याण करने वाली है। अतएव जिस तरह मधुमक्खियाँ फूलों से मधु एकत्र करती हैं, उसी तरह कृपया समस्त कथाओं के सार—कृष्णकथा—का वर्णन कीजिये।

तात्पर्य : विभिन्न भौतिक गुणों वाले भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए अनेक प्रकार की कथाएँ होती

हैं, किन्तु सबसे आवश्यक कथाएँ वे हैं, जो भगवान् से सम्बन्धित होती हैं। दुर्भाग्यवश, भौतिक रूप से प्रभावित बद्धजीव भगवान् की कथाओं के प्रति न्यूनाधिक विमुख रहते हैं, क्योंकि इनमें से कुछ लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते और कुछ ईश्वर के केवल निर्विशेष रूप में ही विश्वास करते हैं। दोनों ही दशाओं में उनके लिए ईश्वर के विषय में कुछ भी नहीं कहना होता। विश्वास न करने वाले तथा निर्विशेषवादी दोनों ही समस्त कथाओं के सार से इनकार करते हैं, अतएव वे या तो इन्द्रियतृप्ति विषयक कथाओं में या मानसिक चिन्तन में अपने को लगाते हैं। विदुर जैसे शुद्ध भक्तों के लिए संसारी लोगों तथा मानसिक चिन्तकों, दोनों ही की कथाएँ सभी तरह से व्यर्थ हैं। अत: विदुर ने मैत्रेय से केवल सार, अर्थात् कृष्णकथा के विषय में बातें करने की प्रार्थना की, अन्य किसी विषय पर नहीं।

स विश्वजन्मस्थितिसंयमार्थे
कृतावतार: प्रगृहीतशक्ति: ।
चकार कर्माण्यतिपूरुषाणि
यानीश्वर: कीर्तय तानि मह्यम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

स:—भगवान्; विश्व—ब्रह्माण्ड; जन्म—सृष्टि; स्थिति—भरण-पोषण; संयम-अर्थे—पूर्ण नियंत्रण की दृष्टि से; कृत—स्वीकृत; अवतार:—अवतार; प्रगृहीत—सम्पन्न किया हुआ; शक्ति:—शक्ति; चकार—किया; कर्माणि—दिव्यकर्म; अति-पूरुषाणि—अतिमानवीय; यानि—वे सभी; ईश्वर:—भगवान्; कीर्तय—कृपया कीर्तन करें; तानि—उन सबों का; मह्यम्—मुझसे।

कृपया उन परम नियन्ता भगवान् के समस्त अतिमानवीय दिव्य कर्मों का कीर्तन करें जिन्होंने विराट सृष्टि के प्राकट्य तथा पालन के लिए समस्त शक्ति से समन्वित होकर अवतार लेना स्वीकार किया।

तात्पर्य : निस्सन्देह, विदुर कृष्ण के विषय में विशेष रूप से सुनने के अत्यन्त उत्सुक थे, किन्तु वे भावाभिभूत थे, क्योंकि कृष्ण ने इस दृश्य जगत से हाल ही में प्रयाण किया था। अतएव विदुर ने उनके उन पुरुष अवतारों के विषय में सुनना चाहा, जिन्हें वे विराट जगत की सृष्टि तथा भरण-पोषण के लिए पूर्ण शक्तियों समेत प्रकट करते हैं। पुरुष अवतारों के कार्यकलाप भगवान् के कार्यों के विस्तार मात्र होते हैं। विदुर ने मैत्रेय को यह संकेत दिया, क्योंकि मैत्रेय यह तय नहीं कर पा रहे थे कि कृष्ण के कार्यों के किस अंश का कीर्तन किया जाय।

श्रीशुक उवाच

स एवं भगवान्पृष्टः क्षत्त्रा कौषारवो मुनिः ।
पुंसां निःश्रेयसार्थेन तमाह बहुमानयन् ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; सः—वह; एवम्—इस प्रकार; भगवान्—महर्षि; पृष्टः—पूछे जाने पर; क्षत्त्रा—विदुर द्वारा; कौषारवः—मैत्रेय; मुनिः—महर्षि; पुंसाम्—सारे लोगों के लिए; निःश्रेयस—महानतम कल्याण; अर्थेन—के लिए; तम्—उसको; आह—वर्णन किया; बहु—अत्यधिक; मानयन्—सम्मान करते हुए।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : विदुर का अत्यधिक सम्मान करने के बाद विदुर के अनुरोध पर समस्त लोगों के महानतम कल्याण हेतु महर्षि मैत्रेय मुनि बोले।

तात्पर्य : महर्षि मैत्रेय मुनि को यहाँ पर *भगवान्* कहा गया है, क्योंकि विद्या तथा अनुभव में वे सामान्य मनुष्यों से आगे बढ़ चुके थे। अतः विश्व के लिए महानतम सेवा का उनका चुनाव प्रामाणिक माना गया है। सम्पूर्ण मानव समाज की समग्र कल्याण सेवा तो भगवान् की भक्तिमय सेवा है और विदुर के अनुरोध पर मुनि ने उसका बहुत ही उपयुक्त रुप से वर्णन किया।

मैत्रेय उवाच

साधु पृष्टं त्वया साधो लोकान्साध्वनुगृह्णता ।
कीर्तिं वितन्वता लोके आत्मनोऽधोक्षजात्मनः ॥ १८॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—श्री मैत्रेय ने कहा; साधु—सर्वमंगलमय; पृष्टम्—पूछा गया; त्वया—तुम्हारे द्वारा; साधो—हे भद्रे; लोकान्—सारे लोग; साधु अनुगृह्णता—अच्छाई में दया का प्रदर्शन; कीर्तिम्—कीर्ति; वितन्वता—प्रसार करते हुए; लोके—संसार में; आत्मनः—आत्मा का; अधोक्षज—ब्रह्म; आत्मनः—मन।

श्रीमैत्रेय ने कहा : हे विदुर, तुम्हारी जय हो। तुमने मुझसे सबसे अच्छी बात पूछी है। इस तरह तुमने संसार पर तथा मुझ पर अपनी कृपा प्रदर्शित की है, क्योंकि तुम्हारा मन सदैव ब्रह्म के विचारों में लीन रहता है।

तात्पर्य : ब्रह्म विज्ञान में अनुभवी मैत्रेय मुनि समझ गये कि विदुर का मन पूर्णतया ब्रह्म में लीन है। *अधोक्षज* का अर्थ है, जो इन्द्रिय अनुभूति या इन्द्रिय अनुभव की सीमाओं को लाँघ जाता है। भगवान् हमारे इन्द्रिय अनुभव के परे हैं, किन्तु वे निष्ठावान भक्त के समक्ष अपने को प्रकट करते हैं। चूँकि विदुर भगवान् के विचार में सदैव लीन रहते थे, अतएव मैत्रेय विदुर के दिव्य महत्त्व का अनुमान लगा सके। उन्होंने विदुर के मूल्यवान प्रश्नों को सराहा और अत्यन्त आदर के साथ उन्हें धन्यवाद दिया।

नैतच्चित्रं त्वयि क्षत्तर्बादरायणवीर्यजे ।
गृहीतोऽनन्यभावेन यत्त्वया हरिरीश्वरः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; एतत्—ऐसे प्रश्न; चित्रम्—अत्यन्त आश्चर्यजनक; त्वयि—तुममें; क्षत्तः—हे विदुर; बादरायण—व्यासदेव के; वीर्य-जे—वीर्य से उत्पन्न; गृहीतः—स्वीकृत; अनन्य-भावेन—विचार से हटे बिना; यत्—क्योंकि; त्वया—तुम्हारे द्वारा; हरिः—भगवान्; ईश्वरः—भगवान्।

हे विदुर, यह तनिक भी आश्चर्यप्रद नहीं है कि तुमने अनन्य भाव से भगवान् को इस तरह स्वीकार कर लिया है, क्योंकि तुम व्यासदेव के वीर्य से उत्पन्न हो।

तात्पर्य : यहाँ पर विदुर के जन्म को लेकर महान् वंश तथा कुलीन जन्म का मूल्यांकन किया गया है। मनुष्य का अनुशीलन तभी शुरू हो जाता है जब पिता अपना वीर्य माता के गर्भ में स्थापित करता है। जीव अपने *कर्म* के स्तर के अनुसार विशिष्ट पिता के वीर्य में अवस्थित कर दिया जाता है और चूँकि विदुर सामान्य जीव न थे, अतएव उन्हें व्यास के वीर्य से जन्म लेने का अवसर प्रदान किया गया। मनुष्य का जन्म महान् विज्ञान है, अतएव वैदिक अनुष्ठान के अनुसार वीर्यस्थापन का संस्कार जो *गर्भाधान* संस्कार कहलाता है, उत्तम जनसंख्या को उत्पन्न करने के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मूल समस्या जनता की वृद्धि को रोकने की नहीं, अपितु विदुर, व्यास तथा मैत्रेय जैसी अच्छी संतति उत्पन्न करने की है। यदि जन्म सम्बन्धी समस्त सावधानियों के साथ बच्चे मनुष्य के रूप में उत्पन्न हों तो जनसंख्या-वृद्धि रोकने की कोई आवश्यकता नहीं है। तथाकथित जन्म-नियंत्रण (संतति-निरोध) न केवल दूषित है, अपितु निरर्थक भी है।

माण्डव्यशापाद्भगवान्प्रजासंयमनो यमः ।
भ्रातुः क्षेत्रे भुजिष्यायां जातः सत्यवतीसुतात् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

माण्डव्य—माण्डव्य नामक महर्षि; शापात्—उसके शाप से; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; प्रजा—जन्म लेने वाला; संयमनः—मृत्यु का नियंत्रक; यमः—यमराज नाम से विख्यात; भ्रातुः—भाई की; क्षेत्रे—पत्नी में; भुजिष्यायाम्—रखैल; जातः—उत्पन्न; सत्यवती—सत्यवती (विचित्रवीर्य तथा व्यासदेव की माता); सुतात्—पुत्र (व्यासदेव) से।

मैं जानता हूँ कि तुम माण्डव्य मुनि के शाप के कारण विदुर बने हो और इसके पूर्व तुम जीवों की मृत्यु के पश्चात उनके महान् नियंत्रक राजा यमराज थे। तुम सत्यवती के पुत्र व्यासदेव द्वारा उसके भाई की रखैल पत्नी से उत्पन्न हुए थे।

तात्पर्य : माण्डव्य मुनि एक महान ऋषि थे (देखें *भागवत* १.१३.१) और विदुर अपने पूर्वजन्म में नियंत्रक यमराज थे, जो जीवों की मृत्यु के बाद उनका कार्यभार सँभालता है। इस भौतिक जगत में रहने वाले जीवों की तीन दशाएँ हैं—जन्म, भरण-पोषण तथा मृत्यु। एक बार मृत्यु के पश्चात् नियुक्त नियंत्रक के रूप में यमराज ने माण्डव्य मुनि को उनके बचपन के दुराचार के लिए दण्ड दिया और उन्हें भाले से छेदे जाने का आदेश दे दिया। इस अनुचित दण्ड के लिए यमराज पर क्रुद्ध होकर माण्डव्य ने उसे शूद्र बनने का शाप दे दिया। इस तरह यमराज ने विचित्रवीर्य की रखैल पत्नी के गर्भ से विचित्रवीर्य के भाई व्यासदेव के वीर्य से जन्म लिया। व्यासदेव सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न भीष्मदेव के पिता शान्तनु के पुत्र थे। विदुर का यह रहस्यमय इतिहास मैत्रेय मुनि को ज्ञात था, क्योंकि वे व्यासदेव के समकालीन मित्र थे। रखैल पत्नी के गर्भ से जन्म होने के बावजूद विदुर ने महान् भगवद्भक्त होने की सर्वोच्च प्रतिभा का उत्तराधिकार प्राप्त किया, क्योंकि उनके माता-पिता महान् थे और उनका सम्बन्ध महान् था। ऐसे महान् वंश में जन्म लेना भक्तिमय जीवन प्राप्त करने के लिए लाभप्रद है। विदुर को यह अवसर अपनी पूर्वजन्म की महानता के कारण प्राप्त हो सका।

भवान्भगवतो नित्यं सम्मतः सानुगस्य ह ।
यस्य ज्ञानोपदेशाय मादिशद्भगवान्व्रजन् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

भवान्—आप ही; भगवतः—भगवान् के; नित्यम्—नित्य; सम्मतः—मान्य; स-अनुगस्य—संगियों में से एक; ह—रहे हैं; यस्य—जिसका; ज्ञान—ज्ञान; उपदेशाय—उपदेश के लिए; मा—मुझको; आदिशत्—इस तरह आदिष्ट; भगवान्—भगवान् ने; व्रजन्—अपने धाम जाते हुए।

आप भगवान् के नित्यसंगियों में से एक हैं जिनके लिए भगवान् अपने धाम वापस जाते समय मेरे पास उपदेश छोड़ गये हैं।

तात्पर्य : मृत्यु के पश्चात् जीवन के महान् नियंत्रक यमराज जीवों के अगले जीवन के भाग्य का निर्णय करते हैं। वे निश्चय ही भगवान् के प्रतिनिधियों में सर्वाधिक विश्वसनीय हैं। ऐसे विश्वसनीय पद उन महान् भगवद्भक्तों को दिये जाते हैं, जो वैकुण्ठ में भगवान् के नित्य संगियों के समान होते हैं। चूंकि विदुर उनमें से एक थे, अतएव वैकुण्ठ वापस जाते समय भगवान् मैत्रेय के पास विदुर के लिए उपदेश छोड़ते गये। सामान्यतया भगवान् के वैकुण्ठ के संगी भौतिक जगत में नहीं आते। किन्तु कभी-

कभी भगवान् के आदेश से वे, किसी प्रशासनिक पद का भार सँभालने नहीं, अपितु भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करने अथवा मानव समाज में भगवान् के सन्देश का प्रसार करने के लिए आते हैं। ऐसे शक्तिप्रदत्त प्रतिनिधि *शक्त्यावेश अवतार* कहलाते हैं।

अथ ते भगवल्लीला योगमायोरुबृंहिताः ।
विश्वस्थित्युद्भवान्तार्था वर्णयाम्यनुपूर्वशः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अथ—इसलिए; ते—आपसे; भगवत्—भगवान् विषयक; लीलाः—लीलाएँ; योग-माया—भगवान् की शक्ति; उरु—अत्यधिक; बृंहिताः—विस्तारित; विश्व—विराट जगत के; स्थिति—पालन; उद्भव—सृजन; अन्त—संहार; अर्थाः—प्रयोजन; वर्णयामि—वर्णन करूँगा; अनुपूर्वशः—क्रमबद्ध रीति से।

अतएव मैं आपसे उन लीलाओं का वर्णन करूँगा जिनके द्वारा भगवान् विराट जगत के क्रमबद्ध सृजन, भरण-पोषण तथा संहार के लिए अपनी दिव्य शक्ति का विस्तार करते हैं।

तात्पर्य : सर्वशक्तिमान भगवान् अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा अपनी इच्छानुसार कुछ भी कर सकते हैं। विराट जगत की सृष्टि उनकी *योगमाया* शक्ति द्वारा की जाती है।

भगवानेक आसेदमग्र आत्मात्मनां विभुः ।
आत्मेच्छानुगतावात्मा नानामत्युपलक्षणः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; एकः—अद्वय; आस—था; इदम्—यह सृष्टि; अग्रे—सृष्टि के पूर्व; आत्मा—अपने स्वरूप में; आत्मनाम्—जीवों के; विभुः—स्वामी; आत्मा—आत्मा; इच्छा—इच्छा; अनुगतौ—लीन होकर; आत्मा—आत्मा; नाना-मति—विभिन्न दृष्टियाँ; उपलक्षणः—लक्षण।

समस्त जीवों के स्वामी, भगवान् सृष्टि के पूर्व अद्वय रूप में विद्यमान थे। केवल उनकी इच्छा से ही यह सृष्टि सम्भव होती है और सारी वस्तुएँ पुनः उनमें लीन हो जाती हैं। इस परम पुरुष को विभिन्न नामों से उपलक्षित किया जाता है।

तात्पर्य : यहाँ पर महर्षि *श्रीमद्भागवत* के चार आदि श्लोकों के अभिप्राय की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं। यद्यपि मायावाद (निर्विशेषवाद) के अनुयायियों की *श्रीमद्भागवत* तक पैठ नहीं है, किन्तु कभी-कभी वे उसके चार आदि श्लोकों की खींचतान कर काल्पनिक व्याख्या करते हैं। किन्तु हमें मैत्रेय मुनि द्वारा यहाँ पर दी गई असली व्याख्या को स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि उन्होंने इसे उद्धव के साथ प्रत्यक्ष भगवान् के मुख से सुना था। इन चार आदि श्लोकों की प्रथम पंक्ति है *अहम् एवासम्*

एवाग्रे। मायावादी इस *अहम्* शब्द की ऐसी गलत व्याख्या करते हैं जिसे व्याख्याकार के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं समझ सकता। यहाँ पर *अहम्* की व्याख्या परम पुरुषोत्तम भगवान् के अर्थ में की गई है, व्यष्टि जीवों के अर्थ में नहीं। सृष्टि के पूर्व केवल भगवान् थे। तब कोई भी *पुरुष-अवतार* नहीं थे और जीव तो थे ही नहीं, न ही भौतिक शक्ति थी जिससे व्यक्त सृष्टि प्रभावित होती है। तब सारे पुरुष-अवतार तथा भगवान् की सारी विभिन्न शक्तियाँ एकमात्र भगवान् में समाहित थीं।

यहाँ पर भगवान् को अन्य समस्त जीवों का स्वामी कहा गया है। वे सूर्यगोलक के तुल्य हैं और सारे जीव सूर्य की किरणों के अणु के तुल्य हैं। सृष्टि के पूर्व भगवान् के अस्तित्व की पुष्टि श्रुतियों द्वारा हुई है—*वासुदेवो वा इदं अग्र आसीत् न ब्रह्मा न च शङ्करः। एको वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानाः*। चूँकि प्रत्येक वस्तु भगवान् से उद्‌भूत है, वे सदैव अकेले अद्वय रूप में विद्यमान रहते हैं। वे इस तरह विद्यमान रह सकते हैं, क्योंकि वे सर्व-सम्पूर्ण तथा सर्वशक्तिमान हैं। उनके अतिरिक्त हर वस्तु, यहाँ तक कि उनके स्वांश विष्णुतत्त्व भी, उनके अंश हैं। सृष्टि के पूर्व न तो कारणार्णवशायी विष्णु थे, न गर्भोदकशायी विष्णु या क्षीरोदकशायी विष्णु या ब्रह्मा अथवा शंकर ही थे। विष्णुतत्त्व तथा ब्रह्मा इत्यादि सारे जीव भिन्नांश हैं। यद्यपि आध्यात्मिक जगत भगवान् के साथ था, किन्तु भौतिक जगत उनमें सुसुप्त था। केवल उनकी इच्छा से भौतिक जगत बनता तथा बिगड़ता है। वैकुण्ठलोक की विविधता भगवान् से एकाकार है, जिस तरह सैनिकों की विविधता राजा से तदाकार होती है। जैसाकि *भगवद्‌गीता* (९.७) में बतलाया गया है भौतिक सृष्टि भगवान् की इच्छा से होती है और सृष्टि तथा प्रलय के कुछ अन्तराल के बीच की अवधियों में जीव तथा भौतिक शक्ति उनमें सुसुप्त रहते हैं।

स वा एष तदा द्रष्टा नापश्यद्दृश्यमेकराट् ।
मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृक् ॥ २४॥

शब्दार्थ

सः—भगवान्; वा—अथवा; एषः—ये सभी; तदा—उस समय; द्रष्टा—देखने वाला; न—नहीं; अपश्यत्—देखा; दृश्यम्—विराट सृष्टि; एक-राट्—निर्विवाद स्वामी; मेने—इस तरह सोचा; असन्तम्—अविद्यमान; इव—सदृश; आत्मानम्—स्वांश रूप; सुप्त—अव्यक्त; शक्तिः—भौतिक शक्ति; असुप्त—व्यक्त; दृक्—अन्तरंगा शक्ति।

हर वस्तु के निर्विवाद स्वामी भगवान् ही एकमात्र द्रष्टा थे। उस समय विराट जगत का अस्तित्व न था, अतः अपने स्वांशों तथा भिन्नांशों के बिना वे अपने को अपूर्ण अनुभव कर रहे

थे। तब भौतिक शक्ति सुसुप्त थी जबकि अन्तरंगा शक्ति व्यक्त थी।

तात्पर्य : भगवान् परम द्रष्टा हैं, क्योंकि उनकी चितवन मात्र से भौतिक शक्ति विराट सृष्टि के लिए गतिशील हुई। उस समय द्रष्टा तो था, किन्तु बहिरंगा शक्ति, जिस पर भगवान् अपनी चितवन फेरते हैं, उपस्थित नहीं थी। उन्हें कुछ अधूरा सा लग रहा था जिस तरह पति को पत्नी की अनुपस्थिति में अकेलापन अनुभव होता है। यह कथात्मक उपमा है। भगवान् ने उन बद्ध आत्माओं को जो विस्मृति में सुप्त थीं, दूसरा अवसर प्रदान करने के लिए विराट सृष्टि का सृजन करना चाहा। विराट सृष्टि बद्धजीवों को भगवद्धाम वापस जाने का अवसर प्रदान करती है और यही इसका मुख्य उद्देश्य है। भगवान् इतने कृपालु हैं कि ऐसी सृष्टि की अनुपस्थिति में ऐसा अनुभव करते हैं कि जैसे किसी वस्तु की कमी हो और इस तरह सृष्टि की रचना होती है। यद्यपि अन्तरंगा शक्ति की सृष्टि व्यक्त थी, किन्तु दूसरी शक्ति सुप्त प्रतीत हो रही थी। भगवान् उसे जगाकर गतिशील बनाना चाहते थे जिस तरह पति अपनी सोई हुई पत्नी को रमण के लिए जगाना चाहता है। यह तो सुप्त शक्ति पर भगवान् का अनुग्रह है कि वे उसे रमण के लिए जागृत देखना चाहते हैं जिस तरह अन्य पत्नियाँ जागृत हैं। सारी प्रक्रिया सुप्त बद्धजीवों को आध्यात्मिक चेतना के असली जीवन में लाने की है, जिससे वे उसी तरह पूर्ण बन सकें जिस तरह कि वैकुण्ठलोक की नित्यमुक्त आत्माएँ। चूँकि भगवान् सच्चिदानन्द विग्रह हैं, अतएव वे आनन्दमय रस में अपनी विभिन्न शक्तियों के हर भिन्नांश को भागीदार बनाना चाहते हैं, क्योंकि भगवान् की नित्य रासलीला में भगवान् के साथ सम्मिलित होना सर्वोच्च जागृत अवस्था है, जो आध्यात्मिक आनन्द तथा नित्य ज्ञान से परिपूर्ण है।

सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका ।
माया नाम महाभाग ययेदं निर्ममे विभुः ॥ २५॥

शब्दार्थ

सा—वह बहिरंगा शक्ति; वा—अथवा है; एतस्य—भगवान् की; संद्रष्टुः—पूर्ण द्रष्टा की; शक्तिः—शक्ति; सत्-असत्-आत्मिका—कार्य तथा कारण दोनों रूप में; माया नाम—माया नामक; महा-भाग—हे भाग्यवान; यया—जिससे; इदम्—यह भौतिक जगत; निर्ममे—निर्मित किया; विभुः—सर्वशक्तिमान ने।

भगवान् द्रष्टा हैं और बहिरंगा शक्ति, जो दृष्टिगोचर है, विराट जगत में कार्य तथा कारण दोनों रूप में कार्य करती है। हे महाभाग विदुर, यह बहिरंगा शक्ति माया कहलाती है और केवल

इसी के माध्यम से सम्पूर्ण भौतिक जगत सम्भव होता है।

तात्पर्य : माया कहलाने वाली भौतिक प्रकृति ब्रह्माण्डों का भौतिक तथा सक्षम कारण है, किन्तु पृष्ठभूमि में इन सभी कार्यों के लिए भगवान् चेतनास्वरूप हैं। जिस तरह व्यष्टि शरीर में चेतना ही शरीर की समस्त शक्तियों का स्रोत होती है, उसी तरह भगवान् की परम चेतना भौतिक प्रकृति में समस्त शक्तियों की स्रोत है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.१०) में इस प्रकार हुई है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

"भौतिक प्रकृति की समस्त शक्तियों में अन्तिम अधीक्षक के रूप में भगवान् का हाथ रहता है। इस परम कारण के फलस्वरूप ही भौतिक प्रकृति के सारे कार्य सुनियोजित एवं व्यवस्थित प्रतीत होते हैं और सारी वस्तुएँ नियमित रूप से विकसित होते जाती हैं।"

कालवृत्त्या तु मायायां गुणमय्यामधोक्षजः ।
पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

काल—शाश्वत काल के; वृत्त्या—प्रभाव से; तु—लेकिन; मायायाम्—बहिरंगा शक्ति में; गुण-मय्याम्—प्रकृति के गुणात्मक रूप में; अधोक्षजः—ब्रह्म; पुरुषेण—पुरुष के अवतार द्वारा; आत्म-भूतेन—जो भगवान् का स्वांश है; वीर्यम्—जीवों का बीज; आधत्त—संस्थापित किया; वीर्यवान्—परम पुरुष ने।

अपने स्वांश दिव्य पुरुष अवतार के रूप में परम पुरुष प्रकृति के तीन गुणों में बीज संस्थापित करता है और इस तरह नित्य काल के प्रभाव से सारे जीव प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : किसी भी जीव की सन्तान पिता द्वारा माता के गर्भ में वीर्य संस्थापित किये जाने पर उत्पन्न होती है और पिता के वीर्य में तैरता जीव माता का स्वरूप धारण करता है। इसी तरह मातारूपी भौतिक प्रकृति अपने भौतिक तत्त्वों से तब तक किसी जीव को उत्पन्न नहीं कर सकती जब तक स्वयं भगवान् उसे जीवों से गर्भित नहीं बनाते। जीवों की उत्पत्ति का यही रहस्य है। यह गर्भाधान की क्रिया प्रथम पुरुष अवतार कारणार्णवशायी विष्णु द्वारा सम्पन्न की जाती है। केवल उनके दृष्टिपात से यह सारा काम पूरा हो जाता है।

हमें भगवान् द्वारा गर्भाधान की विधि को अपनी यौन-धारणा के रूप में नहीं समझना चाहिए।

सर्वशक्तिमान भगवान् केवल अपनी आँखों से भी गर्भाधान कर सकते हैं, इसलिए वे सर्वशक्तिमान कहलाते हैं। उनके दिव्य शरीर का प्रत्येक अंग अन्य अंगों का कार्य कर सकता है। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (५.३२) में हुई है—*अंगानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति*। *भगवद्गीता* (१४.३) में भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि हुई है—*मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्*। जब विराट जगत व्यक्त होता है, तो जीवों की आपूर्ति सीधे भगवान् से होती है, वे भौतिक प्रकृति की उपज नहीं होते। इस तरह भौतिक विज्ञान की कोई भी वैज्ञानिक प्रगति कभी कोई जीव उत्पन्न नहीं कर सकती। भौतिक सृष्टि का यही सम्पूर्ण रहस्य है। जीवात्माएँ पदार्थ से विजातीय होते हैं, अतएव जब तक वे भगवान् जैसे आध्यात्मिक जीवन में स्थित नहीं हो जाते, वे सुखी नहीं हो सकते। दिग्भ्रमित जीव अपने जीवन की इस आदि स्थिति की विस्मृति के कारण इस भौतिक जगत में सुखी बनने के लिए व्यर्थ समय गँवाता है। सम्पूर्ण वैदिक प्रक्रिया जीव को जीवन के इसी अनिवार्य स्वरूप का स्मरण दिलाने के लिए है। भगवान् बद्धात्मा को उसके तथाकथित भोग के लिए भौतिक शरीर प्रदान करते हैं और यदि वह चेतता नहीं और आध्यात्मिक चेतना में प्रविष्ट नहीं होता तो भगवान् उसे पुन: उसी अव्यक्त अवस्था में डाल देते हैं जिसमें वह सृष्टि के प्रारम्भ में था। यहाँ पर भगवान् को *वीर्यवान्* कहा गया है, क्योंकि वे भौतिक प्रकृति में उन असंख्य जीवों का गर्भाधान करते हैं, जो अनादि काल से बद्ध हैं।

ततोऽभवन्महत्तत्त्वमव्यक्तात्कालचोदितात् ।
विज्ञानात्मात्मदेहस्थं विश्वं व्यञ्जंस्तमोनुदः ॥ २७॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; अभवत्—जन्म हुआ; महत्—परम; तत्त्वम्—सार; अव्यक्तात्—अव्यक्त से; काल-चोदितात्—काल की अन्त:क्रिया से; विज्ञान-आत्मा—शुद्ध सत्त्व; आत्म-देह-स्थम्—शारीरिक आत्मा में स्थित; विश्वम्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड; व्यञ्जन्—प्रकट करते हुए; तमः-नुदः—परम प्रकाश।

तत्पश्चात् नित्यकाल की अन्त:क्रियाओं से प्रभावित पदार्थ का परम सार, जो कि महत् तत्त्व कहलाता है, प्रकट हुआ और इस महत् तत्त्व में शुद्ध सत्त्व अर्थात् भगवान् ने अपने शरीर से ब्रह्माण्ड अभिव्यक्ति के बीज बोये।

तात्पर्य : कालक्रम से गर्भित भौतिक शक्ति सर्वप्रथम सम्पूर्ण भौतिक अवयवों के रूप में प्रकट हुई। फलित होने में हर वस्तु अपना समय लेती है, अतएव *कालचोदितात* (काल द्वारा प्रभावित) शब्द

का यहाँ पर प्रयोग हुआ है। महत् तत्त्व सम्पूर्ण चेतना है, क्योंकि इसका एक अंश हर एक में बुद्धि के रूप में प्रदर्शित होता है। महत् तत्त्व परम पुरुष की परम चेतना से सीधे जुड़ा है, फिर भी यह पदार्थ के रूप में प्रतीत होता है। महत् तत्त्व अथवा शुद्ध चेतना का प्रतिबिम्ब समस्त सृष्टि की अंकुरणस्थली है। यह रजोगुण से थोड़ा सामिश्रित शुद्ध सत्त्व है, अतएव यहीं से गतिशीलता उत्पन्न होती है।

सोऽप्यंशगुणकालात्मा भगवद्दृष्टिगोचरः ।
आत्मानं व्यकरोदात्मा विश्वस्यास्य सिसृक्षया ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सः—महत् तत्त्व; अपि—भी; अंश—पुरुष स्वांश; गुण—मुख्यतया तमोगुण; काल—काल की अवधि; आत्मा—पूर्णचेतना; भगवत्—भगवान् की; दृष्टि-गोचरः—दृष्टि की सीमा; आत्मानम्—अनेक भिन्न-भिन्न रूपों को; व्यकरोत्—विभेदित; आत्मा—आगार; विश्वस्य—होने वाले जीवों का; अस्य—इस; सिसृक्षया—मिथ्या अहंकार को उत्पन्न करता है।.

तत्पश्चात् महत् तत्त्व अनेक भिन्न-भिन्न भावी जीवों के आगार रूपों में विभेदित हो गया। यह महत् तत्त्व मुख्यतया तमोगुणी होता है और यह मिथ्या अहंकार को जन्म देता है। यह भगवान् का स्वांश है, जो सर्जनात्मक सिद्धान्तों की पूर्ण चेतना तथा फलनकाल से युक्त होता है।

तात्पर्य : महत् तत्त्व शुद्ध आत्मा एवं भौतिक जगत के बीच का माध्यम है। यह पदार्थ तथा आत्मा का सन्धिस्थल है जहाँ से जीव का मिथ्या अहंकार उत्पन्न होता है। सारे जीव भगवान् के भिन्नांश हैं। मिथ्या अहंकार के दबाव में आकर बद्धात्माएँ पूर्ण पुरुषोतत्तम भगवान् के भिन्नांश होते हुए भी भौतिक प्रकृति की भोक्ता होने का दावा करती हैं। यह मिथ्या अहंकार भौतिक जगत की बन्धक शक्ति है। भगवान् मोहग्रस्त बद्धात्माओं को इस मिथ्या अहंकार से मुक्त होने के लिए बारम्बार अवसर प्रदान करते हैं, इसी के कारण भौतिक सृष्टि कालान्तरों पर होती है। वे बद्धात्माओं को अपने मिथ्या अहंकार के कार्यों को सुधारने की सारी सुविधाएँ प्रदान करते हैं, किन्तु वे भगवान् के भिन्नांश होने की उनकी यत्किंचित स्वतंत्रता में व्यवधान नहीं डालते।

महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणादहंतत्त्वं व्यजायत ।
कार्यकारणकर्त्रात्मा भूतेन्द्रियमनोमयः ।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

महत्—महान्; तत्त्वात्—कारणस्वरूप सत्य से; विकुर्वाणात्—रूपान्तरित होने से; अहम्—मिथ्या अहंकार; तत्त्वम्—भौतिक सत्य; व्यजायत—प्रकट हुआ; कार्य—प्रभाव; कारण—कारण; कर्तृ—कर्ता; आत्मा—आत्मा या स्रोत; भूत—भौतिक अवयव; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; मनः-मयः—मानसिक धरातल पर मँडराता; वैकारिकः—सतोगुण; तैजसः—रजोगुण; च—तथा; तामसः—तमोगुण; च—तथा; इति—इस प्रकार; अहम्—मिथ्या अहंकार; त्रिधा—तीन प्रकार।

महत् तत्त्व या महान् कारण रूप सत्य मिथ्या अहंकार में परिणत होता है, जो तीन अवस्थाओं में—कारण, कार्य तथा कर्ता के रूप में—प्रकट होता है। ऐसे सारे कार्य मानसिक धरातल पर होते हैं और वे भौतिक तत्त्वों, स्थूल इन्द्रियों तथा मानसिक चिन्तन पर आधारित होते हैं। मिथ्या अहंकार तीन विभिन्न गुणों—सतो, रजो तथा तमो—में प्रदर्शित होता है।

तात्पर्य : शुद्ध जीवात्मा अपने आदि आध्यात्मिक अस्तित्व में भगवान् के नित्यदास के रूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति से पूर्णतया सचेत रहता है। सारी आत्माएँ जो ऐसी शुद्ध चेतनाओं में स्थित होती हैं मुक्त होती हैं, अतएव वे आध्यात्मिक आकाश में विभिन्न वैकुण्ठलोकों में आनन्द तथा ज्ञान में नित्य निवास करती हैं। जब भौतिक सृष्टि प्रकट होती है, तो यह उनके निमित्त नहीं होती। नित्य मुक्त आत्माएँ *नित्यमुक्त* कहलाती हैं जिनका भौतिक सृष्टि से कोई वास्ता नहीं रहता। भौतिक सृष्टि उन विद्रोही आत्माओं के निमित्त है, जो भगवान् की अधीनता स्वीकार करने को तैयार नहीं होतीं। मिथ्या स्वामित्व की यह भावना मिथ्या अहंकार कहलाती है। यह प्रकृति के तीन गुणों में व्यक्त होती है और यह केवल मानसिक चिन्तन में विद्यमान रहती है। जो लोग सतोगुणी होते हैं, वे प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वर समझते हैं और इस तरह वे उन शुद्ध भक्तों का परिहास करते हैं, जो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहने का प्रयास करते हैं। जो लोग रजोगुण के कारण गर्वित रहते हैं, वे प्रकृति पर अनेक प्रकार से प्रभुत्व जताने का प्रयास करते हैं। इनमें से कुछ लोग उपकारी कार्यों में लगे रहते हैं मानो वे अपनी मानसिक चिन्तनशील योजनाओं के द्वारा अन्यों का कल्याण करने के लिए नियुक्त एजेण्ट हों। ऐसे लोग लौकिक उपकार के आदर्श नियमों को स्वीकार करते हैं, किन्तु उनकी योजनाएँ मिथ्या अहंकार के आधार पर बनती हैं। यह मिथ्या अहंकार भगवान् से एकाकार होने की सीमा तक विस्तार करता है। अहंकारी बद्धात्माओं की अन्तिम श्रेणी—जो तमोगुणी होती है—स्थूल शरीर के साथ आत्मा की पहचान करने के कारण दिग्भ्रमित रहती है। इस तरह उनके सारे कार्यकलाप केवल शरीर के चारों ओर केन्द्रित रहते हैं। इन सारे व्यक्तियों को मिथ्या अहंकारवादी विचारों से खिलवाड़ करने का अवसर

प्रदान किया जाता है, किन्तु साथ ही भगवान् इतने दयालु हैं कि वे उन्हें *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* जैसे शास्त्रों की सहायता लेने का अवसर प्रदान करते हैं जिससे वे कृष्णविज्ञान को समझ सकें और अपने जीवन सफल बना सकें। इसलिए सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि उन मिथ्या अंहकारवादी जीवों के लिए होती है, जो प्रकृति के गुणों के अधीन विभिन्न मोहों के अन्तर्गत मानसिक धरातल पर मँडराते रहते हैं।

अहंतत्त्वाद्विकुर्वाणान्मनो वैकारिकादभूत् ।
वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जनं यतः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अहम्-तत्त्वात्—मिथ्या अहंकार के तत्त्व से; विकुर्वाणात्—रूपान्तर द्वारा; मनः—मन; वैकारिकात्—सतोगुण के साथ अन्तःक्रिया द्वारा; अभूत्—उत्पन्न हुआ; वैकारिकाः—अच्छाई से अन्तःक्रिया द्वारा; च—भी; ये—ये सारे; देवाः—देवता; अर्थ—घटना सम्बन्धी; अभिव्यञ्जनम्—भौतिक ज्ञान; यतः—स्रोत।

मिथ्या अहंकार सतोगुण से अन्तःक्रिया करके मन में रूपान्तरित हो जाता है। सारे देवता भी जो घटनाप्रधान जगत को नियंत्रित करते हैं, उसी सिद्धान्त (तत्त्व), अर्थात् मिथ्या अहंकार तथा सतोगुण की अन्तःक्रिया के परिणाम हैं।

तात्पर्य : मिथ्या अहंकार प्रकृति के विभिन्न गुणों से अन्तःक्रिया करके घटनाप्रधान जगत में समस्त वस्तुओं का स्रोत है।

तैजसानीन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तैजसानि—रजोगुण; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; एव—निश्चय ही; ज्ञान—ज्ञान, दार्शनिक चिन्तन; कर्म—सकाम कर्म; मयानि—प्रधान रूप से; च—भी।

इन्द्रियाँ निश्चय ही मिथ्या अहंकारजन्य रजोगुण की परिणाम हैं, अतएव दार्शनिक चिन्तनपरक ज्ञान तथा सकाम कर्म रजोगुण के प्रधान उत्पाद हैं।

तात्पर्य : मिथ्या अहंकार का प्रधान कार्य ईश्वरविहीनता है। जब कोई व्यक्ति भगवान् के नित्य अधीन अंश के रूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति को भूल जाता है और स्वतंत्र रूप से सुखी बनना चाहता है, तो वह मुख्यतः दो तरह से कार्य करता है। सर्वप्रथम वह अपने निजी लाभ या इन्द्रियतृप्ति के लिए सकाम कर्म करने का प्रयास करता है और दीर्घकाल तक ऐसे सकाम कर्म करते रहने के बाद जब वह हताश हो जाता है, तो वह दार्शनिक चिन्तक बन जाता है और अपने को ईश्वर-जैसे स्तर पर

समझने लगता है। भगवान् से तदाकार होने का यह मिथ्या विचार माया का अन्तिम पाश होता है, जो जीव को मिथ्या अहंकार के अधीन विस्मृति के बन्धन में फँसा लेती है।

मिथ्या अहंकार के पाश से मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय है परब्रह्म के विषय में दार्शनिक चिन्तन की आदत का परित्याग। मनुष्य को निश्चित रूप से यह जान लेना चाहिए कि परब्रह्म का साक्षात्कार अपूर्ण अहंकारी व्यक्ति के दार्शनिक चिन्तन द्वारा कभी नहीं हो सकता। परब्रह्म या पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का साक्षात्कार ऐसे प्रामाणिक अधिकारी से उनके विषय में विनय तथा प्रेमपूर्वक श्रवण द्वारा किया जा सकता है, जो बारह महाजनों में से एक हो, जिसका उल्लेख *श्रीमद्भागवत* में हुआ है। ऐसे प्रयास के द्वारा ही मनुष्य भगवान् की मोहमयी शक्ति को जीत सकता है, यद्यपि अन्यों के लिए यह दुर्लंघ्य है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१४) में हुई है।

तामसो भूतसूक्ष्मादिर्यतः खं लिङ्गमात्मनः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तामसः—तमोगुण से; भूत-सूक्ष्म-आदिः—सूक्ष्म इन्द्रिय विषय; यतः—जिससे; खम्—आकाश; लिङ्गम्—प्रतीकात्मक स्वरूप; आत्मनः—परमात्मा का।

आकाश ध्वनि का परिणाम है और ध्वनि अहंकारात्मक काम का रूपान्तर (विकार) है। दूसरे शब्दों में आकाश परमात्मा का प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व है।

तात्पर्य : वैदिक स्तुतियों में कहा गया है—*एतस्माद् आत्मन: आकाश: सम्भूत:*। आकाश परमात्मा की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। जो लोग रजो तथा तमो गुणों में अहंकारी है वे भगवान् की अनुभूति नहीं कर सकते। उनके लिए आकाश परमात्मा की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है।

कालमायांशयोगेन भगवद्वीक्षितं नभः ।
नभसोऽनुसृतं स्पर्शं विकुर्वन्निर्ममेऽनिलम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

काल—काल; माया—बहिरंगा शक्ति; अंश-योगेन—अंशतःमिश्रित; भगवत्—भगवान्; वीक्षितम्—दृष्टिपात किया हुआ; नभः—आकाश; नभसः—आकाश से; अनुसृतम्—इस तरह स्पर्शित होकर; स्पर्शम्—स्पर्श; विकुर्वत्—रूपान्तरित होकर; निर्ममे—निर्मित हुआ; अनिलम्—वायु।

तत्पश्चात् भगवान् ने आकाश पर नित्यकाल तथा बहिरंगा शक्ति से अंशतः मिश्रित दृष्टिपात किया और इस तरह स्पर्श की अनुभूति विकसित हुई जिससे आकाश में वायु उत्पन्न हुई।

तात्पर्य : सारी भौतिक सृष्टियाँ सूक्ष्म से स्थूल बनती है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इसी तरह से विकसित हुआ है। आकाश से स्पर्श अनुभूति विकसित हुई जो नित्यकाल, बहिरंगा शक्ति तथा भगवान् के दृष्टिपात का मिश्रण है। यह स्पर्श अनुभूति आकाश में वायु के रूप में विकसित हो गई। इसी तरह अन्य सारा स्थूल पदार्थ भी सूक्ष्म से स्थूल में विकसित हुआ—ध्वनि आकाश में, स्पर्श वायु में, रूप अग्नि में, स्वाद जल में तथा गन्ध पृथ्वी में विकसित हुई।

अनिलोऽपि विकुर्वाणो नभसोरुबलान्वितः ।
ससर्ज रूपतन्मात्रं ज्योतिर्लोकस्य लोचनम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

अनिलः—वायु; अपि—भी; विकुर्वाणः—रूपान्तरित होकर; नभसा—आकाश; उरु-बल-अन्वितः—अत्यन्त शक्तिशाली; ससर्ज—उत्पन्न किया; रूप—रूप; तत्-मात्रम्—इन्द्रिय अनुभूति, तन्मात्रा; ज्योतिः—बिजली; लोकस्य—संसार के; लोचनम्—देखने के लिए प्रकाश।

तत्पश्चात् अतीव शक्तिशाली वायु ने आकाश से अन्त:क्रिया करके इन्द्रिय अनुभूति (तन्मात्रा) का रूप उत्पन्न किया और रूप की अनुभूति बिजली में रूपान्तरित हो गई जो संसार को देखने के लिए प्रकाश है।

अनिलेनान्वितं ज्योतिर्विकुर्वत्परवीक्षितम् ।
आधत्ताम्भो रसमयं कालमायांशयोगतः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

अनिलेन—वायु द्वारा; अन्वितम्—अन्त:क्रिया करते हुए; ज्योतिः—बिजली; विकुर्वत्—रूपान्तरित होकर; परवीक्षितम्—ब्रह्म द्वारा दृष्टिपात किया जाकर; आधत्त—उत्पन्न किया; अम्भः रस-मयम्—स्वाद से युक्त जल; काल—नित्य काल का; माया-अंश—तथा बहिरंगा शक्ति; योगतः—मिश्रण द्वारा।

जब वायु में बिजली की क्रिया हुई और उस पर ब्रह्म ने दृष्टिपात किया उस समय नित्यकाल तथा बहिरंगा शक्ति के मिश्रण से जल तथा स्वाद की उत्पत्ति हुई।

ज्योतिषाम्भोऽनुसंसृष्टं विकुर्वद्ब्रह्मवीक्षितम् ।
महीं गन्धगुणामाधात्कालमायांशयोगतः ॥ ३६॥

शब्दार्थ

ज्योतिषा—बिजली; अम्भः—जल; अनुसंसृष्टम्—इस प्रकार उत्पन्न हुआ; विकुर्वत्—रूपान्तर के कारण; ब्रह्म—ब्रह्म द्वारा; वीक्षितम्—दृष्टिपात किया गया; महीम्—पृथ्वी; गन्ध—गन्ध; गुणाम्—गुण; आधात्—उत्पन्न किया गया; काल—नित्य काल; माया—बहिरंगा शक्ति; अंश—अंशतः; योगतः—अन्त:मिश्रण से।

तत्पश्चात् बिजली से उत्पन्न जल पर भगवान् ने दृष्टिपात किया और फिर उसमें नित्यकाल तथा बहिरंगा शक्ति का मिश्रण हुआ। इस तरह वह पृथ्वी में रूपान्तरित हुआ जो मुख्यतः गन्ध के गुण से युक्त है।

तात्पर्य : उपर्युक्त श्लोकों में भौतिक तत्त्वों के वर्णनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी अवस्थाओं में अन्य संयोगों तथा परिवर्तनों के साथ भगवान् के दृष्टिपात की आवश्यकता पड़ती है। प्रत्येक रूपान्तर में भगवान् का दृष्टिपात ही अन्तिम पूर्णता प्रदान करता है। वे एक चित्रकार की भाँति कार्य करते हैं, जो विभिन्न रंगों को मिलाकर उन्हें विशेष रंग में रूपान्तरित कर देता है। जब एक तत्त्व दूसरे तत्त्व से मिलता है, तो इसके गुणों में वृद्धि होती है। उदाहरणार्थ, आकाश वायु का कारण है। आकाश में ध्वनि नामक केवल एक गुण होता है, किन्तु आकाश तथा भगवान् के दृष्टिपात की अन्त:क्रिया से नित्यकाल तथा बहिरंगा प्रकृति के मिलने से वायु उत्पन्न होती है, जिसमें दो गुण पाये जाते हैं—ध्वनि तथा स्पर्श। इसी तरह वायु उत्पन्न हो जाने पर आकाश तथा वायु की अन्त:क्रिया काल तथा भगवान् की बहिरंगा शक्ति के स्पर्श के कारण बिजली उत्पन्न करती है। और वायु तथा आकाश के साथ बिजली की अन्त:क्रिया काल, बहिरंगा शक्ति तथा उन पर भगवान् के दृष्टिपात के मिश्रण से जल उत्पन्न करती है। आकाश की अन्तिम अवस्था में केवल एक गुण रहता है—वह है ध्वनि; वायु में दो गुण रहते हैं—ध्वनि तथा स्पर्श; बिजली में तीन गुण होते हैं—ध्वनि, स्पर्श तथा रूप और जल में चार गुण होते हैं—ध्वनि, स्पर्श, रूप तथा स्वाद। भौतिक विकास की अन्तिम अवस्था में पृथ्वी फलित होती है, जो समस्त पाँचों गुणों अर्थात् ध्वनि, स्पर्श, रूप, स्वाद तथा गन्ध से युक्त होती है। यद्यपि वे विभिन्न पदार्थों के भिन्न-भिन्न मिश्रण हैं, किन्तु ऐसे मिश्रण स्वतः नहीं बन जाते जिस तरह कि जीवित चित्रकार के स्पर्श के बिना रंगों का मिश्रण स्वतः नहीं हो पाता। यह स्वतः प्रणाली वास्तव में भगवान् के दृष्टिपात रूपी स्पर्श द्वारा क्रियाशील होती है। समस्त भौतिक परिवर्तनों में सजीव चेतना ही निर्णायक होती है। इस तथ्य का उल्लेख भगवद्गीता (९.१०) में निम्नवत् हुआ है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

निष्कर्ष यह है कि भले ही भौतिक तत्त्व सामान्य-जनों की दृष्टि में आश्चर्यजनक रीति से कार्य करें,

किन्तु उनका क्रिया-व्यापार वस्तुतः भगवान् के निरीक्षण में होता है। जो लोग भौतिक तत्त्वों के परिवर्तनों को ही देख सकते हैं और उनके पीछे भगवान् के अदृश्य हाथों का अनुभव नहीं कर सकते हैं, वे निश्चय ही कम बुद्धिमान व्यक्ति होते हैं भले ही वे महान् भौतिक विज्ञानियों के रूप में विज्ञापित किये जा रहे हों।

भूतानां नभआदीनां यद्यद्भव्यावरावरम् ।
तेषां परानुसंसर्गाद्यथा सङ्ख्यं गुणान्विदुः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

भूतानाम्—सारे भौतिक तत्त्वों का; नभः—आकाश; आदीनाम्—इत्यादि; यत्—जिस तरह; यत्—तथा जिस तरह; भव्य—हे सौम्य; अवर—निकृष्ट; वरम्—श्रेष्ठ; तेषाम्—उन सबों का; पर—परम, ब्रह्म; अनुसंसर्गात्—अन्तिम स्पर्श; यथा—जितने; सङ्ख्यम्—गिनती; गुणान्—गुण; विदुः—आप समझ सकें।

हे भद्र पुरुष, आकाश से लेकर पृथ्वी तक के सारे भौतिक तत्त्वों में जितने सारे निम्न तथा श्रेष्ठ गुण पाये जाते हैं, वे भगवान् के दृष्टिपात के अन्तिम स्पर्श के कारण होते हैं।

एते देवाः कला विष्णोः कालमायांशलिङ्गिनः ।
नानात्वात्स्वक्रियानीशाः प्रोचुः प्राञ्जलयो विभुम् ॥ ३८॥

शब्दार्थ

एते—इन सारे भौतिक तत्त्वों में; देवाः—नियंत्रक देवता; कलाः—अंश; विष्णोः—भगवान् के; काल—काल; माया—बहिरंगा शक्ति; अंश—अंश; लिङ्गिनः—इस तरह देहधारी; नानात्वात्—विभिन्नता के कारण; स्व-क्रिया—निजी कार्य; अनीशाः—न कर पाने के कारण; प्रोचुः—कहा; प्राञ्जलयः—मनोहारी; विभुम्—भगवान् को।

उपर्युक्त समस्त भौतिक तत्त्वों के नियंत्रक देव भगवान् विष्णु के शक्त्याविष्ट अंश हैं। वे बहिरंगा शक्ति के अन्तर्गत नित्यकाल द्वारा देह धारण करते हैं और वे भगवान् के अंश हैं। चूँकि उन्हें ब्रह्माण्डीय दायित्वों के विभिन्न कार्य सौंपे गये थे और चूँकि वे उन्हें सम्पन्न करने में असमर्थ थे, अतएव उन्होंने भगवान् की मनोहारी स्तुतियाँ निम्नलिखित प्रकार से कीं।

तात्पर्य : ब्रह्माण्डीय कार्य व्यापार की व्यवस्था के लिए उच्चतर लोकों में निवास करने वाले विविध नियंत्रक देवताओं की अवधारणा काल्पनिक नहीं है जैसाकि अल्पज्ञ व्यक्ति प्रस्तावित करते हैं। ये देवतागण भगवान् विष्णु के विस्तारित अंश हैं और ये काल, बहिरंगा शक्ति तथा परमेश्वर की आंशिक चेतना द्वारा देह पाते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि भी भगवान् के अंश हैं और उनके भी विभिन्न भौतिक शरीर होते हैं, किन्तु वे भौतिक मामलों के नियंत्रक देवता नहीं है प्रत्युत वे ऐसे

देवताओं द्वारा नियंत्रित होते हैं। ऐसा नियंत्रण निरर्थक नहीं होता। यह उतना ही आवश्यक है जितना कि आधुनिक राज्य के मामलों के लिए नियंत्रक विभाग होते हैं। नियंत्रित जीवों द्वारा देवताओं का तिरस्कार नहीं होना चाहिए। वे सभी भगवान् के महान् भक्त होते हैं, जिन्हें विश्व के मामलों के कुछ कार्य सम्पन्न करने का भार सौंपा गया है। कोई व्यक्ति यमराज पर क्रुद्ध हो सकता है कि वह पापी आत्माओं को दण्ड देने का अप्रशंसित कार्य करता है, किन्तु यमराज भगवान् के अधिकृत भक्तों में से हैं। इसी तरह अन्य सारे देवता हैं। भगवद्भक्त कभी भी ऐसे नियुक्त देवताओं द्वारा नियंत्रित नहीं होता जो कि भगवान् के सहायक के रुप में कार्य करते हैं, किन्तु भक्त उनके उन उत्तरदायित्वपूर्ण पदों के कारण उनका सम्मान करता है जिन पर भगवान् ने उन्हें नियुक्त किया है। साथ ही, भगवद्भक्त उन्हें मूर्खतावश परमेश्वर नहीं मान बैठता। केवल मूर्ख लोग ही देवताओं को विष्णु के तुल्य मानते हैं। वस्तुत: वे सभी विष्णु के सेवकों के रूप में नियुक्त हैं ।

जो कोई भी भगवान् तथा देवताओं को समान स्तर पर रखता है, वह *पाषण्डी* या नास्तिक कहलाता है। देवताओं की पूजा उन्हीं व्यक्तियों द्वारा की जाती है, जो न्यूनाधिक *ज्ञान, योग* तथा *कर्म* की विधियों के पालक हैं—अर्थात् निर्विशेषवादी, ध्यानी तथा सकाम कर्मी हैं। किन्तु भक्तगण एकमात्र भगवान् विष्णु की पूजा करते हैं। यह पूजा किसी भौतिक लाभ के लिए नहीं होती जिसकी कामना सारे भौतिकतावादियों द्वारा, यहाँ तक कि मोक्षकामियों, योगियों तथा सकाम कर्मियों द्वारा भी, की जाती है। भक्तगण परमेश्वर की पूजा भगवान् की शुद्ध भक्ति प्राप्त करने के लिए करते हैं। किन्तु जिनके पास मानव जीवन के मुख्य उद्देश्य ईश प्रेम को प्राप्त करने के लिए कोई कार्यक्रम नहीं होता उनके द्वारा भगवान् नहीं पूजे जाते। ईश्वर के साथ प्रेमपूर्ण सम्बन्ध से विमुख व्यक्ति कुछ हद तक अपने ही कर्मों द्वारा तिरस्कृत होते हैं।

भगवान् प्रत्येक जीव के प्रति उसी तरह समभाव रखते हैं, जिस तरह बहती हुई गंगा। गंगा-जल हर व्यक्ति की शुद्धि के निमित्त है, तो भी गंगा के तट के वृक्षों का महत्त्व भिन्न होता है। गंगा के तट पर आम्रवृक्ष जल पीता है और निम्ब वृक्ष भी उसी जल को पीता है। किन्तु दोनों वृक्षों के फल भिन्न-भिन्न होते है। एक में स्वर्गिक मिठास होती है और दूसरें में नारकीय तिक्तता। निम्ब की तिरस्कृत तिक्तता उसके विगत कर्म के कारण है, जिस तरह कि आम की मधुरता भी उसके अपने कर्म के कारण

है। *भगवद्गीता* (१६.१९) में भगवान् ने कहा है—

तामहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्रमशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु॥

“जो लोग ईर्ष्यालु तथा दुर्जन हैं और नराधम हैं उन्हें मैं भवसागर में विभिन्न आसुरी योनियों में डालता रहता हूँ।” यमराज जैसे देवता तथा अन्य नियंत्रक उन अवांछित बद्धात्माओं के लिए हैं, जो ईश्वर के साम्राज्य की शान्ति भंग करने में सदैव लगे रहते हैं। चूँकि ये सारे देवता भगवान् के विश्वस्त भक्त-सेवक हैं, अतएव इनका कभी भी तिरस्कार नहीं किया जाना चाहिए।

देवा ऊचुः
नमाम ते देव पदारविन्दं
प्रपन्नतापोपशमातपत्रम् ।
यन्मूलकेता यतयोऽञ्जसोरु-
संसारदुःखं बहिरुत्क्षिपन्ति ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

देवाः ऊचुः—देवताओं ने कहा; नमाम—हम सादर नमस्कार करते हैं; ते—तुम्हें; देव—हे प्रभु; पद-अरविन्दम्—चरणकमल; प्रपन्न—शरणागत; ताप—कष्ट; उपशम—शमन करता है; आतपत्रम्—छाता; यत्-मूल-केताः—चरणकमलों की शरण; यतयः—महर्षिगण; अञ्जसा—पूर्णतया; उरु—महान्; संसार-दुःखम्—संसार के दुख; बहिः—बाहर; उत्क्षिपन्ति—बलपूर्वक फेंक देते हैं।

देवताओं ने कहा : हे प्रभु, आपके चरणकमल शरणागतों के लिए छाते के समान हैं, जो संसार के समस्त कष्टों से उनकी रक्षा करते हैं। सारे मुनिगण उस आश्रय के अन्तर्गत समस्त भौतिक कष्टों को निकाल फेंकते हैं। अतएव हम आपके चरणकमलों को सादर नमस्कार करते है।

तात्पर्य : ऐसे अनेक साधु-संत हैं, जो पुनर्जन्म तथा अन्य समस्त भौतिक कष्टों पर विजय पाने के प्रयास में लगे रहते हैं। किन्तु इनमें से जो लोग भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करते हैं, वे बिना कठिनाई के ऐसे सारे कष्टों को पूरी तरह उतार फेंक सकते हैं। अन्य लोग जो विविध प्रकार के दिव्य कार्यों में लगे रहते है ऐसा नहीं कर सकते। उनके लिए ऐसा कर पाना बहुत कठिन है। वे भगवान् के चरणकमलों की शरण में गये बिना मुक्त होने के लिए कृत्रिम विधि का चिन्तन कर सकते है, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं हैं। ऐसी मिथ्या मुक्ति से मनुष्य पुनः इस भौतिक जगत में आ गिरता है

चाहे वह कितनी भी कठिन तपस्या क्यों न किये हो। यह उन देवताओं का मत है, जो न केवल वैदिक ज्ञान में पटु हैं, अपितु भूत, वर्तमान तथा भविष्य के भी द्रष्टा हैं। देवताओं के मत महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि देवता ही विश्व व्यवस्था सम्बन्धी कार्यव्यापार का पद भार सँभालने के लिए प्रधिकृत होते हैं। वे भगवान् द्वारा उनके विश्वसनीय सेवकों के रूप में नियुक्त रहते हैं।

धातर्यदस्मिन्भव ईश जीवा-
स्तापत्रयेणाभिहता न शर्म ।
आत्मन्लभन्ते भगवंस्तवाङ्घ्रि
च्छायां सविद्यामत आश्रयेम ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

धातः—हे पिता; यत्—क्योंकि; अस्मिन्—इस; भवे—संसार में; ईश—हे ईश्वर; जीवाः—जीव; ताप—कष्ट; त्रयेण—तीन; अभिहताः—सदैव; न—कभी नहीं; शर्म—सुख में; आत्मन्—आत्मा; लभन्ते—प्राप्त करते हैं; भगवन्—हे भगवान्; तव—तुम्हारे; अङ्घ्रि-छायाम्—चरणों की छाया; स-विद्याम्—ज्ञान से पूर्ण; अतः—प्राप्त करते हैं; आश्रयेम—शरण।

हे पिता, हे प्रभु, हे भगवान्, इस भौतिक संसार में जीवों को कभी कोई सुख प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि वे तीन प्रकार के कष्टों से अभिभूत रहते हैं। अतएव वे आपके उन चरणकमलों की छाया की शरण ग्रहण करते हैं, जो ज्ञान से पूर्ण है और इस लिए हम भी उन्हीं की शरण लेते हैं।

तात्पर्य : भक्ति-मय सेवा की विधि न तो भावनात्मक है न लौकिक। यह सत्य का मार्ग है, जिससे जीव तीन प्रकार के—दैहिक, दैविक तथा भौतिक—दुखों से छुटकारा पाने का दिव्य सुख प्राप्त कर सकता है। भौतिक जगत द्वारा बद्ध कोई भी जीव, चाहे वह मनुष्य हो, पशु हो, देवता हो या पक्षी, उसे *आध्यात्मिक* (शारीरिक या मानसिक), *आधिभौतिक* (जीवों द्वारा प्रदत्त) तथा *आधिदैविक* (दैवी उत्पातों के फलस्वरूप) कष्ट भोगने पड़ते है। उसका सुख बद्धजीवन के कष्टों से मुक्त होने के लिए कठिन संघर्ष के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता। किन्तु उसकी रक्षा का एक ही उपाय है और वह है पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करना।

यह तर्क कि उचित ज्ञान प्राप्त किये बिना मनुष्य भौतिक कष्टों से मुक्त नहीं हो सकता, असंदिग्ध रूप से सत्य है। किन्तु भगवान् के चरणकमल दिव्य ज्ञान से पूर्ण होते है, अतएव उनके चरणकमलों को स्वीकार करने से उस आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है। इसकी व्याख्या हम प्रथम स्कन्ध

(१.२.७) में कर चुके हैं—

वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित: ।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥

भगवान् वासुदेव की भक्ति में ज्ञान का अभाव नहीं है। वे भक्त के हृदय में से अज्ञानरूपी अंधकार को दूर करने का भार अपने ऊपर ले लेते हैं। इसकी पुष्टि उन्होंने *भगवद्गीता* (१०.१०) में की है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

अनुभवजन्य दार्शनिक चिन्तन मनुष्य को भौतिक संसार के तीन कष्टों से छुटकारा नहीं दिला सकता। भगवान् की भक्ति में समर्षित हुए लगे बिना ज्ञान के लिए प्रयत्न करना मूल्यवान समय का अपव्यय है।

मार्गन्ति यत्ते मुखपद्मनीडै-
श्छन्दःसुपर्णैरृषयो विविक्ते ।
यस्याघमर्षोदसरिद्वरायाः
पदं पदं तीर्थपदः प्रपन्नाः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

मार्गन्ति—खोज करते हैं; यत्—जिस तरह; ते—तुम्हारा; मुख-पद्म—कमल जैसा मुख; नीडैः—ऐसे कमलपुष्प की शरण में आये हुओं के द्वारा; छन्दः—वैदिक-स्तोत्र; सुपर्णैः—पंखों से; ऋषयः—ऋषिगण; विविक्ते—निर्मल मन में; यस्य—जिसका; अघ-मर्ष-उद—जो पाप के सारे फलों से मुक्ति दिलाता है; सरित्—नदियाँ; वरायाः—सर्वोत्तम; पदम् पदम्—प्रत्येक कदम पर; तीर्थ-पदः—जिसके चरणकमल तीर्थस्थान के तुल्य हैं; प्रपन्नाः—शरण में आये हुए।

भगवान् के चरणकमल स्वयं ही समस्त तीर्थस्थलों के आश्रय हैं। निर्मल मनवाले महर्षिगण वेदों रूपी पंखों के सहारे उड़कर सदैव आपके कमल सदृश मुख रूपी घोंसले की खोज करते हैं। उनमें से कुछ सर्वश्रेष्ठ नदी (गंगा) में शरण लेकर पद-पद पर आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण करते हैं, जो सारे पापफलों से मनुष्य का उद्धार कर सकते हैं।

तात्पर्य : *परमहंसों* की तुलना उन राजहंसों से की जाती है, जो कमल की पंखुडियों में अपने घोंसले बनाते हैं। भगवान् के दिव्य शारीरिक अंगों की उपमा सदैव कमल के फूल से दी जाती है, क्योंकि भौतिक जगत में कमल का फूल सौन्दर्य की पराकाष्ठा है। संसार की सबसे सुन्दर वस्तु वेद या *भगवद्गीता* है, क्योंकि उनमें स्वयं भगवान् ज्ञान प्रदान करते हैं। परमहंस अपना घोंसला भगवान् के

कमल सदृश मुख पर बनाता है और वह सदा उनके चरणकमलों की शरण खोजता है जिन तक वैदिक ज्ञान के पंखों द्वारा पहुँचा जाता है। चूँकि भगवान् समस्त उद्भासों के आदि स्रोत हैं, अत: वैदिक ज्ञान से प्रकाशित बुद्धिमान जन भगवान् की शरण उसी तरह खोजते हैं जिस तरह अपने घोंसले से दूर गये पक्षी विश्राम करने के लिए पुन: अपना घोंसला खोज लेते है। समस्त वैदिक ज्ञान भगवान् को समझने के लिए है जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा है *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:*। बुद्धिमान जन, जो हंस सदृश हैं, सभी तरह से भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं और वे विभिन्न दर्शनों के विषय में व्यर्थ का चिन्तन करते हुए मानसिक धरातल पर नहीं मँडराते।

भगवान् इतने दयालु हैं कि उन्होंने ब्रह्माण्ड भर में गंगा नदी को विस्तारित कर दिया है, जिससे हर व्यक्ति उस पवित्र नदी में स्नान करके पग-पग पर होने वाले पापों के फलों से छुटकारा पा सके। संसार में ऐसी अनेक नदियाँ हैं जिनमें स्नान करने से ही ईश-चेतना का भाव जागृत हो उठता है और ऐसी नदियों में गंगा नदी प्रमुख है। भारत में पाँच पवित्र नदियाँ हैं, किन्तु गंगा सर्वाधिक पवित्र है। गंगा नदी तथा *भगवद्गीता* मानव हेतु दिव्य सुख की प्रमुख स्रोत है और बुद्धिमान लोग भगवद्धाम वापस जाने के लिए इनकी शरण ग्रहण कर सकते हैं, यहाँ तक कि श्रीपाद शंकराचार्य ने भी यह संस्तुति की है कि *भगवद्गीता* का थोड़ा सा ज्ञान तथा गंगाजल का थोड़ा सा जलपान मनुष्य को यमराज के दण्ड से बचा सकता है।

यच्छ्रद्धया श्रुतवत्या च भक्त्या
सम्मृज्यमाने हृदयेऽवधाय ।
ज्ञानेन वैराग्यबलेन धीरा
व्रजेम तत्तेऽङ्घ्रिसरोजपीठम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

यत्—वह जो; श्रद्धया—उत्सुकता से; श्रुतवत्या—केवल सुनने से; च—भी; भक्त्या—भक्ति से; सम्मृज्यमाने—धुलकर; हृदये—हृदय में; अवधाय—ध्यान; ज्ञानेन—ज्ञान से; वैराग्य—विरक्ति के; बलेन—बल से; धीरा:—शान्त; व्रजेम—जाना चाहिए; तत्—उस; ते—तुम्हारे; अङ्घ्रि—पाँव; सरोज-पीठम्—कमल पुण्यालय।

आपके चरणकमलों के विषय में केवल उत्सुकता तथा भक्ति पूर्वक श्रवण करने से तथा उनके विषय में हृदय में ध्यान करने से मनुष्य तुरन्त ही ज्ञान से प्रकाशित और वैराग्य के बल पर शान्त हो जाता है। अतएव हमें आपके चरणकमल रूपी पुण्यालय की शरण ग्रहण करनी

चाहिए।

तात्पर्य : उत्सुकता तथा भक्ति पूर्वक भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करने के चमत्कार इतने महान् होते हैं कि कोई अन्य विधि इनकी बराबरी नहीं कर सकती। भौतिकतावादी जनों के मन इतने व्यग्र रहते हैं कि उनके लिए निजी नियमित प्रयासों द्वार परम सत्य की खोज कर सकना प्राय: असम्भव होता है। किन्तु ऐसे भौतिकतावादी जन भी, दिव्य नाम, यश, गुण इत्यादि के विषय में श्रवण के प्रति थोड़ी सी भी उत्सुकता से, ज्ञान तथा वैराग्य प्राप्त करने की अन्य सभी विधियों को मात कर सकते हैं। बद्धजीव देहात्मबुद्धि के प्रति लिप्त रहता है, अतएव वह अज्ञान में पड़ा रहता है। आत्म-ज्ञान का संवर्धन भौतिक अनुराग से वैराग्य उत्पन्न करा सकता है और ऐसे वैराग्य के बिना ज्ञान का कोई अर्थ नहीं होता। भौतिक भोग के लिए सबसे भयावह आसक्ति है यौन जीवन। यौन जीवन के प्रति आसक्त व्यक्ति को ज्ञान से विहीन समझना चाहिए। ज्ञान के पश्चात् वैराग्य होना ही चाहिए। आत्म-साक्षात्कार की यही विधि है। आत्म-साक्षात्कार के लिए ज्ञान तथा वैराग्य अनिवार्य हैं। और यदि कोई व्यक्ति भगवान् के चरणकमलों की भक्ति करता है, तो ये दोनों अनिवार्य तत्त्व तुरन्त प्रकट होते है। इस सन्दर्भ में *धीर* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जो व्यक्ति व्यग्रता का कारण उपस्थित होने पर भी विक्षुब्ध नहीं होता वह *धीर* कहलाता है। श्री यामुनाचार्य कहते हैं, ''क्योंकि मेरा हृदय भगवान् कृष्ण की भक्ति से अभिभूत हो चुका है मैं यौन जीवन के विषय में सोच भी नहीं सकता और यदि यौन का विचार मेरे मन में आता भी है, तो मुझे तुरन्त घृणा होने लगती है।'' भगवद्भक्त भगवान् के चरणकमलों का उत्सुकतापूर्वक ध्यान करने मात्र से उच्चस्थ *धीर* बन जाता है।

भक्ति में प्रामाणिक गुरु द्वारा दीक्षा का दिया जाना तथा भगवान् के विषय में सुनने के उसके उपदेशों का पालन करना निहित होता है। ऐसे प्रामाणिक गुरु को उससे नियमित रूप से भगवान् के विषय में सुनने के बाद स्वीकार किया जाता है। ज्ञान तथा वैराग्य में उन्नति को भक्तगण वास्तविक अनुभव के रूप में देखते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने प्रामाणिक भक्त से सुनने की इस विधि की जोरदार संस्तुति की और इस विधि का पालन करते हुए मनुष्य अन्य सारी विधियों पर विजय प्राप्त करते हुए सर्वोच्च परिणाम तक पहुँच सकता है।

विश्वस्य जन्मस्थितिसंयमार्थे
कृतावतारस्य पदाम्बुजं ते ।
व्रजेम सर्वे शरणं यदीश
स्मृतं प्रयच्छत्यभयं स्वपुंसाम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

विश्वस्य—विराट ब्रह्माण्ड के; जन्म—सृजन; स्थिति—पालन; संयम-अर्थे—प्रलय के लिए भी; कृत—धारण किया हुआ या स्वीकृत; अवतारस्य—अवतार का; पद-अम्बुजम्—चरणकमल; ते—आपके; व्रजेम—शरण में जाते है; सर्वे—हम सभी; शरणम्—शरण; यत्—जो; ईश—हे भगवान्; स्मृतम्—स्मृति; प्रयच्छति—प्रदान करके; अभयम्—साहस; स्व-पुंसाम्—भक्तों का।

हे प्रभु, आप विराट जगत के सृजन, पालन तथा संहार के लिए अवतरित होते हैं इसलिए हम सभी आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण करते हैं, क्योंकि ये चरण आपके भक्तों को सदैव स्मृति तथा साहस प्रदान करने वाले हैं।

तात्पर्य : विराट जगत की सृष्टि, पालन तथा प्रलय के लिए ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर (शिव) तीन अवतार हैं। ये भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के नियंत्रक अथवा स्वामी हैं, जो दृश्य जगत के कारण है। विष्णु सतोगुण के स्वामी हैं, ब्रह्मा रजोगुण के तथा महेश्वर तमोगुण के। प्रकृति के गुणों के अनुसार भक्तों के विभिन्न प्रकार हैं। सतोगुणी लोग भगवान् विष्णु की पूजा करते हैं, रजोगुणी लोग ब्रह्मा की पूजा करते हैं तथा तमोगुणी लोग शिव की पूजा करते हैं। ये तीनों देव भगवान् कृष्ण के अवतार हैं, क्योंकि कृष्ण आदि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। देवतागण सीधे भगवान् के चरणकमलों का निर्देश ग्रहण करते हैं, विभिन्न अवतारों का नहीं। किन्तु भौतिक जगत में विष्णु अवतार की पूजा देवताओं द्वारा सीधे की जाती है। विभिन्न शास्त्रों से पता चलता है कि देवतागण विष्णु के पास क्षीर सागर में जाते हैं और जब कभी विश्व के काम-काज के प्रशासन में कोई कठिनाई आती है, तो वे अपनी समस्याओं के लिए निवेदन करते हैं। यद्यपि ब्रह्मा तथा शिव भगवान् के अवतार हैं, किन्तु वे विष्णु की पूजा करते हैं, और इस प्रकार उनकी गणना भी देवताओं में होती है, भगवान् के रूप में नहीं। विष्णु की पूजा करने वाले व्यक्ति देवता कहलाते हैं और जो ऐसा नहीं करते वे असुर कहलाते हैं। विष्णु सदैव देवताओं का पक्ष लेते हैं, किन्तु ब्रह्मा तथा शिव कभी-कभी असुरों का पक्ष भी लेते हैं। ऐसा नहीं है कि उनमें रुचि लेने से वे उनके समान बन जाते हैं, अपितु कभी-कभी असुरों पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए वे ऐसा कुछ करते हैं।

यत्सानुबन्धेऽसति देहगेहे
ममाहमित्यूढदुराग्रहाणाम् ।
पुंसां सुदूरं वसतोऽपि पुर्यां
भजेम तत्ते भगवन्पदाब्जम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

यत्—चूँकि; स-अनुबन्धे—पाश में बँधने से; असति—इस तरह होकर; देह—स्थूल शरीर; गेहे—घर में; मम—मेरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; ऊढ—महान्, गम्भीर; दुराग्रहाणाम्—अवांछित उत्सुकता; पुंसाम्—मनुष्यों की; सु-दूरम्—काफी दूर; वसतः—रहते हुए; अपि—यद्यपि; पुर्याम्—शरीर में; भजेम—पूजा करें; तत्—इसलिए; ते—तुम्हारे; भगवन्—हे भगवान्; पद-अब्जम्—चरणकमल।

हे प्रभु, जो लोग नश्वर शरीर तथा बन्धु-बाँधवों के प्रति अवांछित उत्सुकता के द्वारा पाशबद्ध हैं और जो लोग ‘‘मेरा’’ तथा ‘‘मैं’’ के विचारों से बँधे हुए हैं, वे आपके चरणकमलों का दर्शन नहीं कर पाते यद्यपि आपके चरणकमल उनके अपने ही शरीरों में स्थित होते हैं। किन्तु हम आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण करें।

तात्पर्य : जीवन का सम्पूर्ण वैदिक दर्शन यही है कि स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के भौतिक बन्धन से छुटकारा पाया जाय जिसके कारण मनुष्य कष्टमय गर्हित जीवन बिताता रहता है। यह भौतिक शरीर तब तक चलता जाता है जब तक मनुष्य भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की मिथ्या धारणा से विरत नहीं हो जाता। भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की यह प्रेरणा ‘‘मेरा’’ तथा ‘‘मैं’’ का बोध है। ‘‘मैं सारे विश्व का सर्वेसर्वा हूँ। मेरे पास बहुत सी वस्तुएँ हैं और मैं अधिकाधिक वस्तुओं का स्वामी बनूँगा। सम्पत्ति तथा शिक्षा के मामले में मुझसे बढ़कर कौन हो सकता है? मैं स्वामी हूँ और मैं ईश्वर हूँ। मेरे अतिरिक्त और है ही कौन?’’ ये सारे विचार *अहं मम* दर्शन अर्थात् ‘‘मैं ही सब कुछ हूँ’’ को प्रतिबिम्बित करते हैं। ऐसी जीवनधारणा से संचालित व्यक्ति भव-बन्धन से कभी मुक्ति नहीं पा सकते। किन्तु यदि कोई केवल कृष्णकथा सुनने के लिए राजी हो सके तो संसार के कष्टों से निरन्तर तिरस्कृत व्यक्ति भी बन्धन से छुटकारा पा सकता है। इस कलियुग में कृष्णकथा सुनने की प्रक्रिया अवांछित पारिवारिक स्नेह से छुटकारा पाने और इस तरह जीवन में स्थायी स्वतंत्रता प्राप्त करने का सबसे प्रभावशाली साधन है। कलियुग पापपूर्ण कर्मफलों से ओत-प्रोत है और लोग इस युग के गुणों में अधिकाधिक लिप्त है, किन्तु कृष्णकथा के श्रवण तथा कीर्तन मात्र से मनुष्य का भगवद्धाम वापस जाना सुनिश्चित है। अतएव मनुष्यों को सभी तरह से एकमात्र कृष्णकथा सुनने के लिए प्रशिक्षित किया जाना चाहिए जिससे उन्हें सारे कष्टों से छुटकारा मिल सके।

तान्वै ह्यसद्वृत्तिभिरक्षिभिर्ये
पराहृतान्तर्मनसः परेश ।
अथो न पश्यन्त्युरुगाय नूनं
ये ते पदन्यासविलासलक्ष्याः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तान्—भगवान् के चरणकमल; वै—निश्चय ही; हि—क्योंकि; असत्—भौतिकतावादी; वृत्तिभिः—बहिरंगा शक्ति से प्रभावित होने वालों के द्वारा; अक्षिभिः—इन्द्रियों द्वारा; ये—जो; पराहृत—दूरी पर खोये हुए; अन्तः-मनसः—आन्तरिक मन को; परेश—हे परम; अथो—इसलिए; न—कभी नहीं; पश्यन्ति—देख सकते है; उरुगाय—हे महान्; नूनम्—लेकिन; ये—जो; ते—तुम्हारे; पदन्यास—कार्यकलाप; विलास—दिव्य भोग; लक्ष्याः—देखने वाले।

हे महान् परमेश्वर, वे अपराधी व्यक्ति, जिनकी अन्तःदृष्टि बाह्य भौतिकतावादी कार्यकलापों से अत्यधिक प्रभावित हो चुकी होती है वे आपके चरणकमलों का दर्शन नहीं कर सकते, किन्तु आपके शुद्ध भक्त दर्शन कर पाते हैं, क्योंकि उनका एकमात्र उद्देश्य आपके कार्यकलापों का दिव्य भाव से आस्वादन करना है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६१) में कहा गया है, भगवान् हर एक के हृदय में स्थित हैं। यह स्वाभाविक है कि मनुष्य कम से कम अपने भीतर भगवान् का दर्शन कर सके। किन्तु जिन लोगों की अन्तःदृष्टि बाह्य कार्यकलापों से आच्छादित हो चुकी होती है उनके लिए यह सम्भव नहीं है। शुद्ध आत्मा, जिसका लक्षण चेतना है, एक सामान्य व्यक्ति द्वारा भी आसानी से अनुभव की जा सकती है, क्योंकि चेतना सारे शरीर में फैली हुई है। जैसाकि *भगवद्गीता* में संस्तुति की गई है, योग पद्धति मानसिक कार्यकलापों को भीतर में ही केन्द्रित करना है और इस तरह अपने अन्दर भगवान् के चरणकमलों का दर्शन करना है। किन्तु ऐसे अनेक तथाकथित योगी हैं जिनको भगवान् से कोई वास्ता नहीं रहता, अपितु वे केवल चेतना से ही मतलब रखते हैं, जिसे वे अन्तिम साक्षात्कार मान लेते हैं। चेतना का ऐसा साक्षात्कार *भगवद्गीता* द्वारा चुटकी बजाते सीखाया जा सकता है, जबकि तथाकथित योगियों को भगवान् के चरणकमलों पर अपने अपराध के कारण इसे पाने में वर्षों लग जाते हैं। सबसे बड़ा अपराध तो व्यष्टि आत्माओं से भगवान् के पृथक् अस्तित्व को नकारना है या भगवान् तथा व्यष्टि आत्मा को एक तथा अभिन्न मानना है। निर्विशेषवादी प्रतिबिम्ब के सिद्धान्त की गलत व्याख्या करते हैं और त्रुटिवश वे व्यष्टि चेतना को परम चतेना मान लेते हैं।

परम के प्रतिबिम्बवाद को कोई भी निष्ठावान सामान्यजन बिना किसी कठिनाई के स्पष्टतः समझ

सकता है। जब जल में आकाश का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तो जल के भीतर आकाश तथा तारे दोनों दिखते हैं, किन्तु आकाश तथा तारों को समान स्तर पर नहीं माना जाता। तारे तो आकाश के अंश है, अतएव उन्हें पूर्ण के समान नहीं माना जा सकता। आकाश पूर्ण है और तारे अंश हैं। वे एक हो ही नहीं सकते। जो अध्यात्मवादी (योगी) परम चेतना को व्यष्टि चेतना से पृथक् नहीं मानते वे उतने ही अपराधी हैं जितने कि भगवान् के अस्तित्व तक को ही नकारने वाले भौतिकतावादी।

वस्तुत: ऐसे अपराधीजन न तो अपने अन्त:करण में भगवान् के चरणकमलों को देख सकते हैं न ही वे भगवद्भक्तों को देख सकते हैं। भगवद्भक्त इतने दयालु होते हैं कि वे लोगों को ईशचेतना से अलोकित करने के लिए सभी स्थानों में घूमते रहते हैं, किन्तु अपराधीजन भगवद्भक्तों का स्वागत करने का अवसर खो बैठते हैं, यद्यपि अपराध-रहित सामान्य-जन भक्तों की उपस्थिति से तुरन्त ही प्रभावित हो जाते हैं। इस सन्दर्भ में एक शिकारी तथा देवर्षि नारद की एक रोचक कहानी है। एक जंगल में एक शिकारी रहता था, जो यद्यपि महान् पापी था, किन्तु वह जान-बूझकर अपराध नहीं किया करता था। वह नारद की उपस्थिति से तत्काल प्रभावित हुआ और अपना घर-बार छोड़कर भक्तिमार्ग स्वीकार करने को राजी हो गया। किन्तु नलकूवर तथा मणिग्रीव अपराधियों को देवताओं के बीच में रहते हुए भी अगले जन्म में वृक्ष बनने का दण्ड भोगना पड़ा, यद्यपि एक भक्त की कृपा से बाद में भगवान् ने उनका उद्धार कर दिया। अपराधियों को तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है जब तक उन्हें भक्तों की कृपा प्राप्त न हो ले। तब वे अपने अन्त:करण में भगवान् के चरणकमलों का दर्शन करने के पात्र बन जाते हैं। किन्तु अपने अपराधों तथा अपनी नितान्त भौतिकवादिकता के कारण वे भगवद्भक्तों तक का दर्शन नहीं कर पाते। बाह्य कार्यों में व्यस्त रहने से वे अपनी अन्त:दृष्टि का हनन कर डालते हैं। फिर भी भगवद्भक्त उन मूर्खों के अपराधों पर ध्यान नहीं देते जो अनेक स्थूल तथा सूक्ष्म शारीरिक प्रयासों में लगे रहने के कारण होते रहते हैं। भगवद्भक्त ऐसे समस्त अपराधियों को बिना हिचक के भक्ति का आशीर्वाद देते रहते हैं। भक्तों का यही स्वभाव है।

पानेन ते देव कथासुधाया:
प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये ।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं

यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

पानेन—पीने से; ते—आपके; देव—हे प्रभु; कथा—कथाएँ; सुधायाः—अमृत की; प्रवृद्ध—अत्यन्त प्रबुद्ध; भक्त्या—भक्ति द्वारा; विशद-आशयाः—अत्यधिक गम्भीर विचार से युक्त; ये—जो; वैराग्य-सारम्—वैराग्य का सारा तात्पर्य; प्रतिलभ्य—प्राप्त करके; बोधम्—बुद्धि; यथा—जिस तरह; अञ्जसा—तुरन्त; अन्वीयुः—प्राप्त करते हैं; अकुण्ठ-धिष्ण्यम्—आध्यात्मिक आकाश में वैकुण्ठलोक।

हे प्रभु, जो लोग अपनी गम्भीर मनोवृत्ति के कारण प्रबुद्ध भक्ति-मय सेवा की अवस्था प्राप्त करते हैं, वे वैराग्य तथा ज्ञान के संपूर्ण अर्थ को समझ लेते हैं और आपकी कथाओं के अमृत को पीकर ही आध्यात्मिक आकाश में वैकुण्ठलोक को प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य : निर्विशेषवादी मानसिक चिन्तकों तथा भगवान् के शुद्ध भक्तों में जो अन्तर होता है, वह यही है कि निर्विशेषवादी प्रत्येक अवस्था पर परब्रह्म के कष्टसाध्य ज्ञान से होकर गुजरते हैं जबकि भक्तगण अपने प्रयास के आरम्भ से ही समस्त आनन्द के धाम में प्रवेश करते हैं। भक्त को भक्ति-मय कार्यकलापों के विषय में केवल श्रवण करना होता है, जो कि सामान्य जीवन के किसी भी कार्य की तरह सरल होता है। वह बहुत ही सरल ढंग से कार्य करता है, जबकि मानसिक चिन्तक को वाग्जाल से होकर गुजरना पड़ता है, जिसमें कुछ तथ्य रहते हैं और कुछ तो निर्विशेष अवस्था बनाये रखने के लिए दिखावा मात्र होते हैं। पूर्णज्ञान प्राप्त करने के लिए घोर प्रयासों के बावजूद, निर्विशेषवादी भगवान् की ब्रह्मज्योति के निर्विशेष तादात्म्य में लीन हो पाता है। इसे तो भगवान् के शत्रु भी उनके द्वारा मारे जाने पर सहज ही प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु भक्तगण ज्ञान तथा वैराग्य की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त करते हैं और वैकुण्ठ लोकों को जाते है, जो आध्यात्मिक आकाश के लोक हैं। निर्विशेषवादी को तो केवल आकाश प्राप्त होता है; उसे कोई वास्तविक दिव्य आनन्द नहीं प्राप्त होता जबकि भक्त उन लोकों को प्राप्त होता है जहाँ असली आध्यात्मिक जीवन होता है। गम्भीर मनोवृत्ति से युक्त भक्त सारी उपलब्धियों को धूल की तरह झाड़ देता है और एकमात्र भक्ति को स्वीकार करता है, जो दिव्य परिणति है।

तथापरे चात्मसमाधियोग-
बलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम् ।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति
तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते ॥ ४७॥

शब्दार्थ

तथा—जहाँ तक; अपरे—अन्य; च—भी; आत्म-समाधि—दिव्य आत्म-साक्षात्कार; योग—साधन; बलेन—के बल पर; जित्वा—जीतकर; प्रकृतिम्—अर्जित स्वभाव या गुण; बलिष्ठाम्—अत्यन्त बलवान; त्वाम्—तुमको; एव—एकमात्र; धीराः—शान्त; पुरुषम्—व्यक्ति को; विशन्ति—प्रवेश करते हैं; तेषाम्—उनके लिए; श्रमः—अत्यधिक परिश्रम; स्यात्—करना होता है; न—कभी नहीं; तु—लेकिन; सेवया—सेवा द्वारा; ते—तुम्हारी।

अन्य लोग भी जो कि दिव्य आत्म-साक्षात्कार द्वारा शान्त हो जाते हैं तथा जिन्होंने प्रबल शक्ति एवं ज्ञान के द्वारा प्रकृति के गुणों पर विजय पा ली है, आप में प्रवेश करते हैं, किन्तु उन्हें काफी कष्ट उठाना पड़ता है, जबकि भक्त केवल भक्ति-मय सेवा सम्पन्न करता है और उसे ऐसा कोई कष्ट नहीं होता।

तात्पर्य : प्रेम के श्रम तथा उससे मिलने वाले लाभों की दृष्टि से भक्तगण सदैव उन लोगों से आगे रहते हैं, जो ज्ञानियों या निर्विशेषवादियों तथा योगियों की संगति के पीछे बावले रहते हैं। *अपरे* (अन्यों) शब्द इस सन्दर्भ में अत्यन्त सार्थक है। यह शब्द उन ज्ञानियों तथा योगियों का द्योतक है जिनकी एकमात्र आशा निर्विशेष ब्रह्मज्योति में तदाकार होने की रहती है। यद्यपि उनका गन्तव्य *भक्तों* के गन्तव्य की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होता, किन्तु अभक्तों को भक्तों की अपेक्षा अत्यधिक श्रम करना पड़ता है। कोई यह सुझाव रख सकता है कि भक्ति-मय सेवा सम्पन्न करने में भक्तों को भी पर्याप्त श्रम करना होता है। किन्तु इस श्रम की क्षति-पूर्ति दिव्य आनन्द की वृद्धि से हो जाती है। भक्तों को भगवान् की सेवा में निरन्तर लगे रहने से व्यस्त न रहने की अपेक्षा अधिक आनन्द मिलता है। पुरुष तथा स्त्री के पारिवारिक संयोग में दोनों ही के लिए अधिक श्रम तथा उत्तरदायित्व रहता है; फिर भी जब वे अकेले होते हैं, तो संयुक्त कार्यकलापों के अभाव में उन्हें अधिक झंझट प्रतीत होता है।

निर्विशेषवादियों का मिलन तथा भक्तों का मिलन समान स्तर का नहीं होता। निर्विशेषवादी *सायुज्य-मुक्ति* प्राप्त करके अपनी वैयक्तिकता पूरी तरह समाप्त करने का प्रयास करते हैं जबकि भक्तगण परम पुरुष भगवान् के साथ अपनी भावनाओं का आदान-प्रदान बनाये रखने के लिए अपनी वैयक्तिकता बनाये रखते हैं। इस तरह भावों का आदान-प्रदान दिव्य वैकुण्ठलोकों में होता है, अतएव जिस मुक्ति की तलाश निर्विशेषवादी करते हैं वह भक्ति में पहले ही प्राप्त हो चुकी होती है। भक्तगण अपनी वैयक्तिकता बनाये रख कर दिव्य आनन्द प्राप्त करते हुए स्वयमेव मुक्ति पाते हैं। जैसाकि पिछले श्लोक में बताया जा चुका है, भक्तों का गन्तव्य वैकुण्ठ या *अकुण्ठ-धिष्ण्य* होता है—वह स्थान जहाँ

चिन्ताएँ समूल नष्ट हो जाती हैं। किसी को भक्तों के गन्तव्य तथा निर्विशेषवादियों के गन्तव्य को एक समान मानने की भूल नहीं करनी चाहिए। दोनों के गन्तव्य स्पष्टतः पृथक्-पृथक् है और भक्त द्वारा प्राप्त होने वाला दिव्य आनन्द भी *चिन्मात्रा* या केवल आध्यात्मिक भावनाओं से भिन्न होता है।

तत्ते वयं लोकसिसृक्षयाद्य
त्वयानुसृष्टास्त्रिभिरात्मभिः स्म ।
सर्वे वियुक्ताः स्वविहारतन्त्रं
न शक्नुमस्तत्प्रतिहर्तवे ते ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; ते—तुम्हारा; वयम्—हम सभी; लोक—संसार; सिसृक्षया—सृष्टि के लिए; आद्य—हे आदि पुरुष; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अनुसृष्टाः—एक के बाद एक उत्पन्न किया जाकर; त्रिभिः—तीन गुणों द्वारा; आत्मभिः—अपने आपसे; स्म—भूतकाल में; सर्वे—सभी; वियुक्ताः—पृथक् किये हुए; स्व-विहार-तन्त्रम्—अपने आनन्द के लिए कार्यों का जाल; न—नहीं; शक्नुमः—कर सके; तत्—वह; प्रतिहर्तवे—प्रदान करने के लिए; ते—तुम्हें।

हे आदि पुरुष, इसलिए हम एकमात्र आपके हैं। यद्यपि हम आपके द्वारा उत्पन्न प्राणी हैं, किन्तु हम प्रकृति के तीन गुणों के प्रभाव के अन्तर्गत एक के बाद एक जन्म लेते हैं, इसीलिए हम अपने कर्म में पृथक्-पृथक् होते हैं। अतएव सृष्टि के बाद हम आपके दिव्य आनन्द के हेतु सम्मिलित रूप में कार्य नहीं कर सके।

तात्पर्य : यह विराट सृष्टि भगवान् की बहिरंगा शक्ति के तीन गुणों के प्रभाव के अन्तर्गत कार्यशील है। विभिन्न प्राणी भी उसी प्रभाव के अधीन हैं, अतएव वे भगवान् को तुष्ट करने के लिए एकजुट होकर कर्म नहीं कर सकते। कार्यों की इस विविधता के कारण भौतिक जगत में कोई ऐक्य या सामंजस्य नहीं हो सकता। इसलिए सर्वोत्तम नीति यही है कि परमात्मा के लिए कर्म किया जाय। इससे वांछित ऐक्य स्थापित हो सकेगा।

यावद्बलिं तेऽज हराम काले
यथा वयं चान्नमदाम यत्र ।
यथोभयेषां त इमे हि लोका
बलिं हरन्तोऽन्नमदन्त्यनूहाः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

यावत्—जैसा सम्भव हो; बलिम्—भेंट; ते—तुम्हारी; अज—हे अजन्मा; हराम—अर्पित करेंगे; काले—उचित समय पर; यथा—जिस तरह; वयम्—हम; च—भी; अन्नम्—अन्न, अनाज; अदाम—खाएँगे; यत्र—जहाँ; यथा—जिस तरह;

उभयेषाम्—तुम्हारे तथा अपने दोनों के लिए; ते—सारे; इमे—ये; हि—निश्चय ही; लोकाः—जीव; बलिम्—भेंट; हरन्तः—अर्पित करते हुए; अन्नम्—अन्न; अदन्ति—खाते हैं; अनूहाः—बिना किसी प्रकार के उत्पात के।

हे अजन्मा, आप हमें वे मार्ग तथा साधन बतायें जिनके द्वारा हम आपको समस्त भोग्य अन्न तथा वस्तुएँ अर्पित कर सकें जिससे हम तथा इस जगत के अन्य समस्त जीव बिना किसी उत्पात के अपना पालन-पोषण कर सकें तथा आपके लिए और अपने लिए आवश्यक वस्तुओं का संग्रह कर सकें।

तात्पर्य : विकसित चेतना मनुष्य जीवन से प्रारम्भ होती है, जो उच्चतर लोकों में निवास करने वाले देवताओं में और भी बढ़ जाती है। यह पृथ्वी ब्रह्माण्ड के लगभग बीचोंबींच स्थित है और मनुष्य जीवन देवताओं तथा असुरों के जीवन के बीच का माध्यम है। पृथ्वी के ऊपर के लोक विशेष रूप से उच्चतर बौद्धिकों अर्थात् देवताओं के निमित्त हैं। वे देवता इसलिए कहलाते हैं, क्योंकि अपने जीवन-स्तर में संस्कृति, भोग, विलास, सौन्दर्य, शिक्षा तथा आयु के दृष्टिकोण से अत्यधिक बढ़े-चढ़े होते हुए भी, वे पूर्णतया ईशभावनाभावित होते हैं। ऐसे देवता सदैव भगवान् की सेवा करने के लिए तत्पर रहते हैं, क्योंकि वे भलीभाँति इस तथ्य को जानते हैं कि हर जीव स्वाभाविक तौर पर भगवान् का नित्य अधीनस्थ सेवक है। वे यह भी जानते हैं कि एकमात्र भगवान् ही सारे जीवों की जीवन-आवश्यकताएँ पूरी करके उनका पालन करते हैं। इस सत्य की पुष्टि इस वैदिक सूत्र से होती है—*एको बहूनां यो विदधाति कामान्, ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामे* इत्यादि। *भगवद्गीता* में भी भगवान् को *भूत-भृत* अर्थात् सारे जीवों का पालन करने वाला कहा गया है।

यह आधुनिक सिद्धान्त है कि भुखमरी का कारण जनसंख्या में वृद्धि है, जो देवताओं या भगवद्भक्तों को स्वीकार्य नहीं है। भक्त या देवतागण इस बात से पूर्णतया अवगत हैं कि भगवान् कितने भी जीवों का पालन कर सकते हैं बशर्ते कि वे इसका ध्यान रखें कि किस तरह भोजन किया जाय। यदि वे सामान्य पशुओं की तरह भोजन करना चाहते हैं जिनमें ईश-चेतना नहीं होती तो उन्हें जंगल में रहनेवाले पशुओं की तरह भुखमरी, दरिद्रता तथा अभाव में जीवन बिताना होगा। जंगल के पशुओं का भी पालन भगवान् उनकी रुचियों का भोजन प्रदान करके करते हैं, किन्तु वे ईश-चेतना में बढ़े-चढ़े नहीं होते। इसी तरह भगवान् की कृपा से मनुष्यों को अन्न, शाक, फल तथा दूध उपलब्ध है, अतः मनुष्य का यह धर्म है कि वह भगवत्कृपा को स्वीकार करे। कृतज्ञता के रूप में भोज्य वस्तुओं

की पूर्ति के लिए उन्हें भगवान् के प्रति आभारी होना चाहिए। उन्हें चाहिए कि यज्ञ में सर्वप्रथम वे भगवान् को भोजन अर्पित करके जो उच्छिष्ट बचे, उसे ही खाएँ।

भगवद्गीता (३.१३) में इसकी पुष्टि की गई है कि जो व्यक्ति यज्ञ सम्पन्न करने के बाद भोजन ग्रहण करता है, वह शरीर तथा आत्मा के समुचित पालन-पोषण हेतु असली भोजन करता है। किन्तु जो व्यक्ति अपने लिए भोजन बनाता है और कोई यज्ञ नहीं करता, वह भोजन के रूप में पाप के ग्रास ही खाता है। ऐसा पापमय भोजन किसी को सुखी या अभाव से मुक्त नहीं बना सकता। अकाल या दुर्भिक्ष जनसंख्या वृद्धि के फलस्वरूप नहीं होता, जैसाकि अल्पज्ञ अर्थशास्त्री सोचते हैं। जब मानव समाज जीवों के पालन हेतु भगवान् द्वारा दिए गए उपहारों के प्रति कृतज्ञ रहता है तब समाज में किसी तरह का अभाव नहीं रह पाता। किन्तु जब लोग भगवान् के ऐसे उपहारों का आन्तरिक मूल्य नहीं समझते तो उन्हें निश्चय ही अभाव रहता है। जो व्यक्ति ईशभावनाभावित नहीं हैं, भले ही वह अपने विगत पुण्यकर्मों के फलस्वरूप सम्प्रति ऐश्वर्यमय जीवन बिता ले, किन्तु यदि वह ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को भुला देता है, तो उसे शक्तिशाली भौतिक प्रकृति के नियमों द्वारा, निश्चय ही, भुखमरी का सामना करना पड़ेगा। ईशभावनाभावित हुए बिना अथवा भक्तिमय जीवन के बिना मनुष्य शक्तिशाली भौतिक प्रकृति की दृष्टि से बचकर निकल नहीं सकता।

त्वं नः सुराणामसि सान्वयानां
कूटस्थ आद्यः पुरुषः पुराणः ।
त्वं देव शक्त्यां गुणकर्मयोनौ
रेतस्त्वजायां कविमादधेऽजः ॥५०॥

शब्दार्थ

त्वम्—आप; नः—हम; सुराणाम्—देवताओं के; असि—हो; स-अन्वयानाम्—विभिन्न कोटियों समेत; कूट-स्थः—अपरिवर्तित; आद्यः—बिना किसी श्रेष्ठ के अद्वितीय; पुरुषः—संस्थापक व्यक्ति; पुराणः—सबसे प्राचीन, जिस का कोई और संस्थापक न हो; त्वम्—आप; देव—हे भगवान्; शक्त्याम्—शक्ति के प्रति; गुण-कर्म-योनौ—भौतिक गुणों तथा कर्मों के कारण के प्रति; रेतः—जन्म का वीर्य; तु—निस्सन्देह; अजायाम्—उत्पन्न करने के लिए; कविम्—सारे जीव; आदधे—आरम्भ किया; अजः—अजन्मा।

आप समस्त देवताओं तथा उनकी विभिन्न कोटियों के आदि साकार संस्थापक हैं फिर भी आप सबसे प्राचीन हैं और अपरिवर्तित रहते हैं। हे प्रभु, आपका न तो कोई उद्गम है, न ही कोई आपसे श्रेष्ठ है। आपने समस्त जीव रूपी वीर्य द्वारा बहिरंगा शक्ति को गर्भित किया है, फिर भी

आप स्वयं अजन्मा हैं।

तात्पर्य : आदि पुरुष भगवान्, ब्रह्मा से ले कर अन्य सारे जीवों के पिता हैं। ब्रह्मा से ही विभिन्न योनियों में अन्य सभी जीव उत्पन्न हुए हैं। फिर भी परम पिता का कोई पिता नहीं है। सभी श्रेणियों का प्रत्येक जीव, यहाँ तक कि ब्रह्माण्ड के आदि जीव ब्रह्मा तक, किसी पिता से उत्पन्न हैं, किन्तु भगवान् का कोई पिता नहीं है। जब वे अपनी अहैतुकी कृपा से इस भौतिक जगत में अवतरित होते हैं, तो वे भौतिक जगत के नियमों के अनुसार अपने किसी महान् भक्त को अपना पिता स्वीकारते हैं। चूँकि वे ही स्वामी हैं इस कारण अपने पिता का चुनाव करने के लिए वे सदैव स्वतंत्र होते हैं। उदाहरणार्थ, नृसिंह देव के अवतार में वे एक ख भे से प्रकट हो गये और भगवान् श्रीराम के अपने अवतार में उनके चरणकमलों के स्पर्श से पत्थर से अहल्या प्रकट हो गई। वे परमात्मा रूप में प्रत्येक व्यक्ति के संगी भी हैं, किन्तु वे अपरिवर्तित रहते हैं। भौतिक जगत में जीव अपना शरीर बदलता रहता है, किन्तु भगवान् इस जगत में होते हैं, तो भी सदा अपरिवर्तित ही रहते हैं। यही उनका विशेषाधिकार है।

जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.३) में पुष्टि हुई है, भगवान् बहिरंगा या भौतिक शक्ति को गर्भित करते हैं और इस तरह बाद में विभिन्न कोटियों के रूप में, प्रथमदेव ब्रह्मा से लेकर तुच्छ चींटी तक, सारे जीव उत्पन्न होते हैं। जीवों की समस्त कोटियाँ ब्रह्मा तथा बहिरंगा शक्ति द्वारा उत्पन्न की जाती हैं, किन्तु भगवान् हर एक के आदि पिता हैं। भगवान् के साथ प्रत्येक जीव का सम्बन्ध पुत्र-पिता के रूप में होता है, सम-स्तर का नहीं। कभी-कभी प्रेम में पुत्र पिता से बढ़कर होता है, किन्तु पिता तथा पुत्र का सम्बन्ध श्रेष्ठ तथा अधीनस्थ का होता है। प्रत्येक जीव, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, यहाँ तक कि ब्रह्मा तथा इन्द्र जैसे देवता क्यों न हों, परम पिता का नित्य अधीनस्थ सेवक होता है। महत् तत्त्व सिद्धान्त प्रकृति के सारे गुणों का जनक-स्रोत है। सारे जीव भौतिक प्रकृति माता द्वारा प्रदत्त शरीरों के साथ भौतिक जगत में अपने पूर्व कर्म के अनुसार जन्म लेते हैं। यह शरीर भौतिक प्रकृति का उपहार है, किन्तु आत्मा मूलत: परमेश्वर का अंश होता है।

ततो वयं मत्प्रमुखा यदर्थे
बभूविमात्मन्करवाम किं ते ।
त्वं नः स्वचक्षुः परिदेहि शक्त्या

देव क्रियार्थे यदनुग्रहाणाम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

ततः—अतः; वयम्—हम सभी; मत्-प्रमुखाः—महतत्त्व से उत्पन्न; यत्-अर्थे—जिस कार्य के लिए; बभूविम—उत्पन्न किया; आत्मन्—हे परम आत्मा; करवाम—करेंगे; किम्—क्या; ते—आपकी सेवा; त्वम्—आप स्वयं; नः—हम को; स्व-चक्षुः—निजी योजना; परिदेहि—विशेष रूप से प्रदान करें; शक्त्या—कार्य करने की शक्ति से; देव—हे प्रभु; क्रिया-अर्थे—कार्य करने के लिए; यत्—जिससे; अनुग्रहाणाम्—विशेष रूप से कृपा प्राप्त लोगों का।

हे परम प्रभु, महत्-तत्त्व से प्रारम्भ में उत्पन्न हुए हम सबों को अपना कृपापूर्ण निर्देश दें कि हम किस तरह से कर्म करें। कृपया हमें अपना पूर्ण ज्ञान तथा शक्ति प्रदान करें जिससे हम परवर्ती सृष्टि के विभिन्न विभागों में आपकी सेवा कर सकें।

तात्पर्य : भगवान् इस भौतिक जगत की सृष्टि करते हैं और भौतिक शक्ति (प्रकृति) को जीवों से गर्भित करते हैं, जिन्हें भौतिक जगत में कर्म करना है। इन सारे कर्मों के पीछे एक दैवी योजना रहती है। यह योजना है उन बद्धजीवों को इन्द्रियतृप्ति का भोग करने का अवसर प्रदान करना जो उसका भोग करना चाहते हैं। किन्तु सृष्टि के पीछे एक दूसरी योजना होती है। यह है जीवों को यह अनुभव करने में सहायता प्रदान करना कि वे भगवान् की दिव्य इन्द्रियतृप्ति के लिए उत्पन्न किये गये हैं। जीवों की यही स्वाभाविक स्थिति है। भगवान् अद्वय हैं और वे अपने दिव्य आनन्द के लिए अनेक रूपों में विस्तार करते हैं। *विष्णु तत्त्व, जीव तत्त्व* तथा *शक्ति तत्त्व* (भगवान के पुरुषोत्तम-रुप, जीवात्माएँ तथा विभिन्न शक्ति रुपी तत्त्व)—ये सारे विस्तार या अंश एक ही परमेश्वर की विभिन्न प्रशाखाएँ हैं। जीव तत्त्व विष्णुतत्त्व के विच्छिन्न विभिन्नांश है जिनमें सशक्त अन्तर होते हैं फिर भी वे सब परमेश्वर की दिव्य इन्द्रियतृप्ति के निमित्त हैं। किन्तु कुछ जीव भगवान् के प्रभुत्व की नकल में भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताना चाहते हैं। शुद्ध जीवों पर ऐसी मनोवृत्तियों ने किस तरह और कब अपना प्रभुत्व जमाया इसकी विवेचना इस तथ्य से की जा सकती है कि जीव तत्त्वों को अत्यल्प स्वतंत्रता प्राप्त है और इस स्वतंत्रता का दुरुपयोग करके कुछ जीव विराट जगत में फँस गये हैं, अत: वे *नित्यबद्ध* कहलाते हैं।

वैदिक ज्ञान का विस्तार भी *नित्यबद्धों* को सुधरने का अवसर प्रदान करता है और जो लोग ऐसे दिव्य ज्ञान का लाभ उठाते हैं, वे भगवान् की दिव्य सेवा करने की लुप्त चेतना को धीरे-धीरे पुन: प्राप्त कर लेते हैं। देवतागण बद्धात्माएँ ही हैं, जिन्होंने भगवान् के प्रति इस शुद्ध चेतना की सेवा को विकसित कर रखा है, किन्तु साथ ही साथ वे भौतिक शक्ति पर अपना प्रभुत्व जताना चाहते रहते हैं।

ऐसी मिश्रित चेतना बद्धजीव को इस सृष्टि के मामलों को व्यवस्थित करने की स्थिति तक पहुँचाती है। देवतागण बद्धजीवों के विश्वस्त नेता है। जिस तरह सरकारी कारागारों के कुछ पुराने बन्दियों को कारागार के प्रबन्ध का उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य सौंप दिया जाता है उसी तरह देवतागण सुधरे हुए बद्धजीव हैं, जो भौतिक सृष्टि में भगवान् के प्रतिनिधियों के रूप में कार्य करते हैं। ऐसे देवता-गण भौतिक जगत में भगवान् के भक्त होते हैं और जब वे संसार पर प्रभुत्व जताने की सम्पूर्ण भौतिक इच्छाओं से पूरी तरह मुक्त हो जाते हैं, तो वे शुद्ध भक्त बन जाते हैं और उनमें भगवान् की सेवा करने के अतिरिक्त कोई अन्य इच्छा नहीं रह जाती। इसलिए जो भी जीव भौतिक जगत में कोई पद चाहता है, वह भगवान् की सेवा में ऐसी इच्छा प्रकट कर सकता है और ईश्वर से शक्ति तथा बुद्धि माँग सकता है जैसाकि इस विशिष्ट श्लोक में देवताओं के उदाहरण से स्पष्ट है। भगवान् से आलोक तथा शक्ति प्राप्त किये बिना कोई कुछ भी नहीं कर सकता। *भगवद्गीता* (१५.१५) में भगवान् कहते है *मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*। सारी स्मृति, सारा ज्ञान तथा सारी विस्मृति उन भगवान् द्वारा अभियंत्रित होती है, जो प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में आसीन हैं। बुद्धिमान मनुष्य भगवान् से सहायता माँगता है और भगवान् अपनी नानाविध सेवाओं में लगे निष्ठावान् भक्तों की सहायता करते हैं।

भगवान् ने देवताओं को जीवों के विगत कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में उत्पन्न करने का कार्यभार सौंप रखा है। वे यहाँ पर भगवान् से अपने-अपने कार्यों को पूरा करने के लिए बुद्धि तथा शक्ति की याचना कर रहे हैं। इसी तरह कोई भी बद्धात्मा दक्ष गुरु के निर्देशन में भगवान् की सेवा में प्रवृत्त हो सकता है और क्रमशः भवबन्धन से मुक्त हो सकता है। गुरु भगवान् का प्रकट प्रतिनिधि होता है और जो कोई भी अपने को गुरु के निर्देशन में रहकर तदनुसार कार्य करता है, वह *बुद्धियोग* के अनुसार कार्य करता हुआ माना जाता है जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४१) में बतलाया गया है—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंन्ध के अन्तर्गत "मैत्रेय से विदुर की वार्ता" नामक पाँचवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छह

विश्व रूप की सृष्टि

ऋषिरुवाच
इति तासां स्वशक्तीनां सतीनामसमेत्य सः ।
प्रसुप्तलोकतन्त्राणां निशाम्य गतिमीश्वरः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ऋषिः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; इति—इस प्रकार; तासाम्—उनका; स्व-शक्तीनाम्—अपनी शक्ति; सतीनाम्—इस प्रकार स्थित; असमेत्य—किसी संयोग के बिना; सः—वह (भगवान्); प्रसुप्त—निलम्बित; लोक-तन्त्राणाम्—विश्व सृष्टियों में; निशाम्य—सुनकर; गतिम्—प्रगति; ईश्वरः—भगवान्।

मैत्रेय ऋषि ने कहा : इस तरह भगवान् ने महत्-तत्त्व जैसी अपनी शक्तियों के संयोग न होने के कारण विश्व के प्रगतिशील सृजनात्मक कार्यकलापों के निलम्बन के विषय में सुना।

तात्पर्य : भगवान् की सृष्टियों में किसी तरह का अभाव नहीं है। सारी शक्तियाँ वहाँ ही प्रसुप्तावस्था में रहती हैं। किन्तु जब तक भगवान् की इच्छा से उनका संयोग नहीं हो जाता तब तक कोई प्रगति नहीं हो सकती। सृष्टि के निलम्बित प्रगतिशील कार्य को भगवान् के निर्देशन द्वारा ही पुनरुज्जीवित किया जा सकता है।

कालसञ्ज्ञां तदा देवीं बिभ्रच्छक्तिमुरुक्रमः ।
त्रयोविंशति तत्त्वानां गणं युगपदाविशत् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

काल-सञ्ज्ञाम्—काली के नाम से विख्यात; तदा—उस समय; देवीम्—देवी को; बिभ्रत्—विनाशकारी; शक्तिम्—शक्ति; उरुक्रमः—परम शक्तिशाली; त्रयः-विंशति—तेईस; तत्त्वानाम्—तत्त्वों के; गणम्—उन सभी; युगपत्—एक ही साथ; आविशत्—प्रवेश किया।

तब परम शक्तिशाली भगवान् ने अपनी बहिरंगा शक्ति, देवी काली सहित तेईस तत्त्वों के भीतर प्रवेश किया, क्योंकि वे ही विभिन्न प्रकार के तत्त्वों को संमेलित करती हैं।

तात्पर्य : पदार्थ के अवयवों की संख्या तेईस है—सम्पूर्ण भौतिक शक्ति, मिथ्या अहंकार, ध्वनि, स्पर्श, रूप, स्वाद, गंध, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा, हाथ, पाँव, गुदा (वायु), लिंग (उपस्थ), वाणी तथा मन। ये सभी काल के प्रभाव से परस्पर संयुक्त रहते हैं

और कालक्रम में विघटित हो जाते हैं। इसीलिए काल भगवान् की शक्ति है और यह शक्ति भगवान् के निर्देशानुसार अपने ही ढंग से कार्य करती है। यह शक्ति काली कहलाती है और काली विध्वंसक देवी के द्वारा इसका प्रतिनिधित्व होता है, जो भौतिक संसार में सामान्यतया तमोगुण से प्रभावित लोगों द्वारा पूजित होती है। वैदिक स्तोत्र में यह विधि इस प्रकार वर्णित है—*मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या: प्रकृतिविकृतय: सप्त षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृति: पुरुष:*। जो शक्ति तेईस अवयवों के संयोग से भौतिक प्रकृति के रूप में कार्य करती है, वह सृष्टि का अन्तिम स्रोत नहीं है। भगवान् तत्त्वों में प्रवेश करते हैं और अपनी शक्ति काली को व्यवहृत करते हैं। अन्य समस्त वैदिक शास्त्रों में यही सिद्धान्त स्वीकार हुआ है। *ब्रह्म-संहिता* (५.३५) में कहा गया है—

एकोऽप्यसौ रचयितुं जगदण्डकोटिं

यच्छक्तिरस्ति जगदण्डचया यदन्त:।

अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो आदि भगवान् हैं। अपने स्वांश (महाविष्णु) के द्वारा वे भौतिक प्रकृति में और तब प्रत्येक ब्रह्माण्ड में (गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में) प्रवेश करते हैं। तत्पश्चात् वे (क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में) पदार्थ के परमाणुओं समेत सभी तत्त्वों में प्रवेश कर जाते हैं। विराट सृष्टि के ऐसे स्वरूप ब्रह्माण्डों में तथा व्यष्टि परमाणुओं दोनों ही में असंख्य होते हैं।"

इसी तरह इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१०.४२) में हुई है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

"हे अर्जुन! मेरी उन असंख्य शक्तियों के विषय में तुम्हारे लिए जानने की कोई आवश्यकता नहीं है, जो विविध प्रकारों से कार्य करती हैं। मैं समस्त ब्रह्माण्डों तथा उनके सारे तत्त्वों में अपने स्वांश (परमात्मा) के रूप में भौतिक सृष्टि में प्रवेश करता हूँ। इस तरह सृष्टि का कार्य चलता रहता है।" भौतिक प्रकृति के आश्चर्यजनक कार्य भगवान् कृष्ण के कारण होते हैं, इसीलिए वे अन्तिम कारण या समस्त कारणों के परम कारण हैं।

सोऽनुप्रविष्टो भगवांश्चेष्टारूपेण तं गणम् ।
भिन्नं संयोजयामास सुप्तं कर्म प्रबोधयन् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अनुप्रविष्टः—इस तरह बाद में प्रवेश करते हुए; भगवान्—भगवान्; चेष्टा-रूपेण—अपने प्रयास काली के रूप में; तम्—उनको; गणम्—सारे जीव जिनमें देवता सम्मिलित हैं; भिन्नम्—पृथक्-पृथक्; संयोजयाम् आस—कार्य करने में लगाया; सुप्तम्—सोई हुई; कर्म—कर्म; प्रबोधयन्—प्रबुद्ध करते हुए।

इस तरह जब भगवान् अपनी शक्ति से तत्त्वों के भीतर प्रविष्ट हो गये तो सारे जीव प्रबुद्ध होकर विभिन्न कार्यों में उसी तरह लग गये जिस तरह कोई व्यक्ति निद्रा से जगकर अपने कार्य में लग जाता है।

तात्पर्य : हर जीव सृष्टि के लय के पश्चात् अचेत रहता है और भगवान् की भौतिक शक्ति के साथ उनमें ही प्रवेश करता है। ये व्यष्टि जीव पहले से चली आ रही बद्ध आत्माएँ हैं, किन्तु प्रत्येक भौतिक सृष्टि में उन्हें अपने आपको मुक्त करने तथा स्वतंत्र आत्माएँ बनने का अवसर प्रदान किया जाता है। उन्हें वैदिक ज्ञान का लाभ उठाने का तथा यह पता लगाने का कि भगवान् के साथ उनका क्या सम्बन्ध है, वे किस तरह मुक्त बन सकते हैं, और ऐसी मुक्ति में परम लाभ क्या है, अवसर प्रदान किया जाता है। वेदों का समुचित अध्ययन करके मनुष्य अपने पद से अवगत होता है और इस तरह भगवान् की दिव्य भक्ति करता हुआ क्रमशः वैकुण्ठलोक को प्राप्त होता है। भौतिक जगत में व्यष्टि आत्माएँ अपनी विगत अपूर्ण इच्छाओं के अनुसार विभिन्न कार्यों में लगी रहती हैं। किसी विशेष शरीर के विघटन के बाद व्यष्टि आत्मा हर वस्तु को भूल जाती है, किन्तु सर्वकरुणामय भगवान्, जो कि साक्षी परमात्मा के रूप में हर व्यक्ति के हृदय में स्थित हैं, उसे जागृत करते हैं और उसे उसकी विगत इच्छाओं की याद दिलाते रहते हैं। इस तरह वह अपने अगले जीवन में उसी के अनुसार कर्म करने लगता है। इस अदृष्ट मार्गदर्शन को भाग्य कहा जाता है और कोई भी विवेकशील व्यक्ति समझ सकता है कि इससे प्रकृति के तीन गुणों में उसका भौतिकबन्धन बना रहता है।

सृष्टि के आंशिक या पूर्ण लय के तुरन्त बाद जीव की अचेत सुप्तावस्था को कुछ अल्पज्ञ दार्शनिक भूल से जीवन की चरम अवस्था मान बैठते हैं। आंशिक भौतिक शरीर के विलय के बाद जीव केवल कुछ महीनों तक अचेत रहता है और भौतिक सृष्टि के पूर्ण विलय के बाद वह लाखों वर्षों तक अचेत

रहता है। किन्तु जब सृष्टि पुनः जागृत होती है, तो भगवान् उसे जगा कर पुनः कर्म में लगाते हैं। जीव शाश्वत है और उसके कार्यों द्वारा प्रकट उसकी जाग्रत चेतना-अवस्था उसके जीवन की स्वाभाविक अवस्था है। जागृत रहते हुए वह कर्म करना बन्द नहीं करता और इस तरह वह अपनी विविध इच्छाओं के अनुसार कर्म करता है। जब उसकी इच्छाएँ भगवान् की दिव्य सेवा करने के लिए प्रशिक्षित की जाती हैं, तो उसका जीवन पूर्ण हो जाता है और नित्य जाग्रत जीवन का आनन्द पाने के लिए वह वैकुण्ठ भेज दिया जाता है।

प्रबुद्धकर्मा दैवेन त्रयोविंशतिको गणः ।
प्रेरितोऽजनयत्स्वाभिर्मात्राभिरधिपूरुषम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

प्रबुद्ध—जाग्रत; कर्मा—कार्यकलाप; दैवेन—ब्रह्म की इच्छा से; त्रयः-विंशतिकः—तेईस प्रमुख अवयवों द्वारा; गणः—संमेल; प्रेरितः—द्वारा प्रेरित; अजनयत्—प्रकट किया; स्वाभिः—अपने; मात्राभिः—स्वांश से; अधिपूरुषम्—विराट रूप (विश्वरूप) को।.

जब परम पुरुष की इच्छा से तेईस प्रमुख तत्त्वों को सक्रिय बना दिया गया तो भगवान् का विराट विश्वरूप शरीर प्रकट हुआ।

तात्पर्य : विराट् रूप या विश्व रूप जिसकी निर्विशेषवादी बहुत बड़ाई करते हैं, वह भगवान् का नित्य रुप नहीं है। यह भगवान् की परम इच्छा द्वारा भौतिक सृष्टि के अवयवों के बाद प्रकट किया जाता है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को यह विराट या विश्वरूप निर्विशेषवादियों को यह विश्वास दिलाने के लिए दिखलाया कि वे ही आदि भगवान् हैं। कृष्ण ने विराट् रूप प्रकट किया था। ऐसा नहीं है कि विराट रूप द्वारा कृष्ण प्रकट हुए, इसलिए विराट रूप भगवान् द्वारा वैकुण्ठ में प्रकट किया गया नित्य रूप नहीं है। यह भगवान् का भौतिक प्राकट्य है। नवजिज्ञासुओं के लिए मन्दिर का अर्चाविग्रह भगवान् का ऐसा ही प्राकट्य है। किन्तु भगवान् के विराट तथा अर्चा रूप भौतिक होने पर भी उनके नित्य रूप से अभिन्न हैं।

परेण विशता स्वस्मिन्मात्रया विश्वसृग्गणः ।
चुक्षोभान्योन्यमासाद्य यस्मिन्लोकाश्चराचराः ॥ ५॥

शब्दार्थ

परेण—भगवान् द्वारा; विशता—इस तरह प्रवेश करके; स्वस्मिन्—स्वतः; मात्रया—स्वांश द्वारा; विश्व-सृक्—विश्व सृष्टि के तत्त्व; गणः—सारे; चुक्षोभ—रूपान्तरित हो गये; अन्योन्यम्—परस्पर; आसाद्य—प्राप्त करके; यस्मिन्—जिसमें; लोकाः—लोक; चर-अचराः—जड़ तथा चेतन।

ज्योंही भगवान् ने अपने स्वांश रूप में विश्व के सारे तत्त्वों में प्रवेश किया, त्योंही वे विराट रूप में रूपान्तरित हो गये जिसमें सारे लोक और समस्त जड़ तथा चेतन सृष्टियाँ टिकी हुई हैं।

तात्पर्य : विराट सृष्टि के सारे तत्त्व पदार्थ हैं और जब तक भगवान् अपने स्वांश रूप में उनमें प्रवेश नहीं करते तब तक आकार में वृद्धि करने की उनमें कोई सामर्थ्य नहीं होती। इसका अर्थ हुआ कि जब तक आध्यात्मिक स्पर्श नहीं होता तब तक पदार्थ घट या बढ़ नहीं सकता। पदार्थ आत्मा का प्रतिफल है और आत्मा के स्पर्श से ही बढ़ता है। इस सम्पूर्ण विराट जगत ने अपने आप यह विराट रूप धारण नहीं किया है जैसाकि अल्पज्ञों की ग़लत धारणा है। जब तक पदार्थ के भीतर आत्मा रहता है तब तक पदार्थ आवश्यकतानुसार बढ़ सकता है, किन्तु आत्मा के बिना पदार्थ बढ़ना बन्द कर देता है। उदाहरणार्थ, जब तक जीव के शरीर के भीतर आध्यात्मिक चेतना रहती है तब तक शरीर अपेक्षित आकार तक बढ़ता रहता है, किन्तु मृत भौतिक शरीर जिसमें आध्यात्मिक चेतना नहीं रहती, बढ़ना बन्द कर देता है। *भगवद्गीता* में (द्वितीय अध्याय) शरीर को नहीं बल्कि आध्यात्मिक चेतना को महत्त्व प्रदान किया गया है। सम्पूर्ण विराट शरीर उसी विधि से बढ़ा जिसे हम अपने लघु शरीरों में अनुभव करते हैं। किन्तु मनुष्य को मूर्खतावश यह नहीं सोचना चाहिए कि व्यष्टि सूक्ष्म आत्मा विश्वरूप की विराट अभिव्यक्ति का कारण है। विश्वरूप को विराट रूप इसीलिए कहा जाता है, क्योंकि भगवान् अपने स्वांश रूप में इसके भीतर होते हैं।

हिरण्मयः स पुरुषः सहस्रपरिवत्सरान् ।
आण्डकोश उवासाप्सु सर्वसत्त्वोपबृंहितः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

हिरण्मयः—विराट रूप धारण करने वाले गर्भोदकशायी विष्णु; सः—वह; पुरुषः—ईश्वर का अवतार; सहस्र—एक हजार; परिवत्सरान्—दैवी वर्षों तक; आण्ड-कोशे—अंडाकार ब्रह्माण्ड के भीतर; उवास—निवास करता रहा; अप्सु—जल में; सर्व-सत्त्व—उनके साथ शयन कर रहे सारे जीव; उपबृंहितः—इस तरह फैले हुए।

विराट पुरुष जो हिरण्मय कहलाता है, ब्रह्माण्ड के जल में एक हजार दैवी वर्षों तक रहता रहा और सारे जीव उसके साथ शयन करते रहे।

तात्पर्य : जब भगवान् गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट हो गये तो आधा

ब्रह्माण्ड जल से भर गया। लोकों, बाह्य आकाश इत्यादि की विराट अभिव्यक्ति, जो हमें दृष्टिगोचर होते हैं, पूर्ण ब्रह्माण्ड की केवल आधी है। अभिव्यक्ति के पूर्व तथा ब्रह्माण्ड के भीतर विष्णु के प्रवेश करने के बाद एक हजार दैवी वर्षों की अवधि होती है। महत् तत्त्व के गर्भ में प्रविष्ट किये गये सारे जीव सभी ब्रह्माण्डों में गर्भोदकशायी विष्णु के अवतार के साथ विभाजित हो जाते हैं और वे भगवान् के साथ तब तक शयन करते रहते हैं जब तक ब्रह्मा का जन्म नहीं हो जाता। ब्रह्माण्ड के भीतर ब्रह्मा ही प्रथम जीव होता है और अन्य सारे देवता तथा जीव उन्हीं से जन्मते हैं। मनुष्य जाति के आदि पिता मनु हैं, अतएव संस्कृत में मानव जाति मनुष्य कहलाती है। विभिन्न शारीरिक गुणों वाला मानव विभिन्न लोकों में विभाजित किया जाता है।

स वै विश्वसृजां गर्भो देवकर्मात्मशक्तिमान् ।
विबभाजात्मनात्मानमेकधा दशधा त्रिधा ॥ ७॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निश्चय ही; विश्व-सृजाम्—विराट रूप की; गर्भः—सम्पूर्ण शक्ति; देव—सजीव शक्ति; कर्म—जीवन की क्रियाशीलता; आत्म—आत्मा; शक्तिमान्—शक्तियों से पूरित; विबभाज—विभाजित कर दिया; आत्मना—अपने आप से; आत्मानम्—अपने को; एकधा—एक में; दशधा—दस में; त्रिधा—तथा तीन में।.

विराट रूप में महत् तत्त्व की समग्र शक्ति ने स्वतः अपने को जीवों की चेतना, जीवन की क्रियाशीलता तथा आत्म-पहचान के रूप में विभाजित कर लिया जो एक, दस तथा तीन में क्रमशः उपविभाजित हो गए हैं।

तात्पर्य : चेतना जीव या आत्मा का चिह्न है। आत्मा का अस्तित्व चेतना के रूप में प्रकट है, जो ज्ञानशक्ति कहलाता है। समग्र चेतना विराट रूप की होती है और वही चेतना पृथक्-पृथक् व्यक्तियों में प्रकट होती है। चेतना का कार्य प्राणवायु के माध्यम से सम्पन्न किया जाता है, जो दस प्रकार की है। ये प्राणवायुएँ प्राण, अपान, उदान, व्यान तथा समान कहलाती हैं और नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त तथा धनञ्जय के रूप में अलग-अलग गुणों वाली भी हैं। आत्मा की चेतना भौतिक वातावरण द्वारा दूषित हो जाती है और इस प्रकार शारीरिक पहचान के मिथ्या अहंकार में विभिन्न कार्यकलाप प्रकट होते हैं। *भगवद्गीता* (२.४१) में इन विभिन्न कार्यकलापों का वर्णन *बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्* के रूप में हुआ है। बद्ध आत्मा शुद्धचेतना के अभाव में विविध कार्यों में मोहग्रस्त होता रहता है।

शुद्धचेतनावस्था में केवल एक कार्य होता है। व्यष्टि आत्मा की चेतना उस समय परम चेतना से एक हो जाती है जब इन दोनों के मध्य पूर्ण समन्वयन होता है।

अद्वैतवादी का विश्वास है कि चेतना केवल एक होती है, जबकि *सात्वतों* अर्थात् भक्तों का विश्वास है कि यद्यपि चेतना निस्सन्देह एक है, किन्तु उनमें तालमेल होने से ही वे एक हैं। व्यष्टि चेतना को परम चेतना के साथ जुड़ जाने की सलाह दी जाती है जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६६) में भगवान् ने उपदेश दिया है—*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*। व्यष्टि चेतना (अर्जुन) को परम चेतना के साथ-साथ रहने की और इस तरह अपनी सचतेन शुद्धता बनाये रखने की सलाह दी जाती है। चेतना के कार्यकलापों को बन्द करने का प्रयास मूर्खता है, किन्तु भगवान् के साथ जोड़कर उन्हें शुद्ध किया जा सकता है। यह चेतना शुद्धि की मात्रा के अनुसार आत्म-पहचान के तीन गुणों में विभाजित हो जाती हैं—*आध्यात्मिक* अर्थात् शरीर तथा मन के साथ आत्म-पहचान, *आधिभौतिक* या भौतिक उत्पादों के साथ आत्म-पहचान, तथा *आधिदैविक* या भगवान् के सेवक के रूप में आत्म-पहचान। इन तीनों में *आधिदैविक* आत्म-पहचान भगवान् की इच्छा का पालन करते हुए चेतना की शुद्धि की शुरुआत है।

एष ह्यशेषसत्त्वानामात्मांशः परमात्मनः ।
आद्योऽवतारो यत्रासौ भूतग्रामो विभाव्यते ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; हि—निस्सन्देह; अशेष—असीम; सत्त्वानाम्—जीवों के; आत्मा—आत्मा; अंशः—अंश; परम-आत्मनः—परमात्मा का; आद्यः—प्रथम; अवतारः—अवतार; यत्र—जिसमें; असौ—वे सब; भूत-ग्रामः—समुचित सृष्टियाँ; विभाव्यते—फलती फूलती हैं।

भगवान् का विश्वरूप प्रथम अवतार तथा परमात्मा का स्वांश होता है। वे असंख्य जीवों के आत्मा हैं और उनमें समुच्चित सृष्टि (भूतग्राम) टिकी रहती है, जो इस तरह फलती फूलती है।

तात्पर्य : भगवान् दो प्रकार से अपना विस्तार करते हैं—आत्म स्वांश द्वारा तथा विभक्त सूक्ष्म अंश द्वारा। आत्म स्वांश *विष्णुतत्त्व* है तथा विभक्त अंश जीव हैं। चूँकि जीव अत्यन्त लघु हैं, अतएव कभी-कभी उन्हें भगवान् की तटस्था शक्ति कहा जाता है। किन्तु योगीजन जीवों तथा परमात्मा को एक ही मानते हैं, पर यह विवाद का बहुत नगण्य बिन्दु है। कुल मिलाकर प्रत्येक वस्तु भगवान् के विराट् रूप

या विश्वरूप पर ही टिकी रहती है।

साध्यात्मः साधिदैवश्च साधिभूत इति त्रिधा ।
विराट्प्राणो दशविध एकधा हृदयेन च ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

स-आध्यात्मः—शरीर तथा समस्त इन्द्रियों समेत मन; स-आधिदैवः—तथा इन्द्रियों के नियंत्रक देवता; च—तथा; स-आधिभूतः—वर्तमान विषय; इति—इस प्रकार; त्रिधा—तीन; विराट्—विराट; प्राणः—चालक शक्ति; दश-विधः—दस प्रकार; एकधा—केवल एक; हृदयेन—चेतना शक्ति; च—भी।

विश्वरूप तीन, दस तथा एक के द्वारा इस अर्थ में प्रस्तुत होता है कि वे (भगवान्) शरीर तथा मन और इन्द्रियाँ हैं। वे ही दस प्रकार की जीवन शक्ति द्वारा समस्त गतियों की गत्यात्मक शक्ति हैं और वे ही एक हृदय हैं जहाँ जीवन-शक्ति सृजित होती है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.४-५) में कहा गया है कि आठ तत्त्व—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार—भगवान् की कनिष्ठा शक्ति के उत्पाद हैं जबकि कनिष्ठा शक्ति का उपभोग करते दिखाई पड़ने वाले जीव मूलतः श्रेष्ठ शक्ति से अर्थात् भगवान् की अन्तरंगा शक्ति से—सम्बन्धित हैं। आठों कनिष्ठा शक्तियाँ स्थूल तथा सूक्ष्म रीति से कार्य करती हैं जबकि श्रेष्ठ शक्ति मध्यवर्ती केन्द्रीय *जनक* शक्ति के रूप में कार्य करती है—ऐसा मानव शरीर में अनुभव किया जाता है। स्थूल तत्त्व—पृथ्वी आदि—बाह्य स्थूल शरीर का निर्माण करते हैं और ऊपरी वस्त्र (कुर्ते) के सदृश हैं जबकि सूक्ष्म मन तथा मिथ्या अहंकार शरीर के भीतरी वस्त्र (बनियान) की तरह कार्य करते हैं।

शरीर की गतियाँ सर्वप्रथम हृदय से उत्पन्न होती है और शरीर के सारे कार्यकलाप इन्द्रियों द्वारा सम्भव होते हैं, जो शरीर के भीतर दस प्रकार की वायु द्वारा शक्ति प्राप्त करती हैं। दस प्रकार की वायु का वर्णन इस प्रकार है—श्वास लेते समय नाक से प्रविष्ट होने वाली मुख्य वायु *प्राण* कहलाती है। जो वायु गुदा से बाहर निकलती है, वह *अपान* कहलाती है। जो वायु उदर के भीतर भोजन को ठीक करती है और जो कभी-कभी डकार के रूप में निकलती है, *समान* कहलाती है। जो वायु गले से होकर जाती है और जिसके रुकने से दम घुटता है, वह *उदान* वायु कहलाती है। जो सम्पूर्ण वायु पूरे शरीर में चक्कर लगाती है, वह *व्यान* वायु कहलाती है। इन पाँचों वायुओं से भी सूक्ष्म अन्य वायु हैं। जो वायु आँखों के और मुख के खुलने में सहायक बनती है, वह *नाग* वायु कहलाती है। जो वायु भूख

को बढ़ाती है, कृकर वायु कहलाती है। जो वायु संकुचन में सहायक होती है, वह *कूर्म* वायु कहलाती है। जो वायु अँगड़ाई लेते समय मुख को फैलाकर विश्राम दिलाती है, वह *देवदत्त* कहलाती है तथा जो वायु संपोषण में सहायक बनती है, वह *धनञ्जय* वायु कहलाती है।

ये सारी वायु हृदय के मध्य से उत्पन्न होती हैं और हृदय केवल एक है। यह मध्यवर्ती शक्ति भगवान् की श्रेष्ठ शक्ति है, जो हृदय के भीतर शरीर के आत्मा के साथ आसीन है, जो भगवान् के मार्गदर्शन में कार्य करता है। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* (१५.१५) में इस प्रकार हुई है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो

मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो

वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्॥

संपूर्ण मध्यवर्ती शक्ति भगवान् द्वारा हृदय से उत्पन्न की जाती है। जो वहीं पर स्थित होते हैं और स्मरण करने तथा विस्मरण करने में बद्धजीव की सहायता करते हैं। यह बद्ध अवस्था जीव द्वारा भगवान् की अधीनता की विस्मृति के कारण है। जो व्यक्ति भगवान् को भुलाए रखना चाहता है उसकी भगवान् जन्म-जन्मांतर भुलवाये रखने में सहायता करते हैं, किन्तु जो व्यक्ति भगवद्भक्त की संगति के बल पर उनका स्मरण करता है, स्मरण करने में भगवान् उसकी अधिकाधिक सहायता करते हैं। इस तरह बद्धात्मा अन्ततोगत्वा भगवद्धाम वापस जा सकता है।

भगवान् द्वारा दी जाने वाली इस दिव्य सहायता की विधि का वर्णन *भगवद्गीता* (१०.१०) में इस प्रकार हुआ है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

मन से परे बुद्धि अर्थात् भक्ति द्वारा आत्म-साक्षात्कार की *बुद्धियोग* विधि अकेले ही मनुष्य को विराट सृष्टि में भव-बन्धन की बद्ध अवस्था से ऊपर ले जा सकती है। जीव की बद्ध अवस्था उस व्यक्ति जैसी है, जो किसी विशाल यांत्रिक व्यवस्था की गहराई में हो। मानसिक चिन्तक अनेकानेक जन्मों के चिन्तन के बाद ही *बुद्धियोग* के बिन्दु तक पहुँच सकते हैं, किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति, जो मन के

ऊपर बुद्धिस्तर से प्रारम्भ करता है, आत्म-साक्षात्कार में तीव्र प्रगति करता है। चूँकि *बुद्धियोग* में किसी समय भी ह्रास या पीछे जाने का किसी प्रकार से भय नहीं रहता, अतएव आत्म-साक्षात्कार के लिए यह विश्वसनीय मार्ग है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* द्वारा (२.४०) होती है। मानसिक चिन्तक एक ही वृक्ष पर बैठे दो पक्षियों को (*श्वेताश्वतर-उपनिषद्*) आत्मा तथा परमात्मा के रूप में नहीं समझ पाते। व्यष्टि आत्मा तो वृक्ष का फल खाता है, किन्तु दूसरा पक्षी फल न खाकर फल खा रहे पक्षी के कार्यकलापों का अवलोकन करता रहता है। यह साक्षी पक्षी, फल खा रहे पक्षी को सकाम *कर्म* करते रहने में पहुँचाता है। जो व्यक्ति आत्मा तथा परमात्मा या ईश्वर और जीव के इस अन्तर को नहीं समझ सकता वह अब भी विराट यंत्र के पाश में है, अतएव उसे उस समय की प्रतीक्षा करनी होगी जब वह इस बन्धन से छूट सकेगा।

स्मरन्विश्वसृजामीशो विज्ञापितमधोक्षजः ।
विराजमतपत्स्वेन तेजसैषां विवृत्तये ॥ १० ॥

शब्दार्थ

स्मरन्—स्मरण करते हुए; विश्व-सृजाम्—विश्व रचना का कार्यभार सँभालने वाले देवता-गण; ईशः—भगवान्; विज्ञापितम्—स्तुति किया गया; अधोक्षजः—ब्रह्म; विराजम्—विराट रूप; अतपत्—इस तरह विचार किया; स्वेन—अपनी; तेजसा—शक्ति से; एषाम्—उनके लिए; विवृत्तये—समझने के लिए।

परम प्रभु इस विराट जगत की रचना का कार्यभार सँभालने वाले समस्त देवताओं के परमात्मा हैं। इस तरह (देवताओं द्वारा) प्रार्थना किये जाने पर उन्होंने मन में विचार किया और तब उनको समझाने के लिए अपना विराट रूप प्रकट किया।

तात्पर्य : निर्विशेषवादी लोग भगवान् के विराट रूप के प्रति विभ्रमित रहते हैं। वे सोचते हैं कि इस विराट अभिव्यक्ति के पीछे कल्पना का हाथ है, किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति कारण के महत्त्व का अनुमान परिणामों के चमत्कारों को देखकर लगा सकते हैं। उदाहरणार्थ, माता के गर्भ में मनुष्य-शरीर का विकास स्वतंत्र रूप से नहीं होता, अपितु इसलिए होता है कि शरीर के भीतर जीव या आत्मा है। जीवात्मा के बिना कोई भी भौतिक शरीर स्वयमेव न तो आकार ग्रहण कर सकता है, न विकास कर सकता है। जब कोई भौतिक वस्तु विकास प्रदर्शित करती है, तो यह समझना चाहिए कि इस अभिव्यक्ति के भीतर आध्यात्मिक आत्मा विद्यमान है। यह विराट ब्रह्माण्ड धीरे-धीरे विकसित हुआ है,

जिस तरह किसी शिशु का शरीर विकास करता है। अतएव यह धारणा कि ब्रह्माण्ड के भीतर ब्रह्म प्रवेश करता है, तर्कसंगत है। जिस तरह भौतिकतावादी लोग हृदय के भीतर आत्मा तथा परमात्मा नहीं ढूँढ़ पाते उसी तरह पर्याप्त ज्ञान के अभाव में वे यह नहीं देख पाते कि परमात्मा ही ब्रह्माण्ड का कारण है। इसीलिए वैदिक भाषा में भगवान् को *अवाङ्मनसागोचर:* अर्थात् शब्दों तथा मनों की धारणा से परे कहा गया है।

अल्पज्ञान के कारण मानसिक चिन्तक ब्रह्म को शब्दों तथा मनों की सीमा में बाँधना चाहते हैं, किन्तु भगवान् इस तरह से नहीं जाने जा सकते। चिन्तक के पास भगवान् की अनन्तता की माप जानने के लिए पर्याप्त शब्द या मन नहीं होता। भगवान् *अधोक्षज* कहलाते हैं जिसका अर्थ है ऐसा पुरुष जो हमारी इन्द्रियों की कुन्द सीमित शक्ति की अनुभूति से परे है। कोई व्यक्ति मानसिक चिन्तन द्वारा भगवान् के दिव्य नाम या रूप को नहीं देख सकता। संसारी पीएच.डी. वाले अपनी सीमित इन्द्रियों से ब्रह्म के विषय में चिन्तन कर पाने में बिल्कुल असमर्थ हैं। ऐसे गर्वित पीएच.डी. लोगों द्वारा किये जानेवाले प्रयत्नों की तुलना कूपमण्डूक के दर्शन से की जा सकती हैं। जब एक कूपमण्डूक को विशाल प्रशान्त महासागर की जानकारी दी गई तो वह प्रशान्त महासागर की लम्बाई-चौड़ाई मापने या समझने के उद्देश्य से फूल कर कुप्पा हो गया। अन्त में इस मंडूक का शरीर फट गया और वह मर गया। पीएच.डी. उपाधि की विवेचना हल (कृषि) विभाग से की जा सकती है। यह उपाधि धान के खेतों को जोतने वालों के निमित्त है। धान के खेतों को जोतने वालों के द्वारा विराट जगत को तथा ऐसे अद्भुत कार्य के पीछे कारण को समझने के प्रयास की तुलना उस कूपमण्डूक से की जा सकती है, जो प्रशान्त महासागर की लंबाई चौड़ाई की माप करने का प्रयास कर रहा था।

भगवान् केवल उसी व्यक्ति के समक्ष प्रकट होते हैं, जो विनयशील होता है और उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा रहता है। विश्व के कार्यव्यापार के तत्त्वों तथा अवयवों का नियंत्रण करने वाले देवताओं ने पथप्रदर्शन के लिए भगवान् से प्रार्थना की, अत: उन्होंने अपना विराट रूप प्रकट किया जैसाकि उन्होंने अर्जुन के अनुरोध पर किया था।

अथ तस्याभितप्तस्य कतिधायतनानि ह ।

निरभिद्यन्त देवानां तानि मे गदतः शृणु ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अथ—इसलिए; तस्य—उसका; अभितप्तस्य—उसके चिन्तन के अनुसार; कतिधा—कितने; आयतनानि—विग्रह; ह—थे; निरभिद्यन्त—विभिन्नांशों द्वारा; देवानाम्—देवताओं का; तानि—उन समस्त; मे गदतः—मेरे द्वारा वर्णित; शृणु—सुनो।

मैत्रेय ने कहा : अब तुम मुझसे यह सुनो कि परमेश्वर ने अपना विराट रूप प्रकट करने के बाद किस तरह से अपने को देवताओं के विविध रूपों में विलग किया।

तात्पर्य : देवता भी अन्य सारे जीवों की तरह परमेश्वर के वियुक्त हुए भिन्नांश हैं। देवताओं तथा सामान्य जीवों में केवल इतना ही अन्तर है कि सारे जीव जब भगवान् की भक्ति के पुण्य कर्मों से युक्त होते हैं और भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की उनकी इच्छा शमित हो जाती है, तो वे देवताओं के पद पर उन्नत कर दिये जाते हैं, जिन्हें भगवान् विश्व के कार्य-व्यापार की व्यवस्था करने का कार्य भार सौंपे हुए हैं।

तस्याग्निरास्यं निर्भिन्नं लोकपालोऽविशत्पदम् ।
वाचा स्वांशेन वक्तव्यं ययासौ प्रतिपद्यते ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसकी; अग्निः—अग्नि; आस्यम्—मुँह; निर्भिन्नम्—इस तरह वियुक्त; लोक-पालः—भौतिक मामलों के निदेशक; अविशत्—प्रवेश किया; पदम्—अपने-अपने पदों को; वाचा—शब्दों से; स्व-अंशेन—अपने अंश से; वक्तव्यम्—वाणी; यया—जिससे; असौ—वे; प्रतिपद्यते—व्यक्त करते हैं।

उनके मुख से अग्नि अथवा उष्मा विलग हो गई और भौतिक कार्य सँभालने वाले सारे निदेशक अपने-अपने पदों के अनुसार इस में प्रविष्ट हो गये। जीव उसी शक्ति से शब्दों के द्वारा अपने को अभि-व्यक्त करता है।

तात्पर्य : भगवान् के विराट रूप का मुख वाचा शक्ति का उद्गम है। अग्नि तत्त्व का निदेशक इसका नियंत्रक अथवा *आधिदैव* है। अभि-व्यक्त वाणियां *आध्यात्म* या शारीरिक कार्य हैं और वाणियों की विषयवस्तु *आधिभूत* तत्त्व या भौतिक उत्पादन हैं।

निर्भिन्नं तालु वरुणो लोकपालोऽविशद्धरेः ।
जिह्वयांशेन च रसं ययासौ प्रतिपद्यते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

निर्भिन्नम्—वियुक्त; तालु—तालू; वरुण:—वायु का नियन्ता देव; लोक-पाल:—लोकों का निदेशक; अविशत्—प्रविष्ट हुआ; हरे:—भगवान् के; जिह्वया अंशेन—जीभ के अंश से; च—भी; रसम्—स्वाद; यया—जिससे; असौ—जीव; प्रतिपद्यते—अभि-व्यक्त करता है।.

जब विराट रूप का तालू पृथक् प्रकट हुआ तो लोकों में वायु का निदेशक वरुण उसमें प्रविष्ट हुआ जिससे जीव को अपनी जीभ से हर वस्तु का स्वाद लेने की सुविधा प्राप्त है।

निर्भिन्ने अश्विनौ नासे विष्णोराविशतां पदम् ।
घ्राणेनांशेन गन्धस्य प्रतिपत्तिर्यतो भवेत् ॥ १४॥

शब्दार्थ

निर्भिन्ने—इस प्रकार से पृथक् हुए; अश्विनौ—दोनों अश्विनीकुमार; नासे—दोनों नथुनों के; विष्णो:—भगवान् के; आविशताम्—प्रविष्ट होकर; पदम्—पद; घ्राणेन अंशेन—आंशिक रूप से सूँघने से; गन्धस्य—गन्ध का; प्रतिपत्ति:—अनुभव; यत:—जिससे; भवेत्—होता है।.

जब भगवान् के दो नथुने पृथक् प्रकट हुए तो दोनों अश्विनीकुमार उनके भीतर अपने-अपने पदों पर प्रवेश कर गये। इसके फलस्वरूप जीव हर वस्तु की गन्ध सूँघ सकते हैं।

निर्भिन्ने अक्षिणी त्वष्टा लोकपालोऽविशद्विभो: ।
चक्षुषांशेन रूपाणां प्रतिपत्तिर्यतो भवेत् ॥ १५॥

शब्दार्थ

निर्भिन्ने—इस प्रकार से पृथक् होकर; अक्षिणी—आँखें; त्वष्टा—सूर्य ने; लोक-पाल:—प्रकाश का निदेशक; अविशत्—प्रवेश किया; विभो:—महान् का; चक्षुषा अंशेन—दृष्टि के अंश से; रूपाणाम्—रूपों के; प्रतिपत्ति:—अनुभव; यत:—जिससे; भवेत्—होता है।.

तत्पश्चात् भगवान् के विराट रूप की दो आँखें पृथक् हो गईं। प्रकाश का निदेशक सूर्य दृष्टि के आंशिक प्रतिनिधित्व के साथ उनमें प्रविष्ट हुआ जिससे जीव रूपों को देख सकते हैं।

निर्भिन्नान्यस्य चर्माणि लोकपालोऽनिलोऽविशत् ।
प्राणेनांशेन संस्पर्शं येनासौ प्रतिपद्यते ॥ १६॥

शब्दार्थ

निर्भिन्नानि—पृथक् होकर; अस्य—विराट रूप की; चर्माणि—त्वचा; लोक-पाल:—निदेशक; अनिल:—वायु ने; अविशत्—प्रवेश किया; प्राणेन अंशेन—श्वास के अंश से; संस्पर्शम्—स्पर्श; येन—जिससे; असौ—जीव; प्रतिपद्यते—अनुभव कर सकता है।.

जब विराट रूप से त्वचा पृथक् हुई तो वायु का निदेशक देव अनिल आंशिक स्पर्श से प्रविष्ट हुआ जिससे जीव स्पर्श का अनुभव कर सकते हैं।

कर्णावस्य विनिर्भिन्नौ धिष्ण्यं स्वं विविशुर्दिशः ।
श्रोत्रेणांशेन शब्दस्य सिद्धिं येन प्रपद्यते ॥ १७॥

शब्दार्थ

कर्णौ—दोनों कान; अस्य—विराट रूप के; विनिर्भिन्नौ—इस तरह पृथक् होकर; धिष्ण्यम्—नियंत्रक देव; स्वम्—अपने से; विविशुः—प्रवेश किया; दिशः—दिशाओं का; श्रोत्रेण अंशेन—श्रवण तत्त्व के साथ; शब्दस्य—ध्वनि का; सिद्धिम्—सिद्धि; येन—जिससे; प्रपद्यते—अनुभव की जाती है।

जब विराट रूप के कान प्रकट हुए तो सभी दिशाओं के नियंत्रक देव श्रवण तत्त्वों समेत उनमें प्रविष्ट हो गये जिससे सारे जीव सुनते हैं और ध्वनि का लाभ उठाते हैं।

तात्पर्य : कान जीव के शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण यंत्र है। ध्वनि दूरस्थ तथा अज्ञात वस्तुओं का सन्देश ले जाने का सबसे महत्त्वपूर्ण माध्यम है। समस्त ध्वनि या ज्ञान की सिद्धि कान से प्रवेश करती है और मनुष्य के जीवन को पूर्ण बनाती है। सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान एकमात्र श्रवण करके ही प्राप्त किया जाता है। इस तरह ज्ञान का सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत ध्वनि है।

त्वचमस्य विनिर्भिन्नां विविशुर्धिष्ण्यमोषधीः ।
अंशेन रोमभिः कण्डूं यैरसौ प्रतिपद्यते ॥ १८॥

शब्दार्थ

त्वचम्—चमड़ी; अस्य—विराट रूप की; विनिर्भिन्नाम्—अलग से प्रकट होकर; विविशुः—प्रविष्ट हुआ; धिष्ण्यम्—नियंत्रक देव; ओषधीः—संस्पर्श; अंशेन—अंशों के साथ; रोमभिः—शरीर के रोओं से होकर; कण्डूम्—खुजली; यैः—जिससे; असौ—जीव; प्रतिपद्यते—अनुभव करता है।

जब चमड़ी की पृथक् अभिव्यक्ति हुई तो अपने विविध अंशों समेत संस्पर्श नियंत्रक देव उसमें प्रविष्ट हो गये। इस तरह जीवों को स्पर्श के कारण खुजलाहट तथा प्रसन्नता का अनुभव होता है।

तात्पर्य : इन्द्रिय बोध के दो मुख्य अंग हैं—स्पर्श तथा खुजली। ये दोनों ही चमड़ी तथा शरीर के रोओं द्वारा नियंत्रित होते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार स्पर्श का नियंत्रक देव शरीर के भीतर चलने वाला वायु है और शरीर के रोमों का नियंत्रक देव ओषध्य है। चमड़ी के लिए बोध का विषय स्पर्श है और शरीर के रोओं का बोध विषय खुजली है।

मेढ्रं तस्य विनिर्भिन्नं स्वधिष्ण्यं क उपाविशत् ।
रेतसांशेन येनासावानन्दं प्रतिपद्यते ॥ १९॥

शब्दार्थ

मेढ्रम्—जननांग; तस्य—उस विराट रूप का; विनिर्भिन्नम्—पृथक् होकर; स्व-धिष्ण्यम्—अपना पद; कः—ब्रह्मा, आदि प्राणी; उपाविशत्—प्रविष्ट हुआ; रेतसा अंशेन—वीर्य के अंश सहित; येन—जिससे; असौ—जीव; आनन्दम्—यौन आनन्द; प्रतिपद्यते—अनुभव करता है।

जब विराट रूप के जननांग पृथक् हो गये तो आदि प्राणी प्रजापति अपने आंशिक वीर्य समेत उनमें प्रविष्ट हो गये और इस तरह जीव यौन आनन्द का अनुभव कर सकते हैं।

गुदं पुंसो विनिर्भिन्नं मित्रो लोकेश आविशत् ।
पायुनांशेन येनासौ विसर्गं प्रतिपद्यते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

गुदम्—गुदा; पुंसः—विराट रूप का; विनिर्भिन्नम्—पृथक् होकर; मित्रः—सूर्यदेव; लोक-ईशः—मित्र नामक निदेशक; आविशत्—प्रविष्ट हुआ; पायुना अंशेन—आंशिक वायु के साथ; येन—जिससे; असौ—जीव; विसर्गम्—मलमूत्र त्याग; प्रतिपद्यते—सम्पन्न करता है।

फिर विसर्जन मार्ग पृथक् हुआ और मित्र नामक निदेशक विसर्जन के आंशिक अंगों समेत उसमें प्रविष्ट हो गया। इस प्रकार जीव अपना मल-मूत्र विसर्जित करने में सक्षम हैं।

हस्तावस्य विनिर्भिन्नाविन्द्रः स्वर्पतिराविशत् ।
वार्तयांशेन पुरुषो यया वृत्तिं प्रपद्यते ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

हस्तौ—दो हाथ; अस्य—विराट रूप के; विनिर्भिन्नौ—पृथक् होकर; इन्द्रः—स्वर्ग का राजा; स्वः-पतिः—स्वर्ग लोकों का शासक; आविशत्—प्रविष्ट हुआ; वार्तया अंशेन—अंशतः व्यवसायिक सिद्धान्तों के साथ; पुरुषः—जीव; यया—जिससे; वृत्तिम्—जीविका का व्यापार; प्रपद्यते—चलाता है।

तत्पश्चात् जब विराट रूप के हाथ पृथक् हुए तो स्वर्गलोक का शासक इन्द्र उनमें प्रविष्ट हुआ और इस तरह से जीव अपनी जीविका हेतु व्यापार चलाने में समर्थ हैं।

पादावस्य विनिर्भिन्नौ लोकेशो विष्णुराविशत् ।
गत्या स्वांशेन पुरुषो यया प्राप्यं प्रपद्यते ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

पादौ—दो पाँव; अस्य—विराट रूप के; विनिर्भिन्नौ—पृथक् प्रकट हुए; लोक-ईशः विष्णुः—विष्णु नामक देवता (भगवान् नहीं); आविशत्—प्रविष्ट हुआ; गत्या—चलने-फिरने की शक्ति द्वारा; स्व-अंशेन—अपने ही अंश सहित; पुरुषः—जीव; यया—जिससे; प्राप्यम्—गन्तव्य तक; प्रपद्यते—पहुँचता है।

तत्पश्चात् विराट रूप के पाँव पृथक् रुप से प्रकट हुए और विष्णु नामक देवता (भगवान् नहीं) ने उन में आंशिक गति के साथ प्रवेश किया। इससे जीव को अपने गन्तव्य तक जाने में सहायता मिलती है।

बुद्धिं चास्य विनिर्भिन्नां वागीशो धिष्ण्यमाविशत् ।
बोधेनांशेन बोद्धव्यम्प्रतिपत्तिर्यतो भवेत् ॥ २३॥

शब्दार्थ

बुद्धिम्—बुद्धि; च—भी; अस्य—विराट रूप की; विनिर्भिन्नाम्—पृथक् हुई; वाक्-ईशः—वेदों का स्वामी ब्रह्मा; धिष्ण्यम्—नियंत्रक शक्ति; आविशत्—प्रविष्ट हुए; बोधेन अंशेन—अपने बुद्धि अंश सहित; बोद्धव्यम्—ज्ञान का विषय; प्रतिपत्तिः—समझ गया; यतः—जिससे; भवेत्—इस तरह होती है।

जब विराट रूप की बुद्धि पृथक् रुप से प्रकट हुई तो वेदों के स्वामी ब्रह्मा बुद्धि की आंशिक शक्ति के साथ उसमें प्रविष्ट हुए और इस तरह जीवों द्वारा बुद्धि के ध्येय का अनुभव किया जाता है।

हृदयं चास्य निर्भिन्नं चन्द्रमा धिष्ण्यमाविशत् ।
मनसांशेन येनासौ विक्रियां प्रतिपद्यते ॥ २४॥

शब्दार्थ

हृदयम्—हृदय; च—भी; अस्य—विराट रूप का; निर्भिन्नम्—पृथक् से प्रकट होकर; चन्द्रमा—चन्द्र देवता; धिष्ण्यम्—नियंत्रक शक्ति समेत; आविशत्—प्रविष्ट हुआ; मनसा अंशेन—आंशिक मानसिक क्रिया सहित; येन—जिससे; असौ—जीव; विक्रियाम्—संकल्प; प्रतिपद्यते—करता है।

इसके बाद विराट रूप का हृदय पृथक् रूप से प्रकट हुआ और इसमें चन्द्रदेवता अपनी आंशिक मानसिक क्रिया समेत प्रवेश कर गया। इस तरह जीव मानसिक चिन्तन कर सकता है।

आत्मानं चास्य निर्भिन्नमभिमानोऽविशत्पदम् ।
कर्मणांशेन येनासौ कर्तव्यं प्रतिपद्यते ॥ २५॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—मिथ्या अहंकार; च—भी; अस्य—विराट रूप का; निर्भिन्नम्—पृथक् से प्रकट होकर; अभिमानः—मिथ्या पहचान; अविशत्—प्रविष्ट हुआ; पदम्—पद पर; कर्मणा—कर्म द्वारा; अंशेन—अंशतः; येन—जिससे; असौ—जीव; कर्तव्यम्—करणीय कार्यकलाप; प्रतिपद्यते—करता है।

तत्पश्चात् विराट रूप का भौतिकतावादी अहंकार पृथक् से प्रकट हुआ और इसमें मिथ्या अंहकार के नियंत्रक रुद्र ने अपनी निजी आंशिक क्रियाओं समेत प्रवेश किया जिससे जीव अपना लक्ष्यित कर्तव्य पूरा करता है।

तात्पर्य : भौतिकतावादी स्वरूप का मिथ्या अहंकार शिवजी के अवतार रुद्र देवता द्वारा नियंत्रित होता है। रुद्र भगवान् के अवतार हैं, जो भौतिक प्रकृति के अन्तर्गत तमोगुण का नियंत्रण करते हैं।

मिथ्या अहंकार की क्रियाएँ शरीर तथा मन के लक्ष्य पर आधारित होती हैं। मिथ्या अहंकार द्वारा नियंत्रित अधिकांश व्यक्ति शिवजी द्वारा नियंत्रित होते हैं। जब मनुष्य अज्ञान के सूक्ष्म रूप तक पहुँच जाता है, तो वह भ्रमवश अपने को परमेश्वर मानने लगता है। बद्ध आत्मा की अहंकारमय धारणा उस भ्रामिक माया का अन्तिम पाश है, जो सम्पूर्ण भौतिक जगत को नियंत्रित करती है।

सत्त्वं चास्य विनिर्भिन्नं महान्धिष्ण्यमुपाविशत् ।
चित्तेनांशेन येनासौ विज्ञानं प्रतिपद्यते ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—चेतना; च—भी; अस्य—विराट रूप की; विनिर्भिन्नम्—पृथक् से प्रकट होकर; महान्—समग्र शक्ति, महत् तत्त्व; धिष्ण्यम्—नियंत्रण समेत; उपाविशत्—प्रविष्ट हुई; चित्तेन अंशेन—अपनी अंश चेतना समेत; येन—जिससे; असौ—जीव; विज्ञानम्—विशिष्ट ज्ञान; प्रतिपद्यते—अनुशीलन करता है।

तत्पश्चात् जब विराट रूप से उसकी चेतना पृथक् होकर प्रकट हुई तो समग्र शक्ति अर्थात् महतत्त्व अपने चेतन अंश समेत प्रविष्ट हुआ। इस तरह जीव विशिष्ट ज्ञान को अवधारण करने में समर्थ होता है।

शीर्ष्णोऽस्य द्यौर्धरा पद्भ्यां खं नाभेरुदपद्यत ।
गुणानां वृत्तयो येषु प्रतीयन्ते सुरादयः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

शीर्ष्णः—सिर; अस्य—विराट रूप का; द्यौः—स्वर्गलोक; धरा—पृथ्वीलोक; पद्भ्याम्—उसके पैरों पर; खम्—आकाश; नाभेः—नाभि से; उदपद्यत—प्रकट हुआ; गुणानाम्—तीनों गुणों के; वृत्तयः—फल; येषु—जिनमें; प्रतीयन्ते—प्रकट होते हैं; सुर-आदयः—देवता इत्यादि।

तत्पश्चात् विराट रूप के सिर से स्वर्गलोक, उसके पैरों से पृथ्वीलोक तथा उसकी नाभि से आकाश पृथक्-पृथक् प्रकट हुए। इनके भीतर भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के रूप में देवता इत्यादि भी प्रकट हुए।

आत्यन्तिकेन सत्त्वेन दिवं देवाः प्रपेदिरे ।
धरां रजःस्वभावेन पणयो ये च तानन्‌ ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

आत्यन्तिकेन—अत्यधिक; सत्त्वेन—सतोगुण द्वारा; दिवम्—उच्चतर लोकों में; देवाः—देवता; प्रपेदिरे—स्थित है; धराम्—पृथ्वी पर; रजः—रजोगुण; स्वभावेन—स्वभाव से; पणयः—मानव; ये—वे सब; च—भी; तान्—उनके; अनु—अधीन।

देवतागण, अति उत्तम गुण, सतोगुण के द्वारा योग्य बनकर, स्वर्गलोक में अवस्थित रहते हैं,

जबकि मनुष्य अपने रजोगुणी स्वभाव के कारण अपने अधीनस्थों की संगति में पृथ्वी पर रहते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१४.१४-१५) में कहा गया है कि जो सतोगुण में अत्यधिक विकसित हैं, वे उच्चतर स्वर्गलोकों को जाते हैं और जो रजोगुण द्वारा अभिभूत हैं, वे मध्य लोकों में—पृथ्वी तथा ऐसे ही अन्य लोकों में—स्थित रहते हैं। किन्तु जो तमोगुण से पूरित हैं, वे निम्नलोकों में या पशु जगत में गिरा दिये जाते हैं। देवतागण सतोगुण में अतीव बढ़े-चढ़े होते हैं, अत: वे स्वर्गलोकों में स्थित रहते हैं। मनुष्यों से भी नीचे पशु हैं, यद्यपि उनमें से कुछ पशु मानव समाज से मिलते रहते हैं। गौवें, घोड़े, कुत्ते आदि मनुष्य के संरक्षण में रहने के आदी हैं।

इस श्लोक में *आत्यन्तिकेन* शब्द अत्यन्त सार्थक है। भौतिक प्रकृति के सतोगुण के विकास से मनुष्य स्वर्गलोक में स्थित हो सकता है। किन्तु रजो तथा तमो गुणों के अत्यधिक विकास से मनुष्य उन पशुओं की हत्या करने लगता है जिन्हें मनुष्य द्वारा संरक्षण दिया जाता है। जो व्यक्ति व्यर्थ की पशुहत्या में रत होते हैं उनमें रजो तथा तमोगुण अत्यधिक विकसित हो चुके होते हैं और सतोगुण की दिशा में उनके बढ़ने की कोई आशा नहीं रहती। उनके जीवन का निम्नतर स्थितियों में अध:पतन होता ही है। उच्चतर तथा निम्नलोकों की गणना उनमें रहने वाले जीवों की श्रेणियों के अनुसार होती है।

तार्तीयेन स्वभावेन भगवन्नाभिमाश्रिता: ।
उभयोरन्तरं व्योम ये रुद्रपार्षदां गणा: ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तार्तीयेन—तृतीय गुण अर्थात् तमोगुण के अत्यधिक विकास द्वारा; स्वभावेन—ऐसे स्वभाव से; भगवत्-नाभिम्—भगवान् के विराट रूप की नाभि में; आश्रिता:—स्थित; उभयो:—दोनों के; अन्तरम्—बीच में; व्योम—आकाश; ये—जो सब; रुद्र-पार्षदाम्—रुद्र के संगी; गणा:—लोग।

जो जीव रुद्र के संगी हैं, वे प्रकृति के तीसरे गुण अर्थात् तमोगुण में विकास करते हैं। वे पृथ्वीलोकों तथा स्वर्गलोकों के बीच आकाश में स्थित होते हैं।

तात्पर्य : आकाश का यह मध्य भाग भुवर्लोक कहलाता है, जिसकी पुष्टि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती तथा श्रील जीव गोस्वामी दोनों ने की है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जिनमें रजोगुण प्रधान होता है वे मध्य भाग में स्थित रहते हैं। जो लोग सतोगुण में स्थित हैं, वे देवताओं के क्षेत्रों में भेज दिए जाते

हैं; जो रजोगुण में स्थित होते हैं, वे मानव समाज में रखे जाते हैं तथा जो लोग तमोगुण में स्थित हैं, वे पशुओं या प्रेतों के समाज में स्थान पाते हैं। इस निष्कर्ष में कोई विरोधाभास नहीं है। असंख्य जीव ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों में फैले हुए हैं और इस तरह भौतिक प्रकृति-गुणों के अन्तर्गत अपनी अपनी गुणताओं के अनुसार स्थित रहते हैं।

मुखतोऽवर्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरूद्वह ।
यस्तून्मुखत्वाद्वर्णानां मुख्योऽभूद्ब्राह्मणो गुरुः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

मुखतः—मुँह से; अवर्तत—उत्पन्न हुआ; ब्रह्म—वैदिक ज्ञान; पुरुषस्य—विराट पुरुष का; कुरु-उद्वह—हे कुरुवंश के प्रधान; यः—जो; तु—के कारण; उन्मुखत्वात्—उन्मुख; वर्णानाम्—समाज के वर्णों का; मुख्यः—मुख्य; अभूत्—ऐसा हो गया; ब्राह्मणः—ब्राह्मण कहलाया; गुरुः—मान्य शिक्षक या गुरु।

हे कुरुवंश के प्रधान, विराट अर्थात् विश्व रुप के मुख से वैदिक ज्ञान प्रकट हुआ। जो लोग इस वैदिक ज्ञान के प्रति उन्मुख होते हैं, वे ब्राह्मण कहलाते हैं और वे समाज के सभी वर्णों के स्वाभाविक शिक्षक तथा गुरु हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (४.१३) में पुष्टि हुई है मानव समाज के चारों वर्ण विराट रूप के शरीर के क्रमानुसार विकसित हुए। ये शारीरिक विभाग हैं मुख, बाँह, कमर तथा पाँव। जो लोग मुख में स्थित हैं, वे ब्राह्मण कहलाते हैं, जो बाँहों में स्थित हैं, वे क्षत्रिय कहलाते हैं, जो कमर में स्थित हैं, वे वैश्य कहलाते हैं और जो पाँवों में स्थित हैं, वे शूद्र कहलाते हैं। हर व्यक्ति भगवान् के विश्वरूप में उनके शरीर में स्थित है। अतएव चार वर्णों के रूप में किसी जाति को इसलिए निम्न नहीं माना जाना चाहिए कि वह शरीर के किसी विशेष भाग में स्थित है। हम अपने शरीरों में अपने हाथों या पावों के प्रति अपने व्यवहारों में कोई वास्तविक भेदभाव नहीं बरतते। शरीर का अंग-प्रत्यंग महत्त्वपूर्ण है यद्यपि इनमें से मुख सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। यदि अन्य अंगों को शरीर से काटकर अलग कर दिया जाय तो मनुष्य जीवित रह सकता है, किन्तु यदि उसका मुख काट दिया जाय तो वह जीवित नहीं रह सकता। अतः भगवान् के शरीर का यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग उन ब्राह्मणों का आश्रयस्थल कहलाता है, जो वैदिक ज्ञान के प्रति उन्मुख होते हैं। जो वैदिक ज्ञान के प्रति उन्मुख न होकर संसारी मामलों के प्रति उन्मुख होता है, वह ब्राह्मण नहीं कहला सकता, भले ही वह ब्राह्मण वंश में या ब्राह्मण

पिता से क्यों न उत्पन्न हुआ हो। ब्राह्मण पिता से उत्पन्न होने से ही कोई ब्राह्मण बनने का पात्र नहीं हो जाता। ब्राह्मण की मुख्य योग्यता वैदिक ज्ञान के प्रति उसका झुकाव है। वेद भगवान् के मुख में स्थित होते हैं और इसलिए जो कोई वैदिक ज्ञान के प्रति उन्मुख होता है, वह निश्चय ही, ब्राह्मण होता है। वैदिक ज्ञान के प्रति यह उन्मुखता भी किसी विशेष जाति या सम्प्रदाय तक सीमित नहीं है। किसी भी परिवार का तथा विश्व के किसी भी भाग का कोई भी व्यक्ति वैदिक ज्ञान के प्रति उन्मुख हो सकता है और इससे वह असली ब्राह्मण होने के योग्य हो जाएगा।

असली ब्राह्मण स्वाभाविक तौर पर शिक्षक या गुरु होता है। जब तक किसी को वैदिक ज्ञान नहीं है, कोई व्यक्ति गुरु नहीं बन सकता। वेदों का सम्यक् ज्ञान है भगवान् को जानना और यही वैदिक ज्ञान का अन्त अर्थात् वेदान्त है। जो व्यक्ति निर्विशेष ब्रह्म को प्राप्त है और जिसे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विषय में कोई जानकारी नहीं होती वह भले ही ब्राह्मण बन जाय, किन्तु वह गुरु नहीं बन सकता। *पद्म पुराण* में कहा गया है—

षट्कर्मनिपुणो विप्रो मन्त्रतन्त्रविशारदः।

अवैष्णवो गुरुर्न स्याद् वैष्णवः श्वपचो गुरुः॥

निर्विशेषवादी योग्य ब्राह्मण बन सकता है, किन्तु वह तब तक गुरु नहीं बन सकता जब तक वैष्णव के पद को अथवा भगवद्भक्त पद को प्राप्त नहीं होता। आधुनिक युग में वैदिक ज्ञान के परम अधिकारी श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

किबा विप्र, किबा न्यासी, शूद्र केने नय।

येइ कृष्णतत्त्ववेत्ता, सेइ 'गुरु' हय॥

कोई व्यक्ति ब्राह्मण, शूद्र या संन्यासी हो सकता है, किन्तु यदि वह कृष्ण विज्ञान में निष्णात होता है, तो वह गुरु होने के योग्य है। (*चैतन्य-चरितामृत* मध्य ८.१२८) तब गुरु की योग्यता योग्य ब्राह्मण होना नहीं, अपितु कृष्ण विज्ञान में निष्णात होना है।

जो कोई भी वैदिक ज्ञान में निष्णात है, वह ब्राह्मण है। और केवल वही ब्राह्मण जो शुद्ध वैष्णव है तथा कृष्ण विज्ञान की सारी जटिलताओं को जानता है गुरु बन सकता है।

बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्रं क्षत्रियस्तदनुव्रतः ।
यो जातस्त्रायते वर्णान्पौरुषः कण्टकक्षतात् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

बाहुभ्यः—बाहुओं से; अवर्तत—उत्पन्न हुआ; क्षत्रम्—संरक्षण की शक्ति; क्षत्रियः—संरक्षण की शक्ति के सन्दर्भ में; तत्—वह; अनुव्रतः—अनुयायी; यः—जो; जातः—ऐसा होता है; त्रायते—उद्धार करता है; वर्णान्—अन्य वृत्तियाँ; पौरुषः—भगवान् का प्रतिनिधि; कण्टक—चोर उचक्के जैसे उपद्रवी तत्त्व; क्षतात्—दुष्टता से।

तत्पश्चात् विराट रूप की बाहुओं से संरक्षण शक्ति उत्पन्न हुई और ऐसी शक्ति के प्रसंग में समाज का चोर-उचक्कों के उत्पातों से रक्षा करने के सिद्धान्त का पालन करने से क्षत्रिय भी अस्तित्व में आये।

तात्पर्य : जिस तरह ब्राह्मण दिव्य वैदिक ज्ञान के प्रति विशेष उन्मुखता के फलस्वरूप जाने जाते हैं उसी तरह क्षत्रिय भी चोर-उचक्कों जैसे उपद्रवी तत्त्वों से समाज की रक्षा करने की शक्ति द्वारा पहचाने जाते हैं। *अनुव्रतः* शब्द सार्थक है। जो व्यक्ति चोर-उचक्कों से समाज की रक्षा करके क्षत्रिय सिद्धान्तों का पालन करता है, वह क्षत्रिय कहलाता है, केवल जन्म से कोई क्षत्रिय नहीं होता। जाति प्रथा की धारणा सदैव गुण पर आधारित होती है, जन्म की योग्यता पर नहीं। जन्म तो बाह्य अवधारणा है, यह वर्णों तथा विभागों का मुख्य लक्षण नहीं है। *भगवद्गीता* (१८.४१-४४) में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के गुणों का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है और यह समझा जाता है कि किसी समूह विशेष से सम्बन्धित होने के पूर्व ऐसे समस्त गुणों की आवश्यकता होती है।

भगवान् विष्णु को समस्त वैदिक शास्त्रों में *पुरुष* कहा गया है। कभी-कभी जीवों को भी *पुरुष* कहा जाता है यद्यपि वे अनिवार्यतः *पुरुष*-शक्ति (पराशक्ति या परा प्रकृति) अर्थात् *पुरुष* की परा शक्ति हैं। *पुरुष* (भगवान्) की बहिरंगा शक्ति द्वारा मोहित होकर जीव भ्रमवश अपने को *पुरुष* समझने लगते हैं, यद्यपि उनमें ऐसे कोई गुण नहीं होते। भगवान् में रक्षा करने की शक्ति होती है। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर, इन तीनों देवताओं में से पहले में सृजन की शक्ति होती है, दूसरे में रक्षा करने की तथा तीसरे में संहार करने की शक्ति होती है। इस श्लोक में *पुरुष* शब्द सार्थक है, क्योंकि क्षत्रियों से आशा की जाती है कि वे प्रजाओं को अर्थात् थल तथा जल में उत्पन्न हुए सबों को संरक्षण प्रदान करने में भगवान् *पुरुष* का प्रतिनिधित्व करेंगे। अतएव संरक्षण मनुष्य तथा पशु दोनों ही के निमित्त है। आधुनिक समाज में प्रजा को चोर-उचक्कों से सुरक्षित नहीं रखा जाता। आधुनिक प्रजातंत्र राज्य जिसमें क्षत्रिय हैं

ही नहीं वैश्यों तथा शूद्रों की सरकार है और पहले की तरह यह ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की सरकार नहीं है। महाराज युधिष्ठिर तथा उनके पौत्र महाराज परीक्षित विशिष्ट प्रकार के क्षत्रिय राजा थे क्योंकि उन्होंने सभी मनुष्यों तथा पशुओं सभी को संरक्षण प्रदान किया। जब साक्षात् कलि ने एक गाय का बध करना चाहा तो महाराज परीक्षित तुरन्त उस दुष्ट का बध करने के लिए सन्नद्ध हो गये और कलि को अपने राज्य से बाहर निकाल दिया। यह एक पुरुष का अथवा भगवान् विष्णु के प्रतिनिधि का लक्षण है। वैदिक सभ्यता के अनुसार, योग्य क्षत्रिय राजा को भगवान् जैसा सम्मान प्रदान किया जाता है, क्योंकि वह प्रजा को संरक्षण प्रदान करके भगवान् का प्रतिनिधित्व करता है। आधुनिक निर्वाचित राज्याध्यक्ष चोरी के मामलों में भी संरक्षण नहीं दे पाते, अतएव मनुष्य को बीमा कम्पनी का संरक्षण प्राप्त करना पड़ता है। आधुनिक मानव समाज की समस्याएँ योग्य ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के अभाव एवं तथाकथित सामान्य मताधिकार द्वारा वैश्यों तथा शूद्रों के अत्यधिक प्रभाव के कारण हैं।

विशोऽवर्तन्त तस्योर्वोर्लोकवृत्तिकरीर्विभोः ।
वैश्यस्तदुद्भवो वार्तां नृणां यः समवर्तयत् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

विशः—उत्पादन तथा वितरण द्वारा जीविका का साधन; अवर्तन्त—उत्पन्न किया; तस्य—उसका (विराट रूप का); ऊर्वोः—जाँघों से; लोक-वृत्तिकरीः—आजीविका के साधन; विभोः—भगवान् के; वैश्यः—वैश्य जाति; तत्—उनका; उद्भवः—समायोजन (जन्म); वार्ताम्—जीविका का साधन; नृणाम्—सारे मनुष्यों की; यः—जिसने; समवर्तयत्—सम्पन्न किया।

समस्त पुरुषों की जीविका का साधन, अर्थात् अन्न का उत्पादन तथा समस्त प्रजा में उसका वितरण भगवान् के विराट रूप की जाँघों से उत्पन्न किया गया। वे व्यापारी जन जो ऐसे कार्य को संभालते हैं वैश्य कहलाते हैं।

तात्पर्य : मानव समाज की जीविका के साधन को यहाँ पर स्पष्ट रूप से *विश* कह कर व्यक्त किया गया है, जिसका अर्थ है कृषि तथा कृषि-उत्पादों के वितरण का व्यापार जिसमें यातायात, बैंकिंग इत्यादि सम्मिलित हैं। उद्योग तो जीविका का कृत्रिम साधन है और बड़े पैमाने वाले उद्योग तो विशेषकर समाज की सारी समस्याओं की जड़ हैं। *भगवद्गीता* में भी *विश* में लगे वैश्यों के कर्तव्य गोरक्षा, कृषि तथा व्यापार बतलाये गये हैं। हम पहले ही व्याख्या कर चुके हैं कि मानव अपनी जीविका के लिए सुरक्षापूर्वक गाय तथा कृषिय भूमि पर निर्भर रह सकते हैं।

बैंकिंग तथा यातायात द्वारा उपज का विनिमय इस प्रकार की जीविका की एक शाखा है। वैश्य कई उपविभागों में बँटे हैं—उनमें से कुछ *क्षेत्री* या भूमि के स्वामी हैं, कुछ *कृष्ण* या भूमि जोतने वाले कहलाते हैं, कुछ *तिल वणिक* अर्थात् अन्न उत्पन्न करने वाले कहलाते हैं कुछ *गन्ध* वणिक अर्थात् मसाले का व्यापार करने वाले कहलाते हैं और कुछ *स्वर्ण वणिक* अर्थात् सोने तथा बैंकिंग के व्यापारी कहलाते हैं। ब्राह्मण शिक्षक तथा गुरु होते हैं, क्षत्रिय नागरिकों की चोर-उचक्कों से रक्षा करते हैं और वैश्य उत्पादन तथा वितरण के लिए उत्तरदायी हैं। शूद्र, कम बुद्धिमान श्रेणी के ऐसे लोग हैं, जो स्वतंत्र रूप से उपर्युक्त कार्य नहीं कर सकते, अपनी जीविका के लिए इन तीन उच्चतर श्रेणियों की सेवा करने के लिए होते हैं।

पूर्वकाल में ब्राह्मणों के जीवन की सारी आवश्यकताएँ क्षत्रियों तथा वैश्यों द्वारा पूरी की जाती थीं, क्योंकि जीविका कमाने के लिए उनके पास समय नहीं रहता था। क्षत्रियगण वैश्यों तथा शूद्रों से कर वसूल करते थे, किन्तु ब्राह्मण आयकर या भूमि लगान देने से मुक्त रखे जाते थे। मानव समाज की यह प्रणाली इतनी उत्तम थी कि कोई भी राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक उथल-पुथल नहीं मचती थी। अत: विभिन्न जातियाँ अथवा वर्ण विभाजन शान्तिमय मानव समाज बनाये रखने के लिए अत्यावश्यक हैं।

पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषा धर्मसिद्धये ।
तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

पद्भ्याम्—पैरों से; भगवतः—भगवान् के; जज्ञे—प्रकट हुआ; शुश्रूषा—सेवा; धर्म—वृत्तिपरक कार्य; सिद्धये—के हेतु; तस्याम्—उसमें; जातः—उत्पन्न हुआ; पुरा—प्राचीन काल में; शूद्रः—सेवक; यत्-वृत्त्या—वृत्ति जिससे; तुष्यते—तुष्ट होता है; हरिः—भगवान्।

तत्पश्चात् धार्मिक कार्य पूरा करने के लिए भगवान् के पैरों से सेवा प्रकट हुई। पैरों पर शूद्र स्थित होते हैं, जो सेवा द्वारा भगवान् को तुष्ट करते हैं।

तात्पर्य : सेवा सभी जीवों की असली स्वाभाविक वृत्ति है। जीव भगवान् की सेवा करने के निमित्त हैं और वे इस सेवा भाव से धार्मिक सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। कोई भी व्यक्ति सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए केवल चिन्तन द्वारा धार्मिक सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। अध्यात्मवादियों का ज्ञानी

वर्ग आत्मा तथा पदार्थ का अन्तर जानने के लिए ही चिन्तन करता रहता है, किन्तु ज्ञान द्वारा उसे मुक्त हुए आत्मा के कार्यों की कोई जानकारी नहीं रहती। यह कहा जाता है कि जो लोग वस्तुओं को यथारूप में जानने के लिए मानसिक चिन्तन ही करते रहते हैं और भगवान् की प्रेमाभक्ति में नहीं लगते वे केवल अपने समय की बरबादी करते हैं।

यहाँ पर यह स्पष्ट कहा गया है कि सेवा का सिद्धान्त धार्मिक विधि को पूरा करने के निमित्त भगवान् के पाँवों से उत्पन्न किया गया था, किन्तु यह दिव्य सेवा भौतिक जगत के सेवा भाव से भिन्न है। भौतिक जगत में कोई भी सेवक नहीं बनना चाहता, हर व्यक्ति स्वामी बनना चाहता है, क्योंकि मिथ्या स्वामित्व बद्धजीव का मूलभूत रोग है। भौतिक जगत में बद्धजीव अन्यों पर प्रभुत्व जताना चाहता है। भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा मोहित होकर वह भौतिक जगत में सेवक बनने के लिए बाध्य किया जाता है। बद्धजीव की यही असली स्थिति है। भ्रामक बहिरंगा शक्ति का अन्तिम पाश भगवान् से एकाकार होने की अवधारणा है और इसी धारणा के कारण भ्रमित जीव अपने को भूल से मुक्तात्मा तथा ''नारायण के तुल्य'' मानते हुए भौतिक शक्ति के बन्धन में पड़ा रहता है।

वस्तुत: ब्राह्मण की अपेक्षा शूद्र होना और सेवाभाव का विकास करना श्रेयस्कर होता है, क्योंकि केवल इसी भाव से भगवान् तुष्ट होते हैं। प्रत्येक जीव को, भले ही योग्यता के अनुसार वह ब्राह्मण हो, भगवान् की दिव्य सेवा करनी चाहिए। *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* दोनों ही इसकी परिपुष्टि करते हैं कि यह सेवाभाव जीव की सिद्धि है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र एकमात्र भगवान् की सेवा करके ही अपने वृत्तिपरक कर्तव्य को पूरा कर सकता है। ब्राह्मण से अपेक्षा की जाती है कि वैदिक ज्ञान में अपनी पूर्णता के कारण वह इस तथ्य को जाने। अन्य वर्गों को ब्राह्मण वैष्णव (योग्यता के अनुसार ब्राह्मण तथा कर्मद्वारा वैष्णव) के निर्देश का अनुगमन करना चाहिए। इससे सम्पूर्ण समाज अपने सामाजिक ढाँचे की व्यवस्था के अनुसार पूर्ण बन सकेगा। अव्यवस्थित समाज न तो समाज के सदस्यों को, न ही भगवान् को तुष्ट कर सकता है। यदि कोई पूर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र न भी हो, किन्तु यदि वह अपने सामाजिक पद की सिद्धि की परवाह न करते हुए भगवान् की सेवा करता है, तो वह भगवान् के प्रति केवल सेवा भाव उत्पन्न करके पूर्ण मानव बन जाता है।

एते वर्णाः स्वधर्मेण यजन्ति स्वगुरुं हरिम् ।
श्रद्धयात्मविशुद्ध्यर्थं यज्जाताः सह वृत्तिभिः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

एते—ये सारे; वर्णाः—समाज की श्रेणियाँ; स्व-धर्मेण—अपने-अपने वृत्तिपरक कर्तव्यों द्वारा; यजन्ति—पूजा करते हैं; स्व-गुरुम्—अपने गुरु; हरिम्—भगवान् को; श्रद्धया—श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक; आत्म—आत्मा; विशुद्धि-अर्थम्—शुद्ध करने के लिए; यत्—जिससे; जाताः—उत्पन्न; सह—के साथ; वृत्तिभिः—वृत्तिपरक कर्तव्य।

ये भिन्न-भिन्न समस्त सामाजिक विभाग, अपने-अपने वृत्तिपरक कर्तव्यों तथा जीवन परिस्थितियों के साथ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से उत्पन्न होते हैं। इस तरह अबद्धजीवन तथा आत्म-साक्षात्कार के लिए मनुष्य को गुरु के निर्देशानुसार परम प्रभु की पूजा करनी होती है।

तात्पर्य : चूँकि सारे जीव भगवान् के विराट रूप के शरीर के पृथक्-पृथक् भागों से उत्पन्न हुए हैं, अतएव सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के समस्त भागों के जीवों को परम शरीर का नित्य सेवक माना जाता है। हमारे अपने शरीर का प्रत्येक भाग, यथा मुँह, हाथ, जाँघ तथा पाँव, सम्पूर्ण शरीर की सेवा करने के लिए होते हैं। यही उनकी स्वाभाविक स्थिति है। मानवेतर जीवन में जीवों को स्वाभाविक स्थिति की चेतना नहीं होती, किन्तु मनुष्य जीवन में उनसे आशा की जाती है कि वे *वर्ण* प्रणाली के माध्यम से इसे जानें। जैसाकि ऊपर उल्लेख हुआ है, समाज के समस्त वर्णों का गुरु ब्राह्मण होता है, अतः ब्राह्मण संस्कृति, जिसकी पराकाष्ठा भगवान् की दिव्य सेवा है, आत्मा की शुद्धि के लिए आधार भूत सिद्धान्त है।

बद्धजीवन में आत्मा को ऐसा प्रतीत होता है कि वह ब्रह्माण्ड का स्वामी बन सकता है और इस भ्रान्त धारणा का अन्तिम बिन्दु यह है कि वह अपने को ब्रह्म सोचने लगता है। मूर्ख बद्ध-जिवात्मा इस बात पर ध्यान नहीं देता कि ब्रह्म कभी माया द्वारा बद्ध नहीं हो सकता। यदि ब्रह्म माया द्वारा बद्ध हो जाय तो फिर उसकी सर्वोच्चता कहाँ रही? उस दशा में माया सर्वोच्च होगी। इसलिए जीव कभी सर्वोच्च नहीं हो सकते, क्योंकि वे बद्ध हैं। इस श्लोक में बद्ध आत्मा की वास्तविक स्थिति बतलाई गई है—तीन गुणों में भौतिक प्रकृति से सम्पर्क के कारण सारे बद्धजीव अशुद्ध होते हैं। इसलिए ऐसे प्रामाणिक गुरु के पथ प्रदर्शन के अन्तर्गत उन्हें अपने को शुद्ध बनाना आवश्यक होता है, जो अपनी योग्यता से न केवल ब्राह्मण हों, अपितु वैष्णव भी हों। यहाँ पर आत्मशुद्धि की जिस एकमात्र विधि का उल्लेख हुआ है, वह मान्य विधि के अन्तर्गत—प्रामाणिक गुरु के पथ प्रदर्शन में—भगवान् की पूजा करना है। यही शुद्धि की स्वाभाविक विधि है और अन्य किसी विधि की प्रामाणिक होने के रूप में

संस्तुति नहीं की गई है। शुद्धि की अन्य विधियाँ जीवन की इस अवस्था तक पहुँचने में सहायक बन सकती हैं, किन्तु वास्तविक सिद्धि प्राप्त करने के पूर्व मनुष्य को इस अन्तिम बिन्दु तक आना होता है। *भगवद्गीता* (७.१९) में इस सत्यता की पुष्टि निम्नवत् हुई है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

एतत्क्षत्तर्भगवतो दैवकर्मात्मरूपिणः ।
कः श्रद्दध्यादुपाकर्तुं योगमायाबलोदयम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; क्षत्तः—हे विदुर; भगवतः—भगवान् का; दैव-कर्म-आत्म-रूपिणः—विराट रूप के दिव्य कर्म, काल तथा प्रकृति का; कः—और कौन; श्रद्दध्यात्—आकांक्षा कर सकता है; उपाकर्तुम्—समग्र रूप में मापने के लिए; योगमाया—अन्तरंगाशक्ति के; बल-उदयम्—बल द्वारा प्रकट।

हे विदुर, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की अन्तरंगा शक्ति द्वारा प्रकट किये गये विराट रूप के दिव्य काल, कर्म तथा शक्ति को भला कौन माप सकता है या उसका आकलन कर सकता है?

तात्पर्य : कूपमण्डूक दार्शनिक भगवान् की अन्तरंगा शक्ति *योगमाया* द्वारा प्रदर्शित विराट रूप के विषय में मानसिक चिन्तन करते रहें, किन्तु वस्तुतः कोई भी ऐसे विशाल प्रदर्शन को माप नहीं सकता। *भगवद्गीता* (११.१६) में भगवान् के मान्य भक्त अर्जुन ने कहा है—

अनेक बाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥

"हे विश्वेश्वर, हे *विश्वरूप,* हे ब्रह्माण्ड के स्वामी! मैं सभी दिशाओं में असंख्य हाथ, शरीर, मुख तथा आँखें देख रहा हूँ और वे सभी अनन्त हैं। मैं इस रूप का न तो अन्त पा सकता हूँ, न मध्य, न ही आदि।"

भगवद्गीता विशेष रूप से अर्जुन से कही गई थी और उसके अनुरोध पर उसके समक्ष विश्वरूप दिखलाया गया था। उसे इस *विश्वरूप* को देखने के लिए विशेष आँखें प्रदान की गई थीं। इस तरह यद्यपि वह भगवान् के असंख्य हाथ तथा मुख देख सका, किन्तु वह पूर्णरूपेण उनका दर्शन नहीं कर सका। जब अर्जुन भगवान् की शक्ति के माप का अनुमान लगाने में असमर्थ रहा तो भला और कौन

ऐसा कर सकता है? हाँ, कोई कूपमण्डूक दार्शनिक की तरह भ्रान्त अनुमान करने में लगा रह सकता है। कूपमण्डूक दार्शनिक तीन वर्गफुट आकार वाले कुएँ के अपने अनुभव के आधार पर प्रशान्त महासागर की लम्बाई-चौड़ाई का अनुमान लगाना चाहता था, अतः वह प्रशान्त महासागर जितना विशाल होने के लिए गर्व से फूलने लगा, किन्तु अन्त में उसका शरीर फट गया और इस विधि से वह मर गया। यह वृत्तान्त उस मानसिक दार्शनिक पर भी लागू होता है, जो भगवान् की बहिरंगा शक्ति की माया के अधीन परमेश्वर की लम्बाई-चौड़ाई का अनुमान लगाने में उलझा रहता है। सर्वोत्तम मार्ग यही है कि भगवान् का शान्त एवं विनीत भक्त बना जाय, प्रामाणिक गुरु से भगवान् के विषय में सुनने का प्रयास किया जाय तथा जैसाकि पिछले श्लोक में सुझाव दिया गया है, दिव्य प्रेमाभक्ति में भगवान् की सेवा की जाय।

तथापि कीर्तयाम्यङ्ग यथामति यथाश्रुतम् ।
कीर्तिं हरेः स्वां सत्कर्तुं गिरमन्याभिधासतीम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तथा—इसलिए; अपि—यद्यपि ऐसा है; कीर्तयामि—मैं वर्णन करता हूँ; अङ्ग—हे विदुर; यथा—जिस तरह; मति—बुद्धि; यथा—जिस तरह; श्रुतम्—सुना हुआ; कीर्तिम्—यश; हरेः—भगवान् का; स्वाम्—निजी; सत्-कर्तुम्—शुद्ध करने हेतु; गिरम्—वाणी; अन्याभिधा—अन्यथा; असतीम्—अपवित्र।

अपनी असमर्थता के बावजूद मैं (अपने गुरु से) जो कुछ सुन सका हूँ तथा जितना आत्मसात् कर सका हूँ उसे अब शुद्ध वाणी द्वारा भगवान् की महिमा के वर्णन में लगा रहा हूँ, अन्यथा मेरी वाक्शक्ति अपवित्र बनी रहेगी।

तात्पर्य : बद्ध आत्मा की शुद्धि के लिए उसकी चेतना की शुद्धि आवश्यक है। चेतना की उपस्थिति से दिव्य आत्मा की उपस्थिति की पुष्टि होती है और ज्योंही चेतना शरीर को त्याग देती है त्योंही शरीर निष्क्रिय हो जाता है। अतः चेतना की अनुभूति कार्यों से होती है। प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला यह सिद्धान्त कि चेतना निष्क्रिय अवस्था में रह सकती है उनके अल्पज्ञान का प्रमाण है। शुद्ध चेतना के कार्यकलापों को रोककर किसी को भी अपवित्र नहीं बनना चाहिए। यदि शुद्ध चेतना के कार्यकलापों को रोका जाता है, तो निश्चय ही सचेत जीवनी शक्ति अन्य प्रकार से व्यस्त हो जाएगी, क्योंकि जब तक व्यस्त न हो, चेतना का कोई अर्थ नहीं होता। चेतना क्षणभर भी शान्त

नहीं रह सकती। जब शरीर कार्य नहीं करता होता है, तो चेतना स्वप्नों के रूप में कार्य करती है। अचेतनता कृत्रिम है। बाह्य प्रेरणा से यह सीमित अवधि तक रहती है, किन्तु जब दवा का नशा उतरता है या जब मनुष्य जग जाता है, तो चेतना फिर से सही ढंग से कार्य करने लगती है।

मैत्रेय का कथन है कि अपवित्र सचेतन कार्यकलापों से बचने के लिए वे भगवान् की अनन्त कीर्ति का वर्णन करने का प्रयास कर रहे थे यद्यपि उनको ठीक से वर्णित कर पाने की सामर्थ्य उनमें नहीं थी। भगवान् की कीर्ति का गायन किसी शोध का परिणाम नहीं है, अपितु गुरुमुख से विनीत भाव से सुनने का परिणाम है। अपने गुरु से जो कुछ सुना हुआ रहता है उसे पूर्ण रूप से दुहरा पाना भी सम्भव नहीं है, किन्तु भरसक प्रयास करके यथासम्भव कुछ न कुछ वर्णन किया जा सकता है। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि भगवान् की महिमा का वर्णन पूरी तरह हुआ या नहीं। मनुष्य को *मनसा-वाचा-कर्मणा* भगवान् की दिव्य महिमा के गायन का प्रयास करना चाहिए अन्यथा ऐसे कार्यकलाप अपवित्र तथा अशुद्ध बने रहेंगे। बद्धजीव के जीवन मन तथा वाणी को भगवान् की सेवा में लगाने की विधि से ही शुद्ध बनाया जा सकता है। वैष्णवमत का *त्रिदण्डी संन्यासी* तीन दण्ड धारण करता है और ये दण्ड शरीर, मन, तथा वाणी से भगवान् की सेवा में लगने के व्रत के प्रतीक हैं जबकि एकदण्डी संन्यासी ब्रह्म से एकाकार होने का व्रत लेता है। चूँकि भगवान् परम हैं, अतएव उनमें तथा उनकी महिमा में कोई अन्तर नहीं है। वैष्णव संन्यासी द्वारा गाई जाने वाली भगवान् की महिमाएं भगवान् जैसी ही सारपूर्ण हैं। अत: भगवान् की महिमा का वर्णन करते हुए भक्त दिव्य रुचि में अभिभूत हो कर उनसे एकाकार हो जाता है, यद्यपि वह शाश्वत रूप से दिव्य सेवक बना रहता है। भक्त की यह एकसाथ *अचिन्त्य भेदाभेद* स्थिति उसे शाश्वत रूप से शुद्ध बनाती है और इस तरह उसका जीवन पूर्णरूपेण सफल बन जाता है।

एकान्तलाभं वचसो नु पुंसां
सुश्लोकमौलेर्गुणवादमाहुः ।
श्रुतेश्च विद्वद्भिरुपाकृतायां
कथासुधायामुपसम्प्रयोगम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

एक-अन्त—बेजोड़; लाभम्—लाभ; वचसः—विवेचना द्वारा; नु पुंसाम्—परम पुरुष के बाद; सुश्लोक—पवित्र; मौलेः—कार्यकलाप; गुण-वादम्—गुणगान; आहुः—ऐसा कहा जाता है; श्रुतेः—कान का; च—भी; विद्वद्भिः—विद्वान द्वारा; उपाकृतायाम्—इस तरह सम्पादित; कथा-सुधायाम्—ऐसे दिव्य सन्देश रूपी अमृत में; उपसम्प्रयोगम्—असली उद्देश्य को पूरा करता है, निकट होने से।.

मानवता का सर्वोच्च सिद्धिप्रद लाभ पवित्रकर्ता के कार्यकलापों तथा महिमा की चर्चा में प्रवृत्त होना है। ऐसे कार्यकलाप महान् विद्वान ऋषियों द्वारा इतनी सुन्दरता से लिपिबद्ध हुए हैं कि कान का असली प्रयोजन उनके निकट रहने से ही पूरा हो जाता है।

तात्पर्य : निर्विशेषवादी भगवान् के कार्यकलापों को सुनने से अतीव भयभीत रहते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि ब्रह्म के दिव्य पद से प्राप्त सुख ही जीवन का चरम लक्ष्य है। वे सोचते हैं कि हर एक का कार्य, चाहे वह भगवान् ही क्यों न हो, लौकिक होता है। किन्तु इस श्लोक में सुख का जो भाव व्यक्त है, वह भिन्न है, क्योंकि यह परम पुरुष के कार्यों को बतलाता है जिनके गुण दिव्य होते हैं। *गुणवादम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भगवान् के गुण तथा उनके कार्यकलाप एवं उनकी लीलाएँ भक्तों की चर्चा के विषय होते हैं। मैत्रेय जैसा ऋषि निश्चय ही लौकिक गुणों वाली किसी बात की चर्चा करने में रुचि नहीं रखता। फिर भी वे कहते हैं कि दिव्य साक्षात्कार की सर्वोच्च सिद्धिप्रद अवस्था भगवान् के कार्यकलापों की चर्चा करना है। इसीलिए श्रील जीव गोस्वामी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भगवान् के दिव्य कार्यकलापों से सम्बन्धित कथाएँ *कैवल्य* सुख की दिव्य अनुभूति से बहुत परे हैं। भगवान् के इन दिव्य कार्यकलापों को महर्षियों ने इस प्रकार लिपिबद्ध किया है कि उन कथाओं को सुनने से ही मनुष्य आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त होता है और कान तथा जीभ का भी सदुपयोग हो जाता है। *श्रीमद्भागवत* ऐसा ही एक महान् ग्रन्थ है और इसकी विषयवस्तु को सुनने-सुनाने मात्र से जीवन की सर्वोच्च सिद्धावस्था प्राप्त हो जाती है।

आत्मनोऽवसितो वत्स महिमा कविनादिना ।
संवत्सरसहस्रान्ते धिया योगविपक्कया ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

आत्मनः—परमात्मा की; अवसितः—ज्ञात; वत्स—हे पुत्र; महिमा—महिमा; कविना—कवि ब्रह्मा द्वारा; आदिना—आदि; संवत्सर—दैवी वर्ष; सहस्र-अन्ते—एक हजार वर्षों के अन्त में; धिया—बुद्धि द्वारा; योग-विपक्कया—परिपक्व ध्यान द्वारा।.

हे पुत्र, आदि कवि ब्रह्मा एक हजार दैवी वर्षों तक परिपक्व ध्यान के बाद केवल इतना जान पाये कि भगवान् की महिमा अचिन्त्य है।

तात्पर्य : कुछ ऐसे कूपमण्डूक दार्शनिक हैं, जो दर्शन तथा मानसिक चिन्तन द्वारा परमात्मा को जानना चाहते हैं। जब परमेश्वर को कुछ हद तक जानने वाले भक्तगण यह स्वीकार करते हैं कि भगवान् की महिमा अकल्पनीय अथवा अचिन्त्य है, तो कूपमण्डूक दार्शनिक उनकी निन्दा पूर्वक आलोचना करते हैं। ये दार्शनिक उस कूपमण्डूक की तरह हैं जिसने प्रशान्त महासागर को मापने का प्रयास किया था। वे आदिकवि ब्रह्मा जैसे भक्तों से उपदेश ग्रहण न करके निरर्थक मानसिक चिन्तन का कष्ट उठाना पसंद करते हैं। ब्रह्माजी ने एक हजार दैवी वर्षों तक कठिन ध्यान किया था; फिर भी उन्होंने कहा कि भगवान् की महिमा अचिन्त्य है। अत: ये कूपमण्डूक दार्शनिक अपने मानसिक चिन्तन से कौन सा लाभ पाने की आशा कर सकते हैं?

ब्रह्म-संहिता में कहा गया है कि मानसिक चिन्तक चिन्तन के आकाश में मन या वायु के वेग से करोड़ों वर्षों तक क्यों न उड़ता रहे, फिर भी वह इसे अचिन्त्य पाएगा। किन्तु भक्तगण ब्रह्म के ज्ञान की व्यर्थ खोज में समय नहीं गँवाते, अपितु वे प्रामाणिक भक्तों से भगवान् की महिमा का विनीत भाव से श्रवण करते हैं। इस तरह वे श्रवण तथा कीर्तन की प्रक्रिया का दिव्य आनन्द उठाते हैं। भगवान् भक्तों या महात्माओं के भक्तिकार्यों का अनुमोदन करते हैं और कहते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिता: ।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

सततं कार्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रता: ।

नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

(*भगवद्गीता* ९.१३-१४)

भगवान् के शुद्ध भक्त भगवान् की अंतरंगा शक्ति, पराप्रकृति की शरण ग्रहण करते हैं जिसे लक्ष्मीदेवी, सीतादेवी, श्रीमती राधारानी या श्रीमती रुक्मिणीदेवी कहा जाता है। इस तरह वे वास्तविक *महात्मा* बन जाते हैं। *महात्मा* मानसिक चिन्तन के शौकीन नहीं होते, किन्तु वे अविचल भाव से भगवान् की भक्ति में लगे रहते हैं। भक्ति का प्राकट्य भगवान् के कार्यकलापों के विषय में सुनने तथा कीर्तन करने की प्रारम्भिक विधि से होता है। *महात्माओं* द्वारा अपनायी गई इस दिव्य विधि से उन्हें भगवान् विषयक पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हो जाता है, क्योंकि यदि भगवान् को किसी हद तक जाना जा

सकता है, तो वह भक्ति के साधन के द्वारा ही है, अन्य किसी विधि द्वारा नहीं। चिन्तन करते हुए कोई मनुष्य अपने पूरे जीवन का मूल्यवान समय व्यर्थ क्यों न बिता दे, किन्तु इससे भगवान् के धाम में प्रवेश पाने में कोई सहायता नहीं मिलती। किन्तु *महात्मागण* मानसिक चिन्तन द्वारा भगवान् को जानने में तनिक भी रुचि नहीं दिखाते, क्योंकि वे भगवान् द्वारा अपने भक्तों के साथ या असुरों के साथ दिव्य व्यवहारों के अन्तर्गत उनके महिमायुक्त कार्यकलापों के विषय में श्रवण करने में आनन्द लेते हैं। भक्त-गण इन दोनों में आनन्द पाते हैं और इस जीवन में तथा बाद के जीवन में सुखी रहते हैं।

अतो भगवतो माया मायिनामपि मोहिनी ।
यत्स्वयं चात्मवर्त्मात्मा न वेद किमुतापरे ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

अतः—इसलिए; भगवतः—ईश्वरीय; माया—शक्तियाँ; मायिनाम्—जादूगरों को; अपि—भी; मोहिनी—मोहने वाली; यत्—जो; स्वयम्—अपने से; च—भी; आत्म-वर्त्म—आत्म-निर्भर; आत्मा—आत्म; न—नहीं; वेद—जानता है; किम्—क्या; उत—विषय में कहना; अपरे—अन्यों के।.

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की आश्चर्यजनक शक्ति जादूगरों को भी मोहग्रस्त करने वाली है। यह निहित शक्ति आत्माराम भगवान् तक को अज्ञात है, अतः अन्यों के लिए यह निश्चय ही अज्ञात है।

तात्पर्य : भले ही कूपमण्डूक दार्शनिक तथा विज्ञान एवं गणितीय गणना के लौकिक बखेड़ेबाज पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की अचिन्त्य शक्ति में विश्वास न करें, किन्तु कभी-कभी वे मनुष्य तथा प्रकृति की अद्भुत जादूगरी से चकरा जाते हैं। लौकिक जगत के ऐसे जादूगर तथा बाजीगर भगवान् के दिव्य कार्यकलापों की जादूगरी से सचमुचही चकरा जाते हैं, किन्तु वे अपने मोह को यह कहकर समंजित करने का प्रयास करते हैं कि यह सब पौराणिक कल्पना है। किन्तु परम शक्तिमान पुरुष में कुछ भी असम्भव या पौराणिक नहीं है। लौकिक विवादप्रिय लोगों के लिए सबसे आश्चर्यजनक पहेली यह है कि एक ओर जहाँ वे परम पुरुष की असीम शक्ति की लम्बाई-चौड़ाई की गणना करने में लगे रहते हैं, वहीं उनके श्रद्धालु भक्तजन व्यवहार जगत में भगवान् की अद्भुत जादूगरी की प्रशंसा करने मात्र से भवबन्धन से मुक्त कर दिये जाते हैं। भगवद्भक्त खाते, सोते, काम करते—इन सभी परिस्थितियों में जिन-जिन वस्तुओं के सम्पर्क में आते हैं उनमें वे आश्चर्यमय कुशलता देखते हैं। वटवृक्ष के छोटे से

फल में हजारों छोटे-छोटे बीज होते हैं और प्रत्येक बीज में एक अन्य वृक्ष की शक्ति छिपी रहती है और इसमें भी कार्यकारण के रूप में लाखों ऐसे फलों की शक्ति निहित होती है। अत: वृक्ष तथा बीज भक्तों को भगवान् के कार्यकलापों के विषय में ध्यान करने में लगाते हैं जबकि लौकिक विवादप्रिय लोग अपना समय शुष्क चिन्तन तथा मनोरथ में व्यर्थ गँवाते हैं, जो इस जीवन में तथा अगले जीवन दोनों में ही निष्फल होता है। अपने चिन्तन से गर्वित वे कभी भी वटवृक्ष के सरल छिपे हुए कार्यकलापों की प्रशंसा नहीं करते। ऐसे बेचारे चिन्तकों के भाग्य में निरन्तर पदार्थ में फंसे रहना बदा है।

यतोऽप्राप्य न्यवर्तन्त वाचश्च मनसा सह ।
अहं चान्य इमे देवास्तस्मै भगवते नमः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यतः—जिससे; अप्राप्य—माप न सकने के कारण; न्यवर्तन्त—प्रयास करना बन्द कर देते हैं; वाचः—शब्द; च—भी; मनसा—मन से; सह—सहित; अहम् च—अहंकार भी; अन्ये—अन्य; इमे—ये सभी; देवाः—देवतागण; तस्मै—उस; भगवते—भगवान् को; नमः—नमस्कार करते हैं।

अपने-अपने नियंत्रक देवों सहित शब्द, मन तथा अहंकार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को जानने में असफल रहे हैं। अतएव हमें विवेकपूर्वक उन्हें सादर नमस्कार करना होता है।

तात्पर्य : कूपमण्डूक आकलक यह आपत्ति उठा सकता है कि यदि भगवान् वाणी, मन तथा अहंकार के नियन्ता देवों द्वारा, जो कि क्रमश: वेद, ब्रह्मा, रुद्र तथा बृहस्पति इत्यादि देवता हैं, अज्ञेय हैं, तो फिर भक्तगण इस अज्ञात वस्तु में इतनी रुचि क्यों दिखाएँ? इसका उत्तर यह है कि भक्तों को भगवान् की लीलाओं को जानने में जो दिव्य आनन्द प्राप्त होता है, वह निश्चय ही अभक्तों तथा मानसिक चिन्तकों के लिए अज्ञात है। यदि कोई दिव्य आनन्द का आस्वाद नहीं कर लेता तब स्वाभाविक है कि वह अपने चिन्तन तथा मनगढ़ंत निष्कर्षों से वापस लौट आएगा, क्योंकि वह उन्हें न तो वास्तविक मानेगा न आनन्दवर्धक। भक्तगण कम से कम इतना तो जान सकते हैं कि परम सत्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु हैं, जैसी कि वैदिक स्तोत्रों में पुष्टि हुई हैं—*ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः*। *भगवद्गीता* (१५.१५) में भी इस तथ्य की पुष्टि हुई है—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*। मनुष्य को वैदिक ज्ञान के अनुशीलन के द्वारा भगवान् कृष्ण को जानना चाहिए और व्यर्थ ही *अहम्*

अर्थात् ''मैं'' शब्द के विषय में चिन्तन नहीं करना चाहिए। परम सत्य को जानने की एकमात्र विधि भक्ति है जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत:*। केवल भक्ति द्वारा यह जाना जा सकता है कि परम सत्य भगवान् हैं और ब्रह्म तथा परमात्मा उनके अंश हैं। इसकी पुष्टि इस श्लोक में महर्षि मैत्रेय द्वारा की गई है। वे भक्तिभाव से भगवान् को (*भगवते*) सादर नमस्कार (नम:) करते हैं। मनुष्य को मैत्रेय तथा विदुर, महाराज परीक्षित एवं शुकदेव गोस्वामी जैसे महर्षियों तथा भक्तों के चरणचिह्नों का अनुगमन करना चाहिए और यदि वह उनके परम स्वरूप को जानना चाहता है, जो कि ब्रह्म तथा परमात्मा के ऊपर है, तो उसे भगवान् की दिव्य भक्तिमय सेवा में लग जाना है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''विश्वरूप की सृष्टि'' नामक छठे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सात

विदुर द्वारा अन्य प्रश्न

श्रीशुक उवाच
एवं ब्रुवाणं मैत्रेयं द्वैपायनसुतो बुधः ।
प्रीणयन्निव भारत्या विदुरः प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; ब्रुवाणम्—बोलते हुए; मैत्रेयम्—मैत्रेयमुनि से. मैत्रेय; द्वैपायन-सुतः—द्वैपायन का पुत्र; बुधः—विद्वान; प्रीणयन्—अच्छे लगने वाले ढंग से; इव—मानो; भारत्या—अनुरोध के रूप में; विदुरः—विदुर ने; प्रत्यभाषत—व्यक्त किया।.

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, जब महर्षि मैत्रेय इस प्रकार से बोल रहे थे तो द्वैपायन व्यास के विद्वान पुत्र विदुर ने यह प्रश्न पूछते हुए मधुर ढंग से एक अनुरोध व्यक्त किया।

विदुर उवाच
ब्रह्मन्कथं भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिणः ।
लीलया चापि युज्येरन्निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; कथम्—कैसे; भगवतः—भगवान् का; चित्-मात्रस्य—पूर्ण आध्यात्मिक का; अविकारिणः—अपरिवर्तित का; लीलया—अपनी लीला से; च—अथवा; अपि—यद्यपि यह ऐसा है; युज्येरन्—घटित होती हैं; निर्गुणस्य—वह जो भौतिक गुणों से रहित है; गुणाः—प्रकृति के गुण; क्रियाः—कार्यकलाप।.

श्री विदुर ने कहा : हे महान् ब्राह्मण, चूँकि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् संपूर्ण आध्यात्मिक समष्टि हैं और अविकारी हैं, तो फिर वे प्रकृति के भौतिक गुणों तथा उनके कार्यकलापों से किस तरह सम्बन्धित हैं? यदि यह उनकी लीला है, तो फिर अविकारी के कार्यकलाप किस तरह घटित होते हैं और प्रकृति के गुणों के बिना गुणों को किस तरह प्रदर्शित करते हैं?

तात्पर्य : जैसाकि पिछले अध्याय में वर्णन हो चुका है, परमात्मा अर्थात् परमेश्वर तथा जीवों में अन्तर यह है कि विराट जगत को उत्पन्न करने में भगवान् के कार्यकलाप उनकी विविध शक्तियों के द्वारा सम्पन्न होते हैं, किन्तु यह जगत जीवों को मोहग्रस्त करने वाला होता है। इसलिए भगवान् शक्तियों के स्वामी हैं, जबकि जीव उनके अधीन रहते हैं। विदुर दिव्य कार्यकलापों के विषय में विविध प्रश्न पूछकर इस भ्रान्त धारणा को स्पष्ट कर रहे हैं कि जब भगवान् पृथ्वी पर अपने अवतार के रूप में प्रकट होते हैं या अपनी समस्त शक्तियों समेत स्वयं प्रकट होते हैं, तो वे भी सामान्य जीव की तरह माया के द्वारा प्रभावित होते हैं। सामान्यतया यह उन अल्पज्ञ दार्शनिकों की धारणा है, जो भगवान्

तथा जीवों के पद को एक स्तर का मानते हैं। विदुर तो महर्षि मैत्रेय को इन तर्कों का खण्डन करते सुन रहे हैं। इस श्लोक में भगवान् को *चिन्मात्र* या पूर्णतया आध्यात्मिक बतलाया गया है। भगवान् में अनेक अद्‌भुत वस्तुओं को, चाहे वे नश्वर हों या स्थायी हों, उत्पन्न करने तथा प्रकट करने की असीम शक्तियाँ हैं। चूँकि यह भौतिक जगत उनकी बहिरंगा शक्ति की सृष्टि है, अतएव यह नश्वर प्रतीत होता है। यह विशेष अन्तरालों के बाद प्रकट होता है, कुछ काल तक स्थित रहता है और पुन: विलय होकर उनकी निजी शक्ति में संरक्षित हो जाता है। जैसाकि *भगवद्‌गीता* (८.१९) में वर्णन हुआ है—*भूत्वा भूत्वा प्रलीयते*। किन्तु उनकी अन्तरंगा शक्ति की सृष्टि, आध्यात्मिक जगत, भौतिक जगत की तरह नश्वर न होकर नित्य है और दिव्य ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, सौन्दर्य तथा यश से पूर्ण है। भगवान् की शक्तियों की ऐसी अभिव्यक्तियाँ शाश्वत होती हैं और *निर्गुण* कहलाती हैं अर्थात् वे भौतिक प्रकृति के समस्त गुणों के प्रभाव से, यहाँ तक कि सतोगुण से भी मुक्त होती हैं। आध्यात्मिक जगत भौतिक सत्त्व से भी दिव्य है, अत: अपरिवर्तनीय है। चूँकि परमेश्वर ऐसे नित्य तथा अपरिवर्तनीय गुणों के भौतिक प्रभाव जैसी किसी भी वस्तु से कभी अधीन नहीं बनते अत: उनके कार्यकलाप तथा रूप का जीवों की तरह माया के अधीन होना किस तरह सोचा जा सकता है?

एक जादूगर या बाजीगर अपने कार्यों तथा कलाओं से अनेक चमत्कार प्रदर्शित करता है। वह अपनी जादूगरी से गाय बन सकता है, फिर भी वह गाय नहीं होता, किन्तु साथ ही जादूगर द्वारा प्रदर्शित गाय उससे भिन्न नहीं है। इसी तरह भौतिक शक्ति भगवान् से भिन्न नहीं है, क्योंकि यह उन्हीं की उद्‌भास है, किन्तु उसी के साथ शक्ति की यह अभिव्यक्ति भगवान् नहीं है। भगवान् का दिव्य ज्ञान तथा शक्ति सदैव वैसे ही बने रहते हैं, वे बदलते नहीं, भले ही वे भौतिक जगत में प्रदर्शित हों। जैसाकि *भगवद्‌गीता* में कहा गया है, भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा पृथ्वी पर अवतरित होते हैं, अतएव भौतिक प्रकृति के गुणों द्वारा उनका कलुषित, परिवर्तित या अन्यथा प्रभावित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति के द्वारा *सगुण* हैं, किन्तु साथ ही वे *निर्गुण* हैं, क्योंकि वे भौतिक शक्ति के सम्पर्क में नहीं रहते। कारागार के प्रतिबन्ध उन बन्दियों पर लागू होते हैं, जो राजा के कानून द्वारा दण्डित किए गये होते हैं, किन्तु राजा कभी भी कानून की ऐसी जटिलताओं द्वारा प्रभावित नहीं होता, भले ही वह अपनी सदिच्छा से कारागार का दौरा करे। *विष्णु पुराण* में भगवान् के षडैश्वर्यों

को उनसे अभिन्न बताया गया है। दिव्य ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, शक्ति, सौन्दर्य तथा त्याग—ये सारे ऐश्वर्य भगवान् से अभिन्न हैं। जब वे इस जगत में ऐसे ऐश्वर्यों का स्वयं प्रदर्शन करते हैं, तो भौतिक प्रकृति के गुणों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। *चिन्मात्रत्व* शब्द इसकी गारंटी है कि भगवान् के कार्यकलाप सदैव दिव्य होते हैं चाहे वे भौतिक जगत में ही प्रदर्शित क्यों न हों। उनके कार्यकलाप स्वयं उन पूर्ण पुरुषोत्तम के तुल्य हैं, अन्यथा शुकदेव गोस्वामी जैसे मुक्त भक्त उनके द्वारा आकृष्ट न होते। विदुर ने पूछा कि भगवान् के कार्यकलाप किस तरह भौतिक प्रकृति के गुणों वाले हो सकते हैं जैसाकि कभी-कभी अल्पज्ञों द्वारा गलत आकलन किया जाता है? भौतिक गुणों की नश्वरता भौतिक देह तथा आत्मा के मध्य अन्तर के कारण है। बद्ध आत्मा के कार्यकलाप भौतिक प्रकृति के गुणों के माध्यम से प्रदर्शित किये जाते हैं, अतएव वे देखने में विकृत प्रतीत होते हैं। किन्तु भगवान् का शरीर तथा स्वयं भगवान् एक हैं और जब भगवान् के कार्यकलाप प्रदर्शित किये जाते हैं, तो वे निश्चय ही, सभी प्रकार से भगवान् से अभिन्न होते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि जो लोग भगवान् के कार्यकलापों को भौतिक मानते हैं, वे निश्चय ही भ्रमित हैं।

क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषान्यतः ।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदान्यतः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

क्रीडायाम्—खेलने के मामले में; उद्यमः—उत्साह; अर्भस्य—बालकों का; कामः—इच्छा; चिक्रीडिषा—खेलने के लिए इच्छा; अन्यतः—अन्य बालकों के साथ; स्वतः-तृप्तस्य—जो आत्मतुष्ट है उसके लिए; च—भी; कथम्—किस लिए; निवृत्तस्य—विरक्त; सदा—सदैव; अन्यतः—अन्यथा।

बालक अन्य बालकों के साथ या विविध क्रीड़ाओं में खेलने के लिए उत्सुक रहते हैं, क्योंकि वे इच्छा द्वारा प्रोत्साहित किये जाते हैं। किन्तु भगवान् में ऐसी इच्छा की कोई सम्भावना नहीं होती, क्योंकि वे आत्म-तुष्ट हैं और सदैव हर वस्तु से विरक्त रहते हैं।

तात्पर्य : चूँकि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अद्वय हैं, अतः इसकी सम्भावना नहीं है कि उनके अतिरिक्त और किसी वस्तु का अस्तित्व हो सकता हो। वे अपनी शक्तियों द्वारा स्वांशों तथा विभक्तांशों के विविध रूपों में अपना विस्तार करते हैं जिस तरह अग्नि उष्मा तथा प्रकाश द्वारा अपना विस्तार करती है। चूँकि स्वयं भगवान् के अतिरिक्त कोई अन्य अस्तित्व नहीं है, अतः किसी भी वस्तु के साथ

भगवान् का साहचर्य अपने ही साथ साहचर्य को प्रकट करता है। *भगवद्गीता* (९.४) में भगवान् कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

"विराट स्थिति की पूर्ण अभिव्यक्ति भगवान् के निर्गुण रूप का ही विस्तार है। सारी वस्तुएँ केवल उन्हीं में स्थित हैं, फिर भी वे उनमें नहीं हैं।" यह भगवान् की आसक्ति तथा विरक्ति का ऐश्वर्य है। वे हर वस्तु के प्रति आसक्त हैं फिर भी सबों से विरक्त हैं।

अस्त्राक्षीद्भगवान्विश्वं गुणमय्यात्ममायया ।
तया संस्थापयत्येतद्भूयः प्रत्यपिधास्यति ॥ ४॥

शब्दार्थ

अस्त्राक्षीत्—उत्पन्न कराया; भगवान्—भगवान् ने; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; गुण-मय्या—भौतिक प्रकृति के तीन गुणों से समन्वित; आत्म—अपनी; मायया—शक्ति द्वारा; तया—उसके द्वारा; संस्थापयति—पालन करता है; एतत्—ये सब; भूयः—तब पुनः; प्रत्य्-अपिधास्यति—उल्टे विलय भी करता है।

भगवान् ने प्रकृति के तीन गुणों की स्वरक्षित शक्ति द्वारा इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि कराई। वे उसी के द्वारा सृष्टि का पालन करते हैं और उल्टे पुनः पुनः उसका विलय भी करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् द्वारा इस विराट ब्रह्माण्ड की रचना उन जीवों के लिए की जाती है, जो नकल द्वारा भगवान् से एकाकार होने के भ्रान्त विचार में बह जाते हैं। प्रकृति के तीनों गुण बद्धजीवों के मोह को और भी बढ़ाने वाले हैं। बद्धजीव माया द्वारा मोहित होकर अपनी दिव्य पहचान की विस्मृति के कारण अपने को भौतिक सृष्टि का एक अंश मानता है और इस तरह वह जन्म-जन्मांतर भौतिक कार्यों में बँध जाता है। यह भौतिक जगत स्वयं भगवान् के निमित्त नहीं है, अपितु यह उन बद्धात्माओं के लिए है, जो ईश्वर-प्रदत्त अल्प स्वतंत्रता का दुरुपयोग करके नियंत्रक बनना चाहते हैं। इस तरह बद्धात्माओं की बारम्बार जन्म-मृत्यु होती रहती है।

देशतः कालतो योऽसाववस्थातः स्वतोऽन्यतः ।
अविलुप्तावबोधात्मा स युज्येताजया कथम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

देशतः—परिस्थितिवश; कालतः—काल के प्रभाव से; यः—जो; असौ—जीव; अवस्थातः—स्थिति से; स्वतः—स्वप्न से; अन्यतः—अन्यों द्वारा; अविलुप्त—लुप्त; अवबोध—चेतना; आत्मा—शुद्ध आत्मा; सः—वह; युज्येत—संलग्न; अजया—अज्ञान द्वारा; कथम्—यह ऐसा किस तरह है।

शुद्ध आत्मा विशुद्ध चेतना है और वह परिस्थितियों, काल, स्थितियों, स्वप्नों अथवा अन्य कारणों से कभी भी चेतना से बाहर नहीं होता। तो फिर वह अविद्या में लिप्त क्यों होता है?

तात्पर्य : सजीव प्राणी में चेतना सदैव विद्यमान रहती है और जैसाकि ऊपर कहा गया है किसी भी परिस्थिति में परिवर्तित नहीं होती। जब कोई जीवित व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है, तो वह सचेत रहता है कि उसने अपनी स्थिति बदल दी है। वह सदैव बिजली की तरह भूत, वर्तमान तथा भविष्य में विद्यमान रहता है। वह अपने भूतकाल की घटनाएँ स्मरण रख सकता है और विगत अनुभव के आधार पर अपने भविष्य के विषय में भी अनुमान लगा सकता है। वह कभी भी अपनी व्यक्तिगत पहचान नहीं भूलता, चाहे वह विकट परिस्थितियों में क्यों न फँसा हो। तो फिर जीव शुद्ध आत्मा के रूप में अपनी असली पहचान को भुला कर पदार्थ के साथ अपनी पहचान कैसे कर सकता है जब तक वह अपने से परे किसी वस्तु द्वारा प्रभावित न हो? निष्कर्ष यह है कि जीव अविद्या शक्ति द्वारा प्रभावित होता है जैसी कि *विष्णु पुराण* में और *श्रीमद्भागवत* के आरम्भ में इस की पुष्टि की गई है। *भगवद्गीता* (७.५) में जीव को *परा प्रकृति* कहा गया है और *विष्णु पुराण* में जीव का उल्लेख *परा शक्ति* के रूप में हुआ है। वह शक्ति के रूप में भगवान् का अंश है, किन्तु शक्ति-मान के रूप में नहीं। शक्ति-मान अनेक शक्तियाँ प्रदर्शित कर सकता है, किन्तु शक्ति किसी भी अवस्था में शक्तिमान की समता नहीं कर सकती। एक शक्ति दूसरी शक्ति द्वारा पराभूत हो सकती है, किन्तु शक्तिमान के लिए सारी ही शक्तियाँ वश में होती हैं। *जीवशक्ति* या भगवान् की *क्षेत्रज्ञ शक्ति* में बहिरंगा शक्ति अर्थात् *अविद्या-कर्म संज्ञा* द्वारा पराभूत होने की प्रवृत्ति रहती है और इस प्रकार वह भौतिक जगत की विषम परिस्थितियों में रखा जाता है। जीव अपनी असली पहचान को तब तक भुला नहीं सकता जब तक वह *अविद्या* शक्तिद्वारा प्रभावित न हो। चूँकि जीव में अविद्या शक्ति के प्रभाव की ओर झुकाव रहता है, अतएव वह कभी भी परम शक्तिमान के तुल्य नहीं हो सकता।

भगवानेक एवैष सर्वक्षेत्रेष्ववस्थितः ।
अमुष्य दुर्भगत्वं वा क्लेशो वा कर्मभिः कुतः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; एकः—एकमात्र; एव एषः—ये सभी; सर्व—समस्त; क्षेत्रेषु—जीवों में; अवस्थितः—स्थित; अमुष्य—जीवों का; दुर्भगत्वम्—दुर्भाग्य; वा—या; क्लेशः—कष्ट; वा—अथवा; कर्मभिः—कार्यों द्वारा; कुतः—किसलिए।

भगवान् परमात्मा के रूप में हर जीव के हृदय में स्थित रहते हैं। तो फिर जीवों के कर्मों से दुर्भाग्य तथा कष्ट क्यों प्रतिफलित होते हैं?

तात्पर्य : विदुर ने मैत्रेय से जो अगला प्रश्न पूछा, वह है—जीवों के हृदयों में परमात्मा रूप में भगवान् की उपस्थिति के बावजूद उन्हें इतने कष्ट तथा दुर्भाग्य क्यों झेलने पड़ते हैं? शरीर को फलवान वृक्ष माना जाता है और जीव तथा परमात्मा रूप में भगवान् उसमें बैठे दो पक्षियों के तुल्य हैं। व्यष्टि आत्मा उस वृक्ष का फल खा रहा है, किन्तु परमात्मा रूप भगवान् दूसरे पक्षी के कार्यों का साक्षी बना रहता है। राज्य का कोई नागरिक राज्य अधिकारी के पर्याप्त निरीक्षण के अभाव में कष्ट में रह सकता है, किन्तु यह कैसे सम्भव है कि राज्य के मुखिया के स्वयं उपस्थित रहने पर एक नागरिक अन्य नागरिकों द्वारा पीड़ित हो? दूसरी दृष्टि से यह समझा जाता है कि जीव गुणात्मक दृष्टि से भगवान् से एक है, अतएव जीवन की शुद्ध अवस्था में विशेष रूप से भगवान् की उपस्थिति में उसका ज्ञान अविद्या द्वारा प्रच्छन्न नहीं हो सकता। तो फिर जीव किस तरह अज्ञान के वशीभूत होता है और माया के प्रभाव से प्रच्छन्न हो जाता है? भगवान् हर जीव के पिता तथा रक्षक हैं और वे *भूत-भृत* अर्थात् जीवों के पालक कहलाते हैं। तो फिर जीवों को इतने कष्ट तथा दुर्भाग्य क्यों भोगने पड़ते हैं? ऐसा होना नहीं चाहिए, किन्तु वास्तव में हम देखते हैं कि सर्वत्र यही होता है। अत: विदुर ने इस प्रश्न का समाधान चाहा।

एतस्मिन्मे मनो विद्वन्खिद्यतेऽज्ञानसङ्कटे ।
तन्नः पराणुद विभो कश्मलं मानसं महत् ॥ ७॥

शब्दार्थ

एतस्मिन्—इसमें; मे—मेरा; मनः—मन; विद्वन्—हे विद्वान; खिद्यते—कष्ट दे रहा है; अज्ञान—अविद्या; सङ्कटे—संकट में; तत्—इसलिए; नः—मेरा; पराणुद—स्पष्ट कीजिये; विभो—हे महान्; कश्मलम्—मोह; मानसम्—मन विषयक; महत्—महान्।

हे महान् एवं विद्वान पुरुष, मेरा मन इस अज्ञान के संकट द्वारा अत्यधिक मोहग्रस्त है, इसलिए मैं आप से प्रार्थना करता हूँ कि आप इसको स्पष्ट करें।

तात्पर्य : ऐसा मानसिक मोह, जैसाकि यहाँ पर विदुर द्वारा प्रस्तुत किया गया है, कुछ जीवों के

साथ घटित होता है, किन्तु हर एक के साथ नहीं, क्योंकि यदि हर व्यक्ति मोहित होता तो उच्चतर पुरुषों द्वारा उसके समाधान की कोई सम्भावना न रहती।

श्रीशुक उवाच

स इत्थं चोदितः क्षत्रा तत्त्वजिज्ञासुना मुनिः ।
प्रत्याह भगवच्चित्तः स्मयन्निव गतस्मयः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; सः—वह (मैत्रेय मुनि); इत्थम्—इस प्रकार; चोदितः—विक्षुब्ध किये जाने पर; क्षत्रा—विदुर द्वारा; तत्त्व-जिज्ञासुना—सत्य जानने के लिए पूछताछ करने के इच्छुक व्यक्ति द्वारा, जिज्ञासु द्वारा; मुनिः—मुनि ने; प्रत्याह—उत्तर दिया; भगवत्-चित्तः—ईशभावनाभावित; स्मयन्—आश्चर्य करते हुए; इव—मानो; गत-स्मयः—हिचक के बिना।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, इस तरह जिज्ञासु विदुर द्वारा विक्षुब्ध किये गये मैत्रेय सर्वप्रथम आश्चर्यचकित प्रतीत हुए, किन्तु इसके बाद उन्होंने बिना किसी हिचक के उन्हें उत्तर दिया, क्योंकि वे पूर्णरूपेण ईशभावनाभावित थे।

तात्पर्य : चूँकि महा-मुनि मैत्रेय ईशभावनाभावित थे, अतएव विदुर द्वारा पूछे गये ऐसे परस्पर विरोधी प्रश्नों से उनके आश्चर्यचकित होने का कोई कारण न था। इसीलिए भक्त रूप में ऊपर से आश्चर्य व्यक्त करते हुए भी मानो वे यह न जानते हों कि इन प्रश्नों का कैसे उत्तर दिया जाय वे तुरन्त पूर्णतया स्थिरचित्त हो गये और उचित रीति से विदुर को उत्तर देने लगे। *यस्मिन् विज्ञाते सर्वमेवं विज्ञातं भवति*। जो भी व्यक्ति भगवद्भक्त होता है, वह कुछ हद तक भगवान् के विषय में जानता है और भगवद्भक्ति उसे भगवत्कृपा से हर बात को समझने में समर्थ बनाती है। यद्यपि भक्त ऊपर से अपने को अज्ञानी व्यक्त करता है, किन्तु वह प्रत्येक जटिल विषय का पूर्ण ज्ञान रखता है।

मैत्रेय उवाच

सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते ।
ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; सा इयम्—ऐसा कथन; भगवतः—भगवान् की; माया—माया; यत्—जो; नयेन—तर्क द्वारा; विरुध्यते—विरोधी बन जाता है; ईश्वरस्य—भगवान् का; विमुक्तस्य—नित्य मुक्त का; कार्पण्यम्—अपर्याप्तता; उत—क्या कहा जाय, जैसा भी; बन्धनम्—बन्धन।

श्री मैत्रेय ने कहा : कुछ बद्धजीव यह सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि परब्रह्म या भगवान् को

माया द्वारा जीता जा सकता है, किन्तु साथ ही उनका यह भी मानना है कि वे अबद्ध हैं। यह समस्त तर्क के विपरित है।

तात्पर्य : कभी-कभी ऐसा लगता है कि भगवान् जो कि शत-प्रतिशत आध्यात्मिक हैं, उस मायाशक्ति के कारणस्वरूप नहीं हो सकते जो व्यष्टि आत्मा के ज्ञान को प्रच्छन्न कर देती है। किन्तु वास्तव में इसमें कोई सन्देह नहीं कि माया या बहिरंगा शक्ति भी भगवान् का अंश है। जब व्यासदेव ने भगवान् का साक्षात्कार किया, तो उन्होंने भगवान् को अपनी बहिरंगा शक्ति के साथ देखा जो व्यष्टि जीवों के शुद्ध ज्ञान को आवृत करती है। बहिरंगा शक्ति इस तरह क्यों कर्म करती है ? इस पर निम्नवत् विचार किया जा सकता है, जैसाकि विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर तथा श्रील जीव गोस्वामी जैसे महान् टीकाकारों ने विश्लेषण किया है। यद्यपि भौतिक माया शक्ति आध्यात्मिक शक्ति से पृथक् होती है तथापि यह भगवान् की अनेक शक्तियों में से एक है और इस तरह प्रकृति के भौतिक गुण निश्चय ही, भगवान् के ही गुण हैं। शक्ति तथा शक्तिमान भगवान् पृथक्-पृथक् नहीं हैं। यद्यपि ऐसी शक्ति भगवान् के साथ एकाकार रहती है, किन्तु वे इससे कभी भी वशीभूत नहीं होते। यद्यपि सारे जीव भी भगवान् के विभिन्नांश हैं, किन्तु वे भौतिक शक्ति द्वारा पराजित हो जाते हैं। भगवान् का अचिन्त्य *योगमैश्वरम्*, जिसका वर्णन *भगवद्गीता* (९.५) में हुआ है कूपमंडूक दार्शनिकों द्वारा ठीक से नहीं समझा जाता। वे इस सिद्धान्त के समर्थन में कि नारायण (स्वयं भगवान्) *दरिद्रनारायण* बनते हैं, यह प्रस्ताव रखते हैं कि भौतिक शक्ति परमेश्वर को पराजित करती है। किन्तु श्रील जीव गोस्वामी तथा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इसकी व्याख्या में एक अति सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि यद्यपि सूर्य सर्वतः प्रकाश देता है, किन्तु बादल, अँधेरा तथा हिमपात ये सभी सूर्य के विभिन्नांश हैं। सूर्य के बिना बादलों या अंधकार से आकाश के आच्छादित होने की कोई सम्भावना नहीं रहती, न ही पृथ्वी पर हिमपात हो सकता है। यद्यपि सूर्य द्वारा जीवन का पालन होता है, किन्तु सूर्य द्वारा उत्पन्न अंधकार तथा हिमपात से जीवन विचलित भी होता है। किन्तु यह भी तथ्य है कि सूर्य स्वयं कभी भी अंधकार, बादल या हिमपात से पराजित नहीं होता। सूर्य ऐसे उपद्रवों से बहुत दूर रहता है। जो अल्पज्ञानी हैं, वे ही कहते हैं कि सूर्य बादल से या अंधकार से ढक जाता है। इसी तरह परब्रह्म भगवान् सदैव भौतिक शक्ति के प्रभाव से अप्रभावित रहते हैं यद्यपि यह उनकी शक्तियों में से एक है। (*परास्य शक्तिर्विविधैव*

श्रूयते)

अत: माया द्वारा परब्रह्म के पराजित होने पर बल देने का कोई कारण नहीं है। बादल, अंधकार तथा हिमपात सूर्य की किरणों के एक नगण्य अंश को ही ढक सकते हैं। इसी तरह प्रकृति के गुण किरणों के सदृश जीवों पर प्रतिक्रिया कर सकते हैं। यह जीव का दुर्भाग्य है, जो अकारण नहीं है, कि भौतिक शक्ति उसकी शुद्ध चेतना तथा नित्य आनन्द पर प्रभाव डालती है। शुद्ध चेतना तथा नित्य आनन्द का इस तरह प्रच्छन्न होना *अविद्याकर्मसंज्ञा* के कारण है—वह शक्ति जो उन सूक्ष्म जीवों पर प्रभाव डालती है, जो अपनी अल्प स्वतंत्रता का दुरुपयोग करते हैं। *विष्णुपुराण, भगवद्गीता* तथा अन्य समस्त वैदिक ग्रन्थों के अनुसार सारे जीव भगवान् की तटस्था शक्ति द्वारा उत्पन्न होते हैं और इस तरह वे सभी सदैव भगवान् की शक्ति होते हैं, शक्तिमान नहीं। सारे जीव सूर्य की किरणों के समान हैं। जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, यद्यपि सूर्य तथा उसकी किरणों में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं है, किन्तु कभी-कभी सूर्य की किरणें सूर्य की अन्य शक्ति, जिसका नाम बादल या हिमपात है, द्वारा पराजित हो जाती हैं। इसी तरह यद्यपि जीव गुणात्मक रूप से भगवान् की पराशक्ति के साथ एक हैं, किन्तु उनमें कनिष्ठा भौतिक शक्ति द्वारा पराजित होने की प्रवृत्ति होती है। वैदिक स्तोत्रों में कहा गया है कि सारे जीव अग्नि के स्फुलिंगों जैसे हैं। अग्नि के स्फुलिंग भी अग्नि होते हैं, किन्तु स्फुलिंगों की ज्वलन शक्ति मूल अग्नि से भिन्न होती है। जब स्फुलिंग मूल अग्नि से सम्पर्क तोड़ कर बाहर उड़ जाते हैं, तो वे अग्निविहीन वायुमण्डल से प्रभावित होते हैं। इस तरह वे स्फुलिंग के रूप में अग्नि के साथ अपनी शक्ति बनाये रखते हैं, किन्तु मूल अग्नि के रूप में नहीं। ये स्फुलिंग मूल अग्नि के भीतर शाश्वत रीति से उसके भिन्नांश के रूप में रह सकते हैं, किन्तु जिस क्षण ये स्फुलिंग मूल अग्नि से पृथक् हो जाते हैं तभी उनके दुर्भाग्य तथा कष्ट प्रारम्भ होते हैं। स्पष्ट निष्कर्ष यह निकला कि भगवान्, जो कि मूल अग्नि हैं, कभी पराजित नहीं होते, किन्तु अग्नि के सूक्ष्म स्फुलिंग माया के मोहक प्रभाव द्वारा पराजित हो सकते हैं। यह कहना अत्यन्त हास्यास्पद तर्क है कि भगवान् अपनी ही भौतिक शक्ति द्वारा पराजित होते हैं। भगवान् भौतिक शक्ति के स्वामी हैं, किन्तु जीव बद्ध अवस्था में भौतिक शक्ति द्वारा नियंत्रित होते हैं। यह *भगवद्गीता* का कथन है। वे कूपमण्डूक दार्शनिक जो यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि भगवान् सतोगुण द्वारा पराजित हो जाते हैं, वे स्वयं ही उसी भौतिक शक्ति द्वारा विमोहित रहते हैं,

यद्यपि वे अपने आपको मुक्तात्माएँ मानते हैं। वे अपने तर्कों के समर्थन में मिथ्या तथा श्रमसाध्य वाग्जाल प्रस्तुत करते हैं, जो कि भगवान् की उसी मोहनी शक्ति का उपहार है। किन्तु बेचारे कूपमण्डूक दार्शनिक ज्ञान के मिथ्या विचार के कारण इस स्थिति को समझ नहीं सकते।

श्रीमद्भागवत (६.९.३४) में कहा गया है—

दुरवबोध इव तवायं विहारयोगो यद् अशरणोऽशरीर

इदम्अन्वेक्षितास्मत्समवाय आत्मनैवाविक्रियमाणेन सगुणम्

अगुणः सृजसि पासि हरसि

इस तरह देवताओं ने भगवान् से प्रार्थना की कि यद्यपि उनके कार्यकलापों को समझ पाना अतीव कठिन है, किन्तु जो लोग भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निष्ठापूर्वक लगे हुए हैं, वे उन्हें कुछ-कुछ समझ सकते हैं। देवताओं ने स्वीकार किया कि यद्यपि भगवान् भौतिक प्रभाव या सृष्टि से पृथक् हैं, तो भी वे देवताओं के माध्यम से पूर्ण विराट जगत का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं।

यदर्थेन विनामुष्य पुंस आत्मविपर्ययः ।
प्रतीयत उपद्रष्टुः स्वशिरश्छेदनादिकः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यत्—इस प्रकार; अर्थेन—अभिप्राय या अर्थ; विना—बिना; अमुष्य—ऐसे; पुंसः—जीव का; आत्म-विपर्ययः—आत्म-पहचान के विषय में विभ्रमित; प्रतीयते—ऐसा लगता है; उपद्रष्टुः—उथले द्रष्टा का; स्व-शिरः—अपना सिर; छेदन-आदिकः—काट लेना।

जीव अपनी आत्म-पहचान के विषय में संकट में रहता है। उसके पास वास्तविक पृष्ठभूमि नहीं होती, ठीक उसी तरह जैसे स्वप्न देखने वाला व्यक्ति यह देखे कि उसका सिर काट लिया गया है।

तात्पर्य : एक बार पाठशाला में एक शिक्षक ने अपने शिष्य को धमकाया कि वह उसका सिर काट कर दीवाल पर टाँग देगा जिससे बालक यह देख सके कि उसका सिर किस तरह काट लिया गया है। वह बालक डर गया और उसने शैतानी करनी बन्द कर दी। इसी तरह शुद्ध आत्मा के कष्ट तथा उसकी आत्म-पहचान का व्यवधान भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा ही नियंत्रित होते हैं। यह शक्ति उन शैतान जीवों को नियंत्रित करती है, जो भगवान् की इच्छा के विरुद्ध जाना चाहते हैं। वस्तुतः जीव के

लिए न तो कोई बन्धन है, न कष्ट, न ही वह कभी अपनी शुद्ध चेतना गँवाता है। अपनी शुद्ध चेतना में जब भी वह अपनी स्थिति के विषय में कुछ गम्भीरता से सोचता है, तो उसकी समझ में आ सकता है कि वह सदैव परमेश्वर की कृपा पर आश्रित है और परमेश्वर से एकाकार होने का उसका प्रयास मिथ्या मोह है। जीव जन्म–जन्मांतर में भौतिक प्रकृति पर मिथ्या ही प्रभुत्व जताने का और भौतिक जगत का प्रभु बनने का प्रयास करता है। उसे कोई ठोस फल हाथ नहीं लगता। अन्त में जब वह हताश हो जाता है, तो वह अपने भौतिक कार्यकलापों को त्याग देता है और भगवान् से एकाकार होने का तथा वाग्जाल द्वारा चिन्तन करने का प्रयास करता है, किन्तु इसमें भी उसे सफलता नहीं मिलती।

ये सारे कार्य माया–शक्ति के आदेशानुसार सम्पन्न किये जाते हैं। इस अनुभव की तुलना स्वप्न में किसी मनुष्य द्वारा अपना सिर काटे जाने के अनुभव से की गई है। जिस व्यक्ति का सिर काटा जाता है, वह भी देखता है कि उसका सिर काट लिया गया है। यदि किसी मनुष्य का सिर काट लिया जाय तो वह देखने की शक्ति खो देता है। अतएव यदि कोई मनुष्य यह देखता है कि उसका सिर काट लिया गया तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसने उसी तरह सोचा है जैसाकि व्यामोह में। इसी तरह शाश्वत रूप से जीव परमेश्वर के अधीन होता है और यह ज्ञान उसके पास रहता है, किन्तु वह कृत्रिम रुप से सोचता है कि वह स्वयं ईश्वर है और यद्यपि वह ईश्वर है, तथापि माया के कारण वह अपना ज्ञान खो चुका है। इस विचारधारा का कोई अर्थ नहीं है, जिस तरह अपने सिर को कटता हुआ देखने का कोई अर्थ नहीं हैं। यही प्रक्रिया है, जिस से ज्ञान ढका रहता है। चूँकि जीव की यह कृत्रिम विद्रोही दशा उसे सारे कष्ट प्रदान करती है, अत: यह समझना चाहिए कि उसे भगवद्भक्त के रूप में अपना सामान्य जीवन ग्रहण करना है और ईश्वर होने की भ्रान्त धारणा से मुक्त होना है। अपने को ईश्वर सोचने की तथाकथित मुक्ति *अविद्या* का अन्तिम प्रतिफल है, जिससे जीव पाश में बँधता है। निष्कर्ष यह है कि भगवान् की नित्य दिव्य सेवा से वंचित जीव कई प्रकार से मोहग्रस्त होता है। अपने बद्धजीवन तक में वह भगवान् का नित्य दास रहता है। मोहिनी माया के पाश के अन्तर्गत उसकी दासता भी उसकी नित्य सेवा–दशा की अभिव्यक्ति है। चूँकि उसने भगवान् की सेवा के विरुद्ध विद्रोह किया है, इसीलिए उसे माया की सेवा में रखा जाता है। वह तब भी सेवा करता है, किन्तु विकृत रीति से। जब वह भौतिक बन्धन के अन्तर्गत सेवा से बाहर होना चाहता है, तो उसके बाद वह भगवान् से एकाकार होना चाहता है। यह

दूसरा मोह है। इसलिए सबसे अच्छा मार्ग भगवान् की शरण ग्रहण करना है और इस तरह हमेशा के लिए माया से छुटकारा पाना है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१४) में हुई है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतांतरन्ति ते॥

यथा जले चन्द्रमसः कम्पादिस्तत्कृतो गुणः ।
दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुरात्मनोऽनात्मनो गुणः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; जले—जल में; चन्द्रमसः—चन्द्रमा का; कम्प-आदिः—कम्पन इत्यादि.; तत्-कृतः—जल द्वारा किया गया; गुणः—गुण; दृश्यते—इस तरह दिखता है; असन् अपि—बिना अस्तित्व के; द्रष्टुः—द्रष्टा का; आत्मनः—आत्मा का; अनात्मनः—आत्मा के अतिरिक्त अन्य का; गुणः—गुण।.

जिस तरह जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा जल के गुण से सम्बद्ध होने के कारण देखने वाले को हिलता हुआ प्रतीत होता है उसी तरह पदार्थ से सम्बद्ध आत्मा पदार्थ के ही समान प्रतीत होता है।

तात्पर्य : परमात्मा या भगवान् की तुलना आकाश में चन्द्रमा से की गई है और जीवों की तुलना जल में चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब से की गई है चन्द्रमा आकाश में स्थिर है और वह जल में दिखने वाले चन्द्रमा की तरह हिलता-डुलता नहीं। वस्तुतः आकाश में मूल चन्द्रमा की तरह जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा को काँपना या हिलना नहीं चाहिए, किन्तु जल से सम्बद्ध होने से प्रतिबिम्ब हिलता हुआ प्रतीत होता है, यद्यपि वास्तव में चन्द्रमा स्थिर है। जल चलता है, किन्तु चन्द्रमा नहीं चलता। इसी तरह सारे जीव मोह, शोक तथा कष्ट जैसे भौतिक गुणों से कलुषित प्रतीत होते हैं, यद्यपि शुद्ध आत्मा में ऐसे गुण सर्वथा अनुपस्थित होते हैं। प्रतीयते शब्द यहाँ पर महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है ''ऊपर से'' तथा ''वास्तविक रूप में नहीं'' (स्वप्न में अपना सिर कटने के अनुभव की तरह) जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब चन्द्रमा की वियुक्त किरणें होती हैं, वास्तविक चन्द्रमा नहीं। भगवान् के वियुक्त भिन्नांश भौतिक जगत रूपी जल में उलझ कर चलायमान गुण वाले होते हैं, जबकि भगवान् आकाश में स्थित चन्द्रमा के तुल्य है, जो जल से किसी प्रकार भी स्पर्श में नहीं आता है। सूर्य तथा चन्द्रमा का प्रकाश पदार्थ से परावर्तित होकर उसे चमकीला तथा प्रशंसा के योग्य बनाता है। जीवित लक्षणों की तुलना

वृक्षों तथा पर्वतों जैसे भौतिक रूपों को प्रकाशित करने वाले सूर्य तथा चन्द्रमा के प्रकाश से की जाती है। सूर्य या चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को अल्पज्ञानी असली सूर्य या चन्द्रमा मान बैठता है और शुद्ध अद्वैत दर्शन इन्हीं विचारों से उपजता है। वस्तुत: सूर्य तथा चन्द्रमा का प्रकाश स्वयं सूर्य तथा चन्द्रमा से भिन्न है, यद्यपि उनमें सदा सम्बन्ध बना रहता है। आकाश भर में फैली हुई चाँदनी निर्विशेष प्रतीत होती है, किन्तु चन्द्रलोक, जिस रूप में वह है, साकार है और चन्द्रलोक में रहने वाले जीव भी साकार हैं। चन्द्रमा की किरणों में विभिन्न भौतिक वस्तुएँ कम या अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती हैं। ताजमहल पर चन्द्रमा का प्रकाश (चाँदनी) निर्जन स्थान में उसी प्रकाश की अपेक्षा अधिक सुन्दर लगता है। यद्यपि चन्द्रमा का प्रकाश सर्वत्र वही रहता है, किन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार से निखरने से वह भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। इसी तरह भगवान् का प्रकाश सर्वत्र एकसमान वितरित है, किन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार से ग्रहण किये जाने के कारण वह भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। इसलिए जल पर चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को वास्तविक नहीं मानना चाहिए और सम्पूर्ण स्थिति को अद्वैतवाद दर्शन के माध्यम से समझने की गलती नहीं करनी चाहिए। चन्द्रमा का हिलने-डुलने (कम्पन) का गुण भी परिवर्तनशील है। जब जल स्थिर रहता है, तो कम्पन भी नहीं होता। अधिक स्थिर बद्ध आत्मा में कम कम्पन होता है, किन्तु भौतिक सम्बन्ध होने से यह कम्पन का गुण न्यूनाधिक रूप में सर्वत्र विद्यमान रहता है।

स वै निवृत्तिधर्मेण वासुदेवानुकम्पया ।
भगवद्भक्तियोगेन तिरोधत्ते शनैरिह ॥ १२॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—भी; निवृत्ति—विरक्ति; धर्मेण—संलग्न रहने से; वासुदेव—भगवान् की; अनुकम्पया—कृपा से; भगवत्—भगवान् के सम्बन्ध में; भक्ति-योगेन—जुड़ने से; तिरोधत्ते—कम होती है; शनैः—क्रमशः; इह—इस संसार में।

किन्तु आत्म-पहचान की उस भ्रान्ति को भगवान् वासुदेव की कृपा से विरक्त भाव से भगवान् की भक्तिमय सेवा की विधि के माध्यम से धीरे-धीरे कम किया जा सकता है।

तात्पर्य : संसार का कम्पन गुण जो पदार्थ के साथ अपनी पहचान करने या दार्शनिक चिन्तन के भौतिक प्रभाव में आकर अपने को ईश्वर समझने के फलस्वरूप उत्पन्न होता है, उसे भगवान् वासुदेव की कृपा से भगवद्भक्ति द्वारा समूल नष्ट किया जा सकता है। जैसी कि प्रथम स्कन्ध में व्याख्या की गई है, चूँकि भगवान् वासुदेव की भक्ति करने से शुद्ध ज्ञान को बुलावा दिया जाता है, अत: यह मनुष्य को

देहात्मबुद्धि से तुरन्त विलग करके सामान्य आध्यात्मिक स्थिति में, इसी जीवन में भी, ला देती है और मनुष्य को उन भौतिक हवाओं से मुक्त कर देती है, जो उसे कँपाती है। भक्ति का ज्ञान ही मनुष्य को मुक्ति के मार्ग तक ऊपर उठाता है। भक्ति किये बिना हर वस्तु को जानने के उद्देश्य से ज्ञान का विकास निष्फल प्रयास माना जाता है और मनुष्य को ऐसे प्रेम रूपी श्रम से वांछित फल नहीं मिल सकता। भगवान् वासुदेव एकमात्र भक्तिमय सेवा से प्रसन्न होते है और इस प्रकार उनकी कृपा की अनुभूति भगवान् के शुद्ध भक्तों की संगति से ही सम्भव है। भगवान् के शुद्ध भक्त उन समस्त भौतिक इच्छाओं से परे हैं, जिनमें सकाम कर्म तथा दार्शनिक चिन्तन के फल सम्मिलित हैं। यदि कोई व्यक्ति भगवान् की कृपा प्राप्त करना चाहता है, तो उसे शुद्ध भक्तों की संगति करनी होती है। ऐसी संगति ही मनुष्य को क्रमशः भ्रमित करने वाले तत्त्वों से छुटकारा दिला सकती है।

यदेन्द्रियोपरामोऽथ द्रष्ट्रात्मनि परे हरौ ।
विलीयन्ते तदा क्लेशाः संसुप्तस्येव कृत्स्नशः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; उपरामः—तृप्त; अथ—इस प्रकार; द्रष्टृ-आत्मनि—द्रष्टा या परमात्मा के प्रति; परे—अध्यात्म में; हरौ—भगवान् में; विलीयन्ते—लीन हो जाती है; तदा—उस समय; क्लेशाः—कष्ट; संसुप्तस्य—गहरी नींद का भोग कर चुका व्यक्ति; इव—सदृश; कृत्स्नशः—पूर्णतया।

जब इन्द्रियाँ द्रष्टा-परमात्मा अर्थात् भगवान् में तुष्ट हो जाती है और उनमें विलीन हो जाती है, तो सारे कष्ट उसी तरह पूर्णतया दूर हो जाते हैं जिस तरह ये गहरी नींद के बाद दूर हो जाते हैं।

तात्पर्य : जीव का कम्पन (चंचलता), जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है, इन्द्रियों के कारण होता है। चूँकि सम्पूर्ण भौतिक जगत इन्द्रिय-तृप्ति के निमित्त है, अतः इन्द्रियाँ ही भौतिक कर्मों की माध्यम होती हैं और वे निश्चल आत्मा में कम्पन उत्पन्न करती हैं। अतएव इन इन्द्रियों को ऐसे समस्त भौतिक कार्यों से विरक्त करना होगा। निर्विशेषवादियों के अनुसार आत्मा को परमात्मा ब्रह्म में लीन करके इन्द्रियों को कार्य करने से रोका जाता है। किन्तु भक्तगण भौतिक इन्द्रियों को कार्य करने से रोकते नहीं, अपितु वे अपनी दिव्य इन्द्रियों को ब्रह्म या पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की सेवा में लगाते हैं। दोनों ही दशाओं में ज्ञान के अनुशीलन द्वारा भौतिक क्षेत्र में इन्द्रियों के कार्यों को रोकना चाहिए और, सम्भव हो, तो उन्हें भगवान् की सेवा में लगाना चाहिए। इन्द्रियों का स्वभाव दिव्य है, किन्तु पदार्थ द्वारा

कलुषित होने पर उनके कार्य दूषित हो जाते हैं। हमें इन्द्रियों को भवरोग से छुटकारा दिलाने के लिए उनका उपचार करना पड़ता है, उन्हें कार्य करने से रोकना नहीं होता जैसाकि निर्विशेषवादियों का सुझाव है। *भगवद्गीता* (२.५९) में कहा गया है कि मनुष्य तभी सारा भौतिक कार्य बन्द करता है जब वह किसी श्रेष्ठतर कार्य में लगने से तुष्ट हो जाता है। चेतना स्वभावत: सक्रिय होती है और काम करने से उसे रोका नहीं जा सकता। उत्पाती बालक को कृत्रिम ढंग से रोकना वास्तविक उपचार नहीं है। उस बालक को किसी श्रेष्ठतर कार्य में लगाना चाहिए जिससे वह स्वत: उपद्रव करना बन्द कर दे। उसी तरह इन्द्रियों की उपद्रवी गतिविधियों को उन्हें भगवान् से सम्बन्धित अच्छे कार्य में प्रवृत्त करके ही रोका जा सकता है। जब आँख भगवान् के सुन्दर रूप को देखने, जीभ प्रसाद का आस्वाद करने, कान उनकी महिमा को सुनने, हाथ भगवान् का मन्दिर बुहारने, पाँव उनके मन्दिरों तक जाने में व्यस्त रहेंगे अर्थात् जब सारी इन्द्रियाँ विविध दिव्य कर्मों में लगी रहेंगी तभी दिव्य इन्द्रियाँ तृप्त हो सकेंगी और भौतिक कार्य से शाश्वत रूप से मुक्त हो जाएँगी। परमात्मा रूप में हर एक के हृदय के भीतर वास करने वाले या भौतिक सृष्टि से परे दिव्य जगत में स्थित रहने वाले पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही हमारे सारे कार्यों के द्रष्टा हैं। हमारे कार्यों को इस तरह से संतृप्त होना चाहिए कि भगवान् हम पर कृपादृष्टि डालें और हमें अपनी दिव्य सेवा में लगा लें। तभी इन्द्रियाँ पूर्णतया तुष्ट हो सकती हैं और भौतिक आकर्षण द्वारा फिर कभी सतायी नहीं जाएँगी।

अशेषसङ्क्लेशशमं विधत्ते गुणानुवादश्रवणं मुरारेः ।
किं वा पुनस्तच्चरणारविन्दपरागसेवारतिरात्मलब्धा ॥ १४॥

शब्दार्थ

अशेष—असीम; सङ्क्लेश—कष्टमय स्थिति; शमम्—शमन; विधत्ते—सम्पन्न कर सकता है; गुण-अनुवाद—दिव्य नाम, रूप, गुण, लीला, पार्षद तथा साज-सामग्री इत्यादि का.; श्रवणम्—सुनना तथा कीर्तन करना; मुरारेः—मुरारी (श्रीकृष्ण) का; किम् वा—और अधिक क्या कहा जाय; पुनः—फिर; तत्—उसके; चरण-अरविन्द—चरणकमल; पराग-सेवा—सुगंधित धूल की सेवा के लिए; रतिः—आकर्षण; आत्म-लब्धा—जिन्होंने ऐसी आत्म-उपलब्धि प्राप्त कर ली है।.

भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य नाम, रूप इत्यादि के कीर्तन तथा श्रवण मात्र से मनुष्य की असीम कष्टप्रद अवस्थाएँ शमित हो सकती हैं। अतएव उनके विषय में क्या कहा जाये, जिन्होंने भगवान् के चरणकमलों की धूल की सुगंध की सेवा करने के लिए आकर्षण प्राप्त कर लिया हो?

तात्पर्य : वैदिक शास्त्रीय विद्या में भौतिक इन्द्रियों को वश में करने की दो अलग-अलग विधियों की संस्तुति की गई है। इनमें से एक ज्ञानयोग है अर्थात् ब्रह्म, परमात्मा, तथा भगवान् के दार्शनिक ज्ञान का मार्ग। दूसरी विधि है भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति रुपी सेवा में जुट जाना। इन दो अत्यन्त लोकप्रिय विधियों में से यहाँ पर भक्ति मय सेवा के मार्ग को सर्वोत्तम कह कर संस्तुत किया गया है, क्योंकि जो भक्तिमार्ग पर चलता है उसे पुण्यकर्मों के सकाम फल के लिए या ज्ञान के परिणामों के लिए प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। भक्ति सम्पन्न करने की दो अवस्थाएँ हैं। पहली: मान्य शास्त्रों के नियमानुसार अपनी वर्तमान इन्द्रियों द्वारा भक्ति का अभ्यास करने की अवस्था तथा दूसरी: भगवान् के चरणकमलों की धूलि के कणों की सेवा करने के लिए निष्ठावान अनुरक्ति प्राप्त करना। प्रथम अवस्था *साधन भक्ति* कहलाती है, जो नव-जिज्ञासुओं द्वारा की जाने वाली भक्ति है और किसी शुद्ध भक्त के निर्देशन में सम्पन्न की जाती है। दूसरी अवस्था *राग भक्ति* है, जिसमें परिपक्व (प्रौढ़) भक्त निष्ठापूर्ण अनुराग के कारण स्वत: भगवान् की विविध सेवाओं में लगा रहता है। अब महर्षि मैत्रेय विदुर के सारे प्रश्नों का अन्तिम उत्तर इस तरह दे रहे हैं: भगवान् की भक्ति संसार की समस्त कष्टप्रद दशाओं को कम करने का चरम साधन है। उद्देश्य की पूर्ति हेतु ज्ञानमार्ग या योगिक आसनों को अपनाया जा सकता है, किन्तु *भक्ति* से मिश्रित किये बिना ये वाञ्छित फल दिलाने में अक्षम है। साधन भक्ति के अभ्यास से मनुष्य धीर-धीरे रागभक्ति तक उठ सकता है। दिव्य *प्रेमाभक्ति* में *रागभक्ति* सम्पन्न करके वह परम शक्तिशाली भगवान् को भी अपने वश में कर सकता है।

विदुर उवाच
सञ्छिन्नः संशयो मह्यं तव सूक्तासिना विभो ।
उभयत्रापि भगवन्मनो मे सम्प्रधावति ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; सञ्छिन्नः—कटे हुए; संशयः—सन्देह; मह्यम्—मेरे; तव—तुम्हारे; सूक्त-असिना—विश्वसनीय शब्द रूपी हथियार से; विभो—हे प्रभु; उभयत्र अपि—ईश्वर तथा जीव दोनों में; भगवन्—हे शक्तिमान; मनः—मन; मे—मेरा; सम्प्रधावति—पूरी तरह प्रवेश करता है।

विदुर ने कहा : हे शक्तिशाली मुनि, मेरे प्रभु, आपके विश्वसनीय शब्दों से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तथा जीवों से सम्बन्धित मेरे सारे संशय अब दूर हो गये हैं। अब मेरा मन पूरी तरह से उनमें प्रवेश कर रहा है।

तात्पर्य : कृष्ण-विज्ञान या ईश तथा जीवों का विज्ञान इतना सूक्ष्म है कि विदुर जैसे व्यक्ति को भी मैत्रेय मुनि जैसे महापुरुष से परामर्श करना पड़ता है। भगवान् तथा जीव के नित्य सम्बन्ध के विषय में मानसिक चिन्तन करने वाले लोग तरह तरह से सन्देह उत्पन्न करते हैं, किन्तु निर्णायक तथ्य यह है कि ईश्वर तथा जीव का सम्बन्ध स्वामी (सेव्य) तथा सेवक का सम्बन्ध है। भगवान् नित्य स्वामी हैं और जीव नित्य दास है। इस सम्बन्ध का असली ज्ञान इस लुप्त चेतना को इस स्तर तक पुनरुज्जीवित करना है और इस पुनरुज्जीवन की विधि है भगवान् की भक्ति। इस तरह से मैत्रेय मुनि जैसे अधिकारियों से स्पष्ट रूप से जान लेने पर मनुष्य असली ज्ञान को प्राप्त होता है और इस तरह विक्षुब्ध मन को प्रगति के पथ पर स्थिर किया जा सकता है।

साध्वेतद्व्याहृतं विद्वन्नात्ममायायनं हरेः ।
आभात्यपार्थं निर्मूलं विश्वमूलं न यद्बहिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

साधु—उतनी अच्छी जितनी कि होनी चाहिए; एतत्—ये सारी व्याख्याएँ; व्याहृतम्—इस तरह कही गई; विद्वन्—हे विद्वान; न—नहीं; आत्म—आत्मा; माया—शक्ति; अयनम्—गति; हरेः—भगवान् की; आभाति—प्रकट होती है; अपार्थम्—बिना अर्थ के, निरर्थक; निर्मूलम्—बिना किसी आधार के, निराधार; विश्व-मूलम्—भगवान् जिसका उद्गम है; न—नहीं; यत्—जो; बहिः—बाहरी।

हे विद्वान महर्षि, आपकी व्याख्याएँ अति उत्तम हैं जैसी कि उन्हें होना चाहिए। बद्धजीव के विक्षोभों का आधार भगवान् की बहिरंगा शक्ति की गतिविधि के अलावा कुछ भी नहीं ।

तात्पर्य : जीव की ईश्वर से हर तरह से तदाकार होने की अवैध इच्छा ही सम्पूर्ण भौतिक जगत का मूल कारण है, अन्यथा ईश्वर को ऐसा जगत उत्पन्न करने की, यहाँ तक कि अपनी लीलाओं के लिए भी, कोई आवश्यकता न होती। बद्धजीव भगवान् की बहिरंगा शक्ति के वशीभूत होकर भौतिक जीवन में अनेक दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं को भोगता है। भगवान् बहिरंगा शक्ति माया के स्वामी हैं और जीव भौतिक दशा के अन्तर्गत उसी माया के अधीन रहता है। जीव द्वारा भगवान् के स्वामी पद को प्राप्त करने का मिथ्या प्रयास ही उसके भौतिक बन्धन का कारण है और बद्धजीव का भगवान् के साथ तदाकार होने का प्रयास माया का अन्तिम पाश है।

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः ।

तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥ १७॥

शब्दार्थ

यः—जो; च—भी; मूढ-तमः—निकृष्टतम मूर्ख; लोके—संसार में; यः च—तथा जो; बुद्धेः—बुद्धि का; परम्—दिव्य; गतः—गया हुआ; तौ—उन; उभौ—दोनों; सुखम्—सुख; एधेते—भोगते हैं; क्लिश्यति—कष्ट पाते हैं; अन्तरितः—बीच में स्थित; जनः—लोग।

निकृष्टतम मूर्ख तथा समस्त बुद्धि के परे रहने वाले दोनों ही सुख भोगते हैं, जबकि उनके बीच के व्यक्ति भौतिक क्लेश पाते हैं।

तात्पर्य : निकृष्टतम मूर्ख भौतिक क्लेशों को नहीं समझते। वे हँसी-खुशी के साथ अपना जीवन बिताते हैं और जीवन के क्लेशों के विषय में जिज्ञासा नहीं करते। ऐसे लोग लगभग पशुओं के स्तर पर होते हैं, जो भौतिक क्लेशों से अवगत नहीं रहते, यद्यपि श्रेष्ठजनों की नजरों में वे सदैव दुखी रहते हैं। शूकर का जीवन सुख के मानदण्ड के अनुसार गिरा हुआ है, क्योंकि इसमें गन्दे स्थान में रहना, किसी भी क्षण संभोग में रत रहना और जीवन-संघर्ष के लिए कठिन श्रम करना होता है, किन्तु शूकर को यह ज्ञात नहीं है। इसी तरह जो मनुष्य भौतिक जगत के कष्ट से अवगत नहीं होते तथा यौन जीवन और कठिन श्रम में सुखी रहते हैं, वे निकृष्टतम मूर्ख हैं। फिर भी चूँकि उन्हें कष्टों का कोई ज्ञान नहीं होता है वे तथाकथित सुख को भोगते प्रतीत होते हैं। अन्य श्रेणी के लोग, जो कि मुक्त हैं तथा बुद्धि से ऊपर दिव्य पद पर स्थित हैं वास्तव में सुखी हैं और *परमहंस* कहलाते हैं। किन्तु वे लोग, जो न तो कूकरों-सूकरों की तरह हैं और न ही परमहंस के स्तर पर हैं भौतिक क्लेशों का अनुभव करते हैं और उनके लिए परम सत्य विषयक जिज्ञासा आवश्यक है। *वेदान्त सूत्र* का कथन है—अथातो ब्रह्मजिज्ञासा—अब मनुष्य को ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा करनी चाहिए। यह जिज्ञासा उन लोगों के लिए आवश्यक है, जो *परमहंसों* तथा उन मूर्खों के बीच के हैं जिन्होंने इन्द्रियतृप्ति वाले जीवन के बीच में आत्म-साक्षात्कार के प्रश्न को भुला दिया है।

अर्थाभावं विनिश्चित्य प्रतीतस्यापि नात्मनः ।
तां चापि युष्मच्चरणसेवयाहं पराणुदे ॥ १८॥

शब्दार्थ

अर्थ-अभावम्—बिना सार के; विनिश्चित्य—सुनिश्चित करके; प्रतीतस्य—बाह्य मूल्यों का; अपि—भी; न—कभी नहीं; आत्मनः—आत्मा का; ताम्—उसे; च—भी; अपि—इस तरह; युष्मत्—तुम्हारे; चरण—पाँव की; सेवया—सेवाद्वारा; अहम्—मैं; पराणुदे—त्याग सकूँगा।

किन्तु हे महोदय, मैं आपका कृतज्ञ हूँ, क्योंकि अब मैं समझ सकता हूँ कि यह भौतिक

जगत साररहित है यद्यपि यह वास्तविक प्रतीत होता है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आपके चरणों की सेवा करने से मेरे लिए इस मिथ्या विचार को त्याग सकना सम्भव हो सकेगा।

तात्पर्य : बद्धजीव के कष्ट सतही होते हैं और उनका कोई वास्तविक महत्त्व नहीं होता जिस तरह स्वप्न में किसी के सिर को काटने का कोई महत्त्व नहीं होता। यद्यपि यह कथन सिद्धान्त रूप में अतिसत्य है फिर भी सामान्य व्यक्ति या आध्यात्मिक पथ के नवजिज्ञासु के लिए इसकी अनुभूति कर पाना अतीव कठिन है। किन्तु मैत्रेय मुनि जैसे महान् ब्रह्मवादियों के चरणों की सेवा करने से तथा उनकी निरन्तर संगति करने से मनुष्य इस मिथ्या विचार को त्याग सकता है कि आत्मा को भौतिक क्लेश भोगना पड़ता है।

यत्सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः ।
रतिरासो भवेत्तीव्रः पादयोर्व्यसनार्दनः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसको; सेवया—सेवा द्वारा; भगवतः—भगवान् का; कूट-स्थस्य—अपरिवर्तनीय का; मधु-द्विषः—मधु असुर का शत्रु; रति-रासः—विभिन्न सम्बन्धों में अनुरक्ति; भवेत्—उत्पन्न होती है; तीव्रः—अत्यन्त भावपूर्ण; पादयोः—चरणों की; व्यसन—क्लेश; अर्दनः—नष्ट करनेवाले।

गुरु के चरणों की सेवा करने से मनुष्य उन भगवान् की सेवा में दिव्य भावानुभूति उत्पन्न करने में समर्थ होता है, जो मधु असुर के कूटस्थ शत्रु हैं और जिनकी सेवा से मनुष्य के भौतिक क्लेश दूर हो जाते हैं।

तात्पर्य : मैत्रेय मुनि जैसे प्रामाणिक गुरु की संगति भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा के लिए दिव्य आसक्ति प्राप्त करने में परम सहायक हो सकती है। भगवान् मधु असुर के शत्रु हैं, अर्थात् दूसरे शब्दों में अपने शुद्ध भक्त के कष्टों के शत्रु हैं। इस श्लोक में रति रासः शब्द महत्त्वपूर्ण है। भगवान् की सेवा विभिन्न दिव्य रसों (सम्बन्धों) शान्त, वीर, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य में की जाती है। भगवान् की दिव्य सेवा के मुक्त पद पर स्थित जीव उपर्युक्त रसों में से किसी एक रस के प्रति आकृष्ट होता है और जब यह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लग जाता है, तो भौतिक जगत से उसकी अनुरक्ति स्वतः समाप्त हो जाती है। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.५९) में कहा गया है—*रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।*

दुरापा ह्यल्पतपसः सेवा वैकुण्ठवर्त्मसु ।
यत्रोपगीयते नित्यं देवदेवो जनार्दनः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

दुरापा—दुर्लभ; हि—निश्चय ही; अल्प-तपसः—अल्प तपस्या वाले की; सेवा—सेवा; वैकुण्ठ—ईश्वर के धाम के; वर्त्मसु—मार्ग पर; यत्र—जिसमें; उपगीयते—महिमा गाई जाती है; नित्यम्—सदैव; देव—देवताओं के; देवः—स्वामी; जन-अर्दनः—जीवों के नियन्ता।

जिन लोगों की तपस्या अत्यल्प है वे उन शुद्ध भक्तों की सेवा नहीं कर पाते हैं जो भगवद्धाम अर्थात् वैकुण्ठ के मार्ग पर अग्रसर हो रहे होते हैं। शुद्धभक्त शत प्रतिशत उन परम प्रभु की महिमा के गायन में लगे रहते हैं, जो देवताओं के स्वामी तथा समस्त जीवों के नियन्ता हैं।

तात्पर्य : जैसाकि समस्त अधिकारियों ने संस्तुति की है, मुक्ति का मार्ग महात्मा जनों की सेवा करना है। जहाँ तक *भगवद्गीता* का सम्बन्ध है, महात्माजन वे शुद्ध भक्त हैं जो ईश्वर के धाम वैकुण्ठ के मार्ग पर चलते हैं और जो शुष्क लाभरहित दर्शन की बातें न करके भगवान् की महिमा का सदैव कीर्तन तथा श्रवण करते हैं। संगति की यह प्रणाली सनातन से संस्तुत होती आई है, किन्तु इस कलह तथा दिखावे के युग में श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा इसकी विशेष रूप से संस्तुति की गई है। अनुकूल तपस्या की निधि न होने पर भी यदि कोई व्यक्ति उन महात्माओं की शरण में जाता है, जो भगवान् की महिमाओं के श्रवण और कीर्तन में लगे रहते हैं, तो वह भगवद्धाम वापस जाने के पथ पर अवश्य प्रगति कर सकता है।

सृष्ट्वाग्रे महदादीनि सविकाराण्यनुक्रमात् ।
तेभ्यो विराजमुद्धृत्य तमनु प्राविशद्विभुः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सृष्ट्वा—सृष्टि करके; अग्रे—प्रारम्भ में; महत्-आदीनि—सम्पूर्ण भौतिक शक्ति आदि की; स-विकाराणि—इन्द्रिय विषयों सहित; अनुक्रमात्—विभेदन की क्रमिक विधि द्वारा; तेभ्यः—उसमें से; विराजम्—विराट रूप; उद्धृत्य—प्रकट करके; तम्—उसमें; अनु—बाद में; प्राविशत्—प्रवेश किया; विभुः—परमेश्वर ने।

सम्पूर्ण भौतिक शक्ति अर्थात् महत् तत्त्व की सृष्टि कर लेने के बाद तथा इन्द्रियों और इन्द्रिय विषयों समेत विराट रूप को प्रकट कर लेने पर परमेश्वर उसके भीतर प्रविष्ट हो गये।

तात्पर्य : मैत्रेय मुनि के उत्तरों से पूरी तरह तुष्ट होकर विदुर भगवान् के सृजन कार्य के शेष अंशों को भी समझना चाह रहे थे जिनका संकेत पिछली कथाओं से उन्होंने प्राप्त किया था।

यमाहुराद्यं पुरुषं सहस्राङ्‌घ्र्यूरुबाहुकम् ।
यत्र विश्व इमे लोकाः सविकाशं त आसते ॥ २२॥

शब्दार्थ

यम्—जो; आहुः—कहलाता है; आद्यम्—आदि; पुरुषम्—विराट जगत का अवतार; सहस्र—हजार; अङ्घ्रि—पाँव; ऊरु—जंघाएँ; बाहुकम्—हाथ; यत्र—जिसमें; विश्वः—ब्रह्माण्ड; इमे—ये सब; लोकाः—लोक; स-विकाशम्—अपने-अपने विकासों के साथ; ते—वे सब; आसते—रह रहे हैं।

कारणार्णव में शयन करता पुरुष अवतार भौतिक सृष्टियों में आदि पुरुष कहलाता है और उनके विराट रूप में जिसमें सारे लोक तथा उनके निवासी रहते हैं, उस पुरुष के कई-कई हजार हाथ-पाँव होते हैं।

तात्पर्य : प्रथम पुरुष कारणोदकशायी विष्णु हैं, द्वितीय पुरुष गर्भोदकशायी विष्णु तथा तृतीय पुरुष क्षीरोदकशायी विष्णु हैं जिनमें विराट पुरुष की कल्पना की जाती है, जिसमें सारे लोक अपने विभिन्न विस्तीर्णताओं तथा निवासियों समेत तैरते रहते हैं।

यस्मिन्दशविधः प्राणः सेन्द्रियार्थेन्द्रियस्त्रिवृत् ।
त्वयेरितो यतो वर्णास्तद्विभूतीर्वदस्व नः ॥ २३॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; दश-विधः—दस प्रकार की; प्राणः—प्राणवायु; स—सहित; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; अर्थ—रुचि; इन्द्रियः—इन्द्रियों की; त्रि-वृत्—जीवनी शक्ति (बल) के तीन प्रकार; त्वया—आपके द्वारा; ईरितः—विवेचित; यतः—जिससे; वर्णाः—चार विभाग; तत्-विभूतीः—पराक्रम; वदस्व—कृपया वर्णन करें; नः—मुझसे।

हे महान् ब्राह्मण, आपने मुझे बताया है कि विराट रूप तथा उनकी इन्द्रियाँ, इन्द्रिय विषय तथा दस प्रकार के प्राण तीन प्रकार की जीवनीशक्ति के साथ विद्यमान रहते हैं। अब, यदि आप चाहें तो कृपा करके मुझे विशिष्ट विभागों (वर्णों) की विभिन्न शक्तियों का वर्णन करें।

यत्र पुत्रैश्च पौत्रैश्च नप्तृभिः सह गोत्रजैः ।
प्रजा विचित्राकृतय आसन्याभिरिदं ततम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

यत्र—जिसमें; पुत्रैः—पुत्रों; च—तथा; पौत्रैः—पौत्रों; च—भी; नप्तृभिः—नातियों; सह—के सहित; गोत्र-जैः—एक ही परिवार की; प्रजाः—सन्तानें; विचित्र—विभिन्न प्रकार की; आकृतयः—इस तरह से की गई; आसन्—है; याभिः—जिससे; इदम्—ये सारे लोक; ततम्—विस्तार करते हैं।

हे प्रभु, मेरे विचार से पुत्रों, पौत्रों तथा परिजनों के रूप में प्रकट शक्ति (बल) सारे ब्रह्माण्ड

में विभिन्न रूपों तथा योनियों में फैल गयी है।

प्रजापतीनां स पतिश्चक्लिपे कान्प्रजापतीन् ।
सर्गांश्चैवानुसर्गांश्च मनून्मन्वन्तराधिपान् ॥ २५॥

शब्दार्थ

प्रजा-पतीनाम्—ब्रह्मा इत्यादि देवताओं के; सः—वह; पतिः—अग्रणी; चक्लिपे—निश्चय किया; कान्—जिस किसी को; प्रजापतीन्—जीवों के पिताओं; सर्गान्—सन्तानें; च—भी; एव—निश्चय ही; अनुसर्गान्—बाद की सन्तानें; च—भी; मनून्—मनुओं को; मन्वन्तर-अधिपान्—तथा ऐसों के परिवर्तन।

हे विद्वान ब्राह्मण, कृपा करके बतायें कि किस तरह समस्त देवताओं के मुखिया प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा ने विभिन्न युगों के अध्यक्ष विभिन्न मनुओं को स्थापित करने का निश्चय किया। कृपा करके मनुओं का भी वर्णन करें तथा उन मनुओं की सन्तानों का भी वर्णन करें।

तात्पर्य : मानव जाति या मनुष्य-सर मनुओं से उत्पन्न हुई जो प्रजापति ब्रह्मा के पुत्र तथा पौत्र हैं। मनु की सन्तानें समस्त विभिन्न लोकों में निवास करती हैं और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर शासन करती हैं।

उपर्यधश्च ये लोका भूमेर्मित्रात्मजासते ।
तेषां संस्थां प्रमाणं च भूर्लोकस्य च वर्णय ॥ २६॥

शब्दार्थ

उपरि—सिर पर; अधः—नीचे; च—भी; ये—जो; लोकाः—लोक; भूमेः—पृथ्वी के; मित्र-आत्मज—हे मित्रा के पुत्र (मैत्रेय मुनि); आसते—विद्यमान हैं; तेषाम्—उनके; संस्थाम्—स्थिति; प्रमाणम् च—उनकी माप भी; भूः-लोकस्य—पृथ्वी लोकों का; च—भी; वर्णय—वर्णन कीजिये।

हे मित्रा के पुत्र, कृपा करके इस बात का वर्णन करें कि किस तरह पृथ्वी के ऊपर के तथा उसके नीचे के लोक स्थित हैं और उनकी तथा पृथ्वी लोकों की प्रमाप का भी उल्लेख करें।

तात्पर्य : *यस्मिन् विज्ञाते सर्वमेवं विज्ञातं भवति*। यह वैदिक स्तोत्र जोर देकर इस बात को घोषित करता है कि भगवान् का भक्त भगवान् से सम्बन्धित समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक वस्तुओं को जानता है। भक्तगण केवल भावुक ही नहीं होते जैसाकि कुछ अल्पज्ञों की भ्रान्त धारणा है। उनका दिशा बोध व्यावहारिक होता है। वे हर विद्यमान वस्तु को जानते हैं तथा विभिन्न सृष्टियों में भगवान् के आधिपत्य को सविस्तार जानते हैं।

तिर्यङ्मानुषदेवानां सरीसृपपतत्त्रिणाम् ।

वद नः सर्गसंव्यूहं गार्भस्वेदद्विजोद्भिदाम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

तिर्यक्—मानवेतर; मानुष—मानव प्राणी; देवानाम्—अतिमानव प्राणियों या देवताओं का; सरीसृप—रेंगने वाले प्राणी; पतत्त्रिणाम्—पक्षियों का; वद—कृपया वर्णन करें; नः—मुझसे; सर्ग—उत्पत्ति; संव्यूहम्—विशिष्ट विभाग; गार्भ—गर्भस्थ; स्वेद—पसीना; द्विज—द्विजन्मा; उद्भिदाम्—लोकों आदि का।

कृपया जीवों का विभिन्न विभागों के अन्तर्गत यथा मानवेतर, मानव, भ्रूण से उत्पन्न, पसीने से उत्पन्न, द्विजन्मा (पक्षी) तथा पौधों एवं शाकों का भी वर्णन करें। कृपया उनकी पीढ़ियों तथा उपविभाजनों का भी वर्णन करें।

गुणावतारैर्विश्वस्य सर्गस्थित्यप्ययाश्रयम् ।
सृजतः श्रीनिवासस्य व्याचक्ष्वोदारविक्रमम् ॥ २८॥

शब्दार्थ

गुण—प्रकृति के गुणों के; अवतारैः—अवतारों का; विश्वस्य—ब्रह्माण्ड के; सर्ग—सृष्टि; स्थिति—पालन; अप्यय—संहार; आश्रयम्—तथा चरम विश्राम; सृजतः—स्रष्टा का; श्रीनिवासस्य—भगवान् का; व्याचक्ष्व—कृपया वर्णन करें; उदार—उदार; विक्रमम्—विशिष्ट कार्यकलाप।

कृपया प्रकृति के गुणावतारों—ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर—का भी वर्णन करें। कृपया पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अवतार तथा उनके उदार कार्यकलापों का भी वर्णन करें।

तात्पर्य : यद्यपि ब्रह्मा, विष्णु, तथा महेश्वर, जो कि भौतिक प्रकृति के तीन अवतार हैं, विराट जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार के प्रमुख देव हैं, किन्तु वे अन्तिम अधिकारी नहीं हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण चरम लक्ष्य या समस्त कारणों के कारण हैं। वे *आश्रय* हैं अर्थात् समस्त वस्तुओं के अन्तिम विश्राम हैं।

वर्णाश्रमविभागांश्च रूपशीलस्वभावतः ।
ऋषीणां जन्मकर्माणि वेदस्य च विकर्षणम् ॥ २९॥

शब्दार्थ

वर्ण-आश्रम—सामाजिक पदों तथा आध्यात्मिक संस्कृति के चार विभाग; विभागान्—पृथक्-पृथक् विभागों; च—भी; रूप—निजी स्वरूप; शील-स्वभावतः—निजी चरित्र; ऋषीणाम्—ऋषियों के; जन्म—जन्म; कर्माणि—कार्यकलाप; वेदस्य—वेदों के; च—तथा; विकर्षणम्—कोटियों में विभाजन।

हे महर्षि, कृपया मानव समाज के वर्णों तथा आश्रमों के विभाजनों का वर्णन उनके लक्षणों, स्वभाव तथा मानसिक संतुलन एवं इन्द्रिय नियंत्रण के स्वरूपों के रूप के अनुसार करें। कृपया महर्षियों के जन्म तथा वेदों के कोटि-विभाजनों का भी वर्णन करें।

तात्पर्य : मानव समाज के चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र चार आश्रम—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी—ये सभी विभाजन गुण, शिक्षा, संस्कृति तथा मन एवं इन्द्रियों पर संयम बरतने से उपलब्ध आध्यात्मिक प्रगतियाँ हैं। ये समस्त विभाग प्रत्येक व्यक्ति के विशिष्ट स्वभाव पर आधारित हैं, जन्म के सिद्धान्त पर नहीं। इस श्लोक में जन्म का उल्लेख नहीं हुआ है, क्योंकि जन्म सार हीन है। इतिहास में विदुर शूद्राणी माता से उत्पन्न होने के लिए प्रसिद्ध हैं; फिर भी योग्यता के अनुसार वे ब्राह्मण से भी बढ़कर हैं, क्योंकि वे यहाँ पर महर्षि मैत्रेय के शिष्य रूप में दिखते हैं। जब तक कोई कम से कम ब्राह्मण-योग्यता प्राप्त न कर ले तब तक वह वैदिक स्तोत्रों को नहीं समझ सकता। *महाभारत* भी वेदों का एक विभाग है, किन्तु यह स्त्रियों, शूद्रों तथा द्विजबन्धुओं अर्थात् उच्चवर्ग की अयोग्य सन्तानों के लिए है। समाज का अल्पज्ञ वर्ग केवल *महाभारत* का अध्ययन करके वैदिक उपदेशों का लाभ उठा सकता है।

यज्ञस्य च वितानानि योगस्य च पथः प्रभो ।
नैष्कर्म्यस्य च साङ्ख्यस्य तन्त्रं वा भगवत्स्मृतम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यज्ञस्य—यज्ञों का; च—भी; वितानानि—विस्तार; योगस्य—योग शक्ति का; च—भी; पथः—मार्ग; प्रभो—हे प्रभु; नैष्कर्म्यस्य—ज्ञान का; च—तथा; साङ्ख्यस्य—वैश्लेषिक अध्ययन का; तन्त्रम्—भक्ति का मार्ग; वा—तथा; भगवत्—भगवान् के सम्बन्ध में; स्मृतम्—विधि-विधान।

कृपया विभिन्न यज्ञों के विस्तारों तथा योग शक्तियों के मार्गों, ज्ञान के वैश्लेषिक अध्ययन (सांख्य) तथा भक्ति-मय सेवा का उनके विधि-विधानों सहित वर्णन करें।

तात्पर्य : यहाँ पर *तन्त्रम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। कभी-कभी *तन्त्रम्* को भ्रान्तिवश इन्द्रियतृप्ति में लगे भौतिकतावादी व्यक्तियों का काला जादू समझ लिया जाता है, किन्तु यहाँ पर *तन्त्रम्* का अर्थ भक्ति का विज्ञान है, जिसका संग्रह श्रील नारद मुनि ने किया। मनुष्य भक्तिमार्ग की ऐसी विधिमयी व्याख्याओं का लाभ उठाकर भगवद्भक्ति में प्रगति कर सकता है। सांख्य दर्शन ज्ञान प्राप्ति का मूल सिद्धान्त है जैसाकि मैत्रेय मुनि द्वारा बतलाया जाएगा। देवहूति-पुत्र कपिलदेव द्वारा प्रवर्तित सांख्य दर्शन परब्रह्म के विषय में ज्ञान का असली स्रोत है। जो ज्ञान सांख्य दर्शन पर आधारित नहीं है, वह मानसिक चिन्तन है और उससे कोई वास्तविक लाभ नहीं प्राप्त हो सकता।

पाषण्डपथवैषम्यं प्रतिलोमनिवेशनम् ।
जीवस्य गतयो याश्च यावतीर्गुणकर्मजाः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

पाषण्ड-पथ—अश्रद्धा का मार्ग; वैषम्यम्—विरोध के द्वारा अपूर्णता; प्रतिलोम—वर्णसंकर; निवेशनम्—स्थिति; जीवस्य—जीवों की; गतयः—गतिविधियाँ; याः—वे जैसी हैं; च—भी; यावतीः—जितनी; गुण—भौतिक प्रकृति के गुण; कर्म-जाः—विभिन्न प्रकार के कर्म से उत्पन्न।

कृपया श्रद्धाविहीन नास्तिकों की अपूर्णताओं तथा विरोधों का, वर्णसंकरों की स्थिति तथा विभिन्न जीवों के प्राकृतिक गुणों तथा कर्म के अनुसार विभिन्न जीव-योनियों की गतिविधियों का भी वर्णन करें।

तात्पर्य : प्रकृति के विभिन्न गुणों वाले जीवों के संयोग को वर्णसंकर या प्रतिलोम कहा जाता है। श्रद्धाविहीन नास्तिक लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते, अतएव उनके दर्शन के मार्ग परस्पर विरोधी होते हैं। नास्तिकतावादी दर्शन कभी भी एक दूसरे से मेल नहीं खाते। जीव की विभिन्न योनियाँ प्रकृति के गुणों के मिश्रण की विविधता के प्रमाण हैं।

धर्मार्थकाममोक्षाणां निमित्तान्यविरोधतः ।
वार्ताया दण्डनीतेश्च श्रुतस्य च विधिं पृथक् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

धर्म—धार्मिकता; अर्थ—आर्थिक विकास; काम—इन्द्रियतृप्ति; मोक्षाणाम्—मोक्ष के; निमित्तानि—कारण; अविरोधतः—बिना विरोध के; वार्तायाः—जीविका के साधनों के सिद्धान्तों पर; दण्ड-नीतेः—कानून तथा व्यवस्था का; च—भी; श्रुतस्य—शास्त्र संहिता का; च—भी; विधिम्—नियम; पृथक्—विभिन्न।

आप धर्म, आर्थिक विकास, इन्द्रियतृप्ति तथा मोक्ष के परस्पर विरोधी कारणों का और उसी के साथ जीविका के विभिन्न साधनों, विधि की विभिन्न विधियों तथा शास्त्रों में उल्लिखित व्यवस्था का भी वर्णन करें।

श्राद्धस्य च विधिं ब्रह्मन्पितॄणां सर्गमेव च ।
ग्रहनक्षत्रताराणां कालावयवसंस्थितिम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

श्राद्धस्य—समय-समय पर सम्मानसूचक भेंटों का; च—भी; विधिम्—नियम; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; पितॄणाम्—पूर्वजों की; सर्गम्—सृष्टि; एव—जिस तरह; च—भी; ग्रह—ग्रह प्रणाली; नक्षत्र—तारे; ताराणाम्—ज्योतिपिण्डों; काल—समय; अवयव—अवधि; संस्थितिम्—स्थितियाँ।

कृपा करके पूर्वजों के श्राद्ध के विधि-विधानों, पितृलोक की सृष्टि, ग्रहों, नक्षत्रों तथा तारकों के काल-विधान तथा उनकी अपनी-अपनी स्थितियों के विषय में भी बतलाएँ।

तात्पर्य : दिन-रात तथा मास-वर्ष की अवधियाँ विभिन्न ग्रहों, नक्षत्रों तथा तारकों में भिन्न-भिन्न हैं। चन्द्रमा तथा शुक्र जैसे उच्चतरग्रहों में काल की प्रमाप पृथ्वी की अपेक्षा भिन्न है। कहा जाता है कि इस पृथ्वी ग्रह के छह मास उच्चतर ग्रहों के एक दिन के तुल्य हैं। *भगवद्गीता* में ब्रह्मलोक का एक दिन चतुर्युगों से एक हजार गुना वर्षों के तुल्य है अर्थात् ४,३००,००० वर्षों का एक हजार गुना वर्ष। ब्रह्मलोक में मास तथा दिन उसी के अनुसार परिमाणित होते हैं।

दानस्य तपसो वापि यच्चेष्टापूर्तयोः फलम् ।
प्रवासस्थस्य यो धर्मो यश्च पुंस उतापदि ॥ ३४॥

शब्दार्थ

दानस्य—दान का; तपसः—तपस्या का; वापि—बावड़ी; यत्—जो; च—तथा; इष्टा—प्रयास; पूर्तयोः—जलाशयों का; फलम्—सकाम फल; प्रवास-स्थस्य—घर से दूर रहने वाले का; यः—जो; धर्मः—कर्तव्य; यः च—और जो; पुंसः—मनुष्य का; उत—वर्णित; आपदि—आपत्ति में।

कृपया दान तथा तपस्या का एवं जलाशय खुदवाने के सकाम फलों का भी वर्णन करें। कृपया घर से दूर रहने वालों की स्थिति का तथा आपदग्रस्त मनुष्य के कर्तव्य का भी वर्णन करें।

तात्पर्य : जनता के उपयोग हेतु जलाशय खुदवाना महत् दान कार्य है और पचास वर्ष की आयु के बाद गृहस्थ जीवन से वैराग्य लेना भद्र मनुष्य द्वारा सम्पन्न महान् तपस्या का कार्य है।

येन वा भगवांस्तुष्येद्धर्मयोनिर्जनार्दनः ।
सम्प्रसीदति वा येषामेतदाख्याहि मेऽनघ ॥ ३५॥

शब्दार्थ

येन—जिससे; वा—अथवा; भगवान्—भगवान्; तुष्येत्—तुष्ट होता है; धर्म-योनिः—समस्त धर्मों का पिता; जनार्दनः—सारे जीवों का नियन्ता; सम्प्रसीदति—पूर्णतया तुष्ट होता है; वा—अथवा; येषाम्—जिनका; एतत्—ये सभी; आख्याहि—कृपया वर्णन करें; मे—मुझसे; अनघ—हे निष्पाप पुरुष।

हे निष्पाप पुरुष, चूँकि समस्त जीवों के नियन्ता भगवान् समस्त धर्मों के तथा धार्मिक कर्म करने वाले समस्त लोगों के पिता हैं, अतएव कृपा करके इसका वर्णन कीजिये कि उन्हें किस प्रकार पूरी तरह से तुष्ट किया जा सकता है।

तात्पर्य : समस्त धार्मिक कार्यकलाप अन्ततोगत्वा परमेश्वर को तुष्ट करने के लिए हैं। भगवान् समस्त धर्मों के पिता हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१६) में कहा गया है, चार प्रकार के पवित्र पुरुष—अर्थार्थी, आर्त, प्रबुद्ध (ज्ञानी) तथा जिज्ञासु भक्ति द्वारा भगवान् के पास पहुँचते हैं और इनकी भक्ति भौतिक स्नेह से मिश्रित होती है। किन्तु इन सबों के ऊपर वे शुद्ध भक्त हैं, जिनकी भक्ति सकाम कर्म या चिन्तनशील ज्ञान के किसी भौतिक कलुष से रंजित नहीं है। जो लोग जीवन भर केवल दुष्ट बने रहते हैं उनके जीवन की तुलना असुरों से की गई है। (*भगवद्गीता* ७.१५) चाहे वे कैसा भी शैक्षिक जीवन क्यों न बिताएँ, वे समस्त ज्ञान से वंचित ही रहते हैं। ऐसे लुच्चे कभी भी भगवान् को तुष्ट करने वाले व्यक्ति नहीं होते।

अनुव्रतानां शिष्याणां पुत्राणां च द्विजोत्तम ।
अनापृष्टमपि ब्रूयुर्गुरवो दीनवत्सलाः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

अनुव्रतानाम्—अनुयायियों के; शिष्याणाम्—शिष्यों के; पुत्राणाम्—पुत्रों के; च—भी; द्विज-उत्तम—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ; अनापृष्टम्—अनपूछा; अपि—भी; ब्रूयुः—कृपया वर्णन करें; गुरवः—गुरुजन; दीन-वत्सलाः—दीनों के प्रति कृपालु।

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, जो गुरुजन हैं, वे दीनों पर अत्यन्त कृपालु रहते हैं। वे अपने अनुयायियों, शिष्यों तथा पुत्रों के प्रति सदैव कृपालु होते हैं और उनके द्वारा बिना पूछे ही सारा ज्ञान प्रदान करते हैं।

तात्पर्य : प्रामाणिक गुरु से जानने योग्य अनेक विषय होते हैं। प्रामाणिक गुरु के लिए अनुयायी, शिष्य तथा पुत्र सभी एकसमान होते हैं और वह उन पर सदैव कृपालु रहता है तथा उनके न पूछने पर भी वह सदैव उन्हें दिव्य विषयों के बारे में बताता रहता है। यही प्रामाणिक गुरु का स्वभाव है। विदुर ने मैत्रेय मुनि से ऐसे विषयों के बारे में भी बताने के लिए अनुरोध किया जिन्हें उन्होंने उनसे न भी पूछा हो।

तत्त्वानां भगवंस्तेषां कतिधा प्रतिसङ्क्रमः ।
तत्रेमं क उपासीरन्क उ स्विदनुशेरते ॥ ३७॥

शब्दार्थ

तत्त्वानाम्—प्रकृति के तत्त्वों का; भगवन्—हे महर्षि; तेषाम्—उनके; कतिधा—कितने; प्रतिसङ्क्रमः—प्रलय; तत्र—वहाँ; इमम्—भगवान् को; के—वे कौन हैं; उपासीरन्—बचाया जाकर; के—वे कौन हैं; उ—जो; स्वित्—कर सकती है; अनुशेरते—भगवान् के शयन करते समय सेवा।

कृपया इसका वर्णन करें कि भौतिक प्रकृति के तत्त्वों का कितनी बार प्रलय होता है और इन प्रलयों के बाद जब भगवान् सोये रहते हैं उन की सेवा करने के लिए कौन जीवित रहता है?

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* (५.४७-४८) में कहा गया है कि जब महाविष्णु योगनिद्रा में रहते हैं, तो उनके श्वास लेते समय असंख्य ब्रह्माण्डों समेत सारे भौतिक जगत प्रकट तथा अप्रकट होते रहते हैं।

यः कारणार्णवजले भजति स्म योग-

निद्रामनन्तजगदण्डसरोमकूपः ।

आधारशक्तिमवलम्ब्य परां स्वमूर्तिं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य

जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः॥

विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"गोविन्द जो कि सर्वोच्च तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् (कृष्ण) हैं अपनी उस निद्रा के समय असंख्य ब्रह्माण्डों की सृष्टि करने के लिए कारणार्णव में अनन्तकाल तक सोते रहते हैं। वे अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा जल में लेटे रहते हैं। मैं उन आदि भगवान् की पूजा करता हूँ।"

"उनके श्वास लेने से असंख्य ब्रह्माण्डों का जन्म होता है और जब वे श्वास निकालते हैं, तो समस्त ब्रह्माण्डों के स्वामियों का संहार हो जाता है। भगवान् का वह स्वांश महाविष्णु कहलाता है और वे भगवान् कृष्ण के अंश के अंश होते हैं। मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ।"

भौतिक जगतों के प्रलय के पश्चात्, न तो भगवान् का, न कारणार्णव के परे उनके राज्य का विलय होता है, न ही वहाँ के निवासी भगवान् के संगियों का। भगवान् के संगियों की संख्या उन जीवों से काफी अधिक है जिन्होंने भौतिक संगति के कारण भगवान् को भुला दिया है। मूल *भागवत* के *अहमेवासमेवाग्रे* इत्यादि चार श्लोकों में आये *अहम्* शब्द की निर्विशेषवादियों द्वारा की जाने वाली

व्याख्या का यहाँ खण्डन किया गया है। भगवान् तथा उनके नित्य संगी प्रलय के बाद बचे रहते हैं। विदुर द्वारा ऐसे व्यक्तियों के विषय में प्रश्न किया जाना भगवान् के समस्त साज-सामान के अस्तित्व का स्पष्ट सूचक है। इसकी पुष्टि *काशीखंड* में हुई है, जिसका उद्धरण श्रील जीव गोस्वामी तथा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती दोनों ने श्रील श्रीधर स्वामी का अनुसरण करते हुए दिया है।

न च्यवन्ते हि यद्‌भक्ता

महत्यां प्रलयापदि।

अतोऽच्युतोऽखिले लोके

स एक: सर्वगोऽव्यय: ॥

"सम्पूर्ण विराट जगत के प्रलय के बाद भी भगवद्‌भक्त कभी भी अपना निजी अस्तित्व नहीं खोते। भगवान् तथा उनके साथ रहने वाले भक्त इस जगत में तथा आध्यात्मिक जगत में सदैव शाश्वत हैं।"

पुरुषस्य च संस्थानं स्वरूपं वा परस्य च ।
ज्ञानं च नैगमं यत्तद्‌गुरुशिष्यप्रयोजनम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

पुरुषस्य—जीव का; च—भी; संस्थानम्—अस्तित्व; स्वरूपम्—पहचान; वा—या; परस्य—परम का; च—भी; ज्ञानम्—ज्ञान; च—भी; नैगमम्—उपनिषदों के विषय में; यत्—जो; तत्—वही; गुरु—गुरु; शिष्य—शिष्य; प्रयोजनम्—अनिवार्यता।

जीवों तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विषय में क्या क्या सच्चाइयाँ हैं? उनके स्वरूप क्या क्या हैं? वेदों में ज्ञान के क्या विशिष्ट मूल्य हैं और गुरु तथा उसके शिष्यों की अनिवार्यताएँ क्या हैं?

तात्पर्य : सारे जीव स्वाभाविक रूप से भगवान् के दास हैं और भगवान् हर एक से सभी प्रकार की सेवाएँ स्वीकार कर सकते हैं। यह स्पष्ट घोषणा की गई है (*भगवद्‌गीता* ५.२९) कि भगवान् सारे यज्ञों तथा तपस्याओं के लाभों के परम भोक्ता, समस्त व्यक्त वस्तुओं के स्वामी तथा सारे जीवों के मित्र हैं। यही उनकी असली पहचान है। अतएव जब जीव भगवान् के इस परम स्वामित्व को स्वीकार करता है और उसी भाव से कार्य करता है, तो वह अपने असली स्वरूप को धारण कर लेता है। जीव को ज्ञान के इस मानदण्ड तक ऊपर उठाने के लिए आध्यात्मिक संगति की आवश्यकता होती है।

प्रामाणिक गुरु की इच्छा होती है कि उसके शिष्य भगवान् की दिव्य सेवा करने की विधि जानें और शिष्य भी यह जानते हैं कि उन्हें किसी स्वरूपसिद्ध व्यक्ति से ईश्वर तथा जीव के नित्य सम्बन्ध के विषय में सीखना चाहिए। इस दिव्य ज्ञान का वितरण करने के लिए मनुष्य को वैदिक ज्ञान के प्रकाश के बल पर सांसारिक कार्यकलापों से अवकाश ले लेना चाहिए। इस श्लोक के सारे प्रश्नों का यही सार-समाहार है।

निमित्तानि च तस्येह प्रोक्तान्यनघसूरिभिः ।
स्वतो ज्ञानं कुतः पुंसां भक्तिर्वैराग्यमेव वा ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

निमित्तानि—ज्ञान का स्रोत; च—भी; तस्य—ऐसे ज्ञान का; इह—इस संसार में; प्रोक्तानि—कहे गये; अनघ—निष्कलंक; सूरिभिः—भक्तों द्वारा; स्वतः—आत्म-निर्भर; ज्ञानम्—ज्ञान; कुतः—कैसे; पुंसाम्—जीव का; भक्तिः—भक्ति; वैराग्यम्—विरक्ति; एव—निश्चय ही; वा—भी।

भगवान् के निष्कलुष भक्तों ने ऐसे ज्ञान के स्रोत का उल्लेख किया है। ऐसे भक्तों की सहायता के बिना कोई व्यक्ति भला किस तरह भक्ति तथा वैराग्य के ज्ञान को पा सकता है?

तात्पर्य : ऐसे अनेक अनुभवहीन व्यक्ति हैं, जो गुरु की सहायता के बिना आत्म-साक्षात्कार के होने की बात कहते हैं। वे गुरु की आवश्यकता की निन्दा करते हैं और इस सिद्धान्त का प्रचार करके कि गुरु आवश्यक नहीं होता उसके स्थान को स्वयं ग्रहण करने का प्रयास करते हैं। किन्तु *श्रीमद्भागवत* इस दृष्टिकोण को मान्यता नहीं देता। महान् दिव्य विद्वान व्यासदेव को भी गुरु की आवश्यकता पड़ी थी और उन्होंने अपने गुरु नारद के आदेश के अनुसार ही इस महान् ग्रन्थ *श्रीमद्भागवत* की रचना की। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी जो कि स्वयं भगवान् कृष्ण हैं, गुरु स्वीकार किया। यहाँ तक कि भगवान् कृष्ण ने भी प्रबुद्ध होने के लिए सान्दीपनि मुनि को अपना गुरु बनाया। संसार के सारे आचार्यों तथा सन्तों के गुरु थे। *भगवद्गीता* में अर्जुन ने श्रीकृष्ण को अपना गुरु स्वीकार किया, यद्यपि ऐसी औपचारिक घोषणा की आवश्यकता नहीं थी। अतः सभी प्रकार से, गुरु स्वीकार करने की आवश्यकता के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता। एकमात्र शर्त है कि गुरु प्रामाणिक हो अर्थात् गुरु को *परम्परा* प्रणाली की उचित शृंखला से आया हुआ होना चाहिए।

सूरि महान् विद्वान होते हैं, किन्तु वे सदैव *अनघ* या निष्कलुष नहीं होते। *अनघसूरि* वह है, जो

भगवान् का शुद्ध भक्त होता है। जो भगवान् के शुद्ध भक्त नहीं हैं या जो उनके समकक्ष बनना चाहते हैं, वे *अनघसूरि* नहीं हैं। शुद्ध भक्तों ने प्रामाणिक शास्त्रों के आधार पर ज्ञान के अनेक ग्रंथ लिखे हैं। श्रील रूप गोस्वामी तथा उनके सहायकों ने श्री चैतन्य महाप्रभु के निर्देशानुसार भावी भक्तों के मार्गदर्शन हेतु विविध ग्रन्थों की रचना की है और जो कोई भी भगवान् के शुद्ध भक्त के पद तक सच्चे मन से अपने को ऊपर ले जाना चाहता है उसे इन ग्रन्थों से लाभ उठाना चाहिए।

एतान्मे पृच्छतः प्रश्नान्हरेः कर्मविवित्सया ।
ब्रूहि मेऽज्ञस्य मित्रत्वादजया नष्टचक्षुषः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

एतान्—ये सारे; मे—मेरे; पृच्छतः—पूछने वाले के; प्रश्नान्—प्रश्नों को; हरेः—भगवान् की; कर्म—लीलाएँ; विवित्सया—जानने की इच्छा करते हुए; ब्रूहि—कृपया वर्णन करें; मे—मुझसे; अज्ञस्य—अज्ञानी की; मित्रत्वात्—मित्रता के कारण; अजया—बहिरंगा शक्ति द्वारा; नष्ट-चक्षुषः—वे जिनकी दृष्टि नष्ट हो चुकी है।

हे मुनि, मैंने आपके समक्ष इन सारे प्रश्नों को अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि की लीलाओं को जानने के उद्देश्य से ही रखा है। आप सबों के मित्र हैं, अतएव कृपा करके उन सबों के लाभार्थ जिनकी दृष्टि नष्ट हो चुकी हैं उनका वर्णन करें।

तात्पर्य : विदुर ने भगवान् की प्रेमाभक्ति के सिद्धान्तों को समझने के उद्देश्य से नाना प्रकार के प्रश्न पूछे। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४१) में वर्णन हुआ है भगवान् की भक्ति अनन्य है और भक्त का मन अनिश्चितताओं की अनेक शाखाओं की ओर नहीं मुड़ता। विदुर का उद्देश्य भगवान् की उस सेवा में स्थिर बने रहना था जिसमें मनुष्य इधर-उधर भटके बिना लीन रहता है। उन्होंने मैत्रेय मुनि की मित्रता का दावा इसलिए नहीं किया कि वे मित्रा के पुत्र थे, किन्तु इसलिए किया कि मैत्रेय वस्तुतः उन सबों के मित्र थे जिन्होंने भौतिक प्रभाववश अपनी आध्यात्मिक दृष्टि खो दी है।

सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपो दानानि चानघ ।
जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन्कलामपि ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—सभी तरह के; वेदाः—वेदों के विभाग; च—भी; यज्ञाः—यज्ञ; च—भी; तपः—तपस्याएँ; दानानि—दान; च—तथा; अनघ—हे निष्कलुष; जीव—जीव; अभय—भौतिक पीड़ाओं से मुक्ति; प्रदानस्य—ऐसा आश्वासन देने वाले का; न—नहीं; कुर्वीरन्—बराबरी की जा सकती है; कलाम्—अंशतः भी; अपि—निश्चय ही।

हे अनघ, इन सारे प्रश्नों के आप के द्वारा दिए जाने वाले उत्तर समस्त भौतिक कष्टों से मुक्ति

दिला सकेंगे। ऐसा दान समस्त वैदिक दानों, यज्ञों, तपस्याओं इत्यादि से बढ़कर है।

तात्पर्य : सबसे बड़ा दान है सामान्य जनों को संसार की चिन्ताओं से मुक्ति दिलाना। ऐसा केवल भगवान् की भक्तिमय सेवा सम्पन्न करने से ही हो सकता है। ऐसा ज्ञान अनुपमेय है। वेदों के ज्ञान का अनुशीलन करना, यज्ञ करना तथा दान देना, ये सभी मिलकर भक्ति से प्राप्त होनेवाली तथा संसार की पीड़ा से मिलने वाली शान्ति के एक अंश के भी तुल्य नहीं हैं। मैत्रेय के दान से न केवल विदुर लाभान्वित होंगे, अपितु अपनी वसुधामयी प्रकृति के कारण यह दान सभी कालों में अन्य सबों का उद्धार करेगा। इस तरह मैत्रेय अमर हैं।

श्रीशुक उवाच
स इत्थमापृष्टपुराणकल्पः कुरुप्रधानेन मुनिप्रधानः ।
प्रवृद्धहर्षो भगवत्कथायां सञ्चोदितस्तं प्रहसन्निवाह ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; सः—वह; इत्थम्—इस प्रकार; आपृष्ट—पूछे जाने पर; पुराण-कल्पः—जो वेदों के पूरकों (पुराणों) की व्याख्या करना जानता है; कुरु-प्रधानेन—कुरुओं के प्रधान द्वारा; मुनि-प्रधानः—प्रमुख मुनि; प्रवृद्ध—पर्याप्त रूप से समृद्ध; हर्षः—सन्तोष; भगवत्—भगवान् की; कथायाम्—कथाओं में; सञ्चोदितः—इस तरह प्रेरित होकर; तम्—विदुर को; प्रहसन्—हँसते हुए; इव—मानो; आह—उत्तर दिया।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह वे मुनियों में-प्रधान, जो भगवान् विषयक कथाओं का वर्णन करने के लिए सदैव उत्साहित रहते थे, विदुर द्वारा इस तरह प्रेरित किये जाने पर पुराणों की विवरणात्मक व्याख्या का बखान करने लगे। वे भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के विषय में बोलने के लिए अत्यधिक उत्साहित थे।

तात्पर्य : मैत्रेय मुनि जैसे महान् विद्वान मुनिगण भगवान् के दिव्य कार्यकलापों का वर्णन करने के लिए सदैव अत्यधिक उत्साहित रहते हैं। इस तरह बोले जाने के लिए विदुर द्वारा आमंत्रित किये जाने पर मैत्रेय मुनि हँसते से प्रतीत हुए, क्योंकि उन्हें वास्तव में दिव्य आनन्द की अनुभूति हुई।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत "विदुर द्वारा अन्य प्रश्न" नामक सातवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter आठ

गर्भोदकशायी विष्णु से ब्रह्मा का प्राकट्य

मैत्रेय उवाच
सत्सेवनीयो बत पूरुवंशो
यल्लोकपालो भगवत्प्रधानः ।
बभूविथेहाजितकीर्तिमालां
पदे पदे नूतनयस्यभीक्ष्णम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—श्रीमैत्रेय मुनि ने कहा; सत्-सेवनीयः—शुद्ध भक्तों की सेवा करने का पात्र; बत—ओह, निश्चय ही; पूरु-वंशः—राजा पूरु का वंश; यत्—क्योंकि; लोक-पालः—राजा हैं; भगवत्-प्रधानः—भगवान् के प्रति मुख्य रूप से अनुरक्त; बभूविथ—तुम भी उत्पन्न थे; इह—इसमें; अजित—अजेय भगवान्; कीर्ति-मालाम्—दिव्य कार्यों की शृंखला; पदे पदे—प्रत्येक पग पर; नूतनयसि—नवीन से नवीनतर बनते हो; अभीक्ष्णम्—सदैव।

महा-मुनि मैत्रेय ने विदुर से कहा : राजा पूरु का राजवंश शुद्ध भक्तों की सेवा करने के लिए योग्य है, क्योंकि उस वंश के सारे उत्तराधिकारी भगवान् के प्रति अनुरक्त हैं। तुम भी उसी कुल में उत्पन्न हो और यह आश्चर्य की बात है कि तुम्हारे प्रयास से भगवान् की दिव्य लीलाएँ प्रतिक्षण नूतन से नूतनतर होती जा रही हैं।

तात्पर्य : महा–मुनि मैत्रेय ने विदुर को धन्यवाद दिया और उनके वंश की ख्याति का सन्दर्भ देते हुए उनकी प्रशंसा की। पूरुवंश भगवद्भक्तों से भरापूरा था और इसके कारण महिमामंडित था। चूँकि वे लोग निर्विशेष ब्रह्म या अन्तर्यामी परमात्मा के प्रति अनुरक्त न होकर सीधे भगवान् अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम से जुड़े थे, अतएव वे भगवान् एवं उनके शुद्ध भक्तों की सेवा करने के योग्य थे। क्योंकि विदुर उसी वंश के वंशज थे, अत: स्वाभाविक था कि वे भगवान् के नित नूतन यश का दूर दूर तक विस्तार करने में लग गये। विदुर जैसे व्यक्ति की महिमामंडित संगति पाकर मैत्रेय आनन्दित थे। उन्होंने विदुर की संगति को अतीव वांछनीय माना, क्योंकि ऐसी संगति से मनुष्य की भक्तिमय सेवा की सुसुप्त प्रवृत्तियाँ त्वरायुक्त हो जाती हैं।

सोऽहं नृणां क्षुल्लसुखाय दुःखं
महद्गतानां विरमाय तस्य ।
प्रवर्तये भागवतं पुराणं

यदाह साक्षाद्भगवानृषिभ्यः ॥ २॥

शब्दार्थ

सः—वह; अहम्—मैं; नृणाम्—मनुष्यों के; क्षुल्ल—अत्यल्प; सुखाय—सुख के लिए; दुःखम्—दुख; महत्—भारी; गतानाम्—को प्राप्त; विरमाय—शमन हेतु; तस्य—उसका; प्रवर्तये—प्रारम्भ में; भागवतम्—श्रीमद्भागवत; पुराणम्—पुराण में; यत्—जो; आह—कहा; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवान्—भगवान् ने; ऋषिभ्यः—ऋषियों से।

अब मैं भागवत पुराण से प्रारम्भ करता हूँ जिसे भगवान् ने प्रत्यक्ष रूप से महान् ऋषियों से उन लोगों के लाभार्थ कहा था, जो अत्यल्प आनन्द के लिए अत्यधिक कष्ट में फँसे हुए हैं।

तात्पर्य : मैत्रेय मुनि ने *श्रीमद्भागवत* के विषय में बोलने का प्रस्ताव रखा, क्योंकि इसकी रचना विशेष रूप से मानव समाज की समस्त समस्याओं के समाधान के लिए की गई थी और यह शिष्य-परम्परा से रूढ़िगत चली आ रही है। जो भाग्यशाली है, केवल वही भगवान् के शुद्ध भक्तों की संगति में *श्रीमद्भागवत* सुनने का सुअवसर प्राप्त कर सकता है। भौतिक शक्ति के जादू के अधीन सारे जीव स्वल्प भौतिक सुख के निमित्त ही अनेक कठिनाइयों के बन्धन में फँसे हुए हैं। वे सकाम कर्मों की उलझनों को न जानते हुए उनमें लगे रहते हैं। वे इस मिथ्या भाव के कारण कि शरीर आत्मा है, अनेकानेक मिथ्या आसक्तियों से अपने को सम्बद्ध करते हैं। वे सोचते हैं कि वे भौतिकतावादी साज-सामग्री से सदा जुड़े हुए रह सकेंगे। जीवन की यह मिथ्या भ्रान्ति इतनी प्रबल होती है कि मनुष्य भगवान् की बहिरंगा शक्ति के अधीन जन्म-जन्मांतर कष्ट उठाता रहता है। यदि वह 'भागवत' ग्रन्थ तथा *भागवत* जानने वाले भक्त *भागवत* इन दोनों के सम्पर्क में आता है, तो ऐसा भाग्यशाली व्यक्ति भौतिक पाश से छूट जाता है। अतएव संसार के दुखी लोगों के प्रति दया के कारण श्रीमैत्रेय मुनि पहले *श्रीमद्भागवत* के विषय में बोलने का प्रस्ताव रख रहे हैं।

आसीनमुर्व्यां भगवन्तमाद्यं
सङ्कर्षणं देवमकुण्ठसत्त्वम् ।
विवित्सवस्तत्त्वमतः परस्य
कुमारमुख्या मुनयोऽन्वपृच्छन् ॥ ३॥

शब्दार्थ

आसीनम्—विराजमान; उर्व्याम्—ब्रह्माण्ड की तली पर; भगवन्तम्—भगवान् को; आद्यम्—आदि; सङ्कर्षणम्—संकर्षण को; देवम्—भगवान्; अकुण्ठ-सत्त्वम्—अबाध ज्ञान; विवित्सवः—जानने के लिए उत्सुक; तत्त्वम् अतः—इस प्रकार का सत्य; परस्य—भगवान् के विषय में; कुमार—बाल सन्त; मुख्याः—इत्यादि, प्रमुख; मुनयः—मुनियों ने; अन्वपृच्छन्—इसी तरह से पूछा।

कुछ काल पूर्व तुम्हारी ही तरह कुमार सन्तों में प्रमुख सनत् कुमार ने अन्य महर्षियों के साथ

जिज्ञासावश ब्रह्माण्ड की तली में स्थित भगवान् संकर्षण से भगवान् वासुदेव विषयक सत्यों के बारे में पूछा था।

तात्पर्य : यह इस कथन का स्पष्टीकरण है कि भगवान् ने प्रत्यक्ष रूप से *श्रीमद्भागवत* के विषय में कहा। यहाँ पर बताया गया है कि कब और किससे *भागवत* कही गई। विदुर द्वारा पूछे गये प्रश्नों के ही समान प्रश्न सनत्कुमार जैसे महामुनियों ने पूछे थे और भगवान् वासुदेव के स्वांश भगवान् संकर्षण ने उनके उत्तर दिये थे।

स्वमेव धिष्ण्यं बहु मानयन्तं
यद्वासुदेवाभिधमामनन्ति ।
प्रत्यग्धृताक्षाम्बुजकोशमीषद्
उन्मीलयन्तं विबुधोदयाय ॥ ४॥

शब्दार्थ

स्वम्—स्वयं; एव—इस प्रकार; धिष्ण्यम्—स्थित; बहु—अत्यधिक; मानयन्तम्—माननीय; यत्—जो; वासुदेव—भगवान् वासुदेव; अभिधम्—नामक; आमनन्ति—स्वीकार करते हैं; प्रत्यक्-धृत-अक्ष—भीतर झाँकने के लिए टिकी आँखें; अम्बुज-कोशम्—कमल सदृश नेत्र; ईषत्—कुछ-कुछ; उन्मीलयन्तम्—खुली हुई; विबुध—अत्यन्त विद्वान ऋषियों की; उदयाय—प्रगति के लिए।

उस समय भगवान् संकर्षण अपने परमेश्वर का ध्यान कर रहे थे जिन्हें विद्वज्जन भगवान् वासुदेव के रूप में सम्मान देते हैं। किन्तु महान् पंडित मुनियों की उन्नति के लिए उन्होंने अपने कमलवत् नेत्रों को कुछ-कुछ खोला और बोलना शुरू किया।

स्वर्धुन्युदार्द्रैः स्वजटाकलापै-
रुपस्पृशन्तश्चरणोपधानम् ।
पद्मं यदर्चन्त्यहिराजकन्याः
सप्रेम नानाबलिभिर्वरार्थाः ॥ ५॥

शब्दार्थ

स्वर्धुनी-उद—गंगा के जल से; आर्द्रैः—भीगे हुए; स्व-जटा—बालों का गुच्छा; कलापैः—सिर पर स्थित; उपस्पृशन्तः—इस तरह छूने से; चरण-उपधानम्—उनके चरणों की शरण; पद्मम्—कमल चरण; यत्—जो; अर्चन्ति—पूजा करते हैं; अहि-राज—सर्पों का राजा; कन्याः—पुत्रियाँ; स-प्रेम—अतीव भक्ति समेत; नाना—विविध; बलिभिः—साज-सामग्री द्वारा; वर-अर्थाः—पतियों की इच्छा से।

चूँकि मुनिगण गंगानदी के माध्यम से उच्चतर लोकों से निम्नतर भाग में आये थे, फलस्वरूप उनके सिर के बाल भीगे हुए थे। उन्होंने भगवान् के उन चरणकमलों का स्पर्श किया जिनकी पूजा नागराज की कन्याओं द्वारा अच्छे पति की कामना से विविध सामग्री द्वारा की

जाती है।

तात्पर्य : गंगा का जल सीधे विष्णु के चरणकमलों से प्रवाहित होता है और उसका मार्ग ब्रह्माण्ड के उच्चतम लोक से लेकर निम्नतम लोक तक जाता है। मुनिगण प्रवाहित जल का लाभ उठाकर सत्यलोक से नीचे आये—परिवहन की यह विधि योग शक्ति से ही सम्भव हो सकी। यदि कोई नदी हजारों मील तक प्रवाहित होती है, तो पूर्णयोगी इसके जल में केवल डुबकी लगाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर तुरन्त पहुँच सकता है। गंगा ही एकमात्र ऐसी नदी है, जो समूचे ब्रह्माण्ड में प्रवाहित होती है और मुनिगण इस पवित्र नदी के माध्यम से ब्रह्माण्ड भर में यात्रा करते हैं। यह कथन कि उनके बाल गीले थे यह सूचित करता है कि विष्णु के चरणकमल से सीधे निकले जल (गंगा) से ही बाल गीले थे। जो भी व्यक्ति अपने सिर से गंगा जल का स्पर्श करता है, वह प्रत्यक्ष रूप से भगवान् के चरणकमलों का स्पर्श करता है और सम्पूर्ण पापकृत्यों के फलों से मुक्त हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति गंगा में स्नान करने या समस्त पापों के धुल जाने के बाद फिर से पापकर्म करने से अपने को बचाता है, तो निश्चित रूप से उसका उद्धार हो जाता है। किन्तु यदि वह पुनः पापकर्म करने लगता है, तो उसका गंगा-स्नान हाथी के स्नान की तरह है, जो नदी में ठीक से नहाता है, किन्तु बाद में भूमि की धूल से अपने शरीर को धूसरित करके सारा किया कराया बिगाड़ देता है।

मुहुर्गृणन्तो वचसानुराग-
स्खलत्पदेनास्य कृतानि तज्ज्ञाः ।
किरीटसाहस्रमणिप्रवेक
प्रद्योतितोद्दामफणासहस्रम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मुहुः—बार बार; गृणन्तः—गुणगान करते; वचसा—शब्दों से; अनुराग—अतीव स्नेह से; स्खलत्-पदेन—सम लय के साथ; अस्य—भगवान् के; कृतानि—कार्यकलाप; तत्-ज्ञाः—लीलाओं के जानने वाले; किरीट—मुकुट; साहस्र—हजारों; मणि-प्रवेक—मणियों के चमचमाते तेज; प्रद्योतित—उद्भासित; उद्दाम—उठे हुए; फणा—फन; सहस्रम्—हजारों।

सनत् कुमार आदि चारों कुमारों ने जो भगवान् की दिव्य लीलाओं के विषय में सब कुछ जानते थे, स्नेह तथा प्रेम से भरे चुने हुए शब्दों से लय सहित भगवान् का गुणगान किया। उस समय भगवान् संकर्षण अपने हजारों फनों को उठाये हुए अपने सिर की चमचमाती मणियों से तेज बिखेरने लगे।

तात्पर्य : भगवान् कभी-कभी *उत्तमश्लोक* कहलाते हैं, जिसका अर्थ है "जिसकी पूजा भक्तों द्वारा चुने शब्दों से की जाती हो।" जो भक्त भगवान् की भक्ति में स्नेह एवं प्रेम से पूर्णतया निमग्न रहता है उसके मुख से ऐसे चुने हुए शब्दों की झड़ी लग जाती है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें एक छोटे से बालक ने भी, जो भगवान् का महान् भक्त था, भगवान् की लीलाओं के गुणगान के लिए चुने हुए शब्दों में उत्तम स्तुति की। दूसरे शब्दों में, मधुर स्नेह तथा प्रेम उत्पन्न हुए बिना कोई भी व्यक्ति भगवान् की स्तुति उत्कृष्ट ढंग से नहीं कर सकता।

प्रोक्तं किलैतद्भगवत्तमेन
निवृत्तिधर्माभिरताय तेन ।
सनत्कुमाराय स चाह पृष्टः
साङ्ख्यायनायाङ्ग धृतव्रताय ॥ ७॥

शब्दार्थ

प्रोक्तम्—कहा गया था; किल—निश्चय ही; एतत्—यह; भगवत्तमेन—भगवान् संकर्षण द्वारा; निवृत्ति—वैराग्य; धर्म-अभिरताय—इस धार्मिक व्रत को धारण करने वाले के लिए; तेन—उसके द्वारा; सनत्-कुमाराय—सनत् कुमार को; सः—उसने; च—भी; आह—कहा; पृष्टः—पूछे जाने पर; साङ्ख्यायनाय—सांख्यायन नामक महर्षि को; अङ्ग—हे विदुर; धृत-व्रताय—व्रत धारण करने वाले को।

इस तरह भगवान् संकर्षण ने उन महर्षि सनत्कुमार से श्रीमद्भागवत का भावार्थ कहा जिन्होंने पहले से वैराग्य का व्रत ले रखा था। सनत्कुमार ने भी अपनी पारी में सांख्यायन मुनि द्वारा पूछे जाने पर श्रीमद्भागवत को उसी रूप में बतलाया जिस रूप में उन्होंने संकर्षण से सुना था।

तात्पर्य : *परम्परा* प्रणाली की यही विधि है। यद्यपि सुप्रसिद्ध सनत् कुमार जीवन की सिद्ध अवस्था में थे फिर भी उन्होंने भगवान् संकर्षण से *श्रीमद्भागवत* का सन्देश सुना। इसी तरह सांख्यायन ऋषि द्वारा पूछे जाने पर सनत्कुमार ने भगवान् संकर्षण से जो सन्देश सुना था उसे कह सुनाया। दूसरे शब्दों में, जब तक कोई उचित अधिकारी से नहीं सुन लेता, तब तक वह उपदेशक नहीं बन सकता। इसीलिए भक्तियोग में नौ बातों में से दो बातें—श्रवण तथा कीर्तन—सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ठीक से सुने बिना कोई व्यक्ति वैदिक ज्ञान के सन्देश का प्रचार नहीं कर सकता।

साङ्ख्यायनः पारमहंस्यमुख्यो

विवक्षमाणो भगवद्विभूतीः ।
जगाद सोऽस्मद्गुरवेऽन्विताय
पराशरायाथ बृहस्पतेश्च ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

साङ्ख्यायनः—महर्षि सांख्यायन; पारमहंस्य-मुख्यः—समस्त अध्यात्मवादियों में प्रमुख; विवक्षमाणः—बाँचते समय; भगवत्-विभूतीः—भगवान् की महिमाएँ; जगाद—बतलाया; सः—उसने; अस्मत्—मेरे; गुरवे—गुरु को; अन्विताय—अनुसरण किया; पराशराय—पराशर मुनि के लिए; अथ बृहस्पतेः च—बृहस्पति को भी।

सांख्यायन मुनि अध्यात्मवादियों में प्रमुख थे और जब वे श्रीमद्भागवत के शब्दों में भगवान् की महिमाओं का वर्णन कर रहे थे तो ऐसा हुआ कि मेरे गुरु पराशर तथा बृहस्पति दोनों ने उनको सुना।

प्रोवाच मह्यं स दयालुरुक्तो
मुनिः पुलस्त्येन पुराणमाद्यम् ।
सोऽहं तवैतत्कथयामि वत्स
श्रद्धालवे नित्यमनुव्रताय ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

प्रोवाच—कहा; मह्यम्—मुझसे; सः—उसने; दयालुः—दयालु; उक्तः—उपर्युक्त; मुनिः—मुनि; पुलस्त्येन—पुलस्त्य मुनि से; पुराणम् आद्यम्—समस्त पुराणों में अग्रगण्य; सः अहम्—और वह भी मैं; तव—तुम से; एतत्—यह; कथयामि—कहता हूँ; वत्स—पुत्र; श्रद्धालवे—श्रद्धालु के लिए; नित्यम्—सदैव; अनुव्रताय—अनुयायी के लिए।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है महर्षि पराशर ने महर्षि पुलस्त्य के द्वारा कहे जाने पर मुझे अग्रगण्य पुराण (भागवत) सुनाया। हे पुत्र, जिस रूप में उसे मैंने सुना है उसी रूप में मैं तुम्हारे सम्मुख उसका वर्णन करूँगा, क्योंकि तुम सदा ही मेरे श्रद्धालु अनुयायी रहे हो।

तात्पर्य : पुलस्त्य नामक महर्षि सारे असुरों के पिता हैं। एक बार पराशर ने यज्ञ करना प्राम्भ किया जिसमें सारे असुरों को जलाकर नष्ट किया जाना था, क्योंकि इन असुरों में से किसी एक ने उनके पिता का वध करके उसे निगल लिया था। महर्षि वसिष्ठ मुनि यज्ञ में पधारे और पराशर से अनुरोध किया कि इस घातक कृत्य को बन्द कर दें। मुनियों के समुदाय में वशिष्ठ के पद पर एवं प्रतिष्ठा के कारण पराशर उनके अनुरोध को टाल न सके, जब पराशर ने यज्ञ रोक दिया तो असुरों के पिता पुलस्त्य ने उनके ब्राह्मण स्वभाव की प्रशंसा की और यह आशीर्वाद दिया कि भविष्य में वे पुराणों के महान् वक्ता बनेंगे जो वेदों के पूरक ग्रंथ हैं। पराशर के कार्य की पुलस्त्य ने प्रशंसा की, क्योंकि पराशर ने क्षमा दान की अपनी ब्राह्मण शक्ति से असुरों को क्षमा कर दिया था। यज्ञ में पराशर सारे असुरों को नष्ट करने में

समर्थ थे, किन्तु उन्होंने विचार किया, "असुरों की उत्पत्ति ही इस तरह हुई है कि वे जीवित प्राणियों, मनुष्यों तथा पशुओं को निगल जाते हैं, लेकिन मैं इतने भर के लिए क्षमा के अपने ब्राह्मण-गुण को क्यों छोड़ दूँ?" पुराणों के महान् वक्ता पराशर ने सर्वप्रथम *श्रीमद्भागवत-पुराण* के विषय में बतलाया, क्योंकि यह समस्त पुराणों में अग्रगण्य है। मैत्रेय मुनि ने पराशर से सुने गये *भागवत* का ही वर्णन करने की इच्छा प्रकट की। विदुर इसको सुनने के पात्र थे, क्योंकि वे श्रद्धालु थे तथा अपने वरिष्ठजनों से प्राप्त उपदेशों का पालन करने वाले थे। इस तरह *श्रीमद्भागवत* अनादि काल से शिष्य-परम्परा द्वारा, व्यासदेव के समय के पहले से ही सुनाया जा रहा था। तथाकथित *इतिहास-वेत्ता* पुराणों को केवल कुछ सौ वर्ष प्राचीन बतलाते हैं, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि पुराण अनादि काल से, संसारी लोगों तथा चिन्तनशील दार्शनिकों की समस्त ऐतिहासिक गणनाओं से बहुत पहले विद्यमान थे।

उदाप्लुतं विश्वमिदं तदासीद्
यन्निद्रयामीलितदृङ्न्यमीलयत् ।
अहीन्द्रतल्पेऽधिशयान एकः
कृतक्षणः स्वात्मरतौ निरीहः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

उद—जल में; आप्लुतम्—डूबे, निमग्न; विश्वम्—तीनों जगतों को; इदम्—इस; तदा—उस समय; आसीत्—यह इसी तरह था; यत्—जिसमें; निद्रया—नींद में; अमीलित—बन्द की; दृक्—आँखें; न्यमीलयत्—पूरी तरह से बन्द नहीं; अहि-इन्द्र—महान् सर्प अनन्त; तल्पे—शय्या में; अधिशयानः—लेटे हुए; एकः—एकाकी; कृत-क्षणः—व्यस्त; स्व-आत्म-रतौ—अपनी अन्तरंगा शक्ति का आनन्द लेते; निरीहः—बहिरंगा शक्ति के किसी अंश के बिना।

उस समय जब तीनों जगत जल में निमग्न थे तो गर्भोदकशायी विष्णु महान् सर्प अनन्त की अपनी शय्या में अकेले लेटे थे। यद्यपि वे अपनी निजी अन्तरंगा शक्ति में सोये हुए लग रहे थे और बहिरंगा शक्ति के प्रभाव से मुक्त थे, किन्तु उनकी आँखें पूर्णतया बन्द नहीं थीं।

तात्पर्य : भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा सतत दिव्य आनन्द लेते हैं, जबकि बहिरंगा शक्ति विराट जगत के प्रलय के समय निलम्बित कर दी जाती है।

सोऽन्तः शरीरेऽर्पितभूतसूक्ष्मः
कालात्मिकां शक्तिमुदीरयाणः ।
उवास तस्मिन्सलिले पदे स्वे
यथानलो दारुणि रुद्धवीर्यः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सः—भगवान्; अन्तः—भीतर; शरीरे—दिव्य शरीर में; अर्पित—रखा हुआ; भूत—भौतिक तत्त्व; सूक्ष्मः—सूक्ष्म; काल-आत्मिकाम्—काल का स्वरूप; शक्तिम्—शक्ति; उदीरयाणः—अर्जित करते हुए; उवास—निवास किया; तस्मिन्—उस में; सलिले—जल में; पदे—स्थान में; स्वे—निजी; यथा—जिस तरह; अनलः—अग्नि; दारुणि—लकड़ी में; रुद्ध-वीर्यः—लीन शक्ति।.

जिस तरह ईंधन के भीतर अग्नि की शक्ति छिपी रहती है उसी तरह भगवान् समस्त जीवों को उनके सूक्ष्म शरीरों में लीन करते हुए प्रलय के जल के भीतर पड़े रहे। वे काल नामक स्वतः अर्जित शक्ति में लेटे हुए थे।

तात्पर्य : जब तीनों लोक—ऊर्ध्व, मध्य तथा अधोलोक—प्रलय के जल में निमग्न हो गये तो तीनों लोकों के जीव *काल* नामक शक्ति के द्वारा अपने सूक्ष्म शरीरों में पड़े रहे। इस प्रलय में स्थूल शरीर *अप्रकट* हो गये, किन्तु सूक्ष्म शरीर स्थित रहे जिस तरह भौतिक सृष्टि का जल पड़ा रहता है। इस तरह भौतिक शक्ति पूर्णतया निःशेष नहीं हुई जैसाकि भौतिक जगत के पूर्ण प्रलय में होता है।

चतुर्युगानां च सहस्रमप्सु
स्वपन्स्वयोदीरितया स्वशक्त्या ।
कालाख्ययासादितकर्मतन्त्रो
लोकानपीतान्ददृशे स्वदेहे ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

चतुः—चार; युगानाम्—युगों के; च—भी; सहस्रम्—एक हजार; अप्सु—जल में; स्वपन्—निद्रा में स्वप्न देखते हुए; स्वया—अपनी अन्तरंगा शक्ति के साथ; उदीरितया—आगे विकास के लिए; स्व-शक्त्या—अपनी निजी शक्ति से; काल-आख्यया—काल नाम से; आसादित—इस तरह व्यस्त रहते हुए; कर्म-तन्त्रः—सकाम कर्मों के मामले में; लोकान्—सारे जीवों को; अपीतान्—नीलाभ; ददृशे—देखा; स्व-देहे—अपने ही शरीर में।.

भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति में चार हजार युगचक्रों तक लेटे रहे और अपनी बहिरंगा शक्ति से जल के भीतर सोते हुए प्रतीत होते रहे। जब सारे जीव कालशक्ति द्वारा प्रेरित होकर अपने सकाम कर्मों के आगे के विकास के लिए बाहर आ रहे थे तो उन्होंने अपने दिव्य शरीर को नीले रंग का देखा।

तात्पर्य : *विष्णुपुराण* में कालशक्ति का उल्लेख अविद्या के रूप में हुआ है। कालशक्ति के प्रभाव का लक्षण यह है कि मनुष्य को सकाम फलों के लिए भौतिक जगत में कार्य करना होता है। *भगवद्गीता* में सकामकर्मियों को *मूढ* या मूर्ख कहा गया है। ऐसे मूर्ख जीव कुछ क्षणिक लाभ के लिए शाश्वत बन्धन के अन्तर्गत कार्य करने के लिए अत्यधिक उत्साहित रहते हैं। यदि कोई व्यक्ति अपने बाद अपने बच्चों के लिए प्रभूत सम्पत्ति छोड़ पाता है, तो वह अपने जीवन में अपने को अतीव चतुर

समझता है और इस क्षणिक लाभ को पाने के लिए वह सारे पापकर्मों का जोखिम उठाता है। उसे इसका ज्ञान नहीं रहता कि ऐसे कार्य उसे भवबन्धन की जंजीरों से हमेशा के लिए जकड़ कर रखेंगे। इस दूषित मनोवृत्ति तथा भौतिक पापों के कारण जीव कुल मिलाकर नीले रंग के प्रतीत होते हैं। सकाम फल के लिए कार्य करने की ऐसी प्रेरणा भगवान् की बहिरंगा शक्ति, काल, के आदेश द्वारा सम्भव हो पाती है।

तस्यार्थसूक्ष्माभिनिविष्टदृष्टेर्
अन्तर्गतोऽर्थो रजसा तनीयान् ।
गुणेन कालानुगतेन विद्धः
सूष्यंस्तदाभिद्यत नाभिदेशात् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अर्थ—विषय; सूक्ष्म—सूक्ष्म; अभिनिविष्ट-दृष्टेः—जिसका ध्यान स्थिर किया गया था, उसका; अन्तः-गतः—आन्तरिक; अर्थः—प्रयोजन; रजसा—रजोगुण से; तनीयान्—अत्यन्त सूक्ष्म; गुणेन—गुणों के द्वारा; काल-अनुगतेन—कालक्रम में; विद्धः—क्षुब्ध किया गया; सूष्यन्—उत्पन्न करते हुए; तदा—तब; अभिद्यत—वेध दिया; नाभि-देशात्—उदर से।

सृष्टि का सूक्ष्म विषय-तत्व, जिस पर भगवान् का ध्यान टिका था, भौतिक रजोगुण द्वारा विक्षुब्ध हुआ। इस तरह से सृष्टि का सूक्ष्म रूप उनके उदर (नाभि) से बाहर निकल आया।

स पद्मकोशः सहसोदतिष्ठत्
कालेन कर्मप्रतिबोधनेन ।
स्वरोचिषा तत्सलिलं विशालं
विद्योतयन्नर्क इवात्मयोनिः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; पद्म-कोशः—कमल के फूल की कली; सहसा—एकाएक; उदतिष्ठत्—प्रकट हुई; कालेन—काल के द्वारा; कर्म—सकाम कर्म; प्रतिबोधनेन—जगाते हुए; स्व-रोचिषा—अपने ही तेज से; तत्—वह; सलिलम्—प्रलय का जल; विशालम्—अपार; विद्योतयन्—प्रकाशित करते हुए; अर्कः—सूर्य; इव—सदृश; आत्म-योनिः—विष्णु से उत्पन्न।

जीवों के सकाम कर्म के इस समग्र रूप ने भगवान् विष्णु के शरीर से प्रस्फुटित होते हुए कमल की कली का स्वरूप धारण कर लिया। फिर उनकी परम इच्छा से इसने सूर्य की तरह हर वस्तु को आलोकित किया और प्रलय के अपार जल को सुखा डाला।

तल्लोकपद्मं स उ एव विष्णुः
प्रावीविशत्सर्वगुणावभासम् ।

तस्मिन्स्वयं वेदमयो विधाता
स्वयम्भुवं यं स्म वदन्ति सोऽभूत् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस; लोक—ब्रह्माण्ड के; पद्मम्—कमल को; सः—वह; उ—निश्चय ही; एव—वस्तुतः; विष्णुः—भगवान्; प्रावीविशत्—भीतर घुसा; सर्व—समस्त; गुण-अवभासम्—समस्त गुणों का आगार; तस्मिन्—जिसमें; स्वयम्—खुद; वेद-मयः—साक्षात् वैदिक; विधाता—ब्रह्माण्ड का नियंत्रक; स्वयम्-भुवम्—स्वतः उत्पन्न; यम्—जिसको; स्म—भूतकाल में; वदन्ति—कहते हैं; सः—वह; अभूत्—उत्पन्न हुआ।

उस ब्रह्माण्डमय कमल पुष्प के भीतर भगवान् विष्णु परमात्मा रूप में स्वयं प्रविष्ट हो गये और जब यह इस तरह भौतिक प्रकृति के समस्त गुणों से गर्भित हो गया तो साक्षात् वैदिक ज्ञान उत्पन्न हुआ जिसे हम स्वयंभुव (ब्रह्मा) कहते हैं।

तात्पर्य : यह कमल का फूल भौतिक जगत में ब्रह्माण्ड का विराट रूप है। प्रलय के समय यह भगवान् विष्णु के उदर में घुलमिल जाता है और सृष्टि के समय प्रकट होता है। यह गर्भोदकशायी विष्णु के कारण है, जो प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश करते हैं। इस रूप में भौतिक प्रकृति द्वारा बद्ध समस्त जीवों के सकाम कर्मों का सार-समाहार रहता है और इस कमल पुष्पा से सर्वप्रथम ब्रह्मा अर्थात् ब्रह्माण्ड का नियंत्रक उत्पन्न होता है। इस प्रथम उद्भूत जीव का कोई भौतिक पिता नहीं होता यद्यपि बाकी सभी के पिता होते हैं, अतएव वह *स्वयम्भू* कहलाता है। प्रलय के समय वह नारायण के साथ सो जाता है और जब दूसरी सृष्टि होती है, तो वह इसी तरह से उत्पन्न होता है। इस विवरण से हमें स्थूल विराट् रूप, सूक्ष्म हिरण्यगर्भ तथा भौतिक सृजन शक्ति ब्रह्मा—इन तीनों का बोध होता है।

तस्यां स चाम्भोरुहकर्णिकाया-
मवस्थितो लोकमपश्यमानः ।
परिक्रमन्व्योम्नि विवृत्तनेत्र-
श्चत्वारि लेभेऽनुदिशं मुखानि ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उसमें; सः—वे; च—तथा; अम्भः—जल; रुह-कर्णिकायाम्—कमल का कोश; अवस्थितः—स्थित हुआ; लोकम्—जगत; अपश्यमानः—देख पाये बिना; परिक्रमन्—परिक्रमा करते हुए; व्योम्नि—आकाश में; विवृत्त-नेत्रः—आँखे चलाते हुए; चत्वारि—चार; लेभे—प्राप्त किये; अनुदिशम्—दिशाओं के रूप में; मुखानि—सिर।

कमल के फूल से उत्पन्न हुए ब्रह्मा जगत को नहीं देख सके यद्यपि वे कोश में स्थित थे। अतः उन्होंने सारे अन्तरिक्ष की परिक्रमा की और सभी दिशाओं में अपनी आँखें घुमाते समय उन्होंने चार दिशाओं के रूप में चार सिर प्राप्त किये।

तस्माद्युगान्तश्वसनावघूर्ण-
जलोर्मिचक्रात्सलिलाद्विरूढम् ।
उपाश्रितः कञ्जमु लोकतत्त्वं
नात्मानमद्धाविददादिदेवः ॥ १७॥

शब्दार्थ

तस्मात्—वहाँ से; युग-अन्त—युग के अन्त में; श्वसन—प्रलय की वायु; अवघूर्ण—गति के कारण; जल—जल; ऊर्मि-चक्रात्—भँवरों में से; सलिलात्—जल से; विरूढम्—उन पर स्थित; उपाश्रितः—आश्रय के रूप में; कञ्जम्—कमल के फूल को; उ—आश्चर्य में; लोक-तत्त्वम्—सृष्टि का रहस्य; न—नहीं; आत्मानम्—स्वयं को; अद्धा—पूर्णरूपेण; अविदत्—समझ सका; आदि-देवः—प्रथम देवता।

उस कमल पर स्थित ब्रह्मा न तो सृष्टि को, न कमल को, न ही अपने आपको भलीभाँति समझ सके। युग के अन्त में प्रलय वायु जल तथा कमल को बड़ी-बड़ी भँवरों में हिलाने लगी।

तात्पर्य : ब्रह्माजी अपने जन्म, कमल तथा जगत् के विषय में भ्रान्ति में पड़े रहे, यद्यपि उन्होंने एक युग तक इन्हें समझने की कोशिश की जो मनुष्यों के सौर वर्षों की गणना के परे है। अतएव कोई भी व्यक्ति मात्र मानसिक चिन्तन द्वारा सृष्टि तथा विराट ब्रह्माण्ड के रहस्य को नहीं जान सकता। मनुष्य की क्षमता इतनी सीमित है कि परमेश्वर की सहायता के बिना वह सृजन, स्थिति तथा संहार के रूप में भगवान् की इच्छा के रहस्य को नहीं समझ सकता।

क एष योऽसावहमब्जपृष्ठ
एतत्कुतो वाब्जमनन्यदप्सु ।
अस्ति ह्यधस्तादिह किञ्चनैत-
दधिष्ठितं यत्र सता नु भाव्यम् ॥ १८॥

शब्दार्थ

कः—कौन; एषः—यह; यः असौ अहम्—जो मैं हूँ; अब्ज-पृष्ठे—कमल के ऊपर; एतत्—यह; कुतः—कहाँ से; वा—अथवा; अब्जम्—कमल का फूल; अनन्यत्—अन्यथा; अप्सु—जल में; अस्ति—है; हि—निश्चय ही; अधस्तात्—नीचे से; इह—इस में; किञ्चन—कुछ भी; एतत्—यह; अधिष्ठितम्—स्थित; यत्र—जिसमें; सता—स्वतः; नु—या नहीं; भाव्यम्—होना चाहिए।

ब्रह्माजी ने अपनी अनभिज्ञता से विचार किया : इस कमल के ऊपर स्थित मैं कौन हूँ? यह (कमल) कहाँ से फूटकर निकला है? इसके नीचे कुछ अवश्य होना चाहिए और जिससे यह कमल निकला है उसे जल के भीतर होना चाहिए।

तात्पर्य : प्रारम्भ में विराट जगत की सृष्टि के विषय में ब्रह्मा के चिन्तन का विषय अब भी मानसिक चिन्तकों के लिए जैसे का तैसा बना हुआ है। सर्वाधिक बद्धिमान् व्यक्ति वह है, जो अपने

निजी अस्तित्व तथा सम्पूर्ण विराट जगत के कारण को ढूँढने का प्रयास करता है और इस तरह से वह परम कारण को खोजने का यत्न करता है। यदि तपस्या तथा अध्यवसाय के साथ उसका प्रयास उचित ढंग से सम्पन्न होता है, तो उसे अवश्यमेव सफलता का श्रेय प्राप्त होगा।

स इत्थमुद्वीक्ष्य तदब्जनाल-
नाडीभिरन्तर्जलमाविवेश ।
नार्वाग्गतस्तत्खरनालनाल-
नाभिं विचिन्वंस्तदविन्दताजः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (ब्रह्मा); इत्थम्—इस प्रकार से; उद्वीक्ष्य—विचार करके; तत्—वह; अब्ज—कमल; नाल—डंठल; नाडीभिः—नली द्वारा; अन्तः-जलम्—जल के भीतर; आविवेश—घुस गया; न—नहीं; अर्वाक्-गतः—भीतर जाने के बावजूद; तत्-खर-नाल—कमल-नाल; नाल—नली; नाभिम्—नाभि की; विचिन्वन्—सोचते हुए; तत्—वह; अविन्दत—समझ गया; अजः—स्वयंभुव।

इस तरह विचार करते हुए ब्रह्माजी कमल नाल के रन्ध्रों (छिद्रों) से होकर जल के भीतर प्रविष्ट हुए। किन्तु नाल में प्रविष्ट होकर तथा विष्णु की नाभि के निकटतम जाकर भी वे जड़ (मूल) का पता नहीं लगा पाये।

तात्पर्य : मनुष्य अपने निजी प्रयास से भगवान् के पास तक जा सकता है, किन्तु भगवान् की कृपा के बिना वह चरम बिन्दु तक नहीं पहुँच सकता। भगवान् विषयक यह समझ एकमात्र भक्तियोग से सम्भव है जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५५) में पुष्टि हुई है—*भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः*।

तमस्यपारे विदुरात्मसर्गं
विचिन्वतोऽभूत्सुमहांस्त्रिणेमिः ।
यो देहभाजां भयमीरयाणः
परिक्षिणोत्यायुरजस्य हेतिः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तमसि अपारे—ढूँढने के अज्ञानपूर्ण ढंग के कारण; विदुर—हे विदुर; आत्म-सर्गम्—अपनी सृष्टि का कारण; विचिन्वतः—सोचते हुए; अभूत्—हो गया; सु-महान्—अत्यन्त महान्; त्रि-नेमिः—त्रिनेमी का काल; यः—जो; देह-भाजाम्—देहधारी का; भयम्—भय; ईरयाणः—उत्पन्न करते हुए; परिक्षिणोति—एक सौ वर्ष कम करते हुए; आयुः—आयु; अजस्य—अजन्मा का; हेतिः—शाश्वत काल का चक्र।

हे विदुर, अपने अस्तित्व के विषय में इस तरह खोज करते हुए ब्रह्मा अपने चरमकाल में

पहुँच गये, जो विष्णु के हाथों में शाश्वत चक्र है और जो जीव के मन में मृत्यु-भय की भ्रान्ति भय उत्पन्न करता है।

ततो निवृत्तोऽप्रतिलब्धकामः
स्वधिष्ण्यमासाद्य पुनः स देवः ।
शनैर्जितश्वासनिवृत्तचित्तो
न्यषीददारूढसमाधियोगः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; निवृत्तः—उस प्रयास से विरत होकर; अप्रतिलब्ध-कामः—वांछित लक्ष्य को प्राप्त किये बिना; स्व-धिष्ण्यम्—अपने आसन पर; आसाद्य—पहुँच कर; पुनः—फिर; सः—वह; देवः—देवता; शनैः—अविलम्ब; जित-श्वास—श्वास को नियंत्रित करते हुए; निवृत्त—विरत; चित्तः—बुद्धि; न्यषीदत्—बैठ गया; आरूढ—विश्वास में; समाधि-योगः—भगवान् का ध्यान करने के लिए।

तत्पश्चात् वाँछित लक्ष्य प्राप्त करने में असमर्थ होकर वे ऐसी खोज से विमुख हो गये और पुनः कमल के ऊपर आ गये। इस तरह इन्द्रियविषयों को नियंत्रित करते हुए उन्होंने अपना मन परमेश्वर पर एकाग्र किया।

तात्पर्य : *समाधि* में सबों के परम कारण पर मन को एकाग्र करना होता है, चाहे मनुष्य को इसका ज्ञान हो या न हो कि परमेश्वर साकार हैं, निराकार हैं या अन्तर्यामी हैं। ब्रह्म में मन की एकाग्रता निश्चय ही एक प्रकार से भक्ति है। निजी इन्द्रियों के प्रयासों को रोकना और परम कारण पर चित्त को एकाग्र करना आत्मसमर्पण का लक्षण है और जब आत्मसमर्पण उपस्थित होता है, तो वह भक्ति का निश्चित लक्षण है। यदि अपने जीवन के चरम कारण को जानने की इच्छा है, तो प्रत्येक जीव को भगवान् की भक्तिमय सेवा में लगने की आवश्यकता है।

कालेन सोऽजः पुरुषायुषाभि-
प्रवृत्तयोगेन विरूढबोधः ।
स्वयं तदन्तर्हृदयेऽवभातम्
अपश्यतापश्यत यन्न पूर्वम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

कालेन—कालक्रम में; सः—वह; अजः—स्वयंभुव ब्रह्मा; पुरुष-आयुषा—अपनी आयु से; अभिप्रवृत्त—लगा रहकर; योगेन—ध्यान में; विरूढ—विकसित; बोधः—बुद्धिः स्वयम्; स्वयम्—स्वतः; तत् अन्तः-हृदये—हृदय में; अवभातम्—प्रकट हुआ; अपश्यत—देखा; अपश्यत—देखा; यत्—जो; न—नहीं; पूर्वम्—इसके पहले।

अपने सौ वर्षों के बाद जब ब्रह्मा का ध्यान पूरा हुआ तो उन्होंने वांछित ज्ञान विकसित किया

जिसके फलस्वरूप वे अपने ही भीतर अपने हृदय में परम पुरुष को देख सके जिन्हें वे इसके पूर्व महानतम् प्रयास करने पर भी नहीं देख सके थे।

तात्पर्य : भगवान् को *भक्तियोग* के द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है—मानसिक चिन्तन के निजी प्रयास द्वारा नहीं। ब्रह्मा की आयु की गणना दिव्य वर्षों के रूप में की जाती है, जो मनुष्यों के सौर वर्षों से भिन्न होते हैं। दिव्य वर्षों की गणना *भगवद्गीता* (८.१७) में दी गई है : सहस्रयुगपर्यन्तम् अहर्यद् ब्रह्मणो विदुः। ब्रह्मा का एक दिन चतुर्युगों के योग के एक हजार गुना के तुल्य (गणना के अनुसार ४३०००००० वर्ष) होता है। इस आधार पर ब्रह्मा एक सौ वर्षों तक ध्यान करते रहे। पूर्व इस के कि वे समस्त कारणों के कारण को समझ पाये और तब उन्होंने *ब्रह्म-संहिता* लिखी जिसका श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा इस तथ्य का अनुमोदन किया गया है तथा इस तथ्य की मान्यता दी गई है। इसमें ब्रह्मा ने लिखा है—*गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि*। इसके पूर्व कि मनुष्य भगवान् की सेवा कर पाये या उन्हें यथारूप जान पाए, उसे भगवान् की कृपा की प्रतीक्षा करनी होती है।

मृणालगौरायतशेषभोग-
पर्यङ्क एकं पुरुषं शयानम् ।
फणातपत्रायुतमूर्धरत्न
द्युभिर्हतध्वान्तयुगान्ततोये ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

मृणाल—कमल का फूल; गौर—पूरी तरह सफेद; आयत—विराट; शेष-भोग—शेषनाग का शरीर; पर्यङ्के—शय्या पर; एकम्—अकेले; पुरुषम्—परम पुरुष; शयानम्—लेटे हुए; फण-आतपत्र—सर्प के फन का छाता; आयुत—सज्जित; मूर्ध—सिर; रत्न—रत्न की; द्युभिः—किरणों से; हत-ध्वान्त—अँधेरा दूर हो गया; युग-अन्त—प्रलय; तोये—जल में।

ब्रह्मा यह देख सके कि जल में शेषनाग का शरीर विशाल कमल जैसी श्वेत शय्या था जिस पर भगवान् अकेले लेटे थे। सारा वायुमण्डल शेषनाग के फन को विभूषित करने वाले रत्नों की किरणों से प्रदीप्त था और इस प्रकाश से उस क्षेत्र का समस्त अंधकार मिट गया था।

प्रेक्षां क्षिपन्तं हरितोपलाद्रेः
सन्ध्याभ्रनीवेरुरुरुक्ममूर्ध्नः ।
रत्नोदधारौषधिसौमनस्य
वनस्रजो वेणुभुजाङ्घ्रिपाङ्घ्रेः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

प्रेक्षाम्—दृश्य; क्षिपन्तम्—उपहास करते हुए; हरित—हरा; उपल—मूँगे के; अद्रेः—पर्वत का; सन्ध्या-अभ्र-नीवेः—सांध्यकालीन आकाश का वस्त्र; उरु—महान्; रुक्म—स्वर्ण; मूर्ध्नः—शिखर पर; रत्न—रत्न; उदधार—झरने; औषधि—जड़ी-बूटियाँ; सौमनस्य—दृश्य का; वन-स्रजः—फूल की माला; वेणु—वस्त्र; भुज—हाथ; अङ्घ्रिप—वृक्ष; अङ्घ्रेः—पाँव।

भगवान् के दिव्य शरीर की कान्ति मूँगे के पर्वत की शोभा का उपहास कर रही थी। मूँगे का पर्वत संध्याकालीन आकाश द्वारा सुन्दर ढंग से वस्त्राभूषित होता है, किन्तु भगवान् का पीतवस्त्र उसकी शोभा का उपहास कर रहा था। इस पर्वत की चोटी पर स्वर्ण है, किन्तु रत्नजटित भगवान् का मुकुट इसकी हँसी उड़ा रहा था। पर्वत के झरने, जड़ी-बूटियाँ आदि फूलों के दृश्य के साथ मालाओं जैसे लगते हैं, किन्तु भगवान् का विराट शरीर तथा उनके हाथ-पाँव रत्नों, मोतियों, तुलसीदल तथा फूलमालाओं से अलंकृत होकर उस पर्वत के दृश्य का उपहास कर रहे थे।

तात्पर्य : प्रकृति का दृश्यात्मक सौन्दर्य जो सबों को चकित करता है भगवान् के दिव्य शरीर का विकृत प्रतिबिम्ब माना जा सकता है। अतः जो व्यक्ति भगवान् के सौन्दर्य द्वारा आकृष्ट होता है, वह भौतिक प्रकृति के सौन्दर्य से आकृष्ट नहीं होता, यद्यपि वह इस सौन्दर्य को कम नहीं समझता। *भगवद्गीता* (२.५९) में वर्णन आया है कि जो *परम* द्वारा आकृष्ट है, वह अन्य किसी निकृष्ट वस्तु द्वारा आकृष्ट नहीं होता।

आयामतो विस्तरतः स्वमान-
देहेन लोकत्रयसङ्ग्रहेण ।
विचित्रदिव्याभरणांशुकानां
कृतश्रियापाश्रितवेषदेहम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

आयामतः—लम्बाई से; विस्तरतः—चौड़ाई से; स्व-मान—अपने ही माप से; देहेन—दिव्य शरीर से; लोक-त्रय—तीन (उच्चतर, मध्य तथा निम्न) लोक; सङ्ग्रहेण—पूर्ण निमग्नता द्वारा; विचित्र—नाना प्रकार का; दिव्य—दिव्य; आभरण-अंशुकानाम्—आभूषणों की किरणों से; कृत-श्रिया अपाश्रित—उन वस्त्रों तथा आभूषणों से उत्पन्न सौन्दर्य; वेष—वेश; देहम्—दिव्य शरीर।

उनके दिव्य शरीर की लम्बाई तथा चौड़ाई असीम थी और वह तीनों लोकों—उच्च, मध्य तथा निम्न—लोकों में फैली हुई थी। उनका शरीर अद्वितीय वेश तथा विविधता से स्वतःप्रकाशित था और भलीभाँति अलंकृत था।

तात्पर्य : भगवान् के दिव्य शरीर की लम्बाई तथा चौड़ाई उन्हीं के प्रमाप से मापी जा सकती है,

क्योंकि वे सम्पूर्ण विराट जगत में सर्वव्याप्त हैं। भौतिक प्रकृति की सुन्दरता उनकी निजी सुन्दरता के कारण है फिर भी वे अपनी दिव्य विविधता को सिद्ध करने के लिए सदा भव्यवेश धारण करते हैं और अलंकृत रहते हैं, जो आध्यात्मिक ज्ञान की प्रगति के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

पुंसां स्वकामाय विविक्तमार्गै-
रभ्यर्चतां कामदुघाङ्घ्रिपद्मम् ।
प्रदर्शयन्तं कृपया नखेन्दु-
मयूखभिन्नाङ्गुलिचारुपत्रम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

पुंसाम्—मनुष्यों का; स्व-कामाय—अपनी इच्छा के अनुसार; विविक्त-मार्गैः—शक्ति मार्ग द्वारा; अभ्यर्चताम्—पूजित; काम-दुघ-अङ्घ्रि-पद्मम्—भगवान् के चरणकमल जो मनवांछित फल देने वाले हैं; प्रदर्शयन्तम्—उन्हें दिखलाते हुए; कृपया—अहैतुकी कृपा द्वारा; नख—नाखून; इन्दु—चन्द्रमा सदृश; मयूख—किरणें; भिन्न—विभाजित; अङ्गुलि—अँगुलियाँ; चारु-पत्रम्—अतीव सुन्दर।

भगवान् ने अपने चरणकमलों को उठाकर दिखलाया। उनके चरणकमल समस्त भौतिक कल्मष से रहित भक्ति-मय सेवा द्वारा प्राप्त होने वाले समस्त वरों के स्रोत हैं। ऐसे वर उन लोगों के लिए होते हैं, जो उनकी पूजा शुद्ध भक्तिभाव में करते हैं। उनके पाँव तथा हाथ के चन्द्रमा सदृश नाखूनों से निकलने वाली दिव्य किरणों की प्रभा (छटा) फूल की पंखुड़ियों जैसी प्रतीत हो रही थी।

तात्पर्य : भगवान् हर एक की इच्छाओं की पूर्ति उसकी इच्छानुसार करते हैं। शुद्ध भक्तजन भगवान् की दिव्य सेवा प्राप्त करने में रुचि रखते हैं, जो उनसे अभिन्न होती है। अतएव भगवान् ही शुद्ध भक्तों की एकमात्र इच्छा हैं और *भक्ति* उनकी कृपा प्राप्त करने की एकमात्र निष्कलुष विधि है। *भक्तिरसामृत सिन्धु* (१.१.११) में श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि शुद्ध भक्ति *ज्ञानकर्माद्यनावृतम्* है—शुद्ध भक्ति में ज्ञान तथा सकाम कर्म का लेश भी नहीं रहता। ऐसी भक्ति शुद्ध भक्त को उच्चतम फल अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण का प्रत्यक्ष सान्निध्य दिलाने में समर्थ है। *गोपालतापनी उपनिषद्* के अनुसार भगवान् ने अपने चरणकमल की कई हजार पंखुड़ियों में से एक का दर्शन कराया। कहा गया है *ब्राह्मणोऽसावनवरतं मे ध्यातः स्तुतःपरार्धान्ते सोऽबुध्यत गोपवेशो मे पुरस्तात् आविर्बभूव*। लाखों वर्षों तक तपस्या करते रहने पर ब्रह्माजी गोपबाल वेशधारी श्रीकृष्ण के रूप में भगवान् के दिव्य स्वरूप को समझ पाये। इस तरह उन्होंने अपने अनुभवों को *ब्रह्म-संहिता* में सुप्रसिद्ध स्तुति *गोविन्दमादिपुरुषं*

तमहं भजामि में अंकित किया है।

मुखेन लोकार्तिहरस्मितेन
परिस्फुरत्कुण्डलमण्डितेन ।
शोणायितेनाधरबिम्बभासा
प्रत्यर्हयन्तं सुनसेन सुभ्र्वा ॥ २७॥

शब्दार्थ

मुखेन—मुख के संकेत से; लोक-आर्ति-हर—भक्तों के कष्ट को हरनेवाले; स्मितेन—हँसी के द्वारा; परिस्फुरत्—चकाचौंध करते; कुण्डल—कुण्डल से; मण्डितेन—सुसज्जित; शोणायितेन—स्वीकार करते हुए; अधर—अपने होठों का; बिम्ब—प्रतिबिम्ब; भासा—किरणें; प्रत्यर्हयन्तम्—आदान-प्रदान करते हुए; सु-नसेन—अपनी मनोहर नाक से; सु-भ्रुवा—तथा मनोहर भौहों से।

उन्होंने भक्तों की सेवा भी स्वीकार की और अपनी सुन्दर हँसी से उनका कष्ट मिटा दिया। कुंडलों से सज्जित उनके मुख का प्रतिबिम्ब अत्यन्त मनोहारी था, क्योंकि यह उनके होठों की किरणों तथा उनकी नाक एवं भौंहों की सुन्दरता से जगमगा रहा था।

तात्पर्य : भगवान् अपनी भक्ति से अत्यधिक अनुग्रहीत होते हैं। आध्यात्मिक कार्यकलापों के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक अध्यात्मवादी हैं, किन्तु भगवान् की भक्ति-मय सेवा अद्वितीय होती है। भक्तजन अपनी सेवा के बदले में भगवान् से कुछ भी नहीं माँगते। यहाँ तक कि भगवान् के द्वारा प्रदान की जाने वाली सर्वाधिक इच्छित मुक्ति से भी वे इनकार कर देते हैं। इस तरह भगवान् एक प्रकार से भक्तों के ऋणी बन जाते हैं और वे अपनी सदा मोहक मुसकान से ही भक्तों की सेवा से उऋण होने का प्रयास कर सकते हैं। भक्तजन भगवान् के हँसमुख मुद्रा से सदा तुष्ट रहते हैं और जीवंत होते रहते हैं। भक्तों को इस तरह जीवंत देखकर भगवान् और अधिक तुष्ट होते हैं। इस तरह सेवा तथा स्वीकृति के ऐसे आदान-प्रदान से भगवान् तथा भक्तों के बीच सतत एक दिव्य स्पर्धा चलती जाती है।

कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससा
स्वलङ्कृतं मेखलया नितम्बे ।
हारेण चानन्तधनेन वत्स
श्रीवत्सवक्षःस्थलवल्लभेन ॥ २८॥

शब्दार्थ

कदम्ब-किञ्जल्क—कदम्ब फूल की केसरिया धूल; पिशङ्ग—रंगीन परिधान; वाससा—वस्त्रों से; सु-अलङ्कृतम्—अच्छी तरह सुसज्जित; मेखलया—करधनी से; नितम्बे—कमर पर; हारेण—हार से; च—भी; अनन्त—अत्यन्त; धनेन—मूल्यवान; वत्स—हे विदुर; श्रीवत्स—दिव्य चिह्न का; वक्षः-स्थल—छाती पर; वल्लभेन—अत्यन्त मनोहर।

हे विदुर, भगवान् की कमर पीले वस्त्र से ढकी थी जो कदम्ब फूल के केसरिया धूल जैसा प्रतीत हो रहा था और इसको अतीव सज्जित करधनी घेरे हुए थी। उनकी छाती श्रीवत्स चिन्ह से तथा असीम मूल्य वाले हार से शोभित थी।

परार्ध्यकेयूरमणिप्रवेक-
पर्यस्तदोर्दण्डसहस्रशाखम् ।
अव्यक्तमूलं भुवनाङ्घ्रिपेन्द्र-
महीन्द्रभोगैरधिवीतवल्शम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

परार्ध्य—अत्यन्त मूल्यवान; केयूर—आभूषण; मणि-प्रवेक—अत्यन्त मूल्यवान मणि; पर्यस्त—फैलाते हुए; दोर्दण्ड—भुजाएँ; सहस्र-शाखम्—हजारों शाखाओं से युक्त; अव्यक्त-मूलम्—आत्मस्थित; भुवन—विश्व; अङ्घ्रिप—वृक्ष; इन्द्रम्—स्वामी; अहि-इन्द्र—अनन्तदेव; भोगैः—फनों से; अधिवीत—घिरा; वल्शम्—कंधा।

जिस तरह चन्दन वृक्ष सुगन्धित फूलों तथा शाखाओं से सुशोभित रहता है उसी तरह भगवान् का शरीर मूल्यवान मणियों तथा मोतियों से अलंकृत था। वे आत्म-स्थित (अव्यक्त मूल) वृक्ष और विश्व के अन्य सभी के स्वामी थे। जिस तरह चन्दन वृक्ष अनेक सर्पों से आच्छादित रहता है उसी तरह भगवान् का शरीर भी अनन्त के फनों से ढका था।

तात्पर्य : यहाँ पर *अव्यक्त-मूलम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतया कोई भी व्यक्ति वृक्ष की जड़ें नहीं देख सकता। किन्तु जहाँ तक भगवान् का सम्बन्ध है वे स्वयं अपनी जड़ (मूल) हैं, क्योंकि उनके (चिरंतन) बने रहने का उनके अतिरिक्त कोई और पृथक् कारण नहीं है। वेदों में कहा गया है कि भगवान् *स्वाश्रयाश्रय* हैं। वे अपने निजी आश्रय हैं और उनका कोई अन्य आश्रय नहीं है। अतएव *अव्यक्त* का अर्थ स्वयं भगवान् और उन के अतिरिक्त और कोई नहीं है।

चराचरौको भगवन्महीध्र-
महीन्द्रबन्धुं सलिलोपगूढम् ।
किरीटसाहस्रहिरण्यशृङ्ग-
माविर्भवत्कौस्तुभरत्नगर्भम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

चर—गतिशील पशु; अचर—स्थिर वृक्ष; ओकः—स्थान या स्थिति; भगवत्—भगवान्; महीध्रम्—पर्वत; अहि-इन्द्र—श्री अनन्तदेव; बन्धुम्—मित्र; सलिल—जल; उपगूढम्—निमग्न; किरीट—मुकुट; साहस्र—हजारों; हिरण्य—स्वर्ण; शृङ्गम्—चोटियाँ; आविर्भवत्—प्रकट किया; कौस्तुभ—कौस्तुभ मणि; रत्न-गर्भम्—समुद्र।

विशाल पर्वत की भाँति भगवान् समस्त जड़ तथा चेतन जीवों के लिए आवास की तरह खड़े हैं। वे सर्पों के मित्र हैं, क्योंकि अनन्त देव उनके मित्र हैं। जिस तरह पर्वत में हजारों सुनहरी चोटियाँ होती हैं उसी तरह अनन्त नाग के सुनहरे मुकुटों वाले हजारों फनों से युक्त भगवान् दीख रहे थे। जिस तरह पर्वत कभी-कभी रत्नों से पूरित रहता है उसी तरह उनका शरीर मूल्यवान रत्नों से पूर्णतया सुशोभित था। जिस तरह कभी-कभी पर्वत समुद्र जल में डूबा रहता है उसी तरह भगवान् कभी-कभी प्रलय-जल में डूबे रहते हैं।

निवीतमाम्नायमधुव्रतश्रिया
स्वकीर्तिमय्या वनमालया हरिम् ।
सूर्येन्दुवाय्वग्न्यगमं त्रिधामभि:
परिक्रमत्प्राधनिकैर्दुरासदम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

निवीतम्—इस प्रकार घिरा; आम्नाय—वैदिक ज्ञान; मधु-व्रत-श्रिया—सौन्दर्य में मधुर ध्वनि; स्व-कीर्ति-मय्या—अपनी ही महिमा से; वन-मालया—फूल की माला से; हरिम्—भगवान् को; सूर्य—सूरज; इन्दु—चन्द्रमा; वायु—वायु; अग्नि—आग; अगमम्—न पहुँचने योग्य दुर्गम; त्रि-धामभि:—तीनों लोकों द्वारा; परिक्रमत्—परिक्रमा करते हुए; प्राधनिकै:—युद्ध के लिए; दुरासदम्—पहुँचने के लिए कठिन।

इस तरह पर्वताकार भगवान् पर दृष्टि डालते हुए ब्रह्मा ने यह निष्कर्ष निकाला कि वे भगवान् हरि ही हैं। उन्होंने देखा कि उनके वक्षस्थल पर पड़ी फूलों की माला वैदिक ज्ञान के मधुर गीतों से उनका महिमागान कर रही थी और अतीव सुन्दर लग रही थी। वे युद्ध के लिए सुदर्शन चक्र द्वारा सुरक्षित थे और सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि इत्यादि तक उनके पास फटक नहीं सकते थे।

तर्ह्येव तन्नाभिसर:सरोजम्
आत्मानमम्भ: श्वसनं वियच्च ।
ददर्श देवो जगतो विधाता
नात: परं लोकविसर्गदृष्टि: ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तर्हि—अत:; एव—निश्चय ही; तत्—उसकी; नाभि—नाभि; सर:—झील; सरोजम्—कमल का फूल; आत्मानम्—ब्रह्मा; अम्भ:—प्रलय का जल; श्वसनम्—सुखाने वाली वायु; वियत्—आकाश; च—भी; ददर्श—देखा; देव:—देवता; जगत:—ब्रह्माण्ड का; विधाता—भाग्य का निर्माता; न—नहीं; अत: परम्—परे; लोक-विसर्ग—विराट जगत की सृष्टि; दृष्टि:—चितवन।

जब ब्रह्माण्ड के भाग्य विधाता ब्रह्मा ने भगवान् को इस प्रकार देखा तो उसी समय उन्होंने

सृष्टि पर नजर दौड़ाई। ब्रह्मा ने विष्णु की नाभि में झील (नाभि सरोवर) तथा कमल देखा और उसी के साथ प्रलयकारी जल, सुखाने वाली वायु तथा आकाश को भी देखा। सब कुछ उन्हें दृष्टिगोचर हो गया।

स कर्मबीजं रजसोपरक्त:
प्रजा: सिसृक्षन्नियदेव दृष्ट्वा ।
अस्तौद्विसर्गाभिमुखस्तमीड्य-
मव्यक्तवर्त्मन्यभिवेशितात्मा ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

स:—वह (ब्रह्मा); कर्म-बीजम्—सांसारिक कार्यों का बीज; रजसा उपरक्त:—रजोगुण द्वारा प्रेरित; प्रजा:—जीव; सिसृक्षन्—सन्तान उत्पन्न करने की इच्छा से; इयत्—सृष्टि के सभी पाँचों कारण; एव—इस तरह; दृष्ट्वा—देखकर; अस्तौत्—स्तुति की; विसर्ग—भगवान् द्वारा सृष्टि के पश्चात् सृष्टि; अभिमुख:—की ओर; तम्—उसको; ईड्यम्—पूजनीय; अव्यक्त—दिव्य; वर्त्मनि—के मार्ग पर; अभिवेशित—स्थिर; आत्मा—मन।

इस तरह रजोगुण से प्रेरित ब्रह्मा सृजन करने के लिए उन्मुख हुए और भगवान् द्वारा सुझाये गये सृष्टि के पाँच कारणों को देखकर वे सृजनशील मनोवृत्ति के मार्ग पर सादर स्तुति करने लगे।

तात्पर्य : रजोगुण में होते हुए भी इस संसार में किसी वस्तु का सृजन करने के लिए आवश्यक शक्ति हेतु परमेश्वर की शरण ग्रहण करनी पड़ती है। किसी प्रयास के सफल समापन का यही मार्ग है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत ''गर्भोदकशायी विष्णु से ब्रह्मा का प्राकट्य'' नामक आठवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter नौ

सृजन-शक्ति के लिए ब्रह्मा द्वारा स्तुति

ब्रह्मोवाच
ज्ञातोऽसि मेऽद्य सुचिरान्ननु देहभाजां
न ज्ञायते भगवतो गतिरित्यवद्यम् ।
नान्यत्त्वदस्ति भगवन्नपि तन्न शुद्धं
मायागुणव्यतिकराद्यदुरुर्विभासि ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्मा ने कहा; ज्ञातः—ज्ञात; असि—हो; मे—मेरे द्वारा; अद्य—आज; सुचिरात्—दीर्घकाल के बाद; ननु—लेकिन; देह-भाजाम्—भौतिक देह वाले का; न—नहीं; ज्ञायते—ज्ञात है; भगवतः—भगवान् का; गतिः—रास्ता; इति—इस प्रकार; अवद्यम्—महान् अपराध; न अन्यत्—इसके परे कोई नहीं; त्वत्—तुम; अस्ति—है; भगवन्—हे भगवान्; अपि—यद्यपि है; तत्—जो कुछ हो सके; न—कभी नहीं; शुद्धम्—परम; माया—भौतिक शक्ति के; गुण-व्यतिकरात्—गुणों के मिश्रण के कारण; यत्—जिसको; उरुः—दिव्य; विभासि—तुम हो।

ब्रह्माजी ने कहा : हे प्रभु, आज अनेकानेक वर्षों की तपस्या के बाद मैं आपके विषय में जान पाया हूँ। ओह! देहधारी जीव कितने अभागे हैं कि वे आपके स्वरूप को जान पाने में असमर्थ हैं। हे स्वामी, आप एकमात्र ज्ञेय तत्व हैं, क्योंकि आपसे परे कुछ भी सर्वोच्च नहीं है। यदि कोई वस्तु आपसे श्रेष्ठ प्रतीत होती भी है, तो वह परम पूर्ण नहीं है। आप पदार्थ की सृजन शक्ति को प्रकट करके ब्रह्म रूप में विद्यमान हैं।

तात्पर्य : भौतिक शरीरों में बद्धजीवों की सबसे बड़ी नादानी यह है कि वे विराट जगत के परम कारण से अवगत नहीं होते हैं। परम कारण के विषय में भिन्न-भिन्न लोगों के भिन्न-भिन्न मत हैं, किन्तु उनमें से कोई भी यथार्थ नहीं है। एकमात्र परम कारण विष्णु हैं, किन्तु भगवान् की मोहिनी शक्ति इसमें आड़े आने वाली बाधा है। भगवान् ने भौतिक जगत में अनेकानेक अद्भुत विभ्रान्तियों को प्रकट करने में अपनी विस्मयकारी भौतिक शक्ति लगा रखी है। उसी शक्ति से मोहित सारे बद्धजीव इसीलिए उस परम कारण को जानने में असमर्थ हैं। इसलिए बड़े से बड़े विज्ञानियों तथा दार्शनिकों को अद्भुत नहीं माना जा सकता। वे अद्भुत इसलिए लगते हैं, क्योंकि वे भगवान् की मोहिनी शक्ति के हाथों के खिलौने हैं। मोहवश सामान्य जन परमेश्वर के अस्तित्व से इनकार करते हैं और मोहिनी शक्ति के व्यर्थ के उत्पादों को परम के रुप में स्वीकार करते हैं।

परम कारण भगवान् को उनकी अहैतुकी कृपा द्वारा ही जाना जा सकता है, जो ब्रह्मा जैसे शुद्ध

भक्तों तथा उनकी शिष्य-परम्परा के शुद्ध भक्तों को ही प्रदान की जाती है। ब्रह्माजी एकमात्र तपस्या करने से ही गर्भोदकशायी विष्णु का दर्शन कर सके और उस साक्षात्कार के द्वारा ही वे भगवान् को यथारूप में समझ सके। ब्रह्माजी भगवान् के भव्य सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य को देखकर अत्यधिक तुष्ट थे और उन्होंने यह स्वीकार किया कि वे अतुलनीय हैं। एकमात्र तपस्या द्वारा भगवान् के सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य को सराहा जा सकता है और जब कोई व्यक्ति उस सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य से अवगत हो जाता है, तो वह अन्य किसी वस्तु के द्वारा आकृष्ट नहीं होता। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (२.५९) में *परं दृष्ट्वा निवर्तते* के रूप में हुई है।

वे मूर्ख मनुष्य जो भगवान् के परम सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य को खोजने का प्रयास नहीं करते उन्हें यहाँ पर ब्रह्माजी द्वारा धिक्कारा गया है। यह तो अनिवार्य है कि प्रत्येक मनुष्य ऐसे ज्ञान के लिए प्रयत्नशील रहे और यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसका जीवन व्यर्थ जाता है। भौतिक दृष्टि से कोई भी वस्तु जो कि सुन्दर तथा ऐश्वर्यमयी है उन जीवों द्वारा भोगी जाती है, जो कौवों के तुल्य हैं। कौवे सदैव फेंके हुए कूड़े से चारा चुगने में लगे रहते हैं, किन्तु हंस कौवों से मेल-जोल नहीं करते, प्रत्युत वे सुन्दर उद्यानों से घिरे, कमल के फूलों से युक्त पारदर्शी सरोवरों में आनन्द लेते हैं। कौवे तथा हंस दोनों ही जन्म से पक्षी हैं, किन्तु उनके स्वभाव एक से नहीं होते।

रूपं यदेतदवबोधरसोदयेन
शश्वन्निवृत्ततमसः सदनुग्रहाय ।
आदौ गृहीतमवतारशतैकबीजं
यन्नाभिपद्मभवनादहमाविरासम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

रूपम्—स्वरूप; यत्—जो; एतत्—वह; अवबोध-रस—आपकी अन्तरंगा शक्ति के; उदयेन—प्राकट्य से; शश्वत्—चिरन्तन; निवृत्त—से मुक्त; तमसः—भौतिक कल्मष; सत्-अनुग्रहाय—भक्तों के हेतु; आदौ—पदार्थ की सृजनशक्ति में मौलिक; गृहीतम्—स्वीकृत; अवतार—अवतारों का; शत-एक-बीजम्—सैकड़ों का मूल कारण; यत्—जो; नाभि-पद्म—नाभि से निकला कमल का फूल; भवनात्—घर से; अहम्—मैं; आविरासम्—उत्पन्न हुआ।

मैं जिस रूप को देख रहा हूँ वह भौतिक कल्मष से सर्वथा मुक्त है और अन्तरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति के रूप में भक्तों पर कृपा दिखाने के लिए अवतरित हुआ है। यह अवतार अन्य अनेक अवतारों का उद्गम है और मैं स्वयं आपके नाभि रूपी घर से उगे कमल के फूल से उत्पन्न हुआ हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर (शिव) ये तीन देव, जो तीनगुणों (रजो, सतो तथा तमोगुण) के अधिष्ठाता हैं, गर्भोदकशायी विष्णु से उत्पन्न होते हैं जिनका वर्णन ब्रह्मा यहाँ कर रहे हैं। क्षीरोदकशायी विष्णु से विराट जगत की जीवन अवधि में विभिन्न युगों में अनेक विष्णु विस्तारित होते हैं। इनका विस्तार केवल शुद्ध भक्तों के दिव्य सुख के लिए ही होता है। विभिन्न युगों तथा कालों में प्रकट होने वाले विष्णु के अवतारों की तुलना कभी भी बद्धजीवों से नहीं की जानी चाहिए। विष्णु तत्त्वों की तुलना ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवों से नहीं की जानी चाहिए, न ही वे समान स्तर पर हैं। जो भी इनकी तुलना करता है, वह *पाषण्डी* कहलाता है। यहाँ पर उल्लिखित *तमस:* भौतिक प्रकृति है। आध्यात्मिक प्रकृति का *तमस:* से सर्वथा पृथक् अस्तित्व है। इसीलिए आध्यात्मिक प्रकृति *अवबोध रस* अथवा *अवरोध रस* कहलाती है। *अवरोध* का अर्थ है "जो पूर्णतया निरस्त करे।" अध्यात्म में किसी भी साधन से भौतिक सम्पर्क की कोई सम्भावना नहीं रहती। ब्रह्मा पहले जीव हैं और इसलिए वे गर्भोदकशायी विष्णु के उदर से उत्पन्न कमल के फूल से अपने जन्म का उल्लेख करते हैं।

नात: परं परम यद्भवत: स्वरूप-
मानन्दमात्रमविकल्पमविद्धवर्च: ।
पश्यामि विश्वसृजमेकमविश्वमात्मन्
भूतेन्द्रियात्मकमदस्त उपाश्रितोऽस्मि ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अत: परम्—इसके पश्चात्; परम—हे परमेश्वर; यत्—जो; भवत:—आपका; स्वरूपम्—नित्यरूप; आनन्द-मात्रम्—निर्विशेष ब्रह्मज्योति; अविकल्पम्—बिना परिवर्तन के; अविद्ध-वर्च:—शक्ति के ह्रास बिना; पश्यामि—देखता हूँ; विश्व-सृजम्—विराट जगत के स्रष्टा को; एकम्—अद्वय; अविश्वम्—फिर भी पदार्थ का नहीं; आत्मन्—हे परम कारण; भूत—शरीर; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आत्मक—ऐसी पहचान से; मद:—गर्व; ते—आपके प्रति; उपाश्रित:—शरणागत; अस्मि—हूँ।

हे प्रभु, मैं आपके इस सच्चिदानन्द रूप से श्रेष्ठ अन्य कोई रूप नहीं देखता। वैकुण्ठ में आपकी निर्विशेष ब्रह्मज्योति में न तो यदाकदा परिवर्तन होता है और न अन्तरंगा शक्ति में कोई ह्रास आता है। मैं आपकी शरण ग्रहण करता हूँ, क्योंकि जहाँ मैं अपने भौतिक शरीर तथा इन्द्रियों पर गर्वित हूँ वहीं आप विराट जगत का कारण होते हुए भी पदार्थ द्वारा अस्पृश्य हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५५) में कहा गया है—*भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वत:*—परमेश्वर को अंशत: ही जाना जा सकता है और वह भी एकमात्र भगवद्भक्ति के द्वारा। ब्रह्माजी को यह पता चल गया कि परमेश्वर कृष्ण के अनेकानेक सच्चिदानन्द रूप हैं। उन्होंने *ब्रह्म-*

संहिता (५.३३) में परमेश्वर गोविन्द के ऐसे अंशों का वर्णन निम्नवत् किया है—

अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्

आद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च।

वेदेषु दुर्लभमदुर्लभमात्मभक्तौ

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अद्वैत तथा अच्युत हैं। यद्यपि वे अनेकानेक रूपों में विस्तार करते हैं, किन्तु वे समस्त कारणों के आदि कारण हैं। यद्यपि वे सबसे पुराने व्यक्ति हैं, किन्तु वृद्धावस्था से अप्रभावित रहते हुए वे सदैव तरुण रहते हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को वेदों के किताबी ज्ञान से नहीं जाना जा सकता। उन्हें समझने के लिए भगवद्भक्त के पास जाना पड़ता है।"

भगवान् के यथारूप को समझने का एकमात्र उपाय या तो भगवद्भक्ति है या ऐसे भगवद्भक्त के पास जाना जिसके हृदय में भगवान् सदैव बसते हों। भक्ति की सिद्धि से यह समझा जा सकता है कि निर्विशेष ब्रह्मज्योति तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण का केवल आंशिक स्वरूप है और भौतिक सृष्टि में उनके तीन पुरुष-विस्तार उनके स्वांश हैं। ब्रह्मज्योति के आध्यात्मिक आकाश में कल्पों में भी कोई परिवर्तन नहीं आता और वैकुण्ठलोक में कोई सृजनात्मक कार्यकलाप नहीं होते। काल का प्रभाव उसकी अनुपस्थिति से ही सुस्पष्ट हो जाता है। भगवान् के दिव्य शरीर की किरणें अथवा असीम ब्रह्मज्योति भौतिक शक्ति के प्रभाव से अवरुद्ध नहीं होती हैं। भौतिक जगत में भी आदि स्रष्टा स्वयं भगवान् हैं। वे ब्रह्मा का सृजन करते हैं, जो भगवान् से शक्ति प्राप्त करके परवर्ती स्रष्टा बन जाते हैं।

तद्वा इदं भुवनमङ्गल मङ्गलाय
ध्याने स्म नो दर्शितं त उपासकानाम् ।
तस्मै नमो भगवतेऽनुविधेम तुभ्यं
योऽनादृतो नरकभाग्भिरसत्प्रसङ्गैः ॥४॥

शब्दार्थ

तत्—**भगवान् श्रीकृष्ण**; वा—**अथवा**; इदम्—**यह वर्तमान स्वरूप**; भुवन-मङ्गल—**हे समस्त ब्रह्माण्डों के लिए सर्वमंगलमय**; मङ्गलाय—**समस्त सम्पन्नता के लिए**; ध्याने—**ध्यान में**; स्म—**मानो था**; नः—**हमको**; दर्शितम्—**प्रकट**; ते—**तुम्हारे**; उपासकानाम्—**भक्तों का**; तस्मै—**उनको**; नमः—**मेरा सादर नमस्कार**; भगवते—**भगवान् को**; अनुविधेम—**सम्पन्न करता हूँ**; तुभ्यम्—**तुमको**; यः—**जो**; अनादृतः—**उपेक्षित है**; नरक-भाग्भिः—**नरक जाने वाले व्यक्तियों द्वारा**; असत्-प्रसङ्गैः—**भौतिक कथाओं द्वारा**।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण का यह वर्तमान रूप या उनके द्वारा विस्तार किया हुआ कोई भी दिव्य रूप सारे ब्रह्माण्डों के लिए समान रूप से मंगलमय है। चूँकि आपने यह नित्य साकार रूप प्रकट किया है, जिसका ध्यान आपके भक्त करते हैं, इसलिए मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ। जिन्हें नरकगामी होना बदा है वे आपके साकार रूप की उपेक्षा करते हैं, क्योंकि वे लोग भौतिक विषयों की ही कल्पना करते रहते हैं।

तात्पर्य : जहाँ तक परब्रह्म के साकार तथा निर्विशेष रूपों की बात है, उनके साकार रूप भगवान द्वारा समस्त ब्रह्माण्डों के मंगल हेतु विभिन्न स्वांशों के रूप में प्रदर्शित किये जाते हैं। भगवान् के साकार रूप की पूजा ध्यान द्वारा परमात्मा रूप में की जाती है, किन्तु निर्विशेष ब्रह्मज्योति की पूजा नहीं की जाती। जिन्हें भगवान् के निर्विशेष रूप की आसक्ति है, चाहे वह ध्यान में हो या अन्यत्र, वे सब नरकगामी होते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (१२.५) में कहा गया है कि निर्विशेषवादी व्यर्थ ही संसारी मानसिक चिन्तन में अपना समय बरबाद करते हैं, क्योंकि वे सत्य की अपेक्षा मिथ्या तर्कों में आसक्त रहते हैं। अतएव यहाँ पर ब्रह्मा ने निर्विशेषवादियों की संगति की निन्दा की है।

भगवान् के समस्त स्वांश समान रूप से शक्तिमान होते हैं, जैसी कि *ब्रह्म-संहिता* (५.४६) में पुष्टि की गई है—

दीपार्चिरेव हि दशान्तरमभ्युपेत्य

दीपायते विवृतहेतुसमानधर्मा।

यस्तादृगेव हि च विष्णुतया विभाति

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

भगवान् अपना विस्तार उसी तरह करते हैं, जिस तरह अग्नि की लपटें एक के बाद दूसरे में करती हैं। यद्यपि आदि ज्योति अर्थात् श्रीकृष्ण को परम पुरुष गोविन्द के रूप में स्वीकार किया जाता है, किन्तु राम, नृसिंह तथा वराह जैसे अन्य सारे विस्तार इत्यादि भगवान् के ही समान शक्तिशाली होते हैं। ऐसे समस्त विस्तार दिव्य होते हैं। *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में यह स्पष्ट किया गया है कि परम सत्य (परब्रह्म) भौतिक स्पर्श से नित्य अकलुषित होते हैं। भगवान् के दिव्य राज्य में शब्दों तथा कर्मों का इन्द्रजाल नहीं है। भगवान् के सभी रूप दिव्य होते हैं और ऐसे प्रदर्शन सदा समान होते हैं। किसी भक्त

को प्रदर्शित भगवान् का कोई विशेष रूप लौकिक नहीं होता भले ही भक्त में भौतिक इच्छा शेष हो; न ही वह भौतिक शक्ति के प्रभाव के कारण प्रकट होता है जैसाकि निर्विशेषवादी मूर्खतावश मानते हैं। ऐसे निर्विशेषवादी, जो भगवान् के दिव्य रूपों को भौतिक जगत की उपज मानते हैं, निश्चित रूप से नरकगामी होते हैं।

ये तु त्वदीयचरणाम्बुजकोशगन्धं
जिघ्रन्ति कर्णविवरैः श्रुतिवातनीतम् ।
भक्त्या गृहीतचरणः परया च तेषां
नापैषि नाथ हृदयाम्बुरुहात्स्वपुंसाम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

ये—जो लोग; तु—लेकिन; त्वदीय—आपके; चरण-अम्बुज—चरणकमल; कोश—भीतर; गन्धम्—सुगन्ध; जिघ्रन्ति—सूँघते हैं; कर्ण-विवरैः—कानों के मार्ग से होकर; श्रुति-वात-नीतम्—वैदिक ध्वनि की वायु से ले जाये गये; भक्त्या—भक्ति द्वारा; गृहीत-चरणः—चरणकमलों को स्वीकार करते हुए; परया—दिव्य; च—भी; तेषाम्—उनके लिए; न—कभी नहीं; अपैषि—पृथक्; नाथ—हे प्रभु; हृदय—हृदय रूपी; अम्बु-रुहात्—कमल से; स्व-पुंसाम्—अपने ही भक्तों के।

हे प्रभु, जो लोग वैदिक ध्वनि की वायु द्वारा ले जाई गई आपके चरणकमलों की सुगन्ध को अपने कानों के द्वारा सूँघते हैं, वे आपकी भक्ति-मय सेवा को स्वीकार करते हैं। उनके लिए आप उनके हृदय रूपी कमल से कभी भी विलग नहीं होते।

तात्पर्य : भगवान् के शुद्ध भक्तों के लिए भगवान् के चरणकमलों से परे कुछ भी नहीं है और भगवान् जानते हैं कि ऐसे भक्तों को उससे अधिक कुछ चाहिए भी नहीं। *तु* शब्द विशेष रूप से इस तथ्य को स्थापित करता है। भगवान् भी उन शुद्ध भक्तों के हृदय-कमलों से विलग होना नहीं चाहते। शुद्ध भक्त तथा भगवान् के बीच का यह दिव्य सम्बन्ध होता है। चूँकि भगवान् ऐसे शुद्ध भक्तों के हृदयों से विलग नहीं होना चाहते, अतः यह समझा जाता है कि वे निर्विशेषवादियों की अपेक्षा उन्हें विशेष रूप से अधिक प्रिय हैं। भगवान् के साथ शुद्ध भक्त का सम्बन्ध इसलिए विकसित होता है, क्योंकि भक्त द्वारा वैदिक प्रमाण के वास्तविक आधार पर भगवान् की भक्तिमय सेवा की जाती है। ऐसे शुद्ध भक्त संसारी भावनावादी (भावुक) नहीं होते, अपितु वे वस्तुतः यथार्थवादी होते हैं, क्योंकि उनके कार्यों का समर्थन उन वैदिक अधिकारियों द्वारा होता है जिन्होंने वैदिक ग्रन्थों में उल्लिखित तथ्यों को श्रवण करके ग्रहण किया है।

परया शब्द अत्यन्त सार्थक है। *पराभक्ति* या ईश्वर का स्वतःस्फूर्त प्रेम भगवान् से घनिष्ठ सम्बन्ध का

आधार होता है। भगवान् के साथ सम्बन्ध की यह चरमावस्था प्रामाणिक स्रोतों से यथा *भगवद्गीता* तथा *भागवत* से, भगवान् के विषय में (उनके नाम, रूप, गुण, इत्यादि) भगवान के विशुद्ध भक्तों के मुख से सुनकर प्राप्त की जा सकती है।

तावद्भयं द्रविणदेहसुहृन्निमित्तं
शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः ।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब तक; भयम्—भय; द्रविण—सम्पत्ति; देह—शरीर; सुहृत्—सम्बन्धी जन; निमित्तम्—के लिए; शोकः—शोक; स्पृहा—इच्छा; परिभवः—साज-सामग्री; विपुलः—अत्यधिक; च—भी; लोभः—लालच; तावत्—उस समय तक; मम—मेरा; इति—इस प्रकार; असत्—नश्वर; अवग्रहः—दुराग्रहं; आर्ति-मूलम्—चिन्ता से पूर्ण; यावत्—जब तक; न—नहीं; ते—तुम्हारे; अङ्घ्रिम् अभयम्—सुरक्षित चरणकमल; प्रवृणीत—शरण लेते हैं; लोकः—संसार के लोग।.

हे प्रभु, संसार के लोग समस्त भौतिक चिन्ताओं से उद्विग्न रहते हैं—वे सदैव भयभीत रहते हैं। वे सदैव धन, शरीर तथा मित्रों की रक्षा करने का प्रयास करते हैं, वे शोक तथा अवैध इच्छाओं एवं साज-सामग्री से पूरित रहते हैं तथा लोभवश ''मैं'' तथा ''मेरे'' की नश्वरधारणाओं पर अपने दुराग्रह को आधारित करते हैं। जब तक वे आपके सुरक्षित चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं करते तब तक वे ऐसी चिन्ताओं से भरे रहते हैं।

तात्पर्य : कोई यह प्रश्न कर सकता है कि यदि कोई पारिवारिक मामलों के विचारों से उद्विग्न रहे तो किस तरह वह सदैव भगवान् के ही नाम, यश, गुण इत्यादि का चिन्तन कर सकता है? भौतिक जगत का हर व्यक्ति इन विचारों में डुबा रहता है कि वह किस तरह अपने परिवार का भरण-पोषण करे, किस तरह अपने धन की रक्षा करे, किस तरह अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों के साथ मिलकर चले। इस तरह वह यथास्थिति बनाये रखने के प्रयास में सदैव भय तथा शोक से ग्रस्त रहता है। इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप ब्रह्मा द्वारा कहा गया यह श्लोक अति उपयुक्त है।

भगवान् का शुद्ध भक्त कभी भी अपने को अपने घर का स्वामी नहीं मानता। वह हर वस्तु भगवान् के सर्वोच्च नियंत्रण पर छोड़ देता है, अत: उसे अपने परिवार के भरण-पोषण अथवा अपने परिवार के हितों की रक्षा करने का कोई भय नहीं सताता। इस शरणागति के कारण उसे सम्पत्ति के प्रति कोई आकर्षण नहीं रह जाता। यदि कोई आकर्षण रहता भी है, तो वह इन्द्रियतृप्ति के निमित्त न होकर

भगवान् की सेवा के प्रति होता है। हो सकता है कि शुद्ध भक्त भी सामान्य व्यक्ति की तरह धन जोड़ने के प्रति आकृष्ट होता हो, किन्तु अन्तर यह है कि भक्त भगवान् की सेवा हेतु धन अर्जित करता है, जबकि सामान्य व्यक्ति अपने इन्द्रियभोग के लिए। इस तरह भक्त के लिए धन का अर्जन, चिन्ता का कारण नहीं बनता जिस तरह वह सांसारिक व्यक्ति के लिए होता है। चूँकि भक्त हर वस्तु को भगवान् के सेवा-भाव के रूप में स्वीकार करता है, अत: धन संग्रह रूपी विषदन्त उखाड़ दिये जाते हैं। यदि साँप का विष निकाल दिया जाय और तब वह किसी व्यक्ति को काटे तो उसका प्रभाव घातक नहीं होता है। इसी तरह भगवान् के निमित्त अर्जित धन के विषैले दाँत नहीं होते हैं और इसका प्रभाव घातक नहीं होता। शुद्ध भक्त जगत में सामान्य व्यक्ति की तरह रहते हुए भी भौतिक सांसारिक मामलों के फंदे में नहीं फंसता।

दैवेन ते हतधियो भवतः प्रसङ्गा-
त्सर्वाशुभोपशमनाद्विमुखेन्द्रिया ये ।
कुर्वन्ति कामसुखलेशलवाय दीना
लोभाभिभूतमनसोऽकुशलानि शश्वत् ॥ ७॥

शब्दार्थ

दैवेन—दुर्भाग्य से; ते—वे; हत-धियः—स्मृति से वंचित; भवतः—आपकी; प्रसङ्गात्—कथाओं से; सर्व—समस्त; अशुभ—अकल्याणकारी; उपशमनात्—शमन करते हुए; विमुख—के विरुद्ध बने हुए; इन्द्रियाः—इन्द्रियाँ; ये—जो; कुर्वन्ति—करते हैं; काम—इन्द्रिय-तृप्ति; सुख—सुख; लेश—अल्प; लवाय—क्षण भर के लिए; दीनाः—बेचारे; लोभ-अभिभूत—लोभ से ग्रसित; मनसः—मन वाले; अकुशलानि—अशुभ कार्यकलाप; शश्वत्—सदैव।

हे प्रभु, वे व्यक्ति जो आपके दिव्य कार्यकलापों के विषय में सर्वमंगलकारी कीर्तन तथा श्रवण करने से वंचित हैं निश्चित रूप से वे अभागे हैं और सद्बुद्धि से विहीन हैं। वे तनिक देर के लिए इन्द्रियतृप्ति का भोग करने हेतु अशुभ कार्यों में लग जाते हैं।

तात्पर्य : अगला प्रश्न है कि लोग भगवान् की महिमा तथा लीलाओं का श्रवण तथा कीर्तन करने जैसे शुभ कार्यों के विरुद्ध क्यों हैं जबकि ये कार्य संसार की सारी चिन्ताओं और झंझटों से पूर्ण स्वतंत्रता दिलाने वाले हैं? इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर है कि वे इन्द्रियतृप्ति के निमित्त ही किये गये अपने अपराधपूर्ण कार्यों पर अधिदैवी नियंत्रण के कारण अभागे हैं। किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्तों को ऐसे अभागे लोगों पर तरस आता है और वे धर्मोपदेश के भाव में उन्हें भक्ति के मार्ग में लाने के लिए राजी करने का प्रयास करते हैं। केवल शुद्ध भक्तों की कृपा से ऐसे अभागे लोग दिव्य सेवा के पद तक

ऊपर उठ पाते हैं।

क्षुत्तृट्त्रिधातुभिरिमा मुहुरर्द्यमानाः
शीतोष्णवातवरषैरितरेतराच्च ।
कामाग्निनाच्युतरुषा च सुदुर्भरेण
सम्पश्यतो मन उरुक्रम सीदते मे ॥ ८॥

शब्दार्थ

क्षुत्—भूख; तृट्—प्यास; त्रि-धातुभिः—तीन-रस, यथा कफ, पित्त तथा वायु; इमाः—ये सभी; मुहुः—सदैव; अर्द्यमानाः—व्यग्र; शीत—जाड़ा; उष्ण—गर्मी; वात—वायु; वरषैः—वर्षा द्वारा; इतर-इतरात्—तथा अन्य अनेक उत्पात; च—भी; काम-अग्निना—प्रबल यौन इच्छा से; अच्युत-रुषा—दुःसह क्रोध; च—भी; सुदुर्भरेण—अत्यन्त असह्य; सम्पश्यतः—देखते हुए; मनः—मन; उरुक्रम—हे महान् कर्ता; सीदते—निराश होता है; मे—मेरा।

हे महान् कर्ता, मेरे प्रभु, ये सभी दीन प्राणी निरन्तर भूख, प्यास, शीत, कफ तथा पित्त से व्यग्र रहते हैं, इन पर कफ युक्त शीतऋतु, भीषण गर्मी, वर्षा तथा अन्य अनेक क्षुब्ध करने वाले तत्त्व आक्रमण करते रहते हैं और ये प्रबल कामेच्छाओं तथा दुःसह क्रोध से अभिभूत होते रहते हैं। मुझे इन पर दया आती है और मैं इनके लिए अत्यन्त सन्तप्त रहता हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्मा जैसे शुद्ध भक्त तथा उनकी शिष्य-परम्परा के अन्य व्यक्ति उन बद्धजीवों की उलझनों को देखकर सदैव दुखी रहते हैं, जो शरीर तथा मन से जुड़ी, भौतिक प्रकृति तथा अन्य ऐसी ही अनेक भौतिक कुदशाओं से सम्बन्धित तीन प्रकार के तापों के प्रहारों से पीड़ित हैं। ऐसी कठिनाइयों से मुक्ति पाने के पर्याप्त उपाय न जानने से पीड़ित व्यक्ति कभी कभी अपने को लोगों का नेता बताते हैं और अभागे अनुयायी ऐसी तथाकथित नेतागिरी से और भी हानि उठाते हैं। यह तो एक अन्धे द्वारा दूसरे अन्धे का मार्गदर्शन करते हुए गड्ढे में गिरा देने के समान है। अतएव जब तक भगवान् के भक्त इन पर दया नहीं दिखाते और इन्हें उचित मार्ग की शिक्षा नहीं देते तब तक इनके जीवन बुरी तरह से असफल होते रहते हैं। ऐसे भगवद्भक्त जो मूर्ख भौतिकतावादी इन्द्रिय-भोक्ताओं को ऊपर उठाने का भार स्वेच्छा से अपने ऊपर लेते हैं, ब्रह्मा के ही समान भगवान् के विश्वासपात्र होते हैं।

यावत्पृथक्त्वमिदमात्मन इन्द्रियार्थ-
मायाबलं भगवतो जन ईश पश्येत् ।
तावन्न संसृतिरसौ प्रतिसङ्क्रमेत
व्यर्थापि दुःखनिवहं वहती क्रियार्था ॥ ९॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; पृथक्त्वम्—विलगाव; इदम्—यह; आत्मनः—शरीर का; इन्द्रिय-अर्थ—इन्द्रियतृप्ति के लिए; माया-बलम्—बहिरंगा शक्ति का प्रभाव; भगवतः—भगवान् का; जनः—व्यक्ति; ईश—हे प्रभु; पश्येत्—देखता है; तावत्—तब तक; न—नहीं; संसृतिः—भौतिक जगत का प्रभाव; असौ—वह मनुष्य; प्रतिसङ्क्रमेत—लाँघ सकता है; व्यर्था अपि—यद्यपि अर्थहीन; दु:ख-निवहम्—अनेक दुख; वहती—लाते हुए; क्रिया-अर्था—सकाम कर्मों के लिए।

हे प्रभु, आत्मा के लिए भौतिक दुखों का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं होता। फिर भी जब तक बद्धात्मा शरीर को इन्द्रिय भोग के निमित्त देखता है तब तक वह आपकी बहिरंगा शक्ति द्वारा प्रभावित होने से भौतिक कष्टों के पाश से बाहर नहीं निकल पाता।

तात्पर्य : भौतिक जगत में जीव का सारा कष्ट यह है कि उसे जीवन के स्वतंत्र होने की धारणा है। वह बद्ध तथा मुक्त दोनों ही दशाओं में सदैव परमेश्वर के नियमों पर आश्रित रहता है, किन्तु बहिरंगा शक्ति के प्रभाव से बद्धात्मा अपने को परमेश्वर की प्रभुता से मुक्त (स्वतंत्र) मानता है। उसकी स्वाभाविक स्थिति तो परमेश्वर की इच्छा से अपने को जोड़ना है, किन्तु जब तक वह ऐसा नहीं करता तब तक वह भवबन्धन की बेड़ियों में जकड़ा रहेगा। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.५५) में कहा गया है—*प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्*—उसे मनोरथ द्वारा तैयार की गई सभी प्रकार की योजनाओं का परित्याग करना होता है। जीव को अपने आपको परमेश्वर की इच्छा के साथ जोड़ना होता है। इससे भव-पाश से निकलने में उसे सहायता मिलेगी।

अह्न्यापृतार्तकरणा निशि नि:शयाना
नानामनोरथधिया क्षणभग्ननिद्राः ।
दैवाहतार्थरचना ऋषयोऽपि देव
युष्मत्प्रसङ्गविमुखा इह संसरन्ति ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अह्नि—दिन के समय; आपृत—व्यस्त; आर्त—दुखदायी कार्य; करणाः—इन्द्रियाँ; निशि—रात में; नि:शयानाः—अनिद्रा; नाना—विविध; मनोरथ—मानसिक चिन्तन; धिया—बुद्धि द्वारा; क्षण—निरन्तर; भग्न—टूटी हुई; निद्राः—नींद; दैव—अतिमानवीय; आहत-अर्थ—हताश; रचनाः—योजनाएँ; ऋषयः—ऋषिगण; अपि—भी; देव—हे प्रभु; युष्मत्—आपकी; प्रसङ्ग—कथा से; विमुखाः—विरुद्ध; इह—इस (जगत) में; संसरन्ति—चक्कर लगाते हैं।

ऐसे अभक्तगण अपनी इन्द्रियों को अत्यन्त कष्टप्रद तथा विस्तृत कार्य में लगाते हैं और रात में उनिद्र रोग से पीड़ित रहते हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि विविध मानसिक चिन्ताओं के कारण उनकी नींद को लगातार भंग करती रहती है। वे अतिमानवीय शक्ति द्वारा अपनी विविध योजनाओं में हताश कर दिए जाते हैं। यहाँ तक कि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि यदि आपकी दिव्य

कथाओं से विमुख रहते हैं, तो वे भी इस भौतिक जगत में ही चक्कर लगाते रहते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोक में वर्णन आया है, जिन लोगों को भगवान् की भक्ति में रुचि नहीं होती वे भौतिक कार्यों में लगे रहते हैं। उनमें से अधिकांश लोग दिन के समय कठोर शारीरिक श्रम में लगे रहते हैं। उनकी इन्द्रियाँ भारी औद्योगिक संस्थान के भीमकाय कारखानों में कष्टप्रद कार्य करने में बुरी तरह लगी रहती हैं। ऐसे कारखानों के मालिक अपने औद्योगिक उत्पादों के लिए बाजार खोजने में लगे रहते हैं और मजदूर वर्ग विस्तृत उत्पादन में लगे रहते हैं जिसमें विशाल यांत्रिक व्यवस्था रहती है। कारखाना या फैक्ट्री नरक का दूसरा नाम है। रात्रि होने पर बुरी तरह से व्यस्त मनुष्य अपनी थकी हुई इन्द्रियों को तुष्ट करने के लिए शराब तथा स्त्रियों की शरण में जाते हैं, किन्तु तब भी उन्हें अच्छी नींद नहीं आती, क्योंकि उनकी नाना प्रकार की मानसिक चिन्ताओं वाली योजनाएँ उनकी नींद में निरन्तर व्यवधान डालती रहती हैं। उनिद्र रोग से पीड़ित होने के कारण कभी कभी पर्याप्त आराम के अभाव में उन्हें प्रात:काल नींद सताने लगती है। आधिदैविक शक्ति की व्यवस्था द्वारा संसार के बड़े बड़े विज्ञानी तथा चिन्तक भी अपनी विविध योजनाओं के कारण हताश हो जाते हैं और इस तरह जन्म-जन्मांतर इस भौतिक जगत में सड़ते रहते हैं। भले ही कोई महान् विज्ञानी जगत के त्वरित संहार हेतु परमाणु शक्ति में खोजें करता हो और उसे अपनी सेवा (या कुसेवा) की मान्यता स्वरूप सर्वोत्कृष्ट पुरस्कार प्रदान किया जाय, किन्तु उसे भी भौतिक प्रकृति के अतिमानवीय नियम के अन्तर्गत बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमते हुए अपने कर्म का फल भोगना पड़ता है। ऐसे सारे लोग जो कि भक्ति के सिद्धान्त के विरुद्ध होते हैं निश्चित रूप से उन्हें इस भौतिक जगत में चक्कर लगाना पड़ता है।

इस श्लोक में इसका विशेष उल्लेख है कि वे ऋषि भी, जो भगवान् की भक्ति के सिद्धान्त से विमुख रहते हैं, भौतिक जगत के अन्तर्गत बन्धन भोगने के लिए विवश हैं। न केवल इस युग में, अपितु इसके पूर्व भी ऐसे अनेक ऋषि हुए हैं जिन्होंने परमेश्वर की भक्ति का सन्दर्भ दिये बिना अपनी धर्म प्रणालियों का अविष्कार करने का प्रयास किया, किन्तु भगवद्भक्ति के बिना कोई भी धार्मिक सिद्धान्त नहीं चल सकता। परमेश्वर सम्पूर्ण जीव जगत के नायक हैं और कोई भी व्यक्ति उनके तुल्य या उनसे बढ़कर नहीं हो सकता। यहाँ तक कि भगवान् के निर्विशेष रूप तथा सर्वव्यापक अन्तर्यामी रूप भी परमेश्वर की बराबरी नहीं कर सकते। अतएव भक्ति के बिना जीवों की प्रगति हेतु कोई धर्म या

असली दर्शन पद्धति सम्भव नहीं हो सकती।

वे निर्विशेषवादी जो आत्म-मोक्ष के लिए तपस्या करने में काफी कष्ट उठाते हैं भले ही निर्विशेष *ब्रह्मज्योति* तक पहुँच लें, किन्तु अन्तत: भक्ति में स्थित न होने से वे पुन: भौतिक जगत में आ गिरते हैं और पुन: भवबन्धन को भोगते हैं। इसकी पुष्टि इस प्रकार होती है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धय:।

आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं तत: पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रिय:॥

"वे व्यक्ति जो भगवान् की भक्ति के बिना ही मुक्त होने के झूठे बहकावे में रहते हैं, *ब्रह्मज्योति* के लक्ष्य तक भले ही पहुँच लें, किन्तु अपनी अशुद्ध चेतना के कारण तथा वैकुण्ठलोकों में आश्रय के अभाव में तथाकथित मुक्त लोग पुन: भौतिक संसार में आ गिरते हैं।" (*भागवत* १०.२.३२)

इसलिए कोई भी व्यक्ति भगवान् की भक्ति के सिद्धान्त के बिना किसी धर्म-प्रणाली का निर्माण नहीं कर सकता। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के छठे स्कन्ध में हमें मिलता है, धर्म के प्रवर्तक स्वयं भगवान् हैं। *भगवद्गीता* में भी हम पाते हैं कि भगवान् की शरण ग्रहण करने के अतिरिक्त धर्म के अन्य सभी रूपों की भर्त्सना की गई है। कोई भी प्रणाली जो मनुष्य को भगवद्भक्ति तक ले जाती है, वही असली धर्म या दर्शन है। छठे स्कन्ध में हम अश्रद्धालु जीवों के नियंत्रक यमराज का निम्नलिखित कथन पाते हैं—

धर्मं तु साक्षाद् भगवत्प्रणीतं न वै विधुर्ऋषयो नापि देवा:।

न सिद्धमुख्या असुरा मनुष्या: कुतो नु विद्याधर चारणादय:॥

स्वयम्भूर्नारद: शम्भु: कुमार: कपिलो मनु:।

प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥

द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटा:।

गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वामृतमश्नुते॥

"धर्म के सिद्धान्तों का प्रवर्तन भगवान् द्वारा होता है और ऋषियों तथा देवताओं सहित अन्य कोई भी ऐसे सिद्धान्तों का निर्माण नहीं कर सकता। चूँकि बड़े-बड़े ऋषि तथा देवता तक धर्म के ऐसे सिद्धान्तों का प्रवर्तन करने के अधिकारी नहीं होते तो अन्यों के विषय में—तथाकथित योगियों, असुरों,

मनुष्यों, तथा निम्नलोक के निवासी विद्याधरों तथा चारणों के विषय में—क्या कहा जा सकता है? ब्रह्मा, नारद, शिवजी, कुमार, कपिल, मनु, प्रह्लाद महाराज, जनक महाराज, भीष्म, बलि, शुकदेव गोस्वामी तथा यमराज—ये बारह अभिकर्ता भगवान् द्वारा धर्म के सिद्धान्तों के विषय में बोलने तथा उसका प्रचार करने के लिए अधिकृत हैं।''(*भागवत* ६.३.१९-२१)

धर्म के सिद्धान्त किसी सामान्य जीव के लिए खुले नहीं होते। वे मानव को नैतिकता के स्तर पर लाने के लिए होते हैं। अहिंसा इत्यादि तो दिग्भ्रमित व्यक्तियों के लिए आवश्यक हैं, क्योंकि जब तक कोई व्यक्ति नैतिक तथा अहिंसक नहीं बनता वह धर्म के सिद्धान्तों को नहीं समझ सकता। वास्तव में धर्म क्या है उसे समझ पाना उस व्यक्ति के लिए भी अत्यन्त कठिन होता है, जो नैतिकता तथा अहिंसा के सिद्धान्तों को प्राप्त होता है। यह अत्यन्त गुह्य है, क्योंकि धर्म के असली सिद्धान्तों से अवगत होते ही मनुष्य मुक्त होकर आनन्द तथा ज्ञान का शाश्वत जीवन बिताता है। अतएव जो व्यक्ति भगवान् की भक्ति के सिद्धान्तों को प्राप्त नहीं है उसे अपने को अबोध जनता का धार्मिक नेता बनने का स्वाँग नहीं रचना चाहिए। *ईशोपनिषद्* ने निम्नलिखित मंत्र में इस बकवास का बलपूर्वक निषेध किया है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः॥

(*ईशोपनिषद् १२*)

अतःधर्म के नाम पर भक्ति के असली धार्मिक सिद्धान्तों का सन्दर्भ दिये बिना जो अन्य लोगों को गुमराह बनाता है उस व्यक्ति से श्रेष्ठतर, धर्म के सिद्धान्तों से अनजान व्यक्ति है, जो धर्म के मामलों में कुछ भी नहीं करता। धर्म के ऐसे तथाकथित नेताओं की भर्त्सना ब्रह्मा तथा अन्य महाजनों द्वारा अवश्य की जाएगी।

त्वं भक्तियोगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम् ।
यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुमको; भक्ति-योग—भक्ति में; परिभावित—शत प्रतिशत लगे रहकर; हृत्—हृदय के; सरोजे—कमल में; आस्से—निवास करते हो; श्रुत-ईक्षित—कान के माध्यम से देखा हुआ; पथः—पथ; ननु—अब; नाथ—हे स्वामी; पुंसाम्—भक्तों का; यत्-यत्—जो जो; धिया—ध्यान करने से; ते—तुम्हारा; उरुगाय—हे बहुख्यातिवान्; विभावयन्ति—विशेष रूप से चिन्तन करते हैं; तत्-तत्—वही वही; वपुः—दिव्य स्वरूप; प्रणयसे—प्रकट करते हो; सत्-अनुग्रहाय—अपनी अहैतुकी कृपा दिखाने के लिए।

हे प्रभु, आपके भक्तगण प्रामाणिक श्रवण विधि द्वारा कानों के माध्यम से आपको देख सकते हैं और इस तरह उनके हृदय विमल हो जाते हैं तथा आप वहाँ पर अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं। आप अपने भक्तों पर इतने दयालु हैं कि आप अपने को उस अध्यात्म के विशेष नित्य रूप में प्रकट करते हैं जिसमें वे सदैव आपका चिन्तन करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर यह कथन कि भगवान् उस रूप में भक्त के समक्ष प्रकट होते हैं जिस रूप में वह उनकी पूजा करना चाहता है, यह संकेत करता है कि भगवान् भक्त की इच्छा के अधीन हो जाते हैं—इतने अधिक कि वे भक्त की माँग के अनुसार अपना विशिष्ट रूप प्रकट करते हैं। भगवान् भक्त की इस माँग को पूरा करते हैं, क्योंकि वे भक्त की दिव्य प्रेमपूर्ण सेवा के अनुसार लचीले होते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.११) में भी हुई है—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*। किन्तु यह हमें ध्यान रखना चाहिए कि भगवान् कभी भी भक्त के आदेशवाहक नहीं होते। इस श्लोक में इसका विशेष उल्लेख है—*त्वं भक्तियोगपरिभावित*। यह उस दक्षता का सूचक है, जो भगवान् की परिपक्व *प्रेमाभक्ति* सम्पन्न करने से प्राप्त की जाती है। यह प्रेमावस्था श्रद्धा से प्रेम की क्रमशः विकास-विधि द्वारा प्राप्त की जाती है। श्रद्धा से मनुष्य प्रामाणिक भक्तों की संगति करता है और ऐसी संगति से वह प्रामाणिक भक्ति में संलग्न हो सकता है, जिसमें उचित दीक्षा तथा शास्त्र द्वारा संस्तुत मूल भक्तिमय कार्यों की सम्पन्नता निहित रहती है। इसे यहाँ पर *श्रुतेक्षित* शब्द द्वारा स्पष्ट रूप से सूचित किया गया है। *श्रुतेक्षित* मार्ग में उन प्रामाणिक भक्तों से सुनना होता है, जो वैदिक ज्ञान में पारंगत होते हैं और संसारी आवेश से मुक्त होते हैं। इस प्रामाणिक श्रवण विधि से नवदीक्षित भक्त समस्त भौतिक गंदगी से रहित हो जाता है और इस तरह वह भगवान् के अनेक दिव्य रूपों में से किसी एक के प्रति अनुरक्त हो जाता है जिनका वेदों में वर्णन हुआ है।

भगवान् के किसी विशेष रूप के प्रति भक्त की यह आसक्ति स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण होती है। प्रत्येक जीव मूलतः किसी विशेष प्रकार की दिव्य सेवा के साथ जुड़ा हुआ है, क्योंकि वह भगवान् का

नित्य दास है। श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं कि जीव पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण का नित्य दास है। अत: हर जीव का भगवान् के साथ एक विशेष प्रकार का नित्य-दास का सम्बन्ध होता है। यह विशेष आसक्ति भगवान् की वैधी भक्ति के अभ्यास से जागृत होती है और इस तरह भक्त भगवान् के नित्य रूप के साथ उसी तरह जुड़ जाता है, जिस तरह कि पहले से ही नित्य आसक्त व्यक्ति होता है। भगवान् के ऐसे विशेष रूप के प्रति यह आसक्ति *स्वरूप सिद्धि* कहलाती है। भगवान् शुद्ध भक्त के इच्छित नित्य रूप में भक्त के हृदय कमल में आसीन हो जाते हैं और इस तरह भगवान् भक्त से विलग नहीं होते जैसी कि पिछले श्लोक में पुष्टि की गई है। किन्तु भगवान् किसी आकस्मिक या अप्रामाणिक पूजक के समक्ष अपना उद्घाटन नहीं करते। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.२५) में हुई है—*नाहं प्रकाश: सर्वस्य योगमायासमावृत:*। प्रत्युत भगवान् अपनी योगमाया द्वारा उन अभक्तों या आकस्मिक भक्तों से अपने को गोपित रखते हैं, जो अपनी इन्द्रियतृप्ति की सेवा में लगे होते हैं। भगवान् कभी भी उन छद्म भक्तों को दृष्टिगोचर नहीं होते जो विश्व के मामलों का भार सँभालने वाले देवताओं की पूजा करते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् कभी छद्म भक्त के आदेशवाहक नहीं बन सकते, अपितु वे उस शुद्ध अबद्ध भक्त की इच्छाओं को पूरा करने के लिए सदैव तैयार रहते हैं, जो समस्त प्रकार के भौतिक दूषण से रहित होता है।

नातिप्रसीदति तथोपचितोपचारै-
राराधित: सुरगणैर्हृदि बद्धकामै: ।
यत्सर्वभूतदययासदलभ्ययैको
नानाजनेष्ववहित: सुहृदन्तरात्मा ॥ १२॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; अति—अत्यधिक; प्रसीदति—तुष्ट होता है; तथा—जितना; उपचित—ठाठबाट से; उपचारै:—पूजनीय साज सामग्री सहित; आराधित:—पूजित होकर; सुर-गणै:—देवताओं द्वारा; हृदि बद्ध-कामै:—समस्त प्रकार की भौतिक इच्छाओं से पूरित हृदय से; यत्—जो; सर्व—समस्त; भूत—जीव; दयया—उन पर अहैतुकी कृपा दिखाने के लिए; असत्—अभक्त; अलभ्यया—प्राप्त न हो सकने से; एक:—अद्वितीय; नाना—विविध; जनेषु—जीवों में; अवहित:—अनुभूत; सुहृत्—शुभेच्छु मित्र; अन्त:—भीतर; आत्मा—परमात्मा।

हे प्रभु, आप उन देवताओं की पूजा से बहुत अधिक तुष्ट नहीं होते जो आपकी पूजा अत्यन्त ठाठ-बाट से तथा विविध साज-सामग्री के साथ करते तो हैं, किन्तु भौतिक लालसाओं से पूर्ण होते हैं। आप हर एक के हृदय में परमात्मा के रूप में अपनी अहैतुकी कृपा दर्शाने के लिए स्थित

रहते हैं। आप नित्य शुभचिन्तक हैं, किन्तु आप अभक्तों के लिए अनुपलब्ध हैं।

तात्पर्य : भौतिक मामलों के लिए नियुक्त प्रशासक देवलोक के देवता भी भगवान् के भक्त हैं। किन्तु इसी के साथ उनमें भौतिक ऐश्वर्य तथा इन्द्रियतृप्ति के लिए इच्छाएँ होती हैं। भगवान् इतने दयालु हैं कि वे उन्हें उनकी इच्छा से भी अधिक समस्त प्रकार का भौतिक सुख प्रदान करते हैं, किन्तु वे उनसे तुष्ट नहीं रहते, क्योंकि वे शुद्ध भक्त नहीं हैं। भगवान् यह नहीं चाहते कि उनके असंख्य पुत्रों (जीवों) में कोई भी तीन तापों वाले भौतिक जगत में रहकर जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा तथा रोग के भौतिक कष्टों को लगातार भोगता रहे। स्वर्गलोक के देवता तथा इस लोक के अनेक भक्त भी भौतिक जगत में भगवद्भक्त बने रहकर भौतिक सुख का लाभ उठाना चाहते हैं। वे जीवन के निम्न पद पर आ गिरने का जोखिम उठाकर ऐसा करते हैं जिससे भगवान् उनसे असन्तुष्ट रहते हैं।

शुद्ध भक्तों को न तो किसी भौतिक भोग की आकांक्षा रहती है, न ही वे उससे विमुख रहते हैं। वे भगवान् की इच्छाओं से अपनी इच्छाओं को जोड़ देते हैं और अपने लिए वे कुछ भी नहीं करते। इसका उत्तम उदाहरण अर्जुन है। अर्जुन अपनी भावनाओं से पारिवारिक स्नेहवश युद्ध नहीं करना चाहता था, किन्तु *श्रीमद्भगवद्गीता* सुनने के बाद उसने भगवान् की इच्छा के लिए लड़ना स्वीकार किया। अतएव भगवान् शुद्ध भक्तों से अत्यधिक सन्तुष्ट रहते हैं, क्योंकि वे अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म न करके एकमात्र भगवान् की इच्छा के अनुसार कर्म करते हैं। परमात्मा रूप में वे हर एक के हृदय में सदैव स्थित रहते हैं और हर एक को अच्छी सलाह से लाभ उठाने का अवसर प्रदान करते हैं। अतः हर व्यक्ति को चाहिए कि इस अवसर का लाभ उठाते हुए पूर्ण मनोयोग से केवल उन्हीं की दिव्य प्रेमाभक्ति करे।

किन्तु अभक्तगण न तो देवताओं जैसे होते हैं न शुद्ध भक्तों जैसे, अपितु वे भगवान् के साथ दिव्य सम्बन्ध बनाने से विमुख रहते हैं। उन्होंने भगवान् के प्रति विद्रोह किया है; इसलिए उन्हें निरन्तर अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है।

भगवद्गीता (४.११) में कहा गया है : *ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*—यद्यपि भगवान् हर जीव पर समान रूप से कृपालु हैं, किन्तु जीव अपनी ओर से भगवान् को कम या ज्यादा प्रसन्न कर सकते हैं। देवता सकाम भक्त कहलाते हैं अर्थात् वे भक्त जिनके मनों में भौतिक इच्छाएँ होती हैं, किन्तु

शुद्ध भक्त निष्काम भक्त कहलाते हैं, क्योंकि उनकी अपने निजी स्वार्थ के लिए इच्छाएँ नहीं होतीं। सकाम भक्त स्व:हितार्थी होते हैं, क्योंकि वे अन्यों के विषय में नहीं सोचते, अतएव वे भगवान् को पूरी तरह से तुष्ट नहीं कर पाते, जबकि शुद्ध भक्तगण अभक्तों को भक्तों में बदलने के धर्मप्रचार का उत्तरदायित्व निभाते हैं, अत: वे भगवान् को देवताओं की अपेक्षा अधिक तुष्ट कर पाते हैं। भगवान् अभक्तों की ओर ध्यान भी नहीं देते यद्यपि वे हर एक के हृदय के भीतर शुभेच्छु तथा परमात्मा के रूप में आसीन रहते हैं। किन्तु वे उन्हें भी अपने ऐसे शुद्ध भक्तों के माध्यम से अपनी कृपा प्राप्त करने का अवसर प्रदान करते हैं, जो धर्मप्रचार कार्यों में लगे हुए हैं। कभी-कभी भगवान् स्वयं ही धर्म प्रचार के कार्यों के लिए अवतरित होते हैं जैसाकि चैतन्य महाप्रभु के रूप में किया था। किन्तु अधिकांशतया वे अपने प्रामाणिक प्रतिनिधियों को भेजते हैं और इस तरह वे अभक्तों के प्रति अपनी अहैतुकी कृपा प्रदर्शित करते हैं। भगवान् अपने शुद्ध भक्तों से इतना तुष्ट रहते हैं कि वे उन्हें धर्म प्रचार की सफलता का श्रेय देना चाहते हैं, यद्यपि वे इस कार्य को स्वयं कर सकते थे। सकाम भक्तों की तुलना में, अपने शुद्ध निष्काम भक्तों के साथ उनकी तुष्टि का यही संकेत है। भगवान् ऐसे दिव्यकार्यों के साथ ही पक्षपात के आरोप से मुक्त रहते हैं और अपने भक्तों के साथ अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है : यदि भगवान् अभक्तों के हृदय में भी आसीन रहते हैं, तो फिर वे भक्त बनने के लिए प्रेरित क्यों नहीं होते? इसका उत्तर यह है कि ढ़ीढ अभक्त उस बंजड़ या ऊसर खेत की तरह हैं जहाँ कोई भी कृषि-कार्य सफल नहीं हो सकता। भगवान् का भिन्नांश होने से पृथक् जीव को स्वल्प स्वतंत्रता प्राप्त है और इस स्वल्प स्वतंत्रता का दुरुपयोग करके अभक्तगण भगवान् तथा धर्म प्रचार के कार्य में लगे उनके शुद्ध भक्त, दोनों ही के प्रति अपराध पर अपराध करते जाते हैं। ऐसे कार्यों के परिणामस्वरूप वे ऊसर खेत की तरह बंजड़ बन जाते हैं जिसमें उत्पादन कर पाने की कोई शक्ति नहीं रहती।

पुंसामतो विविधकर्मभिरध्वराद्यै-
र्दानेन चोग्रतपसा परिचर्यया च ।
आराधनं भगवतस्तव सत्क्रियार्थो
धर्मोऽर्पित: कर्हिचिद्म्रियते न यत्र ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

पुंसाम्—लोगों का; अतः—इसलिए; विविध-कर्मभिः—नाना प्रकार के सकाम कर्मों द्वारा; अध्वर-आद्यैः—वैदिक अनुष्ठान सम्पन्न करने से; दानेन—दान के द्वारा; च—तथा; उग्र—अत्यन्त कठोर; तपसा—तपस्या से; परिचर्यया—दिव्य सेवा द्वारा; च—भी; आराधनम्—पूजा; भगवतः—भगवान् की; तव—तुम्हारा; सत्-क्रिया-अर्थः—एकमात्र आपको प्रसन्न करने के लिए; धर्मः—धर्म; अर्पितः—इस प्रकार अर्पित; कर्हिचित्—किसी समय; म्रियते—विनष्ट होता है; न—कभी नहीं; यत्र—वहाँ।

किन्तु वैदिक अनुष्ठान, दान, कठोर तपस्या तथा दिव्य सेवा जैसे पुण्य कार्य भी, जो लोगों द्वारा सकाम फलों को आपको अर्पित करके आपकी पूजा करने तथा आपको तुष्ट करने के उद्देश्य से किये जाते हैं, लाभप्रद होते हैं। धर्म के ऐसे कार्य व्यर्थ नहीं जाते।

तात्पर्य : परम भक्ति जो नौ विभिन्न आध्यात्मिक कार्य—यथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन, वन्दन इत्यादि द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं, तड़क-भड़क स्वभाव के लोगों को सदैव अच्छी नहीं लगती। वे तो वैदिक बाह्य अनुष्ठानों तथा सामाजिक धार्मिक दिखावे के दूसरे खर्चीले प्रदर्शनों से अधिक आकृष्ट होते हैं। किन्तु वैदिक आदेशों के अनुसार विधि यह है कि सारे पुण्य कर्मों के फल परमेश्वर को अर्पित किये जाँय। *भगवद्गीता* (९.२७) में भगवान् यह माँग करते हैं कि मनुष्य दैनिक कार्यों में जो भी करे यथा पूजा, यज्ञ तथा दान, उन सबका फल एकमात्र उन्हें ही अर्पित किया जाय। परमेश्वर को पुण्य कर्मों के फलों का यह अर्पण भगवान् की भक्ति का एक लक्षण है, जिसका स्थायी महत्त्व होता है, जबकि अपने लिए उन फलों का भोग केवल क्षणिक ही होता है। भगवान् के निमित्त किया गया कोई भी कार्य स्थायी निधि है और यह भगवान् की शुद्ध भक्ति तक क्रमशः उन्नति के लिए अदृश्य पुण्य के रूप में संचित होती है। ये अलक्षित पुण्य कर्म एक न एक दिन परमेश्वर की कृपा से पूर्ण भक्ति के रूप में प्रतिफलित होंगे। अतएव परमेश्वर के निमित्त किये गये किसी भी पुण्य कर्म की संस्तुति यहाँ पर उन लोगों के लिए भी की जाती है, जो शुद्ध भक्त नहीं हैं।

शश्वत्स्वरूपमहसैव निपीतभेद-
मोहाय बोधधिषणाय नमः परस्मै ।
विश्वोद्भवस्थितिलयेषु निमित्तलीला-
रासाय ते नम इदं चकृमेश्वराय ॥ १४॥

शब्दार्थ

शश्वत्—शाश्वत रूप से; स्वरूप—दिव्य रूप; महसा—महिमा के द्वारा; एव—निश्चय ही; निपीत—विभेदित; भेद—अन्तर; मोहाय—मोहमयी धारणा के हेतु; बोध—आत्म-ज्ञान; धिषणाय—बुद्धि; नमः—नमस्कार; परस्मै—ब्रह्म को; विश्व-उद्भव—

विराट जगत की सृष्टि; स्थिति—पालन; लयेषु—संहार भी; निमित्त—के हेतु; लीला—ऐसी लीलाओं से; रासाय—भोग हेतु; ते—तुम्हें; नमः—नमस्कार; इदम्—यह; चकृम—मैं करता हूँ; ईश्वराय—परमेश्वर को।

मैं उन परब्रह्म को नमस्कार करता हूँ जो अपनी अन्तरंगा शक्ति के द्वारा शाश्वत विशिष्ट अवस्था में रहते हैं। उनका विभेदित न किया जा सकने वाला निर्विशेष स्वरूप आत्म-साक्षात्कार हेतु बुद्धि द्वारा पहचाना जाता है। मैं उनको नमस्कार करता हूँ जो अपनी लीलाओं के द्वारा विराट जगत के सृजन, पालन तथा संहार का आनन्द लेते हैं।

तात्पर्य : परमेश्वर अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा जीवों से सदैव विभेदित होते हैं, यद्यपि वे स्वरूपसिद्ध बुद्धि के द्वारा अपने निर्विशेष रूप में भी समझे जाते हैं। अतएव भगवद्भक्त भगवान् के निर्विशेष रूप को सादर नमस्कार करते हैं। यहाँ पर *रास* शब्द महत्त्वपूर्ण है। रासनृत्य भगवान् कृष्ण द्वारा गोपियों के संग में वृन्दावन में सम्पन्न किया जाता है और गर्भोदकशायी विष्णु भी अपनी उस बहिरंगा शक्ति के साथ रास के भोग में लगे रहते हैं जिसके द्वारा वे सम्पूर्ण भौतिक जगत का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं। अप्रत्यक्ष रूप से ब्रह्माजी उन भगवान् श्रीकृष्ण को सादर नमस्कार करते हैं, जो सदैव गोपियों के साथ रासभोग में लगे रहते हैं जिसकी पुष्टि *गोपाल तापनी उपनिषद्* में निम्नलिखित शब्दों द्वारा हुई है—*परार्धान्ते सोऽबुध्यत गोपवेशो मे पुरुषः पुरस्तादाविर्बभूव*

भगवान् तथा जीव के बीच का अन्तर स्पष्ट रूप से तब अनुभव किया जाता है जब उनकी अन्तरंगा शक्ति को समझने के लिए पर्याप्त बुद्धि होती है, जो उस बहिरंगा शक्ति से भिन्न है, जिसके द्वारा वे भौतिक सृष्टि को सम्भव बनाते हैं।

यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि
नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति ।
तेऽनैकजन्मशमलं सहसैव हित्वा
संयान्त्यपावृतामृतं तमजं प्रपद्ये ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; अवतार—अवतार; गुण—दिव्य गुण; कर्म—कर्म; विडम्बनानि—सभी रहस्यमय; नामानि—दिव्य नाम; ये—वे; असु-विगमे—इस जीवन को छोड़ते समय; विवशाः—स्वतः; गृणन्ति—आवाहन करते हैं; ते—वे; अनैक—अनेक; जन्म—जन्म; शमलम्—संचित पाप; सहसा—तुरन्त; एव—निश्चय ही; हित्वा—त्याग कर; संयान्ति—प्राप्त करते हैं; अपावृत—खुली; अमृतम्—अमरता; तम्—उस; अजम्—अजन्मा की; प्रपद्ये—मैं शरण लेता हूँ।

मैं उनके चरणकमलों की शरण ग्रहण करता हूँ जिनके अवतार, गुण तथा कर्म सांसारिक मामलों के रहस्यमय अनुकरण हैं। जो व्यक्ति इस जीवन को छोड़ते समय अनजाने में भी उनके

दिव्य नाम का आवाहन करता है उसके जन्म-जन्म के पाप तुरन्त धुल जाते हैं और वह उन भगवान् को निश्चित रूप से प्राप्त करता है।

तात्पर्य : भगवान् के अवतारों के कार्यकलाप एक प्रकार से उन कार्यों के अनुकरण हैं, जो भौतिक जगत में चलते रहते हैं। वे मंच पर अभिनेता के समान हैं। अभिनेता मंच पर राजा के कार्यकलापों की नकल उतारता है यद्यपि वह सचमुच में राजा नहीं होता। इसी तरह जब भगवान् अवतरित होते हैं, तो वे ऐसी भूमिकाओं का अनुकरण करते हैं जिनसे उन्हें कुछ भी लेना देना नहीं होता। *भगवद्गीता* (४.१४) में कहा गया है कि भगवान् को उन कार्यों से कुछ भी लेना देना नहीं होता जिनमें वे लगे हुए प्रतीत होते हैं—*न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा*। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं। वे अपनी इच्छामात्र से कोई भी कार्य अथवा प्रत्येक कार्य कर सकते हैं। जब वे कृष्ण के रूप में अवतरित हुए तो उन्होंने यशोदा तथा नन्द के पुत्र-रूप में भूमिका निभाई और उन्होंने गोवर्धन पर्वत उठाया, यद्यपि पर्वत उठाना उनका कार्य नहीं है। वे अपनी इच्छामात्र से लाखों गोवर्धन पर्वतों को उठा सकते हैं। उन्हें अपने हाथ से उसे उठाने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु वे इसे उठा कर सामान्य जीव का अनुकरण करते हैं और साथ ही वे अपनी आधिदैविक शक्ति को दिखाते हैं। इस तरह उनको गोवर्धनधारी नाम से भी पुकारा जाता है। अत: उनके अवतार-रूप के कार्य और भक्तों के प्रति पक्षपात अनुकरण-मात्र हैं जिस तरह कि मंच के दक्ष अभिनेता का वेश होता है। किन्तु उस रूप में उनके सारे कार्य सर्वशक्तिमान के होते हैं और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अवतारों के ऐसे कार्यों का स्मरण उतना ही शक्तिशाली होता है जितना कि साक्षात् उनका। अजामिल ने अपने पुत्र नारायण के नाम को पुकार करके भगवान् नारायण के पवित्र नाम का स्मरणमात्र किया था, और इससे उसे जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने का पूरा पूरा अवसर प्राप्त हो गया।

यो वा अहं च गिरिशश्च विभुः स्वयं च
स्थित्युद्भवप्रलयहेतव आत्ममूलम् ।
भित्त्वा त्रिपाद्ववृध एक उरुप्ररोहस्
तस्मै नमो भगवते भुवनद्रुमाय ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; वै—निश्चय ही; अहम् च—मैं भी; गिरिशः च—शिव भी; विभुः—सर्वशक्तिमान; स्वयम्—स्वयं (विष्णु रूप में); च—तथा; स्थिति—पालन; उद्भव—सृजन; प्रलय—संहार; हेतवः—कारण; आत्म-मूलम्—स्वत:स्थित; भित्त्वा—भेदकर; त्रि-पात्—तीन तने; ववृधे—उगा; एकः—अद्वितीय; उरु—अनेक; प्ररोहः—शाखाएँ; तस्मै—उसे; नमः—नमस्कार; भगवते—भगवान् को; भुवन-द्रुमाय—लोक रूपी वृक्ष को।

आप लोक रूपी वृक्ष की जड़ हैं। यह वृक्ष सर्वप्रथम भौतिक प्रकृति को तीन तनों के रूप में—मुझ, शिव तथा सर्वशक्तिमान आपके रूप में—सृजन, पालन तथा संहार के लिए भेदकर निकला है और हम तीनों से अनेक शाखाएँ निकल आई हैं। इसलिए हे विराट जगत रूपी वृक्ष, मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : विराट जगत मोटे तौर पर तीन जगतों में—उच्चतर, निम्न तथा मध्य लोकों में—विभाजित है और तब परम मूल रूप भगवान् के प्राकट्य से यह विराट जगत चौदह लोकों में फैल जाता है। भौतिक प्रकृति, जो विराट जगत का कारण प्रतीत होती है, केवल कारण अथवा भगवान् की शक्ति है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.१०) में हुई है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*—"केवल भगवान् के अधीक्षण में भौतिक प्रकृति समस्त सृजन, पालन तथा संहार का कारण प्रतीत होती है।" भगवान् पालन, सृजन, तथा संहार के लिए अपना विस्तार क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव इन तीन रूपों में करते हैं। प्रकृति के तीन गुणों के नियंत्रण के इन तीन प्रमुख अभिकर्ताओं में विष्णु सर्वशक्तिमान हैं। यद्यपि वे भौतिक प्रकृति में पालन के निमित्त हैं, किन्तु वे प्रकृति के नियमों द्वारा नियंत्रित नहीं होते। अन्य दो, ब्रह्मा तथा शिव, यद्यपि लगभग विष्णु जितने ही शक्तिशाली हैं, किन्तु वे भगवान् की भौतिक शक्ति के अधीन होते हैं। भौतिक प्रकृति के कई विभागों के अनेक देवताओं द्वारा नियंत्रण किए जाने की विचारधारा मूर्ख सर्वात्मवादी के मन की गन्दी उपज है। ईश्वर अद्वय हैं और वे समस्त कारणों के कारण हैं। जिस तरह सरकारी कामकाज के अनेक विभागीय अध्यक्ष होते हैं उसी तरह ब्रह्माण्ड के कामकाज की व्यवस्था के लिए अनेक अध्यक्ष हैं।

निर्विशेषवादी अल्पज्ञान के कारण यथारूप वस्तुओं की स्वयं की व्यवस्था में विश्वास नहीं करते। किन्तु इस श्लोक में स्पष्ट बताया गया है कि हर वस्तु साकार है, वह निराकार या निर्विशेष नहीं है। प्रस्तावना में हम पहले ही इस बात की व्याख्या कर चुके हैं और इस श्लोक में इसकी पुष्टि हुई है। भौतिक जगत रूपी वृक्ष का वर्णन *भगवद्गीता* में उस *अश्वत्थ* वृक्ष के रूप में हुआ है, जिसकी जड़ें ऊपर को हैं। जब हम किसी जलाशय के तटवर्ती वृक्ष के प्रतिबिम्ब को देखते हैं, तो हमें ऐसे ही वृक्ष

का वास्तविक अनुभव होता है। जल में वृक्ष का प्रतिबिम्ब इसकी ऊर्ध्वमुखी जड़ों से नीचे लटकता प्रतीत होता है। यहाँ जिस सृष्टि रूपी वृक्ष का वर्णन हुआ है, वह सत्य का प्रतिबिम्ब मात्र है और यह सत्य परब्रह्म, विष्णु हैं। वैकुण्ठलोकों की आन्तरिक शक्तिमान अभिव्यक्ति में वास्तविक वृक्ष विद्यमान है और भौतिक प्रकृति में प्रतिबिम्बित वृक्ष इसी वास्तविक वृक्ष का प्रतिबिम्ब मात्र है। निर्विशेषवादियों का यह सिद्धान्त कि ब्रह्म समस्त विविधता से शून्य होता है, झूठा है, क्योंकि *भगवद्गीता* में वर्णित प्रतिबिम्बित वृक्ष असली वृक्ष के प्रतिबिम्ब होने के बिना विद्यमान नहीं रह सकता। असली वृक्ष आध्यात्मिक प्रकृति के नित्य अस्तित्व में स्थित रहता है, जो दिव्य विविधता से पूर्ण है और भगवान् विष्णु उस वृक्ष की भी जड़ हैं। असली तथा मिथ्या दोनों ही वृक्षों की जड़ वही भगवान् हैं, लेकिन मिथ्या वृक्ष असली वृक्ष का विकृत प्रतिबिम्ब मात्र है। यहाँ पर ब्रह्मा अपनी ओर से तथा शिवजी की ओर से असली वृक्ष रूप भगवान् को नमस्कार कर रहे हैं।

लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः
कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे ।
यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां
सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै ॥ १७॥

शब्दार्थ

लोकः—सामान्य लोग; विकर्म—अविचारित कर्म में; निरतः—लगे हुए; कुशले—लाभप्रद कार्य में; प्रमत्तः—लापरवाह; कर्मणि—कर्म में; अयम्—यह; त्वत्—आपके द्वारा; उदिते—घोषित; भवत्—आपकी; अर्चने—पूजा में; स्वे—अपने; यः—जो; तावत्—जब तक; अस्य—सामान्य लोगों का; बलवान्—अत्यन्त शक्तिमान; इह—यह; जीवित-आशाम्—जीवन-संघर्ष; सद्यः—प्रत्यक्षतः; छिनत्ति—काट कर खण्ड खण्ड कर दिया जाता है; अनिमिषाय—नित्य काल द्वारा; नमः—नमस्कार; अस्तु—हो; तस्मै—उसके लिए।

सामान्य लोग मूर्खतापूर्ण कार्यों में लगे रहते हैं। वे अपने मार्गदर्शन हेतु आपके द्वारा प्रत्यक्ष घोषित लाभप्रद कार्यों में अपने को नहीं लगाते। जब तक उनकी मूर्खतापूर्ण कार्यों की प्रवृत्ति बलवती बनी रहती है तब तक जीवन-संघर्ष में उनकी सारी योजनाएँ छिन्न-भिन्न होती रहेंगी। अतएव मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ जो नित्यकाल स्वरूप हैं।

तात्पर्य : सामान्य लोग निरर्थक कार्य में लगे हुए हैं। वे असली लाभप्रद कार्य के प्रति, जो भगवान् की भक्ति है और पारिभाषिक रूप में *अर्चना* विधान कहलाते हैं, बिल्कुल लापरवाह बने रहते हैं। अर्चना विधानों का उपदेश स्वयं भगवान् ने *नारद पांचरात्र* में किया है और उनका बुद्धिमान लोगों

द्वारा कड़ाई से पालन किया जाता है, जो यह भलीभाँति जानते हैं कि जीवन का चरम उद्देश्य उन भगवान् विष्णु तक पहुँचना है, जो विराट जगत रूपी वृक्ष की जड़ हैं। *भागवत* तथा *भगवद्गीता* में भी ऐसे विधानों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। मूर्ख लोग यह नहीं जानते कि उनका निजी हित विष्णु-अनुभूति में है। *भागवत* (७.५.३०-३२) में कहा गया है—

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।
अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्॥
न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुं दुराशया ये बहिरर्थमानिनः।
अन्धा यथान्धैरुपनीयमानास्तेऽपीशतन्त्यामुरुदाम्नि बद्धाः॥
नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किंचनानां न वृणीत यावत्॥

"जो लोग मिथ्या भौतिक सुख में पूरी तरह सड़ने के लिए कटिबद्ध हैं, वे न तो शिक्षकों के उपदेशों द्वारा, न आत्म-साक्षात्कार द्वारा, न ही शिष्टतापूर्ण विचार-विमर्श के द्वारा कृष्णोन्मुख हो सकते हैं। वे बिना लगाम की इन्द्रियों द्वारा अज्ञान के सबसे अंधकारमय क्षेत्र में घसीट कर ले जाए जाते हैं और इस तरह वे चबाये हुए को चबाने में अन्धाधुन्ध लगे रहते हैं।"

"वे अपने मूर्खतापूर्ण कर्मों के कारण यह नहीं जान पाते हैं कि मानव जीवन का चरम लक्ष्य विराट जगत के स्वामी विष्णु को प्राप्त करना है। इस तरह उनका वह जीवन-संघर्ष भौतिक सभ्यता की गलत दिशा में होता है, जो बहिरंगा शक्ति के अधीन है। उन्हें अपने ही जैसे मूर्ख व्यक्तियों के द्वारा मार्ग दिखलाया जाता है जिस तरह यदि एक अन्धा व्यक्ति दूसरे को रास्ता दिखलाता है, तो दोनों खंदक में जा गिरते हैं।"

"ऐसे मूर्ख लोग उस परम शक्तिमान के कार्यकलापों की ओर जो उनके मूर्खतापूर्ण कर्मों को वस्तुतः निष्प्रभावित करने वाला है, आकृष्ट नहीं हो सकते जब तक कि उनमें यह बुद्धि नहीं आ जाती कि उनका मार्गदर्शन उन महात्माओं द्वारा हो जो भौतिक आसक्ति से पूर्णतया मुक्त हैं।"

भगवद्गीता में भगवान् हर एक से अन्य सारे वृत्तिपरक कार्यों को त्यागने और *अर्चना* कार्यों में या भगवान् को प्रसन्न करने में पूरी तरह लगने के लिए आदेश देते हैं। किन्तु ऐसे अर्चना-कार्य की ओर

प्राय: कोई भी आकृष्ट नहीं होता। हर व्यक्ति न्यूनाधिक रूप में ऐसे कार्यों के प्रति आकृष्ट होता है, जो परमेश्वर के प्रति विद्रोहात्मक कार्य हैं। *ज्ञान* तथा *योग* की पद्धतियाँ भी अप्रत्यक्ष रूप से भगवान् के प्रति विद्रोहात्मक कार्य हैं। भगवान् की *अर्चना* के अतिरिक्त अन्य कोई कर्म शुभ नहीं है। कभी-कभी *ज्ञान* तथा *योग* को *अर्चना* के क्षेत्र में माना जाता है, जब चरम लक्ष्य एकमात्र विष्णु होता है, अन्यथा नहीं। निष्कर्ष यह है कि एकमात्र भगवद्भक्त ही मोक्ष के योग्य प्रामाणिक मानव है। अन्य लोग व्यर्थ ही, बिना किसी लाभ के, जीवन-संघर्ष में रत हैं।

यस्माद्विभेम्यहमपि द्विपरार्धधिष्ण्य-
मध्यासित: सकललोकनमस्कृतं यत् ।
तेपे तपो बहुसवोऽवरुरुत्समान-
स्तस्मै नमो भगवतेऽधिमखाय तुभ्यम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यस्मात्—जिससे; बिभेमि—डरता हूँ; अहम्—मैं; अपि—भी; द्वि-पर-अर्ध—४,३०,००,००,०००×२×३०×१२×१०० सौर वर्षों की सीमा तक; धिष्ण्यम्—स्थान में; अध्यासित:—स्थित; सकल-लोक—अन्य सारे लोकों द्वारा; नमस्कृतम्—आदरित; यत्—जिसने; तेपे—किया; तप:—तपस्या; बहु-सव:—अनेकानेक वर्ष; अवरुरुत्समान:—आपको प्राप्त करने की इच्छा से; तस्मै—उन को; नम:—मैं नमस्कार करता हूँ; भगवते—भगवान् को; अधिमखाय—समस्त यज्ञों के भोक्ता; तुभ्यम्—आपको।

हे प्रभु, मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ जो अथक काल तथा समस्त यज्ञों के भोक्ता हैं। यद्यपि मैं ऐसे स्थान में स्थित हूँ जो दो परार्धों की अवधि तक विद्यमान रहेगा, और यद्यपि मैं ब्रह्माण्ड के अन्य सभी लोकों का अगुआ हूँ, और यद्यपि मैंने आत्म-साक्षात्कार हेतु अनेकानेक वर्षों तक तपस्या की है, फिर भी मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्माजी ब्रह्माण्ड के महानतम पुरुष हैं, क्योंकि उनकी आयु सबसे लम्बी है। वे अपने तप, प्रभाव, प्रतिष्ठा इत्यादि के कारण सर्वाधिक सम्माननीय पुरुष हैं फिर भी वे भगवान् को सादर नमस्कार करते हैं। अत: अन्य सारे लोग जो ब्रह्मा के पद से बहुत ही नीचे हैं उनके लिए यह अनिवार्य है कि वे उन्हीं की तरह कर्तव्य समझकर नमस्कार करें।

तिर्यङ्मनुष्यविबुधादिषु जीवयोनि-
ष्वात्मेच्छयात्मकृतसेतुपरीप्सया य: ।
रेमे निरस्तविषयोऽप्यवरुद्धदेह-
स्तस्मै नमो भगवते पुरुषोत्तमाय ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तिर्यक्—मनुष्येतर पशु; मनुष्य—मानव आदि.; विबुध-आदिषु—देवताओं इत्यादि; जीव-योनिषु—विभिन्न जीव योनियों में; आत्म—आत्मा; इच्छया—इच्छा द्वारा; आत्म-कृत—स्वत:उत्पन्न; सेतु—दायित्व; परीप्सया—बनाये रखने की इच्छा से; य:—जो; रेमे—दिव्य लीला सम्पन्न करते हुए; निरस्त—अधिक प्रभावित हुए बिना; विषय:—भौतिक कल्मष; अपि—निश्चय ही; अवरुद्ध—प्रकट; देह:—दिव्य शरीर; तस्मै—उस; नम:—मेरा नमस्कार; भगवते—भगवान् को; पुरुषोत्तमाय—आदि भगवान्।

हे प्रभु, आप अपनी दिव्य लीलाएँ सम्पन्न करने हेतु स्वेच्छा से विविध जीवयोनियों में, मनुष्येतर पशुओं में तथा देवताओं में प्रकट होते हैं। आप भौतिक कल्मष से तनिक भी प्रभावित नहीं होते। आप धर्म के अपने सिद्धान्तों के दायित्वों को पूरा करने के लिए ही आते हैं, अत:, हे परमेश्वर ऐसे विभिन्न रूपों को प्रकट करने के लिए मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : विभिन्न जीवयोनियों में भगवान् के अवतार सर्वथा दिव्य हैं। वे कृष्ण, राम इत्यादि अपने अवतारों में मनुष्य रूप में प्रकट होते हैं, किन्तु वे मनुष्य नहीं हैं। जो व्यक्ति उन्हें सामान्य मनुष्य समझने की भूल करता है, वह निश्चय ही अल्पज्ञ है जैसाकि *भगवद्गीता* (९.११) में पुष्टि की गई है—*अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्*। यही सिद्धान्त तब भी लागू होता है जब वे शूकर या मत्स्य के रूप में अवतरित होते हैं। ये भगवान् के दिव्य रूप हैं, जो उनकी निजी इच्छा तथा लीलाओं की कुछ आवश्यकताओं के अन्तर्गत ही प्रकट होते हैं। उन्हें ऐसे दिव्य रूपों का प्राकट्य अपने भक्तों को प्रोत्साहित करने के लिए ही करना पड़ता है। जब जब उन्हें अपने भक्तों का उद्धार करने तथा अपने सिद्धान्तों को बनाये रखने की आवश्यकता होती है तब तब उनके विविध अवतार प्रकट होते हैं।

योऽविद्ययानुपहतोऽपि दशार्धवृत्त्या
निद्रामुवाह जठरीकृतलोकयात्र: ।
अन्तर्जलेऽहिकशिपुस्पर्शानुकूलां
भीमोर्मिमालिनि जनस्य सुखं विवृण्वन् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

य:—जो, जिसने; अविद्यया—अविद्या से प्रभावित; अनुपहत:—प्रभावित हुए बिना; अपि—भी; दश-अर्ध—पाँच; वृत्त्या—अन्योन्य क्रिया; निद्राम्—नींद; उवाह—स्वीकार किया; जठरी—उदर के भीतर; कृत—ऐसा करते हुए; लोक-यात्र:—विभिन्न जीवों का पालन पोषण; अन्त:-जले—प्रलयरूपी जल के भीतर; अहि-कशिपु—सर्प-शय्या पर; स्पर्श-अनुकूलाम्—स्पर्श के लिए सुखी; भीम-ऊर्मि—प्रचण्ड लहरों की; मालिनि—शृंखला; जनस्य—बुद्धिमान पुरुष का; सुखम्—सुख; विवृण्वन्—प्रदर्शित करते हुए।

हे प्रभु, आप उस प्रलयकालीन जल में शयन करने का आनन्द लेते हैं जहाँ प्रचण्ड लहरें उठती रहती हैं और बुद्धिमान लोगों को अपनी नींद का सुख दिखाने के लिए आप सर्पों की

शय्या का आनन्द भोगते हैं। उस काल में ब्रह्माण्ड के सारे लोक आपके उदर में स्थित रहते हैं।

तात्पर्य : ऐसे लोग जो अपनी शक्ति की सीमा से परे नहीं सोच पाते, कुएं के उन मेंढकों के समान हैं, जो विशाल प्रशान्त महासागर की लम्बाई-चौड़ाई की कल्पना नहीं कर सकते। ऐसे लोग जब यह सुनते हैं कि भगवान् तो ब्रह्माण्ड के विशाल सागर में अपनी शय्या पर शयन करते हैं, तो वे इसे गप्प मान बैठते हैं। उन्हें आश्चर्य होता है कि कोई किस तरह पानी में लेट कर सुखपूर्वक सो सकता है। किन्तु थोड़ी सी बुद्धि लगाने पर इस मूर्खतापूर्ण आश्चर्य को कम किया जा सकता है। समुद्र की तली में ऐसे विविध जीव हैं, जो भोजन करने, सोने, रक्षा करने तथा संभोग करने जैसे भौतिक शारीरिक कार्यों का भी आनन्द लेते हैं। यदि ऐसे नगण्य जीव जल के भीतर जीवन का आनन्द ले सकते हैं, तो सर्वशक्तिमान परमेश्वर सर्प के शीतल शरीर पर क्यों नहीं सो सकते और सागर की प्रचण्ड लहरों की उथल-पुथल का आनन्द क्यों नहीं ले सकते? भगवान् की विशेषता यह है कि उनके सारे कार्य दिव्य होते हैं और वे काल तथा दिक् की सीमाओं से बाधित हुए बिना कुछ भी तथा सब कुछ कर सकते हैं। वे भौतिक मान्यताओं के प्रति उदासीन रहकर अपना दिव्य आनन्द भोग सकते हैं।

यन्नाभिपद्मभवनादहमासमीड्य
लोकत्रयोपकरणो यदनुग्रहेण ।
तस्मै नमस्त उदरस्थभवाय योग-
निद्रावसानविकसन्नलिनेक्षणाय ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसकी; नाभि—नाभि; पद्म—कमल रूपी; भवनात्—घर से; अहम्—मैं; आसम्—प्रकट हुआ; ईड्य—हे पूजनीय; लोक-त्रय—तीनों लोकों के; उपकरणः—सृजन में सहायक बनकर; यत्—जिसकी; अनुग्रहेण—कृपा से; तस्मै—उसको; नमः—मेरा नमस्कार; ते—तुमको; उदर-स्थ—उदर के भीतर स्थित; भवाय—ब्रह्माण्ड से युक्त; योग-निद्रा-अवसान—उस दिव्य निद्रा के अन्त होने पर; विकसत्—खिले हुए; नलिन-ईक्षणाय—जिसकी खुली आँखें कमलों के समान हैं उसे।

हे मेरी पूजा के लक्ष्य, मैं आपकी कृपा से ब्रह्माण्ड की रचना करने हेतु आपके कमल-नाभि रूपी घर से उत्पन्न हुआ हूँ। जब आप नींद का आनन्द ले रहे थे, तब ब्रह्माण्ड के ये सारे लोक आपके दिव्य उदर के भीतर स्थित थे। अब आपकी नींद टूटी है, तो आपके नेत्र प्रातःकाल में खिलते हुए कमलों की तरह खुले हुए हैं।

तात्पर्य : ब्रह्माजी हमें प्रातः (४ बजे) से सायंकाल (१० बजे) तक के अर्चाविधान के शुभारम्भ की शिक्षा दे रहे हैं। भक्त को तड़के अपने बिस्तर से उठकर भगवान् की प्रार्थना करनी होती है और

प्रात:कालीन मंगल-आरति करने के अन्य विधि-विधान पूरे करने होते हैं। अभक्त मूर्ख-जन अर्चना की महत्ता न समझ सकने के कारण इन विधि-विधानों की आलोचना करते हैं, किन्तु उन्हें यह नहीं दिखता कि भगवान् भी स्वेच्छा से सोते हैं। ब्रह्म की निर्विशेष धारणा भक्ति-मार्ग के लिए इतनी बाधक है कि ढ़ीढ अभक्तों के संग रह पाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि वे सदैव भौतिक अवधारणाओं के अनुसार ही सोचते हैं।

निर्विशेषवादी सदैव उल्टा सोचते हैं। वे सोचते हैं कि चूँकि पदार्थ में रूप है इसलिए आत्मा रूपविहीन होगा। चूँकि पदार्थ में निद्रा है, अत: आत्मा में निद्रा नहीं हो सकती और चूँकि *अर्चना* में अर्चाविग्रह की निद्रा को स्वीकार किया जाता है, अत: अर्चना माया है। ये समस्त विचार मूलत: भौतिक हैं। तो भी सकारात्मक या नकारात्मक रूप से सोचना भौतिकता है। वेदों के श्रेष्ठ स्रोत से स्वीकार किया गया ज्ञान मानक होता है। *श्रीमद्भागवत* के इन श्लोकों में *अर्चना* की संस्तुति की गई है। सृजन का कार्य अपने हाथों में लेने से पूर्व ब्रह्मा ने देखा कि भगवान् प्रलयकालीन जल की लहरों में सर्प की शय्या में सो रहे हैं। इसलिए शयन करना भगवान् की अन्तरंगा शक्ति में निहित रहता है और भगवान् के शुद्ध भक्तगण, यथा ब्रह्मा तथा उनकी परम्परा के भक्त, इससे इनकार नहीं करते। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् जल की प्रचण्ड लहरों के बीच अतीव सुखपूर्वक सो रहे थे जिसके द्वारा वे यह दिखाना चाह रहे थे कि वे अपनी दिव्य इच्छा से कुछ भी कर सकते हैं और किसी भी परिस्थिति में उन्हें विघ्न नहीं पहुचता है। मायावादी इस भौतिक अनुभव से परे सोच ही नहीं सकता, अतएव वह भगवान् की पानी में सोने की क्षमता को नकारता है। उसका दोष यही है कि वह भगवान् की तुलना अपने से करता है और वह तुलना भी एक भौतिक सोच है। समस्त मायावादी दर्शन मूलत: भौतिक है, क्योंकि यह *नेति नेति* (यह नहीं,वह नहीं) पर आधारित है। ऐसे विचार से किसी को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को यथारूप में जानने का अवसर प्राप्त नहीं हो सकता।

सोऽयं समस्तजगतां सुहृदेक आत्मा
सत्त्वेन यन्मृडयते भगवान्भगेन ।
तेनैव मे दृशमनुस्पृशताद्यथाहं
स्त्रक्ष्यामि पूर्ववदिदं प्रणतप्रियोऽसौ ॥ २२॥

शब्दार्थ

सः—वह; अयम्—भगवान्; समस्त-जगताम्—समस्त ब्रह्माण्डों में से; सुहृत् एकः—एकमात्र मित्र तथा दार्शनिक; आत्मा—परमात्मा; सत्त्वेन—सतोगुण के द्वारा; यत्—जो; मृडयते—सुख उत्पन्न करता है; भगवान्—भगवान्; भगेन—छः ऐश्वर्यों द्वारा; तेन—उसके द्वारा; एव—निश्चय ही; मे—मुझको; दृशम्—आत्मपरीक्षण की शक्ति, अन्तर्दृष्टि; अनुस्पृशतात्—वह दे; यथा—जिस तरह; अहम्—मैं; स्रक्ष्यामि—सृजन कर सकूँगा; पूर्व-वत्—पहले की तरह; इदम्—यह ब्रह्माण्ड; प्रणत—शरणागत; प्रियः—प्रिय; असौ—वह (भगवान्)।

परमेश्वर मुझ पर कृपालु हों। वे इस जगत में सारे जीवों के एकमात्र मित्र तथा आत्मा हैं और वे अपने छः ऐश्वर्यों द्वारा जीवों के चरम सुख हेतु इन सबों का पालन-पोषण करते हैं। वे मुझ पर कृपालु हों, जिससे मैं पहले की तरह सृजन करने की आत्मपरीक्षण शक्ति से युक्त हो सकूँ, क्योंकि मैं भी उन शरणागत जीवों में से हूँ जो भगवान् को प्रिय हैं।

तात्पर्य : भगवान् पुरुषोत्तम अर्थात् श्रीकृष्ण दिव्य तथा भौतिक दोनों ही जगतों में सबों के पालनकर्ता हैं। वे सबों के जीवन तथा मित्र हैं, क्योंकि जीवों तथा भगवान् के बीच शाश्वत सहज स्नेह तथा प्रेम होता है। वे सबों के एकमात्र मित्र तथा हितैषी हैं और वे अद्वय हैं। भगवान् अपने छः दिव्य ऐश्वर्यों द्वारा सर्वत्र समस्त जीवों का पालन करते हैं जिसके कारण वे *भगवान्* अथवा पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर कहलाते हैं। ब्रह्माजी ने भगवान् की कृपा पाने के लिए प्रार्थना की जिससे वे पहले की तरह ब्रह्माण्ड का सृजन करने में समर्थ हो सकें। केवल भगवान् की अहैतुकी कृपा से वे मरीचि तथा नारद जैसी भौतिक तथा आध्यात्मिक विभूतियों का सृजन कर सके। ब्रह्मा ने भगवान् से प्रार्थना की, क्योंकि शरणागत के प्रति वे अतीव प्रिय रहते हैं। शरणागत आत्मा भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं जानता, अतएव भगवान् उसके प्रति अतीव वत्सल रहते हैं।

एष प्रपन्नवरदो रमयात्मशक्त्या
यद्यत्करिष्यति गृहीतगुणावतारः ।
तस्मिन्स्वविक्रममिदं सृजतोऽपि चेतो
युञ्जीत कर्मशमलं च यथा विजह्याम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; प्रपन्न—शरणागत; वर-दः—वर देने वाला; रमया—लक्ष्मीदेवी के साथ रमण करते हुए; आत्म-शक्त्या—अपनी अन्तरंगा शक्ति सहित; यत् यत्—जो जो; करिष्यति—वह कर सके; गृहीत—स्वीकार करते हुए; गुण-अवतारः—सतोगुण का अवतार; तस्मिन्—उसको; स्व-विक्रमम्—सर्वशक्तिमत्ता से; इदम्—इस विराट जगत को; सृजतः—रचते हुए; अपि—भी; चेतः—हृदय; युञ्जीत—लगा रहे; कर्म—कार्य; शमलम्—भौतिक प्रभाव, व्याधि; च—भी; यथा—यथासम्भव; विजह्याम्—मैं त्याग सकता हूँ।

भगवान् सदा ही शरणागतों को वर देने वाले हैं। उनके सारे कार्य उनकी अन्तरंगा शक्ति रमा

या लक्ष्मी के माध्यम से सम्पन्न होते हैं। मेरी उनसे यही विनती है कि भौतिक जगत के सृजन में वे मुझे अपनी सेवा में लगा लें और मेरी यही प्रार्थना है कि मैं अपने कर्मों द्वारा भौतिक रूप से प्रभावित न होऊँ, क्योंकि इस तरह मैं स्रष्टा होने की मिथ्या-प्रतिष्ठा त्यागने में सक्षम हो सकूँगा।

तात्पर्य : भौतिक सृजन, पालन तथा संहार के निमित्त प्रकृति के तीन गुणावतार—ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर—हैं। किन्तु विष्णु रूप में, अपनी अन्तरंगा शक्ति में भगवान् का अवतार सम्पूर्ण कार्यों के लिए परम शक्ति है। ब्रह्मा ने, जो सृजन के गुणों में सहायक मात्र हैं भगवान् के उपकरण रूप में अपने वास्तविक पद पर बने रहने की इच्छा व्यक्त की। न कि अपने को स्रष्टा होने की झूठी प्रतिष्ठा से गर्वित होने की। भगवान् का प्रिय बनने और उनका वर पाने की, यही विधि है। मूर्ख लोग अपने द्वारा निर्मित सम्पूर्ण सृजनों का श्रेय लेना चाहते हैं, किन्तु बुद्धिमान लोग यह भली-भाँति जानते हैं कि भगवान् की इच्छा के बिना एक पत्ती भी नहीं हिल सकती। इस तरह अद्‌भुत सृजनों का श्रेय भगवान् को मिलना चाहिए। एकमात्र आध्यात्मिक चेतना द्वारा ही मनुष्य अपने को भौतिक संसर्ग के कल्मष से मुक्त कर सकता है और भगवान् द्वारा प्रदत्त वर प्राप्त कर सकता है।

नाभिह्रदादिह सतोऽम्भसि यस्य पुंसो
विज्ञानशक्तिरहमासमनन्तशक्तेः ।
रूपं विचित्रमिदमस्य विवृण्वतो मे
मा रीरिषीष्ट निगमस्य गिरां विसर्गः ॥ २४॥

शब्दार्थ

नाभि-ह्रदात्—नाभिरूपी झील से; इह—इस कल्प में; सतः—लेटे हुए; अम्भसि—जल में; यस्य—जिसका; पुंसः—भगवान् का; विज्ञान—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की; शक्तिः—शक्ति; अहम्—मैं; आसम्—उत्पन्न हुआ था; अनन्त—असीम; शक्तेः—शक्तिशाली का; रूपम्—स्वरूप; विचित्रम्—विचित्र; इदम्—यह; अस्य—उसका; विवृण्वतः—प्रकट करते हुए; मे—मुझको; मा—नहीं; रीरिषीष्ट—लुप्त; निगमस्य—वेदों की; गिराम्—ध्वनियों का; विसर्गः—कम्पन।

भगवान् की शक्तियाँ असंख्य हैं। जब वे प्रलय-जल में लेटे रहते हैं, तो उस नाभिरूपी झील से, जिसमें कमल खिलता है, मैं समग्र विश्वशक्ति के रूप में उत्पन्न होता हूँ। इस समय मैं विराट जगत के रूप में उनकी विविध शक्तियों को उद्घाटित करने में लगा हुआ हूँ। इसलिए मैं प्रार्थना करता हूँ कि अपने भौतिक कार्यों को करते समय मैं वैदिक स्तुतियों की ध्वनि से कहीं विचलित न हो जाऊँ।

तात्पर्य : इस जगत का प्रत्येक व्यक्ति जो कि भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा हुआ है

अनेकानेक भौतिक गतिविधियों की ओर प्रवृत्त होता है और यदि वह अपने को भौतिक संसर्ग के प्रहार से बचा पाने में समर्थ नहीं होता तो वह आध्यात्मिक शक्ति से विपथ हो सकता है। भौतिक सृष्टि में ब्रह्मा को सभी प्रकार के जीवों का सृजन करना था जिस के साथ उन सबके शरीर उनकी भौतिक स्थितियों के अनुकूल हों। ब्रह्मा चाहते हैं कि भगवान् उनकी रक्षा करें, क्योंकि उनका सम्पर्क अनेकानेक दूषित जीवों से होना था। एक सामान्य ब्राह्मण अनेक पतित बद्धात्माओं की संगति के कारण अपने *ब्रह्मतेज* से नीचे गिर सकता है। सर्वोच्च ब्राह्मण के रूप में ब्रह्मा ऐसे पतन से भयभीत हैं, इसीलिए सुरक्षा के लिए वे भगवान् से प्रार्थना करते हैं। जीवन की आध्यात्मिक प्रगति में यह हर एक के लिए चेतावनी है। जब तक कोई भगवान् द्वारा पर्याप्त रूप से सुरक्षित न हो, वह अपने आध्यात्मिक पद से नीचे गिर सकता है, अतएव अपनी सुरक्षा के लिए तथा अपना कार्य करते रहने के लिए आशीर्वाद हेतु मनुष्य को निरन्तर भगवान् से प्रार्थना करनी होती है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी अपना धर्मप्रचार कार्य अपने भक्तों को सौंप दिया था और उन्हें भौतिक संसर्ग के प्रहार के प्रति सुरक्षा का आश्वासन दे रखा था। वेदों में आध्यात्मिक जीवन के मार्ग को तेज उस्तरे की धार के समान बताया गया है। थोड़ी सी भी असावधानी से तुरन्त ही ऊहापोह तथा रक्तपात हो सकता है, किन्तु जो व्यक्ति पूर्णतया शरणागत है और अपने को सौंपे हुए कार्य को सम्पन्न करने में सदैव भगवान् से रक्षा की याचना करता रहता है उसे भौतिक कल्मष में गिरने का कोई भय नहीं रहता।

सोऽसावदभ्रकरुणो भगवान्विवृद्ध-
प्रेमस्मितेन नयनाम्बुरुहं विजृम्भन् ।
उत्थाय विश्वविजयाय च नो विषादं
माध्व्या गिरापनयतात्पुरुषः पुराणः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (भगवान्); असौ—उस; अदभ्र—असीम; करुणः—कृपालु; भगवान्—भगवान्; विवृद्ध—अत्यधिक; प्रेम—प्रेम; स्मितेन—हँसी द्वारा; नयन-अम्बुरुहम्—कमलनेत्रों को; विजृम्भन्—खोलते हुए; उत्थाय—उत्थान हेतु; विश्व-विजयाय—विराट सृष्टि की महिमा के गायन हेतु; च—भी; नः—हमारी; विषादम्—निराशा; माध्व्या—मधुर; गिरा—शब्द; अपनयतात्—वे दूर करें; पुरुषः—परम; पुराणः—सबसे प्राचीन।

भगवान् जो कि परम हैं और सबसे प्राचीन हैं, अपार कृपालु हैं। मैं चाहता हूँ कि वे अपने कमलनेत्रों को खोल कर मुसकाते हुए मुझे वर दें। वे सम्पूर्ण विराट सृष्टि का उत्थान कर सकते हैं और अपने कृपापूर्ण आदेशों के द्वारा हमारा विषाद दूर कर सकते हैं।

तात्पर्य : भगवान् इस भौतिक जगत के पतितात्माओं पर अत्यधिक कृपालु हैं। सम्पूर्ण विराट जगत सबों के लिए अपनी भगवद्भक्ति बढ़ाने के लिए सुअवसर है और हर व्यक्ति इसी प्रयोजन के लिए है। भगवान् अपना विस्तार अनेक पुरुषों में करते हैं, जो या तो स्वांश होते हैं या विभिन्नांश। व्यष्टि आत्माओं वाले पुरुष उनके विभिन्नांश हैं जबकि स्वांश साक्षात् भगवान् होते हैं। स्वांश सेव्य होते हैं और विभिन्नांश आनन्द तथा ज्ञान के सर्वोच्च स्वरूप के साथ दिव्य आनन्द के आदान-प्रदान हेतु सेवक होते हैं। मुक्तात्माएँ बिना भौतिक कल्पित विचारों के सेव्य तथा सेवक के आनन्दमय आदान-प्रदान में सम्मिलित हो सकती हैं। सेव्य तथा सेवक के बीच ऐसे दिव्य आदान-प्रदान का विशिष्ट उदाहरण गोपियों के साथ सम्पन्न उनकी *रासलीला* है। गोपियाँ अन्तरंगा शक्ति की सेवक अंश हैं, अतएव रास लीला नृत्य में भगवान् के सम्मिलित होने को कभी भी पुरुष तथा स्त्री के संसारी सम्बन्ध जैसा नहीं मानना चाहिए। प्रत्युत भगवान् तथा जीवों के मध्य विचारों के आदान-प्रदान की यह सर्वोच्च सिद्धावस्था है। भगवान् पतितात्माओं को जीवन की इस सर्वोच्च सिद्धि के लिए अवसर प्रदान करते हैं। ब्रह्माजी को सम्पूर्ण विराट जगत की व्यवस्था का भार सौंपा गया है, अतएव वे भगवान् से आशीर्वाद माँगते हैं जिससे वे अपने इस कार्य को सम्पन्न कर सकें।

मैत्रेय उवाच
स्वसम्भवं निशाम्यैवं तपोविद्यासमाधिभिः ।
यावन्मनोवचः स्तुत्वा विरराम स खिन्नवत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—महर्षि मैत्रेय ने कहा; स्व-सम्भवम्—अपने प्राकट्य का स्रोत; निशाम्य—देखकर; एवम्—इस प्रकार; तपः—तपस्या; विद्या—ज्ञान; समाधिभिः—तथा मन की एकाग्रता द्वारा; यावत्—यथासम्भव; मनः—मन; वचः—शब्द; स्तुत्वा—स्तुति करके; विरराम—मौन हो गया; सः—वह (ब्रह्मा); खिन्न-वत्—मानो थक गया हो।

मैत्रेय मुनि ने कहा : हे विदुर, अपने प्राकट्य के स्रोत अर्थात् भगवान् को देखकर ब्रह्मा ने अपने मन तथा वाणी की क्षमता के अनुसार उनकी कृपा हेतु यथासम्भव स्तुति की। इस प्रकार स्तुति करने के बाद वे मौन हो गये मानो अपनी तपस्या, ज्ञान तथा मानसिक एकाग्रता के कारण वे थक गये हों।

तात्पर्य : ब्रह्मा में ज्ञान का प्रकाश इसलिए हुआ, क्योंकि भगवान् उनके हृदय में विराजमान थे। उत्पन्न होने के बाद ब्रह्माजी अपने प्राकट्य के स्रोत को सुनिश्चित नहीं कर पाये, किन्तु तपस्या तथा

मानसिक एकाग्रता के बाद वे अपने जन्म के स्रोत को देख सके और इस तरह अपने हृदय के माध्यम से उन्हें प्रकाश प्राप्त हुआ। बाह्य गुरु तथा अन्तरिक गुरु दोनों ही भगवान् का प्रतिनिधित्व करते हैं। जब तक ऐसे प्रामाणिक प्रतिनिधित्व से किसी का सम्पर्क नहीं हो जाता तब तक वह अपने को गुरु नहीं कह सकता। ब्रह्माजी को बाह्य गुरु से सहायता लेने का अवसर ही नहीं था, क्योंकि उस समय ब्रह्माण्ड में वे ही एकमात्र प्राणी थे। अतएव ब्रह्मा की स्तुतियों से प्रसन्न होकर भगवान् ने उन्हें प्रत्येक वस्तु के विषय में भीतर से प्रबुद्ध किया।

अथाभिप्रेतमन्वीक्ष्य ब्रह्मणो मधुसूदनः ।
विषण्णचेतसं तेन कल्पव्यतिकराम्भसा ॥ २७॥
लोकसंस्थानविज्ञान आत्मनः परिखिद्यतः ।
तमाहागाधया वाचा कश्मलं शमयन्निव ॥ २८॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; अभिप्रेतम्—मंशा, मनोभाव; अन्वीक्ष्य—देखकर; ब्रह्मणः—ब्रह्मा का; मधुसूदनः—मधु नामक असुर के वधकर्ता; विषण्ण—खिन्न; चेतसम्—हृदय के; तेन—उसके द्वारा; कल्प—युग; व्यतिकर-अम्भसा—प्रलयकारी जल; लोक-संस्थान—लोक की स्थिति; विज्ञाने—विज्ञान में; आत्मनः—स्वयं को; परिखिद्यतः—अत्यधिक चिन्तित; तम्—उससे; आह—कहा; अगाधया—अत्यन्त विचारपूर्ण; वाचा—शब्दों से; कश्मलम्—अशुद्धियाँ; शमयन्—हटाते हुए; इव—मानो।

भगवान् ने देखा कि ब्रह्माजी विभिन्न लोकों की योजना बनाने तथा उनके निर्माण को लेकर अतीव चिन्तित हैं और प्रलयंकारी जल को देखकर खिन्न हैं। वे ब्रह्मा के मनोभाव को समझ गये, अतः उन्होंने उत्पन्न मोह को दूर करते हुए गम्भीर एवं विचारपूर्ण शब्द कहे।

तात्पर्य : प्रलयकारी जल इतना भयावना था कि इसे देखकर ब्रह्मा तक विचलित हो गये थे और अत्यन्त चिन्तित थे कि विभिन्न जीवों को यथा मनुष्यों, मनुष्येतर तथा अतिमानवीय प्राणियों को स्थान देने के लिए बाह्य आकाश में विभिन्न लोकों को किस तरह स्थापित किया जाय। ब्रह्माण्ड के सारे लोक प्रकृति के गुणों के प्रभाव के अधीन विभिन्न कोटि के जीवों के अनुसार स्थित हैं। प्रकृति के गुण तीन हैं और परस्पर मिलाने पर ये नौ हो जाते हैं और जब इन नौ को मिलाया जाता है, तो वे इक्यासी बन जाते हैं। इसके बाद ये इक्यासी भी परस्पर मिलकर इतनी संख्या में हो जाते हैं कि भ्रम बढ़ता ही जाता है। ब्रह्माजी को निश्चित संख्या में बद्धजीवों को विभिन्न स्थानों तथा पदों पर स्थापित करना था। यह कार्य ब्रह्मा को ही करना था और ब्रह्माण्ड में अन्य कोई ऐसा नहीं जो यह समझ भी पाता हो कि यह

कार्य कितना कठिन था। किन्तु भगवान् की दया से ब्रह्मा इस गुरुतर कार्य को इतनी दक्षता से सम्पन्न कर सके कि हर व्यक्ति *विधाता* की करामात देखकर चकित है।

श्रीभगवानुवाच
मा वेदगर्भ गास्तन्द्रीं सर्ग उद्यममावह ।
तन्मयापादितं ह्यग्रे यन्मां प्रार्थयते भवान् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; **मा**—मत; **वेद-गर्भ**—वैदिक ज्ञान की गहराई तक पहुँचने वाले; **गाः तन्द्रीम्**—निराश हो; **सर्गे**—सृजन के लिए; **उद्यमम्**—अध्यवसाय; **आवह**—जरा हाथ तो लगाओ; **तत्**—वह (जो तुम चाहते हो); **मया**—मेरे द्वारा; **आपादितम्**—सम्पन्न हुआ; **हि**—निश्चय ही; **अग्रे**—पहले ही; **यत्**—जो; **माम्**—मुझसे; **प्रार्थयते**—माँग रहे हो; **भवान्**—तुम।

तब पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने कहा, ''हे ब्रह्मा, हे वेदगर्भ, तुम सृष्टि करने के लिए न तो निराश होओ, न ही चिन्तित। तुम जो मुझसे माँग रहे हो वह तुम्हें पहले ही दिया जा चुका है।

तात्पर्य : भगवान् या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि द्वारा अधिकारप्रदत्त कोई पुरुष पहले ही आशीर्वाद पा चुकता है और उसी तरह उसे सौंपा हुआ कार्य भी। निस्सन्देह, उस व्यक्ति को जिसे ऐसा उत्तरदायित्व सौंपा गया हो सदैव अपनी अक्षमता से अवगत होना चाहिए और अपने कर्तव्य के सफलतापूर्ण सम्पादन के लिए भगवान् की कृपा के लिए अपेक्षा करनी चाहिए। उसे इसलिए गर्वित नहीं होना चाहिए कि उसे कोई प्रशासनिक कार्य सौंपा गया है। वह भाग्यशाली है, जिसे ऐसा कार्य सौंपा गया है और यदि वह इस भाव में सदैव स्थिर रहता है कि मैं परमेश्वर की इच्छा के अधीन हूँ तो अपने कार्य के सम्पादन में उसका सफल होना सुनिश्चित है। अर्जुन को कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में युद्ध करने का कार्य सौंपा गया था और उसे यह कार्य सौंपने के पूर्व ही भगवान् उसकी विजय की व्यवस्था कर चुके थे। किन्तु अर्जुन भगवान् की अधीनता के प्रति सदैव सचेत रहा और इस उत्तरदायित्व में उसने उन्हें अपना परम मार्गदर्शक स्वीकार किया। जो भी व्यक्ति किसी उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न करने के लिए गर्वित रहता है, किन्तु उसका श्रेय भगवान् को नहीं देता वह निश्चय ही मिथ्याभिमानी है और वह कोई भी कार्य ढंग से सम्पन्न नहीं कर सकता। ब्रह्मा तथा उनके पदचिह्नों का अनुसरण करने वाली शिष्य-परम्परा के व्यक्ति सदैव भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति सम्पादित करने में सफल होते हैं।

भूयस्त्वं तप आतिष्ठ विद्यां चैव मदाश्रयाम् ।
ताभ्यामन्तर्हृदि ब्रह्मन्लोकान्द्रक्ष्यस्यपावृतान् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

भूयः—पुनः; त्वम्—तुम; तपः—तपस्या; आतिष्ठ—स्थित होओ; विद्याम्—ज्ञान में; च—भी; एव—निश्चय ही; मत्—मेरा; आश्रयाम्—संरक्षण में; ताभ्याम्—उन योग्यताओं द्वारा; अन्तः—भीतर; हृदि—हृदय में; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; लोकान्—सारे लोक; द्रक्ष्यसि—देखोगे; अपावृतान्—प्रकट हुआ।

हे ब्रह्मा, तुम अपने को तपस्या तथा ध्यान में स्थित करो और मेरी कृपा पाने के लिए ज्ञान के सिद्धान्तों का पालन करो। इन कार्यों से तुम अपने हृदय के भीतर से हर बात को समझ सकोगे।

तात्पर्य : किसी सौंपे गये उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न करने में लगे हुए विशिष्ट व्यक्ति के प्रति भगवान् द्वारा प्रदर्शित दया अकल्पनीय है। किन्तु उनकी यह दया भक्ति के प्रति हमारी तपस्या तथा अध्यवसाय के कारण प्राप्त होती है। ब्रह्मा को लोकों का सृजन करने का कार्य सौंपा गया था। भगवान् ने उन्हें आदेश दिया था कि ध्यान करने पर वे आसानी से जान सकेंगे कि लोकों को कहाँ पर और किस तरह व्यवस्थित किया जाय। ये आदेश अन्त:करण से आने थे और इस कार्य में चिन्ता करने की कोई आवश्यकता न थी। *बुद्धियोग* के ऐसे आदेश स्वयं भगवान् द्वारा अन्त:करण से सीधे प्रदान किये जाते हैं जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१०.१०) में हुई है।

तत आत्मनि लोके च भक्तियुक्तः समाहितः ।
द्रष्टासि मां ततं ब्रह्मन्मयि लोकांस्त्वमात्मनः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; आत्मनि—तुम अपने में; लोके—ब्रह्माण्ड में; च—भी; भक्ति-युक्तः—भक्ति में स्थित; समाहितः—पूर्णतया निमग्न; द्रष्टा असि—तुम देखोगे; माम्—मुझको; ततम्—सर्वत्र व्याप्त; ब्रह्मन्—हे ब्रह्मा; मयि—मुझमें; लोकान्—सारे ब्रह्माण्डों को; त्वम्—तुम; आत्मनः—जीव।

हे ब्रह्मा, जब तुम अपने सर्जनात्मक कार्यकलाप के दौरान भक्ति में निमग्न रहोगे तो तुम मुझको अपने में तथा ब्रह्माण्ड भर में देखोगे और तुम देखोगे कि मुझमें स्वयं तुम, ब्रह्माण्ड तथा सारे जीव हैं।

तात्पर्य : यहाँ भगवान् द्वारा यह उद्धरण दिया गया है कि ब्रह्मा दिन के समय उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में देखेंगे। वे प्रशंसा करेंगे कि किस तरह वृन्दावन में अपने बालपन के समय भगवान्

ने अपना विस्तार बछड़ों के रूप में कर लिया था, और वे जान सकेंगे कि किस तरह यशोदामाता ने कृष्ण की बाललीलाओं के समय उनके मुख के भीतर सारे ब्रह्माण्डों और लोकों को देखा था तथा वे यह भी देख सकेंगे कि ब्रह्मा के दिन में भगवान् कृष्ण के प्राकट्य के दौरान कई लाख ब्रह्मा होते हैं। किन्तु भगवान् के इतने सारे शाश्वत दिव्य रूप, जो सर्वत्र प्रकट होते रहते हैं किसी की समझ में नहीं आ सकते; ये केवल उन शुद्ध भक्तों द्वारा ही समझे जा सकते हैं, जो सदैव भगवान् की भक्ति में लगे रहते हैं और भगवान् में पूरी तरह से लीन रहते हैं। यहाँ पर ब्रह्मा की उच्च योग्यताओं का भी संकेत हुआ है।

यदा तु सर्वभूतेषु दारुष्वग्निमिव स्थितम् ।
प्रतिचक्षीत मां लोको जह्यात्तर्ह्येव कश्मलम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; तु—लेकिन; सर्व—समस्त; भूतेषु—जीवों में; दारुषु—लकड़ी में; अग्निम्—अग्नि; इव—सदृश; स्थितम्—स्थित; प्रतिचक्षीत—तुम देखोगे; माम्—मुझको; लोकः—तथा ब्रह्माण्ड; जह्यात्—त्याग सकता है; तर्हि—तब तुरन्त; एव—निश्चय ही; कश्मलम्—मोह।

तुम मुझको सारे जीवों में तथा ब्रह्माण्ड में सर्वत्र उसी प्रकार देखोगे जिस तरह काठ में अग्नि स्थित रहती है। केवल उस दिव्य दृष्टि की अवस्था में तुम सभी प्रकार के मोह से अपने को मुक्त कर सकोगे।

तात्पर्य : ब्रह्मा ने प्रार्थना की कि अपने भौतिक कार्यों के दौरान कहीं वे भगवान् से अपने नित्य सम्बन्ध को भूल न जाँय। उस प्रार्थना के उत्तर में भगवान् ने कहा कि उन्हें यह विचार तक मन में नहीं लाना चाहिए कि वे भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता से सम्बन्ध रखे बिना रह भी सकते हैं। यहाँ पर काठ के भीतर अग्नि का उदाहरण दिया गया है। काठ से उत्पन्न होने वाली अग्नि वही रहती है भले ही काठ भिन्न-भिन्न प्रकारों का हो। इसी तरह भौतिक सृष्टि के भीतर के जीवों के शरीर रूप तथा गुण के अनुसार भले ही भिन्न हों, किन्तु उनके भीतर का आत्मा एक दूसरे से भिन्न नहीं है। अग्नि की उष्मता का गुण सर्वत्र वही रहता है और आध्यात्मिक स्फुलिंग अथवा परमात्मा का भिन्नांश हर जीव में एकसा रहता है। इस तरह भगवान् की शक्ति उनकी सारी सृष्टि में वितरित है। एकमात्र यह दिव्य ज्ञान ही मनुष्य को भौतिक मोह के कल्मष से बचा सकता है। चूँकि भगवान् की शक्ति सर्वत्र वितरित है, अत:

शुद्ध आत्मा या भगवद्भक्त हर वस्तु को भगवान् से सम्बन्धित देख सकता है, अतएव उसे बाहरी आवरणों से कोई स्नेह नहीं रहता। वह शुद्ध आध्यात्मिक विचार उसे भौतिक संगति के समस्त कल्मष से निश्चेष्ट बना देता है। शुद्ध भक्त किसी भी अवस्था में भगवान् के संसर्ग को भुला नहीं पाता।

यदा रहितमात्मानं भूतेन्द्रियगुणाशयैः ।
स्वरूपेण मयोपेतं पश्यन्स्वाराज्यमृच्छति ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; रहितम्—से मुक्त; आत्मानम्—आत्मा; भूत—भौतिक तत्त्व; इन्द्रिय—भौतिक इन्द्रियाँ; गुण-आशयैः—भौतिक गुणों के प्रभाव के अधीन; स्वरूपेण—शुद्ध जीवन में; मया—मेरे द्वारा; उपेतम्—निकट आकर; पश्यन्—देखने से; स्वाराज्यम्—आध्यात्मिक साम्राज्य; ऋच्छति—भोग करते हैं।

जब तुम स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के विचार से मुक्त होगे तथा तुम्हारी इन्द्रियाँ प्रकृति के सारे प्रभावों से मुक्त होंगी तब तुम मेरी संगति में अपने शुद्ध रूप की अनुभूति कर सकोगे। उस समय तुम शुद्ध भावनामृत में स्थित होगे।

तात्पर्य : *भक्तिरसामृत सिन्धु* में यह कहा गया है कि जिस व्यक्ति की एकमात्र आकांक्षा भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करने की होती है, वह संसार की किसी भी अवस्था में मुक्त पुरुष होता है। यह सेवाभाव ही जीव का *स्वरूप* या असली रूप है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी *श्रीचैतन्य-चरितामृत* में यह घोषित करते हुए इस कथन की सम्पुष्टि की है कि जीव का असली आध्यात्मिक रूप भगवान् की नित्य दासता है। मायावादी लोग जीव में सेवा भाव के विचार से काँपने लगते हैं। वे यह नहीं जानते कि दिव्य जगत में भगवान् की सेवा दिव्य प्रेम पर आधारित है। दिव्य प्रेममयी सेवा की तुलना भौतिक जगत की बलात् कराई गई सेवा से कभी नहीं की जा सकती। भौतिक जगत में भले ही कोई इस विचार में रहे कि वह किसी का दास नहीं है फिर भी वह भौतिक गुणों के आदेशानुसार अपनी इन्द्रियों का दास होता है। वस्तुतः इस भौतिक जगत में स्वामी कोई नहीं है, अतः इन्द्रियों के दासों को दासता का बहुत बुरा अनुभव रहता है। वे सेवा के विचार से ही काँप उठते हैं, क्योंकि उन्हें दिव्य पद का कोई ज्ञान नहीं होता। दिव्य प्रेममयी सेवा में दास भगवान् की ही तरह स्वतंत्र होता है। भगवान् *स्वराट्* अर्थात् पूर्णतया स्वतंत्र हैं और आध्यात्मिक जगत में दास भी पूर्णतया स्वतंत्र या *स्वराट्* है, क्योंकि वहाँ बलात् सेवा नहीं ली जाती। वहाँ दिव्य प्रेममयी सेवा स्वतःस्फूर्त प्रेम के कारण होती है। ऐसी सेवा की

प्रतिबिम्बित झलक पुत्र के प्रति माता की सेवा, मित्र के प्रति मित्र की सेवा या पति के प्रति पत्नी की सेवा में अनुभव की जाती है। मित्रों, मातापिता या पत्नियों द्वारा सेवा के ये प्रतिबिम्ब बलकृत नहीं, अपितु एकमात्र प्रेम के कारण हैं। किन्तु इस भौतिक जगत में प्रेममयी सेवा केवल प्रतिबिम्ब है। असली सेवा या स्वरूप सेवा भगवान् के सान्निध्य में दिव्य जगत में वर्तमान है। दिव्य प्रेम की वही सेवा यहाँ पर भक्ति में की जा सकती है।

यह श्लोक ज्ञानियों पर भी लागू होता है। जब प्रबुद्ध ज्ञानी समस्त कल्मषों से—यथा स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के साथ-साथ प्रकृति के गुणों वाली इन्द्रियों से—मुक्त होता है, तो वह ब्रह्म को प्राप्त होता है और इस तरह भवबन्धन से छूट जाता है। वस्तुतः ज्ञानी तथा भक्तगण भौतिक कल्मष से मुक्ति पाने तक एकमत हैं, किन्तु जहाँ ज्ञानी लोग सामान्य ज्ञान के स्तर पर शान्त हो जाते हैं वहीं भक्तगण प्रेममयी सेवा में और अधिक आध्यात्मिक प्रगति कर लेते हैं। भक्तगण अपने स्वत:स्फूर्त सेवाभाव में आध्यात्मिक व्यष्टित्व विकसित कर लेते हैं, जो उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ *माधुर्यरस* तक पहुँच जाता है।

नानाकर्मवितानेन प्रजा बह्वीः सिसृक्षतः ।
नात्मावसीदत्यस्मिंस्ते वर्षीयान्मदनुग्रहः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

नाना-कर्म—तरह तरह की सेवा; वितानेन—विस्तार से; प्रजाः—जनता; बह्वीः—असंख्य; सिसृक्षतः—वृद्धि करने की इच्छा करते हुए; न—कभी नहीं; आत्मा—आत्मा; अवसीदति—वंचित होगा; अस्मिन्—पदार्थ में; ते—तुम्हारा; वर्षीयान्—सदैव बढ़ती हुई; मत्—मेरी; अनुग्रहः—अहैतुकी कृपा।

चूँकि तुमने जनसंख्या को असंख्य रूप में बढ़ाने तथा अपनी सेवा के प्रकारों को विस्तार देने की इच्छा प्रकट की है, अतः तुम इस विषय से कभी भी वंचित नहीं होगे, क्योंकि सभी कालों में तुम पर मेरी अहैतुकी कृपा बढ़ती ही जायेगी।

तात्पर्य : भगवान् का शुद्ध भक्त विशेष काल, वस्तु तथा परिस्थिति के तथ्यों से ज्ञात होने के कारण भगवद्भक्तों की संख्या को नाना प्रकार से सदैव बढ़ाना चाहता है। दिव्य सेवा का ऐसा विस्तार भौतिकतावादी को भले ही भौतिक लगे, किन्तु तथ्य तो यह है कि वह भक्त के प्रति भगवान् की अहैतुकी कृपा का ही विस्तार होता है। ऐसे कार्यों की योजनाएँ भौतिक कार्य प्रतीत हो सकती हैं, किन्तु परमेश्वर की दिव्य इन्द्रियों की तुष्टि में लगे होने से उनकी शक्ति भिन्न-भिन्न होती है।

ऋषिमाद्यं न बध्नाति पापीयांस्त्वां रजोगुणः ।
यन्मनो मयि निर्बद्धं प्रजाः संसृजतोऽपि ते ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

ऋषिम्—ऋषि को; आद्यम्—सर्वप्रथम; न—कभी नहीं; बध्नाति—पास फटकता है; पापीयान्—पापी; त्वाम्—तुम; रजः-गुणः—रजोगुण; यत्—क्योंकि; मनः—मन; मयि—मुझमें; निर्बद्धम्—लगे रहने पर; प्रजाः—सन्तति; संसृजतः—उत्पन्न करते हुए; अपि—भी; ते—तुम्हारे।

तुम आदि ऋषि हो और तुम्हारा मन सदैव मुझमें स्थिर रहता है इसीलिए विभिन्न सन्ततियाँ उत्पन्न करने के कार्य में लगे रहने पर भी तुम्हारे पास पापमय रजोगुण फटक भी नहीं सकेगा।

तात्पर्य : ब्रह्मा को यही आश्वासन द्वितीय स्कन्ध के नौवें अध्याय के श्लोक ३६ में दिया गया है। भगवान् द्वारा इस तरह अनुग्रह दिखाये जाने से ब्रह्मा की सारी योजनाएँ अच्युत हैं। यदि कभी ब्रह्मा मोहग्रस्त होते भी हैं, जैसाकि दशम स्कंध में है, तो वे अन्तरंगा शक्ति के कार्य को देखकर मोहित होते हैं और वह दिव्य सेवा में आगे बढ़ने के लिए ही है। अर्जुन भी इसी तरह मोहित होता पाया जाता है। भगवान् के शुद्ध भक्तों को ऐसा मोह भगवद्ज्ञान में उनकी उत्तरोत्तर उन्नति के लिए ही है।

ज्ञातोऽहं भवता त्वद्य दुर्विज्ञेयोऽपि देहिनाम् ।
यन्मां त्वं मन्यसेऽयुक्तं भूतेन्द्रियगुणात्मभिः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

ज्ञातः—ज्ञात; अहम्—मैं; भवता—तुम्हारे द्वारा; तु—लेकिन; अद्य—आज; दुः—कठिन; विज्ञेयः—जाना जा सकना; अपि—के बावजूद; देहिनाम्—बद्धजीव के लिए; यत्—क्योंकि; माम्—मुझको; त्वम्—तुम; मन्यसे—समझते हो; अयुक्तम्—बिना बने हुए; भूत—भौतिक तत्त्व; इन्द्रिय—भौतिक इन्द्रियाँ; गुण—भौतिक गुण; आत्मभिः—तथा मिथ्या अभिमान यथा बद्ध आत्मा द्वारा।

यद्यपि मैं बद्ध आत्मा द्वारा सरलता से ज्ञेय नहीं हूँ, किन्तु आज तुमने मुझे जान लिया है, क्योंकि तुम जानते हो कि मैं किसी भौतिक वस्तु से विशेष रूप से पाँच स्थूल तथा तीन सूक्ष्म तत्त्वों से नहीं बना हूँ।

तात्पर्य : सर्वोच्च परम सत्य के ज्ञान के लिए यह आवश्यक नहीं है कि भौतिक जगत का निषेध किया जाय, अपितु इसके लिए आध्यात्मिक जगत का ज्ञान आवश्यक है। यह सोचना कि भौतिक जगत की अनुभूति स्वरूपों में की जाती है, इसलिए आध्यात्मिक जगत रूपविहीन होगा, आत्मा की निषेधात्मक भौतिक धारणा है। असली आध्यात्मिक धारणा तो यह है कि आध्यात्मिक स्वरूप भौतिक

स्वरूप नहीं है। ब्रह्मा ने भगवान् के नित्य रूप की उस तरह से प्रशंसा की और भगवान् ने ब्रह्मा की आध्यात्मिक धारणा का अनुमोदन किया। *भगवद्गीता* में भगवान् ने कृष्ण के शरीर की उस भौतिक अवधारणा की निन्दा की है, जो इस कारण से उत्पन्न होती है कि वे एक मनुष्य की भाँति उपस्थित हैं। भगवान् अपने अनेकानेक आध्यात्मिक रूपों में से किसी एक में प्रकट हो सकते हैं, किन्तु वे न तो भौतिक वस्तु से बने होते हैं न ही उनके शरीर तथा आत्मा में कोई अन्तर होता है। भगवान् के आध्यात्मिक स्वरूप के चिन्तन की यही विधि है।

तुभ्यं मद्विचिकित्सायामात्मा मे दर्शितोऽबहिः ।
नालेन सलिले मूलं पुष्करस्य विचिन्वतः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

तुभ्यम्—तुमको; मत्—मुझको; विचिकित्सायाम्—जानने के तुम्हारे प्रयास करने पर; आत्मा—आत्मा; मे—मेरा; दर्शितः—प्रदर्शित; अबहिः—भीतर से; नालेन—डंठल से; सलिले—जल में; मूलम्—जड़; पुष्करस्य—आदि स्रोत कमल का; विचिन्वतः—चिंतन करते हुए।

जब तुम यह सोच-विचार कर रहे थे कि तुम्हारे जन्म के कमल-नाल के डंठल का कोई स्रोत है कि नहीं और तुम उस डंठल के भीतर प्रविष्ट भी हो गये थे, तब तुम कुछ भी पता नहीं लगा सके थे। किन्तु उस समय मैंने भीतर से अपना रूप प्रकट किया था।

तात्पर्य : भगवान् को न तो मानसिक चिन्तन द्वारा, न ही भौतिक इन्द्रियों की सहायता से, अपितु एकमात्र उनकी अहैतुकी कृपा होने पर अनुभव किया जा सकता है। भौतिक इन्द्रियाँ भगवान् की दिव्य जानकारी तक नहीं पहुँच सकतीं। उन्हें एकमात्र विनीत भक्ति के द्वारा जाना जा सकता है तब वे भक्त के समक्ष स्वयं प्रकट होते हैं। एकमात्र भगवत्प्रेम द्वारा मनुष्य ईश्वर को जान सकता है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। भगवान् को भौतिक आँखों से नहीं देखा जा सकता है किन्तु उन्हें भगवत्प्रेम के अंजन से खुले दिव्य नेत्रों द्वारा भीतर से देखा जा सकता है। जब तक पदार्थ के मलिन आवरण के कारण, मनुष्य की आध्यात्मिक आँखें बन्द रहती हैं, वह भगवान् को नहीं देख सकता। किन्तु जब *भक्तियोग* द्वारा यह मल (धूल) हटा दिया जाता है, तो मनुष्य निश्चित रूप से भगवान् का दर्शन कर सकता है। ब्रह्मा अपने व्यक्तिगत प्रयास से कमलनाल का मूल देख पाने में असफल रहे, किन्तु जब भगवान् उनकी तपस्या तथा भक्ति से तुष्ट हो गये तो उन्होंने बिना बाह्य प्रयास के अपने आपको भीतर से प्रकट

कर दिया।

यच्चकर्थाङ्ग मत्स्तोत्रं मत्कथाभ्युदयाङ्कितम् ।
यद्वा तपसि ते निष्ठा स एष मदनुग्रहः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

यत्—वह जो; चकर्थ—सम्पन्न किया; अङ्ग—हे ब्रह्मा; मत्-स्तोत्रम्—मेरे लिए प्रार्थना; मत्-कथा—मेरे कार्यकलापों के विषय में शब्द; अभ्युदय-अङ्कितम्—मेरी दिव्य लीलाओं की परिगणना करते हुए; यत्—या जो; वा—अथवा; तपसि—तपस्या में; ते—तुम्हारी; निष्ठा—श्रद्धा; सः—वह; एषः—ये सब; मत्—मेरी; अनुग्रहः—अहैतुकी कृपा।

हे ब्रह्मा, तुमने मेरे दिव्य कार्यों की महिमा की प्रशंसा करते हुए जो स्तुतियाँ की हैं, मुझे समझने के लिए तुमने जो तपस्याएँ की हैं तथा मुझमें तुम्हारी जो दृढ़ आस्था है—इन सबों को तुम मेरी अहैतुकी कृपा ही समझो।

तात्पर्य : जब कोई जीव दिव्य प्रेमाभक्ति में भगवान् की सेवा करना चाहता है, तो भगवान् *चैत्य गुरु* अर्थात् अन्त:करण के गुरु के रूप में भक्त की अनेक प्रकार से सहायता करते हैं। इस तरह भक्त भौतिक अनुमान से परे अनेक अद्‌भुत कार्य कर सकता है। भगवान् की कृपा से एक साधारण व्यक्ति तक सर्वोच्च आध्यात्मिक सिद्धि की स्तुतियों की रचना कर सकता है। ऐसी आध्यात्मिक सिद्धि भौतिक योग्यताओं द्वारा प्रतिबन्धित नहीं होती, अपितु दिव्य सेवा करने के निष्ठावान् प्रयास के फलस्वरूप विकसित होती है। आध्यात्मिक सिद्धि के लिए स्वैच्छिक प्रयास एकमात्र योग्यता है। धन या विद्या की भौतिक उपलब्धियाँ विचारणीय नहीं होतीं।

प्रीतोऽहमस्तु भद्रं ते लोकानां विजयेच्छया ।
यदस्तौषीर्गुणमयं निर्गुणं मानुवर्णयन् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

प्रीतः—प्रसन्न; अहम्—मैं; अस्तु—ऐसा ही हो; भद्रम्—समस्त आशीर्वाद; ते—तुमको; लोकानाम्—लोकों का; विजय—गुणगान की; इच्छया—तुम्हारी इच्छा से; यत्—वह जो; अस्तौषीः—तुमने प्रार्थना की है; गुण-मयम्—दिव्य गुणों का वर्णन करते हुए; निर्गुणम्—यद्यपि मैं समस्त भौतिक गुणों से रहित हूँ; मा—मुझको; अनुवर्णयन्—अच्छे ढंग से वर्णन करते हुए।

मेरे दिव्य गुण जो कि संसारी लोगों को सांसारिक प्रतीत होते हैं, उनका जो वर्णन तुम्हारे द्वारा प्रस्तुत किया गया है उससे मैं अतीव प्रसन्न हूँ। अपने कार्यों से समस्त लोकों को महिमामय करने की जो तुम्हारी इच्छा है उसके लिए मैं तुम्हें वर देता हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्मा जैसे शुद्ध भगवद्‌भक्त तथा उनकी शिष्य-परम्परा के भगवद्‌भक्त सैदव यही चाहते

हैं कि ब्रह्माण्ड भर के सारे जीव भगवान् से अवगत हो लें। भक्त की इस इच्छा को सदैव भगवान् का आशीर्वाद प्राप्त होता है। कभी-कभी निर्विशेषवादी जन भगवान् नारायण की कृपा के लिए सतोगुण के साकार रूप में उनकी प्रार्थना करते हैं, किन्तु ऐसी प्रार्थनाओं से भगवान् तुष्ट नहीं होते, क्योंकि इससे उनके वास्तविक दिव्य गुणों का गुणगान नहीं हो पाता। भगवान् के शुद्ध भक्त उन्हें सदैव अतिशय प्रिय होते हैं यद्यपि वे सभी जीवों के प्रति सदा कृपालु और दयापूर्ण रहते हैं। यहाँ पर *गुणमयम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह भगवान् के दिव्य गुणों से युक्त होने का सूचक है।

य एतेन पुमान्नित्यं स्तुत्वा स्तोत्रेण मां भजेत् ।
तस्याशु सम्प्रसीदेयं सर्वकामवरेश्वरः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; एतेन—इतने से; पुमान्—मनुष्य; नित्यम्—नियमित रूप से; स्तुत्वा—स्तुति करके; स्तोत्रेण—श्लोकों से; माम्—मुझको; भजेत्—पूजे; तस्य—उसकी; आशु—अतिशीघ्र; सम्प्रसीदेयम्—मैं पूरा करूँगा; सर्व—समस्त; काम—इच्छाएँ; वर-ईश्वरः—समस्त वरों का स्वामी।

जो भी मनुष्य ब्रह्मा की तरह प्रार्थना करता है और इस तरह जो मेरी पूजा करता है, उसे शीघ्र ही यह वर मिलेगा कि उसकी सारी इच्छाएँ पूरी हों, क्योंकि मैं समस्त वरों का स्वामी हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्मा द्वारा की गई स्तुति को कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं कर सकता है, जो अपनी इन्द्रियतृप्ति करने का इच्छुक है। ऐसी स्तुतियों का चयन वही व्यक्ति कर सकता है, जो भगवान् की सेवा करके उन्हें तुष्ट करना चाहता है। भगवान् दिव्य प्रेमाभक्ति विषयक समस्त इच्छाएँ निश्चय ही पूरी करते हैं, किन्तु वे अभक्तों की सनकों को पूरा नहीं कर सकते भले ही ऐसे आकस्मिक भक्तजन सर्वोत्कृष्ट प्रार्थनाएँ क्यों न करें।

पूर्तेन तपसा यज्ञैर्दानैर्योगसमाधिना ।
राद्धं निःश्रेयसं पुंसां मत्प्रीतिस्तत्त्वविन्मतम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

पूर्तेन—परम्परागत अच्छे कार्य द्वारा; तपसा—तपस्या से; यज्ञैः—यज्ञों के द्वारा; दानैः—दान के द्वारा; योग—योग द्वारा; समाधिना—समाधि द्वारा; राद्धम्—सफलता; निःश्रेयसम्—अन्ततोगत्वा लाभप्रद; पुंसाम्—मनुष्य की; मत्—मेरी; प्रीतिः—तुष्टि; तत्त्व-वित्—दक्ष अध्यात्मवादी; मतम्—मत।

दक्ष अध्यात्मवादियों का यह मत है कि परम्परागत सत्कर्म, तपस्या, यज्ञ, दान, योग कर्म, समाधि आदि सम्पन्न करने का चरम लक्ष्य मेरी तुष्टि का आवाहन करना है।

तात्पर्य : मानव समाज में अनेक परम्परागत पुण्य कर्म हैं यथा परोपकार, उपकार, राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता, दान, यज्ञ, तप तथा समाधि में ध्यान। किन्तु ये सब तभी लाभप्रद हो सकते हैं जब इनसे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की तुष्टि हो सके। किसी भी कार्य की, चाहे वह सामाजिक हो, राजनीतिक, धार्मिक या परोपकार सम्बन्धी, पूर्णता भगवान् को तुष्ट करने में है। सफलता का यह रहस्य भगवद्भक्तों को ज्ञात है, जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन द्वारा प्रस्तुत किया गया। अर्जुन एक नेक, अहिंसक मनुष्य के रूप में अपने परिजनों से युद्ध नहीं करना चाहता था किन्तु जब वह यह समझ गया कि कृष्ण युद्ध चाहते हैं और कुरुक्षेत्र में इसकी योजना उन्हीं की है, तो उसने अपनी प्रसन्नता का परित्याग करके भगवान् की प्रसन्नता के लिए युद्ध किया। सारे बुद्धिमान जनों के लिए यही उचित निर्णय है। मनुष्य को एकमात्र चिन्ता अपने कार्यों द्वारा भगवान् को तुष्ट करने की होनी चाहिए। यदि भगवान् किसी कार्य से, चाहे वह कैसा भी हो, तुष्ट हो जाते हैं, तो वह सफल है। अन्यथा यह समय का अपव्यय मात्र है। समस्त यज्ञ, तप, यौगिक समाधि तथा अन्य उत्तम एवं पुण्य कार्यों का यही मानदण्ड है।

अहमात्मात्मनां धातः प्रेष्ठः सन्प्रेयसामपि ।
अतो मयि रतिं कुर्याद्देहादिर्यत्कृते प्रियः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; आत्मा—परमात्मा; आत्मनाम्—अन्य सारी आत्माओं का; धातः—निदेशक; प्रेष्ठः—प्रियतम; सन्—होकर; प्रेयसाम्—समस्त प्रिय वस्तुओं का; अपि—निश्चय ही; अतः—इसलिए; मयि—मेरे प्रति; रतिम्—अनुरक्ति; कुर्यात्—करे; देह-आदिः—शरीर तथा मन; यत्-कृते—जिसके कारण; प्रियः—अत्यन्त प्रिय।

मैं प्रत्येक जीव का परमात्मा हूँ। मैं परम निदेशक तथा परम प्रिय हूँ। लोग स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के प्रति झूठे ही अनुरक्त रहते हैं; उन्हें तो एकमात्र मेरे प्रति अनुरक्त होना चाहिए।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तो बद्ध तथा मुक्त दोनों ही दशाओं में परमप्रिय हैं। जब कोई व्यक्ति यह नहीं जानता कि भगवान् ही एकमात्र सर्वाधिक प्रिय लक्ष्य हैं, तब वह जीवन की बद्ध अवस्था में होता है और जब वह यह भलीभाँति जान लेता है कि भगवान् ही एकमात्र सर्वाधिक प्रिय लक्ष्य हैं, तो वह मुक्त माना जाता है। भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को जानने की कोटियाँ हैं, जो इस अनुभूति पर निर्भर करती हैं कि परमेश्वर प्रत्येक जीव के सर्वप्रिय लक्ष्य क्यों हैं। असली कारण

भगवद्गीता (१५.७) में स्पष्ट बतलाया गया है। *ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:*—सारे जीव परमेश्वर के नित्य भिन्नांश हैं। जीव *आत्मा* कहलाता है और भगवान् *परमात्मा*। जीव ब्रह्म कहलाता है और भगवान् परब्रह्म या परमेश्वर। *ईश्वर: परम: कृष्ण:*। जिन बद्धात्माओं को आत्म-साक्षात्कार नहीं हुआ होता वे भौतिक देह को ही सर्वप्रिय मानते हैं। तब सर्वप्रियन्ता का विचार केन्द्रीभूत तथा विस्तृत दोनों रूपों में सारे शरीर में फैल जाता है। अपने शरीर तथा इसके विस्तारों यथा सन्तानों तथा सम्बन्धियों के प्रति अनुरक्ति वस्तुत: असली जीव के आधार पर विकसित होती है। जब असली जीव शरीर से बाहर चला जाता है, तो सर्वप्रिय पुत्र तक का शरीर आकर्षक नहीं लगता। अतएव सजीव स्फुलिंग या ब्रह्म का नित्य अंश स्नेह का असली आधार है, शरीर नहीं। चूँकि सारे जीव भी सर्वोपरि पुरुष के अंश हैं, अत: वे परम पुरुष सबों के स्नेह के वास्तविक आधार हैं। जो व्यक्ति प्रत्येक वस्तु के लिए अपने प्रेम के मूलभूत सिद्धान्त को भूल जाता है उसमें केवल टिमटिमाता प्रेम होता है, क्योंकि वह मायाग्रस्त होता है। जो माया के सिद्धान्त से जितना ही अधिक प्रभावित होता है, वह प्रेम के मूल सिद्धान्त से उतना ही विरक्त रहता है। जब तक कोई व्यक्ति भगवान् की प्रेमाभक्ति में पूर्णतया विकसित नहीं होता तब तक वास्तव में वह किसी वस्तु से प्रेम नहीं कर सकता।

प्रस्तुत श्लोक में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् पर प्रेम को केन्द्रित करने पर बल दिया गया है। यहाँ पर *कुर्यात्* शब्द सार्थक है। इसका अर्थ है "मनुष्य इसे प्राप्त करे।" यह इस बात पर बल देने के लिए है कि हमें प्रेम के सिद्धान्त के प्रति अधिकाधिक अनुरक्त होना चाहिए। माया का प्रभाव आध्यात्मिक जीव के अंश द्वारा अनुभव किया जाता है, किन्तु यह माया परमात्मा पर अपना प्रभाव नहीं दिखा सकती। मायावादी दार्शनिक जीव पर माया के प्रभाव को स्वीकार करके परमात्मा के साथ तदाकार होना चाहते हैं। किन्तु परमात्मा के प्रति वास्तविक प्रेम न होने से वे माया के प्रभाव द्वारा सदैव पाशबद्ध रहते हैं और परमात्मा के निकट पहुँच पाने में अक्षम रहते हैं। यह अक्षमता परमात्मा के प्रति उनके स्नेह के अभाव के कारण है। धनी कंजूस यह नहीं जानता कि वह अपनी सम्पत्ति का किस तरह उपयोग करे, अतएव अत्यन्त धनी होते हुए भी उसका कंजूस स्वभाव उसे सदैव निर्धन व्यक्ति बनाये रखता है। इस के विपरीत वह व्यक्ति जो यह जानता है कि धन का किस तरह उपयोग किया जाय, थोड़ी पूँजी होने पर भी तुरन्त धनी बन सकता है।

आँखों तथा सूर्य में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि सूर्यप्रकाश के बिना आँखें देख नहीं सकतीं। किन्तु शरीर के अन्य भाग, क्योंकि वे उष्मा के स्रोत के रुप में सूर्य से जुड़े होते हैं, आँखों की अपेक्षा सूर्य का अधिक लाभ उठाते हैं। सूर्य के प्रति स्नेह से युक्त हुए बिना आँखें सूर्य की किरणों को सहन नहीं कर सकतीं अथवा, दूसरे शब्दों में, ऐसी आँखों में सूर्य की किरणों की उपयोगिता को समझ पाने की क्षमता नहीं होती। इसी प्रकार से आनुभविक दार्शनिक, ब्रह्म का सैद्धान्तिक ज्ञान होने के बावजूद, परब्रह्म की कृपा का उपयोग नहीं कर पाते, क्योंकि उनमें स्नेह का अभाव रहता है। अत: अनेक निर्विशेषवादी दार्शनिक जन ब्रह्म का सैद्धान्तिक ज्ञान रखने के बावजूद भी सदा के लिए माया के वशीभूत रहते हैं, और वे ब्रह्म के प्रति स्नेह उत्पन्न नहीं करते, न ही उनमें स्नेह उत्पन्न होने की कोई सम्भावना रहती है, क्योंकि उनकी विधि दोषपूर्ण है। सूर्यदेव का भक्त, दृष्टिहीन होते हुए भी इस लोक से सूर्यदेव को उनके यथारूप में देख सकता है, किन्तु जो सूर्य का भक्त नहीं है, वह सूर्य की चमक को भी सहन नहीं कर पाता। इसी तरह भक्तियोग के द्वारा, कोई व्यक्ति ज्ञानी के स्तर पर न होते हुए भी, शुद्ध प्रेम के विकास के कारण अपने भीतर भगवान् का दर्शन कर सकता है। मनुष्य को सभी परिस्थितियों में भगवत्प्रेम विकसित करने का प्रयास करना चाहिए और इससे समस्त जटिल समस्याएँ हल हो जायेंगी।

सर्ववेदमयेनेदमात्मनात्मात्मयोनिना ।
प्रजा: सृज यथापूर्वं याश्च मय्यनुशेरते ॥ ४३॥

शब्दार्थ

सर्व—समस्त; वेद-मयेन—पूर्ण वैदिक ज्ञान के अधीन; इदम्—यह; आत्मना—शरीर द्वारा; आत्मा—तुम; आत्म-योनिना—सीधे भगवान् से उत्पन्न; प्रजा:—जीव; सृज—उत्पन्न करो; यथा-पूर्वम्—पहले की ही तरह; या:—जो; च—भी; मयि—मुझमें; अनुशेरते—स्थित हैं।.

मेरे आदेशों का पालन करके तुम पहले की तरह अपने पूर्ण वैदिक ज्ञान से तथा सर्वकारण-के-कारण-रूप मुझसे प्राप्त अपने शरीर द्वारा जीवों को उत्पन्न कर सकते हो।

मैत्रेय उवाच
तस्मा एवं जगत्स्रष्ट्रे प्रधानपुरुषेश्वर: ।
व्यज्येदं स्वेन रूपेण कञ्जनाभस्तिरोदधे ॥ ४४॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; तस्मै—उससे; एवम्—इस प्रकार; जगत्-स्रष्ट्रे—ब्रह्माण्ड के स्रष्टा के प्रति; प्रधान-पुरुष-ईश्वरः—आदि भगवान्; व्यज्य इदम्—यह आदेश देकर; स्वेन—अपने; रूपेण—स्वरूप द्वारा; कञ्ज-नाभः—भगवान् नारायण; तिरोदधे—अन्तर्धान हो गये।.

मैत्रेय मुनि ने कहा : ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्मा को विस्तार करने का आदेश देकर आदि भगवान् अपने साकार नारायण रूप में अन्तर्धान हो गये।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड का सृजन कार्य करने के पूर्व ब्रह्मा ने भगवान् के दर्शन किये। *चतुःश्लोकी भागवत* की यही व्याख्या है। जब सृजन ब्रह्मा के कार्य की प्रतीक्षा में था, तो ब्रह्मा ने भगवान् को देखा, अतः भगवान् सृष्टि के पूर्व अपने साकार रूप में विद्यमान थे। उनका नित्य रूप ब्रह्मा के प्रयास से सृजित नहीं हुआ जैसाकि अल्पज्ञों की कल्पना है। भगवान् अपने यथारूप में ब्रह्मा के समक्ष प्रकट हुए और उसी रूप में उनके सामने से अदृश्य हो गये। यह रूप भौतिकता से कलुषित नहीं है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''सृजन-शक्ति के लिए ब्रह्मा द्वारा स्तुति'' नामक नौवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दस

सृष्टि के विभाग

विदुर उवाच
अन्तर्हिते भगवति ब्रह्मा लोकपितामहः ।
प्रजाः ससर्ज कतिधा दैहिकीर्मानसीर्विभुः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—श्री विदुर ने कहा; अन्तर्हिते—अन्तर्धान होने पर; भगवति—भगवान् के; ब्रह्मा—प्रथम उत्पन्न प्राणी ने; लोक-पितामहः—समस्त लोकवासियों के दादा; प्रजाः—सन्तानें; ससर्ज—उत्पन्न किया; कतिधाः—कितनी; दैहिकीः—अपने शरीर से; मानसीः—अपने मन से; विभुः—महान्।

श्री विदुर ने कहा : हे महर्षि, कृपया मुझे बतायें कि लोकवासियों के पितामह ब्रह्मा ने अन्तर्धान हो जाने पर किस तरह से अपने शरीर तथा मन से जीवों के शरीरों को उत्पन्न किया?

ये च मे भगवन्पृष्टास्त्वय्यर्था बहुवित्तम ।
तान्वदस्वानुपूर्व्येण छिन्धि नः सर्वसंशयान् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ये—वे सभी; च—भी; मे—मेरे द्वारा; भगवन्—हे शक्तिशाली; पृष्टाः—पूछे गये; त्वयि—तुमसे; अर्थाः—प्रयोजन; बहु-वित्-तम—हे परम विद्वान; तान्—उन सबों को; वदस्व—कृपा करके वर्णन करें; आनुपूर्व्येण—आदि से अन्त तक; छिन्धि—कृपया समूल नष्ट कीजिये; नः—मेरे; सर्व—समस्त; संशयान्—सन्देहों को।

हे महान् विद्वान, कृपा करके मेरे सारे संशयों का निवारण करें और मैंने आपसे जो कुछ जिज्ञासा की है उसे आदि से अन्त तक मुझे बताएँ।

तात्पर्य : विदुर ने मैत्रेय से सारे प्रासंगिक प्रश्न पूछे, क्योंकि वे अच्छी तरह जानते थे कि मैत्रेय उनकी जिज्ञासाओं के सारे बिन्दुओं का उत्तर देने के लिए उचित व्यक्ति हैं। मनुष्य को अपने शिक्षक की योग्यताओं पर पूर्ण विश्वास होना चाहिए और विशिष्ट आध्यात्मिक प्रश्नों के लिए किसी अभिज्ञ व्यक्ति के पास नहीं जाना चाहिए। जब शिक्षक से ऐसे प्रश्नों का काल्पनिक उत्तर मिले, तो यह समय का अपव्यय मात्र है।

सूत उवाच
एवं सञ्चोदितस्तेन क्षत्रा कौषारविर्मुनिः ।
प्रीतः प्रत्याह तान्प्रश्नान्हृदिस्थानथ भार्गव ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; सञ्चोदितः—प्रोत्साहित हुआ; तेन—उसके द्वारा; क्षत्रा—विदुर से; कौषारविः—कुषार का पुत्र; मुनिः—मुनि ने; प्रीतः—प्रसन्न होकर; प्रत्याह—उत्तर दिया; तान्—उन; प्रश्नान्—प्रश्नों के; हृदि-स्थान्—अपने हृदय के भीतर से; अथ—इस प्रकार; भार्गव—हे भृगु पुत्र।

सूत गोस्वामी ने कहा : हे भृगुपुत्र, महर्षि मैत्रेय मुनि विदुर से इस तरह सुनकर अत्यधिक प्रोत्साहित हुए। हर वस्तु उनके हृदय में थी, अतः वे प्रश्नों का एक एक करके उत्तर देने लगे।

तात्पर्य : *सूत उवाच* (सूत गोस्वामी ने कहा) वाक्यांश यह सूचित करता प्रतीत होता है मानो महाराज परीक्षित तथा शुकदेव गोस्वामी के बीच चल रही वार्ता में भंग हुआ हो। जब शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित से बोल रहे थे तो सूत गोस्वामी तमाम दर्शकों में से एक थे। किन्तु सूत गोस्वामी नैमिषारण्य के मुनियों से बातें कर रहे थे जिनमें शुकदेव गोस्वामी के वंशज शौनक मुख्य थे। पर इससे विवेचनगत कथाओं में विशेष अन्तर नहीं आता।

मैत्रेय उवाच
विरिञ्चोऽपि तथा चक्रे दिव्यं वर्षशतं तपः ।
आत्मन्यात्मानमावेश्य यथाह भगवानजः ॥ ४॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—महर्षि मैत्रेय ने कहा; विरिञ्चः—ब्रह्मा ने; अपि—भी; तथा—उस तरह से; चक्रे—सम्पन्न किया; दिव्यम्—स्वर्गिक; वर्ष-शतम्—एक सौ वर्ष; तपः—तपस्या; आत्मनि—भगवान् की; आत्मानम्—अपने आप; आवेश्य—संलग्न रह कर; यथा आह—जैसा कहा गया था; भगवान्—भगवान्; अजः—अजन्मा।

परम विद्वान मैत्रेय मुनि ने कहा : हे विदुर, इस तरह भगवान् द्वारा दी गई सलाह के अनुसार ब्रह्मा ने एक सौ दिव्य वर्षों तक अपने को तपस्या में संलग्न रखा और अपने को भगवान् की भक्ति में लगाये रखा।

तात्पर्य : ब्रह्मा ने भगवान् नारायण के हेतु अपने आपको संलग्न रखा, इसका यह अर्थ है कि उन्होंने भगवान् की सेवा में अपने को लगाए रखा। यही वह सर्वोच्च तपस्या है, जो कितने ही वर्षों तक की जा सकती है। ऐसी सेवा से कोई कभी निवृत्त नहीं होता, क्योंकि यह शाश्वत तथा सदैव उत्साहवर्धक होती है।

तद्विलोक्याब्जसम्भूतो वायुना यदधिष्ठितः ।
पद्ममम्भश्च तत्कालकृतवीर्येण कम्पितम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

तत् विलोक्य—उसके भीतर देखकर; अब्ज-सम्भूतः—कमल से उत्पन्न; वायुना—वायु द्वारा; यत्—जो; अधिष्ठितः—जिस पर यह स्थित था; पद्मम्—कमल; अम्भः—जल; च—भी; तत्-काल-कृत—जो नित्य काल द्वारा प्रभावित था; वीर्येण—अपनी निहित शक्ति से; कम्पितम्—काँपता।

तत्पश्चात् ब्रह्मा ने देखा कि वह कमल जिस पर वे स्थित थे तथा वह जल जिसमें कमल उगा था प्रबल प्रचण्ड वायु के कारण काँप रहे हैं।

तात्पर्य : भौतिक जगत मोहमय कहलाता है, क्योंकि यह भगवान् की दिव्य सेवा की विस्मृति का स्थान है। इस तरह इस भौतिक जगत में भगवद्भक्ति में संलग्न व्यक्ति कभी-कभी विषम परिस्थितियों से अत्यधिक विचलित हो सकता है। माया शक्ति तथा भक्त—इन दो पक्षों के बीच युद्ध की घोषणा हुई रहती है और कभी कभी दुर्बल भक्त-पक्ष सबल मायाशक्ति के प्रतिघात की चपेंट में आ जाता है। किन्तु भगवान् की अहैतुकी कृपावश ब्रह्माजी अत्यन्त प्रबल थे और मायाशक्ति उन्हें अपना शिकार नहीं बना सकी यद्यपि यह उनकी चिन्ता का कारण तब बनी जब यह उनके पद को लड़खड़ाने में समर्थ हुई।

तपसा ह्येधमानेन विद्यया चात्मसंस्थया ।
विवृद्धविज्ञानबलो न्यपाद्वायुं सहाम्भसा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तपसा—तपस्या से; हि—निश्चय ही; एधमानेन—बढ़ते हुए; विद्यया—दिव्य ज्ञान द्वारा; च—भी; आत्म—आत्मा; संस्थया—आत्मस्थ; विवृद्ध—परिपक्व; विज्ञान—व्यावहारिक ज्ञान; बलः—शक्ति; न्यपात्—पी लिया; वायुम्—वायु को; सह अम्भसा—जल के सहित।

दीर्घकालीन तपस्या तथा आत्म-साक्षात्कार के दिव्य ज्ञान ने ब्रह्मा को व्यावहारिक ज्ञान में परिपक्व बना दिया था, अतः उन्होंने वायु को पूर्णतः जल के साथ पी लिया।

तात्पर्य : अस्तित्व के लिए ब्रह्माजी का संघर्ष उस निरन्तर युद्ध का निजी उदाहरण प्रस्तुत करता है, जो इस भौतिक जगत में जीवों तथा मोहिनी शक्ति माया में चलता रहता है। ब्रह्मा से लेकर आज तक सारे जीव भौतिक प्रकृति की सेनाओं से संघर्ष करते रहे हैं। विज्ञान तथा दिव्य अनुभूति में प्रगत ज्ञान के कारण मनुष्य उस भौतिक शक्ति पर नियंत्रण पाने का प्रयास कर सकता है, जो हमारे प्रयासों के विरुद्ध कार्यशील रहती है और आधुनिक युग में तो प्रगत भौतिक वैज्ञानिक ज्ञान तथा तपस्या ने भौतिक शक्तियों को नियंत्रित करने में अद्भुत भूमिका निभाई है। किन्तु भौतिक शक्ति पर ऐसा नियंत्रण तभी सफल हो सकता है जब मनुष्य भगवान् के शरणागत हो और दिव्य प्रेमाभक्ति के भाव से उनके आदेश का पालन करे।

तद्विलोक्य वियद्व्यापि पुष्करं यदधिष्ठितम् ।
अनेन लोकान्प्राग्लीनान्कल्पितास्मीत्यचिन्तयत् ॥ ७॥

शब्दार्थ

तत् विलोक्य—उसे देखकर; वियत्-व्यापि—अतीव विस्तृत; पुष्करम्—कमल; यत्—जो; अधिष्ठितम्—स्थित था; अनेन—इससे; लोकान्—सारे लोक; प्राक्-लीनान्—पहले प्रलय में मग्न; कल्पिता अस्मि—मैं सृजन करूँगा; इति—इस प्रकार; अचिन्तयत्—उसने सोचा।

तत्पश्चात् उन्होंने देखा कि वह कमल, जिस पर वे आसीन थे, ब्रह्माण्ड भर में फैला हुआ है और उन्होंने विचार किया कि उन समस्त लोकों को किस तरह उत्पन्न किया जाय जो इसके पूर्व उसी कमल में लीन थे।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के सारे लोकों के बीज उसी कमल में गर्भस्थ थे जिस पर ब्रह्मा आसीन थे। भगवान् ने पहले से सारे लोकों को उत्पन्न कर रखा था और सारे जीव भी ब्रह्मा में जन्म ले चुके थे। भौतिक जगत तथा सारे जीव पहले से ही बीजाणु रूप में भगवान् द्वारा उत्पन्न किये जा चुके थे और ब्रह्मा को इन्हीं बीजों को ब्रह्माण्ड भर में बिखेरना था। इसलिए असली सृष्टि *सर्ग* कहलाती है और बाद में ब्रह्मा द्वारा जो सृष्टि की गई वह *विसर्ग* कहलाती है।

पद्मकोशं तदाविश्य भगवत्कर्मचोदितः ।
एकं व्यभाङ्क्षीदुरुधा त्रिधा भाव्यं द्विसप्तधा ॥ ८॥

शब्दार्थ

पद्म-कोशम्—कमल-चक्र में; तदा—तब; आविश्य—प्रवेश करके; भगवत्—भगवान् द्वारा; कर्म—कार्यकलाप में; चोदितः—प्रोत्साहित किया गया; एकम्—एक; व्यभाङ्क्षीत्—विभाजित कर दिया; उरुधा—महान् खण्ड; त्रिधा—तीन विभाग; भाव्यम्—आगे सृजन करने में समर्थ; द्वि-सप्तधा—चौदह विभाग।

इस तरह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की सेवा में लगे ब्रह्माजी कमल के कोश में प्रविष्ट हुए और चूँकि वह सारे ब्रह्माण्ड में फैला हुआ था, अतः उन्होंने इसे ब्रह्माण्ड के तीन विभागों में और उसके बाद चौदह विभागों में बाँट दिया।

एतावाञ्जीवलोकस्य संस्थाभेदः समाहृतः ।
धर्मस्य ह्यनिमित्तस्य विपाकः परमेष्ठ्यसौ ॥ ९॥

शब्दार्थ

एतावान्—यहाँ तक; जीव-लोकस्य—जीवों द्वारा निवसित लोकों के; संस्था-भेदः—निवास स्थान की विभिन्न स्थितियाँ; समाहृतः—पूरी तरह सम्पन्न; धर्मस्य—धर्म का; हि—निश्चय ही; अनिमित्तस्य—अहैतुकता का; विपाकः—परिपक्व अवस्था; परमेष्ठी—ब्रह्माण्ड में सर्वोच्च व्यक्ति; असौ—उस।

परिपक्व दिव्य ज्ञान में भगवान् की अहैतुकी भक्ति के कारण ब्रह्माजी ब्रह्माण्ड में सर्वोच्च पुरुष हैं। इसीलिए उन्होंने विभिन्न प्रकार के जीवों के निवास स्थान के लिए चौदह लोकों का सृजन किया।

तात्पर्य : पमरेश्वर जीवों के समस्त गुणों के आगार हैं। भौतिक जगत में बद्धजीव उन गुणों के अंशमात्र की झलक देते हैं, इसीलिए कभी कभी वे *प्रतिबिम्ब* कहलाते हैं। इन *प्रतिबिम्ब* जीवों ने परमेश्वर के भिन्नांशों के रूप में उनके आदि गुणों के विभिन्न अनुपातों को ही उत्तराधिकार में ग्रहण किया है और इन गुणों को ग्रहण करने के अनुसार ही वे विभिन्न जीवयोनियों के रूप में प्रकट होते हैं और ब्रह्मा की योजना के अनुसार विभिन्न लोकों में स्थान पाते हैं। ब्रह्माजी तीनों जगतों—पाताललोक अर्थात् अधोलोक, भूर्लोक अर्थात् मध्यलोक तथा स्वर्गलोक अर्थात् उच्चतर लोक—के स्रष्टा हैं। इनसे भी उच्चतर लोक यथा महर्लोक, तपोलोक, सत्यलोक तथा ब्रह्मलोक प्रलयजल में विलीन नहीं होते। इसका कारण उन लोकों के निवासियों द्वारा की जाने वाली भगवान् की अहैतुकी भक्ति-मय सेवा है और इन निवासियों का अस्तित्व *द्विपरार्ध* काल के अन्त तक बना रहता है जब वे भौतिक जगत में जन्म-मृत्यु की शृंखला से सामान्य रूप से मुक्त कर दिये जाते हैं।

विदुर उवाच

यथात्थ बहुरूपस्य हरेरद्भुतकर्मणः ।
कालाख्यं लक्षणं ब्रह्मन्यथा वर्णय नः प्रभो ॥ १० ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; यथा—जिस तरह; आत्थ—आपने कहा है; बहु-रूपस्य—विभिन्न रूपों वाले; हरेः—भगवान् के; अद्भुत—विचित्र; कर्मणः—अभिनेता का; काल—समय; आख्यम्—नामक; लक्षणम्—लक्षण; ब्रह्मन्—हे विद्वान ब्राह्मण; यथा—यह जैसा है; वर्णय—कृपया वर्णन करें; नः—हमसे; प्रभो—हे प्रभु।

विदुर ने मैत्रेय से पूछा : हे प्रभु, हे परम विद्वान ऋषि, कृपा करके नित्यकाल का वर्णन करें जो अद्भुत अभिनेता परमेश्वर का दूसरा रूप है। नित्य काल के क्या लक्षण हैं? कृपा करके हमसे विस्तार से कहें।

तात्पर्य : यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अणुओं से लेकर विराट ब्रह्माण्ड तक के चित्र-विचित्र जीवों का

प्राकट्य है और यह सब परमेश्वर के *काल* रूप के नियंत्रण में हैं। नियंत्रक काल विशिष्ट जीवधारियों के अनुसार विभिन्न विस्तारों वाला है। परमाणु-लय के लिए एक काल है और विश्व-लय के लिए भी एक अलग काल है। मनुष्य के शरीर के लय का एक काल है और विश्व शरीर के लय का भी एक काल है। वृद्धि, विकास तथा परिणामी कर्म—ये सभी काल पर आश्रित हैं। विदुर विभिन्न भौतिक प्राकट्यों तथा उनके विलीन होने के कालों के विषय में विस्तार से जानना चाह रहे थे।

मैत्रेय उवाच
गुणव्यतिकराकारो निर्विशेषोऽप्रतिष्ठितः ।
पुरुषस्तदुपादानमात्मानं लीलयासृजत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; गुण-व्यतिकर—प्रकृति के गुणों की अन्योन्य क्रियाओं का; आकारः—स्त्रोत; निर्विशेषः—विविधता रहित; अप्रतिष्ठितः—असीम; पुरुषः—परम पुरुष का; तत्—वह; उपादानम्—निमित्त; आत्मानम्—भौतिक सृष्टि; लीलया—लीलाओं द्वारा; असृजत्—उत्पन्न किया।

मैत्रेय ने कहा : नित्यकाल ही प्रकृति के तीनों गुणों की अन्योन्य क्रियाओं का आदि स्त्रोत है। यह अपरिवर्तनशील तथा सीमारहित है और भौतिक सृजन की लीलाओं में यह भगवान् के निमित्त रूप में कार्य करता है।

तात्पर्य : निर्विशेष काल तत्त्व भगवान् के उपादान (निमित्त) के रूप में भौतिक जगत की पृष्ठभूमि है। यह भौतिक प्रकृति को प्रदत्त की गई सहायता का घटक है। कोई भी नहीं जानता कि काल कब प्रारम्भ हुआ और इसका कब अन्त होता है। काल तत्त्व ही भौतिक जगत के सृजन, पालन तथा संहार का लेखा-जोखा रख सकता है। यह काल तत्त्व सृष्टि का भौतिक कारण है, अतएव भगवान् का स्वांश है। काल भगवान् का निर्विशेष रूप माना जाता है।

आधुनिक लोगों ने भी अनेक प्रकारों से काल तत्त्व की व्याख्या की है। कुछ लोग इसे लगभग उसी रूप में स्वीकार करते हैं जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में बतलाया गया है। उदाहरणार्थ, हिब्रू साहित्य में काल को ईश्वर के स्वरूप में स्वीकार किया गया है। उसमें कहा गया है "ईश्वर ने भूतकाल में पैगम्बरों के द्वारा पिताओं से कभी कभी और अनेक प्रकार से बातें कीं।" तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से काल को परम पूर्ण तथा वास्तविक के रूप में विभेदित किया जाता है। परम पूर्ण काल तो सतत है और भौतिक वस्तुओं की गति या मन्दता से अप्रभावित रहता है। काल की गणना ज्योतिर्विज्ञान तथा गणित के

अनुसार गति, परिवर्तन तथा किसी वस्तु विशेष के जीवन के परिपेक्ष्य में की जाती है। किन्तु वस्ततु: काल का वस्तुओं की सापेक्षताओं से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता; प्रत्युत हर वस्तु काल द्वारा प्रदत्त सुविधा के रूप में बनती तथा परिगणित होती है। काल हमारी इन्द्रियों की क्रियाशीलता की मूलभूत माप है, जिसके द्वारा हम भूत, वर्तमान तथा भविष्य की गणना करते हैं। किन्तु वास्तविक गणना में काल का कोई आदि तथा अन्त नहीं होता। पण्डित चाणक्य का कथन है कि काल के अल्पांश को भी करोड़ों डालर मूल्य देकर खरीदा नहीं जा सकता। अतएव बिना लाभ के खोए हुए काल का एक क्षण भी जीवन की सबसे बड़ी हानि है। काल न तो किसी प्रकार के मनोविज्ञान के अधीन है न ही काल के क्षण अपने में वस्तुगत वास्तविकताएँ हैं, किन्तु वे विशेष अनुभवों पर आश्रित हैं।

इसीलिए श्रील जीव गोस्वामी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काल तत्त्व भगवान् की बहिरंगा शक्ति के कार्य-कारणों से मिलाजुला हुआ है। बहिरंगा शक्ति या भौतिक प्रकृति स्वयम् भगवान् के रूप में काल की अधीक्षता में कार्य करती है, इसीलिए ऐसा लगता है कि भौतिक प्रकृति ने विराट जगत में अनेक आश्चर्यजनक वस्तुएँ उत्पन्न की हैं। *भगवद्गीता* (९.१०) में इस निष्कर्ष की पुष्टि इस प्रकार हुई है—

मयाध्यक्षेण प्रकृति: सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

विश्वं वै ब्रह्मतन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया ।
ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाव्यक्तमूर्तिना ॥ १२॥

शब्दार्थ

विश्वम्—भौतिक चक्र; वै—निश्चय ही; ब्रह्म—ब्रह्म; तत्-मात्रम्—उसी तरह का; संस्थितम्—स्थित; विष्णु-मायया—विष्णु की शक्ति से; ईश्वरेण—भगवान् द्वारा; परिच्छिन्नम्—पृथक् की गई; कालेन—नित्य काल द्वारा; अव्यक्त—अप्रकट; मूर्तिना—ऐसे स्वरूप द्वारा।

यह विराट जगत भौतिक शक्ति के रूप में अप्रकट तथा भगवान् के निर्विशेष स्वरूप काल द्वारा भगवान् से विलग किया हुआ है। यह विष्णु की उसी भौतिक शक्ति के प्रभाव के अधीन भगवान् की वस्तुगत अभिव्यक्ति के रूप में स्थित है।

तात्पर्य : जैसाकि व्यासदेव के समक्ष नारद पहले कह चुके हैं (*भागवत* १.५.२०) *इदं हि विश्वं*

भगवान् इवेतरः—यह अव्यक्त जगत साक्षात् भगवान् है, किन्तु यह भगवान् से परे या भिन्न कुछ और ही प्रतीत होता है। यह इसलिए ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि *काल* द्वारा यह भगवान् से पृथक् किया गया है। यह टेप रिकार्ड द्वारा अंकित उस मनुष्य की वाणी जैसा है, जो सम्प्रति अपनी वाणी से विलग किया हुआ है। जिस तरह टेप-अंकन टेप पर स्थित है, उसी तरह सारा भौतिक जगत भौतिक शक्ति पर स्थित है और *काल* के द्वारा पृथक् प्रतीत होता है। इसलिए भौतिक अभिव्यक्ति परमेश्वर की वस्तुगत अभिव्यक्ति है और उनके निर्विशेष रूप को प्रदर्शित करती है, जो निर्विशेष दार्शनिकों द्वारा इतनी अधिक पूजित है।

यथेदानीं तथाग्रे च पश्चादप्येतदीदृशम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह है; इदानीम्—इस समय; तथा—उसी तरह; अग्रे—प्रारम्भ में; च—तथा; पश्चात्—अन्त में; अपि—भी; एतत् ईदृशम्—वैसा ही रहता है।

यह विराट जगत जैसा अब है वैसा ही रहता है। यह भूतकाल में भी ऐसा ही था और भविष्य में इसी तरह रहेगा।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (९.८) में कहा गया है—*भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्*—भौतिक जगत के शाश्वत प्राकट्य, पालन तथा संहार के लिए क्रमबद्ध व्यवस्थित कार्यक्रम हैं। जिस तरह यह अभी उत्पन्न किया गया है और बाद में नष्ट कर दिया जायेगा उसी तरह यह भूतकाल में था और कालक्रम में पुनः सृजित, पालित और विनष्ट होगा। अतः काल के क्रमबद्ध कार्यकलाप स्थायी और शाश्वत हैं और इन्हें मिथ्या नहीं कहा जा सकता। अभिव्यक्ति अस्थायी तथा आकस्मिक है, किन्तु मिथ्या नहीं है जैसाकि मायावादी दार्शनिक दावा करते हैं।

सर्गो नवविधस्तस्य प्राकृतो वैकृतस्तु यः ।
कालद्रव्यगुणैरस्य त्रिविधः प्रतिसङ्क्रमः ॥ १४॥

शब्दार्थ

सर्गः—सृष्टि; नव-विधः—नौ भिन्न-भिन्न प्रकार की; तस्य—इसका; प्राकृतः—भौतिक; वैकृतः—प्रकृति के गुणों द्वारा; तु—लेकिन; यः—जो; काल—नित्यकाल; द्रव्य—पदार्थ; गुणैः—गुणों के द्वारा; अस्य—इसके; त्रि-विधः—तीन प्रकार; प्रतिसङ्क्रमः—संहार।

उस एक सृष्टि के अतिरिक्त जो गुणों की अन्योन्य क्रियाओं के फलस्वरूप स्वाभाविक रूप

से घटित होती है नौ प्रकार की अन्य सृष्टियाँ भी हैं। नित्य काल, भौतिक तत्त्वों तथा मनुष्य के कार्य के गुण के कारण प्रलय तीन प्रकार का है।

तात्पर्य : नियमबद्ध सृजन तथा संहार परमेच्छा के रूप में होते हैं। भौतिक तत्त्वों की अन्योन्य क्रियाओं से अन्य सृष्टियाँ भी होती हैं, जो ब्रह्मा की बुद्धि के द्वारा घटित होती हैं। बाद में इनकी विशद व्याख्या की जायेगी। सम्प्रति, केवल प्रारम्भिक जानकारी दी गई है। तीन प्रकार के प्रलय के कारण हैं (१) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्रलय के निर्धारित काल के कारण (२) अनन्त के मुख से निकलने वाली अग्नि के कारण तथा (३) मनुष्य के गुणात्मक कार्य-कारणों के फलस्वरूप।

आद्यस्तु महतः सर्गो गुणवैषम्यमात्मनः ।
द्वितीयस्त्वहमो यत्र द्रव्यज्ञानक्रियोदयः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

आद्यः—प्रथम; तु—लेकिन; महतः—भगवान् से पूर्ण उद्भास की; सर्गः—सृष्टि; गुण-वैषम्यम्—भौतिक गुणों की अन्योन्य क्रिया; आत्मनः—ब्रह्म का; द्वितीयः—दूसरी; तु—लेकिन; अहमः—मिथ्या अहंकार; यत्र—जिसमें; द्रव्य—भौतिक घटक; ज्ञान—भौतिक ज्ञान; क्रिया-उदयः—कार्य की जागृति।

नौ सृष्टियों में से पहली सृष्टि महत् तत्त्वसृष्टि अर्थात् भौतिक घटकों की समग्रता है, जिसमें परमेश्वर की उपस्थिति के कारण गुणों में परस्पर क्रिया होती है। द्वितीय सृष्टि में मिथ्या अहंकार उत्पन्न होता है, जिसमें से भौतिक घटक, भौतिक ज्ञान तथा भौतिक कार्यकलाप प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : भौतिक सृष्टि के लिए परमेश्वर से जो पहला उद्भास होता है, वह *महत्-तत्त्व* कहलाता है। भौतिक गुणों की अन्योन्य क्रिया मिथ्या स्वरूप का कारण है या कि इस भाव का कि जीव भौतिक तत्त्वों से बना है। यह मिथ्या अहंकार आत्मा के साथ शरीर तथा मन की पहचान करने का कारण है। भौतिक संसाधन तथा कार्य करने की क्षमता एवं ज्ञान की उत्पत्ति सृष्टि के दूसरे चरण में होती है, अर्थात् *महत्तत्त्व* के बाद। ज्ञान सूचक है इन्द्रियों का, जो ज्ञान एवं इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवों की साधन हैं। कर्म के अन्तर्गत कर्मेन्द्रियाँ तथा उनके अधिष्ठाता देव आते हैं। ये सब द्वितीय सृष्टि में उत्पन्न होते हैं।

भूतसर्गस्तृतीयस्तु तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान् ।
चतुर्थ ऐन्द्रियः सर्गो यस्तु ज्ञानक्रियात्मकः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

भूत-सर्गः—पदार्थ की उत्पत्ति; तृतीयः—तीसरी; तु—लेकिन; तत्-मात्रः—इन्द्रियविषय; द्रव्य—तत्वों के; शक्तिमान्—स्रष्टा; चतुर्थः—चौथा; ऐन्द्रियः—इन्द्रियों के विषय में; सर्गः—सृष्टि; यः—जो; तु—लेकिन; ज्ञान—ज्ञान-अर्जन; क्रिया—कार्य करने की; आत्मकः—मूलतः ।

इन्द्रिय विषयों का सृजन तृतीय सृष्टि में होता है और इनसे तत्त्व उत्पन्न होते हैं। चौथी सृष्टि है ज्ञान तथा कार्य-क्षमता (क्रियाशक्ति) का सृजन।

वैकारिको देवसर्गः पञ्चमो यन्मयं मनः ।
षष्ठस्तु तमसः सर्गो यस्त्वबुद्धिकृतः प्रभोः ॥ १७॥

शब्दार्थ

वैकारिकः—सतोगुण की अन्योन्य क्रिया; देव—देवता या अधिष्ठाता देव; सर्गः—सृष्टि; पञ्चमः—पाँचवीं; यत्—जो; मयम्—सम्पूर्णता; मनः—मन; षष्ठः—छठी; तु—लेकिन; तमसः—तमोगुण की; सर्गः—सृष्टि; यः—जो; तु—अनुपूरक; अबुद्धि-कृतः—मूर्ख बनाई गई; प्रभोः—स्वामी की।

पाँचवीं सृष्टि सतोगुण की अन्योन्य क्रिया द्वारा बने अधिष्ठाता देवों की है, जिसका सार समाहार मन है। छठी सृष्टि जीव के अज्ञानतापूर्ण अंधकार की है, जिससे स्वामी मूर्ख की तरह कार्य करता है।

तात्पर्य : उच्चलोकों के देवता *देव* कहलाते हैं, क्योंकि वे सब भगवान् विष्णु के भक्त हैं। *विष्णु भक्तः स्मृतो दैव आसुरस्तद्विपर्ययः*—विष्णु के सारे भक्त *देव* हैं, जबकि अन्य सारे *असुर* हैं। यह *देवों* तथा *असुरों* का विभाजन है। *देव* भौतिक प्रकृति में सतोगुणी होते हैं जबकि *असुर* रजो या तमोगुणी होते हैं। देवताओं या अधिष्ठाता देवों को भौतिक जगत के विभिन्न कार्यों की विभागीय व्यवस्था सौंपी हुई है। उदाहरणार्थ, हमारी इन्द्रियों में से एक इन्द्रिय आँख प्रकाश द्वारा नियंत्रित है, यह प्रकाश सूर्य की किरणों द्वारा वितरित होता है और उनका अधिष्ठाता देव सूर्य है। इसी तरह मन चन्द्रमा द्वारा नियंत्रित होता है। अन्य सारी इन्द्रियाँ—कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ—विभिन्न देवताओं द्वारा नियंत्रित की जाती हैं। देवतागण भौतिक मामलों की व्यवस्था में भगवान् के सहायक हैं।

देवताओं की सृष्टि के बाद सारे जीव अज्ञान के अंधकार से प्रच्छन्न रहते हैं। भौतिक जगत का प्रत्येक जीव भौतिक प्रकृति के संसाधनों पर प्रभुत्व जताने की अपनी प्रवृत्ति से बद्ध है। यद्यपि जीव भौतिक जगत का स्वामी नहीं है, किन्तु वह अज्ञान से, भौतिक वस्तुओं के स्वामी होने की मिथ्या भावना से बद्ध है।

भगवान् की *अविद्या* नामक शक्ति बद्धजीवों को मोहग्रस्त बनाने वाली है। भौतिक प्रकृति *अविद्या* कहलाती है, किन्तु भगवद्भक्ति में लगे हुए भक्तों के लिए यह शक्ति *विद्या* अर्थात् शुद्ध ज्ञान बन जाती है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है। भगवान् की शक्ति *महामाया* से *योगमाया* में रूपान्तरित हो जाती है और भक्त के समक्ष अपने असली रूप में प्रकट होती है। अतएव भौतिक प्रकृति तीन चरणों में कार्य करती प्रतीत होती है—भौतिक जगत के सृजन सिद्धान्त के रूप में, अज्ञान के रूप में तथा ज्ञान के रूप में। जैसाकि पिछले श्लोक में उद्घाटित हुआ है चौथी सृष्टि में ज्ञान शक्ति भी उत्पन्न होती है। बद्धजीव मूलतः मूर्ख नहीं होते, किन्तु प्रकृति के *अविद्या* कार्य के प्रभाव से वे मूर्ख बना दिये जाते हैं जिससे वे सही दिशा में ज्ञान का उपयोग नहीं कर पाते।

अंधकार के प्रभाव से बद्धजीव परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाता है और वह राग, घृणा, गर्व, अज्ञान तथा झूठी पहचान से अभिभूत हो जाता है, जो कि भौतिक बन्धन उत्पन्न करने वाले पाँच प्रकार के मोह हैं।

षडिमे प्राकृताः सर्गा वैकृतानपि मे शृणु ।
रजोभाजो भगवतो लीलेयं हरिमेधसः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

षट्—छठी; इमे—ये सब; प्राकृताः—भौतिक शक्ति की; सर्गाः—सृष्टियाँ; वैकृतान्—ब्रह्मा द्वारा गौण सृष्टियाँ; अपि—भी; मे—मुझसे; शृणु—सुनो; रजः-भाजः—रजोगुण के अवतार (ब्रह्मा) का; भगवतः—अत्यन्त शक्तिशाली की; लीला—लीला; इयम्—यह; हरि—भगवान्; मेधसः—ऐसे मस्तिष्क वाले का।

उपर्युक्त समस्त सृष्टियाँ भगवान् की बहिरंगा शक्ति की प्राकृतिक सृष्टियाँ हैं। अब मुझसे उन ब्रह्माजी द्वारा की गई सृष्टियों के विषय में सुनो जो रजोगुण के अवतार हैं और सृष्टि के मामले में जिनका मस्तिष्क भगवान् जैसा ही है।

सप्तमो मुख्यसर्गस्तु षड्विधस्तस्थुषां च यः ।
वनस्पत्योषधिलतात्वक्सारा वीरुधो द्रुमाः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सप्तमः—सातवीं; मुख्य—प्रधान; सर्गः—सृष्टि; तु—निस्सन्देह; षट्-विधः—छः प्रकार की; तस्थुषाम्—न चलने वालों की; च—भी; यः—वे; वनस्पति—बिना फूल वाले फल वृक्ष; ओषधि—पेड़-पौधे जो फल के पकने तक जीवित रहते हैं; लता—लताएँ; त्वक्सारा:—नलीदार पौधे; वीरुधः—बिना आधार वाली लताएँ; द्रुमाः—फलफूल वाले वृक्ष।

सातवीं सृष्टि अचर प्राणियों की है, जो छः प्रकार के हैं: फूलरहित फलवाले वृक्ष, फल

पकने तक जीवित रहने वाले पेड़-पौधे, लताएं, नलीदार पौधे; बिना आधार वाली लताएँ तथा फलफूल वाले वृक्ष।

उत्स्रोतसस्तमःप्राया अन्तःस्पर्शा विशेषिणः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

उत्स्रोतसः—ऊर्ध्वगामी, नीचे से ऊपर की ओर; तमः-प्रायाः—प्रायः अचेत; अन्तः-स्पर्शाः—भीतर कुछ कुछ अनुभव करते हुए; विशेषिणः—नाना प्रकार के स्वरूपों से युक्त।

सारे अचर पेड़-पौधे ऊपर की ओर बढ़ते हैं। वे अचेतप्राय होते हैं, किन्तु भीतर ही भीतर उनमें पीड़ा की अनुभूति होती है। वे नाना प्रकारों में प्रकट होते हैं।

तिरश्चामष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशद्विधो मतः ।
अविदो भूरितमसो घ्राणज्ञा हृद्यवेदिनः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तिरश्चाम्—निम्न पशुओं की जातियाँ; अष्टमः—आठवीं; सर्गः—सृष्टि; सः—वे हैं; अष्टाविंशत्—अट्ठाईस; विधः—प्रकार; मतः—माने हुए; अविदः—कल के ज्ञान से रहित; भूरि—अत्यधिक; तमसः—अज्ञानी; घ्राण-ज्ञाः—गन्ध से इच्छित वस्तुओं को जानने वाले; हृदि अवेदिनः—हृदय में बहुत कम स्मरण रखने वाले।

आठवीं सृष्टि निम्नतर जीवयोनियों की है और उनकी अट्ठाईस विभिन्न जातियाँ हैं। वे सभी अत्यधिक मूर्ख तथा अज्ञानी होती हैं। वे गन्ध से अपनी इच्छित वस्तुएँ जान पाती हैं, किन्तु हृदय में कुछ भी स्मरण रखने में अशक्य होती हैं।

तात्पर्य : वेदों में निम्नतर पशुओं के लक्षणों का वर्णन इस प्रकार हुआ है: *अथेतरेषां पशूनाः अशनापिपासे एवाभिविज्ञानं न विज्ञातं वदन्ति न विज्ञातं पश्यन्ति न विदुः स्वस्तनं न लोकालोकाविति; यद्वा भूरि-तमसो बहुरुषः घ्राणेनैव जानन्ति हृदयं प्रति स्वप्रियं वस्त्वेव विन्दन्ति भोजनशयनाद्यर्थं गृहणन्ति।* "निम्नतर पशुओं को केवल अपनी भूख तथा प्यास का ज्ञान होता है। उन्होंने न तो कोई ज्ञान अर्जित किया होता है, न दृष्टि। उनके व्यवहार में औपचारिकता पर निर्भरता प्रदर्शित नहीं होती। वे अत्यधिक अज्ञानी हैं, वे अपनी इच्छित वस्तुओं को केवल गन्ध से ही जान सकते हैं और ऐसी बुद्धि से इतना ही समझ सकते हैं कि क्या उपयुक्त है और क्या अनुपयुक्त। उनका ज्ञान एकमात्र भोजन करने तथा सोने तक सीमित है।" इसीलिए सर्वाधिक खूँखार निम्नतर पशु, यथा बाघ तक को नियमित रूप

से भोजन तथा सोने के लिए आवास का स्थान देकर पाला जा सकता है। एकमात्र सर्प ऐसे हैं, जिन्हें इस तरह से नहीं पाला जा सकता।

गौरजो महिषः कृष्णः सूकरो गवयो रुरुः ।
द्विशफाः पशवश्चेमे अविरुष्ट्रश्च सत्तम ॥ २२॥

शब्दार्थ

गौः—गाय; अजः—बकरी; महिषः—भैंस; कृष्णः—एक प्रकार का बारहसिंगा; सूकरः—सुअर; गवयः—पशु की एक जाति (नीलगाय); रुरुः—हिरन; द्वि-शफाः—दो खुरों वाले; पशवः—पशु; च—भी; इमे—ये सभी; अविः—मेंढा; उष्ट्रः—ऊँट; च—तथा; सत्तम—हे शुद्धतम।

हे शुद्धतम विदुर, निम्नतर पशुओं में गाय, बकरी, भैंस, काला बारहसिंगा, सूकर, नीलगाय, हिरन, मेंढा तथा ऊँट ये सब दो खुरों वाले हैं।

खरोऽश्वोऽश्वतरो गौरः शरभश्चमरी तथा ।
एते चैकशफाः क्षत्तः शृणु पञ्चनखान्पशून् ॥ २३॥

शब्दार्थ

खरः—गधा; अश्वः—घोड़ा; अश्वतरः—खच्चर; गौरः—सफेद हिरन; शरभः—भैंसा; चमरी—चँवरी गाय; तथा—इस प्रकार; एते—ये सभी; च—तथा; एक—केवल एक; शफाः—खुर; क्षत्तः—हे विदुर; शृणु—सुनो; पञ्च—पाँच; नखान्—नाखून वाले; पशून्—पशुओं के बारे में।

घोड़ा, खच्चर, गधा, गौर, शरभ-भैंसा तथा चँवरी गाय इन सबों में केवल एक खुर होता है। अब मुझसे उन पशुओं के बारे में सुनो जिनके पाँच नाखून होते हैं।

श्वा सृगालो वृको व्याघ्रो मार्जारः शशशल्लकौ ।
सिंहः कपिर्गजः कूर्मो गोधा च मकरादयः ॥ २४॥

शब्दार्थ

श्वा—कुत्ता; सृगालः—सियार; वृकः—लोमड़ी; व्याघ्रः—बाघ; मार्जारः—बिल्ली; शश—खरगोश; शल्लकौ—सजारु (स्याही, जिसके शरीर पर काँटे होते हैं); सिंहः—शेर; कपिः—बन्दर; गजः—हाथी; कूर्मः—कछुआ; गोधा—गोसाप (गोह); च—भी; मकर-आदयः—मगर इत्यादि।

कुत्ता, सियार, बाघ, लोमड़ी, बिल्ली, खरगोश, सजारु (स्याही), सिंह, बन्दर, हाथी, कछुवा, मगर, गोसाप (गोह) इत्यादि के पंजों में पाँच नाखून होते हैं। वे पञ्चनख अर्थात् पाँच नाखूनों वाले पशु कहलाते हैं।

**कङ्कगृध्रबकश्येनभासभल्लूकबर्हिणः ।
हंससारसचक्राह्वकाकोलूकादयः खगाः ॥ २५ ॥**

शब्दार्थ

कङ्क—बगुला; गृध्र—गीध; बक—बगुला; श्येन—बाज; भास—भास; भल्लूक—भल्लूक (भालू); बर्हिणः—मोर; हंस—हंस; सारस—सारस; चक्राह्व—चक्रवाक, (चकई चकवा); काक—कौवा; उलूक—उल्लू; आदयः—इत्यादि; खगाः—पक्षी।

कंक, गीध, बगुला, बाज, भास, भल्लूक, मोर, हंस, सारस, चक्रवाक, कौवा, उल्लू इत्यादि पक्षी कहलाते हैं।

**अर्वाक्स्रोतस्तु नवमः क्षत्तरेकविधो नृणाम् ।
रजोऽधिकाः कर्मपरा दुःखे च सुखमानिनः ॥ २६ ॥**

शब्दार्थ

अर्वाक्—नीचे की ओर; स्रोतः—भोजन की नली; तु—लेकिन; नवमः—नौवीं; क्षत्तः—हे विदुर; एक-विधः—एक जाति; नृणाम्—मनुष्यों की; रजः—रजोगुण; अधिकाः—अत्यन्त प्रधान; कर्म-पराः—कर्म में रुचि रखने वाले; दुःखे—दुख में; च—लेकिन; सुख—सुख; मानिनः—सोचने वाले।

मनुष्यों की सृष्टि क्रमानुसार नौवीं है। यही केवल एक ही योनि (जाति) ऐसी है और अपना आहार उदर में संचित करते हैं। मानव जाति में रजोगुण की प्रधानता होती है। मनुष्यगण दुखीजीवन में भी सदैव व्यस्त रहते हैं, किन्तु वे अपने को सभी प्रकार से सुखी समझते हैं।

तात्पर्य : मनुष्य पशुओं से अधिक कामुक होता है, अतः मनुष्य का यौन जीवन अधिक अनियमित होता है। पशुओं में संभोग का एक नियत काल होता है, किन्तु मनुष्य में ऐसे कार्यों के लिए कोई नियमित समय नहीं है। मनुष्य भौतिक दुखों से छुटकारा पाने के लिए उच्चतर एवं उन्नत स्तर की चेतना प्राप्त हुई होती है, किन्तु अपने अज्ञान के कारण वह यह सोचता है कि उसकी उच्चतर चेतना जीवन की भौतिक सुविधाओं के संवर्धन के निमित्त है। इस तरह उसकी बुद्धि का आध्यात्मिक साक्षात्कार के बजाय पाशविक लालसाओं—खाने, सोने, रक्षा करने तथा संभोग करने—में दुरुपयोग होता है। भौतिक सुविधाओं में अग्रसर होकर मनुष्य अपने को अधिक दुखी अवस्था में ले जाता है, किन्तु भौतिक शक्ति के द्वारा मोहित किये जाने से वह अपने को सदैव सुखी समझता है, भले ही वह कष्ट से क्यों न घिरा हो। मनुष्य जीवन की ऐसी दुखी अवस्था उस प्राकृतिक आरामदेह जीवन से भिन्न है, जिसका भोग पशु तक भी करते हैं।

वैकृतास्त्रय एवैते देवसर्गश्च सत्तम ।
वैकारिकस्तु यः प्रोक्तः कौमारस्तूभयात्मकः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

वैकृताः—ब्रह्मा की सृष्टियाँ; त्रयः—तीन प्रकार की; एव—निश्चय ही; एते—ये सभी; देव-सर्गः—देवताओं का प्राकट्य; च—भी; सत्तम—हे उत्तम विदुर; वैकारिकः—प्रकृति द्वारा देवताओं की सृष्टि; तु—लेकिन; यः—जो; प्रोक्तः—पहले वर्णित; कौमारः—चारों कुमार; तु—लेकिन; उभय-आत्मकः—दोनों प्रकार (यथा वैकृत तथा प्राकृत)।

हे श्रेष्ठ विदुर, ये अन्तिम तीन सृष्टियाँ तथा देवताओं की सृष्टि (दसवीं सृष्टि) वैकृत सृष्टियाँ हैं, जो पूर्ववर्णित प्राकृत (प्राकृतिक) सृष्टियों से भिन्न हैं। कुमारों का प्राकट्य दोनों ही सृष्टियाँ हैं।

देवसर्गश्चाष्टविधो विबुधाः पितरोऽसुराः ।
गन्धर्वाप्सरसः सिद्धा यक्षरक्षांसि चारणाः ॥ २८ ॥
भूतप्रेतपिशाचाश्च विद्याध्राः किन्नरादयः ।
दशैते विदुराख्याताः सर्गास्ते विश्वसृक्कृताः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

देव-सर्गः—देवताओं की सृष्टि; च—भी; अष्ट-विधः—आठ प्रकार की; विबुधाः—देवता; पितरः—पूर्वज; असुराः—असुरगण; गन्धर्व—उच्चलोक के दक्ष कलाकार; अप्सरसः—देवदूत; सिद्धाः—योगशक्तियों में सिद्ध व्यक्ति; यक्ष—सर्वोत्कृष्ट रक्षक; रक्षांसि—राक्षस; चारणाः—देवलोक के गवैये; भूत—जिन्न, भूत; प्रेत—बुरी आत्माएँ, प्रेत; पिशाचाः—अनुगामी भूत; च—भी; विद्याध्राः—विद्याधर नामक दैवी निवासी; किन्नर—अतिमानव; आदयः—इत्यादि; दश एते—ये दस (सृष्टियाँ); विदुर—हे विदुर; आख्याताः—वर्णित; सर्गाः—सृष्टियाँ; ते—तुमसे; विश्व-सृक्—ब्रह्माण्ड के स्त्रष्टा (ब्रह्मा) द्वारा; कृताः—सम्पन्न।

देवताओं की सृष्टि आठ प्रकार की है—(१) देवता (२) पितरगण (३) असुरगण (४) गन्धर्व तथा अप्सराएँ (५) यक्ष तथा राक्षस (६) सिद्ध, चारण तथा विद्याधर (७) भूत, प्रेत तथा पिशाच (८) किन्नर—अतिमानवीय प्राणी, देवलोक के गायक इत्यादि। ये सब ब्रह्माण्ड के स्त्रष्टा ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कन्ध में बताया जा चुका है, सिद्धगण सिद्धलोक के निवासी हैं जहाँ के रहने वाले बिना यान के अन्तरिक्ष में यात्रा करते हैं। वे इच्छामात्र से, बिना कठिनाई के, एक लोक से दूसरे लोक में चले जा सकते हैं। अतएव उच्चतर लोगों के निवासी इस लोक के निवासियों की तुलना में कला, संस्कृति तथा विज्ञान के मामले में कहीं श्रेष्ठ हैं, क्योंकि उनके मस्तिष्क मनुष्यों के मस्तिष्कों से श्रेष्ठ हैं। इस सन्दर्भ में उल्लिखित भूतप्रेतों की भी गणना देवताओं में की जाती है, क्योंकि वे असामान्य कार्य करने में सक्षम हैं, जो मनुष्यों के लिए सम्भव नहीं हैं।

अतः परं प्रवक्ष्यामि वंशान्मन्वन्तराणि च
एवं रजःप्लुतः स्रष्टा कल्पादिष्वात्मभूर्हरिः ।
सृजत्यमोघसङ्कल्प आत्मैवात्मानमात्मना ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अतः—यहाँ; परम्—बाद में; प्रवक्ष्यामि—बतलाऊँगा; वंशान्—वंशज; मन्वन्तराणि—मनुओं के विभिन्न अवतरण; च—तथा; एवम्—इस प्रकार; रजः-प्लुतः—रजोगुण से संतृप्त; स्रष्टा—निर्माता; कल्प-आदिषु—विभिन्न कल्पों में; आत्म-भूः—स्वयं अवतार; हरिः—भगवान्; सृजति—उत्पन्न करता है; अमोघ—बिना चूक के; सङ्कल्पः—दृढ़निश्चय; आत्मा एव—वे स्वयं; आत्मानम्—स्वयं; आत्मना—अपनी ही शक्ति से।

अब मैं मनुओं के वंशजों का वर्णन करूँगा। स्रष्टा ब्रह्मा जो कि भगवान् के रजोगुणी अवतार हैं भगवान् की शक्ति के बल से प्रत्येक कल्प में अचूक इच्छाओं सहित विश्व प्रपंच की सृष्टि करते हैं।

तात्पर्य : विराट जगत भगवान् की अनेक शक्तियों में से एक का विस्तार है। स्रष्टा तथा सृष्टि दोनों एक ही परम सत्य (परब्रह्म) के उद्‌भास हैं जैसाकि *भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है—*जन्माद्यस्य यतः*।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत ‘सृष्टि के विभाग’ नामक दसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter ग्यारह

परमाणु से काल की गणना

मैत्रेय उवाच
चरमः सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतः सदा ।
परमाणुः स विज्ञेयो नृणामैक्यभ्रमो यतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; चरमः—चरम; सत्—प्रभाव; विशेषाणाम्—लक्षण; अनेकः—असंख्य; असंयुतः—अमिश्रित; सदा—सदैव; परम-अणुः—परमाणु; सः—वह; विज्ञेयः—जानने योग्य; नृणाम्—मनुष्यों का; ऐक्य—एकत्व; भ्रमः—भ्रमित; यतः—जिससे।

भौतिक अभिव्यक्ति का अनन्तिम कण जो कि अविभाज्य है और शरीर रूप में निरुपित नहीं हुआ हो, परमाणु कहलाता है। यह सदैव अविभाज्य सत्ता के रूप में विद्यमान रहता है यहाँ तक कि समस्त स्वरूपों के विलीनीकरण (लय) के बाद भी। भौतिक देह ऐसे परमाणुओं का संयोजन ही तो है, किन्तु सामान्य मनुष्य इसे गलत ढ़ग से समझता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* का परमाणु सम्बन्धी विवरण परमाणुवाद के आधुनिक विज्ञान जैसा ही है। इसका और अधिक वर्णन कणाद के परमाणुवाद में पाया जाता है। आधुनिक विज्ञान में भी परमाणु को अनन्तिम अविभाज्य कण माना जाता है, जिससे यह ब्रह्माण्ड बना हुआ है। *श्रीमद्भागवत* ज्ञान के समस्त वर्णनों की पूर्ण पाठपुस्तक है, जिसमें परमाणुवाद भी सम्मिलित है। शाश्वत काल का क्षुद्र सूक्ष्म रूप परमाणु है।

सत एव पदार्थस्य स्वरूपावस्थितस्य यत् ।
कैवल्यं परममहानविशेषो निरन्तरः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सतः—प्रभावशाली अभिव्यक्ति का; एव—निश्चय ही; पद-अर्थस्य—भौतिक वस्तुओं का; स्वरूप-अवस्थितस्य—प्रलय काल तक एक ही रूप में रहने वाला; यत्—जो; कैवल्यम्—एकत्व; परम—परम; महान्—असीमित; अविशेषः—स्वरूप; निरन्तरः—शाश्वत रीति से।

परमाणु अभिव्यक्त ब्रह्माण्ड की चरम अवस्था है। जब वे विभिन्न शरीरों का निर्माण किये बिना अपने ही रूपों में रहते हैं, तो वे असीमित एकत्व (कैवल्य) कहलाते हैं। निश्चय ही भौतिक रूपों में विभिन्न शरीर हैं, किन्तु परमाणु स्वयं में पूर्ण अभिव्यक्ति का निर्माण करते हैं।

एवं कालोऽप्यनुमितः सौक्ष्म्ये स्थौल्ये च सत्तम ।
संस्थानभुक्त्या भगवानव्यक्तो व्यक्तभुग्विभुः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कालः—समय; अपि—भी; अनुमितः—मापा हुआ; सौक्ष्म्ये—सूक्ष्म में; स्थौल्ये—स्थूल रूप में; च—भी; सत्तम—हे सर्वश्रेष्ठ; संस्थान—परमाणुओं का संयोग; भुक्त्या—गति द्वारा; भगवान्—भगवान्; अव्यक्तः—अप्रकट; व्यक्त-भुक्—समस्त भौतिक गति को नियंत्रित करने वाला; विभुः—महान् बलवान्।

काल को शरीरों के पारमाणविक संयोग की गतिशीलता के द्वारा मापा जा सकता है। काल उन सर्वशक्तिमान भगवान् हरि की शक्ति है, जो समस्त भौतिक गति का नियंत्रण करते हैं यद्यपि वे भौतिक जगत में दृष्टिगोचर नहीं हैं।

स कालः परमाणुर्वै यो भुङ्क्ते परमाणुताम् ।
सतोऽविशेषभुग्यस्तु स कालः परमो महान् ॥ ४॥

शब्दार्थ

सः—वह; कालः—नित्यकाल; परम-अणुः—पारमाणविक; वै—निश्चय ही; यः—जो; भुङ्क्ते—गुजरता है; परम-अणुताम्—एक परमाणु का अवकाश; सतः—सम्पूर्ण समुच्चय; अविशेष-भुक्—अद्वैत प्रदर्शन से गुजरने वाला; यः तु—जो; सः—वह; कालः—काल; परमः—परम; महान्—महान्।

परमाणु काल का मापन परमाणु के अवकाश विशेष को तय कर पाने के अनुसार किया जाता है। वह काल जो परमाणुओं के अव्यक्त समुच्चय को प्रच्छन्न करता है महाकाल कहलाता है।

तात्पर्य : काल तथा अवकाश (दिक्) दो सहसम्बन्धी पद हैं। अणुओं के कतिपय अवकाश को तय करने के रूप में काल मापा जाता है। मानक काल की गणना सूर्य की गति के अनुसार की जाती है। एक परमाणु को पार करने में सूर्य जितना काल लेता है, वह परमाणु-काल के रूप में परिगणित किया जाता है। सबसे महान् काल अद्वैत अभिव्यक्ति के समग्र अस्तित्व को व्याप्त करता है। सारे ग्रह चक्कर लगाते हैं और आकाश को तय करते हैं और अवकाश परमाणुओं के रूप में परिगणित किया जाता है। प्रत्येक ग्रह की चक्कर लगाने की अपनी विशिष्ट कक्ष्या होती है, जिसमें वह बिना इधर-उधर हटे गति करता है। इसी तरह सूर्य की अपनी कक्ष्या है। प्रकृति के सृजन, पालन तथा संहार के काल की सम्पूर्ण गणना समस्त ग्रहों की गति की गणना के आधार पर तब तक की जाती है जब तक कि सृष्टि का अन्त नहीं हो जाता। इसे *परमकाल* कहते हैं।

अणुर्द्वौ परमाणू स्यात्त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः ।
जालार्करश्म्यवगतः खमेवानुपतन्नगात् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अणुः—द्विगुण परमाणु; द्वौ—दो; परम-अणु—परमाणु; स्यात्—बनते हैं; त्रसरेणुः—षट् परमाणु; त्रयः—तीन; स्मृतः—विचार किया हुआ; जाल-अर्क—खिड़की के पर्दे के छेदों से होकर धूप को; रश्मि—किरणों द्वारा; अवगतः—जाना जा सकता है; खम् एव—आकाश की ओर; अनुपतन् अगात्—ऊपर जाते हुए।

स्थूल काल की गणना इस प्रकार की जाती है: दो परमाणु मिलकर एक द्विगुण परमाणु (अणु) बनाते हैं और तीन द्विगुण परमाणु (अणु) एक षट् परमाणु बनाते हैं। यह षट्परमाणु उस सूर्य प्रकाश में दृष्टिगोचर होता है, जो खिड़की के परदे के छेदों से होकर प्रवेश करता है। यह आसानी से देखा जा सकता है कि षट्परमाणु आकाश की ओर ऊपर जाता है।

तात्पर्य : परमाणु का वर्णन अदृश्य कण के रूप में किया जाता है, किन्तु जब ऐसे छह कण परस्पर मिलते हैं, तो वे *त्रसरेणु* कहलाते हैं और इन्हें खिड़की के परदे के छेदों से होकर आने वाली धूप में देखा जा सकता है।

त्रसरेणुत्रिकं भुङ्क्ते यः कालः स त्रुटिः स्मृतः ।
शतभागस्तु वेधः स्यात्तैस्त्रिभिस्तु लवः स्मृतः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

त्रसरेणु-त्रिकम्—तीन षट् परमाणुओं का संयोग; भुङ्क्ते—जब वे संयुक्त होते हैं; यः—जो; कालः—काल की अवधि; सः—वह; त्रुटिः—त्रुटि; स्मृतः—कहलाती है; शत-भागः—एक सौ त्रुटियाँ; तु—लेकिन; वेधः—वेध नाम से; स्यात्—यदि ऐसा होता है; तैः—उनके द्वारा; त्रिभिः—तीन गुना; तु—लेकिन; लवः—लव; स्मृतः—ऐसा कहलाता है।

तीन त्रसरेणुओं के समुच्चयन में जितना समय लगता है, वह त्रुटि कहलाता है और एक सौ त्रुटियों का एक वेध होता है। तीन वेध मिलकर एक लव बनाते हैं।

तात्पर्य : यह गणना की गई है कि यदि एक सेंकड के १६८७.५ भाग किये जाँय तो हर भाग एक त्रुटि की अवधि है, जो कि अठारह परमाणु कणों के समुच्चयन का काल है। विभिन्न पिण्डों में परमाणुओं का ऐसा समुच्चयन भौतिक काल की गणना को जन्म देता है। इन विभिन्न अवधियों की गणना के लिए सूर्य केन्द्रबिन्दु है।

निमेषस्त्रिलवो ज्ञेय आम्नातस्ते त्रयः क्षणः ।
क्षणान्पञ्च विदुः काष्ठां लघु ता दश पञ्च च ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

निमेषः—निमेष नामक काल की अवधि; त्रि-लवः—तीन लवों की अवधि; ज्ञेयः—जानी जानी चाहिए; आम्नातः—ऐसा कहलाते हैं; ते—वे; त्रयः—तीन; क्षणः—क्षण; क्षणान्—ऐसे क्षण; पञ्च—पाँच; विदुः—समझना चाहिए; काष्ठाम्—काष्ठा नामक कालावधि; लघु—लघु नामक कालावधि; ताः—वे; दश पञ्च—पन्द्रह; च—भी।

तीन लवों की कालावधि एक निमेष के तुल्य है, तीन निमेष मिलकर एक क्षण बनाते हैं, पाँच क्षण मिलकर एक काष्ठा और पन्द्रह काष्ठा मिलकर एक लघु बनाते हैं।

तात्पर्य : गणना से ज्ञात होता है कि लघु दो मिनट के तुल्य होता है। वैदिक विद्या के रूप में काल की पारमाणविक गणना को समझने के लिए इसी आधार पर वर्तमान समय में परिणत किया जा सकता है।

लघूनि वै समाम्नाता दश पञ्च च नाडिका ।
ते द्वे मुहूर्तः प्रहरः षड्यामः सप्त वा नृणाम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

लघूनि—ऐसे लघु (प्रत्येक दो मिनट का); वै—सही सही; समाम्नाता—कहलाता है; दश पञ्च—पन्द्रह; च—भी; नाडिका—एक नाडिका; ते—उनमें से; द्वे—दो; मुहूर्तः—क्षण; प्रहरः—तीन घंटे; षट्—छः; यामः—दिन या रात का चौथाई भाग; सप्त—सात; वा—अथवा; नृणाम्—मनुष्य की गणना का।

पन्द्रह लघु मिलकर एक नाडिका बनाते हैं जिसे दण्ड भी कहा जाता है। दो दण्ड से एक मुहूर्त बनता है। और मानवीय गणना के अनुसार छः या सात दण्ड मिलकर दिन या रात का चतुर्थांश बनाते हैं।

द्वादशार्धपलोन्मानं चतुर्भिश्चतुरङ्गुलैः ।
स्वर्णमाषैः कृतच्छिद्रं यावत्प्रस्थजलप्लुतम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

द्वादश-अर्ध—छह; पल—भार की माप का; उन्मानम्—मापक पात्र, मापना; चतुर्भिः—चार के भार के बराबर; चतुः-अङ्गुलैः—चार अंगुल माप का; स्वर्ण—सोने के; माषैः—भार का; कृत-छिद्रम्—छेद बनाकर; यावत्—जितना; प्रस्थ—एक प्रस्थ के जितना; जल-प्लुतम्—जल से भरा।

एक नाडिका या दण्ड के मापने का पात्र छः पल भार (१४ औंस) वाले ताम्र पात्र से तैयार किया जा सकता है, जिसमें चार माषा भार वाले तथा चार अंगुल लम्बे सोने की सलाई से एक छेद बनाया जाता है। जब इस पात्र को जल में रखा जाता है, तो इस पात्र को लबालब भरने में जो समय लगता है, वह एक दण्ड कहलाता है।

तात्पर्य : यहाँ यह सलाह दी जाती है कि ताँबे के मापक पात्र में जो छेद बनाया जाय वह छेद

चार माषा से अधिक भार वाली तथा चार अंगुल से अधिक लम्बी सलाई से न बनाया जाय। इससे छेद का व्यास सही रहता है। इस पात्र को जल में रखा जाता है। उसके ऊपर तक भर जाने का समय *दण्ड* कहलाता है। दण्ड की अवधि मापने की यह दूसरी विधि है, जिस तरह कि काँच के पात्र में बालू से समय मापा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक सभ्यता के दिनों में भौतिकी, रसायन शास्त्र या उच्चतर गणित का अभाव न था। मापों की गणना सरल से सरल रूप में अनेक विधियों से की जाती थी।

यामाश्चत्वारश्चत्वारो मर्त्यानामहनी उभे ।
पक्षः पञ्चदशाहानि शुक्लः कृष्णश्च मानद ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यामाः—तीन घंटे; चत्वारः—चार; चत्वारः—तथा चार; मर्त्यानाम्—मनुष्यों के; अहनी—दिन की अवधि; उभे—रात तथा दिन दोनों; पक्षः—पखवाड़ा; पञ्च-दश—पन्द्रह; अहानि—दिन; शुक्लः—उजाला; कृष्णः—अँधेरा; च—भी; मानद—मापा हुआ।

यह भी गणना की गई है कि मनुष्य के दिन में चार प्रहर या याम होते हैं और रात में भी चार प्रहर होते हैं। इसी तरह पन्द्रह दिन तथा पन्द्रह रातें पखवाड़ा कहलाती हैं और एक मास में दो पखवाड़े (पक्ष) उजाला (शुक्ल) तथा अँधियारा (कृष्ण) होते हैं।

तयोः समुच्चयो मासः पितॄणां तदहर्निशम् ।
द्वौ तावृतुः षडयनं दक्षिणं चोत्तरं दिवि ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तयोः—उनके; समुच्चयः—योग; मासः—महीना; पितॄणाम्—पित-लोकों का; तत्—वह (मास); अहः-निशम्—दिन तथा रात; द्वौ—दोनों; तौ—महीने; ऋतुः—ऋतु; षट्—छः; अयनम्—छह महीनों में सूर्य की गति; दक्षिणम्—दक्षिणी; च—भी; उत्तरम्—उत्तरी; दिवि—स्वर्ग में।

दो पक्षों को मिलाकरएक मास होता है और यह अवधि पित-लोकों का पूरा एक दिन तथा रात है। ऐसे दो मास मिलकर एक ऋतु बनाते हैं और छह मास मिलकर दक्षिण से उत्तर तक सूर्य की पूर्ण गति को बनाते हैं।

अयने चाहनी प्राहुर्वत्सरो द्वादश स्मृतः ।
संवत्सरशतं नृणां परमायुर्निरूपितम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अयने—सूर्य की गति (छह मास की) में; च—तथा; अहनी—देवताओं का दिन; प्राहुः—कहा जाता है; वत्सरः—एक पंचांग वर्ष; द्वादश—बारह मास; स्मृतः—ऐसा कहलाता है; संवत्सर-शतम्—एक सौ वर्ष; नृणाम्—मनुष्यों की; परम-आयुः—जीवन की अवधि, उम्र; निरूपितम्—अनुमानित की जाती है।

दो सौर गतियों से देवताओं का एक दिन तथा एक रात बनते हैं और दिन-रात का यह संयोग मनुष्य के एक पूर्ण पंचांग वर्ष के तुल्य है। मनुष्य की आयु एक सौ वर्ष की है।

ग्रहर्क्षताराचक्रस्थः परमाण्वादिना जगत् ।
संवत्सरावसानेन पर्येत्यनिमिषो विभुः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

ग्रह—प्रभावशील ग्रह यथा चन्द्रमा; ऋक्ष—अश्विनी जैसे तारे; तारा—तारा; चक्र-स्थः—कक्ष्या में; परम-अणु-आदिना—परमाणुओं सहित; जगत्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड; संवत्सर-अवसानेन—एक वर्ष के अन्त होने पर; पर्येति—अपनी कक्ष्या पूरी करता है; अनिमिषः—नित्य काल; विभुः—सर्वशक्तिमान।

सारे ब्रह्माण्ड के प्रभावशाली नक्षत्र, ग्रह, तारे तथा परमाणु पर ब्रह्म के प्रतिनिधि दिव्य काल के निर्देशानुसार अपनी अपनी कक्ष्याओं में चक्कर लगाते हैं।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि सूर्य परमेश्वर की आँख है और यह काल की अपनी विशिष्ट कक्ष्या में चक्कर लगाता है। इसी तरह सूर्य से लेकर परमाणु तक सारे पिंड *कालचक्र* के वशीभूत हैं और इनमें से हर एक का एक संवत्सर का नियमित चक्र-काल है।

संवत्सरः परिवत्सर इडावत्सर एव च ।
अनुवत्सरो वत्सरश्च विदुरैवं प्रभाष्यते ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

संवत्सरः—सूर्य की कक्ष्या; परिवत्सरः—बृहस्पति की प्रदक्षिणा; इडा-वत्सरः—नक्षत्रों की कक्ष्या; एव—जैसे हैं; च—भी; अनुवत्सरः—चन्द्रमा की कक्ष्या; वत्सरः—एक पंचांग वर्ष; च—भी; विदुर—हे विदुर; एवम्—इस प्रकार; प्रभाष्यते—ऐसा उनके बारे में कहा जाता है।

सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र तथा आकाश के तारों के पाँच भिन्न-भिन्न नाम हैं और उनमें से प्रत्येक का अपना संवत्सर है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के उपर्युक्त श्लोकों में भौतिकी, रसायन विज्ञान, गणित, ज्योतिर्विज्ञान, काल तथा दिक् विषयों की चर्चा हुई है। वे उन विषयों के जिज्ञासुओं के लिए निश्चय ही अतीव रोचक हैं, किन्तु जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है हम उनकी सम्यक् व्याख्या तकनीकी ज्ञान के रूप में नहीं दे सकते। इस विषय का सारांश इस कथन द्वारा दिया गया है कि ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के ऊपर *काल* का

परम नियंत्रण है और यह काल भगवान् का स्वांश है। उन के बिना कुछ भी विद्यमान नहीं रह सकता; अत: हर वस्तु हमारे अल्प ज्ञान के लिए, चाहे वह कितनी ही अद्भुत क्यों न हो, भगवान् की जादुई छड़ी का करतब प्रतीत होती है। जहाँ तक काल का सम्बन्ध है हम आधुनिक घड़ी के अनुसार काल की तालिका दे रहे हैं—

एक त्रुटि	—	८/१३,५०० सेकंड
एक वेध	—	८/१३५ सेकंड
एक लव	—	८/४५ सेकंड
एक निमेष	—	८/१५ सेकंड
एक क्षण	—	८/५ सेकंड
एक काष्ठा	—	८ सेकंड
एक लघु	—	२ मिनट
एक दण्ड	—	३० मिनट
एक प्रहर	—	३ घंटे
एक दिन	—	१२ घंटे
एक रात	—	१२ घंटे
एक पक्ष	—	१५ दिन

दो पक्ष का १ मास तथा १२ मास का १ पंचांग वर्ष या सूर्य की पूरी एक कक्षा होते हैं। मनुष्य की आयु एक सौ वर्ष अनुमानित है। नित्य काल की माप को नियंत्रित करने की यही विधि है।

ब्रह्म-संहिता (५.५२) में इस नियंत्रण की परिपुष्टि इस प्रकार हुई है—

यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणां

राजा समस्तसुरमूर्तिरसेषतेजा: ।

यस्याज्ञया भ्रमति संभृतकालचक्रो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

''मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जिनके नियंत्रण में भगवान् की आँख माना जाने

वाला सूर्य तक नित्य काल की स्थिर कक्ष्या के भीतर चक्कर लगाता है। सूर्य समस्त लोकों का राजा है और उसमें उष्मा तथा प्रकाश की असीम शक्ति है।''

यः सृज्यशक्तिमुरुधोच्छ्वसयन्स्वशक्त्या
पुंसोऽभ्रमाय दिवि धावति भूतभेदः ।
कालाख्यया गुणमयं क्रतुभिर्वितन्वंस्
तस्मै बलिं हरत वत्सरपञ्चकाय ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; सृज्य—सृष्टि के; शक्तिम्—बीज; उरुधा—विभिन्न प्रकारों से; उच्छ्वसयन्—शक्ति देते हुए; स्व-शक्त्या—अपनी शक्ति से; पुंसः—जीव का; अभ्रमाय—अंधकार दूर करने के लिए; दिवि—दिन के समय; धावति—चलता है; भूत-भेदः—अन्य समस्त भौतिक रूप से पृथक्; काल-आख्यया—नित्यकाल के नाम से; गुण-मयम्—भौतिक परिणाम; क्रतुभिः—भेंटों के द्वारा; वितन्वन्—विस्तार देते हुए; तस्मै—उसको; बलिम्—उपहार की वस्तुएँ; हरत—अर्पित करे; वत्सर-पञ्चकाय—हर पाँच वर्ष की भेंट।

हे विदुर, सूर्य अपनी असीम उष्मा तथा प्रकाश से सारे जीवों को जीवन देता है। वह सारे जीवों की आयु को इसलिए कम करता है कि उन्हें भौतिक अनुरक्ति के मोह से छुड़ाया जा सके। वह स्वर्गलोक तक ऊपर जाने के मार्ग को लम्बा (प्रशस्त) बनाता है। इस तरह वह आकाश में बड़े वेग से गतिशील है, अतएव हर एक को चाहिए कि प्रत्येक पाँच वर्ष में एक बार पूजा की समस्त सामग्री के साथ उसको नमस्कार करे।

विदुर उवाच

पितृदेवमनुष्याणामायुः परमिदं स्मृतम् ।
परेषां गतिमाचक्ष्व ये स्युः कल्पाद्बहिर्विदः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; पितृ—पितृलोक; देव—स्वर्गलोक; मनुष्याणाम्—तथा मनुष्यों की; आयुः—आयु; परम्—अन्तिम; इदम्—उनकी अपनी माप में; स्मृतम्—परिगणित; परेषाम्—श्रेष्ठ जीवों की; गतिम्—आयु; आचक्ष्व—कृपया गणना करें; ये—वे जो; स्युः—हैं; कल्पात्—कल्प से; बहिः—बाहर; विदः—अत्यन्त विद्वान।

विदुर ने कहा : मैं पितृलोकों, स्वर्गलोकों तथा मनुष्यों के लोक के निवासियों की आयु को समझ पाया हूँ। कृपया अब मुझे उन महान् विद्वान जीवों की जीवन अवधि के विषय में बतायें जो कल्प की परिधि के परे हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा के दिन की समाप्ति पर ब्रह्माण्ड का जो आंशिक विलय होता है उससे सारे लोक प्रभावित नहीं होते। अत्यधिक विद्वान जीवों, यथा सनक तथा भृगु के लोक कल्पों के प्रलयों से

प्रभावित नहीं होते। सारे लोक विभिन्न प्रकार के हैं और इनमें से हर एक भिन्न *कालचक्र* द्वारा नियंत्रित होता है। पृथ्वी लोक का काल अन्य अधिक उच्चस्थ लोकों पर लागू नहीं होता। अतएव विदुर यहाँ पर अन्य लोकों की कालावधि के विषय में प्रश्न कर रहे हैं।

भगवान्वेद कालस्य गतिं भगवतो ननु ।
विश्वं विचक्षते धीरा योगराद्धेन चक्षुषा ॥ १७॥

शब्दार्थ

भगवान्—हे आध्यात्मिक रूप से शक्तिशाली; वेद—आप जानते हैं; कालस्य—नित्य काल की; गतिम्—चालें; भगवतः—भगवान् के; ननु—निश्चय ही; विश्वम्—पूरा ब्रह्माण्ड; विचक्षते—देखते हैं; धीराः—स्वरूपसिद्ध व्यक्ति; योग-राद्धेन—योग दृष्टि के बल पर; चक्षुषा—आँखों द्वारा।

हे आध्यात्मिक रूप से शक्तिशाली, आप उस नित्य काल की गतियों को समझ सकते हैं, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का नियंत्रक स्वरूप है। चूँकि आप स्वरूपसिद्ध व्यक्ति हैं, अतः आप योग दृष्टि की शक्ति से हर वस्तु देख सकते हैं।

तात्पर्य : जो योगशक्ति की सर्वोच्च सिद्धावस्था को प्राप्त कर चुके हैं और भूत, वर्तमान तथा भविष्य की हर वस्तु को देख सकते हैं, वे *त्रिकालज्ञ* कहलाते हैं। इसी तरह भगवद्भक्त शास्त्रों की हर वस्तु को स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। श्रीकृष्ण के भक्तगण कृष्ण विज्ञान के साथ ही साथ भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों की स्थिति को बिना किसी कठिनाई के सरलता से समझ सकते हैं। भक्तों को किसी योगसिद्धि के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। वे हर एक के हृदय में आसीन भगवान् की कृपा से हर बात को समझने में सक्षम होते हैं।

मैत्रेय उवाच
कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम् ।
दिव्यैर्द्वादशभिर्वर्षैः सावधानं निरूपितम् ॥ १८॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; कृतम्—सत्ययुग; त्रेता—त्रेतायुग; द्वापरम्—द्वापरयुग; च—भी; कलिः—कलियुग; च—तथा; इति—इस प्रकार; चतुः-युगम्—चारों युग; दिव्यैः—देवताओं के; द्वादशभिः—बारह; वर्षैः—हजारों वर्ष; स-अवधानम्—लगभग; निरूपितम्—निश्चित किया गया।

मैत्रेय ने कहा : हे विदुर, चारों युग सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलि युग कहलाते हैं। इन सबों के कुल वर्षों का योग देवताओं के बारह हजार वर्षों के बराबर है।

तात्पर्य : देवताओं का वर्ष मनुष्यों के ३६० वर्षों के बराबर होता है। जैसाकि आगे के श्लोकों से स्पष्ट हो जायेगा, देवताओं के १२,००० वर्ष, जिसमें संधिकाल की अवधियाँ अर्थात् *युग सन्ध्याएँ* सम्मिलित हैं उपर्युक्त चार युगों के योग के तुल्य हैं। इस तरह उपर्युक्त चार युगों का सम्पूर्ण योग ४,३२०,००० वर्ष है।

चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम् ।
सङ्ख्यातानि सहस्राणि द्विगुणानि शतानि च ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

चत्वारि—चार; त्रीणि—तीन; द्वे—दो; च—भी; एकम्—एक; कृत-आदिषु—सत्य युग में; यथा-क्रमम्—बाद में अन्य; सङ्ख्यातानि—संख्या वाले; सहस्राणि—हजारों; द्वि-गुणानि—दुगुना; शतानि—सौ; च—भी।

सत्य युग की अवधि देवताओं के ४,८०० वर्ष के तुल्य है; त्रेतायुग की अवधि ३,६०० दैवी वर्षों के तुल्य, द्वापर युग की २,४०० वर्ष तथा कलियुग की अवधि १,२०० दैवी वर्षों के तुल्य है।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा गया है देवताओं का एक वर्ष मनुष्यों के ३६० वर्षों के बराबर होता है। अतः सत्ययुग की अवधि ४,८००×३६०=१७,२८,००० वर्ष हुई। इसी तरह त्रेतायुग की अवधि ३६००×३६०=१२,९६,००० वर्ष, द्वापर युग की २,४००×३६०=८,६४,००० वर्ष तथा कलियुग की अवधि १,२००×३६०=४,३२,००० वर्ष है।

सन्ध्यासन्ध्यांशयोरन्तर्यः कालः शतसङ्ख्ययोः ।
तमेवाहुर्युगं तज्ज्ञा यत्र धर्मो विधीयते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सन्ध्या—पहले का बीच का काल; सन्ध्या-अंशयोः—तथा बाद का बीच का काल; अन्तः—भीतर; यः—जो; कालः—समय की अवधि; शत-सङ्ख्ययोः—सैकड़ों वर्ष; तम् एव—वह अवधि; आहुः—कहते हैं; युगम्—युग; तत्-ज्ञाः—दक्ष ज्योतिर्विद; यत्र—जिसमें; धर्मः—धर्म; विधीयते—सम्पन्न किया जाता है।

प्रत्येक युग के पहले तथा बाद के सन्धिकाल, जो कि कुछ सौ वर्षों के होते हैं, जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, दक्ष ज्योतिर्विदों के अनुसार युग-सन्ध्या या दो युगों के सन्धि काल कहलाते हैं। इन अवधियों में सभी प्रकार के धार्मिक कार्य सम्पन्न किये जाते हैं।

धर्मश्चतुष्पान्मनुजान्कृते समनुवर्तते ।
स एवान्येष्वधर्मेण व्येति पादेन वर्धता ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

धर्मः—धर्म; चतुः-पात्—पूरे चार विस्तार (पाद); मनुजान्—मानव जाति; कृते—सत्ययुग में; समनुवर्तते—ठीक से पालित; सः—वह; एव—निश्चय ही; अन्येषु—अन्यों में; अधर्मेण—अधर्म के प्रभाव से; व्येति—पतन को प्राप्त हुआ; पादेन—एक अंश से; वर्धता—धीरे धीरे वृद्धि करता हुआ।

हे विदुर, सत्ययुग में मानव जाति ने उचित तथा पूर्णरूप से धर्म के सिद्धान्तों का पालन किया, किन्तु अन्य युगों में ज्यों ज्यों अधर्म प्रवेश पाता गया त्यों त्यों धर्म क्रमशः एक एक अंश घटता गया।

तात्पर्य : सत्ययुग में धार्मिक सिद्धान्तों को पूरी तरह सम्पन्न किया जाता था। धीरे धीरे बाद के युगों में धर्म के सिद्धान्त एक एक अंश करके घटते गए। दूसरे शब्दों में, सम्प्रति एक अंश धर्म है और तीन अंश अधर्म। इसलिए इस युग में लोग अधिक सुखी नहीं हैं।

त्रिलोक्या युगसाहस्रं बहिराब्रह्मणो दिनम् ।
तावत्येव निशा तात यन्निमीलति विश्वसृक् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

त्रि-लोक्याः—तीनों लोकों के; युग—चार युग; साहस्रम्—एक हजार; बहिः—बाहर; आब्रह्मणः—ब्रह्मलोक तक; दिनम्—दिन है; तावती—वैसा ही (काल); एव—निश्चय ही; निशा—रात है; तात—हे प्रिय; यत्—क्योंकि; निमीलति—सोने चला जाता है; विश्व-सृक्—ब्रह्मा।

तीन लोकों (स्वर्ग, मर्त्य तथा पाताल) के बाहर चार युगों को एक हजार से गुणा करने से ब्रह्मा के लोक का एक दिन होता है। ऐसी ही अवधि ब्रह्मा की रात होती है, जिसमें ब्रह्माण्ड का स्त्रष्टा सो जाता है।

तात्पर्य : जब ब्रह्माजी अपनी रात्रि के समय सो जाते हैं, तो ब्रह्मलोक से नीचे के तीनों लोक प्रलय जल में निमग्न रहते हैं। सोते हुए ब्रह्माजी गर्भोदकशायी विष्णु के विषय में स्वप्न देखते हैं और ध्वस्त हुए क्षेत्र के पुनर्वासन हेतु भगवान् से आदेश लेते हैं।

निशावसान आरब्धो लोककल्पोऽनुवर्तते ।
यावद्दिनं भगवतो मनून्भुञ्जंश्चतुर्दश ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

निशा—रात; अवसाने—समाप्ति; आरब्धः—प्रारम्भ करते हुए; लोक-कल्पः—तीन लोकों की फिर से उत्पत्ति; अनुवर्तते—पीछे पीछे आती है; यावत्—जब तक; दिनम्—दिन का समय; भगवतः—भगवान् (ब्रह्मा) का; मनून्—मनुओं; भुञ्जन्—विद्यमान रहते हुए; चतुः-दश—चौदह।

ब्रह्मा की रात्रि के अन्त होने पर ब्रह्मा के दिन के समय तीनों लोकों का पुनः सृजन प्रारम्भ होता है और वे एक के बाद एक लगातार चौदह मनुओं के जीवन काल तक विद्यमान रहते हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक मनु के जीवन के अन्त में छोटे छोटे प्रलय भी होते रहते हैं।

स्वं स्वं कालं मनुर्भुङ्क्ते साधिकां ह्येकसप्ततिम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

स्वम्—अपना; स्वम्—तदनुसार; कालम्—जीवन की अवधि, आयु; मनुः—मनु; भुङ्क्ते—भोग करता है; स-अधिकाम्—की अपेक्षा कुछ अधिक; हि—निश्चय ही; एक-सप्ततिम्—इकहत्तर।

प्रत्येक मनु चतुर्युगों के इकहत्तर से कुछ अधिक समूहों का जीवन भोग करता है।

तात्पर्य : जैसाकि *विष्णु पुराण* में वर्णित है मनु की आयु चतुर्युगों के इकहत्तर समूहों की होती है। एक मनु की आयु दैवी गणना के अनुसार लगभग ८,५२,००० वर्ष या मनुष्य गणना में ३०,६७,२०,००० वर्ष होती है।

मन्वन्तरेषु मनवस्तद्वंश्या ऋषयः सुराः ।
भवन्ति चैव युगपत्सुरेशाश्चानु ये च तान् ॥ २५॥

शब्दार्थ

मनु-अन्तरेषु—प्रत्येक मनु के अवसान के बाद; मनवः—अन्य मनु; तत्-वंश्याः—तथा उनके वंशज; ऋषयः—सात विख्यात ऋषि; सुराः—भगवान् के भक्त; भवन्ति—उन्नति करते हैं; च एव—वे सभी भी; युगपत्—एक साथ; सुर-ईशाः—इन्द्र जैसे देवता; च—तथा; अनु—अनुयायी; ये—समस्त; च—भी; तान्—उनको।

प्रत्येक मनु के अवसान के बाद क्रम से अगला मनु अपने वंशजों के साथ आता है, जो विभिन्न लोकों पर शासन करते हैं। किन्तु सात विख्यात ऋषि तथा इन्द्र जैसे देवता एवं गन्धर्व जैसे उनके अनुयायी मनु के साथ साथ प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं और इनमें से हर एक के पृथक्-पृथक् वंशज होते हैं।

एष दैनन्दिनः सर्गो ब्राह्मस्त्रैलोक्यवर्तनः ।
तिर्यङ्नृपितृदेवानां सम्भवो यत्र कर्मभिः ॥ २६॥

शब्दार्थ

एषः—ये सारी सृष्टियाँ; दैनम्-दिनः—प्रतिदिन; सर्गः—सृष्टि; ब्राह्मः—ब्रह्मा के दिनों के रूप में; त्रैलोक्य-वर्तनः—तीनों लोकों का चक्कर; तिर्यक्—मनुष्येतर पशु; नृ—मनुष्य; पितृ—पितृलोक के; देवानाम्—देवताओं के; सम्भवः—प्राकट्य; यत्र—जिसमें; कर्मभिः—सकाम कर्मों के चक्र में।

ब्रह्मा के दिन के समय सृष्टि में तीनों लोक—स्वर्ग, मर्त्य तथा पाताल लोक—चक्कर लगाते हैं तथा मनुष्येतर पशु, मनुष्य, देवता तथा पितृगण समेत सारे निवासी अपने अपने सकाम कर्मों के अनुसार प्रकट तथा अप्रकट होते रहते हैं।

मन्वन्तरेषु भगवान्बिभ्रत्सत्त्वं स्वमूर्तिभिः ।
मन्वादिभिरिदं विश्वमवत्युदितपौरुषः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

मनु-अन्तरेषु—प्रत्येक मनु-परिवर्तन में; भगवान्—भगवान्; बिभ्रत्—प्रकट करते हुए; सत्त्वम्—अपनी अन्तरंगा शक्ति; स्व-मूर्तिभिः—अपने विभिन्न अवतारों द्वारा; मनु-आदिभिः—मनुओं के रूप में; इदम्—यह; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; अवति—पालन करता है; उदित—खोजी; पौरुषः—दैवशक्तियाँ।

प्रत्येक मनु के बदलने के साथ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विभिन्न अवतारों के रूप में यथा मनु इत्यादि के रूप में अपनी अन्तरंगा शक्ति प्रकट करते हुए अवतीर्ण होते हैं। इस तरह प्राप्त हुई शक्ति से वे ब्रह्माण्ड का पालन करते हैं।

तमोमात्रामुपादाय प्रतिसंरुद्धविक्रमः ।
कालेनानुगताशेष आस्ते तूष्णीं दिनात्यये ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तमः—तमोगुण या रात का अंधकार; मात्राम्—नगण्य अंशमात्र; उपादाय—स्वीकार करके; प्रतिसंरुद्ध-विक्रमः—अभिव्यक्ति की सारी शक्ति को रोक करके; कालेन—नित्य काल के द्वारा; अनुगत—विलीन; अशेषः—असंख्य जीव; आस्ते—रहता है; तूष्णीम्—मौन; दिन-अत्यये—दिन का अन्त होने पर।

दिन का अन्त होने पर तमोगुण के नगण्य अंश के अन्तर्गत ब्रह्माण्ड की शक्तिशाली अभिव्यक्ति रात के अँधेरे में लीन हो जाती है। नित्यकाल के प्रभाव से असंख्य जीव उस प्रलय में लीन रहते हैं और हर वस्तु मौन रहती है।

तात्पर्य : यह श्लोक ब्रह्मा की रात्रि की व्याख्या है, जो प्रकृति के तमोगुण के क्षुद्र अंश के सम्पर्क में काल के प्रभाव का परिणाम है। तीनों लोकों का प्रलय तमस के अवतार रुद्र द्वारा लाया जाता है, जो नित्य काल की उस अग्नि के द्वारा प्रदर्शित होता है, जो तीनों लोकों में प्रज्वलित रहती है। ये तीनों लोक भूः, भुवः तथा स्वः (पाताल, मर्त्य तथा स्वर्ग) कहलाते हैं। असंख्य जीव उस प्रलय में लीन

होते हैं, जो परमेश्वर की शक्ति के दृश्य पर पटाक्षेप जैसी प्रतीत होती है और इस तरह हर वस्तु मौन हो जाती है।

तमेवान्वपि धीयन्ते लोका भूरादयस्त्रयः ।
निशायामनुवृत्तायां निर्मुक्तशशिभास्करम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तम्—वह; एव—निश्चय ही; अनु—पीछे; अपि धीयन्ते—दृष्टि से लुप्त हो जाते हैं; लोकाः—लोक; भूः-आदयः—तीनों लोक, भूः, भुवः तथा स्वः; त्रयः—तीन; निशायाम्—रात में; अनुवृत्तायाम्—सामान्य; निर्मुक्त—बिना चमक दमक के; शशि—चन्द्रमा; भास्करम्—सूर्य।

जब ब्रह्मा की रात शुरू होती है, तो तीनों लोक दृष्टिगोचर नहीं होते और सूर्य तथा चन्द्रमा तेज विहीन हो जाते हैं जिस तरह कि सामान्य रात के समय होता है।

तात्पर्य : ऐसा समझा जाता है कि सूर्य तथा चन्द्रमा की चमक तीनों लोकों की परिधि से अदृश्य हो जाती है, किन्तु स्वयं सूर्य तथा चन्द्रमा लुप्त नहीं होते। वे ब्रह्माण्ड के शेष भाग में, जो तीनों लोकों के मंडल से परे है, प्रकट होते हैं। प्रलयग्रस्त भाग सूर्य की किरणों या चन्द्रमा की चमक के बिना रह जाता है। सर्वत्र अंधकार रहता है और जल भरा रहता है और न रुकने वाली वायु चलती है जैसाकि अगले श्लोकों में बतलाया गया है।

त्रिलोक्यां दह्यमानायां शक्त्या सङ्कर्षणाग्निना ।
यान्त्यूष्मणा महर्लोकाज्जनं भृग्वादयोऽर्दिताः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

त्रि-लोक्याम्—जब तीनों लोको के मंडल; दह्यमानायाम्—प्रज्ज्वलित; शक्त्या—शक्ति के द्वारा; सङ्कर्षण—संकर्षण के मुख से; अग्निना—आग से; यान्ति—जाते हैं; ऊष्मणा—ताप से तपे हुए; महः-लोकात्—महर्लोक से; जनम्—जनलोक; भृगु—भृगु मुनि; आदयः—इत्यादि; अर्दिताः—पीड़ित।

संकर्षण के मुख से निकलने वाली अग्नि के कारण प्रलय होता है और इस तरह भृगु इत्यादि महर्षि तथा महर्लोक के अन्य निवासी उस प्रज्ज्वलित अग्नि की उष्मा से, जो नीचे के तीनों लोकों में लगी रहती है, व्याकुल होकर जनलोक को चले जाते हैं।

तावत्त्रिभुवनं सद्यः कल्पान्तैधितसिन्धवः ।
प्लावयन्त्युत्कटाटोपचण्डवातेरितोर्मयः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब; त्रि-भुवनम्—तीनों लोक; सद्यः—उसके तुरन्त बाद; कल्प-अन्त—प्रलय के प्रारम्भ में; एधित—उमड़ कर; सिन्धवः—सारे समुद्र; प्लावयन्ति—बाढ़ से जलमग्न हो जाते हैं; उत्कट—भीषण; आटोप—क्षोभ; चण्ड—अंधड़; वात—हवाओं द्वारा; ईरित—बहाई गई; ऊर्मयः—लहरें।

प्रलय के प्रारम्भ में सारे समुद्र उमड़ आते हैं और भीषण हवाएँ उग्र रूप से चलती हैं। इस तरह समुद्र की लहरें भयावह बन जाती हैं और देखते ही देखते तीनों लोक जलमग्न हो जाते हैं।

तात्पर्य : कहा जाता है कि संकर्षण के मुख से निकलने वाली प्रज्ज्वलित अग्नि देवताओं के एक सौ वर्ष तक या मनुष्यों के ३६,००० वर्षों तक धधकती रहती है। इसके पश्चात् अगले ३६,००० वर्षों तक मूसलाधार वर्षा के साथ साथ प्रचण्ड वायु तथा लहरें उठती हैं और समुद्र तथा महासागर उमड़ने लगते हैं। ७२,००० वर्षों के ये घात-प्रतिघात तीनों लोकों के आंशिक प्रलय के आरम्भ हैं। लोकों के इन प्रलयों को भूलकर लोग सभ्यता की भौतिक प्रगति में अपने को सुखी मानते हैं। यही माया कहलाती है अर्थात् "वह जो नहीं हैं।"

अन्तः स तस्मिन्सलिल आस्तेऽनन्तासनो हरिः ।
योगनिद्रानिमीलाक्षः स्तूयमानो जनालयैः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अन्तः—भीतर; सः—वह; तस्मिन्—उस; सलिले—जल में; आस्ते—है; अनन्त—अनन्त के; आसनः—आसन पर; हरिः—भगवान्; योग—योग की; निद्रा—नींद; निमील-अक्षः—बन्द आँखें; स्तूय-मानः—प्रकीर्तित; जन-आलयैः—जनलोक के निवासियों द्वारा।

परमेश्वर अर्थात् भगवान् हरि अपनी आँखें बन्द किए हुए अनन्त के आसन पर जल में लेट जाते हैं और जनलोक के निवासी हाथ जोड़ कर भगवान् की महिमामयी स्तुतियाँ करते हैं।

तात्पर्य : हमें भगवान् की शयन अवस्था को अपनी नींद जैसा नहीं समझना चाहिए। यहाँ पर *योग निद्रा* शब्द का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है, जो सूचित करता है कि भगवान् की शयन अवस्था भी उनकी अन्तरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति है। जब भी योग शब्द व्यवहृत किया जाता है इसे 'दिव्य' का द्योतक समझना चाहिए। दिव्य अवस्था में समस्त कार्यकलाप विद्यमान रहते हैं और उनकी महिमा का बखान भृगु जैसे महान् ऋषियों की स्तुतियों द्वारा होता है।

एवंविधैरहोरात्रैः कालगत्योपलक्षितैः ।
अपक्षितमिवास्यापि परमायुर्वयःशतम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विधैः—विधि से; अहः—दिनों; रात्रैः—रात्रियों के द्वारा; काल-गत्या—काल की प्रगति; उपलक्षितैः—ऐसे लक्षणों द्वारा; अपक्षितम्—घटती हुई; इव—सदृश; अस्य—उसकी; अपि—यद्यपि; परम-आयुः—आयु; वयः—वर्ष; शतम्—एक सौ।

इस तरह ब्रह्माजी समेत प्रत्येक जीव के लिए आयु की अवधि के क्षय की विधि विद्यमान रहती है। विभिन्न लोकों में काल के सन्दर्भ में हर किसी जीव की आयु केवल एक सौ वर्ष तक होती है।

तात्पर्य : विभिन्न जीवों के लिए विभिन्न लोकों में कालावधि के अनुसार हर जीव एक सौ वर्ष तक जीवित रहता है। जीवन के ये सौ वर्ष प्रत्येक अवस्था में समान नहीं होते। एक सौ वर्षों की सबसे दीर्घ आयु ब्रह्माजी की होती है और ब्रह्मा का जीवन बहुत दीर्घ होने पर भी समय आने पर समाप्त हो जाता है। ब्रह्मा भी अपनी मृत्यु से भयभीत रहते हैं, अतएव वे भगवान् की भक्ति करते हैं जिससे वे माया के पाश से छुटकारा पा सकें। हाँ, पशुओं में उत्तरदायित्व का कोई बोध नहीं होता। किन्तु मनुष्य भी, जिनमें उत्तरदायित्व का बोध विकसित रहता है, भगवान् की भक्ति में लगे बिना अपना अमूल्य समय व्यर्थ खोते रहते हैं। वे आसन्न मृत्यु से डरे बिना मौज से रहते हैं। यह मानव समाज का पागलपन है। पागल मनुष्य का जीवन में कोई उत्तरदायित्व नहीं होता। इसी तरह जो मनुष्य मरने के पूर्व उत्तरदायित्व का बोध विकसित नहीं कर लेता वह उस पागल व्यक्ति के समान है, जो भविष्य की किसी प्रकार की चिन्ता किये बिना भौतिक जीवन का आनन्द लेना चाहता है। यह आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य अगले जीवन के लिए अपने को तैयार करने के लिए उत्तरदायी बने, भले ही उसकी आयु इस ब्रह्माण्ड के सबसे बड़े प्राणी ब्रह्मा जितनी क्यों न हो।

यदर्धमायुषस्तस्य परार्धमभिधीयते ।
पूर्वः परार्धोऽपक्रान्तो ह्यपरोऽद्य प्रवर्तते ॥ ३४॥

शब्दार्थ

यत्—जो; अर्धम्—आधा; आयुषः—आयु का; तस्य—उसका; परार्धम्—एक परार्ध; अभिधीयते—कहलाता है; पूर्वः—पहले वाला; पर-अर्धः—आधी आयु; अपक्रान्तः—बीत जाने पर; हि—निश्चय ही; अपरः—बाद वाला; अद्य—इस युग में; प्रवर्तते—प्रारम्भ करेगा।

ब्रह्मा के जीवन के एक सौ वर्ष दो भागों में विभक्त हैं प्रथमार्ध तथा द्वितीयार्ध या परार्ध। ब्रह्मा के जीवन का प्रथमार्ध समाप्त हो चुका है और द्वितीयार्ध अब चल रहा है।

तात्पर्य : इस ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर ब्रह्मा के जीवन के एक सौ वर्षों की अवधि की व्याख्या

की जा चुकी है और *भगवद्गीता* (८.१७) में भी इसका वर्णन हुआ है। ब्रह्मा की आयु के पचास वर्ष बीत चुके हैं और अगले पचास वर्ष अभी पूरे होने हैं। तब ब्रह्मा के लिए भी मृत्यु अपरिहार्य हो जाएगी।

पूर्वस्यादौ परार्धस्य ब्राह्मो नाम महानभूत् ।
कल्पो यत्राभवद्ब्रह्मा शब्दब्रह्मेति यं विदुः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

पूर्वस्य—प्रथमार्ध के; आदौ—प्रारम्भ में; पर-अर्धस्य—द्वितीयार्ध का; ब्राह्मः—ब्राह्म-कल्प; नाम—नामक; महान्—महान्; अभूत्—प्रकट था; कल्पः—कल्प; यत्र—जहाँ; अभवत्—प्रकट हुआ; ब्रह्मा—ब्रह्मा; शब्द-ब्रह्म इति—वेदों की ध्वनियाँ; यम्—जिसको; विदुः—वे जानते हैं।

ब्रह्मा के जीवन के प्रथमार्ध के प्रारम्भ में ब्राह्म-कल्प नामक कल्प था जिसमें ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। वेदों का जन्म ब्रह्मा के जन्म के साथ साथ हुआ।

तात्पर्य : *पद्मपुराण* (प्रभास काण्ड) के अनुसार ब्रह्मा के तीस दिनों में कई कल्प यथा वराह कल्प तथा पितृकल्प घटित हो जाते हैं। तीस दिन का ब्रह्मा का एक मास होता है, जो पूर्ण चन्द्रमा से लेकर चन्द्रमा के अस्त होने तक चलता है। ऐसे बारह मासों से पूरा वर्ष बनता है और पचास वर्ष एक परार्ध को पूरा करते हैं, अर्थात् ब्रह्मा की आयु के आधे के तुल्य होते हैं। भगवान् का श्वेत वराह प्राकट्य ब्रह्मा का पहला जन्मदिन है। ब्रह्मा की जन्मतिथि हिन्दू ज्योतिष गणना के अनुसार मार्च मास में पड़ती है। यह कथन श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की व्याख्या से जैसे का तैसा उद्धृत है।

तस्यैव चान्ते कल्पोऽभूद्यं पाद्ममभिचक्षते ।
यद्धरेर्नाभिसरस आसील्लोकसरोरुहम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तस्य—ब्राह्म-कल्प का; एव—निश्चय ही; च—भी; अन्ते—के अन्त में; कल्पः—कल्प; अभूत्—उत्पन्न हुआ; यम्—जो; पाद्मम्—पाद्म; अभिचक्षते—कहलाता है; यत्—जिसमें; हरेः—भगवान् की; नाभि—नाभि में; सरसः—जलाशय से; आसीत्—था; लोक—ब्रह्माण्ड; सरोरुहम्—कमल।

प्रथम ब्राह्म-कल्प के बाद का कल्प पाद्म-कल्प कहलाता है, क्योंकि उस काल में विश्वरूप कमल का फूल भगवान् हरि के नाभि रूपी जलाशय से प्रकट हुआ।

तात्पर्य : ब्राह्म-कल्प के बाद का कल्प पाद्म-कल्प कहलाता है, क्योंकि उस कल्प में विश्व रूपी कमल विकसति होता है। कुछ पुराणों में पाद्म-कल्प को पितृकल्प भी कहा गया है।

**अयं तु कथितः कल्पो द्वितीयस्यापि भारत ।
वाराह इति विख्यातो यत्रासीच्छूकरो हरिः ॥ ३७॥**

शब्दार्थ

अयम्—यह; तु—लेकिन; कथितः—प्रसिद्ध; कल्पः—चालू कल्प; द्वितीयस्य—परार्ध का; अपि—निश्चय ही; भारत—हे भरतवंशी; वाराहः—वाराह; इति—इस प्रकार; विख्यातः—प्रसिद्ध है; यत्र—जिसमें; आसीत्—प्रकट हुआ; शूकरः—सूकर का रूप; हरिः—भगवान्।

हे भरतवंशी, ब्रह्मा के जीवन के द्वितीयार्ध में प्रथम कल्प वाराह कल्प भी कहलाता है, क्योंकि उस कल्प में भगवान् सूकर अवतार के रूप में प्रकट हुए थे।

तात्पर्य : ब्राह्म, पाद्म तथा वाराह कल्प नामक विभिन्न कल्प अभिज्ञ व्यक्ति को कुछ चक्कर में डालने वाले लगते हैं। कुछ ऐसे विद्वान हैं, जो इन कल्पों को एक ही मानते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार ब्राह्म-कल्प प्रथमार्ध के प्रारम्भ में पाद्म-कल्प जैसा प्रतीत होता है। किन्तु हम तो मूल पाठ का पालन कर सकते हैं और यह समझ सकते हैं कि वर्तमान कल्प ब्रह्मा की आयु की अवधि के द्वितीयार्ध में है।

**कालोऽयं द्विपरार्धाख्यो निमेष उपचर्यते ।
अव्याकृतस्यानन्तस्य ह्यनादेर्जगदात्मनः ॥ ३८ ॥**

शब्दार्थ

कालः—नित्य काल; अयम्—यह (ब्रह्मा की आयु की अवधि से मापा गया); द्वि-परार्ध-आख्यः—ब्रह्मा के जीवन के दो अर्धों से मापा हुआ; निमेषः—एक क्षण से भी कम; उपचर्यते—इस तरह मापा जाता है; अव्याकृतस्य—अपरिवर्तित रहता है, जो, उसका; अनन्तस्य—असीम का; हि—निश्चय ही; अनादेः—आदि-रहित का; जगत्-आत्मनः—ब्रह्माण्ड की आत्मा का।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ब्रह्मा के जीवन के दो भागों की अवधि भगवान् के लिए एक निमेष (एक सेकेंड से भी कम) के बराबर परिगणित की जाती है। भगवान् अपरिवर्तनीय तथा असीम हैं और ब्रह्माण्ड के समस्त कारणों के कारण हैं।

तात्पर्य : महर्षि मैत्रेय ने काल के विभिन्न मापों का परमाणु से लेकर ब्रह्मा की आयु की अवधि तक का पर्याप्त विवरण दिया है। अब वे अनन्त भगवान् के काल का कुछ अनुमान प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे हैं। वे उनके असीम काल का संकेत ब्रह्मा के जीवन के मानदण्ड द्वारा देते हैं। ब्रह्मा की पूरी आयु की गणना भगवान् के काल के एक सेकेंड से भी कम है और वह *ब्रह्म-संहिता* (५.४८) में इस प्रकार बतलाई गई है :

यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य

जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथा: ।

विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

"मैं समस्त कारणों के कारण भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जिनका स्वांश महाविष्णु है। असंख्य ब्रह्माण्डों के सारे प्रधान (ब्रह्मा-गण) उनके एक श्वास में लगने वाले समय की शरण ग्रहण करके जीवित रहते हैं।" निर्विशेषवादी भगवान् के स्वरूप पर विश्वास नहीं करते, अत: वे भगवान् के शयन करने पर विश्वास नहीं करेंगे। उनका विचार अल्पज्ञान से उत्पन्न है। वे हर वस्तु की गणना मनुष्य की क्षमता के रूप में करते हैं। वे सोचते हैं कि परमेश्वर का अस्तित्व सक्रिय मानव जीवन के सर्वथा विपरीत है। चूँकि मनुष्य के इन्द्रियाँ होती हैं, अतएव भगवान इन्द्रिय-अनुभूति से विहीन होगा; चूँकि मनुष्य के स्वरूप है, अत: परमात्मा स्वरूप से विहीन होगा; चूँकि मनुष्य सोता है, अत: सर्वोपरि को नहीं सोना चाहिए। किन्तु *श्रीमद्भागवत* ऐसे निर्विशेषवादियों से सहमत नहीं। यहाँ पर स्पष्ट कहा गया है कि परमेश्वर योग-निद्रा में शयन करते हैं जैसा पहले कहा जा चुका है। चूँकि वे सोते हैं, अत: स्वाभाविक है कि वे साँस लेंते होंगे और *ब्रह्म-संहिता* इसकी पुष्टि करती है कि उनके श्वास लेने की अवधि में असंख्य ब्रह्मा जन्म लेते तथा मरते हैं।

श्रीमद्भागवत तथा *ब्रह्म-संहिता* में पूर्ण मतैक्य है। नित्य काल कभी भी ब्रह्मा के जीवन के साथ नष्ट नहीं होता। यह चलता रहता है, किन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को नियंत्रित करने की क्षमता इसमें नहीं है, क्योंकि भगवान् काल के नियंत्रक हैं। आध्यात्मिक जगत में काल तो निस्सन्देह, है, किन्तु कार्यकलापों पर इसका नियंत्रण नहीं होता। काल असीम है और आध्यात्मिक जगत भी असीम है, क्योंकि वहाँ पर हर वस्तु परम स्तर पर विद्यमान रहती है।

कालोऽयं परमाण्वादिर्द्विपरार्धान्त ईश्वरः ।
नैवेशितुं प्रभुर्भूम्न ईश्वरो धाममानिनाम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

कालः—नित्य काल; अयम्—यह; परम-अणु—परमाणु; आदिः—प्रारम्भ से; द्वि-परार्ध—काल की दो परम अवधियाँ; अन्तः—अन्त तक; ईश्वरः—नियन्ता; न—कभी नहीं; एव—निश्चय ही; ईशितुम्—नियंत्रित करने के लिए; प्रभुः—समर्थ; भूम्नः—ब्रह्मा का; ईश्वरः—नियन्ता; धाम-मानिनाम्—उनका जो देह में अभिमान रखने वाले हैं।

नित्य काल निश्चय ही परमाणु से लेकर ब्रह्मा की आयु के परार्धों तक के विभिन्न आयामों का नियन्ता है, किन्तु तो भी इसका नियंत्रण सर्वशक्तिमान (भगवान) द्वारा होता है। काल केवल उनका नियंत्रण कर सकता है, जो सत्यलोक या ब्रह्माण्ड के अन्य उच्चतर लोकों तक में देह में अभिमान करने वाले हैं।

विकारैः सहितो युक्तैर्विशेषादिभिरावृतः ।
आण्डकोशो बहिरयं पञ्चाशत्कोटिविस्तृतः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

विकारैः—तत्त्वों के रूपान्तर द्वारा; सहितः—सहित; युक्तैः—इस प्रकार से मिश्रित; विशेष—अभिव्यक्तियाँ; आदिभिः—उनके द्वारा; आवृतः—प्रच्छन्न; आण्ड-कोशः—ब्रह्माण्ड; बहिः—बाहर; अयम्—यह; पञ्चाशत्—पचास; कोटि—करोड़; विस्तृतः—विस्तीर्ण।

यह दृश्य भौतिक जगत चार अरब मील के व्यास तक फैला हुआ है, जिसमें आठ भौतिक तत्त्वों का मिश्रण है, जो सोलह अन्य कोटियों में, भीतर-बाहर निम्नवत् रूपान्तरित हैं।

तात्पर्य : जैसाकि पहले कहा जा चुका है, सम्पूर्ण भौतिक जगत सोलह विविधताओं तथा आठ भौतिक तत्त्वों का प्रदर्शन है। भौतिक जगत का वैश्लेषिक अध्ययन सांख्य दर्शन की विषय- वस्तु है। सोलह विविधताओं में ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच इन्द्रिय-विषय आते हैं और आठ तत्त्व स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थ हैं जिनके नाम हैं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार। ये सभी परस्पर मिश्रित होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैले हुए हैं, जो चार अरब मील के व्यास में विस्तीर्ण है। हमारे अनुभव वाले इस ब्रह्माण्ड के अतिरिक्त अन्य असंख्य ब्रह्माण्ड हैं। इनमें से कुछ तो इस ब्रह्माण्ड से बड़े हैं और वे सभी एकसमान भौतिक तत्त्वों के अन्तर्गत एकसाथ संपुंजित रहते हैं जिनका वर्णन नीचे दिया हुआ है।

दशोत्तराधिकैर्यत्र प्रविष्टः परमाणुवत् ।
लक्ष्यतेऽन्तर्गताश्चान्ये कोटिशो ह्यण्डराशयः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

दश-उत्तर-अधिकैः—दस गुनी अधिक मोटाई वाली; यत्र—जिसमें; प्रविष्टः—प्रविष्ट; परम-अणु-वत्—परमाणुओं की तरह; लक्ष्यते—(ब्रह्माण्डों का भार) प्रतीत होता है; अन्तः-गताः—एकसाथ रहते हैं; च—तथा; अन्ये—अन्य में; कोटिशः—संपुंजित; हि—क्योंकि; अण्ड-राशयः—ब्रह्माण्डों के विशाल संयोग।

ब्रह्माण्डों को ढके रखने वाले तत्त्वों की परतें पिछले वाली से दस गुनी अधिक मोटी होती हैं और सारे ब्रह्माण्ड एकसाथ संपुंजित होकर परमाणुओं के विशाल संयोग जैसे प्रतीत होते हैं।

तात्पर्य : ब्रह्माण्डों के आवरण (कोश) भी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश के तत्त्वों से बने होते हैं और अपने से पहले वाले आवरण की अपेक्षा दसगुना मोटे होते हैं। ब्रह्माण्ड का पहला आवरण पृथ्वी है और यह ब्रह्माण्ड से दस गुना मोटी है। यदि ब्रह्माण्ड ४ अरब मील आकार का है, तो पृथ्वी के आवरण का आकार चार गुणा दस अर्थात् ४० अरब मील है। जल का आवरण पृथ्वी के आवरण से दसगुना मोटा है। और अग्नि का आवरण, जल के आवरण से दसगुना अधिक है। वायु का आवरण अग्नि के आवरण का दस गुना और आकाश का आवरण अग्नि से दस गुना होता है। यह ब्रह्माण्ड पदार्थ के आवरणों के भीतर आवरणों की तुलना में परमाणु जैसा प्रतीत होता है और ब्रह्माण्डों की संख्या उन लोगों को भी ज्ञात नहीं है, जो ब्रह्माण्डों के आवरणों का अनुमान लगा सकते हैं।

तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणम् ।
विष्णोर्धाम परं साक्षात्पुरुषस्य महात्मनः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; आहुः—कहा जाता है; अक्षरम्—अच्युत; ब्रह्म—परम; सर्व-कारण—समस्त कारणों का; कारणम्—परम कारण; विष्णोः धाम—विष्णु का आध्यात्मिक निवास; परम्—परम; साक्षात्—निस्सन्देह; पुरुषस्य—पुरुष अवतार का; महात्मनः—महाविष्णु का।

इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण समस्त कारणों के आदि कारण कहलाते हैं। इस प्रकार विष्णु का आध्यात्मिक धाम निस्सन्देह शाश्वत है और यह समस्त अभिव्यक्तियों के उद्गम महाविष्णु का भी धाम है।

तात्पर्य : महाविष्णु जो कि कारणार्णव में *योगनिद्रा* में शयन करते हैं और अपनी श्वास के द्वारा असंख्य ब्रह्माण्डों को उत्पन्न करते हैं, भौतिक जगतों की क्षणिक अभिव्यक्ति के लिए *महत् तत्त्व* में क्षण भर के लिए ही प्रकट होते हैं। वे भगवान् श्रीकृष्ण के स्वांश हैं और इस तरह भगवान् कृष्ण से अभिन्न होकर भी भौतिक जगत में अवतार के रूप में उनका वैधानिक प्राकट्य अस्थायी है। भगवान् का आदि रूप वस्तुतः *स्वरूप* या असली रूप है और वे वैकुण्ठ जगत (विष्णुलोक) में नित्य वास

करते हैं। यहाँ पर प्रयुक्त *महात्-मन:* शब्द महाविष्णु को सूचित करने के लिए आया है और उनका असली स्वरूप भगवान् कृष्ण है, जो *परम* कहलाते हैं जिसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* में हुई है :

ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्दविग्रह: ।

अनादिरादिर्गोविन्द: सर्वकारणकारणम् ॥

''परमेश्वर अर्थात् आदि भगवान् कृष्ण हैं, जो गोविन्द कहलाते हैं। उनका रूप शाश्वत, आनन्दमय तथा ज्ञानमय है और वे समस्त कारणों के आदि कारण हैं।''

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''परमाणु से काल की गणना'' नामक ग्यारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बारह

कुमारों तथा अन्यों की सृष्टि

मैत्रेय उवाच
इति ते वर्णितः क्षत्तः कालाख्यः परमात्मनः ।
महिमा वेदगर्भोऽथ यथास्राक्षीन्निबोध मे ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—श्री मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; ते—तुमसे; वर्णितः—वर्णन किया गया; क्षत्तः—हे विदुर; काल-आख्यः—नित्य काल नामक; परमात्मनः—परमात्मा की; महिमा—ख्याति; वेद-गर्भः—वेदों के आगार, ब्रह्मा; अथ—इसके बाद; यथा—जिस तरह यह है; अस्राक्षीत्—उत्पन्न किया; निबोध—समझने का प्रयास करो; मे—मुझसे।

श्री मैत्रेय ने कहा : हे विद्वान विदुर, अभी तक मैंने तुमसे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के काल-रूप की महिमा की व्याख्या की है। अब तुम मुझसे समस्त वैदिक ज्ञान के आगार ब्रह्मा की सृष्टि के विषय में सुन सकते हो।

ससर्जाग्रेऽन्धतामिस्रमथ तामिस्रमादिकृत् ।
महामोहं च मोहं च तमश्चाज्ञानवृत्तयः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ससर्ज—उत्पन्न किया; अग्रे—सर्वप्रथम; अन्ध-तामिस्रम्—मृत्यु का भाव; अथ—तब; तामिस्रम्—हताशा पर क्रोध; आदि-कृत्—ये सभी; महा-मोहम्—भोग्य वस्तुओं का स्वामित्व; च—भी; मोहम्—भ्रान्त धारणा; च—भी; तमः—आत्मज्ञान में अंधकार; च—भी; अज्ञान—अविद्या; वृत्तयः—पेशे, वृत्तियाँ।

ब्रह्मा ने सर्वप्रथम आत्मप्रवंचना, मृत्यु का भाव, हताशा के बाद क्रोध, मिथ्या स्वामित्व का भाव तथा मोहमय शारीरिक धारणा या अपने असली स्वरूप की विस्मृति जैसी अविद्यापूर्ण वृत्तियों की संरचना की।

तात्पर्य : विभिन्न प्रकार की योनियों में जीवों की वास्तविक सृष्टि के पूर्व ब्रह्मा ने वे परिस्थितियाँ उत्पन्न कीं जिनके अन्तर्गत जीवों को इस भौतिक जगत में रहना होता है। जब तक जीव अपने असली स्वरूप को भूल नहीं जाता तब तक जीवन की भौतिक अवस्थाओं में रह पाना उसके लिए असम्भव है। अतएव भौतिक जीवन की पहली दशा है अपने असली स्वरूप की विस्मृति। अपने असली स्वरूप को भूलने पर मनुष्य का मृत्यु से भयभीत होना निश्चित है, यद्यपि शुद्ध आत्मा मृत्युरहित तथा जन्मरहित होता है। भौतिक प्रकृति के साथ यह झूठी पहचान उन वस्तुओं के मिथ्या स्वामित्व का कारण है, जो श्रेष्ठ नियंत्रण की व्यवस्था द्वारा प्रदत्त होती हैं। जीव को समस्त भौतिक संसाधन इसलिए प्रदान किये

जाते हैं कि वह शान्तिपूर्वक रह सके और बद्धजीवन में आत्म-साक्षात्कार के कर्तव्यों को निभा सके। किन्तु झूठी पहचान के कारण बद्धजीव भगवान् की सम्पत्ति के झूठे स्वामित्व के भाव में बन्धक हो जाता है। इस श्लोक से यह स्पष्ट है कि स्वयं ब्रह्मा परमेश्वर की सृष्टि हैं और भौतिक जगत की पाँच प्रकार की अविद्याएँ, जो जीवों को बद्ध बनाती हैं वे ब्रह्मा की सृष्टियाँ हैं। यह सोचना नितान्त हास्यास्पद है कि जीव परम पुरुष के तुल्य है, जबकि वह यह समझ सकता है कि बद्धजीव ब्रह्मा की जादुई छड़ी के वश में हैं। पतञ्जलि भी यह स्वीकार करते हैं कि अविद्या पाँच प्रकार की है जिनका यहाँ पर उल्लेख हुआ है।

दृष्ट्वा पापीयसीं सृष्टिं नात्मानं बह्वमन्यत ।
भगवद्ध्यानपूतेन मनसान्यां ततोऽसृजत् ॥ ३॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; पापीयसीम्—पापमयी; सृष्टिम्—सृष्टि को; न—नहीं; आत्मानम्—स्वयं को; बहु—अत्यधिक हर्ष; अमन्यत—अनुभव किया; भगवत्—भगवान् का; ध्यान—ध्यान; पूतेन—उसके द्वारा शुद्ध; मनसा—मन से; अन्याम्—दूसरा; ततः—तत्पश्चात्; असृजत्—उत्पन्न किया।

ऐसी भ्रामक सृष्टि को पापमय कार्य मानते हुए ब्रह्माजी को अपने कार्य में अधिक हर्ष का अनुभव नहीं हुआ, अतएव उन्होंने भगवान् के ध्यान द्वारा अपने आपको परि शुद्ध किया। तब उन्होंने सृष्टि की दूसरी पारी की शुरुआत की।

तात्पर्य : यद्यपि ब्रह्माजी ने विभिन्न प्रकार की अविद्याओं की सृष्टि की, किन्तु वे ऐसे अप्रशंसित कार्य को सम्पन्न करके संतुष्ट नहीं थे। उन्हें यह कार्य इसलिए करना पड़ा, क्योंकि अधिकांश बद्धात्माएँ ऐसा चाहती थीं। भगवान् कृष्ण का *भगवद्गीता* (१५.१५) में कथन है कि वे सबों के हृदय में उपस्थित हैं और हर एक को स्मरण करने या भुलाने में सहायता करते हैं। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि सर्वदयामय भगवान् एक की सहायता स्मरण रखने में और दूसरे की विस्मरण करने में क्यों करते हैं। वस्तुतः उनकी कृपा एक के प्रति पक्षपात के रूप में तथा दूसरे के प्रति शत्रुता के रूप में प्रदर्शित नहीं होती। भगवान् के अंश रूप में जीव अंशतः स्वतंत्र है, क्योंकि उसमें भगवान् के समस्त गुण अंशतः पाये जाते हैं। जिस किसी के पास थोड़ी सी भी स्वतंत्रता होती है, वह अज्ञानवश उसका दुरुपयोग कर सकता है। अब जीव अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करने को अच्छा मानकर अविद्या में

जाने लगता है, तो सर्वदयालु भगवान् सर्वप्रथम उसको पाश से बचाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु जब जीव नरक की ओर गिरते जाने पर उतारू हो जाता है, तो भगवान् उसे उसकी असली स्थिति को भुलवाने में सहायता करते हैं। भगवान् गिरने वाले जीव को सबसे निचले बिन्दु तक गिरने में सहायता करते हैं जिससे वह देख सके कि अपनी स्वतंत्रता के दुरुपयोग से वह सुखी है कि नहीं।

इस जगत में सड़ रहे प्राय: सारे बद्धजीव अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग कर रहे हैं अत: उन पर पाँचों प्रकार की अविद्याएँ थोप दी जाती हैं। ब्रह्माजी भगवान् के आज्ञाकारी सेवक के रूप में अविद्याओं को आवश्यकताओं के रूप में उत्पन्न करते हैं, किन्तु ऐसा करते हुए वे प्रसन्न नहीं होते, क्योंकि यह स्वाभाविक है कि भगवद्भक्त किसी को उसके असली पद से नीचे गिरता नहीं देखना चाहता। जो व्यक्ति साक्षात्कार के मार्ग की परवाह नहीं करते उन्हें भगवान् उनकी दुष्प्रवृत्तियों को जी भर के करने देते हैं और ब्रह्मा उसमें निश्चित रूप से सहायक बनते हैं।

सनकं च सनन्दं च सनातनमथात्मभू: ।
सनत्कुमारं च मुनीन्निष्क्रियानूर्ध्वरेतस: ॥ ४॥

शब्दार्थ

सनकम्—सनक; च—भी; सनन्दम्—सनन्द; च—तथा; सनातनम्—सनातन; अथ—तत्पश्चात्; आत्म-भू:—स्वयंभू ब्रह्मा; सनत्-कुमारम्—सनत्कुमार; च—भी; मुनीन्—मुनिगण; निष्क्रियान्—समस्त सकाम कर्म से मुक्त; ऊर्ध्व-रेतस:—वे जिनका वीर्य ऊपर की ओर प्रवाहित होता है।.

सर्वप्रथम ब्रह्मा ने चार महान् मुनियों को उत्पन्न किया जिनके नाम सनक, सनन्द, सनातन तथा सनत्कुमार हैं। वे सब भौतिकतावादी कार्यकलाप ग्रहण करने के लिए अनिच्छुक थे, क्योंकि ऊर्ध्वरेता होने के कारण वे अत्यधिक उच्चस्थ थे।

तात्पर्य : यद्यपि ब्रह्मा ने अविद्या के सिद्धान्तों की सृष्टि उन जीवों की आवश्यकता के रूप में की जिन के भाग्य में भगवान् की इच्छा से अविद्या बदी थी, किन्तु वे ऐसा अप्रशंसित कार्य करके सन्तुष्ट नहीं थे। इसलिए उन्होंने ज्ञान के चार सिद्धान्तों की सृष्टि की। ये हैं सांख्य, योग, वैराग्य तथा तप। *सांख्य* भौतिक अवस्थाओं के वैश्लेषिक अध्ययन के लिए अनुभवात्मक दर्शन है, योग भवबन्धन से शुद्ध आत्मा को मोक्ष दिलाने के लिए है, *वैराग्य* उच्चतम आध्यात्मिक ज्ञान तक ऊपर उठने के लिए जीवन में भौतिक भोग से पूर्णविरक्ति को स्वीकार करना है और तप आध्यात्मिक सिद्धि के लिए

विभिन्न प्रकार की स्वेच्छा से की गई तपस्या है। ब्रह्मा ने सनक, सनन्द, सनातन तथा सनत् इन चार मुनियों की रचना आध्यात्मिक उन्नति के इन चार सिद्धान्तों को सौंपने के लिए की और इन्होंने अपना निजी *सम्प्रदाय* चलाया जो भक्ति की उन्नति के लिए कुमार सम्प्रदाय अथवा बाद में निम्बार्क सम्प्रदाय कहलाया। ये सभी महान् मुनिगण महान् भक्त बने, क्योंकि भगवान् की भक्ति के बिना आध्यात्मिक महत्त्व के किसी कार्य में सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती।

तान्बभाषे स्वभूः पुत्रान्प्रजाः सृजत पुत्रकाः ।
तन्नैच्छन्मोक्षधर्माणो वासुदेवपरायणाः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तान्—उन कुमारों से, जिनका उल्लेख ऊपर हुआ है; बभाषे—कहा; स्वभूः—ब्रह्मा ने; पुत्रान्—पुत्रों से; प्रजाः—सन्तानें; सृजत—सृजन करने के लिए; पुत्रकाः—मेरे पुत्रो; तत्—वह; न—नहीं; ऐच्छन्—चाहते हुए; मोक्ष-धर्माणः—मोक्ष के सिद्धान्तों के प्रति प्रतिज्ञाबद्ध; वासुदेव—भगवान् के प्रति; परायणाः—परायण, अनुरक्त।

पुत्रों को उत्पन्न करने के बाद ब्रह्मा ने उनसे कहा, "पुत्रो, अब तुम लोग सन्तान उत्पन्न करो।" किन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव के प्रति अनुरक्त होने के कारण उन्होंने अपना लक्ष्य मोक्ष बना रखा था, अतएव उन्होंने अपनी अनिच्छा प्रकट की।

तात्पर्य : ब्रह्मा के चारों पुत्रों, कुमारों ने अपने महान् पिता ब्रह्मा के अनुरोध करने पर भी गृहस्थ बनने से इनकार कर दिया। जो लोग भव-बन्धन से छुटकारा पाने के लिए तत्पर हैं उन्हें मिथ्या पारिवारिक बन्धन में नहीं बँधना चाहिए। लोग यह पूछ सकते हैं कि कुमारों ने अपने पिता विशेषकर ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्मा के आदेशों से इनकार क्यों किया? इसका उत्तर यह है कि जो *वासुदेव-परायण* हैं, अर्थात् जो भगवान् वासुदेव की भक्ति में गम्भीरतापूर्वक लगे हुए हैं उन्हें अन्य किसी कार्य की परवाह करने की आवश्यकता नहीं है। *भागवत* (११.५.४१) में आदेश है कि—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किंकरो नायमृणी च राजन्।

सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

"जिस किसी ने भी समस्त सांसारिक सम्बन्धों का परित्याग कर दिया है और उन भगवान् के चरणकमलों की पूर्ण शरण ले रखी है, जो हमारे मोक्षदाता हैं और एकमात्र शरण-ग्रहण करने के योग्य हैं वह किसी का न तो ऋणी है न किसी का दास है चाहे वह देवता, पितर, मुनि सम्बन्धी तथा अन्य

जीव सम्बन्धी तथा मानव समाज का सदस्य क्यों न हो।'' इस तरह जब कुमारों ने अपने महान् पिता के इस अनुरोध को ठुकरा दिया कि वे गृहस्थ बन जाँय तो उनके इस कार्य में कोई त्रुटि न थी।

सोऽवध्यातः सुतैरेवं प्रत्याख्यातानुशासनैः ।
क्रोधं दुर्विषहं जातं नियन्तुमुपचक्रमे ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (ब्रह्मा); अवध्यातः—इस प्रकार अनादरित होकर; सुतैः—पुत्रों द्वारा; एवम्—इस प्रकार; प्रत्याख्यात—आज्ञा मानने से इनकार; अनुशासनैः—अपने पिता के आदेश से; क्रोधम्—क्रोध; दुर्विषहम्—असहनीय; जातम्—इस प्रकार उत्पन्न; नियन्तुम्—नियंत्रण करने के लिए; उपचक्रमे—भरसक प्रयत्न किया।

पुत्रों द्वारा अपने पिता के आदेश का पालन करने से इनकार करने पर ब्रह्मा के मन में अत्यधिक क्रोध उत्पन्न हुआ जिसे उन्होंने व्यक्त न करके दबाए रखना चाहा।

तात्पर्य : ब्रह्माजी भौतिक प्रकृति के रजोगुण के प्रभारी निदेशक हैं। अतएव अपने पुत्रों द्वारा अपने आदेश का उल्लंघन होने पर उनका क्रुद्ध होना स्वाभाविक था। यद्यपि कुमारों द्वारा ऐसे कार्य से इनकार किया जाना उचित था, किन्तु रजोगुण में लीन होने से ब्रह्माजी अपना आवेशपूर्ण क्रोध रोक नहीं सके। किन्तु उन्होंने उसे व्यक्त नहीं किया, क्योंकि वे जानते थे कि उनके पुत्र आध्यात्मिक उन्नति में अत्यधिक प्रबुद्ध हैं, अतएव उन्हें उनके समक्ष अपना क्रोध व्यक्त नहीं करना चाहिए।

धिया निगृह्यमाणोऽपि भ्रुवोर्मध्यात्प्रजापतेः ।
सद्योऽजायत तन्मन्युः कुमारो नीललोहितः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

धिया—बुद्धि से; निगृह्यमाणः—नियंत्रित हुए; अपि—के बावजूद; भ्रुवोः—भौहों के; मध्यात्—बीच से; प्रजापतेः—ब्रह्मा के; सद्यः—तुरन्त; अजायत—उत्पन्न हुआ; तत्—उसका; मन्युः—क्रोध; कुमारः—बालक; नील-लोहितः—नीले तथा लाल का मिश्रण।

यद्यपि उन्होंने अपने क्रोध को दबाए रखने का प्रयास किया, किन्तु वह उनकी भौंहों के मध्य से प्रकट हो ही गया जिससे तुरन्त ही नीललोहित रंग का बालक उत्पन्न हुआ।

तात्पर्य : क्रोध चाहे जानकर प्रकट किया जाय या अनजाने में, उसकी मुखाकृति वही रहती है। यद्यपि ब्रह्मा ने अपना क्रोध नियंत्रित करना चाहा, किन्तु वे ऐसा नहीं कर पाये, तबभी, जबकि वे सर्वोच्च पुरुष हैं। ऐसा क्रोध ब्रह्मा की भौंहों के बीच से रुद्र के रूप में अपने सही रंग में प्रकट हो आया जो नीले (तमो) तथा लाल (रजो) रंग का मिश्रण था, क्योंकि क्रोध रजो तथा तमो गुणों की

उपज है।

स वै रुरोद देवानां पूर्वजो भगवान्भवः ।
नामानि कुरु मे धातः स्थानानि च जगद्गुरो ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निश्चय ही; रुरोद—जोर से चिल्लाया; देवानाम् पूर्वजः—समस्त देवताओं में ज्येष्ठतम; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; भवः—शिवजी; नामानि—विभिन्न नाम; कुरु—नाम रखो; मे—मेरा; धातः—हे भाग्य विधाता; स्थानानि—स्थान; च—भी; जगत्-गुरो—हे ब्रह्माण्ड के शिक्षक।

जन्म के बाद वह चिल्लाने लगा : हे भाग्यविधाता, हे जगद्गुरु, कृपा करके मेरा नाम तथा स्थान बतलाइये।

इति तस्य वचः पाद्मो भगवान्परिपालयन् ।
अभ्यधाद्भद्रया वाचा मा रोदीस्तत्करोमि ते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; तस्य—उसकी; वचः—याचना; पाद्मः—कमल के फूल से उत्पन्न हुआ; भगवान्—शक्तिशाली; परिपालयन्—याचना स्वीकार करते हुए; अभ्यधात्—शान्त किया; भद्रया—भद्र, मृदु; वाचा—शब्दों द्वारा; मा—मत; रोदीः—रोओ; तत्—वह; करोमि—करूँगा; ते—जैसा तुम चाहते हो।

कमल के फूल से उत्पन्न हुए सर्वशक्तिमान ब्रह्मा ने उसकी याचना स्वीकार करते हुए मृदु वाणी से उस बालक को शान्त किया और कहा—मत चिल्लाओ। जैसा तुम चाहोगे मैं वैसा ही करूँगा।

यदरोदीः सुरश्रेष्ठ सोद्वेग इव बालकः ।
ततस्त्वामभिधास्यन्ति नाम्ना रुद्र इति प्रजाः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यत्—जितना; अरोदीः—जोर से रोया; सुर-श्रेष्ठ—हे देवताओं के प्रधान; स-उद्वेगः—अत्यधिक चिन्ता सहित; इव—सदृश; बालकः—बालक; ततः—तत्पश्चात्; त्वाम्—तुमको; अभिधास्यन्ति—पुकारेंगे; नाम्ना—नाम लेकर; रुद्रः—रुद्र; इति—इस प्रकार; प्रजाः—लोग।

तत्पश्चात् ब्रह्मा ने कहा : हे देवताओं में प्रधान, सभी लोगों के द्वारा तुम रुद्र नाम से जाने जाओगे, क्योंकि तुम इतनी उत्सुकतापूर्वक चिल्लाये हो।

हृदिन्द्रियाण्यसुर्व्योम वायुरग्निर्जलं मही ।
सूर्यश्चन्द्रस्तपश्चैव स्थानान्यग्रे कृतानि ते ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

हृत्—हृदय; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; असुः—प्राणवायु; व्योम—आकाश; वायुः—वायु; अग्निः—आग; जलम्—जल; मही—पृथ्वी; सूर्यः—सूर्य; चन्द्रः—चन्द्रमा; तपः—तपस्या; च—भी; एव—निश्चय ही; स्थानानि—ये सारे स्थान; अग्रे—इसके पहले के; कृतानि—पहले किये गये; ते—तुम्हारे लिए।

हे बालक, मैंने तुम्हारे निवास के लिए पहले से निम्नलिखित स्थान चुन लिये हैं: हृदय, इद्रियाँ, प्राणवायु, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा तथा तपस्या।

तात्पर्य : ब्रह्मा के क्रोध के फलस्वरूप उनकी भौहों के बीच से रुद्र का जन्म, जो कि कुछ-कुछ तमोगुण तथा रजोगुण से उत्पन्न हुआ था, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *भगवद्गीता* (३.३७) में रुद्रतत्त्व का वर्णन हुआ है। क्रोध काम से उत्पन्न होता है, जो रजोगुण का प्रतिफल है। जब काम तथा लालसा अतुष्ट रह जाते हैं, तो क्रोध उत्पन्न होता है, जो बद्धजीव का भीषण शत्रु है। इस अति पापमय तथा शत्रुवत् काम का प्रतिनिधित्व *अहंकार*—अपने आपको सर्वेसर्वा सोचने की मिथ्या अहंवादी प्रवृत्ति—के रूप में होता है। बद्धजीव जो कि पूरी तरह भौतिक प्रकृति के वश में है उसके लिए इस अहंकार के होने को *भगवद्गीता* में मूर्खतापूर्ण कहा गया है। यह अहंकार हृदय में रुद्र का रूप है जहाँ क्रोध उत्पन्न होता है। यह क्रोध हृदय में विकसित होता है और विविध इन्द्रियों यथा आँखों, हाथों, पावों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। जब मनुष्य क्रुद्ध होता है, तो वह ऐसे क्रोध को लाल-लाल आँखों से और कभी कभी मुट्ठी बाँध कर या पैर पटक कर प्रदर्शित करता है। रुद्र तत्त्व का यह प्रदर्शन ऐसे स्थानों में रुद्र की उपस्थिति का प्रमाण है। जब कोई व्यक्ति क्रुद्ध होता है, तो वह तेजी से साँस लेता है और इस तरह प्राणवायु द्वारा या श्वास लेने की क्रियाओं द्वारा रुद्र का प्रतिनिधित्व होता है। जब आकाश में घने बादल घिरे रहते हैं और वे क्रोध में गरजते हैं और जब वायु प्रचण्ड रूप से बहती है, तो रुद्र तत्त्व प्रकट होता है और इसी तरह जब सागर का जल वायु द्वारा क्रुद्ध किया जाता है, तो वह रुद्र के विषाद्-रूप जैसा प्रतीत होता है, जो सामान्य व्यक्ति के लिए अतीव भयावह है। जब आग धधकती होती है, तो भी हम रुद्र की उपस्थिति का अनुभव कर सकते हैं और जब पृथ्वी पर बाढ़ आती है, तो हम यह समझ सकते हैं कि यह भी रुद्र का स्वरूप है।

पृथ्वी के ऐसे अनेक प्राणी हैं, जो निरन्तर रुद्र तत्त्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। साँप, बाघ तथा सिंह सदा ही रुद्र के स्वरूप हैं। कभी-कभी सूर्य की अधिक ऊष्मा के कारण लू लगती है और चन्द्रमा के द्वारा उत्पन्न अत्यधिक शीतलता के कारण हृदयगति रुकने की घटनाएँ होती हैं। ऐसे अनेक मुनि हैं, जो

तपस्या द्वारा शक्त्याविष्ट होते हैं और अनेक योगी, दार्शनिक तथा त्यागी हैं, जो क्रोध तथा काम के रुद्रतत्त्व के वशीभूत होकर अपनी अर्जित शक्ति को यदा-कदा प्रदर्शित करते हैं। महान् योगी दुर्वासा ने इसी रुद्रतत्त्व के प्रभाव में आकर महाराज अम्बरीष से झगड़ा किया और एक ब्राह्मण बालक ने महान् राजा परीक्षित को शाप देकर रुद्रतत्व का प्रदर्शन किया। जब रुद्रतत्त्व ऐसे व्यक्तियों द्वारा प्रकट किया जाता है, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की भक्ति में नहीं लगे हैं, तो क्रुद्ध व्यक्ति अपने उच्चस्थ उन्नत स्थान से नीचे गिर जाता है। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* (१०.२.३२) में इस प्रकार हुई है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रियः॥

निर्विशेषवादी का सबसे दयनीय पतन उसके इस झूठे तथा तर्क-हीन दावे के कारण होता है कि वह ब्रह्म से तदाकार है।

मन्युर्मनुर्महिनसो महाञ्छिव ऋतध्वजः ।
उग्ररेता भवः कालो वामदेवो धृतव्रतः ॥ १२॥

शब्दार्थ

मन्युः, मनुः, महिनसः, महान्, शिवः, ऋतध्वजः, उग्ररेताः, भवः, कालः, वामदेवः, धृतव्रतः—ये सभी रुद्र के नाम हैं।

ब्रह्माजी ने कहा : हे बालक रुद्र, तुम्हारे ग्यारह अन्य नाम भी हैं—मन्यु, मनु, महिनस, महान, शिव, ऋतुध्वज, उग्ररेता, भव, काल, वामदेव तथा धृतव्रत।

धीर्धृतिरसलोमा च नियुत्सर्पिरिलाम्बिका ।
इरावती स्वधा दीक्षा रुद्राण्यो रुद्र ते स्त्रियः ॥ १३॥

शब्दार्थ

धीः, धृति, रसला, उमा, नियुत्, सर्पिः, इला, अम्बिका, इरावती, स्वधा, दीक्षा रुद्राण्यः—ये ग्यारह रुद्राणियाँ हैं; रुद्र—हे रुद्र; ते—तुम्हारी; स्त्रियः—पत्नियाँ।

हे रुद्र, तुम्हारी ग्यारह पत्नियाँ भी हैं, जो रुद्राणी कहलाती हैं और वे इस प्रकार है—धी, धृति, रसला, उमा, नियुत्, सर्पि, इला, अम्बिका, इरावती, स्वधा तथा दीक्षा।

गृहाणैतानि नामानि स्थानानि च सयोषणः ।
एभिः सृज प्रजा बह्वीः प्रजानामसि यत्पतिः ॥ १४॥

शब्दार्थ

गृहाण—स्वीकार करो; एतानि—इन सारे; नामानि—विभिन्न नामों को; स्थानानि—तथा स्थानों को; च—भी; स-योषणः—पत्नियों समेत; एभिः—उनके द्वारा; सृज—उत्पन्न करो; प्रजाः—सन्तानें; बह्वीः—बड़े पैमाने पर; प्रजानाम्—जीवों के; असि—तुम हो; यत्—क्योंकि; पतिः—स्वामी।.

हे बालक, अब तुम अपने तथा अपनी पत्नियों के लिए मनोनीत नामों तथा स्थानों को स्वीकार करो और चूँकि अब तुम जीवों के स्वामियों में से एक हो अतः तुम व्यापक स्तर पर जनसंख्या बढ़ा सकते हो।

तात्पर्य : रुद्र के पिता के रूप में ब्रह्मा ने अपने पुत्र के लिए पत्नियाँ, उसके लिए वासस्थान तथा उसके नामों का भी चयन किया। यह स्वाभाविक है कि पुत्र अपने पिता द्वारा चुनी गई पत्नी को स्वीकार करे जिस तरह वह अपने पिता द्वारा रखे नाम को या पिता द्वारा प्रदत्त सम्पत्ति को स्वीकार करता है। संसार की जनसंख्या बढ़ाने का यह सामान्य तरीका है। दूसरी ओर चारों कुमार हैं जिन्होंने अपने पिता की भेंट स्वीकार नहीं की, क्योंकि वे बहुत से पुत्र उत्पन्न करने के कार्य की अपेक्षा बहुत उच्च पद पर थे। जिस तरह पुत्र उच्च उद्देश्य के लिए अपने पिता के आदेश को अस्वीकार कर सकता है उसी तरह पिता उच्च उद्देश्य के लिए जनसंख्या बढ़ाने में अपने पुत्रों का पालन करने से इनकार कर सकता है।

इत्यादिष्टः स्वगुरुणा भगवान्नीललोहितः ।
सत्त्वाकृतिस्वभावेन ससर्जात्मसमाः प्रजाः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; आदिष्टः—आदेश दिये जाने पर; स्व-गुरुणा—अपने ही गुरु द्वारा; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; नील-लोहितः—रुद्र, जिनका रंग नीले तथा लाल का मिश्रण है; सत्त्व—शक्ति; आकृति—शारीरिक स्वरूप; स्वभावेन—तथा अत्यन्त उग्र स्वभाव से; ससर्ज—उत्पन्न किया; आत्म-समाः—अपने ही तरह की; प्रजाः—सन्तानें।.

नील-लोहित शारीरिक रंग वाले अत्यन्त शक्तिशाली रुद्र ने अपने ही समान स्वरूप, बल तथा उग्र स्वभाव वाली अनेक सन्तानें उत्पन्न कीं।

रुद्राणां रुद्रसृष्टानां समन्ताद्ग्रसतां जगत् ।
निशाम्यासङ्ख्यशो यूथान्प्रजापतिरशङ्कत ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

रुद्राणाम्—रुद्र के पुत्रों का; रुद्र-सृष्टानाम्—रुद्र द्वारा उत्पन्न किये गये; समन्तात्—एकसाथ एकत्र होकर; ग्रसताम्—निगलते समय; जगत्—ब्रह्माण्ड; निशाम्य—उनके कार्यकलापों को देखकर; असङ्ख्यशः—असीम; यूथान्—टोली, समूह; प्रजा-पतिः—जीवों के पिता; अशङ्कत—भयभीत हो गया।

रुद्र द्वारा उत्पन्न पुत्रों तथा पौत्रों की संख्या असीम थी और जब वे एकत्र हुए तो वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को निगलने लगे। जब जीवों के पिता ब्रह्मा ने यह देखा तो वे इस स्थिति से भयभीत हो उठे।

तात्पर्य : क्रोध के अवतार रुद्र की सन्तानें विश्व-व्यापार को बनाये रखने में इतनी भयानक थीं कि जीवों के पिता ब्रह्मा भी उन से भयभीत हो गये। रुद्र के तथाकथित भक्त या अनुयायी भी कष्टकारक ही हैं। कभी-कभी वे रुद्र के लिए भी घातक बन जाते हैं। कभी-कभी रुद्र के वंशज रुद्र की कृपा से रुद्र का वध करने की योजनाएँ बनाते हैं। ऐसा है उनके भक्तों का स्वभाव!

अलं प्रजाभिः सृष्टाभिरीदृशीभिः सुरोत्तम ।
मया सह दहन्तीभिर्दिशश्चक्षुर्भिरुल्बणैः ॥ १७॥

शब्दार्थ

अलम्—व्यर्थ; प्रजाभिः—ऐसे जीवों द्वारा; सृष्टाभिः—उत्पन्न; ईदृशीभिः—इस प्रकार के; सुर-उत्तम—हे देवताओं में सर्वश्रेष्ठ; मया—मुझको; सह—सहित; दहन्तीभिः—जलती हुई; दिशः—सारी दिशाएँ; चक्षुर्भिः—आँखों से; उल्बणैः—दहकती लपटें।

ब्रह्मा ने रुद्र से कहा : हे देवश्रेष्ठ, तुम्हें इस प्रकार के जीवों को उत्पन्न करने की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने अपने नेत्रों की दहकती लपटों से सभी दिशाओं की सारी वस्तुओं को विध्वंस करना शुरू कर दिया है और मुझ पर भी आक्रमण किया है।

तप आतिष्ठ भद्रं ते सर्वभूतसुखावहम् ।
तपसैव यथा पूर्वं स्रष्टा विश्वमिदं भवान् ॥ १८॥

शब्दार्थ

तपः—तपस्या; आतिष्ठ—बैठिये; भद्रम्—शुभ; ते—तुम्हारा; सर्व—समस्त; भूत—जीव; सुख-आवहम्—सुख लानेवाली; तपसा—तपस्या द्वारा; एव—ही; यथा—जितना; पूर्वम्—पहले; स्रष्टा—उत्पन्न करेगा; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; इदम्—यह; भवान्—आप।

हे पुत्र, अच्छा हो कि तुम तपस्या में स्थित होओ जो समस्त जीवों के लिए कल्याणप्रद है और जो तुम्हें सारे वर दिला सकती है। केवल तपस्या द्वारा तुम पूर्ववत् ब्रह्माण्ड की रचना कर सकते हो।

तात्पर्य : विराट जगत की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के लिए क्रमशः तीन देवता ब्रह्मा, विष्णु तथा

महेश्वर अथवा शिव उत्तरदायी हैं। रुद्र को यह सलाह दी गई कि सृजन तथा पालन की अवधि में वे विनाश न करें, अपितु तपस्या करने बैठ जाँय तथा प्रलय (संहार) की प्रतीक्षा करें, जब उनकी सेवाओं का उपयोग किया जायेगा।

तपसैव परं ज्योतिर्भगवन्तमधोक्षजम् ।
सर्वभूतगुहावासमञ्जसा विन्दते पुमान् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तपसा—तपस्या से; एव—एकमात्र; परम्—परम; ज्योतिः—प्रकाश; भगवन्तम्—भगवान् को; अधोक्षजम्—वह जो इन्द्रियों की पहुँच के परे है; सर्व-भूत-गुहा-आवासम्—सारे जीवों के हृदय में वास करने वाले; अञ्जसा—पूर्णतया; विन्दते—जान सकता है; पुमान्—मनुष्य।

एकमात्र तपस्या से उन भगवान् के भी पास पहुँचा जा सकता है, जो प्रत्येक जीव के हृदय के भीतर हैं किन्तु साथ ही साथ समस्त इन्द्रियों की पहुँच के बाहर हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा ने रुद्र को तपस्या करने के लिए सलाह दी जो उनके पुत्रों तथा अनुयायियों के लिए उदाहरणस्वरूप थी कि भगवान् की कृपा पाने के लिए तपस्या आवश्यक है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि सामान्य जन महाजनों द्वारा दिखाये गये पथ का अनुसरण करते हैं। इस तरह रुद्र की सन्तानों से ऊबकर तथा जनसंख्या के बढ़ने से निगले जाने से भयभीत होकर ब्रह्मा ने रुद्र से और अधिक अवांछित सन्तानें उत्पन्न न करने तथा परमेश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिए तपस्या करने की सलाह दी। अतएव चित्रों में हम देखते हैं कि रुद्र सदैव भगवान् की कृपा पाने के लिए ध्यानावस्थित रहते हैं। अप्रत्यक्ष रूप से रुद्र के पुत्रों तथा अनुयायियों को सलाह दी जा सकती है कि रुद्र तत्त्व का अनुसरण न करते हुए संहार कार्य बन्द कर दें जब कि ब्रह्मा की शान्तिपूर्ण सृष्टि हो रही हो।

मैत्रेय उवाच
एवमात्मभुवादिष्टः परिक्रम्य गिरां पतिम् ।
बाढमित्यमुमामन्त्र्य विवेश तपसे वनम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—श्री मैत्रेय ने कहा; एवम्—इस प्रकार; आत्म-भुवा—ब्रह्मा द्वारा; आदिष्टः—इस तरह प्रार्थना किये जाने पर; परिक्रम्य—प्रदक्षिणा करके; गिराम्—वेदों के; पतिम्—स्वामी को; बाढम्—उचित; इति—इस प्रकार; अमुम्—ब्रह्मा को; आमन्त्र्य—इस प्रकार सम्बोधित करते हुए; विवेश—प्रविष्ट हुए; तपसे—तपस्या के लिए; वनम्—वन में।

श्री मैत्रेय ने कहा : इस तरह ब्रह्मा द्वारा आदेशित होने पर रुद्र ने वेदों के स्वामी अपने पिता

की प्रदक्षिणा की। हाँ कहते हुए उन्होंने तपस्या करने के लिए वन में प्रवेश किया।

अथाभिध्यायतः सर्गं दश पुत्राः प्रजज्ञिरे ।
भगवच्छक्तियुक्तस्य लोकसन्तानहेतवः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; अभिध्यायतः—सोचते हुए; सर्गम्—सृष्टि; दश—दस; पुत्राः—पुत्र; प्रजज्ञिरे—उत्पन्न करते हुए; भगवत्—श्रीभगवान् से सम्बन्धित; शक्ति—ऊर्जा; युक्तस्य—शक्तिमान बने हुए; लोक—संसार; सन्तान—संतति; हेतवः—कारण।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा शक्ति प्रदान किये जाने पर ब्रह्मा ने जीवों को उत्पन्न करने की सोची और सन्तानों के विस्तार हेतु उन्होंने दस पुत्र उत्पन्न किये।

मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

मरीचिः, अत्रि, अङ्गिरसौ, पुलस्त्यः, पुलहः, क्रतुः, भृगुः, वसिष्ठः, दक्षः—ब्रह्मा के पुत्रों के नाम; च—तथा; दशमः—दसवाँ; तत्र—वहाँ; नारदः—नारद।

इस तरह मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष तथा दसवें पुत्र नारद उत्पन्न हुए।

तात्पर्य : विराट जगत के सृजन, पालन तथा संहार की सम्पूर्ण प्रक्रिया बद्धजीवों को भगवद्धाम वापस जाने का अवसर देने के निमित्त है। ब्रह्मा ने अपने सर्जनात्मक प्रयास में सहायता के लिए रुद्र को उत्पन्न किया, किन्तु रुद्र प्रारम्भ से ही सारी सृष्टि को निगलने लगे, अतः उन्हें ऐसे विनाशकारी कार्य से रोका जाना पड़ा। फलतः ब्रह्मा ने अच्छे बच्चों की दूसरी टोली का सृजन किया जो अधिकांशतया सांसारिक सकाम कर्मों के पक्ष में थे। किन्तु वे भली भाँति जानते थे कि भगवद्भक्ति के बिना बद्ध-जीवों को कोई लाभ नहीं मिलता; फलतः उन्होंने अन्त में अपने योग्य पुत्र नारद को जन्म दिया जो सारे अध्यात्मवादियों के परम गुरु हैं। भगवद्भक्ति के बिना कोई व्यक्ति कर्म के किसी भी क्षेत्र में उन्नति नहीं कर सकता यद्यपि भक्ति का मार्ग किसी भी भौतिक वस्तु से स्वतंत्र है। एकमात्र भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति जीवन के असली लक्ष्य को दिलाने वाली है। अतः ब्रह्मा के समस्त पुत्रों में श्रीमन् नारद मुनि द्वारा की गई सेवा सर्वोच्च है।

उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात्स्वयम्भुवः ।
प्राणाद्वसिष्ठः सञ्जातो भृगुस्त्वचि करात्क्रतुः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

उत्सङ्गात्—दिव्य विचार-विमर्श से; नारदः—महामुनि नारद; जज्ञे—उत्पन्न किया गया; दक्षः—दक्ष; अङ्गुष्ठात्—अँगूठे से; स्वयम्भुवः—ब्रह्मा के; प्राणात्—प्राणवायु से या श्वास लेने से; वसिष्ठः—वसिष्ठ; सञ्जातः—उत्पन्न हुआ; भृगुः—भृगु, मुनि; त्वचि—स्पर्श से; करात्—हाथ से; क्रतुः—क्रतु मुनि।

नारद ब्रह्मा के शरीर के सर्वोच्च अंग मस्तिष्क से उत्पन्न पुत्र हैं। वसिष्ठ उनकी श्वास से, दक्ष अँगूठे से, भृगु उनके स्पर्श से तथा क्रतु उनके हाथ से उत्पन्न हुए।

तात्पर्य : नारद ब्रह्मा के सर्वोच्च विचार-विमर्श से उत्पन्न हुए थे, क्योंकि नारद जिसे भी चाहते उसी को परमेश्वर प्रदान कर सकते थे। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को कितने भी वैदिक ज्ञान के द्वारा या कितनी भी तपस्या के द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता। किन्तु नारद जैसा शुद्ध भगवद्भभक्त अपनी सदिच्छा द्वारा परमेश्वर प्रदान करा सकता है। नारद नाम से यह सुझाव मिलता है कि वे परमेश्वर प्रदान करा सकते हैं। *नार* का अर्थ है "परमेश्वर" तथा *द* का अर्थ है "जो प्रदान कर सके।" वह भगवान् को प्रदान कर सकता है का अर्थ यह कदापि नहीं कि भगवान् कोई व्यापारिक वस्तु के सदृश हैं जिसे किसी भी व्यक्ति को प्रदान किया जा सकता है। किन्तु नारद किसी को भी भगवान् के दास, मित्र, माता-पिता या प्रेमी के रूप में भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति प्रदान करा सकते हैं जैसी भी चाह कोई व्यक्ति अपने दिव्य भगवत्प्रेम के कारण कर सके। दूसरे शब्दों में, एकमात्र नारद ही ऐसे हैं, जो *भक्तियोग* का मार्ग प्रदान कर सकते हैं, जो कि परमेश्वर की प्राप्ति के लिए सर्वोच्च योगिक साधन है।

पुलहो नाभितो जज्ञे पुलस्त्यः कर्णयोरृषिः ।
अङ्गिरा मुखतोऽक्ष्णोऽत्रिर्मरीचिर्मनसोऽभवत् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

पुलहः—पुलह मुनि; नाभितः—नाभि से; जज्ञे—उत्पन्न किया; पुलस्त्यः—पुलस्त्यमुनि; कर्णयोः—कानों से; ऋषिः—महामुनि; अङ्गिराः—अंगिरा मुनि; मुखतः—मुख से; अक्ष्णः—आँखों से; अत्रिः—अत्रि मुनि; मरीचिः—मरीचि मुनि; मनसः—मन से; अभवत्—प्रकट हुए।

पुलस्त्य ब्रह्मा के कानों से, अंगिरा मुख से, अत्रि आँखों से, मरीचि मन से तथा पुलह नाभि से उत्पन्न हुए।

धर्मः स्तनाद्दक्षिणतो यत्र नारायणः स्वयम् ।

अधर्मः पृष्ठतो यस्मान्मृत्युर्लोकभयङ्करः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

धर्मः—धर्म; स्तनात्—वक्षस्थल से; दक्षिणतः—दाहिनी ओर के; यत्र—जिसमें; नारायणः—परमेश्वर; स्वयम्—अपने से; अधर्मः—अधर्म; पृष्ठतः—पीठ से; यस्मात्—जिससे; मृत्युः—मृत्यु; लोक—जीव के लिए; भयम्-करः—भयकारक।

धर्म ब्रह्मा के वक्षस्थल से प्रकट हुआ जहाँ पर पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् नारायण आसीन हैं और अधर्म उनकी पीठ से प्रकट हुआ जहाँ जीव के लिए भयावह मृत्यु उत्पन्न होती है।

तात्पर्य : यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि धर्म उस स्थान से प्रकट हुआ जहाँ स्वयं भगवान् आसीन हैं, क्योंकि धर्म का अर्थ है भगवान् की भक्तिमय सेवा जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* तथा *भागवत* में हुई है। *भगवद्गीता* में अन्तिम उपदेश धर्म के नाम पर अन्य सारे कार्यों को त्याग कर भगवान् की शरण लेने के लिए है। *श्रीमद्भागवत* में भी पुष्टि हुई है कि धर्म की सर्वोच्च सिद्धि वह है, जो भौतिक अवरोधों से प्रेरित हुए बिना तथा बिना किसी प्रतिरोध के भगवद्भक्ति तक ले जाय। धर्म अपने पूर्ण रूप में भगवद्भक्ति है और अधर्म इसका विलोम है। हृदय शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है, जबकि पीठ सबसे उपेक्षित अंग है। जब कोई शत्रु हमला करता है, तो मनुष्य पीठ की ओर (पीछे) से प्रहार सहन कर सकता है, किन्तु वह वक्षस्थल पर होने वाले प्रहारों से अपनी रक्षा पूरी सावधानी से करना चाहेगा। सभी प्रकार के अधर्म ब्रह्मा की पीठ से उत्पन्न होते हैं जबकि असली धर्म या भगवद्भक्ति नारायण के वास-स्थान वक्षस्थल से उत्पन्न होती है। जो वस्तु भगवद्भक्ति तक न ले जा सके वह अधर्म है और जो वस्तु भगवद्भक्ति तक ले जाए वह धर्म कहलाती है।

हृदि कामो भ्रुवः क्रोधो लोभश्चाधरदच्छदात् ।
आस्याद्वाक्सिन्धवो मेढ्रान्निरृतिः पायोरघाश्रयः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

हृदि—हृदय से; कामः—काम; भ्रुवः—भौंहों से; क्रोधः—क्रोध; लोभः—लालच; च—भी; अधर-दच्छदात्—ओठों के बीच से; आस्यात्—मुख से; वाक्—वाणी; सिन्धवः—समुद्र; मेढ्रात्—लिंग से; निरृतिः—निम्न कार्य; पायोः—गुदा से; अघ-आश्रयः—सारे पापों का आगार।

काम तथा इच्छा ब्रह्मा के हृदय से, क्रोध उनकी भौंहों के बीच से, लालच उनके ओठों के बीच से, वाणी की शक्ति उनके मुख से, समुद्र उनके लिंग से तथा निम्न एवं गर्हित कार्यकलाप समस्त पापों के स्रोत उनकी गुदा से प्रकट हुए।

तात्पर्य : बद्ध आत्मा मानसिक चिन्तन के वशीभूत रहता है। कोई संसारी शिक्षा एवं विद्वत्ता के

आकलन में कितना ही बड़ा क्यों न हो, वह मनोवैज्ञानिक कार्यकलापों के प्रभाव से कभी भी मुक्त नहीं हो सकता। अतएव निम्न कार्यों के लिए कामवासना तथा इच्छाओं को तब तक त्याग पाना अतीव कठिन है जब तक कोई भगवद्भक्ति की परम्परा में न हो। जब कोई कामवासना तथा निम्न इच्छाओं से हताश होता है, तो मन में क्रोध उत्पन्न होता है, जिसकी अभिव्यक्ति भौहों के मध्य में होती है। इसलिए सामान्य लोगों को सलाह दी जाती है कि वे अपने मन को भौहों के मध्य के स्थान में केन्द्रित करें जबकि भगवद्भक्तों को अपने मन के आसन में भगवान् को स्थापित करने का अभ्यास रहता है। इच्छाविहीन होने का सिद्धान्त व्यावहारिक नहीं है, क्योंकि मन को इच्छारहित नहीं बनाया जा सकता है। जब यह संस्तुति की जाती है कि मनुष्य इच्छाविहीन बने तो यह समझा जाता है कि मनुष्य को ऐसी चीजों की इच्छा नहीं करनी चाहिए जो आध्यात्मिक मूल्यों का ध्वंस करने वाली हों। भगवद्भक्त सदैव अपने मन में भगवान् को धारण करता है। इस तरह उसे इच्छाविहीन होने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि उसकी सारी आवश्यकताएँ भगवान् की सेवा के सम्बन्ध में होती हैं। बोलने की शक्ति सरस्वती या विद्या की देवी कहलाती है और विद्या की देवी का जन्म स्थान ब्रह्मा का मुख है। भले ही मनुष्य को विद्या की देवी की कृपा प्राप्त हो, किन्तु उसका हृदय कामवासना तथा भौतिक इच्छा से पूर्ण हो सकता है और उसकी भौंहें क्रोध के लक्षण प्रकट कर सकती हैं। कोई सांसारिक दृष्टि से अत्यन्त विद्वान क्यों न हो, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह कामवासना तथा क्रोध के सारे निम्न कार्यों से मुक्त है। केवल शुद्ध भक्त से अच्छे गुणों की आशा की जा सकती है, क्योंकि वह भगवान् के विचारों में या श्रद्धासहित समाधि में सदैव लीन रहता है।

छायायाः कर्दमो जज्ञे देवहूत्याः पतिः प्रभुः ।
मनसो देहतश्चेदं जज्ञे विश्वकृतो जगत् ॥ २७॥

शब्दार्थ

छायायाः—छाया से; कर्दमः—कर्दम मुनि; जज्ञे—प्रकट हुआ; देवहूत्याः—देवहूति का; पतिः—पति; प्रभुः—स्वामी; मनसः—मन से; देहतः—शरीर से; च—भी; इदम्—यह; जज्ञे—उत्पन्न किया; विश्व—ब्रह्माण्ड; कृतः—स्रष्टा का; जगत्—विराट जगत।

महान् देवहूति के पति कर्दम मुनि ब्रह्मा की छाया से प्रकट हुए। इस तरह सभी कुछ ब्रह्मा के शरीर से या मन से प्रकट हुआ।

तात्पर्य : यद्यपि प्रकृति के तीन गुणों में से सदैव एक की प्रधानता रहती है किन्तु वे कभी भी एक दूसरे से मिश्रित हुए बिना प्रदर्शित नहीं होते। यहाँ तक कि रजो तथा तमो इन दो निम्नतर गुणों की उपस्थिति में भी कभी-कभी सतोगुण का अंश रहता है। अत: ब्रह्मा के शरीर या मन से उत्पन्न सारे पुत्र रजोगुणी तथा तमोगुणी थे, किन्तु उनमें से कुछ, यथा कर्दम मुनि सतोगुण से उत्पन्न थे। नारद ब्रह्मा की दिव्य अवस्था में उत्पन्न हुए थे।

वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयम्भूर्हरतीं मनः ।
अकामां चकमे क्षत्तः सकाम इति नः श्रुतम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

वाचम्—वाक्; दुहितरम्—पुत्री को; तन्वीम्—उसके शरीर से उत्पन्न; स्वयम्भूः—ब्रह्मा; हरतीम्—आकृष्ट करते हुए; मनः—मन; अकामाम्—कामुक हुए बिना; चकमे—इच्छा की; क्षत्तः—हे विदुर; स-कामः—कामुक हुआ; इति—इस प्रकार; नः—हमने; श्रुतम्—सुना है।

हे विदुर, हमने सुना है कि ब्रह्मा के वाक् नाम की पुत्री थी जो उनके शरीर से उत्पन्न हुई थी जिसने उनके मन को यौन की ओर आकृष्ट किया यद्यपि वह उनके प्रति कामासक्त नहीं थी।

तात्पर्य : *बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।* (*भागवत* ९.१९.१७) कहा गया है कि इन्द्रियाँ इतनी प्रमत्त तथा प्रबल होती हैं कि वे अत्यन्त विवेकवान तथा विद्वान व्यक्ति को भी मोहित कर सकती हैं। इसलिए सलाह दी जाती है कि कोई व्यक्ति अपनी माता, बहिन या पुत्री के भी साथ अकेले में न रहे। *विद्वांसमपि कर्षति* का अर्थ है कि बड़ा से बड़ा विद्वान भी कामवासना का शिकार बन जाता है। ब्रह्मा अपनी ही पुत्री के प्रति कामासक्त थे, अत: उनके इस अनियमितता को बतलाने में मैत्रेय हिचक रहे थे; फिर भी उन्होंने इसका उल्लेख किया, क्योंकि कभी-कभी ऐसा घटित हो ही जाता है और इसके जीवन्त उदाहरण स्वयं ब्रह्मा हैं, यद्यपि वे आदिजीव हैं और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सबसे अधिक विद्वान हैं। यदि ब्रह्मा जी कामवासना के शिकार हो सकते हैं, तो अन्यों के विषय में क्या कहा जाय जो अनेकानेक संसारी दुर्बलताओं के प्रति उन्मुख हैं? ब्रह्मा की यह असाधारण अनैतिकता किसी विशेष कल्प में घटित हुई सुनी गई थी, किन्तु यह उस कल्प में नहीं घटित हो सकती थी जिसमें ब्रह्मा ने भगवान् से प्रत्यक्ष रूप से *श्रीमद्भागवत* के चार श्लोक सुने थे, क्योंकि *भागवत* का उपदेश देने के बाद भगवान् ने ब्रह्मा को यह वर दिया था कि वे किसी भी कल्प में मोहित नहीं होंगे। इससे यह सूचित

होता है कि *श्रीमद्भागवत* सुनने के पूर्व वे ऐसी कामवासना के शिकार हुए होंगे, किन्तु भगवान् के मुख से *श्रीमद्भागवत* सुन लेने के बाद ऐसी त्रुटि होने की कोई सम्मावना नहीं थी।

फिर भी मनुष्य को इस घटना की ओर गम्भीरता से ध्यान देना चाहिए। मानव एक सामाजिक पशु है और स्त्रियों के साथ अनियंत्रित मेल-जोल से उसका पतन हो जाता है। पुरुष तथा स्त्री की ऐसी सामाजिक स्वतंत्रता, विशेष रूप से युवा वर्ग में, निश्चय ही आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में महान् अवरोध है। भव-बन्धन एकमात्र यौन बन्धन के कारण है, फलत: पुरुष तथा स्त्री की अनियमित संगति अवश्य ही आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग में महान् अवरोध है। मैत्रेय ने ब्रह्मा का यह उदाहरण इस भीषण खतरे के प्रति हमारा घ्यान आकृष्ट करने के लिए ही प्रस्तुत किया।

तमधर्मे कृतमतिं विलोक्य पितरं सुताः ।
मरीचिमुख्या मुनयो विश्रम्भात्प्रत्यबोधयन् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; अधर्मे—अनैतिकता में; कृत-मतिम्—ऐसे मन वाला; विलोक्य—देखकर; पितरम्—पिता को; सुताः—पुत्रों ने; मरीचि-मुख्याः—मरीचि इत्यादि; मुनयः—मुनिगण; विश्रम्भात्—आदर सहित; प्रत्यबोधयन्—निवेदन किया।

अपने पिता को अनैतिकता के कार्य में इस प्रकार मुग्ध पाकर मरीचि इत्यादि ब्रह्मा के सारे पुत्रों ने अतीव आदरपूर्वक यह कहा।

तात्पर्य : मरीचि जैसे ऋषि द्वारा अपने महान् पिता के कार्यों के विरुद्ध विरोध प्रकट करने में कोई त्रुटि नहीं थी। वे भलीभाँति जानते थे कि यद्यपि उनके पिता ने त्रुटि की है, किन्तु इस घटना के पीछे कोई न कोई बड़ा कारण रहा होगा अन्यथा इतना महान् पुरुष ऐसी त्रुटि नहीं कर सकता था। हो सकता है कि ब्रह्माजी अपने अधीनस्थों को स्त्रियों से व्यवहार करते समय मानव दुर्बलताओं के प्रति आगाह करना चाह रहे हों। आत्म-साक्षात्कार के मार्ग पर चलने वाले पुरुषों के लिए यह सदैव अत्यन्त घातक है। अत: ब्रह्मा जैसे महापुरुष जब त्रुटि करते हैं तब न तो उनकी उपेक्षा करनी चाहिए न ही मरीचि जैसे महर्षि उनके असामान्य आचरण के कारण उनके प्रति किसी प्रकार का अनादर प्रदर्शित कर सके थे।

नैतत्पूर्वैः कृतं त्वद्य न करिष्यन्ति चापरे ।

यस्त्वं दुहितरं गच्छेरनिगृह्याङ्गजं प्रभुः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; एतत्—ऐसी वस्तु; पूर्वैः—किसी पूर्व कल्प में अन्य किसी ब्रह्मा द्वारा या तुम्हारे द्वारा; कृतम्—सम्पन्न; त्वत्—तुम्हारे द्वारा; ये—वह जो; न—न तो; करिष्यन्ति—करेंगे; च—भी; अपरे—अन्य कोई; यः—जो; त्वम्—तुम; दुहितरम्—पुत्री के प्रति; गच्छेः—जायेगा; अनिगृह्य—अनियंत्रित होकर; अङ्गजम्—कामेच्छा; प्रभुः—हे पिता।

हे पिता, आप जिस कार्य में अपने को उलझाने का प्रयास कर रहे हैं उसे न तो किसी अन्य ब्रह्मा द्वारा न किसी अन्य के द्वारा, न ही पूर्व कल्पों में आपके द्वारा, कभी करने का प्रयास किया गया, न ही भविष्य में कभी कोई ऐसा दुस्साहस ही करेगा। आप ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च प्राणी हैं, अतः आप अपनी पुत्री के साथ संभोग क्यों करना चाहते हैं और अपनी इच्छा को वश में क्यों नहीं कर सकते?

तात्पर्य : ब्रह्मा का पद ब्रह्माण्ड में सर्वोच्च पद है और ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मा अनेक हैं और जिस ब्रह्माण्ड में हम रह रहे हैं इसके अतिरिक्त अनेक ब्रह्माण्ड हैं। इस पद पर स्थित रहनेवाले का आचरण आदर्श होना चाहिए, क्योंकि ब्रह्मा सारे जीवों के लिए आदर्श प्रस्तुत करते हैं। सर्वाधिक पवित्र तथा आध्यात्मिक दृष्टि से उच्चस्थ जीव ब्रह्मा को भगवान् के बाद का पद प्रदान किया गया है।

तेजीयसामपि ह्येतन्न सुश्लोक्यं जगद्गुरो ।
यद्वृत्तमनुतिष्ठन्वै लोकः क्षेमाय कल्पते ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तेजीयसाम्—अत्यन्त शक्तिशालियों में; अपि—भी; हि—निश्चय ही; एतत्—ऐसा कार्य; न—उपयुक्त नहीं; सु-श्लोक्यम्—अच्छा आचरण; जगत्-गुरो—हे ब्रह्माण्ड के गुरु; यत्—जिसका; वृत्तम्—चरित्र; अनुतिष्ठन्—पालन करते हुए; वै—निश्चय ही; लोकः—जगत; क्षेमाय—सम्पन्नता के लिए; कल्पते—योग्य बन जाता है।

यद्यपि आप सर्वाधिक शक्तिमान जीव हैं, किन्तु यह कार्य आपको शोभा नहीं देता क्योंकि सामान्य लोग आध्यात्मिक उन्नति के लिए आपके चरित्र का अनुकरण करते हैं।

तात्पर्य : कहा जाता है कि परम शक्तिशाली जीव चाहे तो कुछ भी कर सकता है और ऐसे कार्यों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ, इस ब्रह्माण्ड में सूर्य सबसे शक्तिशाली अग्निमय ग्रह है। वह कहीं से भी जल को भाप बनाकर उड़ा सकता है और फिर भी उतना ही शक्तिशाली बना रहता है। सूर्य गन्दे स्थानों से जल को उड़ाता है फिर भी वह गंदगी के गुण से संदूषित नहीं होता। इसी तरह ब्रह्मा सभी दशाओं में महाभियोग से मुक्त बने रहते हैं। किन्तु फिर भी सारे जीवों के गुरु होने के

कारण उनके आचरण तथा चरित्र को इतना आदर्श होना चाहिए कि लोग ऐसे उदात्त आचरण का अनुसरण कर सकें और सर्वोच्च आध्यात्मिक लाभ उठा सकें। अत: उन्हें ऐसा कर्म नहीं करना चाहिए था जैसा उन्होंने किया।

तस्मै नमो भगवते य इदं स्वेन रोचिषा ।
आत्मस्थं व्यञ्जयामास स धर्मं पातुमर्हति ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उसे; नमः—नमस्कार; भगवते—भगवान् को; यः—जो; इदम्—इस; स्वेन—अपने; रोचिषा—तेज से; आत्म-स्थम्—अपने में ही स्थित; व्यञ्जयाम् आस—प्रकट किया है; सः—वह; धर्मम्—धर्म की; पातुम्—रक्षा करने के लिए; अर्हति—ऐसा करे।

हम उन भगवान् को सादर नमस्कार करते हैं जिन्होंने आत्मस्थ होकर अपने ही तेज से इस ब्रह्माण्ड को प्रकट किया है। वे समस्त कल्याण हेतु धर्म की रक्षा करें!

तात्पर्य : संभोग के लिए कामेच्छा इतनी प्रबल होती है कि यहाँ पर ऐसा लगता है कि ब्रह्मा को मरीचि जैसे उनके महान् पुत्र अपनी याचना के बावजूद भी उनके संकल्प से विरत नहीं कर पाये। अत: इन महान् पुत्रों ने ब्रह्मा की सद्बुद्धि के लिए भगवान् से प्रार्थना करना शुरू कर दिया। यह तो एकमात्र भगवान् की कृपा ही है, जिससे मनुष्य को कामेच्छाओं की लालसा से बचाया जा सकता है। भगवान् उन भक्तों को संरक्षण प्रदान करते हैं, जो उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति में सदैव लगे रहते हैं और वे अपनी अहैतुकी कृपा से भक्त को उसके अकस्मात् पतन से बचा लेते हैं। अत: मरीचि जैसे ऋषियों ने भगवान् की कृपा के लिए प्रार्थना की और उनकी प्रार्थना फलदायी रही।

स इत्थं गृणतः पुत्रान्पुरो दृष्ट्वा प्रजापतीन्
प्रजापतिपतिस्तन्वं तत्याज व्रीडितस्तदा ।
तां दिशो जगृहुर्घोरां नीहारं यद्विदुस्तमः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (ब्रह्मा); इत्थम्—इस प्रकार; गृणतः—बोलते हुए; पुत्रान्—पुत्र; पुरः—पहले; दृष्ट्वा—देखकर; प्रजा-पतीन्—जीवों के पूर्वजों को; प्रजापति-पतिः—उन सबों के पिता (ब्रह्मा); तन्वम्—शरीर; तत्याज—त्याग दिया; व्रीडितः—लज्जित; तदा—उस समय; ताम्—उस शरीर को; दिशः—सारी दिशाएँ; जगृहुः—स्वीकार किया; घोराम्—निन्दनीय; नीहारम्—नीहार, कुहरा; यत्—जो; विदुः—वे जानते हैं; तमः—अंधकार के रूप में।

अपने समस्त प्रजापति पुत्रों को इस प्रकार बोलते देख कर समस्त प्रजापतियों के पिता ब्रह्मा अत्यधिक लज्जित हुए और तुरन्त ही उन्होंने अपने द्वारा धारण किये हुए शरीर को त्याग दिया।

बाद में वही शरीर अंधकार में भयावह कुहरे के रूप में सभी दिशाओं में प्रकट हुआ।

तात्पर्य : अपने पापमय कृत्यों की क्षति-पूर्ति के लिए प्रायश्चित्त का सर्वोत्तम उपाय अपने शरीर को तुरन्त त्याग देना है और जीवों के नायक ब्रह्मा ने इसे अपने उदाहरण से दिखला दिया। ब्रह्मा की आयु असीम होती है किन्तु उन्हें अपने घोर पाप के कारण, जिसे उन्होंने मन में केवल सोचा ही था, वास्तव में किया नहीं था, अपना शरीर त्यागना पड़ा।

यह जीवों के लिए शिक्षा है, जो यह दिखाती है कि अनियंत्रित यौन जीवन में संलग्न होना कितना पापपूर्ण कृत्य है। गर्हित यौन जीवन के विषय में सोचना भी पापपूर्ण है और ऐसे पापपूर्ण कृत्यों की क्षतिपूर्ति के लिए मनुष्य को अपना शरीर त्यागना होता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य की आयु, वरदान, ऐश्वर्य इत्यादि सभी बातें पापपूर्ण कृत्यों से घटती हैं और सबसे भयावह पापपूर्ण कृत्य है अनियंत्रित यौन।

पापमय जीवन का कारण अज्ञान है अथवा पापमय जीवन ही निपट अज्ञान का कारण है। अज्ञान की विशेषता है अंधकार या कुहरा। अंधकार या कुहरा अब भी सारे ब्रह्माण्ड को आच्छादित किये है और सूर्य एकमात्र उसका प्रतिकार है। जो व्यक्ति नित्य प्रकाश रूप भगवान् की शरण ग्रहण करता है उसे कुहरे या अज्ञान के अंधकार में विलोप होने का भय नहीं रहता।

कदाचिद्ध्यायतः स्रष्टुर्वेदा आसंश्चतुर्मुखात् ।
कथं स्रक्ष्याम्यहं लोकान्समवेतान्यथा पुरा ॥ ३४॥

शब्दार्थ

कदाचित्—एक बार; ध्यायतः—ध्यान करते समय; स्रष्टुः—ब्रह्मा का; वेदाः—वैदिक वाङ्मय; आसन्—प्रकट हुए; चतुः-मुखात्—चारों मुखों से; कथम् स्रक्ष्यामि—मैं किस तरह सृजन करूँगा; अहम्—मैं; लोकान्—इन सारे लोकों को; समवेतान्—एकत्रित; यथा—जिस तरह वे थे; पुरा—भूतकाल में।.

एक बार जब ब्रह्माजी यह सोच रहे थे कि विगत कल्प की तरह लोकों की सृष्टि कैसे की जाय तो चारों वेद, जिनमें सभी प्रकार का ज्ञान निहित है, उनके चारों मुखों से प्रकट हो गये।

तात्पर्य : जिस तरह अग्नि बिना दूषित हुए हर वस्तु को क्षार कर सकती है उसी तरह भगवत्कृपा से ब्रह्मा की महानता रूपी अग्नि ने उनकी पुत्री के साथ पापपूर्ण यौनाचार की उनकी इच्छा को क्षार कर दिया। वेद समस्त ज्ञान के स्रोत हैं और जब ब्रह्मा पुनः सृष्टि करने का विचार कर रहे थे तो पूर्ण

पुरुषोत्तम भगवान की कृपा से वे सर्वप्रथम ब्रह्मा को ही उद्घाटित किए गए। ब्रह्मा अपनी भगवद्भक्ति के कारण शक्तिशाली हैं। भगवान् अपने उस भक्त को सदैव क्षमा करने के लिए तैयार रहते हैं, जो कदाचित् अपने भक्ति के सन्मार्ग से पतित हो जाता है। *श्रीमद्भागवत* (११.५.४२) में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है।

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्त्वान्यभावस्य हरिः परेशः।

विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचिद् धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः॥

"जो व्यक्ति पूरी तरह से भगवान् के चरणकमलों पर उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा रहता है, वह भगवान् हरि को अत्यन्त प्रिय है और भगवान् भक्त के हृदय में स्थित होकर संयोगवश किये गये सभी प्रकार के पापों को क्षमा कर देते हैं।" यह कभी भी आशा नहीं की जाती थी कि ब्रह्मा जैसा महापुरुष अपनी पुत्री के साथ संभोग करने का विचार भी करेगा। ब्रह्मा द्वारा प्रस्तुत किया गया उदाहरण केवल यह निर्देशित करता है कि भौतिक प्रकृति की शक्ति इतनी प्रबल है कि यह किसी पर भी, यहाँ तक कि ब्रह्मा पर भी, अपना प्रभाव दिखा सकती है। ब्रह्माजी अत्यल्प दण्ड के साथ भगवत्कृपा से बचा लिए गये, किन्तु भगवत्कृपा से महान् ब्रह्मा के रूप में उनकी प्रतिष्ठा समाप्त नहीं हुई।

चातुर्होत्रं कर्मतन्त्रमुपवेदनयैः सह ।
धर्मस्य पादाश्चत्वारस्तथैवाश्रमवृत्तयः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

चातुः—चार; होत्रम्—यज्ञ की सामग्री; कर्म—कर्म; तन्त्रम्—ऐसे कार्यकलापों का विस्तार; उपवेद—वेदों के पूरक; नयैः—तथा तर्कशास्त्रीय निर्णय; सह—साथ; धर्मस्य—धर्म के; पादाः—सिद्धान्त; चत्वारः—चार; तथा एव—इसी प्रकार से; आश्रम—सामाजिक व्यवस्था; वृत्तयः—वृत्तियाँ, पेशे।

अग्नि यज्ञ को समाहित करने वाली चार प्रकार की साज-सामग्री प्रकट हुई। ये प्रकार हैं यज्ञकर्ता, होता, अग्नि तथा उपवेदों के रूप में सम्पन्न कर्म। धर्म के चार सिद्धान्त (सत्य, तप, दया, शौच) एवं चारों आश्रमों के कर्तव्य भी प्रकट हुए।

तात्पर्य : खाना, सोना, रक्षा करना तथा संभोग करना—ये चार शारीरिक माँगें पशुओं तथा मनुष्यों में समान रूप से पाई जाती हैं। मानव समाज को पशुओं से विलग करने के लिए वर्णों तथा आश्रमों के रूप में धार्मिक कार्यकलाप सम्पन्न किये जाते हैं। उनका स्पष्ट उल्लेख वैदिक ग्रन्थों में पाया जाता है

और जब चारों वेद ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए तो ब्रह्मा द्वारा इनका प्राकट्य किया गया। इस तरह वर्णाश्रम के रूप में मानव कर्तव्यों की स्थापना की गई जिससे सभ्य पुरुष इनका पालन कर सकें। जो लोग परम्परा-गत रुप से इन सिद्धान्तों का पालन करते हैं, वे आर्य या प्रगतिशील मानव कहलाते हैं।

विदुर उवाच

स वै विश्वसृजामीशो वेदादीन्मुखतोऽसृजत् ।
यद्यद्येनासृजद्देवस्तन्मे ब्रूहि तपोधन ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; सः—वह (ब्रह्मा); वै—निश्चय ही; विश्व—ब्रह्माण्ड; सृजाम्—सृजनकर्ताओं का; ईशः—नियन्ता; वेद-आदीन्—वेद इत्यादि.; मुखतः—मुख से; असृजत्—स्थापित किया; यत्—जो; यत्—जो; येन—जिससे; असृजत्—उत्पन्न किया; देवः—देवता; तत्—वह; मे—मुझसे; ब्रूहि—बतलाइये; तपः-धन—हे मुनि, तपस्या जिसका एकमात्र धन है।

विदुर ने कहा, हे तपोधन महामुनि, कृपया मुझसे यह बतलाएँ कि ब्रह्मा ने किस तरह और किसकी सहायता से उस वैदिक ज्ञान की स्थापना की जो उनके मुख से निकला था।

मैत्रेय उवाच

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यान्वेदान्पूर्वादिभिर्मुखैः ।
शास्त्रमिज्यां स्तुतिस्तोमं प्रायश्चित्तं व्यधात्क्रमात् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; ऋक्-यजुः-साम-अथर्व—चारों वेद; आख्यान्—नामक; वेदान्—वैदिक ग्रन्थ; पूर्व-आदिभिः—सामने से प्रारम्भ करके; मुखैः—मुखों से; शास्त्रम्—पूर्व अनुच्चरित वैदिक मंत्र; इज्याम्—पौरोहित्य अनुष्ठान; स्तुति-स्तोमम्—बाँचने वालों की विषयवस्तु; प्रायश्चित्तम्—दिव्य कार्य; व्यधात्—स्थापित किया; क्रमात्—क्रमशः।

मैत्रेय ने कहा : ब्रह्मा के सामने वाले मुख से प्रारम्भ होकर क्रमशः चारों वेद—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—आविर्भूत हुए। तत्पश्चात् इसके पूर्व अनुच्चरित वैदिक स्तोत्र, पौरोहित्य अनुष्ठान, पाठ की विषयवस्तु तथा दिव्य कार्यकलाप एक-एक करके स्थापित किये गये।

आयुर्वेदं धनुर्वेदं गान्धर्वं वेदमात्मनः ।
स्थापत्यं चासृजद्वेदं क्रमात्पूर्वादिभिर्मुखैः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

आयुः-वेदम्—औषधि विज्ञान; धनुः-वेदम्—सैन्य विज्ञान; गान्धर्वम्—संगीतकला; वेदम्—ये सभी वैदिक ज्ञान हैं; आत्मनः—अपने से; स्थापत्यम्—वास्तु सम्बन्धी विज्ञान; च—भी; असृजत्—सृष्टि की; वेदम्—ज्ञान; क्रमात्—क्रमशः; पूर्व-आदिभिः—सामने वाले मुख से प्रारम्भ करके; मुखैः—मुखों द्वारा।

उन्होंने ओषधि विज्ञान, सैन्य विज्ञान, संगीत कला तथा स्थापत्य विज्ञान की भी सृष्टि वेदों से

की। ये सभी सामने वाले मुख से प्रारम्भ होकर क्रमशः प्रकट हुए।

तात्पर्य : वेदों में पूर्ण ज्ञान पाया जाता है, जिसमें न केवल इस लोक के अपितु अन्य मानव लोकों के समाज के लिए भी आवश्यक सभी प्रकार का ज्ञान सम्मिलित है। ऐसा समझा जाता है कि सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए सैन्य कला भी उसी तरह आवश्यक ज्ञान है, जिस तरह संगीत कला है। ज्ञान के ये सारे समूह *उप-पुराण* या वेदों के पूरक कहलाते हैं। वेदों का मुख्य विषय आध्यात्मिक ज्ञान है। किन्तु मनुष्यों के ज्ञान की आध्यात्मिक रुचि में सहायता पहुँचाने के लिए अन्य जानकारी वैदिक ज्ञान की आवश्यक सूचनाओं का निर्माण करती है जैसाकि ऊपर कहा गया है।

इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः ।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

इतिहास—इतिहास; पुराणानि—पुराण (पूरक वेद); पञ्चमम्—पाँचवाँ; वेदम्—वैदिक वाङ्मय; ईश्वरः—भगवान्; सर्वेभ्यः—सब मिला कर; एव—निश्चय ही; वक्त्रेभ्यः—अपने मुखों से; ससृजे—उत्पन्न किया; सर्व—चारों ओर; दर्शनः—जो हर समय देख सकता है।

तब उन्होंने अपने सारे मुखों से पाँचवें वेद—पुराणों तथा इतिहासों—की सृष्टि की, क्योंकि वे सम्पूर्ण भूत, वर्तमान तथा भविष्य को देख सकते थे।

तात्पर्य : विशिष्ट देशों तथा राष्ट्रों के और इसी के साथ संसार के अपने इतिहास हैं, किन्तु पुराण सारे ब्रह्माण्ड के, न केवल एक कल्प के अपितु अनेक कल्पों के, इतिहास हैं। ब्रह्मा को इन ऐतिहासिक तथ्यों का ज्ञान है, अतएव सभी पुराण इतिहास हैं। चूँकि उनकी मूल रचना ब्रह्मा द्वारा की गई, अतएव वे वेदों के अंग रूप हैं और पंचम वेद कहलाते हैं।

षोडश्युक्थौ पूर्ववक्त्रात्पुरीष्यग्निष्टुतावथ ।
आप्तोर्यामातिरात्रौ च वाजपेयं सगोसवम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

षोडशी-उक्थौ—यज्ञ के प्रकार; पूर्व-वक्त्रात्—पूर्वी मुँह से; पुरीषि-अग्निष्टुतौ—यज्ञ के प्रकार; अथ—तब; आप्तोर्याम-अतिरात्रौ—यज्ञ के प्रकार; च—तथा; वाजपेयम्—एक प्रकार का यज्ञ; स-गोसवम्—एक प्रकार का यज्ञ।

ब्रह्मा के पूर्वी मुख से विभिन्न प्रकार के समस्त अग्नि यज्ञ (षोडशी, उक्थ, पुरीषि, अग्निष्टोम, आप्तोर्याम, अतिरात्र, वाजपेय तथा गोसव) प्रकट हुए।

**विद्या दानं तपः सत्यं धर्मस्येति पदानि च ।
आश्रमांश्च यथासङ्ख्यमसृजत्सह वृत्तिभिः ॥ ४१ ॥**

शब्दार्थ

विद्या—विद्या; दानम्—दान; तपः—तपस्या; सत्यम्—सत्य; धर्मस्य—धर्म का; इति—इस प्रकार; पदानि—चार पाँव; च—भी; आश्रमान्—आश्रमों; च—भी; यथा—वे जिस प्रकार के हैं; सङ्ख्यम्—संख्या में; असृजत्—रचना की; सह—साथ-साथ; वृत्तिभिः—पेशों या वृत्तियों के द्वारा।

शिक्षा, दान, तपस्या तथा सत्य को धर्म के चार पाँव कहा जाता है और इन्हें सीखने के लिए चार आश्रम हैं जिनमें वृत्तियों के अनुसार जातियों (वर्णों) का अलग-अलग विभाजन रहता है। ब्रह्मा ने इन सबों की क्रमबद्ध रूप में रचना की।

तात्पर्य : चारों आश्रमों—ब्रह्मचर्य अर्थात् छात्र जीवन, गृहस्थ अर्थात् पारिवारिक जीवन, वानप्रस्थ अर्थात् तपस्या के निमित्त निवृत्त जीवन तथा संन्यास अर्थात् सत्य के प्रचार हेतु विरक्त जीवन—के केन्द्र धर्म के चार पाँव हैं। वृत्तिपरक विभाग हैं—ब्राह्मण अर्थात् बुद्धिमान वर्ग, क्षत्रिय अर्थात् प्रशासक वर्ग, वैश्य अर्थात् व्यापारी वर्ग तथा शूद्र अर्थात् बिना किसी विशेष योग्यता वाले सामान्य श्रमिक वर्ग। ब्रह्मा ने आत्म-साक्षात्कार में नियमित उन्नति के लिए इन सबों की क्रमबद्ध योजना तथा रचना की। ब्रह्मचर्य सर्वोत्तम शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त है; गृहस्थ इन्द्रियतृप्ति के लिए है बशर्ते कि यह मन की उदारवृत्ति से की जाय; वानप्रस्थ आध्यात्मिक जीवन में प्रगति के हेतु तपस्या करने के लिए है और संन्यास सामान्य लोगों को परम सत्य के विषय में उपेदश देने के निमित्त है। समाज के सारे सदस्यों के मिलेजुले कार्यों से मानव जीवन के उद्देश्य के उत्थान हेतु अनुकूल स्थिति उत्पन्न करनी है। इस सामाजिक संस्थान की शुरुआत उस शिक्षा पर आधारित है, जो मनुष्य की पाशविक लालसाओं को शुद्ध करने के लिए है। सर्वोच्च शुद्धीकरण (संस्कार) विधि शुद्धों में परम शुद्ध पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान का ज्ञान है।

**सावित्रं प्राजापत्यं च ब्राह्मं चाथ बृहत्तथा ।
वार्ता सञ्चयशालीनशिलोञ्छ इति वै गृहे ॥ ४२ ॥**

शब्दार्थ

सावित्रम्—द्विजों का यज्ञोपवीत संस्कार; प्राजापत्यम्—एक वर्ष तक व्रत रखने के लिए; च—तथा; ब्राह्मम्—वेदों की स्वीकृति; च—तथा; अथ—भी; बृहत्—यौनजीवन से पूर्ण विरक्ति; तथा—तब; वार्ता—वैदिक आदेश के अनुसार वृत्ति;

सञ्चय—वृत्तिपरक कर्तव्य; शालीन—किसी का सहयोग माँगे बिना जीविका; शिल-उञ्छ:—त्यक्त अन्नों को बीनना; इति—इस प्रकार; वै—यद्यपि; गृहे—गृहस्थ जीवन में।

तत्पश्चात् द्विजों के लिए यज्ञोपवीत संस्कार (सावित्र) का सूत्रपात हुआ और उसी के साथ वेदों की स्वीकृति के कम से कम एक वर्ष बाद तक पालन किये जाने वाले नियमों (प्राजापत्यम्), यौनजीवन से पूर्ण विरक्ति के नियम (बृहत्), वैदिक आदेशों के अनुसार वृत्तियाँ (वार्ता), गृहस्थ जीवन के विविध पेशेवार कर्तव्य (सञ्चय) तथा परित्यक्त अन्नों को बीन कर (शिलोञ्छ) एवं किसी का सहयोग लिए बिना (अयाचित) जीविका चलाने की विधि का सूत्रपात हुआ।

तात्पर्य : विद्यार्थी जीवन में *ब्रह्मचारियों* को मनुष्यजीवन की महत्ता के विषय में पूर्ण शिक्षा दी जाती थी। इस तरह प्रारम्भिक शिक्षा विद्यार्थी को पारिवारिक झंझटों से मुक्त बनने के लिए प्रोत्साहित करने के लिए थी। जो विद्यार्थी ऐसे व्रत को स्वीकार करने में अक्षम होते थे केवल उन्हें घर वापस जाने और उपयुक्त पत्नी से विवाह करने की अनुमति दी जाती थी। अन्यथा विद्यार्थी जीवन भर यौन जीवन से पूरी तरह विरत रहकर स्थायी *ब्रह्मचारी* बना रहता था। यह सब विद्यार्थी के प्रशिक्षण की गुणवत्ता पर निर्भर करता था। हमें अपने ॐ गुरु विष्णुपाद श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त गोस्वामी महाराज जैसे व्रतधारी ब्रह्मचारी से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ था। ऐसे महापुरुष *नैष्ठिक ब्रह्मचारी* कहलाते हैं।

वैखानसा वालखिल्यौदुम्बरा: फेनपा वने ।
न्यासे कुटीचक: पूर्वं बह्वोदो हंसनिष्क्रियौ ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

वैखानसा:—ऐसे मनुष्य जो सक्रिय जीवन से अवकाश लेकर अध-उबले भोजन पर निर्वाह करते हैं; वालखिल्य—वह जो अधिक अन्न पाने पर पुराने संग्रह को त्याग देता है; औदुम्बरा:—बिस्तर से उठकर जिस दिशा की ओर आगे जाने पर जो मिले उसी पर निर्वाह करना; फेनपा:—वृक्ष से स्वत: गिरे हुए फलों को खाकर रहने वाला; वने—जंगल में; न्यासे—संन्यास आश्रम में; कुटीचक:—परिवार से आसक्तिरहित जीवन; पूर्वम्—प्रारम्भ में; बह्वोद:—सारे भौतिक कार्यों को त्याग कर दिव्य सेवा में लगे रहना; हंस—दिव्य ज्ञान में पूरी तरह लगा रहने वाला; निष्क्रियौ—सभी प्रकार के कार्यों को बन्द करते हुए।

वानप्रस्थ जीवन के चार विभाग हैं—वैखानस, वाल-खिल्य, औदुम्बर तथा फेनप। संन्यास आश्रम के चार विभाग हैं—कुटीचक, बह्वोद, हंस तथा निष्क्रिय। ये सभी ब्रह्मा से प्रकट हुए थे।

तात्पर्य : *वर्णाश्रम धर्म* अर्थात् चार वर्णों तथा सामाजिक एवं आध्यात्मिक जीवन के चार आश्रमों

का संस्थान आधुनिक युग की कोई नयी ईजाद नहीं है जैसाकि अल्पज्ञों का प्रस्ताव है। यह ऐसा संस्थान है, जिसकी स्थापना ब्रह्मा द्वारा सृष्टि के प्रारम्भ में की गई। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* से (४.१३) भी होती है— *चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्*।

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिस्तथैव च ।
एवं व्याहृतयश्चासन्प्रणवो ह्यस्य दह्रतः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

आन्वीक्षिकी—तर्क; त्रयी—तीन लक्ष्य जिनके नाम धर्म, अर्थ तथा मोक्ष हैं; वार्ता—इन्द्रियतृप्ति; दण्ड—विधि तथा व्यवस्था; नीतिः—आचरण सम्बन्धी संहिता; तथा—भी; एव च—क्रमशः; एवम्—इस प्रकार; व्याहृतयः—भूः भुवः तथा स्वः नामक विख्यात स्तोत्र; च—भी; आसन्—उत्पन्न हुए; प्रणवः—ॐकार; हि—निश्चय ही; अस्य—उसका (ब्रह्मा का); दह्रतः—हृदय से।

तर्कशास्त्र विज्ञान, जीवन के वैदिक लक्ष्य, कानून तथा व्यवस्था, आचार संहिता तथा भूः भुवः स्वः नामक विख्यात मंत्र—ये सब ब्रह्मा के मुख से प्रकट हुए और उनके हृदय से प्रणव ॐकार प्रकट हुआ।

तस्योष्णिगासील्लोमभ्यो गायत्री च त्वचो विभोः ।
त्रिष्टुम्मांसात्स्नुतोऽनुष्टुब्जगत्यस्थ्नः प्रजापतेः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; उष्णिक्—एक वैदिक छन्द; आसीत्—उत्पन्न हुआ; लोमभ्यः—शरीर पर के रोमों से; गायत्री—प्रमुख वैदिक स्तोत्र; च—भी; त्वचः—चमड़ी से; विभोः—प्रभु के; त्रिष्टुप्—एक विशेष प्रकार का छन्द; मांसात्—मांस से; स्नुतः—शिराओं से; अनुष्टुप्—अन्य छन्द; जगती—एक अन्य छन्द; अस्थ्नः—हड्डियों से; प्रजापतेः—जीवों के पिता के।

तत्पश्चात् सर्वशक्तिमान प्रजापति के शरीर के रोमों से उष्णिक अर्थात् साहित्यिक अभिव्यक्ति की कला उत्पन्न हुई। प्रमुख वैदिक मंत्र गायत्री जीवों के स्वामी की चमड़ी से उत्पन्न हुआ, त्रिष्टुप् उनके माँस से, अनुष्टुप् उनकी शिराओं से तथा जगती छन्द उनकी हड्डियों से उत्पन्न हुआ।

मज्जायाः पङ्क्तिरुत्पन्ना बृहती प्राणतोऽभवत् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

मज्जायाः—अस्थिमज्जा से; पङ्क्तिः—एक विशेष प्रकार का श्लोक; उत्पन्ना—उत्पन्न हुआ; बृहती—अन्य प्रकार का श्लोक; प्राणतः—प्राण से; अभवत्—उत्पन्न हुआ।

पंक्ति श्लोक लिखने की कला का उदय अस्थिमज्जा से हुआ और एक अन्य श्लोक बृहती लिखने की कला जीवों के स्वामी के प्राण से उत्पन्न हुई।

स्पर्शस्तस्याभवज्जीवः स्वरो देह उदाहृत
ऊष्माणमिन्द्रियाण्याहुरन्तःस्था बलमात्मनः ।
स्वराः सप्त विहारेण भवन्ति स्म प्रजापतेः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

स्पर्शः—क से म तक के अक्षरों का समूह; तस्य—उसका; अभवत्—हुआ; जीवः—आत्मा; स्वरः—स्वर; देहः—उनका शरीर; उदाहृतः—व्यक्त किये जाते हैं; ऊष्माणम्—श, ष, स तथा ह अक्षर; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; आहुः—कहलाते हैं; अन्तः-स्थाः—य, र, ल तथा व ये अन्तस्थ अक्षर हैं; बलम्—शक्ति; आत्मनः—उसका; स्वराः—संगीत; सप्त—सात; विहारेण—ऐन्द्रिय कार्यकलाप के द्वारा; भवन्ति स्म—प्रकट हुए; प्रजापतेः—जीवों के स्वामी का।

ब्रह्मा की आत्मा स्पर्श अक्षरों के रूप में, उनका शरीर स्वरों के रूप में, उनकी इन्द्रियाँ ऊष्म अक्षरों के रूप में, उनका बल अन्तःस्थ अक्षरों के रूप में और उनके ऐन्द्रिय कार्यकलाप संगीत के सप्त स्वरों के रूप में प्रकट हुए।

तात्पर्य : संस्कृत में १३ स्वर तथा ३५ व्यंजन हैं। स्वर हैं—*अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ऐ, ओ,* तथा *औ* एवं व्यजंन हैं—*क, ख, ग, घ,* आदि। व्यंजनों में प्रथम २५ अक्षर *स्पर्श* कहलाते हैं। चार *अंतःस्थ* भी है। *ऊष्मों* में से तीन (श, ष, स) तालव्य, मूर्धन्य तथा *दन्त्य* कहलाते हैं। *संगीत* के स्वर हैं *स, रे, ग, म, प, ध* तथा *नि*। ये ध्वनियाँ मूलतः *शब्द ब्रह्म* अर्थात् आध्यात्मिक ध्वनि कहलाती हैं। अतएव यह कहा जाता है कि ब्रह्मा की सृष्टि शब्द *ब्रह्म* के अवतार के रूप में महाकल्प में हुई। वेद शब्द ब्रह्म हैं, अतएव वैदिक वाङ्मय की ध्वनियों की भौतिक व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वेदों का उच्चारण उसी रूप में किया जाना चाहिए जिस रूप में वे हैं, यद्यपि वे प्रतीक रूप में हमें भौतिक रूप से ज्ञात अक्षरों द्वारा प्रदर्शित किए जाते हैं। अन्ततोगत्वा कुछ भी भौतिक नहीं है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का उद्‌गम आध्यात्मिक जगत से होता है। इसीलिए भौतिक जगत उचित अर्थों में मोह या भ्रम कहलाता है। जो लोग स्वरूपसिद्ध हैं उनके लिए आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

शब्दब्रह्मात्मनस्तस्य व्यक्ताव्यक्तात्मनः परः ।
ब्रह्मावभाति विततो नानाशक्त्युपबृंहितः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

शब्द-ब्रह्म—दिव्य ध्वनि; आत्मनः—परमेश्वर श्रीकृष्ण; तस्य—उनका; व्यक्त—प्रकट; अव्यक्त-आत्मनः—अव्यक्त का; परः—दिव्य; ब्रह्मा—परम; अवभाति—पूर्णतया प्रकट; विततः—वितरित करते हुए; नाना—विविध; शक्ति—शक्तियाँ; उपबृंहितः—से युक्त।

ब्रह्मा दिव्य ध्वनि के रूप में भगवान् के साकार स्वरूप हैं, अतएव वे व्यक्त तथा अव्यक्त

की धारणा से परे हैं। ब्रह्मा परम सत्य के पूर्ण रूप हैं और नानाविध शक्तियों से समन्वित हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा का पद ब्रह्माण्ड भर में सबसे अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण पद है। यह ब्रह्माण्ड के सर्वाधिक पूर्ण व्यक्ति को प्रदान किया जाता है। जब इस पद को ग्रहण करने के लिए उपयुक्त जीव नहीं मिलता तो भगवान् को स्वयं ब्रह्मा बनना पड़ता है। भौतिक जगत में ब्रह्मा भगवान् का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं और *प्रणव* अर्थात् दिव्य ध्वनि उन्हीं से आती है। इसीलिए वे विविध शक्तियों से समन्वित रहते हैं जिनसे ही इन्द्र, चन्द्र तथा वरुण जैसे सारे देवता प्रकट होते हैं। उनके दिव्य महत्त्व को कम नहीं आँका जाना चाहिए, यद्यपि उन्होंने अपनी ही पुत्री के साथ रमण करने की प्रवृत्ति प्रदर्शित की थी। ब्रह्मा द्वारा ऐसी प्रवृत्ति के प्रदर्शन का एक अभिप्राय है और उन्हें सामान्य जीव की तरह गर्हित या निन्दनीय नहीं मानना चाहिए।

ततोऽपरामुपादाय स सर्गाय मनो दधे ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; अपराम्—अन्य; उपादाय—स्वीकार करके; सः—वह; सर्गाय—सृष्टि विषयक; मनः—मन; दधे—ध्यान दिया।

तत्पश्चात् ब्रह्मा ने दूसरा शरीर धारण किया जिसमें यौन जीवन निषिद्ध नहीं था और इस तरह वे आगे सृष्टि के कार्य में लग गये।

तात्पर्य : ब्रह्मा का पहला शरीर दिव्य था जिसमें यौनजीवन के प्रति अनुरक्ति वर्जित थी, अतएव यौन से सम्बद्ध होने के लिए उन्हें दूसरा शरीर अंगीकार करना पड़ा। इस तरह उन्होंने सृजन कार्य में अपने को लगाया। उनका पूर्व शरीर कुहरे में बदल गया जैसाकि पहले वर्णन हो चुका है।

ऋषीणां भूरिवीर्याणामपि सर्गमविस्तृतम् ।
ज्ञात्वा तद्धृदये भूयश्चिन्तयामास कौरव ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

ऋषीणाम्—ऋषियों का; भूरि-वीर्याणाम्—अत्यधिक पराक्रम से; अपि—के बावजूद; सर्गम्—सृष्टि; अविस्तृतम्—विस्तृत नहीं; ज्ञात्वा—जानकर; तत्—वह; हृदये—हृदय में; भूयः—पुन; चिन्तयाम् आस—विचार करने लगा; कौरव—हे कुरुपुत्र।

हे कुरुपुत्र, जब ब्रह्मा ने देखा कि अत्यन्त वीर्यवान ऋषियों के होते हुए भी जनसंख्या में पर्याप्त वृद्धि नहीं हुई तो वे गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगे कि जनसंख्या किस तरह बढ़ायी जाय।

अहो अद्भुतमेतन्मे व्यापृतस्यापि नित्यदा ।
न ह्येधन्ते प्रजा नूनं दैवमत्र विघातकम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

अहो—हाय; अद्भुतम्—अद्भुत है; एतत्—यह; मे—मेरे लिए; व्यापृतस्य—व्यस्त होते हुए; अपि—यद्यपि; नित्यदा—सदैव; न—नहीं; हि—निश्चय ही; एधन्ते—उत्पन्न करते हैं; प्रजाः—जीव; नूनम्—किन्तु; दैवम्—भाग्य; अत्र—यहाँ; विघातकम्—विरुद्ध, विपरीत।

ब्रह्मा ने अपने आप सोचा : हाय! यह विचित्र बात है कि मेरे सर्वत्र फैले हुए रहने पर भी ब्रह्माण्ड भर में जन-संख्या अब भी अपर्याप्त है। इस दुर्भाग्य का कारण एकमात्र भाग्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

एवं युक्तकृतस्तस्य दैवं चावेक्षतस्तदा ।
कस्य रूपमभूद्द्वेधा यत्कायमभिचक्षते ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; युक्त—सोच विचार करते; कृतः—ऐसा करते हुए; तस्य—उसका; दैवम्—दैवी शक्ति; च—भी; अवेक्षतः—देखते हुए; तदा—उस समय; कस्य—ब्रह्माण्ड; रूपम्—स्वरूप; अभूत्—प्रकट हो गया; द्वेधा—दोहरा; यत्—जो है; कायम्—उसका शरीर; अभिचक्षते—कहा जाता है।

जब वे इस तरह विचारमग्न थे और अलौकिक शक्ति को देख रहे थे तो उनके शरीर से दो अन्य रूप उत्पन्न हुए। वे अब भी ब्रह्मा के शरीर के रूप में विख्यात हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा के शरीर से दो शरीर उत्पन्न हुए। एक के मूच्छ थे और दूसरे के उभरे हुए वक्षस्थल। कोई भी उनके प्राकट्य के स्रोत को नहीं बतला सकता। इसीलिए आज भी वे *कायम्* कहलाते हैं जिसका अर्थ है ब्रह्मा का शरीर। इससे उनके पुत्र या पुत्री के रूप में उनके सम्बन्ध की कोई जानकारी नहीं मिलती।

ताभ्यां रूपविभागाभ्यां मिथुनं समपद्यत ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

ताभ्याम्—उनके; रूप—रूप; विभागाभ्याम्—इस तरह विभक्त होकर; मिथुनम्—यौन सम्बन्ध; समपद्यत—ठीक से सम्पन्न किया।

ये दोनों पृथक् हुए शरीर यौन सम्बन्ध में एक दूसरे से संयुक्त हो गये।

यस्तु तत्र पुमान्सोऽभून्मनुः स्वायम्भुवः स्वराट् ।

स्त्री यासीच्छतरूपाख्या महिष्यस्य महात्मनः ॥ ५४॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—लेकिन; तत्र—वहाँ; पुमान्—नर; सः—वह; अभूत्—बना; मनुः—मनुष्यजाति का पिता; स्वायम्भुवः—स्वायंभुव नामक; स्व-राट्—पूर्णतया स्वतंत्र; स्त्री—नारी; या—जो; आसीत्—थी; शतरूपा—शतरूपा; आख्या—नामक; महिषी—रानी; अस्य—उसकी; महात्मनः—महात्मा।

इनमें से जिसका नर रूप था वह स्वायंभुव मनु कहलाया और नारी शतरूपा कहलायी जो महात्मा मनु की रानी के रुप में जानी गई।

तदा मिथुनधर्मेण प्रजा ह्येधाम्बभूविरे ॥ ५५॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; मिथुन—यौन जीवन; धर्मेण—विधि-विधानों के अनुसार; प्रजाः—सन्तानें; हि—निश्चय ही; एधाम्—बढ़ी हुई; बभूविरे—घटित हुई।

तत्पश्चात् उन्होंने सम्भोग द्वारा क्रमशः एक एक करके जनसंख्या की पीढ़ियों में वृद्धि की।

स चापि शतरूपायां पञ्चापत्यान्यजीजनत्
प्रियव्रतोत्तानपादौ तिस्रः कन्याश्च भारत ।
आकूतिर्देवहूतिश्च प्रसूतिरिति सत्तम ॥ ५६॥

शब्दार्थ

सः—वह (मनु); च—भी; अपि—कालान्तर में; शतरूपायाम्—शतरूपा में; पञ्च—पाँच; अपत्यानि—सन्तानें; अजीजनत्—उत्पन्न किया; प्रियव्रत—प्रियव्रत; उत्तानपादौ—उत्तानपाद; तिस्रः—तीन; कन्याः—कन्याएँ; च—भी; भारत—हे भरत के पुत्र; आकूतिः—आकूति; देवहूतिः—देवहूति; च—तथा; प्रसूतिः—प्रसूति; इति—इस प्रकार; सत्तम—हे सर्वश्रेष्ठ।

हे भरतपुत्र, समय आने पर उसने (मनु ने) शतरूपा से पाँच सन्तानें उत्पन्न कीं—दो पुत्र प्रियव्रत तथा उत्तानपाद एवं तीन कन्याएँ आकूति, देवहूति तथा प्रसूति।

आकूतिं रुचये प्रादात्कर्दमाय तु मध्यमाम् ।
दक्षायादात्प्रसूतिं च यत आपूरितं जगत् ॥ ५७॥

शब्दार्थ

आकूतिम्—आकूति नामक कन्या; रुचये—रुचि मुनि को; प्रादात्—प्रदान किया; कर्दमाय—कर्दम मुनि को; तु—लेकिन; मध्यमाम्—बीच की (देवहूति); दक्षाय—दक्ष को; अदात्—प्रदान किया; प्रसूतिम्—सबसे छोटी पुत्री को; च—भी; यतः—जिससे; आपूरितम्—पूर्ण है; जगत्—सारा संसार।

पिता मनु ने अपनी पहली पुत्री आकूति रुचि मुनि को दी, मझली पुत्री देवहूति कर्दम मुनि को और सबसे छोटी पुत्री प्रसूति दक्ष को दी। उनसे सारा जगत जनसंख्या से पूरित हो गया।

तात्पर्य : यहाँ पर ब्रह्माण्ड की जनसंख्या के सृजन का इतिहास दिया गया है। ब्रह्माजी ब्रह्माण्ड में

आदि जीवित प्राणी हैं जिनसे मनु स्वायंभुव तथा उनकी पत्नी शतरूपा उत्पन्न हुई। मनु से दो पुत्र तथा तीन पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं और उन सबों से आज तक विभिन्न लोकों की जन-संख्या उत्पन्न हुई है। इसलिए ब्रह्मा सबों के पितामह कहलाते हैं और भगवान् ब्रह्मा के पिता होने से सारे जीवों के प्रपितामह कहलाते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (११.३९) में इस प्रकार हुई है—

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः

प्रजापतिस्त्वं प्रपितामश्च।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः

पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥

''आप वायु के स्वामी, परम न्यायी यम, अग्नि तथा वर्षा के स्वामी हैं। आप चन्द्रमा हैं तथा आप प्रपितामह हैं। अतएव मैं आपको पुनः पुनः सादर नमस्कार करता हूँ।''

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''कुमारों तथा अन्यों की सृष्टि'' नामक बारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तेरह

वराह भगवान् का प्राकट्य

श्रीशुक उवाच
निशम्य वाचं वदतो मुनेः पुण्यतमां नृप ।
भूयः पप्रच्छ कौरव्यो वासुदेवकथादृतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; निशम्य—सुन कर; वाचम्—बातें; वदतः—बोलते हुए; मुनेः—मैत्रेय मुनि का; पुण्य-तमाम्—अत्यन्त पुण्यमय; नृप—हे राजा; भूयः—तब फिर; पप्रच्छ—पूछा; कौरव्यः—कुरुओं में सर्वश्रेष्ठ (विदुर); वासुदेव-कथा—भगवान् वासुदेव विषयक कथाएँ; आदृतः—जो इस तरह सादर पूजता है।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, मैत्रेय मुनि से इन समस्त पुण्यतम कथाओं को सुनने के बाद विदुर ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की कथाओं के विषय में और अधिक पूछताछ की, क्योंकि इनका आदरपूर्वक सुनना उन्हें पसन्द था।

तात्पर्य : *आदृत:* शब्द महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह संकेत देता है कि विदुर में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के दिव्य सन्देश सुनने के प्रति स्वाभाविक झुकाव था। वे इन कथाओं को लगातार सुनते रहकर कभी भी पूरी तरह तुष्ट नहीं होते थे। वे अधिकाधिक सुनना चाह रहे थे जिससे वे दिव्य सन्देश द्वारा अधिकाधिक कृतार्थ हो सकें।

विदुर उवाच
स वै स्वायम्भुवः सम्राट्प्रियः पुत्रः स्वयम्भुवः ।
प्रतिलभ्य प्रियां पत्नीं किं चकार ततो मुने ॥ २ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; सः—वह; वै—सरलता से; स्वायम्भुवः—स्वायम्भुव मनु; सम्राट्—समस्त राजाओं के राजा; प्रियः—प्रिय; पुत्रः—पुत्र; स्वयम्भुवः—ब्रह्मा का; प्रतिलभ्य—प्राप्त करके; प्रियाम्—अत्यन्त प्रिय; पत्नीम्—पत्नी को; किम्—क्या; चकार—किया; ततः—तत्पश्चात्; मुने—हे मुनि।

विदुर ने कहा : हे मुनि, ब्रह्मा के प्रिय पुत्र स्वायम्भुव ने अपनी अतीव प्रिय पत्नी को पाने के बाद क्या किया?

चरितं तस्य राजर्षेरादिराजस्य सत्तम ।

ब्रूहि मे श्रद्दधानाय विष्वक्सेनाश्रयो ह्यसौ ॥ ३॥

शब्दार्थ

चरितम्—चरित्र; तस्य—उसका; राजर्षेः—ऋषितुल्य राजा का; आदि-राजस्य—आदि राजा का; सत्तम—हे अति पवित्र; ब्रूहि—कृपया कहें; मे—मुझसे; श्रद्दधानाय—प्राप्त करने के लिए जो इच्छुक है उसे; विष्वक्सेन—भगवान् का; आश्रयः—जिसने शरण ले रखी है; हि—निश्चय ही; असौ—वह राजा।

हे पुण्यात्मा श्रेष्ठ, राजाओं का आदि राजा (मनु) भगवान् हरि का महान् भक्त था, अतएव उसके शुद्ध चरित्र तथा कार्यकलाप सुनने योग्य हैं। कृपया उनका वर्णन करें। मैं सुनने के लिए अतीव उत्सुक हूँ।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्तों की दिव्य कथाओं से ओतप्रोत है। परम जगत में भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्त में गुणात्मक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं। इसलिए भगवान् की कथाओं के श्रवण तथा शुद्ध भक्त के चरित्र तथा कार्यकलापों के श्रवण का फल एक ही होता है, अर्थात् इनसे भक्ति का विकास होता है।

श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य
नन्वञ्जसा सूरिभिरीडितोऽर्थः ।
तत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्द-
पादारविन्दं हृदयेषु येषाम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

श्रुतस्य—ऐसे व्यक्तियों का जो सुन रहे हों; पुंसाम्—ऐसे पुरुषों का; सुचिर—दीर्घकाल तक; श्रमस्य—कठिन श्रम करते हुए; ननु—निश्चय ही; अञ्जसा—विस्तार से; सूरिभिः—शुद्ध भक्तों द्वारा; ईडितः—व्याख्या किया गया:; अर्थः—कथन; तत्—वह; तत्—वह; गुण—दिव्य गुण; अनुश्रवणम्—सोचते हुए; मुकुन्द—मुक्तिदाता भगवान् का; पाद-अरविन्दम्—चरणकमल; हृदयेषु—हृदय के भीतर; येषाम्—जिनके।

जो लोग अत्यन्त श्रमपूर्वक तथा दीर्घकाल तक गुरु से श्रवण करते हैं उन्हें शुद्धभक्तों के चरित्र तथा कार्यकलापों के विषय में शुद्धभक्तों के मुख से ही सुनना चाहिए। शुद्ध भक्त अपने हृदयों के भीतर सदैव उन भगवान् के चरणकमलों का चिन्तन करते हैं, जो अपने भक्तों को मोक्ष प्रदान करने वाले हैं।

तात्पर्य : दिव्य छात्र वे हैं, जो प्रामाणिक गुरु से वेदों को सुन कर प्रशिक्षित बनने के लिए कठिन तपस्या करते हैं। उन्हें न केवल भगवान् के कार्यकलापों के बारे में सुनना चाहिए, अपितु उन भक्तों के भी दिव्य गुणों के विषय में सुनना चाहिए जो अपने हृदय के भीतर निरन्तर भगवान् के चरणकमलों का चिन्तन करते रहते हैं। भगवान् के शुद्ध भक्त को क्षण भर के लिए भी भगवान् के चरणकमलों से

विलग नहीं किया जा सकता। निस्सन्देह, भगवान् सदैव समस्त प्राणियों के हृदयों के भीतर रहते हैं, किन्तु वे इसके विषय में नहीं जान पाते, क्योंकि वे मोहिनी भौतिक शक्ति द्वारा ठगे जाते हैं। तथापि भक्त भगवान् की उपस्थिति का अनुभव करते हैं इसलिए वे अपने हृदय के भीतर भगवान् के चरणकमलों का सदैव दर्शन कर सकते हैं। भगवान् के ऐसे शुद्ध भक्त भगवान् के ही तुल्य गौरवशाली होते हैं; वस्तुतः भगवान् उन्हें अपनी अपेक्षा अधिक पूजनीय मानने की संस्तुति करते हैं। भक्त की पूजा भगवान् की पूजा से अधिक शक्तिमान है। इसलिए दिव्य छात्रों का कर्तव्य है कि वे शुद्ध भक्तों के बारे में उसी रूप में सुनें जिस तरह भगवान् के वैसे ही भक्तों द्वारा बतलाया गया हो, क्योंकि कोई तब तक भगवान् या उनके भक्त के विषय में कुछ नहीं बतला सकता जब तक वह स्वयं शुद्ध भक्त न हो।

श्रीशुक उवाच
इति ब्रुवाणं विदुरं विनीतं
सहस्रशीर्ष्णश्चरणोपधानम् ।
प्रहृष्टरोमा भगवत्कथायां
प्रणीयमानो मुनिरभ्यचष्ट ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; ब्रुवाणम्—बोलते हुए; विदुरम्—विदुर को; विनीतम्—अतीव नम्र; सहस्र-शीर्ष्णः—भगवान् कृष्ण; चरण—चरणकमल; उपधानम्—तकिया; प्रहृष्ट-रोमा—आनन्द से जिसके रोम खड़े हो गये हों; भगवत्—भगवान् के सम्बन्ध में; कथायाम्—शब्दों में; प्रणीयमानः—ऐसे आत्मा द्वारा प्रभावित हो कर; मुनिः—मुनि ने; अभ्यचष्ट—बोलने का प्रयास किया।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् कृष्ण विदुर की गोद में अपना चरणकमल रख कर प्रसन्न थे, क्योंकि विदुर अत्यन्त विनीत तथा भद्र थे। मैत्रेय मुनि विदुर के शब्दों से अति प्रसन्न थे और अपनी आत्मा से प्रभावित होकर उन्होंने बोलने का प्रयास किया।

तात्पर्य : यहाँ *सहस्र-शीर्ष्णः* शब्द अत्यन्त सार्थक है। विविध शक्तियों तथा कार्यकलापों एवं अद्भुत मस्तिष्क वाला व्यक्ति *सहस्र-शीर्ष्णः* कहलाता है। यह योग्यता एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण पर लागू होती है, अन्य किसी पर नहीं। भगवान् ने कभी प्रसन्न होकर विदुर के घर पर भोजन किया था और विश्राम करते समय उन्होंने विदुर की गोद में अपने चरणकमल रखे थे। मैत्रेय विदुर के अहो-भाग्य को सोचकर प्रेरित हुए। उन्हें रोमांच हो गया और प्रसन्न होकर उन्होंने बड़े ही हर्ष के साथ भगवान् की कथाओं का वर्णन शुरू किया।

मैत्रेय उवाच
यदा स्वभार्यया सार्धं जातः स्वायम्भुवो मनुः ।
प्राञ्जलिः प्रणतश्चेदं वेदगर्भमभाषत ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; यदा—जब; स्व-भार्यया—अपनी पत्नी के; सार्धम्—साथ में; जातः—प्रकट हुआ; स्वायम्भुवः—स्वायम्भुव मनु; मनुः—मानवजाति का पिता; प्राञ्जलिः—हाथ जोड़े; प्रणतः—नमस्कार करके; च—भी; इदम्—यह; वेद-गर्भम्—वैदिक विद्या के आगार को; अभाषत—सम्बोधित किया।

मैत्रेय मुनि ने विदुर से कहा : मानवजाति के पिता मनु अपनी पत्नी समेत अपने प्राकट्य के बाद वेदविद्या के आगार ब्रह्मा को नमस्कार करके तथा हाथ जोड़ कर इस प्रकार बोले।

त्वमेकः सर्वभूतानां जन्मकृद्वृत्तिदः पिता ।
तथापि नः प्रजानां ते शुश्रूषा केन वा भवेत् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; एकः—एक; सर्व—समस्त; भूतानाम्—जीवों के; जन्म-कृत्—जनक; वृत्ति-दः—जीविका का साधन; पिता—पिता; तथा अपि—तो भी; नः—हम; प्रजानाम्—उत्पन्न हुए सबों का; ते—तुम्हारी; शुश्रूषा—सेवा; केन—कैसे; वा—अथवा; भवेत्—सम्भव हो सकती है।

आप सारे जीवों के पिता तथा उनकी जीविका के स्रोत हैं, क्योंकि वे सभी आपसे उत्पन्न हुए हैं। कृपा करके हमें आदेश दें कि हम आपकी सेवा किस तरह कर सकते हैं।

तात्पर्य : पुत्र का कर्तव्य है कि वह अपने पिता को केवल अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में इस्तेमाल न करे, अपितु जब वह बड़ा हो जाय तो वह उसकी सेवा भी करे। यही ब्रह्मा के समय से सृष्टि का नियम चला आ रहा है। पिता का कर्तव्य है कि जब तक पुत्र बड़ा न हो जाय उसका पालनपोषण करे और जब पुत्र बड़ा हो जाय तो पुत्र का कर्तव्य है कि वह पिता की सेवा करे।

तद्विधेहि नमस्तुभ्यं कर्मस्वीड्यात्मशक्तिषु ।
यत्कृत्वेह यशो विष्वगमुत्र च भवेद्गतिः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; विधेहि—आदेश दें; नमः—मेरा नमस्कार; तुभ्यम्—तुमको; कर्मसु—कार्यों में; ईड्य—हे पूज्य; आत्म-शक्तिषु—हमारी कार्य क्षमता के अन्तर्गत; यत्—जो; कृत्वा—करके; इह—इस जगत में; यशः—यश; विष्वक्—सर्वत्र; अमुत्र—अगले जगत में; च—तथा; भवेत्—इसे होना चाहिए; गतिः—प्रगति।

हे आराध्य, आप हमें हमारी कार्यक्षमता के अन्तर्गत कार्य करने के लिए अपना आदेश दें

जिससे हम इस जीवन में यश के लिए तथा अगले जीवन में प्रगति के लिए उसका पालन कर सकें।

तात्पर्य : ब्रह्माजी तो सीधे भगवान् से वैदिक ज्ञान प्राप्त करने वाले हैं और ब्रह्मा की शिष्य-परम्परा में जिस किसी को उनका निहित कार्य सौंपा जाता है, उसे इस जीवन में यश तथा अगले जीवन में मोक्ष प्राप्त होना निश्चित है। ब्रह्मा से चलने वाली शिष्य-परम्परा *ब्रह्मसम्प्रदाय* कहलाती है और वह इस प्रकार चलती है—ब्रह्मा, नारद, व्यास, मध्व मुनि (पूर्णप्रज्ञ), पद्मनाभ, नृहरि, माधव, अक्षोभ्य, जयतीर्थ, ज्ञानसिन्धु, दयानिधि, विद्यानिधि, राजेन्द्र, जयधर्म, पुरुषोत्तम, ब्रह्मण्यतीर्थ, व्यासतीर्थ, लक्ष्मीपति, माधवेन्द्रपुरी, ईश्वरपुरी, श्री चैतन्य महाप्रभु, स्वरूप दामोदर तथा श्रीरूप गोस्वामी एवं अन्यजन, श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी, कृष्णदास गोस्वामी, नरोत्तमदास ठाकुर, विश्वनाथ चक्रवर्ती, जगन्नाथ दास बाबाजी, भक्ति विनोद ठाकुर, गौरकिशोर दास बाबाजी, श्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती, श्री ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी।

ब्रह्मा से चलने वाली शिष्य-परम्परा की यह धारा आध्यात्मिक है, जबकि मनु से चलने वाली वंश परम्परा भौतिक है, किन्तु दोनों ही कृष्णभावनामृत के एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर हैं।

ब्रह्मोवाच
प्रीतस्तुभ्यमहं तात स्वस्ति स्ताद्वां क्षितीश्वर ।
यन्निर्व्यलीकेन हृदा शाधि मेत्यात्मनार्पितम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्मा ने कहा; प्रीत:—प्रसन्न; तुभ्यम्—तुम को; अहम्—मैं; तात—हे पुत्र; स्वस्ति—कल्याण; स्तात्—हो; वाम्—तुम दोनों को; क्षिति-ईश्वर—हे संसार के स्वामी; यत्—क्योंकि; निर्व्यलीकेन—बिना भेदभाव के; हृदा—हृदय से; शाधि—आदेश दीजिये; मा—मुझको; इति—इस प्रकार; आत्मना—आत्मा से; अर्पितम्—शरणागत।

ब्रह्माजी ने कहा, हे प्रिय पुत्र, हे जगत् के स्वामी, मैं तुम से अति प्रसन्न हूँ और तुम्हारे तथा तुम्हारी पत्नी दोनों ही के कल्याण की कामना करता हूँ। तुमने मेरे आदेशों के लिए अपने हृदय से बिना सोचे विचारे अपने आपको मेरे शरणागत कर लिया है।

तात्पर्य : पिता तथा पुत्र का सम्बन्ध अतीव उदात्त होता है। पिता स्वभावत: पुत्र का शुभेच्छु होता है और अपने पुत्र के जीवन की प्रगति में सहायता करने के लिए सदैव उद्यत रहता है। किन्तु पिता की शुभेच्छा के बावजूद पुत्र कभी कभी निजी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करके विपथ हो जाता है। हर जीव में

चाहे वह कितना छोटा या बड़ा क्यों न हो, स्वतंत्रता की रुचि होती है। यदि पुत्र मुक्त भाव से पिता के मार्गदर्शन पर चलना चाहता है, तो पिता सभी तरह से उसे आदेश देने तथा उसका मार्गदर्शन करने के लिए दसगुना अधिक उत्सुक रहता है। यहाँ पर ब्रह्मा तथा मनु के व्यवहार में पिता-पुत्र का जो सम्बन्ध प्रदर्शित हो रहा है, वह सर्वोत्तम है। पिता तथा पुत्र दोनों ही सुयोग्य हैं और समस्त मानव जाति को उनके आदर्श का अनुसरण करना चाहिए। पुत्र मनु ने अपने पिता ब्रह्मा से मुक्तभाव से आदेश देने के लिए कहा और पिता जो वैदिक ज्ञान से पूर्ण थे, इसे देने के लिए अति प्रसन्न थे। मनुष्य को मानवजाति के पिता के इस उदाहरण का दृढ़ता से पालन करना चाहिए, क्योंकि इससे पिता तथा पुत्र के सम्बन्ध उन्नत बनेंगे।

एतावत्यात्मजैर्वीर कार्या ह्यपचितिर्गुरौ ।
शक्त्याप्रमत्तैर्गृह्येत सादरं गतमत्सरैः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

एतावती—ठीक इसी तरह; आत्मजैः—सन्तान द्वारा; वीर—हे वीर; कार्या—सम्पन्न किया जाना चाहिए; हि—निश्चय ही; अपचितिः—पूजा; गुरौ—गुरुजन को; शक्त्या—पूरी क्षमता से; अप्रमत्तैः—विवेकवान द्वारा; गृह्येत—स्वीकार किया जाना चाहिए; स-आदरम्—अतीव हर्ष के साथ; गत-मत्सरैः—ईर्ष्या की सीमा से परे रहने वालों के द्वारा।

हे वीर, तुम्हारा उदाहरण पिता-पुत्र सम्बन्ध के सर्वथा उपयुक्त है। बड़ों की इस तरह की पूजा अपेक्षित है। जो ईर्ष्या की सीमा के परे है और विवेकी है, वह अपने पिता के आदेश को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करता है और अपने पूरी सामर्थ्य से उसे सम्पन्न करता है।

तात्पर्य : जब ब्रह्मा के पहले चार पुत्रों—सनक, सनातन, सनन्दन तथा सनत्कुमार—ने अपने पिता की आज्ञा का पालन करने से इनकार कर दिया तो ब्रह्मा लज्जित हुए और उनका क्रोध रुद्र के रूप में प्रकट हुआ। ब्रह्मा इस घटना को भूले नहीं थे, अतएव मनु स्वायम्भुव द्वारा आज्ञापालन किये जाने से वे अतीव उत्साहित हुए। भौतिक दृष्टि से चारों मुनियों द्वारा अपने पिता के आदेश का उल्लंघन निश्चय ही निन्दनीय था, किन्तु क्योंकि यह आज्ञोल्लंघन एक उच्चतर उद्देश्य के निमित्त था, वे आज्ञोल्लंघन की प्रतिक्रिया से मुक्त थे। भौतिक कारणों से अपने पिता का जो आज्ञोल्लंघन करते हैं उन्हें ऐसे आज्ञोल्लंघन के लिए निश्चय ही, अनुशासनिक मूल्य चुकाना पड़ता है। मनु द्वारा अपने पिता का भौतिक कारणों से आज्ञापालन निश्चय ही ईर्ष्यारहित था। भौतिक जगत में सामान्य जनों को मनु के इस

उदाहरण का अनुसरण करना अनिवार्य है।

स त्वमस्यामपत्यानि सदृशान्यात्मनो गुणैः ।
उत्पाद्य शास धर्मेण गां यज्ञैः पुरुषं यज ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सः—इसलिए वह आज्ञाकारी पुत्र; त्वम्—तुम जैसे; अस्याम्—उसमें; अपत्यानि—सन्तानें; सदृशानि—समानरूप से योग्य; आत्मनः—तुम्हारी; गुणैः—गुणों से; उत्पाद्य—उत्पन्न किये जाकर; शास—शासन करते हैं; धर्मेण—भक्ति के नियमों के साथ; गाम्—जगत; यज्ञैः—यज्ञों से; पुरुषम्—भगवान् की; यज—पूजा करो।

चूँकि तुम मेरे अत्यन्त आज्ञाकारी पुत्र हो इसलिए मैं तुम्हें आदेश देता हूँ कि तुम अपनी पत्नी के गर्भ से अपने ही समान योग्य सन्तानें उत्पन्न करो। तुम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की भक्ति के सिद्धान्तों का पालन करते हुए सारे जगत पर शासन करो और इस तरह यज्ञ सम्पन्न करके भगवान् की पूजा करो।

तात्पर्य : यहाँ पर ब्रह्मा द्वारा भौतिक सृष्टि के उद्देश्य का स्पष्ट वर्णन हुआ है। प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि अपनी पत्नी के गर्भ से उत्तम सन्तानें उत्पन्न करे। यह कार्य भक्तिपूर्वक भगवान् की पूजा करने के लिए यज्ञ के समान है। *विष्णु पुराण* (३.८.९) में कहा गया है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम्॥

''वर्ण तथा आश्रम के नियमों का सही ढंग से पालन करके मनुष्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा कर सकता है। वर्णाश्रम प्रणाली के नियमों की सम्पन्नता द्वारा भगवान् को तुष्ट करने का कोई अन्य विकल्प नहीं है।''

विष्णु पूजा मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। जिन्हें विवाहित जीवन में इन्द्रिय भोग की स्वीकृति मिलती है उन्हें भगवान् विष्णु को तुष्ट करने का उत्तरदायित्व भी ग्रहण करना चाहिए। उसके लिए पहली सीढ़ी वर्णाश्रम धर्म प्रणाली है। वर्णाश्रम धर्म विष्णु पूजा में प्रगति करने का व्यवस्थित संस्थान है। किन्तु यदि कोई सीधे ही भगवान् की भक्ति करता है, तो उसे वर्णाश्रम धर्म की अनुशासनिक प्रणाली में पड़ने की आवश्यकता नहीं रह जाती। ब्रह्मा के अन्य पुत्र कुमारगण सीधे भक्ति में लग गये, अतएव उन्हें वर्णाश्रम धर्म के सिद्धान्तों का पालन करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

परं शुश्रूषणं मह्यं स्यात्प्रजारक्षया नृप ।
भगवांस्ते प्रजाभर्तुर्हृषीकेशोऽनुतुष्यति ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

परम्—सबसे बड़ी; शुश्रूषणम्—भक्ति; मह्यम्—मेरे प्रति; स्यात्—होनी चाहिए; प्रजा—भौतिक जगत में उत्पन्न जीव; रक्षया—बिगड़ने से बचाकर; नृप—हे राजा; भगवान्—भगवान्; ते—तुम्हारे साथ; प्रजा-भर्तुः—जीवों के रक्षक के साथ; हृषीकेशः—इन्द्रियों के स्वामी; अनुतुष्यति—तुष्ट होता है।.

हे राजन्, यदि तुम भौतिक जगत में जीवों को उचित सुरक्षा प्रदान कर सको तो मेरे प्रति वह सर्वोत्तम सेवा होगी। जब परमेश्वर तुम्हें बद्धजीवों के उत्तम रक्षक के रूप में देखेंगे तो इन्द्रियों के स्वामी निश्चय ही तुम पर अतीव प्रसन्न होंगे।

तात्पर्य : सम्पूर्ण प्रशासनिक प्रणाली भगवद्धाम् वापस जाने के लिए व्यवस्थित की जाती है। ब्रह्माजी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रतिनिधि हैं और मनु ब्रह्मा के प्रतिनिधि हैं। इसी तरह ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों के अन्य सारे राजा मनु के प्रतिनिधि हैं। सम्पूर्ण मानव समाज के लिए *मनुसंहिता* विधि ग्रन्थ है, जो सारे कार्यों को भगवान् की दिव्य सेवा की ओर निर्देशित करता है। इसलिए प्रत्येक राजा को यह जानना चाहिए कि प्रशासन में उसका उत्तरदायित्व नागरिकों से केवल कर वसूल करना ही नहीं है, अपितु स्वयं यह देखना है कि उसके अधीन सारे नागरिकों को विष्णु पूजा का प्रशिक्षण दिया जा रहा है। हर व्यक्ति को विष्णु पूजा की शिक्षा दी जानी चाहिए और इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश की भक्ति में लगाया जाना चाहिए। बद्धजीव अपनी भौतिक इच्छाओं को तुष्ट करने के लिए नहीं हैं अपितु भगवान् हृषीकेश की इन्द्रियों को तुष्ट करने के लिए हैं। सम्पूर्ण प्रशासनिक प्रणाली का यही उद्देश्य है। जो ब्रह्मा के कथन द्वारा उद्घाटित इस रहस्य को जानता है, वही पूर्ण प्रशासनिक प्रमुख है। जो इसे नहीं जानता वह दिखावटी प्रशासक है। नागरिकों को भगवद्भक्ति में प्रशिक्षित करने से राज्य का प्रमुख अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो सकता है, अन्यथा वह उसे सौंपे हुए दूभर कार्य को करने में विफल होगा और इस तरह वह परम अधिकारी द्वारा दण्डनीय होगा। प्रशासनिक कर्तव्य निबाहने का इसके सिवा कोई अन्य विकल्प नहीं है।

येषां न तुष्टो भगवान्यज्ञलिङ्गो जनार्दनः ।
तेषां श्रमो ह्यपार्थाय यदात्मा नादृतः स्वयम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

येषाम्—उनका जिनके साथ; न—कभी नहीं; तुष्टः—तुष्ट; भगवान्—भगवान्; यज्ञ-लिङ्गः—यज्ञ का स्वरूप; जनार्दनः—भगवान् कृष्ण या विष्णुतत्त्व; तेषाम्—उनका; श्रमः—श्रम; हि—निश्चय ही; अपार्थाय—बिना लाभ के; यत्—क्योंकि; आत्मा—परमात्मा; न—नहीं; आद्दतः—सम्मानित; स्वयम्—स्वयं।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् जनार्दन (कृष्ण) ही समस्त यज्ञ फलों को स्वीकार करने वाले हैं। यदि वे तुष्ट नहीं होते तो प्रगति के लिए किया गया मनुष्य का श्रम व्यर्थ है। वे चरम आत्मा हैं, अतएव जो व्यक्ति उन्हें तुष्ट नहीं करता वह निश्चय ही अपने ही हितों की उपेक्षा करता है।

तात्पर्य : ब्रह्मा को ब्रह्माण्ड के मामलों का सर्वोच्च अध्यक्ष नियुक्त किया गया है और वे भौतिक जगत के मामलों के संचालन हेतु मनु तथा अन्यों को नियुक्त करते हैं, किन्तु यह सारा प्रदर्शन परमेश्वर की तुष्टि के हेतु है। ब्रह्माजी जानते हैं कि भगवान् को कैसे तुष्ट किया जाता है। इसी तरह ब्रह्मा की कार्य योजना में लगे लोग भी जानते हैं कि भगवान् को किस तरह तुष्ट करना चाहिए। भगवान् *भक्तियोग* द्वारा तुष्ट किये जाते हैं जिसके अन्तर्गत श्रवण, कीर्तन, इत्यादि नौ विधियाँ आती हैं। यह तो मनुष्य के अपने हित में है कि नियत भक्ति सम्पन्न की जाय और जो भी इस विधि की उपेक्षा करता है, वह अपने ही हित की उपेक्षा करता है। हर व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करना चाहता है, किन्तु इन्द्रियों से भी ऊपर मन है और मन के ऊपर बुद्धि तथा बुद्धि के ऊपर व्यष्टि आत्मा तथा व्यष्टि आत्मा के ऊपर परमात्मा है। परमात्मा के भी ऊपर पुरुषोत्तम भगवान् या *विष्णु तत्त्व* है। आदि भगवान् तथा सभी कारणों के कारण श्रीकृष्ण हैं। सिद्धिसेवा की सम्पूर्ण विधि उन भगवान् कृष्ण की दिव्य इन्द्रियों की तुष्टि हेतु सेवा करना है, जो जनार्दन कहलाते हैं।

मनुरुवाच
आदेशेऽहं भगवतो वर्तेयामीवसूदन ।
स्थानं त्विहानुजानीहि प्रजानां मम च प्रभो ॥ १४॥

शब्दार्थ

मनुः उवाच—श्री मनु ने कहा; आदेशे—आदेश के अन्तर्गत; अहम्—मैं; भगवतः—शक्तिशाली आपका; वर्तेय—रुकूँगा; अमीव-सूदन—हे समस्त पापों के संहारक; स्थानम्—स्थान; तु—लेकिन; इह—इस जगत में; अनुजानीहि—कृपया मुझे बतलाइये; प्रजानाम्—मुझसे उत्पन्न जीवधारियों का; मम—मेरा; च—भी; प्रभो—हे प्रभु।

श्री मनु ने कहा : हे सर्वशक्तिमान प्रभु, हे समस्त पापों के संहर्ता, मैं आपके आदेशों का पालन करूँगा। कृपया मुझे मेरा तथा मुझसे उत्पन्न जीवों के बसने के लिए स्थान बतलाएँ।

यदोकः सर्वभूतानां मही मग्ना महाम्भसि ।
अस्या उद्धरणे यत्नो देव देव्या विधीयताम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

यत्—क्योंकि; ओकः—वासस्थान; सर्व—सभी के लिए; भूतानाम्—जीवों के लिए; मही—पृथ्वी; मग्ना—डूबी हुई; महा-अम्भसि—विशाल जल में; अस्याः—इसके; उद्धरणे—उठाने में; यत्नः—प्रयास; देव—हे देवताओं के स्वामी; देव्याः—इस पृथ्वी का; विधीयताम्—कराएँ।

हे देवताओं के स्वामी, विशाल जल में डूबी हुई पृथ्वी को ऊपर उठाने का प्रयास करें, क्योंकि यह सारे जीवों का वासस्थान है। यह आपके प्रयास तथा भगवान् की कृपा से ही सम्भव है।

तात्पर्य : यहाँ पर उल्लिखित विशाल जलागार गर्भोदक सागर है, जो ब्रह्माण्ड के आधे भाग में भरा हुआ है।

मैत्रेय उवाच
परमेष्ठी त्वपां मध्ये तथा सन्नामवेक्ष्य गाम् ।
कथमेनां समुन्नेष्य इति दध्यौ धिया चिरम् ॥ १६॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—श्री मैत्रेय मुनि ने कहा; परमेष्ठी—ब्रह्मा; तु—भी; अपाम्—जल के; मध्ये—भीतर; तथा—इस प्रकार; सन्नाम्—स्थित; अवेक्ष्य—देखकर; गाम्—पृथ्वी को; कथम्—कैसे; एनाम्—यह; समुन्नेष्ये—मैं उठा लूँगा; इति—इस प्रकार; दध्यौ—ध्यान दिया; धिया—बुद्धि से; चिरम्—दीर्घ काल तक।

श्री मैत्रेय ने कहा : इस प्रकार पृथ्वी को जल में डूबी हुई देखकर ब्रह्मा दीर्घकाल तक सोचते रहे कि इसे किस प्रकार उठाया जा सकता है।

तात्पर्य : जीव गोस्वामी के अनुसार यहाँ पर जिन कथाओं का उद्घाटन किया गया है वे विभिन्न कल्पों की हैं। वर्तमान कथाएँ श्वेत वराह कल्प की हैं और चाक्षुष कल्प की कथाओं को भी इसी अध्याय में बतलाया जायेगा।

सृजतो मे क्षितिर्वार्भिः प्लाव्यमाना रसां गता
अथात्र किमनुष्ठेयमस्माभिः सर्गयोजितैः ।
यस्याहं हृदयादासं स ईशो विदधातु मे ॥ १७॥

शब्दार्थ

सृजतः—सृजन करते समय; मे—मेरा; क्षितिः—पृथ्वी; वार्भिः—जल के द्वारा; प्लाव्यमाना—आप्लावित की गई; रसाम्—जल की गहराई; गता—नीचे गया हुआ; अथ—इसलिए; अत्र—इस मामले में; किम्—क्या; अनुष्ठेयम्—क्या प्रयास किया जाना

चाहिए; अस्माभिः—हमारे द्वारा; सर्ग—सृष्टि में; योजितैः—लगे हुए; यस्य—जिसका; अहम्—मैं; हृदयात्—हृदय से; आसम्—उत्पन्न; सः—वह; ईशः—परमेश्वर; विदधातु—निर्देश कर सकते हैं; मे—मुझको।

सृजतो मे क्षितिर्वार्भिः प्लाव्यमाना रसां गता
अथात्र किमनुष्ठेयमस्माभिः सर्गयोजितैः ।
यस्याहं हृदयादासं स ईशो विदधातु मे ॥ १७॥

शब्दार्थ

सृजतः—सृजन करते समय; मे—मेरा; क्षितिः—पृथ्वी; वार्भिः—जल के द्वारा; प्लाव्यमाना—आप्लावित की गई; रसाम्—जल की गहराई; गता—नीचे गया हुआ; अथ—इसलिए; अत्र—इस मामले में; किम्—क्या; अनुष्ठेयम्—क्या प्रयास किया जाना चाहिए; अस्माभिः—हमारे द्वारा; सर्ग—सृष्टि में; योजितैः—लगे हुए; यस्य—जिसका; अहम्—मैं; हृदयात्—हृदय से; आसम्—उत्पन्न; सः—वह; ईशः—परमेश्वर; विदधातु—निर्देश कर सकते हैं; मे—मुझको।

ब्रह्मा ने सोचा : जब मैं सृजन कार्य में लगा हुआ था, तो पृथ्वी बाढ़ से आप्लावित हो गई और समुद्र के गर्त में चली गई। हम लोग जो सृजन के इस कार्य में लगे हैं भला कर ही क्या सकते हैं? सर्वोत्तम यही होगा कि सर्वशक्तिमान हमारा निर्देशन करें।

तात्पर्य : कभी-कभी भगवद्भक्त जो कि विश्वसनीय सेवक होते हैं अपना अपना कर्तव्य निभाते समय विमूढ़ हो जाते हैं, किन्तु वे हतोत्साहित कभी नहीं होते। उन्हें भगवान् में पूर्ण श्रद्धा होती है और भगवान् भक्तों के कर्तव्य पालन की उन्नति के मार्ग को सुगम बनाते हैं।

इत्यभिध्यायतो नासाविवरात्सहसानघ ।
वराहतोको निरगादङ्गुष्ठपरिमाणकः ॥ १८॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अभिध्यायतः—सोचते हुए; नासा-विवरात्—नथुनों से; सहसा—एकाएक; अनघ—हे निष्पाप; वराह-तोकः—वराह का लघुरूप (सूअर); निरगात्—बाहर आया; अङ्गुष्ठ—अँगूठे का ऊपरी हिस्सा; परिमाणकः—माप वाला।

हे निष्पाप विदुर, जब ब्रह्माजी विचारमग्न थे तो उनके नथुने से सहसा एक सूअर (वराह) का लघुरूप बाहर निकल आया। इस प्राणी की माप अँगूठे के ऊपरी हिस्से से अधिक नहीं थी।

तस्याभिपश्यतः खस्थः क्षणेन किल भारत ।
गजमात्रः प्रववृधे तदद्भुतमभून्महत् ॥ १९॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अभिपश्यतः—इस प्रकार देखते हुए; ख-स्थः—आकाश में स्थित; क्षणेन—सहसा; किल—निश्चय ही; भारत—हे भरतवंशी; गज-मात्रः—हाथी के समान; प्रववृधे—भलीभाँति विस्तार किया; तत्—वह; अद्भुतम्—असामान्य; अभूत्—बदल गया; महत्—विराट शरीर में।

हे भरतवंशी, तब ब्रह्मा के देखते ही देखते वह वराह विशाल काय हाथी जैसा अद्भुत

विराट स्वरूप धारण करके आकाश में स्थित हो गया।

मरीचिप्रमुखैर्विप्रैः कुमारैर्मनुना सह ।
दृष्ट्वा तत्सौकरं रूपं तर्कयामास चित्रधा ॥ २० ॥

शब्दार्थ

मरीचि—मरीचि मुनि; प्रमुखैः—इत्यादि; विप्रैः—सारे ब्राह्मणों; कुमारैः—चारों कुमारों सहित; मनुना—तथा मनु; सह—के साथ; दृष्ट्वा—देख कर; तत्—वह; सौकरम्—सूकर जैसा; रूपम्—स्वरूप; तर्कयाम् आस—परस्पर तर्क-वितर्क किया; चित्रधा—विविध प्रकारों से।

आकाश में अद्‌भुत सूकर जैसा रूप देखने से आश्चर्यचकित ब्रह्माजी मरीचि जैसे महान् ब्राह्मणों तथा चारों कुमारों एवं मनु के साथ अनेक प्रकार से तर्क-वितर्क करने लगे।

किमेतत्सूकरव्याजं सत्त्वं दिव्यमवस्थितम् ।
अहो बताश्चर्यमिदं नासाया मे विनिःसृतम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; एतत्—यह; सूकर—सूकर के; व्याजम्—बहाने से; सत्त्वम्—जीव; दिव्यम्—असामान्य; अवस्थितम्—स्थित; अहो बत—ओह, यह है; आश्चर्यम्—अत्यन्त अद्‌भुत; इदम्—यह; नासायाः—नाक से; मे—मेरी; विनिःसृतम्—बाहर आया।

क्या सूकर के बहाने से यह कोई असामान्य व्यक्तित्व आया है? यह अति आश्चर्यप्रद है कि वह मेरी नाक से निकला है।

दृष्टोऽङ्गुष्ठशिरोमात्रः क्षणाद्गण्डशिलासमः ।
अपि स्विद्भगवानेष यज्ञो मे खेदयन्मनः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

दृष्टः—अभी-अभी देखा हुआ; अङ्गुष्ठ—अँगूठे का; शिरः—सिरा; मात्रः—केवल; क्षणात्—तुरन्त; गण्ड-शिला—विशाल पत्थर; समः—सदृश; अपि स्वित्—क्या; भगवान्—भगवान्; एषः—यह; यज्ञः—विष्णु; मे—मेरा; खेदयन्—खिन्न; मनः—मन।

प्रारम्भ में यह सूकर अँगूठे के सिरे से बड़ा न था, किन्तु क्षण भर में वह शिला के समान विशाल बन गया। मेरा मन विक्षुब्ध है। क्या वह पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु हैं?

तात्पर्य : चूँकि ब्रह्माजी इस ब्रह्माण्ड के सर्वोपरि पुरुष हैं और इसके पूर्व उन्होंने ऐसा रूप नहीं देखा था, अतएव वे अनुमान नहीं लगा पाये कि शूकर का प्राकट्य विष्णु का अवतार था। भगवान् के अवतार के असामान्य लक्षण ब्रह्मा तक के मन को मोहित कर सकते हैं।

इति मीमांसतस्तस्य ब्रह्मण: सह सूनुभि: ।
भगवान्यज्ञपुरुषो जगर्जागेन्द्रसन्निभ: ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; मीमांसत:—विचार-विमर्श करते; तस्य—उस; ब्रह्मण:—ब्रह्मा के; सह—साथ-साथ; सूनुभि:—उनके पुत्रगण; भगवान्—परमेश्वर; यज्ञ—भगवान् विष्णु ने; पुरुष:—सर्वश्रेष्ठ पुरुष; जगर्ज—गर्जना की; अग-इन्द्र—विशाल पर्वत; सन्निभ:—सदृश।

जब ब्रह्माजी अपने पुत्रों के साथ विचार-विमर्श कर रहे थे तो पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु ने विशाल पर्वत के समान गम्भीर गर्जना की।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि विशाल पर्वतों में भी उनकी गर्जना शक्ति होती है, क्योंकि वे भी जीव हैं। ध्वनि गर्जन की गहनता भौतिक शरीर के आकार के अनुपात में होती है। अभी ब्रह्माजी भगवान् के शूकर अवतार के प्रकट होने के विषय में अनुमान लगा ही रहे थे कि भगवान् ने अपनी गम्भीर वाणी द्वारा गर्जना करके ब्रह्मा के अनुमान की पुष्टि कर दी।

ब्रह्माणं हर्षयामास हरिस्तांश्च द्विजोत्तमान् ।
स्वगर्जितेन ककुभ: प्रतिस्वनयता विभु: ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्माणम्—ब्रह्मा को; हर्षयाम् आस—जीवन्त कर दिया; हरि:—भगवान् ने; तान्—वे उन सबों को; च—भी; द्विज-उत्तमान्—अति उच्च ब्राह्मणों को; स्व-गर्जितेन—अपनी असाधारण वाणी से; ककुभ:—सारी दिशाएँ; प्रतिस्वनयता—प्रतिध्वनित हो उठीं; विभु:—सर्वशक्तिमान।

सर्वशक्तिमान भगवान् ने पुन: असाधारण वाणी से ऐसी गर्जना कर के ब्रह्मा तथा अन्य उच्चस्थ ब्राह्मणों को जीवन्त कर दिया, जिससे सारी दिशाओं में गूँज उठीं।

तात्पर्य : ब्रह्मा तथा अन्य उत्तम ब्राह्मण, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को जानते हैं, भगवान् को नाना अवतारों में से किसी एक में प्रकट होते देखकर जीवन्त हो उठते हैं। पर्वतसदृश शूकर के रूप में विष्णु के अद्भुत तथा विराट अवतार के प्रकट होने पर उनमें किसी प्रकार का भय उत्पन्न नहीं हुआ यद्यपि भगवान् की गूँजती वाणी कोलाहलपूर्ण थी और सभी दिशाओं में भयानक रूप से प्रतिध्वनित हुई, मानो उन असुरों के लिए खुली धमकी हो जो उनकी सर्व-शक्तिमत्ता को चुनौती दे रहे हों।

निशम्य ते घर्घरितं स्वखेद-
क्षयिष्णु मायामयसूकरस्य ।
जनस्तप:सत्यनिवासिनस्ते

त्रिभिः पवित्रैर्मुनयोऽगृणन्स्म ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; ते—वे; घर्घरितम्—कोलाहलपूर्ण ध्वनि, घुरघुराहट; स्व-खेद—निजी शोक; क्षयिष्णु—विनष्ट करने वाला; माया-मय—सर्व कृपालु; सूकरस्य—सूकर का; जनः—जनलोक; तपः—तपोलोक; सत्य—सत्यलोक के; निवासिनः—निवासी; ते—वे सभी; त्रिभिः—तीन वेदों से; पवित्रैः—शुभ मंत्रों से; मुनयः—महान् चिन्तकों तथा ऋषियों ने; अगृणन् स्म—उच्चारण किया।

जब जनलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक के निवासी महर्षियों तथा चिन्तकों ने भगवान् सूकर की कोलाहलपूर्ण वाणी सुनी, जो सर्वकृपालु भगवान् की सर्वकल्याणमय ध्वनि थी तो उन्होंने तीनों वेदों से शुभ मंत्रों का उच्चारण किया।

तात्पर्य : इस श्लोक में *मायामय* शब्द अत्यन्त सार्थक है। *माया* का अर्थ है ''कृपा'' ''विशेष ज्ञान'' तथा ''मोह''। इसलिए भगवान् शूकर सर्वस्व हैं—वे दयालु हैं, वे समस्त ज्ञान हैं और वे मोह भी हैं। वराह अवतार के रूप में उन्होंने जो ध्वनि की उसका उत्तर जनलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक में रहनेवाले मुनियों ने वैदिक मंत्रों से दिया। उन लोकों में सर्वोच्च बुद्धिमान तथा पवित्र जीव निवास करते हैं अत: जब उन्होंने वराह की असाधारण ध्वनि सुनी तो वे यह समझ गये कि यह विशेष ध्वनि भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी की नहीं हो सकती। इसलिए उन्होंने वैदिक मंत्रों से भगवान् की प्रार्थना करते हुए उसका उत्तर दिया। यद्यपि पृथ्वी कीचड़ में धँसी हुई थी, किन्तु भगवान् की ध्वनि सुनकर उच्चतर लोकों के निवासी परम हर्षित हुए, क्योंकि वे जान गये कि पृथ्वी का उद्धार करने के लिए भगवान् वहाँ थे। अतएव ब्रह्मा तथा सारे साधुगण यथा भृगु, ब्रह्मा के अन्य पुत्र तथा विद्वान ब्राह्मण जीवन्त हो उठे और उन्होंने मिलकर वैदिक मंत्रों की दिव्य ध्वनि से भगवान् की प्रशंसा करने में उनका साथ दिया। सबसे महत्त्वपूर्ण मंत्र *वृहन्नारदीय पुराण* का मंत्र है—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे।

तेषां सतां वेदवितानमूर्ति-
र्ब्रह्मावधार्यात्मगुणानुवादम् ।
विनद्य भूयो विबुधोदयाय
गजेन्द्रलीलो जलमाविवेश ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उन; सताम्—महान् भक्तों के; वेद—सम्पूर्ण ज्ञान; वितान-मूर्तिः—विस्तार का स्वरूप; ब्रह्म—वैदिक ध्वनि; अवधार्य—इसे ठीक से जानकर; आत्म—अपना; गुण-अनुवादम्—दिव्य गुणगान; विनद्य—प्रतिध्वनित; भूयः—पुनः;

विबुध—विद्वानों के; उदयाय—लाभ या उत्थान् हेतु; गजेन्द्र-लीलः—हाथी के समान क्रीड़ा करते हुए; जलम्—जल में; आविवेश—प्रविष्ट हुआ।.

हाथी के समान क्रीड़ा करते हुए वे महान् भक्तों द्वारा की गई वैदिक स्तुतियों के उत्तर में पुनः गर्जना करके जल में घुस गये। भगवान् वैदिक स्तुतियों के लक्ष्य हैं, अतएव वे समझ गये कि भक्तों की स्तुतियाँ उन्हीं के लिए की जा रही हैं।

तात्पर्य : भगवान् का कोई भी रूप दिव्य तथा ज्ञान एवं करुणा से पूरित होता है। भगवान् समस्त भौतिक कल्मष का विनाश करने वाले हैं, क्योंकि उनका स्वरूप साक्षात् वैदिक ज्ञान है। सारे वेद भगवान् के दिव्य रूप की पूजा करते हैं। वैदिक मंत्रों में भक्तगण भगवान् से चमचमाते तेज को हटाने की प्रार्थना करते हैं, क्योंकि यह उनके असली मुखमंडल को आच्छादित करता है। *ईशोपनिषद्* का यही कथन है। भगवान् के कोई भौतिक रूप नहीं होता, किन्तु उनके स्वरूप को सदैव वेदों के रूप में समझा जाता है। वेदों को भगवान् की साँस कहा गया है और वह साँस वेदों के आदि जिज्ञासु ब्रह्मा ने अपने भीतर खींची थी। ब्रह्मा के नथुने से ली गई साँस से भगवान् शूकर प्रकट हुए, अतएव भगवान् का शूकर अवतार साक्षात् वेद हैं। उच्चलोकों के मुनियों द्वारा अवतार का महिमागान वास्तविक वैदिक मंत्रों से युक्त था। जब भी भगवान् का महिमागान होता है, तो यह समझा जाना चाहिए कि वैदिक मंत्रों का ठीक से उच्चारण किया जा रहा है। अतएव जब वैदिक मंत्रों का उच्चारण हुआ तो भगवान् प्रसन्न हुए और अपने शुद्ध भक्तों को प्रोत्साहित करने के लिए पुनः एक बार उन्होंने गर्जना की और निमग्न पृथ्वी का उद्धार करने के लिए जल में प्रविष्ट हो गये।

उत्क्षिप्तवालः खचरः कठोरः
सटा विधुन्वन्खररोमशत्वक् ।
खुराहताभ्रः सितदंष्ट्र ईक्षा
ज्योतिर्बभासे भगवान्महीध्रः ॥ २७॥

शब्दार्थ

उत्क्षिप्त-वालः—पूँछ फटकारते; ख-चरः—आकाश में; कठोरः—अति कठोर; सटाः—कंधे तक लटकते बाल; विधुन्वन्—हिलाता; खर—तेज; रोमश-त्वक्—रोओं से भरी त्वचा; खुर-आहत—खुरों से टकराया; अभ्रः—बादल; सित-दंष्ट्रः—सफेद दाढ़ें; ईक्षा—चितवन; ज्योतिः—चमकीली; बभासे—तेज निकालने लगा; भगवान्—भगवान्; मही-ध्रः—जगत को धारण करने वाला।.

पृथ्वी का उद्धार करने के लिए जल में प्रवेश करने के पूर्व भगवान् वराह अपनी पूँछ फटकारते तथा अपने कड़े बालों को हिलाते हुए आकाश में उड़े। उनकी चितवन चमकीली थी।

और उन्होंने अपने खुरों तथा चमचमाती सफेद दाढ़ों से आकाश में बादलों को बिखरा दिया।

तात्पर्य : जब भक्तों द्वारा भगवान् की स्तुतियाँ की जाती हैं, तो उनके दिव्य कार्यों का ही वर्णन होता है। भगवान् वराह के कुछ दिव्य गुण यहाँ दिये गये हैं। चूँकि तीनों उच्च लोकों के निवासियों ने भगवान् की स्तुतियाँ कीं, अत: यह समझा जाता है कि उनका शरीर सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक या सत्यलोक से लेकर पूरे आकाश में फैल गया था। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि उनकी आँखें सूर्य तथा चन्द्रमा हैं, अतएव आकाश पर उनकी चितवन सूर्य या चन्द्रमा जितनी चमकीली थी। यहाँ पर भगवान् को *महीध्र:* कहा गया है, जिसका अर्थ है "विशाल पर्व" अथवा "पृथ्वी को धारण करने वाला।" दूसरे शब्दों में, भगवान् का शरीर हिमालय पर्वत जैसा विशाल तथा कठोर था, अन्यथा वे सम्पूर्ण पृथ्वी को अपनी श्वेत दाढ़ों के सहारे किस तरह धारण करते? भगवान् के महान् भक्त कविवर जयदेव ने इस घटना को अवतारों की अपनी स्तुति में इस प्रकार गाया है—

वसति दशनशिखरे धरणी तव लग्ना

शशिनि कलंककलेव निमग्ना

केशव धृत शूकर रूप जय जगदीश हरे॥

"भगवान् केशव (कृष्ण) की जय हो जो शूकर के रूप में प्रकट हुए। पृथ्वी उनकी दाढ़ों के बीच में पकड़ी हुई थी जो चन्द्रमा पर कलंक के निशान जैसी प्रतीत हो रही थी।"

घ्राणेन पृथ्व्याः पदवीं विजिघ्रन्
क्रोडापदेशः स्वयमध्वराङ्गः ।
करालदंष्ट्रोऽप्यकरालदृग्भ्या-
मुद्वीक्ष्य विप्रान्गृणतोऽविशत्कम् ॥ २८॥

शब्दार्थ

घ्राणेन—सूँघने से; पृथ्व्याः—पृथ्वी की; पदवीम्—स्थिति; विजिघ्रन्—पृथ्वी की खोज करते हुए; क्रोड-अपदेशः—सूकर का शरीर धारण किये हुए; स्वयम्—स्वयं; अध्वर—दिव्य; अङ्गः—शरीर; कराल—भयावना; दंष्ट्रः—दाँत (दाढ़ें); अपि—के बावजूद; अकराल—भयावना नहीं; दृग्भ्याम्—अपनी चितवन से; उद्वीक्ष्य—दृष्टि दौड़ाकर; विप्रान्—सारे ब्राह्मण भक्त; गृणतः—स्तुति में लीन; अविशत्—प्रवेश दिया; कम्—जल में।

वे साक्षात् परम प्रभु विष्णु थे, अतएव दिव्य थे, फिर भी सूकर का शरीर होने से उन्होंने पृथ्वी को उसकी गंध से खोज निकाला। उनकी दाढ़ें अत्यन्त भयावनी थीं। उन्होंने स्तुति करने में व्यस्त भक्त-ब्राह्मणों पर अपनी दृष्टि दौड़ाई। इस तरह वे जल में प्रविष्ट हुए।

तात्पर्य : हमें यह सदैव स्मरण रखना होगा कि यद्यपि शूकर का शरीर भौतिक होता है, किन्तु भगवान् का शूकर रूप भौतिकता से कल्मषग्रस्त नहीं था। किसी पार्थिव शूकर के लिए सम्भव नहीं कि वह ऐसा विराट रूप धारण कर सके जो सत्यलोक से लेकर पूरे आकाश में फैला हो। उनका शरीर सभी परिस्थितियों में दिव्य होता है, अतएव शूकर रूप धारण करना उनकी लीला मात्र है। उनका शरीर सम्पूर्ण वेद हैं या दिव्य है। किन्तु क्योंकि उन्होंने शूकर का रूप धारण किया था, अतएव वे शूकर की तरह सूँघ कर पृथ्वी की खोज करने लगे। भगवान् किसी भी जीव की भूमिका पूरी तरह से निभा सकते हैं। शूकर का विराट रूप निश्चय ही समस्त अभक्तों के लिए अतीव भयावना था किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्तों के लिए वह तनिक भी भयावना नहीं था। विपरीत इसके, वे अपने भक्तों पर इतनी प्रसन्नता से दृष्टिपात कर रहे थे कि उन सबों को दिव्य सुख का अनुभव हुआ।

स वज्रकूटाङ्गनिपातवेग-
विशीर्णकुक्षिः स्तनयन्नुदन्वान् ।
उत्सृष्टदीर्घोर्मिभुजैरिवार्त-
श्चुक्रोश यज्ञेश्वर पाहि मेति ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वज्र-कूट-अङ्ग—विशाल पर्वत जैसा शरीर; निपात-वेग—डुबकी लगाने का वेग; विशीर्ण—दो भागों में करते हैं; कुक्षिः—मध्य भाग को; स्तनयन्—के समान गुँजाते; उदन्वान्—समुद्र; उत्सृष्ट—उत्पन्न करके; दीर्घ—ऊँची; ऊर्मि—लहरें; भुजैः—बाँहों से; इव आर्तः—दुखी पुरुष की तरह; चुक्रोश—तेज स्वर से स्तुति की; यज्ञ-ईश्वर—हे समस्त यज्ञों के स्वामी; पाहि—कृपया बचायें; मा—मुझको; इति—इस प्रकार।

दानवाकार पर्वत की भाँति जल में गोता लगाते हुए भगवान् वराह ने समुद्र के मध्यभाग को विभाजित कर दिया और दो ऊँची लहरें समुद्र की भुजाओं की तरह प्रकट हुईं जो उच्च स्वर से आर्तनाद कर रही थीं मानो भगवान् से प्रार्थना कर रही हों, "हे समस्त यज्ञों के स्वामी, कृपया मेरे दो खण्ड न करें। कृपा करके मुझे संरक्षण प्रदान करें।"

तात्पर्य : दिव्य शूकर के पर्वत जैसे शरीर के आ गिरने से महासागर तक विचलित था और वह भयभीत प्रतीत हो रहा था मानो मृत्यु निकट हो।

खुरैः क्षुरप्रैर्दरयंस्तदाप
उत्पारपारं त्रिपरू रसायाम् ।

ददर्श गां तत्र सुषुप्सुरग्रे
यां जीवधानीं स्वयमभ्यधत्त ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

खुरैः—खुरों से; क्षुरप्रैः—तेज हथियार के समान; दरयन्—घुस कर; तत्—वह; आपः—जल; उत्पार-पारम्—असीम् की सीमा पा ली; त्रि-परुः—सभी यज्ञों का स्वामी; रसायाम्—जल के भीतर; ददर्श—पाया; गाम्—पृथ्वी को; तत्र—वहाँ; सुषुप्सुः—लेटे हुए; अग्रे—प्रारम्भ में; याम्—जिसको; जीव-धानीम्—सभी जीवों की विश्राम की स्थली; स्वयम्—स्वयं; अभ्यधत्त—ऊपर उठा लिया।

भगवान् वराह तीरों जैसे नुकीले अपने खुरों से जल में घुस गये और उन्होंने अथाह समुद्र की सीमा पा ली। उन्होंने समस्त जीवों की विश्रामस्थली पृथ्वी को उसी तरह पड़ी देखा जिस तरह वह सृष्टि के प्रारम्भ में थी और उन्होंने उसे स्वयं ऊपर उठा लिया।

तात्पर्य : कभी-कभी *रसायाम्* का अर्थ रसातल अर्थात् निम्नतम लोक निकाला जाता है, किन्तु श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इस प्रसंग में यह लागू नहीं होता। पृथ्वी अन्य लोकों अर्थात् तल, अतल, तलातल, वितल, रसातल, पाताल इत्यादि की अपेक्षा सात गुनी श्रेष्ठ है। अत:पृथ्वी रसातल लोक में स्थित नहीं हो सकती। *विष्णु धर्म* में वर्णन हुआ है कि—

पातालमूलेश्वरभोगसंहतौ

विन्यस्य पादौ पृथिवीं च बिभ्रतः।

यस्योपमानो न बभूव सोऽच्युतो

ममास्तु माङ्गल्यविवृद्धये हरिः॥

अतएव भगवान् ने पृथ्वी को गर्भोदक सागर की पेंदी में पाया जहाँ ब्रह्मा के दिन की समाप्ति पर प्रलय के समय सारे लोक विश्राम करते हैं।

स्वदंष्ट्रयोद्धृत्य महीं निमग्नां
स उत्थितः संरुरुचे रसायाः ।
तत्रापि दैत्यं गदयापतन्तं
सुनाभसन्दीपिततीव्रमन्युः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

स्व-दंष्ट्रया—अपनी ही दाढ़ों से; उद्धृत्य—उठाकर; महीम्—पृथ्वी को; निमग्नाम्—डूबी हुई; सः—उसने; उत्थितः—ऊपर उठाकर; संरुरुचे—अतीव भव्य दिखाई पड़ा; रसायाः—जल से; तत्र—वहाँ; अपि—भी; दैत्यम्—असुर को; गदया—गदा से; आपतन्तम्—उसकी ओर दौड़ाते हुए; सुनाभ—कृष्ण का चक्र; सन्दीपित—चमकता हुआ; तीव्र—भयानक; मन्युः—क्रोध।

भगवान् वराह ने बड़ी ही आसानी से पृथ्वी को अपनी दाढ़ों में ले लिया और वे उसे जल से

बाहर निकाल लाये। इस तरह वे अत्यन्त भव्य लग रहे थे। तब उनका क्रोध सुदर्शन चक्र की तरह चमक रहा था और उन्होंने तुरन्त उस असुर (हिरण्याक्ष) को मार डाला, यद्यपि वह भगवान् से लड़ने का प्रयास कर रहा था।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार वैदिक ग्रन्थों में भगवान् वराह के अवतार का वर्णन दो विभिन्न प्रलयों—चाक्षुष प्रलय तथा स्वायम्भुव प्रलय—में हुआ है। वराह का यह विशेष अवतार वस्तुत: स्वायम्भुव प्रलय में हुआ जब उच्चतर लोकों—जन, महर तथा सत्य—को छोड़ कर शेष सारे लोक प्रलय-जल में डूबे थे। वराह के इस अवतार को उपर्युक्त लोकों के वासियों ने देखा था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती सुझाते हैं कि मुनि मैत्रेय ने विभिन्न प्रलयों के दोनों वराह अवतारों को एक में मिलाकर उनका सारांश रूप विदुर के समक्ष रखा।

जघान रुन्धानमसह्यविक्रमं
स लीलयेभं मृगराडिवाम्भसि ।
तद्रक्तपङ्काङ्कितगण्डतुण्डो
यथा गजेन्द्रो जगतीं विभिन्दन् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

जघान—वध किया; रुन्धानम्—अवरोध उत्पन्न करनेवाला शत्रु; असह्य—असहनीय; विक्रमम्—पराक्रम; सः—उसने; लीलया—सरलतापूर्वक; इभम्—हाथी; मृग-राट्—सिंह; इव—सदृश; अम्भसि—जल में; तत्-रक्त—उसके रक्त का; पङ्क-अङ्कित—कीचड़ से रँगा हुआ; गण्ड—गाल; तुण्डः—जीभ; यथा—मानो; गजेन्द्रः—हाथी; जगतीम्—पृथ्वी को; विभिन्दन्—खोदते हुए।

तत्पश्चात् भगवान् वराह ने उस असुर को जल के भीतर मार डाला जिस तरह एक सिंह हाथी को मारता है। भगवान् के गाल तथा जीभ उस असुर के रक्त से उसी तरह रँगे गये जिस तरह हाथी नीललोहित पृथ्वी को खोदने से लाल हो जाता है।

तमालनीलं सितदन्तकोट्या
क्ष्मामुत्क्षिपन्तं गजलीलयाङ्ग ।
प्रज्ञाय बद्धाञ्जलयोऽनुवाकै-
र्विरिञ्चिमुख्या उपतस्थुरीशम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तमाल—नीला वृक्ष जिसका नाम तमाल है; नीलम्—नीले रंग का; सित—श्वेत; दन्त—दाँत; कोट्या—टेढ़ी कोर वाला; क्ष्माम्—पृथ्वी; उत्क्षिपन्तम्—लटकाये हुए; गज-लीलया—हाथी की तरह क्रीड़ा करता; अङ्ग—हे विदुर; प्रज्ञाय—इसे जान

लेने पर; बद्ध—जोड़े हुए; अञ्जलयः—हाथ; अनुवाकैः—वैदिक मंत्रों से; विरिञ्चि—ब्रह्मा; मुख्याः—इत्यादि; उपतस्थुः—स्तुति की; ईशम्—भगवान् के प्रति।

तब हाथी की तरह क्रीड़ा करते हुए भगवान् ने पृथ्वी को अपने सफेद टेढ़े दाँतों के किनारे पर अटका लिया। उनके शरीर का वर्ण तमाल वृक्ष जैसा नीलाभ हो गया और तब ब्रह्मा इत्यादि ऋषि उन्हें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् समझ सके और उन्होंने सादर नमस्कार किया।

ऋषय ऊचुः

जितं जितं तेऽजित यज्ञभावन
त्रयीं तनुं स्वां परिधुन्वते नमः ।
यद्रोमगर्तेषु निलिल्युरद्धय-
स्तस्मै नमः कारणसूकराय ते ॥ ३४॥

शब्दार्थ

ऋषयः ऊचुः—यशस्वी ऋषि बोल पड़े; जितम्—जय हो; जितम्—जय हो; ते—तुम्हारी; अजित—हे न जीते जा सकने वाले; यज्ञ-भावन—यज्ञ सम्पन्न करने पर जाना जाने वाले; त्रयीम्—साक्षात् वेद; तनुम्—ऐसा शरीर; स्वाम्—अपना; परिधुन्वते—हिलाते हुए; नमः—नमस्कार; यत्—जिसके; रोम—रोएँ; गर्तेषु—छेदों में; निलिल्युः—डूबे हुए; अद्धयः—सागर; तस्मै—उसको; नमः—नमस्कार करते हुए; कारण-सूकराय—सकारण शूकर विग्रह धारण करने वाले; ते—तुमको।

सारे ऋषि अति आदर के साथ बोल पड़े' ' हे समस्त यज्ञों के अजेय भोक्ता, आपकी जय हो, जय हो, आप साक्षात् वेदों के रूप में विचरण कर रहे हैं और आपके शरीर के रोमकूपों में सारे सागर समाये हुए हैं। आपने किन्हीं कारणों से (पृथ्वी का उद्धार करने के लिए) अब सूकर का रूप धारण किया है।

तात्पर्य : भगवान् इच्छानुसार कोई भी रूप धारण कर सकते हैं और सारी परिस्थितियों में वे समस्त कारणों के कारण हैं। चूँकि उनका रूप दिव्य होता है, अत: वे सदैव पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं जैसे कि कारणार्णव में वे महाविष्णु के रूप में रहते हैं। उनके शरीर के रोमकूपों से असंख्य ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं और इस तरह उनका दिव्य शरीर साक्षात् वेद हैं। वे समस्त यज्ञों के भोक्ता हैं और अजेय पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। उनसे मात्र इसलिए भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी रूप का भ्रम नहीं होना चाहिए कि पृथ्वी का उद्धार करने के लिए उन्होंने शूकर रूप धारण किया है। ऋषियों तथा ब्रह्मा जैसे महापुरुष एवं उच्च लोकों के अन्य वासियों की यही स्पष्ट धारणा है।

रूपं तवैतन्ननु दुष्कृतात्मनां

दुर्दर्शनं देव यदध्वरात्मकम् ।
छन्दांसि यस्य त्वचि बर्हिरोम-
स्वाज्यं दृशि त्वङ्घ्रिषु चातुर्होत्रम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

रूपम्—स्वरूप; तव—तुम्हारा; एतत्—यह; ननु—लेकिन; दुष्कृत-आत्मनाम्—दुष्टात्माओं का; दुर्दर्शनम्—देख पाना कठिन; देव—हे प्रभु; यत्—वह; अध्वर-आत्मकम्—यज्ञ सम्पन्न करने के कारण पूजनीय; छन्दांसि—गायत्री तथा अन्य छंद; यस्य—जिसके; त्वचि—त्वचा का स्पर्श; बर्हिः—कुश नामक पवित्र घास; रोमसु—शरीर के रोएँ; आज्यम्—घी; दृशि—आँखों में; तु—भी; अङ्घ्रिषु—चारों पाँवों पर; चातुः-होत्रम्—चार प्रकार के सकाम कर्म।

हे प्रभु, आपका स्वरूप यज्ञ सम्पन्न करके पूजा के योग्य है, किन्तु दुष्टात्माएँ इसे देख पाने में असमर्थ हैं। गायत्री तथा अन्य सारे वैदिक मंत्र आपकी त्वचा के सम्पर्क में हैं। आपके शरीर के रोम कुश हैं, आपकी आँखें घृत हैं और आपके चार पाँव चार प्रकार के सकाम कर्म हैं।

तात्पर्य : दुष्टों का एक वर्ग है, जिसे *भगवद्गीता* में *वेदवादी* कहा गया है, अर्थात् जो वेदों के कट्टर अनुयायी हैं। वे भगवान् के अवतार में विश्वास नहीं करते। पूज्य शूकर के रूप में भगवान् के अवतार के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं। वे भगवान् के विभिन्न रूपों या अवतारों की पूजा को अवतारवाद कहते हैं। *श्रीमद्भागवत* के अनुसार ये व्यक्ति दुष्ट हैं और *भगवद्गीता* (७.१५) में इन्हें न केवल दुष्ट, अपितु मूर्ख तथा मनुष्यों में अधम कहा गया है। और यह भी कहा गया है कि उनका ज्ञान उनके नास्तिकतावादी स्वभाव के कारण मोह द्वारा हरा जा चुका है। ऐसे गर्हित व्यक्तियों के लिए विराट शूकर के रूप में भगवान् का अवतार अदृश्य रहता है। वेदों के कट्टर अनुयायियों को, जो भगवान् के नित्य रूपों का उपहास करते हैं, *श्रीमद्भागवत* से जान लेना चाहिए कि ऐसे अवतार साक्षात् वेदों के रूप हैं। भगवान् वराह की त्वचा, उनकी आँखें तथा उनके शरीर के रोमकूपों का वर्णन यहाँ पर वेदों के विभिन्न अंगों के रूप में हुआ है। अतएव वे वैदिक मंत्रों के, विशेष रूप से गायत्रीमंत्र के, साक्षात् रूप हैं।

स्रक्तुण्ड आसीत्स्रुव ईश नासयो-
रिडोदरे चमसाः कर्णरन्ध्रे ।
प्राशित्रमास्ये ग्रसने ग्रहास्तु ते
यच्चर्वणं ते भगवन्नग्निहोत्रम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

स्रक्—यज्ञ का पात्र; तुण्डे—जीभ पर; आसीत्—है; स्रुवः—यज्ञ का दूसरा पात्र; ईश—हे प्रभु; नासयोः—नथुनों का; इडा—खाने का पात्र; उदरे—पेट में; चमसाः—यज्ञ का अन्य पात्र, चम्मच; कर्ण-रन्ध्रे—कान के छेदों में; प्राशित्रम्—ब्रह्मा नामक

पात्र; आस्ये—मुख में; ग्रसने—गले में; ग्रहाः—सोम पात्र; तु—लेकिन; ते—तुम्हारा; यत्—जो; चर्वणम्—चबाना; ते—तुम्हारा; भगवन्—हे प्रभु; अग्नि-होत्रम्—अपनी यज्ञ-अग्नि के माध्यम से तुम्हारा भोजन है।

हे प्रभु, आपकी जीभ यज्ञ का पात्र (स्रक्) है, आपका नथुना यज्ञ का अन्य पात्र (स्रुवा) है। आपके उदर में यज्ञ का भोजन-पात्र (इडा) है और आपके कानों के छिद्रों में यज्ञ का अन्य पात्र (चमस) है। आपका मुख ब्रह्मा का यज्ञ पात्र (प्राशित्र) है, आपका गला यज्ञ पात्र है, जिसका नाम सोमपात्र है तथा आप जो भी चबाते हैं वह अग्निहोत्र कहलाता है।

तात्पर्य : *वेदवादियों* का कहना है कि वेदों तथा वेदों में वर्णित यज्ञ अनुष्ठानों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उन्होंने हाल ही में अपने दल का यह नियम बनाया है कि प्रतिदिन यज्ञ किया जाय। वे थोड़ी सी आग जलाकर उसमें मनमाने ढंग से कुछ होम करते हैं, किन्तु वेदों में उल्लिखित यज्ञ विषयक विधि-विधानों का कड़ाई से पालन नहीं करते। ऐसा माना जाता है कि विधान के अनुसार यज्ञ के विभिन्न पात्रों की यथा *स्रक्, स्रुवा, बर्हि, चातुर्होत्र, इडा, चमस, प्राशित्र, ग्रह* तथा *अग्निहोत्र* की आवश्यकता होती है। जब तक इन कठिन नियमों का पालन नहीं किया जाता, यज्ञ के फल प्राप्त नहीं हो पाते। इस युग में यज्ञों को सही ढंग से सम्पन्न करने की एक तरह से कोई सुविधा ही नहीं है। अत: इस कलियुग में ऐसे यज्ञों के लिए एक बाध्य आदेश है—यह स्पष्ट निर्देश है कि मनुष्य केवल *संकीर्तन यज्ञ* करे, अन्य कुछ भी नहीं। भगवान् का अवतार यज्ञेश्वर है और जब तक भगवान् के अवतार के लिए आदर भाव न हो तब तक यज्ञ पूर्णरूपेण नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, भगवान् की शरण-ग्रहण करना और उनकी सेवा करना समस्त यज्ञों का वास्तविक अनुष्ठान है जैसाकि यहाँ पर बताया गया है यज्ञ के विभिन्न पात्र भगवान् के अवतार के शरीर के विभिन्न भागों को बताने वाले हैं। *श्रीमद्भागवत* के ग्यारहवें स्कन्ध में इसका स्पष्ट निर्देश है कि श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में भगवान् के अवतार को प्रसन्न करने के लिए मनुष्य को *संकीर्तन यज्ञ* करना चाहिए। यज्ञ का फल पाने के लिए इसका कड़ाई से पालन किया जाना चाहिए।

दीक्षानुजन्मोपसदः शिरोधरं
त्वं प्रायणीयोदयनीयदंष्ट्रः ।
जिह्वा प्रवर्ग्यस्तव शीर्षकं क्रतोः
सत्यावसथ्यं चितयोऽसवो हि ते ॥ ३७॥

शब्दार्थ

दीक्षा—दीक्षा; अनुजन्म—आध्यात्मिक जन्म या बारम्बार अवतार; उपसदः—तीन प्रकार की इच्छाएँ (सम्बन्ध, कर्म तथा चरम लक्ष्य); शिरः-धरम्—गर्दन; त्वम्—तुम; प्रायणीय—दीक्षा के परिणाम के बाद; उदयनीय—इच्छाओं का अन्तिम संस्कार; दंष्ट्रः—दाढ़ें; जिह्वा—जीभ; प्रवर्ग्यः—पहले के कार्य; तव—तुम्हारा; शीर्षकम्—सिर; क्रतोः—यज्ञ का; सत्य—यज्ञ के बिना अग्नि; आवसथ्यम्—पूजा की अग्नि; चितयः—समस्त इच्छाओं का समूह; असवः—प्राणवायु; हि—निश्चय ही; ते—तुम्हारा।

हे प्रभु, इसके साथ ही साथ सभी प्रकार की दीक्षा के लिए आपके बारम्बार प्राकट्य की आकांक्षा भी है। आपकी गर्दन तीनों इच्छाओं का स्थान है और आपकी दाढ़ें दीक्षा-फल तथा सभी इच्छाओं का अन्त हैं, आप की जिव्हा दीक्षा के पूर्व-कार्य हैं, आपका सिर यज्ञ रहित अग्नि तथा पूजा की अग्नि है तथा आप की जीवनी-शक्ति समस्त इच्छाओं का समुच्चय है।

सोमस्तु रेतः सवनान्यवस्थितिः
संस्थाविभेदास्तव देव धातवः ।
सत्राणि सर्वाणि शरीरसन्धि-
स्त्वं सर्वयज्ञक्रतुरिष्टिबन्धनः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

सोमः तु रेतः—आपका वीर्य सोमयज्ञ है; सवनानि—प्रातःकाल के अनुष्ठान; अवस्थितिः—शारीरिक वृद्धि की विभिन्न अवस्थाएँ; संस्था-विभेदाः—यज्ञ के सात प्रकार; तव—तुम्हारा; देव—हे प्रभु; धातवः—शरीर के अवयव यथा त्वचा एवं मांस; सत्राणि—बारह दिनों तक चलने वाले यज्ञ; सर्वाणि—सारे; शरीर—शारीरिक; सन्धिः—जोड़; त्वम्—आप; सर्व—समस्त; यज्ञ—असोम यज्ञ; क्रतुः—सोम यज्ञ; इष्टि—चरम इच्छा; बन्धनः—आसक्ति।

हे प्रभु, आपका वीर्य सोम नामक यज्ञ है। आपकी वृद्धि प्रातःकाल सम्पन्न किये जाने वाले कर्मकाण्डीय अनुष्ठान हैं। आपकी त्वचा तथा स्पर्श अनुभूति अग्निष्टोम यज्ञ के सात तत्त्व हैं। आपके शरीर के जोड़ बारह दिनों तक किये जाने वाले विविध यज्ञों के प्रतीक हैं। अतएव आप सोम तथा असोम नामक सभी यज्ञों के लक्ष्य हैं और आप एकमात्र यज्ञों से बँधे हुए हैं।

तात्पर्य : वैदिक कर्मकाण्ड के अनुयायी सात प्रकार के सामान्य यज्ञ करते हैं, जिन्हें *अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र* तथा *आप्तोर्याम* कहते हैं। जो भी व्यक्ति ऐसे यज्ञों को नियमित रूप से सम्पन्न करता है, वह भगवान् के पास स्थित माना जाता है। किन्तु जो कोई भक्ति योग सम्पन्न करके भगवान् के सम्पर्क में रहता है उसके लिए यह समझा जाता है कि उसने विभिन्न प्रकार के सभी यज्ञ सम्पन्न कर लिए हैं।

नमो नमस्तेऽखिलमन्त्रदेवता-

द्रव्याय सर्वक्रतवे क्रियात्मने ।
वैराग्यभक्त्यात्मजयानुभावित-
ज्ञानाय विद्यागुरवे नमो नमः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

नमः नमः—नमस्कार है; ते—आपको, जो कि आराध्य है; अखिल—सभी सम्मिलित रूप से; मन्त्र—मंत्र; देवता—भगवान्; द्रव्याय—यज्ञ सम्पन्न करने की समस्त सामग्रियों को; सर्व-क्रतवे—सभी प्रकार के यज्ञों को; क्रिया-आत्मने—सभी यज्ञों के परम रूप आपको; वैराग्य—वैराग्य; भक्त्या—भक्ति द्वारा; आत्म-जय-अनुभावित—मन को जीतने पर अनुभूत किए जाने वाले; ज्ञानाय—ऐसे ज्ञान को; विद्या-गुरवे—समस्त ज्ञान के परम गुरु को; नमः नमः—मैं पुनः सादर नमस्कार करता हूँ।

हे प्रभु, आप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं और वैश्विक-प्रार्थनाओं, वैदिक मंत्रों तथा यज्ञ की सामग्री द्वारा पूजनीय हैं। हम आपको नमस्कार करते हैं। आप समस्त दृश्य तथा अदृश्य भौतिक कल्मष से मुक्त शुद्ध मन द्वारा अनुभवगम्य हैं। हम आपको भक्ति-योग के ज्ञान के परम गुरु के रूप में सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : भगवद्भक्ति के लिए योग्यता यह है कि भक्त को समस्त भौतिक कल्मषों तथा इच्छाओं से मुक्त होना चाहिए। यह मुक्तावस्था *वैराग्य* अर्थात् भौतिक इच्छाओं से विरक्ति कहलाती है। जो व्यक्ति विधिविधानों के अनुसार भक्ति में लगा रहता है, वह स्वतः भौतिक इच्छाओं से मुक्त हो जाता है और उस शुद्ध मनोदशा में वह भगवान् की अनुभूति कर सकता है। प्रत्येक के हृदय में स्थित होने से भगवान् भक्त को शुद्धभक्ति के विषय में शिक्षा देते हैं जिससे वह अन्ततः भगवान् की संगति प्राप्त कर सके। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१०.१०) में इस प्रकार हुई है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

"जो व्यक्ति श्रद्धा तथा प्रेम के साथ निरन्तर भगवान् की भक्ति में लगा रहता है उसे अन्त में भगवान् निश्चित रूप से अपने को प्राप्त करने के लिए बुद्धि प्रदान करते हैं।"

मनुष्य को मन जीतना होता है और वह ऐसा वैदिक अनुष्ठानों द्वारा तथा विभिन्न प्रकार के यज्ञ सम्पन्न करके कर सकता है। इन समस्त कार्यों का चरम अन्त भगवान् की भक्ति प्राप्त करना है। भक्ति के बिना भगवान् को नहीं समझा जा सकता। आदि भगवान् या उनके असंख्य विष्णु अंश ही समस्त वैदिक अनुष्ठानों तथा यज्ञों के द्वारा पूजा के एकमात्र लक्ष्य हैं।

दंष्ट्राग्रकोट्या भगवंस्त्वया धृता
विराजते भूधर भूः सभूधरा ।
यथा वनान्निःसरतो दता धृता
मतङ्गजेन्द्रस्य सपत्रपद्मिनी ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

दंष्ट्र-अग्र—दाढ़ के अगले भाग; कोट्या—किनारों के द्वारा; भगवन्—हे भगवान्; त्वया—आपके द्वारा; धृता—धारण किया; विराजते—सुन्दर ढंग से स्थित है; भू-धर—हे पृथ्वी के उठाने वाले; भूः—पृथ्वी; स-भूधरा—पर्वतों सहित; यथा—जिस तरह; वनात्—जल से; निःसरतः—बाहर आते हुए; दता—दाँत से; धृता—पकड़े हुए है; मतम्-गजेन्द्रस्य—क्रुद्ध हाथी; स-पत्र—पत्तियों सहित; पद्मिनी—कमलिनी।

हे पृथ्वी के उठाने वाले, आपने जिस पृथ्वी को पर्वतों समेत उठाया है, वह उसी तरह सुन्दर लग रही है, जिस तरह जल से बाहर आने वाले क्रुद्ध हाथी के द्वारा धारण की गई पत्तियों से युक्त एक कमलिनी।

तात्पर्य : पृथ्वी लोक के भाग्य की सराहना इसलिए की गई है, क्योंकि इसे भगवान् ने विशेष रूप से धारण किया है। इसके सौन्दर्य की प्रशंसा की जा रही है और इसकी तुलना उस कमल के फूल की सुन्दरता से भी की जा रही है, जो हाथी की सूँड़ पर स्थित है। चूँकि कमल का फूल पत्तियों समेत अत्यन्त सुन्दर लगता है उसी तरह यह पृथ्वी अपने अनेक सुन्दर पर्वतों समेत भगवान् वराह की दाढ़ों पर शोभायमान हो रही थी।

त्रयीमयं रूपमिदं च सौकरं
भूमण्डलेनाथ दता धृतेन ते ।
चकास्ति शृङ्गोढघनेन भूयसा
कुलाचलेन्द्रस्य यथैव विभ्रमः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

त्रयी-मयम्—साक्षात् वेद; रूपम्—स्वरूप; इदम्—यह; च—भी; सौकरम्—सूकर का; भू-मण्डलेन—भूलोक द्वारा; अथ—अब; दता—दाढ़ के द्वारा; धृतेन—धारण किया गया; ते—तुम्हारी; चकास्ति—चमक रही है; शृङ्ग-ऊढ—शिखरों द्वारा धारित; घनेन—बादलों द्वारा; भूयसा—अत्यधिक मंडित; कुल-अचल-इन्द्रस्य—विशाल पर्वतों के; यथा—जिस तरह; एव—निश्चय ही; विभ्रमः—अलंकरण।

हे प्रभु, जिस तरह बादलों से अलंकृत होने पर विशाल पर्वतों के शिखर सुन्दर लगने लगते हैं उसी तरह आपका दिव्य शरीर सुन्दर लग रहा है, क्योंकि आप पृथ्वी को अपनी दाढ़ों के सिरे पर उठाये हुए हैं।

तात्पर्य : *विभ्रमः* शब्द सार्थक है। *विभ्रमः* का अर्थ है "भ्रम" तथा "सौन्दर्य।" जब कोई बादल

किसी विशाल पर्वत की चोटी पर विश्राम करता है, तो ऐसा लगता है मानो उसे पर्वत ने उठा रखा हो। साथ ही वह अत्यन्त सुन्दर लगता है। इसी तरह भगवान् को अपनी दाढ़ों पर पृथ्वी धारण करने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु जब वे ऐसा करते हैं, तो संसार उसी तरह सुन्दर लगने लगता है, जिस तरह भगवान् पृथ्वी पर अपने शुद्ध भक्तों के कारण अधिक सुन्दर लगते हैं। यद्यपि भगवान् वैदिक मंत्रों के दिव्य स्वरूप हैं, किन्तु पृथ्वी को धारण करने के कारण वे अत्यधिक सुन्दर लग रहे हैं।

संस्थापयैनां जगतां सतस्थुषां
लोकाय पत्नीमसि मातरं पिता ।
विधेम चास्यै नमसा सह त्वया
यस्यां स्वतेजोऽग्निमिवारणावधाः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

संस्थापय एनाम्—इस पृथ्वी को उठाओ; जगताम्—चर; स-तस्थुषाम्—तथा अचर दोनों; लोकाय—उनके निवास स्थान के लिए; पत्नीम्—पत्नी; असि—हो; मातरम्—माता; पिता—पिता; विधेम—हम अर्पित करते हैं; च—भी; अस्यै—माता को; नमसा—नमस्कार; सह—समेत; त्वया—तुम्हारे साथ; यस्याम्—जिसमें; स्व-तेजः—अपनी शक्ति द्वारा; अग्निम्—अग्नि; इव—सदृश; अरणौ—अरणि काष्ठ में; अधाः—निहित।

हे प्रभु, यह पृथ्वी चर तथा अचर दोनों प्रकार के निवासियों के रहने के लिए आपकी पत्नी है और आप परम पिता हैं। हम उस माता पृथ्वी समेत आपको सादर नमस्कार करते हैं जिसमें आपने अपनी शक्ति स्थापित की है, जिस तरह कोई दक्ष यज्ञकर्ता अरणि काष्ठ में अग्नि स्थापित करता है।

तात्पर्य : तथाकथित गुरुत्वाकर्षण का नियम, जो लोकों को स्थिर रखता है, यहाँ पर उसे भगवान् की शक्ति बतलाया गया है। इस शक्ति को भगवान् ने उसी तरह स्थापित कर रखा है, जिस तरह दक्ष यज्ञकर्त्ता ब्राह्मण वैदिक मंत्रों की शक्ति से अरणि काष्ठ में अग्नि को स्थापित करता है। इस व्यवस्था से यह संसार चर तथा अचर प्राणियों के लिए रहने के योग्य बन जाता है। सारे बद्धजीव, जो कि इस भौतिक जगत के वासी हैं, माता पृथ्वी के गर्भ में उसी प्रकार स्थापित किये जाते हैं जिस तरह पिता द्वारा माता के गर्भ में शिशु का बीज स्थापित किया जाता है। पिता के रूप में भगवान् तथा माता के रूप में पृथ्वी की यह विचारधारा *भगवद्गीता* (१४.४) में विवेचित है। बद्धजीव उस जन्मभूमि के प्रति भक्तिभाव से पूरित रहते हैं जिसमें वे जन्म लेते हैं, किन्तु वे अपने पिता को जानते नहीं। माता सन्तान उत्पन्न करने के मामले में स्वतंत्र नहीं है। इसी तरह भौतिक प्रकृति तब तक जीवित प्राणियों को उत्पन्न

नहीं कर सकती जब तक वह परम पिता परमेश्वर के सम्पर्क में न आये। *श्रीमद्भागवत* हमें परम पिता के साथ साथ माता को नमस्कार करने की शिक्षा देती है, क्योंकि पिता ही समस्त चराचर जीवों के धारण तथा पालन करने के लिए माता को समस्त शक्तियों से गर्भित करता है।

कः श्रद्दधीतान्यतमस्तव प्रभो
रसां गताया भुव उद्विबर्हणम् ।
न विस्मयोऽसौ त्वयि विश्वविस्मये
यो माययेदं ससृजेऽतिविस्मयम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

कः—और कौन; श्रद्दधीत—प्रयास कर सकता है; अन्यतमः—आपके अतिरिक्त अन्य कोई; तव—तुम्हारा; प्रभो—हे प्रभु; रसाम्—जल में; गतायाः—पड़ी हुई; भुवः—पृथ्वी को; उद्विबर्हणम्—उद्धार; न—कभी नहीं; विस्मयः—आश्चर्यमय; असौ—ऐसा कार्य; त्वयि—तुमको; विश्व—विश्व के; विस्मये—आश्चर्यों से पूर्ण; यः—जो; मायया—शक्तियों द्वारा; इदम्—यह; ससृजे—उत्पन्न किया; अतिविस्मयम्—सभी आश्चर्यों से बढ़कर।

हे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, आपके अतिरिक्त ऐसा कौन है, जो जल के भीतर से पृथ्वी का उद्धार कर सकता? किन्तु यह आपके लिए बहुत आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि ब्रह्माण्ड के सृजन में आपने अति अद्भुत कार्य किया है। अपनी शक्ति से आपने इस अद्भुत विराट जगत की सृष्टि की है।

तात्पर्य : जब कोई विज्ञानी मनुष्य अज्ञानी जन समूह के लिए किसी प्रभावशाली वस्तु की खोज करता है, तो सामान्य लोग बिना पूछताछ के ऐसी खोज को आश्चर्यजनक मान लेते हैं। किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति ऐसी खोजों से तनिक भी आश्चर्यचकित नहीं होता। वह उस व्यक्ति को सारा श्रेय प्रदान करता है, जिसने विज्ञानी के अद्भुत मस्तिष्क को बनाया। एक सामान्य व्यक्ति भी भौतिक प्रकृति के अद्भुत कार्य से विस्मित होता है और वह सारा श्रेय विराट जगत को प्रदान करता है। किन्तु एक विद्वान कृष्णभावनाभावित व्यक्ति यह भली-भाँति जानता रहता है कि विराट जगत के पीछे कृष्ण का मस्तिष्क कार्य करता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.१०) में हुई है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।* चूँकि कृष्ण अद्भुत विराट जगत का संचालन कर सकते हैं, अतएव उनके लिए वराह का विराट रूप धारण करना और फिर पृथ्वी को जल के कीचड़ से निकालना तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं है। इसीलिए भक्त अद्भुत शूकर को देखकर चकित नहीं होता, क्योंकि वह जानता रहता है कि भगवान् में अपनी शक्तियों के द्वारा कहीं अधिक आश्चर्यजनक कार्य जो बड़े से बड़े विद्वान विज्ञानी के मस्तिष्क के

लिए अचिन्त्य हैं, करने की क्षमता है।

विधुन्वता वेदमयं निजं वपु-
र्जनस्तपःसत्यनिवासिनो वयम् ।
सटाशिखोद्धूतशिवाम्बुबिन्दुभि-
र्विमृज्यमाना भृशमीश पाविताः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

विधुन्वता—हिलाते हुए; वेद-मयम्—साक्षात् वेद; निजम्—अपना; वपुः—शरीर; जनः—जनलोक; तपः—तपोलोक; सत्य—सत्यलोक; निवासिनः—निवासी; वयम्—हम; सटा—कन्धे तक लटकते बाल; शिख-उद्धूत—चोटी (शिखा) के द्वारा धारण किया हुआ; शिव—शुभ; अम्बु—जल; बिन्दुभिः—कणों के द्वारा; विमृज्यमानाः—छिड़के जाते हुए हम; भृशम्—अत्यधिक; ईश—हे परमेश्वर; पाविताः—पवित्र किये गये।

हे परमेश्वर, निस्सन्देह, हम जन, तप तथा सत्य लोकों जैसे अतीव पवित्र लोकों के निवासी हैं फिर भी हम आपके शरीर के हिलने से आपके कंधों तक लटकते बालों के द्वारा छिड़के गए जल की बूँदों से शुद्ध बन गये हैं।

तात्पर्य : सामान्यतया शूकर का शरीर अशुद्ध माना जाता है, किन्तु हमें यह नहीं मानना चाहिए कि भगवान् द्वारा धारण किया हुआ शूकर अवतार भी अशुद्ध है। भगवान् का वह रूप साक्षात् वेद हैं और दिव्य है। जन, तप तथा सत्य लोकों के निवासी भौतिक विश्व के सर्वाधिक पवित्र व्यक्ति हैं, किन्तु क्योंकि ये लोक भी भौतिक जगत में स्थित हैं, अतएव उनमें भी अनेकानेक भौतिक अशुद्धियाँ हैं। इसलिए जब भगवान् के कन्धों तक लटके हुए बालों के अग्रभागों से जल की बूँदें इन उच्चलोकों के निवासियों के शरीरों पर छिडकी गईं तो वे अपने को शुद्ध हुआ अनुभव कर रहे थे। गंगा का जल इसलिए शुद्ध है क्योंकि यह भगवान् के पाँव के अँगूठे से निकलता है और अँगूठे से निकलने वाले जल तथा भगवान् वराह के कन्धों तक लटकते बालों की छोरों से टपकने वाले जल में कोई अन्तर नहीं हैं। दोनों ही परम और दिव्य हैं।

स वै बत भ्रष्टमतिस्तवैषते
यः कर्मणां पारमपारकर्मणः ।
यद्योगमायागुणयोगमोहितं
विश्वं समस्तं भगवन्विधेहि शम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निश्चय ही; बत—हाय; भ्रष्ट-मतिः—मतिभ्रष्ट, मूर्ख; तव—तुम्हारी; एषते—इच्छाएँ; यः—जो; कर्मणाम्—कर्मों का; पारम्—सीमा; अपार-कर्मणः—असीम कर्मों वाले का; यत्—जिससे; योग—योगशक्ति; माया—शक्ति; गुण—भौतिक प्रकृति के गुण; योग—योग शक्ति; मोहितम्—मोहग्रस्त; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; समस्तम्—सम्पूर्ण; भगवन्—हे भगवान्; विधेहि—वर दें; शम्—सौभाग्य।

हे प्रभु, आपके अद्भुत कार्यों की कोई सीमा नहीं है। जो भी व्यक्ति आपके कार्यों की सीमा जानना चाहता है, वह निश्चय ही मतिभ्रष्ट है। इस जगत में हर व्यक्ति प्रबल योगशक्तियों से बँधा हुआ है। कृपया इन बद्धजीवों को अपनी अहैतुकी कृपा प्रदान करें।

तात्पर्य : मनोधर्मी चिन्तक (ज्ञानी), जो असीम की सीमा जानना चाहते हैं निश्चय ही, मतिभ्रष्ट हैं। इनमें से हर एक भगवान् की बहिरंगा शक्तियों द्वारा पाशबद्ध है। उनके लिए सबसे अच्छी बात यह है कि वे भगवान् को अचिन्त्य जानकर उनकी शरण में जाँय, क्योंकि उन्हें इस तरह उनकी अहैतुकी कृपा प्राप्त हो सकती है। यह स्तुति उच्चतर लोकों अर्थात् जन, तप तथा सत्य लोकों के निवासियों द्वारा की गई जो मनुष्यों की अपेक्षा कहीं अधिक बुद्धिमान तथा शक्तिशाली होते हैं।

यहाँ पर *विश्वं समस्तम्* अत्यन्त सार्थक है। लोक दो तरह के हैं—भौतिक तथा आध्यात्मिक। मुनिगण प्रार्थना करते हैं "दोनों लोक आपकी विभिन्न शक्तियों द्वारा मोहित हैं। जो लोग आध्यात्मिक जगत में हैं, वे अपने को तथा आपको भी भुलाकर आपकी प्रेमाभक्ति में लीन रहते हैं, जबकि भौतिक जगत के लोग इन्द्रियतृप्ति में डूबे रहते हैं, अतएव वे भी आपको भुला देते हैं। कोई भी आपको नहीं जान सकता, क्योंकि आप असीम हैं। सबसे उत्तम यही है कि व्यर्थ के मानसिक चिन्तन द्वारा आपको जानने का प्रयास ही न किया जाय प्रत्युत आप हम सबों को आशीर्वाद दें जिससे हम अहैतुकी भक्ति से आपकी पूजा कर सकें।"

मैत्रेय उवाच

इत्युपस्थीयमानोऽसौ मुनिभिर्ब्रह्मवादिभिः ।
सलिले स्वखुराक्रान्त उपाधत्ताविताविनिम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; इति—इस प्रकार; उपस्थीयमानः—प्रशंसित होकर; असौ—भगवान् वराह; मुनिभिः—मुनियों द्वारा; ब्रह्म-वादिभिः—अध्यात्मवादियों द्वारा; सलिले—जल में; स्व-खुर-आक्रान्ते—अपने ही खुरों से स्पर्श हुआ; उपाधत्त—रखा; अविता—पालनकर्ता; अवनिम्—पृथ्वी को।

मैत्रेय मुनि ने कहा : इस तरह समस्त महर्षियों तथा दिव्यात्माओं के द्वारा पूजित होकर भगवान् ने अपने खुरों से पृथ्वी का स्पर्श किया और उसे जल पर रख दिया।

तात्पर्य : भगवान् ने अपनी अचिन्त्य शक्ति से पृथ्वी को जल के ऊपर रखा था। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं, अतएव वे विशाल लोकों को चाहें तो जल पर या वायु में स्थिर कर सकते हैं। मनुष्य का लघु मस्तिष्क इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता कि भगवान् की ये शक्तियाँ किस तरह कार्य करती हैं। मनुष्य उन नियमों की अस्पष्ट सी व्याख्या कर सकता है जिनसे ऐसी घटनाएँ सम्भव होती हैं, किन्तु वास्तव में लघु मानव मस्तिष्क भगवान् के कार्यों के विषय में कल्पना कर सकने में अशक्त है, इसीलिए वे अचिन्त्य कहलाते हैं। किन्तु तो भी कूपमंडूक दार्शनिक कुछ काल्पनिक व्याख्या करने का प्रयास करते हैं।

स इत्थं भगवानुर्वीं विष्वक्सेनः प्रजापतिः ।
रसाया लीलयोन्नीतामप्सु न्यस्य ययौ हरिः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; इत्थम्—इस तरह से; भगवान्—भगवान्; उर्वीम्—पृथ्वी को; विष्वक्सेनः—विष्णु का अन्य नाम; प्रजा-पतिः—जीवों के स्वामी; रसायाः—जल के भीतर से; लीलया—आसानी से; उन्नीताम्—उठाया हुआ; अप्सु—जल में; न्यस्य—रखकर; ययौ—अपने धाम लौट गये; हरिः—भगवान्।

इस प्रकार से समस्त जीवों के पालनहार भगवान् विष्णु ने पृथ्वी को जल के भीतर से उठाया और उसे जल के ऊपर तैराते हुए रखकर वे अपने धाम को लौट गये।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु विशिष्ट प्रयोजनों के लिए अपने असंख्य अवतारों में अपनी इच्छा से भौतिक लोकों में अवतरित होते हैं और पुनः अपने धाम को चले जाते हैं। जब वे अवतरित होते हैं, तो वे *अवतार* कहलाते हैं, क्योंकि *अवतार* का अर्थ है "अवतरित होने वाला।" न तो स्वयं भगवान्, न ही उनके विशिष्ट भक्त जो इस पृथ्वी पर आते हैं, हम जैसे सामान्य जीव होते हैं।

य एवमेतां हरिमेधसो हरेः
कथां सुभद्रां कथनीयमायिनः ।
शृण्वीत भक्त्या श्रवयेत वोशतीं
जनार्दनोऽस्याशु हृदि प्रसीदति ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; एवम्—इस प्रकार; एताम्—यह; हरि-मेधसः—भक्त के भौतिक शरीर को विनष्ट करनेवाला; हरेः—भगवान् की; कथाम्—कथा; सु-भद्राम्—मंगलकारी; कथनीय—कहने योग्य; मायिनः—उनकी अन्तरंगा शक्ति द्वारा कृपालु का; शृण्वीत—सुनता है; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; श्रवयेत—अन्यों को भी सुनाता है; वा—अथवा; उशतीम्—अत्यन्त सुहावना; जनार्दनः—भगवान्; अस्य—उसका; आशु—तुरन्त; हृदि—हृदय के भीतर; प्रसीदति—प्रसन्न हो जाता है।

यदि कोई व्यक्ति भगवान् वराह की इस शुभ एवं वर्णनीय कथा को भक्तिभाव से सुनता है अथवा सुनाता है, तो हर एक के हृदय के भीतर स्थित भगवान् अत्यधिक प्रसन्न होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् अपने विविध अवतारों में प्रकट होते हैं, कार्य करते हैं और अपने पीछे वर्णनात्मक इतिहास छोड़ जाते हैं, जो स्वयं भगवान् जितना ही दिव्य है। हममें से हर व्यक्ति कोई न कोई अद्भुत कथा सुनने का इच्छुक रहता है, किन्तु अधिकांश कथाएँ न तो मंगलप्रद होती हैं न सुनने के लायक, क्योंकि वे भौतिक प्रकृति की निम्न गुण वाली हैं। प्रत्येक जीव उत्कृष्ट गुण का अर्थात् आत्मा है और कोई भी भौतिक वस्तु उसके लिए शुभ नहीं हो सकती। इसलिए बुद्धिमान लोगों को भगवान् की विवरणात्मक दृष्टान्त स्वयं सुनने चाहिए और अन्यों को भी सुनने के लिए बाध्य करना चाहिए, क्योंकि इससे संसार का ताप विनष्ट होगा। भगवान् एकमात्र अपनी अहैतुकी कृपा से इस पृथ्वी पर आते हैं और अपने कृपामय कार्यकलापों को पीछे छोड़ते जाते हैं जिससे कि भक्तगण दिव्य लाभ उठा सकें।

तस्मिन्प्रसन्ने सकलाशिषां प्रभौ
किं दुर्लभं ताभिरलं लवात्मभिः ।
अनन्यदृष्ट्या भजतां गुहाशयः
स्वयं विधत्ते स्वगतिं परः पराम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उन; प्रसन्ने—प्रसन्न होने पर; सकल-आशिषाम्—सारे आशीर्वादों का; प्रभौ—भगवान् को; किम्—वह क्या है; दुर्लभम्—प्राप्त कर सकना अतीव कठिन; ताभिः—उनके साथ; अलम्—दूर; लव-आत्मभिः—क्षुद्र लाभ सहित; अनन्य-दृष्ट्या—अन्य कुछ से नहीं अपितु भक्ति से; भजताम्—भक्ति में लगे हुओं का; गुहा-आशयः—हृदय के भीतर निवास करने वाले; स्वयम्—स्वयं; विधत्ते—सम्पन्न करता है; स्व-गतिम्—अपने धाम में; परः—परम; पराम्—दिव्य।

जब पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् किसी पर प्रसन्न होते हैं, तो उसके लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं रहता। दिव्य उपलब्धि के द्वारा मनुष्य अन्य प्रत्येक वस्तु को नगण्य मानता है। जो व्यक्ति दिव्य प्रेमाभक्ति में अपने को लगाता है, वह हर व्यक्ति के हृदय में स्थित भगवान् के द्वारा सर्वोच्च सिद्धावस्था तक ऊपर उठा दिया जाता है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.१०) में कहा गया है, भगवान् शुद्ध भक्तों को बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वे सर्वोच्च सिद्धि-अवस्था तक ऊपर उठाये जा सकें। यहाँ पर इस बात की पुष्टि की गई है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की प्रेमाभक्ति में निरन्तर लगे रहने वाले शुद्ध भक्त को वह समस्त

ज्ञान प्रदान किया जाता है, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तक पहुँचने के लिए आवश्यक है। ऐसे भक्त के लिए भगवान् की सेवा के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त किया जाना मूल्यवान नहीं है। यदि कोई व्यक्ति श्रद्धापूर्वक सेवा करता है, तो निराशा की कोई सम्भावना नहीं रहती, क्योंकि भक्त की प्रगति का भार स्वयं भगवान् ले लेते हैं। भगवान् हर एक के हृदय में आसीन हैं और वे भक्त के मन्तव्य को जानते हैं तथा उपलब्ध हो सकने वाली हर वस्तु की व्यवस्था करते हैं। दूसरे शब्दों में, छद्म भक्त, जो कि भौतिक लाभ पाने के लिए उत्सुक रहता है सर्वोच्च सिद्धि-अवस्था इसलिए प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि भगवान् को उसके गन्तव्य की जानकारी रहती है। मनुष्य को अपने उद्देश्य में केवल निष्ठावान बनने की आवश्यकता है। फिर तो भगवान् सभी तरह से उसकी सहायता करने के लिए वहाँ पर मौजूद रहते हैं।

को नाम लोके पुरुषार्थसारवित्
पुराकथानां भगवत्कथासुधाम् ।
आपीय कर्णाञ्जलिभिर्भवापहा-
महो विरज्येत विना नरेतरम् ॥५०॥

शब्दार्थ

कः—कौन; नाम—निस्सन्देह; लोके—संसार में; पुरुष-अर्थ—जीवन-लक्ष्य; सार-वित्—सार को जानने वाला; पुरा-कथानाम्—सारे विगत इतिहासों में; भगवत्—भगवान् विषयक; कथा-सुधाम्—भगवान् विषयक कथाओं का अमृत; आपीय—पीकर; कर्ण-अञ्जलिभिः—कानों के द्वारा ग्रहण करके; भव-अपहाम्—सारे भौतिक तापों को नष्ट करने वाला; अहो—हाय; विरज्येत—मना कर सकता है; विना—बिना; नर-इतरम्—मनुष्येतर प्राणी।. बेइन्ग्.

मनुष्य के अतिरिक्त ऐसा प्राणी कौन है, जो इस जगत में विद्यमान हो और जीवन के चरम लक्ष्य के प्रति रुचि न रखता हो? भला कौन ऐसा है, जो भगवान् के कार्यों से सम्बन्धित उन कथाओं के अमृत से मुख मोड़ सके जो मनुष्य को समस्त भौतिक तापों से उबार सकती हैं?

तात्पर्य : भगवान् के कार्यों की कथा अमृत के सतत प्रवाह के तुल्य है। ऐसे अमृत को पीने से इनकार वही कर सकता है, जो मनुष्य नहीं है। हर मनुष्य के लिए भगवद्भक्ति जीव का सर्वोच्च लक्ष्य है और ऐसा भक्तियोग भगवान् के दिव्य कार्यों को श्रवण करने से शुरू होता है। केवल कोई पशु या ऐसा मनुष्य जो आचरण में पशुप्राय है, भगवान् का सन्देश सुनने में रुचि लेने से इनकार करेगा। संसार में कथाओं तथा इतिहासों के अनेक ग्रन्थ हैं, किन्तु भगवान् की कथाओं के इतिहासों या कथाओं को छोड़कर उनमें से कोई भी भवताप के भार को कम करने में समर्थ नहीं है। अतएव जो व्यक्ति भौतिक

जीवन का निराकरण करना चाहता है उसे भगवान् के दिव्य कार्यों के विषय में कीर्तन तथा श्रवण करना चाहिए। अन्यथा उस मनुष्य की तुलना अमनुष्यों से की जानी चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''वराह भगवान् का प्राकट्य'' नामक तेरहवें अध्याय के भक्ति वेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौदह

संध्या समय दिति का गर्भ-धारण

श्रीशुक उवाच
निशम्य कौषारविणोपवर्णितां
हरेः कथां कारणसूकरात्मनः ।
पुनः स पप्रच्छ तमुद्यताञ्जलि-
र्न चातितृप्तो विदुरो धृतव्रतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; निशम्य—सुनकर; कौषारविणा—मैत्रेय मुनि द्वारा; उपवर्णिताम्—वर्णित; हरेः—भगवान् की; कथाम्—कथा; कारण—पृथ्वी उठाने के कारण; सूकर-आत्मनः—सूकर अवतार; पुनः—फिर; सः—उसने; पप्रच्छ—पूछा; तम्—उस (मैत्रेय) से; उद्यत-अञ्जलिः—हाथ जोड़े हुए; न—कभी नहीं; च—भी; अति-तृप्तः—अत्यधिक तुष्ट; विदुरः—विदुर; धृत-व्रतः—व्रत लिए हुए।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : महर्षि मैत्रेय से वराह रूप में भगवान् के अवतार के विषय में सुनकर दृढ़संकल्प विदुर ने हाथ जोड़कर उनसे भगवान् के अगले दिव्य कार्यों के विषय में सुनाने की प्रार्थना की, क्योंकि वे (विदुर) अब भी तुष्ट अनुभव नहीं कर रहे थे।

विदुर उवाच
तेनैव तु मुनिश्रेष्ठ हरिणा यज्ञमूर्तिना ।
आदिदैत्यो हिरण्याक्षो हत इत्यनुशुश्रुम ॥ २ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—श्री विदुर ने कहा; तेन—उसके द्वारा; एव—निश्चय ही; तु—लेकिन; मुनि-श्रेष्ठ—हे मुनियों में श्रेष्ठ; हरिणा—भगवान् द्वारा; यज्ञ-मूर्तिना—यज्ञ का स्वरूप; आदि—मूल; दैत्यः—असुर; हिरण्याक्षः—हिरण्याक्ष नामक; हतः—मारा गया; इति—इस प्रकार; अनुशुश्रुम—उसी क्रम में सुना है।

श्री विदुर ने कहा : हे मुनिश्रेष्ठ, मैंने शिष्य-परम्परा से यह सुना है कि आदि असुर हिरण्याक्ष उन्हीं यज्ञ रूप भगवान् (वराह) द्वारा मारा गया था।

तात्पर्य : जैसाकि पहले कहा जा चुका है, वराह अवतार दो कल्पों में प्रकट हुआ था—स्वायम्भुव कल्प तथा चाक्षुष कल्प। दोनों ही कल्पों में भगवान् का वराह अवतार हुआ था, किन्तु स्वायम्भुव कल्प में उन्होंने ब्रह्माण्ड के जल के भीतर से पृथ्वी को ऊपर उठाया था जबकि चाक्षुष कल्प में उन्होंने प्रथम असुर हिरण्याक्ष का वध किया था। स्वायम्भुव कल्प में उन्होंने श्वेत रंग धारण किया था और चाक्षुष कल्प में लाल। विदुर ने पहले ही इनमें से एक के विषय में सुन रखा था और अब वे दूसरे के

विषय में सुनने का प्रस्ताव कर रहे थे। ये दोनों भिन्न-भिन्न वर्णित अवतार एक ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं।

तस्य चोद्धरतः क्षौणीं स्वदंष्ट्राग्रेण लीलया ।
दैत्यराजस्य च ब्रह्मन्कस्माद्धेतोरभून्मृधः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; च—भी; उद्धरतः—उठाते हुए; क्षौणीम्—पृथ्वी लोक को; स्व-दंष्ट्र-अग्रेण—अपनी दाढ़ के सिरे से; लीलया—अपनी लीला में; दैत्य-राजस्य—दैत्यों के राजा का; च—तथा; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; कस्मात्—किस; हेतोः—कारण से; अभूत्—हुआ; मृधः—युद्ध।

हे ब्राह्मण, जब भगवान् अपनी लीला के रूप में पृथ्वी ऊपर उठा रहे थे, तब उस असुरराज तथा भगवान् वराह के बीच, युद्ध का क्या कारण था?

श्रद्दधानाय भक्ताय ब्रूहि तज्जन्मविस्तरम् ।
ऋषे न तृप्यति मनः परं कौतूहलं हि मे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

श्रद्दधानाय—श्रद्धावान पुरुष के लिए; भक्ताय—भक्त के लिए; ब्रूहि—कृपया बतलाएँ; तत्—उसका; जन्म—आविर्भाव; विस्तरम्—विस्तार से; ऋषे—हे ऋषि; न—नहीं; तृप्यति—सन्तुष्ट होता है; मनः—मन; परम्—अत्यधिक; कौतूहलम्—जिज्ञासु; हि—निश्चय ही; मे—मेरा।

मेरा मन अत्यधिक जिज्ञासु बन चुका है, अतएव भगवान् के आविर्भाव की कथा सुन कर मुझे तुष्टि नहीं हो रही है। इसलिए आप इस श्रद्धावान् भक्त से और अधिक कहें।

तात्पर्य : जो वास्तव में श्रद्धावान् तथा जिज्ञासु होता है, वही भगवान् के आविर्भाव तथा तिरोभाव की दिव्य लीलाएँ सुनने के लिए सुपात्र है। विदुर ऐसे दिव्य सन्देशों को ग्रहण करने के उपयुक्त पात्र थे।

मैत्रेय उवाच
साधु वीर त्वया पृष्टमवतारकथां हरेः ।
यत्त्वं पृच्छसि मर्त्यानां मृत्युपाशविशातनीम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; साधु—भक्त; वीर—हे योद्धा; त्वया—तुम्हारे द्वारा; पृष्टम्—पूछी गयी; अवतार-कथाम्—अवतार की कथाएँ; हरेः—भगवान् की; यत्—जो; त्वम्—तुम स्वयं; पृच्छसि—मुझसे पूछ रहे हो; मर्त्यानाम्—मर्त्यों के; मृत्यु-पाश—जन्म-मृत्यु की शृंखला; विशातनीम्—मोक्ष का स्रोत।

महर्षि मैत्रेय ने कहा : हे योद्धा, तुम्हारे द्वारा की गई जिज्ञासा एक भक्त के अनुरूप है,

क्योंकि इसका सम्बन्ध भगवान् के अवतार से है। वे मर्त्यों को जन्म-मृत्यु की शृंखला से मोक्ष दिलाने वाले हैं।

तात्पर्य : महर्षि मैत्रेय ने विदुर को योद्धा के रूप में सम्बोधित किया, क्योंकि वे न केवल कुरुवंश से सम्बन्धित थे, अपितु वराह तथा नृसिंह अवतारों में भगवान् के वीरतापूर्ण कार्यों के विषय में सुनने के लिए उत्सुक थे। चूँकि ये जिज्ञासाएँ भगवान् के विषय में थीं इसलिए ये एक भक्त के सर्वथा अनुकूल थीं। भक्त को अन्य किसी संसारी कथा सुनने में कोई रुचि नहीं रहती। वैसे संसारी युद्ध की अनेक कथाएँ हैं, किन्तु भक्त इन्हें सुनने के लिए उन्मुख नहीं होता। भगवान् जिन युद्धकथाओं में भाग लेते हैं उनमें मृत्यु का युद्ध नहीं रहता, अपितु मायापाश के विरुद्ध युद्ध होता है, जिसके कारण मनुष्य को बारम्बार जन्म तथा मृत्यु स्वीकार करनी पड़ती है। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति भगवान् की युद्धकथाओं के सुनने में आनन्द प्राप्त करता है, वह जन्म-मृत्यु के पाश से मुक्त हो जाता है। मूर्ख लोग कुरुक्षेत्र के युद्ध में कृष्ण के सम्मिलित होने के विषय में सन्देह करते हैं, क्योंकि वे यह नहीं जानते कि उनके भाग लेने से उन लोगों की मुक्ति सुनिश्चित हो गई थी जो युद्धभूमि में उपस्थित थे। भीष्मदेव ने कहा है कि कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में उपस्थित सारे लोगों को मृत्यु के बाद उन्हें अपने मूल आध्यात्मिक शरीर प्राप्त हो गये। अतएव भगवान् की युद्धकथाओं का सुनना अन्य किसी भक्ति के ही समान है।

ययोत्तानपदः पुत्रो मुनिना गीतयार्भकः ।
मृत्योः कृत्वैव मूर्ध्न्यङ्घ्रिमारुरोह हरेः पदम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ययाि—जिससे; उत्तानपदः—राजा उत्तानपाद; पुत्रः—पुत्र; मुनिना—मुनि द्वारा; गीतया—गाया जाकर; अर्भकः—शिशु; मृत्योः—मृत्यु का; कृत्वा—रखते हुए; एव—निश्चय ही; मूर्ध्नि—सिर पर; अङ्घ्रिम्—पाँव; आरुरोह—चढ़ गया; हरेः—भगवान् के; पदम्—धाम तक।

इन कथाओं को मुनि (नारद) से सुनकर राजा उत्तानपाद का पुत्र (ध्रुव) भगवान् के विषय में प्रबुद्ध हो सका और मृत्यु के सिर पर पाँव रखते हुए वह भगवान् के धाम पहुँच गया।

तात्पर्य : अपना शरीर त्याग करते समय राजा उत्तानपाद के पुत्र महाराज ध्रुव के पास सुनन्द तथा अन्य पुरुष आये जिन्होंने भगवद्धाम में उनका स्वागत किया। उन्होंने अल्पायु में, जब वे बालक ही थे,

इस संसार को त्याग दिया था, यद्यपि उन्होंने अपने पिता का सिंहासन प्राप्त कर लिया था और उनके अपने कई पुत्र भी थे। चूँकि उन्हें इस संसार को छोड़ना था, इसलिए मृत्यु उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। किन्तु उन्होंने मृत्यु की परवाह नहीं की और वे उसी शरीर सहित एक आध्यात्मिक विमान पर आरूढ़ होकर उन महर्षि नारद की संगति के कारण सीधे विष्णुलोक पहुँचे जिन्होंने उन्हें भगवान् की लीलाएँ सुनाई थीं।

अथात्रापीतिहासोऽयं श्रुतो मे वर्णितः पुरा ।
ब्रह्मणा देवदेवेन देवानामनुपृच्छताम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

अथ—अब; अत्र—इस विषय में; अपि—भी; इतिहासः—इतिहास; अयम्—यह; श्रुतः—सुना हुआ; मे—मेरे द्वारा; वर्णितः—वर्णित; पुरा—वर्षों बीते; ब्रह्मणा—ब्रह्मा द्वारा; देव-देवेन—देवताओं में अग्रणी; देवानाम्—देवताओं द्वारा; अनुपृच्छताम्—पूछने पर।

वराह रूप भगवान् तथा हिरण्याक्ष असुर के मध्य युद्ध का यह इतिहास मैंने बहुत वर्षों पूर्व तब सुना था जब यह देवताओं के अग्रणी ब्रह्मा द्वारा अन्य देवताओं के पूछे जाने पर वर्णन किया गया था।

दितिर्दाक्षायणी क्षत्तर्मारीचं कश्यपं पतिम् ।
अपत्यकामा चकमे सन्ध्यायां हृच्छयार्दिता ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

दितिः—दिति; दाक्षायणी—दक्ष कन्या; क्षत्तः—हे विदुर; मारीचम्—मरीचि का पुत्र; कश्यपम्—कश्यप से; पतिम्—अपने पति; अपत्य-कामा—सन्तान की इच्छुक; चकमे—इच्छा की; सन्ध्यायाम्—सायंकाल; हृत्-शय—यौन इच्छा से; अर्दिता—पीड़ित।

दक्ष-कन्या दिति ने कामेच्छा से पीड़ित होकर संध्या के समय अपने पति मरीचि पुत्र कश्यप से सन्तान उत्पन्न करने के उद्देश्य से संभोग करने के लिए प्रार्थना की।

इष्ट्वाग्निजिह्वं पयसा पुरुषं यजुषां पतिम् ।
निम्लोचत्यर्क आसीनमग्न्यगारे समाहितम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

इष्ट्वा—पूजा करके; अग्नि—अग्नि; जिह्वम्—जीभ को; पयसा—आहुति से; पुरुषम्—परम पुरुष को; यजुषाम्—समस्त यज्ञों के; पतिम्—स्वामी; निम्लोचति—अस्त होते हुए; अर्के—सूर्य; आसीनम्—बैठे हुए; अग्नि-अगारे—यज्ञशाला में; समाहितम्—पूर्णतया समाधि में।

सूर्य अस्त हो रहा था और मुनि भगवान् विष्णु को, जिनकी जीभ यज्ञ की अग्नि है, आहुति देने के बाद समाधि में आसीन थे।

तात्पर्य : अग्नि को भगवान् विष्णु की जीभ माना जाता है और अग्नि में अन्न तथा घी की जो आहुतियाँ डाली जाती हैं, वे उनके द्वारा स्वीकार की जाती हैं। यह उन सभी यज्ञों का नियम है जिनके स्वामी भगवान् विष्णु हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् विष्णु की तुष्टि में सारे देवताओं तथा अन्य जीवों की तुष्टि सम्मिलित रहती है।

दितिरुवाच
एष मां त्वत्कृते विद्वन्काम आत्तशरासनः ।
दुनोति दीनां विक्रम्य रम्भामिव मतङ्गजः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

दितिः उवाच—सुन्दरी दिति ने कहा; एषः—ये सब; माम्—मुझको; त्वत्-कृते—आपके लिए; विद्वन्—हे विद्वान; कामः—कामदेव; आत्त-शरासनः—अपने तीर लेकर; दुनोति—पीड़ित करता है; दीनाम्—मुझ दीना को; विक्रम्य—आक्रमण करके; रम्भाम्—केले के वृक्ष पर; इव—सदृश; मतम्-गजः—उन्मत्त हाथी।

उस स्थान पर सुन्दरी दिति ने अपनी इच्छा व्यक्त की : हे विद्वान, कामदेव अपने तीर लेकर मुझे बलपूर्वक उसी तरह सता रहा है, जिस तरह उन्मत्त हाथी एक केले के वृक्ष को झकझोरता है।

तात्पर्य : अपने पति को समाधिस्थ देखकर सुन्दरी दिति ने जोर जोर से बोलना शुरु किया। उसने अपने शारीरिक हावभाव से उन्हें आकृष्ट करने का प्रयास नहीं किया। उसने खुलकर कहा कि उसके पति की उपस्थिति के कारण उसका सारा शरीर कामेच्छा से उसी तरह पीड़ित हो रहा है, जिस तरह उन्मत्त हाथी द्वारा केले का वृक्ष झकझोरा जाता है। यद्यपि समाधि में लीन पति को चलायमान करना उसे स्वाभाविक नहीं लगा, किन्तु वह अपनी प्रबल काम-क्षुधा को रोक नहीं पाई। उसकी कामेच्छा उन्मत्त हाथी के समान थी, अतएव उसके पति का यह पहला कर्तव्य था कि उसकी इच्छा पूरी करके उसे सभी तरह का संरक्षण प्रदान करे।

तद्भवान्दह्यमानायां सपत्नीनां समृद्धिभिः ।
प्रजावतीनां भद्रं ते मय्यायुङ्क्ताम‍नुग्रहम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; भवान्—आप; दह्यमानायाम्—सताई जा रही; स-पत्नीनाम्—सौतों की; समृद्धिभिः—समृद्धि द्वारा; प्रजा-वतीनाम्—सन्तान वालियों की; भद्रम्—समस्त समृद्धि; ते—तुमको; मयि—मुझको; आयुङ्क्ष्‍ाम्—सभी तरह से, मुझपर करें; अनुग्रहम्—कृपा।

अतएव आपको मुझ पर पूर्ण दया दिखाते हुए मेरे प्रति कृपालु होना चाहिए। मुझे पुत्र प्राप्त करने की चाह है और मैं अपनी सौतों का ऐश्वर्य देखकर अत्यधिक व्यथित हूँ। इस कृत्य को करने से आप सुखी हो सकेंगे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में सन्तानोत्पत्ति के लिए संभोग को धर्मोचित बताया गया है। किन्तु केवल इन्दियतृप्ति के लिए कामोन्मुख होना उचित नहीं है। संभोग के लिए अपने पति से दिति की याचना में ऐसा कुछ नहीं था कि वह कामेच्छा से पीड़ित थी, अपितु वह पुत्र चाहती थी। चूँकि उसके कोई पुत्र न था इसलिए वह स्वयं को अपनी सौतों की अपेक्षा हेय समझ रही थी। अत: कश्यप से अपेक्षा की जाती थी कि वे अपनी प्रामाणिक पत्नी को तुष्ट करें।

भर्तर्याप्तोरुमानानां लोकानाविशते यशः ।
पतिर्भवद्विधो यासां प्रजया ननु जायते ॥ १२॥

शब्दार्थ

भर्तरि—पति द्वारा; आप्त-उरुमानानाम्—प्रेयसियों का; लोकान्—संसार में; आविशते—फैलता है; यशः—यश; पतिः—पति; भवत्-विधः—आपकी तरह; यासाम्—जिसकी; प्रजया—सन्तानों द्वारा; ननु—निश्चय ही; जायते—विस्तार करता है।

एक स्त्री अपने पति के आशीर्वाद से संसार में आदर पाती है और सन्तानें होने से आप जैसा पति प्रसिद्धि पाएगा, क्योंकि आप जीवों के विस्तार के निमित्त ही हैं।

तात्पर्य : ऋषभदेव के अनुसार किसी को तब तक पिता या माता नहीं बनना चाहिए जब तक वह विश्वस्त न हो ले कि वह जिन सन्तानों को उत्पन्न करेगा उन्हें वह जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्ति दिला सकेगा। मानव जीवन ही उस भौतिक घेरे से बाहर निकलने का एकमात्र अवसर है, जो जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था तथा रोग के कष्टों से पूरित है। हर व्यक्ति को अपने मनुष्य जीवन का लाभ उठाने का अवसर मिलना चाहिए और कश्यप जैसे पिता से आशा की जाती है कि मोक्ष के प्रयोजन से वे अच्छी सन्तानें उत्पन्न करें।

पुरा पिता नो भगवान्दक्षो दुहितृवत्सलः ।
कं वृणीत वरं वत्सा इत्यपृच्छत नः पृथक् ॥ १३॥

शब्दार्थ

पुरा—बुहत काल पूर्व; पिता—पिता; नः—हमारा; भगवान्—अत्यन्त ऐश्वर्यवान्; दक्षः—दक्ष; दुहितृ-वत्सलः—अपनी पुत्रियों के प्रति स्नेहिल; कम्—किसको; वृणीत—तुम स्वीकार करना चाहते हो; वरम्—अपना पति; वत्साः—हे मेरी सन्तानो; इति—इस प्रकार; अपृच्छत—पूछा; नः—हमसे; पृथक्—अलग अलग।.

बहुत काल पूर्व अत्यन्त ऐश्वर्यवान हमारे पिता दक्ष ने, जो अपनी पुत्रियों के प्रति अत्यन्त वत्सल थे, हममें से हर एक को अलग अलग से पूछा कि तुम किसे अपने पति के रूप में चुनना चाहोगी।

तात्पर्य : इस श्लोक से प्रतीत होता है कि पिता द्वारा पति के स्वतंत्र चुनाव की तो अनुमति पुत्री को दी जाती थी, किन्तु स्वच्छन्द संगति के द्वारा नहीं। पुत्रियों को अलग अलग से कहा गया कि वे ऐसे पति का चुनाव करें जो अपने कार्यों तथा व्यक्तित्व के लिए विख्यात हो। अन्तिम चुनाव पिता की रुचि पर निर्भर करता था।

स विदित्वात्मजानां नो भावं सन्तानभावनः ।
त्रयोदशाददात्तासां यास्ते शीलमनुव्रताः ॥ १४॥

शब्दार्थ

सः—दक्ष; विदित्वा—समझ करके; आत्म-जानाम्—अपनी पुत्रियों के; नः—हमारा; भावम्—संकेत; सन्तान—सन्तानों का; भावनः—हितैषी; त्रयोदश—तेरह; अददात्—प्रदान किया; तासाम्—उन सबों का; याः—जो हैं; ते—तुम्हारे; शीलम्—आचरण; अनुव्रताः—सभी आज्ञाकारिणी।.

हमारे शुभाकांक्षी पिता दक्ष ने हमारे मनोभावों को जानकर अपनी तेरहों कन्याएँ आपको समर्पित कर दीं और तबसे हम सभी आपकी आज्ञाकारिणी रही हैं।

तात्पर्य : सामान्यतया कन्याएँ अपने पिता के समक्ष अपना मत व्यक्त करने में सकुचाती थीं, किन्तु पिता पुत्रियों के मनोभावों को अन्य किसी के माध्यम से यथा दादी के माध्यम से जिसके साथ पौत्रियों की सीधी पहुँच होती थी, स्वीकार कर लेता था। राजा दक्ष ने अपनी पुत्रियों का मत जाना और इस तरह तेरहों को कश्यप को प्रदान कर दिया। दिति की हर बहिन बच्चों की माता थी। अतएव वह सन्तानहीन क्यों बनी रहे जबकि वह उसी पति के प्रति समान रूप से आज्ञाकारिणी थी ?

अथ मे कुरु कल्याणं कामं कमललोचन ।
आर्तोपसर्पणं भूमन्नमोघं हि महीयसि ॥ १५॥

शब्दार्थ

अथ—इसलिए; मे—मेरा; कुरु—कीजिये; कल्याणम्—कल्याण; कामम्—इच्छा; कमल-लोचन—हे कमल सदृश नेत्र वाले; आर्त—पीड़ित; उपसर्पणम्—निकट आना; भूमन्—हे महान्; अमोघम्—जो विफल न हो; हि—निश्चय ही; महीयसि—महापुरुष के प्रति।

हे कमललोचन, कृपया मेरी इच्छा पूरी करके मुझे आशीर्वाद दें। जब कोई त्रस्त होकर किसी महापुरुष के पास पहुँचता है, तो उसकी याचना कभी भी व्यर्थ नहीं होनी चाहिए।

तात्पर्य : दिति अच्छी तरह जानती थी कि असामयिक स्थिति के कारण उसकी विनती अस्वीकृत हो सकती है, किन्तु उसने याचना की कि जब आपातकाल हो या त्रासपूर्ण स्थिति आए तो काल या परिस्थिति पर विचार नहीं किया जाता।

इति तां वीर मारीचः कृपणां बहुभाषिणीम् ।
प्रत्याहानुनयन्वाचा प्रवृद्धानङ्गकश्मलाम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ताम्—उस; वीर—हे वीर; मारीचः—मरीचि पुत्र (कश्यप); कृपणाम्—निर्धन को; बहु-भाषिणीम्—अत्यधिक बातूनी को; प्रत्याह—उत्तर दिया; अनुनयन्—शान्त करते हुए; वाचा—शब्दों से; प्रवृद्ध—अत्यधिक उत्तेजित; अनङ्ग—कामवासना; कश्मलाम्—दूषित।

हे वीर (विदुर), इस तरह कामवासना के कल्मष से ग्रस्त, और इसलिए असहाय एवं बड़बड़ाती हुई दिति को मरीचिपुत्र ने समुचित शब्दों से शान्त किया।

तात्पर्य : जब कोई पुरुष या स्त्री कामवासना से ग्रस्त होता है, तो इसे पापपूर्ण कल्मष कहा जाता है। कश्यप अपने आध्यात्मिक कार्यों में संलग्न थे तो भी उनमें इतनी शक्ति न थी कि वे अपनी पत्नी को मना कर सकते जो इस तरह पीड़ित थी। वे कठोर शब्दों में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए इनकार कर सकते थे, किन्तु वे विदुर की तरह आध्यात्मिक रूप से बलवान् नहीं थे। विदुर को यहाँ वीर कहकर सम्बोधित किया गया है, क्योंकि भगवद्भक्त की अपेक्षा आत्मसंयम में कोई भी अधिक बलवान नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि कश्यप पहले से अपनी पत्नी के साथ सम्भोग-आनन्द के लिए उन्मुख थे और चूँकि वे दृढ़ व्यक्ति नहीं थे, अतएव उन्होंने केवल सान्त्वनाप्रद शब्दों से उसे विरत करने का प्रयास किया।

एष तेऽहं विधास्यामि प्रियं भीरु यदिच्छसि ।
तस्याः कामं न कः कुर्यात्सिद्धिस्त्रैवर्गिकी यतः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; ते—तुम्हारी विनती; अहम्—मैं; विधास्यामि—सम्पन्न करूँगा; प्रियम्—अत्यन्त प्रिय; भीरु—हे डरी हुई; यत्—जो; इच्छसि—तुम चाह रही हो; तस्याः—उसकी; कामम्—इच्छाएँ; न—नहीं; कः—कौन; कुर्यात्—करेगा; सिद्धिः—मुक्ति की सिद्धि; त्रैवर्गिकी—तीन; यतः—जिससे।

हे भीरु, तुम्हें जो भी इच्छा प्रिय हो उसे मैं तुरन्त तृप्त करूँगा, क्योंकि तुम्हारे अतिरिक्त मुक्ति की तीन सिद्धियों का स्रोत और कौन है?

तात्पर्य : मुक्ति की तीन सिद्धियाँ हैं—धर्म, अर्थ तथा काम। बद्धात्मा के लिए स्त्री को मुक्ति का स्रोत माना जाता है, क्योंकि वह अपने पति की चरम मुक्ति के लिए उसकी सेवा करती है। बद्ध भौतिक जगत इन्द्रियतृप्ति पर आधारित है और यदि सौभाग्यवश किसी को अच्छी पत्नी मिल जाती है, तो उसे सभी प्रकार से अपनी पत्नी की सहायता प्राप्त होती है। यदि वह अपने बद्धजीवन में विचलित होता रहता है, तो वह भौतिक कल्मष में अधिकाधिक फँसता जाता है। एक आज्ञाकारिणी पत्नी से उम्मीद की जाती है कि वह अपने पति की समस्त भौतिक इच्छाओं को पूरा करने में सहयोग करे जिससे वह सारे सुख जुटा सके और जीवनसिद्धि के लिए आध्यात्मिक कार्य सम्पन्न कर सके। किन्तु यदि पति आध्यात्मिक उन्नति में प्रगतिशील है, तो उसकी पत्नी निश्चय ही उसके कार्यों में हाथ बँटाती है और तब पति-पत्नी दोनों ही आध्यात्मिक सिद्धि से लाभ उठाते हैं। इसलिए यह अत्यावश्यक है कि बालिकाओं तथा बालकों को आध्यात्मिक कर्तव्य करने के लिए प्रशिक्षित किया जाय जिससे सहयोग की आवश्यकता उपस्थित होने पर दोनों लाभान्वित हो सकें। बालक का प्रशिक्षण *ब्रह्मचर्य* है और बालिका का कौमार्य। आज्ञाकारिणी पत्नी तथा अध्यात्मशिक्षित *ब्रह्मचारी* मानव उद्देश्य की प्रगति के लिए उत्तम संयोग है।

सर्वाश्रमानुपादाय स्वाश्रमेण कलत्रवान् ।
व्यसनार्णवमत्येति जलयानैर्यथार्णवम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सर्व—समस्त; आश्रमान्—सामाजिक व्यवस्थाओं, आश्रमों को; उपादाय—पूर्ण करके; स्व—अपने; आश्रमेण—आश्रमों के द्वारा; कलत्र-वान्—अपनी पत्नी के साथ रहने वाला व्यक्ति; व्यसन-अर्णवम्—संसार रूपी भयावह सागर; अत्येति—पार कर सकता है; जल-यानैः—समुद्री जहाजों द्वारा; यथा—जिस तरह; अर्णवम्—समुद्र को।

जिस तरह जहाजों के द्वारा समुद्र को पार किया जा सकता है उसी तरह मनुष्य पत्नी के साथ रहते हुए भवसागर की भयावह स्थिति से पार हो सकता है।

तात्पर्य : संसार से मोक्ष के प्रयास में सहयोग करने के लिए चार सामाजिक व्यवस्थाएँ अर्थात्

आश्रम हैं। ये हैं—ब्रह्मचर्य या पवित्र छात्र जीवन, पत्नी के साथ गृहस्थ जीवन, वानप्रस्थ तथा संन्यास—सफल प्रगति के लिए ये सभी उस गृहस्थ पर निर्भर करते हैं, जो अपनी पत्नी के साथ रहता है। यह सहयोग जीवन की चार सामाजिक व्यवस्थाओं तथा चार आध्यात्मिक व्यवस्थाओं के सुचारु रूप से कार्य करते रहने के लिए अति आवश्यक है। यह वैदिक वर्णाश्रम प्रणाली सामान्यतया जाति प्रथा कहलाती है। अपनी पत्नी के साथ रहने वाले पुरुष की सबसे बड़ी जिम्मेदारी होती है अन्य आश्रमों के सदस्यों—*ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थों तथा संन्यासियों*—के भरणपोषण की। गृहस्थों को छोड़ कर अन्य सबों से आशा की जाती है कि वे जीवन की आध्यात्मिक प्रगति में लगे रहें, अतएव *ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ* तथा *संन्यासी* को जीविका कमाने के लिए बहुत ही कम समय रहता है। इसलिए वे गृहस्थों से भिक्षा एकत्र करते हैं और इस तरह से जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन करते हैं। समाज के अन्य तीन वर्गों को आध्यात्मिक मूल्यों का अनुशीलन करने में सहायता करके गृहस्थ भी आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करता है। अन्ततोगत्वा समाज का हर सदस्य स्वत: आध्यात्मिक रूप से उन्नत बनता है और अविद्या के सागर को सहज ही पार कर जाता है।

यामाहुरात्मनो ह्यर्धं श्रेयस्कामस्य मानिनि ।
यस्यां स्वधुरमध्यस्य पुमांश्चरति विज्वरः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

याम्—जिस पत्नी को; आहु:—कहा जाता है; आत्मन:—शरीर का; हि—इस प्रकार; अर्धम्—आधा; श्रेय:—कल्याण; कामस्य—सारी इच्छाओं का; मानिनि—हे आदरणीया; यस्याम्—जिसमें; स्व-धुरम्—सारे उत्तरदायित्व; अध्यस्य—सौंपकर; पुमान्—पुरुष; चरति—भ्रमण करता है; विज्वर:—निश्चिन्त।

हे आदरणीया, पत्नी इतनी सहायताप्रद होती है कि वह मनुष्य के शरीर की अर्धांगिनी कहलाती है, क्योंकि वह समस्त शुभ कार्यों में हाथ बँटाती है। पुरुष अपनी पत्नी पर जिम्मेदारियों का सारा भार डालकर निश्चिन्त होकर विचरण कर सकता है।

तात्पर्य : वैदिक आदेशानुसार पत्नी को पुरुष के शरीर की अर्धांगिनी माना जाता है, क्योंकि वह पति के आधे कार्यों को सम्पन्न करने के लिए उत्तरदायी मानी जाती है। पारिवारिक पुरुष पर पाँच प्रकार के यज्ञ, जिन्हें *पञ्चयज्ञ* कहते हैं, सम्पन्न करने का भार रहता है, जिससे उसे सभी प्रकार के

अनिवार्य पाप-कर्मों के फलों से छुटकारा मिल सके जो उसकी अपनी दिनचर्या के दौरान हो जाते हैं। जब मनुष्य गुणात्मक रीति से कुत्ते-बिल्लियों की तरह बन जाता है, तो वह आध्यात्मिक मूल्यों का अनुशीलन करने के अपने कर्तव्यों को भूल जाता है और तब वह अपनी पत्नी को इन्द्रियतृप्ति का साधन मान बैठता है। जब पत्नी को इन्द्रियतृप्ति का साधन माना जाता है, तो उसके पीछे व्यक्तिगत सौन्दर्य मुख्य उपादान रहता है और जैसे ही व्यक्तिगत इन्द्रियतृप्ति में कोई अवरोध आता है, तो सम्बन्धो में व्यवधान या तलाक हो जाता है। किन्तु जब पति-पत्नी पारस्परिक सहयोग द्वारा आध्यात्मिक प्रगति को लक्ष्य बनाते हैं, तो वैयक्तिक सौन्दर्य या तथाकथित प्रेम में व्यवधान पर ध्यान नहीं दिया जाता। भौतिक जगत में प्रेम का प्रश्न ही नहीं उठता। विवाह तो वास्तव में एक कर्तव्य है, जिसे आध्यात्मिक प्रगति के लिए प्रामाणिक शास्त्रों के निर्देशानुसार पारस्परिक सहयोग में सम्पन्न किया जाता है। अतएव कुत्तों तथा बिल्लियों के जीवन से बचने के लिए विवाह आवश्यक है, क्योंकि कुत्ते-बिल्ली आध्यात्मिक प्रबुद्धता के लिए नहीं हैं।

यामाश्रित्येन्द्रियारातीन्दुर्जयानितराश्रमैः ।
वयं जयेम हेलाभिर्दस्यून्दुर्गपतिर्यथा ॥ २० ॥

शब्दार्थ

याम्—जिसको; आश्रित्य—आश्रय बनाकर; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; अरातीन्—शत्रुगण; दुर्जयान्—जीत पाना कठिन; इतर—गृहस्थों के अतिरिक्त; आश्रमैः—आश्रमों द्वारा; वयम्—हम; जयेम—जीत सकते हैं; हेलाभिः—आसानी से; दस्यून्—आक्रमणकारी लुटेरों को; दुर्ग-पतिः—किले का सेनानायक; यथा—जिस तरह।

जिस तरह किले का सेनापति आक्रमणकारी लुटेरों को बहुत आसानी से जीत लेता है उसी तरह पत्नी का आश्रय लेकर मनुष्य उन इन्द्रियों को जीत सकता है, जो अन्य आश्रमों में अजेय होती हैं।

तात्पर्य : मानव-समाज के चार आश्रमों—*ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ* तथा *संन्यास* आश्रमों—में से गृहस्थ सुरक्षित है। शारीरिक इन्द्रियाँ शरीर रूपी किले की लुटेरी मानी जाती हैं। पत्नी को किले का सेनापति माना जाता है, अतएव जब कभी शरीर पर इन्द्रियों द्वारा आक्रमण किया जाता है, तो पत्नी ही शरीर को क्षत-विक्षत होने से बचाती है। यौन की भूख हर एक के लिए अपरिहार्य है, किन्तु जिसके पास स्थायी पत्नी होती है, वह इन्द्रिय-शत्रुओं के आक्रमण से बचा लिया जाता है। जिस व्यक्ति के

उत्तम पत्नी होती है, वह कुमारिकाओं को भ्रष्ट करके समाज में उत्पात नहीं मचाता। स्थायी पत्नी के बिना मनुष्य परले सिरे का व्यभिचारी बन जाता है और समाज के लिए अभिशाप होता है जब तक कि वह प्रशिक्षित ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ या संन्यासी न हो। जब तक दक्ष गुरु द्वारा ब्रह्मचारी का कठोर तथा नियमित प्रशिक्षण नहीं होगा और जब तक छात्र आज्ञाकारी नहीं होगा तब तक निश्चय ही तथाकथित ब्रह्मचारी यौन के आक्रमण का शिकार बनता रहेगा। पतन के अनेकानेक उदाहरण हैं—यहाँ तक कि विश्वामित्र जैसे महान् योगी का भी पतन हुआ। किन्तु गृहस्थ अपनी आज्ञाकारिणी पत्नी के कारण सुरक्षित बना रहता है। यौन जीवन भवबन्धन का कारण है इसीलिए इन तीन आश्रमों में इसका निषेध है और एकमात्र गृहस्थ आश्रम में इसकी अनुमति दी जाती है। गृहस्थ उत्तमकोटि के *ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थों* तथा *संन्यासियों* को उत्पन्न करने के लिए उत्तरदायी है।

न वयं प्रभवस्तां त्वामनुकर्तुं गृहेश्वरि ।
अप्यायुषा वा कार्त्स्न्येन ये चान्ये गुणगृध्नवः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; वयम्—हम; प्रभवः—समर्थ हैं; ताम्—उस; त्वाम्—तुमको; अनुकर्तुम्—वही करने के लिए; गृह-ईश्वरि—हे घर की रानी; अपि—के बावजूद; आयुषा—आयु के द्वारा; वा—अथवा (अगले जन्म में); कार्त्स्न्येन—सम्पूर्ण; ये—जो; च—भी; अन्ये—अन्य; गुण-गृध्नवः—गुणों को पहचानने वाले।

हे घर की रानी, हम न तो तुम्हारी तरह कार्य करने में सक्षम हैं, न ही तुमने जो कुछ किया है उससे उऋण हो सकते हैं, चाहे हम अपने जीवन भर या मृत्यु के बाद भी कार्य करते रहें। तुमसे उऋण हो पाना उन लोगों के लिए भी असम्भव है, जो निजी गुणों के प्रशंसक होते हैं।

तात्पर्य : पति द्वारा अपनी पत्नी का अत्यधिक गुण-गान संकेत करता है कि वह स्त्रीवश्य है या मजाक कर रहा है। कश्यप का आशय था कि पत्नियों के साथ रहने वाले गृहस्थ इन्द्रियभोग का स्वर्गिक आशीर्वाद भोगते हैं और साथ ही उनके पतन का भी कोई भय नहीं रहता। संन्यासी के पत्नी नहीं होती, अतः कामेच्छा से वह अन्य स्त्री को या अन्य की पत्नी को ढूँढने के लिए इच्छुक हो सकता है और इस तरह वह नरक जा सकता है। दूसरे शब्दों में, तथाकथित संन्यासी, जिसने घर तथा पत्नी को छोड़ दिया हो, नरक जाता है यदि वह जाने या अनजाने पुनः मैथुन-आनन्द की चाह करता है। इस दृष्टि से गृहस्थ सुरक्षित हैं। अतएव पतिवर्ग इस जीवन में या अगले जीवन में भी पत्नियों के ऋण से

उऋण नहीं हो सकता। यदि वे जीवनभर इसे चुकता करते रहें तो भी यह सम्भावना नहीं। किन्तु सभी पति अपनी पत्नियों के सद्गुणों की सराहना नहीं कर पाते, किन्तु यदि कोई इन गुणों की सराहना करने में समर्थ हो भी जाए तो भी पत्नी के ऋण से उऋण हो पाना सम्भव नहीं है। पति द्वारा अपनी पत्नी की ऐसी असाधारण प्रशंसा निश्चय ही परिहास की मुद्रा में है।

अथापि काममेतं ते प्रजात्यै करवाण्यलम् ।
यथा मां नातिरोचन्ति मुहूर्तं प्रतिपालय ॥ २२॥

शब्दार्थ

अथ अपि—यद्यपि (यह सम्भव नहीं है); कामम्—यह कामेच्छा; एतम्—जैसी है; ते—तुम्हारा; प्रजात्यै—सन्तानों के लिए; करवाणि—मुझे करने दें; अलम्—बिना विलम्ब किये; यथा—जिस तरह; माम्—मुझको; न—नहीं; अतिरोचन्ति—निन्दा करें; मुहूर्तम्—कुछ क्षण; प्रतिपालय—प्रतीक्षा करो।

यद्यपि मैं तुम्हारे ऋण से उऋण नहीं हो सकता, किन्तु मैं सन्तान उत्पन्न करने के लिए तुम्हारी कामेच्छा को तुरन्त तुष्ट करूँगा। किन्तु तुम केवल कुछ क्षणों तक प्रतीक्षा करो जिससे अन्य लोग मेरी भर्त्सना न कर सकें।

तात्पर्य : भले ही स्त्रीवश्य पति अपनी पत्नी से प्राप्त होने वाले सारे लाभों का ऋण चुका पाने में समर्थ न हो, किन्तु जहाँ तक कामेच्छा की पूर्ति द्वारा सन्तान उत्पन्न करने की बात है, किसी भी पति के लिए यह तनिक भी कठिन नहीं है जब तक कि वह नितान्त नपुंसक न हो। सामान्य परिस्थितियों में पति के लिए यह बहुत ही आसान कार्य है। अत्यन्त उत्सुक होने पर भी कश्यप ने अपनी पत्नी से कुछ क्षणों तक प्रतीक्षा करने के लिए कहा जिससे अन्य लोग उसकी निन्दा न कर सकें। वे अपनी स्थिति की व्याख्या इस प्रकार करते हैं।

एषा घोरतमा वेला घोराणां घोरदर्शना ।
चरन्ति यस्यां भूतानि भूतेशानुचराणि ह ॥ २३॥

शब्दार्थ

एषा—यह समय; घोर-तमा—सर्वाधिक भयावनी; वेला—घड़ी; घोराणाम्—भयावने का; घोर-दर्शना—भयावनी लगनेवाली; चरन्ति—विचरण करते हैं; यस्याम्—जिसमें; भूतानि—भूत-प्रेत; भूत-ईश—भूतों के स्वामी; अनुचराणि—नित्यसंगी; ह—निस्सन्देह।

यह विशिष्ट वेला अतीव अशुभ है, क्योंकि इस वेला में भयावने दिखने वाले भूत तथा भूतों के स्वामी के नित्य संगी दृष्टिगोचर होते हैं।

तात्पर्य : कश्यप अपनी पत्नी दिति से पहले ही क्षण भर के लिए प्रतीक्षा करने के लिए कह चुके थे और अब वे उसे आगाह करते हैं कि यदि इस विशेष वेला पर ध्यान नहीं दिया गया तो इस वेला में अपने स्वामी रुद्र के साथ इधर-उधर विचरण करने वाले भूत-प्रेत अवश्य दण्ड देंगे।

एतस्यां साध्वि सन्ध्यायां भगवान्भूतभावनः ।
परीतो भूतपर्षद्भिर्वृषेणाटति भूतराट् ॥ २४॥

शब्दार्थ

एतस्याम्—इस वेला में; साध्वि—हे सती; सन्ध्यायाम्—दिन तथा रात के सन्धिकाल में (संध्या समय); भगवान्—भगवान्; भूत-भावनः—भूतों के हितैषी; परीतः—घिरे हुए; भूत-पर्षद्भिः—भूतों के संगियों से; वृषेण—बैल की पीठ पर; अटति—भ्रमण करता है; भूत-राट्—भूतों का राजा।

इस वेला में भूतों के राजा शिवजी, अपने वाहन बैल की पीठ पर बैठकर उन भूतों के साथ विचरण करते हैं, जो अपने कल्याण के लिए उनका अनुगमन करते हैं।

तात्पर्य : शिवजी या रुद्र भूतों के राजा हैं। भूतगण शिवजी की इसलिए पूजा करते हैं कि धीरे धीरे वे आत्म-साक्षात्कार के मार्ग पर अग्रसर हो सकें। मायावादी दार्शनिक अधिकांशतया शिवजी के पूजक होते हैं और श्रीपाद शंकराचार्य को शिवजी का अवतार मान लिया जाता है, जो मायावादी दार्शनिकों को ईशविहीनता (नास्तिकता) का उपदेश देते हैं। भूतों के भौतिक शरीर नहीं होते, क्योंकि वे आत्महत्या जैसा घोर पापकर्म किये रहते हैं। मानव समाज में भूतवत् पात्रों का अन्तिम गन्तव्य यह है कि वे भौतिक या आध्यात्मिक आत्महत्या की शरण लें। भौतिक आत्महत्या से भौतिक शरीर की और आध्यात्मिक आत्महत्या से व्यष्टि स्वरूप की हानि होती है। मायावादी दार्शनिक अपने व्यष्टित्व को खोकर निर्विशेष आध्यात्मिक *ब्रह्मज्योति* के अस्तित्व में लीन होना चाहते हैं। शिवजी भूतों पर अत्यधिक कृपालु होने के कारण इस ताक में रहते हैं कि निन्दित होने पर भी इन भूतों को भौतिक शरीर प्राप्त हों। वे उन्हें ऐसी स्त्रियों के गर्भ में स्थापित करते हैं, जो परिस्थिति तथा काल के प्रतिबन्धों की परवाह न करके संभोगरत होती हैं। कश्यप यह बात दिति को समझा देना चाहते थे जिससे वह कुछ क्षण तक प्रतीक्षा कर सके।

श्मशानचक्रानिलधूलिधूम्र
विकीर्णविद्योतजटाकलापः ।

भस्मावगुण्ठामलरुक्मदेहो
देवस्त्रिभिः पश्यति देवरस्ते ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

श्मशान—श्मशान भूमि; चक्र-अनिल—बवंडर; धूलि—धूल; धूम्र—धुआँ; विकीर्ण-विद्योत—सौन्दर्य के ऊपर पुता हुआ; जटा-कलापः—जटाओं के गुच्छे; भस्म—राख; अवगुण्ठ—से ढका; अमल—निष्कलंक; रुक्म—लाल; देहः—शरीर; देवः—देवता; त्रिभिः—तीन आँखों वाला; पश्यति—देखता है; देवरः—पति का छोटा भाई; ते—तुम्हारा।

शिवजी का शरीर लालाभ है और वह निष्कलुष है, किन्तु वे उस पर राख पोते रहते हैं। उनकी जटा श्मशान भूमि की बवंडर की धूल से धूसरित रहती है। वे तुम्हारे पति के छोटे भाई हैं—और वे अपने तीन नेत्रों से देखते हैं।

तात्पर्य : शिवजी न तो सामान्य जीव हैं न ही वे विष्णु या पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की कोटि में आते हैं। वे ब्रह्मा समेत किसी भी जीव से अधिक शक्तिमान हैं फिर भी वे विष्णु के समान-स्तर पर नहीं हैं। चूँकि शिव भगवान् विष्णु जैसे ही हैं, अतएव वे भूत, वर्तमान तथा भविष्य देख सकते हैं। उनका एक नेत्र सूर्य के समान है, दूसरा चन्द्रमा के समान तथा उनका तीसरा नेत्र जो उनकी भौहों के बीच में स्थित है, अग्नि तुल्य है। वे अपने बीचवाले नेत्र से अग्नि उत्पन्न कर सकते हैं और वे ब्रह्मा समेत किसी भी जीव को विनष्ट कर सकते हैं फिर भी वे न तो किसी अच्छे घर में तड़क भड़क से रहते हैं, न ही उनके कोई भौतिक सम्पत्ति है यद्यपि वे भौतिक जगत के स्वामी हैं। वे अधिकांशतया श्मशान में रहते हैं जहाँ शव जलाये जाते हैं और श्मशान के बवंडर की धूल ही उनका वस्त्र है। वे भौतिक कल्मष से रंजित नहीं होते। कश्यप ने उन्हें अपना छोटा भाई माना है, क्योंकि दिति (कश्यप पत्नी) की सबसे छोटी बहिन शिवजी को ब्याही थी। बहिन का पति उसका भाई माना जाता है। उस समाजिक सम्बन्ध से शिवजी कश्यप के छोटे भाई ठहरे। कश्यप ने अपनी पत्नी को आगाह किया कि क्योंकि शिवजी उनको संभोगरत देख लेंगे इसलिए यह वेला उपयुक्त नहीं है। हो सकता है कि दिति तर्क करती कि वे किसी एकान्त स्थान में संभोग करेंगे, किन्तु कश्यप ने उसे स्मरण कराया कि शिवजी के तीन नेत्र हैं, जो सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि कहलाते हैं और कोई भी उनकी दृष्टि से बच नहीं सकता जिस तरह विष्णु की दृष्टि से भी कोई बच नहीं सकता। यद्यपि अपराधी को पुलिस देख लेती है, किन्तु कभी कभी उसे तुरन्त दण्ड नहीं मिलता। पुलिस उसे दण्ड दिलाने के लिए उचित समय की प्रतीक्षा करती है। संभोग के लिए निषिद्ध वेला शिवजी द्वारा देख ली जायेगी और दिति भूत जैसे चरित्र वाले

या ईशविहीन निर्विशेषवादी शिशु को जन्म देकर समुचित दण्ड प्राप्त करेगी। कश्यप ने इसे पहले ही देख लिया था इसलिए उन्होंने अपनी पत्नी दिति को आगाह किया।

न यस्य लोके स्वजनः परो वा
नात्याहतो नोत कश्चिद्विगर्ह्यः ।
वयं व्रतैर्यच्चरणापविद्धा-
माशास्महेऽजां बत भुक्तभोगाम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; यस्य—जिसका; लोके—संसार में; स्व-जनः—अपना; परः—पराया; वा—न तो; न—न ही; अति—अधिक; आहतः—अनुकूल; न—नहीं; उत—अथवा; कश्चित्—कोई; विगर्ह्यः—अपराधी; वयम्—हम; व्रतैः—व्रतों के द्वारा; यत्—जिसके; चरण—पाँव; अपविद्धाम्—तिरस्कृत; आशास्महे—सादर पूजा करते हैं; अजाम्—महा-प्रसाद; बत—निश्चय ही; भुक्त-भोगाम्—उच्छिष्ट भोजन।

शिवजी किसी को भी अपना सम्बन्धी नहीं मानते फिर भी ऐसा कोई भी नहीं है, जो उनसे सम्बन्धित न हो। वे किसी को न तो अति अनुकूल, न ही निन्दनीय मानते हैं। हम उनके उच्छिष्ट भोजन की सादर पूजा करते हैं और वे जिसका तिरस्कार करते हैं उसको हम शीश झुका कर स्वीकार करते हैं।

तात्पर्य : कश्यप ने अपनी पत्नी को बतलाया कि चूँकि शिवजी उनके साढू लगते हैं इसलिए उसे उनके प्रति अपराध करने के लिए प्रोत्साहित नहीं होना चाहिए। कश्यप ने उसे आगाह किया कि वस्तुतः शिवजी न तो किसी से सम्बन्धित हैं न ही कोई उनका शत्रु है। चूँकि वे ब्रह्माण्ड के मामलों के तीन नियंत्रकों में से एक हैं, अतएव वे हर एक पर समदृष्टि रखते हैं। उनकी महानता अतुलनीय है, क्योंकि वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के महान् भक्त हैं। कहा जाता है कि भगवान् के समस्त भक्तों में शिवजी महानतम हैं। इसीलिए उनके द्वारा छोड़ा गया भोज्य पदार्थ अन्य भक्तों द्वारा *महाप्रसाद* के रूप में ग्रहण किया जाता है। भगवान् कृष्ण को अर्पित भोजन का उच्छिष्ट *प्रसाद* कहलाता है, किन्तु जब वही प्रसाद शिवजी जैसे महान् भक्त द्वारा खाया जाता है, तो वह *महाप्रसाद* कहलाता है। शिवजी इतने महान् हैं कि वे उस भौतिक सम्पत्ति की परवाह नहीं करते जिसके लिए हम सभी उत्सुक रहते हैं। पार्वती जी, जो कि साक्षात् शक्तिमयी भौतिक प्रकृति हैं, उनकी पत्नी के रूप में उनके पूर्ण नियंत्रण में हैं; फिर भी वे उनका उपयोग रिहायशी घर बनाने तक के लिए नहीं करते। वे बिना आश्रय के रहना पसन्द करते हैं और उनकी महान् पत्नी भी उनके साथ विनीत भाव से रहने के लिए राजी रहती है।

सामान्य जन शिवजी की पत्नी दुर्गादेवी की पूजा भौतिक सम्पन्नता के लिए करते हैं, किन्तु शिवजी बिना किसी भौतिक इच्छा के उन्हें अपनी सेवा में लगाये रहते हैं। वे अपनी महान् पत्नी को यही उपदेश देते हैं कि सभी प्रकार की पूजाओं में विष्णुपूजा सर्वोपरि है और उससे भी बढ़कर है महान् भक्त की या विष्णु से सम्बन्धित किसी भी वस्तु की पूजा।

यस्यानवद्याचरितं मनीषिणो
गृणन्त्यविद्यापटलं बिभित्सवः ।
निरस्तसाम्यातिशयोऽपि यत्स्वयं
पिशाचचर्यामचरद्गतिः सताम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; अनवद्य—अनिंद्य; आचरितम्—चरित्र; मनीषिणः—बड़े बड़े मुनिगण; गृणन्ति—अनुगमन करते हैं; अविद्या—अज्ञान; पटलम्—पिंड; बिभित्सवः—उखाड़ फेंकने के लिए इच्छुक; निरस्त—निरस्त किया हुआ; साम्य—समता; अतिशयः—महानता; अपि—के बावजूद; यत्—क्योंकि; स्वयम्—स्वयं; पिशाच—पिशाच, शैतान; चर्याम्—कार्यकलाप; अचरत्—सम्पन्न किया; गतिः—गन्तव्य; सताम्—भगवद्भक्तों का।

यद्यपि भौतिक जगत में न तो कोई भगवान् शिव के बराबर है, न उनसे बढ़कर है और अविद्या के समूह को छिन्न-भिन्न करने के लिए उनके अनिंद्य चरित्र का महात्माओं द्वारा अनुसरण किया जाता है फिर भी वे सारे भगवद्भक्तों को मोक्ष प्रदान करने के लिए ऐसे बने रहते हैं जैसे कोई पिशाच हो।

तात्पर्य : शिवजी के असंस्कृत, पीशाचीय गुण कभी भी निन्दनीय नहीं होते, क्योंकि वे भगवान् के निष्ठावान भक्तों को सिखाते हैं कि भौतिक भोग से वैराग्य का अभ्यास कैसे किया जाय। वे महादेव कहलाते हैं और इस जगत में न तो कोई उनके तुल्य है, न उनसे बढ़कर। वे भगवान् विष्णु के लगभग तुल्य हैं। यद्यपि वे सदैव माया या दुर्गा के संग रहते हैं, किन्तु वे प्रकृति के तीन गुणों की प्रतिक्रिया अवस्था से ऊपर हैं। यद्यपि वे तमोगुणी पिशाचों के अधिकारी हैं, किन्तु वे ऐसी संगति से प्रभावित नहीं होते।

हसन्ति यस्याचरितं हि दुर्भगाः
स्वात्मन्रतस्याविदुषः समीहितम् ।
यैर्वस्त्रमाल्याभरणानुलेपनैः
श्वभोजनं स्वात्मतयोपलालितम् ॥ २८॥

शब्दार्थ

हसन्ति—हँसते हैं; यस्य—जिसका; आचरितम्—कार्य; हि—निश्चय ही; दुर्भगाः—अभागे; स्व-आत्मन्—अपने में; रतस्य—संलग्न रहने वाले का; अविदुषः—न जानने वाला; समीहितम्—उसका उद्देश्य; यैः—जिसके द्वारा; वस्त्र—वस्त्र; माल्य—मालाएँ; आभरण—आभूषण; अनु—ऐसे विलासी; लेपनैः—लेप से; श्व-भोजनम्—कुत्तों का भोजन; स्व-आत्मतया—मानो स्वयं; उपलालितम्—लाड़-प्यार किया गया।

अभागे मूर्ख व्यक्ति यह न जानते हुए कि वे अपने में मस्त रहते हैं उन पर हँसते हैं। ऐसे मूर्ख व्यक्ति अपने उस शरीर को जो कुत्तों द्वारा खाये जाने योग्य है वस्त्र, आभूषण, माला तथा लेप से सजाने में लगे रहते हैं।

तात्पर्य : शिवजी कभी भी विलासी वस्त्र, माला, आभूषण या लेप स्वीकार नहीं करते। किन्तु जिन लोगों को शरीर को सजाने की लत रहती है वे उसे आत्मा के रूप में विलासपूर्वक बनाये रखते हैं, यद्यपि अन्त में वह कुत्तों का भक्ष्य बनता है। ऐसे व्यक्ति शिवजी को नहीं समझ पाते, किन्तु वे विलासपूर्ण भौतिक सुविधाओं के लिए उनके पास पहुँचते रहते हैं। शिवजी के भक्तों के दो वर्ग हैं। एक वर्ग नितान्त भौतिकतावादी होता है, जो शिवजी से केवल शारीरिक सुविधाओं की याचना करता है और दूसरा वर्ग उनसे तदाकार होना चाहता है। वे अधिकांशतया निर्विशेषवादी होते हैं और *शिवोऽहम्* अर्थात् "मैं शिव हूँ" का उच्चारण करते हैं जिसका अर्थ है कि, "मुक्ति के बाद मैं शिवजी से तदाकार हो जाऊँगा।" दूसरे शब्दों में, सामान्यतया कर्मी तथा ज्ञानीजन शिवजी के भक्त होते हैं, किन्तु वे उनके जीवन का वास्तविक उद्देश्य अच्छी तरह नहीं समझते। कभी-कभी शिवजी के तथाकथित भक्त विषैले मादक द्रव्यों का उपयोग करके उनकी नकल करते हैं। एक बार शिवजी ने विष का सागर निगल लिया था जिससे उनका गला नीला पड़ गया था। नकली शिव-गण विषों की लत लगाकर उनका अनुगमन करना चाहते हैं और इस तरह विनष्ट हो जाते हैं। शिवजी का असली उद्देश्य आत्मा के आत्मा अर्थात् भगवान् कृष्ण की सेवा करना है। वे चाहते हैं कि सारी विलास सामग्री यथा उत्तम वस्त्र, मालाएँ, आभूषण तथा प्रसाधन वस्तुएँ एकमात्र भगवान् कृष्ण को प्रदान की जाँय, क्योंकि वे ही असली भोक्ता हैं। वे स्वयं ऐसी विलास-सामग्री को अस्वीकार कर देते हैं, क्योंकि वे तो एकमात्र कृष्ण के निमित्त होती हैं। किन्तु मूर्ख-जन शिवजी के इस मन्तव्य को न जानने के कारण या तो उन पर हँसते हैं या व्यर्थ ही उनकी नकल करने का प्रयास करते हैं।

ब्रह्मादयो यत्कृतसेतुपाला
यत्कारणं विश्वमिदं च माया ।
आज्ञाकरी यस्य पिशाचचर्या
अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा जैसे देवतागण; यत्—जिसका; कृत—कार्यकलाप; सेतु—धार्मिक अनुष्ठान; पालाः—पालने वाले; यत्—जो है; कारणम्—उद्गम; विश्वम्—ब्रह्माण्ड का; इदम्—इस; च—भी; माया—भौतिक शक्ति; आज्ञा-करी—आदेश पूरा करने वाला; यस्य—जिसका; पिशाच—शैतानवत्; चर्या—कर्म; अहो—हे प्रभु; विभूम्नः—महान् का; चरितम्—चरित्र; विडम्बनम्—केवल विडम्बना।

ब्रह्मा जैसे देवता भी उनके द्वारा अपनाये जाने वाले धार्मिक अनुष्ठानों का पालन करते हैं। वे उस भौतिक शक्ति के नियन्ता हैं, जो भौतिक जगत का सृजन करती है। वे महान् हैं, अतएव उनके पिशाचवत् गुण मात्र विडम्बना हैं।

तात्पर्य : शिवजी दुर्गा के पति हैं अर्थात् भौतिक शक्ति के नियन्ता हैं। दुर्गा साक्षात् भौतिक शक्ति हैं और उनके पति होने के कारण शिवजी भौतिक शक्ति के नियन्ता हैं। वे तमोगुण के अवतार भी हैं और भगवान् का प्रतिनिधित्व करने वाले तीन देवों में से एक हैं। भगवान् के प्रतिनिधि होने से शिवजी उनसे अभिन्न हैं। वे अति महान् हैं और उनके द्वारा समस्त भौतिक भोग का परित्याग इसका आदर्श उदाहरण है कि मनुष्य को किस तरह भौतिक रूप से अनासक्त रहना चाहिए। अतएव मनुष्य को उनके पदचिह्नों का अनुसरण करना चाहिए और पदार्थ से अनासक्त रहना चाहिए। उसे गरलपान जैसे उनके असामान्य कार्यों की नकल नहीं करनी चाहिए।

मैत्रेय उवाच
सैवं संविदिते भर्त्रा मन्मथोन्मथितेन्द्रिया ।
जग्राह वासो ब्रह्मर्षेर्वृषलीव गतत्रपा ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; सा—वह; एवम्—इस प्रकार; संविदिते—सूचित किए जाने पर भी; भर्त्रा—पति द्वारा; मन्मथ—कामदेव द्वारा; उन्मथित—विवश की गई; इन्द्रिया—इन्द्रियों के द्वारा; जग्राह—पकड़ लिया; वासः—वस्त्र; ब्रह्म-ऋषेः—उस महान् ब्राह्मण ऋषि का; वृषली—वेश्या; इव—सदृश; गत-त्रपा—लज्जारहित।

मैत्रेय ने कहा : इस तरह दिति अपने पति द्वारा सूचित की गई, किन्तु वह संभोग-तुष्टि हेतु कामदेव द्वारा विवश कर दी गई। उसने उस महान् ब्राह्मण ऋषि का वस्त्र पकड़ लिया जिस तरह एक निर्लज्ज वेश्या करती है।

तात्पर्य : एक विवाहित पत्नी तथा वेश्या में यही अन्तर है कि एक शास्त्रों के विधि-विधानों द्वारा

यौन जीवन में नियंत्रित रहती है, जबकि दूसरी अनियंत्रित और एकमात्र प्रबल कामवासना द्वारा संचालित होती है। यद्यपि महर्षि कश्यप अति प्रबुद्ध थे, किन्तु वे अपनी वेश्या पत्नी के शिकार हो गये। भौतिक शक्ति इतनी प्रबल होती है।

स विदित्वाथ भार्यायास्तं निर्बन्धं विकर्मणि ।
नत्वा दिष्टाय रहसि तयाथोपविवेश हि ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने; विदित्वा—समझकर; अथ—तत्पश्चात्; भार्यायाः—पत्नी की; तम्—उस; निर्बन्धम्—जड़ता या दुराग्रह को; विकर्मणि—निषिद्ध कार्य में; नत्वा—नमस्कार करके; दिष्टाय—पूज्य भाग्य को; रहसि—एकान्त स्थान में; तया—उसके साथ; अथ—इस प्रकार; उपविवेश—लेट गया; हि—निश्चय ही।

अपनी पत्नी के मन्तव्य को समझकर उन्हें वह निषिद्ध कार्य करना पड़ा और तब पूज्य प्रारब्ध को नमस्कार करके वे उसके साथ एकान्त स्थान में लेट गये।

तात्पर्य : कश्यप की अपनी पत्नी के साथ बातों से ऐसा लगता है कि वे शिवजी के उपासक थे और यद्यपि वे जानते थे कि ऐसा निषिद्ध कार्य करने से शिवजी उन पर प्रसन्न नहीं होंगे, किन्तु अपनी पत्नी की इच्छा के कारण वे ऐसा करने के लिए बाध्य थे, अतएव उन्होंने प्रारब्ध को नमस्कार किया। वे जानते थे कि ऐसे असामयिक संभोग से जो सन्तान उत्पन्न होगी वह निश्चय ही अच्छी नहीं होगी, किन्तु वे अपने को बचा नहीं पाये, क्योंकि वे अपनी पत्नी के प्रति अत्यधिक कृतज्ञ थे। किन्तु ऐसी ही दशा में जब ठाकुर हरिदास एक वेश्या के द्वारा अर्धरात्रि में मोहित किये गये तो उन्होंने कृष्णभावनामृत में अपनी सिद्धि के कारण उस प्रलोभन से अपने को बचा लिया। एक कृष्णभावनाभावित व्यक्ति तथा अन्यों में यही अन्तर है। कश्यप मुनि महान् विद्वान तथा प्रबुद्ध थे और नियमित जीवन के सारे विधि-विधान जानते थे फिर भी वे अपने को कामेच्छा के आक्रमण से बचा नहीं पाये। ठाकुर हरिदास न तो ब्राह्मण कुल में उत्पन्न थे न ही स्वयं ब्राह्मण थे फिर भी कृष्णभावनाभावित होने के कारण वे अपने को ऐसे आक्रमण से बचा सके। ठाकुर हरिदास प्रतिदिन तीन लाख भगवन्नाम् का जप करते थे।

अथोपस्पृश्य सलिलं प्राणानायम्य वाग्यतः ।
ध्यायञ्जजाप विरजं ब्रह्म ज्योतिः सनातनम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; उपस्पृश्य—जल का स्पर्श करके या जल में स्नान करके; सलिलम्—जल; प्राणान् आयम्य—समाधि का अभ्यास करके; वाक्-यतः—वाणी को नियंत्रित करते हुए; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; जजाप—मुख के भीतर जप किया; विरजम्—शुद्ध; ब्रह्म—गायत्री मंत्र; ज्योतिः—तेज; सनातनम्—नित्य।

तत्पश्चात् उस ब्राह्मण ने जल में स्नान किया और समाधि में नित्य तेज का ध्यान करते हुए तथा मुख के भीतर पवित्र गायत्री मंत्र का जप करते हुए अपनी वाणी को वश में किया।

तात्पर्य : जिस तरह शौच के बाद मनुष्य स्नान करता है उसी तरह विशेष रूप से निषिद्ध समय पर, संभोग करने के बाद मार्जन करना पड़ता है। कश्यप मुनि ने अपने मुख के भीतर गायत्री मंत्र का जाप करते हुए निर्विशेष ब्रह्मज्योति का ध्यान किया। जब वैदिक मंत्र का उच्चारण मुख के भीतर किया जाय ताकि केवल जापक ही सुन सके, तो इसे *जप* कहते हैं। किन्तु जब ऐसे मंत्रों का उच्चस्वर से उच्चारण किया जाता है, तो वह *कीर्तन* कहलाता है। हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—इस वैदिक मंत्र को अपने मन में धीमे धीमे अथवा जोर जोर से उच्चरति किया जा सकता है इसलिए यह *महामन्त्र* कहलाता है।

कश्यप मुनि निर्विशेषवादी प्रतीत होते हैं। जैसाकि पहले उल्लेख किया जा चुका है, ठाकुर हरिदास से उनके चरित्र की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि एक सगुणवादी इन्द्रियनिग्रह में निर्विशेषवादी से अधिक प्रबल होता है। *भगवद्गीता* में इसकी व्याख्या *परं दृष्ट्वा निवर्तते* से हुई है—उच्च पद पर स्थित होने पर मनुष्य निम्न कोटि की वस्तुएँ ग्रहण करना बन्द कर देता है। ऐसा माना जाता है कि स्नान करने तथा गायत्री जप करने के बाद मनुष्य शुद्ध हो जाता है, किन्तु *महामन्त्र* इतना शक्तिशाली होता है कि कोई इसे, किसी भी स्थिति में, चाहे धीरे धीरे जपे या जोर जोर से, वह संसार की सारी बुराइयों से बच जाता है।

दितिस्तु व्रीडिता तेन कर्मावद्येन भारत ।
उपसङ्गम्य विप्रर्षिमधोमुख्यभ्यभाषत ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

दितिः—कश्यप-पत्नी दिति ने; तु—लेकिन; व्रीडिता—लज्जित; तेन—उस; कर्म—कार्य से; अवद्येन—दोषपूर्ण; भारत—हे भरतवंश के पुत्र; उपसङ्गम्य—पास जाकर; विप्र-ऋषिम्—ब्राह्मण ऋषि के; अधः-मुखी—अपना मुख नीचे किये; अभ्यभाषत—विनम्र होकर कहा।

हे भारत, इसके बाद दिति अपने पति के और निकट गई। उसका मुख दोषपूर्ण कृत्य के कारण झुका हुआ था। उसने इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : जब कोई व्यक्ति निन्दनीय कार्य के लिए लज्जित होता है, तो वह स्वभावत: नत मुख हो जाता है। दिति को अपने पति के साथ निन्दनीय संभोग करने के बाद चेत हुआ। ऐसे संभोग की वेश्यावृत्ति की तरह भर्त्सना की जाती है। दूसरे शब्दों में, यदि नियमों का ठीक से पालन न हो तो अपनी पत्नी के साथ संभोग भी वेश्यावृत्ति के समान है।

दितिरुवाच

न मे गर्भमिमं ब्रह्मन्भूतानामृषभोऽवधीत् ।
रुद्र: पतिर्हि भूतानां यस्याकरवमंहसम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

दितिः उवाच—सुन्दरी दिति ने कहा; न—नहीं; मे—मेरा; गर्भम्—गर्भ; इमम्—यह; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; भूतानाम्—सारे जीवों का; ऋषभः—सारे जीवों में सबसे नेक; अवधीत्—मार डाले; रुद्रः—शिवजी; पतिः—स्वामी; हि—निश्चय ही; भूतानाम्—सारे जीवों का; यस्य—जिसका; अकरवम्—मैंने किया है; अंहसम्—अपराध।

सुन्दरी दिति ने कहा : हे ब्राह्मण, कृपया ध्यान रखें कि समस्त जीवों के स्वामी भगवान् शिव द्वारा मेरा यह गर्भ नष्ट न किया जाय, क्योंकि मैंने उनके प्रति महान् अपराध किया है।

तात्पर्य : दिति को अपने अपराध का भान था और वह चाहती थी कि शिवजी उसे क्षमा कर दें। शिवजी के दो लोकप्रिय नाम हैं—रुद्र तथा आशुतोष। वे तुरन्त क्रुद्ध हो जाते हैं और क्षण भर में तुष्ट हो जाते हैं। दिति जानती थी कि तुरन्त क्रुद्ध होने के कारण वे उस गर्भ को नष्टकर सकते हैं जिसे उसने अवैध रीति से प्राप्त किया था। किन्तु वे आशुतोष भी हैं, अतएव उसने अपने ब्राह्मण पति से शिवजी को शान्त करने में सहायक बनने के लिए अनुनय-विनय की, क्योंकि उसका पति शिवजी का महान् भक्त था। दूसरे शब्दों में, हो सकता है कि शिवजी दिति पर क्रुद्ध हों, क्योंकि उसने अपने पति को नियम का उल्लंघन करने के लिए बाध्य किया था, किन्तु वे उसके पति की प्रार्थना को अस्वीकार नहीं कर सकते थे। इसलिए उसने अपने पति के माध्यम से क्षमायाचना के लिए निवेदन किया। उसने शिवजी से इस प्रकार प्रार्थना की।

नमो रुद्राय महते देवायोग्राय मीढुषे ।
शिवाय न्यस्तदण्डाय धृतदण्डाय मन्यवे ॥ ३५॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; रुद्राय—क्रुद्ध शिवजी को; महते—महान् को; देवाय—देवता को; उग्राय—उग्र को; मीढुषे—समस्त इच्छाओं को पूरा करने वाले को; शिवाय—सर्व कल्याण-कर को; न्यस्त-दण्डाय—क्षमा करने वाले को; धृत-दण्डाय—तुरन्त दण्ड देने वाले को; मन्यवे—क्रुद्ध को।

मैं उन क्रुद्ध शिवजी को नमस्कार करती हूँ जो एक ही साथ अत्यन्त उग्र महादेव तथा समस्त इच्छाओं को पूरा करने वाले हैं। वे सर्वकल्याणप्रद तथा क्षमाशील हैं, किन्तु उनका क्रोध उन्हें तुरन्त ही दण्ड देने के लिए चलायमान कर सकता है।

तात्पर्य : दिति ने बहुत ही चतुराई से शिवजी से कृपा के लिए प्रार्थना की। उसने प्रार्थना की: "भगवान् मुझे रुला सकते हैं, किन्तु वे चाहें तो मेरा सदन बन्द करा सकते हैं, क्योंकि वे आशुतोष हैं। वे इतने महान् हैं कि यदि चाहें तो मेरे गर्भ को तुरन्त नष्ट कर सकते हैं, किन्तु अपनी कृपा द्वारा वे मेरी यह इच्छा भी पूरी कर सकते हैं कि मेरा गर्भ विनष्ट न हो। चूँकि वे सर्वमंगलकारी हैं, अतएव मुझे दण्ड देने की अपेक्षा क्षमा करना उनके लिए कठिन नहीं है, यद्यपि वे मुझे दण्ड देने को उद्यत हैं, क्योंकि मैंने उनके महान् क्रोध को जगाया है। वे मनुष्य की तरह प्रतीत होते हैं, किन्तु वे सभी मनुष्यों के स्वामी हैं।"

स नः प्रसीदतां भामो भगवानुर्वनुग्रहः ।
व्याधस्याप्यनुकम्प्यानां स्त्रीणां देवः सतीपतिः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; नः—हम पर; प्रसीदताम्—प्रसन्न हों; भामः—बहनोई; भगवान्—समस्त ऐश्वर्यों वाले व्यक्ति; उरु—अति महान्; अनुग्रहः—कृपालु; व्याधस्य—शिकारी का; अपि—भी; अनुकम्प्यानाम्—कृपा के पात्रों का; स्त्रीणाम्—स्त्रियों के; देवः—आराध्य स्वामी; सती-पतिः—सती (साध्वी) के पति।

वे हम पर प्रसन्न हों, क्योंकि वे मेरी बहिन सती के पति, मेरे बहनोई हैं। वे समस्त स्त्रियों के आराध्य देव भी हैं। वे समस्त ऐश्वर्यों के व्यक्ति हैं और उन स्त्रियों के प्रति कृपा प्रदर्शित कर सकते हैं, जिन्हें असभ्य शिकारी भी क्षमा कर देते हैं।

तात्पर्य : शिवजी दिति की एक बहिन सती के पति हैं। दिति ने अपनी बहिन सती की प्रसन्नता का आह्वान किया जिससे सती अपने पति से उसे क्षमा कर देने के लिए आग्रह कर सकें। इसके अतिरिक्त, शिवजी समस्त स्त्रियों के आराध्य स्वामी हैं। वे स्वभावत: स्त्रियों के प्रति अतीव दयालु हैं, जिन पर असभ्य शिकारी तक कृपा प्रदर्शित करते हैं। चूँकि शिवजी स्वयं स्त्रियों की संगति में रहते हैं, अतएव वे उनके दोषपूर्ण स्वभाव को भलीभाँति जानते हैं और वे दिति के अपरिहार्य अपराध को

गम्भीरता से नहीं भी लें जो उसके दोषपूर्ण स्वभाव के कारण हो गया था। प्रत्येक कुमारी शिवजी की भक्तिन समझी जाती है। दिति को अपने बाल्यकाल की शिवपूजा का स्मरण हो आया और उसने दया की भीख माँगी।

मैत्रेय उवाच
स्वसर्गस्याशिषं लोक्यामाशासानां प्रवेपतीम् ।
निवृत्तसन्ध्यानियमो भार्यामाह प्रजापतिः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—महर्षि मैत्रेय ने कहा; स्व-सर्गस्य—अपनी ही सन्तानों का; आशिषम्—कल्याण; लोक्याम्—संसार में; आशासानाम्—इच्छा करते हुए; प्रवेपतीम्—काँपते हुए; निवृत्त—टाल दिया; सन्ध्या-नियमः—संध्याकालीन विधि-विधान; भार्याम्—पत्नी से; आह—कहा; प्रजापतिः—जनक।

मैत्रेय ने कहा : तब महर्षि कश्यप ने अपनी पत्नी को सम्बोधित किया जो इस भय से काँप रही थी कि उसके पति का अपमान हुआ है। वह समझ गई कि उन्हें संध्याकालीन प्रार्थना करने के नैत्यिक कर्म से विरत होना पड़ा है, फिर भी वह संसार में अपनी सन्तानों का कल्याण चाहती थी।

कश्यप उवाच
अप्रायत्यादात्मनस्ते दोषान्मौहूर्तिकादुत ।
मन्निदेशातिचारेण देवानां चातिहेलनात् ॥ ३८॥

शब्दार्थ

कश्यपः उवाच—विद्वान ब्राह्मण कश्यप ने कहा; अप्रायत्यात्—दूषण के कारण; आत्मनः—मन के; ते—तुम्हारे; दोषात्—अपवित्र होने; मौहूर्तिकात्—मुहूर्त भर में; उत—भी; मत्—मेरा; निदेश—निर्देश; अतिचारेण—अत्यधिक उपेक्षा करने से; देवानाम्—देवताओं का; च—भी; अतिहेलनात्—अत्यधिक अवहेलित होकर।

विद्वान कश्यप ने कहा : तुम्हारा मन दूषित होने, मुहूर्त विशेष के अपवित्र होने, मेरे निर्देशों की तुम्हारे द्वारा उपेक्षा किये जाने तथा तुम्हारे द्वारा देवताओं की अवहेलना होने से सारी बातें अशुभ थीं।

तात्पर्य : समाज में अच्छी सन्तान पाने के लिए शर्तें हैं कि पति धार्मिक तथा कर्मकाण्डीय नियमों में अनुशासित हो और पत्नी पतिपरायणा हो। *भगवद्गीता* (७.११) में कहा गया है कि धार्मिक नियमों के अनुसार संभोग कृष्णभावनामृत का स्वरूप है। संभोग करने के पूर्व पति तथा पत्नी दोनों को अपनी मानसिक स्थिति, काल विशेष, पति-निर्देश तथा देवताओं के प्रति आज्ञाकारिता पर विचार करना

चाहिए। वैदिक समाज के अनुसार यौन जीवन के लिए उपयुक्त शुभ समय होता है, जो *गर्भाधान* का समय कहलाता है। दिति ने शास्त्रीय आदेश के सभी नियमों का उल्लंघन किया। इसलिए शुभ संतानें पाने के हेतु अतीव उत्सुक होने पर भी उसे यह बताया गया कि उसकी सन्तानें ब्राह्मण के पुत्र होने के योग्य नहीं होंगी। यहाँ पर स्पष्ट संकेत है कि ब्राह्मण का पुत्र सदैव ब्राह्मण नहीं होता। रावण तथा हिरण्यकशिपु जैसे पुरुष वस्तुतः ब्राह्मणों से उत्पन्न थे, किन्तु उन्हें ब्राह्मण के रूप में स्वीकार नहीं किया गया, क्योंकि इनके पिताओं ने उनके जन्म के लिए विधि-विधानों का पालन नहीं किया था। ऐसी सन्तानें असुर या राक्षस कहलाती हैं। पूर्वकाल में अनुशासन विधियों की लापरवाही से केवल एक या दो राक्षस थे, किन्तु कलियुग में तो यौन जीवन पर कोई अनुशासन है ही नहीं। तब फिर कोई अच्छी सन्तान की आशा कैसे कर सकता है? निश्चय ही अवांछित सन्तानें समाज में सुख का स्रोत नहीं हो सकतीं, किन्तु कृष्णभावनामृत के माध्यम से ईश्वर के नाम का उच्चारण करने से वे मानव-स्तर तक ऊपर उठ सकते हैं। मानव समाज के लिए श्री चैतन्य महाप्रभु का यह अद्वितीय योगदान है।

भविष्यतस्तवाभद्रावभद्रे जाठराधमौ ।
लोकान्सपालांस्त्रींश्चण्डि मुहुराक्रन्दयिष्यतः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

भविष्यतः—जन्म लेगा; तव—तुम्हारा; अभद्रौ—दो अभद्र पुत्र; अभद्रे—हे अभागिन; जाठर-अधमौ—निन्दनीय गर्भ से उत्पन्न; लोकान्—सारे लोकों; स-पालान्—उनके शासकों समेत; त्रीन्—तीन; चण्डि—गर्वीली; मुहुः—निरन्तर; आक्रन्-दयिष्यतः—शोक के कारण बनेंगे।

हे अभिमानी स्त्री! तुम्हारे निंदित गर्भ से दो अभद्र पुत्र उत्पन्न होंगे। अरी अभागिन! वे तीनों लोकों के लिए निरन्तर शोक का कारण बनेंगे।

तात्पर्य : अभद्र पुत्रों का जन्म उनकी माता के निन्दित गर्भ से होता है। *भगवद्गीता* (१.४०) में कहा गया है, " जब भी धार्मिक जीवन के विधि-विधानों की जानबूझकर उपेक्षा की जाती है, तो स्त्री जाति दूषित हो जाती है और इसके फलस्वरूप अवांछित सन्तानें उत्पन्न होती हैं।" यह बालकों पर विशेषरूप से लागू होता है। यदि माता अच्छी नहीं है, तो अच्छे पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकते। विद्वान् कश्यप मुनि पहले से ही उन पुत्रों के चरित्र को भाँप सके जो दिति के निन्दित गर्भ से जन्म लेंगे। गर्भ की निन्दा की गई थी, क्योंकि माता अत्यधिक कामोन्मुख थी और इस तरह वह शास्त्रों के सारे निमयों

तथा आदेशों का उल्लंघन कर रही थी। समाज में जहाँ ऐसी स्त्रियों की प्रधानता होती है, वहाँ अच्छी सन्तानों की उम्मीद नहीं करनी चाहिए।

प्राणिनां हन्यमानानां दीनानामकृतागसाम् ।
स्त्रीणां निगृह्यमाणानां कोपितेषु महात्मसु ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

प्राणिनाम्—जब जीवों का; हन्यमानानाम्—मारे जाते हुए; दीनानाम्—दीनों का; अकृत-आगसाम्—निर्दोषों का; स्त्रीणाम्—स्त्रियों का; निगृह्यमाणानाम्—सताये जाते हुओं का; कोपितेषु—क्रुद्ध हुओं का; महात्मसु—महात्माओं का।.

वे दीन, निर्दोष जीवों का वध करेंगे, स्त्रियों को सताएँगे तथा महात्माओं को क्रोधित करेंगे।

तात्पर्य : जब दीन निर्दोष जीवों का वध किया जाता है, स्त्रियों को सताया जाता है तथा कृष्णभावनामृत में लगे महात्माओं को **क्रोधित** किया जाता है, तो आसुरी कार्यों की प्रधानता होती है। आसुरी समाज में जीभ की तुष्टि के लिए दीन पशुओं की हत्या की जाती है तथा स्त्रियों को अनावश्यक यौन लिप्तता द्वारा सताया जाता है। जहाँ पर स्त्रियाँ तथा मांस हों वहाँ पर सुरा तथा यौन लिप्तता भी अवश्य होगी। जब समाज में इनकी प्रधानता होती है, तो या तो स्वयं भगवान् या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि द्वारा सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन होने की अपेक्षा की जाती है।

तदा विश्वेश्वरः क्रुद्धो भगवाल्लोकभावनः ।
हनिष्यत्यवतीर्यासौ यथाद्रीन्शतपर्वधृक् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; विश्व-ईश्वरः—ब्रह्माण्ड के स्वामी; क्रुद्धः—अतीव क्रोध में; भगवान्—भगवान्; लोक-भावनः—सामान्य जनों का कल्याण चाहने वाले; हनिष्यति—वध करेगा; अवतीर्य—स्वयं अवतरित होकर; असौ—वह; यथा—मानो; अद्रीन्—पर्वतों को; शत-पर्व-धृक्—वज्र का नियन्ता (इन्द्र)।.

उस समय ब्रह्माण्ड के स्वामी पुरुषोत्तम भगवान् जो कि समस्त जीवों के हितैषी हैं अवतरित होंगे और उनका इस तरह वध करेंगे जिस तरह इन्द्र अपने वज्र से पर्वतों को ध्वस्त कर देता है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (४.८) में कहा गया है; भगवान् भक्तों का उद्धार करने तथा दुष्टों का वध करने के लिए अवतार रूप में आते हैं। ब्रह्माण्ड तथा सबों के स्वामी दिति के पुत्रों का वध करने के लिए प्रकट होंगे, क्योंकि वे भगवद्भक्तों का अपमान करेंगे। भगवान् के अनेक अभिकर्ता हैं यथा इन्द्र, चन्द्र, वरुण, देवी दुर्गा तथा काली जो संसार के किसी भी भयानक दुष्ट को दण्ड दे सकते

हैं। वज्र द्वारा पर्वतों के ध्वस्त किये जाने का दृष्टान्त अति उपयुक्त है। ब्रह्माण्ड में, पर्वत को सबसे सुदृढ़ निर्मित वस्तु माना जाता है फिर भी भगवान् की व्यवस्था द्वारा इसे आसानी से ध्वस्त किया जा सकता है। भगवान् को किसी सुदृढ़ निर्मित वस्तु का संहार करने के लिए अवतरित होने की आवश्यकता नहीं है, वे तो केवल अपने भक्तों के हेतु आते हैं। हर व्यक्ति को प्रकृति द्वारा प्रदत्त कष्टों को भोगना पड़ता है, किन्तु दुष्टों के कार्य यथा निर्दोष लोगों तथा पशुओं का वध या स्त्रियों का सताया जाना हर एक के लिए हानिकारक है, अत: वे भक्तों के लिए पीड़ा का स्रोत बनते हैं, इसलिए भगवान् अवतरित होते हैं। वे अपने उत्कट भक्तों को राहत देने के लिए ही अवतरित होते हैं। भगवान् द्वारा दुष्ट का वध भी उस दुष्ट के प्रति भगवान् की कृपा है यद्यपि बाह्यत: भगवान् भक्त का ही पक्ष लेते हैं। चूँकि भगवान् सर्वोच्च हैं, अतएव दुष्टों का वध करने तथा भक्तों का पक्ष लेने के उन के कार्यों में कोई भेद नहीं है।

दितिरुवाच

वधं भगवता साक्षात्सुनाभोदारबाहुना ।
आशासे पुत्रयोर्मह्यं मा क्रुद्धाद्ब्राह्मणाद्प्रभो ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

दिति: उवाच—दिति ने कहा; वधम्—मारा जाना; भगवता—भगवान् द्वारा; साक्षात्—प्रत्यक्ष रूप से; सुनाभ—अपने सुदर्शन चक्र द्वारा; उदार—अत्यन्त उदार; बाहुना—बाहों द्वारा; आशासे—मेरी इच्छा है; पुत्रयो:—पुत्रों की; मह्यम्—मेरे; मा—कभी ऐसा न हो; क्रुद्धात्—क्रोध से; ब्राह्मणात्—ब्राह्मण के; प्रभो—हे पति।

दिति ने कहा : यह तो अति उत्तम है कि मेरे पुत्र भगवान् द्वारा उनके सुदर्शन चक्र से उदारतापूर्वक मारे जायेंगे। हे मेरे पति, वे ब्राह्मण-भक्तों के क्रोध से कभी न मारे जाँय।

तात्पर्य : जब दिति ने अपने पति से यह सुना कि उसके पुत्रों के कार्यों से बड़े बड़े महात्मा क्रोधित होंगे तो वह अत्यधिक चिन्तित हो उठी। उसने सोचा कि कहीं ऐसा न हो कि उसके पुत्र ब्राह्मणों के क्रोध से मारे जाँए। जब ब्राह्मण किसी पर क्रुद्ध होते हैं, तो उस समय भगवान् प्रकट नहीं होते, क्योंकि ब्राह्मण-क्रोध अपने आप में पर्याप्त होता है। किन्तु वे तब अवश्य प्रकट होते हैं जब उनका भक्त केवल दुखी होता है। भक्त कभी भी दुष्टों द्वारा दिये जाने वाले कष्टों के कारण भगवान् से प्रकट होने की प्रार्थना नहीं करता और वह रक्षा करने के लिए याचना करके उन्हें कष्ट नहीं देता। प्रत्युत भगवान् ही भक्तों को संरक्षण प्रदान करने के लिए चिन्तित रहते हैं। दिति भलीभाँति जानती थी कि भगवान् द्वारा उसके पुत्रों का वध भी उनकी कृपा ही होगी, अतएव वह कहती है कि भगवान् का

चक्र तथा उनकी बाहें उदार हैं। यदि कोई भगवान् के चक्र द्वारा मारा जाता है और इस तरह वह भगवान् की बाहें देखने का भाग्यशाली होता है, तो यही उसकी मुक्ति के लिए पर्याप्त है। ऐसा सौभाग्य बड़े बड़े मुनियों को भी नहीं मिल पाता।

न ब्रह्मदण्डदग्धस्य न भूतभयदस्य च ।
नारकाश्चानुगृह्णन्ति यां यां योनिमसौ गतः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; ब्रह्म-दण्ड—ब्राह्मण द्वारा दिया गया दण्ड; दग्धस्य—इस तरह से दण्डित होने वाले का; न—न तो; भूत-भय-दस्य—उसका, जो जीवों को सदा डराता रहता है; च—भी; नारकाः—नरक जाने वाले; च—भी; अनुगृह्णन्ति—कोई अनुग्रह करते हैं; याम् याम्—जिस जिस को; योनिम्—जीव योनि को; असौ—अपराधी; गतः—जाता है।

जो व्यक्ति ब्राह्मण द्वारा तिरस्कृत किया जाता है या जो अन्य जीवों के लिए सदैव भयप्रद बना रहता है, उसका पक्ष न तो पहले से नरक में रहने वालों द्वारा, न ही उन योनियों में रहने वालों द्वारा लिया जाता है, जिसमें वह जन्म लेता है।

तात्पर्य : तिरस्कृत जीव योनि का व्यावहारिक उदाहरण कुत्ता है। कुत्ते इतने अधिक तिरस्कृत रहते हैं कि वे अपने ही बिरादरी वालों पर तनिक भी समवेदना नहीं दिखाते।

कश्यप उवाच

कृतशोकानुतापेन सद्यः प्रत्यवमर्शनात् ।
भगवत्युरुमानाच्च भवे मय्यपि चादरात् ॥ ४४ ॥
पुत्रस्यैव च पुत्राणां भवितैकः सतां मतः ।
गास्यन्ति यद्यशः शुद्धं भगवद्यशसा समम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

कश्यपः उवाच—विद्वान कश्यप ने कहा; कृत-शोक—शोक कर चुकने पर; अनुतापेन—पश्चात्ताप द्वारा; सद्यः—तुरन्त; प्रत्यवमर्शनात्—उचित विचार-विमर्श द्वारा; भगवति—भगवान् के प्रति; उरु—अत्यधिक; मानात्—प्रशंसा; च—तथा; भवे—शिव के प्रति; मयि अपि—मुझको भी; च—तथा; आदरात्—आदर से; पुत्रस्य—पुत्र का; एव—निश्चय ही; च—तथा; पुत्राणाम्—पुत्रों का; भविता—उत्पन्न होगा; एकः—एक; सताम्—भक्तों का; मतः—अनुमोदित; गास्यन्ति—प्रचार करेगा; यत्—जिसको; यशः—ख्याति; शुद्धम्—दिव्य; भगवत्—भगवान् को; यशसा—ख्याति से; समम्—समान रूप से।

विद्वान कश्यप ने कहा : तुम्हारे शोक, पश्चात्ताप तथा समुचित वार्तालाप के कारण तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् में तुम्हारी अविचल श्रद्धा एवं शिवजी तथा मेरे प्रति तुम्हारी प्रशंसा के कारण भी तुम्हारे पुत्र (हिरण्यकशिपु) का एक पुत्र (प्रह्लाद) भगवान् द्वारा अनुमोदित भक्त होगा और उसकी ख्याति भगवान् के ही समान प्रचारित होगी।

योगैर्हेमेव दुर्वर्णं भावयिष्यन्ति साधवः ।
निर्वैरादिभिरात्मानं यच्छीलमनुवर्तितुम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

योगैः—शुद्धिकरण की विधि से; हेम—सोना; इव—सदृश; दुर्वर्णम्—निम्न गुण; भावयिष्यन्ति—शुद्ध कर देगा; साधवः—साधु पुरुष; निर्वैर-आदिभिः—शत्रुता इत्यादि से मुक्त होने के अभ्यास से.; आत्मानम्—आत्मा; यत्—जिसका; शीलम्—चरित्र; अनुवर्तितुम्—चरणचिह्नों का अनुगमन करना।.

उसके पदचिन्हों का अनुसरण करने के लिए सन्त पुरुष शत्रुता से मुक्त होने का अभ्यास करके उसके चरित्र को आत्मसात् करना चाहेंगे जिस तरह शुद्धिकरण की विधियाँ निम्न गुण वाले सोने को शुद्ध कर देती हैं।

तात्पर्य : योगाभ्यास जो कि अपने जीवन को शुद्ध करने की विधि है, वह मुख्यत: आत्मसंयम पर निर्भर है। आत्मसंयम के बिना शत्रुता से मुक्ति का अभ्यास नहीं किया जा सकता। बद्ध अवस्था में हर जीव अन्य जीव से ईर्ष्या करता है, किन्तु मुक्त अवस्था में शत्रुता का अभाव होता है। प्रह्लाद महाराज अनेकानेक प्रकारों से अपने पिता द्वारा सताये गये थे फिर भी अपने पिता की मृत्यु के बाद उन्होंने भगवान् से अपने पिता के मोक्ष हेतु प्रार्थना की। उन्होंने कोई और वर नहीं माँगा, अपितु उन्होंने यही प्रार्थना की कि उनका नास्तिक पिता मोक्ष पाए। उन्होंने कभी किसी भी ऐसे व्यक्ति को शाप नहीं दिया जो उनके पिता के कहने पर उन्हें सताता था।

यत्प्रसादादिदं विश्वं प्रसीदति यदात्मकम् ।
स स्वदृग्भगवान्यस्य तोष्यतेऽनन्यया दृशा ॥ ४७॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; प्रसादात्—कृपा से; इदम्—यह; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; प्रसीदति—सुखी बनता है; यत्—जिसके; आत्मकम्—सर्वव्यापक होने से; सः—वह; स्व-दृक्—अपने भक्तों की विशेष परवाह करने वाले; भगवान्—भगवान्; यस्य—जिसका; तोष्यते—प्रसन्न होता है; अनन्यया—बिना विचलन के; दृशा—बुद्धि से।.

हर व्यक्ति उनसे प्रसन्न रहेगा, क्योंकि ब्रह्माण्ड के परम नियन्ता भगवान् सदैव ऐसे भक्त से तुष्ट रहते हैं, जो उनके अतिरिक्त और किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता।

तात्पर्य : पुरुषोत्तम भगवान् सर्वत्र परमात्मा रूप में स्थित हैं और वे जिस किसी को भी चाहें उसे अपनी इच्छानुसार आदेश दे सकते हैं। दिति का होने वाला पौत्र, जिसके महान् भक्त होने की भविष्यवाणी की गई थी, सबों का यहाँ तक कि अपने पिता के शत्रुओं का भी प्रिय होगा, क्योंकि

उसके पास भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई दृष्टि नहीं होगी। शुद्ध भक्त अपने आराध्य ईश की उपस्थिति सर्वत्र देखता है। भगवान् इस प्रकार से आदान-प्रदान करते हैं कि वे सारे जीव भी जिनमें भगवान् परमात्मा रूप में निवास कर रहे होते हैं शुद्ध भक्त को चाहते हैं, क्योंकि भगवान् उनके हृदयों में उपस्थित रहता है और वे उन्हें अपने भक्त के साथ मैत्री भाव रखने के लिए आदेश दे सकते हैं। इतिहास में ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं जिसमें उग्र से उग्र पशु भी भगवान् के शुद्ध भक्त के प्रति मित्रवत् बन गया।

स वै महाभागवतो महात्मा
महानुभावो महतां महिष्ठः ।
प्रवृद्धभक्त्या ह्यनुभाविताशये
निवेश्य वैकुण्ठमिमं विहास्यति ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निश्चय ही; महा-भागवतः—सर्वोच्च भक्त; महा-आत्मा—विशाल बुद्धि; महा-अनुभावः—विशाल प्रभाव; महताम्—महात्माओं का; महिष्ठः—सर्वोच्च; प्रवृद्ध—पूर्णतया प्रौढ़; भक्त्या—भक्ति से; हि—निश्चय ही; अनुभावित—भाव की अनुभाव दशा को प्राप्त; आशये—मन में; निवेश्य—प्रवेश करके; वैकुण्ठम्—आध्यात्मिक आकाश में; इमम्—इसको (भौतिक जगत) को; विहास्यति—छोड़ देगा।

भगवान् का सर्वोच्च भक्त विशाल बुद्धि तथा विशाल प्रभाव वाला होगा और महात्माओं में सबसे महान् होगा। परिपक्व भक्तियोग के कारण वह निश्चय ही दिव्य भाव में स्थित होगा और इस संसार को छोड़ने पर वैकुण्ठ में प्रवेश करेगा।

तात्पर्य : भक्तियोग में दिव्य प्रगति की तीन अवस्थाएँ हैं, जिन्हें *स्थायी भाव, अनुभाव* तथा *महाभाव* कहा जाता है। निरन्तर पूर्ण भगवत्प्रेम *स्थायी-भाव* कहलाता है और जब यह किसी विशेष दिव्य सम्बन्ध में सम्पन्न किया जाता है, तो *अनुभाव* कहलाता है। किन्तु *महाभाव* की अवस्था भगवान् की निजी ह्लादिनी शक्ति के मध्य ही दृष्टिगोचर होती है। ऐसा समझा जाता है कि दिति का पौत्र अर्थात् प्रह्लाद महाराज निरन्तर भगवान् का ध्यान करेगा और उनके कार्यकलापों का बारम्बार कथन करेगा। ध्यान में निरन्तर व्यस्त रहने के कारण वह अपना भौतिक शरीर त्याग कर वैकुण्ठलोक चला जायेगा। अब भी ऐसा ध्यान भगवान् के नाम के कीर्तन तथा श्रवण द्वारा अधिक सुविधापूर्वक सम्पन्न किया जाता है। इस कलियुग के लिए इसकी विशेष रूप से संस्तुति की जाती है।

अलम्पटः शीलधरो गुणाकरो
हृष्टः परर्द्ध्या व्यथितो दुःखितेषु ।
अभूतशत्रुर्जगतः शोकहर्ता
नैदाघिकं तापमिवोडुराजः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

अलम्पटः—पुण्यशील; शील-धरः—योग्य; गुण-आकरः—समस्त सद्गुणों की खान; हृष्टः—प्रसन्न; पर-ऋद्ध्या—अन्य के सुख से; व्यथितः—दुखी; दुःखितेषु—अन्यों के दुख में; अभूत-शत्रुः—शत्रुरहित, अजातशत्रु; जगतः—सारे ब्रह्माण्डका; शोक-हर्ता—शोक का विनाशक; नैदाघिकम्—ग्रीष्मकालीन घाम से; तापम्—कष्ट; इव—सदृश; उडु-राजः—चन्द्रमा।

वह समस्त सद्गुणों का अतीव सुयोग्य आगार होगा, वह प्रसन्न रहेगा और अन्यों के सुख में सुखी, अन्यों के दुख में दुखी होगा तथा उसका एक भी शत्रु नहीं होगा। वह सारे ब्रह्माण्डों के शोक का उसी तरह नाश करने वाला होगा जिस तरह ग्रीष्मकालीन सूर्य के बाद सुहावना चन्द्रमा।

तात्पर्य : भगवान् के आदर्श भक्त प्रह्लाद महाराज में समस्त सम्भव मानवीय गुण विद्यमान थे। यद्यपि वे इस जगत के सम्राट थे, किन्तु वे लम्पट या व्यभिचारी न थे। वे बाल्यकाल से ही समस्त सद्गुणों के आगार थे। उन गुणों को गिनाये बिना सारांश रूप में यहाँ बताया गया है कि वे समस्त सद्गुणों से युक्त थे। यही शुद्ध भक्त का लक्षण है। शुद्ध भक्त का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण यह है कि वह *लम्पट* नहीं होता और दूसरा गुण यह है कि वह कष्ट भोग रही मानवता के दुखों को दूर करने के लिए सदैव उत्सुक रहता है। जीव का सबसे घिनौना कष्ट है कृष्ण की विस्मृति। इसीलिए शुद्ध भक्त सदैव हर एक में कृष्णभावनामृत को जगाने का प्रयास करता रहता है। यह सारे कष्टों की रामबाण ओषधि है।

अन्तर्बहिश्चामलमब्जनेत्रं
स्वपूरुषेच्छानुगृहीतरूपम् ।
पौत्रस्तव श्रीललनाललामं
द्रष्टा स्फुरत्कुण्डलमण्डिताननम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

अन्तः—भीतर से; बहिः—बाहर से; च—भी; अमलम्—निर्मल; अब्ज-नेत्रम्—कमल नेत्र; स्व-पूरुष—अपना भक्त; इच्छा-अनुगृहीत-रूपम्—इच्छानुरूप शरीर धारण करके; पौत्रः—नाती; तव—तुम्हारा; श्री-ललना—सुन्दर लक्ष्मीजी; ललामम्—अलंकृत; द्रष्टा—देखेगा; स्फुरत्-कुण्डल—चमकीले कुंडलों से; मण्डित—सुशोभित; आननम्—मुख।

तुम्हारा पौत्र भीतर तथा बाहर से उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का दर्शन कर सकेगा जिन की

पत्नी सुन्दरी लक्ष्मीजी हैं। भगवान् भक्त द्वारा इच्छित रूप धारण कर सकते हैं और उनका मुखमण्डल सदैव कुण्डलों से सुन्दर ढंग से अलंकृत रहता है।

तात्पर्य : यहाँ पर यह भविष्यवाणी की गई है कि दिति के पौत्र प्रह्लाद महाराज ध्यान के द्वारा न केवल अपने भीतर भगवान् का दर्शन कर सकेंगे, अपितु वे उन्हें अपनी आँखों से साक्षात् भी देख सकेंगे। यह साक्षात् दर्शन केवल उसी के लिए सम्भव है, जो कृष्णभावनामृत में बहुत ही उच्चस्थ बढ़ा-चढ़ा हो, क्योंकि भगवान् को भौतिक आँखों से नहीं देखा जा सकता। भगवान् के नाना नित्य रूप हैं यथा कृष्ण, बलदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, वासुदेव, नारायण, राम, नृसिंह, वराह तथा वामन और भगवान् का भक्त इन सारे विष्णु रूपों को जानता है। शुद्ध भक्त भगवान् के किसी एक नित्य रूप से जुड़ जाता है और भगवान् उसके समक्ष इच्छित रूप में प्रकट होने के लिए प्रसन्न हो जाते हैं। भक्त भगवान् के रूप के बारे में न तो मनमानी कल्पना करता है, न ही वह कभी यह सोचता है कि भगवान् निर्विशेष हैं और अभक्त द्वारा चाहा गया कोई रूप धारण कर सकते हैं। अभक्त को भगवान् के रूप का कोई अनुमान नहीं होता, अतएव वह उपर्युक्त रूपों में से किसी के भी विषय में चिन्तन नहीं कर सकता। किन्तु जब भी कोई भक्त भगवान् का दर्शन करता है, तो वह उन्हें अत्यन्त सुन्दर ढंग से सजे तथा उनकी नित्य संगिनी तथा नित्य सुन्दरी लक्ष्मीजी के साथ देखता है।

मैत्रेय उवाच
श्रुत्वा भागवतं पौत्रमममोदत दितिर्भृशम् ।
पुत्रयोश्च वधं कृष्णाद्विदित्वासीन्महामनाः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; श्रुत्वा—सुनकर; भागवतम्—भगवान् के महान् भक्त होने के लिए; पौत्रम्—पौत्र को; अमोदत—आनन्द का अनुभव किया; दितिः—दिति ने; भृशम्—अत्यधिक; पुत्रयोः—दोनों पुत्रों का; च—भी; वधम्—वध; कृष्णात्—कृष्ण द्वारा; विदित्वा—जानकर; आसीत्—हो गई; महा-मनाः—मन में अतीव हर्षित।

मैत्रेय मुनि ने कहा : यह सुनकर कि उसका पौत्र महान् भक्त होगा और उसके पुत्र भगवान् कृष्ण द्वारा मारे जायेंगे, दिति मन में अत्यधिक हर्षित हुई।

तात्पर्य : दिति यह जानकर अतीव खिन्न थी कि उसके असामयिक गर्भधारण से उसके पुत्र असुर होंगे और वे भगवान् से युद्ध करेंगे। किन्तु जब उसने सुना कि उसका पौत्र महान् भक्त होगा और उसके दोनों पुत्र भगवान् द्वारा मारे जायेंगे तो वह अतीव तुष्ट हो गई। एक महान ऋषि की पत्नी तथा महान्

प्रजापति दक्ष की पुत्री होने के नाते वह जानती थी कि भगवान् द्वारा मारा जाना परम सौभाग्य है। चूँकि भगवान् परम पूर्ण हैं, अतएव उनके हिंसा तथा अहिंसा दोनों कार्य परम स्तर पर होते हैं। भगवान् के ऐसे कार्यों में कोई अन्तर नहीं होता। संसारी हिंसा तथा अहिंसा का भगवान् के कार्यों से कोई सरोकार नहीं होता। उनके द्वारा मारा गया असुर वही फल प्राप्त करता है जितना वह भक्त जो अनेकानेक जन्मों की तपस्या के बाद मोक्ष प्राप्त करता है। यहाँ पर *भृशम्* शब्द सार्थक है, क्योंकि यह सूचित करता है कि दिति अपनी अपेक्षाओं से भी अधिक हर्षित थी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''संध्या समय दिति का गर्भधारण'' नामक चौदहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पन्द्रह

ईश्वर के साम्राज्य का वर्णन

मैत्रेय उवाच
प्राजापत्यं तु तत्तेजः परतेजोहनं दितिः ।
दधार वर्षाणि शतं शङ्कमाना सुरार्दनात् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—महर्षि मैत्रेय ने कहा; प्राजापत्यम्—महान् प्रजापति का; तु—लेकिन; तत् तेजः—उसका बलशाली वीर्य; पर-तेजः—अन्यों का पराक्रम; हनम्—कष्ट देने वाला; दितिः—दिति (कश्यप पत्नी) ने; दधार—धारण किया; वर्षाणि—वर्षों तक; शतम्—एक सौ; शङ्कमाना—शंकालु; सुर-अर्दनात्—देवताओं को उद्विग्न करने वाले।

श्री मैत्रेय ने कहा : हे विदुर, महर्षि कश्यप की पत्नी दिति यह समझ गई कि उसके गर्भ में स्थित पुत्र देवताओं के विक्षोभ के कारण बनेंगे। अतः वह कश्यप मुनि के तेजवान वीर्य को एक सौ वर्षों तक निरन्तर धारण किये रही, क्योंकि यह अन्यों को कष्ट देने वाला था।

तात्पर्य : महर्षि श्री मैत्रेय विदुर से ब्रह्मा समेत सारे देवताओं के कार्यों की विवेचना कर रहे थे। जब दिति ने अपने पति के मुख से सुना कि वह अपनी कोख में जो पुत्र धारण किए हुए हैं, वे देवताओं के लिए विक्षोभ के कारण बनेंगे तो वह बहुत प्रसन्न नहीं थी। मनुष्य दो तरह के होते हैं—भक्त तथा अभक्त। अभक्त-गण असुर कहलाते हैं और भक्तगण देवता कहलाते हैं। कोई भी विवेकवान पुरुष या स्त्री अभक्तों द्वारा भक्तों को कष्ट दिए जाना सहन नहीं कर सकता। इसलिए दिति पुत्रों को जन्म देने में हिचक रही थी। इसीलिए उसने सौ वर्षों तक प्रतीक्षा की जिससे कम से कम उस अवधि के लिए तो देवताओं को उत्पात से बचा सके

लोके तेनाहतालोके लोकपाला हतौजसः ।
न्यवेदयन्विश्वसृजे ध्वान्तव्यतिकरं दिशाम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

लोके—इस ब्रह्माण्ड में; तेन—दिति के गर्भधारण के बल पर; आहत—विहीन होकर; आलोके—प्रकाश; लोक-पालाः—विभिन्न लोकों के देवता; हत-ओजसः—जिसका तेज मन्द हो चुका था; न्यवेदयन्—पूछा; विश्व-सृजे—ब्रह्मा से; ध्वान्त-व्यतिकरम्—अंधकार का विस्तार; दिशाम्—सारी दिशाओं में।

दिति के गर्भधारण करने से सारे लोकों में सूर्य तथा चन्द्रमा का प्रकाश मंद हो गया और विभिन्न लोकों के देवताओं ने उस बल से विचलित होकर ब्रह्माण्ड के स्त्रष्टा ब्रह्मा से पूछा, ''सारी दिशाओं में अंधकार का यह विस्तार कैसा?''

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक से ऐसा लगता है कि सूर्य ब्रह्माण्ड के सारे लोकों के लिए प्रकाश के स्रोत का कार्य करता है। इस श्लोक से उस आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त का समर्थन नहीं होता जिसके अनुसार प्रत्येक ब्रह्माण्ड में अनेक सूर्य होते हैं। ऐसा समझा जाता है कि प्रत्येक ब्रह्माण्ड में केवल एक सूर्य है, जो सारे लोकों के प्रकाश की पूर्ति करता है। *भगवद्गीता* में चन्द्रमा को भी एक नक्षत्र कहा गया है। नक्षत्र अनेक हैं और जब हम उन्हें रात के समय चमकते देखते हैं, तो हम यह समझ सकते हैं कि वे प्रकाश का परावर्तन करने वाले हैं। जिस तरह चन्द्रमा का प्रकाश सूर्य-प्रकाश का परावर्तन है उसी तरह अन्य लोक भी सूर्यप्रकाश को परावर्तित करते हैं और ऐसे अन्य अनेक लोक हैं, जिन्हें हम अपनी आँखों से नहीं देख सकते। दिति के गर्भ में स्थित पुत्रों के आसुरी प्रभाव से ब्रह्माण्ड भर में अंधकार फैल गया।

देवा ऊचुः
तम एतद्विभो वेत्थ संविग्ना यद्वयं भृशम् ।
न ह्यव्यक्तं भगवतः कालेनास्पृष्टवर्त्मनः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

देवाः ऊचुः—देवताओं ने कहा; तमः—अंधकार; एतत्—यह; विभो—हे महान्; वेत्थ—तुम जानो; संविग्नाः—अत्यन्त चिन्तित; यत्—क्योंकि; वयम्—हम; भृशम्—अत्यधिक; न—नहीं; हि—क्योंकि; अव्यक्तम्—अप्रकट; भगवतः—आपका (भगवान् का); कालेन—काल द्वारा; अस्पृष्ट—अछूता; वर्त्मनः—जिसका मार्ग।

भाग्यवान् देवताओं ने कहा : हे महान्, जरा इस अंधकार को तो देखो, जिसे आप अच्छी तरह जानते हैं और जिससे हमें चिन्ता हो रही है। चूँकि काल का प्रभाव आपको छू नहीं सकता, अतएव आपके समक्ष कुछ भी अप्रकट नहीं है।

तात्पर्य : यहाँ पर ब्रह्मा को *विभु* तथा भगवान् कहा गया है। वे भौतिक जगत में भगवान् के रजोगुणी अवतार हैं। प्रतिनिधि के रूप में वे भगवान् से अभिन्न हैं, अतएव उन पर काल का प्रभाव नहीं पड़ता। काल का प्रभाव भूत, वर्तमान तथा भविष्य के रूप में प्रकट होता है। यह ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं जैसे महान् पुरुषों का स्पर्श नहीं कर पाता। कभी कभी देवता तथा महर्षिगण जिन्होंने ऐसी सिद्धि प्राप्त कर ली है *त्रिकालज्ञ* कहलाते हैं।

देवदेव जगद्धातर्लोकनाथशिखामणे ।

परेषामपरेषां त्वं भूतानामसि भाववित् ॥ ४॥

शब्दार्थ

देव-देव—हे देवताओं के स्वामी; जगत्-धात:—ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले; लोकनाथ-शिखामणे—हे अन्य लोकों के समस्त देवताओं के शिरो-मणि; परेषाम्—आध्यात्मिक जगत का; अपरेषाम्—भौतिक जगत का; त्वम्—तुम; भूतानाम्—सारे जीवों के; असि—हो; भाव-वित्—मनोभावों को जानने वाले।

हे देवताओं के देव, हे ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले, हे अन्यलोकों के समस्त देवताओं के शिरोमणि, आप आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों ही जगतों में सारे जीवों के मनोभावों को जानते हैं।

तात्पर्य : चूँकि ब्रह्मा भगवान् के ही तुल्यप्राय हैं इसीलिए उन्हें यहाँ पर *देवदेव* कहकर सम्बोधित किया गया है और चूँकि वे इस ब्रह्माण्ड के गौण स्रष्टा हैं इसलिए उन्हें ब्रह्माण्ड को धारण करने वाला कहा गया है। वे सारे देवताओं के मुखिया हैं इसलिए उन्हें देवताओं का शिरोमणि कहा गया है। आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों ही जगतों में जो कुछ घटित हो रहा है उसे समझ पाना उनके लिए कठिन नहीं। वे हर एक के हृदय की बात तथा हर एक के मनोभाव को जानते हैं। इसीलिए उनसे इस घटना की व्याख्या करने के लिए अनुरोध किया गया कि आखिर दिति का गर्भ सारे ब्रह्माण्ड के लिए ऐसी चिन्ता का कारण क्यों बना है?

नमो विज्ञानवीर्याय माययेदमुपेयुषे ।
गृहीतगुणभेदाय नमस्तेऽव्यक्तयोनये ॥ ५॥

शब्दार्थ

नम:—सादर नमस्कार; विज्ञान-वीर्याय—हे बल तथा वैज्ञानिक ज्ञान के आदि स्रोत; मायया—बहिरंगा शक्ति द्वारा; इदम्—ब्रह्मा का यह शरीर; उपेयुषे—प्राप्त करके; गृहीत—स्वीकार करते हुए; गुण-भेदाय—विभेदित रजोगुण; नम: ते—आपको नमस्कार करते हुए; अव्यक्त—अप्रकट; योनये—स्रोत।

हे बल तथा विज्ञानमय ज्ञान के आदि स्रोत, आपको नमस्कार है। आपने भगवान् से पृथक्कृत रजोगुण स्वीकार किया है। आप बहिरंगा शक्ति की सहायता से अप्रकट स्रोत से उत्पन्न हैं। आपको नमस्कार।

तात्पर्य : वेद ज्ञान के सभी विभागों के लिए आदि विज्ञानमय ज्ञान हैं और वेदों का यही ज्ञान भगवान् द्वारा सर्वप्रथम ब्रह्मा के हृदय में स्थापित किया गया। अतएव ब्रह्मा समस्त विज्ञान-मय ज्ञान के आदि स्रोत हैं। वे उन गर्भोदकशायी विष्णु के दिव्य शरीर से प्रत्यक्ष रूप से उत्पन्न हुए हैं, जिन्हें इस

भौतिक ब्रह्माण्ड का कोई प्राणी कभी नहीं देख पाता, अतएव वे सदैव अव्यक्त रहते हैं। यहाँ पर ब्रह्मा को अव्यक्त से उत्पन्न कहा गया है। वे उस भौतिक प्रकृति में रजोगुण के अवतार हैं, जो भगवान् की पृथक्कृत बहिरंगा शक्ति है।

ये त्वानन्येन भावेन भावयन्त्यात्मभावनम् ।
आत्मनि प्रोतभुवनं परं सदसदात्मकम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ये—वे जो; त्वा—तुम पर; अनन्येन—विचलित हुए बिना; भावेन—भक्तिपूर्वक; भावयन्ति—ध्यान करते हैं; आत्म-भावनम्—जो सारे जीवों को उत्पन्न करता है; आत्मनि—अपने भीतर; प्रोत—जुड़ा हुआ; भुवनम्—सारे लोक; परम्—परम; सत्—प्रभाव; असत्—कारण; आत्मकम्—जनक।

हे प्रभु, ये सारे लोक आपके भीतर विद्यमान हैं और सारे जीव आपसे उत्पन्न हुए हैं। अतएव आप इस ब्रह्माण्ड के कारण हैं और जो भी अनन्य भाव से आपका ध्यान करता है, वह भक्तियोग प्राप्त करता है।

तेषां सुपक्वयोगानां जितश्वासेन्द्रियात्मनाम् ।
लब्धयुष्मत्प्रसादानां न कुतश्चित्पराभवः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उनका; सु-पक्व-योगानाम्—जो प्रौढ़ योगी हैं; जित—संयमित; श्वास—साँस; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आत्मनाम्—मन; लब्ध—प्राप्त किया हुआ; युष्मत्—आपकी; प्रसादानाम्—कृपा; न—नहीं; कुतश्चित्—कहीं भी; पराभवः—हार।

जो लोग श्वास प्रक्रिया को साध कर मन तथा इन्द्रियों को वश में कर लेते हैं और इस प्रकार जो अनुभवी प्रौढ़ योगी हो जाते हैं उनकी इस जगत में पराजय नहीं होती। ऐसा इसलिए है, क्योंकि योग में ऐसी सिद्धि के कारण, उन्होंने आपकी कृपा प्राप्त कर ली है।

तात्पर्य : यहाँ पर योग क्रियाओं के प्रयोजन को समझाया गया है। ऐसा कहा जाता है कि अनुभवी योगी श्वास प्रक्रिया को वश में करके इन्द्रियों तथा मन पर पूरा नियंत्रण प्राप्त कर लेता है। अतएव श्वास प्रक्रिया को वश में करना योग का चरम उद्देश्य नहीं है। योग-क्रियाओं का असली प्रयोजन मन तथा इन्द्रियों को वश में करना है। जिस किसी ने ऐसा नियंत्रण प्राप्त कर लिया है उसे अनुभवी प्रौढ़ योगी समझा जाना चाहिए। यहाँ यह इंगित किया गया है कि मन तथा इन्द्रियों पर नियंत्रण रखने वाले योगी को भगवान् का असली वर प्राप्त रहता है और उसे कोई भय नहीं रहता।

दूसरे शब्दों में, मनुष्य जब तक मन तथा इन्द्रियों पर नियंत्रण प्राप्त नहीं कर लेता तब तक वह भगवान् की कृपा तथा वर प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसा तभी सम्भव है जब वह पूरी तरह कृष्णभावनामृत में संलग्न रहे। जिस व्यक्ति की इन्द्रियाँ तथा मन सदैव भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहते हैं, उसके भौतिक कार्यों में लगे रहने की सम्भावना नहीं रहती। भगवान् के भक्त ब्रह्माण्ड में कहीं भी पराजित नहीं होते। कहा गया है *नारायण-परा: सर्वे* जो *नारायणपर* है, अर्थात् भगवान् का भक्त है, वह कहीं भी भयभीत नहीं होता चाहे उसे नरक भेजा जाय या कि स्वर्ग में भेज दिया जाय (*भागवत* ६.१७.२८)

यस्य वाचा प्रजा: सर्वा गावस्तन्त्येव यन्त्रिता: ।
हरन्ति बलिमायत्तास्तस्मै मुख्याय ते नम: ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; वाचा—वैदिक निर्देशों द्वारा; प्रजा:—जीव; सर्वा:—सारे; गाव:—बैल; तन्त्या—रस्सी से; इव—सदृश; यन्त्रिता:—निर्देशित हैं; हरन्ति—भेंट करते हैं, लेते हैं; बलिम्—भेंट, पूजा-सामग्री; आयत्ता:—नियंत्रण के अन्तर्गत; तस्मै—उसको; मुख्याय—मुख्य पुरुष को; ते—तुमको; नम:—सादर नमस्कार।

ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत सारे जीव वैदिक आदेशों से उसी प्रकार संचालित होते हैं जिस तरह एक बैल अपनी नाक से बँधी रस्सी (नथुनी) से संचालित होता है। वैदिक ग्रंथों में निर्दिष्ट नियमों का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। उस प्रधान पुरुष को हम सादर नमस्कार करते हैं, जिसने हमें वेद दिये हैं।

तात्पर्य : वैदिक ग्रंथ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के नियम हैं। कोई भी व्यक्ति वैदिक ग्रन्थों में दिये गये आदेशों का उल्लंघन नहीं कर सकता जिस तरह कि कोई राजसत्ता के नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता। किसी भी सजीव प्राणी को जो जीवन में असली लाभ का इच्छुक है वैदिक वाङ्मय के आदेशानुसार कर्म करना चाहिए। इस जगत में भौतिक इन्द्रियतृप्ति के लिए आये बद्धजीव वैदिक वाङ्मय के आदेशों द्वारा संचालित होते हैं। इन्द्रियतृप्ति तो नमक की तरह से है। भोज्य पदार्थ को सुस्वाद बनाने के लिए कुछ नमक मिलाया जाता है, किन्तु कोई न तो बहुत अधिक नमक ले सकता है न बहुत कम। इस भौतिक जगत में आये हुए बद्धात्माओं को वैदिक वाङ्मय के आदेशानुसार अपनी इन्द्रियों को काम में लाना चाहिए, अन्यथा वे अधिक कष्टमय जीवन में पड़ जाएँगे। कोई भी मनुष्य या देवता वैदिक वाङ्मय जैसे नियम नहीं बना सकता, क्योंकि सारे वैदिक विधान परम पुरुष द्वारा बनाए

गए हैं।

स त्वं विधत्स्व शं भूमंस्तमसा लुप्तकर्मणाम् ।
अदभ्रदयया दृष्ट्या आपन्नानर्हसीक्षितुम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; त्वम्—तुम; विधत्स्व—सम्पन्न करो; शम्—सौभाग्य; भूमन्—हे परमेश्वर; तमसा—अंधकार द्वारा; लुप्त—निलम्बित; कर्मणाम्—नियमित कार्यों का; अदभ्र—उदार, बिना भेदभाव के; दयया—दया के द्वारा; दृष्ट्या—आपकी दृष्टि द्वारा; आपन्नान्—हम शरणागत; अर्हसि—समर्थ हैं; ईक्षितुम्—देख पाने के लिए।

देवताओं ने ब्रह्मा की स्तुति की: कृपया हम पर कृपादृष्टि रखें, क्योंकि हम कष्टप्रद स्थिति को प्राप्त हो चुके हैं; अंधकार के कारण हमारा सारा काम रुक गया है।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड भर में पूर्ण अंधकार के कारण विभिन्न लोकों के नियमित कार्य तथा धंधे रुक गये थे। कभी-कभी इस लोक के उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों में दिन-रात का विभाजन नहीं होता। इसी तरह जब सूर्य प्रकाश इस ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों तक नहीं पहुँचता तो दिन तथा रात में कोई अन्तर नहीं रहता।

एष देव दितेर्गर्भ ओजः काश्यपमर्पितम् ।
दिशस्तिमिरयन्सर्वा वर्धतेऽग्निरिवैधसि ॥ १० ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; देव—हे प्रभु; दितेः—दिति का; गर्भः—गर्भ; ओजः—वीर्य; काश्यपम्—कश्यप का; अर्पितम्—स्थापित किया गया; दिशः—दिशाएँ; तिमिरयन्—पूर्ण अंधकार उत्पन्न करते हुए; सर्वाः—सारे; वर्धते—बढ़ाता है; अग्निः—आग; इव—सदृश; एधसि—ईंधन ।

जिस तरह ईंधन अग्नि को वर्धित करता है उसी तरह दिति के गर्भ में कश्यप के वीर्य से उत्पन्न भ्रूण ने सारे ब्रह्माण्ड में पूर्ण अंधकार उत्पन्न कर दिया है।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड भर में फैले अंधकार को यहाँ पर उस भ्रूण द्वारा उत्पन्न बताया गया है, जो कश्यप के वीर्य से दिति के गर्भ में स्थापित किया गया था।

मैत्रेय उवाच
स प्रहस्य महाबाहो भगवाञ्शब्दगोचरः ।
प्रत्याचष्टात्मभूर्देवान्प्रीणन्रुचिरया गिरा ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; सः—वह; प्रहस्य—हँसते हुए; महा-बाहो—हे शक्तिशाली भुजाओं वाले (विदुर); भगवान्—समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी; शब्द-गोचरः—दिव्य ध्वनि के द्वारा समझा जाने वाला; प्रत्याचष्ट—उत्तर दिया; आत्म-भूः—ब्रह्मा ने; देवान्—देवताओं को; प्रीणन्—तुष्ट करते हुए; रुचिरया—मधुर; गिरा—शब्दों से।

श्रीमैत्रेय ने कहा : इस तरह दिव्य ध्वनि से समझे जाने वाले ब्रह्मा ने देवताओं की स्तुतियों से प्रसन्न होकर उन्हें तुष्ट करने का प्रयास किया।

तात्पर्य : ब्रह्मा दिति के दुष्कर्मों को समझ गये, अत: वे सारी स्थिति पर हँसे। उन्होंने वहाँ पर उपस्थित देवताओं को ऐसे शब्दों में उत्तर दिया जिन्हें वे समझ सकें।

ब्रह्मोवाच
मानसा मे सुता युष्मत्पूर्वजाः सनकादयः ।
चेरुर्विहायसा लोकाल्लोकेषु विगतस्पृहाः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्मा ने कहा; मानसाः—मन से उत्पन्न; मे—मेरे; सुताः—पुत्र; युष्मत्—तुम्हारी अपेक्षा; पूर्व-जाः—पहले उत्पन्न; सनक-आदयः—सनक इत्यादि ने; चेरुः—यात्रा की; विहायसा—अन्तरिक्ष में यान द्वारा या आकाश में उड़कर; लोकान्—भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों तक; लोकेषु—लोगों के बीच; विगत-स्पृहाः—किसी इच्छा से रहित।

ब्रह्माजी ने कहा : मेरे मन से उत्पन्न चार पुत्र सनक, सनातन, सनन्दन तथा सनत्कुमार तुम्हारे पूर्वज हैं। कभी कभी वे बिना किसी विशेष इच्छा के भौतिक तथा आध्यात्मिक आकाशों से होकर यात्रा करते हैं।

तात्पर्य : जब हम इच्छा की बात करते हैं, तो हमारा अभिप्राय भौतिक इन्द्रियतृप्ति से होता है। सनक, सनातन, सनन्दन तथा सनत्कुमार जैसे सन्तपुरुषों में कोई भौतिक इच्छा नहीं है, अपितु वे कभी कभी सारे ब्रह्माण्ड में स्वेच्छा से भक्ति का प्रचार करने के लिए यात्रा करते हैं।

त एकदा भगवतो वैकुण्ठस्यामलात्मनः ।
ययुर्वैकुण्ठनिलयं सर्वलोकनमस्कृतम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; एकदा—एक बार; भगवतः—भगवान् के; वैकुण्ठस्य—भगवान् विष्णु का; अमल-आत्मनः—समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त हुए; ययुः—प्रविष्ट हुए; वैकुण्ठ-निलयम्—वैकुण्ठ नामक धाम; सर्व-लोक—समस्त भौतिक लोकों के निवासियों के द्वारा; नमस्कृतम्—पूजित।

इस तरह सारे ब्रह्माण्डों का भ्रमण करने के बाद वे आध्यात्मिक आकाश में भी प्रविष्ट हुए, क्योंकि वे समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त थे। आध्यात्मिक आकाश में अनेक आध्यात्मिक लोक हैं, जो वैकुण्ठ कहलाते हैं, जो पुरुषोत्तम भगवान् तथा उनके शुद्धभक्तों के निवास-स्थान हैं

और समस्त भौतिक लोकों के निवासियों द्वारा पूजे जाते हैं।

तात्पर्य : भौतिक जगत चिन्ताओं से पूर्ण है। सर्वोच्च लोक से लेकर निम्नतम लोक पाताल तक के सारे लोकों में सारे सजीव प्राणी चिन्ताओं और व्यग्रताओं से पूर्ण रहते हैं, क्योंकि भौतिक जगत में कोई भी प्राणी शाश्वत निवास नहीं कर सकता। किन्तु जीव वास्तव में शाश्वत हैं। उन्हें शाश्वतघर, शाश्वत धाम चाहिए, किन्तु भौतिक जगत में अस्थायी धाम स्वीकार करने के कारण वे स्वभावत: चिन्ता से ओतप्रोत रहते हैं। आध्यात्मिक आकाश में सारे लोक वैकुण्ठ कहलाते हैं, क्योंकि इन लोकों के निवासी सारी चिन्ताओं से मुक्त होते हैं। उनके लिए जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था तथा रोग का प्रश्न ही नहीं उठता, अतएव वे चिन्ताग्रस्त नहीं रहते। दूसरी ओर, भौतिक जगत के निवासी सदैव जन्म, मृत्यु, रोग तथा वृद्धावस्था से भयभीत रहते हैं, अतएव वे चिन्ताओं से ओतप्रोत रहते हैं।

वसन्ति यत्र पुरुषा: सर्वे वैकुण्ठमूर्तय: ।
येऽनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाराधयन्हरिम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

वसन्ति—निवास करते हैं; यत्र—जहाँ; पुरुषा:—व्यक्ति; सर्वे—सारे; वैकुण्ठ-मूर्तय:—भगवान् विष्णु की ही तरह चार भुजाओं वाले; ये—वे वैकुण्ठ पुरुष; अनिमित्त—इन्द्रियतृप्ति की इच्छा से रहित; निमित्तेन—उत्पन्न; धर्मेण—भक्ति द्वारा; आराधयन्—निरन्तर पूजा करते हुए; हरिम्—भगवान् की।

वैकुण्ठ लोकों में सारे निवासी पुरुषोत्तम भगवान् के समान आकृतिवाले होते हैं। वे सभी इन्द्रिय-तृप्ति की इच्छाओं से रहित होकर भगवान् की भक्ति में लगे रहते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में वैकुण्ठ के निवासियों तथा रहन-सहन के स्वरूप का वर्णन हुआ है। उसके निवासी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् नारायण जैसे होते हैं। वैकुण्ठ लोकों में कृष्ण का स्वांश नारायण के चतुर्भुजी रूप में प्रधान देव होता है और वैकुण्ठलोक के निवासी भी चतुर्भुजी होते हैं, जो भौतिक जगत की हमारी अवधारणा से सर्वथा विपरीत हैं। भौतिक जगत में कहीं भी हमें चार हाथों वाला मनुष्य नहीं मिलता। वैकुण्ठलोक में भगवान् की सेवा के अतिरिक्त अन्य कोई वृत्ति नहीं होती है और यह सेवा सोद्देश्य नहीं सम्पन्न की जाती। यद्यपि प्रत्येक सेवा का विशेष फल होता है, किन्तु भक्तगण कभी भी अपनी निजी इच्छाओं की पूर्ति की कामना नहीं करते। उनकी इच्छाएँ भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करने से ही पूर्ण हो जाती हैं।

यत्र चाद्यः पुमानास्ते भगवाञ्शब्दगोचरः ।
सत्त्वं विष्टभ्य विरजं स्वानां नो मृडयन्वृषः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यत्र—वैकुण्ठ लोकों में; च—तथा; आद्यः—आदि; पुमान्—पुरुष; आस्ते—है; भगवान्—भगवान्; शब्द-गोचरः—वैदिक वाङ्मय के माध्यम से समझा गया; सत्त्वम्—सतोगुण; विष्टभ्य—स्वीकार करते; विरजम्—अकलुषित, निर्मल; स्वानाम्—अपने संगियों का; नः—हमको; मृडयन्—सुख को बढ़ाते हुए; वृषः—साक्षात् धर्म।

वैकुण्ठलोकों में भगवान् रहते हैं, जो आदि पुरुष हैं और जिन्हें वैदिक वाङ्मय के माध्यम से समझा जा सकता है। वे कल्मषरहित सतोगुण से ओतप्रोत हैं, जिसमें रजो या तमो गुणों के लिए कोई स्थान नहीं है। वे भक्तों की धार्मिक प्रगति में योगदान करते हैं।

तात्पर्य : आध्यात्मिक आकाश में भगवान् के साम्राज्य (धाम) को वेदों के वर्णनों से सुनने के अलावा किसी अन्य विधि से नहीं समझा जा सकता। कोई जाकर इसे देख नहीं सकता। इस भौतिक जगत में भी जो व्यक्ति किसी दूरस्थ स्थान पर मोटरवाहन द्वारा जाने का खर्च उठाने में असमर्थ हैं, वे उस स्थान के बारे में प्रामाणिक पुस्तकों के द्वारा ही जान सकते हैं। इसी तरह आध्यात्मिक आकाश में जो वैकुण्ठलोक हैं, वे इस भौतिक आकाश से परे हैं। आधुनिक विज्ञानी, जो अन्तरिक्ष में यात्रा करने का प्रयास कर रहे हैं, निकटतम लोक, चन्द्रमा तक भी जाने में कठिनाई का अनुभव कर रहे हैं, ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोकों की बात तो दूर रही। इसकी कोई सम्भावना नहीं है कि वे भौतिक आकाश से परे आध्यात्मिक आकाश में प्रवेश करके स्वयं इन आध्यात्मिक वैकुण्ठ लोकों को देख सकेंगे। अत: आध्यात्मिक आकाश में ईश्वर के साम्राज्य को वेदों तथा पुराणों के प्रामाणिक विवरणों के माध्यम से ही समझा जा सकता है।

भौतिक जगत में तीन प्रकार के भौतिक गुण होते हैं—सतो, रजो तथा तमोगुण—किन्तु आध्यात्मिक जगत में रजो तथा तमोगुणों का नामोनिशान भी नहीं है। वहाँ केवल सतोगुण होता है, जो तमो या रजोगुणों के कल्मष से सर्वथा मुक्त होता है। भौतिक जगत में चाहे कोई व्यक्ति पूर्णतया सतोगुणी ही क्यों न हो वह भी तमो तथा रजोगुणों से कभी कभी प्रदूषित हो सकता है। किन्तु वैकुण्ठ जगत में, अर्थात् आध्यात्मिक आकाश में एकमात्र सतोगुण अपने शुद्धरूप में विद्यमान रहता है। भगवान् तथा उनके भक्तगण वैकुण्ठलोकों में निवास करते हैं और वे उसी दिव्यगुण अर्थात् *शुद्ध सत्त्व*

वाले होते हैं। वैकुण्ठलोक वैष्णवों को अत्यन्त प्रिय हैं और वैष्णवों के भगवद्धाम की ओर निरन्तर अग्रसर होने में भगवान् स्वयं अपने भक्तों की सहायता करते हैं।

यत्र नैःश्रेयसं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः ।
सर्वर्तुश्रीभिर्विभ्राजत्कैवल्यमिव मूर्तिमत् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यत्र—वैकुण्ठलोकों में; नैःश्रेयसम्—शुभ; नाम—नामक; वनम्—जंगल; काम-दुघैः—इच्छा पूरी करने वाले; द्रुमैः—वृक्षों समेत; सर्व—समस्त; ऋतु—ऋतुएँ; श्रीभिः—फूलों-फलों से; विभ्राजत्—शोभायमान; कैवल्यम्—आध्यात्मिक; इव—सदृश; मूर्तिमत्—साकार।

उन वैकुण्ठ लोकों में अनेक वन हैं, जो अत्यन्त शुभ हैं। उन वनों के वृक्ष कल्पवृक्ष हैं, जो सभी ऋतुओं में फूलों तथा फलों से लदे रहते हैं, क्योंकि वैकुण्ठलोकों में हर वस्तु आध्यात्मिक तथा साकार होती है।

तात्पर्य : वैकुण्ठलोकों में भूमि, वृक्ष, फल-फूल तथा गौवें—हर वस्तु—पूर्णतया आध्यात्मिक तथा साकार होती है। वहाँ के वृक्ष कल्पवृक्ष हैं। इस भौतिक लोक में वृक्ष भौतिक शक्ति के आदेशानुसार ही फूल-फल उत्पन्न कर सकते हैं, किन्तु वैकुण्ठलोकों में वृक्ष, भूमि, निवासी तथा पशु—सभी आध्यात्मिक होते हैं। वहाँ वृक्ष तथा पशु या पशु तथा मनुष्य में कोई अन्तर नहीं होता। यहाँ पर *मूर्तिमत्* शब्द सूचित करता है कि हर वस्तु का आध्यात्मिक स्वरूप होता है। इस श्लोक में निर्विशेषवादियों द्वारा कल्पित रूपविहीनता (निराकारता) का खण्डन किया गया है। वैकुण्ठलोकों में यद्यपि हर वस्तु आध्यात्मिक है, किन्तु उसका एक विशेष रूप रहता है। वृक्षों तथा मनुष्यों का रूप होता है और चूँकि वे भिन्न भिन्न रूप से निर्मित होते हुए भी सभी आध्यात्मिक हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं होता है।

वैमानिकाः सललनाश्चरितानि शश्वद्
गायन्ति यत्र शमलक्षपणानि भर्तुः ।
अन्तर्जलेऽनुविकसन्मधुमाधवीनां
गन्धेन खण्डितधियोऽप्यनिलं क्षिपन्तः ॥ १७॥

शब्दार्थ

वैमानिकाः—अपने विमानों में उड़ते हुए; स-ललनाः—अपनी अपनी पत्नियों समेत; चरितानि—कार्यकलाप; शश्वत्—नित्य रूप से; गायन्ति—गाते हैं; यत्र—जिन वैकुण्ठलोकों में; शमल—समस्त अशुभ गुणों से; क्षपणानि—विहीन; भर्तुः—परमेश्वर

का; अन्तः-जले—जल के बीच में; अनुविकसत्—खिलते हुए; मधु—सुगन्धित, शहद से पूर्ण; माधवीनाम्—माधवी फूलों की; गन्धेन—सुगन्ध से; खण्डित—विचलित; धियः—मन; अपि—यद्यपि; अनिलम्—मन्द पवन; क्षिपन्तः—उपहास करते हुए।

वैकुण्ठलोकों के निवासी अपने विमानों में अपनी पत्नियों तथा प्रेयसियों के साथ उड़ानें भरते हैं और भगवान् के चरित्र तथा उन कार्यों का शाश्वत गुणगान करते हैं, जो समस्त अशुभ गुणों से सदैव विहीन होते हैं। भगवान् के यश का गान करते समय वे सुगन्धित तथा मधु से भरे हुए पुष्पित माधवी फूलों की उपस्थिति तक का उपहास करते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक से प्रतीत होता है कि वैकुण्ठलोक समस्त ऐश्वर्यों से परिपूर्ण हैं। वहाँ विमान हैं जिनमें वहाँ के निवासी अपनी प्रेयसियों के साथ बैठकर आध्यात्मिक आकाश में विचरण करते हैं। वहाँ पुष्पित फूलों की सुगन्ध को ले जाने वाली मन्द वायु है और यह वायु इतनी उत्तम है कि यह अपने साथ फूलों का मधु भी वहन करती है। किन्तु वैकुण्ठ के निवासी भगवान् का गुणगान करने में इतनी रुचि रखते हैं कि भगवान् के यश का उच्चारण करते समय वे ऐसी उत्तम वायु द्वारा उत्पन्न व्यवधान को पसन्द नहीं करते। दूसरे शब्दों में, वे शुद्ध भक्त होते हैं। वे भगवान् के महिमागान को अपनी इन्द्रियतृप्ति की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं। वैकुण्ठलोकों में इन्द्रियतृप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। पुष्पित फूल की सुगन्ध को सूँघना निश्चित रूप से अति उत्तम है, किन्तु यह एकमात्र इन्द्रियतृप्ति के लिए होता है। वैकुण्ठवासी भगवान् की सेवा को सर्वोच्च वरीयता प्रदान करते हैं, अपनी इन्द्रियतृप्ति को नहीं। दिव्य प्रेम में भगवान् की सेवा करने से ऐसा दिव्य आनन्द मिलता है, जिसकी तुलना में इन्द्रियतृप्ति नगण्य मानी जाती है।

पारावतान्यभृतसारसचक्रवाक-
दात्यूहहंसशुकतित्तिरिबर्हिणां यः ।
कोलाहलो विरमतेऽचिरमात्रमुच्चै-
र्भृङ्गाधिपे हरिकथामिव गायमाने ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

पारावत—कबूतर; अन्यभृत—कोयल; सारस—सारस; चक्रवाक—चकई चकवा; दात्यूह—चातक; हंस—हंस; शुक—तोता; तित्तिरि—तीतर; बर्हिणाम्—मोर का; यः—जो; कोलाहलः—कोलाहल; विरमते—रुकता है; अचिर-मात्रम्—अस्थायी रूप से; उच्चैः—तेज स्वर से; भृङ्ग-अधिपे—भौंरे का राजा; हरि-कथाम्—भगवान् की महिमा; इव—सदृश; गायमाने—गाये जाते समय।

जब भौंरों का राजा भगवान् की महिमा का गायन करते हुए उच्च स्वर से गुनगुनाता है, तो

कबूतर, कोयल, सारस, चक्रवाक, हंस, तोता, तीतर तथा मोर का शोर अस्थायी रूप से बन्द पड़ जाता है। ऐसे दिव्य पक्षी केवल भगवान् की महिमा सुनने के लिए अपना गाना बन्द कर देते हैं।

तात्पर्य : यह श्लोक वैकुण्ठ के परम स्वभाव का उद्घाटन करता है। वहाँ पर पक्षियों तथा मनुष्यों में कोई अन्तर नहीं है। आध्यात्मिक आकाश की स्थिति ऐसी है कि हर वस्तु आध्यात्मिक तथा चित्र-विचित्र है। आध्यात्मिक चित्र-वैचित्र्य का अर्थ है कि हर वस्तु चर है। कुछ भी अचर नहीं है। यहाँ तक कि वृक्ष, भूमि, पौधे, फूल, पक्षी तथा पशु सारे के सारे कृष्णभावनामृत के स्तर पर होते हैं। वैकुण्ठलोक की विशेषता यह है कि वहाँ इन्द्रियतृप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। भौतिक जगत में गधा तक अपनी ध्वनि का आनन्द लेता है, किन्तु वैकुण्ठलोकों में मोर, चक्रवाक तथा कोयल जैसे उत्तम पक्षी भी भौंरों से भगवान् की महिमा की ध्वनि को सुनना अधिक पसन्द करते हैं। वैकुण्ठलोक में श्रवण-कीर्तन इत्यादि से आरम्भ होने वाले भक्ति के सिद्धान्त अधिक प्रमुख हैं।

मन्दारकुन्दकुरबोत्पलचम्पकार्ण-
पुन्नागनागबकुलाम्बुजपारिजाताः ।
गन्धेऽर्चिते तुलसिकाभरणेन तस्या
यस्मिंस्तपः सुमनसो बहु मानयन्ति ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

मन्दार—मन्दार; कुन्द—कुन्द; कुरब—कुरबक; उत्पल—उत्पल; चम्पक—चम्पक; अर्ण—अर्ण फूल; पुन्नाग—पुन्नाग; नाग—नागकेशर; बकुल—बकुल; अम्बुज—कुमुदिनी; पारिजाताः—पारिजात; गन्धे—सुगन्ध; अर्चिते—पूजित होकर; तुलसिका—तुलसी; आभरणेन—माला से; तस्याः—उसकी; यस्मिन्—जिस वैकुण्ठ में; तपः—तपस्या; सु-मनसः—अच्छे मन वाले, वैकुण्ठ मन वाले; बहु—अत्यधिक; मानयन्ति—गुणगान करते हैं।

यद्यपि मन्दार, कुन्द, कुरबक, उत्पल, चम्पक, अर्ण, पुन्नाग, नागकेशर, बकुल, कुमुदिनी तथा पारिजात जैसे फूलने वाले पौधे दिव्य सुगन्ध से पूरित हैं फिर भी वे तुलसी द्वारा की गई तपस्या से सचेत हैं, क्योंकि भगवान् तुलसी को विशेष वरीयता प्रदान करते हैं और स्वयं तुलसी की पत्तियों की माला पहनते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर तुलसी की पत्तियों की महत्ता का स्पष्ट उल्लेख है। भक्तिमय सेवा में तुलसी के पौधे तथा उनकी पत्तियाँ अतीव महत्त्वपूर्ण हैं। भक्तों के लिए संस्तुति की गई है कि वे प्रति दिन तुलसी के पौधे को सींचें तथा भगवान् की पूजा के लिए उसकी पत्तियाँ एकत्र करें। एक बार एक नास्तिक

स्वामी ने कहा, "तुलसी के पौधे को सींचने से क्या लाभ? इससे अच्छा तो बैंगन का सींचना होगा; बैंगन सींचने से कुछ फल मिल सकेंगे, किन्तु तुलसी को सींचने से क्या लाभ?" ये मूर्ख प्राणी भक्ति से अपरिचित होने के कारण कभी कभी सामान्य लोगों की शिक्षा के साथ उत्पात मचातें हैं।

आध्यात्मिक जगत की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वहाँ भक्तों के मध्य ईर्ष्या-द्वेष नहीं होता। यह बात फूलों तक में लागू होती है, जो तुलसी की महानता से परिचित होते हैं। चारों कुमारों ने जिस वैकुण्ठ जगत में प्रवेश किया वहाँ के पक्षी तथा फूल तक भगवान् की सेवा के प्रति सचेष्ट हैं।

यत्सङ्कुलं हरिपदानतिमात्रदृष्टै-
वैदूर्यमारकतहेममयैर्विमानैः ।
येषां बृहत्कटितटाः स्मितशोभिमुख्यः
कृष्णात्मनां न रज आदधुरुत्स्मयाद्यैः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यत्—वह वैकुण्ठधाम; सङ्कुलम्—से पूरित; हरि-पद—भगवान् हरि के दोनों चरण कमलों पर; आनति—नमस्कार द्वारा; मात्र—केवल; दृष्टैः—प्राप्त किये जाते हैं; वैदूर्य—वैदूर्य मणि; मारकत—मरकत; हेम—स्वर्ण; मयैः—से निर्मित; विमानैः—विमानों से; येषाम्—उन यात्रियों का; बृहत्—विशाल; कटि-तटाः—कूल्हे; स्मित—हँसते हुए; शोभि—सुन्दर; मुख्यः—मुख-मण्डल; कृष्ण—कृष्ण में; आत्मनाम्—जिनके मन लीन हैं; न—नहीं; रजः—यौन इच्छा; आदधुः—उत्तेजित करती है; उत्स्मय-आद्यैः—घनिष्ठ मित्रवत् व्यवहार, हँसी मजाक द्वारा।

वैकुण्ठनिवासी वैदूर्य, मरकत तथा स्वर्ण के बने हुए अपने अपने विमानों में यात्रा करते हैं। यद्यपि वे विशाल नितम्बों तथा सुन्दर हँसीले मुखों वाली अपनी-अपनी प्रेयसियों के साथ सटे रहते हैं, किन्तु वे उनके हँसी मजाक तथा उनके सुन्दर मोहकता से कामोत्तेजित नहीं होते।

तात्पर्य : भौतिक जगत में भौतिकतावादी व्यक्तियों द्वारा अपने कठिन श्रम से ऐश्वर्यों की प्राप्ति की जाती है। कोई तब तक भौतिक सम्पन्नता का भोग नहीं कर सकता जब तक उसे प्राप्त करने के लिए वह कठोर श्रम न करे। किन्तु भगवद्भक्तों को जो वैकुण्ठनिवासी हैं मणियों तथा मरकतों की दिव्य स्थिति को भोगने का अवसर प्राप्त होता है। मणिजटित स्वर्ण के आभूषण कठिन श्रम करने से नहीं, अपितु भगवान् के आशीष से प्राप्त होते हैं। दूसरे शब्दों में, भक्तगण चाहे वैकुण्ठ जगत के हों या इस जगत के, वे कभी दरिद्र नहीं हो सकते, जैसाकि कभी-कभी मान लिया जाता है। उनके पास भोग के लिए पर्याप्त ऐश्वर्य होते हैं, किन्तु उन्हें पाने के लिए उन्हें श्रम नहीं करना पड़ता। यहाँ यह भी कहा गया है कि वैकुण्ठलोक के निवासियों की प्रेयसियाँ इस भौतिक जगत में ही नहीं प्रत्युत उच्च लोकों में

जाने वाली प्रेयसियों से भी कई गुना अधिक सुन्दर हैं। यहाँ इसका विशेष उल्लेख हुआ है कि स्त्री के चौड़े नितम्ब अतीव आकर्षक हैं और वे मनुष्य की कामवासना को उत्तेजित करते हैं, किन्तु वैकुण्ठ का अद्‌भुत गुण यह है कि यद्यपि स्त्रियों के नितम्ब चौड़े हैं और मुखमण्डल सुन्दर हैं और वे मरकत तथा मणियों के आभूषणों से सुसज्जित रहती हैं, फिर भी पुरुषगण कृष्णभावनाभामृत में इस कदर निमग्न रहते हैं कि स्त्रियों के सुन्दर शरीर उन्हें आकृष्ट नहीं कर पाते। दूसरे शब्दों में, स्त्रियों की संगति का आनन्द तो है, किन्तु उनके साथ यौन-सम्बन्ध नहीं होता। वैकुण्ठवासियों में आनन्द का श्रेष्ठतर मानदण्ड होता है, अतएव यौन आनन्द की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती।

श्री रूपिणी क्वणयती चरणारविन्दं
लीलाम्बुजेन हरिसद्मनि मुक्तदोषा ।
संलक्ष्यते स्फटिककुड्य उपेतहेम्नि
सम्मार्जतीव यदनुग्रहणेऽन्ययत्नः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री—लक्ष्मीजी; रूपिणी—सुन्दर रूप धारण करने वाली; क्वणयती—शब्द करती; चरण-अरविन्दम्—चरणकमल; लीला-अम्बुजेन—कमल के फूल के साथ क्रीड़ा करती; हरि-सद्मनि—भगवान् के घर में; मुक्त-दोषा—समस्त दोषों से मुक्त हुई; संलक्ष्यते—दृष्टिगोचर होती है; स्फटिक—संगमरमर; कुड्ये—दीवालों में; उपेत—मिली-जुली; हेम्नि—स्वर्ण; सम्मार्जती इव—बुहारने वाली की तरह लगने वाली; यत्-अनुग्रहणे—उसकी कृपा पाने के लिए; अन्य—दूसरे; यत्नः—अत्यधिक सतर्क।

वैकुण्ठलोकों की महिलाएँ इतनी सुन्दर हैं कि जैसे देवी लक्ष्मी स्वयं है। ऐसी दिव्य सुन्दरियाँ जिनके हाथ कमलों के साथ क्रीड़ा करते हैं तथा पाँवों के नुपूर झंकार करते हैं कभी कभी उन संगमरमर की दीवालों को जो थोड़ी थोड़ी दूरी पर सुनहले किनारों से अलंकृत हैं, इसलिए बुहारती देखी जाती है कि उन्हें भगवान् की कृपा प्राप्त हो सके।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* में यह कहा गया है कि भगवान् गोविन्द के धाम में सदैव करोड़ों लक्ष्मियाँ उनकी सेवा करती हैं। *लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानम्*। ये करोड़ों-अरबों लक्ष्मियाँ जो वैकुण्ठलोकों में निवास करती हैं पुरुषोत्तम भगवान् की वास्तविक प्रेमिकाएँ नहीं हैं, अपितु भगवद्‌भक्तों की पत्नियाँ हैं और वे भगवान् की सेवा भी करती हैं। यहाँ यह कहा गया है कि वैकुण्ठलोकों में संगमरमर के घर बने होते हैं। इसी प्रकार *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि वैकुण्ठलोकों की फर्श स्पर्शमणि की बनी हुई है। इसलिए वैकुण्ठ में पत्थर को बुहारने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि उस पर रंचमात्र भी धूल नहीं है; फिर भी भगवान् को तुष्ट करने हेतु स्त्रियाँ सदैव संगमरमर की दीवालों को झाड़ती रहती हैं।

क्यों? इसलिए कि वे ऐसा करके भगवान् की कृपा पाने के लिए उत्सुक रहती हैं।

यहाँ यह भी कहा गया है कि वैकुण्ठलोकों में लक्ष्मियाँ दोषरहित होती हैं। सामान्यतया लक्ष्मीजी एक स्थान पर स्थायी रूप से नहीं रहतीं। उनका नाम *चञ्चला* है, जिसका अर्थ है, "जो स्थिर न हो।" अतएव हम देखते हैं कि जो व्यक्ति बहुत ही धनवान है, वह अतीव निर्धन बन सकता है। एक और उदाहरण रावण का है। रावण लक्ष्मी अर्थात् सीता जी को अपने साम्राज्य में ले गया, किन्तु लक्ष्मी की कृपा द्वारा सुखी होने के बजाय उसका परिवार तथा सारा साम्राज्य विनष्ट हो गया। इस तरह रावण के घर में लक्ष्मी चञ्चला अर्थात् अस्थिर हैं। रावण की श्रेणी के लोग केवल लक्ष्मी को उनके पति नारायण के बिना चाहते हैं, अतएव लक्ष्मीजी के कारण वे चंचल हो उठते हैं। भौतिकतावादी व्यक्ति लक्ष्मीजी में दोष ढूँढते हैं, किन्तु वैकुण्ठ में लक्ष्मीजी भगवान् की सेवा में जुटी रहती हैं। भाग्य की देवी होते हुए भी लक्ष्मीजी भगवान् की कृपा के बिना सुखी नहीं रह सकतीं। लक्ष्मी जी को भी सुखी होने के लिए भगवान् की कृपा की आवश्यकता पड़ती है; फिर भी भौतिक जगत में सर्वोच्च प्राणी ब्रह्माजी भी सुख के निमित्त लक्ष्मी की कृपा के लिए उनका मुँह जोहते रहते हैं।

वापीषु विद्रुमतटास्वमलामृताप्सु
प्रेष्यान्विता निजवने तुलसीभिरीशम् ।
अभ्यर्चती स्वलकमुन्नसमीक्ष्य वक्त्र-
मुच्छेषितं भगवतेत्यमताङ्ग यच्छ्रीः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

वापीषु—तालाबों में; विद्रुम—मूँगे के बने; तटासु—किनारे; अमल—पारदर्शी; अमृत—अमृत जैसे; अप्सु—जल; प्रेष्या-अन्विता—दासियों से घिरी; निज-वने—अपने बगीचे में; तुलसीभिः—तुलसी से; ईशम्—परमेश्वर को; अभ्यर्चती—पूजा करती हैं; सु-अलकम्—तिलक से विभूषित मुखवाली; उन्नसम्—उठी नाक; ईक्ष्य—देखकर; वक्त्रम्—मुख; उच्छेषितम्—चुम्बित होकर; भगवता—भगवान् द्वारा; इति—इस प्रकार; अमत—सोचा; अङ्ग—हे देवताओ; यत्-श्रीः—जिसकी सुन्दरता।

लक्ष्मियाँ अपने उद्यानों में दिव्य जलाशयों के मूँगे से जड़े किनारों पर तुलसीदल अर्पित करके भगवान् की पूजा करती हैं। भगवान् की पूजा करते समय वे उभरे हुए नाकों से युक्त अपने अपने सुन्दर मुखों के प्रतिबिम्ब को जल में देख सकती हैं और ऐसा प्रतीत होता है मानो भगवान् द्वारा मुख चुम्बित होने से वे और भी अधिक सुन्दर बन गई हैं।

तात्पर्य : सामान्यतया जब किसी स्त्री का पति उसका चुम्बन करता है, तो उसका मुख अधिक सुन्दर हो जाता है। वैकुण्ठलोक में भी, यद्यपि लक्ष्मीजी उतनी ही सुन्दर हैं जितनी कि कल्पना की जा

सकती है, तो भी वे भगवान् द्वारा चुम्बित होने के लिए प्रतीक्षित रहती हैं जिससे उनका मुख और अधिक सुन्दर लगे। जब लक्ष्मीजी अपने उद्यान में तुलसी दलों से भगवान् की पूजा करती हैं, तो दिव्य निर्मल जल वाले तालाबों में उनका सुन्दर मुख दिखता है।

यन्न व्रजन्त्यघभिदो रचनानुवादा-
च्छृण्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथा मतिघ्नीः ।
यास्तु श्रुता हतभगैर्नृभिरात्तसारा-
स्तांस्तान्क्षिपन्त्यशरणेषु तमःसु हन्त ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यत्—वैकुण्ठ; न—कभी नहीं; व्रजन्ति—पहुँचते हैं; अघ-भिदः—सभी प्रकार के पापों के विनाशक; रचना—सृष्टि का; अनुवादात्—कथन की अपेक्षा; शृण्वन्ति—सुनते हैं; ये—जो; अन्य—दूसरों; विषयाः—विषय; कु-कथाः—बुरे शब्द; मति-घ्नीः—बुद्धि को मारने वाली; याः—जो; तु—लेकिन; श्रुताः—सुना जाता है; हत-भगैः—अभागे; नृभिः—मनुष्यों द्वारा; आत्त—छीना हुआ; साराः—जीवन मूल्य; तान् तान्—ऐसे व्यक्ति; क्षिपन्ति—फेंके जाते हैं; अशरणेषु—समस्त आश्रय से विहीन; तमःसु—संसार के सबसे अँधेरे भाग में; हन्त—हाय।

यह अतीव शोचनीय है कि अभागे लोग वैकुण्ठलोकों के विषय में चर्चा नहीं करते, अपितु ऐसे विषयों में लगे रहते हैं, जो सुनने के लायक नहीं होते तथा मनुष्य की बुद्धि को संभ्रमित करते हैं। जो लोग वैकुण्ठ के प्रसंगों का त्याग करते हैं, तथा भौतिक जगत की बातें चलाते हैं, वे अज्ञान के गहनतम अंधकार में फेंक दिये जाते हैं।

तात्पर्य : सबसे अभागे तो निर्विशेषवादी हैं, जो आध्यात्मिक जगत के चित्र-वैचित्र्य को नहीं समझ पाते। वे वैकुण्ठलोकों के सौन्दर्य की बात चलाते भयभीत होते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि ऐसा वैचित्र्य अवश्य ही भौतिक होगा। ऐसे निर्विशेषवादी सोचते हैं कि आध्यात्मिक जगत पूर्णतया शून्य है अथवा दूसरे शब्दों में, वहाँ कोई चित्र-वैचित्र्य नहीं है। इस मनोवृत्ति को यहाँ पर *कुकथा मतिघ्नीः* अर्थात् "अयोग्य शब्दों द्वारा मोहग्रस्त बुद्धि" कहा गया है। यहाँ पर शून्यवाद तथा आध्यात्मिक जगत की निर्विशेष स्थिति की भर्त्सना की गई है, क्योंकि इनसे मनुष्य की बुद्धि मोहग्रस्त होती है। निर्विशेषवादी तथा शून्यवादी किस तरह इस जगत के विषय में, जो चित्र-वैचित्र्य पूर्ण है, सोच सकते हैं और तब कह सकते हैं कि आध्यात्मिक जगत में चित्र-वैचित्र्य नहीं है। ऐसा कहा जाता है कि यह भौतिक जगत आध्यात्मिक जगत का विकृत प्रतिबिम्ब है, अतएव जब तक आध्यात्मिक जगत में चित्र-वैचित्र्य नहीं होगा तब तक इस भौतिक जगत में क्षणिक चित्र-वैचित्र्य कैसे हो सकता है? इस

बात का कि कोई इस भौतिक जगत को पार कर सकता है अर्थ यह नहीं है कि यहाँ दिव्य चित्र-वैचित्र्य नहीं है।

भागवत में और विशेष रूप से इस श्लोक में इस बात पर बल दिया गया है कि जो लोग आध्यात्मिक आकाश तथा वैकुण्ठलोकों के वास्तविक दिव्य रूप के विषय में विचार-विमर्श करने तथा समझने का प्रयास करते हैं, वे भाग्यवान हैं। वैकुण्ठलोकों का चित्र-वैचित्र्य भगवान् की दिव्य लीलाओं के सम्बन्ध में वर्णित है। किन्तु लोग आध्यात्मिक धाम तथा भगवान् के दिव्य कार्यकलापों को समझने का प्रयास करने के बजाय राजनीति तथा आर्थिक विकास में अधिक रुचि दिखाते हैं। वे इस जगत की जहाँ उन्हें कुछ वर्षों तक ही रहना है स्थिति से सम्बन्धित समस्याओं को हल करने के लिए अनेकानेक सम्मेलनों, गोष्ठियों तथा चर्चाओं का आयोजन करते हैं, किन्तु वे वैकुण्ठलोक की आध्यात्मिक स्थिति को समझने में रुचि नहीं दिखाते। यदि वे तनिक भी भाग्यशाली हुए तो वे भगवद्धाम वापस जाने में रुचि दिखाते हैं, किन्तु जब तक वे आध्यात्मिक जगत को समझ नहीं लेते वे इस भौतिक अंधकार में लगातार सड़ते रहते हैं।

येऽभ्यर्थितामपि च नो नृगतिं प्रपन्ना
ज्ञानं च तत्त्वविषयं सहधर्म यत्र ।
नाराधनं भगवतो वितरन्त्यमुष्य
सम्मोहिता विततया बत मायया ते ॥ २४॥

शब्दार्थ

ये—वे व्यक्ति; अभ्यर्थिताम्—वांछित; अपि—निश्चय ही; च—तथा; नः—हमारे (ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं) द्वारा; नृ-गतिम्—मनुष्य योनि; प्रपन्नाः—प्राप्त किया है; ज्ञानम्—ज्ञान; च—तथा; तत्त्व-विषयम्—परब्रह्म का विषय; सह-धर्मम्—धार्मिक सिद्धान्तों सहित; यत्र—जहाँ; न—नहीं; आराधनम्—पूजा; भगवतः—भगवान् की; वितरन्ति—सम्पन्न करते हैं; अमुष्य—परमेश्वर का; सम्मोहिताः—मोहग्रस्त; विततया—सर्वव्यापी; बत—हाय; मायया—माया के प्रभाव से; ते—वे।

ब्रह्माजी ने कहा : हे प्रिय देवताओ, मनुष्य जीवन इतना महत्वपूर्ण है कि हमें भी ऐसे जीवन को पाने की इच्छा होती है, क्योंकि मनुष्य रूप में पूर्ण धार्मिक सत्य तथा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यदि इस मनुष्य जीवन में कोई व्यक्ति भगवान् तथा उनके धाम को नहीं समझ पाता तो यह समझना होगा कि वह बाह्य प्रकृति के प्रभाव से अत्यधिक ग्रस्त है।

तात्पर्य : ब्रह्माजी मनुष्य की दशा की अत्यधिक निन्दा करते हैं, जो भगवान् तथा उनके दिव्य धाम वैकुण्ठ में रुचि नहीं लेता। ब्रह्माजी तक मनुष्य जीवन की कामना करते हैं। ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं

को मनुष्यों की अपेक्षा अधिक उत्तम शरीर प्राप्त हैं फिर भी ब्रह्मा समेत सारे देवता मनुष्य जीवन प्राप्त करना चाहते हैं, क्योंकि यह विशेष रूप से उसी जीव के लिए होता है, जो दिव्य ज्ञान तथा धार्मिक सिद्धि प्राप्त कर सके। एक जीवन में भगवद्धाम वापस जाना सम्भव नहीं है, किन्तु कम से कम मनुष्य जीवन में जीव को जीवन-लक्ष्य को समझकर कृष्णभावनामृत शुरू कर देना चाहिए। कहा जाता है कि मनुष्य जीवन महान् वरदान है, क्योंकि अविद्या के सागर को पार करने के लिए यह सर्वोपयुक्त नाव है। आध्यात्मिक गुरु को उस नाव का सबसे समर्थ कप्तान (नाविक) माना जाता है और शास्त्रों से प्राप्त जानकारी अविद्या के सागर पर तैरने के लिए अनुकूल वायु है। जो मनुष्य इस जीवन में इन सभी सुविधाओं का लाभ नहीं उठाता वह आत्महत्या करता है। अतएव जो व्यक्ति मनुष्य जीवन में आकर कृष्णभावनामृत शुरू नहीं करता वह माया के वशीभूत होकर अपना जीवन गँवा बैठता है। ब्रह्माजी ऐसे मनुष्य की स्थिति पर शोक व्यक्त करते हैं।

यच्च व्रजन्त्यनिमिषामृषभानुवृत्त्या
दूरे यमा ह्युपरि नः स्पृहणीयशीलाः ।
भर्तुर्मिथः सुयशसः कथनानुराग-
वैक्लव्यबाष्पकलया पुलकीकृताङ्गाः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यत्—वैकुण्ठ; च—तथा; व्रजन्ति—जाते हैं; अनिमिषाम्—देवताओं का; ऋषभ—मुखिया; अनुवृत्त्या—चरणचिह्नों का अनुसरण करके; दूरे—दूर रहते हुए; यमाः—विधि-विधान; हि—निश्चय ही; उपरि—ऊपर; नः—हमको; स्पृहणीय—वांछनीय; शीलाः—सद्गुण; भर्तुः—भगवान् के; मिथः—एक दूसरे के लिए; सुयशसः—ख्याति; कथन—विचार विमर्श या वार्ताओं द्वारा; अनुराग—आकर्षण; वैक्लव्य—भाव, आनन्द; बाष्प-कलया—आँखों में अश्रु; पुलकी-कृत—काँपते हुए; अङ्गाः—शरीर।

आनन्दभाव में जिन व्यक्तियों के शारीरिक लक्षण परिवर्तित होते हैं और जो भगवान् की महिमा का श्रवण करने पर गहरी-गहरी साँस लेने लगते हैं तथा प्रस्वेदित हो उठते हैं, वे भगवद्धाम को जाते हैं भले ही वे ध्यान तथा अन्य अनुष्ठानों की तनिक भी परवाह न करते हों। भगवद्धाम भौतिक ब्रह्माण्डों के ऊपर है और ब्रह्मा तथा अन्य देवतागण तक इसकी इच्छा करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर यह स्पष्ट कथन है कि भगवद्धाम भौतिक ब्रह्माण्डों के ऊपर है। जिस प्रकार इस पृथ्वी के ऊपर लाखों उच्चतर लोक हैं उसी तरह आध्यात्मिक आकाश से सम्बन्धित लाखों करोड़ों

आध्यात्मिक लोक हैं। ब्रह्माजी यहाँ कहते हैं कि आध्यात्मिक जगत देवताओं के लोक के ऊपर है। मनुष्य भगवद्धाम में तभी प्रवेश कर सकता है जब उसमें वांछनीय गुण अत्यधिक विकसित हों। भक्त में सारे सद्गुण विकसित हो जाते हैं। *श्रीमद्भागवत* (५.१८.१२) में कहा गया है कि जो कृष्णभावनाभावित होता है, वह देवताओं के सभी सद्गुणों से समन्वित होता है। भौतिक जगत में देवताओं के सद्गुणों की अत्यधिक सराहना की जाती है, जिस तरह, जैसा हमारा अनुभव है, भद्रपुरुष के गुणों की सराहना अज्ञानी व्यक्ति या निम्न जीवन में रहने वाले की तुलना में अधिक की जाती है। उच्चतर लोकों के देवताओं के गुण इस पृथ्वी के निवासियों के गुणों की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ हैं।

यहाँ पर ब्रह्माजी पुष्टि करते हैं कि केवल वे ही व्यक्ति भगवद्धाम में प्रवेश कर सकते हैं जिन्होंने वांछनीय गुण विकसित कर लिये हैं। *चैतन्य-चरितामृत* में भक्त के वांछनीय गुणों की संख्या २६ बतलाई गई है। वे इस प्रकार हैं: वह अत्यन्त दयालु होता है; वह किसी से झगड़ता नहीं; वह कृष्णभावनामृत को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य स्वीकार करता है; वह सबों पर समभाव रखता है; उसके चरित्र में दोष नहीं निकाला जा सकता; वह उदार, मृदु तथा सदैव भीतर-बाहर से स्वच्छ रहता है; वह इस जगत में किसी वस्तु पर अपना दावा नहीं करता; वह सारे जीवों का उपकारी होता है; वह शान्त रहता है और पूर्णतया कृष्ण के शरणागत होता है; वह निष्काम होता है; वह दीन, विनीत, सदैव स्थिर रहता है और उसने इन्द्रियों के कार्यकलापों को जीत लिया होता है; वह शरीर के निर्वाह से अधिक भोजन नहीं करता; वह भौतिक पहचान के पीछे पागल नहीं रहता; वह अन्यों को आदर देता (मानप्रद) है, किन्तु अपने आदर का भूखा नहीं रहता (अमानी); वह अत्यन्त गम्भीर, अत्यन्त दयालु तथा सौहार्दपूर्ण होता है; वह कवित्वमय होता है; वह सारे कार्यों में दक्ष होता है और व्यर्थ चर्चा के समय मौन रहता है। इसी तरह *श्रीमद्भागवत* (३.२५.२१) में सन्त पुरुष के गुणों का उल्लेख हुआ है। कहा गया है कि भगवद्धाम जाने का पात्र सन्त पुरुष अत्यन्त सहिष्णु तथा समस्त जीवों पर अतीव दयालु होता है। वह पक्षपात नहीं करता; वह मनुष्यों तथा पशुओं दोनों ही के प्रति दयालु होता है। वह ऐसा मूर्ख नहीं होता कि मनुष्य नारायण या दरिद्रनारायण को खिलाने के लिए बकरा-नारायण की हत्या करे। वह सारे जीवों के प्रति अत्यन्त दयालु होता है, अतएव उसका कोई शत्रु नहीं होता। वह अत्यन्त शान्त रहता है। ये गुण उन पुरुषों के हैं, जो भगवद्धाम में प्रवेश करने के योग्य हैं। ऐसा व्यक्ति धीरे

धीरे मुक्त होकर भगवद्धाम में प्रवेश करता है। इस बात की पुष्टि *श्रीमद्भागवत* (५.५.२) में की गई है। *श्रीमद्भागवत* में ही (२.३.२४) अन्यत्र कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति निरपराध भाव से भगवन्नाम का कीर्तन करने के बाद क्रन्दन या शारीरिक परिवर्तन प्रदर्शित नहीं करता (नामापराध) तो समझना चाहिए कि वह कठोर हृदय है, जिससे उसका हृदय भगवन्नाम का, अर्थात् हरे कृष्ण का उच्चारण करने के बाद भी नहीं बदलता। ये शारीरिक परिवर्तन भाव के कारण हो सकते हैं जब हम निरपराध भाव से भगवन्नाम—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का कीर्तन करते हैं।

यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि हमें दस अपराधों से बचना चाहिए। पहला अपराध है उन लोगों की बुराई करना जो अपने जीवन में भगवान् की महिमा का प्रसार करना चाहते हैं। लोगों को परम पुरुष की महिमा समझने में शिक्षित किया जाना चाहिए, अत: जो भक्तगण भगवान् की महिमा का प्रचार करने में लगे रहते हैं उनकी बुराई कभी भी नहीं करनी चाहिए। यह सबसे भारी अपराध है। इसके अतिरिक्त विष्णु का पवित्र नाम सबसे अधिक शुभ (मंगलमय) नाम है और उनकी लीलाएँ भी उनके पवित्र नाम से अभिन्न हैं। ऐसे अनेक मूर्ख हैं, जो यह कहते हैं कि चाहे कोई हरे कृष्ण का कीर्तन करे चाहे काली, दुर्गा या शिव के नामों का कीर्तन करे, क्योंकि ये सभी समान हैं। यदि कोई यह सोचता है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का नाम तथा देवताओं के नाम एवं कार्य-कलाप एकसमान हैं या यदि कोई व्यक्ति विष्णु के पवित्र नाम को भौतिक ध्वनि मानता है, तो यह भी एक अपराध है। तीसरा अपराध है भगवान् की महिमा का प्रसार करने वाले गुरु को सामान्य मनुष्य समझना। चौथा अपराध है वैदिक ग्रंथों को यथा पुराणों या अन्य दिव्य शास्त्रों को सामान्य ज्ञान की पुस्तकों के रूप में मानना। पाँचवा अपराध यह सोचना है कि भक्तों ने भगवान् के पवित्र नाम को कृत्रिम महत्ता प्रदान की हुई है। असलर तथ्य तो यह है कि भगवान् अपने नाम से अभिन्न हैं। सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभूति तो भगवन्नाम का कीर्तन—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—है, जो इस युग के लिए संस्तुत है। छठा अपराध है भगवान के पवित्र नाम पर किसी प्रकार की व्याख्या करना। सातवाँ अपराध है भगवन्नाम के कीर्तन के बल पर पापकर्म करना। यह ज्ञात है कि मनुष्य एकमात्र भगवन्नाम का कीर्तन करने से समस्त पापों से मुक्त किया जा सकता है, किन्तु इसीलिए

यदि कोई यह सोचे कि वह सभी तरह के पापकर्म करने के लिए स्वतंत्र है, तो यह अपराध का लक्षण है। आठवाँ अपराध है हरे कृष्ण कीर्तन की समता अन्य आध्यात्मिक कार्यों यथा ध्यान, तपस्या या यज्ञ से करना। इन्हें किसी भी स्तर पर समान नहीं बतलाया जा सकता। नौवाँ अपराध है ऐसे व्यक्तियों के समक्ष पवित्र नाम की महत्ता का गुणगान करना जिन्हें उसमें कोई रुचि न हो। दसवाँ अपराध है, आध्यात्मिक अनुशीलन की प्रक्रिया को करते समय किसी वस्तु का स्वामी होने की भ्रान्त धारणा के प्रति अनुरक्ति रखना या शरीर को आत्मा मानना।

जब मनुष्य भगवन्नाम का कीर्तन करते समय इन दसों अपराधों से मुक्त होता है, तो उसमें शारीरिक भावलक्षण उत्पन्न होते हैं, जो *पुलकाश्रु* कहलाते हैं। *पुलक* का अर्थ है "सुख का लक्षण" तथा *अश्रु* का अर्थ है "आँखों में आँसू।" जिस व्यक्ति ने पवित्र नाम का कीर्तन निरपराध भाव से किया हो उसमें सुख तथा अश्रु के लक्षण प्रकट होने चाहिए। इस श्लोक में बतलाया गया है कि जिन लोगों ने भगवान् की महिमा के कीर्तन द्वारा सुख तथा अश्रु के लक्षण वास्तव में विकसित कर लिये हैं, वे भगवद्धाम में प्रवेश करने के पात्र हैं। *चैतन्य-चरितामृत* में कहा गया है कि यदि हरे कृष्ण कीर्तन करते समय किसी पुरुष में ये लक्षण विकसित नहीं होते तो समझना चाहिए कि अब भी वह अपराधपूर्ण है। इस सन्दर्भ में *चैतन्य-चरितामृत* में एक सुन्दर उपचार का प्रस्ताव है। *आदि लीला* (८.३१) में कहा गया है कि यदि कोई श्री चैतन्य महाप्रभु की शरण ग्रहण करता है और केवल भगवन्नाम, हरे कृष्ण, का कीर्तन करता है, तो वह सारे अपराधों से मुक्त हो जाता है।

तद्विश्वगुर्वधिकृतं भुवनैकवन्द्यं
दिव्यं विचित्रविबुधाछ्यविमानशोचिः ।
आपुः परां मुदमपूर्वमुपेत्य योग-
मायाबलेन मुनयस्तदथो विकुण्ठम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तत्—तब; विश्व-गुरु—ब्रह्माण्ड के गुरु अर्थात् परमेश्वर द्वारा; अधिकृतम्—अधिकृत; भुवन—लोकों का; एक—एकमात्र; वन्द्यम्—पूजा जाने योग्य; दिव्यम्—आध्यात्मिक; विचित्र—अत्यधिक अलंकृत; विबुध-अछ्य—भक्तों का (जो विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ हैं); विमान—वायुयानों का; शोचिः—प्रकाशित; आपुः—प्राप्त किया; पराम्—सर्वोच्च; मुदम्—सुख; अपूर्वम्—अभूतपूर्व; उपेत्य—प्राप्त करके; योग-माया—आध्यात्मिक शक्ति द्वारा; बलेन—प्रभाव द्वारा; मुनयः—मुनिगण; तत्—वैकुण्ठ; अथो—वह; विकुण्ठम्—विष्णु।

इस तरह सनक, सनातन, सनन्दन तथा सनत्कुमार नामक महर्षियों ने अपने योग बल से

आध्यात्मिक जगत के उपर्युक्त वैकुण्ठ में पहुँच कर अभूतपूर्व सुख का अनुभव किया। उन्होंने पाया कि आध्यात्मिक आकाश अत्यधिक अलंकृत विमानों से, जो वैकुण्ठ के सर्वश्रेष्ठ भक्तों द्वारा चालित थे, प्रकाशमान था और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा अधिशासित था।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अद्वितीय हैं। वे सबों के ऊपर हैं। न तो कोई उनके समान है, न उनसे बड़ा। अतएव उन्हें यहाँ *विश्व गुरु* कहा गया है। वे सम्पूर्ण भौतिक तथा आध्यात्मिक सृष्टि के आदि पुरुष हैं और *भुवनैकवन्द्यम्* अर्थात् तीनों लोकों में एकमात्र पूज्य व्यक्ति हैं। आध्यात्मिक आकाश के विमान स्वत: प्रकाशित रहते हैं और भगवान् के महान् भक्तों के द्वारा संचालित होते हैं। दूसरे शब्दों में, वैकुण्ठलोकों में भौतिक जगत में उपलब्ध वस्तुओं की कोई कमी नहीं है—वे उपलब्ध हैं, किन्तु वे अधिक मूल्यवान हैं, क्योंकि वे आध्यात्मिक हैं, अत: शाश्वत तथा आनन्दमय हैं। मुनियों को अभूतपूर्व सुख का अनुभव इसलिए हुआ क्योंकि वैकुण्ठ किसी सामान्य व्यक्ति द्वारा अधिशासित न था। वैकुण्ठलोक कृष्ण के अंशों द्वारा अधिशासित हैं, जो मधुसूदन... जाने जाते हैं। ये दिव्य लोक इसलिए पूजनीय हैं, क्योंकि इनमें स्वयं भगवान् शासन करते हैं। कहा जाता है कि चारों मुनि अपने योग बल से दिव्य आध्यात्मिक आकाश में पहुँचे। यही योग पद्धति की सिद्धि है। प्राणायाम तथा अच्छा स्वास्थ्य बनाने के लिए अनुशासन ही योग सिद्धि के अन्तिम लक्ष्य नहीं हैं। योग प्रणाली सामान्य रूप से *अष्टांग योग* या *सिद्धि* के रूप में जानी जाती है। *योग सिद्धि* के बल से मनुष्य हल्के से हल्का और भारी से भारी हो सकता है। वह जहाँ चाहे जा सकता है और इच्छानुसार ऐश्वर्य प्राप्त कर सकता है। ऐसी आठ सिद्धियाँ हैं। चारों कुमार ऋषि-गण हल्के से हल्का होकर वैकुण्ठ पहुँचे और इस तरह उन्होंने भौतिक जगत के अन्तरिक्ष को पार किया। आधुनिक यांत्रिक अन्तरिक्ष यान इसलिए असफल हैं, क्योंकि वे इस भौतिक सृष्टि के सर्वोच्च क्षेत्र में नहीं पहुँचे सकते और आध्यात्मिक आकाश में तो प्रवेश कर ही नहीं सकते। किन्तु *योग* सिद्धि से मनुष्य न केवल भौतिक अन्तरिक्ष में यात्रा कर सकता है, अपितु भौतिक अन्तरिक्ष को पार करके आध्यात्मिक आकाश में प्रवेश कर सकता है। हम इस तथ्य को दुर्वासा मुनि तथा महाराज अम्बरीष विषयक घटना से भी जानते हैं। ऐसा समझा जाता है कि दुर्वासा मुनि ने एक वर्ष तक सर्वत्र यात्रा की और वे आध्यात्मिक आकाश में भगवान् नारायण से भेंट करने गये। वर्तमान मानदण्ड के अनुसार विज्ञानियों की गणना है कि यदि कोई प्रकाश की गति से यात्रा कर सके तो इस

भौतिक जगत के सर्वोच्च लोक तक पहुँचने में चालीस हजार वर्ष लग जायेंगे। किन्तु योगपद्धति मनुष्य को बिना सीमा या कठिनाई के उठा ले जा सकती है। इस श्लोक में *योगमाया* शब्द आया है। *योगमायाबलेन विकुण्ठम्*। आध्यात्मिक जगत तथा अन्य समस्त आध्यात्मिक प्राकट्यों में प्रदर्शित दिव्य सुख *योगमाया* के बल से सम्भव बन पाते हैं।

तस्मिन्नतीत्य मुनयः षडसज्जमानाः
कक्षाः समानवयसावथ सप्तमायाम् ।
देवावचक्षत गृहीतगदौ परार्ध्य-
केयूरकुण्डलकिरीटविटङ्कवेषौ ॥ २७॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस वैकुण्ठ में; अतीत्य—पार कर लेने पर; मुनयः—मुनियों ने; षट्—छह; असज्ज मानाः—बिना आकृष्ट हुए; कक्षाः—द्वार; समान—बराबर; वयसौ—आयु; अथ—तत्पश्चात्; सप्तमायाम्—सातवें द्वार पर; देवौ—वैकुण्ठ के दो द्वारपालों; अचक्षत—देखा; गृहीत—लिये हुए; गदौ—गदाएँ; पर-अर्ध्य—सर्वाधिक मूल्यवान; केयूर—बाजूबन्द; कुण्डल—कान के आभूषण; किरीट—मुकुट; विटङ्क—सुन्दर; वेषौ—वस्त्र।

भगवान् के आवास वैकुण्ठपुरी के छः द्वारों को पार करने के बाद और सजावट से तनिक भी आश्चर्यचकित हुए बिना, उन्होंने सातवें द्वार पर एक ही आयु के दो चमचमाते प्राणियों को देखा जो गदाएँ लिए हुए थे और अत्यन्त मूल्यवान आभूषणों, कुण्डलों, हीरों, मुकुटों, वस्त्रों इत्यादि से अलंकृत थे।

तात्पर्य : ये ऋषि वैकुण्ठपुरी में भगवान् को देखने के लिए इतने उत्सुक थे कि उन्होंने उन छह द्वारों की दिव्य सजावट को देखने की परवाह नहीं की जिनसे वे एक एक करके गुजरे थे। किन्तु सातवें द्वार पर उन्हें एक ही आयु के दो द्वारपाल मिले। द्वारपालों के एक ही आयु के होने का महत्त्व यह है कि वैकुण्ठलोकों में वृद्धावस्था नहीं होती, अतएव कोई यह अन्तर नहीं कर सकता कि कौन किससे अधिक आयु का है। वैकुण्ठवासीगण भगवान् नारायण की ही तरह *शंख, चक्र, गदा* तथा *पद्म* से अलंकृत रहते हैं।

मत्तद्विरेफवनमालिकया निवीतौ
विन्यस्तयासितचतुष्टयबाहुमध्ये ।
वक्त्रं भ्रुवा कुटिलया स्फुटनिर्गमाभ्यां
रक्तेक्षणेन च मनाग्रभसं दधानौ ॥ २८॥

शब्दार्थ

मत्त—उन्मत्त; द्वि-रेफ—भौंरे; वन-मालिकया—ताजे फूलों की माला से; निवीतौ—गर्दन पर लटकते; विन्यस्तया—चारों ओर रखे हुए; असित—नीला; चतुष्टय—चार; बाहु—हाथ; मध्ये—बीच में; वक्त्रम्—मुखमण्डल; भ्रुवा—भौहों से; कुटिलया—टेढ़ी; स्फुट—हुँकारते हुए; निर्गमाभ्याम्—श्वास; रक्त—लालाभ; ईक्षणेन—आँखों से; च—तथा; मनाक्—कुछ कुछ; रभसम्—चंचल, क्षुब्ध; दधानौ—दृष्टि फेरी।

दोनों द्वारपाल ताजे फूलों की माला पहने थे, जो मदोन्मत्त भौंरों को आकृष्ट कर रही थीं और उनके गले के चारों ओर तथा उनकी चार नीली बाहों के बीच में पड़ी हुई थीं। अपनी कुटिल भौहों, अतृप्त नथनों तथा लाल लाल आँखों से वे कुछ कुछ क्षुब्ध प्रतीत हो रहे थे।

तात्पर्य : उनकी मालाएँ भौरों के झुंडों को आकृष्ट कर रही थीं, क्योंकि ये मालाएँ ताजे फूलों की थीं। वैकुण्ठलोक में हर वस्तु ताजी, नवीन तथा दिव्य होती है। वैकुण्ठ के निवासियों के शरीर नीलाभ रंग के होते हैं और नारायण के ही समान उनके चार हाथ होते हैं।

द्वार्येतयोर्निविविशुर्मिषतोरपृष्ट्वा
पूर्वा यथा पुरटवज्रकपाटिका याः ।
सर्वत्र तेऽविषमया मुनयः स्वदृष्ट्या
ये सञ्चरन्त्यविहता विगताभिशङ्काः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

द्वारि—द्वार पर; एतयोः—दोनों द्वारपाल; निविविशुः—प्रवेश किया; मिषतोः—देखते देखते; अपृष्ट्वा—बिना पूछे; पूर्वाः—पहले की तरह; यथा—जिस तरह; पुरट—स्वर्ण; वज्र—तथा हीरों से बना; कपाटिकाः—दरवाजे; याः—जो; सर्वत्र—सभी जगह; ते—वे; अविष-मया—बिना भेदभाव के; मुनयः—मुनिगण; स्व-दृष्ट्या—स्वेच्छा से; ये—जो; सञ्चरन्ति—विचरण करते हैं; अविहताः—बिना रोक टोक के; विगत—बिना; अभिशङ्काः—सन्देह।

सनक इत्यादि मुनियों ने सभी जगहों के दरवाजों को खोला। उन्हें अपने पराये का कोई विचार नहीं था। उन्होंने खुले मन से स्वेच्छा से उसी तरह सातवें द्वार में प्रवेश किया जिस तरह वे अन्य छह दरवाजों से होकर आये थे, जो सोने तथा हीरों से बने हुए थे।

तात्पर्य : सनक, सनातन, सनन्दन तथा सनत्कुमार महर्षि यद्यपि काफी उम्र के थे, किन्तु अपने को शाश्वत रुप से छोटे बच्चों की तरह बनाए हुए थे। वे दुविधारहित थे और वे दरवाजों में उसी तरह प्रविष्ट हुए जिस तरह छोटे बच्चे अतिक्रमण क्या होता है, उस पर बिना किसी विचार के प्रवेश करते हैं। यह बच्चे का स्वभाव होता है। बच्चा किसी भी स्थान में प्रवेश कर सकता है और उसे कोई नहीं रोकता। निस्सन्देह कि सामान्यतया किसी भी स्थान में जाने के प्रयास के लिए बच्चे का स्वागत होता है, किन्तु यदि बच्चे को दरवाजे में प्रविष्ट होने से रोका जाता है, तो वह बहुत दुखी और क्रुद्ध होता है।

यह बालक का स्वभाव है। यहाँ पर वही बात हुई। बच्चों जैसे साधु पुरुष राजमहल के छहों द्वारों में घुसते गये और उन्हें किसी ने नहीं रोका, अतएव जब उन्होंने सातवें द्वार में प्रविष्ट होने का प्रयास किया और उन्हें द्वारपालों द्वारा मना किया गया जिन्होंने अपनी लाठियों से रोका तो स्वभावत: वे अत्यधिक क्रुद्ध तथा दुखी हुए। कोई सामान्य बालक तो चिल्लाया होता, किन्तु ये सामान्य बालक न थे, अत: इन्होंने तुरन्त द्वारपालों को दण्ड देने की तैयारी कर ली, क्योंकि इन द्वारपालों ने बहुत बड़ा अपराध किया था। भारत में आज भी किसी सन्तपुरुष को किसी के द्वार में घुसने से कभी नहीं रोका जाता।

तान्वीक्ष्य वातरशनांश्चतुरः कुमारान्
वृद्धान्दशार्धवयसो विदितात्मतत्त्वान् ।
वेत्रेण चास्खलयतामतदर्हणांस्तौ
तेजो विहस्य भगवत्प्रतिकूलशीलौ ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; वीक्ष्य—देखकर; वात-रशनान्—नग्न; चतुरः—चार; कुमारान्—बालकों को; वृद्धान्—काफी आयु वाले; दश-अर्ध—पांच वर्ष; वयसः—आयु के लगने वाले; विदित—अनुभव कर चुके थे; आत्म-तत्त्वान्—आत्मा के सत्य को; वेत्रेण—अपने डंडों से; च—भी; अस्खलयताम्—मना किया; अ-तत्-अर्हणान्—उनसे ऐसी आशा न करते हुए; तौ—वे दोनों द्वारपाल; तेजः—यश; विहस्य—शिष्टाचार की परवाह न करके; भगवत्-प्रतिकूल-शीलौ—भगवान् को नाराज करने वाले स्वभाव वाले।

चारों बालक मुनि, जिनके पास अपने शरीरों को ढकने के लिए वायुमण्डल के अतिरिक्त कुछ नहीं था, पाँच वर्ष की आयु के लग रहे थे यद्यपि वे समस्त जीवों में सबसे वृद्ध थे और उन्होंने आत्मा के सत्य की अनुभूति प्राप्त कर ली थी। किन्तु जब द्वारपालों ने, जिनके स्वभाव भगवान् को तनिक भी रुचिकर न थे, इन मुनियों को देखा तो उन्होंने उनके यश का उपहास करते हुए अपने डंडों से उनका रास्ता रोक दिया, यद्यपि ये मुनि उनके हाथों ऐसा बर्ताव पाने के योग्य न थे।

तात्पर्य : चारों मुनि ब्रह्मा के सर्वप्रथम उत्पन्न पुत्र थे। अत: शिवजी समेत अन्य सारे जीव बाद में उत्पन्न हुए जीव हैं, अतएव वे चारों कुमारों से छोटे हैं। यद्यपि वे पाँच वर्षीय बालकों जैसे लग रहे थे और नंगे विचरण कर रहे थे, किन्तु वे अन्य सारे जीवों से अधिक वय के थे और उन्होंने आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर लिया था। ऐसे सन्तों को वैकुण्ठलोक के साम्राज्य में प्रविष्ट होने से मना नहीं किया जाना था, किन्तु संयोगवश द्वारपालों ने उनके प्रवेश पर आपत्ति की। यह उचित नहीं था। भगवान्

कुमारों जैसे मुनियों की सेवा करने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं, किन्तु यह बात जानते हुए भी द्वारपालों ने आश्चर्यजनक रूप से तथा क्रोधवश उन्हें प्रवेश करने से मना किया।

ताभ्यां मिषत्स्वनिमिषेषु निषिध्यमाना:
स्वर्हत्तमा ह्यपि हरे: प्रतिहारपाभ्याम् ।
ऊचु: सुहृत्तमदिदृक्षितभङ्ग ईष-
त्कामानुजेन सहसा त उपप्लुताक्षा: ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

ताभ्याम्—उन दोनों द्वारपालों द्वारा; मिषत्सु—इधर उधर देखते हुए; अनिमिषेषु—वैकुण्ठ में रहने वाले देवताओं; निषिध्यमाना:—मना किये जाने पर; सु-अर्हत्तमा:—सर्वोपयुक्त व्यक्तियों द्वारा; हि अपि—यद्यपि; हरे:—भगवान् हरि का; प्रतिहार-पाभ्याम्—दो द्वारपालों द्वारा; ऊचु:—कहा; सुहृत्-तम—अत्यधिक प्रिय; दिदृक्षित—देखने की उत्सुकता; भङ्गे—अवरोध; ईषत्—कुछ कुछ; काम-अनुजेन—काम के छोटे भाई (क्रोध) द्वारा; सहसा—अचानक; ते—वे ऋषि; उपप्लुत—विक्षुब्ध; अक्षा:—आँखें।

इस तरह सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्ति होते हुए भी जब चारों कुमार अन्य देवताओं के देखते देखते श्री हरि के दो प्रमुख द्वारपालों द्वारा प्रवेश करने से रोक दिये गये तो अपने सर्वाधिक प्रिय स्वामी श्रीहरि को देखने की परम उत्सुकता के कारण उनके नेत्र क्रोधवश सहसा लाल हो गये।

तात्पर्य : वैदिक प्रणाली के अनुसार संन्यासी गेरुवे वस्त्र धारण किये रहता है। यह गेरुवा वेश एक तरह से संन्यासी तथा साधु के लिए कहीं भी जाने के लिए व्यावसायिक दृष्टि से एक पारपत्र (पासपोर्ट) होता है। संन्यासी का कर्तव्य लोगों को कृष्णभावनामृत से प्रबुद्ध करना है। संन्यास आश्रम बितानेवाले लोगों के पास पुरुषोत्तम भगवान् की महिमा तथा श्रेष्ठता का प्रचार करने के अतिरिक्त कोई अन्य कार्य नहीं रहता। अतएव वैदिक समाजशास्त्रीय धारणा यह है कि संन्यासी पर प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। वह जहाँ भी जाना चाहे उसे जाने देना चाहिए और गृहस्थ से जो भेंट माँगे, उससे उसे इनकार नहीं करना चाहिए। चारों कुमार भगवान् नारायण का दर्शन करने आये थे। *सुहृत्तमम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है "समस्त मित्रों में श्रेष्ठ।" जैसाकि *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण कहते हैं *सुहृदं सर्वभूतानाम्*—वे सारे जीवों के सर्वोत्तम मित्र हैं। जीवों का भगवान् से बढ़कर जीवों का हितैषी मित्र कोई नहीं हो सकता। वे सबों के प्रति इतने दयालु रहते हैं कि हमारे द्वारा भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को भुला दिये जाने पर भी वे स्वयं आते हैं—कभी सशरीर जिस तरह कि इस पृथ्वी पर भगवान् कृष्ण प्रकट हुए थे तथा कभी कभी अपने भक्त के रूप में जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने किया

और कभी कभी वे समस्त पतितात्माओं का उद्धार करने के लिए अपने प्रामाणिक भक्तों को भेजते हैं। अत: वे सबों के सबसे बड़े हितैषी मित्र हैं और कुमारगण उनसे मिलना चाहते थे। द्वारपालों को यह जान लेना चाहिए था कि चारों मुनियों के पास कोई अन्य कार्य नहीं था, अतएव उन्हें महल में प्रविष्ट होने से रोकना उचित नहीं था।

इस श्लोक में अलंकारिक रूप में कहा गया है कि जब मुनियों को प्रियतम भगवान् से मिलने के लिए रोका गया तो सहसा उनमें काम का छोटा भाई प्रकट हुआ। काम का छोटा भाई क्रोध है। यदि किसी की कामना या इच्छा पूरी नहीं होती, तो छोटा भाई क्रोध पीछे-पीछे चला आता है। यहाँ हम यह देख सकते है कि कुमारों जैसे सन्तपुरुष भी क्रुद्ध थे, किन्तु वे अपने स्वार्थ के लिए क्रुद्ध न थे। वे इसलिए क्रुद्ध थे, क्योंकि उन्हें भगवान् से मिलने के लिए महल के भीतर प्रवेश करने से रोका गया था। अतएव इस श्लोक में इस सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती कि सिद्धावस्था में मनुष्य को क्रोध नहीं आना चाहिए। क्रोध मुक्तावस्था में भी आता रहता है। ये चारों साधु भाई, कुमारगण, मुक्त पुरुष माने जाते थे; फिर भी वे क्रुद्ध थे, क्योंकि उन्हें भगवान् की सेवा करने से रोका गया था। एक सामान्य व्यक्ति तथा एक मुक्त पुरुष के क्रोध में यह अन्तर है कि सामान्य व्यक्ति इसलिए क्रुद्ध होता है कि उसकी इन्द्रिय-इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं, किन्तु कुमारगण जैसे व्यक्ति तब क्रुद्ध होते हैं जब उन्हें भगवान् की सेवा करने से रोका जाता है।

पिछले श्लोक में स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि कुमारगण मुक्त पुरुष थे। *विदितात्म-तत्त्व* का अर्थ है "जो आत्म-साक्षात्कार के सत्य को समझता है।" जो आत्म-साक्षात्कार के सत्य को नहीं समझता वह अज्ञानी कहलाता है, किन्तु जो आत्मा, परमात्मा, उनके अन्त:सम्बन्ध तथा आत्म-साक्षात्कार में कार्यकलापों को जानता है, वह *विदितात्म-तत्त्व* कहलाता है। यद्यपि कुमारगण पहले से मुक्त पुरुष थे फिर भी वे क्रुद्ध हुए। यह बिन्दु बहुत महत्त्वपूर्ण है। मुक्त होने पर यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने इन्द्रिय-कार्यकलापों को छोड़ दें। इन्द्रिय-कार्यकलाप मुक्तावस्था में भी चलते रहते हैं। किन्तु अन्तर इतना ही होता है कि मुक्तावस्था में इन्द्रिय कार्यकलापों को केवल कृष्णभावनामृत के सन्दर्भ में स्वीकार किया जाता है, जबकि बद्धावस्था में इन्द्रिय कार्यकलाप निजी इन्द्रियतृप्ति के लिए सम्पन्न किये जाते हैं।

मुनय ऊचुः
को वामिहैत्य भगवत्परिचर्ययोच्चै-
स्तद्धर्मिणां निवसतां विषमः स्वभावः ।
तस्मिन्प्रशान्तपुरुषे गतविग्रहे वां
को वात्मवत्कुहकयोः परिशङ्कनीयः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

मुनयः—मुनियों ने; ऊचुः—कहा; कः—कौन; वाम्—तुम दोनों; इह—वैकुण्ठ में; एत्य—प्राप्त करके; भगवत्—भगवान् को; परिचर्यया—सेवा द्वारा; उच्चैः—विगत पुण्यकर्मों के द्वारा उन्नति करके; तत्-धर्मिणाम्—भक्तों के; निवसताम्—वैकुण्ठ में रहते हुए; विषमः—विरोधी; स्वभावः—मनोवृत्ति; तस्मिन्—भगवान् में; प्रशान्त-पुरुषे—निश्चिन्त, चिन्तारहित; गत-विग्रहे—शत्रुविहीन; वाम्—तुम दोनों का; कः—कौन; वा—अथवा; आत्म-वत्—अपने समान; कुहकयोः—द्वैतभाव रखने वाले; परिशङ्कनीयः—विश्वासपात्र न होना।

मुनियों ने कहा : ये दोनों व्यक्ति कौन हैं जिन्होंने ऐसी विरोधात्मक मनोवृत्ति विकसित कर रखी है। ये भगवान् की सेवा करने के उच्चतम पद पर नियुक्त हैं और इनसे यह उम्मीद की जाती है कि इन्होंने भगवान् जैसे ही गुण विकसित कर रखे होंगे? ये दोनों व्यक्ति वैकुण्ठ में किस तरह रह रहे हैं? इस भगवद्धाम में किसी शत्रु के आने की सम्भावना कहाँ है? पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का कोई शत्रु नहीं है। भला उनका कौन ईर्ष्यालु हो सकता है? शायद ये दोनों व्यक्ति कपटी हैं, अतएव अपनी ही तरह होने की अन्यों पर शंका करते हैं।

तात्पर्य : वैकुण्ठलोक के वासियों तथा भौतिक लोक के वासियों में अन्तर यह है कि वैकुण्ठ में सारे निवासी भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं और उनके समस्त सद्गुणों से युक्त होते हैं। महापुरुषों ने यह विश्लेषण किया है कि जब कोई बद्धजीव मुक्त होता है और भक्त बनता है, तो भगवान् के लगभग ७९ प्रतिशत सद्गुण उसमें आ जाते हैं। अतएव वैकुण्ठलोक में भगवान् तथा निवासियों के बीच शत्रुता का प्रश्न ही नहीं उठता। इस भौतिक जगत में नागरिक मुख्य प्रशासकों या राज्याध्यक्षों के प्रति शत्रुता रख सकते हैं, किन्तु वैकुण्ठ में ऐसी कोई मनोवृत्ति नहीं होती। जब तक मनुष्य पूरी तरह सद्गुण विकसित नहीं कर लेता तब तक उसे वैकुण्ठ में प्रविष्ट नहीं होने दिया जाता। अच्छाई या सद्गुणशीलता का मूल सिद्धान्त है भगवान् की अधीनता स्वीकार करना। इसीलिए मुनिगण चकित थे कि उन्हें महल में प्रविष्ट होने से रोकने वाले दोनों द्वारपाल वैकुण्ठलोक के वासियों जैसे नहीं थे। कहा जा सकता है कि द्वारपाल का कर्तव्य यह निश्चित करना है कि किसे महल में प्रवेश करने दिया जाय और किसे नहीं। किन्तु इस सन्दर्भ में यह प्रासंगिक नहीं है, क्योंकि वैकुण्ठ में किसी को तब तक

प्रविष्ट नहीं होने दिया जाता जब तक वह भगवान् की भक्ति में शतप्रतिशत उन्मुख नहीं हो लेता। वैकुण्ठलोकों में भगवान् का कोई शत्रु प्रवेश नहीं कर सकता। कुमारों ने यह निष्कर्ष निकाला कि द्वारपाल उन्हें केवल इसलिए रोक रहे थे, क्योंकि वे स्वयं कपटी थे।

न ह्यन्तरं भगवतीह समस्तकुक्षा-
वात्मानमात्मनि नभो नभसीव धीराः ।
पश्यन्ति यत्र युवयोः सुरलिङ्गिनोः किं
व्युत्पादितं ह्युदरभेदि भयं यतोऽस्य ॥ ३३॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—क्योंकि; अन्तरम्—भेद, अन्तर; भगवति—भगवान् में; इह—यहाँ; समस्त-कुक्षौ—हर वस्तु उदर के भीतर है; आत्मानम्—जीव; आत्मनि—परमात्मा में; नभः—वायु की अल्प मात्रा; नभसि—सम्पूर्ण वायु के भीतर; इव—सदृश; धीराः—विद्वान; पश्यन्ति—देखते हैं; यत्र—जिसमें; युवयोः—तुम दोनों का; सुर-लिङ्गिनोः—वैकुण्ठ वासियों की तरह वेश बनाएँ; किम्—कैसे; व्युत्पादितम्—विकसित, जागृत; हि—निश्चय ही; उदर-भेदि—शरीर तथा आत्मा में अन्तर; भयम्—डर; यतः—जहाँ से; अस्य—परमेश्वर का।

वैकुण्ठलोक में वहाँ के निवासियों तथा भगवान् में उसी तरह पूर्ण सामञ्जस्य है, जिस तरह अन्तरिक्ष में वृहत् तथा लघु आकाशों में पूर्ण सामञ्जस्य रहता है। तो इस सामञ्जस्य के क्षेत्र में भय का बीज क्यों है? ये दोनों व्यक्ति वैकुण्ठवासियों की तरह वेश धारण किये हैं, किन्तु उनका यह असामञ्जस्य कहाँ से उत्पन्न हुआ?

तात्पर्य : जिस तरह इस भौतिक जगत में हर राज्य में विभिन्न विभाग होते हैं—यथा नागरिक विभाग तथा अपराधी विभाग—उसी तरह ईश्वर की सृष्टि में भी दो विभाग हैं। जिस तरह भौतिक जगत में हम देखते हैं कि अपराध विभाग नागरिक विभाग की अपेक्षा बहुत ही छोटा होता है उसी तरह यह भौतिक जगत, जो कि अपराध विभाग माना जाता है, भगवान् की सम्पूर्ण सृष्टि का एक चतुर्थांश है। सारे जीव जो कि भौतिक ब्रह्माण्डों के निवासी हैं, न्यूनाधिक रूप में अपराधी माने जाते हैं, क्योंकि वे भगवान् के आदेशों का पालन नहीं करना चाहते या ईश्वर की इच्छा वाले सामंजस्यपूर्ण कार्यों के विरुद्ध रहते हैं। सृष्टि का सिद्धान्त यह है कि भगवान् स्वभाव से प्रसन्नचित्त हैं और अपनी दिव्य प्रसन्नता को बढ़ाने के लिए ही वे अनेक बनते हैं। हमारे जैसे जीव, भगवान् के अंश होने के कारण, भगवान् की इन्द्रियों को तुष्ट करने के निमित्त हैं। अत: जब भी उस सामञ्जस्य में कोई विसंगति आती है, तो जीव तुरन्त ही माया की पकड़ में आ जाता है।

भगवान् की बहिरंगा शक्ति भौतिक जगत कहलाती है और भगवान् की अन्तरंगा शक्ति का साम्राज्य वैकुण्ठ या भगवद्धाम कहलाता है। वैकुण्ठलोक में भगवान् तथा उसके निवासियों के मध्य कोई असामञ्जस्य नहीं रहता। अतएव वैकुण्ठ लोक में ईश्वर की सृष्टि पूर्ण है। वहाँ भय का कोई कारण नहीं है। सम्पूर्ण भगवद्धाम एक ऐसी पूर्णतया सामञ्जस्ययुक्त इकाई है कि उसमें शत्रुता की कोई सम्भावना नहीं है। वहाँ की हर वस्तु परम पूर्ण है। जिस तरह शरीर के भीतर बहुत सी शारीरिक संरचनाएँ होती हैं, किन्तु तो भी वे उदर की तुष्टि हेतु एक क्रम में कार्य करती हैं और जिस तरह किसी मशीन में हजारों पुर्जे होते हैं फिर भी मशीन के कार्य को पूरा करने के लिए सामञ्जस्यपूर्वक काम करते हैं उसी तरह वैकुण्ठ लोकों में भगवान् पूर्ण हैं तथा निवासी भी भगवान् की सेवाओं में पूर्णतया संलग्न रहते हैं।

मायावादी दार्शनिक अर्थात् निर्विशेषवादी *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक की व्याख्या से यह अर्थ लगाते हैं कि छोटा आकाश तथा बृहत् आकाश एक हैं, किन्तु यह भाव युक्तियुक्त नहीं लगता। बृहद् आकाश तथा लघु आकाश का उदाहरण मनुष्य के शरीर के भीतर भी लागू होता है। बृहद् आकाश स्वयं शरीर है और आँतें तथा शरीर के अन्य अंग लघु आकाश में स्थान पाते हैं। शरीर के प्रत्येक अंश का अपना अपना महत्त्व है यद्यपि वे सम्पूर्ण शरीर के लघु अंश में रहते हैं। इसी तरह सम्पूर्ण सृष्टि भगवान् का शरीर है और हम सृजित जीव या सृजित कोई भी वस्तु उस शरीर के केवल लघु अंश हैं। शरीर के अंग कभी भी सम्पूर्ण शरीर के तुल्य नहीं होते। यह कभी भी सम्भव नहीं है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि सारे जीव जो कि भगवान् के भिन्नांश है शाश्वत तौर पर भिन्नांश रहते हैं। मायावादी दार्शनिकों के अनुसार मोहग्रस्त जीव अपने को भिन्नांश मानता है, यद्यपि वस्तुत: वह परम पूर्ण से तदाकार होता है। यह सिद्धान्त वैध नहीं हैं। सम्पूर्ण तथा अंश का एकत्व (ऐक्य) उनकी गुणता में हैं। आकाश के लघु तथा बृहद् अंशों के एकत्व का यह अर्थ नहीं है कि लघु आकाश बृहद् (महत्) आकाश बन जाता है।

वैकुण्ठलोकों में 'फूट डालो और राज्य करो' की राजनीति के लिए कोई अवकाश नहीं है, क्योंकि भगवान् तथा निवासियों के स्वार्थ एक हैं। *माया* का अर्थ है जीवों तथा भगवान् के बीच असामञ्जस्य और *वैकुण्ठ* का अर्थ है उनके बीच सामञ्जस्य। वस्तुत: सारे जीवों का पालनपोषण

भगवान् द्वारा होता है, क्योंकि वे परम पुरुष हैं। किन्तु मूर्ख प्राणी, वास्तव में परम पुरुष के वश में होते हुए भी, उनके अस्तित्व की अवमानना करते हैं और वह स्थिति माया कहलाती है। कभी कभी वे इस बात से इनकार करते है कि ईश्वर जैसा कोई व्यक्तित्व भी है। उनका कहना है "हर वस्तु शून्य है," और कभी कभी वे ईश्वर के होने से भिन्न प्रकार से इनकार करते हैं, जैसे "हो सकता है कि ईश्वर हो, किन्तु उनका कोई स्वरूप नहीं है।" ये दोनों धारणाएँ जीव की विद्रोही स्थिति के कारण उत्पन्न होती हैं। जब तक यह विद्रोही अवस्था बनी रहती है तब तक भौतिक जगत में असामञ्जस्य बना रहेगा।

सामञ्जस्य या असामञ्जस्य की अनुभूति किसी विशेष स्थान के कानून तथा व्यवस्था के कारण होती है। धर्म भगवान् का कानून तथा व्यवस्था है। *श्रीमद्भगवद्गीता* में धर्म का अर्थ भक्तिमय सेवा या कृष्णभावनामृत पाया जाता है। कृष्ण कहते हैं, "सारे धर्मों को त्याग दो और एकमात्र मेरे शरणागत बनो।" यह है धर्म। जब मनुष्य को इसका पूरा-पूरा भान रहता है कि कृष्ण परम भोक्ता तथा परमेश्वर हैं और वह उसी के अनुसार कर्म करता है, तो वही असली धर्म है। जो भी वस्तु इस सिद्धान्त के विरुद्ध जाती है, वह धर्म नहीं है। इसलिए कृष्ण कहते हैं, "अन्य सारे धर्मों को त्याग दो।" आध्यात्मिक जगत में कृष्णभावनामृत का यह धार्मिक सिद्धान्त सामञ्जस्य में बना रहता है, इसीलिए वह लोक वैकुण्ठ कहलाता है। यदि उन्हीं सिद्धान्तों को पूर्णतया या अंशत: यहाँ पर अपनाया जा सके तो यह भी वैकुण्ठ बन जाय। ऐसा किसी संघ या समिति के साथ भी होता है, यथा अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ। यदि अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ के सदस्य कृष्ण पर अपनी श्रद्धा केंन्द्रित करते हुए *भगवद्गीता* के आदेश तथा सिद्धान्तों के अनुसार सामञ्जस्यपूर्वक रहें तब तो वे वैकुण्ठ में रहते हैं, इस भौतिक जगत में नहीं।

तद्वाममुष्य परमस्य विकुण्ठभर्तुः
कर्तुं प्रकृष्टमिह धीमहि मन्दधीभ्याम् ।
लोकानितो व्रजतमन्तरभावदृष्ट्या
पापीयसस्त्रय इमे रिपवोऽस्य यत्र ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; वाम्—इन दोनों को; अमुष्य—उस; परमस्य—परम का; विकुण्ठ-भर्तुः—वैकुण्ठ के स्वामी; कर्तुम्—प्रदान करने के लिए; प्रकृष्टम्—लाभ; इह—इस अपराध के विषय में; धीमहि—हम विचार करें; मन्द-धीभ्याम्—मन्द बुद्धि वाले;

लोकान्—भौतिक जगत को; इतः—इस स्थान (वैकुण्ठ) से; व्रजतम्—चले जाओ; अन्तर-भाव—द्विधा; दृष्ट्या—देखने के कारण; पापीयसः—पापी; त्रयः—तीन; इमे—ये; रिपवः—शत्रु; अस्य—जीव के; यत्र—जहाँ।

अतएव हम विचार करें कि इन दो संदूषित व्यक्तियों को किस तरह दण्ड दिया जाय। जो दण्ड दिया जाय वह उपयुक्त हो क्योंकि इस तरह से अन्ततः उन्हें लाभ दिया जा सकता है। चूँकि वे वैकुण्ठ जीवन के अस्तित्व में द्वैध पाते हैं, अतः वे संदूषित हैं और इन्हें इस स्थान से भौतिक जगत में भेज दिया जाना चाहिए जहाँ जीवों के तीन प्रकार के शत्रु होते हैं।

तात्पर्य : शुद्ध आत्माएँ भौतिक जगत की अस्तित्वपरक परिस्थितियों में, जो कि परमेश्वर का अपराध विभाग है, क्यों आती हैं? इसका वर्णन *भगवद्गीता* (७.२७) में हुआ है। यह कहा गया है कि जब तक जीव शुद्ध रहता है, वह परमेश्वर की इच्छाओं से सामञ्जस्य रखता है, किन्तु अशुद्ध होते ही वह परमेश्वर की इच्छाओं से असामञ्जस्य रखने लगता है। संदूषण के कारण उसे इस भौतिक जगत में स्थानान्तरित होने पर विवश किया जाता है जहाँ जीवों के तीन शत्रु होते हैं। ये हैं इच्छा, क्रोध तथा कामवासना। ये तीन शत्रु जीवों को भौतिक जगत में रहते रहने के लिए बाध्य करते हैं और जब कोई उनसे मुक्त हो जाता है, तो वह भगवद्धाम में प्रविष्ट होने का पात्र बन जाता है। इसलिए इन्द्रियतृप्ति का अवसर न मिलने पर मनुष्य को क्रुद्ध नहीं होना चाहिए और उसे आवश्यकता से अधिक पाने के लिए वासनापूर्ण नहीं होना चाहिए। इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि दोनों द्वारपालों को भौतिक जगत में भेज दिया जाना चाहिए जहाँ अपराधियों को रहने की अनुमति रहती है। चूँकि अपराध भावना के मूल सिद्धान्त इन्द्रियतृप्ति, क्रोध तथा अनावश्यक कामवासना हैं, अतः जो लोग जीव के इन तीन शत्रुओं द्वारा संचालित होते हैं, वे कभी भी वैकुण्ठलोक नहीं भेजे जाते। लोगों को *भगवद्गीता* पढ़ कर समझना चाहिए और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण को सारी वस्तुओं का स्वामी स्वीकार करना चाहिए। उन्हें अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करने का प्रयास न करके परम पुरुष की इन्द्रियों को तुष्ट करने का अभ्यास करना चाहिए। कृष्णभावनामृत में प्रशिक्षण से मनुष्य को वैकुण्ठलोक जाने में सहायता मिलेगी।

तेषामितीरितमुभाववधार्य घोरं
तं ब्रह्मदण्डमनिवारणमस्त्रपूगैः ।
सद्यो हरेरनुचरावुरु बिभ्यतस्तत्-
पादग्रहावपततामतिकातरेण ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—चारों कुमारों के; इति—इस प्रकार; ईरितम्—उच्चरित; उभौ—दोनों द्वारपाल; अवधार्य—समझ करके; घोरम्—भयंकर; तम्—उस; ब्रह्म-दण्डम्—ब्राह्मण के शाप को; अनिवारणम्—जिसका निवारण न किया जा सके; अस्त्र-पूगैः—किसी प्रकार के हथियार द्वारा; सद्यः—तुरन्त; हरेः—भगवान् के; अनुचरौ—भक्तगण; उरु—अत्यधिक; बिभ्यतः—भयभीत हो उठे; तत्-पाद-ग्रहौ—उनके पाँव पकड़ कर; अपतताम्—गिर पड़े; अति-कातरेण—अत्यधिक चिन्ता में।

जब वैकुण्ठलोक के द्वारपालों ने, जो कि सचमुच ही भगवद्भक्त थे, यह देखा कि वे ब्राह्मणों द्वारा शापित होने वाले हैं, तो वे तुरन्त बहुत भयभीत हो उठे और अत्यधिक चिन्तावश ब्राह्मणों के चरणों पर गिर पड़े, क्योंकि ब्राह्मण के शाप का निवारण किसी भी प्रकार के हथियार से नहीं किया जा सकता।

तात्पर्य : यद्यपि संयोगवश द्वारपालों ने ब्राह्मणों को वैकुण्ठ के द्वार में प्रवेश करने से रोक कर भूल की थी, किन्तु उन्हें तुरन्त ही शाप की गम्भीरता का भान हो गया। अपराध कई प्रकार के होते हैं, किन्तु सबसे बड़ा अपराध है भगवद्भक्त का अपमान करना। चूँकि द्वारपाल भी भगवद्भक्त थे, अतएव उन्हें अपनी भूल समझ में आ गई और जब चारों कुमार उन्हें शाप देने जा रहे थे तो वे भयभीत हो उठे।

भूयादघोनि भगवद्भिरकारि दण्डो
यो नौ हरेत सुरहेलनमप्यशेषम् ।
मा वोऽनुतापकलया भगवत्स्मृतिघ्नो
मोहो भवेदिह तु नौ व्रजतोरधोऽधः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

भूयात्—ऐसा ही हो; अघोनि—पापी के लिए; भगवद्भिः—आपके द्वारा; अकारि—किया गया; दण्डः—दण्ड; यः—जो; नौ—हमारे सम्बन्ध में; हरेत—नष्ट करे; सुर-हेलनम्—महान् देवताओं की आज्ञा का उल्लंघन करते हुए; अपि—निश्चय ही; अशेषम्—असीम; मा—नहीं; वः—तुम्हारा; अनुताप—पछतावा; कलया—थोड़ा थोड़ा करके; भगवत्—भगवान् का; स्मृति-घ्नः—स्मरण शक्ति का विनाश करते हुए; मोहः—मोह; भवेत्—हो; इह—मूर्ख जीवयोनि में; तु—लेकिन; नौ—हम दोनों का; व्रजतोः—जा रहे; अधः अधः—नीचे भौतिक जगत को।

मुनियों द्वारा शापित होने के बाद द्वारपालों ने कहा : यह ठीक ही हुआ कि आपने हमें आप जैसे मुनियों का अनादर करने के लिए दण्ड दिया है। किन्तु हमारी प्रार्थना है कि हमारे पछतावे पर आपकी दया के कारण हमें उस समय भगवान् की विस्मृति का मोह न आए जब हम नीचे-नीचे जा रहे हों।

तात्पर्य : दण्ड कितना ही कठोर क्यों न हो भक्त को सहन है, किन्तु भगवान् की विस्मृति कराने

वाला दण्ड सहन नहीं होता। द्वारपाल, जो स्वयं भी भक्त थे, समझ गये कि उन्हें कौन सा दण्ड दिया जाने वाला है, क्योंकि उन्होंने मुनियों को वैकुण्ठलोक में प्रविष्ट न होने देकर जो महान् अपराध किया था उससे वे सचेष्ट थे। निम्नतम जीव योनियों में जिनमें पशुयोनि भी सम्मिलित हैं, ईश्वर की विस्मृति प्रमुख है। द्वारपाल इससे अवगत थे कि वे भौतिक जगत के अपराध विभाग में जा रहे हैं और उन्हें आशंका थी कि वे निम्नतम योनि में डाले जा सकते हैं जिससे वे परमेश्वर को भूल जाँय। इसलिए उन्होंने प्रार्थना की कि शाप के कारण उन्हें जो जीवन मिलने जा रहा है उसमें ऐसा घटित न हो। *भगवद्गीता* (१६.१९, २०) में कहा गया है कि जो लोग भगवान् तथा उनके भक्तों से ईर्ष्या करते हैं, वे जीवन की अतीव गर्हित योनियों में डाल दिये जाते हैं; ऐसे मूर्ख जन्म-जन्मांतर भगवान् का स्मरण नहीं कर पाते और इस तरह वे अधोगति को प्राप्त होते रहते हैं।

एवं तदैव भगवानरविन्दनाभः
स्वानां विबुध्य सदतिक्रममार्यहृद्यः ।
तस्मिन्ययौ परमहंसमहामुनीना-
मन्वेषणीयचरणौ चलयन्सहश्रीः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; तदा एव—उसी क्षण; भगवान्—भगवान्; अरविन्द-नाभः—जिसकी नाभि से कमल निकला है; स्वानाम्—अपने दासों के विषय में; विबुध्य—जानकर; सत्—मुनियों को; अतिक्रमम्—अपमान; आर्य—सदाचारियों की; हृद्यः—प्रसन्नता; तस्मिन्—वहाँ; ययौ—गये; परमहंस—परमहंस; महा-मुनीनाम्—महामुनियों द्वारा; अन्वेषणीय—जो खोजे जाने योग्य हैं; चरणौ—चरणकमल; चलयन्—विचरण करते हुए; सह-श्रीः—लक्ष्मीजी सहित।

नाभि से उगे कमल के कारण पद्मनाभ कहलाने वाले तथा सदाचारियों की प्रसन्नता के रूप भगवान् को उन सन्तों के प्रति अपने ही दासों के द्वारा किये गये अपमान का उसी क्षण पता चल गया। वे अपनी प्रेयसी लक्ष्मी सहित उस स्थान पर उन चरणों से चलकर गये जिनकी खोज संन्यासी तथा महामुनि करते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् जोर देकर घोषणा करते हैं कि उनके भक्त कभी भी विनष्ट नहीं हो सकते। भगवान् समझ गये कि द्वारपालों तथा मुनियों के बीच का झगड़ा एक नया मोड़ ले रहा है, अतएव वे तुरन्त अपने धाम से निकल आये और झगड़े को आगे बढ़ने से रोकने के लिए उस स्थान पर गये जिससे उनके भक्त द्वारपाल सदा सदा के लिए विनष्ट न हों।

तं त्वागतं प्रतिहृतौपयिकं स्वपुम्भि-
स्तेऽचक्षताक्षविषयं स्वसमाधिभाग्यम् ।
हंसश्रियोर्व्यजनयोः शिववायुलोल-
च्छुभ्रातपत्रशशिकेसरशीकराम्बुम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

तम्—उन्हें; तु—लेकिन; आगतम्—आगे आए हुए; प्रतिहृत—ले गया; औपयिकम्—साज-सामग्री; स्व-पुम्भिः—अपने संगियों द्वारा; ते—उन महामुनियों (कुमारगण) ने; अचक्षत—देखा; अक्ष-विषयम्—अब देखने का विषय; स्व-समाधि-भाग्यम्—भावमय समाधि द्वारा ही दृश्य; हंस-श्रियोः—श्वेत हंसों के समान सुन्दर; व्यजनयोः—चामर (श्वेत बालों के गुच्छे); शिव-वायु—अनुकलू वायु; लोलत्—हिलती हुई; शुभ्र-आतपत्र—श्वेत छाता; शशि—चन्द्रमा; केसर—मोतियों; शीकर—बूँदें; अम्बुम्—जल की।

सनक इत्यादि मुनियों ने देखा कि भगवान् विष्णु जो भावमय समाधि में पहले उनके हृदयों के ही भीतर दृष्टिगोचर होते थे अब वे साकार रूप में उनके नेत्रों के सामने दृष्टिगोचर हो रहे हैं। जब वे छाता तथा चामर जैसी साज-सामग्री सहित अपने संगियों के साथ आगे आये तो श्वेत चामर के बालों के गुच्छे धीमे धीमे हिल रहे थे, मानो दो श्वेत हंस हों तथा अनुकूल हवा से छाते से लटक रही मोतियों की झालरें भी हिल रही थीं मानो श्वेत पूर्णचन्द्रमा से अमृत की बूँदें टपक रही हों, अथवा हवा के झोंके से बर्फ पिघल रही हो।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अचक्षताक्षविषयम्* शब्द आया है। भगवान् सामान्य नेत्रों से नहीं दिखते, किन्तु अब वे कुमारों के नेत्रों को दृष्टिगोचर हो रहे थे। अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द *समाधिभाग्यम्* है। जो ध्यानकर्ता अत्यन्त भाग्यशाली होते हैं, वे योग विधि द्वारा भगवान् के विष्णु रूप को अपने हृदयों के भीतर देख सकते हैं। किन्तु उन्हें साक्षात् देखना दूसरी बात है। यह केवल शुद्ध भक्तों के लिए ही सम्भव है। अतएव कुमारों ने जब देखा कि भगवान् अपने संगियों सहित आ रहे हैं, जो छाता तथा चामर लिये हुए हैं, तो वे आश्चर्यचकित रह गये कि वे तो भगवान् का साक्षात् दर्शन कर रहे हैं। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि ईश्वर प्रेम में उच्चस्थ भक्तगण अपने हृदयों के भीतर सदैव भगवान् श्यामसुन्दर का दर्शन करते हैं। किन्तु जब वे परिपक्व हो जाते हैं, तो वही भगवान् साक्षात् उनके समक्ष दिखते हैं। सामान्यजनों को भगवान् दृश्य नहीं हैं, किन्तु जब कोई भगवान् के पवित्र नाम की महत्ता को समझ सकता है और कीर्तन तथा *प्रसाद-आस्वादन* द्वारा जीभ से आरम्भ करके भगवद्भक्ति में अपने को लगाता है, तो धीरे-धीरे भगवान् स्वयं उसमें प्रकट होते हैं। इस तरह भक्त निरन्तर भगवान् को अपने हृदय में देखता है और अधिक परिपक्व अवस्था में वह उन्हीं भगवान् का साक्षात् दर्शन उसी

तरह कर सकता है, जिस तरह हम अन्य वस्तुओं को देखते हैं।

कृत्स्नप्रसादसुमुखं स्पृहणीयधाम
स्नेहावलोककलया हृदि संस्पृशन्तम् ।
श्यामे पृथावुरसि शोभितया श्रिया स्व-
श्चूडामणिं सुभगयन्तमिवात्मधिष्ण्यम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

कृत्स्न-प्रसाद—हर एक को आशीर्वाद देते हुए; सु-मुखम्—शुभ मुखमण्डल; स्पृहणीय—वांछनीय; धाम—आश्रय; स्नेह—स्नेह; अवलोक—देखते हुए; कलया—अंश द्वारा; हृदि—हृदय में; संस्पृशन्तम्—स्पर्श करते हुए; श्यामे—साँवले रंग वाले भगवान् के प्रति; पृथौ—चौड़ी; उरसि—छाती पर; शोभितया—सुसज्जित होकर; श्रिया—लक्ष्मी द्वारा; स्वः—स्वर्गलोक; चूडा-मणिम्—चोटी; सुभगयन्तम्—सौभाग्य का विस्तार करते हुए; इव—सदृश; आत्म—भगवान्; धिष्ण्यम्—धाम।

भगवान् सारे आनन्द के आगार हैं। उनकी शुभ उपस्थिति हर एक के आशीष के लिए है और उनकी स्नेहमयी मुस्कान तथा चितवन हृदय के अन्तरतम को छू लेती है। भगवान् के सुन्दर शरीर का रंग श्यामल है और उनका चौा वक्षस्थल लक्ष्मीजी का विश्रामस्थल है, जो समस्त स्वर्गलोकों के शिखर रूपी सम्पूर्ण आध्यात्मिक जगत को महिमामंडित करने वाली हैं। इस तरह ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो भगवान् स्वयं ही आध्यात्मिक जगत के सौन्दर्य तथा सौभाग्य का विस्तार कर रहे हों।

तात्पर्य : जब भगवान् आये तो वे सबों से प्रसन्न हुए; इसीलिए यहाँ पर कहा गया है कि *कृत्स्न-प्रसाद-सुमुखम्*। भगवान् जानते थे कि दोषी द्वारपाल भी उनके शुद्ध भक्त थे यद्यपि संयोगवश उन्होंने अन्य भक्तों के चरणों पर अपराध किया था। भक्ति में किसी भक्त के प्रति अपराध करना अतीव घातक होता है। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि भक्त के प्रति किया गया अपराध उस मत्त हाथी की तरह है, जो इधर उधर दौड़ता है। जब कोई मत्त हाथी किसी बगीचे में घुसता है, तो वह सारे पौधों को कुचल डालता है। उसी तरह शुद्ध भक्त के चरणों पर किया गया अपराध भक्ति में उसके पद की हत्या कर देता है। जहाँ तक भगवान् की बात है वे तनिक भी अपमानित मुद्रा में न थे, क्योंकि वे अपने निष्ठावान भक्त द्वारा किये गये किसी अपराध को स्वीकार नहीं करते। किन्तु भक्त को अन्य भक्त के चरणों पर अपराध करने के प्रति अति सतर्क रहना चाहिए। सबों पर समभाव रखने तथा अपने भक्तों के प्रति विशेष रूप से उन्मुख होने वाले भगवान् ने अपराध करने वालों पर उतनी ही दयादृष्टि से देखा जितनी कि अपराध किये जाने वालों पर। भगवान् की यह प्रवृत्ति दिव्यगुणों के अपार आगार होने के

कारण है। भक्तों के प्रति उनकी प्रसन्न मुद्रा इतनी मोहक तथा हृदयस्पर्शी थी कि उनकी मुस्कान तक उनके लिए आकर्षक हो गई। वह आकर्षण न केवल इस भौतिक जगत के समस्त उच्च लोकों के लिए दिव्य था, अपितु उससे परे आध्यात्मिक जगत के लिए भी था। सामान्यतया लोगों को इसका अनुमान नहीं हो पाता कि उन उच्चतर लोकों में स्वाभाविक स्थिति क्या है, जो सारी साज-सामग्री की दृष्टि से अत्यधिक सम्पन्न हैं फिर भी वैकुण्ठलोक इतना सुहावना है तथा इतना दैवी है कि इसकी उपमा मणियों के हार के मध्य मणि या लाकेट से दी जाती है।

इस श्लोक में *स्पृहणीय-धाम* शब्द सूचित करता है कि भगवान् समस्त आनन्द के आगार हैं, क्योंकि उनमें सारे दिव्य गुण पाये जाते हैं। यद्यपि जो लोग निर्विशेष ब्रह्म में तदाकार होने के आनन्द के लिए लालायित रहते हैं, वे इनमें से केवल कुछ ही गुणों की कामना करते हैं, किन्तु ऐसे भी कुछ इच्छुक हैं, जो भगवान् के दासों के रूप में उनका साक्षात् सान्निध्य चाहते हैं। भगवान् इतने दयालु हैं कि वे हर एक को शरण देते हैं, चाहे वह निर्विशेषवादी हो या भक्त हो। वे निर्विशेषवादियों को अपने निर्विशेष ब्रह्म तेज के रूप में शरण देते हैं जबकि भक्तों को वे अपने निजी धाम वैकुण्ठलोकों में आश्रय प्रदान करते हैं। वे अपने भक्तों के प्रति विशेषरूप से उन्मुख रहते हैं। वे अपनी मुसकान तथा उन पर अपनी चितवन से ही भक्तों के हृदय के अन्तस्तल को छू लेते हैं। वैकुण्ठलोक में भगवान् सदा ही सैकड़ों-हजारों लक्ष्मियों द्वारा सेवित होते हैं जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है। (*लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानम्*) इस भौतिक जगत में यदि किसी पर लक्ष्मीजी रंचभर भी कृपा करती हैं, तो वह महिमामंडित हो उठता है, अत: हम इसीसे अनुमान लगा सकते हैं कि आध्यात्मिक जगत में भगवान् का साम्राज्य कितना महिमामंडित है जहाँ सैकड़ों-हजारों लक्ष्मियाँ भगवान् की सेवा में लगी रहती हैं। इस श्लोक की अन्य विशेषता यह है कि इसमें स्पष्ट बतलाया गया है कि वैकुण्ठलोक कहाँ स्थित हैं। वे समस्त स्वर्गलोकों की चोटी पर स्थित हैं, जो कि ब्रह्माण्ड की ऊपरी सीमा सूर्यमंडल के ऊपर हैं और सत्यलोक या ब्रह्मलोक कहलाते हैं। आध्यात्मिक जगत ब्रह्माण्ड के परे स्थित है। इसीलिए यहाँ कहा गया है कि आध्यात्मिक जगत या वैकुण्ठलोक सारे लोकों का शीर्ष है।

पीतांशुके पृथुनितम्बिनि विस्फुरन्त्या
काञ्च्यालिभिर्विरुतया वनमालया च ।
वल्गुप्रकोष्ठवलयं विनतासुतांसे
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

पीत-अंशुके—पीले वस्त्र से ढका; पृथु-नितम्बिनि—अपने विशाल कूल्हों पर; विस्फुरन्त्या—चमचमाती; काञ्च्या—करधनी से; अलिभिः—भौंरों द्वारा; विरुतया—गुंजार करती; वन-मालया—ताजे फूलों की माला से; च—तथा; वल्गु—सुन्दर; प्रकोष्ठ—कलाइयाँ; वलयम्—कंगन; विनता-सुत—विनता पुत्र गरुड़ के; अंसे—कन्धे पर; विन्यस्त—टिकाये; हस्तम्—एक हाथ; इतरेण—दूसरे हाथ से; धुनानम्—घुमाते हुए; अब्जम्—कमल का फूल।

वे करधनी से अलंकृत थे, जो उनके विशाल कूल्हों को आवृत्त किये हुए पीत वस्त्र पर चमचमा रही थी। वे ताजे फूलों की माला पहने थे, जो गुंजरित भौंरों से लक्षित थी। उनकी सुन्दर कलाइयों पर कंगन सुशोभित थे और वे अपना एक हाथ अपने वाहन गरुड़ के कन्धे पर रखे थे तथा दूसरे हाथ से कमल का फूल घुमा रहे थे।

तात्पर्य : यहाँ पर मुनियों द्वारा स्वयं अनुभव किया गया भगवान् का पूर्ण विवरण है, भगवान् का शरीर पीले वस्त्रों से आच्छादित था और उनकी कमर पतली थी। वैकुण्ठ में जब भी भगवान् के या उनके किसी पार्षद के वक्षस्थल पर फूल की माला पड़ी हुई होती है, तो यह वर्णन रहता है कि उस पर भौंरे गुंजार कर रहे हैं। ये सारे स्वरूप अत्यन्त सुन्दर तथा भक्तों को आकृष्ट करने वाले थे। भगवान् का एक हाथ उनके वाहन गरुड़ पर था और दूसरे हाथ में वे एक कमल का फूल घुमा रहे थे। ये भगवान् नारायण के वैयक्तिक गुण हैं।

विद्युत्क्षिपन्मकरकुण्डलमण्डनार्ह-
गण्डस्थलोन्नसमुखं मणिमत्किरीटम् ।
दोर्दण्डषण्डविवरे हरता परार्ध्य-
हारेण कन्धरगतेन च कौस्तुभेन ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

विद्युत्—बिजली; क्षिपत्—प्रकाश करते; मकर—मगर के आकार के; कुण्डल—कान के आभूषण; मण्डन—अलंकरण; अर्ह—जैसाकि उचित है; गण्ड-स्थल—गाल; उन्नस—उठी नाक; मुखम्—मुखमण्डल; मणि-मत्—मणियों से जटित; किरीटम्—मुकुट; दोः-दण्ड—चार बलिष्ट भुजाएँ; षण्ड—समूह; विवरे—बीच में; हरता—मोहने वाला; पर-अर्ध्य—अत्यन्त मूल्यवान; हारेण—हार के द्वारा; कन्धर-गतेन—गर्दन को अलंकृत करते हुए; च—तथा; कौस्तुभेन—कौस्तुभ मणि द्वारा।

उनका मुखमण्डल गालों से सुस्पष्ट हो रहा था, जो उनके बिजली को मात करने वाले मकराकृत कुण्डलों की शोभा को बढ़ा रहे थे। उनकी नाक उन्नत थी और उनका सिर रत्नजटित

मुकुट से आवृत था। उनकी बलिष्ठ भुजाओं के मध्य एक मोहक हार लटक रहा था और उनकी गर्दन कौस्तुभ मणि से विभूषित थी।

अत्रोपसृष्टमिति चोत्स्मितमिन्दिरायाः
स्वानां धिया विरचितं बहुसौष्ठवाढ्यम् ।
मह्यं भवस्य भवतां च भजन्तमङ्गं
नेमुर्निरीक्ष्य न वितृप्तदृशो मुदा कैः ॥ ४२॥

शब्दार्थ

अत्र—यहाँ, सौन्दर्य के मामले में; उपसृष्टम्—पराजित; इति—इस प्रकार; च—तथा; उत्स्मितम्—उसकी सुन्दरता का गर्व; इन्दिरायाः—लक्ष्मीजी का; स्वानाम्—अपने भक्तों का; धिया—बुद्धि द्वारा; विरचितम्—ध्यायित; बहु-सौष्ठव-आढ्यम्—अत्यधिक सुंदर ढंग से अलंकृत किया गया; मह्यम्—मेरा; भवस्य—शिवजी का; भवताम्—तुम सबों का; च—तथा; भजन्तम्—पूजित; अङ्गम्—श्रीविग्रह, स्वरूप; नेमुः—नमस्कार किया; निरीक्ष्य—देखकर; न—नहीं; वितृप्त—तृप्त; दृशः—आँखें; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक; कैः—उनके सिरों से।

नारायण का अनुपम सौन्दर्य उनके भक्तों की बुद्धि द्वारा कई गुना वर्धित होने से इतना आकर्षक था कि वह अतीव सुन्दरी लक्ष्मी देवी के गर्व को भी पराजित कर रहा था। हे देवताओ, इस तरह प्रकट हुए भगवान् मेरे द्वारा, शिव जी द्वारा तथा तुम सबों के द्वारा पूजनीय हैं। मुनियों ने उन्हें अतृप्त आँखों से आदर अर्पित किया और प्रसन्नतापूर्वक उनके चरणकमलों पर अपना अपना सिर झुकाया।

तात्पर्य : भगवान् का सौन्दर्य इतना विमोहक था कि इसका ठीक से वर्णन नहीं किया जा सकता। लक्ष्मीजी भगवान् की आध्यात्मिक तथा भौतिक सृष्टियों में सर्वाधिक सुन्दर झाँकी मानी जाती हैं। उन्हें अपने सर्वाधिक सुन्दर होने का अनुभव है फिर भी जब भगवान् वहाँ प्रकट हुए तो उनका सौन्दर्य परास्त हो गया। दूसरे शब्दों में, लक्ष्मीजी का सौन्दर्य भगवान् की उपस्थिति में गौण है। वैष्णव कवियों के शब्दों में यह कहा जाता है कि भगवान् का सौन्दर्य इतना मोहक है कि वह लाखों कामदेवों को परास्त कर देता है। इसीलिए वे मदनमोहन कहलाते हैं। यह भी वर्णन हुआ है कि कभी कभी भगवान् राधारानी के सौन्दर्य के पीछे पागल हो जाते हैं। कविगण वर्णन करते हैं कि ऐसी परिस्थितियों में भगवान् कृष्ण मदनमोहन होते हुए भी मदन-दाह या राधारानी के सौन्दर्य से विमुग्ध हो जाते हैं। वस्तुतः भगवान् का सौन्दर्य अति उत्तम है और वह वैकुण्ठ में लक्ष्मीजी के सौन्दर्य को भी मात करता है। वैकुण्ठलोकों में भगवान् के भक्तगण उन्हें सर्वाधिक सुन्दर रूप में देखना चाहते हैं, किन्तु गोकुल

या कृष्णलोक में भक्तगण राधारानी को कृष्ण से भी बढ़कर सुन्दर देखना चाहते हैं। इसका समंजन इस तरह होता है कि *भक्तवत्सल* होने के नाते भगवान् ऐसे स्वरूप धारण करते हैं जिससे ब्रह्मा, शिव जैसे भक्त तथा अन्य देवतागण प्रसन्न हो जाँए। यहाँ भी, भक्त मुनिकुमारों के लिए भगवान् अपने सर्वाधिक सुन्दर रूप में प्रकट हुए और वे बिना तृप्त हुए उन्हें देखते रहे तथा उन्हें अधिकाधिक देखते रहना चाह रहे थे

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
सङ्क्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अरविन्द-नयनस्य—कमलनेत्र भगवान् का; पद-अरविन्द—चरणकमलों का; किञ्जल्क—अँगूठों समेत; मिश्र—मिश्रित; तुलसी—तुलसी दल; मकरन्द—सुगन्धि; वायुः—मन्द पवन; अन्तः-गतः—भीतर प्रविष्ट हुए; स्व-विवरेण—अपने नथुनों से होकर; चकार—बना दिया; तेषाम्—कुमारों के; सङ्क्षोभम्—परिवर्तन के लिए क्षोभ; अक्षर-जुषाम्—निर्विशेष ब्रह्म-साक्षात्कार के प्रति अनुरक्त; अपि—यद्यपि; चित्त-तन्वोः—मन तथा शरीर दोनों में।

जब भगवान् के चरणकमलों के अँगूठों से तुलसीदल की सुगन्ध ले जाने वाली मन्द वायु उन मुनियों के नथुनों में प्रविष्ट हुई तो उन्हें शरीर तथा मन दोनों में परिवर्तन का अनुभव हुआ यद्यपि वे निर्विशेष ब्रह्म ज्ञान के प्रति अनुरक्त थे।

तात्पर्य : इस श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि चारों कुमार निर्विशेषवादी अथवा एकेश्वरवाद दर्शन के समर्थक थे और भगवान् से तदाकार होने की सोच रहे थे। किन्तु ज्योंही उन्होंने भगवान् के स्वरूप को देखा, उनके मन परिवर्तित हो गये। दूसरे शब्दों में, जो निर्विशेषवादी भगवान् से तदाकार होने के प्रयास में दिव्य आनन्द का अनुभव करता है, वह भगवान् के सुन्दर दिव्य स्वरूप को देखते ही परास्त हो जाता है। भगवान् के चरणकमलों की सुगन्ध ने, जो वायु द्वारा ले जाई गई थी और जो तुलसी की सुगन्धि से मिश्रित थी, उनके मनन को बदल डाला। उन्होंने परमेश्वर से एकाकार होने के बजाय भक्त बनना श्रेष्ठतर समझा। भगवान् के चरणकमलों का सेवक बनना भगवान् से तदाकार होने से श्रेष्ठतर है।

ते वा अमुष्य वदनासितपद्मकोश-

मुद्वीक्ष्य सुन्दरतराधरकुन्दहासम् ।
लब्धाशिषः पुनरवेक्ष्य तदीयमङ्घ्रि-
द्वन्द्वं नखारुणमणिश्रयणं निदध्युः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

ते—वे मुनि; वै—निश्चय ही; अमुष्य—भगवान् का; वदन—मुख; असित—नीला; पद्म—कमल का; कोशम्—भीतरी भाग; उद्वीक्ष्य—ऊपर देखकर; सुन्दर-तर—अधिक सुन्दर; अधर—होठ; कुन्द—चमेली का फूल; हासम्—हँसी; लब्ध—प्राप्त किया; आशिषः—जीवन के लक्ष्य; पुनः—फिर; अवेक्ष्य—नीचे देखकर; तदीयम्—उसका; अङ्घ्रि-द्वन्द्वम्—चरणकमलों की जोड़ी; नख—नाखून; अरुण—लाल; मणि—पन्ना; श्रयणम्—आश्रय; निदध्युः—ध्यान किया।

उन्हें भगवान् का सुन्दर मुख नीले कमल के भीतरी भाग जैसा प्रतीत हुआ और भगवान् की मुसकान खिले हुए चमेली के फूल सी प्रतीत हुई। मुनिगण भगवान् का मुख देखकर पूर्णतया सन्तुष्ट थे और जब उन्होंने उनको अधिक देखना चाहा तो उन्होंने उनके चरणकमलों के नाखूनों को देखा जो पन्ना जैसे थे। इस तरह वे भगवान् के शरीर को बारम्बार निहार रहे थे, अतः उन्होंने अन्त में भगवान् के साकार रूप का ध्यान किया।

पुंसां गतिं मृगयतामिह योगमार्गै-
र्ध्यानास्पदं बहुमतं नयनाभिरामम् ।
पौंस्नं वपुर्दर्शयानमनन्यसिद्धै-
रौत्पत्तिकैः समगृणन्युतमष्टभोगैः ॥ ४५॥

शब्दार्थ

पुंसाम्—उन पुरुषों की; गतिम्—मुक्ति; मृगयताम्—ढूँढ रहे; इह—इस जगत में; योग-मार्गैः—अष्टांग योग विधि के द्वारा; ध्यान-आस्पदम्—ध्यान का विषय; बहु—महान् योगियों द्वारा; मतम्—संस्तुत; नयन—नेत्र; अभिरामम्—सुहावने; पौंस्नम्—मानव; वपुः—रूप; दर्शयानम्—प्रदर्शित करते हुए; अनन्य—अन्यों द्वारा नहीं; सिद्धैः—सिद्ध; औत्पत्तिकैः—शाश्वत उपस्थित; समगृणन्—प्रशंसित; युतम्—भगवान्, जो समन्वित है; अष्ट-भोगैः—आठ प्रकार की सिद्धियों से।

यही भगवान् का वह रूप है, जिसका ध्यान योगविधि के अनुयायी करते हैं और ध्यान में यह योगियों को मनोहर लगता है। यह काल्पनिक नहीं, अपितु वास्तविक है जैसा कि महान् योगियों ने सिद्ध किया है। भगवान् आठ प्रकार की सिद्धियों से पूर्ण हैं, किन्तु अन्यों के लिए ये पूर्णरूप में सम्भव नहीं हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर योगविधि की सफलता का अति सुन्दर ढंग से वर्णन हुआ है। यह विशेष उल्लेख है कि चतुर्भुजी नारायण के रूप में भगवान् का रूप योगमार्ग के अनुयायियों के लिए ध्यान का लक्ष्य है। आधुनिक युग में ऐसे अनेक तथाकथित योगी हैं, जो चतुर्भुजी नारायण रूप को अपने ध्यान का लक्ष्य नहीं बनाते। उनमें से कुछ तो किसी निर्विशेष या शून्य का ध्यान करने का प्रयास करते हैं,

किन्तु यह उन महान् योगियों द्वारा अनुमोदित नहीं है, जो आदर्श विधि का पालन करते हैं। असली योगमार्ग विधि तो इन्द्रियों को वश में करना, एकान्त तथा पवित्र स्थान में बैठना और नारायण के उस चतुर्भुजी रूप का ध्यान करना है, जो इस अध्याय में वर्णित विधि से अलंकृत रहता है और जिस रूप में वे चारों मुनियों के समक्ष प्रकट हुए थे। यह नारायण रूप कृष्ण का अंश है, अतएव कृष्णभावनामृत आन्दोलन, जो अब विस्तार पा रहा है, योगाभ्यास की असली सर्वोच्च विधि है।

कृष्णभावनामृत तो प्रशिक्षित भक्तिमय योगियों द्वारा सर्वोच्च योग का निष्पादन है। योगाभ्यास के सारे आकर्षणों के बावजूद आठ प्रकार की योग सिद्धियाँ सामान्य व्यक्ति को नहीं प्राप्त हो पाती हैं। किन्तु यहाँ यह वर्णन किया गया है कि चारों मुनियों के समक्ष प्रकट होने वाले भगवान् स्वयं सभी आठ सिद्धियों से पूर्ण हैं। सर्वोच्च योग मार्ग विधि चौबीसों घण्टे कृष्ण पर मन को केन्द्रित करना है। यह कृष्णभावनामृत कहलाती है। *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* में वर्णित योग पद्धति या पतञ्जलि द्वारा संस्तुत योग पद्धति आजकल अभ्यास किये जाने वाले *हठयोग* से भिन्न है जैसाकि आजकल पाश्चात्य देशों में समझा जाता है। असली योगाभ्यास तो इन्द्रियों को वश में करना है और ऐसा वशीकरण हो जाने के पश्चात् मन को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के नारायण रूप में एकाग्र करना है। भगवान् कृष्ण आदि भगवान् हैं और अन्य सारे विष्णु रूप, जिनमें उन्हें शंख, चक्र, गदा तथा पद्म से सजे हुए उनका वर्णन किया गया है कृष्ण के स्वांश हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् के स्वरूप का ध्यान करने की संस्तुति की गई है। मन की एकाग्रता का अभ्यास करने के लिए मनुष्य को सिर तथा पीठ को सीधी रेखा में रखते हुए बैठना होता है और पवित्र वातावरण द्वारा शुद्ध किये हुए एकान्त स्थान में अभ्यास करना होता है। योगी को ब्रह्मचर्य के विधि-विधानों का पालन करना होता है, अर्थात् आत्मसंयम तथा कौमार्यपूर्ण जीवन बिताने का दृढ़ प्रयास करना होता है। किसी घनी आबादी वाले शहर में, अपव्ययी जीवन बिताते हुए, और अनियंत्रित यौन तथा जीभ के व्यभिचार में लगे रहकर, कोई योगाभ्यास नहीं कर सकता। योगाभ्यास के लिए इन्द्रियों का नियंत्रण आवश्यक है और इन्द्रिय नियंत्रण का शुभारम्भ जीभ को नियंत्रित करने से होता है। जो व्यक्ति जीभ पर नियंत्रण रख सकता है, वह अन्य इन्द्रियों पर भी नियंत्रण कर सकता है। मनुष्य अपनी जीभ को सभी प्रकार के वर्जित भोज्य तथा पेय पदार्थों को ग्रहण करने की अनुमति देकर उसी के साथ योगाभ्यास में प्रगति नहीं कर सकता।

यह अत्यन्त शोचनीय बात है कि अनेक अवैध तथाकथित योगी पाश्चात्य देशों में आते हैं और लोगों की योगाभ्यास के प्रति उन्मुखता का अवांछनीय लाभ उठाते हैं। ऐसे अवैध योगी सार्वजनिक रूप से यह घोषित करने का दुस्साहस तक करते हैं कि मनुष्य सुरा-पान की आदत में लिप्त रहते हुए भी ध्यान का अभ्यास कर सकता है।

पाँच हजार वर्ष पूर्व भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के लिए योगाभ्यास की संस्तुति की थी, किन्तु अर्जुन ने स्पष्ट रूप से योग पद्धति के कठोर यम-नियमों का पालन करने में अपनी असमर्थता व्यक्त की थी। मनुष्य को कर्म के हर क्षेत्र में अत्यन्त व्यावहारिक होना चाहिए और उसे योग के नाम पर व्यर्थ के योगासनों का अभ्यास करने में अपना बहुमूल्य समय नहीं गँवाना चाहिए। असली योग तो अपने हृदय के भीतर चतुर्भुजी परमात्मा को खोजना तथा ध्यान में उनका निरन्तर दर्शन करना है। ऐसा निरन्तर ध्यान *समाधि* कहलाता है और इस ध्यान का लक्ष्य तो अलंकृत शरीर वाला चतुर्भुजी नारायण होता है जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के इस अध्याय में वर्णन हुआ है। किन्तु यदि कोई शून्य या निर्विशेष वस्तु का ध्यान करना चाहता है, तो योगाभ्यास में सफलता प्राप्त करने में काफी समय लगता है। हम अपने मन को किसी शून्य या निर्विशेषवादी वस्तु पर एकाग्र नहीं कर सकते। असली योग तो भगवान् के चतुर्भुजी नारायण रूप पर मन को स्थिर करना है, जो हर व्यक्ति के हृदय में आसीन हैं।

ध्यान के द्वारा मनुष्य यह समझ सकता है कि ईश्वर प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में आसीन हैं। यदि कोई इसे न भी जानता हो तो भी ईश्वर हर एक के हृदय में स्थित रहते हैं। वे न केवल मनुष्य के हृदय में स्थित रहते हैं, अपितु वे कुत्ते-बिल्लियों के हृदयों के भीतर भी स्थित हैं। *भगवद्गीता* इस तथ्य को भगवान् की इस घोषणा द्वारा प्रमाणित करती है—*ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशे*। जगत के परम नियन्ता ईश्वर हर एक के हृदय में आसीन हैं। वे न केवल हर एक के हृदय में रहते हैं, अपितु वे परमाणु तक के भीतर उपस्थित हैं। ईश्वर की उपस्थिति से कोई भी स्थान शून्य या रहित नहीं है। यह *ईशोपनिषद्* का कथन है। ईश्वर सर्वत्र उपस्थित हैं और उनके स्वामित्व का अधिकार हर वस्तु पर लागू होता है। भगवान् जिस स्वरूप में सर्वत्र उपस्थित रहते हैं वह परमात्मा कहलाता है। आत्मा का अर्थ है व्यष्टि आत्मा और परमात्मा का अर्थ है व्यष्टि परमात्मा। आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही व्यष्टि पुरुष हैं। आत्मा तथा परमात्मा में यही अन्तर है कि आत्मा किसी विशेष शरीर में ही उपस्थित रहता है, जबकि

परमात्मा सर्वत्र उपस्थित रहता है। इस सन्दर्भ में सूर्य का दृष्टान्त अति उत्तम है। कोई व्यष्टि व्यक्ति किसी एक स्थान पर स्थित रहता है, किन्तु सूर्य इसी प्रकार की व्यष्टि सत्ता होते हुए भी हर व्यक्ति के सिर के ऊपर उपस्थित रहता है। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* में की गई है। इसलिए यद्यपि सारे जीवों के, जिनमें भगवान् भी सम्मिलित हैं, गुण समान हैं, तो भी परमात्मा अपने विस्तार करने की मात्रा-युक्त शक्ति के कारण व्यष्टि आत्मा से भिन्न हैं। भगवान् या परमात्मा अपना विस्तार लाखों रूपों में कर सकते हैं, किन्तु व्यष्टि आत्मा ऐसा नहीं कर सकता।

हर एक के हृदय में स्थित होने से परमात्मा हर एक के कार्यों का अवलोकन कर सकता है—चाहे वह भूत, वर्तमान अथवा भविष्य हो। उपनिषदों में परमात्मा को व्यष्टि आत्मा के साथ मित्र तथा साक्षी रूप में आसीन बतलाया गया है। मित्र रूप में भगवान् अपने मित्र व्यष्टि आत्मा को पा लेने तथा उसे भगवद्धाम वापस ले जाने के लिए उत्सुक रहते हैं। साक्षी के रूप में वे सारे वरों के प्रदाता हैं और वे प्रत्येक व्यष्टि आत्मा को उसके कर्मों का फल देते हैं। परमात्मा हर व्यष्टि आत्मा को वे सारी सुविधाएँ प्रदान करते हैं, जिन्हें इस भौतिक जगत में वह भोगना चाहता है। दुख तो भौतिक जगत पर प्रभुत्व जताने की जीव की लालसा का प्रतिफल होता है। किन्तु भगवान् अपने मित्र व्यष्टि आत्मा को, जो कि उसका पुत्र भी है, अन्य सारे कार्यों को त्याग कर नित्य आनन्दमय तथा ज्ञानमय जीवन के लिए उनकी शरण में जाने का आदेश देते हैं। सभी प्रकार के योग पर अत्यन्त प्रामाणिक तथा सर्वाधिक पढ़ी जानेवाली पुस्तक *भगवद्गीता* की यह अन्तिम शिक्षा है। इस तरह *भगवद्गीता* का अन्तिम शब्द योग की सिद्धि में अन्तिम शब्द है।

भगवद्गीता में कहा गया है कि जो व्यक्ति सदैव कृष्णभावनामृत में लीन रहता है, वह सर्वोच्च योगी है। कृष्णभावनामृत क्या है? जिस तरह व्यष्टि आत्मा अपनी चेतना के द्वारा उसके सारे शरीर में उपस्थित रहता है उसी तरह अतिचेतना द्वारा परमात्मा सारी सृष्टि में उपस्थित रहते हैं। यह अतिचेतना शक्ति व्यष्टि आत्मा द्वारा जिस की चेतना सीमित है, नकल की जाती है। मैं यह तो समझ सकता हूँ कि मेरे सीमित शरीर में क्या हो रहा है, किन्तु मैं इसका अनुभव नहीं कर सकता कि दूसरे के शरीर में क्या हो रहा है। मैं अपनी चेतना के द्वारा अपने सारे शरीर में उपस्थित हूँ, लेकिन मेरी चेतना अन्य के शरीर में उपस्थित नहीं है। किन्तु परमात्मा सर्वत्र तथा सबों के भीतर उपस्थित होने से हर व्यक्ति के शरीर के

विषय में भी सचेत रहते हैं। यह सिद्धान्त कि आत्मा तथा परमात्मा एक हैं स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि इसकी पुष्टि प्रामाणिक वैदिक वाङ्मय से नहीं होती। व्यष्टि आत्मा की चेतना अतिचेतना में कार्य नहीं कर सकती। किन्तु यह अतिचेतना ब्रह्म की चेतना के साथ व्यष्टि चेतना को जोड़कर प्राप्त की जा सकती है। यह जुड़ने की प्रक्रिया, शरणागति या कृष्णभावनामृत कहलाती है। *भगवद्गीता* की शिक्षाओं से यह स्पष्ट है कि अर्जुन प्रारम्भ में अपने भाइयों तथा सम्बन्धियों से युद्ध नहीं करना चाहता था, किन्तु *भगवद्गीता* समझ लेने पर उसने अपनी चेतना को कृष्ण की अतिचेतना से संयुक्त कर दिया। तब वह कृष्णभावनामृत में था।

पूर्ण कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कृष्ण के आदेश से कर्म करता है। कृष्णभावनामृत की शुरुआत में गुरु के पारदर्शी माध्यम से आदेश प्राप्त किया जाता है। जब कोई व्यक्ति पर्याप्त प्रशिक्षित हो लेता है और कृष्ण के प्रति विनीत श्रद्धा तथा प्रेम से प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में कार्य करता है, तो संयुक्त होने की विधि अधिक दृढ तथा सही बन जाती है। कृष्णभावनामृत में भक्ति की यह अवस्था योग प्रणाली की सबसे पूर्ण अवस्था है। इस अवस्था में कृष्ण या परमात्मा भीतर से आदेश देते हैं जबकि बाहर से भक्त की सहायता गुरु द्वारा की जाती है, जो कृष्ण का प्रामाणिक प्रतिनिधि होता है। भीतर से परमात्मा *चैत्य* के रूप में भक्त की सहायता करते हैं, क्योंकि वे प्रत्येक के हृदय के भीतर आसीन रहते हैं। किन्तु केवल इतना समझना कि ईश्वर सबके हृदय में आसीन हैं पर्याप्त नहीं है। मनुष्य को भीतर तथा बाहर दोनों तरह से ईश्वर से परिचित होना होता है और कृष्णभावनामृत में कर्म करने के लिए उसे भीतर तथा बाहर से आदेश प्राप्त करना चाहिए। यही मनुष्य-जीवन की सर्वोच्च सिद्धावस्था तथा समस्त योग की सर्वोच्च सिद्धि है।

पूर्ण योगी के लिए आठ प्रकार की चरम सिद्धियाँ हैं—वायु से भी हल्का, परमाणु से भी छोटा, पर्वत से भी बड़ा, जो भी इच्छा करे उसे पा सकना, ईश्वर की तरह नियंत्रण करना इत्यादि—किन्तु जब वह भगवान् से आदेश पाने की सिद्धावस्था तक पहुँच जाता है, तो वह उपर्युक्त भौतिक उपलब्धियों की किसी भी अवस्था से बढ़कर होता है। योग प्रणाली का प्राणायाम, जिसका सामान्य तौर पर अभ्यास किया जाता है, मात्र शुरुआत है। परमात्मा का ध्यान अगला कदम है। किन्तु परमात्मा से सीधा सम्पर्क प्राप्त करना और उनसे आदेश लेना सर्वोच्च सिद्धि की अवस्था है। ध्यान की प्राणायाम विधि पाँच

हजार वर्ष पूर्व भी अति कठिन थी अन्यथा अर्जुन ने इस प्रणाली को अपनाने के कृष्ण के प्रस्ताव को अस्वीकार न किया होता। यह कलियुग पतित युग कहलाता है। इस युग में लोग सामान्यतया अल्पायु तथा आत्म-साक्षात्कार या आध्यात्मिक जीवन को समझने में अत्यन्त मन्द होते हैं, वे प्राय: अभागे होते हैं, अत: यदि कोई आत्म-साक्षात्कार में तनिक भी रुचि रखता है, तो वह कई षड्यंत्रों द्वारा गुमराह किया जा सकता है। योग की पूर्ण अवस्था प्राप्त करने का एकमात्र साधन *भगवद्गीता* के सिद्धान्तों का पालन करना है, जिसका अभ्यास श्री चैतन्य महाप्रभु ने किया। यह योगाभ्यास की सरलतम तथा सर्वोच्च सिद्धि है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने इस कृष्णभावनामृत योग प्रणाली का प्रदर्शन व्यावहारिक रूप में कृष्ण के पवित्र नाम का केवल कीर्तन करके किया जैसी कि *वेदान्त, श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता* तथा कई महत्त्वपूर्ण पुराणों में संस्तुति की गई है।

भारतीय सबसे अधिक संख्या में इसी योग विधि का पालन करते हैं और यह धीरे धीरे संयुक्त राज्य के अनेक शहरों में फैल रही है। यह इस युग के लिए अतीव सरल तथा व्यावहारिक है, विशेष रूप से उनके लिए जो योग में सफलता के प्रति गम्भीर हैं। इस युग में कोई अन्य विधि सफल नहीं हो सकती। ध्यान की विधि स्वर्णयुग या सत्ययुग में सम्भव थी, क्योंकि उस युग के लोग लाखों वर्षों तक जीवित रहते थे। जो व्यक्ति व्यावहारिक योगाभ्यास में सफलता चाहता है उसे सलाह दी जाती है कि वह हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे; हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे का कीर्तन करे और तब उसे स्वयं अनुभव होने लगेगा कि वह प्रगति कर रहा है। *भगवद्गीता* में कृष्णभावनामृत का यह अभ्यास राजविद्या कहलाता है।

जिन्होंने *भक्तियोग* की इस सर्वाधिक उदात्त विधि को अपनाया है और जो कृष्ण के दिव्य प्रेम में भक्ति का अभ्यास करते हैं, वे इसकी सुखमय तथा सरल सम्पन्नता को प्रमाणित कर सकते हैं। सनक, सनातन, सनन्दन तथा सनत्कुमार नामक चारों मुनि भी भगवान् के स्वरूप एवं उनके चरणकमलों की धूल की दिव्य सुगन्ध के प्रति आकृष्ट हो गये, जैसाकि श्लोक ४३ में बतलाया जा चुका है।

योग के लिए इन्द्रियों का नियंत्रण आवश्यक है तथा *भक्तियोग* या कृष्णभावनामृत इन्द्रियों को शुद्ध करने की विधि है। जब इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं, तो वे स्वत: नियंत्रित हो जाती हैं। कृत्रिम साधनों से इन्द्रियों के कार्यों को नहीं रोका जा सकता, किन्तु यदि कोई इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाकर

शुद्ध कर ले तो इन्द्रियाँ न केवल रद्दी कार्य से नियंत्रित की जा सकती है, अपितु उन्हें भगवान् की दिव्य सेवा में लगाया जा सकता है, जैसाकि चारों मुनियों—सनक, सनातन, सनन्दन तथा सनत्कुमार ने कामना की थी। इसलिए कृष्णभावनामृत चिन्तनशील मन द्वारा बनाई गई धारणा नहीं है। इस विधि का आदेश *भगवद्गीता* (९.३४) में हुआ है—*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु*।

कुमारा ऊचुः

योऽन्तर्हितो हृदि गतोऽपि दुरात्मनां त्वं
सोऽद्यैव नो नयनमूलमनन्त राद्धः ।
यर्ह्येव कर्णविवरेण गुहां गतो नः
पित्रानुवर्णितरहा भवदुद्भवेन ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

कुमाराः ऊचुः—कुमारों ने कहा; यः—जो; अन्तर्हितः—अव्यक्त; हृदि—हृदय में; गतः—आसीन है; अपि—यद्यपि; दुरात्मनाम्—धूर्तों को; त्वम्—तुम; सः—वह; अद्य—आज; एव—निश्चय ही; नः—हमारा; नयन-मूलम्—आमने-सामने; अनन्त—हे अनन्त; राद्धः—प्राप्त किया; यर्हि—जब; एव—निश्चय ही; कर्ण-विवरेण—कानों से होकर; गुहाम्—बुद्धि; गतः—प्राप्त किया है; नः—हमको; पित्रा—पिता के द्वारा; अनुवर्णित—वर्णन किये गये; रहाः—रहस्य; भवत्-उद्भवेन—आपके प्राकट्य से।

कुमारों ने कहा : हे प्रिय प्रभु, आप धूर्तों के समक्ष प्रकट नहीं होते यद्यपि आप हर एक के हृदय के भीतर आसीन रहते हैं। किन्तु जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, हम आपको अपने समक्ष देख रहे हैं यद्यपि आप अनन्त हैं। हमने आपके विषय में अपने पिता ब्रह्मा के द्वारा अपने कानों से जो कथन सुने हैं, वे अब आपके कृपापूर्ण प्राकट्य से वस्तुतः साकार हो गए हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर उन तथाकथित योगियों का वर्णन हुआ है, जो अपने मन को निर्विशेष या शून्य पर केन्द्रित करते हैं या उसका ध्यान करते हैं। *श्रीमद्भागवत* का यह श्लोक उन व्यक्तियों का वर्णन करता है जिनसे आशा की जाती है कि वे ध्यान में संलग्न अति कुशल योगी होंगे, किन्तु जो भगवान् को अपने हृदय के भीतर आसीन नहीं पाते। ऐसे व्यक्तियों को यहाँ पर *दुरात्मा* कहा गया है, जिसका अर्थ है "अत्यन्त कुटिल हृदय वाला" या "कम बुद्धिमान व्यक्ति" जो महात्मा का विलोम है, जिसका अर्थ है "विशाल हृदयवाला।" ऐसे तथाकथित योगी जो ध्यान में लगे रहते हुए भी विशाल-हृदय नहीं हैं, वे चतुर्भुजी नारायण रूप को नहीं देख सकते, भले ही भगवान् उनके हृदय में वास कर रहे होते हैं। यद्यपि परब्रह्म की प्रथम अनुभूति निर्विशेष ब्रह्म है, किन्तु परमेश्वर के निर्विशेष तेज का अनुभव करने से मनुष्य को तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। *ईशोपनिषद्* में भी भक्त प्रार्थना करता है कि उसकी आँखों से

ब्रह्म का चमकीला तेज हटा लिया जाय जिससे वह भगवान् के असली साकार रूप का दर्शन कर सके और इस तरह पूर्णतया सन्तुष्ट हो सके। इसी तरह, यद्यपि भगवान् प्रारम्भ में अपने चमकीले शारीरिक तेज के कारण दृष्टिगोचर नहीं होते, किन्तु यदि भक्त निष्ठापूर्वक उनका दर्शन करना चाहता है, तो भगवान् उसके समक्ष प्रकट होते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् हमारी अपूर्ण आँखों से नहीं देखे जा सकते, न ही वे हमारे अपूर्ण कानों से सुने जा सकते हैं और न ही अपूर्ण इन्द्रियों से अनुभव किये जा सकते हैं। किन्तु यदि कोई श्रद्धा तथा लगन से भक्ति करता है, तो ईश्वर स्वयं प्रकट होते हैं।

यहाँ पर चार मुनियों—सनत्कुमार, सनातन, सनन्दन तथा सनक—को निष्ठावान भक्तों के रूप में वर्णित किया गया है। यद्यपि उन्होंने अपने पिता ब्रह्मा से भगवान् के साकार रूप के विषय में सुन रखा था, किन्तु उन्हें केवल निर्विशेष रूप ब्रह्म ही बतलाया गया था। किन्तु वे भगवान् की निष्ठापूर्वक खोज कर रहे थे, अतएव उन्होंने अन्ततः उनके साकार रूप का दर्शन किया जो उनके पिता द्वारा बताये गये वर्णन के अनुरूप था। इस तरह वे पूर्णतया तुष्ट हो गये। यहाँ वे अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं कि यद्यपि प्रारम्भ में वे मूर्ख निर्विशेषवादी थे, किन्तु अब भगवत्कृपा से उन्हें उनके साकार रूप को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस श्लोक का अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि ये मुनि अपने पिता ब्रह्मा से सुनने का अपना अनुभव बता रहे थे, जिनका जन्म सीधे भगवान् से हुआ था। दूसरे शब्दों में, भगवान् से लेकर ब्रह्मा और ब्रह्मा से नारद तथा नारद से व्यास इत्यादि की परम्परा को यहाँ स्वीकार किया गया है। चूँकि कुमारगण ब्रह्मा के पुत्र थे, अतएव उन्हें ब्रह्मा की शिष्य-परम्परा से वैदिक ज्ञान सीखने का अवसर प्राप्त हुआ था इसलिए निर्विशेषवादी शुभारम्भ के बावजूद अन्त में वे भगवान् के साकार रूप के साक्षात् दर्शक बने।

तं त्वां विदाम भगवन्परमात्मतत्त्वं
सत्त्वेन सम्प्रति रतिं रचयन्तमेषाम् ।
यत्तेऽनुतापविदितैर्दृढभक्तियोगै-
रुद्ग्रन्थयो हृदि विदुर्मुनयो विरागाः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; त्वाम्—तुमको; विदाम—हम जानते हैं; भगवन्—हे भगवान्; परम्—परम; आत्म-तत्त्वम्—परब्रह्म; सत्त्वेन—आपके सतोगुणी रूप के द्वारा; सम्प्रति—अब; रतिम्—ईश प्रेम; रचयन्तम्—उत्पन्न करते हुए; एषाम्—उन सबों का; यत्—जो; ते—तुम्हारी; अनुताप—कृपा; विदितैः—समझ गया; दृढ—अविचल; भक्ति-योगैः—भक्ति द्वारा; उद्ग्रन्थयः—अनुरक्ति से रहित, भौतिक बन्धन से मुक्त; हृदि—हृदय में; विदुः—समझ गये; मुनयः—मुनिगण; विरागाः—भौतिक जीवन में रुचि न रखने वाले।

हम जानते हैं कि आप परम सत्य अर्थात् परमेश्वर हैं, जो अपने दिव्य रूप को अकलुषित (विशुद्ध) सतोगुण में प्रकट करते हैं। आपका यह दिव्य शाश्वत रूप आपकी कृपा से ही अविचल भक्ति के द्वारा उन मुनियों द्वारा समझा जाता है जिनके हृदय भक्तिमयी विधि से शुद्ध किये जा चुके हैं।

तात्पर्य : परम सत्य को तीन रूपों में—निर्विशेष ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूपों में—समझा जा सकता है। यहाँ इसे स्वीकार किया गया है कि परम सत्य को समझने में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अन्तिम शब्द है। यद्यपि चारों कुमारों को उनके महान् विद्वान पिता ब्रह्मा ने शिक्षा दी थी, तथापि वे परब्रह्म को यथार्थ रूप में समझ नहीं पाये थे। वे परब्रह्म को तभी समझ पाये जब उन्होंने अपनी आँखों से भगवान् को साक्षात् देखा। दूसरे शब्दों में, यदि कोई भगवान् को देखता या समझ लेता है, तो परब्रह्म के अन्य दो रूप—निर्विशेष ब्रह्म तथा अन्तर्यामी परमात्मा रूप—भी स्वतः समझ में आ जाते हैं। इसीलिए कुमारगण पुष्टि करते हैं "आप परम सत्य हैं।" निर्विशेषवादी यह तर्क कर सकता है कि चूँकि भगवान् इतने सुन्दर ढंग से सुसज्जित थे, अतएव वे परब्रह्म नहीं थे। किन्तु यहाँ पर इस बात की पुष्टि की गई है कि परम पद की समस्त विविधता (विचित्रता) शुद्धसत्त्व से निर्मित है। भौतिक जगत में कोई भी गुण—सतो, रजो या तमो—कलुषित रहता है। यहाँ तक कि भौतिक जगत में सतोगुण भी रजो तथा तमो गुणों के स्पर्श से मुक्त नहीं है। लेकिन दिव्य जगत में एकमात्र सतोगुण विद्यमान रहता है, जिसमें रजो या तमोगुण का लेश भी नहीं रहता। इसलिए भगवान् का स्वरूप तथा उनकी विविध लीलाएँ एवं साज-सामग्री सारे के सारे शुद्ध सत्त्वगुण हैं। सतोगुण में ऐसी विविधता भगवान् द्वारा भक्त की तुष्टि हेतु सतत् प्रकट की जाती है। भक्त परम सत्य को शून्यता या निर्विशेषता में नहीं देखना चाहता। एक अर्थ में, परम दिव्य विविधता केवल भक्तों के निमित्त होती है, अन्यों के लिए नहीं, क्योंकि दिव्य विविधता का यह स्पष्ट रूप एकमात्र भगवत्कृपा से ही समझा जा सकता है, मानसिक चिन्तन या आरोही विधि से नहीं। कहा जाता है कि जब मनुष्य को भगवान् की किंचित्मात्र

भी कृपा प्राप्त होती है, तो वह भगवान् को समझ सकता है; अन्यथा उनकी कृपा के बिना मनुष्य हजारों वर्षों तक चिन्तन करते रहने पर भी यह नहीं समझ सकेगा कि वस्तुत: परब्रह्म क्या है। यह कृपा भक्त द्वारा तब अनुभव की जाती है जब वह कल्मष से पूरी तरह मुक्त हो जाता है। इसीलिए कहा गया है कि जब सारा कल्मष उन्मूलित हो जाता है और भक्त भौतिक आकर्षणों से पूर्णतया विरक्त हो जाता है तभी वह भगवान् की इस कृपा को प्राप्त कर सकता है।

नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं
किम्वन्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते ।
येऽङ्ग त्वदङ्घ्रिशरणा भवत: कथाया:
कीर्तन्यतीर्थयशस: कुशला रसज्ञा: ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; आत्यन्तिकम्—मुक्ति; विगणयन्ति—परवाह करते हैं; अपि—भी; ते—वे; प्रसादम्—वर; किम् उ—क्या कहा जाय; अन्यत्—अन्य भौतिक सुख; अर्पित—दिया गया; भयम्—भय; भ्रुव:—भौंहों का; उन्नयै:—उठाने से; ते—तुम्हारे; ये—वे भक्त; अङ्ग—हे भगवान्; त्वत्—तुम्हारे; अङ्घ्रि—चरणकमल; शरणा:—शरण लिये हुए; भवत:—आपकी; कथाया:—कथाएँ; कीर्तन्य—कीर्तन के योग्य; तीर्थ—शुद्ध; यशस:—यश; कुशला:—अत्यन्त पटु; रस-ज्ञा:—रस के ज्ञाता।

वे व्यक्ति जो वस्तुओं को यथारूप में समझने में अत्यन्त पटु और सर्वाधिक बुद्धिमान हैं अपने को भगवान् के शुभ कार्यों तथा उनकी लीलाओं की कथाओं को सुनने में लगाते हैं, जो कीर्तन तथा श्रवण के योग्य होती हैं। ऐसे व्यक्ति सर्वोच्च भौतिक वर की, अर्थात् मुक्ति की भी परवाह नहीं करते, स्वर्गलोक के भौतिक सुख जैसे कम महत्वपूर्ण वरों के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं।

तात्पर्य : भगवद्‍भक्तों द्वारा जिस दिव्य आनन्द का भोग किया जाता है, वह अल्पज्ञों द्वारा भोगे गये भौतिक सुख से सर्वथा भिन्न है। भौतिक जगत में अल्पज्ञ लोग वरों के चार सिद्धान्तों में लगे रहते हैं, जो धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष कहलाते हैं। सामान्तया वे किसी भौतिक वर को प्राप्त करने के लिए धार्मिक जीवन अपनाते हैं जिसका उद्देश्य इन्द्रियों तो तुष्ट करना है। जब वे इस विधि से अधिकतम इन्द्रिय भोग की पूर्ति करने में हताश अथवा भ्रान्त हो जाते हैं, तो वे परम तत्त्व से तदाकार होना चाहते हैं, जो उनके विचार से *मुक्ति* है। मुक्ति पाँच प्रकार की है जिनमें सबसे कम महत्त्वपूर्ण *सायुज्य* या ब्रह्म से तदाकार होना है। भक्तगण ऐसी मुक्ति की परवाह नहीं करते, क्योंकि वे वास्तव में बुद्धिमान होते हैं। न ही वे अन्य चार प्रकार की मुक्तियों में से किसी की भी कामना करते हैं—ये हैं भगवान् के ही

लोक में निवास करना (सालोक्य), संगी के रूप में भगवान् के साथ साथ रहना (सामीप्य), उनके जैसा ही ऐश्वर्य पाना (सार्ष्टि) तथा वैसा ही शारीरिक रूप प्राप्त करना। (सारूप्य) वे तो एकमात्र भगवान् की तथा उनके शुभ कार्यों की महिमा का गुणगान करना चाहते हैं। शुद्ध भक्ति तो *श्रवणं कीर्तनम्* है। भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन में दिव्य आनन्द लेने वाले शुद्ध भक्त किसी प्रकार की मुक्ति की परवाह नहीं करते। यदि उन्हें पाँचों मुक्तियाँ भी प्रदान की जाँय वे उन्हें अस्वीकार कर देते हैं जैसाकि *भागवत* के तृतीय स्कन्ध में बतलाया गया है। भौतिकतावादी लोग स्वर्गलोक में स्वर्गिक सुख के इन्द्रिय-भोग की आकांक्षा करते हैं, किन्तु भक्तगण ऐसे भौतिक आनन्द का तुरन्त तिरस्कार कर देते हैं। भक्त इन्द्र के पद तक की परवाह नहीं करता। भक्त जानता है कि कोई भी आनन्दप्रद भौतिक पद कभी न कभी विनष्ट हो जायेगा। यदि वह इन्द्र, चन्द्र या किसी अन्य देवता के पद तक पहुँच भी जाता है, तो एक अवस्था ऐसी आयेगी जब वह विनष्ट हो जायेगा। भक्त कभी भी ऐसे क्षणिक आनन्द में रुचि नहीं दिखाता। वैदिक शास्त्रों से यह समझा जाता है कि कभी न कभी ब्रह्मा तथा इन्द्र तक नीचे गिरते हैं, किन्तु दिव्य भगवद्धाम से भक्त कभी नीचे नहीं गिरता। जीवन की इस दिव्य अवस्था की, जिसमें मनुष्य भगवान् की लीलाओं को सुनने में दिव्य आनन्द का अनुभव करता है, श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी संस्तुति की है। जब श्री चैतन्य महाप्रभु रामानन्द राय से बातें कर रहे थे तो आध्यात्मिक साक्षात्कार के विषय में रामानन्द ने तरह तरह के सुझाव रखे थे, किन्तु श्री चैतन्य महाप्रभु ने इस एक सुझाव के अतिरिक्त सबों को निरस्त कर दिया था कि मनुष्य को शुद्ध भक्तों की संगति में भगवान् की महिमाओं का श्रवण करना चाहिए। वह सबों को स्वीकार्य है, विशेष रूप से इस युग में। मनुष्य को चाहिए कि शुद्ध भक्तों से भगवान् के कार्यकलापों के विषय में सुनने में अपने को लगाये। मानव जाति के लिए यह सर्वोच्च वरदान माना जाता है।

कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्ता-
च्चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेत ।
वाचश्च नस्तुलसिवद्यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः
पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

कामम्—वांछित; भवः—जन्म; स्व-वृजिनैः—अपने ही पाप कर्मों से; निरयेषु—निम्न जन्मों में; नः—हमारा; स्तात्—ऐसा ही हो; चेतः—मन; अलि-वत्—भौंरे सदृश; यदि—यदि; नु—हो सकता है; ते—तुम्हारे; पदयोः—चरणकमलों पर; रमेत—लगे रहते हैं; वाचः—शब्द; च—तथा; नः—हमारे; तुलसि-वत्—तुलसी दल के समान; यदि—यदि; ते—तुम्हारे; अङ्घ्रि—चरणकमलों पर; शोभाः—सजाये गये; पूर्येत—पूरित हो जाते हैं; ते—तुम्हारे; गुण-गणैः—दिव्य गुणों के द्वारा; यदि—यदि; कर्ण-रन्ध्रः—कान के छेद।

हे प्रभु, हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि जब तक हमारे हृदय तथा मन आपके चरणकमलों की सेवा में लगे रहें, हमारे शब्द (आपके कार्यों के कथन से) सुन्दर बनते रहें जिस तरह आपके चरणकमलों पर चढ़ाये गये तुलसीदल सुन्दर लगने लगते हैं तथा जब तक हमारे कान आपके दिव्य गुणों के कीर्तन से सदैव पूरित होते रहें, तब तक आप जीवन की जिस किसी भी नारकीय स्थिति में हमें जन्म दे सकते हैं।

तात्पर्य : अब चारों मुनि भगवान् से अपनी दीनता दिखाते हैं, क्योंकि उन्होंने भगवान् के दो अन्य भक्तों को शाप देकर अपना अभिमान व्यक्त किया था। जय तथा विजय नामक दो द्वारपाल, जिन्होंने उन्हें वैकुण्ठलोक में प्रवेश करने से रोका था, निश्चित रूप से अपराधी थे, किन्तु वैष्णव होने के नाते इन चारों मुनियों को क्रोध में आकर उन दोनों को शाप नहीं देना चाहिए था। इस घटना के बाद उन्हें चेत हुआ कि भगवद्भक्तों को शाप देकर उन्होंने बुरा किया है, अतः उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की कि नारकीय अवस्था में भी उनके मन भगवान् नारायण के चरणकमलों की सेवा करने से विचलित न हों। जो लोग भगवान् के भक्त होते हैं, वे जीवन की किसी भी दशा से भयभीत नहीं होते बशर्ते कि वे भगवान् की सेवा में निरन्तर लगे रहें। भगवान् नारायण के भक्तों *नारायणपरों* के बारे में कहा जाता है *न कुतश्चन् बिभ्यति* (भाग. ६.१७.२८) : वे नारकीय स्थिति में प्रवेश करने से डरते नहीं। क्योंकि वे भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहते हैं, अतः उनके लिए स्वर्ग या नरक एकसमान होता है। भौतिक जीवन में स्वर्ग तथा नरक दोनों ही एकसमान होते हैं, क्योंकि वे भौतिक हैं। इनमें से किसी में भी भगवान् की सेवा में लगे रहने की कोई गुंजायश नहीं है। अतएव जो लोग भगवान् की सेवा में लगे हुए हैं, वे स्वर्ग तथा नरक में कोई अन्तर नहीं देखते। ऐसा तो केवल वे भौतिकतावादी देखते हैं, जो एक की अपेक्षा दूसरे को वरीयता देते हैं।

इन चारों भक्तों ने भगवान् से प्रार्थना की कि यद्यपि भक्तों को शाप देने के कारण हम नरक जा सकते हैं, किन्तु हम भगवान् की सेवा करना न भूलें। भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा तीन प्रकार से

की जाती है—मनसे, वाचन से तथा कर्म से। यहाँ मुनि-गण कहते हैं कि उनकी वाणी सदैव परमेश्वर के गुणगान में लगी रहे। कोई कितनी ही अलंकारमयी या नियंत्रित व्याकरण सम्मत भाषा क्यों न बोले, किन्तु यदि उसके शब्द भगवान् की सेवा में नहीं लगते तो उसमें न तो कोई स्वाद होता है और न वह किसी लाभ की होती है। यहाँ पर तुलसी दलों का दृष्टान्त दिया गया है। तुलसी दल ओषधीय या जीवाणुनाशक दृष्टि से भी अत्यन्त उपयोगी हैं। ये पवित्र माने जाते हैं और भगवान् के चरणकमलों पर अर्पित किये जाते हैं। तुलसीदल में असंख्य सद्गुण हैं, किन्तु यदि इन्हें भगवान् के चरणकमलों पर अर्पित न किया जाता तो तुलसी का इतना महत्त्व न होता। इसी तरह कोई व्यक्ति अलंकार या व्याकरण की दृष्टि से कितने ही सुन्दर ढंग से क्यों न बोले और भौतिकतावादी श्रोता उसकी अत्यधिक प्रशंसा क्यों न करें, किन्तु यदि उसके शब्द भगवान् की सेवा में अर्पित नहीं होते तो वे व्यर्थ हैं। कान के छेद बहुत छोटे होते हैं और वे किसी नगण्य ध्वनि से पूरित हो सकते हैं, अत: वे भगवान् की महिमा जैसी महान् ध्वनि को कैसे ग्रहण कर सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि कान के छेद आकाश की तरह हैं। जिस तरह आकाश कभी भी पूरित नहीं होता, उसी तरह कान की विशेषता है कि कोई चाहे जितनी तरह की ध्वनियाँ उड़ेलता जाय फिर भी कान अधिकाधिक ध्वनियों को ग्रहण कर सकता है। यदि भक्त को निरन्तर भगवान् की महिमा सुनने का अवसर प्राप्त होता रहे तो वह नरक जाने से भयभीत नहीं होता। हरे कृष्ण महामंत्र के कीर्तन का यही लाभ है। कोई किसी भी स्थिति में क्यों न हो, ईश्वर उसे हरे कृष्ण कीर्तन करने का अधिकार देता है। यदि जीवन की किसी भी स्थिति में मनुष्य कीर्तन करता रहे तो वह कभी भी दुखी नहीं होगा।

प्रादुश्चकर्थ यदिदं पुरुहूत रूपं
तेनेश निर्वृतिमवापुरलं दृशो नः ।
तस्मा इदं भगवते नम इद्विधेम
योऽनात्मनां दुरुदयो भगवान्प्रतीतः ॥५०॥

शब्दार्थ

प्रादुश्चकर्थ—आपने प्रकट किया है; यत्—जो; इदम्—यह; पुरुहूत—हे अतीव पूज्य; रूपम्—नित्यरूप; तेन—उस रूप से; ईश—हे प्रभु; निर्वृतिम्—सन्तोष; अवापुः—प्राप्त किया; अलम्—इतना अधिक; दृशः—दृष्टि; नः—हमारी; तस्मै—उस; इदम्—यह; भगवते—भगवान् को; नमः—नमस्कार; इत्—केवल; विधेम—अर्पित करें; यः—जो; अनात्मनाम्—अल्पज्ञों को; दुरुदयः—देखे नहीं जा सकते; भगवान्—भगवान्; प्रतीतः—हमारे द्वारा देखे गए हैं।

अत: हे प्रभु, हम भगवान् के रूप में आपके नित्य स्वरूप को सादर नमस्कार करते हैं जिसे

आपने इतनी कृपा करके हमारे समक्ष प्रकट किया है। आपका परम नित्य स्वरूप अभागे अल्पज्ञ व्यक्तियों द्वारा नहीं देखा जा सकता, किन्तु हम इसे देखकर अपने मन में तथा दृष्टि में अत्यधिक तुष्ट हैं।

तात्पर्य : चारों मुनि अपने आध्यात्मिक जीवन के आदि में निर्विशेषवादी थे, किन्तु बाद में अपने पिता एवं गुरु ब्रह्मा की कृपा से वे भगवान् के नित्य आध्यात्मिक स्वरूप को समझ गए और अपने को पूर्ण तुष्ट अनुभव करने लगे। दूसरे शब्दों में, जो योगीजन निर्विशेष ब्रह्म या अन्तर्यामी परमात्मा की आकांक्षा करते हैं, वे पूरी तरह तुष्ट नहीं होते और फिर भी अधिक के लिए लालायित रहते हैं। यदि वे अपने मन में तुष्ट हो भी जाँए तो भी आध्यात्मिक दृष्टि से उनकी आँखें तुष्ट नहीं होतीं। किन्तु ज्योंही ऐसे व्यक्ति भगवान् की अनुभूति करते हैं, वे सभी प्रकार से तुष्ट हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, वे भक्त बन जाते हैं और भगवान् के रूप को निरन्तर देखते रहना चाहते हैं। *ब्रह्म-संहिता* में इसकी पुष्टि हुई है कि जिसने प्रेमरूपी अंजन को अपनी आँखों में लेप करके कृष्ण का दिव्य प्रेम विकसित कर लिया है, वह भगवान् के दिव्य रूप का निरन्तर दर्शन करता है। इस सन्दर्भ में प्रयुक्त विशिष्ट शब्द *अनात्मनाम्* उनको इंगित करता है जिनका अपने मन तथा इन्द्रियों पर कोई नियंत्रण नहीं होता, अत: जो चिन्तन करते हैं और भगवान् से तदाकार हो जाना चाहते हैं। ऐसे लोग भगवान् के नित्य रूप का दर्शन करने का आनन्द प्राप्त नहीं कर सकते। निर्विशेषवादियों एवं तथाकथित योगियों के लिए भगवान् सदैव योगमाया के पर्दे में छिपे रहते हैं। *भगवद्गीता* कहती है कि जब भगवान् कृष्ण इस पृथ्वी पर विद्यमान थे और सबों के द्वारा दृश्य थे तब भी निर्विशेषवादी एवं तथाकथित योगी उनका दर्शन नहीं कर पाये, क्योंकि वे भक्तिमयी दृष्टि से विहीन थे। निर्विशेषवादियों एवं तथाकथित योगियों का सिद्धान्त है कि परमेश्वर तभी कोई विशेष रूप धारण करते हैं जब वे माया के सम्पर्क में आते हैं, यद्यपि वास्तव में उनके कोई रूप नहीं होता। निर्विशेषवादियों एवं तथाकथित योगियों की यह धारणा उन्हें भगवान् के यथारूप दर्शन करने से रोकती है। इसीलिए भगवान् ऐसे अभक्तों की दृष्टि से सदैव ओझल रहते हैं। चारों मुनि भगवान् के प्रति इतनी कृतज्ञता अनुभव कर रहे थे कि उन्होंने उनको बारम्बार नमस्कार किया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत ''ईश्वर के साम्राज्य का वर्णन'' नामक

पन्द्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सोलह

वैकुण्ठ के दो द्वारपालों, जय-विजय को मुनियों द्वारा शाप

ब्रह्मोवाच
इति तद्गृणतां तेषां मुनीनां योगधर्मिणाम् ।
प्रतिनन्द्य जगादेदं विकुण्ठनिलयो विभुः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; इति—इस प्रकार; तत्—वाणी; गृणताम्—प्रशंसा करते हुए; तेषाम्—उन; मुनीनाम्—चारों मुनियों का; योग-धर्मिणाम्—ब्रह्म के साथ युक्त होने में लगे हुए; प्रतिनन्द्य—बधाई देकर; जगाद—कहा; इदम्—ये शब्द; विकुण्ठ-निलयः—जिनका धाम चिन्ता से रहित है; विभुः—भगवान् ने।

ब्रह्माजी ने कहा : इस तरह मुनियों को उनके मनोहर शब्दों के लिए बधाई देते हुए भगवद्धाम में निवास करनेवाले पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने इस प्रकार कहा।

श्रीभगवानुवाच
एतौ तौ पार्षदौ मह्यं जयो विजय एव च ।
कदर्थीकृत्य मां यद्वो बह्वक्रातामतिक्रमम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; एतौ—ये दोनों; तौ—वे; पार्षदौ—परिचर; मह्यम्—मेरे; जयः—जय नामक; विजयः—विजय नामक; एव—निश्चय ही; च—तथा; कदर्थी-कृत्य—अवहेलना करके; माम्—मुझको; यत्—जो; वः—तुम्हारे विरुद्ध; बहु—अत्यधिक; अक्राताम्—किया है; अतिक्रमम्—अपराध।

भगवान् ने कहा : जय तथा विजय नामक मेरे इन परिचरों ने मेरी अवज्ञा करके आपके प्रति महान् अपराध किया है।

तात्पर्य : भगवद्भक्त के चरणों पर अपराध करना एक भारी दोष है। यदि जीव वैकुण्ठलोक भी पहुँच जाय तो भी सम्भावना बनी रहती है कि वह अपराध करे, किन्तु अन्तर यही है कि जब वह वैकुण्ठ लोक में होता है और यदि संयोगवश वहाँ कोई अपराध करता भी है, तो भगवान् उसको बचा लेते हैं। भगवान् तथा सेवक के बर्तावों की यही विशिष्टता है, जैसाकि जय तथा विजय से सम्बन्धित प्रस्तुत घटना में देखा जाता है। यहाँ पर प्रयुक्त *अतिक्रमम्* शब्द सूचित करता है कि भक्त का अपमान करते समय मनुष्य स्वयं भगवान् की उपेक्षा कर देता है।

द्वारपालों ने गलती से मुनियों को वैकुण्ठलोक में प्रवेश करने से रोका, किन्तु क्योंकि वे भगवान् की दिव्य सेवा में लगे थे, अतएव बढ़े-चढ़े भक्तों को आशा न थी कि वे विनष्ट हो सकते हैं। उस

स्थान पर भगवान् की उपस्थिति भक्तों के हृदयों को अत्यन्त मोहक थी। भगवान् समझ गये कि असली झंझट तो उनके चरणकमलों का मुनियों को न दिखना था, इसीलिए उन्होंने स्वयं चलकर उन्हें प्रसन्न करना चाहा। भगवान् इतने दयालु हैं कि यदि भक्त को कोई अवरोध होता है, तो वे स्थिति को इस तरह सँभालते हैं कि भक्त को उनके चरणकमलों के दर्शन से विहीन नहीं होना पड़ता। हरिदास ठाकुर के जीवन में इसका अच्छा उदाहरण मिलता है। जब चैतन्य महाप्रभु जगन्नाथ पुरी में रह रहे थे तो हरिदास ठाकुर, जो जन्मना मुसलमान थे, उनके साथ थे। हिन्दू मन्दिरों में, विशेष रूप से उन दिनों, केवल हिन्दू को ही प्रवेश करने की अनुमति दी जाती थी। यद्यपि आचरण से हरिदास ठाकुर सर्वोच्च हिन्दू थे तो भी वे अपने को मुसलमान मानते थे और उन्होंने मन्दिर में प्रवेश नहीं किया। श्री चैतन्य महाप्रभु उनकी दीनता को समझ चुके थे और चूँकि वे मन्दिर में दर्शन करने नहीं गए थे, अतः श्री चैतन्य महाप्रभु, जो जगन्नाथ जी से अभिन्न हैं, हरिदास ठाकुर के पास नित्य ही आते और उनके साथ बैठते थे। यहाँ पर *श्रीमद्भागवत* में भी हम भगवान् के इसी आचरण को पाते हैं। उनके भक्तों को उनके चरणकमलों का दर्शन पाने से रोका गया था, किन्तु भगवान् उन्हीं चरणकमलों से चलकर उन्हें देखने आये जिसकी उन्हें कामना थी। यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि लक्ष्मीजी उन के साथ थीं। लक्ष्मी देवी सामान्य व्यक्तियों को नहीं दिखतीं, किन्तु भगवान् इतने कृपालु थे कि यद्यपि भक्तों ने ऐसे सम्मान की कामना नहीं की थी, तो भी वे लक्ष्मीजी के साथ उनके समक्ष प्रकट हुए।

यस्त्वेतयोर्धृतो दण्डो भवद्भिर्मामनुव्रतैः ।
स एवानुमतोऽस्माभिर्मुनयो देवहेलनात् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—लेकिन; एतयोः—जय तथा विजय के विषय में; धृतः—दिया गया; दण्डः—दण्ड; भवद्भिः—आपके द्वारा; माम्—मुझको; अनुव्रतैः—भक्ति करने वाले; सः—वह; एव—निश्चय ही; अनुमतः—अनुमोदित; अस्माभिः—मेरे द्वारा; मुनयः—हे मुनियो; देव—आपके विरुद्ध; हेलनात्—अपराध के कारण।

हे मुनियो, आप लोगों ने उन्हें जो दण्ड दिया है उसका मैं अनुमोदन करता हूँ, क्योंकि आप मेरे भक्त हैं।

तद्वः प्रसादयाम्यद्य ब्रह्म दैवं परं हि मे ।
तद्धीत्यात्मकृतं मन्ये यत्स्वपुम्भिरसत्कृताः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; वः—तुम मुनियों; प्रसादयामि—तुमसे क्षमा चाहता हूँ; अद्य—अभी; ब्रह्म—ब्राह्मण; दैवम्—अत्यन्त प्रिय व्यक्ति; परम्—सर्वोच्च; हि—क्योंकि; मे—मेरा; तत्—वह अपराध; हि—क्योंकि; इति—इस प्रकार; आत्म-कृतम्—मेरे द्वारा किया हुआ; मन्ये—मानता हूँ; यत्—जो; स्व-पुम्भिः—मेरे सेवकों द्वारा; असत्-कृताः—अनादरित।

मेरे लिए ब्राह्मण सर्वोच्च तथा सर्वाधिक प्रिय व्यक्ति है। मेरे सेवकों द्वारा दिखाया गया अनादर वास्तव में मेरे द्वारा प्रदर्शित हुआ है, क्योंकि वे द्वारपाल मेरे सेवक हैं। इसे मैं अपने द्वारा किया गया अपराध मानता हूँ, इसलिए मैं घटी हुई इस घटना के लिए आपसे क्षमा चाहता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् सदैव ब्राह्मणों तथा गौवों का पक्ष लेते हैं, इसीलिए *गोब्राह्मण हिताय च* कहा गया है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण या विष्णु ब्राह्मणों के पूज्य देव भी हैं। वैदिक वाङ्मय में, ऋग्वेद के *ऋग्मंत्र* में कहा गया है कि जो वास्तव में ब्राह्मण हैं, वे सदैव विष्णु के चरणकमलों की ओर ताकते हैं—*ॐ तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः*। जो लोग योग्य ब्राह्मण हैं, वे भगवान् के विष्णु रूप की ही पूजा करते हैं जिसका अर्थ कृष्ण, राम तथा विष्णु के समस्त अंश हैं। तथाकथित ब्राह्मण जो ब्राह्मण कुल में जन्म लेता है, किन्तु वैष्णवों के विपरित कार्य करता है उसे ब्राह्मण नहीं माना जा सकता, क्योंकि ब्राह्मण का अर्थ है वैष्णव और वैष्णव का अर्थ है ब्राह्मण। जो भगवान् का भक्त बन जाता है, वह भी ब्राह्मण है। सूत्र है *ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः*। ब्राह्मण वह है, जिसने ब्रह्म को समझ लिया है और वैष्णव वह है, जिसने भगवान् को समझ लिया है। ब्रह्म-साक्षात्कार तो भगवान् साक्षात्कार की शुरुआत है। जो भगवान् को समझता है, वह परम के निर्विशेष रूप को भी जानता है, जो कि ब्रह्म है। अतः जो व्यक्ति वैष्णव बनता है, वह पहले से ब्राह्मण होता है। यह ध्यान देना होगा कि भगवान् द्वारा इस अध्याय में वर्णित ब्राह्मण की महिमाएँ उनके *भक्त-ब्राह्मण* या वैष्णव की द्योतक हैं। इससे कभी यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि इस सन्दर्भ में तथाकथित ब्राह्मण का जो कि ब्राह्मण परिवारों में उत्पन्न होते हैं, किन्तु जिनमें कोई भी ब्राह्मण गुण नहीं पाये जाते, उल्लेख हुआ है।

यन्नामानि च गृह्णाति लोको भृत्ये कृतागसि ।
सोऽसाधुवादस्तत्कीर्तिं हन्ति त्वचमिवामयः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; नामानि—नाम; च—तथा; गृह्णाति—ग्रहण करता है; लोकः—सामान्य जन; भृत्ये—जब एक सेवक; कृत-आगसि—कुछ गलती कर चुकता है; सः—वह; असाधु-वादः—दोष; तत्—उस व्यक्ति की; कीर्तिम्—ख्याति; हन्ति—नष्ट करता है; त्वचम्—चमड़ी; इव—सदृश; आमयः—कोढ़।

किसी सेवक द्वारा किये गये गलत कार्य से सामान्य तौर पर लोग उसके स्वामी को दोष देते हैं जिस तरह शरीर के किसी भी अंग पर श्वेत कुष्ट के धब्बे सारे चमड़ी को दूषित बना देते हैं।

तात्पर्य : अतएव वैष्णव को पूरी तरह सुयोग्य होना चाहिए। जैसाकि *भागवत* में कहा गया है, जो कोई वैष्णव बन जाता है उसमें देवता के सारे सद्गुण आ जाते हैं। *चैतन्य-चरितामृत* में छब्बीस गुणों का उल्लेख हुआ है। एक भक्त को सदैव यह देखना चाहिए कि कृष्णभावनामृत में प्रगति के साथ साथ उसके वैष्णव गुणों में वृद्धि हो। भक्त को दोषरहित रहना चाहिए, क्योंकि भक्त द्वारा किया गया कोई अपराध भगवान् पर दाग है। भक्त का कर्तव्य है कि अन्यों के साथ अपने बर्तावों में, विशेष रूप से भगवान् के अन्य भक्त के साथ अपने बर्तावों में, सदैव सचेत रहे।

यस्यामृतामलयशःश्रवणावगाहः
सद्यः पुनाति जगदाश्वपचाद्विकुण्ठः ।
सोऽहं भवद्भ्य उपलब्धसुतीर्थकीर्ति-
श्छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; अमृत—अमृत; अमल—दूषणरहित; यशः—यश, महिमा; श्रवण—सुनना; अवगाहः—प्रविष्ट करना; सद्यः—तुरन्त; पुनाति—पवित्र करती है; जगत्—ब्रह्माण्ड; आश्व-पचात्—कुत्ता-भक्षक तक; विकुण्ठः—चिन्तारहित; सः—वह व्यक्ति; अहम्—मैं हूँ; भवद्भ्यः—आप से; उपलब्ध—प्राप्त; सु-तीर्थ—तीर्थयात्रा का सर्वोत्तम स्थान; कीर्तिः—यश; छिन्द्याम्—काट देगा; स्व-बाहुम्—अपनी भुजा; अपि—भी; वः—तुम्हारे प्रति; प्रतिकूल-वृत्तिम्—शत्रुवत् कार्य करते हुए।

सम्पूर्ण संसार में कोई भी व्यक्ति, यहाँ तक कि चण्डाल भी जो कुत्ते का मांस पका कर और खा कर जीता है, वह भी तुरन्त शुद्ध हो जाता है यदि वह मेरे नाम, यश आदि के गुणगान रूपी अमृत में कान से सुनते हुए स्नान करता है। अब आप लोगों ने निश्चित रूप से मेरा साक्षात्कार कर लिया है, अतएव मैं अपनी ही भुजा को काटकर अलग करने में तनिक संकोच नहीं करूँगा, यदि इसका आचरण आपके प्रतिकूल लगे।

तात्पर्य : यदि मानव समाज के सदस्य कृष्णभावनामृत स्वीकार कर लें तो उसका वास्तविक शुद्धिकरण हो सकता है। सारे वैदिक वाङ्मय में इसका स्पष्ट उल्लेख है। जो भी निष्ठापूर्वक कृष्णभावनामृत ग्रहण करता है, वह, सद्व्यवहार में उन्नत न होने पर भी शुद्ध हो जाता है। भक्त का चयन मानव समाज के किसी भी वर्ग से किया जा सकता है, यद्यपि यह आशा नहीं की जाती कि समाज के सारे अंगों के सारे लोग अच्छे व्यवहार वाले हैं। जैसाकि इस श्लोक में तथा *भगवद्गीता* में

कई स्थानों पर कहा गया है कि यदि कोई ब्राह्मण कुल में जन्म न भी ले या यदि वह चण्डालों के परिवार में भी जन्म ले, किन्तु यदि वह केवल कृष्णभावनामृत को ग्रहण करता है, तो वह तुरन्त शुद्ध हो जाता है। *भगवद्गीता* (९.३०-३२) में स्पष्ट कहा गया है कि चाहे मनुष्य सुन्दर आचरण का न हो, किन्तु यदि वह केवल कृष्णभावनामृत को ग्रहण करता है, तो वह साधु स्वभाव वाला व्यक्ति समझा जाता है। जब तक कोई व्यक्ति इस भौतिक जगत में है, तब तक अन्यों के साथ बर्ताव में उसके दो विभिन्न सम्बन्ध रहते हैं—एक तो शरीर से सम्बन्धित और दूसरा आत्मा से सम्बन्धित। जहाँ तक शारीरिक मामलों या सामाजिक कार्यों का सम्बन्ध है, यद्यपि मनुष्य आध्यात्मिक स्तर पर शुद्ध होता है, किन्तु कभी कभी देखा जाता है कि वह शारीरिक सम्बन्धों के परिपेक्ष्य में कार्य करता है। यदि चण्डाल परिवार में उत्पन्न भक्त कभी कभी अपने स्वभावगत कार्य करता देखा जाता है, तो उसे चण्डाल नहीं समझा जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, वैष्णव का मूल्यांकन उसके शरीर के आधार पर नहीं किया जाना चाहिए। शास्त्र कहते हैं कि मन्दिर के अर्चाविग्रह को कभी कोई काष्ठ या पत्थर का बना हुआ न समझे, न ही कोई यह सोचे कि निम्न जाति से आने वाला व्यक्ति जिसने कृष्णभावनामृत स्वीकार कर लिया है अब भी उसी निम्न जाति का है। ऐसे विचारों का निषेध है, क्योंकि जो भी कृष्णभावनामृत ग्रहण करता है, वह पूर्णतया शुद्ध समझा जाता है। कम से कम, वह शुद्धि की प्रक्रिया में लगा हुआ होता है और यदि वह कृष्णभावनामृत के सिद्धान्त पर दृढ़ रहता है, तो वह शीघ्र ही पूरी तरह से शुद्ध हो जाएगा। निष्कर्ष यह निकला कि यदि कोई गम्भीरता के साथ कृष्णभावनामृत को ग्रहण करता है, तो वह पहले से शुद्ध हुआ माना जाता है और कृष्ण उसे सभी प्रकार से सुरक्षा प्रदान करने के लिए तैयार रहते हैं। यहाँ पर भगवान् विश्वास दिलाते हैं कि वे अपने भक्त को सुरक्षा प्रदान करने के लिए तैयार रहते हैं चाहे उन्हें अपने ही शरीर के एक अंग को काट फेंकने की आवश्यकता क्यों न पड़े।

यत्सेवया चरणपद्मपवित्ररेणुं
सद्यः क्षताखिलमलं प्रतिलब्धशीलम् ।
न श्रीर्विरक्तमपि मां विजहाति यस्याः
प्रेक्षालवार्थ इतरे नियमान्वहन्ति ॥७॥

शब्दार्थ

यत्—जिसकी; सेवया—सेवा द्वारा; चरण—पाँव; पद्म—कमल; पवित्र—पवित्र; रेणुम्—धूल; सद्यः—तुरन्त; क्षत—पोंछी गई; अखिल—समस्त; मलम्—पापों को; प्रतिलब्ध—अर्जित; शीलम्—स्वभाव; न—नहीं; श्रीः—लक्ष्मीजी; विरक्तम्—कोई आसक्ति न रखना; अपि—यद्यपि; माम्—मुझको; विजहाति—छोड़ती हैं; यस्याः—लक्ष्मी का; प्रेक्षा-लव-अर्थः—थोड़ी भी कृपा पाने के लिए; इतरे—अन्य, यथा ब्रह्मा जैसे; नियमान्—पवित्र व्रतों को; वहन्ति—पालन करते हैं।.

भगवान् ने आगे कहा : चूँकि मैं अपने भक्तों का सहायक हूँ, इसलिए मेरे चरणकमल इतने पवित्र बन चुके हैं कि वे तुरन्त ही सारे पापों को धो डालते हैं और मुझे ऐसा स्वभाव प्राप्त हो चुका है कि देवी लक्ष्मी मुझे छोड़ती नहीं, यद्यपि उसके प्रति मेरा कोई लगाव नहीं है और अन्य लोग उसके सौन्दर्य की प्रशंसा करते हैं तथा उसकी रंचमात्र कृपा पाने के लिए भी पवित्र व्रत रखते हैं।

तात्पर्य : भगवान् तथा उनके भक्त के मध्य का सम्बन्ध दिव्यतः सुन्दर है। जिस तरह भक्त सोचता है कि भगवद्भक्त होने से वह समस्त गुणों में समुन्नत है उसी तरह भगवान् भी सोचते हैं कि सेवक के प्रति उनकी भक्ति के कारण ही उनकी सारी दिव्य महिमाएँ बढ़ गई हैं। दूसरे शब्दों में, जिस तरह भक्त भगवान् की सेवा करने के लिए सदैव उत्सुक रहता है उसी तरह भगवान् भक्त की सेवा करने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं। यहाँ पर भगवान् यह स्वीकार करते हैं कि यद्यपि उनमें निश्चित रूप से ऐसा गुण है कि जिस किसी को उनके चरणकमलों की धूल का कण भी प्राप्त हो जाता है, वह तुरन्त ही महापुरुष बन जाता है, किन्तु यह महानता अपने भक्त के लिए उनके स्नेह के कारण है। इसी स्नेह के कारण लक्ष्मीजी उन्हें छोड़ती नहीं और एक नहीं, हजारों लक्ष्मियाँ उनकी सेवा में लगी रहती हैं। भौतिक जगत में लक्ष्मीजी से रंचमात्र कृपा पाने के लिए लोग तपस्या के अनेक कठोर अनुष्ठानों का पालन करते हैं। भगवान् भक्त की किसी भी असुविधा को सहन नहीं कर पाते। इसीलिए वे *भक्तवत्सल* के रूप में विख्यात हैं।

नाहं तथाद्मि यजमानहविर्विताने
श्च्योतद्धृतप्लुतमदन्हुतभुङ्मुखेन ।
यद्ब्राह्मणस्य मुखतश्चरतोऽनुघासं
तुष्टस्य मय्यवहितैर्निजकर्मपाकैः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; तथा—दूसरी ओर; अद्मि—खाता हूँ; यजमान—यज्ञकर्ता द्वारा; हविः—आहुति; विताने—यज्ञ-अग्नि में; श्च्योतत्—डालते हुए; घृत—घी; प्लुतम्—मिश्रित; अदन्—खाते हुए; हुत-भुक्—यज्ञ की अग्नि; मुखेन—मुँह से; यत्—

क्योंकि; ब्राह्मणस्य—ब्राह्मण के; मुखतः—मुख से; चरतः—कार्य करते हुए; अनुघासम्—कौर; तुष्टस्य—तुष्ट; मयि—मेरे लिए; अवहितैः—अर्पित किया गया; निज—अपना; कर्म—कार्यकलाप; पाकैः—फलों के द्वारा।

यज्ञाग्नि में, जो मेरे ही निजी मुखों में से एक है, यज्ञकर्ताओं के द्वारा डाली गई आहुतियों में मुझे उतना स्वाद नहीं मिलता जितना कि घी से सिक्त उन व्यंजनों से जो उन ब्राह्मणों के मुख में अर्पित किये जाते हैं जिन्होंने अपने कर्मों के फल मुझे अर्पित कर दिये हैं और जो मेरे प्रसाद से सदैव तुष्ट रहते हैं।

तात्पर्य : भगवद्भक्त या वैष्णव भगवान् को अर्पित किये बिना कोई वस्तु ग्रहण नहीं करता। चूँकि वैष्णव अपने सारे कर्मफल भगवान् को अर्पित कर देता है, अतः वह किसी ऐसी खाद्य वस्तु का आस्वादन नहीं करता जो पहले भगवान् को अर्पित न की गई हो। भगवान् भी अपने को अर्पित सारे खाद्य पदार्थों को वैष्णवों के मुखों में देकर आस्वादन करते हैं। इस श्लोक से स्पष्ट है कि भगवान् यज्ञाग्नि तथा ब्राह्मण के मुख के माध्यम से भोजन करते हैं। अतः भगवान् को तुष्ट करने के लिए यज्ञ में अनेक वस्तुएँ—अन्न, घी, आदि—अर्पित की जाती हैं। भगवान् ब्राह्मणों तथा भक्तों से यज्ञ की भेंट स्वीकार करते हैं। अन्यत्र यह कहा गया है कि ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को खाने के लिए जो कुछ अर्पित किया जाता है उसे भगवान् भी स्वीकार करते हैं, किन्तु यहाँ पर यह कहा गया है कि वे ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के मुखों की भेंटों को और अधिक स्वाद से स्वीकार करते हैं। इसका सर्वोत्तम उदाहरण हरिदास ठाकुर के साथ अद्वैत प्रभु के बर्तावों में पाया जाता है। यद्यपि हरिदास मुसलमान परिवार में जन्मे थे, किन्तु अद्वैत प्रभु ने पवित्र अग्नि उत्सव सम्पन्न करने के बाद प्रसाद की पहली थाली उन्हें ही भेंट की थी। हरिदास ठाकुर ने उन्हें बतलाया कि मैं मुसलमान परिवार में पैदा हुआ हूँ तो आप पहली थाली किसी उच्च ब्राह्मण को भेंट न करके एक मुसलमान को क्यों प्रदान कर रहे हैं? हरिदास ने अपनी विनयशीलतावश ही अपने को मुसलमान कहकर भर्त्सना की, किन्तु अनुभवी भक्त होने के कारण अद्वैत प्रभु ने उन्हें असली ब्राह्मण माना। अद्वैत प्रभु ने कहा कि हरिदास ठाकुर को पहली थाली भेंट करके वे एक लाख ब्राह्मणों को खिलाने का फल प्राप्त कर रहे हैं। निष्कर्ष यह निकला कि यदि कोई एक ब्राह्मण या वैष्णव को खिला सकता है, तो यह लाखों यज्ञ करने से अच्छा है। इसीलिए इस युग में संस्तुति की गई है कि *हरेर्नाम* अर्थात् भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करना तथा वैष्णवों को प्रसन्न करना ही मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन तक ऊपर उठाने के एकमात्र साधन हैं।

येषां बिभर्म्यहमखण्डविकुण्ठयोग-
मायाविभूतिरमलाङ्घ्रिरजः किरीटैः ।
विप्रांस्तु को न विषहेत यदर्हणाम्भः
सद्यः पुनाति सहचन्द्रललामलोकान् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

येषाम्—ब्राह्मणों का; बिभर्मि—धारण करता हूँ; अहम्—मैं; अखण्ड—अटूट; विकुण्ठ—बिना अवरोध के; योग-माया—अन्तरंगा शक्ति; विभूतिः—ऐश्वर्य; अमल—शुद्ध; अङ्घ्रि—पाँवों की; रजः—धूलि; किरीटैः—मेरे मुकुट पर; विप्रान्—ब्राह्मण; तु—लेकिन; कः—कौन; न—नहीं; विषहेत—ले जाते हैं; यत्—भगवान् का; अर्हण-अम्भः—पाँवों को धोने से प्राप्त जल; सद्यः—तुरन्त; पुनाति—पवित्र बनाता है; सह—सहित; चन्द्र-ललाम—शिवजी; लोकान्—तीनों लोकों को।

मैं अपनी अबाधित अन्तरंगा शक्ति का स्वामी हूँ तथा गंगा जल मेरे पाँवों को धोने से निकलता हुआ जल है। वही जल जिसे शिवजी अपने सिर पर धारण किए हुए हैं, उनको तथा तीनों लोकों को पवित्र करता है। यदि मैं वैष्णव के पैरों की धूल को अपने सिर पर धारण करूँ, तो मुझे ऐसा करने से कौन मना करेगा?

तात्पर्य : भगवान् की अन्तरंगा तथा बहिरंगा शक्तियों में अन्तर यह है कि अन्तरंगा शक्ति में अथवा आध्यात्मिक जगत में सभी ऐश्वर्य अविचल रहते हैं जबकि बहिरंगा अथवा भौतिक शक्ति में सारे ऐश्वर्य नश्वर अभिव्यक्ति होते हैं। भगवान् की श्रेष्ठता आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों ही जगतों में समान होती है, किन्तु आध्यात्मिक जगत भगवत्-साम्राज्य कहलाता है और भौतिक जगत माया का साम्राज्य कहलाता है। माया द्योतक है उसकी जो वास्तव में तथ्य नहीं है। भौतिक जगत का ऐश्वर्य प्रतिबिम्बित ऐश्वर्य होता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि यह भौतिक जगत उस वृक्ष की तरह है, जिसकी जड़ें ऊपर की ओर तथा शाखाएँ नीचे की ओर होती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि भौतिक जगत आध्यात्मिक जगत की छाया है। असली ऐश्वर्य तो आध्यात्मिक जगत में रहता है। आध्यात्मिक जगत के अधिष्ठाता देव स्वयं भगवान् हैं जबकि भौतिक जगत में अनेक स्वामी हैं। अन्तरंगा तथा बहिरंगा शक्तियों में यही अन्तर है। भगवान् कहते हैं कि यद्यपि वे ही अन्तरंगा शक्ति के प्रधान कारण हैं और यद्यपि भौतिक जगत उनके पादप्रक्षालित जल से पवित्र बनता है, तो भी उनके मन में ब्राह्मण तथा वैष्णव के प्रति सर्वाधिक आदर रहता है। जब भगवान् स्वयं ही वैष्णव तथा ब्राह्मण को इतना आदर प्रदान करते हैं, तो फिर इन पुरुषों को ऐसा आदर प्रदान करने से कौन इनकार कर सकता है?

ये मे तनूर्द्विजवरान्दुहतीर्मदीया
भूतान्यलब्धशरणानि च भेदबुद्ध्या ।
द्रक्ष्यन्त्यघक्षतदृशो ह्यहिमन्यवस्तान्
गृध्रा रुषा मम कुषन्त्यधिदण्डनेतुः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

ये—जो पुरुष; मे—मेरा; तनूः—शरीर; द्विज-वरान्—ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ; दुहतीः—गौवें; मदीयाः—मुझसे सम्बन्धित; भूतानि—जीव; अलब्ध-शरणानि—आश्रयविहीन; च—तथा; भेद-बुद्ध्या—भिन्न मानते हुए; द्रक्ष्यन्ति—देखते हैं; अघ—पाप के द्वारा; क्षत—क्षतिग्रस्त; दृशः—निर्णय की शक्ति; हि—क्योंकि; अहि—सर्पवत्; मन्यवः—क्रुद्ध; तान्—उन्हीं व्यक्तियों को; गृध्राः—गीध जैसे दूत; रुषा—क्रोध से; मम—मेरे; कुषन्ति—नोच डालते हैं; अधिदण्ड-नेतुः—दण्ड के अधीक्षक, यमराज का।.

ब्राह्मण, गौवें तथा निस्सहाय प्राणी मेरे ही शरीर हैं। जिन लोगों की निर्णय शक्ति अपने पाप के कारण क्षतिग्रस्त हो चुकी है वे इन्हें मुझसे पृथक् रूप में देखते हैं। वे क्रुद्ध सर्पों के समान हैं और वे पापी पुरुषों के अधीक्षक यमराज के गीध जैसे दूतों की चोचों से क्रोध में नोच डाले जाते हैं।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* के अनुसार गौवें, ब्राह्मण, स्त्रियाँ, बच्चे तथा वृद्ध पुरुष निस्सहाय प्राणी हैं। इन पाँचों में से ब्राह्मणों तथा गौवों का इस श्लोक में विशेष उल्लेख हुआ है, क्योंकि भगवान् ब्राह्मणों तथा गौवों के हित के विषय में सदा चिन्तित रहते हैं और इसी रूप में वन्दित होते हैं। अतएव भगवान् विशेष रूप से उपदेश देते हैं कि किसी को इन पाँचों से, विशेष रूप से गौवों तथा ब्राह्मणों से, ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए। *भागवत* के किन्हीं किन्हीं पाठों में *दुहतीः* के स्थान पर *दुहित्रिः* शब्द का प्रयोग मिलता हैं। किन्तु दोनों ही शब्दों से अर्थ एक ही निकलता है। *दुहतीः* का अर्थ "गाय" है और *दुहित्रिः* का भी अर्थ "गाय" हो सकता है, क्योंकि गाय को सूर्यदेव की पुत्री माना जाता है। जिस तरह से बच्चों की देखरेख उनके माता-पिता द्वारा की जाती है उसी तरह स्त्री-वर्ग की देखरेख पिता, पति या सयाने पुत्र द्वारा की जानी चाहिए। जो लोग असहाय हैं उनकी देखरेख उनके अभिभावकों द्वारा की जानी चाहिए अन्यथा वे यमराज द्वारा दण्डित किये जायेंगे, क्योंकि यमराज भगवान् द्वारा पापी प्राणियों के कार्यकलापों का निरीक्षण करने के लिए नियुक्त हैं। यहाँ पर यमराज के सहायकों या दूतों की उपमा गीधों से दी गई है और जो लोग अपने रक्ष्यों की रक्षा करने का कर्तव्य नहीं निभाते उनकी तुलना सर्पों से की गई हैं। गीध सर्पों के साथ बहुत ही बुरी तरह से बर्ताव करते हैं; उसी तरह दूत असावधान अभिभावकों के साथ बुरी तरह पेश आते हैं।

ये ब्राह्मणान्मयि धिया क्षिपतोऽर्चयन्त-
स्तुष्यद्धृदः स्मितसुधोक्षितपद्मवक्त्राः ।
वाण्यानुरागकलयात्मजवद्गृणन्तः
सम्बोधयन्त्यहमिवाहमुपाहृतस्तैः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ये—जो व्यक्ति; ब्राह्मणान्—ब्राह्मणजन; मयि—मुझमें; धिया—बुद्धिपूर्वक; क्षिपतः—कटुवचन बोलते हुए; अर्चयन्तः—आदर करते हुए; तुष्यत्—हर्षित हुए; हृदः—हृदय; स्मित—हँसी; सुधा—अमृत; उक्षित—नम; पद्म—कमल सदृश; वक्त्राः—मुखमंडल; वाण्या—शब्दों से; अनुराग-कलया—प्रेम करते हुए; आत्मज-वत्—पुत्र के समान; गृणन्तः—प्रशंसा करते हुए; सम्बोधयन्ति—सान्त्वना देते हैं; अहम्—मैं; इव—सदृश; अहम्—मैं; उपाहृतः—नियंत्रित होकर; तैः—उनके द्वारा।

दूसरी ओर ऐसे लोग जो हृदय में पुलकित रहते हैं और अमृततुल्य हँसी से आलोकित अपने कमलमुखों से ब्राह्मणों द्वारा कटु वचन बोलने पर भी उनका आदर करते हैं, वे मुझे मोह लेते हैं। वे ब्राह्मणों को मुझ जैसा ही मानते हैं और प्रियवचनों से उनकी प्रशंसा करके उन्हें उसी तरह शान्त करते हैं जिस तरह पुत्र अपने क्रुद्ध पिता को प्रसन्न करता है या मैं तुम लोगों को शान्त कर रहा हूँ।

तात्पर्य : वैदिक शास्त्रों में कई स्थानों पर यह कहा गया है कि जब ब्राह्मण या वैष्णव क्रुद्ध होकर किसी को शाप देते हैं, तो शापित व्यक्ति ब्राह्मणों या वैष्णवों के साथ वैसा ही व्यवहार करने का भार अपने ऊपर नहीं लेता। इसके अनेक उदाहरण हैं। उदाहरणार्थ, जब कुवेर के पुत्रों को नारद मुनि ने शाप दिया तो उन्होंने उसी कटु रीति से बदला नहीं लेना चाहा, अपितु आत्म-समर्पण कर दिया। यहाँ भी जब जय और विजय चार कुमारों से शापित किए गए तो वे उन से कटु रीति से पेश नहीं आए; अपितु उन्होंने आत्मसमर्पण कर दिया। ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के साथ बर्ताव करने की यही विधि होनी चाहिए। कभी कभी ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न की गई गम्भीर स्थिति का सामना करना पड़ सकता है, किन्तु उसके साथ वैसा ही व्यवहार न करके हँसकर तथा मृदु व्यवहार द्वारा उसे शान्त करने का प्रयास करना चाहिए। ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को नारायण का पार्थिव प्रतिनिधि मानना चाहिए। आजकल कुछ मूर्ख व्यक्तियों ने *दरिद्रनारायण* शब्द गढ़ लिया है, जिससे यह सूचित होता है कि दरिद्र व्यक्ति को नारायण का प्रतिनिधि स्वीकार करना चाहिए। किन्तु वैदिक वाङ्मय में हम यह कहीं नहीं पाते कि दरिद्र व्यक्तियों को नारायण का प्रतिनिधि माना जाय। निस्सन्देह, "जो अलब्धशरणं या असुरक्षित हैं" का यहाँ पर उल्लेख है, किन्तु शास्त्रों से इस पद की परिभाषा स्पष्ट है। दरिद्र व्यक्ति को असुरक्षित नहीं

होना चाहिए, लेकिन ब्राह्मण को विशेष रूप से नारायण का प्रतिनिधि माना जाना चाहिए और उन्हीं नारायण के समान उनकी पूजा की जानी चाहिए। इसका विशेष उल्लेख है कि ब्राह्मण को शान्त करने के लिए कमल जैसा मुख होना चाहिए। कमल जैसा मुख तब दिखता हैं जब मनुष्य प्रेम तथा वात्सल्य से अलंकृत हो। इस सम्बन्ध में पुत्र पर पिता को क्रुद्ध होने तथा पुत्र द्वारा हँसीले तथा मधुर शब्दों से पिता को शान्त करने का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है।

तन्मे स्वभर्तुरवसायमलक्षमाणौ
युष्मद्व्यतिक्रमगतिं प्रतिपद्य सद्यः ।
भूयो ममान्तिकमितां तदनुग्रहो मे
यत्कल्पतामचिरतो भृतयोर्विवासः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; मे—मेरा; स्व-भर्तुः—अपने स्वामी का; अवसायम्—मनोभाव; अलक्षमाणौ—न जानते हुए; युष्मत्—तुम्हारे विरुद्ध; व्यतिक्रम—अपराध; गतिम्—फल; प्रतिपद्य—पाकर; सद्यः—तुरन्त; भूयः—पुनः; मम अन्तिकम्—मेरे निकट; इताम्—प्राप्त करते हैं; तत्—वह; अनुग्रहः—कृपा; मे—मुझको; यत्—जो; कल्पताम्—व्यवस्थित हो; अचिरतः—शीघ्र ही; भृतयोः—इन दोनों सेवकों का; विवासः—निर्वासन, देश निकाला।

मेरे इन सेवकों ने अपने स्वामी के मनोभाव को न जानते हुए आपके प्रति अपराध किया है, इसलिए मैं इसे अपने प्रति किया गया अनुग्रह मानूँगा यदि आप यह आदेश दें कि वे मेरे पास शीघ्र ही लौट आयें तथा मेरे धाम से उनका निर्वासन-काल शीघ्र ही समाप्त हो जाय।

तात्पर्य : इस कथन से हम समझ सकते हैं कि भगवान् अपने सेवकों को वैकुण्ठ वापस लाने के लिए कितने चिन्तित हैं। इसलिए यह घटना सिद्ध करती है कि जो लोग एक बार वैकुण्ठ में प्रविष्ट हो चुके हैं, वे कभी नीचे नहीं गिर सकते। जय तथा विजय का मामला पतन का नहीं है, यह तो मात्र एक घटना है। ऐसे भक्तों को जल्द से जल्द वैकुण्ठ वापस लाने के लिए भगवान् सदैव चिन्तित रहते हैं। यह कल्पना करनी होगी कि भगवान् तथा भक्तों के मध्य किसी प्रकार की भ्रान्ति की संभावना नहीं रहती, किन्तु जब एक भक्त तथा दूसरे भक्त के बीच कोई विभेद या व्यवधान आता है, तो भक्त को परिणाम भोगना पड़ता है, यद्यपि यह कष्ट क्षणिक होता है। भगवान् अपने भक्तों पर इतने दयालु हैं कि उन्होंने द्वारपालों के अपराध का सारा भार अपने ऊपर ले लिया और मुनियों से प्रार्थना की कि वे उन्हें ऐसी सुविधाएँ प्रदान करें जिससे वे जल्दी से जल्दी वैकुण्ठ वापस आ सकें।

ब्रह्मोवाच
अथ तस्योशतीं देवीमृषिकुल्यां सरस्वतीम् ।
नास्वाद्य मन्युदष्टानां तेषामात्माप्यतृप्यत ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा—ब्रह्माजी ने; उवाच—कहा; अथ—अब; तस्य—परमेश्वर का; उशतीम्—मनोहर; देवीम्—चमकते; ऋषि-कुल्याम्—वैदिक स्तोत्रों की शृंखला के समान; सरस्वतीम्—वाणी; न—नहीं; आस्वाद्य—सुनकर; मन्यु—क्रोध; दष्टानाम्—काटा गया; तेषाम्—उन मुनियों के; आत्मा—मन; अपि—यद्यपि; अतृप्यत—तुष्ट किया।

ब्रह्मा ने आगे कहा : यद्यपि मुनियों को क्रोध रूपी सर्प ने डस लिया था, किन्तु उनकी आत्माएँ भगवान् की उस मनोहर तथा तेजपूर्ण वाणी को सुनकर अघाई नहीं थीं जो वैदिक मंत्रों की शृंखला के समान थी।

सतीं व्यादाय शृण्वन्तो लघ्वीं गुर्वर्थगह्वराम् ।
विगाह्यागाधगम्भीरां न विदुस्तच्चिकीर्षितम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

सतीम्—सर्वोत्तम; व्यादाय—ध्यानपूर्वक सुनकर; शृण्वन्तः—सुनते हुए; लघ्वीम्—ठीक से रचा हुआ; गुरु—गहन; अर्थ—आशय; गह्वराम्—समझ पाना कठिन; विगाह्य—मनन करके; अगाध—गहरा; गम्भीराम्—गम्भीर; न—नहीं; विदुः—समझते हैं; तत्—परमेश्वर का; चिकीर्षितम्—मनोभाव।

भगवान् की उत्कृष्ट वाणी इसके गहन आशय तथा इसके अत्यधिक गहन महत्व के कारण समझी जाने में कठिन थी। मुनियों ने उसे कान खोलकर सुना तथा उस पर मनन भी किया। किन्तु सुनकर भी वे यह नहीं समझ पाये कि भगवान् क्या करना चाह रहे हैं।

तात्पर्य : यह समझना चाहिए कि बोलने में भगवान् से कोई पार नहीं पा सकता। परम पुरुष तथा उनकी वाणी में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि वे परम पद पर स्थित हैं। मुनियों ने भगवान् के होठों से निस्सृत शब्दों को कान खोलकर सुनने-समझने का प्रयास किया, किन्तु मुनिगण ठीक से समझ न पाये कि वे क्या कह रहे हैं, यद्यपि उनकी वाणी अति संक्षिप्त तथा अर्थपूर्ण थी। वे वाणी का तात्पर्य तक नहीं समझ पाये कि वे क्या कहना चाह रहे हैं। न ही वे यह समझ सके कि भगवान् उन पर क्रुद्ध हैं या प्रसन्न हैं।

ते योगमाययारब्धपारमेष्ठ्यमहोदयम् ।
प्रोचुः प्राञ्जलयो विप्राः प्रहृष्टाः क्षुभितत्वचः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; योग-मायया—उनकी अन्तरंगा शक्ति द्वारा; आरब्ध—प्रकट किया गया; पारमेष्ठ्य—भगवान् का; महा-उदयम्—बहुमुखी यश; प्रोचुः—बोले; प्राञ्जलयः—हाथ जोड़कर; विप्राः—चारों ब्राह्मण; प्रहृष्टाः—अत्यधिक प्रसन्न; क्षुभित-त्वचः—रोमांचित।

तो भी चारों ब्राह्मण मुनि उन्हें देखकर अतीव प्रसन्न थे और उन्होंने अपने सम्पूर्ण शरीरों में रोमांच का अनुभव किया। तब उन भगवान् से जिन्होंने अपनी योगमाया से परम पुरुष की बहुमुखी महिमा को प्रकट किया था, वे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : चारों मुनि भगवान् के समक्ष पहली बार बोलने में उलझन सी अनुभव कर रहे थे और अतीव हर्ष के कारण उन्हें रोमांच हो आया। भौतिक जगत का सर्वोच्च ऐश्वर्य *पारमेष्ठ्य* कहलाता है, जो कि ब्रह्मा का ऐश्वर्य है। किन्तु इस भौतिक जगत के सर्वोच्चलोक में रहने वाले ब्रह्मा का वह भौतिक ऐश्वर्य भगवान् के ऐश्वर्य की बराबरी नहीं कर सकता, क्योंकि आध्यात्मिक जगत में दिव्य ऐश्वर्य *योगमाया* द्वारा उत्पन्न होता है, जबकि भौतिक जगत में यह ऐश्वर्य *महामाया* द्वारा उत्पन्न होता है।

ऋषय ऊचुः

न वयं भगवन्विद्मस्तव देव चिकीर्षितम् ।
कृतो मेऽनुग्रहश्चेति यदध्यक्षः प्रभाषसे ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ऋषयः—ऋषियों ने; ऊचुः—कहा; न—नहीं; वयम्—हम; भगवन्—हे भगवान्; विद्मः—जानते थे; तव—तुम्हारा; देव—हे प्रभु; चिकीर्षितम्—करने की इच्छा; कृतः—किया हुआ; मे—मेरे प्रति; अनुग्रहः—कृपा; च—तथा; इति—इस प्रकार; यत्—जो; अध्यक्षः—परम शासक; प्रभाषसे—तुम कहते हो।

ऋषियों ने कहा : हे भगवन्, हम यह नहीं जान पा रहे कि आप हमारे लिए क्या करना चाहते हैं, क्योंकि आप सबों के परम शासक होते हुए भी हमारे पक्ष में बोल रहे हैं मानो हमने आपके साथ कोई अच्छाई की हो।

तात्पर्य : मुनिगण यह जान गये कि पुरुषोत्तम भगवान्, जो सबों के ऊपर हैं, इस तरह बोल रहे हैं, मानो उनसे कोई गलती हो गई हो। अतएव उनके लिए भगवान् के शब्दों को समझ पाना कठिन हो रहा था। किन्तु वे यह समझ गये कि भगवान् ऐसे विनीत स्वर में इसलिए बोल रहे हैं जिससे वे अपना सर्व-दयामय अनुग्रह उन्हें दिखा सकें।

ब्रह्मण्यस्य परं दैवं ब्राह्मणाः किल ते प्रभो ।
विप्राणां देवदेवानां भगवानात्मदैवतम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

ब्रह्मण्यस्य—ब्राह्मण संस्कृति के परम निदशेक का; परम्—सर्वोच्च; दैवम्—स्थिति, पद; ब्राह्मणाः—ब्राह्मण जन; किल—अन्यों को शिक्षा देने के लिए; ते—तुम्हारा; प्रभो—हे प्रभु; विप्राणाम्—ब्राह्मणों का; देव-देवानाम्—देवताओं द्वारा पूजे जाने के लिए; भगवान्—भगवान्; आत्म—स्वयं; दैवतम्—पूज्य विग्रह।

हे प्रभु, आप ब्राह्मण संस्कृति के परम निदेशक हैं। ब्राह्मणों को सर्वोच्च पद पर आपके द्वारा माना जाना अन्यों को शिक्षा देने के लिए आपका उदाहरण है। वस्तुतः आप न केवल देवताओं के लिए, अपितु ब्राह्मणों के लिए भी परम पूज्य विग्रह हैं।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* में स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् समस्त कारणों के कारण हैं। निस्सन्देह, देवता तो अनेक हैं, किन्तु उनमें प्रधान ब्रह्मा तथा शिव हैं। भगवान् विष्णु ब्रह्मा तथा शिव के प्रभु हैं, तो इस भौतिक जगत में ब्राह्मणों के विषय में क्या कहा जाय? जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भगवान् ब्राह्मण संस्कृति या इन्द्रियों तथा मन के नियंत्रण, स्वच्छता, सहिष्णुता, शास्त्रों में श्रद्धा तथा सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक ज्ञान के गुणों के अनुसार सम्पन्न सारे कार्यों के प्रति अत्यधिक अनुकूल रहते हैं। भगवान् सबों के परमात्मा हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् समस्त उद्भवों के स्रोत हैं और इस तरह वे ब्रह्मा तथा शिव के भी स्रोत हैं।

त्वत्तः सनातनो धर्मो रक्ष्यते तनुभिस्तव ।
धर्मस्य परमो गुह्यो निर्विकारो भवान्मतः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

त्वत्तः—तुमसे; सनातनः—शाश्वत; धर्मः—वृत्ति; रक्ष्यते—रक्षा किया जाता है; तनुभिः—अनेक अभिव्यक्तियों द्वारा; तव—तुम्हारा; धर्मस्य—धार्मिक सिद्धान्तों का; परमः—परम; गुह्यः—विषय; निर्विकारः—अपरिवर्तनीय; भवान्—आप; मतः—हमारे मत से।

आप सारे जीवों की शाश्वत वृत्ति के स्रोत हैं और भगवान् के नाना स्वरूपों द्वारा आपने सदैव धर्म की रक्षा की है। आप धार्मिक नियमों के परम लक्ष्य हैं और हमारे मत से आप अक्षय तथा शाश्वत रूप से अपरिवर्तनीय हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक का *धर्मस्य परमो गुह्यः* कथन समस्त धार्मिक सिद्धान्तों के अति गोपनीय अंश का द्योतक है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है। अर्जुन को दिये गये उपदेश में भगवान् कृष्ण का निष्कर्ष है "अन्य सारे धार्मिक कार्य त्याग दो और केवल मेरी शरण में आओ।" धार्मिक सिद्धान्तों को सम्पन्न करने में यह सर्वाधिक गुह्य ज्ञान है। *भगवद्गीता* में यह भी कहा गया है कि कोई व्यक्ति

अपने नियमित धार्मिक कर्तव्यों को दृढ़तापूर्वक सम्पन्न करके यदि कोई कृष्णभावनाभावित नहीं बनता है, तो तथाकथित धार्मिक सिद्धान्तों का पालन करने में उसका सारा श्रम समय का अपव्यय मात्र है। यहाँ मुनिगण इस कथन की भी पुष्टि करते हैं कि देवता नहीं, अपितु परमेश्वर ही सारे धार्मिक सिद्धान्तों के चरम लक्ष्य हैं। ऐसे अनेक मूर्ख विज्ञापनकर्ता हैं, जो यह कहते हैं कि देवताओं की पूजा भी परम लक्ष्य तक पहुँचने की विधि है, किन्तु *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* के प्रामाणिक कथनों में इसे स्वीकार नहीं किया गया है। *भगवद्गीता* कहती है कि जो व्यक्ति किसी विशेष देवता की पूजा करता है, वह उस देवता के लोक पहुँच सकता है, किन्तु जो पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा करता है, वह वैकुण्ठ में प्रवेश कर सकता है। कुछ विज्ञापनकर्ता कहते हैं कि कोई चाहे जो कुछ करता रहे अन्ततः वह भगवद्धाम पहुँचेगा ही, किन्तु यह वैध नहीं है। भगवान् शाश्वत हैं और भगवान् का सेवक शाश्वत होता है तथा भगवान् का धाम भी शाश्वत है। इन सबों को यहाँ पर *सनातन* या शाश्वत कहा गया है। इसलिए भक्ति का फल उतना अस्थाई नहीं है जितना कि देवताओं की पूजा करने से स्वर्गलोक की प्राप्ति है। मुनिगण इस बात पर बल देना चाह रहे थे कि यद्यपि भगवान् अपनी अहैतुकी कृपा से यह कहते हैं कि वे ब्राह्मणों तथा वैष्णवों की पूजा करते हैं, किन्तु वस्तुतः भगवान् न केवल ब्राह्मणों तथा वैष्णवों द्वारा पूजित हैं, अपितु देवताओं द्वारा भी पूजित हैं।

तरन्ति ह्यञ्जसा मृत्युं निवृत्ता यदनुग्रहात् ।
योगिनः स भवान्किं स्विदनुगृह्येत यत्परैः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तरन्ति—पार करते हैं; हि—क्योंकि; अञ्जसा—आसानी से; मृत्युम्—जन्म तथा मृत्यु को; निवृत्ताः—सारी भौतिक इच्छाओं को छोड़ करके; यत्—तुम्हारे; अनुग्रहात्—कृपा से; योगिनः—योगीजन; सः—परमेश्वर; भवान्—आप; किम् स्वित्—कभी सम्भव नहीं; अनुगृह्येत—अनुग्रह किया जा सकता है; यत्—जो; परैः—अन्यों द्वारा।

भगवान् की कृपा से योगीजन तथा अध्यात्मवादी समस्त भौतिक इच्छाओं को छोड़कर अज्ञान को पार कर जाते हैं। इसलिए यह सम्भव नहीं कि कोई परमेश्वर पर अनुग्रह कर सके।

तात्पर्य : जब तक किसी पर परमेश्वर की कृपा नहीं होती तब तक वह बारम्बार होने वाले जन्म तथा मृत्यु के अज्ञान-सागर को पार नहीं कर सकता। यहाँ यह कहा गया है कि *योगीजन* या अध्यात्मवादी लोग भगवान् की कृपा से अज्ञान-सागर को पार कर जाते हैं। *योगी* कई प्रकार के हैं

यथा *कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी* तथा *भक्तियोगी*। *कर्मीजन* तो विशेष रूप से देवताओं की कृपा की खोज करते हैं, ज्ञानीजन परब्रह्म से एकाकार हो जाना चाहते हैं तथा योगीजन भगवान् (परमात्मा) की आंशिक झलक मात्र से और अन्त में उनसे एकत्व प्राप्त करने से तुष्ट हो जाते हैं। किन्तु भक्तगण तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का शाश्वत सान्निध्य पाना और उनकी सेवा करना चाहते हैं। यह पहले ही माना जा चुका है कि भगवान् शाश्वत हैं और जो लोग परमेश्वर का निरन्तर अनुग्रह चाहते हैं, वे भी शाश्वत हैं। इसलिए यहाँ पर योगियों का अर्थ भक्त है। भगवत्कृपा से भक्तगण जन्म तथा मृत्यु के अज्ञान को सरलता से पार कर सकते हैं और भगवान् के नित्य धाम को प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए भगवान् को अन्य की कृपा की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि कोई न तो उनके तुल्य है, न ही उनसे बढ़कर है। वस्तुत: अपने मानव उद्देश्य की सफल जानकारी के लिए सबों को भगवान् की कृपा की आवश्यकता पड़ती है।

यं वै विभूतिरुपयात्यनुवेलमन्यै-
रर्थार्थिभि: स्वशिरसा धृतपादरेणु: ।
धन्यार्पिताङ्घ्रितुलसीनवदामधाम्नो
लोकं मधुव्रतपतेरिव कामयाना ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको; वै—निश्चय ही; विभूति:—लक्ष्मी जी; उपयाति—प्रतीक्षा में खड़ी रहती है; अनुवेलम्—यदा कदा; अन्यै:—अन्यों के द्वारा; अर्थ—भौतिक सुविधा; अर्थिभि:—चाहने वालों के द्वारा; स्व-शिरसा—अपने अपने सिरों पर; धृत—स्वीकार करते हुए; पाद—पाँवों की; रेणु:—धूल; धन्य—भक्तों के द्वारा; अर्पित—अर्पित; अङ्घ्रि—आपके चरणों पर; तुलसी—तुलसी दल के; नव—नवीन; दाम—माला पर; धाम्न:—स्थान वाला; लोकम्—स्थान; मधु-व्रत-पते:—भौरों के राजा का; इव—सदृश; काम-याना—प्राप्त करने के लिए उत्सुक है।

जिनके चरणों की धूल अन्य लोग अपने शिरों पर धारण करते हैं, वहीं लक्ष्मीदेवी आपकी पूर्व निर्धारित सेवा में रहती हैं, क्योंकि वे उन भौंरों के राजा के धाम में स्थान सुरक्षित करने के लिए उत्सुक रहती हैं, जो आपके चरणों पर किसी धन्य भक्त के द्वारा अर्पित तुलसीदलों की ताजी माला पर मँडराता है।

तात्पर्य : जैसाकि पहले वर्णन किया जा चुका है, भगवान् के चरणकमलों पर चढ़ाये जाने के कारण तुलसी को सारे श्रेष्ठतम गुण मिले हैं। यहाँ पर प्रयुक्त उपमा अति उत्तम है। जिस तरह भौंरों का राजा भगवान् के चरणकमलों पर अर्पित तुलसी दलों पर मँडराता रहता है उसी प्रकार लक्ष्मीजी,

जिनकी तलाश देवताओं, ब्राह्मणों, वैष्णवों तथा अन्य सबों को रहती है, भगवान् के चरणकमलों की सेवा में सदैव ही लगी रहती हैं। निष्कर्ष यह है कि कोई व्यक्ति भगवान् का उपकारी नहीं हो सकता। वस्तुत: प्रत्येक व्यक्ति भगवान् के दास का दास है।

यस्तां विविक्तचरितैरनुवर्तमानां
नात्याद्रियत्परमभागवतप्रसङ्गः ।
स त्वं द्विजानुपथपुण्यरजःपुनीतः
श्रीवत्सलक्ष्म किमगा भगभाजनस्त्वम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; ताम्—लक्ष्मी को; विविक्त—नितान्त शुद्ध; चरितैः—भक्ति; अनुवर्तमानाम्—सेवा करते हुए; न—नहीं; अत्याद्रियत्—अनुरक्त; परम—सर्वाधिक; भागवत—भक्तगण; प्रसङ्गः—अनुरक्त; सः—परमेश्वर; त्वम्—तुम; द्विज—ब्राह्मणों के; अनुपथ—पथ पर; पुण्य—पवित्र की गई; रजः—धूल; पुनीतः—शुद्ध किया हुआ; श्रीवत्स—श्रीवत्स का; लक्ष्म—चिह्न; किम्—क्या; अगाः—तुमने प्राप्त किया है; भग—सारे ऐश्वर्य या सारे सद्गुण; भाजनः—आगार; त्वम्—तुम।

हे प्रभु, आप अपने शुद्ध भक्तों के कार्यों के प्रति अत्यधिक अनुरक्त रहते हैं फिर भी आप उन लक्ष्मीजी से कभी अनुरक्त नहीं रहते जो निरन्तर आपकी दिव्य प्रेमाभक्ति में लगी रहती हैं। अतएव आप उस पथ की धूल द्वारा कैसे शुद्ध हो सकते हैं जिन पर ब्राह्मण चलते हैं, और अपने वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिन्ह के द्वारा आप किस तरह महिमामंडित या भाग्यशाली बन सकते हैं?

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि भगवान् अपने वैकुण्ठ लोक में लाखों लक्ष्मियों द्वारा सदैव सेवित होते हैं, किन्तु समस्त ऐश्वर्यों से विरक्त रहने की भावना से वे उनमें से किसी के प्रति भी अनुरक्त नहीं होते। भगवान् के छह ऐश्वर्य हैं—असीम सम्पत्ति, असीम यश, असीम बल, असीम सौन्दर्य, असीम ज्ञान तथा असीम त्याग। सारे देवता तथा अन्य जीव लक्ष्मीजी की कृपा पाने के लिए उनकी पूजा करते हैं। फिर भी भगवान् उन लक्ष्मीजी के प्रति अनुरक्त नहीं रहते, क्योंकि अपनी दिव्य सेवा कराने के लिए वे असंख्य लक्ष्मियों को उत्पन्न कर सकते हैं। कभी-कभी लक्ष्मीजी को उन तुलसी दलों से ईर्ष्या होती है, जो भगवान् के चरणकमलों पर चढ़ाये जाते हैं, क्योंकि वे दल वहीं पर स्थिर रहते हैं और हटते नहीं जबकि लक्ष्मीजी, उनके वक्षस्थल पर स्थित रहते हुए भी, कभी कभी उन अन्य भक्तों को प्रसन्न करने के लिए जाती रहती हैं, जो उनकी कृपा पाने के लिए प्रार्थना करते हैं। लक्ष्मी जी को कभी कभी अपने असंख्य भक्तों को तुष्ट करने जाना पड़ता है, किन्तु तुलसीदल कभी अपने स्थान को नहीं छोड़ते। इसीलिए भगवान् लक्ष्मीजी की सेवा की अपेक्षा तुलसी की सेवा को अधिक चाहते

हैं। इसलिए जब भगवान् यह कहते हैं कि ब्राह्मणों की अहैतुकी कृपा से ही लक्ष्मीजी उन्हें नहीं छोड़तीं तो हम यह समझ सकते हैं कि लक्ष्मीजी भगवान् के ऐश्वर्य से आकृष्ट होती हैं, उन पर ब्राह्मणों के आशीर्वादों के कारण नहीं। भगवान् अपने ऐश्वर्य के लिए किसी की कृपा पर आश्रित नहीं हैं, वे सदैव आत्माराम हैं। भगवान् का यह कथन कि उनका ऐश्वर्य ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के आशीष के कारण है, अन्य लोगों को यह शिक्षा देने के लिए है कि वे ब्राह्मणों तथा वैष्णवों का आदर करें जो भगवान् के ही भक्त होते हैं।

धर्मस्य ते भगवतस्त्रियुग त्रिभिः स्वैः
पद्भिश्चराचरमिदं द्विजदेवतार्थम् ।
नूनं भृतं तदभिघाति रजस्तमश्च
सत्त्वेन नो वरदया तनुवा निरस्य ॥ २२॥

शब्दार्थ

धर्मस्य—धर्मस्वरूप; ते—तुम्हारा; भगवतः—भगवान् का; त्रि-युग—तीनों युगों में प्रकट होने वाले आप; त्रिभिः—तीन; स्वैः—अपने; पद्भिः—पाँवों द्वारा; चर-अचरम्—चर तथा अचर; इदम्—यह ब्रह्माण्ड; द्विज—दो बार जन्म लेने वाला; देवता—देवता; अर्थम्—के लिए; नूनम्—किन्तु; भृतम्—सुरक्षित; तत्—वे पाँव; अभिघाति—विनष्ट करते हुए; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; च—तथा; सत्त्वेन—सतोगुण का; नः—हमको; वर-दया—सारे आशीर्वाद देते हुए; तनुवा—अपने दिव्य रूप द्वारा; निरस्य—भगाकर।

हे प्रभु, आप साक्षात् धर्म हैं। अतः आप तीनों युगों में अपने को प्रकट करते हैं और इस तरह इस ब्रह्माण्ड की रक्षा करते हैं जिसमें चर तथा अचर प्राणी रहते हैं। आप शुद्ध सत्त्व रूप तथा समस्त आशीषों को प्रदान करने वाली कृपा से देवताओं तथा द्विजों के रजो तथा तमो गुणों को भगा दें।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् को *त्रियुग*—सत्य, द्वापर तथा त्रेता—इन तीनों युगों में प्रकट होने वाला कहा गया है। चतुर्थ युग अथवा कलियुग में उनके प्रकट होने का यहाँ उल्लेख नहीं हुआ। वैदिक वाङ्मय में वर्णन हुआ है कि वे कलियुग में *छन्न अवतार* के रूप में आते हैं, किन्तु प्रकट अवतार के रूप में नहीं आते। किन्तु अन्य युगों में भगवान् प्रकट अवतार होते हैं, इसीलिए उन्हें *त्रियुग* कहकर सम्बोधित किया गया है।

श्रीधर स्वामी ने *त्रियुग* का वर्णन इस प्रकार किया है : *युग* का अर्थ है ''जोड़ा'' तथा *त्रि* का अर्थ है ''तीन।'' भगवान् अपने छह ऐश्वर्यों के द्वारा तीन जोड़ों या ऐश्वर्य के तीन जोड़ों के रूप में प्रकट

होते हैं। इस तरह उन्हें *त्रियुग* के रूप में सम्बोधित किया जा सकता है। भगवान् धार्मिक सिद्धान्तों के साक्षात् रूप हैं। तीन युगों में धार्मिक सिद्धान्तों की रक्षा तीन प्रकार की आध्यात्मिक संस्कृति के द्वारा की जाती है जिनके नाम हैं तप, शौच तथा दया। इस तरह से भी भगवान् *त्रियुग* कहलाते हैं। कलियुग में आध्यात्मिक संस्कृति कि ये तीन आवश्यक अनिवार्यताएँ अनुपस्थित सी रहती हैं, किन्तु भगवान् इतने दयालु हैं कि कलियुग के इन तीनों आध्यात्मिक गुणों से रहित होने पर भी वे आते हैं और श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में छन्न अवतार के तौर पर इस युग के लोगों की रक्षा करते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु छन्न अवतार कहलाते हैं। यद्यपि वे स्वयं कृष्ण हैं, किन्तु वे कृष्ण के भक्त रूप में अपने को प्रस्तुत करते हैं, साक्षात् कृष्ण रूप में नहीं। इसलिए भक्तगण श्री चैतन्य महाप्रभु से प्रार्थना करते हैं कि वे इस युग की सर्वाधिक प्रमुख सम्पत्तियों—रजो तथा तमो गुणों—को दूर कर दें। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में मनुष्य श्री चैतन्य द्वारा प्रवर्तित भगवान् के नाम, हरे कृष्ण, हरे कृष्ण का कीर्तन करके रजो तथा तमो गुणों को अपने से दूर कर सकता है।

चारों कुमार रजो तथा तमो गुणों में अपनी स्थिति से ज्ञात थे, क्योंकि वैकुण्ठ में होते हुए भी उन्होंने भगवान् के भक्तों को शाप देना चाहा। चूँकि उन्हें अपनी दुबर्लता का भान था, अत: उन्होंने अपने में शेष रजो तथा तमो गुणों को दूर करने के लिए भगवान् से प्रार्थना की। तीन दिव्य गुण—शौच, तप तथा दया—द्विजों तथा देवताओं के गुण हैं। जो सतोगुण में स्थित नहीं हैं, वे आध्यात्मिक संस्कृति के इन तीन सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं कर सकते। इसलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन के लिए तीन पापकर्म हैं जिनकी मनाही की जाती है। ये हैं अवैध यौन, मादक द्रव्य सेवन तथा कृष्ण को अर्पित प्रसाद के अतिरिक्त अन्य भोजन खाना। ये तीनों निषेध तपस्या, शौच तथा दया के सिद्धान्तों पर आधारित हैं। भक्तगण दयालु होते हैं, क्योंकि वे दीन पशुओं को नहीं मारते, तथा स्वच्छ रहते हैं, क्योंकि वे अवांछित खाद्य पदार्थों तथा अवांछित आदतों के कल्मष से मुक्त रहते हैं। तपस्या का प्रतिनिधित्व नियंत्रित यौन जीवन द्वारा किया जाता है। चारों कुमारों की प्रार्थनाओं द्वारा इंगित किये गये इन सिद्धान्तों का पालन उन भक्तों द्वारा किया जाना चाहिए जो कृष्णभावनामृत में लगे हुए हैं।

न त्वं द्विजोत्तमकुलं यदि हात्मगोपं

गोप्ता वृषः स्वर्हणेन ससूनृतेन ।
तर्ह्येव नङ्‌क्ष्यति शिवस्तव देव पन्था
लोकोऽग्रहीष्यदृषभस्य हि तत्प्रमाणम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; त्वम्—तुम; द्विज—दो बार जन्म लेने वाले का; उत्तम-कुलम्—सर्वोच्च जाति; यदि—यदि; ह—निस्सन्देह; आत्म-गोपम्—आपके द्वारा रक्षित होने के योग्य; गोप्ता—रक्षक; वृषः—सर्वोत्कृष्ट; सु-अर्हणेन—पूजा द्वारा; स-सूनृतेन—मृदु शब्दों के साथ साथ; तर्हि—तब; एव—निश्चय ही; नङ्‌क्ष्यति—खो जायेगा; शिवः—शुभ; तव—तुम्हारा; देव—हे प्रभु; पन्थाः—पथ; लोकः—सामान्यजन; अग्रहीष्यत्—स्वीकार करेगा; ऋषभस्य—सर्वोत्कृष्ट का; हि—क्योंकि; तत्—वह; प्रमाणम्—प्रमाण।.

हे प्रभु, आप सर्वोच्च द्विजों के रक्षक हैं। यदि आप पूजा तथा मृदु वचनों को अर्पित करके उनकी रक्षा न करें तो निश्चित है कि पूजा का शुभ मार्ग उन सामान्यजनों द्वारा परित्यक्त कर दिया जाएगा जो आपके बल तथा प्रभुत्व पर कर्म करते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में स्वयं भगवान् ने कहा है कि महापुरुषों के कार्यों तथा चरित्र का अनुसरण सामान्य जनों द्वारा किया जाता है। इसीलिए समाज में आदर्श चरित्र वाले नायकों की आवश्यकता पड़ती है। कृष्ण अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, इस जगत में पूर्ण प्रभुत्व का दृष्टान्त प्रस्तुत करने के लिए ही प्रकट हुए और लोगों को उसी मार्ग का अनुसरण करना होता है। वैदिक आदेश है कि मनुष्य मात्र मानसिक चिन्तन या तर्क द्वारा परब्रह्म को नहीं समझ सकता। उसे महापुरुषों का अनुसरण करना होता है। *महाजनो येन गतः स पन्थाः*। महापुरुषों का अनुसरण किया जाना चाहिए—अन्यथा यदि हम शास्त्रों पर ही अवलम्बित रहें तो कभी कभी हम धूर्तों द्वारा गुमराह किये जा सकते हैं या फिर हम विभिन्न आध्यात्मिक आदेशों को समझ नहीं पाते, अथवा उनका अनुसरण नहीं कर पाते। सर्वोत्तम मार्ग यही है कि महापुरुषों का अनुसरण किया जाय। चारों ब्राह्मण मुनियों ने कहा कि कृष्ण स्वभावतः गौवों तथा ब्राह्मणों के रक्षक हैं—*गोब्राह्मणहिताय च*। जब कृष्ण इस लोक में थे तो उन्होंने व्यावहारिक दृष्टान्त प्रस्तुत किया था। वे ग्वालबाल थे और वे ब्राह्मणों तथा भक्तों का अत्यधिक आदर करते थे।

यहाँ पर इसकी भी पुष्टि हुई है कि ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ द्विज हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—तीनों ही द्विज हैं, किन्तु इनमें से ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं। जब दो व्यक्तियों में झगड़ा होता है, तो हर व्यक्ति अपने शरीर के ऊपरी भाग सिर, बाहें तथा उदर—की रक्षा करता है। इसी तरह मानव सभ्यता की असली प्रगति में, सामाजिक शरीर के सर्वोत्तम भाग यथा ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों को विशेष सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए श्रमिकों की सुरक्षा की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए किन्तु उच्च जातियों को विशेष

सुरक्षा दी जानी चाहिए। मनुष्यों के सारे वर्गों में ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को विशेष सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए। उनकी पूजा की जानी चाहिए। जब उनकी रक्षा की जाती है, तो यह ईश्वर के पूजन जैसा होता है। यह यथार्थतः सुरक्षा नहीं है। यह कर्तव्य है। मनुष्य को चाहिए कि ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को सभी प्रकार से सम्पत्ति तथा मृदु वचन अर्पित करके उनकी पूजा करे। यदि किसी के पास कुछ भी अर्पित करने का कोई साधन नहीं है, तो उन्हें शान्त करने के लिए कम से कम मधुर वचनों का प्रयोग तो करे। भगवान् ने स्वयं कुमारों के प्रति ऐसा आचरण दर्शाया।

यदि नेतृत्व करने वाले इस प्रणाली का सूत्रपात्र नहीं करते तो मानव सभ्यता विनष्ट हो जायेगी। जब कभी भगवान् के भक्तों के लिए जो कि आध्यात्मिक जीवन में अत्यधिक बुद्धिमान हैं कोई सुरक्षा तथा विशिष्ट व्यवहार नहीं होता तब सारा समाज विनष्ट हो जाता है। *नङ्क्ष्यति* शब्द सूचित करता है कि ऐसी सभ्यता नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है और उसका संहार हो जाता है। जिस प्रकार की सभ्यता संस्तुत की गई है, वह *देवपथ* कहलाती है, जिसका अर्थ है "देवताओं का राजमार्ग।" देवताओं से अपेक्षा की जाती है कि वे भक्ति में अथवा कृष्णभावनामृत में पूर्णतया स्थिर हों। यही शुभमार्ग है, जिसकी रक्षा की जानी चाहिए। यदि समाज के महापुरुष या नेता ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को विशेष सम्मान नहीं प्रदान करते और उन्हें केवल मधुर वाणी ही नहीं, अपितु सारी सुविधाएँ नहीं देते तो मानव सभ्यता की प्रगति का मार्ग नष्ट हो जायेगा। भगवान् स्वयं ही इसकी शिक्षा देना चाहते थे इसलिए उन्होंने कुमारों की इतनी प्रशंसा की।

तत्तेऽनभीष्टमिव सत्त्वनिधेर्विधित्सोः
क्षेमं जनाय निजशक्तिभिरुद्धृतारेः ।
नैतावता त्र्यधिपतेर्बत विश्वभर्तु-
स्तेजः क्षतं त्ववनतस्य स ते विनोदः ॥ २४॥

शब्दार्थ

तत्—शुभसूचक मार्ग का वह विनाश; ते—तुम्हारे द्वारा; अनभीष्टम्—पसन्द नहीं किया हुआ; इव—सदृश; सत्त्व-निधेः—सारी अच्छाई का आगार; विधित्सोः—करने के लिए इच्छुक; क्षेमम्—कल्याण; जनाय—सामान्य लोगों के लिए; निज-शक्तिभिः—अपनी ही शक्तियों द्वारा; उद्धृत—विनष्ट किया हुआ; अरेः—विरोधी तत्त्व; न—नहीं; एतावता—इससे; त्रि-अधिपतेः—तीन प्रकार की सृष्टियों के स्वामी का; बत—हे प्रभु; विश्व-भर्तुः—ब्रह्माण्ड के पालक; तेजः—शक्ति; क्षतम्—न्यून; तु—लेकिन; अवनतस्य—विनीत; सः—वह; ते—आपका; विनोदः—आनन्द।

प्रिय प्रभु, आप नहीं चाहते कि शुभ मार्ग को विनष्ट किया जाय, क्योंकि आप समस्त

शिष्टाचार के आगार हैं। आप सामान्य लोगों के लाभ हेतु अपनी बलवती शक्ति से दुष्ट तत्त्व को विनष्ट करते हैं। आप तीनों सृष्टियों के स्वामी तथा पूरे ब्रह्माण्ड के पालक हैं। अतएव आपके विनीत व्यवहार से आपकी शक्ति घटती नहीं, प्रत्युत इस विनम्रता द्वारा आप अपनी दिव्य लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं।

तात्पर्य : ग्वलाबाल बनने से, या सुदामा ब्राह्मण को अथवा नन्द महाराज, वसुदेव, महाराज युधिष्ठिर तथा पाण्डवों की माता कुन्ती जैसे भक्तों को सम्मान देने से, भगवान् कृष्ण के पद में कोई कमी नहीं आई। प्रत्येक व्यक्ति जानता था कि वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण थे; फिर भी उनका व्यवहार आदर्शमय था। भगवान् *सच्चिदानन्द विग्रह* हैं; उनका स्वरूप पूर्णतया आध्यात्मिक, आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण एवं नित्य है। चूँकि सारे जीव उनके अंश हैं, अत: मूलत: वे भी भगवान् के नित्य रूप के उसी गुण से सम्बद्ध हैं जिन से स्वयं भगवान्, किन्तु जब वे अपनी विस्मृति के कारण भौतिक शक्ति माया के संसर्ग में आते हैं, तो उनका अस्तित्व सम्बन्धी स्वभाव प्रच्छन्न हो जाता है। हमें भगवान् कृष्ण के आविर्भाव को इसी भाव से देखना चाहिए जिस भाव से कुमार उनसे प्रार्थना करते हैं। वे शाश्वत रूप से वृन्दावन के ग्वालबाल हैं, वे कुरुक्षेत्र युद्ध के नित्य नायक हैं, वे द्वारका के नित्य ऐश्वर्यवान् राजकुमार हैं और वृन्दावन की गोपिकाओं के प्रेमी हैं। उनके सारे प्राकट्य सार्थक हैं, क्योंकि वे उन बद्धजीवों को उनके असली गुण प्रदर्शित करते हैं जिन्होंने परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को भुला दिया है। वे सारे कार्य उन्हीं के हितार्थ करते हैं। कृष्ण की इच्छाओं से तथा अर्जुन के माध्यम से कुरुक्षेत्र युद्ध में जो बल का प्रदर्शन हुआ वह भी आवश्यक था, क्योंकि जब लोग अधिक अधार्मिक बन जाते हैं, तो बल आवश्यक हो जाता है। इस सन्दर्भ में अहिंसा धूर्तता है।

यं वानयोर्दममधीश भवान्विधत्ते
वृत्तिं नु वा तदनुमन्महि निर्व्यलीकम् ।
अस्मासु वा य उचितो ध्रियतां स दण्डो
येऽनागसौ वयमयुङ्क्ष्महि किल्बिषेण ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यम्—जो; वा—अथवा; अनयो:—उन दोनों का; दमम्—दण्ड; अधीश—हे प्रभु; भवान्—आप; विधत्ते—प्रदान करता है; वृत्तिम्—अच्छा जीवन; नु—निश्चय ही; वा—अथवा; तत्—वह; अनुमन्महि—हम स्वीकार करते हैं; निर्व्यलीकम्—द्वैतरहित;

अस्मासु—हमको; वा—अथवा; यः—जो भी; उचितः—उचित हो; ध्रियताम्—प्रदान किया जाय; सः—वह; दण्डः—दण्ड; ये—जो; अनागसौ—पापरहित; वयम्—हम; अयुङ्क्ष्महि—नियत किया है; किल्बिषेण—शाप से।

हे प्रभु, आप इन दोनों निर्दोष व्यक्तियों को या हमें भी जो दण्ड देना चाहेंगे उसे हम बिना द्वैत के स्वीकार करेंगे। हम जानते हैं कि हमने दो निर्दोष व्यक्तियों को शाप दिया है।

तात्पर्य : अब चारों कुमार मुनिगण जय तथा विजय नामक दो द्वारपालों को दिये गये शाप को निरस्त करते हैं, क्योंकि अब उन्हें यह चेत हुआ है कि भगवान् की सेवा में लगा रहने वाला व्यक्ति किसी भी अवस्था में दोषी नहीं हो सकता। यह कहा गया है कि जिसे भी भगवान् की सेवा में अन्तर्निहित श्रद्धा हो या जो वास्तव में दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा हुआ हो उसमें देवताओं के सारे सद्गुण होते हैं। अतएव भक्त कभी भी दोषी नहीं हो सकता। यदि कभी यह पाया जाय कि उसने संयोगवश या किसी क्षणिक व्यवस्था के कारण कोई त्रुटि की है, तो उसे गम्भीरता से नहीं लिया जाना चाहिए। यहाँ पर जय तथा विजय के शापित होने पर पछतावा व्यक्त किया जा रहा है। अब कुमारगण अपनी स्थिति को रजो तथा तमो गुणों के रूप में सोच रहे हैं और वे भगवान् द्वारा दिये जाने वाले किसी भी प्रकार के दण्ड को स्वीकार करने के लिए तैयार हैं। सामान्यतया भक्तों के साथ बर्ताव करते समय हमें दोष ढूँढने का प्रयास नहीं करना चाहिए। *भगवद्गीता* में भी पुष्टि हुई है कि जो भक्त निष्ठापूर्वक परमेश्वर की सेवा करता है, वह यदि भारी भूल करता भी पाया जाय तो भी उसे साधु ही मानना चाहिए। वह अपनी पहले की आदतों के कारण कोई त्रुटि कर सकता है, किन्तु उसके भगवान् की सेवा में लगे रहने के कारण उस त्रुटि को गम्भीरता से नहीं लेना चाहिए।

श्रीभगवानुवाच

एतौ सुरेतरगतिं प्रतिपद्य सद्यः
संरम्भसम्भृतसमाध्यनुबद्धयोगौ ।
भूयः सकाशमुपयास्यत आशु यो वः
शापो मयैव निमितस्तदवेत विप्राः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने उत्तर दिया; एतौ—ये दोनों द्वारपाल; सुर-इतर—आसुरी; गतिम्—गर्भ; प्रतिपद्य—पाकर; सद्यः—शीघ्र ही; संरम्भ—क्रोध से; सम्भृत—सम्वर्धित होकर; समाधि—मन की एकाग्रता; अनुबद्ध—दृढ़तापूर्वक; योगौ—मुझसे बँधे; भूयः—पुत्र; सकाशम्—मेरे पास; उपयास्यतः—लौटेंगे; आशु—शीघ्र ही; यः—जो; वः—तुम्हारा; शापः—शाप; मया—मेरे द्वारा; एव—एकमात्र; निमितः—नियत; तत्—वह; अवेत—जानो; विप्राः—हे ब्राह्मणो।

भगवान् ने उत्तर दिया : हे ब्राह्मणो, यह जान लो कि तुमने उनको जो दण्ड दिया है, वह

मूलतः मेरे द्वारा निश्चित किया गया था, अतः वे आसुरी परिवार में जन्म लेने के लिए पतित होंगे। किन्तु वे क्रोध द्वारा वर्धित मानसिक एकाग्रता द्वारा मेरे विचार में मुझसे दृढ़तापूर्वक संयुक्त होंगे और शीघ्र ही मेरे पास लौट आयेंगे।

तात्पर्य : भगवान् ने कहा कि मुनियों द्वारा जय तथा विजय द्वारपालों को जो दण्ड दिया गया था उसकी योजना स्वयं भगवान् द्वारा बनाई गई थी। भगवान् की स्वीकृति के बिना कुछ भी घटित नहीं हो सकता। यह समझ लेना होगा कि वैकुण्ठ में भगवान् के भक्तों को शाप देने के पीछे एक योजना थी और उनकी इस योजना की व्याख्या कई उद्‌भट अधिकारियों ने की है। कभी कभी भगवान् युद्ध करना चाहते हैं। भगवान् में भी युद्ध करने का उत्साह पाया जाता है, अन्यथा युद्ध क्योंकर प्रकट होता? चूँकि भगवान् हर वस्तु के स्रोत हैं, अतः क्रोध तथा युद्ध प्रवृत्ति भी उनमें निहित रहती है। जब वे किसी के साथ युद्ध करना चाहते हैं, तो उन्हें शत्रु खोजना पड़ता है, किन्तु वैकुण्ठलोक में एक भी शत्रु नहीं है, क्योंकि सारे लोग भगवान् की सेवा में पूर्णतया लगे रहते हैं। इसीलिए कभी कभी वे अपना युद्ध में उत्साह प्रकट करने हेतु इस भौतिक जगत में अवतार-रूप में आते हैं।

भगवद्‌गीता (४.८) में भी कहा गया है कि भगवान् भक्तों को सुरक्षा प्रदान करने तथा अभक्तों का विनाश करने के लिए ही प्रकट होते हैं। अभक्तगण भौतिक जगत में पाये जाते हैं, आध्यात्मिक जगत में नहीं। अतः जब भगवान् युद्ध करना चाहते हैं, तो उन्हें इस जगत में आना पड़ता है। किन्तु परम प्रभु से युद्ध कौन करेगा? कोई भी उनसे युद्ध करने में सक्षम नहीं है। इसलिए क्योंकि इस जगत में भगवान् की लीलाएँ अपने संगियों के ही साथ सम्पन्न की जाती हैं, अन्यों के साथ नहीं, अतः उन्हें ऐसा भक्त ढूँढना पड़ता है, जो शत्रु का अभिनय कर सके। *भगवद्‌गीता* में अर्जुन से भगवान् कहते हैं, "हे अर्जुन! तुम तथा मैं दोनों ही इस जगत में कई बार प्रकट हो चुके हैं, किन्तु तुम इसे भूल गये हो जबकि मुझे स्मरण है।" इस तरह भगवान् ने जय तथा विजय से भौतिक जगत में युद्ध करने के लिए उन्हें चुना और यही कारण था कि मुनिगण उन्हें देखने के लिए आये थे और संयोग-वश द्वारपालों को शाप दे दिया गया। भगवान् चाहते थे कि वे दोनों भौतिक जगत में भेजे जाँय, सदा के लिए नहीं बल्कि थोड़े समय के लिए। अतएव, जिस तरह कोई व्यक्ति रंगमच पर मंच के स्वामी के साथ शत्रु का अभिनय करता है, यद्यपि यह नाटक थोड़े समय के लिए होता है और सेवक तथा स्वामी के मध्य

स्थायी शत्रुता नहीं रहती, उसी तरह *सुरजनों* (भक्तगणों) को *असुरजन* या नास्तिक परिवार में जाने के लिए मुनियों द्वारा शाप दिया गया था। कोई भक्त नास्तिक परिवार में जाय, यह आश्चर्यजनक है, किन्तु है केवल दिखावा। छद्म युद्ध समाप्त करने के बाद भक्त तथा भगवान् दोनों पुनः आध्यात्मिक लोकों में मिल जाते हैं। यहाँ पर इसकी स्पष्ट व्याख्या की गई है। निष्कर्ष यह है कि कोई वैकुण्ठलोक से कभी पतित नहीं होता, क्योंकि यह नित्य धाम है। किन्तु भगवान् की इच्छानुसार भक्तगण इस जगत में उपदेशकों या नास्तिकों के रूप में आते हैं। हमें यह समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक घटना के पीछे भगवान् की योजना रहती है। उदाहरणार्थ, भगवान् बुद्ध अवतार थे फिर भी उन्होंने नास्तिकता का उपदेश दिया, ''ईश्वर नहीं है।'' किन्तु वास्तव में इसके पीछे एक योजना थी जिसकी कि *भागवत* में व्याख्या की गई है।

ब्रह्मोवाच
अथ ते मुनयो दृष्ट्वा नयनानन्दभाजनम् ।
वैकुण्ठं तदधिष्ठानं विकुण्ठं च स्वयंप्रभम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्मा ने कहा; अथ—अब; ते—वे; मुनयः—मुनिगण; दृष्ट्वा—देखकर; नयन—आँखों का; आनन्द—आनन्द; भाजनम्—उत्पन्न करते हुए; वैकुण्ठम्—वैकुण्ठ लोक; तत्—उसका; अधिष्ठानम्—धाम; विकुण्ठम्—भगवान्; च—तथा; स्वयम्-प्रभम्—आत्म-ज्योतित।

ब्रह्माजी ने कहा : वैकुण्ठ के स्वामी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को आत्मज्योतित वैकुण्ठलोक में देखने के बाद मुनियों ने वह दिव्य धाम छोड़ दिया।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है और इस श्लोक में पुष्टि की गई है, भगवान् का दिव्य धाम स्वयं प्रकाशमान है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि आध्यात्मिक जगत में सूर्य, चन्द्रमा या बिजली की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह कथन सूचित करता है कि सारे लोक स्वतःप्रकाशित, आत्मनिर्भर तथा स्वतंत्र हैं। वहाँ पर प्रत्येक वस्तु पूर्ण होती है। भगवान् कृष्ण कहते हैं कि जो एक बार वैकुण्ठलोक चला जाता है, वह कभी नहीं लौटता। वैकुण्ठलोक के निवासी भौतिक जगत में कभी वापस नहीं आते, किन्तु जय तथा विजय की घटना भिन्न प्रकार की थी। वे कुछ काल के लिए भौतिक जगत में आये और तब वैकुण्ठलोक में लौट गये।

भगवन्तं परिक्रम्य प्रणिपत्यानुमान्य च ।
प्रतिजग्मु: प्रमुदिता: शंसन्तो वैष्णवीं श्रियम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

भगवन्तम्—भगवान् को; परिक्रम्य—प्रदक्षिणा करके; प्रणिपत्य—नमस्कार करके; अनुमान्य—जानकर; च—तथा; प्रतिजग्मु:—वापस आये; प्रमुदिता:—अतीव हर्षित; शंसन्त:—प्रशंसा करते हुए; वैष्णवीम्—वैष्णवों के; श्रियम्—ऐश्वर्य की।

मुनियों ने भगवान् की प्रदक्षिणा की, उन्हें नमस्कार किया तथा दिव्य वैष्णव ऐश्वर्य को जान लेने पर वे अत्यधिक हर्षित होकर लौट आये।

तात्पर्य : अब भी हिन्दू मन्दिरों में भगवान् की प्रदक्षिणा करने की सम्मानीय प्रथा है। विशेष रूप से वैष्णव मन्दिरों में अर्चाविग्रह को नमस्कार करने तथा मन्दिर की कम-से-कम तीन बार परिक्रमा करने की व्यवस्था रहती है।

भगवाननुगावाह यातं मा भैष्टमस्तु शम् ।
ब्रह्मतेज: समर्थोऽपि हन्तुं नेच्छे मतं तु मे ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् ने; अनुगौ—अपने दोनों सेवकों (अनुचरों) से; आह—कहा; यातम्—इस स्थान से जाओ; मा—मत; भैष्टम्—डरो; अस्तु—हो; शम्—सुख; ब्रह्म—ब्राह्मण का; तेज:—शाप; समर्थ:—समर्थ होने से; अपि—भी; हन्तुम्—निरस्त करने के लिए; न इच्छे—नहीं चाहता; मतम्—अनुमोदित; तु—प्रत्युत; मे—मेरे द्वारा।

तब भगवान् ने अपने सेवकों जय तथा विजय से कहा : इस स्थान से चले जाओ, किन्तु डरो मत। तुम लोगों की जय हो। यद्यपि मैं ब्राह्मणों के शाप को निरस्त कर सकता हूँ, किन्तु मैं ऐसा करूँगा नहीं। प्रत्युत इसे मेरा समर्थन प्राप्त है।

तात्पर्य : जैसाकि श्लोक २६ के सम्बन्ध में बतलाया गया है, जितनी भी घटना घटी है उन्हें भगवान् का समर्थन प्राप्त था। सामान्यतया इसकी सम्भावना नहीं थी कि चारों मुनि द्वारपालों पर इतना क्रुद्ध होते, न ही भगवान् अपने दो द्वारपालों की उपेक्षा कर सकते थे, न वैकुण्ठ में एक बार जन्म लेकर कोई वहाँ से वापस आ सकता है। इसलिए ये सारी की सारी घटनाएँ भौतिक जगत में अपनी लीलाओं के हेतु स्वयं भगवान् द्वारा अभिकल्पित थीं। इस तरह वे साफ-साफ कहते हैं कि यह उनकी सहमति से किया गया है। अन्यथा केवल ब्राह्मण-शाप के कारण वैकुण्ठ के वासियों का इस भौतिक जगत में वापस आना असम्भव होता। भगवान् ने इन तथाकथित दोषियों को विशेष रूप से आशीर्वाद दिया, "तुम लोगों की जय हो।" भगवान् जिसे एक बार स्वीकार कर लेते हैं वह भक्त कभी पतित

नहीं होता। यही इस घटना का निष्कर्ष है।

एतत्पुरैव निर्दिष्टं रमया क्रुद्धया यदा ।
पुरापवारिता द्वारि विशन्ती मय्युपारते ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह प्रस्थान; पुरा—प्राचीन काल में; एव—निश्चय ही; निर्दिष्टम्—पहले से बतलाया गया; रमया—लक्ष्मी द्वारा; क्रुद्धया—क्रुद्ध; यदा—जब; पुरा—पहले; अपवारिता—रोकी गई; द्वारि—द्वार पर; विशन्ती—प्रवेश करते; मयि—जब मैं; उपारते—विश्राम कर रहा था।

वैकुण्ठ से यह प्रस्थान लक्ष्मीजी ने पहले ही बतला दिया था। वे क्रुद्ध थीं, क्योंकि जब उन्होंने मेरा धाम छोड़ा और वे फिर लौटीं तो तुमने उन्हें द्वार पर रोक लिया जब कि मैं सो रहा था।

मयि संरम्भयोगेन निस्तीर्य ब्रह्महेलनम् ।
प्रत्येष्यतं निकाशं मे कालेनाल्पीयसा पुनः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

मयि—मुझमें; संरम्भ-योगेन—क्रोध में योग के अभ्यास द्वारा; निस्तीर्य—से मुक्त किया गया; ब्रह्म-हेलनम्—ब्राह्मणों की अवज्ञा का फल; प्रत्येष्यतम्—वापस आयेंगे; निकाशम्—निकट; मे—मेरे; कालेन—कालक्रम में; अल्पीयसा—अत्यन्त अल्प; पुनः—फिर।

भगवान् ने जय तथा विजय नामक दोनों वैकुण्ठवासियों को आश्वस्त किया : क्रोध में योगाभ्यास द्वारा तुम ब्राह्मणों की अवज्ञा करने के पाप से मुक्त हो जाओगे और अत्यल्प अवधि में मेरे पास वापस आ जाओगे।

तात्पर्य : भगवान् ने जय तथा विजय नामक दोनों द्वारपालों को यह सलाह दी कि क्रोध में *भक्तियोग* के अभ्यास के बल पर वे ब्राह्मण-शाप से मुक्त हो जायेंगे। श्रील मध्व मुनि ने इस सन्दर्भ में टिप्पणी की है कि भक्तियोग का अभ्यास करने से मनुष्य सारे पापों से मुक्त हो सकता है—यहाँ तक कि ब्रह्मशाप अर्थात् ब्राह्मण द्वारा दिया गया शाप जिसका किसी अन्य साधन से निवारण नहीं किया जा सकता भक्तियोग द्वारा निवारित हो सकता है।

मनुष्य भक्तियोग का अभ्यास कई रसों में कर सकता है। रस बारह हैं—पाँच प्राथमिक तथा सात गौण। पाँच प्रमुख रसों से प्रत्यक्ष भक्तियोग की रचना होती है, किन्तु सात गौण रस अप्रत्यक्ष होकर भी भक्तियोग के ही अन्तर्गत गिने जाते हैं, यदि उनका प्रयोग भगवान् की सेवा में किया जाए। दूसरे शब्दों

में, भक्तियोग में सभी सम्मिलित हैं। यदि कोई किसी तरह से पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति आसक्त हो जाता है, तो वह भक्तियोग में लग जाता है जैसाकि श्रीमद्भागवत (१०.२९.१५) में वर्णन हुआ है—कामं क्रोधं भयम्। गोपियाँ काम-सम्बन्ध में भक्तियोग द्वारा कृष्ण के प्रति आकृष्ट थीं। इसी तरह कंस अपनी मृत्यु के भय के कारण भक्तियोग के प्रति आसक्त था। इस तरह भक्तियोग इतना शक्तिशाली है कि भगवान् का शत्रु बनने तथा सदैव उनके विषय में सोचने पर अतिशीघ्र मनुष्य का उद्धार हो सकता है। कहा गया है—*विष्णु भक्तः स्मृतो दैव आसुरस्तद् विपर्ययः*—विष्णु के भक्त देवता कहलाते हैं जबकि अभक्तगण असुर कहलाते हैं। किन्तु भक्तियोग इतना शक्तिशाली है कि सुर तथा असुर दोनों ही इससे लाभ उठा सकते हैं, यदि वे भगवान् का सदैव चिन्तन करें। भक्तियोग का मूल सिद्धान्त है परमेश्वर के विषय में निरन्तर चिन्तन करना। भगवद्गीता (१८.६५) में भगवान् कहते हैं—*मन्मना भव मद्भक्तः*—सदैव मेरा चिन्तन करो। चाहे कोई जिस तरह से चिन्तन करे इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता; भगवान् का चिन्तन करना ही भक्तियोग का मूल सिद्धान्त है।

भौतिक लोकों में पापकर्मों की विभिन्न कोटियाँ हैं जिनमें से ब्राह्मण या वैष्णव का अनादर करना सबसे अधिक पापपूर्ण है। यहाँ पर स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य इस गम्भीर पाप से भी मात्र विष्णु का चिन्तन करके, वह भी अनुकूल रीति से नहीं, अपितु क्रोध में करके, छुटकारा पा सकता है। इस तरह जो अभक्तगण सदैव विष्णु का चिन्तन करते हैं, वे भी सारे पापकर्मों से मुक्त हो जाते हैं। कृष्णभावनामृत सर्वोच्च प्रकार की सोच है। इस युग में भगवान् विष्णु का चिन्तन हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे कीर्तन द्वारा किया जाता है। *भागवत* के कथनों से ऐसा लगता है कि यदि कोई कृष्ण का चिन्तन शत्रु के रूप में भी करता है, तो यह विशेष योग्यता—*विष्णु या कृष्ण का चिन्तन*—उस के सारे पापों को धो डालता है।

द्वाःस्थावादिश्य भगवान्विमानश्रेणिभूषणम् ।
सर्वातिशयया लक्ष्म्या जुष्टं स्वं धिष्ण्यमाविशत् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

द्वाः-स्थौ—द्वारपालों को; आदिश्य—आदेश देकर; भगवान्—भगवान्; विमान-श्रेणि-भूषणम्—उच्च कोटि के विमानों से सदैव विभूषित; सर्व-अतिशयया—हर प्रकार से अत्यधिक ऐश्वर्यशाली; लक्ष्म्या—ऐश्वर्य; जुष्टम्—से सजाया गया; स्वम्—अपने; धिष्ण्यम्—धाम में; आविशत्—वापस चले गये।

वैकुण्ठ के द्वार पर इस प्रकार बोलकर भगवान् अपने धाम लौट गये जहाँ पर अनेक स्वर्गिक विमान तथा सर्वोपरि सम्पत्ति तथा चमक-दमक रहती है।

तात्पर्य : इस श्लोक से स्पष्ट है कि सारी घटनाएँ वैकुण्ठलोक के प्रवेश द्वार पर घटीं। दूसरे शब्दों में, मुनिगण वस्तुतः वैकुण्ठलोक के भीतर नहीं, अपितु द्वार पर थे। यह पूछा जा सकता है कि, ''यदि वे वैकुण्ठलोक में प्रविष्ट हुए तो फिर वे भौतिक जगत में किस तरह लौट पाये?'' किन्तु वास्तव में उन्होंने प्रवेश नहीं किया, अतएव वे लौट आये। ऐसी ही अनेक घटनाएँ हैं जहाँ महान् योगी तथा ब्राह्मण अपने योगाभ्यास के बल पर इस भौतिक जगत से वैकुण्ठलोक गये किन्तु उन्हें वहाँ रुकना नहीं था। वे वापस आ गये। यहाँ पर इसकी भी पुष्टि की गई है कि भगवान् अनेक वैकुण्ठ के विमानों से घिरे थे। यहाँ पर वैकुण्ठलोक को भव्य ऐश्वर्य से युक्त बताया गया है, जो इस भौतिक जगत से कहीं अधिक था।

देवताओं समेत अन्य सारे जीव ब्रह्मा से उत्पन्न हैं और ब्रह्मा भगवान् विष्णु से उत्पन्न हैं। *भगवद्गीता* के दसवें अध्याय में कृष्ण कहते हैं—*अहं सर्वस्य प्रभवः*—भगवान् विष्णु भौतिक जगत की समस्त अभिव्यक्तियों के उद्गम हैं। जो यह जानते हैं कि भगवान् विष्णु सभी वस्तुओं के उद्गम हैं, जो सृजन विधि से ज्ञात हैं और जो यह समझते हैं कि विष्णु या कृष्ण समस्त जीवों में सर्वाधिक पूज्य विषय हैं, वे वैष्णवों के रूप में विष्णु की पूजा करते हैं। वैदिक मंत्र भी इसकी पुष्टि करते हैं—*ॐ तद् विष्णोः परमं पदम्*। जीवन का लक्ष्य विष्णु को समझना है। *भागवत* में भी अन्यत्र इसी की पुष्टि हुई है। मूर्ख लोग यह न जानते हुए कि विष्णु परम पूज्य विषय हैं इस भौतिक जगत में अनेक पूज्य विषयों की सृष्टि करते हैं, अतएव वे नीचे गिर जाते हैं।

तौ तु गीर्वाणऋषभौ दुस्तराद्धरिलोकतः ।
हतश्रियौ ब्रह्मशापादभूतां विगतस्मयौ ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तौ—वे दोनों द्वारपाल; तु—लेकिन; गीर्वाण-ऋषभौ—देवताओं में सर्वश्रेष्ठ; दुस्तरात्—बच सकने में असमर्थ; हरि-लोकतः—हरि के धाम वैकुण्ठ से; हत-श्रियौ—सौन्दर्य तथा कान्ति से हीन; ब्रह्म-शापात्—ब्राह्मण के शाप से; अभूताम्—हो गये; विगत-स्मयौ—खिन्न।

किन्तु वे दोनों द्वारपाल, जो कि देवताओं में सर्वश्रेष्ठ थे, जिनका सौन्दर्य तथा कान्ति

ब्राह्मणों के शाप से उतर गए थे, खिन्न हो गये और भगवान् के धाम वैकुण्ठ से नीचे गिर गये।

तदा विकुण्ठधिषणात्तयोर्निपतमानयोः ।
हाहाकारो महानासीद्विमानाछ्येषु पुत्रकाः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तदा—तब; विकुण्ठ—परमेश्वर के; धिषणात्—धाम से; तयोः—दोनों; निपतमानयोः—गिर रहे थे; हाहा-कारः—निराशा में गर्जते हुए; महान्—महान्; आसीत्—घटित हुआ; विमान-अछ्येषु—सर्वोत्तम विमानों में; पुत्रकाः—हे देवताओ।.

तब, जब जय तथा विजय भगवान् के धाम से गिरे तो अपने भव्य विमानों में बैठे हुए सारे देवताओं ने निराश होकर उत्कट हाहाकार किया।

तावेव ह्यधुना प्राप्तौ पार्षदप्रवरौ हरेः ।
दितेर्जठरनिर्विष्टं काश्यपं तेज उल्बणम् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

तौ—वे दोनों द्वारपाल; एव—निश्चय ही; हि—सम्बोधन किया; अधुना—अब; प्राप्तौ—प्राप्त करके; पार्षद-प्रवरौ—महत्त्वपूर्ण संगी; हरेः—भगवान् के; दितेः—दिति के; जठर—गर्भ; निर्विष्टम्—प्रवेश करते हुए; काश्यपम्—कश्यप मुनि का; तेजः—वीर्य; उल्बणम्—अत्यन्त प्रबल।.

ब्रह्मा ने आगे कहा : भगवान् के उन दो प्रमुख द्वारपालों ने अब दिति के गर्भ में प्रवेश किया है और कश्यप मुनि के बलशाली वीर्य से वे आवृत हो चुके हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर स्पष्ट प्रमाण है कि मूलतः वैकुण्ठलोक से आने वाला जीव किस तरह भौतिक तत्त्वों में बन्दी हो जाता है। जीव पिता के उस वीर्य में शरण पाता है, जो माता के गर्भ में प्रविष्ट किया जाता है और माता के पायसीकृत डिम्ब की सहायता से जीव विशेष प्रकार के शरीर में बढ़ता है। इस सन्दर्भ में यह स्मरण रखना होगा कि कश्यपमुनि का मन तब व्यवस्थित नहीं था जब उन्होंने हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु नामक दोनों पुत्रों का गर्भाधान किया। अतएव उनका जो वीर्य स्खलित हुआ वह एकसाथ अतीव शक्तिशाली एवं क्रोध के गुण से मिश्रित था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शिशु का गर्भाधान करते समय मन को धीर तथा भक्तिमय रखना चाहिए। इस कार्य के लिए वैदिक शास्त्रों में *गर्भाधान संस्कार* की संस्तुति की जाती है। यदि पिता का मन संयत नहीं होता तो स्खलित हुआ वीर्य बहुत अच्छा नहीं होगा। इस तरह पिता तथा माता से उत्पन्न पदार्थ के भीतर लिपटा हुआ जीव हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु जैसा आसुरी होगा। गर्भाधान की परिस्थितियों का सावधानी के साथ

अध्ययन करना चाहिए। यह अतिमहान् विज्ञान है।

तयोरसुरयोरद्य तेजसा यमयोर्हि वः ।
आक्षिप्तं तेज एतर्हि भगवांस्तद्विधित्सति ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तयोः—उन; असुरयोः—दोनों असुरों के; अद्य—आज; तेजसा—तेज से; यमयोः—जुड़वों का; हि—निश्चय ही; वः—तुम सारे देवताओं का; आक्षिप्तम्—क्षुब्ध; तेजः—शक्ति; एतर्हि—इस प्रकार निश्चय ही; भगवान्—भगवान्; तत्—वह; विधित्सति—करना चाहता है।

यह इन जुड़वे असुरों का तेज है, जिसने तुम सबों को विचलित किया है, क्योंकि इसने तुम्हारी शक्ति को कम कर दिया है। किन्तु मेरी शक्ति में कोई इसका उपचार नहीं है, क्योंकि भगवान् स्वयं ही यह सब करना चाहते हैं।

तात्पर्य : यद्यपि हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष, जो पहले जय तथा विजय थे, असुर बने, किन्तु इस जगत के देवता उन्हें नियंत्रित नहीं कर सके, अतएव ब्रह्मा ने कहा कि न तो वे, न ही सारे देवता, उनके द्वारा किये जा रहे उपद्रवों का शमन कर सकते थे। वे इस जगत में भगवान् के आदेश से आये थे और वे ही ऐसे उत्पातों का शमन कर सकते थे। दूसरे शब्दों में, यद्यपि जय तथा विजय ने असुरों के शरीर धारण कर लिये थे, किन्तु वे अन्यों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बने रहे। इस तरह यह सिद्ध हो गया कि भगवान् में युद्ध करने की इच्छा थी, क्योंकि उनके भीतर युद्ध करने की भी भावना रहती है। वे हर बात में मौलिक हैं, किन्तु जब वे युद्ध करना चाहते हैं, तो उन्हें भक्त के साथ युद्ध करना होता है। इसलिए उनकी इच्छा से ही जय तथा विजय को कुमारों द्वारा शापित होना पड़ा। भगवान् ने द्वारपालों को भौतिक जगत में जाकर अपने शत्रु बनने का आदेश दिया जिससे वे उनसे युद्ध कर सकें। इस तरह युद्ध करने की उनकी इच्छा की तुष्टि उनके निजी भक्तों की सेवा द्वारा हो सकेगी।

ब्रह्मा ने देवताओं को दिखलाया कि अंधकार के द्वारा उत्पन्न स्थिति जिसके कारण वे सभी विचलित थे परमेश्वर की इच्छा थी। वे यह दिखा देना चाहते थे कि यद्यपि ये दोनों अनुचर असुरों के रूप में आ रहे थे, वे अत्यन्त शक्तिशाली थे, देवताओं से भी बढ़कर जो उनको नियंत्रित नहीं कर सके। कोई भी परमेश्वर के कार्यों का पार नहीं पा सकता। देवताओं को यह भी सलाह दी गई है कि इस घटना का निवारण करने का प्रयास न करें, क्योंकि यह भगवान् द्वारा आदेशित थी। इसी तरह कोई भी

व्यक्ति जिसे इस जगत में कोई कार्य करने का, विशेष रूप से उनकी महिमा का प्रचार करने का, आदेश दिया जाता है, उसका प्रतिकार कोई नहीं कर सकता। सभी परिस्थितियों में भगवान् की इच्छा पूरी होकर रहती है।

विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो
योगेश्वरैरपि दुरत्यययोगमायः ।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीश-
स्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

विश्वस्य—ब्रह्माण्ड का; यः—जो; स्थिति—पालन-पोषण; लय—विनाश; उद्भव—सृष्टि; हेतुः—कारण; आद्यः—सबसे प्राचीन पुरुष; योग-ईश्वरैः—योग के स्वामियों द्वारा; अपि—भी; दुरत्यय—आसानी से समझा नहीं जा सकता; योग-मायः—उनकी योगमाया शक्ति; क्षेमम्—कल्याण, मंगल; विधास्यति—करेगा; सः—वह; नः—हमारा; भगवान्—भगवान्; त्रि-अधीशः—तीनों गुणों के नियन्ता; तत्र—वहाँ; अस्मदीय—हमारे द्वारा; विमृशेन—विचार-विमर्श; कियान्—क्या; इह—इस विषय में; अर्थः—लाभ।

हे प्रिय पुत्रो, भगवान् प्रकृति के तीनों गुणों के नियन्ता हैं और वे ब्रह्माण्ड की सृष्टि, पालन तथा संहार के लिए उत्तरदायी हैं। उनकी अद्‌भुत सृजनात्मक शक्ति योगमाया योगेश्वरों तक से आसानी से नहीं समझी जा सकती। सबसे प्राचीन पुरुष भगवान् ही हमें बचा सकते हैं। किन्तु इस विषय पर विचार-विमर्श करने से हम उन की ओर से और क्या कर सकते हैं?

तात्पर्य : जब भगवान् कोई व्यवस्था करते हैं, तो उससे मनुष्य को विचलित नहीं होना चाहिए, भले ही उसकी गणना के अनुसार वह विपरीत क्यों न लगे। उदाहरणार्थ, कभी कभी हम देखते हैं कि कोई शक्तिशाली प्रचारक मार डाला जाता है या कभी कभी वह कष्ट में पड़ जाता है, जिस तरह हरिदास ठाकुर के साथ हुआ। वे एक महान् भक्त थे, जो इस भौतिक जगत में भगवान् की महिमा का प्रचार करके भगवान् की इच्छा को पूरा करने आये थे। किन्तु हरिदास को बाईस बाजारों में मारे पीटे जाकर काजी के हाथों से दण्डित होना पड़ा। इसी तरह जीसस क्राइस्ट को क्रूस पर चढ़ाया गया तथा प्रह्लाद महाराज को अनेकानेक यातनाओं से गुजरना पड़ा। कृष्ण के प्रत्यक्ष मित्र पाण्डवों ने अपना राज्य खो दिया, उनकी पत्नी अपमानित की गई और उन्हें अनेक कठिन यातनाएँ उठानी पड़ीं। इन पराजयों से भक्तों को प्रभावित होते देखकर मनुष्य को विचलित नहीं होना चाहिए। उसे केवल इतना समझ लेना चाहिए कि इन मामलों में अवश्य ही भगवान् की कोई न कोई योजना होगी। *भागवत* का निष्कर्ष

है कि शुद्ध भक्त ऐसी पराजयों से विचलित नहीं होता। वह विपरीत स्थितियों को भी भगवत्कृपा के रूप में स्वीकार करता है। जो व्यक्ति विपरीत अवस्थाओं में भी भगवान् की सेवा करता रहता है, वह आश्वस्त रहता है कि वह भगवद्धाम या वैकुण्ठलोकों को वापस जायेगा। ब्रह्माजी ने देवताओं को आश्वस्त किया कि इस विषय में बात करने से कोई लाभ नहीं कि अंधकार की विचलित करने वाली स्थिति किस तरह घटित हो रही है, क्योंकि वास्तविकता तो यह थी कि इसका आदेश भगवान् द्वारा दिया गया था। ब्रह्मा इसे जानते थे, क्योंकि वे महान् भक्त थे। वे भगवान् की योजना को समझ सकते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''वैकुण्ठ के दो द्वारपालों जय-विजय को मुनियों द्वारा शाप'' नामक सोलहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सत्रह

हिरण्याक्ष की दिग्विजय

मैत्रेय उवाच

निशम्यात्मभुवा गीतं कारणं शङ्कयोज्झिताः ।
ततः सर्वे न्यवर्तन्त त्रिदिवाय दिवौकसः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—मैत्रेय मुनि ने; उवाच—कहा; निशम्य—सुनकर; आत्म-भुवा—ब्रह्मा द्वारा; गीतम्—व्याख्या; कारणम्—कारण; शङ्कया—भय से; उज्झिताः—मुक्त; ततः—तब; सर्वे—सभी; न्यवर्तन्त—लौट गये; त्रि-दिवाय—स्वर्ग लोक को; दिव-ओकसः—देवतागण (जो स्वर्गलोक के वासी हैं)।

श्रीमैत्रेय ने कहा—विष्णु से उत्पन्न ब्रह्मा ने जब अन्धकार का कारण कह सुनाया, तो स्वर्गलोक के निवासी देवता समस्त भय से मुक्त हो गये। इस प्रकार वे सभी अपने-अपने लोकों को वापस चले गये।

तात्पर्य : स्वर्गलोक के निवासी देवता भी ब्रह्माण्ड के अन्धकारग्रस्त होने जैसी घटनाओं से अत्यन्त भयभीत हो जाते हैं, अतः वे ब्रह्मा के पास परामर्श हेतु गये। इससे यह संकेत मिलता है कि इस भौतिक जगत में प्रत्येक जीवात्मा भय से ग्रस्त है। इस संसार में चार मुख्य कार्यकलाप हैं—आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन। देवताओं में भी भय तत्व विद्यमान रहता है। प्रत्येक लोक में, यहाँ तक कि स्वर्गलोक में, जिसमें सूर्य तथा चन्द्र लोक सम्मिलित हैं और इस पृथ्वी लोक में भी पशु जीवन के जैसे ही सिद्धान्त पाये जाते हैं। अन्यथा देवता अन्धकार से इतने भयभीत क्यों होते? देवताओं तथा सामान्य जनों में यही अन्तर होता है कि देवता अधिकारी के पास जाते हैं जबकि इस पृथ्वी पर रहने वाले सामान्य जन अधिकारी का अनादर करते हैं। यदि लोग अधिकारी के पास पहुँच सकें, तो इस बह्माण्ड की प्रत्येक प्रतिकूल अवस्था सुधर जाये। अर्जुन भी कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में विचलित हुआ था, किन्तु वह अधिकारी अर्थात् श्रीकृष्ण के पास पहुँचा और उसकी समस्या हल हो गई। इस घटना से यही उपदेश मिलता है कि हो सकता है कि हम किसी भौतिक परिस्थिति से विचलित हों, किन्तु यदि हम ऐसे अधिकारी के पास पहुँच सकें जो समस्या की वास्तव में व्याख्या कर सके तो हमारी समस्या हल हो जाती है। देवता उत्पात का अर्थ जानने के लिए ब्रह्मा के पास गये और

उनसे सुनने के बाद वे संतुष्ट होकर अपने-अपने धाम शान्तिपूर्वक वापस चले गये।

दितिस्तु भर्तुरादेशादपत्यपरिशङ्किनी ।
पूर्णे वर्षशते साध्वी पुत्रौ प्रसुषुवे यमौ ॥ २॥

शब्दार्थ

दितिः—दिति; तु—लेकिन; भर्तुः—अपने पति की; आदेशात्—आज्ञा से; अपत्य—अपने बच्चों से; परिशङ्किनी—शंकालु; पूर्णे—पूरे; वर्ष-शते—एक सौ वर्ष बाद; साध्वी—पतिव्रता स्त्री ने; पुत्रौ—दो पुत्र; प्रसुषुवे—जन्म दिया; यमौ—जुड़वाँ।

साध्वी दिति अपने गर्भ में स्थित सन्तानों से देवों के प्रति उपद्रव किये जाने के लिए अत्यधिक शंकालु थी और उसके पति ने भी यही भविष्यवाणी की थी। अतः उसने एक सौ वर्षों के गर्भकाल के पश्चात् जुड़वाँ पुत्रों को जन्म दिया।

उत्पाता बहवस्तत्र निपेतुर्जायमानयोः ।
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च लोकस्योरुभयावहाः ॥ ३॥

शब्दार्थ

उत्पाताः—प्राकृतिक उपद्रव; बहवः—अनेक; तत्र—वहाँ; निपेतुः—घटित हुए; जायमानयोः—उनके जन्म के समय; दिवि—स्वर्गलोक में; भुवि—पृथ्वी पर; अन्तरिक्षे—बाह्य आकाश में; च—तथा; लोकस्य—संसार का; उरु—अत्यधिक; भय-आवहाः—भय उत्पन्न करने वाला, भयानक।

दोनों असुरों के जन्म के समय स्वर्गलोक, पृथ्वीलोक तथा इन दोनों के मध्य के लोकों में अनेक प्राकृतिक उपद्रव हुए जो अत्यन्त भयावने एवं विस्मयपूर्ण थे।

सहाचला भुवश्चेलुर्दिशः सर्वाः प्रजज्वलुः ।
सोल्काश्चाशनयः पेतुः केतवश्चार्तिहेतवः ॥ ४॥

शब्दार्थ

सह—के साथ साथ; अचलाः—पर्वत; भुवः—पृथ्वी के; चेलुः—हिल उठी; दिशः—दिशाएँ; सर्वाः—समस्त; प्रजज्वलुः—अग्नि के समान धधक उठीं; स—साथ; उल्काः—उल्कापिंड; च—तथा; अशनयः—वज्र; पेतुः—गिर पड़े; केतवः—पुच्छल तारे; च—तथा; आर्ति-हेतवः—समस्त अशुभों का कारण।

पृथ्वी पर पर्वत काँपने लगे और ऐसा प्रतीत होने लगा मानो सर्वत्र अग्नि ही अग्नि हो। उल्काओं, पुच्छल तारों तथा वज्रों के साथ-साथ शनि जैसे अनेक अशुभ ग्रह दिखाई देने लगे।

तात्पर्य : जब किसी लोक में प्राकृतिक उत्पात होने लगें तो यह समझना चाहिए कि

किसी असुर ने जन्म लिया है। वर्तमान युग में आसुरी लोगों की संख्या बढ़ रही है, फलतः प्राकृतिक उत्पातों में भी वृद्धि हो रही है। इसमें कोई सन्देह नहीं है, जैसाकि *भागवत* के कथन से हम स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं।

ववौ वायुः सुदुःस्पर्शः फूत्कारानीरयन्मुहुः ।
उन्मूलयन्नगपतीन्वात्यानीको रजोध्वजः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

ववौ—बहने लगीं; वायुः—हवाएँ; सु-दुःस्पर्शः—छूने में बुरी लगने वाली; फूत्-कारान्—साँय-साँय का शब्द; ईरयन्—निकालती हुई; मुहुः—पुनःपुनः; उन्मूलयन्—उखाड़ती हुई; नग-पतीन्—विशाल वृक्षों को; वात्या—अंधड़; अनीकः—सेनाएँ; रजः—धूल; ध्वजः—झंडे, पताकाएँ।

बारम्बार साँय-साँय करती तथा विशाल वृक्षों को उखाड़ती हुई अत्यन्त दुस्सह-स्पर्शी हवाएँ बहने लगीं। उस समय अंधड़ उनकी सेनाएँ और धूल के मेघ उनकी ध्वजाएँ लग रही थीं।

तात्पर्य : जब अंधड़ चले, अत्यधिक गर्मी या हिमपात हो और तूफानी हवाओं से वृक्ष उखड़ जाँय, तो यह समझना चाहिए कि आसुरी जनसंख्या बढ़ रही है, जिसके कारण ये प्राकृतिक उत्पात हो रहे हैं। आज भी इस विश्व में अनेक ऐसे देश हैं जहाँ ये सभी उत्पात हो रहे हैं। यह सारे संसार में सत्य है। वहाँ पर्याप्त धूप नहीं रहती, आकाश सदैव बादलों से घिरा रहता है, बर्फ गिरती है और कड़ाके की सर्दी पड़ती है। इनसे इसकी पुष्टि होती है कि ऐसे स्थानों में उन आसुरी लोगों का निवास है, जो सभी प्रकार के वर्जित पापमय कार्य करने के आदी हो गये हैं।

उद्धसत्तडिदम्भोदघटया नष्टभागणे ।
व्योम्नि प्रविष्टतमसा न स्म व्यादृश्यते पदम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

उद्धसत्—जोर जोर से हँसकर; तडित्—बिजली; अम्भोद—बादलों के; घटया—समूह; नष्ट—विनष्ट; भा-गणे—नक्षत्र; व्योम्नि—आकाश में; प्रविष्ट—घिरा हुआ; तमसा—अंधकार से; न—नहीं; स्म व्यादृश्यते—दिखता था; पदम्—कोई स्थान।

आकाश के नक्षत्रों को मेघों की घटाओं ने घेर लिया और उनमें कभी कभी बिजली

चमक जाती तो लगता मानो जोर से हँस रही हो। चारों ओर अन्धकार का राज्य था और कुछ भी दिखाई नहीं पड़ रहा था।

चुक्रोश विमना वार्धिरुदूर्मिः क्षुभितोदरः ।
सोदपानाश्च सरितश्चुक्षुभुः शुष्कपङ्कजाः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

चुक्रोश—जोर जोर से विलाप करने लगा; विमनाः—दुखी; वार्धिः—समुद्र; उदूर्मिः—ऊँची ऊँची लहरें; क्षुभित—विक्षुब्ध; उदरः—भीतर के प्राणी; स-उदपानाः—जलाशयों तथा कुंओं के पेयजल सहित; च—तथा; सरितः—नदियाँ; चुक्षुभुः—क्षुब्ध हुए; शुष्क—सूखे हुए; पङ्कजाः—कमल पुष्प।

उत्ताल तरंगों से युक्त सागर मानो शोक में जोर जोर से विलाप कर रहा था और उसमें रहने वाले प्राणियों में हलचल मची थी। नदियाँ तथा सरोवर भी विक्षुब्ध हो उठे और कमल मुरझा गये।

मुहुः परिधयोऽभूवन्सराह्वोः शशिसूर्ययोः ।
निर्घाता रथनिर्ह्रादा विवरेभ्यः प्रजज्ञिरे ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

मुहुः—पुनः पुनः; परिधयः—कुहरे से युक्त मण्डल; अभूवन्—प्रकट हुआ; स-राह्वोः—ग्रहणों के समय; शशि—चन्द्रमा का; सूर्ययोः—सूर्य का; निर्घाताः—गर्जन; रथ-निर्ह्रादाः—घर्घर करते रथों का सा शब्द; विवरेभ्यः—पर्वत की गुफाओं से; प्रजज्ञिरे—उत्पन्न हो रहा था।

सूर्य तथा चन्द्रमा के चारों ओर ग्रहण लगने के समय अमंगल-सूचक मण्डल बार-बार दिखाई पड़ने लगा। बिना बादलों के ही गरजने की ध्वनि और पर्वत की गुफाओं से रथों जैसी घरघराहट सुनाई पड़ने लगी।

अन्तर्ग्रामेषु मुखतो वमन्त्यो वह्निमुल्बणम् ।
सृगालोलूकटङ्कारैः प्रणेदुरशिवं शिवाः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अन्तः—भीतर; ग्रामेषु—गाँवों के; मुखतः—उनके मुखों से; वमन्त्यः—उगलते हुए; वह्निम्—आग; उल्बणम्—भयावनी; सृगाल—सियार; उलूक—उल्लू; टङ्कारैः—चीख से; प्रणेदुः—उत्पन्न; अशिवम्—अशुभ, अमंगलसूचक; शिवाः—सियारिनें।

गाँवों के भीतर सियारिनें अपने मुखों से दहकती आग उगलती हुई अमंगल सूचक शब्द करने लगीं। इस रोने में सियार तथा उल्लू भी साथ हो लिये।

सङ्गीतवद्रोदनवदुन्नमय्य शिरोधराम् ।
व्यमुञ्चन्विविधा वाचो ग्रामसिंहास्ततस्ततः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सङ्गीत-वत्—मानो गा रहे हों; रोदन-वत्—रोने के समान; उन्नमय्य—उठाकर; शिरोधराम्—गर्दन; व्यमुञ्चन्—निकालते हुए; विविधाः—नाना प्रकार की; वाचः—चीत्कार; ग्राम-सिंहाः—कुत्ते; ततः ततः—जहाँ तहाँ।

जहाँ तहाँ कुत्ते अपनी गर्दन ऊपर उठा उठाकर शब्द करने लगे मानो कभी वे गा रहे हों और कभी विलाप कर रहे हों।

खराश्च कर्कशैः क्षत्तः खुरैर्घ्नन्तो धरातलम् ।
खार्काररभसा मत्ताः पर्यधावन्वरूथशः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

खराः—गधे; च—तथा; कर्कशैः—कटु; क्षत्तः—हे विदुर; खुरैः—अपने खुरों से; घ्नन्तः—मारते हुए; धरा-तलम्—पृथ्वी पर; खाः-कार—रेंकते हुए; रभसाः—बुरी तरह से संलग्न; मत्ताः—प्रमत्त, पागल; पर्यधावन्—इधर उधर दौड़ने लगे; वरूथशः—झुंडों में।

हे विदुर, झुंड के झुंड गधे अपने कठोर खुरों से पृथ्वी पर प्रहार करते हुए तथा जोर जोर से रेंकते हुए इधर उधर दौड़ने लगे।

तात्पर्य : गधों की जाति भी अपने को अत्यन्त आदरणीय समझती है, अतः जब वे इधर उधर झुंडों में दौड़ने लगते हैं, तो मानव समाज के लिए यह अपशकुन माना जाता है।

रुदन्तो रासभत्रस्ता नीडादुदपतन्खगाः ।
घोषेऽरण्ये च पशवः शकृन्मूत्रमकुर्वत ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

रुदन्तः—रोते हुए; रासभ—गधों के द्वारा; त्रस्ताः—भयभीत; नीडात्—घोंसले से; उदपतन्—ऊपर उड़ने लगे; खगाः—पक्षी; घोषे—गोशाला में; अरण्ये—जंगल में; च—तथा; पशवः—पशु; शकृत्—मल; मूत्रम्—मूत्र; अकुर्वत—त्याग दिया।

गधों के रेंकने से भयभीत होकर पक्षी अपने घोसलों से निकलकर चीख चीख कर उड़ने लगे और गोशालाओं तथा जंगलों में पशु मल-मूत्र त्यागने लगे।

गावोऽत्रसन्नसृग्दोहास्तोयदाः पूयवर्षिणः ।
व्यरुदन्देवलिङ्गानि द्रुमाः पेतुर्विनानिलम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

गावः—गाएँ; अत्रसन्—भयभीत थीं; असृक्—रक्त; दोहाः—प्रदान किया; तोयदाः—बादल; पूय—पीब; वर्षिणः—वर्षा करते हुए; व्यरुदन्—अश्रुपात करने लगे; देव-लिङ्गानि—देवों के विग्रह; द्रुमाः—वृक्ष; पेतुः—गिर पड़े; विना—की अनुपस्थिति में; अनिलम्—हवा का झोंका, आँधी।

भयभीत होने के कारण गौवें दूध के स्थान पर रक्त देने लगीं, बादलों से पीब बरसने लगा, मन्दिरों में देवों के विग्रहों से आँसू निकलने लगे और वृक्ष बिना आँधी के ही गिरने लगे।

ग्रहान्पुण्यतमानन्ये भगणांश्चापि दीपिताः ।
अतिचेरुर्वक्रगत्या युयुधुश्च परस्परम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

ग्रहान्—ग्रह (लोक); पुण्य-तमान्—अत्यन्त शुभ; अन्ये—अन्य (क्रूर ग्रह); भ-गणान्—नक्षत्र समूह; च—यथा; अपि—भी; दीपिताः—प्रकाशमान; अतिचेरुः—अध्यारोपित; वक्र-गत्या—टेढ़ी मेढ़ी चाल से; युयुधुः—परस्पर भिड़ गये; च—तथा; परः-परम्—एक दूसरे से।

मंगल तथा शनि जैसे क्रूर ग्रह बृहस्पति, शुक्र तथा अनेक शुभ नक्षत्रों को लाँघकर तेजी से चमकने लगे। टेढ़े मेढ़े रास्तों में घूमने के कारण ग्रहों में परस्पर टक्कर होने लगी।

तात्पर्य : यह ब्रह्माण्ड़ भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के वश में रहकर घूम रहा है। सतोगुणी जीवात्माएँ पवित्र योनियां मानी जाती हैं—यथा पवित्र देश, पवित्र वृक्ष आदि। ग्रहों (लोकों) के साथ भी ऐसा ही है। अनेक ग्रह शुभ माने जाते हैं और अन्य ग्रह अशुभ। शनि तथा मंगल अशुभसूचक हैं। जब पवित्र ग्रह बहुत तेजी से चमकते हैं, तो यह शुभसूचक होता है, किन्तु जब अशुभ ग्रह तेजी से चमकते हैं, तो यह शुभसूचक नहीं माना जाता।

दृष्ट्वान्यांश्च महोत्पातानतत्तत्त्वविदः प्रजाः ।
ब्रह्मपुत्रानृते भीता मेनिरे विश्वसम्प्लवम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; अन्यान्—अन्य लोग; च—यथा; महा—महान; उत्पातान्—अपशकुन; अ-तत्-तत्त्व-विदः—रहस्य को न जानते हुए; प्रजाः—लोग; ब्रह्म-पुत्रान्—ब्रह्मा के पुत्रों (चारों कुमारों); ऋते—के सिवाय; भीताः—अन्यन्त डरे हुए; मेनिरे—सोचा; विश्व-सम्प्लवम्—विश्व का विलय।

इस प्रकार के तथा अन्य अनेक अपशकुनों को देखकर ब्रह्मा के चारों ऋषि-पुत्र, जिन्हें जय तथा विजय के पतन एवं दिति के पुत्रों के रूप में जन्म लेने का ज्ञान था,

उनके अतिरिक्त सभी लोग भयभीत हो उठे। उन्हें इन उत्पातों के मर्म का पता न था और वे सोच रहे थे कि ब्रह्माण्ड का प्रलय होने वाला है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के सप्तम अध्याय के अनुसार प्रकृति के नियम इतने कठोर हैं कि कोई भी जीवात्मा इनका अतिक्रमण नहीं कर सकता। यह भी बताया गया है कि कृष्णभक्ति में पूर्णतया कृष्ण को अर्पित जीवात्मा ही बच सकता है। *श्रीमद्भागवत* के इस विवरण से हम यह जान सकते हैं कि दो महान् असुरों के जन्म लेने से अनेकानेक प्राकृतिक उत्पात होने प्रारम्भ हो गये। अप्रत्यक्ष रूप से यह समझना चाहिए कि जैसा पहले वर्णन किया जा चुका है, जब भी पृथ्वी पर ऐसे उत्पात सतत होते हैं, तो यह इस बात का सूचक है कि कुछ आसुरी लोग उत्पन्न हो गए हैं, अथवा उनकी संख्या बढ़ गई है। पुराकाल में दिति से उत्पन्न हुए केवल दो असुर थे तो भी इतना अधिक उत्पात हुआ था। आजकल, विशेष रूप से इस कलियुग में, ऐसे उत्पात तो नित्यप्रति ही देखे जाते हैं, जो इसके सूचक हैं कि आसुरी जनसंख्या में निश्चित रूप से वृद्धि हुई है।

आसुरी जनसंख्या में वृद्धि को रोकने के लिए वैदिक सभ्यता में सामाजिक जीवन के अनेक विधि-विधान थे, जिनमें से अच्छी संतान पाने के लिए गर्भाधान संस्कार प्रमुख था। *भगवद्गीता* में अर्जुन श्रीकृष्ण से कहते हैं कि यदि वर्णसंकर लोग उत्पन्न होंगे तो यह सारा संसार नरक जैसा लगेगा। लोग विश्व में शान्ति चाहते हैं, किन्तु गर्भाधान संस्कार का लाभ न उठा सकने के कारण अनेक अवांछित शिशु जन्म लेते रहते हैं—जिस प्रकार दिति के गर्भ से असुर उत्पन्न हुए थे। दिति इतनी कामातुर थी कि उसने अपने पति को अशुभ समय में संभोग के लिए बाध्य कर दिया जिसके कारण उत्पात मचाने वाले असुरों का जन्म हुआ। मनुष्य को चाहिए कि सन्तान उत्पन्न करने हेतु संभोग करते समय नियम का पालन करे जिससे अच्छी सन्तान हो। यदि प्रत्येक परिवार वैदिक विधि का पालन करे तो अच्छी सन्तान उत्पन्न होंगी, असुर नहीं होगे और विश्व में स्वत: शान्ति स्थापित हो सकेगी। यदि हम अपने जीवन में सामाजिक शान्ति के नियमों का पालन नहीं करते तो हमें शान्ति की आशा नहीं करनी चाहिए।

उल्टे, हमें प्राकृतिक नियमों की कठोर प्रतिक्रियाओं से जूझना होगा।

तावादिदैत्यौ सहसा व्यज्यमानात्मपौरुषौ ।
ववृधातेऽश्मसारेण कायेनाद्रिपती इव ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तौ—वे दोनों; आदि-दैत्यौ—सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न असुर; सहसा—शीघ्र, तेजी से; व्यज्यमान—प्रकट होकर; आत्म—अपने; पौरुषौ—शौर्य; ववृधाते—बड़े हुए; अश्म-सारेण—इस्पात तुल्य; कायेन—शरीर से; अद्रि-पती—दो विशाल पर्वत; इव—सदृश ।

पुराकाल में प्रकट इन दोनों असुरों के शरीर में शीघ्र ही असामान्य लक्षण प्रकट होने लगे, उनके शारीरिक ढाँचे इस्पात के समान थे और वे दो विशाल पर्वतों के समान बढ़ने लगे।

तात्पर्य : संसार में दो प्रकार के मनुष्य होते हैं—एक असुर कहलाते हैं तथा दूसरे देवता। देवता मानव समाज की आत्मिक उन्नति करने में लगे रहते हैं, किन्तु असुर शारीरिक तथा भौतिक उन्नति में विश्वास करते हैं। दिति के गर्भ से उत्पन्न दोनों असुर अपने शरीरों को लौह के समान शक्तिशाली बनाने लगे और वे इतने ऊँचे थे कि आसमान को छूते लग रहे थे। वे अमूल्य आभूषणों से अलंकृत थे और इसी को वे जीवन की सार्थकता समझ रहे थे। प्रारम्भ में वैकुण्ठ के दोनों द्वारपालों, जय तथा विजय, को इस भौतिक संसार में जन्म लेना था जहाँ साधुओं के शाप के अनुसार उन्हें श्रीभगवान् के प्रति सदा क्रुद्ध रहने की भूमिका अदा करनी थी। अत: आसुरी व्यक्तियों के रूप में वे इतने क्रुद्ध रहने लगे कि श्रीभगवान् से उनका कोई प्रयोजन नहीं रहा और वे भौतिक तथा शारीरिक उन्नति में ही लगे रहे।

दिविस्पृशौ हेमकिरीटकोटिभिर्
निरुद्धकाष्ठौ स्फुरदङ्गदाभुजौ ।
गां कम्पयन्तौ चरणै: पदे पदे
कट्या सुकाञ्च्यार्कमतीत्य तस्थतु: ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

दिवि-स्पृशौ—आकाश को छूने वाला; हेम—स्वर्णिम; किरीट—उनके मुकुटों का; कोटिभि:—शिखरों से; निरुद्ध—अवरुद्ध; काष्ठौ—दिशाएँ; स्फुरत्—चमकीले; अङ्गदा—बाजूबंद; भुजौ—जिनकी बाँहों में; गाम्—पृथ्वी

को; कम्पयन्तौ—हिलाते हुए; चरणैः—अपने पाँवों से; पदे पदे—पत्येक पद पर; कट्या—अपनी कमर से; सु-काञ्च्या—आभूषित करधनियों से; अर्कम्—सूर्य; अतीत्य—पार करके; तस्थतुः—वे खड़े हुए।

उनके शरीर इतने ऊँचे हो गये कि उनके स्वर्ण-मुकुटों के शिखर मानो आकाश को चूम रहे हों। उनके कारण सभी दिशाएँ अवरुद्ध हो जाती थीं और जब वे चलते तो उनके प्रत्येक पग पर पृथ्वी हिलती थी। उनके बाहुओं में चमकीले बाजूबन्द सुशोभित थे। उनकी कमर में परम सुन्दर करधनियाँ बँधी थीं और जब वे खड़े होते तो ऐसा लगता मानो उनकी कमर से सूर्य ढक गया हो।

तात्पर्य : आसुरी सभ्यता में लोग अपने शरीर को इस प्रकार गठित करते हैं कि जब वे सड़क पर चलें तो धरती काँपे और जब वे खड़े हों तो सूर्य ढक जाय और चारों दिशाएँ न दिखें। यदि किसी देश की कोई जाति बलिष्ठ शरीर वाली प्रकट हो जाती है, तो वह देश भौतिक दृष्टि विश्व के उन्नत राष्ट्रों में गिना जाता है।

प्रजापतिर्नाम तयोरकार्षीद्
यः प्राक्स्वदेहाद्यमयोरजायत ।
तं वै हिरण्यकशिपुं विदुः प्रजा
यं तं हिरण्याक्षमसूत साग्रतः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

प्रजापतिः—कश्यप ने; नाम—नाम; तयोः—दोनों के; अकार्षीत्—रखा; यः—जो; प्राक्—प्रथम; स्व-देहात्—अपने शरीर से; यमयोः—जुड़वों में से; अजायत—उत्पन्न हुआ; तम्—उसको; वै—निस्सन्देह; हिरण्यकशिपुम्—हिरण्यकशिपु; विदुः—जानते हैं; प्रजाः—लोग; यम्—जिसको; तम्—उसको; हिरण्याक्षम्—हिरण्याक्ष; असूत—जन्म दिया; सा—वह (दिति); अग्रतः—पहले।

जीवात्माओं के सृष्टा कश्यप ने अपने जुड़वां पुत्रों का नामकरण किया। जो पहले उत्पन्न हुआ उसका नाम उन्होंने हिरण्याक्ष रखा और जिसको दिति ने पहले गर्भ में धारण किया था उसका नाम हिरण्यकशिपु रखा।

तात्पर्य : *पिंड सिद्धि* नामक प्रामाणिक वैदिक ग्रंथ में गर्भावस्था का बहुत ही सुन्दर वैज्ञानिक वर्णन मिलता है। यह बताया गया है कि मनुष्य के वीर्य के दो बिन्दु क्रमशः स्त्री के गर्भाशय में प्रविष्ट होते हैं, तो दो भ्रूणों का विकास होता है और जब वे गर्भ से बाहर निकलते हैं, तो वे गर्भधारण के क्रम से विपरीत क्रम में निकलते हैं। अतः जिस शिशु का पहले गर्भ-

धारण होता है, वह बाद में जन्म लेता है और बाद वाला पहले जन्म लेता है। यहाँ पर हिरण्याक्ष पहले प्रकट होता है, जिसका तात्पर्य यह हुआ कि वह बाद में गर्भ में आया था जबकि हिरण्यकशिपु पहले गर्भ में आया था इसलिए वह बाद में प्रकट हुआ।

चक्रे हिरण्यकशिपुर्दोर्भ्यां ब्रह्मवरेण च ।
वशे सपालाँल्लोकांस्त्रीनकुतोमृत्युरुद्धतः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

चक्रे—बनाया; हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु; दोर्भ्याम्—अपने दोनों हाथों से; ब्रह्म-वरेण—ब्रह्मा के वरदान से; च—तथा; वशे—नियन्त्रण में; स-पालान्—उनके पालने वालों सहित; लोकान्—लोक; त्रीन्—तीन; अकुतः-मृत्युः—किसी से भी मृत्यु का भय न होना; उद्धतः—गर्वित, उद्धत।

ज्येष्ठ पुत्र हिरण्यकशिपु को तीनों लोकों में किसी से भी अपनी मृत्यु का भय न था, क्योंकि उसे ब्रह्मा से वरदान प्राप्त हुआ था। इस वरदान के कारण यह अत्यन्त दंभी तथा अभिमानी हो गया था और तीनों लोकों को अपने वश में करने में समर्थ था।

तात्पर्य : अगले अध्यायों में पता चलेगा कि ब्रह्मा को प्रसन्न करने के लिए हिरण्यकशिपु ने कठिन तपस्या की थी और तब उसे अमर रहने का वरदान प्राप्त हुआ था। वस्तुत: ब्रह्माजी किसी को अमर होने का वर नहीं दे सकते, किन्तु अप्रत्यक्षत: हिरण्यकशिपु ने यह वरदान प्राप्त कर लिया था कि इस भौतिक संसार का कोई भी व्यक्ति उसको मार न सके। दूसरे शब्दों में, चूँकि वह मूलत: वैकुण्ठ धाम से आया था, अत: इस लोक का कोई भी व्यक्ति उसे मार नहीं सकता था। इसीलिए उसे मारने के लिए स्वयं भगवान् को प्रकट होना पड़ा। भले ही कोई अपने ज्ञान के भौतिक विकास पर इतरा ले, किन्तु वह जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि इन चार भौतिक नियमों के प्रति निश्चेष्ट नहीं रह सकता। यह भगवान् की योजना थी कि वे जनता को बता दें कि हिरण्यकशिपु जैसा बलशाली व्यक्ति भी निश्चित अवधि से अधिक जीवित नहीं रह सका था। भले ही कोई हिरण्यकशिपु के समान बलशाली तथा अभिमानी और तीनों लोकों को अपने वश में करने वाला क्यों न हो ले, किन्तु उसे चिरकाल तक जीवित रहने या लूट का माल रखने की छूट नहीं है। न जाने कितने सम्राटों ने शासन किया होगा, किन्तु वे सभी अब विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गये। यही इस संसार का इतिहास है।

हिरण्याक्षोऽनुजस्तस्य प्रियः प्रीतिकृदन्वहम् ।
गदापाणिर्दिवं यातो युयुत्सुर्मृगयन्रणम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

हिरण्याक्षः—हिरण्याक्ष; अनुजः—छोटा भाई; तस्य—उसका; प्रियः—प्रिय; प्रीति-कृत्—प्रसन्न करने के लिए उद्यत; अनु-अहम्—प्रतिदिन; गदा-पाणिः—गदा धारण किये; दिवम्—उच्च लोकों को; यातः—घूमा; युयुत्सुः—लड़ने की इच्छावाला; मृगयन्—खोजते हुए; रणम्—युद्ध।

छोटा भाई हिरण्याक्ष अपने कार्यों से अपने अग्रज भ्राता को प्रसन्न रखने के लिए उद्यत रहता था। हिरण्यकशिपु को प्रसन्न रखने के उद्देश्य से ही उसने अपने कंधे पर गदा रखी और लड़ने की इच्छा से पूरे ब्रह्माण्ड में घूम आया।

तात्पर्य : यह आसुरी प्रवृत्ति है कि परिवार के सभी सदस्यों को अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए इस ब्रह्माण्ड के समस्त साधनों का उपभोग करना सिखाया जाय जब कि दैवी प्रवृत्ति भगवान् की सेवा में प्रत्येक वस्तु को लगाने के लिए प्रेरित करती है। हिरण्यकशिपु स्वयं अत्यन्त बलशाली था और उसने अपने छोटे भाई हिरण्याक्ष को भी बलवान बनाया था जिससे वह हर एक से लड़ने और प्रकृति पर जहाँ तक सम्भव हो, स्वामित्व प्राप्त करने में उसकी सहायता कर सके और यदि सम्भव हो तो वह सदा के लिए ब्रह्माण्ड पर शासन करना चाहता था। ये सब आसुरी जीव की प्रवृत्ति के प्रदर्शन हैं।

तं वीक्ष्य दुःसहजवं रणत्काञ्चननूपुरम् ।
वैजयन्त्या स्रजा जुष्टमंसन्यस्तमहागदम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; वीक्ष्य—देखकर; दुःसह—वश में करना कठिन; जवम्—वेग; रणत्—बजती हुई; काञ्चन—स्वर्ण; नूपुरम्—नूपुर, पाँव का आभूषण; वैजयन्त्या स्रजा—वैजयन्ती माला से; जुष्टम्—आभूषित; अंस—कंधे पर; न्यस्त—टिका; महा-गदम्—बड़ी गदा।

हिरण्याक्ष के आवेग को नियंत्रण कर पाना कठिन था। उसके पैरों में सोने के नूपुरों की झनकार हो रही थी, उसके गले में विशाल माला सुशोभित थी और वह अपनी विशाल गदा को अपने एक कंधे पर धारण किये था।

मनोवीर्यवरोत्सिक्तमसृण्यमकुतोभयम् ।
भीता निलिल्यिरे देवास्तार्क्ष्यत्रस्ता इवाहयः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

मनः-वीर्य—मनोबल तथा शारीरिक बल; वर—वरदान से; उत्सिक्तम्—दंभी, गर्वीला; असृण्यम्—रोक पाने में असमर्थ; अकुतः-भयम्—किसी से न डरने वाला; भीताः—डरे हुए; निलिल्यिरे—छिपा लिया; देवाः—देवताओं ने; तार्क्ष्य—गरुड़ से; त्रस्ताः—भयभीत; इव—के समान; अहयः—सर्प।

उसके मनोबल, शारीरिक बल तथा ब्रह्मा द्वारा प्राप्त वरदान ने उसे दंभी बना दिया था। उसे न तो किसी से अपनी मृत्यु का भय था और न उस पर किसी का अंकुश था। अतः देवता उसे देखकर ही भयभीत हो उठते थे और अपने को उसी प्रकार छिपा लेते जिस तरह गरुड़ के भय से सर्प छिप जाते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि यहाँ पर वर्णन हुआ है, सामान्य रूप से असुर अत्यन्त बलिष्ठ होते हैं, अत: उनकी मानसिक दशा भी ठीक रहती है और उनका शौर्य असाधारण होता है। हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु इस ब्रह्माण्ड के भीतर किसी के द्वारा न मारे जा सकने का वर प्राप्त करके प्राय: अमर बन गये थे और पूर्णतया निर्भय हो चले थे।

स वै तिरोहितान्दृष्ट्वा महसा स्वेन दैत्यराट् ।
सेन्द्रान्देवगणान्क्षीबानपश्यन्व्यनदद्भृशम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने; वै—निस्सन्देह; तिरोहितान्—लुप्त; दृष्ट्वा—देखकर; महसा—शक्ति से; स्वेन—अपनी; दैत्य-राट्—दैत्यों (असुरों) का प्रधान; स-इन्द्रान्—इन्द्र सहित; देव-गणान्—देवताओं को; क्षीबान्—मदान्ध; अपश्यन्—न पाकर; व्यनदत्—गर्जना की; भृशम्—उच्च स्वर से।

पहले अपनी शक्ति के मद से चूर रहने वाले इन्द्र तथा अन्य देवताओं को अपने समक्ष न पाकर तथा यह देखकर कि उसकी शक्ति के सम्मुख वे सभी छिप गये हैं, उस दैत्यराज ने गम्भीर गर्जना की।

ततो निवृत्तः क्रीडिष्यन्गम्भीरं भीमनिस्वनम् ।
विजगाहे महासत्त्वो वार्धिं मत्त इव द्विपः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; निवृत्तः—लौट आया; क्रीडिष्यन्—क्रीड़ा (कौतुक) करने के लिए; गम्भीरम्—गहरे; भीम-निस्वनम्—घोर गर्जना करता; विजगाहे—डुबकी लगाई; महा-सत्त्वः—शक्तिमान प्राणी; वार्धिम्—समुद्र में; मत्तः—क्रोध में; इव—समान; द्विपः—हाथी।

स्वर्गलोक से लौटने के बाद मतवाले हाथी के समान उस महाबली असुर ने भयानक गर्जना करते हुए गहरे समुद्र में क्रीड़ावश डुबकी लगाई।

तस्मिन्प्रविष्टे वरुणस्य सैनिका
यादोगणाः सन्नधियः ससाध्वसाः ।
अहन्यमाना अपि तस्य वर्चसा
प्रधर्षिता दूरतरं प्रदुद्रुवुः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन् प्रविष्टे—समुद्र में घुसने पर; वरुणस्य—वरुण के; सैनिकाः—रक्षक; यादः-गणाः—जलचर जीव; सन्न-धियः—हकबकाये हुए; स-साध्वसाः—डर से; अहन्यमानाः—न मारा जाकर; अपि—भी; तस्य—उनकी; वर्चसा—धाक से; प्रधर्षिताः—घबड़ाकर; दूर-तरम्—बहुत दूर; प्रदुद्रुवुः—तेजी से भाग गये।.

समुद्र में उसके प्रवेश करते ही वरुण के सैनिक समस्त जलचर प्राणी डर गये और बहुत दूर भाग गये। इस प्रकार बिना वार किये ही हिरण्याक्ष ने अपनी धाक जमा ली।

तात्पर्य :कभी-कभी भौतिकतावादी असुर अत्यधिक बलशाली प्रतीत होते हैं और सारे संसार में अपना प्रभुत्व स्थापित करते दिखाई पड़ते हैं। यहाँ पर, हिरण्याक्ष ने अपनी आसुरी शक्ति से पूरे ब्रह्माण्ड में अपनी धाक जमा ली थी और देवतागण उसकी असाधारण शक्ति से भयभीत हो उठे थे। हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष से न केवल अन्तरिक्ष में देवता भयभीत जान पड़े, वरन् समुद्र के जल जीव भी भयभीत थे।

स वर्षपूगानुदधौ महाबल-
श्चरन्महोर्मीञ्छ्वसनेरितान्मुहुः ।
मौर्व्याभिजघ्ने गदया विभावरी-
मासेदिवांस्तात पुरीं प्रचेतसः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वर्ष-पूगान्—अनेक वर्षों तक; उदधौ—समुद्र में; महा-बलः—शक्तिशाली; चरन्—घूमते हुए; महा-ऊर्मीन्—उत्ताल तरंगें; श्वसन—वायु से; ईरितान्—ऊपर नीचे उठते हुए; मुहुः—पुनः पुनः; मौर्व्या—लोहे की; अभिजघ्ने—वार किया; गदया—गदा से; विभावरीम्—विभावरी; आसेदिवान्—पहुँचा; तात—हे विदुर; पुरीम्—राजधानी; प्रचेतसः—वरुण की।.

हे विदुर, वह महाबली हिरण्याक्ष अनेकानेक वर्षों तक समुद्र में घूमता हुआ वायु से दोलायमान उत्ताल तरंगों पर अपनी लोहे की गदा से बारम्बार प्रहार करता हुआ वरुण

की राजधानी विभावरी में जा पहुँचा।

तात्पर्य :वरुण को जल का प्रमुख देवता माना जाता है और विभावरी नाम से विख्यात उसकी राजधानी उसके जल-साम्राज्य के भीतर है।

तत्रोपलभ्यासुरलोकपालकं
यादोगणानामृषभं प्रचेतसम् ।
स्मयन्प्रलब्धुं प्रणिपत्य नीचव-
ज्जगाद मे देह्यधिराज संयुगम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; उपलभ्य—पहुँचकर; असुर-लोक—असुरों के रहने के भूभाग का; पालकम्—रक्षक; यादः-गणानाम्—जलचरों का; ऋषभम्—राजा; प्रचेतसम्—वरुण; स्मयन्—हँसते हुए; प्रलब्धुम्—हँसी उड़ाते; प्रणिपत्य—झुक करके; नीच-वत्—नीच मनुष्य की तरह; जगाद—कहा; मे—मुझको; देहि—दो; अधिराज—हे महान् राजा; संयुगम्—युद्ध।

विभावरी वरुण की पुरी है और वरुण समस्त जलचरों का स्वामी तथा ब्रह्माण्ड के अधः क्षेत्रों का रक्षक है, जहाँ सामान्य रूप से असुर वास करते हैं। वहाँ पहुँचकर हिरण्याक्ष नीच पुरुष के समान वरुण के चरणों पर गिर पड़ा और उसकी हँसी उड़ाने के लिए उसने मुस्कुराते हुए कहा, ''हे परमेश्वर, मुझे युद्ध की भिक्षा दीजिये।''

तात्पर्य :आसुरी पुरुष सदैव दूसरों को ललकारता है और उनकी सम्पत्ति पर बलपूर्वक अधिकार जमाने का प्रयत्न करता है। यहाँ पर ये लक्षण हिरण्याक्ष में पूर्णरूपेण देखे जाते हैं जिसने ऐसे पुरुष से युद्ध की भिक्षा माँगी जो लड़ना नहीं चाहता था।

त्वं लोकपालोऽधिपतिर्बृहच्छ्रवा
वीर्यापहो दुर्मदवीरमानिनाम् ।
विजित्य लोकेऽखिलदैत्यदानवान्
यद्राजसूयेन पुरायजत्प्रभो ॥ २८॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम (वरुण); लोक-पालः—लोक का रक्षक; अधिपतिः—शासक; बृहत्-श्रवाः—कीर्तिवान्; वीर्य—शक्ति; अपहः—घटा हुआ; दुर्मद—घमंडी का; वीर-मानिनाम्—अपने को महान् वीर समझते हुए; विजित्य—जीतकर; लोके—संसार में; अखिल—समस्त; दैत्य—असुर; दानवान्—दानवों को; यत्—जहाँ से; राज-सूयेन—राजसूय यज्ञ द्वारा; पुरा—प्राचीनकाल में; अयजत्—पूजा की; प्रभो—हे भगवान्।

आप समस्त गोलक के रक्षक तथा अत्यन्त कीर्तिवान शासक हैं। आपने अहंकारी

तथा मोहग्रस्त वीरों के दर्प को दल कर तथा इस संसार के सभी दैत्यों तथा दानवों को जीत कर भगवान् के हेतु एक बार राजसूय यज्ञ सम्पन्न किया था।

स एवमुत्सिक्तमदेन विद्विषा
दृढं प्रलब्धो भगवानपां पतिः ।
रोषं समुत्थं शमयन्स्वया धिया
व्यवोचदङ्गोपशमं गता वयम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सः—वरुण; एवम्—इस प्रकार; उत्सिक्त—चूर; मदेन—मद से; विद्विषा—शत्रु के द्वारा; दृढम्—अत्यधिक; प्रलब्धः—हँसी उड़ाए जाने पर; भगवान्—पूज्य; अपाम्—जल का; पतिः—स्वामी; रोषम्—क्रोध; समुत्थम्—उठकर; शमयन्—शान्त करते हुए; स्वया धिया—अपने तर्क से; व्यवोचत्—उसने उत्तर दिया; अङ्ग—हे प्रिय; उपशमम्—युद्ध से विरत; गताः—गये हुए; वयम्—हम।

अत्यन्त दंभी शत्रु के द्वारा इस प्रकार उपहास किये जाने पर जल के पूज्य स्वामी को क्रोध तो आया, किन्तु तर्क के बल पर वे उस क्रोध को पी गये और उन्होंने इस प्रकार उत्तर दिया—हे प्रिय, युद्ध के लिए अत्यधिक बूढ़ा होने के कारण अब मैं युद्ध से दूर रहता हूँ।

तात्पर्य :जैसाकि हम देखते हैं, युद्धप्रिय भौतिकतावादी लोग सदैव अकारण ही युद्ध थोप देते हैं।

पश्यामि नान्यं पुरुषात्पुरातनाद्
यः संयुगे त्वां रणमार्गकोविदम् ।
आराधयिष्यत्यसुरर्षभेहि तं
मनस्विनो यं गृणते भवादृशाः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

पश्यामि—देखता हूँ; न—नहीं; अन्यम्—अन्य; पुरुषात्—पुरुष की अपेक्षा; पुरातनात्—अत्यन्त प्राचीन; यः—जो; संयुगे—युद्ध में; त्वाम्—तुमको; रण-मार्ग—युद्ध कला में; कोविदम्—अत्यन्त पटु; आराधयिष्यति—सन्तोष मिलेगा; असुर-ऋषभ—हे असुरों के प्रमुख; इहि—पास जाओ; तम्—उसको; मनस्विनः—बहादुर; यम्—जिसको; गृणते—प्रशंसा करते हैं; भवादृशाः—तुम्हारी तरह।

तुम युद्ध में इतने कुशल हो कि मुझे परम पुरातन पुरुष भगवान् विष्णु के अतिरिक्त कोई ऐसा नहीं दिखता, जो तुम्हें युद्ध में तुष्टि प्रदान कर सके। अतः हे असुरश्रेष्ठ, तुम उन्हीं के पास जाओ, जिनकी तुम जैसे योद्धा भी बड़ाई करते हैं।

तात्पर्य :आक्रामक योद्धाओं को वास्तव में परमेश्वर ही दण्डित करते हैं, क्योंकि वे वृथा ही विश्वशान्ति को भंग करते हैं। अत: वरुण ने हिरण्याक्ष को सलाह दी कि वह अपनी युद्ध-लालसा को विष्णु के साथ युद्ध करके पूरा करे।

तं वीरमारादभिपद्य विस्मय:
शयिष्यसे वीरशये श्वभिर्वृत: ।
यस्त्वद्विधानामसतां प्रशान्तये
रूपाणि धत्ते सदनुग्रहेच्छया ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; वीरम्—परम वीर; आरात्—तुरन्त; अभिपद्य—पहुँचने पर; विस्मय:—गर्व से रहित; शयिष्यसे—तुम सो जाओगे; वीरशये—युद्ध भूमि में; श्वभि:—कुत्तों के द्वारा; वृत:—घिरे हुए; य:—जो; त्वत्-विधानाम्—तुम समान; असताम्—दुष्ट पुरुषों का; प्रशान्तये—मार भगाने; रूपाणि—विविध रूप; धत्ते—धारण करता है; सत्—सत्पुरुषों के लिए; अनुग्रह—अपनी कृपा दिखाने के लिए; इच्छया—इच्छा से।.

वरुण ने आगे कहा—उनके पास पहुँचते ही तुम्हारा सारा अभिमान दूर हो जाएगा और तुम युद्धभूमि में कुत्तों से घिरकर चिर निद्रा में सो जाओगे। तुम जैसे दुष्टों को मार भगाने तथा सत्पुरुषों पर अपनी कृपा प्रदर्शित करने के लिए ही वे वराह जैसे विविध रूपों में अवतरित होते रहते हैं।

तात्पर्य : असुरों को यह पता नहीं रहता कि उनके शरीर पंचतत्त्वों से निर्मित हैं और मरने पर इन्हें कुत्ते तथा गीध आनन्दपूर्वक खा जाएँगे। वरुण ने हिरण्याक्ष को सलाह दी कि वह विष्णु के वराह अवतार के पास जाए जिससे उसकी युद्ध-कामना पूरी हो और उसका बलिष्ठ शरीर छिन्न-भिन्न हो जाय।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के तीसरे स्कन्ध के अन्तर्गत ''हिरण्याक्ष की दिग्विजय'' नामक सत्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter अठारह

भगवान् वराह तथा असुर हिरण्याक्ष के मध्य युद्ध

मैत्रेय उवाच
तदेवमाकर्ण्य जलेशभाषितं
महामनास्तद्विगणय्य दुर्मदः ।
हरेर्विदित्वा गतिमङ्ग नारदाद्
रसातलं निर्विविशे त्वरान्वितः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—परम संत मैत्रेय ने; उवाच—कहा; तत्—वह; एवम्—इस प्रकार; आकर्ण्य—सुनकर; जल-ईश—जल का स्वामी, वरुण का; भाषितम्—शब्द; महा-मनाः—घमंडी; तत्—वे शब्द; विगणय्य—उपेक्षा करके; दुर्मदः—अहंकारी; हरेः—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के; विदित्वा—पता लगाकर; गतिम्—पता; अङ्ग—हे विदुर; नारदात्—नारद से; रसातलम्—समुद्र के नीचे; निर्विविशे—प्रवेश किया; त्वरा-अन्वितः—अत्यन्त वेग से।

मैत्रेय ने आगे कहा—उस घंमडी तथा अभिमानी दैत्य ने वरुण के शब्दों की तनिक भी परवाह नहीं की। हे विदुर, उसे नारद से श्रीभगवान् के बारे में पता लगा और वह अत्यन्त वेग से समुद्र की गहराइयों में पहुँच गया।

तात्पर्य : युद्धप्रिय भौतिकतावादी अपने परम बलशाली शत्रु श्रीभगवान् से भी लड़ने में नहीं डरते। वरुण से यह जानकर कि एक ऐसा योद्धा है, जिससे वह सचमुच लड़ सकता है, वह असुर अत्यन्त प्रोत्साहित हुआ। वह श्रीभगवान् को ढूँढ़ने के लिए उतावला हो उठा जिससे वह युद्ध कर सके, यद्यपि वरुण ने भविष्यवाणी कर दी थी कि विष्णु से युद्ध करने पर वह कुत्तों, सियारों तथा गीधों का भोजन बन जाएगा। चूँकि आसुरी लोग कम बुद्धिमान होते हैं, अत: वे अजित कहे जाने वाले विष्णु से भी लड़ने के लिए तत्पर हो जाते हैं।

ददर्श तत्राभिजितं धराधरं
प्रोन्नीयमानावनिमग्रदंष्ट्रया ।
मुष्णान्तमक्ष्णा स्वरुचोऽरुणश्रिया
जहास चाहो वनगोचरो मृगः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ददर्श—देखा; तत्र—वहाँ; अभिजितम्—विजयी; धरा—पृथ्वी; धरम्—धारण किये हुए; प्रोन्नीयमान—ऊपर उठाई जाकर; अवनिम्—पृथ्वी को; अग्र-दंष्ट्रया—अपनी दाढ़ों की नोक से; मुष्णन्तम्—जो घटा रहा था; अक्ष्णा—अपनी

आँखों से; स्व-रुचः—हिरण्याक्ष का आत्मतेज; अरुण—लाल लाल; श्रिया—चमकीला; जहास—हँसा; च—तथा; अहो—ओह; वन-गोचरः—उभयचर; मृगः—पशु।

वहाँ उसने सर्वशक्तिमान श्रीभगवान् को उनके वराह रूप में, अपनी दाढ़ों के अग्रभाग पर पृथ्वी को ऊपर की ओर धारण किये तथा अपनी लाल लाल आँखों से उसके समस्त तेज को हरते हुए देखा। इस पर वह असुर हँस पड़ा और बोला, ''ओह! कैसा उभयचर पशु है?''

तात्पर्य : पिछले अध्याय में हमने पूर्ण पुरुषोत्तम के वराह अवतार का वर्णन किया है। जब वराह अपनी दाढ़ों से जल के गर्त में डूबी पृथ्वी को ऊपर उठाने में व्यस्त थे तो यह महा असुर हिरण्याक्ष उनसे मिला और उन्हें पशु कहकर उसने ललकारा। असुरगण भगवान् के अवतारों को नहीं समझ पाते; वे सोचते हैं कि मत्स्य, वराह अथवा कुर्म जैसे अवतार मात्र बड़े बड़े पशु हैं। वे श्रीभगवान् के शरीर को, भले ही वह मनुष्य रूप में क्यों न हो, नहीं समझ पाते और उनके अवतरण की खिल्ली उड़ाते हैं। चैतन्य सम्प्रदाय में नित्यानन्द प्रभु के अवतरण के सम्बन्ध में भ्रान्त आसुरी धारणा है। नित्यानन्द प्रभु का शरीर दिव्य है, किन्तु आसुरी लोग श्री भगवान् के शरीर को हमारे शरीरों के समान भौतिक मानते हैं। अवजानन्ति मां मूढाः—जो अज्ञानी हैं, वे भगवान् के दिव्य रूप को भौतिक मानकर हँसी उड़ाते हैं।

आहैनमेह्यज्ञ महीं विमुञ्च नो
रसौकसां विश्वसृजेयमर्पिता ।
न स्वस्ति यास्यस्यनया ममेक्षतः
सुराधमासादितसूकराकृते ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

आह—हिरण्याक्ष ने कहा; एनम्—भगवान् से; एहि—आओ और लड़ो; अज्ञ—अरे मूर्ख; महीम्—पृथ्वी को; विमुञ्च—छोड़ दो; नः—हमारे लिए; रसा-ओकसाम्—निम्न लोकों के वासियों का; विश्व-सृजा—ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने वाले के द्वारा; इयम्—यह पृथ्वी; अर्पिता—अर्पित; न—नहीं; स्वस्ति—कल्याण; यास्यसि—तुम जाओगे; अनया—इसके साथ; मम ईक्षतः—मेरे देखते देखते; सुर-अधम—हे देवताओं में नीच; आसादित—लेकर; सूकर-आकृते—वराह का रूप।

असुर ने भगवान् को सम्बोधित करते हुए कहा—सूकर का रूप धारण किये हुए हे देवश्रेष्ठ, थोड़ा सुनिये तो। यह पृथ्वी हम अधोलोक के वासियों को सौंपी जा चुकी है, अतः तुम इसे मेरी उपस्थिति में मुझसे बचकर नहीं ले जा सकते।

तात्पर्य : इस श्लोक की टीका करते हुए श्रीधर स्वामी कहते हैं कि यद्यपि वह असुर वराह रूपी श्रीभगवान् का उपहास करना चाहता था, किन्तु वास्तव में उसने अनेक शब्दों से उनकी पूजा की। उदाहरणार्थ, उसने उन्हें वन-गोचर कहकर सम्बोधित किया जिसका अर्थ है, ''जो वन का वासी है,'' किन्तु ''वनगोचर'' का एक दूसरा भी अर्थ है, ''जो जल में लेटा रहता है।'' विष्णु जलशायी हैं, अत: परम पुरुषोत्तम भगवान् का यह सही सम्बोधन है। उस असुर ने उन्हें ''मृग'' कहकर सम्बोधित किया जिससे अनिच्छित यह अभिव्यक्त होता है कि भगवान् की खोज बड़े-बड़े ऋषि मुनि तथा दिव्य ज्ञानी करते रहते हैं। उसने उन्हें ''अज्ञ'' कहकर सम्बोधित किया। श्रीधर स्वामी कहते हैं कि, ''ज्ञ'' का अर्थ ज्ञान है, अत: कोई ऐसा ज्ञान नहीं जो भगवान् को ज्ञात न हो। अत: असुर ने अप्रत्यक्ष रूप से कहा कि विष्णु सर्वज्ञाता हैं। असुर ने उन्हें सुराधम भी कहा। सुर का अर्थ 'देवता' है और अधम का अर्थ है 'सबों' का। वे समस्त देवताओं के भगवान् हैं, अत: वे समस्त देवताओं में श्रेष्ठ हैं। जब असुर ने 'मेरी उपस्थिति' वाक्यांश का प्रयोग किया, तो उसका यही अर्थ था, ''मेरे उपस्थित रहने पर भी आप पृथ्वी को ले जा सकते हैं।'' न स्वस्ति यास्यसि—''जब तक कृपा करके आप इस पृथ्वी को हमारी निगरानी से ले नहीं लेते तब तक हमारा कल्याण नहीं।''

त्वं न: सपत्नैरभवाय किं भृतो
यो मायया हन्त्यसुरान्परोक्षजित् ।
त्वां योगमायाबलमल्पपौरुषं
संस्थाप्य मूढ प्रमृजे सुहृच्छुच: ॥ ४॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; न:—हम सबके; सपत्नै:—हमारे शत्रुओं के द्वारा; अभवाय—मारने के लिए; किम्—क्या ऐसा ही है; भृत:—पालित; य:—जो; मायया—छल से; हन्ति—मारता है; असुरान्—असुर को; परोक्ष-जित्—अदृश्य रहकर जीतने वाला; त्वाम्—तुमको; योगमाया-बलम्—जिसकी शक्ति मोहक शक्ति है; अल्प-पौरुषम्—कम शक्ति वाला; संस्थाप्य—मारकर; मूढ—मूर्ख; प्रमृजे—दूर कर दूँगा; सुहृत्-शुच:—अपने बन्धुओं का शोक।

अरे धूर्त, हमारे शत्रुओं ने हमारे वध के लिए तुम्हें पाला है और तुमने अदृश्य रहकर कुछ असुरों को मार दिया है। अरे मूर्ख! तुम्हारी शक्ति केवल योगमाया है, अत: आज मैं तुम्हें मारकर अपने बन्धुओं का शोक दूर कर दूँगा।

तात्पर्य : असुर ने अभवाय शब्द का प्रयोग किया जिसका अर्थ, ''मारने के लिए'' है। श्रीधर स्वामी की टीका है कि इस 'मारने' का अर्थ मुक्ति दिलाना अर्थात् जन्म-मरण के प्रक्रम को मारना है। भगवान् जन्म-मरण के प्रक्रम को मारते हैं, किन्तु स्वयं अदृश्य बने रहते हैं। भगवान् की अन्त:शक्ति अचिन्त्य है, किन्तु इस शक्ति के नाममात्र के प्रदर्शन से भगवान् की कृपावश अज्ञान से उद्धार हो जाता है। शुच: का अर्थ है शोक या कष्ट। भगवान् अपनी योगमाया से इस भौतिक संसार के सारे दुखों को दूर कर सकते हैं। उपनिषदों (*श्वेताश्वतर उपनिषद* ६.८) में कहा गया है—*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*। भगवान् सामान्य मनुष्य को दृष्टिगोचर नहीं होते, किन्तु उनकी शक्तियाँ अनेक प्रकार से कार्यशील रहती हैं। जब असुर संकट में होते हैं, तो वे कहते हैं कि ईश्वर अपने को छिपा रहा है और योगशक्ति से काम कर रहा है। वे सोचते हैं कि यदि ईश्वर उन्हें मिल जाय तो वे उसे मात्र दृष्टिपात से मार डालें। हिरण्याक्ष यही सोचता था इसीलिए उसने भगवान् को ललकारा—''तुमने देवताओं का पक्ष लेकर हमारी जाति को महान् क्षति पहुँचाई है और तुमने अपने को सदा अदृश्य रखते हुए न जाने हमारे कितने ही बन्धु-बान्धवों का वध किया है। अब मैं तुम्हें अपने समक्ष पा गया हूँ, अत: मैं तुम्हें जाने नहीं दूँगा। मैं तुम्हारा वध करके अपने कुटुम्बियों को तुम्हारे योगिक कुकृत्यों से मुक्त करूँगा।''

असुर सदैव ईश्वर को न केवल वचन तथा विचार से मारने के लिए उत्सुक रहते हैं वरन् वे यह भी सोचते हैं कि यदि कोई भौतिक शक्ति एकत्र कर ले तो घातक भौतिक आयुधों से भी ईश्वर को मारा जा सकता है। कंस, रावण तथा हिरण्याक्ष जैसे असुर सदा अपने आपको इतना बलशाली मानते थे कि चाहें तो ईश्वर का वध कर दें। असुर यह नहीं समझ पाते कि ईश्वर अपनी बहुमुखी शक्तियों से इस विलक्षणता से कार्य कर सकते हैं कि वे अपने सनातन धाम गोलोक वृन्दावन में रहकर सर्वत्र उपस्थित रह सकते हैं।

त्वयि संस्थिते गदया शीर्णशीर्ष-
ण्यस्मद्भुजच्युतया ये च तुभ्यम् ।

बलिं हरन्त्यृषयो ये च देवाः
स्वयं सर्वे न भविष्यन्त्यमूलाः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

त्वयि—जब तुम; संस्थिते—मारे जाओगे; गदया—गदा से; शीर्ण—छिन्न भिन्न; शीर्षणि—सिर; अस्मत्-भुज—मेरे हाथ से; च्युतया—छूटी हुई; ये—जो; च—तथा; तुभ्यम्—तुमको; बलिम्—भेंट; हरन्ति—प्रदान करते हैं; ऋषयः—ऋषिगण; ये—जो; च—तथा; देवाः—देवता; स्वयम्—अपने आप; सर्वे—सभी; न—नहीं; भविष्यन्ति—होंगे; अमूलाः—बिना जड़ के, निराधार।

असुर ने आगे कहा—जब मेरी भुजाओं से फेंकी गई गदा द्वारा तुम्हारा सिर फट जाएगा और तुम मर जाओगे तो वे देवता तथा ऋषि जो तुम्हें भक्तिवश नमस्कार करते तथा भेंट चढ़ाते हैं, स्वतः मृत हो जाएँगे जिस प्रकार बिना जड़ के वृक्ष नष्ट हो जाते हैं।

तात्पर्य : जब देवता शास्त्रोक्त विधि से भगवान् का अर्चन करते हैं, तो असुर अत्यन्त विचलित होते हैं। वेदों में नवजिज्ञासु भक्त के लिए नौ प्रकार की भक्ति बताई गई है—यथा ईश्वर के पवित्र नाम का श्रवण तथा जप, इसका सदा स्मरण, माला में हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे का जाप, मन्दिरों में श्रीविग्रह रूप में भगवान् की पूजा करना तथा कृष्णभक्ति में संलग्न रहना जिससे संसार में पूर्ण शान्ति के लिए साधु पुरुषों की संख्या में वृद्धि हो। असुरों को ऐसे कार्य पसंद नहीं है। असुर सदैव ईश्वर तथा उनके भक्तों से ईर्ष्या करते हैं। उनका यह प्रचार रहता है कि मन्दिर या गिरजाघर में पूजा न की जाय और इन्द्रिय-तुष्टि के लिए सारी भौतिक उन्नति की जाय। भगवान् को समक्ष पाकर हिरण्याक्ष अपनी शक्तिशाली गदा से उनका वध करके सदा सदा के लिए निश्चिन्त हो जाना चाहता था। यहाँ पर असुर द्वारा जड़विहीन वृक्ष का उदाहरण अत्यन्त सार्थक है। भक्त लोग मानते हैं कि ईश्वर सबों का मूल है। उनका कथन है कि जिस प्रकार उदर शरीर के भरण-पोषण के लिए ऊर्जा प्रदान करता है उसी प्रकार ईश्वर भौतिक तथा आध्यात्मिक लोकों में प्रकट होने वाली समस्त ऊर्जा का मूल स्रोत है, अतः जिस प्रकार उदर को भोजन-पूर्ति करने से शरीर के सभी अंग सन्तुष्ट होते हैं उसी प्रकार समस्त सुख के स्रोत को तुष्ट करने का एकमात्र दिव्य साधन कृष्ण की भक्ति है। असुर इस स्रोत को उच्छेदित करना चाहते हैं, क्योंकि यदि मूल रूप भगवान् को रुद्ध कर दिया जाए तो भगवान् तथा भक्तों के सारे

कार्यकलाप स्वतः रूक जाएंगे। लेकिन समाज की ऐसी स्थिति से असुरों को अत्यन्त संतोष प्राप्त होता है। वे अपनी इन्द्रियतुष्टि के लिए सदैव ईश्वरविहीन समाज की कामना करते रहते हैं। श्रीधर स्वामी के अनुसार इस श्लोक का अर्थ यह है कि जब श्रीभगवान् असुर को गदाविहीन कर देंगे तो न केवल नवदीक्षित भक्त वरन् ईश्वर के प्राचीन न्याय प्रिय भक्त भी अत्यधिक संतुष्ट होंगे।

स तुद्यमानोऽरिदुरुक्ततोमरै-
दंष्ट्राग्रगां गामुपलक्ष्य भीताम् ।
तोदं मृषन्निरगादम्बुमध्याद्
ग्राहाहतः सकरेणुर्यथेभः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; तुद्यमानः—सताया जाकर; अरि—शत्रु का; दुरुक्त—दुर्वचनों से; तोमरैः—आयुधों से; दंष्ट्र-अग्र—अपनी दाढ़ों के अग्र भाग पर; गाम्—स्थित; गाम्—पृथ्वी को; उपलक्ष्य—देखकर; भीताम्—भयभीत; तोदम्—पीड़ा; मृषन्—सहते हुए; निरगात्—बाहर निकल आया; अम्बु-मध्यात्—जल के भीतर से; ग्राह—घड़ियाल से; आहतः—आक्रमण किया गया; स-करेणुः—हथिनी सहित; यथा—जिस प्रकार; इभः—हाथी।

यद्यपि भगवान् असुर के तीर सदृश बेधने वाले दुर्वचनों से अत्यन्त पीड़ित हुए थे, किन्तु उन्होंने इस पीड़ा को सह लिया। वे अपनी दाढ़ों के अग्रभाग पर स्थित पृथ्वी को भयभीत देखकर जल में से निकलकर उसी प्रकार बाहर आ गये जिस प्रकार घड़ियाल द्वारा आक्रमण किये जाने पर हाथी अपनी सहचरी हथिनी के साथ बाहर आ जाता है।

तात्पर्य : मायावादी दार्शनिक यह कभी नहीं समझेंगे कि भगवान् के भी संवेदनाएँ होती हैं। यदि कोई उनकी स्तुति करता है, तो भगवान् प्रसन्न होते हैं। इसी प्रकार यदि कोई उनके अस्तित्व को नकारता है या उन्हें गाली देता है, तो वे अप्रसन्न होते हैं। मायावादी दार्शनिक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की निन्दा करते हैं, अतः वे असुर तुल्य ही हैं। उनका कथन है कि ईश्वर के न कोई सिर है, न आकार है, न पाँव, न हाथ तथा न कोई अन्य शारिरिक अंग है। दूसरे शब्दों में, वे यह कहते हैं कि ईश्वर मृत या पंगु है। परमेश्वर के सम्बन्ध में ऐसी भ्रान्त धारणाएँ उनके असंतुष्ट होने के कारण हैं। वे कभी भी ऐसे निराकार वर्णनों से संतुष्ट नहीं होते। यहाँ पर, यद्यपि भगवान् को असुर के मर्मभेदी शब्दों से पीड़ा हो रही थी, किन्तु उन्होंने अपने परम भक्त

देवताओं के सन्तोष के लिए पृथ्वी का उद्धार किया। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वर हमारे ही समान संवेदनशील हैं। वे हमारी प्रार्थनाओं से प्रसन्न होते हैं और उनके प्रति दुर्वचनों से अप्रसन्न। वे अपने भक्तों को संरक्षण प्रदान करने के लिए नास्तिकों के दुर्वचन सहने के लिए सदैव तैयार रहते हैं।

तं निःसरन्तं सलिलादनुद्रुतो
हिरण्यकेशो द्विरदं यथा झषः ।
करालदंष्ट्रोऽशनिनिस्वनोऽब्रवीद्
गतह्रियां किं त्वसतां विगर्हितम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; निःसरन्तम्—बाहर निकलते हुए; सलिलात्—जल से; अनुद्रुतः—पीछा किया गया; हिरण्य-केशः—सुनहले बालों वाला; द्विरदम्—हाथी; यथा—जिस प्रकार; झषः—मकर, घड़ियाल; कराल-दंष्ट्रः—अत्यन्त भयावने दाँतों वाला; अशनि-निस्वनः—बिजली के समान कड़कते हुए; अब्रवीत्—बोला; गत-ह्रियाम्—निर्लज्ज; किम्—क्या; तु—निस्सन्देह; असताम्—दुष्टों के लिए; विगर्हितम्—निन्दनीय।

सुनहले बालों तथा भयावने दाँतों वाले उस असुर ने जल से निकलते हुए भगवान् का उसी प्रकार पीछा किया जिस प्रकार कोई घड़ियाल हाथी का पीछा कर रहा हो। उसने बिजली के समान कड़क कर कहा, ''क्या तुम अपने ललकारने वाले प्रतिद्वन्द्वी के समक्ष इस प्रकार भागते हुए लज्जित नहीं हुए हो?'' निर्लज्ज प्राणियों के लिए कुछ भी निन्दनीय नहीं है।

तात्पर्य : जब भगवान् पृथ्वी का उद्धार करने के लिए उसको अपनी भुजाओं में लेकर पानी के बाहर आ रहे थे तो उस असुर ने अपमानसूचक शब्दों के द्वारा उनका उपहास किया, किन्तु भगवान् ने इसकी परवाह नहीं की क्योंकि उन्हें अपने कर्तव्य का बोध था। कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति के लिए कोई भय नहीं रहता। इसी प्रकार जो शक्तिशाली हैं उन्हें अपने शत्रु के उपहास या कटु वचनों से किसी प्रकार का भय नहीं लगता। भगवान् को किसी से डरने की कोई बात नहीं, तो भी वे अपने शत्रु की उपेक्षा करते हुए उसके प्रति दयालु बने रहे। यद्यपि वे एक प्रकार से ललकार से भाग रहे थे, किन्तु पृथ्वी को संकट से बचाने के उद्देश्य से ही उन्होंने हिरण्याक्ष के व्यंग्य-वचनों को सहन कर लिया।

स गामुदस्तात्सलिलस्य गोचरे
विन्यस्य तस्यामदधात्स्वसत्त्वम् ।
अभिष्टुतो विश्वसृजा प्रसूनै-
रापूर्यमाणो विबुधैः पश्यतोऽरेः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (भगवान्); गाम्—पृथ्वी को; उदस्तात्—सतह पर; सलिलस्य—जल की; गोचरे—अपनी दृष्टि के अन्तर्गत; विन्यस्य—रखकर; तस्याम्—पृथ्वी को; अदधात्—सञ्चार किया; स्व—अपना, निज; सत्त्वम्—अस्तित्व; अभिष्टुतः—प्रशंसा की; विश्व-सृजा—ब्रह्मा (ब्रह्माण्ड के सृष्टा) द्वारा; प्रसूनैः—फूलों से; आपूर्यमाणः—प्रसन्न होकर; विबुधैः—देवताओं द्वारा; पश्यतः—देखते हुए; अरेः—शत्रु के।

भगवान् ने पृथ्वी को लाकर जल की सतह पर अपनी दृष्टि के सामने रख छोड़ा और अपनी निजी शक्ति को उसमें स्थानान्तरित कर दिया जिससे वह जल पर तैरती रहे। शत्रु के देखते-देखते, ब्रह्माण्ड के स्त्रष्टा ब्रह्माजी ने उनकी स्तुति की और अन्य देवताओं ने उन पर फूलों की वर्षा की।

तात्पर्य : असुर लोग यह कभी नहीं समझ पाएंगे कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने जल पर पृथ्वी को किस प्रकार तैरा दिया, किन्तु भक्तों के लिए भगवान् का यह कृत्य तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं है। न केवल पृथ्वी, वरन् न जाने कितने लाखों-करोड़ों लोक, वायु में तैर रहे हैं, उन्हें तैरने की यह शक्ति ईश्वर ने प्रदान की है; इसकी कोई अन्य व्याख्या नहीं है। भौतिकतावादी यह व्याख्या कर सकते हैं कि सभी लोक गुरुत्वाकर्षण के नियमानुसार तैर रहे हैं, किन्तु यह आकर्षण-नियम परमेश्वर के ही नियन्त्रण पर कार्यशील होता है। *भगवद्गीता* का भी यही कथन है, जिसमें भगवान् के वचन द्वारा पुष्टि की गई है कि चाहे भौतिक नियम हों या प्राकृतिक, अथवा समस्त लोकों की वृद्धि, पालन, उत्पत्ति हो, इन सबके पीछे भगवान् का हाथ है। भगवान् के कार्यकलापों को ब्रह्मा आदि देवता ही समझ सकते हैं, अतः जब उन्होंने भगवान् के असाधारण शौर्य को देखा जिससे वे पृथ्वी को जल की सतह पर रख सके थे तो उन्होंने भगवान् के इस दिव्य कृत्य के लिए उन पर फूलों की बौछार कर दी।

परानुषक्तं तपनीयोपकल्पं
महागदं काञ्चनचित्रदंशम् ।

मर्माण्यभीक्ष्णं प्रतुदन्तं दुरुक्तैः
प्रचण्डमन्युः प्रहसंस्तं बभाषे ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

परा—पीछे से; अनुषक्तम्—पीछा करते हुए; तपनीय-उपकल्पम्—प्रचुर स्वर्ण आभूषण धारण किये हुए; महा-गदम्—भारी गदा सहित; काञ्चन—स्वर्णिम; चित्र—सुन्दर; दंशम्—कवच; मर्माणि—अन्तस्तल; अभीक्ष्णम्—लगातार; प्रतुदन्तम्—बेधकर; दुरुक्तैः—दुर्वचनों से; प्रचण्ड—उग्र; मन्युः—क्रोध; प्रहसन्—हँसते हुए; तम्—उससे; बभाषे—कहा।

शरीर में प्रचुर आभूषण, कंकण तथा सुन्दर स्वर्णिय कवच धारण किये हुए वह असुर एक बड़ी सी गदा लिए भगवान् का पीछा कर रहा था। भगवान् ने उसके भेदने वाले दुर्वचनों को तो सहन कर लिया, किन्तु प्रत्युत्तर में उन्होंने अपना प्रचण्ड क्रोध व्यक्त किया।

तात्पर्य : भगवान् चाहते तो उस असुर को तभी दण्ड दे देते जब वह उनका कटु वचनों से उपहास कर रहा था, किन्तु भगवान् उसको सहन करते रहे जिससे देवता प्रसन्न हों और समझें कि अपना कार्य करते हुए उन्हें असुरों से भयभीत नहीं होना चाहिए। अतः वे अपनी सहनशीलता इसीलिए प्रदर्शित करते रहे जिससे देवताओं का भय दूर हो जाए और वे समझें कि उनकी रक्षा के लिए भगवान् सदैव उपस्थित रहते हैं। असुर द्वारा भगवान् का उपहास कुत्तों के भूकने के समान था; उन्हें उसकी तनिक भी परवाह नहीं थी। वे तो जल में से पृथ्वी के उद्धार-कार्य में व्यस्त थे। भौतिकतावादी असुरों के पास पर्याप्त सोना रहता है और वे यह सोचते हैं कि स्वर्ण की बड़ी मात्रा, भौतिक बल तथा लोकप्रियता उन्हें भगवान् के क्रोध से बचा लेगी।

श्रीभगवानुवाच
सत्यं वयं भो वनगोचरा मृगा
युष्मद्विधान्मृगये ग्रामसिंहान् ।
न मृत्युपाशैः प्रतिमुक्तस्य वीरा
विकत्थनं तव गृह्णन्त्यभद्र ॥ १० ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; सत्यम्—निस्सन्देह; वयम्—हम; भोः—अरे; वन-गोचराः—जंगल में वास करने वाले; मृगाः—प्राणी; युष्मत्-विधान्—तुम्हारे जैसों को; मृगये—मारने के लिए खोज रहा हूँ; ग्राम-सिंहान्—

कुत्ते; न—नहीं; मृत्यु-पाशैः—मृत्यु के फन्दे से; प्रतिमुक्तस्य—बद्धजीवों का; वीराः—वीर पुरुष; विकत्थनम्—आत्मश्लाघा; तव—तुम्हारा; गृह्णन्ति—ध्यान देते हैं; अभद्र—अरे दुष्ट।

भगवान् ने कहा—सचमुच हम जंगल के प्राणी हैं और तुम जैसे ही शिकारी कुत्तों का हम पीछा कर रहे हैं। जो मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो चुका है, वह तुम्हारी आत्मश्लाघा से नहीं डरता, क्योंकि तुम मृत्यु-बन्धन के नियमों से बँधे हुए हो।

तात्पर्य : भले ही असुर तथा नास्तिक लोग श्रीभगवान् का लगातार अपमान करें, किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि वे जन्म-मृत्यु के नियमों से बँधे हैं। वे सोचते हैं कि परमेश्वर के अस्तित्व को नकारने मात्र से अथवा प्रकृति के कठोर नियमों का अतिक्रमण करने से वे जन्म-मृत्यु के चंगुल से बच सकते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि ईश्वर की दिव्य प्रकृति को समझ लेने मात्र से मनुष्य भगवान् के धाम लौट सकता है। असुर तथा नास्तिक लोग भगवान् के स्वभाव से परिचित नहीं होना चाहते, फलतः वे जन्म-मृत्यु के बन्धन में पड़े रहते हैं।

एते वयं न्यासहरा रसौकसां
गतह्रियो गदया द्राविताස्ते ।
तिष्ठामहेऽथापि कथञ्चिदाजौ
स्थेयं क्व यामो बलिनोत्पाद्य वैरम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

एते—अपने आप; वयम्—हम; न्यास—धरोहर का; हराः—चोर; रसा-ओकसाम्—रसातल के वासियों का; गत-ह्रियः—निर्लज्ज; गदया—गदा से; द्राविताः—पीछा किया जाकर; ते—तुम्हारा; तिष्ठामहे—हम बैठे रहेंगे; अथ अपि—तो भी; कथञ्चित्—कुछ-कुछ; आजौ—युद्धभूमि में; स्थेयम्—हम ठहर सकें; क्व—कहाँ; यामः—हम जा सकते हैं; बलिना—शक्तिशाली शत्रु से; उत्पाद्य—उत्पन्न करके; वैरम्—शत्रुता।

निस्सन्देह, मैंने रसातलवासियों की धरोहर चुरा ली है और सारी शर्म खो दी है। यद्यपि तुम्हारी शक्तिशाली गदा से मुझे कष्ट हो रहा है, किन्तु मैं जल में कुछ काल तक और रहूँगा क्योंकि तुम जैसे पराक्रमी शत्रु से शत्रुता ठान कर अन्यत्र जाने के लिए मेरे पास कोई ठौर भी नहीं है।

तात्पर्य : असुर को समझ लेना चाहिए था कि ईश्वर को किसी दूसरे स्थान में नहीं भगाया जा सकता था क्योंकि वह सर्वव्यापी है। असुर अपनी अधिकृत भूमि को अपनी सम्पत्ति मानते हैं, किन्तु वास्तव में प्रत्येक वस्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की है। वह जब चाहे कोई भी वस्तु

ले सकता है।

त्वं पद्रथानां किल यूथपाधिपो
घटस्व नोऽस्वस्तय आश्वनूहः ।
संस्थाप्य चास्मान्प्रमृजाश्रु स्वकानां
यः स्वां प्रतिज्ञां नातिपिपर्त्यसभ्यः ॥ १२॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; पद्-रथानाम्—पैदल सैनिकों का; किल—निस्सन्देह; यूथप—नायकों का; अधिपः—सरकार; घटस्व—प्रयत्न करो; नः—हमारा; अस्वस्तये—हार के लिए; आशु—शीघ्रतापूर्वक; अनूहः—बिना विचार किए; संस्थाप्य—मार कर; च—तथा; अस्मान्—हमको; प्रमृज—पोछ डालो; अश्रु—आँसू; स्वकानाम्—अपने सम्बन्धियों का; यः—वह जो; स्वाम्—अपना, निज; प्रतिज्ञाम्—प्रतिज्ञा किये हुए वचन; न—नहीं; अतिपिपर्ति—पूरा करते हैं; असभ्यः—सभा के अयोग्य।

तुम पैदल सेना के नायक की तरह हो अतः तुम शीघ्र ही हमें हराने का प्रयत्न करो। तुम अपनी बकवास बन्द कर दो और हमारा वध करके अपने सम्बन्धियों की चिन्ताओं को मिटा दो। कोई भले ही गर्वित हो, किन्तु यदि वह जो अपने दिये गये वचनों (प्रतिज्ञा) को पूरा नहीं कर पाता, सभा में आसन प्राप्त करने का पात्र नहीं है।

तात्पर्य : असुर, भले ही शूरवीर हो और विशाल पैदल सेना का नायक हो, किन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के सामने वह शक्तिहीन रहता है और उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। अतः भगवान् ने असुर को ललकारा कि भागो नहीं, अपितु मेरा वध करने का अपना वचन पूरा करो।

मैत्रेय उवाच
सोऽधिक्षिप्तो भगवता प्रलब्धश्च रुषा भृशम् ।
आजहारोल्बणं क्रोधं क्रीड्यमानोऽहिराडिव ॥ १३॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—परम ऋषि मैत्रेय ने; उवाच—कहा; सः—असुर ने; अधिक्षिप्तः—अपमानित होकर; भगवता—भगवान् द्वारा; प्रलब्धः—उपहास किया; च—तथा; रुषा—क्रुद्ध; भृशम्—अत्यधिक; आजहार—जुटाया; उल्बणम्—अधिक; क्रोधम्—क्रोध, गुस्सा; क्रीड्यमानः—खेला जाकर; अहि-राट्—विशाल विषधर (सर्प); इव—सदृश।

श्रीमैत्रेय ने कहा—जब श्रीभगवान् ने उस राक्षस को इस प्रकार ललकारा तो वह क्रुद्ध और क्षुब्ध हुआ और क्रोध से इस प्रकार काँपने लगा, जिस प्रकार छेड़ा गया हुआ विषधर सर्प।

तात्पर्य : सामान्य पुरुषों के समक्ष नाग (सर्प) अत्यन्त ड़रावना हो जाता है, किन्तु सँपेरे के समक्ष तो वह खेलने की वस्तु बन जाता है। इसी तरह भले ही कोई असुर अपने प्रभाव क्षेत्र में कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, किन्तु भगवान् के समक्ष वह निरीह होता है। रावण देवताओं के समक्ष अत्यन्त भयावना व्यक्ति था, किन्तु जब वह भगवान् रामचद्र के समक्ष आया तो काँप रहा था और उसने अपने देव शिवजी से प्रार्थना की, किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ।

सृजन्नमर्षितः श्वासान्मन्युप्रचलितेन्द्रियः ।
आसाद्य तरसा दैत्यो गदया न्यहनद्धरिम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

सृजन्—निकालते हुए; अमर्षितः—अत्यन्त क्रुद्ध; श्वासान्—साँसें; मन्यु—क्रोध से; प्रचलित—विक्षुब्ध; इन्द्रियः—जिसकी इन्द्रियाँ; आसाद्य—आक्रमण करके; तरसा—शीघ्रता से; दैत्यः—असुर; गदया—गदा से; न्यहनत्—वार किया; हरिम्—भगवान् हरि पर।

क्रोध के मारे सारे अंगों को कँपाते तथा फुफकारता हुआ वह राक्षस तुरन्त भगवान् के ऊपर झपट पड़ा और उस ने अपनी शक्तिशाली गदा से उन पर प्रहार किया।

भगवांस्तु गदावेगं विसृष्टं रिपुणोरसि ।
अवञ्चयत्तिरश्चीनो योगारूढ इवान्तकम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; तु—लेकिन; गदा-वेगम्—गदा के प्रहार को; विसृष्टम्—चलाया गया; रिपुणा—शत्रु द्वारा; उरसि—वक्षस्थल पर; अवञ्चयत्—धोखा देते हुए; तिरश्चीनः—एक ओर; योग-आरूढः—सिद्ध योगी; इव—सदृश; अन्तकम्—मृत्यु।

किन्तु भगवान् ने एक ओर सरक कर शत्रु द्वारा अपने वक्षस्थल पर चलाई गई गदा के प्रखर प्रहार को उसी प्रकार झुठला दिया जिस प्रकार सिद्ध योगी मृत्यु को चकमा दे देता है।

तात्पर्य : यहाँ यह उदाहरण दिया गया है कि परम योगी प्राकृतिक नियमों से प्रदत्त मृत्यु को भी जीत सकता है। भगवान् के दिव्य शरीर पर शक्तिशाली गदा से प्रहार करना असुर के लिए निष्प्रयोजन होता है, क्योंकि भगवान् के शौर्य से कोई पार नहीं पा सकता। सिद्ध योगी प्रकृति के नियमों से मुक्त होते हैं, अतः उन पर मृत्यु का भी वश नहीं चलता। ऊपर-ऊपर से

ऐसा लगता है कि योगी पर मृत्यु का प्रहार हो रहा है, किन्तु भगवान् की सेवा करते रहने के लिए वह उन की कृपा से ऐसे अनेक प्रहारों पर विजय प्राप्त कर लेता है। चूँकि भगवान् अपने शौर्य के बल पर स्वच्छन्द रहते हैं, अत: भक्त भी उनके अनुग्रह से उनकी सेवा के लिए जीवित रहते हैं।

पुनर्गदां स्वामादाय भ्रामयन्तमभीक्ष्णश: ।
अभ्यधावद्धरि: क्रुद्ध: संरम्भाद्दष्टदच्छदम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

पुन:—फिर; गदाम्—गदा; स्वाम्—अपना; आदाय—लेकर; भ्रामयन्तम्—घुमाता हुआ; अभीक्ष्णश:—बारम्बार; अभ्यधावत्—भेंट करने के लिए दौड़ा; हरि:—श्रीभगवान्; क्रुद्ध:—नाराज; संरम्भात्—क्रोध में; दष्ट—काटता हुआ, चबाता हुआ; दच्छदम्—अपना होठ।

तब श्री भगवान् अपना क्रोध प्रदर्शित करते हुए उस राक्षस की ओर झपटे जो क्रोध के कारण अपने होठ चबा रहा था। उसने फिर से अपनी गदा उठाई और उसे बारम्बार घुमाने लगा।

ततश्च गदयारातिं दक्षिणस्यां भ्रुवि प्रभु: ।
आजघ्ने स तु तां सौम्य गदया कोविदोऽहनत् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तत:—तब; च—तथा; गदया—अपनी गदा से; अरातिम्—शत्रु को; दक्षिणस्याम्—दाईं ओर; भ्रुवि—भौंह पर; प्रभु:—भगवान् ने; आजघ्ने—प्रहार किया; स:—भगवान्; तु—लेकिन; ताम्—गदा; सौम्य—हे भद्र विदुर; गदया—अपनी गदा से; कोविद:—कुशल; अहनत्—उसने अपने को बचा लिया।

तब भगवान् ने अपनी गदा से शत्रु की दाहिनी भौंह पर प्रहार किया, किन्तु वह असुर युद्ध में कुशल था, इसलिए, हे भद्र विदुर, उसने अपनी गदा की चाल से अपने आपको बचा लिया।

एवं गदाभ्यां गुर्वीभ्यां हर्यक्षो हरिरेव च ।
जिगीषया सुसंरब्धावन्योन्यमभिजघ्नतु: ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; गदाभ्याम्—अपनी गदाओं से; गुर्वीभ्याम्—विशाल; हर्यक्ष:—हर्यक्ष नामक असुर (हिरण्याक्ष); हरि:—भगवान् हरि; एव—निश्चय ही; च—तथा; जिगीषया—विजय की लालसा से; सुसंरब्धौ—क्रुद्ध; अन्योन्यम्—परस्पर; अभिजघ्नतु:—उन्होंने प्रहार किया।

इस प्रकार असुर हिरण्याक्ष तथा भगवान् हरि ने एक दूसरे को जीतने की इच्छा से क्रुद्ध होकर अपनी अपनी विशाल गदाओं से एक-दूसरे पर प्रहार किया।

तात्पर्य : हर्यक्ष हिरण्याक्ष का दूसरा नाम है।

तयोः स्पृधोस्तिग्मगदाहताङ्गयोः
क्षतास्त्रवघ्राणविवृद्धमन्व्वोः ।
विचित्रमार्गांश्चरतोर्जिगीषया
व्यभादिलायामिव शुष्मिणोर्मृधः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तयोः—उन दोनों में; स्पृधोः—दोनों प्रतिस्पर्धा करने वाले; तिग्म—नुकीली; गदा—गदाओं से; आहत—घायल; अङ्गयोः—उनके शरीर; क्षत-आस्त्रव—घावों से बहता रक्त; घ्राण—गन्ध; विवृद्ध—बढ़ गई; मन्व्वोः—क्रोध; विचित्र—अनेक प्रकार के; मार्गान्—चालें; चरतोः—करते हुए; जिगीषया—जीतने की इच्छा से; व्यभात्—के समान प्रतीत होता था; इलायाम्—गाय (अथवा पृथ्वी) के लिए; इव—सदृश; शुष्मिणोः—दो साँड़ों की; मृधः—मुठभेड़।

दोनों योद्धाओं में तीखी स्पर्धा थी, दोनों के शरीरों पर एक दूसरे की नुकीली गदाओं से चोटें लगी थीं और अपने-अपने शरीर से बहते हुए रक्त की गन्ध से वे अधिकाधिक क्रुद्ध हो चले थे। जीतने की उत्कण्ठा से वे तरह-तरह की चालें चल रहे थे और उनकी यह मुठभेड़ वैसी ही प्रतीत होती थी जैसे किसी गाय के लिए दो बलवान् साँड़ लड़ रहे हों।

तात्पर्य : यहाँ पर पृथ्वीलोक को इला कहा गया है। पृथ्वी पहले इलावृत-वर्ष कहलाती थी, किन्तु जब महाराज परीक्षित ने पृथ्वी पर शासन किया, तो यह भारतवर्ष कहलाती थी। वास्तव में भारतवर्ष पूरे लोक का नाम है, किन्तु कालान्तर में भारतवर्ष से भारत (इंडिया) का बोध होने लगा है। जिस प्रकार कुछ काल पूर्व भारत का विभाजन पाकिस्तान तथा हिन्दुस्तान में हुआ उसी प्रकार पृथ्वी पहले इलावृत-वर्ष कहलाती थी, किन्तु ज्यों ज्यों समय बीतता गया इसकी अनेक राष्ट्रों की सीमाओं में बटंता गया।

दैत्यस्य यज्ञावयवस्य माया-
गृहीतवाराहतनोर्महात्मनः ।

कौरव्य मह्यां द्विषतोर्विमर्दनं
दिदृक्षुरागादृषिभिर्वृतः स्वराट् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

दैत्यस्य—असुर का; यज्ञ-अवयवस्य—श्रीभगवान् का (यज्ञ जिसके शरीर का एक अंग है); माया—अपनी शक्ति से; गृहीत—धारण किया गया; वाराह—सूकर का; तनोः—जिसका रूप; महा-आत्मनः—परमेश्वर का; कौरव्य—हे विदुर (कौरवों के वंशज); मह्याम्—संसार के कल्याण हेतु; द्विषतोः—दोनों शत्रुओं का; विमर्दनम्—युद्ध; दिदृक्षुः—देखने के लिए इच्छुक; आगात्—आये; ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा; वृतः—साथ साथ आये हुए; स्वराट्—ब्रह्मा।

हे कुरुवंशी, वाराह रूप में प्रकट श्री भगवान् तथा असुर के मध्य विश्व के निमित्त होने वाले इस भयंकर युद्ध को संसार के हेतु देखने के लिए ब्रह्माण्ड के परम स्वतन्त्र देवता ब्रह्मा अपने अनुयायियों सहित आये।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तथा असुर के युद्ध की तुलना गाय के लिए लड़ने वाले दो साँड़ों के युद्ध से की गई है। पृथ्वी लोक को गो अर्थात् गाय भी कहा जाता है। जिस प्रकार गाय से संसर्ग करने के लिए दो साँड़ परस्पर लड़ते हैं उसी प्रकार से इस पृथ्वी पर आधिपत्य जमाने के लिए असुरों तथा परमेश्वर या उनके प्रतिनिधियों के मध्य अनवरत संग्राम चलता रहता है। यहाँ पर भगवान् को *यज्ञावयव* के रूप में विशेषरूप से वर्णित किया गया है। किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि भगवान् का शरीर सामान्य शूकर का था। वे कोई भी रूप धारण कर सकते हैं और वे ऐसे रूपों से नित्य युक्त रहते हैं। उन्हीं से सारे रूपों का उदय हुआ है। उनके वराद्र रूपी शरीर को सामान्य शूकर नहीं मानना चाहिए, उनका शरीर वास्तव में यज्ञ से पूर्ण रहता है। यज्ञ (हवि) विष्णु को प्रदान किया जाता है। यज्ञ का अर्थ है भगवान् विष्णु का शरीर। उनका शरीर भौतिक नहीं होता, अतः उन्हें सामान्य शूकर नहीं समझना चाहिए।

इस श्लोक में ब्रह्मा को स्वराट् कहा गया है। वस्तुतः पूर्ण स्वतन्त्रता तो भगवान् को ही प्राप्त है, किन्तु भगवान् का अंश होने से प्रत्येक जीवात्मा में कुछ न कुछ स्वतन्त्रता निहित है। ब्रह्मा को समस्त जीवात्माओं में प्रमुख होने के कारण अन्यों की अपेक्षा कुछ अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त है। वे भगवान् श्रीकृष्ण के प्रतिनिधि हैं और सांसारिक व्यापारों की अध्यक्षता करने के लिए नियुक्त हैं। अन्य सभी देवता उनके लिए कार्य करते हैं इसीलिए उन्हें यहाँ स्वराट् कहा गया है। महान् ऋषि तथा योगी सदैव उनके साथ-साथ रहते हैं, अतः वे सभी, असुर तथा

भगवान् का युद्ध देखने के लिए आये थे।

आसन्नशौण्डीरमपेतसाध्वसं
कृतप्रतीकारमहार्यविक्रमम् ।
विलक्ष्य दैत्यं भगवान्सहस्रणी-
र्जगाद नारायणमादिसूकरम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

आसन्न—प्राप्त करके; शौण्डीरम्—शक्ति; अपेत—विहीन; साध्वसम्—भय; कृत—करके; प्रतीकारम्—विरोध; अहार्य—निर्विरोध होकर; विक्रमम्—शक्ति युक्त; विलक्ष्य—देखकर; दैत्यम्—असुर को; भगवान्—पूज्य ब्रह्मा ने; सहस्र-नीः—हजारों ऋषियों के नायक; जगाद—सम्बोधित किया; नारायणम्—भगवान् नारायण को; आदि—मूल; सूकरम्—सूकर रूप।

युद्धस्थल में पहुँचकर हजारों ऋषियों तथा योगियों के नायक ब्रह्माजी ने असुर को देखा, जिसने अभूतपूर्व शक्ति प्राप्त कर ली थी जिससे कोई भी उससे युद्ध नहीं कर सकता था। तब ब्रह्मा ने आदि सूकर रूप धारण करने वाले नारायण को सम्बोधित किया।

एष ते देव देवानामङ्घ्रिमूलमुपेयुषाम् ।
विप्राणां सौरभेयीणां भूतानामप्यनागसाम् ॥ २२ ॥
आगस्कृद्भयकृद्दुष्कृदस्मद्राद्धवरोऽसुरः ।
अन्वेषन्नप्रतिरथो लोकानटति कण्टकः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; एषः—यह असुर; ते—आपका; देव—हे भगवान्; देवानाम्—देवताओं का; अङ्घ्रि-मूलम्—आपके चरण; उपेयुषाम्—शरणागत; विप्राणाम्—ब्राह्मणों को; सौरभेयीणाम्—गायों को; भूतानाम्—सामान्य जीवात्माओं को; अपि—भी; अनागसाम्—निर्दोष; आगः-कृत्—अपराधी; भय-कृत्—भय का कारण; दुष्कृत्—दोषी; अस्मत्—मुझसे; राद्ध-वरः—वरदान प्राप्त; असुरः—असुर; अन्वेषन्—ढूँढ़ते हुए; अप्रतिरथः—योग्य जोड़ न होने से; लोकान्—समूचे ब्रह्माण्ड में; अटति—घूमता है; कण्टकः—सबों के लिए काँटे के समान बना हुआ।

ब्रह्माजी ने कहा—हे भगवन्, यह राक्षस, देवताओं, ब्राह्मणों, गौवों तथा आपके चरणकमलों में समर्पित निष्कलुष व्यक्तियों के लिए निरन्तर चुभने वाला काँटा बना हुआ है। उन्हें अकारण सताते हुए यह भय का कारण बन गया है। इन्हें अकारण सताते हुए यह भय का कारण बन गया है। मुझसे वरदान प्राप्त करने के कारण यह असुर बना है और समस्त भूमण्डल में अपनी जोड़ के योद्धा की तलाश में इस अशुभ कार्य के लिए

घूमता रहता है।

तात्पर्य : जीवात्मा दो प्रकार के होते हैं—एक सुर अर्थात् देवता कहलाती हैं और दूसरी असुर या दैत्य। असुर प्राय: देवताओं की पूजा करते हैं और ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हैं कि पूजा से उन्हें इन्द्रियतृप्ति की असीम शक्ति प्राप्त हुई है। इसी कारण से ब्राह्मणों, देवताओं तथा अन्य निर्दोष जीवात्माओं को कष्ट मिलता है। वे इनके दोष निकालते रहते हैं और उनके लिए निरन्तर भय का कारण बने रहते हैं। आसुरी ढंग ही ऐसा है कि देवताओं से शक्ति प्राप्त करके उन्हीं को सताया जाय। शिवजी के एक महान् भक्त का उदाहरण मिलता है, जिसे शिव ने यह वर दिया था कि वह जिस किसी के सिर को छू देगा, उस का सिर धड़ से अलग हो जाएगा। ज्यों ही उसे यह वर प्राप्त हुआ उसने शिवजी का ही सिर छूना चाहा। यही उनकी रीति है। किन्तु भगवान् के भक्त कभी इन्द्रियतृप्ति के लिए कोई वर नहीं चाहते। यदि उन्हें मुक्ति भी भेंट की दी जाती है वे उसे अस्वीकार कर देते हैं। वे तो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहने में प्रसन्न रहते हैं।

मैनं मायाविनं दृप्तं निरङ्कुशमसत्तमम् ।
आक्रीड बालवद्देव यथाशीविषमुत्थितम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

मा—मत; एनम्—उसको; माया-विनम्—माया करने वाला; दृप्तम्—हेकड़ीबाज; निरङ्कुशम्—आत्मनिर्भर; असत्-तमम्—अत्यन्त दुष्ट; आक्रीड—खेल करें; बाल-वत्—बच्चे के समान; देव—हे भगवान्; यथा—जिस प्रकार; आशीविषम्—सर्प; उत्थितम्—जगा हुआ।

ब्रह्माजी ने आगे कहा—हे भगवन्, इस सर्पतुल्य असुर से खेल करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह सदैव मायावी करतब में दक्ष तथा हेकड़ी बाज है, साथ ही निरंकुश एवं अत्यधिक दुष्ट भी।

तात्पर्य : जब सर्प मारा जाता है, तो कोई दुखी नहीं होता। देहातों के लड़के अब भी साँप को पूँछ से पकड़ कर कुछ समय तक खेल करते हैं और फिर उसे मार डालते हैं। इसी प्रकार भगवान् चाहते तो असुर को तुरन्त मार डालते, किन्तु वे उससे उसी प्रकार खेल रहे थे जैसे साँप को मारने के पहले लड़के उससे खेल करते हैं। फिर भी ब्रह्मा ने प्रार्थना की कि चूँकि

यह असुर अत्यन्त दुष्ट है और साँप से भी अधिक त्याज्य है, अत: उसके साथ खिलवाड़ करने की आवश्यकता नहीं है। वे चाहते थे कि उसका तुरन्त वध कर दिया जाय।

न यावदेष वर्धेत स्वां वेलां प्राप्य दारुणः ।
स्वां देव मायामास्थाय तावज्जह्यघमच्युत ॥ २५॥

शब्दार्थ

न यावत्—इसके पूर्व कि; एषः—यह असुर; वर्धेत—बढ़े; स्वाम्—स्वतः; वेलाम्—आसुरी वेला; प्राप्य—प्राप्त करके; दारुणः—भयंकर, दुर्जय; स्वाम्—निजी; देव—हे भगवान्; मायाम्—अन्तरंगा शक्ति; आस्थाय—प्रयोग करके; तावत्—तुरन्त; जहि—मार डालें; अघम्—पापी; अच्युत—हे अच्युत या अमोघ।.

ब्रह्माजी ने आगे कहा—हे भगवान्, आप अच्युत हैं। कृपा करके इस पापी असुर को इसके पूर्व कि आसुरी घड़ी आए और यह अपने अनुकूल दूसरा भयंकर शरीर धारण कर सके, आप इसका वध कर दें। निस्सन्देह आप इसे अपनी अन्तरंगा शक्ति से मार सकते हैं।

एषा घोरतमा सन्ध्या लोकच्छम्बट्करी प्रभो ।
उपसर्पति सर्वात्मन्सुराणां जयमावह ॥ २६॥

शब्दार्थ

एषा—यह; घोर-तमा—परम अँधेरी; सन्ध्या—सायंकाल; लोक—संसार; छम्बट्-करी—विनाशकारी; प्रभो—हे भगवान्; उपसर्पति—पास आती है; सर्व-आत्मन्—समस्त आत्माओं का आत्मा, परमात्मा; सुराणाम्—देवताओं का; जयम्—विजय; आवह—लाएं।.

हे भगवन्, संसार को आच्छादित करने वाली अत्यन्त अँधेरी सन्ध्या वेला निकट आ रही है चूँकि आप सभी आत्माओं के आत्मा हैं, अत: आप इसका वध करके देवताओं को विजयी बनाएँ।

अधुनैषोऽभिजिन्नाम योगो मौहूर्तिको ह्यगात् ।
शिवाय नस्त्वं सुहृदामाशु निस्तर दुस्तरम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

अधुना—इस समय; एषः—यह; अभिजित् नाम—अभिजित कहलाने वाला; योगः—शुभ; मौहूर्तिकः—घड़ी; हि—निस्सन्देह; अगात्—प्राय: बीत चुकी है; शिवाय—कल्याण के लिए; नः—हम सबों के; त्वम्—तुम (आप); सुहृदाम्—अपने मित्रों का; आशु—तुरन्त; निस्तर—निपट लीजिये; दुस्तरम्—दुर्जय शत्रु।.

विजय के लिए सर्वाधिक उपयुक्त अभिजित नामक शुभ मुहूर्त (घड़ी) का योग

दोपहर से हो चुका है और अब बीतने ही वाला है, अतः अपने मित्रों के हित में आप इस दुर्जय शत्रु का अविलम्ब सफाया कर दें।

**दिष्ट्या त्वां विहितं मृत्युमयमासादितः स्वयम् ।
विक्रम्यैनं मृधे हत्वा लोकानाधेहि शर्मणि ॥ २८ ॥**

शब्दार्थ

दिष्ट्या—सौभाग्यवश; त्वाम्—तुमको; विहितम्—विहित; मृत्युम्—मृत्यु; अयम्—यह असुर; आसादितः—आया है; स्वयम्—स्वेच्छा से; विक्रम्य—अपना शौर्य प्रदर्शन करके; एनम्—उसको; मृधे—द्वन्द्व में; हत्वा—मारकर; लोकान्—लोकों को; आधेहि—स्थापित करें; शर्मणि—शान्ति में।

सौभाग्य से यह असुर स्वेच्छा से आपके पास आया है और आपके द्वारा ही इसकी मृत्यु विहित है, अतः आप इसे अपने ढंग से युद्ध में मारिये और लोकों में शान्ति स्थापित कीजिये।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तीसरे स्कन्ध के अन्तर्गत ''भगवान् वराह तथा हिरण्याक्ष के मध्य युद्ध'' नामक अठारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter उन्नीस

असुर हिरण्याक्ष का वध

मैत्रेय उवाच
अवधार्य विरिञ्चस्य निर्व्यलीकामृतं वचः ।
प्रहस्य प्रेमगर्भेण तदपाङ्गेन सोऽग्रहीत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; अवधार्य—सुनकर; विरिञ्चस्य—ब्रह्माजी का; निर्व्यलीक—समस्त पापों से मुक्त; अमृतम्—अमृतमय; वचः—शब्द; प्रहस्य—खूब हँसकर; प्रेम-गर्भेण—प्रेम से पूरित; तत्—वे शब्द; अपाङ्गेन—चितवन से; सः—श्रीभगवान् ने; अग्रहीत्—स्वीकार किया।

श्री मैत्रेय ने कहा—स्त्रष्टा ब्रह्मा के निष्पाप, निष्कपट तथा अमृत के समान मधुर वचनों को सुनकर भगवान् जीभरकर हँसे और उन्होंने प्रेमपूर्ण चितवन के साथ उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

तात्पर्य : *निर्व्यलीक* शब्द अत्यन्त सार्थक है। देवताओं अथवा भक्तों की प्रार्थनाएँ निष्कपट होती हैं, किन्तु असुरों की प्रार्थनाएँ सदा कपटपूर्ण होती हैं। ब्रह्मा से वर प्राप्त करके हिरण्याक्ष अत्यन्त शक्तिशाली बना, किन्तु वर प्राप्त करने के बाद अपने पापपूर्ण मनोभावों के कारण उसने उत्पात प्रारम्भ कर दिया। ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं द्वारा की गई प्रार्थनाओं की तुलना असुरों की प्रार्थनाओं से नहीं करनी चाहिए। देवों का अभिप्राय भगवान् को प्रसन्न करना था, अत: भगवान् हँस पड़े और असुर को मारने की उनकी प्रार्थना उन्होंने स्वीकार कर ली। असुर कभी भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की प्रशंसा नहीं करना चाहते, क्योंकि उनको इनका पता भी नहीं हैं, अत: वे देवताओं के पास ही जाते हैं। *भगवद्गीता* में इस कृत्य की निन्दा की गई है। जो लोग देवताओं के पास जाकर पापपूर्ण कृत्यों में उन्नति के लिए प्रार्थना करते हैं, वे बुद्धि से विहीन माने गये हैं। असुरों की बुद्धि इसीलिए मारी जाती है, क्योंकि उन्हें इसका पता नहीं रहता कि उनका हित वास्तव में किसमें है। यदि उन्हें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की जानकारी होती भी है, तो वे उनके पास नहीं जाते, वे श्रीभगवान् से मनोवांछित वर प्राप्त भी नहीं कर सकते, क्योंकि उनके उद्देश्य सदा पापपूर्ण रहते हैं। कहा जाता है कि बंगाल में डाकू अन्यों की सम्पत्ति लूटने की अपनी पापपूर्ण कामनाओं की पूर्ति के लिए देवी काली की पूजा करते थे,

किन्तु वे विष्णु मन्दिर में कभी नहीं जाते थे, क्योंकि विष्णु की प्रार्थना करने से उनके मनोरथ पूरे न हो पाते। अत: श्रीभगवान् के भक्तों या देवताओं की प्रार्थनाएँ सदैव निष्कपट होती हैं।

ततः सपत्नं मुखतश्चरन्तमकुतोभयम् ।
जघानोत्पत्य गदया हनावसुरमक्षजः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; सपत्नम्—शत्रु; मुखतः—समक्ष; चरन्तम्—विचरण करते हुए; अकुतः-भयम्—निर्भीक; जघान—प्रहार किया; उत्पत्य—उछल कर; गदया—अपनी गदा से; हनौ—ठोड़ी पर; असुरम्—असुर; अक्ष-जः—ब्रह्मा के नथुने से उत्पन्न भगवान् ने।

ब्रह्मा के नथुने से प्रकट भगवान् उछल पड़े और अपने सामने निर्भय होकर विचरण करने वाले अपने असुर शत्रु हिरण्याक्ष की ठोड़ी पर उन्होंने अपनी गदा से प्रहार किया।

सा हता तेन गदया विहता भगवत्करात् ।
विघूर्णितापतद्रेजे तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सा—वह गदा; हता—प्रहार की गई; तेन—हिरण्याक्ष द्वारा; गदया—उसकी गदा से; विहता—छुट गयी; भगवत्—श्रीभगवान् के; करात्—हाथ से; विघूर्णिता—घूमती हुई; अपतत्—गिर पड़ी; रेजे—चमक रही थी; तत्—वह; अद्भुतम्—विचित्र; इव—निस्सन्देह; अभवत्—था।

किन्तु असुर की गदा से टकराकर भगवान् की गदा उनके हाथ से छिटक गई और घूमती हुई जब वह नीचे गिरी तो अत्यन्त मनोरम लग रही थी। यह अद्भुत दृश्य था, क्योंकि गदा विचित्र ढंग से प्रकाशमान थी।

स तदा लब्धतीर्थोऽपि न बबाधे निरायुधम् ।
मानयन्स मृधे धर्मं विष्वक्सेनं प्रकोपयन् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

सः—उस हिरण्याक्ष ने; तदा—तब; लब्ध-तीर्थः—सुअवसर पाकर; अपि—यद्यपि; न—नहीं; बबाधे—आक्रमण किया; निरायुधम्—अस्त्र-शस्त्र विहीन; मानयन्—आदर करते हुए; सः—हिरण्याक्ष; मृधे—युद्ध में; धर्मम्—युद्ध की आचार संहिता; विष्वक्सेनम्—श्रीभगवान् ने; प्रकोपयन्—कुपित हो करके।

यद्यपि हिरण्याक्ष को अपने निरस्त्र शत्रु पर बिना किसी रुकावट के वार करने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ था, किन्तु उसने युद्ध-धर्म का आदर किया जिससे कि श्रीभगवान् का रोष बढ़ जाए।

गदायामपविद्धायां हाहाकारे विनिर्गते ।
मानयामास तद्धर्मं सुनाभं चास्मरद्विभुः ॥ ५॥

शब्दार्थ

गदायाम्—ज्योंही उनकी गदा; अपविद्धायाम्—गिरी; हाहा-कारे—हाहाकार, कुहराम; विनिर्गते—मच गया; मानयाम् आस—स्वीकार किया; तत्—हिरण्याक्ष की; धर्मम्—सत्यता; सुनाभम्—सुदर्शन चक्र; च—तथा; अस्मरत्—स्मरण किया; विभुः—श्रीभगवान् ने।

ज्योंही भगवान् की गदा भूमि पर गिर गई और देखने वाले देवताओं तथा ऋषियों के समूह में हाहाकार मच गया, त्योंही श्रीभगवान् ने असुर की धर्मप्रियता की प्रशंसा की और फिर अपने सुदर्शन चक्र का आवाहन किया।

तं व्यग्रचक्रं दितिपुत्राधमेन
स्वपार्षदमुख्येन विषज्जमानम् ।
चित्रा वाचोऽतद्विदां खेचराणां
तत्र स्मासन्स्वस्ति तेऽमुं जहीति ॥ ६॥

शब्दार्थ

तम्—श्रीभगवान् को; व्यग्र—घूमते हुए; चक्रम्—जिसका चक्र; दिति-पुत्र—दिति का पुत्र; अधमेन—नीच; स्व-पार्षद—अपने सहयोगियों का; मुख्येन—प्रमुख सहित; विषज्जमानम्—खेलते हुए; चित्राः—विविध; वाचः—अभिव्यक्तियाँ; अ-तत्-विदाम्—न जानने वालों का; खे-चराणाम्—आकाश में उड़ते हुए; तत्र—वहाँ; स्म आसन्—घटित हुआ; स्वस्ति—कल्याण; ते—आपका; अमुम्—उसको; जहि—मार डालें; इति—इस प्रकार।

जब चक्र भगवान् के हाथों में घूमने लगा और वे अपने वैकुण्ठवासी पार्षदों के मुखिया से, जो दिति के नीच पुत्र हिरण्याक्ष के रूप में प्रकट हुआ था, खेलने लगे तो अपने-अपने विमानों से देखने वाले देवता इत्यादि प्रत्येक दिशा से विचित्र-विचित्र शब्द निकालने लगे। उन्हें भगवान् की वास्तविकता ज्ञात न थी, अतः वे उद्घोष करने लगे ''आपकी जय हो, कृपा करके उसे मार डालें, अब उसके साथ अधिक खिलवाड़ न करें।''

स तं निशाम्यात्तरथाङ्गमग्रतो
व्यवस्थितं पद्मपलाशलोचनम् ।
विलोक्य चामर्षपरिप्लुतेन्द्रियो
रुषा स्वदन्तच्छदमादशच्छ्वसन् ॥ ७॥

शब्दार्थ

सः—उस असुर ने; तम्—श्रीभगवान् को; निशाम्य—देखकर; आत्त-रथाङ्गम्—सुदर्शन चक्र धारण किए हुए; अग्रतः—समक्ष; व्यवस्थितम्—खड़े हुए; पद्म—कमल-पुष्प; पलाश—पंखड़ियाँ; लोचनम्—नेत्र; विलोक्य—देखकर; च—यथा; अमर्ष—क्रोध से; परिप्लुत—तिलमिलाई हुई; इन्द्रियः—उसकी इन्द्रियाँ; रुषा—अत्यन्त रोष से; स्व-दन्त-छदम्—अपने ही होंठ; आदशत्—काट लिया; श्वसन्—फुफकारता।

जब असुर ने कमल की पंखड़ियों जैसे नेत्र वाले श्रीभगवान् को सुदर्शन चक्र से युक्त अपने समक्ष खड़ा देखा तो क्रोध के मारे उसके अंग तिलमिला उठे। वह साँप की तरह फुफकारने लगा और अत्यन्त क्रोध में अपने ही होठ चबाने लगा।

करालदंष्ट्रश्चक्षुर्भ्यां सञ्चक्षाणो दहन्निव ।
अभिप्लुत्य स्वगदया हतोऽसीत्याहनद्धरिम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

कराल—भयावने; दंष्ट्रः—दाढ़ों वाले; चक्षुर्भ्याम्—दोनों आँखों से; सञ्चक्षाणः—घूरते हुए; दहन्—जलता हुआ; इव—मानो; अभिप्लुत्य—आक्रमण करके; स्व-गदया—अपनी गदा से; हतः—बधे हुए; असि—तुम हो; इति—इस प्रकार; आहनत्—प्रहार किया; हरिम्—हरि पर।

भयावनी दाढ़ों वाला वह असुर श्रीभगवान् को इस प्रकार घूर रहा था मानो वह उन्हें भस्म कर देगा। उसने हवा में उछलकर भगवान् पर अपनी गदा तानी और तभी जोर से चीखा, ''तुम मारे जा चुके।''

पदा सव्येन तां साधो भगवान्यज्ञसूकरः ।
लीलया मिषतः शत्रोः प्राहरद्वातरंहसम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

पदा—अपने पाँव से; सव्येन—बायें; ताम्—उस गदा को; साधो—हे विदुर; भगवान्—श्रीभगवान्; यज्ञ-सूकरः—समस्त यज्ञों के भोक्ता, अपने शूकर रूप में; लीलया—खिलवाड़ में; मिषतः—देखते हुए; शत्रोः—अपने शत्रु (हिराण्याक्ष) का; प्राहरत्—गिरा दिया; वात-रंहसम्—तूफान के वेग से।

हे साधु विदुर, समस्त यज्ञों की बलि के भोक्ता श्रीभगवान् ने अपने सूकर रूप में अपने शत्रु के देखते-देखते खेल-खेल में उसकी उस गदा को अपने बाँए पाँव से नीचे गिरा दिया यद्यपि वह तूफान के वेग से उनकी ओर आ रही थी।

आह चायुधमाधत्स्व घटस्व त्वं जिगीषसि ।
इत्युक्तः स तदा भूयस्ताडयन्व्यनदद्धृशम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

आह—उसने कहा; च—तथा; आयुधम्—हथियार; आधत्स्व—ग्रहण करो; घटस्व—प्रयत्न करो; त्वम्—तुम; जिगीषसि—जीतने के लिए इच्छुक हो; इति—इस प्रकार; उक्तः—ललकारते हुए; सः—हिरण्याक्ष ने; तदा—उस समय; भूयः—पुनः; ताडयन्—प्रहार करते हुए; व्यनदत्—गर्जना की; भृशम्—जोर से।

तब भगवान् ने कहा, ''तुम अपना शस्त्र उठा लो और मुझे जीतने के इच्छुक हो तो पुनः प्रयत्न करो।'' इन शब्दों से ललकारे जाने पर असुर ने अपनी गदा भगवान् पर तानी और पुनः जोर से गरजा।

तां स आपततीं वीक्ष्य भगवान्समवस्थितः ।
जग्राह लीलया प्राप्तां गरुत्मानिव पन्नगीम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उस गदा को; सः—वह; आपततीम्—अपनी ओर आते हुए; वीक्ष्य—देखकर; भगवान्—श्रीभगवान्; समवस्थितः—दृढ़तापूर्वक खड़े; जग्राह—पकड़ लिया; लीलया—सरलतापूर्वक; प्राप्ताम्—वहीं से; गरुत्मान्—गरुड़; इव—सदृश; पन्नगीम्—सर्पिणी को।

जब भगवान् ने गदा को अपनी ओर आते देखा तो वे वहीं पर दृढ़तापूर्वक खड़े रहे और उसे अनायास उसी प्रकार पकड़ लिया जिस प्रकार पक्षिराज गरुड़ किसी सर्प को पकड़ ले।

स्वपौरुषे प्रतिहते हतमानो महासुरः ।
नैच्छद्गदां दीयमानां हरिणा विगतप्रभः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

स्व-पौरुषे—अपना पौरुष या उद्यम; प्रतिहते—व्यर्थ हुआ; हत—विनष्ट किया; मानः—गर्व; महा-असुरः—महान् असुर ने; न ऐच्छत्—(लेने की) इच्छा न की; गदाम्—गदा; दीयमानाम्—देने पर; हरिणा—हरि के द्वारा; विगत-प्रभः—तेज घटने से।

इस प्रकार अपने पुरुषार्थ को व्यर्थ हुआ देखकर, वह महान् असुर अत्यन्त लज्जित हुआ और उसका तेज जाता रहा। अब वह श्रीभगवान् द्वारा लौटा दी जाने वाली गदा को ग्रहण करने में संकोच कर रहा था।

जग्राह त्रिशिखं शूलं ज्वलज्ज्वलनलोलुपम् ।
यज्ञाय धृतरूपाय विप्रायाभिचरन्यथा ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

जग्राह—उठाया; त्रि-शिखम्—तीन नोकों वाला; शूलम्—त्रिशूल; ज्वलत्—जलती हुई; ज्वलन—अग्नि; लोलुपम्—लपलपाता; यज्ञाय—समस्त यज्ञों के भोक्ता; धृत-रूपाय—वराह रूप में; विप्राय—ब्राह्मण को; अभिचरन्—दुष्टतावश प्रयोग करके; यथा—जिस प्रकार।

अब उसने प्रज्ज्वलित अग्नि के समान लपलपाता त्रिशूल निकाला और समस्त यज्ञों के भोक्ता भगवान् पर फेंका, जिस प्रकार कोई व्यक्ति किसी पवित्र ब्राह्मण पर दुर्भावनावश अपनी तपस्या का प्रयोग करे।

तदोजसा दैत्यमहाभटार्पितं
चकासदन्त:ख उदीर्णदीधिति ।
चक्रेण चिच्छेद निशातनेमिना
हरिर्यथा ताक्ष्र्यपतत्रमुज्झितम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

तत्—वह त्रिशूल; ओजसा—अपनी सारी शक्ति से; दैत्य—असुरों में से; महा-भट—परम योद्धा के द्वारा; अर्पितम्—फेंका हुआ; चकासत्—चमकता हुआ; अन्त:-खे—आकाश के बीच में; उदीर्ण—बढ़ा हुआ; दीधिति—प्रकाश; चक्रेण—सुदर्शनचक्र से; चिच्छेद—खण्ड खण्ड कर दिये; निशात—तीखी; नेमिना—धार (परिधि); हरि:—इन्द्र; यथा—जिस तरह; ताक्ष्र्य—गरुड़ का; पतत्रम्—पंख; उज्झितम्—त्याग दिया।

उस परम योद्धा असुर के द्वारा पूरे बल फेंका गया वह त्रिशूल आकाश में तेजी से चमक रहा था। किन्तु श्रीभगवान् ने अपने तेज धार वाले सुदर्शन चक्र से उसके खण्ड-खण्ड कर दिये मानो इन्द्र ने गरुड़ का पंख काट दिया हो।

तात्पर्य : यहाँ पर आये हुए गरुड़ और इन्द्र का प्रसंग इस प्रकार है। एक बार गरुड़ ने अपनी माँ विनता को सर्पों की माता और अपनी सौतेली माँ कद्रू के चंगुल से छुड़ाने के लिए स्वर्ग में देवताओं से अमृत का पात्र छीन लिया। जब इसका पता चला तो स्वर्ग के राजा इन्द्र ने गरुड़ पर अपना वज्र चलाया। यद्यपि गरुड़ अजेय था, किन्तु इन्द्र के अचूक आयुध का सम्मान करने के लिए तथा स्वयं भगवान् का वाहन होने के कारण उसने अपना वह एक पंख गिरा दिया जो वज्र से चूर-चूर हो गया था। उच्चलोकों के निवासी इतने संवेदनशील होते हैं कि लड़ाई में भी वे भद्रता के नियमों का अनुसरण करते हैं। गरुड़ इन्द्र के प्रति सम्मान व्यक्त करना चाह रहा था और उसे पता था कि इन्द्र के वज्र से कुछ न कुछ नष्ट होना है, अत: उसने अपना एक पंख दे दिया।

वृक्णे स्वशूले बहुधारिणा हरेः
प्रत्येत्य विस्तीर्णमुरो विभूतिमत् ।
प्रवृद्धरोषः स कठोरमुष्टिना
नदन्प्रहृत्यान्तरधीयतासुरः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

वृक्णे—कटने पर; स्व-शूले—अपना त्रिशूल; बहुधा—अनेक खण्डों में; अरिणा—सुदर्शन चक्र द्वारा; हरेः—श्रीभगवान् की; प्रत्येत्य—ओर बढ़कर; विस्तीर्णम्—चौड़ा; उरः—वक्षस्थल; विभूति-मत्—धन की देवी का आवास; प्रवृद्ध—बढ़ा हुआ; रोषः—क्रोध; सः—हिरण्याक्ष; कठोर—कठोर; मुष्टिना—अपनी मुट्ठी से; नदन्—गर्जना करते; प्रहृत्य—प्रहार करके; अन्तरधीयत—अन्तर्धान हो गया; असुरः—असुर।

जब श्रीभगवान् के चक्र से उसका त्रिशूल खण्ड खण्ड हो गया तो असुर अत्यन्त क्रोधित हुआ। अतः वह भगवान् की ओर लपका और तेज गर्जना करते हुए उनके चौड़े वक्षस्थल पर, जिस पर श्रीवत्स का चिह्न था, अपनी कठोर मुष्टिका से प्रहार किया। फिर वह अदृश्य हो गया।

तात्पर्य : श्रीवत्स श्वेत बालों की भौंरी है, जो भगवान् के वक्षस्थल पर है और उनके श्रीभगवान् होने का विशिष्ट चिह्न है। वैकुण्ठ लोक अथवा गोलोक वृन्दावन के सभी निवासी श्रीभगवान् की ही समरूप होते हैं अतः इसी श्रीवत्स चिह्न के द्वारा भगवान् को अन्यों के बीच पहचाना जाता है।

तेनेत्थमाहतः क्षत्तर्भगवानादिसूकरः ।
नाकम्पत मनाक्क्वापि स्रजा हत इव द्विपः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तेन—हिरण्याक्ष द्वारा; इत्थम्—इस प्रकार; आहतः—प्रहार किया गया; क्षत्तः—हे विदुर; भगवान्—श्रीभगवान्; आदि-सूकरः—प्रथम शूकर; न अकम्पत—हिला-डुला नहीं; मनाक्—तनिक भी; क्व अपि—कहीं भी; स्रजा—पुष्प की माला से; हतः—मारा गया; इव—सदृश; द्विपः—हाथी।

हे विदुर, असुर द्वारा इस प्रकार प्रहार किये जाने पर आदि वराह रूप भगवान् के शरीर का कोई अंग तनिक भी हिला-डुला नहीं मानो किसी हाथी पर फूलों की माला से प्रहार किया गया हो।

तात्पर्य : जैसाकि बताया जा चुका है यह असुर पहले वैकुण्ठलोक में भगवान् का पार्षद था, किन्तु किसी कारणवश वह असुर बन गया। वह अपनी मुक्ति के लिए भगवान् से युद्ध कर रहा था। भगवान् को अपने दिव्य शरीर में उसके द्वारा किया गया प्रहार वैसा ही आनन्द दे रहा

था जिस प्रकार प्रौढ़ पिता से छोटा शिशु लड़े। कभी-कभी बाप और बेटे में बनावटी युद्ध होता है, तो बाप को आनन्द मिलता है। उसी प्रकार भगवान् को हिरण्याक्ष द्वारा किया गया प्रहार पूजा में चढ़ाये गये फूलों के समान प्रतीत हुआ। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि भगवान् अपना दिव्य आनन्द लेने के लिए लड़ना चाहते थे इसीलिए उन्हें इस आक्रमण से सुख मिल रहा था।

अथोरुधासृजन्मायां योगमायेश्वरे हरौ ।
यां विलोक्य प्रजास्त्रस्ता मेनिरेऽस्योपसंयमम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

अथ—तब; उरुधा—अनेक प्रकार से; असृजत्—चलाईं; मायाम्—कपटपूर्ण चालें; योग-माया-ईश्वरे—योगमाया के ईश्वर; हरौ—हरि पर; याम्—जिसको; विलोक्य—देखकर; प्रजाः—लोग; त्रस्ताः—भयभीत; मेनिरे—सोचा; अस्य—इस ब्रह्माण्ड का; उपसंयमम्—संहार, प्रलय।

किन्तु असुर ने योगेश्वर श्रीभगवान् पर अनेक कपटपूर्ण चालों का प्रयोग किया। यह देखकर सभी लोग भयभीत हो उठे और सोचने लगे कि ब्रह्माण्ड का संहार निकट है।

तात्पर्य : भगवान् तथा उनके भक्त का, जो असुर रूप में परिणत हो गया था, यह युद्ध इतना भीषण प्रतीत होने लगा मानो ब्रह्माण्ड में प्रलय होने वाली है। यह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की महानता है। उनकी एक उँगली का उठना ही ब्रह्माण्ड के वासियों की दृष्टि में अत्यन्त अनिष्टकारी माना जाता है।

प्रववुर्वायवश्चण्डास्तमः पांसवमैरयन् ।
दिग्भ्यो निपेतुर्ग्रावाणः क्षेपणैः प्रहिता इव ॥ १८॥

शब्दार्थ

प्रववुः—बह रही थी; वायवः—हवाएँ; चण्डाः—भयानक; तमः—अन्धकार; पांसवम्—धूल से उत्पन्न; ऐरयन्—फैल रहे थे; दिग्भ्यः—सभी दिशाओं से; निपेतुः—गिरे; ग्रावाणः—पत्थर; क्षेपणैः—मशीनगनों से; प्रहिताः—फेंके गये; इव—मानो।

सभी दिशाओं से प्रचण्ड वायु बहने लगी और धूल तथा उपलवृष्टि से अन्धकार फैल गया, प्रत्येक दिशा से पत्थर गिरने लगे मानो वे मशीनगनों द्वारा फेंके जा रहे हों।

द्यौर्नष्टभगणाभ्रौघैः सविद्युत्स्तनयित्नुभिः ।
वर्षद्भिः पूयकेशासृग्विण्मूत्रास्थीनि चासकृत् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

द्यौः—आकाश; नष्ट—विलुप्त; भ-गण—नक्षत्र गण; अभ्र—बादलों के; ओघैः—समूहों से; स—सहित; विद्युत्—बिजली; स्तनयित्नुभिः—तथा कड़क (गर्जना) से; वर्षद्भिः—बरसने से; पूय—पीब; केश—बाल; असृक्—रक्त; विट्—विष्ठा; मूत्र—मूत्र; अस्थीनि—हड्डियाँ; च—यथा; असकृत्—पुनःपुनः।

बिजली तथा गर्जना से युक्त आकाश में बादलों के समूह घिर आने से नक्षत्रगण विलुप्त हो गए। आकाश से पीब, बाल, रक्त, मल, मूत्र तथा हड्डियों की वर्षा होने लगी।

गिरयः प्रत्यदृश्यन्त नानायुधमुचोऽनघ ।
दिग्वाससो यातुधान्यः शूलिन्यो मुक्तमूर्धजाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

गिरयः—पर्वत; प्रत्यदृश्यन्त—दिखने लगे; नाना—अनेक प्रकार के; आयुध—अस्त्र-शस्त्र; मुचः—छोड़ते हुए; अनघ—हे पापमुक्त विदुर; दिक्-वाससः—नंगी; यातुधान्यः—राक्षसिनियाँ; शूलिन्यः—त्रिशूलों से सज्जित; मुक्त—लटकते; मूर्धजाः—बाल।

हे अनघ विदुर, पर्वतों से नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र निकलने लगे और त्रिशूल धारण किये हुए नग्न राक्षसिनियाँ अपने खुले केश लटकाते हुए प्रकट हो गईं।

बहुभिर्यक्षरक्षोभिः पत्त्यश्वरथकुञ्जरैः ।
आततायिभिरुत्सृष्टा हिंस्रा वाचोऽतिवैशसाः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

बहुभिः—अनेक; यक्ष-रक्षोभिः—यक्षों तथा राक्षसों के द्वारा; पत्ति—पैदल; अश्व—घुड़सवार; रथ—रथ पर चढ़े हुए; कुञ्जरैः—अथवा हाथियों से; आततायिभिः—आततायियों द्वारा; उत्सृष्टाः—उच्चारित; हिंस्राः—क्रूर; वाचः—शब्द; अति-वैशसाः—हिंसक।

यक्षों तथा राक्षस आततायियों के समूह के समूह अत्यन्त क्रूर एवं अशिष्ट नारे लगा रहे थे, जिनमें से अनेक या तो पैदल जा रहे थे, या घोड़े, हाथियों अथवा रथों पर सवार थे।

प्रादुष्कृतानां मायानामासुरीणां विनाशयत् ।
सुदर्शनास्त्रं भगवान्प्रायुङ्क्त दयितं त्रिपात् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

प्रादुष्कृतानाम्—प्रदर्शित; मायानाम्—जादुई शक्तियाँ, इन्द्रजाल; आसुरीणाम्—असुर द्वारा प्रदर्शित; विनाशयत्—विनष्ट करने का इच्छुक; सुदर्शन-अस्त्रम्—सुदर्शन चक्र; भगवान्—श्रीभगवान् ने; प्रायुङ्क —फेंका; दयितम्—प्रिय; त्रि-पात्—समस्त यज्ञों के भोक्ता।

तब समस्त यज्ञों के भोक्ता श्रीभगवान् ने अपना प्रिय सुदर्शन चक्र छोड़ा जो असुर द्वारा प्रदर्शित समस्त इन्द्रजाल की शक्तियों (माया जाल) को तहस-नहस करने में समर्थ था।

तात्पर्य : प्रख्यात योगी तथा असुर कभी-कभी अपनी योगशक्ति से अत्यन्त जादुई करामातें दिखलाते हैं, किन्तु जब भगवान् अपने सुदर्शन चक्र को छोड़ देते हैं, तो ये सारे इन्द्रजाल विलुप्त हो जाता है। इस प्रसंग में दुर्वासा मुनि तथा महाराज अम्बरीष के बीच युद्ध का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। दुर्वासा मुनि अनेक आश्चर्यजनक योग-युक्तियाँ दिखाना चाह रहे थे, किन्तु जब सुदर्शन चक्र प्रकट हुआ तो वे स्वंय डर गये और अपनी रक्षा के लिए विभिन्न लोकों में दौड़ते फिरे। भगवान् को यहाँ पर *त्रिपात्* कहा गया है, जिसका अर्थ है कि वे तीन प्रकार के यज्ञों के भोक्ता हैं।*भगवद्गीता* में भगवान् ने स्वयं इसकी पुष्टि की है कि वे समस्त यज्ञों, तपों तथा तपस्याओं के भोक्ता हैं। भगवान् तीन प्रकार के यज्ञों के भोक्ता हैं। *भगवद्गीता* में आगे यह भी वर्णन आया है कि द्रव्य, ध्यान तथा चिन्तन के भी यज्ञ होते हैं। जो ज्ञान, योग तथा कर्म मार्गों पर चलने वाले हैं उन सबको अन्ततः परमेश्वर के पास जाना होता है, क्योंकि *वासुदेवः सर्वम् इति*—समस्त वस्तुओं का परम भोक्ता परमेश्वर ही हैं। समस्त यज्ञ की यही सिद्धि है।

तदा दितेः समभवत्सहसा हृदि वेपथुः ।
स्मरन्त्या भर्तुरादेशं स्तनाच्चासृक्प्रसुस्रुवे ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तदा—उसी क्षण; दितेः—दिति के; समभवत्—उत्पन्न हुआ; सहसा—अचानक; हृदि—हृदय में; वेपथुः—कम्पन; स्मरन्त्याः—स्मरण करके; भर्तुः—अपने पति, कश्यप के; आदेशम्—वचन; स्तनात्—स्तन से; च—यथा; असृक्—रक्त; प्रसुस्रुवे—बहने लगा।

उसी क्षण, हिरण्याक्ष की माता दिति के हृदय में सहसा एक थरथराहट हुई। उसे अपने पति कश्यप के वचनों का स्मरण हो आया और उसके स्तनों से रक्त बहने लगा।

तात्पर्य : हिरण्याक्ष के अन्तिम समय पर उसकी माता दिति को अपने पति के वचनों का स्मरण हो आया कि यद्यपि उसके पुत्र असुर होंगे, किन्तु स्वयं भगवान् के हाथों से मारे जाने का वे लाभ उठाएंगे। भगवत्कृपा से उसे ये वचन स्मरण हो आये और उसके स्तनों से दूध के बजाय रक्त बह निकला। यह कई बार देखा गया है कि जब माता अपने पुत्रों के स्नेह से विचलित हो उठती है, तो उसके स्तनों से दूध बहने लगता है। यहाँ पर असुर की माता का रक्त दूध में नहीं बदल सका वरन् उसी रूप में बह निकला। रक्त ही दूध में बदलता है। दूध का पीना शुभ है, किन्तु रक्त पीना अशुभ है, यद्यपि दोनों एक ही हैं। यही बात गाय के दूध पर भी लागू होती है।

विनष्टासु स्वमायासु भूयश्चाव्रज्य केशवम् ।
रुषोपगूहमानोऽमुं ददृशेऽवस्थितं बहिः ॥ २४॥

शब्दार्थ

विनष्टासु—दूर हो जाने पर; स्व-मायासु—अपनी माया शक्ति; भूयः—पुनः; च—यथा; आव्रज्य—सामने आकर; केशवम्—श्रीभगवान् को; रुषा—क्रोध से पूर्ण; उपगूहमानः—आलिंगन करते; अमुम्—भगवान् को; ददृशे—देखा; अवस्थितम्—खड़े हुए; बहिः—बाहर।

जब असुर ने देखा कि उसकी मायाशक्ति विलुप्त हो गई है, तो वह एक बार फिर श्रीभगवान् केशव के सामने आया और उन्हें रौंद देने की इच्छा से तमतमाते हुए अपने बाहुओं में भर कर उनको जकड़ लेना चाहा। किन्तु उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उसने भगवान् को अपने बाहु-पाश से बाहर खड़े देखा।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् को केशव कहा गया हैं क्योंकि उन्होंने सृष्टि के प्रारम्भ में केशी असुर का वध किया था। कृष्ण का नाम केशव भी है। श्रीकृष्ण समस्त अवतारों के मूल हैं और *ब्रह्म-संहिता* में इसकी पुष्टि हुई है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् गोविन्द समस्त कारणों के कारण हैं और वे एकसाथ ही विभिन्न अवतारों तथा अंशों में विद्यमान रहने वाले हैं। असुर हमेशा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को आँकने का प्रयत्न करता रहता है। यह सोचकर कि वह अपनी भौतिक शक्ति से अपनी सीमित बाहों के भीतर भगवान् को जकड़ सकेगा, उसने अपनी बाहों में उन्हें भरना चाहा। उसे यह ज्ञात न था कि भगवान् महान् से महानतम और सूक्ष्म से

सूक्ष्मतम हैं। कोई भी व्यक्ति न तो उन्हें बन्दी बना सकता हैं और न अपने वश में रख सकता है। किन्तु आसुरी व्यक्ति सदैव भगवान् की लम्बाई चौड़ाई मापने का प्रयास करता रहता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्ति से विराट रूप धारण कर सकते हैं और साथ ही साथ अपने भक्तों के पूज्य विग्रह के रूप में उनके डिब्बे में बन्द हो सकते हैं। ऐसे अनेक भक्त हैं, जो भगवान् की मूर्ति को छोटे से डिब्बे में रखते हैं और जहाँ भी जाते हैं उसे अपने साथ ले जाते हैं और प्रतिदिन प्रात: काल वे डिब्बे में रखे भगवान की पूजा करते हैं। श्रीभगवान् केशव या श्रीकृष्ण हमारी गणना की किसी माप से बँधे हुए नहीं हैं। वे अपने भक्त के साथ किसी भी उपयुक्त रूप में रह सकते हैं किन्तु आसुरी क्रिया-कलापों द्वारा उनको पा सकना कठिन है।

तं मुष्टिभिर्विनिघ्नन्तं वज्रसारैरधोक्षजः ।
करेण कर्णमूलेऽहन्यथा त्वाष्ट्रं मरुत्पतिः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तम्—हिरण्याक्ष को; मुष्टिभिः—अपने मुक्कों से; विनिघ्नन्तम्—प्रहार करते हुए; वज्र-सारैः—वज्र के समान कठोर; अधोक्षजः—भगवान् अधोक्षज ने; करेण—हाथ से; कर्ण-मूले—कनपटी पर; अहन्—मारा; यथा—जैसे; त्वाष्ट्रम्—वृत्रासुर (त्वष्टा का पुत्र) को; मरुत्-पतिः—मरुतों के स्वामी इन्द्र ने।

तब वह असुर भगवान् को कठोर मुक्कों से मारने लगा किन्तु भगवान् अधोक्षज ने उसकी कनपटी में उस तरह थप्पड़ मारा जिस प्रकार मरुतों के स्वामी इन्द्र ने वृत्रासुर को मारा था।

तात्पर्य : भगवान् को यहाँ अधोक्षज अर्थात् समस्त गणनाओं से परे कहा गया है। अक्षज का अर्थ है, "हमारी इन्द्रियों की माप" और अधोक्षज का अर्थ है, "जो हमारी इन्द्रियों की माप से परे है।"

स आहतो विश्वजिता ह्यवज्ञया
परिभ्रमद्गात्र उदस्तलोचनः ।
विशीर्णबाह्वङ्घ्रिशिरोरुहोऽपतद्
यथा नगेन्द्रो लुलितो नभस्वता ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; आहतः—चोट खाकर; विश्व-जिता—श्रीभगवान् द्वारा; हि—यद्यपि; अवज्ञया—उपेक्षापूर्वक; परिभ्रमत्—चकराकर; गात्रः—शरीर; उद्स्त—बाहर निकली; लोचनः—आँखें; विशीर्ण—छिन्न-भिन्न; बाहु—भुजाएँ; अङ्घ्रि—पाँव; शिरः-रुहः—बाल; अपतत्—गिर पड़ा; यथा—जैसे; नग-इन्द्रः—विशाल वृक्ष; लुलितः—उखड़ा हुआ; नभस्वता—आँधी से।

सर्वजेता भगवान् ने यद्यपि अत्यन्त उपेक्षापूर्वक प्रहार किया था, किन्तु उससे असुर का शरीर चकराने लगा। उसकी आँखे बाहर निकल आईं। उसके हाथ तथा पैर टूट गये, सिर के बाल बिखर गये और वह अंधड़ से उखड़े हुए विशाल वृक्ष की भाँति मृत होकर गिर पड़ा।

तात्पर्य : भगवान् को किसी भी बलवान असुरों के (हिराण्याक्ष समेत) मारने में एक क्षण भी नहीं लगता। वे चाहते तो हिरण्याक्ष को बहुत पहले मार ड़ालते, किन्तु वे उस असुर को अपना पूरा मायाजाल दिखाने के लिए छोड़े रहे। मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि कोई इन्द्रजाल से, ज्ञान की वैज्ञानिक प्रगति से अथवा भौतिक शक्ति से भगवान् की समता नहीं कर सकता। उनके एक संकेत से हमारे सारे प्रयास निष्फल हो सकते हैं। उनकी शक्ति जो कि अनुमान के परे है जैसाकि यहाँ दिखाया गया है, इतनी प्रबल है कि समस्त आसुरी चालों के बावजूद भगवान् की इच्छा होते ही एक ही चाँटे से उस असुर की मृत्यु हो गई।

क्षितौ शयानं तमकुण्ठवर्चसं
करालदंष्ट्रं परिदष्टदच्छदम् ।
अजादयो वीक्ष्य शशंसुरागता
अहो इमं को नु लभेत संस्थितिम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

क्षितौ—पृथ्वी पर; शयानम्—लेटे हुए; तम्—हिरण्याक्ष को; अकुण्ठ—अमलिन; वर्चसम्—तेज; कराल—भयावने; दंष्ट्रम्—दाँत; परिदष्ट—काटे हुए; दत्-छदम्—ओंठ; अज-आदयः—ब्रह्मा इत्यादि ने; वीक्ष्य—देखकर; शशंसुः—प्रशंसा में कहा; आगताः—आये हुए; अहो—ओह; इमम्—यह; कः—कौन; नु—निस्सन्देह; लभेत—प्राप्त कर सकता है; संस्थितिम्—मृत्यु।

उस स्थान भूमि पर लेटे भयावने दाँतों वाले तथा अपने होंठों को काटते हुए उस असुर को देखने के लिए ब्रह्मा तथा अन्य देवता आ गये। उसके मुखमण्डल का तेज अब भी अमलिन था। ब्रह्मा ने उसकी प्रशंसा करते हुए कहा, ओह! ऐसी भाग्यशाली मृत्यु

किसकी हो सकती है?

तात्पर्य : यद्यपि असुर मर चुका था, किन्तु उसके शरीर का तेज कम नहीं हुआ था। यह अत्यन्त विलक्षण है, क्योंकि जब कोई मनुष्य या पशु मरता है, तो उसका शरीर तुरन्त पीला पड़ जाता है, धीरे-धीरे तेज घट जाता है और सड़न होने लगती है। किन्तु यहाँ यद्यपि हिरण्याक्ष मर चुका था, किन्तु उसके शरीर का तेज घटा नहीं था क्योंकि भगवान् ने उसके शरीर का स्पर्श किया था। शरीर का तेज तभी तक बना रहता है जब तक आत्मा उपस्थित रहता है। यद्यपि असुर के शरीर से आत्मा प्रयाण कर चुका था, किन्तु भगवान् द्वारा शरीर स्पर्श किये जाने से उसका तेज कम नहीं हुआ। व्यष्टि आत्मा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से भिन्न है। यदि कोई अपना शरीर छोड़ते समय पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को देखता है, तो निश्चय ही वह भाग्यशाली है, अतः ब्रह्मा आदि देवों ने उस असुर की मृत्यु की प्रशंसा की।

यं योगिनो योगसमाधिना रहो
ध्यायन्ति लिङ्गादसतो मुमुक्षया ।
तस्यैष दैत्यऋषभः पदाहतो
मुखं प्रपश्यंस्तनुमुत्ससर्ज ह ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको; योगिनः—योगी जन; योग-समाधिना—योग की समाधि में; रहः—एकान्त में; ध्यायन्ति—ध्यान धरते हैं; लिङ्गात्—शरीर से; असतः—मिथ्या; मुमुक्षया—मुक्ति की इच्छा से; तस्य—उसका; एषः—यह; दैत्य—दिति का पुत्र; ऋषभः—श्रेष्ठ मणि; पदा—पाँव से; आहतः—मारा गया; मुखम्—मुँह; प्रपश्यन्—देखते या ताकते हुए; तनुम्—शरीर; उत्ससर्ज—छोड़ दिया; ह—निस्सन्देह।

ब्रह्मा ने आगे कहा—योगीजन योगसमाधि में अपने मिथ्या भौतिक शरीरों से छूटने के लिए जिसका एकान्त में ध्यान करते हैं, उन श्रीभगवान् के पादाग्र से इस पर प्रहार हुआ है। दिति के पुत्रों में शिरोमणि इसने भगवान् का मुख देखते-देखते अपने मर्त्य शरीर का त्याग किया है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक में योगविधि का स्पष्ट वर्णन हुआ है। कहा जाता है कि ध्यान करने वाले योगियों का चरम-लक्ष्य इस भौतिक शरीर से छुटकारा पाना है। फलतः वे समाधि प्राप्त करने के लिए एकान्त में ध्यान करते हैं। योग एकान्त में सम्पन्न होना चाहिए;

किसी सार्वजनिक स्थल या मंच पर नहीं जैसाकि आजकल के कई तथाकथित योगी करते हैं। वास्तविक योग का उद्देश्य भौतिक देह से छुटकारा पाना है। योगाभ्यास का उद्देश्य शरीर को चुस्त तथा तरुण बनाये रखना नहीं है। किसी भी आदर्श विधि में तथाकथित योग के ऐसे विज्ञापनों की अनुमति नहीं दी गई है। इस श्लोक में एक शब्द *यम्* अर्थात् 'उसको' आया है, जो इसका संकेत देता है कि ध्यान का लक्ष्य श्रीभगवान् होना चाहिए। यदि कोई भगवान् के वराह रूप का भी ध्यान धरता है, तो वह भी योग है। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है, जो मनुष्य भगवान् के विविध रूपों में से किसी एक पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है, वह उच्चकोटि का योगी है और वह भगवान् के स्वरूप का चिन्तन करता हुआ सरलता से समाधि को प्राप्त होता है। यदि कोई अपनी मृत्यु के समय भी भगवान् का ध्यान कर सके तो वह इस भौतिक शरीर से मुक्त होकर भगवान् के धाम को चला जाता है। भगवान् ने इस असुर को यह सुअवसर प्रदान किया, फलतः ब्रह्मा समेत सभी देवाताओं को आश्चर्य हुआ। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि भगवान् के केवल पाद-प्रहार से असुर को भी योगसिद्धि प्राप्त हो सकती है।

एतौ तौ पार्षदावस्य शापाद्यातावसद्गतिम् ।
पुनः कतिपयैः स्थानं प्रपत्स्येते ह जन्मभिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

एतौ—ये दोनों; तौ—दोनों; पार्षदौ—पार्षद; अस्य—भगवान् के; शापात्—शाप के कारण; यातौ—गये हैं; असत्-गतिम्—आसुरी परिवार में जन्म लेना; पुनः—फिर; कतिपयैः—कुछ; स्थानम्—अपना स्थान; प्रपत्स्येते—पुनः प्राप्त करेंगे; ह—निस्सन्देह; जन्मभिः—जन्मों के पश्चात्।

भगवान् के इन दोनों पार्षदों को शापवश असुर-परिवारों में जन्म लेना पड़ा। ऐसे कुछ जन्मों के पश्चात् ये अपने-अपने स्थानों में लौट जायेंगे।

देवा ऊचुः

नमो नमस्तेऽखिलयज्ञतन्तवे
स्थितौ गृहीतामलसत्त्वमूर्तये ।
दिष्ट्या हतोऽयं जगतामरुन्तुद-

स्त्वत्पादभक्त्या वयमीश निर्वृताः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

देवाः—देवताओं ने; ऊचुः—कहा; नमः—नमस्कार; नमः—नमस्कार; ते—तुमको; अखिल-यज्ञ-तन्तवे—समस्त यज्ञों के भोक्ता; स्थितौ—स्थिति को बनाए रखने के निमित्त; गृहीत—धारण किया; अमल—शुद्ध; सत्त्व—अच्छाई; मूर्तये—रूप; दिष्ट्या—सौभाग्यवश; हतः—मारा गया; अयम्—यह; जगताम्—लोकों को; अरुन्तुदः—कष्ट देने वाला; त्वत्-पाद—आपके चरण की; भक्त्या—भक्ति से; वयम्—हमने; ईश—हे भगवान्; निर्वृताः—सुख प्राप्त किया है।.

देवताओं ने भगवान् को सम्बोधित करते हुए कहा—हम आपको नमस्कार करते हैं। आप समस्त यज्ञों के भोक्ता हैं और आपने शुद्ध सात्त्विक भाव में विश्व की स्थिति बनाये रखने के लिए वराह रूप धारण किया है। यह हमारा सौभाग्य है कि समस्त लोकों को कष्ट देने वाला असुर आपके हाथों मारा गया और हे भगवान्, अब हम आपके चरण-कमलों की भक्ति करने के लिए स्वतन्त्र हैं।

तात्पर्य : यह संसार तीन गुणों—सत्त्व, रज तथा तमोगुण—वाला है, किन्तु आध्यात्मिक जगत तो शुद्ध सत्त्व है। यहाँ यह बताया गया है कि भगवान् का रूप शुद्ध सत्त्व है, जिसका अर्थ है कि वह भौतिक नहीं है। इस भौतिक जगत में कहीं भी शुद्ध सत्त्व नहीं है। *भागवत* में शुद्ध सत्त्व अवस्था को *सत्त्वं विशुद्धम्* कहा गया है। विशुद्धम् का अर्थ है शुद्ध। शुद्ध सत्त्व में अन्य दो निम्न गुणों अर्थात् रजो तथा तमो गुणों के कारण कोई कल्मष नहीं होता है। अतः वराह रूप, जिसमें भगवान् प्रकट हुए थे, इस भौतिक जगत का न था। भगवान् के और भी कई रूप हैं, किन्तु इनमें से एक का भी सांसारिक गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ये रूप विष्णुरूप से अभिन्न हैं और विष्णु समस्त यज्ञों के भोक्ता हैं।

वेदों में जिन यज्ञों की अनुशंसा की गई है वे सभी श्रीभगवान् को प्रसन्न करने के लिए हैं। तमोगुणी होने पर ही मनुष्य अन्य बिचौलियों (दूतों) को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु जीवन का वास्तविक ध्येय परम पुरुष, भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना है। यही नहीं, सभी यज्ञों का उद्देश्य भी भगवान् को प्रसन्न करना है। जो जीवात्मा इसे भलीभाँति समझते हैं, वे देवता, दैवी या देव-तुल्य माने जाते हैं। चूँकि प्रत्येक जीवात्मा परमेश्वर का ही अंश है, अतः यह उसका धर्म है कि भगवान् की सेवा करे और उन्हें प्रसन्न रखे। सभी देवता श्रीभगवान्

के प्रति आसक्त होते हैं। उन्हीं की प्रसन्नता के लिए विश्व भर को कष्ट प्रदान करने वाले असुर का भगवान् ने वध किया। पवित्र जीवन की सार्थकता भगवान् को प्रसन्न करने में है और पवित्र जीवन में जितने भी यज्ञ सम्पन्न किये जाते हैं, वे कृष्णभावनामृत कहलाते हैं। यह कृष्णभावनामृत भक्तियोग के द्वारा विकसित किया जाता है, जिसका यहाँ स्पष्ट उल्लेख हुआ है।

मैत्रेय उवाच

एवं हिरण्याक्षमसह्यविक्रमं
स सादयित्वा हरिरादिसूकरः ।
जगाम लोकं स्वमखण्डितोत्सवं
समीडितः पुष्करविष्टरादिभिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—श्रीमैत्रेय ने कहा; एवम्—इस प्रकार; हिरण्याक्षम्—हिरण्याक्ष को; असह्य-विक्रमम्—अत्यन्त शक्तिमान; सः—भगवान् ने; सादयित्वा—मारकर; हरिः—श्रीभगवान् ने; आदि-सूकरः—सूकर योनियों का मूल; जगाम—वापस गया; लोकम्—अपने धाम; स्वम्—निजी; अखण्डित—अनवरत्; उत्सवम्—उत्सव; समीडितः—प्रशंसित; पुष्कर-विष्टर—कमल-आसन (कमलासन); आदिभिः—तथा अन्य।

श्री मैत्रेय ने आगे कहा—इस प्रकार अत्यन्त भयानक असुर हिरण्याक्ष को मारकर आदि वराह-रूप भगवान् हरि अपने धाम वापस चले गये जहाँ निरन्तर उत्सव होता रहता है। ब्रह्मा आदि समस्त देवताओं ने भगवान् की प्रशंसा की।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् को आदि शूकर कहा गया है। जैसाकि *वेदान्त सूत्र* (१.१.२) में कहा गया है परम सत्य प्रत्येक वस्तु का मूल है। अत: यह माना जाता है कि समस्त चौरासी लाख योनियाँ भगवान् से उद्भूत हैं, वे ही आदि अथवा प्रारम्भ हैं। *भगवद्गीता* में अर्जुन ने श्रीकृष्ण को आद्यम् अर्थात् आदिकालीन (मूल) कहकर सम्बोधित किया है। इसी प्रकार *ब्रह्म-संहिता* में भगवान् को आदि-पुरुष कहा गया है। वस्तुत: *भगवद्गीता* (१०.८) में भगवान् स्वयं कहते हैं—*मत्त:सर्वं प्रवर्तते*—मुझी से प्रत्येक वस्तु आगे बढ़ती है।

प्रस्तुत स्थिति में हिरण्याक्ष का वध करने तथा पृथ्वी को गर्भ सागर से उठाने के लिए भगवान् ने वराह रूप धारण किया। वे आदि शूकर बने। इस भौतिक संसार में शूकर अत्यन्त गर्हित माना जाता है, किन्तु आदि शूकर अर्थात् श्रीभगवान् को समान्य शूकर नहीं समझा गया।

यहाँ तक कि ब्रह्मा तथा अन्य देवों तक ने भगवान् के शूकर रूप की प्रशंसा की।

इस श्लोक से *भगवद्गीता* के इस कथन की पुष्टि होती है कि दुष्टों का वध करने और भक्तों की रक्षा के लिए भगवान् अपने दिव्य धाम से अवतरित होते हैं। हिरण्याक्ष को मारकर उन्होंने असुरों को मारने और ब्रह्मा इत्यादि दूसरे देवताओं की रक्षा करने का अपना वचन पूरा किया। यह कथन कि भगवान् अपने धाम को वापस चले गये सूचित करता है कि भगवान् का अपना विशेष दिव्य आवास है। चूँकि वे समस्त शक्तियों से पूर्ण हैं, अत: वे गोलोक वृन्दावन में रहते हुए भी सर्वत्र व्याप्त हैं, ठीक वैसे ही जैसे सूर्य ब्रह्माण्ड के भीतर विशिष्ट स्थान में स्थित होकर समस्त ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है।

यद्यपि भगवान् का रहने का विशिष्ट आवास है, तथापि वे सर्वव्यापी हैं। निर्विशेषवादी भगवान् के इस सर्वव्यापी रूप को मानते हैं, किन्तु वे दिव्य आवास में स्थित उनके पद को नहीं समझ पाते, जहाँ वे निरन्तर दिव्य लीलाओं में संलग्न रहते हैं। इस श्लोक में आगत *अखण्डितोत्सवम्* शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण है। उत्सव का अर्थ है 'आनन्द'। जब भी प्रसन्नता व्यक्त करने के लिए कोई कार्य किया जाता है, तो वह उत्सव कहलाता है। उत्सव पूर्ण प्रसन्नता का सूचक है और यह भगवान् के धाम वैकुण्ठलोक में सदैव विद्यमान रहता है। भगवान् जब ब्रह्मा जैसे देवताओं द्वारा पूजित हैं, तो मनुष्यों जैसी नगण्य आत्माओं का क्या कहना है।

भगवान् अपने धाम से इस धरा पर उतरते हैं इसीलिए उन्हें अवतार कहा जाता है। कभी-कभी अवतार से भौतिक रूप या जीता जागता हाड़-मांस युक्त रूप समझा जाता है, किन्तु वास्तव में अवतार वह व्यक्ति है, जो उच्चतर प्रक्षेत्रों से नीचे उतरता है। भगवान् का धाम भौतिक आकाश से ऊपर बहुत ऊँचाई पर है और वे उस उच्च पद से नीचे उतरते हैं; इसीलिए अवतार कहलाते हैं।

मया यथानूक्तमवादि ते हरेः
कृतावतारस्य सुमित्र चेष्टितम् ।
यथा हिरण्याक्ष उदारविक्रमो

महामृधे क्रीडनवन्निराकृतः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; यथा—जिस रूप में; अनूक्तम्—कहा गया; अवादि—व्याख्या की गई; ते—तुमको; हरेः—श्रीभगवान् का; कृत-अवतारस्य—जिसने अवतार लिया; सुमित्र—हे विदुर; चेष्टितम्—कार्यकलाप; यथा—जिस प्रकार; हिरण्याक्षः—हिरण्याक्ष; उदार—अत्यन्त विस्तृत; विक्रमः—शौर्य; महा-मृधे—महान् युद्ध में; क्रीडन-वत्—खिलौन की तरह; निराकृतः—मारा गया।

मैत्रेय ने आगे कहा—हे विदुर, मैंने तुम्हें कह सुनाया कि भगवान् किस प्रकार प्रथम शूकर के रूप में अवतरित हुए और अद्वितीय शौर्य वाले असुर को महान् युद्ध में मार डाला मानो वह कोई खिलौना रहा हो। मैंने अपने पूर्ववर्ती गुरु से इसे जिस रूप में सुना था, वह तुम्हें सुना दिया।

तात्पर्य : यहाँ मैत्रेय मुनि स्वीकार करते हैं कि उन्होंने भगवान् द्वारा हिरण्याक्ष वध को ज्यों का त्यों आख्यान के रूप में कह सुनाया है; उन्होंने अपनी ओर से उसमें कुछ नहीं जोड़ा, वरन् जिस रूप में अपने गुरु से सुना था उसी को कह सुनाया। इस प्रकार उन्होंने परम्परा प्रणाली को प्रामाणिक माना है। जब तक इस प्रकार गुरु से प्रामाणिक विधि से सुना न जाय, किसी आचार्य का कथन वैध नहीं हो सकता।

यहां यह भी कहा गया है कि यद्यपि असुर हिरण्याक्ष का शौर्य असीम था, किन्तु भगवान् के लिए वह खिलौना मात्र था। बालक बिना किसी प्रयास के अनेक खिलौने तोड़ देता है उसी प्रकार संसारी मनुष्यों की दृष्टि में भले ही कोई असुर कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, भगवान् को ऐसे असुर के मारने में कोई कठिनाई नहीं होती। वे लाखों असुरों का वैसे ही वध कर सकते हैं जिस प्रकार बालक अनेक खिलौनों से खेलकर उन्हें तोड़ डालता है।

सूत उवाच

इति कौषारवाख्यातामाश्रुत्य भगवत्कथाम् ।
क्षत्तानन्दं परं लेभे महाभागवतो द्विज ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

सूतः—सूत गोस्वामी; उवाच—कहा; इति—इस प्रकार; कौषारव—मैत्रेय (कुषारु के पुत्र) से; आख्याताम्—कहा गया; आश्रुत्य—सुनकर; भगवत्-कथाम्—भगवान् विषयक आख्यान; क्षत्ता—विदुर ने; आनन्दम्—आनन्द; परम्—दिव्य; लेभे—प्राप्त किया; महा-भागवतः—परम भक्त; द्विज—हे ब्राह्मण (शौनक)।

श्री सूत गोस्वामी ने आगे कहा—हे शौनक, मेरे प्रिय ब्राह्मण, भगवान् के परम

भक्त, क्षत्ता (विदुर) को कौषारव (मैत्रेय) मुनि के आधिकारिक स्रोत से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की लीलाओं का वर्णन सुनकर दिव्य आनन्द प्राप्त हुआ और वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

तात्पर्य : यदि कोई भगवान् की लीलाओं को सुनकर दिव्य आनन्द उठाना चाहता है, तो उसे आधिकारिक स्रोत से सुनना चाहिए जैसाकि यहाँ कहा गया है। मैत्रेय ने इस आख्यान को अपने प्रामाणिक गुरु से सुना था और विदुर ने भी मैत्रेय से। जो कुछ अपने गुरु से सुना हो उसको उसी रूप में कहने से मनुष्य अधिकारी व्यक्ति बन जाता है और जो प्रामाणिक गुरु नहीं स्वीकार करता वह अधिकारी नहीं हो सकता—इसकी यहाँ स्पष्ट व्याख्या की गई है। यदि कोई दिव्य आनन्द चाहता है, तो उसे अधिकारी व्यक्ति की खोज करनी होगी। दिव्य आनन्द चाहने वाले को अधिकारी व्यक्ति की खोज करनी होगी। *भागवत* में यह भी कहा गया है कि केवल अधिकारी से मन एवं कानों से सुनकर भगवान् की लीलाओं का रसास्वादन किया जा सकता है अन्यथा यह सम्भव नहीं है। इसीलिए सनातन गोस्वामी ने विशेष रूप से आगाह किया है कि किसी अभक्त के मुख से भगवान् के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कुछ भी न सुना जाय। अभक्त गण सर्प की तरह हैं। यद्यपि भगवान् की लीलाओं की कथा दूध के समान शुद्ध है किन्तु जिस प्रकार सर्प के स्पर्श से दुग्ध विषाक्त हो जाता है उसी तरह सर्पतुल्य अभक्तों से भगवत्कथा। इससे दिव्य आनन्द तो मिलेगा ही नहीं, साथ ही यह घातक भी होगी। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी आगाह किया है कि मायावादी विचारधारा वालों से भगवान् की लीलाएँ नहीं सुनी जायँ। उन्होंने स्पष्ट कहा है—*मायावादी-भाष्य शुनिले हय सर्वनाश*—यदि कोई भगवान् की लीलाओं का विश्लेषण या भगवद्गीता, श्रीमद्भागवतम् अथवा अन्य किसी वैदिक साहित्य की व्याख्या किसी मायावादी के मुख से सुनता है, तो समझिये सर्वनाश हुआ। एक बार निर्गुणवादियों की संगति की नहीं कि भगवान् के सगुण रूप तथा उनकी दिव्य लीलाओं को समझ पाना दुष्कर हो जाता है।

सूत गोस्वामी शौनक आदि ऋषियों को संम्बोधित कर रहे थे, अत: उन्होंने इस श्लोक में

उन्हें द्विज अर्थात् द्वि-जन्मा कहकर सम्बोधित किया। नैमिषारण्य में एकत्र होकर सूत गोस्वामी से *श्रीमद्भागवत* सुन रहे समस्त ऋषि चूँकि ब्राह्मण ही थे, किन्तु ब्राह्मण की योग्यता प्राप्त कर लेना ही सब कुछ नहीं होता। मात्र द्विज होना सिद्धि नहीं है। सिद्धि तो तभी मिलती है जब कोई प्रामाणिक स्रोत से भगवान् की लीलाओं को सुने।

अन्येषां पुण्यश्लोकानामुद्दामयशसां सताम् ।
उपश्रुत्य भवेन्मोदः श्रीवत्साङ्कस्य किं पुनः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

अन्येषाम्—दूसरों का; पुण्य-श्लोकानाम्—पवित्र यश का; उद्दाम-यशसाम्—जिनकी ख्याति सर्वत्र फैली है; सताम्—भक्तों का; उपश्रुत्य—सुन करके; भवेत्—उठ सकते हैं; मोदः—आनन्द; श्रीवत्स-अङ्कस्य—श्रीवत्स चिह्न धारण करने वाले भगवान् का; किम् पुनः—फिर क्या कहना।

मनुष्य चाहें तो अमर यश वाले भक्तों के कार्यकलापों को सुनकर आनन्द उठा सकते हैं, फिर श्रीवत्सधारी श्रीभगवान् की लीलाओं के श्रवण का कहना ही क्या!

तात्पर्य : *भागवतम्* का शाब्दिक अर्थ है भगवान् तथा उनके भक्तों की लीलाएँ—उदाहरणार्थ, भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाएँ तथा प्रह्लाद, ध्रुव तथा महाराज अम्बरीश जैसे भक्तों के आख्यान। ये दोनों प्रकार की लीलाएँ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से सम्बद्ध हैं, क्योंकि भक्तों की लीलाएँ उन्हीं से सम्बन्धित हैं। उदाहरणार्थ, *महाभारत* में पाण्डवों का इतिहास एवं उनके कार्य-कलाप हैं, अतः वह पवित्र है, क्योंकि पाण्डवों का श्रीभगवान् से सीधा सम्बन्ध था।

यो गजेन्द्रं झषग्रस्तं ध्यायन्तं चरणाम्बुजम् ।
क्रोशन्तीनां करेणूनां कृच्छ्रतोऽमोचयद्द्रुतम् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

यः—जो; गज-इन्द्रम्—हाथियों के राजा को; झष—मकर, घड़ियाल द्वारा; ग्रस्तम्—आक्रमण किया गया; ध्यायन्तम्—ध्यान करते हुए; चरण—पाँव; अम्बुजम्—कमल; क्रोशन्तीनाम्—विलाप करती हुई; करेणूनाम्—हथिनियों को; कृच्छ्रतः—संकट से; अमोचयत्—उबारा; द्रुतम्—शीघ्र।

वह गजराज जिस पर मगरमच्छ ने आक्रमण कर दिया था और जिसने तब भगवान् के चरणकमलों का ध्यान किया, उसे भगवान ने तुरंत उबार किया। उस समय उसके साथ की हथिनियाँ चिंघाड़ रही थीं, किन्तु भगवान् ने आसन्न संकट से उनको बचा

लिया।

तात्पर्य : यहाँ पर संकटग्रस्त हाथी, जिसकी रक्षा भगवान् ने की थी, उस का उदाहरण यहाँ विशेष रूप से दिया गया है, क्योंकि पशु भी भक्ति में भगवान् के पास याचना कर सकता है, जबकि देवता भी यदि भक्त नहीं है, तो उनके पास नहीं पहुँच सकता।

तं सुखाराध्यमृजुभिरनन्यशरणैर्नृभिः ।
कृतज्ञः को न सेवेत दुराराध्यमसाधुभिः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; सुख—सरलतापूर्वक; आराध्यम्—पूजनीय; ऋजुभिः—सरल लोगों द्वारा; अनन्य—अन्य कोई नहीं; शरणैः—शरणागत; नृभिः—मनुष्यों के द्वारा; कृत-ज्ञः—उपकार मानने वाला; कः—क्या; न—नहीं; सेवेत—सेवा करनी चाहिए; दुराराध्यम्—पूजा कर पाना दुष्कर; असाधुभिः—अभक्तों द्वारा।

ऐसा कौन कृतज्ञ जीव होगा जो श्रीभगवान् जैसे परम स्वामी की प्रेमाभक्ति नहीं करना चाहेगा? वे विमल भक्तों पर, जो उन्हीं पर अपनी रक्षा के लिए आश्रित रहते हैं, सरलता से प्रसन्न हो जाते हैं, किन्तु किसी अनुचित व्यक्ति को उन्हें प्रसन्न कर पाने में कठिनाई होती है।

तात्पर्य : प्रत्येक जीवात्मा को और विशेष रूप से मनुष्यों को परमेश्वर की कृपा से प्राप्त होने वाले वरदानों के लिए उनका कृतज्ञ होना चाहिए। अतः कृतज्ञ एवं सरल हृदय वाले को कृष्णभक्त होना चाहिए और कृष्णभक्ति करनी चाहिए। जो लोग वास्तविक चोर तथा उचक्के हैं, वे भगवान् द्वारा प्रदत्त वरदानों को न तो पहचानते हैं, न उसके लिए आभार प्रकट करते हैं, ईश्वर की भक्ति करना तो दूर की बात है। जो भगवान् की व्यवस्था से मिलने वाले लाभों को नहीं समझते वे कृतघ्न हैं। वे धूप तथा चाँदनी का आनन्द उठाते हैं और निःशुल्क जल प्राप्त करते हैं, किन्तु कृतज्ञता का अनुभव नहीं करते, तो भी वे भगवान् के इन उपहारों को भोगते रहते हैं। इसीलिए उन्हें चोर और उचक्के कहा ही जाना चाहिए।

यो वै हिरण्याक्षवधं महाद्भुतं
विक्रीडितं कारणसूकरात्मनः ।
शृणोति गायत्यनुमोदतेऽञ्जसा

विमुच्यते ब्रह्मवधादपि द्विजाः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

यः—जो; वै—निस्सन्देह; हिरण्याक्ष-वधम्—हिरण्याक्ष के वध का; महा-अद्भुतम्—अत्यन्त विस्मयजनक; विक्रीडितम्—लीला; कारण—समुद्र से पृथ्वी के उद्धार जैसे कारणों के लिए; सूकर—सूकर रूप में प्रकट होकर; आत्मनः—श्रीभगवान् का; शृणोति—सुनता है; गायति—जप करता है; अनुमोदते—आनन्द लेता है; अञ्जसा—तुरन्त; विमुच्यते—मुक्त हो जाता है; ब्रह्म-वधात्—ब्रह्महत्या के पाप से; अपि—भी; द्विजाः—हे ब्राह्मणो।

हे ब्राह्मणो, जगत के उद्धार हेतु आदि सूकर रूप में प्रकट होने वाले भगवान् द्वारा हिरण्याक्ष वध के इस अद्भुत आख्यान को जो कोई सुनता है, गाता है या इसमें रस लेता है, वह ब्रह्महत्या जैसे पापमय कर्मों के फल से भी तुरन्त मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : चूँकि श्रीभगवान् परम पद पर आसीन हैं, अत: उनकी लीलाओं तथा उनके व्यक्तित्व में कोई अन्तर नहीं है। अत: जो भी भगवान् की लीलाओं से अपना नाता जोड़ता है, वह भगवान् से प्रत्यक्ष जुड़ता है और जो इस प्रकार जुड़ जाता है, वह समस्त पापमय कर्मों से, यहाँ तक कि ब्रह्महत्या जैसे पाप से भी मुक्त हो जाता है, यद्यपि इसे संसार की सबसे अधिक पापमय कृत्य माना जाता है। मनुष्य को चाहिए कि शुद्ध भक्त जैसे अधिकृत स्रोत से भगवान् के कार्यकलापों को सुनने के लिए उत्सुक रहे। यदि कोई भगवान् के आख्यान का श्रवण मात्र करता है और भगवान् के गुणों को स्वीकार करता है, तो वह योग्य बन जाता है। मायावादी कभी भी भगवान् के कृत्यों को नहीं समझ सकते। वे उनके समस्त कार्यों को माया मानते हैं, इसीलिए तो वे मायावादी कहलाते हैं। चूँकि उनके लिए हर वस्तु माया है, अत: ऐसे आख्यान उनके लिए नहीं हैं। कुछ निर्विशेषवादी *श्रीमद्भागवत* को सुनना नहीं चाहते, यद्यपि उनमें से अनेक आर्थिक लाभ के लिए उसमें अब रुचि दिखाने लगे हैं। किन्तु वास्तविक रूप में वे श्रद्धा नहीं रखते। उल्टे, वे अपने ही ढंग से इसका वर्णन करते हैं। अत: हमें मायावादियों से इसको नहीं सुनना चाहिए। हमें तो सूत गोस्वामी या मैत्रेय से सुनना चाहिए जो आख्यानों को यावत् रूप में प्रस्तुत करने वाले हैं। तभी हम भगवान् की लीलाओं का रसास्वादन कर सकेंगे अन्यथा नवदीक्षित श्रोताओं पर विषतुल्य प्रभाव पड़ेगा।

एतन्महापुण्यमलं पवित्रं

धन्यं यशस्यं पदमायुराशिषाम् ।
प्राणेन्द्रियाणां युधि शौर्यवर्धनं
नारायणोऽन्ते गतिरङ्ग शृण्वताम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह आख्यान; महा-पुण्यम्—पुण्यप्रद; अलम्—अत्यन्त; पवित्रम्—पवित्र; धन्यम्—धन देनेवाला; यशस्यम्—यश की प्राप्ति करने वाला; पदम्—पात्र, भाजन; आयुः—दीर्घजीविता का; आशिषाम्—कामनाओं का; प्राण—जीवनदाता अंगों का; इन्द्रियाणाम्—कर्मेन्द्रियों का; युधि—युद्धभूमि में; शौर्य—पराक्रम; वर्धनम्—बढ़ाने वाला; नारायणः—भगवान् नारायण; अन्ते—जीवन के अन्त में; गतिः—शरण; अङ्ग—हे शौनक; शृण्वताम्—श्रोताओं का।

यह परम पवित्र आख्यान (चरित्र) अद्वितीय यश, सम्पत्ति, ख्याति, आयुष्य तथा मनवांछित फल देने वाला है। युद्ध भूमि में यह मनुष्य के प्राणों तथा कर्मेन्द्रियों की शक्ति वर्धित करने वाला है। हे शौनक, जो अपने अन्तकाल में इसे सुनता है, वह भगवान् के परम धाम को जाता है।

तात्पर्य : भक्त सामान्य रूप से भगवान् की लीलाओं के आख्यानों से आकृष्ट होते रहते हैं और तपस्या या ध्यान न करने पर भी इन लीलाओं के श्रवण मात्र से अनेक लाभ यथा सम्पत्ति, ख्याति, आयुष्य तथा जीवन की अन्य मनोकामनाएँ प्राप्त करते रहते हैं। यदि कोई अपने जीवन के अन्तकाल में भगवान् की लीलाओं के आख्यानों से परिपूर्ण *श्रीमद्भागवत* का श्रवण करता रहता है, तो वह निश्चित रूप से भगवान् के शाश्वतधाम को जाता है। इस प्रकार श्रोताओं को जब तक वे इस भौतिक लोक में रहते हैं तब भी और अन्त-समय में भी लाभ प्राप्त होता है। भक्ति करने का यही परम शुद्ध लाभ है। भक्ति का शुभारम्भ इसीसे होता है कि समय निकाल कर सही व्यक्ति से *श्रीमद्भागवत* का श्रवण किया जाय। श्रीचैतन्य महाप्रभु भी भक्ति की पाँच बातों की संस्तुति करते हैं। ये हैं भगवद्भक्तों की सेवा, हरे कृष्ण मन्त्र का जप, *श्रीमद्भागवत* का श्रवण, भगवान् के श्रीविग्रह की अर्चना तथा तीर्थस्थान में वास। इन पाँचों कृत्यों के करने मात्र से मनुष्य भौतिक जीवन की कष्टमय अवस्था से उबर सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तीसरे स्कन्ध के अन्तर्गत "असुर हिरण्याक्ष का वध" नामक उन्नीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बीस

मैत्रेय-विदुर संवाद

शौनक उवाच

महीं प्रतिष्ठामध्यस्य सौते स्वायम्भुवो मनुः ।
कान्यन्वतिष्ठद्द्वाराणि मार्गायावरजन्मनाम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

शौनकः—शौनक; उवाच—कहा; महीम्—पृथ्वी को; प्रतिष्ठाम्—स्थित; अध्यस्य—प्राप्त करके; सौते—हे सूत गोस्वामी; स्वायम्भुवः—स्वायंभुव; मनुः—मनु ने; कानि—क्या; अन्वतिष्ठत्—किया; द्वाराणि—मार्ग; मार्गाय—निकलने के लिए; अवर—बाद में; जन्मनाम्—जन्म लेनेवालों का।

श्री शौनक ने पूछा—हे सूत गोस्वामी, जब पृथ्वी अपनी कक्ष्या में पुनः स्थापित हो गई तो स्वायंभुव मनु ने बाद में जन्म ग्रहण करने वाले व्यक्तियों को मुक्ति-मार्ग प्रदर्शित करने के लिए क्या-क्या किया?

तात्पर्य : भगवान् का आदि शूकर अवतार स्वायंभुव मनु के काल में हुआ जबकि वर्तमान युग वैवस्वत मनु का काल है। प्रत्येक मनु का काल चारों युगों के चक्र से ७२ गुने काल तक रहता है और प्रत्येक चक्र ४३,२०,००० सौर वर्षों के तुल्य होता है। अत: एक मनु का राज्य ४३,२०,००० × ७२ सौर वर्षों तक रहता है। प्रत्येक मनु के काल में अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं और ब्रह्मा के एक दिन में ऐसे चौदह मनु होते हैं। यहाँ यह बताया गया है कि उन बद्धजीवों के मोक्ष के लिए मनु धार्मिक नियम बनाता है, जो इस संसार में भौतिक भोग के लिए आये हैं। भगवान् इतने दयालु हैं कि जो भी इस संसार में आकर भौतिक सुख भोगना चाहता है भोग की सारी सुविधाएँ उसे दी जाती हैं, किन्तु उसी के साथ उसके लिए मोक्ष का मार्ग भी खुला रहता है। इसीलिए शौनक ऋषि ने सूत गोस्वामी से पूछा, "पृथ्वी के अपनी कक्ष्या में पुनः स्थापित हो जाने पर स्वांयभुव मनु ने फिर क्या किया?"

क्षत्ता महाभागवतः कृष्णस्यैकान्तिकः सुहृत् ।
यस्तत्याजाग्रजं कृष्णे सापत्यमघवानिति ॥ २ ॥

शब्दार्थ

क्षत्ता—विदुर; महा-भागवतः—भगवान् का परम भक्त; कृष्णस्य—श्रीकृष्ण का; एकान्तिकः—एकनिष्ठ भक्त; सुहृत्—मित्र; यः—जो; तत्याज—त्याग दिया; अग्र-जम्—अपने बड़े भाई (राजा धृतराष्ट्र) को; कृष्णे—कृष्ण के प्रति; स-अपत्यम्—अपने सौ पुत्रों सहित; अघ-वान्—अपराधी; इति—इस प्रकार।

शौनक ऋषि ने विदुर के बारे में जानना चाहा, जो भगवान कृष्ण का महान भक्त एवं सखा था और जिसने भगवान के लिए ही अपने उस ज्येष्ठ भाई का साथ छोड़ दिया था जिसने अपने पुत्रों के साथ मिलकर भगवान की इच्छा के विरुद्ध षड्यंत्र किया थो।

तात्पर्य : यहाँ उस घटना का उल्लेख है जब कि विदुर अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र का आश्रय त्याग कर तीर्थस्थानों का भ्रमण करते हुए अन्त में हरद्वार में मैत्रेय से मिले थे। यहाँ पर शौनक ऋषि, विदुर एवं मैत्रेय के बीच हुई वार्ता के विषयों के सम्बन्ध में जिज्ञासा कर रहे हैं। विदुर की विशेषता यह थी कि वे न केवल भगवान् के मित्र थे, वरन् साथ ही महान् भक्त भी थे। श्रीकृष्ण युद्ध बन्द करने और चचेरे भाइयों के बीच अनबन को दूर करने का प्रयास कर रहे थे, किन्तु जब उन्होंने उनकी सलाह नहीं मानी तो क्षत्ता अर्थात् विदुर अत्यन्त अप्रसन्न हुए और उन्होंने उस स्थान को छोड़ दिया। भक्त के रूप में विदुर ने ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया कि जहाँ कहीं भी श्रीकृष्ण का आदर न हो वह स्थान मनुष्यों के रहने योग्य नहीं है। भक्त भले ही अपने निजी हितों के बारे में सहिष्णु बना रहे, किन्तु यदि भगवान् या उनके भक्तों का अनादर हो रहा हो तो उसे सहिष्णु नहीं बने रहना चाहिए। यहाँ पर *अघवान्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह सूचित करता है कि धृतराष्ट्र के पुत्र कौरवों की हार इसीलिए हुई, क्योंकि उन्होंने श्रीकृष्ण के उपदेश का उल्लंघन करके पापकर्म किया था।

द्वैपायनादनवरो महित्वे तस्य देहजः ।
सर्वात्मना श्रितः कृष्णं तत्परांश्चाप्यनुव्रतः ॥ ३॥

शब्दार्थ

द्वैपायनात्—व्यासदेव से; अनवरः—किसी प्रकार से हेय नहीं; महित्वे—महानता में; तस्य—उसका (व्यास का); देह-जः—उसके शरीर से उत्पन्न; सर्व-आत्मना—अपने सम्पूर्ण मन से; श्रितः—शरण ली; कृष्णम्—भगवान् श्रीकृष्ण की; तत्-परान्—उनमें अनुरक्त; च—तथा; अपि—भी; अनुव्रतः—पालन किया।

विदुर वेदव्यास के आत्मज थे और उनसे किसी प्रकार से कम न थे। इस तरह उन्होंने पूर्ण मनोभाव से श्रीकृष्ण के चरणकमलों को स्वीकार किया और वे उनके भक्तों के

प्रति अनुरक्त थे।

तात्पर्य : विदुर का इतिहास ऐसा है कि वे एक शूद्र माता के गर्भ से उत्पन्न हुए थे, किन्तु उनके रैतस पिता वेदव्यास थे; अत: वे किसी भी प्रकार से वेदव्यास से कम नहीं थे। चूँकि वे महान् पिता के पुत्र थे, जिन्हें नारायण का अवतार माना जाता था और जिन्होंने समस्त वैदिक साहित्य का सृजन किया था, अत: विदुर भी महान् व्यक्ति थे। उन्होंने श्रीकृष्ण को अपना आराध्य भगवान् स्वीकार किया और उनके उपदेशों का पूर्ण मनोभाव से पालन किया।

किमन्वपृच्छन्मैत्रेयं विरजास्तीर्थसेवया ।
उपगम्य कुशावर्त आसीनं तत्त्ववित्तमम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; अन्वपृच्छत्—पूछा; मैत्रेयम्—मैत्रेय ऋषि से; विरजा:—विदुर जो भौतिक कल्मष से रहित थे; तीर्थ-सेवया—तीर्थस्थलों में जाकर; उपगम्य—मिल कर; कुशावर्ते—कुशावर्त (हरद्वार) में; आसीनम्—स्थित; तत्त्व-वित्-तमम्—आत्म-विज्ञान के आदि ज्ञाता।.

तीर्थस्थलों की यात्रा करने से विदुर सारी विषय वासना से शुद्ध हो गये। अन्त में वे हरद्वार पहुँचे जहाँ आत्मज्ञान के ज्ञाता एक महर्षि से उनकी भेंट हुई जिससे उन्होंने कुछ प्रश्न किये। अत: शौनक ऋषि ने पूछा कि मैत्रेय से विदुर ने और क्या-क्या पूछा?

तात्पर्य : यहाँ पर *विरजास्तीर्थ सेवया* शब्द विदुर के लिए प्रयुक्त हैं, जो तीर्थस्थानों की यात्रा करने के कारण समस्त कल्मषों से पूरी तरह पवित्र हो चुके थे। भारत में सैकड़ों पवित्र तीर्थस्थल हैं जिनमें से प्रयाग, हरद्वार, वृन्दावन तथा रामेश्वरम प्रमुख हैं। राजनीति तथा कूटनीति से भरे हुए अपने घर को त्याग कर विदुर समस्त तीर्थों की यात्रा करके पवित्र होना चाहते थे, क्योंकि ये तीर्थ इस प्रकार स्थित हैं कि यदि कोई वहाँ जाय तो स्वत: पवित्र हो जाता है। वृन्दावन के लिए तो यह विशेष रूप से सत्य है। वहाँ कोई भी व्यक्ति जा सकता है और यदि वह पापी भी है, तो वहाँ तुरन्त उसे आध्यात्मिक जीवन का वातावरण अनुभव होने लगता है और वह स्वत: कृष्ण तथा राधा के नामों का जप करने लगता है। इसको हमने प्रत्यक्ष देखा है और अनुभव है। शास्त्रों में यह संस्तुति की गई है कि सक्रिय जीवन से विरक्त होकर वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करके मनुष्य को तीर्थों की यात्रा करनी चाहिए जिससे वह अपने आपको शुद्ध

कर सके। विदुर ने अपने इस कर्तव्य को भलीभाँति निबाहा और अन्त में वे कुशावर्त अर्थात् हरद्वार पहुँचे जहाँ मैत्रेय मुनि रह रहे थे।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मनुष्य को तीर्थों की यात्रा केवल स्नान करने के लिए नहीं करनी चाहिए, वरन् वहाँ पहुँचकर मैत्रेय जैसे परम ऋषियों की खोज करनी चाहिए और उनसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करता तो तीर्थस्थलों मे जाना समय का अपव्यय मात्र होगा। वैष्णव सम्प्रदाय के महान् आचार्य नरोत्तम दास ठाकुर ने फिलहाल इस युग में ऐसे तीर्थस्थानों की यात्रा की मनाही की है, क्योंकि समय इतना बदल चुका है कि इन स्थानों के वर्तमान निवासियों का आचरण देखकर निष्ठावान व्यक्ति कुछ दूसरी ही धारणा बना सकता है। उन्होंने संस्तुति की है कि ऐसे स्थानों में न जाकर मनुष्य को चाहिए कि वह अपने मन को गोविन्द में केन्द्रित करे। इससे उसे लाभ होगा। दर असल, किसी स्थान में रहकर अपने मन को गोविन्द में रमाना आध्यात्मिकता में अत्यन्त प्रगति कर चुके पुरुषों का काम है यह सामान्य पुरुषों के वश की बात नहीं। सामान्य पुरुष तो अब भी प्रयाग, मथुरा, वृन्दावन तथा हरद्वार जैसे पवित्र स्थानों की यात्रा से लाभ उठा सकते हैं।

इस श्लोक में कहा गया है कि मनुष्य को चाहिए कि वह तत्त्ववित् अर्थात् ईश्वर के विज्ञान को जानने वाले की खोज करे। तत्त्ववित् का अर्थ है, ''परम सत्य को जानने वाला।'' तीर्थस्थानों में भी अनेक छद्म ब्रह्मविद् पाये जाते हैं। अत: मनुष्य को उपदेश ग्रहण करने के लिए वास्तविक व्यक्ति की तलाश करने के लिए समझ होनी चाहिए; तभी विभिन्न तीर्थस्थानों की यात्रा से लाभान्वित होने का उसका प्रयास सफल होगा। मनुष्य को समस्त कल्मषों से मुक्त होने के साथ ही साथ कृष्ण-विज्ञान को जानने वाले व्यक्ति की खोज करनी होगी। कृष्ण निष्ठावान व्यक्ति की सहायता करते हैं जैसाकि श्रीचैतन्य-चरितामृत में कहा गया है—गुरु-कृष्ण-प्रसादे—गुरु तथा कृष्ण की कृपा से मोक्ष का मार्ग प्राप्त होता है। यदि कोई निष्ठा से आध्यात्मिक मोक्ष चाहता है, तो प्रत्येक हृदय में स्थित श्रीकृष्ण उसे बुद्धि प्रदान करते हैं कि

वह उपयुक्त गुरु खोज निकाले। मैत्रेय जैसे गुरु की कृपा से मनुष्य को उचित शिक्षा प्राप्त होती है और वह आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ता है।

तयोः संवदतोः सूत प्रवृत्ता ह्यमलाः कथाः ।
आपो गाङ्गा इवाघघ्नीर्हरेः पादाम्बुजाश्रयाः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तयोः—जब दोनों (मैत्रेय तथा विदुर); संवदतोः—वार्तालाप कर रहे थे; सूत—हे सूत; प्रवृत्ताः—निकली हुई; हि—निश्चय ही; अमलाः—निर्मल; कथाः—आख्यान; आपः—जल; गाङ्गाः—गंगा नदी का; इव—सदृश; अघ-घ्नीः—समस्त पापों का नाश करने वाला; हरेः—भगवान् के; पाद-अम्बुज—चरणारविन्द; आश्रयाः—आश्रित, शरणागत।

शौनक ने विदुर तथा मैत्रेय के बीच होने वाले वार्तालाप के सम्बन्ध में प्रश्न किया कि भगवान् की निर्मल लीलाओं के अनेक आख्यान रहे होंगे। ऐसे आख्यानों को सुनना गंगाजल में स्नान करने के सदृश है क्योंकि इससे सभी पाप-बन्धन छूट सकते हैं।

तात्पर्य : गंगा नदी का जल इसलिए शुद्ध है, क्योंकि यह सीधे ही भगवान् के पाद-श्री से निकलता है। *भगवद्गीता* गंगाजल के ही समान उत्तम है, क्योंकि यह भगवान् के मुख से निकली है। यही बात भगवान् की किसी लीला या उनके दिव्य कार्यकलाप से सम्बन्धित प्रत्येक घटना के लिए सत्य है। भगवान् परमेश्वर हैं; उनके शब्दों, उनके प्रस्वेदन या उनकी लीलाओं में कोई अन्तर नहीं है। गंगा जल, उनकी लीलाओं का वर्णन तथा उनके शब्द ये सभी एक ही परम पद पर हैं, अतः इनमें से किसी एक की शरण ग्रहण करना समान रूप से उत्तम है। श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है कि श्रीकृष्ण से सम्बन्धित कोई भी वस्तु दिव्य पद पर होती है। यदि हम अपने समस्त कार्यकलापों का तालमेल भगवान् से बैठा लें तो हम भौतिक पद पर नहीं वरन् आत्मिक पद पर स्थित होते हैं।

ता नः कीर्तय भद्रं ते कीर्तन्योदारकर्मणः ।
रसज्ञः को नु तृप्येत हरिलीलामृतं पिबन् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ताः—उनकी वार्ता; नः—हमको; कीर्तय—सुनाइये; भद्रम् ते—आपका मंगल हो; कीर्तन्य—जपना चाहिए; उदार—उदार; कर्मणः—कार्य; रस-ज्ञः—भक्त जो रस को समझ सके, रसिक; कः—कौन; नु—निस्सन्देह; तृप्येत—तृप्ति का अनुभव करे; हरि-लीला-अमृतम्—भगवान् की लीलाओं का अमृत; पिबन्—पीते हुए।

हे सूत गोस्वामी, आपका मंगल हो, कृपा करके भगवान् के कार्यों को कह सुनाइये क्योंकि वे उदार एवं स्तुति के योग्य हैं। ऐसा कौन भक्त है, जो भगवान् की अमृतमयी लीलाओं को सुनकर तृप्त हो जाये?

तात्पर्य : भगवान् की लीलाओं का आख्यान भक्तों द्वारा अत्यन्त आदरपूर्वक सुना जाना चाहिए क्योंकि वे लीलाएँ सदैव दिव्य पद पर घटित होती हैं। जो वास्तव में दिव्य धरातल पर स्थित हैं, वे भगवान् की लीलाओं की कथा सुनते हुए कभी नहीं अघाते। उदाहरणार्थ, यदि कोई सिद्ध पुरुष *भगवद्गीता* पढ़ता है, तो वह कभी तृप्त नहीं होता। *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* की कथाओं को हजार-हजार बार पढ़ लेने पर भी भक्तों को उनकी नई-नई बातों में निश्चित रूप से आनन्द मिलता है।

एवमुग्रश्रवाः पृष्ट ऋषिभिर्नैमिषायनैः ।
भगवत्यर्पिताध्यात्मस्तानाह श्रूयतामिति ॥ ७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; उग्रश्रवाः—सूत गोस्वामी; पृष्टः—पूछे जाने पर; ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा; नैमिष-अयनैः—जो नैमिष के जंगल (नैमिषारण्य) में एकत्र हुए थे; भगवति—भगवान् को; अर्पित—अर्पित; अध्यात्मः—अपना मन; तान्—उनसे; आह—कहा; श्रूयताम्—सुनो; इति—इस प्रकार।

नैमिषारण्य के ऋषियों द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर रोमहर्षण के पुत्र सूत गोस्वामी ने, जिनका मन भगवान् की दिव्य लीलाओं में लीन था, कहा—अब जो मैं कहता हूँ, कृपया उसे सुनें।

सूत उवाच
हरेर्धृतक्रोडतनोः स्वमायया
निशम्य गोरुद्धरणं रसातलात् ।
लीलां हिरण्याक्षमवज्ञया हतं
सञ्जातहर्षो मुनिमाह भारतः ॥ ८॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत ने कहा; हरेः—भगवान् का; धृत—धारण किया; क्रोड—सूकर का; तनोः—शरीर; स्व-मायया—अपनी दैवी शक्ति से; निशम्य—सुनकर; गोः—पृथ्वी का; उद्धरणम्—उद्धार; रसातलात्—समुद्र के गर्भ से; लीलाम्—खिलवाड़; हिरण्याक्षम्—हिरण्याक्ष असुर; अवज्ञया—अवज्ञापूर्वक; हतम्—मारा गया; सञ्जात-हर्षः—परम प्रफुल्लित; मुनिम्—मुनि (मैत्रेय) से; आह—कहा; भारतः—विदुर ने।

सूत गोस्वामी ने आगे कहा—भरत के वंशज विदुर भगवान् की कथा सुन कर परम प्रफुल्लित हुए क्योंकि भगवान् ने अपनी दैवी शक्ति से शूकर का रूप धारण करके पृथ्वी को समुद्र के गर्भ से खेल-खेल में ऊपर लाने (लीला) तथा हिरण्याक्ष को उदासीन भाव से मारने का कार्य किया था। फिर विदुर मैत्रेय से इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : यहाँ यह कहा गया है कि भगवान् ने अपनी शक्ति से शूकर रूप धारण किया। उनका यह रूप वास्तव में बद्धजीव का रूप नहीं है। बद्धजीव को भौतिक नियमों के श्रेष्ठ नियन्ता के आदेश से विशेष देह धारण करनी होती है, किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् को किसी बाह्य शक्ति से बाध्य होकर शूकर रूप नहीं धारण करना पड़ा। *भगवद्गीता* में भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है—जब भगवान् पृथ्वी में उतरते हैं, तो वे अपनी अंतरंगा शक्ति के द्वारा कोई एक रूप धारण करते हैं। फलतः भगवान् का रूप भौतिक शक्ति से कदापि निर्मित नहीं होता। मायावादियों का यह कथन कि जब भी ब्रह्म कोई रूप धारण करता है, तो वह माया से उसे स्वीकार करता है, यह मान्य नहीं है क्योंकि यद्यपि बद्धजीव की अपेक्षा माया श्रेष्ठ है, किन्तु वह श्रीभगवान् से श्रेष्ठ नहीं है, वह उनके वश में है जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है। माया उनके अधीक्षण में है, माया भगवान् का अतिक्रमण नहीं कर सकती। यह मायावादी विचारधारा कि जीवात्मा ही परम सत्य है, किन्तु माया द्वारा प्रच्छन्न है, अवैध है क्योंकि माया इतनी विराट नहीं है कि परमेश्वर को प्रच्छन्न कर ले। प्रच्छन्न करने की शक्ति ब्रह्म के अंश पर लागू हो सकती है, परब्रह्म पर नहीं।

विदुर उवाच
प्रजापतिपतिः सृष्ट्वा प्रजासर्गे प्रजापतीन् ।
किमारभत मे ब्रह्मन्प्रब्रूह्यव्यक्तमार्गवित् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; प्रजापति-पतिः—भगवान् ब्रह्मा ने; सृष्ट्वा—सृष्टि करके; प्रजा-सर्गे—जीवों की सृष्टि करने के उद्देश्य से; प्रजापतीन्—प्रजापतियों को; किम्—क्या; आरभत—प्रारम्भ किया; मे—मुझको; ब्रह्मन्—हे पवित्र ऋषि; प्रब्रूहि—बताइये; अव्यक्त-मार्ग-वित्—न जानने वालों का ज्ञाता।

विदुर ने कहा—हे पवित्र मुनि, आप हमारी समझ में न आने वाले विषयों को भी

जानते हैं, अतः मुझे यह बताएँ कि जीवों के आदि जनक प्रजापतियों को उत्पन्न करने के बाद ब्रह्मा ने जीवों की सृष्टि के लिए क्या किया?

तात्पर्य : यहाँ पर *अव्यक्त-मार्ग-वित्* शब्द अत्यन्त सार्थक है, जिसका अर्थ है, ''जो हमारी कल्पना शक्ति के परे है उसे जानने वाला।'' अपनी कल्पना शक्ति से परे की बातें जानने के लिए शिष्य-परम्परा की श्रेणी के किसी श्रेष्ठ अधिकारी से सीखना पड़ता है। केवल इतना भी जान पाना कि हमारा पिता कौन है हमारी कल्पना के परे है। उसके लिए माता अधिकारी है। इसी प्रकार हमें कल्पना से परे प्रत्येक वस्तु को वास्तविक ज्ञाता अर्थात् विशेषज्ञ (अधिकारी) से जानना चाहिए। प्रथम *अव्यक्त-मार्ग-वित्* अर्थात् विशेषज्ञ ब्रह्मा हैं और उस शिष्य-परम्परा में दूसरे नारद हैं। मैत्रेय ऋषि का उसी शिष्य-परम्परा से सम्बन्ध है, अतः वे भी *अव्यक्त-मार्ग-वित्* हैं। कोई भी व्यक्ति जो प्रामाणिक शिष्य-परम्परा से सम्बद्ध है अव्यक्त मार्गवित् है अर्थात् ऐसा महापुरुष है, जो सामान्य बुद्धि से परे सब कुछ जानता है।

ये मरीच्यादयो विप्रा यस्तु स्वायम्भुवो मनुः ।
ते वै ब्रह्मण आदेशात्कथमेतदभावयन् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

ये—जो; मरीचि-आदयः—मरीचि आदि महर्षि; विप्राः—ब्राह्मण; यः—जो; तु—निस्सन्देह; स्वायम्भुवः मनुः—तथा स्वायंभुव मनु; ते—वे; वै—निस्सन्देह; ब्रह्मणः—भगवान् ब्रह्मा के; आदेशात्—आज्ञा से; कथम्—कैसे; एतत्—यह ब्रह्माण्ड; अभावयन्—उत्पन्न हुआ।

विदुर ने पूछा—प्रजापतियों (मरीचि तथा स्वायंभुव मनु जैसे जीवों के आदि जनक) ने ब्रह्मा के आदेश के अनुसार किस प्रकार सृष्टि की और इस दृश्य जगत का किस प्रकार विकास किया?

सद्वितीयाः किमसृजन्स्वतन्त्रा उत कर्मसु ।
आहो स्वित्संहताः सर्व इदं स्म समकल्पयन् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

स-द्वितीयाः—अपनी पत्नियों सहित; किम्—क्या; असृजन्—उत्पन्न किया; स्व-तन्त्राः—स्वतन्त्र रहकर; उत—अथवा; कर्मसु—अपने कार्यों में; आहो स्वित्—अथवा; संहताः—मिलकर, एकसाथ; सर्वे—सभी प्रजापति; इदम्—यह; स्म समकल्पयन्—रचना की।

क्या उन्होंने इस जगत की सृष्टि अपनी-अपनी पत्नियों के सहयोग से की अथवा वे स्वतन्त्र रूप से अपना कार्य करते रहे? या कि उन्होंने संयुक्त रूप से इसकी रचना की?

मैत्रेय उवाच
दैवेन दुर्वितर्क्येण परेणानिमिषेण च ।
जातक्षोभाद्भगवतो महानासीद्गुणत्रयात् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; दैवेन—प्रारब्ध (भाग्य) द्वारा; दुर्वितर्क्येण—कल्पना शक्ति से परे; परेण—महाविष्णु द्वारा; अनिमिषेण—सनातन काल की शक्ति से; च—यथा; जात-क्षोभात्—सन्तुलन बिगड़ गया; भगवतः—श्रीभगवान् का; महान्—समस्त भौतिक तत्त्व (महत्-तत्त्व); आसीत्—उत्पन्न हुए थे; गुण-त्रयात्—तीन गुणों से।.

मैत्रेय ने कहा—जब प्रकृति के तीन तत्त्वों के सहयोग का सन्तुलन जीवात्मा की अदृश्य क्रियाशीलता, महाविष्णु तथा कालशक्ति के द्वारा विक्षुब्ध हुआ तो समग्र भौतिक तत्त्व (महत्-तत्त्व) उत्पन्न हुए।

तात्पर्य : यहाँ पर भौतिक सृष्टि के कारण का अत्यन्त रोचक वर्णन हुआ है। प्रथम कारण दैव अर्थात् बद्धजीव का भाग्य है। यह भौतिक सृष्टि बद्धजीव के सुख के लिए विद्यमान है, जो इन्द्रियतृप्ति के लिए उसी का झूठा स्वामी बनना चाहता है। किसी को यह नहीं ज्ञात है कि बद्धजीव ने सबसे पहले कब इस भौतिक प्रकृति पर स्वामित्व प्राप्त करने की इच्छा की, किन्तु वैदिक साहित्य से यह ज्ञात होता है कि यह भौतिक सृष्टि बद्धजीव के इन्द्रिय-सुख के निमित्त है। एक सुन्दर श्लोक है, जिसमें कहा गया है कि बद्धजीव के इन्द्रिय सुख का निष्कर्ष यह है कि जब बद्धजीव अपने प्रमुख कर्तव्य, भगवान् के प्रति सेवा, को भूल जाता है, तो वह इन्द्रिय-सुख का वातावरण तैयार करता है, जिसे माया कहते हैं और यही भौतिक सृष्टि का कारण है।

इस श्लोक में एक अन्य शब्द *दुर्वितर्क्येण* भी प्रयुक्त है। कोई यह तर्क नहीं कर सकता कि कब और कैसे बद्धजीव को इन्द्रिय-सुख की इच्छा हुई, किन्तु इसका कारण तो होना ही चाहिए। भौतिक प्रकृति ही बद्धजीव के इन्द्रिय-सुख के निमित्त वह वातावरण है, जिसकी सृष्टि भगवान् ने की है। यहाँ यह बताया गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकृति श्रीभगवान् विष्णु

द्वारा विक्षुब्ध की जाती है। तीन विष्णुओं का उल्लेख मिलता है। ये तीनों हैं—महाविष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध में इन तीनों विष्णुओं की व्याख्या की गई है और इस श्लोक में भी इसी की पुष्टि होती है कि विष्णु ही सृष्टि के कारण हैं। *भगवद्गीता* से भी हमें पता चलता है कि प्रकृति कृष्ण अथवा विष्णु की अध्यक्षता में कार्य करना शुरू करती है और अब भी कार्यशील है, किन्तु श्रीभगवान् अपरिवर्तित हैं। भूल से यह नहीं सोचना चाहिए कि चूँकि यह सृष्टि श्रीभगवान् से उद्भूत है, अत: उन्होंने अपने आपको भौतिक दृश्य जगत में रूपान्तरित कर दिया है। वे सदैव अपने सगुण रूप में विद्यमान हैं, किन्तु यह दृश्य जगत उनकी अचिन्त्य शक्ति से उत्पन्न होता है। उस शक्ति की कार्यविधि को समझ पाना कठिन है, किन्तु वैदिक ग्रंथों से पता चलता है कि बद्धजीव अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की अध्यक्षता में प्रकृति के नियमानुसार उसे विशेष देह धारण करना होता है। परमात्मा के रूप में भगवान् सदैव उसके संग रहते हैं।

रज:प्रधानान्महतस्त्रिलिङ्गो दैवचोदितात् ।
जात: ससर्ज भूतादिर्वियदादीनि पञ्चश: ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

रज:-प्रधानात्—रजोगुण की प्रधानता से; महत:—महत्-तत्त्व से; त्रि-लिङ्ग:—तीन प्रकार का; दैव-चोदितात्—श्रेष्ठ अधिकारी के द्वारा प्रेरित; जात:—उत्पन्न हुआ; ससर्ज—विकसित हुआ; भूत-आदि:—अहंकार (भौतिक तत्त्वों का मूल); वियत्—शून्य; आदीनि—इत्यादि; पञ्चश:—पाँच पाँच के समूहों में।.

जीव के भाग्य (दैव) की प्रेरणा से रजोगुण प्रधान महत्-तत्त्व से तीन प्रकार का अहंकार उत्पन्न हुआ। फिर अंहकार से पाँच-पाँच तत्त्वों के अनेक समूह उत्पन्न हुए।

तात्पर्य : आद्य प्रकृति में तीन गुण होते हैं जिनसे पाँच-पाँच तत्त्वों के चार समूह उत्पन्न होते हैं। प्रथम समूह तात्विक है, जिसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश सम्मिलित हैं। पाँच तत्त्वों का दूसरा समूह *तन्मात्र* कहलाता है, जिससे सूक्ष्म तत्त्वों ध्वनि, स्पर्श, रूप, स्वाद तथा गंध का बोध होता है। तीसरा समूह पाँच ज्ञानेन्द्रियों आँख, कान, नाक, जीभ तथा त्वचा का है। चौथा समूह पाँच कर्मेन्द्रियों जीभ, हाथ, पाँव, गुदा तथा लिंग का हैं। कुछ लोगों का

विचार है कि पाँच पाँच के ऐसे पाँच समूह हैं—पहला पाँच तत्त्व, दूसरा पाँच भूत, तीसरा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, चौथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँचवाँ पंचदेवता जो इन विभागों पर नियन्त्रण रखते हैं।

तानि चैकैकशः स्रष्टुमसमर्थानि भौतिकम् ।
संहत्य दैवयोगेन हैममण्डमवासृजन् ॥ १४॥

शब्दार्थ

तानि—उन तत्त्वों का; च—यथा; एक-एकशः—पृथक्-पृथक्; स्रष्टुम्—उत्पन्न करने में; असमर्थानि—असमर्थ; भौतिकम्—भौतिक ब्रह्माण्ड; संहत्य—संगठित करके; दैव-योगेन—परमेश्वर की शक्ति से; हैमम्—सोने की तरह चमकीला; अण्डम्—गोलक; अवासृजन्—उत्पन्न किया।

अलग-अलग रहकर ब्रह्माण्ड की रचना करने में असमर्थ होने के कारण वे परमेश्वर की शक्ति के सहयोग से संगठित हुए और फिर एक चमकीले अण्डे का सृजन करने में सक्षम छुए।

सोऽशयिष्टाब्धिसलिले आण्डकोशो निरात्मकः ।
साग्रं वै वर्षसाहस्रमन्ववात्सीत्तमीश्वरः ॥ १५॥

शब्दार्थ

सः—यह; अशयिष्ट—पड़ा रहा; अब्धि-सलिले—कारणार्णव के जल में; आण्ड-कोशः—अण्डा; निरात्मकः—अचेत अवस्था में; साग्रम्—कुछ अधिक; वै—निस्सन्देह; वर्ष-साहस्रम्—एक हजार वर्षों तक; अन्ववात्सीत्—स्थित हो गया; तम्—अंडे में; ईश्वरः—भगवान्।

यह चमकीला अण्डा एक हजार वर्षों से भी अधिक काल तक अचेतन अवस्था में कारणार्णव के जल में पड़ा रहा। तब भगवान् ने इसके भीतर गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में प्रवेश किया।

तात्पर्य : इस श्लोक से प्रतीत होता है कि सभी ब्रह्माण्ड कारणार्णव में तैर रहे हैं।

तस्य नाभेरभूत्पद्मं सहस्रार्कोरुदीधिति ।
सर्वजीवनिकायौको यत्र स्वयमभूत्स्वराट् ॥ १६॥

शब्दार्थ

तस्य—भगवान् की; नाभेः—नाभि से; अभूत्—बाहर निकला; पद्मम्—कमल; सहस्र-अर्क—एक हजार सूर्यों से; उरु—अधिक; दीधिति—देदीप्यमान; सर्व—समस्त; जीव-निकाय—बद्धजीवों का आश्रय; ओकः—स्थान; यत्र—जहाँ; स्वयम्—अपने आप; अभूत्—आविर्भाव हुआ; स्व-राट्—सर्वशक्तिमान ब्रह्माजी।

गर्भोदकशायी भगवान् विष्णु की नाभि से हजार सूर्यों की दीप्ति सदृश प्रकाशमान

एक कमल पुष्प प्रकट हुआ। यह कमल पुष्प समस्त बद्धजीवों का आश्रय है और इस पुष्प से प्रकट होने वाले पहले जीवात्मा सर्वशक्तिमान ब्रह्मा थे।

तात्पर्य : इस श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि पिछली सृष्टि के प्रलय के पश्चात् भगवान् के शरीर के भीतर स्थित बद्ध जीवात्माएँ कमल के रूप में इकट्ठी हो कर बाहर निकल आई। इसे हिरण्यगर्भ कहते हैं। इससे जो प्रथम जीवात्मा प्रकट हुआ वह ब्रह्मा जी थे, जो शेष दृश्य जगत की स्वतन्त्र रूप से सृष्टि करने में समर्थ हैं। इस कमल को एक हजार सूर्यों के प्रकाश के समान देदीप्यमान कहा गया है। इससे सूचित होता है कि परमेश्वर की अंशस्वरूप जीवात्माएँ भी उसी प्रकार की होंगी, क्योंकि भगवान् भी अपनी शारीरिक कान्ति को, जिसे ब्रह्मज्योति कहते हैं, चारों ओर फैलाते हैं। *भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक ग्रंथों में वैकुण्ठलोक का जो वर्णन है उसकी इससे पुष्टि होती है। वैकुण्ठलोक में न तो धूप, न चाँदनी, न अग्नि और न बिजली की आवश्यकता होती है। वहाँ प्रत्येक लोक सूर्य के समान स्वत: प्रकाशमान है।

सोऽनुविष्टो भगवता यः शेते सलिलाशये ।
लोकसंस्थां यथा पूर्वं निर्ममे संस्थया स्वया ॥ १७॥

शब्दार्थ

सः—ब्रह्माजी ने; अनुविष्टः—प्रविष्ट किया गया; भगवता—भगवान् द्वारा; यः—जो; शेते—शयन करता है; सलिल-आशये—गर्भोदक सागर में; लोक-संस्थाम्—ब्रह्माण्ड; यथा पूर्वम्—पूर्ववत्; निर्ममे—निर्माण किया; संस्थया—बुद्धि से; स्वया—अपनी।

जब गर्भोदकशायी भगवान् ब्रह्मा के हृदय में प्रवेश कर गये तो ब्रह्मा को बुद्धि आई और इस बुद्धि से उन्होंने ब्रह्माण्ड की पूर्ववत् सृष्टि प्रारम्भ कर दी।

तात्पर्य : किसी काल विशेष में कारणोदशकशायी भगवान् विष्णु–कारण सागर में शयन करते हैं और अपनी श्वास से हजारों ब्रह्माण्डों की सृष्टि करते हैं। तब वे प्रत्येक ब्रह्माण्ड़ में गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में पुन: प्रवेश करते हैं और अपने पसीने से प्रत्येक ब्रह्माण्ड के अर्धांश को भर देते हैं। शेष आधा भाग शून्य रहता है, जिसे बाह्य आकाश (अन्तरिक्ष) कहते हैं। तब उनके उदर से कमलपुष्प प्रकट होता है और प्रथम जीव ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है। तब भगवान् पुन: क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में ब्रह्मा समेत प्रत्येक जीवात्मा के हृदय में प्रवेश

करते हैं। *भगवद्गीता* के पंद्रहवें अध्याय से इसकी पुष्टि हुई है। भगवान् कहते हैं, ''मैं सबों के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति तथा विस्मृति सम्भव हैं।'' कर्म के साक्षीस्वरूप भगवान् प्रत्येक जीवात्मा को विगत कल्पान्त के प्रलय के समय जिसकी जो इच्छा थी उसे तदनुसार स्मृति तथा बुद्धि प्रदान करते हैं। यह बुद्धि अपनी क्षमता के अनुसार अथवा कर्म के नियम द्वारा प्राप्त होती है।

ब्रह्मा प्रथम जीवात्मा हैं और श्रीभगवान् ने उन्हें रजोगुण का अधिकारी बनाया, अत: उन्हें आवश्यक बुद्धि प्रदान की गई जो इतनी व्यापक तथा शक्तिशाली है, जिससे वे श्रीभगवान् के नियन्त्रण से लगभग स्वतन्त्र हो गये। जिस प्रकार उच्च पद वाला मैनेजर किसी संस्थान के मालिक के ही समान स्वतन्त्र होता है उसी प्रकार यहाँ ब्रह्मा को स्वतन्त्र बताया गया है, क्योंकि ब्रह्माण्ड को वश में रखने वाले भगवान् के प्रतिनिधि-रूप में वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के ही समान शक्तिमान तथा स्वतन्त्र हैं। भगवान् ने ब्रह्मा के भीतर परमात्मा रूप में उन्हें सृजन करने की बुद्धि प्रदान की। अत: प्रत्येक जीवात्मा की बुद्धि उसकी अपनी नहीं होती; यह तो भगवान् की कृपा है कि मनुष्य सृष्टि कर सकता है। इसी संसार में ऐसे अनेक वैज्ञानिक तथा महान् कार्यकर्ता हैं जिनमें अद्भुत सृजन-शक्ति है, किन्तु वे परमेश्वर के निर्देशन के अनुसार ही सृष्टि करते हैं। कोई वैज्ञानिक भगवान् के निर्देशन से अनेक आश्चर्यमय आविष्कार कर सकता है, किन्तु उसके वश में न तो यह है कि अपनी बुद्धि से वह भौतिक प्रकृति के कठोर नियमों पर विजय पा ले, न ही भगवान् से ऐसी बुद्धि प्राप्त कर पाना सम्भव है, क्योंकि तब भगवान् की सर्वोच्चता बाधित होगी। इस श्लोक में कहा गया है कि ब्रह्मा ने ब्रह्माण्ड की सृष्टि की जैसी यह पहले थी। इसका अर्थ यह हुआ कि उन्होंने उसी नाम तथा रूपवाली प्रत्येक वस्तु की सृष्टि की जैसी कि वे पहले के दृश्य जगत में थीं।

ससर्ज च्छाययाविद्यां पञ्चपर्वाणमग्रत: ।
तामिस्रमन्धतामिस्रं तमो मोहो महातम: ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ससर्ज—उत्पन्न किया; छायया—अपनी छाया से; अविद्याम्—अज्ञान; पञ्च-पर्वाणम्—पाँच प्रकार; अग्रतः—सर्वप्रथम; तामिस्त्रम्—तामिस्त्र; अन्ध-तामिस्त्रम्-अन्ध-तामिस्त्र; तमः-तमस्; मोहः-मोह; महा-तमः-महा-तमस्, ओर् महा-मोह.

ब्रह्मा ने सबसे पहले अपनी छाया से बद्धजीवों के अज्ञान के आवरण (कोश) उत्पन्न किये। इनकी संख्या पाँच है और ये तामिस्त्र, अन्ध-तामिस्त्र, तमस्, मोह तथा महामोह कहलाते हैं।

तात्पर्य : इस भौतिक संसार में इन्द्रियतृप्ति के उद्देश्य से जो बद्धजीव या जीवात्माएँ आती हैं, वे प्रारम्भ में पाँच विभिन्न दशाओं से आच्छादित रहती हैं। पहली दशा है तामिस्त्र कोश अर्थात् क्रोध। स्वाभाविक रूप से प्रत्येक जीवात्मा को थोड़ी स्वतन्त्रता प्राप्त है, किन्तु यदि जीवात्मा यह सोचे कि वह परमेश्वर के समान स्वतंत्र भोग क्यों नहीं करता या यह कि उन्हीं के समान मुक्त भोक्ता क्यों नहीं हो जाता तो यह उस किञ्चित स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कहा जाएगा। उसका अपनी इस स्वाभाविक स्थिति को भूलने का कारण क्रोध या द्वेष है। जीवात्मा भगवान् का शाश्वत अंश होने के कारण कभी भी भगवान् के समान भोक्ता नहीं बन सकता। किन्तु जब यह इसे भूल जाता है और भगवान् से समता करने लगता है, तो उसकी इस अवस्था (दृश्य) को तामिस्त्र कहते हैं। आत्मसाक्षात्कार के क्षेत्र में भी जीवात्मा की तामिस्त्र प्रवृत्ति बनी रहती है। इस भौतिक जीवन के बन्धन से छुटकारा पाने का प्रयत्न करते हुए अनेक लोग परब्रह्म से तादात्म्य चाहते हैं। उनके दिव्य कर्मों में भी यह तामिस्त्र की निम्न प्रवृत्ति बनी रहती है।

अन्ध-तामिस्त्र में मृत्यु को परम अन्त माना जाता है। नास्तिक सामान्य रूप से सोचते हैं कि यह शरीर ही आत्मा है और इस शरीर के अन्त होते ही सब कुछ अन्त हो जाता है, फलतः जब तक यह शरीर है तब तक वे भौतिक जीवन का आनन्द उठाना चाहते हैं। उनका यह सिद्धान्त इस प्रकार है—"जब तक जीवित रहो तब तक ठाठ-बाट से रहो। सभी प्रकार के पापों को करते हुए उन पर ध्यान न दो। अच्छा-अच्छा खाओ। माँगकर, उधार लेकर तथा चुरा कर पेट भरो और यह न सोचो कि चुराने तथा माँगने से तुम पाप-कर्मों के भागी होगे। इस भ्रान्त धारणा को भूल जाओ, क्योंकि मृत्यु के बाद सब कुछ समाप्त हो जाएगा। अपने जीवन

में जो कुछ किया जाता है उसके लिए कोई उत्तरदायी नहीं है।'' इस नास्तिकतावादी विचारधारा से मानव सभ्यता विनष्ट हो रही है, यह नित्य जीवन के सातत्य का ज्ञान न होने के कारण है।

यह अंध-तामिस्र अज्ञान तमस् के कारण है। आत्मा के सम्बन्ध में कुछ भी न जानना तमस् है। यह भौतिक जगत भी प्राय: तमस् कहलाता है क्योंकि इसके ९९ प्रतिशत से अधिक जीव आत्मा के स्वरूप से अपरिचित रहते हैं। प्राय: प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि वह शरीर है, उसे आत्मा से सम्बन्ध में किसी प्रकार की जानकारी नहीं होती। इस भ्रान्त धारणावश वह सदैव सोचता रहता है, ''यह मेरा शरीर है और इस शरीर से सम्बन्धित सभी वस्तुएँ मेरी हैं।'' ऐसी दिग्भ्रमित जीवात्माओं के लिए संभोग-सुख ही इस भौतिक जगत का मूलाधार है। वस्तुत: इस भौतिक जगत में अज्ञानवश बद्धजीव संभोग जीवन से निर्देशित होते हैं और ज्योंही उन्हें विषयवासना का अवसर प्राप्त होता हैं, वे तथाकथित घर, मातृभूमि, सन्तान, सम्पत्ति तथा ऐश्वर्य के प्रति आसक्त हो उठते हैं। ज्यों-ज्यों यह आसक्ति बढ़ती जाती है त्यों-त्यों मोह भी बढ़ता जाता है। इस प्रकार, ''मैं तथा मेरा'' विचार की वृद्धि होती जाती है और जब यह बढ़ जाता है, तो सारा संसार मोहग्रस्त हो जाता है, जिससे साम्प्रदायिकता, समाज, परिवार तथा राष्ट्रों का जन्म होता है और वे एक दूसरे से झगड़ते रहते हैं। महा-मोह का अर्थ है भौतिक सुख के पीछे पागल रहना। विशेषरूप से इस कलियुग में प्रत्येक मनुष्य भौतिक सुख की साज-सामग्री संग्रह करने के पीछे दीवाना रहता है। ये परिभाषाएँ *विष्णुपुराण* में सुन्दर ढंग से दी गई हैं। यथा

तमोऽविवेको मोह: स्याद् अन्त:करणविभ्रम:।

महामोहस्तु विज्ञेयो ग्राम्यभोग-सुखैषणा॥

मरणं ह्यन्धतामिस्रं तामिस्रं क्रोध उच्यते।

अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मन:॥

विससर्जात्मनः कायं नाभिनन्दंस्तमोमयम् ।
जगृहुर्यक्षरक्षांसि रात्रिं क्षुत्तृट्समुद्भवाम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

विससर्ज—फेंक दिया; आत्मनः—अपना; कायम्—शरीर; न—नहीं; अभिनन्दन्—प्रसन्न होकर; तमः-मयम्—अज्ञान से युक्त; जगृहुः—अधिकार कर लिया; यक्ष-रक्षांसि—यक्ष तथा राक्षस; रात्रिम्—रात; क्षुत्—भूख; तृट्—प्यास; समुद्भवाम्—स्रोत।

क्रोध के कारण ब्रह्मा ने उस अविद्यामय शरीर को त्याग दिया। इस अवसर का लाभ उठाकर यक्ष तथा राक्षसगण उस रात्रि रूप में स्थित शरीर पर अधिकार जमाने के लिए कूद-फाँद मचाने लगे। रात्रि भूख तथा प्यास की स्रोत है।

क्षुत्तृड्भ्यामुपसृष्टास्ते तं जग्धुमभिदुद्रुवुः ।
मा रक्षतैनं जक्षध्वमित्यूचुः क्षुत्तृडर्दिताः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

क्षुत्-तृड्भ्याम्—भूख तथा प्यास से; उपसृष्टाः—पराजित; ते—वे असुर (यक्ष तथा राक्षस); तम्—ब्रह्मा को; जग्धुम्—खाने को; अभिदुद्रुवुः—आगे को दौड़ा; मा—मत; रक्षत—बचाओ, छोड़ो; एनम्—उसको; जक्षध्वम्—खाओ; इति—इस प्रकार; ऊचुः—कहा; क्षुत्-तृट्-अर्दिताः—भूख तथा प्यास से आकुल।

भूख तथा प्यास से अभिभूत होकर वे चारों ओर से ब्रह्मा को खा जाने के लिए दौड़े और चिल्लाए, "उसे मत छोड़ो, उसे खा जाओ।"

तात्पर्य : आज भी विश्व के कुछ देशों में यक्षों तथा राक्षसों के प्रतिनिधि विद्यमान हैं। ऐसा माना जाता है कि ऐसे असभ्य मनुष्यों को अपने ही बाप-दादों को मारने में मजा आता है और वे उन शरीरों को भूनकर प्रेम-उत्सव मनाते हैं।

देवस्तानाह संविग्नो मा मां जक्षत रक्षत ।
अहो मे यक्षरक्षांसि प्रजा यूयं बभूविथ ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

देवः—ब्रह्माजी ने; तान्—उनको; आह—कहा; संविग्नः—चिन्तित; मा—मत; माम्—मुझको; जक्षत—खाओ; रक्षत—रक्षा करो; अहो—ओह; मे—मेरे; यक्ष-रक्षांसि—हे यक्ष तथा राक्षसों; प्रजाः—पुत्र; यूयम्—तुम सब; बभूविथ—उत्पन्न हुए थे।

देवताओं के प्रधान ब्रह्माजी ने घबराकर उनसे कहा, "मुझे खाओ नहीं, मेरी रक्षा करो। तुम मुझसे उत्पन्न हो और मेरे पुत्र हो चुके हो। अतः तुम लोग यक्ष तथा राक्षस हो।"

तात्पर्य : ब्रह्मा के शरीर से उत्पन्न असुर, यक्ष तथा राक्षस कहलाये क्योंकि उनमें से कुछ चिल्लाए कि ब्रह्मा को मारकर खा जाओ और कुछ ने कहा रक्षा मत करो। जिन्होंने कहा था कि ब्रह्मा को खा जाओ वे यक्ष कहलाए और जिन्होंने कहा इसकी रक्षा मत करो वे राक्षस अर्थात् मानवभक्षी कहलाए। यक्ष तथा राक्षस ये दोनों ब्रह्मा की आदि सृष्टि हैं और आज भी असभ्य मनुष्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं और में सारे संसार में फैले हुए हैं। वे तमोगुण से उत्पन्न हैं, अत: अपने आचरण के कारण वे राक्षस अर्थात् मानवभक्षी कहलाते हैं।

देवताः प्रभया या या दीव्यन्प्रमुखतोऽसृजत् ।
ते अहार्षुर्देवयन्तो विसृष्टां तां प्रभामहः ॥ २२॥

शब्दार्थ

देवताः—देवतागण; प्रभया—प्रकाश के तेज से; याः याः—जो जो; दीव्यन्—चमकते हुए; प्रमुखतः—मुख्य रूप से; असृजत्—उत्पन्न किया; ते—उन्होंने; अहार्षुः—अधिकार जमा लिया; देवयन्तः—सक्रिय होने से; विसृष्टाम्—पृथक् किया हुआ; ताम्—उस; प्रभाम्—तेज को; अहः—दिन।

तब उन्होंने प्रमुख देवताओं की सृष्टि की जो सात्त्विक प्रभा से चमचमा रहे थे। उन्होंने देवताओं के समक्ष दिन का तेज फैला दिया जिस पर देवताओं ने खेल-खेल में ही अधिकार जमा लिया।

तात्पर्य : रात्रि की सृष्टि के साथ असुर और दिन की उत्पत्ति के साथ देवता उत्पन्न हुए। दूसरे शब्दों में, यक्ष तथा राक्षस जैसे असुर अविद्या के गुण से और देवता सात्त्विकता के गुण से उत्पन्न हुए हैं।

देवोऽदेवाञ्जघनतः सृजति स्मातिलोलुपान् ।
त एनं लोलुपतया मैथुनायाभिपेदिरे ॥ २३॥

शब्दार्थ

देवः—ब्रह्माजी ने; अदेवान्—असुरों को; जघनतः—अपने नितंबों से; सृजति स्म—उत्पन्न किया; अति-लोलुपान्—अत्यन्त कामुक (विषयी); ते—वे; एनम्—ब्रह्माजी; लोलुपतया—कामवश; मैथुनाय—संभोग के लिए; अभिपेदिरे—निकट आये।

ब्रह्माजी ने अपने नितंब प्रदेश से असुरों को उत्पन्न किया जो अत्यन्त कामी थे। अत्यन्त कामी होने के कारण वे संभोग के लिए उनके निकट आ गये।

तात्पर्य : विषयी जीवन इस भौतिक संसार की आधारभूमि है। यहाँ पर भी यही दुहराया गया है कि असुर विषय-वासना के अत्यन्त प्रेमी होते हैं। जो विषय-वासना से जितना ही मुक्त होता जाता है, वह उतना ही देवत्व के स्तर की ओर अग्रसर होता है और जिसका काम-वासना के प्रति जितना झुकाव होता है, वह उतना ही आसुरी जीवन की अधोगति को प्राप्त होता है।

ततो हसन्स भगवानसुरैर्निरपत्रपैः ।
अन्वीयमानस्तरसा क्रुद्धो भीतः परापतत् ॥ २४॥

शब्दार्थ

ततः—तब; हसन्—हँसते हुए; सः भगवान्—पूज्य ब्रह्माजी; असुरैः—असुरों के द्वारा; निरपत्रपैः—निर्लज्ज; अन्वीयमानः—पीछा करते हुए; तरसा—तेजी से; क्रुद्धः—नाराज; भीतः—भयभीत; परापतत्—भाग गया।.

पहले तो पूज्य ब्रह्माजी उनकी मूर्खता पर हँसे, किन्तु उन निर्लज्ज असुरों को अपना पीछा करते देखकर वे क्रुद्ध हुए और भयभीत होकर हड़बड़ी में भागने लगे।

तात्पर्य : विषयी असुरों को अपने पिता के प्रति भी आदरभाव नहीं रह जाता, अत: ब्रह्मा जैसे साधु पिता के लिए सबसे अच्छी नीति यही है कि ऐसे असुर-पुत्रों का परित्याग कर दे।

स उपव्रज्य वरदं प्रपन्नार्तिहरं हरिम् ।
अनुग्रहाय भक्तानामनुरूपात्मदर्शनम् ॥ २५॥

शब्दार्थ

सः—ब्रह्माजी; उपव्रज्य—पास पहुँच कर; वर-दम्—समस्त वरों के दाता; प्रपन्न—चरणकमल की शरण लेने वाले; आर्ति—कष्ट; हरम्—दूर करने वाला; हरिम्—भगवान् श्री हरि के; अनुग्रहाय—कृपावश; भक्तानाम्—अपने भक्तों के प्रति; अनुरूप—उपयुक्त रूप में; आत्म-दर्शनम्—अपने आप को प्रकट करने वाला।.

वे भगवान् श्री हरि के पास पहुँचे जो समस्त वरों को देने वाले तथा अपने भक्तों एवं अपने चरणों की शरण ग्रहण करने वालों की पीड़ा को हरने वाले हैं। वे अपने भक्तों की तुष्टि के लिए असंख्य दिव्य रूपों में प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : *भक्तानाम् अनुरूपात्मदर्शनम्* शब्दों का अर्थ है कि भक्तों की इच्छानुरूप भगवान् अपने विविध रूपों को प्रकट करते हैं। उदाहरणार्थ, हनुमानजी (बज्राङ्ग जी) भगवान् को भगवान् श्रीरामचन्द्र के रूप में देखना चाहते थे जब कि कुछ अन्य वैष्णव राधाकृष्ण रूपमें

देखना चाहते हैं और कुछ ऐसे हैं, जो भगवान् को लक्ष्मीनारायण रूप में देखना चाहते हैं। मायावादी दार्शनिकों का विचार है कि यद्यपि भगवान् द्वारा ये सभी रूप भक्तों की इच्छानुसार धारण किये जाते हैं, किन्तु वास्तव में वे निराकार हैं। तो भी *ब्रह्म-संहिता* से हमें ज्ञात होता है कि ऐसा है नहीं, भगवान् के विविध रूप होते हैं। उसमें कहा गया है *अद्वैतम् अच्युतम्*। भगवान् भक्त की कल्पना के कारण भक्त के समक्ष प्रकट नहीं होते। *ब्रह्म-संहिता* यह भी बताती है कि भगवान् के अनेक रूप हैं—*रामादि-मूर्तिषु, कलानियमेन तिष्ठन्*। वे करोड़-करोड़ रूपों में विद्यमान हैं। जीवात्माओं की चौरासी लाख योनियाँ हैं, किन्तु परमेश्वर के अवतार अनन्त हैं। *भागवत* में कहा गया है कि जिस प्रकार समुद्र की तरंगें नहीं गिनी जा सकतीं, क्योंकि वे लगातार प्रकट और लुप्त होती रहती हैं, उसी प्रकार भगवान् के अवतार तथा रूप भी अनन्त हैं। भक्त किसी रूप विशेष के प्रति अनुरक्त होता है और वह इसी रूप को पूजता है। हम इस ब्रह्माण्ड में उनके आदि वराह रूप की चर्चा अभी अभी कर चुके हैं। ऐसे अनेक ब्रह्माण्ड हैं और इनमें से किसी एक में वराह रूप सम्प्रति विद्यमान होगा। भगवान् के समस्त रूप नित्य हैं। यह तो भक्त की रुचि पर निर्भर करता है कि वह भगवान् के किस रूप की पूजा करता है। रामायण के एक श्लोक में राम के परम भक्त हनुमान कहते हैं, ''मैं जानता हूँ कि श्रीभगवान् के सीताराम तथा लक्ष्मीनारायण रूपों में कोई अन्तर नहीं है, तो भी मेरा अनुराग और प्रेम राम तथा सीता के रूप में घुल-मिल गया है। अत: मैं भगवान् के राम तथा सीता के ही रूप का दर्शन करना चाहता हूँ।'' इसी प्रकार गौड़ीय वैष्णव राधा तथा कृष्ण और द्वारकावासी कृष्ण तथा रुक्मिणी रूपों से प्रेम करते हैं। *भक्तानाम् अनुरूपात्मदर्शनम्* शब्दों का अर्थ है कि भगवान् उसे उस विशेष रूप में दर्शन देते हैं जिस रूप में भक्त उनकी पूजा और सेवा करना चाहते हैं। इस श्लोक में बताया गया है कि ब्रह्माजी भगवान् हरि के पास पहुँचे। भगवान् का यह क्षीरोदकशायी विष्णु रूप है। जब कभी कोई संकट आता है और ब्रह्माजी को भगवान् के पास जाना पड़ता है, तो ब्रह्माजी, क्षीरोदकशायी विष्णु के पास ही पहुँच सकते हैं और यह भगवान् का अनुग्रह है कि जब भी ब्रह्माण्ड के उत्पातों के बारे में ब्रह्मा उनके पास

जाते हैं, वे अनेकानेक प्रकार से उनका संकट दूर करते हैं।

पाहि मां परमात्मंस्ते प्रेषणेनासृजं प्रजाः ।
ता इमा यभितुं पापा उपाक्रामन्ति मां प्रभो ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

पाहि—रक्षा कीजिये; माम्—मुझको; परम-आत्मन्—हे परमेश्वर; ते—तुम्हारी; प्रेषणेन—आज्ञा से; असृजम्—मैंने उत्पन्न किया; प्रजाः—समस्त जीव; ताः इमाः—वे ही; यभितुम्—संभोग की इच्छा से; पापाः—पापी जीव; उपाक्रामन्ति—पास आ रहे हैं; माम्—मेरे; प्रभो—हे भगवान्।

भगवान् के पास जाकर ब्रह्माजी ने उन्हें इस प्रकार सम्बोधित किया—हे भगवान्, इन पापी असुरों से मेरी रक्षा करें, जिन्हें आपकी आज्ञा से मैंने उत्पन्न किया था। ये विषय-वासना की भूख से क्रोधोन्माद में आकर मुझ पर आक्रमण करने आये हैं।

तात्पर्य : इस घटना से ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न असुरों की सृष्टि में पुरुषों के मध्य समलिंगी तृषा उत्पन्न होती है। दूसरे शब्दों में, एक पुरुष द्वारा दूसरे पुरुष के लिए समलिंगी भूख आसुरी है और सामान्य जीवन में किसी भी बुद्धिमान मनुष्य के लिए उचित नहीं है।

त्वमेकः किल लोकानां क्लिष्टानां क्लेशनाशनः ।
त्वमेकः क्लेशदस्तेषामनासन्नपदां तव ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; एकः—अकेले; किल—निस्सन्देह; लोकानाम्—मनुष्यों के; क्लिष्टानाम्—क्लेशों से ग्रस्त; क्लेश—कष्ट; नाशनः—नाश करने के लिए; त्वम् एकः—तुम्हीं अकेले; क्लेश-दः—क्लेश देने वाले; तेषाम्—उन पर; अनासन्न—जो शरण नहीं लेते; पदाम्—पैरों की; तव—तुम्हारे।

हे भगवान्, केवल आप ही दुखियों के कष्ट दूर करने और आपके चरणों की शरण में न आने वालों को यातना देने में समर्थ हैं।

तात्पर्य : *क्लेशदस्तेषामनासन्नपदां तव* शब्द सूचित करते हैं कि भगवान् के दो काम हैं। प्रथम यह कि जो उनके चरणकमलों की शरण में आता है उसे सुरक्षा प्रदान करें और दूसरा यह कि जो आसुरी स्वभाव के हैं और भगवान् से वैर-भाव रखते हैं उन्हें कष्ट पहुँचाएं। माया का कार्य है अभक्तों को कष्ट पहुँचाना। यहाँ ब्रह्मा कहते हैं, ''आप शरणागत जीवों के रक्षक हैं

अत: मैं आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण करता हूँ। कृपा करके इन असुरों से मेरी रक्षा करें।''

सोऽवधार्यास्य कार्पण्यं विविक्ताध्यात्मदर्शनः ।
विमुञ्चात्मतनुं घोरामित्युक्तो विमुमोच ह ॥ २८॥

शब्दार्थ

सः—परमेश्वर, हरि; अवधार्य—देखकर; अस्य—ब्रह्मा की; कार्पण्यम्—व्यथा; विविक्त—सन्देहरहित; अध्यात्म—अन्यों के मन; दर्शनः—जो देख सकता है; विमुञ्च—त्याग दो; आत्म-तनुम्—अपना शरीर; घोराम्—अपवित्र; इति उक्तः—इस प्रकार आदेशित होकर; विमुमोच ह—ब्रह्माजी ने छोड़ दिया।

सबों के मनों को स्पष्ट रूप से देख सकने वाले भगवान् ने ब्रह्मा की वेदना समझ ली और वे उनसे बोले, ''तुम अपना यह अशुद्ध शरीर त्याग दो।'' भगवान् से आदेश पाकर ब्रह्मा ने अपना शरीर त्याग दिया।

तात्पर्य : भगवान् को इस श्लोक में *विविक्ताध्यात्मदर्शन:* कहा गया है। यदि कोई पराये दुख को पूर्णरूपेण बिना सन्देह के देख सकता है, तो वह स्वयं भगवान् ही है। यदि कोई मनुष्य कष्ट में होता है और अपने मित्र से उसका निवारण चाहता है, तो ऐसा कभी कभी होता है कि मित्र उसके दुख की सघनता को नहीं समझ पाता, किन्तु भगवान् के लिए ऐसा कर पाना कठिन नहीं है। परमात्मा रूप में वह प्रत्येक जीवात्मा के शरीर में स्थित है और वह दुख के वास्तविक कारणों को प्रत्यक्ष देखता रहता है। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं *सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः*—मैं सबों के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति तथा विस्मृति उत्पन्न होती है। इस प्रकार जब कोई पूर्णतया भगवान् की शरण में चला जाता है, तो वह भगवान् को अपने हृदय में संस्थित पाता है। वे हमें संकट से उबरने अथवा अपनी भक्ति करने के उपाय के लिए आदेश दे सकते हैं। फिर भी भगवान् ने ब्रह्मा से अपना वर्तमान शरीर त्यागने के लिए कहा, क्योंकि उससे आसुरी तत्त्व उत्पन्न हुआ था। श्रीधर स्वामी के अनुसार ब्रह्मा के द्वारा निरन्तर शरीर त्याग यह सूचित नहीं करता कि वास्तव में वे अपना शरीर त्यागते हैं, वरन् वे यह सुझाव देते हैं कि ब्रह्मा ने एक विशेष प्रकार की मानसिकता का परित्याग किया। मन जीवात्मा का सूक्ष्म शरीर है। हम कभी ऐसे विचार में मग्न हो सकते हैं, जो पापमय हो, किन्तु यदि हम इस

पापमय विचार को त्याग दें तो यह कहा जा सकता है कि हम शरीर त्याग कर रहे हैं। जब ब्रह्मा ने असुरों को उत्पन्न किया, तो उनका मन ठिकाने पर नहीं था। हो सकता है कि वह काममय रहा हो, क्योंकि सारी सृष्टि कामुक थी। इसीलिए ऐसी कामुक सन्तानें उत्पन्न हुईं। इसका यह अर्थ हुआ कि माता-पिता को सन्तान उत्पन्न करते समय सतर्क रहना चाहिए। सन्तान की मानसिक अवस्था गर्भाधान के समय माता-पिता की मानसिक स्थिति पर निर्भर करती है। इसीलिए वैदिक पद्धति में सन्तानोत्पत्ति के लिए गर्भाधान संस्कार सम्पन्न किया जाता है। सन्तान उत्पन्न करने के पूर्व आतुर मन को शान्त करना आवश्यक है। जब माता-पिता भगवान् के पादपद्मों में अपने मन को रमाते हैं, तो ऐसी स्थिति में जो सन्तान उत्पन्न होती है, वह स्वभावत: भक्त बनती है और जब समाज ऐसे उत्तम लोगों से पूर्ण रहता है, तो आसुरी प्रवृत्तियों के कारण कोई कष्ट नहीं पहुँचता।

तां क्वणच्चरणाम्भोजां मदविह्वललोचनाम् ।
काञ्चीकलापविलसद्दुकूलच्छन्नरोधसम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उस शरीर को; क्वणत्—नुपुर ध्वनि करता; चरण-अम्भोजाम्—चरणकमल वाली; मद—नशा; विह्वल—विभोर; लोचनाम्—आँखों वाली; काञ्ची-कलाप—स्वर्णाभरण से निर्मित करधनी वाली; विलसत्—चमकती; दुकूल—महीन वस्त्र से; छन्न—ढकी; रोधसम्—कटि वाली।.

ब्रह्मा द्वारा परित्यक्त शरीर ने सन्ध्या का रूप धारण कर लिया जो काम को जगाने वाली दिन-रात की संधि वेला है। असुर जो स्वभाव से कामुक होते हैं और जिनमें रजोगुण का प्राधान्य होता है उसे सुन्दरी मान बैठे जिसके चरण-कमलों से नूपुरों की ध्वनि निकल रही थी, जिसके नेत्र मद से विस्तीर्ण थे और जिसका कटि भाग महीन वस्त्र से ढका था और जिस पर मेखला चमक रही थी।

तात्पर्य : जिस प्रकार प्रात:काल आत्मचिन्तन की वेला है उसी प्रकार संध्या काम (विषय वासना) की वेला है। आसुरी पुरुष प्राय: विषय-सुख के लिए लालायित रहते हैं, अत: संध्या का आना उन्हें प्रीतिकर लगता है। संध्या आगमन को असुरगण ने एक सुन्दरी स्त्री मान लिया और वे उसे कई प्रकार से चाहने लगे। उन्होंने उस संध्या को एक सुन्दरी मान लिया जिसके

पाँव के नूपुर से रुनझुन हो रही थी, जिसके कटि प्रदेश में मेखली थी, सुन्दर-सुन्दर उरोज थे और अपनी कामतुष्टि के लिए उन्हें इस सुन्दरी बाला को अपने समक्ष प्रकट होने का आयास हुआ।

अन्योन्यश्लेषयोत्तुङ्गनिरन्तरपयोधराम् ।
सुनासां सुद्विजां स्निग्धहासलीलावलोकनाम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अन्योन्य—परस्पर; श्लेषया—चिपकने से; उत्तुङ्ग—उठे हुए; निरन्तर—अन्तर हीन (सटे); पयः-धराम्—स्तन; सु-नासाम्—सुन्दर नाक; सु-द्विजाम्—सुन्दर दाँत; स्निग्ध—आकर्षक; हास—हँसी; लीला-अवलोकनाम्—विलासमयी चितवन।

एक दूसरे से सटे होने के कारण उसके स्तन ऊपर उठे हुए थे और उनके बीच में कोई रिक्त स्थान बचा न था। उसकी नाक तथा दाँतों की बनावट सुन्दर थी; उसके होठों पर आकर्षक हँसी नाच रही थी और वह असुरों को क्रीड़ापूर्ण चितवन से देख रही थी।

गूहन्तीं व्रीडयात्मानं नीलालकवरूथिनीम् ।
उपलभ्यासुरा धर्म सर्वे सम्मुमुहुः स्त्रियम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

गूहन्तीम्—छिपाते हुए; व्रीडया—लज्जावश; आत्मानम्—अपने आपको; नील—काले; अलक—बाल; वरूथिनीम्—गुच्छा; उपलभ्य—कल्पना करके; असुराः—असुरगण; धर्म—हे विदुर; सर्वे—सभी; सम्मुमुहुः—मोहित हो गये; स्त्रियम्—स्त्री को।

काले-काले बालसमूह से विभूषित वह मानो लज्जावश अपने को छिपा रही थी। उस बाला को देखकर सभी असुर विषय-वासना की भूख से मोहित हो गये।

तात्पर्य : असुरों तथा देवताओं में यही अन्तर है कि सुन्दर स्त्री असुरों के मन को आकृष्ट कर लेती है, किन्तु वह दैव-पुरुषों के मन को आकृष्ट नहीं कर पाती। दैव-पुरुष ज्ञान से पूर्ण होता है जब कि असुर अविद्या से। जिस प्रकार कोई शिशु किसी सुन्दर गुड़िया के द्वारा आकृष्ट हो उठता है उसी प्रकार से एक असुर कम बुद्धिमान होने तथा अविद्या से पूर्ण होने के कारण भौतिक सुन्दरता से तथा विषय-भोग की भूख से आकृष्ट होता है। दैव-पुरुष जानता है कि सुघड़ वेशभूषा और उन्नत उरोज, उठे नितम्ब, सुन्दर नासिका तथा सुन्दर रूप-रंग का यह

आकर्षण माया है। स्त्री में प्रदर्शित होने वाली सारी सुन्दरता रक्त तथा मांस के संयोग से बनी है। श्रीशंकराचार्य ने ऐसे समस्त पुरुषों को रक्त तथा मांस के इस संयोग के प्रति नहीं वरन् आध्यात्मिक-जीवन के वास्तविक सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होने का उपदेश दिया है। वास्तविक सौन्दर्य तो कृष्ण तथा राधा हैं। जो मनुष्य इनके सौन्दर्य से आकृष्ट हो चुका है, वह भौतिक जगत के मिथ्या सौन्दर्य से आकृष्ट नहीं हो सकता। एक असुर तथा दैव पुरुष अथवा भक्त में यही अन्तर होता है।

अहो रूपमहो धैर्यमहो अस्या नवं वयः ।
मध्ये कामयमानानामकामेव विसर्पति ॥ ३२॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; रूपम्—कैसा सौन्दर्य; अहो—ओह; धैर्यम्—कैसा धैर्य (संयम); अहो—ओह; अस्याः—इसका; नवम्—उभरता हुआ; वयः—यौवन; मध्ये—बीच में; कामयमानानाम्—कामियों के; अकामा—कामरहित; इव—सदृश; विसर्पति—साथ टहल रही है।

असुरों ने उसकी प्रशंसा की—अहा! कैसा रूप, कैसा अप्रतिम धैर्य, कैसा उभरता यौवन, हम कामपीड़ितों के बीच वह इस प्रकार विचर रही है मानो काम-भाव से सर्वथा रहित हो।

वितर्कयन्तो बहुधा तां सन्ध्यां प्रमदाकृतिम् ।
अभिसम्भाव्य विश्रम्भात्पर्यपृच्छन्कुमेधसः ॥ ३३॥

शब्दार्थ

वितर्कयन्तः—तर्क-वितर्क करते हुए; बहुधा—अनेक प्रकार से; ताम्—उस; सन्ध्याम्—संध्या वेला को; प्रमदा—तरुणी स्त्री; आकृतिम्—के रूप में; अभिसम्भाव्य—सम्मानपूर्वक; विश्रम्भात्—प्यार से; पर्यपृच्छन्—पूछी जाकर; कु-मेधसः—दुष्ट बुद्धि वाले।

तरुणी स्त्री के रूप में प्रतीत होने वाली संध्या के विषय में अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क करते हुए दुष्ट-बुद्धि असुरों ने उसका अत्यन्त आदर किया और उससे प्रेमपूर्वक इस प्रकार बोले।

कासि कस्यासि रम्भोरु को वार्थस्तेऽत्र भामिनि ।
रूपद्रविणपण्येन दुर्भगान्नो विबाधसे ॥ ३४॥

शब्दार्थ

का—कौन; असि—हो; कस्य—किसकी; असि—हो; रम्भोरु—हे सुन्दरी; कः—क्या; वा—अथवा; अर्थः—प्रयोजन; ते—तुम्हारा; अत्र—यहाँ; भामिनि—हे कामिनी; रूप—सौन्दर्य; द्रविण—अमूल्य; पण्येन—सामग्री से; दुर्भगान्—अभागे; नः—हमें; विबाधसे—तरसा रही हो।

हे सुन्दरी बाला, तुम कौन हो? तुम किसकी पत्नी या पुत्री हो और तुम हम सबों के समक्ष किस प्रयोजन से प्रकट हुई हो? हम अभागों को तुम अपने सौन्दर्य रूपी अमूल्य सामग्री से क्यों तरसा रही हो?

तात्पर्य : यहाँ पर भौतिक जगत के मिथ्या सौन्दर्य के प्रति असुरों का आकर्षण दिखाया गया है। असुर लोग इस संसार में त्वचा-सौन्दर्य के लिए कोई भी मूल्य चुका सकते हैं। वे अहर्निश कठोर श्रम करते हैं, किन्तु इस कठिन श्रम का प्रयोजन विषयी जीवन का आनन्द उठाना है। कभी-कभी वे योग का अर्थ न जानते हुए अपने आपको कर्मयोगी बतलाते हैं। योग का अर्थ है पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के साथ अपने को जोड़ना अथवा कृष्णभावनामृत के लिए कर्म करना। ऐसा मनुष्य, जो कठोर श्रम करता है, वह चाहे जिस उद्यम में हो तथा ऐसा मनुष्य जो अपने कर्म के फल को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में अर्पित कर देता है, कर्मयोगी कहलाता है।

या वा काचित्त्वमबले दिष्ट्या सन्दर्शनं तव ।
उत्सुनोषीक्षमाणानां कन्दुकक्रीडया मनः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

या—जो कोई भी; वा—अथवा; काचित्—कोई; त्वम्—तुम; अबले—हे सुन्दरी बाला; दिष्ट्या—भाग्यवश; सन्दर्शनम्—दर्शन पाकर; तव—तुम्हारा; उत्सुनोषि—विचलित करती हो; ईक्षमाणानाम्—देखने वालों के; कन्दुक—गेंद के साथ; क्रीडया—खेल से; मनः—मन।

हे सुन्दरी बाला, तुम चाहे जो भी हो, हम भाग्यशाली हैं कि तुम्हारा दर्शन कर रहे हैं। तुमने गेंद के अपने खेल से हम दर्शकों के मन को विचलित कर दिया है।

तात्पर्य : असुर लोग सुन्दरी स्त्री की सुन्दरता को देखने के लिए नाना प्रकार के आयोजन करते हैं। यहाँ यह बताया गया है कि उन्होंने गेंद खेलती हुई तरुणी को देखा। कभी-कभी आसुरी लोग टेनिस जैसे खेलों का आयोजन विपरीत लिंगी (स्त्रियों) के साथ करते हैं। ऐसे आयोजनों का उद्देश्य सुन्दरी बाला के शारीरिक सौन्दर्य का अवलोकन तथा सूक्ष्म कामभाव का

आनन्द उठाना है। ऐसी आसुरी काम-प्रवृत्ति को कभी-कभी तथाकथित योगी भी बढ़ावा देते हैं, जो जनता को विभिन्न प्रकार से विषयी जीवन व्यतीत करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं और विज्ञापित करते हैं कि यदि कोई उनके द्वारा तैयार किए मन्त्र का ध्यान करेगा तो वह छह महीनों में ईश्वर बन सकता है। जनता चाहती है कि लोग उन्हें ठगें इसलिए श्रीकृष्ण ऐसे वंचकों को उत्पन्न करते हैं, जो ढोंग करते है और ठगते हैं। ये तथाकथित *योगी* योगियों के वेष में संसार के भोगी हैं। किन्तु *भगवद्गीता* की संस्तुति है कि यदि कोई जीवन का सुख उठाना चाहता है, तो वह इन स्थूल इन्द्रियों से नहीं उठा सकता। रोगी व्यक्ति को अनुभवी डाक्टर सलाह देता है कि रुग्णावस्था में सामान्य भोग से विलग रहे। रोगी प्रत्येक वस्तु का भोग नहीं कर सकता; रोग से बचने के लिए उसे भोग से दूर रहना होता है। इसी प्रकार हमारी भौतिक अवस्था रोगी जैसी है। यदि कोई सचमुच इन्द्रिय-सुख चाहता है, तो उसे इस संसार के बन्धन से मुक्त होना होगा। आत्मिक जीवन में हम अनन्त इन्द्रिय-सुख उठा सकते हैं। भौतिक तथा सात्त्विक (आत्मिक) सुख में यही अन्तर होता है कि भौतिक सुख सीमित है। यदि कोई भौतिक काम वासना के सुख में लिप्त रहना चाहे तो वह दीर्घकाल तक सुख नहीं भोग सकता। किन्तु काम-सुख त्याग देने पर आत्मिक जीवन का शुभारम्भ होता है और यह असीम होता है। *भागवत* (५.५.१) में कहा गया है कि *ब्रह्मसौख्य* अर्थात् आत्मिक सुख अनन्त है। मूर्ख प्राणी ही पदार्थ के सौन्दर्य पर रीझते हैं और इससे मिलने वाले सुख को सत्य मान बैठते हैं किन्तु वह वास्तविक आनन्द होता नहीं।

नैकत्र ते जयति शालिनि पादपद्मं
घ्नन्त्या मुहुः करतलेन पतत्पतङ्गम् ।
मध्यं विषीदति बृहत्स्तनभारभीतं
शान्तेव दृष्टिरमला सुशिखासमूहः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एकत्र—एक स्थान पर; ते—तुम्हारा; जयति—ठहरता है; शालिनि—हे सुन्दर स्त्री; पाद-पद्मम्—चरणकमल; घ्नन्त्याः—मार कर; मुहुः—पुनः पुनः; कर-तलेन—हथेली से; पतत्—उछालती; पतङ्गम्—गेंद को; मध्यम्—कटि; विषीदति—थक जाती है; बृहत्—पूर्ण विकसित; स्तन—तुम्हारे स्तनों के; भार—बोझ से; भीतम्—

दुखित; शान्ता इव—मानो थकित; दृष्टिः—दृष्टि; अमला—स्वच्छ; सु—सुन्दर; शिखा—तुम्हारी चोटी; समूहः—गुच्छा।.

हे सुन्दरी, जब तुम धरती से उछलती गेंद को अपने हाथों से बार-बार मारती हो तो तुम्हारे चरण-कमल एक स्थान पर नहीं रुके रहते। तुम्हारे पूर्ण विकसित स्तनों के भार से पीड़ित तुम्हारी कमर थक जाती है और स्वच्छ दृष्टि मन्द पड़ जाती है। कृपया अपने सुन्दर बालों को ठीक से गूँथ तो लो।

तात्पर्य : असुरों को उस सुन्दरी के प्रत्येक पग पर सुन्दर हाव-भाव दिख रहे थे। यहाँ पर वे गेंद खेलते समय उसके पूरी तरह उभरे उरोजों, बिखरे बालों तथा आगे-पीछे झुकने की गतियों की प्रशंसा करते हैं। वे पद-पद पर उसके स्त्रियोचित सौन्दर्य का आनंद लेते हैं और इस प्रकार आनन्द लेते हुए उनके मन कामवासना से उद्विग्न हो उठते हैं। जिस प्रकार रात्रि में अग्नि के चारों ओर पतंगे एकत्र होते और फिर मर जाते हैं उसी प्रकार से असुर सुन्दरी के कन्दुक सदृश स्तनों की हलचल के शिकार हो जाते हैं। सुन्दरी की बिखरी केश-राशि भी कामी असुरों के मन को आहत करती है।

इति सायन्तनीं सन्ध्यामसुराः प्रमदायतीम् ।
प्रलोभयन्तीं जगृहुर्मत्वा मूढधियः स्त्रियम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार से; सायन्तनीम्—सायंकाल; सन्ध्याम्—सन्ध्या का प्रकाश; असुराः—असुरगण; प्रमदायतीम्—गर्वीली स्त्री की भाँति आचरण करती; प्रलोभयन्तीम्—लुभाती हुई; जगृहुः—पकड़ लिया; मत्वा—मानकर; मूढ-धियः—मूर्ख; स्त्रियम्—स्त्री को।.

जिनकी बुद्धि पर पर्दा पड़ चुका है, ऐसे असुरों ने सन्ध्या को हावभाव करने वाली आकर्षक सुन्दरी मानकर उसको पकड़ लिया।

तात्पर्य : असुरों को *मूढ-धियः* कहा गया है, जिसका अर्थ है कि वे गधों की तरह जड़तावश मोहित हो गये। असुर लोग मिथ्या, भौतिक रूप की प्रदीप्त सुन्दरता पर मोहित हो गये और उसका आलिंगन करने लगे।

प्रहस्य भावगम्भीरं जिघ्रन्त्यात्मानमात्मना ।

कान्त्या ससर्ज भगवान्गन्धर्वाप्सरसां गणान् ॥ ३८॥

शब्दार्थ

प्रहस्य—हँस कर; भाव-गम्भीरम्—गम्भीर प्रयोजन से; जिघ्रन्त्या—समझकर; आत्मानम्—स्वयं को; आत्मना—अपने आप से; कान्त्या—अपनी कान्ति से; ससर्ज—उत्पन्न किया; भगवान्—पूज्य भगवान् ब्रह्मा; गन्धर्व—नैसर्गिक गायक; अप्सरसाम्—तथा स्वर्ग की नर्तकियाँ; गणान्—समूह।

तब गम्भीर भावपूर्ण हँसी हँसते हुए पूज्य ब्रह्मा ने अपनी कान्ति से, जो अपने सौन्दर्य का मानो आप ही आस्वादन करती थी, गन्धर्वों व अप्सराओं के समूह को उत्पन्न किया।

तात्पर्य : स्वर्गलोक के गायक गंधर्व कहलाते हैं और नर्तकियाँ अप्सराएँ। असुरों द्वारा आक्रमण किये जाने पर ब्रह्मा ने पहले संध्या समय एक सुन्दर स्त्री का रूप उत्पन्न किया और फिर गन्धर्व तथा अप्सराएँ उत्पन्न कीं। जब इन्द्रिय-तृप्ति के लिए गायन तथा वादन का प्रयोग होता है, तो वह आसुरी होता है किन्तु वही गायन-वादन जब कीर्तन के रूप में भगवान् की स्तुति के लिए प्रयुक्त होता है, तो वह दिव्य होता है और उससे ऐसा जीवन उत्पन्न होता है, जो सर्वथा आत्मसुख के योग्य है।

विससर्ज तनुं तां वै ज्योत्स्नां कान्तिमतीं प्रियाम् ।
त एव चाददुः प्रीत्या विश्वावसुपुरोगमाः ॥ ३९॥

शब्दार्थ

विससर्ज—त्याग दिया; तनुम्—रूप को; ताम्—उस; वै—निस्सन्देह; ज्योत्स्नाम्—चाँदनी; कान्ति-मतीम्—चमकती हुई; प्रियाम्—प्रिया; ते—गन्धर्व; एव—निश्चय ही; च—तथा; आददुः—अपना लिया; प्रीत्या—प्रसन्नतापूर्वक; विश्वावसु-पुरः-गमाः—विश्वावसु जिनका अग्रणी था।

तत्पश्चात् ब्रह्मा ने वह चाँदनी सा दीप्तिमान तथा सुन्दर रूप त्याग दिया और विश्वावसु तथा अन्य गन्धर्वों ने प्रसन्नतापूर्वक उसे अपना लिया।

सृष्ट्वा भूतपिशाचांश्च भगवानात्मतन्द्रिणा ।
दिग्वाससो मुक्तकेशान्वीक्ष्य चामीलयद्दृशौ ॥ ४०॥

शब्दार्थ

सृष्ट्वा—उत्पन्न करके; भूत—भूत-प्रेत; पिशाचान्—पिशाचों को; च—तथा; भगवान्—ब्रह्माजी ने; आत्म—अपने; तन्द्रिणा—आलस्य से; दिक्-वाससः—नग्न; मुक्त—बिखरे; केशान्—बालों को; वीक्ष्य—देखकर; च—तथा; अमीलयत्—बन्द किया; दृशौ—दोनों नेत्र।

तब पूज्य ब्रह्मा ने अपनी तन्द्रा से भूतों तथा पिशाचों को उत्पन्न किया, किन्तु जब उन्हें नग्न एवं बिखरे बाल वाले देखा तो उन्होंने अपनी आँखें बन्द कर लीं।

तात्पर्य : भूत तथा प्रेत भी ब्रह्मा की सृष्टि हैं, वे अवास्तविक नहीं हैं। ये सब बद्धजीव को नाना प्रकार के कष्टों में डालने के साधन हैं। इनकी सृष्टि परमेश्वर के आदेश से ब्रह्मा द्वारा की गई समझी जाती है।

जगृहुस्तद्विसृष्टां तां जृम्भणाख्यां तनुं प्रभोः
निद्रामिन्द्रियविक्लेदो यया भूतेषु दृश्यते ।
येनोच्छिष्टान्धर्षयन्ति तमुन्मादं प्रचक्षते ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

जगृहुः—अपना लिया; तत्-विसृष्टाम्—उसके द्वारा फेंका गया; ताम्—उस; जृम्भण-आख्याम्—जम्हाई लेता हुआ; तनुम्—शरीर को; प्रभोः—भगवान् ब्रह्मा का; निद्राम्—नींद; इन्द्रिय-विक्लेदः—लार चुआता; यया—जिससे; भूतेषु—जीवों के मध्य; दृश्यते—देखा जाता है; येन—जिससे; उच्छिष्टान्—मलमूत्र से सना; धर्षयन्ति—आक्रमण करते हैं; तम्—उसे; उन्मादम्—पागलपन; प्रचक्षते—कहा जाता है।

जीवों के स्त्रष्टा ब्रह्मा द्वारा उस अँगड़ाई रूप में फेंके जाने वाले शरीर को भूत-पिशाचों ने उस शरीर को अपना लिया। इसी को निद्रा भी कहते हैं जिसमें लार चू जाती है। जो लोग अशुद्ध रहते हैं उन पर ये भूत-प्रेत आक्रमण करते हैं और उनका यह आक्रमण उन्माद (पागलपन) कहलाता है।

तात्पर्य : अशुद्ध रहने पर उन्माद रोग या भूतों का आक्रमण होता है। यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि जब मनुष्य गहरी निद्रा में सो जाता है, तो उसके मुख से जो थूक बहता है उससे वह अशुद्ध (गन्दा) हो जाता है और इस अवसर का लाभ उठाकर भूत-प्रेत उस पर आक्रमण कर देते हैं। दूसरे शब्दों में, जो सोते समय लार चुवाते हैं, वे गन्दे माने जाते हैं और उन्हें या तो भूत सताते हैं या वे पागल हो जाते हैं।

ऊर्जस्वन्तं मन्यमान आत्मानं भगवानजः ।
साध्यान्गणान्पितृगणान्परोक्षेणासृजत्प्रभुः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

ऊर्जः-वन्तम्—शक्ति से परिपूर्ण; मन्यमानः—मानकर; आत्मानम्—अपने आप को; भगवान्—परमपूज्य; अजः—ब्रह्मा ने; साध्यान्—देवता; गणान्—समूह; पितृ-गणान्—तथा पितर; परोक्षेण—अदृश्य होकर; असृजत्—उत्पन्न किया; प्रभुः—जीवों के स्वामी।

जीवात्माओं के स्त्रष्टा, पूज्य ब्रह्मा ने अपने आपको इच्छा तथा शक्ति से पूर्ण मानकर

अपने अदृश्य रूप, अपनी नाभि, से साध्यों तथा पितरों के समूह को उत्पन्न किया।

तात्पर्य : साध्य तथा पितरगण दिवंगत आत्माओं के अदृश्य रूप हैं। ये भी ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न हैं।

त आत्मसर्गं तं कायं पितरः प्रतिपेदिरे ।
साध्येभ्यश्च पितृभ्यश्च कवयो यद्वितन्वते ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; आत्म-सर्गम्—उनके अस्तित्व का स्त्रोत; तम्—उस; कायम्—शरीर को; पितरः—पितृगण ने; प्रतिपेदिरे—स्वीकार कर लिया; साध्येभ्यः—साध्यों के लिए; च—तथा; पितृभ्यः—पितरों को; च—भी; कवयः—कर्मकाण्ड में पटु; यत्—जिससे; वितन्वते—पिण्डदान करते हैं।

पितृगण ने अपने अस्तित्व के स्त्रोत उस अदृश्य शरीर को स्वयं धारण कर लिया। इस अदृश्य शरीर के माध्यम से ही श्राद्ध के अवसर पर कर्मकाण्ड में पटु लोग साध्यों तथा पितरों (दिवंगत पूर्वजों के रूप में) को पिण्डदान करते हैं।

तात्पर्य : श्राद्ध एक कर्मकाण्ड है, जिसे वेदों के अनुयायी मानते हैं। प्रतिवर्ष पन्द्रह दिनों (एक पक्ष) का एक अवसर आता है जब कर्मकाण्डी धार्मिक लोग दिवंगत आत्माओं को भेंटें, प्रदान करने के नियम का पालन करते हैं। अत: वे पितृगण तथा पूर्वज जो किन्हीं कारणों से भौतिक सुख भोगने के लिए स्थूल शरीर धारण नहीं कर सके, अपने उत्तराधिकारियों द्वारा प्रदत्त श्राद्ध पिण्डदान से पुन: ऐसे शरीर प्राप्त कर सकें। श्राद्ध कर्म अथवा प्रसाद समेत पिण्डदान की प्रथा अब भी भारत में, विशिष्ट रूप से गया में, प्रचलित है जहाँ एक प्रसिद्ध मन्दिर में विष्णु के चरणकमलों पर हवि चढ़ाई जाती है। चूँकि इस प्रकार उत्तराधिकारियों की सेवा से भगवान् प्रसन्न होते हैं, अत: पितरों की उन पतित आत्माओं को जिन्हें स्थूल शरीर नहीं मिला, वे मुक्त कर देते हैं और पुन: शरीर धारण करके आत्मोन्नति करने के लिए उन पर अनुग्रह करते हैं।

दुर्भाग्यवश माया के वशीभूत होकर बद्धजीव अपने इस प्रकार प्राप्त शरीर का उपयोग इन्द्रियतृप्ति के लिए करता है और वह यह भूल जाता है कि ऐसे कर्म से उसे पुन: अदृश्य शरीर धारण करना पड़ सकता है। भगवान् के भक्त अथवा कृष्ण-भावनाभावित मनुष्य को

श्राद्ध जैसे अनुष्ठान नहीं करने पड़ते क्योंकि वह परमेश्वर को निरन्तर प्रसन्न करता रहता है, फलत: उसके संकटग्रस्त पितृगण तथा पूर्वज, स्वत: मुक्त हो जाते हैं। इसके ज्वलन्त उदाहरण प्रह्लाद महाराज हैं। प्रह्लाद महाराज ने भगवान् नृसिंहदेव से प्रार्थना की कि वे उनके पापी पिता का, जिसने भगवान् के चरणों पर कई बार अपराध किया था, उद्धार करें। इस पर भगवान् ने उत्तर दिया कि जिस वैष्णव परिवार में प्रह्लाद जैसा पुत्र उत्पन्न होता है उसमें न केवल उसका पिता तथा पिता का पिता बल्कि इस प्रकार चौदह पीढ़ियाँ स्वत: तर जाती हैं। अत: निष्कर्ष यह निकला कि परिवार, समाज तथा समस्त जीवात्माओं के लिए सबसे उत्तम कार्य कृष्णभावनामृत है। *श्रीचैतन्य-चरितामृत* के रचयिता का कथन है कि कृष्णभावनामृत में पटु व्यक्ति कोई भी अनुष्ठान नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि पूर्ण कृष्णभावनामृत में श्रीकृष्ण की सेवा करने से सभी अनुष्ठान स्वत: सम्पन्न हो जाते हैं।

सिद्धान्विद्याधरांश्चैव तिरोधानेन सोऽसृजत् ।
तेभ्योऽददात्तमात्मानमन्तर्धानाख्यमद्भुतम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

सिद्धान्—सिद्धों को; विद्याधरान्—विद्याधरों को; च एव—तथा भी; तिरोधानेन—अदृश्य रहने के कारण; सः—ब्रह्मा ने; असृजत्—उत्पन्न किया; तेभ्यः—उनको; अददात्—दिया; तम् आत्मानम्—अपना वह रूप; अन्तर्धान-आख्यम्—अन्तर्धान नाम से ज्ञात; अद्भुतम्—विचित्र।

तब दृष्टि से अदृश्य रहने की अपनी क्षमता के कारण ब्रह्माजी ने सिद्धों तथा विद्याधरों को उत्पन्न किया और उन्हें अपना अन्तर्धान नामक विचित्र रूप प्रदान किया।

तात्पर्य : अन्तर्धान का अर्थ होता है कि ये जीवित प्राणियों के विद्यमान होने का मान तो होता है, किन्तु दृष्टि से दिखाई नहीं पड़ते।

स किन्नरान्किम्पुरुषान्प्रत्यात्म्येनासृजत्प्रभुः ।
मानयन्नात्मनात्मानमात्माभासं विलोकयन् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सः—ब्रह्मा ने; किन्नरान्—किन्नरों को; किम्पुरुषान्—किम्पुरुषों को; प्रत्यात्म्येन—अपने प्रतिबिम्ब (जल में) से; असृजत्—उत्पन्न किया; प्रभुः—जीवों के स्वामी (ब्रह्मा); मानयन्—प्रशंसा करते हुए; आत्मना आत्मानम्—अपने से अपने को; आत्म-आभासम्—अपना प्रतिबिम्ब; विलोकयन्—देखते हुए।

एक दिन समस्त जीवात्माओं के सर्जक ब्रह्मा ने जल में अपनी परछाई देखी और आत्मप्रशंसा करते हुए उन्होंने उस प्रतिबिम्ब (परछाई) से किन्नरों तथा किम्पुरुषों की सृष्टि की।

ते तु तज्जगृहू रूपं त्यक्तं यत्परमेष्ठिना ।
मिथुनीभूय गायन्तस्तमेवोषसि कर्मभिः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

ते—उन्होंने (किन्नर तथा किम्पुरुष); तु—लेकिन; तत्—वह; जगृहुः—अपना लिया; रूपम्—उस छाया रूप को; त्यक्तम्—परित्यक्त; यत्—जो; परमेष्ठिना—ब्रह्मा द्वारा; मिथुनी-भूय—पत्नियों सहित; गायन्तः—स्तुति; तम्—उसको; एव—केवल; उषसि—उषाकाल में; कर्मभिः—अपने कर्म के द्वारा।

किम्पुरुषों तथा किन्नरों ने ब्रह्मा द्वारा त्यक्त उस छाया-शरीर को ग्रहण कर लिया इसीलिए वे अपनी पत्नियों सहित प्रत्येक प्रातःकाल उनके कर्म का स्मरण कर करके उनकी प्रशंसा का गान करते हैं।

तात्पर्य : सूर्योदय के डेढ़ घंटे पहले प्रात:काल को ब्राह्म-मुहूर्त कहा जाता है। इस ब्राह्म-मुहूर्त में आध्यात्मिक कर्म किये जाते हैं। इस वेला (काल) में सम्पन्न क्रियाएँ दिन के अन्य भाग में सम्पन्न क्रियाओं से अधिक प्रभावात्मक होती हैं।

देहेन वै भोगवता शयानो बहुचिन्तया ।
सर्गेऽनुपचिते क्रोधादुत्ससर्ज ह तद्वपुः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

देहेन—शरीर से; वै—निस्सन्देह; भोगवता—पूरा फैलकर; शयानः—शयन करते हुए; बहु—अधिक; चिन्तया—चिन्ता से; सर्गे—सृष्टि; अनुपचिते—बढ़ती न देखकर; क्रोधात्—क्रोधवश; उत्ससर्ज—त्याग दिया; ह—निस्सन्देह; तत्—वह; वपुः—शरीर।

एक बार ब्रह्माजी अपने शरीर को पूरी तरह फैलाकर लेटे थे। वे अत्यधिक चिन्तित थे कि उनकी सृष्टि का कार्य आगे नहीं बढ़ रहा है, अतः उन्होंने रोष में आकर उस शरीर को भी त्याग दिया।

येऽहीयन्तामुतः केशा अहयस्तेऽङ्ग जज्ञिरे ।
सर्पाः प्रसर्पतः क्रूरा नागा भोगोरुकन्धराः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

ये—जो; अहीयन्त—गिर गये; अमुतः—उससे; केशाः—बाल; अहयः—सर्प; ते—वे; अङ्ग—हे विदुर; जज्ञिरे—के रूप में जन्म लिया; सर्पाः—साँप; प्रसर्पतः—रेंगने वाले शरीर से; क्रूराः—ईर्ष्यालु; नागाः—काले साँप; भोग—फनों से; उरु—विशाल; कन्धराः—जिनके कंधे।

हे विदुर, उस शरीर से जो बाल गिरे वे सर्पों में परिणत हो गये। उनके हाथ-पैर सिकोड़ कर चलने से उस शरीर से क्रूर सर्प तथा नाग उत्पन्न हुए जिनके फन फैले हुए होते हैं।

स आत्मानं मन्यमानः कृतकृत्यमिवात्मभूः ।
तदा मनून्ससर्जान्ते मनसा लोकभावनान् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

सः—ब्रह्मा ने; आत्मानम्—अपने आपको; मन्यमानः—मानकर; कृत-कृत्यम्—जीवन उद्देश्य को प्राप्त, धन्य; इव—मानो; आत्मभूः—परमेश्वर से उत्पन्न; तदा—तब; मनून्—सभी मनुओं को; ससर्ज—उत्पन्न किया; अन्ते—अन्त में; मनसा—अपने मन से; लोक—संसार का; भावनान्—कल्याणकारी।

एक दिन स्वयंजन्मा प्रथम जीवात्मा ब्रह्मा ने अनुभव किया कि उन्होंने अपने जीवन का उद्देश्य प्राप्त कर लिया है। उस समय उन्होंने अपने मन से मनुओं को उत्पन्न किया, जो ब्रह्माण्ड के कल्याण-कार्यों की वृद्धि करने वाले हैं।

तेभ्यः सोऽसृजत्स्वीयं पुरं पुरुषमात्मवान् ।
तान्दृष्ट्वा ये पुरा सृष्टाः प्रशशंसुः प्रजापतिम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

तेभ्यः—उनके लिए; सः—ब्रह्मा ने; असृजत्—प्रदान किया; स्वीयम्—निज; पुरम्—शरीर; पुरुषम्—मनुष्य का; आत्म-वान्—स्व-युक्त; तान्—उनको; दृष्ट्वा—देखकर; ये—जो; पुरा—इससे पूर्व; सृष्टाः—रचे गये (देव, गंधर्व आदि, जिनकी सृष्टि पहले हो चुकी थी); प्रशशंसुः—बड़ाई की; प्रजापतिम्—ब्रह्मा (उत्पन्न जीवों के स्वामी) की।

आत्मवान स्त्रष्टा ने उन्हें अपना मानवी रूप दे दिया। मनुओं को देखकर, उनसे पूर्व उत्पन्न देवता, गन्धर्व आदि ब्रह्माण्ड के स्वामी ब्रह्मा की स्तुति करने लगे।

अहो एतज्जगत्स्रष्टः सुकृतं बत ते कृतम् ।
प्रतिष्ठिताः क्रिया यस्मिन्साकमन्नमदाम हे ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; एतत्—यह; जगत्-स्रष्टः—हे ब्रह्माण्ड के स्रष्टा; सुकृतम्—अच्छा किया; बत—निस्सन्देह; ते—तुम्हारे द्वारा; कृतम्—उत्पन्न; प्रतिष्ठिताः—भलीभाँति स्थापित; क्रियाः—समस्त विधि-विधान; यस्मिन्—जिसमें; साकम्—इसके साथ साथ; अन्नम्—यज्ञ की आहुति, हव्य; अदाम—अपना अपना भाग लेंगे; हे—हे!.

उन्होंने स्तुति की—हे ब्रह्माण्ड के स्रष्टा, हम प्रसन्न हैं, आपने जो भी सृष्टि की है, वह सुन्दर है। चूँकि इस मानवी रूप में अनुष्ठान-कार्य पूर्णतया स्थापित हो चुके हैं, अतः हम हवि में साझा कर लेंगे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (३.१०) में भी यज्ञ की महत्ता का उल्लेख हुआ है। भगवान् पुष्टि करते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा ने मनुओं को यज्ञ सम्बन्धी अनुष्ठान-विधि के सहित उत्पन्न किया और उन्हें यह आशीर्वाद दिया, ''इन याज्ञिक कर्मों को करते रहो। धीरे-धीरे तुम्हें आत्म-साक्षात्कार का उचित पद प्राप्त होगा और तुम भौतिक सुख भी भोग सकोगे।'' ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न समस्त जीवात्माएँ बद्धजीव हैं, जो भौतिक प्रकृति को वश में करना चाहते हैं। याज्ञिक अनुष्ठानों का उद्देश्य क्रमशः जीवात्माओं में आत्म-साक्षात्कार को पुनरुज्जीवित करना है। वही इस ब्रह्माण्ड में जीवन का शुभारम्भ है। किन्तु याज्ञिक अनुष्ठानों का उद्देश्य भगवान् को प्रसन्न रखना है। जब तक मनुष्य भगवान् को प्रसन्न नहीं कर लेता अथवा कृष्णभावनाभावित नहीं हो जाता तब तक वह न ही भौतिक सुख से अथवा न ही आत्मबोध से सुखी रह सकता है।

तपसा विद्यया युक्तो योगेन सुसमाधिना ।
ऋषीनृषिर्हृषीकेशः ससर्जाभिमताः प्रजाः ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

तपसा—तप से; विद्यया—पूजा से; युक्तः—संलग्न होकर; योगेन—भक्ति में मन को एकाग्र करके; सु-समाधिना—सुन्दर चिन्तन से; ऋषीन्—ऋषियों में; ऋषिः—प्रथम दूत (ब्रह्मा); हृषीकेशः—इन्द्रियों को वश में करने वाला; ससर्ज—उत्पन्न किया; अभिमताः—प्रिय; प्रजाः—पुत्र।

फिर आत्म-भू जीवित प्राणी ब्रह्मा ने अपने आपको कठोर तप, पूजा, मानसिक एकाग्रता तथा भक्ति-तल्लीनता से सुसज्जित करके एवं निष्काम भाव से अपनी इन्द्रियों को वश में करते हुए महर्षियों को अपने पुत्रों (प्रजा) के रूप में उत्पन्न किया।

तात्पर्य : यज्ञ के सारे अनुष्ठान भौतिक आर्थिक उन्नति के लिए हैं अर्थात् वे शरीर को

आत्मज्ञान के अनुशीलन हेतु सक्षम बनाये रखने के लिए हैं। किन्तु वास्तविक आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए अन्य योग्यताओं की आवश्यकता पड़ती है। इनमें विद्या अथवा परमेश्वर की पूजा अनिवार्य है। कभी-कभी योग शब्द का व्यवहार मन की एकाग्रता के लिए की गई शारीरिक क्रियाओं (आसनों) को बताने के लिए किया जाता है। सामान्य रूप से योग-पद्धति में अपनाई जाने वाली इन शारीरिक क्रियाओं को अल्पज्ञानी मनुष्य योग की परिणति समझ बैठते हैं, किन्तु ये वास्तव में परमात्मा में मन को केन्द्रित करने के लिए होती हैं। आर्थिक उन्नति हेतु मनुष्यों को उत्पन्न करने के पश्चात् ब्रह्मा ने ऋषियों की सृष्टि की, जिससे वे आत्मबोध का आदर्श प्रस्थापित कर सकें।

तेभ्यश्चैकैकशः स्वस्य देहस्यांशमदादजः ।
यत्तत्समाधियोगर्द्धितपोविद्याविरक्तिमत् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

तेभ्यः—उनको; च—तथा; एकैकशः—हर एक को; स्वस्य—अपने; देहस्य—देह का; अंशम्—अंश, भाग; अदात्—प्रदान किया; अजः—अजन्मा ब्रह्मा; यत्—जो; तत्—वह; समाधि—गहन ध्यान; योग—मन की एकाग्रता; ऋद्धि—नैसर्गिक शक्ति; तपः—तपस्या; विद्या—ज्ञान; विरक्ति—वैराग्य; मत्—युक्त।

ब्रह्माण्ड के अजन्मा स्रष्टा (ब्रह्मा) ने इन पुत्रों में से प्रत्येक को अपने शरीर का एक-एक अंश प्रदान किया जो गहन चिन्तन, मानसिक एकाग्रता, नैसर्गिक शक्ति, तपस्या, पूजा तथा वैराग्य के लक्षणों से युक्त था।

तात्पर्य : इस श्लोक में *विरक्तिमत्* शब्द का अर्थ है "वैराग्य गुण से युक्त।" भौतिकतावादी व्यक्तियों को आत्मबोध नहीं हो सकता। जो इन्द्रिय-भोग में लिप्त रहते हैं उनके लिए आत्मबोध प्राप्त कर पाना असम्भव है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जो मनुष्य सम्पत्ति तथा भौतिक सुख-भोग की खोज में आसक्त रहते हैं, वे योग-समाधि अर्थात् कृष्णभावनामृत में तल्लीनता प्राप्त नहीं कर सकते। जो यह विज्ञापित करते हैं कि मनुष्य इस जीवन में भौतिक सुख उठाते हुए आत्मिक (आध्यात्मिक) प्रगति कर सकते हैं वह मात्र आडम्बर है। वैराग्य के चार तत्त्व हैं—(१) अवैध विषयी जीवन से बचना, (२) मांसाहार से बचना, (३) मादक द्रव्य सेवन से बचना तथा (४) द्यूतक्रीड़ा से बचना। ये चारों तत्त्व तपस्या

कहलाते हैं। आत्मबोध का विधान यह है कि मन को कृष्णभावनामृत में परमेश्वर में तल्लीन कर दिया जाय।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत "मैत्रेय-विदुर संवाद" नामक बीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter इक्कीस

मनु-कर्दम संवाद

विदुर उवाच
स्वायम्भुवस्य च मनोर्वंशः परमसम्मतः ।
कथ्यतां भगवन्यत्र मैथुनेनैधिरे प्रजाः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; स्वायम्भुवस्य—स्वायम्भुव का; च—तथा; मनोः—मनु का; वंशः—वंश; परम—सर्वाधिक; सम्मतः—आदरणीय; कथ्यताम्—कृपया कहिये; भगवन्—हे पूज्य ऋषि; यत्र—जिसमें; मैथुनेन—संभोग से; एधिरे—वृद्धि की; प्रजाः—सन्तति ने।

विदुर ने कहा—स्वायम्भुव मनु की वंश परम्परा अत्यन्त आदरणीय थी। हे पूज्य ऋषि, मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप इस वंश का वर्णन करें जिसकी सन्तति-वृद्धि संभोग के द्वारा हुई।

तात्पर्य : अच्छी सन्तान उत्पन्न करने के लिए नियंत्रित विषयी जीवन अपनाना चाहिए। वास्तव में विदुर ऐसे व्यक्तियों का इतिहास सुनने के लिए इच्छुक नहीं थे, जो विषयी जीवन बिता रहे हों; वे तो स्वायंभुव मनु की सन्तति के विषय में जानना चाहते थे, क्योंकि इस वंश में अनेक भक्त राजा हुए हैं, जिन्होंने अपनी प्रजा का पालन आत्मज्ञान के साथ एवं अत्यन्त सावधानीपूर्वक किया था। अत: उनके कार्यकलापों का इतिहास सुनकर मनुष्य अधिक प्रबुद्ध बन सकता है। इस प्रसंग में एक महत्त्वपूर्ण शब्द *परम-सम्मत* आया है, जिससे संकेत मिलता है कि स्वायंभुव मनु तथा उनके पुत्रों की संतति बड़े-बड़े अधिकारियों को स्वीकार्य थी। दूसरे शब्दों में, आदर्श सन्तान उत्पन्न करने के लिए विषयी जीवन की मान्यता सभी ऋषि तथा वैदिक धर्म ग्रंथों के अधिकारी देते हैं।

प्रियव्रतोत्तानपादौ सुतौ स्वायम्भुवस्य वै ।
यथाधर्मं जुगुपतुः सप्तद्वीपवतीं महीम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

प्रियव्रत—महाराज प्रियव्रत; उत्तानपादौ—तथा महाराज उत्तानपाद; सुतौ—दो पुत्र; स्वायम्भुवस्य—स्वायंभुव मनु के; वै—निस्सन्देह; यथा—के अनुसार; धर्मम्—धार्मिक नियम; जुगुपतुः—शासन किया; सप्त-द्वीप-वतीम्—सात द्वीपों वाली; महीम्—पृथ्वी, संसार पर।

स्वायम्भुव मनु के दो पुत्रों—प्रियव्रत तथा उत्तानपाद—ने धार्मिक नियमानुसार सप्त द्वीपों वाले इस संसार पर राज्य किया।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* ब्रह्माण्ड के विभिन्न भागों में शासन करने वाले महान् राजाओं का इतिहास भी है। इस श्लोक में स्वायंभुव के दो पुत्रों—प्रियव्रत तथा उत्तानपाद के नामों का उल्लेख है। उन्होंने इस पृथ्वी पर राज्य किया जो सात द्वीपों में विभक्त है। ये सातों द्वीप आज भी हैं—यथा एशिया, यूरोप, अफ्रीका, अमरीका, आस्ट्रेलिया तथा उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव। यद्यपि *श्रीमद्भागवत* में समस्त भारतीय राजाओं का तिथिवार इतिहास नहीं है, लेकिन महत्त्वपूर्ण राजाओं के कार्यों का, जैसे प्रियव्रत तथा उत्तानपाद और कई अन्यों का यथा भगवान् रामचन्द्र तथा महाराज युधिष्ठिर का लेखा-जोखा मिलता है, क्योंकि ऐसे पवित्र राजाओं के कार्य-कलाप सुनने योग्य हैं और मनुष्य उनके इतिहासों को पढ़कर लाभ उठा सकते हैं।

तस्य वै दुहिता ब्रह्मन्देवहूतीति विश्रुता ।
पत्नी प्रजापतेरुक्ता कर्दमस्य त्वयानघ ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उस मनु की; वै—निस्सन्देह; दुहिता—पुत्री; ब्रह्मन्—हे पवित्र ब्राह्मण; देवहूति—देवहूति नामक; इति—इस प्रकार; विश्रुता—प्रसिद्ध थी; पत्नी—सहधर्मिणी; प्रजापतेः—उत्पन्न जीवों के स्वामी की; उक्ता—कहा गया; कर्दमस्य—कर्दम मुनि का; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अनघ—हे पापविहीन पुरुष।

हे पवित्र ब्राह्मण, हे पापविहीन पुरुष, आपने उनकी पुत्री के विषय में कहा है कि वे प्रजापति ऋषि कर्दम की पत्नी देवहूति थीं।

तात्पर्य : यहाँ हम स्वायम्भुव मनु के विषय में चर्चा कर रहे हैं; किन्तु *भगवद्गीता* में वैवस्वत मनु का वर्णन है। आधुनिक युग वैवस्वत मनु से सम्बन्धित है। स्वायंभुव मनु इसके पूर्व राज्य कर रहे थे और उनका इतिहास वराह युग से अर्थात् जब भगवान् शूकर रूप में प्रकट हुए तब से प्रारम्भ होता है। ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं और प्रत्येक मनु के जीवन काल में कुछ विशिष्ट घटनाएँ घटती हैं। *भगवद्गीता* का वैवस्वत मनु स्वायंभुव मनु से सर्वथा भिन्न है।

तस्यां स वै महायोगी युक्तायां योगलक्षणैः ।
ससर्ज कतिधा वीर्यं तन्मे शुश्रूषवे वद ॥ ४॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उसमें; सः—कर्दम मुनि; वै—निस्सन्देह; महा-योगी—परम योगी; युक्तायाम्—युक्त; योग-लक्षणैः—योगिक सिद्धि के आठ लक्षणों से; ससर्ज—आगे बढ़ाया; कतिधा—कितनी बार; वीर्यम्—सन्तान; तत्—वह आख्यान; मे—मुझको; शुश्रूषवे—सुनने का इच्छुक; वद—कहिये।

उस महायोगी ने, जिसे अष्टांग योग के सिद्धान्तों में सिद्धि प्राप्त थी, इस राजकुमारी से कितनी सन्तानें उत्पन्न कीं? कृपा करके आप मुझे यह बताएँ, क्योंकि मैं इसे सुनने का इच्छुक हूँ।

तात्पर्य : यहाँ पर विदुर ने कर्दम मुनि तथा उनकी पत्नी देवहूति तथा उनकी सन्तति के विषय में जिज्ञासा की है। यहाँ यह बताया गया है कि देवहूति अष्टांग योग में परम निपुण थीं। योग-क्रिया के आठ अंग इस प्रकार हैं—(१) इन्द्रिय निग्रह, (२) विधि विधानों का कठोर पालन, (३) विभिन्न आसनों का अभ्यास, (४) श्वास का नियन्त्रण, (५) विषयों पर से इन्द्रियों को हटाना (६) मन की एकाग्रता, (७) ध्यान तथा (८) आत्म-साक्षात्कार। आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् भी आठ और सिद्धि-अवस्थाएँ होती हैं, जिन्हें योग सिद्धियाँ कहते हैं। पति-पत्नी दोनों योगाभ्यास में सिद्ध थे; पति *महायोगी* था और और पत्नी *योगलक्षण* थी। उन दोनों ने सम्भोग द्वारा सन्तति उत्पन्न की। पुराकाल में, ऋषि तथा मुनि अपने जीवन को पूर्ण बनाने के पश्चात् ही सन्तान उत्पन्न करते थे अन्यथा वे ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते थे। आत्म-साक्षात्कार तथा योग की सिद्धि के लिए ब्रह्मचर्य परमावश्यक है। वैदिक धर्मग्रंथों में कहीं भी यह संस्तुत नहीं किया गया कि अपनी इच्छा के अनुसार जैसा भी चाहे कोई इन्द्रिय-तृप्ति के लिए भोग करे और किसी दुष्ट को कुछ धन देकर महान् ध्यानी बन जाए।

रुचिर्यो भगवान्ब्रह्मन्दक्षो वा ब्रह्मणः सुतः ।
यथा ससर्ज भूतानि लब्ध्वा भार्यां च मानवीम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

रुचिः—रुचि; यः—जो; भगवान्—पूज्य; ब्रह्मन्—हे साधु; दक्षः—दक्ष; वा—तथा; ब्रह्मणः—भगवान् ब्रह्मा का; सुतः—पुत्र; यथा—जिस प्रकार; ससर्ज—उत्पन्न किया; भूतानि—सन्तान; लब्ध्वा—पा करके; भार्याम्—अपनी पत्नियों के रूप में; च—तथा; मानवीम्—स्वायम्भुव मनु की कन्याएँ।

हे ऋषि, कृपा करके मुझे बताएँ कि ब्रह्मा के पुत्र दक्ष तथा रुचि ने स्वायंभुव मनु की अन्य दो कन्याओं को पत्नी रूप में प्राप्त करके किस प्रकार सन्तानें उत्पन्न कीं?

तात्पर्य : वे महापुरुष जिन्होंने सृष्टि के प्रारम्भ में संतान वृद्धि में योगदान किया प्रजापति कहलाते हैं। ब्रह्मा भी प्रजापति कहलाते हैं ऐसे ही उनके कतिपय परवर्ती पुत्र भी। स्वायंभुव मनु भी प्रजापति हैं तथा ऐसे ही ब्रह्मा का दूसरा पुत्र दक्ष भी। स्वायंभुव मनु के दो कन्याएँ थीं—आकूति तथा प्रसूति। प्रजापति रुचि ने आकूति के साथ और दक्ष ने प्रसूति के साथ ब्याह किया। इन युग्मों तथा इनकी सन्तानों ने समग्र ब्रह्माण्ड को बसाने के लिए अनेक सन्तानें उत्पन्न कीं। विदुर का प्रश्न था, ''उन्होंने प्रारम्भ में किस प्रकार सन्ततियाँ उत्पन्न कीं?''

मैत्रेय उवाच
प्रजाः सृजेति भगवान्कर्दमो ब्रह्मणोदितः ।
सरस्वत्यां तपस्तेपे सहस्राणां समा दश ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; प्रजाः—सन्तानें; सृज—उत्पन्न करो; इति—इस प्रकार; भगवान्—पूज्य; कर्दमः—कर्दम मुनि; ब्रह्मणा—भगवान् ब्रह्मा द्वारा; उदितः—आदेशित; सरस्वत्याम्—सरस्वती नदी के तट पर; तपः—तपस्या; तेपे—अभ्यास किया; सहस्राणाम्—हजारों; समाः—वर्षों की; दश—दस।

महान् ऋषि मैत्रेय ने उत्तर दिया—भगवान् ब्रह्मा से लोकों में सन्तान उत्पन्न करने का आदेश पाकर पूज्य कर्दम मुनि ने सरस्वती नदी के तट पर दस हजार वर्षों तक तपस्या की।

तात्पर्य : यहाँ पर यह पता चलता है कि सिद्धि प्राप्त करने के पूर्व कर्दम मुनि ने दस हजार वर्षों तक योग में ध्यान धारण किया। इसी प्रकार हमें ज्ञात होता है कि बाल्मीकि मुनि ने भी सिद्धि प्राप्त करने के पूर्व साठ हजार वर्षों तक योग ध्यान का अभ्यास किया। अतः योगाभ्यास को सफलतापूर्वक वे ही सम्पन्न कर सकते हैं जिनका जीवन काफी दीर्घ, यथा एक लाख वर्ष तक हो। उसी स्थिति में योग में सिद्धि प्राप्त हो सकती है, अन्यथा वास्तविक सिद्धि मिलनी दुष्कर है। विधि-विधानों का पालन, इन्द्रियों का निग्रह तथा विभिन्न आसन करना—ये तो प्रारम्भिक अभ्यास मात्र हैं। हमारी समझ में नहीं आता कि मनुष्य इस निरर्थक योग पद्धति

से किस प्रकार आकर्षित हो सकते हैं जिसमें यह बताया जाता है कि प्रति दिन केवल पन्द्रह मिनट का ध्यान धरने से ईश्वर के साथ तादात्म्य सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यह कलियुग धोखा देने तथा झगड़ने का युग है। वस्तुत: ऐसे महत्त्वहीन प्रस्तावों से योग-सिद्धि प्राप्त करना असम्भव है। उदाहरणार्थ, वैदिक साहित्य स्पष्ट रूप से तीन बार बलपूर्वक कहता है कि इस कलियुग में हरि के पवित्र नाम (हरेर्नाम) के अतिरिक्त *कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव*—कोई विकल्प नहीं, कोई विकल्प नहीं, कोई विकल्प नहीं।

ततः समाधियुक्तेन क्रियायोगेन कर्दमः ।
सम्प्रपेदे हरिं भक्त्या प्रपन्नवरदाशुषम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

ततः—तब, उस तप में; समाधि-युक्तेन—समाधि अवस्था में; क्रिया-योगेन—भक्तियोग अथवा पूजा से; कर्दमः—कर्दम मुनि ने; सम्प्रपेदे—सेवा की; हरिम्—श्रीभगवान् की; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; प्रपन्न—शरणागत जीवों को; वरदाशुषम्—समस्त वरों के प्रदाता।

समाधिकाल में कर्दम मुनि ने समाधि में अपनी भक्ति द्वारा शरणागतों को तुरंत समस्त वर देने वाले श्रीभगवान् की आराधना की।

तात्पर्य : यहाँ पर ध्यान की महत्ता का वर्णन है। कर्दम मुनि ने परम पुरुषोत्तम भगवान् हरि को प्रसन्न करने के लिए दस हजार वर्षों तक योग-ध्यान का अभ्यास किया। अत: कोई चाहे योग का अभ्यास करे या चिन्तन करे और ईश्वर की खोज करे, इन प्रयासों में भक्ति की प्रक्रिया मिश्रित की जानी चाहिए। बिना भक्ति के कुछ भी पूर्ण नहीं। सिद्धि तथा साक्षात्कार का लक्ष्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। *भगवद्गीता* के छठे अध्याय में यह स्पष्ट उल्लेख है कि जो कृष्णभावनामृत में निरन्तर संलग्न रहता है, वह सर्वोच्च योगी है। श्रीभगवान् हरि अपने शरणागत भक्तों की समस्त इच्छाओं को भी पूरा करते हैं। वास्तविक सफलता प्राप्त करने के लिए मनुष्य को श्रीभगवान् हरि या श्रीकृष्ण के चरणकमलों में समर्पण करना होता है। भक्ति अथवा कृष्णभावनामृत में लगे रहना प्रत्यक्ष विधि है और अन्य सभी विधियाँ संस्तुत किए जाने के बावजूद भी अप्रत्यक्ष हैं। इस कलिकाल में प्रत्यक्ष विधि अप्रत्यक्ष विधि से अधिक सहज है, क्योंकि मनुष्यों का जीवन-काल कम होता है, उनकी बुद्धि कमजोर है, वे गरीब हैं और

अनेक कठिनाइयों से ग्रस्त रहते हैं। अत: भगवान् चैतन्य ने जो सबसे बड़ा वरदान दिया, वह यह है कि अध्यात्मिक जीवन में सिद्धि प्राप्त करने के लिए ईश्वर के पवित्र नाम का कीर्तन ही पर्याप्त है।

सम्प्रपेदे हरिम् शब्दों का अर्थ है कि कर्दम मुनि ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि को अपनी भक्ति से अनके प्रकार से प्रसन्न किया। भक्ति को *क्रिया-योगेन* शब्द से भी व्यक्त किया गया है। कर्दम मुनि न केवल ध्यान करते थे, वरन् भक्ति में भी संलग्न रहते थे। चाहे योग हो या ध्यान मनुष्य को सिद्धि के लिए श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि के द्वारा भक्ति करनी होती है। स्मरण करना भी ध्यान है। किन्तु स्मरण किसका किया जाय? मनुष्य को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का स्मरण करना चाहिए। न केवल श्रीभगवान् का स्मरण करना चाहिए, वरन् भगवान् के कार्यों का श्रवण और उनकी महिमा का कीर्तन भी करना चाहिए। यह जानकारी प्रामाणिक धर्मग्रन्थों में मिलती है। दस हजार वर्षों तक विभिन्न प्रकार की भक्ति मय सेवा करने के बाद कर्दम मुनि को ध्यान में सिद्धि प्राप्त हुई, किन्तु इस कलियुग में ऐसा कर पाना सम्भव नहीं, क्योंकि मनुष्य अधिक से अधिक एक सौ वर्ष जीवित रह पाता है। इस समय ऐसा कौन होगा जो योग के अनेकानेक विधि-विधानों का कड़ाई से पालन कर सके? साथ ही, सिद्धि उन्हें ही प्राप्त होती है, जो समर्पित आत्माएँ हैं। जहाँ श्रीभगवान् के नाम का उल्लेख तक न हो वहाँ आत्मसमर्पण कैसा? और जहाँ श्रीभगवान् के नाम का ध्यान तक न हो वहाँ योग कैसा? दुर्भाग्यवश इस युग में, विशेषतया जो आसुरी प्रवृत्ति के लोग हैं, वे ठगे जाने में विश्वास करते हैं। अत: भगवान् ऐसे वंचकों (धोखा देने वालों) को भेजते हैं, जो उन्हें योग के नाम पर गुमराह करते हैं और उनके जीवन को निकम्मा बना देते हैं। अत: *भगवद्गीता* (१६.१७) में स्पष्ट उल्लेख है कि चालबाज लोग अवैध धन को संचित करके गर्व से फूल जाते हैं और किसी प्रामाणिक ग्रंथ का अनुसरण किये बिना योग का अभ्यास करते हैं। उन्हें इस धन का घमंड हो जाता है, जिसे उन्होंने निर्दोष व्यक्तियों से लूटा-खसोटा है और जो स्वयं धोखा खाना चाहते हैं।

तावत्प्रसन्नो भगवान्पुष्कराक्षः कृते युगे ।
दर्शयामास तं क्षत्तः शाब्दं ब्रह्म दधद्वपुः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब; प्रसन्नः—प्रसन्न होकर; भगवान्—श्रीभगवान् ने; पुष्कर-अक्षः—कमल के समान नेत्र वाले; कृते युगे—सत्ययुग में; दर्शयाम् आस—दिखलाया; तम्—कर्दम मुनि को; क्षत्तः—हे विदुर; शाब्दम्—जिसे वेदों के माध्यम से ही जाना जा सकता है; ब्रह्म—परम सत्य; दधत्—प्रकट करते हुए; वपुः—अपना दिव्य शरीर।

तब सत्ययुग में कमल-नयन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने प्रसन्न होकर कर्दम मुनि को अपने दिव्य रूप का दर्शन कराया, जिसे वेदों के माध्यम से ही जाना जा सकता है।

तात्पर्य : यहाँ पर दो बातें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम तो यह कि कर्दम मुनि ने सत्ययुग के प्रारम्भ में योगसिद्धि प्राप्त की जब मनुष्यों की आयु एक लाख वर्ष होती थी। कर्दम मुनि को सफलता मिलने के बाद भगवान् ने प्रसन्न होकर उन्हें अपने रूप का दर्शन दिया जो काल्पनिक न था। कभी-कभी निर्विशेषवादी सलाह देते हैं कि मनुष्य जिस रूप को चाहे अपने मन में धारण कर सकता है, किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है भगवान् ने कर्दम मुनि को जो रूप दिखलाया वह वैदिक साहित्य में वर्णित है। *शाब्दं ब्रह्म* का अर्थ है वैदिक साहित्य में भगवान् के रूपों का स्पष्ट उल्लेख है। कर्दम मुनि ने भगवान् के किसी काल्पनिक रूप की खोज नहीं की जैसाकि आजकल के धूर्त कहते हैं। उन्होंने भगवान् के नित्य, आनन्दमय तथा दिव्य रूप को साक्षात् देखा।

स तं विरजमर्काभं सितपद्मोत्पलस्रजम् ।
स्निग्धनीलालकव्रातवक्त्राब्जं विरजोऽम्बरम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह कर्दम मुनि; तम्—उसको; विरजम्—कल्मषहीन; अर्क-आभम्—सूर्य का सा तेज; सित—श्वेत; पद्म—कमल; उत्पल—कुमुदिनी की; स्रजम्—माला; स्निग्ध—चिकना; नील—श्याममिश्रित नीला; अलक—बालों के समूह की; व्रात—अधिकता; वक्त्र—मुख; अब्जम्—कमल-सदृश; विरजः—निर्मल; अम्बरम्—वस्त्र।

कर्दम मुनि ने भौतिक कल्मष से रहित, सूर्य के समान तेजमय, श्वेत कमलों तथा कुमुदिनियों की माला पहने श्रीभगवान् के नित्य रूप का दर्शन किया। भगवान् ने निर्मल पीला रेशमी वस्त्र धारण कर रखा था और उनका मुख-कमल घुँघराले नीले चिकने

बालों के गुच्छों से सुशोभित था।

किरीटिनं कुण्डलिनं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
श्वेतोत्पलक्रीडनकं मनःस्पर्शस्मितेक्षणम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

किरीटिनम्—मुकुट धारण किये हुए; कुण्डलिनम्—कुण्डल पहने हुए; शङ्ख—शंख; चक्र—चक्र; गदा—गदा; धरम्—धारण किये; श्वेत—उज्ज्वल; उत्पल—कुमुदिनी; क्रीडनकम्—खिलौना; मनः—हृदय; स्पर्श—स्पर्श; स्मित—हँसी; ईक्षणम्—तथा चितवन।

मुकुट तथा कुण्डलों से आभूषित श्रीभगवान् अपने तीन हाथों में अपने विशिष्ट शंख, चक्र तथा गदा और चौथे में श्वेत कुमुदिनी धारण किये हुए थे। उन्होंने प्रसन्न तथा हासयुक्त मुद्रा में समस्त भक्तों के चित्त को चुराने वाली चितवन से देखा।

विन्यस्तचरणाम्भोजमंसदेशे गरुत्मतः ।
दृष्ट्वा खेऽवस्थितं वक्षःश्रियं कौस्तुभकन्धरम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

विन्यस्त—रखे हुए; चरण-अम्भोजम्—चरणकमल; अंस-देशे—कंधों पर; गरुत्मतः—गरुड़ के; दृष्ट्वा—देखकर; खे—आकाश में; अवस्थितम्—खड़े हुए; वक्षः—अपनी छाती पर; श्रियम्—शुभ चिह्न (श्रीवत्स); कौस्तुभ—कौस्तुभमणि; कन्धरम्—गले में।

अपने वक्षस्थल पर सुनहरी रेखा धारण किये तथा अपने गले में प्रसिद्ध कौस्तुभमणि लटकाये हुए वे गरुड़ के कन्धों पर अपने चरण-कमल रखे हुए आकाश (वायु) में खड़े थे।

तात्पर्य : श्लोक ९-११ में भगवान् के जिस दिव्य, नित्य रूप का वर्णन किया गया है, वह प्रामाणिक वैदिक विवरणों से है। ये विवरण निश्चय ही कर्दम मुनि की कल्पनाएँ नहीं हैं। भगवान् के अलंकरण भौतिक बुद्धि के परे (अगम्य) हैं जिसको शंकराचार्य जैसे निर्विशेषवादियों ने भी स्वीकार किया है कि श्रीभगवान् के विविध रूप—उनका शरीर, उनका रूप, उनका वस्त्र, उनका उपदेश, उनके वचन—ये किसी भौतिक शक्ति की उपज नहीं हैं वरन् इनकी पुष्टि वैदिक साहित्य द्वारा हुई है। भगवान् नारायण को भौतिक सृष्टि से कुछ लेना देना नहीं है। योग-साधना के द्वारा कर्दम मुनि वास्तव में देख सके कि भगवान् क्या हैं। दस हजार

वर्षों तक योगाभ्यास के बाद भगवान् के काल्पनिक रूप का दर्शन करना कोई अर्थ नहीं रखता। अत: योग की सिद्धि का अन्त शून्यता या निर्विशेषता में नहीं है, बल्कि इसके विपरीत जब कोई वास्तव में भगवान् को उसके नित्य रूप में देखता है, तो योग की सिद्धि प्राप्त होती है। श्रीकृष्णभावनामृत की पद्धति में श्रीकृष्ण के स्वरूप को प्रत्यक्ष प्रस्तुत किया जाता है। वैदिक साहित्य *ब्रह्म-संहिता* में कृष्ण का स्वरूप प्रामाणिक रूप में मिलता है—उनका धाम चिन्तामणि पत्थर का बना है, जिसमें भगवान् एक गोपबाल के रूप में खेलते हैं और हजारों गोपियाँ उनकी सेवा में तत्पर रहती हैं। ये वर्णन प्रामाणिक हैं और कृष्णभावनाभावित पुरुष इनको प्रत्यक्ष रूप में ग्रहण करता है, उन्हीं के अनुसार कार्य करता है, उनका उपदेश देता है और अधिकृत शास्त्रों में वर्णन किए गए ढंग से भक्तियोग का अभ्यास करता है।

जातहर्षोऽपतन्मूर्ध्ना क्षितौ लब्धमनोरथः ।
गीर्भिस्त्वभ्यगृणात्प्रीतिस्वभावात्मा कृताञ्जलिः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

जात-हर्षः—स्वाभाविक रूप से प्रमुदित; अपतत्—गिर पड़ा; मूर्ध्ना—अपने सिर के बल; क्षितौ—पृथ्वी पर; लब्ध—प्राप्त हुआ; मनः-रथः—अपनी इच्छा; गीर्भिः—स्तुतियों से; तु—तथा; अभ्यगृणात्—प्रसन्न किया; प्रीति-स्वभाव-आत्मा—जिनका हृदय स्वभाव से प्रेम पूर्ण है; कृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़कर।

जब कर्दम मुनि ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का साक्षात् दर्शन किया, तो वे अत्यधिक तुष्ट हुए, क्योंकि उनकी दिव्य इच्छा पूर्ण हुई थी। वे भगवान् के चरण-कमलों को नमस्कार करने के लिए नतमस्तक होकर पृथ्वी पर लेट गये। उनका हृदय स्वभाविक रूप में भगवत्प्रेम से पूरित था। उन्होंने हाथ जोड़कर स्तुतियों द्वारा भगवान् को तुष्ट किया।

तात्पर्य : भगवान् के साकार रूप का साक्षात्कार योग की सर्वोच्च सिद्धि अवस्था मानी जाती है। *भगवद्गीता* के षष्टम अध्याय में, जहाँ योग-साधना का वर्णन है, भगवान् के इस साकार रूप के दर्शन को योग की सिद्धि बतलाया गया है। आसनों तथा अन्य अनुष्ठानों का अभ्यास कर लेने के बाद अन्त में समाधि-अवस्था प्राप्त होती है। इस समाधि-अवस्था में श्रीभगवान् के अंश रूप परमात्मा का या फिर उनके यावत् रूप का दर्शन होता है। प्रामाणिक

योग धर्मग्रंथों में यथा पतञ्जलि-सूत्र में समाधि को दिव्य आनन्द कहा गया है। पतञ्जलि के ग्रंथों में योग की जो पद्धति वर्णित है, वह प्रामाणिक है और आधुनिक तथाकथित योगियों ने अधिकारी विद्वानों के ग्रंथों को देखे बिना अपनी-अपनी विधियाँ बना ली हैं, जो अत्यन्त रोचक हैं। पतञ्जलि योग पद्धति को अष्टांग योग कहा जाता है। कभी-कभी निर्विशेषवादी पतञ्जलि योग को दूषित कर देते हैं, क्योंकि वे अद्वैतवादी हैं। पतञ्जलि ने बताया है कि जब आत्मा परमात्मा से मिलता है और उसे देखता है, तो उसे दिव्य सुख मिलता है। यदि परमात्मा तथा व्यष्टि (व्यक्ति) के अस्तित्व को मान लिया जाय तो निर्विशेषदियों का अद्वैतवाद-सिद्धान्त अपने आप ध्वस्त हो जाता है, फलत: कुछ निर्विशेषवादी तथा शून्यवादी दार्शनिक पतञ्जलि विधि को तोड़-मरोड़ कर पूरी योग-प्रक्रिया को दूषित कर देते हैं।

पतञ्जलि के अनुसार जब मनुष्य समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त हो जाता है, तो उसे वास्तविक दिव्य पद प्राप्त होता है और उस अवस्था की प्राप्ति को आध्यात्मिक शक्ति कहते हैं। भौतिक कार्यों में मनुष्य प्रकृति के गुणों को व्यवहार में लाता है। ऐसे व्यक्तियों की महत्त्वाकांक्षाएँ इस प्रकार हैं—(१) धार्मिक बनना, (२) आर्थिक रूप से समृद्ध होना, (३) इन्द्रियों की तुष्टि; तथा (४) परमेश्वर के साथ तादात्म्य। अद्वैतवादियों के अनुसार जब योगी ब्रह्म के साथ तदाकार प्राप्त कर लेता है और अपना व्यष्टि अस्तित्व खो देता है, तो उसे कैवल्य कहेजाने वाले परम पद की प्राप्ति होती है। किन्तु वस्तुत: पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के साक्षात्कार की अवस्था ही कैवल्य है। यह समझ लेना कि परमेश्वर पूर्णतया आध्यात्मिक है और पूर्ण आत्मबोध की अवस्था में श्रीभगवान् को समझा जा सकता है कैवल्य कहलाता है—अथवा पतञ्जलि की भाषा में इसी को आत्मशक्ति का साक्षात्कार कहते हैं। उनके अनुसार जब मनुष्य भौतिक कामनाओं से मुक्त होकर आत्मा तथा परमात्मा के आत्मबोध में स्थिर हो जाता है, तो उसे चित्-शक्ति कहते हैं। पूर्ण आत्मबोध होने पर आत्मसुख का बोध होने लगता है, जिसे भगवद्गीता में परम सुख कहा गया है और जो भौतिक इन्द्रियों के परे है। समाधि दो प्रकार की बताई गई है—सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात अर्थात् मानसिक चिन्तन तथा आत्मबोध।

असम्प्रज्ञात अथवा समाधि में मनुष्य अपनी आध्यात्मिक इन्द्रियों द्वारा भगवान् के आत्मरूप का साक्षात्कार कर सकता है। आत्म–साक्षात्कार का यही अनन्तिम उद्देश्य है।

पतञ्जलि के अनुसार जब मनुष्य ईश्वर के परम रूप का निरन्तर साक्षात्कार करता रहता है, तो उसे सिद्धावस्था प्राप्त हो जाती है जैसी कि कर्दममुनि को प्राप्त हुई थी। जब तक योगपद्धति की सामान्य सिद्धावस्था के परे किसी को यह सिद्धावस्था प्राप्त नहीं हो जाती तब तक परम साक्षात्कार नहीं होता। अष्टांग योगपद्धति में आठ सिद्धियाँ होती हैं। इन सिद्धियों को प्राप्त करने पर मनुष्य हल्के से हल्का और भारी से भारी हो सकता है और जो भी चाहे प्राप्त कर सकता है। किन्तु योग में ऐसी भौतिक सफलताएँ प्राप्त कर लेना न तो सिद्धि है न परम साध्य। परम साध्य तो यहाँ पर वर्णित है कि कर्दम मुनि ने परम पुरुषोत्तम भगवान् को उनके नित्य रूप में देखा। भक्ति का शुभारम्भ व्यष्टि आत्मा तथा परमात्मा या श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण के भक्तों के साथ सम्बन्ध होने पर होता है और इसे प्राप्त कर लेने पर च्युत होने का कोई प्रश्न नहीं उठता। यदि कोई योग–पद्धति से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का साक्षात् दर्शन करना चाहता है, किन्तु उसके साथ ही वह अन्य भौतिक शक्ति प्राप्त करने की इच्छा करता है, तो उसकी प्रगति रुक जाती है। दिव्य आत्मसुख के बोध से भौतिक सुख का कोई वास्ता नहीं, जिसको आडम्बरपूर्ण योगी प्रोत्साहन देते हैं। भक्तियोग के वास्तविक भक्त अपने जीवन–निर्वाह मात्र के लिए आवश्यक भौतिक वस्तुओं को ही स्वीकार करते हैं, वे अतिशयोक्तिपूर्ण भौतिक इन्द्रिय–तुष्टि से सर्वथा दूर रहते हैं। श्रीभगवान् के साक्षात्कार की दिशा में प्रगति के लिए वे सभी प्रकार के कष्टों को सहने के लिए उद्यत रहते हैं।

ऋषिरुवाच

जुष्टं बताद्याखिलसत्त्वराशेः
सांसिद्ध्यमक्ष्णोस्तव दर्शनान्नः ।
यद्दर्शनं जन्मभिरीड्य सद्भि-
राशासते योगिनो रूढयोगाः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

ऋषिः उवाच—ऋषि ने कहा; जुष्टम्—प्राप्त किया जाता है; बत—आह; अद्य—अब; अखिल—सभी; सत्त्व—सद्गुण का; राशेः—जो आगार है; सांसिद्ध्यम्—पूर्ण सफलता; अक्ष्णोः—दोनों नेत्रों का; तव—तुम्हारे; दर्शनात्—दर्शन से; नः—हमारे द्वारा; यत्—जिसका; दर्शनम्—दर्शन; जन्मभिः—जन्म के द्वारा; ईड्य—हे पूज्य स्वामी; सद्भिः—क्रमशः पद को प्राप्त; आशासते—महत्त्वाकांक्षा रखते हैं; योगिनः—योगी; रूढ-योगाः—योग में सिद्धिप्राप्त।

कर्दम मुनि ने कहा—हे परम पूज्य भगवान्, समस्त अस्तित्वों के आगार आपका दर्शन प्राप्त करके मेरी दर्शन की साध पूरी हो गई। महान् योगीजन बारम्बार जन्म लेकर गहन ध्यान में आपके दिव्य रूप का दर्शन करने की आकांक्षा करते रहते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर श्रीभगवान् को समस्त सद्गुणों एवं समस्त आनन्द का आगार कहा गया है। जब तक सत्त्वगुण को प्राप्त नहीं हो लिया जाता तब तक वास्तविक आनन्द नहीं मिलता। अतः जब कोई मनसा-वाचा-कर्मणा भगवान् की सेवा करता है, तो उसे सत्त्व की परम सिद्धि-अवस्था प्राप्त होती है। कर्दम मुनि कहते हैं, "आप सद्गुणों (सत्त्व) के नाम से ज्ञात समस्त वस्तुओं के आगार हैं और अब आपको अपने नेत्रों के सम्मुख देखकर दर्शन की सिद्धि प्राप्त हुई है।" ऐसे कथन विशुद्ध भक्तिपरक हैं, भक्त के लिए इन्द्रियों की सार्थकता भगवान् की सेवा करने में है। आँखों की सार्थकता भगवान् के सौन्दर्य अवलोकन में है, श्रवणेन्द्रिय की सार्थकता प्रभु के गुणगान सुनने में, जीभ की सार्थकता प्रसाद का स्वाद पाने में है। जब समस्त इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा में लगी रहती हैं, तो इस प्रकार की सिद्धि भक्तियोग कहलाती है, जिसका अर्थ होता है भौतिकता में लिप्त इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाना। जब मनुष्य सभी प्रकार के उपाधिमय बद्धजीवन से मुक्त होकर भगवान् की सेवा में अपने को पूर्णरूपेण अनुरक्त करता है, तो उसकी सेवा भक्तियोग कहलाती है, जिसका अर्थ होता है भौतिकता में लिप्त इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाना। कर्दम मुनि स्वीकार करते हैं कि भक्तियोग में स्वयं भगवान् का दर्शन पाना दर्शन की सार्थकता (सिद्धि) है। कर्दम मुनि ने दर्शन की महान् सिद्धि को बढ़ा-चढ़ा कर नहीं कहा है। वे इसका प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि जो वास्तव में योग में उन्नत हैं, वे जन्म-जन्मान्तर श्रीभगवान् के इस रूप का दर्शन करना चाहते हैं। वे कोई बनावटी योगी न थे। जो वास्तव में महान् हैं, वे भगवान् के नित्य रूप के दर्शन की ही कामना करते हैं।

ये मायया ते हतमेधसस्त्वत्-
पादारविन्दं भवसिन्धुपोतम् ।
उपासते कामलवाय तेषां
रासीश कामान्निरयेऽपि ये स्युः ॥ १४॥

शब्दार्थ

ये—जो व्यक्ति; मायया—छलने वाली शक्ति से; ते—तुम्हारा; हत—भ्रष्ट; मेधसः—जिनकी बुद्धि; त्वत्—तुम्हारा; पाद-अरविन्दम्—चरणकमल; भव—संसार का; सिन्धु—सागर; पोतम्—पार करने की नाव; उपासते—पूजा करते हैं; काम-लवाय—क्षुद्र सुखों के लिए; तेषाम्—उनकी; रासि—देते हो; ईश—हे ईश्वर; कामान्—इच्छाएँ; निरये—नरक में; अपि—भी; ये—जो इच्छा करते हैं; स्युः—प्राप्त हो सकती हैं।

आपके चरण-कमल सांसारिक अज्ञान के सागर को पार करने के लिए सच्चे पोत (नाव) के तुल्य हैं। माया के वशीभूत केवल अज्ञानी पुरुष ही इन चरणों की पूजा इन्द्रियों के क्षुद्र तथा क्षणिक सुख की प्राप्ति हेतु करते हैं जिनकी प्राप्ति नरक में सड़ने वाले व्यक्ति भी कर सकते हैं। तो भी, हे भगवान्, आप इतने दयालु हैं कि उन पर भी आप अनुग्रह करते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* के सप्तम अध्याय में कहा गया है, भक्तों की दो कोटियाँ हैं—पहले वे जो भौतिक सुख चाहते हैं और दूसरे वे जो ईश्वर की सेवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं सोचते। भौतिक सुख तो कूकर तथा शूकर भी प्राप्त कर सकते हैं जिनका जीवन अत्यन्त नारकीय होता है। शूकर भी खाता, सोता और संभोग का पूरा आनन्द उठाता है और इस संसार के ऐसे नारकीय सुख से अत्यन्त प्रसन्न रहता है। आधुनिक योगी उपदेश देता है कि चूँकि मनुष्य के इन्द्रियाँ हैं, अत: उसे भी कुत्ते तथा बिल्लियों की भाँति उनका पूरा उपयोग करना चाहिए और साथ ही योग का अभ्यास भी करना चाहिए। यहाँ पर कर्दम मुनि ने इसकी निन्दा की है। वे कहते हैं कि ऐसे भौतिक सुख नारकीय जीवन बिताने वाले कुत्तों तथा बिल्लियों के लिए हैं। भगवान् इतने दयालु हैं कि यदि तथाकथित योगी इन नारकीय सुखों से तृप्त हो जाते हैं, तो वे उन्हें उन समस्त भौतिक सुखों को इच्छानुसार प्राप्त करने की छूट देते हैं, किन्तु उन्हें कर्दम मुनि के समान सिद्ध अवस्था नहीं मिल सकती।

वास्तविकता तो यह है कि नारकीय तथा आसुरी लोग यह जानते ही नहीं कि सिद्धि का

परम साध्य क्या है, फलतः वे इन्द्रियतृप्ति को ही जीवन का उच्चतम लक्ष्य मान बैठते हैं। वे यह उपदेश देने लगते हैं कि इन्द्रियतृप्ति के साथ ही वे कुछ मन्त्र सुनाकर और कुछ आसन करके सिद्धि की कामना कर सकते हैं। ऐसे व्यक्तियों को यहाँ पर *हत-मेधस:* कहा गया है, अर्थात् ''जिनके दिमाग खराब हो चुके हैं।'' ऐसे लोग योगसिद्धि या ध्यान के द्वारा भौतिक सुख की कामना करते हैं। भगवान् ने *भगवद्गीता* में कहा है कि जो देवताओं की पूजा करते हैं उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो चुकी होती है। इसी प्रकार यहाँ भी कर्दम मुनि कहते हैं कि जो योगाभ्यास के द्वारा भौतिक सुख की कामना करता है, समझ लो, उसकी बुद्धि बिगड़ चुकी है और वह महामूर्ख है। वस्तुतः योग के उत्तम अभ्यासकर्ता को श्रीभगवान् की पूजा करके अज्ञान के सागर को पार करने और भगवान् के चरणकमलों के दर्शन प्राप्त करने के अतिरिक्त और कोई भी कामना नहीं करनी चाहिए। किन्तु ईश्वर ऐसे दयालु हैं कि ऐसे बुद्धिभ्रष्ट लोगों को वे आज भी कुत्ता, बिल्ली, शूकर बनाकर सम्भोग तथा इन्द्रियतृप्ति द्वारा सुख उठाने का वर देते हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् ने इस वरदान की पुष्टि की है, ''जब भी कोई मनुष्य मुझसे कुछ प्राप्त करना चाहता है, तो मैं उसको मनवांछित वर देता हूँ।''

तथा स चाहं परिवोढुकामः
समानशीलां गृहमेधधेनुम् ।
उपेयिवान्मूलमशेषमूलं
दुराशयः कामदुघाङ्घ्रिपस्य ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तथा—उसी प्रकार से; सः—मैं स्वयं; च—भी; अहम्—मैं; परिवोढु-कामः—ब्याह करने की इच्छा से; समान-शीलाम्—अनुरूप चरित्र वाली कन्या; गृह-मेध—विवाहित जीवन में; धेनुम्—कामधेनु; उपेयिवान्—पास आया हुआ; मूलम्—जड़ (चरणकमल); अशेष—प्रत्येक वस्तु का; मूलम्—स्रोत; दुराशयः—कामेच्छा से; काम-दुघ—समस्त इच्छाओं को प्रदान करने वाला; अङ्घ्रिपस्य—वृक्ष सदृश आपका।

अतः मैं भी ऐसी समान स्वभाव वाली कन्या से विवाह करने की इच्छा लेकर आपके चरणकमलों की शरण में आया हूँ, जो मेरे विवाहित जीवन में मेरी कामेच्छाओं को पूरा करने में कामधेनु के समान सिद्ध हो सके। आपके चरण प्रत्येक वस्तु के देने वाले हैं, क्योंकि आप कल्पवृक्ष के समान हैं।

तात्पर्य : यद्यपि कर्दम मुनि ऐसे व्यक्तियों की निन्दा करते हैं, जो भौतिक लाभों के लिए भगवान् के पास जाते हैं, किन्तु उन्होंने भगवान् के समक्ष अपनी भौतिक असमर्थता तथा आकांक्षा प्रकट करते हुए कहा, ''यद्यपि मुझे पता है कि आपसे कोई भी भौतिक वस्तु नहीं माँगनी चाहिए, किन्तु तो भी मेरी इच्छा है कि मैं समान शीलवती कन्या से विवाह करूँ।'' यहाँ *समानशीलम्* पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन काल में समान स्वभाव वाले लड़के तथा लड़कियों का विवाह होता था; समान स्वभाव वाले लड़के लड़कियों को इसलिए बन्धन-सूत्र में जोड़ा जाता था जिससे वे सुखी रहें। पच्चीस वर्ष से अधिक नहीं बीते होंगे और सम्भवत: आज भी, भारत में लड़की-लड़कों के माता-पिता उनकी कुण्डलियाँ यह जानने के लिए दिखवाते थे कि उनकी मनोदशाओं का वास्तविक योग हो सकता है या नहीं। ऐसे विचार महत्त्वपूर्ण हैं। आजकल ऐसा विचार किये बिना ब्याह होने लगे हैं, फलत: विवाह के तुरन्त बाद तलाक तथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। पहले के समय में पति तथा पत्नी आजीवन सुखपूर्वक जीवन बिताते थे, किन्तु आजकल यह अत्यन्त कठिन हो गया है।

कर्दम समान शील की पत्नी चाहते थे, क्योंकि आध्यात्मिक तथा सांसारिक उन्नति में सहायता पहुँचाने के लिए पत्नी आवश्यक है। कहा गया है कि पत्नी धर्म, अर्थ तथा काम (इन्द्रियतृप्ति) सम्बन्धी समस्त इच्छाओं की पूर्ति करती है। जिसे अच्छी पत्नी मिल जाती है, वह परम भाग्यशाली समझा जाता है। फलित ज्योतिष के अनुसार भाग्यवान पुरुष वह माना जाता है, जिसके पास परम सम्पत्ति हो, अच्छे पुत्र या श्रेष्ठ पत्नी हो। इन तीनों में से जिसके पास श्रेष्ठ पत्नी हो वह परम भाग्यशाली है। विवाह के पूर्व स्त्री का चुनाव समान शील के आधार पर करना चाहिए, इन्द्रियतृप्ति के हेतु तथाकथित शारीरिक सौन्दर्य या हाव-भाव से नहीं। *भागवत* के द्वादश स्कंध में कहा गया है कि कलियुग में विषयी जीवन के आधार पर विवाह होंगे और ज्योंही विषयी जीवन में कोई कमी आई नहीं कि तलाक का प्रश्न उठ खड़ा होगा।

कर्दम मुनि इस वरदान को उमा से प्राप्त कर सकते थे, क्योंकि शास्त्रों में कहा गया है कि

उत्तम पत्नी की कामना करने वालों को उमा की पूजा करनी चाहिए। किन्तु कर्दम ने श्रीभगवान् की पूजा करना श्रेयस्कर समझा, क्योंकि *भागवत* में संस्तुति की गई है कि चाहे कोई सकाम हो या निष्काम अथवा मुक्तिकामी, उसे परमेश्वर की पूजा करनी चाहिए। मनुष्यों की इन तीन कोटियों में से प्रथम कोटि के पुरुष भौतिक इच्छाओं की पूर्ति से प्रसन्न होते हैं, दूसरी कोटि के लोग परमेश्वर का तादात्म्य चाहते हैं और तीसरी कोटि के पुरुष पूर्ण मानव हैं, जो भक्त होते हैं। वे बदले में भगवान् से कुछ भी नहीं चाहते, वे तो केवल दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहना चाहते हैं। प्रत्येक दशा में श्रीभगवान् की पूजा करनी चाहिए, क्योंकि वे सबों के मनोरथ को पूरा करने वाले हैं। परमेश्वर की पूजा का लाभ यह है कि यदि किसी के हृदय में भौतिक सुख की कामना रहती भी है, तो श्रीकृष्ण की पूजा करने पर वह धीरे-धीरे शुद्ध भक्त बन जाता है और उसे किसी भौतिक लाभ की इच्छा नहीं रह जाती।

प्रजापतेस्ते वचसाधीश तन्त्या
लोकः किलायं कामहतोऽनुबद्धः ।
अहं च लोकानुगतो वहामि
बलिं च शुक्लानिमिषाय तुभ्यम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

प्रजापतेः—जो समस्त जीवात्माओं के स्वामी हैं; ते—तुम्हारे; वचसा—निर्देश से; अधीश—हे भगवान्; तन्त्या—डोरी से; लोकः—बद्धजीव; किल—निस्सन्देह; अयम्—ये; काम-हतः—काम वासनाओं से विजित; अनुबद्धः—बँधे हुए; अहम्—मैं; च—तथा; लोक-अनुगतः—बद्धजीवों का अनुसरण करता; वहामि—प्रदान करता हूँ; बलिम्—बलि, भेंट; च—तथा; शुक्ल—हे धर्मरूप; अनिमिषाय—शाश्वत समय के रूप में रहकर; तुभ्यम्—तुम्हें।

हे भगवान्, आप समस्त जीवात्माओं के स्वामी तथा नायक हैं। आपके आदेश से सभी बद्धजीव मानो डोरी से बँधकर अपनी-अपनी इच्छाओं की तुष्टि में निरन्तर लगे रहते हैं। उन्हीं का अनुसरण करते हुए, हे धर्ममूर्ते, शाश्वत काल रूप आपको मैं भी अपनी आहुति (बलि) अर्पण करता हूँ।

तात्पर्य : *कठ उपनिषद्* में कहा गया है कि परमेश्वर समस्त जीवात्माओं के नायक हैं। वे उनके पालक और समस्त आवश्यकताओं तथा इच्छाओं को पूरा करने वाले हैं। कोई भी जीवात्मा स्वतन्त्र नहीं है, सभी परमेश्वर की कृपा पर आश्रित हैं। अतः वेदों का आदेश है कि

परम नायक परमेश्वर के निर्देशानुसार जीवन का उपभोग किया जाय। *ईशोपनिषद* का आदेश है कि प्रत्येक वस्तु श्रीभगवान् की है, अत: मनुष्य को चाहिए कि वह व्यक्तिगत प्राप्तव्य का भोग करे, किसी अन्य की सम्पत्ति में घुसपैठ न करे। सर्वश्रेष्ठ कार्यक्रम तो यह होगा कि प्रत्येक जीवात्मा परम पुरुष से आदेश ले कर भौतिक या आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करे।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब कर्दम मुनि आध्यात्मिक जीवन में इतना आगे बढ़े हुए थे तो फिर उन्होंने मुक्ति की याचना क्यों नहीं की? परमेश्वर को समक्ष देखकर और अनुभव करके वे भौतिक जीवन का सुख भोगना क्यों चाह रहे थे? इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक प्राणी भौतिक बन्धन से मुक्त होने में कुशल नहीं है। अत: यह प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि अपनी वर्तमान स्थिति के अनुसार भोग करे, किन्तु वेदों या भगवान् के निर्देशानुसार करे। वेद भगवान् के प्रत्यक्ष वचन हैं। भगवान् हमें अवसर देते हैं कि हम अपनी इच्छानुसार भौतिक जीवन को भोगें, किन्तु उसके साथ ही वे वेदों से बँधे हुए चलने का निर्देश भी करते हैं जिससे धीरे-धीरे भौतिक बन्धन से मुक्ति तक उठा जा सके। जो बद्धजीव इस संसार में प्रकृति के ऊपर अपना अधिकार जता कर अपनी इच्छाओं को पूरा करने आये हैं, वे प्रकृति के नियमों से बँधे हुए हैं। सर्वोत्तम मार्ग यही है कि वैदिक नियमों का पालन किया जाय। इससे मुक्ति-प्राप्ति में क्रमश: सहायता मिलेगी।

कर्दम मुनि भगवान् को *शुक्ल* कहकर सम्बोधित करते हैं जिसका अर्थ है, ''धर्म का नायक।'' जो पवित्र हैं उन्हें चाहिए कि वे धर्म के नियमों का पालन करें, क्योंकि ऐसे नियम भगवान् ने स्वयं बनाये हैं। कोई भी धर्म को बना नहीं सकता। 'धर्म' का अर्थ ही है भगवान् के आदेश या नियम। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि धर्म का अर्थ है, उनके शरणागत होना। अत: मनुष्य को चाहिए कि वैदिक नियमों का पालन करे और परमेश्वर को आत्मसमर्पण कर दे, क्योंकि मनुष्य जीवन में सिद्धि का परम लक्ष्य यही है। मनुष्य को पवित्रता का जीवन बिताना चाहिए, धार्मिक विधि-विधानों का पालन करना चाहिए, ब्याह करना चाहिए और आत्म-बोध के उच्च पद को प्राप्त करने के लिए शान्तिपूर्वक रहना चाहिए।

लोकांश्च लोकानुगतान्पशूंश्च
हित्वा श्रितास्ते चरणातपत्रम् ।
परस्परं त्वद्गुणवादसीधु-
पीयूषनिर्यापितदेहधर्माः ॥ १७॥

शब्दार्थ

लोकान्—सांसारिक कार्यकलाप; च—तथा; लोक-अनुगतान्—सांसारिकता का अनुसरण करने वाले; पशून्—पशुवत्; च—तथा; हित्वा—त्याग कर; श्रिताः—शरणागत; ते—तुम्हारे; चरण—चरणकमलों का; आतपत्रम्—छत्र; परस्परम्—एक दूसरे से; त्वत्—तुम्हारा; गुण—गुणों का; वाद—तर्क-वितर्क द्वारा; सीधु—मादक; पीयूष—अमृत से; निर्यापित—बुझाया गया; देह-धर्माः—शरीर की मूल आवश्यकताएँ।

फिर भी जिन पुरुषों ने रूढ़ सांसारिकता तथा इनके पशुतुल्य अनुयायियों का परित्याग कर दिया है और जिन्होंने परस्पर विचार-विनिमय के द्वारा आपके गुणों तथा कार्यकलापों के मादक अमृत (सुधा) का पान करके आपके चरण-कमलों की छत्र-छाया ग्रहण की है वे भौतिक देह की मूल आवश्यकताओं से मुक्त हो सकते हैं।

तात्पर्य : कर्दम मुनि विवाहित जीवन की आवश्यकता का वर्णन करने के बाद इस बात पर बल देते हैं कि जो लोग भौतिक इन्द्रिय-सुख में लिप्त रहते हैं उनके लिए विवाह तथा अन्य सामाजिक कार्य रूढ़ (घिसे-पिटे) नियम हैं। पशु जीवन के नियम—खाना, सोना, मैथुन तथा रक्षा करना—वास्तव में शरीर की आवश्यकताएँ हैं, किन्तु जो पुरुष इस भौतिक जगत के इन रूढ़ कार्य-कलापों को त्यागकर दिव्य कृष्णभक्ति में अपने को लगाता है, वह सामाजिक रूढ़ियों से छूट जाता है। बद्धजीव तो माया या शाश्वत काल—भूत, वर्तमान तथा भविष्य—के वश में रहता है, किन्तु ज्योंही वह कृष्णभक्ति में अपने को लगाता है त्योंही वह भूत-भविष्य तथा वर्तमान की सीमाओं को लाँघकर आत्मा के शाश्वत कार्य-कलापों में स्थित हो जाता है। भौतिक जीवन के सुखों व भोग के लिए मनुष्य को वैदिक आदेशों के अनुसार चलना होता है, किन्तु जिन्होंने भगवान् की भक्ति करनी स्वीकार कर ली है वे इस भौतिक जगत के किसी प्रकार के विधि-विधान से भयभीत नहीं होते। ऐसे भक्त भौतिक कार्यकलापों की रूढ़ियों की परवाह नहीं करते; वे निर्भीक होकर उस शरण को ग्रहण करते हैं, जो जन्म-मरण के चक्र रूपी धूप के लिये छाते का काम करती है।

भौतिक अस्तित्व में एक शरीर से दूसरे शरीर में आत्मा का निरन्तर स्थानान्तरण ही दुख का कारण है। बद्ध जीवन का यह भौतिक अस्तित्व ही *संसार* कहलाता है। कोई व्यक्ति अच्छा कार्य करके अत्यन्त सुन्दर भौतिक परिस्थिति में जन्म ग्रहण कर सकता है, किन्तु जिस प्रक्रम के अनुसार जन्म तथा मृत्यु होती है, वह भीषण अग्नि के समान है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अपने गुरु की प्रार्थना में इसका वर्णन किया है। संसार अर्थात् जन्म-मरण का चक्र वन की अग्नि के सदृश है, वन की अग्नि लकड़ियों के घर्षण से स्वत: लगती है, किसी को प्रयास नहीं करना पड़ता और उसे न तो कोई दयावान पुरुष, न ही अग्नि-विभाग बुझा सकता है। वह तो तभी बुझ सकती है जब बादलों से मूसलाधार वर्षा हो। बादल की उपमा गुरु की कृपा से दी गई है। गुरु की कृपा से भगवान् का अनुग्रह रूपी बादल लाया जाता है तभी कृष्णभक्ति की वर्षा होने पर संसार की अग्नि बुझाई जा सकती है। इसकी भी यहाँ व्याख्या की गई है। भौतिक संसार के रूढ़ बद्धजीवन से मुक्ति पाने के लिए मनुष्य को भगवान् के चरणकमलों की शरण उस प्रकार से नहीं जिस प्रकार निर्विशेषवादी ग्रहण करते हैं, वरन् भगवान् का जप और उनके कार्यकलापों का श्रवण करते हुए भक्तिमय सेवा में ग्रहण करनी चाहिए। तभी सांसारिक कर्मों एवं बन्धनों से मुक्त हुआ जा सकता है। यहाँ पर यह संस्तुति की गई है कि मनुष्य को चाहिए कि वह इस संसार के बद्धजीवन और तथाकथित सभ्य पुरुषों की संगति का परित्याग कर दे जो शिष्ट रूप में केवल खाने, सोने, संभोग करने तथा रक्षा करने का वही घिसापिटा जीवन बिता रहे हैं। भगवान् की महिमा का कीर्तन तथा श्रवण यहाँ पर *त्वद्-गुण-वाद-सीधु* के रूप में वर्णित है। भगवान् की लीलाओं का कीर्तन तथा श्रवण रूपी अमृत का पान करके ही मनुष्य इस संसार की मादकता को भूल सकता है।

न तेऽजराक्षभ्रमिरायुरेषां
त्रयोदशारं त्रिशतं षष्टिपर्व ।
षण्नेम्यनन्तच्छदि यत्त्रिणाभि
करालस्रोतो जगदाच्छिद्य धावत् ॥ १८॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ते—तुम्हारे; अजर—अमर ब्रह्म का; अक्ष—धुरी; भ्रमि:—घूमती हुई; आयु:—जीवन काल, उम्र; एषाम्—भक्तों का; त्रयोदश—तेरह; अरम्—तीलियाँ, अरा; त्रि-शतम्—तीन सौ; षष्टि—साठ; पर्व—जोड़, गांठे; षट्—छह; नेमि—परिधियाँ, रिम; अनन्त—असंख्य; छदि—पत्तियाँ, पत्तर; यत्—जो; त्रि—तीन; नाभि—नाभियाँ; कराल-स्रोत:—प्रचण्ड वेग से; जगत्—ब्रह्माण्ड; आच्छिद्य—छेदन करता हुआ; धावत्—दौड़ता हुआ।

आपका तीन नाभिवाला (काल) चक्र अमर ब्रह्म की धुरी के चारों ओर घूम रहा है। इसमें तेरह तीलियाँ (अरे), ३६० जोड़, छह परिधियाँ तथा उस पर अनन्त पत्तियाँ (पत्तर) पिरोयी हुई हैं। यद्यपि इसके घूमने से सम्पूर्ण सृष्टि की जीवन-अवधि घट जाती है, किन्तु यह प्रचण्ड वेगवान् चक्र भगवान् के भक्तों की आयु का स्पर्श नहीं कर सकता।

तात्पर्य : काल द्वारा भक्तों की जीवन-अवधि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि थोड़ी सी भक्ति करने से मनुष्य बड़े से बड़े संकटों से बच जाता है। सबसे बड़ा संकट है आत्मा का एक शरीर से दूसरे में देहान्तरण और इससे बचने का एकमात्र उपाय है भगवान् की भक्ति करना। वैदिक साहित्य में कहा गया है—*हरिं विना न सृतिं तरन्ति*—भगवान् के अनुग्रह के बिना जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा नहीं मिल सकता। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् तथा उनके कार्यों की दिव्य प्रकृति, उनके प्राकट्य तथा अन्तर्धान को समझने पर ही मृत्यु का चक्र रुक सकता है और मनुष्य भगवान् के पास वापस जा सकता है। काल को कई अंशों में विभाजित किया गया है—यथा पल, घटिका, मास, वर्ष, अवधियाँ, ऋतुएँ इत्यादि। इस श्लोक में वर्णित सभी विभागों को वैदिक साहित्य की ज्योतिर्विदीय परिगणनाओं से आंका गया है। वर्ष में छह ऋतुएँ होती हैं और चार मास का चातुर्मास्य होता है। इस प्रकार के तीन चातुर्मास्यों से एक वर्ष बनता है। वैदिक ज्योतिर्गणना के अनुसार तेरह मास होते हैं। तेरहवाँ मास अधिमास या मलमास कहलाता है और प्रत्येक तीन वर्ष बाद जुड़ता रहता है, किन्तु यह काल भक्तों की आयु को छू नहीं सकता। एक अन्य श्लोक में कहा गया है कि उदय तथा अस्त होने के समय सूर्य समस्त जीवात्माओं का प्राण हर लेता है, किन्तु जो भक्ति में लिप्त रहते हैं सूर्य उनके प्राण नहीं ले सकता। यहाँ पर काल की तुलना एक विशाल चक्र से की गई है, जिससें ३६० जोड़, ऋतुओं के रूप में छह परिधियाँ तथा क्षणों के रूप में

असंख्य पत्तर लगे हैं। यह नित्य ब्रह्म की धुरी में घूमता है।

एकः स्वयं सञ्जगतः सिसृक्षया-
द्वितीययात्मन्नधियोगमायया ।
सृजस्यदः पासि पुनर्ग्रसिष्यसे
यथोर्णनाभिर्भगवन्स्वशक्तिभिः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

एकः—एक; स्वयम्—अपने से; सन्—होकर; जगतः—ब्रह्माण्ड; सिसृक्षया—सृष्टि करने की अभिलाषा से; अद्वितीयया—अद्वितीय; आत्मन्—अपने में; अधि—वश में करते हुए; योग-मायया—योगमाया से; सृजसि—उत्पन्न करते हो; अदः—वे ब्रह्माण्ड; पासि—भरण करते हो; पुनः—फिर; ग्रसिष्यसे—अन्त कर देते हो; यथा—जिस प्रकार; ऊर्ण-नाभिः—मकड़ी; भगवन्—हे भगवान्; स्व-शक्तिभिः—अपनी शक्ति से।

हे भगवान्, आप अकेले ही ब्रह्माण्डों की सृष्टि करते हैं। हे श्रीभगवान्, इन ब्रह्माण्डों की सृष्टि करने की इच्छा से, आप उनकी सृष्टि करते, उन्हें पालते और फिर अपनी शक्तियों से उनका अन्त कर देते हैं। ये शक्तियाँ आपकी दूसरी शक्ति योगमाया के अधीन हैं, जिस प्रकार एक मकड़ी अपनी शक्ति से जाला बुनती है और पुनः उसे निगल जाती है।

तात्पर्य : इस श्लोक के दो शब्दों से निर्विशेषवादियों का सिद्धान्त कि प्रत्येक वस्तु ईश्वर है निरस्त हो जाता है। यहाँ पर कर्दम मुनि कहते हैं, "हे भगवान्! आप अकेले हैं, किन्तु आपकी शक्तियाँ विविध हैं।" मकड़ी का उदाहरण भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मकड़ी व्यष्टि जीवात्मा है और यह अपनी शक्ति से जाला बुनती है और उस पर खेलती है और जब चाहती है जाले का अन्त करके खेल समाप्त कर देती है। जब मकड़ी की लार से जाला बुना जाता है, तो मकड़ी निर्गुण नहीं हो जाती। इसी प्रकार भौतिक या आध्यात्मिक शक्ति की सृष्टि या प्रादुर्भाव से कर्ता निर्गुण नहीं हो जाता। यह प्रार्थना बताती है कि भगवान् संवेदनशील है और भक्तों की प्रार्थनाएँ सुनते हैं और उन्हें पूरा करते हैं। अतः वे सच्चिदानन्द विग्रह हैं।

नैतद्बताधीश पदं तवेप्सितं
यन्मायया नस्तनुषे भूतसूक्ष्मम् ।
अनुग्रहायास्त्वपि यर्हि मायया

लसत्तुलस्या भगवान्विलक्षितः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतत्—यह; बत—निस्सन्देह; अधीश—हे भगवान्; पदम्—भौतिक संसार; तव—तुम्हारी; ईप्सितम्—इच्छा; यत्—जो; मायया—आपकी बहिरंगा शक्ति से; नः—हमारे लिए; तनुषे—प्रकट होते हो; भूत-सूक्ष्मम्—स्थूल तथा सूक्ष्म तत्त्व; अनुग्रहाय—अनुग्रह करने के लिए; अस्तु—हो; अपि—भी; यर्हि—जब; मायया—आपकी अहैतुकी कृपा से; लसत्—भव्य; तुलस्या—तुलसी दल की माला से; भगवान्—श्रीभगवान्; विलक्षितः—देखा जाता है।

हे भगवान्, इच्छा के न होते हुए भी आप स्थूल तथा सूक्ष्म तत्त्वों की इस सृष्टि को हमारी ऐन्द्रिय तुष्टि के लिए प्रकट करते हैं। आपकी अहैतुकी कृपा हमें प्राप्त हो, क्योंकि आप अपने नित्य रूप में तुलसीदल की माला से विभूषित होकर हमारे समक्ष प्रकट हुए हैं।

तात्पर्य : यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि भौतिक जगत की सृष्टि परमेश्वर की निजी इच्छा से नहीं वरन् उनकी बहिरंगा शक्ति के द्वारा होती है, क्योंकि जीवात्माएँ उसका उपभोग करना चाहती हैं। यह संसार उन लोगों के लिए नहीं बनाया गया जो इन्द्रिय-तृप्ति का सुख नहीं उठाना चाहते, जो निरन्तर दिव्य प्रेमाभक्ति में व्यस्त रहते हैं और जो नित्य कृष्णभावना भावित रहते हैं। उनके लिए तो आध्यात्मिक जगत निरन्तर विद्यमान है, जिसे वे भोग सकते हैं। श्रीमद् *भागवत* में अन्यत्र कहा गया है कि जिन लोगों ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली है उनके लिए यह संसार व्यर्थ है। चूँकि यह संसार पद-पद में संकट से पूर्ण है, अत: यह भक्तों के निमित्त न होकर उन जीवात्माओं के लिए है, जो अपने जोखिम पर भौतिक शक्ति को वश में रखना चाहते हैं। श्रीकृष्ण इतने दयालु हैं कि इन्द्रिय-सुख चाहने वालों के लिए उन्होंने पृथक् जगत की सृष्टि की है, जिसे वे अपनी इच्छानुसार भोग सकें; फिर भी वे अपने सगुण रूप में प्रकट होते हैं। भगवान् अनिच्छापूर्वक इस भौतिक संसार की सृष्टि करते हैं, किन्तु वे या तो स्वयं साकार होकर अवतरित होते हैं या अपने किसी विश्वासपात्र पुत्र या सेवक या फिर वेदव्यास जैसे विश्वसनीय लेखक को उपदेश देने के लिए भेजते हैं। वे *भगवद्गीता* के प्रवचनों के रूप में स्वयं उपदेश देते हैं। सृष्टि के साथ-साथ यह प्रचार कार्य भी चलता रहता है, जिससे इस संसार में सड़ रही पथभ्रष्ट जीवात्माएँ भगवान् के धाम पहुँच कर

उनकी शरण ग्रहण कर लें। इसीलिए *भगवद्गीता* का अन्तिम उपदेश है, ''इस संसार के सारे बनावटी कार्यों को त्यागकर मेरी शरण में आओ। मैं समस्त पापमय कर्मफलों से तुम्हें बचा लूँगा।''

तं त्वानुभूत्योपरतक्रियार्थं
स्वमायया वर्तितलोकतन्त्रम् ।
नमाम्यभीक्ष्णं नमनीयपाद-
सरोजमल्पीयसि कामवर्षम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; त्वा—तुमको; अनुभूत्या—अनुभूति द्वारा; उपरत—उपेक्षित; क्रिया—सकाम कर्मों का सुख; अर्थम्—जिससे कि; स्व-मायया—अपनी शक्ति से; वर्तित—लाया गया; लोक-तन्त्रम्—भौतिक लोक; नमामि—नमस्कार करता हूँ; अभीक्ष्णम्—निरन्तर; नमनीय—पूज्य; पाद-सरोजम्—चरणकमल; अल्पीयसि—अकिंचन; काम—आकांक्षाएँ; वर्षम्—वर्षा करते हुए।

मैं आपके चरण-कमलों में निरन्तर सादर नमस्कार करता हूँ, जिनकी शरण ग्रहण करना श्रेयस्कर है, क्योंकि आप अकिंचनों पर समस्त आशीर्वादों की वृष्टि करने वाले हैं। आपने इन भौतिक लोकों को अपनी ही शक्ति से विस्तार दिया है, जिससे समस्त जीवात्माएँ आपकी अनुभूति के द्वारा सकाम कर्मों से विरक्ति प्राप्त कर सकें।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति जो भौतिक सुख, मुक्ति या भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति का अभिलाषी है, उसे चाहिए कि भगवान् को नमस्कार करे, क्योंकि भगवान् प्रत्येक मनुष्य को मनवांछित फल देने वाले हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् ने दृढ़तापूर्वक कहा है—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते*—जो कोई इस संसार में सफलतापूर्वक भोग करना चाहता है भगवान् उसे भोग का वर देते हैं, जो इस संसार के बन्धन से मुक्त होना चाहता है उसे वे मुक्ति प्रदान करते हैं और जो पूर्ण कृष्णभावनामृत में जुटे रहना चाहता है भगवान उसे भक्ति का वर प्रदान करते हैं। भौतिक सुख के लिए उन्होंने वेदों में अनेक यज्ञ करने की संस्तुति की है और उन आदेशों के लाभ से या तो उच्चतर लोकों में या किसी सम्पन्न परिवार में रहकर भौतिक आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। ये विधियाँ वेदों में उल्लिखित हैं और लोग इन्हीं से लाभ उठा सकते हैं। इस भौतिक संसार से उद्धार चाहने वाले लोग भी उसी प्रकार लाभ उठा सकते हैं।

जब तक कोई इस भौतिक संसार के सुख से ऊब नहीं जाता वह मुक्ति की कामना नहीं कर सकता। मुक्ति भौतिक सुख से ऊबने वाले के लिए है। अत: *वेदान्त सूत्र* का कथन है—*अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा*—जिन्होंने इस संसार में सुखी रहने की आशा छोड़ दी है वे ही परम सत्य की खोज के प्रति उन्मुख होते हैं। जो लोग परम सत्य को जानना चाहते हैं उनके लिए *वेदान्त सूत्र* तो उपलब्ध है और उसी प्रकार उसका भाष्य *श्रीमद्भागवत* भी है। चूँकि *भगवद्गीता* भी *वेदान्त सूत्र* ही है, अत: *श्रीमद्भागवत, वेदान्त सूत्र* अथवा *भगवद्गीता* को समझ कर वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। वास्तविक ज्ञान हो जाने पर सिद्धान्तत: परमेश्वर से तदाकार हुआ जा सकता है और जब कोई ब्रह्म की सेवा या कृष्ण-भक्ति करने लगता है, तो वह न केवल मुक्त हो जाता है, वरन् आध्यात्मिक-जीवन में स्थित हो जाता है। इसी प्रकार जो भौतिक प्रकृति पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए भौतिक सुख के लिए अनेक साधन रहते हैं। भौतिक ज्ञान तथा भौतिक विज्ञान सभी उपलब्ध हैं और जो इनका भोग करना चाहते हैं भगवान् उन्हें वह भी प्रदान करते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि किसी भी वरदान के लिए पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा करनी चाहिए। यहाँ *काम-वर्षम्* शब्द अत्यन्त सार्थक है, क्योंकि यह सूचित करता है कि जो कोई भी भगवान् के पास पहुँचता है वे उसकी आकांक्षाओं को पूरा करते हैं। किन्तु जो श्रीकृष्ण से प्रेम करने के साथ ही भौतिक सुख भी चाहता है, वह अत्यन्त दुविधा में रहता है। श्रीकृष्ण उसके प्रति अत्यन्त दयालु होने के कारण दिव्य प्रेमाभक्ति में अनुरक्त होने का उसे अवसर प्रदान करते हैं, जिससे वह क्रमश: व्यामोह को भूल जाता है।

ऋषिरुवाच

इत्यव्यलीकं प्रणुतोऽब्जनाभ-
स्तमाबभाषे वचसामृतेन ।
सुपर्णपक्षोपरि रोचमानः
प्रेमस्मितोद्वीक्षणविभ्रमद्भ्रूः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

ऋषिः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; इति—इस प्रकार; अव्यलीकम्—निष्ठापूर्वक; प्रणुतः—प्रशंसित होकर; अब्ज-नाभः—भगवान् विष्णु ने; तम्—कर्दम मुनि को; आबभाषे—उत्तर दिया; वचसा—शब्दों से; अमृतेन—अमृत के समान मधुर; सुपर्ण—गरुड़; पक्ष—कंधे के; उपरि—ऊपर; रोचमानः—चमकते हुए; प्रेम—स्नेह का; स्मित—हँसी से; उद्वीक्षण—देखते हुए; विभ्रमत्—चलायमान; भ्रूः—भौंहें।

मैत्रेय ने कहा—इन शब्दों से प्रशंसित होने पर गरुड़ के कंधों पर अत्यन्त मनोहारी रूप से दैदीप्यमान भगवान् विष्णु ने अमृत के समान मधुर शब्दों में उत्तर दिया। उनकी भौंहें ऋषि की ओर स्नेहपूर्ण हँसी से देखने के कारण चञ्चल हो रही थीं।

तात्पर्य : *वचसामृतेन* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जब भी भगवान् बोलते हैं, तो वे दिव्यलोक से बोलते हैं, भौतिक जगत से नहीं। चूँकि वे दिव्य हैं, उनकी वाणी तथा उनके कार्य भी सभी दिव्य हैं, उनसे सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु दिव्य है। *अमृत* शब्द से उस व्यक्ति का बोध होता है, जिसकी मृत्यु नहीं होती। भगवान् के शब्द तथा उनके कार्य मृत्युविहीन (अमर) हैं, अतः वे इस भौतिक जगत के द्वारा निर्मित नहीं हो सकते। इस संसार तथा अध्यात्म-जगत की ध्वनियाँ भिन्न-भिन्न हैं। अध्यात्म-जगत की ध्वनि अमृत तथा नित्य होती है, जबकि इस संसार की ध्वनि घिसी-पिटी तथा नश्वर है। *हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे*—इस पवित्र नाम की ध्वनि जप करने वाले को निरन्तर प्रोत्साहन प्रदान करने वाली है। यदि कोई उबाऊ शब्दों का उच्चारण करता है, तो उसे थकान लगती है, किन्तु यदि कोई चौबीसों घण्टे हरेकृष्ण का जप करे तो थकान का अनुभव कभी नहीं होगा, बजाय इसके वह और उत्साह से अधिकाधिक जप करता ही जाएगा। जब भगवान् ने कर्दम मुनि को उत्तर दिया तो उसमें *वचसामृतेन* शब्द का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है, क्योंकि वे दिव्यलोक से बोल रहे थे। उनका उत्तर दिव्य शब्दों में था और जब वे बोल रहे थे तो उनकी भौंहें प्रेमवश चलायमान थीं। जब भक्त भगवान् के यश का गान करते हैं, तो वे अत्यन्त प्रसन्न होते हैं और भक्तों को बिना हिचक दिव्य वर प्रदान करते हैं, क्योंकि वे अकारण भक्तों पर कृपालु रहते हैं।

श्रीभगवानुवाच
विदित्वा तव चैत्यं मे पुरैव समयोजि तत् ।
यदर्थमात्मनियमैस्त्वयैवाहं समर्चितः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—परमेश्वर से कहा; विदित्वा—जानकर; तव—तुम्हारी; चैत्यम्—मानसिक स्थिति; मे—मेरे द्वारा; पुरा—इसके पूर्व ही; एव—निश्चय ही; समयोजि—योजना की गई; तत्—वह; यत्-अर्थम्—जिसके लिए; आत्म—मन तथा इन्द्रियों का; नियमैः—संयम या अनुशासन से; त्वया—तुम्हारे द्वारा; एव—केवल; अहम्—मैं; समर्चितः—पूजित हुआ।

भगवान् ने कहा—जिसके लिए तुमने आत्मा संयमादि के द्वारा मेरी आराधना की है, तुम्हारे मन के उस भाव को पहले ही जानकर मैंने उसकी व्यवस्था कर दी है।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सबों के हृदय में परमात्मा रूप में स्थित हैं, अत: वे प्रत्येक व्यक्ति के भूत, वर्तमान तथा भविष्य को जानने के साथ ही उसकी इच्छाओं, कार्यों तथा उसके विषय में सब कुछ जानते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि वे हृदय में साक्षीस्वरूप स्थित हैं। भगवान् कर्दम मुनि के हृदय की अभिलाषा को जान गये और उसकी पूर्ति के लिए उन्होंने पहले ही व्यवस्था कर दी थी। वे एकनिष्ठ भक्त को, चाहे वह जो कुछ भी चाहे, निराश नहीं करते, किन्तु उसकी भक्ति के मार्ग में किसी प्रकार की बाधा आने नहीं देते।

न वै जातु मृषैव स्यात्प्रजाध्यक्ष मदर्हणम् ।
भवद्विधेष्वतितरां मयि सङ्गृभितात्मनाम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वै—निस्सन्देह; जातु—कभी; मृषा—झूठा, वृथा; एव—केवल; स्यात्—होए; प्रजा—जीवात्माओं के; अध्यक्ष—हे प्रमुख; मत्-अर्हणम्—मेरी पूजा; भवत्-विधेषु—तुम जैसे लोगों को; अतितराम्—पूर्णतया; मयि—मुझमें; सङ्गृभित—स्थिर हैं; आत्मनाम्—उनका जिनके मन।

भगवान् ने आगे कहा—हे ऋषि, हे जीवात्माओं के अध्यक्ष, जो लोग मेरी पूजा द्वारा भक्तिपूर्वक मेरी सेवा करते हैं, विशेष रूप से तुम जैसे पुरुष जिन्होंने अपना सर्वस्व मुझे अर्पित कर रखा है, उन्हें निराश होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

तात्पर्य : भगवान् की सेवा में लगे पुरुष की यदि कोई इच्छाएँ होती भी है, तो वह कभी निराश नहीं होता। सेवा में लगे पुरुष *सकाम* तथा *अकाम* कहलाते हैं। जो भौतिक सुख की अभिलाषा से भगवान् की शरण में जाते हैं, वे *सकाम* कहलाते हैं और जो इन्द्रियतृप्ति के लिए किसी प्रकार की इच्छाएँ नहीं करते, किन्तु स्वत:जात प्रेमवश उनकी सेवा करते हैं, वे *अकाम* कहलाते हैं। *सकाम* भक्तों की भी चार श्रेणियाँ हैं—आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु तथा ज्ञानी। कोई

शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट के कारण, तो कोई धन की आवश्यकता के कारण, कोई ईश्वर को जानने की इच्छा से कि वह है क्या और कोई अपनी ज्ञानमयी खोज से दार्शनिक की तरह भगवान् को जानने की इच्छा से भगवान् की सेवा करते हैं। इनमें से किसी भी श्रेणी के पुरुषों को निराश नहीं होना पड़ता, प्रत्येक को अपनी पूजा का अभीष्ट फल प्राप्त होता है।

प्रजापतिसुत: सम्राण्मनुर्विख्यातमङ्गल: ।
ब्रह्मावर्तं योऽधिवसन्शास्ति सप्तार्णवां महीम् ॥ २५॥

शब्दार्थ

प्रजापति-सुत:—भगवान् ब्रह्मा का पुत्र; सम्राट्—महान् राजा; मनु:—स्वायंभुव मनु; विख्यात—सुप्रसिद्ध; मङ्गल:—जिसके शुभ कार्य; ब्रह्मावर्तम्—ब्रह्मावर्त; य:—जो; अधिवसन्—रहते हुए; शास्ति—शासन करता है; सप्त—सात; अर्णवाम्—समुद्र; महीम्—पृथ्वी।

भगवान् ब्रह्मा के पुत्र सम्राट स्वायंभुव मनु जो अपने सुकृत्यों के लिए विख्यात हैं, ब्रह्मावर्त में स्थित होकर सात समुद्रों वाली पृथ्वी पर शासन करते हैं।

तात्पर्य : कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्मावर्त कुरुक्षेत्र का एक अंग है या कि कुरुक्षेत्र स्वयं ब्रह्मावर्त में स्थित है, क्योंकि देवताओं को कुरुक्षेत्र में दैवी कर्मकाण्ड सम्पन्न करने की संस्तुति की जाती है। कुछ अन्य लोगों का मत है कि ब्रह्मावर्त ब्रह्मलोक का एक स्थान है जहाँ स्वायंभुव शासन करते थे। इस पृथ्वी पर ऐसे अनेक स्थान हैं, जो उच्चलोक में भी जाने जाते हैं। उदाहरणार्थ, इस लोक में वृन्दावन, द्वारका तथा मथुरा जैसे स्थान हैं, किन्तु ये शाश्वत रूप में कृष्णलोक में भी स्थित हैं। पृथ्वी पर ऐसे ही अनेक नाम हैं और सम्भव है कि जैसे यहाँ कहा गया है वराह युग में स्वयांभुव मनु ने इस लोक पर भी शासन किया हो। *मंगल:* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। मंगल का अर्थ है, वह जो सभी प्रकार से धार्मिक अनुष्ठानों, शासन शक्ति, स्वच्छता तथा अन्य गुणों के ऐश्वर्य से सम्पन्न हो। *विख्यात* का अर्थ है सुप्रसिद्ध। स्वायंभुव मनु इन सभी के ऐश्वर्य से सद्गुणों तथा वैभवों के लिए सुप्रसिद्ध थे।

स चेह विप्र राजर्षिर्महिष्या शतरूपया ।
आयास्यति दिदृक्षुस्त्वां परश्वो धर्मकोविद: ॥ २६॥

शब्दार्थ

सः—स्वायंभुव मनु; च—तथा; इह—यहाँ; विप्र—हे पवित्र ब्राह्मण; राज-ऋषिः—साधु राजा; महिष्या—अपनी रानी (महिषी) सहित; शतरूपया—शतरूपा नामक; आयास्यति—आएंगे; दिदृक्षुः—देखने की इच्छा से; त्वाम्—तुमको; परश्वः—परसों; धर्म—धार्मिक कृत्यों में; कोविदः—दक्ष।.

हे ब्राह्मण, धार्मिक कृत्यों में दक्ष सुप्रसिद्ध सम्राट अपनी पत्नी शतरूपा सहित तुम्हें देखने के लिए परसों यहाँ आएँगे।

आत्मजामसितापाङ्गीं वयःशीलगुणान्विताम् ।
मृगयन्तीं पतिं दास्यत्यनुरूपाय ते प्रभो ॥ २७॥

शब्दार्थ

आत्म-जाम्—अपनी पुत्री; असित—श्याम; अपाङ्गीम्—आँखें; वयः—तरुण आयु; शील—आचरण से; गुण—अच्छे गुणों से; अन्विताम्—युक्त; मृगयन्तीम्—खोजती हुई; पतिम्—पति को; दास्यति—दे देंगे; अनुरूपाय—अनुरूप, उपयुक्त; ते—तुमको; प्रभो—महोदय!.

उनके एक श्याम नेत्रों वाली तरुणी कन्या है। वह विवाह के योग्य है, वह उत्तम आचरण वाली तथा सर्व गुणसम्पन्न है। वह भी अच्छे पति की तलाश में है। महाशय, उसके माता-पिता तुम्हें देखने आएँगे। तुम उसके सर्वथा अनुरूप हो जिससे वे अपनी कन्या को तुम्हारी पत्नी के रूप में अर्पित कर देंगे।

तात्पर्य : अच्छी कन्या के लिए अच्छे वर का चुनाव सदैव माता पिता करते रहे हैं। यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि मनु तथा उनकी पत्नी अपनी कन्या को प्रदान करने के लिए कर्दम मुनि को देखने जा रहे थे, क्योंकि उनकी कन्या योग्य थी और वे समान गुण वाले वर की तलाश में थे। यही माता-पिता का कर्तव्य है। लड़कियों को कभी सड़क पर निकल कर पति की तलाश करने की आज्ञा नहीं दी जाती, क्योंकि युवती होकर यदि वे पति की तलाश करें तो वे भूल जाएँगी कि पति उनके अनुरूप भी है या नहीं। काम-पिपासा के कारण वे किसी को भी पति बना सकती हैं, किन्तु यदि माता-पिता उसके पति का चुनाव करते हैं, तो विचार कर सकते है कि किसे चुना जाय और किसे नहीं। फलत: वैदिक पद्धति में माता-पिता अनुरूप वर को कन्या का दान करते हैं, उसे स्वतन्त्र रूप से वर चुनने की आज्ञा नहीं दी जाती।

समाहितं ते हृदयं यत्रेमान्परिवत्सरान् ।
सा त्वां ब्रह्मन्नृपवधूः काममाशु भजिष्यति ॥ २८॥

शब्दार्थ

समाहितम्—स्थिर; ते—तुम्हारे; हृदयम्—हृदय; यत्र—जिस पर; इमान्—इतने; परिवत्सरान्—वर्षों तक; सा—वह; त्वाम्—तुमको; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; नृप-वधू:—राजकुमारी; कामम्—इच्छानुरूप; आशु—शीघ्र ही; भजिष्यति—सेवा करेगी।.

हे ऋषि, वह राजकुमारी उसी प्रकार की होगी जिस प्रकार की तुम इतने वर्षों से अपने मन में सोचते रहे हो। वह शीघ्र ही तुम्हारी हो जाएगी और वह जी भर तुम्हारी सेवा करेगी।

तात्पर्य : भगवान् भक्तों के मनोरथों को पूरा करने वाले हैं, अत: भगवान् ने कर्दम मुनि को बतलाया, ''जो कन्या तुमसे विवाहित होने जा रही है, वह स्वायंभुव मनु की पुत्री और राजकुमारी है, अत: वह तुम्हारे योग्य है।'' केवल ईश्वर की कृपा से किसी को मनवांछित पत्नी प्राप्त होती है; इसी प्रकार लड़की को भी ईश्वर की कृपा से मनानुकूल पति मिलता है। इस प्रकार यह कहा जाता है कि हम नित्यप्रति के कार्यों के लिए परमेश्वर से प्रार्थना करते रहें तो हर काम सुचारु रूप से और हमारी रुचि के अनुकूल सम्पन्न होगा। दूसरे शब्दों में, सभी परिस्थितियों में हमें श्रीभगवान् की शरण में जाना चाहिए और उनके निर्णय पर पूर्णतया निर्भर रहना चाहिए। मनुष्य सोचता कुछ है और होता कुछ है। अत: इच्छाओं की पूर्ति श्रीभगवान् पर छोड़ देना सबसे उत्तम हल है। कर्दम मुनि को पत्नी की आकांक्षा थी, किन्तु भगवद्भक्त होने के कारण भगवान् ने उनके लिए सम्राट की पुत्री, राजुकमारी को चुन दिया। इस प्रकार कर्दम मुनि को अपनी आशा से बढ़कर पत्नी-लाभ हुआ। यदि हम श्रीभगवान् की रुचि पर निर्भर करें तो हमारी आकांक्षा से भी अधिक, प्रचुर मात्रा में, वर प्राप्त हो सकते हैं।

यहाँ पर यह भी ध्यान देने की महत्त्वपूर्ण बात है कि कर्दम मुनि ब्राह्मण थे, जबकि सम्राट स्वायंभुव क्षत्रिय थे। अत: उस काल में भी अन्तर्जातीय विवाह प्रचलित था। प्रचलन यह था कि कोई ब्राह्मण क्षत्रिय की कन्या से विवाह कर सकता था, किन्तु क्षत्रिय किसी ब्राह्मण कन्या से विवाह नहीं कर सकता था। वैदिक काल के इतिहास से ऐसे प्रमाण प्राप्त हैं कि शुक्राचार्य ने अपनी पुत्री महाराज ययाति को दी, किन्तु राजा ने ब्राह्मण-पुत्री से विवाह करने से इनकार कर दिया। केवल ब्राह्मण की विशेष आज्ञा से ही वे विवाह कर सकते थे। अत: प्राचीन काल

में, लाखों वर्षों पूर्व अन्तर्जातीय विवाह वर्जित न था वरन् नियमित सामाजिक प्रथा के रूप में था।

या त आत्मभृतं वीर्यं नवधा प्रसविष्यति ।
वीर्ये त्वदीये ऋषय आधास्यन्त्यञ्जसात्मनः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

या—वह; ते—तुम्हारे द्वारा; आत्म-भृतम्—उसमें बोये गये; वीर्यम्—बीज से; नव-धा—नौ कन्याएँ; प्रसविष्यति—जन्म देगी; वीर्ये त्वदीये—तुम्हारे द्वारा उत्पन्न कन्याओं में; ऋषयः—ऋषिगण; आधास्यन्ति—उत्पन्न करेंगे; अञ्जसा—कुल मिलाकर; आत्मनः—सन्तानें।

वह तुम्हारा वीर्य धारण करके नौ पुत्रियाँ उत्पन्न करेगी और यथासमय इन कन्याओं से ऋषि सन्तानें उत्पन्न करेंगे।

त्वं च सम्यगनुष्ठाय निदेशं म उशत्तमः ।
मयि तीर्थीकृताशेषक्रियार्थो मां प्रपत्स्यसे ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; च—तथा; सम्यक्—उचित रीति से; अनुष्ठाय—अनुष्ठान करके; निदेशम्—आदेश; मे—मेरा; उशत्तमः—पूर्णतया पवित्र किया; मयि—मुझको; तीर्थी-कृत—अर्पित करके; अशेष—समस्त; क्रिया—कार्यों का; अर्थः—फल; माम्—मुझको; प्रपत्स्यसे—प्राप्त करोगे।

मेरी आज्ञा का अच्छी तरह से पालन करने के कारण स्वच्छ हृदय होकर तुम अपने सब कर्मों का फल मुझे अर्पित करके अन्त में मुझे ही प्राप्त करोगे।

तात्पर्य : *तीर्थी-कृताशेष-क्रियार्थः* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। तीर्थ का अर्थ है, वह पवित्र स्थान जहाँ दान दिया जाता है। लोग तीर्थस्थल में जाते थे और दिल खोलकर दान देते थे। यह प्रथा अब भी चालू है। अतः भगवान् ने कहा, ''अपने कर्मों तथा उनके फलों को पवित्र बनाने के लिए तुम प्रत्येक वस्तु मुझे अर्पित करोगे।'' इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में भी की गई है—''तुम जो भी करो, जो भी खाओ, जो भी यज्ञ करो, उसका फल केवल मुझे अर्पित होना चाहिए।'' अन्यत्र *भगवद्गीता* में भगवान् ने कहा है, ''समस्त यज्ञों, तपों तथा मनुष्य या समाज के लिए जो कुछ भी किया जाता है उन सबका भोक्ता मैं ही हूँ।'' उक्त समस्त कार्य, चाहे परिवार के कल्याण के लिए हो या समाज, देश अथवा मानवता के लिए, उन्हें कृष्ण-भावनामृत के लिए

सम्पन्न किया जाना चाहिए। यही भगवान् का कर्दम मुनि को उपदेश है। महाराज युधिष्ठिर ने नारद मुनि का सत्कार करते हुए कहा—"आप जहाँ भी उपस्थित रहते हैं वह स्थान पवित्र हो जाता है, क्योंकि आपके हृदय में स्वयं भगवान् सदैव स्थित रहते हैं।" इसी प्रकार यदि हम भगवान् तथा उनके प्रतिनिधि के आदेशों पर कृष्णभावनामृत के लिए कर्म करते हैं, तो प्रत्येक वस्तु पवित्र हो जाती है। यह संकेत कर्दम मुनि को किया गया जिन्होंने इसके अनुसार कार्य किया जिससे उन्हें सर्वोत्तम पत्नी मिली और पुत्र भी, जैसाकि आगे बताया जाएगा।

कृत्वा दयां च जीवेषु दत्त्वा चाभयमात्मवान् ।
मय्यात्मानं सह जगद्द्रक्ष्यस्यात्मनि चापि माम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

कृत्वा—प्रदर्शित करके; दयाम्—दया; च—तथा; जीवेषु—जीवों के प्रति; दत्त्वा—दे करके; च—तथा; अभयम्—सुरक्षा का आश्वासन; आत्म-वान्—आत्म-साक्षात्कार; मयि—मुझमें; आत्मानम्—अपने आप को; सह जगत्—ब्रह्माण्ड सहित; द्रक्ष्यसि—देखोगे; आत्मनि—अपने में; च—तथा; अपि—भी; माम्—मुझको।

समस्त जीवों पर दया करते हुए तुम आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर सकोगे; फिर सबको अभयदान देकर अपने सहित सम्पूर्ण जगत को मुझमें और मुझको अपने में स्थित देखोगे।

तात्पर्य : यहाँ पर प्रत्येक जीवात्मा के लिए आत्म-साक्षात्कार की सरल विधि का वर्णन हुआ है। जिस प्रथम नियम को समझ लेना होगा वह यह है कि यह जगत भगवान् की इच्छा का फल है। परमेश्वर से इस जगत की आत्मीयता है। किन्तु निर्विशेषवादी इस तादात्मता को गलत ढंग से ग्रहण करते हैं; उनका कहना है कि परम सत्य परमेश्वर अपने को ब्रह्माण्ड में रूपान्तरित करके अपनी पृथक् सत्ता को खो देता है। इस प्रकार वे जगत को तथा इसकी प्रत्येक वस्तु को भगवान् मानते हैं। यह सर्वेश्वरवाद है, जिसमें प्रत्येक वस्तु को भगवान् माना जाता है। यह निर्विशेषवादियों का मत है। किन्तु जो भगवान् के निजी भक्त हैं, वे प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सम्पत्ति मानते हैं। हम जो भी देखते हैं वह भगवान् का प्राकट्य है, अत: प्रत्येक वस्तु भगवान् की सेवा में अर्पित की जानी चाहिए। यही तादात्म्य है। सगुणवादियों तथा निर्गुणवादियों का यही अन्तर है कि निर्गुणवादी भगवान् की पृथक् सत्ता को स्वीकार नहीं

करते, किन्तु सगुणवादी इसे स्वीकार करते हैं, वे जानते हैं कि भगवान् अनेक प्रकार से विभक्त होने पर भी अपनी पृथक् सत्ता रखता है। इसका वर्णन *भगवद्गीता* में हुआ है, ''मैं सम्पूर्ण जगत में निराकार रूप में फैला हुआ हूँ। प्रत्येक वस्तु मुझ पर आधारित है, किन्तु मैं उसमें उपस्थित नहीं हूँ।'' सूर्य तथा सूर्यप्रकाश का दृष्टान्त अतीव सुन्दर है। सूर्य अपने प्रकाश से ब्रह्माण्ड भर में फैला हुआ है और सभी लोक सूर्यप्रकाश पर निर्भर हैं, किन्तु सभी लोक सूर्यलोक से भिन्न हैं। कोई यह नहीं कह सकता क्योंकि लोक सूर्यप्रकाश पर निर्भर हैं अत: वे भी सूर्य हैं। इसी प्रकार निर्विशेषदियों या सर्वेश्वरवादियों का यह मत कि प्रत्येक वस्तु ईश्वर है बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है। जैसाकि भगवान् ने स्वयं कहा है कि वास्तविक स्थिति यह है कि यद्यपि भगवान् के बिना किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता, किन्तु यह तथ्य नहीं है कि प्रत्येक वस्तु भगवान् है। वे प्रत्येक वस्तु से पृथक् हैं। अत: यहाँ भी भगवान् कहते हैं, ''तुम इस संसार में प्रत्येक वस्तु को मुझसे अभिन्न देखोगे।'' इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक वस्तु को भगवान् की शक्ति का फल मानना चाहिए, अत: प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सेवा में लगाना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि अपनी शक्ति का उपयोग अपने हित के लिए करे। यही शक्ति की सार्थकता (पूर्णता) है।

यदि कोई दयालु हो तो इस शक्ति का उपयोग वास्तविक आत्महित में किया जा सकता है। कृष्णभावनाभावित मनुष्य सदैव भगवान् का भक्त और सदय होता है। उसे इससे सन्तोष नहीं होता है कि वही एक भक्त है, वरन् वह अपनी भक्ति का ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति में बाँटने का प्रयत्न करता है। भगवान् के ऐसे अनेक भक्त हैं जिनको इस प्रकार भक्ति-ज्ञान वितरित करने में अनेक संकट उठाने पड़े। वह तो करना ही चाहिए।

यह भी कहा गया है कि जो भगवान् के मन्दिर में जाकर अत्यन्त भक्तिपूर्वक पूजा करता है, किन्तु जो अन्यों पर दया नहीं करता या अन्य भक्तों का आदर नहीं करता वह तीसरी श्रेणी का भक्त है। दूसरी श्रेणी का भक्त वह है, जो पतितों पर दया एवं करुणा प्रदर्शित करता है। वह अपने को भगवान् का शाश्वत् दास समझता है, फलत: वह भक्तों से मित्रता स्थापित करता

है, जनसामान्य को भक्ति का उपदेश देता है और अभक्तों का साथ नहीं करता। जब तक भगवान् की भक्ति करते हुए गृहस्थ कोई जनसामान्य पर दया नहीं दिखाता वह तृतीय श्रेणी का भक्त होता है। प्रथम श्रेणी का भक्त समस्त जीवों को आश्वासन देता रहता है कि इस भौतिक संसार में कोई भय नहीं है, ''सभी लोग कृष्ण-भक्ति करें और संसार के अज्ञान को जीतें।''

यहाँ यह इंगित है कि भगवान् ने कर्दम मुनि को आदेशित किया कि वे अपने गृहस्थ जीवन में दयालु तथा उदार रहें और विरक्त होने पर लोगों को आश्वस्त करते रहें। संन्यासी इसी के लिए होता है कि लोगों को प्रकाश दे। उसे चाहिए कि लोगों को ज्ञान देने के लिए वह घर-घर जाए। गृहस्थ माया के वशीभूत होकर गृहस्थी के कार्यों में निमग्न हो जाता है और श्रीकृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाता है। यदि वह बिल्लियों तथा कुत्तों की तरह विस्मृति में ही मर जाता है, तो उसका जीवन नष्ट हो जाता है। अत: यह संन्यासी का कर्तव्य है कि वह जा जाकर विस्मृत जीवों को भगवान् के साथ उनके सम्बन्धों को बताये और उन्हें भक्ति में लगाए। भक्तों को पतितात्माओं पर दया दिखानी चाहिए और उन्हें निर्भय रहने का आश्वासन देना चाहिए। ज्योंही कोई भक्त बन जाता है उसे विश्वास हो जाता है कि वह भगवान् द्वारा रक्षित है। स्वयं भय भी भगवान् से भयभीत रहता है, अत: भय इत्यादि से उसे क्या लेना-देना?

सामान्य जन को निर्भय बनाना सबसे बड़ा पुण्य कार्य है। संन्यासी को चाहिए कि वह द्वार द्वार, गाँव गाँव, नगर नगर, देश देश तथा विश्व भर में जहाँ भी सम्भव हो सके जाए और गृहस्थों में कृष्णभावनामृत जगाए। जो गृहस्थ रहकर संन्यासी से दीक्षा लेता है उसका भी परम कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने स्थान पर कृष्णभावनामृत का प्रसार करे और जहाँ तक सम्भव हो, अपने मित्रों तथा पड़ोसियों को अपने घर बुलाए और कृष्णचेतना का पाठ पढ़ाए। पाठ पढ़ाने का अर्थ है श्रीकृष्ण के पवित्र नाम का कीर्तन तथा *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* का उपदेश। कृष्णभावनामृत के प्रसार हेतु विपुल साहित्य है और प्रत्येक गृहस्थ का धर्म है कि वह अपने संन्यासी गुरु से श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में जाने। भगवान् की सेवा के हेतु श्रम विभाजन

होता है। गृहस्थ का कार्य है कि वह धन अर्जित करे, क्योंकि संन्यासी से धन-उपार्जन की आशा नहीं की जा सकती, वह तो गृहस्थ पर पूर्णत: आश्रित होता है। गृहस्थ को चाहिए कि व्यापार या किसी धंधे से धन कमाए और अपनी आय का कम से कम पचास प्रतिशत कृष्णभावनामृत के प्रसार में व्यय करे, शेष में से पच्चीस प्रतिशत अपने परिवार पर खर्चे और शेष पच्चीस प्रतिशत को विपत्ति के लिए बचा रखे। यह आदर्श रूप गोस्वामी ने प्रस्तुत किया जिसका अनुसरण सभी भक्तों को करना चाहिए।

वस्तुत: परमेश्वर से तादात्म्य का अर्थ है भगवान् की रुचि (हित) के साथ तादात्म्य। तादात्म्य का अर्थ भगवान् के समान महान् होना कदापि नहीं है। यह असम्भव है। अंश कभी भी सम्पूर्ण के तुल्य नहीं हो सकता। जीवात्मा तो सदैव क्षुद्र अंश है। अत: उसके तादात्म्य का अर्थ होता है कि भगवान् के हित में ही उसका भी हित है। भगवान् चाहते हैं कि प्रत्येक जीवात्मा निरन्तर उन्हीं का चिन्तन करे, उनका भक्त बने और सदैव उनकी आराधना करे। *भगवद्गीता* में इसका स्पष्ट उल्लेख हुआ है *मन्मना भव मद्भक्त:*। श्रीकृष्ण की इच्छा है कि सभी उनका ही चिन्तन करें, उन्हीं को सदैव नमस्कार करें। यही भगवान् की इच्छा है और भक्त को इसी की पूर्ति करनी होती है। चूँकि भगवान् अनन्त हैं, अत: उनकी इच्छा भी असीम है। इसमें कोई बन्धन नहीं है, इसीलिए भक्त की सेवा भी असीम है। दिव्यलोक में भगवान् तथा दास के बीच असीम स्पर्धा है। भगवान् चाहते हैं उनकी असीम इच्छाएँ पूर्ण हों और भक्त भी उनकी असीम इच्छाओं को पूरा करने के लिए सेवा करता रहता है। भगवान् तथा उनके भक्त के हित में अपार सामञ्जस्य (एकरूपता) है।

सहाहं स्वांशकलया त्वद्वीर्येण महामुने ।
तव क्षेत्रे देवहूत्यां प्रणेष्ये तत्त्वसंहिताम् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

सह—साथ; अहम्—मैं; स्व-अंश-कलया—अपने स्वांश से; त्वत्-वीर्येण—तुम्हारे वीर्य से; महा-मुने—हे ऋषि; तव क्षेत्रे—तुम्हारी पत्नी; देवहूत्याम्—देवहूति में; प्रणेष्ये—उपदेश दूँगा; तत्त्व—परम तत्त्वों का; संहिताम्—संहिता, शास्त्र।

हे ऋषि, मैं तुम्हारी नवों कन्याओं सहित तुम्हारी पत्नी देवहूति के माध्यम से अपने

स्वांश को प्रकट करूँगा और उसे उस दर्शनशास्त्र (सांख्य दर्शन) का उपदेश दूँगा जो परम तत्त्वों या श्रेणियों से सम्बद्ध है।

तात्पर्य : यहाँ पर आगत शब्द *स्वांश-कलया* सूचित करता है कि भगवान् देवहूति तथा कर्दम के पुत्र कपिलदेव के रूप में प्रकट होंगे जो सांख्य दर्शन के पहले संस्थापक हैं जिसे यहाँ *तत्त्व-संहिता* कहा गया है। भगवान् ने कर्दम मुनि को पहले ही बता दिया कि वे कपिलदेव के रूप में अवतार लेंगे और सांख्य दर्शन का प्रचार करेंगे। भगवान् ने सांख्य की स्थापना की, यह उस सांख्य दर्शन से भिन्न है, जिसे एक अन्य कपिलदेव द्वारा स्थापित बताया जाता है। सांख्य दर्शन दो प्रकार का है एक तो ईश्वरविहीन सांख्य दर्शन और दूसरा ईश्वरमय सांख्य दर्शन। देवहूति के पुत्र कपिलदेव ने जिस सांख्य का प्रचार किया वह ईश्वरमय दर्शन है।

भगवान् का अनेक प्रकार से प्राकट्य होता है। वह एक है, किन्तु वह अनेक हो गया है। वह अपने को दो भिन्न विस्तारों में विभाजित कर लेता है 'कला' तथा 'विभिन्नांश'। सामान्य जीवात्माएँ 'विभिन्नांश' विस्तार कहलाती हैं, किन्तु *विष्णु-तत्त्व* के अनन्त विस्तार यथा वामन, गोविन्द, नारायण, प्रद्युम्न, वासुदेव तथा अनन्त 'स्वांश-कला' कहलाते हैं। 'स्वांश' का अर्थ प्रत्यक्ष विस्तार है और 'कला' आदि भगवान् के विस्तार से विस्तार का द्योतक है। बलदेव श्रीकृष्ण के विस्तार हैं और बलदेव के अगले विस्तार संकर्षण हैं। इस प्रकार संकर्षण 'कला' हैं जबकि बलदेव 'स्वांश' हैं। किन्तु इनमें कोई अन्तर नहीं है। *ब्रह्म-संहिता* (५.४६) में इसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या हुई है *दीपार्चिरेव हि दशान्तरम् अभ्युपेत्य*। एक दीपक से दूसरा और दूसरे से तीसरा इस प्रकार हजारों दीप जलाये जा सकते हैं, किन्तु प्रकाश फैलाने के मामले में इनमें से कोई किसी से घटकर नहीं है। प्रत्येक दीपक में पूर्ण प्रकाश क्षमता निहित है, किन्तु फिर भी इतना अन्तर तो है ही कि यह प्रथम दीप है, यह दूसरा या तीसरा और चौथा इत्यादि। इसी प्रकार भगवान् के *स्वांश* और *कला* में कोई अन्तर नहीं होता। चूँकि भगवान् परम पूर्ण हैं अत: भगवान् के नामों को ठीक उसी रुप में समझा जाता है और उनका नाम, रूप, लीलाएँ, सामग्रियाँ तथा उनके गुण इन सबों में एक सी शक्ति है। परम जगत में श्रीकृष्ण

नाम भगवान् की दिव्य ध्वनि का प्रतीक है। उनके गुण, नाम, रूप इत्यादि में कोई संभाव्य (शक्य) अन्तर नहीं है। यदि हम हरे कृष्ण नाम का जप करते हैं, तो इसमें उतनी ही शक्ति रहती है जितनी कि स्वयं भगवान् में है। हम जिस रूप में भगवान् की पूजा करते हैं और मन्दिर में भगवान् का जो रूप होता है, उन दोनों में कोई संभाव्य अन्तर नहीं होता। मनुष्य को चाहिए कि वह यह न सोचे कि कोई भगवान् की मूर्ति या खिलौने की पूजा कर रहा है, भले ही दूसरे लोग उसे मूर्ति मानें। चूँकि इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है, अत: भगवान् की मूर्ति तथा स्वयं भगवान् की पूजा करने का फल समान मिलता है। यही कृष्णभावनामृत का विज्ञान है।

मैत्रेय उवाच
एवं तमनुभाष्याथ भगवान्प्रत्यगक्षजः ।
जगाम बिन्दुसरसः सरस्वत्या परिश्रितात् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; एवम्—इस प्रकार; तम्—उसको; अनुभाष्य—सम्भाषण करके; अथ—तब; भगवान्—भगवान्; प्रत्यक्—प्रत्यक्ष; अक्ष—इन्द्रियों से; जः—जो देखा जाता है; जगाम—चला गया; बिन्दु-सरसः—बिन्दु सरोवर से; सरस्वत्या—सरस्वती नदी से; परिश्रितात्—घिरा हुआ।

मैत्रेय ने आगे कहा इस प्रकार कर्दम मुनि से बातें करने के बाद, इन्द्रियों के कृष्ण-भावनामृत में लीन रहने पर प्रकट होने वाले भगवान् उस बिन्दु नामक सरोवर से, जो सरस्वती नदी के द्वारा चारों ओर से घिरा हुआ था, अपने लोक को चले गये।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् को *प्रत्यग्-अक्षज* कहा गया है। यद्यपि वे भौतिक इन्द्रियों से नहीं दिखाई पड़ते तो भी वे देखे जा सकते हैं; यह विरोधाभास लगता है। हमारे पास भौतिक इन्द्रियाँ ही हैं, तो फिर हम भगवान् को कैसे देखें? वे *अधोक्षज* कहलाते हैं, जिसका अर्थ है कि वे भौतिक इन्द्रियों से नहीं देखे जा सकते। *अक्षज* का अर्थ है, ''भौतिक इन्द्रियों द्वारा दृश्य ज्ञान।'' चूँकि भगवान् हमारी इन्द्रियों की कल्पनाशक्ति से नहीं देखे जा सकते, अत: वे अजित भी कहलाते हैं, वे तो जीत सकते हैं, किन्तु उन्हें कोई नहीं जीत पाएगा। तो फिर यह क्या कि इतने पर भी वे देखे जा सकते हैं? यह व्याख्या की जाती है कि श्रीकृष्ण के दिव्य नाम को न

तो कोई सुन सकता है, न उनके दिव्य रूप को कोई समझ सकता है और न उनकी दिव्य लीलाओं को कोई आत्मसात् कर सकता है। यह सम्भव नहीं है। तो यह कैसे सम्भव है कि वे देखे या समझे जा सकते हैं? जब मनुष्य भक्तिमय सेवा में प्रशिक्षित होता है और भगवान् की सेवा करता रहता है, तो उसकी इन्द्रियाँ क्रमश: भौतिक कल्मष से परि-शुद्ध हो जाती हैं। जब इस प्रकार इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं तभी मनुष्य उन्हें देख सकता है, समझ सकता है, सुन सकता है। यहाँ पर प्रयुक्त एक ही शब्द *प्रत्यग्-अक्षज* में भौतिक इन्द्रियों की शुद्धता तथा श्रीकृष्ण के दिव्य रूप, गुण, नाम का बोध समाए हुए हैं।

निरीक्षतस्तस्य ययावशेष-
सिद्धेश्वराभिष्टुतसिद्धमार्गः ।
आकर्णयन्पत्ररथेन्द्रपक्षै-
रुच्चारितं स्तोममुदीर्णसाम ॥ ३४॥

शब्दार्थ

निरीक्षतः तस्य—उसके देखते देखते; ययौ—वे चले गये; अशेष—समस्त; सिद्ध-ईश्वर—मुक्त जीवों से; अभिष्टुत—प्रशंसित; सिद्ध-मार्गः—वैकुण्ठ लोक का रास्ता; आकर्णयन्—सुनते हुए; पत्र-रथ-इन्द्र—गरुड़ (पक्षिराज) के; पक्षैः—पंखों से; उच्चारितम्—निकलने वाले; स्तोमम्—स्तुति; उदीर्ण-साम—सामवेद की आधारस्वरूप।

खड़े हुए कर्दम मुनि के देखते-देखते भगवान्, वैकुण्ठ जानेवाले मार्ग से प्रस्थान कर गये, जिस मार्ग की प्रशंसा सभी महान् मुक्त आत्माएँ करती हैं। मुनि खड़े-खड़े, भगवान् के वाहन गरुड़ के फड़फड़ाते पंखों से गुंजादित, सामवेद के मंगलाचरण जैसे लगने वाली ध्वनि को सुनते रह गये।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य में बताया गया है कि भगवान् को सर्वत्र ले जाने वाले दिव्य पक्षी गरुड़ के दोनों पंख सामवेद के दो विभाग हैं, जिन्हें *बृहत्* तथा *रथान्तर* कहा जाता है। चूँकि गरुड़ भगवान् के वाहक का कार्य करता है, अत: उसे समस्त वाहनों का दिव्य राजकुमार कहा जाता है। गरुड़ ने अपने दोनों पंखों से सामवेद गुंजरित करना प्रारम्भ कर दिया, जिसका गायन बड़े-बड़े साधु-सन्त भगवान् को शान्त करने के लिए करते हैं। भगवान् की पूजा ब्रह्मा, शिव, गरुड़ तथा अन्य देवता चुने हुए श्लोकों से करते हैं, किन्तु बड़े-बड़े साधु (ऋषि) वैदिक साहित्य के यथा उपनिषदों तथा सामवेद के स्तोत्रों से उनकी पूजा करते हैं। ये ही सामवेद की

ध्वनियाँ भक्त को सुनाई पड़ती हैं, जब भगवान् के अन्य महान् भक्त गरुड़ अपने पंख को फड़फड़ाता है।

यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख हैं कि कर्दम मुनि उस मार्ग को देखने लगे जिससे होकर भगवान् वैकुण्ठ ले जाये जा रहे थे। इस प्रकार इसकी पुष्टि होती है कि भगवान् अपने धाम वैकुण्ठ से, जो दिव्य आकाश में है, उतरते हैं और गरुड़ उन्हें ले जाता है। सामान्य श्रेणी के दिव्य ज्ञानी वैकुण्ठ को जाने वाले मार्ग की पूजा नहीं करते। जो पहले से भव-बंधन से मुक्त हैं, वे ही भगवान् के भक्त हो सकते हैं और जो भव-बंधन से मुक्त नहीं हुए हैं, वे दिव्य भक्ति को नहीं समझ सकते। *भगवद्गीता* में स्पष्ट उल्लेख है *यततामपि सिद्धानाम्*। ऐसे अनेक लोग हैं, जो भव-बंधन से मुक्त होकर सिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं और जो सचमुच मुक्त हो जाते हैं, वे ब्रह्मभूत या सिद्ध कहलाते हैं। केवल सिद्ध ही भक्त बन सकते हैं। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई है, जो कृष्ण-भावनामृत अथवा भक्ति-योग में संलग्न है, वह भौतिक प्रकृतिक गुणों के प्रभाव से पहले ही मुक्त हुआ रहता है। यहाँ इसकी भी पुष्टि होती है कि मुक्त पुरुष ही भक्ति-मार्ग की पूजा करते हैं, बद्धजीव नहीं। बद्धजीव भगवान् की भक्ति को नहीं समझ पाते। कर्दम मुनि मुक्त जीव थे, जिन्होंने भगवान् का साक्षात् दर्शन किया था। उनके मुक्त होने में कोई सन्देह नहीं था, अतः वे गरुड़ को भगवान् सहित वैकुण्ठ जाते देख सकने में समर्थ थे और गरुड़ के पंखों से सामवेद के सार 'हरे कृष्ण' की ध्वनि को निकलते हुए सुन सकते थे।

अथ सम्प्रस्थिते शुक्ले कर्दमो भगवानृषिः ।
आस्ते स्म बिन्दुसरसि तं कालं प्रतिपालयन् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; सम्प्रस्थिते शुक्ले—भगवान् के चले जाने पर; कर्दमः—कर्दम मुनि ने; भगवान्—परम शक्तिमान; ऋषिः—ऋषि; आस्ते स्म—रहते रहे; बिन्दु-सरसि—बिन्दु सरोवर के तट पर; तम्—उस; कालम्—समय; प्रतिपालयन्—प्रतीक्षा करते हुए।

तब भगवान् के चले जाने पर पूज्य साधु कर्दम भगवान् द्वारा बताये उस समय की प्रतीक्षा करते हुए बिन्दु सरोवर के तट पर ही ठहरे रहे।

मनुः स्यन्दनमास्थाय शातकौम्भपरिच्छदम् ।
आरोप्य स्वां दुहितरं सभार्यः पर्यटन्महीम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

मनुः—स्वायंभुव मनु; स्यन्दनम्—रथ; आस्थाय—चढ़कर; शातकौम्भ—स्वर्ण रचित; परिच्छदम्—बाहरी खोल; आरोप्य—बिठाकर; स्वाम्—अपनी; दुहितरम्—पुत्री; स-भार्यः—अपनी पत्नी के साथ-साथ; पर्यटन्—सर्वत्र घूमते हुए; महीम्—पृथ्वी मण्डल में।

स्वायंभुव मनु अपनी पत्नी सहित स्वर्णाभूषणों से सुसज्जित अपने रथ पर आरूढ़ हुए। अपनी पुत्री को भी उस पर चढ़ाकर वे समस्त भूमण्डल का भ्रमण करने लगे।

तात्पर्य : विश्व के सम्राट मनु चाहते तो अपनी पुत्री के लिए उपयुक्त पति की खोज के लिए कोई दूत नियुक्त कर सकते थे, किन्तु वे अपनी कन्या को, जैसे एक पिता को चाहिए, प्यार करते थे, अतः उसके लिए वर की तलाश करने केवल अपनी पत्नी सहित स्वर्णिम रथ पर आरूढ़ होकर अपने राज्य से रवाना हुए।

तस्मिन्सुधन्वन्नहनि भगवान्यत्समादिशत् ।
उपायादाश्रमपदं मुनेः शान्तव्रतस्य तत् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस पर; सु-धन्वन्—हे परम धनुर्धर विदुर; अहनि—दिन में; भगवान्—श्रीभगवान्; यत्—जो; समादिशत्—भविष्यवाणी की; उपायात्—पहुँच गया; आश्रम-पदम्—पवित्र कुटी में; मुनेः—मुनि की; शान्त—पूर्ण; व्रतस्य—जिसका तपस्या का व्रत; तत्—वह।

हे विदुर, वे मुनि की कुटी में पहुँचे, जिसने अपनी तपस्या का व्रत भगवान् द्वारा पहले से बताये गये दिन ही समाप्त किया था।

यस्मिन्भगवतो नेत्रान्न्यपतन्नश्रुबिन्दवः ।
कृपया सम्परीतस्य प्रपन्नेऽर्पितया भृशम् ॥ ३८ ॥
तद्वै बिन्दुसरो नाम सरस्वत्या परिप्लुतम् ।
पुण्यं शिवामृतजलं महर्षिगणसेवितम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; भगवतः—भगवान् के; नेत्रात्—नेत्र से; न्यपतन्—गिरे हुए; अश्रु-बिन्दवः—आँसू की बूँदें; कृपया—दया से; सम्परीतस्य—अभिभूत होने वाला; प्रपन्ने—शरणागत (कर्दम); अर्पितया—चढ़ाया गया; भृशम्—अत्यधिक; तत्—वह; वै—निस्सन्देह; बिन्दु-सरः—अश्रुओं का सरोवर; नाम—नामक; सरस्वत्या—सरस्वती नदी से; परिप्लुतम्—उमड़ कर बहता हुआ; पुण्यम्—पवित्र; शिव—मंगलदायक; अमृत—अमृत; जलम्—जल; महा-ऋषि—परम साधु के; गण—समूह द्वारा; सेवितम्—सेवित।

सरस्वती नदी के बाढ़-जल से भरने वाले पवित्र बिन्दु सरोवर का सेवन ऋषियों का

समूह करता था। इसका पवित्र जल न केवल कल्याणकारी था वरन् अमृत के समान मीठा भी था। यह बिन्दु सरोवर कहलाता था, क्योंकि यहीं पर, जब भगवान् शरणागत ऋषि पर दयार्द्र हो उठे थे, उनके नेत्रों से आँसुओं की बूँदें गिरी थीं।

तात्पर्य : कर्दम मुनि ने भगवान् की अहैतुकी कृपा प्राप्त करने के उद्देश्य से तपस्या की थी और जब भगवान् वहाँ पहुँचे तो वे इतने दयार्द्र हो उठे कि प्रसन्नता वश उनके नेत्रों से आँसू टपक पड़े जिनसे बिन्दु सरोवर बन गया। अत: बिन्दु सरोवर को बड़े-बड़े साधु तथा विद्वान पूजते हैं, क्योंकि परम सत्य के दर्शनशास्त्र के अनुसार भगवान् और उनके नेत्रों के आँसू अभिन्न हैं। जिस प्रकार भगवान् के पाँव के अँगूठे का पसीना पवित्र गंगा नदी बन गया था, उसी प्रकार भगवान् के दिव्य नेत्रों से गिरे आँसू बिन्दु-सरोवर बन गया। ये दोनों ही दिव्य हैं जिनकी महान् साधु तथा विद्वान पूजा करते हैं। यहाँ पर बिन्दु सरोवर के जल को शिवामृत जल कहा गया है। शिव का अर्थ होता है ''चंगा करने वाला।'' जो कोई भी बिन्दु सरोवर के जल को पीता है उसके सारे रोग दूर हो जाते हैं; इसी प्रकार जो कोई भी गंगाजल में स्नान करता है उसके सारे भव-रोग जाते रहते हैं। ऐसे दावों को बड़े-बड़े विद्वानों तथा प्रामाणिक पुरुषों ने स्वीकार किया है और आज इस कलियुग में भी लोग ऐसा करते हैं।

पुण्यद्रुमलताजालैः कूजत्पुण्यमृगद्विजैः ।
सर्वर्तुफलपुष्पाढ्यं वनराजिश्रियान्वितम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

पुण्य—पवित्र; द्रुम—वृक्षों का; लता—बेलों के; जालैः—समूहों से; कूजत्—बोलते हुए; पुण्य—पवित्र; मृग—पशु; द्विजैः—पक्षियों के द्वारा; सर्व—समस्त; ऋतु—ऋतुओं में; फल—फलों से; पुष्प—फूलों से; आढ्यम्—सम्पन्न; वन-राजि—वृक्षों के कुंजों की; श्रिया—सुन्दरता से; अन्वितम्—सुशोभित।

सरोवर के तट पवित्र वृक्षों तथा लताओं के समूहों से घिरे थे, जो सभी ऋतुओं में फलों तथा फूलों से लदे रहते थे और जिनमें पवित्र पशु तथा पक्षी अपना-अपना बसेरा बनाते थे और विविध प्रकार से कूजन करते थे। यह स्थान वृक्षों के कुंजों की शोभा से विभूषित था।

तात्पर्य : यह बताया गया है कि बिन्दु सरोवर पवित्र वृक्षों तथा पक्षियों से घिरा रहता था।

जिस प्रकार मानव समाज में कुछ पुण्यात्मा तथा कुछ पापी लोग होते हैं उसी प्रकार वृक्षों तथा पक्षियों में भी कुछ पवित्र थे और कुछ अपवित्र। जिन वृक्षों में अच्छे फल या फूल नहीं लगते वे अपवित्र माने जाते हैं और जो पक्षी शैतान होते हैं, जैसे कौवे, वे अपवित्र माने जाते हैं। बिन्दु सरोवर के चारों ओर की भूमि में एक भी अपवित्र पक्षी या वृक्ष नहीं था। प्रत्येक वृक्ष फलित तथा पुष्पित था और प्रत्येक पक्षी प्रभु के गुणों का हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे; हरे राम, हरे राम, राम राम हरे हरे का गान करने वाला था।

मत्तद्विजगणैर्घुष्टं मत्तभ्रमरविभ्रमम् ।
मत्तबर्हिनटाटोपमाह्वयन्मत्तकोकिलम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

मत्त—प्रसन्नता से मतवाले; द्विज—पक्षियों के; गणैः—समूहों से; घुष्टम्—प्रतिध्वनित; मत्त—मतवाले; भ्रमर—भौंरों का; विभ्रमम्—मँडराते हुए; मत्त—मतवाले; बर्हि—मोरों का; नट—नर्तकों का; आटोपम्—गर्व; आह्वयत्—एक दूसरे को बुलाते हुए; मत्त—प्रसन्न; कोकिलम्—कोयलें।.

यह प्रदेश मतवाले पक्षियों के स्वर से प्रतिध्वनित था। मतवाले भौंरे मँडरा रहे थे, प्रमत्त मोर गर्व से नाच रहे थे और प्रमुदित कोयलें एक दूसरे को पुकार रही थीं।

तात्पर्य : यहाँ पर बिन्दु-सरोवर के चारों ओर के क्षेत्र में सुनाई पड़ने वाली मधुर ध्वनियों की सुन्दरता का वर्णन है। मधु पीकर काले भौंरे मतवाले हो रहे थे और मादकता में गुनगुना रहे थे। प्रमुदित मोर नटों तथा नटियों की तरह नाच रहे थे और प्रमुदित कोयलें अपने जोड़ीदारों को पुकार रही थीं।

कदम्बचम्पकाशोककरञ्जबकुलासनैः ।
कुन्दमन्दारकुटजैश्चूतपोतैरलङ्कृतम् ॥ ४२ ॥
कारण्डवैः प्लवैर्हंसैः कुररैर्जलकुक्कुटैः ।
सारसैश्चक्रवाकैश्च चकोरैर्वल्गु कूजितम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

कदम्ब—कदम्ब के फूल; चम्पक—चम्पा के फूल; अशोक—अशोक के फूल; करञ्ज—करञ्ज पुष्प; बकुल—बकुल पुष्पा; आसनैः—आसन वृक्षों से; कुन्द—कुन्द; मन्दार—मन्दार; कुटजैः—तथा कुटज वृक्षों से; चूत-पोतैः—नव आम्र वृक्षों से; अलङ्कृतम्—सुशोभित; कारण्डवैः—कारण्डव, बत्तख पक्षी से; प्लवैः—प्लवों से; हंसैः—हंसों से; कुररैः—कुररी पक्षी से; जल-कुक्कुटैः—जल कुक्कुट से; सारसैः—सारसों से; चक्रवाकैः—चक्रवाक (चकई-

चकवा) पक्षियों से; च—तथा; चकोरैः—चकोर नामक पक्षियों से; वल्गु—मनोहर; कूजितम्—पक्षियों का कलरव।

बिन्दु-सरोवर कदम्ब, चम्पक, अशोक, करंज, बकुल, आसन, कुन्द, मन्दार, कुटज तथा नव-आम्र के पुष्पित वृक्षों से सुशोभित था। वायु कारण्डव, प्लव, हंस, कुररी, जलपक्षी, सारस, चक्रवाक तथा चकोर के कलरव से गुँजायमान थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में वर्णित सभी वृक्ष परम पवित्र हैं और उनमें से कई से, यथा चम्पक, कदम्ब तथा बकुल से अत्यन्त सुहावने पुष्प निकलते हैं। जलमुर्गी तथा सारस के मधुर स्वर से चारों ओर का प्रदेश अत्यन्त सुहावना लग रहा था और एक अति उपयुक्त आध्यात्मिक वातावरण की उत्पत्ति हो रही थी।

तथैव हरिणैः क्रोडैः श्वाविद्गवयकुञ्जरैः ।
गोपुच्छैर्हरिभिर्मर्कैर्नकुलैर्नाभिभिर्वृतम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

तथा एव—उसी प्रकार; हरिणैः—हिरनों से; क्रोडैः—सुअरों से; श्वावित्—साही; गवय—नील गाय; कुञ्जरैः—हाथियों से; गोपुच्छैः—लंगूरों से; हरिभिः—सिंहों से; मर्कैः—बन्दरों से; नकुलैः—नेवलों से; नाभिभिः—कस्तूरी मृग से; वृतम्—घिरा हुआ।

इसके तटों पर हिरन, सूकर, साही, नीलगाय, हाथी, लंगूर, शेर, बन्दर, नेवला तथा कस्तूरी मृगों की बहुलता थी।

तात्पर्य : कस्तूरी मृग सभी स्थानों पर नहीं मिलता, वह केवल बिन्दु-सरोवर जैसे स्थानों में ही पाया जाता है। ये अपनी नाभि में निकलती कसूरी की गन्ध से सैदव उन्मत्त रहते हैं। गवय अर्थात् नीलगायों की पूँछ में बालों का गुच्छा होता है। इन बाल के गुच्छों को मन्दिरों में पूजा के लिए मूर्तियों पर पंखा झलने के काम में लाया जाता है। कभी-कभी गवय को चमरी भी कहा जाता है, वे अत्यन्त पवित्र मानी जाती हैं। आज भी भारत में अनेक बनजारे हैं, जो कस्तूरी तथा चमरी के बालों का व्यापार करते हैं। उच्च श्रेणी के हिन्दुओं में इनकी अत्यधिक माँग है और आज भी भारत के बड़े-बड़े शहरों तथा ग्रावों में यह व्यापार चलता है।

प्रविश्य तत्तीर्थवरमादिराजः सहात्मजः

ददर्श मुनिमासीनं तस्मिन्हुतहुताशनम् ।
विद्योतमानं वपुषा तपस्युग्रयुजा चिरम् ॥ ४५ ॥

नातिक्षामं भगवतः स्निग्धापाङ्गावलोकनात् ।
तद्व्याहृतामृतकलापीयूषश्रवणेन च ॥ ४६ ॥

प्रांशुं पद्मपलाशाक्षं जटिलं चीरवाससम् ।
उपसंश्रित्य मलिनं यथार्हणमसंस्कृतम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

प्रविश्य—प्रवेश करने पर; तत्—उस; तीर्थ-वरम्—पवित्र स्थलों में श्रेष्ठ; आदि-राजः—प्रथम राजा (स्वायंभुव मनु); सह-आत्मजः—अपनी पुत्री के समेत; ददर्श—देखा; मुनिम्—मुनि को; आसीनम्—बैठे हुए; तस्मिन्—उस आश्रम में; हुत—आहुति करते हुए; हुत-अशनम्—पवित्र अग्नि; विद्योतमानम्—परम ज्योतिमान; वपुषा—अपने शरीर से; तपसि—तपस्या में; उग्र—कठिन; युजा—योग में लगे; चिरम्—दीर्घकाल से; न—नहीं; अतिक्षामम्—अत्यन्त दुर्बल; भगवतः—भगवान् की; स्निग्ध—स्नेहिल; अपाङ्ग—तिरछी; अवलोकनात्—चितवन से; तत्—उसका; व्याहृत—शब्दों से; अमृत-कला—चन्द्रमा के समान; पीयूष—अमृत; श्रवणेन—सुनकर; च—तथा; प्रांशुम्—लम्बा; पद्म—कमल-पुष्प; पलाश—पंखुड़ी; अक्षम्—आँखें; जटिलम्—जुड़ा; चीर-वाससम्—चिथड़े वस्त्र धारण किये; उपसंश्रित्य—निकट जाकर; मलिनम्—मलिन, गंदा; यथा—जिस प्रकार; अर्हणम्—मणि; असंस्कृतम्—बिना तराशा हुआ।

उस पवित्र स्थान में आदि राजा स्वयांभुव मनु अपनी पुत्री सहित प्रविष्ट हुए और उन्होंने जाकर देखा कि अभी-अभी पवित्र अग्नि में आहुति देकर वे मुनि अपने आश्रम में आसन लगाए थे। उनका शरीर अत्यन्त आभावान था। यद्यपि वे दीर्घ काल तक कठोर तपस्या में लगे हुए थे, किन्तु वे तनिक भी क्षीण नहीं थे, क्योंकि भगवान् ने उन पर कृपा-कटाक्ष किया था और उन्होंने भगवान् के चन्द्रमा के समान स्निग्ध अमृतमय शब्दों का पान किया था। मुनि लम्बे थे, उनकी आँखें बड़ी-बड़ी थीं मानो कमल-दल हों और उनके सिर पर जटा-जूट था। वे चिथड़े पहने थे। स्वायंभुव मनु उनके पास गये और उन्होंने देखा कि वे धूलधूसरित हैं मानो बिना तराशा हुआ कोई मणि हो।

तात्पर्य : यहाँ पर एक ब्रह्मचारी योगी का कुछ-कुछ वर्णन हुआ है। आत्मिक उन्नति के इच्छुक ब्रह्मचारी का प्रथम कर्तव्य है कि प्रात:काल *हुत-हुतासन* करे अर्थात् यज्ञ करके परमेश्वर को आहुति प्रदान करे। ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले कभी भी प्रात:काल सात या नौ बजे तक सोते नहीं रहते। उन्हें सूर्योदय के पूर्व, कम से कम डेढ़ घंटा पहले उठ जाना चाहिए और आहुति देनी चाहिए अथवा इस युग में वे भगवान् श्रीकृष्ण के पवित्र नाम, हरे कृष्ण का जप कर सकते हैं। जैसाकि भगवान् चैतन्य ने कहा है—*कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव*

गतिरन्यथा—अर्थात् इस कलियुग में भगवान् के पवित्र नाम के जप के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं और कोई विकल्प नहीं और कोई विकल्प नहीं है। ब्रह्मचारी को प्रात:काल जल्दी उठना चाहिए और सुस्थिर होकर भगवन्नाम का जप करना चाहिए। उस मुनि की आकृति से ही ऐसा लग रहा था कि उसने कठिन तप किया है और ब्रह्मचर्य पालन का यही लक्षण भी है। यदि कोई भिन्न प्रकार से रहता है, तो उसके मुख तथा शरीर में दिखने वाले काम-भाव से यह पता लग जाएगा। *विद्योतमानम्* शब्द बताता है कि उसके शरीर में ब्रह्मचारी के लक्षण दिखाई पड़ रहे थे। योग में कठिन तपस्या करने का यही सबसे बड़ा प्रमाण है। शराबी, धूम्रपान करने वाला या इन्द्रियलोलुप व्यक्ति कभी भी योग साधना के लिए उपयुक्त नहीं होता। सामान्य रूप से योगी अत्यन्त दुर्बल दिखते हैं, क्योंकि वे सुविधा सम्पन्न स्थिति में नहीं रहते, किन्तु कर्दम मुनि दुर्बल नहीं थे, क्योंकि उन्हें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के साक्षात् दर्शन हुए थे। यहाँ पर *स्निग्धापाङ्गावलोकनात्* का अर्थ है कि उन्हें भगवान् का साक्षात् दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे स्वस्थ लग रहे थे, क्योंकि उन्होंने भगवान् के कमल-अधरों से निस्सृत अमृतमय शब्दों का सीधे पान किया था। इसी प्रकार जो भगवान् के पवित्र नाम, 'हरे कृष्ण' की दिव्य ध्वनि को सुनता है उसका स्वास्थ्य सुधर जाता है। हमने वास्तव में देखा है कि अनेक ब्रह्मचारी तथा गृहस्थ, जो अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ से जुड़े हैं उनका स्वास्थ्य सुधर गया है और उनके मुखमंडल पर कान्ति आ गई है। जो ब्रह्मचारी आत्मिक उन्नति में लगा रहता है उसके लिए आवश्यक है कि वह अत्यन्त स्वस्थ और तेजवान दिखे। एक मुनि और बिना तराशे गये मणि की तुलना भी अत्यन्त उपयुक्त है। भले ही खान से निकला हुआ मणि बिना पालिश के हो, किन्तु उसकी आभा को कोई रोक नहीं सकता। इसी प्रकार भले ही कर्दम मुनि ने अच्छे वस्त्र धारण नहीं किये थे और उनका शरीर उचित रूप से भी स्वच्छ नहीं था, किन्तु कुल मिलाकर उनकी सूरत मणि तुल्य थी।

अथोटजमुपायातं नृदेवं प्रणतं पुरः ।
सपर्यया पर्यगृह्णात्प्रतिनन्द्यानुरूपया ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; उटजम्—कुटी, आश्रम; उपायातम्—पहुँचकर; नृदेवम्—राजा; प्रणतम्—नतमस्तक; पुरः—सामने; सपर्यया—आदर से; पर्यगृह्णात्—उसका स्वागत किया; प्रतिनन्द्य—सत्कार करके; अनुरूपया—राजा के योग्य।

राजा को अपने आश्रम में आकर प्रणाम करते देखकर उस मुनि ने आशीर्वाद देकर सत्कार किया और यथोचित सम्मान सहित उसका स्वागत किया।

तात्पर्य : सम्राट स्वायंभुव मनु न केवल कर्दम मुनि की पर्णशाला के निकट गये वरन् उन्होंने उन्हें सादर नमस्कार भी किया। इसी प्रकार मुनि का भी धर्म होता था कि वह जंगल में जाकर आश्रम के पास पहुँचने वाले राजाओं को आशीर्वाद दे।

गृहीतार्हणमासीनं संयतं प्रीणयन्मुनिः ।
स्मरन्भगवदादेशमित्याह श्लक्ष्णया गिरा ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

गृहीत—प्राप्त करके; अर्हणम्—सम्मान; आसीनम्—बैठा हुआ; संयतम्—शान्त; प्रीणयन्—प्रमुदित करता; मुनिः—मुनि; स्मरन्—स्मरण करते हुए; भगवत्—भगवान् की; आदेशम्—आज्ञा; इति—इस प्रकार; आह—बोला; श्लक्ष्णया—मीठी; गिरा—वाणी से।

मुनि से सम्मान पाकर राजा स्वयांभुव मनु बैठ गये और शान्त बने रहे। तब भगवान् की आदेशों का स्मरण करते हुए कर्दम मुनि अपनी मधुर वाणी से राजा को प्रमुदित करते हुए इस प्रकार बोले।

नूनं चङ्क्रमणं देव सतां संरक्षणाय ते ।
वधाय चासतां यस्त्वं हरेः शक्तिर्हि पालिनी ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निश्चय ही; चङ्क्रमणम्—यात्रा; देव—हे भगवान्; सताम्—सज्जनों की; संरक्षणाय—रक्षा के लिए; ते—तुम्हारा; वधाय—मारने के लिए; च—तथा; असताम्—असुरों को; यः—जो पुरुष; त्वम्—तुम; हरेः—श्रीभगवान् की; शक्तिः—शक्ति; हि—चूँकि; पालिनी—रक्षा करते हुए।

हे भगवान्, आपका यह भ्रमण (यात्रा) निश्चित रूप से सज्जनों की रक्षा तथा असुरों के वध के उद्देश्य से सम्पन्न हुआ है, क्योंकि आप श्री हरि की रक्षक-शक्ति से समन्वित हैं।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य से, विशेषतः *श्रीमद्भागवत* तथा पुराणों जैसे इतिहास ग्रंथों से यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में पवित्र राजा पवित्र नागरिकों को रक्षा प्रदान करने और

अपवित्र लोगों को दण्ड देने या मारने के लिए अपने राज्य का भ्रमण करते थे। कभी-कभी वे आखेट विद्या का अभ्यास करने के उद्देश्य से जंगलों में पशुओं को मारने जाते थे, क्योंकि बिना ऐसे अभ्यास के वे अवांछित तत्त्वों का वध करने में समर्थ नहीं हो पाते थे। क्षत्रियों को इस प्रकार से हिंसा करने की छूट होती थी, क्योंकि अच्छे कार्य के लिए हिंसा करना उनके धर्म का अंग होता था। यहाँ पर दो शब्दों का स्पष्ट उल्लेख है—*वधाय* अर्थात् मारने के प्रयोजनार्थ तथा *असताम्*—अर्थात् अवांछित (दुष्ट) जनों को। राजा की रक्षक-शक्ति भगवान् की शक्ति मानी जाती है। *भगवद्गीता* (४.८) में भगवान् कहते हैं—*परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्*। भगवान् पुण्यात्माओं की रक्षा करने और असुरों के वध के लिए अवतरित होते हैं। अतः पुण्यात्माओं को शरण देने और दुष्टों या असुरों को वध करने के लिए परमेश्वर से सीधे शक्ति प्राप्त होती है और यह शक्ति राजा या राज्य के मुख्य कार्यकर्ता में निहित होती है। इस युग में ऐसा राज्याध्यक्ष पाना दुर्लभ है, जो दुष्टों को मारने में पटु हो। आधुनिक राज्याध्यक्ष सुन्दर प्रासादों के भीतर बैठे-बैठे निर्दोष व्यक्तियों को अकारण मारने का प्रयत्न करते हैं।

योऽर्केन्द्वग्नीन्द्रवायूनां यमधर्मप्रचेतसाम् ।
रूपाणि स्थान आधत्से तस्मै शुक्लाय ते नमः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; अर्क—सूर्य का; इन्दु—चन्द्रमा का; अग्नि—अग्नि, अग्निदेव का; इन्द्र—स्वर्ग के स्वामी, इन्द्र का; वायूनाम्—वायु का; यम—यम का; धर्म—धर्म; प्रचेतसाम्—तथा वरुण का; रूपाणि—रूप; स्थाने—आवश्यकतानुसार; आधत्से—धारण करते हो; तस्मै—उसे; शुक्लाय—भगवान् विष्णु को; ते—तुमको; नमः—नमस्कार।

जब भी आवश्यक होता है, आप सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र, वायु, यम, धर्म, वरुण का अंश धारण करते हैं। आप भगवान् विष्णु के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हैं, अतः आपको सभी प्रकार से नमस्कार है।

तात्पर्य : चूँकि कर्दम मुनि ब्राह्मण थे और स्वायंभुव क्षत्रिय थे, अतः सामाजिक रूप से मुनि के द्वारा राजा को नमस्कार नहीं किया जाना था, क्योंकि उसका स्थान राजा से ऊँचा था। किन्तु मुनि ने स्वायंभुव मनु को नमस्कार किया, क्योंकि राजा तथा सम्राट के रूप में मनु

भगवान् के प्रतिनिधि थे। परम प्रभु भगवान् सदैव सबों के पूज्य हैं चाहे कोई ब्राह्मण हो, क्षत्रिय या शूद्र। भगवान् के प्रतिनिधि रूप में राजा हर एक से सादर नमस्कार किये जाने का पात्र था।

न यदा रथमास्थाय जैत्रं मणिगणार्पितम् ।
विस्फूर्जच्चण्डकोदण्डो रथेन त्रासयन्नघान् ॥५२॥
स्वसैन्यचरणक्षुण्णं वेपयन्मण्डलं भुवः ।
विकर्षन्बृहतीं सेनां पर्यटस्यंशुमानिव ॥५३॥
तदैव सेतवः सर्वे वर्णाश्रमनिबन्धनाः ।
भगवद्रचिता राजन्भिद्येरन्बत दस्युभिः ॥५४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यदा—जब; रथम्—रथ; आस्थाय—चढ़कर; जैत्रम्—विजयी; मणि—मणियों के; गण—समूह सहित; अर्पितम्—सज्जित; विस्फूर्जत्—टंकार करते; चण्ड—घोर शब्द; कोदण्डः—धनुष; रथेन—ऐसा रथ होने से; त्रासयन्—डराते हुए; अघान्—समस्त अपराधियों को; स्व-सैन्य—अपने सैनिकों के; चरण—पाँव से; क्षुण्णम्—मर्दित, कुचला; वेपयन्—हिलाते हुए; मण्डलम्—गोलक; भुवः—पृथ्वी का; विकर्षन्—पथ प्रदर्शन करते; बृहतीम्—विशाल; सेनाम्—सेना; पर्यटसि—घूम रहा हो; अंशुमान्—चमकीले सूर्य; इव—सदृश; तदा—तब; एव—निश्चय ही; सेतवः—धार्मिक आचार संहिता; सर्वे—सभी; वर्ण—वर्णों (जातियों) की; आश्रम—आश्रमों की; निबन्धनाः—मर्यादा, बन्धन; भगवत्—भगवान् के द्वारा; रचिताः—उत्पन्न; राजन्—हे राजा; भिद्येरन्—तोड़ डाले जाएँगे; बत—हाय; दस्युभिः—बदमाशों के द्वारा।

यदि आप अपने विजयी रत्नजटित रथ पर जिसकी उपस्थिति मात्र से अपराधी भयभीत हो उठते हैं सवार न हों, यदि आप अपने धनुष की प्रचंड टंकार न करें और यदि आप तेजवान सूर्य की भाँति संसार भर में एक विशाल सेना लेकर विचरण न करें जिसके पदाघात से पृथ्वी मंडल हिलने लगती है, तो स्वंय भगवान् द्वारा बनाई गई समस्त वर्णों तथा आश्रमों की व्यवस्था चोरों तथा डाकुओं द्वारा छिन्न-भिन्न हो जाय।

तात्पर्य : उत्तरदायी राजा का धर्म है कि वह मानव समाज की सामाजिक तथा आध्यात्मिक व्यवस्थाओं की रक्षा करे। आध्यात्मिक व्यवस्था चार आश्रमों में बँटी है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास जबकि सामाजिक व्यवस्था कर्म तथा गुण के अनुसार ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों से निर्मित है। *भगवद्गीता* में *कर्म* तथा गुण के अनुसार इस सामाजिक व्यवस्था (विभाग) का वर्णन हुआ है। दुर्भाग्यवश उत्तरदायी राजाओं द्वारा समुचित संरक्षण न दिये जाने के कारण सामाजिक तथा आध्यात्मिक आश्रम पद्धति वंशानुगत जाति प्रथा

बन चुकी है। किन्तु यह वास्तविक पद्धति नहीं है। मानव समाज का अभिप्राय ऐसे समाज से होता है, जो आत्मबोध की दिशा में अग्रसर हो। सर्वाधिक उन्नत समाज आर्यों का था। आर्य का अर्थ ही है, जो उन्नति शीत हैं। अत: प्रश्न है कि कौन सा समाज उन्नति पर अग्रसर है? उन्नति का अर्थ वृथा ही भौतिक आवश्यकताओं को उत्पन्न करना और तथाकथित भौतिक सुखों की सारे विश्व में वृद्धि करके मानव शक्ति को अपव्यय करना नहीं है। वास्तविक उन्नति तो आत्मबोध की दिशा में प्रगति है और जिस समुदाय में इस उद्देश्य से कार्य हुआ वह आर्य-सभ्यता कहलाई। इसमें बुद्धिमान पुरुष अर्थात् ब्राह्मण अध्यात्मिक कार्यों में लगे रहते थे, उदाहरणार्थ कर्दम मुनि सम्राट स्वायंभुव जैसे क्षत्रिय देश का शासन चलाते और आत्मबोध के लिए सभी साधन सुचारू रूप से जुटाते थे। राजा का धर्म है कि वह देश भर में घूम-घूम कर देखे कि राज्य-व्यवस्था ठीक है। वर्णों तथा आश्रमों पर आधारित भारतीय सभ्यता का ह्रास हो गया है, क्योंकि वह विदेशियों पर या जो वर्णाश्रम की सभ्यता का पालन नहीं करते थे उन पर निर्भर रहने लगी। इस प्रकार वर्णाश्रम पद्धति का अब जाति प्रथा में ह्रास हो चुका है।

यहाँ पर चारों वर्णों तथा आश्रमों की संस्था की पुष्टि भगवत् रचित कहकर की गई है, जिसका अर्थ है "श्रीभगवान् द्वारा बनाई गई।" *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई है—*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्*। भगवान् कहते हैं कि चारों वर्ण तथा चारों आश्रम मेरे द्वारा बनाए गए हैं। भगवान् द्वारा सृष्ट कोई भी वस्तु न तो छिपाई जा सकती है और न समाप्त की जा सकती है। वर्णों तथा आश्रमों का विभाग चलता रहेगा चाहे वह अपने मूल रूप में हो या बिगड़े रूप में, किन्तु श्रीभगवान् द्वारा सृष्ट होने से उनको समाप्त नहीं किया जा सकता। वे भगवान् की सृष्टि होने के कारण सूर्य की भाँति बनी रहेंगी। चाहे मेघों आच्छादित हो या निर्मल आकाश में हो, तो सूर्य तो बना ही रहेगा इस प्रकार जब वर्णाश्रम पद्धति का ह्रास हो जाता है, तो यह वंशानुगत जाति प्रथा प्रतीत होने लगती है, किन्तु प्रत्येक समाज में बुद्धिमान, वीर, व्यापारी तथा श्रमिक वर्ग होता है। जब वैदिक नियमों के अनुसार विभिन्न जातियों को सहयोग के लिए नियमित कर लिया जाता है, तो शान्ति और आध्यात्मिक प्रगति होती है। किन्तु जब जाति प्रथा

में घृणा, अविश्वास तथा कुरीतियाँ घर कर जाती हैं, तो पूरी पद्धति का ह्रास होने लगता है और अत्यन्त शोचनीय अवस्था उत्पन्न हो जाती, जिसका यहाँ पर उल्लेख हुआ है। सम्प्रति, सारा विश्व शोचनीय स्थिति को प्राप्त है, क्योंकि नाना प्रकार के स्वार्थ समाये हैं। वर्णाश्रम के चारों वर्गों के ह्रास से ऐसा हुआ है।

अधर्मश्च समेधेत लोलुपैर्व्यङ्कुशैर्नृभिः ।
शयाने त्वयि लोकोऽयं दस्युग्रस्तो विनङ्क्ष्यति ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

अधर्मः—अधर्म, अनाचार; च—तथा; समेधेत—उन्नति करेगा; लोलुपैः—धन के लालची; व्यङ्कुशैः—अनियन्त्रित; नृभिः—मनुष्यों द्वारा; शयाने त्वयि—तुम्हारे लेट जाने पर; लोकः—संसार; अयम्—यह; दस्यु—दुराचारियों के द्वारा; ग्रस्तः—आक्रमण किये जाने पर; विनङ्क्ष्यति—विनष्ट हो जाएगा।

यदि आप संसार की स्थिति के विषय में सोचना छोड़ दें (निश्चिन्त हो जायँ) तो अधर्म बढ़ेगा, क्योंकि धनलोलुप व्यक्ति निर्द्वन्द्व हो जाएँगे। ऐसे दुराचारियों के आक्रमणों से यह संसार विनष्ट हो जाएगा।

तात्पर्य : चूँकि वर्णों तथा आश्रमों के वैज्ञानिक विभाजन का लोप हो रहा है, अतः पूरा विश्व ऐसे अवांछित लोगों से शासित हो रहा है, जो धर्म, राजनीति या समाज-व्यवस्था में तनिक भी शिक्षित नहीं हैं, फलतः यह अत्यन्त शोचनीय स्थिति में है। चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों में विभिन्न वर्ग के लोगों के लिए नियमित प्रशिक्षण सिद्धान्त होते हैं। जिस प्रकार आधुनिक युग में इंजीनियरों, डाक्टरों तथा विद्युतविदों की आवश्यकता पड़ती है और वे विभिन्न वैज्ञानिक संस्थानों में भली भाँति प्रशिक्षित होते हैं उसी प्रकार प्राचीन काल में उच्च सामाजिक वर्णों को, यथा बुद्धिमान वर्ग (ब्राह्मण), शासक वर्ग (क्षत्रिय), वणिक वर्ग (वैश्य) को समुचित प्रशिक्षण मिलता था। *भगवद्गीता* में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के कार्यों का उल्लेख है। जब ऐसी शिक्षा नहीं दी जाती तो मनुष्य दावा करता है कि चूँकि वह ब्राह्मण या क्षत्रिय कुल में उत्पन्न है इसलिए वह ब्राह्मण या क्षत्रिय है, भले ही वह शूद्रों का सा कार्य क्यों न करता हो। इस प्रकार उच्चजाति का होने का अनुचित दावा वैज्ञानिक सामाजिक व्यवस्था को जाति प्रथा में लाकर पटक देता है, जिससे मूल पद्धति का ह्रास हो जाता है। इस

प्रकार इस समय समाज में दुर्व्यवस्था है और उसमें न शान्ति है, न सम्पन्नता। यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि जब तक बलशाली राजा जागरूक नहीं रहता तब तक अपवित्र तथा अयोग्य व्यक्ति समाज में अमुक पद का दावा करते रहेंगे और सामाजिक व्यवस्था को विनष्ट कर देंगे।

अथापि पृच्छे त्वां वीर यदर्थं त्वमिहागतः ।
तद्वयं निर्व्यलीकेन प्रतिपद्यामहे हृदा ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

अथ अपि—इतने पर भी; पृच्छे—मैं पूछता हूँ; त्वाम्—तुमसे; वीर—हे पराक्रमी राजा; यत्-अर्थम्—प्रयोजन; त्वम्—तुम; इह—यहाँ; आगतः—आये हो; तत्—वह; वयम्—हम सब; निर्व्यलीकेन—बिना हिचक के; प्रतिपद्यामहे—पूरा करेंगे; हृदा—हृदय से।

तो भी, हे पराक्रमी राजा, मैं आपसे यहाँ आने का कारण पूछ रहा हूँ। वह चाहे जो भी हो, हम बिना हिचक के उसको पूरा करेंगे।

तात्पर्य : जब कोई अतिथि अपने मित्र के घर जाता है, तो यह माना जाता है कि उसका कुछ विशेष प्रयोजन है। कर्दम मुनि समझ गये कि स्वायंभुव जैसा महान् राजा, यद्यपि अपने साम्राज्य की स्थिति का निरीक्षण करने के उद्देश्य से निकला था, किन्तु कुटिया में उसका आना किसी विशेष प्रयोजन से हो सकता है। इस प्रकार वे राजा की इच्छा पूरी करने के लिए सन्नद्ध थे। प्राचीन काल में यह प्रथा थी कि मुनिगण राजा के यहाँ जाते थे और राजागण मुनियों की कुटियों में जाया करते थे। प्रत्येक को एक दूसरे के प्रयोजन को पूरा करने में प्रसन्नता होती थी। यह पारस्परिक आदान-प्रदान भक्ति कार्य कहलाता है। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के अन्योन्य सम्बन्ध को बताने वाला एक सुन्दर श्लोक है (*क्षत्रं द्विजत्वम्*)। *क्षत्रम्* का अर्थ है 'राजसी जाति', *द्विजत्वम्* का अर्थ 'ब्राह्मण जाति'। ये दोनों पारस्परिक हित के लिए थे। राजसी जाति समाज में ब्राह्मणों को आध्यात्मिक उन्नति के अनुशीलन के लिए सुरक्षा प्रदान करती थी और ब्राह्मण लोग राजसी जाति को बहुमूल्य शिक्षा प्रदान करते थे कि किस प्रकार राज्य तथा नागरिकों को आत्मसिद्धि के पद तक उठाया जाय।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत "मनु-कर्दम संवाद" नामक इक्कीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बाईस

कर्दममुनि तथा देवहूति का परिणय

मैत्रेय उवाच

एवमाविष्कृताशेषगुणकर्मोदयो मुनिम् ।
सव्रीड इव तं सम्राडुपारतमुवाच ह ॥ १॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—महान् साधु मैत्रेय ने; उवाच—कहा; एवम्—इस प्रकार; आविष्कृत—वर्णन कर लेने के पश्चात्; अशेष—समस्त; गुण—विशेषताओं की; कर्म—कार्यों की; उदयः—महानता; मुनिम्—महर्षि; स-व्रीडः—संकोचवश; इव—मानो; तम्—वह (कर्दम); सम्राट्—राजा मनु; उपारतम्—मौन; उवाच ह—बोला।

श्रीमैत्रेय ने कहा—सम्राट के अनेक गुणों तथा तथा कार्यों की महानता का वर्णन करने के पश्चात् मुनि शान्त हो गये और राजा ने संकोचवश उन्हें इस प्रकार से सम्बोधित किया।

मनुरुवाच

ब्रह्मासृजत्स्वमुखतो युष्मानात्मपरीप्सया ।
छन्दोमयस्तपोविद्यायोगयुक्तानलम्पटान् ॥ २॥

शब्दार्थ

मनुः—मनु ने; उवाच—कहा; ब्रह्मा—ब्रह्माजी ने; असृजत्—उत्पन्न किया; स्व-मुखतः—अपने मुख से; युष्मान्—आपको (ब्राह्मणों को); आत्म-परीप्सया—अपनी रक्षा के लिए विस्तार करके; छन्दः-मयः—वेदरूप; तपः-विद्या-योग-युक्तान्—तप, ज्ञान तथा योग से युक्त; अलम्पटान्—इन्द्रिय-तृप्ति से विमुख।

मनु ने कहा—वेदस्वरूप ब्रह्मा ने वैदिक ज्ञान के विस्तार हेतु अपने मुख से आप जैसे ब्राह्मणों को उत्पन्न किया है, जो तप, ज्ञान तथा योग से युक्त और इन्द्रियतृप्ति से विमुख हैं।

तात्पर्य : वेदों का उद्देश्य परम सत्य के दिव्य ज्ञान का प्रसार है। ब्राह्मणों की उत्पत्ति परम पुरुष के मुख से हुई, फलत: उनका कार्य वेद-ज्ञान का प्रसार करना है, जिससे भगवान् की महिमा का प्रसार हो। *भगवद्गीता* में भी श्रीकृष्ण कहते हैं कि समस्त वेद पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को जानने के लिए हैं। यहाँ विशेष रूप से उल्लेख है (*योगयुक्तानलम्पटान्*) कि ब्राह्मण योगयुक्त होते हैं और इन्द्रिय-तृप्ति से अनासक्त। वास्तव में दो प्रकार की वृत्तियां होती हैं। एक तो इस भौतिक संसार में इन्द्रियों की तृप्ति और दूसरी वृत्ति आध्यात्मिक अर्थात् ईश्वर का गुणगान करके उन्हें प्रसन्न करना। जो इन्द्रिय-तृप्ति में लगे रहते हैं, वे असुर कहलाते हैं

और जो भगवान् के यश को फैलाते हैं या भगवान् की दिव्य इन्द्रियों की तृप्ति करते हैं, वे देवता कहे जाते हैं। यहाँ इसका विशेष रुप से उल्लेख हुआ है कि ब्राह्मण उस विराट पुरुष के मुख से उत्पन्न हुए; इसी प्रकार क्षत्रिय उनकी भुजाओं से, वैश्य उनके कटि भाग से तथा शूद्र उनके पाँवों से उत्पन्न बताये गये हैं। ब्राह्मण तप, विद्या तथा ज्ञान के निमित्त उत्पन्न किये गये। वे समस्त प्रकार के विषय-भोगों से अनासक्त रहते हैं।

तत्त्राणायासृजच्चास्मान्दोःसहस्रात्सहस्रपात् ।
हृदयं तस्य हि ब्रह्म क्षत्रमङ्गं प्रचक्षते ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्-त्राणाय—ब्राह्मणों की रक्षा के लिए; असृजत्—उत्पन्न किया; च—तथा; अस्मान्—हमको (क्षत्रिय); दोः-सहस्रात्—उनका हजार भुजाओं से; सहस्र-पात्—हजार पाँव वाले परम पुरुष (विराट रूप); हृदयम्—हृदय; तस्य—उसका; हि—अतः; ब्रह्म—ब्राह्मण; क्षत्रम्—क्षत्रिय; अङ्गम्—भुजाएँ; प्रचक्षते—कहे जाते हैं।

ब्राह्मणों की रक्षा के लिए सहस्र-पाद विराट पुरुष ने हम क्षत्रियों को अपनी सहस्र भुजाओं से उत्पन्न किया। अतः ब्राह्मणों को उनका हृदय और क्षत्रियों को उनकी भुजाएँ कहते हैं।

तात्पर्य : क्षत्रिय विशेषतया ब्राह्मणों की सुरक्षा के निमित्त हैं, क्योंकि यदि ब्राह्मण सुरक्षित रहेंगे तो सभ्यता के मस्तिष्क की रक्षा होती है। ब्राह्मणों को सामाजिक शरीर का मस्तिष्क माना जाता है। यदि मस्तिष्क विमल रहे और पगलाये नहीं तो सब कुछ ठीक रहता है। भगवान् का वर्णन इस प्रकार हुआ है—*नमो ब्रह्मण्य-देवाय गो-ब्राह्मण हिताय च*। इस स्तुति का सारांश यह है कि भगवान् ब्राह्मणों तथा गायों की विशेष रक्षा करते हैं और तब समाज के अन्य समस्त सदस्यों (*जगद्-धिताय*) की। उनकी इच्छा है कि गो तथा ब्राह्मणों की रक्षा पर ही विश्व का कल्याण निर्भर है। इस प्रकार ब्राह्मण-संस्कृति तथा गो-रक्षा ये दोनों मानव सभ्यता के मूल सिद्धान्त हैं। क्षत्रिय ब्राह्मणों की रक्षा के निमित्त होते हैं जैसाकि भगवान् की इच्छा है—*गो-ब्राह्मण हिताय च*। जिस प्रकार शरीर के भीतर हृदय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है उसी प्रकार से ब्राह्मण मानव-समाज के महत्त्वपूर्ण अवयव हैं। क्षत्रिय सम्पूर्ण शरीर के समान हैं। जिस प्रकार हृदय की तुलना में शरीर भारी अवश्य होता है, किन्तु महत्त्वपूर्ण हृदय ही होता है।

अतो ह्यन्योन्यमात्मानं ब्रह्म क्षत्रं च रक्षतः ।
रक्षति स्माव्ययो देवः स यः सदसदात्मकः ॥४॥

शब्दार्थ

अतः—अतएव; हि—निश्चय ही; अन्योन्यम्—परस्पर; आत्मानम्—स्वयं; ब्रह्म—ब्राह्मण; क्षत्रम्—क्षत्रिय; च—तथा; रक्षतः—रक्षा करते हैं; रक्षति स्म—रक्षा करता है; अव्ययः—निर्विकार; देवः—भगवान्; सः—वह; यः—जो; सत्-असत्-आत्मकः—कार्य-कारण रूप।

इसीलिए ब्राह्मण तथा क्षत्रिय एक दूसरे की और साथ ही स्वयं की रक्षा करते हैं। कार्य-कारण रूप तथा निर्विकार होकर भगवान् स्वयं एक दूसरे के माध्यम से उनकी रक्षा करते हैं।

तात्पर्य : वर्ण तथा आश्रम का समूचा सामाजिक ढाँचा सहयोग पर निर्भर है और सबों को आत्मबोध के उच्च पद तक उठाने के निमित्त है। ब्राह्मणों की रक्षा क्षत्रियों द्वारा की जानी चाहिए और ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रियों को ज्ञान दिया जाना चाहिए। जब ब्राह्मण तथा क्षत्रिय सहयोग से रहते हैं, तो अन्य गौण विभाग, यथा वैश्य तथा शूद्र भी स्वयमेव फलते-फूलते हैं। फलतः वैदिक समाज की समग्र विकास प्रक्रिया ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की महत्ता पर आश्रित थी। वास्तविक त्राता तो भगवान् ही हैं, किन्तु वे रक्षा कार्य से विरत रहते हैं। उन्होंने ब्राह्मणों की सुरक्षा के लिए क्षत्रिय और क्षत्रियों की रक्षा के लिए ब्राह्मण उत्पन्न किया। वे समस्त गतिविधियों से विलग रहने वाले हैं इसीलिए उन्हें निर्विकार कहा गया है। उन्हें कुछ भी नहीं करना होता। वे इतने महान् हैं कि वे कोई कार्य स्वयं नहीं करते वरन् उनकी शक्तियाँ कार्य करती हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अन्य जो कुछ दीखता है वे उनकी शक्तियों के परिणाम हैं।

यद्यपि आत्माएँ पृथक्-पृथक् होती हैं, किन्तु परमात्मा तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। व्यष्टि रुप से व्यक्ति का 'आत्मा' गुणों में अन्यों से कुछ-कुछ भिन्न हो सकता है और भिन्न कार्य भी कर सकता है यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के सम्बन्ध में, किन्तु जब इन विभिन्न आत्माओं में पूर्ण सहयोग (समन्वय) होता है, तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् परमात्मा रूप में प्रत्येक आत्मा में आसीन रहते हुए उन्हें रक्षा प्रदान करने में प्रसन्न होते हैं हैं। जैसाकि कहा जा चुका है, ब्राह्मण भगवान् के मुख से तथा क्षत्रिय उनके वक्षस्थल या बाहुओं से उत्पन्न हुए हैं। यदि विभिन्न

जातियाँ या सामाजिक विभाग भिन्न-भिन्न कार्यों में रत होकर भी पूर्ण सहयोग स्थापित रखते हैं, तो भगवान् प्रसन्न होते हैं। चार वर्णों तथा चार आश्रमों की संस्थापना का मन्तव्य यही है। यदि विभिन्न आश्रमों तथा वर्गों के सदस्य कृष्ण-भक्ति में परस्पर सहयोग करें तो इसमें सन्देह नहीं कि भगवान् द्वारा समाज पूर्णतया संरक्षित हो जाय।

भगवद्गीता में कहा गया है कि भगवान् समस्त देहों के स्वामी हैं। प्रत्येक जीव अपने-अपने शरीर का स्वामी है, किन्तु भगवान् ने स्पष्ट कहा है, ''हे भारत! तुम्हें ज्ञात हो कि मैं भी क्षेत्रज्ञ हूँ।'' क्षेत्रज्ञ का अर्थ है, ''शरीर का ज्ञाता अथवा स्वामी।'' प्रत्येक जीव अपने शरीर का स्वामी है, किन्तु श्रीभगवान् कृष्ण परमात्मा हैं, वे सर्वत्र समस्त शरीरों के स्वामी हैं। वे न केवल इस लोक के वरन् अन्य लोकों के मनुष्यों के ही नहीं वरन् पशु-पक्षी तथा अन्य जीवों के शरीरों के स्वामी हैं। वे परम स्वामी हैं फलतः पृथक्-पृथक् जीवों की रक्षा करते हुए भी वे विभक्त नहीं होते। वे एक ही रहते हैं। मध्याह्न के समय जब सूर्य सबों के सिर के ऊपर दिखता है, तो वह विभक्त नहीं होता। एक मनुष्य सोचता है कि सूर्य उसी के सिर के ऊपर है, किन्तु पाँच हजार मील दूसरा मनुष्य सोचता है कि सूर्य उसी के सिर पर है। इसी तरह परमात्मा एक है, परन्तु वह प्रत्येक शरीर के भीतर दिखाई पड़ता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मा (जीव) तथा परमात्मा एक हैं। आत्मा होने के कारण वे गुण में समान हैं, किन्तु आत्मा तथा परमात्मा पृथक्-पृथक् हैं।

तव सन्दर्शनादेव च्छिन्ना मे सर्वसंशयाः ।
यत्स्वयं भगवान्प्रीत्या धर्ममाह रिरक्षिषोः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तव—आपके; सन्दर्शनात्—दर्शन से; एव—केवल; छिन्नाः—दूर हो गये; मे—मेरे; सर्व-संशयाः—सारे सन्देह; यत्—यहाँ तक कि; स्वयम्—स्वतः; भगवान्—आपने; प्रीत्या—प्रीतीपूर्वक; धर्मम्—कर्तव्य; आह—बतलाया; रिरक्षिषोः—अपनी प्रजा की रक्षा के लिए उत्सुक राजा का।

अब आपके दर्शन मात्र से मेरे सारे सन्देह दूर हो चुके हैं, क्योंकि आपने कृपापूर्वक अपनी प्रजा की रक्षा के लिए उत्सुक राजा के कर्तव्य की सुस्पष्ट व्याख्या की है।

तात्पर्य : मनु ने यहाँ परम साधु पुरुष के दर्शन करने के फल का वर्णन किया है। भगवान्

चैतन्य का कथन है कि मनुष्य को चाहिए कि सदैव साधु पुरुषों की संगति करे, क्योंकि एक क्षण की भी सुसंगति से सम्पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यदि किसी प्रकार से साधु पुरुष से भेंट हो जावे और उसकी कृपा प्राप्त हो ले तो मनुष्य-जीवन का सारा उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। मनु के इस कथन का हमारा व्यक्तिगत अनुभव वास्तविक प्रमाण है। एक बार हमें विष्णुपाद श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज के दर्शन का अवसर प्राप्त हुआ और उन महानुभाव ने पहली भेंट में ही हमें पाश्चात्य देशों में अपने सन्देश का प्रचार करने के लिए निवेदन किया। इसके लिए कोई तैयारी न थी, किन्तु चूँकि उनकी इच्छा थी, उनकी कृपा से उनके आदेश के पालन में हम लगे हुए हैं। इससे हमें दिव्य कार्य मिला और उन्होंने हमें भौतिक वृत्तियों के कार्य-व्यापारों से उबार लिया। अत: यह सच है कि यदि ऐसे साधु पुरुष से भेंट हो जाय जो दिव्य कार्यों में ही अनुरक्त हों और यदि उनकी कृपा हो जाय, तो मनुष्य के जीवन का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। जो हजारों जीवनों में भी प्राप्त नहीं हो पाता वह साधु पुरुष की एक क्षण की संगति से प्राप्त हो जाता है। अत: वैदिक साहित्य में यह आदेश है कि सदैव साधु पुरुष की संगति करनी चाहिए और सामान्य मनुष्य से अपने को अलग ही रखना चाहिए, क्योंकि साधु पुरुष के एक शब्द से ही भौतिक बन्धन से छुटकारा मिल सकता है। साधु पुरुष अपनी अध्यात्मिक उन्नति के कारण शक्तिसम्पन्न होता है और वह बद्धजीव को तुरन्त मुक्ति दिला सकता है। यहाँ पर मनु स्वीकार करते हैं कि कर्दम मुनि द्वारा कृपापूर्वक विभिन्न जीवों के कर्तव्यों का वर्णन करने के कारण उनके समस्त संशय दूर हो चुके हैं।

दिष्ट्या मे भगवान्दृष्टो दुर्दर्शो योऽकृतात्मनाम् ।
दिष्ट्या पादरजः स्पृष्टं शीर्ष्णा मे भवतः शिवम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

दिष्ट्या—सौभाग्य से; मे—मेरा; भगवान्—सर्व शक्तिमान; दृष्टः—देखा जाता है; दुर्दर्शः—सरलता से न दिखने वाला; यः—जो; अकृत-आत्मनाम्—जिन्होंने अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में नहीं किया; दिष्ट्या—अपने भाग्य से; पाद-रजः—पैरों की धूलि; स्पृष्टम्—स्पर्श करने पर; शीर्ष्णा—शिर से; मे—मेरा; भवतः—आपका; शिवम्—कल्याणकारी।

यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे आपके दर्शन हो सके क्योंकि जिन लोगों ने अपने मन

तथा इन्द्रियों को वश में नहीं किया उन्हें आपके दर्शन दुर्लभ हैं। मैं आपके चरणों की धूलि को शिर से स्पर्श करके और भी कृतकृत्य हुआ हूँ।

तात्पर्य : दिव्य जीवन की पूर्णता पवित्र पुरुष के चरणकमलों की पवित्र धूल का स्पर्श करके प्राप्त की जा सकती है। *भागवत* में कहा गया है—*महत्-पाद-रजोऽभिषेकम्* अर्थात् महत अथवा महान् भक्त के चरणों की पवित्र धूल से अभिषिक्त। जैसाकि *भगवद्गीता* में उल्लेख है—*महात्मानस्तु*—महान् पुरुष आत्मिक शक्ति के वश में रहते हैं और उनका लक्षण यह है कि वे कृष्ण-भावनामृत में पूरी तरह से लीन रहते हैं। इसीलिए महत् कहलाते हैं। जब तक महात्मा के चरणों की धूलि को कोई अपने शिर पर चढ़ा नहीं लेता, तब तक आत्म-जीवन में सिद्धि मिलने की कोई सम्भावना नहीं रहती।

आत्म-उन्नति के लिए शिष्य-परम्परा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य अपने महत् गुरु की कृपा से ही महत् बनता है। यदि कोई किसी महापुरुष के चरणों की शरण ग्रहण करता है, तो उसके महान् बनने की काफी सम्भावना रहती है। जब महाराज रहूगण ने जड़ भरत से उनकी अद्भुत आत्म-उन्नति के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तो उन्होंने राजा को उत्तर दिया कि केवल धार्मिक कर्मकाण्डों का पालन करने या केवल संन्यासी बनने अथवा शास्त्रोक्त विधि से यज्ञ करने से ही आध्यात्मिक उन्नति नहीं मिलती। ये विधियाँ निस्सन्देह आत्म-बोध में सहायक होती हैं, किन्तु वास्तविक प्रभाव तो महात्मा की कृपा से पड़ता है। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने गुरु की स्तुति में आठ श्लोक लिखे हैं। उसमें उन्होंने स्पष्ट कहा है कि गुरु को केवल प्रसन्न करने से जीवन में परम सफलता प्राप्त होती है और समस्त अनुष्ठानों को करते हुए भी यदि कोई गुरु को प्रसन्न नहीं कर पाता तो उसकी आत्मसिद्धि तक पहुँच नहीं हो पाती। यहाँ पर *अकृतात्मनाम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। आत्मा के अर्थ हैं शरीर, आत्मा अथवा मन और अकृतात्मा का अर्थ है सामान्य व्यक्ति, जो अपनी इन्द्रियों या मन को वश में नहीं रख पाता। इसीलिए सामान्य व्यक्ति को महापुरुष या भगवान् के परम भक्त की शरण ढूँढनी चाहिए और उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे उसका जीवन पूर्ण हो सकेगा। मात्र अनुष्ठानों एवं धार्मिक

सिद्धान्तों के पालन से सामान्य व्यक्ति आत्मिक-सिद्धि की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता। उसे प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण करनी होगी और उसके निर्देशन में श्रद्धा एवं निष्ठा के साथ कार्य करना होगा। तभी वह सिद्धि प्राप्त कर सकेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

दिष्ट्या त्वयानुशिष्टोऽहं कृतश्चानुग्रहो महान् ।
अपावृतैः कर्णरन्ध्रैर्जुष्टा दिष्ट्योशतीर्गिरः ॥ ७॥

शब्दार्थ

दिष्ट्या—सौभाग्यवश; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अनुशिष्टः—उपदेशित; अहम्—मैं; कृतः—प्रदान किया हुआ; च—और; अनुग्रहः—कृपा; महान्—महान; अपावृतैः—खुले; कर्ण-रन्ध्रैः—कानों के छिद्रों से; जुष्टाः—ग्रहण किया गया; दिष्ट्या—भाग्य से; उशतीः—शुद्ध; गिरः—शब्द।

सौभाग्य से मुझे आपके द्वारा उपदेश प्राप्त हुआ है और इस प्रकार आपने मेरे ऊपर महती कृपा की है। मैं भगवान् को धन्यवाद देता हूँ कि मैं अपने कान खोलकर आपके विमल शब्दों को सुन रहा हूँ।

तात्पर्य : श्रील रूप गोस्वामी ने अपने ग्रंथ *भक्तिरसामृत-सिन्धु* में निर्देश दिये हैं कि किस प्रकार प्रामाणिक गुरु ग्रहण किया जाय और उनके साथ कैसा व्यवहार किया जाय। पहले इच्छुक व्यक्ति को प्रामाणिक गुरु की खोज करनी चाहिए और तब अत्यन्त उत्सुकता के साथ उपदेश प्राप्त करना चाहिए और तदनुसार कार्य करना चाहिए। यह दोतरफी (पारस्परिक) सेवा है। प्रामाणिक गुरु या साधु पुरुष सदैव अपने पास आने वाले को ऊपर उठाने के लिए इच्छुक रहते हैं। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति माया के मोहसे वशीभूत है और वह अपने मुख्य कर्तव्य, कृष्ण-भक्ति, को भूलता रहता है, अतः साधु-पुरुष चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति संत स्वरूप बन जाय। प्रत्येक साधु पुरुष का कर्तव्य है कि वह प्रत्येक भुलक्कड़ सामान्य पुरुष में कृष्णभक्ति जागृत करे।

मनु ने कहा चूँकि कर्दम मुनि से उन्हें उपदेश प्राप्त हुआ, अतः वह कृतकृत्य हो गया। कानों से सन्देश प्राप्त करके वह अपने को भाग्यशाली मान रहा है। यहाँ इसका विशेष उल्लेख है कि मनुष्य को प्रामाणिक गुरु से कान खोलकर सन्देश सुनना चाहिए। लेकिन इसे कैसे प्राप्त किया जाय? मनुष्य को कानों से दिव्य सन्देश ग्रहण करना चाहिए। *कर्ण-रन्ध्रैः* शब्द का अर्थ

है "कान के छेदों के माध्यम से।" गुरु की कृपा शरीर के अन्य किसी भाग से न प्राप्त होकर केवल कानों से प्राप्त होती है। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं है कि गुरु कुछ धन लेकर बदले में कान में कोई मन्त्र दे जिसके ध्यान से छह महीनों में ही सिद्धि प्राप्त करके ईश्वर बना जा सकता है। कान से ऐसी ग्राह्यता नकली है। वास्तविकता तो यह है कि प्रामाणिक गुरु जानता रहता है कि मनुष्य किस प्रकार का है और कृष्ण-भावनामृत में वह कैसे कार्य कर सकता है, अत: वह उसी प्रकार से उसे उपदेश देता है। वह उसे कान में चुपके से नहीं वरन् सबों के समक्ष उपदेश देता है, "तुम कृष्णभक्ति में अमुक अमुक कार्य के लिए उपयुक्त हो। तुम इस प्रकार कार्य कर सकते हो।" किसी व्यक्ति को श्रीविग्रह के कमरे में कृष्णभक्ति करने को कहा जा सकता है, तो दूसरे को साहित्य-सम्पादन कार्य करने को, तीसरे को उपदेश देने और अन्य किसी को रसोईघर का प्रबन्ध करने को कहा जा सकता है। कृष्णभक्ति में कार्य करने के लिए भिन्न-भिन्न विभाग हैं और गुरु व्यक्ति-विशेष की क्षमता को जानते हुए उसे इस प्रकार शिक्षा देता है कि वह पूर्ण बन सके। *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य अपनी क्षमता के अनुसार सेवा करके आध्यात्मिक जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करता है, जिस प्रकार अर्जुन ने अपने सैन्य-कौशल से कृष्ण की सेवा की। अर्जुन एक सैनिक की भाँति अपनी सेवाएँ अर्पित करके पूर्ण बन सका। इसी प्रकार कोई कलाकार अपने गुरु के निर्देशन में कलात्मक कार्य करते हुए सिद्धि प्राप्त कर सकता है। यदि कोई व्यक्ति साहित्य में रुचि रखता है, तो वह गुरु के निर्देशन मे लेख अथवा कविताओं की रचना करके भगवान की सेवा कर सकता है। मनुष्य को अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करने के सम्बन्ध में अपने गुरु से सन्देश ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि गुरु ऐसा उपदेश देने में पटु होता है।

गुरु द्वारा उपदेश और शिष्य द्वारा निष्ठापूर्वक उसका पालन के संयोग से समूची प्रणाली पूर्ण बन जाती है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर *भगवद्गीता* के इस श्लोक—व्यवसायात्मिका बुद्धि:—की व्याख्या में कहते हैं कि जो आत्मिक उन्नति चाहता है उसे चाहिए कि अपने गुरु से आदेश प्राप्त करे कि उसका विशेष कार्य क्या है। उसे विशेष उपदेश को श्रद्धापूर्वक सम्पन्न

करना चाहिए और उसी को अपना सर्वस्व समझना चाहिए। शिष्य का एकमात्र कर्तव्य है कि वह अपने गुरु से प्राप्त उपदेश का श्रद्धापूर्वक पालन करे। इसीसे उसे सिद्धि मिलेगी। मनुष्य को कानों से गुरु का सन्देश ग्रहण करने में सतर्क रहना चाहिए और उसे श्रद्धापूर्वक निष्पन्न करना चाहिए। इससे उसका जीवन सफल हो सकेगा।

स भवान्दुहितृस्नेहपरिक्लिष्टात्मनो मम ।
श्रोतुमर्हसि दीनस्य श्रावितं कृपया मुने ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—आप; भवान्—आप; दुहितृ-स्नेह—अपनी पुत्री के स्नेहवश; परिक्लिष्ट-आत्मनः—क्षुब्ध मन वाला; मम—मेरा; श्रोतुम्—सुनने के लिए; अर्हसि—प्रसन्न हों; दीनस्य—मुझ दीन की; श्रावितम्—प्रार्थना को; कृपया—कृपापूर्वक; मुने—हे मुनि।.

हे मुनि, कृपापूर्वक मुझ दीन की प्रार्थना सुनें, क्योंकि मेरा मन अपनी पुत्री के स्नेह से अत्यन्त उद्विग्न है।

तात्पर्य : जब कोई शिष्य अपने गुरु से कोई संदेश प्राप्त करके उसे निष्ठापूर्वक सम्पन्न कर लेता है, तो उसे अधिकार है कि वह अपने गुरु से चाहे जिस प्रकार के अनुग्रह के लिए याचना करे। सामान्य रूप से भगवान् का शुद्ध भक्त अथवा प्रामाणिक गुरु का शुद्ध शिष्य भगवान् या गुरु से किसी अनुग्रह की याचना नहीं करता, किन्तु यदि कभी गुरु से किसी प्रकार का अनुग्रह प्राप्त करने की आवश्यकता आ पड़े तो जब तक वह उन्हें पूर्णतया प्रसन्न न कर ले तब तक उसकी याचना नहीं कर सकता। स्वायंभुव मनु अपनी पुत्री के स्नेह के कारण अपने मन की बात प्रकट करना चाह रहे थे कि वे कौन सा काम कराना चाहते हैं।

प्रियव्रतोत्तानपदोः स्वसेयं दुहिता मम ।
अन्विच्छति पतिं युक्तं वयःशीलगुणादिभिः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

प्रियव्रत-उत्तानपदोः—प्रियव्रत तथा उत्तानपद की; स्वसा—बहन; इयम्—यह; दुहिता—पुत्री; मम—मेरी; अन्विच्छति—खोज रही है; पतिम्—पति या वर; युक्तम्—अनुकूल; वयः-शील-गुण-आदिभिः—आयु, चरित्र, गुण आदि से।.

मेरी पुत्री प्रियव्रत तथा उत्तानपाद की बहन है। वह आयु, शील, गुण आदि में अपने

अनुकूल पति की तलाश में है।

तात्पर्य : स्वायंभुव मनु की युवा पुत्री देवहूति का चरित्र उत्तम था और वह योग्य भी थी, अतः वह अपनी आयु, शील तथा गुण के अनुकूल पति की खोज में थी। मनु द्वारा अपनी पुत्री को प्रियव्रत तथा उत्तानपाद इन दो महान् राजाओं की बहन के रूप में परिचित कराने का उद्देश्य था मुनि को आश्वस्त करना कि कन्या उच्च कुल की है। वह उनकी पुत्री है और साथ ही क्षत्रियों की बहन है, वह निम्न वर्ग की नहीं है। अतः मनु ने कर्दम को उपयुक्त समझ कर उसे अपनी पुत्री को सौंप देना चाहा। यह स्पष्ट है कि यद्यपि देवहूति आयु तथा गुणों में वयस्क थी, किन्तु वह स्वतः पति का चुनाव करने के लिए वहाँ नहीं गई। उसने अपनी आयु, शील तथा गुण के अनुकूल उपयुक्त पति के लिए इच्छा व्यक्त की और पिता ने स्नेहवश उसके लिए ऐसा पति ढूँढने का भार अपने ऊपर ले लिया।

यदा तु भवतः शीलश्रुतरूपवयोगुणान् ।
अशृणोन्नारदादेषा त्वय्यासीत्कृतनिश्चया ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; तु—लेकिन; भवतः—तुम्हारा; शील—उत्तम चरित्र; श्रुत—विद्या; रूप—सुन्दर आकार, सूरत; वयः—युवावस्था; गुणान्—गुण; अशृणोत्—सुना; नारदात्—नारद मुनि से; एषा—देवहूति ने; त्वयि—तुममें; आसीत्—हो गयी; कृत-निश्चया—दृढ़ संकल्प।

जब से इसने नारद मुनि से आपके उत्तम चरित्र, विद्या, रूप, वय (आयु) तथा अन्य गुणों के विषय में सुना है तब से यह अपना मन आपमें स्थिर कर चुकी है।

तात्पर्य : देवहूति ने न तो स्वतः कर्दम मुनि को देखा था और न उसे उनके शील या गुण के विषय में कोई व्यक्तिगत अनुभव था, क्योंकि ऐसा कोई सामाजिक समागम न था जिससे उसे ऐसी जानकारी प्राप्त हो सकती। किन्तु उसने नारद मुनि से कर्दम मुनि के सम्बन्ध में सुन रखा था। किसी अधिकारी से सुनना व्यक्तिगत जानकारी प्राप्त करने से कहीं श्रेष्ठ है। उसने नारद मुनि से सुना था कि कर्दम मुनि उसके पति होने के योग्य हैं। अतः उसने अपने मन में निश्चय कर लिया था कि वह उन्हीं से ब्याह करेगी। उसने अपने पिता से अपना मन्तव्य प्रकट किया जिन्होंने उसे लाकर यहाँ उपस्थित किया।

तत्प्रतीच्छ द्विजाछ्येमां श्रद्धयोपहृतां मया ।
सर्वात्मनानुरूपां ते गृहमेधिषु कर्मसु ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तत्—अत:; प्रतीच्छ—कृपया स्वीकार करें; द्विज-अछ्य—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ; इमाम्—इसको; श्रद्धया—श्रद्धा से; उपहृताम्—भेंट स्वरूप प्रदत्त; मया—मेरे द्वारा; सर्व-आत्मना—सब प्रकार से; अनुरूपाम्—उपयुक्त; ते—तुम्हारे लिए; गृह-मेधिषु—गृहस्थी में; कर्मसु—कर्म, कर्तव्य।

अत: हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, आप इसे स्वीकार करें, क्योंकि मैं इसे श्रद्धापूर्वक अर्पित कर रहा हूँ। यह सभी प्रकार से आपकी पत्नी होने और आपकी गृहस्थी के कार्यों को चलाने में सर्वथा योग्य है।

तात्पर्य : *गृहमेधिषु कर्मसु* शब्दों का अर्थ है ''गृहस्थोचित कार्यों में।'' यहाँ एक अन्य शब्द भी प्रयुक्त हुआ है—*सर्वात्मनानुरूपाम्*। इसका सारांश यह है कि पत्नी को आयु, चरित्र तथा गुणों में न केवल पति के समान होना चाहिए किन्तु गृहस्थी के कार्यों में भी सहायक होना चाहिए। मनुष्य का गृहस्थोचित कार्य केवल इन्द्रियतृप्ति ही नहीं वरन् पत्नी, सन्तानों के साथ रहते हुए आध्यात्मिक जीवन में उन्नति करना है। जो ऐसा नहीं करता वह गृहस्थ नहीं वरन् गृहमेधी है। संस्कृत साहित्य में दो शब्द प्रयुक्त मिलते हैं—एक है गृहस्थ और दूसरा गृहमेधी है। गृहस्थ एक आश्रम भी है, किन्तु यदि कोई गृहस्थ होकर केवल इन्द्रियों की तुष्टि करता है, तो वह गृहमेधी है। गृहमेधी के लिए पत्नी बनाने का अर्थ इन्द्रियों की तुष्टि करना है, किन्तु गृहस्थ के लिए योग्य पत्नी आध्यात्मिक कार्यों में उन्नति के लिए सब प्रकार से सहायक के रूप में होती है। पत्नी का कर्तव्य है कि वह गृहस्थी के सारे कार्यों को सँभाले, न कि पति से स्पर्धा करे। पत्नी सहायता करने के निमित्त होती है, किन्तु वह अपने पति की तब तक सहायता नहीं कर सकती जब तक वह आयु, शील तथा गुण में उसके समान न हो।

उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शस्यते ।
अपि निर्मुक्तसङ्गस्य कामरक्तस्य किं पुनः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

उद्यतस्य—स्वयं प्राप्त; हि—निस्सन्देह; कामस्य—भौतिक इच्छा का; प्रतिवादः—निरादर; न—नहीं; शस्यते—प्रशंसनीय; अपि—यद्यपि; निर्मुक्त—स्वतन्त्र; सङ्गस्य—आसक्ति का; काम—इन्द्रिय-सुख के प्रति; रक्तस्य—आसक्त का; किम् पुनः—क्या कहना है।

स्वतः प्राप्त होने वाली भेंट का निरादर नितान्त विरक्त पुरुष के लिए भी प्रशंसनीय नहीं है, फिर विषयासक्त के लिए तो कहना ही क्या है।

तात्पर्य : भौतिक जीवन में प्रत्येक व्यक्ति इन्द्रियों की तृप्ति चाहता है, अतः यदि किसी को बिना प्रयास के ही इन्द्रिय-तृप्ति हो रही हो तो उसे अस्वीकार नहीं करना चाहिए। कर्दम मुनि इन्द्रिय-तृप्ति के लिए नहीं बने थे तो भी वे विवाह करना चाहते थे और उन्होंने उपयुक्त पत्नी के लिए भगवान् से प्रार्थना की थी। यह स्वायंभुव मनु को ज्ञात था। उन्होंने कर्दम मुनि को परोक्ष रूप में यह आश्वस्त किया, ''आपको मेरी पुत्री जैसी पत्नी चाहिए और वह आपके समक्ष है। आपको अपनी प्रार्थना की पूर्ति के को अस्वीकार नहीं करना चाहिए; मेरी पुत्री को स्वीकार करना चाहिए।''

य उद्यतमनादृत्य कीनाशमभियाचते ।
क्षीयते तद्यशः स्फीतं मानश्चावज्ञया हतः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; उद्यतम्—भेंट; अनादृत्य—अनादर करके; कीनाशम्—कंजूस से; अभियाचते—याचना करता है; क्षीयते—नष्ट होता है; तत्—उसका; यशः—कीर्ति; स्फीतम्—विस्तीर्ण; मानः—सम्मान; च—तथा; अवज्ञया—अवमानना से; हतः—नष्ट।

जो स्वतः प्राप्त भेंट का पहले अनादर करता है और बाद में कंजूस से वर माँगता है, वह अपने विस्तीर्ण यश को खो देता है और अन्यों द्वारा अवमानना से उसका मान भंग होता है।

तात्पर्य : वैदिक ब्याह की सामान्य विधि में पिता अपनी कन्या उपयुक्त वर को सुपुर्द करता है। यही अत्यन्त सम्माननीय विवाह है। वर कन्या के पिता के यहाँ जाकर विवाह की याचना करने नहीं जाना चाहिए। इससे उसके सम्मान को धक्का लगता है। मुनि उपयुक्त कन्या से विवाह करना चाहते थे और स्वायंभुव मनु कर्दम मुनि को आश्वस्त कर देना चाहते थे, ''मैं आपको ऐसी ही पत्नी दे रहा हूँ। उसे अस्वीकार न करें, अन्यथा आपको किसी अन्य से

याचना करनी पड़ेगी, क्योंकि आपको उसकी आवश्यकता है और हो सकता है कि वह आपके साथ भद्र व्यवहार न करे। तब आपका मान भंग हो सकता है।''

इस घटना की दूसरी विशेषता यह है कि स्वायंभुव मनु सम्राट होकर भी अपनी योग्य कन्या एक निर्धन ब्राह्मण को भेंट करने गये थे। कर्दम मुनि के कोई गृहस्थी न थी, वे जंगल में कुटी में रह रहे थे, किन्तु सुसंस्कृत थे। अत: किसी व्यक्ति को अपनी कन्या प्रदान करते समय सम्पत्ति या अन्य सांसारिक बातों पर ध्यान न देकर संस्कृति तथा गुण को वरीयता प्रदान की जाती है।

अहं त्वाशृणवं विद्वन्विवाहार्थं समुद्यतम् ।
अतस्त्वमुपकुर्वाण: प्रत्तां प्रतिगृहाण मे ॥ १४॥

शब्दार्थ

अहम्—मैंने; त्वा—तुमको; अशृणवम्—सुना; विद्वन्—हे बुद्धिमान पुरुष; विवाह-अर्थम्—विवाह हेतु; समुद्यतम्—तैयार; अत:—अतएव; त्वम्—तुम; उपकुर्वाण:—आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत न लेने के कारण; प्रत्ताम्—भेंट किया गया; प्रतिगृहाण—कृपया स्वीकार कीजिये; मे—मेरा।

स्वायंभुव मनु ने कहा—हे विद्वान, मैंने सुना है कि आप ब्याह के इच्छुक हैं। कृपया मेरे द्वारा दान में दी जाने वाली (अर्पित) कन्या को स्वीकार करें, क्योंकि आपने आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत नहीं ले रखा है।

तात्पर्य : कुँवारा रहना ब्रह्मचर्य का सिद्धान्त है। ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं—एक तो नैष्ठिक-ब्रह्मचारी, जो आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण किये रहता है और दूसरा उपकुर्वाण-ब्रह्मचारी जो एक निश्चित आयु तक ब्रह्मचारी रहता है। उदाहरणार्थ, कोई पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचारी रह कर अपने गुरु की आज्ञा से विवाहित जीवन में प्रवेश कर सकता है। ब्रह्मचर्य विद्यार्थी जीवन है और आध्यात्मिक आश्रम में प्रवेश का शुभारम्भ है। केवल गृहस्थ ही इन्द्रिय-तुष्टि या विषय-भोग में लिप्त रह सकता है, ब्रह्मचारी नहीं। स्वायंभुव मनु ने कर्दम मुनि से अपनी कन्या को स्वीकार करने के लिए इसीलिए प्रार्थना की, क्योंकि कर्दम ने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का व्रत नहीं ले रखा था। वे विवाह करने के इच्छुक थे और उन्हें राजपरिवार की योग्य कन्या मिल रही थी।

ऋषिरुवाच
बाढमुद्वोढुकामोऽहमप्रत्ता च तवात्मजा ।
आवयोरनुरूपोऽसावाद्यो वैवाहिको विधिः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

ऋषिः—परम साधु कर्दम ने; उवाच—कहा; बाढम्—एवमस्तु; उद्वोढु-कामः—विवाह का इच्छुक; अहम्—मैं; अप्रत्ता—अन्य किसी से वचनबद्ध न होना; च—तथा; तव—तुम्हारी; आत्म-जा—पुत्री; आवयोः—हम दोनों का; अनुरूपः—उपयुक्त; असौ—यह; आद्यः—प्रथम; वैवाहिकः—विवाह का; विधिः—अनुष्ठान।

महामुनि ने उत्तर दिया—निस्सन्देह मैं विवाह का इच्छुक हूँ और आपकी कन्या ने न किसी से विवाह किया है और न ही किसी दूसरे को वचन दिया है। अतः वैदिक पद्धति के अनुसार हम दोनों का विवाह हो सकता है।

तात्पर्य : स्वायंभुव मनु की कन्या को स्वीकार करने के पूर्व कर्दम मुनि के समक्ष विचारणीय बातें अनेक थीं। प्रथम तो यह कि देवहूति ने उन्हीं के साथ विवाह करने का निश्चय कर रखा था। वह अन्य किसी को अपना पति बनाना नहीं चाह रही थी। यह सबसे बड़ी विचारणीय बात थी, क्योंकि जब कोई स्त्री प्रथम दर्शन पर ही किसी पुरुष को अपना मन अर्पित कर देती है, तो उसे वापस लेना कठिन होता है। यही स्त्रियों का मनोविज्ञान है। साथ ही इसके पूर्व उसका विवाह भी नहीं हुआ था; वह कुँवारी थी। इन सब बातों से कर्दम मुनि ने उसे स्वीकार कर लिया। अतः उन्होंने कहा, ‘‘हाँ, विवाह के धार्मिक नियमों के अनुसार मुझे आपकी कन्या स्वीकार है।’’ विवाह के भी कई प्रकार हैं। उत्तम ब्याह वह है, जिसमें उपयुक्त वर को बुलाकर कन्या को वस्त्रों तथा आभूषणों से सुसज्जित करके तथा पिता की सामर्थ्य के अनुसार दहेज देकर कन्या अर्पित की जाती है। विवाह के अन्य प्रकार भी हैं यथा गंधर्व विवाह तथा प्रेम विवाह। इन्हें भी विवाह माना जाता है। यदि कोई कन्या बलपूर्वक हरी जाकर बाद में पत्नी रूप में स्वीकार कर ली जाती है, तो उसे भी विवाह मानते हैं। किन्तु कर्दम मुनि ने विवाह की उत्तम प्रणाली स्वीकार की, क्योंकि कन्या का पिता चाह रहा था और वह कन्या भी योग्य थी। उसने किसी अन्य के साथ प्रेम नहीं किया था। इन सब बातों से कर्दम मुनि को स्वायंभुव मनु की कन्या को ग्रहण करने के लिए राजी हुए।

कामः स भूयान्नरदेव तेऽस्याः
पुत्र्याः समाम्नायविधौ प्रतीतः ।
क एव ते तनयां नाद्रियेत
स्वयैव कान्त्या क्षिपतीमिव श्रियम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

कामः—इच्छा; सः—वह; भूयात्—पूरी हो; नर-देव—हे राजा; ते—तुम्हारी; अस्याः—इस; पुत्र्याः—पुत्री का; समाम्नाय-विधौ—वेदोक्त विधि से; प्रतीतः—मान्य; कः—कौन; एव—निस्सन्देह; ते—तुम्हारी; तनयाम्—पुत्री को; न आद्रियेत—आदर (पूजा) नहीं करेगा; स्वया—अपने से; एव—अकेले; कान्त्या—देह की कान्ति (आभा); क्षिपतीम्—तिरस्कृत करती; इव—मानो; श्रियम्—आभूषण।

आप अपनी पुत्री की, वेदों द्वारा स्वीकृत विवाह-इच्छा की पूर्ति करें। उसको कौन नहीं ग्रहण करना चाहेगा? वह इतनी सुन्दर है कि उसकी शारीरिक कान्ति ही उसके आभूषणों की सुन्दरता को मात कर रही है।

तात्पर्य : कर्दम मुनि देवहूति के साथ शास्त्रोक्त विधि से विवाह करना चाहते थे। वेदोक्त विधि के अनुसार सर्वोत्तम विधि यह है कि दुलहिन के घर दूल्हे को आमन्त्रित करके कन्या-दान किया जाय और साथ में आभूषण, स्वर्ण, साज-सामान तथा अन्य गृहस्थी की वस्तुएँ दहेज रूप में दी जायें। आज भी उच्च वर्ग के हिन्दुओं में ब्याह का यह रूप प्रचलित है और शास्त्रों में इसे कन्या के पिता के लिए अत्यन्त धार्मिक कृत्य कहा गया है। उपयुक्त दामाद को अपनी पुत्री का दान करना (कन्यादान) गृहस्थ का पुण्य कार्य माना जाता है। *मनुस्मृति* में आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख है, किन्तु इनमें से अब केवल एक ही विवाह-विधि, ब्रह्म या राजसिक विवाह प्रचलित है। इस कलियुग में अन्य प्रकार के विवाह—यथा प्रेम द्वारा, जयमाला द्वारा, अपहरण द्वारा विवाह वर्जित हैं। पहले क्षत्रिय अपनी इच्छानुसार दूसरे राजपरिवार की राजकुमारी का अपहरण करते थे, फिर उस क्षत्रिय तथा कन्या के परिवार वालों के बीच युद्ध होता था और यदि अपहरणकर्ता विजयी होता था, तो उसे कन्या दे दी जाती थी। यहाँ तक कि श्रीकृष्ण ने इसी विधि से रुक्मिणी को ब्याहा था और उनके और उनके कुछ पुत्रों तथा पौत्रों ने भी ऐसा ही किया था। श्रीकृष्ण के पौत्र ने दुर्योधन की कन्या का अपहरण किया जिससे कौरवों तथा यादवों में युद्ध हुआ। बाद में कौरव वंश के गुरुजनों ने समझौता करा

दिया। प्राचीनकाल में ऐसे विवाह प्रचलित थे, किन्तु आज के समय में क्षत्रिय जीवन के कठोर नियमों मे विघटन हो जाने से ऐसा होना दुष्कर है। चूँकि भारत विदेशों पर आश्रित रहने लगा, फलत: उसकी सामाजिक व्यवस्था छिन्न हो गई और शास्त्रों के अनुसार अब सभी लोग शूद्र हैं। तथाकथित ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों ने अपने पारम्परिक कृत्यों का परित्याग कर दिया है, फलत: वे शूद्र बन चुके हैं। शास्त्रों का कथन है—*कलौ शूद्र संभव:*—इस कलिकाल में सभी शूद्र के समान हैं। इस युग में सनातन सामाजिक रीति-रिवाजों का पालन नहीं किया जा रहा यद्यपि पिछले समय में उनका कड़ाई से पालन होता था।

यां हर्म्यपृष्ठे क्वणदङ्घ्रिशोभां
विक्रीडतीं कन्दुकविह्वलाक्षीम् ।
विश्वावसुर्न्यपतत्स्वाद्विमाना-
द्विलोक्य सम्मोहविमूढचेता: ॥ १७॥

शब्दार्थ

याम्—जिसको; हर्म्य-पृष्ठे—राज प्रासाद की छत पर; क्वणत्-अङ्घ्रि-शोभाम्—उसके चरणों के नूपरों की ध्वनि से जिसकी सुन्दरता बढ़ी हुई हैं; विक्रीडतीम्—खेलती हुई; कन्दुक-विह्वल-अक्षीम्—मोहित नेत्रों से अपनी गेंद का पीछा करती; विश्वावसु:—विश्वावसु; न्यपतत्—गिर पड़ा; स्वात्—स्वत:; विमानात्—विमान से; विलोक्य—देखकर; सम्मोह-विमूढ-चेता:—जिसका मन सम्मोहित था।

मैंने सुना है कि आपकी कन्या को महल की छत पर गेंद खेलते हुए देखकर महान् गन्धर्व विश्वावसु मोहवश अपने विमान से गिर पड़ा, क्योंकि वह अपने नूपुरों की ध्वनि तथा चञ्चल नेत्रों के कारण अत्यन्त सुन्दरी लग रही थी।

तात्पर्य : ऐसा लगता है कि आजकल की तरह उस समय भी गगनचुम्बी भवन होते थे। यहाँ पर *हर्म्य-पृष्ठे* शब्द आया है। हर्म्य का अर्थ है, ‘‘अत्यन्त विशाल महल।’’ *स्वाद् विमानात्* का अर्थ है, ‘‘अपने विमान से।’’ इससे लगता है कि उन दिनों में भी व्यक्तिगत विमान या हेलीकाप्टर होते थे। आकाश में उड़ते हुए गंधर्व विश्वावसु ने देवहूति को अपने महल की छत पर गेंद खेलते देखा। उस काल में गेंद खेलना भी प्रचलित था, किन्तु राजपरिवारों की लड़कियाँ सार्वजनिक स्थान में नहीं खेलती थीं। गेंद खेलना तथा अन्य आमोद-प्रमोद सामान्य स्त्रियों तथा लड़कियों के लिए नहीं थे, ऐसे खेल केवल देवहूति जैसी राजकुमारियाँ ही खेल

सकती थीं। यहाँ यह बताया गया है कि उड़ते विमान से उसे देखा गया। इससे सूचित होता है कि वह महल बहुत ऊँचा था, अन्यथा वह विमान से कैसे देखी जा सकती थी? यह दृश्य इतना स्पष्ट था कि गंधर्व विश्वावसु उसकी सुन्दरता को देखकर तथा उसके नूपुरों की ध्वनि सुनकर सुन्दरता एवं ध्वनि से इतना आकर्षित हुआ कि मोहग्रस्त होकर गिर पड़ा। कर्दम मुनि ने इस घटना को जिस रूप में सुन रखा था, उसका वर्णन कर दिया।

तां प्रार्थयन्तीं ललनाललाम-
मसेवितश्रीचरणैरदृष्टाम् ।
वत्सां मनोरुच्चपदः स्वसारं
को नानुमन्येत बुधोऽभियाताम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उसको; प्रार्थयन्तीम्—खोजती हुई; ललना-ललामम्—स्त्रियों के आभूषण; असेवित-श्री-चरणैः—जिन्होंने लक्ष्मी के चरणों की पूजा नहीं की, उनके द्वारा; अदृष्टाम्—न देखी गई; वत्साम्—लाड़ली पुत्री को; मनोः—स्वायंभुव मनु की; उच्चपदः—उत्तानपाद की; स्वसारम्—बहन; कः—क्या; न अनुमन्येत—आदर नहीं करेगा; बुधः—बुद्धिमान; अभियाताम्—स्वेच्छा से आई हुई।

ऐसा कौन है, जो स्त्रियों में शिरोमणि, स्वायंभुव मनु की पुत्री और उत्तानपाद की बहन का समादर नहीं करेगा? जिन लोगों ने कभी श्रीलक्ष्मी जी के चरणों की पूजा नहीं की है, उन्हें तो इसका दर्शन तक नहीं हो सकता, फिर भी यह स्वेच्छा से मेरी अर्द्धांगिनी बनने आई है।

तात्पर्य : कर्दम मुनि ने देवहूति की सुन्दरता तथा पात्रता की कई प्रकार से प्रशंसा की है। वस्तुतः देवहूति आभूषणों से भूषित कन्याओं की शिरोमणि थीं। यद्यपि आभूषण पहन कर कन्या सुन्दर बन जाती है, किन्तु देवहूति आभूषणों से भी अधिक सुन्दर थी, वह अलंकृत सुन्दरी कन्याओं की शिरोमणि थी। देवता या गंधर्व उसकी सुन्दरता से आकृष्ट होते थे। कर्दम मुनि यद्यपि परम साधु थे, वे स्वर्ग के वासी न थे। किन्तु पिछले श्लोक में बताया गया है कि विश्वावसु स्वर्ग का वासी होकर भी देवहूति की सुन्दरता पर मोहित था। अपनी सुन्दरता के साथ ही साथ वह सम्राट स्वायंभुव की पुत्री और राजा उत्तानपाद की बहन थी। भला ऐसी सुन्दरी का पाणि-ग्रहण करने से कौन इनकार करेगा?

अतो भजिष्ये समयेन साध्वीं
यावत्तेजो बिभृयादात्मनो मे ।
अतो धर्मान्पारमहंस्यमुख्यान्
शुक्लप्रोक्तान्बहु मन्येऽविहिंस्रान् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अतः—अतएव; भजिष्ये—मैं स्वीकार करूँगा; समयेन—शर्त के साथ; साध्वीम्—कुमारी को; यावत्—जब तक; तेजः—वीर्य; बिभृयात्—धारण करे; आत्मनः—मेरे शरीर से; मे—मेरे; अतः—तत्पश्चात्; धर्मान्—कर्तव्य; पारमहंस्य-मुख्यान्—श्रेष्ठ परम हंसों का; शुक्ल-प्रोक्तान्—भगवान् विष्णु द्वारा बताये; बहु—अधिक; मन्ये—मैं विचार करूँगा; अविहिंस्रान्—द्वेष से रहित होकर।

अतः इस कुँवारी को मैं अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार करूँगा, किन्तु इस शर्त के साथ कि जब यह मेरा वीर्य धारण कर चुकेगी तो मैं परम सिद्ध पुरुषों के समान भक्ति-योग को स्वीकार करूँगा। इस विधि को भगवान् विष्णु ने बताया है और यह द्वेष रहित है।

तात्पर्य : कर्दम मुनि ने सम्राट स्वायंभुव से अत्यन्त सुन्दरी पत्नी के लिए अपनी इच्छा व्यक्त की और सम्राट की पुत्री से विवाह करना स्वीकार कर लिया। कर्दम मुनि आश्रम में रहकर पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे थे। यद्यपि उसके मन में विवाह करने की इच्छा थी, किन्तु वे आजीवन गृहस्थ जीवन भी नहीं बिताना चाह रहे थे, क्योंकि वे मनुष्य जीवन के वैदिक सिद्धान्तों से पूर्णतया भिज्ञ थे। वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार जीवन के प्रारम्भिक भाग को चरित्र (शील) तथा गुणों के विकास के उद्देश्य से ब्रह्मचर्य में बिताना चाहिए। जीवन के बाद वाले भाग में वह विवाह करके सन्तान उत्पन्न कर सकता है, किन्तु मनुष्य को चाहिए कि कुत्तों-बिल्लियों की भाँन्ति सन्तान उत्पन्न न करे।

कर्दम मुनि ऐसी संतान उत्पन्न करना चाहते थे, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की एक किरण हो। मनुष्य को चाहिए कि ऐसी सन्तान उत्पन्न करे जो भगवान् विष्णु की सेवा कर सके, अन्यथा कोई सन्तान न जने। उत्तम पिता के दोनों प्रकार की सन्तानें उत्पन्न होती हैं—एक तो वे जो कृष्णभक्ति में प्रशिक्षित हों जिससे उसी जीवन में माया के बंधन से मुक्त हो सकें और दूसरी जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की किरण होती हैं, जो विश्व भर को जीवन के परम लक्ष्य

की शिक्षा देती हैं। आगे के अध्यायों में बताया जाएगा कि कर्दम मुनि के ऐसा ही पुत्र, कपिल, उत्पन्न हुआ जो भगवान् का अवतार था और जिसने सांख्य-दर्शन का प्रतिपादन किया। बड़े-बड़े गृहस्थ भगवान् से प्रार्थना करते रहते हैं कि वे अपना प्रतिनिधि भेजें जिससे मानव समाज में एक कल्याणकारी अभियान चलने लगे। सन्तान उत्पन्न करने का एक कारण यह है। दूसरा कारण यह है कि अत्यन्त प्रबुद्ध माता-पिता अपनी सन्तान को कृष्णभक्ति की शिक्षा देते हैं जिससे इस दुखमय संसार में उसका फिर से आना न हो। माता-पिता का यह उत्तरदायित्व है कि बच्चे को फिर से किसी माँ के गर्भ में न लौटना पड़े। यदि इसी जीवन में बच्चे को मुक्ति की शिक्षा नहीं दी जाती तो न तो ब्याह करने की और न सन्तान उत्पन्न करने की आवश्यकता है। यदि मानव समाज में सामाजिक व्यवस्था को भंग करने के लिए कुत्ते-बिल्लियों की तरह सन्तानें उत्पन्न की जावें तो यह संसार नरक बन जायेगा जैसाकि इस कलियुग में हो रहा है। इस युग में न तो माता-पिता, न ही सन्तानें प्रशिक्षित हैं। दोनों ही पशु सदृश हैं और वे केवल खाते, सोते, संभोग करते, रक्षा करते और अपनी इन्द्रियों को ही तुष्टि देते हैं। सामाजिक जीवन की इस अव्यवस्था से मानव समाज में शान्ति नहीं लाई जा सकती। कर्दम मुनि ने पहले ही यह बता दिया कि वे देवहूति के साथ आजीवन नहीं रह पावेंगे। वे उसके साथ तभी तक रहेंगे जब तक कोई सन्तान उत्पन्न नहीं हो जाती। दूसरे शब्दों में, विषयी जीवन का सदुपयोग उत्तम सन्तान उत्पन्न करने में होना चाहिए, अन्य किसी कार्य के लिए नहीं। मनुष्य जीवन भगवान् की पूर्ण भक्ति करने के लिए है। यही भगवान् चैतन्य का दर्शन है।

उत्तम सन्तान उत्पन्न करने के बाद मनुष्य को संन्यास ग्रहण करना चाहिए और सिद्धि की परमहंस अवस्था प्राप्त करनी चाहिए। *परमहंस* जीवन की सर्वोच्च सिद्धि की अवस्था है। संन्यास जीवन में चार अवस्थाएँ होती हैं जिनमें *परमहंस* सर्वोच्च अवस्था है। *श्रीमद्भागवत* को परमहंस संहिता कहते हैं, जो उच्च श्रेणी के मनुष्यों के हेतु ग्रंथ है। परमहंस द्वेषमुक्त होता है। अन्य अवस्थाओं में, यहाँ तक गृहस्थ जीवन में भी स्वार्थ और द्वेष पाया जाता है, किन्तु परमहंस अवस्था में मनुष्य कृष्णभावनामृत में पूर्णतया अनुरक्त रहता है, अत: द्वेष के लिए कोई

स्थान नहीं रहता। कर्दम मुनि की ही तरह लगभग १०० वर्ष पूर्व ठाकुर भक्तिविनोद भी ऐसा पुत्र उत्पन्न करना चाहते थे, जो भगवान् चैतन्य के दर्शन तथा उपदेशों का प्रचार कर सके। भगवत्कृपा से उनके एक पुत्र हुआ जिनका नाम भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज था, जो सम्प्रति पूरे विश्व में अपने प्रामाणिक शिष्यों की सहायता से भगवान् चैतन्य के दर्शन का उपदेश दे रहे हैं।

यतोऽभवद्विश्वमिदं विचित्रं
संस्थास्यते यत्र च वावतिष्ठते ।
प्रजापतीनां पतिरेष मह्यं
परं प्रमाणं भगवाननन्तः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यतः—जिससे; अभवत्—प्रकट हुआ; विश्वम्—सृष्टि; इदम्—यह; विचित्रम्—आश्चर्यजनक; संस्थास्यते—विलीन हो जावेगा; यत्र—जिसमें; च—यथा; वा—या; अवतिष्ठते—इस समय उपस्थित है; प्रजा-पतीनाम्—प्रजापतियों का; पतिः—भगवान्; एषः—यह; मह्यम्—मुझको; परम्—सर्वोच्च; प्रमाणम्—प्रमाण; भगवान्—परमेश्वर; अनन्तः—असीम।

मेरे लिए तो सर्वोच्च अधिकारी अनन्त श्रीभगवान् हैं जिनसे यह विचित्र सृष्टि उद्भूत होती है और जिन पर इसका भरण तथा विलय आश्रित है। वे उन समस्त प्रजापतियों के मूल हैं, जो इस संसार में जीवात्माओं को उत्पन्न करने वाले महापुरुष हैं।

तात्पर्य : कर्दम मुनि के पिता प्रजापति ने उन्हें सन्तान उत्पन्न करने का आदेश दिया था। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजापतियों का कार्य अनेक सन्तानों को जन्म देना था, जो इस विराट ब्रह्माण्ड लोकों में बस सकें। किन्तु कर्दम मुनि ने कहा कि यद्यपि मेरे पिता प्रजापति हैं, जिन्होंने मुझे सन्तानें उत्पन्न करने का आदेश दिया है, किन्तु वास्तव में उनके मूल पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु ही हैं, क्योंकि भगवान् विष्णु ही सबों के मूल हैं। वे ही इस ब्रह्माण्ड के असली सृजनकर्ता हैं, वे ही इसके पालक हैं और जब प्रत्येक वस्तु विनष्ट हो जाती है, तो यह उन्हीं पर आश्रित रहता है। *श्रीमद्भागवत* का यही निष्कर्ष है। सृष्टि, पालन तथा संहार के तीन देवता ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर (शिव) हैं, किन्तु ब्रह्मा तथा महेश्वर तो विष्णु के गुणात्मक अंश हैं। विष्णु मध्यवर्ती स्वरूप हैं, फलतः वे पालन का भार ग्रहण करते हैं। उनके

अतिरिक्त अन्य कोई समस्त सृष्टि का पालन नहीं कर सकता। जीव असंख्य हैं और उनकी आवश्यकताएँ भी अनन्त हैं। विष्णु के अतिरिक्त इन असंख्य जीवों की अनन्त आवश्यकताओं को कोई अन्य पूरा नहीं कर सकता। ब्रह्मा को सृष्टि करने तथा शिव को संहार करने का आदेश दिया गया है। बीच का कार्य, जो पालन का है, वह विष्णु के जिम्मे है। कर्दम मुनि अपने प्रगतिशील आत्म जीवन के कारण भलीभाँति जान रहे थे कि श्रीभगवान् विष्णु ही एकमात्र पूज्य विग्रह हैं। जो कुछ विष्णु चाहते हैं वही करणीय है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। वे अनेक सन्तानें उत्पन्न करने के लिए उद्यत न थे। वे एक ही पुत्र उत्पन्न करना चाहते थे, जो विष्णु के सन्देश का संवाहक बने। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, कि जब-जब धर्म की हानि होती है तब तब धर्म की रक्षा के लिए तथा असुरों के विनाश के लिए भगवान् इस पृथ्वी पर अवतरित होते हैं।

ब्याह करके सन्तान उत्पन्न करने से मनुष्य जिस परिवार में उत्पन्न होता है उसके ऋण-भार से वह मुक्त होता है। ऐसे अनेक ऋण हैं, जो सन्तान के जन्म के पश्चात् उस पर लाद दिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त परिवार, देवता, पितर, ऋषि आदि के प्रति भी ऋण होते हैं। किन्तु यदि कोई श्रीभगवान् की ही सेवा में अपने को अनुरक्त रखता है, तो अन्य ऋणों को चुकाये बिना ही वह समस्त ऋणों से मुक्त हो जाता है। कर्दम मुनि ने भगवान् की सेवा में दास के रूप में परमहंस बनकर जीवन अर्पित करना और उसी उद्देश्य के लिए पुत्र उत्पन्न करना श्रेयस्कर समझा। वे विश्व के रिक्त-स्थानों को पूरा भरने के लिए अनेक सन्तानें उत्पन्न करना नहीं चाह रहे थे।

मैत्रेय उवाच

स उग्रधन्वन्नियदेवाबभाषे
आसीच्च तूष्णीमरविन्दनाभम् ।
धियोपगृह्णन्स्मितशोभितेन
मुखेन चेतो लुलुभे देवहूत्याः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—ऋषि मैत्रेय ने; उवाच—कहा; सः—वह (कर्दम); उग्र-धन्वन्—हे योद्धा विदुर; इयत्—इतना; एव—ही; आबभाषे—बोला; आसीत्—हो गया; च—यथा; तूष्णीम्—मौन; अरविन्द-नाभम्—भगवान् विष्णु (जिनकी नाभि कमल से भूषित है); धिया—विचार से; उपगृह्णन्—पकड़ते हुए; स्मित-शोभितेन—अपनी मुस्कान से सुशोभित; मुखेन—अपने मुखमण्डल से; चेतः—मन; लुलुभे—मोहित हो गया; देवहूत्याः—देवहूति के।

श्री मैत्रेय ने कहा—हे योद्धा विदुर, कर्दम मुनि ने केवल इतना ही कहा और कमलनाभ पूज्य भगवान् विष्णु का चिन्तन करते हुए वह मौन हो गये। वे उसी मौन में हँस पड़े जिससे उनके मुखमण्डल पर देवहूति आकृष्ट हो गई और वह मुनि का ध्यान करने लगी।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि कर्दम मुनि मौन होते ही कृष्णभावनामृत में लीन हो गये और भगवान् विष्णु का चिन्तन करने लगे। कृष्णभावनामृत (भक्ति) की यही विधि है। शुद्ध भक्त श्रीकृष्ण के चिन्तन में इतने लीन हो जाते हैं कि उनके कोई दूसरा कार्य ही नहीं रह जाता, भले ही ऊपर से वे कुछ करते दिखें, किन्तु वे मन में निरन्तर श्रीकृष्ण का चिन्तन करते हैं। ऐसे कृष्ण-भक्त की हँसी इतनी आकर्षक होती है कि वह अपनी हँसी से न जाने कितने प्रशंसकों, शिष्यों तथा अनुयायियों के हृदयों को जीत लेता है।

सोऽनु ज्ञात्वा व्यवसितं महिष्या दुहितुः स्फुटम् ।
तस्मै गुणगणाढ्याय ददौ तुल्यां प्रहर्षितः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (सम्राट मनु); अनु—तदनन्तर; ज्ञात्वा—जानकर; व्यवसितम्—दृढ़ संकल्प; महिष्याः—रानी का; दुहितुः—अपनी पुत्री का; स्फुटम्—स्पष्ट रूप से; तस्मै—उसको; गुण-गण-आढ्याय—अनेक गुणों से सम्पन्न; ददौ—अर्पित कर दिया; तुल्याम्—समान, सम (गुणों में); प्रहर्षितः—अत्यधिक प्रसन्न।

रानी (शतरूपा) तथा देवहूति दोनों के दृढ़ संकल्प को स्पष्ट रुप से जानलेने पर सम्राट (मनु) ने अपनी पुत्री को समान गुणों से युक्त मुनि (कर्दम) को अर्पित कर दिया।

शतरूपा महाराज्ञी पारिबर्हान्महाधनान् ।
दम्पत्योः पर्यदात्प्रीत्या भूषावासः परिच्छदान् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

शतरूपा—शतरूपा; महा-राज्ञी—महारानी; पारिबर्हान्—दहेज; महा-धनान्—बहुमूल्य भेंट; दम्-पत्योः—वर-वधू को; पर्यदात्—दिया; प्रीत्या—प्रेमपूर्वक; भूषा—आभूषण; वासः—वस्त्र; परिच्छदान्—गृहस्थी की वस्तुएँ।

महारानी शतरूपा ने वर-वधू (बेटी-दामाद) को प्रेमपूर्वक अवसर के अनुकूल अनेक बहुमूल्य भेंटें, यथा आभूषण, वस्त्र तथा गृहस्थी की वस्तुएँ प्रदान कीं।

तात्पर्य : आज भी भारत में कन्यादान के साथ दहेज देने की प्रथा प्रचलित है। दी जाने वाली भेंटें कन्या के पिता की हैसियत (स्थिति) के अनुसार होती हैं। *पारिबर्हान् महाधनान्* का अर्थ है विवाह के समय दूल्हे को दिया जाने वाला दहेज। यहाँ पर *महाधनान्* का अर्थ होगा एक महारानी के अनुकूल बहुमूल्य वस्तुओं का दहेज। *भूषावास: परिच्छदान्* का अर्थ गृहस्थी की वस्तुएँ हैं। एक सम्राट की पुत्री के विवाहोत्सव के अनुकूल सभी प्रकार की वस्तुएँ कर्दम मुनि को, जो अभी तक ब्रह्मचारी थे, दी गईं। दुलहिन के वेश में देवहूति बहुमूल्य आभूषणों एवं वस्त्रों से सुसज्जित थी।

इस प्रकार कर्दम मुनि का विवाह एक योग्य पत्नी के साथ सम्पन्न हुआ और साथ में गृहस्थी की सारी सामग्री प्राप्त हुई। विवाह की वैदिक रीति में आज भी कन्या के पिता द्वारा वर को ऐसा दहेज दिया जाता है, यहाँ तक कि भारत के अनेक निर्धन परिवार भी दहेज में सैकड़ों-हजारों रुपये व्यय करते हैं। दहेज-प्रथा अवैध नहीं है, जैसा कुछ लोग सिद्ध करने की कोशिश करते हैं। दहेज तो पिता द्वारा सदिच्छा के प्रतीक रूप में कन्या को दिया जाने वाला दान है, जो अनिवार्य है। जहाँ पिता अत्यन्त निर्धन होने के कारण दहेज नहीं दे पाता वहाँ पर फल तथा फूल ही दिये जाने का विधान है। जैसाकि *भगवद्गीता* में उल्लेख है, भगवान् फल तथा फूल से भी प्रसन्न होते हैं। जहाँ आर्थिक विपन्नता होती है और अन्य किसी प्रकार से दहेज की राशि संग्रह नहीं की जा सकती वहाँ दूल्हे को प्रसन्न करने के लिए फल तथा फूल दिये जा सकते हैं।

प्रत्तां दुहितरं सम्राट्सदृक्षाय गतव्यथः ।
उपगुह्य च बाहुभ्यामौत्कण्ठ्योन्मथिताशयः ॥ २४॥

शब्दार्थ

प्रत्ताम्—दान दी गई; **दुहितरम्**—कन्या को; **सम्राट्**—राजा (मनु); **सदृक्षाय**—उपयुक्त व्यक्ति को; **गत-व्यथः**—भार से मुक्त; **उपगुह्य**—चूमकर; **च**—तथा; **बाहुभ्याम्**—अपने दोनों हाथों से; **औत्कण्ठ्य-उन्मथित-आशयः**—अत्यन्त उत्सुक एवं क्षुब्ध मन।

इस प्रकार अपनी पुत्री को योग्य वर को प्रदान करके अपनी जिम्मेदारी से मुक्त होकर स्वायंभुव मनु का मन वियोग के कारण विचलित हो उठा और उन्होंने अपनी प्यारी पुत्री को दोनों बाहों में भर लिया।

तात्पर्य : पिता जब तक अपनी वयस्क पुत्री को किसी उपयुक्त वर को अर्पित नहीं कर देता तब तक वह चिन्ताग्रस्त रहता है। माता तथा पिता जब तक अपनी सन्तानों का विवाह नहीं कर लेते तब तक उनके ऊपर जिम्मेदारी बनी रहती है और जब पिता अपना कर्तव्य निबाह लेता है, तो वह अपनी जिम्मेदारी से मुक्त हो जाता है।

अशक्नुवंस्तद्विरहं मुञ्चन्बाष्पकलां मुहुः ।
आसिञ्चदम्ब वत्सेति नेत्रोदैर्दुहितुः शिखाः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

अशक्नुवन्—न सह सकने के कारण; तत्-विरहम्—उसका वियोग; मुञ्चन्—गिराते हुए; बाष्प-कलाम्—आँसू; मुहुः—पुनः पुनः; आसिञ्चत्—भीग गया; अम्ब—मेरी माता; वत्स—मेरी प्रिय पुत्री; इति—इस प्रकार; नेत्र-उदैः—नेत्रों के जल से; दुहितुः—अपनी पुत्री का; शिखाः—बालों का गुच्छा।

सम्राट अपनी पुत्री के वियोग को न सह सके, अतः उनके नेत्रों से बारम्बार अश्रु झरने लगे और उनकी पुत्री का सिर भीग गया। वे विलख पड़े 'मेरी माता, मेरी प्यारी बेटी।'

तात्पर्य : *अम्ब* शब्द सार्थक है। कभी-कभी पिता अपनी पुत्री को प्यार में 'माता' अथवा कभी 'मेरी बिटिया' कहकर पुकारता है। विरह भाव इसलिए उत्पन्न होता है, क्योंकि जब तक कन्या का विवाह नहीं होता वह अपने पिता के घर पर रहती है, किन्तु ज्योंही उसकी शादी हो जाती है, वह परिवार की कन्या नहीं रह जाती। उसे अपने पति के घर जाना पड़ता है, क्योंकि विवाह के बाद वह अपने पति की सम्पत्ति बन जाती है। *मनु संहिता* के अनुसार स्त्री कदापि स्वतन्त्र नहीं रहती। जब तक विवाह नहीं होता वह अपने पिता की सम्पत्ति रहती है और जब तक उसके बाल-बच्चे बड़े नहीं हो जाते और स्वयं सयानी नहीं हो जाती, अपने पति की सम्पत्ति बनी रहती है। स्त्री सदा ही अपने पिता, पति अथवा पुत्रों पर आश्रित रहती है। ऐसा हमें देवहूति के जीवन में आगे देखने को मिलेगा। देवहूति के पिता ने अपना उत्तरदायित्व

उसके पति कर्दम मुनि को सौंप दिया और उसी तरह कर्दम मुनि अपने पुत्र कपिलदेव को सौंप कर गृहत्याग कर चले गये। इन घटनाओं का वर्णन अपने कथनों में एक-एक करके किया जाएगा।

आमन्त्र्य तं मुनिवरमनुज्ञातः सहानुगः ।
प्रतस्थे रथमारुह्य सभार्यः स्वपुरं नृपः ॥ २६ ॥
उभयोरृषिकुल्यायाः सरस्वत्याः सुरोधसोः ।
ऋषीणामुपशान्तानां पश्यन्नाश्रमसम्पदः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

आमन्त्र्य—जाने की अनुमति लेकर; तम्—उससे; मुनि-वरम्—मुनियों में श्रेष्ठ, कर्दम से; अनुज्ञातः—जाने की अनुमति पाकर; सह-अनुगः—अपने सेवकों सहित; प्रतस्थे—प्रस्थान किया; रथम् आरुह्य—रथ में चढ़कर; स-भार्यः—अपनी पत्नी के साथ; स्व-पुरम्—अपनी राजधानी को; नृपः—राजा; उभयोः—दोनों पर; ऋषि-कुल्यायाः—ऋषियों को स्वीकार्य; सरस्वत्याः—सरस्वती नदी का; सु-रोधसोः—सुहावने किनारे; ऋषीणाम्—ऋषियों का; उपशान्तानाम्—शान्त; पश्यन्—देखते हुए; आश्रम-सम्पदः—सुन्दर आश्रम की समृद्धि।

तब महर्षि से आज्ञा लेते हुए और उनकी अनुमति पाकर राजा अपनी पत्नी के साथ रथ में सवार हुआ और अपने सेवकों सहित अपनी राजधानी के लिए चल पड़ा। रास्ते भर वे साधु पुरुषों के लिए अनुकूल सरस्वती नदी के दोनों ओर सुहावने तटों पर उनके शान्त एवं सुन्दर आश्रमों की समृद्धि को देखते रहे।

तात्पर्य : आधुनिक युग में जिस प्रकार बड़ी-बड़ी इंजीनियरी और वास्तुकला के कौशल से नगरों का निर्माण किया जाता है उसी प्रकार प्राचीनकाल में ऋषिकुल होते थे जहाँ साधु सदृश व्यक्ति रहा करते थे। आज भी भारत में दिव्य ज्ञान के अनेक भव्य स्थान हैं, अनेक ऋषि तथा साधु पुरुष आत्म-अनुशीलन के लिए गंगा तथा यमुना के तट पर सुन्दर कुटियों में रहते हैं। राजा अपने दल समेत इन ऋषिकुलों से होकर जाते समय कुटियों तथा आश्रमों की शोभा से बहुत प्रमुदित हुआ करते थे। यहाँ पर *पश्यन्न-आश्रम-सम्पदः* कहा गया है। ऋषियों के पास उच्च प्रासाद न थे, किन्तु उनके आश्रम इतने सुन्दर थे कि राजा उन्हें देखकर अत्यधिक प्रसन्न हुए।

तमायान्तमभिप्रेत्य ब्रह्मावर्तात्प्रजाः पतिम् ।

गीतसंस्तुतिवादित्रैः प्रत्युदीयुः प्रहर्षिताः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; आयान्तम्—आया हुआ; अभिप्रेत्य—समझ कर; ब्रह्मावर्तात्—ब्रह्मावर्त से; प्रजाः—उसकी प्रजा; पतिम्—अपने स्वामी को; गीत-संस्तुति-वादित्रैः—गीत, स्तुति तथा वाद्यसंगीत से; प्रत्युदीयुः—स्वागत के लिए आगे आये; प्रहर्षिताः—अत्यधिक प्रसन्न।

राजा का आगमन जानकर उसकी प्रजा अपार प्रसन्नता से ब्रह्मावर्त से बाहर निकल आई और वापस आते हुए अपने राजा का गीतों, स्तुतियों तथा वाद्य संगीत से सम्मान किया।

तात्पर्य : यह एक प्रथा है कि किसी राज्य की राजधानी के नागरिक यात्रा से लौटे अपने राजा की अगवानी करते हैं। कुरुक्षेत्र युद्ध के पश्चात् श्रीकृष्ण के द्वारका लौटने का ऐसा ही वर्णन मिलता है। उस अवसर पर सभी वर्ग के नागरिकों ने नगर के प्रवेशद्वार पर उनका स्वागत किया। प्राचीनकाल में राजधानियाँ प्राचीरों से घिरी होती थीं और प्रवेश के लिए विभिन्न द्वार होते थे। आज भी दिल्ली में अनेक प्राचीन द्वार हैं और कुछ अन्य प्राचीन नगरों में ऐसे द्वार हैं जहाँ नागरिक एकत्र होकर राजा का स्वागत करते थे। यहाँ पर भी ब्रह्मावर्त की राजधानी बर्हिष्मती के नागरिक सुन्दर-सुन्दर वस्त्र धारण करके सम्राट स्वायंभुव मनु का स्वागत अनेक प्रकार की सजावट करके तथा वाद्य यंत्रों द्वारा करने के लिए आये।

बर्हिष्मती नाम पुरी सर्वसम्पत्समन्विता ।
न्यपतन्यत्र रोमाणि यज्ञस्याङ्गं विधुन्वतः ॥ २९ ॥
कुशाः काशास्त एवासन्शश्वद्धरितवर्चसः ।
ऋषयो यैः पराभाव्य यज्ञघ्नान्यज्ञमीजिरे ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

बर्हिष्मती—बर्हिष्मती; नाम—नामक; पुरी—नगरी; सर्व-सम्पत्—सभी प्रकार की सम्पदा; समन्विता—से पूर्ण; न्यपतन्—गिर पड़े; यत्र—जहाँ; रोमाणि—बाल (रोएँ); यज्ञस्य—भगवान् शूकर के; अङ्गम्—शरीर; विधुन्वतः—हिलाने पर; कुशाः—कुश (एक घास); काशाः—काँस (एक घास); ते—वे; एव—निश्चय ही; आसन्—हो गया; शश्वत्-हरित—सदाबहार का; वर्चसः—रंग का; ऋषयः—ऋषिगण; यैः—जिससे; पराभाव्य—हराकर; यज्ञ-घ्नान्—यज्ञ में बाधक; यज्ञम्—भगवान् विष्णु; ईजिरे—उन्होंने पूजा की।

सभी प्रकार की सम्पदा में धनी बर्हिष्मती नगरी का यह नाम इसलिए पड़ा, क्योंकि जब भगवान् ने अपने आपको वराह रूप में प्रकट किया, तो भगवान् विष्णु का बाल (रोम) उनके शरीर से नीचे गिर पड़ा। जब उन्होंने अपना शरीर हिलाया तो जो बाल नीचे

गिरा वह सदैव हरे भरे रहने वाले उन कुश तथा काँस में बदल गया जिनके द्वारा ऋषियों ने भगवान् विष्णु की तब पूजा की थी जब उन्होंने यज्ञों को सम्पन्न करने में बाधा डालने वाले असुरों को हराया था।

तात्पर्य : परमेश्वर से सीधे सम्बद्ध कोई भी स्थान *पीठ-स्थान* कहलाता है। स्वायंभुव मनु की राजधानी बर्हिष्मती इसलिए महान् न थी कि उस नगरी में प्रचुर धन तथा ऐश्वर्य था, वरन् इसलिए कि उसी स्थान पर भगवान् वराह के बाल गिरे थे। ये ही बाल बाद में हरी घास के रूप में उग आये और ऋषिगण इस घास से भगवान् की उस समय पूजा करते थे जब उन्होंने हिरण्याक्ष असुर का वध किया था। यज्ञ का अर्थ है, भगवान् विष्णु। *भगवद्गीता* में कर्म को यज्ञार्थ कहा गया है। यज्ञार्थ कर्म का अर्थ है "विष्णु को प्रसन्न करने के लिए किया गया कार्य।" यदि कोई कार्य इन्द्रिय-तृप्ति या अन्य उद्देश्य से किया जाता है, तो यह काम करने वाले पर बन्धन होगा। यदि कोई कर्म-बन्धन से मुक्त होना चाहता है, तो उसे विष्णु या यज्ञ को प्रसन्न करने के लिए ही प्रत्येक कार्य करना चाहिए। स्वायंभुव मनु की राजधानी बर्हिष्मती में ये विशेष उत्सव ऋषियों तथा साधुओं द्वारा सम्पन्न किये जा रहे थे।

कुशकाशमयं बर्हिरास्तीर्य भगवान्मनुः ।
अयजद्यज्ञपुरुषं लब्धा स्थानं यतो भुवम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

कुश—कुश की; काश—तथा काँस की; मयम्—निर्मित; बर्हिः—आसनी; आस्तीर्य—फैलाकर; भगवान्—अत्यन्त भाग्यशाली; मनुः—स्वायंभुव मनु ने; अयजत्—पूजा की; यज्ञ-पुरुषम्—भगवान् विष्णु; लब्धा—प्राप्त किया; स्थानम्—वास, धाम; यतः—जिससे; भुवम्—पृथ्वी।

मनु ने कुश तथा काँस की बनी आसनी बिछाई और श्रीभगवान् की अर्चना की जिनकी कृपा से उन्हें पृथ्वी मंडल का राज्य प्राप्त हुआ था।

तात्पर्य : मनु मनुष्यजाति के पिता हैं, अतः मनु शब्द से ही मनुष्य बना है। जिनके पास प्रचुर सम्पत्ति है और अच्छे पद पर हैं उन्हें मनु से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए जो अपने राज्य तथा वैभव को श्रीभगवान् की देन समझ कर सदैव भक्ति में तल्लीन रहते थे। इसी प्रकार से मनु की सन्तान अर्थात् मनुष्यों को विशेषकर उच्चपदों पर आसीन लोगों को समझना चाहिए

कि समस्त ऐश्वर्य श्रीभगवान् द्वारा प्रदत्त है। उन्हें इस ऐश्वर्य का सदुपयोग यज्ञ सम्पन्न करके भगवान् को प्रसन्न करने में करना चाहिए। धन तथा ऐश्वर्य के सदुपयोग की यही विधि है। भगवान् की कृपा के बिना किसी को धन, ऐश्वर्य, उत्तम जन्म, सुन्दर शरीर या अच्छी शिक्षा प्राप्त नहीं होती। अतः जिन्हें ये सुविधाएँ प्राप्त हैं उन्हें चाहिए कि वे भगवान् की पूजा करते हुए उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करें और जो उन्हें प्राप्त है उसे भगवान् को समर्पित करें। जब किसी परिवार, राष्ट्र या समाज द्वारा इस प्रकार की कृतज्ञता व्यक्त की जाती है, तो उनके वास स्थान वैकुण्ठ से समान हो जाते हैं और वे इस संसार में व्याप्त तीनों तापों से मुक्त रहते हैं। आधुनिक युग में भगवान् श्रीकृष्ण की प्रधानता ज्ञापित करने के लिए ही कृष्णभावनामृत का ध्येय सबके लिए रखा गया है। जिसके पास जो कुछ है उसे भगवान् के अनुग्रह से प्राप्त दान समझना चाहिए। अतः प्रत्येक प्राणी को चाहिए कि कृष्णभावनामृत के माध्यम से भक्तिमय सेवा में लगे। कोई भी, चाहे वह गृहस्थ हो या नागरिक या मानव समाज का सदस्य, यदि सुखी रहना चाहता है, तो उसे भगवान् की प्रसन्नता के लिए भक्ति करनी चाहिए।

बर्हिष्मतीं नाम विभुर्यां निर्विश्य समावसत् ।
तस्यां प्रविष्टो भवनं तापत्रयविनाशनम् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

बर्हिष्मतीम्—बर्हिष्मती नगरी में; **नाम**—नामक; **विभुः**—परम शक्तिमान स्वायंभुव मनु; **याम्**—जिस; **निर्विश्य**—प्रवेश करके; **समावसत्**—पहले रहता था; **तस्याम्**—उस नगरी में; **प्रविष्टः**—प्रवेश किया; **भवनम्**—महल; **ताप-त्रय**—तीन प्रकार के ताप; **विनाशनम्**—नष्ट करते हुए।

जिस बर्हिष्मती नगरी में मनु पहले से रहते थे उसमें प्रवेश करने के पश्चात् वे अपने महल में गये जो सांसारिक त्रय-तापों को नष्ट करने वाले वातावरण से परिव्याप्त था।

तात्पर्य : यह भौतिक संसार तीन प्रकार के तापों—दैहिक, दैविक तथा भौतिक तापों से पूर्ण है। मानव समाज की सार्थकता इसीमें है कि कृष्णभावनामृत को प्रसारित करके आध्यात्मिक वातावरण उत्पन्न करे। इस संसार के तापों का कृष्णभावनामृत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसका अर्थ यह नहीं है कि कृष्ण-भक्ति करने पर संसार के सभी ताप लुप्त हो जाते हैं, वरन् यह कि जो कृष्णभक्त होता है उस पर इन तापों का प्रभाव नहीं पड़ता। हम भौतिक

वातावरण के तापों को रोक नहीं सकते, किन्तु कृष्णभावनामृत वह प्रतिरोधी ओषधि है, जो हमें इन तापों से बचाती है। कृष्णभक्त के लिए स्वर्ग तथा नरक का वास एकसमान है। अगले श्लोक में बताया गया है कि मनु ने वह वातावरण किस प्रकार उत्पन्न किया जिससे वे तीनों तापों से अप्रभावित रह आये।

सभार्यः सप्रजः कामान्बुभुजेऽन्याविरोधतः
सङ्गीयमानसत्कीर्तिः सस्त्रीभिः सुरगायकैः ।
प्रत्यूषेष्वनुबद्धेन हृदा श्रृण्वन्हरेः कथाः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

स-भार्यः—अपनी पत्नी के सहित; स-प्रजः—अपनी प्रजा के साथ; कामान्—जीवन की आवश्यकताएँ; बुभुजे—भोग किया; अन्य—दूसरों से; अविरोधतः—बिना अड़चन के; सङ्गीयमान—प्रशंसित होकर; सत्-कीर्तिः—पुण्य कार्यों के लिए प्रसिद्धि; स-स्त्रीभिः—अपनी-अपनी पत्नियों समेत; सुर-गायकैः—स्वर्गिक गायकों (गंधर्वों) के द्वारा; प्रति-ऊषेषु—प्रत्येक उषा (प्रातः) समय; अनुबद्धेन—बँधा हुआ; हृदा—हृदय से; श्रृण्वन्—सुनते हुए; हरेः—भगवान् की; कथाः—कथाएँ।

स्वायंभुव मनु अपनी पत्नी तथा प्रजा सहित जीवन का आनन्द उठाते रहे और उन्होंने धर्म के विरुद्ध अवांछित नियमों से विचलित हुए बिना अपनी इच्छाओं की पूर्ति की। गन्धर्वगण अपनी भार्याओं सहित सम्राट की कीर्ति का गान करते और सम्राट प्रतिदिन उषाकाल में अत्यन्त प्रेमभाव से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की लीलाओं का श्रवण करते थे।

तात्पर्य : मानव समाज असल में कृष्णभावनामृत में पूर्णता प्राप्त करने के निमित्त है। इसमें अपनी पत्नी तथा सन्तान के साथ रहने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है, किन्तु जीवनपद्धति ऐसी हो कि मनुष्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के विपरीत न जाने पाए। वैदिक नियम इस प्रकार बनाये गये हैं कि बद्ध आत्मा जो इस संसार में आये हैं भौतिक इच्छाओं को पूरा करने में उनका मार्गदर्शन हो और साथ ही साथ मुक्त होकर भगवान् के धाम अर्थात् घर को वापस जा सकें।

ऐसा ज्ञात होता है कि स्वायंभुव मनु इन नियमों का पालन करते हुए गृहस्थ जीवन का आनन्द उठा रहे थे। यहाँ यह उल्लेख है कि नित्य प्रात:काल गायकवृन्द वाद्य-संगीत के साथ

भगवान् के यश का गान करते थे और सम्राट सपरिवार परमेश्वर की लीलाओं का श्रवण करते थे। भारत के कुछ मन्दिरों तथा राजपरिवारों में आज भी यह प्रथा प्रचलित है जहाँ वृत्तिक गवैये शहनाई बजाते हैं और घर के लोग प्रमुदित वातावरण में नींद से उठते हैं। सोते समय भी गवैये शहनाई के साथ भगवान् की लीलाओं का गान करते हैं और घर के लोग भगवान् का स्मरण करते हुए सोते हैं। ऐसे गायन कार्यक्रम के अतिरिक्त प्रत्येक घर में संध्या समय *भागवत* उपदेश की व्यवस्था रहती है, परिवार के सभी सदस्य बैठते हैं, हरेकृष्ण कीर्तन करते हैं, *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* के उपदेश सुनते हैं और सोने के पूर्व संगति का आनन्द उठाते हैं। ऐसे संकीर्तन से उत्पन्न वातावरण उनके मस्तिष्कों में बना रहता है और सोते हुए भी वे ऐसे ही संगति एवं भगवान की लीलाओं के स्वप्न देखते हैं। इस प्रकार से कृष्णभावनामृत में सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। यह प्रथा अत्यन्त प्राचीन है, जैसाकि *भागवत* के इस श्लोक से ज्ञात होता है। लाखों वर्ष पूर्व स्वायंभुव मनु ने गृहस्थ जीवन में शान्ति एवं कृष्णभावनामृत के वातावरण में रहने के लिए इस सुअवसर का लाभ उठाया था।

जहाँ तक मन्दिरों का प्रश्न है, प्रत्येक राजमहल में या धनी व्यक्ति के घर में निश्चित रूप से एक सुन्दर मन्दिर रहता है जहाँ परिवार के सभी लोग प्रातःकाल जाकर मंगलारात्रि का उत्सव देखते हैं। यह उत्सव प्रथम प्रातःकालीन पूजा होती है। आरात्रिका उत्सव में देवताओं के समक्ष आरती की जाती हैं, शंख बजाये जाते हैं और पुष्प अर्पित करके पंखा झला जाता है। ऐसा माना जाता है कि भगवान् भोर होते जगकर कुछ नाश्ता करते हैं और भक्तों को दर्शन देते हैं। तब भक्तगण अपने-अपने घर चले जाते हैं, अथवा मन्दिर में ही भगवान् के गुणों का गायन करते रहते हैं। अब भी भारतीय मन्दिरों तथा महलों में प्रातःकाल का उत्सव सम्पन्न होता है। मन्दिर सामान्य लोगों के एकत्र होने के स्थान होते हैं। महलों के भीतर बने मन्दिर राजपरिवारों के लिए होते हैं, किन्तु इनमें से कई मन्दिरों में जनता को भी जाने दिया जाता है। जयपुर नरेश के महल के भीतर मन्दिर बना है, किन्तु उसमें जनता को जाने दिया जाता है और वहाँ सदैव कम से कम पाँच सौ भक्त एकत्र मिलेंगे। मंगलारात्रिका उत्सव के पश्चात् वे विविध वाद्ययन्त्रों

के द्वारा भगवान् का यशोगान करते हैं और इस प्रकार जीवन का आनन्द लूटते हैं। *भगवद्गीता* में भी राजपरिवार द्वारा मन्दिर पूजा का वर्णन हुआ है, जिसमें यह कहा गया है कि जो इस जीवन में भक्तियोग में असफल होते हैं उन्हें अगले जन्म में किसी धनी परिवार में या राजपरिवार में अथवा विद्वान ब्राह्मणों या भक्तों के परिवार में जन्म लेने का अवसर प्रदान किया जाता है। यदि उसे इन परिवारों में जन्म ग्रहण करने का सुयोग प्राप्त होता है, तो उसे बिना किसी कठिनाई के कृष्णभावनामृत का वातावरण प्राप्त कर सकता है। कृष्णभावनाभावित वातावरण में उत्पन्न बालक निश्चित रूप से कृष्ण-भक्त बनता है। जिस सिद्धि को वह पिछले जन्म में नहीं प्राप्त कर सका था उसे इस जीवन में अवसर दिया जाता है और निश्चिच उसे सिद्धि मिल सकती है।

निष्णातं योगमायासु मुनिं स्वायम्भुवं मनुम् ।
यदाभ्रंशयितुं भोगा न शेकुर्भगवत्परम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

निष्णातम्—लिप्त; योग-मायासु—क्षणिक सुख में; मुनिम्—मुनि तुल्य; स्वायम्भुवम्—स्वायंभुव; मनुम्—मनु को; यत्—जिससे; आभ्रंशयितुम्—विचलित होकर; भोगाः—सांसारिक सुख; न—नहीं; शेकुः—सक्षम थे; भगवत्-परम्—भगवान् का परम भक्त।

इस प्रकार स्वयंभुव मनु साधु-सदृश राजा थे। भौतिक सुख में लिप्त रहकर भी वे निम्नकोटि के जीवन की ओर आकृष्ट नहीं थे, क्योंकि वे निरन्तर कृष्णभावनामृत के वातावरण में भौतिक सुख का भोग कर रहे थे।

तात्पर्य : राजसी सुख प्राप्त होने पर मनमानी इन्द्रिय-तृप्ति के कारण मनुष्य निम्नकोटि के जीवन—अर्थात् पशु जीवन की ओर बढ़ता है। किन्तु स्वायंभुव मनु तो साधु के समान थे, क्योंकि उनके राज्य तथा घर में कृष्णभावनामृत का वातावरण था। बद्धजीवों के साथ भी ऐसा ही है; वे इन्द्रियतृप्ति के लिए भौतिक शरीर धारण करते हैं, किन्तु यदि वे जैसा यहाँ पर बताया गया है या शास्त्रोक्त विधि से मन्दिर पूजा तथा घरेलू देव-पूजा के द्वारा कृष्णभावनामृत का वातावरण उत्पन्न कर सकते हैं, तो भौतिक सुख भोगते हुए भी वे शुद्ध कृष्णभक्ति में प्रगति कर सकते हैं। आज के समय में, आधुनिक सभ्यता इन्द्रियतृप्ति के प्रति अत्यधिक आसक्त है।

अतः कृष्णभावनामृत आन्दोलन मनुष्यों को भौतिक सुख भोगते हुए मानव जीवन का सदुपयोग करने का सुयोग प्रदान करता है। कृष्णभक्ति इन्हें भौतिक सुख के लिए वर्जित नहीं करती, वरन् इन्द्रियसुख सम्बन्धी आदतों को संयमित करती है। वे भौतिक लाभों को उठाते हुए इसी जीवन में कृष्णभक्ति का अभ्यास करते हुए भगवान् के पवित्र नाम—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे, कीर्तन-जप—करते हुए मुक्त हो सकते हैं।

अयातयामास्तस्यासन्यामाः स्वान्तरयापनाः ।
शृण्वतो ध्यायतो विष्णोः कुर्वतो ब्रुवतः कथाः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

अयात-यामाः—समय व्यर्थ नहीं गया; तस्य—मनु का; आसन्—थे; यामाः—घंटे; स्व-अन्तर—जीवनकाल; यापनाः—व्यतीत करके; शृण्वतः—सुनते हुए; ध्यायतः—ध्यान करते; विष्णोः—भगवान् विष्णु का; कुर्वतः—करते हुए; ब्रुवतः—बोलते हुए; कथाः—कथाएँ।

फलतः धीरे-धीरे उनके जीवन का अन्त-समय आ पहुँचा आया; किन्तु उनका दीर्घ जीवन, जो मन्वन्तर कल्प से युक्त है, व्यर्थ नहीं गया क्योंकि वे सदैव भगवान् की लीलाओं के श्रवण, चिन्तन, लेखन तथा कीर्तन में व्यस्त रहे।

तात्पर्य : तुरन्त का तैयार भोजन अत्यन्त स्वादिष्ट होता है, किन्तु यदि उसे तीन-चार घंटे बाद खाया जाय तो वह बासी और स्वाद हीन हो जाता है, अतः जब तक जीवन में ताजगी है तब तक भौतिक सुख है किन्तु जीवन के अन्त समय प्रत्येक वस्तु नीरस, व्यर्थ तथा कष्टकारक लगती है। किन्तु सम्राट स्वायंभुव मनु का जीवन नीरस नहीं था; वृद्ध होने पर भी उसमें प्रारम्भिक जीवन की सी ताजगी थी क्योंकि वे निरन्तर कृष्णभावनाभावित बने रहे। कृष्णभक्ति में रहने वाले मनुष्य का जीवन सदैव ताजा बना रहता है। कहा जाता है कि सूर्य प्रातःकाल उदय होता है, सायंकाल अस्त होता है और उसका कार्य प्रत्येक प्राणी के जीवन की अवधि को घटाना है। किन्तु जो प्राणी कृष्णभक्ति में रत है उसके जीवन को सूर्योदय तथा सायंकाल घटा नहीं पाते। स्वायंभुव मनु का जीवन कुछ काल बाद नीरस इसीलिए नहीं हुआ, क्योंकि वे निरन्तर भगवान् विष्णु का जप तथा ध्यान करते रहे। वे महानतम् योगी थे, क्योंकि अपना

समय नष्ट नहीं करते थे। यहाँ विशेष रूप से उल्लेख हुआ है कि *विष्णोः कुर्वतो ब्रुवतः कथाः*। जब वे कुछ बोलते तो भगवान् के विषय में और जब भी कुछ सुनते तो भगवान् के विषय में और जब भी ध्यान धरते तो श्रीकृष्ण और उनके कार्यकलापों के सम्बन्ध में।

कहा गया है कि उसकी आयु अत्यन्त दीर्घ अर्थात् एकहत्तर युग थी। एक युग ४३ लाख २० हजार वर्षों के तुल्य है। ऐसे एकहत्तर युग मनु की आयु थी। ब्रह्मा के एक दिन में ऐसे चौदह मनु आते-जाते हैं। इस प्रकार अपने पूरे जीवनकाल—४३,२०,००० × ७१ वर्ष—में मनु कृष्ण का कीर्तन, श्रवण, कथन तथा ध्यान धरते रहे। अतः उनका जीवन न तो व्यर्थ गया और न कभी नीरस लगा।

स एवं स्वान्तरं निन्ये युगानामेकसप्ततिम् ।
वासुदेवप्रसङ्गेन परिभूतगतित्रयः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने (स्वायंभुव मनु ने); एवम्—इस प्रकार; स्व-अन्तरम्—अपना काल (जीवन); निन्ये—बिताया; युगानाम्—चार युगों के चक्रों का; एक-सप्ततिम्—एकहत्तर; वासुदेव—वासुदेव से; प्रसङ्गेन—सम्बद्ध कथाओं से; परिभूत—पार कर गया; गति-त्रयः—तीनों लक्ष्य (अवस्थाएँ)।

उन्होंने निरन्तर वासुदेव का ध्यान करते और उन्हीं का गुणानुवाद करते इकहत्तर चतुर्युग (७१ × ४३,२०,००० वर्ष) पूरे किये। इस प्रकार उन्होंने तीनों लक्ष्यों को पार कर लिया।

तात्पर्य : तीन लक्ष्य उन व्यक्तियों के लिए हैं, जो प्रकृति के तीन गुणों से बँधे हैं। इन लक्ष्यों को कभी-कभी जागृत, स्वप्न तथा तुरीय अवस्थाएँ कहा जाता है। *भगवद्गीता* में ये तीन लक्ष्य सतो, रजो तथा तमो—इन तीन गुणों के रूप में वर्णित हैं। गीता में कहा गया है कि सतोगुण वाले लोग स्वर्गलोक जाते हैं, रजोगुण वाले इसी पृथ्वीलोक या उच्चतर लोकों में रहते हैं और तमोगुणी लोग उन लोकों में पशु जीवन बिताते जहाँ मनुष्य जीवन से निम्नतर जीवन होता है। किन्तु जो कृष्णभक्त है, वह इन तीन गुणों से परे होता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जो कोई भगवान् की भक्ति करता है, वह प्रकृति के तीन लक्ष्यों को स्वतः पार कर लेता है और ब्रह्मभूत हो जाता है अर्थात् उसे आत्म-साक्षात्कार हो जाता है (मुक्त हो जाता है)।

यद्यपि इस भौतिक संसार के शासक स्वायंभुव मनु भौतिक सुख में निमग्न प्रतीत होते थे, किन्तु वे न तो सत्त्व गुण में अथवा न ही रजो गुण अथवा तमोगुण अवस्था में हो, वरन् दिव्य अवस्था को प्राप्त थे।

अत: जो कोई भक्तिमय सेवा में लगा रहता है, वह सदैव मुक्त रहता है। भगवान् के परम भक्त बिल्व मंगल ठाकुर ने कहा है, ''यदि श्रीकृष्ण के चरणकमल में मेरी एकनिष्ठ भक्ति है, तो माता मुक्ति सदैव मेरी सेवा के लिए तत्पर रहेगी। भौतिक सुख, धर्म तथा अर्थ की पूर्ण सिद्धि मेरे वश में है।'' सभी लोग धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के फेर में रहते हैं। सामान्यत: वे कोई धार्मिक कृत्य इसलिए करते हैं जिससे कुछ भौतिक लाभ हो और कर्म इसलिए करते हैं जिससे इन्द्रिय-तृप्ति हो सके। सांसारिक इन्द्रिय-तृप्ति से उब कर मनुष्य मुक्त होना चाहता है और परम सत्य से तादात्म्य चाहता है। अल्पज्ञानियों के लिए ये चातुष्टय-दिव्य पथ का निर्माण करते हैं, किन्तु जो ज्ञानी हैं, वे इन चतुष्टयों की परवाह न करते हुए अपने आपको कृष्णभक्ति में लगाते हैं। वे तुरन्त ही उस दिव्य पद को प्राप्त होते हैं, जो मुक्ति से बड़ा है। भक्त के लिए मुक्ति कोई बड़ी उपलब्धि नहीं है। भक्तगण धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की तनिक भी परवाह नहीं करते। वे सदैव आत्म-साक्षात्कार की ब्रह्म-भूत अवस्था पर आसीन रहते हैं, जो दिव्य पद है।

शारीरा मानसा दिव्या वैयासे ये च मानुषाः ।
भौतिकाश्च कथं क्लेशा बाधन्ते हरिसंश्रयम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

शारीराः—शरीर सम्बधी; मानसाः—मन सम्बन्धी; दिव्याः—दैवी शक्ति सम्बन्धी(दैवताओं का); वैयासे—हे विदुर; ये—जो; च—यथा; मानुषाः—अन्य मनुष्यों से सम्बन्धित; भौतिकाः—अन्य जीवों से सम्बन्धित; च—तथा; कथम्—कैसे; क्लेशाः—दुख; बाधन्ते—कष्ट पहुँचा सकते हैं; हरि-संश्रयम्—जिसने भगवान् कृष्ण की शरण ली हुई है।.

अत: हे विदुर, जो व्यक्ति भगवान् कृष्ण के शरणागत हैं, भला वे किस प्रकार शरीर, मन, प्रकृति, अन्य मनुष्यों तथा जीवित प्राणियों से सम्बन्धित कष्टों में पड़ सकते हैं।

तात्पर्य : इस संसार का प्रत्येक जीव किसी न किसी प्रकार के कष्ट से पीड़ित है, चाहे वह शरीर से सम्बन्धित हो या मन अथवा भौतिक विपदाओं से सम्बन्धित हो। इस संसार में अतिशीत तथा अतिताप से सबों को कष्ट पहुँचता है, किन्तु जिस किसी ने कृष्णभावनामृत के अंतर्गत भगवान् के चरणकमलों में शरण प्राप्त कर ली है, वह दिव्य अवस्था को प्राप्त होता है। वह किसी प्रकार के कष्ट से विचलित नहीं होता चाहे वह शरीर तथा मन से सम्बन्धित कष्ट हों या कि शीत तथा ग्रीष्म के प्राकृतिक उत्पात हों। वह इन कष्टों से परे है।

यः पृष्टो मुनिभिः प्राह धर्मान्नानाविधाञ्छुभान् ।
नृणां वर्णाश्रमाणां च सर्वभूतहितः सदा ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; पृष्टः—पूछे जाने पर; मुनिभिः—मुनियों के द्वारा; प्राह—बोला; धर्मान्—कर्तव्य; नाना-विधान्—अनेक प्रकार के; शुभान्—शुभ; नृणाम्—मनुष्य समाज का; वर्ण-आश्रमाणाम्—वर्णों तथा आश्रमों का; च—यथा; सर्व-भूत—सभी जीवों के लिए; हितः—कल्याणकर; सदा—सदैव।

कुछ मुनियों के पूछे जाने पर उन्होंने (स्वायंभुव मनु ने) समस्त जीवों पर दया करके मनुष्य के सामान्य पवित्र कर्तव्यों तथा वर्णों और आश्रमों का उपदेश दिया।

एतत्त आदिराजस्य मनोश्चरितमद्भुतम् ।
वर्णितं वर्णनीयस्य तदपत्योदयं शृणु ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; ते—तुम; आदि-राजस्य—प्रथम सम्राट के; मनोः—स्वायंभुव मनु के; चरितम्—चरित्र; अद्भुतम्—आश्चर्यजनक; वर्णितम्—वर्णन किया गया; वर्णनीयस्य—जिनका यश वर्णन करने के योग्य है; तत्-अपत्य—उनकी पुत्री का; उदयम्—अभ्युदय; शृणु—सुनो।

मैंने तुमसे आदि सम्राट स्वायंभुव मनु के अद्भुत चरित्र का वर्णन किया। उनकी ख्याति वर्णन के योग्य है। अब ध्यान से उनकी पुत्री देवहूति के अभ्युदय का वर्णन सुनो।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत तृतीय स्कंध के अन्तर्गत "कर्दम मुनि तथा देवहूति का परिणय" नामक बाइसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तेईस

देवहूति का शोक

मैत्रेय उवाच
पितृभ्यां प्रस्थिते साध्वी पतिमिङ्गितकोविदा ।
नित्यं पर्यचरत्प्रीत्या भवानीव भवं प्रभुम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; पितृभ्याम्—माता-पिता के द्वारा; प्रस्थिते—प्रस्थान करने पर; साध्वी—पतिव्रता; पतिम्—अपने पति की; इङ्गित-कोविदा—मनोभावों को जानने वाली; नित्यम्—निरन्तर; पर्यचरत्—सेवा की; प्रीत्या—प्रेमपूर्वक; भवानी—देवी पार्वती; इव—समान; भवम्—शिवजी की; प्रभुम्—अपने स्वामी।

मैत्रेय ने कहा—अपने माता-पिता के चले जाने पर अपने पति की इच्छाओं को समझनेवाली पतिव्रता देवहूति अपने पति की प्रतिदिन प्रेमपूर्वक सेवा करने लगी जिस प्रकार भवानी अपने पति शंकर जी की करती हैं।

तात्पर्य : भवानी का विशेष रूप से दिया गया उदाहरण महत्त्वपूर्ण है। *भवानी* का अर्थ है भव अर्थात् शिवजी की पत्नी। हिमालयराज की कन्या भवानी अथवा पार्वती ने शिवजी को अपना पति चुना जो भिक्षुक की तरह प्रतीत होते हैं। राजकुमारी होते हुए भी उन शिवजी को पाने के लिए उन्होंने अनेक कष्ट सहे, जिनके पास घर तक न था और जो एक वृक्ष के नीचे बैठकर ध्यान में अपना सारा समय बिताते थे। यद्यपि भवानी एक बहुत बड़े राजा की कन्या थीं, किन्तु वे भिक्षुणी के समान शिवजी की सेवा किया करती थीं। इसी प्रकार देवहूति सम्राट स्वायंभुव मनु की कन्या थी तो भी उसने कर्दममुनि को अपने पति के रूप में वरण किया। वह उनकी अत्यन्त प्रेमपूर्वक सेवा करती और उन्हें प्रसन्न करना जानती थी। अत: उसे यहाँ पर साध्वी कहा गया है, जिसका अर्थ होता है, 'पतिपरायणा पत्नी या पतिव्रता स्त्री''। यह दुर्लभ उदाहरण वैदिक सभ्यता का आदर्श है। प्रत्येक स्त्री को देवहूति या भवानी के सदृश श्रेष्ठ तथा पतिव्रता होना चाहिए। आज भी हिन्दू समाज में अविवाहित लड़कियों को शंकर जी की पूजा करने के लिए कहा जाता है, जिससे उन्हें उनके समान पति मिले। शिव जी ऐश्वर्य या इन्द्रियतृप्ति की दृष्टि से नहीं वरन् भक्तों में सर्वश्रेष्ठ होने के कारण आदर्श पति हैं। *वैष्णवानां यथा शुम्भः*—शुम्भ या शिवजी आदर्श वैष्णव हैं। वे भगवान् राम का निरन्तर ध्यान करते हैं

और हरे राम, हरे राम, हरे हरे, मन्त्र का जप करते रहते हैं। शिवजी का एक वैष्णव-सम्प्रदाय है, जो विष्णुस्वामी सम्प्रदाय कहलाता है। अविवाहित कन्याएँ शिवजी की पूजा इसीलिए करती हैं जिससे उनके समान ही वैष्णव पति प्राप्त हो। लड़कियों को कभी भी धनी या ऐश्वर्यवान पति चुनने की शिक्षा नहीं दी जाती, किन्तु यदि लड़की इतनी भाग्यवान होती है कि उसे शिवजी के समान उत्तम भक्त पति प्राप्त हो तो उसका जीवन सफल हो जाता है। पत्नी अपने पति पर आश्रित होती है और यदि पति वैष्णव हुआ तो वह अपने पति की भक्ति में हिस्सा बँटाती है, क्योंकि वह उसकी सेवा करती है। पति तथा पत्नी के बीच इस प्रकार सेवा तथा प्रेम का आदान-प्रदान गृहस्थ जीवन के लिए आदर्श है।

विश्रम्भेणात्मशौचेन गौरवेण दमेन च ।
शुश्रूषया सौहृदेन वाचा मधुरया च भोः ॥ २॥

शब्दार्थ

विश्रम्भेण—आत्मीयता से; **आत्म-शौचेन**—मन तथा देह की शुद्धता से; **गौरवेण**—सम्मान से; **दमेन**—इन्द्रियों को वश में करके; **च**—तथा; **शुश्रूषया**—सेवा से; **सौहृदेन**—प्रेम से; **वाचा**—वाणी से; **मधुरया**—मीठी; **च**—तथा; **भोः**—हे विदुर!.

हे विदुर, देवहूति ने अत्यन्त आत्मीयता और आदर के साथ, इन्द्रियों को वश में रखते हुए, प्रेम तथा मधुर वचनों से अपने पति की सेवा की।

तात्पर्य : यहाँ पर *विश्रम्भेण* तथा *गौरवेण*—ये दो शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। देवहुति ने इन्हीं दो विधियों से अपने-पति की सेवा की। ये दोनों विधियाँ हैं जिनके द्वारा पति अथवा श्रीभगवान् की सेवा की जाती है। *विश्रम्भेण* का अर्थ है ''आत्मीयतापूर्वक'' और *गौरवेण* का अर्थ है ''अत्यन्त सम्मानपूर्वक।'' पति अत्यन्त आत्मीय मित्र होता है, अत: पत्नी को चाहिए कि आत्मीय मित्र की भाँति पति की सेवा करे और साथ ही पति की स्थिति की श्रेष्ठता को भी समझे। इस प्रकार वह उसका सभी प्रकार से सम्मान करे। एक पुरुष तथा एक स्त्री के मनोभावों में अन्तर होता है। अपनी शारीरिक संरचना के कारण पति सदैव पत्नी से श्रेष्ठ (विशिष्ट) बने रहना चाहता है और स्त्री शारीरिक संरचना के कारण स्वाभाविक रुप से अपने पति से अवर कोटि की होती है। अत: स्वाभाविक प्रवृत्ति यही है कि पति अपने को पत्नी से

श्रेष्ठ मानता है और इसका पालन किया जाना चाहिए। यदि पति से कोई गलती हो जाए, तो भी पत्नी को सह लेना चाहिए और इस प्रकार पति तथा पत्नी के बीच मनमुटाव नहीं रहेगा। *विश्रम्भेण* का अर्थ ''आत्मीयता के साथ'' है, किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि, ''मान घटे नित घर के जाये।'' वैदिक सभ्यता के अनुसार पत्नी अपने पति को नाम से सम्बोधित नहीं कर सकती। आधुनिक सभ्यता में पत्नी अपने पति का नाम लेकर बुला सकती है, किन्तु हिन्दू सभ्यता में ऐसा नहीं है। इस प्रकार निम्नता तथा श्रेष्ठता का द्वैत चलता है। *दमेन च*—पत्नी को किसी प्रकार का मनमुटाव होने पर अपने को वश में रखना सीखना चाहिए। *सौहृदेन वाचा मधुरया* का अर्थ है सदैव पति के कल्याण की आकांक्षा करना और उसमें मीठे वचन बोलना। बाह्य जगत में मनुष्य अनेक कारणों से विक्षुब्ध हो सकता है, अत: स्त्री को चाहिए कि घर में उससे मीठे बचन बोले।

विसृज्य कामं दम्भं च द्वेषं लोभमघं मदम् ।
अप्रमत्तोद्यता नित्यं तेजीयांसमतोषयत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

विसृज्य—त्याग कर; कामम्—काम-वासना; दम्भम्—गर्व; च—तथा; द्वेषम्—द्वेष; लोभम्—लोभ, लालच; अघम्—पापपूर्ण कृत्य; मदम्—मद, घमण्ड; अप्रमत्ता—समझदार; उद्यता—तत्पर रहकर; नित्यम्—सदैव; तेजीयांसम्—अपने अत्यन्त शक्तिशाली पति को; अतोषयत्—प्रसन्न कर लिया।

बुद्धिमानी तथा तत्परता के साथ कार्य करते हुए उसने समस्त काम, दम्भ, द्वेष, लोभ, पाप तथा मद को त्यागकर अपने शक्तिशाली पति को प्रसन्न कर लिया।

तात्पर्य : यहाँ पर एक महान् पति की महान् पत्नी के कुछ गुण दिये गये हैं। कर्दम मुनि अपनी आध्यात्मिक योग्यता के कारण महान् हैं। ऐसा पति *तेजीयांसम्* अर्थात् परम शक्तिमान कहलाता है। भले ही पत्नी आध्यात्मिक ज्ञान में अपने पति के समान योग्य हो, किन्तु उसे इसका वृथा गर्व नहीं होना चाहिए। कभी-कभी पत्नी अत्यन्त सम्पन्न परिवार की होती है, जिस प्रकार कि सम्राट स्वायंभुव मनु की पुत्री देवहूति थी। वह अपने पितृकुल पर इतरा सकती थी, किन्तु ऐसा करना वर्जित है, उसे ऐसा नहीं करना चाहिए। उसे अपने पति के प्रति विनम्र होना चाहिए और समस्त प्रकार के मिथ्या घमंड को त्याग देना चाहिए। ज्योंही पत्नी को अपने मायके पर गर्व

होने लगता है त्योंही इससे पति-पत्नी के बीच मनमुटाव उत्पन्न होता है और उनका वैवाहिक जीवन चौपट हो जाता है। देवहूति इस मामले में अत्यन्त सतर्क थी इसीलिए यह कहा गया है कि उसने पूर्णतया गर्व का परित्याग कर दिया था। देवहूति कृतघ्न न थी। पत्नी का सबसे पापमय कृत्य है दूसरा पति या प्रेमी बनाना। चाणक्य पण्डित ने घर के चार शत्रु बताये हैं। यदि पिता ऋणी हो तो वह शत्रु है; यदि माता अपने वयस्क संतान के होते हुए दूसरा पति चुन ले तो वह शत्रु है; यदि पत्नी अपने पति के साथ अभद्र व्यवहार करे तो वह शत्रु है; और यदि पुत्र मूर्ख हो तो वह भी शत्रु है। पारिवारिक जीवन की सम्पत्ति पिता, माता, पत्नी तथा सन्तान हैं किन्तु यदि पत्नी या माता अपने पति या पुत्र के होते हुए दूसरा पति चुन ले तो वैदिक सभ्यता के अनुसार वह शत्रु है। साध्वी तथा आज्ञाकारी पत्नी को कभी परपुरुष-गमन नहीं करना चाहिए—यह सबसे बड़ा पाप है।

स वै देवर्षिवर्यस्तां मानवीं समनुव्रताम् ।
दैवाद्गरीयसः पत्युराशासानां महाशिषः ॥ ४॥
कालेन भूयसा क्षामां कर्शितां व्रतचर्यया ।
प्रेमगद्गदया वाचा पीडितः कृपयाब्रवीत् ॥ ५॥

शब्दार्थ

सः—वह (कर्दम); वै—निश्चय ही; देव-ऋषि—दैवी साधुओं में; वर्यः—सर्वश्रेष्ठ; ताम्—उस; मानवीम्—मनु की पुत्री को; समनुव्रताम्—पूर्णतः अनुरक्त; दैवात्—विधाता की अपेक्षा; गरीयसः—महान्; पत्युः—अपने पति से; आशासानाम्—आशावान्; महा-आशिषः—महान् आशीर्वाद; कालेन भूयसा—दीर्घकाल तक; क्षामाम्—दुर्बल; कर्शिताम्—क्षीण; व्रत-चर्यया—धार्मिक चर्या से; प्रेम—प्रेम से; गद्गदया—विह्वल, रुद्ध; वाचा—वाणी से; पीडितः—विजित; कृपया—दया से; अब्रवीत्—कहा।

पतिपरायणा मनु की पुत्री अपने पति को विधाता से भी बड़ा मानती थी। इस प्रकार वह उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ किये रहती थी। दीर्घकाल तक सेवा करते रहने से धार्मिक व्रतों को रखने के कारण वह अत्यन्त क्षीण हो गई। उसकी दशा देखकर देवर्षिश्रेष्ठ कर्दम को उस पर दया आ गई और वे अत्यन्त प्रेम से गद्गद वाणी में बोले।

तात्पर्य : पत्नी के पति की ही कोटि की होने की अपेक्षा की जाती है। उसे पति के सिद्धान्तों के पालन के लिए उद्यत रहना चाहिए तभी जीवन सुखी रह सकता है। यदि पति

भक्त हुआ और पत्नी भौतिकवादी, तो घर में शान्ति नहीं रह सकती। पत्नी को पति की रुचि देखकर तदनुरूप आचरण करना चाहिए। *महाभारत* से हमें पता चलता है कि गांधारी को ज्ञात हो गया कि उसका भावी पति धृतराष्ट्र अन्धा है, तो वह स्वयं अंधेपन का अभ्यास करने लगी। इस तरह उसने आँखें बन्द कर लीं और अंधी स्त्री की भाँति व्यवहार करने लगी अन्यथा उसे अपनी आँखों का गर्व होता और उसका पति उसे निकृष्ट लगता। *समनुव्रत* शब्द सूचित करता है कि यह पत्नी का कर्तव्य है कि वह जिस परिस्थिति में उसका पति हो उसके अनुसार अपने को ढाले। निस्सन्देह, यदि पति कर्दम के समान महान् हुआ तो उसके अनुगमन से अच्छा फल निकलता है। किन्तु यदि पति कर्दम के समान महान् भक्त न हो तो भी पत्नी का यह कर्तव्य है कि वह अपने पति की रुचि के अनुसार ढले। इससे विवाहित जीवन सुखमय बन जाता है। यहाँ इसका भी वर्णन हुआ है कि साध्वी स्त्री का कठोर व्रत साधने से राजकुमारी देवहूति अत्यन्त दुबली हो गई थी जिससे उसके पति को दया आ गई। उन्हें पता था कि वह एक सम्राट की पुत्री हो कर भी सामान्य स्त्री की भाँति उनकी सेवा में लगी है। ऐसा करने से उसका स्वास्थ्य दुर्बल हो गया, फलतः मुनि दयार्द्र हो उठे और उससे इस प्रकार बोले।

कर्दम उवाच

तुष्टोऽहमद्य तव मानवि मानदायाः
शुश्रूषया परमया परया च भक्त्या ।
यो देहिनामयमतीव सुहृत्स देहो
नावेक्षितः समुचितः क्षपितुं मदर्थे ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

कर्दमः उवाच—परम साधु कर्दम ने कहा; तुष्टः—प्रसन्न हूँ; अहम्—मैं; अद्य—आज; तव—तुमसे; मानवि—हे मनु की पुत्री; मान-दायाः—सम्माननीय; शुश्रूषया—सेवा से; परमया—सर्वश्रेष्ठ; परया—उच्चतम; च—तथा; भक्त्या—भक्ति से; यः—जो; देहिनाम्—देहधारियों को; अयम्—यह; अतीव—अत्यन्त; सुहृत्—प्रिय; सः—वह; देहः—देह; न—नहीं; अवेक्षितः—ध्यान दिया गया; समुचितः—ठीक से; क्षपितुम्—व्यय करना; मत्-अर्थे—मेरे लिए।.

कर्दम मुनि ने कहा—हे स्वायंभुव मनु की मानिनी पुत्री, आज मैं तुम्हारी अत्यधिक अनुरक्ति तथा प्रेमपूर्ण सेवा से बहुत प्रसन्न हूँ। चूँकि देहधारियों को शरीर अत्यन्त प्रिय है, अतः मुझे आश्चर्य हो रहा है कि तुमने मेरे लिये अपने शरीर को उपेक्षित कर रखा है।

तात्पर्य : यहाँ यह बतलाया गया है कि सबको अपना शरीर अत्यन्त प्रिय है, किन्तु

देवहूति अपने पति के प्रति इतनी श्रद्धालु थी कि वह न केवल अत्यन्त अनुरक्ति, सेवा तथा सम्मान से पति की सेवा कर रही थी, वरन् उसे अपने स्वास्थ्य तक की परवाह नहीं थी। इसी को नि:स्वार्थ सेवा कहते हैं। ऐसा लगता है कि उसे अपने पति से इन्द्रिय-सुख नहीं प्राप्त था, अन्यथा उसका स्वास्थ्य क्षीण न होता। कर्दम मुनि की आध्यात्मिक उन्नति के लिए वह कार्य कर रही थी, निरन्तर उनकी सहायता करती थी और उसे अपने शारीरिक सुख की परवाह न थी। आज्ञाकारिणी तथा साध्वी पत्नी का यह धर्म है कि सब प्रकार से पति की सहायता करे, विशेष रूप से जब पति कृष्णभावनामृत में संलग्न हो। इस दृष्टान्त में, पति ने भी पत्नी को ठीक से पुरस्कृत किया। सामान्य पुरुष की पत्नी को कभी ऐसी आशा नहीं रहती।

ये मे स्वधर्मनिरतस्य तप:समाधि
विद्यात्मयोगविजिता भगवत्प्रसादा: ।
तानेव ते मदनुसेवनयावरुद्धान्
दृष्टिं प्रपश्य वितराम्यभयानशोकान् ॥ ७॥

शब्दार्थ

ये—जो; मे—मेरे द्वारा; स्व-धर्म—अपना धार्मिक जीवन; निरतस्य—पूर्णतया लगे रहकर; तप:—तपस्या में; समाधि—ध्यान में; विद्या—कृष्णभावनामृत में; आत्म-योग—मन को स्थिर करके; विजिता:—प्राप्त किया गया; भगवत्-प्रसादा:—भगवान् के आशीर्वाद; तान्—उनको; एव—भी; ते—तुम्हारे द्वारा; मत्—मुझको; अनुसेवनया—भक्ति से; अवरुद्धान्—प्राप्त की गई; दृष्टिम्—दिव्य दृष्टि; प्रपश्य—देखो; वितरामि—मैं दे रहा हूँ; अभयान्—भयसे रहित; अशोकान्—शोक से रहित।

कर्दम मुनि ने आगे कहा—मैंने तप, ध्यान तथा कृष्णभक्ति का अपना धार्मिक जीवन बिताते हुए भगवान् का आशीर्वाद प्राप्त किया है। यद्यपि तुम्हें भय तथा शोक से रहित इन उपलब्धियों (विभूतियों) का अभी तक अनुभव नहीं है, किन्तु इन सबों को मैं तुम्हें प्रदान करूँगा, क्योंकि तुम मेरी सेवा में लगी हुई हो। अब उन्हें देखो तो। मैं तुम्हें दिव्यदृष्टि प्रदान कर रहा हूँ जिससे तुम देख सको कि वे कितनी सुन्दर हैं।

तात्पर्य : देवहूति केवल कर्दम मुनि की सेवा में लगी रहती। वह तप, ध्यान या कृष्णभावनामृत में इतनी अग्रसर न थी, किन्तु अदृष्ट रूप से अपने पति की उपलब्धियों में हिस्सा प्राप्त कर रही थी, जिन्हें वह न तो देख सकती थी, न अनुभव कर सकती थी। उसे ये समस्त भगवान् की कृपाएँ स्वत: प्राप्त हो गईं।

भगवान् की ये कृपाएँ हैं क्या? यहाँ पर कहा गया है कि अभय ही वह कृपा है। इस भौतिक जगत में यदि कोई दस लाख डालर एकत्र कर लेता है, तो वह सदा डरा रहता है, क्योंकि सोचता है कि यदि यह धन चला गया तो फिर क्या होगा। किन्तु भगवत्-प्रसाद अर्थात् भगवान् द्वारा प्रदत्त आशीर्वाद कभी व्यर्थ नहीं जाता। इसका तो उपभोग ही करना होता है। उसकी क्षति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। मनुष्य को सुलभ उपलब्धि होती है और इस उपलब्धि का आनन्द मिलता है। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई है—जब भगवान् की कृपा प्राप्त होती है, तो *सर्व-दु:खानि* अर्थात् सभी प्रकार के दुख नष्ट हो जाते हैं। दिव्य स्थिति प्राप्त होने पर अहंकार तथा शोक इन दो भव-रोगों से मनुष्य मुक्त हो जाता है। *भगवद्गीता* में भी इसका उल्लेख है। भक्तिमय जीवन प्रारम्भ होते ही हमें भगवत्प्रेम का पूरा-पूरा फल प्राप्त हो जाता है। भगवत्-प्रसाद अर्थात् ईश्वरीय कृपा की सर्वोच्च सिद्धि कृष्ण का प्रेम है। यह दिव्य उपलब्धि इतनी मूल्यवान है कि कोई भौतिक सुख इसकी तुलना नहीं कर सकता। प्रबोधानन्द सरस्वती ने कहा है कि यदि किसी को भगवान् चैतन्य का अनुग्रह प्राप्त हो जाय तो वह इतना महान् बन जाता है कि वह देवताओं की परवाह नहीं करता, अद्वैतवाद को नरक तुल्य मानता है और इन्द्रियों को वश में करना उसके लिए अत्यन्त सरल कार्य है। स्वर्गिक आनन्द कथा-कहानियों से अधिक कुछ नहीं लगता। वस्तुत: भौतिक सुख तथा दिव्य सुख की कोई तुलना ही नहीं है।

कर्दम मुनि के अनुग्रह से देवहूति को मात्र सेवा करने से वास्तविक बोध हो गया। ऐसा ही उदाहरण हमें नारद मुनि के जीवन में प्राप्त होता है। अपने पूर्वजन्म में वे दासी के पुत्र थे, किन्तु उनकी माता परम भक्तों की सेवा में लगी रहती थी। उसे इन भक्तों की सेवा करने का अवसर मिला और वे उनका जूठन खाकर तथा उनकी आज्ञा का पालन करके ही अगले जन्म में इतने महान् बन सके। आध्यात्मिक उन्नति के लिए सबसे सुगम मार्ग है कि प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण की जाय और मनोयोग से उसकी सेवा की जाय। सफलता का यही रहस्य है। जैसाकि विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने गुरु की प्रार्थना में कहा है—*यस्य प्रसादाद्-भगवत्-*

प्रसाद:—गुरु की सेवा करने या उनकी कृपा के प्रसाद से मनुष्य को परमेश्वर की कृपा प्राप्त होती है। अपने भक्त पति कर्दम की सेवा करके देवहूति उनकी उपलब्धियों में साझेदार बनी। इसी प्रकार एकनिष्ठ शिष्य प्रामाणिक गुरु की सेवा करके एकसाथ भगवान् तथा गुरु की कृपा प्राप्त कर सकता है।

अन्ये पुनर्भगवतो भ्रुव उद्विजृम्भ-
विभ्रंशितार्थरचनाः किमुरुक्रमस्य ।
सिद्धासि भुङ्क्ष्व विभवान्निजधर्मदोहान्
दिव्यान्नरैर्दुरधिगान्नृपविक्रियाभिः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अन्ये—अन्य; पुनः—फिर; भगवतः—भगवान् की; भ्रुवः—भृकुटी के; उद्विजृम्भ—हिलने से; विभ्रंशित—नष्ट; अर्थ-रचनाः—भौतिक उपलब्धियों (भोग) के; किम्—क्या लाभ; उरुक्रमस्य—भगवान् विष्णु का; सिद्धा—सफल; असि—तुम हो; भुङ्क्ष्व—भोगो; विभवान्—भेंटें; निज-धर्म—अपनी भक्ति से; दोहान्—प्राप्त; दिव्यान्—दिव्य; नरैः—पुरुषों द्वारा; दुरधिगान्—दुर्लभ; नृप-विक्रियाभिः—राजमद से गर्वित।

कर्दम मुनि ने कहा—भगवान् की कृपा के अतिरिक्त अन्य भोगों से कौन सा लाभ है? सभी भौतिक उपलब्धियाँ श्रीभगवान् विष्णु के भृकुटि-चालन से ही ध्वंस हो जाने वाली हैं। तुमने अपने पति की भक्ति करके वे दिव्य भेंटें प्राप्त की हैं और उनका भोग कर रही हो जो राजमद तथा भौतिक सम्पत्ति से गर्वित मनुष्यों के लिए भी दुर्लभ हैं।

तात्पर्य : भगवान् चैतन्य ने बतलाया है कि मानव जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि भगवत्कृपा या ईश्वर-प्रेम है। उनका कथन है—*प्रेमा पुमर्थो महान्*—ईश्वर का प्रेम प्राप्त करना जीवन की महान् सिद्धि है। इसी सिद्धि की संस्तुति कर्दम मुनि ने अपनी पत्नी के लिए की है। उनकी पत्नी एक सुसम्पन्न राजसी परिवार की थी। सामान्यत: जो भौतिकतावादी हैं या सम्पत्तिवान तथा ऐश्वर्यवान हैं, वे भगवान् के दिव्य प्रेम को नहीं पहचान पाते। यद्यपि देवहूति का सम्बन्ध महान् राज-कुल से था, किन्तु सौभाग्यवश वह अपने महान् पति कर्दम मुनि के अधीक्षण में थी, जिन्होंने उसे मनुष्य जीवन में प्राप्त होने वाली सर्वोत्तम भेंट—भगवत्कृपा या ईश्वर प्रेम—प्रदान की। देवहूति को यह भगवत्कृपा अपने पति की सद्भावना एवं संतोष के कारण प्राप्त हुई। उसने अपने पति की सेवा की जो एक परम भक्त एवं साधु पुरुष थे और

निष्ठा, प्रेम, वात्सल्य तथा सेवा से परिपूर्ण थे। कर्दम मुनि अत्यन्त संतुष्ट हो गये। उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक ईश्वर-प्रेम प्रदान किया और पत्नी से कहा कि इसका भोग करो, क्योंकि यह उसे पहले ही प्राप्त हो चुका है।

ईश्वर का प्रेम कोई सामान्य वस्तु नहीं। रूप गोस्वामी चैतन्य महाप्रभु की पूजा करते थे, क्योंकि वे सबों को ईश्वर का प्रेम—कृष्णप्रेम—वितरित करते थे। रूप गोस्वामी उन्हें महावदान्य कह कर उनकी प्रशंसा करते थे, क्योंकि वे सबों को मुक्तहस्त कृष्ण-प्रेम वितरित कर रहे थे, जो ज्ञानियों को अनेक जन्मों में कठिनाई से प्राप्त होता है। कृष्णप्रेम अर्थात् कृष्णभावनामृत सर्वोच्च भेंट है, जिसे हम हर किसी को प्रदान कर सकते हैं जिससे हम प्रेम करते हैं।

इस श्लोक में आगत *निज-धर्म-दोहान्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। देवहूति को कर्दम मुनि की पत्नी होने के कारण अपने पति से अमूल्य भेंट प्राप्त हुई, क्योंकि वह अपने पति के प्रति अत्यन्त निष्ठावान थी। स्त्री का सबसे बड़ा धर्म है कि अपने पति के प्रति निष्ठावान रहे। यदि सौभाग्य से पति महापुरुष हो तो जोड़ी अत्यन्त पूर्ण होती है और पति तथा पत्नी दोनों का जीवन तुरन्त परिपूर्ण हो जाता है।

एवं ब्रुवाणमबलाखिलयोगमाया-
विद्याविचक्षणमवेक्ष्य गताधिरासीत् ।
सम्प्रश्रयप्रणयविह्वलया गिरेषद्-
व्रीडावलोकविलसद्धसिताननाह ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; ब्रुवाणम्—बोलते हुए; अबला—स्त्री; अखिल—सम्पूर्ण; योग-माया—दिव्य ज्ञान का; विद्या-विचक्षणम्—ज्ञान में अद्वितीय; अवेक्ष्य—सुनकर; गत-आधिः—सन्तुष्ट; आसीत्—हो गई; सम्प्रश्रय—विनय के साथ; प्रणय—तथा प्रेम से; विह्वलया—विह्वल होकर; गिरा—वाणी से; ईषत्—कुछ-कुछ; व्रीडा—लज्जा, संकोच; अवलोक—चितवन से; विलसत्—चमकती; हसित—हँसती; आनना—मुख वाली; आह—बोली।

समस्त प्रकार के दिव्य ज्ञान में अद्वितीय, अपने पति को बोलते हुए सुनकर निष्पाप देवहूति अत्यन्त प्रसन्न हुई, उसका मुख किंचित् संकोच भरी चितवन और मधुर मुस्कान से खिल उठा और वह अत्यन्त विनय एवं प्रेमवश गद्गद वाणी में (रुद्ध कण्ठ से)

बोली।

तात्पर्य : कहा जाता है कि यदि कोई कृष्ण भावनामृत में लगा हुआ हो और भगवान् की दिव्य प्रेम-पूर्ण सेवा कर रहा हो तो यह कहा जा सकता है कि उसने तप, धर्म, यज्ञ, योग तथा ध्यान के निमित्त संस्तुत सभी अभ्यास प्राप्त कर लिया है। देवहूति का पति दिव्य ज्ञान में इतना दक्ष था कि उसके विषय में तर्क करने की आवश्यकता नहीं रह गई, अत: जब उसने उन्हें बोलते हुए सुना तो उसे विश्वास हो गया कि वे समस्त दिव्य विद्याओं में प्रवीण हो चुके हैं। उसे अपने पति द्वारा प्रदत्त भेंट पर कोई सन्देह नहीं रहा और जब उसे यह ज्ञात हुआ कि वे उसे सर्वोच्च भेंट देने जा रहे हैं, तो वह अत्यधिक प्रसन्न हुई। वह प्रेमभाव से अभिभूत हो गई, अत: वह उत्तर न दे पाई; तब रुद्ध वाणी में उसने परम रूपवती पत्नी की भाँति निम्नलिखित शब्द कहे।

देवहूतिरुवाच

राद्धं बत द्विजवृषैतदमोघयोग-
मायाधिपे त्वयि विभो तदवैमि भर्तः ।
यस्तेऽभ्यधायि समयः सकृदङ्गसङ्गो
भूयाद्गरीयसि गुणः प्रसवः सतीनाम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

देवहूतिः उवाच—देवहूति ने कहा; राद्धम्—प्राप्त हुआ; बत—निस्सन्देह; द्विज-वृष—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ; एतत्—यह; अमोघ—अचूक; योग-माया—योगशक्ति के; अधिपे—स्वामी; त्वयि—तुम में; विभो—हे महान्; तत्—वह; अवैमि—मैं जानती हूँ; भर्तः—हे पति; यः—जो; ते—तुम्हारे द्वारा; अभ्यधायि—दिया गया; समयः—वचन, प्रतिज्ञा; सकृत्—एक बार; अङ्ग-सङ्गः—शारीरिक संयोग; भूयात्—होवे; गरीयसि—जब अत्यन्त यशस्वी; गुणः—सद्गुण; प्रसवः—सन्तान; सतीनाम्—पतिव्रता स्त्रियों का।

श्री देवहूति ने कहा—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, मेरे प्रिय पति, मैं जानती हूँ कि आपने सिद्धि प्राप्त कर ली है और समस्त अचूक योगशक्ति के स्वामी हैं, क्योंकि आप दिव्य प्रकृति योगमाया के संरक्षण में हैं। किन्तु आपने एक बार वचन दिया था कि अब हमारा शारीरिक संसर्ग होना चाहिए, क्योंकि तेजस्वी पति वाली साध्वी पत्नी के लिए सन्तान बहुत बड़ा गुण है।

तात्पर्य : देवहूति ने अपनी प्रसन्नता *बत* शब्द द्वारा व्यक्त की, क्योंकि वह जानती थी कि उसके पति अति उच्च दिव्य पद पर योगमाया की शरण में थे। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है कि महात्मा भौतिक शक्ति के वश में नहीं रहते। परमेश्वर की दो शक्तियाँ हैं—भौतिक तथा आत्मिक। जीवात्माएँ तटस्था शक्ति हैं। तटस्था शक्ति के अन्तर्गत मनुष्य भौतिक शक्ति या फिर आत्मिक शक्ति (योगमाया) के वश में होते हैं। कर्दम मुनि महात्मा थे, अत: वे योगमाया के वश में थे जिसका अर्थ है कि वे प्रत्यक्षत: परमेश्वर से सम्बन्धित थे। इसका लक्षण है कृष्णभावनामृत या निरन्तर भक्ति में लगे रहना। यह देवहूति को ज्ञात था, तो भी वह मुनि के शारीरिक संयोग (संभोग) से पुत्र-प्राप्ति चाहती थी। अत: उसने अपने माता-पिता को दिये गये वचन की याद दिलाई, ''मैं देवहूति के गर्भधारण काल तक रहूँगा।'' उसने याद दिलाई कि महापुरुष से सन्तान-लाभ करना साध्वी स्त्री के लिए अत्यन्त गौरवास्पद है। वह गर्भधारण करना चाहती थी, अत: उसके लिए विनती की। स्त्री शब्द का अर्थ है ''विस्तार।'' पति तथा पत्नी के कायिक संयोग से उनके गुणों का विस्तार होता है; अच्छे माता-पिता से उत्पन्न संतानें उनके व्यक्तिगत गुणों के ही विस्तार होती हैं। कर्दम मुनि तथा देवहूति दोनों को आत्मिक प्रकाश प्राप्त था, अत: देवहूति शुरू से ही चाह रही थी कि पहले वह गर्भ धारण करे तब उसे भगवत्कृपा तथा भगवत्प्रेम प्राप्त हो। स्त्री की सबसे बड़ी अभिलाषा यही होती है कि उसे पति के ही समान योग्य पुत्र की प्राप्ति हो। चूँकि उसे पति रूप में कर्दम मुनि प्राप्त थे, अत: वह संभोग द्वारा पुत्र के लिए इच्छुक थी।

तत्रेतिकृत्यमुपशिक्ष यथोपदेशं
येनैष मे कर्शितोऽतिरिरंसयात्मा ।
सिद्ध्येत ते कृतमनोभवधर्षिताया
दीनस्तदीश भवनं सदृशं विचक्ष्व ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तत्र—उसमें; इति-कृत्यम्—जो करणीय था; उपशिक्ष—सम्पन्न करो; यथा—के अनुसार; उपदेशम्—शास्त्रों के उपदेश; येन—जिससे; एष:—यह; मे—मेरा; कर्शित:—क्षीण; अतिरिरं-सया—तीव्र कामेच्छा के तुष्ट न होने से; आत्मा—शरीर; सिद्ध्येत—उपयुक्त बन सकता है; ते—तुम्हारे लिए; कृत—उत्तेजित; मन:-भव—कामेच्छा से;

धर्षितायाः—पीड़ित; दीनः—दीन; तत्—अतः; ईश—हे भगवान्; भवनम्—घर; सदृशम्—उपयुक्त; विचक्ष्व—के विषय में सोचो।

देवहूति ने आगे कहा—हे प्रभु, मैं कामवेदना से पीड़ित हो रही हूँ। अतः आप शास्त्रों के अनुसार जो भी व्यवस्था की जानी हो, करें जिससे कामेच्छा सन्तुष्ट न हो पाने से यह मेरा दुर्बल शरीर आपके योग्य हो जाय। हाँ, स्वामी, इस कार्य के लिए उपयुक्त घर के विषय में भी विचार करें।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य केवल शिक्षाओं से ही पूर्ण नहीं है, अपितु सिद्धि प्राप्त करने के उद्देश्य से भौतिक अस्तित्व के लिए करणीय के विषय में भी सहायक है। अतः देवहूति ने अपने पति से पूछा कि वैदिक शिक्षाओं के अनुसार विषयी जीवन के लिए वह किस प्रकार अपने को तैयार करे। विषयी जीवन का मुख्य उद्देश्य अच्छी सन्तान उत्पन्न करना है। अच्छी सन्तान उत्पन्न करने की परिस्थितियों का वर्णन कामशास्त्र में प्राप्त है। शास्त्रों में जिस-जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, सब कुछ वर्णित है—कैसा घर हो, कैसी सजावट हो, पत्नी कैसा वस्त्र धारण करे, किस प्रकार उबटन, सुगंधि लगाए तथा अन्य हाव-भाव बनाए। ऐसा करने से पति उसकी सुन्दरता से आकृष्ट होगा और उपयुक्त मानसिक स्थिति तैयार हो सकेगी। तब संभोग-काल की यह मानसिक स्थिति पत्नी के गर्भ में स्थानान्तरित हो सकेगी और उस गर्भधारण से अच्छी सन्तान उत्पन्न हो सकती है। यहाँ पर देवहूति के शारीरिक वैशिष्ट्य का विशेष उल्लेख है। वह अत्यन्त कृशकाय हो गई थी, अतः उसे भय था कि हो सकता है, वह कर्दम को आकर्षक न लगे। वह जानना चाहती थी कि पति को आकर्षित करने के लिए शरीर को किस तरह सुधारे। जब संभोग काल में पति आकृष्ट होता है, तो पुत्र उत्पन्न हो सकता है, किन्तु जब पति पर पत्नी आकृष्ट होती है, तो कन्या उत्पन्न हो सकती है। इसका उल्लेख आयुर्वेद में है। जब स्त्री की कामेच्छा प्रबल होती है, तो कन्या के उत्पन्न होने की और जब पुरुष की कामेच्छा प्रबल हो तो पुत्र उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। देवहूति काम-शास्त्र में वर्णित व्यवस्था के अनुसार अपने पति की कामेच्छा को प्रबल बनाना चाह रही थी। वह ऐसी ही शिक्षा चाह रही थी। साथ ही उसने विनय की कि एक उपयुक्त घर की भी व्यवस्था हो,

क्योंकि जिस कुटी में कर्दम मुनि रह रहे थे वह अत्यन्त सादी और सत्त्वगुण से युक्त थी जिसमें कामेच्छा के उत्पन्न होने की सम्भावना कम थी।

मैत्रेय उवाच
प्रियायाः प्रियमन्विच्छन्कर्दमो योगमास्थितः ।
विमानं कामगं क्षत्तस्तर्ह्येवाविरचीकरत् ॥ १२॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—मैत्रेय मुनि ने; उवाच—कहा; प्रियायाः—अपनी प्रिय पत्नी की; प्रियम्—इच्छा, चाह; अन्विच्छन्—खोजते हुए; कर्दमः—कर्दम मुनि ने; योगम्—योगशक्ति; आस्थितः—प्रयोग किया; विमानम्—विमान; काम-गम्—इच्छानुसार चलने वाला; क्षत्तः—हे विदुर; तर्हि—तुरन्त; एव—ही; आविरचीकरत्—उत्पन्न किया।

मैत्रेय ने आगे कहा—हे विदुर, अपनी प्रिया की इच्छा को पूरा करने के लिए कर्दम मुनि ने अपनी योगशक्ति का प्रयोग किया और तुरन्त ही एक हवाई महल (विमान) उत्पन्न कर दिया जो उनकी इच्छानुसार यात्रा कर सकता था।

तात्पर्य : यहाँ पर *योगम् आस्थितः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। कर्दम मुनि योग में पूर्णतया सिद्ध थे। योगाभ्यास के फलस्वरूप आठ प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—योगी लघुतम से भी लघु, गुरुतम से भी गुरु एवं अत्यन्त हल्का हो सकता है। वह इच्छानुसार जो भी चाहे प्राप्त कर सकता है, चाहे तो लोक की सृष्टि कर दे, किसी पर भी अपना प्रभाव डाल दे इत्यादि। इस प्रकार योगसिद्धि प्राप्त की जाती है और इसी के बाद आत्म-जीवन की सिद्धि प्राप्त होती है। इस प्रकार अपनी इच्छानुसार अपनी प्राणप्रिया की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए वायु में प्रासाद खड़ा कर देना कर्दम मुनि के लिए कोई आश्चर्य की बात न थी। अतः उन्होंने तुरन्त ही प्रासाद (महल) उत्पन्न कर दिया, जिसका वर्णन अगले श्लोकों में हुआ है।

सर्वकामदुघं दिव्यं सर्वरत्नसमन्वितम् ।
सर्वर्द्ध्युपचयोदर्कं मणिस्तम्भैरुपस्कृतम् ॥ १३॥

शब्दार्थ

सर्व—समस्त; काम—इच्छाएँ; दुघम्—प्रदायक; दिव्यम्—आश्चर्यमय; सर्व-रत्न—सभी प्रकार की मणियों; समन्वितम्—से जटित; सर्व—समस्त; ऋद्धि—सम्पत्ति की; उपचय—वृद्धि; उदर्कम्—क्रमिक; मणि—बहुमूल्य रत्नों के; स्तम्भैः—ख भों से; उपस्कृतम्—सुशोभित।

यह सभी प्रकार के रत्नों से जटित, बहुमूल्य मणियों के ख भों से सुशोभित तथा

इच्छित फल प्रदान करने वाली विस्मयजनक संरचना (महल) थी। यह सभी प्रकार के साज-सामान तथा सम्पदा से सुसज्जित था, जो दिन-प्रति-दिन बढ़ने वाले थे।

तात्पर्य : कर्दम मुनि द्वारा सृजित प्रासाद ''हवाई किला'' कहा जा सकता है, किन्तु उन्होंने अपनी योगशक्ति से सचमुच वायु में बहुत बड़ा प्रासाद खड़ा कर दिया था। हम लोगों की कल्पना में हवाई किला असम्भव है, किन्तु यदि हम ठीक से विचार करें तो ऐसा असम्भव नहीं है। यदि श्रीभगवान् अनेक लोकों की सृष्टि कर सकते हैं, जो लाख-लाख हवाई किलों का वहन करते रहते हैं, तो क्या कर्दम जैसे सिद्ध योगी के लिए हवा में एक किला बनाना कठिन है? इस किले को *सर्वकामदुघम्* अर्थात् ''इच्छित वस्तु को देने वाला'' कहा गया है। यह मणियों से पूर्ण था। यहाँ तक कि इसमें ख भे भी मोती तथा अन्य बहुमूल्य पत्थरों से बने थे। ये अमूल्य मणि तथा रत्न कभी क्षय होने वाले न थे, वरन् नित्यप्रति इनकी कान्ति बढ़ने वाली थी। हमने इस पृथ्वी पर भी ऐसे प्रासादों के बारे में सुना है। भगवान् श्रीकृष्ण ने सोलह हजार एक सौ आठ पत्नियों के लिए जो प्रासाद बनाये थे वे मणियों से जटित थे जिससे रात्रि में प्रकाश की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी।

दिव्योपकरणोपेतं सर्वकालसुखावहम् ।
पट्टिकाभिः पताकाभिर्विचित्राभिरलङ्कृतम् ॥ १४॥
स्रग्भिर्विचित्रमाल्याभिर्मञ्जुशिञ्जत्षडङ्घ्रिभिः ।
दुकूलक्षौमकौशेयैर्नानावस्त्रैर्विराजितम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

दिव्य—विचित्र; उपकरण—सामग्री से; उपेतम्—युक्त; सर्व-काल—सभी ऋतुओं में; सुख-आवहम्—सुखदायक; पट्टिकाभिः—बंदनवारों से; पताकाभिः—पताकाओं से; विचित्राभिः—विभिन्न रंगों तथा धागों से; अलङ्कृतम्—सज्जित; स्रग्भिः—हारों से; विचित्र-माल्याभिः—आकर्षक पुष्पों से; मञ्जु—मधुर; शिञ्जत्—गुंजार करता; षट्-अङ्घ्रिभिः—भौरों से; दुकूल—महीन वस्त्र; क्षौम—लिनेन; कौशेयैः—रेशमी वस्त्र से; नाना—विविध; वस्त्रैः—पर्दों से; विराजितम्—शोभायमान।

यह प्रासाद (दुर्ग) सभी प्रकार की सामग्री से सुसज्जित था और यह सभी ऋतुओं में सुखदायक था। यह चारों ओर से पताकाओं, बन्दनवारों तथा नाना-विधिक रंगों की कला-कृतियों से सजाया गया था। यह आकर्षक पुष्पों के हारों से, जिससे मधुर गुंजार

करते भौंरे आकृष्ट हो रहे थे तथा लिनेन, रेशमी तथा अन्य तन्तुओं से बने पर्दों से शोभायमान था।

उपर्युपरि विन्यस्तनिलयेषु पृथक्पृथक् ।
क्षिप्तैः कशिपुभिः कान्तं पर्यङ्कव्यजनासनैः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

उपरि उपरि—एक के ऊपर एक; विन्यस्त—रखे हुए; निलयेषु—मंजिलों में; पृथक् पृथक्—अलग अलग; क्षिप्तैः—व्यवस्थित; कशिपुभिः—बिस्तरे (शय्या) से; कान्तम्—कमनीय; पर्यङ्क—पलंग; व्यजन—पंखे; आसनैः—आसनों (बैठने के स्थान, सीट) सहित।

यह प्रासाद शय्याओं, पलंगों, पंखों तथा आसनों से युक्त सात पृथक्-पृथक् मंजिलों (तल्लों) वाला होने से अत्यन्त मनोहर लग रहा था।

तात्पर्य : इस श्लोक से पता चलता है कि प्रासाद में कई मंजिलें थीं। *उपरि उपरि विन्यस्त* शब्द सूचित करते हैं कि गगनचुम्बी भवन नये ईजाद नहीं हैं। उन दिनों लाखों वर्ष पूर्व भी कई मंजिलो के मकान बनाने का प्रचलन था। उनमें एक या दो कमरे नहीं थे वरन् अनेक खण्ड होते थे और प्रत्येक कुशन, गद्दों, कुर्सियों, गलीचों से सज्जित होते थे।

तत्र तत्र विनिक्षिप्तनानाशिल्पोपशोभितम् ।
महामरकतस्थल्या जुष्टं विद्रुमवेदिभिः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तत्र तत्र—जहाँ तहाँ; विनिक्षिप्त—रखे हुए; नाना—विविध; शिल्प—कला-कृतियों से; उपशोभितम्—अत्यधिक सुन्दर; महा-मरकत—विशाल मरकत (पन्ना) के; स्थल्या—फर्श से; जुष्टम्—सुसज्जित; विद्रुम—मूँगे के; वेदिभिः—उठे हुए (ऊँचे) चबूतरों से।

दीवालों में जहाँ तहाँ कलापूर्ण संरचना होने से उनकी सुन्दरता बढ़ गई थी। उसकी फर्श मरकत मणि की थी और चबूतरे मूँगे के बने थे।

तात्पर्य : आजकल के मनुष्य को स्थापत्यकला पर गर्व है फिर भी फर्शें सामान्यत: रंगीन सीमेंट से बनी रहती हैं। किन्तु कर्दममुनि ने योगशक्ति से जिस प्रासाद का निर्माण किया था उसकी फर्श पन्ने की थी और चबूतरे मूँगे के थे।

द्वाःसु विद्रुमदेहल्या भातं वज्रकपाटवत् ।
शिखरेष्विन्द्रनीलेषु हेमकुम्भैरधिश्रितम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

द्वाःसु—द्वारों पर; विद्रुम—मूँगे की; देहल्या—देहली से युक्त; भातम्—सुन्दर; वज्र—हीरों से जटित; कपाट-वत्—दरवाजों से युक्त; शिखरेषु—गुम्बदों पर; इन्द्र-नीलेषु—इन्द्र नीलमणि के; हेम-कुम्भैः—सोने के कलशों से युक्त; अधिश्रितम्—रखे हुए।

वह महल अतीव सुन्दर था, उसके द्वारों की देहलियाँ मूँगे की थीं और दरवाजे हीरों से जटित थे। इन्द्र नीलमणि के बने गुम्बदों पर सोने के कलश रखे हुए थे।

चक्षुष्मत्पद्मरागाछ्यैर्वज्रभित्तिषु निर्मितैः ।
जुष्टं विचित्रवैतानैर्महार्हैर्हेमतोरणैः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

चक्षुः-मत्—मानो आँखों से युक्त हो; पद्म-राग—लालमणि, माणिक; अछ्यैः—चुने हुए; वज्र—हीरे की; भित्तिषु—दीवालों पर; निर्मितैः—जड़े हुए; जुष्टम्—सुसज्जित; विचित्र—तरह तरह के; वैतानैः—वितानों (चँदोवों) से; महा-अर्हैः—अत्यन्त बहुमूल्य; हेम-तोरणैः—सोने के तोरणों (द्वारों) से।

वह हीरों की दीवालों में जड़े हुए मनभावने माणिक से ऐसा प्रतीत होता था मानो नेत्रों से युक्त हो। वह विचित्र चँदोवों और अत्यधिक मूल्यवान सोने के तोरणों से सुसज्जित था।

तात्पर्य : ऐसे कलापूर्ण आभूषण और सजावट, जिससे आँखों जैसी आकृति प्रकट हो, काल्पनिक नहीं हैं। यहाँ तक कि अर्वाचीन वर्षों में मुगल सम्राटों ने बहुमूल्य हीरे-मोतियों की पच्चीकारी वाले पक्षी, जिनके नेत्र बहुमूल्य प्रस्तरों के बने थे, निर्मित कराये थे। यद्यपि अधिकारियों ने इन प्रस्तरों को निकाल लिया है, किन्तु तो भी नई दिल्ली के मुगल सम्राटों द्वारा निर्मित किलों में पच्चीकारी अब भी विद्यमान है। शाही महलों का निर्माण मणियों तथा नेत्र के समान दुर्लभ पत्थरों से हुआ था कि इस प्रकार इनसे रात्रि के समय प्रकाश फेंक सकें और दीपकों की आवश्यकता नहीं रहेगी।

हंसपारावतव्रातैस्तत्र तत्र निकूजितम् ।
कृत्रिमान्मन्यमानैः स्वानधिरुह्याधिरुह्य च ॥ २० ॥

शब्दार्थ

हंस—हंसों के; पारावत—कबूतरों के; व्रातैः—झुंड के झुंड से; तत्र तत्र—इधर उधर; निकूजितम्—शोर करते; कृत्रिमान्—कृत्रिम; मन्यमानैः—सोचते हुए; स्वान्—अपनी तरह के; अधिरुह्य अधिरुह्य—बार-बार उड़कर; च—तथा।

उस प्रासाद में जहाँ तहाँ जीवित हंसों तथा कबूतरों के साथ ही कृत्रिम हंस तथा कबूतर इतने सजीव थे कि असली हंस उन्हें अपने ही तुल्य सजीव पक्षी समझ कर अपनी गर्दनें ऊपर उठा रहे थे। इस प्रकार वह प्रासाद इन पक्षियों के ध्वनियों से गूँज रहा था।

विहारस्थानविश्रामसंवेशप्राङ्गणाजिरैः ।
यथोपजोषं रचितैर्विस्मापनमिवात्मनः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

विहार-स्थान—क्रीड़ा-स्थल; विश्राम—आराम करने के कक्ष; संवेश—शयनगृह; प्राङ्गण—आँगन; अजिरैः—बाहरी खुला स्थान, चौक; यथा-उपजोषम्—सुविधानुसार; रचितैः—निर्मित; विस्मापनम्—विस्मय उत्पन्न करने वाले; इव—निस्सन्देह; आत्मनः—स्वयं (कर्दम द्वारा)।

उस प्रासाद में क्रीड़ास्थल, विश्रामघर, शयनगृह, आँगन तथा चौकें थीं जो नेत्रों को सुख देने वाली थीं। इन सबसे स्वयं मुनि को विस्मय हो रहा था।

तात्पर्य : साधु-संत पुरुष होने के कारण कर्दम मुनि एक सादी झोपड़ी में रह रहे थे, अतः जब उन्होंने अपनी योगशक्ति से निर्मित प्रासाद को देखा जिसमें विश्रामगृह, काम-क्रीड़ा के कक्ष तथा भीतरी एवं बाहरी आँगन थे, तो वे स्वयं विस्मित हुए। देव-तुल्य पुरुष का यही ढंग है। कर्दम मुनि जैसे भक्त ने अपनी पत्नी की विनती पर अपनी योगशक्ति से जितना ऐश्वर्य प्रदर्शित किया उस पर स्वयं उन्हें आश्चर्य हो रहा था। जब योगी की शक्ति प्रदर्शित होती है, तो कभी-कभी योगी स्वयं विस्मित हो जाता है।

ईदृग्गृहं तत्पश्यन्तीं नातिप्रीतेन चेतसा ।
सर्वभूताशयाभिज्ञः प्रावोचत्कर्दमः स्वयम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

ईदृक्—ऐसे; गृहम्—घर को; तत्—वह; पश्यन्तीम्—देखती हुई; न अतिप्रीतेन—अधिक प्रसन्न नहीं हुई; चेतसा—हृदय से; सर्व-भूत—प्रत्येक प्राणी के; आशय-अभिज्ञः—हृदय को जानते हुए; प्रावोचत्—सम्बोधित किया; कर्दमः—कर्दम ने; स्वयम्—स्वयं।

जब उन्होंने देखा कि देवहूति इतने विशाल, ऐश्वर्ययुक्त प्रासाद (भवन) को अप्रसन्न हृदय से देख रही है, तो कर्दम मुनि को उसकी भावनाओं का पता चला, क्योंकि वे

किसी के हृदय की बात जान सकते थे। अत: उन्होंने अपनी पत्नी को स्वयं ही इस प्रकार सम्बोधित किया।

तात्पर्य : देवहूति ने अपने देह की परवाह किये बिना कुटी में ही दीर्घकाल बिताया था। वह धूल-धूसरित थी और उसके वस्त्र भी बहुत अच्छे न थे। कर्दम मुनि को आश्चर्य हो रहा था कि उन्होंने ऐसा प्रसाद कैसे निर्मित कर दिया और उनकी पत्नी देवहूति भी उसी तरह विस्मित थी। वह भला ऐसे प्रासाद में कैसे रहती? कर्दम मुनि को उसके आश्चर्य का पता चल गया इसीलिए वे इस प्रकार बोले।

निमज्ज्यास्मिन्ह्रदे भीरु विमानमिदमारुह ।
इदं शुक्लकृतं तीर्थमाशिषां यापकं नृणाम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

निमज्ज्य—स्नान करके; अस्मिन्—इसमें; ह्रदे—सरोवर में; भीरु—अरे डरपोक; विमानम्—विमान में; इदम्—इस; आरुह—चढ़ जाओ; इदम्—यह; शुक्ल-कृतम्—भगवान् विष्णु द्वारा निर्मित; तीर्थम्—पवित्र सरोवर; आशिषाम्—इच्छाओं को; यापकम्—देते हुए; नृणाम्—मनुष्यों की।

प्रिये देवहूति, तुम इतनी भयभीत क्यों हो? पहले स्वयं भगवान् विष्णु द्वारा निर्मित बिन्दु-सरोवर में स्नान करो, जो मनुष्य की समस्त इच्छाओं को पूरा करने वाला है और तब इस विमान पर चढ़ो।

तात्पर्य : आज भी तीर्थस्थानों में जाकर वहाँ जल में स्नान करने की प्रथा है। वृन्दावन में लोग यमुना नदी में स्नान करते हैं। अन्य स्थानों में भी, यथा प्रयाग में लोग गंगा नदी में स्नान करते हैं। *तीर्थम् आशिषां यापकम्* शब्द तीर्थस्थानों में स्नान करने से मनोवांछित फल प्राप्त होने का संकेत करते हैं। कर्दम मुनि ने अपनी पत्नी को बिन्दु-सरोवर में स्नान करने के लिए कहा जिससे वह अपना पूर्व शारीरिक सौन्दर्य तथा कान्ति प्राप्त कर सके।

सा तद्भर्तुः समादाय वचः कुवलयेक्षणा ।
सरजं बिभ्रती वासो वेणीभूतांश्च मूर्धजान् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; तत्—तब; भर्तुः—अपने पति का; समादाय—स्वीकार करके; वचः—शब्द; कुवलय-ईक्षणा—कमल के समान नेत्र वाली; स-रजम्—मैली-कुचैली; बिभ्रती—पहने हुए; वासः—वस्त्र; वेणी-भूतान्—जटा तुल्य लटें; च—तथा; मूर्ध-जान्—बाल।

कमललोचना देवहूति ने अपने पति की आज्ञा मान ली। मैले-कुचैले वस्त्रों तथा सिर पर बालों के जटों के कारण वह आकर्षक नहीं दिख रही थी।

तात्पर्य : ऐसा लगता है कि देवहूति के बाल वर्षों से सँवारे नहीं गये थे जिससे उसमें जटें पड़ गई थीं। कहने का तात्पर्य यह कि अपने पति की सेवा में व्यस्त रहने के कारण उसने अपने शारीरिक वस्त्र तथा सुख-सुविधा की तनिक परवाह नहीं की थी।

अङ्गं च मलपङ्केन सञ्छन्नं शबलस्तनम् ।
आविवेश सरस्वत्याः सरः शिवजलाशयम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

अङ्गम्—शरीर; च—तथा; मल-पङ्केन—धूल से; सञ्छन्नम्—ढकी; शबल—विवर्ण, कान्तिहीन; स्तनम्—वक्षस्थल; आविवेश—प्रवेश किया; सरस्वत्याः—सरस्वती नदी के; सरः—सरोवर झील; शिव—पवित्र; जल—जल; आशयम्—युक्त।

उसके शरीर पर धूल की मोटी पर्त चढ़ी थी और उसके स्तन कान्तिहीन हो गये थे। किन्तु उसने सरस्वती नदी के पवित्र जल से भरे सरोवर में डुबकी लगाई।

सान्तः सरसि वेश्मस्थाः शतानि दश कन्यकाः ।
सर्वाः किशोरवयसो ददर्शोत्पलगन्धयः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सा—उसने; अन्तः—भीतर; सरसि—सरोवर में; वेश्म-स्थाः—घर में स्थित; शतानि दश—एक हजार; कन्यकाः—कन्याएँ; सर्वाः—समस्त; किशोर-वयसः—किशोर अवस्था की; ददर्श—देखा; उत्पल—कमलों के समान; गन्धयः—सुगन्धित।

उसने सरोवर के भीतर एक घर में एक हजार कन्याएँ देखीं जो सब की सब अपनी किशोरावस्था में थीं और कमलों के समान सुगन्धित थीं।

तां दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रोचुः प्राञ्जलयः स्त्रियः ।
वयं कर्मकरीस्तुभ्यं शाधि नः करवाम किम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उसको; दृष्ट्वा—देखकर; सहसा—एकाएक; उत्थाय—उठकर; प्रोचुः—उन्होंने कहा; प्राञ्जलयः—हाथ जोड़े; स्त्रियः—स्त्रियाँ; वयम्—हम; कर्म-करीः—दासियाँ; तुभ्यम्—तुम्हारे लिए; शाधि—कृपा करके कहो; नः—हमको; करवाम—हम कर सकती हैं; किम्—क्या।

उसे देखकर वे तरुणियाँ सहसा उठ खड़ी हुईं और हाथ जोड़कर कहा, ''हम आपकी दासी हैं। कृपा करके बताएँ कि हम आपके लिए क्या करें?''

तात्पर्य : जब उस बड़े प्रासाद में मैले वस्त्र पहने देवहूति सोच रही थी कि वह क्या करे तो कर्दम मुनि ने अपनी योगशक्ति से एक हजार दासियाँ सेवा करने के लिए उत्पन्न कर दीं। वे जल के भीतर देवहूति के समक्ष प्रकट हुईं और दासियों के रूप में आज्ञा के लिए प्रतीक्षा करने लगीं।

स्नानेन तां महार्हेण स्नापयित्वा मनस्विनीम् ।
दुकूले निर्मले नूत्ने ददुरस्यै च मानदाः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

स्नानेन—नहाने के तेल से; ताम्—उसको; महा-अर्हेण—बहूमूल्य; स्नापयित्वा—स्नान कराकर; मनस्विनीम्—सच्चरित्र पत्नी को; दुकूले—सुन्दर वस्त्र में; निर्मले—स्वच्छ; नूत्ने—नवीन; ददुः—दिया; अस्यै—उसको; च—तथा; मान-दाः—सम्मान करने वाली।

देवहूति के प्रति अत्यन्त सम्मान प्रदर्शित करने वाली कन्याएँ उसे बाहर लाईं और बहुमूल्य तेलों तथा उबटनों को लगाकर नहलाया और उसे महीन, निर्मल, नये वस्त्र पहनने को दिये।

भूषणानि परार्ध्यानि वरीयांसि द्युमन्ति च ।
अन्नं सर्वगुणोपेतं पानं चैवामृतासवम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

भूषणानि—आभूषण; पर-अर्ध्यानि—अत्यन्त मूल्यवान; वरीयांसि—श्रेष्ठ; द्युमन्ति—चमकीले; च—तथा; अन्नम्—भोजन; सर्व-गुण—समस्त सद्गुण; उपेतम्—से युक्त; पानम्—पेय पदार्थ; च—तथा; एव—भी; अमृत—मधुर; आसवम्—मादक।

तब उन्होंने उसे उत्तम तथा बहुमूल्य आभूषणों से सजाया जो चमचमा रहे थे। फिर उन्होंने सर्वगुण सम्पन्न भोजन तथा मधुर मादक पेय पदार्थ आसवम् प्रदान किया।

तात्पर्य : आसव एक आयुर्वेदिक भेषज है, यह मद्य नहीं है। यह विशेष प्रकार की औषधियों से तैयार किया जाता है और स्वस्थ रहने, पाचन आदि सुधारने के लिए होता है।

अथादर्शे स्वमात्मानं स्त्रग्विणं विरजाम्बरम् ।
विरजं कृतस्वस्त्ययनं कन्याभिर्बहुमानितम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; आदर्शे—दर्पण में; स्वम् आत्मानम्—अपने प्रतिबिम्ब को; स्त्रक्-विणम्—माला से सजी; विरज—निर्मल; अम्बरम्—वस्त्र; विरजम्—मलरहित; कृत-स्वस्ति-अयनम्—शुभ-चिह्नों से अलंकृत; कन्याभि:—दासियों द्वारा; बहु-मानितम्—अत्यन्त आदरपूर्वक सेवित।

तब उसने दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखा। उसका शरीर समस्त प्रकार के मल से रहित हो गया था और वह माला से सज्जित की गई थी। वह निर्मल वस्त्र पहने थी और शुभ तिलक से विभूषित थी। दासियाँ उसकी अत्यन्त आदरपूर्वक सेवा कर रही थीं।

स्नातं कृतशिर:स्नानं सर्वाभरणभूषितम् ।
निष्कग्रीवं वलयिनं कूजत्काञ्चननूपुरम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

स्नातम्—स्नान किये; कृत-शिर:—सिर सहित; स्नानम्—नहाते हुए; सर्व—सर्वत्र; आभरण—आभूषणों से; भूषितम्—अलंकृत; निष्क—लटकन से युक्त सोने का गले का हार; ग्रीवम्—गर्दन में; वलयिनम्—चूड़ियों से; कूजत्—ध्वनि करते; काञ्चन—सोने के बने; नूपुरम्—पायल।

सिर सहित उसका सारा शरीर नहलाया गया और उसके अंग-प्रत्यंग को आभूषणों से सजाया गया। उसने लटकन से युक्त हार (हार-हुमेल) पहना था। उसकी कलाइयों में चूड़ियाँ थीं और उसकी एड़ियों में सोने के खनकते पायल थे।

तात्पर्य : यहाँ *कृत-शिर:-स्नानम्* शब्द आया है। स्मृति शास्त्र में नित्यकर्मों में जो निर्देश दिये गये हैं उनमें स्त्रियों को प्रतिदिन गर्दन तक स्नान करने की अनुमति है। प्रतिदिन सिर के बालों को धोने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि बाल गीले रहने से ठंड पकड़ सकती है। अत: सामान्य रूप से स्त्रियों को गले तक स्नान करने का विधान है और कुछ विशेष अवसरों पर ही वे पूर्ण स्नान करती हैं। इस अवसर पर देवहूति ने पूर्ण स्नान किया और अपने केशों को ठीक से धोया। जब स्त्री सामान्य स्नान करती है, तो उसे *मल-स्नान* कहते हैं, किन्तु जब वह सिर समेत पूर्ण स्नान करती है, तो उसे *शिर-स्नान* कहते हैं। ऐसे अवसर पर सिर में लगाने के लिए काफी तेल लगता है। स्मृतिशास्त्र के टीकाकारों का यही आदेश है।

श्रोण्योरध्यस्तया काञ्च्या काञ्चन्या बहुरत्नया ।
हारेण च महार्हेण रुचकेन च भूषितम् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

श्रोण्योः—कटि-भाग पर; अध्यस्तया—पहने हुए; काञ्च्या—करधनी से; काञ्चन्या—सोने की; बहु-रत्नया—अनेक रत्नों से भूषित; हारेण—मोती के हार से; च—तथा; महा-अर्हेण—बहुमूल्य; रुचकेन—शुभ समाग्रियों से; च—तथा; भूषितम्—सज्जित।

उसने कमर में अनेक रत्नों से जटित सोने की करधनी पहन रखी थी; वह बहुमूल्य मोतियों के हार तथा मंगल-द्रव्यों से सुसज्जित थी।

तात्पर्य : मंगल-द्रव्यों में केसर, कुमकुम तथा चन्दन का लेप सम्मिलित हैं। नहाने के पूर्व अन्य पदार्थ भी समूचे शरीर में मले जाते हैं यथा सरसों के तेल के साथ हल्दी। देवहूति को ऊपर से नीचे तक नहलाने के लिए सभी प्रकार की मंगल वस्तुएँ प्रयुक्त की गईं।

सुदता सुभ्रुवा श्लक्ष्णस्निग्धापाङ्गेन चक्षुषा ।
पद्मकोशस्पृधा नीलैरलकैश्च लसन्मुखम् ॥ ३३॥

शब्दार्थ

सुदता—सुन्दर दाँतों वाली; सु-भ्रुवा—मनोहर भौहों वाली; श्लक्ष्ण—सुन्दर; स्निग्ध—गीली; अपाङ्गेन—तिरछी चितवन से; चक्षुषा—आँखों से; पद्म-कोश—कमल की कलियाँ; स्पृधा—परास्त करने वाली; नीलैः—नीली-नीली; अलकैः—घुँघराले बाल से; च—तथा; लसत्—चमकती हुई; मुखम्—मुख।

उसका मुखमण्डल सुन्दर दाँतों तथा मनोहर भौहों से चमक रहा था। उसके नेत्र सुन्दर स्निग्ध कोरों से स्पष्ट दिखाई पड़ने के कारण कमल कली की शोभा को मात करते थे। उसका मुख काले घुँघराले बालों से घिरा हुआ था।

तात्पर्य : वैदिक संस्कृति के अनुसार श्वेत दाँतों को अत्यधिक पसन्द किया जाता है। देवहूति के श्वेत दाँतों से उसके मुख की सुन्दरता बढ़ गई और वह कमल पुष्प के समान दिखने लगा। जब मुख अत्यन्त आकर्षक लगता है, तो नेत्रों की तुलना कमलदलों से और मुख की उपमा कमल पुष्प से दी जाती है।

यदा सस्मार ऋषभमृषीणां दयितं पतिम् ।
तत्र चास्ते सह स्त्रीभिर्यत्रास्ते स प्रजापतिः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

यदा—जब; सस्मार—स्मरण किया; ऋषभम्—अग्रगण्य; ऋषीणाम्—ऋषियों में; दयितम्—प्रिय; पतिम्—पति; तत्र—वहाँ; च—तथा; आस्ते—उपस्थित थी; सह—साथ; स्त्रीभि:—दासियों के; यत्र—जहाँ; आस्ते—उपस्थित था; स:—वह; प्रजापति:—प्रजापति (कर्दम)।

जब उसने ऋषियों में अग्रगण्य अपने परम प्रिय पति कर्दम मुनि का स्मरण किया, तो वह अपनी समस्त दासियों सहित वहाँ प्रकट हो गई जहाँ मुनि थे।

तात्पर्य : इस श्लोक से लगता है कि प्रारम्भ में देवहूति अपने को मैली-कुचैली समझकर बेढंगे वस्त्र धारण किये थी। जब उसके पति ने सरोवर में प्रवेश करने के लिए कहा तो उसे दासियाँ दिखीं जिन्होंने उसकी देखभाल की। यह सब जल के भीतर हुआ और ज्योंही उसने अपने प्रिय पति कर्दम मुनि का स्मरण किया, तो तुरन्त ही वह उनके समक्ष उपस्थित हो गई। ये कुछ शक्तियाँ हैं, जिन्हें सिद्ध योगी प्राप्त करते हैं। वे इच्छानुसार कुछ भी कर सकते हैं।

भर्तुः पुरस्तादात्मानं स्त्रीसहस्रवृतं तदा ।
निशाम्य तद्योगगतिं संशयं प्रत्यपद्यत ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

भर्तु:—अपने पति की; पुरस्तात्—उपस्थिति में, समक्ष; आत्मानम्—स्वयं को; स्त्री-सहस्र—एक हजार दासियों से; वृतम्—घिरी; तदा—तब; निशाम्य—देखकर; तत्—उसका; योग-गतिम्—योगशक्ति; संशयम् प्रत्यपद्यत—वह चकित हुई।

अपने पति की उपस्थिति में अपने चारों ओर एक हजार दासियाँ और पति की योगशक्ति देखकर वह अत्यन्त चकित थी।

तात्पर्य : देवहूति ने प्रत्येक वस्तु को चमत्कारिक ढंग से होते देखा, किन्तु जब उसे पति के समक्ष लाया गया तो उसकी समझ में आया कि यह सब उनकी योगशक्ति से हुआ। वह समझ गई कि कर्दम मुनि जैसे योगी के लिए कुछ भी करना असम्भव नहीं है।

स तां कृतमलस्नानां विभ्राजन्तीमपूर्ववत् ।
आत्मनो बिभ्रतीं रूपं संवीतरुचिरस्तनीम् ॥ ३६ ॥
विद्याधरीसहस्रेण सेव्यमानां सुवाससम् ।
जातभावो विमानं तदारोहयदमित्रहन् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

सः—मुनि; ताम्—उसको (देवहूति को); कृत-मल-स्नानाम्—स्वच्छ स्नान किये हुए; विभ्राजन्तीम्—चमकती हुई; अपूर्व-वत्—अतुलनीय; आत्मनः—उसका निजी; बिभ्रतीम्—से युक्त; रूपम्—सौंदर्य; संवीत—कसे हुए; रुचिर—मोहक; स्तनीम्—वक्षस्थलों वाली; विद्याधरी—गंधर्वकुमारियों से; सहस्रेण—एक हजार; सेव्यमानाम्—सेवित; सु-वाससम्—श्रेष्ठ वस्त्रों से युक्त; जात-भावः—भाव से विभोर; विमानम्—प्रासाद जैसा विमान; तत्—उस; आरोहयत्—उसे चढ़ा लिया; अमित्र-हन्—हे शत्रुओं के नाशकर्ता।

मुनि ने देखा कि देवहूति ने स्नान कर लिया है और चमक रही है मानो वह उनकी पहले वाली पत्नी नहीं है। उसने राजकुमारी जैसा अपना पूर्व सौन्दर्य पुनः प्राप्त कर लिया था। वह श्रेष्ठ वस्त्रों से आच्छादित सुन्दर वक्षस्थलों वाली थी। उसकी आज्ञा के लिए एक हजार गंधर्व कन्याएँ खड़ी थीं। हे शत्रुजित, मुनि को उसकी चाह उत्पन्न हुई और उन्होंने उसे हवाई-प्रासाद में चढ़ा लिया।

तात्पर्य : विवाह के पूर्व जब देवहूति अपने माता-पिता के साथ कर्दम मुनि के समक्ष आई थी तो वह अत्यन्त सुन्दरी राजकुमारी थी। कर्दम मुनि को उसके पूर्व सौन्दर्य का स्मरण था। किन्तु ब्याह के बाद वह मुनि की सेवा में तल्लीन हो गई और उसने अपने शरीर की परवाह न की, क्योंकि कोई साधन नहीं था। वह पति के साथ कुटी में रहकर उसकी सेवा में लगी रहती थी, जिससे उसका राजसी सौन्दर्य जाता रहा और वह एक सामान्य दासी की तरह लगने लगी थी। जब कर्दम मुनि की आज्ञा से गंधर्व कुमारियों ने उसे स्नान कराया तो उसे पूर्ववत् सौन्दर्य प्राप्त हो गया जिससे कर्दम मुनि उससे आकृष्ट हुए। तरुणी का वास्तविक सौन्दर्य उसके स्तनों में है। जब कर्दम मुनि ने अपनी पत्नी के अलंकृत स्तनों को देखा, जिससे उसका सौंदर्य कई गुना बढ़ा हुआ था, तो एक महान् मुनि होते हुए भी वे आकर्षित हो गये। अत: श्रीपाद शंकराचार्य ने दिव्य ज्ञानियों को सचेत किया कि जो दिव्य-साक्षात्कार के लिए तत्पर रहते हैं उन्हें स्त्रियों के उन्नत स्तनों से आकृष्ट नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे शरीर के भीतर चर्बी तथा रक्त की अन्त:क्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

तस्मिन्नलुप्तमहिमा प्रिययानुरक्तो
विद्याधरीभिरुपचीर्णवपुर्विमाने ।
बभ्राज उत्कचकुमुद्गणवानपीच्य-
स्ताराभिरावृत इवोडुपतिर्नभःस्थः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उसमें; अलुप्त—बिना खोये हुए; महिमा—यश; प्रियया—अपनी प्रियतमा के साथ; अनुरक्तः—लुब्ध; विद्याधरीभिः—गंधर्व कन्याओं से; उपचीर्ण—सेवित; वपुः—शरीर; विमाने—विमान में; बभ्राज—चमकता था; उत्कच—खुला; कुमुत्-गणवान्—चन्द्रमा जिससे कुमुदिनियाँ खिलती हैं; अपीच्यः—अत्यन्त आकर्षक; ताराभिः—तारागणों से; आवृतः—घिरा हुआ; इव—जिस प्रकार; उडु-पतिः—चन्द्रमा (नक्षत्रों में मुख्य); नभः-स्थः—आकाश में।

अपनी प्रिया पर अत्यधिक अनुरक्त रहने तथा गंधर्व-कन्याओं द्वारा सेवित होने पर भी मुनि की महिमा कम नहीं हुई, क्योंकि उनको अपने पर नियंत्रण प्राप्त था। उस हवाई-प्रासाद में कर्दम मुनि अपनी प्रिया के साथ इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो आकाश में नक्षत्रों के बीच चन्द्रमा हो, जिससे रात्रि में जलाशयों में कुमुदिनियाँ खिलती हैं।

तात्पर्य : चूँकि प्रासाद आकाश में था, अत: इस श्लोक में पूर्ण चन्द्रमा तथा नक्षत्रों से दी गई उपमा अत्यन्त सुन्दर है। कर्दम मुनि पूर्ण चन्द्रमा के समान लग रहे थे और उनकी पत्नी देवहूति के चारों ओर एकत्र कन्याएँ नक्षत्रों के समान थीं। पूर्णिमा की रात्रि में नक्षत्र तथा चन्द्रमा मिलकर सुन्दर नक्षत्र-समूह की रचना करते हैं; उसी तरह आकाश स्थित उस प्रासाद में कर्दम मुनि गंधर्व कन्याओं से घिरी अपनी सुन्दर पत्नी के साथ चन्द्रमा तथा नक्षत्रों के समान प्रतीत हो रहे थे।

तेनाष्टलोकपविहारकुलाचलेन्द्र-
द्रोणीष्वनङ्गसखमारुतसौभगासु ।
सिद्धैर्नुतो द्युधुनिपातशिवस्वनासु
रेमे चिरं धनदवल्ललनावरूथी ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तेन—उस विमान से; अष्ट-लोक-प—आठों स्वर्गलोकों के मुख्य देवताओं का; विहार—भ्रमणस्थली; कुल-अचल-इन्द्र—पर्वतों के राजा (मेरु) की; द्रोणीषु—घाटियों में; अनङ्ग—कामदेव का; सख—साथी; मारुत—वायु से; सौभगासु—सुन्दर; सिद्धैः—सिद्धों के द्वारा; नुतः—प्रशंसित; द्यु-धुनि—गंगा की; पात—गिरने की; शिव-स्वनासु—मंगलध्वनि से हिलती; रेमे—सुख भोगा; चिरम्—दीर्घकाल तक; धनद-वत्—कुबेर के समान; ललना—कन्याओं से; वरूथी—घिरे हुए।

उस हवाई-प्रासाद में आरूढ़ हो वे मेरु पर्वत की सुखद घाटियों में भ्रमण करते रहे जो शीतल, मन्द तथा सुगन्ध वायु से अधिक सुन्दर होकर कामवासना को उत्तेजित

करनेवाली थी। इन घाटियों में देवताओं का धनपति कुबेर सुन्दरियों से घिरा रहकर और सिद्धों द्वारा प्रशंसति होकर आनन्द लाभ उठाता है। कर्दम मुनि भी अपनी पत्नी तथा उन सुन्दर कन्याओं से घिरे हुए वहाँ गये और अनेक वर्षों तक सुख-भोग किया।

तात्पर्य : कुबेर उन आठ देवताओं में से एक हैं, जो ब्रह्माण्ड की विभिन्न दिशाओं के स्वामी हैं। कहा जाता है कि इन्द्र ब्रह्माण्ड की पूर्व दिशा के स्वामी हैं, जिधर स्वर्ग स्थित है। इसी प्रकार अग्नि आग्नेय दिशा (दक्षिण-पूर्व) के स्वामी हैं। पापियों को दण्ड देने वाले यम दक्षिण दिशा के और निर्ऋति नैऋत्य दिशा (दक्षिण-पश्चिम) के स्वामी है। जल के स्वामी वरुण पश्चिम दिशा के स्वामी हैं तथा हवा को वश में रखने वाले तथा पंखों से उड़ने वाले वायु वायव्य (उत्तर-पश्चिम) दिशा के स्वामी हैं। देवताओं के कोषाध्यक्ष कुबेर ब्रह्माण्ड की उत्तर दिशा के स्वामी हैं। ये सारे देवता सूर्य तथा पृथ्वी के मध्य कहीं पर स्थित मेरुपर्वत की घाटी में आनन्द मनाते हैं। कर्दम मुनि ने इस हवाई प्रासाद में आठों दिशाओं की यात्रा की जिसका नियन्त्रण विभिन्न देवता करते हैं। देवताओं की भाँति वे भी मेरु पर्वत में विहार करने गये। जब कोई मनुष्य तरुणी सुन्दरियों से घिरा हो तो कामवासना का जागृत होना स्वाभाविक है। कर्दम मुनि को भी उत्तेजना हुई और वे वर्षों तक वहीं अपनी पत्नी के साथ विहार करते रहे। किन्तु उनके इस काम-व्यापार की सिद्धों ने प्रशंसा की, क्योंकि विश्व-कल्याण के लिए एक उत्तम संतान की आवश्यकता थी।

वैश्रम्भके सुरसने नन्दने पुष्पभद्रके ।
मानसे चैत्ररथ्ये च स रेमे रामया रतः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

वैश्रम्भके—वैश्रम्भक उद्यान में; सुरसने—सुरसन में; नन्दने—नन्दन में; पुष्पभद्रके—पुष्पभद्रक में; मानसे—मानसरोवर के तट पर; चैत्ररथ्ये—चैत्रपथ में; च—तथा; सः—वह; रेमे—भोग करता रहा; रामया—अपनी पत्नी से; रतः—तुष्ट।

अपनी पत्नी से संतुष्ट होकर वे उस विमान में न केवल मेरु पर्वत पर ही वरन् वैश्रम्भक, सुरसन, नन्दन, पुष्पभद्रक तथा चैत्ररथ्या में और मानसरोवर के तट पर भी विहार करते रहे।

भ्राजिष्णुना विमानेन कामगेन महीयसा ।
वैमानिकानत्यशेत चरँल्लोकान्यथानिलः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

भ्राजिष्णुना—कान्तिमान; विमानेन—विमान से; काम-गेन—इच्छानुसार उड़ने वाला; महीयसा—अत्यधिक; वैमानिकान्—अपने विमान में स्थित देवतागण; अत्यशेत—आगे बढ़ गया; चरन्—यात्रा करते हुए; लोकान्—लोकों से होकर; यथा—जिस प्रकार; अनिलः—वायु।

वे रास्ते में विभिन्न लोकों से होकर उसी तरह यात्रा करते रहे जिस प्रकार वायु प्रत्येक दिशा में अबाध रूप से चलती रहती है। उसी महान् तथा कान्तिमान हवाई-प्रासाद में, जो उनकी इच्छानुसार उड़ सकता था, बैठकर वे देवताओं से बाजी मार ले गये।

तात्पर्य : देवताओं द्वारा निवसित लोक अपनी-अपनी कक्ष्याओं तक ही सीमित रहते हैं, किन्तु कर्दम मुनि अपनी योगशक्ति से बिना रोक-टोक के ब्रह्माण्ड की किसी भी दिशा में यात्रा कर सके थे। इस ब्रह्माण्ड में रहने वाली जीवात्माएँ बद्धजीव कहलाती हैं अर्थात् वे अन्यत्र जाने के लिए स्वच्छन्द नहीं हैं। हम इस भूलोक के वासी हैं, हम अन्य लोकों में स्वच्छन्द विचरण नहीं कर सकते। आधुनिक युग में मानव अन्य लोकों (ग्रहों) में जाने का प्रयत्न कर रहा है, किन्तु अभी तक वह असफल रहा है। अन्य किसी लोक की यात्रा करना सम्भव नहीं है, क्योंकि प्राकृतिक नियमों के कारण देवता तक एक लोक से दूसरे में नहीं आ-जा सकते। किन्तु कर्दम मुनि अपनी योगशक्ति से देवताओं से भी आगे निकल गये थे और वे समस्त दिशाओं में आकाश में यात्रा कर सकते थे। यहाँ पर दी गई उपमा सटीक है। *यथा अनिलः* शब्द इस बात का सूचक है कि वायु बिना रोक-टोक के कहीं भी विचर सकती है, उसी तरह से कर्दम मुनि भी ब्रह्माण्ड की समस्त दिशाओं में भ्रमण कर रहे थे।

किं दुरापादनं तेषां पुंसामुद्दामचेतसाम् ।
यैराश्रितस्तीर्थपदश्चरणो व्यसनात्ययः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; दुरापादनम्—प्राप्त करना कठिन, दुर्लभ; तेषाम्—उनके लिए; पुंसाम्—मनुष्यों को; उद्दाम-चेतसाम्—जो दृढ़ संकल्प हैं; यैः—जिनके द्वारा; आश्रितः—शरण ली गई है; तीर्थ-पदः—श्रीभगवान् के; चरणः—पाँव; व्यसन-अत्ययः—भव-भय को हरने वाले।

जिन्होंने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के चरण-कमलों की शरण प्राप्त कर ली है उन दृढ़प्रतिज्ञ मनुष्यों के लिए कौन सी वस्तु दुर्लभ है? उनके चरण तो गंगा जैसी पवित्र नदी के उद्‍गम हैं, जिनसे सांसारिक जीवन के समस्त अनिष्ट दूर हो जाते हैं।

तात्पर्य : यहाँ *यैराश्रितस्तीर्थपदश्चरणो* शब्द समूह अत्यन्त सार्थक है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तीर्थपाद कहलाते हैं। गंगा पवित्र नदी कहलाती है, क्योंकि यह भगवान विष्णु के पाँव के अँगूठे से निकली है। गंगा बद्धजीवों के समस्त भौतिक संतापों का निवारण करने के निमित्त है। अत: जिस जीवात्मा ने भगवान् के पवित्र चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली है उसके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। कर्दम मुनि इसलिए विशिष्ट नहीं हैं, क्योंकि वे महान् योगी थे, वरन् इसलिए कि वे महान् भक्त थे। इसलिए यहाँ पर यह कहा गया है कि कर्दम जैसे महामुनि के लिए कुछ भी असम्भव न था। यद्यपि योगीजन आश्चर्यजनक कलाएँ दिखा सकते हैं जैसाकि कर्दम ने पहले ही कर दिखाया था, किन्तु वे किसी सामान्य योगी से बढ़कर थे, क्योंकि वे भगवान् के परम भक्त थे। इसलिए वे सामान्य योगी की अपेक्षा अधिक महिमांडित थे। जैसाकि *भगवद्‍गीता* में पुष्टि हुई है, "अनेक योगियों में वही सर्वश्रेष्ठ है, जो भगवान् का भक्त है।" कर्दम मुनि जैसे व्यक्ति के लिए बद्ध होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वे पहले से ही मुक्त थे और देवताओं से भी बढ़कर थे, क्योंकि वे भी बद्ध होते हैं। यद्यपि वे अपनी पत्नी तथा अन्य अनेक स्त्रियों के साथ विहार कर रहे थे, किन्तु भौतिक बद्धजीवन से ऊपर थे। इसीलिए *व्यसनात्यय:* शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो यह सूचित करता है कि वे बद्धजीव की स्थिति से ऊपर थे। वे समस्त भौतिक सीमाओं से परे थे।

प्रेक्षयित्वा भुवो गोलं पत्न्यै यावान्स्वसंस्थया ।
बह्वाश्चर्यं महायोगी स्वाश्रमाय न्यवर्तत ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

प्रेक्षयित्वा—दिखलाकर; भुव:—ब्रह्माण्ड का; गोलम्—गोलक; पत्न्यै—अपनी पत्नी को; यावान्—जितना भी; स्व-संस्थया—अपनी रचना सहित; बहु-आश्चर्यम्—अनेक आश्चर्यों से पूर्ण; महा-योगी—परमयोगी (कर्दम); स्व-आश्रमाय—अपने आश्रम को; न्यवर्तत—लौट आया।

अपनी पत्नी को अनेक आश्चर्यों से पूर्ण ब्रह्माण्ड गोलक तथा इसकी रचना

दिखलाकर परमयोगी कर्दम मुनि अपने आश्रम को लौट आये।

तात्पर्य : यहाँ पर सभी लोकों को *गोल* अर्थात् गोला कहकर वर्णन किया गया है। प्रत्येक लोक (ग्रह) गोला होता है और वैसे ही विश्रामस्थल है, जिस प्रकार सागर के भीतर द्वीप होता है। लोकों को कभी-कभी द्वीप या वर्ष भी कहते हैं। यह पृथ्वीलोक भारतवर्ष कहलाता है, क्योंकि राजा भरत इसमें राज्य करते थे। इस श्लोक में प्रयुक्त दूसरा महत्त्वपूर्ण शब्द है *बह्वाश्चर्यम्* अर्थात् "अनेक आश्चर्यजनक वस्तुएँ"। यह इस बात का सूचक है कि विभिन्न लोक ब्रह्माण्ड भर में आठों दिशाओं में फैले हुए हैं और इनमें से प्रत्येक आश्चर्यमय है। इनमें से प्रत्येक लोक की अपनी जलवायु है और विशिष्ट प्रकार के निवासी हैं और हर एक में सभी वस्तुएँ हैं, यहाँ तक कि ऋतुओं की सुन्दरता भी है। इसी प्रकार *ब्रह्म-संहिता* (५.४०) में कहा गया है—विभूतिभिन्नम्—प्रत्येक लोक में भिन्न-भिन्न प्रकार का ऐश्वर्य है। ऐसा नहीं है कि एक लोक दूसरे के जैसा ही हो; भगवान् की कृपा से, प्रकृति के नियमानुसार प्रत्येक लोक की रचना भिन्न प्रकार से हुई है और उसका आश्चर्यजनक ढाँचा भी भिन्न है। कर्दम मुनि को ऐसे सभी आश्चर्यों का स्वयं को अनुभव तब हुआ जब वे अपनी पत्नी के साथ यात्रा कर रहे थे, किन्तु तो भी वे अपने सादे से आश्रम में लौट आये। उन्होंने अपनी राजकुमारी-पत्नी को दिखा दिया कि भले ही वे आश्रम में रह रहे थे, किन्तु वे अपने योगबल से कहीं भी जा सकते थे और कुछ भी कर सकते थे। यही योग की सिद्धि है। मात्र कतिपय आसनों का प्रदर्शन करके कोई पूर्ण योगी नहीं बन सकता और न ही ऐसे आसनों के प्रदर्शन एवं तथाकथित ध्यान से कोई ईश्वर बन सकता है, जैसाकि आजकल विज्ञापित किया जा रहा है। मूर्ख लोग विश्वास करके दिग्भ्रमित हो जाते हैं कि छ: मास के भीतर ध्यान के ढोंग तथा आसन करने मात्र से वे ईश्वर बन सकते हैं।

यहाँ पर ऐसे पूर्णयोगी का उदाहरण प्रस्तुत है, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की यात्रा कर सकता था। इसी प्रकार दुर्वासा मुनि का वर्णन है जिन्होंने अन्तरिक्ष की यात्रा की थी। वस्तुत: पूर्ण योगी ही ऐसा कर सकता है। किन्तु यदि कोई ब्रह्माण्ड भर की यात्रा कर ले और कर्दम मुनि

जैसी आश्चर्यजनक करामातें दिखावे तो भी उसकी तुलना पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से नहीं की जा सकती, क्योंकि उनकी अकल्पनीय शक्ति को कोई भी बद्धजीव या मुक्तजीव प्राप्त नहीं कर सकता। कर्दम मुनि के कार्यों से हम समझ सकते हैं कि महान् योगशक्ति होने पर भी वे भगवान् के भक्त बने रहे। प्रत्येक जीवात्मा की असली स्थिति यही है।

विभज्य नवधात्मानं मानवीं सुरतोत्सुकाम् ।
रामां निरमयन्रेमे वर्षपूगान्मुहूर्तवत् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

विभज्य—विभक्त करके; नव-धा—नौ रूपों में; आत्मानम्—स्वयं को; मानवीम्—मनु की पुत्री (देवहूति); सुरत—संभोग के लिए; उत्सुकाम्—अत्यन्त इच्छुक; रामाम्—अपनी पत्नी को; निरमयन्—आनन्द प्रदान करते हुए; रेमे—सुख भोगा; वर्ष-पूगान्—अनेक वर्षों तक; मुहूर्तवत्—एक क्षण के सदृश।

अपने आश्रम लौटने पर उन्होंने मनु की पुत्री देवहूति के सुख लिए, जो रति सुख के लिए अत्यधिक उत्सुक थी, अपने आपको नौ रूपों में विभक्त कर लिया। इस प्रकार उन्होंने उसके साथ अनेक वर्षों तक विहार किया, जो एक क्षण के समान व्यतीत हो गये।

तात्पर्य : यहाँ पर मनु की पुत्री देवहूति को *सुरतोत्सुक* बतलाया गया है। अपने पति के साथ समस्त ब्रह्माण्ड की यात्रा करके, मेरु पर्वत तथा स्वर्गलोक के मनोरम उद्यानों की सैर करने से वह स्वभाविक रुप से कामोत्तेजित हो उठी और कर्दम मुनि ने उसकी कामेच्छा को तुष्ट करने के लिए नौ रूपों में अपना विस्तार कर लिया। वे एक के स्थान पर नौ हो गये और इस प्रकार नौ व्यक्तियों ने देवहूति के साथ वर्षों तक संभोग किया। ऐसा समझा जाता है कि स्त्री की काम-क्षुधा पुरुष की अपेक्षा नौ-गुनी अधिक होती है। इसका यहाँ पर स्पष्ट उल्लेख है। अन्यथा कर्दम मुनि को नौ रूपों में अपना विस्तार करने की कोई आवश्यकता न थी। यहाँ पर योगशक्ति का अन्य उदाहरण प्राप्त होता है। जिस प्रकार श्रीभगवान् लाखों रूपों में अपना विस्तार कर सकते हैं उसी प्रकार योगी नौ रूपों में अपना विस्तार कर सकता है, किन्तु उससे अधिक नहीं। एक अन्य दृष्टान्त सौभरि मुनि का है। उन्होंने आठ रूपों में अपना विस्तार किया था। किन्तु योगी चाहे कितना ही शक्तिमान क्यों न हो वह आठ या नौ रूपों से अधिक में

अपना विस्तार नहीं कर सकता। किन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तो लाखों रूप ग्रहण कर सकते हैं, वे अनन्त रूप जो हैं जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में उन्हें कहा गया है। भगवान् की समता किसी भी कल्पनीय शक्ति से नहीं की जा सकती।

तस्मिन्विमान उत्कृष्टां शय्यां रतिकरीं श्रिता ।
न चाबुध्यत तं कालं पत्यापीच्येन सङ्गता ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस; विमाने—विमान में; उत्कृष्टाम्—सर्वश्रेष्ठ; शय्याम्—सेज; रति-करीम्—कामेच्छा को बढ़ाने वाली; श्रिता—स्थित; न—नहीं; च—तथा; अबुध्यत—उसने ध्यान दिया; तम्—उस; कालम्—समय; पत्या—अपने पति के साथ; अपीच्येन—अत्यन्त मनोहर; सङ्गता—संगति में, साथ में।

उस विमान में, देवहूति अपने पति के साथ उत्कृष्ट एवं कामेच्छा बढ़ाने वाली सेज में स्थित रह कर जान भी न पाई कि कितना समय कैसे बीत गया।

तात्पर्य : भौतिक मनुष्यों को रतिक्रीड़ा इतनी सुखकर लगती है कि उन्हें याद ही नहीं रहती कि समय किस प्रकार बीत गया। कर्दम मुनि तथा देवहूति भी अपनी रतिक्रीड़ा के समय भूल गये कि समय किस प्रकार बीत रहा है।

एवं योगानुभावेन दम्पत्यो रममाणयोः ।
शतं व्यतीयुः शरदः कामलालसयोर्मनाक् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; योग-अनुभावेन—योगशक्ति से; दम्-पत्योः—पति-पत्नी; रममाणयोः—स्वयं आनन्द भोगते हुए; शतम्—एक सौ; व्यतीयुः—बीते; शरदः—शरद ऋतुएँ; काम—रतिसुख; लालसयोः—जो लालायित थे; मनाक्—अल्प समय के समान।

रति सुख के उत्कट इच्छुक पति-पत्नी योग शक्तियों के बल पर विहार करते रहे और एक सौ वर्ष अल्प काल के समान व्यतीत हो गये।

तस्यामाधत्त रेतस्तां भावयन्नात्मनात्मवित् ।
नोधा विधाय रूपं स्वं सर्वसङ्कल्पविद्विभुः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उसमें; आधत्त—स्थापित किया; रेतः—वीर्य; ताम्—उसको; भावयन्—मानते हुए; आत्मना—अपनी अर्धाङ्गिनी के रूप में; आत्म-वित्—आत्मा का ज्ञाता; नोधा—नौ में; विधाय—विभक्त करके; रूपम्—शरीर; स्वम्—अपने; सर्व-सङ्कल्प-वित्—समस्त इच्छाओं के ज्ञाता; विभुः—अत्यन्त शक्तिमान कर्दम।

शक्तिमान कर्दम मुनि सबों के मन की बात जानने वाले थे और जो कुछ माँगे उसे वही प्रदान कर सकते थे। आत्मा के ज्ञाता होने के कारण वे देवहूति को अपनी अर्धाङ्गिनी मानते थे। अपने आपको नौ रूपों में विभक्त करके उन्होंने देवहूति के गर्भ में नौ बार वीर्यपात किया।

तात्पर्य : चूँकि कर्दम मुनि जान गये थे कि देवहूति कई सन्तानें चाहती है, अत: उन्होंने एक ही बार में नौ सन्तानें उत्पन्न कीं। यहाँ पर उन्हें विभु कहा गया है—अर्थात् वे सर्वाधिक शक्तिमान स्वामी थे। उन्होंने अपनी योगशक्ति से देवहूति के गर्भ से नौ कन्याएँ उत्पन्न कीं।

अत: सा सुषुवे सद्यो देवहूति: स्त्रिय: प्रजा: ।
सर्वास्ताश्चारुसर्वाङ्ग्यो लोहितोत्पलगन्धय: ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

अत:—तब; सा—उसने; सुषुवे—जन्म दिया; सद्य:—एक ही दिन; देवहूति:—देवहूति ने; स्त्रिय:—स्त्रियाँ; प्रजा:—सन्तान; सर्वा:—सभी; ता:—वे; चारु-सर्व-अङ्ग्य:—सर्वांग सुन्दर; लोहित—लाल; उत्पल—कमल के समान; गन्धय:—सुगन्धित।

उसके तुरन्त बाद उसी दिन देवहूति ने नौ कन्याओं को जन्म दिया जिनके अंग अंग सुन्दर थे और उनसे लाल कमल की सी सुगन्धि निकल रही थी।

तात्पर्य : देवहूति अत्यधिक कामोत्तेजित थी जिससे उसके अधिक अण्डाणु स्खलित हुए और नौ कन्याएँ उत्पन्न हुईं। स्मृतिशास्त्र तथा साथ ही साथ आयुर्वेद में यह कहा गया है कि जब पुरुष का स्खलन अधिक होता है, तो पुत्र उत्पन्न होते हैं और जब स्त्री का स्खलन अधिक होता है, तो पुत्रियाँ होती हैं। परिस्थितियों से प्रतीत होता है कि देवहूति अधिक कामोत्तेजित थी, अत: उसने तुरन्त नौ कन्याओं को जन्म दिया। किन्तु सभी कन्याएँ अतीव सुन्दर थीं और उनके शरीर सुगठित थे, उनमें से प्रत्येक कमलपुष्प के समान थी और कमल के ही समान सुगन्धित भी।

पतिं सा प्रव्रजिष्यन्तं तदालक्ष्योशती बहि: ।
स्मयमाना विक्लवेन हृदयेन विदूयता ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

पतिम्—उसका पति; सा—वह; प्रव्रजिष्यन्तम्—घर छोड़ने को तत्पर; तदा—तब; आलक्ष्य—देखकर; उशती—सुन्दर; बहिः—बाहर से; स्मयमाना—हँसती हुई; विक्लवेन—विचलित, विकल; हृदयेन—हृदय से; विदूयता—संतप्त।

जब उसने देखा कि उसके पति गृह-त्याग करने ही वाले हैं, तो वह बाहर से हँसी, किन्तु हृदय में अत्यन्त विकल और सन्तप्त थी।

तात्पर्य : कर्दम मुनि ने अपनी योगशक्ति से अपने गृहस्थी के कार्यों को जल्दी ही समाप्त कर लिया। हवा में प्रासाद खड़ा करने, अपनी पत्नी तथा गंधर्व कन्याओं के साथ समग्र ब्रह्माण्ड का भ्रमण और फिर सन्तान उत्पन्न करने के कार्य समाप्त हो चुके और अब अपने पूर्व वचनों के अनुसार उन्हें अपना घर छोड़कर आत्म-बोध की अपनी असली रुचि के लिए प्रस्थान करना था। अपने पति को प्रस्थान की स्थिति मे देखकर देवहूति मन ही मन अत्यन्त विकल थी, किन्तु ऊपर से हँस रही थी। कर्दम मुनि के उदाहरण को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए; जिस व्यक्ति की प्रमुख रुचि कृष्णभावनामृत में है, यदि वह गृहस्थ जीवन में फँस भी जाता है, तो उसे घर के आकर्षण को जितनी जल्दी हो सके त्याग देने के लिए उद्यत रहना चाहिए।

लिखन्त्यधोमुखी भूमिं पदा नखमणिश्रिया ।
उवाच ललितां वाचं निरुध्याश्रुकलां शनैः ॥५०॥

शब्दार्थ

लिखन्ती—कुरेदती हुई; अधः-मुखी—अपना मुँह नीचे किये; भूमिम्—पृथ्वी को; पदा—अपने पाँव से; नख—नाखूनों; मणि—मणि के तुल्य; श्रिया—दमक से; उवाच—वह बोली; ललिताम्—मोहक; वाचम्—वाणी; निरुध्य—रोक कर; अश्रु-कलाम्—आँसू; शनैः—धीरे-धीरे।

वह खड़ी थी और मणितुल्य नाखूनों से मण्डित अपने पैर से पृथ्वी को कुरेद रही थी। उसका सिर झुका था और वह अपने आँसुओं को रोककर धीरे-धीरे मोहक वाणी से बोली।

तात्पर्य : देवहूति इतनी सुन्दर थी कि उसके पैर के नाखून मोतियों जैसे लग रहे थे। वह भूमि को नाखूनों से कुरेद रही थी तो ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो भूमि पर मोती बिखरे हों। जब कोई स्त्री अपने पाँव से जमीन कुरेदती है, तो यह इसका संकेत है कि उसका मन

विचलित है। ऐसे ही संकेत कभी-कभी गोपियाँ श्रीकृष्ण के समक्ष प्रकट करती थीं। जब गोपियाँ अर्द्धरात्रि के समय श्रीकृष्ण के पास गईं तो उन्होंने उनसे अपने-अपने घरों को जाने के लिए कहा। उस समय गोपियाँ इसी प्रकार से भूमि कुरेदने लगीं, क्योंकि उनके मन अत्यधिक विक्षुब्ध थे।

देवहूतिरुवाच

सर्वं तद्भगवान्मह्यमुपोवाह प्रतिश्रुतम् ।
अथापि मे प्रपन्नाया अभयं दातुमर्हसि ॥५१॥

शब्दार्थ

देवहूतिः—देवहूति ने; उवाच—कहा; सर्वम्—सभी; तत्—वह; भगवान्—हे भगवान्; मह्यम्—मेरे लिए; उपोवाह—पूर्ण हुईं; प्रतिश्रुतम्—वचन दिया; अथ अपि—फिर भी; मे—मुझको; प्रपन्नायै—शरणागत को; अभयम्—निर्भीकता; दातुम्—देने के लिए; अर्हसि—योग्य हो।

देवहूति ने कहा—हे स्वामी, आपने जितने वचन दिये थे वे सब पूर्ण हुए, किन्तु मैं आपकी शरणागत हूँ इसलिए मुझे अभयदान भी दें।

तात्पर्य : देवहूति ने अपने पति से प्रार्थना की कि वे उसे अभय प्रदान करें। पत्नी रूप में वह अपने पति के प्रति पूर्णतया समर्पित थी, अत: यह पति का धर्म है कि वह अपनी पत्नी को अभयदान दे। *श्रीमद्भागवत* के पंचम स्कंध में बताया गया है कि अपने आश्रित को किस प्रकार अभयदान दिया जाता है। जो मृत्यु के चंगुल से नहीं छूट पाता वह आश्रित है, उसे चाहिए कि वह न तो गुरु बने, न पति, न परिजन, न पिता, न माता इत्यादि। यह तो श्रेष्ठों का धर्म है कि अपने अधीनस्थ को अभयदान दें। अत: पिता, माता, गुरु, नातेदार या पति के रूप में किसी की जिम्मेदारी लेने वाले को चाहिए कि अपने अधीनस्थ को संसार की भयावह स्थिति से छुटकारा दिलाए। भौतिक जीवन सदैव भयावह एवं चिन्ताओं से पूर्ण है। देवहूति कहती है, "आपने मुझे अपनी योगशक्ति से सभी प्रकार की भौतिक सुविधाएँ प्रदान की हैं और अब आप प्रस्थान करने वाले हैं, अत: आप अपना अन्तिम दान (वर) भी देते जाएँ जिससे मैं इस बद्धजीवन से मुक्त हो सकूँ"।

ब्रह्मन्दुहितृभिस्तुभ्यं विमृग्याः पतयः समाः ।
कश्चित्स्यान्मे विशोकाय त्वयि प्रव्रजिते वनम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; दुहितृभिः—कन्याओं के द्वारा; तुभ्यम्—तुम्हारे लिए; विमृग्याः—ढूँढे जाने के हुए; पतयः—पति; समाः—उपयुक्त; कश्चित्—कोई; स्यात्—होना चाहिए; मे—मेरा; विशोकाय—सान्त्वना के लिए; त्वयि—तुम्हारे; प्रव्रजिते—जा चुकने पर; वनम्—जंगल को।

हे ब्राह्मण, जहाँ तक आपकी पुत्रियों का प्रश्न है, वे स्वयं ही अपने योग्य वर ढूँढ लेंगी और अपने अपने घर चली जाएँगी। किन्तु आपके संन्यासी होकर चले जाने पर मुझे कौन सान्त्वना देगा ?

तात्पर्य : कहा गया है कि पिता ही दूसरे रूप में पुत्र बन जाता है। अतः पिता और पुत्र अभिन्न माने जाते हैं। पुत्रवती विधवा नहीं होती, क्योंकि उसके पास पति का प्रतिनिधि रहता है। इसी प्रकार देवहूति अप्रत्यक्ष रूप से कर्दम मुनि से एक प्रतिनिधि छोड़ जाने की याचना करती है, जिससे वह उनकी अनुपस्थिति में चिन्तामुक्त रह सके। गृहस्थ से यह आशा नहीं की जाती है कि वह सदैव घर पर रह सकेगा। अपने पुत्रों तथा पुत्रियों का ब्याह करके वह अपनी पत्नी को सयाने पुत्रों के संरक्षण में छोड़कर गृहस्थ जीवन से वैराग्य ले सकता है। वैदिक पद्धति की सामाजिक परम्परा ही ऐसी है। देवहूति अप्रत्यक्ष रूप से यह कह रही है कि घर से अनुपस्थित रहने की अवधि में कम से कम एक पुत्र अवश्य होना चाहिए जो उसे चिन्ताओं से मुक्ति दिला सके। इस मुक्ति का अर्थ है आध्यात्मिक शिक्षा। इस मुक्ति का अर्थ भौतिक सुविधाएँ नहीं है। भौतिक सुविधाएँ तो शरीर के साथ ही समाप्त हो जाएँगी, किन्तु आध्यात्मिक शिक्षा अन्त होता नहीं, यह तो आत्मा के साथ-साथ जाएगी। अध्यात्म की शिक्षा आवश्यक है, किन्तु योग्य पुत्र प्राप्त किये बिना देवहूति आध्यात्मिक ज्ञान कैसे प्राप्त कर पाती ? पति का धर्म है कि वह स्त्री-ऋण से मुक्त हो जाय। पत्नी एकनिष्ठ होकर पति की सेवा करती है और वह ऋणी बन जाता है, क्योंकि कोई अपने आश्रित की सेवा तब तक स्वीकार नहीं करता जब तक वह बदले में कुछ दे न देता। गुरु कभी भी आध्यात्मिक शिक्षा दिए बिना शिष्य की सेवा स्वीकार नहीं करता। प्रेम तथा कर्तव्य का यही पारस्परिक आदान-प्रदान है। इस प्रकार देवहूति कर्दम मुनि को स्मरण दिलाती है कि उसने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक सेवा की है।

यदि वे स्त्री-ऋण से ही मुक्त होना चाहें तो प्रस्थान करने से पूर्व उन्हें चाहिए कि एक पुत्र दे जाँय। अप्रत्यक्ष रूप में देवहूति ने अपने पति से कुछ अधिक काल तक और या कम से कम जब तक एक पुत्र न हो ले, रहने के लिए प्रार्थना करती है।

एतावतालं कालेन व्यतिक्रान्तेन मे प्रभो ।
इन्द्रियार्थप्रसङ्गेन परित्यक्तपरात्मनः ॥५३॥

शब्दार्थ

एतावता—इतना; अलम्—व्यर्थ ही; कालेन—समय; व्यतिक्रान्तेन—बीतने पर; मे—मेरा; प्रभो—हे स्वामी; इन्द्रिय-अर्थ—इन्द्रिय-तृप्ति; प्रसङ्गेन—रतिक्रीड़ा में; परित्यक्त—परवाह न करके, उपेक्षा करके; पर-आत्मनः—परमेश्वर का ज्ञान।

अभी तक हमने अपना सारा समय परमेश्वर के ज्ञान के अनुशीलन की उपेक्षा करके इन्द्रियतृप्ति में ही व्यर्थ गँवाया है।

तात्पर्य : मनुष्य जीवन पशुओं की तरह इन्द्रियतृप्ति के कार्य में बिताने के लिए नहीं है। पशु सदैव इन्द्रियतृप्ति में—आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन में—लगे रहते हैं, किन्तु यह मनुष्यों का व्यापार नहीं है, यद्यपि भौतिक देह पाने के कारण इन्द्रियतृप्ति की उन्हें भी आवश्यकता रहती है किन्तु नियामक सिद्धान्तों के अनुसार। अतः, वास्तव में देवहूति ने अपने पति से यह कहा, ''अभी तक हमारे ये पुत्रियाँ ही हैं और हमने सारे ब्रह्माण्ड की यात्रा करते हुए हवाई प्रासाद में सुखोपभोग किया है। आपकी कृपा से ही ये सारे वर प्राप्त हुए हैं, किन्तु वे सब इन्द्रियतृप्ति के हेतु थे। अब मुझे आत्मिक उन्नति के लिए कुछ चाहिए।''

इन्द्रियार्थेषु सज्जन्त्या प्रसङ्गस्त्वयि मे कृतः ।
अजानन्त्या परं भावं तथाप्यस्त्वभयाय मे ॥५४॥

शब्दार्थ

इन्द्रिय-अर्थेषु—इन्द्रियतृप्ति हेतु; सज्जन्त्या—अनुरक्त रह कर; प्रसङ्गः—आकर्षण; त्वयि—तुम्हारे लिए; मे—मेरे द्वारा; कृतः—किया गया था; अजानन्त्या—न जानते हुए; परम् भावम्—आपकी दिव्य स्थिति; तथा अपि—तो भी; अस्तु—होवे; अभयाय—भय दूर करने के लिए; मे—मेरा।

आपकी दिव्य स्थिति (पद) से परिचित न होने के कारण ही मैं इन्द्रियों के विषयों में लिप्त रह कर आपको प्यार करती रही। तो भी मैंने आपके लिए जो आकर्षण

(अनुराग) उत्पन्न कर लिया है, वह मेरे समस्त भय को दूर करे।

तात्पर्य : देवहूति अपनी दशा पर शोक प्रकट कर रही है। स्त्री होने के नाते वह प्रेम तो किसी से कर सकती थी। वह किसी कारणवश कर्दम मुनि से प्रेम करने लगी, किन्तु उनकी आध्यात्मिक उपलब्धि से वह अपरिचित ही रही। कर्दम मुनि देवहूति के मन की बात जान गये। सामान्यत: सभी स्त्रियाँ भौतिक सुख भोगना चाहती हैं। वे अल्पज्ञानी कही जाती हैं, क्योंकि भौतिक सुख के लिए उन्मुख रहती हैं। देवहूति को पछतावा है कि उसके पति ने सर्वश्रेष्ठ भौतिक सुख प्रदान किया, किन्तु उसे यह पता न चल पाया कि वे आत्म-बोध में इतने उठे हुए थे। उसका कहना है कि यद्यपि अपने महान् पति की महिमा को वह नहीं समझ पाई, किन्तु उनकी शरण में होने के कारण उसे भौतिक बन्धन से मुक्त होना चाहिए। महापुरुष की संगति बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। *चैतन्य-चरितामृत* में भगवान् चैतन्य ने कहा है कि साधु संग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भले ही कोई ज्ञान में कितना बढ़ा-चढ़ा क्यों न हो, किसी महान् साधु पुरुष की संगति मात्र से वह तुरन्त आत्मजीवन में आगे बढ़ जाता है। एक स्त्री के रूप में सामान्य पत्नी बन कर देवहूति कर्दम मुनि से अपने इन्द्रिय सुख तथा अन्य सुविधाओं के लिए आसक्त थी, किन्तु वास्तव में उसे एक महान् पुरुष का सान्निध्य प्राप्त था। अब उसे इसका ज्ञान हुआ, अत: वह इस संगति का लाभ उठाना चाह रही थी।

सङ्गो यः संसृतेर्हेतुरसत्सु विहितोऽधिया ।
स एव साधुषु कृतो निःसङ्गत्वाय कल्पते ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

सङ्गः—संगति; यः—जो; संसृतेः—जन्म-मृत्यु के चक्र का; हेतुः—कारण; असत्सु—इन्द्रिय-तृप्ति में लगे रहने वालों के साथ; विहितः—किया गया; अधिया—अविद्या से; सः—वही वस्तु; एव—निश्चय ही; साधुषु—साधु पुरुषों के साथ; कृतः—किया गया; निःसङ्गत्वाय—मुक्ति के लिए; कल्पते—ले जाता है।

इन्द्रियतृप्ति हेतु संगति निश्चय ही बन्धन का मार्ग है। किन्तु जब वही संगति किसी साधु पुरुष से की जाती है, तो भले ही वह अनजाने में की जाय, मुक्ति के मार्ग पर ले जाने वाली है।

तात्पर्य : साधु पुरुष से चाहे जिस रूप में संगति की जाय, एक सा फल मिलता है।

उदाहरणार्थ, श्रीकृष्ण अनेक जीवात्माओं से मिलते हैं—कुछ उन्हें अपना शत्रु मानते हैं और कुछ इन्द्रिय-तृप्ति के साधनरूप। सामान्यतया कहा जाता है कि गोपियाँ इन्द्रिय-सुख के लिए कृष्ण पर आसक्त थीं तो भी वे भगवान् की उत्तम कोटि की भक्त थीं। किन्तु कंस, शिशुपाल, दंतवक्र तथा अन्य असुर कृष्ण के शत्रु थे। वे चाहे भयवश शत्रु के रूप में या इन्द्रिय-सुख के लिए भक्त रूप में कृष्ण की संगति में आये, मुक्ति तो सबों की हुई। भगवान् की संगति का यही परिणाम होता है। यदि कोई यह नहीं जानता कि भगवान् कौन हैं, तो भी वही परिणाम होता है। महान् साधु पुरुष की संगति से भी मुक्ति मिलती है, जिस प्रकार कोई जान कर या अनजाने ही आग की ओर जाता है, तो उसे गर्मी प्राप्त होती है। देवहूति ने अपनी कृतज्ञता प्रकट की, क्योंकि वह कर्दम मुनि से इन्द्रियतृप्ति के लिए ही संगति कर रही थी, किन्तु चूँकि वे महापुरुष थे, अत: उसे विश्वास था कि उनके आशीर्वाद से वह मुक्त हो जाएगी।

नेह यत्कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते ।
न तीर्थपदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः ॥५६॥

शब्दार्थ

न—नहीं; इह—यहाँ; यत्—जो; कर्म—कार्य; धर्माय—धार्मिक जीवन की सिद्धि के लिए; न—नहीं; विरागाय—विरक्ति के लिए; कल्पते—ले जाता है; न—नहीं; तीर्थ-पद—भगवान् के चरणकमलों का; सेवायै—भक्ति के लिए; जीवन्—जीवित रह कर; अपि—यद्यपि; मृतः—मरा हुआ; हि—निश्चय ही; सः—वह।

जिस पुरुष के कर्म से न तो धार्मिक जीवन का उत्कर्ष होता है, न जिसके धार्मिक विधि-विधानों से उसे वैराग्य प्राप्त हो पाता है और वैराग्य प्राप्त पुरुष यदि श्रीभगवान् की भक्ति को प्राप्त नहीं होता, तो उसे जीवित होते हुए भी मृत मानना चाहिए।

तात्पर्य : देवहूति का कहना है कि वह अपने पति से इन्द्रियतृप्ति के लिए अनुरक्त थी जिससे भौतिक बन्धनों से मुक्ति नहीं मिल सकती, अत: उसका जीवन वृथा गया। ऐसा कोई कार्य जिसे करने से धार्मिक जीवन की प्राप्ति न हो सके, वह व्यर्थ है। स्वभाव से प्रत्येक व्यक्ति कोई न कोई कार्य करना चाहता है और जब उस कार्य के करने से धार्मिक जीवन मिल सके और फिर इससे विरक्ति और विरक्ति से भक्ति प्राप्त हो सके तो समझना चाहिए कार्य सिद्ध हुआ। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जिस कार्य के करने से अन्ततः भक्ति

प्राप्त नहीं होती वह भवबन्धन का कारण बनता है। *यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*। यदि कोई अपने सामान्य कार्य से प्रारम्भ करके क्रमशः भक्ति के पद को प्राप्त नहीं कर लेता, तो उसे मृतक के समान मानना चाहिए। जिस कार्य से कृष्णभक्ति का ज्ञान न हो ले, वह व्यर्थ है।

साहं भगवतो नूनं वञ्चिता मायया दृढम् ।
यत्त्वां विमुक्तिदं प्राप्य न मुमुक्षेय बन्धनात् ॥५७॥

शब्दार्थ

सा—वही व्यक्ति; अहम्—मैं; भगवतः—भगवान् की; नूनम्—अवश्य ही; वञ्चिता—ठगी गई; मायया—माया के द्वारा; दृढम्—दृढ़तापूर्वक; यत्—क्योंकि; त्वाम्—तुमको; विमुक्ति-दम्—मुक्तिदाता; प्राप्य—प्राप्त करके; न मुमुक्षेय—मैंने मुक्ति की याचना नहीं की; बन्धनात्—भवबन्धन से।

हे स्वामी, मैं निश्चित रूप से श्रीभगवान् की अलंघ्य माया द्वारा बुरी तरह से ठगी हुई हूँ, क्योंकि भवबन्धन से मुक्ति दिलाने वाली आपकी संगति में रह कर भी मैंने मुक्ति की चाहत नहीं की।

तात्पर्य : बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि सुअवसर का लाभ उठाए। पहला अवसर मनुष्य जीवन है और दूसरा अवसर ऐसे अनुकूल कुल में जन्म ग्रहण करना जहाँ आत्मज्ञान का अनुशीलन हो सके; यह अत्यन्त दुर्लभ है। किन्तु सबसे बड़ा अवसर है साधु पुरुष की संगति का प्राप्त होना। देवहूति को इसका आभास था कि वह एक सम्राट की पुत्री है, वह पर्याप्त शिक्षित और सुसंस्कृत भी थी और अन्त में उसे परम साधु तथा महान् योगी कर्दममुनि पति रूप में प्राप्त हुए थे। इतने पर भी उसे भवबन्धन से मुक्ति न मिल पाये तो अवश्य ही वह दुर्लंघ्य माया द्वारा ठगी गई है। वास्तव में यह माया सबों को ठग रही है। जब लोग वरदान प्राप्त करने के लिए देवी काली या दुर्गा के रूप में भौतिक शक्ति (माया) की पूजा करते हैं, तो वे नहीं जानते होते कि वास्तव में वे क्या कर रहे हैं। वे याचना करते हैं, "माँ! मुझे धन दो, मुझे अच्छी पत्नी दो, मुझे यश दो, मुझे सफलता दो" किन्तु मायादेवी या दुर्गादेवी के ये भक्त यह नहीं जानते कि वे उस देवी द्वारा ठगे जा रहे हैं। भौतिक उपलब्धि कोई उपलब्धि नहीं गिनी जाती, क्योंकि भौतिक वरदानों से वह ज्यों-ज्यों मोहित होता जाता है, त्यों-त्यों वह और

बंधता जाता है और उसकी मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। मनुष्य को इतना बुद्धिमान तो होना ही चाहिए कि आत्मबोध के लिए अपनी सम्पत्ति का किस प्रकार उपभोग करे। यही कर्म–योग या ज्ञानयोग कहलाता है। हमारे पास जो भी हो उसे परम पुरुष की सेवा के लिए उपयोग में लाना चाहिए। *भगवद्गीता* में उपदेश दिया गया है—*स्व कर्मणा तमभ्यर्चया*—मनुष्य को चाहिए कि अपने धनधान्य से वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा करने का प्रयत्न करे। भगवान् की सेवा करने के अनेक प्रकार हैं और कोई भी व्यक्ति अपनी सामर्थ्य भर भगवान् की सेवा कर सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत ''देवहूति का शोक'' नामक तेईसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौबीस

कर्दम मुनि का वैराग्य

मैत्रेय उवाच
निर्वेदवादिनीमेवं मनोर्दुहितरं मुनिः ।
दयालुः शालिनीमाह शुक्लाभिव्याहृतं स्मरन् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—परम साधु मैत्रेय ने; उवाच—कहा; निर्वेद-वादिनीम्—वैराग्य से युक्त बातें करने वाली; एवम्—इस प्रकार; मनोः—स्वायंभुव मनु की; दुहितरम्—पुत्री को; मुनिः—कर्दम मुनि ने; दयालुः—दयालु; शालिनीम्—प्रशंसा की पात्र; आह—कहा; शुक्ल—भगवान् विष्णु द्वारा; अभिव्याहृतम्—कथित; स्मरन्—स्मरण करते हुए।

भगवान् विष्णु के वचनों का स्मरण करते हुए कर्दम मुनि ने वैराग्यपूर्ण बातें करने वाली, स्वायंभुव मनु की प्रशंसनीय पुत्री देवहूति से इस प्रकार कहा।

ऋषिरुवाच
मा खिदो राजपुत्रीत्थमात्मानं प्रत्यनिन्दिते ।
भगवांस्तेऽक्षरो गर्भमदूरात्सम्प्रपत्स्यते ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ऋषिः उवाच—ऋषि ने कहा; मा खिदः—निराश मत हो; राज-पुत्रि—हे राजकुमारी; इत्थम्—इस प्रकार; आत्मानम्—अपने; प्रति—प्रति; अनिन्दिते—हे प्रशंसनीय देवहूति; भगवान्—श्रीभगवान्; ते—तुम्हारे; अक्षरः—अविनाशी; गर्भम्—गर्भ में; अदूरात्—देर किये बिना, शीघ्र; सम्प्रपत्स्यते—प्रवेश करेंगे।

मुनि ने कहा—हे राजकुमारी, तुम अपने आपसे निराश न हो। तुम निस्सन्देह प्रशंसनीय हो। अविनाशी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् शीघ्र ही पुत्र रूप में तुम्हारे गर्भ में प्रवेश करेंगे।

तात्पर्य : कर्दम मुनि ने अपनी पत्नी को, यह सोचकर कि वह कितनी अभागी है, दुखी न रहने के लिए प्रेरणा दी, क्योंकि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् उसके शरीर से अवतार रूप में प्रकट होने जा रहे थे।

धृतव्रतासि भद्रं ते दमेन नियमेन च ।
तपोद्रविणदानैश्च श्रद्धया चेश्वरं भज ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

धृत-व्रता असि—तुमने पवित्र व्रत ले रखा है; भद्रम् ते—ईश्वर तुम्हारा कल्याण करे; दमेन—इन्द्रियों को वश में करके; नियमेन—धर्म के पालन से; च—तथा; तपः—तपस्या; द्रविण—धन का; दानैः—दान करने से; च—तथा; श्रद्धया—श्रद्धा से; च—तथा; ईश्वरम्—परमेश्वर को; भज—पूजा करो।

तुमने पवित्र व्रत धारण किये हैं। ईश्वर तुम्हारा कल्याण करे। अब तुम ईश्वर की पूजा अत्यन्त श्रद्धा, संयम, नियम, तप तथा अपने धन के दान द्वारा करो।

तात्पर्य : भगवान् की कृपा प्राप्त करने अथवा आत्मिक दृष्टि से आगे बढ़ने के लिए मनुष्य को चाहिए कि आगे बताई गई विधि से आत्म-संयम रखे—इन्द्रियतृप्ति पर संयम रखे तथा धार्मिक सिद्धान्तों की विधियों एवं नियमों का पालन करे। संयम एवं तपस्या तथा सम्पत्ति का त्याग किये बिना मनुष्य को भगवत्कृपा प्राप्त नहीं हो सकती। कर्दम मुनि ने अपनी पत्नी को उपदेश दिया, ''तुम्हें धार्मिक नियमों का पालन करते हुए, दान देकर तपस्यापूर्वक भक्ति में तत्पर होना होगा। तभी परमेश्वर तुम पर प्रसन्न होंगे और तुम्हारे पुत्र रूप में अवतरित होंगे।''

स त्वयाराधितः शुक्लो वितन्वन्मामकं यशः ।
छेत्ता ते हृदयग्रन्थिमौदर्यो ब्रह्मभावनः ॥ ४॥

शब्दार्थ

सः—वह; त्वया—तुम्हारे द्वारा; आराधितः—पूजित होकर; शुक्लः—श्रीभगवान्; वितन्वन्—विस्तार करते हुए; मामकम्—मेरा; यशः—यश; छेत्ता—वे काट देंगे; ते—तुम्हारे; हृदय—हृदय की; ग्रन्थिम्—गाँठ; औदर्यः—तुम्हारा पुत्र; ब्रह्म—ब्रह्मज्ञान; भावनः—शिक्षा देते हुए।

तुम्हारे द्वारा पूजित होकर श्रीभगवान् मेरे नाम तथा यश का विस्तार करेंगे। वे तुम्हारे पुत्र बनकर तथा तुम्हें ब्रह्मज्ञान की शिक्षा देकर तुम्हारे हृदय में पड़ी गाँठ को छिन्न कर देंगे।

तात्पर्य : जब भगवान् आध्यात्मिक ज्ञान का प्रसार करने के लिए आते हैं, तो वे सामान्य रूप से किसी भक्त की सेवा से प्रसन्न होकर उसके पुत्र रूप में अवतरित होते हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सबके पिता हैं, अतः उनका कोई पिता नहीं, किन्तु अपनी अचिन्त्य शक्ति से वे किसी भक्त को अपना पिता बनाना तथा उसका वंशज बनना स्वीकार करते हैं। यहाँ पर कहा गया है कि आध्यात्मिक ज्ञान से हृदय की गाँठ का छेदन हो जाता है। पदार्थ तथा आत्मा मिथ्या अहंकार की ग्रंथि से जुड़े रहते हैं। पदार्थ तथा आत्मा को एक करके मानना ही हृदय

ग्रंथि कही जाती है और समस्त बद्धजीवों में विद्यमान रहती है। ज्यों-ज्यों विषयी जीवन के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है, त्यों-त्यों यह ग्रंथि कसती जाती है। भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को समझाया था कि यह भौतिक जगत स्त्री तथा पुरुष के मध्य आकर्षण के वातावरण के तुल्य है। यह आकर्षण हृदय में ग्रंथि का रूप धारण कर लेता है और भौतिक प्रेम के कारण यह गाँठ और अधिक कस जाती है। उदाहरण के लिए धन, समाज, मित्रता तथा प्यार के पीछे दौड़ने वाले व्यक्तियों के लिए प्रेम की यह गाँठ अत्यन्त मजबूत हो जाती है। यह हृदय ग्रंथि केवल ब्रह्मभावना से अर्थात् ऐसे उपदेश से जिससे आत्म-ज्ञान बढ़ता है—छिन्न-भिन्न होती है। इस ग्रंथि को काटने के लिए किसी भौतिक अस्त्र-शस्त्र की आवश्यकता नहीं पड़ती, वरन् इसके लिए प्रामाणिक आध्यात्मिक-उपदेश की आवश्यकता होती है। कर्दम मुनि ने अपनी पत्नी देवहूति को उपदेश दिया कि भगवान् उसके पुत्र के रूप में प्रकट होंगे और भौतिक स्वरूप की ग्रंथि को काटने के लिए आध्यात्मिक ज्ञान का प्रसार करेंगे।

मैत्रेय उवाच
देवहूत्यपि सन्देशं गौरवेण प्रजापतेः ।
सम्यक्श्रद्धाय पुरुषं कूटस्थमभजद्गुरुम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; देवहूती—देवहूति; अपि—भी; सन्देशम्—आदेश; गौरवेण—आदरपूर्वक; प्रजापतेः—कर्दम का; सम्यक्—पूर्ण; श्रद्धाय—श्रद्धापूर्वक; पुरुषम्—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्; कूट-स्थम्—प्रत्येक के हृदय में स्थित; अभजत्—पूजा की; गुरुम्—अत्यन्त पूज्य।

श्री मैत्रेय ने कहा—देवहूति में अपने पति कर्दम के आदेश के प्रति अत्यन्त श्रद्धा तथा सम्मान था, क्योंकि वे ब्रह्माण्ड में मनुष्यों के उत्पन्न करने वाले प्रजापतियों में से एक थे। हे मुनि, इस प्रकार वह ब्रह्माण्ड के स्वामी घट-घट के वासी श्रीभगवान् की पूजा करने लगी।

तात्पर्य : यह आत्मबोध की प्रक्रिया है—मनुष्य को प्रामाणिक गुरु से उपदेश ग्रहण करना पड़ता है। कर्दम मुनि देवहूति के पति थे, किन्तु आत्म-सिद्धि कैसे प्राप्त की जाय इस का उपदेश करने के कारण स्वाभाविक रुप से वे गुरु भी थे। ऐसे अनेक उदाहरण विद्यमान हैं जहाँ

पति गुरु बन जाता है। शिवजी भी अपनी प्रियतमा पार्वती के गुरु थे। पति को इतना ज्ञानी होना चाहिए कि वह कृष्णभावनामृत में प्रबुद्ध करने में अपनी पत्नी का गुरु बन सके। सामान्य तया एक स्त्री पुरुष की अपेक्षा कम बुद्धिमान होती है, अत: यदि पति बुद्धिमान होता है, तो स्त्री को अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिए अच्छा अवसर प्राप्त होता है।

यहाँ पर स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य को अत्यन्त श्रद्धापूर्वक (सम्यक् श्रद्धाय) गुरु से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और अत्यन्त श्रद्धापूर्वक सेवा करनी चाहिए। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *भगवद्गीता* की टीका करते हुए गुरु-उपदेश पर विशेष बल दिया है। मनुष्य को चाहिए कि गुरु उपदेश को अपना जीवन और आत्मा समझे। चाहे मुक्त हो या बद्ध, उसे चाहिए कि गुरु के अनुदेशों का श्रद्धापूर्वक पालन करे। यह भी कहा गया है कि ईश्वर सबों के हृदय में स्थित हैं। किसी को उन्हें बाहर ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है, वे तो वहीं हैं। मनुष्य को केवल श्रद्धापूर्वक गुरु के उपदेशानुसार पूजा में ध्यान लगाना चाहिए। इससे सारे प्रयास सफल होंगे। यह भी स्पष्ट है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सामान्य बालक की तरह प्रकट नहीं होते, वे यावत् रूप में प्रकट होते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है वे अपनी आत्म-माया से प्रकट होते हैं। तो वे कब प्रकट होते हैं? जब वे भक्त की पूजा से प्रसन्न होते हैं तब। भक्त प्रार्थना कर सकता है कि वे उसके पुत्र रूप में जन्म लें। भगवान् प्रत्येक हृदय में पहले से आसीन हैं, अत: यदि भगवान् किसी भक्त के शरीर से प्रकट होते हैं, तो इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि अमुक स्त्री उनकी माता हो गई। वे तो सदैव विद्यमान रहते हैं और अपने भक्त को प्रसन्न करने के लिए उसके पुत्र रूप में प्रकट होते हैं।

तस्यां बहुतिथे काले भगवान्मधुसूदनः ।
कार्दमं वीर्यमापन्नो जज्ञेऽग्निरिव दारुणि ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—देवहूति में; बहु-तिथे काले—अनेक वर्षों बाद; भगवान्—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्; मधु-सूदनः—मधु असुर के संहारक; कार्दमम्—कर्दम; वीर्यम्—वीर्य में; आपन्नः—प्रविष्ट किया; जज्ञे—प्रकट हुआ; अग्निः—आग; इव—समान; दारुणि—काष्ठ में।.

अनेक वर्षों बाद मधुसूदन अर्थात् मधु नामक असुर के संहारकर्ता, पूर्ण पुरुषोत्तम

भगवान् कर्दम मुनि के वीर्य में प्रविष्ट होकर देवहूति के गर्भ में उसी प्रकार प्रकट हुए जिस प्रकार किसी यज्ञ के काष्ठ में से अग्नि उत्पन्न होती है।

तात्पर्य : यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् यद्यपि कर्दम मुनि के पुत्र रूप में प्रकट हुए, किन्तु वे हैं सदैव पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही रहते हैं। काष्ठ में अग्नि सदैव विद्यमान रहती है, किन्तु एक निश्चित विधि से अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती है। इसी प्रकार ईश्वर सर्वव्यापी हैं। वे किसी भी वस्तु से प्रकट हो सकते हैं; वे अपने भक्त के वीर्य से प्रकट हुए। जिस प्रकार सामान्य जीवात्मा किसी जीवात्मा के वीर्य का आश्रय लेकर जन्म ग्रहण करता है उसी प्रकार श्रीभगवान् अपने भक्त के वीर्य में स्थित होकर उसके पुत्र रूप में अवतरित होते हैं। इससे उनकी परम स्वतन्त्रता प्रकट होती है। इससे यह कदापि लक्षित नहीं होता कि वे किसी के गर्भ से सामान्य जीवात्मा की तरह जन्म लेते हैं। भगवान् नृसिंह हिरण्यकशिपु के महल के ख भे से प्रकट हुए; भगवान् वराह ब्रह्मा जी के नथुनों से उत्पन्न हुए और श्री कपिल कर्दम के वीर्य से उत्पन्न हुए। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि भगवान् के प्राकट्य का स्रोत ख भा, नथुना या वीर्य है। भगवान् भगवान् ही होते हैं। भगवान् मधुसूदनः—वे सभी प्रकार के असुरों का वध करने वाले हैं और यदि किसी भक्त के पुत्र-रूप में प्रकट भी होते हैं, तो भी भगवान् ही बने रहते हैं। कार्दमम् शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह बताता है कि कर्दम तथा देवहूति की सेवा से उनका प्रेम था। किन्तु हमें यह समझने की भूल नहीं करनी चाहिए कि वे सामान्य जीवात्मा की तरह कर्दम मुनि के वीर्य तथा देवहूति के गर्भ से उत्पन्न हुए थे।

अवादयंस्तदा व्योम्नि वादित्राणि घनाघनाः ।
गायन्ति तं स्म गन्धर्वा नृत्यन्त्यप्सरसो मुदा ॥७॥

शब्दार्थ

अवादयन्—बजाते हुए; तदा—उस समय; व्योम्नि—आकाश में; वादित्राणि—वाद्ययंत्र, बाजे; घनाघनाः—बादल; गायन्ति—गाने लगे; तम्—उसको; स्म—निश्चय ही; गन्धर्वाः—गंधर्वगण; नृत्यन्ति—नाचने लगे; अप्सरसः—अप्सराएँ; मुदा—आनन्दित होकर।

पृथ्वी पर उनके अवतरित होते समय, आकाश में देवताओं ने वाद्ययंत्रों के रूप में जल बरसाने वाले मेघों से वाद्यसंगीत की सी ध्वनियाँ बजायी। स्वर्गिक गवैये गंधर्वगण

भगवान् की महिमा का गान करने लगे और अप्सराओं के नाम से प्रसिद्ध स्वर्गिक नर्तकियाँ आनन्द विभोर होकर नाचने लगीं।

पेतुः सुमनसो दिव्याः खेचरैरपवर्जिताः ।
प्रसेदुश्च दिशः सर्वा अम्भांसि च मनांसि च ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

पेतुः—गिरे, बरसे; सुमनसः—फूल; दिव्याः—सुन्दर; खे-चरैः—आकाशचारी देवताओं द्वारा; अपवर्जिताः—गिराये गये; प्रसेदुः—संतुष्ट हुआ; च—तथा; दिशः—दिशाएँ; सर्वाः—सभी; अम्भांसि—जल; च—तथा; मनांसि—मन; च—यथा।

भगवान् के प्राकट्य के समय आकाश में मुक्त रुप से विचरण करनेवाले देवताओं ने फूल बरसाये। सभी दिशाएँ, सभी सागर तथा सबों के मन परम प्रसन्न हुए।

तात्पर्य : यहाँ यह ज्ञात होता है कि आकाश में ऐसी जीवात्माएँ हैं, जो बिना रोक-टोक के वायु में विचरण कर सकती हैं। यद्यपि हम लोग अन्तरिक्ष में यात्रा कर सकते हैं, पर अनेक प्रकार के व्यवधान आते हैं, किन्तु देवताओं के लिए ये व्यवधान नहीं हैं। *श्रीमद्भागवत* से हमें पता चलता है कि सिद्धलोक के वासी एक लोक से दूसरे की यात्रा बिना किसी व्यवधान के कर सकते हैं। जब कर्दम मुनि के पुत्र श्रीकपिल जी का जन्म हुआ तो उन्होंने पृथ्वी पर पुष्प - वर्षा की।

तत्कर्दमाश्रमपदं सरस्वत्या परिश्रितम् ।
स्वयम्भूः साकमृषिभिर्मरीच्यादिभिरभ्ययात् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; कर्दम—कर्दम के; आश्रम-पदम्—आश्रम के स्थान पर; सरस्वत्या—सरस्वती नदी के द्वारा; परिश्रितम्—घिरा हुआ; स्वयम्भूः—ब्रह्मा (आत्म-जन्मा); साकम्—साथ; ऋषिभिः—ऋषियों के; मरीचि—मरीचि मुनि; आदिभिः—तथा अन्य; अभ्ययात्—वहाँ आये।

सर्वप्रथम सृजित जीव ब्रह्मा मरीचि तथा अन्य मुनियों के साथ कर्दम के आश्रम गये, जो सरस्वती नदी से चारों ओर से घिरा था।

तात्पर्य : ब्रह्मा को स्वयम्भू कहा जाता है, क्योंकि वे भौतिक रूप से किसी माता पिता के बिना ही सृजित हैं। वे प्रथम जीव, हैं, जो भगवान् गर्भोदकशायी विष्णु के नाभि-कमल से

उत्पन्न हैं। इसीलिए उन्हें स्वयंभू अर्थात् स्वत: जन्मा कहा जाता है।

भगवन्तं परं ब्रह्म सत्त्वेनांशेन शत्रुहन् ।
तत्त्वसङ्ख्यानविज्ञप्त्यै जातं विद्वानजः स्वराट् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

भगवन्तम्—भगवान्; परम्—परम; ब्रह्म—ब्रह्म; सत्त्वेन—कल्मषरहित अस्तित्व वाला; अंशेन—अंश से; शत्रु-हन्—हे शत्रुओं के संहारक, विदुर; तत्त्व-सङ्ख्यान—चौबीस भौतिक तत्त्वों का दर्शन; विज्ञप्त्यै—व्याख्या के लिए; जातम्—उत्पन्न; विद्वान्—ज्ञाता; अजः—अजन्मा (ब्रह्मा); स्व-राट्—स्वच्छन्द।

मैत्रेय ने आगे कहा—हे शत्रुओं के संहारक, ज्ञान प्राप्त करने में प्राय: स्वच्छन्द, अजन्मा ब्रह्माजी समझ गये कि श्रीभगवान् का एक अंश अपने कल्मषरहि अस्तित्व में, सांख्ययोग रूप में समस्त ज्ञान की व्याख्या के लिए देवहूति के गर्भ से प्रकट हुआ है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के पन्द्रहवें अध्याय में बताया गया है कि भगवान् स्वयं ही वेदान्तसूत्र का संकलन करने वाले हैं और वे उसके पूर्ण ज्ञाता हैं। इसी प्रकार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने कपिल के रूप में प्रकट होकर सांख्य दर्शन का संकलन किया। एक नकली कपिल भी हैं जिनकी सांख्य दार्शनिक पद्धति प्रसिद्ध है, किन्तु भगवान् के अवतार श्रीकपिल इस कपिल से भिन्न हैं। कर्दम मुनि के पुत्र कपिल ने अपने सांख्य दर्शन में न केवल भौतिक जगत वरन् आध्यात्मिक जगत की अत्यन्त सुस्पष्ट रुप से व्याख्या की है। ब्रह्मा इस तथ्य को जान गये, क्योंकि वे स्वराट् अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने के लिए पूर्णत: स्वतन्त्र हैं। वे इसीलिए स्वराट् हैं, क्योंकि उन्होंने प्रत्येक वस्तु स्वत: भीतर से सीखी, इसके लिए वे किसी स्कूल या कालेज में शिक्षा प्राप्त करने नहीं गये। इस ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा के आदि जीव होने के कारण उनका कोई शिक्षक नहीं है; उनके शिक्षक स्वयं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, जो प्रत्येक प्राणी के हृदय में आसीन हैं। ब्रह्मा ने हृदय के भीतर स्थित परमेश्वर से प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया। इसीलिए वे कभी-कभी स्वराट् तथा अज कहलाते हैं।

यहाँ एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात कही गई है। सत्त्वेनांशेन—जब पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् प्रकट होते हैं, तो वे अपने साथ वैकुण्ठ का सारा साज-सामान लेते आते हैं, फलत: उनके नाम, रूप, गुण, सामग्री तथा परिचारक (साथी) दिव्य जगत से सम्बन्धित रहते हैं। दिव्य

जगत में ही वास्तविक सत्त्व (अच्छाई) है। भौतिक जगत में सत्त्व गुण कभी शुद्ध नहीं होता। सतोगुण के अस्तित्व के साथ ही काम तथा अविद्या का भी अल्पांश रहता है। आध्यात्मिक जगत में सत्त्व प्रधान अमिश्रित गुण है; अत: सत्त्व गुण शुद्ध-सत्त्व कहलाता है। शुद्ध-सत्त्व का ही अन्य नाम वासुदेव है, क्योंकि ईश्वर का जन्म वसुदेव से होता है। अन्य अर्थ यह है कि जब कोई सत्त्व गुण को प्राप्त होता है, तो वह श्रीभगवान् के रूप, नाम, गुण, सामग्री तथा परिचारक को अच्छी तरह समझ सकता है। अंशेन शब्द भी बताता है कि श्रीभगवान् श्रीकृष्ण अपने एक अंश के भी अंश से कपिलदेव के रूप में प्रकट हुए। ईश्वर 'कला' अथवा 'अंश' रूप में विस्तार करते हैं। अंश का अर्थ प्रत्यक्ष विस्तार है और कला का अर्थ है विस्तार का भी विस्तार। विस्तार, विस्तार के भी विस्तार तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् में उसी प्रकार से कोई अन्तर नहीं है जैसे एक दीपक तथा दूसरे दीपक में कोई भेद नहीं हैं, तो भी जिस दीपक से सब जलते हैं वह आदि दीपक कहलाता है। इसीलिए श्रीकृष्ण परब्रह्म तथा समस्त कारणों के कारण कहलाते हैं।

सभाजयन्विशुद्धेन चेतसा तच्चिकीर्षितम् ।
प्रहृष्यमाणैरसुभि: कर्दमं चेदमभ्यधात् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सभाजयन्—पूजा करते हुए; विशुद्धेन—विशुद्ध; चेतसा—हृदय से; तत्—श्रीभगवान् का; चिकीर्षितम्—वांछित कार्यकलाप; प्रहृष्यमाणै:—प्रमुदित; असुभि:—इन्द्रियों से; कर्दमम्—कर्दम मुनि; च—तथा देवहूति से; इदम्—यह; अभ्यधात्—कहा।

अवतार रुप में भगवान के अभिप्रेत कार्यकलापों के लिए प्रमुदित इन्द्रियों तथा विशुद्ध हृदय से परमेश्वर की पूजा करके, ब्रह्माजी ने कर्दम तथा देवहूति से इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* के चतुर्थ अध्याय में बताया गया है, जो मनुष्य श्रीभगवान् के दिव्य कार्यों, उनके प्राकट्य तथा अन्तर्धान होने को समझ लेता है उसे मुक्त समझना चाहिए। अत: ब्रह्मा मुक्त जीव हैं। यद्यपि वे इस विश्व के प्रभारी हैं, किन्तु वे पूर्णत: सामान्य जीवात्मा की तरह नहीं हैं। चूँकि वे अधिकांश सामान्य जीवात्माओं की मूर्खताओं से मुक्त हैं,

अत: उन्हें श्रीभगवान् के प्राकट्य का ज्ञान था इसीलिए उन्होंने भगवान् के कार्यों की पूजा की और प्रसन्न मन से कर्दम मुनि की प्रशंसा की, क्योंकि उनके पुत्र कपिल के रूप में भगवान् ने अवतार ले लिया था। अत: जो मनुष्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का पिता बन सकता है, वह अवश्य ही महान् भक्त है। एक ब्राह्मण ने एक श्लोक पढ़ा जिसमें वह कहता है कि वह न तो वेद जानता है और न पुराण, न उसकी इनमें रुचि है, वह तो नन्द महाराज में प्रीति रखता है, जो श्रीकृष्ण के पिता स्वरूप प्रतीत होते हैं। वह ब्राह्मण नन्द महाराज की पूजा करना चाहता था, क्योंकि उसके आँगन में श्रीभगवान् घुटनों के बल चल रहे थे। ऐसे होते है, भक्तों के कुछ उत्तम उद्गार। यदि कोई मान्य भक्त श्रीभगवान् को पुत्र रूप में उत्पन्न करे, तो उसकी भी प्रशंसा की जानी चाहिए। इसीलिए ब्रह्मा ने न केवल भगवान् के अवतार कपिल की पूजा की वरन् उनके पिता कर्दम मुनि की भी प्रशंसा की।

ब्रह्मोवाच
त्वया मेऽपचितिस्तात कल्पिता निर्व्यलीकत: ।
यन्मे सञ्जगृहे वाक्यं भवान्मानद मानयन् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा—ब्रह्माजी ने; उवाच—कहा; त्वया—तुम्हारे द्वारा; मे—मेरा; अपचिति:—पूजा; तात—हे पुत्र; कल्पिता—सम्पन्न; निर्व्यलीकत:—बिना द्वैत के; यत्—चूँकि; मे—मेरा; सञ्जगृहे—पूर्णतया स्वीकार किया है; वाक्यम्—उपदेश; भवान्—आप; मान-द—हे कर्दम (अन्यों का सम्मान करने वाले); मानयन्—आदर करते हुए।

ब्रह्माजी ने कहा : प्रिय पुत्र कर्दम, चूँकि तुमने मेरे उपदेशों का आदर करते हुए उन्हें बिना किसी द्वैत के स्वीकार किया है, अत: तुमने मेरी समुचित तरह से पूजा की है। तुमने मेरे सारे उपदेशों का पालन किया है, ऐसा करके तुमने मेरा सम्मान किया है।

तात्पर्य : ब्रह्माजी इस ब्रह्माण्ड के प्रथम जीवात्मा के रूप में सबों के गुरु माने जाते हैं। वे सभी जीवों के अर्थात् पिता स्रष्टा भी हैं। कर्दम मुनि प्रजापतियों में से एक हैं और वे ब्रह्मा के पुत्र भी हैं। ब्रह्मा कर्दम की इसीलिए प्रशंसा करते हैं, क्योंकि उसने अपने गुरु की आज्ञाओं को किसी प्रकार के कपट के बिना पूर्ण रूप में पालन किया था। भौतिक जगत में बद्धजीव का सबसे बड़ा दुर्गुण है ठगना। उसमें चार दुर्गुण होते हैं—वह त्रुटि करता है, मोहग्रस्त होता है,

उसमें अन्यों को ठगने की प्रवृत्ति होती है और उसकी इन्द्रियाँ अपूर्ण होती हैं। किन्तु यदि कोई परम्परा प्रणाली से गुरु की आज्ञा का पालन करता है, तो वह इन दुर्गुणों पर विजय प्राप्त कर लेता है। अत: प्रामाणिक गुरु से प्राप्त ज्ञान ठगी नहीं है। ब्रह्माजी को यह भलीभाँति ज्ञात था कि कर्दम मुनि उनकी आज्ञाओं का अक्षरश: पालन कर रहे थे और इस प्रकार वे अपने गुरु को वास्तविक सम्मान प्रदान कर रहे थे। गुरु के सम्मान का अर्थ ही है उसके आदेशों का अक्षरश: पालन।

एतावत्येव शुश्रूषा कार्या पितरि पुत्रकैः ।
बाढमित्यनुमन्येत गौरवेण गुरोर्वचः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

एतावती—इस हद तक; एव—ठीक ठीक; शुश्रूषा—सेवा; कार्या—करनी चाहिए; पितरि—पिता की; पुत्रकैः—पुत्रों के द्वारा; बाढम् इति—स्वीकार करते हुए, 'जो आज्ञा'; अनुमन्येत—आज्ञा पालन करना चाहिए; गौरवेण—आदरपूर्वक; गुरोः—गुरु के; वचः—आदेश।

पुत्रों को अपने पिता की ऐसी ही सेवा करनी चाहिए। पुत्र को चाहिए कि अपने पिता या गुरु के आदेश का पालन सम्मानपूर्वक ''जो आज्ञा'' कहते हुए करे,।

तात्पर्य : इस श्लोक में दो शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं एक तो पितरि और दूसरा गुरोः। पुत्र अथवा शिष्य को चाहिए कि वह अपने पिता या गुरु के वचनों को बिना झिझक के माने। पिता अथवा गुरु जो कुछ भी आदेश दे उसपर बिना तर्क के ''हाँ'' कह दे। ऐसा कोई अवसर नहीं आना चाहिए जब शिष्य या पुत्र यह कहे, ''यह उचित नहीं है, मैं इसे नहीं कर सकता।'' यदि वह यह कहता है, तो वह पतित हो चुका है। पिता तथा गुरु का समान पद है, क्योंकि गुरु दूसरा पिता होता है। उच्च वर्ग के लोग द्विज—दो बार जन्मा—कहलाते हैं। जब भी जन्म की बात उठेगी, पिता का होना आवश्यक होगा। पहला जन्म तो वास्तविक पिता के कारण होता है, किन्तु दूसरा जन्म गुरु द्वारा ही सम्भव हो पाता है। कभी पिता तथा गुरु एक ही व्यक्ति हो सकते हैं, तो कभी कभी भिन्न भिन्न। प्रत्येक अवस्था में पिता या गुरु की आज्ञा का तुरन्त हाँ करते हुए पालन होना चाहिए। उसमें किसी प्रकार का तर्क नहीं करना चाहिए। यही गुरु तथा पिता की असली सेवा है। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है कि गुरु की आज्ञा शिष्यों के

लिए जीवन और आत्मा तुल्य है। जिस प्रकार मनुष्य शरीर से आत्मा को पृथक् नहीं कर सकता उसी प्रकार शिष्य अपने जीवन से गुरु आज्ञा को दूर नहीं कर सकता। यदि शिष्य इस प्रकार से गुरु उपदेश का पालन करता है, तो वह अवश्य सिद्ध बनेगा। उपनिषदों में इसकी पुष्टि हुई है—जो लोग श्रीभगवान् तथा अपने गुरु में श्रद्धा रखते हैं उन्हें वैदिक शिक्षा स्वत: प्राप्त हो जाती है। कोई भौतिक दृष्टि से भले ही अनपढ़ हो, किन्तु यदि उसे गुरू के साथ ही साथ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् पर उसकी श्रद्धा है, तो उसके समक्ष शास्त्रों का ज्ञान तुरन्त प्रकट हो जाता है।

इमा दुहितरः सत्यस्तव वत्स सुमध्यमाः ।
सर्गमेतं प्रभावैः स्वैर्बृंहयिष्यन्त्यनेकधा ॥ १४॥

शब्दार्थ

इमाः—ये; दुहितरः—पुत्रियाँ; सत्यः—साध्वी; तव—तुम्हारी; वत्स—हे पुत्र; सु-मध्यमाः—तन्वंगी, पतली कमर वाली; सर्गम्—सृष्टि; एतम्—यह; प्रभावैः—वंशों द्वारा; स्वैः—स्वतः; बृंहयिष्यन्ति—वे बढ़ावेंगी; अनेक-धा—नाना प्रकार से।

तब ब्रह्माजी ने कर्दम मुनि की नवों कन्याओं की प्रशंसा यह कह कर की—तुम्हारी सभी तन्वंगी कन्याएँ निस्संदेह साध्वी हैं। मुझे विश्वास है कि वे अनेक प्रकार से अपने वंशों द्वारा इस सृष्टि का वर्धन करेंगी।

तात्पर्य : सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्माजी जन संख्या में वृद्धि के लिए चिन्तित रहते ही थे और जब उन्होंने देखा कि कर्दम मुनि के पहले से नौ सुन्दर कन्याएँ हो चुकी हैं, तो उन्हें आशा बँधी कि इन कन्याओं से अनेक सन्तानें उत्पन्न होंगी, जो सृष्टि करने का कार्यभार सँभालेंगी। अत: वे उन्हें देखकर प्रसन्न थे। *सुमध्यमा* शब्द का अर्थ है, ''सुन्दर स्त्री की उत्तम कन्या।'' यदि स्त्री की कमर पतली हो तो वह अत्यन्त सुन्दरी मानी जाती है। कर्दम मुनि की समस्त कन्याएँ ऐसी ही सुन्दरी थीं।

अतस्त्वमृषिमुख्येभ्यो यथाशीलं यथारुचि ।
आत्मजाः परिदेह्यद्य विस्तृणीहि यशो भुवि ॥ १५॥

शब्दार्थ

अतः—इसलिए; त्वम्—तुम; ऋषि-मुख्येभ्यः—प्रमुख ऋषियों को; यथा-शीलम्—स्वभावों के अनुसार; यथा-रुचि—रुचि के अनुसार; आत्म-जाः—अपनी पुत्रियाँ; परिदेहि—प्रदान करो; अद्य—आज; विस्तृणीहि—प्रसार करो; यशः—यश; भुवि—ब्रह्माण्ड भर में।

अतः आज तुम इन पुत्रियों को उनके स्वभाव तथा उनकी रुचियों के अनुसार श्रेष्ठ मुनियों को प्रदान कर दो और इस प्रकार सारे ब्रह्माण्ड में अपना सुयश फैलाओ।

तात्पर्य : नौ मुख्य ऋषि हैं—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ तथा अथर्वा। ये ऋषि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं और ब्रह्मा यही चाह रहे थे कि कर्दम मुनि अपनी कन्याओं को इन्हीं ऋषियों को प्रदान कर दें। यहाँ पर प्रयुक्त दो शब्द अत्यन्त सार्थक हैं—यथाशीलम् तथा यथारुचि। कन्याओं को आँख मूँदकर ऋषियों को नहीं दे दिया जाना चाहिए, वरन् उनके शील तथा रुचि के अनुसार। पुरुष तथा स्त्री को मिलाने की यही कला है। मात्र विषयी जीवन के आधार पर स्त्री तथा पुरुष का संयोग नहीं होना चाहिए। अनेक अन्य विचारणीय बातें होती हैं, जिनमें शील तथा रुचि प्रमुख हैं। यदि उनके शील तथा रुचि पृथक् पृथक् हुए तो ऐसे युगल सदैव दुखी रहते हैं। अभी चालीस वर्ष पूर्व तक, भारतीय विवाहों में पहले वर तथा कन्या के शील तथा गुण पर विचार होता था और तब उन्हें ब्याह की अनुमति दी जाती थी। यह दोनों पक्षों के माता-पिता के निर्देशन में होता था। माता-पिता ज्योतिष के अनुसार वर तथा कन्या के शील तथा रुचि का निर्धारण करा लेते थे और जब वे मिल जाते थे तभी ब्याह होता था। अन्य विचार गौण होते थे। सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्माजी ने भी इसी पद्धति की सलाह दी, ''तुम अपनी कन्याओं को शील तथा रुचि के अनुसार ऋषियों के साथ ब्याहो।''

ज्योतिष गणना के अनुसार मनुष्य को देवता या असुर की श्रेणी में वर्गीकृत किया जाता है। इस प्रकार पति-पत्नी का चुनाव होता था। दैव गुणवाली कन्या को दैव गुणवाले वर को प्रदान करना चाहिए। इसी प्रकार आसुरी गुणवाली कन्या को असुर गुण वाले वर को प्रदान किया जाना चाहिए। तभी वे सुखी रहेंगे। किन्तु यदि कन्या असुर गुणवाली हुई और लड़का दैव गुणवाला, तो यह जोड़ा बेमेल होगा, वे ऐसे ब्याह से कभी सुखी नहीं रह पाएँगे। आज के समय में लड़कों तथा लड़कियों का विवाह उनके चरित्र तथा गुण को देखकर नहीं किया

जाता, इसीलिए वे सुखी नहीं रहते और तलाक होते रहते हैं।

भागवत के बारहवें स्कंध में यह भविष्यवाणी की गई है कि इस कलियुग में कामवासना के आधार पर विवाह होंगे। जब लड़के तथा लड़की की कामवासना से आनन्द लेते हैं, तो वे ब्याह करते हैं और यदि उसमें कोई कमी रह जाती है, तो वे विलग हो जाते हैं। ऐसा ब्याह कोई ब्याह नहीं, यह तो कुत्तों तथा बिल्लियों का सा नर तथा मादा का मिलन है। अत: आधुनिक युग में जो सन्तानें उत्पन्न हो रही हैं, वे सही अर्थों में मनुष्य नहीं हैं। मनुष्य को तो द्विजन्मा होना ही चाहिए। पहले बच्चे को उत्तम माता तथा पिता जन्म देते हैं और फिर गुरु तथा वेद उसे दूसरा जन्म देते हैं। पहले वाले माता-पिता उसे इस संसार में लाते हैं, तब गुरु तथा वेद उसके दूसरे माता पिता बनते हैं। वैदिक प्रथा के अनुसार विवाह सन्तानोत्पत्ति के लिए होता था और प्रत्येक पुरुष तथा स्त्री आध्यात्मिक ज्ञान से युक्त होते थे और सन्तान उत्पत्ति करते समय सभी बातों पर सम्यक रूप से विचार किया जाता था।

वेदाहमाद्यं पुरुषमवतीर्णं स्वमायया ।
भूतानां शेवधिं देहं बिभ्राणं कपिलं मुने ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

वेद—जानता हूँ; अहम्—मैं; आद्यम्—आदि; पुरुषम्—भोक्ता; अवतीर्णम्—अवतरित होकर; स्व-मायया—अपनी अन्तरंगा शक्ति से; भूतानाम्—समस्त जीवात्माओं का; शेवधिम्—सभी इच्छाओं का प्रदाता, जो विशाल कोष के तुल्य है; देहम्—शरीर; बिभ्राणम्—मानते हुए; कपिलम्—कपिल मुनि को; मुने—हे कर्दम मुनि!.

हे कर्दम मुनि, मुझे ज्ञात है कि अब आदि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति से अवतार रूप में प्रकट हुए हैं। वे जीवात्माओं के सभी मनोरथों को पूरा करने वाले हैं और उन्होंने अब कपिल मुनि का शरीर धारण किया है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *पुरुषम् अवतीर्णं स्वमायया* शब्द आये हैं। श्रीभगवान् सनातन पुरुष हैं, भोक्ता हैं और जब वे प्रकट होते हैं, तो इस भौतिक शक्ति से कुछ भी ग्रहण नहीं करते। आध्यात्मिक जगत उनकी निजी अन्तरंगा शक्ति का प्रकटीकरण है, जब कि यह भौतिक जगत उनकी भौतिक या भिन्नीकृत शक्ति का प्रकटीकरण है। *स्वमायया* शब्द सूचित करता है कि जब कभी श्रीभगवान् का अवतार होता है, तो वे अपनी स्वशक्ति के रूप में प्रकट होते हैं। वे मनुष्य

का शरीर धारण कर सकते हैं, किन्तु वह शरीर भौतिक नहीं होता। इसीलिए *भगवद्गीता* में स्पष्ट उल्लेख है कि केवल मूर्ख तथा धूर्त अर्थात् मूढ़ ही श्रीकृष्ण के शरीर को सामान्य मनुष्य का शरीर समझते हैं। शेवधिम् शब्द का अर्थ है कि वह समस्त जीवों की आवश्यकताओं को प्रदान करने वाला है। वेदों में भी उल्लेख है कि भगवान् प्रधान पुरुष हैं और अन्य जीवों की समस्त आवश्यकताओं को पूरा करने वाले हैं। अन्य सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के कारण वे ईश्वर कहलाते हैं। परम पुरुष भी व्यक्ति है, वह निराकार नहीं हैं। जिस प्रकार हम पृथक् पृथक् व्यक्तित्वहैं उसी प्रकार भगवान् भी पृथक् हैं, किन्तु वे परम पुरुष हैं। ईश्वर तथा सामान्य जीवात्माओं में यही अन्तर है।

ज्ञानविज्ञानयोगेन कर्मणामुद्धरन्जटाः ।
हिरण्यकेशः पद्माक्षः पद्ममुद्रापदाम्बुजः ॥ १७॥

शब्दार्थ

ज्ञान—शास्त्रीय ज्ञान का; विज्ञान—तथा व्यवहार; योगेन—योग के द्वारा; कर्मणाम्—कार्यों का; उद्धरन्—समूल विच्छेद करने के लिए; जटाः—जड़ें; हिरण्य-केशः—सुनहले बाल; पद्म-अक्षः—कमल से समान नेत्र वाला; पद्म-मुद्रा—कमल चिह्न से युक्त; पद-अम्बुजः—कमल सदृश चरणों वाले।

सुनहले बाल, कमल की पंखड़ियों जैसे नेत्र तथा कमल के पुष्प से अंकित कमल के समान चरणोवाले कपिल मुनि अपने योग तथा शास्त्रीय ज्ञान के व्यवहार से इस भौतिक जगत में कर्म की इच्छा को समूल नष्ट कर देंगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में कपिल मुनि के कार्यों तथा शारीरिक लक्षणों का सुन्दर वर्णन हुआ है। यहाँ पर कपिल मुनि के कार्यों की भविष्यवाणी की गई है—वे सांख्य दर्शन को इस प्रकार प्रस्तुत करेंगे कि लोग उनके दर्शन का अध्ययन करके कर्म अर्थात् सकाम कर्म की उत्कट अभिलाषा को जड़ से उखाड़ देंगे। इस भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति अपने श्रम के फल को प्राप्त करने में लगा हुआ है। मनुष्य अपने श्रम के फल को प्राप्त करके सुखी रहने का प्रयत्न करता है, किन्तु वस्तुतः वह अधिकाधिक उलझता जाता है। जब तक पूर्ण ज्ञान या भक्तियोग प्राप्त नहीं कर लिया जाता, तब तक इस बन्धन से वह छूट नहीं पाता।

केवल विचारशक्ति (कल्पना) के द्वारा जो लोग बन्धन से छूटने का प्रयत्न करते हैं, वे भी

भरसकप्रयास कर रहे होते हैं, किन्तु वैदिक धर्मशास्त्रों से पता चलता है, जिसने कृष्ण भावनामृत में भक्तिप्रिय सेवा अंगीकार ली है, वह कर्म की अभिलाषा को सरलता से उच्छेदित कर देता है। कपिल मुनि द्वारा इस कार्य हेतु सांख्य दर्शन का प्रसार होगा। यहाँ पर उनके शारीरिक लक्षणों का भी वर्णन हुआ हैं। ज्ञान सामान्य शोधकार्य का द्योतक नहीं है। ज्ञान तो शिष्य-परम्परा से गुरु के माध्यम से प्राप्त होने वाले शास्त्रीय ज्ञान का द्योतक है। इस आधुनिक युग में कल्पना एवं आडम्बर द्वारा शोधकार्य करने की प्रवृत्ति चल पड़ी है। किन्तु जो व्यक्ति कल्पना करता है, वह यह भूल जाता है कि वह स्वयं प्रकृति के चार अवगुणों के अधीन है— वह त्रुटि करता है, उसकी इन्द्रियाँ अपूर्ण हैं, उसे मोह हो सकता है और वह ठगता है। जब तक किसी को शिष्य-परम्परा से पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं होता, तब तक वह अपने गढ़े हुए कोरे सिद्धान्त प्रस्तुत करता रहता है, अत: वह लोगों को ठग रहा होता है। ज्ञान का अर्थ है शिष्य-परम्परा से प्राप्त ज्ञान और विज्ञान का अर्थ है ऐसे ज्ञान का व्यावहारिक सम्प्रयोग। कपिल मुनि का सांख्य दर्शन ज्ञान तथा विज्ञान पर आधारित है।

एष मानवि ते गर्भं प्रविष्टः कैटभार्दनः ।
अविद्यासंशयग्रन्थिं छित्त्वा गां विचरिष्यति ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

एषः—वही श्रीभगवान्; मानवि—हे मनु की पुत्री; ते—तुम्हारे; गर्भम्—गर्भ में; प्रविष्टः—प्रविष्ट हुआ है; कैटभ-अर्दनः—कैटभ असुर को मारने वाला; अविद्या—अज्ञान का; संशय—तथा सन्देह का; ग्रन्थिम्—गाँठ; छित्त्वा—काटकर; गाम्—संसार में; विचरिष्यति—विचरण करेगा।.

तब ब्रह्माजी ने देवहूति से कहा : हे मनुपुत्री, जिन श्रीभगवान् ने कैटभ असुर का बध किया है, वे ही अब तुम्हारे गर्भ में आये हैं। वे तुम्हारे समस्त संशय तथा अज्ञान की गाँठ को नष्ट कर देंगे। तब वे सारे विश्व का भ्रमण करेंगे।

तात्पर्य : यहाँ पर अविद्या शब्द अत्यन्त सार्थक है। अविद्या का अर्थ है अपने स्वरूप को भूल जाना। हममें से प्रत्येक आत्मा है, किन्तु हम इसे भूल गये हैं। हम सोचते हैं, ''मैं यह शरीर हूँ।'' यही अविद्या कहलाती है। *संशय-ग्रंथि* का अर्थ है सन्देहात्मकता। जब आत्मा अपने को भौतिक जगत से अभिन्न मानता है, तो संदेहात्मकता की ग्रंथि जकड़ती जाती है।

यही ग्रंथि अहंकार कहलाती है, अर्थात् पदार्थ तथा आत्मा का गठबंधन। शिष्य-परम्परा से प्राप्त समुचित ज्ञान तथा उस ज्ञान के समुचित अनुशीलन से ही मनुष्य पदार्थ तथा आत्मा के गठबंधन से मुक्त हो सकता है। ब्रह्मा ने देवहूति को आश्वासन दिया कि उसका पुत्र उसे ज्ञान प्रदान करेगा और फिर सांख्य दर्शन की पद्धति का वितरण करने के लिए सारे विश्व का भ्रमण करेगा।

संशय शब्द का अर्थ 'संदेहास्पद ज्ञान' है। काल्पनिक तथा छद्म योग सम्बन्धी ज्ञान संशयात्मक होता है। आज के समय में तथाकथित योग पद्धति इस भावना पर आधारित है कि शारीरिक संरचना के विभिन्न अंगों के संचालन से मनुष्य ईश्वर बन सकता है। बौद्धिक कल्पनावादी भी ऐसा ही सोचते हैं, किन्तु वे सभी संशयग्रस्त रहते हैं। वास्तविक ज्ञान का प्रतिपादन *भगवद्गीता* में हुआ है, "केवल कृष्णभावनाभावित बनो, कृष्ण की ही पूजा करो और कृष्ण के भक्त बन जाओ।" यही असली ज्ञान है और जो भी इस पद्धति का अनुकरण करता है, वह निश्चित रूप से सिद्ध बन जाता है।

अयं सिद्धगणाधीशः साङ्ख्याचार्यैः सुसम्मतः ।
लोके कपिल इत्याख्यां गन्ता ते कीर्तिवर्धनः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अयम्—यह भगवान्; सिद्ध-गण—सिद्धमुनियों का; अधीशः—प्रमुख; साङ्ख्य-आचार्यैः—सांख्य दर्शन में दक्ष आचार्यों द्वारा; सु-सम्मतः—वैदिक नियमों के अनुसार मान्य; लोके—संसार में; कपिलः इति—कपिल रूप में; आख्याम्—विख्यात; गन्ता—वह घूमेगा; ते—तुम्हारा; कीर्ति—यश; वर्धनः—बढ़ाते हुए।

तुम्हारा पुत्र समस्त सिद्धगणों का अग्रणी होगा। वह वास्तविक ज्ञान का प्रसार करने में दक्ष आचार्यों द्वारा मान्य होगा और मनुष्यों में वह कपिल नाम से विख्यात होगा। देवहूति के पुत्र-रूप में वह तुम्हारे यश को बढ़ाएगा।

तात्पर्य : सांख्य दर्शन देवहूति के पुत्र कपिल द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक पद्धति है। दूसरे कपिल, जो देवहूति के पुत्र नहीं हैं, नकली हैं। यह ब्रह्मा का कथन है और चूँकि हम ब्रह्मा की शिष्य-परम्परा से सम्बन्धित हैं, अतः हमें उनके कथन को स्वीकार करना चाहिए कि असली कपिल देवहूति के पुत्र थे और वास्तविक सांख्य दर्शन का सूत्रपात उन्हीं के द्वारा हुआ जिसे

आध्यात्मिक प्रवंग के संचालक आचार्य लोग स्वीकार करेंगे। सुसम्मत शब्द का अर्थ है "उन व्यक्तियों द्वारा स्वीकृत जिनके अभिमत का महत्त्व होता है।"

मैत्रेय उवाच
तावाश्वास्य जगत्स्त्रष्टा कुमारैः सहनारदः ।
हंसो हंसेन यानेन त्रिधामपरमं ययौ ॥ २० ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; तौ—दम्पति; आश्वास्य—आश्वस्त करके; जगत्-स्त्रष्टा—ब्रह्माण्ड का निर्माता; कुमारैः—कुमारों के साथ साथ; सह-नारदः—नारद सहित; हंसः—ब्रह्माजी; हंसेन यानेन—अपने हंस वाहन द्वारा; त्रि-धाम-परमम्—सर्वोच्च लोक को; ययौ—चले गये।

श्रीमैत्रेय ने कहा—कर्दम मुनि तथा उनकी पत्नी देवहूति से इस प्रकार कह कर ब्रह्माण्ड के स्त्रष्टा ब्रह्माजी, जिन्हें हंस भी कहा जाता है, अपने वाहन हंस पर चढ़कर चारों कुमारों तथा नारद सहित तीनों लोकों में से सर्वोच्च लोक को वापस चले गये।

तात्पर्य : यहाँ पर *हंसेन यानेन* शब्द अत्यन्त सार्थक हैं। जिस विमान से ब्रह्मा बाह्य आकाश में यात्रा करते हैं वह हंसयान है और हंस की आकृति से मिलता जुलता है। ब्रह्मा को हंस भी कहा जाता है, क्योंकि वे प्रत्येक वस्तु के सार को ग्रहण कर सकते हैं। उनका धाम *त्रिधाम परमम्* कहलाता है। ब्रह्माण्ड के तीन विभाग हैं—उच्चतर लोक, मध्यलोक तथा निम्नलोक, किन्तु उनका धाम सिद्ध लोक, अर्थात् उच्चतर लोक से भी ऊपर है। वे अपने लोक चारों कुमारों तथा नारद के सहित वापस चले गये, क्योंकि उनका ब्याह नहीं होना था। अन्य ऋषि जो उनके साथ आये थे, यथा मारीचि तथा अत्रि, वे वहीं रहे, क्योंकि उनका विवाह कर्दम की कन्याओं के साथ होना था, परन्तु उनके अन्य पुत्र—सनत्, सनक, सनन्दन, सनातन तथा नारद उनके हंसयान से उनके साथ ही वापस चले गये। चारों कुमार तथा नारद नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। नैष्ठिक ब्रह्मचारी वह है, जो कभी अपना वीर्य नष्ट नहीं होने देता। उन्हें अपने अन्य भाइयों मारीचि तथा अन्य ऋषियों के विवाहोत्सव में सम्मिलित नहीं होना था, इसीलिए वे अपने पिता हंस के साथ वापस चल गये।

गते शतधृतौ क्षत्तः कर्दमस्तेन चोदितः ।
यथोदितं स्वदुहितृः प्रादाद्विश्वसृजां ततः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

गते—चले जाने के बाद; शत-धृतौ—भगवान् ब्रह्मा; क्षत्तः—हे विदुर; कर्दमः—कर्दम मुनि; तेन—उसके द्वारा; चोदितः—आदेशित होकर; यथा-उदितम्—कहे जाने के अनुसार; स्व-दुहितृः—अपनी कन्याएँ; प्रादात्—प्रदान कर दिया; विश्व-सृजाम्—प्राणियों के स्त्रष्टा; ततः—तदनन्तर।

हे विदुर ब्रह्माजी, कर्दम मनि ने अपनी नवों पुत्रियों को ब्रह्मा द्वारा दिये गये आदेशों के अनुसार नौ ऋषियों को प्रदान कर दिया, जिन्होंने इस संसार के मनुष्यों का सृजन किया।

मरीचये कलां प्रादादनसूयामथात्रये ।
श्रद्धामङ्गिरसेऽयच्छत्पुलस्त्याय हविर्भुवम् ॥ २२ ॥
पुलहाय गतिं युक्तां क्रतवे च क्रियां सतीम् ।
ख्यातिं च भृगवेऽयच्छद्वसिष्ठायाप्यरुन्धतीम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

मरीचये—मरीचि को; कलाम्—कला; प्रादात्—प्रदान किया; अनसूयाम्—अनुसूया; अथ—तब; अत्रये—अत्रि को; श्रद्धाम्—श्रद्धा; अङ्गिरसे—अंगिरा को; अयच्छत्—दे दिया; पुलस्त्याय—पुलस्त्य को; हविर्भुवम्—हविर्भू; पुलहाय—पुलह को; गतिम्—गति; युक्ताम्—उपयुक्त; क्रतवे—क्रतु को; च—यथा; क्रियाम्—क्रिया; सतीम्—सती; ख्यातिम्—ख्याति; च—यथा; भृगवे—भृगु को; अयच्छत्—दे दिया; वसिष्ठाय—वसिष्ठ मुनि को; अपि—भी; अरुन्धतीम्—अरुन्धती।

कर्दम मुनि ने अपने पुत्री कला को मारीचि को और दूसरी कन्या अनुसूया को अत्रि को समर्पित कर दिया। श्रद्धा, हविर्भू, गति, क्रिया, ख्याति तथा अरुन्धती नामक कन्याएँ क्रमशः अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु और वसिष्ठ को प्रदान की गईं।

अथर्वणेऽददाच्छान्तिं यया यज्ञो वितन्यते ।
विप्रर्षभान्कृतोद्वाहान्सदारान्समलालयत् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

अथर्वणे—अथर्वा को; अददात्—प्रदान किया; शान्तिम्—शान्ति; यया—जिसके द्वारा; यज्ञः—यज्ञ; वितन्यते—किया जाता है; विप्र-ऋषभान्—ब्राह्मणों में अग्रगण्य; कृत-उद्वाहान्—विवाह कर दिया; स-दारान्—उनकी पत्नियों सहित; समलालयत्—पालन किया।

उन्होंने शान्ति अथर्वा को प्रदान की। शान्ति के कारण यज्ञ अच्छी तरह सम्पन्न होने लगे। इस प्रकार उन्होंने अग्रणी ब्राह्मणों से उन सबका विवाह कर दिया और पत्नियों सहित उन सबका पालन करने लगे।

ततस्त ऋषयः क्षत्तः कृतदारा निमन्त्र्य तम् ।
प्रातिष्ठन्नन्दिमापन्नाः स्वं स्वमाश्रममण्डलम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; ते—वे; ऋषयः—ऋषिगण; क्षत्तः—हे विदुर; कृत-दाराः—इस प्रकार विवाहित; निमन्त्र्य—विदा लेकर; तम्—कर्दम से; प्रातिष्ठन्—चले गये; नन्दिम्—प्रसन्नता को; आपन्नाः—प्राप्त; स्वम् स्वम्—अपने अपने; आश्रम-मण्डलम्—आश्रम।

हे विदुर, इस प्रकार विवाहित होकर ऋषियों ने कर्दम से विदा ली और वे प्रसन्नतापूर्वक अपने अपने आश्रम को चले गये।

स चावतीर्णं त्रियुगमाज्ञाय विबुधर्षभम् ।
विविक्त उपसङ्गम्य प्रणम्य समभाषत ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सः—कर्दम मुनि ने; च—तथा; अवतीर्णम्—अवतार लिया; त्रि-युगम्—विष्णु को; आज्ञाय—समझ कर; विबुध-ऋषभम्—देवताओं का मुखिया; विविक्ते—एकान्त स्थान में; उपसङ्गम्य—पास जाकर; प्रणम्य—प्रणाम करके; समभाषत—बोला।

जब कर्दम मुनि ने समझ लिया कि सब देवताओं के प्रधान पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु ने अवतार लिया है, तो वे एकान्त स्थान में जाकर उन्हें नमस्कार करते हुए इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु को *त्रि-युग* कहते हैं। वे तीन युगों—सत्य, त्रेता तथा द्वापर में प्रकट होते हैं, किन्तु कलियुग में नहीं प्रकट होते, लेकिन प्रह्लाद महाराज की स्तुतियों से समझ में आता है कि वे भक्त के वेश में कलियुग में प्रकट होते हैं। भगवान् चैतन्य ही वे भक्त हैं। किन्तु उन्होंने कभी इस भेद को प्रकट नहीं किया कि कृष्ण भक्त के रूप में प्रकट हुए हैं, फिर भी रूप गोस्वामी ने उन्हें पहचान लिया, क्योंकि भगवान् अपने को शुद्ध भक्त से छिपा नहीं पाते। जब रूप गोस्वामी ने पहली बार भगवान् चैतन्य को नमस्कार किया तभी उनको पहचान गये थे। वे जान गये कि भगवान् चैतन्य स्वयं श्रीकृष्ण थे, अतः उन्होंने इन शब्दों में उनको प्रणाम किया, "मैं श्रीकृष्ण की प्रार्थना करता हूँ जो अब भगवान् चैतन्य के रूप में प्रकट हुए हैं।" प्रह्लाद महाराज की स्तुतियों से भी इसकी पुष्टि होती है, वे कलियुग में प्रत्यक्ष रूप में नहीं वरन् भक्त के रूप में प्रकट होते हैं। इसीलिए विष्णु त्रियुग कहलाते हैं। त्रियुग की एक

अन्य व्याख्या है, जिसके अनुसार भगवान् में तीन युग्म दैवी गुण पाये जाते हैं जिनके नाम हैं शक्ति तथा समृद्धि, दया तथा यश और बुद्धि तथा शान्ति। श्रीधर स्वामी के अनुसार भगवान् के ऐश्वर्य के तीन जोड़े इस प्रकार हैं—समस्त धन तथा समस्त शक्ति, सम्पूर्ण यश तथा समग्र सौन्दर्य तथा समग्र बुद्धि और समग्र त्याग। त्रियुग की विभिन्न व्याख्याएँ हैं, किन्तु समस्त विद्वानों ने इसका अर्थ विष्णु माना है। जब कर्दम मुनि जान गये कि उनका पुत्र कपिल साक्षात् विष्णु है, तो उन्होंने उसको प्रणाम करना चाहा। अत: जब कपिल अकेले थे तो उन्होंने इस प्रकार से प्रणाम किया और अपने मन की बातें कहीं।

अहो पापच्यमानानां निरये स्वैरमङ्गलैः ।
कालेन भूयसा नूनं प्रसीदन्तीह देवताः ॥ २७॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; पापच्यमानानाम्—सताये हुओं के साथ; निरये—नारकीय बंधन में; स्वैः—अपना, निजी; अमङ्गलैः—कुकृत्यों (पापों) से; कालेन भूयसा—दीर्घकाल बाद; नूनम्—निस्सन्देह; प्रसीदन्ति—प्रसन्न होते हैं; इह—इस संसार में; देवताः—देवतागण।

कर्दम मुनि ने कहा—ओह! इस ब्रह्माण्ड के देवता लम्बी अवधि के बाद कष्ट में पड़ी हुई उन आत्माओं पर प्रसन्न हुए हैं, जो अपने कुकृत्यों के कारण भौतिक बन्धन में पड़े हुए हैं।

तात्पर्य : यह भौतिक जगत दुख का स्थान है, जो बद्धजीवों द्वारा स्वयं किये गये कुकर्मों के कारण है। ये दुख उन पर बाहर से नहीं लादे जाते, अपितु बद्धजीव अपने कर्मों से अपने दुखों को उत्पन्न करते हैं। जंगल में आग स्वत: लगती है। ऐसा नहीं है कि कोई वहाँ जाता है और आग लगाता है—वृक्षों की रगड़ से आग स्वत: उत्पन्न होती है। जब इस संसार रूपी जंगल की अग्नि से अत्यधिक ताप उत्पन्न होता है, तो ब्रह्मा समेत सभी देवता इससे त्रस्त होकर परमेश्वर अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के पास जाते हैं और इस स्थिति से उबारने के लिए प्रार्थना करते हैं। तब श्रीभगवान् अवतरित होते हैं। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि जब देवतागण बद्धजीवों के कष्टों को देखकर दुखी होते हैं, तो इनसे उद्धार पाने के लिए वे श्रीभगवान् के पास पहुँचते हैं और श्रीभगवान् का अवतार होता है। और जब श्रीभगवान्

अवतरित होते हैं, तो सभी देवता प्रसन्न होते हैं। अत: कर्दम मुनि ने कहा, ''अनेक वर्षों तक मानवीय कष्टों के सहने के बाद अब सभी देवता प्रसन्न हुए हैं, क्योंकि श्रीभगवान् के अवतार कपिलदेव प्रकट हुए हैं।''

बहुजन्मविपक्वेन सम्यग्योगसमाधिना ।
द्रष्टुं यतन्ते यतयः शून्यागारेषु यत्पदम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

बहु—अनेक; जन्म—जन्मों के बाद; विपक्वेन—पका हुआ, प्रौढ़; सम्यक्—पूर्णतः; योग-समाधिना—योग में समाधि द्वारा; द्रष्टुम्—देखने के लिए; यतन्ते—प्रयत्न करते हैं; यतयः—योगीजन; शून्य-अगारेषु—एकान्त स्थानों में; यत्—जिसके; पदम्—पाँव।

परिपक्व योगीजन योग समाधि में अनेक जन्म लेकर एकान्त स्थानों में रह कर श्रीभगवान् के चरणकमलों को देखने का प्रयत्न करते रहते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर योग के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही गई हैं। *बहुजन्म विपक्वेन* शब्द का अर्थ है, ''जन्म जन्मान्तरों तक प्रौढ़ योगाभ्यास।'' एक अन्य शब्द है, *सम्यग्-योग-समाधिना* जिसका अर्थ है, ''योग पद्धति का पूर्ण अभ्यास।'' योग के पूर्ण अभ्यास का अर्थ है भक्तियोग और जब तक मनुष्य भक्तियोग को प्राप्त नहीं होता अथवा श्रीभगवान् की शरण में नहीं जाता, तब तक उसका योगाभ्यास पूर्ण नहीं होता। *श्रीमद्भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि की गई है। बहूनाम् जन्मनाम् अन्ते—अनेक जन्मों के बाद दिव्य ज्ञान में पक्व (निष्णात्) ज्ञानी श्रीभगवान् की शरण में जाता है। कर्दम मुनि इसी कथन को दुहराते हैं। अनेकानेक वर्षों तथा अनेकानेक जन्मों तक योगाभ्यास करने पर मनुष्य एकान्त स्थान में परमेश्वर के चरणकमलों का दर्शन कर पाता है। केवल कुछ आसन कर लेने से कोई तुरन्त सिद्ध नहीं बन जाता। परिपक्व होने के लिए उसे दीर्घकाल तक—अनेक अनेक जन्मों तक—योगाभ्यास करना पड़ता है और वह भी एकान्त स्थान में जाकर। कोई किसी नगर या सार्वजनिक पार्क में योगाभ्यास नहीं कर सकता और न यह घोषित कर सकता है कि मात्र कुछ धन का आदान प्रदान करने से वह ईश्वर बन गया है। यह बेढंगा प्रचार है। जो असली योगी हैं, वे एकान्त स्थान में जाकर अभ्यास करते हैं और अनेकानेक जन्मों के बाद तभी सफल होते हैं जब वे श्रीभगवान् की शरण ग्रहण

करते हैं। यही योग की पूर्णता है।

स एव भगवानद्य हेलनं न गणय्य नः ।
गृहेषु जातो ग्राम्याणां यः स्वानां पक्षपोषणः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सः एव—वही; भगवान्—श्रीभगवान्; अद्य—आज; हेलनम्—उपेक्षा; न—नहीं; गणय्य—ऊँचा तथा नीचा मानकर; नः—हमारे; गृहेषु—घरों में; जातः—प्रकट हुआ; ग्राम्याणाम्—सामान्य गृहस्थों का; यः—जो; स्वानाम्—अपने भक्तों का; पक्ष-पोषणः—पक्षधर।

हम जैसे सामान्य गृहस्थों की उपेक्षा का ध्यान न करते हुए वही श्रीभगवान् अपने भक्तों की सहायता के लिए ही हमारे घरों में प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : श्रीभगवान् को भक्त इतने प्रिय हैं कि भले ही वे एकान्त स्थान में अनेकानेक जन्मों से अभ्यास करने में रत योगियों के समक्ष न प्रकट हों, किन्तु वे गृहस्थों के घर में प्रकट होना स्वीकार करते हैं जहाँ भक्त भौतिक योग किये बिना ही भगवान् की भक्ति में लगे रहते हैं। दूसरे शब्दों में, भक्तिमय सेवा करना इतना सरल है कि गृहस्थ भी श्रीभगवान् को अपने परिवार के सदस्य के रूप में, अपने पुत्र रूप में देख सकता है जैसाकि कर्दम मुनि को अनुभव हुआ। योगी होते हुए भी वे गृहस्थ थे, किन्तु तो भी उन्हें अपने पुत्र कपिल मुनि के रूप में श्रीभगवान् का अवतार देखने को मिला।

भक्तियोग ऐसी शक्तिमान दिव्य विधि है, जो दिव्य साक्षात्कार की अन्य सभी विधियों से श्रेष्ठ है। इसीलिए भगवान् कहते हैं कि वे न तो वैकुण्ठ में रहते हैं, न योगी के हृदय में वरन् वे वहाँ वास करते हैं जहाँ शुद्ध भक्त निरन्तर उनका जप और गुणगान करते रहते हैं। श्रीभगवान् भक्तवत्सल कहे जाते हैं, उन्हें कभी भी *ज्ञानी-वत्सल* या *योगी-वत्सल* नहीं कहा जाता। वे सदैव भक्तवत्सल इसलिए कहे जाते हैं, क्योंकि अन्य दिव्य ज्ञानियों को अपेक्षा भक्तों के प्रति उनका अधिक झुकाव रहता है। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि हुई है कि केवल भक्त ही भगवान् को यथा रूप समझ सकते हैं। *भक्त्या माम् अभिजानाति*—मनुष्य मुझे केवल भक्तियोग से जान सकता है, अन्यथा नहीं। ऐसा जानना ही वास्तविक है, क्योंकि ज्ञानी लोग भगवान् के ऐश्वर्य या शारीरिक कान्ति को ही जान सकते हैं और योगी आंशिक रूप से श्रीभगवान् को प्राप्त कर पाते

हैं, किन्तु भक्त को न केवल पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का बोध होता है, वरन् उनकी प्रत्यक्ष संगति भी प्राप्त होती है।

स्वीयं वाक्यमृतं कर्तुमवतीर्णोऽसि मे गृहे ।
चिकीर्षुर्भगवाञ्ज्ञानं भक्तानां मानवर्धनः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

स्वीयम्—निज के; वाक्यम्—शब्द; ऋतम्—सत्य; कर्तुम्—बनाने के लिए; अवतीर्णः—अवतरित; असि—हुए हो; मे गृहे—मेरे घर में; चिकीर्षुः—विस्तार करने के लिए इच्छुक; भगवान्—श्रीभगवान्; ज्ञानम्—ज्ञान; भक्तानाम्—भक्तों का; मान—सम्मान, आदर; वर्धनः—बढ़ाने वाला।.

कर्दम मुनि ने कहा—सदैव अपने भक्तों का मानवर्धन करने वाले मेरे प्रिय भगवान्, आप अपने वचनों को पूरा करने तथा वास्तविक ज्ञान का प्रसार करने के लिए ही मेरे घर में अवतरित हुए हैं।

तात्पर्य : कर्दम मुनि की योग साधना के बाद जब भगवान् उनके समक्ष प्रकट हुए तो उन्होंने वचन दिया कि वे उनके पुत्र बनेंगे। अत: अपने वचन को पूरा करने के लिए ही वे कर्दम मुनि के पुत्र रूप में अवतरित हुए। उनके प्रकट होने का अन्य कारण था *चिकीर्षुर्भगवान् ज्ञानम्*—ज्ञान का वितरण करना। इसीलिए वे *भक्तानां मानवर्धनः* कहलाते हैं अर्थात् वे भक्तों के मान को बढ़ाते हैं। सांख्य का वितरण करके वे भक्तों का मानवर्धन करेंगे, अत: सांख्य दर्शन कोरा शुष्क ज्ञान नहीं है। सांख्य दर्शन का अर्थ है भक्तियोग। यदि सांख्य भक्तियोग के हेतु नहीं था, तो भक्तों का मान किस प्रकार बढ़ा होता? भक्त ज्ञान में रुचि नहीं रखते, अत: कपिल मुनि द्वारा प्रतिपादित सांख्य मनुष्य को उनकी भक्ति में दृढ़ बनाने के निमित्त है। असली ज्ञान तथा वास्तविक मुक्ति तो श्रीभगवान् की शरण में जाना और उनकी भक्तिमय सेवा में तत्पर होना है।

तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव ।
यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तानि—वे; एव—सचमुच; ते—तुम्हारे; अभिरूपाणि—अनुकूल; रूपाणि—रूप; भगवन्—हे भगवान्; तव—तुम्हारा; यानि यानि—जो जो; च—तथा; रोचन्ते—अच्छे लगते हैं; स्व-जनानाम्—अपने भक्तों को; अरूपिण:—बिना भौतिक रूप वाले का।

हे भगवन्, यद्यपि आपका कोई भौतिक रूप नहीं है, किन्तु आपके अपने ही अनन्त रूप हैं। वे सचमुच ही आपके दिव्य रूप हैं और आपके भक्तों को आनन्दित करनेवाले हैं।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि भगवान् तो एक ही परमपूर्ण हैं, परन्तु उनके अनन्त रूप हैं। *अद्वैतमच्युतमनादिम् अनन्तरूपम्*—भगवान् आदि रूप हैं किन्तु फिर भी उनके नाना रूप हैं। ये विविध रूप उनके अनेक प्रकार के भक्तों की रुचियों के अनुसार प्रकट होते रहते हैं। कहा जाता है कि एक बार भगवान् रामचन्द्र के परमभक्त हनुमान ने कहा कि लक्ष्मीपति नारायण तथा सीतापति राम एक ही हैं और सीता तथा लक्ष्मी में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु स्वयं उन्हें भगवान् राम का रूप अधिक प्रिय था। इसी प्रकार कुछ भक्त श्रीकृष्ण के आदि रूप की पूजा करते हैं। जब हम 'कृष्ण' कहते हैं, तो हम न केवल कृष्ण वरन् भगवान् के सभी रूपों—राम, नृसिंह, वराह, नारायण आदि का उल्लेख करते हैं। दिव्य रूपों की ये किस्में एक साथ विद्यमान हैं। ब्रह्म-संहिता में भी इसका उल्लेख है—*रामादि मूर्तिषु...नानावतारम्*। वे पहले से नाना रूपों में विद्यमान हैं, किन्तु इनमें से कोई भी रूप भौतिक नहीं हैं। श्रीधर स्वामी ने टीका की है कि *अरूपिण:* अर्थात् "रूपविहीन" वास्तव में बिना भौतिक रूप के लिए प्रयुक्त है। भगवान् के रूप होता है अन्यथा यहाँ यह क्यों कहा जाता—*तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव*—आपके अपने रूप हैं, किन्तु वे भौतिक नहीं हैं। आपके भौतिक दृष्टि से कोई रूप नहीं है, किन्तु आध्यात्मिक, तात्त्विक दृष्टि से आप नाना रूपों वाले हैं। मायावादी दार्शनिक भगवान् के इन दिव्य रूपों को नहीं समझ पाते, अत: निराश होकर वे परमेश्वर को निराकर बताते हैं। किन्तु तथ्य यह नहीं है; जब भी कोई रूप होता है, तो व्यक्ति भी होता है। वैदिक साहित्य में अनेक बार भगवान् को *पुरुष* कहा गया है, जिसका अर्थ है, "आदि रूप, आदि भोक्ता।" निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् के कोई रूप नहीं होता फिर भी विभिन्न कोटि

के भक्तों की रुचियों के अनुसार वे एकसाथ नाना रूपों में विद्यमान रहते हैं यथा राम, नृसिंह, वराह, नारायण तथा मुकुन्द। ऐसे हजारों लाखों रूप हैं, किन्तु वे सभी विष्णु तत्त्व, कृष्ण, हैं।

त्वां सूरिभिस्तत्त्वबुभुत्सयाद्धा
सदाभिवादार्हणपादपीठम् ।
ऐश्वर्यवैराग्ययशोऽवबोध-
वीर्यश्रिया पूर्तमहं प्रपद्ये ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

त्वाम्—तुमको; सूरिभिः—परम साधुओं द्वारा; तत्त्व—परम सत्य; बुभुत्सया—जानने की इच्छा से; अद्धा—निश्चय ही; सदा—सदैव; अभिवाद—अभिवादनों का; अर्हण—योग्य; पाद—आपके पैरों के; पीठम्—आसन को; ऐश्वर्य—ऐश्वर्य; वैराग्य—विराग; यशः—कीर्ति; अवबोध—ज्ञान; वीर्य—पौरुष; श्रिया—सौन्दर्य से; पूर्तम्—पूर्ण; अहम्—मैं; प्रपद्ये—शरण में हूँ, समर्पण करता हूँ।

हे भगवान्, आपके चरणकमल ऐसे कोष के समान हैं, जो परम सत्य को जानने के इच्छुक बड़े-बड़े ऋषियों-मुनियों का सदैव आदर प्राप्त करने वाला है। आप ऐश्वर्य, वैराग्य, दिव्य यश, ज्ञान, वीर्य और सौन्दर्य से ओत-प्रोत हैं अतः मैं आपके चरणकमलों की शरण में हूँ।

तात्पर्य : असल में जो परम सत्य की खोज में लगे हैं, उन्हें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करके उनकी पूजा करनी चाहिए। *भगवद्गीता* में भगवान् ने अर्जुन को कई बार सलाह दी कि वह उनकी शरण में आवे, विशेष रूप से नवें अध्याय के अन्त में वे कहते हैं *मन्मना भव मद्भक्तः*—"यदि तुम सिद्ध बनना चाहते हो तो सदैव मेरा स्मरण करो, मेरे भक्त बनो, मेरी ही पूजा करो और मुझी को नमस्कार करो। इस प्रकार तुम मुझ श्रीभगवान् को जान सकोगे और अन्त में मेरे पास, मेरे धाम को वापस आ सकोगे।" ऐसा करों है भगवान् सदैव छः प्रकार के ऐश्वर्यों से युक्त रहते हैं। ये हैं—धन, वैराग्य, यश, ज्ञान, वीर्य तथा रूप। *पूर्तम्* शब्द का अर्थ "पूर्णतः" है। कोई यह दावा नहीं कर सकता कि सारी सम्पत्ति उसकी अपनी है, किन्तु श्रीकृष्ण ऐसा कह सकते हैं, क्योंकि वे सर्व ऐश्वर्यसम्पन्न हैं। इसी प्रकार वे ज्ञान, वैराग्य, वीर्य तथा रूप से भी परिपूर्ण हैं। वे प्रत्येक वस्तु से युक्त हैं, उनसे कोई पार नहीं पा सकता। श्रीकृष्ण का एक अन्य नाम *असमौर्ध्व* है, जिसका अर्थ है कि कोई

भी न तो उनके समान है और न बड़ा।

परं प्रधानं पुरुषं महान्तं
कालं कविं त्रिवृतं लोकपालम् ।
आत्मानुभूत्यानुगतप्रपञ्चं
स्वच्छन्दशक्तिं कपिलं प्रपद्ये ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

परम्—दिव्य; प्रधानम्—परम; पुरुषम्—व्यक्ति, पुरुष; महान्तम्—जो इस भौतिक जगत का मूल है; कालम्—जो काल (समय) है; कविम्—पूर्णतया ज्ञात; त्रि-वृतम्—तीन गुण; लोक-पालम्—समस्त लोकों का पालनकर्ता; आत्म—अपने आप में; अनुभूत्य—अनुभूति शक्ति से; अनुगत—मग्न; प्रपञ्चम्—जिनका भौतिक प्राकट्य; स्व-छन्द—स्वतन्त्र रीति से; शक्तिम्—जो शक्तिमान है; कपिलम्—भगवान् कपिल की; प्रपद्ये—शरण लेता हूँ।

मैं कपिल के रूप में अवतरित होने वाले पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण लेता हूँ, जो स्वतन्त्र रूप से शक्तिमान तथा दिव्य हैं, जो परम पुरुष हैं तथा पदार्थ और काल को मिलाकर सबों के भगवान् हैं, जो त्रिगुणमय सभी ब्रह्माण्डों के पालनकर्ता हैं और प्रलय के पश्चात् भौतिक प्रपञ्चों को अपने में लीन कर लेते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर कर्दम मुनि अपने पुत्र कपिल मुनि को *परम्* सम्बोधित करते हुए छः ऐश्वर्यों का उल्लेख करते हैं। ये हैं—धन, वीर्य, यश, रूप, ज्ञान तथा वैराग्य। परम् शब्द श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में परं *सत्यम्* पद में श्रीभगवान् के लिए आया है। परम् की व्याख्या उसके बाद आने वाले शब्द प्रधानम् से भी होती है, जिसका अर्थ है प्रमुख, मूल, प्रत्येक वस्तु का स्रोत—*सर्वकारणकारणम्*—सभी कारणों का कारण। श्रीभगवान् अरूप नहीं हैं, वे पुरुष या भोक्ता हैं। वे काल तत्व हैं और सर्वज्ञाता हैं। वे भूत, वर्तमान तथा भविष्य—सब कुछ जानने वाले हैं जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है। भगवान् कहते हैं, "मैं ब्रह्माण्ड के कोने-कोने की प्रत्येक वस्तु—वर्तमान, भूत तथा भविष्य—को जानता हूँ।" यह भौतिक जगत जो तीन गुणों के चक्र से गतिशील है, वह भी उन्हीं की शक्ति का ही प्रदर्शन है। *परास्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते*—जो कुछ भी हम देखते हैं वह उनकी शक्तियों का फल है (श्वेताश्वतर उप. ६८)। *परस्य ब्रह्मण: शक्तिस्तथेदम् अखिलं जगत्*। यह विष्णुपुराण की उक्ति है। हम समझ सकते हैं कि हम जो कुछ भी देखते हैं वह तीन गुणों का योगायोग है, किन्तु वास्तव में यह भगवान् की

शक्ति का फल है। *लोकपालम्*—वे वास्तव में समस्त जीवात्माओं के पालनकर्ता हैं। *नित्यो-नित्यानाम्*—वे समस्त जीवात्माओं के अगुआ हैं; वे एक हैं, किन्तु अनेकानेक जीवात्माओं का पालन करने वाले हैं। ईश्वर समस्त जीवों का पालन करते हैं, किन्तु कोई भी ईश्वर का पालन नहीं कर सकता। यह उनकी स्वच्छन्द शक्ति है, वे अन्यों पर आश्रित नहीं हैं। कोई कितना ही अपने को स्वच्छन्द क्यों न कहे फिर भी अपने से बड़े किसी न किसी के अधीन रहता है। किन्तु भगवान् परम पूर्ण हैं, न तो कोई उनसे बड़ा है, न उनके समान।

चूँकि कपिलमुनि कर्दममुनि के पुत्र के रूप में प्रकट हुए, किन्तु कपिल श्रीभगवान् के अवतार थे, अत: कर्दम मुनि ने शरणागत होकर उन्हें सादर नमस्कार किया। इस श्लोक का अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द *आत्मानुभूत्यानुगत-प्रपञ्चम्* है। भगवान् कपिल, राम, नृसिंह, वराह रूपों में से किसी एक में अवतरित होते हैं और इस संसार में वे जो भी रूप धारण करते हैं वह उनकी आत्मीय अन्तरंगा शक्ति का प्राकट्य होता है। ये भौतिक शक्ति के कोई रूप नहीं होते। इस संसार में प्रकट होने वाली सामान्य जीवात्माएँ भौतिक शक्ति द्वारा उत्पन्न शरीर हैं, किन्तु जब कृष्ण या उनका कोई एक विस्तार या भिन्नांश इस संसार में अवतार लेता है, तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह भौतिक शरीर से युक्त है, किन्तु उसका यह शरीर भौतिक नहीं होता। वे सदैव दिव्य शरीर धारण करने वाले हैं। किन्तु मूर्ख तथा धूर्त अर्थात् मूढ़ लोग उन्हें अपने जैसा एक मानते हैं और इस प्रकार उनका उपहास करते हैं। वे न समझ सकने के कारण कृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में स्वीकार नहीं करते। *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण कहते हैं—*अवजानन्ति मां मूढा:*—"जो मूढ़ हैं, वे मेरा उपहास करते हैं।" जब ईश्वर कोई रूप धारण करते हैं, तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि वे भौतिक शक्ति की सहायता से रूप धारण करते हैं। वे अपना आत्मरूप प्रदर्शित करते हैं, क्योंकि वे अपने आध्यात्मिक धाम (वैकुण्ठ) में वास करते हैं।

आ स्माभिपृच्छेऽद्य पतिं प्रजानां
त्वयावतीर्णर्ण उताप्तकाम: ।

परिव्रजत्पदवीमास्थितोऽहं
चरिष्ये त्वां हृदि युञ्जन्विशोकः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

आ स्म अभिपृच्छे—मैं पूछ रहा या आज्ञा माँग रहा हूँ; अद्य—अब; पतिम्—भगवान्; प्रजानाम्—समस्त प्राणियों का; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अवतीर्ण-ऋणः—ऋणमुक्त; उत—तथा; आप्त—पूर्ण; कामः—इच्छाएँ; परिव्रजत्—परिव्राजक की; पदवीम्—पथ; आस्थितः—स्वीकार करते हुए; अहम्—मैं; चरिष्ये—भ्रमण करूँगा; त्वाम्—तुम; हृदि—मेरे हृदय में; युञ्जन्—रखते हुए; विशोकः—शोक से मुक्त।

समस्त जीवात्माओं के स्वामी मुझे आप से आज कुछ पूछना है। चूँकि आपने मुझे अब पितृ-ऋण से मुक्त कर दिया है और मेरे सभी मनोरथ पूरे हो चुके हैं, अतः मैं संन्यास-मार्ग ग्रहण करना चाहता हूँ। इस गृहस्थ जीवन को त्याग कर मैं शोकरहित होकर अपने हृदय में सदैव आपको धारण करते हुए सर्वत्र भ्रमण करना चाहता हूँ।

तात्पर्य : वस्तुतः संन्यास अथवा गृहस्थ जीवन के परित्याग के लिए आवश्यक है कृष्णभावनामृत में पूर्ण तल्लीन और अपने में डूबे रहना। कोई संन्यास इसलिए नहीं ग्रहण करता कि वह फिर से परिवार बसावेगा या संन्यास के नाम पर कोई षड्यंत्र खड़ा करेगा। संन्यासी का कार्य न तो अनेक वस्तुओं का स्वामी बनना है और न भोली भाली जनता से धन का संग्रह करना है। संन्यासी को सदैव गर्व रहता है कि अपने अन्तःकरण में वह सदैव श्रीकृष्ण का चिन्तन करता रहता है। निस्सन्देह भगवान् के भक्तों के दो प्रकार हैं। एक *गोष्ठ्य आनन्दी* कहलाते हैं, अर्थात् जो धर्मोंपदेश हैं और भगवान् की महिमा का उपदेश देने के लिए उनके अनेक अनुयायी होते हैं। दूसरे भक्त *आत्मानन्दी* अथवा आत्म-तुष्ट हैं, जो धर्मोंपदेश का कार्य नहीं करते। वे ईश्वर के साथ एकान्त में रहते हैं। कर्दममुनि इसी प्रकार के भक्त थे। वे सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होकर अपने अन्तःकरण में भगवान् को बसाकर अकेले रहना चाह रहे थे। *परिव्राज* का अर्थ है, ''भ्रमण करने वाला साधु।'' परिव्राजक संन्यासी को कहीं भी तीन दिन से अधिक नहीं रुकना चाहिए। उसे सदैव चलते रहना चाहिए, क्योंकि उसका धर्म है द्वार-द्वार जाकर मनुष्यों में कृष्णभावनामृत को बोध कराना।

श्रीभगवानुवाच
मया प्रोक्तं हि लोकस्य प्रमाणं सत्यलौकिके ।

अथाजनि मया तुभ्यं यदवोचमृतं मुने ॥ ३५॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; मया—मेरे द्वारा; प्रोक्तम्—कहा गया; हि—वास्तव में; लोकस्य—मनुष्यों के लिए; प्रमाणम्—प्रमाण, मानदण्ड; सत्य—शास्त्रोक्त (वैदिक); लौकिके—तथा सामान्य बोली में; अथ—अतः; अजनि—जन्म लिया; मया—मेरे द्वारा; तुभ्यम्—तुमको; यत्—जो; अवोचम्—मैंने कहा; ऋतम्—सत्य; मुने—हे मुनि!.

भगवान् कपिल ने कहा—मैं जो भी प्रत्यक्ष रूप से या शास्त्रों में कहता हूँ वह संसार के लोगों के लिए सभी प्रकार से प्रामाणिक है। हे मुने, चूँकि मैं तुमसे पहले ही कह चुका हूँ कि मैं तुम्हारा पुत्र बनूँगा, अतः उसी को सत्य करने हेतु मैंने अवतार लिया है।

तात्पर्य : भगवान् की सेवा में पूर्णतया तत्पर रहने के लिए कर्दममुनि अपना परिवार त्याग रहे थे। किन्तु उन्हें यह ज्ञात था कि भगवान् स्वयं कपिल रूप में उनके घर में उनके पुत्र बनकर जन्म ले चुके हैं, तो फिर वे आत्म-साक्षात्कार या ईश्वर बोध की खोज के लिए क्योंकर अपना घर छोड़ने जा रहे थे? जब भगवान् स्वयं उनके घर में विद्यमान थे तो वे घर क्यों छोड़ें? ऐसा प्रश्न उठ सकता है। किन्तु यहाँ पर यह कहा गया है कि जो कुछ वेदों में कथित है और जो कुछ लोक में प्रचलित है उसे ही प्रामाणिक मानना चाहिए। वैदिक प्रमाण के अनुसार पचासवें वर्ष में गृहस्थ को गृहत्याग कर देना चाहिए। पंचाशोर्ध्व वनं व्रजेत—मनुष्य को पचास वर्ष की आयु प्राप्त करने के बाद गृहस्थ जीवन त्यागकर वन में प्रवेश करना चाहिए। यह वेदों का प्रामाणिक कथन है, जो सामाजिक जीवन के कर्मानुसार चार विभागों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास पर आश्रित है।

कर्दममुनि ने विवाह के पूर्व ब्रह्मचारी रहकर कठोर योग-साधना की थी और इतनी योग-शक्ति प्राप्त कर ली थी कि उनके पिता ब्रह्मा ने उन्हें ब्याह करके गृहस्थ बनकर सन्तान उत्पन्न करने का आदेश दिया। कर्दम ने वह भी किया; उनके नौ उत्तम कन्याएँ तथा एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इस प्रकार उनका गृहस्थ जीवन भी सुचारु रूप से बीत गया और अब उनको गृहत्याग करना था। यद्यपि उन्हें पुत्र रूप में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् मिल गये थे, तो भी उन्हें वेदों के प्रमाण का आदर करना था। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शिक्षा है। भले ही क्यों न किसी को अपने घर में पुत्र रूप में भगवान् प्राप्त हों, फिर भी उसे वैदिक आदेशों का पालन करना चाहिए।

कहा गया है—*महाजनो येन गतः स पन्थाः*—मनुष्यों को चाहिए कि महापुरुषों द्वारा ग्रहण किये गये पथ का अनुसरण करे।

कर्दममुनि का उदाहरण अत्यन्त शिक्षाप्रद है, क्योंकि पुत्र रूप में श्रीभगवान् को प्राप्त करके भी वैदिक आज्ञाओं के पालन हेतु उन्होंने घर को छोड़ दिया। यहाँ कर्दममुनि अपने गृहत्याग का मुख्य प्रयोजन बताते हैं—संसार का भ्रमण करते हुए वे अपने हृदय में श्रीभगवान् का निरन्तर स्मरण करते रहेंगे और इस प्रकार समस्त भव-चिन्ताओं से मुक्त रहेंगे। कलियुग में संन्यास वर्जित है, क्योंकि इस युग के सारे मनुष्य शूद्र हैं और वे संन्यास जीवन के विधि-विधानों का ठीक से पालन नहीं कर सकते। सामान्य रूप से यह देखा जाता है कि तथाकथित संन्यासी भी कभी-कभी स्त्रियों के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध रखते हैं। यह इस युग की अत्यन्त अप्रिय स्थिति है। यद्यपि वे संन्यासियों का वस्त्र धारण करते हैं, किन्तु वे जीवन के चार प्रकार के पापों—अवैध यौनाचार, मांस भक्षण, मद्यपान तथा द्यूतक्रीड़ा से अपने को मुक्त नहीं रख सकते। चूँकि वे इन चारों से बच नहीं पाते, अतः वे स्वामी बनकर जनता को ठगते रहते हैं।

कलियुग में यह आदेश है कि कोई संन्यास न ग्रहण करे। निस्सन्देह, जो विधि-विधानों का ठीक से पालन कर सकते हैं, वे संन्यासी बन सकते हैं। किन्तु सामान्यतः लोग संन्यास जीवन स्वीकार करने में अक्षम रहते हैं इसीलिए चैतन्य महाप्रभु ने बलपूर्वक कहा है—*कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा*। इस युग में भगवान् के पवित्र नाम—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे—उच्चारण के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है, कोई विकल्प नहीं है, कोई विकल्प नहीं है। संन्यास जीवन का मुख्य उद्देश्य है चाहे हृदय में भगवान् का मनन करे या कानों से श्रवण करके परमेश्वर का निरन्तर साहचर्य प्राप्त करे। इस युग में मनन की अपेक्षा श्रवण करना अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि मानसिक विक्षोभ के कारण मनन में बाधा पहुँच सकती है, किन्तु यदि सुनने में ध्यान केन्द्रित रहे तो उसे बाध्य होकर 'कृष्ण-कृष्ण' की ध्वनि से साहचर्य स्थापित करना पड़ेगा। श्रीकृष्ण तथा 'कृष्ण' की ध्वनि का उच्चारण अभिन्न हैं अतः यदि कोई जोर से हरे कृष्ण का उच्चारण करता है, तो वह तुरन्त श्रीकृष्ण का मनन कर सकेगा।

इस युग में आत्म-साक्षात्कार के लिए कीर्तन (जप) की यह विधि सर्वश्रेष्ठ है, अतः भगवान् चैतन्य ने समग्र मानवता के कल्याण के लिए इसी का उपदेश दिया।

एतन्मे जन्म लोकेऽस्मिन्मुमुक्षूणां दुराशयात् ।
प्रसङ्ख्यानाय तत्त्वानां सम्मतायात्मदर्शने ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; मे—मेरा; जन्म—जन्म; लोके—संसार में; अस्मिन्—इस; मुमुक्षूणाम्—मुक्ति के इच्छुक परम साधुओं द्वारा; दुराशयात्—अनावश्यक भौतिक इच्छाओं से; प्रसङ्ख्यानाय—विवेचन करने के लिए; तत्त्वानाम्—सत्यों का; सम्मताय—अत्यन्त समादृत; आत्म-दर्शने—आत्म-साक्षात्कार में।

इस संसार में मेरा प्राकट्य विशेष रूप से सांख्य दर्शन का प्रतिपादन करने के लिए हुआ है। यह दर्शन उन व्यक्तियों के द्वारा आत्म-साक्षात्कार हेतु परम समादृत है, जो अनावश्यक भौतिक कामनाओं के बन्धन से मुक्ति चाहते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर *दुराशयात्* शब्द अत्यन्त सार्थक है। *दुर* का अर्थ विपत्ति या दुख है। आशयात् का अर्थ है "आश्रय से।" हम बद्धजीवों ने भौतिक देह का आश्रय ले रखा है, जो कष्टों तथा दुखों से परिपूर्ण है। मूर्ख लोग इस स्थिति को नहीं समझ पाते और यही अज्ञान, मोह या माया की छड़ी कहलाता है। मानव समाज को गम्भीरतापूर्वक समझ लेना चाहिए कि शरीर स्वयं समस्त दुखी जीवन का मूल है। कहा जाता है कि आधुनिक सभ्यता वैज्ञानिक ज्ञान में प्रगति कर रही है, किन्तु यह वैज्ञानिक ज्ञान है क्या? यह मात्र शारीरिक सुख (सुविधा) पर निर्भर है, इसमें इसका ज्ञान नहीं रहता कि कोई कितने ही सुख से शरीर को क्यों न रखे वह नाशवान है। *भगवद्गीता* में कहा गया है—*अन्तवन्त इमे देहाः*—इन शरीरों का नाश होना निश्चित है। *नित्यस्योक्ताः शरीरिणः* से शरीर के भीतर जीवित आत्मा या चिनगारी का बोध होता है। वह आत्मा तो अमर है, किन्तु शरीर अमर नहीं है। कार्य करने के लिए हमें शरीर चाहिए; बिना शरीर, बिना इन्द्रियों के कोई क्रियाशीलता नहीं आती। किन्तु लोगों में यह जानने की इच्छा नहीं होती कि क्या शरीर अमर हो सकता है। वास्तव में वे अमर शरीर इसीलिए चाहते हैं जिससे इन्द्रिय-सुख भोग सकें, किन्तु यह भोग अमर नहीं है। अतः ऐसी वस्तु का अभाव उन्हें खलता है, जिसको वे निरन्तर भोग सकें, किन्तु वे यह नहीं जानते कि इसे किस प्रकार प्राप्त

किया जाय। अत: यहाँ पर कपिल देव द्वारा वर्णित सांख्य दर्शन *तत्त्वानाम्* है। सांख्य दर्शन वास्तविक सत्य का ज्ञान प्रदान करने के लिए तैयार किया गया है। तो वह वास्तविक सत्य क्या है? वास्तविक सत्य वह ज्ञान है, जिससे समस्त दुखों के मूल, इस भौतिक शरीर, से छुटकारा पाया जा सके। इस कार्य के लिए ही भगवान् कपिल का अवतार हुआ। इसका यहाँ स्पष्ट उल्लेख हुआ है।

एष आत्मपथोऽव्यक्तो नष्टः कालेन भूयसा ।
तं प्रवर्तयितुं देहमिमं विद्धि मया भृतम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

एषः—यह; आत्म-पथः—आत्म-साक्षात्कार का मार्ग; अव्यक्तः—समझने में दुरूह; नष्टः—खोया हुआ; कालेन भूयसा—बहुत समय से, कालक्रम से; तम्—इसको; प्रवर्तयितुम्—पुनः चालू करने के लिए; देहम्—देह को; इमम्—इस; विद्धि—जानो; मया—मेरे द्वारा; भृतम्—स्वीकार किया गया।

आत्म-साक्षात्कार का यह मार्ग, जिसको समझ पाना दुष्कर है, अब कालक्रम से लुप्त हो गया है। इस दर्शन को पुनः मानव समाज में प्रवर्तित करने और व्याख्या करने के लिए ही मैंने कपिल का यह शरीर धारण किया है—ऐसा जानो।

तात्पर्य : यह सत्य नहीं है कि सांख्य दर्शन, दर्शन की एक नवीन पद्धति है, जिसका सूत्रपात कपिल ने किया, जिस प्रकार कि भौतिकवादी दार्शनिक अन्य दार्शनिकों से आगे बढ़ने के लिए नए-नए विचार प्रस्तुत करते रहते हैं। भौतिक स्तर पर प्रत्येक व्यक्ति, विशेष रूप से ज्ञानी अन्यों की अपेक्षा अधिक विख्यात बनना चाहते हैं। ज्ञानियों की गतिविधियों का क्षेत्र मस्तिष्क (मन) है, मन को विचलित करने के अनन्त उपाय हैं और इस प्रकार असंख्य सिद्धान्त बन सकते हैं। किन्तु सांख्य दर्शन ऐसा नहीं है, यह मात्र ज्ञान (मानसिक कल्पना) नहीं है। यह तथ्यपरक है, किन्तु कपिल के समय में यह लुप्त हो चुका था।

समय के साथ विशिष्ट प्रकार का कोई भी ज्ञान लुप्त हो सकता है या प्रच्छन्न रहा आता है; यह इस भौतिक संसार का स्वभाव है। *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण ने भी ऐसा ही कहा है—स कालेनेह महता योगो नष्टः—काल-क्रम में *भगवद्गीता* में वर्णित योग पद्धति लुप्त हो गई। यह शिष्य-परम्परा से चली आ रही थी, किन्तु काल-क्रम में यह खो गई। काल इतना प्रबल है कि

काल से साथ प्रत्येक वस्तु नष्ट अथवा लुप्त हो जाती है। *भगवद्गीता* की योग पद्धति श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के मिलाप के पूर्व लुप्त हो चली थी। इसीलिए श्रीकृष्ण ने उसी प्राचीन योग पद्धति को अर्जुन के समक्ष प्रतिपादित किया जो वास्तव में *भगवद्गीता* को समझ सकता था। इसी प्रकार कपिल ने भी कहा कि वे सांख्य दर्शन पद्धति का नये सिरे से प्रवर्तन नहीं करने जा रहे, यह तो पहले से प्रचलित थी और काल-क्रम में विलुप्त हो गई, अत: वे उसको पुन: चालू करने के लिए उत्पन्न हुए हैं। भगवान् के अवतार लेने का यह प्रयोजन है। यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। धर्म का अर्थ है जीवात्मा का वास्तविक कार्य। जब जीवात्मा के सनातन कार्य में गड़बड़ी आती है, तो भगवान् अवतरित होते हैं और जीवन के वास्तविक कार्य का पुन: संचालन करते हैं। ऐसी तथाकथित धार्मिक पद्धति जो भक्ति के पथ पर नहीं चलती वह अधर्म संस्थापन कहलाती है। जब लोग भगवान् के साथ अपने सनातन सम्बन्ध को भूल कर अन्य कार्य में लग जाते हैं, तो उनका यह व्यापार अधर्म कहलाता है। सांख्य दर्शन में बताया गया है कि मनुष्य भौतिक जीवन की दुखी अवस्था से किस प्रकार उबर सकता है। भगवान् स्वयं इस उत्तम पद्धति की व्याख्या कर रहे हैं।

गच्छ कामं मयापृष्टो मयि सन्न्यस्तकर्मणा ।
जित्वा सुदुर्जयं मृत्युममृतत्वाय मां भज ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

गच्छ—जाओ; कामम्—जैसी तुम्हारी इच्छा है; मया—मेरे द्वारा; आपृष्टः—आदिष्ट; मयि—मुझमें; सन्न्यस्त—पूरी तरह शरणागत; कर्मणा—अपने कार्य से; जित्वा—जीतकर; सुदुर्जयम्—अजेय; मृत्युम्—मृत्यु को; अमृतत्वाय—अमर जीवन के लिए; माम्—मुझको; भज—भजो, मेरी भक्ति में तत्पर हो।.

अब मेरे द्वारा आदिष्ट तुम मुझे अपने समस्त कार्यों को अर्पित करके जहाँ भी चाहो जाओ। दुर्जेय मृत्यु को जीतते हुए शाश्वत जीवन के लिए मेरी पूजा करो।

तात्पर्य : यहाँ पर सांख्य दर्शन का उद्देश्य बताया गया है। यदि कोई वास्तविक शाश्वत जीवन चाहता है, तो उसे भक्तियोग या श्रीकृष्णभावना में अपने आपको लगाना चाहिए। जन्म तथा मृत्यु से मुक्त होना कोई सरल कार्य नहीं। भौतिक शरीर के लिए जन्म तथा मृत्यु स्वाभाविक हैं। *सुदुर्जय* का अर्थ है, "जीत पाना अत्यन्त कठिन।" आधुनिक तथाकथित

वैज्ञानिकों के पास पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं है कि वे जन्म तथा मृत्यु पर विजय पाने की प्रक्रिया को समझ सकें। अत: वे जन्म तथा मृत्यु के प्रश्न को ताक पर रख देते हैं, वे उस पर विचार ही नहीं करते। वे केवल नाशवान भौतिक शरीर से सम्बन्धित समस्याओं में लगे रहते हैं।

वस्तुत: मानवजीवन जन्म तथा मृत्यु के दुर्जय प्रक्रम पर विजय प्राप्त करना है। इसे यहाँ पर वर्णित विधि से किया जा सकता है। माम् भज—मनुष्य को भगवान् की भक्ति में लगना चाहिए। *भगवद्गीता* में भी भगवान् कहते हैं—*मन्मना भव मद्भक्त:*—''बस, मेरे भक्त बन जाओ और मेरी पूजा करो।'' किन्तु मूढ़ तथाकथित विद्वान कहते हैं कि हमें जिसकी पूजा करनी है और जिसकी शरण में जाना है, वह कृष्ण न होकर कोई अन्य है। अत: श्रीकृष्ण की कृपा के बिना न तो कोई सांख्य दर्शन, न ही मुक्ति के प्रयोजन वाला अन्य दर्शन समझ सकता है। वैदिक ज्ञान इसकी पुष्टि करता है कि अविद्या के कारण मनुष्य इस भौतिक जीवन में उलझ जाता है और भौतिक झंझटों से तभी छुटकारा पाया जा सकता है जब उसे वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो ले। सांख्य का अर्थ है तथ्यपरक ज्ञान जिससे मनुष्य भौतिक बंधन से छूट सके।

मामात्मानं स्वयंज्योति: सर्वभूतगुहाशयम् ।
आत्मन्येवात्मना वीक्ष्य विशोकोऽभयमृच्छसि ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझे; आत्मानम्—परमात्मा को; स्वयम्-ज्योति:—आत्म-प्रकाश; सर्व-भूत—सभी जीवों को; गुहा—हृदयों में; आशयम्—निवास; आत्मनि—अपने हृदय में; एव—निस्सन्देह; आत्मना—अपनी बुद्धि से; वीक्ष्य—सदैव देख कर, सदैव सोच कर; विशोक:—शोक से रहित; अभयम्—निर्भीकता; ऋच्छसि—तुम प्राप्त करोगे।

तुम अपनी बुद्धि के द्वारा अपने हृदय में निरन्तर मेरा दर्शन करोगे, जो समस्त जीवात्माओं के हृदयों के भीतर वास करने वाला परम स्वत: प्रकाशमान आत्मा है। इस प्रकार तुम समस्त शोक व भय से रहित शाश्वत जीवन प्राप्त करोगे।

तात्पर्य : सभी मनुष्य परम सत्य को अनेक प्रकार से समझने के लिए इच्छुक रहते हैं—यथा ब्रह्मज्योति का अनुभव करके, ध्यान द्वारा अथवा चिन्तन द्वारा। किन्तु कपिलदेव माम् शब्द का प्रयोग बल देने के लिए करते हैं कि परमेश्वर परम सत्य की अन्तिम स्थिति है। *भगवद्गीता*

में श्रीभगवान् सदैव माम्—"मुझको"—का प्रयोग करते हैं, किन्तु दुष्ट लोग इसका दूसरा अर्थ लगाते हैं। माम् श्रीभगवान् ही हैं। यदि कोई श्रीभगवान् को जिस रूप में वे विभिन्न अवतारों में प्रकट होते हैं, देख सके और यह समझ सके कि उन्होंने भौतिक देह नहीं धारण की वरन् वे अपने नित्य, आत्म रूप में उपस्थित रहते हैं, तो वही श्रीभगवान् के स्वभाव को समझ सकता है। चूँकि अल्पज्ञानी इस बात को नहीं समझ पाते, इसीलिए इस पर बार-बार बल दिया गया है। जिस रूप में भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति के द्वारा कृष्ण, राम या कपिल रूप में उपस्थित होते हैं, यदि कोई इन रूपों का दर्शन भी कर ले तो वह ब्रह्मज्योति का दर्शन कर सकता है, क्योंकि ब्रह्मज्योति उनके शरीर की कान्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जिस प्रकार सूर्य-प्रकाश, सूर्य की कान्ति है, अत: सूर्य को देखकर मनुष्य स्वत: ही सूर्य प्रकाश को देख लेता है, इसी प्रकार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का दर्शन कर लेने से मनुष्य एकसाथ परमात्मा स्वरुप के साथ ही साथ निर्गुण ब्रह्म का अनुभव करता है।

भागवत में पहले ही प्रतिपादित हो चुका है कि परम सत्य तीन रूपों में उपस्थित रहता है—प्रारम्भ में निर्गुण ब्रह्म के रूप में, फिर प्रत्येक मनुष्य के हृदय में परमात्मा रूप में और अन्त में परम सत्य, भगवान् के परम साक्षात्कार रूप में। जो परम पुरुष का दर्शन कर लेता है, वह स्वत: ही अन्य रूपों का अर्थात् परमात्मा तथा ब्रह्म रूपों का अनुभव कर लेता है। यहाँ पर *विशोकोऽभयम् ऋच्छसि* शब्द प्रयुक्त हैं। श्रीभगवान् के दर्शन मात्र से प्रत्येक वस्तु का बोध हो जाता है। फल यह होता है कि वह ऐसी दशा को प्राप्त होता है जहाँ न तो शोक है और न भय। श्रीभगवान् की भक्ति के द्वारा ही इसे प्राप्त किया जा सकता है।

मात्र आध्यात्मिकीं विद्यां शमनीं सर्वकर्मणाम् ।
वितरिष्ये यया चासौ भयं चातितरिष्यति ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

मात्रे—अपनी माँ को; आध्यात्मिकीम्—आत्मजीवन का द्वार खोलने वाली; विद्याम्—ज्ञान, विद्या को; शमनीम्—समाप्त करने वाली; सर्व-कर्मणाम्—समस्त सकाम कर्मों को; वितरिष्ये—मैं प्रदान करूँगा; यया—जिससे; च—भी; असौ—वह; भयम्—डर; च—भी; अतितरिष्यति—पार कर लेगी।

मैं इस परम ज्ञान को, जो आत्म जीवन का द्वार खोलने वाला है, अपनी माता को भी

बतलाऊँगा, जिससे वह भी समस्त सकाम कर्मों के बन्धनों को तोड़कर सिद्धि तथा आत्म दर्शन प्राप्त कर सके। इस प्रकार वह भी समस्त भौतिक भय से मुक्त हो जाएगी।

तात्पर्य : गृह-त्याग के समय कर्दम मुनि अपनी सुयोग्य पत्नी देवहूति के लिए अत्यधिक चिन्तित थे, अत: योग्य पुत्र ने वचन दिया कि न केवल कर्दममुनि भव-बन्धन से मुक्त हो जाएँगे, वरन् देवहूति भी अपने पुत्र के उपदेश से मुक्त हो सकेगी। यहाँ पर एक उत्तम दृष्टान्त प्रस्तुत हुआ है—पति आत्म-साक्षात्कार के हेतु संन्यास ग्रहण करके चला जाता है और उसका प्रतिनिधि, उसका पुत्र जो उसी के समान शिक्षित है, घर पर माता के उद्धार हेतु रहता है। संन्यासी अपने साथ अपनी पत्नी को नहीं ले जा सकता, वानप्रस्थ आश्रम में मनुष्य अपनी पत्नी को सहायक के रूप में अपने साथ रख सकता है, परन्तु उसके साथ संभोग नहीं कर सकता, किन्तु संन्यास आश्रम में वह पत्नी को अपने साथ नहीं रख सकता। अन्यथा कर्दम जैसा व्यक्ति अवश्य ही पत्नी को साथ रखे होता और आत्म-साक्षात्कार की साधना में उसे कोई अड़चन न हुई होती।

किन्तु कर्दम मुनि ने वैदिक आदेश का पालन किया जिसके अनुसार संन्यास जीवन बिताने वाला कोई भी व्यक्ति स्त्रियों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रख सकता। किन्तु उस पत्नी का क्या होता है, जिसे पति त्याग कर जाता है ? वह पुत्र को सौंप दी जाती है और पुत्र वचन देता है कि वह उसे बन्धन से मुक्त करेगा। स्त्री संन्यास ग्रहण नहीं करती। आधुनिक युग में अनेक बनावटी तथाकथित आध्यात्मिक संस्थाएँ तथा समितियाँ स्त्रियों को भी संन्यास प्रदान करती हैं, यद्यपि वैदिक साहित्य में स्त्रियों द्वारा संन्यास ग्रहण करने का कोई उल्लेख नहीं है। अन्यथा विधान होने पर कर्दम मुनि अपनी पत्नी को साथ ले जाकर उसे भी संन्यास दिला देते। किन्तु स्त्री को तो घर पर ही रहना चाहिए। उसके जीवन की तीन अवस्थाएँ होती हैं—बालपन में पिता पर निर्भर रहना; युवावस्था में अपने पति पर आश्रित रहना और वृद्धावस्था में सयाने पुत्र, यथा कपिल पर आश्रित रहना। वृद्धावस्था में स्त्री की प्रगति उसके सयाने पुत्र पर निर्भर

करती है। आदर्श पुत्र कपिल अपने पिता को आश्वासन दे रहा है कि वह अपनी माता का उद्धार करेगा जिससे उसके पिता अपनी पत्नी के प्रति निश्चिन्त होकर शान्तिपूर्वक जा सके।

मैत्रेय उवाच

एवं समुदितस्तेन कपिलेन प्रजापतिः ।
दक्षिणीकृत्य तं प्रीतो वनमेव जगाम ह ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; एवम्—इस प्रकार; समुदितः—सम्बोधित होकर; तेन—उनके द्वारा; कपिलेन—कपिल द्वारा; प्रजापतिः—मानव-समाज का जनक; दक्षिणी-कृत्य—परिक्रमा करके; तम्—उसको; प्रीतः—शान्तिपूर्वक; वनम्—जंगल को; एव—निस्सन्देह; जगाम—प्रस्थान किया; ह—तब।

श्रीमैत्रेय ने कहा—इस प्रकार अपने पुत्र कपिल द्वारा सम्बोधित किये जाने पर मानव समाज के जनक श्रीकर्दमुनि ने उसकी परिक्रमा की और अच्छे तथा शान्त मन से उन्होंने तुरन्त जंगल के लिए प्रस्थान कर दिया।

तात्पर्य : जंगल जाना प्रत्येक मनुष्य के लिए अनिवार्य है। यह कोई मानसिक सैर (यात्रा) नहीं जिसे कोई एक करे और दूसरा न करे। प्रत्येक मनुष्य को कम से कम एक वानप्रस्थ के रूप में जंगल में जाना चाहिए। जंगल जाने का अर्थ होता है शत-प्रतिशत भगवान् की शरण में जाना, जैसाकि प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता को बातोंबात में समझाया था—*सदा समुद्विग्नधियाम्* (*भागवत* ७.५.५)। मनुष्य क्षणिक भौतिक देह धारण करने के कारण चिन्ताओं से युक्त रहता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह शरीर के प्रति अधिक मोह न करे, उसे चाहिए कि वह मुक्त हो। मुक्त होने की प्रारम्भिक प्रक्रिया है जंगल जाना अर्थात् पारिवारिक सम्बन्धों का परित्याग करके पूर्णरूप से कृष्णभावनामृत में लग जाना। जंगल जाने का यही प्रयोजन है। अन्यथा जंगल केवल बन्दरों तथा पशुओं का स्थान रह जाएगा। जंगल जाने का यह अर्थ कदापि नहीं कि बंदर या हिंस्र पशु बना जाय। इसका अभिप्राय यह हुआ कि एकमात्र पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण ग्रहण की जाय और पूरी तरह सेवा में लगा जाय। वास्तव में मनुष्य को जंगल जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। सम्प्रति जिस मनुष्य ने अपना सारा जीवन नगरों में व्यतीत किया है उसके लिए यह उचित नहीं है। जैसाकि प्रह्लाद

महाराज ने कहा है *(हित्वात्म-पातं गृहम् अन्धकूपम्)*, मनुष्य को सदैव पारिवारिक झंझटों में ही नहीं लगे रहना चाहिए, क्योंकि कृष्णभक्ति के बिना गृहस्थ जीवन अन्धकूप के समान है। यदि कोई खेत में स्थित अंधे कुएँ में गिर पड़े तो वह वहाँ वर्षों चिल्लाता रहे, किन्तु न देख पाने के कारण कोई उसे बचाने नहीं जावेगा, न ही कोई समझ पावेगा कि यह चीख कहाँ से आ रही है। ऐसी दशा में मृत्यु निश्चित है। इसी प्रकार जो लोग भगवान् से अपने नित्य सम्बन्ध को भूल जाते हैं, वे गृहस्थजीवन के अन्धकूप में पड़े रहते हैं, उनकी स्थिति अत्यन्त अनिष्टकारी है। प्रह्लाद महाराज ने उपदेश दिया है कि मनुष्य को चाहिए कि किसी प्रकार इस कूप का परित्याग करे तथा कृष्णभावनामृत अपनाये और में लगे और इस तरह भव-बन्धन से मुक्त हो जाय।

व्रतं स आस्थितो मौनमात्मैकशरणो मुनिः ।
निःसङ्गो व्यचरत्क्षोणीमनग्निरनिकेतनः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

व्रतम्—व्रत; सः—वह (कर्दम); आस्थितः—स्वीकृत; मौनम्—मौन; आत्म—श्रीभगवान् द्वारा; एक—नितान्त; शरणः—शरण में आया; मुनिः—मुनि; निःसङ्गः—बिना संगति के; व्यचरत्—भ्रमण करने लगा; क्षोणीम्—पृथ्वी पर; अनग्निः—अग्निरहित; अनिकेतनः—आश्रमविहीन।

कर्दममुनि ने मौन व्रत धारण करना स्वीकार किया जिससे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का चिन्तन कर सकें और एकमात्र उन्हीं की शरण में जा सकें। बिना किसी संगी के वे संन्यासी रूप में पृथ्वी भर में भ्रमण करने लगे, अग्नि अथवा आश्रय से उनका कोई सम्बन्ध न रहा।

तात्पर्य : *अनग्निरनिकेतनः* शब्द अत्यन्त सार्थक हैं। संन्यासी को अग्नि तथा आवासीय मकानों से पूर्णतया विरक्त होना चाहिए। गृहस्थ को अग्नि की आवश्यकता यज्ञ करने या भोजन पकाने के लिए होती है, किन्तु संन्यासी को इन दोनों कार्यों से छुट्टी मिल जाती है। कृष्णभावनामृत में लगे रहने के कारण संन्यासी को न तो भोजन पकाना पड़ता है, न ही यज्ञ करना होता है, क्योंकि वह पहले ही समस्त धार्मिक अनुष्ठान पूरा कर चुका होता है। *अनिकेतनः* का अर्थ है, ''बिना किसी आवास के।'' उसके पास अपना मकान नहीं होना

चाहिए, वरन् उसे अपने भोजन तथा आवास के लिए पूर्णत: भगवान् पर आश्रित रहना चाहिए। उसे भ्रमण करना चाहिए।

मौन का अर्थ है "चुप्पी।" जब तक मनुष्य चुप (मौन) नहीं रहता तब तक वह भगवान् की लीलाओं के विषय में पूरी तरह सोच नहीं पाता। इसका यह अर्थ नहीं है कि मूर्ख होने तथा न बोल सकने के कारण मौन व्रत लिया जाता है। अपितु मनुष्य को मौन धारण करना पड़ता है, जिससे लोग उसे तंग न कर सकें। चाणक्य पंडित ने कहा है कि धूर्त जब तक बोलता नहीं अत्यन्त बुद्धिमान प्रतीत होता है। बोलना ही असली परीक्षा है। निर्गुणिया 'स्वामी' का तथाकथित मौन यह बताता है कि उसके पास कहने को कुछ नहीं है। वह केवल भीख माँगना चाहता है। किन्तु कर्दम मुनि ने ऐसा मौन नहीं धारण किया। वे तो अनर्गल बातों से मुक्ति पाने के लिए मौन रहे। जब मनुष्य गम्भीर बनकर अनर्गल बातें नहीं करता तो वह मुनि कहलाता है। महाराज अम्बरीष ने अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया था—जब भी वे बोलते तो भगवान् की लीलाओं के विषय में बोलते। मौन के लिए अनिवार्य है कि बकवास से बचा जाय और बोलने की शक्ति को भगवान् की लीलाओं में लगाया जाय। इस प्रकार अपना जीवन सफल बनाने के लिए मनुष्य भगवान् का जप तथा श्रवण कर सकता है। व्रतम् का अभिप्राय है—संकल्प करना जैसाकि *भगवद्गीता* में बताया गया है—अमानित्वम् अदम्भित्वम्—अपने सम्मान की परवाह किये बिना तथा अपने पद का गर्व किए बिना। अहिंसा का अर्थ है हिंसक न बनना। ज्ञान तथा सिद्धि प्राप्त करने की अठारह विधियाँ हैं और कर्दममुनि ने व्रत के द्वारा आत्म-साक्षात्कार के सिद्धान्तों को ग्रहण किया।

मनो ब्रह्मणि युञ्जानो यत्तत्सदसत: परम् ।
गुणावभासे विगुण एकभक्त्यानुभाविते ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

मन:—मन; ब्रह्मणि—परब्रह्म में; युञ्जान:—स्थिर करते हुए; यत्—जो; तत्—उस; सत्-असत:—कार्य तथा कारण; परम्—अतीत, परे; गुण-अवभासे—तीनों गुणों को प्रकट करने वाला; विगुणे—भौतिक गुणों से परे; एक-भक्त्या—एकान्तभक्ति से; अनुभाविते—देखा जाता है।

उन्होंने अपना मन परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् में स्थिर कर दिया जो कार्य-

कारण से परे हैं, जो तीनों गुणों को प्रकट करने वाले हैं किन्तु उन तीनों गुणों से अतीत हैं और जो केवल अटूट भक्तियोग के द्वारा देखे जा सकते हैं।

तात्पर्य : जहाँ भी भक्ति होगी वहाँ *भक्त, भक्ति* तथा *भगवान्* तीनों बातें अनिवार्यत: होंगी। भक्त, भक्ति एवं भगवान् इन तीनों के बिना भक्ति शब्द निरर्थक है। कर्दम मुनि ने अपने मन को परब्रह्म में स्थिर करके भक्ति के द्वारा आत्मदर्शन प्राप्त किया। यह इस बात का सूचक है कि उन्होंने अपने मन को भगवान् के साकार रूप पर केन्द्रित किया, क्योंकि भक्ति तब तक नहीं की जा सकती जब तक कि मनुष्य को परम सत्य के स्वरूप का बोध न हो। *गुणावभासे*—वे तीनों गुणों से परे हैं, किन्तु ये तीनों गुण उन्हीं के कारण प्रकट होते हैं। दूसरे शब्दों में, यद्यपि भौतिक शक्ति भगवान् से ही समुद्भूत है, किन्तु वे हमारी तरह उन गुणों से प्रभावित नहीं होते। हम तो बद्धजीव हैं, किन्तु उन पर प्रभाव नहीं पड़ता, यद्यपि यह भौतिक प्रकृति उन्हीं से उद्भूत है। वे सर्वोपरि व्यक्तित्व हैं और माया से कभी प्रभावित नहीं होते, किन्तु हम क्षुद्र जीवात्माएँ माया के अधीन हैं। यदि बद्धजीव भगवान् के निरन्तर सम्पर्क में रहे तो वह माया की छूत से मुक्त हो सकता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है—*सगुणान् समतीत्यैतान्*। कृष्णभक्ति में निरत व्यक्ति तुरन्त ही तीनों गुणों के प्रभाव से छूट जाता है अर्थात् यदि बद्धजीव भक्ति में प्रवृत्त होता है, तो वह भगवान् की ही तरह मुक्त हो जाता है।

निरहङ्कृतिर्निर्ममश्च निर्द्वन्द्वः समदृक्स्वदृक् ।
प्रत्यक्प्रशान्तधीर्धीरः प्रशान्तोर्मिरिवोदधिः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

निरहङ्कृतिः—अहंकार से रहित; निर्ममः—ममतारहित; च—यथा; निर्द्वन्द्वः—द्वैत भाव से रहित; सम-दृक्—समदर्शी; स्व-दृक्—आत्मदर्शी; प्रत्यक्—अन्तर्मुखी; प्रशान्त—पूर्णतया संयमित; धीः—मन; धीरः—अविचलित; प्रशान्त—शान्त; ऊर्मिः—जिसकी लहरें; इव—सदृश; उदधिः—समुद्र।

इस प्रकार वे अंहकार से रहित और भौतिक ममता से मुक्त हो गये। अविचलित, समदर्शी तथा अद्वैतभाव से वे अपने को भी देख सके (आत्मदर्शी)। वे अन्तर्मुखी हो गये और उसी तरह परम शान्त बन गये जिस प्रकार लहरों से अविचलित समुद्र।

तात्पर्य : जब किसी का मन पूरी तरह कृष्णभक्ति में रम जाता है और वह पूर्णतया

भगवान् की भक्ति में लगा रहता है, तो वह लहरों से अविचलित समुद्र के समान होता है। *भगवद्गीता* में भी यही उदाहरण दिया गया है—मनुष्य को समुद्र की भाँति बनना चाहिए। समुद्र में लाखों नदियाँ आ मिलती हैं, हजारों टन जल भाप बनकर बादल बनता है फिर भी समुद्र अविचलित रहता है। प्रकृति अपना काम करती रहे, किन्तु यदि कोई भगवान् के चरणकमलों की भक्ति में स्थिर हो चुका है, तो वह विचलित नहीं होता, वह तो अन्तर्मुखी हो जाता है। वह बाह्य प्रकृति को नहीं देखता, वह अपनी सत्ता की आत्म प्रकृति को देखता है, वह शान्त भाव से भगवान् की सेवा में लगा रहता है। इस प्रकार वह आत्म-दर्शन कर लेता है। ऐसा परम भक्त कभी अन्यों से उलझता नहीं, क्योंकि वह सबों को आत्मज्ञान के आसन (पद) से देखता है। वह अपने को तथा अन्यों को वास्तविक रूप में देखता है।

वासुदेवे भगवति सर्वज्ञे प्रत्यगात्मनि ।
परेण भक्तिभावेन लब्धात्मा मुक्तबन्धनः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

वासुदेवे—वासुदेव को; भगवति—श्रीभगवान्; सर्व-ज्ञे—सर्वज्ञाता; प्रत्यक्-आत्मनि—प्रत्येक प्राणी के भीतर स्थिर परमात्मा; परेण—दिव्य; भक्ति-भावेन—भक्ति से; लब्ध-आत्मा—आत्मलीन होकर; मुक्त-बन्धनः—भवबन्धन से छूटा हुआ।

इस प्रकार वे बद्ध जीवन से मुक्त हो गये और प्रत्येक व्यक्ति के भीतर स्थित सर्वज्ञ परमात्मा श्रीभगवान् वासुदेव की दिव्य सेवा में तल्लीन हो गये।

तात्पर्य : जब कोई भगवान् की दिव्य भक्ति में लग जाता है, तो वह जान लेता है कि वह परमेश्वर वासुदेव का निरन्तर दास है। आत्म-साक्षात्कार का यह अर्थ नहीं है कि परमात्मा तथा व्यष्टि आत्मा दोनों ही आत्माएँ होने के कारण वे सभी प्रकार से समान हैं। व्यष्टि आत्मा के बद्ध होने की संभावना रहती है, किन्तु परम-आत्मा कभी बद्ध नहीं होता। जब बद्ध-आत्मा को यह बोध हो जाता है कि वह परम-आत्मा के अधीन है, तो उसकी यह स्थिति *लब्धात्मा,* आत्म-साक्षात्कार अथवा *मुक्तबन्धन* अर्थात् भौतिक कल्मष से मुक्ति कहलाती है। भौतिक कल्पष तब तक बना रहता है जब तक वह अपने को परमेश्वर के समान मानता रहता है। यह अवस्था माया का अन्तिम जाल है। माया सदैव बद्धजीव को प्रभावित करती है। यदि पर्याप्त

चिन्तन तथा मनन के बाद भी कोई अपने को परमेश्वर से अभिन्न मानता है, तो यही समझना चाहिए कि वह माया के जाल में है।

परेण शब्द अत्यन्त सार्थक है। पर का अर्थ है ''दिव्य, भौतिक कल्मष से अप्रभावित।'' अपने को भगवान् का नित्य दास समझना *पराभक्ति* कहलाती है। यदि मनुष्य का भौतिक वस्तुओं से लगाव रहता है और वह किसी लाभवश भक्ति करता है, तो यह *विद्धाभक्ति*—कल्मषयुक्त भक्ति—कहलाती है। पराभक्ति के निष्पादन से ही वास्तव में मुक्त हुआ जा सकता है।

यहाँ पर अन्य शब्द सर्व-ज्ञे का उल्लेख हुआ है। प्रत्येक हृदय में स्थित परमात्मा सब कुछ जानता है। मुझे शरीर परिवर्तन के कारण विगत कर्मों का विस्मरण हो सकता है, किन्तु परमेश्वर परमात्मा रूप में मेरे भीतर स्थित है, अत: वह सब कुछ जानता है, फलत: मुझे पूर्वकर्मों का फल मिलता है। मैं भूल सकता हूँ, किन्तु भगवान् मेरे पूर्वजन्म के सुकर्मों या दुष्ककर्मों के अनुसार मुझे सुख या दुख प्रदान करते हैं। मनुष्य को यह नहीं सोचना चाहिए कि चूँकि उसे गत जीवन के कर्मों का स्मरण नहीं है, अत: वह बन्धन से मुक्त हो गया। बन्धन तो होंगे ही, किन्तु किस प्रकार के होंगे इसका निर्णय परमात्मा द्वारा होगा जो उनका साक्षी है।

आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम् ।
अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—परमात्मा; **सर्व-भूतेषु**—समस्त प्राणियों में; **भगवन्तम्**—श्रीभगवान् को; **अवस्थितम्**—स्थित; **अपश्यत्**—देखा; **सर्व-भूतानि**—सब जीवों को; **भगवति**—श्रीभगवान् में; **अपि**—और; **च**—तथा; **आत्मनि**—परमात्मा में।

उन्हें दिखाई पड़ने लगा कि सबों के हृदय में श्रीभगवान् स्थित हैं और प्रत्येक जीव उनमें स्थित है, क्योंकि वे प्रत्येक के परमात्मा हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक प्राणी श्रीभगवान् में स्थित है—इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्रत्येक प्राणी भी भगवान् है। *भगवद्गीता* में भी इसकी व्याख्या की गई है—परमेश्वर पर सभी वस्तुएँ आश्रित हैं, किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि परमेश्वर सर्वत्र है। इस रहस्य को

महान् भक्त ही समझ सकते हैं। भक्त भी तीन प्रकार के होते हैं—नवदीक्षित भक्त, मध्यम कोटि के भक्त तथा महान् भक्त। नवदीक्षित भक्त भक्ति-विज्ञान की युक्तियों को नहीं समझता, वह केवल मन्दिर जाकर श्रीविग्रह की सेवा करता है, मध्यम कोटि का भक्त यह समझता है कि ईश्वर कौन है, भक्त कौन है, कौन अभक्त है, कौन निर्दोष है। वह इन सबके साथ भिन्न प्रकार से आचरण करता है। किन्तु जो व्यक्ति प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में परमात्मा का दर्शन पाता है और जानता है कि प्रत्येक वस्तु परमेश्वर की दिव्य शक्ति पर आश्रित है, वह उच्चतम भक्तिपद को प्राप्त होता है।

इच्छाद्वेषविहीनेन सर्वत्र समचेतसा ।
भगवद्भक्तियुक्तेन प्राप्ता भागवती गतिः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

इच्छा—आकांक्षा; द्वेष—तथा ईर्ष्या; विहीनेन—से रहित; सर्वत्र—सभी जगह; सम—समान; चेतसा—मन से; भगवत्—श्रीभगवान् को; भक्ति-युक्तेन—भक्ति-भाव से; प्राप्ता—प्राप्त किया गया; भागवती गतिः—भक्त के धाम (परम धाम को वापस जाना)।

वे समस्त द्वेष तथा इच्छा से रहित, अकल्मष भक्ति करने के कारण समदर्शी होने से अन्त में भगवान् के धाम को प्राप्त हुए।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, केवल भगवद्भक्ति से ही भगवान् की दिव्य प्रकृति को समझा जा सकता है और उन्हें समझ लेने पर भगवान् के धाम में प्रवेश किया जा सकता है। भगवान् के धाम में प्रवेश करने की प्रक्रिया *त्रि-पाद-भूति-गति* अथवा भगवान् के परम धाम को जाना है, जिससे मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य सिद्ध हो जाता है। कर्दम मुनि ने अपने पूर्ण भक्ति-ज्ञान से तथा सेवा से परमलक्ष्य को प्राप्त किया जो भागवती गतिः कहलाती है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत "कर्दम मुनि का वैराग्य" नामक चौबीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पच्चीस

भक्तियोग की महिमा

शौनक उवाच
कपिलस्तत्त्वसङ्ख्याता भगवानात्ममायया ।
जातः स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञप्तये नृणाम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

शौनकः उवाच—श्री शौनक ने कहा; कपिलः—भगवान् श्रीकपिल; तत्त्व—सत्य का; सङ्ख्याता—व्याख्याता; भगवान्—श्रीभगवान्; आत्म-मायया—अपनी अन्तरंगा शक्ति से; जातः—जन्म लिया; स्वयम्—स्वयं ही; अजः—अजन्मा; साक्षात्—प्रकट रूप में; आत्म-प्रज्ञप्तये—दिव्य ज्ञान का विस्तार करने के लिए; नृणाम्—मानव जाति के लिए।

श्री शौनक ने कहा : यद्यपि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अजन्मा हैं, किन्तु उन्होंने अपनी अन्तरंगा शक्ति से कपिल मुनि के रूप में जन्म धारण किया। वे सम्पूर्ण मानव जाति के लाभार्थ दिव्य ज्ञान का विस्तार करने के लिए अवतरित हुए।

तात्पर्य : *आत्म-प्रज्ञप्तये* शब्द इस बात का सूचक है कि भगवान् मानव जाति के लाभार्थ दिव्य ज्ञान प्रदान करने के लिए अवतरित होते हैं। वैदिक ज्ञान के अनुसार इतनी भौतिक सुविधाएँ प्राप्य हैं कि अच्छी तरह जीवनयापन करके सतोगुण पद तक उठा जा सके। सतोगुणी होने पर मनुष्य का ज्ञान व्यापक होता है। रजोगुणी होने पर कोई ज्ञान नहीं हो पाता, क्योंकि रजस का अर्थ है भौतिक भोगों की वाञ्छा। तमोगुणी होने पर न तो ज्ञान होता है और न किसी प्रकार का सुख (भोग) ही होता है, क्योंकि यह जीवन पशुतुल्य बन जाता है।

वेदों का उद्देश्य मनुष्य को तमोगुण से सतोगुण पद की ओर ले जाना है। सतोगुण को प्राप्त मनुष्य ही आत्मज्ञान अथवा दिव्य ज्ञान को समझ सकता है। सामान्य पुरुष इस ज्ञान को नहीं समझ पाता। चूँकि इसके लिए परम्परा आवश्यक है, फलतः यह ज्ञान या तो स्वयं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा या उनके प्रामाणिक भक्त द्वारा व्याख्यायित होता है। यहाँ पर शौनक मुनि यह भी कहते हैं कि श्रीभगवान् के अवतार कपिल ने दिव्य ज्ञान का विस्तार करने के लिए ही जन्म धारण किया। मात्र इतना ही जान लेना कि मैं पदार्थ नहीं, अपितु आत्मा हूँ (अहं ब्रह्मास्मि—मैं बह्म हूँ) आत्मा तथा उसके कार्यकलापों को जान पाने के लिए पर्याप्त नहीं है।

मनुष्य को ब्रह्म के कार्यकलापों में स्थित होना चाहिए। इन कार्यकलापों का ज्ञान स्वयं श्रीभगवान् द्वारा व्याख्यायित होता है। ऐसे दिव्य ज्ञान को मानव समाज ही समझ सकता है, पशु-समाज नहीं, जैसाकि यहाँ पर *नृणाम्* "अर्थात् मनुष्यों के लिए" शब्द के द्वारा सूचित है। मनुष्य नियमित जीवन के लिए बना है। पशु-जीवन में भी स्वाभाविक नियमन है, किन्तु यह शास्त्रों में वर्णित या अधिकारियों द्वारा निर्दिष्ट नियमित जीवन के समान नहीं होता है। मानव जीवन ही नियमित जीवन है, पशु जीवन नियमित नहीं है। केवल नियमित जीवन में ही दिव्य ज्ञान को समझा जा सकता है।

न ह्यस्य वर्ष्मणः पुंसां वरिम्णः सर्वयोगिनाम् ।
विश्रुतौ श्रुतदेवस्य भूरि तृप्यन्ति मेऽसवः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अस्य—उसके विषय में; वर्ष्मणः—महानतम्; पुंसाम्—मनुष्यों में से; वरिम्णः—अग्रगण्य; सर्व—समस्त; योगिनाम्—योगियों का; विश्रुतौ—सुनने में; श्रुत-देवस्य—वेदों का स्वामी; भूरि—बारम्बार, पुनः पुनः; तृप्यन्ति—तृप्त होती हैं; मे—मेरी; असवः—इन्द्रियाँ।

शौनक ने आगे कहा : स्वयं भगवान् से अधिक जानने वाला कोई अन्य नहीं है। न तो कोई उनसे अधिक पूज्य है, न अधिक प्रौढ़ योगी। अतः वे वेदों के स्वामी हैं और उनके विषय में सुनते रहना इन्द्रियों को सदैव वास्तविक आनन्द प्रदान करने वाला है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि न तो कोई श्रीभगवान् के तुल्य है न उनसे बढ़ कर। वेदों में भी इसकी पुष्टि हुई है—*एको बहूनां यो विद्धाति कामान्*। वे परम पुरुष हैं और अन्य समस्त जीवात्माओं की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले हैं। इस प्रकार अन्य समस्त जीवात्माएँ—*विष्णु-तत्त्व* तथा *जीव-तत्त्व* दोनों—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के अधीन हैं। यहाँ पर इसी अवधारणा की पुष्टि हुई है। *न ह्यस्य वर्ष्मणः पुंसाम्*—जीवात्माओं में से कोई भी परम पुरुष से बढ़कर नहीं है, क्योंकि कोई भी उनसे अधिक धनवान, विख्यात, बली, सुन्दर, ज्ञानवान या वैराग्यवान नहीं है। इन्हीं गुणों के कारण वे समस्त कारणों के कारणस्वरूप परमात्मा हैं। योगियों को आश्चर्यजनक चमत्कार कर दिखाने का बहुत गर्व रहता है, किन्तु वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की समता नहीं कर सकते।

जो कोई भी परमात्मा से सम्बद्ध होता है उसे प्रथम कोटि का योगी स्वीकार किया जाता है। भले ही भक्तगण परमेश्वर के समान शक्तिशाली न हों, किन्तु भगवान् के निरन्तर साहचर्य से वे भगवान् की तरह हो सकते हैं। कभी-कभी तो वे भगवान् से भी अधिक शक्तिशाली बन जाते हैं। निस्सन्देह यह भगवान् द्वारा दिया गया अनुग्रह होता है।

यहाँ पर *वरिम्ण:* शब्द का भी प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है ''समस्त योगियों में सर्वाधिक शक्तिमान।'' कृष्ण के मुख से सुनना वास्तविक इन्द्रिय-सुख है, इसीलिए वे गोविन्द कहलाते हैं, क्योंकि वे अपने शब्दों, उपदेशों, आदेशों से—अपने से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु से इन्द्रियों को जीवन्त बना देते हैं। वे जो कुछ भी आदेश देते हैं वह दिव्य पद से रहता है और ये आदेश परम होने के कारण उनसे अभिन्न होते हैं। श्रीकृष्ण से या उनके अंश से या कपिल जैसे अंश के द्वारा श्रवण करना इन्द्रियों को अत्यन्त रुचिकर लगता है। *भगवद्गीता* को अनेक बार पढ़ा या सुना जा सकता है, क्योंकि यह परम आनन्द प्रदान करने वाला ग्रन्थ है, अत: कोी जितना ही *भगवद्गीता* को पढ़ता है उतनी ही उसे पढ़ने तथा समझने की भूख जागृत होती है और हर बार नया प्रकाश प्राप्त होता है। दिव्य सन्देश की यही प्रकृति है। इसी प्रकार का दिव्य सुख *श्रीमद्भागवत* से भी प्राप्त होता है। हम जितना ही भगवान् की महिमा के विषय में सुनते तथा कीर्तन करते हैं उतना ही हम सुखी होते हैं।

यद्यद्विधत्ते भगवान्स्वच्छन्दात्मात्ममायया ।
तानि मे श्रद्दधानस्य कीर्तन्यान्यनुकीर्तय ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यत् यत्—जो जो; विधत्ते—करते हैं; भगवान्—भगवान्; स्व-छन्द-आत्मा—आत्म इच्छा से पूर्ण, स्वतन्त्र; आत्म-मायया—अपनी अन्तरंगा शक्ति से; तानि—वे सब; मे—मुझको; श्रद्दधानस्य—श्रद्धावान; कीर्तन्यानि—प्रशंसा के योग्य; अनुकीर्तय—कृपया वर्णन करें।.

अत: कृपया उन भगवान् के समस्त कार्यकलापों एवं लीलाओं का संक्षेप में वर्णन करें, जो स्वतन्त्र हैं और अपनी अन्तरंगा शक्ति से इन सारे कार्यकलापों को सम्पन्न करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर *अनुकीर्तय* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है वर्णन को

समझना, किसी प्रकार का कल्पित मनोरथ उत्पन्न न करना केवल अनुरक्षण करना। शौनक ऋषि ने सूत गोस्वामी से प्रार्थना की कि उन्होंने अपने गुरु शुकदेव गोस्वामी से भगवान् द्वारा अपनी अन्तरंगा शक्ति के बल पर प्रकट की गई जिन दिव्य लीलाओं के विषय में सुना हो उन्हें उसी रूप में सुनावें। भगवान् के कोई भौतिक शरीर नहीं होता, किन्तु वे अपनी परम इच्छा से किसी प्रकार का शरीर धारण कर सकते हैं। यह उनकी अन्तरंगा शक्ति के द्वारा सम्भव है।

सूत उवाच
द्वैपायनसखस्त्वेवं मैत्रेयो भगवांस्तथा ।
प्राहेदं विदुरं प्रीत आन्वीक्षिक्यां प्रचोदितः ॥ ४॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; द्वैपायन-सखः—व्यासदेव के मित्र; तु—तब; एवम्—इस प्रकार; मैत्रेयः—मैत्रेय; भगवान्—पूज्य; तथा—इस तरह; प्राह—कहा; इदम्—यह; विदुरम्—विदुर से; प्रीतः—प्रसन्न होकर; आन्वीक्षिक्याम्—दिव्य ज्ञान के विषय में; प्रचोदितः—पूछे जाने पर।

श्रीसूत गोस्वामी ने कहा : परम शक्तिमान ऋषि मैत्रेय व्यासदेव के मित्र थे। दिव्य ज्ञान के विषय में विदुर की जिज्ञासा से प्रोत्साहित एवं प्रसन्न होकर मैत्रेय ने इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : जब प्रश्नकर्ता प्रामाणिक हो और वक्ता भी अधिकारी हो तो प्रश्नोत्तर सन्तोषप्रद ढंग से चलता है। यहाँ पर मैत्रेय को शक्तिशाली ऋषि माना गया है, अत: उन्हें *भगवान्* कहा गया है। यह शब्द न केवल परमेश्वर के लिए प्रयुक्त किया जाता है, अपितु जो भी परमेश्वर के तुल्य शक्तिमान हो उसी के लिए प्रयुक्त होता है। मैत्रेय को भगवान् कहकर सम्बोधित किया गया है, क्योंकि आध्यात्मिक रूप से वे बहुत आगे बढ़े हुए थे। वे द्वैपायन व्यासदेव के मित्र थे, जो भगवान् के साहित्यावतार थे। विदुर के प्रश्नों से मैत्रेय अत्यन्त प्रसन्न हुए, क्योंकि ये प्रश्न एक प्रामाणिक सिद्ध भक्त के थे। इस तरह मैत्रेय को उत्तर देने में उत्साह प्रतीत हुआ। जब समान मानसिकता वाले भक्तों के मध्य आध्यात्मिक विषयों पर वार्ता होती है, तो प्रश्न तथा उत्तर अन्तत: फलप्रद एवं उत्साहवर्धक होते हैं।

मैत्रेय उवाच
पितरि प्रस्थितेऽरण्यं मातुः प्रियचिकीर्षया ।
तस्मिन्बिन्दुसरेऽवात्सीद्भगवान्कपिलः किल ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; पितरि—पिता के; प्रस्थिते—प्रस्थान करने पर; अरण्यम्—वन के लिए; मातुः—अपनी माता को; प्रिय-चिकीर्षया—प्रसन्न करने की इच्छा से; तस्मिन्—उस; बिन्दुसरे—बिन्दुसरोवर में; अवात्सीत्—रुका रहा; भगवान्—भगवान्; कपिलः—कपिल; किल—निस्सन्देह।

मैत्रेय ने कहा : जब कर्दम मुनि बन चले गये तो भगवान् कपिल अपनी माता देवहूति को प्रसन्न करने के लिए बिन्दु सरोवर के तट पर रहे आये।

तात्पर्य : वयस्क पुत्र का धर्म है कि अपने पिता की अनुपस्थिति में वह अपनी माता का भार अपने ऊपर ले और अपने सामर्थ्य भर उसकी सेवा करे, जिससे उसे पति-वियोग न खले। पति का भी यह कर्तव्य है कि ज्योंही पुत्र सयाना होकर अपनी पत्नी तथा गृहस्थी का भार सँभालने में समर्थ हो जाय कि वह गृहत्याग दे। गृहस्थ जीवन की यही वैदिक प्रणाली है। मनुष्य को मृत्युपर्यन्त गृहस्थी के कार्यों में निरन्तर व्यस्त नहीं रहे आना चाहिए। उसे घर छोड़ देना चाहिए। तब सयाने पुत्र को पारिवारिक मामलों तथा पत्नी का भार ग्रहण करना चाहिए।

तमासीनमकर्माणं तत्त्वमार्गाग्रदर्शनम् ।
स्वसुतं देवहूत्याह धातुः संस्मरती वचः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (कपिल को); आसीनम्—स्थित; अकर्माणम्—फुरसत से; तत्त्व—परम सत्य का; मार्ग-अग्र—चरम लक्ष्य; दर्शनम्—जो दिखा सके; स्व-सुतम्—अपने पुत्र को; देवहूतिः—देवहूति ने; आह—कहा; धातुः—ब्रह्मा का; संस्मरती—स्मरण करते हुए; वचः—वचन, शब्द।

अपनी माँ देवहूति को परम सत्य का चरम लक्ष्य दिखला सकने में समर्थ कपिल जब उसके समक्ष फुरसत से बैठे थे तो देवहूति को वे शब्द याद आये जो ब्रह्मा ने उससे कहे थे, अतः वह कपिल से इस प्रकार प्रश्न पूछने लगी।

देवहूतिरुवाच
निर्विण्णा नितरां भूमन्नसदिन्द्रियतर्षणात् ।
येन सम्भाव्यमानेन प्रपन्नान्धं तमः प्रभो ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

देवहूतिः उवाच—देवहूति ने कहा; निर्विण्णा—ऊबी हुई; नितराम्—अत्यधिक; भूमन्—हे भगवान्; असत्—क्षणिक; इन्द्रिय—इन्द्रियों की; तर्षणात्—उत्तेजना से; येन—जिससे; सम्भाव्यमानेन—सम्भव होने से; प्रपन्ना—मैं गिर चुकी हूँ; अन्धम् तमः—अज्ञान के गर्त में; प्रभो—हे प्रभु!.

देवहूति ने कहा : हे प्रभु, मैं अपनी इन्द्रियों के विक्षोभ से ऊबी हुई हूँ और इसके फलस्वरूप मैं अज्ञान रूपी अन्धकार के गर्त में गिर गई हूँ।

तात्पर्य : यहाँ पर *असत् इन्द्रिय-तर्ष्णात्* शब्द सार्थक है। *असत्* का अर्थ है क्षणिक और *इन्द्रिय* का अर्थ है इन्द्रियाँ। इस तरह *असद्-इन्द्रिय तर्षणात्* का अर्थ हुआ "भौतिक शरीर की क्षणिक रूप से प्रकट इन्द्रियों द्वारा क्षुब्ध होकर।" हम भौतिक शरीर के विभिन्न स्तरों से होकर विकसित हो रहे हैं—कभी मानव शरीर में, तो कभी पशु शरीर में रहते हैं—फलतः हमारी इन्द्रियों के कार्य-व्यापार भी बदलते रहते हैं। जो भी वस्तु बदलती है, वह क्षणिक या असत् कहलाती है। हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि इन क्षणिक (*असत्*) इन्द्रियों से परे हमारी स्थायी इन्द्रियाँ होती हैं, जो इस समय भौतिक शरीर से ढकी हुई हैं। स्थायी इन्द्रियाँ पदार्थ से कुलषित होने के कारण सही ढंग से कार्य नहीं करतीं। फलतः इस कलुष (कल्मष) से इन्द्रियों को मुक्त करना ही भक्ति है। जब कल्मष पूर्णतः दूर हो जाता है और इन्द्रियाँ शुद्ध कृष्णचेतना से युक्त होकर कार्य करती हैं, तो हम सद् इन्द्रिय को अर्थात् शाश्वत ऐन्द्रिय कार्य-कलापों को प्राप्त होते हैं। शाश्वत ऐन्द्रिय कार्यकलाप भक्तियोग कहलाते हैं जबकि क्षणिक ऐन्द्रिय कार्य-कलापों को इन्द्रियतृप्ति कहते हैं। जब तक कोई इन्द्रियतृप्ति से ऊब नहीं जाता, तब तक उसे कपिल-जैसे व्यक्ति से दिव्य सन्देश सुनने का सुयोग प्राप्त नहीं होता। देवहूति ने कहा कि वे ऊब गई हैं। चूँकि अब उनके पति ने गृह-त्याग कर दिया है, अतः वे भगवान् कपिल के उपदेशों को सुनकर विश्राम प्राप्त कर सकती हैं।

तस्य त्वं तमसोऽन्धस्य दुष्पारस्याद्य पारगम् ।
सच्चक्षुर्जन्मनामन्ते लब्धं मे त्वदनुग्रहात् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उस; त्वम्—तुम; तमसः—अज्ञान; अन्धस्य—अन्धकार का; दुष्पारस्य—पार करना दुष्कर; अद्य—अब; पार-गम्—पार जाना; सत्—दिव्य; चक्षुः—नेत्र; जन्मनाम्—जन्मों के; अन्ते—अन्त में; लब्धम्—प्राप्त किया; मे—मेरा; त्वत्-अनुग्रहात्—तुम्हारी कृपा से।.

हे प्रभो, आप ही अज्ञान के इस घने अन्धकार से बाहर निकलने के एकमात्र साधन हैं, क्योंकि आप ही मेरे दिव्य नेत्र हैं जिसे मैंने आपके अनुग्रह से अनेकानेक जन्मों के पश्चात् प्राप्त किया है।

तात्पर्य : यह श्लोक अत्यन्त शिक्षाप्रद है, क्योंकि यह गुरु तथा शिष्य के सम्बन्ध को बताने वाला है। शिष्य या बद्धजीव को अज्ञान के इस महानतम क्षेत्र में रखा जाता है, फलतः वह इन्द्रियतृप्ति के संसार में फँस जाता है। इस बन्धन से निकल कर स्वतन्त्रता प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, किन्तु यदि कोई इतना भाग्यवान होता है कि उसे कपिलमुनि जैसे गुरु या उनके प्रतिनिधि की संगति प्राप्त हो जाती है, तो उनकी कृपा से अज्ञान के कीचड़ से उसका उद्धार किया जा सकता है। अतः गुरु की पूजा उस व्यक्ति के रूप में की जाती है, जो ज्ञान के प्रकाशपुंज से शिष्य को अज्ञान के कीचड़ से उबार लेता है। *पारगम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *पारगम्* उसके लिए आया है, जो शिष्य को उस पार ले जा सकता है। इस ओर बद्धजीव है और उस ओर (पार) उन्मुक्त जीवन है। गुरु ज्ञान के द्वारा शिष्य की आँखें खोलकर उस पार ले जाता है। हम सभी अज्ञान के कारण कष्ट भोगते हैं। गुरु के उपदेश से अज्ञान का अन्धकार हटता है और शिष्य स्वतन्त्रता की ओर जाने में समर्थ होता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि मनुष्य अनेकानेक जन्मों के बाद श्रीभगवान् की शरण ग्रहण करता है। इसी प्रकार यदि अनेक जन्मों के बाद किसी को प्रामाणिक गुरु मिल जाता है और वह कृष्ण के ऐसे किसी प्रामाणिक प्रतिनिधि की शरण लेता है, तो वह प्रकाश का किनारा प्राप्त कर सकता है।

य आद्यो भगवान्पुंसामीश्वरो वै भवान्किल ।
लोकस्य तमसान्धस्य चक्षुः सूर्य इवोदितः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; आद्यः—मूल; भगवान्—भगवान्; पुंसाम्—समस्त जीवों के; ईश्वरः—स्वामी; वै—वास्तव में; भवान्—आप; किल—निस्सन्देह; लोकस्य—ब्रह्माण्ड का; तमसा—अज्ञान के अन्धकार से; अन्धस्य—अन्धे का; चक्षुः—नेत्र; सूर्यः—सूर्य; इव—सदृश; उदितः—उदित, उदय हुआ।

आप श्रीभगवान् हैं, जो समस्त जीवों के मूल तथा परमेश्वर हैं। आप ब्रह्माण्ड के अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करने के लिए सूर्य की किरणें विस्तारित करने के लिए

उदित हुए हैं।

तात्पर्य : कपिलमुनि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के अवतार माने जाते हैं। यहाँ पर *आद्य:* शब्द का अर्थ है, ''समस्त जीवों का मूल'' तथा *पुंसाम ईश्वर:* का अर्थ ''जीवों के ईश्वर (स्वामी)।'' कपिलमुनि कृष्ण के साक्षात् विस्तार हैं, जो आध्यात्मिक ज्ञान के सूर्य हैं। जिस प्रकार सूर्य ब्रह्माण्ड के अन्धकार को दूर करता है उसी प्रकार जब भगवान् का प्रकाश नीचे उतरता है, तो यह तुरन्त ही माया के अन्धकार को मिटा देता है। हमारे नेत्र हैं, किन्तु सूर्य के प्रकाश के बिना नेत्रों का कोई महत्त्व नहीं है। इसी तरह भगवान् के प्रकाश के बिना या गुरु की अलौकिक कृपा के बिना वह वस्तुओं को उसी रूप में नहीं देख सकता।

अथ मे देव सम्मोहमपाक्रष्टुं त्वमर्हसि ।
योऽवग्रहोऽहं ममेतीत्येतस्मिन्योजितस्त्वया ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अथ—अब; मे—मेरा; देव—हे भगवान्; सम्मोहम्—मोह, भ्रम; अपाक्रष्टुम्—भगाने के लिए; त्वम्—तुम; अर्हसि—प्रसन्न होवो; य:—जो; अवग्रह:—भ्रान्त धारणा; अहम्—मैं; मम—मेरा; इति—इस प्रकार; इति—इस प्रकार; एतस्मिन्—इसमें; योजित:—लगाया हुआ; त्वया—तुम्हारे द्वारा।

हे प्रभु, अब प्रसन्न हों और मेरे महा मोह को दूर करें। अहंकार के कारण मैं आपकी माया में व्यस्त रही और मैंने अपने आपको शरीर रूप में तथा फलस्वरूप शारीरिक सम्बन्धों के रूप में पहचाना।

तात्पर्य : अपने शरीर में आत्मबुद्धि का अहंकार तथा इस शरीर के साथ अपनी संग्रह की हुई वस्तुओं को जोड़ने का दावा माया कहलाता है। *भगवद्गीता* के पंद्रहवें अध्याय में भगवान् कहते हैं, ''मैं हर एक के हृदय में आसीन हूँ और सबों की स्मृति तथा विस्मृति मुझी से है।'' देवहूति ने कहा कि अपने आपको शरीर मानना तथा शारीरिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति भी भगवान् के निर्देशन में है, तो क्या इसका यह अर्थ हुआ कि भगवान् एक को भक्ति में और दूसरे को इन्द्रियतृप्ति में लगाकर भेदभाव बरतते हैं ? यदि ऐसा हो तो भगवान् की ओर से यह असंगति होगी, किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। ज्योंही जीव भगवान् के प्रति अपनी वास्तविक स्वाभाविक दासता की स्थिति भूल जाता है और इन्द्रियतृप्ति के माध्यम से भोग करना चाहता

है, तो वह माया द्वारा बन्दी बना लिया जाता है। माया द्वारा यह बन्धन शरीर तथा शारीरिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति के साथ झूठी पहचान की चेतना है। ये माया के कार्य हैं और चूँकि माया भी भगवान् की एक एजेन्ट है, अत: परोक्षत: यह भगवान् का कार्य है। भगवान् दयालु हैं। यदि कोई उन्हें भुलाकर इस भौतिक जगत का सुखोपभोग करना चाहता है, तो उसे इसकी पूरी छूट प्रत्यक्ष रूपसे नहीं, अपितु उनकी भौतिक शक्ति (माया) के माध्यम से मिलती है। चूँकि यह भौतिक शक्ति भगवान् की शक्ति होती है, अत: प्रत्यक्ष रूप से विस्मृत करने की सुविधा प्रदान करने वाले भगवान् ही होते हैं। अत: देवहूति ने कहा, ''इन्द्रियतृप्ति में मेरी व्यस्तता का कारण आप ही थे। अब मुझे इस बन्धन से मुक्त करें।''

ईश्वर की कृपा से मनुष्य को इस भौतिक जगत का भोग करने की अनुमति प्राप्त है, किन्तु जब वह भौतिक सुख से ऊब कर हताश होता है और जब वह निष्ठापूर्वक भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण कर देता है, तो ईश्वर सदय होने के कारण उसे बन्धन से मुक्त कर देते हैं। अत: *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण कहते हैं, ''सबसे पहले मेरी शरण में आ जाओ तब तुम्हारा दायित्व मैं उठा लूँगा और मैं तुम्हें समस्त पापकर्मों के फल से मुक्त कर दूँगा।'' पापकर्म वे कर्म हैं, जिन्हें हम भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को भुला देने की स्थिति में करते हैं। इस संसार में भौतिक सुख के लिए जिन कर्मों को पवित्र माना जाता है वे भी पापपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ, कभी-कभी मनुष्य किसी गरजमंद व्यक्ति को इस दृष्टि से दान देता है कि बदले में उसे चारगुना अधिक धन मिलेगा। लाभ के उद्देश्य से दिया गया दान रजोगुणी दान है। यहाँ जो भी कर्म किया जाता है, वह भौतिक प्रकृति के गुणों के अधीन रहकर किया जाता है, फलत: भगवान् की सेवा के अतिरिक्त सारे कार्य पापपूर्ण हैं। पापकर्मों के कारण हम भौतिक आसक्ति द्वारा मोहित होते रहते हैं ''मैं यह शरीर हूँ।'' मैं शरीर को स्व तथा शारीरिक सम्पत्ति को 'मेरा' सोचता हूँ। देवहूति ने मिथ्या पहचान तथा मिथ्या सम्पत्ति के बन्धन से मुक्त करने के लिए भगवान् कपिल से प्रार्थना की।

तं त्वा गताहं शरणं शरण्यं
स्वभृत्यसंसारतरोः कुठारम् ।
जिज्ञासयाहं प्रकृतेः पूरुषस्य
नमामि सद्धर्मविदां वरिष्ठम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस व्यक्ति को; त्वा—तुम तक; गता—गया हुआ; अहम्—मैं; शरणम्—शरण; शरण्यम्—शरण ग्रहण करने योग्य; स्व-भृत्य—अपने आश्रितों के लिए; संसार—संसार के; तरोः—वृक्ष की; कुठारम्—कुल्हाड़ी; जिज्ञासया—जानने की इच्छा से; अहम्—मैं; प्रकृतेः—पदार्थ (स्त्री) का; पूरुषस्य—आत्मा (पुरुष) का; नमामि—नमस्कार करती हूँ; सत्-धर्म—शाश्वत वृत्ति के; विदाम्—ज्ञाताओं का; वरिष्ठम्—महानतम को।

देवहूति ने आगे कहा : मैंने आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण की है, क्योंकि आप ही एकमात्र व्यक्ति हैं जिनकी शरण ग्रहण की जा सकती है। आप वह कुल्हाड़ी हैं जिससे संसार रूपी वृक्ष काटा जा सकता है। अत: मैं आपको नमस्कार करती हूँ, क्योंकि समस्त योगियों में आप महानतम हैं। मैं आपसे पुरुष तथा स्त्री और आत्मा तथा पदार्थ के सम्बन्ध के विषय में जानना चाहती हूँ।

तात्पर्य : जैसाकि सर्वविदित है, सांख्य योग *प्रकृति* तथा *पुरुष* के विषय से सम्बन्धित है। श्रीभगवान् या भोक्ता के रूप में जो कोई पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का अनुकरण करता है, वह *पुरुष* है और *प्रकृति* का अभिप्राय प्रकृति से है। इस भौतिक जगत में पुरुषों या जीवों के द्वारा प्रकृति का उपभोग होता है। इस संसार में प्रकृति तथा पुरुष अथवा भोग्य तथा भोक्ता के सम्बन्ध की जटिलताएँ संसार अथवा भौतिक बन्धन कहलाती हैं। देवहूति भौतिक बन्धन रूपी वृक्ष को काटना चाह रही थीं और इसके लिए उन्हें कपिल मुनि के रूप में कुठार प्राप्त हुआ था। *भगवद्गीता* के पंद्रहवें अध्याय में संसार रूपी वृक्ष की व्याख्या उस अश्वत्थ वृक्ष के रूप में की गई है, जिसकी जड़ें ऊर्ध्वमुखी और शाखाएँ अधोमुखी हैं। यहाँ यह बताया गया है कि इस संसार रूपी वृक्ष की जड़ को विरक्ति के कुठार से काटना होता है। आसक्ति क्या है ? इसमें प्रकृति तथा पुरुष सन्निहित हैं। जीव प्रकृति पर अधिकार जताना चाहते हैं और चूँकि बद्धजीव प्रकृति को ही अपने भोग का लक्ष्य बनाता है और स्वयं भोक्ता बनता है, अत: वह पुरुष कहलाता है।

देवहूति ने कपिल मुनि से प्रश्न किया, क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि वे इस भौतिक संसार के

प्रति उसकी आसक्ति को छिन्न कर सकते हैं। पुरुषों तथा स्त्रियों के वेश में जीवात्माएँ भौतिक शक्ति का आनन्द उठाना चाहती हैं, अत: एक प्रकार से प्रत्येक जीवात्मा पुरुष है, क्योंकि पुरुष का अर्थ है 'भोक्ता' और प्रकृति का अर्थ है 'भोग्या'। इस जगत में तथाकथित पुरुष तथा तथाकथित स्त्री दोनों ही वास्तविक पुरुष का अनुकरण करते हैं और आध्यात्मिक दृष्टि से वास्तविक भोक्ता हैं, जबकि शेष सभी प्रकृति हैं। जीवात्माएँ प्रकृति मानी जाती हैं। *भगवद्गीता* में पदार्थ को *अपरा* अर्थात् निकृष्ट प्रकृति कहा गया है। इस निकृष्ट प्रकृति से परे एक अन्य श्रेष्ठ प्रकृति है—जीवात्माएँ। जीवात्माएँ भी प्रकृति या भोग्या हैं, किन्तु माया के वश में आकर जीवात्माएँ अपने को भोक्ता मानती हैं। *संसार बन्धन* या बद्ध जीवन का यही कारण है। देवहूति बद्ध जीवन से निकलकर पूर्णतया समर्पित हो जाना चाहती थीं। भगवान् *शरण्य* हैं जिसका अर्थ यह होता है कि वे ही एकमात्र व्यक्ति हैं जिनको पूर्णरूप से समर्पण किया जा सकता है, क्योंकि वे ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं। यदि कोई सचमुच विश्राम चाहता है, तो सर्वश्रेष्ठ मार्ग है कि वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण में जाय। भगवान् को यहाँ पर *सद्धर्म-विदां वरिष्ठम्* कहा गया है। यह बताता है कि दिव्य वृत्तियों में सर्वश्रेष्ठ वृत्ति श्रीभगवान् की प्रेमा-भक्ति है। कभी-कभी धर्म का धर्म के रूप में अर्थ किया जाता है, किन्तु इसका वास्तविक अर्थ है, ''वह जिसका परित्याग नहीं हो सकता, जिसे स्व से पृथक् नहीं किया जा सकता।'' अग्नि की उष्णता अग्नि से विलग नहीं की जा सकती इसलिए उष्णता को अग्नि का धर्म या प्रकृति (गुण) कहा जाता है। इसी प्रकार *सद्धर्म* का अर्थ है शाश्वत धर्म (वृत्ति)। यह शाश्वत वृत्ति है ईश्वर की दिव्य प्रेमा-भक्ति में लगना। कपिलदेव के सांख्य दर्शन का उद्देश्य विशुद्ध, कल्मषरहित भक्ति का प्रसार है, फलत: उन्हें जीव के दिव्य धर्म के ज्ञाताओं में सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति कहकर सम्बोधित किया गया है।

मैत्रेय उवाच

इति स्वमातुर्निरवद्यमीप्सितं
निशम्य पुंसामपवर्गवर्धनम् ।
धियाभिनन्द्यात्मवतां सतां गति-

र्बभाष ईषत्स्मितशोभिताननः ॥ १२॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; स्व-मातुः—अपनी माता की; निरवद्यम्—कल्मषहीन; ईप्सितम्—इच्छा को; निशम्य—सुनकर; पुंसाम्—लोगों के; अपवर्ग—मोक्ष; वर्धनम्—बढ़ते हुए; धिया—मानसिक रूप से; अभिनन्द्य—धन्यवाद देकर; आत्म-वताम्—आत्म-साक्षात्कार में रुचि रखने वाले, आत्मज्ञ; सताम्—सत्यपुरुष, गुणातीतवादी; गतिः—पथ, मार्ग; बभाषे—कह सुनाया; ईषत्—कुछ-कुछ; स्मित—हँसते हुए; शोभित—सुन्दर; आननः—मुखमण्डल।

मैत्रेय ने कहा : दिव्य साक्षात्कार के लिए अपनी माता की कल्मषरहित इच्छा को सुनकर भगवान् ने मन-ही-मन उनके प्रश्नों के लिए धन्यवाद दिया और इस प्रकार मुस्कान-युत मुख से उन्होंने आत्म-साक्षात्कार में रुचि रखने वाले अध्यात्मवादियों के मार्ग की व्याख्या की।

तात्पर्य : देवहूति ने भवबन्धन अपने उलझे होने की स्वीकृति तथा उससे छुटकारे की इच्छा से आत्म-समर्पण कर दिया। जो लोग भवबन्धन से मोक्ष पाने के इच्छुक हैं और मानव जीवन की पूर्णता की अवस्था प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए देवहूति द्वारा कपिल से पूछे गये प्रश्न अत्यन्त रोचक हैं। जब तक कोई अपने आध्यात्मिक जीवन या अपनी स्वाभाविक स्थिति को समझने में रुचि नहीं रखता और जब तक इस संसार में असुविधा का अनुभव नहीं करता, तब तक उसका मनुष्य जीवन वृथा जाता है। जो जीवन की इन दिव्य आवश्यकताओं की परवाह न करके पशु की भाँति खाने, सोने, डरने तथा संभोग करने में लगा रहता है, वह अपना जीवन गँवा देता है। भगवान् कपिल अपनी माता के प्रश्नों से अत्यधिक प्रसन्न थे, क्योंकि उनके उत्तर संसार के बद्धजीवन से मुक्ति की इच्छा को जागरित करने वाले हैं। ऐसे प्रश्न *अपवर्ग वर्धनम्* कहलाते हैं। जिनमें वास्तविक आध्यात्मिक रुचि होती है वे *सत्* अथवा भक्त कहलाते हैं। *सतां प्रसङ्गात्। सत्* का अर्थ है "जिसका शाश्वत अस्तित्व है" और *असत्* का अर्थ है "जो शाश्वत नहीं है।" जब तक मनुष्य आध्यात्मिक स्थिति (पद) को प्राप्त नहीं होता वह *सत्* नहीं होता; वह *असत्* है। *असत्* ऐसी स्थिति में रहता है, जिसका अस्तित्व नहीं होता और जो भी आध्यात्मिक स्थिति पर होता है उसका अस्तित्व शाश्वत होता है। आत्मा के रूप में प्रत्येक व्यक्ति का अस्तित्व शाश्वत है, किन्तु *असत्* तो भौतिक जगत को अपना आश्रय

बनाता है, फलतः वह चिन्ता से पूर्ण रहता है। *असद्-ग्राहान्* जो आत्मा पदार्थ को भोगने का झूठा विचार रखे उसकी असंगत स्थिति उसके असत् होने का कारण है। वास्तव में, आत्मा *असत्* नहीं है। ज्योंही मनुष्य इस तथ्य के प्रति सचेत हो जाता है और वह कृष्णभावनामृत अपना लेता है, तो वह *सत्* बन जाता है। *सतां गतिः* या नित्य का मार्ग उन व्यक्तियों के लिए अत्यन्त रुचिकर है, जो मुक्ति चाहते हैं और भगवान् कपिल ने इसी मार्ग के विषय में कहना प्रारम्भ किया।

श्रीभगवानुवाच
योग आध्यात्मिकः पुंसां मतो निःश्रेयसाय मे ।
अत्यन्तोपरतिर्यत्र दुःखस्य च सुखस्य च ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; योगः—योग प्रणाली; आध्यात्मिकः—आत्मा से सम्बन्धित; पुंसाम्—जीवों का; मतः—स्वीकृत है; निःश्रेयसाय—चरम लाभ हेतु; मे—मेरे द्वारा; अत्यन्त—पूर्ण; उपरतिः—विरक्ति; यत्र—जहाँ; दुःखस्य—दुख से; च—तथा; सुखस्य—सुख से; च—तथा।

भगवान् ने उत्तर दिया : जो योग पद्धति भगवान् तथा व्यक्तिगत जीवात्मा को जोड़ती है, जो जीवात्मा के चरम लाभ के लिए है और जो भौतिक जगत में समस्त सुखों तथा दुखों से विरक्ति उत्पन्न करती है, वही सर्वोच्च योग पद्धति है।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में व्यक्ति कुछ-न-कुछ सुख प्राप्त करने का प्रयास करता है, किन्तु जैसे ही हमें थोड़ा सुख-लाभ होता है कि भौतिक दुख भी पड़ता है। इस संसार में किसी को एकान्तिक सुख प्राप्त नहीं हो सकता। किसी भी प्रकार का सुख दुख से कलुषित हो जाता है। उदाहरणार्थ, यदि हम दूध पीना चाहें तो हमें गाय पालना होगा और उसे दूध देने लायक बनाए रखना होगा। दूध पीना तो अच्छा है। और आनन्द भी है, किन्तु दूध पीने के लिए मनुष्य को इतनी सारी झंझटें उठानी पड़ती हैं। जैसाकि भगवान् ने यहाँ पर कहा है योग पद्धति समस्त सुख तथा दुख को समाप्त करने के लिए है। जैसी कि *भगवद्गीता* में कृष्ण ने शिक्षा दी है, सर्वोत्तम योग भक्तियोग है। *गीता* में यह भी कहा गया है कि मनुष्य को सहिष्णु बनना चाहिए और भौतिक सुख या दुख से विचलित नहीं होना चाहिए। निस्सन्देह मनुष्य यह

कह सकता है कि वह सुख से विचलित नहीं होता, किन्तु उसे यह पता नहीं कि तथाकथित सुख भोगने के बाद दुख आएगा। यही भौतिक जगत का नियम है। भगवान् कपिल कहते हैं कि योग पद्धति आत्मा का विज्ञान है। मनुष्य योग का अभ्यास आध्यात्मिक पद की पूर्णता प्राप्त करने के लिए करता है। इसमें भौतिक सुख या दुख का प्रश्न नहीं उठता। यह दिव्य होता है। अन्ततः भगवान् कपिल बताएँगे कि यह किस तरह दिव्य है, किन्तु यहाँ पर प्रारम्भिक प्रस्तावना दी गई है।

तमिमं ते प्रवक्ष्यामि यमवोचं पुरानघे ।
ऋषीणां श्रोतुकामानां योगं सर्वाङ्गनैपुणम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

तम् इमम्—वही; ते—तुमको; प्रवक्ष्यामि—बतलाऊँगा; यम्—जो; अवोचम्—मैंने बतलाया था; पुरा—पहले; अनघे—हे पूज्य माता; ऋषीणाम्—ऋषियों को; श्रोतु-कामानाम्—सुनने के लिए उत्सुक; योगम्—योग पद्धति; सर्व-अङ्ग—सभी प्रकार से; नैपुणम्—उपयोगी एवं व्यावहारिक।

हे परम पवित्र माता, अब मैं आपको वही प्राचीन योग पद्धति समझाऊँगा, जिसे मैंने पहले महान् ऋषियों को समझाया था। यही हर प्रकार से उपयोगी एवं व्यावहारिक है।

तात्पर्य : भगवान् किसी नई योग पद्धति का निर्माण नहीं करते। कभी-कभी यह दावा किया जाता है कि अमुक व्यक्ति ईश्वर का अवतार हो गया है और परम सत्य के एक नवीन नैतिक पक्ष की स्थापना कर रहा है। किन्तु यहाँ हम देखते हैं कि यद्यपि कपिल मुनि स्वयं भगवान् हैं और अपनी माता के लिए नवीन सिद्धान्त (वाद) निर्मित करने में समर्थ हैं, तो भी वे कहते हैं, ''मैं उस प्राचीन योग पद्धति को समझाऊँगा जिसे एक बार मैंने ऋषियों को समझाया था, क्योंकि वे इसके विषय में सुनने के लिए उत्कंठित थे।'' जब हमारे पास वैदिक शास्त्रों में पहले से सर्वश्रेष्ठ विधि उपलब्ध है, तो फिर नई पद्धति के गढ़ने और भोलीभाली जनता को गुमराह करने की क्या आवश्यकता है? आज के जमाने में मानक पद्धति को ठुकराना और योग के नाम पर नव आविष्कृत भ्रष्ट पद्धति प्रस्तुत करना एक फैशन बन चुका है।

चेत: खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् ।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

चेत:—चेतना; खलु—निस्सन्देह; अस्य—उसका; बन्धाय—बन्धन के लिए; मुक्तये—मुक्ति के लिए; च—तथा; आत्मन:—जीव का; मतम्—माना जाता है; गुणेषु—तीनों गुणों में; सक्तम्—मोहित; बन्धाय—बद्धजीवन के लिए; रतम्—आसक्त; वा—अथवा; पुंसि—परमात्मा में; मुक्तये—मुक्ति के लिए।

जीवात्मा की चेतना जिस अवस्था में प्रकृति के तीन गुणों के द्वारा आकृष्ट होती है, वह बद्धजीवन कहलाती है। किन्तु जब वही चेतना श्रीभगवान् के प्रति आसक्त होती है, तो मनुष्य मोक्ष की चेतना में स्थित हो।

तात्पर्य : कृष्णचेतना तथा मायाचेतना में अन्तर है। *गुणेषु* या मायाचेतना में प्रकृति के तीनों गुणों के प्रति आसक्ति होती है, जिसके अन्तर्गत मनुष्य कभी सतो, कभी रजो और कभी तमोगुण में कार्य करता है। ये विभिन्न गुणात्मक कार्य, जिनमें भौतिक भोग के लिए मुख्य आसक्ति रहती है, मनुष्य के बद्धजीवन के कारणस्वरूप हैं। जब वही *चेत:* या चेतना पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण में स्थानान्तरित हो जाती है या जब मनुष्य कृष्णभक्त बन जाता है, तो वह मुक्ति के पथ पर होता है।

अहं ममाभिमानोत्थै: कामलोभादिभिर्मलै: ।
वीतं यदा मन: शुद्धमदु:खमसुखं समम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; मम—मेरा; अभिमान—भ्रान्ति से; उत्थै:—उत्पन्न, जनित; काम—काम; लोभ—लालच; आदिभि:—इत्यादि; मलै:—मलों (विकारों) से; वीतम्—मुक्त, से रहित; यदा—जब; मन:—मन; शुद्धम्—शुद्ध; अदु:खम्—दु:खरहित; असुखम्—सुखविहीन; समम्—समभाव।

जब मनुष्य शरीर को ''मैं'' तथा भौतिक पदार्थों को ''मेरा'' मानने के झूठे भाव से उत्पन्न काम तथा लोभ के विकारों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है, तो उसका मन शुद्ध हो जाता है। उस विशुद्धावस्था में वह तथाकथित भौतिक सुख तथा दुख की अवस्था को लाँघ जाता है।

तात्पर्य : काम तथा लोभ संसार के लक्षण हैं। हर व्यक्ति सदैव कुछ न कुछ रखना चाहता है। यहाँ पर यह कहा गया है कि इच्छा तथा लालच शरीर के साथ स्वयं की गलत पहचान के

प्रति-फल हैं। जब मनुष्य इस कल्मष से मुक्त हो जाता है, तो उसके मन तथा चेतना भी मुक्त होकर अपनी आदि अवस्था प्राप्त कर लेते हैं। मन, चेतना तथा जीवात्मा विद्यमान रहते हैं। जब हम जीव की बात करते हैं, तो उसमें मन तथा चेतना भी सम्मिलित रहते हैं। जब हम मन तथा चेतना को शुद्ध कर लेते हैं, तो बद्ध जीवन तथा मुक्त जीवन में अन्तर आ जाता है। जब वे शुद्ध हो जाते हैं, तो मनुष्य भौतिक सुख तथा दुख से आगे निकल जाता है।

प्रारम्भ में ही भगवान् कपिल ने कहा है कि पूर्ण योग से मनुष्य सुख तथा दुख अवस्था के परे जा सकता है। यहाँ यह बताया गया है कि इसे कैसे किया जाता है—मनुष्य को अपना मन तथा चेतना को शुद्ध करना होता है। इसे भक्तियोग पद्धति द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है। जैसाकि *नारद पंचरात्र* में बताया गया है मनुष्य को मन तथा इन्द्रियों को शुद्ध बनाना चाहिए (*तत्परत्वेन निर्मलम्*)। मनुष्य की इन्द्रियाँ भगवान् की भक्ति में लगनी चाहिए। यही विधि है। मन को कुछ न कुछ काम में लगे रहना होता है। मनुष्य मन को खाली नहीं रख सकता। निस्सन्देह मन को खाली या रिक्त बनाने के कतिपय मूर्खतापूर्ण प्रयास किये जाते हैं, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। जिस एकमात्र विधि से मन शुद्ध हो सकता है, वह है इसे कृष्ण में लगाना। मन को लगाये रखना चाहिए। यदि हम अपने मन को कृष्ण में लगाएँ, तो यह स्वाभाविक है कि हमारी चेतना पूर्णतः शुद्ध हो जाय और भौतिक काम तथा लोभ के प्रवेश की गुंजाईश ही न रहे।

तदा पुरुष आत्मानं केवलं प्रकृतेः परम् ।
निरन्तरं स्वयंज्योतिरणिमानमखण्डितम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

तदा—तब; पुरुषः—जीव; आत्मानम्—अपने आपको; केवलम्—शुद्ध; प्रकृतेः परम्—संसार से परे; निरन्तरम्—अभिन्न; स्वयम्-ज्योतिः—स्वयं-प्रकाश, स्वतः तेजवान; अणिमानम्—सूक्ष्म; अखण्डितम्—खंडित नहीं, अखण्ड।

उस समय जीव अपने आपको संसार से परे, सदैव स्वयंप्रकाशित, अखंडित एवं सूक्ष्म आकार में देख सकता है।

तात्पर्य : विशुद्ध चेतना या कृष्णभक्ति की स्थिति में मनुष्य अपने आपको परमेश्वर से

अभिन्न एक सूक्ष्म कण के रूप में देख सकता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है जीव परमेश्वर का शाश्वत अंश है। जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य की प्रकाशमान संरचना के सूक्ष्म कण हैं, उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा का सूक्ष्म कण है। परमेश्वर से जीव का विलगन भौतिक विभाजन जैसा नहीं होता। जीव प्रारम्भ से ही एक कण है। किन्तु हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि जीव एक कण होने के कारण पूर्ण आत्मा से खण्डित है। मायावाद दर्शन बताता है कि पूर्ण आत्मा विद्यमान रहता है, किन्तु इसका एक अंश जिसे जीव कहते हैं मोहवश बन्दी हो जाता है। वह दर्शन हमें स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि आत्मा को पदार्थ की भाँति खण्डित नहीं किया जा सकता। वह खण्ड या जीव शाश्वत रूप से खण्ड रहता है। जब तक परम आत्मा विद्यमान रहता है तब तक उसका अंश भी विद्यमान रहता है। जब तक सूर्य का अस्तित्व है तब तक सूर्य किरणों के अणु भी विद्यमान रहेंगे।

वैदिक साहित्य में जीव-कण को बाल के अग्रभाग के दस हजारवें भाग के आकार का बताया गया है। अत: यह अतिसूक्ष्म है। परमात्मा अनन्त है, किन्तु जीव या जीवात्मा सूक्ष्म है, यद्यपि गुण में यह परमात्मा से भिन्न नहीं है। इस श्लोक में दो शब्द ध्यान देने योग्य हैं। एक है *निरन्तरम्*—जिसका अर्थ 'अभिन्न' अथवा "उसी गुण वाला।" जीव को यहाँ पर *अणिमानम्* भी कहा गया है। *अणिमानम्* का अर्थ है "अतिसूक्ष्म।" परम आत्मा सर्वव्यापी है, किन्तु जीव अति लघु आत्मा है। *अखिण्डतम्* का अर्थ वस्तुत: "खण्डित नहीं" अपितु स्वाभाविक रूप से सदैव अतिसूक्ष्म है। सूर्य से सूर्यप्रकाश के अणुवीय खण्डों को कोई भी विलग नहीं कर सकता, किन्तु सूर्यप्रकाश का अणुवीय खण्ड सूर्य जैसा व्यापक नहीं होता। इसी प्रकार जीवात्मा अपनी स्वाभाविक स्थिति के द्वारा गुणात्मक रूप से परम आत्मा के समान ही है, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म है।

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चात्मना ।
परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ज्ञान—ज्ञान; वैराग्य—वैराग्य; युक्तेन—से युक्त; भक्ति—भक्ति; युक्तेन—से युक्त; च—तथा; आत्मना—मन से; परिपश्यति—देखता है; उदासीनम्—उदासीन; प्रकृतिम्—संसार को; च—तथा; हत-ओजसम्—शक्ति से वंचित।

आत्म-साक्षात्कार की उस अवस्था में मनुष्य ज्ञान तथा भक्ति में त्याग के अभ्यास से प्रत्येक वस्तु को सही रूप में देख सकता है, वह इस संसार के प्रति अन्यमनस्क हो जाता है और उस पर भौतिक प्रभाव अत्यल्प प्रबलता के साथ काम कर पाते हैं।

तात्पर्य : जिस प्रकार किसी रोग के कीटाणुओं के सम्पर्क से निर्बल मनुष्य प्रभावित हो सकता है उसी प्रकार से भौतिक प्रकृति या माया का प्रभाव दुर्बल या बद्धजीवों पर पड़ता है, मुक्त जीवों पर नहीं। आत्म-साक्षात्कार ही मुक्त अवस्था की स्थिति है। ज्ञान तथा वैराग्य के द्वारा मनुष्य को अपनी स्थिति का पता चलता है। ज्ञान के बिना अनुभूति सम्भव नहीं। यह अनुभूति कि वह परमात्मा का अति सूक्ष्म अंश है, उसे भौतिक बद्ध जीवन से अनासक्त बनाती है। यही भक्तियोग का शुभारम्भ है। भौतिक कल्मष से मुक्त हुए बिना भगवान् की भक्ति में नहीं लगा जा सकता। इसीलिए इस श्लोक में कहा गया है—*ज्ञानवैराग्ययुक्तेन*—जब मनुष्य अपनी स्थिति से पूर्णत: अवगत होता है और भौतिक आकर्षण से विलग होकर विरक्त जीवन बिताता है, तो शुद्ध भक्ति के द्वारा—*भक्तियुक्तेन*—वह भगवान् का प्रिय दास बन सकता है। *परिपश्यन्ति* का अर्थ है कि वस्तुओं को सही रूप में देख सकता है। तब भौतिक प्रकृति का प्रभाव प्राय: शून्य हो जाता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में भी हुई है—*ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा*—स्वरूपसिद्ध होने पर मनुष्य प्रसन्न तथा भौतिक प्रकृति के प्रभाव से मुक्त हो जाता है और उसी के साथ वह शोक तथा चाह से भी मुक्त हो जाता है। भगवान् उस स्थिति को *मद्भक्तिं लभते पराम्*—अर्थात् भक्ति के शुभारम्भ की वास्तविक दशा कहते हैं। इसी प्रकार इसकी पुष्टि *नारद पंचरात्र* में हुई है कि इन्द्रियों के शुद्ध होने पर उन्हें भगवान् की भक्ति में लगाया जा सकता है। जो भौतिक कल्मष से आकृष्ट है, वह भक्त नहीं हो सकता।

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि ।
सदृशोऽस्ति शिव: पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; युज्यमानया—सम्पन्न की जा रही; भक्त्या—भक्ति से; भगवति—भगवान् के प्रति; अखिल-आत्मनि—परमात्मा; सदृशः—के समान; अस्ति—है; शिवः—मंगलकारी, शुभ; पन्थाः—पथ; योगिनाम्—योगियों का; ब्रह्म-सिद्धये—आत्म-साक्षात्कार की सिद्धि के लिए।

किसी भी प्रकार का योगी जब तक श्रीभगवान् की भक्ति में प्रवृत्त नहीं हो जाता, तब तक आत्म-साक्षात्कार में पूर्णता नहीं प्राप्त की जा सकती, क्योंकि भक्ति ही एकमात्र शुभ मार्ग है।

तात्पर्य : यहाँ यह स्पष्ट बताया गया है कि भक्ति को मिलाए बिना ज्ञान तथा वैराग्य कभी पूर्ण नहीं होते। *न युज्यमानया* का अर्थ है, "बिना एक साथ जोड़े।" जब भक्तिमय सेवा होती है, तो यह प्रश्न उठता है कि सेवा किसको अर्पित की जाय? यह भक्ति श्रीभगवान् को ही अर्पित की जानी है, क्योंकि वे ही हर एक के परमात्मा हैं और आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्म-साक्षात्कार का यही एकमात्र विश्वस्त मार्ग है। *ब्रह्मसिद्धये* शब्द का अर्थ है अपने को पदार्थ से भिन्न समझना, अपने आपको ब्रह्म समझना। वैदिक शब्द है *अहं ब्रह्मास्मि*। ब्रह्मसिद्धि का अर्थ है कि मनुष्य समझे कि वह पदार्थ नहीं है—वह शुद्ध आत्मा है। योगी कई प्रकार के होते हैं, किन्तु प्रत्येक योगी आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्म-साक्षात्कार करने में लगा रहता है। यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि जब तक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की भक्ति में प्रवृत्त नहीं हुआ जाता, तब तक मनुष्य ब्रह्मसिद्धि के मार्ग तक नहीं पहुँच सकता।

श्रीमद्भागवत के द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में कहा गया है कि जब मनुष्य अपने आपको वासुदेव की भक्ति में लगाता है, तो आध्यात्मिक ज्ञान तथा वैराग्य स्वत: प्रकट होते हैं। फलस्वरूप भक्त को ज्ञान या वैराग्य के लिए अलग से प्रयास नहीं करना होता। भक्तिमय सेवा अपने आप में इतनी शक्तिमान होती है कि मनुष्य की सेवा की प्रवृत्ति के द्वारा सब कुछ प्रकट हो जाता है। यहाँ पर *शिव: पन्था:* कहा गया है—आत्म-साक्षात्कार का यही एकमात्र शुभ मार्ग है। ब्रह्म-साक्षात्कार के लिए भक्ति मार्ग परम गुह्य साधन है। यह तथ्य कि भक्ति के शुभ पथ के द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार की सिद्धि प्राप्त होती है, यह संकेत देता है कि तथाकथित ब्रह्म-साक्षात्कार या ब्रह्मज्योति तेज ब्रह्मसिद्धि नहीं है। ब्रह्मज्योति से भी आगे श्रीभगवान् हैं। उपनिषदों में भक्त को भगवान् से प्रार्थना करता बताया गया है कि कृपया ब्रह्मज्योति को एक

ओर कर लें जिससे वह ब्रह्मज्योति के भीतर भगवान् के वास्तविक शाश्वत रूप का दर्शन कर सके। जब तक मनुष्य भगवान् के दिव्य रूप की अनुभूति प्राप्त नहीं कर लेता तब तक भक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। भक्तिमय सेवा के लिए अनिवार्य है कि भक्ति का कोई ग्रहण कर्ता हो तथा भक्त हो जो भक्ति करता है। भक्ति के द्वारा ब्रह्मसिद्धि ही भगवान् का साक्षात्कार है। भगवान् के शरीर की तेजस्वी किरणों का ज्ञान हो जाना ब्रह्मसिद्धि की पूर्णावस्था नहीं है। न ही परम पुरुष के परमात्मा-स्वरूप का दर्शन ही पूर्ण है, क्योंकि भगवान् अखिलात्मा हैं—वे परमात्मा हैं। जो भगवान् का साक्षात्कार करता है, वह अन्य रूपों—यथा परमात्मा रूप तथा ब्रह्म रूप का भी दर्शन करता है और सम्पूर्ण साक्षात्कार ही ब्रह्मसिद्धि है।

प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः ।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

प्रसङ्गम्—आसक्ति; अजरम्—प्रबल; पाशम्—बन्धन; आत्मनः—आत्मा का; कवयः—विद्वान पुरुष; विदुः—जानते हैं; सः एव—वही; साधुषु—भक्तों में; कृतः—प्रयुक्त; मोक्ष-द्वारम्—मुक्ति का दरवाजा; अपावृतम्—खुला हुआ।

प्रत्येक विद्वान व्यक्ति अच्छी तरह जानता है कि सांसारिक आसक्ति ही आत्मा का सबसे बड़ा बन्धन है। किन्तु वही आसक्ति यदि स्वरूपसिद्ध भक्तों के प्रति हो जाय तो मोक्ष का द्वार खुल जाता है।

तात्पर्य : यहाँ पर यह स्पष्ट कहा गया है कि किसी वस्तु के लिए आसक्ति होना बद्ध जीवन में बन्धन का कारण है, किन्तु यदि यही आसक्ति किसी अन्य के प्रति हो तो मोक्ष का द्वार खुल जाता है। आसक्ति की हत्या नहीं की जा सकती, इसे केवल स्थानान्तरित करना होता है। भौतिक वस्तुओं के लिए आसक्ति को भौतिक चेतना कहते हैं और कृष्ण या उनके भक्त के लिए आसक्ति को कृष्णचेतना (भावनामृत, भक्ति) कहते हैं। फलतः चेतना आसक्ति का अभिव्यक्ति-माध्यम है। यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि जब हम अपनी भौतिक चेतना को शुद्ध करके कृष्णचेतना कर लेते हैं, तो हमें मोक्ष प्राप्त होता है। इस कथन के बावजूद कि आसक्ति का परित्याग किया जाय, जीवात्मा के लिए सम्भव नहीं कि वह अनासक्त (इच्छाविहीन) हो

सके। जीव में स्वभावत: किसी न किसी वस्तु से आसक्त होने का झुकाव होता है। हम देखते हैं कि यदि किसी के कोई आसक्ति की वस्तु नहीं होती, यदि उसके सन्तान नहीं होती तो वह अपनी आसक्ति कुत्तों तथा बिल्लियों में स्थानान्तरित कर देता है। इससे सूचित होता है कि आसक्ति के झुकाव को रोका नहीं जा सकता; इसे श्रेष्ठ कार्य के लिए उपयोग में लाना चाहिए। भौतिक वस्तुओं के प्रति हमारी आसक्ति होने से हमारी बद्ध अवस्था चलती रहती है, किन्तु यदि इसी आसक्ति को भगवान् में या उनके भक्त में लगा दिया जाय तो वह मोक्ष का स्रोत बन जाती है।

यहाँ संस्तुति की गई है कि आसक्ति को स्वरूपसिद्ध भक्तों या साधुओं में स्थानान्तरित कर दिया जाय। पर साधु है कौन? साधु कोई सामान्य व्यक्ति नहीं होता जो गेरुआ वस्त्र पहने हो या लम्बी सी दाढ़ी रखे हो। *भगवद्गीता* में बताया गया है कि साधु वह है, जो बिना हिचकिचाहट के भक्ति में लगा रहता है। भले ही वह भक्ति के नियमों का दृढ़ता से पालन न करता हो, किन्तु यदि परम पुरुष कृष्ण में उसकी अडिग आस्था है, तो वह साधु समझा जाता है। *साधुरेव स मन्तव्य:*। साधु भक्ति का कट्टर अनुयायी होता है। यहाँ यह संस्तुति की गई है कि जो ब्रह्म-साक्षात्कार करना चाहता है या आध्यात्मिक सिद्धि का इच्छुक है, उसे चाहिए कि साधु या भक्त से आसक्ति करे। भगवान् चैतन्य ने भी इसकी पुष्टि की है। *लव मात्र साधुसंगे सर्व सिद्धि हय*—साधु की क्षणमात्र की संगति से सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

महात्मा शब्द साधु का पर्यायवाची है। कहा जाता है कि महात्मा की सेवा मुक्ति का राज मार्ग है—*द्वारमाहुर्विमुक्ते:। महत् सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्* (*भागवत* ५.५.२)। भौतिकतावादियों की सेवा करने से उल्टा प्रभाव होता है। यदि कोई किसी निरे भौतिकतावादी या इन्द्रियभोग में लिप्त व्यक्ति की सेवा करता है, तो ऐसे व्यक्ति की संगति से नर्क का द्वार खुल जाता है। यहाँ इसी सिद्धान्त की पुष्टि की गई है। भक्त के प्रति आसक्ति भगवद्सेवा के प्रति आसक्ति है, क्योंकि यदि कोई साधु की संगति करता है, तो वह शिक्षा देगा कि किस प्रकार भगवान् का भक्त, पूजक तथा निष्ठावान दास बना जाय। साधु के यही

वरदान हैं। यदि हम साधु की संगति करना चाहें तो हमें यह उम्मीद नहीं करनी चाहिए कि वह हमें बतायेगा कि हम अपनी भौतिक स्थिति किस प्रकार सुधारें, अपितु वह हमें यह शिक्षा देगा कि भौतिक आकर्षण रूपी कल्मष की गाँठ कैसे काटी जाय और भक्ति में हम कैसे ऊपर उठें। साधु की संगति का यही फल है। कपिल मुनि सर्वप्रथम बताते हैं कि मुक्ति मार्ग ऐसी ही संगति से प्रारम्भ होता है।

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् ।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तितिक्षवः—सहनशील; कारुणिकाः—दयालु; सुहृदः—सुहृद; सर्व-देहिनाम्—समस्त जीवों के; अजात-शत्रवः—किसी के प्रति शत्रुता न रखने वाले; शान्ताः—शान्त; साधवः—शास्त्रों के अनुसार चलने वाले; साधु-भूषणाः—अलौकिक गुणों से भूषित।

साधु के लक्षण हैं कि वह सहनशील, दयालु तथा समस्त जीवों के प्रति मैत्री-भाव रखता है। उसका कोई शत्रु नहीं होता, वह शान्त रहता है, वह शास्त्रों का पालन करता है और उसके सारे गुण अलौकिक होते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा गया है, साधु भगवान् का भक्त होता है, अत: उसका मुख्य कार्य लोगों में भगवान् की भक्ति जगाना है। यही उसकी दया है। वह जानता है कि भगवान् की भक्ति के बिना मनुष्य-जीवन चौपट हो जाता है। भक्त संसार भर में भ्रमण करके द्वार-द्वार जाकर उपदेश देता है, ''कृष्ण-भक्त बनो, अपनी पाशविक प्रवृत्तियों को ही पूरा करने में अपना जीवन नष्ट न करो। यह मानव जीवन आत्म-साक्षात्कार या कृष्ण भक्ति के लिए है।'' ये ही साधु के उपदेश हैं। वह अपने मोक्ष से सन्तुष्ट नहीं होता। वह सदैव दूसरों के विषय में सोचता रहता है। वह समस्त पतितात्माओं के प्रति अत्यन्त दयालु व्यक्ति होता है। अत: उसका एक गुण है—कारुणिकता—पतितात्माओं के प्रति दया। उपदेश कार्य करते हुए उसे अनेक विरोधी तत्त्वों का सामना करना पड़ता है, अत: साधु या भगवद्भक्तों को अत्यन्त सहनशील या सहिष्णु होना पड़ता है। कोई व्यक्ति उसके साथ दुर्व्यवहार कर सकता है, क्योंकि बद्धजीव भक्ति के दिव्य ज्ञान को प्राप्त करने के लिए राजी नहीं होते। वे इसे पसन्द नहीं करते, यही

उनका रोग है। साधु को भक्ति की महत्ता को समझाने का प्रशंसारहित कार्य करना होता है। कभी-कभी भक्तों के ऊपर हिंसक प्रहार कर दिया जाता है। जीसस क्राइस्ट को क्रूस पर चढ़ा दिया गया, हरिदास ठाकुर को बाईस जगह भरे बाजार में बेंत से पीटा गया और भगवान् चैतन्य के प्रमुख सहायक नित्यानन्द पर जगाई तथा माधाई द्वारा हिंसक प्रहार किया। तो भी वे सहिष्णु बने रहे, क्योंकि उनका उद्देश्य पतितों का उद्धार करना था। साधु में सबसे बड़ा गुण यह होता है कि वह सहिष्णु होता है और पतितों के प्रति दयालु होता है। वह दयालु होता है, क्योंकि वह समस्त जीवों का शुभचिन्तक है। वह न केवल मानव समाज का शुभचिन्तक होता है, अपितु पशु-समाज का भी होता है। यहाँ पर *सर्व-देहिनाम्* कहा गया है, जो उन समस्त जीवों का सूचक है, जो भौतिक शरीर धारण किए हुए हैं। न केवल मनुष्यों को भौतिक शरीर मिला हुआ है, अपितु अन्य जीवों को, यथा कुत्तों, बिल्लियों को भौतिक शरीर प्राप्त हैं। भगवद्भक्त प्रत्येक के प्रति—चाहे कुत्ता हो, बिल्ली हो, वृक्ष हो, कुछ भी हो—दयालु होता है। वे समस्त जीवों के साथ ऐसा व्यवहार करते हैं जिससे अन्ततः वे इस भवबन्धन से मोक्ष प्राप्त कर सकें। भगवान् चैतन्य के शिष्य शिवानन्द सेन ने दिव्य व्यवहार से एक कुत्ते को मोक्ष दिलाया। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनमें साधु की संगति से कुत्ते तक को मोक्ष प्राप्त हो सका, क्योंकि साधु समस्त जीवों के हित के लिए परोपकारी कार्यों में लगा रहता है। फिर भी यद्यपि साधु किसी से शत्रुता नहीं रखता, किन्तु यह संसार इतना कृतघ्न है कि साधु के भी अनेक शत्रु हो जाते हैं।

एक शत्रु तथा मित्र में क्या अन्तर है? यह अन्तर व्यवहार में होता है। समस्त बद्धजीवों को भवबन्धन से छुटकारा दिलाने के लिए ही साधु सबों के प्रति व्यवहार करता है, अतः बद्धजीवों को मोक्ष दिलाने में साधु से बढ़कर कोई मित्र नहीं हो सकता। साधु शान्त होता है और वह शान्तिपूर्वक शास्त्र के नियमों का पालन करता है। साधु का अर्थ है, वह जो शास्त्र के नियमों का पालन करे और साथ ही भगवद्भक्त भी हो। जो वास्तव में शास्त्र के नियमों का पालन करता है उसे भगवद्भक्त होना चाहिए, क्योंकि सारे शास्त्र हमें यही उपदेश देते हैं कि भगवान् के आदेशों का पालन किया जाय। अतः साधु का अर्थ है शास्त्रों के आदेशों का पालन

करने वाला तथा भगवान् का भक्त। भक्त में ये सारे गुण होते हैं। भक्त में देवताओं के सारे गुण विकसित होते हैं, किन्तु अभक्त चाहे विद्या की दृष्टि से कितना ही योग्य क्यों न हो उसमें वास्तविक सद्गुणों या उत्तम लक्षणों का अभाव रहता है।

मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम् ।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

मयि—मेरे प्रति; अनन्येन भावेन—अनन्य भाव से, अविचलित मन से; भक्तिम्—भक्ति; कुर्वन्ति—करते हैं; ये—जो; दृढाम्—कट्टर, दृढ़; मत्-कृते—मेरे लिए; त्यक्त—त्यागे हुए; कर्माणः—कर्म; त्यक्त—त्यागे हुए; स्व-जन—सम्बन्धी जन; बान्धवाः—परिचितों, बन्धुगणों को।

ऐसा साधु अविचलित भाव से भगवान् की कट्टर भक्ति करता है। भगवान् के लिए वह संसार के अन्य समस्त सम्बन्धों यथा पारिवारिक सम्बन्ध तथा मैत्री का परित्याग कर देता है।

तात्पर्य : संन्यासी को साधु भी कहा जाता है, क्योंकि वह अपना घर, अपनी सुख सुविधाएँ, अपने मित्र, अपने सम्बन्धी तथा मित्रों एवं परिवार के प्रति अपने कर्तव्य—सब कुछ का त्याग कर देता है। वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के लिए सब कुछ त्याग देता है। संन्यासी सामान्यतया वैरागी जीवन बिताता है किन्तु उसकी विरक्ति तभी सफल होगी जब वह अपनी सारी शक्ति अत्यन्त संयम के साथ भगवान् की सेवा में लगा दे। अत: यहाँ पर कहा गया है—*भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम्*—जो व्यक्ति गम्भीरतापूर्वक भगवान् की सेवा में लगा रहता है और संन्यास आश्रम में रहता है, वह साधु है। साधु वह है, जिसने एकमात्र भगवान् की सेवा के लिए समाज, परिवार तथा सांसारिक मानवतावाद को तिलांजलि दे दी हो। मनुष्य जैसे ही इस संसार में जन्म लेता है, उसे जनता के प्रति, देवों के प्रति, ऋषियों के प्रति, अपने माता-पिता के प्रति, पूर्वजों तथा अन्य लोगों के प्रति अनेक प्रकार की जिम्मेदारियाँ घेर लेती हैं। जब वह परमेश्वर के निमित्त इन समस्त जिम्मेदारियों को त्याग देता है, तो उसे ऐसे परित्याग के लिए दण्ड नहीं मिलता है, किन्तु यदि इन्द्रियतृप्ति के लिए कोई व्यक्ति ऐसे कर्तव्यों का परित्याग करता है, तो प्रकृति के नियमों द्वारा उसे दण्डित किया जाता है।

मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च ।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतसः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

मत्-आश्रयाः—मेरे विषय में; कथाः—कथाएँ; मृष्टाः—आनन्दप्रद; शृण्वन्ति—सुनते हैं; कथयन्ति—कीर्तन करते हैं; च—तथा; तपन्ति—कष्ट झेलते हैं; विविधाः—नाना प्रकार के; तापाः—भौतिक क्लेश; न—नहीं; एतान्—उनको; मत्-गत—मुझमें लगाये; चेतसः—अपने विचार।

निरन्तर मेरे अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान के कीर्तन तथा श्रवण में संलग्न रहकर साधुगण किसी प्रकार का भौतिक कष्ट नहीं पाते, क्योंकि वे सैदव मेरी लीलाओं तथा कार्यकलापों के विचारों में ही निमग्न रहते हैं।

तात्पर्य : इस संसार में नाना प्रकार के क्लेश हैं—शारीरिक तथा मानसिक, अन्य जीवों द्वारा पहुँचाये जाने वाले और प्राकृतिक उत्पातों से मिलने वाले। किन्तु साधु ऐसी कष्टप्रद परिस्थितियों से विचलित नहीं होता, क्योंकि उसका मन सदैव कृष्णभावनामृत से भरा रहता है, फलतः वह भगवान् के कार्यकलापों के अतिरिक्त अन्य किसी की चर्चा नहीं करना चाहता। महाराज अम्बरीष भगवान् की लीलाओं के वर्णन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं बोलते थे। वचांसि *वैकुण्ठगुणानुवर्णने* (*भागवत* ९.४.१८)। वे अपनी वाणी का सदुपयोग केवल श्रीभगवान् की महिमा-गायन में करते थे। साधुगण सदैव भगवान् या उनके भक्तों के कार्यकलापों के विषय में सुनने के लिए उत्सुक रहते हैं। चूँकि वे कृष्णभक्ति से पूरित रहते हैं, अतः उन्हें भौतिक क्लेशो की विस्मृति हो जाती है। सामान्य बद्धजीव भगवान् के कार्यकलापों को विस्मृत कर देने के कारण सदैव चिन्ताओं एवं भौतिक क्लेशों से पूर्ण रहते हैं। दूसरी ओर चूँकि भक्तगण सदैव भगवान् की कथाओं में लगे रहते हैं, अतः वे संसार के कष्टों को भूले रहते हैं।

त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः ।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते ॥ २४॥

शब्दार्थ

ते एते—वे ही; साधवः—भक्तगण; साध्वि—हे साध्वी; सर्व—समस्त; सङ्ग—लगाव से; विवर्जिताः—मुक्त; सङ्गः—लगाव; तेषु—उनके प्रति; अथ—अतः; ते—तुम्हारे द्वारा; प्रार्थ्यः—खोजे जाने चाहिए; सङ्ग-दोष—भौतिक आसक्ति के बुरे प्रभाव; हराः—हरने वाले; हि—निस्सन्देह; ते—वे।

हे माते, हे साध्वी, ये उन महान् भक्तों के गुण हैं, जो समस्त आसक्तियों से मुक्त हैं। तुम्हें ऐसे पवित्र पुरुषों की संगति करनी चाहिए, क्योंकि ऐसी संगति भौतिक आसक्ति के समस्त कुप्रभावों को हरने वाली है।

तात्पर्य : यहाँ पर कपिल मुनि अपनी माता देवहूति को उपदेश देते हैं कि यदि वह भौतिक आसक्ति से मुक्त होना चाहती है, तो उसे साधुओं अर्थात् समस्त भौतिक आसक्तियों से पूर्णतया युक्त भक्तों के प्रति आसक्ति बढ़ानी होगी। *भगवद्गीता* (१५.५) में बताया गया है कि भगवद्धाम जाने का अधिकारी कौन है। *निर्मानमोहा जितसङ्गदोषाः ।* यह उस व्यक्ति का संकेत करने वाला है, जो भौतिक सम्पत्ति के अभिमान से सर्वथा मुक्त है। भले ही कोई कितना धनवान, ऐश्वर्यवान या प्रतिष्ठावान क्यों न हो, किन्तु यदि वह आध्यात्मिक-सामराज्य, अर्थात् अपने घर भगवान् के धाम को वापस जाना चाहता है, तो उसे अपने भौतिक वैभव का गर्व छोड़ना होगा, क्योंकि यह एक मिथ्या स्थिति है।

यहाँ पर प्रयुक्त *मोह* शब्द इस झूठी धारणा का बोध कराता कोई है कि कोई धनी है या निर्धन है। इस संसार में यह अवधारणा कि कोई अत्यन्त धनवान है या निर्धन है अथवा भौतिक वस्तुओं के सम्बन्ध में कोई, झूठी है, क्योंकि स्वयं यह शरीर झूठा या नाशवान है। शुद्ध जीव जो इस भौतिक बन्धन से मुक्त होना चाहता है, उसे पहले प्रकृति के तीन गुणों के संसर्ग से मुक्त होना चाहिए। सम्प्रति हमारी चेतना प्रकृति के तीन गुणों की संगति के कारण कलुषित हो चुकी है, फलतः *भगवद्गीता* में इसी सिद्धान्त का कथन हुआ है। कहा गया है—*जितसङ्गदोषाः*—अर्थात् मनुष्य को प्रकृति के तीन गुणों की संगति के दोष से मुक्त होना चाहिए। *श्रीमद्भागवत* में भी यहाँ पर इसी की पुष्टि हुई है—शुद्ध भक्त जो अपने को भगवद्धाम पहुँचाना चाहता है, वह प्रकृति के तीन गुणों के संसर्ग से भी मुक्त हो जाता है। हमें ऐसे ही भक्तों की संगति ढूँढनी चाहिए। इसी कारण से हमने अन्तर्राष्ट्रिय कृष्णभावनामृत संघ का शुभारम्भ किया है। मानव समाज में विशिष्ट प्रकार की शिक्षा या चेतना (जागृति) उत्पन्न करने

के लिए अनेक व्यावसायिक, वैज्ञानिक तथा अन्य संघटन हैं, किन्तु ऐसा एक भी संघटन नहीं है, जो समस्त भौतिक संगति (संसर्ग) से मुक्त होने में सहायक हो। यदि कोई ऐसी अवस्था पर पहुँच चुका है जहाँ वह भौतिक कल्मष से मुक्त होना चाहता है उसे भक्तों की संगति ढूँढनी चाहिए जहाँ एकमात्र कृष्णभक्ति का अनुशीलन होता हो। इससे मनुष्य समस्त भौतिक संसर्ग से मुक्त हो सकता है।

चूँकि भक्त समस्त दोषयुक्त भौतिक संगति से मुक्त हो जाता है, अत: संसार के क्लेश उसे प्रभावित नहीं कर पाते। यद्यपि वह भौतिक जगत में रहता प्रतीत होता है, किन्तु संसार के क्लेश उसे छू नहीं पाते। ऐसा कैसे सम्भव है? बिल्ली के कार्यों के विषय में एक सुन्दर सा उदाहरण है। बिल्ली अपने बच्चों को अपने मुँह में दबाकर ले जाती है और जब वह चूहों को मारती है, तो उस सौगात को भी मुँह में ही ले जाती है। इस प्रकार दोनों ही बिल्ली के मुँह से ले जाये जाते हैं, किन्तु उनकी अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। बिल्ली के बच्चे बिल्ली के मुँह में सुख का अनुभव करते हैं, किन्तु जब वह चूहे को ले जाती है, तो चूहे को मृत्यु के भय का अनुभव होता है। इसी प्रकार जो साधु हैं अथवा जो भगवान् की दिव्य सेवा में कृष्णभक्ति में संलग्न रहते हैं उन्हें भौतिक क्लेशों के कल्मष का अनुभव नहीं होता, किन्तु जो कृष्णभक्त नहीं होते उन्हें वास्तव में सांसारिक क्लेशों का अनुभव होता है। अत: मनुष्य को चाहिए कि भौतिकतावादी पुरुषों का संग त्यागकर कृष्णभक्ति में लगे हुए व्यक्तियों की संगति खोजे। इससे उसकी आध्यात्मिक उन्नति हो सकेगी। उनके शब्दों तथा उपदेशों से उसके भवबन्धन कट जाएँगे।

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥ २५॥

शब्दार्थ

सताम्—शुद्ध भक्तों की; **प्रसङ्गात्**—संगति से; **मम**—मेरे; **वीर्य**—अलौकिक कार्यों; **संविदः**—चर्चा से; **भवन्ति**—हो जाते हैं; **हृत्**—हृदय को; **कर्ण**—कान को; **रस-अयनाः**—अच्छी लगने वाली; **कथाः**—कथाएँ; **तत्**—उसके;

जोषणात्—अनुशीलन से, सेवन से; आशु—तुरन्त; अपवर्ग—मोक्ष के; वर्त्मनि—मार्ग पर; श्रद्धा—दृढ़ विश्वास; रतिः—आकर्षण; भक्तिः—भक्ति; अनुक्रमिष्यति—क्रमशः आएँगी।

शुद्ध भक्तों की संगति में श्रीभगवान् की लीलाओं तथा उनके कार्यकलापों की चर्चा कान तथा हृदय को अत्यधिक रोचक एवं प्रसन्न करने वाली होती है। ऐसे ज्ञान के अनुशीलन मे मनुष्य धीरे-धीरे मोक्ष मार्ग में अग्रसर होता है, तत्पश्चात् मुक्त हो जाता है और उसका आकर्षण स्थिर हो जाता है। तब असली समर्पण तथा भक्तियोग का शुभारम्भ होता है।

तात्पर्य : यहाँ पर कृष्णभावनामृत तथा भक्ति में अग्रसर होने की विधि वर्णित है। पहली बात है कि वह ऐसे पुरुषों की संगति खोजे जो कृष्णभक्त हैं और भक्तिमय सेवा में लगे हुए हैं। ऐसी संगति के बिना प्रगति नहीं हो सकती। मात्र कोरे ज्ञान या अध्ययन से यथेष्ठ प्रगति सम्भव नहीं। मनुष्य को भौतिकतवादी पुरुषों की संगति त्याग कर भक्तों की संगति खोजनी चाहिए, क्योंकि भक्तों की संगति के बिना भगवान् के कार्यकलापों को नहीं समझा जा सकता। सामान्य रूप से लोग परम सत्य के निर्गुण पक्ष के प्रति आश्वस्त हो जाते हैं। भक्तों की संगति न करने के कारण वे यह नहीं समझ पाते कि परम सत्य भी एक पुरुष हो सकता है, जिसके अपने कार्यकलाप हैं। यह अत्यन्त कठिन विषय है और जब तक परम सत्य विषयक व्यक्तिगत जानकारी न हो तब तक भक्ति का कोई अर्थ नहीं निकलता। किसी निराकार की भक्ति या सेवा नहीं की जाती। सेवा तो व्यक्ति की होती है। अभक्तगण *श्रीमद्भागवत* या अन्य किसी वैदिक साहित्य में वर्णित भगवान् के कार्यकलापों को पढ़कर कृष्णभक्ति को नहीं समझ सकते; वे सोचते हैं कि ये कार्यकलाप काल्पनिक कथाएँ हैं, क्योंकि उन्हें आध्यात्मिक जीवन के विषय में सही ढंग से शिक्षा नहीं दी जाती। भगवान् के कार्य-कलापों को समझने के लिए भक्तों की संगति करनी आवश्यक है और जब ऐसी संगति के फलस्वरूप वह मनन करता है और भगवान् के कार्यकलापों को समझने का प्रयत्न करता है, तो मोक्ष का मार्ग खुल जाता है और वह मुक्त हो जाता है। जिस व्यक्ति की भगवान् में दृढ़ आस्था होती है, वह स्थिर हो जाता है और भगवान् तथा भक्तों की संगति के लिए उसका आकर्षण बढ़ जाता है। भक्तों की संगति

का अर्थ है भगवान् की संगति। जो भक्त यह संगति करता है उसमें भगवान् की सेवा करने की चेतना जगती है और फिर भक्तियोग के दिव्य पद में स्थित होकर वह धीरे-धीरे सिद्ध हो जाता है।

भक्त्या पुमाञ्जातविराग ऐन्द्रियाद्
दृष्टश्रुतान्मद्रचनानुचिन्तया ।
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो
यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

भक्त्या—भक्ति से; पुमान्—मनुष्य; जात-विरागः—अरुचि उत्पन्न होने पर; ऐन्द्रियात्—इन्द्रियतृप्ति के लिए; दृष्ट—(इस संसार में) देखा हुआ; श्रुतात्—(अगले संसार में) सुना हुआ; मत्-रचन—सृष्टि के मेरे कार्यकलाप इत्यादि; अनुचिन्तया—निरन्तर चिन्तन करने से; चित्तस्य—मन का; यत्तः—लगा हुआ; ग्रहणे—नियन्त्रण में; योग-युक्तः—भक्ति योग में स्थित; यतिष्यते—प्रयास करेगा; ऋजुभिः—सरल; योग-मार्गैः—योग की विधियों के द्वारा।

इस प्रकार भक्तों की संगति में सचेत होकर भक्ति करते हुए भगवान् के कार्यकलापों के विषय में निरन्तर सोचते रहने से मनुष्य को इस लोक में तथा परलोक में इन्द्रियतृप्ति के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है। कृष्णभावनामृत की यह विधि योग की सरलतम विधि है। जब मनुष्य भक्तियोग के मार्ग में सही-सही स्थित हो जाता है, तो यह अपने चित्त (मन) को नियन्त्रित करने में सक्षम होता है।

तात्पर्य : सभी शास्त्रों में लोगों को पवित्र ढंग से कर्म करने के लिए प्रोत्साहित किया गया है, जिससे वे इन्द्रियतृप्ति का सुख भोग न केवल इसी जीवन में अपितु अगले जीवन में भी कर सकें। उदाहरणार्थ, यदि कोई पुण्यकर्म करता है, तो उसे स्वर्ग का भागी बताया जाता है। किन्तु भक्तों की संगति में रहनेवाला एक भक्त भगवान् के कार्यकलापों के विषय में चिन्तन को—किस तरह उन्होंने सृष्टि उत्पन्न की, किस तरह इसका पालन कर रहे हैं और किस तरह इस सृष्टि का लय होता है और किस प्रकार वैकुण्ठ में भगवान् की लीलाएँ चलती रहती हैं—वरीयता (महत्त्व) देता है। भगवान् के इन कार्यकलापों का वर्णन करने वाला पूरा का पूरा साहित्य है—विशेष रूप से भगवद्गीता, ब्रह्म-संहिता तथा श्रीमद्भागवत। निष्ठावान भक्त जो भक्तों की संगति करता है, उसे भगवान् की लीलाओं को सुनने तथा उनके विषय में सोचने का

सुअवसर प्राप्त होता है, जिसका फल यह होता है कि उसे इस संसार में, स्वर्ग में या अन्य लोकों में तथाकथित सुख के प्रति अरुचि होने लगती है। भक्तगण की एकमात्र इच्छा रहती है कि उन्हें भगवान् की साक्षात् संगति प्राप्त हो; उन्हें क्षणिक तथाकथित सुख के लिए कोई आकर्षण नहीं रहता। जो योग युक्त है, उसकी यह दशा है। योग युक्त मनुष्य इस संसार या उस संसार के संमोह से विचलित नहीं होता, उसे आध्यात्मिक ज्ञान या आध्यात्मिक स्थिति से ही सरोकार रहता है। यह अलौकिक स्थिति सबसे सहज विधि द्वारा अर्थात् भक्तियोग द्वारा सरलता से प्राप्त की जा सकती है। *ऋजुभिर्योगमार्गैः*। यहाँ पर प्रयुक्त *ऋजुभिः* शब्द अत्यन्त उपयुक्त है, जिसका अर्थ है "अत्यन्त सरल।" योगमार्ग की विभिन्न विधियाँ हैं, किन्तु भगवद्भक्ति की विधि सरलतम है; यह न केवल सरलतम विधि है, अपितु इसका परिणाम भी अलौकिक है। अत: हर एक को कृष्णभक्ति की इस विधि को ग्रहण करना चाहिए और जीवन की सर्वोच्च पूर्णता तक पहुँचना चाहिए।

असेवयायं प्रकृतेर्गुणानां
ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन ।
योगेन मय्यर्पितया च भक्त्या
मां प्रत्यगात्मानमिहावरुन्धे ॥ २७॥

शब्दार्थ

असेवया—सेवा न करते हुए; अयम्—यह पुरुष; प्रकृतेः गुणानाम्—प्रकृति के गुणों का; ज्ञानेन—ज्ञान से; वैराग्य—वैराग्य से; विजृम्भितेन—विकसित; योगेन—योग के अभ्यास से; मयि—मुझको; अर्पितया—अर्पित, दृढ़ रहकर; च—तथा; भक्त्या—भक्ति से; माम्—मुझको; प्रत्यक्-आत्मानम्—परम सत्य; इह—इसी जीवन में; अवरुन्धे—प्राप्त कर लेता है।

इस तरह प्रकृति के गुणों की सेवा में न लगकर, अपितु कृष्णभक्ति विकसित करके, वैराग्य युक्त ज्ञान प्राप्त करके तथा योग के अभ्यास से, जिसमें मनुष्य का मन सदैव पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान की भक्तिमय सेवा में स्थिर रहता है, मनुष्य इसी जीवन में मेरा साहचर्य (संगति) प्राप्त कर लेता है, क्योंकि मैं परम पुरुष अर्थात् परम सत्य हूँ।

तात्पर्य : जब मनुष्य भक्तियोग की नौ भिन्न-भिन्न विधियों में यथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, प्रार्थना तथा आत्मनिवेदन इत्यादि में लगा रहता है, तो स्वाभाविक रूप से उसे प्रकृति के

तीनों गुणों की सेवा में लगने का अवसर ही नहीं मिल पाता। मनुष्य इनमें से किसी एक में, दो में, तीन में या सबों में लग सकता है। जब तक मनुष्य आध्यात्मिक सेवा में ठीक से लगा नहीं रहेगा, तब तक भौतिक सेवा के बन्धन से निकल पाना सम्भव नहीं है। अत: जो भक्त नहीं हैं वे तथाकथित मानवोपयोगी या परोपकार सम्बन्धी कार्यों में—यथा अस्पताल या दातव्य संस्थान खोलने में रुचि लेते हैं। निस्सन्देह ये अच्छे कार्य हैं, क्योंकि ये पुण्यकर्म हैं और इनका फल इतना ही होता है कि कर्ता को इस जीवन में या अगले जीवन में इन्द्रियतृप्ति का कुछ अवसर मिल सकता है। किन्तु भक्ति तो इन्द्रियतृप्ति के घेरे से बाहर रहती है। यह नितान्त आध्यात्मिक कर्म है। जब कोई भक्तियोग के आध्यात्मिक कर्म में लगा रहता है, तो स्वाभाविक है कि उसे इन्द्रियतृप्ति करने वाले कार्यों में लगने का अवसर ही नहीं मिलता। कृष्णभावना सम्बन्धी कार्यकलाप अन्धाधुन्ध नहीं किये जाते वरन् ज्ञान तथा वैराग्य की पूरी-पूरी जानकारी से किये जाते हैं। जिस योगाभ्यास में मन भगवान् की भक्ति में निरन्तर स्थिर रहता है उससे इसी जीवन में मुक्ति मिल जाती है। जो व्यक्ति ऐसे कर्म करता है, वह भगवान् का सामीथ पाता है। अत: भगवान् चैतन्य ने भगवान् की लीलाओं के विषय में सिद्ध भक्तों से ही श्रवण विधि की अनुमति दी फिर श्रोता चाहे जिसी भी श्रेणी का हो। यदि वह विनीत होकर सिद्ध पुरुष से भगवान् के कार्यकलापों के विषय में श्रवण करता है, तो वह उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को भी जीतने में समर्थ होगा, जो अन्य किसी विधि से नहीं जीते जा सकते। आत्म-साक्षात्कार के लिए श्रवण या भक्तों की संगति सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है।

देवहूतिरुवाच

काचित्त्वय्युचिता भक्ति: कीदृशी मम गोचरा ।
यया पदं ते निर्वाणमञ्जसान्वाश्नवा अहम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

देवहूति: उवाच—देवहूति ने कहा; काचित्—क्या; त्वयि—तुमको; उचिता—उचित; भक्ति:—भक्ति; कीदृशी—किस प्रकार की; मम—मेरे द्वारा; गो-चरा—अभ्यास की जाने के लिए उपयुक्त; यया—जिससे; पदम्—पाँव; ते—तुम्हारे; निर्वाणम्—मुक्ति; अञ्जसा—तुरन्त; अन्वाश्नवै—प्राप्त करूँगी; अहम्—मैं।

भगवान् का यह वचन सुनकर देवहूति ने पूछा : मैं किस प्रकार के भक्तियोग का

विकास और अभ्यास करूँ जिससे मुझे आपके चरणकमलों की सेवा तत्काल एवं सरलता से प्राप्त हो सके ?

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि किसी को भी भगवान् की सेवा करने से रोका नहीं जा सकता। भले ही वह स्त्री हो या श्रमिक या वणिक, यदि वह भगवान् की भक्ति में अपने आपको लगाये रखता है, तो उसे परम गति की प्राप्ति होती है और वह भगवान् के धाम को वापस जाता है। विभिन्न प्रकार के भक्तों के लिए सर्वोपयुक्त भक्ति का निश्चय गुरु की कृपा से निष्पन्न होता है।

यो योगो भगवद्बाणो निर्वाणात्मंस्त्वयोदितः ।
कीदृशः कति चाङ्गानि यतस्तत्त्वावबोधनम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; योगः—योग विधि; भगवत्-बाणः—भगवान् को लक्ष्य की गई; निर्वाण-आत्मन्—हे निर्वाणस्वरूप; त्वया—तुम्हारे द्वारा; उदितः—कही गई; कीदृशः—किस तरह की; कति—कितनी; च—तथा; अङ्गानि—शाखाएँ; यतः—जिससे; तत्त्व—सत्य का; अवबोधनम्—ज्ञान।

आपने जैसा बताया है कि योग पद्धति का उद्देश्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को प्राप्त करने और सांसारिक अस्तित्व (माया) के पूर्णतया विनाश के लिए है, तो कृपया मुझे उस योग पद्धति की प्रकृति बतलाएँ। उस अलौकिक योग को यथार्थ रूप में कितनी विधियों से समझा जा सकता है ?

तात्पर्य : योग पद्धति के कई प्रकार हैं जिनका लक्ष्य परम सत्य की विभिन्न अवस्थाओं को जानना है। ज्ञानयोग का लक्ष्य निर्गुण ब्रह्मतेज है और हठयोग का लक्ष्य घट-घट वासी परमात्मा है, जबकि श्रवण, कीर्तन आदि नौ भिन्न विधियों से सम्पन्न होने वाले भक्तियोग का लक्ष्य परमेश्वर का पूर्ण साक्षात्कार है। आत्म-साक्षात्कार की भी विभिन्न विधियाँ हैं। किन्तु देवहूति भक्तियोग का विशेष उल्लेख करती है, जिसे भगवान् पहले ही समझा चुके थे। भक्तियोग पद्धति के विभिन्न अंग हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, वन्दन, अर्चन, सेवन, आज्ञा पालन (दास्य), उनसे मित्रता करना (सख्य) तथा अन्ततः भगवान् की सेवा में सब कुछ अर्पित करना (आत्म निवेदन)। इस श्लोक में *निर्वाणात्मन्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भक्ति विधि

को स्वीकार किये बिना इस संसार के आवागमन से छूटा नहीं जा सकता। जहाँ तक ज्ञानियों का सम्बन्ध है वे ज्ञानयोग में रुचि रखते हैं, किन्तु यदि कोई संयम का पालन करता हुआ ब्रह्मतेज तक ऊपर उठ जाय तो भी इस संसार में पुन: गिर जाने की सम्भावना बनी रहती है। अत: वास्तव में ज्ञानयोग से सांसारिक अस्तित्व का अन्त नहीं होता। इसी प्रकार हठयोग में, जिसका लक्ष्य अन्तर्यामी परमात्मा को प्राप्त करना होता है, यह अनुभव किया गया है कि विश्वामित्र जैसे अनेक योगी भी नीचे आ गिरते हैं। किन्तु भक्ति योगी, एक बार भगवान् के पास पहुँच कर फिर कभी इस संसार में वापस नहीं आते जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है। *यद् गत्वा न निवर्तन्ते*—मनुष्य जाकर फिर कभी नहीं लौटता। *त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति*—इस शरीर का परित्याग करने पर उसे शरीर ग्रहण करने नहीं आना पड़ता। *निर्वाण* से आत्मा का अस्तित्व समाप्त नहीं होता। आत्मा चिर विद्यमान है। अत: *निर्वाण* का अर्थ है अपने संसार की समाप्ति करना जिसका अर्थ है भगवान् के धाम वापस जाना।

कभी-कभी लोग पूछते हैं कि जीवात्मा स्वर्ग से इस लोक में किस तरह गिर जाता है? इसका उत्तर यहाँ मिलता है। जब तक मनुष्य भगवान् के प्रत्यक्ष सम्पर्क में वैकुण्ठलोक में नहीं पहुँच जाता तब तक उसके नीचे गिरने का भय बना रहता है चाहे वह निर्गुण ब्रह्म साक्षात्कार से हो या ध्यान की समाधि-अवस्था से हो। इस श्लोक का एक अन्य शब्द *भगवद्-बाण:* शब्द भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *बाण:* का अर्थ है "तीर"। भक्तियोग तीर के समान है, जिसका लक्ष्य श्रीभगवान् होता है। भक्तियोग पद्धति कभी किसी को निर्गुण ब्रह्मतेज की ओर या परमात्मा-साक्षात्कार की ओर जाने को नहीं कहती। यह बाण (तीर) इतना तीक्ष्ण तथा वेगवान होता है कि यह निर्गुण ब्रह्म तथा अन्तर्यामी परमात्मा के क्षेत्रों को बेधता हुआ सीधे भगवान् तक पहुँचता है।

तदेतन्मे विजानीहि यथाहं मन्दधीर्हरे ।
सुखं बुद्ध्येय दुर्बोधं योषा भवदनुग्रहात् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तत् एतत्—वही; मे—मुझको; विजानीहि—कृपया समझावें; यथा—जिससे; अहम्—मैं; मन्द—कुन्द; धीः—बुद्धिवाली; हरे—हे भगवान्; सुखम्—सरलतापूर्वक; बुद्ध्येय—समझ सकूँ; दुर्बोधम्—न समझ में आने वाली; योषा—स्त्री; भवत्-अनुग्रहात्—आपके अनुग्रह से।

मेरे पुत्र कपिल, आखिर मैं एक स्त्री हूँ। परम सत्य को समझ पाना मेरे लिए अत्यन्त कठिन है, क्योंकि मेरी बुद्धि इतनी कुशाग्र नहीं है। यद्यपि मैं इतनी बुद्धिमान नही हूँ। किन्तु तो भी, यदि आप मुझे कृपा करके समझाएँगे तो मैं उसे समझ कर दिव्य सुख का अनुभव कर सकूँगी।

तात्पर्य : तत्त्वज्ञान सामान्य अल्पबुद्धि वाले मनुष्यों की समझ में जल्दी नहीं चढ़ता, किन्तु यदि गुरु अपने शिष्य पर कृपालु हो तो फिर शिष्य चाहे कितना ही मूर्ख क्यों न हो, गुरु की दैवी कृपा से सब कुछ प्रकट हो जाता है। अत: विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*यस्य प्रसादाद्* अर्थात् गुरु की कृपा से *भगवत्प्रसाद:* अर्थात् भगवान् की कृपा प्रकट होती है। देवहूति ने अपने महान् पुत्र से उसके प्रति कृपालु होने के लिए प्रार्थना की, क्योंकि वह अल्पबुद्धि स्त्री थी और साथ ही उसकी माता थी। कपिलदेव की कृपा से परम सत्य को समझना उसके लिए सर्वथा सम्भव हो पाया, यद्यपि वह विषय सामान्य व्यक्तियों के लिए, विशेष रूप से स्त्रियों के लिए, अत्यन्त जटिल है।

मैत्रेय उवाच

विदित्वार्थं कपिलो मातुरित्थं
जातस्नेहो यत्र तन्वाभिजातः ।
तत्त्वाम्नायं यत्प्रवदन्ति साङ्ख्यं
प्रोवाच वै भक्तिवितानयोगम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; विदित्वा—जानकर; अर्थम्—अभिप्राय; कपिलः—कपिल; मातुः—अपनी माता का; इत्थम्—इस प्रकार; जात-स्नेहः—दया आ गई; यत्र—उस पर; तन्वा—अपने शरीर से; अभिजातः—उत्पन्न; तत्त्व-आम्नायम्—शिष्य-परम्परा से प्राप्त सत्य; यत्—जो; प्रवदन्ति—पुकारते हैं; साङ्ख्यम्—सांख्य दर्शन; प्रोवाच—वर्णन किया; वै—वास्तव में; भक्ति—भक्ति; वितान—विस्तार; योगम्—योग।

श्रीमैत्रेय ने कहा : अपनी माता का कथन सुनकर कपिल उसका प्रयोजन समझ गये और उसके प्रति दयार्द्र हो उठे, क्योंकि उन्होंने उसके शरीर से जन्म लिया था। उन्होंने सांख्य दर्शन का वर्णन किया जो शिष्य-परम्परा से प्राप्त भक्ति तथा योगिक साक्षात्कार

का एक मिलाजुला रूप है।

श्रीभगवानुवाच

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् ।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ॥ ३२॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; देवानाम्—इन्द्रियों के प्रमुख देवों या इन्द्रियों का; गुण-लिङ्गानाम्—जो विषयों को पहचानते हैं; आनुश्रविक—शास्त्रों के अनुसार; कर्मणाम्—कौन सा कर्म; सत्त्वे—मन को या भगवान् को; एव—केवल; एक-मनसः—अविभाजित मन वाले व्यक्ति का; वृत्तिः—झुकाव; स्वाभाविकी—प्राकृतिक; तु—वास्तव में; या—जो; अनिमित्ता—निमित्तरहित; भागवती—भगवान् के प्रति; भक्तिः—भक्ति; सिद्धेः—मोक्ष की अपेक्षा; गरीयसी—श्रेयस्कर।

भगवान् कपिल ने कहा : ये इन्द्रियाँ दैवों की प्रतीकात्मक प्रतिनिधि हैं और इनका स्वाभाविक झुकाव वैदिक आदेशों के अनुसार कर्म करने में है। जिस प्रकार इन्द्रियाँ देवताओं देवताओं की प्रतीक हैं, उसी प्रकार मन भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का प्रतिनिधि है। मन का प्राकृतिक कार्य सेवा करना है। जब यह सेवा-भाव किसी हेतु के बिना श्रीभगवान् की सेवा में लगा रहता है, तो यह सिद्धि से कहीं बढ़कर है।

तात्पर्य : जीवात्मा की इन्द्रियाँ सदैव किसी न किसी वृत्ति में लगी रहती हैं, चाहे वे वेदविहित कार्य हों या भौतिक कार्य हों। इन्द्रियों की सहज प्रवृत्ति है कि वे किसी न किसी कार्य में लगी रहती हैं और मन इन इन्द्रियों का केन्द्र विन्दु है। मन वास्तव में इन्द्रियों का नायक है, इसीलिए यह *सत्त्व* कहलाता है। इसी प्रकार सारे देवता चाहे वे सूर्यदेव हों, चन्द्रदेव, इन्द्र या अन्य देवता हों—जो इस संसार के कर्मों में लगे हुए हैं, उन सबके नायक श्रीभगवान् हैं।

वैदिक साहित्य में बताया गया है कि देवता पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विराट शरीर के विभिन्न अंग हैं। हमारी इन्द्रियाँ विभिन्न देवताओं का प्रतिनिधित्व करती हैं और मन भगवान् का प्रतिनिधित्व करता है। मन द्वारा पथप्रदर्शित सारी इन्द्रियाँ देवताओं के वशीभूत होकर कार्य करती हैं। जब यह सेवा श्रीभगवान् के प्रति लक्षित होती है, तो इन्द्रियाँ अपनी सहज स्थिति में होती हैं। भगवान् को हृषीकेश कहा जाता है, क्योंकि वे ही इन्द्रियों के वास्तविक स्वामी हैं।

इन्द्रियों तथा मन की सहज प्रवृति कार्य करने की है, किन्तु जब वे भौतिक रूप से कलुषित हो जाती हैं, तो वे किसी भौतिक लाभ या देवताओं की सेवा के लिए कार्य करती हैं, जबकि वे श्रीभगवान् की सेवा के निमित्त होते हैं। इन्द्रियाँ *हृषीक* कहलाती हैं और भगवान् *हृषीकेश*। इस तरह समस्त इन्द्रियों की अप्रत्यक्ष प्रवृत्ति परमेश्वर की सेवा करने की ओर रहती है। यही भक्ति है।

कपिलदेव ने कहा कि जब सारी इन्द्रियाँ किसी भौतिक लाभ या अन्य स्वार्थ की इच्छा के बिना भगवान् की सेवा में लगी रहती हैं, तो मनुष्य भक्तियोग के पद पर स्थित होता है। सेवा की यह भावना सिद्धि से बढ़कर है। भगवान् की सेवा करने की प्रवृत्ति, अर्थात् मुक्ति की अपेक्षा भक्ति अधिक उत्तम दिव्य स्थिति है। इस तरह भक्ति मुक्ति के बाद की अवस्था है। बिना मुक्त हुए कोई मनुष्य अपनी इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में प्रवृत्त नहीं कर सकता। जब इन्द्रियाँ इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में अथवा वेदविहित कार्यों में लगी रहती हैं, तो इसका एक न एक कारण रहता है, किन्तु जब वही इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा में लगी होती हैं, तो कोई हेतु नहीं रहता (अहैतुकी)। इसे *अनिमित्ता* कहते हैं और यह मन की सहज प्रवृत्ति है। निष्कर्ष यह निकला कि जब मन वैदिक आदेशों या भौतिक कार्यकलापों से विचलित हुए बिना कृष्णभावनामृत अथवा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की भक्तिमय सेवा में पूर्णतया संलग्न हो जाता है, तो यह स्थिति भवबन्धन से मुक्ति की सर्वोत्कृष्ट कामना से भी बढ़कर है।

जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

जरयति—पचा देती है; आशु—तुरन्त; या—जो; कोशम्—सूक्ष्म शरीर को; निगीर्णम्—खाई वस्तुओं को; अनलः—अग्नि; यथा—जिस प्रकार।

भक्ति जीवात्मा के सूक्ष्म शरीर को बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के उसी प्रकार विलय कर देती है, जिस प्रकार जठराग्नि खाये हुए भोजन को पचा देती है।

तात्पर्य : मुक्ति की अपेक्षा भक्ति उच्चतर स्थिति में होती है, क्योंकि भक्ति द्वारा भवबन्धन से मुक्ति पाने के मानवी प्रयास की स्वत: पूर्ति हो जाती है। यहाँ जठराग्नि का उदाहरण दिया

गया है, जो हमारे खाये गये सारे भोजन को पचा देती है। यदि पाचनशक्ति पर्याप्त हो तो हम चाहे जो भी खाएँ, उसे जठराग्नि पचा देती है। इसी तरह भक्त को मुक्ति प्राप्त करने के लिए अलग से प्रयास नहीं करना पड़ता। श्रीभगवान् की यही सेवा उसकी मुक्ति की विधि भी है, क्योंकि अपने को भगवान् की सेवा में लगाना अपने आपको भवबन्धन से मुक्त करना है। श्री बिल्वमंगल ठाकुर ने इस स्थिति की अच्छे ढंग से व्याख्या की है। वे कहते हैं, ''यदि परमेश्वर के चरणकमलों के प्रति हमारी अटूट भक्ति है, तो मुक्ति मेरी दासी है। यह मुक्ति रूपी दासी वह सब करने के लिए सदा सन्नद्ध रहती है, जो जो मैं कहता हूँ।''

भक्त के लिए मुक्ति कोई समस्या ही नहीं है। उसे किसी पृथक् प्रयास के बिना ही मुक्ति मिल जाती है। अत: भक्ति मुक्ति अर्थात् निर्विशेषवादी स्थिति से श्रेयस्कर है। निर्विशेषवादी मुक्ति प्राप्त करने के लिए कठिन तपस्या करते हैं, किन्तु भक्त मात्र भक्तियोग में, विशेष रूप से हरे कृष्ण ....हरे राम हरे हरे, महामन्त्र के कीर्तन में लगकर तथा श्रीभगवान् को अर्पित भोग के बचे हुए भाग से भोजन ग्रहण करके अपनी जीभ पर तुरंत नियंत्रण पाकर इसे प्राप्त कर लेता है। जीभ पर नियन्त्रण होते ही अन्य सारी इन्द्रियों पर स्वत: ही नियन्त्रण प्राप्त हो जाता है। इन्द्रियों का नियन्त्रण (निग्रह) ही योग की पूर्णता है और ज्योंही मनुष्य अपने आपको भगवान् की सेवा में लगा देता है उसकी मुक्ति तुरन्त हो जाती है। कपिल देव इसकी पुष्टि कर रहे हैं कि भक्ति सिद्धि (मुक्ति) से श्रेयष्कर है।

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्
मत्पादसेवाभिरता मदीहाः ।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥ ३४॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; एक-आत्मताम्—एकाकार होना; मे—मेरा; स्पृहयन्ति—इच्छा करते हैं; केचित्—कोई भी; मत्-पाद-सेवा—मेरे चरणकमलों की सेवा में; अभिरताः—लगे हुए; मत्-ईहाः—मुझे प्राप्त करने का प्रयास करते हुए; ये—जो; अन्योन्यतः—परस्पर; भागवताः—शुद्ध भक्त; प्रसज्य—जुट कर; सभाजयन्ते—गुणगान करते हैं; मम—मेरे; पौरुषाणि—पराक्रमों का।

जो भक्ति-कार्यों में संलग्न है और जो मेरे चरणकमलों की सेवा में निरन्तर लगा

रहता है, ऐसा शुद्ध भक्त कभी भी मुझसे तदाकार (एकात्म) होना नहीं चाहता। ऐसा भक्त जो अविचिलित होकर लगा रहता है सदैव मेरी लीलाओं तथा कार्य-कलापों का गुणगान करता है।

तात्पर्य : शास्त्रों में पाँच प्रकार की मुक्ति बताई गई है। इनमें से एक है भगवान् से तादात्म्य अथवा अपने व्यक्तित्व को त्याग कर परम आत्मा में विलीन होना। यह *एकात्मताम्* कहलाती है। भक्त कभी भी ऐसी मुक्ति स्वीकार नहीं करता। मुक्ति के अन्य चार प्रकार हैं— वैकुण्ठ को जाना, भगवान् की संगति करना, भगवान् का सा ऐश्वर्य प्राप्त करना तथा भगवान् जैसा स्वरूप प्राप्त करना। जैसाकि कपिल मुनि बतलाएँगे, भक्त इन पाँचों में से किसी भी मुक्ति की इच्छा नहीं करता। वह भगवान् से तदाकार होने के विचार को नारकीय मानकर घृणा करता है। भगवान् चैतन्य के परम भक्त श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती ने कहा है—*कैवल्यं नरकायते* अर्थात् परमेश्वर के साथ एकाकार होने का सुख, जिसकी कामना मायावादी करते हैं, नारकीय मानी जाती है। यह एकात्मता शुद्ध भक्तों के लिए नहीं है।

ऐसे अनेक तथाकथित भक्त हैं, जो सोचते हैं कि बद्ध अवस्था में हम भगवान् की पूजा करते हैं, किन्तु अन्ततः वह कोई पुरुष तो है नहीं। उनका कहना है कि चूँकि परमेश्वर निराकार है, अतः काम चलाने के लिए हम निराकार परमेश्वर को साकार रूप प्रदान कर सकते हैं, किन्तु मुक्त होते ही पूजा बन्द हो जाती है। यह सिद्धान्त मायावादी दर्शन द्वारा रखा जाता है। वस्तुतः निर्विशेषवादी परम पुरुष में नहीं, अपितु उनकी शारीरिक ज्योति, ब्रह्मज्योति, में समाहित होते हैं। यद्यपि यह ब्रह्मज्योति उनके शरीर से भिन्न नहीं है, किन्तु शुद्ध भक्त इस प्रकार के एकाकार (एकात्मता) को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि भक्तगण भगवान् में तदाकार होने के तथाकथित आनन्द से अधिक बड़े आनन्द में लीन होना चाहते हैं। सबसे बड़ा आनन्द भगवान् की सेवा करना है। भक्त निरन्तर यही सोचते रहते हैं कि भगवान् की किस प्रकार सेवा की जाय, वे संसार की बड़ी से बड़ी बाधाओं के होते हुए भी ऐसे साधन जुटाते रहते हैं जिससे भगवान् की सेवा की जा सके।

भगवान् की लीलाओं के वर्णन को मायावादी लोग कहानियाँ मानते हैं, किन्तु वास्तव में ये कहानियाँ नहीं हैं, ये ऐतिहासिक तथ्य हैं। शुद्ध भक्त भगवान् की लीलाओं के वर्णनों को कहानियाँ न मानकर परम सत्य के रूप में ग्रहण करते हैं। *मम पौरुषाणि* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। भक्तगण भगवान् के इन कार्यकलापों का गुणगान करने में अत्यधिक अनुराग रखते हैं, किन्तु मायावादी इन कार्यकलापों के विषय में सोच भी नहीं पाते। इनके अनुसार परम सत्य निराकार है। बिना साकार हुए, कर्म कैसा? निर्विशेषवादी *श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक ग्रन्थों में वर्णित कार्यकलापों को कपोलकल्पित कहानियों के रूप में लेते हैं, फलत: वे बेहूदे ढंग से इनकी व्याख्या करते हैं। उन्हें भगवान् की अवधात्मा का कोइ भान नहीं होता और भोली-भाली जनता को गुमराह करने के उद्देश्य से वे भ्रमपूर्ण व्याख्या करते हैं। मायावाद-दर्शन के कार्यकलाप जनता के लिए अत्यन्त घातक हैं, इसीलिए भगवान् चैतन्य ने हमें आगाह किया कि किसी मायावादी से भूलकर कोई शास्त्र न सुने; वे समग्र प्रक्रिया को भ्रष्ट कर देंगे और जो व्यक्ति उन्हें सुनेगा वह परम सिद्धि प्राप्त करने के लिए भक्ति मार्ग पर कभी भी नहीं चल सकेगा या फिर दीर्घकाल के बाद ही भक्तिमार्ग पा सकेगा।

कपिल मुनि ने स्पष्ट कहा है कि भक्ति के कार्यकलाप मुक्ति से बढ़कर हैं। इसे पञ्चम पुरुषार्थ कहा जाता है। सामान्यतया लोग धर्म, आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में प्रवृत्त होते हैं और वे इस विचार से कर्म करते हैं कि वे परमेश्वर से एकाकार होने जा रहे हैं (मुक्ति)। किन्तु भक्ति तो इन समस्त कार्यकलापों से बढ़ कर है। फलत: *श्रीमद्भागवत* का प्रारम्भ ही इसी कथन से होता है कि *भागवत* में सभी प्रकार की छद्म धार्मिकता का उन्मूलन किया गया है। *भागवत* में उन समस्त अनुष्ठानों का बहिष्कार हुआ है, जो आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति के लिए या कि इन्द्रियतृप्ति से हताश होकर परमेश्वर से तादात्म्य से सम्बन्धित हैं। *भागवत* विशेषत: उन भक्तों के लिए है, जो निरन्तर कृष्णभक्ति में या भगवान् के कार्यकलापों में लगे रहते हैं और नित्य ही इन दिव्य कार्यकलापों का गुणागन करते रहते हैं। शुद्ध भक्त वृन्दावन, द्वारका तथा मथुरावासी भगवान् के दिव्य कार्यकलापों की पूजा करते हैं, क्योंकि

श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणों में इनका उल्लेख है। मायावादी दार्शनिक इन्हें कहानियाँ कहकर इनका निषेध कर देते हैं, किन्तु वस्तुतः ये महान् तथा पूज्य विषय हैं और भक्तों द्वारा ही आस्वाद्य हैं। एक मायावादी तथा एक भक्त में यही अन्तर है।

पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि
साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

पश्यन्ति—देखते हैं; ते—वे; मे—मेरा; रुचिराणि—सुन्दर; अम्ब—हे माता; सन्तः—भक्तजन; प्रसन्न—हँसता हुआ; वक्त्र—मुखमंडल; अरुण—प्रभातकालीन सूर्य के समान; लोचनानि—नेत्र; रूपाणि—रूप; दिव्यानि—दिव्य; वर-प्रदानि—वरदायक; साकम्—मेरे साथ; वाचम्—शब्द; स्पृहणीयाम्—अनुकूल; वदन्ति—कहते हैं।

हे माता, मेरे भक्त नित्य ही उदीयमान प्रभात के सूर्य सदृश नेत्रों से युक्त मेरे प्रसन्न मुखमण्डल वाले रूप का अवलोकन करते हैं। वे मेरे विभिन्न दिव्य मित्रवत रूपों को देखना चाहते हैं और साथ ही मुझसे अनुकूल सम्भाषण करना चाहते हैं।

तात्पर्य : मायावादी तथा नास्तिक लोग भगवान् के मन्दिर में रखे उनके श्रीविग्रहों के रूपों को मूर्ति के रूप में मानते हैं, किन्तु भक्तगण मूर्तियों की पूजा नहीं करते। वे तो भगवान् के *अर्चा* अवतार के रूप में उनकी प्रत्यक्ष पूजा करते हैं। *अर्चा* से उस रूप का बोध होता है, जिसे हम वर्तमान परिस्थिति में पूज सकते हैं। वस्तुतः वर्तमान अवस्था में ईश्वर को उनके आध्यात्मिक रूप में देख पाना सम्भव नहीं है, क्योंकि हमारे नेत्र तथा इन्द्रियाँ आध्यात्मिक रूप की कल्पना नहीं कर सकतीं। यहाँ तक कि हम आत्मा के आध्यात्मिक रूप को भी नहीं देख सकते। जब मनुष्य मरता है, तो हम यह नहीं देख पाते कि आध्यात्मिक रूप किस तरह शरीर को त्यागता है। यह हमारी इन्द्रियों का दोष है। हम अपनी इन्द्रियों से देख पाएँ, इस हेतु भगवान् उपयुक्त रूप ग्रहण करते हैं जिसे *अर्चा-विग्रह* कहते हैं। कभी-कभी अर्चा-विग्रह अर्चा-अवतार कहलाता है, जो भगवान् से भिन्न नहीं है। जिस प्रकार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अनेक अवतार ग्रहण करते हैं उसी तरह वह मिट्टी, लकड़ी, धातु, रत्न जैसे पदार्थ के रूपों को ग्रहण करते है।

भगवान् के स्वरूप अंकन के लिए शास्त्रों में अनेक आदेश मिलते हैं। ये स्वरूप भौतिक नहीं हैं। यदि ईश्वर सर्वव्यापी है, तो वह भौतिक तत्त्वों में भी विद्यमान है। इस विषय में कोई आशंका नहीं है। किन्तु नास्तिक उसके उल्टा ही सोचते हैं। यद्यपि वे उपदेश देते हैं कि हर वस्तु ईश्वर है, किन्तु जब वे मन्दिर में जाते हैं और भगवान् के रूप को देखते हैं, तो वे उसे ईश्वर मानने से मुकर जाते हैं। उनके ही सिद्धान्त के अनुसार हर वस्तु ईश्वर है, तो फिर यह *अर्चा-विग्रह* ईश्वर क्यों नहीं? वास्तव में उन्हें ईश्वर का कोई बोध नहीं है। किन्तु भक्तों की दृष्टि इनसे भिन्न होती है, उनकी दृष्टि ईश्वरप्रेम से सिक्त रहती है। ईश्वर को उनके विभिन्न रूपों में देखते ही वे प्रेमाभिभूत हो जाते हैं, क्योंकि नास्तिकों की तरह उन्हें मन्दिर में ईश्वर के रूप तथा ईश्वर में कोई अन्तर नहीं दिखता। मन्दिर में श्रीविग्रह का प्रसन्न मुख भक्तों को दिव्य तथा आध्यात्मिक दिखता है और भगवान् के शरीर का अलंकरण भक्तों को अत्यन्त प्रिय लगता है। गुरु का कर्तव्य है कि वह मन्दिर में श्रीविग्रह को अलंकृत करने, मन्दिर को स्वच्छ करने तथा श्रीविग्रह की पूजा करने की विधि बताए। विष्णु मन्दिरों में अनेक विधि-विधानों का पालन किया जाता है, भक्तगण वहाँ जाते हैं और विग्रह का दर्शन करते हैं और स्वरूप का आनन्द उठाते हैं, क्योंकि सभी विग्रह वरदायक हैं। भक्तगण विग्रहों के समक्ष अपना मन्तव्य प्रकट करते हैं और अनेक बार तो विग्रह उत्तर भी देता है। किन्तु परमेश्वर से बात करने में सक्षम होने के लिए अत्यन्त उन्नत भक्त चाहिए। कभी-कभी भगवान् स्वप्न में सन्देश देते हैं। भक्त तथा विग्रह के मध्य विचारों का आदान-प्रदान नास्तिकों की समझ के बाहर होता है, किन्तु भक्त इसमें आनन्द लेते हैं। कपिल मुनि बता रहे हैं कि भक्तगण किस प्रकार विग्रह के अलंकृत शरीर तथा मुखमंडल का दर्शन करते हैं और भक्ति में उनसे बातें करते हैं।

तैर्दर्शनीयावयवैरुदार-
विलासहासेक्षितवामसूक्तैः ।
हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्ति-
रनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तैः—उन रूपों से; दर्शनीय—मोहक; अवयवैः—अंगों-प्रत्यंगों से; उदार—उदार; विलास—लीलाएँ; हास—मुसकान; ईक्षित—चितवन; वाम—मनोहर; सूक्तैः—आनन्दायक शब्दों से; हृत—मोहित; आत्मनः—मन; हृत—मोहित; प्राणान्—इन्द्रियाँ; च—तथा; भक्तिः—भक्ति; अनिच्छतः—न चाहते हुए; मे—मेरा; गतिम्—धाम; अण्वीम्—सूक्ष्म; प्रयुङ्क्ते—प्राप्त करता है।

भगवान् के मुसकाते तथा आकर्षक स्वरूप को देखकर तथा उनके अत्यन्त मोहक शब्दों को सुनकर शुद्ध भक्त अपनी अन्य समस्त चेतना खो बैठते हैं। उनकी इन्द्रियाँ अन्य समस्त कार्यों से मुक्त होकर भक्ति में तल्लीन हो जाती हैं। इस प्रकार अनिच्छित ही सही उसे अनायास मुक्तिप्राप्त हो जाती है।

तात्पर्य : भक्तों की तीन श्रेणियाँ हैं—उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ। कनिष्ठ श्रेणी तक के भक्त मुक्त हो जाते हैं। इस श्लोक में बताया गया है कि ज्ञान न होने पर भी मन्दिर में विग्रह का अलंकरण देखकर भक्त उसी के ध्यान में तल्लीन होकर अन्य समस्त चेतना खो देता है। इस तरह मात्र कृष्णचेतना में अपने को स्थिर करते हुए और इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाकर मनुष्य अनजाने ही मुक्त हो जाता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में भी हुई है। केवल शास्त्रानुमोदित अमिश्रित भक्ति करने से मनुष्य ब्रह्म समान होता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है : *ब्रह्मभूयाय कल्पते*। इसका आशय यह हुआ कि जीव अपनी आदि अवस्था में ब्रह्म है, क्योंकि वह परब्रह्म का अंश है। किन्तु अपने इस वास्तविक स्वभाव को, कि वह भगवान् का शाश्वत दास है, भूल जाने से वह माया द्वारा मोहित हो जाता है। अपनी वास्तविक स्वाभाविक स्थिति की विस्मृति ही माया है। अन्यथा वह शाश्वत रूप से ब्रह्म है।

जब मनुष्य को अपनी स्थिति के प्रति सचेत रहने की शिक्षा दी जाती है, तो वह समझने लगता है कि वह भगवान् का दास है। 'ब्रह्म' आत्म-साक्षात्कार की दशा का सूचक है। यहाँ तक कि कनिष्ठ श्रेणी का वह भक्त भी जिसे परम सत्य का ज्ञान नहीं होता और जो केवल श्रद्धापूर्वक भगवान् को नमस्कार करता है, उनका चिन्तन करता है—मन्दिर में उनका दर्शन करता है और विग्रह में चढ़ाने के लिए फूल तथा फल लाता है, वह भी अनजाने ही मुक्त हो जाता है। *श्रद्धायान्विताः* अर्थात् अत्यन्त भक्तिपूर्वक भक्तगण विग्रह को सम्मान करते तथा सामग्री भेंट करते हैं। राधा-कृष्ण, लक्ष्मी-नारायण तथा सीता-राम के विग्रह भक्तों के लिए

अत्यन्त मोहक होते हैं, अत: जब वे मन्दिर में उन्हें सज्जित रूप में देखते हैं, तो भगवान् के विचारों में मग्न हो जाते हैं। यही मुक्ति की दशा है। दूसरे शब्दों में, यहाँ इसकी पुष्टि हुई है कि निम्न श्रेणी का भक्त भी उनकी अपेक्षा दिव्य स्थिति में होता है, जो चिन्तन या अन्य साधनों से मुक्ति का प्रयास करते हैं। यहाँ तक कि शुकदेव गोस्वामी तथा चारों कुमारों जैसे निर्विशेषवादी भी मन्दिर में विग्रहों के सौन्दर्य से, भगवान् पर चढ़ी तुलसी की सुगंधि से मोहित होकर भक्त बन गये। यद्यपि वे मुक्त अवस्था में थे, किन्तु निर्विशेषवादी बने रहने की अपेक्षा वे भगवान् के सौंदर्य पर मोहित होकर भक्त बन गये।

यहाँ पर विलास शब्द उल्लेखनीय है। *विलास* से भगवान् के कार्यकलाप या लीलाओं का द्योतन होता है। मन्दिर पूजा के कार्यों में यह निश्चित है कि मनुष्य को मन्दिर में भगवान् को सजाधजा देखने ही नहीं जाना चाहिए, अपितु उसे *श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता* या ऐसे ही साहित्य का पाठ सुनना चाहिए जिनका मन्दिर में नियमित पाठ होता है। वृन्दावन में यह प्रथा है कि प्रत्येक मन्दिर में शास्त्रों का वाचन होता है। यहाँ तक कि निम्न श्रेणी के भक्तों को जिनके पास न तो साहित्यिक ज्ञान है, न ही जिन्हें *भागवत* या *भगवद्गीता* पढ़ने की फुरसत है, उन्हें भगवान् की लीलाओं का श्रवण करने का अवसर मिलता है। इस प्रकार उनके मन निरन्तर भगवान् के विचारों में—उनके रूप, कार्यकलापों तथा उनके दिव्य स्वभाव में डूबे रहते हैं। कृष्णचेतना की यह अवस्था मुक्त अवस्था है। इसीलिए भगवान् चैतन्य ने भक्ति सम्पन्न करने के लिए पाँच विधियों की संस्तुति की—(१) भगवान् के पवित्र नामों का कीर्तन—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। (२) भक्तों की संगति तथा यथासम्भव उनकी सेवा करना (३) *श्रीमद्भागवत* सुनना (४) शृंगार किये गये मन्दिर तथा अर्चाविग्रह का दर्शन करना; और सम्भव हो तो; (५) वृन्दावन या मथुरा जैसे स्थान में रहना। इन पाँचों के द्वारा ही भक्त को परम सिद्धावस्था प्राप्त हो सकती है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में और यहाँ पर *श्रीमद्भागवत* में की गई है। समस्त वैदिक साहित्य स्वीकार करता है कि निम्न कोटि का भी भक्त मुक्ति-लाभ कर सकता है।

अथो विभूतिं मम मायाविनस्ता-
मैश्वर्यमष्टाङ्गमनुप्रवृत्तम् ।
श्रियं भागवतीं वास्पृहयन्ति भद्रां
परस्य मे तेऽश्नुवते तु लोके ॥ ३७॥

शब्दार्थ

अथो—तब; विभूतिम्—ऐश्वर्य; मम—मेरे; मायाविनः—माया के स्वामी का; ताम्—उस; ऐश्वर्यम्—योग की सिद्धि को; अष्ट-अङ्गम्—आठ अंगों वाली; अनुप्रवृत्तम्—पालन करते हुए; श्रियम्—चमक-दमक; भागवतीम्—ईश्वर के साम्राज्य को; वा—अथवा; अस्पृहयन्ति—कामना नहीं करते; भद्राम्—शुभ; परस्य—परमेश्वर का; मे—मेरा; ते—वे भक्त; अश्नुवते—भोग करते हैं; तु—लेकिन; लोके—इस जीवन में।.

इस प्रकार मेरे ही विचारों में निमग्न रहने के कारण भक्त को स्वर्गलोक में प्राप्य श्रेष्ठ वर (जिसमें सत्यलोक सम्मिलित है) की भी इच्छा नहीं रह जाती। उसमें योग से प्राप्त होने वाली अष्ट सिद्धियों की भी कामना नहीं रह जाती, न ही वह ईश्वर के धाम पहुँचना चाहता है। तथापि न चाहते हुए भी, इसी जीवन में भक्त प्रदान किए गये उन समस्त वरदानों को भोगता है।

तात्पर्य : माया द्वारा प्रदत्त विभूतियाँ कई प्रकार की होती हैं। हमें इसी लोक में विभिन्न प्रकार के भौतिक सुखोपभोग का अनुभव रहता है, किन्तु यदि कोई उच्चतर लोकों, यथा चन्द्रलोक, सूर्य लोक या इनसे भी ऊँचे महर्लोक, जनलोक या तपोलोक या कि अन्ततः ब्रह्मा द्वारा निवसित सर्वोच्चलोक, सत्यलोक, पहुँच जाय तो वहाँ भौतिक सुखोपभोग के लिए महती सम्भावनाएँ हैं। उदाहरणार्थ, वहाँ पर इस लोक की अपेक्षा जीवन कहीं अधिक दीर्घ है। कहा जाता है कि चन्द्रमा में जीवन अवधि ऐसी है कि हमारे छह मास वहाँ के एक दिन के तुल्य हैं। सर्वोच्चलोक में जीवन की अवधि की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि ब्रह्मा के बारह घंटे बड़े-से-बड़े गणितज्ञ के लिए अकल्पनीय हैं। ये सभी भगवान् की बहिरंगा शक्ति या माया के वर्णन हैं। इनके अतिरिक्त, अन्य ऐश्वर्य भी हैं, जिन्हें योगी अपनी योगशक्ति से प्राप्त कर सकते हैं। ये सभी भौतिक हैं। भक्त इन समस्त भौतिक भोगों की कामना नहीं करता, यद्यपि ये इच्छा मात्र से उन्हें सुलभ हो सकते हैं। भगवत्कृपा से भक्त इच्छा मात्र से आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त कर सकता है, किन्तु वास्तविक भक्त को इन

सबकी इच्छा नहीं होती। भगवान् चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा है कि मनुष्य को न तो भौतिक ऐश्वर्य या ख्याति की कामना करनी चाहिए न भौतिक सौन्दर्य का भोग करना चाहिए। उसे तो भगवान् की भक्ति में तल्लीन रहने की कामना करनी चाहिए भले ही उसे मुक्ति-लाभ न हो और अनन्त काल तक जन्म-मृत्यु के चक्र में रहना पड़े। किन्तु वास्तव में जो कृष्णभक्ति में लगा रहता है उसकी मुक्ति तो पहले से निश्चित है। भक्तगण स्वर्ग तथा वैकुण्ठलोक के समस्त लाभों का भोग करते हैं। यहाँ पर इसका विशिष्ट रूप से उल्लेख *भागवतीं भद्राम्* के रूप में हुआ है। वैकुण्ठलोक में सब कुछ नित्य रूप से शान्तिमय है, किन्तु तो भी शुद्ध भक्त वहाँ नहीं जाना चाहता। फिर भी उसे यह लाभ प्राप्त होता है, उसे अपने इस जीवन में भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों की सारी सुविधाएँ भोगने को उपलब्ध हो जाती हैं।

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे
नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः ।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; कर्हिचित्—सदैव; मत्-पराः—मेरे भक्त; शान्त-रूपे—हे माता; नङ्क्ष्यन्ति—खो देंगे; नो—नहीं; मे—मेरा; अनिमिषः—समय; लेढि—नष्ट करता है; हेतिः—आयुध; येषाम्—जिनका; अहम्—मैं; प्रियः—प्यारा; आत्मा—स्व; सुतः—पुत्र; च—तथा; सखा—मित्र; गुरुः—शिक्षक; सुहृदः—शुभचिन्तक; दैवम्—देवता, विग्रह; इष्टम्—इष्ट, अभीष्ट।

भगवान् ने आगे कहा : हे माते, जो भक्त ऐसा दिव्य ऐश्वर्य प्राप्त कर लेते हैं, वे उससे कभी वंचित नहीं होते। ऐसे ऐश्वर्य को न तो आयुध, न काल-परिवर्तन ही विनष्ट कर सकता है। चूँकि भक्तगण मुझे अपना मित्र, सम्बन्धी, पुत्र, शिक्षक, शुभचिन्तक तथा परमदेव मानते हैं, अतः किसी काल में भी उनसे यह ऐश्वर्य छीना नहीं जा सकता।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि मनुष्य अपने पुण्य कर्मों के प्रभाव से स्वर्गलोक तक, यहाँ तक कि ब्रह्मलोक तक भी पहुँच सकता है, किन्तु जब उन पुण्यकर्मों का प्रभाव (फल) समाप्त हो जाता है, तो उसे इस पृथ्वी पर लौटकर नवीन जीवनकर्म प्रारम्भ करना पड़ता है। इस तरह भले ही कोई सुख-भोग करे तथा दीर्घ जीवन के लिए स्वर्गलोक चला

जाय, किन्तु यह स्थायी वास नहीं होता। किन्तु जहाँ तक भक्तों का प्रश्न है, उनकी सम्पत्ति—भक्ति की उपलब्धि तथा वैकुण्ठलोक का ऐश्वर्य—इस लोक में भी कभी नष्ट नहीं होती है। इस श्लोक में कपिलदेव अपनी माता को *शान्तरूपा* कहकर सम्बोधित करते हैं, जिससे सूचित होता है भक्तों का ऐश्वर्य स्थिर है, क्योंकि भक्तगण वैकुण्ठलोक में निरन्तर स्थित हैं जिसे *शान्तरूप* कहते हैं। इसमें सतोगुण रहता है, जिसे रजो तथा तमोगुण विचलित नहीं कर सकते। एकबार भगवद्भक्ति में स्थापित हो जाने पर मनुष्य के इस दिव्य सेवा पद को विनष्ट नहीं किया जा सकता, अपितु आनन्द तथा सेवा में अपार वृद्धि होती रहती है। वैकुण्ठलोक में कृष्णभक्ति में संलग्न भक्तों पर काल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। भौतिक जगत में काल के प्रभाव में सब कुछ विनष्ट हो जाता है, किन्तु वैकुण्ठलोक में न तो काल का प्रभाव पड़ता है न देवताओं का, क्योंकि वैकुण्ठलोक में एक भी देवता नहीं है। इस लोक में हमारे कार्यों का संचालन विभिन्न देवताओं द्वारा होता है, यहाँ तक कि जब हम अपने हाथ तथा पाँव हिलाते हैं, तो इनकी क्रिया देवताओं द्वारा संचालित होती है। किन्तु वैकुण्ठ लोक में न तो देवताओं का कोई प्रभाव है, न काल का। अत: विनाश का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जब काल तत्त्व उपस्थित हो जाता है, तो विनाश निश्चित होता है, किन्तु जब काल तत्त्व—भूत, वर्तमान या भविष्य—नहीं रहता तो हर वस्तु शाश्वत होती है। अत: इस श्लोक में *न नङ्क्ष्यन्ति* शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनसे सूचित होता है कि दिव्य ऐश्वर्य का कभी विनाश नहीं होता।

विनष्ट न होने के कारण का भी उल्लेख हुआ है। भक्तगण परमेश्वर को अत्यन्त प्रिय विभूति के रूप में स्वीकार करते हैं और उनसे नाना प्रकार से सम्बन्ध स्थापित करते हैं। वे परमेश्वर को सर्वप्रिय मित्र, सर्वप्रिय परिजन, सर्वप्रिय पुत्र, सर्वप्रिय शिक्षक, सर्वप्रिय शुभचिन्तक या सर्वप्रिय देव (विग्रह) के रूप में स्वीकार करते हैं। भगवान् सनातन हैं, अत: उनसे जो कोई सम्बन्ध बनाता है, वह भी सनातन होता है। यहाँ इसकी पुष्टि की गई है कि ऐसे सम्बन्धों को विनष्ट नहीं किया जा सकता, फलत: उन सम्बन्धों के ऐश्वर्य को भी नष्ट नहीं किया जा सकता। प्रत्येक जीव में किसी-न-किसी से प्रेम करने की प्रवृत्ति होती है। हम देखते

हैं कि जब किसी के कोई प्रिय नहीं होता तो वह अपने प्रेम को कुत्ता या बिल्ली जैसे पशुओं की ओर मोड़ देता है। इस तरह समस्त जीवों में प्रेम का शाश्वत लगाव *प्रेम का विषय* खोजने की ओर होता है। इस श्लोक से हम जान सकते हैं कि हम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से अपनी प्रियतम वस्तु—मित्र, पुत्र, शिक्षक या शुभचिन्तक के रूप में प्रेम कर सकते हैं, इसमें न तो किसी प्रकार धोखा है और न ऐसे प्रेम का कोई अन्त है। हम भिन्न-भिन्न प्रकारों से भगवान् के साथ सम्बन्धों का आनन्द उठा सकते हैं। इस श्लोक की विशेष बात भगवान् को परम शिक्षक के रूप में ग्रहण करना है। *भगवद्गीता* का प्रवचन स्वयं भगवान् द्वारा हुआ और अर्जुन ने कृष्ण को अपना गुरु स्वीकार किया। इसी प्रकार हमें भी कृष्ण को ही परम गुरु के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

वास्तव में कृष्ण का अर्थ है कृष्ण तथा उनके विश्वस्त भक्तजन; कृष्ण अकेले नहीं हैं। जब हम कृष्ण कहते हैं, तो इससे उनका नाम, रूप, गुण, धाम तथा पार्षदों का अर्थ बोध देता है। कृष्ण कभी अकेले नहीं रहते, क्योंकि कृष्ण के भक्त निर्विशेषवादी नहीं होते। उदाहरणार्थ, राजा सदैव अपने सचिव, सेनापति, दास तथा ऐसे ही लोगों के संग रहता है। ज्योंही हम कृष्ण तथा उनके पार्षदों को अपना शिक्षक मान लेते हैं, तो ऐसा कोई कुप्रभाव नहीं जो हमारे ज्ञान का विनाश कर सके। भौतिक जगत में हमारे द्वारा अर्जित ज्ञान काल के प्रभाव से बदल सकता है, किन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के प्रवचन से प्राप्त होने वाले निष्कर्ष, जो हमें *भगवद्गीता* से मिलते हैं, कभी नहीं बदलते। *भगवद्गीता* की व्याख्या करने से कोई लाभ नहीं, वह तो शाश्वत है।

भगवान् श्रीकृष्ण को अपना श्रेष्ठ मित्र मानना चाहिए। वे कभी धोखा नहीं देंगे। वे सदैव मित्रवत् सम्मति प्रदान करेंगे और भक्तों की मित्रवत् रक्षा करेंगे। यदि श्रीकृष्ण को पुत्रवत् माना जाय तो वे कभी मरेंगे नहीं। इस संसार में हमारा अत्यन्त प्यारा पुत्र या बच्चा हो सकता है, किन्तु माता, पिता या जो भी उसके प्रति वत्सल है सदैव आशा लगाता है कि मेरा पुत्र मरे नहीं। किन्तु कृष्ण सचमुच कभी नहीं मरते। अत: जो कृष्ण को या भगवान् को अपना पुत्र

मान लेते हैं, वे अपने पुत्र से कभी रहित नहीं होते। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ भक्तों ने देव (विग्रह) को अपना पुत्र मान लिया। बंगाल में ऐसे अनेक उदाहरण हैं और भक्त की मृत्यु के बाद भी देव पिता के लिए श्राद्ध संस्कार सम्पन्न करता है। यह सम्बन्ध कभी विनष्ट नहीं होता। लोग तरह-तरह के देवताओं को पूजने के आदी हैं, लेकिन *भगवद्गीता* में ऐसी प्रवृत्ति की भर्त्सना की गई है, अतः मनुष्य में इतनी बुद्धि तो होनी ही चाहिए कि वह भगवान् की ही पूजा उनके विविध रूपों में, यथा लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम तथा राधा-कृष्ण के रूप में करे। इससे कभी धोखा नहीं होगा। देवताओं की पूजा से भले ही किसी को स्वर्ग-लाभ हो जाय, किन्तु भौतिक जगत के प्रलय के समय देव तथा देव का आवास सब कुछ नष्ट हो जाएगा। किन्तु जो प को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को पूजता है, वह वैकुण्ठलोक को जाएगा जहाँ काल, विनाश या प्रलय का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। निष्कर्ष यह निकला कि जो भक्त श्रीभगवान् को सब कुछ मान लेते हैं उस पर काल का प्रभाव नहीं पड़ता।

इमं लोकं तथैवामुमात्मानमुभयायिनम् ।
आत्मानमनु ये चेह ये रायः पशवो गृहाः ॥ ३९ ॥
विसृज्य सर्वानन्यांश्च मामेवं विश्वतोमुखम् ।
भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान्मृत्योरतिपारये ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

इमम्—इस; लोकम्—संसार; तथा—उसी तरह; एव—निश्चय ही; अमुम्—वह संसार; आत्मानम्—सूक्ष्म देह; उभय—दोनों में; अयिनम्—भ्रमण करते; आत्मानम्—शरीर; अनु—के साथ-साथ; ये—जो; च—भी; इह—इस संसार में; ये—जो; रायः—सम्मति; पशवः—पशु; गृहाः—घर; विसृज्य—त्याग कर; सर्वान्—सभी; अन्यान्—अन्य; च—तथा; माम्—मुझको; एवम्—इस प्रकार; विश्वतः-मुखम्—ब्रह्माण्डव्यापी भगवान् को; भजन्ति—पूजते हैं; अनन्यया—अनन्य भाव से; भक्त्या—भक्ति से; तान्—उनको; मृत्योः—मृत्यु के; अतिपारये—पार ले जाता हूँ।

इस प्रकार जो भक्त मुझे सर्वव्यापी, जगत् के स्वामी की अनन्य भाव से पूजा करता है, वह स्वर्ग जैसे उच्चतर लोकों में भेजे जाने अथवा इसी लोक में धन, सन्तति, पशु, घर अथवा शरीर से सम्बन्धित किसी भी वस्तु के साथ सुख पूर्वक रहने की समस्त कामनाओं को त्याग देता है। मैं उसे जन्म और मृत्यू के सागर के उस पार ले जाता हूँ।

तात्पर्य : इन दोनों श्लोकों में जिस तरह अनन्य भक्ति वर्णित है उसका अर्थ है परमेश्वर

को ही सब कुछ मानते हुए अपने आप को पूरी तरह से कृष्णभावनामृत अथवा भक्तियोग में लगा देना। चूँकि परमेश्वर में सब कुछ अन्तर्भूत है, अत: यदि कोई अनन्य श्रद्धा से भगवान् की पूजा करता है, तो उसे सारे ऐश्वर्य स्वत: प्राप्त हो जाते हैं और अन्य सारे कर्तव्य भी पूरे हो जाते हैं। भगवान् यहाँ पर वचन देते हैं कि वे अपने भक्त को जन्म तथा मृत्यु के उस पार ले जाते हैं। इसीलिए भगवान् चैतन्य ने संस्तुति की है कि जो मनुष्य जन्म तथा मृत्यु से परे जाना चाहता है उसे कोई भौतिक सम्पत्ति नहीं रखनी चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ है कि उसे न तो इसी लोक में सुखी रहने या स्वर्गलोक भेजे जाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए, न ही भौतिक सम्पत्ति, सन्तान, घर या पशु के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

यहाँ इसकी व्याख्या की गई है कि शुद्ध भक्त द्वारा किस तरह अप्रत्यक्षता में ही मुक्ति प्राप्त की जाती है और उसके क्या लक्षण हैं। बद्धजीव के लिए जीवन की दो अवस्थाएँ हैं। एक तो वर्तमान जीवन तथा दूसरी अगले जीवन की तैयारी। यदि मैं सतोगुणी हूँ तो मैं स्वर्गलोक का भागी हूँ, यदि मैं रजोगुणी हूँ तो मैं ऐसे समाज में रहा आऊँगा जहाँ कर्म ही प्रधान है और यदि मैं तमोगुणी हूँ तो मैं पशु-जीवन या मानव-जीवन की निम्न अवस्था में उतार दिया जाऊँगा। किन्तु भक्त को न तो इस जीवन की और न अगले जीवन की कोई परवाह रहती है, क्योंकि वह किसी भी जीवन में न तो भौतिक सम्पत्ति की कामना करता है न जीवन की उच्च या निम्न अवस्था की। वह तो भगवान् से प्रार्थना करता है, ''हे भगवान्, मुझे इसकी परवाह नहीं कि मैं कहाँ जन्म लूँ, किन्तु मुझे एक भक्त के घर में चींटी के रूप में ही सही जन्म लेने दें।'' शुद्ध भक्त भगवान् से कभी भी इस भौतिक बंधन से मुक्ति कि प्रार्थना नहीं करता है। शुद्ध भक्त अपने को मुक्ति के योग्य समझता ही नहीं। अपने विगत जीवन तथा दुष्ट कर्मों को ध्यान में रखते हुए वह सोचता है कि वह नरक के निम्नतम भाग में भेजे जाने के योग्य है। यदि मैं इस जन्म में भक्त बनना चाह रहा हूँ तो इसका यह अर्थ नहीं है कि पूर्वजन्मों में मैं शत प्रतिशत शुद्ध (पवित्र) था। ऐसा सम्भव नहीं। इसलिए भक्त हमेशा अपनी स्वाभाविक स्थिति के प्रति सचेत रहता है। भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पण से ही कष्ट कम हो सकते हैं। जैसाकि

भगवद्गीता में कहा गया है, ''मेरी शरण में आ जाओ, मैं समस्त पापकर्मों से तुम्हारी रक्षा करूँगा।'' यह उनकी कृपा है। लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि जिसने भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण की है उसने पूर्वजन्म में बुरे कर्म नहीं किये। भक्त सदैव प्रार्थना करता है, ''अपने बुरे कर्मों के लिए मैं बारम्बार जन्म लूँ, किन्तु मेरी एकमात्र प्रार्थना है कि मैं आपकी सेवा करना न भूलूँ।'' भक्त में इतना मनोबल होता है और वह भगवान् से निवदेन करता है, ''मैं बार-बार जन्म ग्रहण करता रहूँ, किन्तु मैं शुद्ध भक्त के घर में जन्म लूँ जिससे मैं अपने को सुधारने का अवसर पा सकूँ।''

शुद्ध भक्त कभी इच्छुक नहीं रहता कि अगले जन्म में वह ऊपर उठे। वह पहले ही इस प्रकार की आशा त्याग चुका होता है। मनुष्य चाहे जिस जीवन में जन्म ले—गृहस्थ के रूप में या पशु के रूप में ही सही, उसे सन्तान, साधन या कुछ न कुछ सम्पत्ति चाहिए, किन्तु भक्त को कुछ भी पाने की अभिलाषा नहीं रहती। उसे भगवत्कृपा से जो भी प्राप्त हो सकता है उसी से सन्तुष्ट रहता है। वह न तो अपनी सामाजिक स्थिति को सुधारने या अपने बच्चों की शिक्षा सुधारने के लिए रंचमात्र भी मोह रखता है। वह निकम्मा नहीं होता, वह आज्ञाकारी होता है, किन्तु वह क्षणिक घरेलू या सामाजिक जीवन के उत्थान में अधिक समय व्यय नहीं करता। वह पूर्णतया भगवान् की सेवा में लगा रहता है और अन्य कार्यों में उतना ही समय लगाता है जितना कि अनिवार्य होता है (*यथार्थम् उपयुञ्जत:*)। ऐसा भक्त इसकी चिन्ता नहीं करता कि अगले जीवन में या इसी जीवन में क्या होने जा रहा है। यहाँ तक कि वह अपने परिवार, लड़के-बच्चों या समाज की भी परवाह नहीं करता। वह कृष्णभक्ति में रह कर भगवान् की सेवा में तल्लीन रहता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भक्त के जाने बिना ही भगवान् उसकी मृत्यु के पश्चात् उसे अपने दिव्य धाम में भेज देते हैं। इस शरीर को त्यागने के बाद वह दूसरी माता के गर्भ में प्रवेश नहीं करता। मृत्यु के पश्चात् सामान्य जीव को उसके कर्म के अनुसार अन्य प्रकार का शरीर धारण करने के लिए अन्य माता के गर्भ में स्थानान्तरित कर दिया जाता है। किन्तु भक्त तो तुरन्त ही भगवान् के पास रहने के लिए वैकुण्ठ में भेज दिया

जाता है। यह भगवान् की विशेष कृपा है। यह किस प्रकार सम्भव है, इसकी व्याख्या अगले श्लोकों में की गई है। सर्वशक्तिमान होने के कारण भगवान् जो भी चाहें कर सकते हैं। वे समस्त पापकर्मों को क्षमा कर सकते हैं, वे किसी भी व्यक्ति को वैकुण्ठलोक भेज सकते हैं। यह उन भगवान् की अकल्पनीय शक्ति है, जो शुद्ध भक्तों के अनुकूल रहते हैं।

नान्यत्र मद्भगवतः प्रधानपुरुषेश्वरात् ।
आत्मनः सर्वभूतानां भयं तीव्रं निवर्तते ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अन्यत्र—दूसरा; मत्—मेरे सिवा; भगवतः—श्रीभगवान्; प्रधान-पुरुष-ईश्वरात्—ईश्वर जो प्रकृति तथा पुरुष दोनों है; आत्मनः—आत्मा; सर्व-भूतानाम्—समस्त जीवों में; भयम्—भय; तीव्रम्—विकट; निवर्तते—छुटकारा पाता है।.

यदि कोई मुझको छोड़कर अन्य की शरण ग्रहण करता है, तो वह जन्म तथा मृत्यु के विकट भय से कभी छुटकारा नहीं पा सकता, क्योंकि मैं सर्वशक्तिमान, परमेश्वर अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, समस्त सृष्टि का आदि स्रोत तथा समस्त आत्माओं का भी परमात्मा हूँ।

तात्पर्य : यहाँ यह बतलाया गया है कि परमेश्वर का शुद्ध भक्त बने बिना जन्म-मृत्यु के चक्र से छुटकारा नहीं मिल पाता। कहा गया है—*हरिं बिना न सृतिं तरन्ति*। जन्म-मृत्यु के चक्र को तब तक पार नहीं किया जा सकता जब तक श्रीभगवान् अनुकूल न हों। इसी विचारधारा की पुष्टि यहाँ हुई है। कोई चाहे तो अपने अपूर्ण मानसिक चिन्तन से परम सत्य को जानने की पद्धति अपनावे या योगक्रिया द्वारा स्व का बोध करने का यत्न करे। किन्तु चाहे वह जो भी करे, जब तक वह श्रीभगवान् को पूरी तरह आत्मसमर्पण नहीं कर देता, तब तक कोई भी विधि उसे मुक्ति नहीं दिला सकती। कोई यह पूछ सकता है कि क्या जो लोग दृढ़तापूर्वक विधि-विधानों का पालन करते हुए तपस्या करते हैं, वह सब व्यर्थ है? इसका उत्तर *श्रीमद्भागवत* (१०.२.३२) में मिलता है—*येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनः*। जब श्रीकृष्ण देवकी के गर्भ में थे तो ब्रह्माजी तथा अन्य देवताओं ने भगवान् से प्रार्थना कि, "हे कमलनयन भगवान्! ऐसे भी लोग हैं, जो इस विचार से फूले रहते हैं कि वे मुक्त हो चुके हैं या ईश्वर से

उनका तादात्म्य हो चुका है या वे ईश्वर हो गये हैं, किन्तु ऐसा सोचते हुए भी उनका ज्ञान प्रशंसनीय नहीं है। वे अल्पज्ञ हैं।'' यह कहा गया है कि उनकी बुद्धि, चाहे उच्च हो या निम्न, शुद्ध भी नहीं होती। शुद्ध बुद्धि होने पर मनुष्य आत्मसमर्पण के अतिरिक्त और कुछ सोच ही नहीं सकता। अत: *भगवद्गीता* पुष्टि करती है कि अत्यन्त विज्ञ पुरुष में ही शुद्ध बुद्धि का उदय होता है। *बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते*। जो वास्तव में बुद्धिमान है, वह अनेकानेक जन्मों के बाद परमेश्वर की शरण में जाता है।

शरण में गये बिना किसी को मुक्ति प्राप्त नहीं होती। *भागवत* का कथन है, ''जो लोग अपने आपको किसी भक्तिविहीन विधान से मुक्त मानकर गर्वित रहते हैं, वे शिष्ट अथवा विमल बुद्धि वाले नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने अभी तक आपकी शरण नहीं ग्रहण की। वे समस्त प्रकार के संयम एवं तपस्या का पालन करने के बावजूद, अथवा ब्रह्म-साक्षात्कार के निकट पहुँचे बिना ही सोचते हैं कि वे ब्रह्मतेज में स्थित हैं, किन्तु वास्तव में वे भौतिक कर्मों में आ गिरते हैं, क्योंकि उनके कर्म दिव्य नहीं होते।'' मनुष्य को केवल इस कोरे ज्ञान से प्रसन्न नहीं हो जाना चाहिए कि वह ब्रह्म है। उसे परब्रह्म की सेवा में लगना चाहिए; वही भक्ति है। ब्रह्म का कार्य है कि वह परब्रह्म की सेवा करे। कहा जाता है कि ब्रह्म बने बिना ब्रह्म की सेवा नहीं की जा सकती। परब्रह्म तो श्रीभगवान् हैं और जीवात्मा भी ब्रह्म है। इस बोध के बिना कि मनुष्य ब्रह्म, अर्थात् आत्मा, अर्थात् भगवान् का नित्य दास है, यदि कोई इतना ही सोचता है कि वह ब्रह्म है, तो उसका यह बोध केवल सैद्धान्तिक है। अनुभव करने के साथ ही साथ उसे भगवान् की भक्ति में अपने आपको लगाना होता है, तभी वह ब्रह्मपद में स्थित रह सकता है अन्यथा वह नीचे गिर जाता है।

भागवत का कथन है कि अभक्त लोग श्रीभगवान् के चरणकमलों की दिव्य प्रेमाभक्ति की उपेक्षा करते हैं, अत: उनकी बुद्धि संकीर्ण होती है, जिससे ये लोग नीचे गिर जाते हैं। जीवात्मा को कुछ न कुछ कर्म करना चाहिए। यदि वह दिव्य सेवाकर्म नहीं करता तो वह भौतिक कर्म में आ गिरता है। ज्योंही वह भौतिक कर्मों में आ गिरता है, तो जन्म-मरण के चक्र से उसे

छुटकारा कोई नहीं दिला सकता। यहाँ पर भगवान् कपिल ने कहा है, "मेरी कृपा के बिना" (*नान्यत्र मद् भगवत:*)। यहाँ पर प्रभु को भगवान् कहा गया है, जिससे संकेत मिलता है कि वे सर्व ऐश्वर्य-सम्पन्न है, अत: वे मनुष्य को जन्म तथा मरण के चक्र से उद्धार करने में सर्वथा सक्षम हैं। वे प्रधान भी कहलाते हैं, क्योंकि वे परम पुरुष हैं। वे सबों पर समभाव रखते हैं, किन्तु जो उनकी शरण में जाता है उस पर विशेष रूप से अनुकूल रहते हैं। *भगवद्गीता* में भी पुष्टि की गई है कि भगवान् हर एक के लिए एक समान हैं, न तो कोई उनका शत्रु है और न मित्र। किन्तु जो उनकी शरण ग्रहण कर लेता है, वे उसके ऊपर उनका विशेष झुकाव हो जाता हैं। मात्र उनकी शरण में जाकर मनुष्य जन्म-मृत्यु के चक्र से बाहर निकल सकता है अन्यथा वह इस चक्र में अनेकानेक जन्मों तक पड़ा रहता है और मुक्ति के लिए अनेक बार अन्य विधियों का सहारा लेता है।

मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात् ।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

मत्-भयात्—मेरे भय से; वाति—बहती है; वात:—वायु; अयम्—यह; सूर्य:—सूर्य; तपति—चमकता है; मत्-भयात्—मेरे भय से; वर्षति—बरसता है; इन्द्र:—इन्द्र; दहति—जलती है; अग्नि:—अग्नि; मृत्यु:—मृत्यु; चरति—जाती है; मत्-भयात्—मेरे भय से।

यह मेरी श्रेष्ठता है कि मेरे ही भय से हवा बहती है, मेरे ही भय से सूर्य चमकता है और मेघों का राजा इन्द्र मेरे ही भय से वर्षा करता है। मेरे ही भय से अग्नि जलती है और मेरे ही भय से मृत्यु इतनी जानें लेती है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में श्रीभगवान् कृष्ण कहते हैं कि उनकी अध्यक्षता के कारण ही समस्त कार्यों में प्राकृतिक नियम ठीक से काम रहे हैं। कोई यह न सोचे कि प्रकृति बिना अध्यक्षता के स्वत: कार्य कर रही है। वैदिक ग्रन्थ कहते हैं कि बादल इन्द्रदेव द्वारा नियन्त्रित होते हैं, ऊष्मा का वितरण सूर्यदेव द्वारा होता है, शीतल चाँदनी चन्द्र द्वारा वितरित होती है और वायुदेव की व्यवस्था के अन्तर्गत वायु प्रवाहित होती है। किन्तु इन समस्त देवों के ऊपर पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् प्रधान व्यक्ति हैं। *नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*। देवता भी सामान्य

जीवात्माएँ हैं, किन्तु अपनी आज्ञाकारिता के कारण—अपनी भक्तिमयी प्रवृत्ति के कारण—वे ऐसे पदों पर नियुक्त किये गये हैं। ये विभिन्न देवता या अधीक्षक, यथा चन्द्र, वरुण, वायु *अधिकारी देवता* कहलाते हैं। देवता विभागीय अध्यक्षों की भाँति होते हैं। परमेश्वर की सत्ता में केवल एक लोक या दो-तीन लोक नहीं, अपितु लाखों लोक तथा लाखों ब्रह्माण्ड होते हैं। भगवान् की सत्ता व्यापक होती है और उन्हें सहायकों की आवश्यकता होती है। देवतागण उनके शरीर के अंग माने जाते हैं। ऐसा वैदिक साहित्य में वर्णन मिलता है। ऐसी परिस्थितियों में सूर्यदेव, चन्द्रदेव, अग्निदेव तथा वायुदेव परमेश्वर की अध्यक्षता में कार्य करते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में इस प्रकार हुई है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*। प्राकृतिक नियमों का कार्यान्वयन उनकी अध्यक्षता में होता है। पृष्ठभूमि में उनके रहने के कारण प्रत्येक वस्तु नियत समय से तथा नियमित ढंग से सम्पन्न होती है।

जो मनुष्य श्रीभगवान् की शरण ग्रहण कर लेता है उसकी रक्षा अन्य समस्त प्रभावों से की जाती है। तब वह न किसी की सेवा करता है न किसी का कृतज्ञ रहता है। निस्सन्देह वह किसी की अवज्ञा नहीं करता, किन्तु उसकी सारी विचारशक्ति भगवान् की सेवा में लगी रहती है। भगवान् कपिल का यह कथन कि उनके ही आदेश से वायु बह रही है, अग्नि जल रही है तथा सूर्य तपता है भावावेश में नहीं कहा गया है। निर्विशेषवादी कह सकते हैं कि *भागवत* के भक्त किसी को भगवान् बनाकर उसे उनके गुण प्रदान कर सकते हैं, किन्तु न तो यह कल्पना है और न ईश्वर के नाम पर कृत्रिम शक्ति का थोपा जाना है। वेदों में कहा गया है—*भीषास्माद् वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः*—परमेश्वर के भय से ही वायुदेव तथा सूर्यदेव कार्य करते हैं। *भीषास्माद् अग्निश्चेन्द्रश्च, मृत्युर्धावति पञ्चमः*—अग्नि, इन्द्र तथा मृत्यु भी उन्हीं के निर्देशन में कार्य करते हैं। ये वेदों के कथन हैं।

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः ।
क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशन्त्यकुतोभयम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

ज्ञान—ज्ञान; वैराग्य—तथा वैराग्य से; युक्तेन—सज्जित; भक्ति-योगेन—भक्तियोग के द्वारा; योगिनः—योगीजन; क्षेमाय—शाश्वत लाभ के लिए; पाद-मूलम्—चरणों में; मे—मेरे; प्रविशन्ति—शरण ग्रहण करते हैं; अकुतः-भयम्—निडर, निर्भय।

योगीजन दिव्य ज्ञान तथा त्याग से युक्त होकर एवं अपने शाश्वत लाभ के लिए मेरे चरणकमलों में शरण लेते हैं और चूंकि मैं भगवान् हूँ, अतः वे भयमुक्त होकर भगवद्धाम में प्रवेश पाने के लिए पात्र हो जाते हैं।

तात्पर्य : जो इस संसार के बन्धन से मुक्त होकर भगवान् के धाम को वापस जाना चाहता है, वही वास्तव में योगी है। यहाँ पर *युक्तेन भक्तियोगेन* शब्दों का स्पष्ट प्रयोग हुआ है। जो योगी भक्तियोग में लगे रहते हैं, वे उच्चकोटि के योगी हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में उल्लेख है, उच्चकोटि के योगी वे हैं, जो निरन्तर श्रीभगवान् कृष्ण का चिन्तन करते रहते हैं। ये योगी ज्ञान तथा वैराग्य से रहित नहीं होते। भक्तियोगी होने का तात्पर्य है स्वतः ज्ञान तथा वैराग्य प्राप्त करना। यह भक्तियोग का *स्वतः* फल होता है। *भागवत* के प्रथम स्कंध के द्वितीय अध्याय में भी पुष्टि की गई है कि जो व्यक्ति वासुदेव कृष्ण की भक्ति करता है, वह पूर्ण दिव्य ज्ञान तथा वैराग्य से युक्त होता है और इन उपलब्धियों का कोई कारण नहीं बताया जा सकता। वे अहैतुकी—बिना कारण—मिलती हैं। यहाँ तक कि निरक्षर व्यक्ति को भी शास्त्रों का दिव्य ज्ञान प्राप्त हो जाता है, क्योंकि वह भक्ति में लगा रहता है। इसका उल्लेख वैदिक साहित्य में भी मिलता है। जिस किसी की परमेश्वर तथा गुरु में पूर्ण श्रद्धा होती है, उसे वैदिक साहित्य का पूर्ण सार प्रकट हो जाता है। इसे पृथक् से खोजने की उसको आवश्यकता नहीं पड़ती। जो योगी भक्तियोग में लग जाते हैं, वे ज्ञान तथा वैराग्य से पूर्ण होते हैं। यदि ज्ञान तथा वैराग्य का अभाव हो तो यह समझना चाहिए कि वह भक्तिमय सेवा से पूर्ण नहीं है। निष्कर्ष यह निकलता है कि कोई मनुष्य तब तक स्वर्गलोक में—या तो भगवान् के निर्गुण ब्रह्मज्योति तेज में या उस ब्रह्म तेज के भीतर वैकुण्ठलोक में—प्रवेश नहीं कर सकता जब तक वह परमेश्वर के चरणकमलों की शरण में नहीं चला जाता। शरणागत जीव *अकुतोभय* कहलाते हैं। वे संशयहीन तथा निर्भय होते हैं और वैकुण्ठलोक में उनका प्रवेश निश्चित है।

एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसां निःश्रेयसोदयः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

एतावान् एव—इतना ही; लोके अस्मिन्—इस संसार में; पुंसाम्—मनुष्यों का; निःश्रेयस—जीवन की अन्तिम सिद्धि की; उदयः—प्राप्ति; तीव्रेण—तीव्र; भक्ति-योगेन—भक्ति के अभ्यास से; मनः—मन; मयि—मुझमें; अर्पितम्—लगे हुए; स्थिरम्—स्थिर।

अतः जिन व्यक्तियों के मन भगवान् में स्थिर हैं, वे भक्ति का तीव्र अभ्यास करते हैं। जीवन की अन्तिम सिद्धि प्राप्त करने का यही एकमात्र साधन है।

तात्पर्य : यहाँ पर प्रयुक्त *मनो मय्यर्पितम्* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं जिनका अर्थ है ''मुझमें लगे हुए मन।'' मनुष्य को भगवान् कृष्ण या उनके अवतार के चरणकमलों पर अपना मन लगाना चाहिए। स्थिर भाव से उनमें लगे रहना ही मुक्ति का साधन है। अम्बरीष महाराज इसके उदाहरण हैं। उन्होंने अपने मन को भगवान् के चरणकमलों में लगाया, वे भगवान् की ही लीलाओं का कथन करते, वे भगवान् पर चढ़े हुए पुष्पों तथा तुलसी को ही सूँघते, वे केवल भगवान् के मन्दिर तक जाते, अपने हाथों से मन्दिर बुहारते, अपनी जीभ का उपयोग भगवान् को अर्पित भोजन के चखने में करते और कानों का उपयोग भगवान् की लीलाओं के सुनने में करते। इस प्रकार उनकी सभी इन्द्रियाँ व्यस्त रहतीं। सर्वप्रथम मन को भगवान् के चरणकमलों में क्रमशः तथा सहज भाव से लगाना चाहिए। चूँकि मन इन्द्रियों का स्वामी है, अतः मन के व्यस्त रहने पर सारी इन्द्रियाँ व्यस्त रहेंगी। यही भक्तियोग है। योग का अर्थ है इन्द्रियों को वश में करना, इन्द्रियों को सही अर्थ में वश में लाना कठिन है, वे सदैव चलायमान रहती हैं। यही हाल एक बच्चे का होता है—उसे कब तक शान्तिपूर्वक बैठाये रखा जा सकता है ? यह सम्भव नहीं है। यहाँ तक कि अर्जुन को कहना पड़ा—*चञ्चलं हि मनः कृष्ण*—मन सदैव चलायमान रहता है। सबसे अच्छा मार्ग यही है कि मन को भगवान् के चरणकमलों में लगा दिया जाय। *मनो मय्यर्पितं स्थिरम्*। यदि कोई गम्भीरतापूर्वक कृष्णभक्ति में लग जाय तो यही उच्चतम सिद्धावस्था है। समस्त कृष्णभावनाभावित कर्म मानवीय जीव की उच्चतम सिद्धावस्था में होते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''भक्तियोग की महिमा'' नामक

पच्चीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छब्बीस

प्रकृति के मूलभूत सिद्धान्त

श्रीभगवानुवाच
अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि तत्त्वानां लक्षणं पृथक् ।
यद्विदित्वा विमुच्येत पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अथ—अब; ते—तुमसे; सम्प्रवक्ष्यामि—कहूँगा; तत्त्वानाम्—परम सत्य की कोटियों के; लक्षणम्—लक्षण; पृथक्—अलग-अलग; यत्—जिसे; विदित्वा—जानकर; विमुच्येत—मुक्त हो सकता है; पुरुषः—कोई व्यक्ति; प्राकृतैः—प्रकृति के; गुणैः—गुणों से।

भगवान् कपिल ने आगे कहा : हे माता, अब मैं तुमसे परम सत्य की विभिन्न कोटियों का वर्णन करूँगा जिनके जान लेने से कोई भी पुरुष प्रकृति के गुणों के प्रभाव से मुक्त हो सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, केवल भक्ति के द्वारा भगवान् को समझा जा सकता है (*भक्त्या मामभिजानाति*)। *भागवत* में भक्ति का विषय माम् अथवा कृष्ण को बताया गया है। *श्रीचैतन्य-चरितामृत* में व्याख्या की गई है कि कृष्ण को समझने का अर्थ है कृष्ण को उनकी अंतरंगा शक्ति, उनकी बहिरंगा शक्ति, उनके विस्तारों तथा अवतारों समेत समझना। कृष्ण को समझने के लिए ज्ञान के अनेक विभाग हैं। सांख्य दर्शन विशेषतः उन लोगों के लिए है, जो इस जगत में बद्ध हैं। इसे परम्परा प्रणाली या शिष्य-परम्परा द्वारा भक्ति के विज्ञान के रूप में समझा जाता है। भक्ति के प्रारम्भिक अध्ययनों की व्याख्या पहले की जा चुकी है। भगवान् अब भक्ति का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। उनका कहना है कि ऐसे अध्ययन से मनुष्य प्रकृति के गुणों से मुक्त हो जाता है। *भगवद्गीता* में भी इसी की पुष्टि हुई है। *ततो मां तत्त्वातो ज्ञात्वा* भगवान् को ज्ञान की विभिन्न कोटियों द्वारा जानकर मनुष्य भगवद्धाम जाने का अधिकारी बन जाता है। इसकी भी यहाँ पर व्याख्या की गई है। सांख्य दर्शन में भक्ति के विज्ञान (भक्ति तत्त्व) को जान लेने से मनुष्य प्रकृति के गुणों से मुक्त हो जाता है। प्रकृति के जादू से मुक्त होकर शाश्वत आत्मा भगवद्धाम में प्रविष्ट करने का अधिकारी बन जाता है। जब तक मनुष्य में रंचमात्र भी इच्छा रहती है या प्रकृति पर अधिकार जताने की

भावना रहती है तब तक वह प्रकृति के गुणों के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकता। अतः मनुष्य को विश्लेषण द्वारा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को समझना होगा जैसाकि भगवान् कपिल ने सांख्य दर्शन में समझाया है।

ज्ञानं निःश्रेयसार्थाय पुरुषस्यात्मदर्शनम् ।
यदाहुर्वर्णये तत्ते हृदयग्रन्थिभेदनम् ॥ २॥

शब्दार्थ

ज्ञानम्—ज्ञान; निःश्रेयस-अर्थाय—चरम सिद्धि के लिए; पुरुषस्य—मनुष्य का; आत्म-दर्शनम्—आत्म-साक्षात्कार; यत्—जो; आहुः—कहा है; वर्णये—वर्णन करूँगा; तत्—वह; ते—तुमसे; हृदय—हृदय में; ग्रन्थि—ग्रन्थियाँ; भेदनम्—काटती हैं।

आत्म-साक्षात्कार की चरम सिद्धि ज्ञान है। मैं तुमको वह ज्ञान बतलाऊँगा जिससे भौतिक संसार के प्रति आसक्ति की ग्रन्थियाँ कट जाती हैं।

तात्पर्य : कहा गया है कि विशुद्ध आत्मा के सम्यक ज्ञान से अथवा आत्म-साक्षात्कार द्वारा मनुष्य भौतिक आसक्ति से मुक्त हो सकता है। ज्ञान से जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त होती है, जिससे मनुष्य अपने आपको, अपने यथार्थ रूप में, देख सकता है। इसकी पुष्टि *श्वेताश्वतर उपनिषद* (३.८) में भी इसकी पुष्टि की है। *तमेव विदित्वातिमृत्युमेति* केवल अपनी आध्यात्मिक स्थिति को जान लेने से या अपने को अपने रूप में देख लेने से मनुष्य भौतिक बन्धन से छूट सकता है। वैदिक साहित्य में आत्मदर्शन की विभिन्न विधियों का वर्णन हुआ है और *भागवत* में इसकी पुष्टि हुई है (*पुरुषस्य आत्म-दर्शनम्*) कि मनुष्य को अपने आपको देखना होता है और जानना होता है कि वह क्या है। जैसाकि कपिलदेव अपनी माता को समझाते हैं, उपयुक्त प्रामाणिक स्रोत से सुनकर यह "दर्शन" किया जा सकता है। कपिलदेव सबसे बड़े प्रमाण हैं, क्योंकि वे भगवान् हैं और यदि कोई बिना मतान्तर के जो कुछ कहा गया है उसे यथारूप में ग्रहण करता है, तो वह आत्मदर्शन कर सकता है।

भगवान् चैतन्य ने सनातन गोस्वामी से व्यक्ति की वास्तविक स्वाभाविक स्थिति की व्याख्या की है। उन्होंने प्रत्यक्ष कहा कि प्रत्येक जीवात्मा कृष्ण का शाश्वत दास है। *जीवेर 'स्वरूप' हय कृष्णेर 'नित्य दास'*। प्रत्येक जीव शाश्वत दास है। जब मनुष्य को यह ज्ञान हो

जाता है कि वह परमात्मा का अंशरूप है और उसकी शाश्वत स्थिति परमेश्वर की संगति में रह कर सेवा करना है, तो वह स्वरूपसिद्ध हो जाता है। आत्मा (स्व) को भलीभाँति समझने की इस स्थिति से भौतिक आसक्ति की ग्रन्थि कट जाती है (*हृदय-ग्रंथि भेदनम्*)। अहंकार या झूठे देहात्मबोध के कारण मनुष्य माया के पाश में आ जाता है, किन्तु जैसे ही उसे यह ज्ञान हो जाता है कि गुणात्मक रूप से वह परमेश्वर-जैसा तत्व है, क्योंकि वह आत्मा की उसी कोटि से सम्बन्धित है तथा उसकी शाश्वत स्थिति सेवा करने के लिए है, तो उसे *आत्मदर्शनम्* तथा *हृदय ग्रंथि भेदनम्* अथवा आत्म-साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है। जब मनुष्य भौतिक जगत के प्रति आसक्ति की ग्रन्थि को काट सकता है, तो उसकी समझ ज्ञान कहलाती है। *आत्मदर्शनम्* का अर्थ है ज्ञान के द्वारा अपने आपको देखना। अत: जब मनुष्य वास्तविक ज्ञान के अनुशीलन से अहंकार से रहित हो जाता है, तो वह अपने आपको देखता है और मनुष्य-जीवन की अन्तिम आवश्यकता यही है। इस प्रकार आत्मा चौबीस प्रकार की प्रकृति के बन्धन से विलग हो जाता है। क्रमबद्ध सांख्य दार्शनिक विधि का अनुसरण ज्ञान है और यही ज्ञान तथा आत्मदर्शन है।

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः ।
प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अनादिः—जिसका आदि न हो; आत्मा—परमात्मा; पुरुषः—भगवान्; निर्गुणः—प्रकृति के गुणों से परे; प्रकृतेः परः—इस भौतिक संसार से परे; प्रत्यक्-धामा—सर्वत्र दर्शनीय; स्वयम्-ज्योतिः—स्वयं प्रकाशवान; विश्वम्—सम्पूर्ण सृष्टि; येन—जिससे; समन्वितम्—पालित है।.

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् परमात्मा हैं और उनका आदि नहीं है। वे प्रकृति के गुणों से परे और इस भौतिक जगत के अस्तित्व के परे हैं। वे सर्वत्र दिखाई पड़ने वाले हैं, क्योंकि वे स्वयं प्रकाशवान हैं और उनकी स्वयं प्रकाशवान कान्ति से सम्पूर्ण सृष्टि का पालन होता है।

तात्पर्य : श्रीभगवान् को आदिरहित (अनादि) बताया गया है। वह पुरुष अर्थात् परम आत्मा है। पुरुष का अर्थ है "व्यक्ति।" जब हम अपने वर्तमान अनुभव से किसी व्यक्ति के विषय में सोचते हैं, तो उसका आदि होता है। इसका भाव यह है कि उसने जन्म लिया होगा

और उसके जीवन के प्रारम्भ से लेकर अब तक का इतिहास होगा। किन्तु यहाँ पर भगवान् को अनादि अर्थात् आरम्भ से रहित कहा गया है। यदि हम सभी व्यक्तियों का परीक्षण करें तो प्रत्येक का आदि होता है, किन्तु जब हम ऐसे व्यक्ति तक पहुँच जाते हैं जिसका कोई आदि ही नहीं हो तो वह परम पुरुष होता है। *ब्रह्म-संहिता* में यही परिभाषा दी हुई है *ईश्वर: परम: कृष्ण:* परमेश्वर परम नियन्ता कृष्ण है; वह आदिरहित है और हर एक का उद्‌गम है। यह परिभाषा समस्त वैदिक साहित्य में उपलब्ध है।

भगवान् को आत्मा कहा गया है। तो आत्मा की क्या परिभाषा है? आत्मा सर्वत्र दर्शनीय है। ब्रह्म का अर्थ है ''महान।'' उसकी महानता सर्वत्र परिलक्षित है। और वह महानता क्या है? चेतना। हमें चेतना का व्यक्तिगत अनुभव होता है, क्योंकि यह पूरे शरीर में फैली है यहाँ तक कि प्रत्येक रोमकूप में हम चेतना का अनुभव करते हैं। यह व्यक्तिगत चेतना है। इसी प्रकार परम चेतना होती है। इसके लिए एक लघु प्रकाश तथा सूर्य प्रकाश का उदाहरण लिया जा सकता है। सूर्य प्रकाश सर्वत्र, यहाँ तक कि कमरे के भीतर अथवा आकाश में भी दृष्टिगोचर होता है, किन्तु एक लघु प्रकाश विशिष्ट सीमा में ही अनुभव किया जाता है। इसी प्रकार हमारी चेतना हमारे शरीर तक ही सीमित रहती है, किन्तु परम चेतना या ईश्वर का अस्तित्व सर्वत्र देखा जाता है। वह अपनी शक्ति से सर्वत्र विद्यमान है। *विष्णु पुराण* में कहा गया है कि हमें जहाँ कहीं तथा सर्वत्र जो कुछ दिखता है, वह परमेश्वर की शक्ति का वितरण है। *भगवद्‌गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई है कि भगवान् सर्वव्यापी है और अपनी दो प्रकार की शक्तियों, आध्यात्मिक तथा भौतिक शक्तियों के द्वारा वह सर्वत्र विद्यमान रहता है। ये दोनों शक्तियाँ सर्वत्र फैली हुई हैं और यही भगवान् के अस्तित्व का प्रमाण है।

सर्वत्र चेतना का अस्तित्व क्षणिक नहीं है। यह अनादि है अर्थात् इसका कोई प्रारम्भ नहीं, अत: यह अनन्त भी है। यहाँ इस मत को स्वीकार नहीं किया गया कि चेतना का विकास भौतिक संयोग की किसी एक अवस्था में होता है, क्योंकि जो चेतना सर्वत्र विद्यमान है उसका कोई आदि नहीं है। यह भौतिकतावादी या निरीश्वरवादी सिद्धान्त कि आत्मा नहीं है, ईश्वर नहीं

है और चेतना पदार्थ के संयोग से प्रतिफलित है मान्य नहीं है। पदार्थ आदिविहीन नहीं होता, इसका आदि होता है। जिस प्रकार इस भौतिक शरीर का आदि है उसी प्रकार विराट शरीर का भी है। और जिस तरह हमारा भौतिक शरीर हमारे आत्मा के आधार पर प्रारम्भ हुआ, उसी तरह यह समग्र विराट शरीर परमात्मा के आधार पर प्रारम्भ हुआ। *वेदान्त-सूत्र* का कथन है *जन्माद्यस्य*। यह समग्र भौतिक प्रदर्शन इसकी उत्पति, वृद्धि, पालन तथा इसका संहार परम पुरुष से उद्भूत है। *भगवद्गीता* में भी भगवान् कहते हैं, "मैं आदि हूँ, प्रत्येक वस्तु के जन्म का स्रोत हूँ।"

यहाँ पर भगवान् का वर्णन हुआ है। वे अकारण हैं और समस्त कारणों के कारण हैं। *पर:* का अर्थ है "परे", "सृजनात्मक शक्ति से परे।" भगवान् सृजनात्मक शक्ति के स्रष्टा हैं। हम देखते हैं कि इस संसार में सृजनात्मक शक्ति है, किन्तु भगवान् इस शक्ति के अधीन नहीं हैं। वे तो *प्रकृति-पर:* अर्थात् इस शक्ति से परे हैं। उन्हें भौतिक शक्ति (माया) द्वारा उत्पन्न तीन प्रकार के ताप नहीं सताते, क्योंकि वे इससे परे हैं। प्रकृति के गुण उनका स्पर्श तक नहीं कर पाते। यहाँ पर *स्वयं-ज्योति:* कहा गया है, जिसका अर्थ है कि वे साक्षात् प्रकाश हैं। हमें इस जगत में यह अनुभव प्राप्त है कि एक का प्रकाश दूसरे का परावर्तन है, जिस प्रकार चाँदनी धूप का परावर्तन है। धूप ब्रह्मज्योति का परावर्तन है। इसी तरह ब्रह्मज्योति परमेश्वर के शरीर का परावर्तन है। *ब्रह्म-संहिता* में इसकी पुष्टि हुई है—*यस्य प्रभा प्रभवत:*। 'ब्रह्मज्योति' भगवान् की शारीरिक कान्ति के फलस्वरुप है। इसीलिए यहाँ स्वयं-ज्योति: कहा गया है अर्थात् वे स्वयं प्रकाश हैं। उनका प्रकाश अनेक प्रकार से बँटा हुआ है यथा ब्रह्मज्योति, सूर्यप्रकाश, चन्द्रप्रकाश। *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है कि आध्यात्मिक जगत में सूर्यप्रकाश, चाँदनी या बिजली की आवश्यकता नहीं पड़ती। उपनिषदों से भी इसकी पुष्टि होती है। चूँकि भगवान् की शारीरिक आभा आध्यात्मिक जगत को प्रकाशित करने के लिए पर्याप्त है, अत: सूर्यप्रकाश, चाँदनी या अन्य किसी प्रकाश या बिजली की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। यह आत्म प्रकाश भी इस मत का खण्डन करता है कि आत्मा या आत्म-चेतना भौतिक संयोग की किसी

अवस्था विशेष में विकसित होती है। *स्वयं-ज्योतिः* पद सूचित करता है कि किसी भौतिकता का रंचमात्र भी स्पर्श नहीं होता। यहाँ इसकी पुष्टि होती है कि भगवान् की सर्वव्यापकता उनके सर्वत्र प्रकाश से है। हमें अनुभव होता है कि सूर्य एक स्थान पर स्थित है, जब कि उसका प्रकाश चारों ओर लाखों मील तक प्रसारित है। यह हमारा व्यावहारिक अनुभव है। इसी प्रकार यद्यपि परम प्रकाश उनके निजी धाम वैकुण्ठ या वृन्दावन में स्थित है, किन्तु उनका प्रकाश न केवल स्वर्ग में अपितु उसके परे भी व्याप्त है। इस लोक में भी वही प्रकाश सूर्य गोलक द्वारा परावर्तित होता है और सूर्यप्रकाश चन्द्रगोलक द्वारा। इस प्रकार अपने धाम में स्थित रहते हुए भी उनका प्रकाश आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों के ऊपर फैला रहता है। *ब्रह्म-संहिता* (५.३७) इसकी पुष्टि करती है—*गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः*—वे भूलोक में निवास करते हैं, किन्तु तो भी वे सम्पूर्ण सृष्टि में विद्यमान हैं। वे प्रत्येक वस्तु की परम आत्मा हैं, भगवान् हैं और उनमें असंख्य दिव्य गुण हैं। यह भी निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि वे निस्सन्देह पुरुष हैं, किन्तु वे इस जगत के पुरुष नहीं हैं। मायावादी चिन्तक यह नहीं समझ सकते कि इस भौतिक जगत के परे भी पुरुष हो सकता है इसीलिए वे निर्विशेषवादी हैं। किन्तु यहाँ बड़े ही उत्तम ढंग से बताया गया है कि भगवान् इस संसार से परे हैं।

स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः ।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया ॥ ४॥

शब्दार्थ

सः एषः—वही भगवान्; **प्रकृतिम्**—भौतिक शक्ति को; **सूक्ष्माम्**—सूक्ष्म; **दैवीम्**—विष्णु से सम्बन्धित, वैष्णवी; **गुणमयीम्**—तीन गुणों से युक्त; **विभुः**—महान् से महानतम्; **यदृच्छया**—स्वेच्छा से; **इव**—पर्याप्त; **उपगताम्**—प्राप्त; **अभ्यपद्यत**—स्वीकार किया; **लीलया**—अपनी लीला के रूप में।

उस महान् से महानतम् श्रीभगवान् ने सूक्ष्म भौतिक शक्ति को अपनी लीला के रूप में स्वीकार किया जो त्रिगुणमयी है और विष्णु से सम्बन्धित है।

तात्पर्य : इस श्लोक में गुणमयीम् शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दैवीम् का अर्थ है ''भगवान् की शक्ति'' और गुणमयीम् का अर्थ है ''प्रकृति के तीन गुणों से युक्त।'' जब भगवान् की भौतिक शक्ति प्रकट होती है, तो यह गुणमयीम् शक्ति तीनों गुणों की शक्तियों के

प्राकट्य के रूप में होती है, यह आवरण के रूप में कार्य करती है। भगवान् से उद्‌भूत शक्ति दो रूपों में प्रकट होती है परमेश्वर से उद्‌भव के रूप में तथा उनके मुखमण्डल के आवरण के रूप में। *भगवद्‌गीता* में कहा गया है कि चूँकि सारा जगत प्रकृति के तीनों गुणों से मोहित रहता है, अत: सामान्य जीव ऐसी शक्ति से आच्छादित होने के कारण भगवान् को नहीं देख सकता। यहाँ पर बादल का उदाहरण सटीक होगा। सहसा आकाश में एक बड़ा बादल प्रकट हो सकता है। इस बादल को दो प्रकार से देखा जा सकता है। सूर्य के लिए यह उनकी शक्ति की सृष्टि है, किन्तु सामान्य बद्धजीव के लिए यह उसकी आँखों के लिए आवरण (पर्दा) है, बादल के कारण सूर्य नहीं देखा जा सकता है। ऐसा नहीं है कि सूर्य वास्तव में बादल से ढक गया हो, केवल सामान्य व्यक्ति की दृष्टि ढक जाती है। इसी प्रकार यद्यपि माया परमेश्वर को आच्छादित नहीं कर सकती, क्योंकि वे माया से परे हैं, किन्तु यही माया सामान्य जीवात्माओं को आच्छादित कर लेती है। इस प्रकार आच्छादित होने वाले बद्धजीव पृथक्-पृथक् जीवात्माएँ हैं और जिनकी शक्ति से माया उत्पन्न होती है वे भगवान् हैं।

श्रीमद्‌भागवत में अन्यत्र (प्रथम स्कन्ध के सातवें अध्याय में) कहा गया है कि व्यासदेव ने अपनी आध्यात्मिक दृष्टि से भगवान् का दर्शन किया और माया भगवान् के पीछे खड़ी रही। इसका यह अर्थ हुआ कि माया भगवान् को आच्छादित नहीं कर सकती, जिस तरह कि अंधकार सूर्य को आच्छादित नहीं कर सकता। अन्धकार केवल उतना ही क्षेत्र घेर पाता है, जो सूर्य की तुलना में नगण्य है। अंधकार किसी गुफा को ढक सकता है, खुले आकाश को नहीं। इसी प्रकार माया की आच्छादन शक्ति सीमित है और वह भगवान् पर असर नहीं दिखा पाती इसीलिए वे विभु कहलाते हैं। जिस तरह बादल के प्राकट्य को सूर्य स्वीकारता है उसी प्रकार भगवान् कुछ अन्तराल के लिए माया के प्राकट्य को स्वीकारते हैं। यद्यपि उनकी यह भौतिक शक्ति भौतिक जगत की उत्पत्ति के काम आती है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि इस शक्ति से वे आच्छादित हैं। जो लोग इस भौतिक शक्ति से आच्छदित होते हैं, वे बद्धजीव कहलाते हैं। भगवान् उत्पति, पालन तथा संहार जैसी लीलाओं के लिए भौतिक शक्ति को

स्वीकारते हैं। किन्तु बद्धजीव आच्छादित चला आ रहा होता है, वह यह नहीं समझ पाता कि इस भौतिक शक्ति के परे भगवान् हैं, जो समस्त कारणों के कारण हैं, ठीक उसी तरह अल्पज्ञ व्यक्ति यह नहीं समझ पाता कि बादलों के पार सूर्यप्रकाश है।

गुणैर्विचित्राः सृजतीं सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः ।
विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञानगूहया ॥५॥

शब्दार्थ

गुणैः—तीनों गुणों से; विचित्राः—विविध प्रकार का; सृजतीम्—उत्पन्न करती हुई; स-रूपाः—रूपों सहित; प्रकृतिम्—प्रकृति; प्रजाः—जीवात्माएँ; विलोक्य—देखकर; मुमुहे—मोहग्रस्त था; सद्यः—तुरन्त; सः—जीवात्मा; इह—इस संसार में; ज्ञान-गूहया—ज्ञान-आवरण के गुण से।

अपने तीन गुणों से अनेक प्रकारों में विभक्त यह भौतिक प्रकृति जीवों के स्वरूपों को उत्पन्न करती है और इसे देखकर सारे जीव माया के ज्ञान-आच्छादक गुण से मोहग्रस्त हो जाते हैं।

तात्पर्य : माया में ज्ञान को आच्छादित करने की शक्ति है, किन्तु इस आवरण (आच्छादन) को भगवान् पर लागू नहीं किया जा सकता। यह केवल *प्रजाः* या भौतिक शरीर के साथ पैदा हुए हैं, अर्थात् बद्धजीवों पर ही लागू होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक साहित्य में कहा गया है, विभिन्न प्रकार के जीव प्रकृति के गुणों के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। *भगवद्गीता* (७.१२) में बहुत अच्छी तरह व्याख्या की गई है कि यद्यपि सतो, रजो तथा तमोगुण भगवान् से उत्पन्न हैं, किन्तु भगवान् इनके अधीन नहीं होते। दूसरे शब्दों में, श्रीभगवान् से उद्भूत शक्ति उन पर प्रभाव नहीं डाल सकती, वह बद्धजीवों पर प्रभाव डालती है, जो भौतिक शक्ति से आच्छादित रहते हैं। भगवान् समस्त जीवों के पिता हैं, क्योंकि वे भौतिक शक्ति में जीवों का गर्भाधान करते हैं। इसीलिए बद्धजीवों को भौतिक शक्ति से उत्पन्न शरीर प्राप्त होते हैं जबकि इन जीवों का पिता तीनों गुणों से पृथक् ही रहता है।

पिछले श्लोक में कहा गया है कि भगवान् ने भौतिक शक्ति को इसलिए स्वीकार किया जिससे वे उन जीवों को लीलाएँ दिखा सकें जो उनका आनन्द लेना चाहती हैं और भौतिक शक्ति पर अधिकार जताना चाहती हैं। यह संसार ऐसे जीवों के तथाकथित भोग के लिए

भगवान् की भौतिक शक्ति से उत्पन्न किया गया है। बद्धजीवों के कष्टों के लिए इस भौतिक जगत की उत्पत्ति क्यों हुई यह अत्यन्त जटिल प्रश्न है। पिछले श्लोक के *लीलया* शब्द में जिसका अर्थ "भगवान् की लीलाओं के लिए" है इसका संकेत मिलता है। भगवान् बद्धजीवों के भोगपरक स्वभाव को सुधारना चाहते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् ही एकमात्र भोक्ता हैं। अत: यह भौतिक शक्ति उसके लिए उत्पन्न की गई है, जो भोग करने का स्वाँग भरता है। यहाँ एक उदाहरण उपयुक्त होगा सरकार को पृथक् पुलिस विभाग की आवश्यकता नहीं पड़ती, किन्तु यह वास्तविकता है कि कुछ नागरिक राज्य के नियमों का पालन नहीं करेंगे, अत: आततायियों से निपटना आवश्यक हो जाता है। आवश्यकता न रहने पर भी आवश्यकता रहती है। इसी प्रकार बद्धजीवों को कष्ट देने के लिए इस भौतिक जगत को उत्पन्न करने की कोई आवश्यकता न थी, किन्तु साथ ही कुछ ऐसे लोग हैं, जो नित्यबद्ध हैं अर्थात् निरन्तर बद्ध रहते हैं। हम कहते हैं कि वे अनादि काल से बद्ध रहे हैं, क्योंकि कोई यह नहीं पता लगा सकता कि जीव, जो परमेश्वर का भिन्नांश है, कब भगवान् की श्रेष्ठता के प्रति विद्रोही बन गया।

वस्तुत: मनुष्यों की दो श्रेणियाँ हैं, वे जो भगवान् के नियमों के पालक हैं और वे जो नास्तिक हैं तथा ईश्वर के अस्तित्व को न मानते हुए अपने नियम बनाना चाहते हैं। वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि हर व्यक्ति अपने नियम या अपना धर्म-पंथ बना सकता है। इन दोनों श्रेणियों के अस्तित्व के प्रारम्भ को जाने बिना हम यह निश्चित रूप से मान सकते हैं कि कुछ जीवों ने भगवान् के नियमों के विरुद्ध विद्रोह किया होगा। ऐसे जीव बद्धजीव कहलाते हैं, क्योंकि वे तीनों गुणों से बँधे होते हैं। इसीलिए यहाँ पर *गुणैर्विचित्रा:* शब्द व्यवहृत हुए हैं।

इस संसार में चौरासी लाख योनियाँ हैं। आत्माओं के रूप में ये सभी इस जगत से परे हैं। तो फिर वे जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में अपने आपको क्यों प्रदर्शित करते हैं? इसका यहाँ उत्तर दिया गया है। वे प्रकृति के तीन गुणों के चक्र के अधीन रहते हैं। चूँकि उनकी उत्पत्ति भौतिक शक्ति से हुई, अत: उनके शरीर भौतिक तत्त्वों से बने होते हैं। भौतिक शरीर से

आच्छदित होने के कारण आध्यात्मिक स्वरूप समाप्त हो जाता है। इसीलिए यहाँ पर *मुमुहे* शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिससे इंगित होता है कि वे अपना आध्यात्मिक स्वरूप भूल गये हैं। आध्यात्मिक स्वरूप की यह विस्मृति जीवों में पाई जाती है, क्योंकि वे प्रकृति की शक्ति से आच्छादित होने के कारण बद्ध रहते हैं। एक अन्य शब्द भी प्रयुक्त हुआ है *ज्ञान गूहया*। गूहा का अर्थ है आवरण। चूँकि छोटे-छोटे बद्धजीवों का ज्ञान आच्छादित रहता है, अत: वे अनेक योनियों में प्रकट होते हैं। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध के सातवें अध्याय में कहा गया है, "जीव भौतिक शक्ति से मोहित रहते हैं।" वेदों में भी कहा गया है कि शाश्वत जीवात्माएँ विभिन्न गुणों से आच्छादित रहती हैं और वे तिरंगी जीव लाल, सफेद तथा नीली कहलाती हैं। लाल रंग रजोगुण का प्रतीक है, श्वेत सतोगुण का और नीला तमोगुण का प्रतीक है। ये प्रकृति के गुण भौतिक शक्ति से सम्बन्धित होते हैं, फलत: विभिन्न गुणों के अन्तर्गत जीव भिन्न प्रकार के शरीर पाते हैं। चूँकि वे अपनी आध्यात्मिक पहचान के प्रति विस्मरणशील रहते हैं, अत: शरीरों को आत्मा (स्व) मानते हैं। बद्धजीव के लिए 'मुझ' का अर्थ शरीर है। यह मोह कहलाता है।

कठोपनिषद् में बारम्बार कहा गया है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कभी भी भौतिक प्रकृति द्वारा प्रभावित नहीं होते। वे तो दर असल बद्धजीव या परमेश्वर के अत्यन्त सूक्ष्म अंश हैं जिन पर भौतिक प्रकृति का प्रभाव पड़ता है और जो भौतिक गुणों के अधीन विभिन्न शरीरों में दिखाई पड़ते हैं।

एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृतेः पुमान् ।
कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; पर—अन्य; अभिध्यानेन—पहचान से; कर्तृत्वम्—कर्म का सम्पादन; प्रकृतेः—प्रकृति का; पुमान्—जीवात्मा; कर्मसु क्रियमाणेषु—कर्म करते समय; गुणैः—तीन गुणों के द्वारा; आत्मनि—अपने आपको; मन्यते—मानता है।

अपनी विस्मृति के कारण दिव्य जीवात्मा प्रकृति के प्रभाव को अपना कर्मक्षेत्र मान बैठता है और इस प्रकार प्रेरित होकर त्रुटिवश अपने को कर्मों का कर्ता मानता है।

तात्पर्य : भुलक्कड़ जीव की तुलना उस व्यक्ति से की जा सकती है, जो रोग के कारण पगला जाता है अथवा जिसे भूत लग गया हो और जो अनियन्त्रित कर्म करते हुए भी अपने को नियन्त्रित समझता है। प्रकृति के वशीभूत होकर बद्धजीव भौतिक चेतना में लीन रहता है। इस चेतना में बद्धजीव भौतिकशक्ति के वशीभूत होकर जो भी करता है उसे वह आत्म-प्रेरित मान बैठता है। वास्तव में आत्मा को अपनी शुद्ध अवस्था में कृष्णचेतना में रहना चाहिए। जब कोई व्यक्ति कृष्णचेतना में कार्य नहीं करता तो समझा जाता है कि वह भौतिक चेतना में कार्य कर रहा है। चेतना मारी नहीं जा सकती, क्योंकि जीव का लक्षण ही चेतना है। भौतिक चेतना को केवल शुद्ध करना पड़ता है। कृष्ण या परमेश्वर को स्वामी के रूप में स्वीकर करने तथा अपनी चेतना को भौतिक से कृष्णचेतना में बदल देने से मनुष्य मुक्त हो जाता है।

तदस्य संसृतिर्बन्धः पारतन्त्र्यं च तत्कृतम् ।
भवत्यकर्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः ॥ ७॥

शब्दार्थ

तत्—भ्रान्त धारणा से; अस्य—जीव का; संसृतिः—बद्ध जीवन; बन्धः—बन्धनः; पार-तन्त्र्यम्—पराधीन, निर्भरता; च—तथा; तत्-कृतम्—उससे निर्मित; भवति—है; अकर्तुः—अकर्ता का; ईशस्य—स्वतन्त्र; साक्षिणः—साक्षी, गवाह; निर्वृत-आत्मनः—प्रकृति से प्रसन्न।

भौतिक चेतना ही मनुष्य के बद्धजीवन का कारण है, जिसमें परिस्थितियाँ जीव पर हाबी हो जाती हैं। यद्यपि आत्मा कुछ भी नहीं करता और ऐसे कर्मों से परे रहता है, किन्तु इस प्रकार वह बद्धजीवन से प्रभावित होता है।

तात्पर्य : मायावादी विचारक, जो परम आत्मा तथा व्यष्टि आत्मा में अन्तर नहीं कर पाता, कहता है कि जीव की बद्धावस्था उसकी लीला है। किन्तु लीला का अर्थ है भगवान् के कार्यकलापों में नियोजित होना। मायावादी इस शब्द का गलत प्रयोग करते हैं और कहते हैं कि भले ही जीव मलभक्षी शूकर क्यों न बन जावे, वह अपनी लीलाओं का आनन्द भोगता है। यह अत्यंत घातक व्याख्या है। वस्तुत: परमेश्वर समस्त जीवों के नायक तथा पालक हैं। उनकी लीलाएँ किसी भी भौतिक कार्य से परे हैं। भगवान् की ऐसी लीलाओं को जीव के बद्धकर्मों तक घसीट कर नीचे नहीं लाया जा सकता। बद्धजीवन में जीव भौतिक शक्ति के हाथों में बन्दी

जैसा बना रहता है। भौतिक शक्ति जो भी कराती है, बद्धजीव करता है। उसका अपना कोई उत्तरदायित्व नहीं रहता, वह कर्म का साक्षी मात्र रहता है। किन्तु उसे कृष्ण के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध को न समझने के अपराध में ऐसा करने के लिए बाध्य किया जाता है। इसीलिए भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* में कहते हैं कि माया इतनी प्रबल है कि वह दुर्लंघ्य होती है। किन्तु यदि जीव केवल इतना ही जान ले कि उसकी स्वाभाविक स्थिति कृष्ण की सेवा करना है और यदि वह इस नियम के अनुसार कार्य करता चले तो वह कितना ही बद्ध क्यों न रहे, माया का प्रभाव तुरन्त दूर हो जाता है। *भगवद्गीता* के सप्तम अध्याय में इसका स्पष्ट कथन हुआ है। जो कोई असहाय होने के कारण कृष्ण की शरण लेता है, उसका भार कृष्ण ले लेते हैं और इस तरह माया का प्रभाव मिट जाता है।

आत्मा वास्तव में सच्चिदानन्द है शाश्वत, आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण है। किन्तु माया के चंगुल में वह बारम्बार जन्म, मृत्यु, रोग तथा वृद्धावस्था का कष्ट पाता है। मनुष्य को इस सांसारिक परिस्थिति से निबटने तथा अपने आपको कृष्णभक्ति तक लाने के लिए उद्योगशील रहना होता है, क्योंकि इस तरह उसके दीर्घकालीन कष्टों का सहज ही अन्त हो सकता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि बद्धजीव को जो कष्ट मिलता है, वह प्रकृति के प्रति उसकी आसक्ति के फलस्वरूप होता है। इसलिए इस आसक्ति को जड़ पदार्थ से श्रीकृष्ण में स्थानान्तरित कर दिया जाना चाहिए।

कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः ।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

कार्य—शरीर; कारण—इन्द्रियाँ; कर्तृत्वे—देवताओं के विषय में; कारणम्—कारण; प्रकृतिम्—प्रकृति; विदुः—विद्वान समझते हैं; भोक्तृत्वे—अनुभव के विषय में; सुख—सुख का; दुःखानाम्—तथा दुख का; पुरुषम्—आत्मा; प्रकृतेः—प्रकृति का; परम्—दिव्य।

बद्धजीव के शरीर, इन्द्रियों तथा इन्द्रियों के अधिष्ठता देवों का कारण भौतिक प्रकृति है। इसे विद्वान मनुष्य जानते हैं। स्वभाव से दिव्य, ऐसे आत्मा के सुख तथा दुख जैसे अनुभव स्वयं आत्मा द्वारा उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जब भगवान् इस संसार में अवतरित होते हैं, तो वे आत्ममाया द्वारा पुरुष के रूप में आते हैं। वे किसी परा प्रकृति द्वारा बाध्य नहीं किये जाते। वे स्वेच्छा से आते हैं और इसे ही उनकी 'लीला' कहा जा सकता है। किन्तु यहाँ स्पष्ट रूप से कहा गया है कि बद्धजीव को प्रकृति के तीन गुणों के अधीन किसी विशेष प्रकार का शरीर तथा इन्द्रियाँ धारण करने के लिए बाध्य किया जाता है। उसे यह शरीर अपनी रुचि के अनुसार प्राप्त नहीं होता। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि बद्धजीव को स्वतन्त्र चुनाव करने की छूट नहीं होती; उसे अपने कर्म के अनुसार कोई-न-कोई शरीर स्वीकार करना पड़ता है। किन्तु जब शारीरिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं जैसी कि सुख तथा दुख में अनुभव की जाती हैं, तो यह समझना चाहिए कि इसका कारण स्वयं आत्मा है। यदि आत्मा चाहे तो इस द्वैतपूर्ण बद्ध जीवन को कृष्ण की सेवा ग्रहण करके बदल सकता है। जीव ही अपने कष्टों का कारण है, किन्तु वह अपने शाश्वत सुख का भी कारण हो सकता है। जब वह कृष्णभक्ति में प्रवृत्त होना चाहता है, तो भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति द्वारा उसे उपयुक्त शरीर प्रदान किया जाता है और जब वह अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करना चाहता है, तो उसे भौतिक शरीर प्रदान किया जाता है। अत: आध्यात्मिक शरीर या भौतिक शरीर स्वीकार करना जीव के मनचाहे चुनाव पर निर्भर करता है, किन्तु एक बार शरीर स्वीकार कर लेने पर सुख या दुख उठाना पड़ता है। मायावादी चिन्तक का कहना है कि जीव शूकर का शरीर धारण करके भी अपनी लीलाओं का आनन्द उठाता है। किन्तु यह मत स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि 'लीला' शब्द भोग की स्वेच्छ स्वीकृति के लिए प्रयुक्त होता है। अत: यह व्याख्या अत्यन्त भ्रामक है। जब दुख को बाध्य होकर स्वीकार करना पड़े तो वह 'लीला' नहीं है। भगवान् की लीलाएँ तथा बद्धजीव द्वारा कर्मफल की स्वीकृति समान धरातल पर नहीं होतीं।

देवहूतिरुवाच

प्रकृते: पुरुषस्यापि लक्षणं पुरुषोत्तम ।
ब्रूहि कारणयोरस्य सदसच्च यदात्मकम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

देवहूतिः उवाच—देवहूति ने कहा; प्रकृतेः—शक्तियों का; पुरुषस्य—परम पुरुष की; अपि—भी; लक्षणम्—लक्षण; पुरुष-उत्तम—हे भगवान्; ब्रूहि—कहें; कारणयोः—कारण; अस्य—इस सृष्टि का; सत्-असत्—प्रकट तथा अप्रकट; च—तथा; यत्-आत्मकम्—जिससे युक्त।

देवहूति ने कहा : हे भगवान्, आप परम पुरुष तथा उनकी शक्तियों के लक्षण कहें, क्योंकि ये दोनों इस प्रकट तथा अप्रकट सृष्टि के कारण हैं।

तात्पर्य : प्रकृति का सम्बन्ध परमेश्वर तथा जीवात्मा दोनों से है, ठीक वैसे ही है जैसे कि स्त्री अपने पति से पत्नी के रूप में और बच्चों से माता के रूप में सम्बन्धित होती है। *भगवद्गीता* में भगवान् का कथन है कि वे माता प्रकृति के गर्भ में जीवात्मा रूप सन्तानों को प्रविष्ट कराते हैं और फिर जीवों की समस्त योनियाँ प्रकट होती हैं। प्रकृति के साथ समस्त जीवों के सम्बन्ध की व्याख्या की जा चुकी है। अब देवहूति प्रकृति तथा परमेश्वर के बीच जो सम्बन्ध पाया जाता है उसके विषय में पूछती हैं। इस सम्बन्ध का परिणाम (फल) प्रकट तथा अप्रकट जगत बताया गया है। अप्रकट जगत सूक्ष्म महत् तत्त्व है और इस महत् तत्त्व से दृश्य जगत प्रकट हुआ।

वैदिक साहित्य में बतलाया गया है कि परमेश्वर की दृष्टि डालने ही सारी भौतिक शक्ति प्रविष्ट हो जाती है और तब प्रकृति से प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है। *भगवद्गीता* के नवें अध्याय में भी पुष्टि की गई है कि उन्हीं की दृष्टि के अन्तर्गत–*अध्यक्षेण* अर्थात् उनके निर्देशन तथा उन्हीं की इच्छा से प्रकृति कार्य करती है। ऐसा नहीं कि प्रकृति मनमाने ढंग से कार्य करती है। प्रकृति के प्रसंग में बद्धजीवों की स्थिति को समझते हुए देवहूति ने जानना चाहा कि प्रकृति कैसे भगवान् के निर्देशन में कार्य करती है और प्रकृति तथा भगवान् के बीच कैसा सम्बन्ध होता है। दूसरे शब्दों में, उन्होंने यह जानना चाहा कि प्रकृति के सन्दर्भ में भगवान् के गुण क्या हैं।

जीवात्मा का पदार्थ से और परमेश्वर का पदार्थ से जो सम्बन्ध है, वह समान स्तर पर नहीं है, भले ही मायावादी ऐसा कहते रहें। जब यह कहा जाता है कि जीवात्माएँ मोहग्रस्त होती हैं, तो मायावादी इस मोह को परमेश्वर पर आरोपित करते हैं। किन्तु ऐसा होता नहीं है। ईश्वर कभी मोहग्रस्त नहीं होते। सगुणवादियों तथा निर्गुणवादियों का यही अन्तर है। देवहूति अज्ञानी

नहीं हैं। वे इतना तो समझती ही थीं कि जीवात्माएँ परमेश्वर के समान स्तर पर नहीं हैं। अत्यन्त लघु होने के कारण जीवात्माएँ प्रकृति द्वारा मोहग्रस्त या बद्ध होती रहती हैं, किन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं है कि परमेश्वर भी बद्ध या मोहग्रस्त होता है। बद्धजीव तथा भगवान् के बीच का अन्तर यही है कि भगवान् प्रकृति के स्वामी हैं, अत: वे प्रकृति के वश में नहीं होते। वे न तो आध्यात्मिक प्रकृति के वशीभूत हैं, न ही भौतिक प्रकृति के। वे स्वयं परम नियन्ता हैं, उनकी तुलना सामान्य जीवों से नहीं की जा सकती जो प्रकृति के नियमों द्वारा नियन्त्रित होते हैं।

इस श्लोक में *सत्* तथा *असत्* इन दो शब्दों का प्रयोग हुआ है। दृश्य जगत असत् है यह विद्यमान नहीं है, किन्तु भगवान् की भौतिक शक्ति सत् अर्थात् चिर विद्यमान है। प्रकृति सूक्ष्म रूप में भगवान् की शक्ति के रूप में विद्यमान रहती है, किन्तु कभी-कभी यह क्षणिक होती है। यहाँ पर माता तथा पिता का दृष्टान्त दिया जा सकता है माता तथा पिता दोनों का अस्तित्व है, किन्तु माता बच्चे उत्पन्न करती है। इसी प्रकार यह दृश्य जगत, जो परमेश्वर की अदृश्य प्रकृति से उत्पन्न है कभी प्रकट होता है और कभी अदृश्य हो जाता है। किन्तु प्रकृति सदैव रही आती है और भगवान् इस जगत के सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों ही स्वरूपों के परम कारण हैं।

श्रीभगवानुवाच
यत्तत्त्रिगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
प्रधानं प्रकृतिं प्राहुरविशेषं विशेषवत् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; यत्—अब आगे; तत्—वह; त्रि-गुणम्—तीन गुणों का संयोग; अव्यक्तम्—अप्रकट; नित्यम्—शाश्वत; सत्-असत्-आत्मकम्—कार्य तथा कारण से युक्त; प्रधानम्—प्रधान; प्रकृतिम्—प्रकृति; प्राहु:—कहते हैं; अविशेषम्—जिसमें अन्तर न किया जा सके; विशेष-वत्—अन्तर से युक्त।

भगवान् ने कहा : तीनों गुणों का अप्रकट शाश्वत संयोग ही प्रकट अवस्था का कारण है और प्रधान कहलाता है। जब यह प्रकट अवस्था में होता है, तो इसे प्रकृति कहते हैं।

तात्पर्य : भगवान् इंगित करते हैं कि प्रकृति सूक्ष्म अवस्था में होती है, जिसे प्रधान कहते हैं और वे इस प्रधान का विवेचन करते हैं। प्रधान एवं प्रकृति की व्याख्या यों है कि *प्रधान*

सूक्ष्म है, समस्त भौतिक तत्त्वों का निर्विशेष सार है। यद्यपि ये निर्विशेष हैं, किन्तु यह समझा जा सकता है कि उसमें सार तत्त्व निहित हैं। जब तीनों गुणों के द्वारा समस्त भौतिक तत्त्व प्रकट होते हैं, तो यही प्राकट्य प्रकृति कहलाती है। निराकारवादी कहते हैं कि ब्रह्म में कोई विविधता व भिन्नता नहीं है। अत: यह कहा जा सकता है कि प्रधान ब्रह्म-अवस्था है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। प्रधान ब्रह्म से भिन्न है, क्योंकि ब्रह्म में प्रकृति के तीनों गुणों का अस्तित्व नहीं रहता। यह तर्क किया जा सकता है कि महत् तत्त्व भी प्रधान से भिन्न है, क्योंकि महत् तत्त्व में प्राकट्य होता है। किन्तु यहाँ प्रधान की वास्तविक व्याख्या दी गई है। जब कार्य-कारण स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं होते (अव्यक्त) तो समस्त तत्त्वों में कोई प्रतिक्रिया नहीं होती और प्रकृति की इस अवस्था को प्रधान कहते हैं। प्रधान कालतत्त्व भी नहीं है, क्योंकि काल में कार्य-कारण, सृष्टि तथा प्रलय होते हैं। न तो यह जीव है, न उपाधिमय बद्धजीव है, क्योंकि जीवों की उपाधियाँ शाश्वत नहीं हैं। इस प्रसंग में *नित्य* विशेषण के रूप में प्रयुक्त है, जो शाश्वतता का सूचक है। अत: अपने प्राकट्य के पूर्व प्रकृति की अवस्था प्रधान कहलाती है।

पञ्चभिः पञ्चभिर्ब्रह्म चतुर्भिर्दशभिस्तथा ।
एतच्चतुर्विंशतिकं गणं प्राधानिकं विदुः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

पञ्चभिः—पाँच सहित (स्थूल तत्त्व); पञ्चभिः—पाँच (सूक्ष्म तत्त्व); ब्रह्म—ब्रह्म; चतुर्भिः—चार (अन्तःकरण); दशभिः—दस (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ); तथा—उस प्रकार से; एतत्—यह; चतुः-विंशतिकम्—चौबीस तत्त्वों वाला; गणम्—समूह; प्राधानिकम्—प्रधान से युक्त; विदुः—जानते हैं।

पाँच स्थूल तत्त्व, पाँच सूक्ष्म तत्त्व, चार अन्तःकरण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ इन चौबीस तत्त्वों का यह समूह प्रधान कहलाता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के अनुसार यहाँ पर वर्णित चौबीस तत्त्वों का समूह *योनिर्महद्ब्रह्म* कहलाता है। सारे जीव इसी *योनिर्महद्ब्रह्म* में समाये हैं और वे विभिन्न रूपों में—ब्रह्म से लेकर चींटी तक में—उत्पन्न होते हैं। *श्रीमद्भागवत* तथा अन्य वैदिक ग्रन्थों में भी चौबीस तत्त्वों का

यह समूह अथवा प्रधान योनिर्महद्ब्रह्म के रूप में वर्णित है; यह समस्त जीवों के जन्म तथा पालन का स्रोत है।

महाभूतानि पञ्चैव भूरापोऽग्निर्मरुन्नभः ।
तन्मात्राणि च तावन्ति गन्धादीनि मतानि मे ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

महा-भूतानि—स्थूल तत्त्व; पञ्च—पाँच; एव—ठीक-ठीक; भूः—पृथ्वी; आपः—जल; अग्निः—अग्नि; मरुत्—वायु; नभः—आकाश; तत्-मात्राणि—सूक्ष्म तत्त्व; च—तथा; तावन्ति—इतने सारे; गन्ध-आदीनि—गंध इत्यादि (स्वाद, रंग, स्पर्श तथा ध्वनि); मतानि—माने जाते हैं; मे—मेरे द्वारा।

पाँच स्थूल तत्त्वों के नाम हैं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश (शून्य)। सूक्ष्म तत्त्व भी पाँच हैं—गंध, स्वाद, रंग, स्पर्श तथा शब्द (ध्वनि)।

इन्द्रियाणि दश श्रोत्रं त्वग्दृग्रसननासिकाः ।
वाक्करौ चरणौ मेढ्रं पायुर्दशम उच्यते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; दश—दस; श्रोत्रम्—श्रवणेन्द्रिय; त्वक्—स्पर्शेन्द्रिय; दृक्—दृष्टि की इन्द्रिय; रसन—स्वाद की इन्द्रिय; नासिकाः—गन्ध की इन्द्रिय; वाक्—वाणी की इन्द्रिय; करौ—दो हाथ; चरणौ—चलने की इन्द्रियाँ (पाँव); मेढ्रम्—जननेन्द्रिय; पायुः—मलत्याग की इन्द्रिय; दशमः—दसवीं; उच्यते—कहलाती है।

ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों को मिलाकर इनकी संख्या दस है। ये हैं—श्रवणेन्द्रिय, स्वादेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय दृश्येन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, वागेन्द्रिय, कार्य करने की इन्द्रियाँ, चलने की इन्द्रियाँ, जननेन्द्रियाँ तथा मलत्याग इन्द्रियाँ।

मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तमित्यन्तरात्मकम् ।
चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्त्या लक्षणरूपया ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

मनः—मन; बुद्धिः—बुद्धि; अहङ्कारः—अहंकार; चित्तम्—चेतना; इति—इस प्रकार; अन्तः-आत्मकम्—आन्तरिक सूक्ष्म इन्द्रियाँ; चतुः-धा—चार प्रकार की; लक्ष्यते—देखी जाती हैं; भेदः—अन्तर; वृत्त्या—अपने कार्यों से; लक्षण-रूपया—विभिन्न लक्षणों द्वारा।

आन्तरिक सूक्ष्म इन्द्रियाँ मन, बुद्धि, अहंकार तथा कलुषित चेतना के रूप में चार प्रकार की जानी जाती हैं। उनके विभिन्न कार्यों के अनुसार ही इनमें भेद किया जा सकता है क्योंकि ये विभिन्न लक्षणों को बताने वाली हैं।

तात्पर्य : चार आन्तरिक या सूक्ष्म इन्द्रियाँ, जिनका यहाँ पर वर्णन हुआ है वे अपने विभिन्न लक्षणों से परिभाषित की जाती हैं। जब शुद्ध चेतना भौतिक कल्मष से दूषित हो जाती है और देहात्मबुद्धि प्रधान हो तो कहा जाता है कि मनुष्य अहंकार के वशीभूत है। चेतना आत्मा का कर्म है, अत: चेतना के पीछे आत्मा रहता है। भौतिक कल्मष से दूषित चेतना अहंकार कहलाती है।

एतावानेव सङ्ख्यातो ब्रह्मण: सगुणस्य ह ।
सन्निवेशो मया प्रोक्तो य: काल: पञ्चविंशक: ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

एतावान्—इतना; एव—ही; सङ्ख्यात:—गिनाया गया; ब्रह्मण:—ब्रह्म का; स-गुणस्य—भौतिक गुणों से युक्त; ह—निस्सन्देह; सन्निवेश:—प्रबन्ध; मया—मेरे द्वारा; प्रोक्त:—कहा गया; य:—जो; काल:—समय; पञ्च-विंशक:—पच्चीसवाँ।

इन सबको सुयोग्य ब्रह्म माना जाता है। इन सबको मिलाने वाला तत्त्व काल है, जिसे पच्चीसवें तत्त्व के रूप में गिना जाता है।

तात्पर्य : वैदिक कथन के अनुसार ब्रह्म के परे कोई अस्तित्व नहीं है—*सर्वं खल्विदं ब्रह्म* (*छान्दोग्य उपनिषद्* ३.१४.१)। *विष्णु-पुराण* में भी कहा गया है कि जो कुछ हम देखते हैं वह *परस्य ब्रह्मण: शक्ति:*—प्रत्येक वस्तु परम सत्य ब्रह्म के विस्तार की शक्ति है। जब ब्रह्म को सतो, रजो तथा तमो गुणों के साथ मिला दिया जाता है, तो भौतिक विस्तार होता है, जिसे कभी-कभी *सगुण* ब्रह्म कहते हैं जिसमें ये पच्चीसों तत्त्व रहते हैं। *निर्गुण* ब्रह्म में कोई भौतिक कल्मष नहीं रहता अथवा आध्यात्मिक जगत (वैकुण्ठ) में सतो, रजो तथा तमो—ये तीनों गुण नहीं रहते। जहाँ *निर्गुण* ब्रह्म विद्यमान रहता है, वहाँ शुद्ध सत्त्व पाया जाता है। सांख्य दर्शन के अनुसार *सगुण* ब्रह्म में पच्चीस तत्त्व सम्मिलित हैं जिनमें काल (भूत, वर्तमान तथा भविष्य) भी है।

प्रभावं पौरुषं प्राहु: कालमेके यतो भयम् ।
अहङ्कारविमूढस्य कर्तु: प्रकृतिमीयुष: ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

प्रभावम्—प्रभाव; पौरुषम्—भगवान् का; प्राहुः—कहा गया है; कालम्—काल; एके—कुछ; यतः—जिससे; भयम्—भय; अहङ्कार-विमूढस्य—अहंकार से विमूढ़; कर्तुः—आत्मा का; प्रकृतिम्—प्रकृति को; ईयुषः—स्पर्श करके।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का प्रभाव काल में अनुभव किया जाता है, क्योंकि यह भौतिक प्रकृति के सम्पर्क में आने वाले मोहित आत्मा के अहंकार के कारण मृत्यु का भय उत्पन्न करता है।

तात्पर्य : जीव को मृत्यु का भय उसमें देहात्मबोध के कारण अहंकार की उत्पत्ति से होता है। हर कोई मृत्यू से भयभीत रहता है वास्तव में आत्मा की मृत्यु नहीं होती, किन्तु देहात्मबोध के कारण मृत्यु-भय उत्पन्न होता है। *श्रीमद्भागवत* (११.२.३७) में कहा गया है—*भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्*। द्वितीय का अर्थ है भौतिक पदार्थ, जो आत्मा के परे है। पदार्थ आत्मा का गौण प्राकट्य है, क्योंकि पदार्थ आत्मा से प्रसूत है। जिस प्रकार यहाँ पर वर्णित भौतिक तत्त्व परमेश्वर या परमात्मा द्वारा उत्पन्न हैं उसी प्रकार शरीर भी आत्मा की उपज है। इसीलिए शरीर को *द्वितीय* कहा गया है। जब मनुष्य इस द्वितीय तत्त्व या आत्मा के द्वितीय प्रदर्शन में तल्लीन रहता है, तो वह मृत्यु से भयभीत रहता है। जब उसे यह पूर्ण विश्वास हो जाता है कि वह अपना शरीर नहीं है, तो मृत्यु से डरने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि आत्मा कभी मरता नहीं।

यदि आत्मा भक्ति के आध्यात्मिक कर्म में लग जाता है, तो वह जन्म तथा मृत्यु से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। उसकी अगली स्थिति देह से पूर्ण विमुक्ति होती है। मृत्यु-भय काल का प्रभाव है, जो परमेश्वर के प्रभाव का द्योतक है। दूसरे शब्दों में, काल विध्वंसक है। काल भगवान् का प्रतिनिधित्व करता है और यह हमें इसका भी स्मरण कराता है कि हम ईश्वर की शरण ग्रहण करें। ईश्वर हर बद्धजीव से काल के रूप में बातें करते हैं। भगवान् *भगवद्गीता* में कहते हैं कि यदि कोई मेरी शरण में आ जाता है, तो फिर जन्म तथा मृत्यु की कोई समस्या नहीं रह जाती। अतः हमें काल को अपने समक्ष खड़े हुए भगवान् के रूप में मानना चाहिए। इसकी विशद व्याख्या अगले श्लोक में की गई है।

प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि ।
चेष्टा यतः स भगवान्काल इत्युपलक्षितः ॥ १७॥

शब्दार्थ

प्रकृतेः—प्रकृति का; गुण-साम्यस्य—तीनों गुणों की क्रिया के बिना; निर्विशेषस्य—विशिष्ट गुणों से रहित; मानवि—हे मनु पुत्री; चेष्टा—गति; यतः—जिससे; सः—वह; भगवान्—श्रीभगवान्; कालः—समय, काल; इति—इस प्रकार; उपलक्षितः—नाम रखा जाता है।

हे स्वायंभुव-पुत्री, हे माता, जैसा कि मैंने बतलाया काल ही श्रीभगवान् है, जिससे उदासीन (समभाव) एवं अप्रकट प्रकृति के गतिमान होने से सृष्टि प्रारम्भ होती है।

तात्पर्य : प्रकृति की अप्रकट अवस्था, प्रधान, की व्याख्या की जा रही है। भगवान् कहते हैं कि जब भगवान् को दृष्टि से यह अप्रकट प्रकृति विक्षुब्ध होती है, तो यह नाना प्रकार से अपने को प्रकट करती है। इस विक्षुब्धावस्था के पूर्व वह निष्क्रिय पड़ी रहती है, उसमें प्रकृति के तीनों गुणों के द्वारा कोई अन्त:क्रिया नहीं होती। दूसरे शब्दों में, भगवान् का सम्पर्क पाये बिना प्रकृति किसी प्रकार का प्राकट्य नहीं कर सकती। *भगवद्गीता* में इसका अत्यन्त सुन्दर वर्णन हुआ है। श्रीभगवान् प्रकृति के उत्पादों के कारण हैं। उनके सम्पर्क के बिना प्रकृति कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकती।

इस प्रसंग में *चैतन्य-चरितामृत* में एक अत्यन्त उपयुक्त उदाहरण मिलता है। यद्यपि बकरी के गलस्तन स्तनों जैसे ही प्रतीत होते हैं, किन्तु उनसे दूध नहीं निकलता। इसी प्रकार भौतिक विज्ञानी को यह प्रकृति आश्चर्यजनक ढंग से क्रिया-प्रतिक्रिया करती प्रतीत होती है, किन्तु वास्तव में उत्प्रेरक अर्थात् भगवान् के प्रतिनिधि स्वरूप, काल, के बिना यह कार्य नहीं कर सकती। काल प्रकृति की निष्क्रिय अवस्था (साम्यावस्था) को विक्षुब्ध करता है, जिससे प्रकृति नाना प्रकार से प्रकट होने लगती है। अन्ततः यह कहा जाता है कि भगवान् ही सृष्टि के कारण हैं। जिस प्रकार पुरुष से गर्भधारण किये बिना कोई स्त्री सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकती उसी प्रकार यह प्रकृति काल रूप भगवान् से गर्भाधान किये बिना कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकती।

अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः ।

समन्वेत्येष सत्त्वानां भगवानात्ममायया ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अन्तः—भीतर; पुरुष-रूपेण—परमात्मा के रूप में; काल-रूपेण—काल के रूप में; यः—वह जो; बहिः—बाह्य; समन्वेति—विद्यमान है; एषः—वह; सत्त्वानाम्—समस्त जीवों का; भगवान्—श्रीभगवान्; आत्म-मायया—अपनी शक्तियों द्वारा।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अपनी शक्तियों का प्रदर्शन करते हुए अपने आपको भीतर से परमात्मा रूप में और बाहर काल-रूप में रखकर विभिन्न तत्त्वों का समन्वयन करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर यह कहा गया है कि हृदय के भीतर भगवान् परमात्मा-रूप में निवास करते हैं। *भगवद्गीता* में भी इसी अवस्था का वर्णन हुआ है—परमात्मा व्यष्टि आत्मा के ही निकट निवास करता है और साक्षी रूप में कार्य करता है। वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी इसकी पुष्टि की गई है—दो पक्षी शरीर रूपी एक ही वृक्ष पर बैठे हैं—एक साक्षी स्वरूप है और दूसरा वृक्ष के फलों को खा रहा है। यह पुरुष या परमात्मा, जो प्रत्येक जीव के शरीर के भीतर निवास करता है उसे *भगवद्गीता* (१३.२३) में उपद्रष्टा या साक्षी तथा अनुमन्ता या अधिकार प्रदान करने वाला कहा गया है। बद्धजीव भगवान् की बहिरंगा शक्ति की व्यवस्था से उसे मिले है, शरीर विशेष के सुख-दुख में लगा रहता है। किन्तु परमात्मा या परम पुरुष बद्धजीव से भिन्न है। उसे *भगवद्गीता* में महेश्वर कहा गया है, वह परमात्मा है, जीवात्मा नहीं। परमात्मा का अर्थ है, जो बद्धजीव के पास बैठा हुआ है और उसे कर्म के लिए स्वीकृति प्रदान करने वाला है। बद्धजीव इस संसार में प्रकृति को भोगने के लिए आता है। चूँकि कोई भी परमेश्वर की अनुमति के बिना कुछ भी नहीं कर सकता, अत: परमेश्वर जीवात्मा के साथ साक्षी तथा अनुमतिप्रदाता के रूप में रहता है। वह भोक्ता भी है, क्योंकि वह बद्धजीव का पालन करता है और उसे आश्रय प्रदान करता है।

चूँकि जीवात्मा स्वाभाविक रूप से भगवान् का ही भिन्नांश है, अत: भगवान् उस पर अत्यन्त वत्सल रहते हैं। दुर्भाग्यवश जब जीवात्मा बहिरंगा शक्ति के द्वारा मोहग्रस्त हो जाता है, तो वह भगवान् के प्रति अपने शाश्वत सम्बन्ध को भूल जाता है, किन्तु अपनी स्वाभाविक

स्थिति का ज्ञान होते ही वह मुक्त हो जाता है। बद्धजीव की अत्यल्प स्वच्छंदता उसकी रटस्था स्थिति के द्वारा प्रदर्शित होती है, चाहे तो वह भगवान् को भुला सकता है और इस संसार में प्रकृति को भोगने का अहंकार कर सकता है, किन्तु चाहे तो वह भगवान् की सेवा की ओर मुड़ सकता है। व्यष्टि जीवात्मा को इतनी स्वतन्त्रता (छूट) प्राप्त है। ज्योंही वह भगवान् की ओर उन्मुख होता है कि उसका बद्ध जीवन समाप्त हो जाता है और जीवन सफल हो जाता है, किन्तु अपनी स्वतन्त्रता के दुरुपयोग से वह संसार में प्रविष्ट होता है। फिर भी भगवान् परमात्मा रूप में इतना दयालु हैं कि सदैव बद्धजीव के साथ ही बने रहते हैं। भगवान् का कार्य भौतिक देह से न तो सुख लेना है, न ही कष्ट उठाना। वह जीव के साथ मात्र अनुमतिदाता तथा साक्षी रूप में बने रहते हैं जिससे जीवात्मा को अपने अच्छे या बुरे कर्मों का फल मिल सके।

बद्धजीव के शरीर के बाहर भगवान् काल रूप में बने रहते हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार पच्चीस तत्त्व हैं। पहले से वर्णित चौबीस तत्त्व तथा काल मिलाकर पच्चीस तत्त्व होते हैं। कुछ विचारकों के अनुसार परमात्मा को सम्मिलित कर लेने पर तत्त्वों की कुल संख्या छब्बीस हो जाती है।

दैवात्क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान् ।
आधत्त वीर्यं सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

दैवात्—जीवों के भाग्य से; क्षुभित—क्षुब्ध; धर्मिण्याम्—जिसका गुण साम्य; स्वस्याम्—निजी, अपना; योनौ—गर्भ (प्रकृति) में; परः पुमान्—परमात्मा; आधत्त—धारण किया हुआ; वीर्यम्—वीर्य (अन्तरंगा शक्ति); सा—उस (प्रकृति) ने; असूत—उत्पन्न किया; महत्-तत्त्वम्—समग्र विराट बुद्धि; हिरण्मयम्—हिरण्मय नामक।

जब भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति से प्रकृति में व्याप्त होते हैं, तो प्रकृति समग्र विराट बुद्धि को उत्पन्न करती है, जिसे हिरण्मय कहते हैं। यह तब घटित होता है जब प्रकृति बद्धजीवों के गन्तव्यों द्वारा क्षुब्ध की जाती है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१४.३) में प्रकृति के इस गर्भाधान का वर्णन है। प्रकृति का मुख्य कारक महत् तत्त्व या समस्त विविधताओं के प्रजनन का स्रोत है। प्रकृति का यह अंश, जो प्रधान के साथ ही साथ ब्रह्म भी कहलाता है उसमें श्रीभगवान् द्वारा वीर्य स्थापित (गर्भाधान)

किया जाता है, जिससे नाना प्रकार के जीव उत्पन्न होते हैं। इस प्रसंग में प्रकृति को ब्रह्म कहा गया है, क्योंकि यह आध्यात्मिक प्रकृति का विकृत प्रतिबिम्ब है।

विष्णु-पुराण में वर्णन आया है कि जीवात्माएँ आध्यात्मिक प्रकृति से सम्बन्धित होती हैं। भगवान् की शक्ति आध्यात्मिक है और यद्यपि जीवात्माएँ तटस्था शक्ति कहलाती हैं, किन्तु साथ ही वे आध्यात्मिक होती हैं। यदि जीवात्माएँ आध्यात्मिक न होतीं तो परमेश्वर द्वारा गर्भाधान लागू न होता। जो आध्यात्मिक नहीं है उसमें परमेश्वर अपना वीर्य स्थापित नहीं करते, किन्तु यहाँ उल्लेख है कि वे प्रकृति में वीर्य स्थापित करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि स्वभावत: जीवात्माएँ आध्यात्मिक हैं। गर्भाधान के बाद प्रकृति समस्त प्रकार के जीवों को उत्पन्न करती हैं जिसमें महानतम जीव ब्रह्माजी से लेकर एक लघु चींटी तक विभिन्न प्रकार के जीव होते हैं। *भगवद्गीता* (१४.४) में प्रकृति को स्पष्ट रूप से *सर्वयोनिषु* कहा गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि समस्त योनियों—देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी तथा हिंस्र जीव (जो भी प्रकट है) की माता प्रकृति है और भगवान् वीर्यदाता पिता हैं। सामान्य अनुभव यह है कि पिता ही सन्तान को जीवन देता है, किन्तु माता तो उसे शरीर देती है। यद्यपि जीवन का वीर्यदाता पिता है, किन्तु शरीर तो माता के गर्भ में बढ़ता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवात्माएँ प्रकृति के गर्भ में स्थापित की जाती हैं, किन्तु शरीर प्रकृति द्वारा प्रदत्त होता है और वह विभिन्न योनियाँ एवं रूप धारण करता है। यहाँ पर इस सिद्धान्त को समर्थन नहीं मिलता कि जीवन के लक्षण चौबीस तत्त्वों की अन्त:क्रिया से प्रकट होते हैं। जीवनी शक्ति सीधे भगवान् से मिलती है और पूर्णतया आध्यात्मिक होती है। अत: किसी भी प्रकार की भौतिक वैज्ञानिक प्रगति जीवन को उत्पन्न नहीं कर सकती। जीवनी शक्ति आध्यात्मिक जगत (वैकुण्ठ) से आती है, भौतिक तत्त्वों की अन्त:क्रिया से उसका कोई सरोकार नहीं होता।

विश्वमात्मगतं व्यञ्जन्कूटस्थो जगदङ्कुरः ।
स्वतेजसापिबत्तीव्रमात्मप्रस्वापनं तमः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

विश्वम्—ब्रह्माण्ड; आत्म-गतम्—अपने में सन्निहित; व्यञ्जन्—प्रकट करते हुए; कूट-स्थ:—अपरिवर्तनीय; जगत्-अङ्कुर:—समस्त दृश्य जगत का मूल; स्व-तेजसा—अपने ही तेज से; अपिबत्—पी लिया; तीव्रम्—घना; आत्म-प्रस्वापनम्—जिसने महत् तत्त्व को आवृत कर रखा था; तम:—अंधकार।

इस प्रकार तेजस्वी महत् तत्त्व, जिसके भीतर सारे ब्रह्माण्ड समाये हुए हैं, जो समस्त दृश्य जगत का मूल है और जो प्रलय के समय भी नष्ट नहीं होता, अपनी विविधता प्रकट करके उस अंधकार को निगल जाता है, जिसने प्रलय के समय तेज को ढक लिया था।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् सर्वव्यापी, समस्त वरदायक तथा ज्ञान से पूर्ण हैं अत: उनकी विभिन्न शक्तियाँ सुप्तावस्था में भी सदैव विद्यमान रहती हैं। अत: जब महत् तत्त्व की उत्पत्ति की गई तो इससे भौतिक अहंकार उत्पन्न हुआ और इसने दृश्य जगत में व्याप्त प्रलयकालीन अंधकार को निगल लिया। इस विचार की और भी व्याख्या की जा सकती है। रात्रि में मनुष्य रात्रि के अन्धकार से आवृत होकर निष्क्रिय रहता है, किन्तु जब प्रात:काल उसे जगाया जाता है, तो रात्रि का आवरण या सुप्तावस्था की विस्मृति लुप्त हो जाती है। इसी प्रकार जब प्रलयकालीन रात्रि के बाद महत् तत्त्व प्रकट होता है, तो तेज प्रकट होता है, जिससे इस जगत की विविधता दृष्टिगोचर होती है।

यत्तत्सत्त्वगुणं स्वच्छं शान्तं भगवत: पदम् ।
यदाहुर्वासुदेवाख्यं चित्तं तन्महदात्मकम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; तत्—वह; सत्त्व-गुणम्—सतोगुण; स्वच्छम्—साफ; शान्तम्—शान्त; भगवत:—भगवान् का; पदम्—ज्ञान का पद; यत्—जो; आहु:—कहलाता है; वासुदेव-आख्यम्—वासुदेव के नाम से; चित्तम्—चेतना; तत्—वह; महत्-आत्मकम्—महत् तत्त्व में प्रकट।

सतोगुण, जो भगवान् के ज्ञान की स्वच्छ, सौम्य अवस्था है और जो सामान्यत: वासुदेव या चेतना कहलाता है, महत् तत्त्व में प्रकट होता है।

तात्पर्य : वासुदेव प्राकट्य अथवा भगवान् के ज्ञान की अवस्था शुद्ध-सत्त्व कहलाती है। शुद्ध-सत्त्व अवस्था में अन्य गुणों—यथा रजो तथा तमो गुणों का उल्लंघन नहीं होता। वैदिक ग्रन्थों में भगवान् का विस्तार चार पुरुषों में बताया गया है—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध। यहाँ पर महत् तत्त्व के प्राकट्य में भगवान् के चारों विस्तार रहते हैं। इनमें से जो

परमात्मा के रूप में भीतर स्थित है, वह सबसे पहले वासुदेव के रूप में विस्तार करता है।

वासुदेव अवस्था भौतिक इच्छाओं के उल्लंघन से मुक्त है और यह वह अवस्था है, जिसमें कोई भी श्रीभगवान् को या वह लक्ष्य जिसे *भगवद्गीता* में *अद्भुत* कहा गया है उसे समझ सकता है। महत् तत्त्व का यह अन्य लक्षण है। वासुदेव विस्तार को कृष्णचेतना (भावनामृत) भी कहते हैं, क्योंकि यह काम तथा अज्ञान के सारे रंगो से मुक्त होता है। ज्ञान की यह शुद्ध अवस्था भगवान् को समझने में सहायक होती है। *भगवद्गीता* में वासुदेव अवस्था को क्षेत्रज्ञ भी कहा गया है, जो कर्मक्षेत्र के ज्ञाता तथा परम ज्ञाता का बोध करने वाला है। जीव जो विशिष्ट प्रकार का शरीर धारण करता है उसे वह जानता है, किन्तु परम ज्ञाता वासुदेव न केवल विशेष प्रकार के शरीर को ही, अपितु विभिन्न प्रकार के शरीरों के कर्मक्षेत्र को भी जानता है। स्वच्छ चेतना या कृष्णचेतना प्राप्त करने के लिए मनुष्य को वासुदेव की पूजा करनी होती है। वासुदेव एकाकी कृष्ण ही हैं। जब कृष्ण या विष्णु अकेले होते हैं, उनके साथ उनकी अन्तरंगा शक्ति नहीं रहती, तो वे वासुदेव होते हैं। किन्तु जब वे अपनी अन्तरंगा शक्ति के साथ होते हैं, तो 'द्वारकाधीश' कहलाते हैं। शुद्ध चेतना या कृष्णचेतना पाने के लिए मनुष्य को वासुदेव की पूजा करनी होती है। *भगवद्गीता* में इसका भी उल्लेख है कि अनेकानेक जन्मों के बाद मनुष्य वासुदेव की शरण में जाता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त विरल है।

मिथ्या अहंकार से मुक्ति पाने के लिए संकर्षण की पूजा करनी होती है। संकर्षण की पूजा शिवजी के माध्यम से भी की जाती है। शिवजी के शरीर में लिपटे रहने वाले सर्प संकर्षण के ही रूप हैं और शिवजी सदैव संकर्षण के ध्यान में तल्लीन रहते हैं। जो कोई संकर्षण के ही भक्त रूप में शिवजी की पूजा करता है, वह अहंकार से मुक्त हो सकता है। यदि कोई मानसिक उद्विग्नताओं से मुक्ति चाहता है, तो उसे अनिरुद्ध की पूजा करनी होती है। वैदिक साहित्य में इसके लिए चन्द्रमा की पूजा की भी संस्तुति की गई है। इसी प्रकार अपनी बुद्धि में स्थित रहने के लिए मनुष्य को प्रद्युम्न की पूजा करनी होती है जिन्हें ब्रह्मा की पूजा द्वारा प्राप्त किया जा

सकता है। ये बातें वैदिक ग्रन्थों में बताई गई हैं।

स्वच्छत्वमविकारित्वं शान्तत्वमिति चेतसः ।
वृत्तिभिर्लक्षणं प्रोक्तं यथापां प्रकृतिः परा ॥ २२॥

शब्दार्थ

स्वच्छत्वम्—स्वच्छत्व; अविकारित्वम्—विकारों से मुक्ति; शान्तत्वम्—शान्तत्व; इति—इस प्रकार; चेतसः—चेतना का; वृत्तिभिः—गुणों के द्वारा; लक्षणम्—लक्षण; प्रोक्तम्—कहा जाता है; यथा—जिस तरह; अपाम्—जल की; प्रकृतिः—स्वाभाविक अवस्था; परा—शुद्ध।

महत्-तत्त्व के प्रकट होने के बाद ये वृत्तियाँ एकसाथ प्रकट होती हैं। जिस प्रकार जल पृथ्वी के संसर्ग में आने के पूर्व अपनी स्वाभाविक अवस्था में स्वच्छ, मीठा तथा शान्त रहता है उसी तरह विशुद्ध चेतना के विशिष्ट लक्षण शान्तत्व, स्वच्छत्व तथा अविकारित्व हैं।

तात्पर्य : प्रारम्भ में शुद्ध चेतना या कृष्णचेतना की अवस्था रहती है। सृष्टि के तुरन्त बाद चेतना कलुषित नहीं होती। किन्तु मनुष्य भौतिक रूप से जितना कल्मषग्रस्त होता जाता है उसकी चेतना उतनी ही मलिन होती जाती है। शुद्ध चेतना होने पर भगवान् की किंचित झलक भी दिख जाती है। जिस प्रकार स्वच्छ, शान्त, अशुद्धियों से रहित जल में हर वस्तु साफ-साफ दिखती है उसी तरह शुद्ध चेतना या कृष्णचेतना में वस्तुएँ अपने वास्तविक रूप में दिखती हैं। मनुष्य भगवान् की झलक देख सकता है और अपने अस्तित्व को भी देख सकता है। चेतना की यह अवस्था अत्यन्त सुहावनी, पारदर्शी तथा शान्त होती है। प्रारम्भ में चेतना शुद्ध रहती है।

महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यसम्भवात् ।
क्रियाशक्तिरहङ्कारस्त्रिविधः समपद्यत ॥ २३॥
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्च यतो भवः ।
मनसश्चेन्द्रियाणां च भूतानां महतामपि ॥ २४॥

शब्दार्थ

महत्-तत्त्वात्—महत् तत्त्व से; विकुर्वाणात्—विकृत होने से; भगवत्-वीर्य-सम्भवात्—भगवान् की निजी शक्ति से उत्पन्न; क्रिया-शक्तिः—सक्रिय शक्ति से युत; अहङ्कारः—अहंकार; त्रि-विधः—तीन प्रकार का; समपद्यत—उत्पन्न हुआ; वैकारिकः—रूपान्तरित सतोगुण में अहंकार; तैजसः—रजोगुण में अहंकार; च—तथा; तामसः—तमोगुण में

अहंकार; च—भी; यतः—जिससे; भवः—उत्पत्ति; मनसः—मन का; च—तथा; इन्द्रियाणाम्—ज्ञान तथा कर्म की इन्द्रियों का; च—तथा; भूतानाम् महताम्—पाँच स्थूल तत्त्वों का; अपि—भी।

महत् तत्त्व से अहंकार उत्पन्न होता है, जो भगवान् की निजी शक्ति से उद्भूत है। अहंकार में मुख्य रूप से तीन प्रकार की क्रियाशक्तियाँ होती हैं—सत्त्व, रज तथा तम। इन्हीं तीन प्रकार के अहंकार से मन, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ तथा स्थूल तत्त्व उत्पन्न हुए।

तात्पर्य : प्रारम्भ में चेतना या शुद्ध कृष्णचेतनावस्था से पहला कल्मष उत्पन्न हुआ। यह मिथ्या अहंकार या देहात्मबोध कहलाया। जीवात्मा स्वाभाविक स्थिति में कृष्णचेतना की अवस्था में रहता है, किन्तु उसे थोड़ी सी छूट (स्वाधीनता) प्राप्त रहती है, जिससे उसे कृष्ण की विस्मृति हो जाती है। प्रारम्भ में शुद्ध कृष्णचेतना रहती है, किन्तु इस अत्यल्प स्वाधीनता के दुरुपयोग से कृष्ण के भूलने की सम्भावना बनी रहती है। वास्तविक जीवन में ऐसा दिखलाई पड़ता है। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें कोई कृष्णभावनामृत में कर्म करते हुए सहसा बदल जाता है। इसीलिए उपनिषदों का कथन है कि आत्म-साक्षात्कार का मार्ग छूरे की तेज धार के समान है। यह उदाहरण अत्यन्त सटीक है। तेज छूरे से दाढ़ी अच्छी बनती है, किन्तु जरा भी ध्यान इधर-उधर हुआ नहीं कि गाल कट जाता है।

मनुष्य को न केवल शुद्ध कृष्णचेतना तक पहुँचना है, अपितु उसे अत्यन्त सतर्क भी रहना है। तनिक भी असावधानी से पतन हो सकता है। इस पतन का कारण अहंकार होता है। शुद्ध चेतना की दशा से अहंकार का जन्म स्वाधीनता के दुरुपयोग से होता है। हम यह तर्क नहीं कर सकते कि शुद्ध चेतना से किस प्रकार अहंकार का उदय होता है। वास्तविकता तो यह है कि ऐसा होने की सदैव सम्भावना रहती है, अतः मनुष्य को सदैव सतर्क रहना होता है। समस्त भौतिक कार्य-कलापों का मूल सिद्धान्त अहंकार है। ये कार्य भौतिक गुणों में सम्पन्न होते हैं। ज्योंही मनुष्य शुद्ध कृष्णचेतना से विचलित होता है कि भौतिक कार्यों में वह उलझता जाता है। भौतिकवाद का बन्धन मन है और इस मन से इन्द्रियाँ प्रकट होती हैं।

सहस्रशिरसं साक्षाद्यमनन्तं प्रचक्षते ।
सङ्कर्षणाख्यं पुरुषं भूतेन्द्रियमनोमयम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सहस्र-शिरसम्—एक हजार शिरों वाला; साक्षात्—प्रकट रूप में; यम्—जिसको; अनन्तम्—अनन्त; प्रचक्षते—कहते हैं; सङ्कर्षण-आख्यम्—संकर्षण नाम से; पुरुषम्—श्रीभगवान्; भूत—स्थूल तत्त्व; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; मनः-मयम्—मन से युक्त।

स्थूल तत्त्वों का स्रोत, इन्द्रियाँ तथा मन—ये ही तीन प्रकार के अहंकार उनसे अभिन्त हैं, क्योंकि अहंकार ही उनका कारण है। यह संकर्षण के नाम से जाना जाता है, जो कि एक हजार शिरों वाले साक्षात् भगवान् अनन्त हैं।

कर्तृत्वं करणत्वं च कार्यत्वं चेति लक्षणम् ।
शान्तघोरविमूढत्वमिति वा स्यादहङ्कृतेः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

कर्तृत्वम्—कर्ता होने; करणत्वम्—कारण होना; च—तथा; कार्यत्वम्—प्रभाव होना; च—भी; इति—इस प्रकार; लक्षणम्—लक्षण; शान्त—शान्त; घोर—सक्रिय; विमूढत्वम्—मन्द या बुद्धू होना; इति—इस प्रकार; वा—अथवा; स्यात्—होवे; अहङ्कृतेः—अहंकार।

यह अहंकार कर्ता, करण (साधन) तथा कार्य (प्रभाव) के लक्षणों वाला होता है। सतो, रजो तथा तमो गुणों के द्वारा यह जिस प्रकार प्रभावित होता है उसी के अनुसार यह शान्त, क्रियावान या मन्द लक्षण वाला माना जाता है।

तात्पर्य : अहंकार भौतिक व्यापारों के अधिष्ठाता देवताओं में रूपान्तरित हो जाता है। करण के रूप में अहंकार विभिन्न इन्द्रियों के रूप में प्रदर्शित होता है और देवताओं तथा इन्द्रियों के संयोग से भौतिक वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। इस जगत में हम अनेक वस्तुएँ उत्पन्न कर रहे हैं, जिसे सभ्यता की उन्नति कहते हैं, किन्तु वास्तव में सभ्यता की उन्नति अहंकार का प्रकाशन है। अहंकार से ही सारी वस्तुएँ सुखोपभोग की सामग्रियों के रूप में उत्पन्न होती हैं। मनुष्य को इन सामग्रियों की कृत्रिम आवश्यकता को कम करना होता है। महान् आचार्य नरोत्तमदास ठाकुर ने शोक प्रकट किया है कि जब मनुष्य वासुदेव की शुद्ध चेतना या कृष्णचेतना से विपथ होता है, तो वह भौतिक कर्मों में बँध जाता है। उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द इस प्रकार हैं—सत्संग छाडि' कैनु असते विलास ते-कारणे लागिल ये कर्म-बन्ध-फाँस—"मैं क्षणिक भौतिक संसार का आनन्द उठाना चाहता था इसलिए मैंने शुद्ध चेतना की अवस्था का परित्याग कर दिया; इसलिए मैं कर्म-फल के जाल में फँस गया हूँ।"

वैकारिकाद्विकुर्वाणान्मनस्तत्त्वमजायत ।
यत्सङ्कल्पविकल्पाभ्यां वर्तते कामसम्भवः ॥ २७॥

शब्दार्थ

वैकारिकात्—सत्व के अहंकार से; विकुर्वाणात्—विकृत होने से; मनः—मन; तत्त्वम्—नियम; अजायत—उत्पन्न हुआ; यत्—जिसके; सङ्कल्प—विचार; विकल्पाभ्याम्—तथा विकल्पों से; वर्तते—घटित होता है; काम-सम्भवः—इच्छा का उदय।.

सत्त्व के अहंकार से दूसरा विकार आता है। इससे मन उत्पन्न होता है, जिसके संकल्पों तथा विकल्पों से इच्छा का उदय होता है।

तात्पर्य : मन के लक्षण हैं संकल्प तथा विकल्प जो विभिन्न प्रकार की इच्छाओं के कारण उत्पन्न होते हैं। जो हमें इन्द्रियतृप्ति के अनुकूल लगता है, हम उसी की कामना करते हैं और जो प्रतिकूल लगता है उसका बहिष्कार करते हैं। हमारा मन स्थिर नहीं रहता, किन्तु यदि कृष्णचेतना (भक्ति) के कार्यों में लगा दिया जाय तो वही मन स्थिर हो जाता है। अन्यथा जब तक मन भौतिक अवस्था में रहता है, तो यह डाँवाडोल होता रहता है और यह सारा संकल्प-विकल्प असत् अथवा नाशवान होता है। यह कहा गया है कि जिसका मन कृष्णचेतना में स्थिर नहीं है, वह संकल्प तथा विकल्प के बीच झूलता रहता है। कोई व्यक्ति शैक्षिक योग्यता में कितना ही अग्रसर क्यों न हो, जब तक वह कृष्णचेतना में स्थिर नहीं होता तब तक वह संकल्प-विकल्प करेगा और किसी भी विषय में मन को स्थिर नहीं कर पाएगा।

यद्विदुर्ह्यनिरुद्धाख्यं हृषीकाणामधीश्वरम् ।
शारदेन्दीवरश्यामं संराध्यं योगिभिः शनैः ॥ २८॥

शब्दार्थ

यत्—जो मन; विदुः—जाना जाता है; हि—निस्सन्देह; अनिरुद्ध-आख्यम्—अनिरुद्ध के नाम से; हृषीकाणाम्—इन्द्रियों का; अधीश्वरम्—परम शासक; शारद—शरदकालीन; इन्दीवर—नील, कमल के समान; श्यामम्—नीला; संराध्यम्—जो पाया जाता है; योगिभिः—योगियों के द्वारा; शनैः—धीरे-धीरे।.

जीवात्मा का मन इन्द्रियों के परम अधिष्ठाता अनिरुद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। उसका नील-श्याम शरीर शरद्कालीन कमल के समान है। योगीजन उसे शनै-शनै प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य : योगक्रिया में मन को नियन्त्रित किया जाता है और मन के स्वामी अनिरुद्ध हैं। बताया गया है कि अनिरुद्ध के चार भुजाएँ हैं जिनमें वे सुदर्शन चक्र, शंख, गदा तथा कमल-पुष्प धारण किये रहते हैं। विष्णु के चौबीस रूप हैं और हरएक का नाम भिन्न है। इन चौबीस रूपों में से संकर्षण, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न तथा वासुदेव रूपों का अतीव सुन्दर चित्रण *चैतन्य-चरितामृत* में मिलता है जहाँ यह बताया गया है कि अनिरुद्ध योगियों द्वारा पूजित हैं। शून्य का ध्यान कुछ चिन्तकों के उर्वर मस्तिष्क की अर्वाचीन आविष्कार है। जैसाकि इस श्लोक में संस्तुति की गई है, वास्तव में योग-ध्यान की क्रिया अनिरुद्ध के स्वरूप में स्थिर की जानी चाहिए। अनिरुद्ध का ध्यान धरने से मनुष्य संकल्प तथा विकल्प से मुक्त हो सकता है। जब मनुष्य का मन अनिरुद्ध में स्थिर हो जाता है, तो वह क्रमशः ईश्वर-सिद्ध हो जाता है; उसे शुद्ध कृष्णचेतना का पद प्राप्त हो जाता है, जो योग का चरम लक्ष्य है।

तैजसात्तु विकुर्वाणाद्बुद्धितत्त्वमभूत्सति ।
द्रव्यस्फुरणविज्ञानमिन्द्रियाणामनुग्रहः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तैजसात्—रजोगुणी अहंकार से; तु—तब; विकुर्वाणात्—विकार होने से; बुद्धि—बुद्धि; तत्त्वम्—तत्त्व; अभूत्—जन्म लिया; सति—हे सती; द्रव्य—पदार्थ; स्फुरण—दिखाई पड़ने पर; विज्ञानम्—निश्चित करते हुए; इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों की; अनुग्रहः—सहायता करना।

हे सती, रजोगुणी अहंकार में विकार होने से बुद्धि का जन्म होता है। बुद्धि के कार्य हैं दिखाई पड़ने पर पदार्थों की प्रकृति के निर्धारण में सहायता करना और इन्द्रियों की सहायता करना।

तात्पर्य : बुद्धि वह विवेक शक्ति है, जिससे किसी पदार्थ को जाना जा सके और इन्द्रियों को चयन करने में सहायता मिले। इसीलिए बुद्धि को इन्द्रियों का स्वामी माना जाता है। बुद्धि को पूर्णता तब मिलती है जब वह कृष्णभक्ति के कार्यकलापों में स्थिर हो जाती है। बुद्धि के समुचित प्रयोग से मनुष्य की चेतना का विस्तार होता है और चेतना का चरम विस्तार कृष्णभक्ति है।

संशयोऽथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च ।
स्वाप इत्युच्यते बुद्धेर्लक्षणं वृत्तितः पृथक् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

संशयः—सन्देह; अथ—तब; विपर्यासः—विपरीत ज्ञान; निश्चयः—सही ज्ञान; स्मृतिः—स्मरण शक्ति; एव—भी; च—तथा; स्वापः—निद्रा; इति—इस प्रकार; उच्यते—कहे जाते हैं; बुद्धेः—बुद्धि के; लक्षणम्—लक्षण; वृत्तितः—अपने कार्यों से; पृथक्—भिन्न।

सन्देह, विपरीत ज्ञान, सही ज्ञान, स्मृति तथा निद्रा, ये अपने भिन्न-भिन्न कार्यों से निश्चित किये जाते हैं और ये ही बुद्धि के स्पष्ट लक्षण हैं।

तात्पर्य : बुद्धि के प्रमुख कार्यों में से सन्देह एक है। किसी बात को आँख मूँदकर स्वीकार करना बुद्धि का परिचायक नहीं है। अतः *संशय* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बुद्धि का अनुशीलन करने के लिए मनुष्य को प्रारम्भ में सन्देहयुक्त रहना चाहिए, किन्तु जब उचित साधन से सूचना प्राप्त हो रही हो तो सन्देह करना अनुकूल नहीं होता। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि अधिकारी के शब्दों में सन्देह करना विनाश का कारण है।

जैसाकि पतञ्जलि योग-पद्धति में बताया गया है—*प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः*। बुद्धि से मनुष्य वस्तुओं को उसी रूप में समझ सकता है जैसे वे हैं। बुद्धि से ही मनुष्य जान सकता है कि वह शरीर है या नहीं। यह ज्ञात करना कि किसी की पहचान भौतिक है या आध्यात्मिक, सन्देहास्पद रहता है। जब वह अपनी वास्तविक स्थिति का विश्लेषण कर पाने में सक्षम होता है, तो झूठे देहात्म-बोध का पता चलता है। यह *विपर्यास* है। झूठी पहचान का पता चल जाने पर वास्तविक पहचान जानी जा सकती है। वास्तविक ज्ञान को यहाँ *निश्चय* अथवा सिद्ध व्यावहारिक ज्ञान कहा गया है। यह व्यावहारिक ज्ञान तभी प्राप्त किया जा सकता है जब झूठा ज्ञान समझ में आ चुका हो। व्यावहारिक या सिद्ध ज्ञान से मनुष्य यह जान सकता है कि वह शरीर नहीं अपितु आत्मा है।

स्मृति का अर्थ 'स्मरणशक्ति' है और *स्वाप* का अर्थ 'निद्रा' है। बुद्धि को क्रियाशील रखने के लिए निद्रा आवश्यक है। यदि निद्रा न हो, तो मस्तिष्क ठीक से कार्य नहीं कर सकता। *भगवद्गीता* में यह विशेष रूप से उल्लेख हुआ है कि जो लोग भोजन, नींद तथा शरीर की अन्य आवश्यकताओं को समुचित मात्रा में नियमित कर लेते हैं, वे योगक्रिया में अत्यन्त

सफल होते हैं। ये बुद्धि के विश्लेषणात्मक अध्ययन के कुछ पक्ष हैं जिनका वर्णन पतञ्जलि योग-पद्धति तथा कपिलदेव के सांख्य दर्शन में *श्रीमद्भागवत्* में हुआ है।

तैजसानीन्द्रियाण्येव क्रियाज्ञानविभागशः ।
प्राणस्य हि क्रियाशक्तिर्बुद्धेर्विज्ञानशक्तिता ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तैजसानि—रजोगुणी अहंकार से उत्पन्न; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; एव—निश्चय ही; क्रिया—कर्म; ज्ञान—ज्ञान; विभागशः—के अनुसार; प्राणस्य—प्राण की; हि—निश्चय ही; क्रिया-शक्तिः—कर्मेन्द्रियाँ; बुद्धेः—बुद्धि की; विज्ञान-शक्तिता—ज्ञानेन्द्रियाँ।

रजोगुणी अहंकार से दो प्रकार की इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं—ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ। कर्मेन्द्रियाँ प्राणशक्ति पर और ज्ञानेन्द्रियाँ बुद्धि पर आश्रित होती हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोकों में बताया जा चुका है कि मन सतोगुणी अहंकार की उपज है और इसका कार्य संकल्प तथा विकल्प है। किन्तु यहाँ पर बुद्धि को रजोगुणी अहंकार बताया गया है। मन तथा बुद्धि का यही अन्तर है—मन सतोगुणी अहंकार से उत्पन्न है जब कि बुद्धि रजोगुणी अहंकार से। किसी वस्तु को स्वीकार करने (संकल्प) तथा किसी वस्तु का परित्याग करने (विकल्प) की इच्छा मन का महत्त्वपूर्ण गुण है। सतोगुण से उत्पन्न होने के कारण यदि मन अनिरुद्ध पर स्थिर रहता है, जो मन के स्वामी हैं, तो इसे कृष्णभक्ति की ओर मोड़ा जा सकता है। नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं कि हम इच्छाओं से सदैव पूर्ण रहते हैं। इच्छाओं को रोका नही जा सकता, किन्तु यदि हम अपनी इच्छाओं को भगवान् को प्रसन्न करने की ओर लगा दें तो समझिये कि जीवन सफल हो गया। ज्योंही इच्छा को प्रकृति पर प्रभुत्व जमाने की ओर लगा दिया जाता है, वह पदार्थ द्वारा दूषित हो जाती है। इच्छा को शुद्ध करना पड़ता है। प्रारम्भ में शुद्धिकरण का कार्य गुरु की आज्ञा से करना होता है, क्योंकि गुरु को पता रहता है कि शिष्य की इच्छाओं को किस तरह कृष्णभक्ति में बदला जा सकता है। जहाँ तक बुद्धि की बात है, वह रजोगुण से उत्पन्न है। अभ्यास से यह सतोगुण को प्राप्त होती है और भगवान् की शरण में जाने या उन पर मन स्थिर करने से ही मनुष्य महात्मा बनता है। *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है—*स महात्मा सुदुर्लभः*—ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

इस श्लोक में स्पष्ट किया गया है कि दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ—कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ—रजोगुण की उपज हैं। और चूँकि इन दोनों प्रकार की इन्द्रियों को शक्ति—प्राणशक्ति—की आवश्यकता होती है, अत: यह शक्ति भी रजोगुण से उत्पन्न है। अत: हम सचमुच देख सकते हैं कि जो अत्यन्त रजोगुणी हैं, वे भौतिक उपलब्धियों में भी तेजी से उन्नति करते हैं। वैदिक शास्त्रों में यह संस्तुति की गई है कि यदि कोई किसी व्यक्ति को भौतिक सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करता है, तो उसे कामी जीवन के लिए भी प्रोत्साहित करना चाहिए। हम सहज रूप में पाते हैं कि जो कामी जीवन के प्रति आसक्त हैं, वे भौतिक दृष्टि से भी अग्रसर हैं, क्योंकि विषयी जीवन अर्थात् कामोन्मुखी जीवन ही सभ्यता की भौतिक उन्नति का प्रेरक है। जो लोग आध्यात्मिक उन्नति करने के इच्छुक हैं उनके लिए रजोगुण का अस्तित्व लगभग होता ही नहीं। केवल सतोगुण ही प्रधान रहता है। देखने में आता है कि जो लोग कृष्णभक्ति करते हैं, वे भौतिक दृष्टि से निर्धन होते हैं, किन्तु जिनके आँखें हैं, वे देख सकते हैं कि बड़ा कौन है। यद्यपि भक्त ऊपर से निर्धन प्रतीत होता है, किन्तु कृष्णभावनामृत लगा व्यक्ति वास्तव में निर्धन होता नहीं। अपितु जिसमें कृष्णभक्ति के लिए रुचि नहीं होती और जो ऊपर से अपनी भौतिक सम्पत्ति के कारण सुखी जान पड़ता है, वही वास्तव में निर्धन है। जिन व्यक्तियों के पास भौतिक चेतना होती है वे अपने भौतिक आराम के लिए नई-नई वस्तुएँ खोज निकालने में अत्यन्त बुद्धिमान होते हैं, किन्तु आत्मा तथा आध्यात्मिक जीवन तक उनकी पहुँच नहीं हो पाती। अत: यदि कोई भौतिक जीवन में आगे बढ़ना चाहता है, तो उसे विशुद्ध इच्छा अर्थात् भक्ति की विशुद्ध इच्छा के घरातल पर तक उतरना होगा। जैसाकि *नारद-पंचरात्र* में कथित है, जब इन्द्रियाँ कृष्ण चेतना में शुद्ध होकर भगवान् की सेवा में लगी हों तो उसे शुद्ध भक्ति कहते हैं।

तामसाच्च विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यचोदितात् ।
शब्दमात्रमभूत्तस्मान्नभ: श्रोत्रं तु शब्दगम् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

तामसात्—तामसी अहंकार से; च—तथा; विकुर्वाणात्—विकार से; भगवत्-वीर्य—भगवान् की शक्ति से; चोदितात्—प्रेरित; शब्द-मात्रम्—शब्द का सूक्ष्म तत्त्व; अभूत्—प्रकट हुआ; तस्मात्—उससे; नभः—आकाश; श्रोत्रम्—कर्णेन्द्रिय; तु—तब; शब्द-गम्—जो शब्द को ग्रहण करता है।

जब तामसी अहंकार भगवान् की वीर्य (काम) शक्ति से प्रेरित होता है, तो सूक्ष्म शब्द तत्त्व प्रकट होता है और शब्द से आकाश तथा और उससे श्रवणेन्द्रिय उत्पन्न होती हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक से लगता है कि हमारी इन्द्रियतृप्ति के सारे पदार्थ तमोगुणी अहंकार की उपज हैं। इस श्लोक से पता चलता है कि तामसी-अहंकार तत्व के उद्वेलन से सबसे पहले शब्द उत्पन्न हुआ जो आकाश का सूक्ष्म रूप हैं। *वेदान्त-सूत्र* में भी कहा गया है कि शब्द ही समस्त भौतिक पदार्थों का मूल (उत्स) है और शब्द से ही इस जगत का विलय हो सकता है। *अनावृत्तिः शब्दात्* का अर्थ है, "शब्द से मुक्ति।" शब्द से ही समग्र जगत का प्रारंभ हुआ और यदि शब्द में विशिष्ट शक्ति हो तो यह सारे भवबंधन को समाप्त कर सकता है। ऐसा कर सकने वाला विशिष्ट शब्द हरे कृष्ण की दिव्य ध्वनि ही है। भौतिक मामलों में हमारे बन्धन का सूत्रपात शब्द से ही हुआ। अब हमें इस शब्द को शुद्ध करके आध्यात्मिक ज्ञान में परिणत करना है। आध्यात्मिक जगत में भी शब्द है। यदि हम उस शब्द को पा लें तो हमारा आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ हो जाता है और आध्यात्मिक प्रगति की अन्य आवश्यकताएँ पूरी हो सकती हैं। हमें भली भाँति समझ लेना चाहिए कि हमारी इन्द्रियतृप्ति के लिए जितने पदार्थ चाहिए उन सबकी उत्पत्ति ध्वनि से हुई। इसी प्रकार यदि शब्द शुद्ध कर लिया जाता है, तो हमारी आध्यात्मिक आवश्यकताएँ ध्वनि से ही उत्पन्न होती हैं।

यहाँ यह कहा गया है कि ध्वनि से ही आकाश की उत्पत्ति हुई और आकाश से वायु की उत्पत्ति हुई। किस तरह ध्वनि से आकाश, आकाश से वायु और वायु से अग्नि उत्पन्न होते हैं—इसकी व्याख्या बाद में की जाएगी। शब्द आकाश का कारण है और आकाश श्रोतम् अर्थात् कान का। कान पहली ज्ञानेन्द्रिय है। यदि कोई किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक, तो उसे कानों से ही ग्रहण किया जा सकता है। अत: श्रोतम् अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वैदिक ज्ञान श्रुति कहलाता है, क्योंकि ज्ञान सुनकर ही प्राप्त

किया जा सकता है। सुनकर ही हम भौतिक या आध्यात्मिक आनन्द तक पहुँच सकते हैं।

भौतिक जगत में हम अपने आराम के लिए अनेक वस्तुओं का निर्माण सुनकर ही करते हैं। वे पहले से विद्यमान रहती हैं, किन्तु सुनने मात्र से उन्हें रूपान्तरित किया जा सकता है। यदि हम गगनचुम्बी भवन बनाना चाहते हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि हमें इसकी उत्पत्ति करनी होगी। गगनचुम्बी भवन की सारी सामग्री—लकड़ी, धातु, मिट्टी आदि पहले से विद्यमान है, किन्तु हम पहले से उत्पन्न इन पदार्थों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क यह सुनकर स्थापित करते हैं कि इनका उपयोग कैसे किया जाता है। उत्पत्ति के लिए आधुनिक आर्थिक विकास भी शब्द (सुनने) का परिणाम (फल) है। इसी प्रकार असली स्रोत से श्रवण करके उपयुक्त आध्यात्मिक कर्मक्षेत्र बनाया जा सकता है। अर्जुन देहात्मबुद्धि वाला निपट भौतिकतावादी था और देहात्मबुद्धि से बुरी तरह पीड़ित था। किन्तु श्रवण मात्र से वह कृष्णभक्त बन गया। सुनना (शब्द) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और इसकी उत्पत्ति आकाश से होती है। श्रवण मात्र से हम पहले से विद्यमान वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं। यही आध्यात्मिक सामग्रियों पर भी लागू होता है। अत: हमें उचित स्रोत से श्रवण करना चाहिए।

अर्थाश्रयत्वं शब्दस्य द्रष्टुर्लिङ्गत्वमेव च ।
तन्मात्रत्वं च नभसो लक्षणं कवयो विदुः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अर्थ-आश्रयत्वम्—जो किसी पदार्थ का अर्थ वहन करे; शब्दस्य—शब्द का; द्रष्टुः—वक्ता का; लिङ्गत्वम्—उपस्थिति का सूचक; एव—भी; च—यथा; तत्-मात्रत्वम्—सूक्ष्म तत्त्व; च—तथा; नभसः—आकाश की; लक्षणम्—परिभाषा; कवयः—विद्वान पुरुष; विदुः—जानते हैं।

जो लोग विद्वान हैं और वास्तविक ज्ञान से युक्त हैं, वे शब्द की परिभाषा इस प्रकार करते हैं अर्थात् वह जो किसी पदार्थ के विचार (अर्थ) को वहन करता है, ओट में खड़े वक्ता की उपस्थिति को सूचित करता है और आकाश का सूक्ष्म रूप होता है।

तात्पर्य : यहाँ यह अत्यन्त स्पष्ट है कि ज्योंही हम सुनने (शब्द) की बात करते हैं, तो वक्ता चाहिए, वक्ता के बिना सुनने का प्रश्न ही नहीं उठता। अत: वैदिक ज्ञान, जिसे श्रुति कहते हैं अर्थात् जो सुनकर ग्रहण किया जाता है, अपौरुष भी कहलाता है। अपौरुष का अर्थ

है "जो भौतिक रूप से उत्पन्न किसी व्यक्ति द्वारा न कहा गया हो।" *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में ही कहा गया है—*तेने ब्रह्म हृदा*। ब्रह्म का शब्द या वेद सर्वप्रथम आदि विद्वान पुरुष (*आदिकवये*) ब्रह्मा के हृदय में स्थापित किया गया। वे किस तरह विद्वान बने? जब भी कोई विद्या होती है, तो वक्ता चाहिए और सुनने की क्रिया होनी चाहिए। किन्तु ब्रह्मा तो आदि जीव थे। उनसे किसने कहा? जब कोई न था, तो उन्हें ज्ञान देने वाला गुरु कौन था? चूँकि वे ही एकमात्र प्राणी थे इसलिए प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में परमात्मा रूप में स्थित पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने यह ज्ञान उनके हृदय के भीतर प्रदान किया। वैदिक ज्ञान परमेश्वर द्वारा उक्त है फलत: यह भौतिक ज्ञान के दोषों से मुक्त है। भौतिक ज्ञान दोषपूर्ण होता है। यदि हम बद्धजीव से कुछ सुनते हैं, तो वह दोषपूर्ण रहता है। सारी सांसारिक जानकारियाँ मोह, त्रुटि, धोखे तथा इन्द्रियों की अपूर्णताओं से भरी रहती है। चूँकि वैदिक ज्ञान इस भौतिक जगत से परे परमेश्वर द्वारा प्रदान किया गया अत: यह पूर्ण है। यदि हम ब्रह्मा की शिष्य-परम्परा से वैदिक ज्ञान प्राप्त करते हैं, तो हमें पूर्ण ज्ञान मिलता है।

सुने जाने वाले प्रत्येक शब्द का अर्थ होता है। ज्योंही हम 'जल' शब्द सुनते हैं, तो इसके पीछे एक पदार्थ—जल—रहता है। इसी प्रकार जब हम ईश्वर शब्द सुनते हैं, तो उसका एक अर्थ होता है। यदि हम ईश्वर शब्द के अर्थ और उसकी व्याख्या को स्वयं भगवान् से प्राप्त करते हैं, तो वह पूर्ण होता है। किन्तु यदि हम ईश्वर के अर्थ के विषय में चिन्तन करते हैं, तो वह अपूर्ण होता है। *भगवद्गीता* तत्त्वज्ञान है, जिसे स्वयं भगवान् ने कहा है। यह पूर्ण ज्ञान है। चिन्तनवादी या तथाकथित दार्शनिक जो यह खोज करते रहते हैं कि वास्तव में ईश्वर क्या है वे ईश्वर को कभी नहीं समझ पाएँगे। तत्त्वज्ञान को ब्रह्मा से चली आने वाली शिष्य-परम्परा से ग्रहण करना होता है। ब्रह्मा को स्वयं भगवान् ने यह ज्ञान प्रदान किया था। हम शिष्य-परम्परा से अधिकृत व्यक्ति से *भगवद्गीता* सुनकर तत्त्वज्ञान को समझ सकते हैं।

जब हम देखने की बात करते हैं, तो उसका स्वरूप भी होना चाहिए। आकाश ही स्वरूप का प्रारम्भ (आदि) है। आकाश से अन्य रूप उद्भूत होते हैं। अत: आकाश से ज्ञान तथा

विषयों का शुभारम्भ होता है।

भूतानां छिद्रदातृत्वं बहिरन्तरमेव च ।
प्राणेन्द्रियात्मधिष्ण्यत्वं नभसो वृत्तिलक्षणम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

भूतानाम्—समस्त जीवों का; छिद्र-दातृत्वम्—स्थान देना; बहिः—बाह्य; अन्तरम्—आन्तरिक; एव—भी; च—तथा; प्राण—प्राणवायु का; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आत्म—तथा मन; धिष्ण्यत्वम्—कर्मक्षेत्र होने से; नभसः—आकाशतत्त्व; वृत्ति—कार्य; लक्षणम्—लक्षण।

समस्त जीवों को उनके बाह्य तथा आन्तरिक अस्तित्व के लिए अवकाश (स्थान) प्रदान करना, जैसे कि प्राणवायु, इन्द्रिय एवं मन का कार्यक्षेत्र—ये आकाश तत्त्व के कार्य तथा लक्षण हैं।

तात्पर्य : मन, इन्द्रिय तथा प्राणशक्ति या जीवात्मा के रूप होते हैं भले ही वे इन चर्म चक्षुओं से दिखाई न पड़ें। रूप का आधार आकाश है और आन्तरिक रूप में यह शरीर के भीतर की नसों तथा प्राणवायु के संचरण के रूप में देखा जाता है। बाह्य रूप से इन्द्रियों के अदृश्य रूप होते हैं। अदृश्य इन्द्रियों की उत्पत्ति आकाश तत्त्व का बाह्य कर्म है और प्राणवायु तथा रक्त का संचार आन्तरिक कार्य है। आकाश में सूक्ष्म रूपों के अस्तित्व की पुष्टि आधुनिक विज्ञान द्वारा टेलीविजन सम्प्रेषण के रूप में की गई है, जिसमें एक स्थान के रूपों या चित्रों को आकाश तत्त्व की क्रिया से दूसरे स्थान को प्रेषित किया जाता है। इसकी यहाँ अत्यन्त सुन्दर ढंग से व्याख्या की गई है। यह श्लोक महान् वैज्ञानिक शोध कार्य के लिए महत्त्वपूर्ण आधार है, क्योंकि यह बताता है कि किस प्रकार आकाश तत्त्व से सूक्ष्म रूप उत्पन्न होते हैं, उनके गुण तथा कार्य क्या हैं और किस तरह सूक्ष्म रूप से वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी जैसे मूर्त तत्त्वों का प्राकट्य होता है। चिन्तन, अनुभव तथा इच्छा जैसे मानसिक या मनोवैज्ञानिक कार्य भी आकाश तत्व के धरातल में सम्पन्न होते हैं। *भगवद्गीता* का यह कथन कि मृत्यु के समय जैसी मानसिक स्थिति होती है उसी के आधार पर अगला जन्म होता है, इसका भी इस श्लोक में सन्निवेश हुआ है। ज्योंही सूक्ष्म रूप से स्थूल तत्त्वों में विकास का या कल्मष का अवसर प्राप्त होता है कि आन्तरिक (मानसिक) अस्तित्व मूर्त रूप में बदल जाते हैं।

नभसः शब्दतन्मात्रात्कालगत्या विकुर्वतः ।
स्पर्शोऽभवत्ततो वायुस्त्वक्स्पर्शस्य च सङ्ग्रहः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

नभसः—आकाश से; शब्द-तन्मात्रात्—सूक्ष्म शब्द तत्त्व से प्रकट होता है; काल-गत्या—काल की गति से; विकुर्वतः—विकार आने से; स्पर्शः—स्पर्श सूक्ष्म तत्त्व; अभवत्—उत्पन्न हुआ; ततः—उससे; वायुः—वायु; त्वक्—स्पर्शेन्द्रिय, त्वचा; स्पर्शस्य—स्पर्श की; च—यथा; सङ्ग्रहः—अनुभव।

ध्वनि उत्पन्न करने वाले आकाश में काल की गति से विकार उत्पन्न होता है और इस तरह स्पर्श तन्मात्र प्रकट होता है। इससे फिर वायु तथा स्पर्श इन्द्रिय उत्पन्न होती है।

तात्पर्य : कालान्तर में जब सूक्ष्म रूप स्थूल रूपों में परिणत होते हैं, तो वे स्पर्श की वस्तुएँ बन जाते हैं। काल की गति के साथ स्पर्श इन्द्रिय का विकास होता है। शब्द अस्तित्व में आने वाली पहली ज्ञानेन्द्रिय है और शब्दबोध से स्पर्शबोध विकसित होता है, जिससे फिर दृष्टिबोध आता है। हमारी ज्ञानेन्द्रियों के क्रमिक विकास की यही विधि है।

मृदुत्वं कठिनत्वं च शैत्यमुष्णत्वमेव च ।
एतत्स्पर्शस्य स्पर्शत्वं तन्मात्रत्वं नभस्वतः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

मृदुत्वम्—कोमलता; कठिनत्वम्—कठोरता; च—तथा; शैत्यम्—शीतलता; उष्णत्वम्—उष्णता; एव—भी; च—यथा; एतत्—यह; स्पर्शस्य—स्पर्श तन्मात्र का; स्पर्शत्वम्—भिन्नता बताने वाले लक्षण; तत्-मात्रत्वम्—सूक्ष्म रूप; नभस्वतः—वायु का।

कोमलता तथा कठोरता एवं शीतलता तथा उष्णता—ये स्पर्श को बताने वाले लक्षण हैं, जिन्हें वायु के सूक्ष्म रूप में लक्षित किया जाता है।

तात्पर्य : मूर्तरूप में होना स्वरूप का प्रमाण है। वास्तव में वस्तुओं को दो भिन्न प्रकार से समझा जाता है। वे या तो कोमल होती हैं या कठोर, शीतल अथवा गरम इत्यादि। स्पर्श इन्द्रिय की यह स्पर्शक्रिया आकाश से उत्पन्न वायु के विकास का प्रतिफल है।

चालनं व्यूहनं प्राप्तिर्नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः ।
सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं वायोः कर्माभिलक्षणम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

चालनम्—हिलाना; व्यूहनम्—मिला देना; प्राप्तिः—पहुँचना; नेतृत्वम्—ले जाना; द्रव्य-शब्दयोः—पदार्थों के कण तथा शब्द; सर्व-इन्द्रियाणाम्—समस्त इन्द्रियों के; आत्मत्वम्—ठीक-ठीक कार्य करने के लिए; वायोः—वायु का; कर्म—क्रियाओं से; अभिलक्षणम्—स्पष्ट लक्षण।

गतियों, मिश्रण, शब्द को पदार्थों तथा अन्य इन्द्रिय बोधों तक पहुँचाने एवं अन्य समस्त इन्द्रियों के समुचित कार्य करते रहने के लिए सुविधाएँ प्रदान कराने में वायु की क्रिया लक्षित होती है।

तात्पर्य : जब हम पेड़ों की शाखाओं को हिलते या जमीन पर सूखी पत्तियों को आपस में एकत्र होते देखते हैं, तो हमें वायु की क्रिया का अनुभव होता है। इसी प्रकार वायु की क्रिया से ही शरीर गतिमान होता है और जब वायु अवरुद्ध हो जाती है, तो तमाम रोग फैलते हैं। लकवा, तन्त्रिका अवरोध, पागलपन तथा अन्य रोग वायु के अपर्याप्त संचार के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। 'आयुर्वेद' पद्धति में इन रोगों का इलाज वायु संचार के आधार पर किया जाता है। यदि प्रारम्भ से वायु संचार प्रक्रिया का ध्यान रखा जाय तो ऐसे रोग न हों। *आयुर्वेद* तथा *श्रीमद्भागवत* से भी यह स्पष्ट है कि केवल वायु के कारण अनेक क्रियाएँ अन्तः तथा बाह्य रूप से चलती रहती हैं और जैसे ही वायु-संचार में कमी आई नहीं कि ये क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं। यहाँ स्पष्ट उल्लेख है—*नेतृत्वं द्रव्य-शब्दयोः*। क्रिया के ऊपर हमारा प्रभुत्व वायु की गतिशीलता के ही कारण है। यदि वायु का संचार रुक जाय तो हम शब्द सुनकर उस स्थान तक नहीं पहुँच सकते। यदि कोई हमें पुकारता है, तो हम वायु-संचार के ही कारण ध्वनि सुनते हैं और उस स्थान या व्यक्ति तक पहुँच जाते हैं जहाँ से ध्वनि आती है। इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि ये सब वायु की गतियों के कारण हैं। गन्ध की पहचान भी वायु की क्रिया के फलस्वरूप होती है।

वायोश्च स्पर्शतन्मात्राद्रूपं दैवेरितादभूत् ।
समुत्थितं ततस्तेजश्चक्षू रूपोपलम्भनम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

वायोः—वायु से; च—तथा; स्पर्श-तन्मात्रात्—स्पर्श तन्मात्र से उत्पन्न; रूपम्—रूप; दैव-ईरितात्—भाग्य के अनुसार; अभूत्—उत्पन्न हुआ; समुत्थितम्—ऊपर उठा; ततः—उससे; तेजः—अग्नि; चक्षुः—नेत्र, दृश्येन्द्रिय; रूप—रंग तथा रूप; उपलम्भनम्—देखने के लिए।

वायु तथा स्पर्श तन्मात्राओं की अन्त:क्रियाओं से मनुष्य को भाग्य के अनुसार विभिन्न रूप दिखते हैं। ऐसे रूपों के विकास के फलस्वरूप अग्नि उत्पन्न हुई और आँखें विविध रंगीन रूपों को देखती हैं।

तात्पर्य : दैव, स्पर्श-अनुभूति, वायु की अन्त:क्रियाएँ तथा आकाश तत्त्व से उत्पन्न मन की स्थिति के कारण अपने पूर्वकर्मों के अनुसार मनुष्य को शरीर प्राप्त होता है। कहना अनावश्यक है कि जीव एक शरीर से दूसरे में देहान्तर करता है। भाग्य के अनुसार तथा वायु एवं मानसिक स्थिति की अन्त:क्रिया को नियन्त्रित करने वाली परम सत्ता की योजना द्वारा उसका रूप बदलता है। रूप विभिन्न प्रकार के इन्द्रिय अनुभव का मिलाप है। पूर्वानिर्धारित कर्म मानसिक स्थिति तथा वायु की अन्त:क्रिया की योजनाएँ हैं।

द्रव्याकृतित्वं गुणता व्यक्तिसंस्थात्वमेव च ।
तेजस्त्वं तेजसः साध्वि रूपमात्रस्य वृत्तयः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

द्रव्य—द्रव्य का; आकृतित्वम्—आकार-प्रकार; गुणता—गुण; व्यक्ति-संस्थात्वम्—व्यक्तित्व; एव—भी; च—यथा; तेजस्त्वम्—तेज; तेजसः—अग्नि का; साध्वि—हे सती; रूप-मात्रस्य—सूक्ष्म तत्त्व रूप के; वृत्तयः—लक्षण।

हे माता, रूप के लक्षण आकार-प्रकार, गुण तथा व्यष्टि से जाने जाते हैं। अग्नि का रूप उसके तेज से जाना जाता है।

तात्पर्य : प्रत्येक रूप जिसकी हम अनुभूति करते हैं उसके विशिष्ट आकार-प्रकार तथा लक्षण होते हैं। किसी विशिष्ट वस्तु की गुणता उसकी उपयोगिता से आँकी जाती है। किन्तु ध्वनि का रूप स्वतन्त्र है। जो रूप अदृश्य हैं उन्हें केवल स्पर्श से जाना जा सकता है; अदृश्य रूप की यह स्वतन्त्र अनुभूति है। दृश्य रूप अपनी संरचना के विश्लेषणात्मक अध्ययन से जाने जाते हैं। किसी पदार्थ की संरचना उसकी आन्तरिक क्रिया से जानी जाती है। उदाहरणार्थ, नमक के स्वरूप को उसके लवणीय स्वाद से और चीनी को उसके मीठे स्वाद की अन्त:क्रियाओं से जाना जाता है। किसी पदार्थ के रूप को समझने के लिए स्वाद तथा गुणात्मक संरचना आधारभूत सिद्धान्त हैं।

द्योतनं पचनं पानमदनं हिममर्दनम् ।
तेजसो वृत्तयस्त्वेताः शोषणं क्षुत्तृडेव च ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

द्योतनम्—प्रकाश; पचनम्—पकाना, पचाना; पानम्—पीना; अदनम्—खाना; हिम-मर्दनम्—शीत को विनष्ट करने वाला; तेजसः—अग्नि के; वृत्तयः—कार्य; तु—निस्सन्देह; एताः—ये; शोषणम्—वाष्पीकरण; क्षुत्—भूख; तृट्—प्यास; एव—भी; च—तथा।

अग्नि अपने प्रकाश के कारण पकाने, पचाने, शीत नष्ट करने, भाप बनाने की क्षमता के कारण एवं भूख, प्यास, खाने तथा पीने की इच्छा उत्पन्न करने के कारण अनुभव की जाती है।

तात्पर्य : अग्नि का पहला लक्षण है प्रकाश तथा उष्मा का वितरण। अग्नि की उपस्थिति आमाशय में भी अनुभव की जाती है। बिना अग्नि के हम खाये हुए भोजन को पचा नहीं पाते। बिना पाचन के न तो भूख लगती है, न प्यास और न खाने-पीने की शक्ति रहती है। जब अपर्याप्त भूख तथा प्यास रहे तो समझना चाहिए कि जठराग्नि मन्द पड़ गई है और इस *अग्नि-मांद्यम्* का आयुर्वेदिक उपचार किया जाता है। चूँकि अग्नि का वर्धन पित्तरस के निकलने से होता है, अतः इसका उपचार पित्तरस के उत्सर्जन को बढ़ाना है। इस प्रकार आयुर्वेदिक उपचार *भागवत* के कथनों का समर्थक है। शीत के प्रभाव को दमित करने में अग्नि का गुण सर्वविदित है। असह्य शीत का सामना अग्नि द्वारा किया जाता है।

रूपमात्राद्विकुर्वाणात्तेजसो दैवचोदितात् ।
रसमात्रमभूत्तस्मादम्भो जिह्वा रसग्रहः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

रूप-मात्रात्—सूक्ष्म तत्त्व रूप से उत्पन्न; विकुर्वाणात्—विकार से; तेजसः—अग्नि से; दैव-चोदितात्—दैवी व्यवस्था से; रस-मात्रम्—सूक्ष्म तत्त्व स्वाद; अभूत्—प्रकट हुआ; तस्मात्—उससे; अम्भः—जल; जिह्वा—स्वादेन्द्रिय; रस-ग्रहः—स्वाद ग्रहण करने वाली।

अग्नि तथा दृष्टि की अन्तःक्रिया से दैवी व्यवस्था के अन्तर्गत स्वाद तन्मात्र उत्पन्न होता है। इस स्वाद से जल उत्पन्न होता है और स्वाद ग्रहण करने वाली जीभ भी प्रकट होती है।

तात्पर्य : यहाँ जीभ को स्वाद का ज्ञान प्राप्त करने का साधन बताया गया है। चूँकि स्वाद जल का उत्पाद है, अत: जीभ पर सदैव लार रहती है।

कषायो मधुरस्तिक्तः कट्वम्ल इति नैकधा ।
भौतिकानां विकारेण रस एको विभिद्यते ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

कषायः—कषैला; मधुरः—मीठा; तिक्तः—तीता; कटु—कड़वा; अम्लः—खट्टा; इति—इस प्रकार; न-एकधा—अनेक प्रकार का; भौतिकानाम्—अन्य वस्तुओं के; विकारेण—विकार से; रसः—सूक्ष्म तत्त्व स्वाद; एकः—मूलतः एक; विभिद्यते—विभाजित होता है।

यद्यपि मूल रूप से स्वाद एक ही है, किन्तु अन्य पदार्थों के संसर्ग से यह कषैला मधुर, तीखा, कड़वा, खट्टा तथा नमकीन—कई प्रकार का हो जाता है।

क्लेदनं पिण्डनं तृप्तिः प्राणनाप्यायनोन्दनम् ।
तापापनोदो भूयस्त्वमम्भसो वृत्तयस्त्विमाः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

क्लेदनम्—गीला करना; पिण्डनम्—पिंड बना देना, थक्के जमा देना; तृप्तिः—तृप्त करना; प्राणन—जीवित रखना; आप्यायन—तरोताजा रखना; उन्दनम्—मुलायम बनाना; ताप—उष्मा, गर्मी; अपनोदः—भगाना; भूयस्त्वम्—प्रचुरता से; अम्भसः—जल के; वृत्तयः—विशिष्ट कार्य; तु—वास्तव में; इमाः—ये।

जल की विशेषताएँ उसके द्वारा अन्य पदार्थों को गीला करने, विभिन्न मिश्रणों के पिण्ड बनाने, तृप्ति लाने, जीवन पालन करने, वस्तुओं को मुलायम बनाने, गर्मी भगाने, जलागारों की निरन्तर पूर्ति करते रहने तथा प्यास बुझाकर तरोताजा बनाने में हैं।

तात्पर्य : जल पीकर क्षुधा मिटाई जा सकती है। कभी-कभी यह देखा जाता है कि यदि कोई व्यक्ति उपवास व्रत रखता है और बीच-बीच में उसे थोड़ा जल दे दिया जाता है, तो उपवास के कारण उत्पन्न क्षीणता कम होती है। वेदों में भी कहा गया है—*आपोमयः प्राणः*—जीवन जल पर निर्भर है। जल से किसी भी वस्तु को गीला या नम किया जा सकता है। आटे में जल मिलाने से लोई बन जाती है। मिट्टी तथा जल मिलाने से कीचड़ उत्पन्न होता है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कथित है—विभिन्न भौतिक तत्त्वों को जोड़ने वाला अवयव जल ही है। जब हम मकान बनाते हैं, तो ईंटें बनाने में प्रमुख अवयव जल ही होता

है। समग्र जगत में अग्नि, जल तथा वायु विनिमयकारी तत्त्व हैं, किन्तु इनमें से जल प्रमुख है। तपते हुए स्थान में जल डाल कर अत्यधिक तप्तता दूर की जा सकती है।

रसमात्राद्विकुर्वाणादम्भसो दैवचोदितात् ।
गन्धमात्रमभूत्तस्मात्पृथ्वी घ्राणस्तु गन्धगः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

रस-मात्रात्—सूक्ष्म तत्त्व स्वाद से उत्पन्न; विकुर्वाणात्—विकार से; अम्भसः—जल से; दैव-चोदितात्—दैवी व्यवस्था से; गन्ध-मात्रम्—सूक्ष्म तत्त्व गंध; अभूत्—प्रकट हुआ; तस्मात्—उससे; पृथ्वी—पृथ्वी; घ्राणः—घ्राणेन्द्रिय; तु—वास्तव में; गन्ध-गः—सुगन्धि ग्रहण करने वाली।

स्वाद अनुभूति और जल की अन्तःक्रिया के फलस्वरूप दैवी विधान से गन्ध तन्मात्रा उत्पन्न होती है। उससे पृथ्वी तथा घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न होते हैं जिससे हम पृथ्वी की सुगन्धि का बहुविध अनुभव कर सकते हैं।

करम्भपूतिसौरभ्यशान्तोग्राम्लादिभिः पृथक् ।
द्रव्यावयववैषम्याद्गन्ध एको विभिद्यते ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

करम्भ—मिश्रित; पूति—दुर्गन्ध; सौरभ्य—सुगन्धित; शान्त—मृदु; उग्र—तीक्ष्ण, तीव्र; अम्ल—खट्टी; आदिभिः—इत्यादि; पृथक्—भिन्न; द्रव्य—पदार्थ के; अवयव—भागों के; वैषम्यात्—विविधता के अनुसार; गन्धः—गन्ध; एकः—एक; विभिद्यते—विभाजित होती है।

यद्यपि गन्ध एक है, किन्तु सम्बद्ध पदार्थों के अनुपातों के अनुसार अनेक प्रकार की हो जाती है, यथा—मिश्रित, दुर्गंध, सुगन्धित, मृदु, तीव्र, अम्लीय इत्यादि।

तात्पर्य : कभी-कभी विभिन्न अवयवों से तैयार किये गये भोज्य पदार्थों में मिश्रित गन्ध आती है—यथा तरकारियों में मसाले तथा हींग मिलाने से। गन्दे स्थानों से दुर्गन्ध आती है; कपूर, पुदीना तथा अन्य पदार्थों से अच्छी महक (सुगन्ध) आती है; प्याज तथा लहसुन से तीक्ष्ण गन्ध आती है और हल्दी तथा अन्य खट्टी वस्तुओं से अम्लीय (खट्टी) गंध आती है। मूल गंध तो पृथ्वी से निकलने वाली महक है और जब यह विभिन्न पदार्थों से मिल जाती है, तो विविध रूपों में प्रकट होती है।

भावनं ब्रह्मणः स्थानं धारणं सद्विशेषणम् ।
सर्वसत्त्वगुणोद्भेदः पृथिवीवृत्तिलक्षणम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

भावनम्—मूर्ति जैसे रूप; ब्रह्मणः—परब्रह्म के; स्थानम्—आवास स्थान बनाने; धारणम्—वस्तुओं को धारण करने; सत्-विशेषणम्—खुले आकाश को अलग करना; सर्व—समस्त; सत्त्व—अस्तित्व के; गुण—गुण; उद्भेदः—प्राकट्य का स्थान; पृथिवी—पृथ्वी के; वृत्ति—कार्यों के; लक्षणम्—लक्षण।

परब्रह्म के स्वरूपों को आकार प्रदान करके, आवास स्थान बनाकर, जल रखने के पात्र बनाकर पृथ्वी के कार्यों के लक्षणों को देखा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, पृथ्वी समस्त तत्त्वों का आश्रय स्थल है।

तात्पर्य : पृथ्वी में ध्वनि, आकाश, वायु, अग्नि, जल जैसे विभिन्न तत्त्व देखे जा सकते हैं। यहाँ पर पृथ्वी की अन्य विशेषता का उल्लेख हुआ है और वह यह है कि पृथ्वी से भगवान् के विभिन्न रूप प्रकट होते हैं। कपिल के इस कथन से इसकी पुष्टि होती है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अर्थात् ब्रह्म के असंख्य रूप हैं, जिनका शास्त्रों में वर्णन मिलता है। पृथ्वी तथा इसके उत्पादों—यथा पत्थर, लकड़ी तथा रत्न को ठीक से मिलाकर ब्रह्म के इन स्वरूपों को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया जा सकता है। जब मिट्टी की मूर्ति द्वारा भगवान् कृष्ण या भगवान् विष्णु का स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है, तो वह काल्पनिक नहीं होता। पृथ्वी भगवान् के स्वरूपों को शास्त्रों में वर्णित आकार प्रदान करती है।

ब्रह्म-संहिता में भगवान् कृष्ण की भूमि, वैकुण्ठधाम की विचित्रता तथा अपने आध्यात्मिक शरीर से बाँसुरी बजाते हुए उनके स्वरूप का वर्णन मिलता है। इन सब रूपों का उल्लेख शास्त्रों में मिलता है और जब उन्हें वैसे ही रूपों में प्रस्तुत किया जाता है, तो वे पूज्य बन जाते हैं। वे काल्पनिक नहीं हैं जैसाकि मायावादी दर्शन कहता है। कभी-कभी *भावन* शब्द की व्याख्या 'कल्पना' के रूप में की जाती है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है। इसका वास्तविक अर्थ है वैदिक विवरणों के अनुसार आकार प्रदान करना। पृथ्वी समस्त जीवात्माओं तथा उनके गुणों का चरम रूपान्तरण है।

नभोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्छ्रोत्रमुच्यते ।

वायोर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य तत्स्पर्शनं विदुः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

नभः-गुण-विशेषः—आकाश का विशिष्ट गुण (शब्द); अर्थः—विषय; यस्य—जिसका; तत्—वह; श्रोत्रम्—श्रवणेन्द्रिय; उच्यते—कहलाता है; वायोः गुण-विशेषः—वायु का विशिष्ट गुण (स्पर्श); अर्थः—विषय; यस्य—जिसका; तत्—वह; स्पर्शनम्—स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा); विदुः—जानते हैं।

वह इन्द्रिय जिसका विषय शब्द है श्रवणेन्द्रिय और जिसका विषय स्पर्श है, वह त्वगिन्द्रिय कहलाती है।

तात्पर्य : शब्द आकाश के गुणों में से एक है और इसका विषय सुनना है। इसी प्रकार स्पर्श वायु का गुण है और इसका विषय है स्पर्शानुभूति।

तेजोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्चक्षुरुच्यते
अम्भोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तद्रसनं विदुः ।
भूमेर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य स घ्राण उच्यते ॥ ४८॥

शब्दार्थ

तेजः-गुण-विशेषः—अग्नि का विशेष गुण (रूप); अर्थः—विषय; यस्य—जिसका; तत्—वह; चक्षुः—आँख, नेत्रेन्द्रिय; उच्यते—कहलाती है; अम्भः-गुण-विशेषः—जल का विशेष गुण (स्वाद); अर्थः—विषय; यस्य—जिसका; तत्—वह; रसनम्—स्वाद की इन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, रसना; विदुः—जानी जाती है; भूमेः गुण-विशेषः—भूमि का विशेष गुण (गंध); अर्थः—विषय; यस्य—जिसका; सः—वह; घ्राणः—घ्राणेन्द्रिय; उच्यते—कहलाती है।

वह इन्द्रिय जिसका विषय अग्नि का विशेष गुण रूप है, वह नेत्रेन्द्रिय है। जिस इन्द्रिय का विषय जल का विशेष स्वाद है, वह रसनेन्द्रिय कहलाती है। जिस इन्द्रिय का विषय पृथ्वी का विशिष्ट गुण गंध है, वह घ्राणेन्द्रिय कही जाती है।

परस्य दृश्यते धर्मो ह्यपरस्मिन्समन्वयात् ।
अतो विशेषो भावानां भूमावेवोपलक्ष्यते ॥ ४९॥

शब्दार्थ

परस्य—कारण का; दृश्यते—देखा जाता है; धर्मः—गुण; हि—निस्सन्देह; अपरस्मिन्—कार्य में; समन्वयात्—समन्वय या व्यवस्था से; अतः—अतएव; विशेषः—विशेष गुण; भावानाम्—समस्त तत्त्वों से; भूमौ—पृथ्वी में; एव—अकेले; उपलक्ष्यते—देखा जाता है।

चूँकि कारण अपने कार्य में भी विद्यमान रहता है, अतः पहले के लक्षण (गुण) दूसरे में भी देखे जाते हैं। इसीलिए केवल पृथ्वी में ही सारे तत्त्वों की विशिष्टताएँ पाई जाती हैं।

तात्पर्य : शब्द आकाश का कारण है, आकाश वायु का, वायु अग्नि का, अग्नि जल का और जल पृथ्वी का कारण है। आकाश में केवल शब्द है; वायु में शब्द तथा स्पर्श; अग्नि में शब्द, स्पर्श तथा रूप; जल में शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस (स्वाद); और पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध भी रहते हैं। फलतः पृथ्वी अन्य तत्त्वों के समस्त गुणों का आगार है। पृथ्वी समस्त तत्त्वों का सार है। पृथ्वी में तत्त्वों के पाँचों गुण पाये जाते हैं, जल में चार, अग्नि में तीन, वायु में दो तथा आकाश में केवल एक गुण —शब्द—पाया जाता है।

एतान्यसंहत्य यदा महदादीनि सप्त वै ।
कालकर्मगुणोपेतो जगदादिरुपाविशत् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

एतानि—ये; असंहत्य—न मिलकर; यदा—जब; महत्-आदीनि—महत् तत्त्व, अहंकार तथा पाँच स्थूलतत्त्व; सप्त—कुल मिलाकर सात; वै—वास्तव में; काल—समय; कर्म—कार्य; गुण—तथा तीनों गुणों के; उपेतः—साथ होकर; जगत्-आदिः—सृष्टि की उत्पत्ति; उपाविशत्—प्रविष्ट किया।.

जब ये सारे तत्त्व मिले नहीं थे, तो सृष्टि के आदि कारण श्रीभगवान् ने काल, कर्म तथा गुणों के सहित सात विभागों वाली अपनी समग्र भौतिक शक्ति (महत् तत्त्व) के साथ ब्रह्माण्ड में प्रवेश किया।

तात्पर्य : कारणों की उत्पत्ति का उल्लेख करने के बाद कपिलदेव कार्यों की उत्पत्ति के विषय में कह रहे हैं। जब सारे कारण मिले हुए नहीं थे तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अपने गर्भोदकशायी विष्णु-रूप से प्रत्येक ब्रह्माण्ड के भीतर प्रविष्ट हुए। उनके साथ-साथ सात मूलभूत तत्त्व—पाँच भौतिक तत्त्व, समग्र शक्ति (महत् तत्त्व) तथा अहंकार—भी थे। श्रीभगवान् का यह प्रवेश भौतिक जगत के परमाणुओं तक में होता है। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (५.३५) में होती है—*अण्डान्तरस्थ-परमाणु-चयान्तरस्थम्*। वे न केवल ब्रह्माण्ड के भीतर अपितु परमाणुओं के भीतर भी हैं। वे प्रत्येक जीव के हृदय के भीतर हैं। गर्भोदकशायी विष्णु भगवान् प्रत्येक वस्तु में प्रविष्ट कर गये।

ततस्तेनानुविद्धेभ्यो युक्तेभ्योऽण्डमचेतनम् ।

उत्थितं पुरुषो यस्मादुदतिष्ठदसौ विराट् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; तेन—भगवान् के द्वारा; अनुविद्धेभ्यः—उन सात तत्त्वों से सक्रिय हो उठे; युक्तेभ्यः—मिले हुए; अण्डम्—अंडा; अचेतनम्—अज्ञानी; उत्थितम्—उठा; पुरुषः—विराट प्राणी; यस्मात्—जिससे; उदतिष्ठत्—प्रकट हुआ; असौ—वह; विराट्—सुप्रसिद्ध।

भगवान् की उपस्थिति के कारण उत्प्रेरित होने तथा परस्पर मिलने से इन सात तत्त्वों से एक जड़ अण्डा उत्पन्न हुआ जिससे विख्यात विराट-पुरुष प्रकट हुआ।

तात्पर्य : विषयी जीवन में माता-पिता के पदार्थ के संयोग से जिसमें पायस (इमल्शन) बनना तथा रस उत्पन्न होना सम्मिलित हैं, ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है कि पदार्थ भीतर में आत्मा को ग्रहण कर लेता है और पदार्थ के संयोग से क्रमशः पूर्ण शरीर का विकास हो जाता है। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति में भी यही सिद्धान्त पाया जाता है—सारे अवयव विद्यमान थे, किन्तु जब भगवान् इन तत्त्वों के भीतर प्रविष्ट हुए तभी पदार्थ क्षुब्ध हुआ। उत्पत्ति (सृष्टि) का यही कारण है। इसे हम अपने सामान्य अनुभव में देखते हैं। यद्यपि मिट्टी, जल तथा अग्नि ये तीन तत्त्व विद्यमान होते हैं, किन्तु जब हम इन्हें मिलाने का प्रयास करते हैं तभी ये तत्त्व ईंट का आकार धारण करते हैं। जीवित शक्ति (प्राण) के बिना कोई सम्भावना नहीं रहती कि पदार्थ आकार ग्रहण कर सके। इसी प्रकार जब तक भगवान् *विराट्-पुरुष* के रूप में इस भौतिक जगत को क्षुब्ध नहीं करते तब तक इसका विकास नहीं होता। *यस्मादुदतिष्ठदसौ विराट्*—उनके प्रक्षोभ से आकाश उत्पन्न हुआ और उसके भीतर भगवान् का विराट रूप भी प्रकट हुआ।

एतदण्डं विशेषाख्यं क्रमवृद्धैर्दशोत्तरैः
तोयादिभिः परिवृतं प्रधानेनावृतैर्बहिः ।
यत्र लोकवितानोऽयं रूपं भगवतो हरेः ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; अण्डम्—अण्डा; विशेष-आख्यम्—'विशेष' कहलाने वाला; क्रम—एक के पश्चात् एक, क्रमशः; वृद्धैः—बढ़ा; दश—दसगुना; उत्तरैः—अधिक बड़ा; तोय-आदिभिः—जल इत्यादि के द्वारा; परिवृतम्—घिरा हुआ; प्रधानेन—प्रधान के द्वारा; आवृतैः—ढका हुआ; बहिः—बाहर से; यत्र—यहाँ; लोक-वितानः—लोकों का विस्तार; अयम्—यह; रूपम्—रूप; भगवतः—श्रीभगवान् का; हरेः—भगवान् हरि का।

यह अण्डाकार ब्रह्माण्ड भौतिक शक्ति का प्राकट्य कहलाता है। जल, वायु, अग्नि, आकाश, अहंकार तथा महत्-तत्त्व की इसकी परतें (स्तर) क्रमशः मोटी होती जाती हैं।

प्रत्येक परत अपने से पूर्ववाली से दसगुनी मोटी होती है और अन्तिम बाह्य परत 'प्रधान' से घिरी हुई है। इस अण्डे के भीतर भगवान् हरि का विराट रूप रहता है, जिनके शरीर के अंग चौदहों लोक हैं।

तात्पर्य : यह ब्रह्माण्ड या ब्रह्माण्डीय-आकाश जिसकी कल्पना हम उसके असंख्य लोकों समेत करते हैं, एक अंडे के समान आकार वाला है। जिस तरह अंडा एक कवच से घिरा रहता है उसी तरह यह ब्रह्माण्ड भी विविध परतों (स्तरों) से घिरा है। इसकी पहली परत जल है, दूसरी अग्नि, फिर वायु, तब आकाश और अन्तिम परत है 'प्रधान'। इस अण्डाकार ब्रह्माण्ड के भीतर *विराट-पुरुष* के रूप में भगवान् का विराट रूप है। सारे लोक उनके शरीर के अंग हैं। इसकी व्याख्या *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कंध में पहले ही की जा चुकी है। सारे लोक भगवान् के इस विराट रूप के विभिन्न अंग माने जाते हैं। जो लोग भगवान् के दिव्यरूप की प्रत्यक्ष पूजा में नहीं लग पाते उन्हें चाहिए कि वे इस विराट रूप का चिन्तन करें और पूजा करें। निम्नतम लोक, पाताल, परमेश्वर का तलवा माना जाता है और पृथ्वी उनका उदर मानी जाती है। उच्चतम लोक, जहाँ ब्रह्माजी रहते हैं, बह्मलोक है, जिसे भगवान् का मस्तक समझा जाता है।

यह विराट-पुरुष भगवान् का अवतार माना जाता है। भगवान् का आदिरूप तो श्रीकृष्ण हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में आदि-पुरुष कहकर पुष्टि की गई है। विराट-पुरुष भी पुरुष है, किन्तु वह आदि-पुरुष नहीं है। *आदि-पुरुष* तो श्रीकृष्ण हैं। *ईश्वर:परम:कृष्ण:सच्चिदानन्दविग्रह:*। *अनादिरादिर्गोविन्द:*।

भगवद्गीता में भी कृष्ण को आदिपुरुष के रूप में स्वीकार किया गया है। कृष्ण कहते हैं "मुझसे बड़ा कोई नहीं है।" भगवान् के असंख्य विस्तार हैं और वे सभी पुरुष अर्थात् भोक्ता हैं, किन्तु इनमें से कोई भी न तो विराट-पुरुष है न पुरुष-अवतार—कारणोदकशायी विष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु—हैं और न अन्य विस्तारों में से कोई भी आदि है। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में गर्भोदकशायी विष्णु, विराट-पुरुष तथा क्षीरोदकशायी विष्णु होते हैं। यहाँ पर विराट-पुरुष के सक्रिय प्राकट्य का वर्णन हुआ है। जो लोग भगवान् के विषय में

निम्नस्तर का ज्ञान रखते हैं, उन्हें चाहिए कि वे भगवान् के विराट रूप का चिन्तन करें, क्योंकि 'भागवत' में इसका उपदेश दिया गया है।

यहाँ पर ब्रह्माण्ड के आकार-प्रकार का अनुमान लगाया गया है। इसका बाह्य आवरण जल, वायु, अग्नि, आकाश, अहंकार तथा महत् तत्त्व की परतों से बना हुआ है और प्रत्येक परत इसके पहलेवाली परत से दसगुनी बड़ी है। ब्रह्माण्ड के खोखले के भीतर का अवकाश किसी मानवीय विज्ञानी या अन्य किसी के द्वारा मापा नहीं जा सकता। इस खोखले के आगे सात आवरण हैं जिनमें से प्रत्येक अपने से पीछे वाली परत से दसगुना बड़ा है। जल की परत ब्रह्माण्ड के व्यास से दसगुनी बड़ी है और अग्नि की परत जल की परत से दसगुनी बड़ी है। इसी प्रकार वायु की परत अग्नि की परत से दसगुनी है। ये आकार-प्रकार मनुष्य के लघु मस्तिष्क के लिए अकल्पनीय हैं।

यह भी कहा गया है कि यह वर्णन मात्र एक अण्डाकार ब्रह्माण्ड का है। इसके अतिरिक्त असंख्य ब्रह्माण्ड हैं और इनमें से कुछ तो कई गुना बड़े हैं। वास्तव में माना जाता है कि यह ब्रह्माण्ड सबसे छोटा है, फलत: इसके प्रबन्ध के लिए प्रमुख अधिष्ठाता अथवा ब्रह्मा के केवल चार सिर हैं। अन्य ब्रह्माण्डों में जो इससे बहुत बड़े हैं ब्रह्मा के और अधिक सिर होते हैं। *चैतन्य-चरितामृत* में कहा गया है कि एक दिन ये सारे ब्रह्मा भगवान् कृष्ण द्वारा बुलाये गये और जब लघु ब्रह्मा ने बृहद् ब्रह्मा को देखा तो मानो उस पर वज्रपात हो गया। ऐसी है भगवान् की अचिन्त्य शक्ति। कोई भी चिन्तन द्वारा या ईश्वर के साथ मिथ्या ऐक्य द्वारा ईश्वर की लम्बाई-चौड़ाई नहीं नाप सकता। यदि कोई प्रयास करता है, तो यह पागलपन का द्योतक है।

हिरण्मयादण्डकोशादुत्थाय सलिले शयात् ।
तमाविश्य महादेवो बहुधा निर्बिभेद खम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

हिरण्मयात्—सुनहले; अण्ड-कोशात्—अण्डे से; उत्थाय—निकल कर; सलिले—जल में; शयात्—लेटे हुए; तम्—उस; आविश्य—घुसकर; महा-देव:—श्रीभगवान्; बहुधा—कई प्रकार से; निर्बिभेद—बाँट दिया; खम्—छिद्र।

विराट-पुरुष, श्रीभगवान् उस सुनहले अंडे में स्थित हो गये जो जल में पड़ा हुआ था

और उन्होंने उसे कई विभागों में बाँट दिया।

निरभिद्यतास्य प्रथमं मुखं वाणी ततोऽभवत् ।
वाण्या वह्निरथो नासे प्राणोतो घ्राण एतयोः ॥५४॥

शब्दार्थ

निरभिद्यत—प्रकट हुआ; अस्य—उसका; प्रथमम्—सर्वप्रथम; मुखम्—मुँह; वाणी—वागेन्द्रिय; ततः—तब; अभवत्—बाहर आया; वाण्या—वागेन्द्रिय से; वह्निः—अग्नि का देवता; अथः—तब; नासे—दो नथुने; प्राण—प्राणवायु; उतः—जुड़ गये; घ्राणः—घ्राणेन्द्रिय; एतयोः—उनमें।

सर्वप्रथम उनके मुख प्रकट हुआ और फिर वागेन्द्रिय और इसी के साथ अग्नि देव प्रकट हुए जो इस इन्द्रिय के अधिष्ठाता देव हैं। तब दो नथुने प्रकट हुए और उनमें घ्राणेन्द्रिय तथा प्राण प्रकट हुए।

तात्पर्य : वाणी के प्रकट होते ही अग्नि भी प्रकट हुई और दोनों नथुनों के प्रकट होते ही प्राणवायु, श्वसन क्रिया तथा घ्राणेन्द्रिय प्रकट हुए।

घ्राणाद्वायुरभिद्येतामक्षिणी चक्षुरेतयोः ।
तस्मात्सूर्यो न्यभिद्येतां कर्णौ श्रोत्रं ततो दिशः ॥५५॥

शब्दार्थ

घ्राणात्—घ्राणेन्द्रिय से; वायुः—वायुदेव; अभिद्येताम्—प्रकट हुआ; अक्षिणी—दो नेत्र; चक्षुः—चक्षु इन्द्रिय; एतयोः—इनमें; तस्मात्—उससे; सूर्यः—सूर्यदेव; न्यभिद्येताम्—प्रकट हुए; कर्णौ—दो कान; श्रोत्रम्—श्रवणेन्द्रिय; ततः—उससे; दिशः—दिशाओं के अधिष्ठाता।

घ्राणेन्द्रिय के बाद उसका अधिष्ठाता वायुदेव प्रकट हुआ। तत्पश्चात् विराट रूप में दो चक्षु और उनमें चक्षु-इन्द्रिय प्रकट हुई। इसके अनन्तर चक्षुओं का अधिष्ठाता सूर्यदेव प्रकट हुआ। फिर उनके दो कान और उनमें कर्णेन्द्रिय तथा दिशाओं के अधिष्ठाता दिग्देवता प्रकट हुए।

तात्पर्य : भगवान् के विराट रूप में विभिन्न शारीरिक अंगों एवं इन अंगों के अधिष्ठाता देवों के प्राकट्य का वर्णन किया जा रहा हा। जिस प्रकार माता के गर्भ में शिशु के विभिन्न शारीरिक अंगों का विकास होता है, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड के गर्भ में भगवान् के विराट रूप में विविध सामग्रियों की उत्पत्ति होती है। जब इन्द्रियाँ प्रकट होती हैं, तो प्रत्येक पर उनका

अधिष्ठाता देव रहता है। इसकी पुष्टि *भागवत* के इस कथन से तथा *ब्रह्म-संहिता* से भी होती है कि भगवान् के विराट रूप के नेत्रों के रूप में सूर्य प्रकट होता है। सूर्य विराट रूप के नेत्रों पर आश्रित है। *ब्रह्म-संहिता* का यह भी कथन है कि सूर्य श्रीभगवान् कृष्ण का नेत्र है। *यच्चक्षुरेष सविता*। सविता का अर्थ सूर्य है। सूर्य भगवान् का नेत्र है। वास्तव में, प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति परमेश्वर के शरीर से होती है। प्रकृति पदार्थों की पूर्तिकर्त्री मात्र है। सृष्टि तो परमेश्वर द्वारा की जाती है जैसाकि *भगवद्गीता* (९.१०) में पुष्टि हुई है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*—इस दृश्य जगत में प्रकृति मेरी अध्यक्षता में समस्त चर तथा अचर वस्तुओं को उत्पन्न करती है।

निर्बिभेद विराजस्त्वग्रोमश्मश्र्वादयस्ततः ।
तत ओषधयश्चासञ्शिश्नं निर्बिभिदे ततः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

निर्बिभेद—प्रकट हुआ; विराजः—विराट रूप का; त्वक्—त्वचा, चमड़ी; रोम—बाल; श्मश्रु—दाढ़ी, मूँछ; आदयः—इत्यादि; ततः—तब; ततः—उस पर; ओषधयः—जड़ी-बूटियाँ; च—यथा; आसन्—प्रकट हुईं; शिश्नम्—लिंग; निर्बिभिदे—प्रकट हुआ; ततः—इसके बाद।

तब भगवान् के विराट रूप, विराट पुरुष ने अपनी त्वचा प्रकट की और उस पर बाल (रोम), मूँछ तथा दाढ़ी निकल आये। तत्पश्चात् सारी जड़ी-बूटियाँ प्रकट हुईं और तब जननेन्द्रियाँ भी प्रकट हुईं।

तात्पर्य : त्वचा स्पर्श अनुभूति का स्थान है। जो देवता जड़ी-बूटियों के उत्पादन का नियन्त्रण करते हैं, वे त्वगेन्द्रिय के अधिष्ठाता हैं।

रेतस्तस्मादाप आसन्निरभिद्यत वै गुदम् ।
गुदादपानोऽपानाच्च मृत्युर्लोकभयङ्करः ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

रेतः—वीर्य; तस्मात्—उससे; आपः—जल का अधिष्ठाता देव; आसन्—प्रकट हुआ; निरभिद्यत—प्रकट हुआ; वै—निस्सन्देह; गुदम्—गुदा; गुदात्—गुदा से; अपानः—अपान वायु निकालने की इन्द्रिय; अपानात्—अपान से; च—यथा; मृत्युः—मृत्यु; लोक-भयम्-करः—ब्रह्माण्ड भर में भय उत्पन्न करने वाला।

तत्पश्चात् वीर्य (प्रजनन क्षमता) और जल का अधिष्ठाता देव प्रकट हुआ। फिर गुदा

और उसकी इन्द्रिय और उसके भी बाद मृत्यु का देवता प्रकट हुआ जिससे सारा ब्रह्माण्ड भयभीत रहता है।

तात्पर्य : यहाँ यह समझना होगा कि वीर्य-स्खलन की क्षमता ही मृत्यु का कारण है। अत: योगी तथा अध्यात्मवादी, जो अधिक काल तक जीवित रहना चाहते हैं, वे स्वेच्छा से वीर्य-स्खलन रोकते हैं। जो जितना ही वीर्य-स्खलन रोक सकता है, वह उतना ही मृत्यु से दूर रह सकता है। ऐसे अनेक योगी हैं, जो इस विधि से तीन सौ या सात सौ वर्षों तक जीवित रहते हैं। *भागवत* में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वीर्यपात ही भयावह मृत्यु का कारण है। जो जितना ही विषयी होता है उतनी ही जल्दी उसकी मृत्यु होती है।

हस्तौ च निरभिद्येतां बलं ताभ्यां तत: स्वराट् ।
पादौ च निरभिद्येतां गतिस्ताभ्यां ततो हरि: ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

हस्तौ—दो हाथ; च—यथा; निरभिद्येताम्—प्रकट हुए; बलम्—शक्ति; ताभ्याम्—उनसे; तत:—तत्पश्चात्; स्वराट्—इन्द्र; पादौ—दो पाँव; च—यथा; निरभिद्येताम्—प्रकट हुए; गति:—चलने की क्रिया; ताभ्याम्—उनसे; तत:—तब; हरि:—भगवान् विष्णु।

तत्पश्चात् भगवान् के विराट रूप के दो हाथ प्रकट हुए और उन्हीं के साथ वस्तुओं को पकड़ने तथा गिराने की शक्ति आई। फिर इन्द्र देव प्रकट हुए। तदनन्तर दो पाँव प्रकट हुए, उन्हीं के साथ चलने-फिरने की क्रिया आई और इसके बाद भगवान् विष्णु प्रकट हुए।

तात्पर्य : हाथों का अधिष्ठाता देव इन्द्र और गति का अधिष्ठाता देव भगवान् विष्णु हैं। विराट-पुरुष के पाँव प्रकट होने पर विष्णु का प्राकट्य हुआ।

नाड्योऽस्य निरभिद्यन्त ताभ्यो लोहितमाभृतम् ।
नद्यस्तत: समभवन्नुदरं निरभिद्यत ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

नाड्य:—नसें, नाड़ियाँ; अस्य—विराट पुरुष की; निरभिद्यन्त—प्रकट हुईं; ताभ्य:—उनसे; लोहितम्—रक्त; आभृतम्—उत्पन्न हुआ; नद्य:—नदियाँ; तत:—उससे; समभवन्—प्रकट हुए; उदरम्—पेट; निरभिद्यत—प्रकट हुआ।

विराट शरीर की नाड़ियाँ प्रकट हुईं और तब लाल रक्त-कणिकाएँ या रक्त प्रकट हुआ। इसके पीछे नदियाँ (नाड़ियों की अधिष्ठात्री) और तब उस शरीर में पेट प्रकट हुआ।

तात्पर्य : रक्त की नाड़ियों की तुलना नदियों से की गई है। जब विराट रूप में नाड़ियाँ प्रकट हुईं तो विभिन्न लोकों में नदियाँ भी प्रकटीं। नदियों का अधिष्ठाता देव नाड़ी-मण्डल का भी अधिष्ठाता है। आयुर्वेदिक चिकित्सा में 'तन्त्रिका अस्थिरता' रोग से पीड़ित व्यक्ति को बहती नदी में डुबकी लगाकर स्नान करने की संस्तुति की जाती है।

क्षुत्पिपासे ततः स्यातां समुद्रस्त्वेतयोरभूत् ।
अथास्य हृदयं भिन्नं हृदयान्मन उत्थितम् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

क्षुत्-पिपासे—भूख तथा प्यास; ततः—तब; स्याताम्—प्रकट हुए; समुद्रः—समुद्र; तु—तब; एतयोः—इनसे; अभूत्—उत्पन्न हुआ; अथ—तब; अस्य—विराट रूप का; हृदयम्—हृदय; भिन्नम्—प्रकट हुआ; हृदयात्—हृदय से; मनः—मन; उत्थितम्—प्रकट हुआ।

तत्पश्चात भूख तथा प्यास की अनुभूतियाँ उत्पन्न हुईं और इनके साथ ही समुद्र का प्राकट्य हुआ। फिर हृदय प्रकट हुआ और हृदय के साथ-साथ मन प्रकट हुआ।

तात्पर्य : समुद्र को पेट का अधिष्ठाता देव माना गया है, जहाँ से भूख तथा प्यास की अनुभूति उत्पन्न होती है। जब किसी को ठीक से भूख प्यास नहीं लगती तो आयुर्वेदिक उपचार में उस मनुष्य को समुद्र में स्नान करने की सलाह दी जाती है।

मनसश्चन्द्रमा जातो बुद्धिर्बुद्धेर्गिरां पतिः ।
अहङ्कारस्ततो रुद्रश्चित्तं चैत्यस्ततोऽभवत् ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

मनसः—मन से; चन्द्रमाः—चन्द्रमा; जातः—उत्पन्न हुआ; बुद्धिः—बुद्धि; बुद्धेः—बुद्धि से; गिराम् पतिः—वाणी के स्वामी (ब्रह्मा); अहङ्कारः—अहंकार; ततः—तब; रुद्रः—शिव जी; चित्तम्—चेतना; चैत्यः—चेतना का अधिष्ठाता देव; ततः—तब; अभवत्—प्रकट हुआ।

मन के बाद चन्द्रमा प्रकट हुआ। फिर बुद्धि और बुद्धि के बाद ब्रह्मा जी प्रकट हुए। तब अहंकार, फिर शिव जी और शिव जी के बाद चेतना तथा चेतना का अधिष्ठाता देव

प्रकट हुए।

तात्पर्य : मन के प्रकट होने पर चन्द्रमा प्रकट हुआ। यह इस बात का सूचक है कि चन्द्रमा मन का अधिष्ठाता देव है। इसी प्रकार ब्रह्मा जी बुद्धि के बाद प्रकट होने से बुद्धि के अधिष्ठाता हैं और शिवजी अहंकार के बाद प्रकट होने से अंहकार के अधिष्ठाता हैं। दूसरे शब्दों में, चन्द्रमा सतोगुण, ब्रह्मा रजोगुण तथा शिव तमोगुण से सूचक हैं। अहंकार के पश्चात् चेतना का उदय सूचित करता है कि प्रारम्भ से भौतिक चेतना तमोगुण के अधीन रहती है, अत: मनुष्य को अपनी चेतना शुद्ध करके शुद्ध बनना होता है। यह शुद्धिकरण कृष्णचेतना (कृष्णभावनामृत) कहलाती है। चेतना के शुद्ध होते ही अहंकार दूर हो जाता है। आत्मा के साथ शरीर की पहचान मिथ्या पहचान या अहंकार कहलाती है। भगवान् चैतन्य अपनी कृति *शिक्षाष्टक* में इसकी पुष्टि करते हैं। वे कहते हैं कि हरे कृष्ण महामन्त्र के उच्चारण करने का पहला परिणाम यह निकलता है कि चेतना या मन रूपी दर्पण से धूल हट जाती है और तब तुरन्त ही संसार की प्रज्ज्वलित अग्नि समाप्त हो जाती है। संसार की यह अग्नि अहंकार के कारण होती है, किन्तु अहंकार के हटते ही मनुष्य को अपने वास्तविक स्वरूप का पता चल जाता है। उस समय वह सचमुच माया के पाश से मुक्त हो जाता है। ज्योंही वह मिथ्या अंहकार के चंगुल से छूटता है कि उसकी बुद्धि भी विमल हो जाती है और तब उनका मन सदैव भगवान् के चरणकमलों में लगा रहता है।

भगवान् का आविर्भाव पूर्णिमा के दिन गौरचन्द्र के अथवा कलंकरहित दिव्य चन्द्रमा के रूप में हुआ। भौतिक चन्द्रमा में धब्बे होते हैं, किन्तु दिव्य चन्द्रमा अर्थात् गौरचन्द्र में धब्बे नहीं होते। शुद्ध मन को भगवान् की सेवा में लगाने के लिए मनुष्य को निष्कलुष चन्द्रमा या गौरचन्द्र की पूजा करनी होती है। जो लोग कामी हैं या जीवन में उन्नति करने में अपनी बुद्धि का प्रदर्शन करना चाहते हैं, वे सामान्य रूप से बह्मा के उपासक होते हैं और जो लोग घोर अज्ञान में रहकर अपने को शरीर मानते हैं, वे शिवजी की पूजा करते हैं। हिरण्यकशिपु तथा रावण जैसे भौतिकतावादी व्यक्ति ब्रह्मा या शिव के उपासक होते हैं, किन्तु कृष्णचेतना में रहने

वाले प्रह्लाद तथा अन्य भक्त परमेश्वर की उपासना करते हैं।

एते ह्यभ्युत्थिता देवा नैवास्योत्थापनेऽशकन् ।
पुनराविविशुः खानि तमुत्थापयितुं क्रमात् ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

एते—ये; हि—निस्सन्देह; अभ्युत्थिताः—उत्पन्न; देवाः—देवता; न—नहीं; एव—रंचमात्र; अस्य—विराट-पुरुष का; उत्थापने—जगाने में; अशकन्—समर्थ; पुनः—फिर; आविविशुः—प्रविष्ट कर गये; खानि—शरीर के छिद्रों में; तम्—उसको; उत्थापयितुम्—जगाने में; क्रमात्—क्रमशः।

इस तरह जब देवता तथा विभिन्न इन्द्रियों के अधिष्ठाता देव प्रकट हो चुके, तो उन सबों ने अपने-अपने उत्पत्ति स्थान को जगाना चाहा। किन्तु ऐसा न कर सकने के कारण वे विराट-पुरुष को जगाने के उद्देश्य से उनके शरीर में एक-एक करके पुनः प्रविष्ट हो गये।

तात्पर्य : भीतर सोते हुए अधिष्ठाता देव को जगाने के लिए मनुष्य को अपने ऐन्द्रिक कर्मों को बाहर से मोड़कर भीतर ले जाना होता है। अगले श्लोकों में विराट-पुरुष को जगाने के लिए जिन ऐन्द्रिक कर्मों की आवश्यकता होती है उनका सुन्दर वर्णन किया गया है।

वह्निर्वाचा मुखं भेजे नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
घ्राणेन नासिके वायुर्नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

वह्निः—अग्निदेव; वाचा—वागेन्द्रिय से; मुखम्—मुँह; भेजे—प्रविष्ट किया; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब; विराट्—विराट-पुरुष; घ्राणेन—घ्राणेन्द्रिय से; नासिके—दोनों नथुनों में; वायुः—वायुदेव; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब; विराट्—विराट-पुरुष।

अग्निदेव ने वागेन्द्रिय से उनके मुख में प्रवेश किया, किन्तु विराट-पुरुष उठा नहीं। तब वायुदेव ने घ्राणेन्द्रिय से होकर उनके नथुनों में प्रवेश किया, तो भी विराट-पुरुष नहीं जागा।

अक्षिणी चक्षुषादित्यो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
श्रोत्रेण कर्णौ च दिशो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ ६४ ॥

शब्दार्थ

अक्षिणी—दो आँखें; चक्षुषा—चक्षु इन्द्रिय से; आदित्यः—सूर्यदेव; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब; विराट्—विराट-पुरुष; श्रोत्रेण—श्रवणेन्द्रिय से; कर्णौ—दो कानों; च—तथा; दिशः—दिशाओं के अधिष्ठाता देव; न—नहीं; उदतिष्ठत्—जागा; तदा—तब; विराट्—विराट-पुरुष।

तब सूर्यदेव ने चक्षुरिन्द्रिय से विराट-पुरुष की आँखों में प्रवेश किया, तो भी वह उठा नहीं। इसी तरह दिशाओं के अधिष्ठाता देवों ने श्रवणेन्द्रिय से होकर उनके कानों में प्रवेश किया, किन्तु तो भी वह नहीं उठा।

त्वचं रोमभिरोषध्यो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
रेतसा शिश्नमापस्तु नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

त्वचम्—विराट-पुरुष की चमड़ी; रोमभिः—शरीर के ऊपर के रोओं से; ओषध्यः—जड़ी-बूटियों के अधिष्ठाता देव; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब; विराट्—विराट-पुरुष; रेतसा—वीर्य से; शिश्नम्—लिंग; आपः—जल-देव; तु—तब; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब; विराट्—विराट-पुरुष।

त्वचा तथा जड़ी-बूटियों के अधिष्ठाता देवों ने शरीर के रोमों से त्वचा में प्रवेश किया, किन्तु तो भी विराट-पुरुष नहीं उठा। तब जल के अधिष्ठाता देव ने वीर्य के माध्यम से जननांग में प्रवेश किया, किन्तु विराट-पुरुष नहीं जागा।

गुदं मृत्युरपानेन नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
हस्ताविन्द्रो बलेनैव नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

गुदम्—गुदा; मृत्युः—मृत्यु का देवता; अपानेन—अपान वायु की इन्द्रिय से; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तो भी; विराट्—विराट-पुरुष; हस्तौ—दोनों हाथ; इन्द्रः—इन्द्रदेव; बलेन—वस्तुओं को पकड़ने तथा गिराने की शक्ति से; एव—निस्सन्देह; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—इतने पर भी; विराट्—विराट-पुरुष।

मृत्यु-देव ने अपान-इन्द्रिय से उनकी गुदा में प्रवेश किया, किन्तु विराट-पुरुष में कोई गति नहीं आई। तब इन्द्रदेव ने हाथों में पकड़कर गिराने की शक्ति के हाथों में प्रवेश किया, किन्तु इतने पर भी विराट-पुरुष उठा नहीं।

विष्णुर्गत्यैव चरणौ नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
नाडीर्नद्यो लोहितेन नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ ६७ ॥

शब्दार्थ

विष्णुः—भगवान् विष्णु; गत्या—गति से; एव—निस्सन्देह; चरणौ—दो पाँव; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब भी; विराट्—विराट-पुरुष; नाडीः—नाड़ियाँ; नद्यः—नदियाँ नदी के देवता; लोहितेन—रक्त के द्वारा, संचरण की शक्ति से; न—नहीं; उदतिष्ठत्—हिला डुला; तदा—तो भी; विराट्—विराट-पुरुष।

भगवान् विष्णु ने गति की क्षमता के साथ उनके पाँवों में प्रवेश किया, किन्तु तब भी विराट-पुरुष ने खड़े होने से इनकार कर दिया। तब नदियों ने रक्त-नाड़ियों तथा संचरण शक्ति के माध्यम से रक्त में प्रवेश किया, किन्तु तो भी विराट-पुरुष हिला डुला नहीं।

क्षुत्तृड्भ्यामुदरं सिन्धुर्नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
हृदयं मनसा चन्द्रो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

क्षुत्-तृड्भ्याम्—भूख तथा प्यास से; उदरम्—पेट में; सिन्धुः—समुद्र या समुद्रदेवता; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब भी; विराट्—विराट-पुरुष; हृदयम्—हृदय; मनसा—मन से; चन्द्रः—चन्द्रदेव; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब; विराट्—विराट्-पुरुष।

सागर ने भूख तथा प्यास के सहित उसके पेट में प्रवेश किया, किन्तु तो भी विराट-पुरुष ने उठने से इनकार कर दिया। चन्द्रदेव ने मन के साथ उसके हृदय में प्रवेश किया, किन्तु विराट-पुरुष को जगाया न जा सका।

बुद्ध्या ब्रह्मापि हृदयं नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
रुद्रोऽभिमत्या हृदयं नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

बुद्ध्या—बुद्धि से; ब्रह्मा—ब्रह्मा जी ने; अपि—भी; हृदयम्—हृदय में; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तो भी; विराट्—विराट-पुरुष; रुद्रः—शिवजी; अभिमत्या—अहंकार से; हृदयम्—हृदय को; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब भी; विराट्—विराट-पुरुष।

ब्रह्मा भी बुद्धि के साथ उसके हृदय में प्रविष्ट हुए, किन्तु तब भी विराट-पुरुष उठने के लिए राजी न हुआ। रुद्र ने भी अहंकार समेत उसके हृदय में प्रवेश किया, किन्तु तो भी वह टस से मस न हुआ।

चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद्यदा ।
विराट्तदैव पुरुषः सलिलादुदतिष्ठत ॥ ७० ॥

शब्दार्थ

चित्तेन—चेतना या तर्क से; हृदयम्—हृदय में; चैत्यः—चेतना का अधिष्ठाता देव; क्षेत्र-ज्ञः—क्षेत्र को जानने वाला; प्राविशत्—घुसा; यदा—जब; विराट्—विराट-पुरुष; तदा—तब; एव—ही; पुरुषः—विराट्-पुरुष; सलिलात्—जल से; उदतिष्ठत—उठ गया।

किन्तु जब चेतना का अधिष्ठाता, अन्तःकरण का नियामक, तर्क के साथ हृदय में प्रविष्ट हुआ तो उसी क्षण विराट-पुरुष कारणार्णव से उठ खड़ा हुआ।

यथा प्रसुप्तं पुरुषं प्राणेन्द्रियमनोधियः ।
प्रभवन्ति विना येन नोत्थापयितुमोजसा ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; प्रसुप्तम्—सोया हुआ; पुरुषम्—मनुष्य; प्राण—प्राणवायु; इन्द्रिय—कर्म तथा ज्ञान की इन्द्रियाँ; मनः—मन; धियः—बुद्धि; प्रभवन्ति—समर्थ हैं; विना—के बिना; येन—जिसको (परमात्मा); न—नहीं; उत्थापयितुम्—उठाने में; ओजसा—अपनी शक्ति से।

जब मनुष्य सोता रहता है, तो उसकी सारी भौतिक सम्पदा—यथा प्राणशक्ति, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि—उसे उत्प्रेरित नहीं कर सकतीं। वह तभी जागृत हो पाता है जब परमात्मा उसकी सहायता करता है।

तात्पर्य : सांख्य दर्शन की व्याख्या यहाँ पर इस दृष्टिकोण से विस्तार से की गई है कि विराट पुरुष अर्थात् श्रीभगवान् का विश्वरूप ही विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों एवं उनके अधिष्ठातृ देवों का उत्पत्ति-केन्द्र है। विराट पुरुष एवं ज्ञानेन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवों का अथवा जीवों का सम्बन्ध ऐसा जटिल है कि केवल ज्ञानेन्द्रियों के प्रयोग मात्र से उनके अधिष्ठातृ देवों (भले ही वे परस्पर सम्बद्ध हों) जगाया नहीं जा सकता। विराट पुरुष को जगाना या परमेश्वर को लौकिक कार्यों से सम्बद्ध करना सम्भव नहीं है। केवल भक्तियोग एवं वैराग्य से ही अखिल परमेश्वर से सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है।

तमस्मिन्प्रत्यगात्मानं धिया योगप्रवृत्तया ।
भक्त्या विरक्त्या ज्ञानेन विविच्यात्मनि चिन्तयेत् ॥ ७२ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस पर; अस्मिन्—इसमें; प्रत्यक्-आत्मानम्—परमात्मा; धिया—मन से; योग-प्रवृत्तया—भक्ति में संलग्न; भक्त्या—भक्ति के माध्यम से; विरक्त्या—विरक्ति से; ज्ञानेन—ज्ञान से; विविच्य—सावधानी से विचार करते हुए; आत्मनि—शरीर में; चिन्तयेत्—सोचना चाहिए।

अतः मनुष्य को समर्पण, वैराग्य तथा एकाग्र भक्ति के माध्यम से प्राप्त आध्यत्मिक

ज्ञान में प्रगति के द्वारा इसी शरीर में परमात्मा को विद्यमान समझ कर उसका चिन्तन करना चाहिए यद्यपि वे इससे अलग रहते हैं।

तात्पर्य : मनुष्य अपने भीतर परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है। वे मनुष्य के शरीर के भीतर रहते हैं, किन्तु वे इस शरीर से अलग हैं अथवा इस शरीर से परे हैं। यद्यपि परमात्मा व्यष्टि आत्मा के साथ उस शरीर में आसीन है, किन्तु शरीर में उसकी कोई अनुरक्ति नहीं रहती जब कि आत्मा की होती है। अतएव मनुष्य के भक्तिमय सेवा के द्वारा इस भौतिक शरीर से अपने को विलग कर लेना चाहिए। यहाँ पर यह स्पष्ट उल्लेख (*भक्त्या*) है कि मनुष्य को परमेश्वर की भक्ति करनी होती है। जैसा कि *श्रीमद्भागवत* (१.२.७) में कहा गया है—*वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित:*—जब वासुदेव अर्थात् सर्वव्यापी भगवान् विष्णु की शुद्ध भक्ति की जाती है, तो इस भौतिक जगत से तुरन्त विरक्ति उत्पन्न होने लगती है। सांख्य का उद्देश्य मनुष्य को भौतिक कल्मष से विलग करना है। श्रीभगवान् की भक्ति करने मात्र से इस उद्देश्य की प्राप्ति हो जाती है।

जब मनुष्य भौतिक सम्पत्ति की आसक्ति से विरक्त हो जाता है, तो वह अपना मन परमात्मा में केन्द्रित कर सकता है। जब तक मन इस संसार की ओर भटकता रहता है तब तक मन तथा बुद्धि को श्रीभगवान् या उनके अंश-रूप अर्थात् परम-आत्मा में केन्द्रित कर पाना असम्भव होता है। दूसरे शब्दों में, जब तक मनुष्य भौतिक संसार से विरक्त नहीं हो जाता तब तक वह अपने मन तथा शक्ति को परमेश्वर में नहीं लगा पाता। भौतिक जगत से विरक्त हो जाने के बाद मनुष्य सचमुच परम सत्य का दिव्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जब तक वह इन्द्रियभोग या सांसारिक भोग में फँसा रहता है तब तक परम सत्य को समझ पाना सम्भव नहीं होता। *भगवद्गीता* (१८.५४) में भी इसकी पुष्टि हुई है। भौतिक कल्मष से मुक्त व्यक्ति प्रसन्न रहता है और भक्ति में प्रवेश कर सकता है तथा भक्तियोग के द्वारा मुक्त हो सकता है।

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध में कहा गया है कि मनुष्य भक्ति करके प्रसन्न होता है और प्रसन्न रहने पर वह तत्त्वज्ञान या कृष्णभक्ति को समझ सकता है, अन्यथा ऐसा असम्भव है।

प्रकृति के तत्त्वों का विश्लेषणात्मक अध्ययन तथा परमात्मा में मन को केन्द्रित करना यही सांख्य दर्शन का सार है। इस सांख्ययोग की सिद्धि परम सत्य की भक्ति के साथ पूर्ण होती है।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत ''प्रकृति के मूलभूत सिद्धान्त'' नामक छब्बीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सत्ताईस

प्रकृति का ज्ञान

श्रीभगवानुवाच
प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः ।
अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; प्रकृति-स्थः—भौतिक शरीर में वास करते; अपि—यद्यपि; पुरुषः—जीवात्मा; न—नहीं; अज्यते—प्रभावित होता है; प्राकृतैः—प्रकृति के; गुणैः—गुणों से; अविकारात्—बिना परिवर्तन आये, निर्विकार; अकर्तृत्वात्—कर्तृत्व से स्वतन्त्र; निर्गुणत्वात्—प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहने से; जल—जल पर; अर्कवत्—सूर्य के समान।

भगवान् कपिल ने आगे कहा : जिस प्रकार सूर्य जल पर पड़ने वाले प्रतिबिम्ब से भिन्न रहा आता है उसी तरह जीवात्मा शरीर में स्थित होकर भी प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहता है, क्योंकि वह अपरिवर्तित रहता है और किसी प्रकार का इन्द्रियतुष्टि का कर्म नहीं करता।

तात्पर्य : पिछले अध्याय में भगवान् कपिल ने यह निष्कर्ष निकाला कि मात्र भक्ति प्रारम्भ करके मनुष्य विरक्ति प्राप्त कर सकता है तथा *आत्मतत्त्व* को समझने के लिए दिव्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यहाँ उसी सिद्धान्त की पुष्टि की गई है। जो मनुष्य प्रकृति के गुणों से विरक्त रहता है, वह जल से प्रतिबिम्बित सूर्य के समान है। जब जल पर सूर्य प्रतिबम्बित होता है, तो जल की गति, या उसकी शीतलता या अस्थिरता का सूर्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार *वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः* (*भागवत* १.२.७)—जब मनुष्य भक्ति कार्यों या भक्तियोग में पूरी तरह लग जाता है, तो वह उसी तरह हो जाता है जैसे जल पर प्रतिबिम्बित सूर्य। यद्यपि भक्त भौतिक जगत में रहता प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में वह दिव्य जगत में होता है। जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब जल पर प्रतीत होता है, किन्तु सूर्य जल से लाखों मील दूरी पर होता है उसी प्रकार भक्तियोग में लगा मनुष्य निर्गुण होता है अर्थात् प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहता है।

अविकार का अर्थ है 'परिवर्तनरहित'। *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है कि प्रत्येक जीव

परमात्मा का अंश है, अत: उसकी शाश्वत स्थिति यह है कि वह परमेश्वर के संग जुड़े या उनकी शक्ति का दास बने। यही उसकी अपरिवर्तनीय (अविकारी) स्थिति है। ज्योंही वह अपनी शक्ति तथा कार्यों को इन्द्रियतृप्ति में लगाता है कि उसकी स्थिति बदल जाती है और यह बदली हुई स्थिति *विकार* कहलाती है। इसी प्रकार जब वह गुरु के निर्देशन में भक्ति करता है, तो उसकी स्थिति बदलती नहीं, क्योंकि यह तो उसका प्राकृतिक कर्तव्य है। जैसाकि *श्रीमद्‌भागवत* में उल्लेख है, मुक्ति का अर्थ है मूल स्थिति में पुन:स्थापना। मूल स्थिति तो भगवान् की भक्ति करना (*भक्तियोगेन, भक्त्या*) है। जब मनुष्य भौतिक आकर्षण से विरक्त हो जाता है और भक्ति में पूरी तरह लग जाता है, तो यह अपरिवर्तनशीलता है। *अकर्तृत्वात्* का अर्थ है इन्द्रियतृप्ति के लिए कुछ भी न करना। जब मनुष्य अपने बूते पर कोई काम करता है, तो उसमें स्वामित्व की भावना रहती है और इसीलिए प्रतिक्रिया होती है, किन्तु जब वह कृष्ण के लिए सब कुछ करता है, तो कर्मों के ऊपर उसका कोई कर्तृत्व नहीं रहता। अपरिवर्तनशील तथा कर्म के कर्तृत्व का अधिकार न माँगने से वह तुरन्त दिव्य स्थिति को प्राप्त होता है जहाँ उसे प्रकृति के गुण छू तक नहीं पाते, ठीक उसी प्रकार जिस तरह सूर्य का प्रतिबिम्ब जल द्वारा अप्रभावित रहता है।

स एष यर्हि प्रकृतेर्गुणेष्वभिविषज्जते ।
अहङ्क्रियाविमूढात्मा कर्तास्मीत्यभिमन्यते ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सः—वही जीवात्मा; **एषः**—यह; **यर्हि**—जब; **प्रकृतेः**—प्रकृति के; **गुणेषु**—गुणों में; **अभिविषज्जते**—लीन रहता है; **अहङ्क्रिया**—अहंकार से; **विमूढ**—मोहग्रस्त; **आत्मा**—जीवात्मा; **कर्ता**—करने वाला; **अस्मि**—मैं हूँ; **इति**—इस प्रकार; **अभिमन्यते**—सोचता है।

जब आत्मा प्रकृति के जादू तथा अहंकार के वशीभूत होता है और शरीर को स्व (आत्मा) मान लेता है, तो वह भौतिक कार्यकलापों में लीन रहने लगता है और अहंकारवश सोचता है कि मैं ही प्रत्येक वस्तु का कर्ता हूँ।

तात्पर्य : वास्तविकता तो यह है कि बद्धजीव को प्रकृति के गुणों के वशीभूत होकर कार्य करना पड़ता है। जीवात्मा को तनिक भी स्वाधीनता नहीं है। जब वह भगवान् के निर्देशन में

रहता है, तो वह मुक्त होता है, किन्तु जब वह इस भाव से कि वह इन्द्रियों की तुष्टि कर रहा है, अपने आपको इन्द्रियतुष्टि के कार्यों में लगा देता है, तो वास्तव में वह प्रकृति के जादू में बँध जाता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है *प्रकृतिः क्रियमाणानि*—मनुष्य प्रकृति के उन गुणों के अनुसार कार्य करता है, जो उसने अर्जित किए हैं। *गुण* से प्रकृति के गुण सूचित होते हैं। वह प्रकृति के गुणों के अधीन रहता है, किन्तु भ्रमवश अपने को कर्ता समझता है। यह कर्तृत्व की भ्रान्त धारणा भगवान् या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि के निर्देशानुसार भक्ति में लगने से ही दूर हो पाती है। *भगवद्गीता* में अर्जुन युद्ध में अपने पितामह तथा गुरु के मरने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले रहा था, किन्तु जब उसने कृष्ण के निर्देशानुसार कार्य किया, तो वह कार्य के कर्तृत्व से मुक्त हो गया। वह लड़ा, किन्तु लड़ने के फल से मुक्त कर दिया गया, यद्यपि प्रारम्भ में जब वह अहिसंक था, लड़ने को तैयार न था, तो सारा दायित्व उसी पर था। यही मुक्ति तथा बद्धता के बीच अन्तर है। बद्धजीव भले ही उत्तम और सतोगुणी हो, किन्तु तो भी वह प्रकृति के सम्मोह के वशीभूत रहता है। फिर भी भक्त परमेश्वर के निर्देशन में कार्य करता है। इस तरह उसके कार्य सामान्य व्यक्ति को भले ही अति उच्च कोटि के न प्रतीत हों, किन्तु भक्त पर कोई उत्तरदायित्व नहीं रहता।

तेन संसारपदवीमवशोऽभ्येत्यनिर्वृतः ।
प्रासङ्गिकैः कर्मदोषैः सदसन्मिश्रयोनिषु ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तेन—उससे; संसार—बारम्बार जन्म-मृत्यु का; पदवीम्—मार्ग, पथ; अवशः—निरुपाय होकर; अभ्येति—भोगता है; अनिर्वृतः—असंतुष्ट; प्रासङ्गिकैः—प्रकृति की संगति से उत्पन्न; कर्म-दोषैः—गलत कर्मों से; सत्—अच्छा; असत्—बुरा; मिश्र—मिला-जुला; योनिषु—विविध योनियों में।

अतः बद्धजीव भौतिक प्रकृति के गुणों के साथ अपनी संगति के कारण उच्चतर तथा निम्नतर विभिन्न योनियों में देहान्तर करता रहता है। जब तक वह भौतिक कार्यों से मुक्त नहीं हो लेता उसे अपने दोषपूर्ण कार्य के फलस्वरूप यह स्थिति स्वीकार करते रहनी पड़ती है।

तात्पर्य : यहाँ पर *कर्मदोषैः* का अर्थ है "त्रुटिपूर्ण कर्मों से"। यह इस संसार में अच्छा या

बुरा जो भी कर्म किया जाता है उनको निर्देश करता है—वे भौतिक संसर्ग के कारण कल्मषयुक्त तथा त्रुटिपूर्ण होते हैं। मूर्ख बद्धजीव यह सोच सकता है कि वह लोक-कल्याण के लिए अस्पताल खोलकर या शिक्षा देने के लिए शैक्षिण संस्थान खोलकर दान दे रहा है, किन्तु वह यह नहीं जानता कि ऐसे सारे कार्य दोषपूर्ण होते हैं, क्योंकि इससे उसे एक शरीर से दूसरे में देहान्तरण से छूट नहीं मिल सकती। यहाँ स्पष्ट उल्लेख है—*सद्-असत्-मिश्र-योनिषु*—जिसका अर्थ है कि इस संसार में अपने पुण्य कर्मों के लिए मनुष्य उच्चवंश में या उच्च लोकों में देवताओं के मध्य जन्म ले सकता है। किन्तु उसका यह कार्य भी दोषपूर्ण है, क्योंकि इससे मुक्ति नहीं मिलती। उत्तम स्थान या उच्च कुल में जन्म लेने का अर्थ यह नहीं होता कि इससे सांसारिक क्लेशों, अर्थात् जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के कष्टों से बचा जा सकता है। बद्धजीव प्रकृति के सम्मोह के वशीभूत होकर यह नहीं समझ पाता कि इन्द्रियतृप्ति के लिए जो भी कार्य किया जाता है, वह दोषपूर्ण होता है। केवल भगवान् की भक्ति के लिए किये जाने वाले कार्य उसे दोषपूर्ण कर्म के फल से छुटकारा दिला सकते हैं। चूँकि वह ऐसे दोषपूर्ण कार्य बन्द नहीं करता इसलिए उसे शरीर बदलने पड़ते हैं, कभी उच्च तो कभी निम्न। यह *संसार-पदवीम्* कहलाता है, जिसका अर्थ है 'यह जगत जिससे छुटकारा नहीं है'। जो मनुष्य मुक्ति की कामना करता है उसे अपने कर्म भक्ति के लिए करने होंगे। इसका कोई विकल्प नहीं है।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥ ४॥

शब्दार्थ

अर्थे—असली कारण; हि—निश्चय ही; अविद्यमाने—उपस्थित न होने पर; अपि—यद्यपि; संसृतिः—सांसारिक दशा; न—नहीं; निवर्तते—रुकती है; ध्यायतः—ध्यान करने से; विषयान्—भोग; अस्य—जीवात्मा का; स्वप्ने—स्वप्न में; अनर्थ—हानियों का; आगमः—आना; यथा—जिस तरह।

वास्तव में जीवात्मा इस संसार से परे है, किन्तु प्रकृति पर अधिकार जताने की अपनी मनोवृत्ति के कारण उसके संसार-चक्र की स्थिति कभी रुकती नहीं और वह सभी प्रकार की अलाभकर स्थितियों से प्रभावित होता है, जिस प्रकार कि स्वप्न में होता

है।

तात्पर्य : स्वप्न का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। स्वप्न में हम विभिन्न मानसिक दशाओं के कारण हानिकारक तथा लाभकर परिस्थितियों में रहते हैं। इसी प्रकार आत्मा को इस प्रकृति से कुछ लेना देना नहीं, किन्तु अधिकार जताने की अपनी मनोवृत्ति के कारण उसे बद्ध होना पड़ता है।

बद्ध दशा को यहाँ पर *ध्यायतो विषयानस्य* कहा गया है। *विषय* का अर्थ है भोग्य वस्तु। जब तक मनुष्य यह सोचता रहता है कि वह भौतिक लाभ उठा सकता है, तब तक वह बद्ध जीवन में बना ही रहता है, किन्तु ज्योंही उसे चेत होता है, तो उसमें ज्ञान उत्पन्न होता है कि वह भोक्ता नहीं है, क्योंकि एकमात्र भोक्ता श्रीभगवान् हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (५.२९) में पुष्टि की गई है, वह (ईश्वर) समस्त यज्ञों तथा तपस्याओं के फल का लाभ उठाने वाला (*भोक्तारं यज्ञ-तपसाम्*) और तीनों लोकों का स्वामी है (*सर्वलोकमहेश्वरम्*)। वही समस्त जीवात्माओं का असली सखा है। किन्तु हम भगवान् पर समस्त स्वामित्व, भोग तथा समस्त जीवों के सखा होने का भार न छोड़कर अपने को ही स्वामी, भोक्ता तथा सखा मानते हैं। हम यह सोचकर कल्याणकारी कार्य करते हैं कि हम मानव समाज के सखा हैं। कोई अपने को भले ही उत्तम राष्ट्रीय कार्यकर्ता, जनता तथा देश का श्रेष्ठतम मित्र कह ले, किन्तु वह किसी का श्रेष्ठतम मित्र नहीं हो सकता। एकमात्र मित्र तो श्रीकृष्ण हैं। हमें चाहिए कि हम बद्धजीव की चेतना को इस स्तर तक उठा दें कि वह यह समझने लगे कि कृष्ण उसका वास्तविक मित्र है। यदि वह कृष्ण से मित्रता स्थापित करता है, तो उसे कोई कभी धोखा नहीं दे सकता और उसे यह सारी वांछित सहायता मिलती रहेगी। इस बद्धजीव में इस चेतना को उत्पन्न करना सबसे बड़ी सेवा है, अपने को अन्य जीवात्मा का महान् मित्र बताना कोई सेवा नहीं है। मित्रता की शक्ति सीमित है। यद्यपि मनुष्य अपने को मित्र घोषित करता है, किन्तु वह अनन्त काल तक मित्र नहीं बना रह सकता। जीवात्माएँ अनन्त हैं और हमारे साधन सीमित हैं, अत: हम सामान्य लोगों को लाभ नहीं पहुँचा सकते। सामान्य लोगों की श्रेष्ठतम सेवा यही है कि हम

उनमें कृष्णभक्ति उत्पन्न करें जिससे वे जान सकें कि कृष्ण ही परम भोक्ता, परम कर्ता तथा परम मित्र हैं। तब प्रकृति के ऊपर अधिकार करने का मोहक सपना भंग हो जाएगा।

अत एव शनैश्चित्तं प्रसक्तमसतां पथि ।
भक्तियोगेन तीव्रेण विरक्त्या च नयेद्वशम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अतः एव—अतः, इसलिए; शनैः—धीरे-धीरे; चित्तम्—मन, चेतना को; प्रसक्तम्—आसक्त; असताम्—भौतिक भोगों के; पथि—पथ पर; भक्ति-योगेन—भक्ति से; तीव्रेण—अत्यन्त गम्भीर; विरक्त्या—विरक्ति से, बिना आसक्ति के; च—तथा; नयेत्—वह लावे; वशम्—वश में।

प्रत्येक बद्धजीव का कर्तव्य है कि वह भौतिक सुखोपभोग के प्रति आसक्त अपनी दूषित चेतना को विरक्तिपूर्वक अत्यन्त गम्भीर भक्ति में लगावे। इस प्रकार उसका मन तथा चेतना पूरी तरह वश में हो जाएँगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में मुक्ति की विधि अति सुन्दर ढंग से समझाई गई है। प्रकृति द्वारा बद्ध किये जाने का कारण मनुष्य का यह सोचना है कि वह स्वयं भोक्ता, कर्ता या समस्त जीवों का मित्र है। यह मिथ्या विचार इन्द्रियभोग के चिन्तन का परिणाम है। जब मनुष्य यह सोचता है कि वह अपने देश, समाज या कि मानवता का सर्वोत्तम मित्र है और तब वह विविध राष्ट्रीयतृप्ति, परोपकारी एवं परमार्थवादी कार्यों में अपने को लगाता है, तो यह सब मात्र इन्द्रियतृप्ति के प्रति अधिक एकाग्रता रहती है। ऐसा तथाकथित राष्ट्रीय नेता या मानवतावादी सबकी सेवा नहीं करता, वह मात्र अपनी इन्द्रियों की सेवा करता है। यह तथ्य है। किन्तु बद्धजीव इसे नहीं समझ पाता, क्योंकि वह प्रकृति के मायाजाल से मोहग्रस्त रहता है। अतः इस श्लोक में संस्तुति की गई है कि मनुष्य भगवान् की सेवा अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक करे। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य अपने को कर्ता, हितैषी, मित्र या भोक्ता न समझे। उसे सदैव इसका भान होना चाहिए कि वास्तविक भोक्ता तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण हैं। यही भक्तियोग का मूल सिद्धान्त है। मनुष्य को इन तीन सिद्धान्तों के प्रति पूर्ण रूप से आश्वस्त हो जाना चाहिए; कृष्ण स्वामी हैं, कृष्ण भोक्ता हैं और कृष्ण ही मित्र हैं। उसे इन सिद्धान्तों को न केवल स्वयं समझना चाहिए, अपितु उसे चाहिए कि अन्यों को विश्वास दिलावे और कृष्णभक्ति

का प्रसार करे।

जैसे ही मनुष्य अपने को भगवान् की ऐसी गम्भीर भक्ति में लगा लेता है, प्रकृति के ऊपर झूठे ही स्वामित्व दिखाने की रुचि स्वाभाविक रूप से दूर हो जाती है। यह अनासक्ति वैराग्य कहलाती है। भौतिक स्वामित्व में लीन रहने के बजाय जब मनुष्य कृष्णभक्ति में लग जाता है, तो यही चेतना (चित्त) का नियंत्रण है। योग विधि में इन्द्रियों का निरोध आवश्यक है। *योग इन्द्रिय-संयमः*। चूँकि इन्द्रियाँ सदैव सक्रिय रहती हैं, अतः उनकी सक्रियता को भगवान् की सेवा में लगाना चाहिए, क्योंकि मनुष्य उनकी सक्रियता को रोक नहीं सकता। यदि किसी कृत्रिम ढंग से कोई उनकी सक्रियता को रोकना चाहे तो प्रयास असफल रहता है। यहाँ तक कि परम योगी विश्वामित्र, जो अपनी इन्द्रियों को योग-विधि से वश में करने का प्रयत्न कर रहे थे, मेनका के सौन्दर्य के शिकार हो गये। ऐसे अनेक उदाहरण हैं। जब तक मनुष्य का मन तथा चेतना भक्ति में पूरी तरह संलग्न नहीं होते तब तक मन के इन्द्रियतृप्ति की कामनाओं में लगे रहने की सम्भावना बनी रहती है।

इस श्लोक में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात इंगित की गई है। यह है—*प्रसक्तम् असतां पथि*—मन सदैव *असत्* अर्थात् क्षणिक संसार में अनुरक्त रहता है। चूँकि हम अनादि काल से प्रकृति के संसर्ग में रहे हैं, अतः हम इस क्षणिक प्रकृति के प्रति अनुरक्त रहने के आदी हो चुके हैं। मन को परमेश्वर के चरणकमलों में स्थिर करना होगा। *स वै मनः कृष्ण पदारविन्दयोः*—मनुष्य को कृष्ण के चरणकमलों में स्थिर करना होता है। तभी सब कुछ ठीक हो सकेगा। इस तरह इस श्लोक में भक्तियोग की गम्भीरता पर बल दिया गया है।

यमादिभिर्योगपथैरभ्यसञ्श्रद्धयान्वितः ।
मयि भावेन सत्येन मत्कथाश्रवणेन च ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यम-आदिभिः—यम इत्यादि; योग-पथैः—योगपद्धति के द्वारा; अभ्यसन्—अभ्यास करते हुए; श्रद्धया अन्वितः—परम श्रद्धा समेत; मयि—मुझमें; भावेन—भक्ति से; सत्येन—अमिश्रित; मत्-कथा—मेरे विषय की कथाएँ; श्रवणेन—सुनने से; च—तथा।

मनुष्य को योग पद्धति की संयम आदि विधियों के अभ्यास द्वारा श्रद्धालु बनना

चाहिए और मेरे कीर्तन तथा श्रवण द्वारा अपने आपको शुद्ध भक्ति के पद तक ऊपर उठाना चाहिए।

तात्पर्य : योगाभ्यास की आठ अवस्थाएँ हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। यम तथा नियम का अर्थ है कठिन नियमों का पालन करते हुए संयम का अभ्यास करना। आसन से बैठने की विधियों का द्योतन होता है। इनके द्वारा श्रद्धा (निष्ठा) पद तक पहुँचा जा सकता है। शारीरिक कसरत के द्वारा योगाभ्यास अन्तिम लक्ष्य नहीं है; असली उद्देश्य तो मन को केन्द्रित करना तथा अपने आपको श्रद्धापूर्ण भक्ति के पद पर पहुँचने के लिए प्रशिक्षित करना है।

योग या अन्य किसी आध्यात्मिक क्रिया के अभ्यास में *भावेन* या *भाव* एक महत्त्वपूर्ण कारक है। *भगवद्गीता* (१०.८) में *भाव* की व्याख्या इस प्रकार की गई है—*बुधा भावसमन्विताः*—मनुष्य को कृष्णप्रेम के विचार में लीन रहना चाहिए। जब वह यह जान जाता है कि भगवान् कृष्ण ही सभी वस्तुओं के स्रोत हैं और सारी वस्तुएँ उन्हीं से उद्भूत होती हैं (*अहं सर्वस्य प्रभवः*) तो वह वेदान्त की इस सूक्ति—*जन्माद्यस्य यतः* (सभी वस्तुओं का मूल स्रोत) को समझता है और तब वह भाव या ईश्वर-प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था में लीन हो जाता है।

रूप गोस्वामी ने *भक्ति-रसामृत-सिंधु* में बड़े ही सुन्दर ढंग से समझाया है कि किस तरह यह *भाव* प्राप्त किया जाता है। उनका कथन है कि सबसे पहले मनुष्य को श्रद्धालु बनना होता हैं (*श्रद्धयान्वितः*)। श्रद्धा की प्राप्ति या तो योगाभ्यास से जिसमें विधि-विधानों एवं आसनों का अभ्यास किया जाता है, या भक्ति योग में सीधे लगने से होती है जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है। भक्तियोग के नौ विभिन्न कार्यक्रमों में सबसे पहला है कीर्तन तथा भगवान् के विषय में श्रवण करना। इसका भी यहाँ उल्लेख हुआ है। *मत्-कथा-श्रवणेन च*। मनुष्य योग के विधि-विधानों का पालन करके *श्रद्धयान्वित* पद तक पहुँच सकता है और यही पद भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के मात्र कीर्तन तथा श्रवण द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है। *च* शब्द

महत्पवूर्ण है। भक्तियोग प्रत्यक्ष है और अन्य विधि अप्रत्यक्ष है। किन्तु यदि अप्रत्यक्ष विधि को अपनाया जाय तो भी तब तक सफलता प्राप्त नहीं होती जब तक कि भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन की प्रत्यक्ष विधि ग्रहण न की जाय। इसीलिए यहाँ *सत्येन* शब्द व्यवहृत हुआ है। स्वामी श्रीधर की टीका है कि *सत्येन* का अर्थ है *निष्कपटेन,* ''छल-कपट के बिना''। निर्विशेषवादी छल-कपट से परिपूर्ण होते हैं। कभी-कभी वे भक्ति करने का स्वाँग भरते हैं, किन्तु उनका चरम लक्ष्य परमेश्वर से तादात्म्य रहता है। यह छल या कपट है। *भागवत* ऐसे कपट की अनुमति प्रदान नहीं करता। *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में स्पष्ट उल्लेख है—*परमो निर्मत्सराणाम्*—''यह *श्रीमद्भागवत* भाष्य उन लोगों के लिए हैं, जो ईर्ष्या से पूर्णतया मुक्त हैं।'' इसी बात पर पुन: बल दिया गया है। श्रीभगवान् के प्रति पूर्णतया श्रद्धावान हुए और भगवान् की महिमा का श्रवण तथा कीर्तन किये बिना मुक्ति की कोई सम्भवाना नहीं रहती।

सर्वभूतसमत्वेन निर्वैरेणाप्रसङ्गतः ।
ब्रह्मचर्येण मौनेन स्वधर्मेण बलीयसा ॥ ७॥

शब्दार्थ

सर्व—सभी; भूत—जीव; समत्वेन—समान रूप से देखने से; निर्वैरेण—बिना शत्रुता के; अप्रसङ्गतः—बिना घनिष्ट सम्बन्ध के; ब्रह्म-चर्येण—ब्रह्मचर्य के द्वारा; मौनेन—मौन व्रत से; स्व-धर्मेण—अपनी वृत्ति से; बलीयसा—फल को अर्पित करने से।.

भक्तिमय सेवा सम्पन्न करने में मनुष्य को प्रत्येक जीव को समभाव से एवं किसी के प्रति शत्रुतारहित होते हुए घनिष्ठता से रहित होकर देखना होता है। उसे ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना होता है, गम्भीर होना होता है और कर्म फलों को भगवान् को अर्पित करते हुए अपने नित्य कर्म करने होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् का भक्त जो गम्भीरतापूर्वक भक्ति में लगा रहता है उसके लिए समस्त जीव एकसमान हैं। जीवों की विभिन्न योनियाँ हैं, किन्तु भक्त बाहरी आवरण को नहीं देखता, उसे तो शरीर के भीतर निवास करने वाले आत्मा का दर्शन होता है। चूँकि प्रत्येक जीव परमेश्वर का अंश है, अत: वह इनमें कोई अन्तर नहीं देखता। विद्वान भक्त की यही दृष्टि है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है कि किसी भक्त या विद्वान साधु को एक ज्ञानवान ब्राह्मण,

कुत्ते, हाथी या गाय में कोई अन्तर नहीं दिखता, क्योंकि वह जानता है कि शरीर तो केवल बाह्यावरण है और आत्मा ही परमेश्वर का अंश है। भक्त की किसी भी जीव से शत्रुता नहीं होती, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह सबसे घुल-मिल जाता है। इसकी तो रोक रहती है। *अप्रसङ्गत:* का अर्थ ही है ''हर किसी के साथ घनिष्ठता का न होना।'' भक्त को अपनी भक्ति से काम रहता है। अत: उसे अपना लक्ष्य पूरा करने के लिए केवल भक्तों से मिलना-जुलना चाहिए। उसे अन्यों से मिलने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि यद्यपि वह किसी को अपना शत्रु करके नहीं मानता, किन्तु उसका उठना-बैठना भक्ति में लगे हुए व्यक्तियों के साथ ही होता है।

भक्त को ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना चाहिए। ब्रह्मचर्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह विषयी जीवन से सर्वथा मुक्त हो; ब्रह्मचर्य-व्रत के अन्तर्गत अपनी पत्नी से सन्तुष्ट रहना भी अनुमत है। सर्वश्रेष्ठ नीति तो विषयी जीवन से सर्वथा बचे रहना है। प्राथमिकता इसी की होती है। अन्यथा धार्मिक नियमों के अनुसार भक्त को विवाह कर लेना चाहिए और अपनी पत्नी के साथ शान्तिपूर्वक रहना चाहिए।

भक्त को अनावश्यक नहीं बोलना चाहिए। गम्भीर भक्त के पास वृथा बोलने के लिए समय नहीं रहता। वह सदैव कृष्णभक्ति में व्यस्त रहता है। जब भी वह बोलता है, तो कृष्ण के विषय में बोलता है। *मौन* का अर्थ है चुप्पी। चुप्पी का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य बिल्कुल बोले ही नहीं, वरन् यह है कि व्यर्थ न बोले। उसे कृष्ण के विषय में बोलने के लिए अति उत्साहित रहना चाहिए। यहाँ पर जो अन्य महत्त्वपूर्ण बात कही गई है, वह है *स्व-धर्मेण* अर्थात् अपने नित्य कर्म में एकान्तभाव से लगे रहना जिसका अर्थ है कि भगवान् के नित्य दास के रूप में कार्य करना या कि कृष्णभावनामृत में कार्य करना। अगले शब्द *बलीयसा* का अर्थ है ''सारे कार्यों का फल भगवान् को अर्पित करना।'' भक्त कभी अपने इन्द्रियतृप्ति के लिए कोई कार्य नहीं करता। वह जो भी कमाता है, जो भी खाता है और जो भी करता है उसे वह भगवान् को प्रसन्न करने के लिए अर्पित कर देता है।

यदृच्छयोपलब्धेन सन्तुष्टो मितभुङ्मुनिः ।
विविक्तशरणः शान्तो मैत्रः करुण आत्मवान् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यदृच्छया—बिना कठिनाई के; उपलब्धेन—जो कुछ उपलब्ध है उसी से; सन्तुष्टः—सन्तुष्ट; मित—कम; भुक्—खाकर; मुनिः—विचारवान; विविक्त-शरणः—एकान्त स्थान में रहकर; शान्तः—शान्त स्वभाव; मैत्रः—मैत्रीपूर्ण; करुणः—दयालु; आत्म-वान्—स्वरूपसिद्ध।

भक्त को चाहिए कि बहुत कठिनाई के बिना जो कुछ वह कमा सके उसी से सन्तुष्ट रहे। जितना आवश्यक हो उससे अधिक उसे नहीं खाना चाहिए। उसे एकान्त स्थान में रहना चाहिए और सदैव विचारवान, शान्त, मैत्रीपूर्ण, उदार तथा स्वरूपसिद्ध होना चाहिए।

तात्पर्य : जिस किसी ने भी शरीर स्वीकार किया है उसे काम करके या किसी आजीविका के द्वारा शरीर की आवश्यकताएँ पूरी करनी चाहिए। भक्त को उतनी आय के लिए ही कार्य करना चाहिए जितनी नितान्त आवश्यकता हो। उसे इतनी ही आय से संतुष्ट रहना चाहिए और अनावश्यक रूप से संचित करने के लिए तथा अधिक के लिए प्रयास नहीं करना चाहिए। बद्ध अवस्था में जिस मनुष्य के पास धन नहीं होता वह प्रकृति पर प्रभुत्व जमाने के उद्देश्य से धन कमाने के लिए सदैव कठिन श्रम करता देखा जाता है। कपिलदेव उपदेश देते हैं कि हमें ऐसी वस्तुओं के लिए कठिन प्रयास करने की आवश्यकता नहीं जो किसी बाह्य परिश्रम के बिना स्वतः मिल सकती हैं। इस प्रसंग में प्रयुक्त सही शब्द है *यदृच्छया* जिसका अर्थ है कि प्रत्येक जीव को इस शरीर में पूर्वनिर्धारित सुख तथा दुख मिलते हैं, यह कर्म का सिद्धान्त कहलाता है। ऐसा सम्भव नहीं कि अधिकाधिक धन संग्रह के प्रयासों से ही मनुष्य ऐसा कर सकेगा अन्यथा प्रायः सारे व्यक्ति अपने पूर्वनिर्धारित कर्म के अनुसार कमाते तथा प्राप्त करते हैं। *भागवत* के इस निष्कर्ष के अनुसार कभी-कभी हमें बिना चाहे अत्यन्त घातक तथा कष्टमय परिस्थितियों का सामना करना पड़ सकता है, तो कभी बिना प्रयास के वैभवपूर्ण परिस्थितियाँ प्राप्त हो सकती हैं। हमें उपदेश दिया जाता है कि ये वस्तुएँ पूर्वनिर्धारित रूप से आती हैं। हमें अपना अमूल्य समय कृष्णभक्ति में लगाने का प्रयत्न करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को

अपनी सहज अवस्था से सन्तुष्ट रहना चाहिए। यदि प्रारब्धवश कोई ऐसी परिस्थिति में पड़ जाय जिसमें दूसरे की तुलना में वह अधिक वैभवसम्पन्न न हो तो उसे विचलित नहीं होना चाहिए। उसे चाहिए कि वह अपना समय कृष्णभक्ति बढ़ाने में लगावे। कृष्णभक्ति में उन्नति किसी सम्पन्न या विपन्न अवस्था पर निर्भर नहीं करती, यह भौतिक जीवन द्वारा लगाये जाने वाले प्रतिबन्धों से मुक्त है। एक अत्यन्त निर्धन व्यक्ति अत्यन्त धनी व्यक्ति के ही समान कृष्णभक्ति कर सकता है। अत: उसे भगवान् द्वारा प्रदत्त अपनी स्थिति से सन्तुष्ट रहना चाहिए।

यहाँ अन्य शब्द *मित्भुक्* आया है। इसका यह अर्थ है कि मनुष्य को शरीर बनाये रखने के लिए जितनी आवश्यकता हो उतना ही भोजन करना चाहिए। मनुष्य को जीभ की तुष्टि के कारण पेटू नहीं बन जाना चाहिए। मनुष्य के खाने के लिए अन्न, फल, दूध तथा ऐसे ही आहार उपलब्ध हैं। मनुष्य को स्वाद के प्रति अत्यधिक ललायित नहीं रहना चाहिए और वह सब नहीं खाना चाहिए जो मनुष्यों के लिए नहीं है। स्पष्ट रूप से भक्तों को *प्रसाद* खाना चाहिए जो भगवान् को अर्पित भोजन होता है। वह ऐसे भोजन के उच्छिष्ट अंश को ही ग्रहण करे। भगवान् को अन्न, तरकारियाँ, फल, फूल तथा दूध की बनी सात्विक वस्तुएँ ही अर्पित की जाती हैं, अत: रजोगुणी तथा तमोगुणी भोजन अर्पित करने के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। भक्त को लालची नहीं होना चाहिए। यह भी संस्तुति की गई है कि भक्त *मुनि* अर्थात् विचारवान हो; उसे सदैव कृष्ण का चिन्तन करना चाहिए और भगवान् की अच्छी तरह से सेवा करने के बारे में सोचना चाहिए। उसकी एकमात्र यही चिन्ता होनी चाहिए। जिस प्रकार एक भौतिकतावादी अपनी भौतिक दशा सुधारने के लिए सदैव सचेष्ट रहता है उसी तरह भक्त को चाहिए सदैव कृष्णभावनामृत में अपनी स्थिति में सुधार लाने के विचारों में लगा रहे, इसीलिए भक्त को *मुनि* होना चाहिए।

अगली संस्तुति-यह है कि भक्त को एकान्त स्थान में रहना चाहिए। सामान्य रूप से मनुष्य पौंड-शिलिंग-पेंस अर्थात् भौतिक उन्नति में रुचि रखता है, जो भक्त के लिए अनावश्यक नहीं है। भक्त को ऐसा वास-स्थान चुनना चाहिए जहाँ प्रत्येक व्यक्ति भक्ति में रुचि

रखता हो। अतः सामान्य रूप से भक्त किसी पवित्र तीर्थस्थल में चला जाता है जहाँ भक्तगण रहते हैं। यह संस्तुति की गई है कि भक्त ऐसे स्थान में रहे जहाँ बड़ी संख्या में सामान्य व्यक्ति न रहते हों। एकान्त स्थान में वास करना अत्यावश्यक है (*विविक्त-शरण*)। अगली बात है *शान्त*। भक्त को उद्विग्न नहीं होना चाहिए। उसे अपनी सहज आय से सन्तुष्ट रहना चाहिए, स्वास्थ्य के लिए जितना आवश्यक हो उतना ही खाना चाहिए, एकान्त स्थान में रहना चाहिए और सदैव शान्त रहना चाहिए। कृष्णभक्ति सम्पन्न करने के लिए मन की शान्ति आवश्यक है।

अगली बात है *मैत्र* अर्थात् मैत्रीभाव। भक्त को हर एक के साथ मैत्रीभाव रखना चाहिए, किन्तु उसकी घनिष्ठता केवल भक्तों से होनी चाहिए। अन्यों के साथ औपचारिक होना चाहिए। वह कहे "हाँ, महाशय, आप जो कहते हैं वह सब ठीक है," किन्तु उनके साथ घनिष्ठ न बने। किन्तु ऐसे भक्त को ऐसे लोगों पर दयालु होना चाहिए जो भोले-भाले हैं, जो न तो नास्तिक हैं और न आत्म-साक्षात्कार में अत्यधिक प्रगत हैं। भक्त को इनके प्रति दयाभाव रखना चाहिए और जहाँ तक हो सके कृष्णभक्ति में प्रगति करने के लिए उपदेश देना चाहिए। भक्त को सदैव *आत्मवान्* या स्वरूपसिद्ध होना चाहिए। उसे यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि उसका मुख्य कार्य आध्यात्मिक चेतना या कृष्णभक्ति में प्रगति लाना है। वह भूलकर भी अपने को शरीर या मन नहीं समझे। आत्मा का अर्थ है शरीर अथवा मन, किन्तु यहाँ *आत्मवान्* का विशेष अर्थ है कि मनुष्य को अपने वश में होना चाहिए। उसे सदैव इस शुद्ध चेतना में रहना चाहिए कि वह शरीर या मन न होकर आत्मा है। इससे वह विश्वासपूर्वक कृष्णभक्ति में प्रगति कर सकेगा।

सानुबन्धे च देहेऽस्मिन्नकुर्वन्नसदाग्रहम् ।
ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन प्रकृतेः पुरुषस्य च ॥ ९॥

शब्दार्थ

स-अनुबन्धे—शारीरिक सम्बन्धों से; च—तथा; देहे—शरीर के प्रति; अस्मिन्—इस; अकुर्वन्—न करते हुए; असत्-आग्रहम्—जीवन का देह-बोध; ज्ञानेन—ज्ञान के द्वारा; दृष्ट—देखकर; तत्त्वेन—वास्तविकता; प्रकृतेः—पदार्थ की; पुरुषस्य—आत्मा की; च—तथा।

मनुष्य को आत्मा तथा पदार्थ के ज्ञान के द्वारा देखने की शक्ति बढ़ानी चाहिए और उसे व्यर्थ ही शरीर के रूप में अपनी पहचान नहीं करनी चाहिए, अन्यथा वह शारीरिक

सम्बन्धों खिंचा चला जाएगा।

तात्पर्य : बद्धजीव अपने को शरीर समझकर शरीर को 'मैं' मान लेता है और शरीर से सम्बन्ध रखने वाली किसी भी वस्तु को 'मेरी'। संस्कृत में इसे *अहं ममता* कहते हैं और यह समस्त बद्धजीवन का मूल कारण है। मनुष्य को चाहिए कि वस्तुओं को पदार्थ तथा आत्मा का संयोग मान के चले। उसे पदार्थ की प्रकृति तथा आत्मा की प्रकृति में अन्तर करना चाहिए और उसकी असली पहचान पदार्थ के साथ न होकर आत्मा के साथ होनी चाहिए। इस ज्ञान से उसे भ्रान्त देहात्मबुद्धि से बचना चाहिए।

निवृत्तबुद्ध्यवस्थानो दूरीभूतान्यदर्शनः ।
उपलभ्यात्मनात्मानं चक्षुषेवार्कमात्मदृक् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

निवृत्त—अलग; बुद्धि-अवस्थानः—भौतिक चेतना की अवस्थाएँ; दूरी-भूत—सुदूर; अन्य—दूसरा; दर्शनः—जीवन बोध; उपलभ्य—प्राप्त करके; आत्मना—अपने विशुद्ध विवेक से; आत्मानम्—अपने आपको; चक्षुषा—अपनी आँखों से; इव—सदृश; अर्कम्—सूर्य; आत्म-दृक्—स्वरूपसिद्ध।

मनुष्य को भौतिक चेतना की अवस्थाओं से परे दिव्य स्थिति में रहना चाहिए और अन्य समस्त जीवन-बोधों से विलग रहना चाहिए। इस प्रकार अहंकार से मुक्त होकर उसे अपने आपको उसी तरह देखना चाहिए जिस प्रकार वह आकाश में सूर्य को देखता है।

तात्पर्य : भौतिक जीवन-बोध के अधीन चेतना तीन अवस्थाओं में कार्य करती है। जब हम जाग्रत रहते हैं, तो चेतना एक विशिष्ट प्रकार से कार्य करती है, जब सुप्त रहते हैं, तो दूसरे प्रकार से कार्य करती है और जब प्रगाढ़ निद्रा में होते हैं, तो चेतना एक अन्य ढंग से कार्य करती है। कृष्णभावनाभावित होने के लिए मनुष्य को चेतना की इन अवस्थाओं से पार चले जाना होता है। हमारी वर्तमान चेतना को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण की चेतना (भक्ति) के अतिरिक्त अन्य समस्त जीवन-बोधों से मुक्त होना चाहिए। यह *दूरी-भूतान्य-दर्शनः* कहलाता है, जिसका भाव यह है कि जब उसे पूर्ण कृष्णचेतना (भक्ति) प्राप्त हो जाती है, तो उसे कृष्ण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखता। *चैतन्य-चरितामृत* में कहा गया है कि पूर्ण भक्त अनेक चर तथा अचर पदार्थ देखता है, किन्तु उन सबों में वह कृष्ण की शक्ति को कार्यशील पाता है।

ज्योंही वह कृष्ण की शक्ति का स्मरण करता है त्योंही उसे कृष्ण का साकार रूप याद हो आता है। अत: वह सारे अवलोकनों में कृष्ण को ही देखता है। *ब्रह्म-संहिता* (५.३८) में कहा गया है कि जब मनुष्य की आँखों में कृष्णप्रेम का अञ्जन लगा रहता है (*प्रेमाञ्जनच्छुरित*), तो उसे सदा भीतर-बाहर श्रीकृष्ण के दर्शन होते हैं। यहाँ पर इसकी पुष्टि होती है। मनुष्य को अन्य सभी भावों से मुक्त रहना चाहिए। तभी वह झूठे अहंकार से मुक्त होकर अपने को भगवान् के शाश्वत दास के रूप में देखता है। *चक्षुषेवार्कम्*—जिस प्रकार हम सूर्य को बिना सन्देह के देख सकते हैं उसी तरह जो कृष्णभक्ति में सिद्धहस्त हो चुका है, वह कृष्ण तथा उनकी शक्ति का दर्शन करता है। इस भावभूमि में वह *आत्मदृक्* अर्थात् स्वरूपसिद्ध हो जाता है। जब आत्मा के साथ शरीर की पहचान का अहंकार दूर हो जाता है, तो वास्तविक जीवन-दृष्टि दिखलाई पड़ती है। अत: इन्द्रियाँ भी शुद्ध हो जाती हैं। इन्द्रियों के शुद्ध होने पर ही भगवान् की असली सेवा प्रारम्भ होती है। मनुष्य को चाहिए कि इन्द्रियों के कार्यों को बन्द न करे, अपितु शरीर के अहंकार को दूर करे। तब इन्द्रियाँ स्वत: शुद्ध हो जाती हैं और शुद्ध इन्द्रियों से ही असली भक्ति की जा सकती है।

मुक्तलिङ्गं सदाभासमसति प्रतिपद्यते ।
सतो बन्धुमसच्चक्षुः सर्वानुस्यूतमद्वयम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

मुक्त-लिङ्गम्—दिव्य; सत्-आभासम्—प्रतिबिम्ब रूप में प्रकट; असति—अहंकार में; प्रतिपद्यते—उसे बोध होता है; सतः बन्धुम्—भौतिक कारण का आधार; असत्-चक्षुः—माया के नेत्र; सर्व-अनुस्यूतम्—हर वस्तु में प्रविष्ट; अद्वयम्—अद्वितीय।

मुक्त जीव को उस परमेश्वर का साक्षात्कार होता है, जो दिव्य है और अहंकार में भी प्रतिबिम्बि के रूप में प्रकट होता है। वे भौतिक कारण के आधार हैं तथा प्रत्येक वस्तु में प्रवेश करने वाले हैं। वे अद्वितीय हैं और माया के नेत्र हैं।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त को प्रत्येक भौतिक वस्तु में भगवान् की उपस्थिति दिख सकती है। वे इनमें मात्र प्रतिबिम्ब रूप में विद्यमान रहते हैं, किन्तु शुद्ध भक्त अनुभव करता है कि मोह के अंधकार में ईश्वर ही एकमात्र आधारस्वरूप प्रकाश होता है। *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है

भौतिक जगत की पृष्ठभूमि श्रीकृष्ण हैं और *ब्रह्म-संहिता* में भी इसी की पुष्टि है कि कृष्ण ही समस्त कारणों के कारण हैं। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि परमेश्वर अपने अंश या पूर्ण विस्तार से न केवल इस ब्रह्माण्ड में और प्रत्येक ब्रह्माण्ड में, अपितु हर परमाणु में उपस्थित हैं, यद्यपि वे अद्वितीय हैं। इस श्लोक में प्रयुक्त *अद्वयम्* शब्द बताता है कि यद्यपि भगवान् का प्रतिनिधित्व परमाणु सहित प्रत्येक वस्तु में है, किन्तु वे अविभाज्य हैं। प्रत्येक वस्तु में उनकी उपस्थिति का वर्णन अगले श्लोक में हुआ है।

यथा जलस्थ आभासः स्थलस्थेनावदृश्यते ।
स्वाभासेन तथा सूर्यो जलस्थेन दिवि स्थितः ॥ १२॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; **जल-स्थः**—जल में स्थित; **आभासः**—प्रतिबिम्ब; **स्थल-स्थेन**—दीवाल में स्थित; **अवदृश्यते**—देखा जाता है; **स्व-आभासेन**—अपने प्रतिबिम्ब से; **तथा**—उसी तरह; **सूर्यः**—सूर्य; **जल-स्थेन**—जल में स्थित; **दिवि**—आकाश में; **स्थितः**—स्थित।

जिस प्रकार आकाश में स्थित सूर्य को सर्वप्रथम जल में पड़े प्रतिबिम्ब से और फिर कमरे की दीवाल पर पड़े दूसरे प्रतिबिम्ब से देखा जाता है, उसी तरह परमेश्वर की उपस्थिति महसूस की जाती है।

तात्पर्य : यहाँ पर दिया गया उदाहरण सटीक है। सूर्य पृथ्वी की सतह से अत्यन्त दूरी पर आकाश में स्थित है, किन्तु उसका प्रतिबिम्ब कमरे के एक कोने में जल के पात्र में भी देखा जा सकता है। कमरा अँधेरा है और सूर्य सुदूर आकाश में स्थित है, किन्तु जल में पड़े सूर्य के प्रतिबिम्ब से अंधियारा कमरा प्रकाशित हो उठता है। शुद्ध भक्त भगवान् को उनकी शक्ति के प्रतिबिम्ब के द्वारा हर वस्तु में देख सकता है। *विष्णु पुराण* में कहा गया है कि जिस तरह अग्नि की उपस्थिति उष्मा तथा प्रकाश से जानी जाती है उसी तरह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, अद्वितीय होने पर भी अपनी विभिन्न शक्तियों के विसरण से सर्वत्र देखे जाते हैं। *ईशोपनिषद* में पुष्टि की गई है कि मुक्त जीव को सर्वत्र भगवान् वैसे ही दिखते हैं जिस तरह पृथ्वी की सतह से सुदूर स्थित रहकर भी सूर्य के प्रकाश तथा प्रतिबिम्ब को देखा जा सकता है।

एवं त्रिवृदहङ्कारो भूतेन्द्रियमनोमयैः ।
स्वाभासैर्लक्षितोऽनेन सदाभासेन सत्यदृक् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; त्रि-वृत्—त्रिविध, तीन प्रकार का; अहङ्कारः—अहंकार; भूत-इन्द्रिय-मनः-मयैः—शरीर, इन्द्रियाँ तथा मन से युक्त; स्व-आभासैः—अपने ही प्रतिबिम्बों से; लक्षितः—देखा जाता है; अनेन—इसके द्वारा; सत्-आभासेन—ब्रह्म के प्रतिबिम्ब से; सत्य-दृक्—आत्मवान्, स्वरूपसिद्ध आत्मा।

इस प्रकार स्वरूपसिद्ध आत्मा सर्वप्रथम त्रिविध अहंकार में और तब शरीर, इन्द्रियों एवं मन में प्रतिबिम्बित होता है।

तात्पर्य : बद्धजीव सोचता है कि, "मैं यह शरीर हूँ," किन्तु मुक्त जीव सोचता है "मैं यह शरीर नहीं हूँ, मैं आत्मा हूँ।" यह "मैं हूँ" अहं (गर्व) कहलाता है। "मैं यह शरीर हूँ" अथवा "इस शरीर से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु मेरी है" यह अहंकार कहलाता है, किन्तु जब कोई स्वरूपसिद्ध हो जाता है और सोचता है कि वह परमेश्वर का चिर दास है, तो यह पहचान वास्तविक अहं है। इनमें से प्रकृति के तीन गुणों—सतो, रजो तथा तमो—में से एक विचार है तमो अर्थात् अन्धकार का और दूसरा है सतोगुण की शुद्ध अवस्था में जिसे *शुद्ध सत्त्व* या *वासुदेव* कहते हैं। जब हम कहते हैं कि हम अपना गर्व (अहं) त्यागते हैं, तो इसका अर्थ है कि हम मिथ्या अहम् त्यागते हैं, किन्तु असली अहम् तो सदैव विद्यमान रहता है। जब मनुष्य शरीर तथा मन के भौतिक कल्मष के द्वारी झूठी पहचान में प्रतिबिम्बित होता है, तो वह बद्ध अवस्था में रहता है और जब शुद्ध अवस्था में प्रतिबिम्बित होता है, तो वह मुक्त कहलाता है। बद्ध अवस्था में अपनी भौतिक सम्पत्ति के साथ पहचान को शुद्ध करना चाहिए और उसे अपने आपकी पहचान परमेश्वर के साथ करनी चाहिए। बद्ध अवस्था में मनुष्य हर वस्तु को इन्द्रियतृप्ति की वस्तु मान लेता है, जबकि मुक्त अवस्था में वह हर वस्तु को परमेश्वर की सेवा के लिए ग्रहण करता है। जीव की असली मुक्त अवस्था कृष्णचेतना अर्थात् भक्तिमय सेवा है। अन्यथा शुद्ध आत्मा के लिए भौतिक स्तर पर या शून्य में स्वीकारोक्ति तथा अस्वीकारोक्ति या निर्विशेषवाद अपूर्ण अवस्थाएँ हैं।

विशुद्ध आत्मा को, जिसे *सत्यदृक्* कहा गया है, जान लेने से मनुष्य हर वस्तु को परमेश्वर के प्रतिबिम्ब रूप में देखता है। इस सम्बन्ध में एक ठोस उदाहरण दिया जा सकता है।

बद्धजीव एक अत्यन्त सुन्दर गुलाब देखता है और सोचता है कि इस सुगन्धित पुष्प का उपयोग अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए क्यों न करूँ। यह एक प्रकार की दृष्टि है। किन्तु एक मुक्त आत्मा इसी फूल को परमेश्वर के प्रतिबिम्ब के रूप में देखता है और सोचता है, ''यह फूल परमेश्वर की श्रेष्ठ शक्ति से सम्भव हो सका, अत: यह उनका है और इसका उपयोग उनकी सेवा में होना चाहिए।'' ये दो प्रकार की दृष्टियाँ हैं। बद्धजीव इस फूल को अपने भोग की वस्तु के रूप में और भक्त इस फूल को भगवान् की सेवा में प्रयुक्त होने वाली वस्तु के रूप में देखता है। इसी प्रकार मनुष्य परमेश्वर के प्रतिबिम्ब को अपनी इन्द्रियों, मन तथा शरीर—यहाँ तक कि सारी वस्तुओं में देख सकता है। इस सही दृष्टि से वह प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सेवा में लगाता है। *भक्ति-रसामृत-सिंधु* में कहा गया है कि जिसने अपना सब कुछ—अपनी प्राणशक्ति, सम्पत्ति, बुद्धि तथा वाणी—भगवान् की सेवा में लगा दिया है या जो इन्हें उनकी सेवा में लगाना चाहता है उसे मुक्त आत्मा या *सत्यदृक्* मानना चाहिए भले ही वह कैसी ही स्थिति क्यों न हो। ऐसा व्यक्ति वस्तुओं को उसी रूप में जाने रहता है।

भूतसूक्ष्मेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिष्विह निद्रया ।
लीनेष्वसति यस्तत्र विनिद्रो निरहङ्क्रियः ॥ १४॥

शब्दार्थ

भूत—भौतिक तत्त्व; सूक्ष्म—भोग की वस्तुएँ; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; मनः—मन; बुद्धि—बुद्धि; आदिषु—इत्यादि; इह—यहाँ; निद्रया—नींद से; लीनेषु—लीन; असति—अप्रकट में; यः—जो; तत्र—वहाँ; विनिद्रः—जगा हुआ; निरहङ्क्रियः—अहंकार से रहित।

यद्यपि ऐसा लगता है भक्त पाँचों तत्त्वों, भोग की वस्तुओं, इन्द्रियों तथा मन और बुद्धि में लीन है, किन्तु वह जागृत रहता है और अंधकार से रहित होता है।

तात्पर्य : रूप गोस्वामी द्वारा *भक्ति-रसामृत-सिंधु* में दी गई व्याख्या कि किस प्रकार मनुष्य इसी शरीर में मुक्त हो जाता है इस श्लोक में विस्तार से दी गई है। वह जीवात्मा, जो *सत्यदृक्* हो चुका है, जिसने भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को समझ लिया है, वह पदार्थ के पाँच तत्त्वों, पाँच भौतिक इन्द्रिय विषयों, दस इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि में लीन रह सकता है, तो भी वह जागृत रहता है और अहंकार के फल से मुक्त माना जाता है। यहाँ पर *लीन* शब्द

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मायावादी चिन्तक ब्रह्म के निर्विशेष तेज में लीन होने की संस्तुति करते हैं, यही उनका चरम लक्ष्य या गन्तव्य होता है। यहाँ पर इस लीन होने का भी उल्लेख है। किन्तु इस तरह लीन होने के बावजूद मनुष्य अपना व्यक्तित्व बनाये रख सकता है। जीव गोस्वामी ने एक उदाहरण दिया है कि हरे वृक्ष में प्रवेश करने वाला हरा पक्षी हरियाली में लीन होता प्रतीत होता है, किन्तु पक्षी वस्तुतः अपने व्यक्तित्व को खोता नहीं। इसी प्रकार भौतिक प्रकृति या आध्यात्मिक प्रकृति में लीन जीवात्मा अपने व्यक्तित्व का त्याग नहीं करता। वास्तविक व्यक्तित्व तो अपने को परमेश्वर का नित्य दास समझना है। यह जानकारी हमें भगवान् चैतन्य के मुख से प्राप्त होती है। उन्होंने सनातन गोस्वामी के पूछने पर स्पष्ट कहा कि जीवात्मा कृष्ण का शाश्वत दास है। कृष्ण भी *भगवद्गीता* में पुष्टि करते हैं कि जीवात्मा शाश्वत रूप से उनका अंश है। अंश पूर्ण की सेवा के प्रयोजन के लिए होता है। यही व्यक्तित्व है। यहाँ तक कि यह इस भौतिक जगत में भी जीवात्मा पदार्थ में लीन होता है पाया जाता है। उसका स्थूल शरीर पाँच तत्त्वों का बना होता है, उसका सूक्ष्म शरीर मन, बुद्धि, अहंकार तथा कलुषित चेतना का बना होता है और उसके पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं। इस प्रकार वह पदार्थ में लीन हो जाता है, किन्तु पदार्थ के चौबीसों तत्त्वों में लीन होते हुए भी वह भगवान् के दास रूप में अपना व्यक्तित्व बनाये रखता है। चाहे वह आध्यात्मिक प्रकृति में हो या भौतिक प्रकृति में हो, ऐसा दास मुक्त जीव माना जाता है। यह शास्त्रों की व्याख्या है और इस श्लोक में इसकी पुष्टि हुई है।

मन्यमानस्तदात्मानमनष्टो नष्टवन्मृषा ।
नष्टेऽहङ्करणे द्रष्टा नष्टवित्त इवातुरः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

मन्यमानः—सोचते हुए; तदा—तब; आत्मानम्—स्वयं; अनष्टः—यद्यपि नष्ट नहीं; नष्ट-वत्—नष्ट के समान; मृषा—झूठे ही; नष्टे अहङ्करणे—अहंकार के नष्ट होने से; द्रष्टा—देखने वाला; नष्ट-वित्तः—जिसकी सम्पत्ति नष्ट हो गई है; इव—सदृश; आतुरः—दुखी।

जीवात्मा स्पष्ट रूप से द्रष्टा के रूप में अपने अस्तित्व का अनुभव कर सकता है, किन्तु प्रगाढ़ निद्रा के समय अहंकार के दूर हो जाने के कारण वह अपने को उस तरह

विनष्ट हुआ मान लेता है, जिस प्रकार सम्पत्ति के नष्ट होने पर मनुष्य अपने को विनष्ट हुआ समझता है।

तात्पर्य : केवल अज्ञानवश ही जीवात्मा सोचता है कि वह विनष्ट हो गया। यदि वह ज्ञान प्राप्त करके अपने शाश्वत अस्तित्व की वास्तविक दशा से अवगत हो लेता है, तो वह जानता है कि वह विनष्ट नहीं हुआ। यहाँ पर उपयुक्त उदाहरण दिया गया है—*नष्ट-वित्त इवातुरः*। वह मनुष्य जिसका विपुल धन नष्ट हो जाता है अपने आपको विनष्ट समझता है, किन्तु वास्तव में वह विनष्ट हुआ नहीं होता—केवल उसका धन विनष्ट होता है। किन्तु धन के विषय में तल्लीनता अथवा धन को ही आत्म मानने से वह अपने को विनष्ट समझता है। इसी प्रकार जब हम पदार्थ को अपना कार्यक्षेत्र मान लेते हैं, तो सोचते हैं कि हम विनष्ट हो गये यद्यपि वास्तव में ऐसा होता नहीं। ज्योंही मनुष्य में इस शुद्ध ज्ञान का उदय होता है कि वह भगवान् का नित्य दास है, तो उसकी अपनी वास्तविक स्थिति पुनः प्राप्त हो जाती है। जीवात्मा कभी विनष्ट नहीं हो सकता। प्रगाढ़ निद्रा में मनुष्य अपनी पहचान भूल जाता है, वह सपनों में खो जाता है और तब वह अपने को एक भिन्न व्यक्ति या कि अपने आपको विनष्ट सोच सकता है। किन्तु वास्तव में उसकी पहचान (सत्ता) ज्यों की त्यों बनी रहती है। विनष्ट होने का यह भाव अहंकार के कारण है और यह तब तक बना रहता है जब तक मनुष्य में यह ज्ञान नहीं जगता कि वह भगवान् का नित्य दास है। अहंकार से विनष्ट होने का दूसरा लक्षण है *मायावादी* चिन्तकों की परमेश्वर से तादात्म्य की विचारधारा। मनुष्य झूठे ही दावा कर सकता है कि मैं परमेश्वर हूँ, किन्तु वास्तव में वह वैसा होता नहीं। जीवात्मा पर माया के प्रभाव का यह अन्तिम पाश होता है। अपने आपको परमेश्वर के तुल्य मानना या कि स्वयं को परमेश्वर समझ लेना अहंकार के ही कारण होता है।

एवं प्रत्यवमृश्यासावात्मानं प्रतिपद्यते ।
साहङ्कारस्य द्रव्यस्य योऽवस्थानमनुग्रहः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; प्रत्यवमृश्य—विचार करके; असौ—वह व्यक्ति; आत्मानम्—अपने आपको; प्रतिपद्यते—अनुभव करता है; स-अहङ्कारस्य—अहंकार के वश में माना हुआ; द्रव्यस्य—स्थिति का; यः—जो; अवस्थानम्—आश्रय, अधिष्ठान; अनुग्रहः—प्रकाशक ।

जब मनुष्य परिपक्व ज्ञान के द्वारा अपने व्यक्तित्व का अनुभव करता है, तो अहंकारवश वह जिस स्थिति को स्वीकार करता है, वह उसे प्रकट हो जाती है।

तात्पर्य : मायावादी चिन्तक की स्थिति यह है कि अन्ततः व्यक्ति (वैशिष्ट्य) विनष्ट हो जाता है, सारी वस्तुएँ एक हो जाती हैं और ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान में अन्तर नहीं रह जाता। किन्तु सूक्ष्म विश्लेषण से पता चलता है कि यह सही नहीं है। व्यक्तित्व (व्यष्टित्व) कभी विनष्ट नहीं होता, यहाँ तक कि तब भी जब मनुष्य यह सोचता होता है कि तीन भिन्न तत्त्व अर्थात् ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान एकाकार हो गये हैं। यह विचारधारा कि तीनों एक में लीन हो जाते हैं ज्ञान का दूसरा रूप है और चूँकि ज्ञान रूपी द्रव्य अब भी विद्यमान रहता है, अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान एक हो गये हैं। इस ज्ञान को देखने वाला व्यष्टि जीव अब भी एक व्यक्ति बना रहता है। भौतिक जगत तथा आध्यात्मिक जगत दोनों ही में सत्ता बनी रहती है, अन्तर है, तो केवल पहचान की गुणता में। भौतिक पहचान में अहंकार कार्य करता है और गलत पहचान के कारण मनुष्य वस्तुओं को उनके वास्तविक रूप से भिन्न करके ग्रहण करता है। बद्ध जीवन का मूल सिद्धान्त यही है। इसी प्रकार जब अहंकार शुद्ध हो जाता है, तो मनुष्य हर वस्तु को सही रूप में ग्रहण करता है। यह मुक्ति की अवस्था है।

ईशोपनिषद् में कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु भगवान् की है। *ईशावास्यमिदं सर्वम्*। प्रत्येक वस्तु परमेश्वर की शक्ति पर स्थित है। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई है। चूँकि प्रत्येक वस्तु उन्हीं की शक्ति से उत्पन्न है और उनकी शक्ति पर स्थित है, अतः यह शक्ति उनसे भिन्न नहीं है, तो भी भगवान् कहते हैं, "मैं वहाँ नहीं हूँ"। जब मनुष्य अपनी स्वाभाविक स्थिति को समझ लेता है, तो सब कुछ प्रकट हो जाता है। वस्तुओं की अहंकारजन्य स्वीकृति से मनुष्य बद्ध होता है, किन्तु उनकी सही-सही स्वीकृति से वह मुक्त बनता है। पिछले श्लोक का उदाहरण यहाँ लागू होता है—अपने धन में अपनी पहचान करने से, जब मनुष्य का धन नष्ट हो जाता है, तो वह सोचता है कि वह भी नष्ट हो गया। किन्तु वास्तव में वह धन से एकरूप नहीं है और न

यह धन उसका है। जब वास्तविक स्थिति प्रकट हो जाती है, तो हम समझ पाते हैं कि धन किसी एक व्यक्ति या जीवात्मा का नहीं है, न ही वह मनुष्य द्वारा उत्पन्न है। अन्ततः यह धन परमेश्वर की सम्पत्ति है, अतः उसके विनष्ट होने का प्रश्न नहीं उठता। किन्तु जब तक मनुष्य झूठे ही सोचता है कि, "मैं भोक्ता हूँ" या "मैं ही भगवान् हूँ" तब तक जीवन की यह विचारधारा चलती रहती है और मनुष्य बद्ध रहता है। ज्योंही यह अहंकार दूर हो जाता है, तो वह मुक्त हो जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है मनुष्य की स्वाभाविक स्थिति ही मुक्ति की स्थिति है।

देवहूतिरुवाच
पुरुषं प्रकृतिर्ब्रह्मन्न विमुञ्चति कर्हिचित् ।
अन्योन्यापाश्रयत्वाच्च नित्यत्वादनयोः प्रभो ॥ १७॥

शब्दार्थ

देवहूतिः उवाच—देवहूति ने कहा; पुरुषम्—आत्मा; प्रकृतिः—प्रकृति; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; न—नहीं; विमुञ्चति—छोड़ती है; कर्हिचित्—किसी भी समय, कभी; अन्योन्य—परस्पर; अपाश्रयत्वात्—आकर्षण से; च—तथा; नित्यत्वात्—नित्यता से; अनयोः—उन दोनों का; प्रभो—हे भगवान्।

श्री देवहूति ने पूछा : हे ब्राह्मण, क्या कभी प्रकृति आत्मा का परित्याग करती है? चूँकि इनमें से कोई एक दूसरे के प्रति शाश्वत रूप से आकर्षित रहता है, तो उनका पृथकत्व (वियोग) कैसे सम्भव है?

तात्पर्य : कपिल की माता देवहूति यहाँ पर पहला प्रश्न पूछती हैं। यद्यपि मनुष्य जानता है कि आत्मा तथा पदार्थ भिन्न हैं, किन्तु न तो दार्शनिक चिन्तन से और न उपयुक्त ज्ञान से उनको विलग किया जाता है। आत्मा परमेश्वर की तटस्था शक्ति है और पदार्थ बहिरंगा शक्ति है। ये दोनों नित्य शक्तियाँ न जाने किस तरह मिल गई हैं कि अब इनको एक दूसरे से विलग करना कठिन है, तो फिर यह कैसे सम्भव है कि प्रत्येक जीव मुक्त हो सके? व्यावहारिक अनुभव द्वारा यह देखा जा सकता है कि जब आत्मा को शरीर से विलग कर दिया जाता है, तो शरीर का कोई अस्तित्व नहीं रहता और जब शरीर को आत्मा से विलग लिया जाता है, तो आत्मा का अस्तित्व नहीं दिखता। जब तक आत्मा तथा शरीर मिले रहते हैं हम समझते हैं कि जीवन

है, किन्तु उनके विलग होते ही शरीर या आत्मा का अस्तित्व नहीं दिखता। देवहूति द्वारा कपिल से पूछा गया यह प्रश्न शून्यवाद दर्शन से थोड़ा-बहुत प्रेरित है। शून्यवादी कहते हैं कि चेतना पदार्थ के संयोग से उत्पन्न है और ज्योंही चेतना चली जाती है, भौतिक संयोग विलीन हो जाता है, अतः अन्त में शून्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। मायावाद दर्शन में चेतना की इस अनुपस्थिति को *निर्वाण* कहते हैं।

यथा गन्धस्य भूमेश्च न भावो व्यतिरेकतः ।
अपां रसस्य च यथा तथा बुद्धेः परस्य च ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; गन्धस्य—गन्ध का; भूमेः—पृथ्वी की; च—तथा; न—नहीं; भावः—अस्तित्व; व्यतिरेकतः—पृथक्; अपाम्—जल का; रसस्य—स्वाद का; च—तथा; यथा—जिस तरह; तथा—उसी तरह; बुद्धेः—बुद्धि का; परस्य—चेतना या आत्मा का; च—तथा।

जिस प्रकार पृथ्वी तथा इसकी गन्ध या जल तथा इसके स्वाद का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं होता उसी तरह बुद्धि तथा चेतना का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं हो सकता।

तात्पर्य : यहाँ उदाहरण दिया गया है कि किसी भी भौतिक वस्तु में गंध होती है। फूल, पृथ्वी, सभी में गंध होती है। यदि पदार्थ में से गंध विलग कर दी जाय तो पदार्थ को पहचाना नहीं जा सकता। यदि जल में स्वाद न हो तो जल व्यर्थ है, यदि अग्नि में उष्मता न हो तो अग्नि व्यर्थ है। इसी प्रकार बुद्धि के अभाव में आत्मा का कोई अर्थ नहीं होता।

अकर्तुः कर्मबन्धोऽयं पुरुषस्य यदाश्रयः ।
गुणेषु सत्सु प्रकृतेः कैवल्यं तेष्वतः कथम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अकर्तुः—न करने वाले का; कर्म-बन्धः—कर्मों का बन्धन; अयम्—यह; पुरुषस्य—आत्मा का; यत्-आश्रयः—गुणों की संगति से उत्पन्न; गुणेषु—जबकि गुणों में; सत्सु—उपस्थित हैं; प्रकृतेः—प्रकृति के; कैवल्यम्—स्वतन्त्रता; तेषु—उन; अतः—अतः; कथम्—कैसे।

अतः समस्त कर्मों का कर्ता न होते हुए भी जीव तब तक कैसे स्वतन्त्र हो सकता है जब तक प्रकृति उस पर अपना प्रभाव डालती रहती है और उसे बाँधे रहती है।

तात्पर्य : यद्यपि जीव पदार्थ के संसर्ग से स्वतन्त्र होना चाहता है, किन्तु उसे छुटकारा नहीं

मिलता। वास्तव में जैसे ही जीव अपने आपको प्रकृति के गुणों के अधीन कर देता है, वैसे ही उसके सारे कार्य प्रकृति द्वारा प्रभावित होने लगते हैं और वह निष्क्रिय हो जाता है। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—*प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः*—जीव प्रकृति के गुणों के अनुसार कर्म करता है। वह झूठे ही सोचता है कि वह कर्म कर रहा है, जबकि दुर्भाग्यवश वह निष्क्रिय (अकर्ता) रहता है। दूसरे शब्दों में, उसे प्रकृति के नियन्त्रण से निकलने का अवसर नहीं मिलता, क्योंकि वह पहले ही बद्ध हो चुकता है। *भगवद्गीता* में यह भी कहा गया है कि प्रकृति के पाश से छूट पाना बहुत कठिन है। वह अन्य प्रकार से यह सोचने का प्रयत्न कर सकता है कि अन्ततः हर वस्तु शून्य है, ईश्वर कहीं नहीं है और यदि प्रत्येक वस्तु का आधार आत्मा है भी तो वह निराकार है। यह चिन्तन चलता रह सकता है, किन्तु वास्तव में प्रकृति के पाश से छूट पाना अत्यन्त कठिन होता है। देवहूति प्रश्न करती है कि यद्यपि मनुष्य तरह-तरह से सोचता है, किन्तु जब तक वह प्रकृति के वश में है तब तक उसकी मुक्ति कहाँ? इसका उत्तर *भगवद्गीता* (७.१४) में प्राप्त है—केवल वही, जिसने भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की शरण ले ली है (*मामेव ये प्रपद्यन्ते*) माया के चंगुल से छूट जाता है।

चूँकि धीरे-धीरे देवहूति आत्मसमर्पण करने के निकट पहुँच रही है, अतः उसके प्रश्न अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण हैं कि मनुष्य कैसे मुक्त हो सकता है? जब तक मनुष्य प्रकृति के गुणों द्वारा कसकर जकड़ा हुआ है तब तक वह किस तरह आध्यात्मिक जगत की विशुद्ध अवस्था में हो सकता है? यह झूठे ध्यानकर्ता के लिए संकेत भी है। ऐसे अनेक तथाकथित ध्यानकर्ता हैं, जो सोचते हैं कि, "मैं परमात्मा हूँ, मैं प्रकृति के कार्यों का संचालन कर रहा हूँ, मेरे ही निर्देशन में सूर्य घूमता तथा चन्द्रमा उदय होता है।" वे सोचते हैं कि ऐसे चिन्तन या ध्यान से वे मुक्त हो सकते हैं, किन्तु देखा जाता है कि ऐसे व्यर्थ ध्यान के तीन मिनट बाद ही वे प्रकृति के गुणों से बँध जाते हैं। अपने उच्च ध्यान के तुरन्त बाद ही 'ध्यानकर्ता' प्यासा हो उठता है और कुछ पीना या धूम्रपान करना चाहता है। यद्यपि वह प्रकृति की मजबूत मुट्ठी में रहता है, तो भी वह सोचता है कि मैं माया के पाश से मुक्त हूँ। देवहूति का यह प्रश्न ऐसे व्यक्ति के

लिए है, जो यह झूठा दावा करता है कि वह सब कुछ है, अन्त में हर वस्तु शून्य है और पाप या पुण्यकर्म नहीं होता। ये सभी निरीश्वरवादी खोजें हैं। वस्तुत: जब तक मनुष्य *भगवद्गीता* में बताई गई विधि के अनुसार भगवान् की शरण में नहीं जाता तब तक माया के पाश से छुटकारा नहीं मिलता।

क्वचित्तत्त्वावमर्शेन निवृत्तं भयमुल्बणम् ।
अनिवृत्तनिमित्तत्वात्पुन: प्रत्यवतिष्ठते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—यदि कभी; **तत्त्व**—मूल सिद्धान्त; **अवमर्शेन**—विचार करने से; **निवृत्तम्**—बचा जा सके; **भयम्**—भय; **उल्बणम्**—महान्; **अनिवृत्त**—छुटकारा न पाने वाला; **निमित्तत्वात्**—चूँकि कारण से; **पुन:**—फिर; **प्रत्यवतिष्ठते**—प्रकट होता है।.

यदि चिन्तन तथा मूल सिद्धान्तों की जाँच-परख से बन्धन के महान् भय से बच भी लिया जाय तो भी यह पुन: प्रकट हो सकता है, क्योंकि इसके कारण का अन्त नहीं हुआ होता है।

तात्पर्य : अपने आपको पदार्थ के अधीन करने से भवबन्धन उत्पन्न होता है, क्योंकि अहंकार प्रकृति पर अधिकार जताना चाहता है। *भगवद्गीता* (७.२७) का कथन है—*इच्छाद्वेषसमुत्थेन*। जीवात्मा में दो प्रकार की रुचियों का उदय होता है। एक है *इच्छा* जिसका अर्थ है प्रकृति पर अधिकार जताना अथवा परमेश्वर के समान महान् बनना। प्रत्येक व्यक्ति इस संसार में महानतम व्यक्ति बनना चाहता है। दूसरी है *द्वेष* अर्थात् ईर्ष्या। जब मनुष्य कृष्ण अथवा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से द्वेष करता है, तो वह सोचता है कि, "कृष्ण ही सर्वेसर्वा क्यों हैं? मैं भी कृष्ण जैसा हूँ।" ये दो बातें—भगवान् बनने की इच्छा और भगवान् से ईर्ष्या—भवबन्धन के प्रारम्भिक कारण हैं। जब तक चिन्तक, मुक्ति का इच्छुक या शून्यवादी महान् बनने, सब कुछ होने या ईश्वर के अस्तित्व को नकारने की कोई न कोई इच्छा रखता है तब तक उसकी मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।

देवहूति अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्वक कहती है, "कोई भले ही सिद्धान्तत: विश्लेषण करते हुए यह कहे कि ज्ञान के द्वारा वह मुक्त हो गया है, किन्तु वास्तव में जब तक कारण विद्यमान है

तब तक वह मुक्त नहीं है।" *भगवद्गीता* पुष्टि करती है कि अनेक जन्मों तक ऐसे चिन्तन के बाद जब मनुष्य अपनी वास्तविक चेतना को प्राप्त होता है और भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में जाता है तभी उसकी ज्ञान की खोज पूरी होती है। भवबन्धन से सैद्धान्तिक मुक्ति तथा वास्तविक मुक्ति के बीच पर्याप्त अन्तर है। *भागवत* (१०.१४.४) का कथन है कि यदि कोई भक्ति के शुभ पथ को छोड़कर केवल चिन्तन द्वारा वस्तुओं को जानना चाहता है, तो वह वृथा ही अपना समय गँवाता है (*क्लिश्यन्ति ये केवलबोध लब्धये*)। इस प्रकार का श्रम केवल श्रम होता है, कोई अन्य परिणाम नहीं निकलता। चिन्तन का श्रम रिक्तता में समाप्त होता है। यहाँ यह उदाहरण दिया जा सकता है कि धान की भूसी को कूटने से क्या लाभ! उसका चावल तो पहले से ही निकला रहता है। इसी प्रकार मात्र चिन्तन से मनुष्य भवबन्धन से मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि कारण तब भी विद्यमान रहता है। पहले कारण का निषेध करना होता है तब कर्म (प्रभाव) निरस्त होता है। अगले श्लोकों में भगवान् इसकी व्याख्या करते हैं।

श्रीभगवानुवाच
अनिमित्तनिमित्तेन स्वधर्मेणामलात्मना ।
तीव्रया मयि भक्त्या च श्रुतसम्भृतया चिरम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; अनिमित्त-निमित्तेन—कर्म-फल की इच्छा के बिना; स्व-धर्मेण—अपने-अपने निर्धारित कार्यों के करने से; अमल-आत्मना—शुद्ध मन से; तीव्रया—उत्कट, गम्भीर; मयि—मुझको; भक्त्या—भक्ति से; च—तथा; श्रुत—श्रवण; सम्भृतया—से युक्त; चिरम्—दीर्घकाल तक।

भगवान् ने कहा : यदि कोई गम्भीरतापूर्वक मेरी सेवा करता है और दीर्घकाल तक मेरे विषय में या मुझसे सुनता है, तो वह मुक्ति पा सकता है। इस प्रकार अपने-अपने नियत कार्यों के करने से कोई प्रतिक्रिया नहीं होगी और मनुष्य पदार्थ के कल्मष से मुक्त हो जाएगा।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्रीधर स्वामी की टीका है कि केवल प्रकृति के साहचर्य से ही कोई बद्ध नहीं हो जाता। बद्ध जीवन तो प्रकृति के गुणों से दूषित होने के बाद ही प्रारम्भ होता है। यदि कोई पुलिस विभाग के संसर्ग में रहता है, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह

अपराधी है। जब तक कोई अपराध नहीं करता तब तक पुलिस विभाग के होते हुए भी उसे दण्डित नहीं किया जाता। इसी प्रकार मुक्त जीव भौतिक प्रकृति में रहते हुए भी उससे प्रभावित नहीं होता। यहाँ तक कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् भी, जब वे अवतरित होते हैं, तो प्रकृति के साहचर्य में रहते हैं, किन्तु वे उससे प्रभावित नहीं होते। मनुष्य को इस तरह कर्म करना होता है कि इस भौतिक प्रकृति में रहते हुए भी वह कल्मष से प्रभावित न हो। यद्यपि कमल के फूल का साहचर्य जल के साथ होता है, किन्तु जल उससे छू नहीं जाता। यही वह विधि है, जिस तरह मनुष्य को रहना है, जैसाकि भगवान् कपिलदेव ने यहाँ पर वर्णन किया है (*अनिमित्तनिमित्तेन स्वधर्मेणामलात्मना*)।

यदि मनुष्य गम्भीरतापूर्वक भक्ति में लगा रहे तो वह समस्त प्रतिकूल परिस्थितियों से मुक्त हो सकता है। जिस तरह यह भक्ति विकसित होकर परिपक्व बनती है उसकी यहाँ व्याख्या की गई है। प्रारम्भ में मनुष्य को शुद्ध मन से नियत कर्तव्य करने होते हैं। शुद्ध चेतना का अर्थ है कृष्णचेतना। मनुष्य को कृष्णचेतना में नियत कर्तव्य करने होते हैं। उसे अपने नियत कर्तव्यों को बदलने की कोई आवश्यकता नहीं रहती, उसे केवल कृष्णचेतना में कर्म करना होता है। कृष्णभावनाभावित कर्तव्य करते हुए उसे यह तय करना चाहिए कि उसके वृत्तिपरक कर्तव्यों से श्रीभगवान् कृष्ण सन्तुष्ट होते हैं। *भागवत* में एक अन्य स्थान में कहा गया है—*स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्*—हर व्यक्ति को कुछ न कुछ कर्तव्य करने होते हैं, किन्तु ऐसे कर्तव्यों की पूर्णता तभी होगी जब भगवान् श्रीहरि ऐसे कर्मों से तुष्ट हों। उदाहरणार्थ, अर्जुन का नियत कर्तव्य युद्ध करना था और उसके युद्ध की पूर्णता श्रीकृष्ण की तुष्टि से आँकी जानी थी। कृष्ण की इच्छा थी कि वह युद्ध करे और जब उसने भगवान् की तुष्टि के लिए युद्ध किया, तो यह उसके भक्तिमय कर्तव्य की पूर्णता थी। दूसरी ओर, जब भगवान् की इच्छा के विरुद्ध वह युद्ध करना नहीं चाह रहा था, तो वह अपूर्ण था।

यदि कोई अपने जीवन को पूर्ण बनाना चाहता है, तो उसे कृष्ण की तुष्टि के लिए अपने नियत कर्तव्य सम्पन्न करने चाहिए। उसे कृष्णचेतना में कार्य करना चाहिए, क्योंकि ऐसे कर्म से

कोई फल नहीं उत्पन्न होता *(अनिमित्त-निमित्तेन)* इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है—*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र*—यज्ञ अथवा विष्णु की तुष्टि के लिए ही सारे कार्य सम्पन्न किये जाने चाहिए। अन्य कोई भी कार्य या यज्ञ जो विष्णु की तुष्टि के बिना सम्पन्न किया जाता है बन्धन उत्पन्न करता है, अत: यहाँ पर कपिल मुनि द्वारा इसकी भी संस्तुति की गई है कि कृष्णचेतना में कार्य करके अर्थात् भक्ति में गम्भीरतापूर्वक लग करके भवबन्धन को छिन्न किया जा सकता है। ऐसी भक्ति दीर्घकाल तक श्रवण करने से विकसित होती है। कीर्तन तथा श्रवण तो भक्तियोग का शुभारम्भ है। मनुष्य को चाहिए कि भक्तों की संगति करे और उनसे भगवान् के दिव्य प्राकट्य, कार्यकलापों, उनके अन्तर्धान, आदेश आदि के विषय में सुने।

श्रुति अथवा शास्त्र दो तरह के होते हैं। एक जो भगवान् द्वारा कहे गये हैं और दूसरे जो भगवान् तथा उनके भक्तों के विषय में कहे गये हैं। *भगवद्गीता* पहले प्रकार की है और *श्रीमद्भागवत* दूसरे प्रकार की। मनुष्य को चाहिए कि गम्भीर भक्ति-सेवा में स्थिर होने के लिए ऐसी श्रुतियों का बारम्बार श्रवण विश्वसनीय स्रोतों से करे। ऐसी भक्ति में लगने से वह माया के कल्मष से मुक्त हो जाता है। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि श्रीभगवान् के विषय में श्रवण करने से हृदय प्रकृति के तीनों गुणों के प्रभाव से उत्पन्न समस्त कल्मष से स्वच्छ हो जाता है। निरन्तर तथा नियमित श्रवण करने से काम तथा लोभ या प्रकृति पर अधिकार जताने के कल्मष के प्रभाव कम हो जाते हैं और जब लोभ तथा काम घट जाते हैं, तो मनुष्य सतोगुण पद को प्राप्त होता है। यह ब्रह्म-साक्षात्कार या आत्म-साक्षात्कार की अवस्था है। इस प्रकार मनुष्य दिव्य पद पर स्थिर हो जाता है। दिव्य पद पर स्थिर बने रहना ही भवबन्धन से मुक्ति है।

ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन वैराग्येण बलीयसा ।
तपोयुक्तेन योगेन तीव्रेणात्मसमाधिना ॥ २२॥

शब्दार्थ

ज्ञानेन—ज्ञान से; दृष्ट-तत्त्वेन—परम सत्य की दृष्टि से; वैराग्येण—विरक्ति से; बलीयसा—अत्यन्त दृढ़तापूर्वक; तपः-युक्तेन—तप में लगाने से; योगेन—योग से; तीव्रेण—दृढ़तापूर्वक स्थिर; आत्म-समाधिना—आत्म-लीन होने से।

यह भक्ति दृढ़तापूर्वक पूर्ण ज्ञान से तथा दिव्य दृष्टि से सम्पन्न करनी चाहिए। मनुष्य

को प्रबल रूप से विरक्त होना चाहिए, तपस्या में लगना चाहिए और आत्मलीन होने के लिए योग करना चाहिए।

तात्पर्य : भौतिक भावना अथवा मनोकल्पना के कारण कृष्णचेतना में अंधाधुंध भक्ति नहीं की जा सकती। यहाँ विशेष रूप से उल्लेख है कि मनुष्य को पूर्ण ज्ञान में परम सत्य की कल्पना करते हुए भक्ति करनी चाहिए। हम दिव्य ज्ञान का विकास करके परम सत्य के विषय में समझ सकते हैं और ऐसे दिव्य ज्ञान का परिणाम वैराग्य द्वारा ही प्रकट होगा। यह वैराग्य न तो क्षणिक है, न कृत्रिम, अपितु अत्यन्त प्रबल है। कहा जाता है कि वैराग्य के द्वारा कृष्णचेतना का विकास दृष्टिगत होता है। यदि कोई अपने आपको भौतिक भोग से पृथक् नहीं कर सकता तो यह समझना चाहिए कि वह कृष्णचेतना (भक्ति) में अग्रसर नहीं हो रहा है। कृष्णचेतना में वैराग्य इतना प्रबल होता है कि इसे किसी आकर्षण के द्वारा विपथ नहीं किया जा सकता। मनुष्य को पूर्ण तपस्या में भक्ति करनी होती है। उसे चाहिए कि मास की दोनों एकादशियों में भगवान् कृष्ण, भगवान् राम तथा चैतन्य महाप्रभु के जन्मदिनों में उपवास करे। ऐसे उपवास के दिन अनेक हैं। *योगेन* का अर्थ है इन्द्रियों तथा मन को नियन्त्रित करके—*योग इन्द्रिय संयम:*। *योगेन* बताता है कि मनुष्य अपने में लीन रहता है और ज्ञान के विकास द्वारा परमात्मा के साथ अपनी स्वाभाविक स्थिति को समझ सकता है। इस प्रकार वह भक्ति में स्थिर हो जाता है और उसकी श्रद्धा किसी भौतिक प्रलोभन से विचलित नहीं होती।

प्रकृतिः पुरुषस्येह दह्यमाना त्वहर्निशम् ।
तिरोभवित्री शनकैरग्नेर्योनिरिवारणिः ॥ २३॥

शब्दार्थ

प्रकृतिः—प्रकृति का प्रभाव; पुरुषस्य—जीवात्मा का; इह—यहाँ; दह्यमाना—जलकर; तु—लेकिन; अहः-निशम्—दिन-रात; तिरः-भवित्री—विलीन होकर; शनकैः—धीरे-धीरे; अग्नेः—अग्नि का; योनिः—उदय का कारण; इव—सदृश; अरणिः—काष्ठ, जिससे अग्नि उत्पन्न की जाती है।

प्रकृति के प्रभाव ने जीवात्मा को ढक कर रखा है मानो जीवात्मा सदैव प्रज्ज्वलित अग्नि में रह रहा हो। किन्तु भक्ति करने से यह प्रभाव उसी प्रकार दूर किया जाता सकता है, जिस प्रकार अग्नि उत्पन्न करने वाले काष्ठ-खण्ड स्वयं भी अग्नि द्वारा भस्म हो जाते

हैं।

तात्पर्य : अग्नि लकड़ी के टुकड़ो के भीतर संरक्षित रहती है और परिस्थितियाँ अनुकूल होने पर अग्नि जल उठती है, किन्तु जो काष्ठ-खण्ड अग्नि उत्पन्न करने वाले होते हैं, वे भी अग्नि के द्वारा स्वाहा हो जाते हैं। इसी प्रकार जीवात्मा का सांसारिक बद्ध जीवन प्रकृति पर अधिकार जताने की उसकी इच्छा तथा परमेश्वर से द्वेष करने के कारण है। इस प्रकार से मुख्य रोग यह है कि वह परमेश्वर से एकाकार होना चाहता है, या वह भौतिक प्रकृति का स्वामी बनना चाहता है। कर्मीजन प्रकृति के साधनों का उपयोग करने का प्रयत्न करते हैं और इस तरह इसके स्वामी बनकर इन्द्रियतृप्ति का भोग करना चाहते हैं। ज्ञानीजन भौतिक साधनों का भोग करते-करते निराश होकर भगवान् से एकाकार होना या निर्गुण तेज में लीन होना चाहते हैं। ये दोनों रोग भौतिक कल्मष के कारण होते हैं। भौतिक कल्मष को भक्ति द्वारा भस्मसात किया जा सकता है, क्योंकि भक्तिमय सेवा में ये दोनों रोग अर्थात् प्रकृति पर प्रभुत्व जमाने और परमेश्वर से तदाकार होने की इच्छा अनुपस्थित रहते हैं। अत: कृष्णभावनामृत में भक्तियोग को सावधानी से सम्पन्न करने पर सांसारिक अस्तित्व का कारण तुरन्त भस्म हो जाता है।

पूर्ण कृष्णचेतना में भक्त ऊपर से महान् कर्मी प्रतीत होता है, जो सदैव कार्य करता रहता है, किन्तु भक्त के इन कार्यकलापों का आन्तरिक महत्त्व यह है कि वे परमेश्वर की तुष्टि के लिए होते हैं। यह भक्ति कहलाती है। अर्जुन ऊपरी तौर पर योद्धा था, किन्तु जब उसने अपने युद्ध से भगवान् कृष्ण की इन्द्रियों को तुष्ट कर दिया तो वह भक्त बन गया। चूँकि भक्त भी परम पुरुष को उसी रूप में समझने के लिए दार्शनिक शोध में रत रहता है, अत: उसके कार्यकलाप चिन्तक-जैसे लग सकते हैं, किन्तु वास्तव में वह आध्यात्मिक प्रकृति तथा दिव्य कार्यकलापों को समझने का प्रयत्न करता रहता है। यद्यपि उसमें दार्शनिक चिन्तन की प्रवृत्ति पाई जाती है, किन्तु सकाम कर्म के फल तथा यादृच्छिक चिन्तन नहीं पाये जाते, क्योंकि यह कार्य भगवान् के निमित्त है।

भुक्तभोगा परित्यक्ता दृष्टदोषा च नित्यशः ।
नेश्वरस्याशुभं धत्ते स्वे महिम्नि स्थितस्य च ॥ २४॥

शब्दार्थ

भुक्त—भोगा हुआ; भोगा—भोग; परित्यक्ता—छोड़ा हुआ; दृष्ट—खोजा हुआ; दोषा—त्रुटि; च—तथा; नित्यशः—सदैव; न—नहीं; ईश्वरस्य—स्वतन्त्र का; अशुभम्—हानि; धत्ते—नुकसान पहुँचाती है; स्वे महिम्नि—अपनी कीर्ति में; स्थितस्य—स्थित; च—तथा।

प्रकृति पर अधिकार जताने की इच्छा के दोषों को ज्ञात करके और फलस्वरूप उस इच्छा को त्याग करके जीवात्मा स्वतन्त्र हो जाता है और अपनी कीर्ति में स्थित हो जाता है।

तात्पर्य : चूँकि जीव भौतिक साधनों का वास्तविक भोक्ता नहीं है, फलतः प्रकृति पर अधिकार करने की उसकी चेष्टा असफल रहती है। फलस्वरूप वह सामान्य जीव की अपेक्षा अधिक शक्ति चाहता है और परम भोक्ता के अस्तित्व में लीन हो जाना चाहता है। इस प्रकार वह अधिक भोग की योजना बना लेता है।

जब कोई सचमुच भक्ति में स्थित होता है, तो वह उसकी स्वतन्त्र स्थिति होती है। अल्पज्ञानी व्यक्ति भगवान् के नित्य दास की स्थिति को नहीं समझ पाते। चूँकि 'दास' शब्द लगा रहता है इसलिए वे भ्रमित हो जाते हैं, वे यह नहीं समझ पाते कि यह दासता इस भौतिक जगत की दासता नहीं है। भगवान् का दास होना सबसे बड़ा पद है। यदि वह इसे समझ सके और भगवान् की शाश्वत दासता की अपनी मूल स्थिति को फिर से पा सके तो वह पूर्ण स्वतन्त्र हो सकता है। भौतिक सम्पर्क के कारण जीव की स्वतन्त्रता जाती रहती है। आध्यात्मिक जगत में उसे पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है, फलतः प्रकृति के गुणों पर आश्रित रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह स्थिति भक्त द्वारा प्राप्त की जाती है, अतः जब वह इसके दोषों को देखता है, तो भौतिक भोग की प्रकृति को छोड़ देता है।

एक भक्त तथा एक निर्विशेषवादी में यही अन्तर होता है कि निर्विशेषवादी परमेश्वर के साथ तादात्म्य चाहता है, जिससे वह निर्बाध रूप से भोग कर सके, किन्तु भक्त है कि वह भोग की समग्र मानसिकता को त्याग देता है और अपने आपको भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति में प्रवृत्त करता है। यही उसकी स्वाभाविक महिमामय स्थिति है। इस समय वह ईश्वर—पूर्ण

स्वतन्त्र—होता है। परम ईश्वर या *ईश्वरः परमः* तो कृष्ण हैं। जीव तो तभी ईश्वर रहता है जब वह भगवान् की सेवा में निरत होता है। दूसरे शब्दों में, भगवान् की प्रेमा-भक्ति से प्राप्त दिव्य आनन्द ही वास्तविक स्वतन्त्रता है।

यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत् ।
स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; हि—निस्सन्देह; अप्रतिबुद्धस्य—सोने वाले का; प्रस्वापः—स्वप्न; बहु-अनर्थ-भृत्—अनेक अशुभ बातें उत्पन्न करने वाला; सः एव—वही स्वप्न; प्रतिबुद्धस्य—जगने वाले का; न—नहीं; वै—निश्चय ही; मोहाय—मोहग्रस्त करने के लिए; कल्पते—समर्थ है।.

स्वप्नावस्था में मनुष्य की चेतना प्रायः ढकी रहती है और उसे अनेक अशुभ वस्तुएँ दिखती हैं, किन्तु उसके जगने पर तथा पूर्ण चेतन होने पर ऐसी अशुभ वस्तुएँ उसे विभ्रमित नहीं कर सकतीं।

तात्पर्य : स्वप्नावस्था में, जब मनुष्य की चेतना प्रायः ढकी रहती है, तो वह अनेक प्रतिकूल वस्तुएँ देख सकता है, जिससे चिन्ता होने लगती है, किन्तु जगने पर उसे स्वप्न में जो कुछ घटता हुआ रहता है स्मरण रहता है फिर भी वह विचलित नहीं होता। इसी प्रकार आत्म-साक्षात्कार की स्थिति अथवा परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को समझने की स्थिति होने पर मनुष्य पूर्णतया संतुष्ट रहता है और प्रकृति के तीनों गुण, जो सारी उद्विग्नताओं की जड़ हैं, उसे प्रभावित नहीं कर पाते। चेतना के कल्मषग्रस्त होने पर मनुष्य हर वस्तु को भोग्य समझता है, किन्तु शुद्ध चेतना या कृष्णभक्ति में वह यह देखता है कि जो भी वस्तु विद्यमान है, वह परमभोक्ता के भोग के लिए है। स्वप्नावस्था तथा जागृतावस्था में यही अन्तर है। कल्मषग्रस्त चेतना की तुलना स्वप्न चेतना से और कृष्ण चेतना की तुलना जीवन की जागृत चेतन-अवस्था से की गई है। वस्तुतः, जैसाकि *भगवद्गीता* में बताया गया है कृष्ण ही एकमात्र परम भोक्ता हैं। जो यह समझ सके कि कृष्ण ही तीनों लोकों के स्वामी और सबके सखा हैं तब वह शान्त तथा स्वतन्त्र है। जब तक बद्धजीव को यह ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता वह हर वस्तु का भोक्ता बनना चाहता है, वह परोपकारी बनना चाहता है और अपने समधर्मी मानवों के लिए अस्पताल

तथा स्कूल खोलना चाहता है। यह सब मोह (माया) है, क्योंकि ऐसे भौतिक कार्यकलापों से वह किसी को लाभ नहीं पहुँचा सकता। यदि वह अपने समधर्मीयों को लाभ पहुँचाना चाहता है उसे तो अपनी सुसुप्त कृष्णचेतना को जगाना चाहिए। कृष्णचेतना युक्त स्थिति *प्रतिबुद्ध* की स्थिति है, जिसका अर्थ है शुद्ध चेतना।

एवं विदिततत्त्वस्य प्रकृतिर्मयि मानसम् ।
युञ्जतो नापकुरुत आत्मारामस्य कर्हिचित् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विदित-तत्त्वस्य—परम सत्य के जानने वाले की; प्रकृतिः—प्रकृति; मयि—मुझ पर; मानसम्—मन को; युञ्जतः—स्थिर करते हुए; न—नहीं; अपकुरुते—हानि पहुँचा सकता है; आत्म-आरामस्य—आत्म में आनन्द उठाने वाले को; कर्हिचित्—कभी भी।

प्रकृति का प्रभाव किसी प्रबुद्ध मनुष्य को हानि नहीं पहुँचा सकता, भले ही वह भौतिक कार्यकलापों में ही व्यस्त क्यों न रहता हो, क्योंकि वह परम सत्य की सच्चाई को जानता है और उसका मन भगवान् में ही स्थिर रहता है।

तात्पर्य : भगवान् कपिल कहते हैं कि जिस भक्त का मन सदैव भगवान् के चरणकमलों में स्थिर रहता है (*मयि मानसम्*) वह *आत्मराम* या *विदित-तत्त्व* कहलाता है। *आत्माराम* का अर्थ है, जो "अपने आप में आनन्द उठाता है" या "जो आध्यात्मिक परिवेश में भोग करता है।" भौतिक दृष्टि से, *आत्मा* का अर्थ है शरीर या मन, किन्तु यहाँ यह ऐसे व्यक्ति के लिए निर्दिष्ट है, जिसका मन भगवान् के चरणकमलों में स्थिर रहता है, वह *आत्माराम* होता है, जिसका अर्थ है "जो परमात्मा के प्रसंग में आध्यात्मिक कार्य-कलापों में व्यस्त रहता है।" परमात्मा ही भगवान् है और व्यष्टि आत्मा जीव है। जब वे परस्पर सेवा तथा आशीष का आदान-प्रदान करते हैं, तो जीव को *आत्माराम* स्थिति में कहा जाता है। कोई भी व्यक्ति, जो सत्य को यथा रूप में जानता है, *आत्माराम* स्थिति को प्राप्त कर सकता है। सच्चाई तो यह है कि भगवान् भोक्ता है और सारे जीव उसकी सेवा तथा भोग के निमित्त हैं। जो इस सत्य को जानता है और अपने सारे साधनों को भगवान् की सेवा में लगाने का प्रयत्न करता है, वह सारे भौतिक कर्मफलों तथा प्रकृति के गुणों के प्रभावों से बच जाता है।

इस प्रसंग में एक उदाहरण दिया जा सकता है। जिस प्रकार कि एक भौतिकवादी व्यक्ति एक विशाल गगनचुम्बी प्रासाद बनवाता है भक्त उसी तरह विष्णु का एक विशाल मन्दिर बनवाने में लगा रहता है। ऊपर से गगनचुम्बी प्रासाद तथा मन्दिर बनवाने वाले समान धरातल पर हैं, क्योंकि दोनों ही लकड़ी, पत्थर, लोहा तथा अन्य इमारती सामान एकत्र करते रहते हैं। किन्तु जो व्यक्ति गगनचुम्बी प्रासाद बनवाता है, वह *आत्माराम* है। भौतिकतावादी गगनचुम्बी प्रासाद बनाकर अपने शरीर को तुष्ट करना चाहता है, किन्तु भक्त मन्दिर बनवाकर परमात्मा अर्थात् भगवान् को प्रसन्न करना चाहता है। यद्यपि दोनों ही भौतिक कार्यकलापों के संसर्ग में हैं, तो भी भक्त मुक्त होता है और भौतिकतावादी बद्ध होता है। इसका कारण यह है कि मन्दिर बनवाने वाला भक्त अपने मन को भगवान् में स्थिर किये हुए है, किन्तु गगनचुम्बी प्रासाद बनवाने वाला अभक्त इन्द्रियतृप्ति में अपना मन रमाये रहता है। कोई कार्य करते हुए, इस जगत में भी, यदि किसी का मन भगवान् के चरणकमलों में स्थिर रहता है, तो वह बद्ध नहीं होगा। भक्ति में काम करने वाला प्रकृति से सदैव स्वतन्त्र रहता है।

यदैवमध्यात्मरतः कालेन बहुजन्मना ।
सर्वत्र जातवैराग्य आब्रह्मभुवनान्मुनिः ॥ २७॥

शब्दार्थ

यदा—जब; एवम्—इस प्रकार; अध्यात्म-रतः—आत्म-साक्षात्कार में लगा हुआ; कालेन—अनेक वर्षों तक; बहु-जन्मना—अनके जन्मों तक; सर्वत्र—सभी जगह; जात-वैराग्यः—विरक्ति उत्पन्न होती है; आ-ब्रह्म-भुवनात्—ब्रह्मलोक तक; मुनिः—विचारवान व्यक्ति।

मनुष्य जब इस तरह अनेकानेक वर्षों तथा अनेक जन्मों तक भक्ति एवं आत्म-साक्षात्कार में लगा रहता है, तो उसे किसी भी लोक में, यहाँ तक कि सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक में भी भोग से पूर्ण विरक्ति हो जाती है और उसमें चेतना पूर्णतया विकसित हो जाती है।

तात्पर्य : भगवान् की भक्ति में लगा रहने वाला कोई भी व्यक्ति भक्त कहलाता है, किन्तु शुद्ध भक्तों एवं मिश्रित भक्तों में अन्तर है। मिश्रित भक्त आध्यात्मिक लाभ के लिए भक्ति करता है, जिससे वह सच्चिदानन्द रूप भगवान् के दिव्य धाम में शाश्वत रूप से बना रहे। जब भक्त

पूर्णतया शुद्ध नहीं होता तो वह संसार में भगवान् से भौतिक लाभ की कामना करता है, जो भौतिक दुखों से छुटकारे के रूप में होता है या फिर भगवान् और जीवात्मा के सम्बन्ध में ज्ञान की उन्नति चाहता है या परमेश्वर के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। जब मनुष्य इन स्थितियों से ऊपर उठ जाता है, तो वह शुद्ध भक्त कहलाता है। वह भगवान् की सेवा किसी भौतिक लाभ के लिए या कि परमेश्वर को समझने के लिए नहीं करता। उसकी एकमात्र रुचि इसी में रहती है कि वह भगवान् से प्रेम करे और स्वत: ही वह उन्हें प्रसन्न करने में लग जाता है।

शुद्ध भक्ति का सर्वोत्तम उदाहरण वृन्दावन की गोपियाँ हैं। वे कृष्ण को जानने में उतनी रुचि नहीं रखतीं जितनी कि उनसे प्रेम करने में। प्रेम का यह पद ही भक्ति की शुद्ध अवस्था है। जब तक मनुष्य भक्ति की इस शुद्ध अवस्था तक ऊपर नहीं उठ जाता उसमें उच्चतर भौतिक स्थिति प्राप्त करने की प्रवृत्ति बनी रहती है। मिश्रित भक्त की इच्छा रहती है कि वह ब्रह्मलोक जैसे किसी उच्चतर लोक में दीर्घकाल तक सुखी जीवन का आनन्द प्राप्त करे। ये भौतिक इच्छाएँ हैं, किन्तु चूँकि मिश्रित भक्त भगवान् की सेवा में लगा रहता है, अत: अनेक जीवन तक भौतिक सुख भोगने के बाद अन्त में उसमें कृष्णभक्ति उत्पन्न होती है। इस कृष्णभावनामृत का लक्षण यह है कि वह किसी प्रकार के भौतिक उच्च जीवन में रुचि नहीं लेता। यहाँ तक कि वह ब्रह्माजी जैसा पुरुष भी नहीं बनना चाहता।

मद्भक्त: प्रतिबुद्धार्थो मत्प्रसादेन भूयसा ।
नि:श्रेयसं स्वसंस्थानं कैवल्याख्यं मदाश्रयम् ॥ २८ ॥
प्राप्नोतीहाञ्जसा धीर: स्वदृशा च्छिन्नसंशय: ।
यद्गत्वा न निवर्तेत योगी लिङ्गाद्विनिर्गमे ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

मत्-भक्त:—मेरा भक्त; प्रतिबुद्ध-अर्थ:—स्वरूपसिद्ध; मत्-प्रसादेन—मेरी अहैतुकी कृपा से; भूयसा—अनन्त; नि:श्रेयसम्—चरम परिणति; स्व-संस्थानम्—अपने धाम को; कैवल्य-आख्यम्—कैवल्य नामक; मत्-आश्रयम्—मेरी शरण को; प्राप्नोति—प्राप्त करता है; इह—इस जीवन में; अञ्जसा—सचमुच; धीर:—धीर; स्व-दृशा—आत्मज्ञान में; छिन्न-संशय:—संशयों से मुक्त; यत्—उस धाम तक; गत्वा—जाकर; न—कभी नहीं; निवर्तेत—लौटता है; योगी—योगी भक्त; लिङ्गात्—सूक्ष्म तथा स्थूल भौतिक शरीरों से; विनिर्गमे—प्रस्थान के बाद।

मेरा भक्त मेरी असीम अहैतुकी कृपा से वस्तुत: स्वरूपसिद्ध हो जाता है और इस

तरह समस्त संशयों से मुक्त होकर वह अपने गन्तव्य धाम की ओर अग्रसर होता है, जो मेरी शुद्ध आनन्द की आध्यात्मिक शक्ति के अधीन है। जीव का यही चरम सिद्धि-गन्तव्य (स्व-संस्थान) है। इस शरीर को त्यागने के बाद योगी भक्त उस दिव्य धाम को जाता है जहाँ से वह फिर कभी नहीं लौटता।

तात्पर्य : वास्तविक आत्म-साक्षात्कार का अर्थ है भगवान् का शुद्ध भक्त बन जाना। भक्त के अस्तित्व का अर्थ होता है भक्ति का कार्य तथा भक्ति का विषय। अन्ततः श्रीभगवान् तथा जीवों को समझना ही आत्म-साक्षात्कार है। अपने को जानना तथा भगवान् और जीव के बीच प्रेमा-भक्ति का आदान-प्रदान ही वास्तविक आत्म-साक्षात्कार है। इसे निर्विशेषवादी या अन्य अध्यात्मवादी प्राप्त नहीं कर सकते; वे भक्तियोग के विज्ञान को नहीं समझ सकते। भगवान् की असीम अहैतुकी कृपा से ही शुद्ध भक्त को भक्ति प्रकट होती है। भगवान् ने इसे यहाँ पर विशेष रूप से *मत्-प्रसादेन* "मेरी विशेष कृपा से" कहा है। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई है। जो प्रेम तथा श्रद्धा के साथ भक्ति में लगे रहते हैं, वे ही भगवान् से आवश्यक बुद्धि प्राप्त करते हैं जिससे वे क्रमशः प्रगति करते हुए भगवान् के धाम की ओर बढ़ सकते हैं।

निःश्रेयस का अर्थ है "चरम गन्तव्य"। *स्व-संस्थान* सूचित करता है कि निर्विशेषवादियों के ठहरने का कोई विशेष स्थान नहीं होता। वे अपने व्यक्तित्व का समर्पण इसीलिए करते हैं जिससे जीवित स्फुलिंग भगवान् के दिव्य शरीर से उद्भूत निर्गुण तेज में लीन हो जाय, किन्तु भक्त का एक निश्चित धाम होता है। सारे लोक सूर्यप्रकाश में थमे हुए हैं, किन्तु सूर्यप्रकाश का कोई विशेष स्थल नहीं है। जब कोई किसी लोक में पहुँच जाता है, तो उसका एक विश्राम-स्थल होता है। आध्यात्मिक आकाश, जिसे *कैवल्य* कहते हैं, चारों ओर से केवल आनन्दमय प्रकाश है और वह भगवान् के संरक्षण में रहता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.२७) में कहा गया है—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*—निराकार ब्रह्मतेज भगवान् के शरीर में स्थित रहता है। दूसरे शब्दों में, भगवान् का शारीरिक तेज ही *कैवल्य* या निराकार ब्रह्म है। इस निराकार तेज में अनेक दिव्य लोक हैं, जिन्हें वैकुण्ठ कहते हैं जिनमें कृष्णलोक प्रमुख है। कुछ भक्त

वैकुण्ठलोक जाते हैं और कुछ कृष्णलोक को। भक्त विशेष की इच्छानुसार उसे विशेष धाम प्रदान किया जाता है, जो *स्व-संस्थान* अर्थात् उसका अभीष्ट गन्तव्य कहलाता है। भगवान् की कृपा से भक्ति में तत्पर स्वरूपसिद्ध भक्त भौतिक शरीर में रहते हुए ही अपने गन्तव्य (धाम) को जानता है। अत: वह बिना संशय के स्थिर भाव से भक्तिकर्म करता है और शरीर त्यागने के बाद तुरन्त ही उस धाम में पहुँच जाता है, जिसकी वह तैयारी करता रहता है। उस धाम में पहुँचकर वह फिर कभी इस संसार में नहीं लौटता।

यहाँ पर आये *लिङ्गात्-विनिर्गमे* शब्दों का अर्थ है "सूक्ष्म तथा स्थूल इन दो प्रकार के भौतिक शरीर से मुक्त होने के बाद।" सूक्ष्म शरीर मन, बुद्धि, अहंकार तथा कल्मषमय चेतना से निर्मित रहता है और स्थूल शरीर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा शून्य इन पाँच तत्त्वों से निर्मित रहता है। जब कोई दिव्य लोक को भेजा जाता है, तो वह इस संसार में दोनों प्रकार के—स्थूल तथा सूक्ष्म—शरीरों को त्याग देता है। वह अपने शुद्ध आध्यात्मिक शरीर के साथ दिव्य लोक में प्रवेश करता है और किसी एक दिव्य लोक में स्थिर हो जाता है। यद्यपि निर्विशेषवादी भी अपने सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर त्याग कर दिव्यव्योम को जाते हैं, किन्तु उन्हें दिव्य लोक में नहीं रखा जाता, उन्हें अपनी इच्छानुसार भगवान् के दिव्य शरीर से उद्भूत आध्यात्मिक तेज में लीन होने दिया जाता है। *स्व-स्थानम्* शब्द भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। चूँकि जीव तैयारी करता रहता है, अत: उसे उसका धाम मिलता है। निर्विशेषवादियों को निराकार ब्रह्मतेज प्रदान किया जाता है, किन्तु जो वैकुण्ठ में नारायण रूप में भगवान् के दिव्य रूप की संगति चाहते हैं या कृष्णलोक में कृष्ण की संगति चाहते हैं, वे उन धामों को जाते हैं जहाँ से वे कभी नहीं लौटते।

यदा न योगोपचितासु चेतो
मायासु सिद्धस्य विषज्जतेऽङ्ग ।
अनन्यहेतुष्वथ मे गतिः स्याद्
आत्यन्तिकी यत्र न मृत्युहासः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; न—नहीं; योग-उपचितासु—योग द्वारा प्राप्त शक्तियों तक; चेतः—ध्यान; मायासु—माया के प्राकट्य; सिद्धस्य—सिद्ध योगी का; विषज्जते—आकर्षित होता है; अङ्ग—हे माता; अनन्य-हेतुषु—जिसका कोई अन्य कारण न हो; अथ—तब; मे—मुझको; गतिः—उसकी प्रगति; स्यात्—होती है; आत्यन्तिकी—असीम; यत्र—जहाँ; न—नहीं; मृत्यु-हासः—मृत्यु की शक्ति।

जब सिद्ध योगी का ध्यान योगशक्ति की गौण वस्तुओं की ओर, जो बहिरंगा शक्ति के प्राकट्य हैं, आकृष्ट नहीं होता तब मेरी ओर उसकी प्रगति असीमित होती है और इस तरह उसे मृत्यु कभी भी परास्त नहीं कर सकती।

तात्पर्य : सामान्यत: योगीजन योगशक्ति की गौण वस्तुओं के प्रति आकृष्ट होते रहते हैं, क्योंकि वे लघुतर से लघुतम और दीर्घ से दीर्घतम हो सकते हैं, जो भी चाहें प्राप्त कर सकते हैं, लोक की सृष्टि करने की शक्ति से सम्पन्न होते हैं या किसी को अपने अधीन कर सकते हैं। जिन योगियों को भक्ति के फल की अपूर्ण जानकारी होती है वे ही इन शक्तियों के प्रति आकृष्ट होते हैं, किन्तु ये सारी शक्तियाँ भौतिक होती हैं, आध्यात्मिक उन्नति से इनका कोई सरोकार नहीं रहता है। जिस प्रकार भौतिक शक्ति से अन्य भौतिक शक्तियाँ उत्पन्न हैं उसी प्रकार योगशक्ति भी भौतिक होती है। सिद्धयोगी का मन किसी भी भौतिक शक्ति से आकृष्ट नहीं होता है, वह तो एकमात्र परमेश्वर की अमिश्रित भक्ति से आकृष्ट होता है। भक्त के लिए ब्रह्मतेज में लीन होना नारकीय है और उसे योगशक्ति स्वत: प्राप्त हो जाती है। स्वर्गलोक जाने को भक्त केवल मायाजाल मानता है। भक्त का ध्यान केवल भगवान् की प्रेमा-भक्ति में केन्द्रित होता है, अत: मृत्यु की शक्ति उस पर कोई प्रभाव नहीं डालती। ऐसी भक्तिमयी स्थिति में सिद्ध योगी को अमर ज्ञान तथा आनन्द का पद प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत "प्रकृति का ज्ञान" नामक सत्ताइसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अट्ठाईस

भक्ति साधना के लिए कपिल के आदेश

श्रीभगवानुवाच
योगस्य लक्षणं वक्ष्ये सबीजस्य नृपात्मजे ।
मनो येनैव विधिना प्रसन्नं याति सत्पथम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; योगस्य—योग पद्धति का; लक्षणम्—वर्णन; वक्ष्ये—कहूँगा; सबीजस्य—प्रामाणिक; नृप-आत्म-जे—हे राजपुत्री; मनः—मन; येन—जिससे; एव—निश्चय ही; विधिना—अभ्यास से; प्रसन्नम्—प्रसन्न; याति—प्राप्त करता है; सत्-पथम्—परम सत्य का मार्ग।

भगवान् ने कहा : हे माता, हे राजपुत्री, अब मैं आपको योग विधि बताऊँगा जिसका उद्देश्य मन को केन्द्रित करना है। इस विधि का अभ्यास करने से मनुष्य प्रसन्न रहकर परम सत्य के मार्ग की ओर अग्रसर होता है।

तात्पर्य : इस अध्याय में भगवान् कपिलदेव द्वारा बताई गई योग विधि प्रामाणिक एवं आदर्श है, अत: इन आदेशों का अत्यन्त सावधानी के साथ पालन करना चाहिए। सबसे पहले भगवान् कहते हैं कि योगाभ्यास से मनुष्य परम सत्य अर्थात् परम पुरुषोत्तम भगवान् को समझने की दिशा में प्रगति कर सकता है। पिछले अध्याय में यह स्पष्ट बताया गया है कि योग का अभीष्ट कोई आश्चर्यजनक योगशक्ति प्राप्त करना नहीं है। मनुष्य को ऐसी योगशक्ति के प्रति आकृष्ट नहीं होना चाहिए, अपितु भगवान् को समझने के मार्ग का क्रमश: साक्षात्कार प्राप्त करना चाहिए। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में भी हुई है, जिसमें छठे अध्याय के अन्तिम श्लोक में कहा गया है कि सबसे बड़ा योगी वह है, जो अपने अन्त:करण में निरन्तर कृष्ण के बारे में ही सोचता रहता है या जो कृष्णभावनाभावित है।

यहाँ उल्लेख हुआ है कि योग विधि का पालन करने से मनुष्य प्रफुल्लित रह सकता है। भगवान् कपिल, जो योग के महान् अधिकारी हैं, यहाँ पर योगपद्धति की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जिसे अष्टांग-योग कहते हैं जिसमें आठ विभिन्न अभ्यास सम्मिलित हैं। ये हैं— *यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान* तथा *समाधि*। अभ्यास की इन समस्त अवस्थाओं से मनुष्य को भगवान् विष्णु का साक्षात्कार करना होता है, जो समस्त योग का लक्ष्य है। ऐसी

तथाकथित योग पद्धतियाँ हैं जिनमें मन को शून्य पर या निराकार पर केन्द्रित किया जाना होता है, किन्तु प्रामाणिक योग पद्धति में इसको मान्यता प्राप्त नहीं है जैसाकि कपिलदेव बताते हैं। यहाँ तक कि पतञ्जलि बतलाते हैं कि समस्त योग का लक्ष्य विष्णु है। अत: *अष्टांग-योग* वैष्णव विधि का एक अंग है, क्योंकि इसका चरम लक्ष्य विष्णु का साक्षात्कार है। योग की सफलता योगशक्ति प्राप्त करने में नहीं है, जिसकी भर्त्सना पिछले अध्याय में की गई है, अपितु समस्त उपाधियों एवं स्वाभाविक स्थिति की परिस्थिति से मुक्त होना है। योगाभ्यास की यही अनन्तिम उपलब्धि है।

स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम् ।
दैवाल्लब्धेन सन्तोष आत्मविच्चरणार्चनम् ॥ २॥

शब्दार्थ

स्व-धर्म-आचरणम्—अपने कर्तव्यों का पालन; शक्त्या—अपनी शक्ति भर; विधर्मात्—शास्त्रविरुद्ध कर्तव्य से; च—तथा; निवर्तनम्—बचते हुए; दैवात्—भगवान् की कृपा से; लब्धेन—जो कुछ प्राप्त हो उससे; सन्तोष:—संतुष्ट; आत्म-वित्—स्वरूपसिद्ध जीव के; चरण—पाँव की; अर्चनम्—पूजा।

मनुष्य को चाहिए कि वह यथाशक्ति अपने कर्तव्यों का पालन करे और उन कर्मों को करने से बचे, जो उसे नहीं करने हैं। उसे ईश्वर की कृपा से जो भी प्राप्त हो उसी से सन्तुष्ट रहना चाहिए और गुरु के चरणकमलों की पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : इस श्लोक में कई ऐसे महत्त्वपूर्ण शब्द हैं जिनकी विशद व्याख्या की जा सकती है, किन्तु हम हर एक के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं की ही व्याख्या करेंगे। अन्तिम कथन है *आत्मविच्चरणार्चनम्*। *आत्मवित्* का अर्थ है स्वरूपसिद्ध जीव या प्रामाणिक गुरु। जब तक मनुष्य स्वरूपसिद्ध नहीं रहता और परमात्मा के साथ अपने सम्बन्ध को नहीं जानता, वह प्रामणिक गुरु नहीं बन सकता। यहाँ यह संस्तुति की गई है कि प्रामाणिक गुरु की खोज करके उसकी शरण में (*अर्चनम्*) जाना चाहिए, क्योंकि उससे जिज्ञासा करके तथा उसकी पूजा करके वह आध्यात्मिक कार्यों को सीख सकता है।

पहली संस्तुति है *स्वधर्माचरणम्*। जब तक हम यह शरीर धारण किये हुए हैं तब तक हमारे लिए कुछ कर्मों की संस्तुति की गई है। ऐसे कर्मों को चार सामाजिक श्रेणियों में बाँट

दिया गया है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। इन विशिष्ट कर्मों का उल्लेख शास्त्रों में, विशेष रूप से *भगवद्गीता* में मिलता है। स्वधर्माचरणम् का अर्थ है कि मनुष्य को समाज के विशेष वर्ग के लिए संस्तुत कर्मों का पालन श्रद्धापूर्वक तथा शक्ति भर करना चाहिए। उसे किसी दूसरे का कर्म अपने ऊपर नहीं ओढ़ लेना चाहिए। यदि वह किसी विशेष समाज या जाति में उत्पन्न हुआ है, तो उसे उसके संस्तुत कर्मों का पालन करना चाहिए। किन्तु यदि कोई इतना भाग्यशाली है कि वह आध्यात्मिक पहचान के स्तर तक उठकर समाज या जाति-विशेष में जन्म की उपाधि से ऊपर उठ जाता है तब उसका *स्वधर्म* या *कर्म* एकमात्र भगवान् की सेवा रह जाता है। जो कृष्णभक्ति में उन्नत है उसका वास्तविक कर्म भगवान् की सेवा करना है। जब तक वह देहात्मबुद्धि में रहा आता है तब तक वह सामाजिक परिपाटी के अनुसार कर्म करता है, किन्तु आध्यात्मिक पद तक उठ जाने पर उसे केवल भगवान् की सेवा करनी चाहिए। यही *स्वधर्म* का वास्तविक कार्यान्वयन है।

ग्राम्यधर्मनिवृत्तिश्च मोक्षधर्मरतिस्तथा ।
मितमेध्यादनं शश्वद्विविक्तक्षेमसेवनम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ग्राम्य—परम्परागत; धर्म—धार्मिक प्रथा; निवृत्तिः—समाप्ति; च—तथा; मोक्ष—मोक्ष के लिए; धर्म—धार्मिक प्रथा; रतिः—अनुरक्ति; तथा—उसी तरह; मित—कुछ; मेध्य—शुद्ध; अदनम्—भोजन करना; शश्वत्—सदैव; विविक्त—एकान्त; क्षेम—शान्तिपूर्ण; सेवनम्—घर।

मनुष्य को चाहिए कि परम्परागत धार्मिक प्रथाओं का परित्याग कर दे और उन प्रथाओं में अनुरक्त हो जो मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करने वाली हैं। उसे स्वल्प भोजन करना चाहिए और सदैव एकान्तवास करना चाहिए जिससे उसे जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त हो सके।

तात्पर्य : यहाँ संस्तुति की गई है कि आर्थिक विकास अथवा ऐन्द्रिक इच्छाओं की तुष्टि के लिए धार्मिक कार्यों से बचना चाहिए। प्रकृति के चंगुल से मुक्ति पाने के लिए ही धार्मिक कार्यों को कार्यान्वित किया जाय। *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि सर्वश्रेष्ठ धार्मिक प्रथा वह है, जिससे अकारण ही भगवान् की दिव्य भक्ति प्राप्त की जा सके। ऐसी

धार्मिक प्रथा अबाध रूप से चलती है और इसके पालन से मनुष्य सचमुच संतुष्ट हो जाता है। यहाँ पर इसकी संस्तुति मोक्ष-धर्म के रूप में की गई है, जिसका अर्थ है मोक्ष के लिए या भौतिक कल्मष से छूटने के लिए धार्मिक अभ्यास। सामान्यतया लोग आर्थिक विकास या इन्द्रियतृप्ति के लिए धार्मिक कार्यों का पालन करते हैं, किन्तु जो लोग योग में प्रगति करना चाहते हैं उनके लिए इसकी संस्तुति नहीं की जाती।

अगला महत्त्वपूर्ण वाक्यांश है *मितमेध्यादनम्* जिसका अर्थ यह होता है कि मनुष्य को बहुत कम खाना चाहिए। वैदिक साहित्य में आदेश है कि योगी अपनी भूख का केवल आधा खाये। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि कोई इतना भूखा है कि एक पौंड (लगभग आधा सेर) खा सकता है, तो उसे चाहिए कि वह केवल आधा पौंड ग्रहण करे और उसके साथ चार औंस (आधा पाव) पानी पिये, चौथाई पेट वायु के आने जाने के लिए खाली रखे। यदि इस प्रकार से भोजन किया जाय तो न तो अपच होगा और न कोई रोग। योगी को *श्रीमद्भागवत* तथा अन्य शास्त्रों में बताई गई विधि के अनुसार ही भोजन ग्रहण करना चाहिए। योगी को एकान्त स्थान में रहना चाहिए जहाँ योगाभ्यास में कोई बाधा न पहुँचे।

अहिंसा सत्यमस्तेयं यावदर्थपरिग्रहः ।
ब्रह्मचर्यं तपः शौचं स्वाध्यायः पुरुषार्चनम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

अहिंसा—अहिंसा; सत्यम्—सत्यनिष्ठा; अस्तेयम्—चोरी न करना; यावत्-अर्थ—आवश्यकतानुसार; परिग्रहः—संग्रह; ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्य व्रत; तपः—तपस्या; शौचम्—स्वच्छता; स्व-अध्यायः—वेदों का अध्ययन; पुरुष-अर्चनम्—भगवान् की पूजा।

मनुष्य को चाहिए कि अहिंसा तथा सत्य का आचरण करे, चोरी से बचे और अपने निर्वाह के लिए जितना आवश्यक हो उतना ही संग्रह करे। वह विषयी जीवन से बचे, तपस्या करे, स्वच्छ रहे, वेदों का अध्ययन करे और भगवान् के परमस्वरूप की पूजा करे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *पुरुषार्चनम्* शब्द का अर्थ है भगवान् की पूजा करना, विशेष रूप से भगवान् कृष्ण के स्वरूप की। *भगवद्गीता* में अर्जुन ने पुष्टि की है कि कृष्ण ही मूल

पुरुष—*पुरुषम् शाश्वतम्*—हैं। इसलिए योगाभ्यास करते समय मनुष्य को अपना मन न केवल कृष्ण के स्वरूप में केन्द्रित करना चाहिए, अपितु कृष्ण के विग्रह या स्वरूप की नित्य पूजा भी करनी चाहिए।

ब्रह्मचारी विषयी जीवन पर नियन्त्रण रखता है और ब्रह्मचर्य का अभ्यास करता है। अनियन्त्रित विषयी जीवन बिताते हुए मनुष्य योग का अभ्यास नहीं कर सकता। यह तो धूर्तता है। तथाकथित योगी यह विज्ञापित करते हैं कि वे इच्छानुसार भोग करने के साथ ही साथ योगी भी बने रह सकते हैं, किन्तु यह सर्वथा अप्रामाणिक है। यहाँ स्पष्ट बताया गया है कि मनुष्य को ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए। ब्रह्मचर्यम् का अर्थ है मनुष्य ब्रह्म के साथ सम्बन्ध में या कृष्णभक्ति में ही जीवन बिताता है। लोग विषयी जीवन में अनुरक्त रहते हैं, वे उन विधानों का पालन नहीं करते जो उन्हें कृष्णभावनामृत की ओर अग्रसर कर सके। विषयी जीवन तो विवाहितों तक ही सीमित रहना चाहिए। जो व्यक्ति विवाह के बाद सीमित विषयी जीवन बिताता है, वह भी ब्रह्मचारी कहलाता है।

योगी के लिए *अस्तेयम्* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है "चोरी न करना।" व्यापक अर्थ में प्रत्येक व्यक्ति, जो आवश्यकता से अधिक संग्रह करता है, चोर है। आध्यात्मिक साम्यवाद के अनुसार कोई अपनी व्यक्तिगत आवश्यकता से अधिक नहीं रख सकता। यही प्रकृति का नियम है। जो व्यक्ति आवश्यकता से अधिक धन या सम्पत्ति एकत्र करता है, वह चोर है और जो यज्ञ अथवा श्रीभगवान् की पूजा में व्यय किये बिना धन का केवल संग्रह करता जाता है, वह और भी बड़ा चोर है।

स्वाध्याय: का अर्थ "प्रामाणिक वैदिक शास्त्रों का अध्ययन" है। यदि कोई कृष्ण का भक्त नहीं होता और योग-पद्धति का अभ्यास करता है, तो उसे चाहिए कि ज्ञान के लिए आदर्श वैदिक साहित्य पढ़े। केवल योग सम्पन्न करना पर्याप्त नहीं है। परम भक्त तथा गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य नरोत्तम दास ठाकुर कहते हैं कि सारे आध्यात्मिक कार्यकलाप तीन साधनों से जाने जाते हैं—साधु पुरुष, आदर्श शास्त्र तथा गुरु से। आध्यात्मिक जीवन में प्रगति

करने के लिए ये तीनों अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शक हैं। भक्तियोग के सम्पादन हेतु गुरु आदर्श साहित्य की संस्तुति करता है और वह स्वयं शास्त्रों के उद्धरण देता हुआ बोलता है। अत: योग साधने के लिए आदर्श शास्त्रों को पढ़ना अनिवार्य है। आदर्श साहित्य पढ़े बिना योगाभ्यास समय का अपव्यय मात्र है।

मौनं सदासनजय: स्थैर्यं प्राणजय: शनै: ।
प्रत्याहारश्चेन्द्रियाणां विषयान्मनसा हृदि ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

मौनम्—मौन, मूकता; सत्—अच्छा; आसन—योग के आसन; जय:—वश में करते हुए; स्थैर्यम्—स्थिरता; प्राण-जय:—प्राणवायु को साधना; शनै:—धीरे-धीरे; प्रत्याहार:—निकालना; च—तथा; इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों का; विषयात्—विषयों से; मनसा—मन से; हृदि—हृदय में।

मनुष्य को इन विधियों अथवा अन्य किसी सही विधि से अपने दूषित तथा चंचल मन को वश में करना चाहिए, जिसे भौतिक भोग के द्वारा सदैव आकृष्ट किया जाता रहता है और इस तरह अपने आप को भगवान् के चिन्तन में स्थिर करना चाहिए।

तात्पर्य : सामान्य रूप से योगाभ्यास तथा विशेष रूप से 'हठयोग' स्वयं में अभीष्ट नहीं होते, ये स्थिरता प्राप्त करने की दिशा में साधनस्वरूप हैं। सर्वप्रथम मनुष्य को ठीक से आसन लगाने में सक्षम होना चाहिए। तभी योगाभ्यास के लिए मन तथा ध्यान स्थिर हो सकेंगे। धीरे-धीरे मनुष्य को प्राणवायु के आवागमन को नियन्त्रित करना चाहिए। इस तरह वह इन्द्रियों को विषयों से दूर खींच सकेगा। पिछले श्लोक में कहा गया है कि मनुष्य को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। इन्द्रियनिग्रह का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू विषयी जीवन पर नियन्त्रण है। यह ब्रह्मचर्य कहलाता है। विभिन्न आसनों के अभ्यास तथा प्राणवायु के नियन्त्रण द्वारा असीमित इन्द्रियभोग से इन्द्रियों का निरोध किया जा सकता है।

स्वधिष्ण्यानामेकदेशे मनसा प्राणधारणम् ।
वैकुण्ठलीलाभिध्यानं समाधानं तथात्मन: ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

स्व-धिष्ण्यानाम्—प्राणचक्रों के भीतर; एक-देशे—एक स्थान में; मनसा—मन से; प्राण—प्राणवायु; धारणम्—स्थिर करना; वैकुण्ठ-लीला—श्रीभगवान् की लीलाओं में; अभिध्यानम्—ध्यान; समाधानम्—समाधि; तथा—इस तरह; आत्मनः—मन की।

शरीर के भीतर के षटचक्रों में से किसी एक में प्राण तथा मन को स्थिर करना और इस प्रकार से अपने मन को भगवान् की दिव्य लीलाओं में केन्द्रित करना समाधि या मन का समाधान कहलाता है।

तात्पर्य : शरीर के भीतर प्राणवायु के आवागमन के छः चक्र हैं। पहला चक्र उदर के नीचे, दूसरा हृदय-प्रदेश में, तीसरा फेफड़ों के पास, चौथा तालू में, पाँचवाँ भौंहों के बीच में तथा सर्वोच्च छठा चक्र मस्तिष्क के ऊपर है। मनुष्य को अपने मन तथा प्राणवायु के आवागमन को स्थिर करके भगवान् की दिव्य लीलाओं का चिन्तन करना होता है। इसका कहीं भी उल्लेख नहीं है कि मनुष्य अपने को निराकार या शून्य में केन्द्रित करे। स्पष्ट उल्लेख है—वैकुण्ठ-लीला। जब तक परम सत्य श्रीभगवान् की लीलाएँ दिव्य न हों तब तक उनके विषय में चिन्तन के लिए गुंजाईश कहाँ? भगवान् की भक्ति, कीर्तन तथा लीलाओं के श्रवण के द्वारा ही यह ध्यान (एकाग्रता) प्राप्त किया जा सकता है। *श्रीमद्भागवत* में वर्णन आया है कि भगवान् विभिन्न भक्तों के साथ अपने सम्बन्धों के अनुसार प्रकट और अन्तर्धान होते रहते हैं। वैदिक साहित्य में भगवान् की लीलाओं की अनेक कथाएँ पाई जाती हैं जिनमें कुरुक्षेत्र का युद्ध तथा भक्तों—यथा प्रह्लाद महाराज, ध्रुव महाराज तथा अम्बरीष महाराज—के जीवन तथा उपदेश सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्य सम्मिलित हैं। मनुष्य को इनमें से किसी कथा में अपने मन को केन्द्रित करने और इसके विचार में तल्लीन रहने की आवश्यकता होती है। तब वह समाधि में पहुँच जाता है। समाधि कोई कृत्रिम शारीरिक अवस्था नहीं, यह वह अवस्था है, जो मन द्वारा श्रीभगवान् के विचारों में तल्लीन हो जाने पर प्राप्त होती है।

एतैरन्यैश्च पथिभिर्मनो दुष्टमसत्पथम् ।
बुद्ध्या युञ्जीत शनकैर्जितप्राणो ह्यतन्द्रितः ॥ ७॥

शब्दार्थ

एतैः—इनसे; अन्यैः—दूसरे से; च—यथा; पथिभिः—विधियों से; मनः—मन; दुष्टम्—कलुषित; असत्-पथम्—सांसारिक भोग के पथ पर; बुद्ध्या—बुद्धि से; युञ्जीत—वश में करना चाहिए; शनकैः—धीरे-धीरे; जित-प्राणः—प्राणवायु को स्थिर करके; हि—निस्सन्देह; अतन्द्रितः—सतर्क।

इन विधियों से या अन्य किसी सही विधि से मनुष्य को अपने दूषित तथा भौतिक भोग के द्वारा सदैव आकृष्ट होने वाले चंचल मन को वश में करना चाहिए और इस तरह अपने आपको भगवान् के चिन्तन में स्थिर करना चाहिए।

तात्पर्य : *एतैरन्यैश्च*। सामान्य योगक्रिया में विधि-विधानों का पालन, विभिन्न आसनों का अभ्यास, प्राणवायु चक्र में मन को केन्द्रित करना तथा भगवान् का उनकी वैकुण्ठ लीलाओं में चिन्तन करना सम्मिलित हैं। यह योग की सामान्य विधि है। यही एकाग्रता (ध्यान) अन्य संस्तुत विधियों से भी प्राप्त की जा सकती है, अत: *अन्यैश्च* शब्दों का प्रयोग हुआ है। मुख्य बात यह है कि भौतिक आसक्ति के कारण कल्मषग्रस्त मन को वश में करके उसे पूर्ण परुषोत्तम भगवान् में स्थिर करना होता है। इसे ऐसी किसी वस्तु पर जो शून्य या निराकार हो स्थिर नहीं किया जा सकता। इसी कारण से किसी मानक *योग-शास्त्र* में शून्यवाद तथा निर्विशेषवाद की तथाकथित योग विधियों की संस्तुति नहीं की गई है। वास्तविक योगी तो भक्त है, क्योंकि उसका मन सदैव भगवान् कृष्ण की लीलाओं में केन्द्रित रहता है। फलत: कृष्णभक्ति सर्वोच्च योगपद्धति है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम् ।
तस्मिन्स्वस्ति समासीन ऋजुकायः समभ्यसेत् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

शुचौ देशे—पवित्र स्थान में; प्रतिष्ठाप्य—स्थापित करके; विजित-आसनः—आसनों को वश में करते हुए; आसनम्—आसन, स्थान; तस्मिन्—उस स्थान में; स्वस्ति समासीनः—आरामदेह आसन में बैठे हुए; ऋजु-कायः—शरीर को सीधा रखते हुए; समभ्यसेत्—अभ्यास करना चाहिए।

अपने मन तथा आसनों को वश में करने के बाद मनुष्य को चाहिए कि किसी एकान्त तथा पवित्र स्थान में अपना आसन बिछा दे, उस पर शरीर को सीधा रखते हुए सुखपूर्वक आसीन होकर श्वास नियन्त्रण (प्राणायाम) का अभ्यास करे।

तात्पर्य : सुखपूर्वक आसीन होने को *स्वस्ति समासीनः* कहते हैं। योगशास्त्र में संस्तुति है

कि दोनों जाँघों तथा घुटनों के बीच पाँव के तलवे रख कर सीधा बैठा जाय, इस आसन से भगवान् में मन को केन्द्रित करने में सुविधा होगी। *भगवद्गीता* के छठे अध्याय में इसी विधि की संस्तुति की गई है। यह भी सुझाव दिया गया है कि मनुष्य को चाहिए कि वह किसी एकान्त पवित्र स्थान में बैठे। उसका आसन मृगछाला तथा *कुश* का हो जिसके ऊपर सूती वस्त्र हो।

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।
प्रतिकूलेन वा चित्तं यथा स्थिरमचञ्चलम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

प्राणस्य—प्राणवायु के; शोधयेत्—स्वच्छ करे; मार्गम्—रास्ते को; पूर-कुम्भक-रेचकैः—श्वास खींचकर, रोककर तथा निकालकर; प्रतिकूलेन—उलटने से; वा—अथवा; चित्तम्—मन को; यथा—जिसमें; स्थिरम्—स्थिर, स्थायी; अचञ्चलम्—अवरोधों से युक्त।

योगी को चाहिए कि प्राणवायु के मार्ग को निम्नलिखित विधि से श्वास लेकर इस प्रकार से स्वच्छ करे—पहले बहुत गहरी श्वास अंदर ले, फिर उस श्वास को धारण किये रहे और अन्त में श्वास बाहर निकाल दे। या फिर इस विधि को उलट कर योगी पहले श्वास निकाले, फिर श्वास रोके रखे और अन्त में श्वास भीतर ले जाय। ऐसा इसलिए किया जाता है, जिससे मन स्थिर हो और बाहरी अवरोधों से मुक्त हो सके।

तात्पर्य : ये प्राणायाम मन को नियन्त्रित करने तथा उसे भगवान् में स्थिर करने के लिए किये जाते हैं। *स वै मनःकृष्णपदारविन्दयोः*—भक्त अम्बरीष महाराज चौबीसों घण्टे अपना मन कृष्ण के चरणकमलों में स्थिर रखते थे। कृष्णभावनामृत की विधि में हरे कृष्ण कीर्तन किया जाता है और शब्द को ध्यानपूर्वक सुना जाता है, जिससे मन कृष्ण के नाम की दिव्य ध्वनि में स्थिर हो जाता है और यह नाम कृष्ण के व्यक्तित्व से अभिन्न है। प्राणवायु के मार्ग को स्वच्छ करने की संस्तुत विधि द्वारा मन को वश में करने का वास्तविक प्रयोजन तुरन्त ही प्राप्त हो जाता है यदि मनुष्य अपने मन को सीधे भगवान् के चरणकमलों में स्थिर कर देता है। हठयोग या प्राणायाम की विधि उन लोगों के लिए है, जो देहात्मबुद्धि में अत्यधिक तल्लीन रहते हैं, किन्तु जो केवल हरे कृष्ण का कीर्तन कर सकता है, वह अधिक सुगमतापूर्वक मन को स्थिर

कर सकता है।

श्वास मार्ग को स्वच्छ करने की तीन भिन्न विधियाँ बताई गई हैं—*पूरक, कुम्भक* तथा *रेचक*। श्वास भीतर ले जाना पूरक कहलाता है, उसे भीतर रोके रखना कुम्भक है और श्वास को बाहर निकालना रेचक है। इन विधियों को उलट कर भी किया जा सकता है। श्वास निकालने के बाद वायु को कुछ काल तक बाहर रखने के बाद पुनः श्वास को भीतर ले जाया जाय। जिन नाड़ियों के द्वारा श्वास लेने तथा श्वास छोड़ने की क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं, वे इड़ा तथा पिंगला कहलाती हैं। इड़ा तथा पिंगला को स्वच्छ (मार्जन) करने का चरम उद्देश्य मन को भौतिक सुखोपभोग से मोड़ना है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—मन ही मनुष्य का शत्रु है और मित्र है, इसकी स्थिति जीव के साथ भिन्न-भिन्न आचरणों के अनुसार बदलती रहती है। यदि हम अपने मन को भौतिक भोगों की ओर मोड़ते हैं, तो हमारा मन हमारा शत्रु बन जाता है, किन्तु यदि हम अपने मन को कृष्ण के चरणकमलों में केन्द्रित करते हैं, तो मन हमारा मित्र बन जाता है। चाहे पूरक, कुम्भक तथा रेचक की योग-पद्धति हो या कि कृष्ण शब्द (नाम) या कृष्ण के स्वरूप पर मन को स्थिर करना हो, इनसे एक ही उद्देश्य की प्राप्ति होती है। *भगवद्गीता* (८.८) में कहा गया है कि मनुष्य को चाहिए कि प्राणायाम करे (*अभ्यासयोगयुक्तेन*)। इन नियन्त्रण विधियों से मन बाहरी विचारों की ओर नहीं जाएगा (*चेतसा नान्यगामिना*)। इस प्रकार वह निरन्तर अपने मन को भगवान् में स्थिर करके उन्हें प्राप्त कर सकता है (*याति*)।

इस युग में आसन तथा श्वास नियन्त्रण की योग-पद्धति का अभ्यास कर सकना मनुष्य के लिए दुष्कर है। अतः भगवान् चैतन्य ने संस्तुति की है—*कीर्तनीयःसद-हरिः*—मनुष्य को चाहिए कि सदैव सर्वाधिक उपयुक्त कृष्ण के पवित्र नाम का जप करे। कृष्ण-नाम तथा परम पुरुष कृष्ण अभिन्न हैं। अतः यदि कोई हरे कृष्ण के सुनने तथा कीर्तन करने में मन को केन्द्रित करता है, तो समान फल प्राप्त होता है।

मनोऽचिरात्स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः ।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

मनः—मन; अचिरात्—शीघ्र ही; स्यात्—हो सकता है; विरजम्—उद्वेगों से मुक्त; जित-श्वासस्य—जिसने श्वास पर विजय पा ली है; योगिनः—योगी का; वायु-अग्निभ्याम्—वायु तथा अग्नि से; यथा—जिस प्रकार; लोहम्—स्वर्ण; ध्मातम्—हवा किये जाने पर; त्यजति—मुक्त हो जाता है; वै—निश्चय ही; मलम्—अशुद्धि से।

जो योगी ऐसे प्राणायाम का अभ्यास करते हैं, वे तुरन्त समस्त मानसिक उद्वेगों से उसी तरह मुक्त हो जाते हैं जिस प्रकार हवा की फुहार से अग्नि में रखा सोना सारी अशुद्धियों से रहित हो जाता है।

तात्पर्य : मन शुद्ध करने की इस विधि की संस्तुति भगवान् चैतन्य ने भी की है। उनका कहना है कि मनुष्य को हरे कृष्ण कीर्तन करना चाहिए। वे आगे कहते है कि *परं विजयते* "श्रीकृष्ण कीर्तन की जय हो।" कृष्ण के पवित्र नामों के कीर्तन की जय बोली जाती है, क्योंकि ज्यों ही कोई कीर्तन करना चालू करता है कि जमी हुई मैल से मन शुद्ध हो जाता है। *चेतो-दर्पणमार्जनम्*—भगवान् कृष्ण के पवित्र नाम के कीर्तन से मनुष्य के मन में एकत्र होने वाला मैल साफ हो जाता है। मनुष्य अपने मन को या तो प्राणायाम के द्वारा या कि कीर्तन विधि से शुद्ध कर सकता है, जिस प्रकार अग्नि में रखकर धौंकनी से धौंकने पर सोना शुद्ध हो जाता है।

प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषान् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

प्राणायामैः—प्राणायाम के अभ्यास से; दहेत्—समूल नष्ट कर सकता है; दोषान्—कल्मषों को; धारणाभिः—मन को केन्द्रित करने से; च—यथा; किल्बिषान्—पाप कर्म; प्रत्याहारेण—इन्द्रियों को रोकने से; संसर्गान्—भौतिक संगति; ध्यानेन—ध्यान करने से; अनीश्वरान् गुणान्—भौतिक प्रकृति के गुणों को।

प्राणायाम विधि के अभ्यास से मनुष्य अपने शारीरिक दोषों को समूल नष्ट कर सकता है और अपने मन को एकाग्र करने से वह सारे पापकर्मों से मुक्त हो सकता है। इन्द्रियों को वश में करने से मनुष्य भौतिक संसर्ग से अपने को मुक्त कर सकता है और भगवान् का ध्यान करने से वह भौतिक आसक्ति के तीनों गुणों से मुक्त हो सकता है।

तात्पर्य : आयुर्विज्ञान के अनुसार *कफ, पित्त* तथा *वायु* शरीर की दैहिक अवस्था को बनाये रखते हैं। आधुनिक ओषधि विज्ञान इस दैहिक अवस्था को वैध नहीं मानता, किन्तु प्राचीन आयुर्वेदिक विधि से जो उपचार किया जाता है, वह इन्हीं तीन तत्त्वों पर निर्भर है जिनका उल्लेख *भागवत* में कई स्थानों पर शरीर की मूल दशाओं के रूप में पाया जाता है। यहाँ यह संस्तुति की गई है कि प्राणायाम विधि के अभ्यास से मनुष्य प्रमुख दैहिक तत्त्वों से उत्पन्न कल्मष से मुक्त हो सकता है। इसी प्रकार मन को एकाग्र करने से पाप-कर्मों से छूट सकता है और इन्द्रियों का निग्रह कर लेने पर मनुष्य भौतिक संगति से अपने को मुक्त कर सकता है।

अन्ततः मनुष्य को भगवान् का चिन्तन करना होता है, जिससे वह इस दिव्य स्थिति तक ऊपर उठ सके जहाँ उसे प्रकृति के तीनों गुण और अधिक नहीं सताते। *भगवद्गीता* में भी पुष्टि की गई है कि जो विशुद्ध भक्ति करता है, वह प्रकृति के तीनों गुणों को पार कर जाता है और तुरन्त ही ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। *सगुणान् समातीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते*। योग पद्धति की प्रत्येक क्रिया के लिए भक्तियोग में सदृश क्रिया पाई जाती है, किन्तु इस युग के लिए भक्तियोग अधिक सुगम है। भगवान् चैतन्य ने जो कुछ सूत्रपात किया वह नवीन व्याख्या नहीं है। भक्तियोग एक संभाव्य विधि है, जिसका शुभारम्भ कीर्तन तथा श्रवण से होता है। भक्तियोग तथा अन्य योगों का अन्तिम लक्ष्य एक ही श्रीभगवान् हैं, किन्तु इनमें से एक व्यावहारिक है और दूसरे कठिन हैं। मन की एकाग्रता तथा इन्द्रियों के संयम द्वारा मनुष्य को अपनी दैहिक अवस्था शुद्ध करनी होती है, तभी वह भगवान् पर अपना चित्त स्थिर कर सकता है। यही *समाधि* कहलाती है।

यदा मनः स्वं विरजं योगेन सुसमाहितम् ।
काष्ठां भगवतो ध्यायेत्स्वनासाग्रावलोकनः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; मनः—मन; स्वम्—अपने से; विरजम्—शुद्ध; योगेन—योगाभ्यास से; सु-समाहितम्—वशीभूत, नियंत्रित; काष्ठाम्—पूर्ण अंश; भगवतः—श्रीभगवान् का; ध्यायेत्—ध्यान करना चाहिए; स्व-नासा-अग्र—अपनी नाक का अग्रभाग; अवलोकनः—देखते हुए।

जब इस योगाभ्यास से मन पूर्णतया शुद्ध हो जाय, तो मनुष्य को चाहिए कि अधखुलीं आखों से नाक के अग्रभाग में ध्यान को केन्द्रित करे और भगवान् के स्वरूप को देखे।

तात्पर्य : यहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि मनुष्य को विष्णु के अंश का ध्यान करना चाहिए। *काष्ठाम्* शब्द परमात्मा अर्थात् विष्णु के अंश के अंश का सूचक है। *भगवत:* भगवान् विष्णु के लिए आया है। परमेश्वर तो कृष्ण हैं; उनसे पहला विस्तार बलदेव के रूप में होता है, फिर बलदेव से संकर्षण, अनिरुद्ध तथा अन्य रूप आते हैं और अन्त में पुरुष-अवतार आता है। जैसाकि पिछले श्लोकों में वर्णन आया है (*पुरुषार्चनम्*) यह पुरुष परमात्मा के रूप में अंकित हुआ है। परमात्मा का वर्णन अगले श्लोकों में किया जाएगा। इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य को अपनी नाक के अग्रभाग में दृष्टि को स्थिर करके अपने मन को कला या विष्णु के पूर्ण अंश में एकाग्र करना चाहिए।

प्रसन्नवदनाम्भोजं पद्मगर्भारुणेक्षणम् ।
नीलोत्पलदलश्यामं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

प्रसन्न—प्रसन्न; वदन—मुख; अम्भोजम्—कमलवत्; पद्म-गर्भ—कमल का भीतरी भाग; अरुण—लाल; ईक्षणम्—आँखों से; नील-उत्पल—नील कमल; दल—पंखड़ियाँ; श्यामम्—श्याम रंग की; शङ्ख—शंख; चक्र—चक्र; गदा—गदा; धरम्—धारण किये हुए।

भगवान् का मुख उत्फुल्ल कमल के समान है और लाल लाल आँखें कमल के कोश (भीतरी भाग) के समान हैं। उनका श्यामल शरीर नील कमल की पंखड़ियों के समान है। वे अपने तीन हाथों में शङ्ख, चक्र तथा गदा धारण किये हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर यह निश्चित रूप से संस्तुति की गई है कि मन को विष्णु के रूप पर एकाग्र किया जाय। विष्णु के बारह भिन्न-भिन्न रूप हैं जिनका वर्णन *चैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत* में दिया हुआ है। शून्य या निराकार पर मन को एकाग्र नहीं किया जा सकता; मन को भगवान् के सगुण रूप में एकाग्र करना चाहिए जिनका मुख-मंडल प्रसन्न हो, जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है। *भगवद्गीता* का कथन है कि ध्यानकर्ता के लिए निराकार या शून्य रूप

का ध्यान कष्टप्रद है। जो लोग निराकार या शून्य का ध्यान करने में अनुराग रखते हैं उन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, क्योंकि लोग किसी निराकार वस्तु में ध्यान एकाग्र करने के अभ्यस्त नहीं हैं। वस्तुत: ऐसी एकाग्रता सम्भव भी नहीं है। *भगवद्गीता* में भी पुष्टि की गई है कि भगवान् पर ही ध्यान केन्द्रित किया जाय।

यहाँ पर भगवान् कृष्ण का रंग *नीलोत्पल दल* के समान बताया है, जिसका अर्थ है कि यह उस कमल पुष्प के समान है, जिसकी पंखुड़ियाँ नीली तथा श्वेत हैं। लोग प्राय: पूछते हैं कि कृष्ण का रंग श्याम (नीला) क्यों है? भगवान् का रंग किसी कलाकार की कल्पना नहीं है। इसका वर्णन प्रामाणिक शास्त्रों में हुआ है। *ब्रह्म-संहिता* में भी कृष्ण के शरीर की तुलना नीले (श्याम) बादल से की गई है। भगवान् का रंग काव्यात्मक कल्पना नहीं है। भगवान् के शरीर, उनके आयुधों तथा अन्य साज के विषय में *ब्रह्म-संहिता, श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता* तथा कई पुराणों में प्रामाणिक वर्णन मिलते हैं। भगवान् की आकृति यहाँ पर *पद्मगर्भारुणेक्षणम्* जैसी बताई गई है। उनके नेत्र कमल-कोश के समान हैं और अपनी चारों भुजाओं में वे चार चिह्न शंख, चक्र, गदा तथा कमल पुष्प धारण किये हैं।

लसत्पङ्कजकिञ्जल्कपीतकौशेयवाससम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

लसत्—चमकता हुआ; पङ्कज—कमल के; किञ्जल्क—तन्तु; पीत—पीला; कौशेय—रेशमी; वाससम्—जिनका वस्त्र; श्रीवत्स—श्रीवत्स चिह्न से युक्त; वक्षसम्—वक्षस्थल; भ्राजत्—प्रकाशमान; कौस्तुभ—कौस्तुभ मणि; आमुक्त—पहने हुए; कन्धरम्—गला।

उनकी कटि पीले पद्म-केशर के सदृश चमकदार वस्त्र से आवरित है। उनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिह्न (श्वेत बालों का गुच्छा) है। उनके गले में चमचमाती कौस्तुभ मणि लटक रही है।

तात्पर्य : भगवान् के वस्त्र का असली रंग केसरिया पीला है, जो कमल पुष्प के केसर के समान है। उनके वक्षस्थल पर लटकती हुई कौस्तुभ मणि का भी वर्णन हुआ है। उनका गला रत्नों तथा मोतियों से सुशोभित है। भगवान् षड़ैश्वर्य से परिपूर्ण हैं, जिसमें से एक है धन। वे

ऐसे अमूल्य मणि धारण किये हैं, जो इस जगत में दृष्टिगोचर नहीं होते।

मत्तद्विरेफकलया परीतं वनमालया ।
परार्ध्यहारवलयकिरीटाङ्गदनूपुरम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

मत्त—मतवाले; द्वि-रेफ—भौंरों से; कलया—गुंजार करते; परीतम्—हार पहने; वन-मालया—वन के फूलों की माला से; परार्ध्य—अमूल्य; हार—मोती की माला; वलय—कंकण; किरीट—मुकुट; अङ्गद—बाजूबंद; नूपुरम्—नूपुर।

वे अपने गले में वनपुष्पों की आकर्षक माला भी धारण करते हैं जिसकी सुगन्धि से मतवाले भौंरों के झुंड माला के चारों ओर गुंजार करते हैं। वे मोती की माला, मुकुट, एक जोड़ी कंकण, बाजूबंद तथा नूपुर से अत्युत्तम ढंग से सुसज्जित हैं।

तात्पर्य : इस वर्णन से लगता है कि भगवान् की फूलों की माला ताजी है। वास्तव में वैकुण्ठ में सर्वत्र ताजगी ही ताजगी रहती है। यहाँ तक कि वृक्षों से तोड़े गये फूल भी ताजे बने रहते हैं, क्योंकि वैकुण्ठ की प्रत्येक वस्तु अपनी मौलिकता बनाये रखती है और वह मुरझाती नहीं। इन वृक्षों से तोड़े गये फूलों से बनाई गई माला मुरझाती नहीं, क्योंकि वृक्ष तथा फूल दोनों ही दिव्य होते हैं। जब फूल को वृक्ष से तोड़ लिया जाता है, तो वह जैसे का तैसा बना रहता है, अपनी सुगन्ध नहीं खोता। भौंरे (मधुमक्खियाँ) पुष्पों के प्रति समान रूप से आकर्षित होते हैं चाहे वे माला (हार) में हों या वृक्ष में लगे हों। दिव्यता की विशिष्टता यह है कि हर वस्तु शाश्वत और अक्षय है। किसी वस्तु से कोई वस्तु निकालने पर कोई न कोई वस्तु बनी रहता है अथवा जैसाकि लोग कहते हैं कि वैकुण्ठ में से एक में एक घटाने पर एक बचता है और एक में एक जोड़ने के एक मिलता है। ताजे फूलों के चारों ओर भौंरे गुंजार करते हैं और भगवान् उनकी मधुर ध्वनि का आनन्द लेते हैं। भगवान् के कंकण, हार, मुकुट तथा नूपुर सभी अमूल्य रत्नों से जटित हैं। चूँकि रत्न तथा मोती दिव्य हैं, अतः उनका मूल्य नहीं आँका जा सकता।

काञ्चीगुणोल्लसच्छ्रोणिं हृदयाम्भोजविष्टरम् ।

दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्धनम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

काञ्ची—करधनी; गुण—गुण; उल्लसत्—चमकीली; श्रोणिम्—कमर तथा कूल्हे; हृदय—हृदय; अम्भोज—कमल; विष्टरम्—जिनका आसन; दर्शनीय-तमम्—देखने में सर्वाधिक मोहक; शान्तम्—शान्त, गम्भीर; मनः—मन, हृदय; नयन—आँखें; वर्धनम्—प्रसन्न करने वाला।

उनकी कमर तथा कूल्हे पर करधनी पड़ी है और वे भक्तों के हृदय-कमल पर खड़े हुए हैं। वे देखने में अत्यन्त मोहक हैं और उनका शान्त स्वरूप देखने वाले भक्तों के नेत्रों को तथा आत्माओं को आनन्दित करने वाला है।

तात्पर्य : इस श्लोक में प्रत्युक्त *दर्शनीयतमम्* शब्द का अर्थ है कि भगवान् इतने सुन्दर हैं कि भक्त-योगी उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं देखना चाहते। भगवान् के दर्शन से सुन्दर वस्तुओं के देखने की चाह पूरी हो जाती है। भौतिक जगत में हम सुन्दरता को देखते अघाते नहीं। भौतिक कल्मष के कारण संसार में हम जितनी उत्कटता का अनुभव करते हैं वह तुष्ट नहीं हो पाती। किन्तु जब देखने, सुनने, स्पर्श करने इत्यादि की हमारी इच्छाएँ भगवान् को तुष्ट करने के लिए होती हैं, तो वे सर्वोच्च पूर्णता को प्राप्त करती हैं।

यद्यपि भगवान् अपने शाश्वत रूप में भक्त के हृदय को इतने सुन्दर तथा मोहक लगने वाले होते हैं, किन्तु वह रूप निर्विशेषवादियों को, जो उनके निराकार रूप का चिन्तन करना चाहते हैं, आकृष्ट नहीं कर पाता। ऐसा निराकार ध्यान व्यर्थ का श्रम है। वास्तविक योगी अपने अधखुले नेत्रों को किसी शून्य या निराकार में स्थिर न करके भगवान् के स्वरूप पर स्थिर करते हैं।

अपीच्यदर्शनं शश्वत्सर्वलोकनमस्कृतम् ।
सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रहकातरम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

अपीच्य-दर्शनम्—देखने में अतीव सुन्दर; शश्वत्—नित्य; सर्व-लोक—प्रत्येक लोक से समस्त वासियों द्वारा; नमः-कृतम्—पूज्य; सन्तम्—स्थित; वयसि—युवावस्था में; कैशोरे—बाल्यपन में; भृत्य—अपने भक्तों पर; अनुग्रह—आशीर्वाद देने के लिए; कातरम्—उत्सुक।

भगवान् शाश्वत रूप से अत्यन्त सुन्दर हैं और प्रत्येक लोक के समस्तवासियों द्वारा पूजित हैं। वे चिर-युवा रहते हैं और अपने भक्तों को आशीष देने के लिए उत्सुक रहते

हैं।

तात्पर्य : *सर्वलोक नमस्कृतम्* का अर्थ है कि वे प्रत्येक लोक के प्रत्येक प्राणी द्वारा पूज्य हैं। इस भौतिक जगत में तथा साथ ही वैकुण्ठ में भी असंख्य लोक हैं। इन लोकों में से हर एक में असंख्य वासी हैं, जो भगवान् की पूजा करते हैं, क्योंकि निर्विशेषवादियों को छोड़कर वे अन्य सबों के द्वारा पूज्य हैं। परमेश्वर अतीव सुन्दर हैं। *शश्वत्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। ऐसा नहीं है कि वे भक्तों को तो सुन्दर लगते हैं, किन्तु अन्ततः निराकार हैं। शश्वत् का अर्थ है ''सदैव विद्यमान।'' यह सौन्दर्य क्षणिक नहीं है। यह चिरस्थायी है—वे चिर-युवा रहते हैं। *ब्रह्म-संहिता* (५.३३) में भी कहा गया है—*अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपमाआद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च*। मूल पुरुष अद्वितीय है, फिर भी वे कभी वृद्ध नहीं लगते, वे तरुणावस्था में सदैव तरोताजा लगते हैं।

भगवान् की भावभंगिया से लगता है कि वे भक्तों पर अनुग्रह करने वाले एवं आशीष देने वाले हैं, किन्तु अभक्तों के प्रति वे मूक रहते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् होने के कारण वे सबों पर समभाव रखते हैं, क्योंकि सभी जीव उनके पुत्रवत् हैं, किन्तु जो लोग भक्ति में लगे हैं, वे उन पर विशेष कृपालु रहते हैं। इसी भाव की यहाँ पुष्टि हुई है कि वे भक्तों को सदैव आशीर्वाद देने के लिए आतुर रहते हैं। जिस प्रकार भक्त भगवान् की सेवा करने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं उसी प्रकार भगवान् भी अपने शुद्ध भक्तों के ऊपर आशीषों की वर्षा करने के लिए उत्सुक रहते हैं।

कीर्तन्यतीर्थयशसं पुण्यश्लोकयशस्करम् ।
ध्यायेद्देवं समग्राङ्गं यावन्न च्यवते मनः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

कीर्तन्य—गाये जाने के योग्य; तीर्थ-यशसम्—भगवान् की महिमा; पुण्य-श्लोक—भक्तों के; यशः-करम्—यश को बढ़ाने वाले; ध्यायेत्—ध्यान करना चाहिए; देवम्—भगवान् का; समग्र-अङ्गम्—सारे अंग; यावत्—जब तक; न—नहीं; च्यवते—विचलित होवे; मनः—मन।

भगवान् का यश वन्दनीय है, क्योंकि उनका यश भक्तों के यश को बढ़ाने वाला है। अतः मनुष्य को चाहिए कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तथा उनके भक्तों का ध्यान करे।

मनुष्य को तब तक भगवान् के शाश्वत रूप का ध्यान करना चाहिए जब तक मन स्थिर न हो जाय।

तात्पर्य : मनुष्य को निरन्तर अपना ध्यान भगवान् पर स्थिर रखना चाहिए। जब वह भगवान् के असंख्य रूपों—कृष्ण, विष्णु, राम, नारायण आदि—में से किसी एक का चिन्तन करने का अभ्यस्त हो जावेगा तो उसे योग की सिद्धि प्राप्त हो सकेगी। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* में हुई है—जिस व्यक्ति में भगवान् के प्रति शुद्ध प्रेम उपज चुका है और जिसके नेत्रों में दिव्य प्रेम का अंजन लग चुका है, वह निरन्तर अपने अन्त:करण में भगवान् का दर्शन करता है। भक्तगण विशेष रूप से श्यामसुन्दर के सुन्दर श्याम रूप का दर्शन करते हैं। यही योग की सिद्धि है। इस योग पद्धति को तब तक चालू रखना चाहिए जब तक मन क्षण भर भी न चलायमान हो। ॐ *तद् विष्णो: परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय:*—विष्णु का स्वरूप सर्वोच्च पुरुष और ऋषियों तथा मुनियों को सदैव दृष्टिगोचर होता है।

भक्त जब मन्दिर में भगवान् के रूप की पूजा करता है, तो उससे भी इसी उद्देश्य की पूर्ति होती है। मन्दिर में भगवान् की पूजा तथा भगवान् के रूप का ध्यान—इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि भगवान् का स्वरूप वही रहता है चाहे वह मन में प्रकट हो या किसी सीमेंट गारे के रूप में। भक्तों के दर्शनार्थ आठ प्रकार के स्वरूपों की संस्तुति की गई है। ये स्वरूप बालू, मिट्टी, काष्ठ या पत्थर के बनाये जा सकते हैं, या इनका मन में ध्यान किया जा सकता है या रत्नों, धातु या विविध रंगों से बनाया जा सकता है, किन्तु इन सब रूपों का एक सा महत्त्व है। ऐसा नहीं है कि यदि कोई किसी रूप का मन में ध्यान करता है, तो मन्दिर में पूजा किये जाने वाले रूप से वह भिन्न होता है। भगवान् परम हैं, अत: इन दोनों में कई अन्तर नहीं है। निर्विशेषवादी भगवान् के शाश्वत रूप की अवहेलना करके किसी गोलाकार रूप (शून्य) की कल्पना करते हैं। वे विशेष रूप से ओंकार को वरीयता प्रदान करते हैं, किन्तु उसका भी स्वरूप होता है। इसी प्रकार भगवान् की मूर्तियाँ तथा चित्र हैं।

इस श्लोक का अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द *पुण्यश्लोकयशस्करम्* है। भक्त *पुण्यश्लोक* कहलाता

है। जिस प्रकार भगवान् के पवित्र नाम के जप से कोई भी पवित्र हो जाता है उसी तरह पवित्र भक्त के नाम के जपमात्र के वह पवित्र हो जाता है। भगवान् का शुद्ध भक्त तथा स्वयं भगवान् अभिन्न हैं। कभी–कभी पवित्र भक्त के नाम का जप सम्भव होता है। यह एक पवित्र विधि है। एक बार भगवान् चैतन्य गोपियों के पवित्र नामों का कीर्तन कर रहे थे तो उनके शिष्यों ने उनकी आलोचना की, ''आप गोपियों के नामों का कीर्तन क्यों कर रहे हैं? आप कृष्ण का कीर्तन क्यों नहीं करते?'' भगवान् चैतन्य इस आलोचना से चिड़चिड़ाये अत: उनके शिष्यों तथा उनके बीच कुछ मनमुटाव हो गया। उन्होंने कीर्तन की दिव्य विधि के विषय में इस तरह शिक्षा देने के लिए उन्हें प्रताड़ित करना चाहा।

भगवान् की यह विशेषता है कि जो भक्त उनके कार्यकलापों से सम्बन्धित होते हैं, वे भी यश को प्राप्त होते हैं। अर्जुन, प्रह्लाद, जनक महाराज, बलि महाराज तथा अन्य भक्तों ने संन्यास आश्रम भी नहीं ग्रहण किया था, अपितु गृहस्थ थे। इनमें से कुछ, यथा प्रह्लाद महाराज तथा बलि महाराज आसुरी परिवारों में जन्मे थे। प्रह्लाद महाराज का पिता असुर था और बलि महाराज प्रह्लाद के पौत्र थे, तो भी भगवान् की संगति के कारण वे प्रसिद्ध हुए। जो कोई भी भगवान् के शाश्वत साहचर्य में रहता है, वह भगवान् के साथ यश का भागी होता है। निष्कर्ष यह निकला कि सिद्ध योगी को सदैव भगवान् के स्वरूप का दर्शन करते रहना चाहिए और जब तक मन इस प्रकार स्थिर नहीं हो जाता तब तक उसे योग का अभ्यास करते रहना चाहिए।

स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशयम् ।
प्रेक्षणीयेहितं ध्यायेच्छुद्धभावेन चेतसा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

स्थितम्—खड़े रहते हुए; व्रजन्तम्—चलते; आसीनम्—बैठे; शयानम्—लेटे; वा—अथवा; गुहा-आशयम्—हृदय में वास करने वाले भगवान्; प्रेक्षणीय—सुन्दर; ईहितम्—लीलाएँ; ध्यायेत्—ध्यान करना चाहिए; शुद्ध-भावेन—शुद्ध; चेतसा—मन से।

इस प्रकार भक्ति में सदैव तल्लीन रहकर योगी अपने अन्तर में भगवान् को खड़े रहते हुए, चलते, लेटे या बैठे हुए देखता है, क्योंकि परमेश्वर की लीलाएँ सुन्दर तथा

आकर्षक होती हैं।

तात्पर्य : अपने मन से भगवान् के स्वरूप का ध्यान करने की क्रिया तथा भगवान् के यश तथा लीलाओं के कीर्तन की क्रिया एकसमान है। अन्तर केवल इतना है कि भगवान् की लीलाओं को सुनना एवं मन को स्थिर करना, मन के भीतर भगवान् के रूप का ध्यान धरने की अपेक्षा सरल है, क्योंकि इस युग में जब भी कोई भगवान् का चिन्तन करने लगता है, तो मन विचलित हो जाता है और नाना प्रकार की उद्विग्नताओं से मन के भीतर भगवान् को देखने की विधि में गतिरोध आ जाता है। किन्तु जब भगवान् की दिव्य लीलाओं की प्रशंसा करते हुए शब्दोच्चार किया जाता है, तो हम सुनने के लिए बाध्य हो जाते हैं। यह श्रवण की क्रिया मन में प्रवेश करती है और योग का अभ्यास स्वतः सम्पन्न होता जाता है। उदाहरणार्थ, यदि भगवान् द्वारा गोचारण के लिए अपनी गौवों तथा मित्रों के साथ चारागाह तक जाने का वर्णन *भागवतम्* से पढ़ा जा रहा हो और यदि इसे कोई बालक भी सुने तो उसको सुनने से ही भगवान् की लीलाओं के ध्यान का लाभ प्राप्त हो सकता है। सुनने में मन लगना भी सम्मिलित होता है। भगवान् चैतन्य ने संस्तुति की है कि इस कलियुग में मनुष्य को सदैव *भगवद्गीता* का कीर्तन तथा श्रवण करना चाहिए। वे यह भी कहते हैं कि *महात्माओं* को चाहिए कि वे भगवान् की महिमा के कीर्तन में लगे रहें जिससे अन्य लोग सुन करके ही वैसा ही लाभ उठा सकें। योग के लिए भगवान् की दिव्य लीलाओं का, चाहे वे खड़े हों, चलते हों या लेटे हों, ध्यान आवश्यक है।

तस्मिंल्लब्धपदं चित्तं सर्वावयवसंस्थितम् ।
विलक्ष्यैकत्र संयुज्यादङ्गे भगवतो मुनिः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—भगवान् के स्वरूप में; लब्ध-पदम्—स्थिर; चित्तम्—मन को; सर्व—सारे; अवयव—अंगों में; संस्थितम्—स्थिर किया हुआ; विलक्ष्य—अन्तर जान करके; एकत्र—एक स्थान पर; संयुज्यात्—मन को स्थिर करे; अङ्गे—हर अंग में; भगवतः—भगवान् के; मुनिः—मुनि।

भगवान् के नित्य रूप में अपना मन स्थिर करते समय योगी को चाहिए कि वह भगवान् के समस्त अंगों पर एक ही साथ विचार न करके, भगवान् के एक-एक अंग

पर मन को स्थिर करे।

तात्पर्य : *मुनि* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मुनि वह है, जो चिन्तन, अनुभव तथा निश्चय करने में अत्यन्त पटु हो। यहाँ पर उसे भक्त या योगी नहीं कहा गया। जो लोग भगवान् के स्वरूप का ध्यान करते हैं, वे मुनि या अल्पज्ञ कहलाते हैं, किन्तु वे जो भगवान् की वास्तविक सेवा करते हैं *भक्तियोगी* कहलाते हैं। आगे जो विचार-विधि वर्णित है, वह मुनियों की शिक्षा के लिए है। योगी को यह विश्वास दिलाने के लिए कि भगवान् कभी भी निराकार नहीं होता, आगे उद्धृत श्लोक भगवान् के अंगप्रत्यंग देखने की संस्तुति करते हैं। भगवान् का समग्र रूप में चिन्तन कभी-कभी निराकार हो सकता है, अत: यह संस्तुति की गई है कि पहले उनके चरणकमल का ध्यान किया जाय, फिर टखने, फिर जंघा, फिर कमर, तब छाती, गर्दन, मुख इत्यादि। भगवान् के चरणकमल से प्रारम्भ करके क्रमश: उनके दिव्य शरीर के ऊपरी अंगों तक जाया जाए।

सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सञ्चिन्तयेत्—उसे केन्द्रित करना चाहिए; भगवतः—भगवान् के; चरण-अरविन्दम्—चरणकमलों पर; वज्र—वज्र; अङ्कुश—हाथी हाँकने का दंड, अंकुश; ध्वज—पताका; सरोरुह—कमल; लाञ्छन—चिह्न से; आढ्यम्—अलंकृत; उत्तुङ्ग—उमड़े हुए; रक्त—लाल; विलसत्—चमकीले; नख—नाखून; चक्रवाल—चन्द्रमण्डल; ज्योत्स्नाभिः—चन्द्रिका से; आहत—दूर किया गया; महत्—घना; हृदय—हृदय का; अन्धकारम्—अँधेरा।

भक्त को चाहिए कि सर्वप्रथम वह अपना मन भगवान् के चरणकमलों में केन्द्रित करे जो वज्र, अंकुश, ध्वजा तथा कमल चिन्हों से सुशोभित रहते हैं। सुन्दर माणिक से उनके नाखूनों की शोभा चन्द्रमण्डल से मिलती-जुलती है और हृदय के गहन तम को दूर करने वाली है।

तात्पर्य : मायावादी कहता है कि वह परम सत्य के निराकार अस्तित्व को अपने मन में स्थिर कर पाने में अक्षम रहता है, अत: किसी भी रूप की कल्पना करके उस कल्पित रूप में

मन को स्थिर करना चाहिए; किन्तु यहाँ पर ऐसी विधि की संस्तुति नहीं की गई। कल्पना सदैव कल्पना ही रहती है और इससे कल्पना ही प्रतिफलित होती है।

यहाँ पर भगवान् के शाश्वत रूप का सुस्पष्ट वर्णन दिया गया है। भगवान् के चरणतल को वज्र, पताका, कमल तथा अंकुश की आकृतियों से मिलने वाली स्पष्ट रेखाओं से युक्त अंकित किया गया है। उनके पैर के नाखूनों की कान्ति चन्द्रमा के प्रकाश (चन्द्रिका) के तुल्य है। यदि योगी भगवान् के चरणतल पर अंकित चिह्नों तथा उनके नाखूनों की चमक पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है, तो वह इस संसार के अज्ञान-अंधकार से मुक्त हो सकता है। यह मुक्ति ध्यान से नहीं, अपितु भगवान् के नाखूनों की कान्ति से उत्पन्न प्रकाश के दर्शन से प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में, यदि कोई इस संसार के अज्ञान के अंधकार से छूटना चाहता है, तो उसे पहले अपना मन भगवान् के चरणकमलों में स्थिर करना चाहिए।

यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत् ।
ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं
ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यत्—भगवान् के चरणकमल; शौच—धोने से, प्रक्षालन से; निःसृत—निकली हुई; सरित्-प्रवर—गंगा नदी के; उदकेन—जल से; तीर्थेन—पवित्र; मूर्ध्नि—सर पर; अधिकृतेन—उत्पन्न; शिवः—शिवजी; शिवः—शुभ; अभूत्—हो गया; ध्यातुः—ध्यान करने वाले का; मनः—मन; शमल-शैल—पाप का पहाड़; निसृष्ट—फेंका गया; वज्रम्—वज्र; ध्यायेत्—ध्यान करना चाहिए; चिरम्—दीर्घकाल तक; भगवतः—भगवान् के; चरण-अरविन्दम्—चरणकमलों को।

पूज्य शिवजी भगवान् के चरणकमलों के प्रक्षालित जल से उत्पन्न गंगा नदी के पवित्र जल को अपने शिर पर धारण करके और भी पूज्य हो जाते हैं। भगवान् के चरण उस वज्र के तुल्य हैं, जो ध्यान करने वाले भक्त के मन में संचित पाप के पहाड़ को ध्वस्त करने के लिए चलाया जाता है। अतः मनुष्य को दीर्घकाल तक भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करना चाहिए।

तात्पर्य : इस श्लोक में शिवजी की स्थिति का विशेष वर्णन हुआ है। निर्विशेषवादी का सुझाव है कि परम सत्य के कोई रूप नहीं होता, अतः वह विष्णु या शिव या देवी दुर्गा या

उनके पुत्र गणेश किसी के भी स्वरूप की समान रूप से कल्पना कर सकता है। किन्तु भगवान् वस्तुत: हर प्राणी के परम स्वामी हैं। चैतन्य-चरितामृत (आदि ५.१४२) में कहा गया है—*एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य*—कृष्ण ही परमेश्वर हैं और अन्य सभी, जिनमें शिव तथा ब्रह्मा भी सम्मिलित हैं, कृष्ण के दास हैं, अन्य देवताओं की तो बात ही नहीं उठती। यहाँ पर इसी सिद्धान्त का वर्णन हुआ है। शिवजी इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि वे अपने शिर के ऊपर पवित्र गंगाजल धारण करते हैं जिसका उद्‌गम भगवान् विष्णु का चरण-प्रक्षालन है। *हरि भक्ति-विलास* में सनातन गोस्वामी कहते हैं कि जो मनुष्य परमेश्वर तथा देवताओं को, जिनमें शिव तथा ब्रह्मा भी आ जाते हैं, समान स्तर पर रखता है, वह पाषण्डी या नास्तिक हो जाता है। हमें यह कभी नहीं सोचना चाहिए कि भगवान् विष्णु तथा सारे देवता एकसमान हैं।

इस श्लोक की एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अनादि काल से भौतिक शक्ति के संसर्ग में रहने से बद्धजीव का मन प्रकृति पर अधिकार जताने की इच्छा रूपी मल का ढेर उठाए हुए है। यह मल पर्वत के समान है, किन्तु यह पर्वत वज्र से ध्वस्त किया जा सकता है। भगवान् के चरणकमलों का ध्यान योगी के मन के मल रूपी पर्वत को छिन्न-भिन्न करने के लिए वज्र के समान है। यदि योगी चाहता है कि उसके मन से मल रूपी पर्वत छिन्न-भिन्न हो जाय तो उसे किसी शून्य या निराकार वस्तु की कल्पना न करके मन को भगवान् के चरणकमलों में एकाग्र करना चाहिए। चूँकि मल एक पर्वत का रूप धारण कर चुका है, अत: उसे दीर्घ अवधि तक भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करना चाहिए। हाँ, जो भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर ध्यान करने का अभ्यस्त है, उसके लिए बात दूसरी है। भक्तगण भगवान् के चरणकमलों में इस प्रकार स्थिर रहते हैं कि वे अन्य किसी वस्तु का चिन्तन ही नहीं करते। जो लोग योगाभ्यास करते हैं उन्हें चाहिए कि विधि-विधानों का पालन करते हुए इन्द्रियों को वश में करके दीर्घ काल तक भगवान् के चरणकमलों का ध्यान धरें।

यहाँ पर *भगवतश्चरणारविन्दम्* का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है, जिसका अर्थ है कि मनुष्य को भगवान् के चरणकमलों का चिन्तन करना होता है। मायावादी लोग सोचते हैं कि

मनुष्य शिव, ब्रह्मा या देवी दुर्गा में से किसी के चरणकमलों का चिन्तन कर सकता है, किन्तु ऐसा नहीं है। यहाँ पर *भगवत:* का विशेष उल्लेख है। *भगवत:* का अर्थ है "पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु का।" अपनी स्वाभाविक स्थिति के कारण शिवजी सदैव महान् तथा कल्याणप्रद रहे हैं, किन्तु चूँकि उन्होंने अपने शिर पर उस गंगाजल को धारण करना स्वीकार किया है, जो भगवान् के चरणकमलों से उद्भूत है, अत: वे और भी अधिक शुभ तथा महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ पर भगवान् के चरणकमलों पर बल दिया गया है। भगवान् के चरणकमलों से सम्बन्धित होने के कारण जब शिवजी की महत्ता बढ़ी है, तो सामान्य जीवों के विषय में क्या कहा जाय!

जानुद्वयं जलजलोचनया जनन्या
लक्ष्म्याखिलस्य सुरवन्दितया विधातुः ।
ऊर्वोर्निधाय करपल्लवरोचिषा यत्
संलालितं हृदि विभोरभवस्य कुर्यात् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

जानु-द्वयम्—घुटनों तक; जलज-लोचनया—कमल-नेत्र वाली; जनन्या—माता; लक्ष्म्या—लक्ष्मी द्वारा; अखिलस्य—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की; सुर-वन्दितया—देवताओं द्वारा पूजित; विधातुः—ब्रह्मा को; ऊर्वोः—जाँघों पर; निधाय—रख कर; कर-पल्लव-रोचिषा—अपनी कान्तिमान अँगुलियों से; यत्—जो; संलालितम्—चापे जाकर, दबाये जाकर; हृदि—हृदय में; विभोः—भगवान् का; अभवस्य—इस संसार से परे; कुर्यात्—ध्यान करना चाहिए।

योगी को चाहिए कि वह सभी देवताओं द्वारा पूजित तथा सर्वोपरि जीव ब्रह्मा की माता, ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मीजी के कार्यकलापों में अपने हृदय को स्थिर कर दे। वे सदैव दिव्य भगवान् के पाँवों तथा जंघाओं को चाँपती हुई देखी जा सकती हैं। इस प्रकार वे सावधानी के साथ उनकी सेवा करती हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड के नियुक्त स्वामी हैं। चूँकि गर्भोदकशायी विष्णु उनके पिता हैं, अत: लक्ष्मी स्वत: उनकी माँ हुईं। लक्ष्मीजी समस्त देवों तथा अन्य लोकों के वासियों द्वारा भी पूजित हैं। मनुष्य भी ऐश्वर्य की देवी से वर प्राप्त करने के इच्छुक रहते हैं। ये लक्ष्मीजी गर्भोदकशायी भगवान् नारायण के चरण तथा जंघा चापने में सदैव व्यस्त रहती हैं। यहाँ पर ब्रह्मा को लक्ष्मी-पुत्र बताया गया है, किन्तु वास्तव में वे उनके गर्भ से उत्पन्न नहीं हुए थे।

ब्रह्मा का जन्म साक्षात् भगवान् के उदर से होता है। गर्भोदकशायी विष्णु के उदर से एक कमल का फूल निकलता है और उसी से ब्रह्मा का जन्म होता है। अत: भगवान् की जाँघें दबाती हुई लक्ष्मीजी को सामान्य पत्नी का आचरण नहीं समझना चाहिए। भगवान् सामान्य पुरुष तथा स्त्री के आचरण से परे हैं। *अभवस्य* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह बताता है कि भगवान् लक्ष्मी की सहायता के बिना ही ब्रह्मा को उत्पन्न कर सके।

चूँकि दिव्य आचरण संसारी आचरण से भिन्न होता है, अत: यह नहीं मान लेना चाहिए कि भगवान् अपनी पत्नी से वैसे ही सेवा कराते हैं जिस प्रकार कोई देवता या मनुष्य अपनी पत्नी से कराता है। यहाँ यह सलाह दी गई है कि योगी सदैव अपने हृदय में यह चित्र रखे। भक्त सदा ही लक्ष्मी तथा नारायण के बीच ऐसे ही सम्बन्ध का चिन्तन करता है, अत: वह निर्विशेषवादियों तथा शून्यवादियों की तरह मानसिक ध्यान नहीं करता।

भव का अर्थ है ''जो भौतिक शरीर स्वीकार करे'' तथा *अभव* का अर्थ है ''जो भौतिक शरीर न स्वीकार करे, किन्तु मूल आध्यात्मिक शरीर में प्रकट हो।'' भगवान् नारायण किसी भौतिक वस्तु से नहीं जन्मे। पदार्थ से ही पदार्थ उत्पन्न होता है, किन्तु वे पदार्थ से उत्पन्न नहीं हैं। ब्रह्मा का जन्म सृष्टि के बाद हुआ, किन्तु भगवान् सृष्टि के पूर्व उपस्थित थे, अत: भगवान् का कोई भौतिक शरीर नहीं है।

ऊरू सुपर्णभुजयोरधि शोभमाना-
वोजोनिधी अतसिकाकुसुमावभासौ ।
व्यालम्बिपीतवरवाससि वर्तमान-
काञ्चीकलापपरिरम्भि नितम्बबिम्बम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

ऊरू—दोनों जंघाएँ; सुपर्ण—गरुड़ की; भुजयो:—दो कंधे; अधि—ऊपर; शोभमानौ—सुन्दर; ओज:-निधी—समस्त शक्ति का आगार; अतसिका-कुसुम—अलसी के फूल की; अवभासौ—कान्ति जैसी; व्यालम्बि—लटकते हुए; पीत—पीला; वर—श्रेष्ठ; वाससि—वस्त्र पर; वर्तमान—रहकर; काञ्ची-कलाप—करधनी से; परिरम्भि—घिरा हुआ; नितम्ब-बिम्बम्—गोलाकार नितम्ब।

फिर, ध्यान में योगी को अपना मन भगवान् की जाँघों पर स्थित करना चाहिए जो समस्त शक्ति की आगार हैं। वे अलसी के फूलों की कान्ति के समान सफेद-नीली हैं

और जब भगवान् गरुड़ पर चढ़ते हैं, तो ये जाँघें अत्यन्त भव्य लगती है। योगी को चाहिए कि वह भगवान् के गोलाकार नितम्बों का ध्यान धरे, जो करधनी से घिरे हुए है और यह करधनी भगवान् के एड़ी तक लटकते पीताम्बर पर टिकी हुई है।

तात्पर्य : भगवान् समस्त बल के आगार है और उनका यह बल उनके दिव्य शरीर की जंघाओं में बसता है। उनका सम्पूर्ण शरीर सारे धन, सारे बल, सारे यश, सारे सौंदर्य, सारे ज्ञान तथा सारे त्याग—इन ऐश्वर्यों से परिपूर्ण है। योगी को सलाह दी गई है कि वह भगवान् के दिव्य रूप का, पाँवों के तलुवे से प्रारम्भ करके क्रमश: घुटनों, जाँघों की ओर उठकर अन्त में मुख का ध्यान करे। भगवान् के ध्यान की क्रिया उनके पाँवों से शुरू होती है।

भगवान् के दिव्य रूप का वर्णन मन्दिरों में *अर्चाविग्रह* अथवा मूर्ति द्वारा सही-सही प्रदर्शित होता है। सामान्यत: भगवान् की मूर्ति का अधोभाग पीले रेशमी वस्त्र से ढका रहता है। यह वैकुण्ठ-वेश है अथवा भगवान् द्वारा आध्यात्मिक जगत में धारण किए जाने वाला वेश है यह वस्त्र भगवान् के टखनों तक लटकता है। इस प्रकार चूँकि योगी को अनेक दिव्य वस्तुओं पर ध्यान लगाना होता है, अत: कोई कारण प्रतीत नहीं होता है कि वह किसी काल्पनिक वस्तु का ध्यान करे, जैसाकि निराकारी तथाकथित योगियों में प्रथा है।

नाभिह्रदं भुवनकोशगुहोदरस्थं
यत्रात्मयोनिधिषणाखिललोकपद्मम् ।
व्यूढं हरिन्मणिवृषस्तनयोरमुष्य
ध्यायेद्द्वयं विशदहारमयूखगौरम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

नाभि-ह्रदम्—नाभि रूपी सरोवर; भुवन-कोश—समस्त लोकों का; गुहा—आधार; उदर—आमाशय पर; स्थम्—स्थित; यत्र—जहाँ; आत्म-योनि—ब्रह्मा का; धिषण—वास; अखिल-लोक—समस्त लोकों सहित; पद्मम्—कमल; व्यूढम्—ऊपर निकला; हरित्-मणि—मरकत मणि के समान; वृष—अति सुन्दर; स्तनयोः—दोनों चूचुक; अमुष्य—भगवान् के; ध्यायेत्—ध्यान करे; द्वयम्—युगल; विशद—श्वेत; हार—मोती की मालाओं का; मयूख—प्रकाश से; गौरम्—गोरा।

तब योगी को चाहिए कि वह भगवान् के उदर के मध्य में स्थित चंद्रमा जैसी नाभि का ध्यान करे। उनकी नाभि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की आधारशिला है जहाँ से समस्त लोकों से युक्त कमलनाल प्रकट हुआ। यह कमल आदि जीव ब्रह्मा का वासस्थान है। इसी तरह

योगी को अपना मन भगवान् के स्तनाग्रों पर केन्द्रित करना चाहिए जो श्रेष्ठ मरकत मणि की जोड़ी के सदृश है और जो उनके वक्षस्थल को अलंकृत करने वाली मोतीमाला की दुग्धधवल किरणों के कारण श्वेत प्रतीत होती है।

तात्पर्य : इसके पश्चात् योगी को भगवान् की नाभि का ध्यान करने के लिए कहा गया है, जो समस्त भौतिक सृष्टि का आधार है। जिस प्रकार शिशु नाल के द्वारा अपनी माता से जुड़ा होता है उसी प्रकार पहले पहल जन्म लेने वाले प्राणी ब्रह्माजी, भगवान् की परमेच्छा से एक कमलनाल द्वारा भगवान् से जुड़े रहते हैं। पिछले श्लोक में कहा गया है कि भगवान् के पाँव, टखने तथा जाँघें दबाती हुई लक्ष्मीजी ब्रह्मा की माता कहलाती हैं, किन्तु वास्तव में ब्रह्मा अपनी माता के उदर से उत्पन्न न होकर भगवान् के उदर से प्रकट हुए हैं। ये भगवान् के अचिन्त्य कार्यकलाप हैं जिनके विषय में यह सोचने की आवश्यकता नहीं है कि पिता ने किस प्रकार बच्चे को जन्म दिया।

ब्रह्म-संहिता में बताया गया है कि भगवान् के प्रत्येक अंग में अन्य किसी भी अंग की शक्ति रहती है, क्योंकि वह सब कुछ आध्यात्मिक है, अतः उनके अंग बद्ध भी नहीं है। भगवान् अपने कानों से देख सकते हैं जबकि भौतिक कान केवल सुन सकता है, देख नहीं सकता, किन्तु *ब्रह्म-संहिता* से हम जानते हैं कि भगवान् अपने कानों से भी देख सकते हैं और आँखों से सुन सकते हैं। उनके दिव्य शरीर का कोई भी अंग किसी अन्य अंग का कार्य सम्पन्न कर सकता है। उनका उदर समस्त लोकों का आधार है। ब्रह्माजी समस्त लोकों के स्रष्टा का पद धारण किये हैं, किन्तु उनकी अभिकल्पना-शक्ति भगवान् के उदर से उत्पन्न होती है। ब्रह्माण्ड की कोई भी सृजन क्रिया भगवान् से सीधे सम्बद्ध रहती है। मोतियों की माला जिससे भगवान् के शरीर का ऊपरी भाग अलंकृत होता है, वह भी आध्यात्मिक है, अतः योगी को सलाह दी जाती है कि वह उनके वक्षस्थल को अलंकृत करने वाले मोतियों की श्वेत द्युति को निहारे।

वक्षोऽधिवासमृषभस्य महाविभूतेः
पुंसां मनोनयननिर्वृतिमादधानम् ।
कण्ठं च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थं
कुर्यान्मनस्यखिललोकनमस्कृतस्य ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

वक्षः—छाती; अधिवासम्—आवास; ऋषभस्य—भगवान् का; महा-विभूतेः—महालक्ष्मी का; पुंसाम्—मनुष्यों के; मनः—मन को; नयन—नेत्रों को; निर्वृतिम्—दिव्य आनन्द; आदधानम्—प्रदान करते हुए; कण्ठम्—गला; च—भी; कौस्तुभ-मणेः—कौस्तुभ मणि का; अधिभूषण-अर्थम्—सुन्दरता को बढ़ाने वाला; कुर्यात्—ध्यान करे; मनसि—मन में; अखिल-लोक—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड द्वारा; नमस्कृतस्य—पूजित।

फिर योगी को भगवान् के वक्षस्थल का ध्यान करना चाहिए जो देवी महालक्ष्मी का आवास है। भगवान् का वक्षस्थल मन के लिए समस्त दिव्य आनन्द तथा नेत्रों को पूर्ण संतोष प्रदान करने वाला है। तब योगी को अपने मन में सम्पूर्ण विश्व द्वारा पूजित भगवान् की गर्दन का ध्यान धारण करना चाहिए। भगवान् की गर्दन उनके वक्षस्थल पर लटकने वाले कौस्तुभ मणि की सुन्दरता को बढ़ाने वाली है।

तात्पर्य : *उपनिषदों* का कथन है कि भगवान् की विविध शक्तियाँ उत्पत्ति, पालन तथा संहार-कार्यों में लगी रहती हैं। ये अकल्पनीय शक्ति-रूप भगवान् के वक्षस्थल में संग्रहीत रहते है। जैसाकि सामान्यत: लोग कहते हैं, ईश्वर सर्वशक्तिमान है। यह शौर्य (वीर्य) समस्त शक्तियों के आगार स्वरूप महालक्ष्मी द्वारा प्रदर्शित किया जाता है, जो भगवान् के दिव्य रूप के वक्षस्थल में विराजमान हैं। जो योगी भगवान् के दिव्य रूप के इस स्थल का ध्यान करता है उसे अनेक शक्तियाँ प्राप्त हो सकती है जिनमें योग की आठ सिद्धियाँ आती हैं।

यहाँ यह कहा गया है कि भगवान् की गर्दन की सुन्दरता से कौस्तुभ मणि की शोभा बढ़ती है न कि मणि से गर्दन की। मणि स्वयं अधिक सुन्दर है, क्योंकि भगवान् की गर्दन में स्थित है। इसीलिए योगी को भगवान् की गर्दन का ध्यान करने को कहा गया है। भगवान् के दिव्य रूप का ध्यान या तो मन में किया जा सकता है या फिर मन्दिर में मूर्ति के रूप में रखकर एवं इस प्रकार से अलंकृत करके जिससे सभी लोग ध्यान कर सकें। अत: मन्दिर-पूजा ऐसे व्यक्तियों के लिए है, जो इतने उन्नत नहीं है कि अपने मन में भगवान् के स्वरूप का ध्यान कर सकें। निरन्तर मन्दिर में जाने तथा प्रत्यक्ष रूप से भगवान् के दिव्य रूप का दर्शन करने में कोई

अन्तर नहीं है, उनका एक-सा महत्त्व है। योगी को यह लाभ है कि वह कहीं भी एकान्त स्थान में बैठ कर भगवान् के स्वरूप का ध्यान कर सकता है। किन्तु कम उन्नत व्यक्ति को मन्दिर जाना होता है और जब तक वह मन्दिर नहीं जाता तब तक वह भगवान् के रूप को नहीं देख सकता। चाहे श्रवण हो, दर्शन या ध्यान, सबका लक्ष्य भगवान् का दिव्य स्वरूप प्राप्त करना है; शून्यता या निर्विशेषता का प्रश्न ही नहीं उठता। भगवान् सबों को दिव्य आनन्द का वरदान देते है चाहे वह मन्दिर जाने वाला हो, ध्यानकर्ता योगी हो या *श्रीमद्भागवत* अथवा *भगवद्गीता* जैसे शास्त्रों से भगवान् के दिव्य स्वरूप को सुनने वाला हो। भक्ति को सम्पन्न करने की नौ विधियाँ हैं जिनमें से *स्मरणम्* या ध्यान एक है। योगी लोग *स्मरणम्* का लाभ उठाते हैं जब कि भक्तियोगी श्रवण तथा कीर्तन का।

बाहूंश्च मन्दरगिरेः परिवर्तनेन
निर्णिक्तबाहुवलयानधिलोकपालान् ।
सञ्चिन्तयेद्दशशतारमसह्यतेजः
शङ्खं च तत्करसरोरुहराजहंसम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

बाहून्—भुजाओं का; च—तथा; मन्दर-गिरेः—मन्दर पर्वत का; परिवर्तनेन—घूमने से; निर्णिक्त—पालिश किया, रगड़ खाया; बाहु-वलयान्—बाहु के आभूषण; अधिलोक-पालान्—ब्रह्माण्ड के नियामकों का स्रोत; सञ्चिन्तयेत्—ध्यान करे; दश-शत-अरम्—दस सौ आरे, सुदर्शन चक्र; असह्य-तेजः—चकाचौंध, द्युति; शङ्खम्—शंख; च—भी; तत्-कर—भगवान् के हाथ में; सरोरुह—कमल जैसे; राज-हंसम्—हंस की तरह।

इसके बाद योगी को भगवान् की चारों भुजाओं का ध्यान करना चाहिए जो प्रकृति के विभिन्न कार्यों का नियन्त्रण करने वाले देवताओं की समस्त शक्तियों के स्रोत हैं। फिर योगी चमचमाते उन आभूषणों पर मन केन्द्रित करे जो मन्दराचल के घूमने से रगड़ गये थे। उसे चाहिए कि भगवान् के चक्र (सुदर्शन चक्र) का भी ठीक से चिन्तन करे जो एक हजार आरों से तथा असह्य तेज से युक्त है। साथ ही वह शंख का ध्यान करे जो उनकी कमल-सदृश हथेली में हंस सा प्रतीत होता है।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के बाहुओं से ही विधि तथा व्यवस्था के सारे विभाग उद्भूत होते हैं। ब्रह्माण्ड की विधि-व्यवस्था विभिन्न देवताओं के हाथ में है और यहाँ पर कहा

गया है कि यह भगवान् के बाहुओं से उत्पन्न होती है। यहाँ पर मन्दराचल का उल्लेख हुआ है, क्योंकि जब समुद्र-मंथन हुआ तो एक ओर असुर थे और दूसरी ओर देवता थे, मन्दराचल को उन्होंने मथानी बना लिया था। भगवान् अपने कच्छपावतार में इस मथानी के लिए धुरी बने। फलस्वरूप मन्दराचल के घूमने से उनके आभूषण चमक गये (पालिशदार हो गये)। दूसरे शब्दों में, भगवान् की बाहुओं के आभूषणों की चमक ऐसी थी मानो हाल ही में उनकी पालिश की गई हो। भगवान् के हाथ का चक्र *सुदर्शन चक्र* कहलाता है और इसमें एक हजार आरे (तीलियाँ) है। योगियों को सलाह दी जाती है कि वे प्रत्येक आरे का ध्यान करें। उन्हें भगवान् के दिव्य रूप के प्रत्येक संघटक का ध्यान करना चाहिए।

कौमोदकीं भगवतो दयितां स्मरेत
दिग्धामरातिभटशोणितकर्दमेन ।
मालां मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टां
चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठे ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

कौमोदकीम्—कौमोदकी नामक गदा; भगवतः—भगवान् की; दयिताम्—अत्यन्त प्रिय; स्मरेत—स्मरण करे; दिग्धाम्—सनी हुई; अराति—शत्रुओं के; भट—सैनिक; शोणित-कर्दमेन—रक्त के धब्बों से; मालाम्—माला, हार; मधुव्रत—भौंरों का; वरूथ—झुंड; गिरा—ध्वनि से; उपघुष्टाम्—घिरा; चैत्यस्य—जीव का; तत्त्वम्—सिद्धान्त तत्त्व; अमलम्—शुद्ध; मणिम्—मोती की माला; अस्य—भगवान् के; कण्ठे—गले में।

फिर योगी को चाहिए कि वह प्रभु की कौमोदकी नामक गदा का ध्यान करे जो उन्हें अत्यन्त प्रिय है। यह गदा शत्रुतापूर्ण सैनिक असुरों को चूर-चूर करने वाली है और उनके रक्त से सनी हुई है। योगी को भगवान् के गले में पड़ी हुई सुन्दर माला का भी ध्यान करना चाहिए जिस पर मधुर गुंजार करते हुए भौंरे मँडराते रहते हैं। भगवान् की मोती की माला का भी ध्यान करना चाहिए जो उन शुद्ध आत्माओं की सूचक है, जो भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं।

तात्पर्य : योगी को भगवान् के दिव्य शरीर के विभिन्न अंगों का चिन्तन करना चाहिए। यहाँ बताया गया है कि जीवों की स्वाभाविक स्थिति समझनी होगी। यहाँ पर दो प्रकार की जीवात्माओं का उल्लेख है। पहले प्रकार की *अराति* कहलाती है। ये भगवान् की लीलाओं के

प्रति विपरीत भाव रखती हैं। ऐसी जीवात्माओं को दण्डित करने के लिए भगवान् हाथ में अपनी भयानक गदा लिए प्रकट होते हैं जो सदैव असुरों के वध के रक्त से सनी रहती है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, जीवों की सभी योनियाँ भगवान् की सन्तानें हैं। फिर भी जीवों की दो श्रेणियाँ ऐसी हैं, जो दो भिन्न प्रकार से कार्य करती हैं। परमेश्वर शुद्ध जीवात्माओं को अपने गले में वैसे ही धारण करते हैं जिस प्रकार कोई अपने गले तथा वक्षस्थल पर पड़ी मोतियों की माला की रक्षा करता है। जो जीवात्माएँ शुद्ध कृष्णचेतना में रहती हैं उनको प्रतीकात्मक रूप से उनके गले की मोतियाँ कहा गया है। जो असुर हैं और परमेश्वर की लीलाओं के प्रति शत्रुता रखते हैं उन्हें वे अपनी गदा से दण्ड देते हैं, जो सदैव ऐसी पतित जीवात्माओं के रक्त से सनी रहती है। यह गदा भगवान् को प्रिय है, क्योंकि वे इसे आसुरी शरीरों को चूर-चूर करके रक्त के साथ मिलाने के लिए प्रयुक्त करते हैं। जिस प्रकार मिट्टी को पानी के साथ सानने से कीचड़ बन जाता है उसी प्रकार सांसारिक शत्रुओं या नास्तिकों को प्रभु अपनी गदा से ध्वस्त करते हैं जिससे उनकी गदा ऐसे असुरों के रक्त से गँदली हो जाती है।

भृत्यानुकम्पितधियेह गृहीतमूर्तेः
सञ्चिन्तयेद्भगवतो वदनारविन्दम् ।
यद्विस्फुरन्मकरकुण्डलवल्गितेन
विद्योतितामलकपोलमुदारनासम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

भृत्य—भक्तों के लिए; अनुकम्पित-धिया—अनुकम्पावश; इह—इस संसार में; गृहीत-मूर्तेः—विभिन्न रूपों को धारण करने वाला; सञ्चिन्तयेत्—ध्यान करे; भगवतः—भगवान् का; वदन—मुखमण्डल; अरविन्दम्—कमल-सदृश; यत्—जो; विस्फुरन्—चमचमाता; मकर—मगर की आकृति का; कुण्डल—कान की बालियों का; वल्गितेन—हिलने-डुलने से; विद्योतित—प्रकाशित; अमल—स्वच्छ; कपोलम्—गाल; उदार—सुस्पष्ट, सुघड़; नासम्—नाक।

तब योगी को भगवान् के कमल-सदृश मुखमण्डल का ध्यान करना चाहिए, जो इस जगत में उत्सुक भक्तों के लिए अनुकम्पावश अपने विभिन्न रूप प्रकट करते हैं। उनकी नाक अत्यन्त उन्नत है और उनके स्वच्छ गाल उनके मकराकृत कुण्डलों के हिलने से प्रकाशमान हो रहे हैं।

तात्पर्य : भगवान् अपने भक्तों के लिए प्रगाढ़ अनुकम्पा के वशीभूत होकर भौतिक जगत

में अवतरित होते हैं। इस जगत में भगवान् के अवतार लेने के दो कारण होते हैं। जब-जब धर्म के पालन में त्रुटि आ जाती है और अधर्म की प्रधानता होती है, तो भगवान् अपने भक्तों की रक्षा करने तथा अभक्तों के विनाश के लिए अवतरित होते हैं। जब वे प्रकट होते हैं तो उनका मुख्य प्रयोजन भक्तों को सान्त्वना प्रदान करना होता है। असुरों को नष्ट करने के लिए उन्हें स्वयं आने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि उनके अनेक पार्षद (एजेन्ट) हैं, यहाँ तक कि उनकी माया में इतनी शक्ति होती है कि उनका वध कर दें, किन्तु जब वे अपने भक्तों पर दया दिखाने आते हैं, तो चलते-चलाते अभक्तों का वध कर देते हैं।

भगवान् सदैव ऐसे रूप में प्रकट होते हैं जो किसी विशेष प्रकार के भक्त को प्रिय हो। भगवान् के लाखों रूप हैं, किन्तु वे सब एक हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—*अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्*—भगवान् के सभी रूप एक हैं, किन्तु कुछ भक्त उन्हें राधाकृष्ण के रूप में देखना चाहते हैं तो कुछ सीता-रामचन्द्र के रूप में, अन्य भक्त लक्ष्मी-नारायण के रूप में तो दूसरे चतुर्भुज नारायण वासुदेव के रूप में चाहते हैं। भगवान् के असंख्य रूप है, किन्तु वे उस एक ही रूप में, जो भक्त को प्रिय हो, अवतरित होते हैं। योगी को सलाह दी जाती है कि वह भक्तों के द्वारा मान्य रूपों का ही ध्यान करे। वस्तुत: योगी को भगवान् के उस रूप का ध्यान करना चाहिए जिसका अनुभव भगवान् के शुद्ध भक्त ने किया हो। योगी का अर्थ है भक्त। जो योगी शुद्ध भक्त नहीं है उन्हें भक्तों के पदचिह्नों पर चलना चाहिए। यहाँ पर इसका विशेष रूप से उल्लेख है कि योगी को इस प्रकार से मान्य रूप का ध्यान करना चाहिए, वह भगवान् के किसी रूप को मन से नहीं बना सकता।

यच्छ्रीनिकेतमलिभि: परिसेव्यमानं
भूत्या स्वया कुटिलकुन्तलवृन्दजुष्टम् ।
मीनद्वयाश्रयमधिक्षिपदब्जनेत्रं
ध्यायेन्मनोमयमतन्द्रित उल्लसद्भ्रु ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यत्—भगवान् का जो मुखमण्डल; श्री-निकेतम्—कमल; अलिभि:—भौंरों से; परिसेव्यमानम्—घिरा हुआ; भूत्या—छटा से; स्वया—अपनी; कुटिल—घुँघराले; कुन्तल—बालों का; वृन्द—झुंड के झुंड; जुष्टम्—सुशोभित;

मीन—मछली का; द्वय—जोड़ा; आश्रयम्—निवास; अधिक्षिपत्—लजाने वाला; अब्ज—कमल; नेत्रम्—नेत्र वाला; ध्यायेत्—ध्यान करे; मनः-मयम्—मन में निर्मित; अतन्द्रितः—सतर्क; उल्लसत्—नाचती हुई; भ्रु—भौंहें।

तब योगी भगवान् के सुन्दर मुखमण्डल का ध्यान करता है, जो घुँघराले बालों, कमल जैसे नेत्रों तथा नाचती भौंहों से सुशोभित है। इसकी शोभा (छटा) के आगे भौंरों से घिरा कमल तथा तैरती हुई मछलियों की जोड़ी मात खा जाती है।

तात्पर्य : यहाँ एक महत्त्वपूर्ण कथन है— *ध्यायेन् मनोमयम्*। *मनोमयम्* कल्पना नहीं है। निर्विशेषवादी सोचते हैं कि योगी अपनी इच्छानुसार किसी भी रूप की कल्पना कर सकता है, किन्तु जैसाकि यहाँ कहा गया है योगी को उस रूप का ध्यान करना चाहिए जिसका अनुभव भक्तों ने किया है। भक्तगण कभी भी भगवान् के किसी रूप की कल्पना नहीं करते। वे किसी काल्पनिक वस्तु से संतुष्ट नहीं होते। भगवान् के विभिन्न दिव्य रूप हैं; प्रत्येक भक्त एक विशेष रूप को चाहता है और उसी रूप की पूजा करते हुए भगवान् की सेवा में लग जाता है। भगवान् का यह रूप शास्त्रानुमोदित होता है। जैसाकि पहले बताया जा चुका है भगवान् के मूल रूप के आठ प्रकार के स्वरूप हैं। इन्हें मिट्टी, पत्थर, काष्ठा, रंग, बालू आदि से भक्त अपने साधन के अनुसार तैयार कर सकता है।

मन के भीतर भगवान् के स्वरूप का अंकन *मनोमयम्* है। भगवान् के रूप के आठ विभिन्न प्रकारों में यह अंकन सम्मिलित है। भगवान् के वास्तविक रूप का ध्यान विभिन्न रूप से प्रकट हो सकता है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि किसी को उस स्वरूप की कल्पना करनी होती है। इस श्लोक में दो उपमाएँ हैं। पहली उपमा में भगवान् के मुखमण्डल की तुलना कमल से की गई है, फिर काले बालों की तुलना कमल के चारों ओर गुंजरित भौंरों के झुंड से की गई है और नेत्रों की तुलना इधर-उधर तैरती दो मछलियों से की गई है। जल में खिला कमल अत्यन्त सुन्दर लगता है यदि वह गुंजरित भौंरों से तथा मछलियों से घिरा हो। भगवान् का मुखमण्डल पूर्ण है। उनकी सुन्दरता कमल की सुन्दरता को लजाने वाली है।

तस्यावलोकमधिकं कृपयातिघोर-
तापत्रयोपशमनाय निसृष्टमक्ष्णोः ।

स्निग्धस्मितानुगुणितं विपुलप्रसादं
ध्यायेच्चिरं विपुलभावनया गुहायाम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तस्य—भगवान् की; अवलोकम्—चितवन; अधिकम्—प्रायः; कृपया—अनुग्रह से; अतिघोर—अत्यन्त भयावह; ताप-त्रय—तीन प्रकार के कष्ट; उपशमनाय—कम करने के लिए; निसृष्टम्—चितवन; अक्ष्णोः—आँखों से; स्निग्ध—चिकनी, प्यारी; स्मित—मुस्कान; अनुगुणितम्—के साथ-साथ; विपुल—प्रचुर; प्रसादम्—दया से युक्त; ध्यायेत्—ध्यान करे; चिरम्—दीर्घकाल तक; विपुल—पूर्ण; भावनया—भक्ति से; गुहायाम्—हृदय में।

योगी को चाहिए कि भगवान् के नेत्रों की कृपापूर्ण चितवन का ध्यान पूर्ण समर्पण भाव से करे, क्योंकि उससे भक्तों के अत्यन्त भयावह तीन प्रकार के कष्टों का शमन होता है। प्रेमभरी मुसकान से युक्त उनकी चितवन विपुल प्रसाद से पूर्ण है।

तात्पर्य : जब तक मनुष्य इस भौतिक शरीर के साथ बद्धजीवन में रहता है, तो वह नाना प्रकार की चिन्ताओं तथा कष्टों को भोगता रहता है। कोई भी भौतिक शक्ति के प्रभाव से बच नहीं सकता, भले ही वह दिव्य पद को क्यों न प्राप्त हो। कभी-कभी अड़चनें आती हैं, किन्तु भक्तों की सारी चिन्ताएँ तथा कष्ट भगवान् के सुन्दर रूप का या उनके मुसकान भरे मुख का चिन्तन करते ही दूर हो जाते हैं। भगवान् अपने भक्तों को असंख्य वर देने वाले हैं और सबसे बड़ा प्रसाद तो उनका मुसकाता चेहरा है, जो भक्तों के लिए कृपा से पूर्ण है।

हासं हरेरवनताखिललोकतीव्र-
शोकाश्रुसागरविशोषणमत्युदारम् ।
सम्मोहनाय रचितं निजमाययास्य
भ्रूमण्डलं मुनिकृते मकरध्वजस्य ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

हासम्—मुसकान; हरेः—श्री हरि का; अवनत—झुका हुआ; अखिल—समस्त; लोक—मनुष्यों के लिए; तीव्र-शोक—घोर दुख से उत्पन्न; अश्रु-सागर—आँसुओं का समुद्र; विशोषणम्—सुखाने के लिए; अति-उदारम्—अत्यन्त उपकारी; सम्मोहनाय—मोहने के लिए; रचितम्—उत्पन्न किया गया; निज-मायया—अपनी अन्तरंगा शक्ति से; अस्य—इसका; भ्रू-मण्डलम्—टेढ़ी भौंहें; मुनि-कृते—मुनियों की भलाई के लिए; मकर-ध्वजस्य—कामदेव का।

इसी प्रकार योगी को भगवान् श्री हरि की उदार मुसकान का ध्यान करना चाहिए जो घोर शोक से उत्पन्न उनके अश्रुओं के समुद्र को सुखाने वाली है, जो उनको नमस्कार करते हैं। उसे भगवान् की चाप सदृश भौंहों का भी ध्यान करना चाहिए जो मुनियों की भलाई के लिए कामदेव को मोहने के लिए भगवान् की अन्तरंगा शक्ति से प्रकट है।

तात्पर्य : यह सारा ब्रह्माण्ड कष्टों से परिपूर्ण है, अत: इस ब्रह्माण्ड के निवासी गहन से सदैव आँसू बहाते रहते हैं। ऐसे अश्रुओं से जल का विशाल समुद्र तैयार हो जाता है, किन्तु जो भगवान् की शरण में चला जाता है उसके लिए आसुओं का यह समुद्र तुरन्त सूख जाता है। उसे केवल भगवान् की मोहक मुसकान के दर्शन करने की आवश्यकता होती है। दूसरे शब्दों में, भगवान् की मोहक मुसकान के दर्शन होते ही संसार का सारा शोक शमित हो जाता है।

इस श्लोक में कहा गया है कि भगवान् की भौंहें इतनी मोहक हैं कि उससे ऐन्द्रिय आकर्षण का सौन्दर्य भूल जाता है। काम का देवता 'मकरध्वज' कहलाता है। भगवान् की मोहक भौंहें भक्तों तथा मुनियों को भौतिक वासना तथा काम वासना से मोहित होने से बचाती हैं। महान् आचार्य यामुनाचार्य ने कहा है कि जब से उन्होंने भगवान् की मोहक लीलाएँ देखीं तब से उनके लिए विषयी जीवन के सारे आकर्षण हेय बन गये हैं और विषय-सुख का विचार उठते ही उस पर थूक कर वे अपना मुख मोड़ लेते हैं। अत: यदि कोई काम-वासना से विलग रहना चाहता है, तो उसे भगवान् की मनोहारी भौंहों तथा मोहक मुसकान को देखना चाहिए।

ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठ-
भासारुणायिततनुद्विजकुन्दपङ्क्ति ।
ध्यायेत्स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णो-
र्भक्त्यार्द्रयार्पितमना न पृथग्दिदृक्षेत् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ध्यान-अयनम्—सरलतापूर्वक ध्यान किया गया; प्रहसितम्—हँसी, अट्टहास; बहुल—प्रभूत; अधर-ओष्ठ—उनके होठों की; भास—भव्यता से; अरुणायित—गुलाबी हुए; तनु—छोटे-छोटे; द्विज—दाँत; कुन्द-पङ्क्ति—चमेली की कलियों की पंक्ति के समान; ध्यायेत्—ध्यान करे; स्व-देह-कुहरे—अपने हृदय के मध्य में; अवसितस्य—वास करने वाला; विष्णो:—विष्णु का; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; आर्द्रया—प्रेम में डूबा; अर्पित-मना:—मन को स्थिर किये; न—नहीं; पृथक्—अन्य कुछ; दिदृक्षेत्—देखने की कामना करे।

योगी को चाहिए कि प्रेम में डूबा हुआ भक्तिपूर्वक अपने अन्तरतम में भगवान् विष्णु के अट्टहास का ध्यान करे। उनका यह अट्टहास इतना मोहक है कि इसका सरलता से ध्यान किया जा सकता है। भगवान् के हँसते समय उनके छोटे-छोटे दाँत चमेली की कलियों जैसे दिखते हैं और उनके होठों की कान्ति के कारण गुलाबी प्रतीत होते हैं। एक बार अपना मन उनमें स्थिर करके, योगी को कुछ और देखने की कामना नहीं करनी

चाहिए।

तात्पर्य : यहाँ पर संस्तुति की गई है कि योगी को चाहिए कि भगवान् की हँसी का भलीभाँति अध्ययन करके उनके अट्टहास का चिन्तन करे। मुसकान, हँसी, मुख, होठ, दाँत के ध्यान के ये विशेष विवरण स्पष्ट रूप से यह इंगित करते हैं कि ईश्वर निराकार नहीं है। यहाँ पर बताया गया है कि मनुष्य को चाहिए कि विष्णु की हँसी का ध्यान करे। इसके अतिरिक्त कोई अन्य कार्य नहीं जिससे भक्त का हृदय स्वच्छ हो सके। भगवान् विष्णु की हँसी की विशेषता यह है कि जब वे हँसते हैं, तो उनके कुन्दकली जैसे छोटे-छोटे दाँत उनके गुलाबी होठों के प्रतिबिम्ब से लाल-लाल हो जाते हैं। यदि योगी अपने हृदय में भगवान् के सुन्दर मुखमण्डल को बसा सके तो उसे पूर्ण संतोष प्राप्त होगा। दूसरे शब्दों में, जब कोई भगवान् की सुन्दरता को अपने अन्त: में देखता है, तो उसे भौतिक आकर्षण नहीं सताते।

एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात् ।
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमान-
स्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते ॥ ३४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; हरौ—हरि के प्रति; भगवति—भगवान्; प्रतिलब्ध—विकसित; भावः—शुद्ध प्रेम; भक्त्या—भक्ति से; द्रवत्—द्रवीभूत हुआ; हृदयः—उसका हृदय; उत्पुलकः—शरीर में रोमांच होना; प्रमोदात्—अत्यधिक प्रसन्नता से; औत्कण्ठ्य—तीव्र प्रेम से; बाष्प-कलया—आँसुओं की धारा से; मुहुः—लगातार; अर्द्यमानः—भीगा; तत्—वह; च—यथा; अपि—भी; चित्त—मन; बडिशम्—वंशी, कँटिया; शनकैः—धीरे-धीरे; वियुङ्क्ते—हटा लेता है।

इस मार्ग का अनुसरण करते हुए धीरे-धीरे योगी में भगवान् हरि के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार भक्ति करते हुए अत्यधिक आनन्द के कारण शरीर में रोमांच होने लगता है और गहन प्रेम के कारण शरीर अश्रुओं की धारा से नहा जाता है। यहाँ तक कि धीरे-धीरे वह मन भी भौतिक कर्म से विमुख हो जाता है, जिसे योगी भगवान् को आकृष्ट करने के साधन रूप में प्रयुक्त करता है, जिस प्रकार मछली को आकृष्ट करने के लिये कँटिया प्रयुक्त की जाती है।

तात्पर्य : यहाँ पर यह स्पष्ट बताया गया है कि ध्यान, जो कि मन का कर्म है, समाधि की

पूर्णावस्था नहीं है। प्रारम्भ में मन का उपयोग भगवान् के स्वरूप को आकर्षित करने के लिए किया जाता है, किन्तु उच्चतर अवस्थाओं में मन को प्रयोग करने का प्रश्न ही नहीं उठता। भक्त अपनी इन्द्रियों की शुद्धि के द्वारा भगवान् की सेवा करने लगता है। दूसरे शब्दों में, जब तक कोई शुद्ध भक्ति को प्राप्त कर नहीं लेता तभी तक योग के ध्यान की आवश्यकता पड़ती है। मन का उपयोग इन्द्रियों को शुद्ध करने में किया जाता है, किन्तु जब ध्यान द्वारा इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं, तो किसी स्थान पर बैठकर भगवान् के स्वरूप का ध्यान करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। मनुष्य इतना अभ्यस्त हो जाता है कि वह स्वतः ही भगवान् की सेवा में लग जाता है। जब मन को बलपूर्वक ईश्वर के स्वरूप में लगाया जाता है, जो यह *निर्बीज योग* अर्थात् प्राणहीन योग कहलाता है, क्योंकि योगी स्वतः भगवद्भक्ति में नहीं लगता। किन्तु जब वह निरन्तर भगवान् का चिन्तन करता होता है, तो यह *सबीज योग* या जीवित योग कहलाता है। मनुष्य को इसी सबीज योग तक पहुँचना होता है।

जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में बतलाया गया है, मनुष्य को चौबीसों घंटे भगवान् की सेवा में लगे रहना चाहिए। *प्रेमाञ्जनच्छुरित* अवस्था पूर्ण प्रेम उत्पन्न करके ही प्राप्त की जा सकती है। जब भक्ति में भगवान् के लिए पूरी तरह से प्रेम उत्पन्न हो जाता है, तो वह उनके स्वरूप पर कृत्रिम रूप से ध्यान किये बिना ही भगवान् का दर्शन कर सकता है। उसकी दृष्टि दिव्य रहती है, क्योंकि उसके पास कोई कार्य नहीं रहता। आत्म-साक्षात्कार की इस अवस्था पर मन को कृत्रिम रूप से लगाने की आवश्यकता नहीं रह जाती। चूँकि निम्न अवस्थाओं में ध्यान की संस्तुति भक्ति पद तक पहुँचने के लिए की जाती है, अतः जो पहले से भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे हैं, वे ऐसे ध्यान से ऊपर हैं। यह पूर्णता की अवस्था कृष्णचेतना (भक्ति) कहलाती है।

मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं
निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः ।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक-

मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

मुक्त-आश्रयम्—मुक्ति में स्थित; यर्हि—जिस समय; निर्विषयम्—विषयों से विरक्त; विरक्तम्—उदासीन; निर्वाणम्—बुझना, अन्त; ऋच्छति—प्राप्त करता है; मनः—मन; सहसा—तुरन्त; यथा—जिस तरह; अर्चिः—लपट; आत्मानम्—मन; अत्र—इस समय; पुरुषः—व्यक्ति; अव्यवधानम्—किसी प्रकार के वियोग के बिना; एकम्—एक; अन्वीक्षते—अनुभव करता है; प्रतिनिवृत्त—मुक्त; गुण-प्रवाहः—गुणों के प्रवाह से।

इस प्रकार जब मन समस्त भौतिक कल्मष से रहित और विषयों से विरक्त हो जाता है, तो यह दीपक की लौ के समान हो जाता है। उस समय मन वस्तुतः परमेश्वर जैसा हो जाता है और उनसे जुड़ा हुआ अनुभव किया जाता है, क्योंकि यह भौतिक गुणों के पारस्परिक प्रवाह से मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : भौतिक जगत में मन के कार्य हैं स्वीकारना तथा नकारना। जब तक मन भौतिक चेतना में रहता है, तब तक इसे भगवान् को ध्यान करने के लिए बाध्य करते रहना चाहिए, किन्तु जब मनुष्य प्रेममय भगवान् के प्रेम-भाव तक उठ जाता है, तो मन स्वतः भगवान् के विचार में तल्लीन हो जाता है। ऐसी दशा में योगी के पास भगवान् की सेवा के अतिरिक्त कोई अन्य विचार नहीं रह जाता। भगवान् की इच्छाओं के साथ-साथ मन के चलने को *निर्वाण* या परमेश्वर के साथ मन को एक करना कहते हैं।

निर्वाण का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण *भगवद्गीता* में दिया गया है। प्रारम्भ में अर्जुन का मन कृष्ण के मन से विपथ हो रहा था। कृष्ण चाहते थे कि अर्जुन लड़े, किन्तु अर्जुन लड़ना नहीं चाहता था, अतः मतभेद था। किन्तु भगवान् से *भगवद्गीता* सुनने के बाद अर्जुन ने अपने मन को कृष्ण की इच्छानुकूल बना लिया। यह तादात्म्य कहलाता है। किन्तु इस तादात्म्य से अर्जुन तथा कृष्ण की व्यष्टि (व्यक्तित्व) समाप्त नहीं हुई। मायावादी चिन्तक इसे नहीं समझ सकते। वे सोचते हैं कि तादात्म्य के लिए व्यष्टि का क्षय होना आवश्यक है। किन्तु हम *भगवद्गीता* में पाते हैं कि यह व्यष्टि खोती नहीं। जब मन भगवद्प्रेम में पूर्णतया शुद्ध हो जाता है, तो यह मन भगवान् का मन बन जाता है। उस समय मन न तो पृथक् रूप से कर्म करता है न भगवान् की इच्छापूर्ति के लिए प्रेरणा से रहित होता है। व्यष्टि मुक्त आत्मा के कोई अन्य कर्म नहीं होता। *प्रतिनिवृत्त-गुण-प्रवाहः*। बद्ध अवस्था में मन सदैव भौतिक जगत के तीन गुणों से प्रेरित होकर

कर्म में लगता है, किन्तु दिव्य अवस्था में ये भौतिक गुण भक्त के मन को विचलित नहीं कर पाते। भक्त के पास भगवान् की इच्छाओं की तुष्टि के अतिरिक्त कोई चिन्ता नहीं रहती। यह पूर्णता की सर्वोच्च अवस्था है, जिसे *निर्वाण* या *निर्वाणमुक्ति* कहते हैं। इस अवस्था में मन भौतिक इच्छा से पूरी तरह मुक्त हो जाता है।

यथार्चिः। *अर्चिः* का अर्थ है लौ, लपट। जब दीपक टूट जाता है या तेल चुक जाता है, तो दीपक की लौ बुझ जाती है। किन्तु वैज्ञानिक बोध के अनुसार लौ बुझती नहीं, यह संरक्षित रहती है। यही शक्ति का संरक्षण है। इसी प्रकार जब मन भौतिक स्तर पर कार्य करना बन्द कर देता है, तो यह भगवान् के कर्मों में संरक्षित रहता है। यहाँ पर मायावादी चिन्तकों के मन के कर्म के रुद्ध होने की कल्पना की व्याख्या की गई है। मानसिक क्रिया के रुद्ध होने का अर्थ है प्रकृति के तीन गुणों के प्रभाव से होने वाली क्रियाओं का अवरुद्ध होना।

सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या
तस्मिन्महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये ।
हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयोर्यत्
स्वात्मन्विधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सः—योगी; अपि—इसके अतिरिक्त; एतया—इससे; चरमया—अन्तिम; मनसः—मन का; निवृत्त्या—कर्मफल के रुकने (अन्त) से; तस्मिन्—उसमें; महिम्नि—अन्तिम महिमा; अवसितः—स्थित; सुख-दुःख-बाह्ये—सुख तथा दुख से बाहर; हेतुत्वम्—कारण; अपि—निस्सन्देह; असति—अविद्या का फल; कर्तरि—अहंकार में; दुःखयोः—सुख तथा दुख का; यत्—जो; स्व-आत्मन्—अपने आपको; विधत्ते—उपलक्षित करता है; उपलब्ध—प्राप्त; पर-आत्म—भगवान् का; काष्ठः—सर्वोच्च सत्य।

इस प्रकार उच्चतम दिव्य अवस्था में स्थित मन समस्त कर्मफलों से निवृत्त होकर अपनी महिमा में स्थित हो जाता है, जो सुख तथा दुख के सारे भौतिक बोध से परे है। उस समय योगी को परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध का बोध होता है। उसे पता चलता है कि सुख तथा दुख तथा उनकी अन्तःक्रियाएँ, जिन्हें वह अपने कारण समझता था, वास्तव में अविद्याजनित अहंकार के कारण थीं।

तात्पर्य : भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध की विस्मृति अविद्या का परिणाम है। योगाभ्यास के द्वारा मनुष्य अपने को परमेश्वर से स्वतन्त्र सोचने के इस अज्ञान को दूर कर सकता है।

मनुष्य का वास्तविक सम्बन्ध शाश्वत रूप से प्रेम का सम्बन्ध है। जीव भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति के निमित्त है। मधुर सम्बन्ध की विस्मृति ही अज्ञान कहलाती है और अज्ञान होने पर ही वह प्रकृति के तीनों गुणों के वशीभूत होकर अपने आपको भोक्ता मान बैठता है। जब भक्त का मन शुद्ध हो जाता है और वह यह समझने लगता है कि उसके मन को परमेश्वर की इच्छाओं के अनुसार चलना है, तो समझो कि उसे पूर्ण दिव्य अवस्था प्राप्त हो गई जो भौतिक सुख तथा दुख के अनुभव से परे होती है।

जब तक मनुष्य स्वेच्छा से कर्म करता रहता है, तो उसे तथाकथित सुख तथा दुख के सारे भौतिक अनुभव सताते रहते हैं। वस्तुतः सुख होता ही नहीं। जिस प्रकार किसी पागल व्यक्ति के कर्मों में कोई सुख नहीं मिलता उसी प्रकार भौतिक कार्यकलापों में सुख तथा दुख की मानसिक अनुभूति (मनोरथ) झूठी है। वस्तुतः हर वस्तु दुख में है।

जब मन भगवान् की इच्छानुसार कर्म करने लगता है, तो समझो कि मनुष्य को दिव्य अवस्था प्राप्त हो गई। प्रकृति पर अधिकार जताने की इच्छा ही अविद्या का कारण है और जब यह इच्छा पूर्णतया मिट जाती है, तो और इच्छाएँ भगवान् की इच्छाओं का अनुसरण करती हैं तभी समझो कि यह सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो चुका। *उपलब्ध-परात्म-काष्ठः*। *उपलब्ध* का अर्थ है 'साक्षात्कार'। साक्षात्कार व्यष्टि का सूचक है। सिद्ध, मुक्त अवस्था में ही वास्तविक साक्षात्कार होता है। *निवृत्त्या* का अर्थ है कि जीव अपनी व्यष्टि बनाये रखता है; *तादात्म्य* का अर्थ होता है कि जीव परमेश्वर के सुख में ही अपना सुख मानता है। परमेश्वर में सुख ही सुख है। *आनन्दमयोऽभ्यासात्*—भगवान् स्वभाव से दिव्य सुख से पूर्ण हैं। मुक्तावस्था में परमेश्वर से तादात्म्य का अर्थ होता है कि मनुष्य के सुख के अतिरिक्त अन्य साक्षात्कार न हो। किन्तु तो भी व्यष्टि बना रहता है अन्यथा उपलब्ध शब्द, जो दिव्य सुख के व्यष्टि साक्षात्कार सा सूचक है, यहाँ प्रयुक्त न होता।

देहं च तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा
सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।

दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

देहम्—भौतिक शरीर; च—तथा; तम्—वह; न—नहीं; चरमः—अन्तिम; स्थितम्—आसीन; उत्थितम्—उठा हुआ; वा—अथवा; सिद्धः—सिद्ध जीव; विपश्यति—सोच सकता है; यतः—क्योंकि; अध्यगमत्—प्राप्त कर चुका है; स्व-रूपम्—अपनी असली पहचान; दैवात्—भाग्य के अनुसार; उपेतम्—पहुँचा हुआ; अथ—और भी; दैव-वशात्—भाग्य के अनुसार; अपेतम्—गया हुआ; वासः—वस्त्र; यथा—जिस तरह; परिकृतम्—पहने गये; मदिरा-मद-अन्धः—शराब पीने से अन्धा हुआ।

अपना असली स्वरूप प्राप्त कर लेने के कारण पूर्णतया सिद्ध जीव को इसका कोई बोध नहीं होता है कि यह भौतिक देह किस तरह हिल-डुल रही है या काम कर रही है, जिस तरह कि नशा किया हुआ व्यक्ति यह नहीं समझ पाता कि वह अपने शरीर में वस्त्र धारण किये हैं अथवा नहीं।

तात्पर्य : रूप गोस्वामी ने *भक्ति-रसामृत-सिन्धु* में जीवन की इस अवस्था की व्याख्या की है। जिस व्यक्ति का मन भगवान् की इच्छाओं के अनुरूप होता है और जो उसे शत प्रतिशत भगवान् की सेवा में लगाता है, वह अपनी शारीरिक आवश्यकताओं को भूल जाता है।

देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्
स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः ।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ॥ ३८॥

शब्दार्थ

देहः—शरीर; अपि—इसके अतिरिक्त; दैव-वश-गः—भगवान् के वश में; खलु—निस्सन्देह; कर्म—कर्म; यावत्—जब तक; स्व-आरम्भकम्—अपने आप प्रारम्भ किया गया; प्रतिसमीक्षते—कार्य करता रहता है; एव—निश्चय ही; स-असुः—इन्द्रियों के साथ-साथ; तम्—शरीर; स-प्रपञ्चम्—अपने विस्तारों सहित; अधिरूढ-समाधि-योगः—योगाभ्यास द्वारा समाधि में स्थित; स्वाप्नम्—स्वप्न-जनित; पुनः—फिर; न—नहीं; भजते—अपनाता है; प्रतिबुद्ध—प्रबुद्ध, जाग्रत; वस्तुः—अपनी स्वाभाविक स्थिति के प्रति।

ऐसे मुक्त योगी के इन्द्रियों सहित शरीर का भार भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं और यह शरीर तब तक कार्य करता रहता है जब तक इसके दैवाधीन कर्म समाप्त नहीं हो जाते। इस प्रकार अपनी स्वाभाविक स्थिति के प्रति जागरूक तथा योग की चरम सिद्धावस्था, समाधि, में स्थित मुक्त भक्त शरीर के गौण फलों को निजी कह कर स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार वह अपने शारीरिक कार्यकलापों को स्वप्न में सम्पन्न

कार्यकलाप सदृश मानता है।

तात्पर्य : निम्नलिखित प्रश्न उठाए जा सकते हैं। जब तक मुक्त आत्मा शरीर के सम्पर्क में रहता है, तो शरीरिक कार्य उसे क्यों नहीं प्रभावित करते? क्या वह भौतिक कार्यकलापों के कर्म तथा फल से कल्मष-ग्रसित नहीं हो जाता? ऐसे प्रश्नों के उत्तर में इस श्लोक में कहा गया है कि मुक्त आत्मा के भौतिक शरीर का भार भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं। यह जीव की जीवनी शक्ति के कारण कार्य नहीं करता होता; वह विगत कर्मों की प्रतिक्रिया (फल) स्वरूप ही कार्य करता है। एक बिजली का पंखा, बन्द करने के बाद भी कुछ काल तक घूमता रहता है। यह गति विद्युत धारा के कारण नहीं होती, किन्तु पिछली गति के सातत्य रूप में होती है; इसी प्रकार यद्यपि मुक्त जीव सामान्य व्यक्ति की भाँति कार्य करता प्रतीत होता है, किन्तु उसके कर्मों को विगत कर्मों के सातत्य रूप में मानना होगा। स्वप्न में मनुष्य अपने को अनेक शरीरों में विस्तारित देख सकता है, किन्तु जगने पर वह यह समझ सकता है कि ये सारे शरीर झूठे थे। इसी प्रकार यद्यपि मुक्त जीव के शरीर के गौण फल—यथा बच्चे, पत्नी, घर आदि होते हैं, किन्तु वह इन शारीरिक विस्तारों की पहचान अपने आप से नहीं करता। वह जानता है कि ये सब भौतिक स्वप्न की उपज हैं। स्थूल शरीर पदार्थ के स्थूल तत्त्वों से बना है और सूक्ष्म शरीर मन, बुद्धि, अहंकार तथा कल्मषग्रस्त चेतना से बना है। यदि मनुष्य स्वप्न के सूक्ष्म देह को झूठा मान सकता है और अपनी पहचान उस देह से नहीं करता तो निश्चित रूप से एक प्रबुद्ध व्यक्ति को सूक्ष्म शरीर के साथ भी अपनी पहचान नहीं करनी चाहिए। जिस प्रकार प्रबुद्ध व्यक्ति स्वप्न में देखे शरीर के कार्यकलापों से कोई सम्बन्ध नहीं रखता उसी तरह मुक्त आत्मा का वर्तमान शरीर के कार्यकलापों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। दूसरे शब्दों में, चूँकि वह अपनी स्वाभाविक स्थिति से अवगत रहता है, अत: वह देहात्मबुद्धि को कभी स्वीकार नहीं करता।

यथा पुत्राच्च वित्ताच्च पृथङ्मर्त्यः प्रतीयते ।
अप्यात्मत्वेनाभिमताद्देहादेः पुरुषस्तथा ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; पुत्रात्—पुत्र से; च—तथा; वित्तात्—सम्पत्ति से; च—भी; पृथक्—भिन्न रूप से; मर्त्यः—नाशवान पुरुष; प्रतीयते—समझा जाता है; अपि—ही; आत्मत्वेन—स्वभाव से; अभिमतात्—प्रिय से; देह-आदेः—अपने भौतिक शरीर, इन्द्रियों तथा मन से; पुरुषः—मुक्त जीव; तथा—उसी तरह।

परिवार तथा सम्पत्ति के प्रति अत्यधिक स्नेह के कारण मनुष्य पुत्र तथा सम्पत्ति को अपना मानने लगता है और भौतिक शरीर के प्रति स्नेह होने से वह सोचता है कि यह मेरा है। किन्तु वास्तव में जिस तरह मनुष्य समझ सकता है कि उसका परिवार तथा उसकी सम्पत्ति उससे पृथक् हैं, उसी तरह मुक्त आत्मा समझ सकता है कि वह तथा उसका शरीर एक नहीं हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में वास्तविक ज्ञान की अवस्था बताई गई है। बच्चे तो अनेक हैं, किन्तु कुछ को हम अपने स्नेह के कारण अपने पुत्र-पुत्री रूप में स्वीकार करते हैं, यद्यपि हम यह भलीभाँति जानते हैं कि ये बच्चे हमसे पृथक् हैं। इसी प्रकार धन के लिए अत्यधिक स्नेह होने के कारण बैंक में जमा सम्पत्ति को हम अपनी मानते हैं। इसी प्रकार हम कहते हैं कि यह शरीर हमारा है, क्योंकि इसके प्रति हमें स्नेह है। हम कहते हैं कि यह 'मेरा' शरीर है। फिर हम अपने स्वामित्व भाव को बढ़ाते हुए कहते हैं, "यह मेरा हाथ है, यह मेरा पाँव है। यह मेरी बैंक-बचत है, यह मेरा पुत्र, मेरी पुत्री है आदि आदि।" किन्तु वास्तव में हम जानते हैं कि पुत्र तथा सम्पत्ति हमसे भिन्न हैं। यही हाल इस शरीर का है, हम अपने शरीर से पृथक् हैं। यह समझने (बोध) का प्रश्न है और सही-सही समझना ही *प्रतिबुद्ध* कहलाता है। भक्ति या कृष्णचेतना के विषय में ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य मुक्त बन सकता है।

यथोल्मुकाद्विस्फुलिङ्गाद्धूमाद्वापि स्वसम्भवात् ।
अप्यात्मत्वेनाभिमताद्यथाग्निः पृथगुल्मुकात् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; उल्मुकात्—लौ से; विस्फुलिङ्गात्—चिनगारियों से; धूमात्—धुएँ से; वा—अथवा; अपि—भी; स्व-सम्भवात्—अपने आप से उद्भूत; अपि—यद्यपि; आत्मत्वेन—प्रकृति (स्वभाव) से; अभिमतात्—घनिष्ठतापूर्वक सम्बन्धित; यथा—जिस प्रकार; अग्निः—अग्नि; पृथक्—भिन्न; उल्मुकात्—लौ से।

प्रज्वलित अग्नि ज्वाला से, चिनगारी से तथा धुएँ से भिन्न है, यद्यपि ये सभी उससे घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते हैं, क्योकि वे एक ही प्रज्ज्वलित काष्ठ से उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : यद्यपि प्रज्ज्वलित काष्ठ, चिनगारियाँ, धुआँ तथा लौ (लपट) पृथक्-पृथक् नहीं रह सकते, क्योंकि प्रत्येक अग्नि का अंशरूप है फिर भी वे एक दूसरे से पृथक् हैं। अल्पज्ञ धुएँ को अग्नि मान लेता है, यद्यपि अग्नि तथा धुआँ सर्वथा पृथक् हैं। अग्नि की उष्मा तथा प्रकाश पृथक्-पृथक् हैं, भले ही कोई इनको अलग नहीं कर सकता है।

भूतेन्द्रियान्तःकरणात्प्रधानाज्जीवसंज्ञितात् ।
आत्मा तथा पृथग्द्रष्टा भगवान्ब्रह्मसंज्ञितः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

भूत—पंच तत्त्व; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; अन्तः-करणात्—मन से; प्रधानात्—प्रधान से; जीव-संज्ञितात्—जीवात्मा से; आत्मा—परमात्मा; तथा—उसी तरह; पृथक्—भिन्न; द्रष्टा—देखनेवाला; भगवान्—भगवान्; ब्रह्म-संज्ञितः—ब्रह्म कहलाने वाला।.

परब्रह्म कहलाने वाला भगवान् द्रष्टा है। वह जीवात्मा या जीव से भिन्न है, जो इन्द्रियों, पंचतत्त्वों तथा चेतना से संयुक्त है।

तात्पर्य : यहाँ पर पूर्णब्रह्म की स्पष्ट अवधारणा प्रस्तुत की गई है। जीवात्मा भौतिक तत्त्वों से भिन्न है और परम पुरुष या भगवान् जो भौतिक तत्त्वों के स्रष्टा हैं, प्रत्येक जीवात्मा से भिन्न हैं। भगवान् चैतन्य ने इस अवधारणा को *अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्त्व* के रूप में स्थापित किया है। प्रत्येक वस्तु अन्य किसी वस्तु से एक ही समय अभिन्न और भिन्न होती है। परमेश्वर की भौतिक शक्ति द्वारा उत्पन्न यह दृश्य जगत भी उनसे अभिन्न तथा साथ ही भिन्न भी है। भौतिक शक्ति परमेश्वर से अभिन्न है, किन्तु साथ ही भिन्न प्रकार से कार्यशील होने के कारण यह शक्ति परमेश्वर से भिन्न है। इसी प्रकार प्रत्येक जीवात्मा परमेश्वर से अभिन्न तथा भिन्न है। यह "एक ही समय अभिन्न तथा भिन्न" की अवधारणा *भागवत* मत का सही-सही निष्कर्ष है, जिसकी पुष्टि यहाँ पर कपिलदेव द्वारा हुई है।

जीवों की तुलना अग्नि की चिनगारियों से की गई है। जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, अग्नि, लौ, धुँआ तथा काष्ठ सभी मिले हुए हैं। यहाँ पर जीवात्मा भौतिक तत्त्व तथा परमात्मा परस्पर मिले हुए हैं। जीवों की स्थिति अग्नि की चिनगारियों जैसी ही है, भौतिक शक्ति की तुलना धुएँ से की गई है। अग्नि भी परमेश्वर का अंश है। *विष्णु पुराण* में कहा गया

है कि हम भौतिक या आध्यात्मिक जगत में जो कुछ देखते या अनुभव करते हैं वह परमेश्वर की विभिन्न शक्तियों का ही विस्तार है। जिस प्रकार अग्नि एक स्थान में रहकर उष्मा तथा प्रकाश वितरित करती है उसी प्रकार भगवान् अपनी विभिन्न शक्तियों को सम्पूर्ण सृष्टि भर में वितरित करते हैं।

वैष्णव दर्शन के चार सिद्धान्त हैं—शुद्ध-अद्वैत, द्वैत-अद्वैत, विशिष्ट-अद्वैत तथा द्वैत। वैष्णव दर्शन के ये चारों सिद्धान्त *भागवत* के इन दो श्लोकों में कथित अधिकारों (दावों) पर आधारित हैं।

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षेतानन्यभावेन भूतेष्विव तदात्मताम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

सर्व-भूतेषु—समस्त जीवों में; च—तथा; आत्मानम्—आत्मा को; सर्व-भूतानि—समस्त जीव; च—यथा; आत्मनि—परमेश्वर में; ईक्षेत—उसे देखना चाहिए; अनन्य-भावेन—समभाव से; भूतेषु—समस्त जीवों में; इव—सदृश; तत्-आत्मताम्—स्व की प्रकृति।.

योगी को चाहिए कि समस्त जीवों में उसी एक आत्मा को देखे, क्योंकि जो कुछ भी विद्यमान है, वह सब परमेश्वर की विभिन्न शक्तियों का प्राकट्य है। इस तरह से भक्त को चाहिए कि वह समस्त जीवों को बिना भेदभाव के देखे। यही परमात्मा का साक्षात्कार है।

तात्पर्य : जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है, परमात्मा न केवल प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश करता है, अपितु वह परमाणुओं तक में प्रवेश कर जाता है। परमात्मा सर्वत्र सुप्त अवस्था में विद्यमान है और जब कोई उसकी उपस्थिति को सर्वत्र देखता है, तो वह भौतिक उपाधियों से मुक्त हो जाता है।

सर्वभूतेषु शब्द को इस प्रकार समझा जा सकता है : जीवों की चार भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं—*उद्भिज* (पृथ्वी से उत्पन्न), *अण्डज* (अण्डे से उत्वन्न), *स्वेदज* (पसीने या खमीर से उत्पन्न) तथा *पिंडज* (भ्रूण से उत्पन्न)। जीवों की इन चार श्रेणियों की ८४,००,००० योनियाँ हैं। जो व्यक्ति भौतिक उपाधियों से मुक्त हो जाता है, वह एक ही प्रकार के आत्मा को सर्वत्र

या प्रत्येक जीव में देखता है। अल्पज्ञानी व्यक्ति सोचता है कि पौधे तथा घास पृथ्वी से स्वत: उग आते हैं, किन्तु जो बुद्धिमान है और जिसे आत्मज्ञान है, वह देख सकता है कि यह वृद्धि स्वत: नहीं होती; इसका कारण आत्मा है और विभिन्न परिस्थितियों में भौतिक शरीर विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं। प्रयोगशाला में सड़न की क्रिया से अनेक जीवाणु पैदा होते हैं, किन्तु इसका कारण आत्मा की उपस्थिति है। भौतिकतावादी विज्ञानी सोचता है कि अण्डे जीवरहित हैं, किन्तु यह तथ्य नहीं है। हमें वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न रूपों वाले जीव उत्पन्न होते हैं। चिड़ियाँ अंडे से निकलती हैं तथा पशु एवं मनुष्य भ्रूण से उत्पन्न हैं। योगी या भक्त की पूर्ण दृष्टि इसमें होती है कि वह सर्वत्र जीवात्मा की उपस्थिति देखता है।

स्वयोनिषु यथा ज्योतिरेकं नाना प्रतीयते ।
योनीनां गुणवैषम्यात्तथात्मा प्रकृतौ स्थितः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

स्व-योनिषु—काष्ठ के रूप में; यथा—जिस प्रकार; ज्योतिः—अग्नि; एकम्—एक; नाना—भिन्न-भिन्न प्रकार से; प्रतीयते—प्रकट होती है; योनीनाम्—विभिन्न गर्भों में; गुण-वैषम्यात्—विभिन्न गुणों के कारण; तथा—उसी प्रकार; आत्मा—आत्मा; प्रकृतौ—भौतिक प्रकृति में; स्थितः—स्थित।

जिस प्रकार अग्नि काष्ठ के विभिन्न प्रकारों में प्रकट होती है उसी प्रकार प्रकृति के गुणों की विभिन्न परिस्थितियों के अन्तर्गत शुद्ध आत्मा अपने आपको विभिन्न शरीरों में प्रकट करता है।

तात्पर्य : यह समझ लेना होगा कि शरीर को उपाधि दी जाती है। भौतिक *प्रकृति* के तीन गुणों की अन्त:क्रिया प्रकृति है और इन गुणों के अनुसार किसी को छोटा शरीर मिलता है, तो किसी को बड़ा। उदाहरणार्थ, काष्ठ के बड़े खण्ड में अग्नि बड़ी प्रतीत होती है और एक छड़ी में छोटी लगती है। वस्तुत: अग्नि की गुणता सर्वत्र एक रहती है, किन्तु भौतिक प्रकृति का प्राकट्य ऐसा है कि ईंधन के अनुसार अग्नि छोटी या बड़ी प्रतीत होती है। इसी प्रकार विराट शरीर का आत्मा एक-से गुण वाला होते हुए भी लघु शरीर के आत्मा की अपेक्षा भिन्न होता है।

आत्मा के लघुकण विशाल आत्मा की चिनगारियों के समान हैं। सबसे महान् आत्मा तो परमात्मा है, किन्तु यह परम आत्मा लघु आत्मा से गुण में भिन्न है। वैदिक साहित्य में परमात्मा को लघु आत्मा की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला कहा गया है (*नित्यो नित्यानाम्*)। जो कोई परमात्मा तथा व्यष्टि आत्मा के इस अन्तर को समझता है, वह शोकरहित है और शान्तिपूर्वक रहता है। जब लघु आत्मा अपने को विशाल आत्मा के तुल्य सोचता है, तो वह माया के वश में होता है, क्योंकि यह उसकी स्वाभाविक स्थिति नहीं है। मात्र कल्पना से कोई विशाल आत्मा नहीं बन सकता।

वराह पुराण में विभिन्न आत्माओं की लघुता या विशालता का वर्णन स्वांश विभिन्नांश के रूप में पाया जाता है। स्वांश आत्मा भगवान् है और विभिन्नांश आत्माएँ या लघुकण शाश्वत रूप से लघु कण ही रहते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है (*ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:*)। लघु जीव शाश्वत अंश हैं, अत: वे कभी परमात्मा के समान नहीं हो सकते।

तस्मादिमां स्वां प्रकृतिं दैवीं सदसदात्मिकाम् ।
दुर्विभाव्यां पराभाव्य स्वरूपेणावतिष्ठते ॥ ४४॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इस प्रकार; इमाम्—इस; स्वाम्—निज; प्रकृतिम्—भौतिक शक्ति को; दैवीम्—दैवी; सत्-असत्-आत्मिकाम्—कारण तथा कार्य से युक्त; दुर्विभाव्याम्—समझने में कठिन; पराभाव्य—जीतकर; स्व-रूपेण—स्वरूपसिद्ध स्थिति में; अवतिष्ठते—रहा आता है।

इस प्रकार माया के दुर्लंघ्य सम्मोहन को जीतकर योगी स्वरूपसिद्ध स्थिति में रह सकता है। यह माया इस जगत में अपने आपको कार्य-कारण रूप में उपस्थित करती है, अत: इसे समझ पाना अत्यन्त कठिन है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि माया का सम्मोहन जीव के ज्ञान को आच्छादित कर लेता है और दुर्लंघ्य है। किन्तु जो कोई कृष्ण की शरण में जाता है, वह माया के इस दुर्लंघ्य सम्मोहन को पार कर सकता है। यहाँ पर यह भी कहा गया है कि दैवी प्रकृति अर्थात् परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति *दुर्विभाव्या* है अर्थात् उसे समझ पाना तथा जीत पाना अत्यन्त कठिन है। किन्तु मनुष्य को माया के इस दुर्लंघ्य जादू को जीतना होता है और यह तभी सम्भव है

जब भगवान् की कृपा हो तथा जब ईश्वर स्वयं शरणागत जीव को दर्शन दें। यहाँ पर *स्वरूपेणावतिष्ठते* भी कहा गया है। *स्वरूप* का अर्थ है कि जीव को यह जानना होता है कि वह परमात्मा न होकर परमात्मा का अंश है—यही आत्म-साक्षात्कार है। अपने को झूठे ही परमात्मा के रूप में सोचना तथा अपने को सर्वव्यापी समझना स्वरूप नहीं है, यह उसकी वास्तविक स्थिति का साक्षात्कार नहीं है। वास्तविक स्थिति तो यह है कि वह अंशरूप है। यहाँ संस्तुति की गई है कि मनुष्य को वास्तविक आत्म-साक्षात्कार की स्थिति में बने रहना चाहिए। *भगवद्गीता* में इस समझ को ब्रह्म-साक्षात्कार के रूप में परिभाषित किया गया है।

ब्रह्म-साक्षात्कार के पश्चात् मनुष्य ब्रह्म के कार्यकलापों में लग सकता है। जब तक वह स्वरूपसिद्ध नहीं होता, वह शरीर के साथ झूठी पहचान पर आधारित कार्यों में लगा रहता है। जब वह अपने वास्तविक स्व (आत्म) में स्थित होता है, तभी ब्रह्म-साक्षात्कार के कार्य-कलाप प्रारम्भ होते हैं। मायावादी चिन्तकों का कथन है कि ब्रह्म-साक्षात्कार के बाद सारे कर्म (कार्यकलाप) रुक जाते हैं, किन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं। जब आत्मा पदार्थ के आवरण के भीतर स्थित रह कर, जो कि असामान्य स्थिति है, इतना सक्रिय रह सकता है, तो फिर उसके मुक्त रहने पर उसकी कार्यशीलता से कैसे इनकार किया जा सकता है? यहाँ पर एक उदाहरण उद्धृत किया जा सकता है। जब कोई मनुष्य अपनी रुग्ण अवस्था में अत्यधिक सक्रिय हो तो फिर कोई यह कैसे कल्पना कर सकता है कि रोगमुक्त होने की अवस्था में निष्क्रिय होगा? स्वाभाविक है कि जब कोई व्यक्ति रोग से मुक्त होता है, तो उसके कार्यकलाप शुद्ध होते हैं। यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म-साक्षात्कार के कार्य बद्ध जीवन के कार्यों से भिन्न होते हैं। *भगवद्गीता* (१८.५४) में इंगित किया गया है—जब कोई अपने आपको ब्रह्म समझ लेता है, तो भक्ति का शुभारम्भ होता है। *मद्-भक्तिं लभते पराम्*—ब्रह्म-साक्षात्कार के पश्चात् मनुष्य भगवान् की भक्ति में लग सकता है। अत: भगवान् की भक्ति ब्रह्म-साक्षात्कार का कर्म है।

जो लोग भक्ति में लगे हुए हैं उनके लिए माया का जादू नहीं होता और उनकी स्थिति

परम पूर्ण होती है। पूर्ण के अंशरूप जीवात्मा का धर्म है कि पूर्ण की सेवा करे। यही जीवन की चरम सिद्धि है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत "भक्ति साधना के लिए कपिल के आदेश" नामक अट्ठाइसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter उन्तीस

भगवान् कपिल द्वारा भक्ति की व्याख्या

देवहूतिरुवाच
लक्षणं महदादीनां प्रकृतेः पुरुषस्य च ।
स्वरूपं लक्ष्यतेऽमीषां येन तत्पारमार्थिकम् ॥ १ ॥
यथा साङ्ख्येषु कथितं यन्मूलं तत्प्रचक्षते ।
भक्तियोगस्य मे मार्गं ब्रूहि विस्तरशः प्रभो ॥ २ ॥

शब्दार्थ

देवहूतिः उवाच—देवहूति ने कहा; लक्षणम्—लक्षण; महत्-आदीनाम्—महत्-तत्त्व आदि का; प्रकृतेः—प्रकृति का; पुरुषस्य—आत्मा का; च—तथा; स्वरूपम्—स्वभाव; लक्ष्यते—वर्णन किया जाता है; अमीषाम्—उनका; येन—जिससे; तत्-पारम-अर्थिकम्—उनकी असली प्रकृति; यथा—जिस प्रकार; साङ्ख्येषु—सांख्य दर्शन में; कथितम्—व्याख्यायित; यत्—जिसका; मूलम्—चरम परिणति; तत्—वह; प्रचक्षते—कहते हैं; भक्ति-योगस्य—भक्ति का; मे—मुझको; मार्गम्—पथ; ब्रूहि—कहिये; विस्तरशः—विस्तार से; प्रभो—हे भगवान् कपिल।

देवहूति ने जिज्ञासा की : हे प्रभु, आप सांख्य दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण प्रकृति तथा आत्मा के लक्षणों का अत्यन्त वैज्ञानिक रीति से पहले ही वर्णन कर चुके हैं। अब मैं आपसे प्रार्थना करूँगी कि आप भक्ति के मार्ग की व्याख्या करें, जो समस्त दार्शनिक प्रणालियों की चरम परिणति है।

तात्पर्य : इसी उन्तीसवें अध्याय में भक्ति की महिमा की विस्तृत व्याख्या की गई है। साथ ही बद्धजीव पर काल के प्रभाव का भी वर्णन हुआ है। काल के प्रभाव का विस्तार से वर्णन करने का उद्देश्य बद्धजीव को उसके भौतिक कार्यकलापों से विरत करना है, जिन्हें केवल समय का अपव्यय माना जाता है। पिछले अध्याय में प्रकृति, आत्मा तथा परमेश्वर या परमात्मा का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा चुका है और इस अध्याय में भक्तियोग अथवा भक्ति के सिद्धान्तों—भगवान् तथा जीव के बीच नित्य सम्बन्ध होने के कारण कार्यों के निष्पादन—की व्याख्या की गई है।

भक्तियोग अथवा भक्ति समस्त दर्शन-पद्धतियों का मूल सिद्धान्त है। जिस किसी दर्शन का लक्ष्य भगवद्भक्ति नहीं है, वह मात्र कपोल कल्पना है। किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि बिना दार्शनिक आधार के भक्तियोग न्यूनाधिक भावावेश है। मनुष्य दो प्रकार के होते हैं। कुछ लोग

स्वयं को बौद्धिक रूप से उन्नत मानते हैं और केवल चिन्तन तथा ध्यान करते हैं और दूसरे लोग वे हैं जिनके कथन का कोई दार्शनिक आधार नहीं होता। इनमें से किसी को भी जीवन का उच्चतम लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता और यदि हो भी तो अनेकानेक वर्ष लग जाते हैं। इसलिए वैदिक साहित्य का सुझाव है कि परमेश्वर, जीव तथा इन दोनों का शाश्वत सम्बन्ध—ये तीन तत्त्व हैं और जीवन का उद्देश्य भक्ति के सिद्धान्तों का पालन करते हुए अन्ततः पूर्णतया भगवद्भक्ति तथा भगवद्प्रेम के साथ परमेश्वर के धाम को प्राप्त करना है।

सांख्य दर्शन सारे जगत का विश्लेषणात्मक अध्ययन है। मनुष्य को हर वस्तु की प्रकृति तथा उसके गुणों का परीक्षण करके समझना होता है। यह ज्ञानार्जन कहलाता है। किन्तु मनुष्य को जीवन का लक्ष्य या ज्ञानार्जन के मूल सिद्धान्त—भक्तियोग—को प्राप्त किये बिना मात्र ज्ञानार्जन ही नहीं करते रहना चाहिए। यदि हम भक्तियोग का परित्याग करके वस्तुओं की प्रकृति के विषय में विश्लेषणात्मक अध्ययन करते रहते हैं, तो इसका परिणाम कुछ भी नहीं निकलेगा। *भागवत* में कहा गया है कि ऐसा कार्य धान कूटने के समान है। यदि धान में से चावल (अन्न) निकाल लिया जाय तो भुस कूटने से क्या लाभ? प्रकृति, जीव तथा परमात्मा के वैज्ञानिक अध्ययन से भगवद्भक्ति का मूल सिद्धान्त समझा जा सकता है।

विरागो येन पुरुषो भगवन्सर्वतो भवेत् ।
आचक्ष्व जीवलोकस्य विविधा मम संसृतीः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

विरागः—विरक्त; येन—जिससे; पुरुषः—व्यक्ति; भगवन्—हे प्रभु; सर्वतः—पूर्णतः; भवेत्—हो सके; आचक्ष्व—कृपया वर्णन करें; जीव-लोकस्य—जनसामान्य के लिए; विविधाः—अनेक; मम—मेरा; संसृतीः—जन्म-मरण का चक्र।

देवहूति ने आगे कहा : हे प्रभु, कृपया मेरे तथा जन-साधारण दोनों के लिए जन्म-मरण की निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन करें, जिससे ऐसी विपदाओं को सुनकर हम इस भौतिक जगत के कार्यों से विरक्त हो सकें।

तात्पर्य : इस श्लोक में *संसृतीः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *श्रेयः-सृति* का अर्थ है भगवान् की ओर अग्रसर होने का प्रशस्त मार्ग और *संसृति* का अर्थ है जन्म-मरण के पथ पर

संसार के गहनतम भाग की ओर निरन्तर यात्रा। जिन लोगों को इस जगत, ईश्वर तथा उनके वास्तविक घनिष्ठ सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है, वे सभ्यता की भौतिक प्रगति के नाम पर संसार के अंधकारमय क्षेत्र की ओर बढ़ रहे हैं। संसार के अंधकारमय क्षेत्र में प्रविष्ट होने का अर्थ है मनुष्य-योनि के अतिरिक्त अन्य योनियों में प्रवेश करना। अज्ञानी पुरुष यह नहीं जानते कि इस जीवन के पश्चात् वे प्रकृति की मुट्ठी में होंगे और उन्हें ऐसा जीवन दिया जा सकता है, जो रुचिकर न हो। जीव को किस तरह विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त होते हैं इसका वर्णन अगले अध्याय में किया जाएगा। जन्म तथा मृत्यु में शरीरों का निरन्तर परिवर्तन *संसार* कहलाता है। देवहूति अपने यशस्वी पुत्र कपिल मुनि से प्रार्थना करती हैं कि वे इस निरन्तर यात्रा की व्याख्या करें जिससे बद्धजीवों को पता चले कि वे भक्तियोग के मार्ग को न समझने के कारण पतन के मार्ग की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

कालस्येश्वररूपस्य परेषां च परस्य ते ।
स्वरूपं बत कुर्वन्ति यद्धेतोः कुशलं जनाः ॥ ४॥

शब्दार्थ

कालस्य—काल का; ईश्वर-रूपस्य—भगवान् का प्रतिनिधि; परेषाम्—अन्य सबों का; च—तथा; परस्य—मुख्य; ते—तुम्हारा; स्वरूपम्—प्रकृति; बत—ओह; कुर्वन्ति—करते हैं; यत्-हेतोः—जिसके प्रभाव से; कुशलम्—पुण्य कर्म; जनाः—सामान्य जन।

कृपया काल का भी वर्णन करें जो आपके स्वरूप का प्रतिनिधित्व करता है और जिसके प्रभाव से सामान्य जन पुण्यकर्म करने में प्रवृत्त होते हैं।

तात्पर्य : सौभाग्य के पथ तथा अज्ञान के गहन क्षेत्र के मार्ग के विषय में कोई कितना ही अज्ञानी क्यों न रहे, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति शाश्वत काल के प्रभाव से परिचित है, जो हमारे समस्त कर्मों के फल को निगल जाने वाला है। ज्योंही शरीर जन्म लेता है उस पर काल का प्रभाव चालू हो जाता है। शरीर के जन्म की तिथि से ही मृत्यु का प्रभाव कार्य करने लगता है; आयु बढ़ने के साथ ही शरीर पर काल का प्रभाव बढ़ता जाता है। यदि मनुष्य तीस या पचास वर्ष का है, तो काल उसकी जीवन अवधि का तीस या पचास वर्ष निगल चुका होता है।

प्रत्येक व्यक्ति जीवन की उस अन्तिम अवस्था से अवगत है जब उसे मृत्यु के क्रूर हाथों में

जाना होगा, किन्तु कुछ लोग अपनी आयु तथा परिस्थितियों पर विचार करके काल के प्रभाव से चिन्तित होकर स्वयं को पुण्यकर्मों में प्रवृत्त करते हैं, जिससे भविष्य में उन्हें किसी निम्न परिवार या पशुयोनि में न जाना पड़े। सामान्यतया लोग इन्द्रिय सुख के प्रति आसक्त रहते हैं, अत: वे स्वर्गलोक जाना चाहते हैं। फलत: वे किसी परोपकार या अन्य पुण्य कार्य में लग जाते हैं, किन्तु जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है जन्म तथा मृत्यु के चक्र से किसी को छुटकारा नहीं मिल पाता भले ही कोई सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक क्यों न चला जाय, क्योंकि काल का प्रभाव इस भौतिक जगत में सर्वत्र उपस्थित है। हाँ, आध्यात्मिक जगत में काल का कोई प्रभाव नहीं होता।

लोकस्य मिथ्याभिमतेरचक्षुष-
श्चिरं प्रसुप्तस्य तमस्यनाश्रये ।
श्रान्तस्य कर्मस्वनुविद्धया धिया
त्वमाविरासीः किल योगभास्करः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

लोकस्य—जीवों का; मिथ्या-अभिमतेः—अहंकार से मोहग्रस्त; अचक्षुषः—अंधा; चिरम्—दीर्घकाल तक; प्रसुप्तस्य—सोते हुए का; तमसि—अंधकार में; अनाश्रये—आश्रयविहीन; श्रान्तस्य—थके हुए के; कर्मसु—कर्मों के प्रति; अनुविद्धया—संलग्न, अनुरक्त; धिया—बुद्धि से; त्वम्—तुम; आविरासीः—प्रकट हुए हो; किल—निस्सन्देह; योग—योग प्रणाली का; भास्करः—सूर्य।

हे भगवान्, आप सूर्य के समान हैं, क्योंकि आप जीवों के बद्धजीवन के अन्धकार को प्रकाशित करने वाले हैं। उनके ज्ञान-चक्षु बन्द होने से वे आपके आश्रय के बिना उस अन्धकार में लगातार सुप्त पड़े हुए हैं, फलतः वे अपने कर्मों के कार्य-कारण प्रभाव से झूठे ही व्यस्त रहते हैं और अत्यन्त थके हुए प्रतीत होते हैं।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् कपिलदेव की महिमामयी माता श्रीमती देवहूति उन सामान्य जनों की दयनीय स्थिति के प्रति अत्यन्त कृपालु हैं, जो जीवन का लक्ष्य न जानते हुए मोह के गहन अन्धकार में सुप्त पड़े हुए हैं। एक वैष्णव या भगवद्भक्त की यह सामान्य भावना होती है कि वह उन्हें जगाए। इसी प्रकार देवहूति अपने यशस्वी पुत्र से बद्धजीवों के जीवन को प्रकाशित करने की प्रार्थना कर रही हैं जिससे उन सबकी अत्यन्त दयनीय जीवन-

दशा का अन्त हो। भगवान् को *योगभास्कर* अर्थात् समस्त योग पद्धतियों को सूर्यकहा गया है। देवहूति अपने यशस्वी पुत्र से भक्तियोग का वर्णन करने का पहले ही अनुरोध कर चुकी थीं और भगवान् ने भक्तियोग का चरम योग पद्धति के रूप में वर्णन किया है।

भक्तियोग उन बद्धजीवों के उद्धार के लिए सूर्य के प्रकाश तुल्य है, जिनकी सामान्य दशा का यहाँ वर्णन हुआ है। उनके पास अपना हित देख पाने के लिए आँखें नहीं हैं। वे यह नहीं जानते कि जीवन का लक्ष्य भौतिक आवश्यकताओं की वृद्धि करना नहीं हैं, क्योंकि शरीर कुछ वर्षों से अधिक नहीं रह सकता। जीव तो शाश्वत हैं और उनकी आवश्यकताएँ शाश्वत हैं। यदि मनुष्य केवल शरीर की आवश्यकताओं को पूरा करने में लगा रहे और जीवन की शाश्वत आवश्यकताओं की अनदेखी करता चले तो वह उस सभ्यता का अंश होगा जिसकी प्रगति जीवों को अज्ञान के अन्धकारमय क्षेत्र में डाल देती है। उस अन्धकारमय क्षेत्र में रहते हुए उसका किसी प्रकार की नवचेतना नहीं पाता, अपितु वह धीरे-धीरे थकता जाता है। वह इस थकान को दूर करने के लिए अनेक साधन खोजता है, किन्तु असफल होता है और निराश रहा आता है। जीवन-संघर्ष में इस थकान को मिटाने का एकमात्र उपाय भक्तिमार्ग अथवा कृष्णभावनामृत का मार्ग है।

मैत्रेय उवाच
इति मातुर्वचः श्लक्ष्णं प्रतिनन्द्य महामुनिः ।
आबभाषे कुरुश्रेष्ठ प्रीतस्तां करुणार्दितः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; मातुः—उनकी माता के; वचः—शब्द; श्लक्ष्णम्—भद्र; प्रतिनन्द्य—स्वागत करते हुए; महा-मुनिः—ऋषि कपिल; आबभाषे—बोले; कुरु-श्रेष्ठ—हे कुरुओं में श्रेष्ठ, विदुर; प्रीतः—प्रसन्न; ताम्—उससे; करुणा—दया से; अर्दितः—द्रवीभूत।

श्री मैत्रेय ने कहा : हे कुरुश्रेष्ठ, अपनी महिमामयी माता के शब्दों से प्रसन्न होकर तथा अत्यधिक अनुकम्पा से द्रवित होकर महामुनि कपिल इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : भगवान् कपिल अपनी माता की प्रार्थना से अत्यधिक प्रसन्न हुए, क्योंकि वे अपने व्यक्तिगत मोक्ष के प्रति उतनी चिन्तित न थीं जितनी कि पतित बद्धजीवों के प्रति चिन्तित

थीं। भगवान् इस जगत की पतितात्माओं पर सदैव कृपालु रहते हैं, अत: उनका उद्धार करने के लिए वे या तो स्वयं अवतरित होते हैं या अपने विश्वासपात्र दासों को भेजते हैं। चूँकि वे निरन्तर उनके प्रति सदय रहते हैं, अत: यदि उनका कोई भक्त भी उन सबों के प्रति दयालु हो उठता है, तो वे भक्तों से अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है कि जो लोग पतितात्माओं को *भगवद्गीता* के इस निष्कर्ष का कि भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पण करो, उपदेश देकर उन्हें उठाने का प्रयत्न करते हैं, वे भगवान् को अत्यन्त प्रिय हैं। अत: जब भगवान् ने देखा कि उनकी माता पतित जीवों के प्रति अत्यन्त सदय हैं, तो वे प्रसन्न हुए और वे उन पर अत्यन्त कृपालु हो गये।

श्रीभगवानुवाच
भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते ।
स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते ॥ ७॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने उत्तर दिया; भक्ति-योग:—भक्ति; बहु-विध:—अनेक प्रकार के; मार्गै:—मार्गों से; भामिनि—हे उत्तम स्त्री; भाव्यते—प्रकट है; स्वभाव—प्रकृति; गुण—गुण; मार्गेण—व्यवहार के अनुसार; पुंसाम्—साधकों के; भाव:—प्राकट्य; विभिद्यते—विभाजित है।

भगवान् कपिल ने उत्तर दिया : हे भामिनि, साधक के विभिन्न गुणों के अनुसार भक्ति के अनेक मार्ग हैं।

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित होकर शुद्ध भक्ति केवल एक है, क्योंकि शुद्धभक्ति में भक्त भगवान् से किसी भी माँग को पूरा करने के लिए नहीं कहता। किन्तु सामान्य रूप से लोग इस प्रयोजन से भक्ति करते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, जो लोग शुद्ध नहीं हैं, वे चार प्रकार के प्रयोजनों से भक्ति करते हैं। कोई व्यक्ति भौतिक परिस्थितियों से पीड़ित होकर भगवान् का भक्त बनता है और अपना कष्ट दूर करने के लिए भगवान् के पास जाता है। जिस व्यक्ति को धन की कमी होती है वे भगवान् के पास पहुँचकर अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए याचना करता हैं। अन्य लोग, जिन्हें कोई कष्ट नहीं है अथवा आर्थिक सहायता की आवश्यकता नहीं होती, वे परम सत्य को जानने के लिए ज्ञान की खोज में रहते हैं। वे भी

भक्ति स्वीकार करके भगवान् के स्वभाव के विषय में जिज्ञासा करते हैं। *भगवद्गीता* (७.१६) में इसका सुन्दर वर्णन मिलता है। वस्तुतः भक्तिमार्ग अद्वितीय है, किन्तु भक्तों की परिस्थिति के अनुसार भक्ति अनेक प्रकार की प्रतीत होने लगती है, जिसको अगले श्लोक में उत्तम ढंग से समझाया गया है।

अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा ।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात्स तामसः ॥८॥

शब्दार्थ

अभिसन्धाय—दृष्टि में रखकर; यः—जो; हिंसाम्—हिंसा को; दम्भम्—गर्व को; मात्सर्यम्—ईर्ष्या को; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा; संरम्भी—क्रोधी; भिन्न—पृथक्; दृक्—जिसकी दृष्टि; भावम्—भक्ति; मयि—मुझमें; कुर्यात्—करे; सः—वह; तामसः—तमोगुणी।.

ईर्ष्यालु, अहंकारी, हिंस्त्र तथा क्रोधी और पृथकतावादी व्यक्ति द्वारा की गई भक्ति तमोगुण प्रधान मानी जाती है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध के द्वितीय अध्याय में पहले ही कहा जा चुका है कि सर्वोच्च, सर्वाधिक यशस्वी धर्म है अहैतुकी भक्ति की प्राप्ति। शुद्ध भक्ति का एकमात्र ध्येय भगवान् को प्रसन्न करना होना चाहिए। वस्तुत: यह ध्येय नहीं है, यह जीव की शुद्ध अवस्था है। बद्ध अवस्था में रहकर जब कोई भक्ति में प्रवृत्त होता है, तो उसे पूर्णतया समर्पित भाव से प्रामाणिक गुरु का आदेश मानना चाहिए। गुरु परमेश्वर का प्रकट प्रतिनिधि होता है, क्योंकि वह ईश्वर से आदेश प्राप्त करता है और उन्हें यथारूप प्रस्तुत करता है, क्योंकि वे शिष्य-परम्परा से चले आते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि उसमें निहित उपदेशों को शिष्य-परम्परा से प्राप्त किया जाय अन्यथा उसमें मिलावट रहती है। श्रीभगवान् को प्रसन्न रखने के *ध्येय* से प्रामाणिक गुरु के निर्देशन के अनुसार कर्म करना ही शुद्ध भक्ति है। किन्तु यदि उसका ध्येय व्यक्तिगत इन्द्रियतृप्ति हो तो उसकी भक्ति भिन्न प्रकार से प्रकट होती है। ऐसा व्यक्ति हिंसक, दम्भी, ईर्ष्यालु तथा क्रोधी हो सकता है और उसके स्वार्थ भगवान् से पृथक् होते हैं।

जो व्यक्ति भगवान् के पास भक्तिमय सेवा करने के उद्देश्य से जाता है, किन्तु अपने व्यक्तित्व के प्रति गर्वित रहता है, अन्यों से ईर्ष्यालु रहता है या प्रतिशोध लेता है, वह क्रोधी

होता है। वह अपने को सर्वश्रेष्ठ भक्त समझता है। इस प्रकार की गई भक्ति शुद्धि नहीं होती; यह मिश्रित है और निम्नतम कोटि की अर्थात् *तामस:* है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती का उपदेश है कि जस वैष्णव का चरित्र अच्छान हो उससे दूर रहना चाहिए। वैष्णव वह है, जो भगवान् को जीवन का परम लक्ष्य मानता है, किन्तु यदि कोई शुद्ध नहीं है और *कामनाएँ* रखता है, तो वह उत्तम चरित्र वाला प्रथम कोटि का वैष्णव नहीं है। ऐसे वैष्णव का आदर किया जा सकता है, क्योंकि उसने भगवान् को जीवन का परम लक्ष्य मान लिया है। किन्तु जो वैष्णव तमोगुणी (तामसी) हो उसकी संगति नहीं करनी चाहिए।

विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा ।
अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भाव: स राजस: ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

विषयान्—विषय, भोग को; अभिसन्धाय—लक्ष्य करके; यशः—ख्याति; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा; अर्चा-आदौ—विग्रह-पूजन आदि में; अर्चयेत्—पूजा करे; यः—जो; माम्—मुझको; पृथक्-भावः—भेदभाव रखने वाला, पृथकतावादी; सः—वह; राजसः—रजोगुण में।

मन्दिर में एक पृथकतावादी द्वारा भौतिक भोग, यश तथा ऐश्वर्य के प्रयोजन से की जानेवाली विग्रह-पूजा रजोगुणी भक्ति है।

तात्पर्य : 'पृथकतावादी' शब्द को सही ढंग से समझना होगा। संस्कृत में इसके लिए *भिन्न-दृक्* तथा *पृथक्-भाव:* शब्द मिलते हैं। पृथकतावादी वह है, जो परमेश्वर के हित से अपने हित (स्वार्थ) को पृथक् देखता है। मिश्रित भक्त अथवा रजोगुणी तथा तमोगुणी भक्त सोचते हैं कि भगवान् का स्वार्थ भक्तों के आदेशों की पूर्ति करने में है। ऐसे भक्तों का स्वार्थ इसमें रहता है कि अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए भगवान् से अधिक से अधिक भगवान् से प्राप्त कर लिया जाय। यही पृथकतावादी मानसिकता है। वस्तुत: पिछले अध्याय में शुद्ध भक्ति की व्याख्या हुई है—इसमें भगवान् का मन तथा भक्त के मन को एक दूसरे के अनुसार होना चाहिए। भक्त को केवल भगवान् की इच्छाओं को पूरा करने के सिवाय और कुछ कामना नही करनी चाहिए। यही एकात्मता है। जब भक्त का स्वार्थ परमेश्वर के स्वार्थ से भिन्न होता है, तो उसकी मानसिकता पृथकतावादी जैसी होती है। जब भक्त भगवान् की परवाह किये बिना

भौतिक सुख भोगना चाहता है अथवा भगवान् की कृपा का उपयोग करके प्रसिद्ध या ऐश्वर्यवान बनना चाहता है, तो वह रजोगुणी है।

किन्तु मायावादी इस 'पृथकतावादी' शब्द की विवेचना भिन्न रूप से करते हैं। उनका कहना है कि भगवान् की पूजा करते समय मनुष्य को अपने आपको परमेश्वर से एक हुआ सोचना चाहिए। प्रकृति के गुणों के अन्तर्गत भक्ति का यह अन्य मिश्रित (भ्रष्ट) रूप है। यह विचार कि जीव परमात्मा से एकाकार है तमोगुण है। वस्तुत: एकत्व या तादात्म्य रुचि (स्वार्थ) के एकत्व पर आधारित है। शुद्ध भक्त का एकमात्र स्वार्थ है परमेश्वर के लिए कर्म करना। जब व्यक्ति का रंचमात्र भी व्यक्तिगत स्वार्थ निहित होता है, तो उसकी भक्ति त्रिगुण से मिश्रित होती है।

कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन्वा तदर्पणम् ।
यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

कर्म—सकाम कर्म; निर्हारम्—अपने आपको मुक्त करने के; उद्दिश्य—उद्देश्य से; परस्मिन्—भगवान् को; वा—अथवा; तत्-अर्पणम्—कर्मफल का अर्पण; यजेत्—पूजा करे; यष्टव्यम्—पूजे जाने के लिए; इति—इस प्रकार; वा—अथवा; पृथक्-भावः—पृथकतावादी; सः—वह; सात्त्विकः—सतोगुण में स्थित।

जब भक्त भगवान् की पूजा करता है और अपने कर्मों की त्रुटि से मुक्त होने के लिए अपने कर्मफलों को अर्पित करता है, तो उसकी भक्ति सात्त्विक होती है।

तात्पर्य : ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्ण तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी ये चार आश्रम—इन आठों विभागों के अपने-अपने कर्म हैं, जिन्हें भगवान् को प्रसन्न करने के लिए सम्पन्न करना होता है। जब ऐसे कार्यों को सम्पन्न करके इनके फलों को परमेश्वर को अर्पित कर दिया जाता है, तो वे *कर्मार्पणम्* कहलाते हैं। यदि कोई त्रुटि रह जाती है, तो इस अर्पण से वह पूरी हो जाती है। किन्तु यदि यह अर्पण शुद्ध भक्ति में न होकर सतोगुण में हो तो स्वार्थ भिन्न हो जाता है। चारों आश्रम तथा चारों वर्ण अपने-अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के अनुसार किसी न किसी लाभ के लिए कर्म करते हैं। अत: ऐसे कर्म सतोगुण में होते हैं, इनकी गणना शुद्ध भक्ति की श्रेणी में नहीं की जा सकती। जैसाकि रूप गोस्वामी ने कहा

है : शुद्ध भक्ति समस्त भौतिक इच्छाओं से रहित होती है। *अन्याभिलाषिता शून्यम्*। व्यक्तिगत या भौतिक स्वार्थ के लिए यह बहाना नहीं हो सकता। भक्ति सम्बन्धी कर्मों को सकाम कर्मों तथा यादृच्छिक (अनुभववादी) दार्शनिक चिन्तन से परे होना चाहिए। शुद्ध भक्ति समस्त भौतिक गुणों से परे होती है।

तमो, रजो तथा सतोगुण के अधीन भक्ति को ८१ श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। भक्ति सम्बन्धी कार्यों को नौ प्रकारों में विभाजित किया जाता है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, अर्चन, सेवा तथा समर्पण और इनको पुनः तीन-तीन गुणात्मक श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। इस प्रकार श्रवण के तमो, रजो तथा सतोगुण के अधीन विभाग हो सकते हैं। इसी प्रकार गुणों के भी तीन विभाग हैं। तीन गुणित नौ बराबर सत्ताईस और जब फिर इसे तीन से गुणा करते हैं, तो इक्यासी आता है। मनुष्य को शुद्ध भक्ति के स्तर तक पहुँचने के लिए ऐसी समस्त मिश्रित भक्ति को पार कर जाना होता है जैसाकि अगले श्लोकों में बताया गया है।

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥ ११ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

मत्—मेरा; गुण—गुण; श्रुति—सुनकर; मात्रेण—केवल; मयि—मेरे प्रति; सर्व-गुहा-आशये—प्रत्येक के हृदय में रहते हुए; मनः-गतिः—हृदय का मार्ग; अविच्छिन्ना—समुद्र की ओर; यथा—जिस तरह; गङ्गा—गंगा के; अम्भसः—जल का; अम्बुधौ—समुद्र की ओर; लक्षणम्—प्राकट्य; भक्ति-योगस्य—भक्ति का; निर्गुणस्य—अमिश्रित; हि—निस्सन्देह; उदाहृतम्—प्रकट; अहैतुकी—बिना कारण के; अव्यवहिता—अभिन्न; या—जो; भक्तिः—भक्ति; पुरुष-उत्तमे—भगवान् के प्रति।

जब मनुष्य का मन प्रत्येक व्यक्ति के हृदय के भीतर वास करने वाले भगवान् के दिव्य नाम तथा गुणों के श्रवण की ओर तुरन्त आकृष्ट हो जाता है, तो निर्गुण भक्ति का प्राकट्य होता है। जिस प्रकार गंगा का पानी स्वभावतः समुद्र की ओर बहता है, उसी प्रकार ऐसा भक्तिमय आह्लाद बिना रोक-टोक के परमेश्वर की ओर प्रवाहित होता है।

तात्पर्य : इस निर्गुण शुद्ध भक्ति का मूल सिद्धान्त ईश्वर का प्रेम है। *मद्गुणश्रुतिमात्रेण* का

अर्थ है ''भगवान् के दिव्य गुणों के श्रवण मात्र से।'' ये गुण *निर्गुण* कहलाते हैं। परमेश्वर प्रकृति के गुणों से अकलुषित हैं, अत: शुद्ध भक्त के लिए आकर्षक हैं। ऐसा आकर्षण प्राप्त करने के लिए ध्यान के अभ्यास की आवश्यकता नहीं होती। शुद्ध भक्त पहले से ही दिव्य अवस्था को प्राप्त रहता है और उसके तथा परमेश्वर के बीच का आकर्षण (सहज) होता है, जिसकी तुलना समुद्र की ओर प्रवाहित होने वाली गंगा नदी से की जा सकती है। गंगाजल के प्रवाह को किसी तरह रोका नहीं जा सकता, इसी प्रकार भगवान् के दिव्य नाम, रूप तथा लीलाओं के प्रति शुद्ध भक्त के आकर्षण को किसी भौतिक परिस्थिति के द्वारा रोका नहीं जा सकता। इस प्रसंग में *अविच्छिन्न* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है ''बिना रुकावट के।'' शुद्ध भक्त के भक्ति-प्रवाह को कोई भौतिक परिस्थिति रोक नहीं सकती।

अहैतुकी शब्द का अर्थ ''बिना कारण'' है। एक शुद्ध भक्त भगवान् की प्रेममयी सेवा किसी कारणवश या भौतिक अथवा आध्यात्मिक लाभ के वशीभूत होकर नहीं करता। विशुद्ध भक्ति का यह पहला लक्षण है। *अन्याभिलाषिता शून्यम्*। भक्ति द्वारा उसे किसी इच्छा की पूर्ति नहीं करनी होती। ऐसी भक्ति पुरुषोत्तम के अतिरिक्त अन्य किसी के निमित्त नहीं होती। कभी-कभी छद्म-भक्त अनेक देवताओं के प्रति यह सोचकर भक्ति प्रदर्शित करते हैं कि देवताओं के ये रूप भगवान् के समरूप हैं। किन्तु यहाँ इसका विशेष रूप से उल्लेख है कि भक्ति केवल भगवान् नारायण, विष्णु या कृष्ण के निमित्त होती है, अन्य किसी के लिए नहीं।

अव्यवहिता का अर्थ है ''बिना विश्राम के।'' शुद्ध भक्त को बिना विश्राम के चौबीसों घंटे भगवान् की सेवा मे लगे रहना चाहिए; उसका जीवन ऐसा ढल जाता है कि उसका प्रत्येक क्षण भगवान् की किसी न किसी प्रकार की भक्ति में बीतता है। *अव्यवहिता* का दूसरा अर्थ यह है कि भक्त तथा भगवान् के स्वार्थ एक ही स्तर पर होते हैं। भक्त का स्वार्थ परमेश्वर की इच्छापूर्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भगवान् के प्रति ऐसी ऐच्छिक सेवा दिव्य होती है और प्रकृति के गुणों द्वारा कभी कलुषित नहीं होती। ये शुद्ध भक्ति के लक्षण हैं और शुद्ध भक्ति प्रकृति के सारे कल्मषों से मुक्त होती है।

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सालोक्य—समान लोक में निवास; सार्ष्टि—समान ऐश्वर्य वाला; सामीप्य—व्यक्तिगत पार्षद होना; सारूप्य—समान शारीरिक रूप वाला; एकत्वम्—तादात्म्य; अपि—भी; उत—यहाँ तक कि; दीयमानम्—प्रदान किये जाने पर; न—नहीं; गृह्णन्ति—स्वीकार करते हैं; विना—रहित; मत्—मेरी; सेवनम्—भक्ति; जनाः—शुद्ध भक्त।

शुद्ध भक्त सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य या एकत्व में से किसी प्रकार का मोक्ष स्वीकार नहीं करते, भले ही ये भगवान् द्वारा क्यों न दिये जा रहे हों।

तात्पर्य : भगवान् चैतन्य हमें शिक्षा देते हैं कि किस प्रकार भगवान् के प्रति स्वत:स्फूर्त प्रेम के साथ भक्ति करनी चाहिए। *शिक्षाष्टक* में वे भगवान् से प्रार्थना करते हैं, "हे प्रभु! मैं आपसे न तो कोई सम्पत्ति चाहता हूँ, न ही मैं सुन्दर पत्नी चाहता हूँ और न अनेक अनुयायी चाहता हूँ। मैं आपसे इतना ही चाहता हूँ कि जन्म-जन्मान्तर आपके चरणकमलों का शुद्ध भक्त बना ही रहूँ।" भगवान् चैतन्य की स्तुतियों एवं *श्रीमद्भागवत* के कथनों में साम्य है। चैतन्य महाप्रभु प्रार्थना करते हैं "जन्म-जन्मान्तर" जो इस बात का सूचक है कि शुद्ध भक्त जन्म तथा मृत्यु की समाप्ति भी नहीं चाहता। योगी तथा यादृच्छिक दार्शनिक जन्म तथा मृत्यु की प्रक्रिया का अन्त चाहते हैं, किन्तु शुद्ध भक्त तो इस भौतिक जगत में रहकर भक्ति करना चाहता है।

यहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि शुद्ध भक्त *एकत्व* अर्थात् भगवान् से तदाकार नहीं चाहता जैसाकि निर्विशेषवादी, मन:चिन्तक तथा ध्यानकर्ता कामना करते रहते हैं। परमेश्वर के साथ एक होना शुद्ध भक्त को स्वप्न में भी नहीं सूझता। कभी-कभी वह भगवान् की सेवा करने के उद्देश्य से वैकुण्ठलोक जाना स्वीकार कर लेता है, किन्तु वह ब्रह्मतेज में लीन होने का मन में विचार तक नहीं लाता, क्योंकि इसे वह नरक से भी निकृष्ट मानता है। ऐसे एकत्व अर्थात् ब्रह्मतेज में लीन होने को *कैवल्य* कहते हैं, किन्तु *कैवल्य* से प्राप्त सुख शुद्ध भक्त के लिए नारकीय है। भक्त भगवान् की सेवा करने के लिए इतना इच्छुक रहता है कि उसके लिए पाँचों प्रकार के मोक्ष कोई महत्त्व नहीं रखते। यदि कोई भगवान् की शुद्ध प्रेमा-भक्ति में संलग्न है, तो यह माना जाता है कि उसने पाँचों प्रकार के मोक्ष पहले ही प्राप्त कर लिए हैं।

जब भक्त वैकुण्ठलोक जाता है, तो उसे चार प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। इनमें से एक है *सालोक्य* अर्थात् भगवान् के ही लोक में वास करना। भगवान् अपने विभिन्न पूर्ण-अंशों में असंख्य वैकुण्ठलोकों में निवास करते हैं जिनमें कृष्णलोक प्रमुख है। जिस प्रकार भौतिक ब्रह्माण्ड के भीतर सूर्यलोक मुख्य लोक है उसी तरह वैकुण्ठलोकों में कृष्णलोक प्रमुख है। कृष्णलोक से भगवान् कृष्ण का शारीरिक तेज दिव्यलोक तथा भौतिक जगत में फैलता है, किन्तु भौतिक जगत में यह पदार्थ से ढका रहता है। दिव्यलोक में असंख्य वैकुण्ठलोक हैं और इनमें से प्रत्येक के अधिष्ठाता देव भी भगवान् ही हैं। भक्त को वैकुण्ठ में भगवान् के साथ रहने के लिए भेज दिया जाता है।

सार्ष्टि मोक्ष में भक्त का ऐश्वर्य भगवान् के ऐश्वर्य के तुल्य होता है। *सामीप्य* का अर्थ है भगवान् का साक्षात् पार्षद होना। *सारूप्य* मोक्ष में भक्त का स्वरूप केवल दो-तीन लक्षणों को छोड़कर भगवान् जैसा ही होता है। उदाहरणार्थ, श्रीवत्स के द्वारा भगवान् अपने भक्त से पृथक् हैं।

शुद्ध भक्त इन पाँच प्रकार के मोक्षों को प्रदान किये जाने पर भी स्वीकार नहीं करता। वह भौतिक लाभों की कामना नहीं करता, क्योंकि आध्यात्मिक लाभों की तुलना में ये नगण्य होते हैं। जब प्रह्लाद महाराज को भौतिक लाभ प्रदान किया जा रहा था, तो वे बोले, "हे प्रभु! मैं देख चुका हूँ कि मेरे पिता को सभी प्रकार के भौतिक लाभ प्राप्त थे, यहाँ तक कि देवता भी उनके ऐश्वर्य से भयभीत रहते थे, फिर भी आपने एक क्षण में उनके जीवन का तथा उनकी सारी सम्पन्नता का अन्त कर दिया।" भक्त के लिए भौतिक या आध्यात्मिक सम्पन्नता कोई महत्त्व नहीं रखती। उसकी एकमात्र आकांक्षा भगवान् की सेवा करने की होती है। यही सर्वोच्च सुख है।

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥ १४॥

शब्दार्थ

सः—यह; एव—निस्सन्देह; भक्ति-योग—भक्ति; आख्यः—नामक; आत्यन्तिकः—सर्वोच्च पद; उदाहृतः—कहा गया; येन—जिससे; अतिव्रज्य—लाँघ कर; त्रि-गुणम्—प्रकृति के तीनों गुण; मत्-भावाय—मेरे दिव्य पद को; उपपद्यते—प्राप्त करता है।

जैसा कि मैं बता चुका हूँ, भक्ति का उच्च पद प्राप्त करके मनुष्य प्रकृति के तीनों गुणों के प्रभाव को लाँघ सकता है और दिव्य पद पर स्थित हो सकता है, जिस तरह भगवान् हैं।

तात्पर्य : निर्विशेषवादी चिन्तकों के अग्रणी माने जाने वाले श्रीपाद शंकराचार्य ने *भगवद्गीता* की अपनी टीका के प्रारम्भ में स्वीकार किया कि भगवान् नारायण भौतिक सृष्टि से परे हैं; उन्हें छोड़कर प्रत्येक वस्तु भौतिक सृष्टि के भीतर है। वैदिक साहित्य में भी इसी की पुष्टि हुई है कि सृष्टि के पूर्व केवल नारायण थे—तब न तो ब्रह्मा थे, न शिव। केवल नारायण, या पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु या कृष्ण सदैव भौतिक सृष्टि के प्रभाव के परे दिव्य पद में रहते हैं।

भगवान् की स्थिति को सतो, रजो तथा तमो गुण प्रभावित नहीं कर पाते इसीलिए वे *निर्गुण* (भौतिक गुणों के सभी प्रभावों से मुक्त) कहलाते हैं। यहाँ पर इसी तथ्य की पुष्टि भगवान् कपिल द्वारा दी गई है—जो शुद्ध भक्ति में स्थित है, वह भगवान् के ही समान दिव्य पद पर स्थित है। जिस प्रकार भगवान् प्रकृति गुणों के प्रभाव से अप्रभावित रहते हैं उसी तरह उनके शुद्ध भक्त भी हैं। जो प्रकृतिक के तीन गुणों से प्रभावित नहीं होता वह मुक्त जीव या 'ब्रह्मभूत' कहलाता है। *ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा* मुक्ति की अवस्था है। *अहं ब्रह्मास्मि*—"मैं यह शरीर नहीं हूँ"—यह कथन उस व्यक्ति पर लागू होता है, जो निरन्तर कृष्ण की भक्ति में लगा रहता है और इस तरह दिव्य अवस्था में रहता है। वह प्रकृति के तीन गुणों के प्रभाव से ऊपर रहता है।

यह तो निर्विशेषवादियों की भ्रान्त धारणा है कि मनुष्य ईश्वर या ब्रह्मा के किसी काल्पनिक रूप की पूजा कर सकता है और अन्त में ब्रह्मतेज में लीन हो जाता है। निस्सन्देह, परमेश्वर के शारीरिक (ब्रह्म) तेज में लीन होना भी मोक्ष है, जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है। *एकत्व* भी मोक्ष है, किन्तु कोई भी भक्त इस प्रकार के मोक्ष को अंगीकार नहीं करता, क्योंकि ज्योंही कोई भक्ति में स्थित होता है उसे तुरन्त एकात्म प्राप्त हो जाता है। भक्त के लिए ऐसा

एकात्म, जो निर्गुण मोक्ष का प्रतिफल है, पहले से प्राप्त रहता है, उसे इसके लिए अलग से प्रयत्न नहीं करना होता। यहाँ पर स्पष्ट कहा गया है कि शुद्ध भक्ति से ही मनुष्य भगवान् के समान हो जाता है।

निषेवितेनानिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा ।
क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

निषेवितेन—की गई; अनिमित्तेन—फल की आकांक्षा के बिना, निष्काम भाव से; स्व-धर्मेण—अपने नियत कार्यों से; महीयसा—महिमायुक्त; क्रिया-योगेन—भक्ति सम्बन्धी कार्यों के द्वारा; शस्तेन—शुभ; न—बिना; अतिहिंस्रेण—अत्यधिक हिंसा से; नित्यशः—नियमित रूप से।

भक्त को अपने नियत कार्यों को सम्पन्न करना चाहिए, जो यशस्वी हों और बिना किसी भौतिक लाभ के हों। उसे अधिक हिंसा किये बिना अपने भक्ति कार्य नियमित रूप से करने चाहिए।

तात्पर्य : मनुष्य को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र वर्णों के अनुसार अपने नियत कर्म करने होते हैं। *भगवद्गीता* में भी मानव समाज के चार विभिन्न वर्णों के नियत कर्मों का वर्णन हुआ है। ब्राह्मणों के कर्म हैं इन्द्रियों को वश में करना तथा सरल, स्वच्छ एवं विद्वान भक्त बनना। क्षत्रियों में शासन की प्रवृत्ति होती है, वे युद्ध-भूमि में डरते नहीं और दानशील होते हैं। वैश्य अथवा व्यापारी वर्ग व्यापार करते हैं, गायों की रक्षा करते हैं और कृषि उपज में विकास करते रहते हैं। शूद्र अथवा श्रमिक वर्ग उच्चतर जातियों की सेवा करते हैं, क्योंकि वे स्वयं अधिक बुद्धिमान नहीं होते।

जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है—*स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्य*—हर अवस्था में मनुष्य अपने-अपने नियत कर्म करता हुआ भगवान् की सेवा कर सकता है। ऐसा नहीं है कि केवल ब्राह्मण ही परमेश्वर की सेवा कर सकता है और शूद्र नहीं। कोई भी अपने गुरु अथवा भगवान् के प्रतिनिधि के निर्देशन में अपने-अपने निर्धारित कर्मों को करता हुआ भगवान् की सेवा कर सकता है। किसी को यह नहीं समझना चाहिए कि उसके कर्म निम्न हैं। ब्राह्मण अपनी बुद्धि के प्रयोग से तथा क्षत्रिय अपनी सैन्य चातुरी से भगवान् की सेवा कर सकता है जैसी कि

अर्जुन ने कृष्ण की सेवा की। अर्जुन योद्धा था, उसके पास वेदान्त या कोई बौद्धिक ग्रंथ पढ़ने के लिए समय नहीं था। व्रजधाम की अंगनाएँ वैश्य जाति में उत्पन्न थीं और वे गायों की रक्षा तथा कृषि-कर्म में लगी रहती थीं। कृष्ण के धर्मपिता नन्द महाराज तथा उनके सहकर्मी सभी वैश्य थे। वे थोड़े भी शिक्षित नहीं थे, किन्तु वे कृष्ण को प्रेम द्वारा तथा प्रत्येक वस्तु उन्हें ही अर्पित करके उनकी सेवा करते थे। इसी प्रकार ऐसे कई उदाहरण हैं जहाँ चण्डाल तक कृष्ण की सेवा करते थे। यही नहीं, विदुर मुनि भी शूद्र समझे जाते थे, क्योंकि इनकी माँ शूद्र थीं। किन्तु उनमें कोई अन्तर नहीं माना जाता था, क्योंकि *भगवद्गीता* में भगवान् की घोषणा है कि जो कोई भी भक्ति में लगा रहता है, वह नि:संशय दिव्य पद को प्राप्त होता है। हर एक व्यक्ति का कर्म महत्त्वपूर्ण है यदि वह निष्काम भाव से भगवान् की भक्ति के लिए किया जाय। ऐसी प्रेमा-भक्ति अकारण, निबीध तथा इच्छानुसार सम्पन्न होनी चाहिए। कृष्ण प्रेय हैं और हर एक को उनकी सेवा करनी चाहिए। यही शुद्ध भक्ति है।

इस श्लोक का अन्य महत्त्वपूर्ण पद है *नातिहिंस्रेण* (कम से कम हिंसा या जीवन की बलि करते हुए)। यदि भक्त को हिंसा का सहारा लेना ही पड़े तो आवश्यकता से अधिक नहीं होनी चाहिए। कभी-कभी हमसे यह प्रश्न पूछा जाता है, ‘‘आप मांस न खाने की बात करते हैं, किन्तु आप शाक खाते हैं। क्या यह हिंसा नहीं है?’’ इसका उत्तर यह है कि शाकाहार हिंसा है और शाकाहारी भी अन्य जीवों की हिंसा कर रहे हैं, क्योंकि शाक में भी जीवन है। अभक्त लोग भोजन के लिए गाएँ, बकरे तथा न जाने कितने पशुओं को मार रहे हैं और एक शाकाहारी भक्त भी वध करता है। किन्तु यहाँ इसका विशेष रूप से उल्लेख है कि प्रत्येक जीव को जीवित रहने के लिए दूसरे जीवों का वध करना पड़ता है, यह प्रकृति का नियम है। *जीवो जीवस्य जीवनम्*—एक जीव दूसरे जीव का जीवन है। किन्तु मनुष्य को चाहिए कि जितनी आवश्यक हो उतनी ही हिंसा करे।

मनुष्य को ऐसी कोई वस्तु नहीं खानी चाहिए जो भगवान् को अर्पित न हुई हो। *यज्ञ शिष्टाशिन: सन्त:*—यज्ञ अर्थात् भगवान् को अर्पित खाद्य पदार्थ खाने से मनुष्य समस्त पापों से

मुक्त हो जाता है। अत: भक्त केवल प्रसाद अथवा भगवान् को अर्पित भोजन ही ग्रहण करता है और कृष्ण कहते हैं कि जब भक्त उन पर भक्तिपूर्वक वनस्पति जगत से प्राप्त खाद्य सामग्री अर्पित करता है, तो वे उसे खाते हैं। भक्त कृष्ण को वनस्पतियों (शाक) से तैयार किया गया भोजन अर्पित करे। यदि भगवान् पशुओं से तैयार खाद्य सामग्री चाहते होते तो भक्त उसी की भेंट चढ़ाता। किन्तु भगवान् ने ऐसा न करने का आदेश दिया है।

हमें हिंसा करनी ही पड़ती है, यह एक प्राकृतिक नियम है। किन्तु हमें अंधाधुंध हिंसा नहीं करनी चाहिए, केवल उतनी ही करनी चाहिए जितने का भगवान् से आदेश प्राप्त है। अर्जुन वध-कार्य में लगा रहा और यद्यपि वध करना हिंसा है, तो भी उसने कृष्ण की आज्ञा से शत्रुओं का वध किया। इसी प्रकार यदि हम आवश्यकतानुसार भगवान् के आदेश से हिंसा करते हैं, तो वह *नातिहिंसा* कहलाती है। हम हिंसा से बच नहीं सकते, किन्तु हमें उतनी ही हिंसा करनी चाहिए जितने का आदेश भगवान् से प्राप्त है।

मद्धिष्ण्यदर्शनस्पर्शपूजास्तुत्यभिवन्दनैः ।
भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेनासङ्गमेन च ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

मत्—मेरी; धिष्ण्य—मूर्ति, प्रतिमा; दर्शन—देखना; स्पर्श—छूना; पूजा—पूजा करना; स्तुति—प्रार्थना; अभिवन्दनैः—नमस्कार या वन्दना द्वारा; भूतेषु—समस्त जीवों में; मत्—मेरा; भावनया—विचार से; सत्त्वेन—सतोगुण से; असङ्गमेन—विरक्ति से; च—तथा।.

भक्त को नियमित रूप से मन्दिर में मेरी प्रतिमा का दर्शन करना, मेरे चरणकमल स्पर्श करना तथा पूजन सामग्री एवं प्रार्थना अर्पित करना चाहिए। उसे सात्त्विक भाव से वैराग्य दृष्टि रखनी चाहिए और प्रत्येक जीव को आध्यात्मिक दृष्टि से देखना चाहिए।

तात्पर्य : भक्त के कार्यों में से एक है मन्दिर-पूजा। नवदीक्षितों के लिए इसकी संस्तुति की जाती है, किन्तु जो उन्नत हो चुके हैं, उन्हें मन्दिर-पूजा के प्रति आनाकानी नहीं करनी चाहिए। मन्दिर में भगवान् की उपस्थिति एक नवदीक्षित तथा एक उन्नत भक्त के लिए एकसी नहीं होती। एक नवदीक्षित *अर्चाविग्रह* (भगवान् की प्रतिमा) को मूल भगवान् से भिन्न मानता है, वह इसे देवता (विग्रह) के रूप में भगवान् का स्वरूप मानता है। किन्तु उन्नत भक्त मन्दिर

के विग्रह (देवता) को परमेश्वर करके मानता है। वह भगवान् के मूल रूप तथा मन्दिर के भगवान् के *अर्चाविग्रह* या प्रतिमा में कोई अन्तर नहीं देखता। यह उस भक्त की दृष्टि है, जिसकी भक्ति 'भाव' अथवा भगवद्प्रेम की सर्वोच्च अवस्था में होती है, जबकि नवदीक्षित के लिए मन्दिर पूजा एक नैत्यिक कर्म के रूप में होती है।

मन्दिर में विग्रह-पूजा भक्त के कर्मों में से है। वह नियमित रूप से सुन्दर ढंग से सज्जित विग्रह का दर्शन करने जाता है और अत्यन्त आदर के साथ भगवान् के चरणकमलों का स्पर्श करके, फल, फूल तथा स्तुति जैसी पूजा की भेंट चढ़ाता है। साथ ही, भक्त को चाहिए कि भक्ति में अग्रसर होने के लिए वह अन्य जीवों को आध्यात्मिक स्फुलिंग या परमेश्वर के अंश रूप में देखे। भक्त को प्रत्येक जीव का आदर करना चाहिए, क्योंकि वह भगवान् से सम्बन्धित है। चूँकि सभी जीव मूलतः भगवान् के अंश होने के कारण उनसे सम्बन्धित हैं, अतः भक्त को चाहिए कि उन्हें समान आध्यात्मिक स्तर पर समझे। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, पंडित की दृष्टि में एक विद्वान ब्राह्मण, शूद्र, शूकर, कुत्ता तथा गाय एक समान होते हैं। वह उनके शरीर को नहीं देखता, क्योंकि शरीर तो बाह्य वस्त्र के समान है। वह ब्राह्मण या गाय या शूकर के वेश को नहीं देखता। वह तो उस आध्यात्मिक स्फुलिंग को देखता है, जो भगवान् का अंश-रूप है। यदि भक्त प्रत्येक जीव को भगवान् के अंश-रूप में नहीं देखता तो वह *प्रकृति-भक्त* कहलाता है। वह पूर्णतया आध्यात्मिक पद पर स्थित नहीं होता, अपितु वह भक्ति की निम्नतम अवस्था में होता है। किन्तु वह प्रतिमा (विग्रह) के प्रति समस्त आदर प्रदर्शित करता है।

भक्त यद्यपि समस्त जीवों को आध्यात्मिक स्तर पर देखता है, किन्तु वह हर एक की संगति करने के लिए लालायित नहीं रहता। चूँकि शेर भगवान् का अंश है, अतः इसका अर्थ यह भी नहीं है कि हम उसे गले लगा लें। हमें केवल ऐसे ही व्यक्तियों की संगति करनी चाहिए जिनमें कृष्णभक्ति हो।

हमें ऐसे व्यक्तियों को मित्र बनाना चाहिए और उनका सम्मान करना चाहिए जिन्होंने

कृष्णभक्ति विकसित कर ली है। अन्य जीव असंदिग्ध रूप से परमेश्वर के अंश हैं, किन्तु चूँकि उनकी चेतना अब भी प्रच्छन्न है और कृष्णभक्ति विकसित नहीं हुई, अतः हमें उनकी संगति छोड़ देनी चाहिए। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है कि वैष्णव होते हुए भी यदि किसी का चरित्र अच्छा न हो तो उसकी संगति से बचना चाहिए, भले ही वैष्णव के रूप में वह पूजित क्यों न हो। जो भी विष्णु को भगवान् के रूप में स्वीकार करता है, वह वैष्णव है, किन्तु वैष्णव से आशा की जाती है कि वह अपने में देवताओं के सद्गुण विकसित करे।

श्रीधर स्वामी ने *सत्त्वेन* शब्द का सही अर्थ *धैर्येण* का पर्यायवाची माना है। मनुष्य को अत्यन्त धैर्यपूर्वक भक्ति करनी चाहिए। उसे भक्ति करनी इसलिए नहीं छोड़ देनी चाहिए कि उसके एक या दो प्रयास असफल रहे हैं। उसे प्रयास करते रहना चाहिए। श्रीरूप गोस्वमी भी पुष्टि करते हैं कि मनुष्य में उमंग होनी चाहिए और अत्यन्त धैर्य तथा विश्वास के साथ भक्ति करनी चाहिए। यह विश्वास उत्पन्न करने के लिए कि, ''कृष्ण मुझे अवश्य स्वीकार करेंगे, क्योंकि मैं भक्ति कर रहा हूँ'' धैर्य अनिवार्य है। सफलता के लिए आवश्यक है कि विधि-विधानों के अनुसार सेवा की जाय।

महतां बहुमानेन दीनानामनुकम्पया ।
मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च ॥ १७॥

शब्दार्थ

महताम्—महापुरुषों को; बहु-मानेन—अत्यन्त सम्मान से; दीनानाम्—गरीबों को; अनुकम्पया—दया से; मैत्र्या—मित्रता से; च—तथा; एव—निश्चय ही; आत्म-तुल्येषु—अपने समान व्यक्तियों को; यमेन—इन्द्रियों को वश में करके; नियमेन—नियमपूर्वक; च—तथा।

भक्त को चाहिए कि गुरु तथा आचार्यों को सर्वोच्च सम्मान प्रदान करते हुए भक्ति करे। उसे दीनों पर दयालु होना चाहिए और अपनी बराबरी के व्यक्तियों से मित्रता करनी चाहिए, किन्तु उसके सारे कार्यकलाप नियमपूर्वक तथा इन्द्रिय-संयम के साथ सम्पन्न होने चाहिए।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के तेरहवें अध्याय में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मनुष्य को भक्ति करनी चाहिए और *आचार्य* के गुरु बना करके ही आध्यात्मिक ज्ञान के पथ पर अग्रसर होना

चाहिए। *आचार्योपासनम्*—मनुष्य को आचार्य की उपासना करनी चाहिए, क्योंकि *आचार्य* वह गुरु है, जो वस्तुओं को यथा-रूप जानता है। गुरु को कृष्ण से चली आ रही शिष्य-परम्परा में होना चाहिए। किसी गुरु का पूर्ववर्ती उसका गुरु होता है, जो उसका परम गुरु और उसका भी गुरु होता है और ये सब आचार्यों की शिष्य-परम्परा बनाते हैं।

यहाँ संस्तुति की गई है कि सभी आचार्यों का सर्वाधिक सम्मान किया जाय। कहा गया है : *गुरुषु नर मतिः*—जिसका अर्थ है गुरुओं को सामान्य व्यक्ति की भाँति सोचते हुए। किसी वैष्णव या भक्त को किसी जाति विशेष का सोचना, आचार्यों को सामान्य व्यक्ति के रूप में सोचना या मन्दिर की प्रतिमा को पत्थर, काष्ठ या धातु की बनी समझना निन्दनीय है। *नियमेन*—मान्य विधियों के अनुसार आचार्यों का सर्वाधिक सम्मान किया जाना चाहिए। भक्त को दीनों पर दयालु होना चाहिए। दीन का अर्थ ऐसा व्यक्ति नहीं जो भौतिक रूप से गरीबी के शिकार हैं। भक्ति की दृष्टि से वह व्यक्ति दीन है, जो कृष्णभक्त नहीं है। कोई व्यक्ति कितना ही धनवान क्यों न हो, किन्तु यदि वह कृष्णभक्त नहीं है, तो वह दीन (गरीब) है। दूसरी ओर रूप गोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी जैसे अनेक आचार्य हुए हैं, जो वृक्षों के नीचे रात-रात भर रहते थे। ऊपर से लगता था कि वे गरीबी से ग्रस्त हैं, किन्तु उनकी रचनाओं से पता चलता है कि आध्यात्मिक जीवन में वे कितने सम्पन्न महापुरुष थे।

जिनमें आध्यात्मिक ज्ञान का अभाव है, भक्त उन दीन आत्माओं को कृष्णभक्ति का मार्ग दिखलाकर दया दिखाते हैं। भक्त का यह कर्तव्य है। उसे ऐसे व्यक्तियों से मित्रता करनी चाहिए जो उसके समतुल्य हों या जिनका ज्ञान उसी के समान हो। भक्त को सामान्य व्यक्तियों के साथ मित्रता करने का कोई प्रयोजन नहीं है। उसे अन्य भक्तों के साथ मित्रता करनी चाहिए जिससे परस्पर विचार-विनिमय करके वे एक दूसरे को आध्यात्मिक बोध के पथ पर अग्रसर करा सकें। यह *इष्टगोष्ठी* कहलाती है।

भगवद्गीता में *बोधयन्तः परस्परम्*—''परस्पर विचार-विमर्श'' करने का निर्देश है। सामान्यतः शुद्ध भक्त अपना अमूल्य समय भगवान् कृष्ण या भगवान् चैतन्य का कीर्तन करने

तथा उनके कार्यकलापों के विषय में परस्पर विचार-विमर्श करने में लगाते हैं। ऐसी असंख्य कृतियाँ हैं—यथा *पुराण, महाभारत, भागवत, भगवद्गीता, उपनिषद्* जिनमें भक्तों के विचार-विमर्श के अनुकूल असंख्य विषय हैं। पारस्परिक रुचियों तथा समझ के आधार पर व्यक्तियों के बीच मैत्री सुदृढ़ होनी चाहिए। ऐसे व्यक्ति 'स्वजाति' कहलाते हैं। भक्त को ऐसे व्यक्ति से बचना चाहिए जिसका चरित्र मानक विवेके अनुसार स्थिर न हो। भले ही वह वैष्णव या कृष्ण का भक्त क्यों न हो, यदि उसका चरित्र ठीक नहीं है, तो उससे दूर रहना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि धीरे-धीरे इन्द्रियों तथा मन पर संयम प्राप्त करे, विधि-विधानों का दृढ़ता से पालन करे तथा समान स्तर वाले व्यक्तियों से मित्रता स्थापित करे।

आध्यात्मिकानुश्रवणान्नामसङ्कीर्तनाच्च मे ।
आर्जवेनार्यसङ्गेन निरहङ्क्रियया तथा ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

आध्यात्मिक—आध्यात्मिक बातें; अनुश्रवणात्—सुनने से; नाम-सङ्कीर्तनात्—पवित्र नाम के संकीर्तन से; च—तथा; मे—मेरा; आर्जवेन—सरल आचरण से; आर्य-सङ्गेन—साधु पुरुषों की संगति से; निरहङ्क्रियया—अहंकार रहित; तथा—इस प्रकार।

भक्त को चाहिए कि आध्यात्मिक बात ही सुने और अपने समय का सदुपयोग भगवान् के पवित्र नाम के जप में करे। उसका आचरण सुस्पष्ट एवं सरल हो। किन्तु वह ईर्ष्यालु न हो। वह सबों के प्रति मैत्रीपूर्ण होते हुए भी ऐसे व्यक्तियों की संगति से बचे जो आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत नहीं हैं।

तात्पर्य : आध्यात्मिक बोध में अग्रसर होने के लिए आध्यात्मिक ज्ञान के विषय में प्रामाणिक स्रोतों से श्रवण करना होता है। आध्यात्मिक जीवन की वास्तविकता समझने के लिए कठोर अनुष्ठानों का पालन करना चाहिए और इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखना चाहिए। नियन्त्रण प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अहिंसक तथा सत्यनिष्ठ बने, चोरी न करे, विषयी जीवन से दूर रहे और जीवन-निर्वाह के लिए कम से कम आवश्यक वस्तुएँ ही अपने पास रखे। वह न तो आवश्यकता से अधिक भोजन करे, न आवश्यकता से अधिक साज-सामान एकत्र करे; सामान्य व्यक्तियों से वृथा वार्तालाप न करे और बिना किसी उद्देश्य के

विधि-विधानों को न अपनाए। केवल उन्हीं विधि-विधानों का पालन करे जिनसे वास्तविक प्रगति हो सके।

भगवद्गीता में अठरह गुण बताये गये हैं जिनमें से सादगी या सरलता भी एक है। मनुष्य को न तो गर्व करना चाहिए, न अन्यों से व्यर्थ का सम्मान कराना चाहिए। उसे अहिंसक होना चाहिए। *अमानित्वम् अदम्भित्वम् अहिंसा*। मनुष्य को अत्यन्त सहिष्णु तथा सरल होना चाहिए, उसे गुरु बनाना चाहिए और इन्द्रियों पर संयम रखना चाहिए। इसका उल्लेख यहाँ पर और साथ ही *भगवद्गीता* में भी हुआ है। मनुष्य को प्रामाणिक स्रोतों से श्रवण करना चाहिए कि आध्यात्मिक जीवन में किस तरह प्रगति की जाय। ऐसे उपदेश आचार्य से ग्रहण करने चाहिए और उनको आत्मसात् करना चाहिए।

यहाँ पर *नाम-संकीर्तनाच्च* का विशेष उल्लेख है—अर्थात् मनुष्य को भगवान् के पवित्र नाम—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का कीर्तन या तो अकेले या मिलकर करना चाहिए। भगवान् चैतन्य ने आध्यात्मिक उन्नति के मूलभूत सिद्धान्त के रूप में भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन पर विशेष बल दिया है। एक अन्य शब्द यहाँ प्रयुक्त हुआ है—*आर्जवेन* जिसका अर्थ है "बिना कूटनीति के।" भक्त को अपने हितार्थ कोई योजना नहीं बनानी चाहिए। निस्सन्देह, धर्मोपदेशकों को भगवान् के ध्येय को पूरा करने के लिए कभी-कभी समुचित मार्ग-निर्देशन के अन्तर्गत कुछ योजनाएँ बनानी पड़ती हैं, किन्तु जहाँ तक अपना हित है उसके सम्बन्ध में भक्त को सदैव कूटनीति से रहित होना चाहिए और उसे ऐसे व्यक्तियों से दूर रहना चाहिए जो आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर पा रहे। एक अन्य *आर्य* भी शब्द प्रयुक्त हुआ है। *आर्य* वे व्यक्ति हैं, जो कृष्णचेतना में प्रगति करने के साथ ही भौतिक समृद्धि में भी उन्नति करते हैं। *आर्य* तथा *अनार्य* या सुर तथा असुर के बीच जो अन्तर है, वह उनकी आध्यात्मिक प्रगति के स्तरों में अन्तर है। ऐसे व्यक्तियों की संगति वर्जित है, जो आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत नहीं हैं। भगवान् चैतन्य का उपदेश था—*असत्-सङ्ग-त्याग*—जो लोग नाशवान वस्तुओं के प्रति अनुरक्त हैं ऐसे व्यक्तियों का त्याग करो। *असत्* वह

है, जो भौतिक दृष्टि से अनुरक्त है, जो भगवान् का भक्त नहीं है तथा स्त्रियों या भोग्य वस्तुओं के प्रति अत्यधिक आसक्त रहता है। वैष्णव दर्शन के अनुसार ऐसा व्यक्ति अप्रिय पात्र है।

भक्त को अपनी कमाई पर गर्व नहीं होना चाहिए। भक्त के लक्षण हैं उसकी विनयशीलता तथा सहिष्णुता। भले ही वह आध्यात्मिक दृष्टि से कितना ही उन्नत क्यों न हो वह सदैव विनीत तथा सहिष्णु बना रहता है, जैसाकि कविराज गोस्वामी तथा अन्य वैष्णवों ने अपने उदाहरणों द्वारा हमें शिक्षा दी है। चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा थी कि मनुष्य को रास्ते की घास से भी अधिक विनीत तथा वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु होना चाहिए। उसे न तो गर्व करना चाहिए न झूठे ही फूला रहना चाहिए। इस प्रकार वह आध्यात्मिक जीवन में निश्चित रूप से प्रगति कर सकेगा।

मद्धर्मणो गुणैरेतैः परिसंशुद्ध आशयः ।
पुरुषस्याञ्जसाभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

मत्-धर्मणः—मेरे भक्त के; गुणैः—गुणों से; एतैः—इन; परिसंशुद्धः—पूर्णतया शुद्ध; आशयः—चेतना; पुरुषस्य—पुरुष की; अञ्जसा—तुरन्त; अभ्येति—निकट आता है; श्रुत—सुनकर; मात्र—केवल; गुणम्—गुण; हि—निश्चय ही; माम्—मुझको।

जब मनुष्य इन समस्त लक्षणों से पूर्णतया सम्पन्न होता है और इस तरह उसकी चेतना पूरी तरह शुद्ध हो लेती है, तो वह मेरे नाम या मेरे दिव्य गुण के श्रवण मात्र से तुरन्त ही आकर्षित होने लगता है।

तात्पर्य : इस उपदेश के प्रारम्भ में ही भगवान् ने अपनी माता को बताया कि *मद्गुण-श्रुति-मात्रेण*—मेरे (भगवान्) नाम, गुण, रूप आदि के श्रवण मात्र से मनुष्य अनुरक्त हो जाता है। विभिन्न शास्त्रों द्वारा अनुमोदित विधि-विधानों का पालन करने से मनुष्य समस्त दिव्य गुणों में पूर्ण योग्य बन जाता है। भौतिक संगति के कारण हमने जो कुछ अनावश्यक गुण विकसित कर लिये हैं उस कल्मष से उपर्युक्त प्रक्रिया का पालन करके हम छूट सकते हैं। पिछले श्लोक में वर्णित दिव्य गुणों को विकसित करने के लिए हमें इन कल्मषग्रस्त गुणों से मुक्त होना चाहिए।

यथा वातरथो घ्राणमावृङ्क्ते गन्ध आशयात् ।
एवं योगरतं चेत आत्मानमविकारि यत् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; वात—वायु का; रथः—रथ; घ्राणम्—सूँघने की इन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय; आवृङ्क्ते—ग्रहण करती है; गन्धः—सुगन्धि; आशयात्—स्रोत से; एवम्—उसी तरह; योग-रतम्—भक्ति में लगी हुई; चेतः—चेतना; आत्मानम्—परमात्मा; अविकारि—अपरिवर्तनशील; यत्—जो।

जिस प्रकार वायु का रथ गन्ध को उसके स्रोत से ले जाता है और तुरन्त घ्राणेन्द्रिय तक पहुँचाता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति निरन्तर कृष्णभावनाभावित भक्ति में संलग्न रहता है, वह सर्वव्यापी परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य : जिस तरह उद्यान के फूलों की सुगन्ध को ले जाने वाला समीर तुरन्त घ्राणेन्द्रिय तक पहुँच जाता है उसी प्रकार भक्ति-भाव से सिक्त-चेतना (भावना) परमेश्वर के दिव्य अस्तित्व तक पहुँच जाती है, क्योंकि भगवान् अपने परमात्मा रूप में सर्वत्र, प्रत्येक जीव के हृदय में विद्यमान रहते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् क्षेत्रज्ञ हैं, इस शरीर के भीतर विद्यमान हैं, किन्तु एक ही समय वे अन्य शरीर में भी रहते हैं। चूँकि अमुक आत्मा किसी अमुक शरीर में ही विद्यान रहता है, अतः जब अन्य आत्मा उसका साथ नहीं देता तो वह बदल जाता है। किन्तु परमात्मा समान रूप से सर्वत्र विद्यमान रहता है। व्यष्टि आत्माएँ विरोधी हो सकती हैं; किन्तु हर शरीर में विद्यमान होने के कारण परमात्मा अविकारी अर्थात् अपरिवर्तनशील कहलाता है। जब व्यष्टि आत्मा कृष्णभक्ति से सिक्त हो जाता है तभी वह परमात्मा की उपस्थिति को समझ सकता है। *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है कि कृष्णभावनामृत से पूरित व्यक्ति ही भगवान् को या तो परमात्मा या परम पुरुष के रूप में जान सकता है(*भक्त्या माम् अभिजानाति*)।

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा ।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; सर्वेषु—समस्त; भूतेषु—जीवों में; भूत-आत्मा—सभी जीवों में परमात्मा; अवस्थितः—स्थित; सदा—सदैव; तम्—उस (परमात्मा) को; अवज्ञाय—अनादर करके; माम्—मुझको; मर्त्यः—मरणशील व्यक्ति; कुरुते—करता है; अर्चा—विग्रह की पूजा का; विडम्बनम्—अनुकरण, स्वाँग।

मैं प्रत्येक जीव में परमात्मा रूप में स्थित हूँ। यदि कोई 'परमात्मा सर्वत्र है' इसकी उपेक्षा या अवमानना करके अपने आपको मन्दिर के विग्रह-पूजन में लगाता है, तो यह केवल स्वाँग या दिखावा है।

तात्पर्य : विशुद्ध चेतनामय या कृष्णभावनाभावित होने पर मनुष्य को सर्वत्र कृष्ण ही कृष्ण दिखते हैं। अतः यदि कोई मन्दिर में विग्रह-पूजा में ही लगा रहता है और अन्य जीवों को मान्यता नहीं देता तो वह भक्ति की निम्नतम अवस्था में होता है। जो मन्दिर में विग्रह-पूजन करता है और अन्यों के प्रति सम्मान नहीं दिखाता वह भौतिक भक्त है और भक्ति की निम्नतम अवस्था में स्थित होता है। भक्त को चाहिए कि प्रत्येक वस्तु को कृष्ण से सम्बन्धित समझे और उसी भाव से हर प्राणी की सेवा करे। हर वस्तु की सेवा करने का अर्थ है भगवान् की सेवा में हर वस्तु को लगाना। यदि कोई व्यक्ति अबोध है और कृष्ण से अपने सम्बन्ध को नहीं जानता, तो किसी सिद्ध भक्त को चाहिए कि उसे कृष्ण की सेवा में लगावे। ऐसा सिद्ध भक्त न केवल जीवों को, अपितु हर वस्तु को कृष्ण की सेवा में लगा सकता है।

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; माम्—मुझको; सर्वेषु—सभी; भूतेषु—जीवों में; सन्तम्—उपस्थित होकर; आत्मानम्—परमात्मा; ईश्वरम्—परमात्मा को; हित्वा—उपेक्षा करके; अर्चाम्—विग्रह को; भजते—पूजता है; मौढ्यात्—अज्ञानवश; भस्मनि—राख में; एव—केवल; जुहोति—आहुति डालता है; सः—वह।

जो मन्दिरों में भगवान् के विग्रह का पूजन करता है, किन्तु यह नहीं जानता कि परमात्मा रूप में परमेश्वर प्रत्येक जीव के हृदय में आसीन हैं, वह अज्ञानी है और उसकी तुलना उस व्यक्ति से की जाती है, जो राख में आहुतियाँ डालता है।

तात्पर्य : यहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् परमात्मा के पूर्ण अंश रूप में समस्त जीवों में विद्यमान हैं। जीवों के कुल मिलाकर ८४,००,००० विभिन्न प्रकार के शरीर हैं और पूर्ण

पुरुषोत्तम भगवान् प्रत्येक शरीर में व्यष्टि आत्मा तथा परमात्मा के रूप में निवास कर रहा है। चूँकि प्रत्येक आत्मा परमेश्वर का अंश है, इस तरह भगवान् हर शरीर में वास करता है और परमात्मा के रूप में वह साक्षी के रूप में भी रहता है। दोनों ही तरह से प्रत्येक जीव में ईश्वर की उपस्थिति अनिवार्य है। अत: जो लोग अपने को किसी धार्मिक सम्प्रदाय से सम्बद्ध मानते हैं, किन्तु हर जीव में तथा अन्यत्र सर्वत्र भगवान् के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, वे तमो गुण के आधीन हैं।

यदि भगवान् की सर्वव्यापकता के इस प्राथमिक ज्ञान के बिना कोई मन्दिर, मसजिद या गिरजाघर के अनुष्ठानों में ही अपने आपको लगाता है, तो यह उसी तरह है जैसे कोई अग्नि में घी की आहुति न डालकर राख में डाल रहा हो। किन्तु यदि वैदिक मन्त्र तथा अन्य सारी परिस्थितियाँ अनुकूल हों और घी को राख में डाल दिया जाय तो ऐसा यज्ञ व्यर्थ होता है। दूसरे शब्दों में, भक्त को चाहिए कि किसी जीव की अवहेलना न करे। भक्त को जानना चाहिए कि जीव कितना ही तुच्छ क्यों न हो, भले ही वह चींटी हो, सबमें ईश्वर उपस्थित है, अत: प्रत्येक जीव के साथ सदय व्यवहार होना चाहिए और उसके साथ किसी प्रकार की हिंसा नहीं की जानी चाहिए। आधुनिक सभ्य समाज में नियमित कसाईघर चल रहे हैं और वे विशेष प्रकार के धार्मिक सिद्धान्त से समर्थित हैं। किन्तु प्रत्येक जीव में ईश्वर की उपस्थिति को जाने बिना मानव सभ्यता की कोई भी तथाकथित प्रगति, चाहे आध्यात्मिक हो या भौतिक, तामसी समझी जाएगी।

द्विषत: परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिन: ।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मन: शान्तिमृच्छति ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

द्विषत:—द्वेष रखने वाले का; पर-काये—दूसरे के शरीर के प्रति; माम्—मुझको; मानिन:—आदर करते हुए; भिन्न-दर्शिन:—पृथकतवादी का; भूतेषु—जीवों के प्रति; बद्ध-वैरस्य—शत्रुता रखने वाले का; न—नहीं; मन:—मन; शान्तिम्—शान्ति; ऋच्छति—प्राप्त करता है।

जो मुझे श्रद्धा अर्पित करता है, किन्तु अन्य जीवों से ईर्ष्यालु है, वह इस कारण पृथकतावादी है। उसे अन्य जीवों के प्रति शत्रुतापूर्ण व्यवहार करने के कारण कभी भी

मन की शान्ति प्राप्त नहीं हो पाती।

तात्पर्य : इस श्लोक में *भूतेषु बद्धवैरस्य* (अन्यों के प्रति शत्रुतापूर्ण) तथा *द्विषत: परकाये* (अन्य के शरीर से ईष्यालु) ये दो वाक्यांश महत्त्वपूर्ण हैं। जो व्यक्ति अन्यों के प्रति द्वेष-भाव या शत्रुता रखता है, वह कभी सुखी नहीं रहता। अत: भक्त की दृष्टि परिपूर्ण होनी चाहिए। उसे शारीरिक उपाधियों की अनदेखी करते हुए परमेश्वर के अंश तथा परमात्मा के रूप में साक्षात् भगवान् की उपस्थिति देखनी चाहिए। यही शुद्ध भक्त की दृष्टि है। भक्त द्वारा किसी जीव की बाह्य शारीरिक अभिव्यक्ति की उपेक्षा की जाती है।

यहाँ यह व्यक्त हुआ है कि भगवान् बद्धजीवों के उद्धार के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं। भक्तों से अपेक्षा की जाती है कि वे भगवान् के उद्देश्य या उनकी इच्छा को ऐसे बद्धजीवों तक ले जावेंगे और उन्हें कृष्णभावनामृत से आलोकित करेंगे। इस प्रकार वे दिव्य भौतिक जीवन तक उठ सकते हैं और उनके जीवन का उद्देश्य सफल हो सकता है। निस्सन्देह जो जीव मनुष्य से निम्न हैं, उनके लिए ऐसा सम्भव नहीं है, किन्तु मानव समाज में तो यह सम्भव है कि सभी प्राणियों को कृष्णभक्ति से आलोकित किया जा सके। यहाँ तक कि मनुष्य से निम्न प्राणी भी अन्य विधियों से कृष्णभक्ति तक ऊपर उठाये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, चैतन्य महाप्रभुके परम भक्त शिवानन्द सेन ने एक कुत्ते का प्रसाद खिलाकर उद्धार किया। यहाँ तक कि अज्ञानी जन-समुदाय तथा पशुओं को प्रसाद वितरित करने से उनको कृष्णभक्ति तक उठने का अवसर मिल जाता है। वास्तव में ऐसा हुआ कि वही कुत्ता, जब चैतन्य महाप्रभु को पुरी में मिला तो उसे भवबन्धन से मुक्ति मिल गई।

यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेख है कि भक्त को सभी प्रकार की हिंसा (जीवहिंसा) से मुक्त होना चाहिए। भगवान् चैतन्य ने संस्तुति की है कि भक्त को किसी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए। कभी-कभी यह प्रश्न उठाया जाता है कि चूँकि वनस्पतियों में भी जीवन है और भक्तगण शाक खाते हैं, तो क्या यह हिंसा नहीं है? किन्तु पहले तो यह कि वृक्ष से कुछ पत्तियाँ, टहनियाँ या फल तोड़ने लेने से वह वृक्ष मरता नहीं। इसके अतिरिक्त, जीवहिंसा का

अर्थ है कि चूँकि प्रत्येक जीव को अपने पूर्वकर्म के अनुसार विशेष शरीर धारण करना पड़ता है, भले ही प्रत्येक जीव शाश्वत हो, अतः उसे अपने क्रमिक विकास से विचलित नहीं होना चाहिए। भक्त को भक्ति सम्बन्धी सारे नियम यथावत् पूरे करने होते हैं। उसे यह जानना चाहिए कि कोई जीव कितना ही क्षुद्र क्यों न हो उसके भीतर भगवान् उपस्थित हैं। भक्त को भगवान् की इस सर्वव्यापकता को समझना चाहिए।

अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे ।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ॥ २४॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; उच्च-अवचैः—विविध; द्रव्यैः—सामग्री से; क्रियया—धार्मिक अनुष्ठानों से; उत्पन्नया—सम्पन्न; अनघे—हे निष्कलुष माता; न—नहीं; एव—निश्चय ही; तुष्ये—प्रसन्न होता हूँ; अर्चितः—पूजित; अर्चायाम्—प्रतिमा रूप में; भूत-ग्राम—अन्य जीवों को; अवमानिनः—अनादर करने वालों से।

हे माते, भले ही कोई पुरुष सही अनुष्ठानों तथा सामग्री द्वारा मेरी पूजा करता हो, किन्तु यदि वह समस्त प्राणियों में मेरी उपस्थिति से अनजान रहता है, तो वह मन्दिर में मेरे विग्रह की कितनी ही पूजा क्यों न करे, मैं उससे कभी प्रसन्न नहीं होता।

तात्पर्य : मन्दिर में अर्चा विग्रह पूजन के ६४ विविध प्रकार हैं। विग्रह को अनेक वस्तुएँ अर्पित की जाती हैं—कुछ बहुमूल्य तो कुछ कम मूल्यवान। *भगवद्गीता* में बताया गया है : ''यदि कोई भक्त मुझे एक छोटा-सा फूल, एक पत्ती, कुछ जल या छोटा-सा फल भी अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार कर लेता हूँ।'' वास्तविक प्रयोजन तो ईश्वर के प्रति प्रेमा-भक्ति को प्रकट करना है, भेंटें तो गौण हैं। यदि भगवान् के प्रति प्रेमा-भक्ति उत्पन्न नहीं हो पाई और यदि बिना वास्तविक भक्ति के भोजन, फल तथा फूल अर्पित किये जाते हैं, तो इस भेंट को भगवान् स्वीकार नहीं करते। हम भगवान् को घूस नहीं दे सकते। वे इतने महान् हैं कि हमारी घूस का कोई महत्त्व नहीं रहता। न ही उनके पास अभाव है। वे स्वयं पूर्ण हैं, तो फिर हम उन्हें क्या भेंट कर सकते हैं? हर वस्तु उन्हीं के द्वारा उत्पन्न है। हम केवल अपना प्रेम तथा कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

यह कृतज्ञता तथा ईश-प्रेम उस शुद्ध भक्त द्वारा प्रकट होता है, जो यह जानता है कि

भगवान् हर प्राणी में निवास करते हैं। इस तरह, मन्दिर-पूजा में प्रसाद वितरण सम्मिलित है। ऐसा नहीं है कि कोई अपने निजी घर में मन्दिर बना ले, भगवान् को कुछ अर्पित करे और तब खाये। हाँ, भगवान् के साथ अपना सम्बन्ध समझे बिना भोजन बनाकर खाने की अपेक्षा ऐसा करना उत्तम है। जो लोग ऐसा करते हैं, वे पशुओं के तुल्य हैं। किन्तु जो भक्त ज्ञान के उच्चस्तर तक पहुँचना चाहता है उसे जानना चाहिए कि भगवान् प्रत्येक जीव में विद्यमान हैं और जैसाकि पिछले श्लोक में बताया गया है उसे अन्य प्राणियों पर कृपालु होना चाहिए। भक्त को भगवान् की पूजा करनी चाहिए, अपने समधर्मियों के साथ मित्र-भाव रखना चाहिए और अज्ञानियों के प्रति दयालु होना चाहिए। अज्ञानी जीवों के प्रति कृपा दिखाने के लिए प्रसाद वितरण करना चाहिए। जो लोग भगवान् पर भेंट चढ़ाते हैं उनके लिए आवश्यक है कि अज्ञानी जन-समूह को प्रसाद बाँटें।

असली प्रेम तथा भक्ति भगवान् को ग्राह्य है। यदि मनुष्य भूखा न हो और उसको अनेक बहुमूल्य भोज्य पदार्थ भेंट किये जाँय तो यह उसके लिए व्यर्थ है। इसी प्रकार भले ही हम विग्रह को अनेक बहुमूल्य सामग्री अर्पित करें, किन्तु यदि हममें भक्तिभाव नहीं है और भगवान् की सर्वत्र उपस्थिति का बोध नहीं है, तो हममें भक्ति का अभाव है, ऐसी अज्ञान की अवस्था में हम भगवान् को स्वीकार्य कोई वस्तु भेंट नहीं कर सकते।

अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत् ।
यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

अर्चा-आदौ—अर्चा पूजा इत्यादि; अर्चयेत्—पूजा करे; तावत्—तब तक; ईश्वरम्—भगवान् को; माम्—मुझ; स्व—अपना; कर्म—निर्दिष्ट कर्तव्य; कृत्—किये हुए; यावत्—जब तक; न—नहीं; वेद—अनुभव करता है; स्व-हृदि—अपने हृदय में; सर्व-भूतेषु—समस्त जीवों में; अवस्थितम्—स्थित।

मनुष्य को चाहिए कि अपने निर्दिष्ट कर्म करते हुए भगवान् के अर्चाविग्रह का तब तक पूजन करता रहे, जब तक उसे अपने हृदय में तथा साथ ही साथ अन्य जीवों के हृदय में मेरी उपस्थिति का अनुभव न हो जाय।

तात्पर्य : यहाँ पर उन लोगों के लिए भी भगवान् के विग्रह (प्रतिमा) की पूजा करने की

आज्ञा दी गई है, जो केवल अपने निर्दिष्ट कर्म में लगे रहते हैं। विभिन्न वर्ण के लोगों यथा—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण के लोगों तथा विभिन्न आश्रमों यथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास के लिए कुछ निर्दिष्ट कर्म हैं। मनुष्य को तब तक भगवान् के विग्रह (प्रतिमा) की पूजा करनी चाहिए जब तक वह प्रत्येक जीव में भगवान् की उपस्थिति का अनुभव न करने लगे। दूसरे शब्दों में, उस मनुष्य को अपने कर्तव्यों को सही-सही निबाहने में ही सन्तुष्ट रहना चाहिए। उसे अपना तथा अन्य जीवों का भगवान् के साथ जो सम्बन्ध है, उसे अनुभव करना चाहिए। यदि वह इतना नहीं समझता, तो यह समझना चाहिए कि भले ही वह अपना कर्म ठीक से निबाह रहा हो, किन्तु वह व्यर्थ ही श्रम कर रहा है।

इस श्लोक में *स्व-कर्म-कृत्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *स्व-कर्म-कृत्* का अर्थ है ऐसा व्यक्ति जो अपने निर्दिष्ट कर्मों को पूरा करता है। ऐसा नहीं है कि जो भगवान् का भक्त बन जाता है अथवा भक्ति करता है, उसे अपने निर्दिष्ट कर्म बन्द कर देने चाहिए। किसी को भक्ति के बहाने आलसी नहीं बनना चाहिए। उसे निर्दिष्ट कर्मों के अनुसार भक्ति करनी है। *स्व-कर्म-कृत्* बताता है कि मनुष्य को बिना लापरवाही के अपने निर्दिष्ट कर्म करने चाहिए।

आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम् ।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

आत्मनः—स्व का, अपना; च—तथा; परस्य—दूसरे का; अपि—भी; यः—जो कोई; करोति—भेदभाव रखता है; अन्तरा—मध्य में; उदरम्—शरीर के; तस्य—उसका; भिन्न-दृशः—भेद-दर्शी; मृत्युः—मृत्यु के रूप में; विदधे—मैं उत्पन्न करता हूँ; भयम्—डर; उल्बणम्—महान।

जो भी अपने में तथा अन्य जीवों के बीच भिन्न दृष्टिकोण के कारण तनिक भी भेदभाव करता है उसके लिए मैं मृत्यु की प्रज्ज्वलित अग्नि के समान महान् भय उत्पन्न करता हूँ।

तात्पर्य : समस्त प्रकार के जीवों के बीच अनेक शारीरिक भिन्नताएं हैं, किन्तु भक्त को इस आधार पर एक जीव तथा दूसरे जीव में भेदभाव नहीं करना चाहिए। भक्त का दृष्टिकोण तो यह होना चाहिए कि समस्त प्रकार के जीवों में आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही समान रूप से

उपस्थित हैं।

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ॥ २७॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; माम्—मुझको; सर्व-भूतेषु—समस्त प्राणियों में; भूत-आत्मानम्—सभी जीवों में आत्म (स्व); कृत-आलयम्—निवास करते हुए; अर्हयेत्—पूजा करनी चाहिए; दान-मानाभ्याम्—दान तथा आदर से; मैत्र्या—मित्रता से; अभिन्नेन—समान; चक्षुषा—देखने से।

अतः दान तथा सत्कार के साथ ही साथ मैत्रीपूर्ण आचरण से तथा सबों पर एक सी दृष्टि रखते हुए मनुष्य को मेरी पूजा करनी चाहिए, क्योंकि मैं सभी प्राणियों में उनके आत्मा के रूप में निवास करता हूँ।

तात्पर्य : लोगों की यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि चूँकि परमात्मा हर प्राणी के हृदय में वास करता है इसलिए व्यष्टि आत्मा उसके तुल्य है। परमात्मा तथा आत्मा की समानता निर्विशेषवादियों के मन की उपज है। यहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि आत्मा को भगवान् के सम्बन्ध में ही मान्यता देनी चाहिए। आत्मा की पूजा विधि यहाँ इस प्रकार बताई गई है कि या तो दान देकर, या पृथकतावादी दृष्टिकोण से मुक्त होकर मैत्रीभाव से आचरण किया जाय। कभी-कभी निर्विशेषवादी बेचारे आत्मा को दरिद्र-नारायण के रूप में मान लेते हैं—जिसका अर्थ है भगवान् नारायण दरिद्र (गरीब) हो गये हैं। यह विरोधाभास है। भगवान् सर्व ऐश्वर्यों से परिपूर्ण हैं। वे किसी दरिद्र आत्मा के साथ अथवा पशु तक के साथ रहना स्वीकार कर लेंगे, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वे दरिद्र हो गये हैं।

यहाँ पर संस्कृत के दो शब्द आये हैं—*मान* तथा *दान*। *मान* श्रेष्ठ का सूचक है और *दान* उसको बताता है, जो दान देता है या किसी कनिष्ट पर दया दिखाता है। हम भगवान् को ऐसा निम्न व्यक्ति नहीं मान सकते जो हमारे दान पर आश्रित हो। जब हम दान देते हैं, तो सदैव अपने से निम्न भौतिक या आर्थिक अवस्था वाले को देते हैं। दान कभी धनी व्यक्ति को नहीं दिया जाता। इसी प्रकार अप्रत्यक्षतः बताया गया है कि मान या आदर श्रेष्ठ को दिया जाता है, जबकि दान अपने से निम्न को।

अपने कर्मफलों के अनुसार जीवात्मा धनी या निर्धन हो सकता है, किन्तु परमेश्वर अपरिवर्तित रहा आता है, वह तो सदैव छह ऐश्वर्यों से सम्पन्न रहता है। जीवों के प्रति समभाव रखने का अर्थ यह नहीं है कि उस जीव के साथ भगवान् जैसा व्यवहार बरता जाय। दया तथा मैत्री का अर्थ यह नहीं है कि किसी को झूठे ही परमेश्वर के उच्च पद तक उठा दिया जाय। किन्तु साथ ही हमें इस भ्रम में भी नहीं पड़ना चाहिए कि शूकर जैसे पशु के हृदय में स्थित परमात्मा तथा एक विद्वान ब्राह्मण के हृदय में स्थित परमात्मा भिन्न-भिन्न हैं। सभी जीवों में स्थित परमात्मा एक ही परमेश्वर है। अपनी सर्वशक्तिमत्ता से भगवान् कहीं भी रह सकता है और कहीं भी वैकुण्ठलोक जैसी परिस्थिति उत्पन्न कर सकता है। यही उनकी अचिन्त्य शक्ति है। अत: जब नारायण एक शूकर के हृदय में वास करता है, तो वह शूकर-नारायण नहीं बन जाता। वह शूकर की देह से अप्रभावित रहकर सदैव नारायण बना रहता है।

जीवा: श्रेष्ठा ह्यजीवानां तत: प्राणभृत: शुभे ।
तत: सचित्ता: प्रवरास्ततश्चेन्द्रियवृत्तय: ॥ २८॥

शब्दार्थ

जीवा:—जीव; श्रेष्ठा:—अधिक अच्छे; हि—निस्सन्देह; अजीवानाम्—अचेतन पदार्थों से; तत:—उनकी अपेक्षा; प्राण-भृत:—जीवन के लक्षणों से युक्त जीव; शुभे—हे कल्याणी माता; तत:—उनकी अपेक्षा; स-चित्ता:—विकसित चेतना से युक्त जीव; प्रवरा:—श्रेष्ठ; तत:—उनसे; च—तथा; इन्द्रिय-वृत्तय:—अनुभूति से युक्त।

हे कल्याणी माँ, जीवात्माएँ अचेतन पदार्थों से श्रेष्ठ हैं और इनमें से जो जीवन के लक्षणों से युक्त हैं, वे श्रेष्ठ हैं। इनकी अपेक्षा विकसित चेतना वाले पशु श्रेष्ठ हैं और इनसे भी श्रेष्ठ वे हैं जिनमें इन्द्रिय अनुभूति विकसित हो चुकी है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बताया गया है कि जीव का सम्मान दान तथा मैत्री भाव से होना चाहिए। इस श्लोक में तथा अगले श्लोकों में विभिन्न कोटि के जीवों का वर्णन किया गया है, जिससे लोग जान सकें कि कब दान देना चाहिए और कब मित्रता का व्यवहार करना चाहिए। उदाहरणार्थ, शेर एक जीव है, भगवान् का अंश है और परमेश्वर इसके हृदय में परमात्मा रूप में निवास करते हैं। किन्तु क्या इसका अर्थ यह होता है कि हम शेर से मित्रता का व्यवहार करें? कदापि नहीं। हमें उसके साथ भिन्न प्रकार से व्यवहार करना होगा, हमें

प्रसाद के रूप में दान देना होगा। जंगल में रहने वाले अनेक सन्तजन शेरों के साथ मैत्रीभाव नहीं बरतते, किन्तु वे उन्हें प्रसाद देते हैं। शेर आते हैं, प्रसाद लेते हैं और चले जाते हैं, ठीक वैसे ही जैसे कुत्ते करते हैं। वैदिक प्रथा के अनुसार कुत्ते को घर के भीतर नहीं जाने देते। अपनी गन्दगी के कारण कुत्तों तथा बिल्लियों को भले घरों में घुसने नहीं दिया जाता, किन्तु उन्हें ऐसी शिक्षा दी जाती है कि वे घर के बाहर खड़े रहें। दयालु गृहस्वामी घर से प्रसाद लाकर इन्हें देता है, वे खाते हैं और चले जाते हैं। हमें निम्न जीवों के प्रति सदयता का व्यवहार करना चाहिए, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि हम उनके साथ उसी तरह व्यवहार करें जैसा अन्य मनुष्यों के साथ करते हैं। समता का भाव तो रहना चाहिए किन्तु यह व्यवहार करने में भेद होना चाहिए। हमारा भेदभाव किस प्रकार का हो इसका उल्लेख अगले छह श्लोकों में दिया गया है।

पहला वर्गीकरण पत्थर जैसे निर्जीव एवं सजीव प्राणी में किया जाता है। कभी-कभी पत्थर में भी मानो जीवन प्रकट हो जाता है। अनुभव से यह ज्ञात है कि कुछ पहाड़ियाँ तथा पर्वत वृद्धि करते हैं। इसका कारण पत्थर के भीतर आत्मा की उपस्थिति है। जीवित अवस्था का दूसरा लक्षण है चेतना का विकास और इससे भी आगे अनुभूति का विकास। *महाभारत* के 'मोक्षधर्म पर्व' में यह बताया गया है कि वृक्षों में अनुभूति होती है—वे देख तथा सूँघ सकते हैं। हमें अनुभव है कि वृक्ष देख सकते हैं। कभी-कभी विशाल वृक्ष अपनी वृद्धि के दौरान व्यवधानों से बचने के लिए अपनी वृद्धि की दिशा बदल देते हैं। इसका अर्थ हुआ कि वृक्ष देख सकता है और *महाभारत* के अनुसार तो वृक्ष सूँघ भी सकता है। इससे अनुभूति का विकास संकेत मिलता है।

तत्रापि स्पर्शवेदिभ्यः प्रवरा रसवेदिनः ।
तेभ्यो गन्धविदः श्रेष्ठास्ततः शब्दविदो वराः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तत्र—उनमें से; अपि—इसके अतिरिक्त; स्पर्श-वेदिभ्यः—स्पर्श का अनुभव करने वालों से; प्रवराः—श्रेष्ठ; रस-वेदिनः—स्वाद का अनुभव करने वाले; तेभ्यः—उनसे; गन्ध-विदः—गन्ध अनुभव करने वाले; श्रेष्ठाः—श्रेष्ठ; ततः—उनसे भी; शब्द-विदः—ध्वनि का अनुभव करने वाले; वराः—श्रेष्ठ।

इन्द्रियवृत्ति (अनुभूति) से युक्त जीवों में से जिन्होंने स्वाद की अनुभूति विकसित कर ली है वे स्पर्श अनुभूति विकसित किये हुए जीवों से श्रेष्ठ हैं। इनसे भी श्रेष्ठ वे हैं जिन्होंने गंध की अनुभूति विकसति कर ली है और इनसे भी श्रेष्ठ वे हैं जिनकी श्रवणेन्द्रिय विकसित है।

तात्पर्य : यद्यपि पाश्चात्य विद्वान मानते हैं कि विकासवाद की स्थापना सर्वप्रथम डार्विन द्वारा हुई, किन्तु नृतत्व विज्ञान कोई नया नहीं है। विकास-प्रक्रिया आज से ५,००० वर्ष पूर्व लिखे गये *भागवत* के पहले से ज्ञात थी। कपिल मुनि के वचन प्रमाण हैं। जो सृष्टि के प्रारम्भ में विद्यमान थे। यह ज्ञान वैदिक काल से चला आ रहा है और सारा विकास क्रम वैदिक साहित्य में प्राप्त है; क्रमिक विकास का सिद्धान्त या नृतत्व विज्ञानविदों के लिए नया नहीं है।

यहाँ यह कहा गया है कि वृक्षों में भी विकास-प्रक्रिया होती है, विभिन्न प्रकार के वृक्षों में स्पर्श का अनुभव पाया जाता है। यह कहा गया है कि वृक्षों की अपेक्षा मछलियाँ श्रेष्ठ हैं, क्योंकि उनमें स्वादेन्द्रिय विकसित है। मछलियों से श्रेष्ठ मधुमक्खियाँ हैं, जिनमें घ्राणशक्ति विकसित है और इनसे भी श्रेष्ठ सर्प है जिनमें सुनने की शक्ति विकसित है। रात्रि के अंधकार में सर्प मेंढक की लुभावनी ध्वनि सुनकर अपना भोज्य प्राप्त कर सकता है। साँप समझ सकता है कि, ''वहाँ पर मेंढक है'' और केवल उसकी ध्वनि से वह उसे पकड़ लेता है। यह उदाहरण कभी-कभी उन व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होता है, जो मृत्यु के लिए शब्दोच्चार करते हैं। मनुष्य के मेंढक जैसी जीभ हो सकती है, जो शब्द उत्पन्न कर सकती है, किन्तु ऐसी ध्वनि तो मृत्यु का आवाहन बनती है। जीभ तथा ध्वनि का सर्वोत्तम उपयोग यही है कि हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे महामन्त्र का कीर्तन किया जाय। इससे क्रूर काल के हाथों से रक्षा हो सकेगी।

रूपभेदविदस्तत्र ततश्चोभयतोदतः ।
तेषां बहुपदाः श्रेष्ठाश्चतुष्पादस्ततो द्विपात् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

रूप-भेद—रूप में अन्तर; विदः—जानने वाले; तत्र—उनकी उपेक्षा; ततः—उनसे; च—तथा; उभयतः—दोनों जबड़ों में; दतः—दाँतों से युक्त; तेषाम्—उनमें से; बहु-पदाः—अनेक पाँवों वाले; श्रेष्ठाः—श्रेष्ठ; चतुः-पादः—चौपाया; ततः—उनसे; द्वि-पात्—दो पाँव वाले।

ध्वनि सुन सकने वाले प्राणियों की अपेक्षा वे श्रेष्ठ हैं, जो एक रूप तथा दूसरे रूप में अन्तर जान लेते हैं। इनसे भी अच्छे वे हैं जिनके ऊपरी तथा निचले दाँत होते हैं और इनसे भी श्रेष्ठ अनेक पाँव वाले जीव हैं। इनसे भी श्रेष्ठ चौपाये और चौपाये से भी बढ़कर मनुष्य हैं।

तात्पर्य : कहा जाता है कि कौवे जैसे कुछ पक्षी एक-दूसरे रूप में अन्तर कर सकते हैं। बर्रे जैसे जीव जिनके पैर होते हैं, वे बिना पैर वाले वृक्षों तथा वनस्पतियों से श्रेष्ठ हैं। चार पैर वाले पशु अनेक पैर वाले जीवों से श्रेष्ठ हैं। पशुओं से भी श्रेष्ठ मनुष्य हैं, क्योंकि उसके केवल दो पैर होते हैं।

ततो वर्णाश्च चत्वारस्तेषां ब्राह्मण उत्तमः ।
ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्ततः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

ततः—उनमें से; वर्णाः—वर्ग; च—तथा; चत्वारः—चार; तेषाम्—उनमें से; ब्राह्मणः—ब्राह्मण; उत्तमः—सर्वश्रेष्ठ; ब्राह्मणेषु—ब्राह्मणों में से; अपि—भी; वेद—वेदों का; ज्ञः—जानने वाला; हि—निश्चय ही; अर्थ—प्रयोजन; ज्ञः—जानने वाला; अभ्यधिकः—श्रेष्ठ; ततः—उससे।

मनुष्यों में वह समाज सर्वोत्तम है, जो गुण तथा कर्म के अनुसार विभाजित किया गया है और जिस समाज में बुद्धिमान जनों को ब्राह्मण पद दिया जाता है, वह सर्वोत्तम समाज है। ब्राह्मणों में से जिसने वेदों का अध्ययन किया है, वही सर्वोत्तम है और वेदज्ञ ब्राह्मणों में भी वेद के वास्तविक तात्पर्य को जानने वाला सर्वोत्तम है।

तात्पर्य : गुण तथा कर्म के अनुसार मानव समाज का चार भागों में वर्गीकरण अत्यन्त वैज्ञानिक है। अब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र प्रणाली भारत में वर्तमान जाति प्रथा के कारण दूषित हो चुकी है। किन्तु ऐसा लगता है कि यह प्रणाली दीर्घकाल से चली आ रही है, क्योंकि इसका उल्लेख *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* में हुआ है। जब तक मानव समाज में बुद्धिमान वर्ग, योद्धा वर्ग, व्यापारी वर्ग तथा श्रमिक वर्ग के रूप में सामाजिक विभाजन नहीं

होगा जब तक सदैव ऊहापोह बना रहेगा कि कौन किस उद्देश्य से कर्म कर रहा है। जो व्यक्ति परम सत्य को समझ सके वह ब्राह्मण है और जब ऐसा ब्राह्मण वेदज्ञ होता है, तो वह वेदों का प्रयोजन समझ सकता है। वेदों का प्रयोजन पूर्ण ब्रह्म को समझना है। जो व्यक्ति परम सत्य को तीन अवस्थाओं में—ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के रूप में समझता है और जो भगवान् का अर्थ समझता है, वह ब्राह्मणों में श्रेष्ठ अथवा वैष्णव माना जाता है।

अर्थज्ञात्संशयच्छेत्ता ततः श्रेयान्स्वकर्मकृत् ।
मुक्तसङ्गस्ततो भूयानदोग्धा धर्ममात्मनः ॥ ३२॥

शब्दार्थ

अर्थ-ज्ञात्—वेदों का तात्पर्य समझने वाले की अपेक्षा; संशय—सन्देह; छेत्ता—छिन्न करने वाला; ततः—उसकी उपेक्षा; श्रेयान्—श्रेष्ठ; स्व-कर्म—अपने निर्धारित कार्य; कृत्—करने वाला; मुक्त-सङ्गः—भौतिक संगति से मुक्त; ततः—उससे; भूयान्—श्रेष्ठ; अदोग्धा—न करने वाला; धर्मम्—भक्ति; आत्मनः—अपने लिए।

वेदों का तात्पर्य समझने वाले ब्राह्मण की अपेक्षा वह मनुष्य श्रेष्ठ है, जो सारे संशयों का निवारण कर दे और उससे भी श्रेष्ठ वह है, जो ब्राह्मण-नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करता है। उससे भी श्रेष्ठ है समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त व्यक्ति। इससे भी श्रेष्ठ वह शुद्ध भक्त है, जो निष्काम भाव से भक्ति करता है।

तात्पर्य : *अर्थज्ञ ब्राह्मण* उस व्यक्ति का सूचक है, जिसने परम सत्य का सम्यक् विश्लेषणात्मक अध्ययन किया हो और जो यह जानता हो कि परम सत्य का अनुभव तीन भिन्न अवस्थाओं में—ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के रूप में किया जाता है। यदि किसी के पास इस ज्ञान के अतिरिक्त परम सत्य के विषय में उठाए जाने वाले संशयों को दूर करने की क्षमता हो तो वह श्रेष्ठ माना जाता है। ऐसा भी हो सकता है कि विद्वान ब्राह्मण-वैष्णव समस्त संशयों को दूर कर दे, किन्तु यदि वह वैष्णव नियमों को नहीं मानता तो वह उच्च पद पर आसीन नहीं रहता। उसे समस्त संशयों को दूर करने तथा साथ ही समस्त ब्राह्मण-लक्षणों से युक्त होना चाहिए। ऐसा व्यक्ति, जो वैदिक आदेशों के प्रयोजन को जानता है, जो वेदों द्वारा अनुमोदित नियमों को व्यवहार में लाता है और अपने शिष्यों को इसी विधि से शिक्षा देता है, वह आचार्य कहलाता है। आचार्य का पद ऐसा है कि वह भक्ति करता है, किन्तु जीवन में

उच्चपद प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं रखता।

वैष्णव सर्वोच्च सिद्धिप्राप्त ब्राह्मण होता है। जो वैष्णव ब्रह्मविज्ञान को जानता है, किन्तु अन्य को इस ज्ञान का उपदेश नहीं कर पाता वह निम्न अवस्था में माना जाता है। जो न केवल ब्रह्मविज्ञान को जानता है, अपितु अन्यों को उपदेश देता है, वह द्वितीय अवस्था में रहता है और जो न केवल उपदेश देता है वरन् हर वस्तु को परम सत्य में और परम सत्य को हर वस्तु में देखता है, वह सर्वोच्च श्रेणी का वैष्णव है। यहाँ उल्लेख हुआ है कि वैष्णव पहले से ब्राह्मण रहता है, निस्सन्देह वैष्णव होने पर ही ब्राह्मण की पूर्ण अवस्था प्राप्त होती है।

तस्मान्मय्यर्पिताशेषक्रियार्थात्मा निरन्तरः
मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि सन्न्यस्तकर्मणः ।
न पश्यामि परं भूतमकर्तुः समदर्शनात् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—उसकी अपेक्षा; मयि—मुझको; अर्पित—भेंट किया गया; अशेष—समस्त; क्रिया—कर्म; अर्थ—सम्पत्ति; आत्मा—जीवन, आत्मा; निरन्तरः—बिना रुके; मयि—मुझको; अर्पित—अर्पित; आत्मनः—जिसका मन; पुंसः—मनुष्य की अपेक्षा; मयि—मुझको; सन्न्यस्त—अर्पित; कर्मणः—जिसके कर्म; न—नहीं; पश्यामि—देखता हूँ; परम्—महानतम्; भूतम्—जीव को; अकर्तुः—स्वामित्व के बिना; सम—सम, वही; दर्शनात्—जिसकी दृष्टि।

अतः मुझे उस व्यक्ति से बड़ा कोई नहीं दिखता जो मेरे अतिरिक्त कोई अन्य रुचि नहीं रखता, जो अनवरत मुझे ही अपने समस्त कर्म तथा अपना सारा जीवन—सब कुछ अर्पित करता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *सम-दर्शनात्* का अर्थ है कि उसका कोई पृथक् स्वार्थ नहीं होता। भक्त तथा भगवान् के स्वार्थ एक-से हैं। उदाहरणार्थ, भक्त रूप में भगवान् चैतन्य ने भी इसी दर्शन का उपदेश दिया कि कृष्ण ही पूज्य भगवान् हैं और उनके शुद्ध भक्तों का स्वार्थ (रुचि) उनका निजी स्वार्थ है।

कभी-कभी मायावादी चिन्तक अपने अल्पज्ञान के कारण *सम-दर्शनात्* शब्द की परिभाषा इस प्रकार करते हैं कि भक्त को भगवान् तथा अपने आपको एक करके देखना चाहिए। यदि कोई अपने को भगवान् मान ले तो फिर उनकी सेवा करने का प्रश्न ही नहीं उठता। जब सेवा है, तो स्वामी(सेव्य) भी होना चाहिए। सेवा के लिए तीन बातें होनी चाहिए—स्वामी (सेव्य),

सेवक तथा सेवा। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि जिसने भगवान् को सन्तुष्ट करने के लिए अपना जीवन, अपने कर्म, मन तथा आत्मा—सब कुछ अर्पित कर दिये हों उसे महापुरुष समझना चाहिए।

अकर्तुः शब्द का अर्थ है ''किसी प्रकार के स्वामित्व-भाव के बिना''। हर व्यक्ति अपने कर्मों का स्वामी (कर्ता) बनना चाहता है, जिससे वह फल भोग सके। किन्तु भक्त को ऐसी इच्छा नहीं रहती, वह कर्म करता है, क्योंकि भगवान् उससे विशेष प्रकार से कर्म कराना चाहता है। उसका कोई निजी मन्तव्य नहीं रहता। जब भगवान् चैतन्य भक्ति का उपदेश देते थे, तो उनका मन्तव्य यह नहीं था कि लोग उन्हें भगवान् कृष्ण मानें; अपितु उन्होंने उपदेश दिया कि कृष्ण ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं और उनकी इसी रूप में पूजा होनी चाहिए। जो भक्त भगवान् का अत्यन्त विश्वासपात्र सेवक होता है, वह अपने लिए कुछ नहीं चाहता, भगवान् की तुष्टि के लिए ही सब कुछ करता है। अतः यह स्पष्ट कहा गया है—*मयि संन्यस्तकर्मणः*—भक्त कर्म करता है, किन्तु भगवान् के लिए करता है। यह भी कहा गया है—*मय्यर्पितात्मनः*—''वह मुझे अपना मन अर्पित करता है।'' ये सब भक्त के गुण हैं और इस श्लोक के अनुसार वह मनुष्यों में सर्वोपरि माना जाता है।

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहुमानयन् ।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥ ३४॥

शब्दार्थ

मनसा—मन से; एतानि—इन; भूतानि—जीवों को; प्रणमेत्—प्रणाम करे; बहु-मानयन्—आदर प्रदर्शित करते हुए; ईश्वरः—नियामक; जीव—जीवों का; कलया—परमात्मा के रूप में अपने अंश से; प्रविष्टः—प्रवेश किया है; भगवान्—श्रीभगवान्; इति—इस प्रकार।

ऐसा पूर्ण भक्त प्रत्येक जीव को प्रणाम करता है, क्योंकि उसका दृढ़ विश्वास है कि भगवान् प्रत्येक जीव के शरीर के भीतर परमात्मा या नियामक के रूप में प्रविष्ट रहते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा गया है, पूर्ण भक्त भूलकर भी कभी यह नहीं सोचता कि चूँकि प्रत्येक जीव के शरीर के भीतर परमात्मा रूप में भगवान् प्रविष्ट हैं, अतः हर जीव भगवान् हो गया है। यह मूर्खता है। मान लो कि कोई व्यक्ति कमरे में प्रविष्ट हुआ है, इसका

अर्थ यह नहीं होता कि वह कमरा वह व्यक्ति बन गया। इसी प्रकार परमेश्वर समस्त ८४,००,००० योनियों के शरीर में प्रविष्ट हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि इनमें से प्रत्येक शरीर भगवान् हो गया है। किन्तु चूँकि परमेश्वर उपस्थित है, अत: शुद्ध भक्त प्रत्येक शरीर को भगवान् का मन्दिर मान लेता है और चूँकि भक्त ऐसे हर मन्दिर को पूर्ण चेतना में रहकर प्रणाम करता है, अत: वह प्रत्येक जीव को भगवान् के परिप्रेक्ष्य में प्रणाम करता है। मायावादी चिन्तकों का यह सोचना गलत है कि निर्धन व्यक्ति (दरिद्र) के शरीर में प्रविष्ट रहने के कारण भगवान् दरिद्र-नारायण हो गये। ये नास्तिकों तथा अभक्तों के निन्दनीय वक्तव्य हैं।

भक्तियोगश्च योगश्च मया मानव्युदीरितः ।
ययोरेकतरेणैव पुरुषः पुरुषं व्रजेत् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

भक्ति-योगः—भक्ति; च—तथा; योगः—योग; च—तथा; मया—मेरे द्वारा; मानवि—हे मनुपुत्री; उदीरितः—वर्णित; ययोः—जिस दो का; एकतरेण—किसी एक से; एव—अकेला; पुरुषः—पुरुष; पुरुषम्—परम पुरुष को; व्रजेत्—प्राप्त कर सकता है।

हे माता, हे मनुपुत्री, जो भक्त इस प्रकार से भक्ति तथा योग का साधन करता है उसे केवल भक्ति से ही परम पुरुष का धाम प्राप्त हो सकता है।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् कपिलदेव ने ठीक-ठीक बताया है कि 'अष्टाङ्ग योग' इस उद्देश्य से सम्पन्न किया जाता है, जिससे भक्तियोग की पूर्ण अवस्था प्राप्त हो सके। मनुष्य को केवल आसन लगाने का अभ्यास करके तथा अपने को पूर्ण समझ कर सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। ध्यान के द्वारा उसे भक्तियोग की अवस्था प्राप्त करनी चाहिए। जैसाकि पहले कहा जा चुका है योगी को चरणतल से पाँवों, घुटनों, जाँघों से होते हुए वक्षस्थल और गले तक भगवान् विष्णु के रूप का ध्यान करना चाहिए और धीरे-धीरे उठते हुए उनके मुखमण्डल तथा आभूषणों तक पहुँचना चाहिए। निराकार में ध्यान का कोई प्रश्न नहीं रहता।

जब भगवान् के इस प्रकार विस्तृत ध्यान के बाद भगवत्प्रेम की बारी आती है, तो यही स्तर भक्तियोग का है और इस स्तर पर उसे दिव्य प्रेमवश भगवान् की वास्तविक सेवा करनी चाहिए। जो कोई योग का अभ्यास करके भक्तियोग तक पहुँचता है, वह भगवान् को उनके

दिव्य धाम में प्राप्त करता है। यहाँ पर स्पष्ट रूप से कहा गया है, *पुरुषः पुरुषं व्रजेत्*—जीव परम पुरुष के पास जाता है। गुणात्मक दृष्टि से जीव तथा भगवान् एक हैं, दोनों ही पुरुष कहलाते हैं। जीव तथा भगवान् दोनों में पुरुष के गुण होते हैं। *पुरुष* का अर्थ है 'भोक्ता' और भोग की भावना जीव तथा परमेश्वर दोनों में पाई जाती है। अन्तर इतना है कि दोनों में भोग की मात्रा बराबर नहीं होती। जीव भगवान् के तुल्य आनन्द का अनुभव नहीं कर पाता। यहाँ एक निर्धन तथा एक धनी व्यक्ति का दृष्टान्त लिया जा सकता है—दोनों में भोग की इच्छा उपस्थित है, किन्तु जब निर्धन व्यक्ति अपनी इच्छाओं को धनी व्यक्ति के साथ जोड़ देता है और जब धनी तथा निर्धन व्यक्ति में परस्पर सहयोग होता है, तो भोग समान रूप से भोगा जाता है। यह भक्तियोग जैसा है। *पुरुषः पुरुषं व्रजेत*—जब जीव भगवान् के धाम में प्रवेश करता है और उनको आनन्द प्रदान करते हुए उन्हें सहयोग पहुँचाता है, तो उसे उतना ही आनन्द या वही सुविधा प्राप्त होती है, जो भगवान् को होती है।

इसके विपरीत जब वह भगवान् की नकल करके भोग करना चाहता है, तो उसकी इच्छा माया कहलाती है और यह उसे भौतिक जगत में ला देती है। जो जीव अपने लिए ही भोग करना चाहता है और ईश्वर को कोई सहयोग नहीं देता वह भौतिकतावादी जीवन में लगा होता है। किन्तु ज्योंही वह अपना भोग पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के साथ जोड़ देता है कि वह आध्यात्मिक जीवन बिताने लगता है। यहाँ पर एक उदाहरण दिया जा सकता है—शरीर के विभिन्न अंग स्वतन्त्र रूप से जीवन का आनन्द नहीं उठा सकते। उन्हें पूर्ण शरीर के साथ सहयोग करना चाहिए तथा पेट को भोजन देना चाहिए। ऐसा करने पर शरीर के भिन्न-भिन्न अंग सारे शरीर के सहयोग से समान रूप से भोग करते हैं। 'अचिन्त्य भेदाभेद' का यही दर्शन है—अर्थात् एकसाथ एकत्व तथा अन्तर। ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध जीव जीवन का आनन्द नहीं भोग सकता। उसे भक्तियोग के अभ्यास द्वारा अपने सारे कार्यकलाप भगवान् के साथ-साथ करने होंगे।

यहाँ यह कहा गया है कि या तो योगविधि से या भक्तियोग के द्वारा भगवान् तक पहुँचा

जा सकता है। यह संकेत करता है कि यथार्थ में योग तथा भक्तियोग में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों का लक्ष्य विष्णु है। किन्तु आधुनिक युग में एक नवीन योगपद्धति निर्मित की गई है, जो शून्य तथा निराकार को लक्ष्य बनाती है। वस्तुत: योग का अर्थ है विष्णु के स्वरूप का ध्यान। यदि प्रामाणिक निर्देश के अनुसार योगाभ्यास किया जाय तो योग तथा भक्तियोग में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

एतद्भगवतो रूपं ब्रह्मण: परमात्मन: ।
परं प्रधानं पुरुषं दैवं कर्मविचेष्टितम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; भगवत:—भगवान् का; रूपम्—रूप; ब्रह्मण:—ब्रह्म का; परम-आत्मन:—परमात्मा का; परम्—दिव्य; प्रधानम्—प्रधान; पुरुषम्—पुरुष; दैवम्—दैवी, आध्यात्मिक; कर्म-विचेष्टितम्—जिनके कार्यकलाप।

वह पुरुष जिस तक प्रत्येक जीव को पहुँचना है, उस भगवान् का शाश्वत रूप है, जो ब्रह्म तथा परमात्मा कहलाता है। वह प्रधान दिव्य पुरुष है और उसके कार्यकलाप अध्यात्मिक हैं।

तात्पर्य : जिस पुरुष तक जीव को पहुँचना है उसे विभेदित करने के लिए समस्त जीवों में प्रमुख कहा गया है और यह निराकार ब्रह्मतेज तथा परमात्मा का अन्तिम स्वरूप है। चूँकि वह ब्रह्मतेज तथा परमात्मा का उत्पत्ति स्थान है इसलिए उसे मुख्य पुरुष कहा गया है। *कठोपनिषद्* में पुष्टि की गई है—*नित्यो नित्यानाम्*—शाश्वत जीव तो अनेक हैं, किन्तु वह मुख्य पालक है। इसकी पुष्टि भगवद्गीता में भी हुई है, जहाँ भगवान् कहते हैं—*अहं सर्वस्य प्रभव:*—"मैं हर वस्तु का मूल हूँ जिसमें ब्रह्मतेज तथा परमात्मा सम्मिलित है।" उनके कार्यकलाप दिव्य हैं, जैसी कि भगवद्गीता से पुष्टि हुई है—*जन्म कर्म च मे दिव्यम्*—भगवान् के कार्यकलाप तथा उनका प्राकट्य एवं तिरोधान सभी दिव्य हैं। इन्हें भौतिक नहीं मानना चाहिए। जो कोई इस तथ्य को समझता है कि उनके कार्यकलाप, प्राकट्य तथा तिरोधान सारे भौतिक कार्यों या भौतिक अनुभूति से परे हैं वह मुक्त हो जाता है। *यो वेत्ति तत्त्वत:; त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म*—ऐसा व्यक्ति, अपना शरीर त्यागने पर पुन: इस संसार में नहीं आता, अपितु परम पुरुष के पास चला

जाता है। यहाँ पर इसी की पुष्टि है—*पुरुष: पुरुषं व्रजेत्*—भगवान् की दिव्य प्रकृति तथा उनके कार्यकलापों को समझ लेने से ही जीव भगवान् के पास आता है।

रूपभेदास्पदं दिव्यं काल इत्यभिधीयते ।
भूतानां महदादीनां यतो भिन्नदृशां भयम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

रूप-भेद—रूपों के परिवर्तन का; आस्पदम्—कारण; दिव्यम्—दिव्य; कालः—काल, समय; इति—इस प्रकार; अभिधीयते—जाना जाता है; भूतानाम्—जीवों का; महत्-आदीनाम्—ब्रह्मा आदि; यतः—जिससे; भिन्न-दृशाम्—पृथक् दृष्टिकोण से; भयम्—डर।

विभिन्न भौतिक रूपान्तरों को उत्पन्न करने वाला काल भगवान् का ही एक अन्य स्वरूप है। जो व्यक्ति यह नहीं जानता कि काल तथा भगवान् एक ही हैं वह काल से भयभीत रहता है।

तात्पर्य : हर कोई काल की गतिविधियों से भयभीत रहता है, किन्तु जो यह जानता है कि काल भगवान् का दूसरा स्वरूप है उसे काल-प्रभाव से तनिक भी भय नहीं होता। *रूपभेदास्पदम्* पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। काल के प्रभाव से न जाने कितने स्वरूप बदलते रहते हैं। उदाहरणार्थ, जब बच्चा पैदा होता है, तो उसका रूप छोटा होता है, किन्तु कालक्रम से वही रूप बड़े रूप में बदल जाता है—पहले एक बालक के शरीर में और फिर तरुण पुरुष के शरीर में बदल जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु काल द्वारा या भगवान् के अप्रत्यक्ष नियंत्रण द्वारा बदलती रहती है। सामान्यतया हमें एक शिशु, एक बालक या एक तरुण पुरुष के शरीर में अन्तर नहीं दिखता, क्योंकि हमें पता है कि यह काल का प्रभाव है। जो व्यक्ति यह न जानता हो कि काल किस प्रकार क्रिया करता है उसके लिए काल भय का कारण है।

योऽन्तः प्रविश्य भूतानि भूतैरत्त्यखिलाश्रयः ।
स विष्णवाख्योऽधियज्ञोऽसौ कालः कलयतां प्रभुः ॥ ३८॥

शब्दार्थ

यः—जो; अन्तः—भीतर; प्रविश्य—घुसकर; भूतानि—जीवों को; भूतैः—जीवों के द्वारा; अत्ति—संहार करता है; अखिल—हर एक का; आश्रयः—आधार; सः—वह; विष्णु—विष्णु; आख्यः—नामक; अधियज्ञः—समस्त यज्ञों का भोक्ता; असौ—वह; कालः—काल; कलयताम्—समस्त स्वामियों का; प्रभुः—स्वामी।

समस्त यज्ञों के भोक्ता भगवान् विष्णु कालस्वरूप हैं तथा समस्त स्वामियों के स्वामी हैं। वे प्रत्येक के हृदय में प्रविष्ट करने वाले हैं, वे सबके आश्रय हैं और प्रत्येक जीव का दूसरे जीव के द्वारा संहार कराने का कारण हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् विष्णु का स्पष्ट वर्णन हुआ है। वे परम भोक्ता हैं और अन्य सभी उनके दास रूप में कार्य कर रहे हैं। जैसाकि *चैतन्य-चरितामृत* (आदि ५.१४) में कहा गया है—*एकले ईश्वर कृष्ण*—विष्णु एकमात्र ईश्वर हैं, *आर सब भृत्य*—अन्य सब उनके दास हैं। ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवता हैं। यही विष्णु प्रत्येक के हृदय में परमात्मा रूप में प्रवेश करते हैं और दूसरे जीव के द्वारा जीव का संहार करते हैं।

न चास्य कश्चिद्दयितो न द्वेष्यो न च बान्धवः ।
आविशत्यप्रमत्तोऽसौ प्रमत्तं जनमन्तकृत् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; च—तथा; अस्य—भगवान् का; कश्चित्—कोई; दयितः—प्रिय; न—नहीं; द्वेष्यः—शत्रु; न—नहीं; च—तथा; बान्धवः—मित्र; आविशति—निकट जाता है; अप्रमत्तः—सजग; असौ—वह; प्रमत्तम्—असावधान; जनम्—व्यक्ति को; अन्त-कृत्—विनाशकर्ता।

भगवान् का न तो कोई प्रिय है, न ही कोई शत्रु या मित्र है। किन्तु जो उन्हें भूले नहीं हैं, उन्हें वे प्रेरणा प्रदान करते हैं और जो उन्हें भूल चुके हैं उनका क्षय करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु के साथ अपने उस सम्बन्ध को भूलना (विस्मृति) ही मनुष्य के जन्म-मृत्यु के चक्र का कारण है। जीव उतना ही सनातन है जितना कि परमेश्वर है, किन्तु जीव अपनी विस्मृति के कारण इस प्रकृति में आता है और एक शरीर से दूसरे में देहान्तर करता है। जब शरीर नष्ट हो जाता है, तो वह सोचता है कि उसका भी नाश हो गया। वास्तव में भगवान् विष्णु के साथ अपने सम्बन्ध की यह विस्मृति ही उसके विनाश का कारण है। जो व्यक्ति मूल सम्बन्ध की स्मृति सजग रखता है, वह भगवान् से प्रेरणा प्राप्त करता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि भगवान् किसी का शत्रु है और किसी का मित्र है। वह सबों की सहायता करता है और जो भौतिक शक्ति (माया) के प्रभाव से मोहित नहीं होता वह बच जाता है और जो मोहग्रस्त हो जाता है, वह नष्ट हो जाता है। इसीलिए कहा गया है—*हरिं विना न मृतिं*

तरन्ति—परमेश्वर की सहायता के बिना कोई जन्म-मृत्यु के चक्र से बच नहीं सकता। इसलिए सभी जीवों का धर्म है कि वे विष्णु के चरणकमलों की शरण ग्रहण करें और अपने को जन्म-मरण के चक्र से बचा लें।

यद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात् ।
यद्भयाद्वर्षते देवो भगणो भाति यद्भयात् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यत्—जिस (परमेश्वर) के; भयात्—भय से; वाति—बहती है; वातः—वायु; अयम्—यह; सूर्यः—सूर्य; तपति—चमकता है; यत्—जिसके; भयात्—भय से; यत्—जिसके; भयात्—भय से; वर्षते—वर्षा करता है; देवः—वर्षा का देवता; भ-गणः—नक्षत्रों का समूह; भाति—चमकता है; यत्—जिसके; भयात्—भय से।

भगवान् के ही भय से वायु बहती है, उन्हीं के भय से सूर्य चमकता है, वर्षा का देवता पानी बरसाता है और उन्हीं के भय से नक्षत्रों का समूह चमकता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् का वचन है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते*—"प्रकृति मेरे निर्देशन में कार्य करती है।" मूर्ख व्यक्ति सोचता है कि प्रकृति स्वतः कार्यशील है, किन्तु वैदिक साहित्य द्वारा ऐसे अनीश्वरवादी सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती। प्रकृति परमेश्वर की अध्यक्षता में कार्य कर रही है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है और यहाँ पर भी हम देखते हैं कि भगवान् के ही निर्देशन में सूर्य चमकता है और बादल पानी बरसाता है। सारी प्राकृतिक घटनाएँ भगवान् विष्णु की अध्यक्षता में घटित होती हैं।

यद्वनस्पतयो भीता लताश्चौषधिभिः सह ।
स्वे स्वे कालेऽभिगृह्णन्ति पुष्पाणि च फलानि च ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके कारण; वनः-पतयः—वृक्ष; भीताः—भयभीत; लताः—लताएँ; च—तथा; ओषधिभिः—जड़ी-बूटियाँ; सह—साथ; स्वे स्वे काले—अपनी-अपनी ऋतु में; अभिगृह्णन्ति—धारण करते हैं; पुष्पाणि—फूल; च—तथा; फलानि—फल; च—भी।

भगवान् के भय से वृक्ष, लताएँ, जड़ी-बूटियाँ तथा मौसमी पौधे और फूल अपनी-अपनी ऋतु में फूलते और फलते हैं।

तात्पर्य : जिस प्रकार भगवान् की अध्यक्षता में सूर्य का उदय-अस्त होता है और निर्धारित

समय से ऋतु-परिवर्तन होता रहता है, उसी तरह सामयिक पौधे, फूल, औषधियाँ तथा वृक्ष भी भगवान् के आदेश से बढ़ते हैं। ऐसा नहीं है कि पौधे अकारण ही और स्वत: बढ़ते हों जैसाकि नास्तिक कहते हैं, अपितु वे भगवान् के परम आदेशानुसार बढ़ते हैं। वैदिक साहित्य से पुष्टि होती है कि भगवान् की शक्तियाँ इतने सुचारु रूप से काम करती हैं कि ऐसा लगता है जैसे सब कुछ स्वत: हो रहा हो।

स्रवन्ति सरितो भीता नोत्सर्पत्युदधिर्यत: ।
अग्निरिन्धे सगिरिभिर्भूर्न मज्जति यद्भयात् ॥ ४२॥

शब्दार्थ

स्रवन्ति—बहती हैं; सरित:—नदियाँ; भीता:—डरी हुई; न—नहीं; उत्सर्पति—उमड़ कर बहते हैं; उद-धि:—सागर; यत:—जिसके कारण; अग्नि:—अग्नि; इन्धे—जलती है; स-गिरिभि:—पर्वतों सहित; भू:—पृथ्वी; न—नहीं; मज्जति—डूबती है; यत्—जिसके; भयात्—भय से।

भगवान् के भय से नदियाँ बहती हैं तथा सागर कभी भरकर बाहर नहीं बहते। उनके ही भय से अग्नि जलती है और पृथ्वी अपने पर्वतों सहित ब्रह्माण्ड के जल में डूबती नहीं।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य से हम जान सकते हैं कि इस ब्रह्माण्ड का आधा भाग जल से भरा हुआ है, जिसमें गर्भोदकशायी विष्णु शयन करते हैं। उनके उदर से एक कमल का फूल निकलता है और इस फूल के डंठल पर सारे लोक स्थित हैं। भौतिकतावादी विज्ञानी कहता है कि ये सारे लोक गुरुत्वाकर्षण के नियम या अन्य नियम के कारण तैर रहे हैं, किन्तु वास्तविक विधायक श्रीभगवान् हैं। जब हम नियम की बात करते हैं, तो हमें यह भी समझना चाहिए कि नियम बनाने वाला (विधायक) भी कोई-न-कोई होगा। भौतिक विज्ञानी प्रकृति के नियमों को खोज तो सकते हैं, किन्तु वे नियामक (विधायक) को पहचान नहीं पाते। *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* से हम जान सकते हैं कि नियम बनाने वाला कौन है : नियम बनानेवाला पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् है।

यह कहा गया है कि सारे लोक कभी डूबते नहीं, क्योंकि वे भगवान् के आदेश से या उनकी शक्ति से तैर रहे हैं, अत: वे ब्रह्माण्ड का आधा भाग घेरने वाले जल में डूबते नहीं। सारे

लोक अपने-अपने पर्वतों, समुद्रों, महासागरों, नगरों, महलों आदि के कारण भारी हैं फिर भी तैरते रहते हैं। इस श्लोक से यह समझ में आता है कि वायु में तैरने वाले अन्य समस्त लोकों में इसी लोक की भाँति सागर तथा पर्वत हैं।

नभो ददाति श्वसतां पदं यन्नियमाददः ।
लोकं स्वदेहं तनुते महान्सप्तभिरावृतम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

नभः—आकाश; ददाति—देता है; श्वसताम्—जीवों को; पदम्—आवास; यत्—जिस (भगवान्) के; नियमात्—नियन्त्रण में; अदः—वह; लोकम्—ब्रह्माण्ड को; स्व-देहम्—अपने शरीर को; तनुते—विस्तार करता है; महान्—महत् तत्त्व; सप्तभिः—सात (कोशों) सहित; आवृतम्—आच्छादित।

भगवान् के ही नियन्त्रण में अन्तरिक्ष में आकाश सारे लोकों को स्थान देता है जिनमें असंख्य जीव रहते हैं। उन्हीं के नियन्त्रण में ही सकल विराट शरीर अपने सातों कोशों सहित विस्तार करता है।

तात्पर्य : इस श्लोक से पता चलता है कि बाह्य अन्तरिक्ष में सारे लोक तैर रहे हैं और उन सबों में जीव हैं। *श्वसताम्* का अर्थ है "जो श्वास लेते हैं" अर्थात् जीवित प्राणी। इन सबको धारण करने के लिए असंख्य लोक हैं। प्रत्येक लोक में अगणित जीव हैं और भगवान् के परम आदेश से आकाश में आवश्यक अन्तरिक्ष है। यहाँ यह भी कहा गया है कि सम्पूर्ण विराट शरीर (पिंड) विस्तार कर रहा है। यह सात कोशों से आवृत है और जिस तरह इस ब्रह्माण्ड में पाँच तत्त्व हैं उसी तरह विराट काय (पिंड) को बाहर से आच्छादित करने वाले कोशों में सारे तत्त्व पाये जाते हैं। ब्रह्माण्ड का पहला स्तर (कोश) पृथ्वी है, जो ब्रह्माण्ड के भीतरी अवकाश से दस गुना अधिक है; दूसरा स्तर जल का है, जो पृथ्वी के स्तर से दस गुना अधिक है। तीसरा स्तर अग्नि का है, जो जल के कोश से दस गुना है। इस तरह प्रत्येक स्तर अपने पूर्ववर्ती स्तर से दस गुना बड़ा है।

गुणाभिमानिनो देवाः सर्गादिष्वस्य यद्भयात् ।
वर्तन्तेऽनुयुगं येषां वश एतच्चराचरम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

गुण—प्रकृति के गुण; अभिमानिनः—के अधीन; देवाः—देवता; सर्ग-आदिषु—सृष्टि करने आदि में; अस्य—इस जगत का; यत्-भयात्—जिसके भय से; वर्तन्ते—कार्य करते हैं; अनुयुगम्—युगों के अनुसार; येषाम्—जिनके; वशे—अधीन; एतत्—यह; चर-अचरम्—सारे सजीव तथा निर्जीव।

भगवान् के भय से ही प्रकृति के गुणों के अधिष्ठाता देवता सृष्टि, पालन तथा संहार का कार्य करते हैं। इस भौतिक जगत की प्रत्येक निर्जीव तथा सजीव वस्तु उनके ही अधीन है।

तात्पर्य : प्रकृति के तीनों गुण—सतो, रजो तथा तमो गुण—तीन देवों के अधीन हैं। ये हैं—ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव। भगवान् विष्णु सतोगुण का, ब्रह्मा रजोगुण का तथा शिवजी तमोगुण का भार सँभालते हैं। इसी प्रकार से अन्य अनेक देवता हैं जिनके अधीन वायु विभाग, जल विभाग, बादल विभाग हैं। जिस प्रकार किसी सरकार में तमाम विभाग होते हैं उसी तरह इस संसार में भगवान् के राज्य (सरकार) में अनेक विभाग हैं और ये सारे विभाग भगवान् के भयवश ठीक से चलते हैं। निस्सन्देह देवता ही इस ब्रह्माण्ड के भीतर समस्त जड़ तथा जंगम पदार्थ का नियन्त्रण करते हैं, किन्तु इन सबके ऊपर का परम नियामक भगवान् है। अतः *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि *ईश्वरः परमः कृष्णः*। निस्सन्देह इस ब्रह्माण्ड में विभागीय प्रबन्ध के अनेक नियन्ता हैं, किन्तु परम नियामक तो कृष्ण ही हैं।

प्रलय भी दो प्रकार का होता है। एक प्रलय तो वह है जब ब्रह्मा रात्रि में सो जाते हैं और दूसरा वह जब ब्रह्मा का विनाश हो जाता है। जब तक ब्रह्मा मर नहीं जाते, तब तक सृष्टि, पालन तथा संहार का काम विभिन्न देवताओं द्वारा परमेश्वर की अध्यक्षता में चलता रहता है।

सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः ।
जनं जनेन जनयन्मारयन्मृत्युनान्तकम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अनन्तः—अन्तहीन; अन्त-करः—विनाशकर्ता; कालः—समय; अनादिः—जिसका आदि न हो; आदि-कृत्—स्रष्टा; अव्ययः—जिसमें परिवर्तन न हो; जनम्—लोगों को; जनेन—लोगों द्वारा; जनयन्—उत्पन्न करते हुए; मारयन्—विनष्ट करते हुए; मृत्युना—मृत्यु द्वारा; अन्तकम्—मृत्यु का स्वामी।

शाश्वत काल खण्ड का न आदि है और न अन्त। वह इस पातकी संसार के स्रष्टा भगवान् का प्रतिनिधि है। वह दृश्य जगत का अन्त कर देता है, एक को मार कर दूसरे

को जन्म देता है और इसका सृजन कार्य करता है। इसी तरह मृत्यु के स्वामी यम को भी नष्ट करके ब्रह्माण्ड का विलय कर देता है।

तात्पर्य : भगवान् के प्रतिनिधिस्वरूप काल के प्रभाव से ही पिता पुत्र को जन्म देता है और पिता क्रूर मृत्यु के प्रभाव से मर जाता है। किन्तु काल के प्रभाव से क्रूर मृत्यु का स्वामी भी मारा जाता है। दूसरे शब्दों में, इस संसार के सारे देवता हमारी ही तरह नाशवान हैं, हमारा जीवन अधिक-से-अधिक एक सौ वर्ष चलता है। इसी तरह यद्यपि देवताओं का जीवन लाखों वर्ष चलता है, किन्तु वे भी शाश्वत नहीं हैं। इस संसार में कोई भी अनन्तकाल तक जीवित नहीं रह सकता। यह दृश्य जगत भगवान् के इशारे से उत्पन्न होता है, पलता है और विनष्ट होता है। अत: भक्त इस संसार में कुछ भी नहीं करता। वह भगवान् की केवल सेवा करना चाहता है। यही दास्य भाव शाश्वत है और सेवा भी शाश्वत बनी रहती है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत "भगवान् कपिल द्वारा भक्ति की व्याख्या" नामक उन्तीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter तीस

भगवान् कपिल द्वारा विपरीत कर्मों का वर्णन

कपिल उवाच
तस्यैतस्य जनो नूनं नायं वेदोरुविक्रमम् ।
काल्यमानोऽपि बलिनो वायोरिव घनावलिः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

कपिलः उवाच—कपिल ने कहा; तस्य एतस्य—इसी काल का; जनः—व्यक्ति; नूनम्—निश्चय ही; न—नहीं; अयम्—यह; वेद—जानता है; उरु-विक्रमम्—महान् पराक्रम; काल्यमानः—दूर ले जाया जाकर; अपि—यद्यपि; बलिनः—शक्तिशाली; वायोः—हवा द्वारा; इव—सदृश; घन—बादलों का; आवलिः—समूह।

भगवान् ने कहा : जिस प्रकार बादलों का समूह वायु के शक्तिशाली प्रभाव से परिचित नहीं रहता उसी प्रकार भौतिक चेतना में संलग्न व्यक्ति काल की उस महान् शक्ति से परिचित नहीं रहता, जिसके द्वारा उसे ले जाया जा रहा है।

तात्पर्य : महान् राजनीतिज्ञ पंडित चाणक्य ने कहा है कि यदि कोई लाखों डालर भी खर्च करने को तैयार हो तो भी एक क्षण का समय (काल) वापस नहीं पाया जा सकता। अमूल्य समय को बर्बाद करने से अकल्पनीय क्षति होती है। मनुष्य के पास जितना समय है उसे भौतिक या आध्यात्मिक कार्यों में सावधानी के साथ लगाना चाहिए। बद्धजीव शरीर विशेष में एक निश्चित काल तक रहता है और उसी अल्पावधि में मनुष्य को कृष्णभक्ति पूरी करके काल के प्रभाव से छुटकारा पाना है। किन्तु दुर्भाग्यवश जो कृष्णभावनामृत में अपने को नहीं लगाते, वे अनजाने ही काल की प्रबल शक्ति के द्वारा उसी प्रकार बहा ले जाये जाते हैं जिस प्रकार वायु के द्वारा बादल।

यं यमर्थमुपादत्ते दुःखेन सुखहेतवे ।
तं तं धुनोति भगवान्पुमाञ्छोचति यत्कृते ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यम् यम्—जो कुछ, जिस जिस; अर्थम्—वस्तु को; उपादत्ते—प्राप्त करता है; दुःखेन—कठिनाई से; सुख-हेतवे—सुख के लिए; तम् तम्—उस उस को; धुनोति—नष्ट कर देता है; भगवान्—भगवान्; पुमान्—व्यक्ति; शोचति—शोक करता है; यत्-कृते—जिस कारण से।

तथाकथित सुख के लिए भौतिकतावादी द्वारा जो-जो वस्तुएँ अत्यन्त कष्ट तथा

परिश्रम से अर्जित की जाती हैं उन-उन को कालरूप परम पुरुष नष्ट कर देता है और इसके कारण बद्धजीव उन के लिए शोक करता है।

तात्पर्य : भगवान् के प्रतिनिधि-रूप काल का मुख्य कार्य सभी वस्तुओं को नष्ट करना है। भौतिकतावादी लोग भौतिक चेतना के कारण आर्थिक विकास के नाम पर न जाने कितने प्रकार की वस्तुएँ उत्पन्न करने में लगे हुए हैं। वे सोचते हैं कि लोगों की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा करके वे सुखी होंगे, किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि कालक्रम से उनके द्वारा उत्पन्न की गई सारी वस्तुएँ नष्ट हो जाएँगी। इतिहास हमें बताता है कि इस भूमण्डल पर न जाने कितने शक्तिशाली साम्राज्यों का निर्माण कितने कष्ट तथा अध्यवसाय के फलस्वरुप हुआ था, किन्तु काल के साथ वे सारे के सारे नष्ट हो गये। तो भी ये मूर्ख भौतिकतावादी यह नहीं समझ पाते कि भौतिक आवश्यकता की वस्तुएँ उत्पन्न करने में वे समय का ही अपव्यय कर रहे हैं, क्योंकि ये सारी वस्तुएँ काल के साथ नष्ट हो जाएँगी। शक्ति का यह अपव्यय जनसमूह के अज्ञान के कारण है, जो यह नहीं जानता कि मनुष्य सनातन हैं और उनका कार्य भी सनातन है। वे यह नहीं जानते कि किसी एक प्रकार के शरीर में जीवन की अवधि शाश्वत यात्रा की चमक मात्र है। इस तथ्य को न जानने के कारण वे जीवन की इस क्षणिक चमक को सब कुछ मान बैठते हैं और अपना समय आर्थिक परिस्थितियों के सुधारने में नष्ट कर देते हैं।

यदध्रुवस्य देहस्य सानुबन्धस्य दुर्मतिः ।
ध्रुवाणि मन्यते मोहाद्गृहक्षेत्रवसूनि च ॥ ३॥

शब्दार्थ

यत्—क्योंकि; अध्रुवस्य—क्षणिक; देहस्य—शरीर का; स-अनुबन्धस्य—सम्बन्धियों से; दुर्मतिः—पथभ्रष्ट व्यक्ति; ध्रुवाणि—स्थायी; मन्यते—सोचता है; मोहात्—अज्ञानवश; गृह—घर; क्षेत्र—जमीन; वसूनि—सम्पत्ति; च—तथा।

विभ्रमित भौतिकतावादी व्यक्ति यह नहीं जानता कि उसका अपना यह शरीर अस्थायी है और घर, जमीन तथा सम्पत्ति जो इस शरीर से सम्बन्धित हैं, ये सारे आकर्षण भी क्षणिक हैं। वह अपने अज्ञान के कारण ही हर वस्तु को स्थायी मानता है।

तात्पर्य : भौतिकतावादी सोचता है कि कृष्णभावनामृत में अनुरक्त व्यक्ति सनकी होते हैं,

जो हरे कृष्ण कीर्तन में अपना समय गँवाते हैं, किन्तु यह नहीं सोचता है कि स्वयं पागलपन के गहन अंधकार में है, क्योंकि वह अपने शरीर को स्थायी मान बैठता है। अपने शरीर के साथ ही वह अपने घर, देश, समाज तथा अन्य साज-सज्जा को स्थायी मान लेता है। घर, जमीन आदि को स्थायी मान बैठना माया-मोह कहलाता है। यहाँ पर इसका स्पष्ट उल्लेख हुआ है। *मोहाद् गृह-क्षेत्र-वसूनि*—मोहवश ही भौतिकतावादी अपने घर, अपनी भूमि तथा अपने धन को स्थायी मानते हैं। इसी मोह से पारिवारिक जीवन, राष्ट्रीय जीवन तथा आर्थिक विकास की वृद्धि हुई है, क्योंकि आधुनिक सभ्यता में ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारक हैं। किन्तु एक कृष्णभावनाभावित व्यक्ति यह जानता है कि मानव समाज की आर्थिक उन्नति केवल क्षणिक मोह है।

श्रीमद्भागवत में अन्यत्र शरीर को स्व मानना, इस शरीर के साथ सम्बन्धित अन्यों को अपना परिजन मानना तथा अपनी जन्मभूमि को पूज्य मानना आदि, पाशविक सभ्यता की उपज घोषित किया गया है। किन्तु कृष्णभक्त हो जाने पर मनुष्य इन सबका उपयोग भगवान् की सेवा करने में कर सकता है। यह अत्यन्त उपयुक्त योजना है। हर वस्तु कृष्ण से सम्बन्धित है। जब समस्त आर्थिक विकास तथा भौतिक उन्नति का उपयोग कृष्णभक्ति को अग्रसर करने में किया जाता है, तो प्रगतिशील जीवन की एक नवीन अवस्था उदित होती है।

जन्तुर्वै भव एतस्मिन्यां यां योनिमनुव्रजेत् ।
तस्यां तस्यां स लभते निर्वृतिं न विरज्यते ॥ ४॥

शब्दार्थ

जन्तुः—जीव; वै—निश्चय ही; भवे—संसार में; एतस्मिन्—इस; याम् याम्—जिस-जिस; योनिम्—योनि को; अनुव्रजेत्—प्राप्त करता है; तस्याम् तस्याम्—उस उसको; सः—वह; लभते—प्राप्त करता है; निर्वृतिम्—सन्तोष को; न—नहीं; विरज्यते—पराङ्मुख (विरक्त) होता है।

जीव जिस योनि में भी प्रकट होता है, उसको उसी योनि में एक विशेष सन्तोष प्राप्त होता है और वह उस अवस्था में रहने से कभी विमुख नहीं होता।

तात्पर्य : शरीर विशेष चाहे वह कितना ही गर्हित क्यों न हों, उसमें जीव को जो सन्तोष मिलना मोह कहलाता है। उच्चतर स्थिति में रहने वाला मनुष्य निम्न श्रेणी के मनुष्य के

जीवनस्तर के प्रति असन्तुष्ट रह सकता है, किन्तु निम्न श्रेणी का मनुष्य बहिरंगा शक्ति माया के प्रभाव से उसी स्थिति में सन्तुष्ट रहता है। माया के कार्य की दो अवस्थाएँ हैं। पहली *प्रक्षेपात्मिका* और *आवरणात्मिका*। *आवरणात्मिका* का अर्थ है "प्रच्छन्न करने वाली" और *प्रक्षेपात्मिका* का अर्थ है "नीचे गिराने वाली।" भौतिकतावादी व्यक्ति या पशु जीवन की किसी भी अवस्था में सन्तुष्ट रहता है, क्योंकि उसका ज्ञान माया के प्रभाव से ढका हुआ रहता है। जीवन की निम्न श्रेणी में या निम्न योनियों में इतनी कम चेतना विकसित रहती है कि वह समझ नहीं पाता कि वह सुखी है या दुखी। यह *आवरणात्मिका* कहलाती है। यहाँ तक कि विष्ठा खाने वाला शूकर अपने में सुखी रहता है, यद्यपि उच्चतर श्रेणी का व्यक्ति यह देखता है कि शूकर विष्ठा खा रहा है। कितना गर्हित है ऐसा जीवन!

नरकस्थोऽपि देहं वै न पुमांस्त्यक्तुमिच्छति ।
नारक्यां निर्वृतौ सत्यां देवमायाविमोहितः ॥५॥

शब्दार्थ

नरक—नरक में; स्थः—स्थित; अपि—भी; देहम्—शरीर को; वै—निस्सन्देह; न—नहीं; पुमान्—मनुष्य; त्यक्तुम्—छोड़ने के लिए; इच्छति—चाहता है; नारक्याम्—नारकीय, नरकतुल्य; निर्वृतौ—भोग; सत्याम्—रहते हुए; देव-माया—भगवान् की माया से; विमोहितः—मोहग्रस्त।

बद्धजीव अपनी योनि-विशेष में ही सन्तुष्ट रहता है, माया के आवरणात्मक प्रभाव से मोहग्रस्त होकर वह अपने शरीर को त्यागना नहीं चाहता, भले ही वह नरक में क्यों न हो, क्योंकि उसे नारकीय भोग में ही आनन्द मिलता है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि एक बार स्वर्ग के राजा इन्द्र को उसके दुर्व्यवहार के लिए उसके गुरु बृहस्पति ने शाप दिया जिससे वह इस लोक में शूकर बन गया। बहुत दिनों के बाद जब ब्रह्मा ने उसे स्वर्ग बुलाना चाहा तब तक शूकर-रूप इन्द्र स्वर्ग का राजसी ठाटबाट भूल चुका था, अतः उसने वहाँ जाने से इनकार कर दिया। यह माया का पाश है। यहाँ तक कि इन्द्र को अपना नैसर्गिक जीवन-स्तर भूल गया और वह शूकर के जीवन-स्तर से सन्तुष्ट था। माया के प्रभाव से बद्धजीव अपने शरीर के प्रति इतना अनुरक्त हो उठता है कि यदि उससे कहा जाय कि, "इस शरीर को त्याग दो, तुम्हें तुरन्त राजा का शरीर दिया जाएगा" तो वह राजी नहीं

होगा। यह आसक्ति समस्त बद्धजीवों को बुरी तरह प्रभावित करती है। भगवान् कृष्ण स्वयं घोषित करते हैं, ''इस संसार की प्रत्येक वस्तु का त्याग करो। मेरे पास आओ और मैं तुम्हें सुरक्षा प्रदान करूँगा।'' किन्तु हमें यह स्वीकार नहीं है। हम सोचते हैं, ''हम बिल्कुल सही हैं। हम कृष्ण की शरण में जाकर उनके धाम वापस क्यों जायँ?'' यही मोह या माया है। प्रत्येक प्राणी अपने जीवन-स्तर से सन्तुष्ट रहता है, भले ही वह कितना ही गर्हित क्यों न हो।

आत्मजायासुतागारपशुद्रविणबन्धुषु ।
निरूढमूलहृदय आत्मानं बहु मन्यते ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

आत्म—शरीर; जाया—पत्नी; सुत—बच्चे; अगार—घर; पशु—पशु; द्रविण—सम्पत्ति; बन्धुषु—मित्रों में; निरूढ-मूल—गहराई तक जड़ें जमाये, प्रगाढ़; हृदयः—उसका हृदय; आत्मानम्—अपने आपको; बहु—बहुत ऊँचा; मन्यते—सोचता है।

मनुष्य को अपने जीवनस्तर के प्रति इस प्रकार का सन्तोष अपने शरीर, पत्नी, घर, सन्तान, पशु, सम्पत्ति तथा मित्रों के प्रति प्रगाढ़ आकर्षण के कारण ही होता है। ऐसी संगति में बद्धजीव अपने आपको पूरी तरह सही मानता है।

तात्पर्य : मानव जीवन की तथाकथित पूर्णता मनगढंत है। इसीलिए कहा जाता है कि कोई भौतिकतावादी कितना ही योग्य क्यों न हो, अयोग्य होता है, क्योंकि वह ऐसे मानसिक स्तर पर डोल रहा होता है, जो उसे क्षणिक जीवन की ओर पुनः खींच लाता है। जो मनुष्य मानसिक तल (मनोधर्म) पर कार्य करता है, वह आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर पाता। ऐसा व्यक्ति पुनः भौतिक जीवन में आ गिरता है। ऐसे समाज, मित्रता तथा प्रेम की संगति में बद्धजीव अपने को पूर्णतया सन्तुष्ट मानता है।

सन्दह्यमानसर्वाङ्ग एषामुद्वहनाधिना ।
करोत्यविरतं मूढो दुरितानि दुराशयः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सन्दह्यमान—जलते हुए; सर्व—सभी; अङ्गः—उसके अंग; एषाम्—इन परिजनों के; उद्वहन—पालन के लिए; आधिना—चिन्ता से युक्त; करोति—करता है; अविरतम्—सदैव; मूढः—मूर्ख; दुरितानि—पापकर्म; दुराशयः—दुर्बुद्धि।

यद्यपि वह चिन्ता से सदैव जलता रहता है, तो भी ऐसा मूर्ख कभी न पूरी होने वाली आशाओं के लिए सभी प्रकार के अनिष्ट कृत्य करता है, जिससे वह अपने तथाकथित परिवार तथा समाज का भरण-पोषण कर सके।

तात्पर्य : कहा गया है कि आज के समय में जब कलियुग इतना प्रबल है कि प्रत्येक व्यक्ति माया के परिवार की झूठी भेंट स्वीकार करके चिन्ताओं से पूर्ण रहता है। ऐसे में एक महान् साम्राज्य को चलाना उतना कठिन नहीं जितना कि एक छोटे परिवार का पालन करना। हमारा परिवार मायाजनित है, यह कृष्ण लोक के परिवार का विकृत प्रतिबिम्ब है। कृष्ण लोक में भी परिवार, मित्र, समाज, पिता, माता सब कुछ हैं, किन्तु वे नित्य हैं। यहाँ पर हमारे शरीर बदलते ही हमारे पारिवारिक सम्बन्ध बदल जाते हैं। कभी हम मनुष्यों के परिवार में होते हैं, तो कभी देवताओं के परिवार में और कभी कुत्तों-बिल्लियों के परिवार में। परिवार, समाज तथा मित्रता क्षणिक हैं, अत: ये असत् कहलाते हैं। यह कहा जाता है कि जब तक हम इस असत्, क्षणभंगुर अस्थायी समाज तथा परिवार से बँधे रहते हैं तब तक हम चिन्ताओं से घिरे रहते हैं। भौतिकतावादी यह नहीं जानते कि इस संसार में परिवार, समाज तथा मित्रता छाया मात्र हैं और वे उनसे जुड़ जाते हैं। स्वाभाविक है कि उनके हृदय सदा तपते रहते हैं, किन्तु समस्त असुविधाओं के होने पर भी वे ऐसे मिथ्या परिवार बनाये रखने के लिए काम करते हैं, क्योंकि उन्हें कृष्ण के साथ वास्तविक पारिवारिक संगति का कुछ पता नहीं रहता।

आक्षिप्तात्मेन्द्रिय: स्त्रीणामसतीनां च मायया ।
रहो रचितयालापै: शिशूनां कलभाषिणाम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

आक्षिप्त—मोहित; आत्म—हृदय; इन्द्रिय:—इन्द्रियाँ; स्त्रीणाम्—स्त्रियों का; असतीनाम्—झूठी; च—तथा; मायया—माया के द्वारा; रह:—एकान्त स्थान में; रचितया—प्रदर्शित; आलापै:—बातचीत से; शिशूनाम्—बच्चों के; कल-भाषिणाम्—मीठे-मीठे शब्दों से।

वह उस स्त्री को अपना हृदय तथा इन्द्रियाँ दे बैठता है, जो झूठे ही उसे माया से मोह लेती है। वह उसके साथ एकान्त में आलिंगन तथा संभाषण करता है और अपने छोटे-छोटे बच्चों के मीठे-मीठे बोलों से मुग्ध होता रहता है।

तात्पर्य : माया के राज्य के भीतर पारिवारिक जीवन शाश्वत जीव के लिए बंदीगृह के तुल्य है। बंदीगृह में बन्दी के हथकड़ी-बेड़ी पड़ी रहती हैं। इसी प्रकार बद्धजीव स्त्री के मनोहर सौंदर्य, उसके एकांत आलिंगन तथा प्रेमवार्ता से एवं छोटे-छोटे बच्चों की मधुर वाणी से जकड़ा रहता है। इस तरह वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है।

इस श्लोक में *स्त्रीणाम् असतीनाम्* शब्द सूचित करते हैं स्त्री का प्रेम पुरुष के मन को विचलित करने के लिए है। वस्तुत: इस भौतिक जगत में प्रेम कहाँ? स्त्री तथा पुरुष दोनों ही अपनी-अपनी इन्द्रियतृप्ति में लगे रहते हैं। इन्द्रियतृप्ति के लिए स्त्री झूठा प्रेम उत्पन्न करती है और मनुष्य इस झूठे प्रेम से मुग्ध होकर अपने वास्तविक कर्म (धर्म) को भूल जाता है। जब ऐसे संयोग से सन्तान उत्पन्न होती है, तो अगला आकर्षण होता है इन बच्चों की मीठी (तोतली) बोली। घर में स्त्री का प्रेम तथा बच्चों की बोली उसे सुरक्षित बन्दी बना लेते हैं और इस तरह वह अपना घर छोड़ नहीं पाता। वैदिक भाषा में ऐसा व्यक्ति *गृहमेधी* कहलाता है, जिसका अर्थ है "जिसके आकर्षण का केन्द्रबिन्दु घर है।" *गृहस्थ* वह है, जो अपने परिवार, पत्नी तथा बच्चों के साथ रहता है, किन्तु उसका वास्तविक जीवन-लक्ष्य कृष्णभक्ति उत्पन्न करना है। इसलिए मनुष्य को *गृहस्थ* बनने की सलाह दी जाती है, *गृहमेधी* बनने की नहीं। *गृहस्थ* की मुख्य चिन्ता मोह-जनित पारिवारिक जीवन से छूटकर कृष्ण के साथ वास्तविक पारिवारिक जीवन में प्रविष्ट करना है, जबकि *गृहमेधी* का कार्य तथाकथित पारिवारिक जीवन से अपने को जन्म-जन्मान्तर तक बारम्बार बाँधना और निरन्तर माया के अन्धकार में बने रहना है।

गृहेषु कूटधर्मेषु दु:खतन्त्रेष्वतन्द्रित: ।
कुर्वन्दु:खप्रतीकारं सुखवन्मन्यते गृही ॥ ९॥

शब्दार्थ

गृहेषु—पारिवारिक जीवन में; कूट-धर्मेषु—झूठ बोलने के अभ्यास में; दु:ख-तन्त्रेषु—दुख फैलाने में; अतन्द्रित:—सावधान; कुर्वन्—करते हुए; दु:ख-प्रतीकारम्—दुखों को झेलना; सुख-वत्—सुख की भाँति; मन्यते—सोचते हैं; गृही—गृहस्थ।

आसक्त गृहस्थ कूटनीति तथा राजनीति से पूर्ण अपने पारिवारिक जीवन में रहा

आता है। वह सदैव दुखों का विस्तार करता हुआ और इन्द्रियतृप्ति के कार्यों से नियन्त्रित होकर अपने सारे दुखों के फल को झेलने के लिए कर्म करता है। यदि वह इन दुखों को सफलतापूर्वक झेल लेता है, तो वह अपने को सुखी मानता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् स्वयं प्रमाणित करते हैं कि यह संसार कष्टों से पूर्ण नश्वर स्थान है। इस जगत में व्यक्तिगत या पारिवारिक, सामाजिक या राष्ट्रीय सुख का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि कहीं सुख के नाम पर कुछ हो रहा है, तो वह भी मोह है। इस जगत में सुख का अर्थ है दुख के फलों को सफलतापूर्वक झेलना। यह जगत ऐसा बनाया गया है कि जब तक कोई चतुर कूटनीतिज्ञ न हो उसका जीवन असफल रहता है। मानव समाज की बात छोड़ दें, निम्न पशुओं, पक्षियों तथा मधुमक्खियों का समाज तक भोजन, शयन तथा संभोग की शारीरिक आवश्यकताएँ चतुराई से पूरी कर लेता है। मानव समाज में राष्ट्रीय स्तर पर या व्यक्तिगत स्तर पर स्पर्धा चलती है और इसमें सफल होने के प्रयास में सारा मानव समाज कूटनीति से भर जाता है। किन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि सारी कूटनीति तथा जीवनसंघर्ष में सारी बुद्धि के होते हुए भी सारी वस्तुएँ परमेश्वर की इच्छा होने पर क्षण भर में समाप्त हो जाएँगी। फलत: इस संसार में सुखी बनने के हमारे सारे प्रयास माया द्वारा प्रदत्त छल मात्र हैं।

अर्थैरापादितैर्गुर्व्या हिंसयेतस्ततश्च तान् ।
पुष्णाति येषां पोषेण शेषभुग्यात्यध: स्वयम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अर्थै:—सम्पत्ति से; आपादितै:—अर्जित; गुर्व्या—महान्; हिंसया—हिंसा से; इत:-तत:—इधर-उधर; च—तथा; तान्—उनको (परिजनों को); पुष्णाति—पालन करता है; येषाम्—जिनके; पोषेण—पालन से; शेष—बचा हुआ; भुक्—भोजन; याति—जाता है; अध:—नीचे की ओर; स्वयम्—स्वयं।

वह इधर-उधर हिंसा करके धन प्राप्त करता है और यद्यपि वह इसे अपने परिवार के भरण-पोषण में लगाता है, किन्तु स्वयं इस प्रकार से खरीदे भोजन का अल्पांश ही ग्रहण करता है। इस तरह वह उन लोगों के लिए नरक जाता है, जिनके लिए उसने अवैध ढंग से धन कमाया था।

तात्पर्य : एक बँगाली कहावत है, ''जिस व्यक्ति के लिए मैंने चोरी की वही मुझे चोर

कहता है।'' जिन पारिवारिक सदस्यों के लिए मनुष्य अनेक पापकर्म करता है वे उससे कभी प्रसन्न नहीं रहते। मोहवश अनुरक्त व्यक्ति ऐसे पारिवारिक सदस्यों की सेवा करता है, किन्तु इनकी सेवा से उसे जीवन की नारकीय अवस्था में प्रवेश करना होता है। उदाहरणार्थ, कोई चोर अपने परिवार के पालन हेतु कोई वस्तु चुराता है, किन्तु पकड़ा वही जाता है और बन्दी बना लिया जाता है। यही सार है इस जगत का और समाज, मैत्री तथा प्रेम के प्रति आसक्ति का। यद्यपि एक आसक्त पारिवारिक व्यक्ति अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए किसी न किसी तरह से धन कमाने में लगा रहता है, किन्तु वह उतने से अधिक का भोग नहीं कर पाता जितना कि ऐसे पापकर्म किये बिना वह करता। आठ औंस (१ पाव) खाने वाले मनुष्य को लम्बे परिवार का पालन करना होता है और इसके लिए धन कमाना होता है, किन्तु उसे पेटभर खाने से अधिक कुछ नहीं मिलता और कभी-कभी तो उसे परिवार के जूठन पर ही निर्भर रहना पड़ता है। अनुचित साधनों से भी धन कमा कर वह स्वयं जीवन का आनन्द नहीं उठा पाता। यही आवरणात्मिका माया है।

समाज, देश तथा समुदाय की भ्रामक सेवा की प्रक्रिया सर्वत्र एक सरीखी है। यही सिद्धान्त बड़े से बड़े राष्ट्रीय नेताओं पर भी लागू होता है। कभी-कभी ऐसा राष्ट्रीय नेता जिसकी देश-सेवाएँ महान् होती हैं अपने ही देशवासियों द्वारा मार दिया जाता है, क्योंकि उसकी सेवाएँ अनियमित होती हैं। दूसरे शब्दों में, कोई भी व्यक्ति अपने आश्रितों को इस मोहमयी सेवा से सन्तुष्ट नहीं कर सकता। यद्यपि वह इस सेवा से अलग नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी स्वाभाविक स्थिति ही सेवक की है। स्वाभाविक दृष्टि से जीव परमेश्वर का अंश है, किन्तु वह भूल जाता है कि उसे परम पुरुष की सेवा करनी है और वह अपना ध्यान अन्यों की सेवा की ओर मोड़ देता है। यह माया कहलाती है। अन्यों की सेवा करते हुए वह झूठे ही अपने को स्वामी मान बैठता है। परिवार का मुखिया अपने को परिवार का स्वामी मानता है अथवा राष्ट्र का नेता अपने को राष्ट्र का स्वामी मानता है, किन्तु वास्तव में वह माया की सेवा करता है और माया की सेवा करने से वह धीरे-धीरे नरक को जाता है। अतः बुद्धिमान मनुष्य को

कृष्णभावनामृत के बिन्दु तक पहुँच कर भगवान् की सेवा में लग जाना चाहिए और अपना सारा जीवन, सारा धन, सारी बुद्धि तथा सारी बोलने की शक्ति उसी में लगा देनी चाहिए।

वार्तायां लुप्यमानायामारब्धायां पुनः पुनः ।
लोभाभिभूतो निःसत्त्वः परार्थे कुरुते स्पृहाम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

वार्तायाम्—उसकी वृत्ति या जीविका के; लुप्यमानायाम्—अवरुद्ध होने पर; आरब्धायाम्—ग्रहण की जाती है; पुनः पुनः—बार-बार; लोभ—लालच से; अभिभूतः—अधीर; निःसत्त्वः—विनष्ट; पर-अर्थे—अन्यों की सम्पत्ति के लिए; कुरुते स्पृहाम्—कामना करता है।

जब उसे अपनी जीविका में प्रतिकूल फल मिलते हैं, तो वह बारम्बार अपने को सुधारने का यत्न करता है, किन्तु जब उसके सारे प्रयास असफल रहते हैं और वह विनष्ट हो जाता है, तो अत्यन्त लोभवश वह अन्यों का धन स्वीकार करता है।

कुटुम्बभरणाकल्पो मन्दभाग्यो वृथोद्यमः ।
श्रिया विहीनः कृपणो ध्यायञ्छ्वसिति मूढधीः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

कुटुम्ब—अपना परिवार; भरण—पालन करने में; अकल्पः—असमर्थ; मन्द-भाग्यः—अभागा; वृथा—व्यर्थ ही; उद्यमः—जिसका प्रयास; श्रिया—सौंदर्य, धन; विहीनः—रहित; कृपणः—कंजूस; ध्यायन्—शोक करता हुआ; श्वसिति—आहें भरता है; मूढ—मोहग्रस्त; धीः—बुद्धि वाला।

जब वह अभागा अपने परिवार वालों के भरण-पोषण में असफल होकर समस्त सौन्दर्य से विहीन हो जाता है, तो वह सदैव लम्बी-लम्बी आहें भरता हुआ अपनी विफलता के विषय में सोचता है।

एवं स्वभरणाकल्पं तत्कलत्रादयस्तथा ।
नाद्रियन्ते यथा पूर्वं कीनाशा इव गोजरम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; स्व-भरण—उनको पालने में; अकल्पम्—असमर्थ; तत्—उसकी; कलत्र—पत्नी; आदयः—इत्यादि; तथा—उसी प्रकार; न—नहीं; आद्रियन्ते—आदर करते हैं; यथा—जिस तरह; पूर्वम्—पहले; कीनाशाः—किसान; इव—सदृश; गो-जरम्—पुराना बैल।

उसे अपने पालन-पोषण में असमर्थ देखकर उसकी पत्नी तथा अन्य लोग उसे उसी तरह पहले जैसा सम्मान नहीं प्रदान करते जिस तरह कंजूस किसान अपने बुढ़े तथा थके

बैलों के साथ पहले जैसा व्यवहार नहीं करता।

तात्पर्य : इसी युग में नहीं, अपितु अनादि काल से अपने परिवार में कोई भी ऐसे वृद्ध पुरुष को नहीं चाहता जो कमाता नहीं। यहाँ तक कि वर्तमान युग में कुछ जातियों अथवा राज्यों में बूढ़ों को विष दे दिया जाता है, जिससे वे जितनी जल्दी हो सके मर जाँय। कतिपय मानवभक्षी जातियों में बूढ़े बाबा को खेल-खेल में मारकर उसके माँस की दावत दी जाती है। यहाँ पर उस किसान का उदाहरण दिया गया है, जो अपने उस बूढ़े बैल को नहीं चाहता जिसने काम करने के लायक नहीं रह गया है। इसी प्रकार से परिवार से सम्बद्ध व्यक्ति जब वृद्ध हो जाता है और कमा नहीं सकता तो उसे न तो उसकी पत्नी, पुत्र, पुत्रियाँ चाहते हैं न ही परिजन। फलस्वरूप उसकी उपेक्षा होने लगती है, आदर करने की बात तो दूर रही। अत: यह लाभप्रद होगा कि वृद्धावस्था प्राप्त होने के पूर्व ही पारिवारिक सम्बन्ध तोड़ दिया जाय और भगवान् की शरण ग्रहण की जाय। मनुष्य को चाहिए कि अपने-आपको भगवान् की सेवा में लगा दे जिससे वे उसका भार अपने ऊपर ले सकें और इस तरह वह मनुष्य अपने स्वजनों से उपेक्षित न हो।

तत्राप्यजातनिर्वेदो भ्रियमाणः स्वयम्भृतैः ।
जरयोपात्तवैरूप्यो मरणाभिमुखो गृहे ॥ १४॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अपि—यद्यपि; अजात—उदय नहीं हुई हो; निर्वेदः—विरुचि; भ्रियमाणः—पालित होकर; स्वयम्—अपने आपसे; भृतैः—पालित लोगों से; जरया—वृद्धावस्था से; उपात्त—प्राप्त; वैरूप्यः—विरूपता, रूप बिगड़ना; मरण—मृत्यु; अभिमुखः—पास आकर; गृहे—घर में।

मूर्ख पारिवारिक व्यक्ति गृहस्थ जीवन से पराङ्मुख नहीं होता, यद्यपि अब उसका पालन उन लोगों के द्वारा किया जा रहा है, जिन्हें पहले उसने पाला था। वृद्धावस्था के कारण उसका रूप विकृत हो जाता है और वह मृत्यु की तैयारी करने लगता है।

तात्पर्य : पारिवारिक आकर्षण इतना प्रबल होता है कि मनुष्य अपनी वृद्धावस्था में अपने ही परिवार के सदस्यों द्वारा उपेक्षित होने पर भी परिवार के प्रति अपना प्रेम नहीं छोड़ पाता और वह घर में कुत्ते के समान रहा आता है। वैदिक जीवन-शैली में मनुष्य को पारिवारिक

जीवन का परित्याग कर देना था जब वह हट्टा कट्टा हो। अत: सलाह दी जाती है कि अधिक दुर्बल होने तथा भौतिक कार्यों में अत्यधिक निराश होने एवं मरने के पूर्व मनुष्य को चाहिए कि गृहस्थाश्रम त्याग कर जीवन के शेष दिन भगवान् की सेवा में लगाये। अत: वैदिक शास्त्रों में आदेश दिया गया है कि ज्योंही पचास वर्ष की आयु पूरी हो जाय, मनुष्य को चाहिए कि पारिवारिक जीवन त्याग कर जंगल में एकान्त में रहे। अपने को पूरी तरह तैयार कर लेने के बाद संन्यासी होकर वह प्रत्येक व्यक्ति को घर-घर में आध्यात्मिक जीवन का ज्ञान वितरित करे।

आस्तेऽवमत्योपन्यस्तं गृहपाल इवाहरन् ।
आमयाव्यप्रदीप्ताग्निरल्पाहारोऽल्पचेष्टितः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

आस्ते—रहा आता है; अवमत्या—उपेक्षा भाव से; उपन्यस्तम्—जो दिया जाता है; गृह-पालः—कुत्ता; इव—सदृश; आहरन्—खाते हुए; आमयावी—रुग्ण; अप्रदीप्त-अग्निः—अजीर्ण, मन्दाग्न्यता; अल्प—थोड़ा; आहारः—भोजन; अल्प—थोड़ा; चेष्टितः—उसके कार्य।

वह घर पर पालतू कुत्ते की भाँति रह रहा होता है और उपेक्षाभाव से उसे जो भी दिया जाता है, उसे खाता है। अजीर्ण तथा मंदाग्नि जैसी अनेक प्रकार की व्याधियों से ग्रस्त होकर, वह केवल कुछ कौर भोजन करता है और अशक्त होने के कारण कोई भी काम नहीं कर पाता।

तात्पर्य : मृत्यु के पूर्व मनुष्य को रुग्ण तथा असक्त होना पड़ता है और जब उसके परिवार के लोग उसकी उपेक्षा करते हैं, तो उसकी स्थिति एक कुत्ते से भी बदतर हो जाती है, क्योंकि उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अत: वैदिक शास्त्रों का आदेश है कि ऐसी दयनीय स्थिति प्राप्त होने के पूर्व मनुष्य घर त्याग दे और अपने परिवार की जानकारी से दूर मरे। यदि मनुष्य घर छोड़कर परिवार वालों की जानकारी के बिना मरता है, तो इसे महिमामय मृत्यु कहते हैं। किन्तु परिवार से आसक्त व्यक्ति चाहता है कि उसके मरने के बाद भी परिवार वाले उसे एक विशाल जुलूस (शवयात्रा) में ले जायँ, भले ही वह उसे देख न पाये। इस प्रकार यह जाने बिना कि जब वह अपना शरीर छोड़ता है, तो अगले जन्म में उसे कहाँ जाना होगा,

वह प्रसन्न रहता है।

वायुनोत्क्रमतोत्तारः कफसंरुद्धनाडिकः ।
कासश्वासकृतायासः कण्ठे घुरघुरायते ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

वायुना—हवा के द्वारा; उत्क्रमता—बाहर निकलने से; उत्तारः—आँखें; कफ—कफ से; संरुद्ध—सँटी हुई; नाडिकः—श्वास नली; कास—खाँसी; श्वास—साँस लेना; कृत—किया हुआ; आयासः—कठिनाई; कण्ठे—गले में; घुर-घुरायते—घुर-घुर का शब्द करता है।

उस रुग्ण अवस्था में, भीतर से वायु के दबाब के कारण उसकी आँखें बाहर निकल आती हैं और उसकी ग्रंथियाँ कफ से भर जाती हैं। उसे साँस लेने में कठिनाई होती है और गले के भीतर से घुर-घुर की आवाज निकलती है।

शयानः परिशोचद्भिः परिवीतः स्वबन्धुभिः ।
वाच्यमानोऽपि न ब्रूते कालपाशवशं गतः ॥ १७॥

शब्दार्थ

शयानः—लेटा हुआ; परिशोचद्भिः—पश्चात्ताप करते हुए; परिवीतः—घिरा हुआ; स्व-बन्धुभिः—अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों से; वाच्यमानः—बोलने के लिए कहे जाने पर; अपि—यद्यपि; न—नहीं; ब्रूते—बोलता है; काल—समय के; पाश—फंदा के; वशम्—वशीभूत; गतः—गया हुआ।

इस प्रकार वह मृत्यु के पाश में बँधकर लेट जाता है, विलाप करते उसके मित्र तथा सम्बन्धी उसे घेर लेते हैं और उन सबसे बोलने की इच्छा करते हुए भी वह बोल नहीं पाता, क्योंकि वह काल के वश में रहता है।

तात्पर्य : जब मनुष्य मृत्युशय्या पर होता है, तो उसके सम्बन्धी शिष्टाचारवश उसके पास आते हैं। कभी-कभी मरने वाले व्यक्ति को "अरे, मेरे पिता! अरे, मेरे मित्र! अरे, मेरे पति"! सम्बोधित करके जोर-जोर से रोते-चिल्लाते हैं। उस दयनीय अवस्था में मरने वाला व्यक्ति उनसे बोलना चाहता है और अपनी इच्छाएँ व्यक्त करना चाहता है, किन्तु वह *काल* अर्थात् मृत्यु के वश में रहता है, अतः अपने आपको व्यक्त नहीं कर पाता। इससे उसे अकल्पनीय पीड़ा होती है। वह पहले से रुग्ण होने के कारण पीड़ादायक अवस्था में रहता है और उसकी ग्रन्थियाँ तथा गला कफ से अवरुद्ध रहते हैं। वह पहले से विकट स्थिति में रहता है और जब

उसे उसके सम्बन्धी पुकारते हैं, तो उसका शोक बढ़ जाता है।

एवं कुटुम्बभरणे व्यापृतात्माजितेन्द्रियः ।
म्रियते रुदतां स्वानामुरुवेदनयास्तधीः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कुटुम्ब-भरणे—परिवार का पालन करने में; व्यापृत—तल्लीन; आत्मा—उसका मन; अजित—अनियन्त्रित; इन्द्रियः—उसकी इन्द्रियाँ; म्रियते—मर जाता है; रुदताम्—रोते हुए; स्वानाम्—कुटुम्बियों को; उरु—महान्; वेदनया—पीड़ा से; अस्त—विहीन; धीः—चेतना।

इस प्रकार जो व्यक्ति इन्द्रियों को वश में किये बिना परिवार के भरण-पोषण में लगा रहता है, वह अपने रोते कुटुम्बियों को देखता हुआ अत्यन्त शोक में मरता है। वह अत्यन्त दयनीय अवस्था में, असह्य पीड़ा के साथ, किन्तु चेतना विहीन होकर मरता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि मृत्यु के समय मनुष्य उन्हीं विचारों में निमग्न रहता है, जिसका उसने जीवन भर अनुशीलन किया है। जिस व्यक्ति ने जीवन भर अपने परिवार के भरण-पोषण के अतिरिक्त और कुछ न सोचा हो उसके अन्तिम विचारों में पारिवारिक बातें ही रहेंगी। सामान्य व्यक्ति के लिए यह स्वाभाविक स्थिति होती है। सामान्य व्यक्ति अपने भाग्य को नहीं जानता है, वह केवल परिवार का पालन-पोषण करता रहता है। अन्तिम अवस्था में किसी को सन्तोष नहीं होता कि उसने परिवार की आर्थिक दशा कैसे सुधारी, हर एक व्यक्ति यही सोचता है कि मैंने यथेष्ठ सेवा नहीं की। परिवार के प्रति प्रगाढ़ स्नेह के कारण वह अपनी इन्द्रियों को वश में करने तथा अपनी आध्यात्मिक चेतना सुधारने के मुख्य कर्तव्य को भूल जाता है। कभी-कभी मरने वाला व्यक्ति परिवार का भार अपने पुत्र या अन्य सम्बन्धी को सौंपते हुए कहता है, "मैं तो जा रहा हूँ, किन्तु तुम परिवार को देखना।" वह यह नहीं जानता कि कहाँ जा रहा है, किन्तु मृत्यु के समय भी वह चिन्तित रहता है कि उसके परिवार का निर्वाह किस तरह होगा। कभी कभी देखा जाता है कि मरने वाला व्यक्ति वैद्य से कुछ ही वर्षों तक आयु बढ़ाने की याचना करता है, जिससे वह परिवार-भरण के लिए प्रारम्भ की गई अपनी योजना पूरी कर सके। बद्धजीव की ये ही व्याधियाँ हैं। वह अपने वास्तविक कार्य—कृष्णभक्ति—को भूल जाता है और अपने परिवार के जीवन-निर्वाह की

योजनाओं में ही लगा रहता है, यद्यपि वह एक-एक करके अपना परिवार बदलता रहता है।

यमदूतौ तदा प्राप्तौ भीमौ सरभसेक्षणौ ।
स दृष्ट्वा त्रस्तहृदयः शकृन्मूत्रं विमुञ्चति ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यम-दूतौ—यमराज के दो दूत; तदा—उस समय; प्राप्तौ—आकर; भीमौ—घोर; स-रभस—क्रोध से पूर्ण; ईक्षणौ—अपनी आँखें; सः—वह; दृष्ट्वा—देखकर; त्रस्त—भयभीत; हृदयः—अपना हृदय; शकृत्—मल; मूत्रम्—मूत्र; विमुञ्चति—त्यागता है, निकाल देता है।

मृत्यु के समय उसे अपने समक्ष यमराज के दूत आये दिखते हैं, जिनके नेत्र क्रोध से पूर्ण रहते हैं। इस तरह भय के मारे उसका मल-मूत्र छूट जाता है।

तात्पर्य : वर्तमान शरीर को छोड़ने के बाद जीव का देहान्तरण दो प्रकार से होता है। एक प्रकार का देहान्तरण पापकर्मों के नियामक यमराज के पास जाना है और दूसरा है स्वर्गलोक या वैकुण्ठ को जाना। यहाँ पर भगवान् कपिल बताते हैं कि जो लोग परिवार के पालन-पोषण में व्यस्त रहते हैं उनके साथ यमदूत कैसा व्यवहार करते हैं। मृत्यु के समय, जिन लोगों ने अपनी इन्द्रियों की प्रबल रूप से तुष्टि की है उनके रखवाले यमदूत बनते हैं। वे मरने वाले व्यक्ति को पकड़कर उस लोक में ले जाते हैं जहाँ यमराज निवास करता है। वहाँ की दशाओं का वर्णन अगले श्लोकों में किया गया है।

यातनादेह आवृत्य पाशैर्बद्ध्वा गले बलात् ।
नयतो दीर्घमध्वानं दण्ड्यं राजभटा यथा ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यातना—दंड के लिए; देहे—उसका शरीर; आवृत्य—ढक कर; पाशैः—रस्सियों से; बद्ध्वा—बाँध कर; गले—गले से; बलात्—बलपूर्वक; नयतः—ले जाते हैं; दीर्घम्—लम्बी; अध्वानम्—दूरी; दण्ड्यम्—अपराधी; राज-भटाः—राजा के सिपाही; यथा—जिस प्रकार।

जिस प्रकार राज्य के सिपाही अपराधी को दण्डित करने के लिए उसे गिरफ्तार करते हैं उसी प्रकार इन्द्रियतृप्ति में संलग्न अपराधी पुरुष यमदूतों के द्वारा बन्दी बनाया जाता है। वे उसे मजबूत रस्सी से गले से बाँध लेते हैं और उसके सूक्ष्म शरीर को ढक देते हैं जिससे उसे कठोर से कठोर दण्ड दिया जा सके।

तात्पर्य : प्रत्येक जीव सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर से ढका रहता है। सूक्ष्म शरीर मन, अहंकार, बुद्धि तथा चेतना का आवरण है। शास्त्रों का कथन है कि यमराज के सिपाही अपराधी के सूक्ष्म शरीर को ढक कर उसे यमराज के आवास में ले जाते हैं जहाँ उसे इस तरह दण्ड दिया जाता है, जिसे वह सह ले। वह इस दण्ड से मरता नहीं, क्योंकि यदि मर जाय तो फिर दण्ड कौन सहेगा? यमराज के सिपाहियों का काम किसी को मारना नहीं है। वस्तुत: किसी जीव को मारना सम्भव नहीं, क्योंकि वास्तव में वह नित्य है; उसे केवल इन्द्रियतृप्ति के कार्यों का फल भुगतना पड़ता है।

चैतन्य-चरितामृत में दण्ड की विधि वर्णित है। पहले राजा के आदमी उस अपराधी को नौका द्वारा नदी के बीच तक ले जाते हैं। वे उसके बाल पकड़कर उसे पानी में डुबोते हैं और जब उसका दम घुटने लगता है, तो राजा के सिपाही उसे पानी से निकाल कर कुछ समय तक साँस लेने देते हैं और फिर बार-बार उसी तरह से पानी में डुबोते और निकालते हैं। इसी प्रकार का दण्ड यमराज द्वारा विस्मृत जीवों को दिया जाता है, जिसका वर्णन अगले श्लोकों में हुआ है।

तयोर्निर्भिन्नहृदयस्तर्जनैर्जातवेपथु: ।
पथि श्वभिर्भक्ष्यमाण आर्तोऽघं स्वमनुस्मरन् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तयो:—यम के दूतों की; निर्भिन्न—टूटा हुआ; हृदय:—हृदय; तर्जनै:—डाट-फटकार से; जात—उत्पन्न; वेपथु:—कँप-कँपी; पथि—रास्ते में; श्वभि:—कुत्तों के द्वारा; भक्ष्यमाण:—काटा जाकर; आर्त:—दुखी; अघम्—पाप; स्वम्—अपना; अनुस्मरन्—स्मरण करते हुए।

इस प्रकार यमराज के सिपाहियों द्वारा ले जाये जाते समय उसे दबाया-कुचला जाता है और उनके हाथों में वह काँपता रहता है। रास्ते में जाते समय उसे कुत्ते काटते हैं और उसे अपने जीवन के पापकर्म याद आते हैं। इस प्रकार वह अत्यधिक दुखी रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि इस लोक से यमलोक जाते समय, यमराज के दूतों द्वारा बन्दी बनाये गये अपराधी को मार्ग में कुत्ते मिलते हैं, जो भूकते हैं और उसे इन्द्रियतृप्ति के अपराध कर्मों का स्मरण कराने के लिए काटते हैं। *भगवद्गीता* में कहा

गया है कि जब कोई इन्द्रियतृप्ति की इच्छा से उन्मत्त होता है, तो वह अन्धा हो जाता है और सारा ज्ञान खो देता है। वह सब कुछ भूल जाता है। *कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना:*। जब कोई इन्द्रियतृप्ति के प्रति अत्यधिक अनुरक्त होता है, तो उसकी सारी बुद्धि जाती रहती है और वह यह भूल जाता है कि उसको इसका परिणाम भोगना पड़ेगा। यहाँ पर उसे यमराज द्वारा पाले गये कुत्तों से अपने इन्द्रियतृप्ति के कार्यों को स्मरण करने का अवसर मिलता है। जब हम स्थूल शरीर में रहते हैं, तो आजकल के सरकारी नियमों द्वारा भी इन्द्रियतृप्ति के ऐसे कार्यों को बढ़ावा मिलता है। सारे विश्व में प्रत्येक राज्य की सरकारें ऐसे कर्मों को गर्भनिरोध के रूप में प्रोत्साहन देती है। स्त्रियों को गोलियाँ दी जाती हैं और गर्भपात कराने के लिए अस्पतालों में जाने की छूट है। वस्तुत: विषयी जीवन अच्छी सन्तान को जन्म देने के लिए है, किन्तु लोगों को अपनी इन्द्रियों पर किसी प्रकार का संयम न होने के कारण तथा इन्द्रियों को वश में करने की शिक्षा देने वाली संस्थाओं के न होने से लोग इन्द्रियतृप्ति के अपराधों के शिकार होते हैं और वे मृत्यु के पश्चात् जिस प्रकार से दण्डित होते हैं उसका वर्णन *भागवत* के इन पृष्ठों में हुआ है।

क्षुत्तृट्परीतोऽर्कदवानलानिलैः
सन्तप्यमानः पथि तप्तवालुके ।
कृच्छ्रेण पृष्ठे कशया च ताडितश्
चलत्यशक्तोऽपि निराश्रमोदके ॥ २२॥

शब्दार्थ

क्षुत्-तृट्—भूख तथा प्यास से; परीतः—व्याकुल; अर्क—सूर्य; दव-अनल—जंगल की अग्नि; अनिलैः—वायु से; सन्तप्यमानः—झुलसते हुए; पथि—रास्ते में; तप्त-वालुके—गर्म बालू पर; कृच्छ्रेण—कष्टपूर्वक; पृष्ठे—पीठ पर; कशया—चाबुक से; च—तथा; ताडितः—मारा जाकर; चलति—चलता है; अशक्तः—असमर्थ; अपि—यद्यपि; निराश्रम-उदके—बिना किसी विश्राम या जल के।

अपराधी को चिलचिलाती धूप में गर्म बालू के रास्ते से होकर जाना पड़ता है, जिसके दोनों ओर दावाग्नि जलती रहती है। चलने में असमर्थता के कारण सिपाही उसकी पीठ पर कोड़े लगाते हैं और वह भूख तथा प्यास से व्याकुल हो जाता है। किन्तु दुर्भाग्यवश रास्ते भर न तो पीने के लिए जल रहता है, न विश्राम करने के लिए कोई आश्रय मिलता है।

तत्र तत्र पतञ्छ्रान्तो मूर्च्छितः पुनरुत्थितः ।
पथा पापीयसा नीतस्तरसा यमसादनम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तत्र तत्र—जहाँ तहाँ; पतन्—गिरते हुए; श्रान्तः—थका हुआ; मूर्च्छितः—बेहोश; पुनः—फिर से; उत्थितः—उठते हुए; पथा—रास्ते में; पापीयसा—अत्यन्त अशुभ; नीतः—लाया गया; तरसा—तेजी से; यम-सादनम्—यमराज के सामने।

यमराज के धाम के मार्ग पर वह थकान से गिरता-पड़ता जाता है और कभी-कभी अचेत हो जाता है, किन्तु उसे पुनः उठने के लिए बाध्य किया जाता है। इस प्रकार उसे तेजी से यमराज के समक्ष लाया जाता है।

योजनानां सहस्राणि नवतिं नव चाध्वनः ।
त्रिभिर्मुहूर्तैर्द्वाभ्यां वा नीतः प्राप्नोति यातनाः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

योजनानाम्—योजनों की; सहस्राणि—हजार; नवतिम्—नब्बे; नव—नौ; च—तथा; अध्वनः—दूरी से; त्रिभिः—तीन; मुहूर्तैः—क्षणों में; द्वाभ्याम्—दो; वा—अथवा; नीतः—लाया गया; प्राप्नोति—पाता है; यातनाः—दण्ड।

इस तरह से ९९ हजार योजन की दूरी उसे दो या तीन पलों में पार करनी होती है और फिर तुरन्त उसे घोर यातना दी जाती है, जिसे सहना पड़ता है।

तात्पर्य : एक योजन आठ मील के बराबर होता है, अतः उसे लम्बा रास्ता तय करना होता है, जो लगभग ७,९२,००० मील है। इतनी लम्बी दूरी दो-तीन क्षणों में पार करनी होती है। सिपाही सूक्ष्म शरीर को ढक लेते हैं जिससे जीव इतनी लम्बी दूरी को शीघ्र ही तय कर ले और साथ ही यातनाएँ सहता चले। यह आवरण, यद्यपि भौतिक है, किन्तु ऐसे सूक्ष्म तत्त्वों का होता है कि भौतिकतावादी विज्ञानी पता नहीं लगा पाते कि ये आवरण किस वस्तु के बने हैं। ७,९२,००० मील की यात्रा कुछ ही पलों में पूरी कर लेना आधुनिक अन्तरिक्ष यात्रियों को भी असमंजस में डालने वाला है। अभी तक वे १८,००० मील प्रति घण्टे की चाल से यात्रा कर चुके हैं, किन्तु यहाँ हम देखते हैं कि अपराधी कुछ ही सेकंडों में ७,९२,००० मील की यात्रा करता है और यह कोई आध्यात्मिक विधि नहीं होती, भौतिक होती है।

आदीपनं स्वगात्राणां वेष्टयित्वोल्मुकादिभिः ।
आत्ममांसादनं क्वापि स्वकृत्तं परतोऽपि वा ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

आदीपनम्—अग्नि लगाकर; स्व-गात्राणाम्—अपने अंगों को; वेष्टयित्वा—लपेट कर; उल्मुक-आदिभिः—जलती लकड़ी के टुकड़ों आदि से; आत्म-मांस—अपने मांस का; अदनम्—भोजन करते; क्व अपि—कभी-कभी; स्व-कृत्तम्—अपने द्वारा किया गया; परतः—अन्यों द्वारा; अपि—भी; वा—अथवा।

वहाँ उसे जलती लकड़ियों के बीच में रख दिया जाता है और उसके अंगों में आग लगा दी जाती है। कभी-कभी उसे अपना मांस स्वयं खाने के लिए बाध्य किया जाता है अथवा अन्यों द्वारा खाने दिया जाता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में तथा अगले तीन श्लोकों में यातनाओं का वर्णन हुआ है। पहला विवरण यह है कि अपराधी को स्वयं आग में पका अपना मांस खाना पड़ता है या अन्य जो वहाँ उपस्थित होते हैं उन्हें खाने देना पड़ता है। पिछले महायुद्ध में, लोगों को यातना-शिविरों में अपना मल खाना पड़ा था, अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं यदि यमराज के निवास 'यमसादन' में अपराधी को, जो कभी दूसरे का मांस खाता है, अपना ही मांस खाना पड़ता हो।

जीवतश्चान्त्राभ्युद्धारः श्वगृध्रैर्यमसादने ।
सर्पवृश्चिकदंशाद्यैर्दशद्भिश्चात्मवैशसम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

जीवतः—जीवित; च—तथा; अन्त्र—आँतें; अभ्युद्धारः—बाहर खींचकर; श्व-गृध्रैः—कुत्तों तथा गीधों द्वारा; यम-सादने—यमराज के सदन में; सर्प—सर्प; वृश्चिक—बिच्छू; दंश—डाँस, मच्छर; आद्यैः—इत्यादि के द्वारा; दशद्भिः—काटे जाने पर; च—तथा; आत्म-वैशसम्—अपना उत्पीड़न।

नरक के कुत्तों तथा गीधों द्वारा उसकी आँखें उसके जीवित रहते और देखते-देखते निकाल ली जाती हैं और उसे साँपों, बिच्छुओं, डाँसों तथा अन्य काटने वाले जन्तुओं से पीड़ा पहुँचाई जाती है।

कृन्तनं चावयवशो गजादिभ्यो भिदापनम् ।
पातनं गिरिशृङ्गेभ्यो रोधनं चाम्बुगर्तयोः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

कृन्तनम्—काट करके; च—तथा; अवयवशः—अंग प्रति अंग; गज-आदिभ्यः—हाथी आदि से; भिदापनम्—चिरवाया जाकर; पातनम्—नीचे गिराकर; गिरि—पहाड़ियों की; शृङ्गेभ्यः—चोटियों से; रोधनम्—घेर कर; च—तथा; अम्बु-गर्तयोः—जल में या गुफा में।

फिर उसके अंग-प्रत्यंग काट डाले जाते हैं और उसे हाथियों से चिरवा दिया जाता है। उसे पर्वत की चोटियों से नीचे गिराया जाता है और फिर जल में या गुफा में बन्दी बना लिया जाता है।

यास्तामिस्रान्धतामिस्रा रौरवाद्याश्च यातनाः ।
भुङ्क्ते नरो वा नारी वा मिथः सङ्गेन निर्मिताः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

याः—जो; तामिस्र—नरक का नाम; अन्ध-तामिस्राः—एक नरक; रौरव—एक नरक; आद्याः—इत्यादि; च—तथा; यातनाः—यातनाएँ, दण्ड; भुङ्क्ते—भोगता है; नरः—मनुष्य; वा—अथवा; नारी—स्त्री; वा—अथवा; मिथः—पारस्परिक; सङ्गेन—संगति से; निर्मिताः—बनाये गये।

जिन पुरुषों तथा स्त्रियों का जीवन अवैध यौनाचार में बीतता है उन्हें तामिस्र, अन्धतामिस्र तथा रौरव नामक नरकों में नाना प्रकार की यातनाएँ दी जाती हैं।

तात्पर्य : भौतिकतावादी जीवन विषयी जीवन पर आधारित है। उन समस्त भौतिकतावादी लोगों का जीवन, जो जीवन-संघर्ष में नाना प्रकार की यातनाएँ भोग रहे हैं, कामवासना पर आधारित है। अतः वैदिक सभ्यता में केवल सीमित रूप से विषयी-जीवन की अनुमति दी गई है। यह जीवन विवाहित दम्पति युगल के लिए सन्तानोत्पत्ति के लिए है। किन्तु जब अवैध इन्द्रियतृप्ति के लिए विषयी जीवन का उपयोग किया जाता है, तो स्त्री तथा पुरुष दोनों को इसी संसार में या मरने के बाद कठोर यातना सहनी पड़ती है। इस लोक में उन्हें सिफलिस तथा गोनोरिया जैसे रोगों द्वारा दण्डित होना पड़ता है और अगले जीवन में उन्हें अनेक नारकीय यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं जैसाकि यहाँ पर वर्णन हुआ है। *भगवद्गीता* के प्रथम अध्याय में अवैध विषयी जीवन की अत्यधिक भर्त्सना की गई है और यह कहा गया है कि जो इस प्रकार से सन्तान उत्पन्न करते हैं, वे नरक को जाते हैं। यहाँ पर भागवतम् में इसकी पुष्टि की गई है कि ऐसे अपराधों को तामिस्र, अन्धतामिस्र तथा रौरव नरकों में जीवन बिताना पड़ता है।

अत्रैव नरकः स्वर्ग इति मातः प्रचक्षते ।
या यातना वै नारक्यस्ता इहाप्युपलक्षिताः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अत्र—इस संसार में; एव—ही; नरकः—नरक; स्वर्गः—स्वर्ग; इति—इस प्रकार; मातः—हे माता; प्रचक्षते—लोग कहते हैं; याः—जो जो; यातनाः—यातनाएँ; वै—निश्चय ही; नारक्यः—नारकीय; ताः—वे; इह—यहाँ; अपि—भी; उपलक्षिताः—दृष्टिगोचर होती हैं।

कपिलमुनि ने आगे कहा : हे माता, कभी-कभी यह कहा जाता है कि इसी लोक में हम नरक अथवा स्वर्ग का अनुभव करते हैं, क्योंकि कभी-कभी इस लोक में भी नारकीय यातनाएँ दिखाई पड़ती हैं।

तात्पर्य : कभी-कभी अविश्वासी लोग नरक सम्बन्धी शास्त्रों के इन कथनों को नहीं मानते। वे ऐसे प्रामाणिक विवरणों की अवहेलना करते हैं। अतः भगवान् कपिल उनकी पुष्टि यह कह कर करते हैं कि ये नारकीय परिस्थितियाँ इस लोक में भी दिखती हैं। ऐसा नहीं कि ये केवल यमराज के निवास करने वाले लोक में ही हों। यमराज के लोक में पापी पुरुष को उन नारकीय परिस्थितियों में रहने का अवसर प्रदान किया जाता है, जो उसे अगले जीवन में सहनी होंगी और फिर उसे दूसरे लोक में यही नारकीय जीवन बिताने के लिए जन्म लेने का अवसर दिया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि मनुष्य को नरक में रहने, मल तथा मूत्र खाने का दण्ड दिया जाता है, तो सबसे पहले उसे यमराज के लोक में ऐसी आदतों का अभ्यास कराया जाता है, फिर उसे वैसा ही शरीर दिया जाता है, जैसे कि एक शूकर का जिससे कि वह मल खा सके और यह सोचे कि वह जीवन का आनन्द उठा रहा है। पीछे यह बताया जा चुका है कि कैसी भी नारकीय परिस्थिति में बद्धजीव अपने को सुखी मानता है। अन्यथा यह सम्भव नहीं कि वह नारकीय जीवन भोग सकें।

एवं कुटुम्बं बिभ्राण उदरम्भर एव वा ।
विसृज्येहोभयं प्रेत्य भुङ्क्ते तत्फलमीदृशम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कुटुम्बम्—परिवार को; बिभ्राणः—पालन करने वाला; उदरम्—पेट को; भरः—भरण करने वाला; एव—केवल; वा—अथवा; विसृज्य—त्याग कर; इह—यहाँ; उभयम्—दोनों; प्रेत्य—मृत्यु के बाद; भुङ्क्ते—भोगता है; तत्—उसका; फलम्—फल; ईदृशम्—ऐसा।

इस शरीर को त्यागने के पश्चात् वह व्यक्ति जो पापकर्मों द्वारा अपना तथा अपने परिवार के सदस्यों का पालन-पोषण करता है नारकीय जीवन बिताता है और उसके

साथ उसके परिवार वाले भी।

तात्पर्य : आधुनिक सभ्यता की यही भूल है कि इसमें मनुष्य अगले जीवन में विश्वास नहीं करता। किन्तु वह विश्वास करे अथवा न भी करे तो भी अगला जीवन होता है और यदि कोई वेद तथा पुराण जैसे शास्त्रों से सम्मत उत्तरदायित्वपूर्ण जीवन नहीं बिताता तो उसे कष्ट भोगना पड़ता है। मनुष्य से निम्न योनियाँ अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं होती, क्योंकि उन्हें एक निश्चित विधि से कर्म करना होता है, किन्तु मानवीय चेतना वाले विकसित जीवन में, यदि कोई अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं बनता तो निश्चय ही उसे यहाँ पर वर्णित विधि के अनुसार नारकीय जीवन बिताना होगा।

एकः प्रपद्यते ध्वान्तं हित्वेदं स्वकलेवरम् ।
कुशलेतरपाथेयो भूतद्रोहेण यद्भृतम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एकः—अकेला; प्रपद्यते—प्रवेश करता है; ध्वान्तम्—अन्धकार; हित्वा—छोड़कर; इदम्—यह; स्व—अपना; कलेवरम्—शरीर; कुशल-इतर—पाप; पाथेयः—सम्बल, रास्ते का खर्च; भूत—अन्य जीवों की; द्रोहेण—क्षति द्वारा; यत्—जो शरीर; भृतम्—पाला गया।.

इस शरीर को त्याग कर वह अकेला नरक के अंधतम भागों में जाता है और अन्य जीवों के साथ ईर्ष्या करके उसने जो धन कमाया था वही पाथेय के रूप में उसके साथ जाता है।

तात्पर्य : जब मनुष्य अनुचित साधनों से धन कमाकर उस धन से अपने परिवार का तथा अपना पालन करता है, तो वह धन यद्यपि परिवार के कई सदस्यों द्वारा भोगा जाता है, किन्तु नरक तो उसे अकेले ही जाना होता है। जो व्यक्ति धन कमाकर या दूसरे की स्पर्धा करके जीवन का आनन्द उठाता है और जो अपने परिवार तथा मित्रों के साथ आनन्द उठाता है, उसे अकेले ही ऐसे हिंसक तथा अवैध जीवन के पापकर्मों का फल भोगना पड़ेगा। उदाहरणार्थ, यदि कोई मनुष्य किसी को मार कर कुछ धन प्राप्त करता है और उस धन से अपने परिवार का पोषण करता है, तो जो इस कमाये हुए काले धन का भोग करते हैं, वे भी अंशतः उत्तरदायी हैं और उन्हें भी नरक भेजा जाता है, किन्तु जो प्रमुख होता है उसे विशेष रूप से

दण्डित किया जाता है। भौतिक भोग का फल यही है कि पापफल ही उसके हाथ लगता है, धन नहीं। उसके द्वारा कमाया धन इसी संसार में रह जाता है और वह अपने साथ केवल कर्मफल ले जाता है।

इस संसार में भी यदि कोई मनुष्य किसी व्यक्ति की हत्या करके कुछ धन प्राप्त करता है, तो उसके परिवार को फाँसी नहीं दी जाती, यद्यपि उसके सदस्य पाप से दूषित रहते हैं। किन्तु जो व्यक्ति हत्या करता है और परिवार का पोषण करता है उसे ही हत्यारे के रूप में फाँसी दी जाती है। प्रत्यक्ष अपराधकर्ता अप्रत्यक्ष भोक्ता की अपेक्षा पापकर्मों के लिए अधिक उत्तरदायी है। अत: परम विद्वान चाणक्य पण्डित कहते हैं कि मनुष्य के पास जो कुछ भी है उसे सत्-कार्य में या भगवान् के लिए व्यय कर देना चाहिए, क्योंकि कोई अपने साथ धन-दौलत नहीं ले जाता। धन-दौलत यहीं रही आती है और नष्ट हो जाती है। अत: या तो हम धन को त्यागें अन्यथा धन हमें त्यागेगा, किन्तु हम दोनों विलग होकर रहेंगे। जब तक धन हमारे पास है तब तक उसका सर्वोत्तम उपयोग यही है कि कृष्णभावनामृत प्राप्त करने में इसका व्यय किया जाय।

दैवेनासादितं तस्य शमलं निरये पुमान् ।
भुङ्क्ते कुटुम्बपोषस्य हृतवित्त इवातुरः ॥ ३२॥

शब्दार्थ

दैवेन—भगवान् की व्यवस्था से; आसादितम्—प्राप्त; तस्य—उसका; शमलम्—पापपूर्ण फल, कुफल; निरये—नारकीय अवस्था में; पुमान्—मनुष्य; भुङ्क्ते—भोगता है; कुटुम्ब-पोषस्य—परिवार के पोषण का; हृत-वित्तः—जिसकी सम्पत्ति लुट गई हो; इव—सदृश; आतुरः—व्याकुल।

इस प्रकार भगवान् की व्यवस्था से, परिवार का पोषणकर्ता अपने पापकर्मों को भोगने के लिए नारकीय अवस्था में रखा जाता है मानो उसकी सारी सम्पत्ति लुट गई हो।

तात्पर्य : यहाँ पर उदाहरण दिया गया है कि पापी मनुष्य को वैसे ही कष्ट होता है, जिस प्रकार मनुष्य की सम्पत्ति लुटने पर होता है। बद्धजीव को अनेक जन्मों के बाद मनुष्य का शरीर प्राप्त होता है और यह एक अमूल्य निधि है। किन्तु यदि कोई मुक्ति प्राप्त करने के लिए इस जीवन का उपयोग नहीं करता वरन् अपने तथाकथित परिवार के पालन-पोषण में ही

लगाता है और इस तरह मूर्खतापूर्ण तथा अवैध कर्म करता रहता है, तो वह उस पुरुष के समान है, जो अपनी सारी सम्पत्ति लुट चुकने पर शोक करता है। सम्पत्ति लुट जाने पर शोक करने से क्या लाभ? किन्तु जब तक पास में सम्पत्ति रहे तब तक उसका समुचित उपयोग करके शाश्वत लाभ प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ यह तर्क किया जा सकता है कि जब मनुष्य पापकर्म के द्वारा अर्जित धन को छोड़ कर मर जाता है, तो अपने धन के साथ अपने पापकर्म भी छोड़ जाता है। किन्तु यहाँ यह विशेष उल्लेख है कि दैवी व्यवस्था (*दैवेनासादितम्*) से यद्यपि वह अपना धन छोड़े जाता है, किन्तु इसके प्रभाव को अपने साथ लेता जाता है। यदि कोई कुछ धन चुरावे और पकड़ा जाय तथा उस धन को राज्य के कानून के अनुसार भले ही वह लौटा दे, किन्तु उसे दण्ड भोगना ही पड़ता है। इसी प्रकार अपराध द्वारा अर्जित धन मरते समय भले ही यहाँ छूट जाय, किन्तु दैवी व्यवस्था के अनुसार इसके फल को अपने साथ लेता जाता है, अत: उसे नारकीय जीवन भोगना पड़ता है।

केवलेन ह्यधर्मेण कुटुम्बभरणोत्सुकः ।
याति जीवोऽन्धतामिस्रं चरमं तमसः पदम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

केवलेन—केवल, निरे; हि—निश्चय ही; अधर्मेण—अधर्म कार्यों से; कुटुम्ब—परिवार; भरण—पालने के लिए; उत्सुकः—उत्सुक; याति—जाता है; जीवः—व्यक्ति; अन्ध-तामिस्रम्—अन्धतामिस्र नरक को; चरमम्—परम; तमसः—अंधकार का; पदम्—क्षेत्र।

अतः जो व्यक्ति केवल कुत्सित साधनों से अपने परिवार तथा कुटुम्बियों का पालन करने के लिए लालायित रहता है, वह निश्चय ही अन्धतामिस्र नामक गहनतम नरक में जाता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में तीन शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। *केवलेन* का अर्थ है ‘‘कुत्सित साधनों से'', *अधर्मेण* का अर्थ है ‘‘पापपूर्ण अथवा अधार्मिक'' और *कुटुम्ब-भरण* का अर्थ है ‘‘परिवार का पालन पोषण।'' निस्सन्देह परिवार का पालन गृहस्थ का कर्तव्य है, किन्तु उसे शास्त्रसम्मत विधि से ही जीविका कमानी चाहिए। *भगवद्गीता* में बताया गया है कि भगवान् ने सामाजिक पद्धति को चार वर्णों या जातियों में उनके गुण तथा कर्म के अनुसार विभाजित

किया है। *भगवद्गीता* के अतिरिक्त, प्रत्येक समाज में मनुष्य अपने गुण तथा कार्य के अनुसार ही जाना जाता है। उदाहरणार्थ, लकड़ी का काम करने वाला बढ़ई कहलाता है तथा लोहे तथा निहाई का काम करने वाला लुहार कहलाता है। इसी प्रकार चिकित्सा तथा इंजीनियरी क्षेत्रों में लगे मनुष्यों के विशेष कार्य तथा उपाधियाँ होती हैं। परमेश्वर ने इन समस्त मानवीय कार्यों को चार वर्णों में विभाजित किया जिनके नाम हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। *भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक ग्रन्थों में इन चारों वर्णों के कर्तव्यों का उल्लेख है।

मनुष्य को अपनी योग्यता के अनुसार निष्ठापूर्वख काम करना चाहिए। उसे अनुचित ढंग से जिनके लिए वह योग्य नहीं है, जीविका अर्जित नहीं करनी चाहिए। यदि ब्राह्मण को धर्माचार्य के रूप में योग्यता प्राप्त नहीं है, किन्तु धर्माचार्य का कार्य करता है, जिसका कार्य है अपने अनुयायियों को आध्यात्मिक जीवन-शैली बताना, तो वह जनता को ठग रहा होता है। मनुष्य को ऐसे अनुचित साधनों से धन नहीं कमाना चाहिए। यही बात क्षत्रिय तथा वैश्य पर भी लागू होती है। इसका विशेष उल्लेख हुआ है कि जो लोग कृष्णभावनामृत में अग्रसर होना चाहते हैं उनकी जीविका के साधन अत्यन्त न्यायोचित तथा जटिलता-रहित होने चाहिए। यहाँ इसका उल्लेख है कि जो अनुचित साधनों से (*केवलेन*) जीविकोपार्जन करता है उसे गहनतम नरक में भेजा जाता है। अन्यथा यदि वह शास्त्रोक्त विधियों से तथा ईमानदारी के साथ परिवार का भरण करता है, तो पारिवारिक व्यक्ति बनने में किसी को आपत्ति नहीं होगी।

अधस्तान्नरलोकस्य यावतीर्यातनादयः ।
क्रमशः समनुक्रम्य पुनरत्राव्रजेच्छुचिः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

अधस्तात्—नीचे से; नर-लोकस्य—मनुष्य जन्म; यावतीः—जितनी; यातना—दण्ड, सजाएँ; आदयः—इत्यादि; क्रमशः—नियत क्रम; समनुक्रम्य—से होकर जाने पर; पुनः—फिर; अत्र—यहाँ, इस पृथ्वी पर; आव्रजेत्—लौट सकता है; शुचिः—शुद्ध।

समस्त कष्टकर नारकीय परिस्थितियों से तथा मनुष्य जन्म के पूर्व पशु-जीवन के निम्नतम रूपों को क्रमशः पार करते हुए और इस प्रकार अपने पापों को भोगते हुए, वह इस पृथ्वी पर मनुष्य के रूप में पुनः जन्म लेता है।

तात्पर्य : जिस प्रकार से एक बन्दी को बन्दीगृह का कष्टमय जीवन बिताने के बाद पुन: मुक्त कर दिया जाता है उसी तरह जो व्यक्ति पहले अपवित्र तथा शरारतपूर्ण कर्म कर चुका होता है, वह नारकीय स्थितियों में रखा जाता है और विभिन्न प्रकार के नारकीय जीवन—यथा कुत्ते, बिल्ली तथा शूकर जैसे निम्न पशुओं के जीवन बिताने के बाद क्रमश: विकास क्रिया के द्वारा पुन: मनुष्य रूप में आता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि योगाभ्यास में लगा व्यक्ति कभी-कभी अच्छी तरह से उसे पूरा नहीं कर पाता और वह किसी न किसी कारण से नीचे गिर जाता है, किन्तु तो भी अगले जीवन में उसका मनुष्य होना निश्चित है। यह कहा गया है कि ऐसा व्यक्ति जो योग के पथ से च्युत होता है उसे किसी अत्यन्त धनी परिवार में या अत्यन्त पवित्र कुल में जन्म लेने का अवसर प्रदान किया जाता है। इससे यह अर्थ लगाया जाता है कि धनी परिवार किसी बड़े व्यापारी कुल का सूचक है, क्योंकि जो लोग व्यापार करते हैं, वे अत्यन्त धनी होते हैं। जो व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार में या परमेश्वर के साथ सम्बन्ध स्थापित करने (योग) में लगा रहता है, किन्तु उसे पूरा नहीं कर पाता तो उसे धनी परिवार में या कि पवित्र ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने दिया जाता है। दोनों ही तरह से उसे अगले जीवन में मनुष्य-समाज में जन्म लेने की गांरटी रहती है। अत: यह निष्कर्ष निकला कि जो तामिस्र या अंधतामिस्र जैसे नरक का जीवन बिताना नहीं चाहता उसे कृष्णभक्ति की विधि अपनानी चाहिए, जो प्रथमकोटि की योगपद्धति है, क्योंकि यदि कोई उससे इस जीवन में पूर्ण कृष्णभावनामृत प्राप्त नहीं कर पाता तो अगले जन्म में मनुष्य परिवार में उसका जन्म निश्चित है। उसे नरक नहीं भेजा जा सकता। कृष्णभावनाभावित होना शुद्धतम जीवन है। यह सभी मनुष्यों को नरक की ओर जाकर कुत्तों या शूकरों के परिवार में जन्म लेकर नरक की ओर जाने से बचाती है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत ''भगवान् कपिल द्वारा विपरीत कर्मों का वर्णन'' नामक तीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter इकतीस

जीवों की गतियों के विषय में भगवान् कपिल के उपदेश

श्रीभगवानुवाच
कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये ।
स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; कर्मणा—कर्मफल के द्वारा; दैव-नेत्रेण—भगवान् की अध्यक्षता में; जन्तुः—जीव; देह—शरीर; उपपत्तये—प्राप्त करने के लिए; स्त्रियाः—स्त्री के; प्रविष्टः—प्रवेश करता है; उदरम्—गर्भ में; पुंसः—पुरुष के; रेतः—वीर्य का; कण—सूक्ष्म भाग; आश्रयः—रहते हुए।

भगवान् ने कहा : परमेश्वर की अध्यक्षता में तथा अपने कर्मफल के अनुसार विशेष प्रकार का शरीर धारण करने के लिए जीव (आत्मा) को पुरुष के वीर्यकण के रूप में स्त्री के गर्भ में प्रवेश करना होता है।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है, नाना प्रकार की नारकीय स्थितियों को भोगने के बाद जीव पुनः मनुष्य का शरीर प्राप्त करता है। इस अध्याय में उसी प्रसंग को आगे बढ़ाया गया है। किसी व्यक्ति को जिसने पहले नारकीय जीवन बिताया है, मनुष्य का स्वरूप देने के लिए, आत्मा को पहले पुरुष के वीर्य में स्थानान्तरित किया जाता है, जो उसका पिता बनने के लिए उपयुक्त हो। संभोग के समय पिता के वीर्य से यह आत्मा माता के गर्भ में स्थानान्तरित हो जाता है, जिससे विशेष प्रकार का शरीर उत्पन्न होता है। यह विधि समस्त प्राणियों पर लागू होती है, किन्तु यहाँ पर उस मनुष्य के लिए विशेष रूप से वर्णित है, जो अन्धतामिस्र में चला गया हो। वहाँ पर कष्ट भोगने के बाद, जब वह कुत्ता तथा शूकर जैसे अनेक शरीर धारण कर चुकता है, तो पुनः मनुष्य का स्वरूप प्राप्त करने के लिए उसे उसी प्रकार का शरीर धारण करने का अवसर दिया जाता है, जिसमें वह नरक में जा पड़ा था।

यह सब कुछ भगवान् की अध्यक्षता में होता है। प्रकृति शरीर प्रदान करती है, किन्तु परमात्मा के निर्देशन में। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जीव इस जगत में प्रकृति द्वारा निर्मित

रथ पर चढ़कर घूमता है। परम पुरुष, परमात्मा रूप में व्यष्टि आत्मा के साथ सदैव उपस्थित रहते हैं। वह प्रत्येक आत्मा को उसके कर्मफल के अनुसार शरीर प्रदान करने के लिए प्रकृति को निर्देश देता है, जिसे प्रकृति करती है। यहाँ पर *रेत:कणाश्रय* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह बताता है कि मनुष्य के वीर्य से स्त्री के गर्भ में जीवन उत्पन्न नहीं होता, अपितु जीव या आत्मा वीर्यकण का आश्रय लेकर स्त्री के गर्भ में जाता है, तभी शरीर विकसित होता है। आत्मा की अनुपस्थिति में मात्र संभोग से, जीव के उत्पन्न होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। यह भौतिकतावादी सिद्धान्त लागू नहीं होता कि आत्मा नहीं है और शिशु का जन्म केवल शुक्राणु तथा रज के संयोग से होता हैं। यह सिद्धान्त मान्य नहीं है।

कललं त्वेकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्बुदम् ।
दशाहेन तु कर्कन्धू: पेश्यण्डं वा तत: परम् ॥ २॥

शब्दार्थ

कललम्—शुक्राणु तथा रज का मिश्रण; तु—तब; एक-रात्रेण—पहली रात में; पञ्च-रात्रेण—पाँचवी रात तक; बुद्बुदम्—बुलबुला; दश-अहेन—दस दिनों में; तु—तब; कर्कन्धू:—बेर के बराबर; पेशी—मांस का लोथड़ा; अण्डम्—अंडा; वा—अथवा; तत:—उससे; परम्—बाद में।

पहली रात में शुक्राणु तथा रज मिलते हैं और पाँचवी रात में यह मिश्रण बुलबले का रूप धारण कर लेता है। दसवीं रात्रि को यह बढ़कर बेर जैसा हो जाता है और उसके बाद धीरे-धीरे यह मांस के पिण्ड या अंडे में परिवर्तित हो जाता है।

तात्पर्य : अपने आत्मा का शरीर विभिन्न स्रोतों के अनुसार चार प्रकार से विकसित होता है। एक प्रकार का शरीर पौधों का है, जो पृथ्वी से फूटता है; दूसरे प्रकार का शरीर पसीने (श्वेद) से उत्पन्न होता है यथा मक्खी, कीड़े तथा खटमल; तीसरे प्रकार का शरीर अण्डे से विकसित होता है और चौथे प्रकार का शरीर भ्रूण से उत्पन्न होता है। इस श्लोक से सूचित होता है कि शुक्राणु तथा रज के मिलने के पश्चात् धीरे-धीरे शरीर मांस के पिंड में या अंडे में विकसित होता है। पक्षियों में अंडा बनता है और पशुओं तथा मनुष्यों में मांस का पिंड बनता है।

मासेन तु शिरो द्वाभ्यां बाह्वङ्घ्र्याद्यङ्गविग्रहः ।
नखलोमास्थिचर्माणि लिङ्गच्छिद्रोद्भवस्त्रिभिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

मासेन—एक मास के भीतर; तु—तब; शिरः—सिर; द्वाभ्याम्—दो महीने में; बाहु—हाथ; अङ्घ्रि—पैर; आदि—इत्यादि; अङ्ग—शरीर के अवयव; विग्रहः—स्वरूप; नख—नाखून; लोम—रोएँ; अस्थि—हड्डियाँ; चर्माणि—तथा चमड़ी; लिङ्ग—शिश्न; छिद्र—छेद; उद्भवः—प्राकट्य; त्रिभिः—तीन मास में।

एक महीने के भीतर सिर बन जाता है और दो महीने के अन्त में हाथ, पाँव तथा अन्य अंग आकार पाते हैं। तीसरे मास के अन्त तक नाखून, अँगुलियाँ, अँगूठे, रोएँ, हड्डियाँ तथा चमड़ी प्रकट हो आती हैं और इसी तरह जननेन्द्रिय तथा आँखें, नथुने, कान, मुँह तथा गुदा जैसे छिद्र भी प्रकट होते हैं।

चतुर्भिर्धातवः सप्त पञ्चभिः क्षुत्तृडुद्भवः ।
षड्भिर्जरायुणा वीतः कुक्षौ भ्राम्यति दक्षिणे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

चतुर्भिः—चार महीने के भीतर; धातवः—अवयव; सप्त—सात; पञ्चभिः—पाँच महीने के भीतर; क्षुत्-तृट्—भूख तथा प्यास के; उद्भवः—प्राकट्य; षड्भिः—छह मास के भीतर; जरायुणा—झिल्ली से; वीतः—घिर कर; कुक्षौ—उदर में; भ्राम्यति—चलता है; दक्षिणे—दाहिनी ओर।

गर्भधारण के चार महीने के भीतर शरीर के सात मुख्य अवयव उत्पन्न हो जाते हैं। इनके नाम हैं—रस, रक्त, मांस, चर्बी, हड्डी, मज्जा तथा वीर्य। पाँच महीने में भूख तथा प्यास लगने लगती है और छह मास के अन्त तक झिल्ली (जरायु) के भीतर बन्द गर्भ (भ्रूण) उदर के दाहिनी भाग में चलने लगता है।

तात्पर्य : छह मास के अन्त तक शिशु का शरीर पूरी तरह बन जाता है और यदि वह (भ्रूण) नर हुआ तो दाहिनी ओर चलता है, किन्तु मादा होने पर बाईं ओर चलता है।

मातुर्जग्धान्नपानाद्यैरेधद्धातुरसम्मते ।
शेते विण्मूत्रयोर्गर्ते स जन्तुर्जन्तुसम्भवे ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

मातुः—माता का; जग्ध—ग्रहण किया गया; अन्न-पान—भोजन तथा पेय पदार्थ, खाना-पीना; आद्यैः—इत्यादि से; एधत्—बढ़ते हुए; धातुः—शरीर के अवयव; असम्मते—गर्हित, घृणित; शेते—रहा आता है; विट्-मूत्रयोः—मल-मूत्र के; गर्ते—गड्ढे में; सः—वह; जन्तुः—भ्रूण; जन्तु—कीड़ों के; सम्भवे—पोषण-स्थल में।

माता द्वारा ग्रहण किये गये भोजन तथा जल से पोषण प्राप्त करके भ्रूण बढ़ता है

और मल-मूत्र के घृणित स्थान में, जो सभी प्रकार के कीटाणुओं के उपजने का स्थान है, रहा आता है।

तात्पर्य : *मार्कण्डेय पुराण* में कहा गया है कि *आप्यायनी* अर्थात् नाल बच्चे को माता की आँत से जोड़ती है और इसी मार्ग से माता द्वारा पचाया गया भोजन शिशु को जाता है। इस प्रकार गर्भ के भीतर शिशु अपनी माता की आँत के माध्यम से पोषित होता है और नित्यप्रति बढ़ता रहता है। *मार्कण्डेय पुराण* के कथन की पुष्टि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान द्वारा होती है, अत: पुराणों के प्रमाण को काटा नहीं जा सकता, जैसाकि कभी-कभी मायावादी चिन्तक करते हैं।

चूँकि शिशु माता द्वारा स्वांगीकृत भोज्य पदार्थ पर पूर्णतया निर्भर रहता है, अत: गर्भावस्था में माता द्वारा ग्रहण किये जाने वाले भोजन पर प्रतिबन्धन रहते हैं। गर्भिणी माँ को अधिक नमक, मिर्च, प्याज आदि खाने की मनाही रहती है, क्योंकि शिशु का शरीर अत्यन्त कोमल होता है और इस तरह की तिक्त वस्तुएँ सहन नहीं कर सकता। स्मृति शास्त्रों में निर्दिष्ट गर्भिणी माता द्वारा करणीय तथा निषेध अत्यन्त उपयोगी हैं। हमें वैदिक साहित्य से पता चलता है कि समाज में उत्तम शिशु उत्पन्न करने की ओर कितना ध्यान दिया जाता था। समाज के उच्च वर्णों में प्रसंग के पूर्व गर्भाधान उत्सव का विशेष महत्त्व था और यह वैज्ञानिक भी है। गर्भावस्था के समय वैदिक साहित्य में संस्तुत अन्य विधियाँ भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। शिशु की देखभाल करना माता-पिता का प्रमुख कर्तव्य है, क्योंकि इससे समाज ऐसे लोगों से पूर्ण हो सकेगा जिससे समाज, देश तथा मानव-जाति के लिए शान्ति तथा सम्पन्नता आ सकती है।

कृमिभि: क्षतसर्वाङ्ग: सौकुमार्यात्प्रतिक्षणम् ।
मूर्च्छामाप्नोत्युरुक्लेशस्तत्रत्यै: क्षुधितैर्मुहु: ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

कृमिभि:—कीड़ों द्वारा; क्षत—काटे जाने पर; सर्व-अङ्ग:—पूरे शरीर में; सौकुमार्यात्—सुकुमार होने के कारण; प्रति-क्षणम्—क्षण-क्षण; मूर्च्छाम्—अचेत अवस्था को; आप्नोति—प्राप्त करता है; उरु-क्लेश:—महान् कष्ट; तत्रत्यै:—वहाँ (उदर में) रहकर; क्षुधितै:—भूख से; मुहु:—पुन: पुन:।

उदर में भूखे कीड़ों द्वारा शरीर भर में बारम्बार काटे जाने पर शिशु को अपनी

सुकुमारता के कारण अत्यधिक पीड़ा होती है। इस भयावह स्थिति के कारण वह क्षण-क्षण अचेत होता रहता है।

तात्पर्य : इस संसार की कष्टप्रद स्थिति का अनुभव हमें माता के गर्भ से बाहर निकलने पर ही नहीं, अपितु गर्भ में रहते हुए भी होता है। यह कष्टप्रद जीवन उसी समय से प्रारम्भ हो जाता है जब जीव शरीर से सम्पर्क स्थापित करता है। दुर्भाग्यवश हम इस अनुभव को भूल जाते हैं और जन्म के कष्टों पर गम्भीरता से विचार नहीं करते। अत: *भगवद्गीता* में विशेष रूप से उल्लेख है कि मनुष्य को जन्म तथा मृत्यु की कठिनाइयों को समझने के प्रति सचेत रहना चाहिए। जिस प्रकार शरीर-निर्माण के समय हमें माता के गर्भ में अनेक कष्ट सहन करने होते हैं उसी प्रकार मृत्यु के समय भी अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। जैसाकि पिछले अध्याय में बताया गया है, मनुष्य को एक शरीर से दूसरे में अन्तरण करना होता है और जब कुत्तों तथा सुअरों के शरीर में यह अन्तरण होता है, तो विशेष कष्ट होता है। किन्तु ऐसी कष्टप्रद स्थितियों के होते हुए हम माया के प्रभाव से सब कुछ भूल जाते हैं और वर्तमान तथाकथित सुख द्वारा आकृष्ट होते हैं, जो कष्ट की प्रतिक्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

कटुतीक्ष्णोष्णलवणरूक्षाम्लादिभिरुल्बणैः ।
मातृभुक्तैरुपस्पृष्टः सर्वाङ्गोत्थितवेदनः ॥ ७॥

शब्दार्थ

कटु—कड़वा; तीक्ष्ण—तीता; उष्ण—गरम; लवण—नमकीन; रूक्ष—सूखा; अम्ल—खट्टा; आदिभिः—इत्यादि से; उल्बणैः—अत्यधिक; मातृ-भुक्तैः—माता द्वारा खाये गये भोजन से; उपस्पृष्टः—प्रभावित; सर्व-अङ्ग—सारे शरीर में; उत्थित—उत्पन्न हुआ; वेदनः—दर्द, पीड़ा।

माता के खाये कड़वे, तीखे, अत्यधिक नमकीन या खट्टे भोजन के कारण शिशु के शरीर में निरन्तर पीड़ा रहती है, जो प्राय: असह्य होती है।

तात्पर्य : माता के गर्भ में स्थित शिशु की शारीरिक अवस्था का पूरा वर्णन कर पाना असम्भव है। ऐसी स्थिति में रहना अत्यन्त कठिन होता है, किन्तु फिर भी शिशु को उसी में रहना ही पड़ता है। चेतना का ठीक से विकास न होने के कारण शिशु इसे सहन करता है अन्यथा वह मर जाय। यह माया का आशीर्वाद है, जो कष्ट सहने वाले शरीर को ऐसी भीषण

यातनाएँ सहने की शक्ति प्रदान करता है।

उल्बेन संवृतस्तस्मिन्नन्त्रैश्च बहिरावृतः ।
आस्ते कृत्वा शिरः कुक्षौ भुग्नपृष्ठशिरोधरः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

उल्बेन—झिल्ली से; संवृतः—लिपटा हुआ; तस्मिन्—उस स्थान पर; अन्त्रैः—आँतों से; च—तथा; बहिः—बाहर; आवृतः—घिरा हुआ, ढका; आस्ते—लेटा रहता है; कृत्वा—रखा जाकर; शिरः—सिर; कुक्षौ—पेट की ओर; भुग्न—झुका हुआ; पृष्ठ—पीठ; शिरः-धरः—गर्दन।

झिल्ली से लिपटा और बाहर से आँतों द्वारा ढका (घिरा) हुआ शिशु उदर में एक ओर पड़ा रहता है। उसका सिर उसके पेट की ओर मुड़ा हुआ रहता है और उसकी कमर तथा गर्दन धनुषाकार में मुड़े रहते हैं।

तात्पर्य : यदि किसी बड़े मनुष्य को उस अवस्था में रखा जाय जिसमें एक शिशु उदर के भीतर सभी प्रकार से फँसा हुआ रहता है, तो उसके लिए कुछ क्षण भी जीवित रहना दूभर हो जाय। दुर्भाग्यवश हमें ये सारे कष्ट याद नहीं रहते हैं और हम इस जीवन में प्रसन्न रहने का प्रयत्न करते हैं। हम जन्म-मृत्यु के पाश से आत्मा को मुक्त करने की तनिक भी चिन्ता नहीं करते। यह हमारी सभ्यता का दुर्भाग्य है कि ये बातें ठीक से समझायी नहीं जातीं जिससे लोग संसार की नाजुक स्थिति को समझ सकें।

अकल्पः स्वाङ्गचेष्टायां शकुन्त इव पञ्जरे
तत्र लब्धस्मृतिर्दैवात्कर्म जन्मशतोद्भवम् ।
स्मरन्दीर्घमनुच्छ्वासं शर्म किं नाम विन्दते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अकल्पः—अशक्त; स्व-अङ्ग—अपने अंग; चेष्टायाम्—हिलाने-डुलाने के लिए; शकुन्तः—पक्षी; इव—सदृश; पञ्जरे—पिंजड़े में; तत्र—वहाँ; लब्ध-स्मृतिः—स्मृति को प्राप्त करके; दैवात्—भाग्यवश; कर्म—कर्म; जन्म-शत-उद्भवम्—पिछले सौ जन्मों में घटित होने वाले; स्मरन्—याद करके; दीर्घम्—दीर्घकाल तक; अनुच्छ्वासम्—आहें भरना; शर्म—मन को शान्ति; किम्—क्या; नाम—तब; विन्दते—प्राप्त कर सकता है।

इस तरह शिशु पिंजड़े के पक्षी के समान बिना हिले-डुले रह रहा होता है। उस समय, यदि शिशु भाग्यवान हुआ, तो उसे विगत सौ जन्मों के कष्ट स्मरण हो आते हैं और वह दुख से आहें भरता है। भला ऐसी दशा में मनःशान्ति कैसे सम्भव है?

तात्पर्य : जन्म के बाद शिशु भले ही विगत जीवन के कष्टों को भूल जाय, किन्तु जब हम बड़े हो जाते हैं तब *श्रीमद्भागवत* जैसे प्रामाणिक शास्त्रों को पढ़कर इतना तो समझ ही सकते हैं कि जन्म तथा मृत्यु के समय कितनी यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। यदि शास्त्रों में हमारा विश्वास नहीं है, तो अलग बात है, किन्तु यदि ऐसे शास्त्रों के प्रमाण पर हमारा विश्वास है, तो हमें अगले जन्म में इससे मुक्त होने की तैयारी करनी चाहिए। ऐसा इसी मनुष्य जीवन में सम्भव है। जो इन संकेतों की परवाह नहीं करता वह आत्मघात करता है। कहा गया है कि मनुष्य-जीवन ही माया के अन्धकार को या भवसागर को पार करने का एकमात्र साधन है। हमारे पास यह मनुष्य-शरीर अत्यन्त सक्षम नाव के समान है और गुरु ही इसका अत्यन्त दक्ष कप्तान है, शास्त्रीय आदेश अनुकूल हवाओं के समान है। यदि इन सारी सुविधाओं के रहते हुए भी हम अज्ञान के सागर को पार नहीं कर पाते तो हम जानबूझ कर आत्मघात कर रहे होते हैं।

आरभ्य सप्तमान्मासाल्लब्धबोधोऽपि वेपितः ।
नैकत्रास्ते सूतिवातैर्विष्ठाभूरिव सोदरः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

आरभ्य—प्रारम्भ होने पर; सप्तमात् मासात्—सातवें महीने से; लब्ध-बोधः—चेतना प्राप्त; अपि—यद्यपि; वेपितः—हिलता डुलता; न—नहीं; एकत्र—एक स्थान पर; आस्ते—रहा आता है; सूति-वातैः—शिशु जन्म के लिए हवाओं (प्रसूति वायु) द्वारा; विष्ठा-भूः—क्रीड़ा; इव—सदृश; स-उदरः—उसी गर्भ से उत्पन्न।

इस प्रकार गर्भाधान के पश्चात् सातवें मास से चेतना विकसित होने पर यह शिशु उन हवाओं के द्वारा चलायमान रहता है, जो भ्रूण को प्रसव के कुछ सप्ताह पूर्व से दबाती रहती हैं। वह उसी पेट की गन्दगी से उत्पन्न कीड़ों के समान एक स्थान में नहीं रह सकता।

तात्पर्य : सातवें मास के बाद शिशु शारीरिक वायु से हिलने-डुलने लगता है, एक ही स्थान पर नहीं रहा आता, क्योंकि प्रसव के पूर्व सारा योनि-तंत्र शिथिल पड़ जाता है। यहाँ पर कीड़ों को *सोदर* कहा गया है। *सोदर* का वास्तविक अर्थ है "एक ही माता से उत्पन्न।" चूँकि शिशु माता के गर्भ से उत्पन्न होता है और कीड़े भी उसी माँ के गर्भ के भीतर सड़न से उत्पन्न

होते हैं, अत: शिशु तथा कीड़े वास्तव में भाई-भाई हैं। हम मनुष्यों में भ्रातृत्व स्थापित करने के लिए उत्सुक रहते हैं, किन्तु हमें कीड़ों को भी अपना भाई मानना चाहिए, अन्य प्राणियों की तो बात ही और है। अत: हमें समस्त प्राणियों के प्रति चिन्तित रहना चाहिए।

नाथमान ऋषिर्भीतः सप्तवध्रिः कृताञ्जलिः ।
स्तुवीत तं विक्लवया वाचा येनोदरेऽर्पितः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

नाथमानः—याचना करता हुआ; ऋषिः—जीव; भीतः—डरा हुआ; सप्त-वध्रिः—सात आवरणों से बँधा; कृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़े; स्तुवीत—प्रार्थना करता है; तम्—भगवान् को; विक्लवया—विकल होकर; वाचा—शब्दों से; येन—जिसके द्वारा; उदरे—गर्भ में; अर्पितः—स्थापित किया गया था।

इस भयभीत अवस्था में, भौतिक अवयवों के सात आवरणों से बँधा हुआ जीव हाथ जोड़कर भगवान् से याचना करता है जिन्होंने उसे इस स्थिति में ला रखा है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि जब स्त्री को प्रसव पीड़ा से गुजरना पड़ता है, तो वह प्रतिज्ञा करती है कि अब वह फिर से गर्भ धारण नहीं करेगी और ऐसा कष्ट फिर नहीं उठावेगी। इसी तरह से जब किसी का अस्पताल में आपरेशन होता है, तो रोगी प्रतिज्ञा करता है कि अब वह ऐसा कार्य नहीं करेगा जिससे वह बीमार पड़े और उसे फिर आपरेशन कराना पड़े। या जब कोई व्यक्ति संकट में होता है, तो वह प्रतिज्ञा करता है कि वह पुन: ऐसी भूल नहीं करेगा जिससे संकट में पड़े। इसी तरह जब जीव नारकीय अवस्था को प्राप्त होता है, तो वह भगवान् से प्रार्थना करता है कि वह पुन: पापकर्म नहीं करेगा जिससे वह माँ के गर्भ में जाकर जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़े। गर्भ के भीतर की नारकीय अवस्था में जीव पुन: जन्म लेने से भयभीत रहता है, किन्तु जब वह गर्भ से बाहर आ जाता है, जब वह अपनी पूरी जवानी में और स्वस्थ होता है, तो वह सब कुछ भूल जाता है और पुन:पुन: वही पाप करता है जिनके लिए उसे इस भयावह स्थिति में रखा गया था।

जन्तुरुवाच
तस्योपसन्नमवितुं जगदिच्छयात्त-
नानातनोर्भुवि चलच्चरणारविन्दम् ।

सोऽहं व्रजामि शरणं ह्यकुतोभयं मे
येनेद्दशी गतिरदर्श्यसतो ऽनुरूपा ॥ १२॥

शब्दार्थ

जन्तुः उवाच—जीव कहता है; तस्य—भगवान् का; उपसन्नम्—रक्षा के लिए पास आने पर; अवितुम्—रक्षा के लिए; जगत्—ब्रह्माण्ड; इच्छया—स्वेच्छा से; आत्त-नाना-तनोः—जो विभिन्न स्वरूपों को स्वीकार करता है; भुवि—पृथ्वी पर; चलत्—चलते हुए; चरण-अरविन्दम्—चरणकमल; सः अहम्—मैं स्वयं; व्रजामि—जाता हूँ; शरणम्—शरण में; हि—निस्सन्देह; अकुतः-भयम्—निर्भय बनाने; मे—मुझको; येन—जिससे; ईदृशी—ऐसी; गतिः—जीवन दशा; अदर्शि—मानी जाती थी; असतः—अपवित्र; अनुरूपा—उपयुक्त।

जीव कहता है : मैं उन भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता हूँ जो अपने विभिन्न नित्य स्वरूपों में प्रकट होते हैं और इस भूतल पर घूमते रहते हैं। मैं उन्हीं की शरण ग्रहण करता हूँ, क्योंकि वे ही मुझे निर्भय कर सकते हैं और उन्हीं से मुझे यह जीवन-अवस्था प्राप्त हुई है, जो मेरे अपवित्र कार्यों के सर्वथा अनुरूप है।

तात्पर्य : *चलच्चरणारविन्दम्* शब्द भगवान् का सूचक है, जो पृथ्वी पर चलते या भ्रमण करते हैं। उदाहरणार्थ, भगवान् रामचन्द्र पृथ्वी पर चले और भगवान् कृष्ण भी सामान्य मनुष्य की भाँति घूमते फिरते थे। अत: यह प्रार्थना उन भगवान् से की जाती है, जो इस पृथ्वी पर या ब्रह्माण्ड के किसी भी भाग पर साधुओं की रक्षा करने तथा असाधुओं को नष्ट करने के लिए अवतरित होते हैं। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि हुई है कि जब-जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म की वृद्धि होती है, तो भगवान् सत्पुरुषों की रक्षा करने और असाधुओं को मारने के लिए अवतरित होते हैं। इस श्लोक से भगवान् कृष्ण का संकेत मिलता है।

इस श्लोक की अन्य विशेषता है कि भगवान् *इच्छया* अर्थात् स्वेच्छा से आते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* से पुष्टि होती है—*सम्भवाम्यात्ममायया*—''मैं अपनी इच्छा से, अपनी अन्तरंगा शक्ति से प्रकट होता हूँ।'' वे प्रकृति के नियमों से बाध्य होकर नहीं आते। यहाँ पर *इच्छया* कहा गया है : वे कोई स्वरूप धारण नहीं करते जैसाकि निर्विशेषवादी सोचते हैं, क्योंकि वे स्वेच्छा से आते हैं, अत: वे जिस रूप में अवतरित होते हैं वह सनातन रूप है। जिस तरह परमेश्वर जीव को भयावह स्थिति में डालता है, उसी तरह वह उसका उद्धार भी करता है, अत: मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण के चरणकमलों की ही शरण में जाय। कृष्ण चाहते हैं, ''प्रत्येक वस्तु को त्यागो और मेरी शरण में आओ।'' *भगवद्गीता* में यह भी कहा गया है कि जो उनके

पास चला जाता है, वह इस संसार में पुन: शरीर धारण करने नहीं आता, अपितु भगवान् के धाम जाता है जहाँ से कभी नहीं लौटता।

यस्त्वत्र बद्ध इव कर्मभिरावृतात्मा
भूतेन्द्रियाशयमयीमवलम्ब्य मायाम् ।
आस्ते विशुद्धमविकारमखण्डबोध-
मातप्यमानहृदयेऽवसितं नमामि ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—भी; अत्र—यहाँ; बद्धः—बँधा हुआ; इव—मानो; कर्मभिः—कार्यों से; आवृत—आच्छादित; आत्मा—शुद्ध आत्मा; भूत—स्थूल तत्त्व; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आशय—मन; मयीम्—से युक्त; अवलम्ब्य—गिरकर; मायाम्—माया में; आस्ते—रहता है; विशुद्धम्—पूर्णतया शुद्ध; अविकारम्—परिवर्तन-रहित; अखण्ड-बोधम्—अनन्त ज्ञान से युक्त; आतप्यमान—संतप्त; हृदये—हृदय में; अवसितम्—रहते हुए; नमामि—नमस्कार करता हूँ।

मैं विशुद्ध आत्मा अपने कर्म के द्वारा बँधा हुआ, माया की व्यवस्थावश इस समय अपनी माता के गर्भ में पड़ा हुआ हूँ। मैं उन भगवान् को नमस्कार करता हूँ जो यहाँ मेरे साथ हैं, किन्तु जो अप्रभावित हैं और अपरिवर्तनशील हैं। वे असीम हैं, किन्तु संतप्त हृदय में देखे जाते हैं। मैं उन्हें सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में आया है कि जीवात्मा कहता है, ''मैं परमेश्वर की शरण ग्रहण करता हूँ।'' फलत: स्वाभाविक रूप से जीवात्मा परमात्मा का आश्रित सेवक है। परमात्मा तथा जीवात्मा एक ही शरीर में बैठे हैं, जैसाकि *उपनिषदों* का कथन है। वे मित्र के रूप में बैठे हैं—एक तो कष्ट भोग रहा है और दूसरा कष्टों से सर्वथा विलग है।

इस श्लोक में *विशुद्धम् अविकारम् अखण्ड-बोधम्* आया है, जिसका अर्थ है कि परमात्मा समस्त कल्मष से सदैव दूर रहता है। शरीर होने के कारण जीव कल्मषग्रस्त है और कष्ट उठाता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि चूँकि भगवान् भी उसके साथ है, इसलिए भगवान् के भी भौतिक शरीर है। वे *अविकारम्* अर्थात् परिवर्तनरहित हैं। वे सदैव एक से रहते हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश मायावादी चिन्तक अपने अशुद्ध हृदयों के कारण नहीं जान पाते कि परमात्मा व्यष्टि आत्मा से भिन्न है। यहाँ पर कहा गया है कि *आतप्यमानहृदयेऽवसितम्*—वे प्रत्येक जीव के हृदय में हैं, किन्तु वे केवल संतप्त आत्मा द्वारा ही अनुभवगम्य हैं। व्यष्टि आत्मा संतप्त

रहता है कि उसने अपनी स्वाभाविक स्थिति भुला दी, परमात्मा से तदाकार होना चाहा तथा प्रकृति पर अधिकार जताने का भरसक प्रयत्न किया। साथ ही उसे परमात्मा का दर्शन होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है कि अनेकानेक जन्मों के बाद बद्धजीव को यह ज्ञान होता है कि वासुदेव महान् हैं, वही स्वामी हैं, वही भगवान् हैं। व्यष्टि आत्मा सेवक है, अत: वह भगवान् की शरण जाता है। उस समय वह महात्मा या महान् आत्मा हो जाता है। अत: ऐसा भाग्यवान जीव जो अपनी माता के गर्भ में ही ऐसा ज्ञान प्राप्त कर लेता है उसकी मुक्ति निश्चित है।

यः पञ्चभूतरचिते रहितः शरीरे
च्छन्नोऽयथेन्द्रियगुणार्थचिदात्मकोऽहम् ।
तेनाविकुण्ठमहिमानमृषिं तमेनं
वन्दे परं प्रकृतिपूरुषयोः पुमांसम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

यः—जो; पञ्च-भूत—पाँच स्थूल तत्त्व से; रचिते—निर्मित; रहितः—पृथक्; शरीरे—भौतिक शरीर में; छन्नः—आवृत; अयथा—अनुपयुक्त; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; गुण—गुण; अर्थ—विषय; चित्—गर्व; आत्मकः—से युक्त; अहम्—मैं; तेन—शरीर द्वारा; अविकुण्ठ-महिमानम्—जिसकी महिमा प्रकट है; ऋषिम्—सर्वज्ञ; तम्—उस; एनम्—उसको; वन्दे—नमस्कार करता हूँ; परम्—दिव्य; प्रकृति—प्रकृति को; पूरुषयोः—जीव को; पुमांसम्—भगवान् को।

मैं अपने इस पंचभूतों से निर्मित भौतिक शरीर में होने के कारण परमेश्वर से विलग हो गया हूँ, फलतः मेरे गुणों तथा इन्द्रियों का दुरुपयोग हो रहा है, यद्यपि मैं मूलतः आध्यात्मिक हूँ। चूँकि ऐसे भौतिक शरीर से रहित होने के कारण भगवान् प्रकृति तथा जीव से परे हैं और चूँकि उनके आध्यात्मिक गुण महिमामय हैं, अतः मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : जीवात्मा तथा भगवान् का अन्तर यह है कि जीव प्रकृति के वश में रहता है, जबकि भगवान् प्रकृति तथा जीव दोनों से परे हैं। जब जीवात्मा प्रकृति में रहता है, तो उसकी इन्द्रियाँ तथा उसके गुण कलुषित हो जाते हैं या उपाधिमय हो जाते हैं। चूँकि भगवान् प्रकृति के प्रभाव से बाहर हैं और निस्सन्देह जीव की तरह उन्हें अज्ञान के अन्धकार में नहीं रखा जा सकता। अत: भौतिक गुणों या इन्द्रियों से युक्त होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। अपने पूर्ण

ज्ञान के कारण उन पर प्रकृति का वश नहीं चलता। उल्टे प्रकृति सदा ही उनके वश में रहती है, अतः प्रकृति के वश की बात नहीं कि वह भगवान् को अपने वश में रख सके।

चूँकि जीव का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है, अतः वह प्रकृति के वश में होता रहता है, किन्तु जब वह मिथ्या शरीर से मुक्त होता है, तो वह भगवान् जैसी ही आध्यात्मिक स्वभाव को प्राप्त करता है। उस समय उसमें तथा परमेश्वर में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं रह जाता, किन्तु वह इतना शक्तिमान नहीं होता कि प्रकृति के वश में कभी भी न आये, अतः वह भगवान् से भिन्न होता है।

भक्ति की पूरी प्रक्रिया ही अपने आपको प्रकृति के इस कल्मष से शुद्ध करना और आध्यात्मिक स्तर पर आसीन करना है जहाँ वह और भगवान् गुणात्मक रूप से एक होते हैं। वेदों में कहा गया है कि जीव सदैव मुक्त रहता है। *असङ्गो ह्ययं पुरुषः*। जीव मुक्त है। उसका भौतिक कल्मष क्षणिक है और उसकी वास्तविक स्थिति मुक्तता की है। यह मुक्ति कृष्णभावनामृत द्वारा प्राप्त की जाती और शरणागत होने के साथ ही प्रारम्भ होती है। इसलिए कहा गया है, "मैं परम पुरुष को सादर नमस्कार करता हूँ।"

यन्माययोरुगुणकर्मनिबन्धनेऽस्मिन्
सांसारिके पथि चरंस्तदभिश्रमेण ।
नष्टस्मृतिः पुनरयं प्रवृणीत लोकं
युक्त्या कया महदनुग्रहमन्तरेण ॥ १५॥

शब्दार्थ

यत्—भगवान् की; मायया—माया से; उरु-गुण—महान् गुणों से निकलने वाला; कर्म—कर्म; निबन्धने—बन्धों से; अस्मिन्—इस; सांसारिके—बारम्बार जन्म तथा मृत्यु के; पथि—रास्ते पर; चरन्—चलते हुए; तत्—उसका; अभिश्रमेण—अत्यधिक कष्ट के साथ; नष्ट—भ्रष्ट; स्मृतिः—स्मरण शक्ति; पुनः—फिर; अयम्—यह जीव; प्रवृणीत—अनुभव कर सकता है; लोकम्—अपनी असली प्रकृति; युक्त्या कया—जिस किसी साधन से; महत्-अनुग्रहम्—भगवान् की कृपा; अन्तरेण—बिना।

जीव आगे प्रार्थना करता है : जीवात्मा प्रकृति के वशीभूत रहता है और जन्म तथा मरण का चक्र बनाये रखने के लिए कठिन श्रम करता रहता है। यह बद्ध जीवन भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध की विस्मृति के कारण है। अतः बिना भगवान् की कृपा के कोई भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति में पुनः किस प्रकार संलग्न हो सकता है?

तात्पर्य : मायावादी चिन्तकों का कहना है कि मीमांसा द्वारा ज्ञान के अनुशीलन से मनुष्य भवबन्धन से मुक्त हो सकता है। किन्तु यहाँ पर यह कहा गया है कि मनुष्य ज्ञान से नहीं, अपितु भगवान् की कृपा से मुक्त होता है। कोई बद्धजीव मीमांसा द्वारा कितना ही शक्तिशाली ज्ञान क्यों न प्राप्त कर ले, उससे परम सत्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। कहा जाता है कि भगवान् की कृपा के बिना कोई उनको या उनके वास्तविक रूप, गुण तथा नाम को नहीं समझ सकता। जो भक्ति नहीं करते वे कई हजारों वर्षों तक चिन्तन करने के बाद भी परम सत्य के स्वभाव को समझने में असमर्थ रहते हैं।

मनुष्य परम सत्य का ज्ञान प्राप्त करके केवल श्रीभगवान् की कृपा से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि चूँकि हम भगवान् की भौतिक शक्ति द्वारा आवृत हैं इसीलिए हमारी स्मृति नष्ट हो जाती है। यह तर्क किया जा सकता है कि भगवान् की परम इच्छा से हमें इस भौतिक शक्ति के अधीन क्यों रखा गया? इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* में की गई है जहाँ भगवान् कहते हैं, ''मैं हर एक के हृदय में आसीन हूँ और मेरे ही कारण मनुष्य भूलता है या ज्ञान में जीवित रहता है।'' बद्धजीव की विस्मृति भी परमेश्वर के आदेश से होती है। जीव अपनी बची-खुची स्वतन्त्रता का दुरुपयोग प्रकृति पर अधिकार जताने की इच्छा के कारण करता है। स्वतन्त्रता का अर्थ है कि मनुष्य इसे ढंग से या बेढंग से इस्तेमाल कर सकता है। यह अचल नहीं है, सक्रिय है, फलत: स्वतन्त्रता का दुरुपयोग ही माया के वशीभूत होने का कारण है।

माया इतनी प्रबल है कि भगवान् कहते है; इसके प्रभाव को पार कर पाना दुष्कर है। किन्तु मनुष्य भगवान् की शरण में जाकर सहज ही ऐसा कर सकता है। *मामेव ये प्रपद्यन्ते*—जो कोई भी उनकी शरण में जाता है, वह प्रकृति के कठोर नियमों के प्रभाव को पार कर सकता है। यहाँ यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जीव उनकी इच्छा से माया के वश में है और यदि कोई इस पाश से छूटना चाहता है, तो यह भगवान् की कृपा से ही सम्भव है।

यहाँ पर माया के अधीन बद्धजीव के कर्मों की व्याख्या की गई है। प्रत्येक बद्धजीव माया

के अधीन नाना प्रकार के कर्म में लगा हुआ है। हम इस संसार में देख सकते हैं कि जीव इतनी शक्ति से कर्म करता है कि इन्द्रियतृप्ति के लिए भौतिक सभ्यता की तथाकथित प्रगति में उसका आश्चर्यजनक योगदान है। किन्तु वास्तव में उसको अपना पद जानना चाहिए कि वह परमेश्वर का शाश्वत दास है। जब वह पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो वह जान जाता है कि भगवान् परम पूज्य हैं और जीव उनका शाश्वत दास है। बिना इस ज्ञान के वह भौतिक कार्यों में लगा रहता है। यह अज्ञान या अविद्या कहलाती है।

ज्ञानं यदेतददधात्कतमः स देव-
स्त्रैकालिकं स्थिरचरेष्वनुवर्तितांशः ।
तं जीवकर्मपदवीमनुवर्तमाना-
स्तापत्रयोपशमनाय वयं भजेम ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ज्ञानम्—ज्ञान; यत्—जो; एतत्—यह; अदधात्—दिया; कतमः—के अतिरिक्त दूसरा; सः—वह; देवः—भगवान्; त्रै-कालिकम्—तीनों कालों का; स्थिर-चरेषु—जड़ तथा जंगम में; अनुवर्तित—रहते हुए; अंशः—उनका आंशिक स्वरूप; तम्—उसको; जीव—जीवात्माओं का; कर्म-पदवीम्—सकाम कर्मों का मार्ग; अनुवर्तमानाः—पालन करने वाले; ताप-त्रय—तीन प्रकार के कष्ट; उपशमनाय—मुक्त होने के लिए; वयम्—हम; भजेम—शरण में जाएँ।

भगवान् के आंशिक स्वरूप अन्तर्यामी परमात्मा के अतिरिक्त और कौन समस्त चर तथा अचर वस्तुओं का निर्देशन कर रहा है? वे काल की इन तीनों अवस्थाओं भूत, वर्तमान तथा भविष्य में उपस्थित रहते हैं। अतः बद्धजीव उनके ही आदेश से विभिन्न कर्मों में रत है और इस बद्ध जीवन के तीनों तापों से मुक्त होने के लिए हमें उनकी ही शरण ग्रहण करनी होगी।

तात्पर्य : जब बद्धजीव माया के चंगुल से छूटने के लिए उत्सुक रहता है, तो उसके अन्तःकरण में स्थित परमात्मास्वरूप भगवान् उसे यह ज्ञान देते हैं, "मेरी शरण में आओ।" जैसाकि भगवान् *भगवद्गीता* में कहते हैं, "अन्य सारे कार्यों का परित्याग करके मेरी शरण ग्रहण करो।" यह मानना होगा कि ज्ञान का स्रोत परम पुरुष है। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि होती है। *मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*। भगवान् कहते हैं, "मेरे ही द्वारा मनुष्य वास्तविक ज्ञान तथा स्मृति प्राप्त करता है और मुझी से विस्मृति भी मिलती है।" जो मनुष्य भौतिक दृष्टि से

संतुष्ट होना चाहता है या जो प्रकृति पर अधिकार जताना चाहता है भगवान् उसे अपनी सेवा की विस्मृति तथा भौतिक कार्यकलापों के तथाकथित सुख का अवसर प्रदान करते हैं। इसी प्रकार जब कोई इस प्रकृति पर अधिकार करने में हताश हो जाता है और भवबन्धन से छूटना चाहता है, तो भगवान् उसे भीतर से यह ज्ञान प्रदान करते हैं कि वह उनकी शरण में जावे, तभी उसकी मुक्ति होगी।

यह ज्ञान भगवान् या उनके प्रतिनिधि के अतिरिक्त अन्य कोई प्रदान नहीं कर सकता। भगवान् चैतन्य *चैतन्य-चरितामृत* में रूप गोस्वामी को उपदेश देते हैं कि जीव जन्म-जन्मान्तर घूमता है और संसार के कष्ट भोगता रहता है। किन्तु जब कोई भव-बन्धन से छूटने के लिए अत्यधिक उत्सुक रहता है, तो उसे गुरु तथा कृष्ण से प्रकाश प्राप्त होता है। इसका यह अर्थ हुआ कि कृष्ण परमात्मा रूप में प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हैं और जब जीव वास्तव में उत्सुक होता है, तो वे उसे अपने प्रतिनिधि प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण करने का आदेश देते हैं। गुरु द्वारा भीतर से निर्देशित होकर तथा बाहर से पथ दिखाये जाने पर मनुष्य को कृष्णभक्ति का मार्ग प्राप्त होता है, जो भवबन्धन से छूटने का मार्ग है।

अत: जब तक भगवान् का आशीर्वाद नहीं मिलता तब तक कोई अपने वास्तविक पद पर स्थित नहीं हो पाता। जब तक उसे परम ज्ञान द्वारा प्रकाश प्राप्त नहीं हो लेता तब तक उसे इस जगत में जीवन-संघर्ष के लिए कठिन यातनाएँ झेलनी पड़ती हैं। अत: गुरु परम पुरुष की कृपा का प्राकट्य होता है। बद्धजीव को गुरु से प्रत्यक्ष आदेश प्राप्त करने होते हैं और इस प्रकार धीरे-धीरे वह कृष्णभक्ति के मार्ग पर अग्रसर होने लगता है। कृष्णभक्ति का बीज बद्धजीव के हृदय में बोया जाता है और जब मनुष्य गुरु के उपदेश सुनता है, तो यह बीज फलित होता है और जीवन धन्य हो जाता है।

देह्यन्यदेहविवरे जठराग्निनासृग्-
विण्मूत्रकूपपतितो भृशतप्तदेहः ।
इच्छन्नितो विवसितुं गणयन्स्वमासान्

निर्वास्यते कृपणधीर्भगवन्कदा नु ॥ १७॥

शब्दार्थ

देही—देहधारी जीव; अन्य-देह—दूसरे शरीर के; विवरे—उदर में; जठर—पेट की; अग्निना—अग्नि से; असृक्—रक्त; विट्—मल; मूत्र—तथा मूत्र के; कूप—कुएँ में; पतितः—गिरा हुआ; भृश—प्रबल रूप से; तप्त—जला हुआ; देहः—उसका शरीर; इच्छन्—चाहते हुए; इतः—इस स्थान से; विवसितुम्—बाहर निकलने के लिए; गणयन्—गिनते हुए; स्वमासान्—अपने महीने; निर्वास्यते—मुक्त किया जावेगा; कृपण-धीः—कृपण बुद्धि का व्यक्ति; भगवन्—हे भगवान्; कदा—कब; नु—निस्सन्देह।

अपनी माता के उदर में रक्त, मल तथा मूत्र के कूप में गिर कर और अपनी माँ की जठराग्नि से दग्ध देहधारी जीव बाहर निकलने की व्यग्रता में महीनों की गिनती करता रहता है और प्रार्थना करता है, "हे भगवान्, यह अभागा जीव कब इस कारागार से मुक्त हो पाएगा?"

तात्पर्य : यहाँ पर माता के गर्भ में जीव की विषम परिस्थिति का वर्णन है। एक ओर शिशु जठराग्नि की उष्मा से तपता रहता है और दूसरी ओर मल, मूत्र, रक्त आदि रहते हैं। सात मास के बाद शिशु में चेतना आ जाती हैं, अतः उसे अपनी दु:सह स्थिति का बोध होने लगता है और वह भगवान् से प्रार्थना करता है। बाहर आने तक वह माहों की गिनती करता रहता है और उस कारागार से निकलने के लिए व्यग्र रहता है। तथाकथित सभ्य मनुष्य जीवन की इस भयावह स्थिति पर ध्यान नहीं देता और कभी-कभी इन्द्रियतृप्ति के उद्देश्य से वह गर्भनिरोधक विधियों या गर्भपात के द्वारा उसे मारने का प्रयत्न करता है। ऐसे लोग गर्भ की भयावह स्थिति के प्रति चिन्तित न रह कर भौतिकता में पड़े रहते हैं और मनुष्य जीवन का दुरुपयोग करते हैं।

इस श्लोक का *कृपणधीः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *धीः* का अर्थ है 'बुद्धि' और *कृपण* का अर्थ है 'कंजूस'। बद्धजीवन उन लोगों के लिए बना है, जो बुद्धि के कृपण हैं या जो अपनी बुद्धि का प्रयोग नहीं करते। मनुष्य में बुद्धि विकसित रहती है और इस बुद्धि का उपयोग जन्म-मरण के चक्र से छूटने के लिए करना होता है। जो ऐसा नहीं करता वह कंजूस है—वह केवल उसे देखता रहे। जो व्यक्ति अपनी मानव बुद्धि का उपयोग जन्म-मरण के चक्र अर्थात् माया के पाश से निकलने के लिए नहीं करता वह कंजूस माना जाता है। *कृपण* का विलोम 'उदार' है। ब्राह्मण उदार कहलाता है, क्योंकि वह अपनी मानवी बुद्धि का उपयोग आध्यात्मिक बोध के

लिए करता है। वह उस बुद्धि का उपयोग जनता के लाभ हेतु कृष्णभक्ति का उपदेश करने के लिए करता है इसलिए वह उदार है।

येनेदृशीं गतिमसौ दशमास्य ईश
सङ्ग्राहितः पुरुदयेन भवादृशेन ।
स्वेनैव तुष्यतु कृतेन स दीननाथः
को नाम तत्प्रति विनाञ्जलिमस्य कुर्यात् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

येन—जिसके द्वारा (भगवान् के द्वारा); ईदृशीम्—ऐसी; गतिम्—स्थिति; असौ—वह व्यक्ति (मैं); दश-मास्यः—दस मास का; ईश—हे प्रभु; सङ्ग्राहितः—स्वीकार कराया जाता है; पुरु-दयेन—अत्यन्त दयालु; भवादृशेन—अतुलनीय; स्वेन—अपना; एव—अकेला; तुष्यतु—वे प्रसन्न हों; कृतेन—अपने कर्म से; सः—वह; दीन-नाथः—पतितों के आश्रय; कः—कौन; नाम—निस्सन्देह; तत्—वह दया; प्रति—बदले में; विना—अतिरिक्त; अञ्जलिम्—हाथ जोड़कर; अस्य—भगवान् के; कुर्यात्—कर सकता है।

हे भगवान्, आपकी अहैतुकी कृपा से मुझमें चेतना आई, यद्यपि मैं अभी केवल दस मास का हूँ। पतितात्माओं के मित्र भगवान् की इस अहैतुकी कृपा के लिए कृतज्ञता प्रकट करने के हेतु मेरे पास हाथ जोड़कर प्रार्थना करने के अतिरिक्त है ही क्या?

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है कि शरीर के भीतर आत्मा के साथ स्थित परमात्मा ही बुद्धि तथा विस्मृति के देने वाले हैं। जब भगवान् देखते हैं कि बद्धजीव माया के बन्धन से छूटने के लिए उत्सुक है, तो वे भीतर से परमात्मा के रूप में और बाहर से गुरु रूप में बुद्धि प्रदान करते हैं अथवा साक्षात् भगवान् का अवतार लेकर उपदेश देते हैं, यथा *भगवद्गीता*। भगवान् सदैव ऐसा अवसर देखते रहते हैं कि पतित आत्माओं को ईश्वर के धाम ले जाँय। हमें भगवान् के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए, क्योंकि वे हमें सदैव सुखी बनाना चाहते हैं। हमारे पास भगवान् को उनकी भलाई का बदला चुकाने के लिए पर्याप्त साधन नहीं है, अतः हम केवल कृतज्ञता का अनुभव कर सकते हैं और हाथ जोड़कर उनकी प्रार्थना कर सकते हैं। कुछ नास्तिक लोग गर्भस्थ शिशु की इस प्रार्थना के विषय में सन्देह व्यक्त कर सकते हैं कि शिशु अपनी माँ के गर्भ में ऐसी सुन्दर प्रार्थना किस तरह कर सकता है? किन्तु भगवान् की कृपा से सब कुछ सम्भव है। बाह्य रूप से शिशु को इतनी भयावह स्थिति में रखा जाता है, किन्तु आन्तरिक रूप से वह वही है और भगवान् वहाँ होते हैं। भगवान् की दिव्य शक्ति से सब

कुछ सम्भव है।

पश्यत्ययं धिषणया ननु सप्तवध्रिः
शारीरके दमशरीर्यपरः स्वदेहे ।
यत्सृष्टयासं तमहं पुरुषं पुराणं
पश्ये बहिर्हृदि च चैत्यमिव प्रतीतम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

पश्यति—देखता है; अयम्—यह जीव; धिषणया—बुद्धि से; ननु—केवल; सप्त-वध्रिः—सात आवरणों से घिरा; शारीरके—ग्राह्य तथा अग्राह्य अनुभव; दम-शरीरी—आत्म-निग्रह के लिए शरीर धारण करने वाला; अपरः—दूसरा; स्व-देहे—अपने शरीरमें; यत्—परमेश्वर द्वारा; सृष्टया—प्रदत्त; आसम्—था; तम्—उस; अहम्—मैं; पुरुषम्—पुरुष को; पुराणम्—प्राचीनतम्; पश्ये—देखता हूँ; बहिः—बाहर; हृदि—हृदय में; च—तथा; चैत्यम्—अहंकार का स्रोत; इव—निस्सन्देह; प्रतीतम्—मान्य।.

अन्य प्रकार का शरीरधारी जीव केवल अन्तःप्रेरणा से देखता है, वह उस शरीर के ग्राह्य तथा अग्राह्य अनुभवों से ही परिचित होता है, किन्तु मुझे ऐसा शरीर प्राप्त है, जिसमें मैं अपनी इन्द्रियों को वश में रखता हूँ और अपने गन्तव्य को समझता हूँ, अतः मैं उन भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ जिनके आशीर्वाद से मुझे यह शरीर प्राप्त हुआ है और जिनकी कृपा से मैं उन्हें भीतर और बाहर देख सकता हूँ।

तात्पर्य : विभिन्न प्रकार के शरीरों की विकास क्रिया फूल के फलने के समान है। जिस प्रकार फूल के विकास की कई अवस्थाएँ होती हैं—कली, विकासमान फूल, पूर्ण विकसित फूल तथा सुगंध और सुन्दरता से पूरित फूल। इस प्रकार क्रमिक विकास में ८४,००,००० योनियाँ होती हैं और निम्नयोनि से उच्चतर योनि में क्रमबद्ध उन्नति होती है। मनुष्य जीवन सर्वोच्च समझा जाता है, क्योंकि इसमें जन्म तथा मृत्यु के बंधन से छूटने की बुद्धि रहती है। माता के गर्भ में स्थित भाग्यवान शिशु अपनी श्रेष्ठ स्थिति को समझता है और इस तरह वह अन्य प्राणियों से पृथक् होता है। मनुष्य से नीचे के पशुओं में सुख-दुख की चेतना रहती है, किन्तु वे अपनी शारीरिक आवश्यकताओं—खाना, सोना, संभोग तथा सुरक्षा से अधिक और कुछ नहीं सोच पाते। किन्तु ईश्वर की कृपा से मनुष्य में चेतना इतनी विकसित रहती है कि वह अपनी अद्वितीय स्थिति का मूल्यांकन कर सकता है और आत्मा तथा परमात्मा दोनों का साक्षात्कार कर सकता है।

दम-शरीरी शब्द का अर्थ है कि हमें ऐसा शरीर प्राप्त है, जिसमें हम इन्द्रियों तथा मन को वश में कर सकते हैं। भौतिक जीवन की सारी जटिलता अनियंत्रित मन तथा अनियंत्रित इन्द्रियों से है। मनुष्य को ईश्वर के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करनी चाहिए कि उसे ऐसा सुन्दर मनुष्य का शरीर मिला और उसे इसका सही-सही उपयोग करना चाहिए। पशु तथा मनुष्य का यही अन्तर है कि पशु अपने आपको वश में नहीं रख सकता है, उसमें शिष्टता का भाव नहीं रहता जब कि मनुष्य में शिष्टता का भाव तथा आत्म-नियन्त्रण रहता है। यदि मनुष्य इस नियन्त्रण-शक्ति को प्रदर्शित नहीं कर पाता तो वह पशु के तुल्य है। इन्द्रियों के नियन्त्रण या योग विधि से मनुष्य स्वयं को, परमात्मा को, संसार को तथा इन सबके पारस्परिक सम्बन्धों को समझ सकता है। इन्द्रियों के नियन्त्रण से सब कुछ सम्भव है। अन्यथा हम पशु तुल्य हैं।

यहाँ पर इन्द्रियों के नियन्त्रण द्वारा आत्म-साक्षात्कार की व्याख्या की गई है। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् तथा अपने (आत्मा) को भी देखने का प्रयत्न करे। अपने को परमेश्वर समझना आत्म-साक्षात्कार नहीं है। यहाँ यह स्पष्ट बताया गया है कि परमेश्वर *अनादि* या *पुराण* है और उनका कोई अन्य कारण नहीं है। जीव भगवान् के अंश रूप में पैदा होता है। *ब्रह्म-संहिता* में पुष्टि की गई है—*अनादिरादिर्गोविन्दः*—परम पुरुष गोविन्द का कोई कारण नहीं है। वे अजन्मा हैं। किन्तु जीवात्मा उनसे उत्पन्न है। *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है कि *ममैवांशः*—जीव तथा परमेश्वर दोनों अजन्मा हैं, किन्तु यह जान लेना चाहिए कि अंश का परम कारण भगवान् है। अतः *ब्रह्म-संहिता* कहती है कि प्रत्येक वस्तु भगवान् से उत्पन्न हुई (*सर्वकारणकारणम्*)। *वेदान्त-सूत्र* भी इसकी पुष्टि करता है—*जन्माद्यस्य यतः*—परम सत्य ही हर एक के जन्म का मूल स्रोत है। *भगवद्गीता* में भी कृष्ण का कथन है—*अहं सर्वस्य प्रभवः*—मैं हर वस्तु का जन्म-स्रोत हूँ जिसमें ब्रह्मा, शिव तथा अन्य जीव सम्मिलित हैं। यह आत्म-साक्षात्कार है। मनुष्य को जानना चाहिए कि वह परमेश्वर के अधीन है, उसे अपने को परम स्वतन्त्र नहीं समझना चाहिए। अन्यथा उसे बद्ध जीवन में क्यों रखा जाता?

सोऽहं वसन्नपि विभो बहुदु:खवासं
गर्भान्न निर्जिगमिषे बहिरन्धकूपे ।
यत्रोपयातमुपसर्पति देवमाया
मिथ्या मतिर्यदनु संसृतिचक्रमेतत् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सः अहम्—मैं स्वयं; वसन्—रहते हुए; अपि—यद्यपि; विभो—हे प्रभु; बहु-दु:ख—अनेक दुखों से; वासम्—अवस्था में; गर्भात्—उदर से; न—नहीं; निर्जिगमिषे—जाना चाहता हूँ; बहिः—बाहर; अन्ध-कूपे—अंधे कुएँ में; यत्र—जहाँ; उपयातम्—जाने वाले को; उपसर्पति—पकड़ लेती है; देव-माया—भगवान् की बहिरंगा शक्ति; मिथ्या—झूठी; मतिः—पहचान; यत्—जो माया; अनु—के अनुसार; संसृति—जन्म-मृत्यु का; चक्रम्—चक्र; एतत्—यह।

अत: हे प्रभु, यद्यपि मैं अत्यन्त भयावह परिस्थिति में रह रहा हूँ, किन्तु मैं अपनी माँ के गर्भ से बाहर आकर भौतिक जीवन के अन्धकूप में गिरना नहीं चाहता। देवमाया नामक आपकी बहिरंगा शक्ति तुरन्त नवजात शिशु को पकड़ लेती है और उसके बाद तुरन्त ही झूठा स्वरूपज्ञान प्रारम्भ हो जाता है, जो निरन्तर जन्म तथा मृत्यु के चक्र का शुभारम्भ है।

तात्पर्य : जब तक शिशु अपनी माता के गर्भ में रहता है, तो उसका जीवन अत्यन्त संकटपूर्ण तथा भयावह रहता है, किन्तु इसका लाभ यह होता है कि वह भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध की शुद्ध चेतना जाग्रत कर लेता है और अपने उद्धार के लिए प्रार्थना करता है। किन्तु उदर से बाहर आते ही, जब शिशु का जन्म हो जाता है, तो माया इतनी प्रबल होती है कि उसे तुरन्त घेरकर इस शरीर को 'स्व' मनवाया जाता है। माया का अर्थ है "जो नहीं है" अर्थात् भ्रम। भौतिक जगत में हर व्यक्ति अपने को अपना शरीर करके पहचानता है। यह मिथ्या अहंकार की चेतना कि, "मैं यह शरीर हूँ", शिशु के गर्भ से बाहर निकलते ही उत्पन्न हो जाती है। माता तथा सम्बन्धी शिशु की प्रतीक्षा करते हैं। ज्योंही वह पैदा होता है, तो माँ उसे दूध पिलाती है और सभी उसकी देख-रेख करते हैं। जीव तुरन्त अपनी स्थिति भूल जाता है और शारीरिक सम्बन्धों में उलझ जाता है। सारा संसार देहात्मबुद्धि का बन्धन है। वास्तविक ज्ञान का अर्थ इस चेतना को विकसित करना है कि, "मैं यह शरीर नहीं हूँ। मैं आत्मा हूँ, परमेश्वर का अंश हूँ।" वास्तविक ज्ञान में त्याग अथवा इस शरीर को 'स्व' रूप में न स्वीकार करना है।

मनुष्य जन्म लेते ही माया के प्रभाव से सब कुछ भूल जाता है। अत: शिशु प्रार्थना करता है कि बाहर निकलने की अपेक्षा गर्भ में ही रहना श्रेष्ठ है। कहा जाता है कि यही सोचकर शुकदेव गोस्वामी अपनी माता के गर्भ में सोलह वर्षों तक रहे आये, क्योंकि वे मिथ्या देह-बोध के बंधन में फँसना नहीं चाहते थे। अपनी माता के गर्भ में ऐसे ज्ञान का अनुशीलन करके सोलह वर्ष बाद वे गर्भ के बाहर आये और तुरंत ही उन्होंने घर छोड़ दिया जिससे वे माया के वशीभूत न हों। *भगवद्गीता* में भी माया के प्रभाव को दुर्लंघ्य कहा गया है। किन्तु यह दुर्लंघ्य माया एकमात्र कृष्णभावनामृत से ही पराजित हो सकती है। इसकी भी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१४) में हुई है—*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*। जो भी कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है, वह इस झूठे जीवन-बोध से बाहर निकल सकता है। केवल माया के प्रभाव से मनुष्य कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाता है और अपने को शरीर तथा शरीर के गौण अवयव— अर्थात् पत्नी, सन्तान, समाज, मित्रता, प्यार आदि—समझने लगता है। इस प्रकार वह माया का शिकार हो जाता है और उसका निरन्तर जन्म तथा मृत्यु का भौतिकतावादी जीवन और भी कठिन बन जाता है।

तस्मादहं विगतविक्लव उद्धरिष्य
आत्मानमाशु तमसः सुहृदात्मनैव ।
भूयो यथा व्यसनमेतदनेकरन्ध्रं
मा मे भविष्यदुपसादितविष्णुपादः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतः; अहम्—मैं; विगत—छोड़कर, रहित; विक्लवः—क्षोभ, व्याकुलता; उद्धरिष्ये—उद्धार करूँगा; आत्मानम्—अपना; आशु—शीघ्र; तमसः—अंधकार से; सुहृदा आत्मना—मित्र रूपी बुद्धि से; एव—निस्सन्देह; भूयः—पुनः; यथा—जिससे; व्यसनम्—दयनीय स्थिति; एतत्—यह; अनेक-रन्ध्रम्—अनेक गर्भों में प्रविष्ट होना; मा—नहीं; मे—मेरा; भविष्यत्—होगा; उपसादित—(मन में) रखा हुआ; विष्णु-पादः—भगवान् विष्णु के चरणकमल।.

अतः और अधिक क्षुब्ध न होकर मैं अपने मित्र विशुद्ध चेतना की सहायता से अज्ञान के अन्धकार से अपना उद्धार करूँगा। केवल भगवान् विष्णु के चरणकमलों को अपने मन में धारण करके मैं बारम्बार जन्म तथा मृत्यु के लिए अनेक माताओं के गर्भों में प्रविष्ट करने से बच सकूँगा।

तात्पर्य : संसार के कष्ट उसी दिन से प्रारम्भ हो जाते हैं जब आत्मा माता तथा पिता के रज तथा शुक्र में शरण प्राप्त करता है और ये कष्ट माता के गर्भ से निकलने के बाद तथा उसके भी आगे चलते रहते हैं। हम नहीं जानते कि इन दुखों का अन्त कहाँ है। किन्तु इनका अन्त शरीर बदलने से नहीं होता। यह शरीर-परिवर्तन प्रतिक्षण चल रहा है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हम गर्भावस्था की तुलना में उन्नति करके सुखी स्थिति को प्राप्त कर रहे हैं। अत: सबसे अच्छा यह है कि कृष्णभावनामृत का विकास किया जाय। यहाँ पर *उपसादित विष्णु-पाद:* कहा गया है कि जिसका अर्थ है कृष्णभक्ति की अनुभूति। जो बुद्धिमान है और कृष्णभक्ति उत्पन्न कर सकता है, वह इस जीवन में सफल होता है, क्योंकि केवल कृष्णभक्ति करने से ही वह जन्म तथा मृत्यु के चक्कर से बच जाएगा।

शिशु प्रार्थना करता है कि अंधकार के गर्भ में रहकर निरन्तर कृष्णभक्ति में तल्लीन रहना बाहर निकल कर पुन: माया के चंगुल में पड़ने से श्रेयस्कर है। यह माया गर्भ के भीतर और बाहर समान रूप से कार्य करती है, किन्तु चातुरी इसमें है कि कृष्णभक्ति की जाय जिससे इसका प्रभाव उतना बुरा न पड़े। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि मनुष्य की बुद्धि उसका मित्र है और साथ ही शत्रु भी है। यहाँ पर इसी भाव की पुनरावृत्ति हुई है—*सुहृदात्मनैव*—मित्रवत् बुद्धि। कृष्ण की सेवा में तथा कृष्ण की पूर्ण चेतना में बुद्धि की तल्लीनता ही आत्म-साक्षात्कार तथा मुक्ति का मार्ग है। वृथा ही क्षुब्ध हुए बिना यदि हम हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे का निरन्तर जप करते हुए कृष्णभक्ति (कृष्णभावनामृत) की विधि ग्रहण करें तो जन्म-मृत्यु के चक्र को सदा के लिए रोका जा सकता है।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि कृष्णभक्ति सम्पन्न करने के लिए आवश्यक सामग्री के अभाव में शिशु माता के गर्भ में कृष्णभक्ति किस प्रकार कर सकता है? भगवान् विष्णु की पूजा के लिए किसी सामग्री की आवश्यकता नहीं होती। शिशु माता के गर्भ में ही रहना चाहता है और साथ ही माया के चंगुल से भी मुक्त होना चाहता है। कृष्णभक्ति के अनुशीलन के लिए

किसी प्रकार की भौतिक व्यवस्था आवश्यक नहीं है। कोई कहीं भी और कभी भी कृष्णभक्ति का अनुशीलन कर सकता है बशर्ते वह कृष्ण का निरन्तर चिन्तन करे। हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे महामन्त्र का जप माता के गर्भ में भी किया जा सकता है। सोते, जागते, काम करते, यहाँ तक कि माता के गर्भ में या उसके बाहर भी जप किया जा सकता है। शिशु की प्रार्थना का सारांश है, "मुझे इसी अवस्था में रहने दें, भले ही मैं दुखद स्थिति में हूँ, किन्तु बाहर जाकर माया के चंगुल में पड़ने से यह श्रेयस्कर है।"

कपिल उवाच
एवं कृतमतिर्गर्भे दशमास्यः स्तुवन्नृषिः ।
सद्यः क्षिपत्यवाचीनं प्रसूत्यै सूतिमारुतः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

कपिलः उवाच—भगवान् कपिल ने कहा; एवम्—इस प्रकार; कृत-मतिः—इच्छा करते हुए; गर्भे—गर्भ में; दश-मास्यः—दस मास का; स्तुवन्—स्तुति करता हुआ; ऋषिः—जीव; सद्यः—उसी समय; क्षिपति—बाहर फेंकती है; अवाचीनम्—औंधा, अधोमुख; प्रसूत्यै—जन्म के लिए; सूति-मारुतः—प्रसव काल की वायु।

भगवान् कपिल ने कहा : अभी तक गर्भ में स्थित इस दस मास के जीव की भी ऐसी कामनाएँ होती हैं। किन्तु जब वह भगवान् की स्तुति करता रहता है तभी प्रसूति काल की वायु औंधे मुँह पड़े हुए उस शिशु को बाहर की ओर धकेलती है, जिससे वह जन्म ले सके।

तेनावसृष्टः सहसा कृत्वावाक्शिर आतुरः ।
विनिष्क्रामति कृच्छ्रेण निरुच्छ्वासो हतस्मृतिः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तेन—उस वायु से; अवसृष्टः—बाहर की ओर धकेला जाकर; सहसा—अकस्मात्; कृत्वा—करके; अवाक्—औंधा; शिरः—शिर; आतुरः—कष्ट पाता हुआ; विनिष्क्रामति—बाहर आता है; कृच्छ्रेण—कठिनाई से; निरुच्छ्वासः—श्वासरहित; हत—विनष्ट; स्मृतिः—स्मृति।

वायु द्वारा सहसा नीचे की ओर धकेला जाकर अत्यन्त कठिनाई से, सिर के बल, श्वासरहित तथा तीव्र वेदना के कारण स्मृति से विहीन होकर शिशु बाहर आता है।

तात्पर्य : कृच्छ्रेण शब्द का अभिप्राय है "अत्यन्त कठिनाई के साथ।" जब शिशु संकीर्ण

मार्ग से होकर गर्भ के बाहर निकलता है, तो भारी दबाव के कारण श्वास पूर्णतया रुक जाती है और वेदना के कारण शिशु अपनी स्मृति खो देता है। कभी-कभी इतनी पीड़ा होती है कि मृत या मृतप्राय शिशु जन्मता है। प्रसव-पीड़ा की कल्पना की जा सकती है। शिशु उस विकट परिस्थिति में दस मास तक गर्भ के भीतर रहता है और दस मास के बाद वह बलपूर्वक बाहर कर दिया जाता है। *भगवद्गीता* में भगवान् संकेत करते हैं कि जो आध्यात्मिक चेतना में प्रगति करने के लिए उत्सुक है उसे जन्म, मृत्यु, रोग तथा जरा इन चार पीड़ाओं का विचार करना चाहिए। भौतिकतावादी भले ही अनेक प्रकार से प्रगति कर ले, किन्तु वह संसार के इन चार प्रकार के कष्टों को रोकने में असमर्थ है।

पतितो भुव्यसृङ्मिश्र: विष्ठाभूरिव चेष्टते ।
रोरूयति गते ज्ञाने विपरीतां गतिं गत: ॥ २४॥

शब्दार्थ

पतित:—गिरा हुआ; भुवि—पृथ्वी पर; असृक्—रक्त से; मिश्र:—सना हुआ; विष्ठा-भू:—कीड़ा; इव—सदृश; चेष्टते—छटपटाता है; रोरूयति—जोर से चिल्लाता है; गते—नष्ट होने पर; ज्ञाने—अपनी चतुराई; विपरीताम्—विपरीत; गतिम्—अवस्था को; गत:—गया हुआ।

इस प्रकार वह शिशु मल तथा रक्त से सना हुआ पृथ्वी पर आ गिरता है और मल से उत्पन्न कीड़े के समान छटपटाता है। उसका श्रेष्ठ ज्ञान नष्ट हो जाता है और वह माया के मोहजाल में विलखता है।

परच्छन्दं न विदुषा पुष्यमाणो जनेन स: ।
अनभिप्रेतमापन्न: प्रत्याख्यातुमनीश्वर: ॥ २५॥

शब्दार्थ

पर-छन्दम्—पराई इच्छा; न—नहीं; विदुषा—समझ करके; पुष्यमाण:—पालित होकर; जनेन—व्यक्तियों द्वारा; स:—वह; अनभिप्रेतम्—अवांछित परिस्थितियों में; आपन्न:—गिरा हुआ; प्रत्याख्यातुम्—इनकार करने के लिए; अनीश्वर:—असमर्थ।

उदर से निकलने के बाद शिशु ऐसे लोगों की देख-रेख में आ जाता है और उसका पालन ऐसे लोगों द्वारा होता रहता है, जो यह नहीं समझ पाते कि वह चाहता क्या है। उसे जो कुछ मिलता है उसे वह इनकार न कर सकने के कारण वह अवांछित परिस्थिति में

आ पड़ता है।

तात्पर्य : माता के उदर में शिशु का पोषण प्राकृतिक व्यवस्था द्वारा सम्पन्न होता था। यद्यपि उदर के भीतर का वातावरण तनिक भी रुचिकर नहीं था, किन्तु जहाँ तक शिशु के खाने का प्रश्न था, उसके लिए प्राकृतिक व्यवस्था थी। किन्तु उदर से बाहर आने पर शिशु एक भिन्न वातावरण में आ पड़ता है। वह खाना कुछ चाहता है, किन्तु मिलता उसे कुछ दूसरा ही है, क्योंकि लोग असली माँग नहीं समझ पाते और उसे जो कुछ दिया जाता है उसे वह इनकार भी नहीं कर पाता। कभी-कभी शिशु माता के दूध के लिए रोता है, किन्तु धाय सोचती है कि उसके पेट में दर्द होगा जिससे वह रो रहा है, अत: वह उसे कड़वी दवा लाकर देती है। शिशु उसे पसन्द नहीं करता, किन्तु उसे मना भी नहीं कर सकता। इस तरह वह अत्यन्त विषम परिस्थिति में पड़ जाता है और उसके कष्ट बढ़ते ही जाते हैं।

शायितोऽशुचिपर्यङ्के जन्तु: स्वेदजदूषिते ।
नेश: कण्डूयनेऽङ्गानामासनोत्थानचेष्टने ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

शायित:—लिटाया गया; अशुचि-पर्यङ्के—मैले कुचैले बिस्तर पर; जन्तु:—शिशु; स्वेद-ज—पसीने से उत्पन्न प्राणियों से; दूषिते—पूर्ण; न ईश:—असमर्थ; कण्डूयने—खुजलाते हुए; अङ्गानाम्—अपने अंगों का; आसन—बैठे हुए; उत्थान—खड़े हुए; चेष्टने—या चलते हुए।

पसीने तथा कीड़ों से भरे हुए मैले-कुचैले बिस्तर पर लिटाया हुआ शिशु खुजलाहट से मुक्ति पाने के लिए अपना शरीर खुजला भी नहीं पाता; बैठने, खड़े होने या चलने की बात तो दूर रही।

तात्पर्य : ध्यान देने की बात है कि शिशु रोता हुआ तथा पीड़ा का अनुभव करता हुआ उत्पन्न होता है। जन्म के बाद भी वही कष्ट चालू रहता है और वह रोता जाता है। चूँकि मल तथा मूत्र के कारण मैले-कुचैले बिस्तर के कीड़े उसे परेशान करते हैं, इसीलिए वह बेचारा रोता है। वह इसका कोई उपचार नहीं कर सकता।

तुदन्त्यामत्वचं दंशा मशका मत्कुणादय: ।

रुदन्तं विगतज्ञानं कृमयः कृमिकं यथा ॥ २७॥

शब्दार्थ

तुदन्ति—काटते हैं; आम-त्वचम्—मुलायम चमड़ी वाले बालक को; दंशाः—डाँस (बड़ा मच्छर); मशकाः—मच्छर; मत्कुण—खटमल; आदयः—इत्यादि अन्य प्राणी; रुदन्तम्—रोते हुए; विगत—विनष्ट; ज्ञानम्—ज्ञान; कृमयः—कीड़े; कृमिकम्—कीड़े को; यथा—जिस तरह।

इस असहाय अवस्था में मुलायम त्वचा वाले बालक को डाँस, मच्छर, खटमल तथा अन्य कीड़े काटते रहते हैं, जिस तरह बड़े कीड़े को छोटे-छोटे कीड़े काटते रहते हैं। बालक अपना सारा ज्ञान गँवा कर जोर-जोर से चिल्लाता है।

तात्पर्य : *विगत ज्ञानम्* शब्द का अर्थ है कि शिशु ने उदर में जो आध्यात्मिक ज्ञान विकसित किया था वह माया के प्रभाव से पहले ही नष्ट हो जाता है। अनेक प्रकार के उत्पातों एवं उदर से बाहर आने के कारण बालक को स्मरण नहीं रह जाता कि अपने मोक्ष के लिए वह क्या सोच रहा था। यह मान लिया जाता है कि यदि कोई व्यक्ति ऊपर उठने का आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर भी ले, तो परिस्थितियों के वशीभूत होकर वह उसे भूल सकता है। अत: न केवल शिशुओं को, अपितु वयस्क पुरुषों को अपने कृष्णभावना सम्बन्धी ज्ञान बचाने के लिए सचेत रहना चाहिए और प्रतिकूल परिस्थितियों से बचना चाहिए जिससे वे अपना मुख्य कर्तव्य न भूलें।

इत्येवं शैशवं भुक्त्वा दु:खं पौगण्डमेव च ।
अलब्धाभीप्सितोऽज्ञानादिद्धमन्यु: शुचार्पित: ॥ २८॥

शब्दार्थ

इति एवम्—इस प्रकार से; शैशवम्—बाल्यकाल को; भुक्त्वा—बिताकर; दु:खम्—दुख को; पौगण्डम्—किशोरावस्था को; एव—ही; च—तथा; अलब्ध—अप्राप्त; अभीप्सित:—जिसकी इच्छाएँ; अज्ञानात्—अज्ञानवश; इद्ध—प्रज्वलित; मन्यु:—क्रोध; शुचा—शोक से; अर्पित:—अभिभूत, संतप्त।

इस प्रकार विविध प्रकार के कष्ट भोगता हुआ शिशु अपना बाल्यकाल बिता कर किशोरवस्था प्राप्त करता है। किशोरावस्था में भी वह अप्राप्य वस्तुओं की इच्छा करता है, किन्तु उनके न प्राप्त होने पर उसे पीड़ा होती है। इस प्रकार अज्ञान के कारण वह क्रुद्ध तथा दुखित होता है।

तात्पर्य : जन्म से लेकर पाँच वर्ष की अवस्था बाल्यकाल कहलाती है और पाँच वर्ष से

पन्द्रह वर्ष की अवस्था किशोरावस्था कहलाती है। सोलह वर्ष से युवास्था प्रारम्भ होती है। बाल्यकाल के कष्टों का वर्णन हो चुका है, किन्तु जब बालक किशोरावस्था प्राप्त करता है, तो उसका नाम पाठशाला में लिखा दिया जाता है, जिसे वह नहीं चाहता। वह तो खेलना चाहता है, किन्तु उसे जबरन पाठशाला भेजा जाता हैं जहाँ वह पढ़े और परीक्षाएँ दे। दूसरा कष्ट यह है कि वह कुछ ऐसी वस्तुएँ चाहता है जिनसे खेले, किन्तु परिस्थितियाँ ऐसी हो सकती हैं कि वह उन्हें नहीं प्राप्त कर पाता। इस तरह वह दुखी होता है और उसे पीड़ा होती है। एक शब्द में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि वह अपने बाल्यकाल की ही तरह कुमारावस्था में भी अप्रसन्न रहता है। तरुणावस्था की बात जाने दें। बच्चे खेलने के लिए न जाने कितनी तरह की माँगें प्रस्तुत करते हैं और जब उनको संतोष नहीं मिलता तो वे क्रोध से उबल पड़ते हैं जिसका परिणाम होता है दुख।

सह देहेन मानेन वर्धमानेन मन्युना ।
करोति विग्रहं कामी कामिष्वन्ताय चात्मनः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सह—साथ; देहेन—शरीर के; मानेन—झूठी प्रतिष्ठा से; वर्धमानेन—बढ़ने से; मन्युना—क्रोध से; करोति—उत्पन्न करता है; विग्रहम्—शत्रुता, वैर; कामी—विषयी पुरुष; कामिषु—दूसरे विषयी पुरुष के प्रति; अन्ताय—विनाश के लिए; च—तथा; आत्मनः—अपने आत्मा का।

शरीर बढ़ने के साथ ही जीव अपने आत्मा को परास्त करने के लिए अपनी झुठी प्रतिष्ठा को तथा क्रोध को बढ़ाता है और इस तरह अपने ही जैसे कामी पुरुषों के साथ वैर उत्पन्न करता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (३.३६) में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से जीव की कामवासना के विषय में प्रश्न किया। यह पूछा कि जब जीव शाश्वत है और इस तरह वह गुणात्मक रूप में परमेश्वर के ही समतुल्य है, तो क्या कारण है कि वह भवसागर में आ गिरता है और माया के वशीभूत हो अनेक पापकर्म करता है? इस प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा कि कामवासना के कारण जीवात्मा उच्च पद से अधम पद पर आ गिरता है। परिस्थितिवश यही कामवासना क्रोध में परिणत हो जाती है। कामवासना तथा क्रोध रजोगुण पद पर स्थित हैं। कामवासना वास्तव में

रजोगुण से उत्पन्न होती है और कामेच्छा की तृप्ति न होने पर वह तमोगुण पद पर क्रोध में परिणत हो जाती है। जब अज्ञान आत्मा को आच्छादित कर लेता है, तो जीव नारकीय जीवन की सर्वाधिक अधम स्थिति में आ गिरता है।

अपने को नारकीय जीवन से आध्यात्मिक ज्ञान के सर्वोच्च पद तक उठाने के लिए इस कामवासना को कृष्णप्रेम में परिणत करना होता है। वैष्णव सम्प्रदाय के महान् आचार्य श्री नरोत्तम दास ठाकुर ने कहा है—*काम कृष्णकर्मार्पणे*—कामवासना के कारण हम इन्द्रियतृप्ति के लिए अनेक वस्तुएँ चाहते हैं, किन्तु इसी वासना को इस प्रकार शुद्ध किया जा सकता है कि *हम भगवान् को प्रसन्न करने के लिए सारी इच्छाएँ करें*। क्रोध का भी उपयोग ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध किया जा सकता है, जो नास्तिक है या भगवान् से द्वेष रखता है। चूँकि हम काम तथा क्रोध के कारण इस संसार में आ गिरे हैं अत: इन दोनों गुणों का उपयोग कृष्णभक्ति को बढ़ाने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है और मनुष्य पुन: अपना पूर्व शुद्ध आध्यात्मिक पद प्राप्त कर सकता है। अत: श्रील रूप गोस्वामी की संस्तुति है कि चूँकि इस संसार में इन्द्रियतृप्ति की ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं, जिनकी आवश्यकता शरीर के पालन के लिए पड़ती है, अत: हमें निष्काम भाव से इन सबका उपयोग कृष्ण की इन्द्रियों की तुष्टि के लिए करना चाहिए। यही वास्तविक त्याग है।

भूतैः पञ्चभिरारब्धे देहे देह्यबुधोऽसकृत् ।
अहं ममेत्यसद्ग्राहः करोति कुमतिर्मतिम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

भूतैः—भौतिक तत्त्वों के द्वारा; पञ्चभिः—पाँच; आरब्धे—निर्मित; देहे—शरीर में; देही—जीव; अबुधः—अज्ञानी; असकृत्—निरन्तर; अहम्—मैं; मम—मेरा; इति—इस प्रकार; असत्—अस्थायी वस्तुएँ; ग्राहः—स्वीकार करते हुए; करोति—करता है; कु-मतिः—मूर्ख होने के कारण; मतिम्—विचार।

ऐसे अज्ञान से जीव पंचतत्त्वों से निर्मित भौतिक शरीर को 'स्व' मान लेता है। इस भ्रम के कारण वह क्षणिक वस्तुओं को निजी समझता है और अन्धकारमय क्षेत्र में अपना अज्ञान बढ़ाता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में अज्ञान के विस्तार की व्याख्या हुई है। पहला अज्ञान है पंचतत्त्वों

से निर्मित अपने शरीर को स्व (आत्मा) मान बैठना और दूसरा है शरीर से सम्बद्ध किसी वस्तु को अपनी निजी समझना। इस प्रकार अज्ञान का विस्तार होता जाता है। जीव शाश्वत है, किन्तु क्षणिक वस्तुओं को स्वीकार करते रहने, अपने हित की बात ठीक से न समझ पाने से वह अज्ञान को प्राप्त होता है, अत: उसे भौतिक यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं।

तदर्थं कुरुते कर्म यद्बद्धो याति संसृतिम् ।
योऽनुयाति ददत्क्लेशमविद्याकर्मबन्धन: ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तत्-अर्थम्—शरीर के लिए; कुरुते—करता है; कर्म—कर्म; यत्-बद्ध:—जिससे बँधकर; याति—जाता है; संसृतिम्—जन्म तथा मृत्यु के चक्र को; य:—जो शरीर; अनुयाति—अनुसरण करता है; ददत्—देते हुए; क्लेशम्—क्लेश; अविद्या—अज्ञान से; कर्म—सकाम कर्म से; बन्धन:—बन्धन का कारण।

जो शरीर जीव के लिए निरन्तर कष्ट का साधन है और जो अज्ञान तथा कर्म के बन्धन से बँधे जीव का अनुगमन करता है, उस शरीर के लिए जीव अनेक प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं जिससे वह जन्म-मृत्यु के चक्र के अधीन हो जाता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि यज्ञ अथवा विष्णु को प्रसन्न करने के लिए मनुष्य को कर्म करना पड़ता है, क्योंकि जो भी कार्य भगवान् को प्रसन्न करने के अभिप्राय से नहीं किया जाता वह बन्धन का कारण होता है। बद्ध अवस्था में जीव अपने आपको शरीर मानकर भगवान् से अपने शाश्वत सम्बन्ध को भूल जाता है और अपने शरीर के स्वार्थ के लिए कर्म करता है। वह शरीर को 'स्व' मान लेता है, वह अपने शारीरिक विस्तारों को, अपने परिजन तथा अपनी जन्मभूमि को पूज्य मान लेता है। इस प्रकार वह सभी प्रकार के दुश्चिन्त्य कर्म करता रहता है, जिससे विभिन्न योनियों में जन्म-मरण के बन्धन में बँध जाता है।

आधुनिक सभ्यता में देहात्मबुद्धि के कारण तथाकथित सामाजिक, राष्ट्रीय तथा सरकारी नेता जनता को अधिकाधिक गुमराह करते हैं फलस्वरूप सारे नेता तथा उनके साथ ही उनके अनुयायी जन्म-जन्मान्तर के लिए नारकीय अवस्था में जा गिरते हैं। *श्रीमद्भागवत* में एक दृष्टान्त मिलता है। *अन्धा यथान्धैरुपनीयमाना:*—जब कोई अन्धा व्यक्ति अनेक ऐसे ही अंधे व्यक्तियों का मार्गदर्शन करता है, तो परिणाम यह निकलता है कि वे सभी गड्ढे में गिर जाते हैं।

वास्तव में यही हो रहा है। भोलीभाली जनता का पथप्रदर्शन करने वाले अनेक नेता हैं, किन्तु उनमें से हर एकनेता देहात्मबुद्धि से मोहग्रस्त है, अतः मानव समाज में शान्ति तथा सम्पन्नता का अभाव है। तरह-तरह के आसन दिखलाने वाले तथाकथित योगी भी इसी श्रेणी में आते हैं, क्योंकि हठयोग उन लोगों के लिए बनाया गया है, जो नितान्त देहात्मबुद्धि में पड़े हुए हैं। निष्कर्ष यह निकला कि जो देहात्मबुद्धि में स्थिर है उसे जन्म-मृत्यु भोगने होते हैं।

यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः ।
आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; असद्भिः—बुरों के साथ; पथि—मार्ग पर; पुनः—फिर से; शिश्न—लिंग के लिए; उदर—पेट के लिए; कृत—किया गया; उद्यमैः—जिसके प्रयास; आस्थितः—संगति करते हुए; रमते—भोग करता है; जन्तुः—जीव; तमः—अन्धकार; विशति—प्रवेश करता है; पूर्व-वत्—पहले की तरह।

अतः यदि जीव विषय-भोग में लगे हुए ऐसे कामी पुरुषों से प्रभावित होकर, जो स्त्रीसंग-सुख व स्वाद की तुष्टि में ही रत हैं, असत् मार्ग का अनुसरण करता है, तो वह पहले की तरह पुनः नरक को जाता है।

तात्पर्य : यह बताया जा चुका है कि बद्धजीव को अन्धतामिस्र तथा तामिस्र नरकों में डाला जाता है और वहाँ पर कष्ट उठाने के बाद उसे कुत्ता या शूकर का नारकीय शरीर प्राप्त होता है। ऐसे जन्मों के पश्चात् वह पुनः मनुष्य शरीर प्राप्त करता है। कपिलदेव ने यह भी बताया है कि मनुष्य किस प्रकार जन्म लेता है। मनुष्य पहले माता के गर्भ में बढ़ता है, कष्ट पाता है और पुनः बाहर आता है। यदि इतने कष्टों के बाद उसे मनुष्य शरीर प्राप्त हो और यदि वह अपना अमूल्य समय ऐसे लोगों की संगति में नष्ट करे जिनका सम्बन्ध विषयी जीवन तथा चटपटे भोजन से ही हो तो सहज ही वह पुनः उन्हीं अन्धतामिस्र तथा तामिस्र नरकों में जाता है।

सामान्यतः लोग अपनी जीभ का स्वाद तथा काम की तुष्टि चाहते हैं। यही भौतिक जीवन है। भौतिक जीवन का अर्थ है खाओ, पीओ और मौज करो; अपनी आध्यात्मिक पहचान तथा आध्यात्मिक उन्नति की किसी को परवाह नहीं रहती। चूँकि भौतिकतावादी लोग जीभ, पेट

तथा शिश्न से ही अपना सम्बन्ध रखते हैं, अत: यदि कोई आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करना चाहता है, तो उसे ऐसे लोगों की संगति से सावधान रहना चाहिए। ऐसे लोगों की संगति करने का अर्थ है मनुष्य-रूपी अपने जीवन की जानबूझकर हत्या करना। अत: यह कहा गया है कि बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह अवांछित संगति का परित्याग करके साधु पुरुषों से ही सदा मिले-जुले। साधु पुरुषों की संगति में रहने से जीवन के आध्यात्मिक विस्तार सम्बन्धी सारे सन्देह उन्मूलित हो जाते हैं और वह आध्यात्मिक ज्ञान के पथ पर यथेष्ठ प्रगति करता है। कभी-कभी यह देखा जाता है कि कुछ लोग विशेष प्रकार के धार्मिक विश्वास के प्रति आसक्त होते हैं। हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाई अपने-अपने धर्मों के प्रति श्रद्धावान होते हैं और वे मन्दिर-मस्जिद तथा गिरजाघरों में जाते हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश वे ऐसे लोगों की संगति नहीं छोड़ पाते जिनकी लत विषयी जीवन तथा स्वाद-तुष्टि के प्रति है। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि भले ही कोई कितना ही धार्मिक क्यों न हो, किन्तु यदि वह ऐसे व्यक्तियों की संगति करता है, तो वह गहनतम नरक को जाता है।

सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्रीर्ह्रीर्यशः क्षमा ।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति सङ्क्षयम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

सत्यम्—सत्य; शौचम्—स्वच्छता; दया—दया; मौनम्—गम्भीरता; बुद्धिः—बुद्धि; श्रीः—सम्पन्नता; ह्रीः—लज्जा; यशः—ख्याति; क्षमा—क्षमा; शमः—मन का निग्रह; दमः—इन्द्रियों का निग्रह; भगः—सम्पत्ति; च—तथा; इति—इस प्रकार; यत्-सङ्गात्—जिसकी संगति से; याति सङ्क्षयम्—विनष्ट हो जाते हैं।

वह सत्य, शौच, दया, गम्भीरता, आध्यात्मिक बुद्धि, लज्जा, संयम, यश, क्षमा, मन-निग्रह, इन्द्रिय-निग्रह, सौभाग्य और ऐसे ही अन्य सुअवसरों से विहीन हो जाता है।

तात्पर्य : जिन्हें विषयी जीवन की लत पड़ चुकी है वे न तो परम सत्य का अभिप्राय समझ सकते हैं, न अपनी आदतें सुधार सकते हैं; अन्यों के प्रति दया दिखाना तो दूर रहा। वे गम्भीर नहीं रह पाते और जीवन के लक्ष्य के प्रति उनकी कोई रुचि नहीं रहती। जीवन का चरम लक्ष्य कृष्ण या विष्णु है, किन्तु जिन्हें विषयी जीवन की लत पड़ी है वे यह नहीं समझ पाते कि उनका चरम हित कृष्णभावनामृत में है। ऐसे लोगों में शालीनता का अभाव रहता है और वे सरे

आम सड़कों या पार्कों में एक दूसरे का आलिंगन करते हैं मानो कुत्तों–बिल्ली हों और इसे वे प्रेमालाप कहते हैं। ऐसे अभागे प्राणी कभी सम्पन्न नहीं हो पाते। कुत्ते–बिल्लियों जैसा आचरण उन्हें कुत्ते–बिल्ली के पद पर ला देता है। वे अपनी भौतिक स्थिति को भी सुधार नहीं पाते, प्रसिद्ध होना तो दूर रहा। ऐसे मूर्ख कभी–कभी तथाकथित योग का दिखावा करते हैं, किन्तु योग का जो मुख्य उद्देश्य है—इन्द्रिय तथा मन को वश में करना—उसमें वे असमर्थ रहते हैं। ऐसे लोगों को जीवन में ऐश्वर्य प्राप्त नहीं होता। दूसरे शब्दों में, वे अत्यन्त अभागे हैं।

तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु ।
सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तेषु—उन; अशान्तेषु—अभद्र; मूढेषु—मूर्खों की; खण्डित-आत्मसु—आत्म-साक्षात्कार से रहित; असाधुषु—दुष्टों की; सङ्गम्—संगति; न—नहीं; कुर्यात्—करे; शोच्येषु—शोचनीय; योषित्—स्त्रियों का; क्रीडा-मृगेषु—नाचने वाला कुत्ता; च—तथा।

मनुष्य को चाहिए कि ऐसे अभद्र (अशान्त) मूर्ख की संगति न करे जो आत्म-साक्षात्कार के ज्ञान से रहित हो और स्त्री के हाथों का नाचने वाला कुत्ता बन कर रह गया हो।

तात्पर्य : ऐसे मूर्ख व्यक्तियों की संगति पर प्रतिबन्ध उन लोगों के लिए हैं, जो कृष्णभक्ति में प्रगति करना चाहते हैं। कृष्णभक्ति की दिशा में प्रगति करने के लिए सत्य, शौच, दया, गम्भीरता, बुद्धि, सरलता, भौतिक ऐश्वर्य, यश, क्षमा तथा शम और दम आवश्यक हैं। कृष्णभक्ति की प्रगति के साथ ये सारे गुण प्रकट होने चाहिए, किन्तु यदि कोई किसी शूद्र या ऐसे मूर्ख व्यक्ति की संगति करे जो स्त्री के हाथों में नाचते कुत्ते की तरह हो तो वह प्रगति नहीं कर सकता। भगवान् चैतन्य ने सलाह दी है कि कृष्णभक्ति में लगे हुए व्यक्ति तथा भौतिक अविद्या को पार करने के इच्छुक व्यक्ति को ऐसी स्त्रियों या पुरुषों की संगति नहीं करनी चाहिए जो भौतिक सुखोपभोग में रुचि रखते हों। कृष्णभक्ति में प्रगति चाहने वाले व्यक्ति के लिए ऐसी संगति आत्मघात से भी घातक है।

न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः ।
योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तथा—उस तरह से; अस्य—इस मनुष्य का; भवेत्—हो सके; मोहः—मुग्धता, प्रेमान्धता; बन्धः—बन्धन; च—तथा; अन्य-प्रसङ्गतः—अन्य किसी वस्तु के प्रति आसक्ति से; योषित्-सङ्गात्—स्त्रियों के प्रति आसक्ति से; यथा—जिस तरह; पुंसः—मनुष्य का; यथा—जिस तरह; तत्-सङ्गि—स्त्रियों के इच्छुक पुरुषों के; सङ्गतः—साथ से।.

अन्य किसी वस्तु के प्रति आसक्ति से उत्पन्न मुग्धता तथा बन्धन उतने पूर्ण नहीं होते जितने कि किसी स्त्री के प्रति आसक्ति से या उन व्यक्तियों के साथ से जो स्त्रियों के कामी रहते हैं।

तात्पर्य : स्त्रियों के प्रति आसक्ति इतनी दूषित होती है कि मनुष्य न केवल स्त्री की संगति से भौतिक जीवन के प्रति आसक्त हो जाता है, अपितु इन स्त्रियों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहने वाले पुरुषों की संगति से भी हो जाता है। हमारे बद्ध जीवन के अनेक कारण हैं, किन्तु इनमें सबसे बड़ा कारण है स्त्रियों की संगति, जिसकी पुष्टि अगले श्लोकों में हुई है।

कलियुग में स्त्री-संग अत्यन्त प्रबल है। जीवन के पग-पग पर स्त्रियों से पाला पड़ता है। यदि किसी को कुछ खरीदना है, तो सारे विज्ञापन स्त्रियों के चित्रों से भरे रहते हैं। स्त्रियों के प्रति मनोवैज्ञानिक आकर्षण अत्यधिक होता है, अतः लोग आध्यात्मिक ज्ञान के प्रति अत्यन्त लापरवाह हैं। चूँकि वैदिक सभ्यता आध्यात्मिक ज्ञान पर आधारित है, अतः स्त्रियों की संगति की व्यवस्था सतर्कतापूर्वक की गई है। चार सामाजिक विभागों (आश्रमों) में से प्रथम (ब्रह्मचर्य), तृतीय (वानप्रस्थ) तथा चतुर्थ आश्रम (संन्यास) में स्त्री संगति नितान्त वर्जित है। केवल गृहस्थाश्रम में सीमित प्रतिबन्धों के अन्तर्गत स्त्रियों से मिलने-जुलने की छूट प्राप्त है। दूसरे शब्दों में, स्त्री-संगति का आकर्षण ही बद्धजीवन का कारण है और जो भी इस बद्ध जीवन से मुक्त होना चाहता है उसे स्त्रियों की संगति से अपने को विलग कर लेना चाहिए।

प्रजापतिः स्वां दुहितरं दृष्ट्वा तद्रूपधर्षितः ।
रोहिद्भूतां सोऽन्वधावदृक्षरूपी हतत्रपः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

प्रजा-पतिः—ब्रह्माजी ने; स्वाम्—अपनी; दुहितरम्—पुत्री को; दृष्ट्वा—देखकर; तत्-रूप—उसके लावण्य से; धर्षितः—मोहित; रोहित्-भूताम्—मृगी के रूप में; सः—वह; अन्वधावत्—दौड़ा; ऋक्ष-रूपी—मृग के रूप में; हत—विहीन; त्रपः—लज्जा।

ब्रह्मा अपनी पुत्री को देखकर उसके रूप पर मोहित हो गये और जब उसने मृगी का रूप धारण कर लिया तो वे मृग रूप में निर्लज्जतापूर्वक उसका पीछा करने लगे।

तात्पर्य : ब्रह्मा का अपनी पुत्री के रूप पर मोहित होना तथा भगवान् के मोहिनी रूप पर शिवजी का मोहित होना—ये ज्वलन्त उदाहरण हमें शिक्षा देते हैं कि ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवता तक स्त्री की सुन्दरता पर मुग्ध हो जाते हैं, तो सामान्य बद्धजीव की क्या बिसात है? अत: हर एक को सलाह दी जाती है कि वह अपनी सगी पुत्री, अपनी माता या अपनी बहन तक से मुक्त भाव से न मिले-जुले, क्योंकि इन्द्रियाँ इतनी प्रबल हैं कि मनुष्य प्रेमान्ध हो जाता है और इन्द्रियाँ पुत्री-माता या बहन का नाता नहीं देखतीं। अत: मदन-मोहन की सेवा में लगकर भक्तियोग के द्वारा इन्द्रियों को वश में करने का अभ्यास करना सर्वोत्तम होगा। भगवान् कृष्ण का नाम मदनमोहन है, क्योंकि वे कामदेव या कामवासना को वश में कर सकते हैं। केवल मदनमोहन की सेवा करने से मदन के आदेशों पर अकुंश लगाया जा सकता है अन्यथा इन्द्रियों को वश में करने के सारे प्रयास विफल होंगे।

तत्सृष्टसृष्टसृष्टेषु को न्वखण्डितधीः पुमान् ।
ऋषिं नारायणमृते योषिन्मय्येह मायया ॥ ३७॥

शब्दार्थ

तत्—ब्रह्मा द्वारा; सृष्ट-सृष्ट-सृष्टेषु—समस्त उत्पन्न जीवों में से; कः—कौन; नु—निस्सन्देह; अखण्डित—विपथ न होने वाली; धीः—बुद्धि वाला; पुमान्—पुरुष; ऋषिम्—ऋषि; नारायणम्—नारायण; ऋते—के अतिरिक्त; योषित्-मय्या—स्त्री के रूप में; इह—यहाँ; मायया—माया के द्वारा।

ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न समस्त जीवों—अर्थात् मनुष्य, देवता तथा पशु में से ऋषि नारायण के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा नहीं है, जो स्त्री रूपी माया के आकर्षण के प्रति निश्चेष्ट हो।

तात्पर्य : आदि जीव स्वयं ब्रह्मा हैं जिनसे मरीचि जैसे ऋषि उत्पन्न हुए, मरीचि से कश्यप मुनि तथा अन्य और कश्यप मुनि तथा मनुओं ने विभिन्न देवताओं तथा मनुष्यों को उत्पन्न किया। किन्तु इनमें से ऐसा कोई नहीं जो स्त्री रूपी माया के जादू से मोहित न होता हो। समग्र

संसार में ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक—सभी विषयी जीवन के प्रति आकर्षित होते हैं। इस भौतिक जगत का यह मूल सिद्धान्त है। अपनी पुत्री द्वारा ब्रह्मा का मोहित होना ज्वलन्त उदाहरण है कि स्त्री के प्रति कामासक्ति से कोई भी नहीं बच पाता। अत: माया की सबसे आश्चर्यजनक सृष्टि स्त्री है, जो बद्धजीव को बन्धन में रखती है।

बलं मे पश्य मायाया: स्त्रीमय्या जयिनो दिशाम् ।
या करोति पदाक्रान्तान्भ्रूविजृम्भेण केवलम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

बलम्—शक्ति; मे—मेरा; पश्य—देखो; मायाया:—माया का; स्त्री-मय्या:—स्त्री के रूप में; जयिन:—विजेता; दिशाम्—सभी दिशाओं का; या—जो; करोति—करती है; पद-आक्रान्तान्—उसके पीछे-पीछे; भ्रूवि—उसकी भौंह की; जृम्भेण—गति से; केवलम्—केवल।

तनिक स्त्री रूपी मेरी माया की अपार शक्ति को समझने का प्रयत्न तो करो, जो मात्र अपनी भौहों की गति से संसार के बड़े से बड़े विजेताओं को भी अपनी मुट्ठी में रखती है।

तात्पर्य : विश्व के इतिहास में ऐसे अनेक दृष्टान्त प्राप्त हैं जहाँ एक महान् विजेता किसी क्लेओपात्रा के सौन्दर्य पर मुग्ध होता रहा है। मनुष्य को स्त्री की सम्मोहन शक्ति तथा उस शक्ति के प्रति मनुष्य के आकर्षण के अध्ययन किये जाने की आवश्यकता है। आखिर यह किस स्रोतसे उत्पन्न हुई? *वेदान्त-सूत्र* के अनुसार हम जानते हैं कि प्रत्येक वस्तु भगवान् से उद्भूत है। उसमें कहा गया है—*जन्माद्यस्य यत:*—जिसका अर्थ है कि भगवान् या परम पुरुष, ब्रह्म या परम सत्य ही वह स्रोत है जहाँ से प्रत्येक वस्तु उद्भूत होती है। आध्यात्मिक जगत में भी ऐसी स्त्री की सम्मोहक शक्ति तथा ऐसे आकर्षण के प्रति मनुष्य का शिकार होना भगवान् में अवश्य पाए जाते होंगे और वे भगवान् की दिव्य लीलाओं में प्रकट होते होंगे।

भगवान् परम पुरुष हैं अर्थात् परम नर हैं। जिस प्रकार सामान्य नर में मादा के प्रति आकृष्ट होने की चाह रहती है, वही उत्कटता भगवान् में भी पाई जाती है। वे भी स्त्री के सुन्दर रूप द्वारा मुग्ध होते हैं। प्रश्न यह है कि यदि वे ऐसे स्त्री-आकर्षण द्वारा मुग्ध होते रहते हैं, तो क्या वे किसी भौतिक स्त्री द्वारा आकृष्ट होंगे? ऐसा सम्भव नहीं है। इस संसार के लोग भी स्त्री

आकर्षण का परित्याग कर सकते हैं यदि वे परब्रह्म द्वारा आकृष्ट हों। हरिदास ठाकुर के साथ ऐसा ही हुआ। एक सुन्दर वेश्या ने अर्धरात्रि में उन्हें आकर्षित करना चाहा, किन्तु वे भक्ति में, भगवान् के दिव्य प्रेम में स्थित थे, अत: उसके द्वारा मोहित नहीं हुए। उल्टे उन्होंने अपनी दिव्य संगति से उस वेश्या को महान् भक्त बना दिया। अत: भौतिक आकर्षण परमेश्वर को आकृष्ट नहीं कर सकता। जब वे किसी स्त्री द्वारा आकृष्ट होते हैं, तो वे उस स्त्री को अपनी शक्ति से उत्पन्न करते हैं। वह स्त्री राधारानी है। गोस्वामियों ने बताया है कि राधा तो भगवान् की ह्लादिनी शक्ति का प्रकट रूप हैं। जब भगवान् दिव्य आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं, तो वे अपनी अन्तरंगा शक्ति से स्त्री उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार स्त्री-सौंदर्य के प्रति आकर्षण सहज (प्राकृतिक) है, क्योंकि यह आध्यात्मिक जगत में पाया जाता है। भौतिक जगत में वह विकृत होकर प्रतिबिम्बित होता है इसीलिए अनेक उन्माद होते हैं।

यदि कोई भौतिक सौन्दर्य के द्वारा आकृष्ट न होकर राधारानी तथा कृष्ण के सौन्दर्य द्वारा आकृष्ट होने का अभ्यास कर ले तो *भगवद्गीता* का यह कथन *परम् दृष्ट्वा निवर्तते*—सत्य सिद्ध होए। एक बार राधा तथा कृष्ण के दिव्य सौंदर्य से आकर्षित हो जाने पर, फिर कोई भौतिक सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट नहीं होता। राधाकृष्ण पूजा का यही विशेष महत्त्व है। इसकी पुष्टि यामुनाचार्य ने की है। उनका कथन है, ''चूँकि मैं राधाकृष्ण के सौन्दर्य से आकृष्ट हो चुका हूँ, अत: जब भी किसी स्त्री के प्रति आकर्षण होता है या किसी स्त्री के साथ प्रसंग का स्मरण हो आता है, तो मैं उस पर थूकता हूँ और मेरा मुख घृणा से भर जाता है।'' जब हम मदनमोहन तथा कृष्ण एवं उनकी प्रेमिकाओं के सौन्दर्य द्वारा आकर्षित होते हैं और हमारे बद्धजीवन की शृंखलाएँ अर्थात् स्त्री का सौंदर्य हमें आकृष्ट नहीं करता।

सङ्गं न कुर्यात्प्रमदासु जातु
योगस्य पारं परमारुरुक्षुः ।
मत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो
वदन्ति या निरयद्वारमस्य ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सङ्गम्—संगति; न—नहीं; कुर्यात्—करे; प्रमदासु—स्त्रियों की; जातु—कभी भी; योगस्य—योग की; पारम्—पराकाष्ठा; परम्—सर्वोच्च; आरुरुक्षुः—पहुँचने की इच्छा करने वाला; मत्-सेवया—मेरी सेवा करके; प्रतिलब्ध—प्राप्त; आत्म-लाभः—आत्म-साक्षात्कार; वदन्ति—कहते हैं; याः—जो स्त्रियाँ; निरय—नरक का; द्वारम्—द्वार; अस्य—आगे बढ़ने वाले भक्त का।

जो योग की पराकाष्ठा को प्राप्त करना चाहता हो तथा जिसने मेरी सेवा करके आत्म-साक्षात्कार कर लिया हो उसे चाहिए कि वह कभी किसी आकर्षक स्त्री की संगति न करे, क्योंकि शास्त्रों में घोषणा की गई है कि प्रगतिशील के लिए ऐसी स्त्री नरक के द्वार तुल्य है।

तात्पर्य : योग की पराकाष्ठा (इति) पूर्ण कृष्णभक्ति है। इसका समर्थन *भगवद्गीता* में इस प्रकार हुआ है : जो व्यक्ति भक्ति में रहकर सदैव कृष्ण का चिन्तन करता है, वह समस्त योगियों में सर्वोच्च है। यही नहीं, *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध के द्वितीय अध्याय में भी कहा गया है कि जब कोई भगवान् की सेवा करके भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है, तो वह ईश्वर के विज्ञान तथा तत्त्वज्ञान को समझ सकता है।

यहाँ पर *प्रतिलब्धात्मलाभः* शब्द आया है। *आत्म* का अर्थ 'स्व' या आत्मा है और *लाभ* का अर्थ 'उपलब्धि' है। सामान्यतः बद्धजीव अपनी आत्मा या स्व खो चुके हैं, किन्तु जो योगी हैं, वे आत्म का साक्षात्कार कर चुकते हैं। यहाँ आगाह किया गया है कि ऐसे स्वरूपसिद्ध व्यक्ति जो योग-सिद्धि की पराकाष्ठा तक पहुँचना चाहते हैं उन्हें युवा स्त्री की संगति नहीं करनी चाहिए। किन्तु वर्तमान युग में ऐसे अनेक धूर्त (पाखंडी) हैं, जो यह सलाह देते हैं कि जब तक काम-इन्द्रियाँ हैं तब तक मनुष्य जी भर कर स्त्री-भोग कर सकता है और साथ ही योगी बन सकता है। किसी भी मानक योगपद्धति में स्त्री-संगति स्वीकृत नहीं है। यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि स्त्री-संगति नरक का द्वार है। वैदिक सभ्यता में स्त्री की संगति अत्यन्त सीमित होती है। चार आश्रमों में से तीन—ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी—में स्त्री की संगति वर्जित है, केवल गृहस्थों को स्त्री से निकट सम्पर्क की छूट रहती है और यह सम्बन्ध अच्छी सन्तान उत्पन्न करने तक ही सीमित है। किन्तु यदि कोई इस भौतिक संसार में बने रहना चाहता है, तो उसे निर्बाध स्त्री-संगति करनी चाहिए।

योपयाति शनैर्माया योषिद्देवविनिर्मिता ।
तामीक्षेतात्मनो मृत्युं तृणैः कूपमिवावृतम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

या—जो; उपयाति—निकट आती है; शनैः—धीरे-धीरे; माया—माया स्वरूपा; योषित्—स्त्री; देव—भगवान् द्वारा; विनिर्मिता—उत्पन्न; ताम्—उसको; ईक्षेत—मानना चाहिए; आत्मनः—आत्मा की; मृत्युम्—मृत्यु; तृणैः—घास से; कूपम्—कुआँ; इव—सदृश; आवृतम्—ढका हुआ।

भगवान् द्वारा उत्पन्न स्त्री माया स्वरूपा है और जो ऐसी माया की सेवाएँ स्वीकार करके उसकी संगति करता है उसे यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि यह घास से ढके हुए अंधे कुएँ के समान उसकी मृत्यु का मार्ग है।

तात्पर्य : कभी-कभी बेकार पड़े कुएँ को घास-फूस से ढक दिया जाता है, अतः यदि कोई यात्री अनजाने उस रास्ते से निकलता है, तो उस कुएँ में गिर जाता है और उसकी मृत्यु निश्चित होती है। इसी प्रकार जब कोई किसी स्त्री की सेवा ग्रहण कर लेता है, तो संगति प्रारम्भ होती है, क्योंकि भगवान् ने स्त्री को पुरुष की सेवा के लिए उत्पन्न किया है। उसकी सेवा स्वीकार करने से मनुष्य पाश में बँध जाता है। यदि वह इतना बुद्धिमान है कि स्त्री को नरक का द्वार समझता है, तो वह मुक्त होकर उसकी संगति कर सकता है। इसकी मनाही तो उसके लिए है, जो दिव्य पद तक उठने की महत्त्वाकांक्षा रखता है। पचास वर्ष पूर्व तक हिन्दू समाज में ऐसी संगति वर्जित थी। पत्नी अपने पति से दिन में नहीं मिल सकती थी। यहाँ तक कि गृहस्थों के अलग रिहायशी मकान होते थे। रिहायशी मकानों के अन्त:पुर स्त्रियों के निमित्त होते थे और बाहर के कमरे पुरुषों के लिए। स्त्री द्वारा की जाने वाली सेवा भले ही मोहक प्रतीत हो, किन्तु ऐसी सेवा ग्रहण करते समय मनुष्य को सतर्क रहना चाहिए, क्योंकि यह स्पष्ट कहा गया है कि स्त्री मृत्यु का द्वार है या कि आत्मविस्मृति है। वह आध्यात्मिक बोध के मार्ग को अवरुद्ध कर देती है।

यां मन्यते पतिं मोहान्मन्मायामृषभायतीम् ।
स्त्रीत्वं स्त्रीसङ्गतः प्राप्तो वित्तापत्यगृहप्रदम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

याम्—जिसको; मन्यते—वह सोचती है; पतिम्—अपना पति; मोहात्—मोहवश; मत्-मायाम्—मेरी माया; ऋषभ—पुरुष रूप में; आयतीम्—आती हुई; स्त्रीत्वम्—स्त्री बनने की दशा, स्त्रीत्व; स्त्री-सङ्गतः—किसी स्त्री की संगति से; प्राप्तः—प्राप्त; वित्त—सम्पत्ति; अपत्य—सन्तान; गृह—घर; प्रदम्—प्रदान करने वाला।

पूर्व जीवन में स्त्री-आसक्ति के कारण जीव स्त्री का रूप प्राप्त करता है मूर्खतावश माया को अपना पति मानकर उसे ही सम्पत्ति, सन्तान, घर तथा अन्य भौतिक साज-समान देने वाला समझता है।

तात्पर्य : इस श्लोक से प्रतीत होता है कि स्त्री भी अपने पूर्वजन्म में पुरुष रहती है और अपनी पत्नी के प्रति आसक्ति के कारण उसे स्त्री शरीर प्राप्त हुआ रहता है। *भगवद्गीता* से इसकी पुष्टि होती है कि मरते समय मनुष्य जैसा सोचता है उसी के अनुसार उसे अगला जीवन प्राप्त होता है। यदि कोई अपनी स्त्री के प्रति अत्यधिक अनुरक्त है, तो यह स्वाभाविक है कि मृत्यु के समय वह अपनी पत्नी का चिन्तन करता है और अगले जन्म में उसे स्त्री का शरीर प्राप्त होता है। इसी प्रकार यदि कोई स्त्री अपनी मृत्यु के समय अपने पति का स्मरण करती है, तो उसे अगले जन्म में मनुष्य का शरीर प्राप्त होता है। फलतः हिन्दू शास्त्रों में स्त्री के सतीत्व तथा मनुष्य के प्रति उसकी भक्ति पर अत्यधिक बल दिया जाता है। अपने पति के प्रति आसक्ति के फलस्वरूप ही स्त्री अगले जीवन में मनुष्य शरीर प्राप्त कर सकती है, किन्तु स्त्री के प्रति अनुरक्ति से मनुष्य को नीचे गिरकर स्त्री का शरीर धारण करना होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, हमें यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीर वस्त्र तुल्य हैं—वे जीवात्मा के कमीज तथा कोट की तरह हैं। स्त्री या पुरुष होना शारीरिक वस्त्र का भेद है। आत्मा वास्तव में परमेश्वर की तटस्था शक्ति है। प्रत्येक जीव शक्ति होने के कारण मूलतः स्त्री होता है अर्थात् भोग्य है। पुरुष शरीर में भवबन्धन से छूटने के लिए अधिक अवसर मिलते हैं, जबकि स्त्री शरीर में कम अवसर होते हैं। इस श्लोक में बताया गया है कि स्त्री के प्रति आसक्ति द्वारा मनुष्य शरीर का दुरुपयोग नहीं किया जाना चाहिए अन्यथा अगले जन्म में स्त्री शरीर धारण करना होगा। स्त्री सामान्यतः घर गृहस्थी, गहने, सामान तथा कपड़े की भूखी रहती है। जब उसका पति ये वस्तुएँ लाकर दे देता है, तो वह सन्तुष्ट हो जाती है। स्त्री तथा पुरुष का सम्बन्ध अत्यन्त जटिल है, किन्तु कहने का सार यह है

कि जो आत्म-साक्षात्कार के दिव्य पद तक उठना चाहता है उसे स्त्री की संगति करते समय सावधान रहना चाहिए। किन्तु कृष्णभक्ति की अवस्था में संगति पर ऐसा प्रतिबन्ध शिथिल हो सकता है, क्योंकि तब पुरुष तथा स्त्री की आसक्ति एक दूसरे के प्रति न होकर कृष्ण के प्रति होती है। तब वे दोनों समान रूप से भव-बन्धन से बाहर निकलने तथा कृष्ण के धाम जाने के पात्र बन जाते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है, जो भी गम्भीरतापूर्वक कृष्णभावनामृत अंगीकार करता है—चाहे वह निम्नतम योनि का हो, स्त्री हो या कि अल्पज्ञ श्रेणी का श्रमिक या वणिक हो—वह भगवान् के धाम जाता है और कृष्णलोक पहुँचता है। पुरुष को न तो स्त्री के प्रति और न स्त्री को पुरुष के प्रति आसक्त होना चाहिए। दोनों को भगवान् की सेवा में अनुरक्त होना चाहिए। तभी दोनों इस भव-बन्धन से छूट सकते हैं।

तामात्मनो विजानीयात्पत्यपत्यगृहात्मकम् ।
दैवोपसादितं मृत्युं मृगयोर्गायनं यथा ॥ ४२॥

शब्दार्थ

ताम्—भगवान् की माया को; आत्मनः—अपना; विजानीयात्—जाने; पति—स्वामी; अपत्य—संतान; गृह—घर; आत्मकम्—से युक्त; दैव—भगवान् की कृपा से; उपसादितम्—लाई हुई; मृत्युम्—मृत्यु; मृगयोः—बहेलिया, शिकारी का; गायनम्—गाते हुए; यथा—जिस प्रकार।

अतएव स्त्री को अपने पति, घरबार और अपने बच्चों को उसकी मृत्यु के लिए भगवान् की बहिरंगा शक्ति की व्यवस्था के रूप में मानना चाहिए। ठीक उसी तरह जैसे शिकारी की मधुर तान हिरन के लिए मृत्यु होती है।

तात्पर्य : कपिलदेव द्वारा दिये गये इन उपदेशों में यह बताया गया है कि न केवल स्त्री ही नरक का द्वार है, अपितु पुरुष भी स्त्री के लिए नरक का द्वार है। प्रश्न आसक्ति का है। मनुष्य स्त्री की सेवा, उसके सौन्दर्य तथा अन्य बातों से आसक्त होता है। इसी प्रकार स्त्री पुरुष के प्रति इसलिए आसक्त होती है, क्योंकि वह उसे रहने के लिए स्थान, पहनने के लिए कपड़े तथा आभूषण और सन्तान देता है। यह तो एक दूसरे के प्रति आसक्ति का प्रश्न है। जब तक इनमें से कोई भी ऐसे भौतिक सुखों के लिए अनुरक्त रहेगा, तब तक पुरुष स्त्री के लिए और स्त्री पुरुष के लिए घातक है। किन्तु यदि यही आसक्ति कृष्ण में स्थानान्तरित हो जाय तो दोनों

कृष्णभावनाभावित हो जाते हैं और उनका संयोग उत्तम रहता है। अत: श्रीलरूप गोस्वामी की संस्तुति है :

अनासक्तस्य विषयान्यथार्हमुपयुञ्जत: ।

निर्बन्ध: कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते ॥

(*भक्तिरसामृतसिंधु* १.२.२५५)

स्त्री तथा पुरुष को गृहस्थ के रूप में साथ-साथ रहते हुए कृष्ण की सेवा करनी चाहिए। यदि इस सेवा में बच्चे, पत्नी, पति सभी लग जाँय तो ये सारी शारीरिक या भौतिक व्याधियाँ समाप्त हो जाँय। चूँकि चेतना शुद्ध है और कृष्ण माध्यम हैं, अत: पतन की कोई सम्भावना नहीं रहती।

देहेन जीवभूतेन लोकाल्लोकमनुव्रजन् ।
भुञ्जान एव कर्माणि करोत्यविरतं पुमान् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

देहेन—शरीर के कारण; जीव-भूतेन—जीव द्वारा अधिकृत; लोकात्—एक लोक से; लोकम्—दूसरे लोक को; अनुव्रजन्—घूमते हुए; भुञ्जान:—भोग करते हुए; एव—इस प्रकार; कर्माणि—सकाम कर्म; करोति—करता है; अविरतम्—निरन्तर; पुमान्—जीव।

विशेष प्रकार का शरीर होने के कारण भौतिकतावादी जीव अपने कर्मों के अनुसार एक लोक से दूसरे लोक में भटकता रहता है। इसी प्रकार वह अपने आपको सकाम कर्मों में लगा लेता है और निरन्तर फल का भोग करता है।

तात्पर्य : जब जीव शरीर के भीतर बन्दी रहता है, तो वह *जीवभूत* कहलाता है और जब वह शरीर से मुक्त रहता है, तो *ब्रह्मभूत* कहलाता है। एक जन्म के बाद दूसरे जन्म में शरीर बदलता हुआ जीव न केवल विभिन्न योनियों में घूमता रहता है, अपितु एक लोक से दूसरे लोक में भी जाता रहता है। भगवान् चैतन्य कहते हैं कि सकाम कर्मों से बँधकर जीवात्माएँ सारे ब्रह्माण्ड में भटकती रहती हैं और यदि सौभाग्यवश या किसी पुण्य कर्म के कारण वे प्रामाणिक गुरु के सम्पर्क में आती हैं, तो कृष्ण की कृपा से उन्हें भक्ति का बीज प्राप्त होता है। यदि कोई जीव इस बीज को पाकर उसे अपने हृदय में बोता है और श्रवण तथा कीर्तन रूपी

जल से इसे सींचता है, तो यह बीज उगकर एक वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। इसमें जो फूल और फल लगते हैं उन्हें जीव इसी जगत में भी भोग सकता है। यह *ब्रह्मभूत* अवस्था कहलाती है। इस उपाधियुक्त अवस्था में जीव भौतिकतावादी कहलाता है। किन्तु जब वह समस्त उपाधियों से मुक्त होकर पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होकर सेवा में लगा रहता है, तो मुक्त कहलाता है। जब तक भगवान् की कृपा से प्रामाणिक गुरु की संगति नहीं प्राप्त होती तब तक विभिन्न योनियों में जन्म तथा मृत्यु के चक्र तथा विभिन्न प्रकार के लोकों में घूमने से छुटकारे की कोई सम्भावना नहीं रहती।

जीवो ह्यस्यानुगो देहो भूतेन्द्रियमनोमयः ।
तन्निरोधोऽस्य मरणमाविर्भावस्तु सम्भवः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

जीवः—जीव; हि—निस्सन्देह; अस्य—उसका; अनुगः—उपयुक्त; देहः—शरीर; भूत—स्थूल तत्त्व; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; मनः—मन; मयः—से निर्मित; तत्—शरीर का; निरोधः—विनाश; अस्य—जीव का; मरणम्—मृत्यु; आविर्भावः—प्राकट्य; तु—तब; सम्भवः—जन्म।

इस प्रकार सकाम कर्मों के अनुसार जीवात्मा को मन तथा इन्द्रियों से युक्त उपयुक्त शरीर प्राप्त होता है। जब किसी कर्म का फल चुक जाता है, तो इस अन्त को मृत्यु कहते हैं और जब कोई फल प्रारम्भ होता है, तो उस शुभारम्भ को जन्म कहते हैं।

तात्पर्य : अनन्त काल से जीव विविध योनियों में तथा लोकों में निरन्तर घूमता रहा है। *भगवद्गीता* में इस प्रक्रम की व्याख्या हुई है। *भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया*—माया के वश में होकर प्रत्येक व्यक्ति माया द्वारा प्रदत्त शरीर के रथ पर चढ़कर ब्रह्माण्ड भर में घूमता रहता है। भौतिकतावादी जीवन में कर्म तथा फल की शृंखला रहती है। यह कर्म तथा फल की एक लम्बी रील है और एक जीवन-अवधि एक दमक (फ्लैश) के तुल्य है। जब बच्चा जन्म लेता है, तो समझना चाहिए कि उसका शरीर सर्वथा नवीन कार्यकलापों का शुभारम्भ है और जब वृद्ध पुरुष मरता है, तो समझना चाहिए कि कर्मफल का अन्त हो गया।

हम देखते हैं कि विभिन्न कर्मफलों के कारण कोई सम्पन्न परिवार में जन्म लेता है, तो कोई निर्धन परिवार में, यद्यपि दोनों एक ही स्थान में, एक समय और एक वातावरण में जन्म

लेते हैं। जो पुण्यकर्म करता है उसे समृद्ध या पुण्य परिवार में जन्म लेने का अवसर प्रदान किया जाता है और जो पापकर्म करता है उसे निम्न निर्धन परिवार में जन्म लेने दिया जाता है। शरीर के परिवर्तन से कार्यक्षेत्र बदल जाता है। इसी प्रकार जब बालक का शरीर तरुण शरीर में बदलता है, तो बालकपन के कार्य युवावस्था के कार्यकलापों में बदल जाते हैं।

यह स्पष्ट है कि विशेष प्रकार का कर्म करने से जीव को विशेष शरीर प्राप्त होता है। यह क्रिया अनन्त काल से चलती आ रही है। अत: वैष्णव कवि कहते हैं—*अनादि कर्मफले*—जिसका तात्पर्य यह है कि किसी के कर्मों तथा फलों का पता नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि वे ब्रह्मा के जन्म के कल्प से लेकर अगले कल्प तक चलते रहेंगे। हमने नारद मुनि के जीवन में इसको देखा। एक कल्प में वे दासी के पुत्र थे और दूसरे में वे ऋषि हो गये।

द्रव्योपलब्धिस्थानस्य द्रव्येक्षायोग्यता यदा ।
तत्पञ्चत्वमहंमानादुत्पत्तिर्द्रव्यदर्शनम् ॥ ४५ ॥
यथाक्ष्णोर्द्रव्यावयवदर्शनायोग्यता यदा ।
तदैव चक्षुषो द्रष्टुर्द्रष्टृत्वायोग्यतानयोः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

द्रव्य—वस्तुओं की; उपलब्धि—अनुभूति का; स्थानस्य—स्थान का; द्रव्य—वस्तुओं की; ईक्षा—अनुभूति का; अयोग्यता—असमर्थता; यदा—जब; तत्—वह; पञ्चत्वम्—मृत्यु; अहम्-मानात्—'मैं' की भ्रान्त धारणा से; उत्पत्तिः—जन्म; द्रव्य—शरीर; दर्शनम्—दर्शन; यथा—जिस प्रकार; अक्ष्णोः—आँखों का; द्रव्य—वस्तुओं का; अवयव—अंग; दर्शन—देखने की; अयोग्यता—असमर्थता; यदा—जब; तदा—तब; एव—निस्सन्देह; चक्षुषः—देखने की इन्द्रिय से; द्रष्टुः—द्रष्टा का; द्रष्टृत्व—देखने की शक्ति का; अयोग्यता—अपात्रता; अनयोः—इन दोनों की।

जब दृष्टि-तंत्रिका के प्रभावित होने से आँखें रंग या रूप को देखने की शक्ति खो देती हैं, तो चक्षु-इन्द्रिय मृतप्राय हो जाती है। तब आँख तथा दृष्टि का द्रष्टा जीव अपनी देखने की शक्ति खो देता है। इसी प्रकार जब भौतिक शरीर, जो वस्तुओं की अनुभूति का स्थल है, अनुभव करना बन्द कर देता है, तो इस अयोग्यता को मृत्यु कहते हैं। जब मनुष्य शरीर को स्व मानने लगता है, तो इसे जन्म कहते हैं।

तात्पर्य : जब कोई कहता है कि मैं देखता हूँ तो इसका अर्थ है कि वह अपनी आँखों से अथवा अपने चश्मे से देखता है। इस तरह वह दृष्टि के उपकरण से देखता है। यदि दृष्टि का

यह उपकरण टूट जाय, रुग्ण हो जाय या कार्य करने में अक्षम हो तो द्रष्टा के रूप में वह देखना बन्द कर देता है। इसी प्रकार इस शरीर में इस समय जीव कार्य कर रहा है, किन्तु जब कार्य करने में असमर्थता के कारण वह काम करना बन्द कर देता है, तो उसके कर्मफल भी बन्द हो जाते हैं। जब कार्य का उपकरण टूट जाय और कार्य न किया जा सके तो उसे मृत्यु कहते हैं। इसी प्रकार जब कार्य करने का नया उपकरण प्राप्त होता है, तो उसे जन्म कहते हैं। यह जन्म तथा मृत्यु की क्रिया शरीर में परिवर्तन के कारण प्रतिक्षण चलती रहती है। अन्तिम परिर्वतन मृत्यु कहलाता है और नये शरीर को ग्रहण करना जन्म कहलाता है। जन्म तथा मृत्यु की समस्या का यही हल है। वास्तव में जीव का न तो जन्म होता है, न मृत्यु। वह तो शाश्वत है। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है—*न हन्यते हन्यमाने शरीरे*—यह जीवात्मा इस शरीर की मृत्यु या विनाश के बाद भी कभी नहीं मरता।

तस्मान्न कार्यः सन्त्रासो न कार्पण्यं न सम्भ्रमः ।
बुद्ध्वा जीवगतिं धीरो मुक्तसङ्गश्चरेदिह ॥ ४७॥

शब्दार्थ

तस्मात्—मृत्यु के कारण; न—नहीं; कार्यः—करना चाहिए; सन्त्रासः—भय; न—नहीं; कार्पण्यम्—कंजूसी; न—नहीं; सम्भ्रमः—लाभ के लिए उत्सकुता; बुद्ध्वा—समझ करके; जीव-गतिम्—जीव के वास्तविक प्रकृति को; धीरः—स्थिर; मुक्त-सङ्गः—आसक्ति रहित; चरेत्—चलना चाहिए; इह—इस संसार में।

अतः मनुष्य को न तो मृत्यु को भयभीत होकर देखना चाहिए, न शरीर को आत्मा मानना चाहिए, न ही जीवन की आवश्यकताओं के शारीरिक भोग को बढ़ा-चढ़ा कर समझना चाहिए। जीव की असली प्रकृति को समझते हुए मनुष्य को आसक्ति से रहित तथा उद्देश्य में दृढ़ होकर संसार में विचरण करना चाहिए।

तात्पर्य : जीवन तथा मृत्यु के दर्शन को समझने वाला कोई भी समझदार व्यक्ति माता के गर्भ में या उसके बाहर के नारकीय जीवन की बात सुनकर विचलित हो उठेगा। किन्तु उसे जीवन की समस्याओं का हल निकालना होता है। समझदार व्यक्ति को इस शरीर की दयनीय स्थिति को समझना चाहिए और बिना विचलित हुए इसका निवारण खोजने का प्रयास करना चाहिए। यह इलाज तभी हाथ लगता है जब किसी मुक्त पुरुष की संगति मिलती है। किन्तु यह

समझना होगा कि मुक्त कौन है। *भगवद्गीता* में मुक्त पुरुष का वर्णन हुआ है—जो प्रकृति के कठोर नियमों को पार करके भगवान् की अखण्डित सेवा में लगा रहता है, वह ब्रह्म में स्थित माना जाता है।

भगवान् भौतिक सृष्टि से ऊपर हैं। यहाँ तक कि शंकराचार्य जैसे निर्विशेषवादियों ने भी स्वीकार किया है कि नारायण इस सृष्टि के परे हैं। अत: जब कोई भगवान् के विविध रूपों—नारायण या राधाकृष्ण या सीताराम—की सेवा में संलग्न रहता है, तो उसे मुक्ति के पद पर माना जाता है। *भागवत* भी पुष्टि करता है कि मुक्ति का अर्थ स्वाभाविक पद पर स्थित होना है। चूँकि जीवात्मा परमेश्वर का शाश्वत दास है, अत: जब कोई भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति में लगा होता है, तो वह मोक्ष पद पर स्थित होता है। मनुष्य को चाहिए कि मुक्त पुरुष की संगति करे क्योंकि इससे जन्म तथा मृत्यु रूपी जीवन की समस्या हल हो सकती है।

पूरी तरह कृष्णभावना में भक्ति करते समय मनुष्य को कंजूसी नहीं बरतनी चाहिए। उसे यह व्यर्थ का दिखावा नहीं करना चाहिए कि उसने संसार से वैराग्य ग्रहण कर लिया है। वस्तुत: वैराग्य सम्भव नहीं है। यदि कोई अपना भव्य महल छोड़कर जंगल में चला जाता है, तो यह वैराग्य नहीं है, क्योंकि वह राजसी महल भगवान् की सम्पति है तथा जंगल भी भगवान् की ही सम्पत्ति है। यदि कोई एक सम्पत्ति को छोड़कर दूसरे में चला जाए तो इसको वैराग्य नहीं कहते, क्योंकि वह इन दोनों में से किसी का भी स्वामी नहीं था। वैराग्य के लिए आवश्यक है कि प्रकृति पर प्रभुता जताने वाले झूठे बोध का परित्याग हो। जब वह इस झूठे बोध को तथा अपने इस विचार को कि वह भी ईश्वर है, त्याग देता है, तो वही असली वैराग्य है। अन्यथा वैराग्य कोई अर्थ नहीं रखता। रूप गोस्वामी का उपदेश है कि यदि कोई वस्तु भगवान् की सेवा में प्रयुक्त होने के उपयुक्त है, किन्तु उसका उपयोग इस कार्य के लिए नहीं किया जाता तो यह *फल्गु वैराग्य* कहलाता है, जिसका अर्थ है अपर्याप्त अथवा झूठा वैराग्य। प्रत्येक वस्तु भगवान् की है, अत: उसका उपयोग भगवान् के लिए करना चाहिए, अपनी इन्द्रियतृप्ति में हमें कुछ भी प्रयुक्त नहीं करना चाहिए। यही वास्तविक वैराग्य है। किसी को

जीवन की आवश्यकताएँ नहीं बढ़ानी चाहिए। भगवान् हमें जो कुछ प्रदान करें उसी से संतुष्ट होना चाहिए। हमें अपना समय कृष्णभावनाभावित होकर भक्ति करने में लगाना चाहिए। जीवन तथा मृत्यु की समस्या का यही समाधान है।

सम्यग्दर्शनया बुद्ध्या योगवैराग्ययुक्तया ।
मायाविरचिते लोके चरेन्न्यस्य कलेवरम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

सम्यक्-दर्शनया—सही दृष्टि से; बुद्ध्या—तर्क से; योग—भक्ति से; वैराग्य—विरक्ति से; युक्तया—समन्वित, युक्त; माया-विरचिते—माया द्वारा व्यवस्थित; लोके—इस संसार में; चरेत्—चलना फिरना चाहिए; न्यस्य—गिरवी करके; कलेवरम्—शरीर को।

सही-सही दृष्टि से युक्त तथा भक्ति से पुष्ट होकर एवं भौतिक पहचान के प्रति निराशावादी दृष्टिकोण से समन्वित होकर मनुष्य को तर्क द्वारा अपना शरीर इस मायामय संसार को गिरवी कर देनी चाहिए। इस तरह वह इस जगत से अपना सम्बन्ध छुड़ा सकता है।

तात्पर्य : कभी-कभी यह भ्रम होता है कि भक्ति में लगे व्यक्तियों की संगति करने से आर्थिक समस्याएँ हल नहीं की जा सकतीं। इस तर्क का उत्तर देने के लिए यहाँ यह बताया गया है कि मनुष्य को मुक्त पुरुषों की प्रत्यक्ष अथवा शरीर से संगति नहीं करनी होगी, अपितु दर्शन तथा तर्क से जीवन की समस्याओं को समझकर करना होगा। यहाँ पर *सम्यग्दर्शनया बुद्ध्या* का उल्लेख है—मनुष्य को सम्यक रूप से देखना होगा तथा बुद्धि एवं योगाभ्यास से इस संसार का परित्याग करना होगा। यह वैराग्य *भागवत* के प्रथम स्कंध के द्वितीय अध्याय में वर्णित विधि से प्राप्त किया जा सकता है।

भक्त की बुद्धि सदा भगवान् के सम्पर्क में रहती है। वह इस संसार के प्रति विरक्ति का भाव रखता है, क्योंकि वह अच्छी तरह जानता रहता है कि यह संसार माया की सृष्टि है। भक्त अपने को परमात्मा का अंश मानकर अपनी भक्तिमय सेवा सम्पन्न करता है और भौतिक कर्म तथा कर्मफल से पृथक् रहता है। इस तरह अन्त में वह अपना शरीर या भौतिक शक्ति को त्याग देता है और शुद्ध आत्मा के रूप में वह ईश्वर के धाम में प्रवेश करता है।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''जीवों की गतियों के विषय में भगवान् कपिल के उपदेश'' नामक इकतीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बत्तीस

कर्म-बन्धन

कपिल उवाच
अथ यो गृहमेधीयान्धर्मानेवावसन्गृहे ।
काममर्थं च धर्मान्स्वान्दोग्धि भूयः पिपर्ति तान् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

कपिलः उवाच—भगवान् कपिल ने कहा; अथ—अब; यः—जो व्यक्ति; गृह-मेधीयान्—गृहस्थों के; धर्मान्—कर्तव्य; एव—निश्चय ही; आवसन्—रहते हुए; गृहे—घर में; कामम्—इन्द्रियतृप्ति; अर्थम्—आर्थिक विकास; च—तथा; धर्मान्—धार्मिक अनुष्ठान; स्वान्—अपने; दोग्धि—भोगता है; भूयः—पुनः पुनः; पिपर्ति—सम्पन्न करता है; तान्—उनको।.

भगवान् ने कहा : गृहस्थ जीवन बिताने वाला व्यक्ति धार्मिक अनुष्ठान करते हुए भौतिक लाभ प्राप्त करता रहता है और इस तरह वह आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति की अपनी इच्छापूर्ति करता है। वह पुनः पुनः इसी तरह कार्य करता है।

तात्पर्य : गृहस्थ दो प्रकार के होते हैं—*गृहमेधी* तथा *गृहस्थ*। *गृहमेधी* का जीवन-लक्ष्य इन्द्रियतृप्ति रहता है और गृहस्थ का आत्म-साक्षात्कार। यहाँ भगवान् *गृहेमधी* के सम्बन्ध में अथवा उस व्यक्ति के विषय में बोल रहे हैं, जो इस जगत में बना रहना चाहता है। उसका कार्य है कि आर्थिक विकास के लिए धार्मिक अनुष्ठान करके भौतिक लाभों का भोग करे और अन्ततः अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करे। उसे इससे अधिक और कुछ नहीं चाहिए। ऐसा व्यक्ति धनी बनने तथा अच्छी तरह से रहने और खाने पीने के लिए जीवन भर कठोर श्रम करता है। वह किसी पुण्यकार्य के लिए कुछ दान देकर अगले जीवन में स्वर्गलोक को जा सकता है, किन्तु वह जन्म-मृत्यू के आवागमन को रोकना नहीं चाहता और न संसार के दुखों का अन्त देखना चाहता है। ऐसा व्यक्ति *गृहमेधी* कहलाता है।

गृहस्थ वह व्यक्ति है, जो अपने परिवार, पत्नी, बच्चों तथा कुटुम्बियों के साथ रहता है, किन्तु उनसे कोई लगाव नहीं रखता। वह साधु या संन्यासी न बनकर पारिवारिक जीवन बिताना पसन्द करता है, किन्तु उसका मुख्य उद्देश्य आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करना या कृष्णभावनामृत के पद तक पहुँचना रहता है। किन्तु यहाँ कपिलदेव *गृहमेधी* के विषय में बता

रहे हैं जिनका लक्ष्य भौतिकतावादी सम्पन्न जीवन बिताना है और जिसे वे यज्ञ, दान तथा सद्ककर्म द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। वे अच्छे पदों पर आसीन होते हैं, अत: वे अपने पुण्यकर्मों की कमाई का उपयोग करते हैं और बारम्बार इन्द्रियतृप्ति के कार्यकलाप करते रहते हैं। प्रह्लाद महाराज ने कहा है—*पुन: पुनश्चर्वितचर्वणानाम्*—वे चबाये हुए को पुन: चबाना पसन्द करते हैं। समृद्ध होते हुए भी वे पुन: पुन: भौतिक यातनाएँ झेलते हैं, किन्तु ऐसे जीवन का परित्याग करना नहीं चाहते।

स चापि भगवद्धर्मात्काममूढ: पराङ्मुख: ।
यजते क्रतुभिर्देवान्पितृंश्च श्रद्धयान्वित: ॥ २ ॥

शब्दार्थ

स:—वह; च अपि—और भी; भगवत्-धर्मात्—भक्ति से; काम-मूढ:—कामवासना से अन्धा; पराक्-मुख:—पराङ्मुख, से मुख मोड़कर; यजते—पूजा करता है; क्रतुभि:—यज्ञों से; देवान्—देवताओं की; पितृन्—पूर्वजों की; च—तथा; श्रद्धया—श्रद्धा से; अन्वित:—युक्त।

ऐसे व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति के प्रति अत्यधिक आसक्त होने के कारण भक्ति से विहीन होते हैं, अत: अनेक प्रकार के यज्ञ करते रहने तथा देवों एवं पितरों को प्रसन्न करने के लिए बड़े-बड़े व्रत करते रहने पर भी वे कृष्णभावनामृत अर्थात् भक्ति में रुचि नहीं लेते।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.२०) में कहा गया है कि जो व्यक्ति देवताओं की पूजा करते हैं उनकी बुद्धि भ्रष्ट रहती है—*कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना:*। वे इन्द्रियतृप्ति के प्रति अत्यधिक आकृष्ट रहते हैं, फलत: वे देवताओं को पूजते हैं। निस्सन्देह वैदिक शास्त्रों में संस्तुति की गई है कि जो धन, स्वास्थ्य या विद्या का इच्छुक हो उसे देवताओं का पूजन करना चाहिए। भौतिकतावादी व्यक्ति की माँगें अनेक हैं, अत: उसकी इन्द्रियों को तुष्ट करने वाले देवता भी अनेक हैं। जो 'गृहमेधी' समृद्ध जीवन बिताना चाहते हैं, वे सामान्यतया पिण्ड-दान द्वारा देवताओं या पितरों को पूजते हैं। ऐसे व्यक्ति कृष्णभावनामृत से विहीन होते हैं और भगवान् की भक्तिमय सेवा करने में रुचि नहीं लेते। इस प्रकार का तथाकथित पवित्र तथा धार्मिक व्यक्ति निराकारवाद का प्रतिफल है। निर्विशेषवादियों की धारणा है कि परम सत्य के कोई रूप नहीं होता। अत: अपने लाभ के लिए, चाहे जिस रूप की कल्पना करके उसकी पूजा कर ली जाय। अत: 'गृहमेधी'

या भौतिकतावादी व्यक्ति कहते हैं कि वे भगवान् की पूजा के लिए किसी देवता की पूजा कर सकते हैं। विशेष रूप से, हिन्दुओं में से, जो लोग मांसाहारी हैं, वे काली की पूजा को वरीयता प्रदान करते हैं, क्योंकि देवी के समक्ष एक बकरे की बलि का विधान है। उनका कहना है कि कोई चाहे देवी काली की पूजा करे या भगवान् विष्णु अथवा किसी देवता की, लक्ष्य एक-सा होता है। यह प्रथम कोटि का पाखण्ड है और ऐसे लोग पथभ्रष्ट हो जाते हैं। किन्तु फिर भी उन्हें यही दर्शन पसन्द है। *भगवद्गीता* ऐसे पाखण्ड को स्वीकार नहीं करती। उसमें स्पष्ट उल्लेख है कि ऐसी विधियाँ बुद्धिभ्रष्ट लोगों के लिए हैं। यहाँ इसी न्याय की पुष्टि की गई है और इसीलिए *काममूढ* शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है, जिसने अपनी इन्द्रियाँ खो दी हैं या जो इन्द्रियतुष्टि के लिए कामवासना से अन्धा हो चुका है। काममूढ़ लोग कृष्णभावनामृत तथा भक्ति से विहीन होते हैं और इन्द्रियतृप्ति की प्रबल इच्छा से अन्धे बने रहते हैं। देवताओं के पूजने की भर्त्सना *भगवद्गीता* तथा *भागवत* दोनों में की गई है।

तच्छ्रद्धयाक्रान्तमतिः पितृदेवव्रतः पुमान् ।
गत्वा चान्द्रमसं लोकं सोमपाः पुनरेष्यति ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्—देवों तथा पितरों को; श्रद्धया—आदरपूर्वक; आक्रान्त—पराजित; मतिः—मन; पितृ—पितरों को; देव—देवताओं को; व्रतः—उसका व्रत; पुमान्—व्यक्ति; गत्वा—जाकर; चान्द्रमसम्—चन्द्रमा के; लोकम्—लोक को; सोम-पाः—सोमरस पीते हुए; पुनः—फिर; एष्यति—लौट आता है।

ऐसे भौतिकवादी व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति से आकृष्ट होकर एवं अपने पितरों एवं देवताओं के प्रति भक्तिभाव रखकर चन्द्रलोक को जा सकते हैं, जहाँ वे सोमरस का पान करते हैं और फिर से इसी लोक में लौट आते हैं।

तात्पर्य : चन्द्रमा को स्वर्ग का एक लोक माना जाता है। विभिन्न वेदविहित यज्ञों यथा देवों एवं पितरों की पूजा सम्पन्न करने पर मनुष्य इस लोक को जाता है। किन्तु कोई यहाँ अधिक काल तक नहीं रह पाता। देवताओं की गणना के अनुसार चन्द्रमा पर जीवन की अवधि दस हजार वर्ष है। देवताओं की काल गणना में एक दिन (१२ घंटे) इस लोक के छह मास के बराबर होते हैं। चन्द्रमा तक स्पुतनिक जैसे किसी भौतिक यान द्वारा नहीं ही पहुँचा जा

सकता, किन्तु पुण्यकर्म करने से भौतिक भोगों के प्रति आसक्त लोग वहाँ पहुँच सकते हैं। जब यज्ञ कर्मों का पुण्य समाप्त हो जाता है, तो चन्द्रलोक तक पहुँच जाने पर भी मनुष्य को पृथ्वी पर पुनः आना पड़ता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.२१) में भी हुई है—*ते तां भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*।

यदा चाहीन्द्रशय्यायां शेतेऽनन्तासनो हरिः ।
तदा लोका लयं यान्ति त एते गृहमेधिनाम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

यदा—जब; च—तथा; अहि-इन्द्र—सर्पों के राजा (शेषनाग) की; शय्यायाम्—शय्या पर; शेते—लेटा रहता है; अनन्त-आसनः—जिसका आसन अनन्त शेष है; हरिः—भगवान् हरि; तदा—तब; लोकाः—लोक; लयम्—प्रलय; यान्ति—जाते हैं; ते एते—वे ही; गृह-मेधिनाम्—गृहमेधियों के।

जब भगवान् हरि सर्पों की शय्या पर, जिसे अनन्त शेष कहते हैं, सोते हैं, तो भौतिकतावादी पुरुषों के सारे लोक, जिनमें चन्द्रमा जैसे स्वर्गलोक सम्मिलित हैं, विलीन हो जाते हैं।

तात्पर्य : भौतिकता के प्रति आसक्त लोग चन्द्रमा जैसे स्वर्गलोक तक पहुँचने के लिए अत्यन्त उत्सुक रहते हैं। ऐसे कई स्वर्गलोक हैं, जिन्हें वे दीर्घकालिक आयु तथा इन्द्रियभोग की सामग्री प्राप्त करके अधिकाधिक सुख प्राप्त करने के उद्देश्य से चाहते हैं। किन्तु आसक्त व्यक्ति यह नहीं जानते कि यदि किसी को उच्चतम लोक—ब्रह्म लोक—मिल भी जाय तो विनाश वहाँ भी विद्यमान रहता है। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि भले ही कोई ब्रह्मलोक तक क्यों न चला जाय, किन्तु तो भी उसे वहाँ जन्म, मरण, रोग तथा जरा के कष्ट मिलेंगे। केवल भगवान् के धाम, वैकुण्ठलोक, पहुँचकर ही मनुष्य इस जगत में पुनः जन्म नहीं लेता। किन्तु 'गृहमेधी' या भौतिकतावादी व्यक्ति इस लाभ का उपयोग नहीं चाहते। वे तो निरन्तर एक शरीर से दूसरे में अथवा एक लोक से दूसरे लोक में देहान्तरण को ही वरीयता देते हैं। वे भगवान् के धाम में आनन्दपूर्ण ज्ञानमय शाश्वत जीवन नहीं चाहते।

प्रलय के दो प्रकार हैं। एक प्रलय ब्रह्मा की मृत्यु के समय होता है, उस समय समस्त स्वर्गों सहित सारी स्वर्गिक प्रणालियाँ जल में विलीन होकर गर्भोदक सागर में सर्पों की शय्या

पर लेटे हुए विष्णु के शरीर में प्रवेश करती हैं। दूसरा प्रलय ब्रह्मा के एक दिन के अन्त में घटित होता है, जिसमें सभी निम्न लोक विनष्ट हो जाते हैं। जब भगवान् ब्रह्मा इस रात्रि के बीतने पर जगते हैं, तो ये निम्नलोक पुन: उत्पन्न होते हैं। इस श्लोक से *भगवद्गीता* के इस कथन की पुष्टि होती है कि जो लोग देवों की पूजा करते हैं उनकी बुद्धि जाती रहती है। ये अल्पज्ञानी पुरुष यह नहीं जानते कि यदि वे स्वर्ग जाते भी हैं, तो प्रलय के समय वे स्वयं, देवतागण तथा उनके लोक विलीन हो जाएँगे। उन्हें इसकी सूचना नहीं रहती कि नित्य वरदान से पूर्ण जीवन प्राप्त किया जा सकता है।

ये स्वधर्मान्न दुह्यन्ति धीराः कामार्थहेतवे ।
निःसङ्गा न्यस्तकर्माणः प्रशान्ताः शुद्धचेतसः ॥५॥

शब्दार्थ

ये—जो; स्व-धर्मान्—अपने-अपने वृत्तिपरक कर्तव्य; न—नहीं; दुह्यन्ति—लाभ उठाते हैं; धीराः—बुद्धिमान; काम—इन्द्रियतृप्ति; अर्थ—आर्थिक विकास; हेतवे—के लिए; निःसङ्गाः—भौतिक आसक्ति से मुक्त; न्यस्त—परित्यक्त; कर्माणः—सकाम कर्म; प्रशान्ताः—सन्तुष्ट; शुद्ध-चेतसः—शुद्धीकृत चेतना का।

जो बुद्धिमान हैं और शुद्ध चेतना वाले हैं, वे कृष्णभक्ति में पूर्णतया सन्तुष्ट रहते हैं। वे प्रकृति के गुणों से मुक्त होकर वे इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म नहीं करते; अपितु वे अपने-अपने कर्मों में लगे रहते हैं और विधानानुसार कर्म करते हैं।

तात्पर्य : इस प्रकार के पुरुष का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण अर्जुन है। अर्जुन क्षत्रिय था और उसका धर्म युद्ध करना था। सामान्यतया राजा अपने राज्य के विस्तार के लिए युद्ध करते हैं और इन्द्रियतृप्ति के लिए उस पर राज्य करते हैं। जहाँ तक अर्जुन का प्रश्न है, उसने अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए युद्ध करने से इनकार कर दिया। उसने कहा कि यद्यपि स्वजनों से युद्ध करके वह साम्राज्य प्राप्त कर सकता है, किन्तु वह उनसे लड़ना नहीं चाहता। किन्तु जब कृष्ण ने आदेश दिया और जब वह *भगवद्गीता* के उपदेशों से आश्वस्त हो गया कि उसका धर्म कृष्ण को प्रसन्न करना है, तो वह युद्ध करने लगा। इस प्रकार उसने अपनी इन्द्रियतुष्टि के लिए नहीं, अपितु भगवान् के संतोष के लिए युद्ध किया।

जो लोग अपना निर्धारित कर्म इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं, अपितु भगवान् को प्रसन्न करने

के लिए करते हैं, वे *निःसङ्ग* कहलाते हैं अर्थात् वे प्रकृति के गुणों के प्रभाव से मुक्त होते हैं। *न्यस्त कर्माणः* बताता है कि उनके कर्मों का फल भगवान् को प्रदान कर दिया जाता है। ऐसे लोग अपना-अपना कर्तव्य-निर्वाह करते प्रतीत होते हैं, किन्तु ऐसे कर्म निजी इन्द्रियतृप्ति के लिए न होकर भगवान् के लिए सम्पन्न किये जाते हैं। ऐसे भक्त *प्रशान्ताः* अर्थात् "परम सन्तुष्ट" कहलाते हैं। *शुद्ध चेतसः* का अर्थ है कृष्णभावनाभावित अर्थात् जिनकी चेतना शुद्ध हो चुकी है। चेतना शुद्ध न रहने पर मनुष्य अपने को ब्रह्माण्ड का स्वामी मानता है, किन्तु शुद्ध चेतना होने पर वह अपने को भगवान् का शाश्वत दास मानता है। अपने को भगवान् के शाश्वत दास के पद पर बिठाकर और निरन्तर उन्हीं के लिए काम करते हुए वह वास्तव में सन्तुष्ट हो जाता है। जब तक कोई निजी इन्द्रियतृप्ति के लिए कार्य करता है तब तक वह चिन्ता से पूर्ण रहता है। सामान्य चेतना तथा कृष्णचेतना (भक्ति) में यही अन्तर है।

निवृत्तिधर्मनिरता निर्ममा निरहङ्कृताः ।
स्वधर्माप्तेन सत्त्वेन परिशुद्धेन चेतसा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

निवृत्ति-धर्म—विरक्ति के लिए धार्मिक कार्यों में; निरताः—निरन्तर लगे हुए; निर्ममाः—स्वामित्व के ज्ञान बिना; निरहङ्कृताः—अहंकाररहित; स्व-धर्म—अपने वृत्तिपरक कर्तव्य से; आप्तेन—सम्पन्न; सत्त्वेन—अच्छाई से; परिशुद्धेन—पूर्णतः शुद्ध; चेतसा—चेतना से।

अपने कर्तव्य-निर्वाह, विरक्तभाव से तथा स्वामित्व की भावना से अथवा अहंकार से रहित होकर काम करने से मनुष्य पूर्ण शुद्ध चेतना के द्वारा अपनी स्वाभाविक स्थिति में आसीन होकर और इस प्रकार से भौतिक कर्तव्यों को करते हुए सरलता के साथ ईश्वर के धाम में प्रविष्ट हो सकता है।

तात्पर्य : यहाँ पर *निवृत्ति-धर्म-निरताः* का अर्थ है "विरक्ति के लिए धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करने में निरन्तर लगे रहना।" धार्मिक कार्य दो प्रकार के होते हैं। एक *प्रवृत्ति-धर्म* कहलाता है, जिसका अर्थ है उच्चतर लोकों तक जाने या आर्थिक सम्पन्नता के लिए *गृहमेधियों* द्वारा सम्पन्न धार्मिक कार्य, जिनका अन्तिम उद्देश्य इन्द्रियतृप्ति है। इस संसार में आया हुआ प्रत्येक व्यक्ति प्रभुता की भावना से युक्त रहता है। यह *प्रवृत्ति* कहलाती है। किन्तु विपरीत

धार्मिक कार्य, जिसे *निवृत्ति* कहते हैं, परमेश्वर के लिए कर्म करना है। कृष्ण की भक्ति में संलग्न रहकर मनुष्य न तो किसी स्वामित्व का दावा कर सकता है, न ही उसे अहंकार रहता है कि वह ईश्वर या स्वामी है। वह अपने को सदैव दास समझता है। यह चेतना को शुद्ध करने की विधि है। केवल शुद्ध चेतना से ईश्वर के धाम में प्रविष्ट हुआ जा सकता है। भौतिकतावादी व्यक्ति उच्च पद पाने पर भौतिक जगत के भीतर किसी भी लोक में प्रविष्ट हो सकते हैं, किन्तु ये सब बारम्बार विनष्ट होते रहते हैं।

सूर्यद्वारेण ते यान्ति पुरुषं विश्वतोमुखम् ।
परावरेशं प्रकृतिमस्योत्पत्त्यन्तभावनम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

सूर्य-द्वारेण—प्रकाश मार्ग से होकर; ते—वे; यान्ति—निकट जाते हैं; पुरुषम्—भगवान् के; विश्वतः-मुखम्—जिसका मुख सर्वत्र घूमता है; पर-अवर-ईशम्—आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों का स्वामी; प्रकृतिम्—भौतिक कारण; अस्य—संसार की; उत्पत्ति—प्राकट्य का; अन्त—प्रलय का; भावनम्—कारण।

ऐसे मुक्त पुरुष प्रकाशमान मार्ग से होकर भगवान् तक पहुँचते हैं, जो भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों का स्वामी है और इन जगतों की उत्पत्ति तथा अन्त का परम कारण है।

तात्पर्य : *सूर्यद्वारेण* शब्द का अर्थ है ''प्रकाशमान पथ के द्वारा'' अथवा सूर्यलोक से होकर। यह प्रकाशित मार्ग भक्ति है। वेदों में सलाह दी गई है कि अंधकार से होकर न जाए, सूर्यलोक से होकर जाए। यहाँ इसकी भी संस्तुति की गई है कि प्रकाशमान पथ से चलकर प्रकृति के गुणों के कल्मष से मुक्त हुआ जा सकता है; इसी मार्ग से होकर भगवान् के निवासस्थान में प्रवेश किया जा सकता है। *पुरुषं विश्वतोमुखम्* पद का अर्थ है श्रीभगवान्, जो परम पूर्ण हैं। परमेश्वर के अतिरिक्त सारे प्राणी अत्यन्त लघु हैं, भले ही हमारी गणना से वे बड़े लगें। हर कोई अत्यन्त सूक्ष्म है, अत: वेदों में परमेश्वर को समस्त शाश्वतों में परम शाश्वत के रूप में कहा गया है। वे भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों के स्वामी हैं और संसार के परम कारण हैं। प्रकृति अवयव मात्र है, क्योंकि वस्तुत: उत्पत्ति तो उनकी शक्ति से होती है। माया भी उनकी शक्ति है। जिस प्रकार माता तथा पिता के संयोग से बालक जन्मता है उसी तरह भौतिक शक्ति

(माया) तथा भगवान् की चितवन भौतिक जगत की उत्पत्ति का कारण है। अत: सक्षम कारण पदार्थ नहीं, अपितु भगवान् स्वयं हैं।

द्विपरार्धावसाने यः प्रलयो ब्रह्मणस्तु ते ।
तावदध्यासते लोकं परस्य परचिन्तकाः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

द्वि-परार्ध—दो परार्धों के; अवसाने—अन्त में; यः—जो; प्रलयः—मृत्यु; ब्रह्मणः—भगवान् ब्रह्मा की; तु—लेकिन; ते—वे; तावत्—तब तक; अध्यासते—रहते हैं; लोकम्—लोक में; परस्य—परमेश्वर का; पर-चिन्तकाः—भगवान् का चिन्तन करते हुए।.

भगवान् के हिरण्यगर्भ विस्तार के उपासक इस संसार में दो परार्धों के अन्त तक रहे आते हैं, जब ब्रह्मा की भी मृत्यु हो जाती है।

तात्पर्य : एक प्रलय तो ब्रह्मा का दिन पूरा होने पर होता है और दूसरा ब्रह्मा की आयु समाप्त होने पर। ब्रह्मा की मृत्यु दो परार्ध पूरा होने पर होती है। उस समय सारा ब्रह्माण्ड विलीन हो जाता है। जो लोग भगवान् गर्भोदकशायी विष्णु के पूर्ण अंश हिरण्यगर्भ के पूजक हैं, वे सीधे वैकुण्ठ में भगवान् के पास नहीं पहुँचते। वे इसी ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा के जीवन काल तक सत्यलोक या अन्य किसी उच्च लोक में रहे आते हैं। तब वे ब्रह्मा के साथ-साथ वैकुण्ठ को जाते हैं।

परस्य परचिन्तकाः का अर्थ है ''सदैव भगवान् का चिन्तन करने वाले'' या सदैव कृष्णभावनाभावित रहने वाले। जब हम कृष्ण का नाम लेते हैं, तो यह विष्णु तत्त्व की पूर्णकोटि को सूचित करता है। कृष्ण में तीन अवतार निहित हैं—महाविष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु तथा इसके साथ ही साथ सभी अवतारों का सम्मिलित रूप। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* में हुई है। *रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्*—भगवान् कृष्ण अपने अंशों सहित—यथा राम, नृसिंह, वामन, मधुसूदन, विष्णु तथा नारायण सहित सदैव विराजमान हैं। जो *परस्य परचिन्तकाः* हैं, वे सीधे ईश्वर के धाम वैकुण्ठ लोक में प्रवेश करते हैं और यदि गर्भोदकशायी विष्णु के पूर्ण अंश के उपासक हैं, तो वे प्रलय तक इसी ब्रह्माण्ड में रहते हैं और तब वैकुण्ठ में जाते हैं।

क्ष्माम्भोऽनलानिलवियन्मनइन्द्रियार्थ-
भूतादिभिः परिवृतं प्रतिसञ्जिहीर्षुः ।
अव्याकृतं विशति यर्हि गुणत्रयात्मा
कालं पराख्यमनुभूय परः स्वयम्भूः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

क्ष्मा—पृथ्वी; अम्भः—जल; अनल—अग्नि; अनिल—वायु; वियत्—शून्य; मनः—मन; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; अर्थ—इन्द्रियों के विषय; भूत—अहंकार; आदिभिः—इत्यादि से; परिवृतम्—आच्छादित; प्रतिसञ्जिहीर्षुः—संहार करने की इच्छा से; अव्याकृतम्—परिवर्तनहीन वैकुण्ठ; विशति—प्रवेश करता है; यर्हि—जिस समय; गुण-त्रय-आत्मा—तीन गुणों से युक्त; कालम्—काल; पर-आख्यम्—दो परार्ध; अनुभूय—अनुभव करके; परः—प्रमुख; स्वयम्भूः—भगवान् ब्रह्मा।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति के निवास करने योग्य दो परार्धों के काल का अनुभव करके श्री ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड का, जो पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, अहंकार आदि के आवरणों से ढका हुआ है, संहार कर देते हैं और भगवान् के पास चले जाते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अव्याकृतम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *भगवद्गीता* में सनातन शब्द का ठीक यही अर्थ दिया गया है। यह संसार *व्याकृत* अर्थात् परिवर्तनशील है और अन्त में विनष्ट हो जाता है, किन्तु इसके विलीन हो जाने के बाद भी आध्यात्मिक जगत अथवा सनातन धाम बचा रहता है। यह *अव्याकृत* कहलाता है, क्योंकि यह अपरिवर्तित रहा आता है और इसमें भगवान् निवास करते हैं। जब काल के प्रभाव से इस ब्रह्माण्ड पर शासन करने के बाद ब्रह्मा इसका संहार करके ईश्वर के धाम में प्रवेश करना चाहते हैं, तो अन्य लोग भी उन्हीं के साथ प्रवेश कर जाते हैं।

एवं परेत्य भगवन्तमनुप्रविष्टा
ये योगिनो जितमरुन्मनसो विरागाः ।
तेनैव साकममृतं पुरुषं पुराणं
ब्रह्म प्रधानमुपयान्त्यगताभिमानाः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; परेत्य—दूर तक जाकर; भगवन्तम्—भगवान् ब्रह्मा; अनुप्रविष्टाः—प्रविष्ट; ये—जो; योगिनः—योगीजन; जित—वश में किये हुए; मरुत्—श्वास; मनसः विरागाः—विरक्त; तेन—ब्रह्मा से; एव—निस्सन्देह; साकम्—साथ; अमृतम्—आनन्द रूप; पुरुषम्—भगवान् को; पुराणम्—प्राचीनतम; ब्रह्म प्रधानम्—परब्रह्म; उपयान्ति—जाते हैं; अगत—न गये हुए; अभिमानाः—जिनका अहंकार।

जो योगी प्राणायाम तथा मन-निग्रह द्वारा इस संसार से विरक्त हो जाते हैं, वे ब्रह्मलोक पहुँचते हैं, जो बहुत ही दूर है। वे अपना शरीर त्याग कर ब्रह्मा के शरीर में प्रविष्ट होते हैं, अत: जब ब्रह्मा को मोक्ष प्राप्त होता है और वे भगवान् के पास जाते हैं, जो परब्रह्म हैं, तो ऐसे योगी भी भगवद्धाम में प्रवेश करते हैं।

तात्पर्य : योगसिद्धि प्राप्त करने के बाद योगी ब्रह्मलोक या सत्यलोक पहुँच सकते हैं और अपना शरीर त्यागने के बाद वे ब्रह्मा के शरीर में प्रविष्ट करते हैं। चूँकि वे भगवान् के प्रत्यक्ष भक्त नहीं होते, अत: इन्हें सीधे मोक्ष नहीं मिलता। इन्हें ब्रह्मा के मोक्ष पाने तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है और ये ब्रह्मा के साथ ही मुक्त हो पाते हैं। यह स्पष्ट है कि जब तक जीव किसी अन्य देवता की उपासना करता है, तो उसकी चेतना उसी देवता में लीन रहती है, अत: वे न तो प्रत्यक्ष मोक्ष प्राप्त करते हैं अथवा भगवद्धाम में प्रवेश कर पाते हैं, न ही भगवान् के निराकार तेज में लीन हो पाते हैं। ऐसे योगी या देवता-उपासकों को पुन: सृष्टि होने पर फिर से जन्म लेना पड़ता है।

अथ तं सर्वभूतानां हृत्पद्मेषु कृतालयम् ।
श्रुतानुभावं शरणं व्रज भावेन भामिनि ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अथ—अत:; तम्—भगवान् को; सर्व-भूतानाम्—समस्त जीवों के; हृत्-पद्मेषु—कमल हृदयों में; कृत-आलयम्—निवास करते हुए; श्रुत-अनुभावम्—जिनका यश आपने सुना; शरणम्—शरण में; व्रज—जाओ; भावेन—भक्ति द्वारा; भामिनि—हे माता।.

अत: हे माता, आप प्रत्यक्ष भक्ति द्वारा जन-जन के हृदय में स्थित पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण ग्रहण करें।

तात्पर्य : कृष्णभक्ति से भगवान् का प्रत्यक्ष सम्पर्क हो सकता है और भगवान् के साथ प्रेमी, परमात्मा, पुत्र, मित्र या स्वामी रूप में उनसे सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। मनुष्य अनेक प्रकार से परमेश्वर के साथ दिव्य प्रेम-सम्बन्ध स्थापित कर सकता है और यह भाव ही वास्तविक तादात्म्य है। किन्तु मायावादी चिन्तकों तथा वैष्णव चिन्तकों का तादात्म्य पृथक्-पृथक् होता है। ये दोनों ही परब्रह्म में लीन होना चाहते हैं, किन्तु वैष्णव अपनी सत्ता खोना

नहीं चाहते। वे प्रेमी, जनक, मित्र या दास के रूप में अपनी सत्ता (पहचान) बनाये रखना चाहते हैं।

दिव्य जगत में दास तथा स्वामी एक हैं। यह परम पद है। यद्यपि उनमें दास तथा स्वामी का सम्बन्ध रहता है, किन्तु सेव्य तथा सेवक दोनों एक ही पद पर रहते हैं। यही तादात्म्य है। भगवान् कपिल ने अपनी माता को उपदेश दिया कि उन्हें किसी परोक्ष विधि की आवश्यकता नहीं है। वे पहले से प्रत्यक्ष विधि को प्राप्त हैं, क्योंकि परमेश्वर ने उनके पुत्र के रूप में जन्म लिया है। वस्तुत: उन्हें और किसी उपदेश की आवश्यकता नहीं रह गई थी, क्योंकि वे पहले ही सिद्ध अवस्था में थीं। कपिलदेव ने उन्हें उसी अवस्था में बने रहने की सलाह दी। अत: उन्होंने अपनी माता को *भामिनि* कहकर सम्बोधित किया जो सूचित करता है कि वे पहले ही अपने पुत्र रूप में भगवान् का चिन्तन कर रही थीं। अत: कपिलदेव देवहूति को सीधे कृष्णभावनामृत में भक्ति करने की सलाह देते हैं, क्योंकि इस चेतना के बिना माया के पाश से मुक्त नहीं हुआ जा सकता।

आद्य: स्थिरचराणां यो वेदगर्भ: सहर्षिभि: ।
योगेश्वरै: कुमाराद्यै: सिद्धैर्योगप्रवर्तकै: ॥ १२॥
भेददृष्ट्याभिमानेन नि:सङ्गेनापि कर्मणा ।
कर्तृत्वात्सगुणं ब्रह्म पुरुषं पुरुषर्षभम् ॥ १३॥
स संसृत्य पुन: काले कालेनेश्वरमूर्तिना ।
जाते गुणव्यतिकरे यथापूर्वं प्रजायते ॥ १४॥
ऐश्वर्यं पारमेष्ठ्यं च तेऽपि धर्मविनिर्मितम् ।
निषेव्य पुनरायान्ति गुणव्यतिकरे सति ॥ १५॥

शब्दार्थ

आद्य:—स्रष्टा, ब्रह्मा; स्थिर-चराणाम्—जड़ तथा जंगम का; य:—जो; वेद-गर्भ:—वेदगर्भ; सह—साथ; ऋषिभि:—ऋषियों के; योग-ईश्वरै:—महान् योगियों के साथ; कुमार-आद्यै:—कुमारगण तथा अन्य; सिद्धै:—सिद्ध पुरुषों के साथ; योग-प्रवर्तकै:—योग पद्धति के जन्मदाता; भेद-दृष्ट्या—स्वतन्त्र दृष्टि के कारण; अभिमानेन—गर्व से; नि:सङ्गेन—निष्काम; अपि—यद्यपि; कर्मणा—कार्यों से; कर्तृत्वात्—कर्ता होने के भाव से; स-गुणम्—दैवी गुणों से युक्त; ब्रह्म—ब्रह्म; पुरुषम्—भगवान्; पुरुष-ऋषभम्—प्रथम पुरुष अवतार को; स:—वह; संसृत्य—प्राप्त करके; पुन:—फिर; काले—समय पर; कालेन—काल द्वारा; ईश्वर-मूर्तिना—भगवान् का रूप; जाते गुण-व्यतिकरे—जब गुणों की प्रतिक्रिया होती है; यथा—जिस तरह; पूर्वम्—पहले; प्रजायते—उत्पन्न होता है; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; पारमेष्ठ्यम्—राजोचित; च—तथा; ते—ऋषिगण; अपि—भी; धर्म—अपने पुण्य कर्मों से; विनिर्मितम्—

उत्पन्न; निषेव्य—भोगा जाकर; पुनः—फिर; आयान्ति—लौटते हैं; गुण-व्यतिकरे सति—जब गुणों की प्रतिक्रिया होती है।.

आद्यः—स्रष्टा, ब्रह्मा; स्थिर-चराणाम्—जड़ तथा जंगम का; यः—जो; वेद-गर्भः—वेदगर्भ; सह—साथ; ऋषिभिः—ऋषियों के; योग-ईश्वरैः—महान् योगियों के साथ; कुमार-आद्यैः—कुमारगण तथा अन्य; सिद्धैः—सिद्ध पुरुषों के साथ; योग-प्रवर्तकैः—योग पद्धति के जन्मदाता; भेद-दृष्ट्या—स्वतन्त्र दृष्टि के कारण; अभिमानेन—गर्व से; निःसङ्गेन—निष्काम; अपि—यद्यपि; कर्मणा—कार्यों से; कर्तृत्वात्—कर्ता होने के भाव से; स-गुणम्—दैवी गुणों से युक्त; ब्रह्म—ब्रह्म; पुरुषम्—भगवान्; पुरुष ऋषभम्—प्रथम पुरुष अवतार को; सः—वह; संसृत्य—प्राप्त करके; पुनः—फिर; काले—समय पर; कालेन—काल द्वारा; ईश्वर-मूर्तिना—भगवान् का रूप; जाते गुण-व्यतिकरे—जब गुणों की प्रतिक्रिया होती है; यथा—जिस तरह; पूर्वम्—पहले; प्रजायते—उत्पन्न होता है; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; पारमेष्ठ्यम्—राजोचित; च—तथा; ते—ऋषिगण; अपि—भी; धर्म—अपने पुण्य कर्मों से; विनिर्मितम्—उत्पन्न; निषेव्य—भोगा जाकर; पुनः—फिर; आयान्ति—लौटते हैं; गुण-व्यतिकरे सति—जब गुणों की प्रतिक्रिया होती है।

हे माता, भले ही कोई किसी विशेष स्वार्थ से भगवान् की पूजा करे, किन्तु ब्रह्मा जैसे देवता, सनत्कुमार जैसे ऋषि-मुनि तथा मरीचि जैसे महामुनि सृष्टि के समय इस जगत में पुनः लौट आते हैं। जब प्रकृति के तीनों गुणों की अन्तःक्रिया प्रारम्भ होती है, तो काल के प्रभाव से इस दृश्य जगत के स्रष्टा तथा वैदिक ज्ञान से पूर्ण ब्रह्मा एवं आध्यात्मिक मार्ग तथा योग-पद्धति के प्रवर्तक बड़े-बड़े ऋषि वापस आ जाते हैं। वे अपने निष्काम कर्मों से मुक्त तो हो जाते हैं और पुरुष के प्रथम अवतार (आदि पुरुष) को प्राप्त होते हैं, किन्तु सृष्टि के समय वे पुनः अपने पहले के ही रूपों तथा पदों में वापस आ जाते हैं।

तात्पर्य : यह सभी जानते हैं कि ब्रह्मा को मुक्ति मिलती है, किन्तु वे भक्तों को मुक्ति नहीं दिला सकते। ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवता किसी जीव को मुक्ति नहीं दे सकते। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है, केवल वे ही माया के पाश से मुक्त होते हैं जिन्होंने कृष्ण की शरण ग्रहण कर ली है। यहाँ ब्रह्मा को *आद्यः स्थिर-चराणाम्* कहा गया है। वे मूल, प्रथम उत्पन्न जीव थे और वे अपने जन्म के बाद सम्पूर्ण दृश्य जगत की उत्पत्ति करने वाले हैं। सृष्टि के सम्बन्ध में परमेश्वर ने उन्हें भलीभाँति शिक्षा दी थी। यहाँ पर उन्हें *वेदगर्भ* कहा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि वे वेदों के पूर्ण उद्देश्य को जानते हैं। उनके साथ मरीचि, कश्यप जैसे महापुरुष तथा सप्तर्षि, योगी, कुमार तथा अन्य अध्यात्म में बढ़े-चढ़े जीव रहते हैं, किन्तु उनका ईश्वर से पृथक् निजी स्वार्थ रहता है। *भेद-दृष्ट्या* का अर्थ है कि ब्रह्माजी कभी-कभी

सोचते हैं कि वे परमेश्वर से स्वतन्त्र हैं या कि वे अपने को तीन स्वतन्त्र अवतारों में से एक मानते हैं। ब्रह्मा को सृष्टि करने, विष्णु को पालन करने और रुद्र या शिवजी को संहार करने का कार्य सौंपा गया है। ये तीनों परमेश्वर के अवतार समझे जाते हैं, जो तीन भिन्न गुणों के अधिष्ठाता हैं, किन्तु इन तीनों में से कोई भी भगवान् से स्वतन्त्र नहीं है। यहाँ पर इसीलिए *भेद-दृष्ट्या* शब्द आया है, क्योंकि ब्रह्माजी कुछ-कुछ सोचते हैं कि वे रुद्र के समान स्वतन्त्र हैं। कभी-कभी ब्रह्माजी अपने को स्वतन्त्र मानते हैं और उनके उपासक भी ब्रह्माजी को स्वतन्त्र मानते हैं। इसीलिए इस जगत के संहार के बाद, जब तीनों गुणों की पारस्परिक क्रिया से पुनः सृष्टि होती है, तो ब्रह्मा वापस आते हैं। यद्यपि ब्रह्माजी प्रथम पुरुषावतार महाविष्णु के पास पहुँच जाते हैं, किन्तु वे वैकुण्ठ में ठहर नहीं सकते।

उनके वापस आने की विशेष महत्ता द्रष्टव्य है। ब्रह्मा, महान् ऋषिगण तथा योग के महान् स्वामी (शिव) सामान्य जीव नहीं हैं, वे सभी अत्यन्त शक्तिमान हैं और समस्त योग-सिद्धियों से पूर्ण हैं। फिर भी वे परब्रह्म के साथ एकाकार होना चाहते हैं, अतः उन्हें वापस आना पड़ता है। *श्रीमद्भागवत* में यह स्वीकार किया गया है कि जब तक मनुष्य अपने को भगवान् के समान सोचता है तब तक वह पूर्णतया शुद्ध या ज्ञेय नहीं रहता। प्रलय के बाद ऐसे लोग प्रथम पुरुष अवतार महाविष्णु के पास तक जाकर भी पुनः इस संसार में वापस आते हैं।

निर्विशेषवादियों का यह सोचना उनका घोर पतन है कि परमेश्वर भौतिक शरीर के भीतर प्रकट होते हैं, अतः परमेश्वर के स्वरूप-चिन्तन की कोई आवश्यकता नहीं है, अपितु निराकार का चिन्तन करना चाहिए। इसी भूल के कारण बड़े से बड़े योगी या अध्यात्मवादी भी पुनः सृष्टि होने पर वापस आते हैं। निर्विशेषवादियों एवं अद्वैतवादियों के अतिरिक्त सभी जीव पूर्ण कृष्णचेतना में रहकर भक्ति करते हैं और भगवान् के लिए दिव्य प्रेमा-भक्ति उत्पन्न करके मुक्त हो जाते हैं। ऐसी भक्ति परमेश्वर को स्वामी, सखा, पुत्र तथा प्रेमी के रूप में सोचने पर क्रमशः उत्पन्न होती है। ऐसे अन्तर तो सदैव उपस्थित ही रहेंगे।

**ये त्विहासक्तमनसः कर्मसु श्रद्धयान्विताः ।
कुर्वन्त्यप्रतिषिद्धानि नित्यान्यपि च कृत्स्नशः ॥ १६ ॥**

शब्दार्थ

ये—जो; तु—लेकिन; इह—इस संसार में; आसक्त—अनुरक्त; मनसः—जिनके मन; कर्मसु—कर्मों में; श्रद्धया—श्रद्धा से; अन्विताः—युक्त; कुर्वन्ति—करते हैं; अप्रतिषिद्धानि—फल के प्रति आसक्ति सहित, काम्य; नित्यानि—नियत कर्म; अपि—निश्चय ही; च—तथा; कृत्स्नशः—बारम्बार।

जो लोग इस संसार के प्रति अत्यधिक आसक्त हैं, वे अपने नियत कर्मों को बड़े ही ढंग से तथा अत्यन्त श्रद्धापूर्वक सम्पन्न करते हैं। वे ऐसे नित्यकर्मों को कर्मफल की आशा से करते हैं।

तात्पर्य : *भागवत* के इस श्लोक में तथा अगले छह श्लोकों में अत्यधिक आसक्त लोगों की आलोचना हुई है। शास्त्रों का आदेश है कि जो भौतिक सुखों को भोगने में अत्यधिक अनुरक्त होते हैं उन्हें इनका परित्याग करके कुछ अनुष्ठान करने होते हैं। उन्हें स्वर्ग पहुँचने के लिए दैनिक जीवन में कुछ विधि-विधानों का पालन करना होता है। इस श्लोक में कहा गया है कि ऐसे व्यक्ति कभी भी मुक्त नहीं हो सकते। जो लोग इस भावना से देवताओं की पूजा करते हैं कि हर देवता पृथक् ईश्वर है वे कभी भी वैकुण्ठ नहीं जा पाते, उन लोगों की बात तो दूर रही जो अपनी भौतिक दशा सुधारने के लिए केवल कर्म करते हैं।

**रजसा कुण्ठमनसः कामात्मानोऽजितेन्द्रियाः ।
पितृन्यजन्त्यनुदिनं गृहेष्वभिरताशयाः ॥ १७ ॥**

शब्दार्थ

रजसा—रजोगुण द्वारा; कुण्ठ—चिन्ताओं से पूर्ण; मनसः—मन; काम-आत्मानः—इन्दियतृप्ति की इच्छा करते हुए; अजित—अनियन्त्रित; इन्द्रियाः—इन्द्रियाँ; पितृन्—पूर्वजों, पितरगणों; यजन्ति—पूजा करते हैं; अनुदिनम्—प्रतिदिन; गृहेषु—घरेलू जीवन में; अभिरत—लगे हुए; आशयाः—मन।

ऐसे लोग, रजोगुण से प्रेरित होकर चिन्ताओं से व्याप्त रहते हैं और इन्द्रियों को वश में न कर सकने के कारण सदैव इन्द्रियतृप्ति की कामना करते रहते हैं। वे पितरों को पूजते हैं और अपने परिवार, सामाजिक या राष्ट्रीय जीवन की आर्थिक स्थिति सुधारने में रात-दिन लगे रहते हैं।

त्रैवर्गिकास्ते पुरुषा विमुखा हरिमेधसः ।
कथायां कथनीयोरुविक्रमस्य मधुद्विषः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

त्रै-वर्गिकाः—तीन उन्नतिकारी विधियों में रुचि रखने वाले; ते—वे; पुरुषाः—व्यक्ति; विमुखाः—रुचि न रखने वाले; हरि-मेधसः—भगवान् हरि की; कथायाम्—लीलाओं में; कथनीय—कीर्तन करने योग्य; उरु-विक्रमस्य—जिनका सर्वोत्तम विक्रम (शौर्य); मधु-द्विषः—मधु असुर के वध करने वाले।

ऐसे लोग त्रैवर्गिक कहलाते हैं, क्योंकि वे तीन उन्नतिकारी विधियों—पुरुषार्थों—में रुचि लेते हैं। वे उन भगवान् से विमुख हो जाते हैं, जो बद्धजीवों को विश्राम प्रदान करने वाले हैं। वे भगवान् की उन लीलाओं में कोई अभिरुचि नहीं दिखाते, जो भगवान् के दिव्य विक्रम के कारण श्रवण करने योग्य हैं।

तात्पर्य : वैदिक विचारधारा के अनुसार चार उन्नतिकारी सिद्धान्त (पुरुषार्थ) हैं जिनके नाम हैं धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। जो लोग भौतिक सुख में रुचि रखते हैं, वे नियत कर्म करते रहते हैं। वे तीन उन्नतिकारी विधियों—धर्म, अर्थ तथा काम में रुचि रखते हैं। अपनी आर्थिक स्थिति सुधार कर वे भौतिक जीवन का आनन्द उठा सकते हैं। फलतः भौतिकतावादी व्यक्ति केवल उन उन्नतिकारी विधियों में रुचि रखते हैं, जिन्हें *त्रैवर्गिक* कहा गया है। *त्रै* का अर्थ है तीन और *वर्गिक* का अर्थ है "उन्नतिकारी विधियाँ।" ऐसे पुरुष कभी भी भगवान् के प्रति आसक्त नहीं होते, अपितु वे उनके विरुद्ध रहते हैं।

यहाँ पर भगवान् को *हरि-मेधः* कहा गया है, जिसका अर्थ है "जन्म तथा मरण के चक्र से उद्धार करने वाला।" भौतिकतावादी व्यक्ति कभी भी भगवान् की आश्चर्यमयी लीलाओं को सुनने के प्रति कोई उत्सुकता नहीं दिखाते। वे इन्हें कपोलकल्पित कहानियाँ और भगवान् को भौतिक पुरुष मानते हैं। वे भक्ति या कृष्णचेतना में अग्रसर होने के योग्य नहीं होते। ऐसे लोग समाचारपत्रों में छपी कहानियों, उपन्यासों तथा काल्पनिक नाटकों में रुचि दिखाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के वास्तविक कार्यकलाप, जैसे कि भगवान् के कुरुक्षेत्र के कार्यकलाप अथवा पाण्डवों के कार्यकलाप, भगवान् की वृन्दावन या द्वारका की लीलाओं का वर्णन भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत् में हुआ है, जो कि भगवान् की लीलाओं के वर्णन से परिपूर्ण हैं। किन्तु भौतिकतावादी पुरुष संसार में अपने पद को ऊपर उठाने में लगे रहते हैं और भगवान् के ऐसे

कार्यकलापों में कोई रुचि नहीं लेते। वे किसी महान् राजनीतिज्ञ या इस संसार के किसी परम धनवान व्यक्ति के कार्यकलापों में रुचि ले सकते हैं, किन्तु परमेश्वर के दिव्य कार्यकलापों में हरगिज नहीं।

नूनं दैवेन विहता ये चाच्युतकथासुधाम् ।
हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथाः पुरीषमिव विड्भुजः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निश्चय ही; दैवेन—भगवान् की आज्ञा से; विहताः—निन्दित; ये—जो; च—भी; अच्युत—अमोघ भगवान् की; कथा—कहानियाँ; सुधाम्—अमृत; हित्वा—त्याग कर; शृण्वन्ति—सुनते हैं; असत्-गाथाः—भौतिकतावादी पुरुषों की कहानियाँ; पुरीषम्—मल; इव—सदृश; विट्-भुजः—विष्ठाभोजी (सूकर)।

ऐसे व्यक्ति भगवान् के परम आदेशानुसार निन्दित होते हैं। चूँकि वे भगवान् के कार्यकलाप रूपी अमृत से विमुख रहते हैं, अतः उनकी तुलना विष्ठाभोजी सूकरों से की गई है। वे भगवान् के दिव्य कार्यकलापों को न सुनकर भौतिकतावादी पुरुषों की कुत्सित कथाएँ सुनते हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के कार्यकलापों को सुनने का इच्छुक रहता है चाहे वह राजनीतिज्ञ हो, धनवान हो या उपन्योसों में वर्णित काल्पनिक पात्र हो। ऐसा तमाम व्यर्थ साहित्य, कहानियाँ तथा दर्शन की पुस्तकें हैं। भौतिकतावादी व्यक्ति ऐसा साहित्य पढ़ने में अधिक रुचि लेते हैं, किन्तु जब उनके सामने *भगवद्गीता,* श्रीमद्भागवत, *विष्णु पुराण* जैसे ज्ञानग्रंथ तथा विश्व के अन्य शास्त्र यथा बाइबिल या कुरान आते हैं, तो वे उनमें रुचि नहीं दिखाते। ऐसे व्यक्ति भगवान् के आदेशों (शास्त्रों) द्वारा उसी प्रकार से निन्दित होते हैं जिस तरह शूकर होता है। शूकर मल खाने में रुचि दिखाता है। यदि उसे घी अथवा दूध का बना कोई उत्तम पकवान दे दिया जाय तो वह उसे पसंद नहीं करता, वह दुर्गन्धमय विष्ठा (मल) को ही सबसे स्वादिष्ट समझता है। भौतिकतावादी मनुष्य इसीलिए निंद्य माने जाते हैं, क्योंकि वे दिव्य कार्यकलापों में रुचि न रखकर नारकीय कार्यों में रुचि प्रदर्शित करते हैं। भगवान् के कार्यकलापों का सन्देश अमृत है, इसके अतिरिक्त कोई भी जानकारी वास्तव में नारकीय है।

दक्षिणेन पथार्यम्णः पितृलोकं व्रजन्ति ते ।
प्रजामनु प्रजायन्ते श्मशानान्तक्रियाकृतः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

दक्षिणेन—दक्षिणी; पथा—मार्ग से; अर्यम्णः—सूर्य के; पितृ-लोकम्—पितृ लोक को; व्रजन्ति—जाते हैं; ते—वे; प्रजाम्—अपने परिवार; अनु—के साथ; प्रजायन्ते—जन्म लेते हैं; श्मशान—मरघट; अन्त—अन्त में; क्रिया—सकाम कर्म; कृतः—करते हुए।

ऐसे भौतिकतावादी व्यक्तियों को सूर्य के दक्षिण मार्ग से पितृलोक जाने दिया जाता है, किन्तु वे इस लोक में पुनः आकर अपने-अपने परिवारों में जन्म लेते हैं और जन्म से लेकर जीवन के अन्त तक पुनः उसी तरह कर्म करते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२१) में कहा गया है कि ऐसे व्यक्ति उच्च लोकों को जाते हैं। जब उनके जीवन भर के कर्म चुक जाते हैं, तो वे इस लोक में वापस आ जाते हैं। इस तरह वे ऊपर-नीचे आते-जाते रहते हैं। जो उच्च लोक को गये थे वे उसी परिवार में लौटते हैं जिनसे वे परम अनुरक्त थे; वे जन्म लेते हैं और पुनः उनके कर्म आजीवन चलते रहते हैं। जन्म से मृत्यु तक अनेक अनुष्ठानों का विधान है और ऐसे लोग इन अनुष्ठानों के प्रति अत्यधिक अनुरक्त रहते हैं।

ततस्ते क्षीणसुकृताः पुनर्लोकमिमं सति ।
पतन्ति विवशा देवैः सद्यो विभ्रंशितोदयाः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; ते—वे; क्षीण—चुक जाने पर; सु-कृताः—पुण्य कर्मों के फल; पुनः—फिर; लोकम् इमम्—इस लोक में; सति—हे सती माता; पतन्ति—गिरते हैं; विवशाः—असहाय; देवैः—दैववश; सद्यः—अचानक; विभ्रंशित—गिराये जाकर; उदयाः—उनकी सम्पन्नता।

जब उनके पुण्यकर्मों का फल चुक जाता है, तो वे दैववश नीचे गिरते हैं और पुनः इस लोक में आ जाते हैं जिस प्रकार किसी व्यक्ति को ऊँचे उठाकर सहसा नीचे गिरा दिया जाये।

तात्पर्य : कभी-कभी देखा जाता है कि सरकारी नौकरी में उच्च पद आसीन व्यक्ति अचानक ही नीचे आ जाता है, उसे कोई बचा नहीं पाता। इसी प्रकार सुखोपभोग का समय बीत जाने पर, मूर्ख व्यक्ति जो उच्चलोकों में अध्यक्ष पद तक उठने के इच्छुक रहते हैं, नीचे

गिरकर इस लोक में आते हैं। एक भक्त तथा सकाम कर्म में आसक्त एक सामान्य व्यक्ति के उच्च पद में यह अन्तर होता है कि वैकुण्ठ गया हुआ भक्त कभी नीचे नहीं गिरता जबकि सामान्य व्यक्ति गिरता है, भले ही वह उच्चतम लोक, ब्रह्मलोक, को ही क्यों न प्राप्त हो। *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है (*आब्रह्म भुवनाल्लोका:*) कि चाहे वह उच्चलोक को ही प्राप्त क्यों न हो उसे पुन: नीचे आना होता है। किन्तु *भगवद्गीता* (८.१६) में ही कृष्ण द्वारा पुष्टि की गई है कि *मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते*—हे कुन्तीपुत्र! जो मेरे धाम को प्राप्त करता है, वह कभी इस संसार के बद्ध जीवन में वापस नहीं आता।

तस्मात्त्वं सर्वभावेन भजस्व परमेष्ठिनम् ।
तद्गुणाश्रयया भक्त्या भजनीयपदाम्बुजम् ॥ २२॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अत:; त्वम्—तुम (देवहूति); सर्व-भावेन—प्रेमानुभूति में; भजस्व—पूजा करो; परमेष्ठिनम्—भगवान् को; तत्-गुण—भगवान् के गुण; आश्रयया—से सम्बन्धित; भक्त्या—भक्ति से; भजनीय—पूज्य; पद-अम्बुजम्—जिनके चरणकमल।

अत: हे माता, मैं आपको सलाह देता हूँ कि आप भगवान् की शरण ग्रहण करें जिनके चरणकमल पूजनीय हैं। इसे आप समस्त भक्ति तथा प्रेम से स्वीकार करें, क्योंकि इस तरह से आप दिव्य भक्ति को प्राप्त हो सकेंगी।

तात्पर्य : *परमेष्ठिनम्* शब्द का प्रयोग कभी-कभी ब्रह्मा के लिए किया जाता है। *परमेष्ठी* का अर्थ है 'परम पुरुष'। जिस तरह इस ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा ही परम पुरुष हैं उसी तरह वैकुण्ठ में कृष्ण परम पुरुष हैं। भगवान् कपिल देव अपनी माता को सलाह देते हैं कि वे भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की शरण में जाएँ, क्योंकि यही श्रेयकर है। यहाँ ब्रह्मा तथा शिव जैसे उच्चतम पदों में आसीन देवताओं की शरण ग्रहण करने की सलाह नहीं दी गई। मनुष्य को भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए।

सर्वभावेन का तात्पर्य है ''सर्व प्रेमानुभूति में।'' ईश्वर का शुद्ध प्रेम प्राप्त करने के पूर्व ऊपर उठने की प्रारम्भिक अवस्था *भाव* है। *भगवद्गीता* का वचन है—*बुधा भावसमन्विता:*—जिसने *भाव* अवस्था प्राप्त कर ली है, वह भगवान् कृष्ण के चरणकमलों को पूजनीय स्वीकार

कर सकता है। यहाँ पर भगवान् कपिल ने अपनी माता को यही उपदेश दिया है। इस श्लोक में *तद्-गुणाश्रयया भक्त्या* पद भी महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ यह है कि कृष्ण की भक्ति सम्पन्न करना दिव्य कर्म है, यह कोई भौतिक कर्म नहीं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है—*ब्रह्मभूयाय कल्पते*—जो भक्ति में लगे हुए हैं, वे तुरन्त दिव्य धाम को प्राप्त होते हैं।

मनुष्य के लिए जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त करने के लिए एकमात्र साधन पूर्ण कृष्णचेतना में भक्ति करना है। भगवान् कपिल ने यहाँ पर अपनी माता को इसी का उपदेश दिया है। अत: भक्ति समस्त गुणों के प्रभावों से मुक्त है अर्थात् 'निर्गुण' है। यद्यपि भक्ति सम्पन्न करना भौतिक कार्य-सा प्रतीत होता है, किन्तु यह कभी 'सगुण' नहीं है अर्थात् भौतिक गुणों से दूषित नहीं होता। *तद्गुणाश्रया* का अर्थ है कि भगवान् कृष्ण के दिव्य गुण इतने महान् हैं कि मनुष्य को अन्य कार्यों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं रह जाती। भक्तों के प्रति उनका व्यवहार इतना प्रशंसनीय होता है कि उन्हें किसी दूसरी पूजा की ओर मन को मोड़ना नहीं पड़ता। कहा जाता है कि पूतना नामक राक्षसी कृष्ण को विष देकर मारने आई थी, किन्तु कृष्ण इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने उसका स्तन-पान करके अपनी माता के समान पद प्रदान कर दिया। अत: भक्तगण प्रार्थना करते हैं कि जब कृष्ण को मारने की इच्छा से आयी हुई पूतना इतना उच्च पद प्राप्त कर सकती है, तो फिर कृष्ण को छोड़कर अन्य किसी की पूजा से क्या लाभ? धार्मिक कार्य दो प्रकार के होते हैं—एक तो भौतिक विकास के लिए और दूसरे आध्यात्मिक विकास के लिए। कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने से—भौतिक तथा आध्यात्मिक—दोनों प्रकार की सम्पन्नता प्राप्त हो जाती है। तो फिर कोई अन्य देवताओं के पास क्यों जाएँ?

वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित: ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

वासुदेवे—कृष्ण के प्रति; भगवति—भगवान्; भक्ति-योग:—भक्ति; प्रयोजित:—की गयी; जनयति—उत्पन्न करती है; आशु—तुरन्त; वैराग्यम्—विरक्ति; ज्ञानम्—ज्ञान; यत्—जो; ब्रह्म-दर्शनम्—आत्म-साक्षात्कार।

कृष्णचेतना में लगने और भक्ति को कृष्ण में लगाने से ज्ञान, विरक्ति तथा आत्म-साक्षात्कार में प्रगति करना सम्भव है।

तात्पर्य : अल्पज्ञ कहते हैं कि भक्तियोग उन लोगों के लिए है, जो दिव्य ज्ञान तथा वैराग्य में अग्रसर नहीं हो पाए हैं। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि जो समग्र कृष्णचेतना से भक्ति में लगा रहता है उसे न तो वैराग्य के लिए अलग से प्रयत्न करना पड़ता है और न दिव्य ज्ञान जागृत होने की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। कहा जाता है, जो व्यक्ति अविचल भाव से भगवान् की भक्ति में लगा रहता है उसमें स्वत: देवताओं के गुण आ जाते हैं। कोई यह नहीं खोज कर सकता है कि ये गुण भक्तों में कैसे आते हैं, किन्तु होता यही है। ऐसा एक उदाहरण है। एक शिकारी को पशुओं को मारने में बड़ा मजा आता था, किन्तु भक्त हो जाने पर वह एक चींटी भी मारने को तैयार न था। ऐसा होता है भक्त का गुण।

जो लोग दिव्य ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक हैं उन्हें चाहिए कि समय खोये बिना विशुद्ध भक्ति में लग जाँय। परम सत्य विषयक ज्ञान के बारे में किसी निश्चित मत तक पहुँचने में इस श्लोक में आया हुआ *ब्रह्म-दर्शनम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस शब्द का अर्थ है अध्यात्म का अनुभव या ज्ञान। वासुदेव की सेवा करने वाला ही ब्रह्म को समझ सकता है। यदि ब्रह्म निराकार है, तो *दर्शनम्* अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। दर्शनम् तो भगवान् वासुदेव के देखने को बताता है। जब तक देखने वाला तथा देखा जाने वाला (दर्शनीय) व्यक्ति न हो तब तक दर्शनम् नहीं हो सकता। *ब्रह्मदर्शनम्* का अर्थ है कि ज्योंही मनुष्य भगवान् को देखता है उसे तुरन्त निराकार ब्रह्म का अनुभव हो जाता है। भक्त को ब्रह्म की प्रकृति जानने के लिए अलग से प्रयास करने की आवश्यकता नहीं रहती। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* से भी होती है। *ब्रह्मभूयाय कल्पते*—भक्त तुरन्त परम सत्य में स्वरूपसिद्ध हो जाता है।

यदास्य चित्तमर्थेषु समेष्विन्द्रियवृत्तिभिः ।
न विगृह्णाति वैषम्यं प्रियमप्रियमित्युत ॥ २४॥

शब्दार्थ

यदा—जब; अस्य—भक्त का; चित्तम्—मन; अर्थेषु—विषयों में; समेषु—सम; इन्द्रिय-वृत्तिभिः—इन्द्रियों की क्रियाओं से; न—नहीं; विगृह्णाति—देखता है; वैषम्यम्—अन्तर; प्रियम्—स्वीकार्य; अप्रियम्—अस्वीकार्य; इति—इस प्रकार; उत—निश्चय ही।

उच्च भक्त का मन इन्द्रिय-वृत्तियों में समदर्शी हो जाता है और वह प्रिय तथा अप्रिय से परे हो जाता है।

तात्पर्य : दिव्य ज्ञान तथा भौतिक आकर्षण से वैराग्य में होने वाली उन्नति की महत्ता अत्यन्त सिद्ध भक्त के व्यक्तित्व में प्रकट होती है। उसके लिए न कुछ स्वीकार्य होती है न अस्वीकार्य, क्योंकि वह अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए कुछ भी नहीं करता। वह जो कुछ करता है, जो कुछ सोचता है, वह सब भगवान् को प्रसन्न करने के लिए होता है। चाहे भौतिक जगत हो या आध्यात्मिक जगत, उसका समदर्शी चित्त पूर्णतः प्रकट हो जाता है। वह समझ सकता है कि इस संसार में कुछ भी अच्छा नहीं है, प्रकृति द्वारा दूषित होने से सब कुछ बुरा है। अच्छा तथा बुरा, नैतिक तथा अनैतिक के विषय में भौतिकतवादी के निष्कर्ष केवल मनोकल्पना या भावुकता होते हैं। वास्तव में इस संसार में कुछ भी अच्छा नहीं है। आध्यात्मिक जगत में सब कुछ अच्छा है। आध्यात्मिक गुणों में उन्माद नहीं रहता। चूँकि भक्त हर वस्तु को आध्यात्मिक दृष्टि से देखता है, अतः वह समदर्शी होता है। दिव्य पद तक उठने का यही लक्षण है। वह स्वतः वैराग्य, फिर ज्ञान और तब दिव्य ज्ञान प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि उच्च भक्त अपने को भगवान् के दिव्य गुणों से जोड़ लेता है और इस तरह गुणात्मक रूप से वह भगवान् से एकरूप हो जाता है।

स तदैवात्मनात्मानं निःसङ्गं समदर्शनम् ।
हेयोपादेयरहितमारूढं पदमीक्षते ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; तदा—तब; एव—निश्चय ही; आत्मना—अपनी दिव्य बुद्धि से; आत्मानम्—अपने आपको; निःसङ्गम्—भौतिक आसक्ति से रहित; सम-दर्शनम्—दृष्टि में समभाव; हेय—त्याज्य; उपादेय—ग्राह्य; रहितम्—विहीन; आरूढम्—आसीन; पदम्—दिव्य पद पर; ईक्षते—देखता है।

अपनी दिव्य बुद्धि के कारण शुद्ध भक्त समदर्शी होता है और अपने आपको पदार्थ के कल्मष से रहित देखता है। वह किसी वस्तु को श्रेष्ठ या निम्न नहीं मानता और परम

पुरुष के गुणों में समान होने के कारण अपने आपको परम पद पर आरूढ़ अनुभव करता है।

तात्पर्य : आसक्ति से अप्रिय का भाव जागरित होता है। भक्त की किसी वस्तु के प्रति व्यक्तिगत आसक्ति नहीं होती अत: उसके लिए प्रिय या अप्रिय का प्रश्न नहीं उठता। भगवान् की सेवा के लिए वह कुछ भी कर सकता है, भले ही वह उसके लिए अप्रिय हो। वस्तुत:, वह स्वार्थ से पूर्णतया मुक्त रहता है और इस प्रकार भगवान् को जो भी प्रिय हो उसे भी प्रिय होता है। उदाहरणार्थ, पहले अर्जुन को युद्ध करना स्वीकार्य न था, किन्तु जब उसने समझ लिया कि युद्ध भगवान् को प्रिय है, तो उसने युद्ध करना स्वीकार कर लिया। शुद्ध भक्त की यही स्थिति है। उसे निजी स्वार्थ के लिए कुछ भी प्रिय या अप्रिय नहीं है, सब कुछ भगवान् के लिए किया जाता है, अत: भक्त आसक्ति तथा वैराग्य से मुक्त होता है। यह समभाव की दिव्य स्थिति है। शुद्ध भक्त परमेश्वर के आनन्द में जीवन का सुख भोगता है।

ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान् ।
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

ज्ञान—ज्ञान; मात्रम्—केवल; परम्—दिव्य; ब्रह्म—ब्रह्म; परम-आत्मा—परमात्मा; ईश्वरः—ईश्वर, नियामक; पुमान्—परमात्मा; दृशि-आदिभिः—दार्शनिक खोज तथा अन्य विधियों से; पृथक् भावैः—ज्ञान की विविध विधियों के अनुसार; भगवान्—श्रीभगवान्; एकः—अकेला; ईयते—अनुभव किया जाता है।

केवल भगवान् ही पूर्ण दिव्य ज्ञान हैं, किन्तु समझने की भिन्न-भिन्न विधियों के अनुसार वे या तो निर्गुण ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् या पुरुष अवतार के रूप में भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं।

तात्पर्य : यहाँ *दृश्य-आदिभि:* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जीव गोस्वामी के अनुसार *दृशि* का अर्थ ज्ञान या दार्शनिक खोज है। विभिन्न विचारधाराओं के अन्तर्गत दार्शनिक अनुसंधान की अनेकानेक विधियों द्वारा यथा ज्ञानयोग विधि से वही भगवान् अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् निराकार ब्रह्म समझा जाता है। इसी प्रकार अष्टांग योग पद्धति से वही भगवान् परमात्मा प्रतीत होता है। किन्तु विशुद्ध कृष्णचेतना अथवा ज्ञान की विशुद्ध स्थिति में, जब कोई परम सत्य को

जानने का प्रयास करता है, तो वही भगवान् उसे परम पुरुष प्रतीत होता है। केवल ज्ञान के आधार पर अध्यात्म समझा जाता है। यहाँ पर प्रयुक्त *परमात्मेश्वरः पुमान्*—ये सभी शब्द दिव्य हैं और वे परमात्मा को ही बताने वाले हैं। परमात्मा को *पुरुष* भी कहा जाता है, किन्तु *भगवान्* शब्द से सीधे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का बोध होता है, जो श्री, यश, शक्ति, सौन्दर्य, ज्ञान तथा वैराग्य नामक षडैश्वर्यों से पूर्ण हैं। वे ही विभिन्न परव्योमों (वैकुण्ठों) में परमेश्वर हैं। *परमात्मा, ईश्वर* और *पुमान्* के विविध वर्णन यह बताते हैं कि परमेश्वर के अनन्त विस्तार हैं।

अन्ततः भगवान् को जानने के लिए मनुष्य को भक्तियोग अपनाना होता है। ज्ञानयोग या ध्यानयोग सम्पन्न करके अन्ततः भक्तियोग पद तक पहुँचना होता है और तभी *परमात्मा, ईश्वर, पुमान्* आदि को ठीक से समझा जा सकता है। *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कंध में संस्तुति की गई है कि मनुष्य चाहे भक्त हो या कर्मयोगी या मुक्ति का इच्छुक, यदि वह बुद्धिमान है, तो उसे गम्भीरतापूर्वक भक्ति में लग जाना चाहिए। यह भी बताया गया है कि सकाम कर्मों से जो भी इच्छित फल प्राप्त होता है चाहे वह उच्चलोक जाने की इच्छा ही क्यों न हो, वह सब केवल भक्ति करने से प्राप्त हो जाता है। चूँकि परमेश्वर छह ऐश्वर्यों से युक्त हैं, अतः वे अपने उपासक को इनमें से किसी का भी वर दे सकते हैं।

एक ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् भिन्न-भिन्न चिन्तकों के समक्ष 'परम पुरुष', 'निराकार ब्रह्म' या 'परमात्मा' के रूप में प्रकट होते हैं। निर्विशेषवादी निराकार ब्रह्म में लीन होते हैं, किन्तु निराकार ब्रह्म की उपासना से ऐसा नहीं होता। यदि कोई भक्ति करे और साथ ही परमेश्वर में लीन होना चाहे तो ऐसा कर सकता है। यदि कोई ब्रह्म में लीन होना चाहता है, तो उसे भक्ति करनी होगी।

भक्त तो परमेश्वर को साक्षात् देख सकता है, किन्तु 'ज्ञानी' तथा 'योगी' ऐसा नहीं कर पाते। वे भगवान् के पार्षद पद तक नहीं उठ पाते। शास्त्रों में ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है जहाँ ज्ञान के अनुशीलन या निराकार ब्रह्म की उपासना से कोई भगवान् का निजी पार्षद बना हो। न ही योग के सिद्धान्तों से कोई भगवान् का पार्षद बन सकता है। निराकार ब्रह्म को

अदृश्य कहा जाता है, क्योंकि ब्रह्मज्योति का निराकार तेज भगवान् के मुख को आच्छादित किये रहता है। कुछ योगी चतुर्भुज विष्णु को हृदय में आसीन देखते हैं, किन्तु यहाँ भी भगवान् अदृश्य रहते हैं। भगवान् केवल भक्तों को दृश्य हैं। यहाँ पर *दृश्य-आदिभिः* कथन महत्त्वपूर्ण है। चूँकि भगवान् दृश्य तथा अदृश्य दोनों हैं, अतः उनके भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। *विष्णु पुराण* में इस तथ्य की सुन्दर व्याख्या हुई है। भगवान् का विराट रूप तथा भगवान् का निराकार ब्रह्मतेज, अदृश्य होने के कारण निम्नतर रूप हैं। विराट रूप की कल्पना भौतिक है और निराकार ब्रह्म की कल्पना आध्यात्मिक है, किन्तु सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभूति तो पुरुषोत्तम भगवान् हैं। *विष्णु पुराण* का कथन है—*विष्णुर्ब्रह्मस्वरूपेण स्वयमेव व्यवस्थितः*—ब्रह्म का असली रूप विष्णु है अथवा विष्णु ही परब्रह्म हैं। *स्वयम् एव* उनका सगुण रूप है। परम आध्यात्मिक अवधारणा तो भगवान् है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है—*यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम*। *परमं मम* कहलाने वाला धाम ही वह स्थान है, जिसे यदि कोई एक बार प्राप्त कर ले तो वहाँ से इस कष्टप्रद बद्धजीवन में फिर नहीं लौटता। हर स्थान, हर आकाश तथा हर वस्तु विष्णु की है, किन्तु जिस स्थान में वे स्वयं रहते हैं वह तद्धाम *परमम्*—उनका परम धाम है। मनुष्य को अपना गन्तव्य भगवान् का परम धाम बनाना चाहिए।

एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः ।
युज्यतेऽभिमतो ह्यर्थो यदसङ्गस्तु कृत्स्नशः ॥ २७॥

शब्दार्थ

एतावान्—इतना; एव—ही; योगेन—योगाभ्यास द्वारा; समग्रेण—सम्पूर्ण; इह—इस संसार में; योगिनः—योगी का; युज्यते—प्राप्त होता है; अभिमतः—इच्छित; हि—निश्चय ही; अर्थः—अभिप्राय, उद्देश्य; यत्—जो; असङ्गः—वैराग्य; तु—निस्सन्देह; कृत्स्नशः—पूर्णतया।

समस्त योगियों के लिए सबसे बड़ी सूझबूझ तो पदार्थ से पूर्ण विरक्ति है, जिसे योग के विभिन्न प्रकारों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

तात्पर्य : योग तीन प्रकार के हैं—*भक्तियोग, ज्ञानयोग* तथा *अष्टांगयोग*। भक्त, ज्ञानी तथा योगी सभी भवबन्धन से बाहर निकलने का प्रयास करते हैं। ज्ञानी अपनी इन्द्रिय वृत्तियों को भौतिक कार्यों से पृथक् करने का प्रयास करते हैं। ज्ञानयोगी सोचता है कि पदार्थ असत्य है,

केवल ब्रह्म सत्य है, अतः ज्ञान के अनुशीलन द्वारा वह इन्द्रियों को भौतिक भोग से हटाने का यत्न करता है। अष्टांगयोगी भी इन्द्रियों को वश में करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु भक्तजन अपनी इन्द्रियों को भगवन् की सेवा में लगाते हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि भक्तों के कार्य ज्ञानियों तथा योगियों से श्रेष्ठ हैं। योगीजन योग के आठ अंगों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार इत्यादि के अभ्यास द्वारा इन्द्रियों को वश में करने का प्रयास करते हैं और ज्ञानीजन अपने मानसिक तर्क द्वारा यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि इन्द्रिय सुख असत्य है। किन्तु सबसे सरल तथा अत्यन्त प्रत्यक्ष विधि तो इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाना है।

समस्त योगों का उद्देश्य इस संसार से इन्द्रियवृत्तियों को मोड़ना है। किन्तु अन्तिम लक्ष्य पृथक्-पृथक् हैं। ज्ञानी ब्रह्मतेज से एकाकार हो जाना चाहते हैं, योगी परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहते हैं और भक्त कष्णचेतना तथा भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति उत्पन्न करना चाहते हैं। प्रेमा-भक्ति ही इन्द्रिय-निग्रह की पूर्ण अवस्था है। इन्द्रियाँ वास्तव में जीवन के सक्रिय लक्षण हैं। इन्हें रोका नहीं जा सकता। इन्हें तभी विलग किया जा सकता है जब कोई श्रेष्ठ व्यवस्था हो। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है—*परं दृष्ट्वा निवर्तते*—इन्द्रियों के कार्यों को रोका जा सकता है यदि इन्हें श्रेष्ठ कार्य दे दिये जाँय। यह श्रेष्ठ कार्य है इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाना। यही सारे योग का उद्देश्य है।

ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम् ।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

ज्ञानम्—ज्ञान; एकम्—एक; पराचीनैः—पराङ्मुख; इन्द्रियैः—इन्द्रियों के द्वारा; ब्रह्म—परम सत्य; निर्गुणम्—गुणों से परे; अवभाति—प्रकट होता है; अर्थ-रूपेण—विभिन्न विषयों के रूप में; भ्रान्त्या—भूल से; शब्द-आदि—शब्द इत्यादि; धर्मिणा—से युक्त।

जो अध्यात्म से पराङ्मुख हैं, वे परम सत्य (परमेश्वर) को कल्पित इन्द्रिय-प्रतीति द्वारा अनुभव करते हैं, अतः भ्रान्तिवश उन्हें प्रत्येक वस्तु सापेक्ष प्रतीत होती है।

तात्पर्य : परम सत्य भगवान् एक हैं, किन्तु अपने निराकार स्वरूप के कारण सर्वत्र व्याप्त हैं। इसका स्पष्ट उल्लेख *भगवद्गीता* में है। भगवान् कहते हैं, ''जो कुछ भी अनुभव किया

जाता है, वह मेरी शक्ति का ही विस्तार है।" हर वस्तु उन्हीं पर आश्रित है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वे हर वस्तु हैं। इन्द्रिय प्रतीतियाँ यथा ढोल की आवाज की श्रुति प्रतीति, सुन्दर स्त्री की दृश्य प्रतीति या जीभ द्वारा दूध की बनी सुस्वादु वस्तुओं की स्वाद-प्रतीति—ये सब भिन्न-भिन्न इन्द्रियों से प्राप्त होती हैं, फलत: भिन्न-भिन्न प्रकार से समझी जाती हैं। इसीलिए ऐन्द्रिय ज्ञान कई श्रेणियों में विभाजित है, यद्यपि सभी वस्तुएँ परमेश्वर की शक्ति के रूप में एक ही हैं। इसी प्रकार अग्नि की शक्तियाँ उष्मा तथा प्रकाश हैं और इन दोनों शक्तियों के द्वारा अग्नि कई रूपों में प्रकट हो सकती है। मायावादी चिन्तक इस विविधता को असत्य घोषित करते हैं, किन्तु वैष्णव चिन्तक ऐसा नहीं मानते। वे इन्हें भगवान् से अभिन्न मानते हैं, क्योंकि इनसे भगवान् की विविध शक्तियों का प्रदर्शन होता है।

वैष्णव दार्शनिक इस दर्शन को स्वीकार नहीं करते कि परमेश्वर सत्य है और यह सृष्टि असत्य (झूठी) है (*ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या*)। यद्यपि यह उदाहरण दिया जाता है कि सारी चमकने वाली वस्तुएँ सोना नहीं होतीं, किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं होता कि चमकने वाली वस्तुएँ असत्य हैं। उदाहरणार्थ, सीपी सुनहली प्रतीत होती है। इसका सुनहला रंग आँखों की प्रतीति के कारण है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सीपी असत्य है। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण के स्वरूप को देखकर कोई यह नहीं जान सकता कि वास्तव में वे क्या हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वे असत्य हैं। कृष्ण के स्वरूप को ज्ञानग्रन्थों यथा *ब्रह्म-संहिता* में वर्णित स्वरूप के आधार पर जाना जाता है। *ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्दविग्रह:*—भगवान् कृष्ण का आध्यात्मिक शरीर शाश्वत एवं आनन्दमय है। अपनी अपूर्ण अनुभूति के कारण हम भगवान् के रूप को समझ नहीं पाते। हमें उनके विषय में ज्ञान प्राप्त करना होता है। इसीलिए यहाँ पर *ज्ञानम् एकम्* कहा गया है। *भगवद्गीता* इसकी पुष्टि करती है कि जो लोग कृष्ण को देखकर उन्हें सामान्य व्यक्ति समझते हैं, वे मूर्ख हैं। वे भगवान् के असीम ज्ञान, शक्ति तथा ऐश्वर्य को नहीं जानते। भौतिक इन्द्रिय-कल्पना से निष्कर्ष निकलता है कि परमेश्वर स्वरूपहीन (निराकार) हैं। ऐसी ही कल्पना के कारण बद्धजीव माया के वशीभूत होकर अज्ञान में रहा

आता है। परम पुरुष को *भगवद्गीता* में उन्हीं के द्वारा उच्चरित वाणी से समझा जा सकता है जहाँ वे स्वयं कहते हैं कि मुझसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है और निराकार ब्रह्मतेज मुझमें ही वास करता है। *भगवद्गीता* की शुद्ध एवं पूर्ण दृष्टि की तुलना गंगा नदी से की जाती है। गंगाजल इतना शुद्ध है कि उससे गधे तथा गौवें भी शुद्ध हो जाती हैं। किन्तु यदि गंगा की उपेक्षा करके कोई गंदे नाले के जल से शुद्ध होना चाहे तो वह सफल नहीं होगा। इसी प्रकार केवल शुद्ध परमेश्वर के मुख से ही सुनकर शुद्ध ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि जो भगवान् से विमुख हैं, वे अपनी अपूर्ण इन्द्रियों से परम सत्य की प्रकृति के विषय में चिन्तन करते हैं। निराकार ब्रह्म का ज्ञान केवल कानों से ग्रहण किया जा सकता है, साक्षात् अनुभव से नहीं, फलतः ज्ञान श्रोत्र अनुभव से (सुनकर) प्राप्त किया जाता है। *वेदान्त-सूत्र* में पुष्टि हुई—*शास्त्र योनित्वात्*—केवल प्रामाणिक शास्त्रों से शुद्ध ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। परम सत्य के विषय में तथाकथित काल्पनिक तर्क व्यर्थ हैं। जीव की वास्तविक पहचान उसकी चेतना है, जो उसके जगते, सोते तथा सपने में भी सदा विद्यमान रहती है। यहाँ तक कि प्रगाढ़ निद्रा में भी वह अपनी चेतना से अपने को सुखी या दुखी देखता है। इस प्रकार जब सूक्ष्म तथा स्थूल भौतिक पदार्थों के माध्यम से चेतना प्रकट होती है, तो वह प्रच्छन्न रहती है, किन्तु जब चेतना कृष्णचेतना में रहकर शुद्ध हो जाती है, तो मनुष्य जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है।

जब शुद्ध ज्ञान प्रकृति के गुणों से अनावृत होता है तभी जीव की वास्तविक पहचान हो पाती है कि वह भगवान् का शाश्वत दास है। यह अनावरण इस प्रकार से होता है : सूर्य की किरणें प्रकाशमान होती हैं और सूर्य स्वयं भी प्रकाशमान है, किन्तु जब सूर्य का प्रकाश बादल से या माया से आच्छादित हो जाता है, तो अंधकार या अधूरा ज्ञान प्रारम्भ होता है। अतः अज्ञान के अंधकार से निकलने के लिए अपनी आध्यात्मिक चेतना या कृष्णचेतना को शास्त्रानुमोदित विधि से जगाना होता है।

यथा महानहंरूपस्त्रिवृत्पञ्चविधः स्वराट् ।
एकादशविधस्तस्य वपुरण्डं जगद्यतः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; महान्—महत्-तत्त्व; अहम्-रूपः—मिथ्या, अहंकार; त्रि-वृत्—प्रकृति के तीन गुण; पञ्च-विधः—पाँच भौतिक तत्त्व; स्व-राट्—व्यष्टि चेतना; एकादश-विधः—ग्यारह इन्द्रियाँ; तस्य—जीव की; वपुः—शरीर; अण्डम्—ब्रह्माण्ड; जगत्—विश्व; यतः—जिससे।

मैंने महत् तत्त्व या समग्र शक्ति से अहंकार, तीनों गुण, पाँचों तत्त्व, व्यष्टि चेतना, ग्यारह इन्द्रियाँ तथा शरीर उत्पन्न किये हैं। इसी प्रकार मुझ भगवान् से ही सारा ब्रह्माण्ड प्रकट हुआ।

तात्पर्य : परमेश्वर को *महत्-पद* के रूप में वर्णित किया गया है, जिसका अर्थ है कि समग्र भौतिक शक्ति, जिसे *महत्-तत्त्व* कहते हैं, उनके चरणकमलों पड़ी लेटी है। दृश्यजगत की उत्पत्ति या समग्र शक्ति *महत्-तत्त्व* है। *महत्-तत्त्व* से ही अन्य चौबीस विभाग हुए जो इस प्रकार हैं—ग्यारह इन्द्रियाँ (मन समेत), पाँच विषय, पाँच तत्त्व, चेतना, बुद्धि तथा अहंकार। चूँकि भगवान् ही *महत्-तत्त्व* के कारणस्वरूप हैं, अतः एक प्रकार से प्रत्येक वस्तु परमेश्वर से उद्भूत है, अतः भगवान् एवं दृश्य जगत में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु उसी के साथ ही दृश्य जगत भगवान् से भिन्न है। यहाँ पर *स्वराट्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है 'स्वतन्त्र'। परमेश्वर स्वतन्त्र हैं और जीवात्मा भी स्वतन्त्र है। फिर भी इन दोनों प्रकार की स्वतन्त्रता में कोई साम्य नहीं है, क्योंकि जीव कुछ-कुछ स्वतन्त्र है और भगवान् पूर्णरूपेण स्वतन्त्र हैं। जिस प्रकार प्रत्येक जीव के भौतिक शरीर होता है, जो पाँच तत्त्वों तथा इन्द्रियों से निर्मित है, उसी तरह यह ब्रह्माण्ड परम स्वतन्त्र भगवान् का विराट शरीर है। शरीर नाशवान है उसी तरह परमेश्वर का शरीर रूपी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी नाशवान है और ये दोनों प्रकार के शरीर *महत्-तत्त्व* से ही बने हैं। अतः बुद्धि से इस अन्तर को समझना चाहिए। हर व्यक्ति जानता है कि उसका शरीर एक दिव्य स्फुलिंग से उत्पन्न हुआ है, इसी प्रकार विराट शरीर परामात्मा या परम स्फुलिंग से उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार प्रत्येक शरीर आत्मा से उत्पन्न है उसी प्रकार यह ब्रह्माण्ड रूपी विराट शरीर परमात्मा से उत्पन्न है। जिस प्रकार प्रत्येक आत्मा चेतना से युक्त है उसी तरह परमात्मा भी है। इस प्रकार परमात्मा तथा आत्मा में साम्य होने पर भी आत्मा की

चेतना सीमित है और परमात्मा की असीम है। इसका वर्णन *भगवद्गीता* (१३.३) में इस प्रकार हुआ है—*क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि*—परमात्मा प्रत्येक कर्मक्षेत्र में उपस्थित रहता है, जिस प्रकार कि प्रत्येक शरीर में आत्मा रहता है। दोनों ही चेतन हैं। अन्तर इतना ही है कि व्यष्टि आत्मा केवल व्यष्टि शरीर के प्रति चेतन है, जबकि परमात्मा समस्त शरीरों के प्रति है।

एतद्वै श्रद्धया भक्त्या योगाभ्यासेन नित्यशः ।
समाहितात्मा निःसङ्गो विरक्त्या परिपश्यति ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; वै—निश्चय ही; श्रद्धया—श्रद्धा से; भक्त्या—भक्ति से; योग-अभ्यासेन—योगाभ्यास से; नित्यशः—सदैव; समाहित-आत्मा—स्थिर चित्त वाला; निःसङ्गः—भौतिक संगति से विलग; विरक्त्या—विरक्ति से; परिपश्यति—समझता है।

यह पूर्ण ज्ञान उस व्यक्ति को प्राप्त होता है, जो पहले से ही श्रद्धा, तन्मयता तथा पूर्ण विरक्ति सहित भक्ति में लगा रहता है और भगवान् के विचार में निरन्तर निमग्न रहता है। वह भौतिक संगति से निर्लिप्तदूर रहता है।

तात्पर्य : इस पूर्णज्ञान को योग का अभ्यासकर्ता नास्तिक नहीं जान सकता। केवल ऐसे व्यक्ति, जो पूर्ण कृष्ण चेतना में भक्ति के व्यावहारिक कार्यों में लगे रहते हैं, वे पूर्ण समाधि में समाहित हो सकते हैं। वे ही समग्र दृश्य जगत तथा इसके कारण सम्बन्धी वास्तविक तथ्य को देख और समझ सकते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है, जिसने पूर्ण श्रद्धा समेत भक्ति विकसित नहीं की है उसके लिए यह समझ पाना असम्भव है। *समाहितात्मा* तथा *समाधि* पर्यायवाची शब्द हैं।

इत्येतत्कथितं गुर्वि ज्ञानं तद्ब्रह्मदर्शनम् ।
येनानुबुद्ध्यते तत्त्वं प्रकृतेः पुरुषस्य च ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; एतत्—यह; कथितम्—वर्णित; गुर्वि—आदरणीय माता; ज्ञानम्—ज्ञान; तत्—उस; ब्रह्म—परम सत्य; दर्शनम्—प्राकट्य; येन—जिससे; अनुबुद्ध्यते—समझा जाता है; तत्त्वम्—सत्य; प्रकृतेः—पदार्थ का; पुरुषस्य—आत्मा का; च—तथा।

आदरणीय माता, मैंने पहले ही आप को ही परम सत्य जानने का मार्ग बता दिया है,

जिससे मनुष्य पदार्थ तथा आत्मा एवं उनके सम्बन्ध के वास्तविक सत्य को समझ सकता है।

ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः ।
द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षणः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

ज्ञान-योगः—दार्शनिक शोध; च—तथा; मत्-निष्ठः—मुझको लक्षित करके; नैर्गुण्यः—प्रकृति के गुणों से मुक्त; भक्ति—भक्ति; लक्षणः—नामक; द्वयोः—दोनों का; अपि—और; एकः—एक; एव—निश्चय ही; अर्थः—अभिप्राय; भगवत्—भगवान्; शब्द—शब्द से; लक्षणः—बताने वाला।

दार्शनिक शोध का लक्ष्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को जानना है। इस ज्ञान को प्राप्त करके जब मनुष्य प्रकृति के गुणों से मुक्त हो जाता है, तो उसे भक्ति की अवस्था प्राप्त होती है। मनुष्य को चाहे, प्रत्यक्षतः भक्ति से हो या दार्शनिक शोध से हो, एक ही गन्तव्य की खोज करनी होती है और वह है भगवान्।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि अनेकानेक जीवन पर्यन्त ज्ञानयोग का शोध करने के बाद अन्ततः मनुष्य उस बिन्दु पर पहुँचता है जहाँ उसे ज्ञात होता है कि भगवान् वासुदेव ही सब कुछ हैं, अतः वह उनकी शरण में जाता है। ऐसे ज्ञानयोग की शोध करने वाले विरले महापुरुष हैं। यदि ज्ञानयोग की खोज करके कोई भगवान् को प्राप्त नहीं होता तो समझिये कि सारा श्रम व्यर्थ हुआ। उसे तब तक ज्ञान की खोज करनी पड़ती है जब तक कि वह भगवान् की भक्ति को नहीं समझ लेता।

भगवान् के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने का अवसर *भगवद्गीता* में दिया हुआ है जहाँ इसका उल्लेख है कि जो लोग चिन्तन तथा योगाभ्यास जैसी अन्य विधियों का सहारा लेते हैं उन्हें कष्ट मिलता है। योगी या कुशल ज्ञानी अनेकानेक कठिनाइयों के बाद भगवान् तक पहुँच सकता है, किन्तु उसका मार्ग अत्यधिक कष्टप्रद होता है, जबकि भक्ति का मार्ग सबों के लिए सुगम है। मनुष्य को ज्ञानयोग का फल केवल भक्ति करने से प्राप्त हो सकता है और जब तक मनुष्य अपने चिन्तन द्वारा भगवान् तक नहीं पहुँच जाता तब तक उसकी सारी खोज केवल खिलवाड़ होती है। पटुज्ञानी का अन्तिम लक्ष्य निराकार ब्रह्म से तादात्म्य है, किन्तु ब्रह्म तो

परम पुरुष का तेज है। भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (१४.२७) में कहते हैं—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् अमृतस्याव्ययस्य च*—मैं निराकार ब्रह्म का आधार हूँ जो अविनाशी तथा परमानन्द हैं। भगवान् समस्त आनन्द के सागर हैं जिसमें ब्रह्मानन्द सम्मिलित है, अत: जिसकी भगवान् पर अविचल श्रद्धा है, वह पहले ही निराकार ब्रह्म तथा परमात्मा का साक्षात्कार कर चुकता है।

यथेन्द्रियै: पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रय: ।
एको नानेयते तद्वद्भगवाञ्शास्त्रवर्त्मभि: ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; इन्द्रियै:—इन्द्रियों से; पृथक्-द्वारै:—विभिन्न प्रकार से; अर्थ:—वस्तु; बहु-गुण—अनेक गुणों; आश्रय:—से युक्त; एक:—एक; नाना—भिन्न-भिन्न प्रकार से; ईयते—अनुभव किया जाता है; तद्वत्—उसी प्रकार; भगवान्—भगवान्; शास्त्र-वर्त्मभि:—विभिन्न शास्त्रीय आदेशों के अनुसार।

एक ही वस्तु अपने विभिन्न गुणों के कारण भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से ग्रहण की जाती है। इसी तरह भगवान् एक है, किन्तु विभिन्न शास्त्रीय आदेशों के अनुसार वह भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञानयोग के मार्ग पर चलकर मनुष्य निराकार ब्रह्म तक पहुँचता है, किन्तु कृष्ण-चेतना में भक्ति करने से उसकी भगवान् में श्रद्धा तथा भक्ति बढ़ती है। किन्तु यहाँ यह कहा गया है कि भक्तियोग तथा ज्ञानयोग दोनों एक ही लक्ष्य—भगवान्—तक पहुँचने के लिए हैं। ज्ञानयोग की विधि से वही भगवान् निराकार प्रतीत होता है। जिस तरह एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा भिन्न-भिन्न लगती है उसी तरह एक ही परमेश्वर चिन्तन द्वारा निराकार प्रतीत होता है। एक पहाड़ी दूर से बादल जैसी लगती है और इस के कारण अनजान व्यक्ति इसे बादल मान सकता है, किन्तु वास्तव में यह बादल नहीं है, यह एक बड़ी-सी पहाड़ी है। मनुष्य को प्रमाण से सिखना होता है कि बादल का दृश्य बादल न होकर पहाड़ी है। यदि कोई थोड़ा-थोड़ा करके आगे बढ़े तो बादल के बदले उसे पहाड़ी तथा हरियाली दिखने लगती है। जब कोई सचमुच ही पहाड़ी पर पहुँच जाता है, तो उसे तरह-तरह की वस्तुएँ दिख सकती हैं। दूसरा उदाहरण दूध का है। जब हम दूध को देखते हैं, तो यह सफेद लगता है, जब उसे चखते हैं, तो स्वादिष्ट लगता है। छूने पर ठंडा लगता है, सूँघने पर

सुगन्धित लगता है और सुन कर इसे दूध समझा जाता है। विभिन्न इन्द्रियों द्वारा दूध का अनुभव करने पर हम कहते हैं कि यह एक सफेद, स्वादिष्ट, सुगन्धित वस्तु है। वास्तव में यह दूध है। इसी प्रकार जो लोग चिन्तन द्वारा भगवान् को खोजना चाहते हैं, वे उनके शारीरिक तेज या निराकार ब्रह्म तक पहुँच सकते हैं और जो भगवान् को योगाभ्यास द्वारा पाना चाहते हैं, वे उन्हें अन्तर्यामी परमात्मा के रूप में प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु जो लोग भक्तियोग द्वारा भगवान् के पास पहुँचना चाहते हैं, वे साक्षात् परम पुरुष का दर्शन कर सकते हैं।

अन्ततः परम पुरुष ही सारी विधियों का गन्तव्य है। जो भाग्यशाली पुरुष शास्त्रों के नियमों का पालन करते हुए समस्त भौतिक कल्मषों से पूर्णतया शुद्ध हो जाता है, वह परमेश्वर को सब कुछ मान कर उनकी शरण में चला जाता है। जिस प्रकार दूध का वास्तविक स्वाद आँख, नथुनों या कानों से न लेकर जीभ से लिया जाता है उसी तरह मनुष्य परम सत्य का आनन्द केवल एक ही मार्ग—भक्ति—द्वारा प्राप्त कर सकता है। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—*भक्त्या मामभिजानाति*—यदि कोई परम सत्य को पूरी तरह जानना चाहता है, तो उसे भक्ति करनी चाहिए। निस्सन्देह परम सत्य को कोई पूरी तरह समझ नहीं सकता। एक लघु जीव के लिए यह सम्भव नहीं है। किन्तु भक्ति सम्पन्न करके जीवात्मा ज्ञान के चरम-विन्दु तक पहुँच सकता है, अन्य विधि से नहीं।

विभिन्न शास्त्रीय मार्गों का अनुसरण करके मनुष्य भगवान् के निराकार तेज तक पहुँच सकता है। भगवान् के साथ तादात्म्य या निराकार ब्रह्म के ज्ञान से दिव्य आनन्द मिलता है, क्योंकि ब्रह्म अनन्त है। *तद् ब्रह्म निष्कलं अनन्तम्*—ब्रह्मानन्द अनन्त है। किन्तु इस अनन्त आनन्द के भी परे जाया जा सकता है। यह गुणातीत है। अनन्त को भी लाँघने पर जो उच्च पद प्राप्त होता है, वह कृष्ण है। श्रीकृष्ण की भक्ति से आदान-प्रदान द्वारा जो मधु एवं रस प्राप्त होता है, वह अतुलनीय है और वह ब्रह्मानन्द से भी बढ़कर है। अतः प्रबोधानन्द स्वामी कहते हैं कि 'कैवल्य' या ब्रह्मानन्द निस्सन्देह अत्यन्त महान् है और अनेक ज्ञानियों द्वारा प्रशंसित है, किन्तु यह ब्रह्मानन्द उस भक्त के लिए नरक तुल्य है, जिसने भगवान् की भक्ति से सुख प्राप्त

करना सीख लिया है। अतः कृष्ण से साक्षात्कार करने के लिए मनुष्य को ब्रह्मानन्द को भी पार करना सीखना होता है। चूँकि मन समस्त इन्द्रियों की वृत्तियों का केन्द्र है इसलिए कृष्ण को इन्द्रियों का स्वामी या 'हृषीकेश' कहा जाता है। इसकी विधि है मन को कृष्ण या हृषीकेश पर स्थिर करना, जैसाकि महाराज अम्बरीष ने किया (*स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः*)। भक्ति समस्त विधियों का मूल सिद्धान्त है। भक्ति के बिना न तो ज्ञानयोग और न अष्टांग-योग सफल हो सकता है और कृष्ण तक पहुँचे बिना आत्म-साक्षात्कार के सिद्धान्तों का कोई चरम लक्ष्य नहीं होता।

क्रियया क्रतुभिर्दानैस्तपःस्वाध्यायमर्शनैः ।
आत्मेन्द्रियजयेनापि सन्न्यासेन च कर्मणाम् ॥ ३४॥
योगेन विविधाङ्गेन भक्तियोगेन चैव हि ।
धर्मेणोभयचिह्नेन यः प्रवृत्तिनिवृत्तिमान् ॥ ३५॥
आत्मतत्त्वावबोधेन वैराग्येण दृढेन च ।
ईयते भगवानेभिः सगुणो निर्गुणः स्वदृक् ॥ ३६॥

शब्दार्थ

क्रियया—सकाम कर्म से; क्रतुभिः—यज्ञ से; दानैः—दान से; तपः—तपस्या; स्वाध्याय—वैदिक साहित्य का अध्ययन; मर्शनैः—तथा ज्ञानयोग के द्वारा; आत्म-इन्द्रिय-जयेन—मन तथा इन्द्रियों को वश में करने से; अपि—भी; सन्न्यासेन—संन्यास के द्वारा; च—तथा; कर्मणाम्—सकाम कर्मों का; योगेन—योग से; विविध-अङ्गेन—विविध विभागों वाले; भक्ति-योगेन—भक्ति से; च—तथा; एव—निश्चय ही; हि—निस्सन्देह; धर्मेण—नियत कार्यों से; उभय-चिह्नेन—दोनों लक्षणों वाले; यः—जो; प्रवृत्ति—आसक्ति; निवृत्ति-मान्—वैराग्य से युक्त; आत्म-तत्त्व—आत्म-साक्षात्कार का विज्ञान; अवबोधेन—ज्ञान से; वैराग्येण—वैराग्य से; दृढेन—दृढ़; च—तथा; ईयते—अनुभव किया जाता है; भगवान्—भगवान्; एभिः—इनसे; स-गुणः—भौतिक संसार में; निर्गुणः—गुणों से परे; स्व-दृक्—अपनी वैधानिक स्थिति को देखने वाला।

सकाम कर्म तथा यज्ञ सम्पन्न करके, दान देकर, तपस्या करके, विविध शास्त्रों के अध्ययन से, ज्ञानयोग से, मन के निग्रह से, इन्द्रियों के दमन से, संन्यास ग्रहण करके तथा अपने आश्रम के कर्तव्यों का निर्वाह करके, योग की विभिन्न विधियों को सम्पन्न करके, भक्ति करके तथा आसक्ति और विरक्ति के लक्षणों से युक्त भक्तियोग को प्रकट करके, आत्म-साक्षात्कार के विज्ञान को जान करके तथा प्रबल वैराग्य भाव जागृत करके आत्म-साक्षात्कार की विभिन्न विधियों को समझने में अत्यन्त पटु व्यक्ति उस रूप में भगवान् का साक्षात्कार करता है जैसा कि वे भौतिक जगत में तथा अध्यात्म में

निरूपित किये जाते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोक में बताया गया है, शास्त्रों के नियमों का पालन करना होता है। विभिन्न वर्णाश्रमों में व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न कार्य बताये गये हैं। यहाँ बताया गया है कि सकाम कर्म तथा यज्ञ करना और दान देना—ये गृहस्थाश्रम के कर्म हैं। आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। गृहस्थों के लिए यज्ञ करने, दान देने तथा नियत कर्मों के अनुसार कर्म करने की संस्तुति की गई है। इसी प्रकार तपस्या, वेदाध्ययन तथा ज्ञान की खोज—ये वानप्रस्थों के लिए हैं। ब्रह्मचारी या छात्र के लिए प्रामाणिक गुरु से वेदों का अध्ययन करना करणीय बताया गया है। जो संन्यासी हैं उनके लिए *आत्मेन्द्रिय-जय*—अर्थात् मन का निरोध तथा इन्द्रियों को वश में करना होता है। ये विभिन्न कार्य भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए हैं जिससे वे आत्म-साक्षात्कार के पद तक ऊपर उठें जहाँ से वे कृष्णचेतना अर्थात् भक्ति को प्राप्त हों।

भक्ति योगेन चैव हि का अर्थ यह है कि श्लोक ३४ के अनुसार जो भी करणीय है, चाहे वह योग हो या यज्ञ, कर्म, वेदाध्ययन या संन्यास ग्रहण, उसे भक्तियोग में सम्पन्न करना चाहिए। *चैव हि* शब्द संस्कृत व्याकरण के अनुसार बताते हैं कि मनुष्य को ये सारे कार्य भक्ति के साथ-साथ करने चाहिए अन्यथा इन कार्यों का कोई फल नहीं प्राप्त होगा। कोई भी नियत कर्म भगवान् के लिए होना चाहिए। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.२७) में हुई है—*यत्करोषि यदश्नासि*—"तुम जो भी करो, जो भी खाओ, जो भी यज्ञ करो, जो भी तपस्या करो और जो भी दान दो, उन सबका फल परमेश्वर को दिया जाना चाहिए।" यहाँ पर *एव* शब्द जोड़ दिया गया है, जो यह बताता है कि ये कर्म इस तरह अवश्य किये जायँ। जब तक सारे कर्मों के साथ भक्ति नहीं की जाती तब तक वांछित फल नहीं मिलता, किन्तु जब हर कार्य में भक्तियोग को प्रधानता मिलती है, तो अन्तिम लक्ष्य अवश्य प्राप्त होता है।

मनुष्य को भगवान् कृष्ण तक पहुँचना होता है, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, "अनेकानेक जन्मों के पश्चात् मनुष्य परम पुरुष कृष्ण के पास पहुँचता है और यह जानकर

उनकी शरण ग्रहण करता है कि वे सब कुछ हैं।'' *भगवद्गीता* में ही भगवान् यह भी कहते हैं *भोक्तारं यज्ञतपसाम्*—''समस्त यज्ञों अथवा कठिन तपस्या के भोक्ता भगवान् हैं।'' वह सारे लोकों का स्वामी है और प्रत्येक जीवात्मा का सखा है।

धर्मेणोभयचिह्नेन का अर्थ है कि भक्तियोग के दो लक्षण हैं—भगवान् के प्रति आसक्ति तथा समस्त भौतिक सम्बन्धों से विरक्ति। जिस प्रकार भोजन करते समय दो प्रकार के कार्य होते हैं उसी तरह भक्तियोग की प्रगति के दो लक्षण होते हैं। भोजन करने से भूखे व्यक्ति को शक्ति तथा सन्तोष मिलता है तथा साथ ही और अधिक भोजन करने से विरक्ति होती जाती है। इस प्रकार भक्ति करने से वास्तविक ज्ञान उत्पन्न होता है और मनुष्य समस्त भौतिक कार्यों से विरक्त होता जाता है। भक्ति के द्वारा पदार्थ से जैसी विरक्ति तथा परमेश्वर के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है, वह अन्य किसी कर्म से नहीं हो पाती। परमेश्वर के प्रति इस आसक्ति को बढ़ाने की नौ विभिन्न विधियाँ हैं—ये हैं श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, सेवा, सख्यभाव, प्रार्थना, सर्वस्व अर्पण तथा भगवान् के चरणकमलों की सेवा। वैराग्य उत्पन्न करने वाली विधियाँ श्लोक ३६ में बताई गई हैं।

मनुष्य अपने नियत कार्यों को सम्पन्न करके तथा यज्ञ द्वारा स्वर्गलोक जैसे उच्च लोकों को प्राप्त कर सकता है। जब संन्यास ग्रहण करके मनुष्य ऐसी इच्छाओं से ऊपर उठ जाता है, तो वह परमेश्वर के ब्रह्म-स्वरूप को समझ सकता है और जब वह अपनी वास्तविक स्वाभाविक स्थिति देख लेता है, तो वह अन्य सभी विधियों को देख लेता है और तब शुद्ध भक्ति की अवस्था में स्थित हो जाता है। उस समय वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को समझ सकता है।

परम पुरुष का ज्ञान *आत्म-तत्त्व-अवबोधेन* कहलाता है, जिसका अर्थ है, ''स्वयं की स्वाभाविक स्थिति को समझना''। यदि कोई सचमुच परमेश्वर के शाश्वत दास के रूप में अपनी वैधानिक स्थिति को समझ जाता है, तो वह संसार की सेवा से विरक्त हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी प्रकार की सेवा में लगा है। यदि कोई अपनी स्वाभाविक स्थिति से परिचित नहीं होता तो वह अपने स्थूल शरीर, अपने परिवार, समाज या देश की सेवा में लगा

रहता है। किन्तु ज्योंही वह अपनी स्वाभाविक स्थिति देख पाता है (*स्वदृक्* का अर्थ है "जो देखने में समर्थ है"), वह ऐसी सेवा से विरक्त होकर अपने आपको भक्तियोग में लगा लेता है।

जब तक मनुष्य भौतिक गुणों से युक्त है और शास्त्रानुमोदित अपने कर्म करता रहता है, तो वह उच्चलोकों को जा सकता है जहाँ के अधिष्ठाता देव सूर्यदेव, चन्द्रदेव, वायुदेव, ब्रह्मा तथा शिव जैसे भगवान् के भौतिक प्रतिनिधि होते हैं। सारे देवता भगवान् के भौतिक स्वरूप हैं। भौतिक कर्मों से मनुष्य केवल ऐसे देवताओं तक ही पहुँच पाता है, जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा गया है—*यान्ति देवव्रता देवान्*—जो लोग देवताओं पर अनुरक्त हैं और अपने नियत कर्म करते हैं, वे देवताओं के धाम तक पहुँच सकते हैं। इस तरह मनुष्य पितृलोक जा सकता है। इसी तरह जो व्यक्ति अपने जीवन की वास्तविक स्थिति ठीक से समझता है, वह भक्ति अपना लेता है और भगवान् का साक्षात्कार करता है।

प्रावोचं भक्तियोगस्य स्वरूपं ते चतुर्विधम् ।
कालस्य चाव्यक्तगतेर्योऽन्तर्धावति जन्तुषु ॥ ३७॥

शब्दार्थ

प्रावोचम्—कहा गया; भक्ति-योगस्य—भक्ति का; स्वरूपम्—पहचान, स्वरूप; ते—तुमसे; चतुः-विधम्—चार विभागों में; कालस्य—समय का; च—भी; अव्यक्त-गतेः—जिसकी गति अलक्षित है; यः—जो; अन्तर्धावति—पीछा करता है; जन्तुषु—जीवों का।

हे माता, आपसे मैं भक्तियोग तथा चार विभिन्न आश्रमों में इसके स्वरूप की व्याख्या कर चुका हूँ। मैं आपको यह भी बता चुका कि शाश्वत काल किस तरह जीवों का पीछा कर रहा है यद्यपि यह उनसे अदृश्य रहता है।

तात्पर्य : भक्तियोग वह प्रधान नदी है, जो परम सत्य स्वरूप सागर की ओर बह रही है और यहाँ पर वर्णित अन्य सारी विधियाँ उसकी सहायक नदियाँ हैं। भगवान् कपिल भक्तियोग की महत्ता का सार-संक्षेप दे रहे हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है भक्तियोग चार विभागों में विभक्त है—तीन तो प्रकृति के गुणों के रूप में हैं तथा चौथा अध्यात्म है, जो भौतिक गुणों से अछूता है। भक्ति-योग प्रकृति के गुणों के साथ मिलकर संसार का एक साधन है, जबकि

कर्मफल की इच्छाओं से रहित तथा ज्ञानयोग के लिए प्रयासों से रहित भक्ति शुद्ध है, दिव्य भक्तिमय सेवा है।

जीवस्य संसृतीर्बह्वीरविद्याकर्मनिर्मिताः ।
यास्वङ्ग प्रविशन्नात्मा न वेद गतिमात्मनः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

जीवस्य—जीव की; संसृतीः—संसार के मार्ग; बह्वीः—अनेक; अविद्या—अज्ञान; कर्म—कार्य से; निर्मिताः—उत्पन्न; यासु—जिनमें; अङ्ग—हे माता; प्रविशन्—प्रवेश करते हुए; आत्मा—जीव; न—नहीं; वेद—जानता है; गतिम्—गति; आत्मनः—अपनी।

अज्ञान में किये गये कर्म अथवा अपनी वास्तविक पहचान की विस्मृति के अनुसार जीवात्मा के लिए अनेक प्रकार के भौतिक अस्तित्व होते हैं। हे माता, यदि कोई इस विस्मृति में प्रविष्ट होता है, तो वह यह नहीं समझ पाता कि उसकी गतियों का अन्त कहाँ होगा।

तात्पर्य : एक बार जब कोई इस भवसागर में प्रविष्ट कर जाता है, उसमें से निकल पाना उसके लिए कठिन होता है। अतः भगवान् स्वयं आते हैं या अपना प्रामाणिक प्रतिनिधि भेजते हैं और *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* जैसे शास्त्र पीछे छोड़ते जाते हैं जिससे अज्ञान के अन्धकार में भटकते जीव इन उपदेशों, साधु-पुरुषों एवं गुरुओं का लाभ उठा सकें और इस तरह से मुक्त हो सकें। जब तक जीव को साधु-पुरुषों, गुरु या कृष्ण की कृपा प्राप्त नहीं होती तब तक इस संसार के अन्धकार से निकल पाना सम्भव नहीं होता है। अकेले अपने प्रयास से तो यह सर्वथा असंभव है।

नैतत्खलायोपदिशेन्नाविनीताय कर्हिचित् ।
न स्तब्धाय न भिन्नाय नैव धर्मध्वजाय च ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतत्—यह उपदेश; खलाय—ईर्ष्यालुओं को; उपदिशेत्—उपदेश देना चाहिए; न—नहीं; अविनीताय—अविनीत को; कर्हिचित्—कभी; न—नहीं; स्तब्धाय—घमंडी को; न—नहीं; भिन्नाय—दुराचारी को; न—नहीं; एव—निश्चय ही; धर्म-ध्वजाय—दम्भियों को; च—भी।

भगवान् कपिल ने आगे कहा : यह उपदेश उन लोगों के लिए नहीं है, जो ईर्ष्यालु हैं,

अविनीत हैं या दुराचारी हैं। न ही यह उपदेश दम्भियों या उन व्यक्तियों के लिए है, जिन्हें अपनी भौतिक सम्पदा का गर्व है।

न लोलुपायोपदिशेन्न गृहारूढचेतसे ।
नाभक्ताय च मे जातु न मद्भक्तद्विषामपि ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; लोलुपाय—लालची को; उपदिशेत्—उपदेश देवे; न—नहीं; गृह-आरूढ-चेतसे—गृहस्थ जीवन के प्रति आसक्त को; न—नहीं; अभक्ताय—अभक्त को; च—तथा; मे—मेरा; जातु—कभी; न—नहीं; मत्—मेरे; भक्त—भक्तगण; द्विषाम्—ईर्ष्यालुओं को; अपि—भी।

यह उपदेश न तो उन लोगों को दिया जाय जो अत्यन्त लालची हैं और गृहस्थ जीवन के प्रति अत्यधिक आसक्त हैं, न ही अभक्तों और भक्तों एवं भगवान् के भक्तों तथा भगवान् के प्रति ईर्ष्या रखने वालों को दिया जाय।

तात्पर्य : जो लोग सदैव अन्य जीवों को हानि पहुँचाने की योजनाएँ बनाते रहते हैं, वे कृष्णभावनामृत को समझने के अधिकारी नहीं हैं और वे भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति के प्रक्षेत्र में प्रविष्ट नहीं हो सकते। साथ ही, कुछ ऐसे स्वार्थी तथाकथित शिष्य होते हैं, जो अत्यन्त दिखावटी रूप से किसी और अंशा से गुरु के प्रति विनीत बने रहते हैं। वे भी नहीं जान पाते कि कृष्णभावनामृत अथवा भक्तियोग क्या है। ऐसे व्यक्ति, जो अन्य सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण, भक्ति को भगवान् तक पहुँचने का एक-सा पद (स्थिति) नहीं समझते, वे भी कृष्णभक्ति को नहीं समझ सकते। हमारा अनुभव है कि कुछ अध्येता हमारे पास तो आते हैं, किन्तु किसी विशेष प्रकार का मताग्रह होने के कारण वे हमारा साथ छोड़कर वीराने में खो जाते हैं। वस्तुत: कृष्णभक्ति किसी सम्प्रदाय का धर्म नहीं है; यह तो परमेश्वर तथा उनके साथ अपने सम्बन्ध को जानने की शिक्षण विधि है। कोई भी इस आन्दोलन में बिना किसी भेदभाव के सम्मिलित हो सकता है। किन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो अन्य प्रकार से अनुभव करते हैं। अत: यह श्रेयस्कर होगा कि ऐसे लोगों को कृष्णभक्ति के ज्ञान का उपदेश न दिया जाय।

सामान्यत: भौतिकतावादी व्यक्ति किसी नाम, यश तथा लाभ के पीछे लगे रहते हैं, अत:

यदि कोई इन कारणों से कृष्णभक्ति ग्रहण करता है, तो वह इस दर्शन को कभी नहीं समझ सकता। ऐसे व्यक्ति धर्म को सामाजिक अलंकरण के रूप में ग्रहण करते हैं। विशेषत: कलियुग में वे किसी सांस्कृतिक संस्थान में केवल नाम कमाने के लिए प्रवेश करते हैं। ऐसे लोग भी कृष्णचेतना के दर्शन को नहीं समझ सकते। यदि कोई सांसारिक वस्तुओं के लिए लालची न भी हो, किन्तु यदि गृहस्थ जीवन के प्रति अत्यधिक आसक्त है, तो वह भी कृष्णभक्ति को नहीं समझ सकता। ऊपर से ऐसे लोग भले ही लालची न लगें, किन्तु वे अपनी पत्नी, बच्चों तथा परिवार की उन्नति के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं। यदि कोई ऐसा व्यक्ति हो जो उपर्युक्त दोषों से कल्मषग्रस्त न हो तो भी यदि वह भगवान् की सेवा में रुचि नहीं रखता, या अभक्त है, तो वह कृष्णचेतना के दर्शन को नहीं समझ पाएगा।

श्रद्दधानाय भक्ताय विनीतायानसूयवे ।
भूतेषु कृतमैत्राय शुश्रूषाभिरताय च ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

श्रद्दधानाय—श्रद्धालु; भक्ताय—भक्त के लिए; विनीताय—विनीत; अनसूयवे—ईर्ष्यारहित; भूतेषु—समस्त जीवों को; कृत-मैत्राय—मैत्रीभाव; शुश्रूषा—सेवा; अभिरताय—करने के लिए इच्छुक; च—तथा।

ऐसे श्रद्धालु भक्त को उपदेश दिया जाय जो गुरु के प्रति सम्मानपूर्ण, द्वेष न करने वाला, समस्त जीवों के प्रति मैत्री भाव रखने वाला हो तथा श्रद्धा और निष्ठापूर्वक सेवा करने के लिए उत्सुक हो।

बहिर्जातविरागाय शान्तचित्ताय दीयताम् ।
निर्मत्सराय शुचये यस्याहं प्रेयसां प्रियः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

बहिः—बाहरी; जात-विरागाय—विरागी को, अनासक्त को; शान्त-चित्ताय—शान्त मन वाले को; दीयताम्—उपदेश दिया जाय; निर्मत्सराय—मत्सरशून्य, द्वेष न रखने वाले को; शुचये—पूर्णतया शुद्ध; यस्य—जिसका; अहम्—मैं; प्रेयसाम्—प्रियों में; प्रियः—अत्यन्त प्रिय।

गुरु द्वारा यह उपदेश ऐसे व्यक्तियों को दिया जाय जो भगवान् को अन्य किसी भी वस्तु से अधिक प्रिय मानते हैं, जो किसी के प्रति द्वेष नहीं रखते, जो पूर्ण शुद्ध चित्त हैं और जिन्होंने कृष्णचेतना की परिधि के बाहर विराग उत्पन्न कर लिया है।

तात्पर्य : प्रारम्भिक स्थिति में कोई भी भक्ति की उच्चतम अवस्था को प्राप्त नहीं होता। यहाँ भक्त का अर्थ उस व्यक्ति से है, जो भक्त बनने के लिए सुधारवादी विधियों को स्वीकार करने में हिचकता नहीं। भगवद्भक्त बनने के लिए मनुष्य को गुरु बनाना पड़ता है और उससे भक्ति विषयक प्रगति के विषय में जिज्ञासा करनी होती है। भक्ति में प्रगति करने के चौंसठ भक्ति-कार्य हैं जिनमें से कुछ हैं—भक्त की सेवा, जप विधि के अनुसार पवित्र नाम का जप, विग्रह-पूजन, *श्रीमद्भागवत* या *भगवद्गीता* को सिद्ध पुरुष से सुनना और ऐसे पवित्र स्थान में रहना जहाँ भक्ति में विघ्न न पड़े। जो इन पाँच प्रमुख कार्यों को करता है, वह भक्त है।

मनुष्य को चाहिए कि वह गुरु का यथेष्ठ सम्मान करे। उसे अपने गुरुभाइयों के प्रति द्वेष नहीं रखना चाहिए। अपितु यदि वह अधिक प्रबुद्ध है और कृष्णभक्ति में बढ़ा-चढ़ा है, तो उसे गुरु-तुल्य मानना चाहिए और ऐसे गुरुभाइयों को कृष्णभावनामृत में उन्नति करते देखकर प्रसन्न होना चाहिए। भक्त को चाहिए कि सामान्य-जनता को कृष्णभक्ति का उपदेश देने में अत्यन्त दयालु बने, क्योंकि माया के पाश से निकलने का एकमात्र समाधान यही है। यही वास्तविक लोक-कल्याण है, क्योंकि उन लोगों के प्रति दया दिखाने की यही विधि है जिन्हें इसकी आवश्यकता है। *शुश्रूषाभिरताय* शब्द उस व्यक्ति का सूचक है, जो गुरु की सेवा में श्रद्धापूर्वक निरत रहता है। गुरु की समस्त प्रकार से सेवा की जानी चाहिए और सारी सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए जो भक्त ऐसा करता है, वह भी इन उपदेशों को ग्रहण करने के लिए पात्र है। *बहिर्जात विरागाय* शब्द उस व्यक्ति का सूचक है, जिसने आन्तरिक तथा बाह्य भौतिक कामनाओं से वैराग्य प्राप्त कर लिया है। वह कृष्णभक्ति से सम्बन्ध न रखने वाले कार्यकलापों से विरत तो है ही, साथ ही उसे आन्तरिक रूप से भौतिक जीवन से विमुख होना चाहिए। ऐसे व्यक्ति को ईर्ष्यारहित होना चाहिए और सभी जीवों की—न केवल मनुष्यों की, अपितु उनके अतिरिक्त सारे जीवों की—कल्याण की कामना करनी चाहिए। *शुचये का अर्थ है भीतर और बाहर से शुद्ध व्यक्ति। अन्दर और बाहर से शुद्ध बनने* के लिए मनुष्य को भगवान् कृष्ण या विष्णु के पवित्र नाम का कीर्तन करना चाहिए।

दीयताम् शब्द बताता है कि कृष्णभक्ति का ज्ञान गुरु द्वारा दिया जाना चाहिए। गुरु को चाहिए कि अयोग्य शिष्य को स्वीकार न करे, स्वयं व्यावसायिक न बने और अर्थलाभ के लिए शिष्य न बनाए। प्रामाणिक गुरु को चाहिए कि वह उस व्यक्ति के प्रामाणिक गुणों को देखे जिसे वह दीक्षित करने जा रहा है। अयोग्य व्यक्ति दीक्षित न हो। गुरु अपने शिष्य को इस तरह प्रशिक्षित करे कि भविष्य में उसके जीवन का उद्देश्य एकमात्र भगवान् रहे।

इन दो श्लोकों में भक्त के गुणों की पूरी व्याख्या है। जिसने इन श्लोकों में वर्णित समस्त गुणों का विकास कर लिया है, वह पहले से भक्त-पद को प्राप्त है। यदि उसने इन सारे गुणों को विकसित नहीं किया है, तो उसे अब भी इन प्रतिबन्धों को पूरा करना होगा, जिससे वह कुशल भक्त बन सके।

य इदं शृणुयादम्ब श्रद्धया पुरुषः सकृत् ।
यो वाभिधत्ते मच्चित्तः स ह्येति पदवीं च मे ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; इदम्—इसको; शृणुयात्—सुनेगा; अम्ब—हे माता; श्रद्धया—श्रद्धा से; पुरुषः—व्यक्ति; सकृत्—एक बार; यः—जो; वा—अथवा; अभिधत्ते—उच्चारण करता है; मत्-चित्तः—अपने मन को मुझ पर स्थित करके; सः—वह; हि—निश्चय ही; एति—प्राप्त करता है; पदवीम्—धाम को; च—तथा; मे—मेरा।

जो कोई श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक एक बार मेरा ध्यान करता है, मेरे विषय में सुनता तथा कीर्तन करता है, वह निश्चय ही भगवान् के धाम को वापस जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत ''कर्म-बन्धन'' नामक बत्तीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तैंतीस

कपिल के कार्यकलाप

मैत्रेय उवाच

एवं निशम्य कपिलस्य वचो जनित्री
सा कर्दमस्य दयिता किल देवहूतिः ।
विस्रस्तमोहपटला तमभिप्रणम्य
तुष्टाव तत्त्वविषयाङ्कितसिद्धिभूमिम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; एवम्—इस प्रकार; निशम्य—सुनकर; कपिलस्य—कपिल के; वचः—शब्द; जनित्री—माता; सा—वह; कर्दमस्य—कर्दम मुनि की; दयिता—प्रिय पत्नी; किल—नामक; देवहूतिः—देवहूति; विस्रस्त—से युक्त होकर; मोह-पटला—मोह का आवरण; तम्—उसको; अभिप्रणम्य—नमस्कार करके; तुष्टाव—स्तुति की; तत्त्व—मूल सिद्धान्त; विषय—के सम्बन्ध में; अङ्कित—रचियता, प्रतिपादक; सिद्धि—मुक्ति की; भूमिम्—पृष्ठभूमि।

श्री मैत्रेय ने कहा : इस प्रकार भगवान् कपिल की माता एवं कर्दम मुनि की पत्नी देवहूति भक्तियोग तथा दिव्य ज्ञान सम्बन्धी समस्त अविद्या से मुक्त हो गईं। उन्होंने उन भगवान् को नमस्कार किया जो मुक्ति की पृष्ठभूमि सांख्य दर्शन के प्रतिपादक हैं और तब निम्नलिखित स्तुति द्वारा उन्हें प्रसन्न किया।

तात्पर्य : भगवान् कपिल ने अपनी माता के समक्ष जिस दर्शन-पद्धति का प्रतिपादन किया वह आध्यात्मिक पद पर स्थित होने की पृष्ठभूमि है। इस दर्शन पद्धति की विशिष्ट महत्ता *सिद्ध-भूमिम्* द्वारा यहाँ पर व्यक्त की गई है, जिसका अर्थ है मोक्ष की पृष्ठभूमि। भगवान् कपिल ने जिस सांख्य-दर्शन का प्रतिपादन किया है उसे समझकर माया द्वारा बद्ध लोग, जो इस संसार में दुख भोग रहे हैं, पदार्थ (जड़त्व) के चंगुल से छुटकारा पा सकते हैं। इस दर्शन पद्धति के द्वारा भौतिक जगत में स्थित व्यक्ति भी तुरन्त मुक्त हो सकता है। यह अवस्था *जीवन्-मुक्ति* कहलाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस भौतिक शरीर में रहते हुए भी मनुष्य मुक्त हो जाता है। भगवान् कपिल की माता देवहूति के साथ ऐसा ही हुआ, अतः उन्होंने अपनी स्तुतियों द्वारा भगवान् को सन्तुष्ट किया। जो भी सांख्य दर्शन के मूल सिद्धान्त को समझता है, वह भक्ति को प्राप्त होता है और इसी संसार में वह कृष्णभावनाभावित अर्थात् मुक्त हो जाता है।

देवहूतिरुवाच

अथाप्यजोऽन्त:सलिले शयानं
भूतेन्द्रियार्थात्ममयं वपुस्ते ।
गुणप्रवाहं सदशेषबीजं
दध्यौ स्वयं यज्जठराब्जजात: ॥ २॥

शब्दार्थ

देवहूति: उवाच—देवहूति ने कहा; अथ अपि—और भी; अज:—ब्रह्मा जी; अन्त:-सलिले—जल में; शयानम्—लेटे हुए; भूत—भौतिक तत्त्व; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; अर्थ—विषय; आत्म—मन; मयम्—से व्याप्त; वपु:—शरीर; ते—तुम्हारा; गुण-प्रवाहम्—प्रकृति के तीन तत्त्वों की धारा का उद्गम; सत्—प्रकट; अशेष—सबों का; बीजम्—बीज; दध्यौ—ध्यान किया; स्वयम्—स्वयं; यत्—जिसके; जठर—उदर से; अब्ज—कमल-पुष्प से; जात:—उत्पन्न।

देवहूति ने कहा : ब्रह्माजी अजन्मा कहलाते हैं, क्योंकि वे आपके उदर से निकलते हुए कमल-पुष्प से जन्म लेते हैं और आप ब्रह्माण्ड के तल पर समुद्र में शयन करते रहते हैं। लेकिन ब्रह्माजी ने भी केवल अनन्त ब्रह्माण्डों के उद्गम स्त्रोत, आपका ध्यान ही किया।

तात्पर्य : ब्रह्मा *अज* भी कहलाते हैं, क्योंकि *अज* का अर्थ है अजन्मा। जब भी हम किसी के जन्म की बात सोचते हैं, तो उसका कोई-न-कोई माता तथा पिता होना चाहिए, क्योंकि इन्हीं से वह जन्म लेगा। किन्तु ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड के प्रथम प्राणी होने के नाते उन भगवान् के शरीर से सीधे उत्पन्न हुए जो गर्भोदकशायी विष्णु अर्थात् ब्रह्माण्ड के तल पर समुद्र में शयन करने वाले विष्णु नाम से ज्ञात है। देवहूति भगवान् को यह बताना चाह रही थीं कि ब्रह्मा जब विष्णु का दर्शन करना चाहते हैं, तो उन्हें भी आपका ध्यान करना होता है। उन्होंने कहा, ''आप सारी सृष्टि के बीजस्वरूप हैं। यद्यपि ब्रह्मा सीधे आपसे उत्पन्न हुए हैं, किन्तु फिर भी जब वर्षों ध्यान करते हैं तब भी उन्हें आपके साक्षात् दर्शन नहीं हो पाते। आपका शरीर ब्रह्माण्ड के तल पर विपुल जल-राशि के भीतर लेटा है, अत: आप गर्भोदकशायी विष्णु कहलाते हैं।''

इस श्लोक में भगवान् के विराट शरीर की भी व्याख्या हुई है। यह शरीर दिव्य है और पदार्थ (जड़त्व) से अस्पृश्य। चूँकि यह संसार उनके शरीर से उत्पन्न हुआ है, अत: उनका शरीर सृष्टि के पूर्व भी विद्यमान था। निष्कर्ष यह निकला कि विष्णु का दिव्य शरीर भौतिक

तत्त्वों से निर्मित नहीं है। विष्णु का शरीर अन्य समस्त जीवों के साथ-साथ भगवान् की शक्ति-स्वरूपा भौतिक प्रकृति का भी उद्‌गम है। देवहूति ने कहा, "आप संसार तथा समस्त उद्‌भूत शक्ति के मूलाधार हैं, अत: आप इस प्रकार से सांख्य दर्शन की व्याख्या करके माया के पाश से मेरा उद्धार कर रहे हैं, तो इतनी आश्चर्य की बात नहीं है। किन्तु मेरी कोख से आपका जन्म लेना अवश्य ही आश्चर्यजनक है, क्योंकि समस्त सृष्टि के उद्‌गम होने पर भी आपने कृपा करके मेरे पुत्र रूप में जन्म लिया है। यही सबसे आश्चर्यजनक है। आपका शरीर समस्त ब्रह्माण्ड का उद्‌गम है फिर भी आपने मुझ जैसी स्त्री के उदर से शरीर धारण किया। मेरे लिए यही अत्यधिक विस्मयजनक लगता है।

स एव विश्वस्य भवान्विधत्ते
गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्य: ।
सर्गाद्यनीहोऽवितथाभिसन्धिर्
आत्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्ति: ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

स:—वही पुरुष; एव—निश्चय ही; विश्वस्य—ब्रह्माण्ड का; भवान्—आप; विधत्ते—करते हैं; गुण-प्रवाहेण—गुणों की अन्त:क्रिया से; विभक्त—विभाजित; वीर्य:—आपकी शक्तियाँ; सर्ग-आदि—सृष्टि इत्यादि; अनीह:—निष्क्रिय; अवितथ—सार्थक; अभिसन्धि:—दृढ़संकल्प; आत्म-ईश्वर:—समस्त जीवों के स्वामी; अतर्क्य—अकल्पनीय; सहस्र—हजारों; शक्ति:—शक्तियों से युक्त।

हे भगवान्, यद्यपि आपको निजी रूप से कुछ करना नहीं रहता, किन्तु आपने अपनी शक्तियाँ प्रकृति के गुणों की अन्त:क्रियाओं में वितरित कर दी हैं जिसके बल पर दृश्यजगत की उत्पत्ति, पालन तथा संहार होता है। हे भगवान्, आप दृढ़संकल्प हैं और समस्त जीवों के भगवान् हैं। आपने उन्हीं के लिए यह संसार रचा और यद्यपि आप एक हैं, किन्तु आपकी शक्तियाँ अनेक प्रकार से कार्य करती हैं। यह हमारे लिए अकल्पनीय है।

तात्पर्य : इस श्लोक में देवहूति ने कहा है कि यद्यपि परम सत्य को अपने आप कुछ भी नहीं करना होता तो भी उनकी विविध शक्तियाँ हैं। उसकी पुष्टि उपनिषदों में भी हुई है। उनसे न तो कोई बड़ा है, न ही कोई उनके समान है और सब कुछ उन्हीं की शक्ति से सम्पन्न होता

है मानो प्रकृति द्वारा हो रहा हो। अत: इससे यह पता चलता है कि यद्यपि विभिन्न गुणों का भार ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव जैसे स्वरूपों को प्रदत्त है, जिन्हें भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्तियाँ मिली हुई हैं और भगवान् इन कार्यकलापों से सर्वथा पृथक् रहते हैं। देवहूति कह रही हैं "यद्यपि आप अपने से स्वयं कुछ भी नहीं कर रहे, किन्तु आपका संकल्प पूर्ण है। आपको अपनी इच्छापूर्ति के लिए अपने सिवा और किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है। आप अन्तत: परमात्मा तथा परम नियामक हैं। अत: आपकी इच्छा को कोई रोक नहीं सकता।" भगवान् किसी की भी योजना को रोक सकता है। कहा भी गया है "आपन चेती होइ नहिं प्रभु चेती तत्काल।" किन्तु जब भगवान् चाहते हैं, तो उनकी इच्छा अन्य किसी के अधीन नहीं रहती। वे पूर्ण हैं। हम अपनी इच्छापूर्ति के लिए उन्हीं पर आश्रित हैं, किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि ईश्वर की इच्छाएँ भी किसी के अधीन हैं। यही उनकी अकल्पनीय शक्ति है। सामान्य जीवों के लिए जो अकल्पनीय है उसे वे सहज ही कर सकते हैं। वे असीम होते हुए भी वैदिक साहित्य जैसे प्रामाणिक शास्त्रों द्वारा जाने जाते हैं। जैसाकि कहा गया है *शब्द मूलत्वात्* उन्हें शब्द ब्रह्म या वैदिक साहित्य द्वारा जाना जा सकता है।

यह सृष्टि क्यों की जाती है? सब जीवों के श्रीभगवान् होने के कारण ही उन्होंने यह भौतिक जगत उन जीवों के लिए उत्पन्न किया जो इसका भोग करना चाहते हैं या प्रकृति पर प्रभुता जताना चाहते हैं। परमेश्वर रूप में वे उनकी विभिन्न इच्छाओं को पूरा करने की व्यवस्था करते हैं। वेदों में भी पुष्टि की गई है—*एको बहूनां यो विदधाति कामान्*—परमेश्वर अनेक जीवों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। विभिन्न प्रकार के जीवों की आवश्यकताओं का कोई अन्त नहीं है और केवल भगवान् ही उनका पालन करते तथा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति अपनी अकल्पनीय शक्ति द्वारा करते हैं।

स त्वं भृतो मे जठरेण नाथ
कथं नु यस्योदर एतदासीत् ।
विश्वं युगान्ते वटपत्र एकः

शेते स्म मायाशिशुरङ्घ्रिपानः ॥ ४॥

शब्दार्थ

सः—वही पुरुष; त्वम्—तुमने; भृतः—जन्म लिया है; मे जठरेण—मेरे उदर से; नाथ—हे भगवान्; कथम्—कैसे; नु—तब; यस्य—जिसके; उदरे—पेट में; एतत्—यह; आसीत्—स्थित था; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; युग-अन्ते—कल्प के अन्त में; वट-पत्रे—वट वृक्ष के पेड़ की पत्ती पर; एकः—अकेले; शेते स्म—सोते थे; माया—अकल्पनीय शक्तियों से युक्त; शिशुः—बालक; अङ्घ्रि—अँगूठा; पानः—चूसते हुए।

आपने मेरे उदर से श्रीभगवान् के रूप में जन्म लिया है। हे भगवन्, यह उस परमेश्वर के लिए किस प्रकार सम्भव हो सका जिसके उदर में यह सारा दृश्य-जगत स्थित है? इसका उत्तर होगा कि ऐसा सम्भव है, क्योंकि कल्प के अन्त में आप वटवृक्ष की एक पत्ती पर लेट जाते हैं और एकछोटे से बालक की भाँति अपने चरणकमल के अँगूठे को चूसते हैं।

तात्पर्य : प्रलय के समय भगवान् कभी-कभी एक शिशु के रूप में प्रकट होते हैं, जो प्रलयकारी जल पर तैरती बरगद की पत्ती पर लेटा रहता है। अत: देवहूति कहती हैं, ''मुझ जैसी सामान्य स्त्री के उदर में आपका लेटे रहना उतना आश्चर्यजनक नहीं है। आप तो बरगद की पत्ती पर लेट सकते हैं और शिशु की भाँति प्रलय-जल में तैरते रहते हैं। चूँकि यह अधिक आश्चर्यजनक नहीं है, अत: आप मेरे उदर में तो लेट ही सकते हैं। आप सिखाते हैं कि जो लोग इस संसार में सन्तान के इच्छुक होते हैं और जो विवाह करके सन्तान वाले परिवार का सुख उठाना चाहते हैं, उन्हें भगवान् के समान ही शिशु प्राप्त हो सकता है और सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह है कि भगवान् स्वयं अपना अगूँठा चूसते हैं।''

चूँकि सारे ऋषि तथा भक्त अपनी सारी शक्ति तथा सारे कार्यकलाप भगवान् के चरणकमलों की सेवा में अर्पित कर देते हैं, अत: उनके चरणकमलों के अँगूठे में अवश्य ही कोई दिव्य आनन्द होता होगा। भगवान् अपना अँगूठा उस अमृत को चखने के लिए चूसते हैं जिसकी आकांक्षा भक्तगण सदा ही करते हैं। कभी-कभी स्वयं भगवान् को आश्चर्य होता है कि उनके भीतर कितना दिव्य आनन्द समाया है, अत: अपनी शक्ति का स्वाद चखने के उद्देश्य से कभी-कभी वे अपना स्वाद लेते हैं। भगवान् चैतन्य साक्षात् कृष्ण हैं, किन्तु वे एक भक्त के रूप में प्रकट होते हैं जिससे वे समस्त भक्तों में सर्वोपरि श्रीमती राधारानी द्वारा पान किये

जानेवाले मधुर रस का स्वाद पा सकें।

त्वं देहतन्त्रः प्रशमाय पाप्मनां
निदेशभाजां च विभो विभूतये ।
यथावतारास्तव सूकरादय-
स्तथायमप्यात्मपथोपलब्धये ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुमने; देह—यह शरीर; तन्त्रः—धारण किया है; प्रशमाय—कम करने के लिए; पाप्मनाम्—पाप कर्मों का; निदेश-भाजाम्—भक्ति के उपदेश का; च—तथा; विभो—हे प्रभु; विभूतये—विस्तार के लिए; यथा—जिस प्रकार; अवताराः—अवतार; तव—तुम्हारे; सूकर-आदयः—सूकर तथा अन्य रूप; तथा—उसी प्रकार; अयम्—यह कपिल अवतार; अपि—निश्चय ही; आत्म-पथ—आत्म-साक्षात्कार का मार्ग; उपलब्धये—दिखाने के लिए।

हे भगवान्, आपने पतितों के पापपूर्ण कर्मों को घटाने तथा उनके भक्ति एवं मुक्ति के ज्ञान को बढ़ाने के लिए यह शरीर धारण किया है। चूँकि ये पापात्माएँ आपके निर्देश पर आश्रित हैं, अतः आप स्वेच्छा से सूकर तथा अन्य रूपों में अवतरित होते हैं। इसी प्रकार आप अपने आश्रितों को दिव्य ज्ञान वितरित करने के लिए प्रकट हुए हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोकों में भगवान् के सामान्य दिव्य गुणों का वर्णन था। अब भगवान् के प्राकट्य के विशिष्ट प्रयोजन का वर्णन किया जा रहा है। वे अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा उन जीवों को विविध प्रकार के शरीर प्रदान करते हैं, जो प्रकृति पर प्रभुता जताने की इच्छा के कारण बद्ध हैं, किन्तु कालक्रम से वे इतने पतित हो जाते हैं कि उन्हें मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जब-जब इस संसार में वास्तविक उद्देश्य के सम्पन्न होने में त्रुटियाँ रह जाती हैं, तो भगवान् अवतार रूप में प्रकट होते हैं। कपिल के रूप में भगवान् का स्वरूप पतितों का निर्देशन करता है और उन्हें ज्ञान तथा भक्ति से समृद्ध करता है, जिससे वे भगवान् के धाम जा सकें। भगवान् के अवतार अनेक हैं—यथा वराह, मत्स्य, कच्छप तथा नृसिंह। कपिलदेव भी भगवान् के एक अवतार हैं। यहाँ यह स्वीकार किया गया है कि इस पृथ्वी पर भगवान् कपिलदेव का प्राकट्य पथभ्रष्ट बद्धजीवों को दिव्य ज्ञान प्रदान करने के लिए हुआ।

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्
यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते
कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसका (भगवान् का); नामधेय—नाम; श्रवण—सुनना; अनुकीर्तनात्—कीर्तन से; यत्—जिसको; प्रह्वणात्—नमस्कार द्वारा; यत्—जिसको; स्मरणात्—स्मरण द्वारा; अपि—भी; क्वचित्—किसी समय; श्व-अदः—कुत्ता खाने वाला; अपि—भी; सद्यः—तुरन्त; सवनाय—वैदिक यज्ञ करने के लिए; कल्पते—पात्र बन जाता है; कुतः—क्या कहा जाय; पुनः—फिर; ते—तुम्हारे; भगवन्—भगवान्; नु—तब; दर्शनात्—साक्षात् दर्शन से।

उन व्यक्तियों की आध्यात्मिक उन्नति के विषय में क्या कहा जाय जो परम पुरुष का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं, यदि कुत्ता खाने वाले परिवार में उत्पन्न व्यक्ति भी भगवान् के पवित्र नाम का एक बार भी उच्चारण करता है अथवा उनका कीर्तन करता है, उनकी लीलाओं का श्रवण करता है, उन्हें नमस्कार करता है, या कि उनका स्मरण करता है, तो वह तुरन्त वैदिक यज्ञ करने के लिए योग्य बन जाता है।

तात्पर्य : यहाँ पर परमेश्वर के पवित्र नाम के कीर्तन, श्रवण अथवा स्मरण की आध्यात्मिक शक्ति पर बल दिया गया है। रूप गोस्वामी ने बद्धजीव के पापपूर्ण कर्मों की सूची दी है और *भक्ति-रसामृतसिन्धु* में प्रमाणित किया है कि जो लोग भक्ति योग में संलग्न रहते हैं, वे समस्त पापकर्मों के फलों से मुक्त हो जाते हैं। *भगवद्गीता* द्वारा भी इसकी पुष्टि होती है। भगवान् कहते हैं कि जो लोग मेरी शरण में आते हैं उनका दायित्व मैं अपने ऊपर लेता हूँ और उन्हें समस्त पापकर्मों के फलों के प्रति निश्चेष्ट बना देता हूँ। यदि केवल नाम के कीर्तन मात्र से पापकर्मों के फल इतनी जल्दी धुल जाँय तो फिर उन पुरुषों का क्या कहना जो उन्हें प्रत्यक्ष देखते हैं ?

एक अन्य विचार जो यहाँ पर रखा गया है, वह यह है कि जो पुरुष कीर्तन तथा श्रवण द्वारा शुद्ध हो जाते हैं, वे तुरन्त वैदिक यज्ञ करने के पात्र बन जाते हैं। सामान्यतया, केवल वही व्यक्ति वैदिक यज्ञ कर सकता है, जो ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हो, दस प्रकार के संस्कारों से शुद्ध हो चुका हो और जो वैदिक साहित्य में विद्वान हो चुका हो। किन्तु यहाँ *सद्यः* अर्थात् *तुरन्त* शब्द प्रयुक्त हुआ है और श्रीधर स्वामी की भी टिप्पणी है कि मनुष्य तुरन्त वैदिक यज्ञ करने

का पात्र बन जाता है। निम्न जाति के परिवार में उत्पन्न मनुष्य जिसमें कुत्ता खाया जाता है, पूर्वजन्म से पापकर्मों के कारण इस स्थिति को प्राप्त होता है, किन्तु शुद्ध भाव से कीर्तन करने या सुनने से वह तुरन्त पापकर्मों से मुक्त हो जाता है। वह न केवल पापकर्मों से मुक्त हो जाता है, अपितु उसे तुरन्त समस्त विशुद्धीकरण की प्रक्रियाओं (संस्कारों) का फल प्राप्त हो जाता है। ब्राह्मण कुल में जन्म लेना निश्चय ही पूर्वजन्म में किये गये पुण्यों का फल होता है। तो भी ब्राह्मण कुल में उत्पन्न एक बालक यज्ञोपवीत संस्कार में दीक्षित होकर अपने को संस्कारित करता है। किन्तु यदि कोई भगवान् के पवित्रनाम का कीर्तन करता है, तो भले ही वह कुत्ता खाने वाले चण्डाल कुल में क्यों न जन्म ले, उसे किसी शुद्धीकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह केवल हरे कृष्ण का कीर्तन करके तुरन्त शुद्ध हो जाता है और विद्वान ब्राह्मण के समान ही उत्तम हो जाता है।

इस सम्बन्ध में श्रीधर स्वामी की टिप्पणी है—*अनेन पूज्यत्वं लक्ष्यते*। कुछ ब्राह्मण जाति वाले कहते हैं कि हरे कृष्ण कीर्तन से शुद्धिकरण प्रारम्भ होता है। निस्सन्देह यह व्यक्तिगत कीर्तन पर निर्भर करता है, किन्तु स्वामी श्रीधर की यह टिप्पणी पूर्णतया लागू होती है कि यदि बिना अपराध के कोई भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करता है, तो वह तुरन्त ब्राह्मण से बढ़कर बन जाता है। जैसाकि श्रीधर स्वामी का कहना है—*पूज्यत्वम्*—अर्थात् वह तुरन्त परम विद्वान ब्राह्मण के तुल्य आदरणीय बन जाता है और उसे वैदिक यज्ञ करने की अनुमति मिल सकती है। यदि केवल भगवन्नाम कीर्तन से कोई तुरन्त पवित्र हो जाता है, तो फिर उन सबका क्या कहना जो भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं और भगवान् के अवतरण को समझते हैं जिस प्रकार देवहूति कपिलदेव को समझती हैं।

सामान्यतया, दीक्षा शिष्य को निर्देशित करने वाले गुरु पर निर्भर करती है। यदि वह समझता है कि शिष्य दक्ष है और कीर्तन द्वारा शुद्ध हो गया है, तो वह उसका यज्ञोपवीत संस्कार कर देता है, जिससे वह शत-प्रति-शत ब्राह्मण के तुल्य हो जाय। इसकी पुष्टि श्रील सनातन गोस्वामीकृत *हरिभक्तिविलास* में इस प्रकार हुई है, ''जिस प्रकार रासायानिक विधि

द्वारा घंटे की धातु (काँसा) सोने में बदली जा सकती है उसी प्रकार कोई भी व्यक्ति दीक्षा-विधान द्वारा ब्राह्मण में बदला जा सकता है।''

कभी-कभी कहा जाता है कि कीर्तन द्वारा मनुष्य अपने को शुद्ध करता है और अगले जन्म में किसी ब्राह्मण परिवार में जन्म लेकर सुधर जाता है अथवा संस्कारित हो जाता है। किन्तु वर्तमान में जो लोग श्रेष्ठ ब्राह्मण परिवारों में जन्म लेते हैं, वे संस्कार सम्पन्न नहीं हैं, न यही निश्चित है कि वे ब्राह्मण पिता से उत्पन्न हैं। पहले गर्भाधान संस्कार प्रचलित था, किन्तु अब ऐसा गर्भाधान या वीर्यदान संस्कार नहीं है। ऐसी दशा में कोई ठीक से यह नहीं जानता कि मनुष्य ब्राह्मण पिता से उत्पन्न है या नहीं। यह तो गुरु के निर्णय पर निर्भर करता है कि किसी ने ब्राह्मण के गुण प्राप्त कर लिये हैं या नहीं। वह अपने निर्णय द्वारा ही शिष्य को ब्राह्मण रूप में स्वीकार करता है। जब कोई पञ्चरात्रिक विधि से यज्ञोपवीत संस्कार में ब्राह्मण रूप में स्वीकार कर लिया जाता है, तो वह द्विज कहलाता है। इसकी पुष्टि सनातन गोस्वामी द्वारा *द्विजत्वं जायते* कह कर की गई है। गुरु द्वारा दीक्षित किये जाने पर मनुष्य ब्राह्मण बनता है और इस शुद्ध अवस्था में वह भगवान् के पवित्र नाम का जप करता है। फिर प्रगति करता हुआ वह योग्य वैष्णव बन जाता है, जिसका अर्थ है कि उसने पहले से ब्राह्मण योग्यता प्राप्त कर ली है।

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥ ७॥

शब्दार्थ

अहो बत—ओह, धन्य है; श्व-पचः—कुत्ता खाने वाला; अतः—अतएव; गरीयान्—पूज्य; यत्—जिसकी; जिह्वा-अग्रे—जीभ के अगले भाग पर; वर्तते—है; नाम—पवित्र नाम; तुभ्यम्—तुमको; तेपुः तपः—अभ्यासकृत तपस्या; ते—वे; जुहुवुः—अग्नि यज्ञ (हवन) सम्पन्न किये; सस्नुः—पवित्र नदियों में स्नान किया; आर्याः—आर्यजन; ब्रह्म अनूचुः—वेदों का अध्ययन किया; नाम—पवित्र नाम; गृणन्ति—स्वीकार करते हैं; ये—जो; ते—तुम्हारी।

ओह! वे कितने धन्य हैं जिनकी जिह्वाएँ आपके पवित्र नाम का जप करती हैं! कुत्ता खाने वाले वंशों में उत्पन्न होते हुए भी ऐसे पुरुष पूजनीय हैं। जो पुरुष आपके पवित्र

नाम का जप करते हैं उन्होंने सभी प्रकार की तपस्याएँ तथा हवन किये होंगे और आर्यों के सदाचार प्राप्त किये होंगे। आपके पवित्र नाम का जप करते रहने के लिए उन्होंने तीर्थस्थानों में स्नान किया होगा, वेदों का अध्ययन किया होगा और अपेक्षित हर वस्तु की पूर्ति की होगी।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोक में आया है कि यदि कोई निरपराध भाव से एक बार भी भगवान् के पवित्र नाम का जप करता है, तो वह वैदिक यज्ञ करने का पात्र बन जाता है। *श्रीमद्भागवत* के इस कथन से किसी को चकित नहीं होना चाहिए। मनुष्य को न तो अविश्वास करना चाहिए, न यह सोचना चाहिए कि भगवान् का नाम जप करने मात्र से कोई ब्राह्मण के तुल्य कैसे बन सकता है? अविश्वास करने वालों के मन से संदेह दूर करने के लिए ही यह श्लोक पुष्टि करता है कि भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन की स्थिति सहसा प्राप्त नहीं हो जाती, अपितु जप करने वाला पहले सभी प्रकार के यज्ञ तथा अनुष्ठान कर चुका होता है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि कोई भी व्यक्ति तब तक भगवान् के नाम का जप नहीं कर पाता जब तक वह नीचे की सारी अवस्थाएँ—यथा वैदिक अनुष्ठान करना, वेदों का अध्ययन तथा आर्यों जैसा सदाचार करना—पार नहीं कर लेता। पहले यह सब सम्पन्न कर लेना होगा। जिस प्रकार विधि के विद्यार्थी से यह आशा की जाती है, वह सामान्य शिक्षा में स्नातक होगा उसी तरह जो भी भगवान् के नाम-जप हरे कृष्ण महामन्त्र के जप में लगा हुआ है उसने नीचे की सारी अवस्थाएँ पार कर ली होंगी। यह कहा गया है कि जो अपनी जीभ के अग्रभाग से केवल नाम जप करते हैं, वे धन्य हैं। मनुष्य को पवित्र नाम का जप भी नहीं करना होता और न पूरी विधि समझने की आवश्यकता रहती है, जिसमें अपराधी अवस्था, निरपराधी अवस्था तथा शुद्ध अवस्था सम्मिलित हैं। यदि पवित्र नाम को जीभ के अगले भाग पर ला दिया जाए तो वही पर्याप्त है। यहाँ यह कहा गया है कि नाम—केवल एक नाम, चाहे राम हो या कृष्ण—पर्याप्त है। ऐसा नहीं है कि मनुष्य को भगवान् के सारे नामों का जप करना पड़े। भगवान् के नाम तो असंख्य हैं और मनुष्य को यह सिद्ध करने के लिए कि उसने समस्त

वैदिक अनुष्ठानों को पूरा कर लिया है, सारे नामों के जप की आवश्यकता नहीं रहती। यदि वह एक बार भी जप करता है, तो समझिए कि उसने सारी परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर ली हैं। जो लोग चौबीसों घंटे जप करते रहते हैं उनकी तो कोई बात ही नहीं। यहाँ विशेष रूप से *तुभ्यम्* अर्थात् "केवल तुझको" प्रयुक्त हुआ है। मनुष्य को ईश्वर का नाम लेना चाहिए, मायावादी चिन्तकों की तरह कोई भी नाम नहीं। किसी देवता या भगवान् की शक्तियों के नाम नहीं। केवल परमेश्वर का नाम प्रभावशाली होता है। जो मनुष्य परमेश्वर के नाम की तुलना देवताओं से करता है, वह पाखंडी है, अपराधी है।

पवित्र नाम का कीर्तन किसी इन्द्रियतृप्ति या व्यवसाय की दृष्टि से नहीं, अपितु परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है। यदि यह शुद्ध भाव हो तो भले ही कोई निम्न परिवार में, यथा चण्डाल के घर में, क्यों न जन्म ले, वह धन्य है, क्योंकि वह न केवल अपने को शुद्ध करता है, अपितु अन्यों का उद्धार करने में समर्थ होता है। वह दिव्य नाम की महत्ता के विषय में बोल सकता है जैसा ठाकुर हरिदास ने किया। वे एक मुसलमान परिवार में जन्मे थे, किन्तु निष्कपट भाव से उन्होंने परमेश्वर का नाम जप किया, अत: भगवान् चैतन्य ने उन्हें नाम प्रचार का आचार्य बना दिया। वे उस कुल में उत्पन्न थे जहाँ वैदिक विधि-विधानों का पालन नहीं होता था। चैतन्य महाप्रभु तथा अद्वैत प्रभु ने उन्हें आचार्य रूप में स्वीकार किया, क्योंकि वे निष्कपट भाव से भगवन्नाम का जप करते थे। चैतन्य महाप्रभु तथा अद्वैत प्रभु ने तुरन्त स्वीकार किया कि हरिदास ने पहले ही सारी तपस्याएँ कर ली हैं, वेदों का अध्ययन कर लिया है और सारे यज्ञ सम्पन्न कर लिए हैं। यह स्वत: ज्ञेय है। किन्तु वंश परम्परा वाले ब्राह्मण जिन्हें स्मार्त ब्राह्मण कहा जाता है, का मत है कि यदि भगवान्नाम जप करने वालों को शुद्ध मान लिया जाय तो भी उन्हें वैदिक अनुष्ठान कराने होते हैं या अगले जन्म में ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने तक प्रतीक्षा करनी होती है, जिससे वे वैदिक अनुष्ठान कर सकें। किन्तु वस्तुत: ऐसा है नहीं। ऐसे व्यक्ति को शुद्ध होने के लिए अगले जन्म तक प्रतीक्षा नहीं करनी होती। वह तुरन्त शुद्ध हो जाता है। ऐसा मान लिया जाता है कि उसने सभी प्रकार के अनुष्ठान पहले से कर रखे हैं। ऐसे

अनेक वैदिक कार्य हैं जिनका उल्लेख यहाँ नहीं हुआ। पवित्र नाम का जप करने वाले उन्हें पहले ही सम्पन्न कर चुके होते हैं।

जुहुव: शब्द सूचित करता है कि भगवन्नाम का जप करने वाले पहले ही सारे यज्ञ कर चुकते हैं। *सस्नु:* का अर्थ है कि वे पहले ही सारे तीर्थस्थानों की यात्रा कर चुके हैं और उन स्थानों के शुद्धि-कर्मों में भाग ले चुके हैं। वे *आर्या:* कहलाते हैं, क्योंकि उन्होंने इन सारी आवश्यकताओं को पूरा कर लिया है, अत: उन्हें इन्हीं आर्यों में से होना चाहिए। *आर्यन्* उनको लक्षित करता है, जो सभ्य हैं और जिनके आचरण वैदिक अनुष्ठानों के अनुसार हैं। कोई भी भक्त जो भगवन्नाम का जप करता है, वह श्रेष्ठ आर्य है। कोई वेदों का अध्ययन किये बिना आर्य नहीं हो सकता, किन्तु भगवन्नाम जप करने वालों को स्वत: मान लिया जाता है कि उन्होंने सारा वैदिक साहित्य पहले ही पढ़ लिया है। यहाँ पर *अनूचु:* विशिष्ट शब्द के रूप में प्रयुक्त है, जिसका अर्थ है कि चूँकि उन्होंने समस्त संस्तुत कार्य कर लिए हैं, अत: वे गुरु होने के योग्य हैं।

इस श्लोक में प्रयुक्त *गृणन्ति* शब्द इसका सूचक है कि पहले से अनुष्ठानों के सम्पन्न करने से सिद्ध अवस्था प्राप्त हो चुकी है। यदि कोई उच्च न्यायालय की बेंच में आसीन होकर मुकद्दमों का फैसला करने लगता है, तो इसका अर्थ है कि उसने सारी विधि-परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर ली हैं और उन लोगों से श्रेष्ठ है, जो विधि परीक्षाएँ देने वाले हैं या भविष्य में विधि का अध्ययन करने की आकांक्षा रखते हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति भगवन्नाम का जप करते हैं, वे उनसे बढ़कर हैं, जो वास्तव में वैदिक अनुष्ठान करते हैं और जो योग्य बनने की आशा करते हैं (या दूसरे शब्दों में जो लोग ब्राह्मण कुलों में जन्म लेते हैं, किन्तु जिनके संस्कार नहीं हुए रहते फलत: वे भविष्य में वैदिक अनुष्ठानों का अध्ययन करने तथा यज्ञों को सम्पन्न करने की आशा बनाये हुए हैं)।

अनेक स्थलों पर ऐसे वैदिक कथन मिलते हैं जिनमें कहा गया है कि जो कोई भगवन्नाम का जप करता है, वह तुरन्त बद्ध जीवन से मुक्त हो जाता है और जो भगवन्नाम का श्रवण

करता है, वह भी, भले ही चण्डाल के घर क्यों न उत्पन्न हो, भव-पाश से छूट जाता है।

तं त्वामहं ब्रह्म परं पुमांसं
प्रत्यक्स्रोतस्यात्मनि संविभाव्यम् ।
स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहं
वन्दे विष्णुं कपिलं वेदगर्भम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; त्वाम्—तुमको; अहम्—मैं; ब्रह्म—ब्रह्म; परम्—परम; पुमांसम्—परमेश्वर को; प्रत्यक्-स्रोतसि—अन्तर्मुखी; आत्मनि—मन में; संविभाव्यम्—ध्यान किया, अनुभूत; स्व-तेजसा—अपनी शक्ति से; ध्वस्त—विलीन ; गुण-प्रवाहम्—प्रकृति के गुणों का प्रभाव; वन्दे—नमस्कार करती हूँ; विष्णुम्—विष्णु को; कपिलम्—कपिल नामक; वेद-गर्भम्—वेदों के आगार।

हे भगवान्, मुझे विश्वास है कि आप कपिल नाम से स्वयं पुरुषोम भगवान् विष्णु अर्थात् परब्रह्म हैं। सारे ऋषि-मुनि इन्द्रियों तथा मन के उद्वेगों से मुक्त होकर आपका ही चिन्तन करते हैं, क्योंकि आपकी कृपा से ही मनुष्य भव-बन्धन से छूट सकता है। प्रलय के समय सारे वेद आपमें ही स्थान पाते हैं।

तात्पर्य : कपिल की माता देवहूति ने अपनी प्रार्थना को और अधिक न बढ़ाकर संक्षेप में कहा कि भगवान् कपिल विष्णु ही हैं अन्य कोई नहीं हैं और चूँकि वे स्वयं एक स्त्री हैं, अत: केवल स्तुति से उनकी पूजा कर पाना उनके लिए सम्भव नहीं है। उनकी अभिलाषा थी कि भगवान् प्रसन्न हों। यहाँ पर *प्रत्यक्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। योगाभ्यास के आठ अंग इस प्रकार हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। 'प्रत्याहार' का अर्थ है इन्द्रियों के कार्यकलाप समाप्त करना। देवहूति द्वारा भगवान् के जिस साक्षात्कार की बात कही जा रही है, वह तभी सम्भव है जब मनुष्य अपनी इन्द्रियों को सारे कार्यों से मोड़ ले। जब मनुष्य भक्ति में संलग्न रहता है, तो उसकी इन्द्रियों के इधर-उधर व्यस्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी पूर्ण कृष्णचेतना में मनुष्य भगवान् को उनके असली रूप में समझ सकता है।

मैत्रेय उवाच
ईडितो भगवानेवं कपिलाख्य: पर: पुमान् ।
वाचाविक्लवयेत्याह मातरं मातृवत्सल: ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; ईडितः—प्रशंसा किये जाने पर; भगवान्—भगवान् ने; एवम्—इस प्रकार; कपिल-आख्यः—कपिल नामक; परः—परम; पुमान्—पुरुष; वाचा—शब्दों से; अविक्लवया—गम्भीर; इति—इस प्रकार; आह—उत्तर दिया; मातरम्—अपनी माता को; मातृ-वत्सलः—अपनी माता का दुलारा।.

इस प्रकार अपनी माता के शब्दों से प्रसन्न होकर मातृवत्सल भगवान् कपिल ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् सर्व-पूर्ण हैं, अतः अपनी माता के प्रति उनका स्नेह का प्रदर्शन भी पूर्ण था। अपनी माता के शब्दों को सुनकर उन्होंने अत्यन्त आदरपूर्वक गम्भीरता तथा शिष्टता के साथ उत्तर दिया।

कपिल उवाच
मार्गेणानेन मातस्ते सुसेव्येनोदितेन मे ।
आस्थितेन परां काष्ठामचिरादवरोत्स्यसि ॥ १० ॥

शब्दार्थ

कपिलः उवाच—भगवान् कपिल ने कहा; मार्गेण—मार्ग के द्वारा; अनेन—इस; मातः—हे माता; ते—तुम्हारे लिए; सु-सेव्येन—सरलता से सम्पन्न होने वाला, सुगम; उदितेन—उपदेश दिया गया; मे—मेरे द्वारा; आस्थितेन—किया गया; पराम्—परम; काष्ठाम्—लक्ष्य; अचिरात्—शीघ्र; अवरोत्स्यसि—प्राप्त करोगी।.

भगवान् ने कहा : हे माता, मैंने आपको जिस आत्म-साक्षात्कार के मार्ग का उपदेश दिया है, वह अत्यन्त सुगम है। आप बिना कठिनाई के इसका पालन कर सकती हैं और ऐसा करके आप इसी शरीर (जन्म) में शीघ्र ही मुक्त हो सकती हैं।

तात्पर्य : भक्ति इतनी पूर्ण होती है कि विधि-विधानों का पालन करने तथा गुरु के निर्देशन में उनको सम्पन्न करने से इसी शरीर में भी माया के चंगुल से मुक्त हुआ जा सकता है। अन्य योग-विधियों या ज्ञानयोग में मनुष्य को यह कभी निश्चय नहीं हो पाता कि उसे सिद्धि अवस्था प्राप्त होगी या नहीं। किन्तु भक्ति करने में यदि कोई प्रामाणिक गुरु के आदेशों में अविचल श्रद्धा रखता है और विधि-विधानों का पालन करता है, तो उसकी मुक्ति इसी शरीर में ही सम्भव है। श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्ति-रसामृत-सिन्धु* में इसकी पुष्टि की है—*ईहा यस्य हरेर्दास्ये*—चाहे वह जहाँ भी स्थित हो, यदि उसका लक्ष्य गुरु के निर्देशानुसार परमेश्वर की सेवा करना हो तो वह *जीवन्मुक्त* अर्थात् अपने भौतिक शरीर में भी मुक्त कहलाता है। कभी-

कभी नवदीक्षितों के मन में सन्देह उत्पन्न होता है कि उनका गुरु मुक्त है या नहीं और कभी-कभी वे उसके शारीरिक मामलों के प्रति भी शंकालु रहते हैं। किन्तु मुक्ति के लिए गुरु के शारीरिक लक्षण नहीं देखे जाते। देखना है, तो गुरु के आध्यात्मिक लक्षण देखिये। *जीवन्मुक्त* का अर्थ है कि इसी भौतिक देह में (कुछ न कुछ आवश्यकताएँ होते हुए भी) भगवान् की सेवा में पूर्णत: लगे होने के कारण वह मुक्त माना जाता है।

मुक्ति में अपने पद पर स्थित रहना सम्मिलित है। *श्रीमद्भागवत* में यही इसकी परिभाषा है—*मुक्तिर्...स्वरूपेण व्यवस्थिति:*। स्वरूप या जीव की वास्तविक पहचान का वर्णन चैतन्य महाप्रभु ने किया है। *जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्य दास'*—जीव की वास्तविक पहचान (स्वरूप) यह है कि वह भगवान् का नित्य दास है। यदि कोई शत प्रतिशत भगवान् की सेवा में व्यस्त रहता है, तो उसे मुक्त समझना चाहिए। किसी के मुक्त होने या न होने की पहचान उसके भक्ति-कार्य हैं, अन्य कोई लक्षण नहीं।

श्रद्धत्स्वैतन्मतं मह्यं जुष्टं यद्ब्रह्मवादिभि: ।
येन मामभयं याया मृत्युमृच्छन्त्यतद्विद: ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्रद्धत्स्व—आप आश्वस्त रहें; एतत्—इस विषय में; मतम्—उपदेश; मह्यम्—मेरा; जुष्टम्—पालन किया गया; यत्—जो; ब्रह्म-वादिभि:—अध्यात्मवादियों द्वारा; येन—जिससे; माम्—मुझको; अभयम्—भयरहित; याया:—तुम पहुँचोगी; मृत्युम्—मृत्यु को; ऋच्छन्ति—प्राप्त करते हैं; अ-तत्-विद:—जो लोग इससे अवगत नहीं हैं।

हे माता, जो लोग वास्तव में अध्यात्मवादी हैं, वे निश्चित ही मेरे उपदेशों का पालन करते हैं, जो मैंने आपको बताये हैं। आप आश्वस्त रहें, यदि आप इस आत्म-साक्षात्कार के मार्ग पर सम्यक रीति से चलेंगी तो आप समस्त भयावह भौतिक कल्मष से मुक्त होकर अन्त में मेरे पास पहुँचेंगी। हे माता, जो लोग भक्ति की इस विधि से अवगत नहीं हैं, वे जन्म-मरण के चक्र से बाहर नहीं निकल सकते।

तात्पर्य : यह संसार चिन्ताओं से पूर्ण है, अत: भयावह है। जो इस संसार से छूट जाता है, वह स्वत: सभी चिन्ताओं तथा भय से मुक्त हो जाता है। जो भगवान् कपिल द्वारा प्रतिपादित भक्ति-पथ का अनुसरण करते हैं, वे आसानी से मुक्त हो जाते हैं।

मैत्रेय उवाच
इति प्रदर्श्य भगवान्सतीं तामात्मनो गतिम् ।
स्वमात्रा ब्रह्मवादिन्या कपिलोऽनुमतो ययौ ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेय: उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; प्रदर्श्य—उपदेश देकर; भगवान्—भगवान्; सतीम्—आदरणीया को; ताम्—उस; आत्मनः—आत्म-साक्षात्कार का; गतिम्—पथ; स्व-मात्रा—अपनी माता से; ब्रह्म-वादिन्या—स्वरूपसिद्ध; कपिलः—भगवान् कपिल के; अनुमतः—आज्ञा ली; ययौ—चला गया।

श्री मैत्रेय ने कहा : अपनी ममतामयी माता को उपदेश देकर भगवान् कपिल ने उनसे आज्ञा माँगी और अपना लक्ष्य पूरा हो जाने के कारण उन्होंने अपना घर छोड़ दिया।

तात्पर्य : कपिल के रूप में भगवान् के प्रकट होने का लक्ष्य सांख्य दर्शन के दिव्य ज्ञान को वितरित करना था, जो भक्ति से पूर्ण है। अपनी माता को—और अपनी माता के माध्यम से सारे संसार को—यह ज्ञान देकर उन्होंने अपनी माता से अनुमति माँगी और चले गये, क्योंकि फिर घर पर और अधिक रुकने की आवश्यकता न थी। स्पष्ट है कि उन्होंने आत्म-बोध के लिए गृहत्याग किया, यद्यपि स्वरूप-सिद्ध होने के कारण उन्हें आध्यात्मिक दृष्टि से कुछ भी अनुभव करने के लिए शेष नहीं था। अत: भगवान् ने सामान्य व्यक्ति की भाँति आचरण करते हुए यह उदाहरण प्रस्तुत किया जिससे अन्य लोग उनसे शिक्षा ग्रहण करें। निस्सन्देह वे अपनी माता के पास रह सकते थे, किन्तु उन्होंने बताया कि परिवार में उनके रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। सबसे अच्छा है ब्रह्मचारी, संन्यासी या वानप्रस्थ बनकर अकेले रहा जाय और जीवन भर कृष्णचेतना का अनुशीलन किया जाय। जो लोग अकेले नहीं रह सकते उन्हें गृहस्थ जीवन में अपनी पत्नी तथा बच्चों के साथ रहने की छूट है, जो इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं, अपितु कृष्णचेतना के अनुशीलन के लिए दी जाती है।

सा चापि तनयोक्तेन योगादेशेन योगयुक् ।
तस्मिन्नाश्रम आपीडे सरस्वत्याः समाहिता ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; च—तथा; अपि—भी; तनय—अपने पुत्र द्वारा; उक्तेन—कहा गया; योग-आदेशेन—योग सम्बन्धी उपदेश से; योग-युक्—भक्तियोग में लगी हुई; तस्मिन्—उस; आश्रमे—कुटिया में; आपीडे—फूलों का मुकुट; सरस्वत्याः—सरस्वती का; समाहिता—समाधि में स्थिर।

अपने पुत्र के उपदेशानुसार देवहूति उसी आश्रम में भक्तियोग का अभ्यास करने लगीं। उन्होंने कर्दम मुनि के घर में समाधि लगाई, जो फूलों से इस प्रकार सुसज्जित था मानो सरस्वती नदी का फूलों का मुकुट हो।

तात्पर्य : देवहूति ने अपना घर नहीं छोड़ा, क्योंकि स्त्री के लिए घर छोड़ने की कभी भी संस्तुति नहीं की जाती। वह पराश्रित होती है। यही देवहूति, विवाह के पूर्व अपने पिता स्वायंभुव मनु के संरक्षण में थीं, फिर उनके पिता ने कर्दम मुनि को सौंप दिया। अपनी युवावस्था में वे अपने पति के संरक्षण में थीं और तभी उन्होंने पुत्र रूप में कपिल को जन्म दिया। ज्योंही पुत्र बड़ा हुआ, उनके पति ने घर त्याग दिया। वे चाहतीं तो घर छोड़ सकती थीं, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। वे घर में ही रहकर अपने महान् पुत्र कपिल मुनि के उपदेश के अनुसार भक्तियोग का अभ्यास करने लगीं। उनके भक्तियोग के कारण ही उनका पूरा घर सरस्वती नदी पर फूल के मुकुट-सा बन गया।

अभीक्ष्णावगाहकपिशान्जटिलान्कुटिलालकान् ।
आत्मानं चोग्रतपसा बिभ्रती चीरिणं कृशम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

अभीक्ष्ण—पुन: पुन:, बारम्बार; अवगाह—नहाने से; कपिशान्—भूरे; जटिलान्—जटा रूप; कुटिल—घुंघराले; अलकान्—बाल; आत्मानम्—उनका शरीर; च—तथा; उग्र-तपसा—कठोर तपस्या से; बिभ्रती—हो गया; चीरिणम्—चिथड़ों से ढकी; कृशम्—दुबली।

वे तीन बार स्नान करने लगीं और इस तरह उनके घुँघराले काले-काले बाल क्रमश: भूरे पड़ गये। तपस्या के कारण उनका शरीर धीरे-धीरे दुबला हो गया और वे पुराने वस्त्र धारण किये रहीं।

तात्पर्य : *योगी, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ* तथा *सन्यासी* दिन में कम से कम तीन बार—प्रात:, मध्याह्न तथा सायंकाल स्नान करते हैं। यहाँ तक कि कुछ गृहस्थ, विशेष रूप से ब्राह्मण भी इसका पालन करते हैं। देवहूति एक राजा की पुत्री और राजा तुल्य की पत्नी भी थीं। यद्यपि कर्दम मुनि राजा न थे, किन्तु अपने योग से उन्होंने देवहूति को दासियों समेत तथा समस्त ऐश्वर्य के साथ रखा। किन्तु उन्होंने अपने पति के रहते ही तपस्या सीख ली थी, अत: उन्हें

संयम बरतने में कोई कठिनाई नहीं हुई। फिर भी अपने पति तथा पुत्र के चले जाने के बाद उन्हें कठिन तपस्या करनी पड़ी जिससे वे दुर्बल हो गईं। आध्यात्मिक जीवन में अधिक मोटा होना अच्छा नहीं है, अपितु मनुष्य को दुर्बल होना चाहिए, क्योंकि मोटा होने पर आध्यात्मिक ज्ञान की प्रगति में बाधा पहुँचती है। मनुष्य को न तो अधिक खाना चाहिए, न अधिक सोना चाहिए और न अधिक आराम करना चाहिए। ऐच्छिक रूप से मनुष्य को कम भोजन करना चाहिए तथा कम सोना चाहिए। ये ही किसी योग के साधन की विधियाँ हैं—चाहे वह भक्तियोग हो, *ज्ञानयोग* या *हठयोग*।

प्रजापतेः कर्दमस्य तपोयोगविजृम्भितम् ।
स्वगार्हस्थ्यमनौपम्यं प्राथ्यं वैमानिकैरपि ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

प्रजा-पतेः—प्रजापति, मानव जाति के जनक; कर्दमस्य—कर्दम मुनि की; तपः—तपस्या से; योग—योग से; विजृम्भितम्—विकसित, समृद्ध; स्व-गार्हस्थ्यम्—अपना घर तथा गृहस्थी; अनौपम्यम्—अद्वितीय; प्रार्थ्यम्—ईर्ष्या की वस्तु; वैमानिकैः—स्वर्ग के वासियों से; अपि—भी।

प्रजापति कर्दम का घर तथा उनकी गृहस्थी उनकी तपस्या तथा योग के बल पर इस प्रकार समृद्ध थी कि उनके ऐश्वर्य से आकाश में विमान से यात्रा करने वाले लोग भी ईर्ष्या करते थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में आया कथन कि कर्दम मुनि की गृहस्थी को देखकर बाह्य अन्तरिक्ष के पुरुष भी ईर्ष्या करते थे, वस्तुतः स्वर्ग के निवासियों के लिए है। उनके विमान आजकल के विमानों जैसे नहीं होते थे, जो केवल एक देश से दूसरे देश तक उड़ान भरते हैं, अपितु उनके विमान एक लोक से दूसरे तक यात्रा करने में समर्थ थे। *श्रीमद्भागवत* में ऐसे अनेक उल्लेख हैं जिनसे प्रकट है कि एक लोक से दूसरे लोक तक यात्रा करने की सुविधाएँ थीं और कौन जाने अब भी वे यात्रा कर रहे हों!

हमारे विमानों तथा अन्तरिक्ष यानों की गति अत्यन्त सीमित है, किन्तु हम पहले ही देख चुके हैं कि कर्दम मुनि बाह्य अन्तरिक्ष में ऐसे विमान से यात्रा करते थे, जो नगर जैसा था और उन्होंने सभी लोकों की यात्रा की थी। वह न तो सामान्य विमान था और न वह यात्रा सामान्य

अन्तरिक्ष यात्रा थी। चूँकि कर्दम मुनि अत्यन्त शक्तिशाली योगी थे, अत: उनके ऐश्वर्य से स्वर्ग के निवासी ईर्ष्या करते थे।

पय:फेननिभा: शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदा: ।
आसनानि च हैमानि सुस्पर्शास्तरणानि च ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

पय:—दूध का; फेन—फेन; निभा:—सदृश; शय्या:—पलँग; दान्ता:—हाथी-दाँत के; रुक्म—सुनहले; परिच्छदा:—पर्दों सहित; आसनानि—कुर्सियाँ तथ बेंचें; च—तथा; हैमानि—सोने की; सु-स्पर्श—छूने में मुलायम; आस्तरणानि—गद्दियाँ; च—तथा।

यहाँ पर कर्दम मुनि के घरेलू ऐश्वर्य का वर्णन हुआ है। चादर तथा चटाइयाँ दूध के फेन के समान श्वेत थीं, कुर्सियाँ तथा बेंचें हाथीदाँत की बनी थीं और वे सुनहरी जरीदार वस्त्र से ढकी थीं तथा पलँग सोने के बने थे जिन पर अत्यन्त मुलायम गद्दियाँ थीं।

स्वच्छस्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च ।
रत्नप्रदीपा आभान्ति ललना रत्नसंयुता: ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

स्वच्छ—शुद्ध; स्फटिक—संगमरमर; कुड्येषु—दीवालों पर; महा-मारकतेषु—मूल्यवान मरकत मणि से अलंकृत; च—तथा; रत्न-प्रदीपा:—मणियों के दीपक; आभान्ति—चमकते है; ललना:—स्त्रियाँ; रत्न—आभूषणों से; संयुता:—अलंकृत।

घर की दीवालें उत्तमकोटि के संगमरमर की थीं और बहुमूल्य मणियों से अलंकृत थीं। वहाँ प्रकाश की आवश्यकता न थी, क्योंकि इन मणियों की किरणों से घर प्रकाशित था। घर की सभी स्त्रियाँ आभूषणों से अलंकृत थीं।

तात्पर्य : इस कथन से पता चलता है कि गृहस्थी का ऐश्वर्य बहुमूल्य मणियों, हाथीदाँत, अच्छे संगमरमर तथा सोने और मणियों के बने साज-सामान से प्रदर्शित होता था। कपड़े भी सुनहरी जरी से युक्त थे। हर वस्तु का कुछ न कुछ मूल्य होता था। वहाँ आज के जैसा साज-समान न था, जो मूल्यरहित प्लास्टिक या निम्न धातु का बना होता है। वैदिक सभ्यता का ढंग था कि घेरलू कामकाज में जो भी वस्तु प्रयुक्त होती थी वह मूल्यवान होती थी। आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त इनका विनिमय किया जा सकता था। इस तरह यदि किसी का सामान टूट भी

जाय तो उसका भी मूल्य होगा। आज भी भारतीय जन अपने घरों में इसी पद्धति को अपनाते हैं। वे धातु के बर्तन तथा स्वर्णभूषण या चाँदी के बने बर्तन और सोने की जरी वाले मूल्यवान रेशमी वस्त्र रखते हैं जिससे आवश्यकता पड़ने पर विनिमय में उन्हें कुछ धन मिल सके। उधार देने वालों तथा गृहस्थों के बीच ऐसा विनिमय चलता है।

गृहोद्यानं कुसुमितै रम्यं बह्वमरद्रुमैः ।
कूजद्विहङ्गमिथुनं गायन्मत्तमधुव्रतम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

गृह-उद्यानम्—घरेलू बाग; कुसुमितैः—फूलों तथा फलों से; रम्यम्—सुन्दर; बहु-अमर-द्रुमैः—अनेक कल्पवृक्षों सहित; कूजत्—गाते हुए; विहङ्ग—पक्षियों का; मिथुनम्—जोड़ा; गायत्—गुनगुनाती; मत्त—मतवाली; मधु-व्रतम्—मधुमक्खियों सहित।

मुख्य घर का आँगन सुन्दर बगीचों से घिरा था जिनमें मधुर सुगन्धित फूल तथा अनेक वृक्ष थे जिनमें ताजे फल उत्पन्न होते थे और वे ऊँचे तथा सुन्दर थे। ऐसे बगीचों का आकर्षण यह था कि गाते पक्षी वृक्षों पर बैठते और उनके कलरव से तथा मधुमक्खियों की गुंजार से सारा वातावरण यथासम्भव मोहक बना हुआ था।

यत्र प्रविष्टमात्मानं विबुधानुचरा जगुः ।
वाप्यामुत्पलगन्धिन्यां कर्दमेनोपलालितम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; प्रविष्टम्—प्रविष्ट हुए; आत्मानम्—अपने ही; विबुध-अनुचराः—स्वर्ग के वासियों के संगी; जगुः—गाया; वाप्याम्—ताल में; उत्पल—कमल; गन्धिन्याम्—सुगंध से; कर्दमेन—कर्दम द्वारा; उपलालितम्—सावधानी से पाला गया।

जब देवहूति उस सुन्दर बगीचे में कमल फूलों से भरे हुए ताल में स्नान करने के लिए प्रवेश करतीं तो स्वर्गवासियों के संगी गन्धर्वगण कर्दम के महिमामय गृहस्थ जीवन का गुणगान करते। देवहूति के महान् पति कर्दम उन्हें सभी कालों में सुरक्षा प्रदान करते रहे।

तात्पर्य : इस श्लोक में आदर्श पति-पत्नी का सम्बन्ध अत्यन्त सुन्दर ढंग से वर्णित है। कर्दम मुनि पति रूप में देवहूति को सुख के सारे प्रमुख साधन प्रदान करते थे, किन्तु वे अपनी

पत्नी के प्रति तनिक भी आसक्त न थे। ज्योंही कपिल बड़े हो गये वैसे ही कर्दम ने सारे पारिवारिक सम्बन्ध तोड़ लिये। इसी प्रकार, देवहूति एक महान् राजा स्वायंभुव मनु की पुत्री थी, वह योग्य और सुन्दर थी, किन्तु वह अपने पति की सिद्धि पर पूर्णतया आश्रित थी। मनु के अनुसार, स्त्री को जीवन की किसी भी अवस्था में स्वतन्त्रता नहीं दी जानी चाहिए। बालपन में स्त्री को अपने माता-पिता के संरक्षण में, युवावस्था में पति के संरक्षण में और बुढ़ापे में अपने सयाने पुत्र के संरक्षण में रहना चाहिए। *मनुसंहिता* के इन सारे कथनों को देवहूति ने अपने जीवन में उतार लिया था—बालिका रूप में वह अपने पिता के आश्रित थी, बाद में ऐश्वर्यमान होते हुए भी अपने पति के तथा अन्त में अपने पुत्र कपिलदेव के आश्रय में थी।

हित्वा तदीप्सिततममप्याखण्डलयोषिताम् ।
किञ्चिच्चकार वदनं पुत्रविश्लेषणातुरा ॥ २० ॥

शब्दार्थ

हित्वा—त्याग कर; तत्—वह घर; ईप्सित-तमम्—अभीष्ट; अपि—ही; आखण्डल-योषिताम्—इन्द्र की पत्नियों द्वारा; किञ्चित् चकार वदनम्—उसके मुख पर उदासी छायी थी; पुत्र-विश्लेषण—अपने पुत्र के वियोग से; आतुरा—दुखी।

यद्यपि उनकी स्थिति सभी प्रकार से अद्वितीय थी, किन्तु साध्वी देवहूति ने इतनी सम्पत्ति होते हुए भी, जिसकी ईर्ष्या स्वर्ग की सुन्दरियाँ भी करती थीं, अपने सारे सुख त्याग दिये। उन्हें यह शोक था कि उनका इतना महान् पुत्र उनसे विलग हो रहा है।

तात्पर्य : देवहूति को अपने भौतिक सुख छोड़ने का दुख न था, किन्तु वे अपने पुत्र के वियोग से अत्यन्त शोकाकुल थीं। यहाँ यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि जब देवहूति को अपनी सारी सुख-सुविधाएँ त्यागने का कोई शोक न था, तो अपने पुत्र के जाने का इतना शोक क्यों था ? वे अपने पुत्र के प्रति इतनी आसक्त क्यों थी ? अगले श्लोक में इसका उत्तर दिया गया है। उनका पुत्र कपिल सामान्य पुत्र न था। वह भगवान् था। कोई व्यक्ति भौतिक आसक्ति को तभी त्याग सकता है जब उसकी आसक्ति परम पुरुष के प्रति हो। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* में हुई है— *परं दृष्ट्वा निवर्तते*। जब किसी में आध्यात्मिक जगत के प्रति रुचि होती है तभी वह भौतिक जीवन के प्रति उदासीन रहता है।

वनं प्रव्रजिते पत्यावपत्यविरहातुरा ।
ज्ञाततत्त्वाप्यभून्नष्टे वत्से गौरिव वत्सला ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

वनम्—वन को; प्रव्रजिते पत्यौ—पति के चले जाने पर; अपत्य-विरह—अपने पुत्र के विरह से; आतुरा—अत्यन्त दुखी; ज्ञात-तत्त्वा—सत्य का ज्ञान; अपि—यद्यपि; अभूत्—हो गई; नष्टे वत्से—बछड़ा मर जाने पर; गौः—गाय; इव—के सदृश; वत्सला—स्नेहिल।

देवहूति के पति ने पहले ही गृहत्याग करके संन्यास आश्रम ग्रहण कर लिया था और तब उनके एकमात्र पुत्र कपिल ने घर छोड़ दिया। यद्यपि उन्हें जीवन तथा मृत्यु के सारे सत्य ज्ञात थे और यद्यपि उनका हृदय सभी प्रकार के मल से रहित था, किन्तु वे अपने पुत्र के जाने से इस तरह दुखी थीं जिस प्रकार कि बछड़े के मरने पर गाय दुखी होती है।

तात्पर्य : जिस स्त्री का पति घर से दूर हो या संन्यासी हो गया हो उसे अत्यन्त दुखी नहीं होना चाहिए, क्योंकि उसके पति का प्रतिनिधि, उसका पुत्र उसके पास रहता है। शास्त्रों का वचन है—*आत्मैव पुत्रो जायते*—पति के शरीर का प्रतिनिधित्व पुत्र करता है। यदि स्त्री के वयस्क पुत्र हो तो वह विधवा नहीं होती। जब कपिल मुनि उनके पास थे तो देवहूति अधिक विकल नहीं थीं, किन्तु उनके विदा होते ही वे अत्यन्त शोकाकुल हो उठीं। वे इसलिए शोक-संतप्त नहीं थीं कि कर्दम मुनि के साथ उनका संसारी सम्बन्ध था, अपितु भगवान् के प्रति अपने सत्यनिष्ठ प्रेम के कारण वे संतप्त थीं।

यहाँ उदाहरण दिया गया है कि देवहूति उस गाय के तुल्य हो गईं जिसने अपना बछड़ा खो दिया हो। अपने बछड़े से बिछुड़ कर गाय रात-दिन तड़फड़ाती है। इसी प्रकार देवहूति दुखी थीं और अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों से यही प्रार्थना करतीं "मेरे पुत्र को घर ला दो जिससे मैं जीवित रह सकूँ अन्यथा मैं मर जाऊँगी।" भगवान् के प्रति यह प्रगाढ़ स्नेह, यद्यपि अपने पुत्र-प्रेम के रूप में प्रकट होता है, आध्यात्मिक दृष्टि से लाभप्रद होता है। अपने पुत्र के प्रति आसक्ति होने से मनुष्य इसी संसार में रहने के लिए बाध्य होता है, किन्तु वही आसक्ति भगवान् के प्रति होने पर उसे वैकुण्ठलोक में भगवान् की संगति में ले जाती है।

हर स्त्री अपने को देवहूति के समान योग्य बनाकर भगवान् को अपने पुत्र के रूप में प्राप्त

कर सकती है। यदि भगवान् देवहूति के पुत्र रूप में प्रकट हो सकते हैं, तो वे अन्य किसी स्त्री के भी पुत्र रूप में उत्पन्न हो सकते हैं। हाँ, तभी जब वह स्त्री सुयोग्य हो। यदि किसी को पुत्र रूप में भगवान् मिल जाँय तो उसे इस संसार में सुपुत्र पालन का लाभ मिल सकता है और साथ ही वैकुण्ठलोक का लाभ, जिससे वह भगवान् का साक्षात् पार्षद बन सकता है।

तमेव ध्यायती देवमपत्यं कपिलं हरिम् ।
बभूवाचिरतो वत्स निःस्पृहा तादृशे गृहे ॥ २२॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; एव—निश्चय ही; ध्यायती—ध्यान करती; देवम्—दैवी; अपत्यम्—पुत्र; कपिलम्—कपिल को; हरिम्—भगवान्; बभूव—हो गयी; अचिरतः—तुरन्त; वत्स—हे विदुर; निःस्पृहा—अनासक्त; तादृशे गृहे—ऐसे घर के प्रति।

हे विदुर, इस प्रकार अपने पुत्र भगवान् कपिलदेव का ध्यान करती हुईं वे शीघ्र ही उत्तम ढंग से सजे अपने घर के प्रति अनासक्त हो उठीं।

तात्पर्य : यहाँ पर आध्यात्मिक उदाहरण प्राप्त है कि किस तरह कोई कृष्णभावनामृत द्वारा अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है। कपिलदेव कृष्ण हैं और वे देवहूति के पुत्र रूप में प्रकट हुए। कपिलदेव के गृहत्याग के बाद देवहूति उनके विचार में मग्न थीं और इस तरह वे सदा कृष्णभावनाभावित थीं। निरन्तर कृष्णचेतना में स्थित होने से वे अपने-आपको गृहस्थी से विरक्त कर सकीं।

जब तक हम अपनी आसक्ति को भगवान् में स्थानान्तरित नहीं कर देते तब तक भौतिक आसक्ति से छूटने की कोई सम्भावना नहीं रहती। अतः *श्रीमद्भागवत* पुष्टि करता है कि केवल ज्ञानयोग के अनुशीलन से मुक्त होना सम्भव नहीं है। केवल इतना जान लेने से कि मनुष्य पदार्थ नहीं, अपितु आत्मा या ब्रह्म है, उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं हो जाती। यदि निर्विशेषवादी आध्यात्मिक बोध की पराकाष्ठा तक पहुँच भी जाय तो वह पुनः भौतिक आसक्ति में आ गिरता है, क्योंकि वह परमेश्वर की दिव्य प्रेमा-भक्ति में स्थित नहीं होता है।

भक्तगण भगवान् की लीलाओं का श्रवण करते हुए तथा उनके कार्यकलापों की महिमा का गान करते हुए और इस तरह उनके सुन्दर दिव्य रूप का सतत स्मरण करते हुए भक्तियोग को

अपना लेते हैं। मनुष्य सेवा करके, उनका मित्र या दास बनकर तथा अपना सर्वस्व अर्पित करके ईश्वर के धाम जाने में समर्थ होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा*—शुद्ध भक्ति करके मनुष्य भगवान् को जान सकता है और इस तरह वह स्वर्गलोक में उनकी संगति में पहुँचने का अधिकारी हो जाता है।

ध्यायती भगवद्रूपं यदाह ध्यानगोचरम् ।
सुतः प्रसन्नवदनं समस्तव्यस्तचिन्तया ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

ध्यायती—ध्यानमग्न; भगवत्-रूपम्—भगवान् के स्वरूप को; यत्—जो; आह—उपदेश दिया; ध्यान-गोचरम्—ध्यान की वस्तु; सुतः—अपना पुत्र; प्रसन्न-वदनम्—प्रसन्नमुख से; समस्त—समग्र; व्यस्त—अंगों का; चिन्तया—अपने मन से।

तत्पश्चात् निरन्तर हँसमुख अपने पुत्र भगवान् कपिलदेव से अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक एवं विस्तारपूर्वक सुनकर देवहूति परमेश्वर के विष्णुस्वरूप का निरन्तर ध्यान करने लगीं।

भक्तिप्रवाहयोगेन वैराग्येण बलीयसा ।
युक्तानुष्ठानजातेन ज्ञानेन ब्रह्महेतुना ॥ २४ ॥
विशुद्धेन तदात्मानमात्मना विश्वतोमुखम् ।
स्वानुभूत्या तिरोभूतमायागुणविशेषणम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

भक्ति-प्रवाह-योगेन—निरन्तर भक्ति में लगे रहने से; वैराग्येण—वैराग्य द्वारा; बलीयसा—अत्यन्त प्रबल; युक्त-अनुष्ठान—उचित ढंग से कर्मों को करने से; जातेन—उत्पन्न; ज्ञानेन—ज्ञान से; ब्रह्म-हेतुना—ब्रह्म-साक्षात्कार होने से; विशुद्धेन—शुद्धिकरण से; तदा—तब; आत्मानम्—भगवान् को; आत्मना—मन से; विश्वतः-मुखम्—जिसका मुख चारों ओर घूमता है; स्व-अनुभूत्या—आत्म-साक्षात्कार से; तिरः-भूत—अप्रकट; माया-गुण—प्रकृति के गुणों का; विशेषणम्—विशेष।

उन्होंने भक्ति में गम्भीरतापूर्वक संलग्न रह कर ऐसा किया। चूँकि उनका वैराग्य प्रबल था, अतः उन्होंने मात्र शरीर की आवश्यकताओं को ग्रहण किया। वे ब्रह्म-साक्षात्कार के कारण ज्ञान में व्यवस्थित हुईं, उनका हृदय शुद्ध हो गया, वे भगवान् के ध्यान में पूर्णतः निमग्न हो गईं और प्रकृति के गुणों से उत्पन्न सारी दुर्भावनाएँ समाप्त हो गईं।

ब्रह्मण्यवस्थितमतिर्भगवत्यात्मसंश्रये ।
निवृत्तजीवापत्तित्वात्क्षीणक्लेशाप्तनिर्वृतिः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मणि—ब्रह्म में; अवस्थित—स्थित; मतिः—मन; भगवति—भगवान् में; आत्म-संश्रये—सभी जीवों में वास करने वाला; निवृत्त—मुक्त; जीव—जीवात्मा का; आपत्तित्वात्—दुर्भाग्य से; क्षीण—लुप्त; क्लेश—कष्ट; आप्त—प्राप्त; निर्वृतिः—दिव्य आनन्द।

उनका मन भगवान् में पूर्णतः निमग्न हो गया और उन्हें स्वतः निराकार ब्रह्म का बोध हो गया। ब्रह्म-सिद्ध आत्मा के रूप में वे भौतिक जीवन-बोध की उपाधियों से मुक्त हो गईं। इस प्रकार उनके सारे क्लेश मिट गये और उन्हें दिव्य आनन्द प्राप्त हुआ।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बताया गया है कि देवहूति पहले से परम सत्य से अवगत थीं। अतः यह प्रश्न किया जा सकता है कि फिर वे ध्यान क्यों कर रही थीं? बात यह है कि जब कोई सिद्धान्त रूप में परम सत्य की व्याख्या करता है, तो उसे परम सत्य की निराकार प्रतीति होने लगती है। इसी प्रकार जब कोई उनके स्वरूप, गुण, लीला तथा उनके पार्षदों के विषय में गम्भीरतापूर्वक विवेचन करता है, तो वह उनके ध्यान में स्थित होता है। परमेश्वर का ज्ञान पूर्ण हो जाने पर स्वतः निराकार ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। ज्ञाता परमेश्वर को तीन दृष्टियों से अनुभव करता है—निराकार ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्। अतः यदि कोई परमेश्वर के ज्ञान में स्थित है, तो इसका यह अर्थ हुआ कि उसे परमात्मा तथा निराकार ब्रह्म की प्रतीति है।

भगवद्गीता का वचन है—*ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा*। इसका अर्थ यह हुआ कि जब तक मनुष्य भवबन्धन से मुक्त नहीं होता और ब्रह्म में स्थित नहीं हो जाता, तब तक भक्ति को समझने या कृष्णभावनामृत में प्रवृत्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जो कोई कृष्ण की भक्ति में लग जाता है उसे पहले ही ब्रह्म की प्रतीति हो चुकी होती है, क्योंकि भगवान् के दिव्य ज्ञान में ब्रह्मज्ञान सम्मिलित है। *भगवद्गीता* द्वारा इसकी पुष्टि होती है—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*—श्रीभगवान् की प्रतीति ब्रह्म पर निर्भर नहीं होती है। *विष्णु पुराण* भी पुष्टि करता है कि जिसने सर्वमंगल परमेश्वर की शरण ग्रहण कर ली है, वह पहले से ब्रह्मज्ञान में स्थित रहता है। दूसरे शब्दों में, जो वैष्णव होता है, वह पहले से ब्राह्मण होता है।

इस श्लोक की दूसरी विशेष बात यह है कि मनुष्य को निर्दिष्ट विधि-विधानों का पालन करना होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है—*युक्ताहार विहारस्य*। जब कोई कृष्णभावनामृत भक्ति में प्रवृत्त होता है तब भी उसे खाना, सोना, रक्षा करना तथा मैथुन करना होता है, क्योंकि ये जीवन की आवश्यकताएँ हैं। किन्तु वह इन कार्यों को नियामक ढंग से करता है। उसे कृष्ण-प्रसाद खाना होता है। उसे नियमबद्ध विधि से सोना होता है। सिद्धान्त यह है कि नींद की अवधि कम की जाय तथा भोजन कम किया जाय और उतना ही ग्रहण किया जाय जितने से शरीर ठीक-ठाक रहे। संक्षेप में कहना चाहें तो यह कि जीवन का उद्देश्य इन्द्रियतृप्ति न होकर आध्यात्मिक उन्नति होता है। इसी प्रकार संभोग में कमी की जानी चाहिए। संभोग का उद्देश्य केवल कृष्णभक्त सन्तान उत्पन्न करना है, अन्यथा संभोग की कोई आवश्यकता नहीं है। किसी वस्तु की मनाही नहीं है, किन्तु प्रत्येक वस्तु मन में सदुद्देश्य रखकर *युक्त* अर्थात् नियमित बनाई जाती है। जीवन के इन विधि-विधानों का पालन करते हुए मनुष्य शुद्ध हो जाता है और अविद्याजनित सारी भ्रान्तियाँ दूर हो जाती हैं। यहाँ इसका विशिष्ट उल्लेख है कि भवबन्धन के सारे कारण नष्ट हो जाते हैं।

अनर्थ-निवृत्ति सूचित करता है कि यह शरीर अवांछित है। हम तो आत्मा हैं और इस भौतिक शरीर की हमें कोई आवश्यकता नहीं थी। किन्तु हमने शरीर का भोग करना चाहा, अत: हमें भगवान् के निर्देशन में माया के माध्यम से यह शरीर मिला। ज्योंही हम भगवान् के साथ अपने दास्यभाव का पूर्वसम्बन्ध स्थापित कर लेंगे, हम शरीर की आवश्यकताएँ भूलने लगेंगे और अन्त में हम शरीर को भूल जाएँगे।

कभी-कभी स्वप्न में हमें ऐसा शरीर प्राप्त होता है, जिसके द्वारा हम स्वप्न में कार्य करते हैं। मुझे स्वप्न आ सकता है कि मैं आकाश में उड़ रहा हूँ, या किसी जंगल या अज्ञात स्थान में गया हुआ हूँ। किन्तु ज्योंही मैं जगता हूँ तो ये शरीर भूल जाते हैं। इसी प्रकार जब कोई कृष्णभावना में होता है, तो उसे शरीर के सारे विकार भूल जाते हैं। हम माता के गर्भ से जन्म लेने के बाद निरन्तर शरीर बदलते रहते हैं। किन्तु जब हममें कृष्णचेतना (भक्ति) जागृत होती

है, तो हम इन सारे शरीरों को भूल जाते हैं। तब शारीरिक आवश्यकताएँ गौण हो जाती हैं, क्योंकि आत्मा का कार्य वास्तविक आध्यात्मिक जीवन में लगना है। पूर्ण कृष्णभावना में भक्ति कार्यों से हम समाधि में स्थित होते हैं। *भगवत्यात्मसंश्रये* शब्द परमात्मा रूप भगवान् के द्योतक हैं। *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण कहते हैं—*बीजं मां सर्वभूतानाम्*—मैं समस्त जीवों का बीज रूप हूँ। भक्तियोग द्वारा परमेश्वर की शरण ग्रहण करने से मनुष्य को ब्रह्म की पूरी प्रतीति हो जाती है। कपिल कहते हैं—*मद्गुणश्रुतिमात्रेण*—जो कृष्णभावनाभावित है और भगवान् में स्थित है, वह भगवान् के दिव्य गुणों के श्रवण मात्र से ईश्वर प्रेम से पूरित हो जाता है।

देवहूति को उनके पुत्र कपिलदेव ने पूरी तरह उपदेश दिया था कि किस तरह विष्णु के स्वरूप पर मन को केन्द्रिय किया जाय। भक्तियोग के सम्बन्ध में अपने पुत्र द्वारा दिए गये उपदेशों का अनुसरण करके उन्होंने अपने मन में भगवान के स्वरूप का ध्यान किया। ब्रह्म-साक्षात्कार अर्थात् योग पद्धति अथवा भक्तियोग की यही पूर्णता है। अन्ततः जब मनुष्य परमेश्वर के विचार में पूरी तरह निमग्न हो जाता है और निरन्तर उनका ही ध्यान करता है, वही सर्वोच्च सिद्धि है। भगवद्गीता में पुष्टि हुई है कि इस प्रकार से जो सदैव ध्यानमग्न रहता है, वही उच्च कोटि का योगी है।

ज्ञानयोग, ध्यानयोग अथवा भक्तियोग—दिव्य साक्षात्कार की समस्त विधियों का वास्तविक उद्देश्य भक्ति के बिन्दु तक पहुँचना हैं। यदि कोई केवल परम सत्य या परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करता है, किन्तु उसमें भक्ति नहीं होती तो सारा श्रम निरर्थक होता है। यह तो अन्न निकाले हुए भूसे को कूटने जैसा है। जब तक मनुष्य परमेश्वर को वास्तविक लक्ष्य नहीं मान लेता तब तक केवल चिन्तन या योगाभ्यास करना व्यर्थ है। 'अष्टांग-योग' पद्धति में सिद्धि की सातवीं अवस्था ध्यान है, जबकि भक्तियोग में वही ध्यान तीसरी अवस्था है। पहली अवस्था है श्रवण और दूसरी कीर्तन, तब ध्यान। अतः भक्ति करने से मनुष्य स्वयमेव पटु ज्ञानी तथा पटु योगी हो जाता है। दूसरे शब्दों में, ज्ञान तथा योग भक्ति की विभिन्न प्रारम्भिक अवस्थाएँ हैं।

देवहूति सार ग्रहण करने में पटु थीं, उन्होंने अपने हँसमुख पुत्र कपिलदेव द्वारा उपदिष्ट विधि से विष्णु स्वरूप का ध्यान किया। साथ ही वे कपिलदेव का भी चिन्तन कर रही थीं जो श्रीभगवान् हैं, अत: उन्होंने अपनी तपस्या तथा दिव्य साक्षात्कार को पूरा कर लिया।

नित्यारूढसमाधित्वात्परावृत्तगुणभ्रमा ।
न सस्मार तदात्मानं स्वप्ने दृष्टमिवोत्थितः ॥ २७॥

शब्दार्थ

नित्य—शाश्वत; आरूढ—स्थित; समाधित्वात्—समाधि से; परावृत्त—मुक्त; गुण—प्रकृति के गुणों का; भ्रमा—भ्रम; न सस्मार—उसे स्मरण नहीं आया; तदा—तब; आत्मानम्—अपना शरीर; स्वप्ने—स्वप्न में; दृष्टम्—देखा हुआ; इव—जिस प्रकार; उत्थितः—जागा हुआ।

नित्य समाधि में स्थित होने तथा प्रकृति के गुणों से उत्पन्न भ्रम से मुक्त होने के कारण उन्हें अपना शरीर वैसे ही भूल गया जिस तरह मनुष्य को स्वप्न में अपने विविध शरीर भूल जाते हैं।

तात्पर्य : एक महान् वैष्णव का कहना है कि जिसे अपने शरीर की सुधि नहीं रहती वह संसार से बँधा हुआ नहीं है। जब तक हमें अपने शरीर की सुधि रहती है तब तक यह समझना चाहिए कि हम प्रकृति के तीन गुणों से बद्ध हैं। यह विस्मृति तभी सम्भव है जब हम अपनी इन्द्रियों को भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति में लगा दें। बद्ध अवस्था में मनुष्य अपनी इन्द्रियाँ परिवार के सदस्य या समाज अथवा देश के सदस्य रूप में लगाता है। किन्तु जब वह ऐसी भौतिक सदस्यता को भूल करके यह अनुभव करता है कि वह भगवान् का नित्य दास है, तो वही संसार की वास्तविक विस्मृति है।

यह विस्मृति असल में भगवान् की सेवा करने पर ही उत्पन्न होती है। तब भक्त अपने परिवार, समाज, देश, मानवता इत्यादि के लिए इन्द्रियतृप्ति हेतु कोई कार्य नहीं करता। वह केवल पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के लिए कार्य करता है। यही पूर्ण कृष्णचेतना (भक्ति) है।

भक्त दिव्य सुख में निमग्न रहता है, अत: वह भौतिक क्लेशों का कोई अनुभव नहीं करता। यह दिव्य सुख नित्य आनन्द कहलाता है। भक्तों के अनुसार, भगवान् का निरन्तर स्मरण ही समाधि है। यदि कोई निरन्तर समाधि में रहता है, तो उस पर प्रकृति के गुणों का

आक्रमण नहीं होता, यहाँ तक कि वे इसे छू तक नहीं पाते। ज्योंही कोई तीनों गुणों के कल्मष से मुक्त हो जाता है उसे एक शरीर से दूसरे में अन्तरण करने के लिए जन्म नहीं लेना पड़ता।

तद्देहः परतः पोषोऽप्यकृशश्चाध्यसम्भवात् ।
बभौ मलैरवच्छन्नः सधूम इव पावकः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तत्-देहः—उनका शरीर; परतः—अन्यों से (कर्दम द्वारा उत्पन्न युवतियों से); पोषः—पाला गया; अपि—यद्यपि; अकृशः—दुबला नहीं; च—तथा; आधि—चिन्ता; असम्भवात्—उत्पन्न न होने से; बभौ—चमका; मलैः—धूल से; अवच्छन्नः—ढका हुआ; स-धूमः—धुएँ से घिरा; इव—सदृश; पावकः—अग्नि।

उसके शरीर की देखभाल उसके पति कर्दम द्वारा उत्पन्न अप्सराओं द्वारा की जा रही थी और चूँकि उस समय उसे किसी प्रकार की मानसकि चिन्ता न थी, अतः उसका शरीर दुर्बल नहीं हुआ। वह धुएँ से घिरी हुई अग्नि के समान प्रतीत हो रही थी।

तात्पर्य : चूँकि वह समाधि में दिव्य आनन्द का अनुभव करती थी, अतः भगवान् का विचार सदैव उसके मन में स्थिर था। वह दुबली नहीं हुई, क्योंकि उसकी देखभाल स्वर्ग की उन सुन्दरियों द्वारा की जा रही थी जिन्हें कर्दम मुनि ने उत्पन्न किया था। आयुर्वेद के अनुसार यदि कोई चिन्तामुक्त रहे तो वह मोटा हो जाता है। देवहूति कृष्णभक्ति में स्थित होने के कारण सारी चिन्ताओं से मुक्त थीं, अतः उनका शरीर दुबला नहीं हुआ। संन्यास आश्रम में किसी दास या दासी से सेवा कराने का विधान नहीं है, किन्तु देवहूति की सेवा स्वर्ग-सुन्दरियाँ कर रही थीं। यह आध्यात्मिक जीवन विचारधारा के प्रतिकूल लग सकता है, किन्तु जिस प्रकार धुएँ से घिरी होने पर भी अग्नि सुन्दर लगती है, उसी प्रकार देवहूति अत्यन्त शुद्ध दिख रही थीं, यद्यपि ऐसा लग रहा था कि वह विलासमय जीवन बिता रही है।

स्वाङ्गं तपोयोगमयं मुक्तकेशं गताम्बरम् ।
दैवगुप्तं न बुबुधे वासुदेवप्रविष्टधीः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

स्व-अङ्गम्—अपना शरीर; तपः—तपस्या; योग—योगाभ्यास; मयम्—पूर्णतया संलग्न; मुक्त—खुले हुए; केशम्—बाल; गत—अस्तव्यस्त; अम्बरम्—वस्त्र; दैव—भगवान् द्वारा; गुप्तम्—रक्षित; न—नहीं; बुबुधे—उसे पता था; वासुदेव—भगवान् में; प्रविष्ट—तल्लीन; धीः—विचार।

भगवान् के विचार में सदैव तल्लीन रहने के कारण उसे इसकी सुधि भी न रही कि उसके बाल बिखर गये हैं और उसके वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *दैवगुप्तम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है "भगवान् द्वारा रक्षित।" एक बार भगवान् की शरण ग्रहण कर लेने पर वे ही भक्त के शरीर का पालन करते हैं और इसकी रक्षा के लिए किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रह जाती। *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कंध के द्वितीय अध्याय में कहा गया है कि पूर्ण शरणागत व्यक्ति को अपने शरीर के पालन की परवाह नहीं रहती। परमेश्वर असंख्य प्रकार के जीवों का पालन करते हैं, अत: जो उनकी सेवा में संलग्न है, वह अरक्षित नहीं रह सकता। अत: स्वाभाविक है कि देवहूति को अपने शरीर की सुध-बुध न थी, उसकी रक्षा तो परम पुरुष कर रहे थे।

एवं सा कपिलोक्तेन मार्गेणाचिरत: परम् ।
आत्मानं ब्रह्मनिर्वाणं भगवन्तमवाप ह ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सा—वह (देवहूति); कपिल—कपिल द्वारा; उक्तेन—बताये; मार्गेण—मार्ग से; अचिरत:—शीघ्र; परम्—परम; आत्मानम्—परमात्मा को; ब्रह्म—ब्रह्म; निर्वाणम्—जीवन का अन्त; भगवन्तम्—भगवान् को; अवाप—प्राप्त किया; ह—निश्चय ही।

हे विदुर, कपिल द्वारा बताये गये नियमों का पालन करते हुए देवहूति शीघ्र ही भव-बन्धन से मुक्त हो गई और बिना कठिनाई के परमात्मास्वरूप भगवान् को प्राप्त हुईं।

तात्पर्य : इस प्रसंग में देवहूति की उपलब्धि को बताने वाले तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं—*आत्मानम्, ब्रह्म-निर्वाणम् तथा भगवन्तम्*—ये परम सत्य की खोज की क्रमिक विधि को बताते हैं, जिसे *भगवन्तम्* कहा गया है। भगवान् विविध वैकुण्ठलोकों में वास करते हैं। *निर्वाण* का अर्थ है संसार के क्लेशों का शमन। जब कोई वैकुण्ठ को जाता है, तो वह सारे क्लेशों से स्वत: मुक्त हो जाता है। यही *ब्रह्म-निर्वाण* है। वैदिक शास्त्रों के अनुसार *निर्वाण* का अर्थ है भौतिक जीवन का अन्त। *आत्मानम्* का अर्थ है हृदय के भीतर परमात्मा का साक्षात्कार। अन्तत: परमसिद्धि तो भगवान् का साक्षात्कार है। यह समझ लेना चाहिए कि देवहूति उस लोक में प्रविष्ट हुईं जिसे कपिल 'वैकुण्ठ' कहते हैं। वैकुण्ठलोकों की संख्या अनन्त है जिनमें

विष्णु के अंशों का प्राधान्य रहता है। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* से ज्ञात होता है—*अद्वैतम् अच्युतम् अनादिम् अनन्तरूपम्*। *अनन्त* का अर्थ है 'असंख्य'। भगवान् के दिव्य स्वरूप के असंख्य विस्तार (अंश) होते हैं और अपनी चार भुजाओं में विभिन्न चिह्नों को धारण करने के कारण वे नारायण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, वासुदेव आदि कहलाते हैं। 'कपिल वैकुण्ठ' नाम से भी एक वैकुण्ठ है जहाँ देवहूति कपिल से मिलने और अपने दिव्य पुत्र की संगति का आनन्द लेने के लिए भेज दी गईं।

तद्वीरासीत्पुण्यतमं क्षेत्रं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
नाम्ना सिद्धपदं यत्र सा संसिद्धिमुपेयुषी ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; वीर—हे वीर विदुर; आसीत्—था; पुण्य-तमम्—सर्वाधिक पवित्र; क्षेत्रम्—स्थान; त्रै-लोक्य—तीनों लोकों में; विश्रुतम्—विख्यात; नाम्ना—नाम से; सिद्ध-पदम्—सिद्ध पद; यत्र—जहाँ; सा—उसने (देवहूति ने); संसिद्धिम्—सिद्धि; उपेयुषी—प्राप्त की।

हे विदुर, जिस स्थान पर देवहूति ने सिद्धि प्राप्त की वह स्थान अत्यन्त पवित्र माना जाता है। यह तीनों लोकों में सिद्धपद के नाम से विख्यात है।

तस्यास्तद्योगविधुतमार्त्यं मर्त्यमभूत्सरित् ।
स्रोतसां प्रवरा सौम्य सिद्धिदा सिद्धसेविता ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तस्याः—देवहूति का; तत्—वह; योग—योग द्वारा; विधुत—परित्यक्त; मार्त्यम्—भौतिक तत्त्व; मर्त्यम्—समस्त नदियों में; अभूत्—हो गया; सरित्—नदी; स्रोतसाम्—समस्त नदियों में; प्रवरा—अग्रणी; सौम्य—हे भद्र विदुर; सिद्धि-दा—सिद्धि देने वाली; सिद्ध—सिद्धि के इच्छुक पुरुषों द्वारा; सेविता—सेवित।

हे विदुर, उनके शरीर के तत्त्व पिघलकर जल बन गये और अब समस्त नदियों में सबसे पवित्र नदी के रूप में बह रहे हैं। जो भी इस नदी में स्नान करता है उसे सिद्धि प्राप्त होती है, अतः सिद्धि के इच्छुक लोग उसमें स्नान करते हैं।

कपिलोऽपि महायोगी भगवान्पितुराश्रमात् ।
मातरं समनुज्ञाप्य प्रागुदीचीं दिशं ययौ ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

कपिलः—भगवान् कपिल; अपि—निश्चय ही; महा-योगी—ऋषि; भगवान्—भगवान्; पितुः—अपने पिता के; आश्रमात्—कुटी में; मातरम्—अपनी माता से; समनुज्ञाप्य—आज्ञा लेकर; प्राक्-उदीचीम्—उत्तर-पूर्व, ईशानकोण; दिशम्—दिशा को; ययौ—चला गया।

हे विदुर, महामुनि भगवान् कपिल अपनी माता की आज्ञा से अपने पिता का आश्रम छोड़कर उत्तरपूर्व दिशा की ओर चले गये।

सिद्धचारणगन्धर्वैर्मुनिभिश्चाप्सरोगणैः ।
स्तूयमानः समुद्रेण दत्तार्हणनिकेतनः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

सिद्ध—सिद्धों द्वारा; चारण—चारणों द्वारा; गन्धर्वैः—गन्धर्वों द्वारा; मुनिभिः—मुनियों द्वारा; च—तथा; अप्सरः-गणैः—अप्सराओं (स्वर्ग लोक की सुन्दरियाँ) द्वारा; स्तूयमानः—स्तुति किये गये; समुद्रेण—समुद्र द्वारा; दत्त—दिया गया; अर्हण—पूजन; निकेतनः—रहने का स्थान।

जब वे उत्तर दिशा की ओर जा रहे थे तो चारणों, गन्धर्वों, मुनियों तथा अप्सराओं ने उनकी स्तुति की और सब प्रकार से उनका सम्मान किया। समुद्र ने उनका पूजन किया और रहने के लिए स्थान दिया।

तात्पर्य : कहा जाता है कि कपिल मुनि पहले हिमालय की ओर गये और वहाँ गंगा के उद्गम की खोज की। फिर वे गंगा के मुहाने पर समुद्र में आये जिसे आजकल बंगाल की खाड़ी कहते हैं। सागर ने उन्हें रहने के लिए स्थान दिया जिसे आज भी गंगा-सागर कहते हैं जहाँ गंगा नदी समुद्र से मिलती है। यह स्थान गंगा-सागर तीर्थ कहलाता है और आज भी लोग वहाँ जाकर सांख्य दर्शन के संस्थापक कपिल को नमस्कार करते हैं। दुर्भाग्यवश किसी एक पाखंडी ने इस सांख्य प्रणाली की मनमानी व्याख्या की और उसका भी नाम कपिल है, किन्तु वह प्रणाली *श्रीमद्भागवत* में वर्णित कपिल के सांख्य से मेल नहीं खाती।

आस्ते योगं समास्थाय साङ्ख्याचार्यैरभिष्टुतः ।
त्रयाणामपि लोकानामुपशान्त्यै समाहितः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

आस्ते—रह रहा है; योगम्—योग; समास्थाय—अभ्यास करके; साङ्ख्य—सांख्य दर्शन के; आचार्यैः—महान् शिक्षकों द्वारा; अभिष्टुतः—पूजित; त्रयाणाम्—तीन; अपि—भी; लोकानाम्—लोकों के; उपशान्त्यै—उद्धार के लिए; समाहितः—समाधि में स्थित।

आज भी कपिल मुनि तीनों लोकों के बद्धजीवों के उद्धार हेतु वहाँ समाधिस्थ हैं

और सांख्य दर्शन के समस्त आचार्य उनकी पूजा करते हैं।

एतन्निगदितं तात यत्पृष्टोऽहं तवानघ ।
कपिलस्य च संवादो देवहूत्याश्च पावनः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; निगदितम्—कहा गया; तात—हे विदुर; यत्—जो; पृष्टः—पूछे जाने पर; अहम्—मैंने; तव—तुम्हारे द्वारा; अनघ—हे पापरहित विदुर; कपिलस्य—कपिल की; च—तथा; संवादः—वार्ता; देवहूत्याः—देवहूति की; च—तथा; पावनः—शुद्ध।

हे पुत्र, तुम्हारे पूछे जाने पर मैंने तुम्हें बताया। हे पापरहित, कपिलदेव तथा उनकी माता के वृत्तान्त तथा उनके कार्यकलाप समस्त वार्ताओं में शुद्धतम् हैं।

य इदमनुशृणोति योऽभिधत्ते
कपिलमुनेर्मतमात्मयोगगुह्यम् ।
भगवति कृतधीः सुपर्णकेताव्
उपलभते भगवत्पदारविन्दम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

यः—जो भी; इदम्—इसे; अनुशृणोति—सुनता है; यः—जो भी; अभिधत्ते—व्याख्या करता है; कपिल-मुनेः—कपिल मुनि का; मतम्—उपदेश; आत्म-योग—भगवान् के ध्यान पर आधारित; गुह्यम्—गुप्त, गूढ़; भगवति—भगवान् पर; कृत-धीः—स्थिर मन से; सुपर्ण-केतौ—गरुड़ की ध्वजा वाले; उपलभते—प्राप्त करता है; भगवत्—भगवान् के; पद-अरविन्दम्—चरणकमल।

कपिलदेव तथा उनकी माता के व्यवहारों का विवरण अत्यन्त गोपनीय है और जो भी इस वृत्तान्त को सुनता या पढ़ता है, वह गरुड़ध्वज भगवान् का भक्त बन जाता है और बाद में उनकी दिव्य प्रेमा-भक्ति में प्रवृत्त होने के लिए भगवद्धाम में प्रवेश करता है।

तात्पर्य : कपिल तथा उनकी माता देवहूति का यह वृत्तान्त इतना पूर्ण तथा दिव्य है कि यदि कोई इसे केवल सुनता या पढ़ता है, तो उसे जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त होती है, क्योंकि वह भगवान् के चरणकमल की सेवा में लग जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि देवहूति ने मानव जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त की जिन्होंने भगवान् को पुत्र रूप में प्राप्त करके कपिल के उपदेशों का सुचारु रूप से पालन किया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत "कपिल के कार्यकलाप" नामक

तैंतीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

PRELIMINARY PAGES FOR BH 3RD CANTO STARTS FROM HERE

विषय–सूची

आमुख

प्रस्तावना

अध्याय एक

विदुर द्वारा पूछे गये प्रश्न

विदुर के मैत्रेय ऋषि से प्रश्न

धृतराष्ट्र द्वारा पाण्डवों के घर में आग लगाया जाना

युधिष्ठिर को जुए में कपट से हराया जाना

विदुर द्वारा राजनीतिक सुझाव

विदुर को दुर्योधन द्वारा अपमानित किया जाना

तीर्थयात्री विदुर

उग्र आवेग से यदुओं की मृत्यु

विदुर की उद्धव से भेंट

उद्धव से विदुर के प्रश्न

कृष्ण के पदचिह्नों पर अक्रूर का गिरना

अर्जुन द्वारा शिव को तुष्ट किया जाना

धृतराष्ट्र के लिए विदुर द्वारा शोक

कृष्ण कुरुओं का वध करने से क्यों कतराते रहे ?

यदुओं के लिए कृष्ण का प्राकट्य

अध्याय दो

भगवान् कृष्ण का स्मरण

उद्धव का बाल्यकाल

उद्धव में भाव–परिवर्तन

विश्व का सूर्य अस्त हो गया है

यदुओं द्वारा परमेश्वर के रूप में कृष्ण को न जान पाना

कृष्ण का शरीर समस्त आभूषणों का भूषण

कृष्ण के चले जाने पर गोपियों की परिवेदना

कृष्ण के आचरण से विदुर दुखी

शिशुपाल का कृष्ण के शरीर में विलय होना

पूतना को कृष्ण की माता का पद प्रदत्त

कृष्ण का नन्द महाराज के घर भेजा जाना

बालक कृष्ण का सिंह–शावक की तरह प्रकट होना

कृष्ण द्वारा बड़े बड़े मायावियों का वध

कृष्ण द्वारा रासनृत्य का आस्वादन

अध्याय तीन

वृन्दावन से बाहर भगवान् की लीलाएँ

कृष्ण तथा बलराम द्वारा कंस का वध

कृष्ण द्वारा रुक्मिणी हरण

अपहृत राजकुमारियों से कृष्ण का विवाह

कृष्ण द्वारा अपने भक्तों की शक्ति का प्रदर्शन

पृथ्वी के अथाह भार का हल्का होना

यदुओं का आपस में झगड़ना

युधिष्ठिर द्वारा अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न

कृष्ण द्वारा माधुर्य प्रेम का भोग

यदुओं का तीर्थस्थानों में जाना

अध्याय चार

विदुर का मैत्रेय के पास जाना

कृष्ण की इच्छा से यदुओं का विनाश

अरुणोदय की भाँति कृष्ण के लाल लाल नेत्र

उद्धव को कृष्ण की चरम कृपा प्राप्त

अजन्मा होकर कृष्ण का जन्म लेना

शुद्ध भक्त भौतिक कष्टों से रहित

अब भी हिमालय में नर–नारायण

भक्तगण समाज के सेवक

कृष्ण के प्रयाण से विदुर दुखी

कृष्ण का लौकिक जगत की दृष्टि से ओझल जाना

उद्धव का बदरिकाश्रम पहुँचना

ईर्ष्यालु पशु कृष्ण को नहीं जान सकते

अध्याय पाँच

मैत्रेय से विदुर की वार्ता

अध्यात्म में तुष्ट विदुर

महान् परोपकारी आत्माएँ

स्वतंत्र निष्काम भगवान्

सभ्य मनुष्य को द्विज होना चाहिए

कृष्ण कथामृत

कृष्णकथा एकमात्र ओषधि

भौतिकतावादियों पर दयनीय दयालु

सर्वसमावेशी सेवा

विदुर पूर्वजन्म में नियंत्रक यमराज

सुप्त शक्ति पर भगवान् की दया

भावी जीवों के आगार

मिथ्या अहंकार का मुख्य कार्य ईशविहीनता

भौतिक तत्त्वों के अधिष्ठाता देव

कृष्ण के चरणकमलों की छाया

ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर

समस्त आनन्दों का साम्राज्य

भोजन के रूप में पाप के टुकड़े

विराट सृष्टि की दशाओं में फँसना

अध्याय छह

विश्वरूप की सृष्टि

तेईस तत्त्वों के भीतर परमेश्वर का प्रवेश

विराट विश्वरूप का प्राकट्य

सम्पूर्ण सृष्टि विष्णु पर टिकी है

देवताओं द्वारा ब्रह्माण्ड का निर्माण

विश्वरूप के मुख का प्रकट होना

उनकी आँखों का प्रकट होना

उनके कानों का प्रकट होना

उनकी त्वचा का प्रकट होना

उनके हाथ पाँव का प्रकट होना

उनके हृदय का प्रकट होना

उनके अहंकार का प्राकट्य

विश्वरूप से लोकों का प्राकट्य

वैदिक ज्ञान का प्राकट्य

विष्णु के पैरों से सेवा का प्रकट होना

सामाजिक विभागों की सृष्टि

शुद्ध वाणी द्वारा कृष्ण का महिमागान

कृष्ण की मोहक शक्ति

कृष्ण को नमस्कार करना बुद्धिमत्ता का सूचक

अध्याय सात

विदुर द्वारा अन्य प्रश्न

समस्त शक्तियों के स्वामी कृष्ण

शुद्ध आत्मा शुद्ध चेतना है

जिज्ञासु विदुर द्वारा क्षुभित मैत्रेय

दुष्ट जीवों का मोह

अनन्त दयनीय अवस्थाओं का अन्त

अधम मूर्ख सुख से जीते हैं

विदुर के प्रश्न

श्रद्धाविहीन नास्तिकों के विरोधाभास

गुरु असहायों पर दयालु

भगवान् के निष्कलुष भक्त

मैत्रेय ऋषि अमर

अध्याय आठ

गर्भोदकशायी विष्णु से ब्रह्मा का प्राकट्य

भागवत ग्रन्थ तथा भागवत भक्त

महान् मुनिगणों की गंगा में से होकर यात्रा

क्षमा की ब्राह्मण शक्ति

सृष्टि का सूक्ष्म विषय

कमल से ब्रह्मा का उत्पन्न होना

विष्णु के हाथ में नित्य चक्र

ब्रह्मा में आवश्यक ज्ञान का उपजना

भगवान् द्वारा अपने चरणकमल दिखाया जाना

आत्म-स्थित वृक्ष, विष्णु

ब्रह्मा सृजन के प्रति उन्मुख

अध्याय नौ

सृजन-शक्ति के लिए ब्रह्मा द्वारा स्तुति

कमल के फूल से ब्रह्मा का जन्म

भगवान् के साकार रुप की उपेक्षा करने वाले लोग

बद्धात्माओं की चिन्ताएँ

भक्तों का कानों से देखना

धर्म के कार्य कभी व्यर्थ नहीं जाते

विराट विश्व रूपी वृक्ष

भगवान् से सुरक्षा के लिए ब्रह्मा द्वारा स्तुति

भगवान् भक्त को भीतर से उपदेश देते हैं

दिव्य दृष्टि मनुष्य के मोह को दूर करती है

ब्रह्मा की स्तुतियों से भगवान् प्रसन्न

सर्वप्रिय वस्तु ईश्वर ही है

अध्याय दस

सृष्टि के विभाग

ब्रह्मा की तपस्या

चौदह लोकों का सृजन

अपरिवर्तनीय तथा अन्तहीन नित्यकाल

सृष्टि के नौ प्रकार

मनुष्यों की उत्पत्ति

देवताओं की उत्पत्ति

अध्याय ग्यारह

परमाणु से काल की गणना

परमाणु अनन्तिम कण है

स्थूल समय का विभाजन

मनुष्य की आयु की अवधि

सूर्य सारे जीवों को जीवन-शक्ति प्रदान करता है

चार युगों की अवधि

मनुओं की आयु की अवधि

ब्रह्मा की रात

भौतिक जगत का अर्धव्यास

अध्याय बारह

कुमारों तथा अन्यों की सृष्टि

ज्ञानाभावी कार्यों की सृष्टि

चार कुमारों की सृष्टि

रुद्र की सृष्टि

रुद्र के पुत्र–पौत्र

ब्रह्मा के विचार–विमर्श से नारद का जन्म

अपनी पुत्री के प्रति ब्रह्मा आकृष्ट

ब्रह्मा द्वारा अपना शरीर–त्याग

चार वेदों का प्राकट्य

ब्रह्मा द्वारा वर्णाश्रम धर्म की स्थापना

ब्रह्मा परम सत्य के पूर्णरूप

स्वायम्भुव मनु की सृष्टि

अध्याय तेरह

भगवान् वराह का प्राकट्य

शुद्ध भक्तों के मुखों से श्रवण करना

ब्रह्मा का मनु पर प्रसन्न होना

भक्ति निजी स्वार्थ के रुप में

ब्रह्मा के नथुने से लघु वराह का निकलना

भगवान् वराह की गर्जना

भगवान् वराह द्वारा पृथ्वी का उठाया जाना

मुनियों द्वारा भगवान् वराह की स्तुति

भगवान् केवल यज्ञ के बंधन में

पृथ्वी भगवान् की पत्नी के रूप में

भगवान् वराह की शुभ कथा का श्रवण

अध्याय चौदह

संध्या समय दिति का गर्भ-धारण

दो भिन्न वराह अवतार

दिति का कामेच्छा से पीड़ित होना

कश्यप द्वारा दक्ष की तेरह पुत्रियों से विवाह

पत्नी की शरण ग्रहण करना

भूत प्रेतों के अधिष्ठाता, शिवजी

निषिद्ध कार्य करने के लिए कश्यप विवश

शिवजी समस्त स्त्रियों के पूजनीय ईश्वर

दिति के निंदित गर्भ से पुत्रों का जन्म

प्रह्लाद दिति के भावी पौत्र

दिति का संतुष्ट होना

अध्याय पन्द्रह

ईश्वर के साम्राज्य का वर्णन

दिति के गर्भ की शक्ति

सारे जीव वैदिक आदेशों द्वारा संचालित

भगवान् तथा उनके भक्तों का वैकुण्ठ में निवास

वैकुण्ठ के निवासी

मानव जीवन की महत्ता

चारों कुमारों का वैकुण्ठ पहुँचना

द्वारपालों द्वारा कुमारों का रोका जाना

वैकुण्ठ में पूर्ण ऐक्य

ब्राह्मण शाप को निराकृत नहीं किया जा सकता

भगवान् समस्त आनन्द के आगार

कुमारों का तुलसीदल की सुगन्धि का सूँघना

कुमारों द्वारा स्तुतियाँ

अध्याय सोलह

मुनियों द्वारा वैकुण्ठ के दो द्वारपालों जय-विजय को शाप

भगवान् सदैव ब्राह्मणों का पक्ष लेते हैं

ब्राह्मणजन भगवान् के प्रसाद से सदैव तुष्ट रहते हैं

भगवान् का सुन्दर तथा उत्प्रेरक व्याख्यान

मुनियों द्वारा स्तुति

लक्ष्मी भगवान् की सेवा में

विनयशीलता से कृष्ण की लीलाएँ देखी जा सकती हैं

मुनियों का दिव्य निवास को छोड़ना

द्वारपालों का वैकुण्ठ से पतन

अध्याय सत्रह

हिरण्याक्ष की विजय

दो असुरों का जन्म

दुकाल के शकुन

हिरण्यकशिपु का वरदान

हिरण्याक्ष द्वारा पौरुष प्रदर्शन

वरुण का वर्धित क्रोध

अध्याय अठारह

भगवान् वराह तथा हिरण्याक्ष के मध्य युद्ध

अपने वराह अवतार में भगवान्

असुर के अपशब्द

भगवान् द्वारा रोष प्रकट किया जाना

हिरण्याक्ष तथा भगवान् का संघर्ष

ब्रह्मा द्वारा नारायण को संबोधन

अध्याय उन्नीस

हिरण्याक्ष का वध

भगवान् द्वारा ब्रह्मा की स्तुति स्वीकार किया जाना

भगवान् द्वारा अपने सुदर्शन चक्र का आवाहन

महाअसुर के पराक्रम का छिन्न-भिन्न होना

असुर द्वारा इन्द्रजाल का प्रदर्शन

दिति द्वारा अपने पति के वचनों का स्मरण

ब्रह्मा का उस स्थान पर पहुँचना

भगवान् हरि का अपने धाम वापस जाना

भक्तों के कार्य-कलाप को सुनना

अध्याय बीस

मैत्रेय-विदुर संवाद

वेदव्यास के शरीर से विदुर का जन्म

भगवान् के उदार कार्यों का सुना जाना

विदुर के प्रश्न

समग्र भौतिक तत्त्वों की उत्पत्ति

कमल-पुरुष से ब्रह्मा का जन्म

ब्रह्मा द्वारा अविद्या-शरीर का परित्याग

ब्रह्मा के नितम्बों से असुरों की उत्पत्ति

असुरों द्वारा सन्ध्या को सुन्दरी समझना

ब्रह्मा द्वारा अपना ज्योत्स्ना स्वरूप का परित्याग

सिद्धों तथा विद्याधरों की उत्पत्ति

ब्रह्मा द्वारा साधुओं को पुत्ररूप में विकसित करना

अध्याय इक्कीस

मनु–कर्दम संवाद

प्रियव्रत तथा उत्तातपाद द्वारा विश्व का शासन चलाया जाना

कर्दममुनि की तपस्या

भगवान् के स्वरूप का वर्णन

कर्दममुनि द्वारा स्तुति

भगवान् के कमल–पुष्प का छत्र

मकड़ी की भाँति भगवान् द्वारा सृष्टि करना

अमृत के तुल्य मृदु की कन्या दिये जाने का वचन

देवहूति के पुत्र रूप में भगवान् का प्राकट्य

गुरुड़ के पंखों से सामवेद की ध्वनि

बिन्दु–सरोवर का वर्णन

मीठे वचनों से कर्दम द्वारा राजा का प्रसन्न किया जाना

अध्याय बाईस

कर्दममुनि तथा देवहूति का परिणय

सम्राट द्वारा कर्दम को सम्बोधन

ब्राह्मण तथा क्षत्रियों द्वारा पारस्परिक सुरक्षा

देवहूति द्वारा उपयुक्त पति की इच्छा

कर्दम का देवहूति के साथ परिणय

देवहूति का आकर्षक सौंदर्य

कर्दम के मुख से देवहूति के मन का आकृष्ट होना

शतरूपा के नागरिकों द्वारा सम्राट का स्वागत

राजर्षि रूप में स्वायम्भुव मनु

अध्याय तेईस

देवहूति का शोक

देवहूति द्वारा कर्दम की घनिष्ठता तथा आदरपूर्वक सेवा

कर्दम द्वारा देवहूति को आशीर्वाद

संभोग से सन्तान प्राप्त करने की देवहूति की आकांक्षा

कर्दम द्वारा हवाई प्रासाद का निर्माण

देवहूति का हृदय में अप्रसन्न होना

देवहूति की सेवा में एक हजार दासियाँ

कर्दम के समक्ष देवहूति का प्रकट होना

कर्दम द्वारा अनेक वर्षों तक सुख-भोग

कर्दम का अपनी कुटिया को वापस जाना

देवहूति द्वारा नौ कन्याओं को जन्म

देवहूति का शोक

साधुजनों की संगति का लाभ

अध्याय चौबीस

कर्दम मुनि का वैराग्य

देवहूति द्वारा ब्रह्माण्ड के स्वामी की पूजा

देवहूति के भीतर परमेश्वर का प्रकट होना

ब्रह्मा द्वारा कर्दम की प्रशंसा

कपिल मुनि द्वारा विवाह में अपनी कन्याओं का दान

कर्दम द्वारा कपिल की स्तुति

भगवान् के असंख्य रूप

कर्दम द्वारा गृहस्थ जीवन से वैराग्य लेने की इच्छा

सांख्य दर्शन की व्याख्या के लिए कपिल का प्रकट होना

कर्दम द्वारा वन के लिए प्रस्थान

भक्ति में स्थित कर्दम

अध्याय पच्चीस

भक्तियोग की महिमा

भगवान् का कपिल मुनि के रूप में जन्म

देवहूति द्वारा पुत्र से प्रश्न पूछना

भगवान् द्वारा अध्यात्मवादियों के मार्ग की व्याख्या

बद्ध जीवन और मोक्ष

भक्ति ही एकमात्र शुभ मार्ग है

साधु के लक्षण

भक्तों के प्रति आसक्ति का महत्त्व

योग की सरलतम विधि

देवहूति द्वारा भक्ति के विषय में पूछा जाना

इन्द्रियाँ—देवताओं की प्रतिनिधि

भक्ति से सूक्ष्म शरीर का विनाश

भक्तगण भगवान् के स्वरूप का दर्शन करना चाहते हैं

भक्तगण सारे प्रदत्त वरदानों का भोग करते हैं

अविचल (अनन्य) भक्ति का वर्णन

भगवान् के भय से वायु का बहना

अध्याय छब्बीस

प्रकृति के मूलभूत सिद्धान्त

ज्ञान ही चरम सिद्धि है

भगवान् सूक्ष्म भौतिक शक्ति को स्वीकार करते हैं

भौतिक चेतना ही बद्ध जीवन का कारण

संचित तत्त्वों का नाम ही प्रधान है

काल पच्चीसवाँ तत्त्व है

भगवान् भौतिक प्रकृति में गर्भाधान करते हैं

शुद्ध चेतना के लक्षण

अनिरूद्ध रूप मन

बुद्धि के लक्षण

शब्द तत्त्व का निरूपण

शून्य (आकाश) तत्त्व के लक्षण

रूप के लक्षण

जल के लक्षण

तत्त्वों का आश्रय स्थल पृथ्वी है

सुप्रसिद्ध विराट व्यक्ति का प्रादुर्भाव

ब्रह्माण्ड का विभाजन

देवताओं द्वारा विराट रूप को जगाना

कारणार्णव से विराट पुरुष का उठना

अध्याय सत्ताईस

प्रकृति का ज्ञान

बद्धजीव का देहान्तरण

योग पद्धति की नियामक विधि

भक्त के गुण

मुक्त जीव द्वारा परमेश्वर का साक्षात्कार

भक्त अहंकार से मुक्त होता है

देवहूति का पहला प्रश्न

ज्ञान में सम्पन्न भक्ति

प्रकृति प्रबुद्ध आत्मा (जीव) को क्षति नहीं पहुँचा सकती

भक्तगण दिव्य धाम जाते हैं

अध्याय अट्ठाईस

भक्ति साधना के लिए कपिल के आदेश

कपिल द्वारा योग-प्रणाली की व्याख्या

मनुष्य को स्पल्प भोजन करना चाहिए

मनुष्य को चंचल मन को रोकना चाहिए

योगीजन मानसिक विक्षोभों से मुक्त

भगवान् के स्वरूप का वर्णन

भगवान् नित्य सुन्दर हैं

भगवान् की लीलाएँ आकर्षक हैं

भगवान् के चरणकमल वज्र की भाँति

भगवान् की नाभि चन्द्रमा के समान

भगवान् की गदा असुरों का वध करने वाली

भगवान् श्रीहरि की कल्याणकारी मुसकान

योगी द्वारा शुद्ध भगवत्प्रेम का विकास

मुक्त आत्मा अपनी शारीरिक आवश्यकताएँ भूल जाता है

परमेश्वर ही द्रष्टा है

आत्मा का विभिन्न शरीरों में प्रकट होना

अध्याय उन्तीस

भगवान् कपिल द्वारा भक्ति की व्याख्या

समस्त दार्शनिक प्रणालियों का चरम अन्त

भगवान् कपिल के वचन

रजोगुणी भक्ति

विशुद्ध भक्ति

भक्त को नियत कर्म करने होते हैं

मन्दिर पूजा—भक्त का कर्तव्य

भक्त अभक्तों की संगति से दूर रहता है

परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है

पृथकतावादी को मन:शान्ति नहीं मिलती

जीवों की विभिन्न श्रेणियाँ

मनुष्यों की विभिन्न श्रेणियाँ

भक्त समस्त जीवों का आदर करता है

भगवान् विष्णु ही काल हैं

समग्र विराट शरीर का विस्तार

अध्याय तीस

भगवान् कपिल द्वारा विपरीत कर्मों का वर्णन

काल की प्रबल शक्ति

बद्धजीवों को नारकीय भोग में प्रसन्नता

आसक्त गृहस्थ पारिवारिक जीवन में रहता है

मूर्ख गृहस्थ मृत्यु की तैयारी में

भौतिकतावादी की अत्यन्त कारुणिक मृत्यु

अपराधी का यमराज के समक्ष लाया जाना

इस लोक में नारकीय यातनाएँ

अध्याय इकतीस

जीवों की गतियों के विषय में भगवान् कपिल के उपदेश

भौतिक शरीर का विकास

गर्भस्थ शिशु की वेदना

गर्भस्थ शिशु की प्रार्थना

परमात्मा की शरण लें

मनुष्य जीवन सर्वोच्च

प्रसव वेदना

बालपन की पीड़ा

बद्धजीव का पुनः नरक जाना

स्त्रियों की संगति से भय

स्त्री माया की प्रतिनिधि

भौतिकतावादी सकाम कर्मों में फँसा रहता है

मृत्यु से भयभीत न होवें

अध्याय बत्तीस

कर्म–बन्धन

भौतिकतावादी चन्द्रमा तक जा सकता है

प्रकाश का मार्ग

ब्रह्माजी द्वारा ब्रह्माण्ड का विनाश

भौतिकतावादी कर्मफल की आसक्ति से कार्य करते हैं

भौतिकतावादी शूकर तुल्य

भक्त समदर्शी होता है

समस्त योगियों के लिए सबसे बड़ी सूझबूझ

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भगवान् से उत्पन्न

भगवान् एक है

कपिल का उपदेश ईर्ष्यालुओं के निमित्त नहीं

अध्याय तैंतीस

कपिल के कार्यकलाप

देवहूति द्वारा प्रार्थना

भगवान् के अनेक अवतार

भगवन्नाम जप करने वाले धन्य हैं

कपिल मुनि द्वारा अपनी माता को उत्तर

देवहूति द्वारा भक्तियोग का शुभारम्भ

कर्दम मुनि के घर का ऐश्वर्य

अपने पुत्र के वियोग से देवहूति सन्तप्त

देवहूति का धुएँ के बीच अग्नि सदृश लगना

समुद्र द्वारा कपिल को रहने का स्थान दिया जाना

परिशिष्ट

लेखक परिचय

Chapter एक

मनु की पुत्रियों की वंशावली

मैत्रेय उवाच
मनोस्तु शतरूपायां तिस्रः कन्याश्च जज्ञिरे ।
आकूतिर्देवहूतिश्च प्रसूतिरिति विश्रुताः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; मनोः तु—स्वायंभुव मनु का; शतरूपायाम्—उसकी पत्नी शतरूपा से; तिस्रः—तीन; कन्याः च—कन्याएँ भी; जज्ञिरे—जन्म लिया; आकूतिः—आकूति नामक; देवहूतिः—देवहूति नामक; च—तथा:; प्रसूतिः—प्रसूति नामक; इति—इस प्रकार; विश्रुताः—विख्यात।

श्रीमैत्रेय ने कहा : स्वायंभुव मनु की पत्नी शतरूपा से तीन कन्याएँ उत्पन्न हुईं जिनके नाम आकूति, देवहूति तथा प्रसूति थे।

तात्पर्य : सर्वप्रथम मैं अपने गुरू, ॐ विष्णुपाद श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद को नमस्कार करता हूँ जिनके आदेश से मैं श्रीमद्भागवत के भक्तिवेदान्त भाष्य के लेखन की ओर उन्मुख हुआ हूँ, जो अपने में एक महान् कार्य है। उनकी कृपा से तीन स्कन्ध समाप्त हो चुके हैं और मैं चौथे स्कन्ध को प्रारम्भ करने जा रहा हूँ। मैं भगवान् चैतन्य को सादर नमस्कार करता हूँ जिन्होंने पाँच सौ वर्ष पूर्व भागवत धर्म के इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन का शुभारम्भ किया। उन्हीं के माध्यम से मैं छहों गोस्वामियों को और तब दिव्य युगल राधा तथा कृष्ण को नमस्कार करता हूँ, जो वृन्दावन में गोपों एवं व्रजभूमि की गोपिकाओं के साथ निरन्तर विहार करते हैं। मैं समस्त भक्तों तथा परमेश्वर के समस्त सेवकों को सादर नमस्कार करता हूँ।

श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में ३१ अध्याय हैं और इन समस्त अध्यायों में ब्रह्मा तथा मनुओं द्वारा की गई गौण सृष्टि का वर्णन हुआ है। परमेश्वर स्वयं अपनी भौतिक शक्ति को क्रियाशील बनाकर वास्तविक सृष्टि करते हैं और तब ब्रह्माण्ड के प्रथम जीव ब्रह्मा उनके आदेश से विभिन्न लोकों तथा उनके वासियों को उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं और मनु जैसी अपनी सन्तान तथा जीवों के अन्य जनकों के द्वारा जनसंख्या की वृद्धि करते हैं, जो परमेश्वर के आदेश से निरन्तर कार्यशील रहते हैं। चतुर्थ स्कन्ध के प्रथम अध्याय में स्वायंभुव मनु की तीन पुत्रियों तथा उनके वंशजों का वर्णन है। अगले छह अध्यायों में राजा दक्ष द्वारा यज्ञ किये जाने और उसके विध्वंस किए जाने का वर्णन है।

तत्पश्चात् पाँच अध्यायों में महाराज ध्रुव के चरित्र का वर्णन हुआ है। फिर अगले ग्यारह अध्यायों में राजा पृथु का चरित्र तथा अन्य आठ अध्यायों में प्रचेता राजाओं के कार्यकलापों का वर्णन हुआ है।

जैसाकि इस अध्याय के प्रथम श्लोक में कहा गया है, स्वायंभुव मनु के तीन कन्याएँ थीं, जिनके नाम थे आकूति, देवहूति तथा प्रसूति। इन तीनों पुत्रियों में से देवहूति का वृत्तान्त उनके पति कर्दम मुनि तथा उनके पुत्र कपिल मुनि के समेत पहले ही दिया जा चुका है। इस अध्याय में प्रथम पुत्री आकूति के वंश का विशेष रूप से वर्णन किया जाएगा। स्वायंभुव मनु ब्रह्मा के पुत्र थे। ब्रह्मा के अन्य कई पुत्र थे, किन्तु मनु का विशेष उल्लेख सबसे पहले इसलिए होता है, क्योंकि वे भगवान् के परम भक्त थे। इस श्लोक में '*च*' शब्द भी आया है, जो यह सूचित करता है कि स्वायंभुव मनु के इन तीन पुत्रियों के अतिरिक्त दो पुत्र भी थे।

आकूतिं रुचये प्रादादपि भ्रातृमतीं नृपः ।
पुत्रिकाधर्ममाश्रित्य शतरूपानुमोदितः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

आकूतिम्—आकूति; रुचये—परम साधु रुचि को; प्रादात्—प्रदान किया; अपि—यद्यपि; भ्रातृ-मतीम्—भाई वाली कन्या; नृपः—राजा; पुत्रिका—पुत्री से प्राप्त पुत्र को ग्रहण करना; धर्मम्—धार्मिक कृत्य; आश्रित्य—शरण में जाकर; शतरूपा—स्वायंभुव मनु की पत्नी के द्वारा; अनुमोदितः—स्वीकृत।

आकूति के दो भाई थे तो भी राजा स्वायंभुव मनु ने इसे प्रजापति रुचि को इस शर्त पर ब्याहा था कि उससे, जो पुत्र उत्पन्न होगा वह मनु को पुत्र रूप में लौटा दिया जाएगा। उसने अपनी पत्नी शतरूपा के परामर्श से ऐसा किया था।

तात्पर्य : कभी कभी निःसन्तान व्यक्ति अपनी पुत्री को इस शर्त के साथ उसके पति को देता है कि वह उसे नाती लौटा दे जिसे वह पुत्र रूप में ग्रहण करके अपनी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बना दे। यह *पुत्रिका-धर्म* कहलाता है, जिसका अर्थ होता है कि अपनी पत्नी से कोई पुत्र न होने पर भी धार्मिक अनुष्ठानों द्वारा वह पुत्र प्राप्त कर सकता है। किन्तु यहाँ पर हम मनु के साथ विचित्र बात देखते हैं। अपने दो पुत्रों के होते हुए भी उन्होंने अपनी प्रथम पुत्री का विवाह प्रजापति रुचि के साथ इस शर्त पर किया कि उनकी पुत्री से, जो पुत्र उत्पन्न हो वह उन्हें पुत्र रूप में लौटा दिया जाय। इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि राजा मनु को ज्ञात था कि आकूति के गर्भ से पूर्ण

पुरुषोत्तम भगवान् जन्म लेंगे, अत: अपने दो पुत्र होते हुए भी वे आकूति से उत्पन्न पुत्र विशेष को अपना पुत्र बनाना चाहते थे, क्योंकि वे श्रीभगवान् को अपने पुत्र तथा नाती के रूप में चाह रहे थे। मनु मानव जाति के विधि-निर्माता हैं और चूँकि उन्होंने स्वयं *पुत्रिका-धर्म* निबाहा, अत: हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि मनुष्य जाति भी इस प्रणाली को ग्रहण कर सकती है। अत:अपना पुत्र होते हुए भी यदि कोई अपनी पुत्री के किसी एक पुत्र को लेना चाहे तो वह इस शर्त के साथ अपनी कन्या का दान कर सकता है। ऐसा श्रील जीव गोस्वामी का मत है।

प्रजापति: स भगवान्रुचिस्तस्यामजीजनत् ।
मिथुनं ब्रह्मवर्चस्वी परमेण समाधिना ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

प्रजापति:—जिसे संतान उत्पन्न करने का भार सौंपा गया हो; स:—वह; भगवान्—परम ऐश्वर्यशाली; रुचि:—परम साधु रुचि; तस्याम्—उससे; अजीजनत्—उत्पन्न हुआ; मिथुनम्—जोड़ी, युग्म; ब्रह्म-वर्चस्वी—आध्यात्मिक रूप से अत्यन्त शक्तिमान; परमेण—परम बलशाली; समाधिना—समाधि में।.

अपने ब्रह्मज्ञान में परम शक्तिशाली एवं जीवात्माओं के जनक के रूप में नियुक्त (प्रजापति) रुचि को उनकी पत्नी आकूति के गर्भ से एक पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न हुए।

तात्पर्य : *ब्रह्म-वर्चस्वी* शब्द अत्यन्त सार्थक है। रुचि ब्राह्मण थे और वे संयमपूर्वक ब्रह्मकार्यों का पालन करते थे। जैसाकि *भगवद्गीता* में उल्लेख है, ब्रह्म-गुण इस प्रकार हैं—इन्द्रियों का संयम, मन का संयम, अन्त: तथा बाह्य स्वच्छता, आध्यात्मिक तथा भौतिक ज्ञान की उन्नति, सादगी, सत्यता, श्रीभगवान् में श्रद्धा इत्यादि। ऐसे अनेक गुण हैं जिनसे ब्रह्मवादी व्यक्तित्व प्रकट होता है और ऐसा माना जाता है कि रुचि ब्रह्मवादी सिद्धान्तों का दृढ़ता से पालन करने वाले थे। इसलिए उन्हें विशेष रूप से *ब्रह्मवर्चस्वी* कहा गया है। ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर ब्राह्मण-जैसा आचरण न करने वाले को वैदिक भाषा में *ब्रह्म-बन्धु* कहा जाता है और उसकी गणना शूद्रों तथा स्त्रियों की कोटि में की जाती है। इस प्रकार हम *भागवत* से यह देखते हैं कि वेदव्यास ने महाभारत की रचना विशेषरूप से *स्त्री-शूद्र-ब्रह्म-बन्धु* के लिए की थी। स्त्री, शूद्र तथा ब्रह्म-बन्धु—ये तीनों वर्ग अल्पज्ञ कहलाते हैं, ये वेदों का अध्ययन नहीं कर पाते, क्योंकि वेद तो उन लोगों के लिए है जिन्होंने ब्रह्म-योग्यता प्राप्त की हो। यह प्रतिबन्ध किसी जाति भेद पर आधारित न होकर योग्यता (पात्रता) पर निर्भर है। बिना ब्रह्म-योग्यता

प्राप्त किए वैदिक साहित्य समझा नहीं जा सकता। अतः यह बड़े ही दुख की बात है कि ऐसे व्यक्ति जिनमें ब्रह्म-योग्यता नहीं हो और, जो प्रामाणिक गुरु द्वारा प्रशिक्षित नहीं हुए होते वे *श्रीमद्भागवत* तथा अन्य पुराणों जैसे वैदिक साहित्य की टीका करते हैं। ऐसे लोग कभी भी इन ग्रन्थों के वास्तविक सन्देश को प्रदान नहीं कर सकते। रुचि प्रथम श्रेणी के ब्राह्मण माने जाते थे इसीलिए उन्हें *ब्रह्म-वर्चस्वी* अर्थात् ब्राह्मण-कौशल में पूर्ण दक्ष कहा गया है।

यस्तयोः पुरुषः साक्षाद्विष्णुर्यज्ञस्वरूपधृक् ।
या स्त्री सा दक्षिणा भूतेरंशभूतानपायिनी ॥ ४॥

शब्दार्थ

यः—जो; तयोः—उन दोनों में से; पुरुषः—नर; साक्षात्—प्रत्यक्ष; विष्णुः—परमेश्वर; यज्ञ—यज्ञ; स्वरूप-धृक्—स्वरूप धारण किये हुए; या—दूसरी; स्त्री—स्त्री; सा—वह; दक्षिणा—दक्षिणा; भूतेः—सम्पत्ति की देवी का; अंश-भूता—भिन्नांश होने से; अनपायिनी—कभी न पृथक् होने वाली।

आकूति से उत्पन्न दोनों सन्तानों में से एक अर्थात् बालक तो प्रत्यक्ष पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का अवतार था और उसका नाम था यज्ञ, जो भगवान् विष्णु का ही दूसरा नाम है। बालिका सम्पत्ति की देवी भगवान् विष्णु की प्रिया शाश्वत लक्ष्मी की अंश अवतार थी।

तात्पर्य : सम्पत्ति की देवी लक्ष्मी भगवान् विष्णु की चिरसंगिनी हैं। यहाँ पर यह बताया गया है कि भगवान् विष्णु तथा लक्ष्मी, जो चिर-संगी हैं, एकसाथ आकूति के गर्भ से प्रकट हुए। जैसाकि अनेक विद्वानों ने पुष्टि की है विष्णु तथा लक्ष्मी भौतिक सृष्टि से परे हैं (*नारायणः परोऽव्यक्तात्*); अतः उनका यह चिर सम्बन्ध बदला नहीं जा सकता। इसीलिए आगे चल कर आकूति से उत्पन्न यज्ञ ने धन की देवी के साथ विवाह कर लिया।

आनिन्ये स्वगृहं पुत्र्याः पुत्रं विततरोचिषम् ।
स्वायम्भुवो मुदा युक्तो रुचिर्जग्राह दक्षिणाम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

आनिन्ये—ले आये; स्व-गृहम्—अपने घर; पुत्र्याः—पुत्री से उत्पन्न; पुत्रम्—पुत्र; वितत-रोचिषम्—अत्यन्त शक्तिमान; स्वायम्भुवः—स्वायंभुव मनु; मुदा—अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक; युक्तः—साथ; रुचिः—परम साधु रुचि; जग्राह—रखा; दक्षिणाम्—दक्षिणा नामक पुत्री को।

स्वायंभुव मनु परम प्रसन्नतापूर्वक यज्ञ नामक सुन्दर बालक को अपने घर ले आये और

उनके जामाता रुचि ने पुत्री दक्षिणा को अपने पास रखा।

तात्पर्य : स्वायंभुव मनु यह देखकर अत्यन्त प्रसन्न थे कि उनकी पुत्री से एक लड़का तथा एक लड़की उत्पन्न हुए। उन्हें भय था कि उनके द्वारा पुत्र लेने से उनके जामाता रुचि दुखी हो सकते हैं। अत: जब उन्होंने सुना कि उनकी पुत्री ने एक लड़का तथा एक लड़की को जन्म दिया है, तो वे परम प्रफुल्लित हुए। रुचि ने वचन के अनुसार अपना पुत्र स्वायंभुव मनु को दे दिया और कन्या को, जिसका नाम दक्षिणा था, अपने पास रखने का निश्चय किया। भगवान् विष्णु का एक नाम यज्ञ भी है, क्योंकि वे वेदों के स्वामी हैं। यज्ञ नाम *यजुषां पति:* से आया है, जिसका अर्थ है "समस्त यज्ञों के स्वामी।" *यजुर्वेद* में यज्ञों के सम्पन्न करने की अनेक विधियाँ दी हुई हैं और इन समस्त यज्ञों के भोक्ता विष्णु भगवान् हैं। अत: *भगवद्गीता* (३.९) में कहा गया है—*यज्ञार्थात् कर्मण:*—मनुष्य को कर्म करना चाहिए, किन्तु मनुष्य को अपना नियत कर्तव्य 'यज्ञ' अथवा विष्णु के लिए करना चाहिए। यदि मनुष्य श्रीभगवान् को प्रसन्न करने के लिए कर्म नहीं करता, अथवा भक्ति नहीं करता तो उसके इन कार्यों का प्रतिफल होगा भले ही वह अच्छा हो या बुरा। यदि हमारे कार्य भगवत् इच्छा के अनुरूप नहीं हैं, अथवा यदि हम कृष्णभावना में कार्य नहीं करते तो हम अपने कार्यों के फल के लिए उत्तरदायी होंगे। प्रत्येक प्रकार के कार्य (क्रिया) का फल (प्रतिक्रिया) होता है, किन्तु यदि ये कार्य यज्ञ के लिए किये जाँय तो कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। इस प्रकार यदि कोई मनुष्य यज्ञ अथवा श्रीभगवान् के लिए कार्य करता है, तो वह इस भव-बन्धन में नहीं फँसता, क्योंकि वेदों तथा *भगवद्गीता* में भी इसका उल्लेख है कि जितने भी वेद और वैदिक अनुष्ठान हैं, वे भगवान् कृष्ण को समझने के लिए हैं। मनुष्य को चाहिए कि प्रारम्भ से ही कृष्णभावनाभावित होकर कार्य करे। इससे मनुष्य भौतिक जंजालों की प्रतिक्रियाओं से मुक्त हो सकेंगे।

तां कामयानां भगवानुवाह यजुषां पति: ।
तुष्टायां तोषमापन्नोऽजनयद्द्वादशात्मजान् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उसको; कामयानाम्—इच्छुक; भगवान्—भगवान् ने; उवाह—विवाह कर लिया; यजुषाम्—समस्त यज्ञों के; पति:—स्वामी; तुष्टायाम्—अपनी पत्नी में अत्यन्त प्रसन्न; तोषम्—अत्यधिक प्रसन्नता; आपन्न:—प्राप्त करके; अजनयत्—जन्म दिया; द्वादश—बारह; आत्मजान्—पुत्रों को।

यज्ञों के स्वामी भगवान् ने बाद में दक्षिणा के साथ विवाह कर लिया, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, को अपने पति रूप में प्राप्त करने के लिए परम इच्छुक थी। उनकी इस पत्नी से उन्हें बारह पुत्र प्राप्त हुए।

तात्पर्य : आदर्श पति–पत्नी की तुलना सामान्य रूप से लक्ष्मी–नारायण से की जाती है, और यह महत्वपूर्ण है कि वे लक्ष्मी–नारायण कहलाते हैं क्योंकि लक्ष्मी–नारायण पत्नी–पति रूप में सदैव सुखी रहते हैं। पत्नी को चाहिए कि वह सदैव अपने पति से सन्तुष्ट रहे और पति को भी पत्नी से सन्तुष्ट रहना चाहिए। पंडित चाणक्य के निति श्लोक *चाणक्य–श्लोक* में कहा गया है कि यदि पति–पत्नी एक दूसरे से सदा सन्तुष्ट रहें तो ऐश्वर्य की देवी उनके यहाँ स्वत: पदार्पण करती है। दूसरे शब्दों में, जहाँ पति तथा पत्नी में कोई मतभिन्नता नहीं है, वहीं लक्ष्मी का वास होता है और अच्छी सन्तान उत्पन्न होती है। वैदिक सभ्यता के अनुसार सामान्य रूप से पत्नी को प्रत्येक दशा में संतुष्ट रहने का प्रशिक्षण मिलता है और पति से अपेक्षा की जाती है कि वह पर्याप्त भोजन, वस्त्र और आभूषणों से पत्नी को संतुष्ट रखे। जब वे परस्पर व्यवहार से इस प्रकार प्रसन्न रहते हैं तब उन्हें अच्छी संतानें प्राप्त होती हैं। इस तरह से सम्पूर्ण विश्व में शान्ति आ सकती है। किन्तु दुर्भाग्य से इस कलियुग में आदर्श पतियों और पत्नियों का अभाव है। इसलिए अनुपेक्षित संतानें पैदा होती हैं और आज के समय में संसार में न शान्ति है, न सम्पन्नता

तोष: प्रतोष: सन्तोषो भद्र: शान्तिरिडस्पति: ।
इध्म: कविर्विभु: स्वह्न: सुदेवो रोचनो द्विषट् ॥ ७॥

शब्दार्थ

तोष:—तोष; प्रतोष:—प्रतोष; सन्तोष:—संतोष; भद्र:—भद्र; शान्ति:—शान्ति; इडस्पति:—इडस्पति; इध्म:—इध्म; कवि:—कवि; विभु:—विभु; स्वह्न:—स्वह्न; सुदेव:—सुदेव; रोचन:—रोचन; द्वि-षट्—बारह।

यज्ञ तथा दक्षिणा के बारह पुत्रों के नाम थे—तोष, प्रतोष, संतोष, भद्र, शान्ति, इडस्पति, इध्म, कवि, विभु, स्वह्न, सुदेव तथा रोचन।

तुषिता नाम ते देवा आसन्स्वायम्भुवान्तरे ।
मरीचिमिश्रा ऋषयो यज्ञ: सुरगणेश्वर: ॥ ८॥

शब्दार्थ

तुषिताः—तुषितों की कोटि; नाम—नाम वाले; ते—सभी; देवाः—देवता; आसन्—हुए; स्वायम्भुव—मनु का नाम; अन्तरे—उस काल में; मरीचि-मिश्राः—मरीचि इत्यादि; ऋषयः—ऋषिगण, साधुगण; यज्ञः—भगवान् विष्णु का अवतार; सुर-गण-ईश्वरः—देवताओं के राजा।

स्वायंभुव मनु के काल में ही ये सभी पुत्र देवता हो गये जिन्हें संयुक्त रूप में तुषित कहा जाता है। मरीचि सप्तर्षियों के प्रधान बन गये और यज्ञ देवताओं के राजा इन्द्र बन गये।

तात्पर्य : स्वायंभुव के जीवन काल (मन्वतर) में तुषित नामक देवताओं से, मरीचि इत्यादि सप्तर्षियों से तथा देवताओं के राजा यज्ञ की सन्तानों से छह प्रकार की जीवात्माएँ उत्पन्न हुईं और इन सबों ने अपनी संतानों के विस्तार से विश्व को जीवात्माओं से परिपूर्ण करने की भगवान् की आज्ञा का पालन किया। ये छह प्रकार की जीवात्माएँ हैं—मनु, देव, मनु-पुत्र, अंशावतार, सुरेश्वर तथा ऋषि। यज्ञ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अवतार होने के कारण देवताओं के नायक इन्द्र बने।

प्रियव्रतोत्तानपादौ मनुपुत्रौ महौजसौ ।
तत्पुत्रपौत्रनप्तॄणामनुवृत्तं तदन्तरम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

प्रियव्रत—प्रियव्रत; उत्तानपादौ—उत्तानपाद; मनु-पुत्रौ—मनु के दो पुत्र; महा-ओजसौ—महान् ओजस्वी, शक्तिशाली; तत्—उनके; पुत्र—पुत्र; पौत्र—पोता; नप्तॄणाम्—नाती; अनुवृत्तम्—अनुगमन करते हुए; तत्-अन्तरम्—उस मनु-काल (मन्वतर) में।

स्वायंभुव मनु के दोनों पुत्र, प्रियव्रत तथा उत्तानपाद अत्यन्त शक्तिशाली राजा हुए और उनके पुत्र तथा पौत्र उस काल में तीनों लोकों में फैल गये।

देवहूतिमदात्तात कर्दमायात्मजां मनुः ।
तत्सम्बन्धि श्रुतप्रायं भवता गदतो मम ॥ १० ॥

शब्दार्थ

देवहूतिम्—देवहूति; अदात्—प्रदान की गई; तात—हे प्रिय पुत्र; कर्दमाय—कर्दम मुनि को; आत्मजाम्—कन्या; मनुः—स्वायंभुव मनु; तत्-सम्बन्धि—उस सम्बन्ध में; श्रुत-प्रायम्—प्रायः पूरी तरह सुना गया; भवता—तुम्हारे द्वारा; गदतः—कहा गया; मम—मेरे द्वारा।

हे पुत्र, स्वायंभुव मनु ने अपनी परम प्रिय कन्या देवहूति को कर्दम मुनि को प्रदान किया। मैं इनके सम्बन्ध में तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ और तुम उनके विषय में प्रायः पूरी तरह सुन चुके हो।

दक्षाय ब्रह्मपुत्राय प्रसूतिं भगवान्मनुः ।
प्रायच्छद्यत्कृतः सर्गस्त्रिलोक्यां विततो महान् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

दक्षाय—प्रजापति दक्ष को; ब्रह्म-पुत्राय—ब्रह्मा के पुत्र; प्रसूतिम्—प्रसूति को; भगवान्—महापुरुष; मनुः—स्वायंभुव मनु; प्रायच्छत्—प्रदान किया; यत्-कृतः—जिनके द्वारा रचित; सर्गः—सृष्टि; त्रि-लोक्याम्—तीनो लोकों में; विततः—विस्तार किया हुआ; महान्—अत्यधिक।

स्वायंभुव मनु ने प्रसूति नामक अपनी कन्या ब्रह्मा के पुत्र दक्ष को दे दी, जो प्रजापतियों में से एक थे। दक्ष के वंशज तीनों लोकों में फैले हुए हैं।

याः कर्दमसुताः प्रोक्ता नव ब्रह्मर्षिपत्नयः ।
तासां प्रसूतिप्रसवं प्रोच्यमानं निबोध मे ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

याः—जो; कर्दम-सुताः—कर्दम की कन्याएँ; प्रोक्ताः—उल्लेख किया गया; नव—नौ; ब्रह्म-ऋषि—आध्यात्मिक ज्ञान वाले ऋषियों की; पत्नयः—पत्नियाँ; तासाम्—उनकी; प्रसूति-प्रसवम्—पुत्रों तथा पौत्रों की पीढ़ियाँ; प्रोच्यमानम्—वर्णित होकर; निबोध—समझने का प्रयत्न करो; मे—मुझसे।

मैं तुम्हें कर्दम मुनि की नवों कन्याओं के विषय में पहले ही बतला चुका हूँ कि वे नौ विभिन्न ऋषियों को सौंप दी गई थीं। अब मैं इन नवों कन्याओं की सन्तानों का वर्णन करूँगा। तुम मुझसे उनके विषय में सुनो।

तात्पर्य : तीसरे स्कन्ध में बताया जा चुका है कि देवहूति से कर्दम को किस प्रकार नौ पुत्रियाँ प्राप्त हुईं और बाद में वे किस प्रकार मरीचि, अत्रि, वसिष्ठ जैसे मुनियों को सौंप दी गईं।

पत्नी मरीचेस्तु कला सुषुवे कर्दमात्मजा ।
कश्यपं पूर्णिमानं च ययोरापूरितं जगत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

पत्नी—पत्नी; मरीचेः—मरीचि नामक साधु से की; तु—भी; कला—कला नाम की; सुषुवे—जन्म दिया; कर्दम-आत्मजा—कर्दम मुनि की कन्या; कश्यपम्—कश्यप नाम का; पूर्णिमानम् च—तथा पूर्णिमा नाम की; ययोः—जिनसे; आपूरितम्—भर गये, सर्वत्र फैल गये; जगत्—संसार।

कर्दम मुनि की पुत्री कला का ब्याह मरीचि से हुआ जिससे दो सन्तानें हुईं जिनके नाम थे कश्यप तथा पूर्णिमा। इनकी सन्तानें सारे विश्व में फैल गईं।

पूर्णिमासूत विरजं विश्वगं च परन्तप ।
देवकुल्यां हरेः पादशौचाद्याभूत्सरिद्दिवः ॥ १४॥

शब्दार्थ

पूर्णिमा—पूर्णिमा ने; असूत—उत्पन्न किया; विरजम्—विरज नामक पुत्र; विश्वगम् च—तथा विश्वग नामक; परम्-तप—शत्रुओं का संहार करने वाले; देवकुल्याम्—देवकुल्या नामक पुत्री; हरेः—श्रीभगवान् के; पाद-शौचात्—चरणकमल को धोने वाले जल से; या—वह; अभूत्—हुई; सरित् दिवः—गंगा के तटों के अन्तर्गत दिव्य जल।

हे विदुर, कश्यप तथा पूर्णिमा नामक दो सन्तानों में से पूर्णिमा के तीन सन्तानें उत्पन्न हुईं जिनके नाम विरज, विश्वग तथा देवकुल्या थे। इन तीनों में से देवकुल्या श्रीभगवान् के चरणकमल को धोने वाला जल थी, जो बाद में स्वर्गलोक की गंगा में बदल गई।

तात्पर्य : कश्यप तथा पूर्णिमा इन दो में से यहाँ पर पूर्णिमा के वंशजों का वर्णन है। इनका विस्तृत वर्णन छठे स्कंध में दिया जाएगा। यहाँ पर यह ज्ञात होता है कि देवकुल्या गंगा नदी की प्रधान विग्रह है, जो स्वर्ग लोक से इस लोक में अवतरित होती है और पवित्र मानी जाती हैं, क्योंकि वह श्रीभगवान् हरि के चरणकमलों का स्पर्श करती है।

अत्रेः पत्न्यनसूया त्रीञ्जज्ञे सुयशसः सुतान् ।
दत्तं दुर्वाससं सोममात्मेशब्रह्मसम्भवान् ॥ १५॥

शब्दार्थ

अत्रेः—अत्रि मुनि की; पत्नी—पत्नी; अनसूया—अनुसूया ने; त्रीन्—तीन; जज्ञे—उत्पन्न किया; सु-यशसः—अत्यन्त प्रसिद्ध; सुतान्—पुत्रों को; दत्तम्—दत्तात्रेय; दुर्वाससम्—दुर्वासा; सोमम्—सोम (चन्द्रदेव); आत्म—परमात्मा; ईश—शिवजी; ब्रह्म—ब्रह्माजी; सम्भवान्—के अवतार।

अत्रि मुनि की पत्नी अनसूया ने तीन सुप्रसिद्ध पुत्र उत्पन्न किये। ये हैं—सोम, दत्तात्रेय तथा दुर्वासा, जो भगवान् ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के अंशावतार थे। सोम ब्रह्मा के, दत्तात्रेय भगवान् विष्णु के तथा दुर्वासा शिवजी के अंश प्रतिनिधिस्वरूप थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *आत्म-ईश-ब्रह्म-सम्भवान्* शब्द आये हैं। *आत्म* का अर्थ है परमात्मा या विष्णु; *ईश* का अर्थ है शिव तथा ब्रह्म का अर्थ है *चतुर्मुख* ब्रह्मा। अनसूया के तीनों पुत्र दत्तात्रेय, दुर्वासा तथा सोम इन तीनों देवताओं के आंशिक प्रतिनिधि थे। *आत्म* देवताओं या जीवात्माओं की कोटि में परिगणित नहीं होता, क्योंकि वह विष्णु है इसलिए उसे *विभिन्नांश भूतानाम्* कहा गया है। परमात्मा विष्णु समस्त जीवात्माओं के बीज-प्रदायक जनक हैं जिनमें ब्रह्मा तथा शिव भी सम्मिलित

हैं। *आत्म* का एक अर्थ और भी माना जा सकता है, जो इस प्रकार है : वह तत्त्व जो प्रत्येक आत्मा में परमात्मा है या कि सबों की आत्मा है, वही दत्तात्रेय के रूप में प्रकट हुआ क्योंकि यहाँ पर अंश शब्द का प्रयोग हुआ है।

भगवद्गीता में प्रत्येक आत्मा (जीव) को श्रीभगवान् या परमात्मा का अंश रूप कहा गया है, अत: यह क्यों न मान लिया जाय कि दत्तात्रेय भी उन्हीं अंशों में से एक थे? यहाँ पर शिव तथा ब्रह्मा को भी अंश माना गया है, अत: इन सबों को सामान्य जीव क्यों न मान लिया जाय? इसका उत्तर यही है कि विष्णु तथा सामान्य जीवात्माओं के प्राकट्य निश्चित रूप से परमेश्वर के अंश हैं और इनमें से कोई भी उनके तुल्य नहीं है, किंतु इन अंशों में कई कोटियाँ हैं। *वराह पुराण* में अत्यंत सुन्दर ढंग से बताया गया है कि कुछ अंश *स्वांश* है और कुछ *विभिन्नांश।* विभिन्नांश *जीव* कहलाते हैं और स्वांश विष्णु की कोटि में आते हैं। *जीव* अर्थात् विभिन्नांश कोटि में भी अनेक श्रेणियाँ हैं। इसकी व्याख्या *विष्णु पुराण* में की गई है जहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि परमेश्वर के पृथक्-पृथक् अंश माया द्वारा आच्छादित हैं। ऐसे व्यक्तिगत अंश जो भगवान् की सृष्टि में कहीं भी विचरण कर सकते हों *सर्वगत* कहलाते हैं और भव-यातनाएँ झेलते हैं। वे विभिन्न गुणों के वशीभूत होकर अपने-अपने कर्मों के अनुसार अज्ञान के आवरण से मुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ, सतोगुणी जन को कम कष्ट झेलने होते हैं और तमोगुणी को अधिक। किन्तु शुद्ध कृष्णभावनामृत (भक्ति) तो प्रत्येक जीवात्मा का जन्मसिद्ध अधिकार है क्योंकि वह परमेश्वर का अंश है। भगवत् चेतना भी अंशस्वरूप है और जिस अनुपात से यह चेतना भौतिक मल से रहित होती है उसी के अनुसार जीवात्माएँ भिन्न-भिन्न स्थान ग्रहण करती हैं। *वेदान्त सूत्र* में विभिन्न कोटि की जीवात्माओं की तुलना भिन्न-भिन्न प्रखरता वाले दीपों से की गई है। उदाहरणार्थ, कुछ बिजली के बल्ब एक हजार कैंडल शक्ति के होते हैं, तो कुछ पाँच सौ के, इन कुछ पचास के, किन्तु इन समस्त बल्बों से प्रकाश होता है। यद्यपि इन सभी बल्बों में प्रकाश विद्यमान रहता है, किन्तु इनमें प्रकाश की कोटि (प्रखरता) भिन्न-भिन्न होती है। इसी प्रकार ब्रह्म का श्रेणीकरण है। विष्णु के विभिन्न रूपों में परमेश्वर के विष्णु *स्वांश* प्रसार दीपों के तुल्य हैं, शिवजी भी एक दीप के तुल्य हैं, परन्तु शत-प्रति-शत प्रकाश तो श्रीकृष्ण ही हैं। *विष्णु तत्त्व* में ९४, *शिव-तत्त्व* में ८४, *ब्रह्मा*

में ७८ तथा अन्य जीवात्माओं में भी ब्रह्मा के ही समान ७८ प्रतिशत प्रकाश रहता है, किन्तु जब जीवात्माएँ बद्ध होती हैं, तो यह प्रकाश और भी मन्द रहता है। निस्सन्देह ब्रह्म की कई कोटियाँ हैं। इस तथ्य को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। अत: *आत्मेश-ब्रह्मसम्भवान्* शब्द सूचित करते हैं कि दत्तात्रेय विष्णु के प्रत्यक्ष अंशस्वरूप थे, जबकि दुर्वासा तथा सोम क्रमश: शिव तथा ब्रह्मा के अंश थे।

विदुर उवाच

अत्रेर्गृहे सुरश्रेष्ठाः स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ।
किञ्चिच्चिकीर्षवो जाता एतदाख्याहि मे गुरो ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—श्रीविदुर ने कहा; अत्रेः गृहे—अत्रि के घर में; सुर-श्रेष्ठाः—प्रमुख देवता; स्थिति—पालन; उत्पत्ति—सृष्टि; अन्त—संहार; हेतवः—कारण; किञ्चित्—कुछ; चिकीर्षवः—करने के इच्छुक; जाताः—प्रकट हुए; एतत्—यह; आख्याहि—कहो, बताओ; मे—मुझको; गुरो—मेरे गुरु!.

यह सुनकर विदुर ने मैत्रेय से पूछा : हे गुरु, ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव जो सम्पूर्ण सृष्टि के स्त्रष्टा, पालक तथा संहारक हैं, अत्रि मुनि की पत्नी से किस प्रकार उत्पन्न हुए?

तात्पर्य : विदुर की जिज्ञासा बिल्कुल उचित थी, क्योंकि उन्हें लगा कि जब परमात्मा, ब्रह्मा तथा शिव अत्रिमुनि की पत्नी अनसूया के शरीर से प्रकट हुए हैं, तो इसका कोई महान् उद्देश्य होगा। अन्यथा वे इस प्रकार क्यों उत्पन्न होते?

मैत्रेय उवाच

ब्रह्मणा चोदितः सृष्टावत्रिर्ब्रह्मविदां वरः ।
सह पत्न्या ययावृक्षं कुलाद्रिं तपसि स्थितः ॥ १७॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—श्रीमैत्रेय ऋषि ने कहा; ब्रह्मणा—भगवान् ब्रह्मा द्वारा; चोदितः—प्रेरित होकर; सृष्टौ—सृष्टि हेतु; अत्रिः—अत्रि; ब्रह्म-विदाम्—आध्यात्मिक ज्ञान में पारंगत पुरुषों के; वरः—श्रेष्ठ, मुख्य; सह—साथ; पत्न्या—पत्नी के; ययौ—गया; ऋक्षम्—ऋक्ष पर्वत; कुल-अद्रिम्—विशाल पर्वत; तपसि—तपस्या हेतु; स्थितः—रहा।

मैत्रेय ने कहा : अनसूया से विवाह कर लेने के बाद जब अत्रि मुनि को ब्रह्मा ने वंश चलाने के लिए आदेश दिया तो वे अपनी पत्नी के साथ कठोर तपस्या करने के लिए ऋक्ष नामक पर्वत की घाटी में गये।

तस्मिन्प्रसूनस्तबकपलाशाशोककानने ।
वार्भिः स्रवद्भिरुद्घुष्टे निर्विन्ध्यायाः समन्ततः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उसमें; प्रसून-स्तबक—पुष्प गुच्छ; पलाश—पलाश के वृक्ष (छिउल); अशोक—अशोक के पेड़; कानने—वनोद्यान में; वार्भिः—जल से; स्रवद्भिः—बहते हुए; उद्घुष्टे—ध्वनि में; निर्विन्ध्यायाः—निर्विन्ध्या नदी की; समन्ततः—सर्वत्र।

उस पर्वत घाटी में निर्विन्ध्या नामक नदी बहती है। इस नदी के तट पर अनेक अशोक के वृक्ष तथा पलाश पुष्पों से लदे अन्य पौधे हैं। वहाँ झरने से बहते हुए जल की मधुर ध्वनि सुनाई पड़ती रहती है। वे पति तथा पत्नी ऐसे सुरम्य स्थान में पहुँचे।

प्राणायामेन संयम्य मनो वर्षशतं मुनिः ।
अतिष्ठदेकपादेन निर्द्वन्द्वोऽनिलभोजनः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

प्राणायामेन—प्राणायाम (श्वास रोकने का अभ्यास) के द्वारा; संयम्य—वश में करके; मनः—मन; वर्ष-शतम्—एक सौ वर्ष; मुनिः—मुनि; अतिष्ठत्—वहाँ रहते हुए; एक-पादेन—एक पाँव पर खड़े होकर; निर्द्वन्द्वः—बिना द्वैत के; अनिल—वायु; भोजनः—खाकर।

वहाँ पर मुनि ने योगिक प्राणायाम के द्वारा अपने मन को स्थिर किया और फिर समस्त आसक्ति पर संयम करते हुए बिना भोजन खाए केवल वायु का सेवन करते रहे और सौ वर्षों तक एक पाँव पर खड़े रहे।

शरणं तं प्रपद्येऽहं य एव जगदीश्वरः ।
प्रजामात्मसमां मह्यं प्रयच्छत्विति चिन्तयन् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

शरणम्—शरण ग्रहण करके; तम्—उसकी; प्रपद्ये—समर्पण करता हूँ; अहम्—मैं; यः—जो; एव—निश्चय ही; जगत्-ईश्वरः—ब्रह्माण्ड के स्वामी; प्रजाम्—पुत्र; आत्म-समाम्—अपनी तरह का; मह्यम्—मुझको; प्रयच्छतु—प्रदान करें; इति—इस प्रकार; चिन्तयन्—सोचते हुए।

वे मन ही मन सोच रहे थे कि जो सम्पूर्ण जगत के स्वामी हैं और मैं जिनकी शरण में आया हूँ, वे प्रसन्न होकर मुझे अपने ही समान पुत्र प्रदान करें।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि अत्रि मुनि को श्रीभगवान् का विशिष्ट ज्ञान न था। निस्सन्देह, वे इस वैदिक ज्ञान से अनजान रहे होंगे कि श्रीभगवान् सर्वत्र उपस्थित हैं, जो इस जगत की सृष्टि करने वाले हैं, जिनसे प्रत्येक वस्तु उद्भूत है, जो उत्पन्न किये गये संसार का पालन करते हैं और प्रलय के

बाद सारा संसार उन्हीं में विलीन हो जाता है : *यतो वा इमानि भूतानि* (*तैत्तिरीय उपनिषद्* ३.१.१)। वैदिक मंत्रों से हमें श्रीभगवान् के सम्बध में ज्ञान प्राप्त होता है, फलत: अत्रि मुनि ने श्रीभगवान् के ही समान पुत्र की की याचना करते हुए यह जाने बिना कि उनका क्या नाम है, उन पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। भगवान् की इस प्रकार की भक्ति, जिसमें भगवान् के नाम का भी पता नहीं रहता, *भगवद्गीता* में वर्णित है, जिसमें भगवान् कहते हैं कि चार प्रकार के पुण्यात्मा मेरे पास मनवांछित फल माँगने आते हैं। अत्रि मुनि भगवान् के ही सदृश पुत्र चाहते थे; अत: वे शुद्ध भक्त नहीं माने जा सकते क्योंकि उनकी एक कामना थी, जो भौतिक थी। यद्यपि वे श्रीभगवान् जैसा पुत्र चाह रहे थे, किन्तु यह इच्छा भौतिक थी, क्योंकि वे श्रीभगवान् को न चाह कर उन्हीं के समान सन्तान चाह रहे थे। यदि उन्होंने श्रीभगवान् को सन्तान रूप में चाहा होता तो वे इस भौतिक इच्छा से मुक्त रहते, क्योंकि तब उन्होंने परम सत्य को चाहा होता, किन्तु उन्हीं के समान पुत्र की कामना करने से यह भौतिक इच्छा ही थी। अत: अत्रि मुनि की गिनती शुद्ध भक्तों में नहीं की जा सकती।

तप्यमानं त्रिभुवनं प्राणायामैधसाग्निना ।
निर्गतेन मुनेर्मूर्ध्न: समीक्ष्य प्रभवस्त्रय: ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तप्यमानम्—तप करते हुए; **त्रि-भुवनम्**—तीनों लोक; **प्राणायाम**—श्वास वायु रोकने का अभ्यास; **एधसा**—ईंधन; **अग्निना**—अग्नि से; **निर्गतेन**—निकलता हुआ; **मुने:**—मुनि का; **मूर्ध्न:**—शिरो भाग; **समीक्ष्य**—देखकर; **प्रभव: त्रय:**—तीनों बड़े देव (ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर)।

जब अत्रि मुनि गहन तप-साधना कर रहे थे तो उनके प्राणायाम के कारण उनके शिर से एक प्रज्वलित अग्नि उत्पन्न हुई जिसे तीनों लोकों के तीन प्रमुख देवों ने देखा।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार प्राणायाम की अग्नि मानसिक तोष है। उस अग्नि को परमात्मा विष्णु ने देखा और उन्हीं के माध्यम से ब्रह्मा तथा शिव ने भी देखा। अत्रि मुनि ने अपने प्राणायाम द्वारा परमात्मा अर्थात् जगत् के स्वामी पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। जैसाकि भगवद्गीता में पुष्टि की गई है, जगत् के स्वामी तो वासुदेव हैं (*वासुदेव: सर्वम् इति*) और उन्हीं के आदेश पर ब्रह्मा तथा शिव कार्य करते हैं। अत: वासुदेव के आदेश से ही ब्रह्मा तथा शिव ने अत्रि मुनि द्वारा किये जाने वाले कठोर तप को देखा और नीचे आने के लिए प्रमुदित हुए, जैसाकि अगले श्लोक में बताया गया

है।

अप्सरोमुनिगन्धर्वसिद्धविद्याधरोरगैः ।
वितायमानयशसस्तदाश्रमपदं ययुः ॥ २२॥

शब्दार्थ

अप्सरः—अप्सराएँ; मुनि—परम साधु; गन्धर्व—गंधर्व लोक के वासी; सिद्ध—सिद्धलोक के वासी; विद्याधर—अन्य देवता; उरगैः—नागलोक के वासी; वितायमान—फैला हुआ; यशसः—यश, ख्याति; तत्—उसके; आश्रम-पदम्—आश्रम; ययुः—गये।.

उस समय ये तीनों देव स्वर्गलोक के वासियों, यथा अप्सराओं, गन्धर्वों, सिद्धों, विद्याधरों तथा नागों समेत अत्रि के आश्रम पहुँचे। इस प्रकार वे उस मुनि के आश्रम में प्रविष्ट हुए, जो उनकी तपस्या के कारण विख्यात हो चुका था।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य में यह उपदेश दिया गया हैं कि मनुष्य को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण में जाना चाहिए, जो इस जगत् के स्वामी हैं और इसका सृजन, पालन तथा संहार करने वाले हैं। वे परमात्मा रूप में जाने जाते हैं और जब परमात्मा की उपासना की जाती है, तो अन्य देवता, यथा ब्रह्मा तथा शिव, विष्णु के साथ-साथ प्रकट होते हैं, क्योंकि वे परमेश्वर द्वारा आदेशित, होते हैं।

तत्प्रादुर्भावसंयोगविद्योतितमना मुनिः ।
उत्तिष्ठन्नेकपादेन ददर्श विबुधर्षभान् ॥ २३॥

शब्दार्थ

तत्—उनका; प्रादुर्भाव—प्राकट्य; संयोग—एकसाथ; विद्योतित—प्रकाशित; मनाः—मन में; मुनिः—मुनि ने; उत्तिष्ठन्—जगाये जाने पर; एक-पादेन—एक ही पाँव से; ददर्श—देखा; विबुध—देवता; ऋषभान्—महापुरुष।.

मुनि एक पैर पर खड़े थे, किन्तु उन्होंने ज्योंही देखा कि तीनों देव उनके समक्ष प्रकट हुए हैं, तो वे उन्हें देखकर इतने हर्षित हुए कि अत्यन्त कष्ट होते हुए भी वे एक ही पाँव से उनके निकट पहुँचे।

प्रणम्य दण्डवद्भूमावुपतस्थेऽर्हणाञ्जलिः ।
वृषहंससुपर्णस्थान्स्वैः स्वैश्चिह्नैश्च चिह्नितान् ॥ २४॥

शब्दार्थ

प्रणम्य—नमस्कार करके; दण्ड-वत्—दण्ड के समान; भूमौ—पृथ्वी पर; उपतस्थे—गिर पड़े; अर्हण—पूजा की सारी सामग्री; अञ्जलिः—हाथ जोड़ कर; वृष—बैल; हंस—हंस पक्षी; सुपर्ण—गरुड़ पक्षी; स्थान्—स्थित; स्वैः—अपने; स्वैः—अपने; चिह्नैः—चिह्नों; च—तथा; चिह्नितान्—पहचाने जाकर।

तत्पश्चात् उन्होंने उन तीनों देवों की स्तुति की जो अपने-अपने वाहनों—बैल, हंस तथा गरुड़—पर सवार थे, और अपने हाथों में डमरू, कुश तथा चक्र धारण किये थे। मुनि ने भूमि पर गिरकर उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया।

तात्पर्य : *दण्ड* अर्थात् 'डंडा' तथा *वत्* का अर्थ है 'समान'। अपने से किसी श्रेष्ठ के समक्ष भूमि पर दण्ड के समान गिरना होता है और इस प्रकार से सम्मान करना *दण्डवत्* कहलाता है। अत्रि मुनि ने तीनों देवों का इसी प्रकार से सम्मान किया। ये देव अपने-अपने वाहनों तथा चिह्नों के द्वारा पहचाने गये। इस सम्बध में यहाँ यह वर्णित है कि भगवान् विष्णु गरुड़ पर आसीन थे और अपने हाथ में चक्र धारण किये थे। ब्रह्मा हंस पर सवार थे और अपने हाथ में कुश नामक घास लिए थे। शिवजी वृषभ पर आसीन थे और अपने हाथ में डमरू लिए थे। अत्रि मुनि ने उन्हें उनके विभिन्न वाहनों तथा चिह्नों से पहचान कर उनकी स्तुति की और सम्मान दिया।

कृपावलोकेन हसद्वदनेनोपलम्भितान् ।
तद्रोचिषा प्रतिहते निमील्य मुनिरक्षिणी ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

कृपा-अवलोकेन—कृपा से देखते हुए; हसत्—हँसते हुए; वदनेन—मुखों वाले; उपलम्भितान्—अत्यन्त प्रसन्न दिखते हुए; तत्—उनके; रोचिषा—तेज से; प्रतिहते—चकाचौंध होकर; निमील्य—मूँदकर; मुनिः—मुनि; अक्षिणी—अपने नेत्र।

अत्रि मुनि यह देखकर अत्यधिक प्रमुदित हुए कि तीनों देव उन पर कृपालु हैं। उनके नेत्र उन देवों के शरीर के तेज से चकाचौंध हो गये, अतः उन्होंने कुछ समय के लिए अपनी आँखें मूँद लीं।

तात्पर्य : चूँकि तीनों देव मुस्करा रहे थे, अतः अत्रि मुनि समझ गये कि वे उन पर कृपावान हैं। उनका जाज्वल्यमान शारीरिक तेज असह्य था, अतः अत्रि ने कुछ समय तक अपनी आँखें बन्द कर लीं।

चेतस्तत्प्रवणं युञ्जन्नस्तावीत्संहताञ्जलिः

श्लक्ष्णया सूक्तया वाचा सर्वलोकगरीयसः

अत्रिरुवाच

विश्वोद्भवस्थितिलयेषु विभज्यमानै-
र्मायागुणैरनुयुगं विगृहीतदेहाः
ते ब्रह्मविष्णुगिरिशाः प्रणतोऽस्म्यहं व-
स्तेभ्यः क एव भवतां म इहोपहूतः

शब्दार्थ

चेतः—हृदय; तत्-प्रवणम्—उनपर टिका कर; युञ्जन्—बनाकर; अस्तावीत्—स्तुति की; संहत-अञ्जलिः—हाथ जोड़ कर; श्लक्ष्णया—भावपूर्ण; सूक्तया—प्रार्थनाएँ; वाचा—शब्द; सर्व-लोक—सारा संसार; गरीयसः—सम्माननीय; अत्रिः उवाच—अत्रि ने कहा; विश्व—ब्रह्माण्ड; उद्भव—सृष्टि; स्थिति—पालन; लयेषु—संहार में; विभज्यमानैः—विभक्त; माया-गुणैः—प्रकृति के बाह्य गुणों से; अनुयुगम्—विभिन्न कल्पों के अनुसार; विगृहीत—धारण करके; देहाः—शरीर; ते—वे; ब्रह्म—ब्रह्माजी; विष्णु—भगवान् विष्णु; गिरिशाः—शिवजी; प्रणतः—झुका, नमित; अस्मि—हूँ; अहम्—मैं; वः—तुम सबको; तेभ्यः—उनसे; कः—कौन; एव—निश्चय ही; भवताम्—आपका; मे—मुझसे; इह—यहाँ; उपहूतः—बुलाया जाकर।

किन्तु पहले से उनका हृदय इन देवों के प्रति आकृष्ट था, अतः जिस-तिस प्रकार उन्होंने होश सँभाला और वे हाथ जोड़ कर ब्रह्माण्ड के प्रमुख अधिष्ठाता देवों की मधुर शब्दों से स्तुति करने लगे। अत्रि मुनि ने कहा : हे ब्रह्मा, हे विष्णु तथा हे शिव, आपने भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों को अंगीकार करके अपने को तीन शरीरों में विभक्त कर लिया है, जैसा कि आप प्रत्येक कल्प में दृश्य जगत की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के लिए करते आये हैं। मैं आप तीनों को सादर नमस्कार करता हूँ और मैं जानना चाहता हूँ कि मैने अपनी प्रार्थना में आपमें से किसको बुलाया था?

तात्पर्य : अत्रि मुनि ने *जगदीश्वर* अर्थात् ब्रह्माण्ड के स्वामी का आवाहन किया था। भगवान् सृष्टि के पूर्व विद्यमान रहे होंगे, अन्यथा वे इसके स्वामी (ईश्वर) कैसे बनते? यदि कोई भवन का निर्माण कराता है, तो इससे सूचित होता है कि वह उस भवन-निर्माण के पहले से विद्यमान है। फलतः ब्रह्माण्ड के स्रष्टा परमेश्वर को त्रिगुणातीत होना चाहिए। किन्तु यह ज्ञात है कि विष्णु सत्त्वगुण के, ब्रह्मा रजोगुण के तथा शिव तमोगुण के अध्यक्ष हैं। अतः अत्रि मुनि ने कहा "वह *जगदीश्वर* अवश्य ही आपमें से ही कोई है। किन्तु आप तीनों एकसाथ प्रकट हुए हैं, अतः मैं यह नहीं पहचान पा रहा कि मैंने किसका आवाहन किया था। कृपया मुझे बताएँ कि आपमें से वास्तव में कौन *जगदीश्वर* हैं?" वस्तुतः अत्रि मुनि को भगवान् विष्णु की स्वाभाविक स्थिति के विषय में संदेह था, किन्तु उनका दृढ़ विश्वास था कि जगदीश्वर माया द्वारा उत्पन्न प्राणी नहीं हो सकता। उनका यह प्रश्न कि उन्होंने किसे

बुलाया था यह सूचित करता है कि वे भगवान् की वैधानिक स्थिति के विषय में संशयपूर्ण थे। अत: उन्होंने तीनों से प्रार्थना की, ''कृपया मुझे बताएँ कि जगत का दिव्य स्वामी कौन है?'' वस्तुत:, उनका विश्वास था कि सारे के सारे भगवान् नहीं हो सकते, बल्कि इन तीनों में से एक ही जगदीश्वर हो सकता है।

एको मयेह भगवान्विविधप्रधानै-
श्चित्तीकृत: प्रजननाय कथं नु यूयम् ।
अत्रागतास्तनुभृतां मनसोऽपि दूराद्
ब्रूत प्रसीदत महानिह विस्मयो मे ॥ २८॥

शब्दार्थ

एक:—एक; मया—मेरे द्वारा; इह—यहाँ; भगवान्—परम पुरुष; विविध—अनेक; प्रधानै:—साज-सामग्री द्वारा; चित्ती-कृत:—मन में स्थिर किया हुआ; प्रजननाय—सन्तान उत्पत्ति के लिए; कथम्—क्यों; नु—किन्तु; यूयम्—तुम सभी; अत्र—यहाँ; आगता:—प्रकट हुए; तनु-भृताम्—देहधारियों का; मनस:—मन; अपि—यद्यपि; दूरात्—दूर से; ब्रूत—कृपा करके बताएँ; प्रसीदत—मुझ पर कृपालु होकर; महान्—अत्यधिक; इह—यह; विस्मय:—सन्देह; मे—मेरा।

मैंने तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के ही समान पुत्र की इच्छा से उन्हीं का आवाहन किया था और मैंने उन्हीं का चिन्तन किया था। यद्यपि वे मनुष्य की मानसिक कल्पना से परे हैं, किन्तु आप तीनों यहाँ पर उपस्थित हुए हैं। कृपया मुझे बताएँ कि आप यहाँ कैसे आए हैं, क्योंकि मैं इसके विषय में अत्यधिक मोहग्रस्त हूँ।

तात्पर्य : अत्रि मुनि का पूरा-पूरा विश्वास था कि श्रीभगवान् ही जगदीश्वर हैं, अत: उन्होंने एक परमेश्वर के लिए प्रार्थना की। अत: उन्हें विस्मय हो रहा था कि तीनों किस प्रकार प्रकट हुए हैं?

मैत्रेय उवाच
इति तस्य वच: श्रुत्वा त्रयस्ते विबुधर्षभा: ।
प्रत्याहु: श्लक्ष्णया वाचा प्रहस्य तमृषिं प्रभो ॥ २९॥

शब्दार्थ

मैत्रेय: उवाच—ऋषि मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; तस्य—उसके; वच:—शब्द; श्रुत्वा—सुनकर; त्रय: ते—वे तीनों; विबुध—देवता; ऋषभा:—प्रमुख; प्रत्याहु:—उत्तर दिया; श्लक्ष्णया—विनीत; वाचा—वाणी; प्रहस्य—मुस्कराकर; तम्—उसको; ऋषिम्—ऋषि; प्रभो—हे शक्तिमान।

मैत्रेय महा-मुनि ने कहा : अत्रि मुनि को इस प्रकार बोलते हुए सुनकर तीनों महान् देव मुस्कराए और उन्होंने मृदु वाणी में इस प्रकार उत्तर दिया।

देवा ऊचुः
यथा कृतस्ते सङ्कल्पो भाव्यं तेनैव नान्यथा ।
सत्सङ्कल्पस्य ते ब्रह्मन्यद्वै ध्यायति ते वयम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

देवाः ऊचुः—देवताओं ने उत्तर दिया; यथा—जैसा; कृतः—किया हुआ; ते—तुम्हारे द्वारा; सङ्कल्पः—निश्चय, संकल्प; भाव्यम्—होना चाहिए; तेन एव—उससे; न अन्यथा—और कुछ नहीं, विपरीत नहीं; सत्-सङ्कल्पस्य—जिसका निश्चय डिगता नहीं; ते—तुम्हारा; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; यत्—जो; वै—निश्चय ही; ध्यायति—ध्यान धरते हुए; ते—वे सभी; वयम्—हम हैं।

तीनों देवताओं ने अत्रि मुनि से कहा : हे ब्राह्मण, तुम अपने संकल्प में पूर्ण हो, अतः तुमने जो कुछ निश्चित कर रखा है, वही होगा, उससे विपरीत नहीं होगा। हम सब वे ही पुरुष हैं जिनका तुमने ध्यान किया है और इसीलिए हम सब तुम्हारे पास आये हैं।

तात्पर्य : अत्रि मुनि को जगदीश्वर या भगवान् के किसी रूप विशेष का कोई स्पष्ट ज्ञान न था। उन्होंने तो अनायास ही श्रीभगवान् का चिन्तन किया था। महाविष्णु, जिनके श्वास से करोड़ों ब्रह्माण्डों का उद्‌भव और फिर उन्हीं में लय होता है, जगदीश्वर माने जा सकते हैं। गर्भोदकशायी विष्णु भी, जिनकी नाभि से कमल प्रकट हुआ जो ब्रह्मा का जन्मस्थल है, जगदीश्वर माने जा सकते हैं। इसी प्रकार समस्त जीवात्माओं के परम-आत्मा स्वरूप क्षीरोदकशायी विष्णु भी जगदीश्वर कहे जा सकते हैं। फिर क्षीरोदकशायी विष्णु की आज्ञा से इस ब्रह्माण्ड में विष्णु रूपों को, यथा ब्रह्मा तथा शिव को भी जगदीश्वर माना जा सकता है।

विष्णु जगदीश्वर हैं क्योंकि वे जगत्पालक हैं। इसी तरह ब्रह्मा विभिन्न लोकों तथा जीवों की सृष्टि करने के कारण जगदीश्वर हैं। अथवा शिवजी, जो अन्त में इस ब्रह्माण्ड का संहार करते हैं, जगदीश्वर माने जा सकते हैं। अतः अत्रि द्वारा किसी विशेष रूप का उल्लेख न किये जाने से उनके चाहने पर ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव—तीनों—उनके समक्ष प्रकट हुए और कहा, "चूँकि तुमने जगत के स्वामी श्रीभगवान् के ही समान पुत्र प्राप्त करने के विषय में चिन्तन किया था, इसलिए तुम्हारा संकल्प पूरा होगा।" दूसरे शब्दों में, मनुष्य की भक्ति की शक्ति के अनुसार ही उसका संकल्प पूरा होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा गया है—*यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः।* जो जिस विशेष देवता पर आसक्त है, वह उसी के धाम को जाता है। यदि कोई पितरों पर आसक्ति रखता है, तो

वह पितृलोक जाता है; इसी प्रकार यदि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण पर किसी की आसक्ति है, तो वह भगवान् कृष्ण के धाम जाता है। अत्रि मुनि को जगदीश्वर का कोई स्पष्ट ज्ञान न था अत: उनके समक्ष तीनों प्रमुख देव उपस्थित हुए, जो जगत के तीनों गुणविभागों के स्वामी हैं। अब पुत्र के लिए संकल्प-शक्ति के अनुसार ही उनकी इच्छा भगवत् कृपा से पूरी होनी है।

अथास्मदंशभूतास्ते आत्मजा लोकविश्रुता: ।
भवितारोऽङ्ग भद्रं ते विस्रप्स्यन्ति च ते यश: ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

अथ—अत:; अस्मत्—हमारे; अंश-भूता:—विभिन्नांश; ते—तुम्हारा; आत्मजा:—पुत्र; लोक-विश्रुता:—संसार प्रसिद्ध; भवितार:—भविष्य में उत्पन्न होंगे; अङ्ग—हे मुनि; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारा; विस्रप्स्यन्ति—फैलाएँगे; च—भी; ते—तुम्हारी; यश:—यश।

हे मुनिवर, हमारी शक्ति के अंशस्वरूप तुम्हारे पुत्र उत्पन्न होंगे और हम तुम्हारे कल्याण के कामी हैं, अत: वे पुत्र तुम्हारे यश का संसार-भर में विस्तार करेंगे।

एवं कामवरं दत्त्वा प्रतिजग्मु: सुरेश्वरा: ।
सभाजितास्तयो: सम्यग्दम्पत्योर्मिषतोस्तत: ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; काम-वरम्—इच्छित वर; दत्त्वा—प्रदान करके; प्रतिजग्मु:—वापस चले गये; सुर-ईश्वरा:—प्रमुख देवता; सभाजिता:—पूजित होकर; तयो:—दोनों के; सम्यक्—पूरी तरह; दम्पत्यो:—पति तथा पत्नी; मिषतो:—देखते ही देखते; तत:—वहाँ से।

इस प्रकार उस युगल के देखते ही देखते तीनों देवता ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर अत्रि मुनि को वर देकर उस स्थान से ओझल हो गये।

सोमोऽभूद्ब्रह्मणोऽंशेन दत्तो विष्णोस्तु योगवित् ।
दुर्वासा: शङ्करस्यांशो निबोधाङ्गिरस: प्रजा: ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

सोम:—चन्द्रलोक का स्वामी; अभूत्—प्रकट हुआ; ब्रह्मण:—ब्राह्मण के; अंशेन—आंशिक विस्तार से; दत्त:—दत्तात्रेय; विष्णो:—विष्णु का; तु—लेकिन; योग-वित्—अत्यन्त शक्तिमान योगी; दुर्वासा:—दुर्वासा; शङ्करस्य अंश:—शिव का आंशिक विस्तार; निबोध—समझने का प्रयत्न करो; अङ्गिरस:—अंगिरा ऋषि की; प्रजा:—सन्ततियों का।

तत्पश्चात् ब्रह्मा के आंशिक विस्तार से सोमदेव उत्पन्न हुए, विष्णु से परम योगी दत्तात्रेय तथा शंकर (शिवजी) से दुर्वासा उत्पन्न हुए। अब तुम मुझसे अंगिरा के अनेक पुत्रों के सम्बन्ध में

सुनो।

श्रद्धा त्वङ्गिरसः पत्नी चतस्रोऽसूत कन्यकाः ।
सिनीवाली कुहू राका चतुर्थ्यनुमतिस्तथा ॥ ३४॥

शब्दार्थ

श्रद्धा—श्रद्धा; तु—लेकिन; अङ्गिरसः—अंगिरा ऋषि की; पत्नी—पत्नी; चतस्रः—चार; असूत—जन्म दिया; कन्यकाः—कन्याएँ; सिनीवाली—सिनीवाली; कुहूः—कुहू; राका—राका; चतुर्थी—चौथी; अनुमतिः—अनुमति; तथा—भी।

अंगिरा की पत्नी श्रद्धा ने चार कन्याओं को जन्म दिया जिनके नाम सिनीवाली, कुहू, राका तथा अनुमति थे।

तत्पुत्रावपरावास्तां ख्यातौ स्वारोचिषेऽन्तरे ।
उतथ्यो भगवान्साक्षाद्ब्रह्मिष्ठश्च बृहस्पतिः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

तत्—उसके; पुत्रौ—दो पुत्र; अपरौ—अन्य; आस्ताम्—उत्पन्न हुए; ख्यातौ—प्रसिद्ध; स्वारोचिषे—स्वारोचिष युग में; अन्तरे—मनु के; उतथ्यः—उतथ्य; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; साक्षात्—प्रत्यक्ष; ब्रह्मिष्ठः च—आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत; बृहस्पतिः—बृहस्पति।

इन चार पुत्रियों के अतिरिक्त उसके दो पुत्र भी थे। उनमें से एक उतथ्य कहलाया और दूसरा महान् विद्वान बृहस्पति था।

पुलस्त्योऽजनयत्पत्न्यामगस्त्यं च हविर्भुवि ।
सोऽन्यजन्मनि दह्राग्निर्विश्रवाश्च महातपाः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

पुलस्त्यः—पुलस्त्य मुनि ने; अजनयत्—जन्म दिया; पत्न्याम्—अपनी पत्नी से; अगस्त्यम्—अगस्त्य मुनि को; च—भी; हविर्भुवि—हविर्भुवि से; सः—वह (अगस्त्य); अन्य-जन्मनि—अगले जन्म में; दह्र-अग्निः—जठराग्नि; विश्रवाः—विश्रवा; च—तथा; महा-तपाः—तपस्या के कारण अत्यन्त बलशाली।

पुलस्त्य के उनकी पत्नी हविर्भू से अगस्त्य नाम का एक पुत्र हुआ, जो अपने अगले जन्म में दह्राग्नि बना। इसके अतिरिक्त पुलस्त्य के एक अन्य महान् तथा साधु पुत्र हुआ जिसका नाम विश्रवा था।

तस्य यक्षपतिर्देवः कुबेरस्त्विडविडासुतः ।
रावणः कुम्भकर्णश्च तथान्यस्यां विभीषणः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके; यक्ष-पतिः—यक्षों का राजा; देवः—देवता; कुबेरः—कुबेर; तु—और; इडविडा—इडविडा का; सुतः—पुत्र; रावणः—रावण; कुम्भकर्णः—कुम्भकर्ण; च—भी; तथा—इस प्रकार; अन्यस्याम्—अन्य से; विभीषणः—विभीषण।

विश्रवा के दो पत्नियाँ थीं। प्रथम पत्नी इडविडा थी जिससे समस्त यक्षों का स्वामी कुबेर उत्पन्न हुआ। दूसरी पत्नी का नाम केशिनी था जिससे तीन पुत्र उत्पन्न हुए। ये थे—रावण, कुम्भकर्ण तथा विभीषण।

पुलहस्य गतिर्भार्या त्रीनसूत सती सुतान् ।
कर्मश्रेष्ठं वरीयांसं सहिष्णुं च महामते ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

पुलहस्य—पुलह की; गतिः—गति; भार्या—पत्नी; त्रीन्—तीन; असूत—जन्म दिया; सती—साध्वी; सुतान्—पुत्रों को; कर्म-श्रेष्ठम्—सकाम कर्म में अत्यन्त दक्ष; वरीयांसम्—अत्यन्त सम्माननीय; सहिष्णुम्—अत्यन्त सहनशील; च—भी; महा-मते—हे विदुर।

पुलह ऋषि की पत्नी गति ने तीन पुत्रों को जन्म दिया, जिनके नाम थे—कर्मश्रेष्ठ, वरीयान तथा सहिष्णु। ये सभी महान् साधु थे।

तात्पर्य : पुलह की पत्नी गति कर्दम मुनि की पाँचवीं कन्या थी। वह अत्यन्त पतिव्रता थी और उसके सभी पुत्र पति के ही समान श्रेष्ठ थे।

क्रतोरपि क्रिया भार्या वालखिल्यानसूयत ।
ऋषीन्षष्टिसहस्राणि ज्वलतो ब्रह्मतेजसा ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

क्रतोः—क्रतु मुनि का; अपि—भी; क्रिया—क्रिया; भार्या—पत्नी; वालखिल्यान्—वालखिल्य के ही समान; असूयत—उत्पन्न किया; ऋषीन्—साधु, ऋषि; षष्टि—साठ; सहस्राणि—हजार; ज्वलतः—अत्यन्त देदीप्यमान; ब्रह्म-तेजसा—ब्रह्मतेज के प्रभाव से।

क्रतु की पत्नी क्रिया ने वालखिल्यादि नामक साठ हजार ऋषियों को जन्म दिया। ये ऋषि ब्रह्म (आध्यात्मिक) ज्ञान में बढ़े-चढ़े थे और उनका शरीर ऐसे ज्ञान से देदीप्यमान था।

तात्पर्य : क्रिया कर्दम मुनि की छठी पुत्री थी। उसने साठ हजार ऋषियों को जन्म दिया जिन्हें वालखिल्य कहा जाता है, क्योंकि वे गृहस्थ जीवन त्याग कर वानप्रस्थ हो गये थे।

ऊर्जायां जज्ञिरे पुत्रा वसिष्ठस्य परन्तप ।

चित्रकेतुप्रधानास्ते सप्त ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

ऊर्जायाम्—ऊर्जा से; जज्ञिरे—जन्म लिया; पुत्राः—पुत्र; वसिष्ठस्य—वसिष्ठ मुनि की; परन्तप—हे महान; चित्रकेतु—चित्रकेतु; प्रधानाः—आदि; ते—सब पुत्र; सप्त—सात; ब्रह्म-ऋषयः—ब्रह्मज्ञानी ऋषि; अमलाः—निर्मल।

वसिष्ठ मुनि की पत्नी ऊर्जा से, जिसे कभी-कभी अरुन्धती भी कहा जाता है, चित्रकेतु इत्यादि सात विशुद्ध ऋषि उत्पन्न हुए।

चित्रकेतुः सुरोचिश्च विरजा मित्र एव च ।
उल्बणो वसुभृद्यानो द्युमान्शक्त्यादयोऽपरे ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

चित्रकेतुः—चित्रकेतु; सुरोचिः च—तथा सुरोचि; विरजाः—विरजा; मित्रः—मित्र; एव—भी; च—तथा; उल्बणः—उल्बण; वसुभृद्यानः—वसुभृद्यान; द्युमान्—द्युमान; शक्ति-आदयः—शक्ति इत्यादि पुत्र; अपरे—उसकी अन्य पत्नी से।

इन सातों ऋषियों के नाम इस प्रकार हैं—चित्रकेतु, सुरोचि, विरजा, मित्र, उल्बण, वसुभृद्यान तथा द्युमान। वसिष्ठ की दूसरी पत्नी से कुछ अन्य अत्यन्त सुयोग्य पुत्र हुए।

तात्पर्य : ऊर्जा को कभी-कभी अरुन्धती भी कहा जाता है और वह वसिष्ठ की पत्नी थी तथा कर्दम मुनि की नवीं कन्या थी।

चित्तिस्त्वथर्वणः पत्नी लेभे पुत्रं धृतव्रतम् ।
दध्यञ्चमश्वशिरसं भृगोर्वंशं निबोध मे ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

चित्तिः—चित्ति; तु—भी; अथर्वणः—अथर्वा की; पत्नी—पत्नी; लेभे—प्राप्त हुआ; पुत्रम्—पुत्र; धृत-व्रतम्—व्रतधारी; दध्यञ्चम्—दध्यञ्च; अश्वशिरसम्—अश्वसिरा; भृगोः वंशम्—भृगु का वंश; निबोध—समझने का प्रयत्न करो; मे—मुझसे।

अथर्वा मुनि की पत्नी चित्ति ने अश्वशिरा नामक पुत्र को जन्म दिया, जो व्रतधारी होने के कारण दध्यञ्च कहलाया। अब तुम मुझसे भृगुमुनि के वंश के विषय में सुनो।

तात्पर्य : अथर्वा की पत्नी चित्ति का अन्य नाम शान्ति भी है। वह कर्दम मुनि की आठवीं कन्या थी।

भृगुः ख्यात्यां महाभागः पत्न्यां पुत्रानजीजनत् ।
धातारं च विधातारं श्रियं च भगवत्पराम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

भृगुः—भृगुः; ख्यात्याम्—अपनी ख्याति नामक पत्नी से; महा-भागः—अत्यन्त भाग्यशाली; पत्न्याम्—पत्नी को; पुत्रान्—पुत्र; अजीजनत्—जन्म दिया; धातारम्—धाता; च—तथा; विधातारम्—विधाता; श्रियम्—श्री नामक एक कन्या; च भगवत्-पराम्—तथा भगवान् की परम भक्त, भगवत्परायणा।

भृगु मुनि अत्यधिक भाग्यशाली थे। उन्हें अपनी पत्नी ख्याति से दो पुत्र, धाता तथा विधाता और एक पुत्री, श्री, प्राप्त हुई; वह श्रीभगवान् के प्रति अत्यधिक परायण थी।

आयतिं नियतिं चैव सुते मेरुस्तयोरदात् ।
ताभ्यां तयोरभवतां मृकण्डः प्राण एव च ॥ ४४॥

शब्दार्थ

आयतिम्—आयति; नियतिम्—नियति; च एव—भी; सुते—कन्याएँ; मेरुः—मेरु मुनि; तयोः—उन दोनों को; अदात्—दे दिया; ताभ्याम्—उनमें से; तयोः—दोनों; अभवताम्—प्रकट हुए; मृकण्डः—मृकण्ड; प्राणः—प्राण; एव—निश्चय ही; च—तथा।

मेरु ऋषि के दो पुत्रियाँ थीं जिनके नाम आयति तथा नियति थे जिन्हें उन्होंने धाता तथा विधाता को दान दे दिया। आयति तथा नियति से मृकण्ड तथा प्राण नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए।

मार्कण्डेयो मृकण्डस्य प्राणाद्वेदशिरा मुनिः ।
कविश्च भार्गवो यस्य भगवानुशना सुतः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

मार्कण्डेयः—मार्कण्डेय; मृकण्डस्य—मृकण्ड का; प्राणात्—प्राण से; वेदशिराः—वेदशिरा; मुनिः—परम साधु; कविः च—कवि नाम का; भार्गवः—भार्गव नाम का; यस्य—जिसका; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; उशना—शुक्राचार्य; सुतः—पुत्र।

मृकण्ड से मार्कण्डेय मुनि और प्राण से वेदशिरा ऋषि उत्पन्न हुए। वेदशिरा का पुत्र उशना (शुक्राचार्य) था, जो कवि भी कहलाता है। इस प्रकार कवि भी भृगुवंशी था।

त एते मुनयः क्षत्तर्लोकान्सर्गैरभावयन् ।
एष कर्दमदौहित्रसन्तानः कथितस्तव ॥ ४६ ॥

शृण्वतः श्रद्दधानस्य सद्यः पापहरः परः ।
प्रसूतिं मानवीं दक्ष उपयेमे ह्यजात्मजः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; एते—समस्त; मुनयः—मुनिगण; क्षत्तः—हे विदुर; लोकान्—तीनों लोक; सर्गैः—अपनी सन्तानों सहित; अभावयन्—परिपूरित किया; एषः—यह; कर्दम—कर्दम मुनि का; दौहित्र—नाती; सन्तानः—सन्तान; कथितः—पहले कहा जा चुका; तव—तुमको; शृण्वतः—सुनते हुए; श्रद्दधानस्य—श्रद्धालु का; सद्यः—शीघ्र; पाप-हरः—समस्त पापकर्मों को कम करके; परः—महान; प्रसूतिम्—प्रसूति; मानवीम्—मनु की पुत्री ने; दक्षः—राजा दक्ष से; उपयेमे—विवाह किया; हि—निश्चय ही; अज-आत्मजः—ब्रह्मा का पुत्र।

हे विदुर, इस प्रकार इन मुनियों तथा कर्दम की पुत्रियों की सन्तानों से विश्व की जनसंख्या

बढ़ी। जो कोई श्रद्धापूर्वक इस वंश के आख्यान को सुनता है, वह समस्त पाप-बन्धनों से छूट जाता है। मनु की अन्य कन्याओं में से प्रसूति ने ब्रह्मा के पुत्र दक्ष से विवाह किया।

तस्यां ससर्ज दुहितृः षोडशामललोचनाः ।
त्रयोदशादाद्धर्माय तथैकामग्नये विभुः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उसको; ससर्ज—उत्पन्न किया; दुहितृः—कन्याएँ; षोडश—सोलह; अमल-लोचनाः—कमल जैसे नेत्रों वाली; त्रयोदश—तेरह; अदात्—दिया; धर्माय—धर्म को; तथा—उसी तरह; एकाम्—एक पुत्री; अग्नये—अग्नि को; विभुः—दक्ष ने।

दक्ष ने अपनी पत्नी प्रसूति से सोलह कमलनयनी सुन्दरी कन्याएँ उत्पन्न कीं। इन सोलह कन्याओं में से तेरह धर्म को और एक अग्नि को पत्नी रूप में प्रदान की गईं।

पितृभ्य एकां युक्तेभ्यो भवायैकां भवच्छिदे ।
श्रद्धा मैत्री दया शान्तिस्तुष्टिः पुष्टिः क्रियोन्नतिः ॥ ४९ ॥
बुद्धिर्मेधा तितिक्षा ह्रीर्मूर्तिर्धर्मस्य पत्नयः ।
श्रद्धासूत शुभं मैत्री प्रसादमभयं दया ॥ ५० ॥
शान्तिः सुखं मुदं तुष्टिः स्मयं पुष्टिरसूयत ।
योगं क्रियोन्नतिर्दर्पमर्थं बुद्धिरसूयत ॥ ५१ ॥
मेधा स्मृतिं तितिक्षा तु क्षेमं ह्रीः प्रश्रयं सुतम् ।
मूर्तिः सर्वगुणोत्पत्तिर्नरनारायणावृषी ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

पितृभ्यः—पितृगण को; एकाम्—एक पुत्री; युक्तेभ्यः—समस्त, संयुक्त; भवाय—शिवजी को; एकाम्—एक पुत्री; भव-छिदे—भौतिक बन्धन से छुड़ाने वाले; श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्तिः, तुष्टिः, पुष्टिः, क्रिया, उन्नतिः, बुद्धिः, मेधा, तितिक्षा, ह्रीः, मूर्तिः—ये दक्ष की तेरह कन्याओं के नाम हैं; धर्मस्य—धर्म की; पत्नयः—पत्नियाँ; श्रद्धा—श्रद्धा ने; असूत—जन्म दिया; शुभम्—शुभ; मैत्री—मैत्री; प्रसादम्—प्रसाद; अभयम्—अभय; दया—दया; शान्तिः—शान्ति; सुखम्—सुख; मुदम्—मुद; तुष्टिः—तुष्टि; स्मयम्—स्मय; पुष्टिः—पुष्टि; असूयत—जन्म दिया; योगम्—योग; क्रिया—क्रिया; उन्नतिः—उन्नति; दर्पम्—दर्प; अर्थम्—अर्थ; बुद्धिः—बुद्धि; असूयत—उत्पन्न किया; मेधा—मेधा; स्मृतिम्—स्मृति; तितिक्षा—तितिक्षा; तु—भी; क्षेमम्—क्षेम; ह्रीः—ह्री; प्रश्रयम्—प्रश्रय; सुतम्—पुत्र; मूर्तिः—मूर्ति; सर्व-गुण—समस्त अच्छे गुणों का; उत्पत्तिः—आगार; नर-नारायणौ—नर तथा नारायण; ऋषी—दो ऋषि।

शेष दो कन्याओं में से एक पितृलोक को दान दे दी गई, जहाँ वह प्रेमपूर्वक रह रही है और दूसरी कन्या भवबंधन से समस्त पापियों के उद्धारक शिवजी को दी गई। दक्ष ने धर्म को जिन तेरह कन्याओं को दिया उनके नाम थे : श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री तथा मूर्ति। इन तेरहों ने पुत्रों को जन्म दिया, जो इस प्रकार हैं—श्रद्धा

ने शुभ, मैत्री ने प्रसाद, दया ने अभय, शान्ति ने सुख, तुष्टि ने मुद, पुष्टि ने स्मय, क्रिया ने योग, उन्नति ने दर्प, बुद्धि ने अर्थ, मेधा ने स्मृति, तितिक्षा ने क्षेम तथा ह्री ने प्रश्रय को जन्म दिया। समस्त गुणों की खान मूर्ति ने नर-नारायण को जन्म दिया, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं।

ययोर्जन्मन्यदो विश्वमभ्यनन्दत्सुनिर्वृतम् ।
मनांसि ककुभो वाताः प्रसेदुः सरितोऽद्रयः ॥५३॥

शब्दार्थ

ययोः—जिनमें से दोनों (नर तथा नारायण); जन्मनि—जन्म लेने पर; अदः—वह; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; अभ्यनन्दत्—आनन्दित हुआ; सु-निर्वृतम्—खुशी से पूर्ण; मनांसि—प्रत्येक का मन; ककुभः—दिशाएँ; वाताः—वायु; प्रसेदुः—प्रसन्न हुए; सरितः—नदियाँ; अद्रयः—पर्वत।

नर-नारायण के जन्म के अवसर पर समस्त विश्व आनन्दित था। प्रत्येक का मन शान्त था और इस प्रकार समस्त दिशाओं में वायु, नदियाँ तथा पर्वत मनोहर लगने लगे।

दिव्यवाद्यन्त तूर्याणि पेतुः कुसुमवृष्टयः ।
मुनयस्तुष्टुवुस्तुष्टा जगुर्गन्धर्वकिन्नराः ॥५४॥
नृत्यन्ति स्म स्त्रियो देव्य आसीत्परममङ्गलम् ।
देवा ब्रह्मादयः सर्वे उपतस्थुरभिष्टवैः ॥५५॥

शब्दार्थ

दिवि—स्वर्गलोक में; अवाद्यन्त—बज उठे; तूर्याणि—तुरही; पेतुः—वर्षा की; कुसुम—फूलों की; वृष्टयः—वर्षा; मुनयः—मुनिगण ने; तुष्टुवुः—वैदिक स्तुतियाँ पढ़ीं; तुष्टाः—प्रसन्न; जगुः—गाने लगे; गन्धर्व—गन्धर्वगण; किन्नराः—किन्नरगण; नृत्यन्ति स्म—नाचने लगे; स्त्रियः—अप्सराएँ; देव्यः—स्वर्गलोक की; आसीत्—दृष्टिगोचर हो रह थे; परम-मङ्गलम्—परम मंगल; देवाः—देवतागण; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा तथा अन्य; सर्वे—सबों ने; उपतस्थुः—पूजा की; अभिष्टवैः—प्रार्थनाओं से, स्तोत्रों से।

स्वर्गलोक में बाजे बजने लगे और आकाश से पुष्प बरसने लगे। प्रसन्न मुनि वैदिक स्तुतियों का उच्चारण करने लगे। गंधर्व तथा किन्नर लोक के वासी गाने लगे और स्वर्ग की अप्सराएँ नाचने लगीं। इस प्रकार नर-नारायण के जन्म के समय सभी मंगलसूचक चिह्न दिखाई पड़ने लगे। उसी समय ब्रह्मादि महान् देवों ने भी सादर स्तुतियाँ अर्पित कीं।

देवा ऊचुः

यो मायया विरचितं निजयात्मनीदं
खे रूपभेदमिव तत्प्रतिचक्षणाय ।
एतेन धर्मसदने ऋषिमूर्तिनाद्य

प्रादुश्चकार पुरुषाय नमः परस्मै ॥५६॥

शब्दार्थ

देवाः—देवताओं ने; ऊचुः—कहा; यः—जो; मायया—बहिरंगा शक्ति द्वारा; विरचितम्—उत्पन्न; निजया—स्वतः; आत्मनि—भगवान् में स्थित; इदम्—यह; खे—आकाश में; रूप-भेदम्—बादल-समूह; इव—सदृश, मानो; तत्—उसका; प्रतिचक्षणाय—प्रकट होने के लिए; एतेन—इसके साथ; धर्म-सदने—धर्म के घर में; ऋषि-मूर्तिना—ऋषि के रूप द्वारा; अद्य—आज; प्रादुश्चकार—प्रकट हुआ; पुरुषाय—श्रीभगवान् को; नमः—नमस्कार है; परस्मै—परम।

देवताओं ने कहा : हम उस दिव्य रूप भगवान् को नमस्कार करते हैं जिन्होंने इस दृश्य जगत की सृष्टि अपनी बहिरंगा शक्ति के रूप में की है, जो उनमें उसी प्रकार स्थित है, जिस प्रकार वायु तथा बादल आकाश में रहते हैं और जो अब धर्म के घर में नर-नारायण ऋषि के रूप में प्रकट हुए हैं।

तात्पर्य : भगवान् का विराट रूप यह दृश्य जगत है, जो श्रीभगवान् की बहिरंगा शक्ति का प्रदर्शन है। आकाश में असंख्य विविध प्रकार के लोक हैं और वायु भी है; वायु में विविधरंगी बादल रहते हैं और कभी-कभी हम एक स्थान से दूसरे स्थान को उड़ते विमान भी देखते हैं। इस प्रकार यह दृश्य जगत विविधता से पूर्ण है, किन्तु वास्तव में यह विविधता परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति का प्रदर्शन है और यह शक्ति उन्हीं में स्थित है। अपनी शक्ति को प्रकट करने के बाद अब भगवान् स्वयं अपनी ही शक्ति की सृष्टि के अन्तर्गत प्रकट हुए हैं, जो एक ही समय उनसे अभिन्न है तथा भिन्न भी हैं; अतः देवताओं ने अनेक रूपों में प्रकट होने वाले श्रीभगवान् को नमस्कार किया। कुछ अद्वैतवादी दार्शनिक अपने निर्गुण चिन्तन के कारण इन रूपों को मिथ्या मानते हैं। इस श्लोक में विशेष रूप से यह कहा गया है—*यो मायया विरचितम्।* यह सूचित करता है कि ये रूप श्रीभगवान् की शक्ति के प्रकटीकरण (सारूप्य) हैं। इस प्रकार शक्ति के भगवान् से अभिन्न होने के कारण ये रूप वास्तविक हैं। भौतिक रूप क्षणिक भले हों, किन्तु मिथ्या नहीं हैं। वे आत्मरूपों के प्रतिबिम्ब हैं। यहाँ पर प्रयुक्त *प्रतिचक्षणाय* शब्द, जिसका अर्थ है ''वे रूप (किस्में) हैं'' श्रीभगवान् का यश घोषित करता है, जो नर-नारायण के रूप में प्रकट हुए हैं और जो भौतिक प्रकृति के समस्त रूपों के मूल हैं।

सोऽयं स्थितिव्यतिकरोपशमाय सृष्टान्
सत्त्वेन नः सुरगणाननुमेयतत्त्वः ।
दृश्याददभ्रकरुणेन विलोकनेन

यच्छ्रीनिकेतममलं क्षिपतारविन्दम् ॥ ५७॥

शब्दार्थ

सः—वह; अयम्—यह (भगवान्); स्थिति—उत्पन्न जगत का; व्यतिकर—आपत्तियाँ; उपशमाय—शमन हेतु; सृष्टान्—सर्जित; सत्त्वेन—सत्तोगुण से; नः—हम; सुर-गणान्—देवताओं को; अनुमेय-तत्त्वः—वेदों द्वारा ज्ञेय; दृश्यात्—दृष्टिपात से; अदभ्र-करुणेन—दयालु, करुणा से युक्त; विलोकनेन—चितवन से; यत्—जो; श्री-निकेतम्—धन की देवी का घर; अमलम्—निर्मल; क्षिपत—से बढ़कर; अरविन्दम्—कमल।

वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, जो वास्तविक रूप से प्रामाणिक वैदिक साहित्य द्वारा जाने जाते हैं और जिन्होंने सृष्ट जगत की समस्त विपत्तियों को विनष्ट करने के लिए शान्ति तथा समृद्धि का सृजन किया है, हम देवताओं पर कृपापूर्ण दृष्टिपात करें। उनकी कृपापूर्ण चितवन लक्ष्मी के आसन निर्मल कमल की शोभा को मात करने वाली है।

तात्पर्य : दृश्य जगत के मूल पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् भौतिक प्रकृति की विचित्र क्रियाओं से आच्छादित हैं जिस प्रकार बाह्य आकाश अथवा सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश बादलों या रजकणों से आच्छादित हो जाता है। दृश्य जगत के मूल को ढूँढ पाना दुष्कर है, अत: भौतिक विज्ञानी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समस्त जगत का परम कारण प्रकृति है। किन्तु शास्त्रों अथवा *भगवद्गीता* तथा अन्य प्रामाणिक वैदिक धर्मग्रन्थों से हम यह जानते हैं कि इस विचित्र दृश्य जगत के पीछे श्रीभगवान् का हाथ है और दृश्य जगत के नियमों को बनाये रखने तथा सतोगुणमय व्यक्तियों के नेत्रों में दिखाई पड़ने के लिए भगवान् अवतरित होते हैं। वे इस दृश्य जगत की सृष्टि और लय के कारण हैं। इसीलिए देवतागण उनकी दयादृष्टि चाहते थे जिससे उन्हें आशीर्वाद मिल सके।

एवं सुरगणैस्तात भगवन्ताविभिष्टुतौ ।
लब्धावलोकैर्ययतुरर्चितौ गन्धमादनम् ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सुर-गणैः—देवताओं द्वारा; तात—हे विदुर!; भगवन्तौ—श्रीभगवान्; अभिष्टुतौ—प्रशंसित होकर; लब्ध—प्राप्त कर; अवलोकैः—चितवन (कृपा की); ययतुः—चले गये; अर्चितौ—पूजित होकर; गन्ध-मादनम्—गन्धमादन पर्वत को।

[मैत्रेय ने कहा :] हे विदुर, इस प्रकार देवताओं ने नर-नारायण मुनि के रूप में प्रकट श्रीभगवान् की पूजा की। भगवान् ने उन पर कृपा-दृष्टि डाली और फिर गन्धमादन पर्वत की ओर चले गये।

ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ ।
भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

तौ—दोनों; इमौ—ये; वै—निश्चय ही; भगवतः—श्रीभगवान् का; हरेः—हरि का; अंशौ—अंश रूप विस्तार; इह—यहाँ (इस ब्रह्माण्ड में); आगतौ—प्रकट हुआ है; भार-व्ययाय—भार हल्का करने के लिए; च—तथा; भुवः—जगत का; कृष्णौ—दो कृष्ण (कृष्ण तथा अर्जुन); यदु-कुरु-उद्वहौ—जो क्रमशः यदु तथा कुरु वंशों में सर्वश्रेष्ठ हैं।

नर-नारायण ऋषि कृष्ण के अंश विस्तार हैं और अब जगत का भार उतारने के लिए यदु तथा कुरु वंशों में क्रमशः कृष्ण तथा अर्जुन के रूप में प्रकट हुए हैं।

तात्पर्य : नारायण तो श्रीभगवान् हैं, किन्तु नर श्रीभगवान् नारायण के अंश हैं। इस प्रकार शक्ति तथा शक्तिमान दोनों एकसाथ भगवान् हैं। मैत्रेय ने विदुर को बतलाया कि नारायण के अंश नर ने कुरु वंश में अवतार लिया है और कृष्ण के स्वांश नारायण कृष्ण अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में प्रकट हुए हैं जिससे दुखी मानवता का भौतिक बोझ से उद्धार हो सके। दूसरे शब्दों में, अब नारायण ऋषि जगत में कृष्ण तथा अर्जुन के रूप में विद्यमान थे।

स्वाहाभिमानिनश्चाग्नेरात्मजांस्त्रीनजीजनत् ।
पावकं पवमानं च शुचिं च हुतभोजनम् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

स्वाहा—अग्नि की पत्नी, स्वाहा; अभिमानिनः—अग्नि का मुख्य विग्रह; च—तथा; अग्नेः—अग्नि से; आत्मजान्—पुत्रों को; त्रीन्—तीन; अजीजनत्—उत्पन्न किया; पावकम्—पावक; पवमानम् च—तथा पवमान; शुचिम् च—तथा शुचि; हुत-भोजनम्—यज्ञ की आहुति खाकर।

अग्निदेव की पत्नी स्वाहा से तीन संताने उत्पन्न हुई जिनके नाम पावक, पवमान तथा शुचि हैं, जो यज्ञ की अग्नि में डाली गई आहुतियों को खाने वाले हैं।

तात्पर्य : धर्म की तेरह पत्नियों का जो सभी दक्ष की कन्याएँ थीं, उनका वर्णन कर लेने के बाद मैत्रेय दक्ष की चौदहवीं कन्या स्वाहा तथा उसके तीन पुत्रों का वर्णन कर रहे हैं। यज्ञ की अग्नि में डाली गई आहुतियाँ देवों के निमित्त होती हैं और देवताओं की ओर से अग्नि तथा स्वाहा के तीनों पुत्र पावक, पवमान तथा शुचि आहुतियाँ स्वीकार करते हैं।

तेभ्योऽग्नयः समभवन्चत्वारिंशच्च पञ्च च ।
त एवैकोनपञ्चाशत्साकं पितृपितामहैः ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

तेभ्यः—उनसे; अग्नयः—अग्निदेव; समभवन्—उत्पन्न हुए; चत्वारिंशत्—चालीस; च—तथा; पञ्च—पाँच; च—तथा; ते—वे; एव—निश्चय ही; एकोन-पञ्चाशत्—उञ्चास; साकम्—साथ में; पितृ-पितामहैः—पिता तथा पितामह के साथ।

इन तीनों पुत्रों से अन्य पैंतालीस सन्तानें उत्पन्न हुईं और वे भी अग्निदेव हैं। अतः अग्निदेवों की कुल संख्या उनके पिताओं तथा पितामह को मिलाकर उञ्चास है।

तात्पर्य : पितामह अग्नि है तथा पुत्र पावक, पवमान एवं शुचि हैं। इन चारों को तथा पैंतालीस पौत्रों को मिलाकर कुल उञ्चास भिन्न-भिन्न अग्निदेव हैं।

वैतानिके कर्मणि यन्नामभिर्ब्रह्मवादिभिः ।
आग्नेय्य इष्टयो यज्ञे निरूप्यन्तेऽग्नयस्तु ते ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

वैतानिके—आहुति डालना; कर्मणि—कर्म; यत्—अग्निदेवों का; नामभिः—नामों से; ब्रह्म-वादिभिः—निर्विशेषवादी ब्राह्मणों द्वारा; आग्नेय्यः—अग्नि के लिए; इष्टयः—यज्ञ; यज्ञे—यज्ञ में; निरूप्यन्ते—लक्ष्य हैं; अग्नयः—उञ्चास अग्निदेव; तु—लेकिन; ते—वे।

ब्रह्मवादी ब्राह्मणों द्वारा वैदिक यज्ञों में दी गई आहुतियों के भोक्ता ये ही उञ्चास अग्निदेव हैं।

तात्पर्य : निर्गुणवादी (वेदवादी) सकाम वैदिक यज्ञ करके विभिन्न अग्निदेवों की ओर आकृष्ट होते हैं और उनके नाम की आहुति देते हैं। इन उञ्चास अग्निदेवों का वर्णन इस प्रकार है।

अग्निष्वात्ता बर्हिषदः सौम्याः पितर आज्यपाः ।
साग्नयोऽनग्नयस्तेषां पत्नी दाक्षायणी स्वधा ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

अग्निष्वात्ताः—अग्निष्वात्त; बर्हिषदः—बर्हिषद; सौम्याः—सौम्य; पितरः—पूर्वज, पितृगण; आज्यपाः—आज्यप; स-अग्नयः—जिनका साधन अग्नि सहित है; अनग्नयः—जिनका साधन अग्निरहित हैं; तेषाम्—उनकी; पत्नी—पत्नी; दाक्षायणी—दक्ष की कन्या; स्वधा—स्वधा।

अग्निष्वात्त, बर्हिषद्, सौम्य तथा आज्यप—ये पितर हैं। वे या तो साग्निक हैं अथवा निरग्निक। इन समस्त पितरों की पत्नी स्वधा है, जो राजा दक्ष की पुत्री है।

तेभ्यो दधार कन्ये द्वे वयुनां धारिणीं स्वधा ।
उभे ते ब्रह्मवादिन्यौ ज्ञानविज्ञानपारगे ॥ ६४ ॥

शब्दार्थ

तेभ्यः—उनसे; दधार—उत्पन्न; कन्ये—कन्याएँ; द्वे—दो; वयुनाम्—वयुना; धारिणीम्—धारिणी; स्वधा—स्वधा; उभे—दोनों ही; ते—वे; ब्रह्म-वादिन्यौ—ब्रह्मवादिनी अथवा निर्गुणवादिनी; ज्ञान-विज्ञान-पार-गे—दिव्य तथा वैदिक ज्ञान में पारंगत।

पितरों को प्रदत्त स्वधा ने वयुना तथा धारिणी नामक दो पुत्रियों को जन्म दिया। वे दोनों ही ब्रह्मवादिनी थीं तथा दिव्य एवं वैदिक ज्ञान में पारंगत थीं।

भवस्य पत्नी तु सती भवं देवमनुव्रता ।
आत्मनः सदृशं पुत्रं न लेभे गुणशीलतः ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

भवस्य—भव की (शिव की); पत्नी—पत्नी; तु—लेकिन; सती—सती नामक; भवम्—भव को; देवम्—देवता; अनुव्रता—सेवा में श्रद्धापूर्वक संलग्न; आत्मनः—अपने ही; सदृशम्—समान; पुत्रम्—पुत्र; न लेभे—प्राप्त नहीं हुआ; गुण-शीलतः—अच्छे गुणों तथा चरित्र से।.

सती नामक सोलहवीं कन्या भगवान् शिव की पत्नी थीं, किन्तु उनके कोई सन्तान उत्पन्न नहीं हुई, यद्यपि वे सदैव अपने पति की अत्यन्त श्रद्धापूर्वक सेवा में संलग्न रहने वाली थीं।

पितर्यप्रतिरूपे स्वे भवायानागसे रुषा ।
अप्रौढैवात्मनात्मानमजहाद्योगसंयुता ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

पितरि—पिता के समान; अप्रतिरूपे—अनुपयुक्त; स्वे—अपने; भवाय—शिव को; अनागसे—निर्दोष; रुषा—क्रोध से; अप्रौढा—प्रौढ़ होने के पूर्व; एव—ही; आत्मना—अपने से; आत्मानम्—शरीर; अजहात्—त्याग दिया; योग-संयुता—योग से।.

इसका कारण यह है कि सती के पिता दक्ष शिवजी के दोषरहित होने पर भी उनकी भर्त्सना करते रहते थे। फलतः परिपक्व आयु के पूर्व ही सती ने अपने शरीर को योगशक्ति से त्याग दिया था।

तात्पर्य : समस्त योगियों के प्रधान होते हुए भी शिवजी ने अपने लिए कोई आवास नहीं बनाया। सती एक महान् राजा दक्ष की सबसे छोटी पुत्री थीं और चूँकि सती ने शिव को अपने पति के रूप में चुना था, अतः राजा दक्ष अधिक प्रसन्न नहीं था। फलतः जब भी वह अपने पिता से मिलतीं, वह उनके पति की आलोचना करते, यद्यपि शिवजी निर्दोष थे। इस कारण से युवावस्था के पूर्व ही सती ने पिता दक्ष द्वारा प्रदत्त शरीर को त्याग दिया जिससे उसके कोई सन्तान न हो पाई।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत "मनु की पुत्रियों की वंशावली" नामक प्रथम अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दो

दक्ष द्वारा शिवजी को शाप

विदुर उवाच
भवे शीलवतां श्रेष्ठे दक्षो दुहितृवत्सलः ।
विद्वेषमकरोत्कस्मादनादृत्यात्मजां सतीम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; भवे—शिव के प्रति; शीलवताम्—शीलवानों में; श्रेष्ठे—सर्वोत्तम; दक्षः—दक्ष ने; दुहितृ-वत्सलः—अपनी पुत्री के प्रति स्नेहिल; विद्वेषम्—शत्रुता; अकरोत्—प्रदर्शित किया; कस्मात्—किस हेतु; अनादृत्य—अनादर करके; आत्मजाम्—अपनी पुत्री; सतीम्—सती को।

विदुर ने पूछा : जो दक्ष अपनी पुत्री के प्रति इतना स्नेहवान् था वह शीलवानों में श्रेष्ठतम भगवान् शिव के प्रति इतना ईर्ष्यालु क्यों था? उसने अपनी पुत्री सती का अनादर क्यों किया?

तात्पर्य : चतुर्थ स्कन्ध के द्वितीय अध्याय में शिवजी तथा दक्ष के बीच मनमुटाव का वर्णन किया गया है, जो दक्ष द्वारा समग्र ब्रह्माण्ड की शान्ति के लिए विशाल यज्ञ के आयोजन के कारण उत्पन्न हुआ। यहाँ पर शिवजी को भद्र पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ बताया गया है, क्योंकि वे किसी के प्रति द्वेषभाव नहीं रखते, वे सभी जीवों पर समभाव रखते हैं और उनमें अन्य गुण भी हैं। *शिव* शब्द का अर्थ है 'सर्व मंगलमय'। कोई भी शिव का शत्रु नहीं हो सकता, क्योंकि वे इतने शान्त तथा विरक्त हैं कि अपने रहने के लिए घर भी नहीं बनाते, वरन् अपने को सांसारिक वस्तुओं से अलग रखते हुए वृक्ष के नीचे रहते हैं। शिवजी का व्यक्तित्व सर्वोत्तम शीलवान पुरुष का द्योतक है। तो फिर वही दक्ष जिसने अपनी प्रिय पुत्री को ऐसे शीलवान् व्यक्ति को समर्पित किया था, उसके प्रति इतनी शत्रुता क्यों प्रदर्शित की कि सती को अपना शरीर ही त्यागना पड़ा?

कस्तं चराचरगुरुं निर्वैरं शान्तविग्रहम् ।
आत्मारामं कथं द्वेष्टि जगतो दैवतं महत् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन (दक्ष); तम्—उस (शिव) को; चर-अचर—जड़ जंगम (सारा संसार); गुरुम्—गुरु; निर्वैरम्—शत्रुतारहित; शान्त-विग्रहम्—शान्त व्यक्तित्व वाला; आत्म-आरामम्—अपने आप में संतुष्ट रहने वाला; कथम्—कैसे; द्वेष्टि—घृणा करता है; जगतः—ब्रह्माण्ड का; दैवतम्—देवता; महत्—महान।

भगवान् शिव समग्र संसार के गुरु, शत्रुतारहित, शान्त और आत्मतुष्ट व्यक्ति हैं। वे देवताओं

में सबसे महान् हैं। यह कैसे सम्भव हो सकता है कि ऐसे मंगलमय व्यक्ति के प्रति दक्ष वैरभाव रखता?

तात्पर्य : शिव को यहाँ पर *चराचर-गुरु* अर्थात् चर और अचर (जड-जंगम) का गुरु कहा गया है। कभी-कभी उन्हें भूतनाथ कहा जाता है, जिसका अर्थ है, ''मन्द बुद्धि लोगों का आराध्य देव।'' कभी-कभी भूत का अर्थ 'प्रेत' लगाया जाता है। शिवजी भूतों तथा असुरों को सुधारने का भार लेते हैं, दैव पुरुषों की बात ही नहीं। अत: वे मन्द बुद्धि एवं आसुरी व्यक्तियों तथा उच्चकोटि के विद्वान वैष्णवों के गुरु हैं। यह भी कहा गया है, *वैष्णवानां यथा शम्भु:*—शम्भु अर्थात् शिव वैष्णवों में सर्वश्रेष्ठ हैं। एक ओर वे मन्द बुद्धि असुरों के आराध्य हैं, तो दूसरी ओर वैष्णवों या भक्तों में सर्वश्रेष्ठ हैं और उनका सम्प्रदाय चलता है, जिसे रुद्र-सम्प्रदाय कहते हैं। यदि वे वैर करें या कभी-कभी क्रुद्ध हों तो भी ऐसे पुरुष से द्वेष नहीं करना चाहिए। इसीलिए विदुर ने विस्मयपूर्वक पूछा कि तो फिर दक्ष ने ऐसा क्यों किया? दक्ष कोई सामान्य व्यक्ति न थे। वे प्रजापति हैं और जनसंख्या को बढ़ाने का भार उन पर है और उनकी सभी पुत्रियाँ, विशेष रूप से सती अत्यन्त सम्मान्य हैं। *सती* शब्द का अर्थ है ''परम साध्वी।'' जब कभी सतीत्व की चर्चा होती है, तो दक्ष कन्या शिव की पत्नी सती का नाम सबसे पहले लिया जाता है। इसीलिए विदुर को अत्यन्त आश्चर्य हो रहा था। उन्होंने सोचा, ''दक्ष इतने महान् पुरुष और सती के पिता हैं और शिवजी सबों के गुरु हैं, तो फिर उनमें इतना वैरभाव कैसे सम्भव हुआ कि अत्यन्त साध्वी देवी सती को उनके इस झगड़े के कारण अपने प्राण देने पड़े?

एतदाख्याहि मे ब्रह्मन्जामातु: श्वशुरस्य च ।
विद्वेषस्तु यत: प्राणांस्तत्यजे दुस्त्यजान्सती ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

एतत्—इस प्रकार; आख्याहि—कृपया कहो; मे—मुझसे; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; जामातु:—दामाद (शिव); श्वशुरस्य—ससुर (दक्ष) का; च—तथा; विद्वेष:—झगड़ा; तु—लेकिन; यत:—जिसके कारण; प्राणान्—अपना प्राण; तत्यजे—त्याग दिया; दुस्त्यजान्—जिसको त्यागना दुष्कर होता है; सती—सती ने।

हे मैत्रेय, मनुष्य के लिए अपने प्राण त्याग पाना अत्यन्त कठिन है। क्या आप मुझे बता सकेंगे कि ऐसे दामाद तथा श्वसुर में इतना कटु विद्वेष क्यों हुआ जिससे महान् देवी सती को अपने प्राण त्यागने पड़े?

मैत्रेय उवाच
पुरा विश्वसृजां सत्रे समेताः परमर्षयः ।
तथामरगणाः सर्वे सानुगा मुनयोऽग्नयः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; पुरा—पहले (स्वायंभुव मनु के काल में); विश्व-सृजाम्—ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने वालों के; सत्रे—यज्ञ में; समेताः—एकत्र हुए; परम-ऋषयः—बड़े-बड़े ऋषि; तथा—और भी; अमर-गणाः—देवता; सर्वे—सभी; स-अनुगाः—अपने-अपने अनुयायियों सहित; मुनयः—विचारक, चिन्तक; अग्नयः—अग्निदेव।

मैत्रेय ने कहा : प्राचीन समय में एक बार ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने वाले प्रमुख नायकों ने एक महान् यज्ञ सम्पन्न किया जिसमें सभी ऋषि, चिन्तक (मुनि), देवता तथा अग्निदेव अपने-अपने अनुयायियों सहित एकत्र हुए थे।

तात्पर्य : विदुर द्वारा पूछे जाने पर मैत्रेय मुनि शिव तथा दक्ष के मनोमालिन्य का विस्तार से वर्णन करने लगे जिसके कारण सती को प्राण देने पड़े। इस प्रकार उस महान् यज्ञ का इतिहास प्रारम्भ होता है, जिससे ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने वाले नायकों ने, जिनके नाम मरीचि, दक्ष तथा वसिष्ठ हैं, सम्पन्न किया। इन महापुरुषों ने एक विशाल यज्ञ की व्यवस्था की जिसमें अपने-अपने अनुयायियों सहित इन्द्र तथा अग्निदेव जैसे देवता एकत्रित हुए। ब्रह्मा तथा शिवजी भी उपस्थित हुए।

तत्र प्रविष्टमृषयो दृष्ट्वार्कमिव रोचिषा ।
भ्राजमानं वितिमिरं कुर्वन्तं तन्महत्सदः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; प्रविष्टम्—प्रविष्ट हुआ; ऋषयः—ऋषिगण; दृष्ट्वा—देखकर; अर्कम्—सूर्य; इव—सदृश्य; रोचिषा—कान्ति से; भ्राजमानम्—चमकते हुए, देदीप्यमान; वितिमिरम्—अंधकार से रहित; कुर्वन्तम्—करते हुए; तत्—वह; महत्—महान; सदः—सभा।

जब प्रजापतियों के नायक दक्ष ने सभा में प्रवेश किया, तो सूर्य के तेज के समान चमकीली कान्ति से युक्त उसके शरीर से सारी सभा प्रकाशित हो उठी और उसके समक्ष सभी समागत महापुरुष तुच्छ लगने लगे।

उदतिष्ठन्सदस्यास्ते स्वधिष्ण्येभ्यः सहाग्नयः ।
ऋते विरिञ्चां शर्वं च तद्भासाक्षिप्तचेतसः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

उदतिष्ठन्—खड़े हुए; सदस्याः—सभा के लोग; ते—वे; स्व-धिष्ण्येभ्यः—अपने-अपने स्थानों पर; सह-अग्नयः—अग्नि देवों समेत; ऋते—के अतिरिक्त; विरिञ्चाम्—ब्रह्मा; शर्वम्—शिव; च—तथा; तत्—उसका (दक्ष का); भास—कान्ति से; आक्षिप्त—प्रभावित; चेतसः—जिनके मन।

ब्रह्मा तथा शिवजी के अतिरिक्त, दक्ष की शारीरिक कान्ति (तेज) से प्रभावित होकर उस सभा के सभी सदस्य तथा सभी अग्निदेव, उसके सम्मान में अपने आसनों से उठकर खड़े हो गये।

सदसस्पतिभिर्दक्षो भगवान्साधु सत्कृतः ।
अजं लोकगुरुं नत्वा निषसाद तदाज्ञया ॥ ७॥

शब्दार्थ

सदसः—सभा के; पतिभिः—नायकों द्वारा; दक्षः—दक्ष; भगवान्—समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी; साधु—ढंग से; सत्-कृतः—सम्मानित हुआ; अजम्—अजन्मा (ब्रह्मा) को; लोक-गुरुम्—जगद्गुरु; नत्वा—प्रणाम करके; निषसाद—बैठ गया; तत्-आज्ञया—उनकी (ब्रह्मा की) आज्ञा से।

उस महती सभा के अध्यक्ष ब्रह्मा ने दक्ष का समुचित रीति से स्वागत किया। ब्रह्माजी को प्रणाम करने के पश्चात् उनकी आज्ञा पाकर दक्ष ने अपना आसन ग्रहण किया।

प्राङ्निषण्णं मृडं दृष्ट्वा नामृष्यत्तदनादृतः ।
उवाच वामं चक्षुर्भ्यामभिवीक्ष्य दहन्निव ॥ ८॥

शब्दार्थ

प्राक्—पहले से; निषण्णम्—बैठा; मृडम्—शिवजी को; दृष्ट्वा—देखकर; न अमृष्यत्—सहन न कर सका; तत्—उनके (शिव) द्वारा; अनादृतः—आदर न किया जाकर; उवाच—कहा; वामम्—बेईमान; चक्षुर्भ्याम्—दोनों नेत्रों से; अभिवीक्ष्य—देखते हुए; दहन्—ज्वलित; इव—मानो।

किन्तु आसन ग्रहण करने के पूर्व शिवजी को बैठा हुआ और उन्हें सम्मान न प्रदर्शित करते हुए देखकर दक्ष ने इसे अपना अपमान समझा। उस समय दक्ष अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। उसकी आँखें तप रही थीं। उसने शिव के विरुद्ध अत्यन्त कटु शब्द बोलना प्रारम्भ किया।

तात्पर्य : दक्ष के दामाद होने के कारण यह आशा की जाती थी कि शिवजी अपने श्वसुर के सम्मानार्थ अन्यों के साथ उठकर खड़े होंगे, किन्तु भगवान् ब्रह्मा तथा शिव प्रमुख देवता हैं, अत: उनका पद दक्ष से बड़ा है। तो भी दक्ष इसे सहन न कर सका और उसने इसे अपने दामाद द्वारा अपना अपमान समझा। इसके पहले से ही वह शिवजी से सन्तुष्ट न था, क्योंकि शिवजी निर्धन दिखाई देते थे और उनका वेष अत्यन्त दरिद्र था।

श्रूयतां ब्रह्मर्षयो मे सहदेवाः सहाग्नयः ।
साधूनां ब्रुवतो वृत्तं नाज्ञानान्न च मत्सरात् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्रूयताम्—सुनो; ब्रह्म-ऋषयः—हे ब्रह्मर्षियों; मे—मुझको; सह-देवाः—हे देवताओ; सह-अग्नयः—हे अग्नि देवो; साधूनाम्—सज्जनो के; ब्रुवतः—बोलते हुए; वृत्तम्—व्यवहार, आचार; न—नहीं; अज्ञानात्—अज्ञान से; न च—तथा नहीं; मत्सरात्—द्वेष से।.

हे समस्त उपस्थित ऋषियो, ब्राह्मणो तथा अग्निदेवो, ध्यानपूर्वक सुनो क्योंकि मैं शिष्टाचार के विषय में बोल रहा हूँ। मैं किसी अज्ञानता या ईर्ष्या से नहीं कह रहा।

तात्पर्य : शिव के विरुद्ध बोलते हुए दक्ष ने यह कहकर सभा को अत्यन्त चतुरतापूर्वक शान्त करना चाहा कि वह सज्जनों के आचार (शिष्टाचार) के विषय में बोलने जा रहा है, क्योंकि इससे सभा में उपद्रव होने की आशंका थी और लोग अप्रसन्न हो सकते थे, क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि कोई अभद्र पुरुष भी अपमानित हो। दूसरे शब्दों में, उसे यह पता था कि वह शिव के विरुद्ध बोल रहा था, जो आचरण निष्कलुष थे। जहाँ तक ईर्ष्या-द्वेष की बात है, वह पहले से ही शिवजी से द्वेष रखता था, फलतः उसने अपने द्वेष को प्रकट नहीं होने दिया। यद्यपि वह इस प्रकार बोल रहा था, जैसे उसे कुछ ज्ञात न हो, किन्तु यह कह कर कि वह किसी ईर्ष्या-द्वेषवश नहीं बोल रहा, अपनी बात को छिपा लेना चाहता था।

अयं तु लोकपालानां यशोघ्नो निरपत्रपः ।
सद्भिराचरितः पन्था येन स्तब्धेन दूषितः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अयम्—यह (शिव); तु—लेकिन; लोक-पालानाम्—ब्रह्माण्ड के पालक; यशः-घ्नः—यश को नष्ट करने वाला; निरपत्रपः—निर्लज्ज; सद्भिः—सदाचारी पुरुषों द्वारा; आचरितः—पालन किया गया; पन्थाः—पथ; येन—जिसके (शिव) द्वारा; स्तब्धेन—आचरणविहीन द्वारा; दूषितः—लाञ्छित।.

शिव ने लोकपालकों के नाम तथा यश को धूल में मिला दिया है और सदाचार के पथ को दूषित किया है। निर्लज्ज होने के कारण उसे इसका पता नहीं है कि किस प्रकार से आचरण करना चाहिए।

तात्पर्य : दक्ष ने उस सभा में एकत्र सभी साधु पुरुषों को यह दिखाना चाहा कि देवता होकर भी

शिव ने किस प्रकार अपने अशिष्ट आचरण द्वारा देवताओं की कीर्ति को नष्ट कर दिया है। दक्ष द्वारा भगवान् शिव के विरोध में कहे गये वचनों को दूसरे प्रकार से अच्छे संदर्भ में भी समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ, दक्ष ने कहा कि वे *यशोघ्न* हैं जिसका अर्थ होता है, ''नाम तथा यश को नष्ट करने वाला'' किन्तु इसका यह भी अर्थ लगाया जा सकता है कि वे इतने विख्यात थे कि उनके यश से अन्यों का यश नष्ट हो गया। दक्ष ने एक अन्य शब्द *निरपत्रप* का भी प्रयोग किया, जो दो अर्थों में प्रयुक्त हो सकता है। एक अर्थ है, ''जो बौना है'' तथा दूसरा अर्थ है ''आश्रयहीनों का पालनहारा।'' सामान्य रूप से शिव भूतनाथ अर्थात् निम्न कोटि के प्राणियों के स्वामी के नाम से विख्यात हैं। *भूत* का अर्थ है, ''निम्नकोटि के प्राणी।'' ये भगवान् शिव की शरण में जाते हैं क्योंकि वे सबों पर दया करने वाले और जल्दी प्रसन्न होने वाले हैं। इसीलिए वे *आशुतोष* कहलाते हैं। ऐसे मनुष्यों के लिए, जो अन्य देवों या विष्णु के पास नहीं पहुँच पाते, शिव शरण देने वाले हैं। अत: *निरपत्रप* शब्द इसी अर्थ में लिया जा सकता है।

एष मे शिष्यतां प्राप्तो यन्मे दुहितुरग्रहीत् ।
पाणिं विप्राग्निमुखत: सावित्र्या इव साधुवत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

एष:—यह (शिव); मे—मेरी; शिष्यताम्—अधीनता; प्राप्त:—स्वीकार करके; यत्—क्योंकि; मे दुहितु:—मेरी पुत्री का; अग्रहीत्—ग्रहण किया; पाणिम्—हाथ; विप्र-अग्नि—ब्राह्मणों तथा अग्नि के; मुखत:—समक्ष; सावित्र्या:—गायत्री; इव—सदृश; साधुवत्—साधु (ईमानदार) पुरुष के समान।

इसने अग्नि तथा ब्राह्मणों के समक्ष मेरी पुत्री का पाणिग्रहण करके पहले ही मेरी अधीनता स्वीकार कर ली है। इसने गायत्री के समान मेरी पुत्री के साथ विवाह किया है और अपने को सत्यपुरुष बताया था।

तात्पर्य : दक्ष का यह कथन, कि शिव ने सत्पुरुष का ढोंग रचा, यह बताता है कि शिव ईमानदार न थे क्योंकि वे दक्ष के दामाद बनकर भी, उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित नहीं कर रहे थे।

गृहीत्वा मृगशावाक्ष्या: पाणिं मर्कटलोचन: ।
प्रत्युत्थानाभिवादार्हे वाचाप्यकृत नोचितम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

गृहीत्वा—ग्रहण करके; मृग-शाव—मृग के बच्चे के तुल्य; अक्ष्याः—नेत्र वाली; पाणिम्—हाथ; मर्कट—बन्दर के; लोचनः—नेत्रों वाला; प्रत्युत्थान—अपने आसन से उठने का; अभिवाद—सम्मान, अभिवादन; अर्हे—मुझ जैसे पात्र को; वाचा—मृदु वाणी से; अपि—भी; अकृत न—नहीं किया; उचितम्—सम्मान।

इसके नेत्र बन्दर के समान हैं तो भी इसने मृगी जैसी नेत्रों वाली मेरी कन्या के साथ विवाह किया है। तो भी इसने उठकर न तो मेरा स्वागत किया और न मीठी वाणी से मेरा सत्कार करना उचित समझा।

लुप्तक्रियायाशुचये मानिने भिन्नसेतवे ।
अनिच्छन्नप्यदां बालां शूद्रायेवोशतीं गिरम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

लुप्त-क्रियाय—शिष्टाचार का पालन न करते हुए; अशुचये—अपवित्र; मानिने—घमंडी; भिन्न-सेतवे—सभी मर्यादाओं को भंग करके; अनिच्छन्—न चाहते हुए; अपि—यद्यपि; अदाम्—प्रदान किया; बालाम्—अपनी पुत्री; शूद्राय—शूद्र को; इव—सदृश; उशतीम् गिरम्—वेदों का सन्देश।

शिष्टाचार के सभी नियमों को भंग करने वाले इस व्यक्ति को अपनी कन्या प्रदान करने की मेरी तनिक भी इच्छा नहीं थी। वांछित विधि-विधानों का पालन न करने के कारण यह अपवित्र है, किन्तु इसे अपनी कन्या प्रदान करने के लिए मैं उसी प्रकार बाध्य हो गया जिस प्रकार किसी शूद्र को वेदों का पाठ पढ़ाना पड़े।

तात्पर्य : शूद्र को वेद पढ़ाना वर्जित है क्योंकि यह अपनी मलिन आदतों के कारण ऐसे उपदेश सुनने का पात्र नहीं है। जब तक कोई ब्राह्मण-गुणों से सम्पन्न न हो ले, तब तक वह वेद नहीं पढ़ सकता, ऐसा प्रतिबन्ध वैसा ही है जैसाकि विधि के विद्यार्थी को विधि-विद्यालय में तब तक प्रवेश नहीं करने दिया जाता जब तक उसने नीचे की कक्षाएँ उत्तीर्ण न कर ली हों। दक्ष की दृष्टि में शिव अपवित्र आचरणों वाले थे और उसकी पुत्री का पाणिग्रहण करने के योग्य न थे, क्योंकि उसकी पुत्री सती अत्यन्त ज्ञानवान, सुन्दर तथा साध्वी थी। इस प्रसंग में *भिन्न सेतवे* शब्द व्यवहृत हुआ है, जिसका अर्थ होता है ऐसा पुरुष जिसने वैदिक नियमों का पालन न करते हुए सभी प्रकार के विधानों को भंग कर दिया हो। दूसरे शब्दों में, दक्ष के अनुसार शिव के साथ उसकी पुत्री का वैवाहिक कर्म सर्वथा अनुचित था।

प्रेतावासेषु घोरेषु प्रेतैर्भूतगणैर्वृत:
अटत्युन्मत्तवन्नग्नो व्युप्तकेशो हसन्रुदन् ।
चिताभस्मकृतस्नान: प्रेतस्त्रङ्न्रस्थिभूषण: ॥ १४॥
शिवापदेशो ह्यशिवो मत्तो मत्तजनप्रिय: ।
पति: प्रमथनाथानां तमोमात्रात्मकात्मनाम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

प्रेत-आवासेषु—श्मशान में; घोरेषु—भयंकर; प्रेतै:—प्रेतों द्वारा; भूत-गणै:—भूतों द्वारा; वृत:—घिरा हुआ, संग में; अटति—घूमता है; उन्मत्त-वत्—पागल के समान; नग्न:—नंगा; व्युप्त-केश:—बिखरे बालों वाला; हसन्—हँसता हुआ; रुदन्—चिल्लाता है; चिता—चिता की; भस्म—राख से; कृत-स्नान:—नहाकर (लगाकर); प्रेत—शवों के मुंडों की; स्त्रक्—माला; नृ-अस्थि-भूषण:—मृत पुरुषों की अस्थियों को आभूषण बनाये हुए; शिव-अपदेश:—जो नाम का शिव (शुभ) है; हि—क्योंकि; अशिव:—अमंगल; मत्त:—विक्षिप्त; मत्त-जन-प्रिय:—विक्षिप्तों को प्रिय लगने वाला; पति:—नायक, स्वामी; प्रमथ-नाथानाम्—प्रमथों के स्वामियों का; तम:-मात्र-आत्मक-आत्मनाम्—तमोगुणी इन सबों का।

वह श्मशान जैसे गंदे स्थानों में रहता है और उसके साथ भूत तथा प्रेत रहते हैं। वह पागलों के समान नंगा रहता है, कभी हँसता है, तो कभी चिल्लाता है और सारे शरीर में श्मशान की राख लपेटे रहता है। वह ठीक से नहाता भी नहीं। वह खोपड़ियों तथा अस्थियों की माला से अपने शरीर को विभूषित करता है। अत: वह केवल नाम से ही शिव है, अन्यथा वह अत्यन्त प्रमत्त तथा अशुभ प्राणी है। वह केवल तामसी प्रमत्त लोगों का प्रिय है और उन्हीं का अगुवा है।

तात्पर्य : जो नियमित रूप से नहाते नहीं उनकी संगति प्रेतों तथा पागल लोगों से मानी जाती है। शिवजी ऐसे ही लगते थे, किन्तु उनका शिव नाम अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि वे ऐसे व्यक्तियों पर अत्यन्त दयालु रहते हैं, जो तमोगुम के घोर अंधकार में पड़े हुए हैं—यथा अस्वच्छ शराबी लोग जो नियमित रूप से स्नान भी नहीं करते। भगवान् शिव इतने कृपालु हैं कि वे ऐसे प्राणियों को शरण प्रदान करते हैं और उन्हें क्रमश: आत्मिक चेतना तक ऊपर ले जाते हैं। यद्यपि ऐसे लोगों को आत्मिक ज्ञान के धरातल तक उठा पाना कठिन है, किन्तु भगवान् शिव इसका उत्तरदायित्व स्वयं लेते हैं इसीलिए, जैसाकि वेदों में कहा गया है, शिवजी सर्व-मंगलकारी हैं। इस तरह उनकी संगति से ऐसी पतित आत्माएँ भी ऊपर उठ सकती हैं। कभी-कभी यह देखा गया है कि महापुरुष की भेंट पतित आत्माओं के हितार्थ होती है, न कि उनके निजी हित के लिए। भगवान् की इस सृष्टि में अनेक प्रकार के जीव हैं। इनमें से कुछ सतोगुण-संपन्न हैं, तो कुछ रजोगुण तथा तमोगुण से युक्त होते हैं। भगवान् विष्णु ऐसे लोगों का भार अपने ऊपर लेते हैं, जो कृष्णभावनाभावित उन्नत वैष्णव हैं। भगवान् ब्रह्मा सकाम कर्म

में अनुरक्त लोगों का भार ग्रहण करते हैं, किन्तु शिवजी इतने दयालु हैं कि वे उन सभी लोगों का भार लेते हैं, जो तमोगुणी हैं और जिनके आचरण पशुओं से भी गिरे हुए हैं। इसीलिए शिव को विशेष रूप से मंगलकारी कहा गया है।

तस्मा उन्मादनाथाय नष्टशौचाय दुर्हृदे ।
दत्ता बत मया साध्वी चोदिते परमेष्ठिना ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उस; उन्माद-नाथाय—प्रेतों के स्वामी को; नष्ट-शौचाय—समस्त स्वच्छता से रहित व्यक्ति को; दुर्हृदे—विकारों से पूर्ण हृदय; दत्ता—प्रदान की गयी थी; बत—अहो; मया—मेरे द्वारा; साध्वी—सती; चोदिते—विनती किये जाने पर; परमेष्ठिना—परम गुरु (ब्रह्मा) द्वारा।.

ब्रह्माजी के अनुरोध पर मैंने अपनी साध्वी पुत्री उसे प्रदान की थी, यद्यपि वह समस्त प्रकार की स्वच्छता से रहित है और उसका हृदय विकारों से पूरित है।

तात्पर्य : माता पिता का धर्म है कि वे अपनी पुत्री को ऐसे परिवार में ब्याहें जो स्वच्छता, सदाचरण, सम्पत्ति, सामाजिक स्थिति इत्यादि में उनकी वंश-परम्परा के अनुकूल हो। दक्ष को पछतावा था कि उसने अपने पिता ब्रह्मा के कहने पर अपनी पुत्री ऐसे व्यक्ति को प्रदान की थी, जो उसकी गणना के अनुसार घिनौना था। वह इतना क्रुद्ध था कि वह इतना तक स्वीकार नहीं कर रहा था कि उसके पिता की ओर से ही विवाह के लिए अनुरोध किया गया था। उल्टे उसने ब्रह्मा को *परमेष्ठी* अर्थात् जगद्‌गुरु कहा, क्योंकि क्रोध के मारे वह ब्रह्मा को अपना पिता नहीं स्वीकार कर रहा था। दूसरे शब्दों में, उसने ब्रह्मा पर अल्पज्ञानी होने का आरोप लगाया, क्योंकि उन्होंने उसकी सुन्दर कन्या को एक अयोग्य व्यक्ति को प्रदान करने की सलाह दी थी। क्रोध में मनुष्य सब कुछ भूल जाता है, अत: दक्ष ने क्रोधवश न केवल शिव पर दोषारोपण किया, वरन् अपने पिता ब्रह्माजी की भी आलोचना की, क्योंकि उन्हीं के अविवेक पूर्ण उपदेश पर ही उसने शिवजी को अपनी कन्या ब्याही थी।

मैत्रेय उवाच
विनिन्द्यैवं स गिरिशमप्रतीपमवस्थितम् ।
दक्षोऽथाप उपस्पृश्य क्रुद्धः शप्तुं प्रचक्रमे ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; विनिन्द्य—गाली देकर; एवम्—इस प्रकार; सः—वह (दक्ष); गिरिशम्—शिव; अप्रतीपम्—शत्रुतारहित; अवस्थितम्—स्थित रहकर; दक्षः—दक्ष; अथ—अब; अपः—जल; उपस्पृश्य—हाथ तथा मुँह धोकर; क्रुद्धः—क्रुद्ध, नाराज; शप्तुम्—शाप देना; प्रचक्रमे—प्रारम्भ किया।

मैत्रेय मुनि ने आगे कहा : इस प्रकार शिव को अपने विपक्ष में स्थित देखकर दक्ष ने जल से आचमन किया और निम्नलिखित शब्दों से शाप देना प्रारम्भ किया।

अयं तु देवयजन इन्द्रोपेन्द्रादिभिर्भवः ।
सह भागं न लभतां देवैर्देवगणाधमः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अयम्—यह; तु—लेकिन; देव-यजने—देवताओं के यज्ञ में; इन्द्र-उपेन्द्र-आदिभिः—इन्द्र, उपेन्द्र तथा अन्यों सहित; भवः—शिव; सह—के साथ; भागम्—एक अंश; न—नहीं; लभताम्—प्राप्त करना चाहिए; देवैः—देवताओं से; देव-गण-अधमः—समस्त देवताओं में सबसे निम्न।

देवता तो यज्ञ की आहुति में भागीदार हो सकते हैं, किन्तु समस्त देवों में अधम शिव को यज्ञ-भाग नहीं मिलना चाहिए।

तात्पर्य : इस शाप के कारण शिव वैदिक यज्ञों की आहुति में भाग लेने से वंचित ही रहे। इस प्रसंग में श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका है कि दक्ष के इसी शाप से भगवान् शिव अन्य भौतिकतावादी देवताओं का साथ देने की बला से बचे रहे। शिवजी श्रीभगवान् के सबसे बड़े भक्त हैं और उन्हें यह शोभा नहीं देता कि वे देवताओं के समान भौतिकतावादी लोगों के साथ उठें-बैठें। इस प्रकार दक्ष का शाप एक प्रकार से वरदान सिद्ध हुआ क्योंकि इस के कारण शिव को अन्य देवताओं के साथ जो अत्यन्त भौतिकतावादी थे, खाना अथवा उठना बैठना नहीं पड़ेगा। हमारे समक्ष गौरकिशोर दास बाबाजी महाराज ने व्यावहारिक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। वे शौचालय के पास बैठकर हरे कृष्ण का जाप करते थे। चूँकि अनेक लोग आकर उनके हरे कृष्ण जप में बाधा डालते थे, इसलिए उनकी संगति से बचने के लिए ही वे शौचालय के पास बैठे रहते, क्योंकि तब भौतिकतावादी लोग गंदगी तथा दुर्गंध के कारण निकट जाना पसन्द नहीं करेंगे। किन्तु वे इतने महान् पुरुष थे कि ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज के गुरु बने। निष्कर्ष यह निकला कि शिव जानबूझकर ऐसा आचरण करते थे जिससे भौतिकतावादी लोग उनकी भक्ति में बाधक न बनें।

निषिध्यमानः स सदस्यमुख्यै-
र्दक्षो गिरित्राय विसृज्य शापम् ।
तस्माद्विनिष्क्रम्य विवृद्धमन्यु-
र्जगाम कौरव्य निजं निकेतनम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

निषिध्यमानः—मना किये जाने पर; सः—वह (दक्ष); सदस्य-मुख्यैः—यज्ञ के सदस्यों द्वारा; दक्षः—दक्ष; गिरित्राय—शिव को; विसृज्य—त्याग कर; शापम्—शाप; तस्मात्—उस स्थान से; विनिष्क्रम्य—बाहर जाकर; विवृद्ध-मन्युः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; जगाम—चला गया; कौरव्य—हे विदुर; निजम्—अपने; निकेतनम्—घर।

मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, उस यज्ञ के सभासदों द्वारा मना किये जाने पर भी दक्ष क्रोध में आकर शिवजी को शाप देता रहा और फिर सभा त्याग कर अपने घर चला गया।

तात्पर्य : क्रोध इतना बुरा होता है कि दक्ष जैसा महापुरुष भी क्रोध के कारण यज्ञस्थल को जिसकी अध्यक्षता ब्रह्माजी कर रहे थे और जहाँ समस्त ऋषि तथा पवित्र एवं साधु पुरुष एकत्र थे, छोड़कर चला गया। उन सबों ने उससे न जाने के लिए अनुरोध किया, किन्तु वह क्रुद्ध होकर यह सोचते हुए चला गया कि यह शुभस्थल मेरे योग्य नहीं है। अपने उच्च पद के कारण गर्वित होकर उसने सोचा कि उसके अनुसार कोई भी उससे बड़ा नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मा समेत सभी सभासदों ने उससे क्रोध न करने तथा सभा को न छोड़ने का अनुरोध किया, किन्तु तो भी वह चला गया। निष्ठुर क्रोध का यही परिणाम होता है। इसीलिए *भगवद्गीता* में उपदेश दिया गया है कि जो मनुष्य आध्यात्मिक चेतना में ठोस उन्नति करना चाहता है, उसे लोभ, क्रोध तथा काम इन तीन से बचना चाहिए। वास्तव में हम समझ सकते है कि ये तीनों मनुष्य को पागल बना देते हैं, भले ही वह दक्ष जैसा महापुरुष ही क्यों न हो। दक्ष का नाम ही यह बताता है कि वह समस्त भौतिक कार्यकलापों में पटु (दक्ष) था, किन्तु शिव जैसे परम साधु पुरुष के प्रति घृणा के कारण वह काम, क्रोध तथा लोभ इन तीनों शत्रुओं का शिकार बन गया। इसीलिए भगवान् चैतन्य ने उपदेश दिया है कि कोई वैष्णव का अपमान कभी न करे। उन्होंने वैष्णव के प्रति किये गये अपराधों की तुलना प्रमत्त हाथी से की। जिस प्रकार प्रमत्त हाथी कुछ भी कर सकता है, उसी तरह जब कोई व्यक्ति किसी वैष्णव का अपमान कर सकता है, तो वह कोई घृणित से घृणित कार्य भी कर सकता है।

विज्ञाय शापं गिरिशानुगाग्रणी-

नन्दीश्वरो रोषकषायदूषितः ।
दक्षाय शापं विससर्ज दारुणं
ये चान्वमोदंस्तदवाच्यतां द्विजाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

विज्ञाय—जानकर; शापम्—शाप; गिरिश—शिव का; अनुग-अग्रणीः—प्रमुख पार्षदों में से एक; नन्दीश्वरः—नन्दीश्वर; रोष—क्रोध; कषाय—लाल; दूषितः—अंध; दक्षाय—दक्ष को; शापम्—शाप; विससर्ज—दिया; दारुणम्—कठोर; ये—जिन्होंने; च—तथा; अन्वमोदन्—सहन किया; तत्-अवाच्यताम्—शिव को शाप देना; द्विजाः—ब्राह्मणजन।

यह जानकर कि भगवान् शिव को शाप दिया गया है, शिव का प्रमुख पार्षद नन्दीश्वर अत्यधिक क्रुद्ध हुआ। उसकी आँखें लाल हो गईं और उसने दक्ष तथा वहाँ उपस्थित सभी ब्राह्मणों को, जिन्होंने दक्ष द्वारा कटु वचनों में शिवजी को शापित किए जाने को सहन किया था, शाप देने की तैयारी की।

तात्पर्य : कुछ नवदीक्षित वैष्णवों तथा शैवों में दीर्घकालीन मतभेद चला आ रहा है; वे सदैव भिड़ते रहते हैं। जब दक्ष ने कटु वचनों द्वारा शिव को शाप दिया तो वहाँ उपस्थित कुछ ब्राह्मणों को मजा आया होगा क्योंकि कुछ ब्राह्मण शिव को अधिक पसंद नहीं करते हैं। वे शिव की स्थिति को न समझने के कारण ऐसा करते हैं। इस शाप से नन्दीश्वर प्रभावित हुआ, किन्तु उसने वहाँ पर उपस्थित भगवान् शिव का अनुकरण नहीं किया। यदि शिवजी चाहते तो वे भी दक्ष को उसी प्रकार शाप दे सकते थे, किन्तु वे शान्त बने रहे। किन्तु उनका अनुयायी नन्दीश्वर इसे सहन नहीं कर सका। निस्सन्देह, अनुयायी होने के कारण यह उचित ही था कि वह अपने स्वामी की निन्दा सहन न करता, किन्तु उसे वहाँ उपस्थित ब्राह्मणों को शाप नहीं देना चाहिए था। इससे सारा मामला ऐसा उलझ गया कि जो अधिक बलशाली न थे वे अपने पदों को भूल गये और इस तरह उस सभा में शाप-प्रतिशाप चलता रहा। कहने का तात्पर्य यह है कि भौतिक जगत ऐसा अस्थिर है कि वहाँ उपस्थित नन्दीश्वर, दक्ष तथा अनेक ब्राह्मण रोष के वातावरण से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे।

य एतन्मर्त्यमुद्दिश्य भगवत्यप्रतिद्रुहि ।
द्रुह्यत्यज्ञः पृथग्दृष्टिस्तत्त्वतो विमुखो भवेत् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो (दक्ष); एतत् मर्त्यम्—इस नश्वर शरीर के; उद्दिश्य—प्रसंग में; भगवति—शिव को; अप्रतिद्रुहि—जो ईर्ष्यालु नहीं हैं; द्रुह्यति—द्वेष करता है; अज्ञः—कम बुद्धिमान व्यक्ति; पृथक्-दृष्टिः—द्वैत भाव; तत्त्वतः—दिव्य ज्ञान से; विमुखः—रहित; भवेत्—हो जाए।

जिस किसी ने दक्ष को सर्वश्रेष्ठ पुरुष मान कर ईर्ष्यावश भगवान् शिव का निरादर किया है, वह अल्प बुद्धिवाला है और अपने द्वैतभाव के कारण वह दिव्यज्ञान से विहीन हो जाएगा।

तात्पर्य : नन्दीश्वर का प्रथम शाप था कि जो भी दक्ष का समर्थन कर रहा है, वह अज्ञानवश अपने शरीर को ही सब कुछ समझ रहा है और चूँकि दक्ष को दिव्य ज्ञान नहीं था, अतः उसका समर्थन करने से वह भी दिव्य ज्ञान से विहीन हो जाएगा। नन्दीश्वर ने कहा कि दक्ष अन्य भौतिकतावादी व्यक्तियों की तरह अपने शरीर को ही सब कुछ मान बैठा है और सभी शारीरिक सुख-सुविधाएँ प्राप्त करना चाह रहा है। उसे अपने शरीर, अपनी पत्नी, सन्तान, घर तथा अन्य ऐसी वस्तुओं में, जो आत्मा से भिन्न हैं, अत्यधिक आसक्ति है। अतः नन्दीश्वर का शाप था कि जो भी दक्ष का समर्थक होगा वह दिव्य आत्मज्ञान से विहीन हो जाएगा और इस तरह वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के ज्ञान से भी विमुख होगा।

गृहेषु कूटधर्मेषु सक्तो ग्राम्यसुखेच्छया ।
कर्मतन्त्रं वितनुते वेदवादविपन्नधीः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; कूट-धर्मेषु—कपट धार्मिकता में; सक्तः—आसक्त होने से; ग्राम्य-सुख-इच्छया—भौतिक सुख की कामना से; कर्म-तन्त्रम्—सकाम कर्म; वितनुते—करता है; वेद-वाद—वेद की व्याख्या से; विपन्न-धीः—नष्टबुद्धि।

जिस कपटपूर्ण धार्मिक गृहस्थ-जीवन में कोई मनुष्य भौतिक सुख के प्रति आसक्त रहता है और साथ ही वेदों की व्यर्थ व्याख्या के प्रति आकृष्ट होता है, इसमें उसकी सारी बुद्धि हर ली जाती है और वह पूर्ण रूप से सकाम कर्म में लिप्त हो जाता है।

तात्पर्य : जो लोग अपने शारीरिक अस्तित्व को ही सब कुछ मानते हैं, वे वेदवर्णित सकाम कर्म में आसक्त रहते हैं। उदाहरणार्थ, वेदों में उल्लेख है कि जो चातुर्मास्य व्रत का पालन करता है, उसे स्वर्गलोक में शाश्वत सुख उपलब्ध होगा। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि वेदों की यह अलंकृत भाषा अधिकतर उन पुरुषों को आकृष्ट करती है, जो अपने को शरीर-रूप मानते हैं। ऐसे लोगों के लिए स्वर्गिक सुख ही सब सुख है; उन्हें यह पता नहीं है कि इससे भी परे आत्म-जगत या ईश्वरीय धाम है और वहाँ जाया जा सकता है। इस प्रकार वे दिव्य ज्ञान से वंचित रह जाते हैं। ऐसे लोग गृहस्थ-जीवन

के विधि-विधानों को सम्पन्न करने में अत्यन्त सतर्क रहते हैं जिससे अगले जीवन में वे चन्द्र लोक या अन्य स्वर्ग लोकों में जा सकें। यहाँ पर बताया गया है कि ऐसे लोग ग्राम्य सुख अर्थात् 'भौतिक सुख' में लिप्त रहते हैं। उन्हें शाश्वत, आनन्दमय आध्यात्मिक जीवन का कोई पता नहीं रहता।

बुद्ध्या पराभिध्यायिन्या विस्मृतात्मगतिः पशुः ।
स्त्रीकामः सोऽस्त्वतितरां दक्षो बस्तमुखोऽचिरात् ॥ २३॥

शब्दार्थ

बुद्ध्या—बुद्धि से; पर-अभिध्यायिन्या—शरीर को आत्म समझ कर; विस्मृत-आत्म-गतिः—विष्णु ज्ञान को भूलकर; पशुः—पशु; स्त्री-कामः—विषयी जीवन में लिप्त रहकर; सः—वह; अस्तु—हो; अतितराम्—अतिशय; दक्षः—दक्ष; बस्त-मुखः—बकरे का मुँह; अचिरात्—शीघ्र ही।

दक्ष ने देह को ही सब कुछ समझ रखा है। इसने विष्णुपाद अथवा विष्णु-गति को भुला दिया है और केवल स्त्री-संभोग में ही लिप्त रहता है, अतः इसे शीघ्र ही बकरे का मुख प्राप्त होगा।

विद्याबुद्धिरविद्यायां कर्ममय्यामसौ जडः ।
संसरन्त्विह ये चामुमनु शर्वावमानिनम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

विद्या-बुद्धिः—भौतिक शिक्षा तथा बुद्धि; अविद्यायाम्—अज्ञान में; कर्म-मय्याम्—सकाम कर्म से उत्पन्न; असौ—यह (दक्ष); जडः—मन्द; संसरन्तु—बारम्बार जन्म धारण करे; इह—इस जगत में; ये—जो; च—तथा; अमुम्—दक्ष का; अनु—अनुसरण करने वाले; शर्व—शिव; अवमानिनम्—अनादर करने से।

जो लोग भौतिक विद्या तथा युक्ति के अनुशीलन से पदार्थ की भाँति जड़ बन चुके हैं, वे अज्ञानवश सकाम कर्मों में लगे हुए हैं। ऐसे मनुष्यों ने जानबूझकर भगवान् शिव का अनादर किया है। ऐसे लोग जन्म-मरण के चक्र में पड़े रहें।

तात्पर्य : यहाँ पर वर्णित तीनों शाप किसी को भी पत्थर के समान जड़ बनाने, आत्मज्ञान से रहित करने तथा भौतिक विद्या में संलग्न रहने के लिए पर्याप्त हैं। इन शापों के देने के बाद नन्दीश्वर ने ब्राह्मणों को शाप दिया कि वे जन्म-मरण के चक्र में बने रहें, क्योंकि उन्होंने शिवजी का अनादर करने में दक्ष का साथ दिया है।

गिरः श्रुतायाः पुष्पिण्या मधुगन्धेन भूरिणा ।
मथ्ना चोन्मथितात्मानः सम्मुह्यन्तु हरद्विषः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

गिरः—शब्द; श्रुतायाः—वेदों के; पुष्पिण्याः—पुष्पों से युक्त; मधु-गन्धेन—शहद की गन्ध से; भूरिणा—अत्यधिक; मथ्ना—मोहने वाली; च—तथा; उन्मथित-आत्मानः—जिनके मन जड़ बन चुके हैं; सम्मुह्यन्तु—वे आसक्त रहें; हर-द्विषः—शिव से ईर्ष्या करने वाले, शिवद्रोही।

मोहक वैदिक प्रतिज्ञाओं की पुष्पमयी (अलंकृत) भाषा से आकृष्ट होकर जो जड़ बन चुके हैं और शिव-द्रोही हैं, वे सदैव सकाम कर्मों में निरत रहें।

तात्पर्य : उच्चस्तरीय भौतिकतावादी जीवन के लिए उच्चतर लोकों में पहुँचने की वैदिक प्रतिज्ञा की तुलना से पुष्पमयी अलंकृत भाषा से की गई है क्योंकि पुष्प में निश्चित रूप से सुगंधि होती है, किन्तु वह अधिक काल तक नहीं चलती। इसी प्रकार पुष्प में मधु होता है किन्तु वह भी शाश्वत नहीं होता।

सर्वभक्षा द्विजा वृत्त्यै धृतविद्यातपोव्रताः ।
वित्तदेहेन्द्रियारामा याचका विचरन्त्विह ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सर्व-भक्षाः—सब कुछ खाने वाले; द्विजाः—ब्राह्मण लोग; वृत्त्यै—शरीर पालने के लिए; धृत-विद्या—शिक्षा का कार्य ग्रहण करके; तपः—तपस्या; व्रताः—तथा व्रत; वित्त—धन; देह—शरीर; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आरामाः—तुष्टि; याचकाः—भिक्षुकों के समान; विचरन्तु—इधर-उधर घूमें; इह—यहाँ।

ये ब्राह्मण केवल अपने शरीर-पालन के लिए विद्या, तप तथा व्रतादि का आश्रय लें। इन्हें भक्ष्याभक्ष्य का विवेक न रह जाए। ये द्वार-द्वार भिक्षा माँगकर अपने शरीर की तुष्टि के लिए धन की प्राप्ति करें।

तात्पर्य : नन्दीश्वर ने दक्ष को समर्थन देनेवाले ब्राह्मणों को जो तीसरा शाप दिया वह पूरी तरह कलियुग में लागू होता है। तथाकथित ब्राह्मण अब परब्रह्म के स्वरूप को समझने में कोई रुचि नहीं दिखाते, यद्यपि ब्राह्मण का अर्थ है, वह जिसने ब्रह्म विषयक ज्ञान प्राप्त कर लिया है। *वेदान्त सूत्र* में भी कहा गया है *अथातो ब्रह्मजिज्ञासा:* यह मनुष्य जीवन परब्रह्म की अनुभूति के लिए है, अर्थात् मनुष्य जीवन का उद्देश्य ब्राह्मण-पद तक ऊपर उठना है। दुर्भाग्यवश आधुनिक ब्राह्मण अथवा तथाकथित ब्राह्मण परिवारों में उत्पन्न ब्राह्मण अपने-अपने व्यावसायिक कर्म (धर्म) त्याग चुके हैं, किन्तु फिर भी

वे अन्य किसी को अपना स्थान ग्रहण करने नहीं देना चाहते। शास्त्रों, *श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक साहित्य में ब्राह्मणों के गुण बताये गये है। ब्राह्मण कोई आनुवंशिक पदवी या पद नहीं है। यदि कोई अब्राह्मण (उदाहरणार्थ, शूद्र कुल में उत्पन्न) प्रामाणिक गुरु द्वारा उचित शिक्षा पाकर योग्य बन कर ब्राह्मण बनना चाहता है, तो ये तथाकथित ब्राह्मण विरोध करते हैं। नन्दीश्वर द्वारा शापित ऐसे ब्राह्मण ऐसी स्थिति में हैं कि उन्हें भक्ष्याभक्ष्य का कोई विवेक नहीं रह गया है और वे इस मर्त्य देह तथा अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए ही जीवित रहते हैं। ऐसे पतित बद्धजीव ब्राह्मण कहलाने के योग्य नहीं हैं, किन्तु कलियुग में वे अपने को ब्राह्मण होने का दावा करते हैं और यदि कोई मनुष्य वास्तव में ब्राह्मणत्व प्राप्त करने का प्रयास करता है, तो वे उसके मार्ग में बाधक बनते हैं। आधुनिक युग में ऐसी ही स्थिति आ गई है। चैतन्य महाप्रभु ने इस सिद्धान्त की घोर निन्दा की है। रामानन्द राय से वार्तालाप के दौरान उन्होंने कहा है कि मनुष्य चाहे ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुआ हो या शूद्र कुल में, चाहे वह गृहस्थ हो या संन्यासी, यदि वह कृष्ण-विज्ञान जानता है, तो वह गुरु बन सकता है। चैतन्य महाप्रभु के कई शूद्र शिष्य थे, यथा हरिदास ठाकुर तथा रामानन्द राय। यहाँ तक कि सभी गोस्वामी, जो चैतन्य महाप्रभु के प्रमुख छात्र थे, ब्राह्मण समाज से च्युत थे, किन्तु उन्होंने कृपा करके उन्हें उच्चकोटि का वैष्णव बना दिया।

तस्यैवं वदतः शापं श्रुत्वा द्विजकुलाय वै ।
भृगुः प्रत्यसृजच्छापं ब्रह्मदण्डं दुरत्ययम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका (नन्दीश्वर का); एवम्—इस प्रकार; वदतः—शब्द; शापम्—शाप; श्रुत्वा—सुनकर; द्विज-कुलाय—ब्राह्मणों को; वै—निस्सन्देह; भृगुः—भृगु ने; प्रत्यसृजत्—दिया; शापम्—शाप; ब्रह्म-दण्डम्—ब्राह्मण द्वारा दिया गया दण्ड; दुरत्ययम्—दुर्लंघ्य, दुस्तर।

इस प्रकार जब नन्दीश्वर ने समस्त कुलीन ब्राह्मणों को शाप दे दिया तो प्रतिक्रियास्वरूप भृगमुनि ने शिव के अनुयायियों की भर्त्सना की और उन्हें घोर ब्रह्म-शाप दे दिया।

तात्पर्य : *दुरत्यत्या* शब्द का व्यवहार *ब्रह्मदण्ड* अर्थात् ब्राह्मण द्वारा दिये जाने वाले शाप के प्रसंग में हुआ है। ब्राह्मण द्वारा दिया गया शाप अत्यन्त घोर (प्रबल) होता है, इसीलिए उसे *दुरत्यया* अर्थात् दुष्कर कहा गया है। जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* में कहा है कि प्रकृति के कठोर नियम दुर्लंघ्य हैं,

इसी प्रकार यदि कोई ब्राह्मण शाप देता है, तो वह भी दुर्लंघ्य है। किन्तु *भगवद्गीता* में यह भी कहा गया है कि भौतिक लोक के शाप या वरदान अन्तत: भौतिक सृष्टियाँ ही हैं। *चैतन्य चरितामृत* से इसकी पुष्टि होती है कि जिसे भौतिक जगत में वरदान या शाप माना जाता है वे दोनों वस्तुत: एक ही धरातल पर हैं, क्योंकि वे भौतिक हैं। अत: इस भौतिक कल्मष से छुटकारा पाने के लिए भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१४) में कहा गया है—*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।* सर्वश्रेष्ठ मार्ग यही है कि शाप तथा वरदान से ऊपर उठा जाये और भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण की जाये तथा दिव्य स्थिति में रहा जाये। जिन लोगों ने श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण कर ली है वे सदैव शान्तिपूर्वक रहते हैं। न तो उन्हें कोई शाप देता है और न वे किसी को शाप देते हैं। यही दिव्य स्थिति है।

भवव्रतधरा ये च ये च तान्समनुव्रता: ।
पाषण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिन: ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

भव-व्रत-धरा:—शिव के अनुयायी; ये—जो; च—तथा; ये—जो; च—तथा; तान्—ऐसे नियम; समनुव्रता:—पालन करते हुए; पाषण्डिन:—नास्तिक; ते—वे; भवन्तु—हों; सत्-शास्त्र-परिपन्थिन:—दिव्य शास्त्रीय आदेशों से विपथ।

जो शिव को प्रसन्न करने का व्रत धारण करता है अथवा जो ऐसे नियमों का पालन करता है, वह निश्चित रूप से नास्तिक होगा और दिव्य शास्त्रों के विरुद्ध आचरण करने वाला बनेगा।

तात्पर्य : कभी-कभी यह देखा जाता है कि शिवजी के भक्त शिव के आचरणों का अनुकरण करते हैं। उदाहरणार्थ, शिवजी ने विषपान किया था, अत: उनके कुछ भक्त उनके अनुकरण पर *गाँजा* जैसे मादक पदार्थ का सेवन करते हैं। इसीलिए यहाँ यह शाप दिया गया है कि जो ऐसा करता है, वह पतित बने और वैदिक नियमों के विरुद्ध आचरण करने वाला हो। यह कहा गया है कि शिवजी के ऐसे भक्त *सच्छास्त्र-परिपन्थिन:* अर्थात् ''शास्त्रों के निष्कर्षों के विरुद्ध चलने वाले'' होंगे। इसकी पुष्टि *पद्म पुराण* में भी हुई है। श्रीभगवान् द्वारा शिव को आदेश दिया गया कि वे विशेष उद्देश्य से निर्विशेष वाद अथवा मायावाद दर्शन का उपदेश दें, जिस प्रकार भगवान् बुद्ध ने शास्त्रों में उल्लिखित ऐसे ही विशिष्ट उद्देश्य से शून्यवाद-दर्शन का उपदेश दिया था।

कभी-कभी वेदविरुद्ध दार्शनिक सिद्धान्त का उपदेश आवश्यक हो जाता है। *शिवपुराण* में उल्लेख है कि शिवजी ने पार्वती से कहा कि वे कलियुग में ब्राह्मण शरीर में मायावाद दर्शन का उपदेश देंगे। इस प्रकार सामान्य रूप से यह पाया जाता कि शिवजी के उपासक मायावादी होते हैं। भगवान् शिव ने स्वयं कहा है—*मायावादम् असच्छास्त्रम्।* जैसाकि बताया जा चुका है *असत्-शास्त्र* का अर्थ मायावाद निर्विशेष का सिद्धान्त है। भृगु मुनि ने शाप दिया कि शिव के आराधक इस मायावाद *असत् शास्त्र* के अनुयायी हों, जो यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि भगवान् निर्गुण हैं। इसके साथ ही साथ शिव के उपासकों का एक सम्प्रदाय राक्षसी जीवन व्यतीत करता है। *श्रीमद्भागवत* तथा *नारद पञ्चरात्र* प्रामाणिक शास्त्र हैं, जो *सत्-शास्त्र* की कोटि में आते हैं जिनसे ईश्वर-साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त होता है। *असत्-शास्त्र* इससे सर्वथा विपरीत हैं।

नष्टशौचा मूढधियो जटाभस्मास्थिधारिणः ।
विशन्तु शिवदीक्षायां यत्र दैवं सुरासवम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

नष्ट-शौचाः—शुचिता (पवित्रता) का परित्याग करके; मूढ-धियः—मूर्ख; जटा-भस्म-अस्थि-धारिणः—जटा, राख तथा हड्डियाँ धारण किये; विशन्तु—प्रवेश करें; शिव-दीक्षायाम्—शिव पूजा की दीक्षा में; यत्र—जहाँ; दैवम्—ईश्वरी हैं; सुर-आसवम्—मदिरा तथा आसव।

जो शिव की पूजा का व्रत लेते हैं, वे इतने मूर्ख होते हैं कि वे उनका अनुकरण करके अपने शरीर पर लम्बी जटाएँ धारण करते हैं और शिव की उपासना की दीक्षा ले लेने के बाद वे मदिरा, मांस तथा अन्य ऐसी ही वस्तुएँ खाना-पीना पसंद करते हैं।

तात्पर्य : अनियमित जीवन बिताने वाले मूर्ख प्राणी मदिरा तथा मांस का सेवन करते हैं, लम्बी-लम्बी जटाएँ रखते हैं, नित्य स्नान नहीं करते और *गाँजा* पीते हैं। ऐसे आचरण से मनुष्य दिव्य ज्ञान से विहीन हो जाता है। शिवमंत्र की दीक्षा-ग्रहण में *मुद्रिकाष्टक* होता है, जिसमें कभी-कभी यह संस्तुति की जाती है कि मनुष्य स्त्री योनि पर अपना आसन लगाए तभी उसे *निर्वाण* प्राप्त हो सकता है। ऐसी उपासना में मदिरा अथवा ताड़ी की आवश्यकता पड़ती है। *शिव-आगम* अर्थात् शिव-आराधना विधि सम्बन्धी ग्रन्थ के अनुसार इसकी भेंट भी चढ़ाई जाती है।

ब्रह्म च ब्राह्मणांश्चैव यद्यूयं परिनिन्दथ ।
सेतुं विधारणं पुंसामतः पाषण्डमाश्रिताः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म—वेद; च—तथा; ब्राह्मणान्—ब्राह्मणों को; च—तथा; एव—निश्चय ही; यत्—क्योंकि; यूयम्—तुम सब; परिनिन्दथ—निन्दा करते हो; सेतुम्—वैदिक सिद्धान्त; विधारणम्—धारण करते हुए; पुंसाम्—मनुष्य जाति का; अतः—इसलिए; पाषण्डम्—नास्तिकता; आश्रिताः—शरण ले रखी है।

भृगु मुनि ने आगे कहा : चूँकि तुम वैदिक नियमों के अनुयायी ब्राह्मणों तथा वेदों की निन्दा करते हो इससे ज्ञात होता है कि तुमने नास्तिकता की नीति अपना रखी है।

तात्पर्य : भृगु मुनि ने नन्दीश्वर को शाप देते हुए कहा कि वे सब इस शाप से नास्तिक तो होंगे ही, किन्तु वे पहले से नास्तिक पद तक गिर चुके थे, क्योंकि उन्होंने मानवीय सभ्यता के परम स्रोत वेदों की निन्दा की थी। गुणों के अनुसार श्रेणियों में विभाजित मानवीय-सभ्यता वर्णाश्रम पर आधारित है, यथा-बुद्धिमान वर्ग, युद्धप्रिय वर्ग, उत्पादक वर्ग तथा श्रमिक वर्ग। वेद सही-सही निर्देश देते हैं कि आत्म-अनुशीलन तथा आर्थिक उन्नति के साथ ही इन्द्रिय-तृप्ति का नियमन कैसे किया जाये जिससे अन्ततः भौतिक कल्मष से छूट कर मनुष्य अपनी वास्तविक आध्यात्मिक पहचान (*अहं ब्रह्मास्मि*) को प्राप्त हो। जब तक मनुष्य सांसारिक कल्मष में रहता है, तब तक वह जलचर से लेकर ब्रह्मा तक अपनी योनियाँ बदलता रहता है, किन्तु इस जगत में तो मनुष्य जीवन सर्वोच्च सिद्धि है। वेद वह मार्ग दिखाते हैं जिससे मनुष्य अगले जीवन में ऊपर उठ सके। ऐसी शिक्षा के लिए वेद माता तुल्य हैं और वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण पिता तुल्य हैं, अतः यदि कोई वेदों तथा बाह्मणों की निन्दा करता है, तो वह नास्तिक के स्तर पर गिर जाता है। संस्कृत में नास्तिक शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो उस मनुष्य का द्योतक है, जो वेदों में विश्वास नहीं करता और धर्म की कुछ मनगढंत पद्धति का निर्माण करता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि बौद्ध धर्म के अनुयायी नास्तिक हैं। अहिंसा के सिद्धान्त की स्थापना के लिए भगवान् बुद्ध ने वेदों को मानने से साफ इनकार किया और बाद में शंकराचार्य ने इस धर्म को भारत में रोका और इसे देश के बाहर निकलने के लिए बाध्य किया। यहाँ पर *ब्रह्म च ब्राह्मणान्* कहा गया है। *ब्रह्म* का अर्थ है वेद। *अहं ब्रह्मास्मि* का अर्थ है "मुझे पूर्ण ज्ञान प्राप्त है।" वेदों का कथन है कि मनुष्य को अपने आपको ब्रह्म समझना चाहिए क्योंकि वह वास्तव में ब्रह्म है। यदि ब्रह्म अर्थात् वैदिक ज्ञान की निन्दा की जाये और वैदिक ज्ञान के ज्ञाता ब्राह्मणों की निन्दा की जाये तो फिर यह मानवीय

सभ्यता कहाँ रहेगी? भृगु मुनि ने कहा, "ऐसा नहीं है कि तुम लोग मेरे शाप से नास्तिक बनोगे, तुम तो पहले से नास्तिक हो, इसीलिए तुम निन्दनीय हो।"

एष एव हि लोकानां शिवः पन्थाः सनातनः ।
यं पूर्वे चानुसन्तस्थुर्यत्प्रमाणं जनार्दनः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एषः—वेद; एव—निश्चय ही; हि—क्योंकि; लोकानाम्—समस्त लोगों का; शिवः—कल्याणकारी; पन्थाः—पथ; सनातनः—शाश्वत; यम्—जो (वैदिक पथ); पूर्वे—भूतकाल में; च—तथा; अनुसन्तस्थुः—दृढ़तापूर्वक पालित होता था; यत्—जिसमें; प्रमाणम्—साक्ष्य; जनार्दनः—जनार्दन।

वेद मानवीय सभ्यता के कल्याण की प्रगति हेतु शाश्वत विधान प्रदान करने वाले हैं जिसका प्रीचीन काल में दृढ़ता से पालन होता रहा है। इसका सशक्त प्रमाण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् स्वयं हैं, जो जनार्दन अर्थात् समस्त जीवात्माओं के शुभेच्छु कहलाते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण ने दावा किया है कि वे सभी प्रकार के प्राणियों के जनक हैं। कुल मिलाकर ८४,००,००० योनियाँ हैं और श्रीकृष्ण अपने को इन सबका जनक कहते हैं। चूँकि जीवात्माएँ भगवान् के अंशरूप हैं, अतः वे भगवान् की सन्तानें हैं। चूंकि उन्हें गुमान है कि वे भौतिक प्रकृति को वश में कर सकते हैं, भगवान् ने उनके हितार्थ उन्हें वेद प्रदान किये हैं। इसीलिए वेद *अपौरुषेय* कहलाते हैं, क्योंकि वे मनुष्यों या देवताओं द्वारा नहीं लिखे गए, यहाँ तक कि ब्रह्मा, जो आदि जीव हैं, वे भी वेदों के रचयिता नहीं हैं। इस भौतिक जगत के ही एक सजीव प्राणी होने के कारण वे न तो वेदों की रचना कर सकते हैं और न स्वतंत्र रूप से उनके विषय में कुछ कह सकते हैं। इस संसार की प्रत्येक जीवात्मा में चार अवगुण पाये जाते हैं—त्रुटि करना, एक वस्तु को दूसरी समझना, धोखा देना तथा इन्द्रियों से अपूर्ण होना। किन्तु वेद इस भौतिक संसार के किसी सजीव प्राणी द्वारा रचित नहीं हैं, अतः वे *अपौरुषेय* कहलाते हैं। कोई भी वेदों का इतिहास नहीं बता सकता। निस्सन्देह, आधुनिक मानवीय सभ्यता का कोई तिथिवार इतिहास नहीं है और तीन हजार वर्ष से पूर्व का भी वास्तविक इतिहास प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। किसी ने आज तक यह शोध नहीं की कि वेद कब लिखे गये, क्योंकि वे इस संसार के किसी सजीव प्राणी द्वारा नहीं लिखे गये। अन्य सभी ज्ञानपद्धतियाँ दोषपूर्ण हैं, क्योंकि वे इसी भौतिक संसार के प्राणियों या देवताओं द्वारा रचित या उच्चरित

हैं। किन्तु *भगवद्गीता* अपौरुषेय है, क्योंकि इसे इस भौतिक सृष्टि के किसी मनुष्य या देवता ने नहीं कहा, इसको श्रीकृष्ण ने कहा है, जो इस भौतिक सृष्टि से परे हैं। इसे शंकराचार्य जैसे उद्भट विद्वानों ने स्वीकार किया है, रामानुजाचार्य तथा मध्यवाचार्य जैसे अन्य आचार्यों की तो बात ही छोड़ दें। शंकराचार्य ने स्वीकार किया है कि नारायण तथा कृष्ण दिव्य हैं और भगवान् श्रीकृष्ण ने भी भगवद्गीता में परिपुष्टि की है—*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते*—मैं प्रत्येक वस्तु का मूल हूँ, प्रत्येक वस्तु मुझी से उद्भूत है। यह भौतिक सृष्टि जिसमें ब्रह्मा, शिव तथा सभी देवता सम्मिलित हैं, उन्हीं भगवान् द्वारा उत्पन्न की गई है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु उन्हीं से उद्भूत है। वे यह भी कहते हैं कि मुझे समझने के लिए ही सारे वेद हैं (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*)। वे ही मूल *वेदवित्* (वेदों के ज्ञाता) तथा *वेदान्तकृत* (वेदान्त के संकलनकर्ता) हैं। वेदों के संकलनकर्ता ब्रह्मा नहीं हैं।

श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में कहा गया है—*तेने ब्रह्महृदा*—भगवान् ने ब्रह्मा के हृदय में वैदिक ज्ञान का उपदेश दिया। वैदिक ज्ञान चारों दोषों—त्रुटि, मोह, प्रवंचना तथा अपूर्णता—से रहित है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि इसे भगवान् जनार्दन ने कहा और अनादि काल से, ब्रह्मा से प्रारम्भ होकर आज तक, उसका अनुगमन किया जा रहा है। अनादि काल से भारत की सुसंस्कृत जनता वैदिक धर्म का पालन करती आ रही है, कोई भी वैदिक धर्म के इतिहास को बता नहीं सकता। अतः यह सनातन है और यदि वेदों की निन्दा की जाती है, तो वह नास्तिकता है। वेदों को *सेतु* कहा गया जिसका अर्थ है 'पुल'। यदि कोई आत्मतत्त्व प्राप्त करना चाहता है, तो उसे अज्ञानता का सागर पार करना होता है। वेद ही वह सेतु (पुल) हैं जिससे इस विशाल सागर को पार किया जा सकता है।

वेदों में बताया गया है कि गुण तथा कर्म के अनुसार किस प्रकार मानव जाति को चार वर्गों में विभाजित किया गया है। यह वर्गीकरण अत्यन्त वैज्ञानिक और सनातन है, क्योंकि कोई इसका इतिहास नहीं बता सकता। वर्ण तथा आश्रम प्रणाली को कोई रोक नहीं सकता। उदाहरणार्थ, कोई ब्राह्मण नाम को स्वीकार करे अथवा नहीं, किन्तु समाज में एक बुद्धिमान वर्ग है, जो आध्यात्मिक ज्ञान तथा दर्शन में रुचि रखता है। इसी प्रकार से एक ऐसा वर्ग है, जो प्रशासन चलाने तथा अन्यों पर शासन करने में रुचि रखता है। वैदिक प्रणाली में इन सैनिक मनोवृत्ति वाले लोगों को क्षत्रिय कहा जाता है। इसी प्रकार

से सर्वत्र मनुष्यों का एक ऐसा वर्ग है, जो आर्थिक विकास, व्यापार, उद्योग और अर्थोपार्जन में रुचि रखता है, जिन्हें *वैश्य* कहते हैं। एक ऐसा भी वर्ग है, जो न तो बुद्धिमान है, न पराक्रमी है और न उसमें आर्थिक विकास करने की क्षमता है। वह केवल अन्यों की सेवा कर सकता है। इन्हें शूद्र या श्रमिक वर्ग कहते हैं। यह प्रणाली *सनातन* है—यह अनन्त काल से चली आ रही है और इसी प्रकार आगे भी चलती रहेगी। विश्व की कोई भी शक्ति इसे रोक नहीं सकती। अत: सनातन धर्म शाश्वत है और वैदिक नियमों का पालन करते हुए कोई भी मनुष्य आध्यात्मिक जीवन के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच सकता है।

कहा जाता है कि पहले साधु पुरुष इस प्रणाली का अनुसरण करते थे, अत: वैदिक प्रणाली के अनुगमन का अर्थ हुआ समाज के आदर्श शिष्टाचार का पालन। किन्तु शिव के अनुयायी समस्त मानवीय शिष्टाचार के विरुद्ध हैं, क्योंकि वे मद्यपान करने वाले, नशीला एवं विषयी जीवन बिताने वाले, स्नान न करने वाले तथा *गाँजा* पीने वाले हैं। निष्कर्ष यह निकला कि जो व्यक्ति वैदिक नियमों के प्रति विद्रोह करते हैं, वे स्वयं इसके प्रमाण हैं कि वेद आधिकारिक हैं, क्योंकि वेदों का पालन न करने से ही वे पशुवत् बनते हैं। ऐसे पाशविक व्यक्ति ही साक्षात् प्रमाण हैं कि वैदिक नियम सर्वोच्च हैं।

तद्ब्रह्म परमं शुद्धं सतां वर्त्म सनातनम् ।
विगर्ह्य यात पाषण्डं दैवं वो यत्र भूतराट् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

तत्—वह; ब्रह्म—वेद; परमम्—परम; शुद्धम्—शुद्ध; सताम्—साधु पुरुषों का; वर्त्म—पथ; सनातनम्—शाश्वत; विगर्ह्य—निन्दा करके; यात—जाओ; पाषण्डम्—नास्तिकता को; दैवम्—देव; व:—तुम सबका; यत्र—जहाँ; भूत-राट्—भूतों के स्वामी।.

ऐसे वेदों के नियमों की निन्दा करके, जो सत्पुरुषों के शुद्ध एवं परम पथ-रूप हैं, अरे भूतपति शिव के अनुयायियों तुम, निस्सन्देह नास्तिकता के स्तर तक जाओगे।

तात्पर्य : शिवजी को यहाँ पर *भूतराट्* कहा गया है। प्रेत तथा तमोगुण से युक्त लोग भूत कहलाते हैं, अत: *भूतराट्* का अर्थ हुआ ऐसे प्राणियों का सरदार जो प्रकृति के निम्नतम गुणों से युक्त है। भूत का दूसरा अर्थ है कोई भी जन्मा जीव, अत: इस भाव में शिव को इस भौतिक जगत का पिता माना जा

सकता है। किन्तु यहाँ पर भृगु मुनि का अभिप्राय निकृष्ट प्राणियों के सरदार से है। निकृष्ट वर्ग के प्राणियों की विशेषताओं का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है—वे नहाते नहीं, बड़ी-बड़ी जटाएँ रखते हैं और मादक द्रव्यों का सेवन करते हैं। *भूतराट्* के अनुयायियों द्वारा ग्रहण किये गये पथ की तुलना में वैदिक प्रणाली निश्चित रूप से सर्व-श्रेष्ठ है क्योंकि इससे लोगों को मानवीय सभ्यता के चरम लक्ष्य, आध्यात्मिक जीवन, की प्राप्ति होती है। यदि कोई वैदिक नियमों को नकारता है या उनकी निन्दा करता है, तो वह नास्तिकता के निम्न स्तर तक गिर जाता है।

मैत्रेय उवाच

तस्यैवं वदतः शापं भृगोः स भगवान्भवः ।
निश्चक्राम ततः किञ्चिद्विमना इव सानुगः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; तस्य—उसका; एवम्—इस प्रकार; वदतः—कहते हुए; शापम्—शाप; भृगोः—भृगु का; सः—वह; भगवान्—सर्व ऐश्वर्यों का स्वामी; भवः—शिव; निश्चक्राम—चला गया; ततः—वहाँ से; किञ्चित्—कुछ-कुछ; विमनाः—खिन्न; इव—सदृश; स-अनुगः—अपने शिष्यों सहित।

मैत्रेय मुनि ने कहा : जब शिवजी के अनुयायियों तथा दक्ष एवं भृगु के पक्षधरों के बीच शाप-प्रतिशाप चल रहा था, तो शिवजी अत्यन्त खिन्न हो उठे और बिना कुछ कहे अपने शिष्यों सहित यज्ञस्थल छोड़कर चले गये।

तात्पर्य : यहाँ पर शिवजी के सर्वोत्कृष्ट चरित्र का वर्णन हुआ है। दक्ष तथा शिव के पक्षधरों के मध्य शाप-प्रतिशाप के बावजूद सर्वोच्च वैष्णव होने के कारण वे इतने गम्भीर बने रहे कि वे एक शब्द भी नहीं बोले। वैष्णव सदा सहिष्णु होता है और शिव तो सर्वोच्च वैष्णव माने जाते हैं, अतः यहाँ पर जिस प्रकार शिवजी का चरित्र-चित्रण किया गया है, वह अत्युत्तम है। वे इसीलिए खिन्न थे क्योंकि वे जानते थे कि उनके अनुयायी तथा दक्ष के लोग वृथा ही एक दूसरे को शाप दे रहे हैं। उनकी दृष्टि में कोई ऊँचा या नीचा न था क्योंकि वे वैष्णव थे। *भगवद्गीता* में (५.१८) कहा गया है—*पंडिताःसमदर्शिनः*—अर्थात् जो पूर्णरूपेण पंडित होता है, वह सबों को आध्यात्मिक स्तर से देखता है, उसे कोई छोटा या बड़ा नहीं दिखता। अतः शिवजी के पास एकमात्र यहीं विकल्प रह गया था कि अपने शिष्य नन्दीश्वर तथा भृगु मुनि को परस्पर शाप देने से रोकने के लिए उस स्थान को ही छोड़ कर

चले जाँए।

तेऽपि विश्वसृजः सत्रं सहस्रपरिवत्सरान् ।
संविधाय महेष्वास यत्रेज्य ऋषभो हरिः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

ते—वे; अपि—भी; विश्व-सृजः—ब्रह्माण्ड के जनक; सत्रम्—यज्ञ; सहस्र—एक हजार; परिवत्सरान्—वर्ष; संविधाय—सम्पन्न करते हुए; महेष्वास—हे विदुर; यत्र—जिसमें; इज्यः—पूजनीय, उपास्य; ऋषभः—समस्त देवताओं के प्रमुख देव; हरिः—हरि।

मैत्रेय मुनि ने आगे कहा : हे विदुर, इस प्रकार विश्व के सभी जनकों (प्रजापतियों) ने एक हजार वर्ष तक यज्ञ किया क्योंकि भगवान् हरि की पूजा की सर्वोत्तम विधि यज्ञ ही है।

तात्पर्य : यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि विश्व के धुरंधर पुरुष अर्थात् समस्त प्रजा के जनक, प्रजापति यज्ञ द्वारा भगवान् को प्रसन्न करने में रुचि रखते हैं। भगवान् भी *भगवद्गीता* (५.२९) में कहते हैं— *भोक्तारं यज्ञतपसाम्।* मनुष्य सिद्धि के लिए यज्ञ तथा तप करने में लगा रह सकता है, किन्तु इन सबका प्रयोजन परमेश्वर को प्रसन्न रखना है। यदि कोई इन्हें आत्मतुष्टि के लिए करता है, तो वह पाखंड अथवा नास्तिकता से ग्रस्त है; किन्तु यदि इन्हें परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए सम्पन्न किया जाता है, तो वैदिक नियमों का पालन होता है। वहाँ पर एकत्र सभी मुनियों ने एक हजार वर्षों तक यज्ञ किया।

आप्लुत्यावभृथं यत्र गङ्गा यमुनयान्विता ।
विरजेनात्मना सर्वे स्वं स्वं धाम ययुस्ततः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

आप्लुत्य—स्नान करके; अवभृथम्—यज्ञ सम्पन्न करने के पश्चात् किया गया स्नान; यत्र—जहाँ; गङ्गा—गंगा नदी; यमुनया—यमुना नदी से; अन्विता—मिली हुई; विरजेन—बिना किसी छूत से; आत्मना—मन से; सर्वे—सभी; स्वम् स्वम्—अपने-अपने; धाम—निवास स्थान; ययुः—चले गये; ततः—वहाँ से।

हे धनुषबाणधारी विदुर, सभी यज्ञकर्ता देवताओं ने यज्ञ समाप्ति के पश्चात् गंगा तथा यमुना संगम में स्नान किया। ऐसा स्नान अवभृथ स्नान कहलाता है। इस प्रकार से मन से शुद्ध होकर वे अपने-अपने धामों को चले गये।

तात्पर्य : पहले दक्ष और फिर शिव के यज्ञ-स्थल से चले जाने के पश्चात् भी यज्ञ बन्द नहीं हुआ। मुनियों ने परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए अनेक वर्षों तक यज्ञ को चालू रखा। शिव तथा दक्ष के न

होने से यज्ञ विध्वंस नहीं हुआ। मुनिजन अपना कार्य चालू रखे रहे। दूसरे शब्दों में, यह माना जा सकता है कि यदि कोई शिव तथा ब्रह्मा जैसे देवताओं की पूजा न भी करे तो भी वह भगवान् को प्रसन्न कर सकता है। *भगवद्गीता* (७.२०) में भी उसकी पुष्टि हुई है—*कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना: प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता: ।* जो लोग काम तथा इच्छा से प्रेरित हैं, वे लाभान्वित होने के लिए देवताओं के पास जाते हैं। *भगवद्गीता* में *नास्ति बुद्धि:* शब्दों का साभिप्राय प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है, ''वे व्यक्ति जिन्होंने ज्ञान या बुद्धि खो दी है।'' केवल ऐसे ही व्यक्ति देवताओं की परवाह करते हैं और उनके पास जाकर लाभ उठाना चाहते हैं। निस्सन्देह, इसका अर्थ यह नहीं है कि हमें देवताओं का आदर नहीं करना चाहिए; किन्तु उनकी पूजा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। ईमानदार व्यक्ति सरकार के प्रति श्रद्धावान् होता है, किन्तु उसे सरकारी कर्मचारियों को घूस देने की आवश्यकता नहीं है। घूस अवैध है। यदि कोई सरकारी कर्मचारी को घूस नहीं देता तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह उसका आदर नहीं करता। इसी प्रकार जो व्यक्ति परमेश्वर की दिव्य प्रेमाभक्ति में अनुरक्त है उसे न तो किसी देवता की पूजा करने की आवश्यकता है, न ही वह किसी प्रकार किसी देवता का अनादर करने की प्रवृत्ति रखता है। *भगवद्गीता* (९.२३) में अन्यत्र कहा गया है—*येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता: ।* भगवान् कहते हैं कि यदि कोई देवताओं को पूजता है, तो वह मेरी भी पूजा करता है, किन्तु वह *अविधिपूर्वकम्* अर्थात् विधि-विधानों का पालन किये बिना पूजा करता है। विधान यह है कि भगवान् की पूजा की जाये। देवताओं की पूजा अप्रत्यक्षत: भगवान् की पूजा हो सकती है, किन्तु यह विधिपूर्वक नहीं कही जायेगी। परमेश्वर की पूजा करने से सभी देवताओं की स्वत: पूजा हो जाती है, क्योंकि वे परम पूर्ण के अंश हैं। यदि कोई वृक्ष की जड़ को सींचता है, तो वृक्ष के सभी भाग—यथा पत्तियाँ तथा शाखाएँ—स्वत: तुष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार यदि कोई उदर को भोजन प्रदान करता है, तो शरीर के सभी अंग—हाथ, पाँव, अँगुलियाँ—भोजन प्राप्त करते हैं। इस प्रकार श्रीभगवान् की पूजा द्वारा समस्त देवताओं को प्रसन्न रखा जा सकता है, किन्तु सभी देवताओं की पूजा करने से परमेश्वर की पूजा पूर्ण नहीं होती। फलत: देवताओं की पूजा अवैध है और शास्त्रीय नियमों का अनादर है।

इस कलिकाल में देवयज्ञ कर पाना असम्भव है। फलत: इस युग के लिए *श्रीमद्भागवत* में

संकीर्तन यज्ञ की संस्तुति की गई है—*यज्ञै संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः* (*भागवत्* ११.५.३२)—इस युग में बुद्धिमान व्यक्ति हरे कृष्ण के *संकीर्तन* द्वारा समस्त प्रकार के यज्ञों की पूर्ति करता है। *तस्मिन् तुष्टे जगत् तुष्टः*—जब भगवान् विष्णु प्रसन्न हो जाते हैं, तो उनके अंशरूप समस्त देवता भी प्रसन्न होते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत "दक्ष द्वारा शिव को शाप" नामक दूसरे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter तीन

श्रीशिव तथा सती का संवाद

मैत्रेय उवाच
सदा विद्विषतोरेवं कालो वै ध्रियमाणयोः ।
जामातुः श्वशुरस्यापि सुमहानतिचक्रमे ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; सदा—निरन्तर; विद्विषतोः—तनाव; एवम्—इस प्रकार; कालः—समय; वै—निश्चय ही; ध्रियमाणयोः—सहन करते हुए; जामातुः—दामाद का; श्वशुरस्य—ससुर का; अपि—भी; सु-महान्—अत्यधिक; अतिचक्रमे—बीत गया।

मैत्रेय ने आगे कहा : इस प्रकार से जामाता शिव तथा श्वसुर दक्ष के बीच दीर्घकाल तक तनाव बना रहा।

तात्पर्य : पिछले अध्याय में विदुर ने मैत्रेय से प्रश्न किया था कि शिव तथा दक्ष के बीच मनोमालिन्य (कलह) का क्या कारण था? दूसरा प्रश्न है कि दक्ष तथा उनके दामाद के बीच होने वाले इस कलह से सती ने अपना शरीर नष्ट क्यों किया? सती द्वारा शरीर-त्याग का मुख्य कारण यह था कि दक्ष ने दूसरा यज्ञ प्रारम्भ किया, जिसमें शिव को आमंत्रित नहीं किया गया। सामान्यतः जब भी कोई यज्ञ किया जाता है, तो सभी देवताओं, विशेषतः ब्रह्मा, शिव तथा अन्य प्रमुख देवता, इन्द्र तथा चन्द्र, को आमंत्रित किया जाता है और वे सम्मिलित होते हैं यद्यपि प्रत्येक यज्ञ का ध्येय भगवान् विष्णु को तुष्ट करना होता है। कहा जाता है कि जब तक सब देवता उपस्थित न रहें, तब तक कोई भी यज्ञ पूरा नहीं होता। लेकिन दामाद तथा श्वसुर के बीच तनाव के होते हुए ही, दक्ष ने दूसरा यज्ञ प्रारम्भ कर दिया जिसमें शिवजी को आमंत्रित नहीं किया गया। ब्रह्मा ने दक्ष को मुख्य प्रजापति के रूप में नियुक्त किया था और वह बह्माजी का पुत्र था ही, अतः उसका पद ऊँचा था जिससे उसको बहुत घमंड होने लगा।

यदाभिषिक्तो दक्षस्तु ब्रह्मणा परमेष्ठिना ।
प्रजापतीनां सर्वेषामाधिपत्ये स्मयोऽभवत् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; अभिषिक्तः—नियुक्त; दक्षः—दक्ष; तु—लेकिन; ब्रह्मणा—ब्रह्मा द्वारा; परमेष्ठिना—परम शिक्षक; प्रजापतीनाम्—प्रजापतियों का; सर्वेषाम्—समस्त; आधिपत्ये—प्रधान के रूप में; स्मयः—गर्वित; अभवत्—हो गया।

ब्रह्मा ने जब दक्ष को समस्त प्रजापतियों का मुखिया बना दिया तो दक्ष गर्व से फूल उठा।

तात्पर्य : यद्यपि दक्ष शिवजी के प्रति ईर्ष्या-द्वेष तथा शत्रुभाव से पूर्ण था, तथापि उसे समस्त प्रजापतियों का अधीक्षक नियुक्त कर दिया गया। इससे उसको अतीव गर्व हो गया। जब मनुष्य को अपनी भौतिक संपदा पर गर्व हो जाता है, तो वह कोई भी आपदाजनक कार्य कर सकता है, अत: दक्ष ने झूठी प्रतिष्ठा के बल पर कार्य किया। इस अध्याय में इसी का वर्णन है।

इष्ट्वा स वाजपेयेन ब्रह्मिष्ठानभिभूय च ।
बृहस्पतिसवं नाम समारेभे क्रतूत्तमम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

इष्ट्वा—सम्पन्न करके; सः—वह (दक्ष); वाजपेयेन—वाजपेय यज्ञ से; ब्रह्मिष्ठान्—शिव तथा उनके अनुयायियों को; अभिभूय—उपेक्षा करके; च—तथा; बृहस्पति-सवम्—बृहस्पति-सव; नाम—नामक; समारेभे—प्रारम्भ किया; क्रतु-उत्तमम्—यज्ञों में श्रेष्ठ।

दक्ष ने वाजपेय नामक यज्ञ प्रारम्भ किया और उसे अत्यधिक विश्वास था कि ब्रह्माजी का समर्थन तो प्राप्त होगा ही। तब उसने एक अन्य महान् यज्ञ किया जिसे बृहस्पति-सव कहते हैं।

तात्पर्य : वेदों में संस्तुति की गई है कि *बृहस्पति-सव* नामक यज्ञ करने के पूर्व वाजपेय यज्ञ सम्पन्न होना चाहिए। किन्तु दक्ष ने इन यज्ञों को करते समय शिव जैसे महान् भक्तों की उपेक्षा की। वैदिक शास्त्रों के अनुसार देवता यज्ञ में सम्मिलित होने तथा आहुति में भाग लेने के अधिकारी हैं, किन्तु दक्ष उनकी उपेक्षा करना चाह रहा था। सभी यज्ञों का अभीष्ट भगवान् विष्णु को तुष्ट करना होता है, किन्तु विष्णु में उनके सभी भक्त आ जाते हैं। ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवता भगवान् विष्णु के आज्ञाकारी दास हैं, अत: इनके बिना विष्णु कभी सन्तुष्ट नहीं होते। किन्तु दक्ष को अपने पद का घमंड हो गया था, अत: वह ब्रह्मा तथा शिव को इस यज्ञ से यह सोचकर वंचित रखना चाह रहा था कि यदि कोई विष्णु को प्रसन्न कर ले तो फिर उनके अनुयायियों को प्रसन्न करने की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु विधान ऐसा नहीं है। विष्णु चाहते हैं कि पहले उनके अनुयायी तुष्ट हों। भगवान् कृष्ण ने कहा है *मद्भक्तपूजाभ्यधिका*—मेरे भक्तों की पूजा मेरी पूजा से श्रेष्ठ है। इसी प्रकार से *शिवपुराण* में कहा गया है कि पूजा की सर्वश्रेष्ठ विधि विष्णु को आहुति प्रदान करना है, किन्तु इससे भी श्रेष्ठ है कृष्ण के भक्तों की पूजा करना। इस प्रकार यज्ञों में शिव की उपेक्षा करना समुचित न था।

तस्मिन्ब्रह्मर्षयः सर्वे देवर्षिपितृदेवताः ।
आसन्कृतस्वस्त्ययनास्तत्पत्न्यश्च सभर्तृकाः ॥ ४॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस (यज्ञ) में; ब्रह्म-ऋषयः—ब्रह्मर्षि गण; सर्वे—समस्त; देवर्षि—देवर्षिगण; पितृ—पूर्वज, पितरगण; देवताः—देवता; आसन्—थे; कृत-स्वस्ति-अयनाः—आभूषणों से अच्छी प्रकार से अलंकृत किया गया; तत्-पत्न्यः—उनकी पत्नियाँ; च—तथा; स-भर्तृकाः—अपने-अपने पतियों सहित।

जब यज्ञ सम्पन्न हो रहा था ब्रह्माण्ड के विभिन्न भागों से अनेक ब्रह्मर्षि, मुनि, पितृकुल के देवता तथा अन्य देवता, आभूषणों से अलंकृत अपनी-अपनी पत्नियों सहित उसमें सम्मिलित हुए।

तात्पर्य : किसी भी शुभ उत्सव में, चाहे ब्याह हो, यज्ञ हो या पूजा हो, विवाहित स्त्रियों के लिए यह शुभ माना जाता है कि वे अच्छे-अच्छे आभूषणों, वस्त्रों तथा अंगरागों से अपने को अलंकृत करें। ये मांगलिक चिह्न हैं। उस *'बृहस्पति-सव'* नामक महान् यज्ञ में स्वर्ग की अनेक स्त्रियाँ अपने-अपने *देवर्षि, राजर्षि* तथा *देव पतियों* के साथ एकत्र हुईं। इस श्लोक में यह विशेष रूप से उल्लेख है कि वे अपने-अपने पतियों के साथ आईं, क्योंकि जब स्त्रियाँ अच्छी तरह अलंकृत होती हैं, तो उनके पति और अधिक मुद्रित होते हैं। देवों तथा मुनियों की पत्नियों की सज्जा, उनके आभूषण तथा वेशभूषा एवं ऋषियों-मुनियों की प्रसन्नता—ये सब उस उत्सव के मांगलिक चिह्न थे।

तदुपश्रुत्य नभसि खेचराणां प्रजल्पताम् ।
सती दाक्षायणी देवी पितृयज्ञमहोत्सवम् ॥ ५॥
व्रजन्तीः सर्वतो दिग्भ्य उपदेववरस्त्रियः ।
विमानयानाः सप्रेष्ठा निष्ककण्ठीः सुवाससः ॥ ६॥
दृष्ट्वा स्वनिलयाभ्याशे लोलाक्षीर्मृष्टकुण्डलाः ।
पतिं भूतपतिं देवमौत्सुक्यादभ्यभाषत ॥ ७॥

शब्दार्थ

तत्—तब; उपश्रुत्य—सुनकर; नभसि—आकाश में; खे-चराणाम्—आकाश मार्ग से जाने वाले (गन्धर्व); प्रजल्पताम्—संलाप; सती—सती; दाक्षायणी—दक्ष की पुत्री; देवी—शिव की पत्नी; पितृ-यज्ञ-महा-उत्सवम्—अपने पिता द्वारा सम्पन्न किया जाने वाला महान् यज्ञ; व्रजन्तीः—जा रहे थे; सर्वतः—सभी; दिग्भ्यः—दिशाओं से; उपदेव-वर-स्त्रियः—देवताओं की सुन्दर स्त्रियाँ; विमान-यानाः—अपने-अपने विमानों में उड़ती हुई; स-प्रेष्ठाः—अपने-अपने पतियों के संग; निष्क-कण्ठीः—लाकेट से युक्त सुन्दर हार पहने; सु-वाससः—सुन्दर वस्त्रों से आभूषित; दृष्ट्वा—देखकर; स्व-निलय-अभ्याशे—अपने घर के निकट; लोल-अक्षीः—चंचल नेत्रोंवाली; मृष्ट-कुण्डलाः—सुन्दर कान के आभूषण; पतिम्—अपने पति; भूत-पतिम्—भूतों के स्वामी; देवम्—देवता; औत्सुक्यात्—उत्सुकता से; अभ्यभाषत—वह बोली।

दक्ष कन्या साध्वी सती ने आकाश मार्ग से जाते हुए स्वर्ग के निवासियों को परस्पर बातें

करते हुए सुना कि उसके पिताद्वारा महान् यज्ञ सम्पन्न कराया जा रहा हैं। जब उसने देखा कि सभी दिशाओं से स्वर्ग के निवासियों की सुन्दर पत्नियाँ, जिनके नेत्र अत्यन्त सुन्दरता से चमक रहे थे, उसके घर के समीप से होकर सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित होकर तथा कानों में कुण्डल एवं गले में लाकेट युक्त हार से अलंकृत होकर जा रही हैं, तो वह अपने पति भूतनाथ के पास अत्यन्त उद्विगता-पूर्वक गई और इस प्रकार बोली।

तात्पर्य : ऐसा लगता है कि शिवजी का निवासस्थान इस लोक में न होकर कहीं बाह्य अन्तरिक्ष में था, अन्यथा विभिन्न दिशाओं से इस लोक की ओर आते हुए विमानों को सती कैसे देख पातीं और विमान के यात्रियों को दक्ष के द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले यज्ञ के सम्बध में बातें करते हुए कैसे सुन सकती थीं? सती को यहाँ पर *दाक्षायणी* कहा गया है, क्योंकि वह राजा दक्ष की पुत्री थीं। *उपदेव-वर* से तात्पर्य है निम्न श्रेणी के देवता, यथा गंधर्व, किन्नर तथा उरग जो वास्तव में देवता न होकर देवताओं तथा मनुष्यों के बीच की श्रेणी के प्राणी हैं। वे भी विमानों से आ रहे थे। *स्व-निलयाभ्याशे* शब्द सूचित करता है कि वे उनके निवासस्थान के पास से जा रहे थे। यहाँ पर स्वर्ग के निवासियों की पत्नियों की वेशभूषा तथा उनके शारीरिक गठन का सुन्दर वर्णन हुआ है। उनके नेत्र चंचल थे, उनके कुण्डल तथा अन्य आभूषण चमचमा रहे थे, वे एक-से एक सुन्दर वस्त्र धारण किये थीं और उन सबों ने अपने हारों में विशेष लाकेट लगा रखे थे। प्रत्येक स्त्री अपने पति के साथ थी। इस प्रकार वे इतनी सुन्दर लग रही थीं कि सती की भी इच्छा हुई कि वे भी उसी प्रकार सज्जित होकर अपने पति के साथ यज्ञ में जाँए। यह स्त्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

सत्युवाच
प्रजापतेस्ते श्वशुरस्य साम्प्रतं
निर्यापितो यज्ञमहोत्सवः किल ।
वयं च तत्राभिसराम वाम ते
यद्यर्थितामी विबुधा व्रजन्ति हि ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सती उवाच—सती ने कहा; प्रजापतेः—दक्ष का; ते—तुम्हारे; श्वशुरस्य—ससुर का; साम्प्रतम्—इस समय; निर्यापितः—प्रारम्भ किया गया है; यज्ञ-महा-उत्सवः—महान् यज्ञ; किल—निश्चय ही; वयम्—हम; च—तथा; तत्र—वहाँ; अभिसराम—जा सकें;

वाम—हे प्राणप्रिय शिव; ते—तुम्हारा; यदि—यदि; अर्थिता—इच्छा; अमी—ये; विबुधाः—देवता; व्रजन्ति—जा रहे हैं; हि—क्योंकि।

सती ने कहा : हे प्राणप्रिय शिव, इस समय आपके श्वसुर महान् यज्ञ कर रहे हैं और सभी देवता आमंत्रित होकर वहीं जा रहे हैं। यदि आप कहें तो हम भी चले चलें।

तात्पर्य : सती को अपने पति तथा पिता के मध्य चल रहे तनाव का पता था, फिर भी सती ने अपने पति से कहा कि चूँकि उसके पिता के घर पर यज्ञ हो रहा है और इतने सारे देवता उसमें जा रहे हैं, अत: वह भी जाना चाहती है। किन्तु वह अपनी इच्छा प्रत्यक्ष रूप से व्यक्त नहीं कर सकती थी, अत: उसने अपने पति से कहा कि यदि वे जाने के इच्छुक हों तो वह भी उनके साथ चल सकती है। कहने का तात्पर्य यह कि उसने अपनी इच्छा अत्यन्त विनय पूर्वक अपने पति के समक्ष व्यक्त की।

तस्मिन्भगिन्यो मम भर्तृभिः स्वकै-
ध्रुवं गमिष्यन्ति सुहृद्दिदृक्षवः ।
अहं च तस्मिन्भवताभिकामये
सहोपनीतं परिबर्हमर्हितुम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस यज्ञ में; भगिन्यः—बहनें; मम—मेरी; भर्तृभिः—अपने-अपने पतियों सहित; स्वकैः—अपनी ओर से; ध्रुवम्—निश्चय ही; गमिष्यन्ति—जाएंगी; सुहृत्-दिदृक्षवः—अपने परिजनों से भेंट करने की इच्छुक; अहम्—मैं; च—तथा; तस्मिन्—उस उत्सव में; भवता—आपके (शिव के) साथ; अभिकामये—इच्छा करती हूँ; सह—साथ; उपनीतम्—प्रदत्त; परिबर्हम्—आभूषण; अर्हितुम्—स्वीकार करने।

मैं सोचती हूँ कि मेरी सभी बहनें अपने सम्बन्धियों से भेंट करने की इच्छा से अपने-अपने पतियों सहित इस महान् यज्ञ में अवश्य आयी होंगी। मैं भी अपने पिता द्वारा प्रदत्त आभूषणों से अपने को अलंकृत करके आपके साथ उस उत्सव में भाग लेने की इच्छुक हूँ।

तात्पर्य : यह स्त्रियों का स्वभाव है कि वे आभूषणों तथा वस्त्रों से अलंकृत होकर अपने पतियों के साथ सामाजिक उत्सवों में जाना चाहती हैं, वहाँ अपने इष्ट मित्रों तथा सम्बन्धियों में मिलती हैं और इस प्रकार जीवन का आनन्द उठाती हैं। यह कोई विलक्षणता नहीं है, क्योंकि भौतिक सुख का मूलाधार स्त्रियाँ हैं। इसीलिए संस्कृत में *स्त्री* शब्द प्रयुक्त मिलता है, जिसका अर्थ है "वह जो भौतिक सुखोपभोग के क्षेत्र को विस्तारित कर देती है।" भौतिक जगत में स्त्री तथा पुरुष के मध्य आकर्षण होता है। बद्धजीवन की यही व्यवस्था है। स्त्री पुरुष को आकृष्ट करती है और इस प्रकार से

सांसारिकता, जिसमें घर, सम्पत्ति, सन्तान, मित्रता इत्यादि सम्मिलित हैं, बढ़ती जाती है और भौतिक आवश्यकताएँ घटने के बजाय बढ़ती ही जाती हैं और मनुष्य भौतिक भोग में फँस जाता है। किन्तु भगवान् शिव भिन्न हैं; इसीलिए उनका नाम शिव है। वे भौतिक भोग से आकृष्ट नहीं होते, यद्यपि उनकी पत्नी सती एक महान् जननायक (प्रजापति) की पुत्री थी और ब्रह्मा के कहने पर शिव को दी गई थी। शिव को कोई चाह न थी, किन्तु राजा की कन्या होने के नाते सती सुखोपभोग चाहती थी। वह भी अपनी अन्य बहनों के समान अपने पिता के घर जाना चाहती थीं और वहाँ सबसे मिलकर सामाजिक जीवन का आनन्द उठाना चाह रही थी। यहाँ पर उसने विशेष रूप से संकेत किया है कि वह अपने पिता से प्राप्त आभूषण पहन कर सुसज्जित होना चाहती है। उसने यह नहीं कहा कि वह पति से प्राप्त गहने पहनकर सुसज्जित होना चाहती है, क्योंकि उसके पति इन सभी मामलों के प्रति उदासीन थे। उन्हें इसका ज्ञान नहीं था कि पत्नी को किस प्रकार सजाकर उत्सवों में भाग लेना चाहिए, क्योंकि वे तो भगवान् के भावों में ही निमग्न रहते थे। वैदिक प्रथा के अनुसार कन्या को विवाह के समय दहेज दिया जाता है, अत: सती को भी अपने पिता से दहेज प्राप्त हुआ था जिसमें आभूषण (गहने) भी थे। यह भी प्रथा है कि पति भी कुछ आभूषण देता है, किन्तु यहाँ पर इसका विशेष उल्लेख है कि सती का पति भौतिक सम्पत्ति में शून्य-प्राय होने के कारण कुछ नहीं दे सका था, इसीलिये वह अपने पिता द्वारा प्रदत्त आभूषणों से अपने को अलंकृत करना चाह रही थी। यह तो सती का सौभाग्य था कि पति ने उसके गहने गाँजा खरीदने में नहीं फूँक दिये थे, क्योंकि जो गाँजा पीने में शिव का अनुसरण करते हैं, वे गृहस्थी को चौपट कर देते हैं। वे अपनी पत्नियों की सभी सम्पत्ति को बेचकर गाँजा पीने नशा करने तथा ऐसी ही दूसरी आदतों में खर्च कर देते हैं।

तत्र स्वसृर्मे ननु भर्तृसम्मिता
मातृष्वसृः क्लिन्नधियं च मातरम् ।
द्रक्ष्ये चिरोत्कण्ठमना महर्षिभिर्
उन्नीयमानं च मृडाध्वरध्वजम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; स्वसृः—अपनी बहनें; मे—मेरी; ननु—निश्चय ही; भर्तृ-सम्मिताः—अपने-अपने पतियों के साथ; मातृ-स्वसृः—मौसियाँ; क्लिन्न-धियम्—स्नेहिल; च—तथा; मातरम्—माता को; द्रक्ष्ये—देखूँगी; चिर-उत्कण्ठ-मनाः—दीर्घकाल से उत्सुक; महा-ऋषिभिः—महान् ऋषियों द्वारा; उन्नीयमानम्—उठाये हुए; च—तथा; मृड—हे शिव; अध्वर—यज्ञ; ध्वजम्—झंडे।

वहाँ पर मेरी बहनें, मौसियाँ तथा मौसे एवं अन्य प्रिय परिजन एकत्र होंगे; अतः यदि मैं वहाँ तक जाऊँ तो उन सबों से मेरी भेंट हो जाये और साथ ही मैं उड़ती हुई ध्वजाएँ तथा ऋषियों द्वारा सम्पन्न होते यज्ञ को भी देख सकूँगी। हे प्रिय, इसी कारण से मैं जाने के लिए अत्यन्त उत्सुक हूँ।

तात्पर्य : जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि श्वसुर तथा दामाद के बीच दीर्घकाल तक तनाव बना रहा। अतः सती अपने पिता के यहाँ काफी लम्बे समय से जा नहीं पाई थी। इसीलिए वह अपने पिता के घर (मायके) जाने के लिए अत्यन्त उत्सुक थी, विशेष रूप से ऐसे अवसर पर जब उसकी सारी बहनें, उसके बहनोई तथा उसकी मौसियाँ वहाँ एकत्र हुई होंगी। जैसाकि हर स्त्री के लिए स्वाभाविक है, वह भी अपनी अन्य बहनों के समान वस्त्र धारण करना और पति के साथ जाना चाह रही थी। निस्सन्देह, वह अकेले नहीं जाना चाहती थी।

त्वय्येतदाश्चर्यमजात्ममायया
विनिर्मितं भाति गुणत्रयात्मकम् ।
तथाप्यहं योषिदतत्त्वविच्च ते
दीना दिदृक्षे भव मे भवक्षितिम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

त्वयि—तुममें; एतत्—वह; आश्चर्यम्—विस्मयजनक; अज—हे शिव; आत्म-मायया—परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति से; विनिर्मितम्—विरचित; भाति—प्रतीत होती है; गुण-त्रय-आत्मकम्—प्रकृति के तीनों गुणों की अन्तःक्रिया होने से; तथा अपि—तो भी; अहम्—मैं; योषित्—स्त्री; अतत्त्व-वित्—सत्य से अनजान; च—तथा; ते—तुम्हारी; दीना—गरीब, दुखिया; दिदृक्षे—देखना चाहती हूँ; भव—हे शिव; मे—मेरी (अपनी); भव-क्षितिम्—जन्म भूमि।

यह दृश्य जगत त्रिगुणों की अन्तःक्रिया अथवा परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति की अद्भुत सृष्टि है। आप इस वास्तविकता से भलीभाँति परिचित हैं। किन्तु मैं तो अबला स्त्री हूँ और जैसा आप जानते हैं मैं सत्य से अनजान हूँ। अतः मैं एक बार फिर से अपनी जन्मभूमि देखना चाहती हूँ।

तात्पर्य : दाक्षायणी सती यह भलीभाँति जानती थी कि उसके पति शिवजी भौतिक जगत की चमक-दमक में, जो कि प्रकृति के तीनों गुणों की अन्तःक्रिया से उत्पन्न है, अधिक रुचि नहीं रखते। इसलिए उसने अपने पति को *अज* कहकर सम्बोधित किया है, जिसका अर्थ है, जो जन्म-मरण के बन्धन से परे है, अथवा जिसने अपना शाश्वत पद अनुभव कर लिया है। उसने कहा, "आपमें इस

विकृत प्रतिबिम्ब अर्थात् दृश्य जगत को सत्य मानने जैसा मोह नहीं है, क्योंकि आप आत्मवेत्ता हैं। आपके लिए सामाजिक जीवन का आकर्षण यथा पिता, माता, बहन जैसे मिथ्या सम्बन्धों के विचार समाप्त हो चुके हैं, किन्तु मैं तो अबला ठहरी। मैं दिव्य-साक्षात्कार में इतनी अग्रसर नहीं हूँ। अतः स्वाभाविक है कि ये सब मुझे सत्य प्रतीत हो रहे हैं।'' केवल अल्पज्ञानी इस आत्मजगत के विकृत प्रतिबिम्ब को वास्तविक मानते हैं। जो लोग बहिरंगा शक्ति के वशीभूत हैं, वे इस जगत को वास्तविक मानते हैं, किन्तु जो आत्म-ज्ञान में बढ़े-चढ़े हैं वे इसे मोह मानते हैं। वास्तविकता तो कहीं और अर्थात् अध्यात्मिक जगत में है। सती ने कहा, ''जहाँ तक मेरा सवाल है मुझे आत्म-साक्षात्कार का अधिक ज्ञान नहीं है। मैं दीन हूँ, क्योंकि मुझे वास्तविकता का ज्ञान नहीं है। मुझे तो अपनी जन्मभूमि खींच रही है और मैं उसे देखना चाहती हूँ।'' जिसे अपनी जन्मभूमि, अपनी देह तथा भागवत में उद्धृत ऐसी ही अन्य वस्तुओं के प्रति आकर्षण पाया जाता है, वह गधे या गऊ तुल्य हैं। सती ने यह सब अपने पति से अनेक बार सुना होगा, किन्तु *योषित्* (स्त्री) होने के कारण उसे इन भौतिक वस्तुओं के प्रति स्नेह बना हुआ था। *योषित्* का अर्थ है, ''जिसका भोग किया जाये, भुक्ति'' इसीलिए स्त्री योषित् कहलाती है। आध्यात्मिक उन्नति में योषित् की संगति वर्जित है, क्योंकि योषित् के हाथ का खिलौना बन जाने से सारी उन्नति रुक जाती है। कहा गया है, ''जो लोग स्त्री के हाथों में खिलौने बने रहते हैं'' (*योषित्-क्रीडा-मृगेषु*) वे आत्म-साक्षात्कार की दिशा में प्रगति नहीं कर सकते।

पश्य प्रयान्तीरभवान्ययोषितो
'प्यलङ्कृताः कान्तसखा वरूथशः ।
यासां व्रजद्भिः शितिकण्ठ मण्डितं
नभो विमानैः कलहंसपाण्डुभिः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

पश्य—देखो तो; प्रयान्तीः—जाती हुई; अभव—हे अजन्मा; अन्य-योषितः—अन्य स्त्रियाँ; अपि—निश्चय ही; अलङ्कृताः—सजी-धजी; कान्त-सखाः—अपने पतियों तथा मित्रों सहित; वरूथशः—झुंड की झुंड; यासाम्—जिनके; व्रजद्भिः—उड़ते हुए; शिति-कण्ठ—हे नीलकण्ठ; मण्डितम्—सुशोभित; नभः—आकाश; विमानैः—विमानों से; कल-हंस—हंस; पाण्डुभिः—श्वेत।

हे अजमा हे नीलकण्ठ, न केवल मेरे सम्बन्धी वरन् अन्य स्त्रियाँ भी अच्छे अच्छे वस्त्र पहने और आभूषणों से अलंकृत होकर अपने पतियों तथा मित्रों के साथ जा रही हैं। जरा देखो तो कि

उनके श्वेत विमानों के झुण्डों ने सारे आकाश को किस प्रकार सुशोभित कर रखा है!

तात्पर्य : यहाँ पर शिवजी को *अभव* कहकर सम्बोधित किया गया है, जिसका अर्थ है, ''जिसका कभी जन्म नहीं हुआ'' यद्यपि सामान्यत: उन्हें *भव* अर्थात् ''जिसका जन्म हुआ है'' कहा जाता है। रुद्र अथवा शिव वास्तव में ब्रह्मा के भुकटियों के मध्य से उत्पन्न हैं। ब्रह्मा *स्वयम्भू* कहलाते हैं, क्योंकि वे किसी मनुष्य से उत्पन्न न होकर सीधे विष्णु के नाभि-कमल से जन्मे हैं। जब यहाँ पर शिव को *अभव* कहा गया है, तो उसका यह अर्थ लगाना चाहिए, ''जिसने भौतिक कष्टों का कभी अनुभव नहीं किया।'' सती अपने पति को यह बताना चाह रही थी कि जो उसके पिता के सम्बन्धी नहीं थे वे भी जा रहे थे, फिर वह स्वयं तो उनसे घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित थी। शिव को यहाँ नीलकण्ठ कहा गया है। शिव ने विष का समुद्र पी लिया था और वे उसे गले (कण्ठ) में ही रखे रहे, पेट में नहीं जाने दिया जिससे उनका कंठ नीला पड़ गया। तभी से वे नीलकण्ठ कहलाने लगे। शिव ने विष का समुद्र परोपकार हेतु पिया था। जब देवों तथा असुरों ने समुद्र का मन्थन किया, तो सबसे पहले विष प्रकट हुआ, अत: यह सोच कर कि विषैले समुद्र से अन्य अल्पज्ञ लोग प्रभावित होंगे शिवजी ने सारा समुद्र-जल पी लिया। कहने का तात्पर्य यह कि जब अन्यों के लाभ के लिए वे इतना विष (गरल) पान कर सकते थे तो जब उनकी पत्नी अपने पिता के घर जाने की प्रार्थना कर रही है, तो भले ही वे अनुमति न देना चाह रहे हों, किन्तु अपनी महान् दयालुतावश उन्हें ऐसा करना ही चाहिए था।

कथं सुतायाः पितृगेहकौतुकं
निशम्य देहः सुरवर्य नेङ्गते ।
अनाहुता अप्यभियन्ति सौहृदं
भर्तुर्गुरोर्देहकृतश्च केतनम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

कथम्—कैसे; सुतायाः—पुत्री को; पितृ-गेह-कौतुकम्—पिता के घर में उत्सव; निशम्य—सुनकर; देहः—शरीर; सुर-वर्य—हे देवों में श्रेष्ठ; न—नहीं; इङ्गते—विचलित; अनाहुताः—बिना बुलाये; अपि—ही; अभियन्ति—जाता है; सौहृदम्—मित्र; भर्तुः—पति के; गुरोः—गुरु के; देह-कृतः—पिता के; च—तथा; केतनम्—घर।

हे देवश्रेष्ठ, भला एक पुत्री का शरीर यह सुनकर कि उसके पिता के घर में कोई उत्सव हो रहा है, विचलित हुए बिना कैसे रह सकता है? यद्यपि आप यह सोच रहे होंगे कि मुझे आमंत्रित नहीं किया गया, किन्तु अपने मित्र, पति, गुरु या पिता के घर बिना बुलाये भी जाने में कोई

हानि नहीं होती।

तन्मे प्रसीदेदममर्त्य वाञ्छितं
कर्तुं भवान्कारुणिको बतार्हति ।
त्वयात्मनोऽर्धेऽहमदभ्रचक्षुषा
निरूपिता मानुगृहाण याचितः ॥ १४॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; मे—मुझ पर; प्रसीद—कृपालु हों; इदम्—यह; अमर्त्य—हे अमर; वाञ्छितम्—इच्छा; कर्तुम्—करने की; भवान्—आप; कारुणिकः—दयालु; बत—हे स्वामी; अर्हति—समर्थ; त्वया—आपके द्वारा; आत्मनः—आपके ही शरीर के; अर्धे—आधे भाग में; अहम्—मैं; अदभ्र-चक्षुषा—सभी ज्ञान से युक्त; निरूपिता—स्थित; मा—मुझको; अनुगृहाण—अनुग्रहीत करें; याचितः—प्रार्थित।

हे अमर शिव, कृपया मुझ पर दयालु हों और मेरी इच्छा पूरी करें। आपने मुझे अर्द्धांगिनी के रूप में स्वीकार किया है, अतः मुझ पर दया करके मेरी प्रार्थना स्वीकार करें।

ऋषिरुवाच
एवं गिरित्रः प्रिययाभिभाषितः
प्रत्यभ्यधत्त प्रहसन्सुहृत्प्रियः ।
संस्मारितो मर्मभिदः कुवागिषून्
यानाह को विश्वसृजां समक्षतः ॥ १५॥

शब्दार्थ

ऋषिः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; एवम्—इस प्रकार; गिरित्रः—भगवान् शिव ने; प्रियया—अपनी प्रिया द्वारा; अभिभाषितः—कहे जाने पर; प्रत्यभ्यधत्त—उत्तर दिया; प्रहसन्—हँसते हुए; सुहृत्-प्रियः—परिजनों के प्रिय; संस्मारितः—स्मरण करते हुए; मर्म-भिदः—मर्मभेदी, हृदय में चुभने वाले; कुवाक्-इषून्—द्वेषपूर्ण शब्द; यान्—जो (शब्द); आह—कहा; कः—कौन (दक्ष); विश्व-सृजाम्—ब्रह्माण्ड के स्त्रष्टाओं की; समक्षतः—उपस्थिति में।

मैत्रेय महर्षि ने कहा : इस प्रकार अपनी प्रियतमा द्वारा सम्बोधित किये जाने पर कैलाश पर्वत के उद्धारक शिव ने हँसते हुए उत्तर दिया यद्यपि उसी समय उन्हें विश्व के समस्त प्रजापतियों के समक्ष दक्ष द्वारा कहे गये द्वेषपूर्ण मर्मभेदी शब्द स्मरण हो आये।

तात्पर्य : जब शिवजी ने अपनी पत्नी से दक्ष के विषय में सुना तो मनोवैज्ञानिक प्रभाव यह हुआ कि उन्हें तुरन्त विश्व के प्रजापतियों की सभा में अपने विरुद्ध कहे गये कटु शब्द याद हो उठे और मन ही मन वे अत्यन्त दुखित हुए, किन्तु अपनी पत्नी को प्रसन्न करने के लिए ऊपर से हँस पड़े। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि मुक्त पुरुष इस भौतिक संसार में विपत्ति तथा सुख दोनों में मानसिक

सन्तुलन बनाये रखता है। अत: यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि शिव जैसा मुक्त पुरुष दक्ष के शब्दों से इतना अप्रसन्न क्यों था? इसका उत्तर श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने दिया है। भगवान् शिव *आत्माराम* हैं, किन्तु चूँकि उन्हें *तमोगुण* का भार सौंपा गया है, अत: वे कभी-कभी इस भौतिक जगत के सुख तथा दुख से प्रभावित होते रहते हैं। इस भौतिक जगत तथा आध्यात्मिक जगत के सुख तथा दुख में अन्तर यही है कि आध्यात्मिक जगत में इनका प्रभाव त्रिगुणातीत है। अत: परम जगत में कोई दुखी तो हो सकता है, किन्तु इस तथाकथित दुख (कष्ट) की अभिव्यक्ति सदैव आनन्दमय होती है। उदाहरणार्थ, बचपन में एक बार भगवान् कृष्ण को माता यशोदा ने डाँटा तो वे रोने लगे। यद्यपि उनके नेत्रों से आँसू गिरे, किन्तु इसे तमोगुण का प्रभाव नहीं मानना चाहिए, क्योंकि यह घटना दिव्य सुख से पूर्ण थी। कृष्ण अनेक प्रकार से लीलाएँ कर रहे थे। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता था कि वे *गोपियों* को सता रहे हैं, किन्तु ऐसा व्यवहार दिव्य आनन्द से ओत-प्रोत था। भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत में यही अन्तर है। आध्यात्मिक जगत में सब कुछ शुद्ध है, किन्तु भौतिक जगत में वही विकृत दिखता है। चूँकि आध्यात्मिक जगत में सब कुछ पूर्ण (परम) है, अत: सुख तथा दुख में आनन्द के अतिरिक्त अन्य कोई अनुभूति नहीं होती, किन्तु भौतिक जगत में प्रत्येक वस्तु प्रकृति के गुणों से दूषित है, अत: दुख तथा सुख का अनुभव होता रहता है। इसीलिए आत्मज्ञानी पुरुष होते हुए भी तमोगुण का भार सँभालने के कारण शिवजी दुखी हुए।

श्रीभगवानुवाच
त्वयोदितं शोभनमेव शोभने
अनाहुता अप्यभियन्ति बन्धुषु ।
ते यद्यनुत्पादितदोषदृष्टयो
बलीयसानात्म्यमदेन मन्युना ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; त्वया—तुम्हारे द्वारा; उदितम्—कहा; शोभनम्—सही है; एव—निश्चय ही; शोभने—मेरी सुन्दर पत्नी; अनाहुता:—बिना बुलाये; अपि—ही; अभियन्ति—जाते हैं; बन्धुषु—मित्रों के बीच; ते—वे (मित्र); यदि—यदि; अनुत्पादित-दोष-दृष्टय:—दोष न निकालकर; बलीयसा—अधिक महत्त्वपूर्ण; अनात्म्य-मदेन—देह से उत्पन्न अभिमान से; मन्युना—क्रोध से।

प्रभु ने उत्तर दिया : हे सुन्दरी, तुमने कहा कि अपने मित्र के घर बिना बुलाये जाया जा सकता है। यह सच है, किन्तु तब जब वह देहात्मबोध के कारण अतिथि में दोष न निकाले और

उस पर क्रुद्ध न हो।

तात्पर्य : भगवान् शिव ने पहले से ही जान लिया था कि जैसे ही सती अपने पिता दक्ष के घर पहुँचेगी तो यद्यपि सती निर्दोष है, किन्तु देहात्म-अभिमान से पूर्ण दक्ष उस की उपस्थिति से अवश्य रुष्ट होगा। शिवजी ने सतर्क किया कि तुम्हारा पिता धन के मद में इतना फूला हुआ है, वह तुम पर क्रुद्ध होगा, और यह तुम्हारे लिए असहनीय होगा। इसलिए उचित यही होगा कि तुम न जाओ। इस सब का शिव को अनुभव हो गया था, क्योंकि उनके दोष-रहित होते हुए भी दक्ष ने उनके प्रति इतने कटु वचन कहे थे।

विद्यातपोवित्तवपुर्वय:कुलैः
सतां गुणैः षड्भिरसत्तमेतरैः ।
स्मृतौ हतायां भृतमानदुर्दृशः
स्तब्धा न पश्यन्ति हि धाम भूयसाम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

विद्या—शिक्षा; तपः—तपस्या; वित्त—सम्पत्ति; वपुः—शरीर की सुन्दरता इत्यादि.; वयः—यौवन; कुलैः—कुल से; सताम्—पवित्र लोगों का; गुणैः—ऐसे गुणों के कारण; षड्भिः—छह; असत्तम-इतरैः—जो महान्-आत्मा नहीं हैं उनके विपरीत आचरण वाले; स्मृतौ—अच्छा भाव; हतायाम्—खोया हुआ; भृत-मान-दुर्दृशः—गर्व से अन्धा; स्तब्धाः—घमंडी होकर; न—नहीं; पश्यन्ति—देखते हैं; हि—क्योंकि; धाम—यश; भूयसाम्—महान् आत्माओं का।.

यद्यपि शिक्षा, तप, धन, सौन्दर्य, यौवन और कुलीनता—ये छह गुण अत्यन्त उच्च होते हैं, किन्तु जो इनको प्राप्त करके मदान्ध हो जाता है और इस प्रकार वह सद्ज्ञान खो बैठता है, वह महापुरुषों के महिमा को स्वीकार नहीं कर पाता।

तात्पर्य : यह तर्क किया जा सकता है कि जब दक्ष अत्यन्त विद्वान्, धनवान तथा तपस्वी था और उच्च कुल से सम्बन्धित था, तो फिर वह दूसरे पर अकारण क्रुद्ध क्यों हुआ? इसका उत्तर यही है कि अच्छी शिक्षा, उत्तम कुल, सौन्दर्य तथा प्रभूत सम्पत्ति जैसे गुणों के होने से जब इनका अधिकारी व्यक्ति गर्वीला हो जाता है, तो उनका बुरा प्रभाव पड़ता है। दूध अच्छा भोजन है, किन्तु जब कोई विषैला सर्प इसे छू लेता है, तो वह विषाक्त हो जाता है। इसी प्रकार से शिक्षा, सम्पत्ति, सौन्दर्य तथा उच्च कुल जैसी भौतिक सम्पत्ति—यद्यपि ये निस्सन्देह सद्गुण हैं, किन्तु जब ये द्वेषपूर्ण व्यक्ति में स्थान पाते हैं, तो इनका विपरीत प्रभाव होता है। एक अन्य उदाहरण चाणक्य पंडित द्वारा दिया हुआ है कि अपने शिर

में मणि धारण किये हुए सर्प भी भयानक ही होता है क्योंकि वह सर्प है। सर्प प्रकृति के अन्य जीवों से ईर्ष्या करता है, भले ही वे निर्दोष क्यों न हों। जब सर्प किसी अन्य प्राणी को काटता है, तो यह आवश्यक नहीं कि वह प्राणी सदोष हो। सर्प की आदत ही है निर्दोष प्राणियों को डसना। इसीप्रकार यद्यपि दक्ष सभी प्रकार की भौतिक सम्पत्ति से सम्पन्न था, किन्तु उसे अपनी सम्पत्ति का गर्व था और वह ईर्ष्यालु था, अत: ये सारे गुण दूषित हो चुके थे। इसीलिए कभी-कभी ऐसी सम्पत्ति का होना आत्म-चेतना या कृष्णभावनामृत में प्रगति करने वाले व्यक्ति के लिए बाधक बनता है। श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए कुन्तीदेवी ने उन्हें *अकिञ्चन-गोचर* कह कर पुकारा था जिसका अर्थ होता है समस्त धन-धान्य से रहित व्यक्तियों द्वारा सहज ही प्राप्त होनेवाला। कृष्णभावनामृत में अग्रसर होने के लिए भौतिक सम्पत्ति का अभाव होना एक प्रकार से लाभप्रद है—श्रीभगवान् के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध के प्रति सचेष्ट रहनेवाला व्यक्ति अपनी भौतिक सम्पत्ति, यथा विद्या, सौंदर्य तथा कुलीनता का लाभ भगवान् की सेवा के लिए उठा सकता है और तब ऐसी सम्पत्ति प्रशंसनीय हो जाती है। दूसरे शब्दों में, जब तक कोई कृष्णभावनाभावित नहीं होता, तब तक उसकी सारी दौलत शून्य रहती है, किन्तु जब यह शून्य परमेश्वर के साथ लग जाता है, तो इसका मान दस गुना बढ़ जाता है। जब तक शून्य परमेश्वर के साथ नहीं लगता, शून्य शून्य ही रहता है, चाहे कोई १०० शून्य क्यों न रखे, उसका मूल्य शून्य ही रहेगा। जब तक मनुष्य की दौलत कृष्णभक्ति में नहीं लगती, तब तक वह हलचल मचवाती है और संग्राहक को नीचे गिरा देती है।

नैतादृशानां स्वजनव्यपेक्षया
गृहान्प्रतीयादनवस्थितात्मनाम् ।
येऽभ्यागतान्वक्रधियाभिचक्षते
आरोपितभ्रूभिरमर्षणाक्षिभिः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतादृशानाम्—इस प्रकार; स्व-जन—सम्बन्धी के; व्यपेक्षया—उस पर निर्भर रह कर; गृहान्—घर में; प्रतीयात्—जाना चाहिए; अनवस्थित—विचलित; आत्मनाम्—मन; ये—जो; अभ्यागतान्—अतिथि; वक्र-धिया—अनादर से; अभिचक्षते—देखते हुए; आरोपित-भ्रूभिः—उठी हुई भृकुटियों से; अमर्षण—क्रुद्ध; अक्षिभिः—आँखों से।

मनुष्य को चाहिए कि वह ऐसी स्थिति में किसी दूसरे व्यक्ति के घर न जाये, भले ही वह उसका सम्बन्धी या मित्र ही क्यों न हो, जब वह मन से क्षुब्ध हो और अतिथि को तनी हुई

भृकुटियों एवं क्रुद्ध नेत्रों से देख रहा हो।

तात्पर्य : कोई व्यक्ति चाहे कितना ही नीच क्यों न हो, वह अपनी सन्तान, पत्नी तथा सम्बन्धियों पर कभी निर्दय नहीं होता। यहाँ तक कि बाघ भी अपने बच्चों के प्रति दयालु होता है क्योंकि पशुजगत में बच्चों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता है। चूँकि सती दक्ष की पुत्री थी, अत: चाहे वह कितना ही क्रूर एवं दूषित क्यों न रहा हो, उससे यह अपेक्षा की जाती थी कि वह सती का उत्तम रीति से स्वागत करेगा। किन्तु यहाँ पर *अनवस्थित* शब्द यह संकेत करता है कि ऐसे व्यक्ति पर विश्वास नहीं किया जा सकता। बाघ अपने बच्चों पर सदय होते हैं, किन्तु कभी-कभी वे उन्हें खा जाते हैं। विद्वेषपूर्ण (कपटी) व्यक्तियों पर विश्वास नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे सदैव ढुलमुल रहते हैं। इसीलिए सती से शिव ने कहा कि वह अपने मायके न जाये क्योंकि ऐसे पिता को सम्बन्धी मानकर बिना आमंत्रण के उसके घर जाना उचित नहीं था।

तथारिभिर्न व्यथते शिलीमुखैः
शेतेऽर्दिताङ्गो हृदयेन दूयता ।
स्वानां यथा वक्रधियां दुरुक्तिभिर्
दिवानिशं तप्यति मर्मताडितः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तथा—अत:; अरिभि:—शत्रु के द्वारा; न—नहीं; व्यथते—आहत; शिलीमुखै:—वाणों द्वारा; शेते—लेटता है; अर्दित—दुखित; अङ्गः—अंग, कोई भाग; हृदयेन—हृदय से; दूयता—कष्ट पहुँचाता हुआ; स्वानाम्—स्वजनों का; यथा—जिस प्रकार; वक्र-धियाम्—कुटिल बुद्धि, छली; दुरुक्तिभि:—कटु वचनों से; दिवा-निशम्—अहर्निश, दिन-रात; तप्यति—बेचैन रहता है; मर्म-ताडित:—जिसकी भावनाओं को ठेस पहुँचती है, मर्माहत।

शिवजी ने कहा : यदि कोई शत्रु के बाणों से आहत हो तो उसे उतनी व्यथा नहीं होती जितनी कि स्वजनों के कटु वचनों से होती है क्योंकि यह पीड़ा रात-दिन हृदय में चुभती रहती है।

तात्पर्य : हो सकता है कि सती ने सोचा हो कि वह अपने पिता के घर जाने का दुस्साहस करेगी और यदि उसके पिता कटु वचन कहते भी हैं, तो वह सह लेगी, जिस प्रकार कभी-कभी पुत्र अपने माता-पिता की झिड़कियाँ सहता है। लेकिन शिवजी ने उसे स्मरण दिलाया कि वह इतने कटु वचन नहीं सह पाएगी, क्योंकि मनोविज्ञान कहता है कि भले ही कोई अपने शत्रु के द्वारा पहुँचाई गई पीड़ा

सह ले, क्योंकि वह स्वाभाविक होती है, किन्तु जब कोई व्यक्ति अपने सम्बन्धी के कठोर वचनों से आहत होता है, तो उसे उसकी पीड़ा रात-दिन बनी रहती है और कभी-कभी यह पीड़ा इतनी असह्य हो जाती है कि वह व्यक्ति आत्महत्या ही कर लेता है।

व्यक्तं त्वमुत्कृष्टगतेः प्रजापतेः
प्रियात्मजानामसि सुभ्रु मे मता ।
तथापि मानं न पितुः प्रपत्स्यसे
मदाश्रयात्कः परितप्यते यतः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

व्यक्तम्—स्पष्ट है; त्वम्—तुम; उत्कृष्ट-गतेः—उत्तम आचरण वाली; प्रजापतेः—प्रजापति दक्ष की; प्रिया—अत्यन्त प्रिय; आत्मजानाम्—पुत्रियों में; असि—हो; सुभ्रु—हे सुन्दर भौंहों वाली; मे—मेरा; मता—विचार कर; तथा अपि—फिर भी; मानम्—सम्मान; न—नहीं; पितुः—अपने पिता से; प्रपत्स्यसे—प्राप्त करोगी; मत्-आश्रयात्—मुझसे सम्बन्धित होने से; कः—दक्ष; परितप्यते—पीड़ा का अनुभव करता है; यतः—जिससे।

हे शुभ्रांगिनी प्रिये, यह स्पष्ट है कि तुम दक्ष को अपनी पुत्रियों में सबसे अधिक प्यारी हो, तो भी तुम उसके घर में सम्मानित नहीं होगी, क्योंकि तुम मेरी पत्नी हो। उल्टे तुम्हें ही दुख होगा कि तुम मुझसे सम्बन्धित हो।

तात्पर्य : शिवजी ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि यदि सती अपने पति के बिना ही अकेले जाना चाहे तो भी उसका ठीक से सम्मान नहीं होगा, क्योंकि वह उनकी पत्नी जो ठहरी। भले ही वह अकेले ही क्यों न जाए, अनहोनी की प्रबल सम्भावना है। अतः शिवजी ने अप्रत्यक्ष रूप से सती को अपने पिता के घर न जाने का आग्रह किया।

पापच्यमानेन हृदातुरेन्द्रियः
समृद्धिभिः पूरुषबुद्धिसाक्षिणाम् ।
अकल्प एषामधिरोढुमञ्जसा
परं पदं द्वेष्टि यथासुरा हरिम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

पापच्यमानेन—जलते हुए; हृदा—हृदय में; आतुर-इन्द्रियः—संकटग्रस्त; समृद्धिभिः—पवित्र ख्याति इत्यादि से.; पूरुष-बुद्धि-साक्षिणाम्—परमेश्वर के ध्यान में सदैव लीन रहने वालों का; अकल्पः—असमर्थ होकर; एषाम्—उन पुरुषों का; अधिरोढुम्—उठने के लिए; अञ्जसा—शीघ्र; परम्—केवल; पदम्—स्तर तक; द्वेष्टि—द्वेष रखता है, कुढ़ता रहता है; यथा—जितना कि; असुराः—असुरगण; हरिम्—श्रीभगवान् से।

जो मिथ्या अहंकार से प्रेरित होकर सदैव मन से तथा इन्द्रियों से संतापित रहता है, वह

स्वरूप-सिद्ध पुरुषों के ऐश्वर्य को सहन नहीं कर पाता। आत्म-साक्षात्कार के पद तक उठने में अक्षम होने से वह ऐसे पुरुषों से उसी प्रकार से ईर्ष्या करता है, जिस प्रकार असुर श्रीभगवान् से ईर्ष्या करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर शिवजी तथा दक्ष के मध्य शत्रुता का वास्तविक कारण बताया गया है। दक्ष शिवजी से ईर्ष्या करता था, क्योंकि शिवजी भगवान् के गुणावतार हैं और परमात्मा के प्रत्यक्ष सम्पर्क में रहने के कारण दक्ष की अपेक्षा उन्हें अच्छा पद प्राप्त था। इसके अतिरिक्त और भी अनेक कारण थे। भौतिक रूप से गर्वित होने के कारण दक्ष द्वारा शिव का उच्च पद सहन नहीं किया जा सका, अत: उसकी उपस्थिति में शिव का न खड़े होना उसके क्रोध का अन्तिम प्राकट्य ही था। शिवजी सदैव ध्यानमग्न रहते हैं और परमात्मा का साक्षात्कार करते रहते हैं जैसाकि यहाँ पर *पुरुष बुद्धिसाक्षिणाम्* शब्दों से सूचित होता है। जिसकी बुद्धि निरन्तर भगवान् के ध्यान में डूबी हो उसका पद अत्युच्च होता है और उसकी नकल कोई नहीं कर सकता, विशेष रूप से सामान्य व्यक्ति तो नहीं ही। जब दक्ष यज्ञस्थल में प्रविष्ट हुआ तो उस समय शिव ध्यानमग्न थे और हो सकता है कि उन्होंने उसे प्रवेश करते देखा ही न हो, किन्तु दक्ष ने इस अवसर का लाभ उठाकर उन्हें शाप दे डाला क्योंकि वह लम्बे समय से शिव के प्रति द्वेषपूर्ण रवैया अपनाये हुए था। जो वास्तव में स्वरूपसिद्ध हैं, वे प्रत्येक प्राणी को भगवान् के मन्दिर के रूप में देखते हैं, क्योंकि परमात्मा रूप में भगवान् प्रत्येक प्राणी के शरीर में निवास करते हैं।

जब कोई देह का सम्मान करता है, तो वह भौतिक शरीर का नहीं, अपितु परमेश्वर के अस्तित्व का आदर करता है। इस प्रकार जो परमेश्वर का निरन्तर ध्यान करता है, वह उन्हें सदैव नमस्कार करता रहता है। किन्तु दक्ष अधिक जागृत नहीं था, अत: वह सोचता था कि भौतिक देह को नमस्कार ही सम्मान है और चूँकि शिवजी ने उसके भौतिक शरीर का आदर नहीं किया था, इसलिए दक्ष को ईर्ष्या हो आई। ऐसे व्यक्ति कभी भी शिवजी जैसी स्वरूपसिद्ध आत्माओं के पद तक ऊपर नहीं उठ सकते; इसलिए वे सदैव ईर्ष्यालु रहते हैं। यहाँ पर दिया गया उदाहरण उपयुक्त है। असुर, राक्षस अथवा नास्तिक भगवान् से सदैव द्वेष रखते हैं, वे उन्हें मार डालना चाहते हैं। इस युग में भी कुछ ऐसे

तथाकथित विद्वान् हैं, जो कृष्ण से ईर्ष्या करने के कारण *भगवद्गीता* पर टीका टिप्पणी करते हैं। जब कृष्ण यह कहते हैं—*मन्मना भव मद्भक्तः* (भगवद्गीता १८.६५)—सदैव मेरा चिन्तन करो, मेरे भक्त बनो और मेरी शरण में आओ—तो ये तथाकथित विद्वान् कहते हैं कि हमें जिसकी शरण में जाना है, वह कृष्ण नहीं। यह ईर्ष्या नहीं तो क्या है? असुर अथवा नास्तिक जन बिना किसी कारण के भगवान् से ईर्ष्या करते हैं। इसी प्रकार वे मूर्ख, जो आत्म-साक्षात्कार के सर्वोच्च पद तक नहीं पहुँच पाते, अकारण ही स्वरूपसिद्ध पुरुषों को सम्मान प्रदान करने के बजाय उनसे ईर्ष्या करते हैं।

प्रत्युद्गमप्रश्रयणाभिवादनं
विधीयते साधु मिथः सुमध्यमे ।
प्राज्ञैः परस्मै पुरुषाय चेतसा
गुहाशयायैव न देहमानिने ॥ २२॥

शब्दार्थ

प्रत्युद्गम—अपने आसन पर खड़े होना; प्रश्रयण—स्वागत करना; अभिवादनम्—नमस्कार; विधीयते—किये जाते हैं; साधु—उचित; मिथः—पारस्परिक; सु-मध्यमे—हे मेरी प्रिये; प्राज्ञैः—बुद्धिमान द्वारा; परस्मै—परमेश्वर को; पुरुषाय—परमात्मा को; चेतसा—बुद्धि से; गुहा-शयाय—शरीर के भीतर बैठकर; एव—निश्चय ही; न—नहीं; देह-मानिने—देह रूप पुरुष को।

हे तरुणी भार्ये, निस्सन्देह, मित्र तथा स्वजन खड़े होकर एक दूसरे का स्वागत और नमस्कार करके परस्पर अभिवादन करते हैं। किन्तु जो दिव्य पद पर ऊपर उठ चुके हैं, वे प्रबुद्ध होने के कारण ऐसा सम्मान प्रत्येक शरीर में वास करने वाले परमात्मा का ही करते हैं, देहाभिमानी पुरुष का नहीं।

तात्पर्य : यहाँ यह तर्क भी दिया जा सकती है कि शिवजी के श्वसुर होने के कारण दक्ष का सम्मान करना शिवजी का धर्म था। इसके उत्तर में यही कहना है कि जब कोई विद्वान् पुरुष सत्कार हेतु खड़ा होता है या नमस्कार करता है, तो वह हर एक के हृदय में आसीन परमात्मा को नमस्कार करता है। अतः यह देखा जाता है कि वैष्णवों में यदि शिष्य तक अपने गुरु को नमस्कार करता है, तो बदले में गुरु तुरन्त नमस्कार करता है, क्योंकि यह नमस्कार शरीर को नहीं वरन् परमात्मा को किया जाता है। फलतः गुरु भी शिष्य के शरीर में स्थित परमात्मा को नमस्कार करता है। *श्रीमद्भागवत* में भगवान् कहते हैं कि उनको सम्मान प्रदान करने की अपेक्षा उनके भक्त को सम्मान देना अधिक मूल्यवान है। भक्त अपने को शरीर करके नहीं मानते, अतः किसी भी वैष्णव को प्रणाम करने का अर्थ है विष्णु को

प्रणाम करना। यह भी कहा जाता है कि शिष्टाचार के नाते ज्योंही कोई वैष्णव दिखे उसे तुरन्त नमस्कार किया जाय, जिससे यह सूचित हो कि उसके भीतर परमात्मा स्थित है। वैष्णव शरीर को विष्णु का मन्दिर मानता है। चूँकि शिवजी कृष्णचेतना में परमात्मा को पहले ही नमस्कार कर चुके थे, अतः दक्ष को, जो अपने को शरीर रूप में मान रहा था, पहले ही नमस्कार अर्पित हो चुका था। उसके शरीर को नमस्कार अर्पित करने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि किसी भी वैदिक आदेश में ऐसा निर्दिष्ट नहीं है।

सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं
यदीयते तत्र पुमानपावृतः ।
सत्त्वे च तस्मिन्भगवान्वासुदेवो
ह्यधोक्षजो मे नमसा विधीयते ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—चेतना; विशुद्धम्—शुद्ध; वसुदेव—वसुदेव; शब्दितम्—नाम से विख्यात; यत्—क्योंकि; ईयते—प्रकट होता है; तत्र—वहाँ; पुमान्—परम पुरुष; अपावृतः—किसी आवरण के बिना; सत्त्वे—चेतना में; च—तथा; तस्मिन्—उसमें; भगवान्—भगवान्; वासुदेवः—वासुदेव; हि—क्योंकि; अधोक्षजः—दिव्य; मे—मेरे द्वारा; नमसा—नमस्कार से; विधीयते—पूजित।

मैं शुद्ध कृष्णचेतना में भगवान् वासुदेव को सदैव नमस्कार करता रहता हूँ। कृष्णभावनामृत ही सदैव शुद्ध चेतना है, जिसमें वासुदेव नाम से अभिहित श्रीभगवान् का बिना किसी प्रकार का दुराव का अनुभव होता है।

तात्पर्य : जीवात्मा स्वाभाविक रूप से शुद्ध है। *असङ्गो ह्ययं पुरुषः।* वेदों में कहा गया है कि आत्मा सदैव शुद्ध और भौतिक आसक्ति से अदूषित रहता है। आत्मा के साथ देह की पहचान करना अज्ञान के कारण है। ज्योंही कोई पूरी तरह से कृष्णभावना भावित हो जाता है, तो यह समझना चाहिए कि वह शुद्ध मूल स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हो गया है। यह स्थिति *शुद्ध-सत्त्व* कहलाती है। चूँकि यह *शुद्ध सत्त्व* स्थिति अन्तरंगा शक्ति के प्रत्यक्ष वश में है, अतः इस स्थिति में सारे सांसारिक कार्य रुक जाते हैं। उदाहरणार्थ, जब लोहे को अग्नि में रखा जाता है, तो वह गर्म होता है और जब लाल हो जाता है, तो यह लोहा होकर भी अग्नि के समान कार्य करता है। इसी प्रकार जब ताँबे में से बिजली प्रवाहित होती है, तो वह ताँबे की भाँति कार्य नहीं करता, वह बिजली की भाँति कर्म करता है।

भगवद्गीता (१४.२६) में भी पुष्टि हुई है कि जो भगवान् की अमिश्रित भक्ति करता है, वह तुरन्त ही शुद्ध ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

अत: जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है, शुद्ध सत्त्व दिव्य पद है, जो पारिभाषिक रूप में वसुदेव कहलाता है। वसुदेव एक पुरुष का भी नाम है, जिससे कृष्ण प्रकट हुए। यह श्लोक बताता है कि शुद्ध स्थिति वसुदेव कहलाती है, क्योंकि उस स्थिति में भगवान् वासुदेव बिना किसी दुराव के अनुभव किये जाते हैं। अत: अमिश्रित भक्ति करने के लिए सकाम कर्म या मानसिक कल्पना द्वारा किसी प्रकार के भौतिक लाभ की इच्छा किये बिना भक्ति के नियमों का पालन करना चाहिए।

शुद्ध भक्ति में मनुष्य अकारण तथा बिना किसी रुकावट के अपना कर्तव्य मान कर भगवान् की मात्र सेवा करता रहता है। यही शुद्ध सत्त्व या वासुदेव कहलाता है, क्योंकि इस अवस्था में भक्त के हृदय में परम पुरुष कृष्ण का उदय होता है। श्रील जीव गोस्वामी ने अपने *भगवत्-सन्दर्भ* में इस *वासुदेव* अथवा शुद्ध सत्त्व का अत्यन्त मनोहारी वर्णन किया है। वे बताते हैं कि गुरु के नाम के आगे *अष्टोत्तर-शत* (१०८) जोड़ दिया जाता है, जो वह सूचित करता है कि वह शुद्ध सत्त्व या वसुदेव की दिव्य स्थिति में है। *वासुदेव* शब्द का प्रयोग अन्य प्रकार से भी होता है। उदाहरणार्थ, वासुदेव का अर्थ सर्वव्यापी भी है। सूर्य भी *वासुदेव-शब्दितम्* कहलाता है। भले ही वासुदेव को विभिन्न अर्थों में क्यों न प्रयुक्त करें, किन्तु वासुदेव का अर्थ सर्वव्यापी या अन्तर्यामी भगवान् है। *भगवद्गीता* (७.१९) में भी कहा गया है—*वासुदेव: सर्वम् इति।* वास्तविक अनुभूति तो भगवान् वासुदेव को समझना और उनकी शरण में जाना है। वसुदेव वह भावभूमि है, जिस पर श्रीभगवान् वासुदेव का बोध होता है। जब मनुष्य भौतिक प्रकृति के कल्मष से रहित होता है और शुद्ध कृष्णचेतना अथवा वसुदेव अर्थात् वासुदेव पद में स्थित होता है, तो भगवान् वासुदेव का बोध होता है। यह *कैवल्य* पद कहलाता है, जिसका अर्थ है "शुद्ध चेतना।" *ज्ञानं सात्त्विकं कैवल्यम्।* जब मनुष्य शुद्ध दिव्य ज्ञान को प्राप्त होता है, तो वह कैवल्य पद पर स्थित होता है। अत: वसुदेव का अर्थ *कैवल्य* भी होता है, जिस का व्यवहार सामान्य

रूप से निर्विशेषवादी करते हैं। निर्गुण कैवल्य साक्षात्कार (अनुभूति) की अतिन्म अवस्था नहीं है। अकृष्णचेतना *कैवल्य* में जब कोई भगवान् को समझ लेता है, तो वह सफल हो जाता है। उस शुद्ध अवस्था में श्रवण, कीर्तन, स्मरण इत्यादि के द्वारा कृष्णविज्ञान का विकास होने से मनुष्य भगवान् को समझ सकता है। ये सारे कार्य परमेश्वर की अन्तरंगा शक्ति के निर्देशन में होते हैं।

इस श्लोक में अन्तरंगा शक्ति के कार्य का वर्णन भी *अपावृत:* अर्थात् किसी आवरण से रहित रूप में किया गया है। चूँकि भगवान्, उनका नाम, रूप, गुण, सामग्री इत्यादि दिव्य होने के कारण भौतिक प्रकृति से परे हैं, अत: भौतिक इन्द्रियों के द्वारा इनमें से किसी एक को भी समझ पाना सम्भव नहीं है। जब इन्द्रियाँ शुद्ध भक्ति करने से पवित्र हो जाती हैं (*हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते*) तो शुद्ध इन्द्रियाँ श्रीकृष्ण को बिना आवरण के देख सकती हैं। अब कोई यह प्रश्न करे कि चूंकि भक्त के वस्तुत: वही भौतिक देह होती है, तो वही भौतिक नेत्र किस प्रकार भक्ति से पवित्र हो सकते हैं? भगवान् चैतन्य ने जो उदाहरण दिया है, वह है कि भक्ति से मन का दर्पण निर्मल हो जाता है। स्वच्छ दर्पण में मुख को स्पष्ट देखा जा सकता है। इसी प्रकार केवल मन के दर्पण को स्वच्छ कर लेने से भगवान् की स्पष्ट अनुभूति हो सकती है। *भगवद्गीता* (८.८) में कहा गया है—*अभ्यासयोगयुक्तेन।* निर्दिष्ट कर्तव्यों को भक्ति में करते हुए *चेतसा नान्यगामिना* या ईश्वर के विषय में केवल सुन कर तथा उनका कीर्तन करके यदि किसी का मन निरन्तर श्रवण तथा कीर्तन में लगा रहे और अन्यत्र कहीं न जाए, तो मनुष्य को भगवान् का साक्षात्कार हो सकता है। जैसी कि भगवान् चैतन्य ने पुष्टि की है, भक्तियोग प्रक्रिया द्वारा श्रवण तथा कीर्तन से प्रारम्भ करके मनुष्य अपने मन तथा हृदय को स्वच्छ बना सकता है और इस तरह वह भगवान् के मुख का स्पष्ट दर्शन पा सकता है।

शिवजी ने बताया कि चूँकि उनके हृदय तथा मन के अन्दर परमेश्वर सदैव विद्यमान रहते हैं, अत: उनका हृदय सदैव वासुदेव की भावना से पूरित रहता है और वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को सदैव नमस्कार करते रहते हैं। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि शिव सदैव समाधि में रहते हैं। यह समाधि भक्त के वश की बात नहीं, यह तो वासुदेव के वश में है क्योंकि भगवान् की समस्त अंतरंगा शक्ति उन्हीं के आदेश से कार्यशील होती है। वस्तुत:, भौतिक शक्ति भी उन्हीं के आदेश से कार्यशील

है, किन्तु उनकी प्रत्यक्ष इच्छा तो आत्मिक शक्ति द्वारा पूरी होती है। अत: अपनी अन्तरंगा शक्ति से वे स्वयं प्रकट होते हैं। *भगवद्गीता* (४.६) में कहा गया है—*सम्भवाम्यात्ममायया। आत्ममायया* का अर्थ ''अन्तरंगा शक्ति'' है। अपने भक्त की दिव्य प्रेमाभक्ति से प्रसन्न होकर वे अपनी इच्छा से अपनी अन्तरंगा शक्ति से प्रकट होते हैं। भक्त कभी आदेश नहीं देता कि मेरे भगवान् तुम यहाँ आओ जिससे मैं तुम्हारा दर्शन कर लूँ। भक्त को यह पद प्राप्त नहीं कि वह ईश्वर को आदेश दे सके कि मेरे सम्मुख आओ या नाचो। ऐसे अनेक तथाकथित भक्त हैं, जो ईश्वर को अपने समक्ष नाचते हुए आने के लिए बुलाते हैं। किन्तु ईश्वर किसी के द्वारा आदेशित नहीं होते। हाँ, यदि वे किसी के शुद्ध भक्तिमय कार्यकलापों से प्रसन्न हो जाते हैं, तो वे स्वत: प्रकट होते हैं। इसलिए इस श्लोक में *अधोक्षज* शब्द अत्यन्त सार्थक है, क्योंकि यह सूचित करता है कि हमारी भौतिक इन्द्रियों के कार्यों से ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हो पाएगा। कोई अपनी मानसिक कल्पना के प्रयास से भगवान् का साक्षात्कार नहीं कर सकता, किन्तु यदि वह ऐसा करना चाहता है, तो उसे अपनी इन्द्रियों के सारे कार्यों को दमित करना पड़ेगा और तब भगवान् आत्मिक शक्ति को प्रकट करते हुए शुद्ध भक्त के समक्ष प्रकट होते हैं। तो जब भगवान् शुद्ध भक्त के समक्ष प्रकट होते है, तो भक्त के लिए उनको सादर नमस्कार करने के अतिरिक्त कोई अन्य कर्तव्य नहीं रह जाता। परम सत्य अपना रूप भक्त को दिखाते हैं। वे रूपहीन नहीं हैं। वासुदेव रूपहीन नहीं हैं, क्योंकि इस श्लोक में कहा गया है ज्योंही भगवान् प्रकट होते हैं भक्त उन्हें नमस्कार करता है। नमस्कार व्यक्ति को किया जाता है, किसी निराकार वस्तु को नहीं। मनुष्य को यह मायावादी व्याख्या स्वीकार नहीं करनी चाहिए कि वासुदेव निर्विशेष या निराकार हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*प्रपद्यते* अर्थात् मनुष्य समर्पण करता है। समर्पण सदैव व्यक्ति के प्रति किया जाता है किसी निर्विशेष को नहीं। जब समर्पण या नमस्कार करने का प्रश्न आता है, तो समर्पण या नमस्कार का कोई न कोई लक्ष्य होना चाहिए।

तत्ते निरीक्ष्यो न पितापि देहकृद्
दक्षो मम द्विट्तदनुव्रताश्च ये ।
यो विश्वसृग्यज्ञगतं वरोरु मा-

मनागसं दुर्वचसाकरोत्तिरः ॥ २४॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; ते—तुम्हारा; निरीक्ष्यः—देखने जाने के लिए; न—नहीं; पिता—तुम्हारा पिता; अपि—यद्यपि; देह-कृत्—तुम्हारे शरीर का दाता; दक्षः—दक्ष; मम—मेरा; द्विट्—ईर्ष्यालु; तत्-अनुव्रताः—उसके (दक्ष के) अनुयायी; च—भी; ये—जो; यः—जो (दक्ष); विश्व-सृक्—विश्वसृकों के; यज्ञ-गतम्—यज्ञ में उपस्थित होने से; वर-ऊरु—हे सती; माम्—मुझको; अनागसम्—निर्दोष होने से; दुर्वचसा—कटुवचनों से; अकरोत् तिरः—अपमान किया है।

अतः तुम्हें अपने पिता को, यद्यपि वह तुम्हारे शरीर का दाता है, मिलने नहीं जाना चाहिए क्योंकि वह और उसके अनुयायी मुझसे ईर्ष्या करते हैं। हे परम पूज्या, इसी ईर्ष्या के कारण मेरे निर्दोष होते हुए भी उसने अत्यन्त कटु शब्दों से मेरा अपमान किया है।

तात्पर्य : स्त्री के लिए पति तथा पिता समान रूप से पूज्य हैं। पति स्त्री की युवावस्था में रक्षा करता है, जबकि पिता उसके बाल्यकाल का रक्षक होता है। इस प्रकार दोनों ही पूज्य हैं, किन्तु शरीर को जन्म देने के कारण पिता विशेष रूप से पूज्य होता है। शिवजी ने सती को स्मरण दिलाया, ''निस्सन्देह, तुम्हारे पिता मुझसे भी अधिक पूज्य हैं किन्तु सावधान रहना, क्योंकि यदि वे तुम्हें शरीर प्रदान करने वाले हैं, तो जब तुम उन्हें देखने जाओगी तो वे तुम्हारा शरीर ले भी सकते हैं और मुझसे सम्बन्ध होने के कारण तुम्हारा अपमान भी कर सकते हैं। किसी स्वजन द्वारा किया गया अपमान मृत्यु से भी निकृष्ट है विशेष रूप से जब वह अच्छे पद पर स्थित हो।''

यदि व्रजिष्यस्यतिहाय मद्वचो
भद्रं भवत्या न ततो भविष्यति ।
सम्भावितस्य स्वजनात्पराभवो
यदा स सद्यो मरणाय कल्पते ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; व्रजिष्यसि—तुम जाओगी; अतिहाय—उपेक्षा करके; मत्-वचः—मेरे वचन; भद्रम्—कल्याण; भवत्याः—तुम्हारा; न—नहीं; ततः—तब; भविष्यति—होगा; सम्भावितस्य—अत्यन्त सम्माननीय; स्वजनात्—अपने सम्बन्धियों द्वारा; पराभवः—अपमानित होते हैं; यदा—जब; सः—वह अपमान; सद्यः—तुरन्त; मरणाय—मृत्यु के; कल्पते—तुल्य है।

यदि इस शिक्षा के बावजूद मेरे वचनों की उपेक्षा करके तुम जाने का निश्चय करती हो तो तुम्हारे लिए भविष्य अच्छा नहीं होगा। तुम अत्यन्त सम्माननीय हो और जब तुम स्वजन द्वारा अपमानित होगी तो यह अपमान तुरन्त ही मृत्यु के तुल्य हो जाएगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत ''श्रीशिव तथा सती का संवाद'' नामक

तीसरे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चार

सती द्वारा शरीर-त्याग

मैत्रेय उवाच

एतावदुक्त्वा विरराम शङ्करः
पत्न्यङ्गनाशं ह्युभयत्र चिन्तयन् ।
सुहृद्दिदृक्षुः परिशङ्किता भवा-
न्निष्क्रामती निर्विशती द्विधास सा ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; एतावत्—इतना; उक्त्वा—कह कर; विरराम—शान्त हो गये; शङ्करः—भगवान् शिव; पत्नी-अङ्ग-नाशम्—अपनी पत्नी के शरीर का विनाश; हि—चूँकि; उभयत्र—दोनों प्रकार से; चिन्तयन्—सोचते हुए; सुहृत्-दिदृक्षुः—अपने सम्बधियों को देखने के लिए इच्छुक; परिशङ्किता—भयभीत; भवात्—शिव से; निष्क्रामती—बाहर आती; निर्विशती—भीतर जाती; द्विधा—दुचित्ती; आस—थी; सा—वह (सती)।

मैत्रेय मुनि ने कहा : सती को असमंजस में पाकर शिवजी यह कह कर शान्त हो गये। सती अपने पिता के घर में अपने सम्बन्धियों को देखने के लिए अत्यधिक इच्छुक थी, किन्तु साथ ही वह शिवजी की चेतावनी से भयभीत थी। मन अस्थिर होने से वह हिंडोले की भाँति कक्ष से बाहर और भीतर आ-जा रही थी।

तात्पर्य : सती का मन दुविधा में था कि वह पिता के घर जाए या शिवजी के आदेश का पालन करे। यह द्वन्द्व इतना प्रबल था कि वह कभी कमरे के बाहर आती तो कभी भीतर जाती; उसकी गति घड़ी के पेंडुलम जैसी हो रही थी।

सुहृद्दिदृक्षाप्रतिघातदुर्मनाः
स्नेहाद्रुदत्यश्रुकलातिविह्वला ।
भवं भवान्यप्रतिपूरुषं रुषा
प्रधक्ष्यतीवैक्षत जातवेपथुः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सुहृत्-दिदृक्षा—अपने सम्बन्धियों को देखने की इच्छा की; प्रतिघात—बाधा; दुर्मनाः—अनमनी होकर; स्नेहात्—स्नेहवश; रुदती—रोती हुई; अश्रु-कला—आँसुओं की बूँदों से; अतिविह्वला—अत्यधिक व्याकुल; भवम्—शिव; भवानी—सती; अप्रति-पूरुषम्—अद्वितीय; रुषा—क्रोध से; प्रधक्ष्यती—भस्म करने; इव—मानो; ऐक्षत—देखा; जात-वेपथुः—हिलती हुई, थर-थर काँपती हुई।

इस तरह अपने पिता के घर जाकर अपने सम्बन्धियों को देखने से मना किये जाने पर सती अत्यन्त दुखी हुई। उन सबके स्नेह के कारण उसकी आँखों से अश्रु गिरने लगे। थरथराती एवं

अत्यधिक व्याकुल होकर उसने अपने अद्वितीय पति भगवान् शंकर को इस प्रकार से देखा मानो वह अपनी दृष्टि से उन्हें भस्म करने जा रही हो।

तात्पर्य : इस श्लोक में प्रयुक्त *अप्रतिपूरुषम्* शब्द का अर्थ है, ''जिसकी बराबरी का कोई अन्य न हो।'' इस जगत में शिवजी की समता का कोई भी व्यक्ति नहीं है। उनकी पत्नी सती को पता था कि उसका पति समदर्शी है, तो फिर इस बार वे अपनी पत्नी पर इतने निष्ठुर क्यों थे कि उसे अपने मायके नहीं जाने दे रहे थे? इससे उसे असह्य पीड़ा हो रही थी और वह अपने पति को इस प्रकार देख रही थी मानो उसे अपनी दृष्टि से भस्मसात् कर देगी। दूसरे शब्दों में, चूँकि शिव आत्मा हैं (शिव का अर्थ आत्मा भी है) इसलिए सती आत्महत्या करने को उद्यत थी। *अप्रतिपूरुष* का दूसरा अर्थ है, ''वह महापुरुष जिसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है।'' चूँकि शिवजी को आज्ञा देने के लिए राजी नहीं किया जा सका, अत: सती ने स्त्री के उस अन्तिम अस्त्र, रोदन, का सहारा लिया, जिससे पति बाध्य होकर अपनी पत्नी के प्रस्ताव को मान लेता है।

ततो विनिःश्वस्य सती विहाय तं
शोकेन रोषेण च दूयता हृदा ।
पित्रोरगात्स्त्रैणविमूढधीर्गृहान्
प्रेम्णात्मनो योऽर्धमदात्सतां प्रियः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; विनिःश्वस्य—जोर-जोर से साँस लेते हुए; सती—सती; विहाय—त्याग कर; तम्—उसको (शिव को); शोकेन—शोक से; रोषेण—क्रोध से; च—तथा; दूयता—विह्वल; हृदा—हृदय से; पित्रोः—अपने पिता के; अगात्—चली गई; स्त्रैण—अपनी स्त्री प्रकृति के कारण; विमूढ—प्रवंचित; धीः—बुद्धि; गृहान्—घर को; प्रेम्णा—प्रेमवश; आत्मनः—अपने शरीर का; यः—जो; अर्धम्—आधा; अदात्—दे दिया; सताम्—साधु पुरुषों को; प्रियः—प्रिय।

तत्पश्चात् सती अपने पति शिवजी को, जिन्होंने प्रेमवश उसे अपना अर्धांग प्रदान किया था, छोड़कर क्रोध तथा शोक के कारण लम्बी-लम्बी साँसें भरती हुई अपने पिता के घर को चली गईं। उससे यह अल्प बुद्धिमत्ता-पूर्ण कार्य उसका अबला नारी होने के फलस्वरूप हुआ।

तात्पर्य : वैदिक विचारधारा के अनुसार पति अपने शरीर का आधा भाग पत्नी को और पत्नी आधा भाग पति को देती है। अर्थात् पत्नी के बिना पति और पति के बिना पत्नी अपूर्ण होते हैं। शिव तथा सती के मध्य वैदिक वैवाहिक सम्बन्ध था, किन्तु कभी-कभी स्त्री नारी-स्वभाव-जनित

दुर्बलतावश अपने मायके के पारिवारिक सदस्यों के प्रति अधिक आकृष्ट रहती है और सती के साथ भी यही हुआ। इस श्लोक में यह विशेष रूप से बताया गया है कि अपनी सती शिव जैसे महान् पति को छोड़ना चाह रही थी। तात्पर्य यह है कि पति तथा पत्नी के सम्बन्ध में भी स्त्री की दुर्बलता बनी रहती है। सामान्य रूप से पति तथा पत्नी के बीच होने वाला तलाक स्त्री के आचरण के कारण होता है; इसका कारण स्त्री की दुर्बलता है। सर्वश्रेष्ठ रास्ता यही है कि पत्नी पति के आदेशों का पालन करे। इससे पारिवारिक जीवन परम शान्तिपूर्ण रहता है। कभी-कभी पति-पत्नी के मध्य कुछ गलतफहमी होती है जैसी कि शिव तथा सती जैसे उच्च पारिवारिक सम्बन्ध में हुई। किन्तु ऐसी गलतफहमी के कारण स्त्री को पति का संरक्षण नहीं त्यागना चाहिए। यदि वह ऐसा करती है, तो इसे स्त्री-दुर्बलता समझना चाहिए।

तामन्वगच्छन्द्रुतविक्रमां सती-
मेकां त्रिनेत्रानुचराः सहस्रशः ।
सपार्षदयक्षा मणिमन्मदादयः
पुरोवृषेन्द्रास्तरसा गतव्यथाः ॥ ४॥

शब्दार्थ

ताम्—उसको (सती को); अन्वगच्छन्—पीछा करते; द्रुत-विक्रमाम्—तेजी से छोड़ते; सतीम्—सती को; एकाम्—अकेले; त्रि-नेत्र—शिव (तीन नेत्रों वाले) के; अनुचराः—अनुयायी; सहस्रशः—हजारों; स-पार्षद-यक्षाः—उनके पार्षदों तथा यक्षों के सहित; मणिमत्-मद-आदयः—मणिमान्, मद आदि.; पुरः-वृष-इन्द्राः—नन्दी बैल को आगे करके; तरसा—तेजी से; गत-व्यथाः—निर्भीक।

जब उन्होंने सती को तेजी से अकेले जाते देखा तो शिवजी के हजारों अनुत्तर, जिनमें मणिमान तथा मद प्रमुख थे, नन्दी बैल को आगे करके तथा यक्षों को साथ लेकर जल्दी से सती के पीछे-पीछे हो लिए।

तात्पर्य : सती बड़ी तेजी से जा रही थीं कि कहीं उनके पति रोक न लें, किन्तु तुरन्त ही उनके साथ शिवजी के हजारों अनुत्तर लग गये, जिनमें यक्ष, मणिमान तथा मद मुख्य थे। यहाँ पर प्रयुक्त शब्द *गतव्यथा* का अर्थ है, ''बिना किसी भय के।'' सती को इसकी परवाह न थी कि वह अकेले जा रही है, अत: वह निडर थीं। *अनुचराः* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इससे सूचित होता है कि शिवजी के अनुत्तर शिवजी के लिए सब कुछ बलिदान करने के लिए उद्यत रहते थे। वे सभी शिवजी की इच्छा

को जान गये कि वे सती को अकेले नहीं जाने देना चाहते थे। *अनुचरा:* का अर्थ है, ''वे जो अपने स्वामी के प्रयोजन को तुरन्त समझ लें।''

तां सारिकाकन्दुकदर्पणाम्बुज-
श्वेतातपत्रव्यजनस्रगादिभिः ।
गीतायनैर्दुन्दुभिशङ्खवेणुभि-
र्वृषेन्द्रमारोप्य विटङ्किता ययुः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उसकी (सती को); सारिका—पालतू पक्षी मैना; कन्दुक—गेंद; दर्पण—शीशा; अम्बुज—कमल का फूल; श्वेत-आतपत्र—सफेद छाता; व्यजन—पंखा; स्रक्—माला; आदिभिः—इत्यादि; गीत-अयनैः—संगीत के साथ; दुन्दुभि—डुग्गी, ढोल; शङ्ख—शंख; वेणुभिः—मुरली से; वृष-इन्द्रम्—बैल पर; आरोप्य—चढ़ाकर; विटङ्किताः—आभूषित; ययुः—वे गये।

शिव के अनुचरों ने सती को बैल पर चढ़ा लिया और उन्हें उनकी पालतू चिड़िया (मैना) दे दी। उन्होंने कमल का फूल, एक दर्पण तथा उनके आमोद-प्रमोद की सारी सामग्री ले ली और उनके ऊपर एक विशाल छत्र तान दिया। उनके पीछे ढोल, शंख तथा बिगुल बजाता हुआ दल राजसी शोभा यात्रा के समान भव्य लग रहा था।

आब्रह्मघोषोर्जितयज्ञवैशसं
विप्रर्षिजुष्टं विबुधैश्च सर्वशः ।
मृद्दार्वयःकाञ्चनदर्भचर्मभि-
र्निसृष्टभाण्डं यजनं समाविशत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

आ—चारों ओर से; ब्रह्म-घोष—वैदिक मंत्रों की ध्वनियों से; ऊर्जित—सजाया; यज्ञ—यज्ञ; वैशसम्—पशु बलि; विप्रर्षि-जुष्टम्—जुटे हुए ऋषि; विबुधैः—देवताओं से; च—तथा; सर्वशः—सभी दिशाओं में; मृत्—मिट्टी के; दारु—काठ के; अयः—लोह; काञ्चन—सोने के; दर्भ—कुश; चर्मभिः—खालों से; निसृष्ट—बने; भाण्डम्—बलि पशु तथा भांडे (बर्तन); यजनम्—यज्ञ; समाविशत्—प्रवेश किया।

तब सती अपने पिता के घर पहुँची जहाँ यज्ञ हो रहा था और उसने यज्ञस्थल में प्रवेश किया जहाँ वैदिक स्तोत्रों का उच्चारण हो रहा था। वहाँ सभी ऋषि, ब्राह्मण तथा देवता एकत्र थे। वहाँ पर अनेक बलि-पशु थे और साथ ही मिट्टी, पत्थर, सोने, कुश तथा चर्म के बने पात्र थे जिनकी यज्ञ में आवश्यकता पड़ती है।

तात्पर्य : जब विद्वान् साधु तथा ब्राह्मण वैदिक मंत्रों के उच्चारण हेतु एकत्र होते हैं, तो उनमें से

कुछ शास्त्रार्थ में लगे रहते हैं। इस प्रकार कुछ साधु तथा ब्राह्मण शास्त्रार्थ कर रहे थे और कुछ मंत्रोच्चारण कर रहे थे। इस प्रकार सारा वातावरण दिव्य ध्वनियों से व्याप्त था। इस दिव्य ध्वनि को हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे। मंत्र में सरल रूप दे दिया गया है। इस युग में लोग अत्यन्त आलसी, मन्द तथा अभागे हैं, अत: वे वैदिक ज्ञान में उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाते। इसीलिए भगवान् चैतन्य ने हरे कृष्ण ध्वनि की संस्तुति की है। *श्रीमद्भागवत* में (११.५.३२) भी संस्तुति है *यज्ञै: संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधस: ।* इस समय यज्ञ की आवश्यक वस्तुओं को एकत्र कर पाना कठिन है, क्योंकि लोग निर्धन हैं और उन्हें वैदिक मंत्रों का ज्ञान नहीं है। अत: इस युग में यह सलाह दी जाती है कि लोग एकत्र होकर श्रीभगवान् को, जो अपने पार्षदों के साथ रहते हैं, प्रसन्न करने के लिए हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करें। अप्रत्यक्ष रूप से यह भगवान् चैतन्य के लिए है, जो नित्यानन्द, अद्वैत आदि अपने पार्षदों के साथ रहते हैं। इस युग में यज्ञ सम्पन्न करने की यही विधि है।

इस श्लोक की अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उस समय बलि के लिए पशु होते थे। किन्तु बलि के पशु का यह अर्थ नहीं है कि वे वध किये जाने के लिए होते थे। बड़े-बड़े ऋषि तथा ज्ञानी पुरुष यज्ञ किया करते थे और उनकी सफलता (अनुभूति) का परीक्षण पशु बलि द्वारा किया जाता था जिस प्रकार कि आधुनिक विज्ञान में किसी विशेष ओषधि के प्रभाव की परीक्षा पशुओं पर की जाती है। वे ब्राह्मण, जिन पर यज्ञ का भार रहता था, अत्यन्त सिद्ध पुरुष होते थे और वे अपनी सिद्धि की परीक्षा करने के लिए बूढ़े पशु की बलि अग्नि में देते और उसे पुन: जीवन प्रदान करते थे। वैदिक मंत्र की यही परीक्षा थी। वहाँ पर एकत्र पशु मार कर खाने के लिए नहीं होते थे। यज्ञ का वास्तविक प्रयोजन कसाईघरों का स्थान ग्रहण करना नहीं, अपितु पशु को नव जीवन प्रदान करके वैदिक मंत्र की परीक्षा करना था। पशु वैदिक मंत्रों की शक्ति के परीक्षण के लिए प्रयुक्त होते थे, मांस के लिए नहीं।

तामागतां तत्र न कश्चनाद्रियद्
विमानितां यज्ञकृतो भयाज्जन: ।
ऋते स्वसॄर्वै जननीं च सादरा:

प्रेमाश्रुकण्ठ्यः परिषस्वजुर्मुदा ॥ ७॥

शब्दार्थ

ताम्—उसके (सती के); आगताम्—आगमन से; तत्र—वहाँ; न—नहीं; कश्चन—किसी ने; आद्रियत्—स्वागत किया; विमानिताम्—आदर न पाकर; यज्ञ-कृतः—यज्ञकर्ता (दक्ष); भयात्—भय से; जनः—व्यक्ति; ऋते—के अतिरिक्त; स्वसृः—उसकी बहनें; वै—निस्सन्देह; जननीम्—माता; च—तथा; स-आदराः—आदर सहित; प्रेम-अश्रु-कण्ठ्यः—स्नेह-अश्रुओं से भरे हुए कण्ठ; परिषस्वजुः—आलिंगन किया; मुदा—प्रसन्न मुख से।

जब सती अनुचरों सहित यज्ञस्थल में पहुँचीं, तो किसी ने उनका स्वागत नहीं किया, क्योंकि वहाँ पर एकत्रित सभी लोग दक्ष से भयभीत थे। उनकी माता तथा बहनों ने अश्रुपूरित नेत्रों तथा प्रसन्न मुखों से उसका स्वागत किया और उससे बड़े ही प्रेम से बातें कीं।

तात्पर्य : सती की माता तथा बहनों ने अन्यों का अनुसरण नहीं किया। सहज प्रेम के कारण वे तुरन्त प्रेमाश्रुपूरित नेत्रों से गले लग गईं। इससे प्रकट होता है कि स्त्रियाँ कितनी कोमलहृदया होती हैं। उनके सहज स्नेह को कृत्रिम साधनों से नहीं रोका जा सकता। यद्यपि वहाँ पर एकत्र पुरुष अत्यन्त विद्वान् ब्राह्मण तथा देवता थे, किन्तु वे अपने से श्रेष्ठ दक्ष से भयभीत थे और वे जानते थे कि यदि वे सती का स्वागत करेंगे तो दक्ष रुष्ट होगा, अतः मन में चाहते हुए भी वे वैसा नहीं कर पाये। स्त्रियाँ स्वभाव से कोमल-हृदया होती हैं, किन्तु पुरुष कभी-कभी अत्यन्त कठोर हृदय होते हैं।

सौदर्यसम्प्रश्नसमर्थवार्तया
मात्रा च मातृष्वसृभिश्च सादरम् ।
दत्तां सपर्यां वरमासनं च सा
नादत्त पित्राप्रतिनन्दिता सती ॥ ८॥

शब्दार्थ

सौदर्य—अपनी बहनों का; सम्प्रश्न—समादर; समर्थ—उचित; वार्तया—कुशल समाचार; मात्रा—अपनी माता द्वारा; च—तथा; मातृ-स्वसृभिः—मौसियों द्वारा; च—तथा; स-आदरम्—आदरपूर्वक; दत्ताम्—दी गई; सपर्याम्—पूजा; वरम्—भेंटें; आसनम्—आसन; च—तथा; सा—उस; न आदत्त—ग्रहण नहीं किया; पित्रा—अपने पिता द्वारा; अप्रतिनन्दिता—समादरित न होने से; सती—सती ने।

यद्यपि उनकी बहनों तथा माता ने उनका स्वागत-सत्कार किया, किन्तु उन्होंने उनके स्वागत-वचनों का कोई उत्तर नहीं दिया। यद्यपि उन्हें आसन तथा उपहार दिये गये, किन्तु उन्होंने कुछ भी स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उनके पिता न तो उनसे बोले और न उनका कुशल-क्षेम पूछ कर उनका स्वत्कार किया।

तात्पर्य : सती ने अपनी बहनों तथा माता द्वारा दी गई भेंटें स्वीकार नहीं कीं, क्योंकि वह अपने

पिता की चुप्पी से तनिक भी संतुष्ट न थी। सती दक्ष की सबसे छोटी कन्या थी और उसे पता था कि वह उसकी अत्यधिक चहेती पुत्री थी। किन्तु अब, शिव की संगति होने से पिता ने अपनी पुत्री के सारे प्यार को भुला दिया था जिससे उसे अत्यधिक ठेस पहुँची। भौतिक देहात्म-बुद्धि इतनी दूषित होती है कि थोड़े से उकसावे से भी हमारे प्रेम तथा स्नेह के सारे बन्धन टूट जाते हैं। शारीरिक सम्बन्ध इतने क्षणिक हैं कि भले ही कोई किसी को कितना ही स्नेह क्यों न करता रहा हो, थोड़ी सी नाराजगी में सारी घनिष्ठता छिन्न हो जाती है।

अरुद्रभागं तमवेक्ष्य चाध्वरं
पित्रा च देवे कृतहेलनं विभौ ।
अनादृता यज्ञसदस्यधीश्वरी
चुकोप लोकानिव धक्ष्यती रुषा ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अरुद्र-भागम्—शिव का यज्ञभाग न पाकर; तम्—उसे; अवेक्ष्य—देखकर; च—तथा; अध्वरम्—यज्ञस्थल; पित्रा—अपने पिता द्वारा; च—तथा; देवे—शिव की; कृत-हेलनम्—अवहेलना करके; विभौ—स्वामी के; अनादृता—अनादर की गई; यज्ञ-सदसि—यज्ञ की सभा में; अधीश्वरी—सती; चुकोप—अत्यधिक क्रुद्ध हुई; लोकान्—चौदहों लोक; इव—मानो; धक्ष्यती—जलाती हुई; रुषा—क्रोध से।

यज्ञस्थल में जाकर सती ने देखा कि उनके पति शिवजी का कोई यज्ञ भाग नहीं रखे गये हैं। तब उन्हें यह आभास हुआ कि उनके पिता ने शिव को आमंत्रित नहीं किया; उल्टे जब दक्ष ने शिव की पूज्य पत्नी को देखा तो उसने उसका भी आदर नहीं किया। अतः इससे वे अत्यन्त क्रुद्ध हुईं; यहां तक कि वह और अपने पिता को इस प्रकार देखने लगीं मानो उसे अपने नेत्रों से भस्म कर देंगी।

तात्पर्य : वैदिक मंत्र *स्वाहा* का उच्चारण करते हुए जब अग्नि में आहुतियाँ डाली जाती हैं, तो समस्त देवताओं, मुनियों तथा पितरों का, जिनमें ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु सम्मिलित हैं, सम्मान किया जाता है। परम्परा चली आई है कि सम्मान पाने वालों में शिव एक माने जाते हैं। किन्तु सती ने यज्ञस्थल में उपस्थित होकर देखा कि ब्राह्मण लोग *नमः शिवाय स्वाहा* मंत्र का उच्चारण करके शिव को आहुति नहीं दे रहे थे। वे अपने लिए दुखी न थीं, क्योंकि वे अपने पिता के घर बिना बुलाये आने को तैयार थीं, किन्तु वे यह देखना चाहती थीं कि उनके पति का आदर किया जा रहा है या नहीं। अपने

सम्बन्धियों, अपनी बहनों तथा माता से भेंट करना उतना महत्त्वपूर्ण न था, क्योंकि जब उनकी माता तथा बहनों ने स्वागत-सत्कार किया, तो सती ने उसकी परवाह नहीं की, क्योंकि उन्हें लग रहा था कि यज्ञ में उनके पति का अपमान हो रहा है। जब उन्होंने उस अपमान को स्वयं देख लिया तो वे अत्यधिक क्रुद्ध हुईं और अपने पिता को इतने रोष से देखा मानो दक्ष को अपनी दृष्टि से भस्म कर देंगी।

जगर्ह सामर्षविपन्नया गिरा
शिवद्विषं धूमपथश्रमस्मयम् ।
स्वतेजसा भूतगणान्समुत्थितान्
निगृह्य देवी जगतोऽभिशृण्वतः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

जगर्ह—निन्दा करने लगी; सा—वह; अमर्ष-विपन्नया—क्रोध के कारण अस्फुट; गिरा—वाणी से; शिव-द्विषम्—शिव का शत्रु; धूम-पथ—यज्ञों में; श्रम—कष्टों से; स्मयम्—अत्यन्त गर्वित; स्व-तेजसा—अपनी आज्ञा से; भूत-गणान्—भूतों के; समुत्थितान्—सन्नद्ध, तत्पर (दक्ष को मारने के लिए); निगृह्य—रोका; देवी—सती ने; जगतः—सबों की उपस्थिति में; अभिशृण्वतः—सुना जाकर।

शिव के अनुचर, भूतगण दक्ष को क्षति पहुँचाने अथवा मारने के लिए तत्पर थे, किन्तु सती ने आदेश देकर उन्हें रोका। वे अत्यन्त क्रुद्ध और दुखी थीं और उसी भाव में वे यज्ञ के सकामकर्मों की विधि की तथा उन व्यक्तियों की, जो इस प्रकार के अनावश्यक एवं कष्टकर यज्ञों के लिए गर्व करते हैं, भर्त्सना करने लगीं। उन्होंने सबों के समक्ष अपने पिता के विरुद्ध बोलते हुए उसकी विशेष रूप से निन्दा की।

तात्पर्य : यज्ञ करने का विधान विशेष रूप से विष्णु को प्रसन्न करने के प्रयोजनार्थ होता है, जो यज्ञेश्वर कहलाते हैं क्योंकि समस्त यज्ञों के फल के भोक्ता वे ही हैं। इस तथ्य की पुष्टि *भगवद्गीता* (५.२९) में भी हुई है। भगवान् कहते हैं—*भोक्तारं यज्ञतपसाम्।* वे ही समस्त यज्ञों के वास्तविक भोक्ता हैं। अल्पज्ञानी लोग इस तथ्य को न जानने के कारण किसी भौतिक लाभ के हेतु यज्ञ करते हैं। इन्द्रियतृप्ति हेतु व्यक्तिगत लाभ उठाने के लिए ही दक्ष-जैसे व्यक्ति तथा उनके अनुयायी यज्ञ करते हैं। ऐसे यज्ञों को बिना किसी फल के श्रम करना कहा गया है। *श्रीमद्भागवत* से इसकी पुष्टि होती है। कोई भले ही यज्ञ तथा अन्य सकाम कर्मों को सम्पन्न करने के वैदिक आदेश का पालन करे, किन्तु

यदि इन कार्यों से विष्णु के प्रति आकर्षण विकसित नहीं होता तो सारा श्रम निरर्थक है। जिसने विष्णु के लिए प्रेम उत्पन्न कर लिया है, उसे चाहिए कि विष्णु-भक्तों के लिए भी प्रेम तथा आदर विकसित करे। शिव को वैष्णवों में अग्रणी माना जाता है। *वैष्णवानाम् यथा शम्भुः।* अतः जब सती ने देखा कि उनका पिता महान् यज्ञ कर रहा है, किन्तु परम भक्त शिव के प्रति उसके मन में तनिक भी आदर नहीं है, तो वे अत्यन्त क्रोधित हुईं। यह ठीक ही है, यदि विष्णु या वैष्णव का अपमान हो तो मनुष्य को क्रुद्ध होना चाहिए। अहिंसा, विनयशीलता तथा नम्रता का पाठ पढ़ाने वाले भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने जब सुना कि जगाई तथा माधाई ने नित्यानन्द का अपमान किया है, तो वे परम क्रुद्ध हुए और उन्हें जान से मार डालना चाहा। जब विष्णु या वैष्णव का अपमान हो तो मनुष्य को क्रुद्ध होना चाहिए। नरोत्तमदास ठाकुर ने कहा—*क्रोध भक्त-द्वेषि जने।* हममें क्रोध रहता है और यह क्रोध महान् गुण बन सकता है, यदि उसका उपयोग उस व्यक्ति पर किया जाय, जो भगवान् या उनके भक्तों का द्वेषी है। यदि कोई विष्णु या वैष्णव पर आक्रमण कर रहा हो तो इसे सहन नहीं करना चाहिए। सती द्वारा अपने पिता पर प्रदर्शित क्रोध आपत्तिजनक नहीं था, क्योंकि यद्यपि वह उनका पिता था, किन्तु वह सर्वश्रेष्ठ वैष्णव का अपमान कर रहा था। अतः सती का अपने पिता पर किया गया क्रोध श्लाघनीय था।

देव्युवाच
न यस्य लोकेऽस्त्यतिशायनः प्रिय-
स्तथाप्रियो देहभृतां प्रियात्मनः ।
तस्मिन्समस्तात्मनि मुक्तवैरके
ऋते भवन्तं कतमः प्रतीपयेत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

देवी उवाच—देवी (सती) ने कहा; न—नहीं; यस्य—जिसका; लोके—इस जगत में; अस्ति—है; अतिशायनः—प्रतिद्वन्द्वी न होना; प्रियः—प्रिय; तथा—उसी प्रकार; अप्रियः—शत्रु; देह-भृताम्—देहधारी; प्रिय-आत्मनः—अत्यन्त प्रिय; तस्मिन्—शिव के प्रति; समस्त-आत्मनि—संसार भर के प्राणी; मुक्त-वैरके—जो समस्त शत्रुता से मुक्त है, शत्रुविहीन; ऋते—अतिरिक्त; भवन्तम्—आपके; कतमः—कौन; प्रतीपयेत्—ईर्ष्यालु होगा।

देवी सती ने कहा : भगवान् शिव तो समस्त जीवात्माओं के लिए अत्यन्त प्रिय हैं। उनका कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं है। न तो कोई उनका अत्यन्त प्रिय है और न कोई उनका शत्रु है। आपके सिवा और ऐसा कौन है, जो ऐसे विश्वात्मा से द्वेष करेगा, जो समस्त वैर से रहित हैं?

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२९) में भगवान् कहते हैं—*समोऽहं सर्वभूतेषु*—मैं समस्त प्राणियों के

लिए एकसमान हूँ। इसी प्रकार शिवजी भगवान् के गुणात्मक अवतार हैं, अत: उनमें परमेश्वर के ही समान गुण पाये जाते हैं। अत: वे समदर्शी हैं, न तो कोई उनका मित्र है, और न कोई शत्रु, किन्तु जो स्वभाव से द्वेषपूर्ण होगा वह शिव का शत्रु बन सकता है। इसीलिए सती ने अपने पिता को दोषी ठहराया, ''आपके अतिरिक्त भला ऐसा कौन है, जो शिव से ईर्ष्या करेगा या उनका शत्रु बनेगा?'' अन्य साधु तथा विद्वान ब्राह्मण वहाँ उपस्थित थे, किन्तु वे शिव से ईर्ष्या नहीं कर रहे थे, यद्यपि वे सभी दक्ष के आश्रित थे। अत: दक्ष के अतिरिक्त भला अन्य कोई शिव से क्यों द्वेष करने लगा! यही सती का दोषारोपण था।

दोषान्परेषां हि गुणेषु साधवो
गृह्णन्ति केचिन्न भवादृशो द्विज ।
गुणांश्च फल्गून्बहुलीकरिष्णवो
महत्तमास्तेष्वविदद्भवानघम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

दोषान्—दोष; परेषाम्—अन्यों के; हि—क्योंकि; गुणेषु—गुणों में; साधव:—साधुजन; गृह्णन्ति—पाते हैं; केचित्—कुछ; न—नहीं; भवादृश:—आपके समान; द्विज—हे द्विज; गुणान्—गुण; च—तथा; फल्गून्—छोटा; बहुली-करिष्णव:—अत्यधिक बढ़ा-चढ़ा देता है; महत्-तमा:—महापुरुष; तेषु—उनमें से; अविदत्—ढूँढते हैं; भवान्—आप; अघम्—दोष, त्रुटि।

हे द्विज दक्ष, आप जैसा व्यक्ति ही अन्यों के गुणों में दोष ढूँढ सकता है। किन्तु शिव अन्यों के गुणों में कोई दोष नहीं निकालते, विपरीत इसके यदि किसी में थोड़ा भी गुण होता है, तो वे उसे और भी अधिक बढ़ा देते हैं। दुर्भाग्यवश आपने ऐसे महापुरुष पर दोषारोपण किया है।

तात्पर्य : यहाँ पर दक्ष को उसकी पुत्री सती ने *द्विज* कह कर सम्बोधित किया है। *द्विज* मनुष्यों की सर्वश्रेष्ठ जातियों—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य का सूचक है। दूसरे शब्दों में, द्विज सामान्य व्यक्ति न होकर ऐसा व्यक्ति होता है, जिसने गुरु से वैदिक साहित्य का अध्ययन किया है और जिसे अच्छे तथा बुरे का विवेक है। अत: यह आशा की जाती है कि वह तर्कशास्त्र तथा दर्शन को समझता है। दक्षकन्या सती ने दक्ष के समक्ष प्रबल तर्क प्रस्तुत किया। कुछ ऐसे महापुरुष हैं, जो अन्यों के गुणों को ही ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार मधुमक्खी को पुष्पों के मधु से वास्ता रहता है, उनके काँटों तथा रंगों से नहीं, उसी प्रकार अत्यधिक योग्य व्यक्ति, जो विरले ही होते हैं, अन्यों के गुणों को ही ग्रहण करते हैं, उनके दोषों पर विचार नहीं करते, किन्तु सामान्य मनुष्य गुण तथा दोषों का निर्णय कर सकता है।

असाधारण महापुरुषों में भी श्रेणियाँ होती हैं और सर्वश्रेष्ठ मनुष्य तो वह है, जो किसी की नगण्य विशेषता को मानकर उस गुण को प्रवर्धित कर देता है। भगवान् शिव आशुतोष भी कहलाते हैं, क्योंकि वे तुरन्त प्रसन्न हो जाते हैं और किसी को भी बड़े से बड़ा वरदान दे देते हैं। उदाहरणार्थ, एक बार एक भक्त ने शिवजी से यह वर माँगा कि वह जिस किसी के सिर का स्पर्श करे, उस व्यक्ति का सिर धड़ से अलग हो जाये। शिवजी ने हामी भर दी। यद्यपि भक्त द्वारा माँगा गया वर प्रशंसनीय नहीं था, क्योंकि वह अपने शत्रु को मारना चाहता था, किन्तु भगवान् शिव ने भक्त की पूजा तथा अर्चना को ही उसका गुण समझ कर उसे वर दे दिया। इस प्रकार शिव ने उसके दुर्गुण को गुण मान लिया। किन्तु सती ने अपने पिता को दोषी ठहराते हुए कहा, "आप बिल्कुल इसके विपरीत हैं। यद्यपि शिव में अनेक गुण हैं और उनमें एक भी दोष नहीं है, किन्तु आपने उन्हें निकृष्ट मानकर उनके दोषों को ढूँढ निकाला है। उनके गुणों को दोष मानने के कारण आप महान् आत्मा न बन कर अत्यन्त पतित बन गये हैं। मनुष्य तभी महान् बनता है जब वह दूसरे के गुणों को स्वीकार करता है, किन्तु आपने वृथा ही अन्यों के गुणों को बुरा समझ कर अपने को सर्वाधिक पतित बना लिया है।"

नाश्चर्यमेतद्यदसत्सु सर्वदा
महद्विनिन्दा कुणपात्मवादिषु ।
सेर्ष्यं महापूरुषपादपांसुभि-
र्निरस्ततेजःसु तदेव शोभनम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; आश्चर्यम्—विस्मयपूर्ण; एतत्—यह; यत्—जो; असत्सु—बुराई; सर्वदा—सदैव; महत्-विनिन्दा—महात्माओं की निन्दा; कुणप-आत्म-वादिषु—शव को ही जिन्होंने आत्मरूप मान रखा है उनमें; स-ईर्ष्यम्—ईर्ष्या; महा-पूरुष—महापुरुषों की; पाद-पांसुभिः—चरण-रज से; निरस्त-तेजःसु—घटा हुआ तेज; तत्—वह; एव—निश्चय ही; शोभनम्—अति उत्तम।

जिन लोगों ने इस नश्वर भौतिक शरीर को ही आत्मरूप मान रखा है, उनके लिए महापुरुषों की निन्दा करना कोई आश्चर्य की बात नहीं। भौतिकतावादी पुरुषों के लिए ऐसी ईर्ष्या ठीक ही है, क्योंकि इसी प्रकार से उनका पतन होता है। वे महापुरुषों की चरण-रज से लघुता प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य : ग्रहणकर्ता की क्षमता पर प्रत्येक वस्तु निर्भर करती है। उदाहरणार्थ, झुलसती धूप में अनेक वनस्पतियाँ तथा पुष्प सूख जाते हैं, तो कई एक लहलहाते हैं। अतः उन्नति और अवनति का

कारण ग्रहणकर्ता ही होता है। इसी प्रकार *महीयसां पादरजोऽभिषेकम्*—महापुरुषों के चरणकमलों की रज ग्रहणकर्ता का कल्याण करनेवाली है, किन्तु वही धूल हानि भी पहुँचा सकती है। जो किसी महापुरुष के चरणकमल के प्रति अपराध करते हैं, वे सूख जाते हैं, उनके दिव्य गुण घट जाते हैं। महापुरुष अपराधों को क्षमा कर सकते हैं, किन्तु कृष्ण उस महापुरुष के चरणकमल की धूल के प्रति किये अपराध को क्षमा नहीं करते। जिस प्रकार कोई अपने सिर पर झुलसती धूप को भले सहन कर ले, किन्तु पाँवों से उसे सहन नहीं कर पाता। अपराधी लगातार नीचे गिरता जाता है, अत: वह महात्मा के चरणों के प्रति अपराध करता जाता है। सामान्य रूप से अपराध वे करते हैं, जो अस्थिर देह को स्व मान बैठते हैं। राजा दक्ष देह को आत्मा मान बैठने के कारण अत्यधिक मोहग्रस्त था। उसने शिवजी के चरणों के प्रति अपराध किया, क्योंकि उसने अपने को सती के शरीर का पिता मानकर अपने शरीर को शिव से श्रेष्ठ मान लिया था। सामान्यत: अल्पज्ञानी ऐसी ही त्रुटि करते हैं और वे देहात्म-बुद्धि से काम लेते हैं। इस प्रकार वे महात्माओं के चरणकमलों के प्रति अधिकाधिक अपराध करते जाते हैं। जो जीवन के प्रति ऐसी विचारधारा रखता है, वह गायों तथा गधों जैसे पशुओं की श्रेणी में गिना जाता है।

यद्द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणां
सकृत्प्रसङ्गादघमाशु हन्ति तत् ।
पवित्रकीर्तिं तमलङ्घ्यशासनं
भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः ॥ १४॥

शब्दार्थ

यत्—जो; द्वि-अक्षरम्—दो अक्षरों वाले; नाम—नाम; गिरा ईरितम्—जीभ से उच्चरित होकर; नृणाम्—मनुष्यों की; सकृत्—एक बार; प्रसङ्गात्—हृदय से; अघम्—पापपूर्ण कृत्य; आशु—तुरन्त; हन्ति—नष्ट कर देता है; तत्—वह; पवित्र-कीर्तिम्—शुद्ध यश; तम्—उसको; अलङ्घ्य-शासनम्—जिनके आदेश की उपेक्षा नहीं की जाती; भवान्—आप; अहो—ओह; द्वेष्टि—द्वेष करते हैं; शिवम्—भगवान् शिव से; शिव-इतरः—अशुभ।

सती ने आगे कहा : हे पिता, आप शिव से द्वेष करके घोरतम अपराध कर रहे हैं क्योंकि उनका दो अक्षरों, शि तथा व, वाला नाम मनुष्य को समस्त पापों से पवित्र करने वाला है। उनके आदेश की कभी उपेक्षा नहीं होती। शिवजी सदैव शुद्ध हैं और आपके अतिरिक्त अन्य कोई उनसे द्वेष नहीं करता।

तात्पर्य : चूँकि इस भौतिक जगत के प्राणियों में शिव ही सबसे महान् आत्मा हैं, अत: जो लोग

देह को आत्मा मानते हैं उनके लिए उनका नाम परम कल्याणकारी है। यदि ऐसे लोग भगवान् शिव की शरण ग्रहण करें तो वे क्रमशः समझ सकेंगे कि वे देह नहीं, वरन् आत्मा हैं। शिव का अर्थ है मंगल। शरीर के भीतर आत्मा मंगल है। *अहं ब्रह्मास्मि* "मैं ब्रह्म हूँ" यह अनुभूति शुभ है। जब तक कोई अपनी पहचान आत्मा से नहीं करता, तब तक वह जो कुछ भी करता है, वह अशुभ है। "शिव" का अर्थ है "मंगलकारी" और शिव के भक्त धीरे-धीरे आत्मबोध के पद को प्राप्त करते हैं, किन्तु यही सब कुछ नहीं है। शुभ जीवन आत्मबोध से ही प्रारम्भ होता है। किन्तु कुछ अन्य कर्तव्य भी होते हैं—मनुष्य को परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को समझना होता है। यदि वास्तव में कोई शिव का भक्त है, तो उसे आत्मबोध होता है। किन्तु यदि वह काफी बुद्धिमान नहीं होता तो वह वहीं रुक जाता है और केवल यही समझ पाता है कि वह आत्मा है (*अहं ब्रह्मास्मि*)। यदि वह बुद्धिमान है, तो उसे शिव के मार्ग पर अग्रसर होते रहना चाहिए, क्योंकि भगवान् शिव निरन्तर वासुदेव के विचारों में लीन रहते हैं। जैसाकि पहले कहा जा चुका है—*सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितम्*—भगवान् शिव सदैव वासुदेव श्रीकृष्ण के चरणकमल का ध्यान करते रहते हैं। इस प्रकार मनुष्य को भगवान् शिव के मंगल पद का बोध तभी होता है जब वह विष्णु की पूजा करता है, क्योंकि *शिवपुराण* में शिव का कथन है कि सर्वश्रेष्ठ पूजा विष्णु की पूजा है। भगवान् शिव पूजे जाते हैं, क्योंकि वे भगवान् विष्णु के सबसे बड़े भक्त हैं। किन्तु हमें कभी भी शिव तथा विष्णु को समान स्तर पर मानने की भूल नहीं करनी चाहिए। ऐसा करना नास्तिक विचार है। *वैष्णवीय पुराण* में यह भी कहा गया है कि विष्णु या नारायण परम पूज्य भगवान् ही हैं और उनकी तुलना किसी से नहीं करनी चाहिए, न तो शिव से, न ब्रह्मा से। अन्य देवताओं की तो बात ही नहीं उठती।

यत्पादपद्मं महतां मनोऽलिभि-
निषेवितं ब्रह्मरसासवार्थिभिः ।
लोकस्य यद्वर्षति चाशिषोऽर्थिन-
स्तस्मै भवान्द्रुह्यति विश्वबन्धवे ॥ १५॥

शब्दार्थ

यत्-पाद-पद्मम्—जिनके चरणकमल; महताम्—महान् पुरुषों के; मनः-अलिभिः—मनरूपी भौरों से; निषेवितम्—संलग्न रहकर; ब्रह्म-रस—दिव्य आनन्द (ब्रह्मानन्द) का; आसव-अर्थिभिः—अमृत की खोज में; लोकस्य—सामान्य जन की; यत्—

जो; वर्षति—पूरी करता है; च—तथा; आशिषः—इच्छाएँ; अर्थिनः—ढूँढते हुए; तस्मै—उस; भवान्—आप; द्रुह्यति—द्रोह करते हैं; विश्व-बन्धवे—तीनों लोक की समस्त जीवात्माओं के मित्र के प्रति।

आप उन शिव से द्रोह करते हैं, जो तीनों लोकों के समस्त प्राणियों के मित्र हैं। वे सामान्य पुरुषों की समस्त इच्छाओं को पूरा करने वाले हैं और *ब्रह्मानन्द* (दिव्य आनन्द) की खोज करने वाले उन महापुरुषों को भी आशीर्वाद देते हैं, जो उनके चरण-कमलों के ध्यान में लीन रहते हैं।

तात्पर्य : सामान्य रूप से मनुष्यों की दो श्रेणियाँ हैं। एक तो वे जो नितान्त भौतिकतावादी हैं, भौतिक सम्पत्ति के कामी हैं और शिव की पूजा करने से जिनकी इच्छाएँ पूरी होती हैं। आशुतोष होने के कारण शिवजी सामान्य जनों की भौतिक इच्छाओं को पूरा करने वाले हैं, अत: यह देखा जाता है कि सामान्य जन उनकी पूजा करने में विशेष तत्पर रहते हैं। दूसरे वे लोग हैं, जो भौतिक जीवन से ऊब गये हैं, वे मोक्ष पाने के लिए शिवजी की पूजा करते हैं जिसका अर्थ है देहात्म-बुद्धि से मुक्ति। जो यह समझता है कि वह देह नहीं, वरन् आत्मा है, वह अविद्या से मुक्ति पा जाता है। भगवान् शिव भी यह सुविधा प्रदान करते हैं। सामान्य रूप से लोग आर्थिक विकास करके धन कमाने के लिए धर्म धारण करते हैं, क्योंकि धन से वे अपनी इन्द्रियों को तुष्ट कर सकते हैं। किन्तु जब वे जीवन से ऊब जाते हैं, वे आत्मिक *ब्रह्मानन्द* चाहते हैं, अर्थात् परमेश्वर से तदाकार होना चाहते हैं। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—ये चार भौतिक जीवन के पुरुषार्थ हैं और भगवान् शिव सामान्य जनों के तथा आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नत लोगों के समान रूप से मित्र हैं। अत: इनसे शत्रुता करना दक्ष के लिए उचित न था। यहाँ तक कि वैष्णव भी, जो इस लोक के सामान्य तथा उन्नत जनों से बढ़कर हैं, शिव की पूजा सर्वश्रेष्ठ वैष्णव के रूप में करते हैं। इस प्रकार वे सबों के मित्र हैं—चाहे सामान्यजन हों, उन्नत जन हों या कि भगवद्भक्त हों—अत: किसी को भी न तो शिवजी का अनादर करना चाहिए, न उनसे शत्रुता करनी चाहिए।

किं वा शिवाख्यमशिवं न विदुस्त्वदन्ये
ब्रह्मादयस्तमवकीर्य जटाः श्मशाने ।
तन्माल्यभस्मनृकपाल्यवसत्पिशाचै-
र्ये मूर्धभिर्दधति तच्चरणावसृष्टम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

किम् वा—अथवा; शिव-आख्यम्—शिव कहलाने वाले; अशिवम्—अशुभ, अमंगल; न विदुः—नहीं जानते; त्वत् अन्ये—आपके अतिरिक्त, अन्य; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा इत्यादि; तम्—उनको (शिव को); अवकीर्य—बिखेरे हुए; जटाः—जटा बनाये; श्मशाने—श्मशान में; तत्-माल्य-भस्म-नृ-कपाली—जो नर-मुंडों की माला पहने और राख लगाये हुए हैं; अवसत्—संग रहने वाले; पिशाचैः—असुरों के साथ; ये—जो; मूर्धभिः—शिर से; दधति—धारण करते हैं; तत्-चरण-अवसृष्टम्—उनके चरणकमल से गिरी हुई।

क्या आप यह सोचते हैं कि आपसे भी बढ़कर सम्माननीय व्यक्ति जैसे भगवान् ब्रह्मा, इस शिव नाम से विख्यात अमंगल व्यक्ति को नहीं जानते? वे श्मशान में असुरों के साथ रहते हैं, उनकी जटाएँ शरीर के ऊपर बिखरी रहती हैं, वे नरमुंडों की माला धारण करते हैं और श्मशान की राख शरीर में लपेटे रहते हैं, किन्तु इन अशुभ गुणों के होते हुए भी ब्रह्मा जैसे महापुरुष उनके चरणों पर चढ़ाये गये फूलों को आदरपूर्वक अपने मस्तकों पर धारण करके उनका सम्मान करते हैं।

तात्पर्य : शिव जैसे महापुरुष की भर्त्सना करना निरर्थक है और ऐसा उनकी पत्नी सती द्वारा कहा जा रहा है, जिससे उनकी श्रेष्ठता सिद्ध हो सके। पहले उन्होंने कहा, "आप शिव को अशुभ कहते हैं, क्योंकि वे श्मशान में असुरों के साथ रहते हैं, अपने शरीर में मृतकों की राख लगाते हैं और नरमुंडों की माला से अपने को सज्जित करते हैं। आपने उनके अनेक दोष बताये हैं; किन्तु आप नहीं जानते कि उनकी स्थिति सदैव दिव्य है। यद्यपि वे अशुभ प्रतीत होते हैं, तो फिर ब्रह्मा जैसे महापुरुष उनके चरणकमलों की धूलि को अपने मस्तकों पर धारण करके उनका सम्मान क्यों करते हैं जिनकी आप निन्दा करते हैं?" चूँकि सती साध्वी स्त्री थीं और शिव की पत्नी थीं, अत: यह उनका कर्तव्य था कि वे शिव के उच्च पद को न केवल भावनाओं से वरन् तथ्यों के आधार पर स्थापित करें। शिव कोई सामान्य जीवात्मा नहीं हैं। यही शास्त्रों का मत है। वे न तो भगवान् के स्तर पर हैं और न सामान्य जीवात्माओं के स्तर पर। ब्रह्मा प्राय: सभी प्रकार से सामान्य जीवात्मा हैं। कभी-कभी जब कोई सामान्य जीवात्मा उपलब्ध नहीं होता तो ब्रह्मा का पद विष्णु के किसी विस्तार (अंश) द्वारा ग्रहण किया जाता है, किन्तु साधारणत: यह पद इस ब्रह्माण्ड की सबसे पवित्र जीवात्मा द्वारा ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार शिव का पद वैधानिक रूप में ब्रह्मा से सदैव उँचा रहता है, यद्यपि शिवजी ब्रह्मा के पुत्र रूप में उत्पन्न हुए हैं। यहाँ इसका उल्लेख है कि ब्रह्मा जैसे पुरुष भी शिव के चरणकमलों की तथाकथित अशुभ धूल तथा फूलों को स्वीकार करते हैं। ब्रह्मा के वंशज नौ महर्षियों में से मरीचि,

अत्रि, भृगु इत्यादि भी शिव का इसीप्रकार आदर करते हैं, क्योंकि उन्हें ज्ञात है कि शिवजी कोई सामान्य जीवात्मा नहीं हैं।

अनेक पुराणों में कभी-कभी इसकी पुष्टि की जाती है कि कोई-कोई देवता इतना ऊपर उठ जाता है कि वह लगभग भगवान् के पद तक पहुँच जाता है, किन्तु प्रत्येक धर्मग्रन्थ में इसकी पुष्टि हुई है कि भगवान् विष्णु ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् (परमेश्वर) हैं। *ब्रह्म संहिता* में शिव को दही या मट्ठा जैसा कहा गया है। दही दूध से भिन्न नहीं, क्योंकि दूध से ही दही बनता है, अत: एक अर्थ में दही दूध ही है। इसी प्रकार शिव भी एक प्रकार से श्रीभगवान् हैं, किन्तु दूसरे विचार से वे ऐसे नहीं हैं, क्योंकि जैसे दही दूध होते हुए भी हमें दूध तथा दही में भेद करना पड़ता है। ये विवरण वैदिक साहित्य में उपलब्ध हैं। जब भी हम किसी देवता को भगवान् से अधिक उच्च पद पर आसीन पाते हैं, तो उसका उद्देश्य उस देवता विशेष के प्रति भक्तों का ध्यान आकर्षित करना होता है। *भगवद्गीता* (९.२५) में यह भी कहा गया है यदि कोई किसी विशेष देवता को पूजना चाहता है, तो सबों के हृदय में आसीन भगवान् उस देवता के प्रति अधिकाधिक आसक्ति उत्पन्न करते हैं, जिससे वह व्यक्ति उस देवता के धाम को पहुँच सके। *यान्ति देवव्रता देवान्।* देवताओं की पूजा द्वारा मनुष्य देवताओं के धाम को प्राप्त हो सकता है, इस प्रकार भगवान् की पूजा द्वारा वह दिव्य लोक को जा सकता है। वैदिक साहित्य में इसका स्थान-स्थान पर उल्लेख है। यहाँ पर सती द्वारा शिव की प्रशंसा कुछ तो पति होने से उनके प्रति व्यक्तिगत आदर के कारण और कुछ उनकी पूज्य स्थिति के कारण है, जो सामान्य जीवात्माओं, यहाँ तक कि ब्रह्मा से भी, बढ़कर है।

जब शिव के पद को ब्रह्मा मानते हैं, तो सती के पिता दक्ष को भी यह मानना चाहिए था। सती के कथन का यही तात्पर्य था। वे वास्तव में अपने पिता के घर उत्सव में सम्मिलित होने नहीं आई थीं, यद्यपि आने के पूर्व उन्होंने अपने पति से यही तर्क दियी था कि वे अपनी बहनों तथा माता से भेंट करना चाहती थीं। यह तो कोरी दलील थी, क्योंकि अपने अन्त:करण में उन्होंने यह भाव बना रखा था कि वे अपने पिता दक्ष को आश्वस्त करेंगी कि शिव से विरोध बनाए रखना वृथा है। यही उनका मुख्य उद्देश्य था। किन्तु जब वे अपने पिता को समझा पाने में असमर्थ हो गई तो उन्होंने पिता द्वारा प्रदत्त

शरीर को त्याग दिया, जैसाकि अगले श्लोकों में को मिलेगा।

कर्णौ पिधाय निरयाद्यदकल्प ईशे
धर्मावितर्यसृणिभिर्नृभिरस्यमाने ।
छिन्द्यात्प्रसह्य रुशतीमसतीं प्रभुश्चे-
ज्जिह्वामसूनपि ततो विसृजेत्स धर्मः ॥ १७॥

शब्दार्थ

कर्णौ—दोनों कान; पिधाय—बन्द करके; निरयात्—चले जाना चाहिए; यत्—यदि; अकल्पः—असमर्थ; ईशे—स्वामी; धर्म-अवितरि—धर्म का नियंत्रक; असृणिभिः—निरंकुश; नृभिः—व्यक्ति; अस्यमाने—कलंकित होकर; छिन्द्यात्—काट देना चाहिए; प्रसह्य—बलपूर्वक; रुशतीम्—निन्दा करने वाली; असतीम्—निन्दक की; प्रभुः—समर्थ; चेत्—यदि; जिह्वाम्—जीभ; असून्—(अपना) जीवन; अपि—निश्चय ही; ततः—तब; विसृजेत्—त्याग देना चाहिए; सः—वह; धर्मः—विधि है।

सती ने आगे कहा : यदि कोई किसी निरंकुश व्यक्ति को धर्म के स्वामी तथा नियंत्रक की निन्दा करते सुने और यदि वह उसे दण्ड देने में समर्थ नहीं है, तो उसे चाहिए कि कान मूँद कर वहाँ से चला जाय। किन्तु यदि वह मारने में सक्षम है, तो उसे चाहिए कि वह बलपूर्वक निन्दक की जीभ काट ले और अपराधी का वध कर दे। तत्पश्चात् वह अपने भी प्राण त्याग दे।

तात्पर्य : सती ने जो तर्क दिया वह यह है कि जो मनुष्य किसी महान् पुरुष की निन्दा करता है, वह अधम है। किन्तु उसी तर्क से दक्ष यह कहकर सफाई दे सकता था कि प्रजापति होने के कारण उसका पद इतना सम्माननीय था कि सती निन्दा करने के बजाय उसके गुणों को स्वीकार कर सकती थी। किन्तु इस तर्क का उत्तर यह है कि सती निन्दा नहीं कर रही थी, वह तो सफाई दे रही थी। यदि सम्भव होता तो वह दक्ष की जीभ काट लेती, क्योंकि उसने शिव की निन्दा की थी। दूसरे शब्दों में, चूँकि शिव धर्म के रक्षक हैं, अतः जो कोई भी उनकी निन्दा करता है, उसका तुरन्त वध कर दिया जाना चाहिए और ऐसे व्यक्ति को मारने के बाद स्वयं अपने प्राण दे देने चाहिए। यही विधान है। किन्तु दक्ष सती का पिता था, इसलिए सती ने उसे मारने की अपेक्षा अपने प्राण दे देना उचित समझा। इससे उस पाप से मुक्ति मिल जाएगी, जो उसने शंकर का अपमान सुनकर किया था। *श्रीमद्भागवत* में यह शिक्षा दी गई है कि किसी भी दशा में उस व्यक्ति की हरकतों को, जो किसी महापुरुष का अपमान करता है, सहन नहीं करना चाहिए। यदि कोई ब्राह्मण हो तो उसे चाहिए कि वह अपना शरीर न त्यागे, क्योंकि ऐसा करने से उसे ब्राह्मण-वध का पाप चढ़ेगा, अतः ब्राह्मण को चाहिए कि वह उस स्थान को

छोड़कर चला जाये या फिर अपने कान बन्द कर ले जिससे वह अपमान की बातें न सुन सके। यदि वह क्षत्रिय है, तो उसमें इतनी शक्ति होती है कि वह किसी भी व्यक्ति को दंड दे सके, अत: क्षत्रिय को चाहिए कि निन्दक की जीभ तुरन्त काट कर उसका वध कर दे। किन्तु जहाँ तक वैश्यों तथा शूद्रों का प्रश्न है, उन्हें चाहिए कि वे तुरन्त अपने प्राण दे दें। सती ने अपना शरीर त्यागने का संकल्प किया, क्योंकि उसने अपने को शूद्रों तथा वैश्यों में से एक समझा। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.३२) में कहा गया है *स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा: ।* स्त्रियाँ, श्रमिक तथा वणिक वर्ग एक ही स्तर के हैं। चूँकि यह संस्तुति की गई है कि शिव जैसे किसी महापुरुष की निन्दा सुनने पर शूद्रों तथा वैश्यों को अपने प्राण दे देने चाहिए, अत: सती ने अपने प्राण देने का निश्चय किया।

अतस्तवोत्पन्नमिदं कलेवरं
न धारयिष्ये शितिकण्ठगर्हिण: ।
जग्धस्य मोहाद्धि विशुद्धिमन्धसो
जुगुप्सितस्योद्धरणं प्रचक्षते ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अत:—इसलिए; तव—तुम से; उत्पन्नम्—प्राप्त; इदम्—यह; कलेवरम्—शरीर; न धारयिष्ये—धारण नहीं करूँगी; शिति-कण्ठ-गर्हिण:—शिव को अपमानित करने वाला; जग्धस्य—खाया गया; मोहात्—भूल से; हि—क्योंकि; विशुद्धिम्—शुद्धि; अन्धस:—भोजन का; जुगुप्सितस्य—विषैला; उद्धरणम्—वमन, कै; प्रचक्षते—घोषित किया जाता है।

अत: मैं इस अयोग्य शरीर को, जिसे मैंने आपसे प्राप्त किया है और अधिक काल तक धारण नहीं करूँगी, क्योंकि आपने शिवजी की निन्दा की है। यदि कोई विषैला भोजन कर ले तो सर्वोत्तम उपचार यही है कि उसे वमन कर दिया जाय।

तात्पर्य : चूँकि सती भगवान् की बहिरंगा शक्ति की प्रतिनिधि थीं, अत: यह उनके वश में था कि वे अनेक ब्रह्माण्डों को, जिसमें अनेकों दक्ष सम्मिलित हैं, विनष्ट कर दें, किन्तु अपने पति को इस दोषारोपण से बचाने के लिए कि उन्होंने दक्ष को मारने के लिए अपनी पत्नी सती को माध्यम बनाया, क्योंकि वे स्वयं निम्न पद पर स्थित होने से वैसा नहीं कर सके, सती ने अपना शरीर त्यागने का निश्चय किया।

न वेदवादाननुवर्तते मति:

स्व एव लोके रमतो महामुनेः ।
यथा गतिर्देवमनुष्ययोः पृथक्
स्व एव धर्मे न परं क्षिपेत्स्थितः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वेद-वादान्—वेदों के विधि-विधान; अनुवर्तते—पालन करते; मतिः—मन; स्वे—अपनी ओर से; एव—निश्चय ही; लोके—आत्म में; रमतः—भोगता हुआ; महा-मुनेः—दिव्य पुरुषों का; यथा—जिस प्रकार; गतिः—मार्ग, ढंग; देव-मनुष्ययोः—मनुष्यों तथा देवताओं का; पृथक्—अलग-अलग; स्वे—अपने में; एव—अकेले; धर्मे—कर्तव्य; न—नहीं; परम्—अन्य; क्षिपेत्—आलोचना करे; स्थितः—स्थित होकर।

दूसरों की आलोचना करने से श्रेयस्कर है कि अपना कर्तव्य निभाया जाये। बड़े-बड़े दिव्य पुरुष भी कभी-कभी वेदों के विधि-विधानों का उल्लंघन कर देते हैं, क्योंकि उन्हें अनुसरण करने की आवश्यकता नहीं होती, ठीक उसी प्रकार जैसे कि देवता तो आकाश मार्ग में विचरते हैं, किन्तु सामान्य जन धरती पर चलते हैं।

तात्पर्य : उच्चस्थ योगियों तथा अत्यन्त पतित बद्धजीव का आचरण एक सा प्रतीत होता है। उच्चस्थ योगी वेदों के समस्त विधानों का अतिक्रमण कर सकते हैं जिस प्रकार कि आकाश में विचरण करने वाले देवता पृथ्वी के समस्त जंगलों तथा शैलों को पार कर लेते हैं, किन्तु सामान्य पुरुष को ऐसी सुविधा न होने से इन सारे व्यवधानों का सामना करना पड़ता है। यद्यपि परम प्रिय शिव वेदों के विधि-विधानों का लेशमात्र भी पालन करते प्रतीत नहीं होते, और ऐसी अवज्ञा से उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु यदि सामान्य पुरुष उनकी नकल करना चाहे तो वह बड़ी भारी भूल करेगा। सामान्य पुरुष को वेदों के समस्त विधि-विधानों का पालन करना चाहिए जबकि दिव्य स्थिति को प्राप्त पुरुष को इन सबके पालन की आवश्यकता नहीं रह जाती। दक्ष ने शिव पर दोषारोपण किया था कि वे वेदों के कठोर विधि-विधानों का पालन नहीं करते, किन्तु सती ने बलपूर्वक बताना चाहा कि उन्हें ऐसे नियमों के पालन की कोई आवश्यकता न थी। कहा गया है कि जो सूर्य या अग्नि के समान तेजस्वी हो उसे शुद्धि या अशुद्धि की कोई परवाह नहीं रहती। धूप अपवित्र स्थान को जीवाणु रहित कर सकती है, किन्तु यदि अन्य किसी को वहाँ से निकल कर जाना पड़े तो वह प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा। मनुष्य को चाहिए कि शिवजी की नकल न करे, अपितु अपने निर्दिष्ट कर्तव्यों का दृढ़ता से पालन करे। उसे चाहिए कि वह शिवजी जैसे महापुरुष की कभी भी निन्दा न करे।

कर्म प्रवृत्तं च निवृत्तमप्यृतं
वेदे विविच्योभयलिङ्गमाश्रितम् ।
विरोधि तद्यौगपदैककर्तरि
द्वयं तथा ब्रह्मणि कर्म नर्च्छति ॥ २० ॥

शब्दार्थ

कर्म—कार्य; प्रवृत्तम्—भौतिक सुख में आसक्त; च—तथा; निवृत्तम्—भौतिक दृष्टि से विरक्त; अपि—निश्चय ही; ऋतम्—सत्य; वेदे—वेदों में; विविच्य—अन्तर वाले; उभय-लिङ्गम्—दोनों के लक्षण; आश्रितम्—निर्देशित; विरोधि—विरोधी; तत्—वह; यौगपद-एक-कर्तरि—एक ही व्यक्ति में दोनों कर्म; द्वयम्—दो; तथा—अत:; ब्रह्मणि—दिव्य पुरुष में; कर्म—कार्य; न ऋच्छति—उपेक्षित होते हैं।

वेदों में दो प्रकार के कर्मों के निर्देश दिये गये हैं—एक उनके लिए जो भौतिक सुख में लिप्त हैं और दूसरा उनके लिए जो भौतिक रूप से विरक्त हैं। इन दो प्रकार के कर्मों का विचार करते हुए दो प्रकार के मनुष्य हैं जिनके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। यदि कोई एक ही व्यक्ति में इन दोनों प्रकार के कर्मों को देखना चाहता है, तो यह विरोधाभास होगा। किन्तु दिव्य पुरुष के द्वारा इन दोनों प्रकार के कर्मों की उपेक्षा की जा सकती है।

तात्पर्य : वैदिक कर्मों को इस प्रकार से निरूपित किया गया है कि बद्धजीव निर्दिष्ट स्थिति में इस संसार का भोग करके अन्त में भोग से विरक्त होकर दिव्य स्थिति को प्राप्त हो। चारों सामाजिक आश्रम—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास—दिव्य जीवन के पद तक उत्तरोत्तर पहुँचने की शिक्षा देते हैं। गृहस्थ के कर्म तथा वेश संन्यासी से भिन्न हैं। एक ही व्यक्ति के लिए इन दोनों आश्रमों को ग्रहण कर पाना असम्भव है। न तो संन्यासी गृहस्थ की तरह कर्म कर सकता है और न गृहस्थ संन्यासी की भाँति। किन्तु इन दो प्रकार के मनुष्यों के ऊपर मनुष्य की तीसरी कोटि भी है, जो इन दोनों से परे हैं। भगवान् शिव को दिव्य पद प्राप्त है, क्योंकि ऊपर कहे अनुसार वे अपने अन्तर में भगवान् वासुदेव के ध्यान में खोये रहते हैं। अत: उन पर न तो गृहस्थ के और न संन्यासियों के कर्म लागू होते हैं। वे *परमहंस* अवस्था को प्राप्त हैं। *भगवद्गीता* (२.५२-५३) में भी शिव की दिव्य स्थिति की व्याख्या है। वहाँ यह कहा गया है कि जब फल की इच्छा के बिना कर्म करते हुए भगवान् की दिव्य सेवा की जाती है, तो मनुष्य दिव्य पद को प्राप्त होता है। उस समय उसके लिए वैदिक आदेशों या वेदों के विभिन्न विधि-विधानों का पालन करना अनिवार्य नहीं होता। जब मनुष्य वैदिक अनुष्ठानों से सम्बन्धित अपनी कामनाओं को पूरा करने के आदेशों के ऊपर उठकर दिव्य विचार में पूर्णत: खोया रहता है,

अर्थात् भगवान् के विचार में मग्न रहता है, तो इस स्थिति को *बुद्धियोग* या *समाधि* कहते हैं। जो पुरुष इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है उस पर न तो भौतिक सुख प्राप्त करने के और न विरक्ति के वैदिक कर्म लागू होते हैं।

मा वः पदव्यः पितरस्मदास्थिता
या यज्ञशालासु न धूमवर्त्मभिः ।
तदन्नतृप्तैरसुभृद्भिरीडिता
अव्यक्तलिङ्गा अवधूतसेविताः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

मा—नहीं हैं; वः—तुम्हारे; पदव्यः—ऐश्वर्य; पितः—हे पिता; अस्मत्-आस्थिताः—हमारे द्वारा प्राप्त; याः—जो (ऐश्वर्य); यज्ञ-शालासु—यज्ञ की अग्नि में; न—नहीं; धूम-वर्त्मभिः—यज्ञों के पथ द्वारा; तत्-अन्न-तृप्तैः—यज्ञ के अन्न द्वारा तृप्त; असु-भृद्भिः—शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला; ईडिताः—प्रशंसित; अव्यक्त-लिङ्गाः—जिसका कारण प्रकट नहीं है; अवधूत-सेविताः—स्वरूपसिद्ध व्यक्तियों द्वारा प्राप्त।

हे पिता, हमारे पास जो ऐश्वर्य है उसकी कल्पना कर पाना न तो आपके लिए और न आपके चाटुकारो के लिए सम्भव है, क्योंकि जो पुरुष महान् यज्ञों को सम्पन्न करके सकाम कर्म में प्रवृत्त होते हैं, वे तो अपनी शारीरिक आवश्यकताओं को यज्ञ में अर्पित अन्न खाकर पूरा करने की चिन्ता में लगे रहते हैं। हम वैसा सोचने मात्र से ही अपने ऐश्वर्य का प्रदर्शन कर सकते हैं। ऐसा वे ही कर सकते हैं, जो विरक्त, स्वरूपसिद्ध महापुरुष हैं।

तात्पर्य : सती के पिता इस भुलावे में थे कि वे प्रतिष्ठा तथा ऐश्वर्य दोनों में बड़े हैं और उन्होंने अपनी कन्या ऐसे व्यक्ति को दी है, जो न केवल निर्धन है, वरन् समस्त संस्कृति से रहित है। उनके पिता यह सोचते रहे होंगे कि यद्यपि मेरी पुत्री परम साध्वी है और अपने पति की अनुगामिनी है, किन्तु उसके पति की दशा दयनीय है। ऐसे विचारों के प्रत्युत्तर में सती ने कहा कि उनके पति के ऐश्वर्य को दक्ष जैसे भौतिकतावादी व्यक्ति तथा उनके अनुचर नहीं समझ सकते जो झूठी बड़ाई करने वाले तथा सकाम कर्मों में लगे रहने वाले हैं। उनके पति की स्थिति सर्वथा भिन्न थी। उनके पास सारा ऐश्वर्य था, किन्तु वे उसका प्रदर्शन करना नहीं चाहते थे। अतः ऐसे ऐश्वर्य को अव्यक्त कहा जाता है। किन्तु यदि आवश्यकता पड़े तो इच्छा मात्र से वे अपना अद्भुत ऐश्वर्य दिखला सकते हैं और ऐसी घटना का यहाँ पूर्वाभास मिलता है क्योंकि ऐसा शीघ्र ही घटनेवाला है। शिव द्वारा अधिकृत ऐश्वर्य का भोग वैराग्य

तथा ईश्वरप्रेम में किया जा सकता है, इन्द्रियतृप्ति के लिए अपनाये जाने वाली भौतिक विधियों के द्वारा नहीं। ऐसे ऐश्वर्य के स्वामी कुमारगण, नारद तथा शिव जैसे महापुरुष हैं, अन्य कोई नहीं।

इस श्लोक में वैदिक अनुष्ठान करने वालों की भर्त्सना की गई है। उन्हें *धूम वर्त्मभि:* कहा गया है अर्थात् जो यज्ञ के उच्छिष्ट अन्न से अपना पोषण करते हैं। यज्ञ में दो प्रकार के अन्नों की भेंट अर्पित की जाती है। एक तो सकाम आनुष्ठानिक यज्ञों में चढ़ाया अन्न तथा दूसरा है, विष्णु को चढ़ाया गया अन्न जो सर्वोत्तम होता है। यद्यपि यज्ञ की वेदी में सभी प्रकार से विष्णु ही प्रमुख देव हैं, किन्तु सकाम अनुष्ठानों के कर्ता कुछ-न-कुछ भौतिक सम्पन्नता प्राप्त करने के उद्देश्य से विभिन्न देवताओं को प्रसन्न करना चाहते हैं। किन्तु वास्तविक यज्ञ का उद्देश्य तो विष्णु को प्रसन्न करना है और ऐसे यज्ञों के अवशेष भक्ति को बढ़ाने में लाभप्रद हैं। विष्णु के अतिरिक्त अन्य को लक्ष्य बनाकर किये जाने वाले यज्ञों के करने से उन्नति की प्रक्रिया अत्यन्त मन्द होती है। इसीलिए इस श्लोक में इसकी भर्त्सना की गई है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अनुष्ठान सम्मन्न कराने वालों को कौवों की तरह बताया है, क्योंकि कौवों को कूड़ेदान में फेंका गया जूठन खाने में आनन्द मिलता है। सती ने यज्ञ कराने के लिए उपस्थित समस्त ब्राह्मणों की भी भर्त्सना की।

भले ही राजा दक्ष तथा उनके प्रशंसकों ने शिव की स्थिति को समझा हो या नहीं, सती अपने पिता को यह बता देना चाहती थीं कि उन्हें यह कदापि नहीं सोचना चाहिए कि उनके पति ऐश्वर्य से विहीन हैं। शिवजी की निष्ठावान पत्नी होने के कारण सती शिव के उपासकों को सभी प्रकार का भौतिक ऐश्वर्य प्रदान करती हैं। इस तथ्य की व्याख्या *श्रीमद्भागवत* में दशम स्कन्ध में की गई है। कभी-कभी शिव के उपासक भगवान् विष्णु के उपासकों से अधिक ऐश्वर्यवान लगते हैं, क्योंकि दुर्गा अथवा सती सांसारिक कार्य कलापों की अधीक्षक हैं, और अपने पति को यशस्वी बनाने के लिए वे उपासकों को सभी प्रकार का भौतिक ऐश्वर्य प्रदान करती रहती हैं, जबकि विष्णु के उपासक तो आध्यात्मिक उन्नति के निमित्त हैं, अत: कभी-कभी उनका भौतिक ऐश्वर्य घटता प्रतीत होता है। दशम स्कंध में ये सारी बातें सुन्दर ढंग से समझाई गईं हैं।

नैतेन देहेन हरे कृतागसो
देहोद्भवेनालमलं कुजन्मना ।
व्रीडा ममाभूत्कुजनप्रसङ्गतस्
तज्जन्म धिग्यो महतामवद्यकृत् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतेन—इस; देहेन—देह के द्वारा; हरे—शिव के प्रति; कृत-आगसः—अपराध करके; देह-उद्भवेन—आपके शरीर से उत्पन्न; अलम् अलम्—बहुत हुआ, बहुत हुआ, बस बस; कु-जन्मना—निन्दनीय जन्म से; व्रीडा—लज्जा; मम—मेरा; अभूत्—था; कु-जन-प्रसङ्गतः—बुरे व्यक्ति के साथ से; तत् जन्म—वह जन्म; धिक्—धिक्कार है, लज्जाजनक; यः—जो; महताम्—महापुरुषों का; अवद्य-कृत्—अपराधी।.

आप भगवान् शिव के चरणकमलों के प्रति अपराधी हैं और दुर्भाग्यवश मेरा शरीर आपसे उत्पन्न है। मुझे अपने इस शारीरिक सम्बन्ध के लिए अत्यधिक लज्जा आ रही है और मैं अपनी स्वयं भर्त्सना करती हूँ कि मेरा शरीर ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध से दूषित है, जो महापुरुष के चरणकमलों के प्रति अपराधी है।

तात्पर्य : शिवजी भगवान् विष्णु के समस्त भक्तों में सर्वोच्च हैं। कहा गया है—*वैष्णवानां यथा शम्भुः ।* शम्भु अर्थात् शिव, भगवान् विष्णु के सबसे बड़े भक्त हैं। पिछले श्लोकों में सती ने कहा है कि शिव सदैव दिव्य स्थिति को प्राप्त रहते हैं, क्योंकि वे शुद्ध *वसुदेव* अवस्था में स्थित रहते हैं। वसुदेव वह अवस्था है, जिससे *वासुदेव* श्रीकृष्ण उत्पन्न हैं, अतः शिवजी श्रीकृष्ण के सबसे बड़े भक्त हैं और सती का आचरण आदर्शमय है, क्योंकि किसी को भी भगवान् विष्णु या उनके भक्त का अपमान सहन नहीं करना चाहिए। सती को शिव की संगिनी होने का खेद नहीं है बल्कि दुख इसका है कि उनका शरीर दक्ष से उत्पन्न है, जो शिवजी के चरणकमलों के प्रति अपराधी है। वे अपने को धिक्कारती हैं, क्योंकि उनका यह शरीर उनके पिता दक्ष द्वारा प्रदत्त है।

गोत्रं त्वदीयं भगवान्वृषध्वजो
दाक्षायणीत्याह यदा सुदुर्मनाः ।
व्यपेतनर्मस्मितमाशु तदाहं
व्युत्स्रक्ष्य एतत्कुणपं त्वदङ्गजम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

गोत्रम्—पारिवारिक सम्बन्ध; त्वदीयम्—आपका; भगवान्—समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी; वृषध्वजः—शिव; दाक्षायणी—दक्ष की कन्या, दाक्षायणी; इति—इस प्रकार; आह—कहती है; यदा—जब; सुदुर्मनाः—अत्यन्त खिन्न; व्यपेत—अदृश्य होते हैं; नर्म-स्मितम्—मेरी प्रसन्नता तथा हँसी; आशु—तुरन्त; तदा—तब; अहम्—मैं; व्युत्स्रक्ष्ये—त्याग दूँगी; एतत्—यह (शरीर); कुणपम्—मृत शरीर; त्वत्-अङ्ग-जम्—तुम्हारे शरीर से उत्पन्न।.

जब शिवजी मुझे दाक्षायणी कह कर पुकारते हैं, तो अपने पारिवारिक सम्बन्ध के कारण मैं तुरन्त खिन्न हो उठती हूँ और मेरी सारी प्रसन्नता तथा हँसी तुरन्त भाग जाती है। मुझे अत्यन्त खेद होता है कि मेरा यह थैले जैसा शरीर आपके द्वारा उत्पन्न है। अत: मैं इसे त्याग दूँगी।

तात्पर्य : *दाक्षायणी* शब्द का अर्थ है ''राजा दक्ष की पुत्री।'' कभी-कभी पति तथा पत्नी अवकाश के क्षणों में बातें करते तो शिवजी सती को ''दाक्षायणी'' कहते और चूँकि इस शब्द से ही उन्हें राजा दक्ष से अपने सम्बन्ध की याद आ जाती तो वह लज्जित होतीं, क्योंकि दक्ष तो समस्त अपराधों का अवतार था। वह द्वेष-रूप था, क्योंकि वह वृथा ही शिव जैसे महापुरुष की निन्दा करता था। अत: *दाक्षायणी* शब्द को सुनते ही वे शोकाकुल हो उठतीं, क्योंकि दक्ष से उत्पन्न होने से उनका शरीर भी अपराधों का प्रतीक था। चूँकि उनका शरीर सतत अप्रसन्नता का कारण बना रहता था, इसलिए उन्होंने उसे त्याग देने का निश्चय किया।

मैत्रेय उवाच
इत्यध्वरे दक्षमनूद्य शत्रुहन्
क्षितावुदीचीं निषसाद शान्तवाक् ।
स्पृष्ट्वा जलं पीतदुकूलसंवृता
निमील्य दृग्योगपथं समाविशत् ॥ २४॥

शब्दार्थ

मैत्रेय: उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; अध्वरे—यज्ञस्थल में; दक्षम्—दक्ष को; अनूद्य—बोल कर; शत्रु-हन्—शत्रुओं के विनाशकर्ता; क्षितौ—पृथ्वी पर; उदीचीम्—उत्तर की ओर; निषसाद—बैठ गई; शान्त-वाक्—चुप होकर; स्पृष्ट्वा—छूकर; जलम्—जल; पीत-दुकूल-संवृता—पीले वस्त्रों से आच्छादित; निमील्य—मूँद कर; दृक्—दृष्टि; योग-पथम्—योग क्रिया; समाविशत्—ध्यानमग्न हो गई।

मैत्रय ऋषि ने विदुर से कहा : हे शत्रुओं के संहारक, यज्ञस्थल में अपने पिता से ऐसा कह कर सती भूमि पर उत्तरमुख होकर बैठ गईं। केसरिया वस्त्र धारण किये उन्होंने जल से अपने को पवित्र किया और योगक्रिया में अपने को ध्यानमग्न करने के लिए अपनी आँखें मूँद लीं।

तात्पर्य : कहा जाता है कि जब मनुष्य अपना शरीर त्यागना चाहता है, तो वह केसरिया वस्त्र पहन लेता है। अत: ऐसा लगता है कि सती ने अपने वस्त्र बदल दिये, जिससे यह पता चल जाये कि वे दक्ष द्वारा प्रदत्त शरीर को त्यागने जा रही हैं। दक्ष सती के पिता थे, अत: उनका वध करने के बजाय सती ने उनके द्वारा प्रदत्त अपने शरीर को नष्ट करना श्रेयस्कर समझा। उन्होंने अपने शरीर को योगक्रिया द्वारा

त्याग देने का निश्चय किया। सती योगेश्वर शिव की पत्नी थीं। शिवजी समस्त योगियों में श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे समस्त *योग-क्रियाएँ* जानते हैं, अत: ऐसा जान पड़ता है कि सती भी यह सब जानती थीं। या तो उन्होंने अपने पति से योग सीखा, अथवा दक्ष जैसे महान् सम्राट् की पुत्री होने के कारण वे सुशिक्षित थीं। योग की सिद्धि इसी में है कि स्वेच्छा से मनुष्य अपना शरीर छोड़ दे या भौतिक तत्त्वों के संयोग से अपने को छुटकारा दिला ले। जो योगी सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं उनकी मृत्यु प्राकृतिक नियमों के अनुसार नहीं होती, ऐसे सिद्ध योगी अपनी इच्छानुसार शरीर त्यागते हैं। सामान्य रूप से योगी पहले शरीर के भीतर की वायु को साधने से सिद्धहस्त हो जाता है और इस प्रकार आत्मा को मस्तिष्क के शीर्ष पर ले आता है। फिर जब शरीर से ज्वाला फुट पड़ती है तो योगी इच्छानुसार कहीं भी जा सकता है। इस प्रकार की योगपद्धति में आत्मा को मान्यता दी जाती है और इस प्रकार यह उस तथाकथित योगविधि से भिन्न है, जिसे आधुनिक युग में शरीर की कोशिकाओं के ऊपर नियंत्रण रखने के लिए ढूँढ निकाला गया है। वास्तविक योगपद्धति में आत्मा के एक लोक से दूसरे लोक तक या एक शरीर से दूसरे शरीर में स्थानान्तरण को अपनाया जाता है और इस घटना से ऐसा लगता है कि सती अपनी आत्मा को अन्य शरीर में या लोक में स्थानान्तरित करना चाहा था।

कृत्वा समानावनिलौ जितासना
सोदानमुत्थाप्य च नाभिचक्रतः ।
शनैर्हृदि स्थाप्य धियोरसि स्थितं
कण्ठाद्भ्रुवोर्मध्यमनिन्दितानयत् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

कृत्वा—स्थापित करके; समानौ—साम्यावस्था में; अनिलौ—प्राण तथा अपान वायुओं को; जित-आसना—आसन को वश में करके; सा—वह (सती); उदानम्—प्राण वायु; उत्थाप्य—उठाकर; च—तथा; नाभि-चक्रतः—नाभिचक्र पर; शनैः—धीरे-धीरे; हृदि—हृदय में; स्थाप्य—स्थापित करके; धिया—बुद्धि से; उरसि—फुफ्फुस मार्ग की ओर; स्थितम्—स्थापित की जाकर; कण्ठात्—कंठ से होकर; भ्रुवोः—भौंहों के; मध्यम्—बीच में; अनिन्दिता—निष्कलंक (सती); आनयत्—ऊपर ले गई।

सबसे उन्होंने अपेक्षित रीति से आसन जमाया और फिर प्राणवायु को ऊपर खींचकर नाभि के निकट सन्तुलित अवस्था में स्थापित कर दिया। तब प्राणवायु को उत्थापित करके, बुद्धिपूर्वक उसे वे हृदय में ले गईं और फिर धीरे-धीरे श्वास मार्ग से होते हुए क्रमशः दोनों भौंहों के बीच में ले आईं।

तात्पर्य : यौगिक क्रिया शरीर के भीतर *षट्चक्रों* में घूमती हुई वायु का निरोध है। वायु को उदर से नाभि, नाभि से हृदय, हृदय से कंठ, कंठ से दोनों भौंहों के बीच में और अन्त में भौंहों के मध्य से मस्तिष्क के शीर्ष भाग में ले जाया जाता है। योगाभ्यास की यही क्रिया है। वास्तविक योगपद्धति के अभ्यास के पूर्व मनुष्य को आसनों का अभ्यास करना होता है, क्योंकि इससे श्वास की क्रियाओं में सहायता मिलती है और ऊपर तथा नीचे की ओर जाने वाली वायु का संयमन हो सकता है। योग की सर्वोच्च सिद्धावस्था प्राप्त करने के लिए इस विशाल तकनीक का अभ्यास करना होता है, किन्तु यह अभ्यास इस युग के लिए नहीं है। इस युग में कोई भी योग में सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। किन्तु कुछ लोग आसनों का अभ्यास करते हैं, जो एक तरह से व्यायाम ही है। ऐसे शारीरिक व्यायाम से रक्त संचार अच्छा हो सकता है और शरीर स्वस्थ रह सकता है, किन्तु यदि कोई इन्हीं व्यायामों तक अपने को सीमित रखता है, तो उसे उच्चतम सिद्धावस्था प्राप्त नहीं हो सकती। *केशव-श्रुति* में योगक्रिया का वर्णन मिलता है, जिसमें बताया गया है कि प्राणशक्ति को किस प्रकार इच्छानुसार नियंत्रित किया जा सकता है और एक शरीर से दूसरे में या एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, योगाभ्यास शरीर को स्वस्थ रखने के लिए नहीं होता। आध्यात्मिक अनुभूति की कोई भी दिव्य क्रिया स्वत: ही शरीर को ठीक रखती है, क्योंकि आत्मा से शरीर सदा स्वस्थ रहता है। ज्योंही आत्मा शरीर को त्याग देता है, शरीर सड़ने लगता है। कोई भी आध्यात्मिक क्रिया बाह्य प्रयास के बिना ही शरीर को स्वस्थ रखती है, किन्तु यदि कोई यह सोचता है कि योग की परिणति का अन्तिम लक्ष्य शरीर की रक्षा है, तो वह भूल करता है। योग की वास्तविक सिद्धि तो आत्मा को उच्च पद पर पहुँचाना है, अथवा आत्मा को भौतिक बन्धन से मुक्ति दिलाना है। कुछ योगी आत्मा को उच्चतर लोकों तक ऊपर उठाने का प्रयास करते हैं, जहाँ का जीवन-स्तर इस लोक से भिन्न है और भौतिक सुविधाएँ, जीवनकाल तथा आत्म-साक्षात्कार की अन्य सुविधाएँ अधिक हैं। कुछ योगी आत्मा को वैकुण्ठलोक तक ले जाने का प्रयास करते हैं। भक्तियोग से तो आत्मा सीधे वैकुण्ठलोक जाता है जहाँ जीवन आनन्द तथा ज्ञान से नित्य पूर्ण रहता है फलत: भक्तियोग को समस्त योग पद्धतियों में श्रेष्ठ समझा जाता है।

एवं स्वदेहं महतां महीयसा
मुहुः समारोपितमङ्कमादरात् ।
जिहासती दक्षरुषा मनस्विनी
दधार गात्रेष्वनिलाग्निधारणाम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; स्व-देहम्—अपना शरीर; महताम्—महान् सन्तों का; महीयसा—अत्यन्त पूज्य; मुहुः—पुनः पुनः; समारोपितम्—आसीन; अङ्कम्—गोद में; आदरात्—आदरपूर्वक; जिहासती—त्यागने की इच्छा से पूर्ण; दक्ष-रुषा—दक्ष के प्रति रोष के कारण; मनस्विनी—स्वेच्छा से; दधार—स्थापित किया; गात्रेषु—शरीर के अंगों में; अनिल-अग्नि-धारणाम्—अग्नि तथा वायु का ध्यान।

इस प्रकार महर्षियों तथा सन्तों द्वारा आराध्य शिव की गोद में जिस शरीर को अत्यन्त आदर तथा प्रेम से बैठाया गया था, अपने पिता के प्रति रोष के कारण सती ने अपने उस शरीर का परित्याग करने के लिए अपने शरीर के भीतर अग्निमय वायु का ध्यान करना प्रारम्भ कर दिया।

तात्पर्य : शिवजी को यहाँ पर समस्त महात्माओं में श्रेष्ठ बताया गया है। यद्यपि दक्ष ने सती के शरीर को उत्पन्न किया था, किन्तु शिवजी सती को अपनी गोद में बैठा कर विभूषित किया करते थे। इसे आदर का बड़ा प्रतीक माना जाता है। इस प्रकार सती का शरीर सामान्य न था, तो भी सती ने उसका परित्याग करने का निश्चय किया, क्योंकि दक्ष से सम्बन्धित होने के कारण वह दुख का कारण बना हुआ था। सती द्वारा स्थापित इस गम्भीर उदाहरण का अनुकरण किया जाना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि ऐसे व्यक्तियों की संगति करते समय सावधान रहे, जो उच्च अधिकारियों के प्रति अवज्ञा करते हैं। अत: वैदिक साहित्य में शिक्षा दी गई है कि मनुष्य नास्तिकों तथा अभक्तों की संगति से दूर रहे और भक्तों की संगति करने का यत्न करे, क्योंकि भक्तों की संगति से वह आत्म-साक्षात्कार के पद तक उठ सकता है। *श्रीमद्भागवत* में कई स्थलों पर इस पर बल दिया गया है; यदि कोई सांसारिक बन्धनों से मुक्त होना चाहता है, तो उसे महात्माओं की संगति करनी चाहिए और यदि सांसारिकता को बनाये रखना है, तो संसारी पुरुषों की संगति करनी चाहिए। जीवन की भौतिकतावादी पद्धति विषयी जीवन पर आधारित है। इस प्रकार विषयी जीवन में लिप्त रहना और विषयी लोगों की संगति करना, इन दोनों की वैदिक साहित्य में भर्त्सना की गई है, क्योंकि ऐसी संगति से आध्यात्मिक उन्नति में अवरोध आएगा। किन्तु महापुरुषों तथा भक्तों की संगति करने से आध्यात्मिक स्तर उठता है। सती देवी ने अपना शरीर त्यागने का निश्चय किया, क्योंकि वह उन्हें दक्ष से प्राप्त हुआ था। वे अपने को दूसरे

शरीर में स्थानान्तरित करना चाह रही थीं जिससे वे भगवान् शिव की निष्कलुष संगति कर सकें। वस्तुत: यह स्पष्ट है कि अगले जीवन में वे हिमालय की कन्या पार्वती के रूप में जन्म लेंगी और तब वे फिर से शिव को पति रूप में स्वीकार करेंगी। सती तथा शिव का सम्बन्ध सनातन है, यहाँ तक कि शरीर बदलने पर भी उनका सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता।

ततः स्वभर्तुश्चरणाम्बुजासवं
जगद्गुरोश्चिन्तयती न चापरम् ।
ददर्श देहो हतकल्मषः सती
सद्यः प्रजज्वाल समाधिजाग्निना ॥ २७॥

शब्दार्थ

ततः—वहाँ; स्व-भर्तुः—अपने पति का; चरण-अम्बुज-आसवम्—चरणकमलों के अमृत पर; जगत्-गुरोः—ब्रह्माण्ड के गुरु का; चिन्तयती—चिन्तन करती हुई; न—नहीं; च—तथा; अपरम्—दूसरा (अपने पति के अतिरिक्त); ददर्श—देखा; देहः—शरीर; हत-कल्मषः—पाप का विनाश होकर; सती—सती; सद्यः—तुरन्त; प्रजज्वाल—जल गई; समाधि-ज-अग्निना—ध्यान से उत्पन्न अग्नि द्वारा।

सती ने अपना सारा ध्यान अपने पति जगद्गुरु शिव के पवित्र चरणकमलों पर केन्द्रित कर दिया। इस प्रकार वे समस्त पापों से शुद्ध हो गईं। उन्होंने अग्निमय तत्त्वों के ध्यान द्वारा प्रज्ज्वलित अग्नि में अपने शरीर का परित्याग कर दिया।

तात्पर्य : सती ने तत्क्षण अपने पति शिवजी के चरणकमलों का ध्यान किया, जो भौतिक जगत का संचालन करने वाले तीन देवताओं में से एक हैं। उन्हें चरणकमलों का ध्यान धरने से ही इतना आनन्द मिला कि वे अपने शरीर के सारे सम्बन्ध भूल गईं। यह आनन्द निश्चय ही भौतिक था, क्योंकि उन्होंने अपने शरीर को एक अन्य भौतिक शरीर प्राप्त करने के उद्देश्य से त्यागा था। किन्तु इस उदाहरण से हम भक्त के उस आनन्द का अनुमान लगा सकते हैं, जो वह अपने मन को भगवान् विष्णु या कृष्ण के चरणकमलों में ध्यान केन्द्रित करके प्राप्त करता है। भगवान् के चरणकमलों पर केवल ध्यान लगाने में ऐसा दिव्य आनन्द मिलता है कि मनुष्य ईश्वर के दिव्य रूप के अतिरिक्त सब कुछ भूल सकता है। यही योग-समाधि की सिद्धि है। इस श्लोक में बताया गया है कि ऐसे ध्यान से सती समस्त कल्मष से मुक्त हो गई। यह कल्मष क्या था? यह कल्मष दक्ष से प्राप्त देहात्म-बुद्धि के रूप में था, किन्तु समाधि में उन्हें यह सब भूल गया। तात्पर्य यह है कि जब मनुष्य इस भौतिक जगत में समस्त

शारीरिक सम्बन्धों से मुक्त हो जाता है और अपने को परमेश्वर का मात्र शाश्वत दास मान लेता है, तो यह समझना चाहिए कि समाधि की प्रज्ज्वलित अग्नि से भौतिक आसक्ति के सारे कल्मष जल गये। यह प्रज्ज्वलित अग्नि बाहर दिखे, यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि यदि इसी जगत में रहते हुए कोई अपने सारे शारीरिक सम्बन्धों को भुला देता है और आत्मा में स्थित हो जाता है, तो यह कहा जाता है कि वह योगसमाधि की प्रज्ज्वलित अग्नि द्वारा समस्त भौतिक कल्मषों से मुक्त हो गया है। योग की सर्वोच्च सिद्धि यही है। यदि वह इस जगत में अपने शारीरिक सम्बन्ध बनाये रखता है और अपने को महान् योगी बताता है, तो वह प्रामाणिक योगी नहीं है। *श्रीमद्भागवत* में (२.४.१५) कहा गया है *यत्कीर्तनं यत्स्मरणं।* केवल भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन, कृष्ण के चरणकमलों के स्मरण, भगवान् की स्तुति से ही मनुष्य समाधि की प्रज्ज्वलित अग्नि द्वारा समस्त भौतिक कल्मष, देहात्मबुद्धि से तुरन्त मुक्त हो जाता है। यह प्रभाव बिना एक क्षण के विलम्ब से तत्क्षण घटित होता है।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार सती द्वारा शरीर-त्याग का अर्थ है कि सती ने दक्ष से अपने सम्बन्ध को हृदय के भीतर त्याग दिया। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भी टीका की है कि सती बहिरंगा शक्ति की अधीक्षक विग्रह हैं, अतः जब उन्होंने अपना शरीर त्यागा तो उन्हें आध्यात्मिक देह नहीं प्राप्त हुई, वरन् दक्ष द्वारा प्राप्त शरीर से उन्होंने स्थानान्तरण कर लिया। अन्य टीकाकार भी कहते हैं कि उन्होंने तुरन्त अपने आपको मेनका के गर्भ में स्थापित कर लिया, जो उनकी भावी माता थीं। उन्होंने दक्ष से प्राप्त शरीर को त्याग दिया और वे तुरन्त ही एक श्रेष्ठतर शरीर में स्थानान्तरित हो गईं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन्हें आध्यात्मिक शरीर प्राप्त हुआ।

तत्पश्यतां खे भुवि चाद्भुतं महद्
हा हेति वादः सुमहानजायत ।
हन्त प्रिया दैवतमस्य देवी
जहावसून्केन सती प्रकोपिता ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस; पश्यताम्—देखने वालों का; खे—आकाश में; भुवि—पृथ्वी पर; च—तथा; अद्भुतम्—अद्‌भुत; महत्—अत्यधिक; हा हा—हाहाकार; इति—इस प्रकार; वादः—गर्जन; सु-महान्—अत्यन्त शोर युक्त; अजायत—हुआ; हन्त—हाय; प्रिया—प्राणप्रिय; दैव-तमस्य—सर्वाधिक पूज्य देवता (शिव) की; देवी—सती ने; जहौ—त्याग दिया; असून्—अपना प्राण; केन—दक्ष द्वारा; सती—सती; प्रकोपिता—क्रुद्ध हुई।

जब सती ने कोपवश अपना शरीर भस्म कर दिया तो समूचे ब्रह्माण्ड में घोर कोलाहल मच गया कि सर्वाधिक पूज्य देवता शिव की पत्नी सती ने इस प्रकार अपना शरीर क्यों छोड़ा?

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों के देवताओं में कोलाहल मच गया, क्योंकि सती राजाओं में श्रेष्ठ राजा दक्ष की कन्या और देवताओं में श्रेष्ठ शिवजी की पत्नी थीं। वे इतनी क्रुद्ध क्यों हुईं कि उन्होंने अपना शरीर छोड़ दिया? चूँकि वे एक महापुरुष की पुत्री और महात्मा की पत्नी थीं, अत: उन्हें किसी प्रकार का अभाव न था, किन्तु तो भी उन्होंने असन्तुष्ट होकर शरीर छोड़ दिया। सचमुच यह आश्चर्यजनक था। भले ही कोई सर्वाधिक ऐश्वर्य को प्राप्त क्यों न हो, उसे पूर्ण सन्तोष प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं थी जिसे वे अपने पिता या पति से सम्बन्धित होने के कारण प्राप्त न कर सकतीं थीं, किन्तु तो भी किसी कारणवश वे असन्तुष्ट थीं। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* में (१.२.६) बतलाया गया है कि मनुष्य को वास्तविक सन्तोष (*ययात्मा सुप्रसीदति*) प्राप्त करना चाहिए, किन्तु आत्मा—शरीर, मन तथा आत्मा—ये सभी तभी सन्तुष्ट होते हैं जब परम सत्य के प्रति भक्ति उत्पन्न होती है। *स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे। अधोक्षज* का अर्थ है परम सत्य। यदि कोई भगवान् के प्रति ऐसा अटूट प्रेम उत्पन्न कर ले तो उसे पूर्ण सन्तोष प्राप्त हो सकता है, अन्यथा इस जगत में या अन्यत्र सन्तोष की कोई सम्भावना नहीं है।

अहो अनात्म्यं महदस्य पश्यत
प्रजापतेर्यस्य चराचरं प्रजाः ।
जहावसून्यद्विमतात्मजा सती
मनस्विनी मानमभीक्ष्णमर्हति ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; अनात्म्यम्—उपेक्षा; महत्—भारी; अस्य—दक्ष की; पश्यत—जरा देखो तो; प्रजापतेः—प्रजापति; यस्य—जिसकी; चर-अचरम्—समस्त जीवात्माएँ; प्रजाः—सन्तान; जहौ—त्याग दिया; असून्—अपना शरीर; यत्—जिससे; विमता—अनादरित; आत्म-जा—अपनी पुत्री; सती—सती; मनस्विनी—स्वेच्छा से; मानम्—आदर, सम्मान; अभीक्ष्णम्—बारम्बार; अर्हति—योग्यता रखती थी।

यह आश्चर्यजनक बात है कि प्रजापति दक्ष, जो समस्त जीवात्माओं का पालनहारा है, अपनी पुत्री सती के प्रति इतना निरादरपूर्ण था कि उस परम साध्वी एवं महान् आत्मा ने उसकी उपेक्षा के कारण अपना शरीर त्याग दिया।

तात्पर्य : यहाँ पर *अनात्म्य* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *आत्म्य* का अर्थ है, "आत्मा का जीवन" अत: यह शब्द बताता है कि यद्यपि दक्ष जीवित प्रतीत होता था, किन्तु वास्तव में वह मृतक था, अन्यथा वह अपनी निजी पुत्री सती की उपेक्षा क्यों करता? दक्ष का परम कर्तव्य था कि वह समस्त जीवात्माओं के पालन एवं सुविधाओं का ध्यान रखता क्योंकि उसे प्रजापति का पद प्राप्त था। तो फिर उसने अपनी पुत्री की क्योंकर उपेक्षा की, जो इतनी साध्वी थी और अपने पिता से सभी प्रकार का आदर पाने की अधिकारिणी थी? अपने पिता दक्ष की उपेक्षा के कारण सती की मृत्यु ब्रह्माण्ड के सभी बड़े-बड़े देवताओं के लिए आश्चर्यजनक थी।

सोऽयं दुर्मर्षहृदयो ब्रह्मध्रुक्च
लोकेऽपकीर्तिं महतीमवाप्स्यति ।
यदङ्गजां स्वां पुरुषद्विडुद्यतां
न प्रत्यषेधन्मृतयेऽपराधत: ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

स:—वह; अयम्—यह; दुर्मर्ष-हृदय:—कठोर हृदय; ब्रह्म-ध्रुक्—ब्राह्मण होने के अयोग्य; च—तथा; लोके—संसार में; अपकीर्तिम्—अपयश; महतीम्—अत्यधिक; अवाप्स्यति—प्राप्त करेगा; यत्-अङ्ग-जाम्—जिसकी पुत्री; स्वाम्—अपने; पुरुष-द्विट्—शिव का शत्रु; उद्यताम्—उद्यत, तैयार; न प्रत्यषेधत्—रोका नहीं; मृतये—मृत्यु से; अपराधत:—अपने अपराधों के कारण।

ऐसा दक्ष जो इतना कठोर-हृदय है कि ब्राह्मण होने के अयोग्य है, वह अपनी पुत्री के प्रति किये गये अपराधों के कारण अतीव अपयश को प्राप्त होगा, क्योंकि उसने अपनी पुत्री को मरने से नहीं रोका और वह भगवान् के प्रति अत्यन्त द्वेष रखता था।

तात्पर्य : दक्ष को यहाँ पर अत्यन्त कठोर-हृदय कहकर ब्राह्मण होने के अयोग्य बतलाया गया है। कोई-कोई टीकाकार *ब्रह्म-ध्रुक्* का अर्थ ब्राह्मणों का मित्र लगाते हैं। जो व्यक्ति ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर ब्राह्मण के गुणों से रहित होता है, वह *ब्रह्म-बन्धु* कहा जाता है। ब्राह्मण लोग सामान्यत: अत्यन्त कोमल-हृदय और सहिष्णु होते हैं, क्योंकि वे मन तथा इन्द्रिय को वश में रखना जानते हैं। किन्तु दक्ष सहिष्णु न था। केवल इसलिए कि उसके जामाता शिव उसके सम्मान में खड़े नहीं हुए, वह क्रुद्ध हो गया। वह इतना कठोर-हृदय था कि उसने अपनी परम प्रिय पुत्री की मृत्यु भी सहन कर ली। दामाद तथा श्वसुर के बीच उत्पन्न भ्रान्ति को दूर करने के लिए बिना आमंत्रण के अपने पिता के घर जाना और

वहाँ पर दक्ष द्वारा उसका स्वयं का सत्कार न होना—इन सबको भुलाने का सती ने भरसक प्रयत्न किया। किन्तु दक्ष इतना कठोर-हृदय निकला कि वह आर्य या ब्राह्मण कहलाने के अयोग्य था। उसकी अपकीर्ति अभी तक चल रही है। दक्ष का अर्थ है 'पटु' और उसे यह नाम इसलिए प्राप्त था, क्योंकि उसने सैकड़ों-हजारों सन्तानें उत्पन्न की थीं। जो लोग अत्यन्त विषयी और भौतिकतावादी हैं, वे इतने कठोर-हृदय हो जाते हैं कि वे अपनी तनिक भी मान-हानि होने पर, अपनी सन्तान की मृत्यु को भी सहन कर सकते हैं।

वदत्येवं जने सत्या दृष्ट्वासुत्यागमद्भुतम् ।
दक्षं तत्पार्षदा हन्तुमुदतिष्ठन्नुदायुधाः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

वदति—बातें कर रहे थे; एवम्—इस प्रकार; जने—जबकि लोग; सत्याः—सती की; दृष्ट्वा—देखकर; असु-त्यागम्—मृत्यु, देह-त्याग; अद्भुतम्—आश्चर्यमय; दक्षम्—दक्ष; तत्-पार्षदाः—शिव के अनुचर; हन्तुम्—मारने के लिए; उदतिष्ठन्—उठकर खड़े हुए; उदायुधाः—अपने हथियार उठाये।.

जिस समय सब लोग सती की आश्चर्यजनक स्वेच्छित मृत्यु के विषय में परस्पर बातें कर रहे थे, उसी समय शिव के पार्षद, जो सती के साथ आये थे, अपने-अपने हथियार लेकर दक्ष को मारने के लिए उद्यत हो गये।

तात्पर्य : सती के साथ जो पार्षद आये थे, वे विपत्तियों से उनकी रक्षा करने के लिए थे, किन्तु वे अपने स्वामी की पत्नी की रक्षा करने में असमर्थ सिद्ध हुए, इसलिए उनके लिए वे मरने का मन बना चुके थे और मरने के पूर्व वे दक्ष को मार डालना चाहते थे। अनुचरों का कर्तव्य है कि अपने स्वामी को सुरक्षा प्रदान करें, किन्तु यदि वे इसमें असफल रहें तो उन्हें मर जाना चाहिए।

तेषामापततां वेगं निशाम्य भगवान्भृगुः ।
यज्ञघ्नघ्नेन यजुषा दक्षिणाग्नौ जुहाव ह ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उनके; आपतताम्—निकट पहुँचे; वेगम्—वेग; निशाम्य—देखकर; भगवान्—समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी; भृगुः—भृगुमुनि; यज्ञ-घ्न-घ्नेन—यज्ञ को विध्वंस करने वालों को मारने के लिए; यजुषा—यजुर्वेद के मंत्रों से; दक्षिण-अग्नौ—यज्ञ की अग्नि की दक्षिण दिशा में; जुहाव—आहुति दी; ह—निश्चय ही।.

वे बलपूर्वक आगे बढ़े, किन्तु भृगु मुनि ने संकट को ताड़ लिया और याज्ञिक अग्नि की

दक्षिण दिशा में आहुति डालते हुए उन्होंने तुरन्त यजुर्वेद से मंत्र पढ़े जिससे यज्ञ को विध्वंस करने वाले तुरन्त मर जाएँ।

तात्पर्य : यहाँ पर वेदों के शक्तिवाली मंत्रों का एक उदाहरण है जिनके उच्चारण से अद्‌भुत कार्य हो सकते हैं। इस कलियुग में कुशल मंत्र उच्चारण करने वालों को ढूँढ पाना कठिन है, अत: इस युग में वेदों में संस्तुत समस्त यज्ञ वर्जित हैं। इस युग में केवल एक यज्ञ की संस्तुति की गई है और वह है हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन, क्योंकि इस युग में यज्ञ सम्पन्न करने के लिए आवश्यक धन को एकत्र कर पाना सम्भव नहीं है, ठीक से मंत्रों का उच्चारण करने वाले ब्राह्मणों की खोज कर पाना तो और भी कठिन है।

अध्वर्युणा हूयमाने देवा उत्पेतुरोजसा ।
ऋभवो नाम तपसा सोमं प्राप्ता: सहस्त्रश: ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अध्वर्युणा—पुरोहित, भृगु द्वारा; हूयमाने—आहुति डाले जाने पर; देवा:—देवता; उत्पेतु:—प्रकट हुए; ओजसा—परम शक्तिपूर्वक; ऋभव:—ऋभुगण; नाम—नामक; तपसा—तपस्या द्वारा; सोमम्—सोम; प्राप्ता:—प्राप्त हुए; सहस्त्रश:—हजारों।

जब भृगु मुनि ने अग्नि में आहुति डाली तो तत्क्षण ऋभु नामक हजारों देवता प्रकट हो गये। वे सभी शक्तिशाली थे और उन्होंने सोम अर्थात् चन्द्र से शक्ति प्राप्त की थी।

तात्पर्य : यहाँ कहा गया है कि अग्नि में आहुति डालने तथा *यजुर्वेद* से मंत्रो के उच्चारण से ऋभु नामक हजारों देवता उत्पन्न हो गये। भृगुमुनि जैसे ब्राह्मण इतने शक्तिशाली हुआ करते थे कि वे वैदिक मंत्रों का उच्चारण करके ऐसे शक्तिमान देवताओं को उत्पन्न कर सकते थे। आज भी वैदिक मंत्र उपलब्ध हैं, किन्तु उच्चारण करने वाले नहीं हैं। वैदिक मंत्रों के उच्चारण से, अथवा गायत्री या ऋक्-मंत्र के उच्चारण से मन-वांछित फल प्राप्त हो सकता है। इस कलियुग में भगवान् चैतन्य ने केवल हरे कृष्ण के कीर्तन द्वारा सभी सिद्धियों की प्राप्ति सम्भव बतलाई है।

तैरलातायुधै: सर्वे प्रमथा: सहगुह्यका: ।
हन्यमाना दिशो भेजुरुशद्भिर्ब्रह्मतेजसा ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तैः—उनके द्वारा; अलात-आयुधैः—अग्नि के हथियारों से; सर्वे—सभी; प्रमथाः—भूतगण; सह-गुह्यकाः—गुह्यकों सहित; हन्यमानाः—आक्रमण किये गये; दिशः—विभिन्न दिशाओं में; भेजुः—भग गये; उशद्भिः—जलते हुए; ब्रह्म-तेजसा—ब्रह्म शक्ति से।

जब ऋभु देवताओं ने भूतों तथा गुह्यकों पर यज्ञ की अधजली समिधाओं से आक्रमण कर दिया तो सती के सारे अनुचर विभिन्न दिशाओं में भागकर अदृश्य हो गये। यह ब्रह्मतेज अर्थात् ब्राह्मणशक्ति के कारण ही सम्भव हो सका।

तात्पर्य : इस श्लोक में आया हुआ *ब्रह्मतेजसा* शब्द सार्थक है। उन दिनों ब्राह्मण इतने शक्तिशाली हुआ करते थे कि वे इच्छाशक्ति से तथा वैदिक मंत्रों के उच्चारण से ही आश्चर्यजनक कार्य सम्पन्न कर लेते थे। किन्तु अवनति के इस आधुनिक युग में ऐसे ब्राह्मण मिलते ही नही हैं। *पांचरात्रिक* पद्धति के अनुसार इस युग में सारी आबादी शूद्रों की मानी गई है, क्योंकि ब्राह्मण-संस्कृति विनष्ट हो चुकी है। किन्तु यदि किसी में कृष्णभावनामृत को समझने के लक्षण दृष्टिगोचर हों तो उसे वैष्णव स्मृति विधान के अनुसार भावी ब्राह्मण स्वीकृत करके उच्चतम सिद्धि प्राप्त करने के लिए समस्त सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए। इस पतित युग में जीवन की परम सिद्धि प्राप्त करने का यदि कोई साधन है, तो भगवान् चैतन्य वह अमूल्य की देन है, जिसमें हरे कृष्ण कीर्तन की प्रक्रिया को ग्रहण करके आत्म-साक्षात्कार के समस्त कार्यों की पूर्ति हो जाती है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत, ''सती द्वारा शरीर त्याग'' नामक चौथे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter पाँच

दक्ष के यज्ञ का विध्वंस

मैत्रेय उवाच
भवो भवान्या निधनं प्रजापतेर्
असत्कृताया अवगम्य नारदात् ।
स्वपार्षदसैन्यं च तदध्वरर्भुभि-
र्विद्रावितं क्रोधमपारमादधे ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेय: उवाच—मैत्रेय ने कहा; भव:—शिव; भवान्या:—सती का; निधनम्—मृत्यु; प्रजापते:—प्रजापति दक्ष के कारण; असत्-कृताया:—अपमानित होकर; अवगम्य—सुनकर; नारदात्—नारद से; स्व-पार्षद-सैन्यम्—अपने पार्षदों के सैनिक; च—तथा; तत्-अध्वर—उस (दक्ष) के यज्ञ (से उत्पन्न); ऋभुभि:—ऋभुओं द्वारा; विद्रावितम्—खदेड़ दिए गये; क्रोधम्—क्रोध; अपारम्—असीम; आदधे—प्रदर्शित किया।

मैत्रेय ने कहा; जब शिव ने नारद से सुना कि उनकी पत्नी सती प्रजापति दक्ष द्वारा किये गये अपमान के कारण मर चुकी हैं और ऋभुओं द्वारा उनके सैनिक खदेड़ दिये गये हैं, तो वे अत्यधिक क्रोधित हुए।

तात्पर्य : शिवजी ने समझ लिया था कि दक्ष की सबसे छोटी पुत्री होने के कारण, सती ही शिव के कार्य की शुद्धता का प्रमाण प्रस्तुत कर सकती हैं और दक्ष तथा उनके बीच की भ्रान्ति (मनोमालिन्य) को दूर कर सकती हैं। किन्तु इस तरह का समझौता नहीं हो पाया। उल्टे जब बिना बुलाये ही सती अपने पिता के घर पहुँचीं तो उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित न करके उनके पिता ने उनका जानबूझकर अपमान किया। सती स्वयं ही अपने पिता दक्ष का वध कर सकती थीं, क्योंकि वे साक्षात् भौतिक शक्ति हैं और उनमें इस ब्रह्माण्ड के अंदर मारने तथा उत्पन्न करने की अपार शक्ति है। *ब्रह्म-संहिता* में उनकी शक्ति का वर्णन इस प्रकार हुआ है—वे अनेक ब्रह्माण्डों का सृजन एवं संहार करने में सक्षम हैं। किन्तु इतनी शक्तिमान होते हुए भी वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के आदेश के अनुसार ही उनकी छाया की भाँति कार्य करती हैं। सती के लिए अपने पिता को दंडित करना कठिन न था, लेकिन उन्होंने सोचा कि पुत्री होने के नाते अपने पिता का वध करना उचित नहीं है। इस तरह उन्होंने अपने शरीर को ही त्याग देने का निश्चय किया, जो उस के शरीर से उन्हें प्राप्त हुआ था और दक्ष ने उन्हें रोका तक नहीं ।

जब सती ने अपना शरीर त्याग दिया तो नारद ने इसकी जानकारी शिवजी को दी। नारद सदा ऐसी महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ ले जाते हैं। जब शिव ने सुना कि उनकी साध्वी पत्नी मर चुकी है, तो वे स्वाभाविक रूप से अत्यन्त क्रुद्ध हुए। उन्हें यह भी पता चला कि भृगु मुनि ने *यजुर्वेद* मंत्रों के पाठ द्वारा ऋभुओं को उत्पन्न किया है और इन देवताओं ने उनके उन समस्त पार्षदों को खदेड़ दिया है, जो यज्ञ-स्थल में उपस्थित थे। अत: उन्होंने इस अपमान का बदला लेना चाहा और निश्चय किया कि दक्ष का वध कर दिया जाय, क्योंकि वही सती की मृत्यु का कारण था।

क्रुद्धः सुदष्टौष्ठपुटः स धूर्जटि-
जर्टां तडिद्वह्निसटोग्ररोचिषम् ।
उत्कृत्य रुद्रः सहसोत्थितो हसन्
गम्भीरनादो विससर्ज तां भुवि ॥ २ ॥

शब्दार्थ

क्रुद्धः—क्रुद्ध; सु-दष्ट-ओष्ठ-पुटः—अपने होठों को दाँतों से काटते हुए; सः—वह (शिव); धूः-जटिः—शरीर पर जटा धारण किये; जटाम्—एक लट; तडित्—बिजली की; वह्नि—अग्नि की; सटा—ज्वाला, लपट; उग्र—भीषण; रोचिषम्—प्रज्वलित; उत्कृत्य—नोच कर; रुद्रः—शिव; सहसा—तुरन्त; उत्थितः—खड़े हो गये; हसन्—हँसते हुए; गम्भीर—गहरा; नादः—ध्वनि; विससर्ज—पटक दिया; ताम्—उस (बाल) को; भुवि—पृथ्वी पर।

इस प्रकार अत्यधिक क्रुद्ध होने के कारण शिव ने अपने दाँतों से होठ चबाते हुए तुरन्त अपने सिर की जटाओं से एक लट नोच ली, जो बिजली अथवा अग्नि की भाँति जलने लगी। वे पागल की भाँति हँसते हुए तुरन्त खड़े हो गये और उस लट को पृथ्वी पर पटक दिया।

ततोऽतिकायस्तनुवा स्पृशन्दिवं
सहस्रबाहुर्घनरुक्त्रिसूर्यदृक् ।
करालदंष्ट्रो ज्वलदग्निमूर्धजः
कपालमाली विविधोद्यतायुधः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ततः—उस समय; अतिकायः—विशाल शरीर वाला (वीरभद्र); तनुवा—अपने शरीर के साथ; स्पृशन्—स्पर्श करता; दिवम्—आकाश; सहस्र—एक हजार; बाहुः—हाथ; घन-रुक्—श्याम रंग का; त्रि-सूर्य-दृक्—तीन सूर्यों के समानतेज वाला; कराल-दंष्ट्रः—अत्यन्त भयानक दाढ़ों वाला; ज्वलत्-अग्नि—जलती हुई आग (के समान); मूर्धजः—शिर पर बाल धारण किये; कपाल-माली—नरमुंडों की माला पहने; विविध—अनेक प्रकार से; उद्यत—उठाये हुए; आयुधः—हथियारों से लैस।

उससे आकाश के समान ऊँचा तथा तीन सूर्यों के सम्मिलित तेज के समान एक भयानक श्याम वर्ण का असुर उत्पन्न हुआ, जिसके दाँत अत्यन्त भयानक थे और उसके सिर के केश

प्रज्वलित अग्नि के समान लग रहे थे। उसके हजारों भुजाएँ थीं, जो अस्त्र-शस्त्रों से लैस थीं और उसने नरमुंडों की माला पहन रखी थी।

तं किं करोमीति गृणन्तमाह
बद्धाञ्जलिं भगवान्भूतनाथः ।
दक्षं सयज्ञं जहि मद्भटानां
त्वमग्रणी रुद्र भटांशको मे ॥ ४॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (वीरभद्र को); किम्—क्या; करोमि—करूँ; इति—इस प्रकार; गृणन्तम्—पूछने पर; आह—आदेश दिया; बद्ध-अञ्जलिम्—हाथ जोड़ कर; भगवान्—समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी (शिव); भूत-नाथः—भूतों के नाथ; दक्षम्—दक्ष को; स-यज्ञम्—उसके यज्ञ सहित; जहि—मारो; मत्-भटानाम्—मेरे सभी पार्षदों के; त्वम्—तुम; अग्रणीः—प्रमुख; रुद्र—हे रुद्र; भट—हे युद्ध में कुशल; अंशकः—शरीर से उत्पन्न; मे—मेरे।

उस महाकाय असुर ने जब हाथ जोड़ कर पूछा, ''हे नाथ। मैं क्या करूँ?'' भूतनाथ रूप शिव ने प्रत्यक्षतः आदेश दिया, ''तुम मेरे शरीर से उत्पन्न होने के कारण मेरे समस्त पार्षदों के प्रमुख हुए, अतः यज्ञ (स्थल) पर जाकर दक्ष को उसके सैनिकों सहित मार डालो।''

तात्पर्य : यहाँ से *ब्रह्मतेज* तथा *शिवतेज* में स्पर्धा प्रारम्भ होती है। भृगुमुनि ने *ब्रह्मतेज* से ऋभु देवों को उत्पन्न किया था, जिन्होंने यज्ञस्थल से शिव के सैनिकों को खदेड़ दिया था। जब शिव ने सुना कि उनके सैनिक भगा दिये गये हैं, तो उन्होंने बदला लेने के लिए वीरभद्र नाम का एक दीर्घकाय काला असुर उत्पन्न किया। कभी-कभी सतोगुण तथा तमोगुण में स्पर्धा चलती है। यही इस संसार की रीति है। भले ही कोई सतोगुणी क्यों न हो, सम्भावना यही है कि उसमें रजोगुण या तमोगुण का भी अंश मिला रहता है। यही भौतिक प्रकृति का नियम है। यद्यपि आध्यात्मिक जगत में *शुद्ध सत्त्व* ही मूलभूत तत्त्व (सिद्धान्त) है, किन्तु इस जगत में सत्त्व का शुद्ध प्राकट्य कठिन है। इस प्रकार विभिन्न भौतिक गुणों में जीवन-संघर्ष चलता रहता है। प्रजापति दक्ष को लेकर शिव तथा भृगु मुनि के बीच का यह संघर्ष प्रकृति के विभिन्न गुणों के मध्य स्पर्धा का ज्वलन्त उदाहरण है।

आज्ञप्त एवं कुपितेन मन्युना
स देवदेवं परिचक्रमे विभुम् ।
मेनेतदात्मानमसङ्गरंहसा

महीयसां तात सहः सहिष्णुम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

आज्ञप्तः—आज्ञा दी; एवम्—इस प्रकार; कुपितेन—क्रुद्ध; मन्युना—शिव द्वारा (जो साक्षात् क्रोध हैं); सः—उसने (वीरभद्र); देव-देवम्—जो देवताओं द्वारा पूजित है; परिचक्रमे—परिक्रमा की; विभुम्—शिव की; मेने—विचार किया; तदा—उस समय; आत्मानम्—स्वतः; असङ्ग-रंहसा—शिव की शक्ति से, जिसका विरोध नहीं किया जा सकता; महीयसाम्—अत्यन्त शक्तिशाली का; तात—हे विदुर; सहः—शक्ति; सहिष्णुम्—सहने में समर्थ।

मैत्रेय ने आगे बताया : हे विदुर, वह श्याम पुरुष भगवान् का साक्षात् क्रोध था और शिवजी के आदेशों का पालन करने के लिए उद्यत था। इस प्रकार किसी भी विरोधी शक्ति का सामना करने में अपने को समर्थ समझ कर उसने भगवान् शिव की प्रदक्षिणा की।

अन्वीयमानः स तु रुद्रपार्षदै-
भृशं नदद्भिर्व्यनदत्सुभैरवम् ।
उद्यम्य शूलं जगदन्तकान्तकं
सम्प्राद्रवद्घोषणभूषणाङ्घ्रिः ॥ ६॥

शब्दार्थ

अन्वीयमानः—पीछे चलते हुए; सः—वह (वीरभद्र); तु—लेकिन; रुद्र-पार्षदैः—शिव के सैनिकों द्वारा; भृशम्—शोर करते हुए; नदद्भिः—गर्जते हुए; व्यनदत्—ध्वनि की; सु-भैरवम्—अत्यन्त भयानक; उद्यम्य—लेकर; शूलम्—त्रिशूल; जगत्-अन्तक—मृत्यु; अन्तकम्—मारते हुए; सम्प्राद्रवत्—(दक्ष के यज्ञ) की ओर लपके; घोषण—गर्जते हुए; भूषण-अङ्घ्रिः—अपने पैरों में कड़े पहने।

घोर गर्जना करते हुए शिव के अन्य अनेक सैनिक भी उस भयानक असुर के साथ हो लिए। वह एक विशाल त्रिशूल लिए हुए था, जो इतना भयानक था कि मृत्यु का भी वध करने में समर्थ था और उसके पाँवों में कड़े थे, जो गर्जना करते प्रतीत हो रहे थे।

अथर्त्विजो यजमानः सदस्याः
ककुभ्युदीच्यां प्रसमीक्ष्य रेणुम् ।
तमः किमेतत्कुत एतद्रजोऽभू-
दिति द्विजा द्विजपत्न्यश्च दध्युः ॥ ७॥

शब्दार्थ

अथ—उस समय; ऋत्विजः—पुरोहित; यजमानः—यज्ञ सम्पन्न करने वाला प्रमुख व्यक्ति (दक्ष); सदस्याः—यज्ञस्थल में एकत्र सभी पुरुष; ककुभि उदीच्याम्—उत्तरी दिशा में; प्रसमीक्ष्य—देखकर; रेणुम्—धूल; तमः—अंधकार; किम्—क्या; एतत्—यह; कुतः—वहाँ से; एतत्—यह; रजः—धूल; अभूत्—आई है; इति—इस प्रकार; द्विजाः—ब्राह्मण; द्विज-पत्न्यः—ब्राह्मणों की पत्नियाँ; च—तथा; दध्युः—विचार करने लगीं।

उस समय यज्ञस्थल में एकत्रित सभी लोग—पुरोहित, प्रमुख यजमान, ब्राह्मण तथा उनकी पत्नियाँ—आश्चर्य करने लगे कि यह अंधकार कहाँ से आ रहा है। बाद में उनकी समझ में आया

कि यह धूलभरी आँधी थी और वे सभी अत्यन्त व्याकुल हो गये थे।

वाता न वान्ति न हि सन्ति दस्यवः
प्राचीनबर्हिर्जीवति होग्रदण्डः ।
गावो न काल्यन्त इदं कुतो रजो
लोकोऽधुना किं प्रलयाय कल्पते ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

वाताः—हवाएँ; न वान्ति—नहीं बह रही हैं; न—न तो; हि—क्योंकि; सन्ति—सम्भव है; दस्यवः—लुटेरे; प्राचीन-बर्हिः—प्राचीन राजा बर्हि; जीवति—जीवित है; ह—अब भी; उग्र-दण्डः—जो कठोर दण्ड देगा; गावः—गाएँ; न काल्यन्ते—हाँकी नहीं जातीं; इदम्—यह; कुतः—कहाँ से; रजः—धूलि; लोकः—लोक; अधुना—अब; किम्—क्या; प्रलयाय—प्रलय के लिए; कल्पते—आया समझा जाय।

आँधी के स्रोत के सम्बन्ध में अनुमान लगाते हुए उन्होंने कहा : न तो तेज हवाएँ चल रही हैं और न गौएं ही जा रही हैं, न यह सम्भव है कि यह धूल भरी आँधी लुटेरों द्वारा उठी है, क्योंकि अभी भी बलशाली राजा बर्हि उन्हें दण्ड देने के लिए जीवित है। तो फिर यह धूलभरी आँधी कहाँ से आ रही है? क्या इस लोक का प्रलय होने वाला है?

तात्पर्य : इस श्लोक में विशेष रूप से *प्राचीन बर्हिः जीवति* महत्त्वपूर्ण है। उस भूभाग का राजा बर्हि नाम से जाना जाता था, यथापि वह वृद्ध था किन्तु अत्यन्त शक्तिशाली शासक था। इस प्रकार चोरों तथा लुटेरों के आक्रमण की कोई सम्भावना न थी। अप्रत्यक्ष रूप से यहाँ यह कहा गया है कि जब शासक शक्तिशाली नहीं होता तभी राज्य में चोर, लुटेरे अवांछित लोग, उचक्के रहते हैं। जब न्याय के नाम पर चोरों को छुट दे दी जाती है, तो ऐसे लुटेरों तथा अवांछित लोगों से राज्य में अशान्ति फैलती है। शिवजी के सैनिकों तथा अनुचरों से उठी हुई धूलि प्रलयकालीन दृश्य उपस्थित कर रही थी। जब इस सृष्टि का संहार होना होता है, तो यह कार्य शिव ही सम्पन्न करते हैं। अतः उनके द्वारा उत्पन्न स्थिति दृश्य जगत के प्रलय काल की सी थी।

प्रसूतिमिश्राः स्त्रिय उद्विग्नचित्ता
ऊचुर्विपाको वृजिनस्यैव तस्य ।
यत्पश्यन्तीनां दुहितृणां प्रजेशः
सुतां सतीमवदध्यावनागाम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

प्रसूति-मिश्राः—प्रसूति इत्यादि; स्त्रियः—स्त्रियाँ; उद्विग्न-चित्ताः—अत्यन्त उद्विग्न; ऊचुः—बोली; विपाकः—दुर्दैव; वृजिनस्य—पापकर्म का; एव—निस्सन्देह; तस्य—उसका (दक्ष का); यत्—क्योंकि; पश्यन्तीनाम्—देखने वाली; दुहितृणाम्—अपनी बहनों का; प्रजेशः—प्रजा के स्वामी (दक्ष); सुताम्—पुत्री; सतीम्—सती; अवदध्यौ—अपमानित; अनागाम्—पूर्णतया निर्दोष।

दक्ष की पत्नी प्रसूति एवं वहाँ पर एकत्र अन्य स्त्रियों ने अत्यन्त आकुल होकर कहा : यह संकट दक्ष के कारण सती की मृत्यु से उत्पन्न है, क्योंकि निर्दोष सती ने अपनी बहनों के देखते-देखते अपना शरीर त्याग दिया है।

तात्पर्य : उदारमना प्रसूति तुरन्त समझ गई कि कठोरहृदय प्रजापति दक्ष के अशुभ कार्य से ही यह संकट आ खड़ा हुआ है। वह इतना क्रूर था कि अपनी सबसे छोटी पुत्री को उसकी बहनों के समक्ष आत्महत्या करते हुए भी रोक नहीं सका। सती की माँ ही समझ सकती थी कि अपने पिता द्वारा अपमानित होने से सती को कितना कष्ट हुआ होगा। सती अन्य सभी बेटियों के साथ ही उपस्थित थी और दक्ष ने जानबूझकर उसे छोड़कर अन्य सभी का भली भाँति सत्कार किया था, क्योंकि वह शिव की पत्नी जो ठहरी। इस विचार से दक्ष की पत्नी को आसन्न संकट का विश्वास हो चुका था और उसे ज्ञात था कि दक्ष को अपने इस जघन्य कार्य के लिए मरने के लिए तैयार रहना चाहिए।

यस्त्वन्तकाले व्युप्तजटाकलापः
स्वशूलसूच्यर्पितदिग्गजेन्द्रः ।
वितत्य नृत्यत्युदितास्त्रदोर्ध्वजा-
नुच्चाट्टहासस्तनयित्नुभिन्नदिक् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यः—जो (शिव); तु—लेकिन; अन्त-काले—प्रलय से समय; व्युप्त—छिटका कर; जटा-कलापः—अपने बालों का गुच्छा; स्व-शूल—अपना त्रिशूल; सूचि—नोकों पर; अर्पित—बिंधा हुआ; दिक्-गजेन्द्रः—विभिन्न दिशाओं के शासक; वितत्य—बिखेर कर; नृत्यति—नाचता है; उदित—ऊपर उठाये; अस्त्र—हथियार; दोः—हाथ; ध्वजान्—झंडे; उच्च—ऊँचे स्वर से; अट्ट-हास—जोर की हँसी; स्तनयित्नु—घोर गर्जना से; भिन्न—विभाजित; दिक्—दिशाएँ।

प्रलय के समय, शिव के बाल बिखर जाते हैं और वे अपने त्रिशूल से विभिन्न दिशाओं के शासकों (दिक्पतियों) को बेध लेते हैं। वे गर्वपूर्वक अट्टहास करते हुए ताण्डव नृत्य करते हैं और दिक्पतियों की भुजाओं को पताकाओं के समान बिखेर देते हैं, जिस प्रकार मेघों की गर्जना से समस्त लोकों में बादल छितरा जाते हैं।

तात्पर्य : प्रसूति को अपने दामाद शिव की शक्ति का आभास था, अतः प्रलयकाल में वे जो कुछ

करते हैं उसका वह वर्णन कर रही हैं। इससे संकेत मिलता है कि शिव की शक्ति इतनी अपार है कि उनके समक्ष दक्ष की कोई तुलना नहीं है। प्रलय के समय भगवान् शिव अपने हाथ में त्रिशूल लेकर दिक्पालों के ऊपर नृत्य करते हैं और उनकी जटाएँ उसी प्रकार बिखर जाती हैं जिस प्रकार बादल चारों ओर बिखर कर अखण्ड वृष्टि करते हैं। प्रलय की अन्तिम अवस्था में सभी लोक जल-मग्न हो जाते हैं और वह जलाप्लावन शिव के नृत्य के कारण होता है। यह नृत्य प्रलय-नृत्य कहलाता है। प्रसूति की समझ में आ रहा था कि आने वाला संकट दक्ष द्वारा अपनी पुत्री के निरादर से ही नहीं, वरन् शिव की प्रतिष्ठा एवं सम्मान की उपेक्षा करने से उत्पन्न हुआ है।

अमर्षयित्वा तमसह्यतेजसं
मन्युप्लुतं दुर्निरीक्ष्यं भ्रुकुट्या ।
करालदंष्ट्राभिरुदस्तभागणं
स्यात्स्वस्ति किं कोपयतो विधातुः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अमर्षयित्वा—नाराज करके; तम्—उसको (शिव को); असह्य-तेजसम्—असहनीय तेज वाले; मन्यु-प्लुतम्—क्रोध से पूरित; दुर्निरीक्ष्यम्—देखने में असमर्थ; भ्रु-कुट्या—भौंहों के हिलने से; कराल-दंष्ट्राभिः—डरावने दाँतों से; उदस्त-भागणम्—ज्योतिपुंजों (तारों) को अस्त-व्यस्त करके; स्यात्—हो; स्वस्ति—कल्याण; किम्—कैसे; कोपयतः—(शिव को) क्रुद्ध करने पर; विधातुः—ब्रह्मा का।

उस विराट श्याम पुरुष ने अपने डरावने दाँत निकाल लिए। अपनी भौंहों के चालन से उसने आकाश भर में तारों को तितर-बितर कर दिया और उन्हें अपने प्रबल भेदक तेज से आच्छादित कर लिया। दक्ष के कुव्यवहार के कारण दक्ष के पिता ब्रह्मा तक इस घोर कोप-प्रदर्शन से नहीं बच सकते थे।

बह्वेवमुद्विग्नदृशोच्यमाने
जनेन दक्षस्य मुहुर्महात्मनः ।
उत्पेतुरुत्पाततमाः सहस्रशो
भयावहा दिवि भूमौ च पर्यक् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

बहु—अनेक; एवम्—इस प्रकार; उद्विग्न-दृशा—कातर दृष्टि से; उच्यमाने—जब ऐसा कहा जा रहा था; जनेन—(यज्ञ में एकत्र) व्यक्तियों द्वारा; दक्षस्य—दक्ष के; मुहुः—पुनः-पुनः; महा-आत्मनः—पुष्ट हृदय वाले, निडर; उत्पेतुः—प्रकट हुआ; उत्पात-तमाः—अत्यन्त प्रबल लक्षण; सहस्रशः—हजारों; भय-आवहाः—भय उत्पन्न करने वाले; दिवि—आकाश में; भूमौ—भूमि पर; च—तथा; पर्यक्—सभी दिशाओं से।

जब सभी लोग परस्पर बातें कर रहे थे तो दक्ष को समस्त दिशाओं से, पृथ्वी से तथा आकाश से, अशुभ संकेत (अपशकुन) दिखाई पड़ने लगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में दक्ष को *महात्मा* कहा गया है। *महात्मा* शब्द की टीका विभिन्न टीकाकारों ने अपने-अपने ढंग से की है। वीरराघव आचार्य ने संकेत किया है कि इस *महात्मा* शब्द का अर्थ "स्थिर-हृदय" है। कहने का तात्पर्य यह है कि दक्ष इतना पुष्ट-हृदय था कि पुत्री अपने प्राण देने को तत्पर थी फिर भी वह हिला नहीं, स्थिर बना रहा। इतने पर भी जब उसने विराट श्याम असुर द्वारा उत्पन्न विविध प्रकार के उत्पातों को देखा तो वह विचलित हो गया। इस सम्बन्ध में विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टिप्पणी है कि महात्मा कहलाए जाने के बावजूद जब तक किसी में महात्मा के लक्षण प्रकट न हों, तब तक उसे दुरात्मा समझना चाहिए। *भगवद्गीता* (९.१३) में महात्मा शब्द भगवान् के शुद्ध भक्त के लिए आया है—*महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।* महात्मा सदैव भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के मार्गदर्शन में रहता है, अतः दक्ष जैसा दुराचारी पुरुष महात्मा कैसे हो सकता था? महात्मा में देवताओं के सभी सद्गुण होने चाहिए, अतः इन गुणों से विहीन दक्ष किस तरह महात्मा कहला सकता था, उसे तो *दुरात्मा* कहा जाना चाहिए। यहाँ पर यह शब्द व्यंग्यपूर्वक प्रयुक्त है।

तावत्स रुद्रानुचरैर्महामखो
नानायुधैर्वामनकैरुदायुधैः ।
पिङ्गैः पिशङ्गैर्मकरोदराननैः
पर्याद्रवद्भिर्विदुरान्वरुध्यत ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तावत्—शीघ्र ही; सः—वह; रुद्र-अनुचरैः—शिव के अनुयायियों द्वारा; महा-मखः—महान् यज्ञस्थल; नाना—विविध प्रकार के; आयुधैः—हथियारों सहित; वामनकैः—नाटे कदके; उदायुधैः—ऊपर उठे हुए; पिङ्गैः—श्यामाभ भूरे; पिशङ्गैः—पीले; मकर-उदर-आननैः—मगर के समान पेट तथा मुख वालों से; पर्याद्रवद्भिः—चारों ओर दौड़ते हुए; विदुर—हे विदुर; अन्वरुध्यत—घिरा हुआ था।

हे विदुर, शिव के समस्त अनुचरों ने यज्ञस्थल को घेर लिया। वे नाटे कद के थे और अनेक प्रकार के हथियार लिये हुए थे उनके शरीर मकर के समान कुछ-कुछ काले तथा पीले थे। वे यज्ञस्थल के चारों ओर दौड़दौड़कर उत्पात मचाने लगे।

केचिद्बभञ्जुः प्राग्वंशं पत्नीशालां तथापरे ।
सद आग्नीध्रशालां च तद्विहारं महानसम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

केचित्—किन्हीं ने; बभञ्जुः—गिरा दिया; प्राक्-वंशम्—यज्ञ-मंडप के ख भों को; पत्नी-शालाम्—स्त्रियों के कक्ष; तथा—भी; अपरे—अन्य; सदः—यज्ञशाला; आग्नीध्र-शालाम्—पुरोहितों का आवास; च—तथा; तत्-विहारम्—यजमान का घर; महा-अनसम्—पाकशाला।

कुछ सैनिकों ने यज्ञ-पंडाल के आधार-स्तम्भों को नीचे गिरा दिया, कुछ स्त्रियों के कक्ष में घुस गये, कुछ ने यज्ञस्थान को विनष्ट करना प्रारम्भ कर दिया और कुछ रसोई घर तथा आवासीय कक्षों में घुस गये।

रुरुजुर्यज्ञपात्राणि तथैकेऽग्नीननाशयन् ।
कुण्डेष्वमूत्रयन्केचिद्बिभिदुर्वेदिमेखलाः ॥ १५॥

शब्दार्थ

रुरुजुः—तोड़ डाला; यज्ञ-पात्राणि—यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले पात्रों को; तथा—इस प्रकार; एके—कुछ ने; अग्नीन्—यज्ञ की अग्नियाँ; अनाशयन्—बुझा दीं; कुण्डेषु—यज्ञ स्थल में; अमूत्रयन्—पेशाब कर दिया; केचित्—किन्हीं ने; बिभिदुः—फाड़ डाला; वेदि-मेखलाः—यज्ञस्थल की सीमा रेखाएँ।

उन्होंने यज्ञ के सभी पात्र तोड़ दिये और उनमें से कुछ यज्ञ-अग्नि को बुझाने लगे। कुछेक ने तो यज्ञस्थल की सीमांकन मेखलाएँ तोड़ दी और कुछ ने यज्ञस्थल में पेशाब कर दिया।

अबाधन्त मुनीनन्ये एके पत्नीरतर्जयन् ।
अपरे जगृहुर्देवान्प्रत्यासन्नान्पलायितान् ॥ १६॥

शब्दार्थ

अबाधन्त—रास्ता रोक लिया; मुनीन्—मुनियों को; अन्ये—दूसरे; एके—कुछ ने; पत्नीः—स्त्रियों को; अतर्जयन्—डराया-धमकाया; अपरे—अन्य; जगृहुः—बन्दी कर लिया; देवान्—देवताओं को; प्रत्यासन्नान्—निकट ही; पलायितान्—भगने वालों को।

इनमें से कुछ ने भागते मुनियों का रास्ता रोक लिया, किन्हीं ने वहाँ पर एकत्र स्त्रियों को डराया-धमकाया और कुछ ने पण्डाल से भागते हुए देवताओं को बन्दी बना लिया।

भृगुं बबन्ध मणिमान्वीरभद्रः प्रजापतिम् ।
चण्डेशः पूषणं देवं भगं नन्दीश्वरोऽग्रहीत् ॥ १७॥

शब्दार्थ

भृगुम्—भृगु मुनि को; बबन्ध—बन्दी कर लिया; मणिमान्—मणिमान ने; वीरभद्रः—वीरभद्र ने; प्रजापतिम्—प्रजापति दक्ष को; चण्डेशः—चण्डेश ने; पूषणम्—पूषा को; देवम्—देवता; भगम्—भग; नन्दीश्वरः—नन्दीश्वर ने; अग्रहीत्—बन्दी कर लिया।

शिव के एक अनुचर मणिमान ने भृगु मुनि को बन्दी बना लिया तथा श्याम असुर वीरभद्र ने प्रजापति दक्ष को पकड़ लिया। एक अन्य अनुचर चण्डेश ने पूषा को तथा नन्दीश्वर ने भग देवता को बन्दी बना लिया।

सर्व एवर्त्विजो दृष्ट्वा सदस्याः सदिवौकसः ।
तैरर्द्यमानाः सुभृशं ग्रावभिर्नैकधाद्रवन् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—सभी; एव—निश्चय ही; ऋत्विजः—पुरोहित; दृष्ट्वा—देखकर; सदस्याः—यज्ञ में एकत्र सभी सदस्य; स-दिवौकसः—देवताओं सहित; तैः—उन (पत्थरों); अर्द्यमानाः—विचलित होकर; सु-भृशम्—अत्यधिक; ग्रावभिः—पत्थरों से; न एकधा—विभिन्न दिशाओं में; अद्रवन्—तितर-बितर हो गये।

लगातार पत्थरों की वर्षा के कारण समस्त पुरोहित तथा यज्ञ में एकत्र अन्य सदस्य महान् संकट में पड़ गये। अपने प्राणों के भय से वे चारों ओर तितर-बितर हो गये।

जुह्वतः स्रुवहस्तस्य श्मश्रूणि भगवान्भवः ।
भृगोर्लुलुञ्चे सदसि योऽहसच्छ्मश्रु दर्शयन् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

जुह्वतः—हवन करते हुए; स्रुव-हस्तस्य—हाथ में स्रुवा लिए; श्मश्रूणि—मूँछ; भगवान्—समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी; भवः—वीरभद्र; भृगोः—भृगुमुनि की; लुलुञ्चे—नोंच लीं; सदसि—भरी सभा में; यः—जो (भृगुमुनि); अहसत्—हँसा था; श्मश्रु—मूँछ; दर्शयन्—दिखाते हुए।

वीरभद्र ने अपने हाथों से अग्नि में आहुति डालते हुए भृगुमुनि की मूँछ नोच ली।

भगस्य नेत्रे भगवान्पातितस्य रुषा भुवि ।
उज्जहार सदस्थोऽक्ष्णा यः शपन्तमसूसुचत् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

भगस्य—भग की; नेत्रे—दोनों आँखें; भगवान्—वीरभद्र; पातितस्य—गिरा करके; रुषा—रोषपूर्वक; भुवि—पृथ्वी पर; उज्जहार—निकाल लीं; सद-स्थः—विश्वसृक् की सभा में स्थित; अक्ष्णा—अपनी भृकुटियों के हिलने से; यः—जो (भग); शपन्तम्—(शिव को) शाप देता (दक्ष); असूसुचत्—उकसाया था।

वीरभद्र ने तुरन्त उस भग को पकड़ लिया, जो भृगु द्वारा शिव को शाप देते समय अपनी भौंहे मटका रहा था। उसने अत्यन्त क्रोध में आकर भग को पृथ्वी पर पटक दिया और बलपूर्वक

उसकी आँखें निकाल लीं।

पूष्णो ह्यपातयद्दन्तान्कालिङ्गस्य यथा बलः ।
शप्यमाने गरिमणि योऽहसद्दर्शयन्दतः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

पूष्णः—पूषा का; हि—चूँकि; अपातयत्—निकाल लिया; दन्तान्—दाँत; कालिङ्गस्य—कलिंग के राजा के; यथा—जिस प्रकार; बलः—बलदेव ने; शप्यमाने—शाप दिये जाने पर; गरिमणि—शिव; यः—जो (पूषा); अहसत्—हँसा था; दर्शयन्—दिखाते हुए; दतः—दाँत।

जिस प्रकार बलदेव ने अनिरुद्ध के विवाहोत्सव में द्यूतक्रीड़ा के समय कलिंगराज दंतवक्र के दाँत निकाल लिये थे, उसी प्रकार से वीरभद्र ने दक्ष तथा पूषा दोनों के दाँत उखाड़ लिये, क्योंकि दक्ष ने शिव को शाप दिये जाते समय दाँत दिखाये थे और पूषा ने भी सहमति स्वरूप हँसते हुए दाँत दिखाए थे।

तात्पर्य : यहाँ पर कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के विवाह का सन्दर्भ आया है। वह दंतवक्र की कन्या का अपहरण करने के पश्चात् पकड़ लिया गया था। जैसे ही उसे अपहरण का दण्ड दिया जाने वाला था, उसी समय द्वारका से बलराम सहित सैनिक आ गये और क्षत्रियों में युद्ध ठन गया। इस प्रकार का युद्ध विशेष रूप से विवाहोत्सवों के समय अत्यधिक प्रचलित था, क्योंकि तब सभी में एक दूसरे को ललकारने का जोश रहता था। ऐसी स्थिति में युद्ध अवश्यम्भावी होता था और उसमें लोग मारे जाते थे तथा आपदा आती रहती थी। इस प्रकार के युद्ध के बाद समझौता हो जाता था और सब कुछ ठीक हो जाता था। दक्ष का यह यज्ञ बहुत कुछ ऐसा ही था। अब वे सभी—दक्ष तथा भग और पूषा देवता एवं भृगुमुनि—शिव के सैनिकों द्वारा दण्डित हुए, किन्तु बाद में सब कुछ शान्त हो गया। अतः एक दूसरे से लड़ने की यह प्रवृत्ति वस्तुतः शत्रुतापूर्ण न थी। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति इतना शक्तिशाली था और वैदिक मंत्र द्वारा अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाह रहा था, अतः दक्ष के यज्ञ में विभिन्न पक्षों द्वारा युद्ध कौशल का अच्छा प्रदर्शन हुआ।

आक्रम्योरसि दक्षस्य शितधारेण हेतिना ।
छिन्दन्नपि तदुद्धर्तुं नाशक्नोत्त्र्यम्बकस्तदा ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

आक्रम्य—बैठकर; उरसि—छाती पर; दक्षस्य—दक्ष की; शित-धारेण—तीक्ष्ण धार वाले; हेतिना—हथियार से; छिन्दन्—काटते हुए; अपि—भी; तत्—वह (सिर); उद्धर्तुम्—पृथक् करने में; न अशक्नोत्—समर्थ न हुआ; त्रि-अम्बकः—वीरभद्र (तीन नेत्रों वाला); तदा—तत्पश्चात्।

तब वह दैत्य सदृश पुरुष वीरभद्र दक्ष की छाती पर चढ़ बैठा और तीक्ष्ण हथियार से उसके शरीर से सिर काटकर अलग करने का प्रयत्न करने लगा, किन्तु सफल नहीं हुआ।

शस्त्रैरस्त्रान्वितैरेवमनिर्भिन्नत्वचं हरः ।
विस्मयं परमापन्नो दध्यौ पशुपतिश्चिरम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

शस्त्रैः—हथियार से; अस्त्र-अन्वितैः—मंत्रों से; एवम्—इस प्रकार; अनिर्भिन्न—न कटने से; त्वचम्—चमड़ा; हरः—वीरभद्र ने; विस्मयम्—विस्मित; परम्—अत्यधिक; आपन्नः—चकित; दध्यौ—सोचा; पशुपतिः—वीरभद्र; चिरम्—दीर्घ-काल तक।

उसने मंत्रों तथा हथियारों के बल पर दक्ष का सिर काटना चाहा, किन्तु दक्ष के सिर की चमड़ी तक को काट पाना दूभर हो रहा था। इस प्रकार वीरभद्र अत्यधिक चकित हुआ।

दृष्ट्वा संज्ञपनं योगं पशूनां स पतिर्मखे ।
यजमानपशोः कस्य कायात्तेनाहरच्छिरः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; संज्ञपनम्—यज्ञ में पशुओं के वध के लिए; योगम्—युक्ति; पशूनाम्—पशुओं की; सः—वह (वीरभद्र); पतिः—स्वामी; मखे—यज्ञ में; यजमान-पशोः—यजमान रूपी पशु; कस्य—दक्ष का; कायात्—शरीर से; तेन—उस (युक्ति) से; अहरत्—काट दिया; शिरः—उसका सिर।

तब वीरभद्र ने यज्ञशाला में लकड़ी की बनी युक्ति (करनी) देखी जिससे पशुओं का वध किया जाता था। उसने दक्ष का सिर काटने में इसका लाभ उठाया।

तात्पर्य : इस प्रसंग में यह ध्यान देने की बात है कि यज्ञ में पशुओं को मारने की युक्ति इसलिए नहीं बनी थी कि उनके मांसाहार में सुविधा हो। यह वध वैदिक मंत्रों के बल पर बलि दिये जाने वाले पशु को नवीन जीवन प्रदान करने के उद्देश्य से किया जाता था। मंत्रों के परीक्षण के लिए इन पशुओं की बलि दी जाती थी और यज्ञ सम्पन्न किये जाते थे। आधुनिक युग में भी शारीरिक प्रयोगशालाओं में पशु-शरीरों पर प्रयोग किये जाते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण ठीक से मंत्रों का उच्चारण करते हैं या नहीं इसकी परीक्षा यज्ञस्थल पर यज्ञ द्वारा की जाती थी। कुल मिलाकर बलि दिये गये पशु किसी प्रकार घाटे में नहीं रहते थे। केवल कुछ बूढ़े पशुओं की बलि दी जाती थी, किन्तु बदले में उन्हें नवीन शरीर प्राप्त

हो जाते थे। यही वैदिक मंत्रों की परीक्षा थी। वीरभद्र ने करनी का प्रयोग पशुबलि के लिए नहीं किया, परन्तु तुरंत ही उसने इससे सबों के देखते-देखते दक्ष का सिर धड़ से अलग कर दिया।

साधुवादस्तदा तेषां कर्म तत्तस्य पश्यताम् ।
भूतप्रेतपिशाचानां अन्येषां तद्विपर्ययः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

साधु-वादः—वाहवाही; तदा—उस समय; तेषाम्—उनके (शिव के अनुचरों के); कर्म—क्रिया; तत्—वह; तस्य—उस (वीरभद्र) का; पश्यताम्—देखते हुए; भूत-प्रेत-पिशाचानाम्—भूतों, प्रेतों तथा पिशाचों का; अन्येषाम्—अन्यों (दक्ष के दल) का; तत्-विपर्ययः—इसके विपरीत (शोकपूर्ण शब्द, हाहाकार)।

वीरभद्र के कार्य से शिवजी के दल को प्रसन्नता हुई और वह वाह-वाह कर उठा तथा जितने भी भूत, प्रेत तथा असुर वहाँ आये थे, उन सबों ने भयानक किलकारियाँ भरी। दूसरी ओर, यज्ञ का भार सँभालने वाले ब्राह्मण दक्ष की मृत्यु के कारण शोक से चीत्कार करने लगे।

जुहावैतच्छिरस्तस्मिन्दक्षिणाग्नावमर्षितः ।
तद्देवयजनं दग्ध्वा प्रातिष्ठद्गुह्यकालयम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

जुहाव—आहुति की; एतत्—वह; शिरः—सिर; तस्मिन्—उसमें; दक्षिण-अग्नौ—दक्षिण दिशा की यज्ञ-अग्नि में; अमर्षितः—अत्यन्त क्रुद्ध वीरभद्र; तत्—दक्ष का; देव-यजनम्—देवताओं के यज्ञ की व्यवस्था; दग्ध्वा—आग लगाकर; प्रातिष्ठत्—विदा हुआ; गुह्यक-आलयम्—गुह्यकों के धाम (कैलास)।

फिर वीरभद्र ने उस सिर को लेकर अत्यन्त क्रोध से यज्ञ अग्नि की दक्षिण दिशा में आहुति के रूप में डाल दिया। इस प्रकार शिव के अनुचरों ने यज्ञ की सारी व्यवस्था तहस-नहस कर डाली और समस्त यज्ञ क्षेत्र में आग लगाकर अपने स्वामी के धाम, कैलास के लिए प्रस्थान किया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कंध के अन्तर्गत "दक्ष के यज्ञ का विध्वंस," नामक पाँचवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छह

ब्रह्मा द्वारा शिवजी को मनाना

मैत्रेय उवाच

अथ देवगणाः सर्वे रुद्रानीकैः पराजिताः ।
शूलपट्टिशनिस्त्रिंशगदापरिघमुद्गरैः ॥ १ ॥
सञ्छिन्नभिन्नसर्वाङ्गाः सर्त्विक्सभ्या भयाकुलाः ।
स्वयम्भुवे नमस्कृत्य कार्त्स्न्येनैतन्न्यवेदयन् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; अथ—इसके पश्चात्; देव-गणाः—देवता; सर्वे—समस्त; रुद्र-अनीकैः—शिव के सैनिकों से; पराजिताः—हार कर; शूल—त्रिशूल; पट्टिश—तेजधार का भाला; निस्त्रिंश—तलवार; गदा—गदा; परिघ—लोहे की साँग, परिघ; मुद्गरैः—मुद्गर से; सञ्छिन्न-भिन्न-सर्व-अङ्गाः—अंग-प्रत्यंग घायल; स-ऋत्विक्-सभ्याः—समस्त पुरोहित तथा यज्ञ-सभा के सदस्यों सहित; भय-आकुलाः—अत्यधिक भय से; स्वयम्भुवे—भगवान् ब्रह्मा को; नमस्कृत्य—नमस्कार करके; कार्त्स्न्येन—विस्तार में; एतत्—दक्ष के यज्ञ की घटना; न्यवेदयन्—विस्तार से निवेदन किया, सूचित किया।

जब समस्त पुरोहित तथा यज्ञ-सभा के सभी सदस्य और देवतागण शिवजी के सैनिकों द्वारा पराजित कर दिये गये और त्रिशूल तथा तलवार जैसे हथियारों से घायल कर दिये गये, तब वे डरते हुए ब्रह्माजी के पास पहुँचे। उनको नमस्कार करने के पश्चात्,जो हुआ था, उन्होंने विस्तार से उसके विषय में बोलना प्रारम्भ किया।

उपलभ्य पुरैवैतद्भगवानब्जसम्भवः ।
नारायणश्च विश्वात्मा न कस्याध्वरमीयतुः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

उपलभ्य—जानकर; पुरा—पहले से; एव—निश्चय ही; एतत्—दक्ष के यज्ञ की ये सभी घटनाएँ; भगवान्—समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी; अब्ज-सम्भवः—कमल से उत्पन्न (ब्रह्मा); नारायणः—नारायण; च—तथा; विश्व-आत्मा—सम्पूर्ण विश्व के परमात्मा; न—नहीं; कस्य—दक्ष के; अध्वरम्—यज्ञ में; ईयतुः—गये।

ब्रह्मा तथा विष्णु दोनों ही पहले से जान गये थे कि दक्ष के यज्ञ-स्थल में ऐसी घटनाएँ होंगी, अतः पहले से पूर्वानुमान हो जाने से वे उस यज्ञ में नहीं गये।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (७.२६) में कहा गया है *वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन*—भगवान् कहते हैं, ''जो कुछ भूतकाल में घटित हो चुका है और भविष्य में जो कुछ होने जा रहा है, मैं वह सब जानता हूँ।'' भगवान् विष्णु सर्वज्ञ हैं, अतः वे जानते थे कि दक्ष की यज्ञशाला में क्या होगा। इसी कारण से न तो नारायण और न ही ब्रह्माजी दक्ष के महान् यज्ञ में सम्मिलित हुए।

तदाकर्ण्य विभुः प्राह तेजीयसि कृतागसि ।
क्षेमाय तत्र सा भूयान्न प्रायेण बुभूषताम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

तत्—देवों तथा अन्यों द्वारा वर्णित घटनाएँ; आकर्ण्य—सुनकर; विभुः—ब्रह्मा ने; प्राह—उत्तर दिया; तेजीयसि—महापुरुष; कृत-आगसि—अपराध किया गया; क्षेमाय—अपनी कुशलता के लिए; तत्र—उस प्रकार; सा—वह; भूयात् न—अच्छा नहीं है; प्रायेण—सामान्यत; बुभूषताम्—रहने की इच्छा।

जब ब्रह्मा ने देवताओं तथा यज्ञ में सम्मिलित होने वाले सदस्यों से सब कुछ सुन लिया तो उन्होंने उत्तर दिया; यदि तुम किसी महापुरुष की निन्दा करके उसके चरणकमलों की अवमानना करते हो तो यज्ञ करके तुम कभी सुखी नहीं रह सकते। तुम्हें इस तरह से सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती।

तात्पर्य : ब्रह्मा ने देवताओं को बताया कि यद्यपि दक्ष सकाम यज्ञ-कर्मों के फल भोगना चाहता था, किन्तु जब कोई शिव जैसे महान् पुरुष का अपमान करता है, तो वह उसे भोग नहीं सकता। यह तो दक्ष के लिए अच्छा हुआ कि वह युद्ध में मारा गया, क्योंकि यदि वह जीवित रहता तो वह बारम्बार महापुरुषों के चरणकमलों को अपमानित करता। मनु के नियम के अनुसार यदि कोई व्यक्ति हत्या करता है, तो दण्ड उसके हित में होता है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो वह बारम्बार हत्याएँ करके भविष्य में अपने अनेक जन्मों तक बंधन में पड़ता रहेगा। फलतः हत्यारे को राजदण्ड उचित होता है। जो अत्यधिक पापी हैं, यदि वे भगवान् की कृपा से मार डाले जाते हैं, तो यह उनके लिए अच्छा होता है। दूसरे शब्दों में, ब्रह्माजी ने देवताओं को बताया कि दक्ष का मारा जाना अच्छा ही रहा।

अथापि यूयं कृतकिल्बिषा भवं
ये बर्हिषो भागभाजं परादुः ।
प्रसादयध्वं परिशुद्धचेतसा
क्षिप्रप्रसादं प्रगृहीताङ्घ्रिपद्मम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

अथ अपि—फिर भी; यूयम्—तुम सबों ने; कृत-किल्बिषाः—पाप करके; भवम्—शिव को; ये—तुम सभी; बर्हिषः—यज्ञ का; भाग-भाजम्—प्राप्य भाग; परादुः—से अलग कर दिया है; प्रसादयध्वम्—तुम सभी प्रसन्न होओ; परिशुद्ध-चेतसा—बिना किसी हिचक के; क्षिप्र-प्रसादम्—तुरन्त दया; प्रगृहीत-अङ्घ्रि-पद्मम्—चरणकमलों की शरण ग्रहण करके।

तुम लोगों ने शिव को प्राप्य यज्ञ-भाग ग्रहण करने से वंचित किया है, अतः तुम सभी उनके

चरणकमलों के प्रति अपराधी हो। फिर भी, यदि तुम बिना किसी हिचक के उनके पास जाओ और उनको आत्मसमर्पण करके उनके चरणकमलों में गिरो तो वे अत्यन्त प्रसन्न होंगे।

तात्पर्य : शिव को *आशुतोष* भी कहा जाता है। *आशु* का अर्थ है "बड़ी जल्दी" तथा *तोष* का अर्थ है "प्रसन्न होना।" देवताओं को सलाह दी गई कि वे शिव के पास जाकर क्षमा माँगें और चूँकि शिव शीघ्र ही प्रसन्न हो जाने वाले हैं, अतः उनका काम अवश्य बन जाएगा। ब्रह्माजी शिव के मन की बात अच्छी तरह जानते थे और उन्हें विश्वास था कि उनके चरणकमलों के अपराधी देवता वहाँ जाकर बिना हिचक के आत्मसमर्पण करने पर अपने पापों से मुक्त हो सकेंगे।

आशासाना जीवितमध्वरस्य
लोकः सपालः कुपिते न यस्मिन् ।
तमाशु देवं प्रियया विहीनं
क्षमापयध्वं हृदि विद्धं दुरुक्तैः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

आशासानाः—पूछने के इच्छुक; जीवितम्—अवधि तक; अध्वरस्य—यज्ञ की; लोकः—समस्त लोक; स-पालः—अपने नियामकों सहित; कुपिते—क्रुद्ध होने पर; न—नहीं; यस्मिन्—जिसको; तम्—वह; आशु—तुरन्त; देवम्—शिव से; प्रियया—अपनी प्रिया से; विहीनम्—रहित; क्षमापयध्वम्—क्षमा माँगो; हृदि—उसके हृदय में; विद्धम्—अत्यन्त दुखी; दुरुक्तैः—कटु वचनों से।

ब्रह्मा ने उन्हें यह भी बतलाया कि शिवजी इतने शक्तिमान हैं कि उनके कोप से समस्त लोक तथा इनके प्रमुख लोकपाल तुरन्त ही विनष्ट हो सकते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि विशेषकर हाल ही में अपनी प्रियतमा के निधन के कारण वे बहुत ही दुखी हैं और दक्ष के कटुवचनों से अत्यन्त मर्माहत हैं। ऐसी स्थिति में ब्रह्मा ने उन्हें सुझाया कि उनके लिए कल्याणप्रद यह होगा कि वे तुरन्त उनके पास जाकर उनसे क्षमा माँगें।

नाहं न यज्ञो न च यूयमन्ये
ये देहभाजो मुनयश्च तत्त्वम् ।
विदुः प्रमाणं बलवीर्ययोर्वा
यस्यात्मतन्त्रस्य क उपायं विधित्सेत् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; न—न तो; यज्ञः—इन्द्र; न—न तो; च—तथा; यूयम्—तुम सभी; अन्ये—दूसरे; ये—जो; देह-भाजः—देहधारी; मुनयः—मुनि; च—तथा; तत्त्वम्—सच्चाई; विदुः—जानते हैं; प्रमाणम्—विस्तार; बल-वीर्ययोः—बल तथा वीर्य;

वा—अथवा; यस्य—शिव का; आत्म-तन्त्रस्य—आत्मनिर्भर शिव का; कः—क्या; उपायम्—साधन; विधित्सेत्—निकालना चाहेगा।

ब्रह्मा ने कहा कि न तो वे स्वयं, न इन्द्र, न यज्ञस्थल में समवेत समस्त सदस्य ही अथवा सभी मुनिगण ही जान सकते हैं कि शिव कितने शक्तिमान हैं। ऐसी अवस्था में ऐसा कौन होगा जो उनके चरणकमलों पर पाप करने का दुस्साहस करेगा?

तात्पर्य : जब ब्रह्मा ने देवताओं को शिव के पास जाकर क्षमा माँगने की सलाह दे दी तो यह सुझाव दिया गया कि आखिर उनके सामने कैसे यह मामला रखा जाये जाय और कैसे उन्हें प्रसन्न किया जाये? ब्रह्मा ने यह भी बताया कि कोई भी बद्धजीव, यहाँ तक कि वे स्वयं तथा समस्त देवतागण भी शिव को प्रसन्न करने की विधि नहीं जानते। किन्तु उन्होंने कहा, "यह ज्ञात है कि वे तुरन्त प्रसन्न किए जा सकते हैं, अत: हमें चाहिए कि हम उनके चरणकमलों में गिरकर उन्हें प्रसन्न करने का प्रयास करें।"

वास्तव में अधीनस्थ को सदैव परमेश्वर की शरण में जाना चाहिए। यही *भगवद्गीता* की शिक्षा है। भगवान् प्रत्येक व्यक्ति को सभी प्रकार के आडम्बरयुक्त पदों को त्यागने और उनकी शरण में आने के लिए कहते हैं। इससे बद्धजीव समस्त पाप-बन्धनों से बच जाते हैं। इसी प्रकार, यहाँ पर ब्रह्मा ने सुझाव दिया कि वे शिवजी के पास जाकर उनके चरणकमलों की शरण ग्रहण करें, क्योंकि उनके अत्यन्त दयालु होने तथा सरलता से प्रसन्न होने के कारण काम बन जाएगा।

स इत्थमादिश्य सुरानजस्तु तैः
समन्वितः पितृभिः सप्रजेशैः ।
ययौ स्वधिष्ण्यान्निलयं पुरद्विषः
कैलासमद्रिप्रवरं प्रियं प्रभोः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (ब्रह्मा); इत्थम्—इस प्रकार; आदिश्य—शिक्षा देकर; सुरान्—देवों को; अजः—ब्रह्मा; तु—तब; तैः—उनके; समन्वितः—सहित; पितृभिः—पितरों; स-प्रजेशैः—जीवात्माओं के स्वामियों सहित; ययौ—चले गये; स्व-धिष्ण्यात्—अपने स्थान से; निलयम्—धाम; पुर-द्विषः—शिव का; कैलासम्—कैलास; अद्रि-प्रवरम्—पर्वतों में श्रेष्ठ; प्रियम्—प्रिय; प्रभोः—प्रभु (शिव) का।

इस प्रकार समस्त देवताओं, पितरों तथा जीवात्माओं के अधिपतियों को उपदेश देकर ब्रह्मा ने उन सबों को अपने साथ ले लिया और शिव के धाम पर्वतों में श्रेष्ठ कैलास पर्वत के लिए

प्रस्थान किया।

तात्पर्य : यहाँ से आगे के चौदह श्लोकों में शिव के धाम, कैलास का वर्णन किया गया है।

जन्मौषधितपोमन्त्रयोगसिद्धैर्नरेतरैः ।
जुष्टं किन्नरगन्धर्वैरप्सरोभिर्वृतं सदा ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

जन्म—जन्म; औषधि—जड़ी-बूटियाँ; तपः—तपस्या; मन्त्र—वैदिक मंत्र; योग—योग-अभ्यास; सिद्धैः—सिद्ध पुरुषों द्वारा; नर-इतरैः—देवताओं द्वारा; जुष्टम्—भोगा गया; किन्नर-गन्धर्वैः—किन्नरों तथा गन्धर्वों द्वारा; अप्सरोभिः—अप्सराओं द्वारा; वृतम्—पूर्ण; सदा—सदैव।

कैलास नामक धाम विभिन्न जड़ी-बूटियों तथा वनस्पतियों से भरा हुआ है और वैदिक मंत्रों तथा योग-अभ्यास द्वारा पवित्र हो गया है। इस प्रकार इस धाम के वासी जन्म से ही देवता हैं और समस्त योगशक्तियों से युक्त हैं। इनके अतिरिक्त यहाँ पर अन्य मनुष्य हैं, जो किन्नर तथा गन्धर्व कहलाते हैं और वे अपनी-अपनी सुन्दर स्त्रियों के संग रहते हैं, जो अप्सराएँ कहलाती हैं।

नानामणिमयैः शृङ्गैर्नानाधातुविचित्रितैः ।
नानाद्रुमलतागुल्मैर्नानामृगगणावृतैः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

नाना—विभिन्न प्रकार के; मणि—रत्न; मयैः—से निर्मित; शृङ्गैः—चोटियों से; नाना-धातु-विचित्रितैः—अनेक धातुओं से अलंकृत; नाना—विभिन्न; द्रुम—वृक्ष; लता—बेलें, लताएँ; गुल्मैः—वृक्ष; नाना—विविध; मृग-गण—हिरनों के समूहों द्वारा; आवृतैः—आबाद।

कैलास समस्त प्रकार की बहुमूल्य मणियों तथा खनिजों (धातुओं) से युक्त पर्वतों से भरा हुआ है और सभी प्रकार के मूल्यवान वृक्षों तथा पौधों द्वारा घिरा हुआ है। पर्वतों की चोटियाँ तरह-तरह के हिरनों से शोभायमान हैं।

नानामलप्रस्त्रवणैर्नानाकन्दरसानुभिः ।
रमणं विहरन्तीनां रमणैः सिद्धयोषिताम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

नाना—विविध; अमल—निर्मल, पारदर्शी; प्रस्त्रवणैः—जल प्रपातों से; नाना—विविध; कन्दर—गुफाएँ; सानुभिः—चोटियों से; रमणम्—आनन्द प्रदान करती हुई; विहरन्तीनाम्—विहार करती हुई; रमणैः—अपने-अपने प्रेमियों सहित; सिद्ध-योषिताम्—योगियों की प्रियतमाओं के।

वहाँ अनेक झरने हैं और पर्वतों में अनेक गुफाएँ हैं जिनमें योगियों की अत्यन्त सुन्दर पत्नियाँ

रहती हैं।

मयूरकेकाभिरुतं मदान्धालिविमूर्च्छितम् ।
प्लावितै रक्तकण्ठानां कूजितैश्च पतत्त्रिणाम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

मयूर—मोरों की; केका—बोली (शोर); अभिरुतम्—गुंजायमान; मद—मादकता से; अन्ध—अंधे हुए; अलि—भौंरों से; विमूर्च्छितम्—गुंजायमान; प्लावितैः—गायन से; रक्त-कण्ठानाम्—कोयलों के; कूजितैः—कूजन (कलरव) से; च—तथा; पतत्त्रिणाम्—अन्य पक्षियों के।

कैलास पर्वत पर सदैव मोरों की मधुर ध्वनि तथा भौंरों के गुंजार की ध्वनि गूँजती रहती है। कोयलें सदैव कूजती रहती हैं और अन्य पक्षी परस्पर कलरव करते रहते हैं।

आह्वयन्तमिवोद्धस्तैर्द्विजान्कामदुघैर्द्रुमैः ।
व्रजन्तमिव मातङ्गैर्गृणन्तमिव निर्झरैः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

आह्वयन्तम्—बुलाते हुए; इव—मानो; उत्-हस्तैः—उठे हुए हाथों (डालियों) से; द्विजान्—पक्षियों को; काम-दुघैः—कामप्रद, मनोरथ पूरा करने वाले; द्रुमैः—वृक्षों से; व्रजन्तम्—चलते हुए; इव—मानों; मातङ्गैः—हाथियों द्वारा; गृणन्तम्—चिग्घाड़ करते; इव—मानो; निर्झरैः—झरनों के द्वारा।

वहाँ पर सीधी शाखाओं वाले ऊँचे-ऊँचे वृक्ष हैं, जो मधुर पक्षियों को बुलाते प्रतीत होते हैं और जब हाथियों के झुंड पर्वतों के पास से गुजरते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है मानो कैलास पर्वत उनके साथ-साथ चल रहा है। जब झरनों की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है, तो ऐसा प्रतीत होता है मानो कैलास पर्वत भी सुर में सुर मिला रहा हो।

मन्दारैः पारिजातैश्च सरलैश्चोपशोभितम् ।
तमालैः शालतालैश्च कोविदारासनार्जुनैः ॥ १४ ॥
चूतैः कदम्बैर्नीपैश्च नागपुन्नागचम्पकैः ।
पाटलाशोकबकुलैः कुन्दैः कुरबकैरपि ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

मन्दारैः—मन्दार से; पारिजातैः—पारिजात से; च—तथा; सरलैः—सरल से; च—तथा; उपशोभितम्—अलंकृत; तमालैः—तमाल वृक्षों से; शाल-तालैः—शाल तथा ताड़ वृक्षों से; च—तथा; कोविदार-आसन-अर्जुनैः—कोविदार, आसन (विजयसार) तथा अर्जुन वृक्षों से; चूतैः—आम का एक प्रकार; कदम्बैः—कदम्ब वृक्षों से; नीपैः—नीपों से (धूलि कदम्बों से); च—तथा; नाग-पुन्नाग-चम्पकैः—नाग, पुन्नाग तथा चम्पक से; पाटल-अशोक-बकुलैः—पाटल, अशोक तथा बकुल से; कुन्दैः—कुन्द से; कुरबकैः—कुरबक से; अपि—भी।

पूरा कैलास पर्वत अनेक प्रकार के वृक्षों से सुशोभित है, जिनमें से उल्लेखनीय नाम हैं—

मन्दार, पारिजात, सरल, तमाल, ताल, कोविदार, आसन, अर्जुन, आम्र-जाति, कदम्ब, धूलि-कदम्ब, नाग, पुन्नाग, चम्पक, पाटल, अशोक, बकुल, कुंद तथा कुरबक। सारा पर्वत ऐसे वृक्षों से सुसज्जित है जिनमें सुगन्धित पुष्प निकलते हैं।

स्वर्णार्णशतपत्रैश्च वररेणुकजातिभिः ।
कुब्जकैर्मल्लिकाभिश्च माधवीभिश्च मण्डितम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

स्वर्णार्ण—सुनहरे रंग का; शत-पत्रैः—कमलों से; च—तथा; वर-रेणुक-जातिभिः—वर, रेणुक तथा मालती से; कुब्जकैः—कुब्जकों से; मल्लिकाभिः—मल्लिकाओं से; च—तथा; माधवीभिः—माधवी से; च—तथा; मण्डितम्—सुशोभित, अलंकृत।

वहाँ अन्य वृक्ष भी हैं, जो पर्वत की शोभा बढ़ाते हैं, यथा सुनहरा कमलपुष्प, दारचीनी, मालती, कुब्ज, मल्लिका तथा माधवी।

पनसोदुम्बराश्वत्थप्लक्षन्यग्रोधहिङ्गुभिः ।
भूर्जैरोषधिभिः पूगै राजपूगैश्च जम्बुभिः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

पनस-उदुम्बर-अश्वत्थ-प्लक्ष-न्यग्रोध-हिङ्गुभिः—पनस (कटहल), उदुम्बर, अश्वत्थ, प्लक्ष, न्यग्रोध तथा हींग उत्पन्न करने वाले वृक्ष; भूर्जैः—भोजपत्र से; ओषधिभिः—सुपारी वृक्षों से; पूगैः—पूग से; राजपूगैः—राजपूगों से; च—तथा; जम्बुभिः—जामुन से।

कैलास पर्वत जिन अन्य वृक्षों से सुशोभित है वे हैं कट अर्थात् कटहल, गूलर, बरगद, पाकड़, न्यग्रोध तथा हींग उत्पादक वृक्ष। इसके अतिरिक्त सुपारी, भोजपत्र, राजपूग, जामुन तथा इसी प्रकार के अन्य वृक्ष हैं।

खर्जूराम्रातकाम्राद्यैः प्रियालमधुकेङ्गुदैः ।
द्रुमजातिभिरन्यैश्च राजितं वेणुकीचकैः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

खर्जूर-आम्रातक-आम्र-आद्यैः—खजूर, आम्रातक, आम्र तथा अन्य वृक्षों से; प्रियाल-मधुक-इङ्गुदैः—प्रियाल, मधुक तथा इंगुद से; द्रुम-जातिभिः—वृक्षों की जातियों से; अन्यैः—अन्य; च—तथा; राजितम्—सुशोभित्; वेणु-कीचकैः—वेणु (बाँस) तथा कीचक (खोखले बाँस) से।

वहाँ आम, प्रियाल, मधुक (महुआ) तथा इंगुद (च्यूर) के वृक्ष हैं। इनके अतिरिक्त पतले बाँस, कीचक तथा बाँसों की अन्य किस्में कैलास पर्वत को सुशोभित करने वाली हैं।

कुमुदोत्पलकह्लारशतपत्रवनर्द्धिभिः ।
नलिनीषु कलं कूजत्खगवृन्दोपशोभितम् ॥ १९ ॥
मृगैः शाखामृगैः क्रोडैर्मृगेन्द्रैरृक्षशल्यकैः ।
गवयैः शरभैर्व्याघ्रै रुरुभिर्महिषादिभिः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

कुमुद—कुमुद; उत्पल—उत्पल; कह्लार—कल्हार; शतपत्र—कमल; वन—जंगल; ऋद्धिभिः—से आच्छादित; नलिनीषु—झीलों में; कलम्—अत्यन्त मधुर; कूजत्—चहकते हुए; खग—पक्षियों का; वृन्द—समूह; उपशोभितम्—से अलकृंत; मृगैः—हिरनों से; शाखा-मृगैः—बन्दरों से; क्रोडैः—सुअरों से; मृग-इन्द्रैः—सिंहों से; ऋक्ष-शल्यकैः—रीछों तथा साहियों से; गवयैः—नील गायों से; शरभैः—जंगली गधों से; व्याघ्रैः—बाघों से; रुरुभिः—एक प्रकार के छोटे मृग से; महिष-आदिभिः—भैंसे आदि से।

वहाँ कई प्रकार के कमल पुष्प हैं यथा कुमुद, उत्पल, शतपत्र। वहाँ का वन अलकृंत उद्यान सा प्रतीत होता है और छोटी-छोटी झीलें विभिन्न प्रकार के पक्षियों से भरी पड़ी हैं, जो अत्यन्त मीठे स्वर से चहकती हैं। साथ ही कई प्रकार के अन्य पशु भी पाये जाते हैं, यथा मृग, बन्दर, सुअर, सिंह, रीछ, साही, नील गाय, जंगली गधे, लघुमृग, भैंसे इत्यादि जो अपने जीवन का पूरा आनन्द उठाते हैं।

कर्णान्त्रैकपदाश्वास्यैर्निर्जुष्टं वृकनाभिभिः ।
कदलीखण्डसंरुद्धनलिनीपुलिनश्रियम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कर्णान्त्र—कर्णांत्र से; एकपद—एकपद; अश्वास्यैः—अश्वास्य से; निर्जुष्टम्—पूर्णतः भोगा हुआ; वृक-नाभिभिः—वृक तथा नाभि (कस्तूरी मृग) द्वारा; कदली—केला के; खण्ड—समूह से; संरुद्ध—आच्छादित; नलिनी—कमलों से भरा सरोवर; पुलिन—रेतीला किनारा; श्रियम्—अत्यन्त सुन्दर।

वहाँ पर तरह तरह के मृग पाये जाते हैं, यथा कर्णांत्र, एकपद, अश्वास्य, वृक तथा कस्तूरी मृग। इन मृगों के अतिरिक्त विविध केले के वृक्ष हैं, जो छोटी-छोटी झीलों के तटों को सुशोभित करते हैं।

पर्यस्तं नन्दया सत्याः स्नानपुण्यतरोदया ।
विलोक्य भूतेशगिरिं विबुधा विस्मयं ययुः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

पर्यस्तम्—घिरा हुआ; नन्दया—नन्दा नदी से; सत्याः—सती के; स्नान—स्नान से; पुण्य-तर—विशेष रूप से सुगन्धित; उदया—जल से; विलोक्य—देखकर; भूत-ईश—भूतों के स्वामी (शिव) का; गिरिम्—पर्वत; विबुधाः—देवतागण; विस्मयम्—आश्चर्य; ययुः—हुआ।

वहाँ पर अलकनन्दा नामक एक छोटी सी झील है, जिसमें सती स्नान किया करती थीं। यह झील विशेष रूप से शुभ है। कैलास पर्वत की विशेष शोभा देखकर सभी देवता वहाँ के ऐश्वर्य से अत्यधिक विस्मित थे।

तात्पर्य : *श्रीभागवतचन्द्र चन्द्रिका* नामक भाष्य के अनुसार सती जिस जल में स्नान करती थीं वह गंगाजल था अर्थात् गंगा नदी कैलास पर्वत से होकर बहती थी। ऐसा कथन स्वीकार्य हो सकता है, क्योंकि गंगा जल शिव की जटाओं से होकर बहता था। चूँकि गंगा जल शिव के सिर पर ठहर कर तब ब्रह्माण्ड के अन्य भागों में बहता है, अतः बहुत कुछ सम्भव है कि जिस जल से सती स्नान करती थीं और जो अत्यधिक सुवासित था, वह गंगा जल ही था।

ददृशुस्तत्र ते रम्यामलकां नाम वै पुरीम् ।
वनं सौगन्धिकं चापि यत्र तन्नाम पङ्कजम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

ददृशुः—देखा; तत्र—वहाँ (कैलास में); ते—वे (देवता); रम्याम्—अत्यन्त आकर्षक; अलकाम्—अलका; नाम—नामक; वै—निस्सन्देह; पुरीम्—धाम; वनम्—जंगल; सौगन्धिकम्—सौगन्धिक; च—तथा; अपि—भी; यत्र—जिस स्थान में; तत्-नाम—उस नाम की; पङ्कजम्—कमल पुष्पों की जाति।

इस प्रकार देवताओं ने सौगन्धिक नामक वन में अलका नामक विचित्र सुन्दर भाग को देखा। यह वन कमल पुष्पों की अधिकता के कारण सौगन्धिक कहलाता है। सौगन्धिक का अर्थ है ‘‘सुगन्धि से पूर्ण।’’

तात्पर्य : कभी-कभी अलका को अलकापुरी कहते हैं, जो कुबेर के धाम का भी नाम है। किन्तु कैलास से कुबेर का धाम नहीं देखा जा सकता। अतः यहाँ पर निर्दिष्ट अलका कुबेर की अलकापुरी से पृथक् है। वीरराघव आचार्य के अनुसार अलका का अर्थ ‘‘असामान्य रूप से सुन्दर’’ है। देवताओं ने जिस अलका भूभाग को देखा वहाँ सौगन्धिक नामक कमलपुष्प पाये जाते हैं, जो अपनी विशिष्ट सुगन्धि बिखेरते रहते हैं।

नन्दा चालकनन्दा च सरितौ बाह्यत: पुर: ।
तीर्थपादपदाम्भोजरजसातीव पावने ॥ २४॥

शब्दार्थ

नन्दा—नन्दा; च—तथा; अलकनन्दा—अलकनन्दा; च—तथा; सरितौ—दो नदियाँ; बाह्यत:—बाहर की ओर; पुर:—नगरी से; तीर्थ-पाद—भगवान् के; पद-अम्भोज—चरणकमल की; रजसा—धूलि से; अतीव—अत्यधिक; पावने—पवित्र हुई।

उन्होंने नन्दा तथा अलकनन्दा नामक दो नदियाँ भी देखीं। ये दोनों नदियाँ भगवान् गोविन्द के चरणकमलों की रज से पवित्र हो चुकी हैं।

ययो: सुरस्त्रिय: क्षत्तरवरुह्य स्वधिष्ण्यत: ।
क्रीडन्ति पुंस: सिञ्चन्त्यो विगाह्य रतिकर्शिता: ॥ २५॥

शब्दार्थ

ययो:—जिन दोनों (नदियों) में; सुर-स्त्रिय:—स्वर्ग की सुन्दरियाँ अपने पतियों समेत; क्षत्त:—हे विदुर; अवरुह्य—उतर कर; स्व-धिष्ण्यत:—अपने-अपने विमानों से; क्रीडन्ति—क्रीड़ा करते हैं; पुंस:—उनके पति; सिञ्चन्त्य:—जल छिड़क कर; विगाह्य—(जल में) प्रवेश करके; रति-कर्शिता:—जिनका रति-सुख घट चुका है।

हे क्षत्त, है विदुर, स्वर्ग की सुन्दरियाँ अपने-अपने पतियों सहित विमानों से इन नदियों में उतरती हैं और काम-क्रीड़ा के पश्चात् जल में प्रवेश करती हैं तथा अपने पतियों के ऊपर पानी उलीच कर आनन्द उठाती हैं।

तात्पर्य : ऐसा ज्ञात होता है कि स्वर्ग लोक की ललनाएँ भी विषय-सुख के विचारों से दूषित रहती हैं, फलत: वे विमानों में चढ़कर नन्दा तथा अलकनन्दा नदियों में स्नान करने आती हैं। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि इन दोनों नदियों का जल भगवान् के चरणकमलों की रज से पावन होता रहता है। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार भगवान् नारायण के चरण के अँगूठे से निकलने के कारण गंगा पवित्र है, उसी प्रकार से चाहे जल हो या कोई अन्य वस्तु जब वह भगवान् की भक्ति के सम्पर्क में आती है, तो वह पवित्र और दिव्य हो जाती है। भक्ति के विधि-विधान इस सिद्धान्त पर टिके हैं कि जो वस्तु भगवान् के चरणकमलों के सम्पर्क में आती है, वह भौतिक कल्मष से तुरन्त मुक्त हो जाती है।

स्वर्गलोक की सुन्दरियाँ विषयी जीवन के दूषित विचार लेकर पवित्र नदियों में स्नान के लिए आती हैं और अपने पतियों पर पानी उछाल-उछाल कर आनन्दित होती हैं। इस सम्बन्ध में दो शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। *रति-कर्शिता:* का अर्थ है कि रति-सुख के पश्चात् सुन्दरियाँ क्लान्त हो जाती हैं। यद्यपि वे शारीरिक आवश्यकता में काम-सुख को स्वीकार करती हैं, किन्तु बाद में वे प्रसन्न नहीं

होतीं।

अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भगवान् गोविन्द को *तीर्थपाद* कहा गया है। *तीर्थ* का अर्थ है, ''पवित्र स्थान'' तथा *पाद* का अर्थ है, ''भगवान् के चरणकमल।'' लोग पवित्र स्थानों में अपने पापबन्धनों से छूटने के लिए जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जो लोग भगवान् कृष्ण के चरणकमलों में अनुरक्त हैं, वे स्वत: पवित्र हो जाते हैं। भगवान् के चरणकमलों को तीर्थपाद कहा जाता है, क्योंकि उनके संरक्षण में सैकड़ों-हजारों साधु पुरुष तीर्थस्थानों को पवित्र कर देते हैं। गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के महान् आचार्य श्रील नरोत्तमदास ठाकुर का उपदेश है कि हमें विभिन्न तीर्थस्थानों में जाने की आवश्यकता नहीं है। निस्सन्देह, एक स्थान से दूसरे स्थान तक की यात्रा कष्टदायक है, किन्तु जो बुद्धिमान होता है, वह गोविन्द के चरणकमलों की शरण में जा सकता है, जिससे वह अपनी तीर्थ यात्रा के परिणामस्वरूप स्वत: शुद्ध हो जाता है। जो कोई भी गोविन्द के चरणकमल की सेवा में अटल है, वह तीर्थपाद है, उसे तीर्थस्थलों में भ्रमण करने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि भगवान् के चरणकमलों की सेवा में लिप्त रह कर वह ऐसी यात्रा के समस्त लाभ उठा सकता है। ऐसा शुद्ध भक्त जो भगवान् के चरणकमलों में अटूट श्रद्धा रखता है विश्व के किसी भी भाग में जहां रहने का वह निर्णय लेता है, तीर्थ स्थान बन जाता है। *तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि* (*भागवत* १.१३.१०)। ऐसे स्थान शुद्ध भक्तों की उपस्थिति के कारण पवित्र हो जाते हैं, यदि भगवान् या उनका शुद्ध भक्त किसी स्थान में रहता है, तो वह स्वत: तीर्थस्थल में परिणत हो जाता है। दूसरे शब्दों में, ऐसा शुद्ध भक्त जो शत-प्रतिशत भगवान् की सेवा में तन्मय रहता है, विश्व के किसी भी भाग में रह सकता है और वह स्थान शीघ्र ही पवित्र स्थल बन जाता है, जहाँ वह भगवान् की इच्छानुसार उनकी सेवा कर सकता है।

ययोस्तत्स्नानविभ्रष्टनवकुङ्कमपिञ्जरम् ।
वितृषोऽपि पिबन्त्यम्भ: पाययन्तो गजा गजी: ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

ययो:—जिन दोनों नदियों में; तत्-स्नान—उनके स्नान से; विभ्रष्ट—गिरे हुए; नव—ताजे; कुङ्कम—कुंकुम चूर्ण से; पिञ्जरम्—पीला; वितृष:—प्यासे न होने पर; अपि—भी; पिबन्ति—पीते हैं; अम्भ:—जल; पाययन्त:—पिलाते हैं; गजा:—हाथी; गजी:—हथिनियाँ।

स्वर्गलोक की सुन्दरियों द्वारा जल में स्नान करने के पश्चात् उनके शरीर के कुंकुम के

कारण वह जल पीला तथा सुगंधित हो जाता है। अतः वहाँ पर स्नान करने के लिए हाथी अपनी-अपनी पत्नी हथिनियों के साथ आते हैं और प्यासे न होने पर भी वे उस जल को पीते हैं।

तारहेममहारत्नविमानशतसङ्कुलाम् ।
जुष्टां पुण्यजनस्त्रीभिर्यथा खं सतडिद्घनम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

तार-हेम—मोती तथा सोने का; महा-रत्न—बहुमूल्य रत्न; विमान—विमानों का; शत—सैकड़ों; सङ्कुलाम्—पुंजित; जुष्टाम्—व्यक्त, भोगा गया; पुण्यजन-स्त्रीभिः—यक्षों की पत्नियों द्वारा; यथा—जिस प्रकार; खम्—आकाश; स-तडित्-घनम्—बिजली तथा बादलों से युक्त।

स्वर्ग के निवासियों के विमानों में मोती, सोना तथा अनेक बहुमूल्य रत्न जड़े रहते हैं। स्वर्ग के निवासियों की तुलना उन बादलों से की गई है, जो आकाश में रहकर बिजली की चमक से सुशोभित रहते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर जिन विमानों की चर्चा है, वे हमारे परिचित विमानों से भिन्न हैं। *श्रीमद्भागवत* तथा समस्त वैदिक साहित्य में विमान के अनेक वर्णन हैं। विभिन्न लोकों में भिन्न-भिन्न प्रकार के विमान होते हैं। इस पृथ्वी लोक में विमान यंत्रचालित हैं, किन्तु अन्य लोकों के विमान मंत्र-बल से चालित होते हैं, न कि यंत्र से। वे विशेषतः स्वर्गलोक के वासियों के आमोद-प्रमोद के लिए भी उपयोग में लाये जाते हैं जिससे वे एक लोक से दूसरे लोक में जा सकें। सिद्धलोक में तो विमान के बिना ही एक लोक से दूसरे लोक की यात्रा की जा सकती है। स्वर्ग के सुन्दर विमानों की तुलना यहाँ पर आकाश से की गई है, क्योंकि वे आकाश में उड़ते हैं। यात्रियों की तुलना बादलों से की गई है। स्वर्ग के निवासियों की मनोरम ललनाओं की तुलना बिजली से की गई है। कुल मिलाकर, उच्च लोकों से यात्रियों के साथ कैलास पर आने वाले विमान देखने में अत्यन्त मनोहर लगते थे।

हित्वा यक्षेश्वरपुरीं वनं सौगन्धिकं च तत् ।
द्रुमैः कामदुघैर्हृद्यं चित्रमाल्यफलच्छदैः ॥ २८॥

शब्दार्थ

हित्वा—पीछे छोड़ कर; यक्ष-ईश्वर—यक्षों के स्वामी (कुबेर) का; पुरीम्—धाम, वासस्थान; वनम्—जंगल; सौगन्धिकम्—सौगन्धिक नामक; च—तथा; तत्—वह; द्रुमैः—वृक्षों से; काम-दुघैः—कामनाओं को पूरा करने वाले; हृद्यम्—आकर्षक; चित्र—चित्रित; माल्य—पुष्प; फल—फल; छदैः—पत्तियों से।

यात्रा करते हुए देवता सौगन्धिक वन से होकर निकले जो अनेक प्रकार के पुष्पों, फलों तथा कल्पवृक्षों से पूर्ण था। इस वन से जाते हुए उन्होंने यक्षेश्वर के प्रदेशों को भी देखा।

तात्पर्य : यक्षेश्वर को कुबेर भी कहा जाता है और वे देवताओं के खजांची भी हैं। वैदिक साहित्य में उनका जो वर्णन हुआ है उसमें यह बताया गया है कि वे अत्यन्त धनी हैं। इन श्लोकों से लगता है कि कैलास कुबेर के निवासस्थान के निकट ही है। यहाँ इसका भी उल्लेख है कि वन कल्पवृक्षों से पूर्ण था। *ब्रह्म-संहिता* से हमें कल्पवृक्ष के विषय में जानकारी मिलती है, जो वैकुण्ठ लोक में, विशेष रूप से कृष्णलोक में पाया जाता है। यहाँ पर हमें यह पता चलता है कि ऐसे कल्पवृक्ष श्रीकृष्ण की कृपा से शिव के आवास कैलास में भी पाये जाते हैं। ऐसा लगता है कि कैलास का विशिष्ट महत्त्व है; यह प्राय: कृष्ण के धाम सदृश है।

रक्तकण्ठखगानीकस्वरमण्डितषट्पदम् ।
कलहंसकुलप्रेष्ठं खरदण्डजलाशयम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

रक्त—लाल; कण्ठ—गर्दन; खग-अनीक—अनेक पक्षियों का; स्वर—मीठी बोली से; मण्डित—सुशोभित; षट्-पदम्—भौंरे; कलहंस-कुल—हंसों के झुंडों का; प्रेष्ठम्—अत्यन्त प्रिय; खर-दण्ड—कमल पुष्प; जल-आशयम्—झील, सरोवर।

उस नैसर्गिक वन में अनेक पक्षी थे जिनकी गर्दन लाल रंग की थीं और उनका कलरव भौंरों के गुंजार से मिल रहा था। वहाँ के सरोवर शब्द करते हंसों के समूहों तथा लम्बे नाल वाले कमल पुष्पों से सुशोभित थे।

तात्पर्य : सरोवरों के कारण वन की शोभा में चार चाँद लग रहे थे। यहाँ यह बताया गया है कि सरोवर कमलपुष्पों तथा हंसों से सुशोभित थे। ये हंस क्रीड़ा कर रहे थे और पक्षियों तथा गुंजरित भौंरों के साथ-साथ गा रहे थे। इन सब विशेषताओं से यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि वह स्थान कितना रमणीक था और वहाँ से निकलने वाले देवता उस वातावरण में कितना सुख अनुभव कर रहे थे। इस पृथ्वीलोक में मनुष्यों ने अनेक मार्ग तथा सुन्दर स्थल निर्मित किये हैं, किन्तु उनमें से कोई भी कैलास के स्थलों से बढ़कर नहीं होगा, जैसाकि इन श्लोकों में वर्णित है।

**वनकुञ्जरसङ्घृष्टहरिचन्दनवायुना ।
अधि पुण्यजनस्त्रीणां मुहुरुन्मथयन्मनः ॥ ३० ॥**

शब्दार्थ

वन-कुञ्जर—जंगली हाथी से; सङ्घृष्ट—रगड़ा गया; हरिचन्दन—चन्दन के वृक्ष; वायुना—मन्द वायु से; अधि—अधिक; पुण्यजन-स्त्रीणाम्—यक्षों की पत्नियों के; मुहुः—पुनः पुनः; उन्मथयत्—विचलित; मनः—मन।

ऐसा वातावरण जंगली हाथियों को विचलित कर रहा था, जो चन्दन वृक्ष के जंगल में झुंडों में एकत्र हुए थे। बहती हुई वायु अप्सराओं के मनों को अधिकाधिक इन्द्रियभोग के लिए विचलित किए जा रही थी।

तात्पर्य : जब भी इस भौतिक जगत में सुन्दर वातावरण मिलता है, तो विषयीजनों के मन में तुरन्त ही काम-वासना जाग्रत हो जाती है। यह प्रवृत्ति भौतिक ब्रह्माण्ड में न केवल इस लोक में, वरन् उच्चतर लोकों में भी पाई जाती है। इस जगत में ऐसे वातावरण का मस्तिष्क पर जो प्रभाव पड़ता है, उससे सर्वथा विपरीत वैकुण्ठ लोक में होता है। वहाँ की स्त्रियाँ इस लोक की स्त्रियों से सैकड़ों-हजारों गुना अधिक सुन्दर होती हैं और वहाँ का आध्यात्मिक वातावरण भी उत्तम होता है। ऐसे मनमोहक वातावरण के होते हुए भी वैकुण्ठलोक के वासियों का मन भगवान् के यशोगान में इतना निमग्न रहता है कि इस सुख के आगे वह काम-सुख तुच्छ प्रतीत होता है, जो भौतिक जगत के समस्त आनन्द की चरमावस्था है। दूसरे शब्दों में, श्रेष्ठतर वातावरण तथा सुविधा होने पर भी वहाँ विषयी जीवन को कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता। जैसाकि *भगवद्गीता* में (२.५९) कहा गया है—*परं दृष्ट्वा निवर्तते*—आध्यात्मिक दृष्टि से वहाँ के वासी इतने उन्नत होते हैं कि ऐसी आध्यात्मिकता की उपस्थिति में विषयी जीवन तुच्छ लगता है।

**वैदूर्यकृतसोपाना वाप्य उत्पलमालिनीः ।
प्राप्तं किम्पुरुषैर्दृष्ट्वा त आराद्ददृशुर्वटम् ॥ ३१ ॥**

शब्दार्थ

वैदूर्य-कृत—वैदूर्य की बनी; सोपानाः—सीढ़ियाँ; वाप्यः—झीलें; उत्पल—कमल पुष्पों की; मालिनीः—पंक्तियों से युक्त; प्राप्तम्—बसा हुआ; किम्पुरुषैः—किम्पुरुषों द्वारा; दृष्ट्वा—देखकर; ते—उन देवताओं ने; आरात्—निकट ही; ददृशुः—देखा; वटम्—बरगद का वृक्ष।

उन्होंने यह भी देखा कि नहाने के घाट तथा उनकी सीढ़ियाँ वैदूर्यमणि की बनी थीं। जल कमलपुष्पों से भरा था। ऐसी झीलों के निकट से जाते हुए देवता उस स्थान पर पहुँचे जहाँ एक

वट वृक्ष था।

स योजनशतोत्सेधः पादोनविटपायतः ।
पर्यक्कृताचलच्छायो निर्नीडस्तापवर्जितः ॥ ३२॥

शब्दार्थ

सः—वह वट वृक्ष; योजन-शत—एक सौ योजन (आठ सौ मील); उत्सेधः—उँचाई; पाद-ऊन—एक चौथाई कम (छह सौ मील); विटप—शाखाओं से; आयतः—फैला हुआ; पर्यक्—चारों ओर; कृत—बना हुआ; अचल—स्थिर; छायः—छाया; निर्नीडः—बिना घोंसले का; ताप-वर्जितः—तापरहित, गर्मी से रहित।

वह वट वृक्ष आठ सौ मील ऊँचा था और उसकी शाखाएँ चारों ओर छह सौ मील तक फैली थीं। उसकी मनोहर छाया से सतत शीतलता छाई थी, तो भी पक्षियों की गूँज सुनाई नहीं पड़ रही थी।

तात्पर्य : सामान्य रूप से प्रत्येक वृक्ष में पक्षियों के घोंसले रहते हैं और शाम को सारे पक्षी एकत्र होकर शोर करते हैं। किन्तु ऐसा लगता है कि इस वट वृक्ष में घोंसले न थे जिससे वह शान्त था। शोर अथवा गर्मी न होने से यह स्थान ध्यान के लिए सर्वथा उपयुक्त था।

तस्मिन्महायोगमये मुमुक्षुशरणे सुराः ।
ददृशुः शिवमासीनं त्यक्तामर्षमिवान्तकम् ॥ ३३॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस वृक्ष के नीचे; महा-योग-मये—परमेश्वर के ध्यान में मग्न अनेक साधुओं से युक्त; मुमुक्षु—मुक्ति की कामना करने वाले; शरणे—आश्रय; सुराः—देवताओं ने; ददृशुः—देखा; शिवम्—शिव को; आसीनम्—आसन लगाये; त्यक्त-अमर्षम्—क्रोधरहित; इव—मानों; अन्तकम्—अनन्त काल।

देवताओं ने शिव को, जो योगियों को सिद्धि प्रदान करने एवं समस्त लोगों का उद्धार करने में सक्षम थे, उस वृक्ष के नीचे आसीन देखा। अनन्त काल के समान गम्भीर, शिवजी ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो समस्त क्रोध का परित्याग कर चुके हों।

तात्पर्य : इस श्लोक में *महायोगमये* शब्द अत्यन्त सार्थक है। *योग* का अर्थ है भगवान् का ध्यान और *महायोग* का अर्थ है, जो विष्णु की भक्ति में तल्लीन रहते हैं। ध्यान का तात्पर्य है *स्मरण* करना। भक्ति नौ प्रकार की है, जिसमें *स्मरणम्* भी एक क्रिया है। इसमें योगी अपने हृदय में विष्णु के रूप का स्मरण करता है। इस तरह उस वट वृक्ष के नीचे अनेक भक्त विष्णु के ध्यान में लगे थे।

महा शब्द संस्कृत के महत् से निकला है। इसका प्रयोग बड़ी संख्या या मात्रा बताने के लिए होता है, अत: *महा-योग* से सूचित होता है कि वहाँ अनेक बड़े-बड़े योगी तथा भक्त थे, जो विष्णु के रूप का ध्यान धर रहे थे। सामान्य रूप से ऐसे ध्यानकर्ता भव-बन्धन से मुक्ति पाने के इच्छुक रहते हैं और वे वैकुण्ठलोक को जाते हैं। मुक्ति का अर्थ है भव-बन्धन या अज्ञान से छुटकारा। इस भौतिक जगत में हम जन्म-जन्मांतर अपने देहबोध के कारण कष्ट भोगते हैं और दुखमय जीवन से छुटकारा ही मुक्ति है।

सनन्दनाद्यैर्महासिद्धैः शान्तैः संशान्तविग्रहम् ।
उपास्यमानं सख्या च भर्त्रा गुह्यकरक्षसाम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

सनन्दन-आद्यैः—सनन्दन इत्यादि चारों कुमार; महा-सिद्धैः—मुक्त जीव; शान्तैः—साधु प्रकृति का; संशान्त-विग्रहम्—गम्भीर तथा साधु प्रकृति वाले शिव; उपास्यमानम्—प्रशंसित; सख्या—कुबेर द्वारा; च—तथा; भर्त्रा—स्वामी द्वारा; गुह्यक-रक्षसाम्—गुह्यकों तथा राक्षसों द्वारा।

वहाँपर शिवजी कुबेर, गुह्यकों के स्वामी तथा चारों कुमारों जैसी मुक्तात्माओं से घिरे हुए बैठे थे। शिवजी अत्यन्त गम्भीर एवं शान्त थे।

तात्पर्य : शिवजी के साथ आसीन पुरुष महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि चारों कुमार जन्म से ही मुक्त थे। यहाँ यह स्मरणीय है कि इन चारों कुमारों के पिता ने उनसे विवाह करने और नवसृजित ब्रह्माण्ड में प्रजा बढ़ाने के लिए अनुरोध किया था, किन्तु उन्होंने मना कर दिया था और उस समय ब्रह्माजी अत्यन्त क्रुद्ध हुए थे। उसी क्रुद्ध स्थिति में रुद्र या शिव का जन्म हुआ। इस प्रकार वे परस्पर घनिष्ठ थे। कुबेर, जो देवताओं के कोषाध्यक्ष हैं, अत्यधिक धनवान हैं। इस प्रकार से कुमारों तथा कुबेर के साथ उनकी घनिष्ठता से आभास होता है कि उनके पास समस्त दिव्य एवं भौतिक ऐश्वर्य हैं। वस्तुत: वे परमेश्वर के गुणात्मक अवतार हैं, अत: उनका पद अत्यन्त सम्माननीय है।

विद्यातपोयोगपथमास्थितं तमधीश्वरम् ।
चरन्तं विश्वसुहृदं वात्सल्याल्लोकमङ्गलम् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

विद्या—ज्ञान; तपः—तपस्या; योग-पथम्—भक्ति मार्ग; आस्थितम्—स्थित; तम्—उसको (शिव को); अधीश्वरम्—इन्दियों के स्वामी; चरन्तम्—(तप इत्यादि) करते हुए.); विश्व-सुहृदम्—समस्त संसार के सखा; वात्सल्यात्—पूर्ण स्नेह से; लोक-मङ्गलम्—प्रत्येक के लिए कल्याणकर।

देवताओं ने शिवजी को इन्द्रिय, ज्ञान, सकाम कर्मों तथा सिद्धि मार्ग के स्वामी के रूप में स्थित देखा। वे समस्त जगत के भिन्न हैं और सबके लिए पूर्ण स्नेह रखने के कारण वे अत्यन्त कल्याणकारी हैं।

तात्पर्य : शिवजी ज्ञान तथा *तप* से पूर्ण हैं। जो कार्य के त्रिगुणों को समझता है, वह भगवान् के भक्तिमार्ग में स्थित माना जाता है। जब तक किसी को भक्ति करने की विधियों का पूरा ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक वह भगवान् की सेवा नहीं कर सकता।

यहाँ पर शिव को *अधीश्वर* कहा गया है। ईश्वर का अर्थ है 'नियन्ता' और अधीश्वर का विशेष अर्थ है 'इन्द्रियों का नियन्ता'। सामान्यत: भौतिकता से दूषित हमारी इन्द्रियाँ, इन्द्रिय-तृप्ति के कार्यों में लगी रहने की ओर प्रवृत्त होती हैं, किन्तु जब कोई पुरुष ज्ञान तथा तपस्या से ऊपर उठ जाता है, तो इन्द्रियाँ पवित्र हो जाती हैं और वे भगवान् की सेवा में लग जाती हैं। शिवजी ऐसी सिद्धि के प्रतीक हैं, अत: धर्मग्रन्थों में कहा जाता है *वैष्णवानां यथा शम्भुः*—शिवजी वैष्णव हैं। अपने कर्मों से वे इस जगत में समस्त बद्धजीवों को सिखाते हैं कि किस प्रकार अहर्निश भक्ति में लगा जाये। इसीलिए उन्हें यहाँ *लोकमंगल* अर्थात समस्त बद्धजीवों के लिए कल्याणकारी कहा गया है।

लिङ्गं च तापसाभीष्टं भस्मदण्डजटाजिनम् ।
अङ्गेन सन्ध्याभ्ररुचा चन्द्रलेखां च बिभ्रतम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

लिङ्गम्—चिह्न; च—तथा; तापस-अभीष्टम्—शैव साधुओं द्वारा वांछित; भस्म—राख; दण्ड—डंडा; जटा—जटाजूट; अजिनम्—मृग चर्म; अङ्गेन—अपने शरीर से; सन्ध्या-आभ्र—लाल लाल; रुचा—रँगा हुआ; चन्द्र-लेखाम्—अर्द्धचन्द्र कला; च—तथा; बिभ्रतम्—धारण किये।

वे मृगचर्म पर आसीन थे और सभी प्रकार की तपस्या कर रहे थे। शरीर में राख लगाये रहने से वे संध्याकालीन बादल की भाँति दिखाई पड़ रहे थे। उनकी जटाओं में अर्द्धचन्द्र का चिह्न था, जो सांकेतिक प्रदर्शन है।

तात्पर्य : शिव की तपस्या के चिह्न वैष्णवों जैसे नहीं होते। वे सर्वश्रेष्ठ वैष्णव तो हैं, किंन्तु वे

मनुष्यों की एक ऐसी विशेष श्रेणी के लिए लक्षण प्रदर्शित करते हैं, जो वैष्णव नियमों का पालन नहीं कर सकते। शिव के अनुयायी शैव सामान्य रूप से शिव की ही भाँति वेष बनाते हैं और कभी-कभी वे गांजा तथा मादक द्रव्यों का सेवन करते हैं। वैष्णव धर्म के अनुयायी ऐसी आदतों को कभी स्वीकार नहीं कर सकते।

उपविष्टं दर्भमय्यां बृस्यां ब्रह्म सनातनम् ।
नारदाय प्रवोचन्तं पृच्छते शृण्वतां सताम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

उपविष्टम्—बैठे हुए; दर्भ-मय्याम्—दर्भ से बने; बृस्याम्—चटाई (आसन) पर; ब्रह्म—परम सत्य; सनातनम्—शाश्वत; नारदाय—नारद को; प्रवोचन्तम्—बोलते हुए; पृच्छते—पूछते हुए; शृण्वताम्—सुनते हुए; सताम्—साधु पुरुषों का।

वे तृण (कुश) के आसन पर बैठे थे और वहाँ पर उपस्थित सबों को, विशेषरूप से नारद मुनि, को परम सत्य के विषय में उपदेश दे रहे थे।

तात्पर्य : शिवजी कुशासन पर बैठे थे, क्योंकि परम सत्य के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए तपस्या करने वाले लोग ऐसा ही आसन चुनते हैं। इस श्लोक में विशेषरूप से उल्लेख है कि वे सुविख्यात नारदमुनि से संभाषण कर रहे थे। नारद भक्ति के विषय में शिव से पूछ रहे थे और शिवजी सर्वश्रेष्ठ वैष्णव होने के नाते उन्हें उपदेश दे रहे थे। कहने का तात्पर्य यह है कि शिव तथा नारद वेद-ज्ञान की चर्चा कर रहे थे, किन्तु विषय था भक्ति। इस सम्बन्ध में दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि शिव महान् उपदेशक हैं और नारद मुनि एक महान् श्रोता हैं। अत: वैदिक ज्ञान का प्रमुख विषय भक्ति है।

कृत्वोरौ दक्षिणे सव्यं पादपद्मं च जानुनि ।
बाहुं प्रकोष्ठेऽक्षमालामासीनं तर्कमुद्रया ॥ ३८॥

शब्दार्थ

कृत्वा—रखकर; ऊरौ—जाँघ पर; दक्षिणे—दाहिनी; सव्यम्—बाँये; पाद-पद्मम्—चरणकमल; च—तथा; जानुनि—घुटने पर; बाहुम्—हाथ; प्रकोष्ठे—दाहिनी हाथ की कलाई में; अक्ष-मालाम्—रुद्राक्ष की माला; आसीनम्—बैठे हुए; तर्क-मुद्रया—तर्क मुद्रा से।

उनका बायाँ पैर उनकी दाहिनी जाँघ पर रखा था और उनका बायाँ हाथ बायीं जाँघ पर था। दाहिने हाथ में उन्होंने रुद्राक्ष की माला पकड़ रखी थी। यह आसन वीरासन कहलाता है। इस

प्रकार वे वीरासन में थे और उनकी अँगुली तर्क-मुद्रा में थी।

तात्पर्य : *अष्टांग योग* अभ्यास पद्धति के अनुसार यहाँ पर वर्णित आसन *वीरासन* कहलाता है। योगाभ्यास में आठ विभाग हैं, यथा, *यम, नियम* इत्यादि। वीरासन के अतिरिक्त अन्य आसन भी हैं, यथा *पद्मासन, सिद्धासन*। परमात्मा विष्णु की अनुभूति के स्तर तक उठे बगैर इन आसनों के अभ्यास को योग की सिद्धावस्था नहीं कहा जा सकता। शिव को *योगीश्वर* कहा जाता है और कृष्ण को *योगेश्वर* कहा जाता है। *योगीश्वर* इस बात का सूचक है कि जहाँ तक योगाभ्यास का प्रश्न है, शिव को कोई पछाड़ नहीं सकता जबकि योगेश्वर सूचित करता है कि कृष्ण को कोई योग की सिद्धि में पछाड़ नहीं सकता। एक अन्य सार्थक शब्द *तर्क-मुद्रा* है। इसमें अंगुलियाँ खुली रखी जाती हैं और दूसरी अंगुली को भुजा के सहित ऊपर उठाया जाता है, जिससे श्रोताओं पर किसी विषय वस्तु का प्रभाव पड़े। वास्तव में यह लाक्षणिक अभिव्यक्ति है।

तं ब्रह्मनिर्वाणसमाधिमाश्रितं
व्युपाश्रितं गिरिशं योगकक्षाम् ।
सलोकपाला मुनयो मनूना-
माद्यं मनुं प्राञ्जलयः प्रणेमुः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (शिव को); ब्रह्म-निर्वाण—ब्रह्मानन्द में; समाधिम्—समाधि में; आश्रितम्—लीन; व्युपाश्रितम्—टेके हुए; गिरिशम्—शिव; योग-कक्षाम्—अपने बायें घुटने को गांठदार कपड़े से मजबूती से कसे; स-लोक-पालाः—देवताओं सहित (इन्द्र इत्यादि); मुनयः—साधुगण; मनूनाम्—समस्त चिन्तकों का; आद्यम्—प्रमुख; मनुम्—चिन्तक; प्राञ्जलयः—हाथ जोड़े; प्रणेमुः—प्रणाम किया।

समस्त मुनियों तथा इन्द्र आदि देवताओं ने हाथ जोड़कर शिवजी को सादर प्रणाम किया। शिवजी ने केसरिया वस्त्र धारण कर रखा था और समाधि में लीन थे जिससे वे समस्त साधुओं में अग्रणी प्रतीत हो रहे थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *ब्रह्मानन्द* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *ब्रह्मानन्द* या ब्रह्म-निर्वाण की व्याख्या प्रह्लाद महाराज ने की है। जब मनुष्य *अधोक्षज* अर्थात् भगवान् में, जो भौतिक पुरुषों की ज्ञानेन्द्रियों के परे हैं, पूर्णतया लीन हो जाता है, तो वह *ब्रह्मानन्द* पद पर स्थित होता है।

भगवान् के अस्तित्व, नाम, रूप, गुण तथा लीलाओं के विषय में कोई धारणा बनाना कठिन है

क्योंकि वे भौतिकतावादी पुरुषों की अवधारणा से परे स्थित हैं। चूँकि भौतिकतावादी पुरुष न तो ईश्वर के सम्बध में कुछ सोच-विचार सकते हैं, और न कोई धारणा बना सकते हैं, अत: वे ईश्वर को मृत मानते हैं, किन्तु वास्तव में भगवान् अपने सच्चिदानन्द रूप में सदैव विद्यमान रहते हैं। ईश्वर के रूप में केन्द्रित करके निरन्तर ध्यान करना *समाधि* है। *समाधि* का अर्थ है केन्द्रीभूत ध्यान, अत: जो व्यक्ति भगवान् का सतत ध्यान करने की योग्यता रखता है, वह सदैव समाधि में रहता समझा जाता है और वह ब्रह्म-निर्वाण या *ब्रह्मानन्द* का आनन्द लेता है। शिवजी में ये लक्षण प्रकट थे, अतएव यह कहा गया है कि वे *ब्रह्मानन्द* में लीन थे।

अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द है *योग-कक्षाम्। योगकक्षा* एक आसन है, जिसमें बाईं जाँघ को केसरिया रंग के गाँठदार वस्त्र के नीचे दृढ़ता से स्थिर रखा जाता है। यहाँ पर *मनूनाम् आद्यम्* शब्द भी सार्थक है, क्योंकि उनसे दार्शनिक अथवा विचारपूर्ण व्यक्ति का बोध होता है। ऐसा व्यक्ति *मनु* कहलाता है। इस श्लोक में शिव को विचारवान व्यक्तियों का मुखिया कहा गया है। निस्सन्देह, शिव कभी व्यर्थ चिन्तन में अपने को संलग्न नहीं करते, किन्तु, जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, वे असुरों को उनकी पतित अवस्था से उबारने के लिए सदैव चिन्तित रहते हैं। कहा जाता है कि चैतन्य महाप्रभु के काल में सदाशिव अद्वैत प्रभु के रूप में प्रकट हुए और अद्वैत प्रभु का मुख्य कार्य था पतित आत्माओं को उबार कर कृष्णभक्ति में लगाना। चूँकि लोग अपने को वृथा के कार्यों में लगाये रहते थे जिससे उनकी भौतिक सत्ता बनी रहे, अत: भगवान् शिव ने अपने अद्वैत रूप में परमेश्वर से प्रार्थना की कि वे भगवान् चैतन्य के रूप में प्रकट हों, जिससे मोहग्रस्त जीवों का उद्धार हो सके। वस्तुत: अद्वैत प्रभु की प्रार्थना पर ही भगवान् चैतन्य का आविर्भाव हुआ। इसी प्रकार शिवजी का एक *सम्प्रदाय* है, जिसे रुद्र *सम्प्रदाय* कहते हैं। वे सदैव पतित आत्माओं के उद्धार के विषय में सोचते रहते हैं, जैसाकि अद्वैत प्रभु ने किया।

स तूपलभ्यागतमात्मयोनिं
सुरासुरेशैरभिवन्दिताङ्घ्रिः ।
उत्थाय चक्रे शिरसाभिवन्दन-

मर्हत्तमः कस्य यथैव विष्णुः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

सः—शिव; तु—लेकिन; उपलभ्य—देखकर; आगतम्—आया हुआ; आत्म-योनिम्—ब्रह्मा को; सुर-असुर-ईशैः—सर्वश्रेष्ठ देवताओं तथा असुरों द्वारा; अभिवन्दित-अङ्घ्रिः—जिनके चरण पूजित हैं; उत्थाय—खड़े होकर; चक्रे—किया; शिरसा—शिर से; अभिवन्दनम्—सादर नमस्कार; अर्हत्तमः—वामनदेव ने; कस्य—कश्यप का; यथा एव—जिस प्रकार; विष्णुः—विष्णु।

शिवजी के चरणकमल देवताओं तथा असुरों द्वारा समान रूप से पूज्य थे, फिर भी अपने उच्च पद की परवाह न करके उन्होंने ज्योंही देखा कि अन्य देवताओं में ब्रह्मा भी हैं, तो वे तुरन्त खड़े हो गये और झुक कर उनके चरणकमलों का स्पर्श करके उनका सत्कार किया, जिस प्रकार वामनदेव ने कश्यप मुनि को सादर नमस्कार किया था।

तात्पर्य : कश्यप मुनि जीवात्माओं की श्रेणी में थे, किन्तु उनके एक दिव्य पुत्र वामनदेव हुआ जो विष्णु का अवतार था। इस तरह वामनदेव ने भगवान् होते हुए भी कश्यप मुनि को नमस्कार किया। इसी प्रकार जब भगवान् कृष्ण बालक थे तो वे अपने माता तथा पिता नन्द-यशोदा को नमस्कार करते थे। यही नहीं, कुरुक्षेत्र के युद्ध में भी भगवान् कृष्ण ने महाराज युधिष्ठिर के पाँव छुए थे, क्योंकि वे ज्येष्ट थे। तो ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् हों या शिव तथा अन्य भक्त, सबों ने अपने-अपने उच्च पद के बावजूद उदाहरण प्रस्तुत करते हुए शिक्षा दी कि किस प्रकार अपने गुरुजनों को नमस्कार करना चाहिए। शिव ने ब्रह्माजी को नमस्कार किया, क्योंकि वे उनके पिता थे, जिस प्रकार से कश्यप मुनि वामन के पिता थे।

तथापरे सिद्धगणा महर्षिभि-
र्ये वै समन्तादनु नीललोहितम् ।
नमस्कृतः प्राह शशाङ्कशेखरं
कृतप्रणामं प्रहसन्निवात्मभूः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

तथा—उसी प्रकार; अपरे—अन्य; सिद्ध-गणाः—सिद्ध जन; महा-ऋषिभिः—बड़े-बड़े ऋषियों सहित; ये—जो; वै—निस्सन्देह; समन्तात्—चारों ओर से; अनु—पीछे; नीललोहितम्—शिव; नमस्कृतः—नमस्कार करते हुए; प्राह—कहा; शशाङ्क-शेखरम्—शिव से; कृत-प्रणामम्—प्रणाम करके; प्रहसन्—हँसते हुए; इव—सदृश्य; आत्मभूः—ब्रह्मा ने।

शिवजी के साथ जितने भी ऋषि, यथा नारद आदि, बैठे हुए थे उन्होंने भी ब्रह्मा को सादर नमस्कार किया। इस प्रकार पूजित होकर शिव से ब्रह्मा हँसते हुए कहने लगे।

तात्पर्य : ब्रह्मा हँस रहे थे, क्योंकि उन्हें पता था कि शिवजी जिस प्रकार जल्दी प्रसन्न होते हैं उसी

तरह वे जल्दी क्रुद्ध भी हो जाते हैं। उन्हें भय था कि वे कहीं क्रुद्ध न हों, क्योंकि उनकी पत्नी का निधन हो चुका था और वे दक्ष द्वारा अपमानित हो चुके थे। अत: अपने भय को छिपाने के लिए वे हँसे और शिव को इस प्रकार से सम्बोधित किया।

ब्रह्मोवाच
जाने त्वामीशं विश्वस्य जगतो योनिबीजयो: ।
शक्ते: शिवस्य च परं यत्तद्ब्रह्म निरन्तरम् ॥ ४२॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्मा ने कहा; जाने—जानता हूँ; त्वाम्—तुमको (शिव को); ईशम्—नियन्ता; विश्वस्य—सम्पूर्ण भौतिक जगत का; जगत:—दृश्य जगत का; योनि-बीजयो:—माता तथा पिता दोनों का; शक्ते:—शक्ति का; शिवस्य—शिव का; च—तथा; परम्—परब्रह्म; यत्—जो; तत्—वह; ब्रह्म—बिना परिवर्तन के; निरन्तरम्—बिना किसी भौतिक गुण के।

ब्रह्मा ने कहा : हे शिव, मैं जानता हूँ कि आप सारे भौतिक जगत के नियन्ता, दृश्य जगत के माता-पिता और दृश्य जगत से भी परे परब्रह्म हैं। मैं आपको इसी रूप में जानता हूँ।

तात्पर्य : यद्यपि शिव ने ब्रह्मा को सादर नमस्कार किया था, किन्तु ब्रह्मा जानते थे कि शिव का पद उनसे बड़ा है। शिव के पद का वर्णन *ब्रह्म-संहिता* में इस प्रकार दिया हुआ है—भगवान् विष्णु तथा शिव की मूल स्थितियों में कोई अन्तर नहीं है, तो भी शिव भगवान् विष्णु से भिन्न हैं। वहाँ यह उदाहरण दिया गया है कि दही में जो दूध है, वह दूध से, जिससे दही बना है, भिन्न नहीं है।

त्वमेव भगवन्नेतच्छिवशक्त्यो: स्वरूपयो: ।
विश्वं सृजसि पास्यत्सि क्रीडन्नूर्णपटो यथा ॥ ४३॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; एव—ही; भगवन्—हे भगवान्; एतत्—यह; शिव-शक्त्यो:—अपनी शुभ शक्ति में स्थित होकर; स्वरूपयो:—अपने व्यक्तिगत विस्तार से; विश्वम्—यह ब्रह्माण्ड; सृजसि—उत्पन्न करते हो; पासि—पालन करते हो; अत्सि—संहार करते हो; क्रीडन्—खेलते हुए; ऊर्ण-पट:—मकड़ी का जाला; यथा—जिस प्रकार।

हे भगवान्, आप अपने व्यक्तिगत विस्तार से इस दृश्य जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार मकड़ी अपना जाला बनाती है, बनाये रखती हैं और फिर अन्त कर देती है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *शिव-शक्ति* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *शिव* का अर्थ है शुभ और शक्ति का अर्थ है शक्ति। भगवान् की कई प्रकार की शक्तियाँ होती हैं और सभी शुभ हैं। बह्मा, विष्णु तथा महेश्वर

गुण-अवतार कहलाते हैं। इस भौतिक जगत में हम इन तीनों अवतारों की तुलना विभिन्न दृष्टियों से करते हैं, किन्तु वे एक ही परम मंगल के विस्तार होने से सभी शुभ हैं यद्यपि कभी-कभी हम एक गुण को दूसरे से बढ़कर या छोटा मानते हैं। तमोगुण अन्यों से निम्न माना जाता है, किन्तु उच्च धरातल पर यह भी शुभ है। उदाहरणार्थ, सरकार में शिक्षा विभाग तथा अपराध विभाग दोनों होते हैं। कोई भी बाहरी व्यक्ति अपराध विभाग को अशुभ मान सकता है, किन्तु सरकारी दृष्टिकोण से यह विभाग शिक्षा विभाग की ही तरह महत्त्वपूर्ण है, इसीलिए सरकार बिना भेदभाव के दोनों विभागों में समान रूप से वित्तपोषण करती है।

त्वमेव धर्मार्थदुघाभिपत्तये
दक्षेण सूत्रेण ससर्जिथाध्वरम् ।
त्वयैव लोकेऽवसिताश्च सेतवो
यान्ब्राह्मणाः श्रद्दधते धृतव्रताः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

त्वम्—आपने; एव—निश्चय ही; धर्म-अर्थ-दुघ—धर्म तथा आर्थिक विकास से प्राप्त लाभ; अभिपत्तये—उनकी रक्षा हेतु; दक्षेण—दक्ष द्वारा; सूत्रेण—निमित्त बनाते हुए; ससर्जिथ—उत्पन्न किया; अध्वरम्—यज्ञ; त्वया—तुम्हारे द्वारा; एव—निश्चय ही; लोके—इस संसार में; अवसिताः—संयमित; च—तथा; सेतवः—वर्णाश्रम संस्था की मर्यादाएँ; यान्—जो; ब्राह्मणाः—ब्राह्मण वर्ग; श्रद्दधते—अत्यधिक सम्मान करते हैं; धृत-व्रताः—व्रत लेकर।

हे भगवान्, आपने दक्ष को माध्यम बनाकर यज्ञ-प्रथा चलाई है, जिससे मनुष्य धार्मिक कृत्य तथा आर्थिक विकास का लाभ उठा सकता है। आपके ही नियामक विधानों से चारों वर्णों तथा आश्रमों को सम्मानित किया जाता है। अतः ब्राह्मण इस प्रथा का दृढ़तापूर्वक पालन करने का व्रत लेते हैं।

तात्पर्य : वर्ण तथा आश्रम की वैदिक प्रणाली की कभी भी अनदेखी नहीं की जानी चाहिए क्योंकि मानव समाज में सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए ही भगवान् ने स्वयं ये विभाग किये। ब्राह्मणों को समाज का बुद्धिजीवी वर्ग होने के नाते इस विधि-विधान का दृढ़ता से पालन करने का व्रत लेना चाहिए। इस कलियुग में वर्गहीन समाज का निर्माण करने तथा वर्ण एवं आश्रम के नियमों का पालन न करने की प्रवृत्ति एक असम्भव स्वप्न का प्राकट्य है। सामाजिक तथा आध्यात्मिक व्यवस्था के विनाश से वर्गहीन समाज की कल्पना कभी भी साकार नहीं हो सकती।

मनुष्यों को स्रष्टा की तुष्टि के लिए वर्ण तथा आश्रम के नियमों का कड़ाई से पालन करना चाहिए, क्योंकि *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण द्वारा कहा गया है कि चारों वर्णों की सृष्टि भगवान् द्वारा हुई। उन्हें इसी के अनुसार कार्य करना चाहिए और ईश्वर को प्रसन्न रखना चाहिए, जिस प्रकार शरीर के भिन्न-भिन्न अंग उसकी सेवा में लगे रहते हैं। अपने *विराट-रूप* में ही पुरुषोत्तम भगवान् पूर्ण हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ईश्वर के विराट रूप के क्रमशः मुख, बाहु, उदर तथा पाँव हैं। जब तक वे परम पूर्ण स्वरूप की सेवा में लगे रहते हैं, तभी तक उनका पद सुरक्षित है, अन्यथा वे पक्ष-भ्रष्ट होने से पतित हो जाते हैं।

त्वं कर्मणां मङ्गल मङ्गलानां
कर्तुः स्वलोकं तनुषे स्वः परं वा ।
अमङ्गलानां च तमिस्रमुल्बणं
विपर्ययः केन तदेव कस्यचित् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—आप; कर्मणाम्—कर्तव्यों का; मङ्गल—हे परम शुभ; मङ्गलानाम्—शुभ करने वालों का; कर्तुः—कर्ता का; स्व-लोकम्—क्रम से उच्च लोक; तनुषे—विस्तार करते हैं; स्वः—स्वर्गलोक; परम्—दिव्य लोक; वा—अथवा; अमङ्गलानाम्—अमंगल का; च—तथा; तमिस्रम्—तमिस्र नरक; उल्बणम्—घोर; विपर्ययः—उल्टा; केन—क्यों; तत् एव—निश्चय ही वह; कस्यचित्—किसी के लिए।.

हे परम मंगलमय भगवान्, आपने स्वर्गलोक, वैकुण्ठलोक तथा निर्गुण ब्रह्मलोक को शुभ कर्म करने वालों का गन्तव्य निर्दिष्ट किया है। इसी प्रकार जो दुराचारी हैं उनके लिए अत्यन्त घोर नरकों की सृष्टि की है। तो भी कभी-कभी ये गन्तव्य उलट जाते हैं। इसका कारण तय कर पाना अत्यन्त कठिन है।

तात्पर्य : भगवान् को परमेच्छा कहा गया है। परमेच्छा से ही प्रत्येक घटना घटती है। इसीलिए कहा जाता है कि उनकी इच्छा के बिना एक पत्ती भी नहीं हिल सकती। सामान्य रूप से नियम यह है कि शुभ कर्म करने वाले स्वर्गलोक को जाते हैं, भक्तजन वैकुण्ठलोक को जाते हैं और निर्गुण चिन्तक निर्गुण ब्रह्म तेज में पद पाते हैं। किन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि अजामिल जैसे पापी केवल नारायण का नाम लेने से तुरन्त ही वैकुण्ठलोक को प्राप्त होते हैं। यद्यपि अजामिल अपने पुत्र नारायण को पुकार रहा था, किन्तु भगवान् नारायण ने इसे गम्भीरता से ग्रहण करते हुए उसके पापपूर्ण कर्मों के

बावजूद उसे वैकुण्ठलोक भेज दिया। इसी प्रकार राजा दक्ष सदैव यज्ञों के शुभ कर्म में लगा रहता था, किन्तु शिव से रंच मनमुटाव के कारण उसे घोर रूप से दण्डित किया गया। अत: निष्कर्ष यह निकला हि परमेश्वर की इच्छा ही अन्तिम निर्णय है; कोई उसमें तर्क-वितर्क नहीं कर सकता। अत: शुद्ध भक्त सभी परिस्थितियों में भगवान् की परम इच्छा के सम्मुख आत्म-समर्पण कर देता है और उसे ही सर्व-मंगलमय मानता है।

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।

हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

(*भागवत १०.१४.८*)

इस श्लोक का सारांश यह है कि जब किसी भक्त पर कोई विपत्ति आती है, तो वह इसे परमेश्वर का आशीर्वाद मान कर स्वीकार करता है और अपने विगत दुष्कर्मों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेता है। ऐसी स्थिति में वह अधिक भक्ति करता है और विचलित नहीं होता। जो व्यक्ति भक्ति में लगा रह कर ऐसी मानसिक स्थिति में रहता है, वही वैकुण्ठलोक का भागी है। दूसरे शब्दों में, ऐसे भक्त को प्रत्येक दशा में वैकुण्ठलोक की प्राप्ति होती है।

न वै सतां त्वच्चरणार्पितात्मनां
भूतेषु सर्वेष्वभिपश्यतां तव ।
भूतानि चात्मन्यपृथग्दिदृक्षतां
प्रायेण रोषोऽभिभवेद्यथा पशुम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वै—लेकिन; सताम्—भक्तों का; त्वत्-चरण-अर्पित-आत्मनाम्—आपके चरणकमलों पर पूर्णतया समर्पण करने वालों का; भूतेषु—जीवात्माओं में; सर्वेषु—सभी प्रकार के; अभिपश्यताम्—ठीक से देखते हुए; तव—तुम्हारा; भूतानि—जीवात्माएँ; च—तथा; आत्मनि—परब्रह्म में; अपृथक्—अभिन्न; दिदृक्षताम्—उस प्रकार देखने वाले; प्रायेण—प्राय:, सदैव; रोष:—क्रोध; अभिभवेत्—होता है; यथा—समान; पशुम्—पशुओं के।

हे भगवान्, जिन भक्तों ने अपना जीवन आपके चरण-कमलों पर अर्पित कर दिया है, वे प्रत्येक प्राणी में परमात्मा के रूप में आपकी उपस्थिति पाते हैं; फलत: वे प्राणी-प्राणी में भेद नहीं करते। ऐसे लोग सभी प्राणियों को समान रूप से देखते हैं। वे पशुओं की तरह क्रोध के वशीभूत नहीं होते, क्योंकि पशु बिना भेदबुद्धि के कोई वस्तु नहीं देख सकते।

तात्पर्य : जब भगवान् किसी असुर पर कुपित होते हैं या उसका वध करते हैं, तो भौतिक दृष्टि से यह प्रतिकूल लगता है, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से यह उसके लिए वरदान सिद्ध होता है। फलतः शुद्ध भक्त भगवान् के क्रोध तथा आशीर्वाद में कोई अन्तर नहीं करते। वे इन दोनों को अन्यों के प्रति तथा अपने प्रति भगवान् के व्यवहार के अनुसार देखते हैं। भक्त किसी भी दशा में भगवान् में कोई दोष नहीं निकालता।

पृथग्धियः कर्मदृशो दुराशयाः
परोदयेनार्पितहृद्रुजोऽनिशम् ।
परान्दुरुक्तैर्वितुदन्त्यरुन्तुदास्
तान्मावधीद्दैववधान्भवद्विधः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

पृथक्—भिन्न रूप से; धियः—सोचने वाले; कर्म—सकाम कर्म; दृशः—दर्शक; दुराशयाः—तुच्छ बुद्धि; पर-उदयेन—अन्यों की उन्नति से; अर्पित—त्यक्त; हृत्—हृदय; रुजः—क्रोध; अनिशम्—सदैव; परान्—अन्य; दुरुक्तैः—कटु वचन से; वितुदन्ति—पीड़ा पहुँचाता है; अरुन्तुदाः—मर्मभेदी वचनों से; तान्—उनको; मा—नहीं; अवधीत्—मारो; दैव—विधाता द्वारा; वधान्—पहले से मारे हुए; भवत्—आप; विधः—चाहते हैं।

जो लोग भेद-बुद्धि से प्रत्येक वस्तु को देखते हैं, जो केवल सकाम कर्मों में लिप्त रहते हैं, जो तुच्छबुद्धि हैं, जो अन्यों के उत्कर्ष को देखकर दुखी होते हैं और उन्हें कटु तथा मर्मभेदी वचनों से पीड़ा पहुँचाते रहते हैं, वे तो पहले से विधाता द्वारा मारे जा चुके हैं। अतः आप जैसे महान् पुरुष द्वारा उनको फिर से मारने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

तात्पर्य : जो व्यक्ति भौतिकतावादी हैं, जो भौतिक लाभ के लिए सकाम कर्मों में लगे रहते हैं, वे अन्यों का उत्कर्ष नहीं देख सकते। केवल कतिपय कृष्ण-भक्तों को छोड़कर, सारा विश्व ऐसे ईर्ष्यालु लोगों से पूर्ण है, जो सदैव चिन्ताओं से ग्रस्त रहते हैं, क्योंकि वे शरीर के प्रति आसक्त हैं और आत्म-साक्षात्कार से रहित हैं। चूँकि उनके हृदय सदैव चिन्ता से ग्रस्त रहते हैं, अतः यह मान लेना चाहिए कि विधाता ने उन्हें पहले ही मार दिया है। अतः स्वरूपसिद्ध वैष्णव होने के नाते शिवजी को सलाह दी गई कि वे दक्ष का वध न करें। वैष्णव को *पर-दुख-दुखी* कहा जाता है, क्योंकि यद्यपि वह किसी भी अवस्था में स्वयं दुखी नहीं होता, किन्तु अन्यों के दुख से दुखी रहता है। अतः वैष्णव को चाहिए कि न तो शरीर, न ही मन के किसी कर्म द्वारा किसी का वध करने का यत्न करे, किन्तु उसे चाहिए कि

दयावश वह अन्यों में कृष्ण-चेतना जगाने का प्रयास करे। कृष्णभावनामृत आन्दोलन संसार के ईष्यालु मनुष्यों को माया के चंगुल से छुड़ाने के लिए ही प्रारम्भ किया गया है। यद्यपि कभी-कभी भक्त संकट में फँस जाते हैं, किन्तु सब कुछ सहकर वे कृष्णभावनामृत को अग्रसर करते हैं। भगवान् चैतन्य का उपदेश है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।

अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

“अपने को तिनके से भी तुच्छ मानकर विनम्र भाव से मनुष्य को भगवान् के पवित्र नाम का जाप करना चाहिए। मनुष्य को वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु होना चाहिए, उसे अहंकार से रहित होना चाहिए और अन्यों का आदर करने के लिए उद्यत रहना चाहिए। ऐसी स्थिति में ही मनुष्य भगवान् के पवित्र नाम का निरन्तर जाप कर सकता है।” (*शिक्षाष्टक* ३)

वैष्णव को चाहिए कि वह हरिदास ठाकुर, नित्यानंद प्रभु जैसे वैष्णवों का तथा भगवान् जीसस क्राइस्ट का अनुकरण करे। पहले से मारे गये किसी को पुनः मारने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु स्मरण रहे कि वैष्णव को विष्णु या वैष्णवों की निन्दा नहीं सहनी चाहिए, भले ही वह अपनी निन्दा सहन कर ले।

यस्मिन्यदा पुष्करनाभमायया
दुरन्तया स्पृष्टधियः पृथग्दृशः ।
कुर्वन्ति तत्र ह्यनुकम्पया कृपां
न साधवो दैवबलात्कृते क्रमम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—किसी स्थान में; यदा—जब; पुष्कर-नाभ-मायया—पुष्करनाभ अर्थात् भगवान् की माया से; दुरन्तया—दुर्लंघ्य; स्पृष्ट-धियः—मोहित; पृथक्-दृशः—भिन्न-भिन्न प्रकार से देखने वाले पुरुष; कुर्वन्ति—करते हैं; तत्र—वहाँ; हि—निश्चय ही; अनुकम्पया—दयावश; कृपाम्—कृपा, अनुग्रह; न—कभी नहीं; साधवः—साधु पुरुष; दैव-बलात्—विधाता द्वारा; कृते—किया गया; क्रमम्—शौर्य।

हे भगवान्, यदि कहीं भगवान् की दुर्लंघ्य माया से पहले से मोहग्रस्त भौतिकतावादी (संसारी) कभी-कभी पाप करते हैं, तो साधु पुरुष दया करके इन पापों को गम्भीरता से नहीं लेता। यह जानते हुए कि वे माया के वशीभूत होकर पापकर्म करते हैं, वह उनका प्रतिघात करने

में अपने शौर्य का प्रदर्शन नहीं करता।

तात्पर्य : कहा गया है कि *तपस्वी* का अलंकार तो क्षमाशीलता है। संसार के आध्यात्मिक इतिहास में बहुत से ऐसे उदाहरण हैं, जब अनेक साधु पुरुषों को वृथा ही पीड़ित किया गया, किन्तु समर्थ होते हुए भी उन्होंने कोई प्रतिक्रिया नहीं की। उदाहरणार्थ, परीक्षित महाराज को एक ब्राह्मण बालक ने वृथा ही शाप दे दिया था और यद्यपि बालक के पिता ने खेद व्यक्त किया था, किन्तु महाराज परीक्षित ने शाप स्वीकार किया और ब्राह्मण बालक के इच्छानुसार एक सप्ताह के भीतर मर जाना स्वीकार कर लिया। महाराज परीक्षित सम्राट थे और भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों से पूर्ण थे, किन्तु ब्राह्मण जाति के प्रति सम्मान एवं दया के कारण उन्होंने ब्राह्मण बालक के कर्म को रोका नहीं, वरन् सात दिनों के भीतर मरना स्वीकार कर लिया। चूँकि भगवान् कृष्ण चाहते थे कि परीक्षित महाराज इस दण्ड को स्वीकार करें जिससे *श्रीमद्भागवत* की शिक्षा विश्व में प्रकट हो, फलत: परीक्षित महाराज को उपदेश दिया गया कि वे कोई बदला न लें। वैष्णव अन्यों के लाभ के लिए सहिष्णु होता है। जब वह अपने शौर्य को नहीं प्रदर्शित करता तो इससे यह नहीं सूचित होता कि उसमें शक्ति का अभाव है, वरन् इससे यह पता चलता है कि वह सम्पूर्ण मानव समाज के कल्याण के लिए सहिष्णु है।

भवांस्तु पुंसः परमस्य मायया
दुरन्तयास्पृष्टमतिः समस्तदृक् ।
तया हतात्मस्वनुकर्मचेतःस्व्
अनुग्रहं कर्तुमिहार्हसि प्रभो ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

भवान्—आप; तु—लेकिन; पुंसः—पुरुष की; परमस्य—परम; मायया—भौतिक शक्ति द्वारा; दुरन्तया—अत्यधिक शक्ति का; अस्पृष्ट—अप्रभावित; मतिः—बुद्धि; समस्त-दृक्—प्रत्येक वस्तु को देखने या जानने वाला; तया—उसी माया द्वारा; हत-आत्मसु—हृदय में मोहित; अनुकर्म-चेतःसु—जिनके हृदय सकाम कर्मों द्वारा आकृष्ट हैं; अनुग्रहम्—कृपा; कर्तुम्—करने के लिए; इह—इस प्रसंग में; अर्हसि—आकांक्षा करते हैं; प्रभो—हे भगवान्!.

हे भगवान्, आप परमात्मा की माया के मोहक प्रभाव से कभी मोहित नहीं होते। अत: आप सर्वज्ञ हैं, और जो उसी माया के द्वारा मोहित एवं सकाम कर्मों में अत्यधिक लिप्त हैं, उन पर कृपालु हों और अनुकम्पा करें।

तात्पर्य : वैष्णव कभी भी बहिरंगा शक्ति के प्रभाव से मोहित नहीं होता, क्योंकि वह भगवान् की

प्रेमाभक्ति में लगा रहता है। श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (७.१४) में कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यताया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

"मेरी यह दैवी शक्ति अर्थात् त्रिगुणमयी माया से पार पाना दुष्कर है। परन्तु जो मेरी शरण में आ जाते हैं, वे इसे सुगमतापूर्वक तर जाते हैं।" वैष्णव को चाहिए कि माया से मोहित लोगों पर क्रुद्ध होने के बजाय उन का ख्याल रखें, क्योंकि वैष्णव की कृपा के बिना वे माया के चंगुल से नहीं छूट सकते। जो माया द्वारा तिरस्कृत हो चुके हैं उनकी रक्षा भक्तों की अनुकम्पा से होती है।

वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।

पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः॥

"मैं भगवान् के समस्त वैष्णव भक्तों को सादर नमस्कार करता हूँ। वे कल्पतरु के समान हैं, जो सबकी इच्छाओं को पूरा करने वाले हैं। वे पतित बद्ध आत्माओं के लिए दया से ओत-प्रोत रहते हैं।" जो माया के वश में हैं, वे सकाम कर्म के प्रति आकर्षित होते हैं, किन्तु वैष्णव उपदेशक उनके हृदयों को भगवान् श्रीकृष्ण की ओर आकर्षित करता है।

कुर्वध्वरस्योद्धरणं हतस्य भोः
त्वयासमाप्तस्य मनो प्रजापतेः ।
न यत्र भागं तव भागिनो ददुः
कुयाजिनो येन मखो निनीयते ॥५०॥

शब्दार्थ

कुरु—करो; अध्वरस्य—यज्ञ का; उद्धरणम्—उद्धार, पूरा किया जाना; हतस्य—मारे हुए का; भोः—हे; त्वया—तुम्हारे द्वारा; असमाप्तस्य—अपूर्ण यज्ञ का; मनो—हे शिव; प्रजापतेः—महाराज दक्ष का; न—नहीं; यत्र—जहाँ; भागम्—भाग, हिस्सा; तव—तुम्हारा; भागिनः—भाग के पात्र; ददुः—नहीं दिया; कु-याजिनः—दुष्ट पुरोहितों ने; येन—दाता से; मखः—यज्ञ; निनीयते—फल पाता है।

हे शिव, आप यज्ञ का भाग पाने वाले हैं तथा फल प्रदान करने वाले हैं। दुष्ट पुरोहितों ने आपका भाग नहीं दिया, अतः आपने सर्वस्व ध्वंस कर दिया, जिससे यज्ञ अधूरा पड़ा है। अब आप जो आवश्यक हो, करें और अपना उचित भाग प्राप्त करें।

जीवताद्यजमानोऽयं प्रपद्येताक्षिणी भगः ।
भृगोः श्मश्रूणि रोहन्तु पूष्णो दन्ताश्च पूर्ववत् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

जीवतात्—जी उठे; यजमानः—यज्ञकर्ता (दक्ष); अयम्—यह; प्रपद्येत—उसे वापस मिल जाय; अक्षिणी—नेत्र; भगः—भगदेव; भृगोः—भृगु मुनि की; श्मश्रूणि—मूँछें; रोहन्तु—पुनः उग आएं; पूष्णः—पूषादेव के; दन्ताः—दन्त पंक्ति; च—तथा; पूर्व-वत्—पहले की तरह।

हे भगवान्, आपकी कृपा से यज्ञ के कर्त्ता (राजा दक्ष) को पुनः जीवन दान मिले, भग को उसके नेत्र मिल जायँ, भृगु को उसकी मूँछें तथा पूषा को उसके दाँत मिल जाएँ।

देवानां भग्नगात्राणामृत्विजां चायुधाश्मभिः ।
भवतानुगृहीतानामाशु मन्योऽस्त्वनातुरम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

देवानाम्—देवताओं के; भग्न-गात्राणाम्—क्षत-विक्षत अंग वाले; ऋत्विजाम्—पुरोहितों के; च—तथा; आयुध-अश्मभिः—हथियारों तथा पत्थरों से; भवता—आपके द्वारा; अनुगृहीतानाम्—कृपापात्र; आशु—शीघ्र; मन्यो—हे शिव (क्रुद्ध रूप में); अस्तु—हो; अनातुरम्—घावों का भरना।

हे शिव, जिन देवताओं तथा पुरोहितों के अंग आपके सैनिकों द्वारा क्षत-विक्षत हो चुके हैं, वे आपकी कृपा से तुरन्त ठीक हो जाँय।

एष ते रुद्र भागोऽस्तु यदुच्छिष्टोऽध्वरस्य वै ।
यज्ञस्ते रुद्र भागेन कल्पतामद्य यज्ञहन् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; ते—तुम्हारा; रुद्र—हे शिव; भागः—भाग; अस्तु—हो; यत्—जो भी; उच्छिष्टः—बचा हुआ, शेष; अध्वरस्य—यज्ञ का; वै—निस्सन्देह; यज्ञः—यज्ञ; ते—तुम्हारा; रुद्र—हे रुद्र; भागेन—भाग से; कल्पताम्—पूर्ण हो; अद्य—आज; यज्ञ-हन्—यज्ञ के विध्वंसक!.

हे यज्ञविध्वंसक, आप अपना यज्ञ-भाग ग्रहण करें और कृपापूर्वक यज्ञ को पूरा होने दें।

तात्पर्य : यज्ञ भगवान् को प्रसन्न करने के लिए सम्पन्न किया गया उत्सव है। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध के द्वितीय अध्याय में उल्लेख है कि प्रत्येक व्यक्ति को यह समझने का प्रयास करना चाहिए कि श्रीभगवान् उसके कार्य से प्रसन्न हैं या नहीं। अर्थात् हमारे कर्मों का उद्देश्य भगवान् को प्रसन्न करना होना चाहिए। जिस प्रकार कार्यालय में कार्यकर्त्ताओं का यह कर्तव्य है कि वे इस बात को ध्यान में रखें कि मालिक या स्वामी प्रसन्न हुआ है या नहीं, उसी प्रकार हम सबका यह कर्तव्य है कि हम यह देखें कि भगवान् हमारे कार्यों से प्रसन्न तो हैं। परमेश्वर को प्रसन्न करने वाले कर्मों का आदेश

वैदिक साहित्य में है और ऐसे कर्मों का सम्पन्न होना यज्ञ कहलाता है। दूसरे शब्दों में, परमेश्वर के हित में कर्म करना यज्ञ कहलाता है। मनुष्य को यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि यज्ञ के अतिरिक्त जो भी कर्म किया जाता है, वह भवबन्धन का कारण होता है। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* (३.९) में की गई है—*यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।* कर्म-बन्धन का अर्थ है कि यदि हम भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के लिए कार्य नहीं करते तो हमारे कार्य का फल हमें बाँध लेगा। मनुष्य को चाहिए कि अपनी इन्द्रियतुष्टि के लिए कार्य न करे। हर एक को ईश्वर की तुष्टि के लिए कार्य करना चाहिए। यही यज्ञ कहलाता है।

दक्ष द्वारा यज्ञ की समाप्ति पर सभी देवता प्रसाद की आशा कर रहे थे। भगवान् शिव भी एक देवता हैं, अतः उनको भी यज्ञ का प्रसाद मिलना चाहिए था। किन्तु दक्ष ने द्वेष-वश न तो शिव को यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया और न यज्ञ के बाद उनका भाग उन्हें दिया। किन्तु शिव के अनुचरों द्वारा यज्ञस्थल का विध्वंस हो जाने पर ब्रह्मा ने शिव को शान्त किया और उनका प्रसाद भाग दिलाने का आश्वासन दिया। इस तरह उनके अनुचरों ने जो भी तहस-नहस किया था, उसे ठीक करने के लिए उनसे प्रार्थना की गई।

भगवद्गीता में (३.११) कहा गया है कि जब कोई यज्ञ करता है, तो सभी देवता तुष्ट हो जाते हैं। चूँकि देवता यज्ञ का प्रसाद चाहते हैं, अतः यज्ञ अवश्य किया जाना चाहिए। जो इन्द्रिय-सुख तथा भौतिक कार्यों में लिप्त रहते हैं, उन्हें यज्ञ अवश्य करना चाहिए, अन्यथा वे दण्डित होंगे। इस प्रकार प्रजापति दक्ष जब यज्ञ कर रहा था, तो शिव को अपना भाग मिलने की आशा थी। किन्तु चूँकि शिव आमंत्रित नहीं किये गये, अतः उत्पात हुआ। किन्तु ब्रह्मा के मध्यस्थ बनने से सब कुछ ठीक हो गया।

यज्ञ को सम्पन्न करना अत्यन्त कठिन कार्य है, क्योंकि समस्त देवताओं को यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित करना होता है। इस कलियुग में न तो इतने खर्चीले यज्ञ कर पाना सम्भव है और न देवताओं को इसमें भाग लेने के लिए आमंत्रित कर पाना सम्भव है। अतः इस युग में *यज्ञै संकीर्तन-प्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः* (भागवत ११.५.३२) संकीर्तन-यज्ञ की संस्तुति की जाती है। जो बुद्धिमान हैं उन्हें समझना चाहिए कि कलियुग में वैदिक यज्ञ कर पाना सम्भव नहीं। किन्तु जब तक देवताओं को

प्रसन्न नहीं कर लिया जाता, तब तक नियमित ऋतु-कार्य, यथा वर्षा, नहीं होती। प्रत्येक वस्तु देवताओं द्वारा नियंत्रित है। ऐसी अवस्था में, इस युग में सामाजिक शान्ति तथा सम्पन्नता बनाये रखने के लिए बुद्धिमान व्यक्तियों को *संकीर्तन-यज्ञ* करना चाहिए, जिसमें हरे-कृष्ण मंत्र का कीर्तन हो। मनुष्य को चाहिए कि लोगों को बुलाकर हरे कृष्ण का कीर्तन करे और प्रसाद बाँटे। इस यज्ञ से समस्त देवता प्रसन्न होंगे और संसार में शान्ति तथा सम्पन्नता आएगी। वैदिक अनुष्ठानों के करने में दूसरी कठिनाई यह है कि हजारों देवताओं में से यदि एक भी देवता अप्रसन्न रह जाता है, जैसाकि दक्ष से शिव अप्रसन्न हो गए, तो संकट उत्पन्न हो जाता है। किन्तु इस युग में यज्ञ करना सरल बन चुका है। हरे-कृष्ण कीर्तन करके तथा कृष्ण को प्रसन्न करके मनुष्य समस्त देवताओं को स्वत: प्रसन्न कर सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत "ब्रह्मा द्वारा शिव को मनाना" नामक छठे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter सात

दक्ष द्वारा यज्ञ सम्पन्न करना

मैत्रेय उवाच
इत्यजेनानुनीतेन भवेन परितुष्यता ।
अभ्यधायि महाबाहो प्रहस्य श्रूयतामिति ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेय:—मैत्रेय ने; उवाच—कहा; इति—इस प्रकार; अजेन—ब्रह्मा द्वारा; अनुनीतेन—शान्त किया जाकर; भवेन—शिव द्वारा; परितुष्यता—पूर्णतया सन्तुष्ट होकर; अभ्यधायि—कहा; महा-बाहो—हे विदुर; प्रहस्य—हँस कर; श्रूयताम्—सुनो; इति—इस प्रकार।

मैत्रेय मुनि ने कहा : हे महाबाहु विदुर, भगवान् ब्रह्मा के शब्दों से शान्त होकर शिव ने उनकी प्रार्थना का उत्तर इस प्रकार दिया।

महादेव उवाच
नाघं प्रजेश बालानां वर्णये नानुचिन्तये ।
देवमायाभिभूतानां दण्डस्तत्र धृतो मया ॥ २ ॥

शब्दार्थ

महादेव:—शिव ने; उवाच—कहा; न—नहीं; अघम्—पाप; प्रजा-ईश—हे प्रजापति; बालानाम्—बच्चों का; वर्णये—सत्कार करता हूँ; न—नहीं; अनुचिन्तये—मानता हूँ; देव-माया—भगवान् की बहिरंगा शक्ति के; अभिभूतानाम्—द्वारा ठगे हुओं का; दण्ड:—डंडा; तत्र—वहाँ; धृत:—प्रयुक्त; मया—मेरे द्वारा।

शिवजी ने कहा : हे पूज्य पिता ब्रह्माजी, मैं देवताओं द्वारा किये गये अपराधों की परवाह नहीं करता। चूँकि ये देवता बालकों के समान अल्पज्ञानी हैं, अत: मैं उनके अपराधों पर गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं कर रहा हूं। मैंने तो उन्हें राह पर लाने के लिए ही दण्डित किया है।

तात्पर्य : दण्ड दो प्रकार का होता है। एक तो वह जो विजेता अपने शत्रु को देता है और दूसरा वह जो पिता अपने पुत्र को देता है। दोनों प्रकार के इन दण्डो में जमीन-आसमान का अन्तर है। भगवान् शिव स्वभाव से वैष्णव हैं और इसलिए उनको आशुतोष कहा जाता है। वे सदैव प्रसन्न रहते हैं, अत: वे शत्रु की भाँति तनिक भी क्रुद्ध नहीं हुए। वे किसी के भी शत्रु नहीं, वरन् वे सबों के शुभचिन्तक हैं। जब भी वे किसी को दण्ड देते हैं, तो उसी प्रकार देते हैं जिस तरह पिता पुत्र को दण्डित करता है। शिवजी पिता तुल्य हैं, क्योंकि वे किसी जीवात्मा के, विशेष रूप से देवताओं के, अपराधों को गम्भीरता से नहीं लेते।

प्रजापतेर्दग्धशीर्ष्णो भवत्वजमुखं शिरः ।
मित्रस्य चक्षुषेक्षेत भागं स्वं बर्हिषो भगः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

प्रजापतेः—प्रजापति दक्ष का; दग्ध-शीर्ष्णः—जिसका सिर जलकर राख हो गया है; भवतु—हो जाए; अज-मुखम्—बकरे के मुँह से युक्त; शिरः—सिर; मित्रस्य—मित्र के; चक्षुषा—नेत्रों से; ईक्षेत—देखे; भागम्—भाग; स्वम्—अपना; बर्हिषः—यज्ञ का; भगः—भग।

शिव ने आगे कहा : चूँकि दक्ष का सिर पहले ही जल कर भस्म हो चुका है, अतः उसे बकरे का सिर प्राप्त होगा। भग नामक देवता, मित्र के नेत्रों से यज्ञ का अपना भाग देख सकेगा।

पूषा तु यजमानस्य दद्भिर्जक्षतु पिष्टभुक् ।
देवाः प्रकृतसर्वाङ्गा ये म उच्छेषणं ददुः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

पूषा—पूषा; तु—लेकिन; यजमानस्य—यज्ञकर्ता का; दद्भिः—दाँतों से; जक्षतु—चबाए; पिष्ट-भुक्—आटे का भोजन; देवाः—देवता; प्रकृत—निर्मित; सर्व-अङ्गाः—पूर्ण; ये—जो; मे—मुझको; उच्छेषणम्—यज्ञ भाग; ददुः—दिया।

पूषादेव अपने शिष्यों के दाँतों से चबायेंगे और यदि अकेले चाहें तो उन्हें सत्तू की बनी लोई खाकर सन्तुष्ट होना पड़ेगा। किन्तु जिन देवताओं ने मेरा यज्ञ-भाग देना स्वीकार कर लिया है वे सभी प्रकार की चोटों से स्वस्थ हो जाएँगे।

तात्पर्य : पूषादेव को चबाने के लिए अपने शिष्य पर निर्भर होना पड़ा, अन्यथा उसे चने के आटे की लोई खाने को मिलती। इस प्रकार उसका दण्ड चालू रहा। वह खाने के लिए अपने दाँतों का उपयोग नहीं कर सका, क्योंकि वह शिवजी पर हँसा था और उसने दाँत दिखा कर उनका मजाक उड़ाया था। दूसरे शब्दों में, शिव के विरुद्ध दाँतों का प्रयोग करने के कारण उसके दाँत न रहने देना ही श्रेयस्कर था।

बाहुभ्यामश्विनोः पूष्णो हस्ताभ्यां कृतबाहवः ।
भवन्त्वध्वर्यवश्चान्ये बस्तश्मश्रुर्भृगुर्भवेत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

बाहुभ्याम्—दो भुजाओं से; अश्विनोः—अश्विनी कुमारों की; पूष्णः—पूषा के; हस्ताभ्याम्—दो हाथों से; कृत-बाहवः—बाहुओं की इच्छा रखने वाले; भवन्तु—हों; अध्वर्यवः—पुरोहितगण; च—तथा; अन्ये—अन्य; बस्त-श्मश्रुः—बकरे की दाढ़ी; भृगुः—भृगु; भवेत्—उसके हों।

जिन लोगों की भुजाएँ कट गई हैं, उन्हें अश्विनी कुमार की बाहों से काम करना होगा और जिनके हाथ कट गये हैं उन्हें पूषा के हाथों से काम करना होगा। पुरोहितों को भी तदनुसार कार्य करना होगा। जहाँ तक भृगु का प्रश्न है, उन्हें बकरे की दाढ़ी प्राप्त होगी।

तात्पर्य : दक्ष के कहर समर्थक भृगु मुनि को उस बकरे की दाढ़ी मिली जिसका सिर दक्ष को मिला था। दक्ष के सिर के विनिमय से ऐसा लगता है कि यह आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त ठीक नहीं है कि मस्तिष्क ही बुद्धिमत्ता वैज्ञानिक का कारण है। दक्ष तथा बकरे के मस्तिष्क भिन्न-भिन्न पदार्थों के हैं, तो भी दक्ष अपनी तरह कार्य करता रहा, यद्यपि उसके बकरे का सिर लगा दिया गया था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी व्यक्ति की चेतना विशेष ही कार्य करती है। मस्तिष्क पदार्थ निमित्तमात्र है, जिसका वास्तविक बुद्धि से कोई सरोकार नहीं। वास्तविक बुद्धि, मन तथा चेतना व्यक्ति विशेष के अंश हैं। अगले श्लोकों से पता लगेगा कि दक्ष के सिर के स्थान पर बकरे का सिर लगने से वह पहले की ही भाँति बुद्धिमान था। उसने अत्यन्त सुन्दर ढंग से शिव तथा विष्णु को प्रसन्न करने के लिए प्रार्थना की, जो बकरे के लिए सम्भव नहीं है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि बुद्धि का केन्द्र मस्तिष्क-पदार्थ नहीं है। यह तो आत्मा विशेष की चेतना है, जो बुद्धिपूर्वक कार्य करती है। समग्र कृष्णभावनामृत-आन्दोलन चेतना की शुद्धि के लिए है। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि किसी का मस्तिष्क कैसा है, क्योंकि यदि वह अपनी चेतना को पदार्थ से कृष्ण में स्थानान्तरित कर देता है, तो उसका जीवन सफल हो जाता है। इसकी पुष्टि भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* में की है कि जो कोई कृष्णभावनामृत ग्रहण करता है, वह जीवन की उच्चतम सिद्धि प्राप्त करता है, भले ही वह कितने ही निकृष्ट जीवन में पतित क्यों न चुका हो। विशेष रूप से यदि कोई कृष्णभावनाभावित होता है, तो वह अपने इस भौतिक शरीर को त्यागकर भगवान् के धाम को जाता है।

मैत्रेय उवाच

तदा सर्वाणि भूतानि श्रुत्वा मीढुष्टमोदितम् ।
परितुष्टात्मभिस्तात साधु साध्वित्यथाब्रुवन् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—मैत्रेय मुनि ने; उवाच—कहा; तदा—उस समय; सर्वाणि—समस्त; भूतानि—मनुष्य; श्रुत्वा—सुनकर; मीढुः-तम—वर देने वालों में श्रेष्ठ (शिव); उदितम्—कहा गया; परितुष्ट—सन्तुष्ट होकर; आत्मभिः—हृदय तथा आत्मा से; तात—हे विदुर; साधु साधु—धन्य-धन्य हुआ; इति—इस प्रकार; अथ अब्रुवन्—जैसा हम कह चुके हैं।

मैत्रेय मुनि ने कहा : हे विदुर, वहाँ पर उपस्थित सभी मनुष्य सर्वश्रेष्ठ वरदाता शिव के वचनों को सुनने से अत्यन्त सन्तुष्ट होकर गदगद हो गये।

तात्पर्य : इस श्लोक में शिव को *मीढुष्टम* अर्थात् सर्वश्रेष्ठ वरदाता कहा गया है। उन्हें आशुतोष भी कहा जाता है, जिसका अर्थ है कि वे बहुत जल्दी प्रसन्न होने वाले और जल्दी क्रुद्ध होने वाले हैं। *भगवद्गीता* में बताया गया है कि अल्पज्ञ व्यक्ति भौतिक वरदानों के लिए देवताओं के पास जाते हैं। इसके लिए सामान्यत: लोग शिव के पास जाते हैं, जो भक्तों पर जल्दी प्रसन्न हो जाते हैं, और उन्हें बिना विचारे वर दे देते हैं, अपने अत: वे *मीढुष्टम* कहे गये हैं। सांसारिक व्यक्ति सदैव भौतिक लाभ के लिए उत्सुक रहते हैं किन्तु उन्हें आत्मिक लाभ से कोई प्रयोजन नहीं रहता।

निस्सन्देह, कभी-कभी भगवान् शिव आध्यात्मिक जीवन के सर्वश्रेष्ठ वरदाता बन जाते हैं। कहा जाता है कि एक बार एक दरिद्र ब्राह्मण ने शिव की पूजा किसी वर के लिए की और शिवजी ने उस भक्त को सलाह दी कि वह सनातन गोस्वामी के पास जाए। वह भक्त उनके पास गया और उन्हें बताया कि शिवजी ने कहा है कि मैं आपसे अच्छा से अच्छा वरदान माँगूँ। सनातन के पास एक पारस पत्थर था, जिसे वे कूड़े में रख आये थे। उस दरिद्र ब्राह्मण की प्रार्थना पर उन्होंने उसे वह पारस पत्थर दे दिया तो इससे वह ब्राह्मण अत्यन्त प्रसन्न हुआ। वह लोहे में उसे छुआ कर जितना भी सोना चाहता बना सकता था। किन्तु सनातन के पास से जाने के बाद उसने सोचा, "यदि पारस पत्थर ही सर्वश्रेष्ठ वरदान था, तो सनातन गोस्वामी ने इसे कूड़े में क्यों रखा था?" अत: उसने उसे लौटाते हुए सनातन गोस्वामी से कहा, "महोदय, यदि यह सर्वश्रेष्ठ वरदान है, तो आपने इसे कूड़े में क्यों छिपा रखा था?" तब सनातन गोस्वामी ने बताया, "वास्तव में यह सर्वश्रेष्ठ वर नहीं है। तो क्या तुम मुझ से सर्वश्रेष्ठ वर प्राप्त करना चाहते हो?" ब्राह्मण ने कहा, "हाँ, शिव ने मुझे आपके पास सर्वश्रेष्ठ वर प्राप्त करने के लिए भेजा है।" तब सनातन गोस्वामी ने उससे कहा कि वह पास के जलाशय में उस पारस पत्थर को फेंक कर वापस आए। उस ब्राह्मण ने वैसा ही किया और जब वह लौटा तो उसे उन्होंने हरे-कृष्ण मंत्र से दीक्षित किया। इस प्रकार शिव के वर से ब्राह्मण को भगवान् कृष्ण के सर्वश्रेष्ठ भक्त की

संगति मिली और वह हरे-कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे, महामंत्र में दीक्षित हो गया।

ततो मीढ्वांसमामन्त्र्य शुनासीराः सहर्षिभिः ।
भूयस्तद्देवयजनं समीढ्वद्वेधसो ययुः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; मीढ्वांसम्—शिव; आमन्त्र्य—बुलाकर; शुनासीराः—इन्द्र इत्यादि देवता; सह ऋषिभिः—भृगु इत्यादि ऋषियों सहित; भूयः—पुनः; तत्—उस; देव-यजनम्—वह स्थान जहाँ देवता पूजे जाते हैं; स-मीढ्वत्—शिव समेत; वेधसः—ब्रह्मा सहित; ययुः—गये।

तब मुनियों के प्रमुख भृगु ने शिवजी को यज्ञशाला में पधारने के लिए आमंत्रित किया। इस तरह से ऋषिगण, शिवजी तथा ब्रह्मा समेत सभी देवता उस स्थान पर गये जहाँ वह महान् यज्ञ सम्पन्न हो रहा था।

तात्पर्य : दक्ष द्वारा आयोजित सारा यज्ञ शिव द्वारा नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया था। अतः वहाँ पर उपस्थित समस्त देवताओं ने ब्रह्मा तथा ऋषियों समेत शिवजी से विशेष अनुरोध किया कि वे वहाँ पधार कर यज्ञ-अग्नि को पुनः प्रज्ज्वलित करें। एक सामान्य कहावत है *शिव-हीन-यज्ञ* जिसका अर्थ है ''शिव के बिना कोई भी यज्ञ असफल रहता है।'' भगवान् विष्णु यज्ञेश्वर हैं, तो भी प्रत्येक यज्ञ में आवश्यक होता है कि सभी देवता, जिनमें ब्रह्मा तथा शिव प्रमुख हैं, उपस्थित हों।

विधाय कार्त्स्न्येन च तद्यदाह भगवान्भवः ।
सन्दधुः कस्य कायेन सवनीयपशोः शिरः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

विधाय—सम्पन्न करके; कार्त्स्न्येन—सर्वेसर्वा; च—भी; तत्—वह; यत्—जो; आह—कहा गया; भगवान्—भगवान्; भवः—शिव ने; सन्दधुः—सम्पन्न किया; कस्य—जीवित (दक्ष) का; कायेन—शरीर से; सवनीय—यज्ञ के निमित्त; पशोः—पशु का; शिरः—सिर।

जब शिवजी के निर्देशानुसार सब कुछ सम्पन्न हो गया तो यज्ञ में वध के निमित्त लाए पशु के सिर को दक्ष के शरीर से जोड़ दिया गया।

तात्पर्य : इस बार सभी देवता तथा ऋषि सावधान थे कि शिवजी क्रुद्ध न होने पाएँ। अतः उन्होंने जो कहा वही किया गया। यहाँ पर यह विशेष रूप से बताया गया है कि दक्ष के शरीर को पशु

(बकरे) के सिर के साथ जोड़ दिया गया।

सन्धीयमाने शिरसि दक्षो रुद्राभिवीक्षितः ।
सद्यः सुप्त इवोत्तस्थौ ददृशे चाग्रतो मृडम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सन्धीयमाने—सम्पन्न होने पर; शिरसि—सिर से; दक्षः—राजा दक्ष; रुद्र-अभिवीक्षितः—रुद्र द्वारा देखे जाने पर; सद्यः—तुरन्त; सुप्ते—सोया हुआ; इव—समान; उत्तस्थौ—जगाया जाकर; ददृशे—देखा; च—भी; अग्रतः—समक्ष; मृडम्—शिव को।

जब दक्ष के शरीर पर पशु का सिर लगा दिया गया तो दक्ष को तुरन्त ही होश आ गया और ज्योंही वह निद्रा से जगा, तो उसने अपने समक्ष शिवजी को खड़े देखा।

तात्पर्य : यहाँ पर यह उदाहरण दिया गया है कि दक्ष उठकर खड़ा हुआ, मानो उसे गहरी नींद से जगाया गया हो। इसे ही संस्कृत में *सुप्त इवोत्तस्थौ* कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि निद्रा से जगने पर मनुष्य को तुरन्त स्मरण हो आता है कि उसे क्या करना है। दक्ष का वध किया गया था और उसका सिर काट कर जला दिया गया था। उसका शरीर मृत पड़ा था, किन्तु शिव की कृपा से, ज्योंही उसके शरीर में बकरे का सिर जोड़ दिया गया, दक्ष पुन: चेतन हो उठा। इससे यह सूचित होता है कि चेतना भी व्यष्टि होती है। वास्तव में जब दक्ष के बकरे का सिर लगा दिया गया तो दक्ष को दूसरा शरीर प्राप्त हुआ, किन्तु चेतना व्यक्तिगत होने से उसे पूर्ववत् चेतना प्राप्त हो गई, यद्यपि उसका शरीर बदल गया था। इस तरह शारीरिक संरचना का चेतना के विकास से कोई सरोकार नहीं रहता। चेतना तो आत्मा के देहान्तर के साथ ले जायी जाती है। वैदिक इतिहास में इसके कई उदाहरण मिलते हैं, यथा महाराज भरत जिन्हें अपना राजा का शरीर त्यागने के बाद मृग का शरीर प्राप्त हुआ, किन्तु उनकी चेतना पूर्ववत् बनी रही। उन्हें यह ज्ञात था कि वे पूर्वजन्म में राजा भरत थे, और उनका शरीर हिरण के शरीर में स्थानान्तरित हुआ था, क्योंकि मृत्यु के समय वे मृग के चिन्तन में लीन थे। मृग का शरीर होते हुए भी उनकी चेतना उतनी ही अच्छी थी जितनी कि राजा भरत के शरीर में। भगवान् की यह व्यवस्था इतनी उत्तम है कि यदि किसी की चेतना कृष्णचेतना में परिणत हो जाये तो इसमें सन्देह नहीं है कि अगले जीवन में भले ही उसे भिन्न प्रकार की देह प्राप्त हो, किन्तु वह महान् कृष्ण-भक्त होगा।

तदा वृषध्वजद्वेषकलिलात्मा प्रजापतिः ।
शिवावलोकादभवच्छरद्ध्रद इवामलः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; वृष-ध्वज—शिव, जो बैल पर सवार रहते हैं; द्वेष—ईर्ष्या; कलिल-आत्मा—दूषित हृदय; प्रजापतिः—राजा दक्ष; शिव—शिव को; अवलोकात्—देखने से; अभवत्—हो गया; शरत्—शरद ऋतु में; ह्रदः—झील; इव—सदृश; अमलः—निर्मल, स्वच्छ।

उस समय जब दक्ष ने बैल पर सवारी करने वाले शिव को देखा तो उसका हृदय, जो शिव के प्रति द्वेष से कलुषित था, तुरन्त निर्मल हो गया, जिस प्रकार सरोवर का जल शरदकालीन वर्षा से स्वच्छ हो जाता है।

तात्पर्य : यहाँ पर उदाहरण दिया गया है कि शिवजी मंगलकारी क्यों कहलाते हैं। जो कोई शिव को भक्ति भाव से तथा आदरपूर्वक देखता है, उसका हृदय निर्मल हो जाता है। राजा दक्ष का हृदय शिव के प्रति द्वेष से दूषित था, अतः जब उसने थोड़े प्रेम तथा भक्ति के साथ शिव को देखा तो उसका हृदय तुरन्त स्वच्छ हो गया। वर्षा ऋतु में जलाशय गँदले हो जाते हैं, किन्तु जब शरदकाल में वर्षा होती है, तो सारा जल तुरन्त निर्मल तथा पारदर्शी हो जाता है। इसी प्रकार दक्ष का हृदय, यद्यपि शिवजी को अपमानित करने से अशुद्ध था, और जिसके कारण उसे दण्डित होना पड़ा था, किन्तु अब दक्ष को चेत हो चुका था, अतः शिव को श्रद्धापूर्वक देखते ही उसका हृदय तुरन्त स्वच्छ हो गया।

भवस्तवाय कृतधीर्नाशक्नोदनुरागतः ।
औत्कण्ठ्याद्बाष्पकलया सम्परेतां सुतां स्मरन् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

भव-स्तवाय—शिव की स्तुति के लिए; कृत-धीः—कृतसंकल्प; न—नहीं ही; अशक्नोत्—समर्थ था; अनुरागतः—विचार से; औत्कण्ठ्यात्—उत्कंठा से; बाष्प-कलया—आँखों में आँसू भर कर; सम्परेताम्—मृत; सुताम्—पुत्री; स्मरन्—स्मरण करते हुए।

राजा दक्ष ने शिव की स्तुति करनी चाही, किन्तु अपनी पुत्री सती की दुर्भाग्यपूर्ण-मृत्यू का स्मरण हो आने से उसके नेत्र आँसुओं से भर आये और शोक से उसकी वाणी अवरुद्ध हो गई। वह कुछ भी न कह सका।

कृच्छ्रात्संस्तभ्य च मनः प्रेमविह्वलितः सुधीः ।
शशंस निर्व्यलीकेन भावेनेशं प्रजापतिः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

कृच्छ्रात्—बड़े यत्न से; संस्तभ्य—शान्त करके; च—भी; मनः—मन; प्रेम-विह्वलितः—प्रेम से विभोर; सु-धीः—जिसे चेत हो आया हो; शशंस—प्रशंसा की; निर्व्यलीकेन—बिना द्वैत के, अथवा अत्यन्त प्यार से; भावेन—विचार में; ईशम्—शिव की; प्रजापतिः—राजा दक्ष।

उस समय प्रेम-विह्वल होने से राजा दक्ष अत्यधिक जागरूक हो उठा। उसने बड़े ही यत्न से अपने मन को शान्त किया, अपने भावावेग को रोका और शुद्ध चेतना से शिव की स्तुति करनी प्रारम्भ की।

दक्ष उवाच

भूयाननुग्रह अहो भवता कृतो मे
दण्डस्त्वया मयि भृतो यदपि प्रलब्धः ।
न ब्रह्मबन्धुषु च वां भगवन्नवज्ञा
तुभ्यं हरेश्च कुत एव धृतव्रतेषु ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

दक्षः उवाच—दक्ष ने कहा; भूयान्—अत्यधिक; अनुग्रहः—कृपा; अहो—ओह; भवता—आपके द्वारा; कृतः—की गई; मे—मुझपर; दण्डः—दण्ड, सजा; त्वया—आपके द्वारा; मयि—मुझको; भृतः—की गई; यत् अपि—यद्यपि; प्रलब्धः—पराजित; न—न तो; ब्रह्म-बन्धुषु—अयोग्य ब्रह्मण को; च—भी; वाम्—तुम दोनों; भगवन्—मेरे स्वामी; अवज्ञा—अनादर; तुभ्यम्—आपका; हरेः च—विष्णु का; कुतः—कहाँ; एव—निश्चय ही; धृत-व्रतेषु—यज्ञ करने में दत्तचित्त।

राजा दक्ष ने कहा : हे शिव, मैने आपके प्रति बहुत बड़ा अपराध किया है, किन्तु आप इतने उदार हैं कि आपने अपने अनुग्रह से वंचित करने के बजाय, मुझे दण्ड देकर मेरे ऊपर कृपा की है। आप तथा भगवान् विष्णु अयोग्य-निकम्मे ब्राह्मणों तक की उपेक्षा नहीं करते तो फिर भला आप मेरी उपेक्षा क्यों करने लगे, मैं तो यज्ञ करने में लगा रहता हूँ?

तात्पर्य : यद्यपि दक्ष अपने को पराजित मान रहा था, किन्तु वह जानता था कि यह दण्ड शिवजी की महान् कृपा थी। उसे स्मरण हो आया कि शिव तथा विष्णु कभी भी ब्राह्मणों की उपेक्षा नहीं करते, भले ही ब्राह्मण अयोग्य क्यों न हों; वैदिक सभ्यता के अनुसार ब्राह्मण कुल के वंशज को कभी कठोर दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण अश्वत्थामा के साथ अर्जुन का व्यवहार है। अश्वधामा महान् ब्राह्मण द्रोणाचार्य का पुत्र था और जिसने पाण्डवों के सभी पुत्रों की सोये हुए में हत्या करने का घोर अपराध किया था, और जिसके लिए श्रीकृष्ण ने भी भर्त्सना की थी, तो भी अर्जुन ने उसका वध नहीं किया, क्योंकि वह ब्राह्मण-पुत्र था। यहाँ पर प्रयुक्त *ब्रह्म-बन्धुषु* शब्द अत्यन्त

महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है ऐसा व्यक्ति जो ब्राह्मण-पिता से उत्पन्न हो, किन्तु जिसके कर्म ब्राह्मणों के स्तर के अनुकूल न हों। ऐसा व्यक्ति ब्राह्मण न होकर *ब्रह्म-बन्धु* होता है। दक्ष ने अपने को ब्राह्मण-बन्धु सिद्ध कर दिया था। वह एक महान् ब्राह्मण पिता ब्रह्मा का पुत्र था, किन्तु शिव के प्रति उसका आचरण ब्राह्मणों जैसा न था, इसलिए उसने स्वीकार किया कि वह पूर्ण ब्राह्मण न था। किन्तु शिव तथा विष्णु तो अपूर्ण ब्राह्मणों के प्रति भी वत्सल रहते हैं। शिव ने दक्ष को शत्रु मानकर दण्डित नहीं किया था, वरन् उन्होंने उसे सन्मार्ग में लाने के लिए दण्ड दिया था जिससे उसे पता चले कि उसने बुरा काम किया था। दक्ष को इसका आभास हुआ और उसने भगवान् श्रीकृष्ण तथा शिव की पतित ब्राह्मणों के प्रति, जिसमें वह भी सम्मिलित था, महती कृपा के लिए कृतज्ञता प्रकट की। यद्यपि वह पतित हो चुका था, किन्तु उसने यज्ञ करने का व्रत ले रखा था, जो कि ब्राह्मण का कर्तव्य है और इस प्रकार उसने शिव की स्तुति करनी प्रारम्भ की।

विद्यातपोव्रतधरान्मुखतः स्म विप्रान्
ब्रह्मात्मतत्त्वमवितुं प्रथमं त्वमस्राक् ।
तद्ब्राह्मणान्परम सर्वविपत्सु पासि
पालः पशूनिव विभो प्रगृहीतदण्डः ॥ १४॥

शब्दार्थ

विद्या—विद्या; तपः—तपस्या; व्रत—व्रत; धरान्—अनुचर; मुखतः—मुख से; स्म—था; विप्रान्—ब्राह्मण; ब्रह्म—ब्रह्मा; आत्म-तत्त्वम्—आत्म-साक्षात्कार; अवितुम्—फैलाने के लिए; प्रथमम्—पहले; त्वम्—तुम; अस्राक्—उत्पन्न किया; तत्—अतः; ब्राह्मणान्—ब्राह्मणों की; परम—हे महान; सर्व—सभी; विपत्सु—संकट में; पासि—रक्षा करते हो; पालः—रक्षक की तरह; पशून्—पशु; इव—समान; विभो—हे महान; प्रगृहीत—हाथ में धारण किये; दण्डः—डंडा।

हे महान् तथा शक्तिमान शिव, विद्या, तप, व्रत तथा आत्म-साक्षात्कार के लिए ब्राह्मणों की रक्षा करने के हेतु ब्रह्मा के मुख से सर्वप्रथम आपकी उत्पत्ति हुई थी। आप ब्राह्मणों के पालक बनकर उनके द्वारा आचरित अनुष्ठानों की सदैव रक्षा करते हैं, जिस प्रकार ग्वाला गायों की रखवाली के लिए अपने हाथ में दण्ड धारण किये रहता है।

तात्पर्य : समाज में भले ही मनुष्य का सामाजिक पद कुछ भी हो, विशिष्ट मन तथा इन्द्रियों को वश में करने के लिए वैदिक शास्त्रों में वर्णित अनुष्ठानों को सम्पन्न करना है। शिव को पशुपति कहा जाता है क्योंकि वे जीवात्माओं की उन्नत चेतनाओं में रक्षा करते हैं, जिससे वे वर्ण तथा आश्रम की

वैदिक पद्धति का अनुसरण कर सकें। *पशु* शब्द से पशु तथा मनुष्य दोनों का बोध होता है। यह कहा जाता है कि शिवजी पशुओं तथा पाशविक वृत्ति वाली जीवात्माओं की, जो आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत नहीं हैं, सदा सदैव रक्षा करने में रुचि दिखाते हैं। यह भी कहा गया है कि ब्राह्मणों की उत्पत्ति परमेश्वर के मुख से हुई। हमें यह सदा स्मरण रखना होगा कि शिव को भगवान् विष्णु के प्रतिनिधि के रूप में सम्बोधित किया जाता है। वैदिक साहित्य में वर्णित है कि ब्राह्मण विष्णु के विराट रूप के मुख से, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य उदर या कटिभाग से तथा शूद्र पाँवों से उत्पन्न हुए। शरीर की संरचना में सिर का प्रमुख महत्त्व रहता है। ब्राह्मण भगवान् के मुख से उत्पन्न हुए जिससे विष्णु की पूजा हेतु दान स्वीकार कर सकें और वैदिक ज्ञान का प्रसार कर सकें। शिव को पशुपति कहा जाता है। वे ब्राह्मणों तथा अन्य जीवात्माओं की रक्षा अब्राह्मणों या आत्म-साक्षात्कार के विरोधी असंस्कृत व्यक्तियों के हमलों से करते रहते हैं।

इस शब्द की दूसरी विशेषता यह है कि जो व्यक्ति वेदों के केवल अनुष्ठान सम्बन्धी अंश में लिप्त रहते हैं और भगवान् की स्थिति को नहीं समझ पाते, वे पशुओं से किसी प्रकार भी अधिक उन्नत नहीं है। *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में इसकी पुष्टि की गई है कि कोई भले ही वेदवर्णित अनुष्ठानों का पालन क्यों न करे, किन्तु यदि वह कृष्ण-चेतना विकसित नहीं करता तो वैदिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने में लगा उसका सारा श्रम समय का अपव्यय है। दक्ष के यज्ञ को विध्वंस करने के पीछे शिव का मन्तव्य उसे दण्डित करना था, क्योंकि उसने उनकी (शिव की) उपेक्षा करके महान् अपराध किया था। शिव द्वारा दिया गया दण्ड उस ग्वाले द्वारा दिये जाने वाले दण्ड के समान है, जो अपने पशुओं को डराने के लिए लाठी रखता है। यह आम कहावत है कि पशुओं की रक्षा के लिए लाठी चाहिए, क्योंकि पशुओं में विवेक और तर्कशक्ति नहीं होती। जब तक लाठी नहीं होगी वे आज्ञापालन नहीं करेंगे। पाशविक वृत्ति वाले मनुष्यों के लिए बल-प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु जो उन्नत हैं, वे तर्कों तथा शास्त्रीय प्रमाणों से मान जाते हैं। जो लोग भक्ति में अथवा कृष्ण-चेतना प्रगति किये बिना वैदिक अनुष्ठानों का पालन-मात्र करते हैं, वे पशुतुल्य हैं और शिवजी पर ऐसे लोगों की रक्षा का भार है, जिससे वे कभी-कभी उन्हें दण्डित करते हैं, जिस प्रकार उन्होंने दक्ष को दण्डित किया।

योऽसौ मयाविदिततत्त्वदृशा सभायां
क्षिप्तो दुरुक्तिविशिखैर्विगणय्य तन्माम् ।
अर्वाक्पतन्तमर्हत्तमनिन्दयापाद्
दृष्ट्यार्द्रया स भगवान्स्वकृतेन तुष्येत् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; असौ—उस; मया—मेरे द्वारा; अविदित-तत्त्व—वास्तविकता को जाने बिना; दृशा—अनुभव से; सभायाम्—सभा में; क्षिप्तः—गाली दिया गया; दुरुक्ति—कटु वचन रूपी; विशिखैः—बाणों से; विगणय्य—परवाह न करके; तत्—वह; माम्—मुझको; अर्वाक्—नीचे की ओर; पतन्तम्—नरक में गिरते हुए; अर्हत्-तम—सर्वाधिक पूज्य; निन्दया—निन्दा से; अपात्—बचा लिया; दृष्ट्या—देख कर; आर्द्रया—दयावश; सः—वह; भगवान्—भगवान्; स्व-कृतेन—अपनी कृपा से; तुष्येत्—प्रसन्न हो।

मैं आपकी समस्त कीर्ति से परिचित न था। अतः मैंने खुली सभा में आपके ऊपर कटु शब्द रूपी बाणों की वर्षा की थी, तो भी आपने उनकी कोई परवाह नहीं की। मैं आप जैसे परम पूज्य पुरुष के प्रति अवज्ञा के कारण नरक में गिरने जा रहा था, किन्तु आपने मुझ पर दया कर के और दण्डित करके मुझे उबार लिया है। मेरी प्रार्थना है कि आप अपने ही अनुग्रह से प्रसन्न हों, क्योंकि मुझमें वह सामर्थ्य नहीं कि मैं अपने शब्दों से आपको तुष्ट कर सकूँ।

तात्पर्य : जब भक्त पर विपत्ति आती है, तो वह प्रायः इसे भगवान् के अनुग्रह रूप में स्वीकार कर लेता है। वस्तुतः दक्ष ने शिव के प्रति जो अपमानजनक शब्द कहे थे, वे उसे सदा के लिए नरक में गिराने के लिए पर्याप्त थे। किन्तु उसके प्रति दयालु होने के कारण शिवजी ने उसके अपराध को निष्क्रिय करने के लिए दण्ड दिया। दक्ष ने इसको अनुभव किया और उनकी इस महानता के लिए अपने आप को उनका अनुग्रहीत समझा। कभी-कभी पिता बच्चे को दण्ड देता है और जब बच्चा बड़ा हो जाता है और समझ हो जाती है, तो वह यह समझता है कि उसके पिता ने जो दण्ड दिया था वह वास्तव में दण्ड न होकर दया थी। इसी प्रकार दक्ष ने शिव द्वारा दिये गये दण्ड को उनकी कृपा का प्रदर्शन समझा। ऐसे पुरुष का यह लक्षण है जो कृष्णभावनामृत के मार्ग पर अग्रसर होता है। कहा जाता है कि कृष्ण-भावनाभावित भक्त जीवन की किसी भी दयनीय अवस्था को श्रीभगवान् द्वारा की गई भर्त्सना नहीं मानता। वह दयनीय अवस्था को भगवत्कृपा मानकर ग्रहण करता है। वह सोचता है, "मैं अपने पूर्व दुष्कर्मों के कारण या तो दण्डित होता या इससे भी अधिक भयावह स्थिति में जा पड़ता, किन्तु भगवान् ने मेरी रक्षा कर ली। इस प्रकार कर्म के नियमानुसार मुझे थोड़ा सा ही दण्ड

मिला।'' भगवान् की कृपा को इस प्रकार सोचकर भक्त भगवान् के समक्ष अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक आत्म-समर्पण करता है और तथाकथित दण्ड से तनिक भी विचलित नहीं होता।

मैत्रेय उवाच

क्षमाप्यैवं स मीढ्वांसं ब्रह्मणा चानुमन्त्रितः ।
कर्म सन्तानयामास सोपाध्यायर्त्विगादिभिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—मैत्रेय मुनि ने; उवाच—कहा; क्षमा—क्षमा; आप्य—प्राप्त करके; एवम्—इस प्रकार; सः—राजा दक्ष; मीढ्वांसम्—शिव को; ब्रह्मणा—ब्रह्मा सहित; च—भी; अनुमन्त्रितः—अनुमति पाकर; कर्म—यज्ञ; सन्तानयाम् आस—पुनः प्रारम्भ किया; स—सहित; उपाध्याय—विद्वान साधु; ऋत्विक्—पुरोहित; आदिभिः—इत्यादि के द्वारा।

मैत्रेय मुनि ने कहा : इस प्रकार शिवजी द्वारा क्षमा कर दिये जाने पर राजा दक्ष ने ब्रह्मा की अनुमति से विद्वान साधुओं, पुरोहितों तथा अन्यों के साथ पुनः यज्ञ करना प्रारम्भ कर दिया।

वैष्णवं यज्ञसन्तत्यै त्रिकपालं द्विजोत्तमाः ।
पुरोडाशं निरवपन्वीरसंसर्गशुद्धये ॥ १७॥

शब्दार्थ

वैष्णवम्—विष्णु या उनके भक्तों के हेतु; यज्ञ—यज्ञ; सन्तत्यै—कृत्यों के लिए; त्रि-कपालम्—तीन प्रकार की भेंटें; द्विज-उत्तमाः—ब्राहमणों में श्रेष्ठ; पुरोडाशम्—पुरोडाश नामक आहुतिनि; निरवपन्—भेंट की गई; वीर—वीरभद्र तथा शिव के अन्य अनुचर; संसर्ग—स्पर्श के कारण दोष; शुद्धये—शुद्धि के लिए।

तत्पश्चात ब्राह्मणों ने यज्ञ कार्य फिर से प्रारम्भ करने के लिए वीरभद्र तथा शिव के भूत-प्रेत सदृश अनुचरों के स्पर्श से प्रदूषित हो चुके यज्ञ स्थल को पवित्र करने की व्यवस्था की। तब जाकर उन्होंने अग्नि में पुरोडाश नामक आहुतियाँ अर्पित की।

तात्पर्य : वीरभद्र आदि शिव के अनुचर तथा भक्त *वीर* कहलाते हैं और वे भूतप्रेतादि हैं। उन्होंने अपनी उपस्थिति से न केवल यज्ञस्थल को दूषित किया था, वरन् मलमूत्र विसर्जित करके सारी व्यवस्था भंग कर दी थी। फलत: सबसे पहले *पुरोडाश* आहुति देकर गंदगी को दूर करना था। कोई भी *विष्णु-यज्ञ* अशुद्ध अवस्था में सम्पन्न नहीं हो सकता। अशुद्ध अवस्था में कोई वस्तु भेंट करना *सेवापराध* कहलाता है। मन्दिर में विष्णु के विग्रह की पूजा भी *विष्णु-यज्ञ* है। अत: समस्त विष्णुमन्दिरों में, जो पुरोहित अर्चना-विधि की देखभाल करते हैं उन्हें शुद्ध रहना चाहिए। प्रत्येक वस्तु को शुद्ध-स्वच्छ रखना चाहिए और भोजन भी शुद्धतापूर्वक पकाना चाहिए। इन सब विधि-विधानों का

वर्णन *भक्तिरसामृत सिन्धु* नामक पुस्तक में किया गया है। *अर्चना* सेवा करने में बत्तीस प्रकार के अपराध हो सकते हैं, अत: यह अत्यन्त आवश्यक है कि इन कार्यों में अशुद्ध न रहा जाय। सामान्यत: जब कोई अनुष्ठान प्रारम्भ किया जाता है, तो शुद्धि के लिए सर्वप्रथम भगवान् विष्णु के पवित्र नाम का उच्चारण किया जाता है। कोई बाहर या भीतर से चाहे शुद्ध रहे या अशुद्ध रहे, यदि वह भगवान् विष्णु के पवित्र नाम का कीर्तन या स्मरण करता है, तो वह तुरन्त पवित्र हो जाता है। वीरभद्र इत्यादि शिव के अनुचरों की उपस्थिति के कारण यज्ञस्थल अपवित्र हो गया था, अत: सम्पूर्ण यज्ञस्थल को पवित्र करना पड़ा। यद्यपि शिव वहाँ पर थे और वे सर्व मंगलमय हैं, तो भी उस स्थान को पवित्र बनाना आवश्यक था, क्योंकि उनके अनुचरों ने बलपूर्वक वहाँ प्रवेश करके अनेक घृणित कार्य किये थे। शुद्धि का यह कार्य विष्णु के पवित्र नाम *त्रिकपाल* के उच्चारण से ही सकता था। जिससे तीनों लोक पवित्र किए जा सकते हैं। दूसरे शब्दों में, यहाँ यह स्वीकार किया गया है कि शिव के अनुचर सामान्य रूप से अपवित्र होते हैं। वे स्वच्छ भी नहीं रहते; वे नियमपूर्वक स्नान नहीं करते; वे लम्बे बाल रखते हैं और *गाँजा* पीते हैं। ऐसी अनियमित आदतों वाले पुरुषों की गिनती भूत-प्रेतों में होती है। चूँकि वे यज्ञस्थल पर उपस्थित थे, अत: वहाँ का वायुमण्डल दूषित हो चुका था और इसे *त्रिकपाल* आहुति द्वारा शुद्ध किया जाना था जिस का अर्थ है विष्णु के अनुग्रह का आवाहन करना।

अध्वर्युणात्तहविषा यजमानो विशाम्पते ।
धिया विशुद्धया दध्यौ तथा प्रादुरभूद्धरिः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अध्वर्युणा—यजुर्वेद से; आत्त—लेकर; हविषा—घृत से; यजमानः—राजा दक्ष; विशाम्-पते—हे विदुर; धिया—चिन्तन में; विशुद्धया—शुद्ध की गई; दध्यौ—डाला; तथा—तुरन्त; प्रादुः—प्रकट; अभूत्—हो गये; हरिः—हरि, भगवान्।.

महामुनि मैत्रेय ने विदुर से कहा : हे विदुर, जैसे ही राजा दक्ष ने शुद्धचित्त से यजुर्वेद के मंत्रो के साथ घी की आहुति डाली, वैसे ही भगवान् विष्णु अपने आदि नारायण रूप में वहाँ प्रकट हो गये।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु सर्वव्यापी हैं। कोई भी भक्त जो पवित्र मन से विधि-विधान सहित सेवा तथा भक्ति से मंत्रों का उच्चारण करता है; विष्णु का दर्शन कर सकता है। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है

कि जिस भक्त की आँखों में भगवत्प्रेम का अंजन लगा होता है, वह अपने हृदय में निरन्तर भगवान् का दर्शन कर सकता है। भगवान् श्यामसुन्दर अपने भक्तों पर इतने कृपालु जो हैं।

तदा स्वप्रभया तेषां द्योतयन्त्या दिशो दश ।
मुष्णंस्तेज उपानीतस्तार्क्ष्येण स्तोत्रवाजिना ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; स्व-प्रभया—अपने तेज से; तेषाम्—उन सबों के; द्योतयन्त्या—कान्ति से; दिशः—दिशाएँ; दश—दस; मुष्णन्—कम करते हुए; तेजः—तेज; उपानीतः—लाया गया; तार्क्ष्येण—गरुड़ द्वारा; स्तोत्र-वाजिना—जिसके पंख बृहत् तथा रथन्तर कहलाते हैं।

भगवान् नारायण स्तोत्र अर्थात् गरुड़ के कन्धे पर आरूढ़ थे, जिसके बड़े-बड़े पंख थे। जैसे ही भगवान् प्रकट हुए, सभी दिशाएँ प्रकाशित हो उठीं जिससे ब्रह्मा तथा अन्य उपस्थित जनों की कान्ति घट गई।

तात्पर्य : नारायण का वर्णन अगले दो श्लोकों में दिया गया है।

श्यामो हिरण्यरशनोऽर्ककिरीटजुष्टो
नीलालकभ्रमरमण्डितकुण्डलास्यः ।
शङ्खाब्जचक्रशरचापगदासिचर्म-
व्यग्रैर्हिरण्मयभुजैरिव कर्णिकारः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्यामः—श्याम वर्ण के; हिरण्य-रशनः—स्वर्ण के समान वस्त्र; अर्क-किरीट-जुष्टः—सूर्य के समान देदीप्यमान मुकुट; नील-अलक—काले बाल; भ्रमर—भौंरे; मण्डित-कुण्डल-आस्यः—कुण्डलों से सुशोभित मुख; शङ्ख—शंख; अब्ज—कमल पुष्प; चक्र—चक्र; शर—बाण; चाप—धनुष; गदा—गदा; असि—तलवार; चर्म—ढाल; व्यग्रैः—पूरित; हिरण्मय—सुनहले (बाजूबन्द तथा कंगन); भुजैः—हाथों से; इव—सदृश; कर्णिकारः—पुष्प-वृक्ष, कनेर।

उनका वर्ण श्याम था, उनके वस्त्र स्वर्ण की तरह पीले तथा मुकुट सूर्य के समान देदीप्यमान था। उनके बाल भौंरों के समान काले और मुख कुण्डलों से आभूषित था। उनकी आठ भुजाएँ शंख, चक्र, गदा, कमल, बाण, धनुष, ढाल तथा तलवार धारण किये थीं ये कंगन तथा बिजावट जैसे स्वर्ण आभूषणों से अलंकृत थीं। उनका सारा शरीर कनेर के उस कुसुमित वृक्ष के समान प्रतीत हो रहा था जिसमें विभिन्न प्रकार के फूल सुन्दर ढंग से सजे हों।

तात्पर्य : इस श्लोक में वर्णित भगवान् विष्णु का मुख कमलपुष्प-सा प्रतीत हो रहा था जिस पर भौंरे गूँज रहे हों। विष्णु के शरीर के सभी आभूषण प्रात:कालीन सूर्य के लाल-सुनहरे रंग वाले तरल

स्वर्ण के समान लग रहे थे। भगवान् प्रात:कालीन सूर्य की भाँति समग्र सृष्टि की रक्षा के लिए प्रकट होते हैं। उनके हाथों में विभिन्न आयुध रहते हैं और उनके आठ हाथ मानो कमलपुष्प के आठ दल हों। यहाँ पर वर्णित सभी आयुध भक्तों की रक्षा के लिए होते हैं।

सामान्य रूप से विष्णु की चार भुजाओं में चक्र, गदा, शंख तथा कमल रहते हैं। ये चारों विष्णु के चारों हाथों में विभिन्न प्रकार से व्यवस्थित देखे जाते हैं। गदा तथा चक्र असुरों तथा दुष्टों को दण्ड देने के प्रतीक हैं, जबकि कमल तथा शंख भक्तों को आशीर्वाद देने के प्रतीक हैं। सदा से संसार में दो प्रकार के पुरुष रहे हैं—भक्त तथा असुर। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है (*परित्राणाय साधूनाम्*) भगवान् सदैव भक्तों की रक्षा करने तथा असुरों के संहार के लिए उद्यत रहते हैं। इस भौतिक लोक में असुर तथा भक्त दोनों हैं, किन्तु आध्यात्मिक जगत में ऐसा कोई अन्तर नहीं होता। दूसरे शब्दों में, भगवान् विष्णु भौतिक तथा आध्यात्मिक लोकों के स्वामी हैं। भौतिक जगत में प्राय: सभी आसुरी प्रकृति के हैं और कुछेक भक्त भी हैं, जो भौतिक जगत में रहते दिखाई देते हैं किन्तु वे सदा आध्यात्मिक जगत में स्थित होते हैं। भक्त की स्थिति दिव्य होती है और भगवान् विष्णु उसकी सदा रक्षा करते हैं।

वक्षस्यधिश्रितवधूर्वनमाल्युदार-
हासावलोककलया रमयंश्च विश्वम् ।
पार्श्वभ्रमद्व्यजनचामरराजहंस:
श्वेतातपत्रशशिनोपरि रज्यमान: ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

वक्षसि—छाती पर; अधिश्रित—स्थित; वधू:—स्त्री (लक्ष्मी); वन-माली—वनपुष्पों की माला पहने; उदार—सुन्दर; हास—हँसती हुई; अवलोक—चितवन; कलया—किंचित्; रमयन्—मोहक; च—तथा; विश्वम्—पूरा संसार; पार्श्व—बगल; भ्रमत्—आगे-पीछे हिलते हुए; व्यजन-चामर—झलने के लिए सफेद चबँरी गाय की पूँछ; राज-हंस:—हंस; श्वेत-आतपत्र-शशिना—चन्द्र के समान श्वेत छत्र से; उपरि—ऊपर; रज्यमान:—सुन्दर दिखता हुआ।

भगवान् विष्णु असाधारण रूप से सुन्दर लग रहे थे, क्योंकि उनके वक्षस्थल पर ऐश्वर्य की देवी (लक्ष्मी) तथा एक हार विराजमान थे। उनका मुख मन्द हास के कारण अत्यन्त सुशोभित था, जो सारे जगत को और विशेष रूप से भक्तों के मन को मोहने वाला था। भगवान् के दोनों ओर श्वेत चामर डुल रहे थे, मानो श्वेत हंस हों और उनके ऊपर तना हुआ श्वेत छत्र चन्द्रमा के

समान लग रहा था।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु का हँसता मुख सारे संसार को भानेवाला है। उनकी ऐसी हँसी से न केवल भक्तजन, वरन् अभक्त भी आकर्षित होते हैं। इस श्लोक में सूर्य, चन्द्रमा, आठ दल वाला कमल तथा भौंरे की उपमा चामर, छत्र, मुख में दोनों ओर हिलते कुंडल, तथा काले-काले बालों से दी गई है। इन सबके साथ ही आठों भुजाओं में शंख, चक्र, गदा, पद्म, धनुष, बाण, ढाल तथा तलवार धारण करने के कारण ऐसा भव्य तथा सुन्दर रूप प्रस्तुत था, जो दक्ष तथा ब्रह्मा समेत सभी दर्शकों को मोहित करने वाला था।

तमुपागतमालक्ष्य सर्वे सुरगणादयः ।
प्रणेमुः सहसोत्थाय ब्रह्मेन्द्रत्र्यक्षनायकाः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; उपागतम्—आया हुआ; आलक्ष्य—देखकर; सर्वे—सभी; सुर-गण-आदयः—देवता अथा अन्य लोग; प्रणेमुः—नमस्कार; सहसा—तुरन्त; उत्थाय—खड़े होकर; ब्रह्म—ब्रह्माजी; इन्द्र—इन्द्रदेव; त्रि-अक्ष—शिव (जिनके तीन नेत्र हैं) ; नायकाः—के नायकत्व में।

जैसे ही भगवान् विष्णु दृष्टिगोचर हुए, वहाँ पर उपस्थित—ब्रह्मा, शिव, गंधर्व तथा वहाँ उपस्थित सभी जनों ने उनके समक्ष सीधे गिरकर (दण्डवत्) सादर नमस्कार किया।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् विष्णु शिव तथा ब्रह्मा के भी परमेश्वर हैं, देवताओं, गंधर्वों तथा सामान्य जीवात्माओं का तो कुछ कहना ही नहीं। एक स्तुति में कहा गया है—*यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुताः*—सभी देवता भगवान् की पूजा करते हैं। इसी प्रकार *ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः*—योगीजन विष्णु के रूप में अपना मन केन्द्रित करते हैं। इस प्रकार भगवान् विष्णु समस्त देवताओं, गन्धर्वों द्वारा, यहाँ तक कि शिव तथा ब्रह्मा द्वारा भी पूज्य हैं। *तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः*—अतः विष्णु ही भगवान् हैं। यद्यपि ब्रह्मा ने इसके पूर्व शिव को अपनी स्तुति में परमेश्वर कहा था, किन्तु जब विष्णु प्रकट हुए तो शिव भी सादर नमस्कार करने के लिए उनके समक्ष दण्डवत् गिर पड़े।

तत्तेजसा हतरुचः सन्नजिह्वाः ससाध्वसाः ।

मूर्ध्ना धृताञ्जलिपुटा उपतस्थुरधोक्षजम् ॥ २३॥

शब्दार्थ

तत्-तेजसा—उनके शरीर के चमचमाते तेज से; हत-रुचः—मलिन कान्ति वाला; सन्न-जिह्वाः—मौन जीभ से; स-साध्वसाः—उनके भय से भयभीत; मूर्ध्ना—सर सहित; धृत-अञ्जलि-पुटाः—सिर पर हाथ रखे; उपतस्थुः—प्रार्थना की; अधोक्षजम्—अधोक्षज भगवान् की।.

नारायण की शारीरिक कान्ति के तेज से अन्य सबों की कान्ति मन्द पड़ गई और सबों का बोलना बन्द हो गया। आश्चर्य तथा सम्मान से भयभीत, सबों ने अपने-अपने सिरों पर हाथ धर लिये और भगवान् अधोक्षज की स्तुति करने के लिए उद्यत हो गए।

अप्यर्वाग्वृत्तयो यस्य महि त्वात्मभुवादयः ।
यथामति गृणन्ति स्म कृतानुग्रहविग्रहम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

अपि—अब भी; अर्वाक्-वृत्तयः—मानसिक क्रिया-कलापों से परे; यस्य—जिसकी; महि—यश; तु—लेकिन; आत्मभू-आदयः—ब्रह्मा इत्यादि ने.; यथा-मति—अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार; गृणन्ति स्म—स्तुति की; कृत-अनुग्रह—उनके अनुग्रह से प्रकट; विग्रहम्—दिव्य रूप।.

यद्यपि ब्रह्मा जैसे देवता भी परमेश्वर की अनन्त महिमा का अनुमान लगाने में असमर्थ थे, किन्तु वे सभी भगवान् की कृपा से उनके दिव्य रूप को देख सकते थे। अतः वे अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार उनकी सादर स्तुति कर सके।

तात्पर्य : भगवान् सदैव अनन्त हैं और उनकी महिमाओं का वर्णन कर पाना ब्रह्मा जैसे पुरुष के लिए भी दुष्कर है। कहा जाता है कि भगवान् के प्रत्यक्ष अवतार अनन्त के अनन्त मुख हैं और वे प्रत्येक मुख से अनन्त काल से भगवान् की महिमा-वर्णन का प्रयत्न करते रहे हैं, तो भी उनकी महिमाओं का वर्णन पूरा नहीं हो पाया। सामान्य मनुष्य के लिए भगवान् की अनन्त महिमा को समझ पाना या उसका वर्णन कर पाना सम्भव नहीं, किन्तु अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार लोग उनकी स्तुति तो कर ही सकते हैं। सेवा भाव से यह शक्ति बढ़ती है। *सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ* का अर्थ है कि जीभ से भगवान् की सेवा प्रारम्भ होती है। यह कीर्तन की द्योतक है, हरे कृष्ण कीर्तन से भगवान् की सेवा प्रारम्भ की जा सकती है। जीभ का दूसरा कार्य भगवान् के प्रसाद का स्वाद लेना और उसे ग्रहण करना है। हमें अनन्त की सेवा जीभ से प्रारम्भ करनी चाहिए और जप करने तथा भगवान् का प्रसाद ग्रहण करने में पटु होना चाहिए। भगवान् के प्रसाद को ग्रहण करने का अर्थ है समूची इन्द्रियों को वश में

करना। जीभ सर्वाधिक अनियंत्रित इन्द्रिय मानी जाती है क्योंकि यह अनेक अभक्ष्य पदार्थों के पीछे पड़ी रहती है, जिससे यह जीवात्मा को बद्धजीवन के गर्त में धकेलती है। चूँकि जीवात्मा एक जीव से दूसरे में देहान्तर करता है, अत: उसे अत्यन्त घृणित वस्तुएँ खानी पड़ती हैं, जिसका कोई पारावार नहीं है। जीभ को जप करने तथा भगवान् के प्रसाद खाने में लगाना चाहिए जिससे अन्य इन्द्रियाँ वश में रहें। जप या कीर्तन ओषधि है, प्रसाद भोजन है। इन क्रियाओं से सेवा प्रारम्भ की जा सकती है और ज्यों-ज्यों सेवा बढ़ती जाती है, भगवान् भक्तके समक्ष अधिकाधिक रूप में प्रकट होते हैं। किन्तु उनकी महिमा का अन्त नहीं है और उनकी सेवा का भी अन्त नहीं है।

दक्षो गृहीतार्हणसादनोत्तमं
यज्ञेश्वरं विश्वसृजां परं गुरुम् ।
सुनन्दनन्दाद्यनुगैर्वृतं मुदा
गृणन्प्रपेदे प्रयतः कृताञ्जलिः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

दक्षः—दक्ष ने; गृहीत—ग्रहण कर लिया; अर्हण—उचित; सादन-उत्तमम्—पूजा-पात्र; यज्ञ-ईश्वरम्—समस्त यज्ञों के स्वामी को; विश्व-सृजाम्—समस्त प्रजापतियों को; परम्—परम; गुरुम्—उपदेशक; सुनन्द-नन्द-आदि-अनुगैः—सुनन्द तथा नन्द जैस पार्षदों द्वारा; वृतम्—घिरा हुआ; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक; गृणन्—स्तुति करते हुए; प्रपेदे—शरण ली; प्रयतः—विनीत भाव से; कृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़ कर।

जब भगवान् विष्णु ने यज्ञ में डाली गई आहुतियों को स्वीकार कर लिया तो दक्ष प्रजापति ने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक उनकी स्तुति करनी प्रारम्भ की। वस्तुतः भगवान् समस्त यज्ञों के स्वामी और सभी प्रजापतियों के गुरु हैं और नन्द-सुनन्द जैसे पुरुष तक उनकी सेवा करते हैं।

दक्ष उवाच
शुद्धं स्वधाम्न्युपरताखिलबुद्ध्यवस्थं
चिन्मात्रमेकमभयं प्रतिषिध्य मायाम् ।
तिष्ठंस्तयैव पुरुषत्वमुपेत्य तस्याम्
आस्ते भवानपरिशुद्ध इवात्मतन्त्रः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

दक्षः—दक्ष ने; उवाच—कहा; शुद्धम्—शुद्ध; स्व-धाम्नि—अपने धाम में; उपरत-अखिल—पूर्णतया रहित; बुद्धि-अवस्थम्—मानसिक कल्पना की अवस्था; चित्-मात्रम्—पूर्णतया आध्यात्मिक; एकम्—अद्वितीय; अभयम्—निडर; प्रतिषिध्य—वश में करके; मायाम्—भौतिक शक्ति को; तिष्ठन्—स्थित होकर; तया—उस (माया) के द्वारा; एव—निश्चय ही; पुरुषत्वम्—पर्यवेक्षक; उपेत्य—प्रविष्ट होकर; तस्याम्—उसमें; आस्ते—उपस्थित है; भवान्—आप; अपरिशुद्धः—अशुद्ध; इव—मानो; आत्म-तन्त्रः—आत्म-निर्भर, स्वतंत्र।

दक्ष ने भगवान् को सम्बोधित करते हुए कहा—हे प्रभु, आप समस्त कल्पना-अवस्थाओं से परे हैं। आप परम चिन्मय, भय-रहित और भौतिक माया को वश में रखने वाले हैं। यद्यपि आप माया में स्थित प्रतीत होते हैं, किन्तु आप दिव्य हैं। आप भौतिक कल्मष से मुक्त हैं, क्योंकि आप परम स्वतंत्र हैं।

ऋत्विज ऊचुः
तत्त्वं न ते वयमनञ्जन रुद्रशापात्
कर्मण्यवग्रहधियो भगवन्विदामः ।
धर्मोपलक्षणमिदं त्रिवृदध्वराख्यं
ज्ञातं यदर्थमधिदैवमदो व्यवस्थाः ॥ २७॥

शब्दार्थ

ऋत्विजः—पुरोहितों ने; ऊचुः—कहना प्रारम्भ किया; तत्त्वम्—सत्य; न—नहीं; ते—आपका; वयम्—हम सब; अनञ्जन—किसी भौतिक कल्मष से रहित; रुद्र—शिव के; शापात्—शाप से; कर्मणि—सकाम कर्मों में; अवग्रह—अत्यधिक लिप्त रहने से; धियः—ऐसी बुद्धि का; भगवन्—हे भगवान्; विदामः—जानते हैं; धर्म—धर्म; उपलक्षणम्—सांकेतिक; इदम्—यह; त्रि-वृत्—वेद ज्ञान के तीन विभाग, वेदत्रयी; अध्वर—यज्ञ; आख्यम्—नाम का; ज्ञातम्—ज्ञात; यत्—वह; अर्थम्—प्रयोजन के हेतु; अधिदैवम्—देवताओं की पूजा के लिए; अदः—यह; व्यवस्थाः—प्रबन्ध, व्यवस्था।

पुरोहितों ने भगवान् को सम्बोधित करते हुए कहा—हे भगवन्, आप भौतिक कल्मष से परे हैं। शिव के अनुचरों द्वारा दिये गये शाप के कारण हम सकाम कर्म में लिप्त हैं, अतः हम पतित हो चुके हैं और आपके विषय में कुछ भी नहीं जानते। उल्टे, हम यज्ञ के नाम पर अनुष्ठानों को सम्पन्न करने के लिए वेदत्रयी के आदेशों में आ फँसे हैं। हमें ज्ञात है कि आपने देवताओं को अपने-अपने उनके भाग दिये जाने की व्यवस्था कर रखी है।

तात्पर्य : वेदों को *त्रैगुण्य-विषया वेदाः* (*भगवद्गीता* २.४५) कहा जाता है। वेदों के विशेषज्ञ वेदों में वर्णित अनुष्ठानों के प्रति अत्यधिक लिप्त रहते हैं, अतः ये वेदवादी यह नहीं समझ सकते कि वेदों का चरम उद्देश्य तो भगवान् कृष्ण या विष्णु को जानना है। किन्तु जो वेदों के गुणात्मक आकर्षणों से परे हैं, वे उन श्रीकृष्ण को समझ सकते हैं, जो भौतिक गुणों से कभी भी दूषित नहीं होते। इसीलिए भगवान् विष्णु को यहाँ *अनञ्जन* (दूषणों से मुक्त) सम्बोधित किया गया है। *भगवद्गीता* (२.४२) में श्रीकृष्ण ने अल्पज्ञ वेदवादियों की इस प्रकार निन्दा की है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥

"अल्पबुद्धि मनुष्य वेद के उन आलंकारिक वचनों में बहुत आसक्त रहते हैं जिनमें स्वर्ग, उच्चकुल, ऐश्वर्य और भोगों को देने वाले नाना प्रकार के सकाम कर्मों का विधान है और वे कहते हैं कि इस से बढ़कर कुछ भी नहीं है।"

सदस्या ऊचुः

उत्पत्त्यध्वन्यशरण उरुक्लेशदुर्गेऽन्तकोग्र-
व्यालान्विष्टे विषयमृगतृष्यात्मगेहोरुभारः ।
द्वन्द्वश्वभ्रे खलमृगभये शोकदावेऽज्ञसार्थः
पादौकस्ते शरणद कदा याति कामोपसृष्टः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सदस्याः—सभा के सदस्य; ऊचुः—बोले; उत्पत्ति—जन्म-मृत्यु का चक्र; अध्वनि—के मार्ग पर; अशरणे—जिसका आश्रय न हो; उरु—महान; क्लेश—कष्टकारक; दुर्गे—किले में; अन्तक—अन्त; उग्र—डरावना; व्याल—सर्प; अन्विष्टे—परिपूर्ण; विषय—भौतिक सुख; मृग-तृषि—मृग-तृष्णा; आत्म—शरीर; गेह—घर; उरु—भारी; भारः—भार, बोझ; द्वन्द्व—द्वैत; श्वभ्रे—छिद्र, सुख तथा दुख के खंदक; खल—दुष्ट; मृग—पशु; भये—डरा हुआ; शोक-दावे—शोक रूपी दावाग्नि; अज्ञ-स-अर्थः—दुष्टों के हित के लिए; पाद-ओकः—चरणकमलों की शरण; ते—तुम्हारे; शरण-द—शरण देने वाला; कदा—जब; याति—गया; काम-उपसृष्टः—सभी प्रकार की इच्छाओं से दुखित।

सभा के सदस्यों ने भगवान् को सम्बोधित किया—हे संतप्त जीवों के एकमात्र आश्रय, इस बद्ध संसार के दुर्ग में काल-रूपी सर्प प्रहार करने की ताक में रहता है। यह संसार तथाकथित सुख तथा दुख की खंदकों से भरा पड़ा है और अनेक हिंस्र पशु आक्रमण करने को सन्नद्ध रहते हैं। शोक रूपी अग्नि सदैव प्रज्ज्वलित रहती है और मृषा सुख की मृगतृष्णा सदैव मोहती रहती है, किन्तु मनुष्य को इनसे छुटकारा नहीं मिलता। इस प्रकार अज्ञानी पुरुष जन्म-मरण के चक्र में पड़े रहते हैं और अपने तथाकथित कर्तव्यों के भार से सदा दबे रहते हैं। हमें ज्ञात नहीं कि वे आपके चरणकमलों की शरण में कब जाएँगे।

तात्पर्य : जो मनुष्य कृष्ण-भक्ति नहीं करते, उनका जीवन अत्यन्त शोचनीय है, जैसाकि इस श्लोक में बताया गया है। किन्तु ये परिस्थितियाँ कृष्ण को विस्मृत करने के कारण आती हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन इन समस्त मोहग्रस्त तथा दुखी मनुष्यों को राहत देने के लिए है; अतः यह समस्त मानव समाज के लिए सबसे बड़ा राहत-कार्य है और इसके कार्यकर्ता सर्वोत्कृष्ट शुभचिन्तक हैं, क्योंकि वे भगवान् चैतन्य के चरण-चिह्नों का अनुसरण करते हैं, जो सभी जीवात्माओं के परम सखा

हैं।

रुद्र उवाच

तव वरद वराङ्घ्रावाशिषेहाखिलार्थे
ह्यपि मुनिभिरसक्तैरादरेणार्हणीये ।
यदि रचितधियं माविद्यलोकोऽपविद्धं
जपति न गणये तत्त्वत्परानुग्रहेण ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

रुद्रः उवाच—शिव ने कहा; तव—तुम्हारा; वर-द—हे परम दानी; वर-अङ्घ्रौ—अमूल्य चरणकमल; आशिषा—इच्छा से; इह—संसार में; अखिल-अर्थे—पूर्ति के लिए; हि अपि—निश्चय ही; मुनिभिः—मुनियों द्वारा; असक्तैः—मुक्त; आदरेण—आदरपूर्वक; अर्हणीये—पूज्य; यदि—यदि; रचित-धियम्—स्थिर मन; मा—मुझको; अविद्य-लोकः—अज्ञानी पुरुष; अपविद्धम्—अशुद्ध कर्म; जपति—कहता है; न गणये—मूल्य नहीं जानते; तत्—वह; त्वत्-पर-अनुग्रहेण—आप की जैसी कृपा से।.

शिवजी ने कहा : हे भगवान्, मेरा मन तथा मेरी चेतना निरन्तर आपके पूजनीय चरणकमलों पर स्थिर रहती है, जो समस्त वरों तथा इच्छाओं की पूर्ति के स्रोत होने के कारण समस्त मुक्त महामुनियों द्वारा पूजित हैं क्योंकि आपके चरण कमल ही पूजा के योग्य। आपके चरणकमलों में मन को स्थिर रखकर मैं उन व्यक्तियों से विचलित नहीं होता जो यह कहकर मेरी निन्दा करते हैं कि मेरे कर्म पवित्र नहीं हैं। मैं उनके आरोपों की परवाह नहीं करता और मैं उसी प्रकार दयावश उन्हें क्षमा कर देता हूँ, जिस प्रकार आप समस्त जीवों के प्रति दया प्रदर्शित करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर शिवजी अपने क्रुद्ध होने तथा दक्ष के यज्ञ-कार्य को विध्वंस करने के लिए खेद व्यक्त करते हैं। राजा दक्ष ने कई प्रकार से उनका अपमान किया था जिससे क्रुद्ध होकर उन्होंने उसका सम्पूर्ण यज्ञ-उत्सव तहस-नहस कर दिया था। बाद में उनके प्रसन्न होने पर सारा यज्ञ कार्य पुनः सम्पन्न हुआ, अतः उन्होंने अपने कार्यों के लिए खेद व्यक्त किया। अब वे कहते हैं कि चूँकि उनका मन भगवान् के चरणकमलों में स्थिर रहता है, अतः वे उन सामान्य आलोचकों से, जो उनके आचरण की आलोचना करते हैं, तनिक भी विचलित नहीं होते। शिव के इस कथन से यह समझना चाहिए कि जब तक मनुष्य भौतिक स्तर पर रहता है, तब तक वह प्रकृति के तीन गुणों से प्रभावित होता रहता है, किन्तु जैसे ही वह कृष्णभक्ति करने लगता है, उसे ये भौतिक कार्यकलाप प्रभावित नहीं करते। अतः मनुष्य को सदा कृष्णभावनामृत में स्थिर रहना चाहिए और भगवान् की दिव्य प्रेमभक्ति में व्यस्त रहना

चाहिए। यह निश्चित है कि ऐसे भक्त को प्रकृति के तीनों गुणों के कर्मबन्धन नहीं सताते। इस तथ्य की पुष्टि *भगवद्गीता* से भी होती है—जो भगवान् की दिव्य सेवा में अनुरक्त है, वह समस्त भौतिक गुणों को पार करके ब्रह्म-साक्षात्कार की स्थिति को प्राप्त होता है, जिसमें उसे भौतिक वस्तुओं के पीछे दौड़ कर दुखी नहीं होना पड़ता। *श्रीमद्भागवत* की संस्तुति है कि मनुष्य को सदैव कृष्णभावनाभावित होना चाहिए और भगवान् से अपने दिव्य सम्बन्ध को विस्मृत नहीं करना चाहिए। इस कार्यक्रम का हर एक को दृढ़ता से पालन करना चाहिए। शिव के कथन से प्रतीत होता है कि वे निरन्तर कृष्ण में लीन रहते थे जिससे वे भौतिक तापों से दूर रहे। अतः एकमात्र ओषधि है कि दृढ़ता से कृष्णभक्ति की जाये जिससे भौतिक गुणों के कल्मष से बाहर निकला जा सके।

भृगुरुवाच

यन्मायया गहनयापहृतात्मबोधा
ब्रह्मादयस्तनुभृतस्तमसि स्वपन्तः ।
नात्मन्श्रितं तव विदन्त्यधुनापि तत्त्वं
सोऽयं प्रसीदतु भवान्प्रणतात्मबन्धुः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

भृगुः उवाच—उवाच श्रीभृगु ने कहा; यत्—जो; मायया—माया से; गहनया—दुर्लंघ्य; अपहृत—चुराया हुआ; आत्म-बोधाः—स्वाभाविक स्थिति का ज्ञान; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा इत्यादि.; तनु-भृतः—जीवात्माओं सहित; तमसि—मोहान्धकार में; स्वपन्तः—सोये हुए; न—नहीं; आत्मन्—जीवात्मा में; श्रितम्—स्थित; तव—तुम्हारा; विदन्ति—जानते हैं; अधुना—अब; अपि—निश्चय ही; तत्त्वम्—परम पद; सः—वह (आप); अयम्—यह; प्रसीदतु—प्रसन्न हों; भवान्—आप; प्रणत-आत्म—शरणागत जीव के; बन्धुः—सखा, मित्र।

भृगु मुनि ने कहा : हे भगवन्, सर्वोच्च ब्रह्मा से लेकर सामान्य चींटी तक सारे जीव आपकी माया शक्ति के दुर्लंघ्य जादू के वशीभूत हैं और इस प्रकार वे अपनी स्वाभाविक स्थिति से अपरिचित हैं। देहात्मबुद्धि में विश्वास करने के कारण सभी मोह के अंधकार में पड़े हुए हैं। वे वास्तव में यह नहीं समझ पाते कि आप प्रत्येक जीवात्मा में परमात्मा के रूप में कैसे रहते हैं, न तो वे आपके परम पद को ही समझ सकते हैं। किन्तु आप समस्त शरणागत जीवों के नित्य सखा एवं रक्षक हैं। अतः आप हम पर कृपालु हों और हमारे समस्त पापों को क्षमा कर दें।

तात्पर्य : दक्ष के यज्ञ-समारोह में ब्रह्मा तथा शिव समेत सबों ने जो अपयशपूर्ण आचरण प्रदर्शित किया था भृगु मुनि उससे अवगत थे। इस संसार में जीवात्माओं में प्रमुख ब्रह्मा का नाम लेकर वे

बताना चाह रहे थे कि विष्णु को छोड़कर ब्रह्मा तथा शिव समेत सभी देहात्म-बुद्धि तथा माया के जादू के वश में थे। यही भृगु की दृष्टि है। जब तक मनुष्य शरीर को आत्मरूप मानता है, तब तक वह परमात्मा या भगवान् को नहीं समझ पाता। भृगु ने अपने को भी अपराधकर्ताओं की सूची में सम्मिलित किया क्योंकि वह जानता था कि वह ब्रह्मा से बड़ा नहीं है। अज्ञानी पुरुषों या बद्धजीवों को माया के वशीभूत होकर अपनी दयनीय स्थिति को स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं बचता। इसकी एकमात्र ओषधि विष्णु की शरण में जाकर सदैव क्षमा-याचना करना है। उद्धार के लिए मात्र भगवान् की अहैतुकी कृपा पर निर्भर करना चाहिए, अपनी शक्ति पर नाममात्र भी आश्रित नहीं होना चाहिए। कृष्णभावनाभावित मनुष्य (भक्त) की यही सिद्ध स्थिति है। भगवान् वैसे तो सबों के सखा हैं, लेकिन जो शरणागत हैं, वे उनके विशेष मित्र हैं। अत: सरल उपाय यही है कि बद्धजीव भगवान् की शरण में रहे तो भगवान् उसे सभी भौतिक बन्धनों से दूर रखेंगे।

ब्रह्मोवाच

नैतत्स्वरूपं भवतोऽसौ पदार्थ-
भेदग्रहैः पुरुषो यावदीक्षेत् ।
ज्ञानस्य चार्थस्य गुणस्य चाश्रयो
मायामयाद्व्यतिरिक्तो मतस्त्वम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्मा ने कहा; न—नहीं; एतत्—यह; स्वरूपम्—अनित्य रूप; भवतः—आपका; असौ—वह; पद-अर्थ—ज्ञान; भेद—भिन्न; ग्रहैः—प्राप्ति से; पुरुषः—पुरुष; यावत्—जब तक; ईक्षेत्—देखना चाहता है; ज्ञानस्य—ज्ञान का; च—भी; अर्थस्य—लक्ष्य का; गुणस्य—ज्ञान के साधनों का; च—भी; आश्रयः—आधार; माया-मयात्—माया से निर्मित होने से; व्यतिरिक्तः—स्पष्ट; मतः—माना हुआ; त्वम्—तुम।

ब्रह्माजी ने कहा : हे भगवन्, यदि कोई पुरुष आपको ज्ञानअर्जित करने की विभिन्न विधियों द्वारा जानने का प्रयास करे तो वह आपके व्यक्तित्व एवं शाश्वत रूप को नहीं समझ सकता। आपकी स्थिति भौतिक सृष्टि की तुलना में सदैव दिव्य है, जबकि आपको समझने के प्रयास, लक्ष्य तथा साधन सभी भौतिक और काल्पनिक हैं।

तात्पर्य : ऐसा कहा जाता है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के दिव्य नाम, गुण, कार्य, साज-सामग्री इत्यादि का ज्ञान हमारी भौतिक इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता। परम सत्य को अनुभवात्मक दार्शनिकों द्वारा कल्पना के द्वारा जानने का प्रयास सदा ही व्यर्थ रहता है, क्योंकि उनके ज्ञान की विधि, उनका

लक्ष्य तथा जिन साधनों से वे परम सत्य को जानना चाहते हैं, वे सब भौतिक हैं। भगवान् तो *अप्राकृत* हैं, अर्थात् भौतिक जगत की सृष्टि के परे हैं। इस तथ्य को महान् निर्गुणवादी शंकराचार्य ने भी स्वीकार किया है—*नारायण: परोऽव्यक्तादण्डम् अव्यक्तसम्भवम्। अव्यक्त* अर्थात् आदि भौतिक कारण प्राकट्य से परे है और भौतिक जगत का कारण है। चूँकि भगवान् नारायण इस भौतिक जगत से परे हैं, अत: भौतिक विधि से इनका चिन्तन नहीं किया जा सकता। मनुष्य को कृष्णचेतना (कृष्णभावना) की दिव्य विधि द्वारा ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को समझना होगा। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१८.५५) में की गई है। *भक्त्या माम् अभिजानाति*—केवल भक्ति से भगवान् के दिव्य रूप को समझा जा सकता है। निर्गुणवादियों तथा सगुणवादियों में मुख्य अन्तर यही है कि निर्गुणवादी अपनी सीमित चिन्तन विधियों से श्रीभगवान् तक नहीं पहुँच पाते जबकि भक्त लोग भगवान् को प्रेमाभक्ति द्वारा प्रसन्न कर लेते हैं। *सेवोन्मुखे हि*—भक्त की भक्ति के प्रति उन्मुखता से भगवान् प्रकट होते हैं। यदि भौतिकतावादी पुरुषों के समक्ष भगवान् खड़े भी हो जाँय तो वे उन्हें नहीं समझ पाएँगे। अत: श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* में ऐसे भौतिकवादियों को *मूढ़* कह कर उनकी भर्त्सना की है। *मूढ* का अर्थ है 'दुष्ट'। गीता में कहा गया है, "केवल दुष्ट ही श्रीकृष्ण को सामान्य पुरुष मानते हैं। वे भगवान् कृष्ण की स्थिति या उनकी दिव्य शक्तियों से परिचित नहीं होते।" भगवान् की दिव्य शक्तियों से अपरिचित होने से निर्गुणवादी व्यक्ति कृष्ण का उपहास करते हैं, जबकि भक्त लोग अपनी सेवावृत्ति के कारण उन्हें श्रीभगवान् के रूप में जानते हैं। *भगवद्गीता* के दशम अध्याय में अर्जुन ने इसकी पुष्टि की है कि भगवान् के व्यक्तित्व को समझ पाना कठिन है।

इन्द्र उवाच

इदमप्यच्युत विश्वभावनं
वपुरानन्दकरं मनोदृशाम् ।
सुरविद्विट्क्षपणैरुदायुधै-
र्भुजदण्डैरुपपन्नमष्टभि: ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

इन्द्र: उवाच—राजा इन्द्र ने कहा; इदम्—यह; अपि—निश्चय ही; अच्युत—हे अच्युत; विश्व-भावनम्—विश्व के कल्याण हेतु; वपु:—दिव्य रूप; आनन्द-करम्—आनन्द के कारण; मन:-दृशाम्—मन तथा नेत्रों को; सुर-विद्विट्—आपके भक्तों से ईर्ष्यालु; क्षपणै:—दण्ड द्वारा; उद्-आयुधै:—हथियार उठाये; भुज-दण्डै:—बाहों से; उपपन्नम्—युक्त; अष्टभि:—आठ।

राजा इन्द्र ने कहा : हे भगवन्, प्रत्येक हाथ में आयुध धारण किये आपका यह अष्टभुज दिव्य रूप सम्पूर्ण विश्व के कल्याण हेतु प्रकट होता है और मन तथा नेत्रों को अत्यन्त आनन्दित करने वाला है। आप इस रूप में अपने भक्तों से ईर्ष्या करने वाले असुरों को दण्ड देने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं।

तात्पर्य : शास्त्रों से सामान्यत: ज्ञात होता है कि भगवान् विष्णु चतुर्भुज रूप में प्रकट होते हैं, किन्तु इस विशिष्ट यज्ञस्थल पर वे अष्टभुज रूप में आये। राजा इन्द्र ने कहा, ''यद्यपि हम आपके चतुर्भुज विष्णु रूप देखने के अभ्यस्त हैं, किन्तु आपका यह अष्टभुज रूप भी उतना ही यथार्थ है।'' जैसाकि ब्रह्मा कह चुके हैं, भगवान् के दिव्य रूप का दर्शन करना इन्द्रियों की शक्ति के परे है। ब्रह्मा के इस कथन के उत्तर में, राजा इन्द्र ने कहा कि यद्यपि भगवान् का दिव्य रूप भौतिक इन्द्रियों से नहीं देखा जा सकता, उनके कार्यकलाप और दिव्य रूप को समझा जा सकता है। भगवान् का असामान्य रूप, असामान्य गुण तथा असामान्य सौंदर्य सामान्य पुरुष द्वारा भी देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ, जब वृन्दावन में भगवान् कृष्ण छह-सात वर्ष के बालक रूप में प्रकट हुए तो वहाँ के वासी उन्हें देखने आये। वहाँ पर मूसलाधार वर्षा हुई तो भगवान् ने गोवर्धन पर्वत उठाकर वृन्दावनवासियों की रक्षा की और पर्वत को सात दिनों तक बाएँ हाथ की कनिष्ठा अँगुली पर उठाये रखा। यह असामान्य गुण उन भौतिकतावादी पुरुषों को भी विश्वास दिलाने वाला है, जो अपनी भौतिक इन्द्रियों की सीमा तक ही कल्पना कर सकते हैं। भगवान् की लीलाएँ व्यावहारिक दृष्टि से भी मन को भाने वाली हैं, किन्तु निर्गुणवादी इस रूप पर विश्वास नहीं करते, क्योंकि वे भगवान् के व्यक्तित्व की तुलना अपने व्यक्तित्व से करते हैं। चूँकि इस भौतिक जगत के लोग पर्वत नहीं उठा सकते, अत: उन्हें विश्वास ही नहीं हो पाता कि भगवान् ऐसा कर सकते हैं। वे *श्रीमद्भागवत* के कथन को रूपक मानते हैं और वे उसकी विवेचना अपने ढंग से करते हैं। किन्तु तथ्य यह है कि भगवान् ने वृन्दावन के सभी निवासियों के समक्ष पर्वत उठा लिया था, जैसाकि व्यासदेव तथा नारद जैसे महान् आचार्यों तथा लेखकों ने पुष्टि की है। भगवान् के कार्य, लीलाएँ तथा असामान्य गुण—इन सबों को यावत् रूप में स्वीकार करना होगा और इस तरह से हम आज भी भगवान् को समझ सकते हैं। यहाँ दिये गये उदाहरण में इन्द्र ने पुष्टि की

"आपका यह अष्टभुज रूप आपके चतुर्भुज रूप के ही समान उत्तम है।" इसमें कोई सन्देह नहीं।

पत्न्य ऊचुः

यज्ञोऽयं तव यजनाय केन सृष्टो
विध्वस्तः पशुपतिनाद्य दक्षकोपात् ।
तं नस्त्वं शवशयनाभशान्तमेधं
यज्ञात्मन्नलिनरुचा दृशा पुनीहि ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

पत्न्यः ऊचुः—यज्ञकर्ताओं की पत्नियों ने कहा; यज्ञः—यज्ञ; अयम्—यह; तव—तुम्हारा; यजनाय—पूजा के हेतु; केन—ब्रह्मा द्वारा; सृष्टः—व्यवस्थित; विध्वस्तः—नष्ट-भ्रष्ट; पशुपतिना—शिव द्वारा; अद्य—आज; दक्ष-कोपात्—दक्ष पर क्रोध करने से; तम्—यह; नः—हमारा; त्वम्—तुम; शव-शयन—मृत शरीर; आभ—के समान; शान्त-मेधम्—शान्त बलि-पशु; यज्ञ-आत्मन्—हे यज्ञ के स्वामी; नलिन—कमल; रुचा—सुन्दर; दृशा—अपने नेत्रों की दृष्टि से; पुनीहि—पवित्र कीजिये।.

याज्ञिकों की पत्नियों ने कहा : हे भगवान्, वह यज्ञ ब्रह्मा के आदेशानुसार व्यवस्थित किया गया था, किन्तु दुर्भाग्यवश दक्ष से क्रुद्ध होकर शिव ने समस्त दृश्य को ध्वस्त कर दिया और उनके रोष के कारण यज्ञ के निमित्त लाये गये पशु निर्जीव पड़े हैं। अतः यज्ञ की सारी तैयारियाँ बेकार हो चुकी हैं। अब आपके कमल जैसे नेत्रों की चितवन से इस यज्ञस्थल की पवित्रता पुनः प्राप्त हो।

तात्पर्य : यज्ञ में पशुओं को नया जीवन प्रदान करने के लिए उनकी बलि दी जाती थी; वहाँ पर पशुओं के लाये जाने का यही प्रयोजन था। यज्ञ में पशु की बलि और इसे नवजीवन प्रदान करना मंत्रोच्चार-शक्ति के प्रमाण थे। दुर्भाग्यवश, जब शिव ने दक्ष के यज्ञ को विध्वंस कर दिया तो कुछ पशु भी मार डाले गये (एक का वध दक्ष के सिर लगाने के लिए हुआ था)। उनके शरीर बिखरे पड़े थे और यज्ञस्थल श्मशान भूमि बन गया था। फलतः यज्ञ का वास्तविक उद्देश्य समाप्त हो चुका था।

चूँकि भगवान् विष्णु को ही लक्ष्य बनाकर ऐसे यज्ञ किये जाते हैं, अतः याज्ञिकों की पत्नियों ने विष्णु से प्रार्थना की कि वे अहैतुकी कृपा द्वारा यज्ञस्थल पर एक दृष्टि तो डाल दें जिससे यज्ञ का कार्यक्रम प्रारम्भ किया जा सके। सारांश यह कि वृथा ही पशु-वध न किया जाय। वे मंत्र शक्ति के परीक्षण हेतु प्रयुक्त होते थे और उन्हें मंत्र के बल पर पुनः तरुण हो जाना था। उनका वध नहीं होना चाहिए था, जैसाकि शिव द्वारा दक्ष के सिर के स्थान पर पशु-सिर लगाने के लिए वध किया गया था। पशु की बलि होते और उसको पुनः तरुण होते देखना एक मनोहारी दृश्य होना था, किन्तु अब वैसा

वातावरण नहीं रह गया था। अत: याज्ञिकों की पत्नियों ने विष्णु से प्रार्थना की कि वे अपनी कृपादृष्टि से पशुओं को जिलाएँ और यज्ञ को मनमोहक बनाएँ।

ऋषय ऊचुः

अनन्वितं ते भगवन्विचेष्टितं
यदात्मना चरसि हि कर्म नाज्यसे ।
विभूतये यत उपसेदुरीश्वरीं
न मन्यते स्वयमनुवर्ततीं भवान् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

ऋषयः—ऋषियों ने; ऊचुः—प्रार्थना की; अनन्वितम्—आश्चर्यजनक; ते—तुम्हारा; भगवन्—हे समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी; विचेष्टितम्—कार्यकलाप; यत्—जो; आत्मना—अपनी शक्तियों से; चरसि—करते हो; हि—निश्चय ही; कर्म—ऐसे कार्यों को; न अज्यसे—लिप्त नहीं होते; विभूतये—उसकी कृपा के हेतु; यतः—जिससे; उपसेदुः—पूज्य; ईश्वरीम्—ऐश्वर्य की देवी, लक्ष्मी; न मन्यते—लिप्त नहीं होती हैं; स्वयम्—स्वयं; अनुवर्ततीम्—अपनी आज्ञाकारी दासी (लक्ष्मी); भवान्—आप।

ऋषियों ने प्रार्थना की: हे भगवान्, आपके कार्य अत्यन्त आश्चर्यमय हैं और यद्यपि आप सब कुछ अपनी विभिन्न शक्तियों से करते हैं, किन्तु आप उनसे लिप्त नहीं होते। यहाँ तक कि आप सम्पत्ति की देवी लक्ष्मीजी से भी लिप्त नहीं हैं, जिनकी पूजा ब्रह्माजी जैसे बड़े-बड़े देवताओं द्वारा उनकी कृपा प्राप्त करने के उद्देश्य से की जाती है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया कि भगवान् को अपने अद्भुत कर्मों के फल की कोई कामना नहीं रहती और न ही उन्हें कर्म करने की आवश्यकता ही है। किन्तु सामान्य जनों के समक्ष उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए वे कभी-कभी कर्म करते हैं, जो अत्यन्त आश्चर्यजनक होते हैं। *न मां कर्माणि लिम्पन्ति*—यद्यपि वे अत्यन्त आश्चर्यजनक ढंग से कर्म करते हैं, किन्तु वे किसी वस्तु से लिप्त नहीं होते (*भगवद्गीता* ४.१४)। वे स्वत:पूर्ण हैं। यहाँ पर उदाहरण दिया गया है कि सम्पत्ति की देवी लक्ष्मी सदैव भगवान् की सेवा में लगी रहती हैं, किन्तु तो भी वे उनसे लिप्त नहीं होते। यहाँ तक कि ब्रह्मा जैसे देवता भी सम्पत्ति की देवी लक्ष्मी का कृपापात्र बनने के लिए उनकी पूजा करते हैं; किन्तु, यद्यपि भगवान् की पूजा में सैकड़ों-हजारों सम्पत्ति की देवियाँ लगी रहती हैं, पर वे उनमें से किसी से लिप्त नहीं होते। भगवान् की इस उच्च दिव्य स्थिति का वर्णन अनेक ऋषियों ने विशेष तौर पर किया है। वे सामान्य जीवात्मा की भाँति नहीं हैं, जो पुण्य कर्मों के फल के प्रति आसक्त होता है।

सिद्धा ऊचुः
अयं त्वत्कथामृष्टपीयूषनद्यां
मनोवारणः क्लेशदावाग्निदग्धः ।
तृषार्तोऽवगाढो न सस्मार दावं
न निष्क्रामति ब्रह्मसम्पन्नवन्नः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सिद्धाः—सिद्धों ने; ऊचुः—प्रार्थना की; अयम्—वह; त्वत्-कथा—आपकी लीलाएँ; मृष्ट—शुद्ध; पीयूष—अमृत की; नद्याम्—नदी में; मनः—मन का; वारणः—हाथी; क्लेश—कष्ट; दाव-अग्नि—जंगल की आग से; दग्धः—जला हुआ; तृषा—प्यास; आर्तः—त्रस्त; अवगाढः—निमज्जित; न सस्मार—स्मरण नहीं करते; दावम्—दावाग्नि या कष्टों को; न निष्क्रामति—बाहर नहीं आता; ब्रह्म—परम; सम्पन्न-वत्—मानो तदाकार हों; नः—हम।

सिद्धों ने स्तुति की : हे भगवन्, हमारे मन उस हाथी के समान हैं, जो जंगल की आग से त्रस्त होने पर नदी में प्रविष्ट हो ते ही सभी कष्ट भूल सकता है। उसी तरह ये हमारे मन भी आपकी दिव्य लीलाओं की अमृत-नदी में निमज्जित हैं और ऐसे दिव्य आनन्द में निरन्तर बने रहना चाहते हैं, जो परब्रह्म में तदाकार होने के सुख के समान ही है।

तात्पर्य : यह कथन सिद्धलोक के वासियों का है, जहाँ आठ प्रकार की भौतिक सिद्धियाँ पाई जाती हैं। वहाँ के वासी आठ प्रकार की योग सिद्धियों के स्वामी होते हैं, किन्तु उनके कथन से ऐसा लगता है कि वे शुद्ध भक्त हैं। वे भगवान् की लीलाओं के श्रवण की अमृत-सरिता में निरन्तर अवगाहन करते हैं। भगवान् की लीलाओं का श्रवण कृष्ण-कथा कहलाता है। इसी प्रकार प्रह्लाद महाराज का कथन है कि जो लोग भगवान् की लीलाओं की कथा-वर्णन के अमृत-सागर में डूबे रहते हैं, वे मुक्त हैं और उन्हें भौतिक जीवन से कोई भय नहीं रहता। सिद्धों का कहना है कि सामान्य पुरुष का मन चिन्ताओं से पूर्ण रहता है। यहाँ पर एक ऐसे हाथी का उदाहरण दिया गया है, जो जंगल की आग से त्रस्त होकर राहत पाने के लिए नदी में घुस जाता है। यदि इस संसार रूपी दावाग्नि से पीड़ित लोग भगवान् की लीलाओं की कथा के वर्णन रूपी अमृत-सरोवर में केवल प्रविष्ट हो जाँए तो वे इस संसार के सारे कष्ट भूल जायें। सिद्धों को सकाम कर्मों की—यथा यज्ञ करके अच्छे फल भोगने की—तनिक भी परवाह नहीं रहती। वे तो मात्र भगवान् की लीलाओं की दिव्य चर्चा में मग्न रहते हैं, इसीसे वे परम प्रसन्न रहते हैं, उन्हें शुभ या अशुभ कर्मों के करने की परवाह नहीं रहती। जो लोग सदैव कृष्णभावनाभावित रहते हैं, उन्हें किसी प्रकार के कर्म या यज्ञ करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। कृष्णभावनामृत स्वयं में पूर्ण है, क्योंकि इसमें वेदवर्णित सभी विधियाँ सम्मिलित हैं।

यजमान्युवाच

स्वागतं ते प्रसीदेश तुभ्यं नमः
श्रीनिवास श्रिया कान्तया त्राहि नः ।
त्वामृतेऽधीश नाङ्गैर्मखः शोभते
शीर्षहीनः कबन्धो यथा पुरुषः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यजमानी—दक्ष की पत्नी ने; उवाच—प्रार्थना की; सु-आगतम्—शुभ आगमन; ते—आपका; प्रसीद—प्रसन्न हों; ईश—मेरे भगवान्; तुभ्यम्—तुमको; नमः—नमस्कार है; श्रीनिवास—हे सम्पत्ति की देवी के धाम; श्रिया—लक्ष्मी समेत; कान्तया—अपनी पत्नी; त्राहि—रक्षा करें; नः—हमारी; त्वाम्—तुम्हारे; ऋते—बिना; अधीश—हे परम नियंता; न—नहीं; अङ्गैः—शारिरिक अंगों से; मखः—यज्ञ स्थल; शोभते—शोभा पाता है; शीर्ष-हीनः—शिर रहित; क-बन्धः—धड़; यथा—जिस प्रकार; पुरुषः—पुरुष।

दक्ष की पत्नी ने इस प्रकार प्रार्थना की—हे भगवान्, यह हमारा सौभाग्य है कि आप यज्ञस्थल में पधारे हैं। मैं आपको सादर नमस्कार करती हूँ और आपसे प्रार्थना करती हूँ कि इस अवसर पर आप प्रसन्न हों। यह यज्ञस्थल आपके बिना शोभा नहीं पा रहा था, जिस प्रकार कि सिर के बिना धड़ शोभा नहीं पाता।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु का अन्य नाम यज्ञेश्वर है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि सभी कर्म विष्णु की प्रसन्नता के लिए *विष्णु-यज्ञ* के रूप में सम्पन्न किए जाँए। जब तक हम उन्हें प्रसन्न नहीं करते, हम जो कुछ भी करते हैं, वह हमारे भव-बन्धन का कारण हो जाता है। यहाँ पर इसकी पुष्टि दक्ष की पत्नी ने की है, "आपकी उपस्थिति के बिना, इस यज्ञ-महोत्सव का सारा ठाठ-बाट व्यर्थ है, जिस प्रकार सिरविहीन शरीर को कितना ही क्यों न सजाएँ, वह बेकार लगता है।" यह उपमा सामाजिक शरीर पर भी पूर्ण रूप से लागू होती है। आधुनिक सभ्यता को उन्नत होने का गर्व है, किन्तु यह सिरविहीन धड़ के सदृश बेकार है। कृष्णभावनाभावित हुए बिना, विष्णु को जाने बिना, सभ्यता कितनी ही उत्कृष्ट प्रगति क्यों न कर ले, किसी काम की नहीं। *हरि-भक्ति-सुधोदय* में (३.११) एक कथन है—

भगवद्भक्तिहीनस्य जातिः शास्त्रं जपस्तपः ।
अप्राणस्यैव देहस्य मण्डनं लोकरञ्जनम् ॥

इसका सारांश यह है कि जब विशेष रूप से छोटी जाति में कोई मित्र या परिजन मरता है, तो

उसके मृत शरीर को सजाया जाता है। इस प्रकार वस्त्र तथा अलंकारों से सजा कर शवयात्रा निकाली जाती है। इस प्रकार से शव के अलंकरण का वास्तव में कोई अर्थ नहीं होता, क्योंकि आत्मा तो पहले ही निकल चुकी होती है। इसी प्रकार से कृष्णभावनामृत के बिना कोई राज्यतंत्र, कोई सामाजिक प्रतिष्ठा, या भौतिक सभ्यता की प्रगति अलंकृत शव के समान है। दक्ष की पत्नी का नाम प्रसूति था और वह स्वायंभुव मनु की पुत्री थी। उसकी बहन देवहूति कर्दम मुनि को ब्याही थी और वे भगवान् कपिल देव की माता थी। इस प्रकार प्रसूति भगवान् विष्णु की मौसी थी। वह भगवान् विष्णु से वत्सलतावश कृपाकामना कर रही थी; चूँकि वे उसकी मौसी थीं इसलिए उनसे विशेष कृपा चाह रही थीं। इस श्लोक की यह भी विशेषता है कि इसमें विष्णु की प्रशंसा लक्ष्मी के साथ-साथ की गई है। जहाँ भी विष्णु की पूजा की जाती है, वहाँ स्वाभाविक रूप से लक्ष्मी जी की कृपा रहती है। भगवान् विष्णु को अमृत अथवा दिव्य कहा गया है। ब्रह्मा तथा शिव समेत सभी देवता सृष्टि के बाद उत्पन्न हुए, किन्तु विष्णु तो सृष्टि के पूर्व भी विद्यमान थे। अत: उन्हें अमृत कहा गया है। वैष्णवजन विष्णु को उनकी अन्तरंगा शक्ति सहित पूजते हैं। दक्ष-पत्नी प्रसूति ने भगवान् से प्रार्थना की कि वे पुरोहितों को वैष्णव बना दें जिससे वे सकाम फल के लिए मात्र यज्ञकर्ता न बने रहें।

लोकपाला ऊचु:

दृष्टः किं नो दृग्भिरसद्ग्रहैस्त्वं
प्रत्यग्द्रष्टा दृश्यते येन विश्वम् ।
माया ह्येषा भवदीया हि भूमन्
यस्त्वं षष्ठः पञ्चभिर्भासि भूतैः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

लोक-पालाः—विभिन्न लोकों के प्रशासकों ने; ऊचुः—कहा; दृष्टः—देखा हुआ; किम्—क्या; नः—हमारे द्वारा; दृग्भिः—इन्द्रियों सें; असत्-ग्रहैः—दृश्य जगत को प्रकट करने वाले; त्वम्—तुम; प्रत्यक्-द्रष्टा—आन्तरिक साक्षी; दृश्यते—देखा जाता है; येन—जिससे; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; माया—भौतिक जगत; हि—क्योंकि; एषा—यह; भवदीया—आपकी; हि—निश्चय ही; भूमन्—हे ब्रह्माण्ड के स्वामी; यः—क्योंकि; त्वम्—तुम; षष्ठः—छठवाँ; पञ्चभिः—पाँच; भासि—प्रकट होते हो; भूतैः—तत्त्वों से।

विभिन्न लोकों के लोकपालों ने इस प्रकार कहा : हे भगवन्, हम अपनी प्रत्यक्ष प्रतीति पर ही विश्वास करते हैं, किन्तु इस परिस्थिति में हम नहीं जानते कि हमने आपका दर्शन वास्तव में अपनी भौतिक इन्द्रियों से किया है अथवा नहीं। इन इन्द्रियों से तो हम दृश्य जगत को ही देख

पाते हैं, किन्तु आप तो पाँच तत्त्वों के परे हैं। आप तो छठवें तत्त्व हैं। अतः हम आपको भौतिक जगत की सृष्टि के रूप में देख रहे हैं।

तात्पर्य : विभिन्न लोकों के लोकपाल निश्चित रूप से ऐश्वर्यवान और अत्यन्त अभिमानी हैं। ऐसे लोग भगवान् के दिव्य-शाश्वत रूप को समझ पाने में असमर्थ होते हैं। *ब्रह्म संहिता* में कहा गया है कि जिन्होंने अपनी आँखों में ईश्वर-प्रेम रूपी अंजन लगा रखा है, वे लोग ही पद-पद पर भगवान् का दर्शन कर सकते हैं। यही नहीं, कुन्ती ने अपनी प्रार्थना में (*भागवत* १.८.२६) कहा है कि जो *अकिञ्चन-गोचरम्* हैं अर्थात् धन से फूले हुए नहीं रहते, वे ही भगवान् को देख सकते हैं; अन्य लोग मोहग्रस्त होने के कारण परम सत्य के विषय में सोच तक नहीं पाते।

योगेश्वरा ऊचुः
प्रेयान्न तेऽन्योऽस्त्यमुतस्त्वयि प्रभो
विश्वात्मनीक्षेन्न पृथग्य आत्मनः ।
अथापि भक्त्येश तयोपधावता-
मनन्यवृत्त्यानुगृहाण वत्सल ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

योग-ईश्वराः—परम योगीजनों ने; ऊचुः—कहा; प्रेयान्—अत्यन्त प्रिय; न—नहीं; ते—तुम्हारा; अन्यः—दूसरा; अस्ति—है; अमुतः—उससे; त्वयि—तुम में; प्रभो—हे ईश्वर; विश्व-आत्मनि—समस्त जीवात्माओं के परमात्मा में; ईक्षेत्—देखते हैं; न—नहीं; पृथक्—भिन्न; यः—जो; आत्मनः—जीवात्माएँ; अथ अपि—और अधिक; भक्त्या—भक्ति से; ईश—हे भगवान्; तया—उससे; उपधावताम्—पूजा करने वालों का; अनन्य-वृत्त्या—न चूकने वाला; अनुगृहाण—कृपा करें; वत्सल—हे हितकारी भगवान्।

महान् योगियों ने कहा : हे भगवान्, जो लोग यह जानते हुए कि आप समस्त जीवात्माओं के परमात्मा हैं, आपको अपने से अभिन्न देखते हैं, वे निश्चय ही आपको परम प्रिय हैं। जो आपको स्वामी तथा अपने आपको दास मानकर आपकी भक्ति में अनुरक्त रहते हैं, आप उन पर परम कृपालु रहते हैं। आप कृपावश उन पर सदैव हितकारी रहते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक से इंगित है कि एकेश्वरवादी तथा परम योगीजन एक ही भगवान् जानते हैं। यह एकत्व कोई भ्रान्ति नहीं है कि जीवात्मा सभी प्रकार से भगवान् के समान हैं। यह एकेश्वरवाद विशुद्ध ज्ञान पर आधारित है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१७) में हुई है—*प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।* भगवान् कहते हैं कि जो दिव्य ज्ञान में आगे बढ़े हुए हैं और कृष्णचेतना विज्ञान

जानते हैं, वे ईश्वर को अत्यन्त प्रिय हैं और उन्हें भी ईश्वर अत्यन्त प्रिय हैं। जिन्हें ईश्वर विज्ञान का वास्तव में सम्यक् ज्ञान है, वे जानते हैं कि जीवात्माएँ परमेश्वर की परा शक्ति हैं। यह *भगवद्गीता* के सातवें अध्याय में कहा गया है—भौतिक शक्ति निम्न शक्ति है और जीवात्मा पराशक्ति है। शक्ति तथा शक्तिमान अभिन्न हैं, अत: शक्ति में वही गुण हैं, जो शक्तिमान में हैं। जो लोग भगवान् के पूर्ण ज्ञान से युक्त हैं, वे उनकी विभिन्न शक्तियों का विश्लेषण करके अपनी स्वाभाविक स्थिति को समझ लेते हैं और वे भगवान् को परम प्रिय हैं। किन्तु ऐसे व्यक्ति भी हैं, जो परमेश्वर के ज्ञान से भली-भाँति परिचित नहीं हैं, लेकिन उनके विषय में प्रेम तथा श्रद्धा से यह सोचते रहते हैं कि ईश्वर महान् है और वे उसके अंश रूप, नित्य दास हैं; वे उनके अधिक कृपापात्र होते हैं। इस श्लोक की विशिष्टता यह है कि इसमें भगवान् को *वत्सल* कहा गया है। *वत्सल* का अर्थ है, "सदैव अनुकूल होना।" भगवान् का नाम *भक्तवत्सल* है। भगवान् *भक्तवत्सल* के नाम से विख्यात हैं जिसका अर्थ यह हुआ कि वे भक्तों पर सदैव अनुकूल रहते हैं। उन्हें वैदिक साहित्य में कहीं भी *ज्ञानी-वत्सल* नहीं कहा गया।

जगदुद्भवस्थितिलयेषु दैवतो
बहुभिद्यमानगुणयात्ममायया ।
रचितात्मभेदमतये स्वसंस्थया
विनिवर्तितभ्रमगुणात्मने नमः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

जगत्—भौतिक जगत; उद्भव—सृष्टि; स्थिति—पालन; लयेषु—संहार में; दैवतः—भाग्य; बहु—अनेक; भिद्यमान—भिन्नता; गुणया—भौतिक गुणों के द्वारा; आत्म-मायया—अपनी भौतिक शक्ति से; रचित—उत्पन्न; आत्म—जीवात्माओं; भेद-मतये—भिन्न-भिन्न विचारों को उत्पन्न करने वाली भेदबुद्धि; स्व-संस्थया—अपनी अन्तरंगा शक्ति से; विनिवर्तित—रोका गया; भ्रम—बन्धन; गुण—भौतिक गुणों का; आत्मने—उनके साक्षात् रूप को; नमः—नमस्कार।

हम उन परम पुरुष को सादर नमस्कार करते हैं जिन्होंने नाना प्रकार की वस्तुएँ उत्पन्न कीं और उन्हें भौतिक जगत के त्रिगुणों के वशीभूत कर दिया जिससे उनकी उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार हो सके। वे स्वयं बहिरंगा शक्ति के अधीन नहीं हैं, वे साक्षात् रूप में भौतिक गुणों के विविध प्राकट्य से रहित हैं और मिथ्या मायामोह से दूर हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में दो स्थितियों का वर्णन है। एक तो भौतिक जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय है और दूसरी है भगवान् की अपनी अवस्थिति। भगवान् के अपने धाम, अर्थात् अपने राज्य में

भी गुण या विशेषता है। यहाँ पर कहा गया है कि उनका निजी स्थान गोलोक है। गोलोक में भी विशेषता है, लेकिन वह विशेषता उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय में बँटी नहीं है। बाह्य शक्ति में तीनों गुणों की पारस्परिक क्रिया से वस्तुओं की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय होती हैं, किन्तु वैकुण्ठ जगत अर्थात् ईश्वर के राज्य में ऐसा नहीं होता क्योंकि वहाँ तो सब कुछ शाश्वत तथा आनन्दमय है। इस भौतिक जगत में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्राकट्य को कुछ दार्शनिक ठीक से नहीं समझ पाते। उनका विचार है कि जब भगवान् प्रकट होते हैं, तो वे भी इस संसार के अन्य जीवात्माओं की तरह त्रिगुणों के वश में रहते हैं। यह उनका भ्रम है। यहाँ पर यह स्पष्ट कहा गया है (*स्व-संस्थया*) कि भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति से इन भौतिक गुणों से अतीत हैं। इसी प्रकार *भगवद्गीता* में भी भगवान् कहते हैं "मैं अपनी अन्तरंगा शक्ति से प्रकट होता हूँ।" अन्तरंगा तथा बहिरंगा ये दोनों शक्तियाँ परम पुरुष के अधीन हैं, अत: वे दोनों में से किसी के वश में नहीं होते, अपितु सब कुछ उन्हीं के अधीन है। अपने नाम, रूप, गुण, लीला तथा साज-सामग्री को प्रकट करने के लिए ही वे अपनी अन्तरंगा शक्ति का प्रयोग करते हैं। बाह्यशक्ति की विविधता के कारण अनेक प्रकार के देवताओं का प्राकट्य होता है जिनमें सबसे पहले ब्रह्मा तथा शिव हुए और उन गुणात्मक देवताओं के भौतिक गुणों के अनुसार लोग उनकी ओर आकृष्ट होते हैं। किन्तु जब कोई भौतिक गुणों से ऊपर उठ जाता है, तो वह मात्र भगवान् की पूजा में स्थिर हो जाता है। इस तथ्य की व्याख्या *भगवद्गीता* में की गई है—जो भगवान् की सेवा में अनुरक्त है, वह पहले ही त्रिगुणों की विविधता तथा बन्धन से अतीत होता है। सारांश यह है कि भौतिक गुणों के कर्म तथा बन्धन द्वारा बद्धजीवों में खींचातानी लगी रहती है, जिससे शक्तियों में भिन्नता आती है। किन्तु आध्यात्मिक जगत में परमेश्वर ही एकमात्र पूज्य हैं।

ब्रह्मोवाच
नमस्ते श्रितसत्त्वाय धर्मादीनां च सूतये ।
निर्गुणाय च यत्काष्ठां नाहं वेदापरेऽपि च ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म—साक्षात् वेद ने; उवाच—कहा; नम:—सादर नमस्कार; ते—तुमको; श्रित-सत्त्वाय—सतोगुण के आश्रय; धर्म-आदीनाम्—समस्त धर्म तथा तपस्या; च—तथा; सूतये—स्रोत; निर्गुणाय—भौतिक गुणों से परे; च—तथा; यत्—जिसका (परमेश्वर का); काष्ठाम्—स्थिति; न—नहीं; अहम्—मैं; वेद—जानता हूँ; अपरे—अन्य; अपि—निश्चय ही; च—तथा।

साक्षात् वेदों ने कहा : हे भगवान्, हम आपको सादर नमस्कार करते हैं, क्योंकि आप सतोगुण के आश्रय होने के कारण समस्त धर्म तथा तपस्या के स्रोत हैं; आप समस्त भौतिक गुणों से परे हैं और कोई भी न तो आपको और न आपकी वास्तविक स्थिति को जानने वाला है।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में तीन गुणों की त्रिवेणी है। भगवान् विष्णु ने सतोगुण के अधीक्षण का भार स्वीकार कर रखा है, जो धर्म, ज्ञान, तपस्या, त्याग, ऐश्वर्य आदि का स्रोत है। इसीलिए जब भौतिक जगत में जीवात्माएँ सतोगुण के अधीन होती हैं, तो वास्तविक शान्ति, समृद्धि, ज्ञान तथा धर्म की प्राप्ति होती है। किन्तु ज्योंही वे अन्य दो गुणों, रजो तथा तमो गुणों, के अधीन होती हैं कि उनकी बद्धजीवन की दशा असह्य हो उठती है। किन्तु भगवान् विष्णु अपनी आदि स्थिति में सदा निर्गुण हैं, अर्थात् इन तीन गुणों से परे हैं। निर्गुण का अर्थ है "गुण से रहित" किन्तु इससे यह नहीं सूचित होता कि भगवान् में गुण नहीं हैं। उनमें दिव्य गुण होते हैं जिनसे वे प्रकट होते और लीलाएँ करते हैं। दिव्यगुण का प्रकटीकरण न तो वेदविदों को ज्ञात है और न ही ब्रह्मा तथा शिव जैसे महान् देवताओं को। वस्तुत: ये दिव्यगुण केवल भक्तों के समक्ष प्रकट होते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है केवल भक्ति करने से भगवान् की दिव्य स्थिति को समझा जा सकता है। जो सतोगुणी हैं, वे आंशिक रूप से दिव्य-ज्ञान में प्रवेश कर सकते हैं, किन्तु *भगवद्गीता* में उपदेश दिया गया है कि मनुष्य को इससे भी आगे जाना होता है। वैदिक नियम प्रकृति के तीन गुणों पर आधारित हैं। इन तीनों गुणों को पार करके ही शुद्ध तथा सरल आध्यात्मिक जीवन पाया जा सकता है।

अग्निरुवाच

यत्तेजसाहं सुसमिद्धतेजा
हव्यं वहे स्वध्वर आज्यसिक्तम् ।
तं यज्ञियं पञ्चविधं च पञ्चभिः
स्विष्टं यजुर्भिः प्रणतोऽस्मि यज्ञम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

अग्निः—अग्निदेव ने; उवाच—कहा; यत्-तेजसा—जिसके तेज से; अहम्—मैं; सु-समिद्ध-तेजाः—प्रज्वलित अग्नि के समान तेजवान; हव्यम्—आहुतियाँ; वहे—स्वीकार करता हूँ; सु-अध्वरे—यज्ञ में; आज्य-सिक्तम्—घृतमिश्रित; तम्—वह;

यज्ञियम्—यज्ञ का रक्षक; पञ्च-विधम्—पाँच; च—तथा; पञ्चभिः—पाँच द्वारा; सु-इष्टम्—पूज्य; यजुर्भिः—वैदिक मंत्र; प्रणतः—सादर नत; अस्मि—मैं हूँ; यज्ञम्—यज्ञ (विष्णु) को।.

अग्निदेव ने कहा : हे भगवान्, मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ, क्योंकि आपकी ही कृपा से मैं प्रज्वलित अग्नि के समान तेजस्वी हूँ और मैं यज्ञ में प्रदत्त घृतमिश्रित आहुतियाँ स्वीकार करता हूँ। यजुर्वेद में वर्णित पाँच प्रकार की हवियाँ आपकी ही विभिन्न शक्तियाँ हैं और आपकी पूजा पाँच प्रकार के वैदिक मंत्रों से की जाती है। यज्ञ का अर्थ ही आप अर्थात् परम भगवान् है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् विष्णु के लिए यज्ञ करने चाहिए। विष्णु के विख्यात एक सहस्र दिव्य नाम हैं जिनमें से एक नाम है यज्ञ। यह स्पष्ट कहा गया है कि यज्ञ या विष्णु को प्रसन्न करने के लिए सब कुछ किया जाये। मनुष्य द्वारा किये गये अन्य सारे कार्य उसके बन्धन के कारण बनते हैं। सबों को वैदिक मंत्रों के अनुसार यज्ञ करने होते हैं। उपनिषदों में बताया गया है कि अग्नि, वेदी, शुभ पूर्णचन्द्र, चातुर्मास्य, बलिपशु तथा सोम—ये आवश्यक वस्तुएँ हैं, जिस तरह वेदों में वर्णित विशिष्ट मंत्र हैं, जो चार अक्षरों से निर्मित होते हैं। एक मंत्र इस प्रकार है—*आश्रावयेति चतुराक्षरं अस्तु श्रौषदिति चतुरक्षरं यजेति द्वाभ्यां ये यजामहः।* ये मंत्र श्रुति तथा *स्मृति* के अनुसार उच्चरित होकर मात्र भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने वाले हैं। जो लोग भौतिक रूप से बद्ध हैं और भौतिक सुख के प्रति आसक्त हैं उनके मोक्ष के लिए यज्ञ करना तथा वर्णाश्रम धर्म तथा आध्यात्मिक जीवन का पालन आवश्यक बताया गया है। *विष्णु-पुराण* में कहा गया है कि विष्णु के लिए यज्ञ करने से मनुष्य धीरे-धीरे मुक्त हो सकता है। अत: जीवन का सारा लक्ष्य भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना है। यही यज्ञ है। जो व्यक्ति कृष्णभावनाभावित है, वह अपना जीवन कृष्ण को, जो समस्त विष्णु रूपों के मूल हैं, प्रसन्न करने में लगा देता है और नित्य पूजा करके तथा प्रसाद चढ़ा कर सर्वश्रेष्ठ यज्ञकर्ता बन जाता है। *श्रीमद्भागवत* में स्पष्ट कहा गया है कि इस कलियुग में एकमात्र यज्ञ तो *यज्ञै संकीर्तनप्रायैः* है, अर्थात् सर्वश्रेष्ठ यज्ञ तो केवल हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम, राम, हरे हरे, मंत्र का कीर्तन है। यह यज्ञ भगवान् चैतन्य के चित्र अर्थात् स्वरूप के समक्ष किया जाता है, जिस तरह अन्य यज्ञ भगवान् विष्णु के अर्चा-विग्रह के समक्ष किये जाते हैं। ये स्तुतियां

श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में दी हुई हैं। साथ ही, इस यज्ञ से इसकी पुष्टि होती है कि चैतन्य महाप्रभु स्वयं विष्णु हैं। जिस प्रकार बहुत पहले भगवान् विष्णु दक्ष के यज्ञ में प्रकट हुए थे उसी प्रकार इस युग में हमारे *संकीर्तन यज्ञ* को स्वीकार करने के लिए भगवान् चैतन्य प्रकट हुए।

देवा ऊचुः
पुरा कल्पापाये स्वकृतमुदरीकृत्य विकृतं
त्वमेवाद्यस्तस्मिन्सलिल उरगेन्द्राधिशयने ।
पुमान्शेषे सिद्धैर्हृदि विमृशिताध्यात्मपदविः
स एवाद्याक्ष्णोर्यः पथि चरसि भृत्यानवसि नः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

देवाः—देवताओं ने; ऊचुः—कहा; पुरा—पहले, पूर्व; कल्प-अपाये—कल्पान्त में; स्व-कृतम्—आत्म-प्रसूत; उदरी-कृत्य—उदरस्थ करके; विकृतम्—प्रभाव; त्वम्—तुम; एव—निश्चय ही; आद्यः—आदि; तस्मिन्—उसमें; सलिले—जल में; उरग-इन्द्र—शेष पर; अधिशयने—शय्या पर; पुमान्—पुरुष; शेषे—शयन करते हुए; सिद्धैः—मुक्तात्माओं (यथा सनकादि) द्वारा.); हृदि—हृदय में; विमृशित—ध्यान किया गया; अध्यात्म-पदविः—दार्शनिक चिन्तन का मार्ग; सः—वह; एव—निश्चय ही; अद्य—अब; अक्ष्णोः—दोनों नेत्रों का; यः—जो; पथि—पथ पर; चरसि—चलते हो; भृत्यान्—दास; अवसि—रक्षा करो; नः—हमारी।

देवताओं ने कहा : हे भगवान्, पहले जब प्रलय हुआ था, तो आपने भौतिक जगत की विभिन्न शक्तियों को संरक्षित कर लिया था। उस समय ऊर्ध्वलोकों के सभी वासी, जिनमें सनक जैसे मुक्त जीव भी थे, दार्शनिक चिन्तन द्वारा आपका ध्यान कर रहे थे। अतः आप आदिपुरुष हैं। आप प्रलयकालीन जल में शेषशय्या पर शयन करते हैं। अब आज आप हमारे के समक्ष दिख रहे हैं। हम सभी आप के दास हैं। कृपया हमें शरण दीजिये।

तात्पर्य : इस श्लोक में जिस आंशिक प्रलय का उल्लेख है, वह इस ब्रह्माण्ड के ही अन्तर्गत निम्न लोकों का आंशिक प्रलय है जब ब्रह्मा निद्रा में रहते हैं। इस प्रलय के समय उच्चतर लोक, जो महर्लोक, जनलोक और तपोलोक इत्यादि हैं, जलमग्न नहीं होते। जैसा इस श्लोक में कहा गया है, भगवान् ही स्रष्टा हैं, क्योंकि सृष्टि की शक्तियाँ उनके शरीर से प्रकट होती हैं और प्रलय के बाद वे इन समस्त शक्तियों को उदरस्थ कर लेते हैं।

इस श्लोक में दूसरा महत्त्वपूर्ण बिन्दु है, जो देवताओं ने कहा, वह यह है "हम सभी आपके दास (*भृत्यान्*) हैं। हमें संरक्षण दीजिए।" देवता अपनी रक्षा के लिए विष्णु पर आश्रित रहते हैं, क्योंकि वे स्वतत्र नहीं हैं। अतः *भगवद्गीता* देवताओं की पूजा की भर्त्सना करती है, क्योंकि इसकी कोई

आवश्यकता नहीं है और साफ-साफ कहा गया है कि जिनकी मति मारी गई है वे ही देवताओं से अनुग्रह की कामना करते हैं। सामान्य रूप से यदि किसी की कोई भौतिक इच्छा है, तो उसकी पूर्ति के लिए वह अन्य देवताओं के पास न जाकर विष्णु से याचना कर सकता है। जो देवताओं को पूजते हैं, वे अधिक बुद्धिमान नहीं हैं। इसके साथ-साथ देवता कह रहे हैं, ''हम आपके नित्य दास हैं।'' अतः जो भगवान् के दास या भक्त हैं, वे सकाम कर्मों से, यथा यज्ञ या मानसिक चिन्तन से, अधिक वास्ता नहीं रखते। वे सहजभाव से निष्ठापूर्वक भगवान् की सेवा करते हैं और हर कार्य अत्यन्त प्रेम तथा श्रद्धा से करते हैं, अतः भगवान् ऐसे भक्तों की प्रत्यक्ष संरक्षण प्रदान करते हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, ''मेरी शरण में आओ और मैं समस्त पापकर्मों के बन्धनों से तुम्हारी रक्षा करूँगा।'' इस भौतिक जगत की सृष्टि ही ऐसे हुई है कि हर एक को जाने या अनजाने पापकर्म करने होते हैं और जब तक वह विष्णु को अपना जीवन समर्पित नहीं कर देता, उसे समस्त पापकर्मों के फल सहने पड़ते हैं। किन्तु जो भगवान् को आत्मसमर्पण करके अपना जीवन उनकी सेवा में लगा देता है उसकी वे प्रत्यक्ष रक्षा करते हैं। उसे न तो पापकर्मों के फल का डर रह जाता है, नही जाने अथवा अनजाने किसी ऐसे कर्म को, करने की इच्छा होती है, जो पापमय हो।

गन्धर्वा ऊचुः

अंशांशास्ते देव मरीच्यादय एते
ब्रह्मेन्द्राद्या देवगणा रुद्रपुरोगाः ।
क्रीडाभाण्डं विश्वमिदं यस्य विभूमन्
तस्मै नित्यं नाथ नमस्ते करवाम ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

गन्धर्वाः—गंधर्वों ने; ऊचुः—कहा; अंश-अंशाः—आपके शरीर के विभिन्न अंश; ते—तुम्हारे; देव—हे भगवान्; मरीचि-आदयः—मरीचि तथा अन्य ऋषिगण; एते—ये; ब्रह्म-इन्द्र-आद्याः—ब्रह्मा, इन्द्र इत्यादि; देव-गणाः—देवता; रुद्र-पुरोगाः—शिव ही जिनके प्रधान हैं; क्रीडा-भाण्डम्—खिलौना; विश्वम्—सारी सृष्टि; इदम्—यह; यस्य—जिसका; विभूमन्—भगवन्; तस्मै—उसको; नित्यम्—सदैव; नाथ—हे भगवान्; नमः—सादर नमस्कार; ते—तुमको; करवाम—हम करते हैं।.

गन्धर्वों ने कहा : हे भगवन्, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र तथा मरीचि समेत समस्त देवता तथा ऋषिगण आपके ही शरीर के विभिन्न अंश हैं। आप परम शक्तिमान हैं, यह सारी सृष्टि आपके लिए खिलवाड़ मात्र है। हम सदैव आपको पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् रूप में स्वीकार करते है और आपको सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं। वैसे तो ब्रह्मा, शिव, इन्द्र तथा चन्द्र से लेकर निम्न लोकों के शासकों, अध्यक्षों, मंत्रियों, सभापतियों तथा राजाओं तक अनेक देवता हैं और कोई भी उन्हें ईश्वर मान सकता है, किन्तु यह भौतिक जीवन का मिथ्या अहंकार है। वास्तव में विष्णु परमेश्वर हैं, किन्तु इनसे भी ऊपर श्रीकृष्ण हैं, क्योंकि विष्णु उनके अंश हैं। इस श्लोक में इसका निर्देश *अंशांशा:* शब्द से दिया गया है, जिसका अर्थ है अंश का भी अंश। *चैतन्यचरितामृत* में ऐसे अनेक श्लोक हैं, जो बताते हैं कि परमेश्वर के अंश किस प्रकार आगे अंशों में विस्तार करते जाते हैं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में वर्णित है विष्णु तथा जीवात्मा दोनों के ही अनेकानेक रूप हैं। विष्णु के रूप *स्वांश* कहलाते हैं और जीवात्मा के *विभिन्नांश*। ब्रह्मा तथा इन्द्र जैसे देवताओं को उनके पुण्यकर्मों तथा तपस्या के कारण उच्च स्थान प्रदान किया गया है, किन्तु विष्णु अथवा कृष्ण ही सबके स्वामी हैं। *चैतन्यचरितामृत* में कहा गया है—*एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य।* इसका अर्थ यह हुआ कि अकेले श्रीकृष्ण भगवान् हैं और अन्य सब, यहाँ तक कि विष्णुतत्त्व तथा जीवात्माएँ भी उनके दास हैं। बलदेव कृष्ण के तुरन्त बाद के विस्तार हैं। वे भी कृष्ण की सेवा में लगे रहते हैं और सामान्य जीवात्माएँ तो सेवा करती ही हैं। स्वाभाविक रूप से सबों का जन्म कृष्ण की सेवा करने के लिए हुआ है। यहाँ पर गन्धर्वों की स्वीकारोक्ति है कि यद्यपि देवता अपने को सर्वोपरि मान सकते हैं, किन्तु वास्तव में वे ऐसे होते नहीं। वास्तविक श्रेष्ठता तो कृष्ण की है। *कृष्णस्तु भगवान् स्वयं*—यह वचन *श्रीमद्भागवत* का है। कृष्ण ही एकमात्र परम ईश्वर है। अत: अकेले कृष्ण की पूजा में सभी अंशों की पूजा सम्मिलित है, जिस प्रकार वृक्ष की जड़ सींचने से उसकी शाखाएँ, पत्तियाँ, फूल सभी सिंच जाते हैं।

विद्याधरा ऊचुः

त्वन्माययार्थमभिपद्य कलेवरेऽस्मिन्
कृत्वा ममाहमिति दुर्मतिरुत्पथैः स्वैः ।
क्षिप्तोऽप्यसद्विषयलालस आत्ममोहं
युष्मत्कथामृतनिषेवक उद्व्युदस्येत् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

विद्याधराः—विद्याधरों ने; ऊचुः—कहा; त्वत्-मायया—आपकी बहिरंगा शक्ति से; अर्थम्—मानव शरीर; अभिपद्य—प्राप्त करके; कलेवरे—शरीर में; अस्मिन्—इस; कृत्वा—ठीक से न पहचान करके; मम—मेरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; दुर्मतिः—अज्ञानी पुरुष; उत्पथैः—गलत मार्ग से; स्वैः—स्वजनों के द्वारा; क्षिप्तः—विपथ; अपि—भी; असत्—क्षणिक;

विषय-लालसः—भोग की वस्तुओं में सुख मानकर; आत्म-मोहम्—देह को आत्मा मानने का मोह; युष्मत्—आपकी; कथा—कथा, वार्ता; अमृत—अमृत; निषेवकः—आस्वादन करता हुआ; उत्—दूर से; व्युदस्येत्—उद्धार हो सकता है।

विद्याधरों ने कहा : हे प्रभु, यह मानव देह सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने के निमित्त है, किन्तु आपकी बहिरंगा शक्ति के वशीभूत होकर जीवात्मा अपने आपको भ्रमवश देह तथा भौतिक शक्ति मान बैठता है, अतः माया के वश में आकर वह सांसारिक भोग द्वारा सुखी बनना चाहता है। वह दिग्भ्रमित हो जाता है और क्षणिक माया-सुख के प्रति सदैव आकर्षित होता रहता है। किन्तु आपके दिव्य कार्यकलाप इतने प्रबल हैं कि यदि कोई उनके श्रवण तथा कीर्तन में अपने को लगाए तो मोह से उसका उद्धार हो सकता है।

तात्पर्य : यह मनुष्य जीवन *अर्थद* कहलाता है, क्योंकि आत्मा को परम सिद्धि प्राप्त करने में यह शरीर अत्यन्त सहायक बन सकता है। प्रह्लाद महाराज ने कहा कि यद्यपि यह शरीर क्षणिक है, तो भी यह हमें उच्चतम सिद्धि प्रदान कर सकता है। निम्न योनि से उच्च योनि के विकास क्रम में मनुष्य जीवन एक वरदान के समान है। किन्तु माया इतनी प्रबल है कि हम मनुष्य जीवन के इस महान् वरदान को प्राप्त करने के बावजूद क्षणिक भौतिक सुख के फेर में पड़कर अपने जीवन के उद्देश्य को भूल जाते हैं। हम ऐसी वस्तुओं के प्रति आकृष्ट होते हैं, जो नश्वर हैं। ऐसे आकर्षण का प्रारम्भिक कारण यह नश्वर देह है। जीवन की ऐसी भयानक स्थिति में मुक्ति का एक ही मार्ग है कि परम-ईश्वर के दिव्य कार्यकलापों का कीर्तन किया जाये और उनके पवित्र नाम—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का श्रवण किया जाय। *युष्मत्-कथामृत-निषेवक:* का अर्थ है, ''जो अपकी कथाओं, के अमृत का पान करने में लगे रहते हैं।'' कृष्ण के उपदेशों तथा कार्यकलापों से सम्बन्धित दो विशेष ग्रन्थ हैं। *भगवद्गीता* कृष्ण द्वारा दिया गया उपदेश है और *श्रीमद्भागवत* विशिष्ट रूप से कृष्ण एवं उनके भक्तों की कथाओं से सम्बधित है। ये दोनों ग्रन्थ श्रीकृष्ण के विशेष वचनामृत हैं। जो कोई इन दोनों वैदिक ग्रन्थों के प्रचार कार्य में लगा रहता है उसके लिए माया द्वारा लादे गये बद्ध जीवन से छुटकारा पाना सरल है। मोह की बात यह है कि बद्धजीव अपने आत्म-स्वरूप को जानना नहीं चाहता। वह बाह्य शरीर में अधिक रुचि रखता है, जो एक चकाचौंध के अतिरिक्त कुछ नहीं है और एक निश्चित समय आते ही समाप्त हो जाएगा। जब जीवात्मा

को एक शरीर से दूसरे में देहान्तर करना पड़ेगा तो सारा वातावरण बदल जाएगा। तब वह पुनः माया के वश में भिन्न वातावरण में सन्तुष्ट हो जाएगा। यह माया का जादू आवरणात्मिका शक्ति कहलाता है क्योंकि यह इतना प्रबल होता है कि जीवात्मा घृणित से घृणित परिस्थिति में सन्तुष्ट रहता है। यदि वह मल-मूत्र के बीच आँत में या उदर में एक कीड़े के रूप में भी उत्पन्न हो तो भी वह प्रसन्न रहता है। यही माया का आवरण है। किन्तु मनुष्य जीवन ज्ञान-प्राप्ति के लिए एक अवसर है और यदि कोई इस अवसर को हाथ से जाने देता है, तो वह परम अभागा है। माया से बचने का एकमात्र उपाय है अपने को *कृष्ण-कथा* में लगाये रखना। भगवान् चैतन्य ने ऐसी विधि बताई है कि जिससे हर प्राणी बिना परिवर्तन के अपनी वर्तमान स्थिति में बना रह सकता है, बस उसे समुचित प्रामाणिक स्रोतों से कृष्ण के सम्बन्ध में श्रवण करना होता है। भगवान् चैतन्य ने हर एक को "कृष्ण" शब्द का प्रसार करने का उपदेश दिया। उनका उपदेश है, "आप सभी गुरु बन जाँए। आपका एकमात्र कार्य होगा कि आप जिससे भी मिलें उससे कृष्ण के विषय में या उनके उपदेशों के बारे में बातें करें।" अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ इसी उद्देश्य से कार्यशील है। हम किसी से यह नहीं कहते कि आने के पूर्व वह अपनी स्थिति बदल ले अपितु हम हर एक को अपने पास बुलाते हैं और हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे मंत्र का कीर्तन करने के लिए कहते हैं, क्योंकि हम जानते हैं कि यदि कोई केवल कृष्ण का कीर्तन करता है और कृष्ण की कथा को सुनता है, तो उसका जीवन बदल जाएगा, उसे नया आलोक प्राप्त होगा और उसका जीवन सफल हो जाएगा।

ब्राह्मणा ऊचुः

त्वं क्रतुस्त्वं हविस्त्वं हुताशः स्वयं
त्वं हि मन्त्रः समिद्दर्भपात्राणि च ।
त्वं सदस्यर्त्विजो दम्पती देवता
अग्निहोत्रं स्वधा सोम आज्यं पशुः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणाः—ब्राह्मणों ने; ऊचुः—कहा; त्वम्—तुम; क्रतुः—यज्ञ; त्वम्—तुम; हविः—घी की आहुति; त्वम्—तुम; हुत-आशः—अग्नि; स्वयम्—साक्षात्; त्वम्—तुम; हि—क्योंकि; मन्त्रः—वैदिक मंत्र; समित्-दर्भ-पात्राणि—ईंधन, कुश तथा यज्ञ के पात्र; च—तथा; त्वम्—तुम; सदस्य—सभा के सदस्य; ऋत्विजः—पुरोहित; दम्पती—यजमान तथा उसकी पत्नी; देवता—देवता; अग्नि-होत्रम्—पवित्र अग्नि-उत्सव; स्वधा—पितरों की हवि; सोमः—सोम पादप; आज्यम्—घृत; पशुः—यज्ञ का पशु।

ब्राह्मणों ने कहा : हे भगवान्, आप साक्षात् यज्ञ हैं। आप ही घृत की आहुति हैं; आप अग्नि हैं; आप वैदिक मंत्रों के उच्चारण हैं, जिनसे यज्ञ कराया जाता है; आप ईंधन हैं; आप ज्वाला हैं; आप कुश हैं और आप ही यज्ञ के पात्र हैं। आप यज्ञकर्ता पुरोहित हैं, इन्द्र आदि देवतागण आप ही हैं और आप यज्ञ-पशु हैं। जो कुछ भी यज्ञ में अर्पित किया जाता है, वह आप या आपकी शक्ति है।

तात्पर्य : इस कथन में भगवान् विष्णु की सर्वव्यापकता का आंशिक वर्णन हुआ है। *विष्णु पुराण* में कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि एक स्थान में रहकर अपनी उष्मा तथा प्रकाश को सर्वत्र फैलाती है, उसी प्रकार जो भी भौतिक या आध्यात्मिक लोकों में दिखाई पड़ता है, वह भगवान् की विभिन्न शक्तियों का प्राकट्य है। यहाँ पर सभी ब्राह्मण कह रहे हैं कि भगवान् विष्णु अग्नि, हवि, घृत, यज्ञ पात्र, यज्ञस्थल तथा *कुश* सभी कुछ हैं। यहाँ पर इसकी पुष्टि हुई है कि इस युग में *संकीर्तन* यज्ञ अन्य कालों में किये गये अन्य समस्त यज्ञों के समान ही उत्तम है। यदि कोई हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे, मंत्र का जाप करते हुए *संकीर्तन यज्ञ* करता है, तो वेदों में वर्णित यज्ञ-उत्सव के लिए तमाम सामग्री का विशाल आयोजन वृथा है। हरे कृष्ण *संकीर्तन* में *हरे* का अर्थ है कृष्ण की शक्ति और *कृष्ण* का अर्थ है *विष्णुतत्त्व।* दोनों मिलकर सब कुछ बन जाते हैं। इस युग में सारे मनुष्य कलियुग के प्रभाव से पीड़ित हैं और वे यज्ञ करने के लिए वेदों में उल्लिखत समस्त सामग्री का प्रबन्ध नहीं कर सकते। किन्तु यदि कोई केवल हरे कृष्ण का जप करता है, तो यह समझा जाता है कि वह सभी प्रकार के यज्ञ कर रहा है, क्योंकि हमारी दृष्टि में हरे (कृष्ण की शक्ति) तथा कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कृष्ण तथा उनकी शक्ति के बीच कोई अन्तर नहीं। इस प्रकार क्योंकि हर एक वस्तु में उनकी शक्ति का प्रदर्शन है, अत: यह समझना चाहिए कि हर वस्तु कृष्ण है। मनुष्य को कृष्णभावनाभावित होकर प्रत्येक वस्तु स्वीकार करनी बनेगा, तभी वह मुक्त पुरुष होगा। उसे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु कृष्ण है, अत: कृष्ण का कोई व्यक्तिगत स्वरूप नहीं है। कृष्ण इतने पूर्ण हैं कि यदि उन्हें अपनी शक्ति द्वारा प्रत्येक वस्तु से पृथक् रखे जाने पर भी वे सबकुछ हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* के नवें अध्याय में की गई है। वे सृष्टि भर में प्रत्येक वस्तु के रूप

में विस्तीर्ण हैं, फिर भी वे प्रत्येक वस्तु नहीं हैं। भगवान् चैतन्य द्वारा संस्तुत दर्शन कहता है कि वे एक ही साथ एक और भिन्न-भिन्न हैं।

त्वं पुरा गां रसाया महासूकरो
दंष्ट्रया पद्मिनीं वारणेन्द्रो यथा ।
स्तूयमानो नदल्लीलया योगिभि-
र्व्युज्जहर्थ त्रयीगात्र यज्ञक्रतुः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; पुरा—भूतकाल में; गाम्—पृथ्वी; रसायाः—जल के भीतर से; महा-सूकरः—महान् शूकर अवतार; दंष्ट्रया—अपनी दाढ़ से; पद्मिनीम्—कमलिनी; वारण-इन्द्रः—हाथी; यथा—जिस प्रकार; स्तूयमानः—स्तुति किया गया; नदन्—गूँजता हुआ; लीलया—सरलता से; योगिभिः—सनक इत्यादि परम साधुओं द्वारा.; व्युज्जहर्थ—ऊपर उठाया; त्रयी-गात्र—हे साक्षात् वैदिक ज्ञान; यज्ञ-क्रतुः—यज्ञ के रूप में।

हे भगवान्, हे साक्षात् वैदिक ज्ञान, अत्यन्त पुरातन काल पहले, पिछले युग में जब आप महान् सूकर अवतार के रूप में प्रकट हुए थे तो आपने पृथ्वी को जल के भीतर से इस प्रकार ऊपर उठा लिया था जिस प्रकार कोई हाथी सरोवर में से कमलिनी को उठा लाता है। जब आपने उस विराट सूकर रूप में दिव्य गर्जन किया, तो उस ध्वनि को यज्ञ मंत्र के रूप में स्वीकार कर लिया गया और सनक जैसे महान् ऋषियों ने उसका ध्यान करते हुए आपकी स्तुति की।

तात्पर्य : इस श्लोक में एक महत्त्वपूर्ण शब्द *त्रयीगात्र* आया है, जिसका अर्थ है कि भगवान् का दिव्य रूप वेद हैं। जो कोई भगवान् के अर्चाविग्रह या रूप की पूजा मन्दिर में करता है, तो यह समझा जाता है कि वह चौबीसों घंटे वेदों का पाठ करता है। यदि कोई मन्दिर में भगवान् अर्थात् राधा तथा कृष्ण की मूर्तियों को अलंकृत करता है, तो वह अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ वैदिक आदेशों का अध्ययन करता होता है। यहाँ तक कि नवदीक्षित भक्त भी, जो अर्चा-विग्रह की पूजा में अपने को लगाता है, वैदिक ज्ञान के सारभाग के सम्पर्क में रहता समझा जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में पुष्टि हुई है—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—वेदों का तात्पर्य कृष्ण को समझना है। जो कृष्ण की पूजा तथा सेवा करता है, वह वेदों के सत्य को जानता है।

स प्रसीद त्वमस्माकमाकाङ्क्षतां

दर्शनं ते परिभ्रष्टसत्कर्मणाम् ।
कीर्त्यमाने नृभिर्नाम्नि यज्ञेश ते
यज्ञविघ्नाः क्षयं यान्ति तस्मै नमः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

सः—वही व्यक्ति; प्रसीद—प्रसन्न हों; त्वम्—आप; अस्माकम्—हम पर; आकाङ्क्षताम्—प्रतीक्षा करते हुए; दर्शनम्—दर्शन; ते—तुम्हारा; परिभ्रष्ट—पतित; सत्-कर्मणाम्—जिससे यज्ञ कार्य; कीर्त्यमाने—कीर्तन किया जाकर; नृभिः—पुरुषों द्वारा; नाम्नि—आपका पवित्र नाम; यज्ञ-ईश—हे यज्ञों के स्वामी; ते—तुम्हारा; यज्ञ-विघ्नाः—बाधाएँ; क्षयम्—विनाश; यान्ति—प्राप्त करते हैं; तस्मै—तुमको; नमः—नमस्कार है।

हे भगवान्, हम आपके दर्शन के लिए प्रतीक्षारत थे क्योंकि हम वैदिक अनुष्ठानों के अनुसार यज्ञ करने में असमर्थ रहे हैं। अतः हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप हम पर प्रसन्न हों। आपके पवित्र नाम-कीर्तन मात्र से समस्त बाधाएँ दूर हो जाती हैं। हम आपके समक्ष आपको सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : ब्राह्मण पुरोहित अत्यन्त आशान्वित हुए कि भगवान् विष्णु के आ जाने से अब उनका यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो सकेगा। इस श्लोक में ब्राह्मणों का यह कथन सारगर्भित हैं, "आपके पवित्र नाम का जप करके ही हम बाधाओं को पार कर सकते हैं, किन्तु आप इस समय साक्षात् उपस्थित हैं।" दक्ष का यज्ञ शिव के अनुचरों तथा शिष्यों द्वारा बाधित कर दिया गया था। एक तरह से ब्राह्मणों ने शिव के अनुचरों की आलोचना की, किन्तु चूँकि ब्राह्मण भगवान् विष्णु द्वारा सदा रक्षित हैं, अतः शिव के अनुचर उनके यज्ञ में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं कर सकते थे। कहावत है, "जाको राखै साइयाँ मारि सकै नहिं कोय" और जब कृष्ण किसी को मारना चाहते हैं, तो उसको कोई बचा भी नहीं सकता। इसका ज्वलन्त प्रमाण रावण है। रावण शिव का महान् भक्त था, किन्तु जब भगवान् रामचन्द्र ने उसे मारना चाहा तो शिव उसकी रक्षा नहीं कर पाये। यदि कोई देवता, चाहे वह शिव या ब्रह्मा ही क्यों न हों, किसी भक्त को हानि पहुँचाना चाहता है, तो कृष्ण उसकी रक्षा करते हैं। किन्तु यदि कृष्ण किसी को मारना चाहते हैं, जैसे कि रावण या हिरण्यकशिपु को, तो कोई भी देवता उसकी रक्षा नहीं कर पाता।

मैत्रेय उवाच
इति दक्षः कविर्यज्ञं भद्र रुद्राभिमर्शितम् ।
कीर्त्यमाने हृषीकेशे सन्निन्ये यज्ञभावने ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—मैत्रेय ने; उवाच—कहा; इति—इस प्रकार; दक्षः—दक्ष; कविः—चेतना के परिशुद्ध हो जाने पर; यज्ञम्—यज्ञ; भद्र—हे विदुर; रुद्र-अभिमर्शितम्—वीरभद्र द्वारा विध्वंसित; कीर्त्य-माने—महिमा का वर्णन किये जाने पर; हृषीकेशे—भगवान् विष्णु; सन्निन्ये—पुनः प्रारम्भ करने की व्यवस्था की; यज्ञ-भावने—यज्ञ का रक्षक।

श्रीमैत्रेय ने कहा : वहाँ पर उपस्थित सबों के द्वारा विष्णु की स्तुति किये जाने पर दक्ष ने अन्तःकरण शुद्ध हो जाने से पुनः यज्ञ प्रारम्भ किये जाने की व्यवस्था की, जिसे शिव के अनुचरों ने ध्वंस कर दिया था।

भगवान्स्वेन भागेन सर्वात्मा सर्वभागभुक् ।
दक्षं बभाष आभाष्य प्रीयमाण इवानघ ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् विष्णु; स्वेन—अपने से; भागेन—अंश (भाग) से; सर्व-आत्मा—समस्त जीवात्माओं का परमात्मा; सर्व-भाग-भुक्—समस्त यज्ञों के फल के भोक्ता; दक्षम्—दक्ष; बभाषे—कहा; आभाष्य—सम्बोधित करके; प्रीयमाणः—प्रसन्न; इव—सदृश; अनघ—हे पापरहित विदुर।

मैत्रेय ने आगे कहा : हे पापमुक्त विदुर, भगवान् विष्णु ही वास्तव में समस्त यज्ञों के फल के भोक्ता हैं। फिर भी समस्त जीवात्माओं के परमात्मा होने से वे अपना यज्ञ-भाग प्राप्त हो जाने से प्रसन्न हो गये, अतः उन्होंने प्रमुदित भाव से दक्ष को सम्बोधित किया।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा गया है—*भोक्तारं यज्ञ तपसाम्*—भगवान् विष्णु अथवा कृष्ण यज्ञ तथा तप के समस्त फलों के परमभोक्ता हैं। इनमें से कोई भी अपने को चाहे जिसमें प्रवृत्त करे, अन्तिम लक्ष्य तो विष्णु ही होता है। यदि कोई यह नहीं जानता है, तो वह पथच्युत है। भगवान् होने के कारण विष्णु को किसी से कुछ नहीं चाहिए। वे आत्म-तुष्ट, आत्म-निर्भर हैं, किन्तु वे यज्ञ की भेंट इसलिए स्वीकार करते हैं, क्योंकि वे समस्त जीवों के प्रति मैत्री-भाव रखने वाले हैं। जब उन्हें उनका यज्ञ-भाग प्राप्त हो गया तो वे परम प्रसन्न दिखे। *भगवद्गीता* (९.२६) में कहा गया है—*पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति*—यदि कोई भक्त भगवान को केवल पत्र, पुष्प या जल अर्पित करता है और यदि यह प्रेम और श्रद्धा के साथ अर्पित किया जाता है, तो भगवान् उसे स्वीकार करते हैं और प्रसन्न हो जाते हैं। यद्यपि वे आत्म-निर्भर हैं और उन्हें किसी से कुछ नहीं चाहिए, किन्तु वे ऐसी भेंटें स्वीकार करते हैं, क्योंकि परमात्मा होने के कारण समस्त जीवात्माओं के प्रति उनका मैत्री-भाव रहता है। दूसरी बात यह है कि वे किसी दूसरे के भाग को नहीं हड़पते। यज्ञ में शिव, ब्रह्मा तथा अन्य

देवताओं का भाग होता है और भगवान् विष्णु का भी एक भाग होता है। वे अपने भाग से ही संतुष्ट रहते हैं और किसी अन्य का भाग नहीं हड़पते। अप्रत्यक्ष रूप में, उन्होंने दक्ष को यह बता दिया कि वे शिव का भाग उन्हें न दिये जाने से सन्तुष्ट नहीं थे। मैत्रेय ने विदुर को पापहीन कहा है क्योंकि विदुर शुद्ध वैष्णव थे और उन्होंने किसी भी देवता के प्रति कोई अपराध नहीं किया था। यद्यपि वैष्णव विष्णु को ही परम मानते हैं, किन्तु वे अन्य देवताओं का अपमान नहीं करते। वे देवताओं का समुचित आदर करते हैं। वैष्णवजन शिव को सर्वश्रेष्ठ वैष्णव मानते हैं। वैष्णवों के द्वारा किसी भी देवता के अपमानित होने की सम्भावना नहीं रहती और देवता भी वैष्णवों से प्रसन्न रहते हैं क्योंकि वे भगवान् विष्णु के दोषहीन भक्त होते हैं।

श्रीभगवानुवाच

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम् ।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयन्दृगविशेषणः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान्—भगवान् विष्णु ने; उवाच—कहा; अहम्—मैं; ब्रह्मा—ब्रह्मा; च—तथा; शर्वः—शिव; च—तथा; जगतः—दृश्य जगत का; कारणम्—कारण; परम्—परम; आत्म-ईश्वरः—परमात्मा; उपद्रष्टा—साक्षी; स्वयम्-दृक्—आत्म-निर्भर; अविशेषणः—भेदरहित।

भगवान् विष्णु ने उत्तर दिया ब्रह्मा, शिव तथा मैं इस दृश्य जगत के परम कारण हैं। मैं परमात्मा, स्वःनिर्भर साक्षी हूँ। किन्तु निर्गुण-निराकार रूप में ब्रह्मा, शिव तथा मुझमें कोई अन्तर नहीं है।

तात्पर्य : ब्रह्मा की उत्पत्ति विष्णु के दिव्य शरीर से हुई और शिव का जन्म ब्रह्मा के शरीर से हुआ। अतः भगवान् विष्णु परम कारण हैं। वेदों में भी वर्णित है कि प्रारम्भ में केवल विष्णु या नारायण थे; ब्रह्मा या शिव नहीं थे। इसी प्रकार से शंकराचार्य ने भी पुष्टि की है—*नारायणः परः*—नारायण अर्थात् भगवान् विष्णु मूल रूप हैं और ब्रह्मा तथा शिव सृष्टि के बाद प्रकट हुए। भगवान् विष्णु *आत्मेश्वर* अर्थात् सबों में स्थित परमात्मा भी हैं। उन्हीं के निर्देश से अन्तः कारण से प्रत्येक वस्तु प्रेरित होती है। उदाहरणार्थ, *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है—*तेने ब्रह्म हृदा*—उन्होंने पहले अन्तः से ब्रह्मा को शिक्षा दी।

भगवद्गीता (१०.२) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*अहं आदिर्हि देवानाम्*—भगवान् विष्णु या कृष्ण ब्रह्मा तथा शिव समेत समस्त देवताओं के मूल हैं। एक अन्य स्थल पर श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (१०.८) में कहते हैं—*अहं सर्वस्य प्रभव:*—मुझसे हर वस्तु उत्पन्न है। इसमें सभी देवता भी सम्मिलित हैं। इसी प्रकार *वेदान्त-सूत्र* में—*जन्माद्यस्य यत:* और उपनिषदों का कथन है—*यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।* भगवान् विष्णु अपनी शक्ति से प्रत्येक वस्तु को उत्पन्न करने वाले, उसके पालन करने वाले और संहार करने वाले हैं। इस प्रकार इनकी शक्तियाँ एक दूसरे से क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा इस दृश्य संसार का सृजन करती हैं और सम्पूर्ण सृष्टि लय भी कर देती हैं। इस प्रकार भगवान् कारण हैं और करण भी हैं। हम जो भी प्रभाव देखते हैं वह उनकी शक्ति की प्रतिक्रिया है और चूँकि शक्ति उन्हीं से उद्भूत है, अत: वे कारण और करण (कार्य) दोनों ही हैं। एक ही समय में प्रत्येक से प्रत्येक वस्तु भिन्न है और समान भी है। कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु ब्रह्म है—*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—सर्वोच्च चिन्तन में ब्रह्म से परे कुछ नहीं, अत: ब्रह्मा तथा शिव भी उनसे अभिन्न हैं।

आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज ।
सृजन्रक्षन्हरन्विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

आत्म-मायाम्—अपनी शक्ति में; समाविश्य—प्रवेश करके; स:—स्वयं; अहम्—मैं; गुण-मयीम्—प्राकृतिक गुणों से युक्त; द्वि-ज—हे द्विजन्मा दक्ष; सृजन्—सृष्टि करते हुए; रक्षन्—पालन करते हुए; हरन्—संहार करते हुए; विश्वम्—दृश्य जगत; दध्रे—मैं उत्पन्न होता हूँ; संज्ञाम्—नाम; क्रिया-उचिताम्—क्रिया के अनुसार।

भगवान् ने कहा : हे दक्ष द्विज, मैं आदि भगवान् हूँ, किन्तु इस दृश्य जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार के लिए मैं अपनी भौतिक शक्ति के माध्यम से कार्य करता हूँ और कार्य की भिन्न कोटियों के अनुसार मेरे भिन्न-भिन्न नाम हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (७.५) में बतलाया गया है—*जीवभूतां महाबाहो*—यह सारा विश्व भगवान् से निकली हुई शक्ति है और वे परा तथा अपरा शक्तियों के रूप में कार्य करते हैं। परा शक्ति जीवात्मा है, जो परमेश्वर का भिन्न अंश है। अंश होने के नाते जीवात्माएँ परमेश्वर से भिन्न नहीं हैं; उनसे निकली हुई शक्ति उनसे भिन्न नहीं है। किन्तु इस भौतिक जगत में वास्तविक क्रियाकलाप में प्रकृति के विभिन्न गुणों वाली तथा विभिन्न रूपों की शक्तियाँ जीवात्मा को प्रभावित करती हैं। कुल चौरासी लाख

योनियाँ हैं। वही जीवात्मा प्रकृति के विभिन्न गुणों के अन्तर्गत कार्य करता है। इन जीवात्माओं के भिन्न-भिन्न शरीर होते हैं, किन्तु सृष्टि के आदि काल में भगवान् विष्णु अकेले थे। सृष्टि करने के उद्देश्य से ब्रह्मा प्रकट हुए और संहार करने के लिए शिव। जहाँ तक इस संसार में आध्यात्मिक प्रवेश करने की बात है, सभी जीव परमेश्वर के विभिन्न अंश हैं, किन्तु विभिन्न भौतिक गुणों के आवरण में उनके नाम भिन्न-भिन्न पड़ गये हैं। ब्रह्मा तथा शिव विष्णु के *गुण-अवतार* हैं और उनसे मिलकर विष्णु सतो गुण का भार सँभालते हैं, अत: विष्णु भी शिव तथा ब्रह्मा के समान *गुण-अवतार* हैं। वस्तुत: विभिन्न नाम विभिन्न आदेशों के लिए है, अन्यथा उनका मूल तो एक ही है।

तस्मिन्ब्रह्मण्यद्वितीये केवले परमात्मनि ।
ब्रह्मरुद्रौ च भूतानि भेदेनाज्ञोऽनुपश्यति ॥५२॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उसको; ब्रह्मणि—परब्रह्म; अद्वितीये—अद्वितीय; केवले—अकेला; परम-आत्मनि—परमात्मा; ब्रह्म-रुद्रौ—ब्रह्मा तथा शिव दोनों; च—तथा; भूतानि—जीवात्माएँ; भेदेन—विलगाव से; अज्ञः—नादान, अज्ञानी; अनुपश्यति—सोचता है।

भगवान् ने आगे कहा : जिसे समुचित ज्ञान प्राप्त नहीं है, वह ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवताओं को स्वतंत्र समझता है या वह यह भी सोचता है कि जीवात्माएँ भी स्वतंत्र हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा समेत सभी जीवात्माएँ स्वतंत्र रूप से पृथक् नहीं हैं, वरन् इन्हें परमेश्वर की तटस्था शक्ति के अन्तर्गत माना जाता है। प्रत्येक जीवात्मा का, जिसमें ब्रह्मा तथा शिव भी सम्मिलित हैं, परमात्मा होने के कारण परमेश्वर त्रिगुणात्मक कार्यों में सबों को निर्देशित करता है। कोई भी जीव उनकी स्वीकृति के बिना स्वतंत्र रूप से कोई कार्य नहीं कर सकता, और अप्रत्यक्षत: कोई भी जीव परमेश्वर से भिन्न नहीं है यहाँ तक कि ब्रह्मा और रुद्र भी नहीं, जो भौतिक प्रकृति के क्रमश: रजो तथा तमो गुणों के अवतार हैं।

यथा पुमान्न स्वाङ्गेषु शिरःपाण्यादिषु क्वचित् ।
पारक्यबुद्धिं कुरुते एवं भूतेषु मत्परः ॥५३॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; पुमान्—पुरुष; न—नहीं; स्व-अङ्गेषु—अपने ही शरीर में; शिरः-पाणि-आदिषु—सिर, हाथ तथा शरीर के अन्य भागों में; क्वचित्—कभी-कभी; पारक्य-बुद्धिम्—अन्तर; कुरुते—करते हैं; एवम्—इस प्रकार; भूतेषु—जीवात्माओं में; मत्-परः—मेरा भक्त।

सामान्य बुद्धि वाला व्यक्ति सिर तथा शरीर के अन्य भागों को पृथक्-पृथक् नहीं मानता। इसी प्रकार मेरे भक्त सर्वव्यापी भगवान् विष्णु तथा किसी वस्तु या किसी जीवात्मा में अन्तर नहीं मानते।

तात्पर्य : जब शरीर का कोई भाग रुग्ण होता है, तो पूरा शरीर उस भाग की रखवाली करता है। इसी प्रकार भक्त द्वारा समस्त बद्धजीवों पर दया करना भक्त की एकात्मकता प्रकट करता है। *भगवद्गीता* (५.१८) कहती है—*पण्डिता: समदर्शिन:* अर्थात् जो विद्वान् हैं, वे प्रत्येक बद्धजीव को समभाव से देखते हैं। भक्त प्रत्येक बद्धजीव पर दया करने वाले हैं, अत: उन्हें *अपारक्य-बुद्धि* कहते हैं। चूँकि भक्तगण विद्वान् होते हैं और जानते हैं कि जीवात्मा परमेश्वर का भिन्न अंश है, अत: वे प्रत्येक व्यक्ति को कृष्णभक्ति का पाठ पढ़ाते हैं जिससे वे सुखी रह सकें। यदि शरीर का कोई भाग रुग्ण होता है, तो शरीर का सारा ध्यान उसी ओर लगा रहता है। इसी प्रकार से भक्तगण किसी भी ऐसे व्यक्ति का, जो कृष्ण को भूल बैठा है और फलस्वरूप भौतिक चेतना में खोया है, ध्यान रखते हैं। भक्त की समान-दृष्टि इसी में है कि वह समस्त जीवात्माओं को भगवान् के धाम जाने में सहायता पहुँचाता है।

त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम् ।
सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन्स शान्तिमधिगच्छति ॥५४॥

शब्दार्थ

त्रयाणाम्—तीनों का; एक-भावानाम्—एक ही स्वभाव वाले; यः—जो; न पश्यति—नहीं देखता; वै—निश्चय ही; भिदाम्—पृथक्ता; सर्व-भूत-आत्मनाम्—समस्त जीवात्माओं के परमात्मा का; ब्रह्मन्—हे दक्ष; सः—वह; शान्तिम्—शान्ति; अधिगच्छति—प्राप्त करता है।.

भगवान् ने आगे कहा : जो मनुष्य ब्रह्मा, विष्णु, शिव या जीवात्माओं को परब्रह्म से पृथक् नहीं मानता और ब्रह्म को जानता है, वही वास्तव में शान्ति प्राप्त करता है, अन्य नहीं।

तात्पर्य : इस श्लोक में दो शब्द अत्यत महत्त्वपूर्ण हैं। *त्रयाणाम्* 'तीन' का सूचक है, जिसमें ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु सम्मिलित हैं। *भिदाम्* का अर्थ है ''पृथक्।'' वे तीन हैं, अत: पृथक्-पृथक् हैं, किन्तु साथ ही वे तीनों एक हैं। यह एक साथ एकत्व तथा पृथकत्व का दर्शन है, जो *अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्त्व* कहलाता है। *ब्रह्म संहिता* में उदाहरण दिया गया है कि दूध तथा मट्ठा एक ही साथ एक तथा भिन्न हैं—दोनों दूध हैं, किन्तु मट्ठा बदल गया है। वास्तविक शान्ति प्राप्त करने के लिए मनुष्य को

चाहिए कि प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक जीवात्मा को, जिसमें ब्रह्मा तथा शिव भी सम्मिलित हैं, भगवान् से अभिन्न माने। कोई स्वतंत्र नहीं है। हममें से हर एक भगवान् का विस्तार है। इसीसे विविधता में एकता सिद्ध है। यद्यपि अवतार अनेक होते हैं, किन्तु साथ ही वे विष्णु के ही हैं। प्रत्येक वस्तु विष्णु की शक्ति का विस्तार है।

मैत्रेय उवाच
एवं भगवतादिष्टः प्रजापतिपतिर्हरिम् ।
अर्चित्वा क्रतुना स्वेन देवानुभयतोऽयजत् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—मैत्रेय; उवाच—कहा; एवम्—इस प्रकार; भगवता—भगवान् द्वारा; आदिष्टः—आदेश दिया जाकर; प्रजापति-पतिः—समस्त प्रजापतियों के प्रधान; हरिम्—हरि की; अर्चित्वा—पूजा करके; क्रतुना—यज्ञोत्सव से; स्वेन—अपना; देवान्—देवताओं की; उभयतः—पृथक्-पृथक्; अयजत्—पूजा की।

मैत्रेय मुनि ने कहा : इस प्रकार भगवान् से भलीभाँति आदेश पाकर समस्त प्रजापतियों के प्रधान दक्ष ने भगवान् विष्णु की पूजा की। यज्ञोत्सव के लिए स्वीकृत विधि से उनकी पूजा करने के अनन्तर उसने ब्रह्मा तथा शिव की भी अलग-अलग पूजा की।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु को ही सब कुछ अर्पित करना चाहिए और उनके प्रसाद को समस्त देवताओं में वितरित चाहिए। आज भी पुरी में जगन्नाथ जी के मन्दिर में यह प्रथा चालू है। मुख्य जगन्नाथ मन्दिर के चारों ओर देवताओं के अनेक मन्दिर हैं और सर्वप्रथम जो प्रसाद जगन्नाथ जी में चढ़ता है, वही समस्त देवताओं में वितरित कर दिया जाता है। विष्णु के प्रसाद से 'भगालिन' की पूजा की जाती है और भुवनेश्वर के प्रसिद्ध शिव मन्दिर में विष्णु या जगन्नाथ जी का प्रसाद शिव के विग्रह को चढ़ाया जाता है। यही वैष्णव नियम है। वैष्णव एक सामान्य जीव का, यहाँ तक कि चींटी तक का, उपहास नहीं करता, सबको उसके पद के अनुसार सम्मान प्रदान करता है। किन्तु यह भेंट श्रीभगवान् कृष्ण अथवा विष्णु को केन्द्र मान कर चढ़ाई जाती है। जो भक्त अत्यधिक उच्चस्थ हो चुका है, वह प्रत्येक वस्तु के साथ श्रीकृष्ण का सम्बन्ध देखता है, वह किसी भी वस्तु को कृष्ण से स्वतंत्र नहीं देखता है। यही एकत्व की दृष्टि है।

रुद्रं च स्वेन भागेन ह्युपाधावत्समाहितः
कर्मणोदवसानेन सोमपानितरानपि ।
उदवस्य सहर्त्विग्भिः सस्नाववभृथं ततः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

रुद्रम्—शिव को; च—तथा; स्वेन—अपने; भागेन—भाग से; हि—चूँकि; उपाधावत्—पूजा की; समाहितः—ध्यानस्थ होकर; कर्मणा—कर्म से; उदवसानेन—समाप्त करने के कार्य द्वारा; सोम-पान्—देवता; इतरान्—अन्य; अपि—भी; उदवस्य—समाप्त करके; सह—साथ-साथ; ऋत्विग्भिः—पुरोहितों के साथ; सस्नौ—स्नान किया; अवभृथम्—अवभृथ-स्नान; ततः—तब।

दक्ष ने सभी प्रकार से सम्मान पूर्वक यज्ञ के शेष भाग के साथ शिव की पूजा की। याज्ञिक अनुष्ठानों की समाप्ति के पश्चात् उसने अन्य समस्त देवों तथा वहाँ पर एकत्र अन्य जनों को संतुष्ट किया। तब पुरोहितों के साथ-साथ इन सारे कर्तव्यों को सम्पन्न करके उसने स्नान किया और वह पूर्णतया संतुष्ट हुआ।

तात्पर्य : यज्ञ के शेष भाग द्वारा रुद्र की समुचित विधि से पूजा की गई। यज्ञ ही विष्णु है और जो भी प्रसाद विष्णु को अर्पित किया जाता है, वह सबों को, यहाँ तक कि शिव को भी दे दिया जाता है। इस सम्बन्ध में श्रीधर स्वामी की भी टीका है—*स्वेन भागेन*—यज्ञ के अवशेष को समस्त देवताओं तथा अन्यों को दिया जाता है।

तस्मा अप्यनुभावेन स्वेनैवावाप्तराधसे ।
धर्म एव मतिं दत्त्वा त्रिदशास्ते दिवं ययुः ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उस (दक्ष) को; अपि—ही; अनुभावेन—परमेश्वर की पूजा द्वारा; स्वेन—अपने से; एव—निश्चय ही; अवाप्त-राधसे—सिद्धि प्राप्त करके; धर्मे—धर्म में; एव—निश्चय ही; मतिम्—बुद्धि; दत्त्वा—देकर; त्रिदशाः—देवता; ते—वे; दिवम्—स्वर्गलोक को; ययुः—चले गये।

इस प्रकार यज्ञ के अनुष्ठान द्वारा विष्णु की पूजा करके दक्ष पूर्ण रूप से धार्मिक पथ पर स्थित हो गया। इसके साथ ही, यज्ञ में समागत समस्त देवताओं ने उसे आशीर्वाद दिया कि 'धर्मनिष्ठ हो' और तब वे चले गये।

तात्पर्य : यद्यपि दक्ष धर्म में काफी बढ़ा-चढ़ा था, किन्तु उसे देवताओं के आशीर्वाद की प्रतीक्षा थी। इस प्रकार दक्ष द्वारा चलाया गया यज्ञ शान्ति तथा सौहार्दपूर्वक पूर्ण हुआ।

एवं दाक्षायणी हित्वा सती पूर्वकलेवरम् ।
जज्ञे हिमवतः क्षेत्रे मेनायामिति शुश्रुम ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; दाक्षायणी—दक्ष की पुत्री; हित्वा—त्याग कर; सती—सती; पूर्व-कलेवरम्—अपना पहले का शरीर; जज्ञे—उत्पन्न हुई; हिमवतः—हिमालय के; क्षेत्रे—पत्नी (के गर्भ) में; मेनायाम्—मेना में; इति—इस प्रकार; शुश्रुम—मैंने सुना है।

मैत्रेय ने कहा : मैंने सुना है कि दक्ष से प्राप्त शरीर को त्याग देने के पश्चात दाक्षायणी (दक्ष की पुत्री) ने हिमालय के राज्य में जन्म लिया। वह मेना की पुत्री के रूप में जन्मी। इसे मैंने प्रामाणिक स्त्रोतों से सुना है।

तात्पर्य : मेना को मेनका भी कहते हैं। वह हिमालय के राजा की पत्नी थी।

तमेव दयितं भूय आवृङ्क्ते पतिमम्बिका ।
अनन्यभावैकगतिं शक्तिः सुप्तेव पूरुषम् ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस (शिव) को; एव—निश्चय ही; दयितम्—प्रिया; भूयः—पुनः; आवृङ्क्ते —स्वीकार किया; पतिम्—पति रूप में; अम्बिका—अम्बिका या सती; अनन्य-भावा—अन्यों से अलिप्त; एक-गतिम्—एक लक्ष्य; शक्तिः—(तटस्था तथा बाह्य), स्त्री शक्तियाँ; सुप्ता—निष्क्रिय; इव—सदृश; पूरुषम्—पुरुष (परमेश्वर के प्रतिनिधि के रूप में शिव)।

अम्बिका (देवी दुर्गा) ने, जो दाक्षायणी (सती) कहलाती थीं, पुनः शिव को अपने पति के रूप में स्वीकार किया, जिस प्रकार कि भगवान् की विभिन्न शक्तियाँ नवीन सृष्टि के समय कार्य करती हैं।

तात्पर्य : *परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*—इस वैदिक मंत्र के अनुसार भगवान् की अनेक शक्तियाँ होती हैं। शक्ति *स्त्री* है और भगवान् *पुरुष* हैं। *स्त्री* का धर्म है कि वह *पुरुष* के अधीन सेवा करे। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—सभी जीवात्माएँ भगवान् की तटस्था शक्तियाँ हैं। अतः समस्त जीवात्माओं का कर्तव्य है कि वे इस परम पुरुष की सेवा करें। इस भौतिक जगत में दुर्गा तटस्था तथा बहिरंगा दोनों ही शक्तियों की प्रतीक हैं और शिव परम पुरुष के प्रतीक हैं। शिव तथा अम्बिका या दुर्गा का सम्बन्ध शाश्वत है। सती शिव के अतिरिक्त अन्य को पति स्वीकार नहीं कर सकती थी। आगे जिस प्रकार शिव ने दुर्गा या हिमालय की कन्या हिमवती के साथ विवाह किया और कार्तिकेय का जन्म हुआ, वह अपने आप में एक लम्बी कथा है।

एतद्भगवतः शम्भोः कर्म दक्षाध्वरद्रुहः ।
श्रुतं भागवताच्छिष्यादुद्धवान्मे बृहस्पतेः ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; भगवतः—समस्त ऐश्वर्य के स्वामी; शम्भोः—शम्भु (शिव) का; कर्म—कथा; दक्ष-अध्वर-द्रुहः—जिसने दक्ष के यज्ञ का विध्वंस किया; श्रुतम्—सुना गया; भागवतात्—परम भक्त से; शिष्यात्—शिष्य से; उद्धवात्—उद्धव से; मे—मेरे द्वारा; बृहस्पतेः—बृहस्पति के।

मैत्रेय ने कहा : हे विदुर, मैंने परम भक्त एवं बृहस्पति के शिष्य उद्धव से शिव द्वारा ध्वंस किये गये दक्ष-यज्ञ की यह कथा सुनी थी।

इदं पवित्रं परमीशचेष्टितं
यशस्यमायुष्यमघौघमर्षणम् ।
यो नित्यदाकर्ण्य नरोऽनुकीर्तयेद्
धुनोत्यघं कौरव भक्तिभावतः ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; पवित्रम्—शुद्ध; परम्—परम; ईश-चेष्टितम्—परमेश्वर की लीलाएँ; यशस्यम्—यश; आयुष्यम्—दीर्घ जीवनकाल; अघ-ओघ-मर्षणम्—पापों का विनाश; यः—जो; नित्यदा—सदैव; आकर्ण्य—सुनकर; नरः—मनुष्य; अनुकीर्तयेत्—सुनावे; धुनोति—धो देता है; अघम्—भौतिक दूषण; कौरव—हे कुरुवंशी; भक्ति-भावतः—श्रद्धा तथा भक्ति के साथ।

मैत्रेय मुनि ने अन्त में कहा : हे कुरुनन्दन, यदि कोई भगवान् विष्णु द्वारा संचालित दक्ष-यज्ञ की यह कथा श्रद्धा एवं भक्ति के साथ सुनता है और इसे फिर से सुनाता है, तो वह निश्चय ही इस संसार के समस्त कल्मष से विमल हो जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत "दक्ष द्वारा यज्ञ की समाप्ति" नामक सातवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter आठ

ध्रुव महाराज का गृहत्याग और वनगमन

मैत्रेय उवाच
सनकाद्या नारदश्च ऋभुर्हंसोऽरुणिर्यतिः ।
नैते गृहान्ब्रह्मसुता ह्यावसन्नूर्ध्वरेतसः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; सनक-आद्याः—सनक इत्यादि; नारदः—नारद; च—तथा; ऋभुः—ऋभु; हंसः—हंस; अरुणिः—अरुणि; यतिः—यति; न—नहीं; एते—ये सब; गृहान्—घर पर; ब्रह्म-सुताः—ब्रह्मा के पुत्र; हि—निश्चय ही; आवसन्—निवास किया; ऊर्ध्व-रेतसः—नैष्ठिक ब्रह्मचारी।

मैत्रेय ऋषि ने कहा : सनकादि चारों कुमार और नारद, ऋभु, हंस, अरुणि तथा यति—ब्रह्मा के ये सारे पुत्र घर पर न रहकर (गृहस्थ नहीं बने) नैष्ठिक ब्रह्मचारी हुए।

तात्पर्य : ब्रह्मा के जन्म काल से ही ब्रह्मचर्य प्रणाली चली आ रही है। जनसंख्या का एक भाग, विशेष रूप से पुरुष, ब्याह नहीं करता था। ऐसे पुरुष वीर्य का स्खलन न करके उसे मस्तिष्क की ओर ले जाते थे। वे *ऊर्ध्वरेतस:* अर्थात् ऊपर उठाने वाले कहलाते हैं। वीर्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि यदि कोई इसे योग द्वारा मस्तिष्क तक ले सकता है, तो वह अद्भुत कार्य कर सकता है—यथा स्मरणशक्ति अत्यन्त तीव्र हो जाती है और आयु बढ़ जाती है। इस प्रकार से योगी सभी प्रकार की तपस्याएँ अधिक स्थिरता से कर सकते हैं और सर्वोच्च सिद्धावस्था को, यहाँ तक कि वैकुण्ठ लोक को, प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार ब्रह्मचर्य-जीवन बिताने वालों के ज्वलन्त उदाहरण हैं—सनक, सनन्दन, सनातन तथा सनत्कुमार नामक चार मुनि, और नारद तथा अन्य।

यहाँ अन्य महत्त्वपूर्ण पदांश है—*नैते गृहान् ह्यावसन्*—"वे घर में नहीं रहे।" *गृह* का अर्थ 'घर' तथा 'पत्नी' दोनों होता है। वस्तुत: 'घर' का अर्थ है गृहिणी या पत्नी। इसका अर्थ ईंट-पत्थर का बना घर नहीं। जो अपनी पत्नी के साथ रहता है, वह घर में ही रहता है, अन्यथा ब्रह्मचारी या संन्यासी तो घर में रहता ही नहीं, भले ही वह किसी घर के कमरे में रहे। "वे घर में नहीं रहे" का अर्थ है कि उन्होंने पत्नी स्वीकार नहीं की, अत: उनके वीर्यपात का प्रश्न ही नहीं उठता। वीर्य का पात तभी होता है जब घर हो, पत्नी हो और सन्तान उत्पन्न करने की अभिलाषा हो, अन्यथा वीर्यस्खलन आवश्यक नहीं। इन नियमों का सृष्टि के आदि काल से पालन होता रहा है और ऐसे ब्रह्मचारियों ने कभी भी

सन्तान उत्पन्न नहीं की। यह आख्यान मनु की पुत्री प्रसूति से उत्पन्न ब्रह्मा के वंशजों के विषय में था। प्रसूति की पुत्री दाक्षायणी अथवा सती थी जिसके विषय में दक्ष यज्ञ की कथा कही गई। मैत्रेय अब ब्रह्मा के पुत्रों की सन्तति के विषय में बता रहे हैं। ब्रह्मा के अनेक पुत्रों में से सनकादि ब्रह्मचारी थे तथा नारद ने ब्याह नहीं किया, अत: इनकी संततियों के इतिहास के वर्णन का प्रश्न ही नहीं उठता।

मृषाधर्मस्य भार्यासीद्दम्भं मायां च शत्रुहन् ।
असूत मिथुनं तत्तु निरृतिर्जगृहेऽप्रजः ॥ २॥

शब्दार्थ

मृषा—मृषा; अधर्मस्य—अधर्म का; भार्या—स्त्री; आसीत्—थी; दम्भम्—झूठा गर्व; मायाम्—ठगना; च—तथा; शत्रु-हन्—हे शत्रुओं के संहारक; असूत—उत्पन्न किया; मिथुनम्—जुडवाँ; तत्—वह; तु—लेकिन; निरृतिः—निर्ऋति; जगृहे—ग्रहण किया; अप्रजः—सन्तानहीन।

ब्रह्मा का अन्य पुत्र अधर्म था जिसकी पत्नी का नाम मृषा था। उनके संयोग से दो असुर हुए जिनके नाम दम्भ अर्थात धोखेबाज तथा माया अर्थात ठगिनी थे। इन दोनों को निर्ऋति नामक असुर ले गया, क्योंकि उसके कोई सन्तान न थी।

तात्पर्य : यहाँ पर ज्ञात होता है कि ब्रह्मा के अधर्म नाम का भी एक पुत्र था जिसने अपनी बहन मृषा के साथ विवाह कर लिया। भाई तथा बहन के बीच विषयी जीवन का यह सूत्रपात है। मानव समाज में ऐसा अस्वाभाविक संयोग वहीं सम्भव है जहाँ अधर्म हो। यह पता चलता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा ने न केवल सनक, सनातन तथा नारद जैसे साधु पुत्र उत्पन्न किये, वरन् निर्ऋति, अधर्म, दम्भ तथा मृषा नामक आसुरी सन्तानें भी उत्पन्न कीं। प्रारम्भ में ब्रह्मा ने प्रत्येक वस्तु की सृष्टि की। नारद के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उनके पूर्व जीवन पवित्र था और उनकी संगति अच्छी थी अत: वे नारद के रूप में उत्पन्न हुए। अन्य पुत्र भी अपनी क्षमता तथा पृष्ठभूमि के अनुसार उत्पन्न हुए थे। कर्म का नियम जन्म-जन्मांतर तक चलता है और जब नवीन सृष्टि होती है, तो वही कर्म जीवात्माओं के साथ वापस चला आता है। ये सभी अपने-अपने कर्म के अनुसार विभिन्न क्षमताओं के साथ उत्पन्न हुए, यद्यपि उनके आदि पिता ब्रह्मा हैं, जो भगवान् के गुण-अवतार हैं।

तयोः समभवल्लोभो निकृतिश्च महामते ।

ताभ्यां क्रोधश्च हिंसा च यद्दुरुक्तिः स्वसा कलिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तयोः—वे दोनों; समभवत्—उत्पन्न हुए; लोभः—लोभ, लालच; निकृतिः—चालाकी; च—तथा; महा-मते—हे महापुरुष; ताभ्याम्—उन दोनों से; क्रोधः—क्रोध; च—तथा; हिंसा—हिंसा; च—तथा; यत्—जिन दोनों से; दुरुक्तिः—कटु वचन; स्वसा—बहन; कलिः—कलि।

मैत्रेय ने विदुर से कहा : हे महापुरुष, दम्भ तथा माया से लोभ और निकृति (चालाकी) उत्पन्न हुए। उनके संयोग से क्रोध और हिंसा और फिर इनकी युति से कलि तथा उसकी बहिन दुरुक्ति उत्पन्न हुए।

दुरुक्तौ कलिराधत्त भयं मृत्युं च सत्तम ।
तयोश्च मिथुनं जज्ञे यातना निरयस्तथा ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

दुरुक्तौ—दुरुक्ति से; कलिः—कलि; आधत्त—उत्पन्न किया; भयम्—भय; मृत्युम्—मृत्यु; च—तथा; सत्-तम—हे उत्तम पुरुषों में श्रेष्ठ; तयोः—उन दोनों के; च—तथा; मिथुनम्—संयोग से; जज्ञे—उत्पन्न हुए; यातना—अत्यधिक पीड़ा; निरयः—नरक; तथा—और भी।

हे श्रेष्ठ पुरुषों में महान्, कलि तथा दुरुक्ति से मृत्यु तथा भीति नामक सन्तानें उत्पन्न हुईं। फिर इनके संयोग से यातना और निरय (नरक) उत्पन्न हुए।

सङ्ग्रहेण मयाख्यातः प्रतिसर्गस्तवानघ ।
त्रिः श्रुत्वैतत्पुमान्पुण्यं विधुनोत्यात्मनो मलम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सङ्ग्रहेण—संक्षेप में; मया—मेरे द्वारा; आख्यातः—कहा गया है; प्रतिसर्गः—प्रलय का कारण; तव—तुम्हारा; अनघ—हे शुद्ध; त्रिः—तीन बार; श्रुत्वा—सुनकर; एतत्—वर्णन; पुमान्—वह जो; पुण्यम्—पुण्य; विधुनोति—धो देता है; आत्मनः—आत्मा का; मलम्—मल, कल्मष।

हे विदुर, मैंने संक्षेप में प्रलय के कारणों का वर्णन किया। जो इस वर्णन को तीन बार सुनता है उसे पुण्य लाभ होता है और उसके आत्मा का पापमय कल्मष धुल जाता है।

तात्पर्य : सृष्टि की उत्पत्ति सत् के आधार पर होती है, किन्तु उसका विनाश अधर्म से होता है। यही भौतिक सृष्टि तथा विनाश की गति है। यहाँ बताया गया है कि विनाश का कारण अधर्म है। अधर्म तथा मृषा से क्रमशः दम्भ, माया, लोभ, निकृति (चालाकी), क्रोध, हिंसा, कलि, दुरुक्ति, मृत्यु, भीति, यातना तथा निरय उत्पन्न हुए। ये सारे वंशज विनाश के प्रतीक बतलाये गये हैं। यदि मनुष्य पवित्र है और इन विनाश के कारणों के सम्बन्ध में सुनता है तो इनके प्रति घृणा करेगा और इससे उसके पुण्य

जीवन में प्रगति होगी। पुण्य हृदय को विमल करने की विधि का सूचक है। जैसाकि भगवान् चैतन्य ने कहा है, जब मनुष्य अपने मन-दर्पण की धूल साफ कर लेता है, तब वह मुक्ति पथ पर आगे बढ़ सकता है। यहाँ भी वही विधि बताई गई है। *मलम्* का अर्थ है 'कल्मष'। हमें चाहिए कि विनाश के समस्त कारणों से घृणा करना सीखें जिनमें अधर्म तथा मृषा प्रारम्भिक हैं, तभी हम पुण्य जीवन में अग्रसर हो सकेंगे। तब हमारे लिए कृष्णभावनामृत ग्रहण कर सकना सरल होगा और हम बारम्बार विनाश के भागी नहीं होंगे। अभी का जीवन, जन्म-मृत्यु का चक्र है, किन्तु यदि हम मुक्ति-पथ ढूँढें तो बार-बार के इस त्रास से बच सकते हैं।

अथातः कीर्तये वंशं पुण्यकीर्तेः कुरूद्वह ।
स्वायम्भुवस्यापि मनोर्हरेरंशांशजन्मनः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अथ—अब; अतः—इसके बाद; कीर्तये—वर्णन करूँगा; वंशम्—वंश; पुण्य-कीर्तेः—पुण्य गुणों के लिए विख्यात; कुरु-उद्वह—हे कुरुश्रेष्ठ; स्वायम्भुवस्य—स्वायंभुव का; अपि—भी; मनोः—मनु का; हरेः—श्रीभगवान् का; अंश—विस्तार; अंश—का भाग; जन्मनः—जन्मा हुआ।

मैत्रेय ने आगे कहा : हे कुरुश्रेष्ठ, अब मैं आपके समक्ष स्वायंभुव मनु के वंशजों का वर्णन करता हूँ जो भगवान् के अंशांश के रूप में उत्पन्न हुए थे।

तात्पर्य : ब्रह्मा भगवान् के शक्ति सम्पन्न अंश हैं। यद्यपि ब्रह्मा *जीव-तत्त्व* हैं, किन्तु उन्हें भगवान् से शक्ति प्राप्त है, अतः वे उनके अंश माने जाते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि जब कोई ऐसा उपयुक्त जीव नहीं रहता जिसे ब्रह्मा नियुक्त किया जा सके, तो भगवान् स्वयं ब्रह्मा रूप में प्रकट होते हैं। ब्रह्मा भगवान् के अंश हैं और स्वायंभुव मनु ब्रह्मा के प्रत्यक्ष पुत्र थे। अब मैत्रेय मुनि मनु के उन वंशजों के विषय में बताने जा रहे हैं, जो सब के सब अपने पुण्यकर्मों के कारण विख्यात हुए हैं। इन पवित्र वंशजों के वर्णन के पूर्व वे अपवित्र कर्मोंवाले वंशजों का, जिनमें क्रोध, मृषा, दुरुक्ति, हिंसा, भय तथा मृत्यु मुख्य हैं, पहले ही वर्णन कर चुके हैं। अतः वे सोद्देश्य ही आगे ध्रुव महाराज का जीवन-इतिहास बताने जा रहे हैं, जो इस विश्व का सबसे बड़ा पुण्यात्मा राजा था।

प्रियव्रतोत्तानपादौ शतरूपापतेः सुतौ ।

वासुदेवस्य कलया रक्षायां जगतः स्थितौ ॥ ७॥

शब्दार्थ

प्रियव्रत—प्रियव्रत; उत्तानपादौ—उत्तानपाद; शतरूपा-पतेः—रानी शतरूपा तथा उनके पति का; सुतौ—दो पुत्र; वासुदेवस्य—भगवान् का; कलया—अंश से; रक्षायाम्—रक्षा के लिए; जगतः—संसार के; स्थितौ—पालन के लिए।

स्वायंभुव मनु को अपनी पत्नी शतरूपा से दो पुत्र हुए जिनके नाम थे—उत्तानपाद तथा प्रियव्रत। चूँकि ये दोनों श्रीभगवान् वासुदेव के अंश के वंशज थे, अतः वे ब्रह्माण्ड का शासन करने और प्रजा का भलीभाँति पालन करने में सक्षम थे।

तात्पर्य : यह बताया गया है कि उत्तानदपाद तथा प्रियव्रत नामक दोनों राजाओं को भगवान् से विशेष बल प्राप्त था, जब कि महाराज ऋषभ को जो स्वयं भगवान् थे ऐसा बल प्राप्त नहीं था।

जाये उत्तानपादस्य सुनीतिः सुरुचिस्तयोः ।
सुरुचिः प्रेयसी पत्युर्नेतरा यत्सुतो ध्रुवः ॥ ८॥

शब्दार्थ

जाये—दोनों पत्नियों के; उत्तानपादस्य—उत्तानपाद की; सुनीतिः—सुनीति; सुरुचिः—सुरुचि; तयोः—उन दोनों से; सुरुचिः—सुरुचि; प्रेयसी—अत्यन्त प्रिय; पत्युः—पति की; न इतरा—दूसरी वाली नहीं; यत्—जिसका; सुतः—पुत्र; ध्रुवः—ध्रुव।

उत्तानपाद के दो रानियाँ थीं—सुनीति तथा सुरुचि। इनमें से सुरुचि राजा को अत्यन्त प्रिय थी। सुनीति, जिसका पुत्र ध्रुव था, राजा को इतनी प्रिय न थी।

तात्पर्य : मैत्रेय राजाओं के पुण्य कार्यों का वर्णन करना चाह रहे थे। स्वायंभुव मनु के प्रथम पुत्र प्रियव्रत थे और उत्तानपाद, दूसरे पुत्र थे किन्तु मैत्रेय मुनि ने तुरन्त ही उत्तानदपाद के पुत्र ध्रुव महाराज का वृत्तान्त प्रारम्भ कर दिया, क्योंकि मैत्रेय पुण्य-कार्यों के वर्णन के लिए आतुर थे। ध्रुव महाराज के जीवन की घटनाएँ भक्तों के लिए अत्यन्त मोहक हैं। उनके पवित्र कार्यों से शिक्षा लेकर कोई भी अपने आपको भौतिकता से विलग करके कठिन तपस्या द्वारा भक्तिमय सेवा को बढ़ा सकता है। ध्रुव के पवित्र कार्यकलापों को सुनकर ईश्वर के प्रति श्रद्धाभाव बढ़ाया जा सकता है और भगवान् से प्रत्यक्ष सम्बध स्थापित करके भक्ति के दिव्य पद को प्राप्त किया जा सकता है। ध्रुव महाराज की तपस्याओं के उदाहरण श्रोताओं के हृदयों में तुरन्त भक्तिभाव उत्पन्न कर सकते हैं।

एकदा सुरुचेः पुत्रमङ्कमारोप्य लालयन् ।

उत्तमं नारुरुक्षन्तं ध्रुवं राजाभ्यनन्दत ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; सुरुचेः—सुरुचि के; पुत्रम्—पुत्र को; अङ्कम्—गोद में; आरोप्य—बैठा कर; लालयन्—दुलारते हुए; उत्तमम्—उत्तम; न—नहीं; आरुरुक्षन्तम्—चढ़ने का प्रयास करता; ध्रुवम्—ध्रुव का; राजा—राजा ने; अभ्यनन्दत—स्वागत किया।

एक बार राजा उत्तानपाद सुरुचि के पुत्र उत्तम को अपनी गोद में लेकर सहला रहे थे। ध्रुव महाराज भी राजा की गोद में चढ़ने का प्रयास कर रहे थे, किन्तु राजा ने उन्हें अधिक दुलार नहीं दिया।

तथा चिकीर्षमाणं तं सपत्न्यास्तनयं ध्रुवम् ।
सुरुचिः शृण्वतो राज्ञः सेर्ष्यमाहातिगर्विता ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तथा—इस प्रकार; चिकीर्षमाणम्—चढ़ने के लिए प्रयत्नशील बालक ध्रुव; तम्—उस; स-पत्न्याः—अपनी सौत (सुनीति) का; तनयम्—पुत्र; ध्रुवम्—ध्रुव को; सुरुचिः—सुरुचि ने; शृण्वतः—सुनता हुआ; राज्ञः—राजा का; स-ईर्ष्यम्—ईर्ष्या से; आह—कहा; अतिगर्विता—अत्यन्त घमण्ड से भरी।

जब बालक ध्रुव महाराज अपने पिता की गोद में जाने का प्रयत्न कर रहे थे तो उसकी विमाता सुरुचि को उस बालक से अत्यन्त ईर्ष्या हुई और वह अत्यन्त दम्भ के साथ इस प्रकार बोलने लगी जिससे कि राजा सुन सके।

तात्पर्य : निस्सन्देह, राजा अपने दोनों पुत्रों के प्रति समान स्नेहिल थे, अतः वे ध्रुव तथा उत्तम दोनों को गोद में लेने के लिए स्वाभाविक रूप से उन्मुख थे। किन्तु अपनी रानी सुरुचि के प्रति पक्षपात के कारण वे चाहते हुए भी ध्रुव महाराज को दुलार न दे सके। सुरुचि ने राजा उत्तानपाद के भावों को भाँप लिया, अतः वह अपने प्रति राजा के प्रेम का अत्यन्त दम्भपूर्वक बखान करने लगी। यही स्त्री-स्वभाव है। यदि स्त्री जान लेती है कि उसका पति उसका पक्ष लेता है और उसके प्रति विशेष लगाव रखता है, तो वह अनाधिकार लाभ उठाती है। ये लक्षण स्वायंभुव मनु जैसे परिवार के उच्चस्थ समाज में भी परिलक्षित होते हैं। अतः यह निष्कर्ष निकला कि स्त्री का स्त्रीत्व-गुण सर्वत्र विद्यमान है।

न वत्स नृपतेर्धिष्ण्यं भवानारोढुमर्हति ।
न गृहीतो मया यत्त्वं कुक्षावपि नृपात्मजः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वत्स—मेरे लड़के; नृपतेः—राजा का; धिष्ण्यम्—आसन; भवान्—अपने आप; आरोढुम्—चढ़ने के लिए; अर्हति—योग्य; न—नहीं; गृहीतः—लिया गया; मया—मेरे द्वारा; यत्—क्योंकि; त्वम्—तुम; कुक्षौ—गर्भ में; अपि—यद्यपि; नृप-आत्मजः—राजा का पुत्र।

सुरुचि ने ध्रुव महाराज से कहा : हे बालक, तुम राजा की गोद या सिंहासन पर बैठने के योग्य नहीं हो। निस्सन्देह, तुम भी राजा के पुत्र हो, किन्तु तुम मेरी कोख से उत्पन्न नहीं हो, अतः तुम अपने पिता की गोद में बैठने के योग्य नहीं हो।

तात्पर्य : सुरुचि ने बड़े अभिमान के साथ ध्रुव महाराज को बताया कि राजा की गोद या सिंहासन पर बैठने के लिए राजा का पुत्र होना ही कोई योग्यता (पात्रता) नहीं है, अपितु यह अधिकार तो इस पर निर्भर करता है कि तुमने मेरी कोख से जन्म लिया है अथवा नहीं। दूसरे शब्दों में, अप्रत्यक्ष रूप से उसने ध्रुव महाराज को बता दिया कि यद्यपि वह राजपुत्र था, किन्तु दूसरी रानी के गर्भ से जन्म लेने के कारण वह वैध पुत्र नहीं माना जा सकता।

बालोऽसि बत नात्मानमन्यस्त्रीगर्भसम्भृतम् ।
नूनं वेद भवान्यस्य दुर्लभेऽर्थे मनोरथः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

बालः—बालक; असि—हो; बत—फिर भी; न—नहीं; आत्मानम्—मेरे; अन्य—दूसरी; स्त्री—स्त्री; गर्भ—गर्भ; सम्भृतम्—से उत्पन्न; नूनम्—फिर भी; वेद—जानने का प्रयत्न करो; भवान्—अपने आप; यस्य—जिसका; दुर्लभे—अप्राप्य; अर्थे—वस्तु; मनः-रथः—इच्छुक।

मेरे बालक, तुम्हें पता नहीं कि तुम मेरी कोख से नहीं, वरन् दूसरी स्त्री से उत्पन्न हुए हो। अतः तुम्हें ज्ञात होना चाहिए कि तुम्हारा प्रयास व्यर्थ है। तुम ऐसी इच्छा की पूर्ति चाह रहे हो जिसका पूरा होना असम्भव है।

तात्पर्य : नन्हा सा बालक ध्रुव महाराज स्वभावतः अपने पिता के प्रति स्नेह से भरा था। उसे पता नहीं था कि उसकी दोनों माताओं में अन्तर है। यह अन्तर रानी सुरुचि ने बताया। उसने कहा कि चूँकि ध्रुव अबोध बालक है, अतः वह दोनों रानियों के अन्तर को नहीं समझ सकता। सुरुचि के गर्व का यह दूसरा वक्तव्य है।

तपसाराध्य पुरुषं तस्यैवानुग्रहेण मे ।
गर्भे त्वं साधयात्मानं यदीच्छसि नृपासनम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तपसा—तपस्या से; आराध्य—सन्तुष्ट करके; पुरुषम्—भगवान्; तस्य—उसकी; एव—केवल; अनुग्रहेण—कृपा से; मे—मेरे; गर्भे—गर्भ में; त्वम्—तुम; साधय—प्रस्थापित करो; आत्मानम्—अपने को; यदि—यदि; इच्छसि—चाहते हो; नृप-आसनम्—राजा के सिंहासन पर।

यदि तुम राजसिंहासन पर बैठना चाहते हो तो तुम्हें कठिन तपस्या करनी होगी। सर्वप्रथम तुम्हें भगवान् नारायण को प्रसन्न करना होगा और वे तुम्हारी पूजा से प्रसन्न हो लें तो तुम्हें अगला जन्म मेरे गर्भ से लेना होगा।

तात्पर्य : सुरुचि ध्रुव महाराज से इतनी ईर्ष्यालु थी कि उसने अप्रत्यक्ष रूप से उनसे अपना शरीर बदल लेने के लिए कहा। उसके अनुसार, पहले उन्हें मरना होगा तब अगले जन्म में वे उसके गर्भ में शरीर धारण करेंगे। तभी ध्रुव महाराज अपने पिता के सिंहासन पर बैठ सकेंगे।

मैत्रेय उवाच

मातुः सपत्न्याः स दुरुक्तिविद्धः
श्वसन्रुषा दण्डहतो यथाहिः ।
हित्वा मिषन्तं पितरं सन्नवाचं
जगाम मातुः प्ररुदन्सकाशम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—महामुनि मैत्रेय ने कहा; मातुः—अपनी माता की; स-पत्न्याः—सौत का; सः—वह; दुरुक्ति—कटु वचनों से; विद्धः—विंध कर; श्वसन्—तेजी से साँस लेता; रुषा—रोष से; दण्ड-हतः—डंडे से मारा गया; यथा—जिस प्रकार; अहिः—सर्प; हित्वा—त्याग कर; मिषन्तम्—केवल ऊपर देखता; पितरम्—अपना पिता; सन्न-वाचम्—मौन; जगाम—चला गया; मातुः—अपनी माता के; प्ररुदन्—रोते हुए; सकाशम्—पास।

मैत्रेय मुनि ने आगे कहा : हे विदुर, जिस प्रकार से लाठी से मारा गया सर्प फुफकारता है, उसी प्रकार ध्रुव महाराज अपनी विमाता के कटु वचनों से आहत होकर क्रोध से तेजी से साँस लेने लगे। जब उन्होंने देखा कि पिता मौन हैं और उन्होंने प्रतिवाद नहीं किया, तो उन्होंने तुरन्त उस स्थान को छोड़ दिया और अपनी माता के पास गये।

तं निःश्वसन्तं स्फुरिताधरोष्ठं
सुनीतिरुत्सङ्ग उदूह्य बालम् ।
निशम्य तत्पौरमुखान्नितान्तं
सा विव्यथे यद्गदितं सपत्न्या ॥ १५॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; निःश्वसन्तम्—जोर से साँस लेते; स्फुरित—कम्पित; अधर-ओष्ठम्—नीचे तथा ऊपर के होंठ; सुनीतिः—सुनीति; उत्सङ्गे—अपनी गोद में; उदूह्य—उठाकर; बालम्—पुत्र को; निशम्य—सुनकर; तत्-पौर-मुखात्—अन्य पुरजनों के मुख से; नितान्तम्—सारा हाल; सा—वह; विव्यथे—दुखी हुई; यत्—जो; गदितम्—कहा गया; स-पत्न्या—सौत द्वारा।

जब ध्रुव महाराज अपनी माता के पास आये तो उनके होंठ क्रोध से काँप रहे थे और वे सिसक-सिसक कर जोर से रो रहे थे। रानी सुनीति ने अपने लाड़ले को तुरन्त गोद में उठा लिया और अन्तःपुर के वासियों ने सुरुचि के जो कटु वचन सुने थे उन सबको विस्तार से कह सुनाया। इस तरह सुनीति अत्यधिक दुखी हुई।

सोत्सृज्य धैर्यं विललाप शोक
दावाग्निना दावलतेव बाला ।
वाक्यं सपत्न्याः स्मरती सरोज
श्रिया दृशा बाष्पकलामुवाह ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; उत्सृज्य—छोड़कर; धैर्यम्—धैर्य, ढाढस; विललाप—विलाप करने लगी; शोक-दाव-अग्निना—शोक की अग्नि से; दाव-लता इव—जली हुई पत्तियों के समान; बाला—स्त्री; वाक्यम्—शब्द; स-पत्न्याः—अपनी सौत द्वारा कहे; स्मरती—स्मरण करती; सरोज-श्रिया—कमल के समान सुन्दर मुख; दृशा—देखते हुए; बाष्प-कलाम्—रोते हुए; उवाह—कहा।

यह घटना सुनीति के लिए असह्य थी। वह मानो दावाग्नि में जल रही थी और शोक के कारण वह जली हुई पत्ती (बेलि) के समान हो गई और पश्चात्ताप करने लगी। अपनी सौत के शब्द स्मरण होने से उसका कमल जैसा सुन्दर मुख आँसुओं से भर गया और वह इस प्रकार बोली।

तात्पर्य : जब मनुष्य दुखी होता है, तो वह अपने को जंगल की अग्नि से जले पत्ते के समान अनुभव करता है। ऐसी ही सुनीति की स्थिति हो गई थी। यद्यपि सुनीति का मुख कमल के समान सुन्दर था, किन्तु अपनी सौत के कटु वचनों से उत्पन्न अग्नि से वह मुरझा गया।

दीर्घं श्वसन्ती वृजिनस्य पारम्
अपश्यती बालकमाह बाला ।
मामङ्गलं तात परेषु मंस्था
भुङ्क्ते जनो यत्परदुःखदस्तत् ॥ १७॥

शब्दार्थ

दीर्घम्—अत्यधिक; श्वसन्ती—साँस लेती हुई; वृजिनस्य—संकट की; पारम्—सीमा; अपश्यती—बिना पाये; बालकम्—अपने पुत्र से; आह—कहा; बाला—स्त्री ने; मा—मत; अमङ्गलम्—अशकुन; तात—मेरे पुत्र; परेषु—अन्यों को; मंस्थाः—कामना; भुङ्क्ते—भोग करता है; जनः—व्यक्ति; यत्—जो; पर-दुःखदः—जो दूसरों को पीड़ा पहुँचाए; तत्—वह।

वह तेजी से साँस भी ले रही थी और वह इस दुखद स्थिति का कोई इलाज ठीक नहीं ढूँढ पा रही थी। अतः उसने अपने पुत्र से कहा : हे पुत्र, तुम अन्यों के अमंगल की कामना मत करो। जो भी दूसरों को कष्ट पहुँचाता है, वह स्वयं दुख भोगता है।

सत्यं सुरुच्याभिहितं भवान्मे
यद्दुर्भगाया उदरे गृहीतः ।
स्तन्येन वृद्धश्च विलज्जते यां
भार्येति वा वोढुमिडस्पतिर्माम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सत्यम्—सत्य; सुरुच्या—सुरुचि द्वारा; अभिहितम्—कहा गया; भवान्—आपको; मे—मुझ; यत्—क्योंकि; दुर्भगायाः—अभागी के; उदरे—गर्भ में; गृहीतः—जन्म लेकर; स्तन्येन—स्तन के दूध से; वृद्धः च—बड़ा हुआ; विलज्जते—लज्जा आती है; याम्—उसको; भार्या—पत्नी; इति—इस प्रकार; वा—अथवा; वोढुम्—स्वीकार करने के लिए; इडः-पतिः—राजा; माम्—मुझको।

सुनीति ने कहा : प्रिय पुत्र, सुरुचि ने जो कुछ भी कहा है, वह ठीक है, क्योंकि तुम्हारे पिता मुझको अपनी पत्नी तो क्या अपनी दासी तक नहीं समझते, उन्हें मुझको स्वीकार करने में लज्जा आती है। अतः यह सत्य है कि तुमने एक अभागी स्त्री की कोख से जन्म लिया है और तुम उसके स्तनों का दूध पीकर बड़े हुए हो।

आतिष्ठ तत्तात विमत्सरस्त्व-
मुक्तं समात्रापि यदव्यलीकम् ।
आराधयाधोक्षजपादपद्मं
यदीच्छसेऽध्यासनमुत्तमो यथा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

आतिष्ठ—पालन करो; तत्—वही; तात—प्रिय पुत्र; विमत्सरः—बिना ईर्ष्या के; त्वम्—तुमको; उक्तम्—कहा गया; समात्रा अपि—तुम्हारी विमाता द्वारा; यत्—जो कुछ; अव्यलीकम्—वे सत्य हैं; आराधय—आराधना प्रारम्भ करो; अधोक्षज—सत्त्व, दिव्य पुरुष; पाद-पद्मम्—चरणकमल; यदि—यदि; इच्छसे—चाहते हो; अध्यासनम्—आसन ग्रहण करना; उत्तमः—अपने सौतेले भाई उत्तम के साथ; यथा—जिस प्रकार।

प्रिय पुत्र, तुम्हारी विमाता सुरुचि ने जो कुछ कहा है, यद्यपि वह सुनने में कटु है, किन्तु है सत्य। अतः यदि तुम उसी सिंहासन पर बैठना चाहते हो जिसमें तुम्हारा सौतेला भाई उत्तम बैठेगा

तो तुम अपना ईर्ष्याभाव त्याग कर तुरन्त अपनी विमाता के आदेशों का पालन करो। तुम्हें बिना किसी विलम्ब के पुरुषोत्तम भगवान् के चरण-कमलों की पूजा में लग जाना चाहिए।

तात्पर्य : सुरुचि ने अपने सौतेले पुत्र के प्रति जो कटु वचन कहे थे, वे सत्य थे, क्योंकि जब तक किसी पर भगवान् की कृपा नहीं होती, तब तक उसे जीवन में कोई सफलता नहीं मिल पाती। 'आपन सोची होवत नहीं प्रभु सोची तत्काल'। ध्रुव महाराज की माता सुनीति अपनी सौत के इस उपदेश से एकमत थी कि ध्रुव भगवान् की पूजा में अपने को प्रवृत्त करे। परोक्षत: सुरुचि के शब्द ध्रुव महाराज के लिए वरदान सिद्ध हुए, क्योंकि अपनी विमाता के वचनों से प्रभावित होकर ही वे एक महान् भक्त बने।

यस्याङ्घ्रिपद्मं परिचर्य विश्व-
विभावनायात्तगुणाभिपत्तेः ।
अजोऽध्यतिष्ठत्खलु पारमेष्ठ्यं
पदं जितात्मश्वसनाभिवन्द्यम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; अङ्घ्रि—पाँव; पद्मम्—कमल; परिचर्य—पूजा करके; विश्व—ब्रह्माण्ड; विभावनाय—सृष्टि के लिए; आत्त—प्राप्त; गुण-अभिपत्तेः—वांछित योग्यता प्राप्त करने के लिए; अजः—अजन्मा (ब्रह्मा); अध्यतिष्ठत्—प्राप्त हुआ; खलु—निश्चित रूप से; पारमेष्ठ्यम्—इस ब्रह्माण्ड में सर्वोच्च पद; पदम्—पद; जित-आत्म—जिसने मन को जीत लिया है; श्वसन—श्वास को साध कर; अभिवन्द्यम्—पूज्य।

सुनीति ने कहा : भगवान् इतने महान् हैं कि तुम्हारे परदादा ब्रह्मा ने मात्र उनके चरणकमलों की पूजा द्वारा इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने की योग्यता अर्जित की। यद्यपि वे अजन्मा हैं और सब जीवात्माओं में प्रधान हैं, किन्तु वे इस उच्च पद पर भगवान् की ही कृपा से आसीन हैं, जिनकी आराधना बड़े-बड़े योगी तक अपने मन तथा प्राण-वायु को रोक कर करते हैं।

तात्पर्य : सुनीति ने ब्रह्माजी का उदाहरण रखा, जो ध्रुव महाराज के परदादा थे। यद्यपि ब्रह्मा भी जीवात्मा हैं, किन्तु अपनी तपस्या के बल पर उन्होंने परमेश्वर की कृपा से इस ब्रह्माण्ड के स्रष्टा का उच्चपद प्राप्त किया। किसी भी प्रयास में सफल होने के लिए न केवल कठिन तपस्या करने की आवश्यकता होती है, वरन् भगवान् की कृपा पर भी आश्रित रहना पड़ता है। इसका संकेत ध्रुव महाराज को उनकी विमाता ने दिया था और अब उसकी पुष्टि उनकी अपनी माता सुनीति द्वारा की जा

रही थी।

तथा मनुर्वो भगवान्पितामहो
यमेकमत्या पुरुदक्षिणैर्मखैः ।
इष्ट्वाभिपेदे दुरवापमन्यतो
भौमं सुखं दिव्यमथापवर्ग्यम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तथा—उसी प्रकार; मनुः—स्वायंभुव मनु; वः—तुम्हारे; भगवान्—पूज्य; पितामहः—दादा (बाबा); यम्—जिनको; एक-मत्या—एकनिष्ठ सेवा से; पुरु—महान; दक्षिणैः—दान से; मखैः—यज्ञ करने से; इष्ट्वा—पूजा करके; अभिपेदे—प्राप्त किया; दुरवापम्—दुष्प्राप्य; अन्यतः—किसी अन्य साधन से; भौमम्—भौतिक; सुखम्—सुख; दिव्यम्—नैसर्गिक; अथ—तत्पश्चात्; आपवर्ग्यम्—मुक्ति।

सुनीति ने अपने पुत्र को बताया : तुम्हारे बाबा स्वायंभुव मनु ने दान-दक्षिणा के साथ बड़े-बड़े यज्ञ सम्पन्न किये और एकनिष्ठ श्रद्धा तथा भक्ति से उन्होंने पूजा द्वारा भगवान् को प्रसन्न किया। इस प्रकार उन्होंने भौतिक सुख तथा बाद में मुक्ति प्राप्त करने में महान् सफलता पाई जिसे देवताओं को पूजकर प्राप्त कर पाना असंभव है।

तात्पर्य : जीवन की सफलता का मापन इस जन्म में भौतिक सुख तथा अगले जन्म में मोक्ष प्राप्ति के द्वारा की जाती है। ऐसी सफलता भगवान् की कृपा से ही सम्भव है। यहाँ पर प्रयुक्त *एकमत्या* शब्द का अर्थ है अविचलित भाव से भगवान् में मन केन्द्रित करना। भगवान् की ऐसी अविचल पूजा *भगवद्गीता* में *अनन्यभाक्* के रूप में अभिव्यक्त हुई है। "जो किसी अन्य स्रोत से अप्राप्य है" यह भी यहाँ कहा गया है। यहाँ पर 'अन्य स्रोत' *अन्यतः* का आशय देवताओं की पूजा है। यहाँ पर यह भी विशेष उल्लेख है कि मनु का वैभव भगवान् की दिव्य सेवा में उनकी अविचल श्रद्धा के कारण था। जो भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए अन्य देवताओं की पूजा में अपने मन को इधर-उधर ले जाता है, वह बुद्धिविहीन समझा जाता है। यदि किसी को भौतिक सुख भी चाहिए तो भी वह अविचल भाव से परमेश्वर की पूजा कर सकता है और जो मुक्तिकामी है, वह भी उनकी पूजा करके अपना जीवन-लक्ष्य प्राप्त कर सकता है।

तमेव वत्साश्रय भृत्यवत्सलं
मुमुक्षुभिर्मृग्यपदाब्जपद्धतिम् ।

अनन्यभावे निजधर्मभाविते
मनस्यवस्थाप्य भजस्व पूरुषम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; एव—भी; वत्स—मेरे पुत्र; आश्रय—शरण ग्रहण करो; भृत्य-वत्सलम्—भगवान् की, जो अपने भक्तों पर अत्यन्त कृपालु हैं; मुमुक्षुभिः—जो मुक्ति की इच्छा रखने वाले हैं, वे भी; मृग्य—खोजे जाकर; पद-अब्ज—चरणकमल; पद्धतिम्—प्रणाली; अनन्य-भावे—एकान्त भाव में; निज-धर्म-भाविते—अपने मूल स्वाभाविक पद पर स्थित; मनसि—मन को; अवस्थाप्य—रखकर; भजस्व—भक्ति करते रहो; पूरुषम्—परम पुरुष।

मेरे पुत्र, तुम्हें भी भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए, क्योंकि वे अपने भक्तों पर अत्यन्त दयालु हैं। जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति चाहने वाले व्यक्ति सदैव भक्ति सहित भगवान् के चरणकमलों की शरण में जाते हैं। अपना निर्दिष्ट कार्य करके पवित्र होकर तुम अपने हृदय में भगवान् को स्थिर करो और एक पल भी विचलित हुए बिना उनकी सेवा में तन्मय रहो।

तात्पर्य : सुनीति ने अपने पुत्र को जो भक्तियोग की पद्धति बताई वह भगवत्-साक्षात्कार की आदर्श विधि है। प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वाभाविक वृत्तिपरक-कार्य करता हुआ उसी के साथ ही अपने हृदय में भगवान् को बसाये रख सकता है। स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* में भी अर्जुन को यही उपदेश दिया था, "लड़ते रहो और मन में मुझे धारण किये रहो।" कृष्णचेतना में सिद्धि चाहने वाले प्रत्येक निष्ठावान व्यक्ति का यही आदर्श होना चाहिए। इस प्रसंग में रानी सुनीति ने अपने पुत्र को उपदेश दिया कि भगवान् *भृत्यवत्सल* कहलाते हैं, अर्थात् वे अपने भक्तों पर अत्यन्त दयालु हैं। उसने कहा "तुम अपनी विमाता से अपमानित होकर रोते हुए मेरे पास आये हो, किन्तु मैं तुम्हारा भला नहीं कर सकती। किन्तु कृष्ण अपने भक्तों पर इतने दयालु हैं कि यदि तुम उनके पास जाओगे तो उनकी वत्सलता तथा उनका मृदु व्यवहार मुझ जैसी लाख-लाख माताओं से भी बढ़कर होगा।" जब कोई दूसरा किसी का दुख घटा पाने में असमर्थ रहता है, तो श्रीकृष्ण ही भक्त की सहायता करते हैं। सुनीति ने इस पर भी बल दिया कि भगवान् तक पहुँचने की क्रिया सरल नहीं, वरन् आध्यात्मिकता में बढ़े-चढ़े ऋषि तक इसकी खोज में रहते हैं। सुनीति ने यह भी बताया कि ध्रुव महाराज अभी पाँच वर्ष के छोटे बालक हैं, अत: *कर्मकाण्ड* द्वारा अपने आपको शुद्ध कर पाना उनके लिए सम्भव नहीं है। किन्तु भक्तियोग की विधि से पाँच वर्ष से भी कम आयु का बालक या किसी भी उम्र का व्यक्ति शुद्ध हो सकता है। भक्तियोग की यही विशिष्ट महत्ता है। अत: उसने उन्हें देवताओं की या अन्य किसी विधि की पूजा

करने की सलाह नहीं दी, उन्हें केवल भगवान् की शरण में जाने को कहा, जिससे सिद्धि प्राप्त हो सके। ज्योंही मनुष्य अपने हृदय में भगवान् को बसा लेता है, हर काम सरल हो जाता है और सफलता मिलती है।

नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनाद्
दुःखच्छिदं ते मृगयामि कञ्चन ।
यो मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया
श्रियेतरैरङ्ग विमृग्यमाणया ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

न अन्यम्—दूसरे नहीं; ततः—अतः; पद्म-पलाश-लोचनात्—कमल नेत्र वाले भगवान् से; दुःख-छिदम्—अन्यों के कष्टों को कम करने वाला; ते—तुम्हारा; मृगयामि—खोज में हूँ; कञ्चन—अन्य कोई; यः—जो; मृग्यते—ढूँढता है; हस्त-गृहीत-पद्मया—हाथ में कमल पुष्प लेकर; श्रिया—सम्पत्ति की देवी; इतरैः—अन्यों से; अङ्ग—मेरे पुत्र; विमृग्यमाणया—पूजित।

हे प्रिय ध्रुव, कमल के दलों जैसे नेत्रों वाले भगवान् के अतिरिक्त मुझे कोई ऐसा नहीं दिखता जो तुम्हारे दुखों को कम कर सके। ब्रह्मा जैसे अनेक देवता लक्ष्मी देवी को प्रसन्न करने के लिए लालायित रहते हैं, किन्तु लक्ष्मी जी स्वयं अपने हाथ में कमल पुष्प लेकर परमेश्वर की सेवा करने के लिए सदैव तत्पर रहती हैं।

तात्पर्य : सुनीति ने यह इंगित किया कि भगवान् तथा अन्य देवताओं से प्राप्त आशीर्वाद एक समान नहीं होते। मूर्ख लोग ऐसा कहते हैं कि चाहे जिस देवता को पूजो, फल समान मिलेगा, किन्तु तथ्य यह नहीं है। *भगवद्गीता* में भी कहा गया है कि देवताओं से प्राप्त वर क्षणिक होते हैं और अल्प-ज्ञानियों के लिए हैं। दूसरे शब्दों में, चूँकि सारे ही देवता भौतिकता की दृष्टि से बद्धजीव ही हैं, अतः यद्यपि ये उच्च पद पर आसीन होते है तो भी उनके वरदान स्थायी नहीं हो सकते। स्थायी वरदान तो आत्मिक होता है, क्योंकि आत्मा शाश्वत है। *भगवद्गीता* में यह भी कहा गया है कि जिनकी मति मारी गई है, वे ही देवताओं की पूजा करते हैं। अतः सुनीति ने अपने पुत्र से कहा कि वह देवताओं का कृपापात्र न बनकर अपने कष्ट को कम करने के लिए भगवान् के पास जाए।

भगवान् भौतिक ऐश्वर्यों का नियंत्रण अपनी विभिन्न शक्तियों द्वारा, विशेष रूप से सम्पत्ति की देवी द्वारा, करते हैं। अतः जो ऐश्वर्य की खोज में हैं, वे सम्पत्ति की देवी के कृपापात्र बनना चाहते हैं। यहाँ तक कि बड़े-बड़े देवता भी सम्पत्ति की देवी की पूजा करते हैं, किन्तु सम्पत्ति की देवी महालक्ष्मी जी

स्वयं भगवान् की कृपाकांक्षी रहती हैं। अतः जो मनुष्य भगवान् की पूजा करता है, वह सम्पत्ति की देवी के आशीर्वाद स्वतः प्राप्त कर लेता है। चूँकि जीवन की इस स्थिति में ध्रुव महाराज भौतिक ऐश्वर्य की खोज में थे, अतः उनकी माता ने ठीक ही सलाह दी कि भौतिक ऐश्वर्य के लिए भी देवताओं की पूजा न करके भगवान् को पूजें।

यद्यपि शुद्ध भक्त कभी भगवान् से भौतिक समृद्धि का वर नहीं माँगता, किन्तु *भगवद्गीता* में कहा गया है कि शुद्ध व्यक्ति भौतिक वरों के लिए भी भगवान् के ही पास जाते हैं। जो व्यक्ति भौतिक लाभ के लिए भगवान् के पास जाता है, वह क्रमशः उनकी संगति से पवित्र हो जाता है। इस प्रकार वह समस्त भौतिक आकांक्षाओं से मुक्त होकर आध्यात्मिक जीवन के स्तर को प्राप्त होता है। जब तक कोई आध्यात्मिक पद को प्राप्त नहीं हो लेता, तब तक उसके लिए भौतिक कल्मष को पूर्ण रूप से पार कर पाना दुस्तर है।

ध्रुव की माता सुनीति दूरदर्शी थीं, अतः उन्होंने अपने पुत्र को अन्य देवताओं को त्याग कर केवल श्रीभगवान् की पूजा करने के लिए कहा। यहाँ पर भगवान् को *पद्मपलाशलोचनात्* अर्थात् कमल पुष्प जैसे नेत्रों वाला कहा गया है। यदि मनुष्य थका हो और वह कमलपुष्प देख ले तो उसकी सारी थकान जाती रहती है। इसी प्रकार जब कोई दुखी व्यक्ति श्रीभगवान् के कमल-मुख का दर्शन करता है, तो उसका दुख कम हो जाता है। भगवान् विष्णु तथा सम्पत्ति की देवी लक्ष्मी के हाथ में लिया गया कमल पुष्प सौभाग्य का एक प्रतीक है। एक ही साथ विष्णु तथा लक्ष्मी के उपासक सभी प्रकार से, विशेष रूप से भौतिक जीवन में परम ऐश्वर्यशाली होते हैं। भगवान् को कभी-कभी *शिव-विरिञ्चि-नुतम्* कहा जाता है, जिसका अर्थ है कि श्रीभगवान् नारायण के चरणकमलों को ब्रह्मा तथा शिव भी नमस्कार करते हैं।

मैत्रेय उवाच

एवं सञ्जल्पितं मातुराकर्ण्यार्थागमं वचः ।
सन्नियम्यात्मनात्मानं निश्चक्राम पितुः पुरात् ॥ २४॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; एवम्—इस प्रकार; सञ्जल्पितम्—परस्पर बातें करते; मातुः—माता से; आकर्ण्य—सुनकर; अर्थ-आगमम्—सार्थक; वचः—शब्द; सन्नियम्य—संयमित करके; आत्मना—मन से; आत्मानम्—अपने को; निश्चक्राम—निकल पड़े; पितुः—पिता के; पुरात्—घर से।

मैत्रेय मुनि ने आगे कहा : ध्रुव महाराज की माता सुनीति का उपदेश वस्तुतः उनके मनोवांछित लक्ष्य को पूरा करने के निमित्त था, अतः बुद्धि तथा दृढ़ संकल्प द्वारा चित्त का समाधान करके उन्होंने अपने पिता का घर त्याग दिया।

तात्पर्य : माता तथा पुत्र दोनों को कोप था कि ध्रुव महाराज का अपमान उनकी विमाता द्वारा हुआ और उनके पिता ने उस पर कोई कार्यवाही नहीं की। किन्तु कोरा कोप वृथा है, उसे कम करने का उपाय खोजना चाहिए। अतः माता तथा पुत्र दोनों ने भगवान् की शरण में जाना उचित समझा, क्योंकि समस्त भौतिक समस्याओं का एकमात्र हल वही है। यहाँ यह सूचित किया गया है कि ध्रुव महाराज ने अपने पिता की राजधानी छोड़ दी और भगवान् की खोज करने के लिए एकान्त स्थान में चले गये। प्रह्लाद महाराज का भी यही उपदेश है कि मन की शान्ति चाहने वालों को गृहस्थ जीवन के समस्त कल्मष से मुक्त होकर वन में जाकर भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए। गौड़ीय वैष्णवों के लिए यह वन "वृन्दा का वन" या वृन्दावन है। यदि मनुष्य वृन्दावन में वृन्दावनेश्वरी श्रीमती राधारानी की शरण ग्रहण करता है, तो निश्चय ही उसकी जीवन की सभी समस्याएँ आसानी से हल हो जाती हैं।

नारदस्तदुपाकर्ण्य ज्ञात्वा तस्य चिकीर्षितम् ।
स्पृष्ट्वा मूर्धन्यघघ्नेन पाणिना प्राह विस्मितः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

नारदः—नारद मुनि ने; तत्—वह; उपाकर्ण्य—सुनकर; ज्ञात्वा—तथा जानकर; तस्य—उसका (ध्रुव महाराज का); चिकीर्षितम्—कार्यकलाप; स्पृष्ट्वा—स्पर्श करके; मूर्धनि—सिर पर; अघ-घ्नेन—समस्त पापों को भगाने वाले; पाणिना—हाथ से; प्राह—कहा; विस्मितः—चकित होकर।

नारद मुनि ने यह समाचार सुना और ध्रुव महाराज के समस्त कार्यकलापों को जानकर वे चकित रह गये। वे ध्रुव के पास आये और उनके सिर को अपने पुण्यवर्धक हाथ से स्पर्श करते हुए इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : जब ध्रुव महाराज अपनी माता सुनीति से राजमहल में घटी सभी घटनाएँ बता रहे थे वहाँ पर नारद उपस्थित नहीं थे। अतः यह प्रश्न किया जा सकता है कि नारद ने ये सारी बातें कैसे सुन लीं।

इसका उत्तर है कि नारद *त्रिकालज्ञ* हैं। वे इतने शक्तिमान हैं कि वे सबों के हृदय में चल रही भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान की घटनाओं को जान सकते हैं जिस प्रकार परमात्मा भगवान् को सब ज्ञात है। अत: ध्रुव महाराज के दृढ़ संकल्प को समझ कर नारद उनकी सहायता के लिए आये। इसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—भगवान् सबों के हृदय में विद्यमान हैं, अत: जब उन्हें पता चल जाता है कि कोई जीवात्मा भक्ति में प्रवेश करने के लिए इच्छुक है, तो वे अपना प्रतिनिधि भेजते हैं। इस प्रकार नारद को ध्रुव महाराज के पास भेजा गया। इसकी व्याख्या *चैतन्यचरितामृत* में मिलती है। *गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज*—गुरु तथा कृष्ण की कृपा से भक्ति में प्रविष्ट हुआ जा सकता है। ध्रुव महाराज के संकल्प के कारण परमात्मा श्रीकृष्ण ने तुरन्त ही अपने प्रतिनिधि नारद को दीक्षार्थ भेज दिया।

अहो तेजः क्षत्रियाणां मानभङ्गममृष्यताम् ।
बालोऽप्ययं हृदा धत्ते यत्समातुरसद्वचः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अहो—कितना आश्चर्यमय है; तेजः—बल; क्षत्रियाणाम्—क्षत्रियों का; मान-भङ्गम्—प्रतिष्ठा को धक्का; अमृष्यताम्—सहन कर सकने में अक्षम; बालः—मात्र बालक; अपि—यद्यपि; अयम्—यह; हृदा—हृदय में; धत्ते—घर कर लिया है; यत्—जो; स-मातुः—अपनी विमाता का; असत्—अरुचिकर, कटु; वचः—वचन।

अहो! शक्तिशाली क्षत्रिय कितने तेजमय होते हैं! वे थोड़ा भी मान-भंग सहन नहीं कर सकते। जरा सोचो तो, यह नन्हा सा बालक है, तो भी उसकी सौतेली माता के कटु वचन उसके लिए असह्य हो गये।

तात्पर्य : क्षत्रियों के गुणों का वर्णन *भगवद्गीता* में किया गया है। महत्त्वपूर्ण गुण दो हैं—आत्म-सम्मान तथा युद्ध भूमि में पीठ न दिखाना। ऐसा प्रतीत होता है कि ध्रुव महाराज के शरीर में *क्षत्रिय-रक्त* स्वभावत: अत्यन्त सक्रिय था। यदि परिवार में ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य संस्कृति का पालन होता है, तो स्वभावत: पुत्रों तथा प्रपौत्रों को उस जाति विशेष के गुण उत्तराधिकार में प्राप्त होते हैं। अत: वैदिक पद्धति में संस्कारों का दृढ़ता से पालन किया जाता है। यदि परिवार में प्रचलित सुधारवादी नियमों को कोई ग्रहण नहीं करता तो वह तुरन्त निम्न स्तर को प्राप्त जाता है।

नारद उवाच

नाधुनाप्यवमानं ते सम्मानं वापि पुत्रक ।
लक्षयामः कुमारस्य सक्तस्य क्रीडनादिषु ॥ २७॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; न—नहीं; अधुना—अभी; अपि—यद्यपि; अवमानम्—अपमान; ते—तुमको; सम्मानम्—आदर; वा—अथवा; अपि—निश्चय ही; पुत्रक—हे पुत्र; लक्षयामः—मुझे दिखाई पड़ रहा है; कुमारस्य—तुम जैसे बालकों का; सक्तस्य—आसक्त; क्रीडन-आदिषु—खेल इत्यादि में।

महर्षि नारद ने ध्रुव से कहा : हे बालक, अभी तो तुम नन्हें बालक हो, जिसकी आसक्ति खेल इत्यादि में रहती है। तो फिर तुम अपने सम्मान के विपरीत अपमानजनक शब्दों से इतने प्रभावित क्यों हो?

तात्पर्य : सामान्य रूप से जब बच्चे को बदमाश या मूर्ख कह कर डाँटा जाता है, तो वह हँस देता है और इन अपमानजनक शब्दों को गम्भीरता से नहीं लेता। इसी प्रकार यदि उससे सम्मानसूचक शब्द कहे जाते हैं, तो भी वह उनकी परवाह नहीं करता। किन्तु ध्रुव महाराज में क्षत्रिय जोश इतना प्रबल था कि वे अपनी विमाता द्वारा किये गये रंचमात्र अपमान को भी सहन नहीं कर पाये क्योंकि इससे इनके क्षत्रिय-सम्मान को धक्का लगा था।

विकल्पे विद्यमानेऽपि न ह्यसन्तोषहेतवः ।
पुंसो मोहमृते भिन्ना यल्लोके निजकर्मभिः ॥ २८॥

शब्दार्थ

विकल्पे—अन्य उपाय; विद्यमाने अपि—रहने पर भी; न—नहीं; हि—निश्चय ही; असन्तोष—नाराजगी; हेतवः—कारण; पुंसः—मनुष्यों का; मोहम् ऋते—मोहग्रस्त हुए बिना; भिन्नाः—पृथक् हुआ; यत् लोके—इस लोक में; निज-कर्मभिः—अपने कार्य से।

हे ध्रुव, यदि तुम समझते हो कि तुम्हारे आत्मसम्मान को ठेस पहुँची है, तो भी तुम्हें असंतुष्ट होने का कोई कारण नहीं है। इस प्रकार का असन्तोष माया का ही अन्य लक्षण है; प्रत्येक जीवात्मा अपने पूर्व कर्मों के अनुसार नियंत्रित होता है, अतः सुख तथा दुख भोगने के लिए नाना प्रकार के जीवन होते हैं।

तात्पर्य : वेदों में कहा गया है कि जीवात्मा भौतिक संसर्ग से सर्वथा अदूषित तथा अप्राभिवत रहता है। जीवात्मा को अपने पूर्वकर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की भौतिक देह प्राप्त होती हैं। किन्तु यदि कोई यह जान ले कि जीवित आत्मा के रूप में उसका सुख या दुख से कोई लगाव नहीं हो,

तो उसे मुक्त पुरुष कहा जाता है। *भगवद्गीता* (१८.५४) में इसकी पुष्टि हुई है—*ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा*—जब मनुष्य वास्तव में दिव्य पद पर आसीन होता है, तो न तो वह किसी वस्तु के लिए शोक करता है न इच्छा। नारद मुनि ने सर्वप्रथम ध्रुव महाराज को यह बताना चाहा कि अभी तो वह बालक है; उसे अपमान या सम्मान के शब्दों से इतना प्रभावित नहीं होना चाहिए। और यदि वह इतना आगे बढ़ चुका है कि अपमान अथवा सम्मान को समझने लगा है, तो उसे इस ज्ञान का सदुपयोग अपने निजी जीवन में प्रयोग करके देखना चाहिए। उसे यह ज्ञात होना चाहिए कि मान या अपमान पूर्वकर्मों के द्वारा निर्धारित होते हैं, अत: मनुष्य को किसी भी परिस्थिति में दुखी या प्रसन्न नहीं होना चाहिए।

परितुष्येत्ततस्तात तावन्मात्रेण पूरुषः ।
दैवोपसादितं यावद्वीक्ष्येश्वरगतिं बुधः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

परितुष्येत्—सन्तुष्ट रहना चाहिए; ततः—अतः; तात—हे बालक; तावत्—तब तक; मात्रेण—गुण; पूरुषः—पुरुष; दैव—भाग्य के; उपसादितम्—द्वारा प्रदत्त; यावत्—जब तक; वीक्ष्य—देखकर; ईश्वर-गतिम्—भगवान् की विधि; बुधः—बुद्धिमान मनुष्य।

भगवान् की गति बड़ी विचित्र है। बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह इस गति को स्वीकार करे और अनुकूल या प्रतिकूल जो कुछ भी भगवान् की इच्छा से सम्मुख आए, उससे संतुष्ट रहे।

तात्पर्य : महर्षि नारद ने ध्रुव महाराज को शिक्षा दी कि सभी परिस्थितियों में मनुष्य को संतुष्ट रहना चाहिए। प्रत्येक बुद्धिमान मनुष्य को यह समझना चाहिए कि देहात्म-बुद्धि के कारण ही हमें सुख तथा दुख भोगने पड़ते हैं। जो दिव्य अवस्था को प्राप्त है और देहात्म-बुद्धि से परे है, वह बुद्धिमान समझा जाता है। जो भक्त होता है, वह समस्त असफलताओं को भगवान् का विशिष्ट वरदान मानता है। जब भक्त कष्ट में होता है, तो वह इसे भगवान् की कृपा मानकर मन, बुद्धि तथा शरीर से उनको बारम्बार प्रणाम करता है। अत: बुद्धिमान मनुष्य को ईश्वर की कृपा पर निर्भर रहते हुए सदैव संतुष्ट रहना चाहिए।

अथ मात्रोपदिष्टेन योगेनावरुरुत्ससि ।
यत्प्रसादं स वै पुंसां दुराराध्यो मतो मम ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अथ—अत:; मात्रा—अपनी माता द्वारा; उपदिष्टेन—उपदेश दिया जाकर; योगेन—योग ध्यान से; अवरुरुत्ससि—अपने को ऊपर उठाना चाहते हो; यत्-प्रसादम्—जिसकी कृपा; स:—वह; वै—निश्चय ही; पुंसाम्—जीवात्माओं का; दुराराध्य:—करने में अत्यन्त कठिन; मत:—विचार; मम—मेरा।

अब तुमने अपनी माता के उपदेश से भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिए ध्यान की योग-विधि पालन करने का निश्चय किया है, किन्तु मेरे विचार से ऐसी तपस्या सामान्य व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। भगवान् को प्रसन्न कर पाना अत्यन्त कठिन है।

तात्पर्य : *भक्ति-योग* की पद्धति का पालन कर पाना सरल भी है और कठिन भी। परम गुरु नारद मुनि यह देखने के लिए ध्रुव महाराज की परीक्षा कर रहे हैं कि भक्ति करने के लिए वह कितना कृतसंकल्प है। शिष्य बनाने की यही विधि है। नारद मुनि ध्रुव के पास भगवान् के आदेश से दीक्षा देने के लिए आये थे तो भी वे ध्रुव के संकल्प की परीक्षा ले रहे थे। फिर भी यह सच है कि निष्ठावान पुरुष के लिए भक्ति अत्यन्त सरल है, किन्तु जो निष्ठावान एवं कृतसंकल्प नहीं है उसके लिए यह अत्यन्त कठिन विधि है।

मुनय: पदवीं यस्य नि:सङ्गेनोरुजन्मभि: ।
न विदुर्मृगयन्तोऽपि तीव्रयोगसमाधिना ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

मुनय:—मुनिगण; पदवीम्—पथ; यस्य—जिसका; नि:सङ्गेन—विरक्ति से; उरु-जन्मभि:—अनेक जन्मों के पश्चात्; न—कभी नहीं; विदु:—समझ पाये; मृगयन्त:—खोज करते हुए; अपि—निश्चय ही; तीव्र-योग—कठिन तपस्या; समाधिना—समाधि से।

नारद मुनि ने आगे बताया : अनेकानेक जन्मों तक इस विधि का पालन करते हुए तथा भौतिक कल्मष से विरक्त रह कर, अपने को निरन्तर समाधि में रखकर और विविध प्रकार की तपस्याएँ करके अनेक योगी ईश्वर-साक्षात्कार के मार्ग का पार नहीं पा सके।

अतो निवर्ततामेष निर्बन्धस्तव निष्फल: ।
यतिष्यति भवान्काले श्रेयसां समुपस्थिते ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अत:—इसलिए; निवर्तताम्—अपने को रोको; एष:—यह; निर्बन्ध:—संकल्प; तव—तुम्हारा; निष्फल:—वृथा; यतिष्यति—भविष्य में प्रयत्न करना; भवान्—स्वयं; काले—काल-क्रम में; श्रेयसाम्—अवसर; समुपस्थिते—आने पर।

इसलिए हे बालक, तुम्हें इसके लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिए, इसमें सफलता नहीं मिलने वाली। अच्छा हो कि तुम घर वापस चले जाओ। जब तुम बड़े हो जाओगे तो ईश्वर की कृपा से

तुम्हें इन योग-कर्मों के लिए अवसर मिलेगा। उस समय तुम यह कार्य पूरा करना।

तात्पर्य : सामान्यत: भली-भाँति प्रशिक्षित व्यक्ति जीवन के अन्त में ही आत्म-सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है। अत: वैदिक पद्धति के अनुसार जीवन चार अवस्थाओं में विभक्त है। प्रारम्भ में मनुष्य ब्रह्मचारी, अर्थात् विद्यार्थी, बनकर गुरु के अधिकृत निर्देशन में वैदिक ज्ञान प्राप्त करता है। तब वह गृहस्थ बनता है और वैदिक विधि से गृहस्थी के कर्तव्यों का पालन करता है। तब गृहस्थ वानप्रस्थ बनता है और क्रमश: ज्यों-ज्यों वह प्रौढ़ होता जाता है गृहस्थ जीवन तथा वानप्रस्थ को भी त्याग देता है और संन्यास ग्रहण करके अपने को पूर्ण रूप से भक्ति में लगाता है।

सामान्यत: लोग सोचते हैं कि बालपन तो खेलने कूदने का समय है, जवानी तरुण बालाओं के साथ आनन्द उठाने के लिए है और बुढ़ापे में जब मरने का समय निकट आए भक्ति या योग-साधना की जा सकती है। किन्तु यह निष्कर्ष उन भक्तों पर लागू नहीं होता जो वास्तव में गम्भीर हैं। नारद मुनि ध्रुव महाराज की परीक्षा लेने के लिए ऐसा उपदेश दे रहे हैं। वास्तव में सीधा आदेश तो यही है कि जीवन के किसी भी बिन्दु से भक्ति प्रारम्भ की जा सकती है। किन्तु गुरु का दायित्व है कि वह देखे कि शिष्य कितनी गम्भीरता से भक्ति में लगना चाहता है। तभी उसे दीक्षित करना चाहिए।

यस्य यद्दैवविहितं स तेन सुखदु:खयो: ।
आत्मानं तोषयन्देही तमस: पारमृच्छति ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यस्य—कोई भी; यत्—जो; दैव—भाग्य से; विहितम्—बदा; स:—वह व्यक्ति; तेन—उससे; सुख-दु:खयो:—सुख अथवा दुख; आत्मानम्—अपने आपको; तोषयन्—संतुष्ट; देही—आत्मा; तमस:—अंधकार के; पारम्—दूसरी ओर; ऋच्छति—पार हो जाता ।.

मनुष्य को चाहिए कि जीवन की किसी भी अवस्था में, चाहे सुख हो या दुख, जो दैवी इच्छा (भाग्य) द्वारा प्रदत्त है, सन्तुष्ट रहे। जो मनुष्य इस प्रकार टिका रहता है, वह अज्ञान के अंधकार को बहुत सरलता से पार कर लेता है।

तात्पर्य : इस संसार में पवित्र तथा अपवित्र सकाम कर्म होते हैं। जब तक भक्तिमय सेवा के अतिरिक्त कोई भी कार्य किया जाता है, तब तक इस संसार के सुख तथा दुख ही प्राप्त होंगे। जब हम तथाकथित सुखपूर्वक जीवन-यापन करते रहते हैं, तो यह समझना चाहिए कि हमारे पुण्यकर्मों का क्षय

ही है। जब हम कष्ट में पड़ जाते हैं, तो यह समझना चाहिए कि हमारे पापकर्मों का फल कम हो रहा है। यदि हम पाप तथा पुण्यकर्मों से मिलने वाले सुख तथा दुख में आसक्त होने के बजाय इस अज्ञान के चंगुल से उबरना चाहते हैं, तो हमें ईश्वर की इच्छा को, चाहे जैसी भी स्थिति में क्यों न रहना पड़े, स्वीकार कर लेना चाहिए। इस प्रकार यदि हम भगवान् की शरण ग्रहण करें तो इस भौतिक संसार के चंगुल से छूट सकते हैं।

गुणाधिकान्मुदं लिप्सेदनुक्रोशं गुणाधमात् ।
मैत्रीं समानादन्विच्छेन्न तापैरभिभूयते ॥ ३४॥

शब्दार्थ

गुण-अधिकात्—अधिक योग्य पुरुष से; मुदम्—प्रसन्नता; लिप्सेत्—अनुभव करे; अनुक्रोशम्—दया; गुण-अधमात्—कम योग्य पुरुष से; मैत्रीम्—मित्रता; समानात्—समान (गुण वाले) से; अन्विच्छेत्—कामना करे; न—नहीं; तापैः—दुख से; अभिभूयते—प्रभावित होता है।

प्रत्येक मनुष्य को इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए : यदि वह अपने से अधिक योग्य व्यक्ति से मिले, तो उसे अत्यधिक हर्षित होना चाहिए, यदि अपने से कम योग्य व्यक्ति से मिले तो उसके प्रति सदय होना चाहिए और यदि अपने समान योग्यता वालों से मिले तो उससे मित्रता करनी चाहिए। इस प्रकार मनुष्य को इस भौतिक संसार के त्रिविध ताप कभी भी प्रभावित नहीं कर पाते।

तात्पर्य : सामान्यत: अपने से अधिक योग्य व्यक्ति को पाकर हम उससे ईष्या करने लगते हैं, अपने से कम योग्य व्यक्ति से मिलने पर हम उस का उपहास करते हैं और अपने समान व्यक्ति को पाकर हम अपने कार्यों के प्रति गर्वित हो उठते हैं। ये ही सभी भौतिक कष्टों के कारण हैं। इसीलिए नारद मुनि ने उपदेश दिया कि भक्त को संयत भाव से आचरण करना चाहिए। अपने से अधिक योग्य व्यक्ति से द्वेष करने की अपेक्षा उसका प्रसन्नतापूर्वक स्वागत करना चाहिए। कम योग्य व्यक्ति को पीड़ा पहुँचाने के बजाय उस पर दयामय होना चाहिए जिससे वह उचित स्तर तक उठ सके। और जब समान गुण वाले किसी व्यक्ति से भेंट हो तो उसके समक्ष अपने कार्यकलापों के प्रति गर्व प्रकट न करके उसके साथ मित्र जैसा व्यवहार करना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि जो श्रीकृष्ण को भूल जाने के कारण कष्ट भोग रहे हैं, उन सब पर दयाभाव रखे। इन प्रमुख कार्यों से मनुष्य इसी जगत में सुखी बन

सकता है।

ध्रुव उवाच

सोऽयं शमो भगवता सुखदुःखहतात्मनाम् ।
दर्शितः कृपया पुंसां दुर्दर्शोऽस्मद्विधैस्तु यः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

ध्रुवः उवाच—ध्रुव महाराज ने कहा; सः—वह; अयम्—यह; शमः—मन का संतुलन; भगवता—आपके द्वारा; सुख-दुःख—सुख तथा दुख; हत-आत्मनाम्—जो प्रभावित हैं; दर्शितः—दिखाया गया; कृपया—कृपा द्वारा; पुंसाम्—लोगों का; दुर्दर्शः—देख पाना कठिन; अस्मत्-विधैः—हम जैसे व्यक्तियों द्वारा; तु—लेकिन; यः—जो भी आपने कहा।

ध्रुव महाराज ने कहा : हे नारद जी, आपने मन की शान्ति प्राप्त करने के लिए कृपापूर्वक जो भी कहा है, वह ऐसे पुरुष के लिए निश्चय ही अत्यन्त शिक्षाप्रद है, जिसका हृदय सुख तथा दुख की भौतिक परिस्थितियों से चलायमान है। लेकिन जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मैं तो अविद्या से प्रच्छन्न हूँ और इस प्रकार का दर्शन मेरे हृदय को स्पर्श नहीं कर पाता।

तात्पर्य : मनुष्यों की अनेक श्रेणियाँ हैं। एक श्रेणी *अकामी* कहलाती है। वह उन मनुष्यों की है जिनके कोई भौतिक आकांक्षा नहीं रहती। आकांक्षा, चाहे भौतिक हो या दिव्य, वह तो रहती ही है। भौतिक आकांक्षा का उदय तब होता है जब कोई अपनी ही इन्द्रियों को तुष्ट करना चाहता है। जो व्यक्ति भगवान् को प्रसन्न करने के लिए किसी वस्तु की भी बलि करने को उद्यत रहता है, तो उसकी आकांक्षा दिव्य है। ध्रुव ने नारद मुनि द्वारा दिये उपदेश को ग्रहण नहीं किया, क्योंकि उन्होंने अपने को ऐसी शिक्षा के लिए सर्वथा अयोग्य समझा जो भौतिक आकांक्षाओं का दमन करती हो। किन्तु यह तथ्य नहीं है कि भौतिक आकांक्षा रखने वालों को भगवान् की पूजा करना मना है। ध्रुव के जीवन से यह एक अनिवार्य शिक्षा प्राप्त होती है। उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि उनके हृदय में भौतिक आकांक्षा है। वे अपनी विमाता के कटु वचनों से अत्यन्त प्रभावित थे, जबकि आध्यात्मिक रूप से आगे बढ़े हुए लोग किसी की निन्दा या स्तुति की परवाह नहीं करते।

भगवद्गीता में कहा गया है कि जो वास्तव में आध्यात्मिक जीवन में ऊपर उठे हुए हैं, वे इस जगत के द्वैतभाव की परवाह नहीं करते। किन्तु ध्रुव महाराज ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि वे भौतिक सुख-दुख के प्रधातो से ऊपर नहीं हैं। उन्हें विश्वास था कि नारद का उपदेश उपयोगी है, तो भी

वे उसे स्वीकार नहीं कर पाये। यहाँ उठाया गया प्रश्न है कि भौतिक आकांक्षाओं से ग्रस्त व्यक्ति भगवान् की पूजा करने का पात्र है, अथवा नहीं? इसका उत्तर यही है कि प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर की पूजा करने का पात्र है। भले ही मनुष्य अनेक भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए इच्छुक हो, उसे कृष्ण-भावनामृत को अपनाना चाहिए और कृष्ण की पूजा करनी चाहिए, क्योंकि वे इतने दयालु हैं कि सबों की आकांक्षाओं को पूरा करते हैं। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि भले ही किसी की कितनी भौतिक आकांक्षाएँ क्यों न हों, उसे भगवान् की पूजा करने से रोका नहीं जा सकता।

अथापि मेऽविनीतस्य क्षात्त्रं घोरमुपेयुषः ।
सुरुच्या दुर्वचोबाणैर्न भिन्ने श्रयते हृदि ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

अथ अपि—अतः; मे—मेरा; अविनीतस्य—अविनीत का; क्षात्त्रम्—क्षत्रियत्व; घोरम्—असह्य; उपेयुषः—प्राप्त; सुरुच्याः—सुरुचि का; दुर्वचः—कटु वचन; बाणैः—बाणों से; न—नहीं; भिन्ने—बेधा जाकर; श्रयते—रह रहे हैं, पड़े हैं; हृदि—हृदय में।

हे भगवन्, मैं आपके उपदेशों को न मानने की धृष्टता कर रहा हूँ। किन्तु यह मेरा दोष नहीं है। यह तो क्षत्रिय कुल में जन्म लेने के कारण है। मेरी विमाता सुरुचि ने मेरे हृदय को अपने कटु वचनों से क्षत-विक्षत कर दिया है। अतः आपकी यह महत्त्वपूर्ण शिक्षा मेरे हृदय में टिक नहीं पा रही।

तात्पर्य : कहा जाता है कि हृदय अथवा मन मिट्टी के पात्र सदृश है। एक बार टूट जाने पर यह किसी प्रकार नहीं जोड़ा जा सकता। ध्रुव महाराज ने यह उदाहरण नारद के समक्ष रखा। उन्होंने कहा कि उनका हृदय विमाता के कटुवचन रूपी बाणों से इतना बिद्ध हो चुका है कि अब उस अपमान का बदला लेने की इच्छा के अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा। उनकी विमाता ने कहा था कि वह महाराज उत्तानपाद की उपेक्षिता रानी सुनीति के गर्भ से उत्पन्न हुआ है, अतः वह न तो सिंहासन पर, न ही अपने पिता की गोद में बैठने का अधिकारी है। दूसरे शब्दों में, अपनी विमाता के अनुसार वह राजा घोषित नहीं हो सकता था। इसीलिए ध्रुव महाराज ने संकल्प किया था कि वे समस्त देवताओं में श्रेष्ठ ब्रह्मा के लोक से भी बढ़कर के किसी लोक के राजा होंगे।

ध्रुव महाराज ने अप्रत्यक्ष रूप के नारद मुनि को बता दिया कि चार प्रकार की मानवीय वृत्ति होती

है—ब्राह्मण की, क्षत्रिय की, वैश्य की तथा शूद्र की। एक जाति की वृत्ति दूसरी पर लागू नहीं होती। नारद मुनि ने जिस आध्यात्मिक वृत्ति का प्रतिपादन किया था वह ब्राह्मण वृत्ति के अनुकूल भले रही हो, किन्तु क्षत्रिय वृत्ति के अनुकूल न थी। ध्रुव ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि उसमें ब्राह्मण जैसी विनयशीलता नहीं है, अत: वे नारद मुनि के विचार (दर्शन) को स्वीकार नहीं कर सकते।

ध्रुव महाराज के कथन से सूचित होता है कि जब तक बालक को उसकी प्रवृत्ति के अनुसार शिक्षित नहीं किया जाता, तब तक वह अपनी विशेष वृत्ति को विकसित नहीं कर सकता। यह तो गुरु या शिक्षक का कर्तव्य है कि बालक विशेष की मनोवैज्ञानिक गतिविधि का निरीक्षण करे और उसे किसी विशेष व्यवसाय में प्रवृत्त करे। ध्रुव महाराज को पहले से क्षत्रिय वृत्ति की शिक्षा मिली थी, अत: वे ब्राह्मण वृत्ति को स्वीकार करने के लिए तैयार न थे। अमरीका में ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के स्वभावों में अनुकूलता न होने के कारण व्यावहारिक कठिनाई उत्पन्न हो रही है। जिन अमरीकी बालकों को शूद्रों के समान प्रशिक्षित किया गया है, वे युद्ध-भूमि में लड़ने के लिए सर्वथा अयोग्य हैं। अत: जब उन्हें सेना में सम्मिलित होने के लिए कहा जाता है, तो वे इनकार कर देते हैं, क्योंकि उनमें क्षत्रिय वृत्ति नहीं रहती। समाज में इससे महान् असन्तोष है।

यदि उन बालकों में क्षत्रिय वृत्ति नहीं है, तो इसका अर्थ यह भी नहीं है कि वे ब्राह्मण-गुणों में प्रशिक्षित हैं। उन्हें तो शूद्र रूप में प्रशिक्षित किया गया है, अत: वे आक्रोश के कारण हिप्पी बन रहे हैं। किन्तु वे जैसे ही अमरीका में चलाये जा रहे कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में प्रवेश करते हैं उन्हें ब्राह्मण-गुण अर्जित करने की शिक्षा दी जाती है, यद्यपि वे शूद्र की निम्नतम अवस्था को प्राप्त रहते हैं। दूसरे शब्दों में, चूँकि कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के द्वार सबों के लिए खुले हैं, अत: लोग सामान्यत: ब्राह्मण-गुणों को प्राप्त कर सकते हैं। आज के समय की यही सबसे बड़ी आवश्यकता है, क्योंकि ब्राह्मण या क्षत्रिय बहुत की कम हैं, केवल कुछ वैश्य हैं और अधिकांश शूद्र हैं। समाज का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में वर्गीकरण अत्यत वैज्ञानिक है। मानवीय समाज रूपी शरीर में ब्राह्मण सिर हैं, क्षत्रिय बाहु हैं, वैश्य उदर हैं और शूद्र पाँव हैं। इस समय शरीर में पाँव तथा उदर रह गये हैं, बाहु या सिर नहीं है, अत: सारा समाज अस्त-व्यस्त हो गया है। पतित मानव-समाज को आत्म-चेतना के स्तर

तक उठाने के लिए ब्राह्मण-गुणों की पुनर्स्थापना की आवश्यकता है।

पदं त्रिभुवनोत्कृष्टं जिगीषोः साधु वर्त्म मे ।
ब्रूह्यस्मत्पितृभिर्ब्रह्मन्नन्यैरप्यनधिष्ठितम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

पदम्—पद; त्रि-भुवन—तीनों लोक; उत्कृष्टम्—सर्वश्रेष्ठ; जिगीषोः—इच्छुक; साधु—ईमानदार; वर्त्म—राह; मे—मुझको; ब्रूहि—कहो; अस्मत्—हमारा; पितृभिः—पूर्वजों, पिता तथा पितामह द्वारा; ब्रह्मन्—हे महान् ब्राह्मण; अन्यैः—अन्यों द्वारा; अपि—भी; अनधिष्ठितम्—प्राप्त नहीं हो सका।

हे विद्वान् ब्राह्मण, मैं ऐसा पद ग्रहण करना चाहता हूँ जिसे अभी तक तीनों लोकों में किसी ने भी, यहाँ तक कि मेरे पिता तथा पितामहों ने भी, ग्रहण न किया हो। यदि आप अनुगृहीत कर सकें तो कृपा करके मुझे ऐसे सत्य मार्ग की सलाह दें, जिसे अपना करके मैं अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकूँ।

तात्पर्य : जब ध्रुव महाराज ने नारद मुनि से ब्राह्मण उपदेश ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया तो स्वभावतः अगला प्रश्न यही उठता है कि वे कैसा उपदेश चाह रहे थे। यहाँ तक कि नारद के पूछने के पहले ही ध्रुव ने अपनी हार्दिक इच्छा प्रकट कर दी। निस्सन्देह, उनका पिता चक्रवर्ती सम्राट था और पितामह ब्रह्मा ब्रह्माण्ड को स्रष्टा। ध्रुव महाराज ने अपने पिता तथा पितामह से भी बढ़कर श्रेष्ठ साम्राज्य प्राप्त करने की आकांक्षा व्यक्त की। उन्होंने स्पष्ट कहा था कि वे ऐसा राज्य चाहते हैं जिसका तीनों लोकों में कोई प्रतियोगी न हो। इस ब्रह्माण्ड के सबसे महान् पुरुष ब्रह्मा हैं और ध्रुव महाराज इनसे भी श्रेष्ठ पद प्राप्त करना चाह रहे थे। वे नारद की उपस्थिति का लाभ उठाना चाह रहे थे क्योंकि उन्हें पता था कि यदि श्रीकृष्ण के सबसे बड़े भक्त नारद मुनि उन्हें आशीर्वाद दें अथवा मार्गदर्शन करें तो निश्चय ही वे तीनों लोकों में किसी भी व्यक्ति से उच्चतर पद प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार वे उस पद को प्राप्त करने में नारद जी की सहायता चाह रहे थे। वे ब्रह्मा से भी बड़ा पद प्राप्त करना चाहते थे। यह व्यवहारतः असम्भव बात थी, किन्तु भगवान् को प्रसन्न करके भक्त द्वारा असम्भव को भी सम्भव बनाया जा सकता है।

यहाँ पर जो एक विशेष बात कही गई है, वह यह है कि ध्रुव महाराज उच्च पद ग्रहण करना चाह रहे थे, किन्तु छल-छद्म से नहीं, वरन् सच्चे साधनों से। इससे सूचित होता है कि यदि कृष्ण उन्हें ऐसा

पद दें तो वे उसे स्वीकार कर लेंगे। ऐसा भक्त का स्वभाव होता है। वह भौतिक लाभ की इच्छा कर सकता है, किन्तु उसे तभी स्वीकार करता है जब कृष्ण प्रदान करते हैं। ध्रुव महाराज को दुख था कि वे नारद मुनि के उपदेश को नहीं मान पा रहे थे; इसीलिए उन्होंने नारद जी से प्रार्थना की कि वे कृपालु होकर उन्हें ऐसा मार्ग दिखाएँ जिससे उनकी आन्तरिक अभिलाषा पूर्ण हो सके।

नूनं भवान्भगवतो योऽङ्गजः परमेष्ठिनः ।
वितुदन्नटते वीणां हिताय जगतोऽर्कवत् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निश्चय ही; भवान्—आप; भगवतः—भगवान् के; यः—जो; अङ्ग-जः—शरीर से उत्पन्न; परमेष्ठिनः—ब्रह्मा; वितुदन्—बजाते हुए; अटते—सर्वत्र विचरण करते हो; वीणाम्—वीणा; हिताय—कल्याण के लिए; जगतः—संसार के; अर्क-वत्—सूर्य के समान।.

हे भगवन्, आप ब्रह्मा के सुयोग्य पुत्र हैं और आप अपनी वीणा बजाते हुए समस्त विश्व के कल्याण हेतु विचरण करते रहते हैं। आप सूर्य के समान हैं, जो समस्त जीवों के लाभ के लिए ब्रह्माण्ड-भर में चक्कर काटता रहता है।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज यद्यपि बालक थे, किन्तु उन्होंने आशा व्यक्त की कि उन्हें राज्य-प्राप्ति का वरदान प्राप्त हो, जो ऐश्वर्य में उनके बाप-दादों के ऐश्वर्य से बढ़कर हो। उन्होंने आभार भी व्यक्त की कि नारद जैसे महापुरुष से उनकी भेंट हुई है जिनका कार्य सूर्य के समान घूम-घूम कर विश्व को आलोकित करना है। नारद मुनि सारे ब्रह्माण्ड की यात्रा एकमात्र इस उद्देश्य से करते रहते हैं कि प्रत्येक जीव को वे भगवान् का भक्त बनना सिखा कर उसका कल्याण कर सकें। इस प्रकार ध्रुव महाराज को पूरा विश्वास हो गया था कि नारद मुनि उनकी इच्छा की पूर्ति कर सकते हैं, भले ही उनकी यह इच्छा अपूर्व थी।

यहाँ पर सूर्य का उदाहरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सूर्य इतना दयालु है कि बिना किसी भेदभाव के वह सर्वत्र प्रकाश संवितरित करता रहता है। ध्रुव महाराज ने नारद मुनि से प्रार्थना की कि वे उन पर कृपालु हों। उन्होंने इशारा किया कि समस्त बद्धजीवों का कल्याण करने के लिए नारद जी सारे ब्रह्माण्ड में विचरते रहते हैं। उन्होंने प्रार्थना की कि नारद मुनि उनकी विशेष इच्छा पूरी करने का वरदान देकर अनुग्रह करें। ध्रुव महाराज अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए कृत-संकल्प थे और इसी के

लिए ही तो उन्होंने अपना घर तथा महल त्यागा था।

मैत्रेय उवाच

इत्युदाहृतमाकर्ण्य भगवान्नारदस्तदा ।
प्रीतः प्रत्याह तं बालं सद्वाक्यमनुकम्पया ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; इति—इस प्रकार; उदाहृतम्—कहा जाकर; आकर्ण्य—सुन कर; भगवान् नारदः—महापुरुष नारद; तदा—तब; प्रीतः—प्रसन्न होकर; प्रत्याह—उत्तर दिया; तम्—उस; बालम्—बालक को; सत्-वाक्यम्—अच्छा उपदेश; अनुकम्पया—कृपावश।

मैत्रेय मुनि ने आगे कहा : ध्रुव महाराज के शब्दों को सुनकर महापुरुष नारद मुनि उन पर अत्यधिक दयालु हो गये और अपनी अहैतुकी कृपा दिखाने के उद्देश्य से उन्होंने निम्नलिखित विशिष्ट उपदेश दिया।

तात्पर्य : चूँकि नारद मुनि अग्रणी गुरु हैं, अतः स्वाभाविक है कि जो भी उनसे मिले उसको सर्वाधिक लाभ पहुँचाएँ। किन्तु ध्रुव महाराज बालक थे, अतः उनकी माँग भी एक खेलते बालक जैसी थी। तो भी महामुनि उन पर अत्यधिक दयालु हो गये और उनके कल्याण के लिए निम्नलिखित श्लोक कहे।

नारद उवाच

जनन्याभिहितः पन्थाः स वै निःश्रेयसस्य ते ।
भगवान्वासुदेवस्तं भज तं प्रवणात्मना ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; जनन्या—अपनी माता के द्वारा; अभिहितः—कहे गये; पन्थाः—पथ; सः—उस; वै—निश्चय ही; निःश्रेयसस्य—जीवन का परम लक्ष्य; ते—तुम्हारे लिए; भगवान्—भगवान्; वासुदेवः—श्रीकृष्ण; तम्—उसकी; भज—सेवा करो; तम्—उसके द्वारा; प्रवण-आत्मना—अपने मन को एकाग्र करके।

नारद मुनि ने ध्रुव महाराज से कहा : तुम्हारी माता सुनीति ने भगवान् की भक्ति के पथ का अनुसरण करने के लिए जो उपदेश दिया है, वह तुम्हारे लिए सर्वथा अनुकूल है। अतः तुम्हें भगवान् की भक्ति में पूर्ण रूप से निमग्न हो जाना चाहिए।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज ब्रह्मा से भी श्रेष्ठतर धाम प्राप्त करना चाहते थे। इस ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा का पद सबसे बड़ा माना जाता है, क्योंकि वे समस्त देवताओं के प्रधान हैं, किन्तु ध्रुव महाराज उनसे भी

बढ़कर कोई धाम चाह रहे थे। अत: उनकी इच्छा किसी देवता को पूज कर पूरी नहीं हो सकती थी। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, देवताओं द्वारा दिये गये वरदान क्षणिक होते हैं, अत: नारद मुनि ने ध्रुव महाराज को उनकी माता द्वारा बताये गये पथ—वासुदेव श्रीकृष्ण की पूजा—का अनुसरण करने के लिए कहा। जब श्रीकृष्ण कोई वस्तु प्रदान करते हैं, तो वह भक्तों की आशा से परे (अपूर्व) होती है। सुनीति तथा नारद मुनि दोनों ही जानते थे कि ध्रुव महाराज की माँग को पूरा कर पाना किसी देवता के वश की बात नहीं है, अत: दोनों ने भगवान् कृष्ण की भक्ति के पथ का अनुसरण करने की सलाह दी।

यहाँ पर नारद मुनि को भगवान् कहा गया है, क्योंकि वे भी भगवान् के ही समान किसी भी व्यक्ति को आशीर्वाद दे सकते हैं। वे ध्रुव महाराज से परम प्रसन्न थे और वे चाहते तो तुरन्त ही मनवांछित वर दे सकते थे, किन्तु गुरु का यह कर्तव्य नहीं है। उसका कर्तव्य तो शास्त्रानुमोदित रीति से शिष्य को भक्ति में लगाना है। इसी प्रकार अर्जुन के समक्ष श्रीकृष्ण उपस्थित थे और वे चाहते तो बिना युद्ध के विपक्षी दल पर विजय करा देते, किन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया, अपितु उन्होंने उससे युद्ध करने के लिए कहा। इसी प्रकार नारद मुनि ने ध्रुव महाराज को वांछित फल प्राप्त करने के लिए भक्ति-पथ का अनुसरण करने के लिए कहा।

धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः ।
एकं ह्येव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष—धर्म, आर्थिक विकास, इन्द्रिय-तृप्ति तथा मुक्ति, ये चार पुरुषार्थ; आख्यम्—नाम से; यः—जो; इच्छेत्—इच्छा करता है; श्रेयः—जीवन का लक्ष्य; आत्मनः—स्वयं का; एकम् हि एव—केवल एक; हरेः—भगवान् का; तत्र—उसमें; कारणम्—कारण; पाद-सेवनम्—चरणकमल की पूजा।

जो व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों की कामना करता है उसे चाहिए कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की भक्ति में अपने आपको लगाए, क्योंकि उनके चरणकमलों की पूजा से इन सबकी पूर्ति होती है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् की अनुमति से ही देवता वरदान दे सकते हैं। अत: जब किसी देवता के लिए कोई यज्ञ किया जाता है, तो यज्ञ का निरीक्षण करने के लिए *नारायण*-

शिला या *शालग्राम-शिला* सामने रखी जाती है। वस्तुत: परमेश्वर की अनुमति के बिना देवता कोई वरदान नहीं दे सकते। अत: नारद मुनि ने सलाह दी कि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के लिए भी मनुष्य को भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए, स्तुति करनी चाहिए और उनके चरणकमलों पर अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए याचना करनी चाहिए। यही वास्तविक बुद्धिमानी है। बुद्धिमान पुरुष कभी भी देवताओं से कुछ भी माँगने नहीं जाता। वह सीधे भगवान् के पास जाता है, जो समस्त वरदानों के कारणस्वरूप हैं।

जैसाकि भगवान् श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* में कहा है कर्मकाण्ड-अनुष्ठानों का सम्पन्न किया जाना वास्तविक धर्म नहीं है। धर्म का वास्तविक पथ तो भगवान् के चरणकमलों पर समर्पित होना है। जो भगवान् के चरणकमलों पर समर्पित हो चुका है उसके लिए अर्थ का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। जो भक्त भगवान् की सेवा में लगा रहता है, वह अपनी इन्द्रियों की तुष्टि के बारे में कभी भी निराश नहीं होता। यदि वह अपनी इन्द्रियों की तुष्टि चाहता है, तो श्रीकृष्ण वह भी इच्छा पूरी करते हैं। जहाँ तक मुक्ति का प्रश्न है, कोई भी भक्त जो भगवान् की सेवा में पूर्णत: अनुरक्त है, वह पहले से मुक्त रहता है, अत: अलग से मोक्ष की कोई आवश्यकता नहीं है।

अत: नारद मुनि ने ध्रुव महाराज को सलाह दी कि वे वासुदेव श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करें और अपनी माता द्वारा बताई गई विधि को मानें, क्योंकि इस प्रकार उनकी इच्छा पूर्ण होने में सहायता मिल सकेगी। इस श्लोक में नारद मुनि ने भगवान् की भक्ति को ही एकमात्र साधन बताया है। दूसरे शब्दों में, समस्त भौतिक आकांक्षाओं से युक्त होने पर भी मनुष्य को भगवान् की भक्ति करते रहना चाहिए। इससे उसकी समस्त इच्छाएँ पूरी होंगी।

तत्तात गच्छ भद्रं ते यमुनायास्तटं शुचि ।
पुण्यं मधुवनं यत्र सान्निध्यं नित्यदा हरेः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस; तात—हे पुत्र; गच्छ—जाओ; भद्रम्—शुभ हो; ते—तुम्हारा; यमुनायाः—यमुना का; तटम्—किनारा, तट; शुचि—शुद्ध; पुण्यम्—पवित्र; मधु-वनम्—मधुवन नामक; यत्र—जहाँ; सान्निध्यम्—निकट होते हुए; नित्यदा—सदैव; हरेः—भगवान् के।

हे बालक, तुम्हारा कल्याण हो। तुम यमुना के तट पर जाओ, जहाँ पर मधुवन नामक

विख्यात जंगल है और वहीं पर पवित्र होओ। वहाँ जाने से ही मनुष्य वृन्दावनवासी भगवान् के निकट पहुँचता है।

तात्पर्य : नारद मुनि तथा ध्रुव महाराज की माता सुनीति दोनों ने ही ध्रुव महाराज को भगवान् की उपासना करने के लिए सलाह दी। अब नारद मुनि विशेष रूप से निर्देश दे रहे हैं कि भगवान् की यह आराधना किस प्रकार जल्द ही फलवती हो। वे ध्रुव महाराज को यमुना के तट पर, जहाँ मधुवन नामक वन है, जाकर ध्यान करने और जप करने की सलाह देते हैं।

आध्यात्मिक जीवन में शीघ्र प्रगति के लिए भक्त को तीर्थस्थान से विशेष लाभ प्राप्त होता है। यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण सर्वत्र वास करते हैं, किन्तु इन पवित्र स्थानों में जाने से उनके निकट तक पहुँचने में सरलता होती है, क्योंकि ऐसे स्थानों में बड़े-बड़े ऋषि-मुनि रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जहाँ कहीं भी उनके भक्त उनकी दिव्य लीलाओं का कीर्तन करते हैं, वहीं वे वास करते हैं। भारत में अनेक तीर्थस्थान हैं। इनमें से बदरीनारायण, द्वारका, रामेश्वरम तथा जगन्नाथपुरी प्रमुख हैं। ये पवित्र स्थान चारों धाम कहलाते हैं। धाम का अर्थ है ऐसा स्थान जहाँ भगवान् से तुरन्त सम्पर्क स्थापित हो सके। बदरीनारायण जाने के लिए हरद्वार होकर जाना होता है। इसी प्रकार अन्य तीर्थस्थल हैं, यथा प्रयाग (इलाहाबाद) तथा मथुरा, और इन सबों में सर्वोपरि है वृन्दावन। जब तक कोई आध्यात्मिक जीवन में बहुत ऊपर उठा नहीं होता, उसे ऐसे स्थानों में रहकर भक्ति करने की संस्तुति की जाती है। किन्तु नारद मुनि जैसा सिद्ध भक्त, जो सदैव प्रचार कार्य में लगा रहता है, कहीं भी भगवान् की सेवा कर सकता है। कभी-कभी नारद नरक लोक में भी जाते हैं। उन्हें नारकीय अवस्थाएँ प्रभावित नहीं करती, क्योंकि वे भक्ति के अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य में व्यस्त रहते हैं। नारद मुनि के अनुसार वृन्दावन, जो मथुरा जिले के वृन्दावन क्षेत्र में स्थित है, सबसे अधिक पवित्र स्थान है। आज भी अनेक साधु पुरुष वहाँ रहकर भगवान् की भक्ति करते हैं।

वृन्दावन क्षेत्र में बारह वन हैं और मधुवन इनमें से एक है। भारत भर के तीर्थयात्री एकत्र होकर इन बारहों वनों का दर्शन करते हैं। इनमें से पाँच वन यमुना के पूर्वी तट पर हैं। ये हैं—भद्रवन, विल्ववन, लौहवन, भाण्डीरवन तथा महावन। यमुना के पश्चिमी तट पर सात वन हैं, जो इस प्रकार

हैं—मधुवन, तालवन, कुमुदवन, बहुलावन, काम्यवन, खदिरवन तथा वृन्दावन। इन बारहों वनों में विभिन्न घाट हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) अविमुक्त, (२) अधिरूढ़, (३) गुह्य-तीर्थ, (४) प्रयाग-तीर्थ, (५) कनखल, (६) तिन्दुक-तीर्थ, (७) सूर्य-तीर्थ, (८) वटस्वामी, (९) ध्रुव-घाट (जहाँ अनेक फल तथा पुष्प वृक्ष हैं। यह स्थान प्रसिद्ध है क्योंकि यहीं पर ध्रुव महाराज ने ऊँचे चबूतरे पर तपस्या की थी), (१०) ऋषि-तीर्थ, (११) मोक्ष-तीर्थ, (१२) बुद्ध-तीर्थ, (१३) गोकर्ण, (१४) कृष्ण-गंगा, (१५) वैकुण्ठ, (१६) असि-कुंड, (१७) चतु:सामुद्रिक कूप, (१८) अक्रूर-तीर्थ (जब अक्रूर के रथ से कृष्ण तथा बलराम मथुरा जा रहे थे तो इसी घाट में सबों ने स्नान किया था), (१९) याज्ञिक-विप्र-स्थान, (२०) कुब्जा-कूप, (२१) रंग-स्थल, (२२) मंच-स्थल, (२३) मल्लयुद्ध-स्थान तथा (२४) दशाश्वमेध।

स्नात्वानुसवनं तस्मिन्कालिन्द्याः सलिले शिवे ।
कृत्वोचितानि निवसन्नात्मनः कल्पितासनः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

स्नात्वा—स्नान करके; अनुसवनम्—तीन बार; तस्मिन्—उस; कालिन्द्याः—कालिन्दी नदी (यमुना) में; सलिले—जल में; शिवे—शुभ; कृत्वा—करके; उचितानि—उपयुक्त; निवसन्—बैठ कर; आत्मनः—स्वयं का; कल्पित-आसनः—आसन बनाकर।

नारद मुनि ने उपदेश दिया : हे बालक, यमुना नदी अथवा कालिन्दी के जल में तुम नित्य तीन बार स्नान करना, क्योंकि यह जल शुभ, पवित्र एवं स्वच्छ है। स्नान के पश्चात् अष्टांगयोग के आवश्यक अनुष्ठान करना और तब शान्त मुद्रा में अपने आसन पर बैठ जाना।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि ध्रुव महाराज को पहले ही अष्टांग-योग-विधि का अभ्यास करना बता दिया गया था। इस विधि की व्याख्या हमारी पुस्तक *भगवद्गीता यथारूप* के सांख्य योग शीर्षक के अध्याय छह श्लोक ११ से १५ में की गई है। अष्टांग योग में मन को स्थिर किया जाता है और फिर विष्णु के रूप में केन्द्रित किया जाता है, जैसाकि अगले श्लोकों में बताया गया है। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि अष्टांग योग कोई शारीरिक व्यायाम नहीं, वरन् विष्णु के स्वरूप के साथ मन को एकाग्र करने का अभ्यास है। आसन में बैठने के पूर्व जैसा भगवद्गीता में कहा गया है मनुष्य को नित्य स्वच्छ अथवा पवित्र जल से प्रति दिन तीन बार अपने को शुद्ध करना होता है। यमुना का जल

स्वभावत: अत्यन्त स्वच्छ तथा शुद्ध रहता है, अत: जो भी इसमें तीन बार स्नान करता है, निस्सन्देह, बाहर से वह अत्यधिक शुद्ध हो जाता है। इसीलिए नारद मुनि ने ध्रुव महाराज को सलाह दी कि वे यमुना तट पर जाँए और बाहर से शुद्ध हो लें। योग-अभ्यास की क्रमिक विधि का यह अंग है।

प्राणायामेन त्रिवृता प्राणेन्द्रियमनोमलम् ।
शनैर्व्युदस्याभिध्यायेन्मनसा गुरुणा गुरुम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

प्राणायामेन—प्राणायाम (श्वास की कसरत) से; त्रि-वृता—तीन विधियों से; प्राण-इन्द्रिय—प्राणवायु तथा इन्द्रियाँ; मन:—मन; मलम्—अशुद्धि; शनै:—धीरे-धीरे; व्युदस्य—छोड़कर; अभिध्यायेत्—ध्यान धरो; मनसा—मन से; गुरुणा—अविचल; गुरुम्—परम गुरु, श्रीकृष्ण को।.

आसन ग्रहण करने के पश्चात् तुम तीन प्रकार के प्राणायाम करना और इस प्रकार धीरे-धीरे प्राणवायु, मन तथा इन्द्रियों को वश में करना। अपने को समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त करके तुम अत्यन्त धैर्यपूर्वक भगवान् का ध्यान प्रारम्भ करना।

तात्पर्य : इस श्लोक में संक्षेप में सारी योग-विधि वर्णित है और मन को विचलित होने से रोकने के लिए प्राणायाम पर विशेष बल दिया गया है। मन स्वभावत: सदैव दोलायमान रहता है क्योंकि वह चंचल है, किन्तु प्राणायाम से इसे रोका जा सकता है। लाखों वर्ष पूर्व जब ध्रुव महाराज ने प्राणायाम का अभ्यास किया, तो उस समय मन को इस प्रकार वश में करना सम्भव रहा होगा, किन्तु आज के समय में तो कीर्तन द्वारा मन को सीधे भगवान् के चरणकमलों में स्थिर करना होता है। हरे कृष्ण मंत्र का जाप करके मनुष्य तुरन्त शब्दोच्चार में केन्द्रित होकर भगवान् के चरणकमल का चिन्तन करता है और शीघ्र ही वह समाधि की दशा को प्राप्त हो जाता है। यदि कोई भगवान् के पवित्र नामों का कीर्तन करता रहे तो स्वाभाविक है कि उसका मन भगवान् के विचार में मग्न हो जाए, क्योंकि भगवान् के नाम भगवान् से भिन्न नहीं हैं।

यहाँ पर संस्तुति की गई है कि ध्रुव महाराज परम गुरु का ध्यान करें। परम गुरु तो श्रीकृष्ण हैं, जो *चैत्य गुरु* कहलाते हैं, जिसका अर्थ है परमात्मा, जो प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, परमात्मा अन्तर से सहायता करते हैं और गुरु भेज देते हैं जो बाहर से सहायता करता है। गुरु तो *चैत्य गुरु* अर्थात् प्रत्येक के हृदय में स्थित परमात्मा का बाह्य प्राकट्य है।

जिस विधि से हम भौतिक वस्तुओं के प्रति अपने विचारों का परित्याग करते हैं वह *प्रत्याहार* कहलाती है, जिसमें समस्त भौतिक विचारों तथा व्यापारों से मुक्त होना सम्मिलित है। इस श्लोक में प्रयुक्त *अभिधायेत्* शब्द सूचित करता है कि जब तक मनुष्य का मन स्थिर नहीं हो जाता, तब तक वह ध्यान नहीं कर सकता। अत: निष्कर्ष यह निकला कि ध्यान का अर्थ है अन्त: में भगवान् के विषय में सोचना। चाहे *अष्टांग योग* से यह अवस्था प्राप्त की जाये या इस युग के लिए शास्त्रों द्वारा बताई गई नाम-कीर्तन की विधि से प्राप्त की जाये, दोनों का उद्देश्य भगवान् के विषय में ध्यान करना है।

प्रसादाभिमुखं शश्वत्प्रसन्नवदनेक्षणम् ।
सुनासं सुभ्रुवं चारुकपोलं सुरसुन्दरम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

प्रसाद-अभिमुखम्—सदैव अहैतुकी कृपा करने के लिए तत्पर; शश्वत्—सदैव; प्रसन्न—हर्षित; वदन—मुख; ईक्षणम्—दृष्टि; सु-नासम्—सुन्दर नाक; सु-भ्रुवम्—सुसज्जित भौंहें; चारु—सुन्दर; कपोलम्—कपोल; सुर—देवता; सुन्दरम्—देखने में सुन्दर।

[यहाँ पर भगवान् के रूप का वर्णन हुआ है।] भगवान् का मुख सदैव अत्यन्त सुन्दर और प्रसन्न मुद्रा में रहता है। देखने वाले भक्तों को वे कभी अप्रसन्न नहीं दिखते और वे सदैव उन्हें वरदान देने के लिए उद्यत रहते हैं। उनके नेत्र, सुसज्जित भौंहें, उन्नत नासिका तथा चौड़ा मस्तक—ये सभी अत्यन्त सुन्दर हैं। वे समस्त देवताओं से अधिक सुन्दर हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् के रूप के ध्यान करने की स्पष्ट विधि का वर्णन है। निर्गुण ध्यान आधुनिक युग की नकली खोज है। किसी भी वैदिक ग्रंथ में निर्गुण ध्यान की संस्तुति नहीं की गई। *भगवद्गीता* में, जहाँ ध्यान की संस्तुति की गई है, *मत्पर:* शब्द व्यवहृत हुआ है, जिसका अर्थ है, "मुझसे सम्बन्धित।" विष्णु का कोई भी रूप भगवान् श्रीकृष्ण से सम्बन्धित है क्योंकि श्रीकृष्ण ही आदि विष्णु रूप हैं। कभी-कभी कुछ लोग निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करने का प्रयास करते हैं जिसका उल्लेख *भगवद्गीता* में *अव्यक्त* अर्थात् अप्रकट या निर्गुण कहकर किया गया है। किन्तु भगवान् ने स्वयं यह बतलाया है कि जो भगवान् के निर्गुण रूप के प्रति आसक्त हैं उन्हें अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ता है, क्योंकि कोई भी निर्गुण रूप पर ध्यान केन्द्रित नहीं कर सकता। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के उस रूप पर ध्यान केन्द्रित करे जिसका वर्णन यहाँ ध्रुव महाराज के ध्यान के

प्रसंग में हुआ है। जैसाकि आगे चलकर स्पष्ट हो जाएगा, ध्रुव महाराज ने इस प्रकार के ध्यान में प्रवीणता प्राप्त की और उनका योग सफल हुआ।

तरुणं रमणीयाङ्गमरुणोष्ठेक्षणाधरम् ।
प्रणताश्रयणं नृम्णं शरण्यं करुणार्णवम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

तरुणम्—जवान; रमणीय—आकर्षक; अङ्गम्—शरीर के सभी अंग; अरुण-ओष्ठ—उदीयमान सूर्य की तरह लाल-लाल होंठ; ईक्षण-अधरम्—उसी प्रकार की आँखें; प्रणत—शरणागत; आश्रयणम्—शरणागतों की शरण (आश्रय); नृम्णम्—दिव्य रूप से मनोहर; शरण्यम्—जिसकी शरण में जाने योग्य हो; करुणा—मानो दया से पूर्ण; अर्णवम्—समुद्र।

नारद मुनि ने आगे कहा : भगवान् का रूप सदैव युवावस्था में रहता है। उनके शरीर का अंग-प्रत्यंग सुगठित एवं दोषरहित है। उनके नेत्र तथा होंठ उदीयमान सूर्य की भाँति गुलाबी से हैं। वे शरणागतों को सदैव शरण देने वाले हैं और जिसे उनके दर्शन का अवसर मिलता है, वह सभी प्रकार से संतुष्ट हो जाता है। दया के सिन्धु होने के कारण भगवान् शरणागतों के स्वामी होने के योग्य हैं।

तात्पर्य : हर एक को अपने से बड़े के प्रति समर्पण करना पड़ता है। हम जीवों की यही प्रकृति है। इस समय हम किसी के प्रति समर्पण करने का प्रयास करते रहते हैं—चाहे वह समाज हो, या राष्ट्र, परिवार, राजसत्ता या सरकार। समर्पण की प्रणाली पहले से विद्यमान है, किन्तु यह कभी-भी पूर्ण नहीं, क्योंकि जिस व्यक्ति या संस्था को हम समर्पण करते हैं, वह अपूर्ण है और अनेक चरम प्रयोजनों के कारण हमारा समर्पण भी अधूरा है। फलत: इस भौतिक जगत में न तो कोई किसी के समर्पण को स्वीकार करने का सुपात्र है और न कोई तब तक पूर्ण रूप से समर्पित होता है, जब तक वह ऐसा करने के लिए बाध्य न हो जाय। किन्तु यहाँ समर्पण-विधि ऐच्छिक है और भगवान् इस समर्पण को स्वीकार करने के सर्वथा योग्य हैं। जीव का यह समर्पण उस समय स्वत: हो जाता है जब मनुष्य भगवान् के तरुण रूप को देखता है।

नारद मुनि ने जो विवरण दिया है, वह काल्पनिक नहीं है। भगवान् के रूप को परम्परा से समझा जा सकता है। मायावादी दार्शनिकों का कहना है कि उन्हें उस भगवान् के रूप की कल्पना करनी पड़ती है, किन्तु नारद मुनि ने ऐसा नहीं कहा। अपितु वे भगवान् का वर्णन प्रामाणिक स्रोतों से करते

हैं। वे स्वयं अधिकारी हैं, वे वैकुण्ठलोक जा सकते हैं और भगवान् का साक्षात् दर्शन कर सकते हैं। उनका अत: भगवान् के अंगों का शारीरिक वर्णन काल्पनिक नहीं हैं। कभी-कभी हम अपने विद्यार्थियों को भगवान् के शारीरिक स्वरूप के विषय में शिक्षा देते हैं और वे उसका चित्रण करते हैं। उनके चित्रण काल्पनिक नहीं होते। यह विवरण शिष्य-परम्परा से प्राप्त होता है, जैसाकि नारदमुनि से प्राप्त होता है जिन्होंने भगवान् तथा उनके शारीरिक स्वरूप का दर्शन किया है। अत: ऐसे विवरणों को, यदि वे चित्रित हों, तो स्वीकार कर लेना चाहिए; यह काल्पनिक चित्रण नहीं है।

श्रीवत्साङ्कं घनश्यामं पुरुषं वनमालिनम् ।
शङ्खचक्रगदापद्मैरभिव्यक्तचतुर्भुजम् ॥ ४७॥

शब्दार्थ

श्रीवत्स-अङ्कम्—भगवान् के वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिह्न; घन-श्यामम्—गहरा नीला; पुरुषम्—परम पुरुष; वन-मालिनम्—फूलों की माला से युक्त; शङ्ख—शंख; चक्र—चक्र; गदा—गदा; पद्मै:—कमल पुष्प से; अभिव्यक्त—प्रकट; चतु:-भुजम्—चार हाथों वाले को।

भगवान् को श्रीवत्स चिह्न अथवा ऐश्वर्य की देवी का आसन धारण किये हुए बताया गया है। उनके शरीर का रंग गहरा नीला (श्याम) है। भगवान् पुरुष हैं, वे फूलों की माला पहनते हैं और वे चतुर्भुज रूप में (नीचेवाले बाएँ हाथ से आरम्भ करते हुए) शंख, चक्र, गदा तथा कमल पुष्प धारण किये हुए नित्य प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *पुरुषम्* शब्द अत्यन्त सार्थक है। ईश्वर कभी स्त्री रूप में नहीं रहते। वे हमेशा पुरुष रूप हैं। अत: जो निर्गुणवादी भगवान् की कल्पना स्त्री रूप में करते हैं, वे भ्रम में हैं। आवश्यकता पड़ने पर भगवान् स्त्री रूप में प्रकट होते हैं, किन्तु उनका शाश्वत मूल रूप पुरुष का है। भगवान् का स्त्री-रूप लक्ष्मी, राधारानी, सीता इत्यादि रूप में है। ये सभी देवियाँ भगवान् की दासियाँ हैं, वे कभी प्रधान नहीं, जैसाकि निर्गुणवादी भ्रान्तिवश कल्पना करते हैं। श्रीकृष्ण अपने नारायण रूप में सदैव चतुर्भुज रहते हैं। कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में जब अर्जुन ने उनका विराट रूप देखना चाहा तो उन्होंने अपने चतुर्भुज नारायण रूप का दर्शन कराया। कुछ भक्त इस मत के हैं कि श्रीकृष्ण नारायण के अवतार हैं, किन्तु भागवत मतावलम्बियों का कथन है कि नारायण श्रीकृष्ण का ही प्राकट्य है।

किरीटिनं कुण्डलिनं केयूरवलयान्वितम् ।
कौस्तुभाभरणग्रीवं पीतकौशेयवाससम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

किरीटिनम्—मुकुट धारण किये भगवान्; कुण्डलिनम्—कुण्डल सहित; केयूर—रत्नजटित हार; वलय-अन्वितम्—रत्नजटित बाजूबन्द सहित; कौस्तुभ-आभरण-ग्रीवम्—जिनकी ग्रीवा (गर्दन) कौस्तुभ मणि से अलंकृत है; पीत-कौशेय-वाससम्—जो पीले रेशम का वस्त्र धारण किये हैं।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव का सारा शरीर आभूषित है। वे बहुमूल्य मणिमय मुकुट, हार तथा बाजूबन्द धारण किये हुए हैं। उनकी गर्दन कौस्तुभ मणि से अलंकृत है और वे पीत रेशमी वस्त्र धारण किये हैं।

काञ्चीकलापपर्यस्तं लसत्काञ्चननूपुरम् ।
दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्धनम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

काञ्ची-कलाप—छोटे-छोटे घुंघुरू; पर्यस्तम्—कमर को घेरते हुए; लसत्-काञ्चन-नूपुरम्—सुनहले नूपुरों से अलंकृत पाँव; दर्शनीय-तमम्—अत्यन्त दर्शनीय; शान्तम्—शान्त, मौन; मनः-नयन-वर्धनम्—आँखों तथा मन को मोहने वाला।

भगवान् का कटि-प्रदेश सोने की छोटी-छोटी घंटियों से अलंकृत है और उनके चरणकमल सुनहले नूपुरों से सुशोभित हैं। उनके सभी शारीरिक अंग अत्यन्त आकर्षक एवं नेत्रों को भाने वाले हैं। वे सदैव शान्त तथा मौन रहते हैं और नेत्रों तथा मन को अत्यधिक मोहनेवाले हैं।

पद्भ्यां नखमणिश्रेण्या विलसद्भ्यां समर्चताम् ।
हृत्पद्मकर्णिकाधिष्ण्यमाक्रम्यात्मन्यवस्थितम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

पद्भ्याम्—अपने चरणकमलों से; नख-मणि-श्रेण्या—पाँव के अँगूठे के मणि सदृश्य नाखूनों की ज्योति से; विलसद्भ्याम्—चमकते चरणकमल; समर्चताम्—उनकी पूजा में तत्पर पुरुष; हृत्-पद्म-कर्णिका—हृदय के कमल पुष्प का पुंज; धिष्ण्यम्—स्थित; आक्रम्य—पकड़कर, कब्जा करके; आत्मनि—हृदय में; अवस्थितम्—स्थित।

वास्तविक योगी भगवान् के उस दिव्यरूप का ध्यान करते हैं जिसमें वे उनके हृदयरूपी कमल-पुंज में खड़े रहते हैं और उनके चरण-कमलों के मणितुल्य नाखून चमकते रहते हैं।

स्मयमानमभिध्यायेत्सानुरागावलोकनम् ।
नियतेनैकभूतेन मनसा वरदर्षभम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

स्मयमानम्—भगवान् की हँसी; अभिध्यायेत्—उनका ध्यान करे; स-अनुराग-अवलोकनम्—भक्तों की ओर अत्यन्त स्नेह से देखते हुए; नियतेन—इस प्रकार, नियमित रूप से; एक-भूतेन—अत्यन्त ध्यानपूर्वक; मनसा—मन-ही-मन; वर-द-ऋषभम्—श्रेष्ठ वरदायक का ध्यान करे।

भगवान् सदैव मुस्कराते रहते हैं और भक्त को चाहिए कि वह सदा इसी रूप में उनका दर्शन करता रहे, क्योंकि वे भक्तों पर कृपा-पूर्वक दृष्टि डालते हैं। इस प्रकार से ध्यानकर्ता को चाहिए कि वह समस्त वरों को देने वाले भगवान् की ओर निहारता रहे।

तात्पर्य : इस प्रसंग में *नियतेन* शब्द अत्यन्त सार्थक है, क्योंकि यह सूचित करता है कि उपर्युक्त निश्चित विधि से ही ध्यान किया जाये। मनुष्य को चाहिए कि वह श्री भगवान् के ध्यान की कोई नई विधि न गढ़े, वरन् प्रामाणिक शास्त्रों तथा महापुरुषों का अनुगमन करे। इस विधि से मनुष्य अपने मन को भगवान् में एकाग्र करने का अभ्यास तब तक करता रह सकता है जब तक कि वह इतना स्थिर न हो ले कि समाधि में रह कर निरन्तर भगवान् के स्वरूप के विषय में ही सोचता रहे। यहाँ पर प्रयुक्त *एकभूतेन* शब्द का अर्थ, "अत्यन्त ध्यान पूर्वक तथा मनोयोग से" है। यदि कोई भगवान् के शारीरिक स्वरूप पर केन्द्रित रहता है, तो उसकी अधोगति नहीं होती।

एवं भगवतो रूपं सुभद्रं ध्यायतो मनः ।
निर्वृत्या परया तूर्णं सम्पन्नं न निवर्तते ॥५२॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; भगवतः—भगवान् का; रूपम्—रूप; सु-भद्रम्—अत्यन्त कल्याणकारी; ध्यायतः—ध्यान करते हुए; मनः—मन; निर्वृत्या—समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त होकर; परया—दिव्य; तूर्णम्—शीघ्र; सम्पन्नम्—समृद्ध होकर; न—कभी नहीं; निवर्तते—नीचे आता है।

भगवान् के नित्य मंगलमय रूप में जो अपने मन को एकाग्र करते हुए इस प्रकार से ध्यान करता है, वह अतिशीघ्र ही समस्त भौतिक कल्मष से छूट जाता है और भगवान् के ध्यान की स्थिति से फिर लौटकर नीचे (मर्त्य-लोक) नहीं आता।

तात्पर्य : स्थिर ध्यान को *समाधि* कहते हैं, जैसाकि यहाँ वर्णन हुआ है। भगवान् की प्रेमाभक्ति में निरन्तर लगा रहने वाला व्यक्ति अपने ध्यान से विचलित नहीं हो सकता। मन्दिर में श्रीविग्रह के अर्चन के लिए *पांचरात्र* भक्ति पद्धति में जो *अर्चन-मार्ग* बताया गया है, उसमें भक्त निरन्तर भगवान् का चिन्तन करता है, यही *समाधि* है। जो इस प्रकार से अभ्यास करता है, वह भगवान् की सेवा से

विचलित नहीं होता और इससे वह मानव जीवन के उद्देश्य में सफल हो जाता है।

जपश्च परमो गुह्यः श्रूयतां मे नृपात्मज ।
यं सप्तरात्रं प्रपठन्पुमान्पश्यति खेचरान् ॥५३॥

शब्दार्थ

जपः च—इस सम्बन्ध में मंत्र का जाप; परमः—अत्यन्त; गुह्यः—गोपनीय; श्रूयताम्—सुनो; मे—मुझसे; नृप-आत्मज—हे राजपुत्र; यम्—जो; सप्त-रात्रम्—सात रात्रियाँ; प्रपठन्—जपता हुआ; पुमान्—पुरुष; पश्यति—देख सकता है; खे-चरान्—आकाश में चलने वाले प्राणियों को।

हे राजपुत्र, अब मैं तुम्हें वह मंत्र बताऊँगा जिसे इस ध्यान विधि के समय जपना चाहिए। जो कोई इस मंत्र को सात रात सावधानी से जपता है, वह आकाश में उड़ने वाले सिद्ध मनुष्यों को देख सकता है।

तात्पर्य : इस ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत सिद्धलोक नामक एक लोक है। सिद्ध लोक के वासी स्वभावतः योग की सिद्धियों में पारंगत होते हैं। ये सिद्धियाँ आठ प्रकार की हैं, जिनके द्वारा मनुष्य सूक्ष्म से सूक्ष्म, हल्के से हल्का या विशाल से विशालतम हो सकता है; वह जो भी इच्छा करे उसे तुरन्त प्राप्त कर सकता है, यहाँ तक कि वह लोक की सृष्टि कर सकता है। कुछ सिद्धियाँ इस प्रकार हैं। *लघिमा सिद्धि* के द्वारा सिद्धलोक के वासी किसी वायुयान या विमान के बिना उड़ सकते हैं। यहाँ पर नारद मुनि ने ध्रुव महाराज से संकेत किया है कि भगवान् के दिव्य रूप का ध्यान और साथ ही मंत्र का जाप करते हुए मनुष्य सात दिनों में इतना सिद्ध हो सकता है कि वह आकाश में उड़ने वाले मनुष्यों को देख सकता है। नारद मुनि ने *जपः* शब्द का प्रयोग किया है, जो बताता है कि जिस मंत्र का जप किया जाना है, वह अत्यन्त गोपनीय है। कोई यह प्रश्न कर सकता है, "यदि यह गोपनीय है, तो फिर *श्रीमद्भागवत* में वह लिखित रूप में क्यों वर्णित है?" यह इस रूप में गोपनीय है—मनुष्य छपा हुआ मंत्र कहीं से प्राप्त कर सकता है, किन्तु जब तक यह दीर्घ शिष्य-परम्परा द्वारा स्वीकृत नहीं होता, तब तक वह मंत्र कार्य नहीं करता। प्रामाणिक सूत्रों का कहना है कि जब तक कोई मंत्र परम्परा से प्राप्त नहीं होता, तब तक उसकी कोई क्षमता नहीं होती।

इस श्लोक में एक अन्य बात स्थापित की गई है और वह है कि मंत्रोचारण के साथ-साथ ध्यान करना चाहिए। इस युग में हरे कृष्ण मंत्र का जाप ही ध्यान की सरलतम विधि है। ज्योंही कोई हरे

कृष्ण मंत्र का उच्चारण करता है, उसे कृष्ण, राम तथा उनकी शक्तियों के दर्शन होते हैं और समाधि की यही पूर्ण अवस्था है। मनुष्य को हरे कृष्ण मंत्र का जप करते समय बनावटी विधि से भगवान् के रूपदर्शन का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, अपितु जब यह कीर्तन (जप) निर्दोषपूर्ण भाव से किया जाता है, तो भगवान् स्वत: कीर्तन करने वाले के समक्ष प्रकट हो जाएंगे। अत: जपकर्ता को शब्द तरंग सुनने में ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। भगवान् बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के ही स्वत: प्रकट होंगे।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
मन्त्रेणानेन देवस्य कुर्याद्द्रव्यमयीं बुध: ।
सपर्यां विविधैर्द्रव्यैर्देशकालविभागवित् ॥५४॥

शब्दार्थ

ॐ—हे भगवान्; नम:—नमस्कार है; भगवते—भगवान् को; वासुदेवाय—वासुदेव को; मन्त्रेण—मंत्र से; अनेन—इस; देवस्य—भगवान् का; कुर्यात्—करना चाहिए; द्रव्यमयीम्—भौतिक; बुध:—विद्वान; सपर्याम्—वेदोक्त विधि से पूजा; विविधै:—अनेक प्रकार की; द्रव्यै:—सामग्री से; देश—स्थान के अनुसार; काल—समय; विभाग-वित्—विभागों को जानने वाला।.

श्रीकृष्ण की पूजा का बारह अक्षर वाला मंत्र है—ॐ नमो भगवते वासुदेवाय। ईश्वर का विग्रह स्थापित करके उसके समक्ष मंत्रोच्चार करते हुए प्रामाणिक विधि-विधानों सहित मनुष्य को फूल, फल तथा अन्य खाद्य-सामग्रियाँ अर्पित करनी चाहिए। किन्तु यह सब देश, काल तथा साथ ही सुविधाओं एवं असुविधाओं का ध्यान रखते हुए करना चाहिए।

तात्पर्य : *ॐ नमो भगवते वासुदेवाय* को *द्वादश अक्षर मन्त्र* कहा जाता है। यह मंत्र वैष्णव भक्तों द्वारा जप किया जाता है और यह प्रणव अर्थात् ओंकार से प्रारम्भ होता है। ऐसा आदेश है कि जो ब्राह्मण नहीं हैं, वे इस प्रणव मंत्र का उच्चारण नहीं कर सकते, किन्तु ध्रुव महाराज तो जन्मजात क्षत्रिय थे। उन्होंने नारद मुनि के समक्ष तुरन्त स्वीकार किया कि क्षत्रिय होने के कारण वे नारद के त्याग तथा मन–सन्तुलन के उपदेश को स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि ये तो ब्राह्मण के लिए हैं। तो भी ब्राह्मण न होते हुए भी नारद के आदेश से ध्रुव को प्रणव ओंकार उच्चारण करने की अनुमति मिल गई। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विशेषत: भारत में ब्राह्मण लोग अन्य जाति वालों के द्वारा प्रणव मंत्र का उच्चारण किये जाने पर विरोध करते हैं। किन्तु यहाँ पर सबल प्रमाण है कि जो व्यक्ति वैष्णव मंत्र अथवा देव पूजा की वैष्णव विधि को स्वीकार करता है उसे प्रणव मंत्र का जप करने दिया जाता है। *भगवद्गीता* में भगवान् स्वयं स्वीकार करते हैं कि चाहे जो कोई हो, भले ही वह निम्नयोनि का हो, यदि वह ठीक

से केवल पूजा ही करे तो वह उच्च पद को प्राप्त हो सकता है और भगवान् के धाम को वापस जा सकता है।

जैसाकि नारदमुनि ने बताया है प्रामाणिक नियम यह है कि मनुष्य को प्रामाणिक गुरु से मंत्र ग्रहण करना चाहिए और मंत्र दाहिने कान से सुनना चाहिए। न केवल उसे मंत्र को जपना या गुनगुनाना चाहिए वरन् अपने समक्ष श्रीविग्रह अथवा भगवान् के भौतिक रूप को रखना चाहिए। निस्सन्देह, जब भगवान् प्रकट होते हैं, तो यह भौतिक रूप नहीं रह पाता। उदाहरणार्थ, जब लोहे की छड़ को आग में तपाया जाता है, तो वह लोहा न रहकर आग हो जाता है। इसी प्रकार जब हम भगवान् का स्वरूप तैयार करते हैं—चाहे वह लकड़ी का हो या पत्थर, धातु, मणि या रंग का अथवा मानसिक हो—तो यह भगवान् का प्रामाणिक, आत्मिक, दिव्य रूप होता है। मनुष्य को न केवल नारद जैसे प्रामाणिक गुरु या परम्परा से उनके प्रतिनिधि द्वारा मंत्र ग्रहण करना चाहिए, वरन् मंत्र का जप भी करना चाहिए। उसे केवल जप ही नहीं करना होता, वरन् समय तथा सुविधा के अनुसार जगत के उस भाग (देश) में जो भी खाद्य-सामग्री उपलब्ध हो उसकी भेंट चढ़ानी चाहिए।

पूजा की विधि, जिसमें ही मंत्र का जप तथा भगवान् का स्वरूप (विग्रह) तैयार किया जाता है, घिसी-पिटी नहीं है और न ही सर्वत्र एकसमान है। इस श्लोक में स्पष्ट उल्लेख है कि देश, काल तथा सुविधा का ध्यान रखना चाहिए। हमारा कृष्णभावनामृत-आन्दोलन समग्र विश्व में चलाया जा रहा है और हम भी विभिन्न केन्द्रों में श्रीविग्रह (मूर्तियाँ) स्थापित करते हैं। कभी-कभी हमारे भारतीय मित्र आडम्बरपूर्ण विचारधारा के कारण आलोचना करते हैं "यह नहीं हुआ, वह नहीं हुआ।" किन्तु वे परम वैष्णव ध्रुव महाराज को नारद मुनि द्वारा दी गई शिक्षा को भूल जाते हैं। मनुष्य को देश, काल तथा सुविधा को ध्यान में रखना होगा। भारत में जो सुविधाजनक हो सकता है, वह पश्चिमी देशों में नहीं हो सकता। जो आचार्यों की पंक्ति में नहीं हैं, अथवा जिन्हें आचार्य की तरह कार्य करने का अनुभव नहीं है, वे वृथा ही भारत के बाहर कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के कार्यों की आलोचना करते हैं। तथ्य यह है कि ऐसे आलोचक कृष्णचेतना के प्रसार में स्वयं कुछ नहीं कर सकते। यदि कोई बाहर जाता है और देश तथा काल को ध्यान में रखते हुए प्रचार करता है, तो सम्भावना है कि पूजा की

विधि में अन्तर आ जाये, किन्तु शास्त्रों के अनुसार यह किंचित्मात्र दोषपूर्ण नहीं है। रामानुज सम्प्रदाय की शिष्य-परम्परा के आचार्य श्रीमद् वीरराघव आचार्य ने अपनी टीका में लिखा हैं कि परिस्थितियों के अनुसार चण्डाल भी, जो शूद्रकुलों से भी निम्न हैं, दीक्षित किये जा सकते हैं। उन्हें वैष्णव बनाने के लिए औपचारिकताओं में यत्र-तत्र परिवर्तन किये जा सकते हैं।

भगवान् चैतन्य महाप्रभु की संस्तुति है कि भगवान् का नाम विश्व के कोने-कोने में सुनाई पड़े। भला जब तक कोई सर्वत्र जाकर उपदेश न दे, तब तक यह कैसे सम्भव है? भगवान् चैतन्य महाप्रभु का सम्प्रदाय *भागवत-धर्म* है और वे *कृष्ण-कथा* अथवा *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* सम्प्रदाय की विशेष संस्तुति करते हैं। वे परोपकार की भावना से प्रत्येक भारतीय को विश्व के अन्य निवासियों तक भगवान् के सन्देश को ले जाने के लिए कहते हैं। ''विश्व के अन्य निवासियों'' का अर्थ ऐसे लोग नहीं हैं, जो भारतीय ब्राह्मणों या क्षत्रियों के ही समान हों या ब्राह्मण जाति के हों। यह नियम, कि केवल भारतीय तथा हिन्दू ही वैष्णव सम्प्रदाय में आ सकते हैं, भ्रान्तिपूर्ण विचार है। प्रत्येक मनुष्य को वैष्णव-सम्प्रदाय में लाए जाने का प्रचार होना चाहिए। इसी उद्देश्य से कृष्णभावनामृत-आन्दोलन चलाया गया है। इस आन्दोलन को ऐसे लोगों में भी जो चण्डाल, म्लेच्छ या यवन कुलों में उत्पन्न हैं, प्रसारित करने की मनाही नहीं है। यहाँ तक कि भारत में भी यह बात श्रील सनातन गोस्वामी ने अपनी पुस्तक *हरि-भक्ति-विलास* में कही है, जो एक स्मृति है और दैनिक व्यवहार के लिए वैष्णवों के लिए प्रामाणिक वैदिक पथप्रदर्शिका है। सनातन गोस्वामी कहते हैं कि जिस प्रकार रासायनिक प्रक्रिया से काँसा पारे से मिश्रित होने पर सोना बन सकता है, उसी प्रकार प्रामाणिक दीक्षा से कोई भी वैष्णव बन सकता है। मनुष्य को चाहिए गुरु शिष्य परम्परा में आने वाले प्रामाणिक गुरु से दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए, जिसको उनके पहले के गुरु द्वारा प्रामाणित किया गया हो। यह दीक्षा विधान कहलाता है। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण ने *व्यपाश्रित्य:* अर्थात् गुरु स्वीकार करने के लिए कहा है। इस विधि से समग्र संसार को कृष्णभावनामृत में बदला जा सकता है।

सलिलैः शुचिभिर्माल्यैर्वन्यैर्मूलफलादिभिः ।
शस्ताङ्कु रांशुकैश्चार्चेत्तुलस्या प्रियया प्रभुम् ॥५५॥

शब्दार्थ

सलिलैः—जल के प्रयोग से; शुचिभिः—पवित्र किया गया; माल्यैः—माला से; वन्यैः—जंगली फूलों से; मूल—जड़ों; फल-आदिभिः—नाना प्रकार की वनस्पतियों तथा फलों से; शस्त—दूर्वा (दूब); अङ्कुर—कलियाँ; अंशुकैः—वृक्षों की छाल, यथा भोज-पत्र से; च—तथा; अर्चेत्—पूजा करें; तुलस्या—तुलसी दलों से; प्रियया—जो भगवान् को अत्यन्त प्रिय; प्रभुम्—भगवान् को।

भगवान् की पूजा शुद्ध जल, शुद्ध पुष्प-माला, फल, फूल तथा जंगल में उपलब्ध वनस्पतियों या ताजे उगे हुए दूर्वादल एकत्र करके, फूलों की कलियों, अथवा वृक्षों की छाल से, या सम्भव हो तो भगवान् को अत्यन्त प्रिय तुलसीदल अर्पित करते हुए करनी चाहिए।

तात्पर्य : यहाँ विशेष उल्लेख हुआ है कि भगवान् को तुलसीदल अत्यन्त प्रिय हैं। भक्तों को चाहिए कि वे प्रत्येक मन्दिर तथा पूजाकेन्द्र में तुलसी दल ले जाना न भूलें। पश्चिमी देशों में कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के प्रसार में हमें सबसे अधिक अप्रसन्नता इसलिए होती थी हमें तुलसी के दल कहीं प्राप्त नहीं होते थे। अत: हम अपनी शिष्या श्रीमती गोविन्द दासी के अत्यन्त अनुगृहीत हैं, उन्होंने बीजों से तुलसी वृक्ष उगाने का प्रयत्न किया जिसमें उन्हें भगवद्कृपा से सफलता प्राप्त हुई। अब हम प्राय: प्रत्येक केन्द्र में तुलसी के पौधे उगा रहे हैं।

श्रीभगवान् की पूजा विधि में तुलसीदल का अत्यधिक महत्त्व है। इस श्लोक में आये हुए *सलिलैः* शब्द का अर्थ है "जल से।" निस्सन्देह, ध्रुव महाराज यमुना के तट पर पूजा कर रहे थे। यमुना तथा गंगा पवित्र नदियाँ हैं और कभी-कभी भारत के भक्त लोग यमुना या गंगा जल से मूर्ति के पूजे जाने का आग्रह करते हैं। किन्तु यहाँ हम समझते हैं कि *देश काल* का अर्थ है, "काल तथा देश के अनुसार।" पश्चिमी देशों में न तो यमुना नदी है, न गंगा नदी, अत: ऐसी नदियों का जल नहीं मिल पाता। तो क्या इसका अर्थ यह हुआ कि जल के अभाव में अर्चना बन्द कर दी जाय? नहीं। *सलिलैः* का अर्थ है कोई भी जल—जो भी प्राप्त हो—किन्तु इसे स्वच्छ होना चाहिए और स्वच्छ ढंग से रखा गया होना चाहिए। ऐसा जल काम में लाया जा सकता है। अन्य सामग्रियाँ—यथा फूलों की माला, फल तथा वनस्पतियों को देश तथा उनकी उपलब्धि के अनुसार एकत्र किया जाना चाहिए। भगवान् को प्रसन्न करने के लिए तुलसीदल अत्यन्त आवश्यक हैं, अत: जहाँ तक सम्भव हो तुलसीदल उगाने के लिए व्यवस्था की जानी चाहिए। ध्रुव महाराज को जंगल में उपलब्ध फलों तथा फूलों से भगवान् की पूजा करने की सलाह दी गई। *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि वे वनस्पतियां, फल, फूल सभी कुछ स्वीकार

करते हैं। यहाँ पर नारद मुनि ने जो कुछ कहा है उसके अतिरिक्त और कोई भी वस्तु भगवान् वासुदेव को नहीं अर्पित करनी चाहिए। स्वेच्छा से विग्रह पर कुछ नहीं चढ़ाना चाहिए। चूँकि फूल तथा फल विश्व में सर्वत्र उपलब्ध हैं, अत: इस छोटी सी बात के लिए सतर्क रहना चाहिए।

लब्ध्वा द्रव्यमयीमर्चां क्षित्यम्ब्वादिषु वार्चयेत् ।
आभृतात्मा मुनिः शान्तो यतवाङ्मितवन्यभुक् ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

लब्ध्वा—पाकर; द्रव्य-मयीम्—भौतिक तत्त्वों से बने; अर्चाम्—पूज्य विग्रह; क्षिति—पृथ्वी; अम्बु—जल; आदिषु—इत्यादि; वा—अथवा; अर्चयेत्—पूजा करे; आभृत-आत्मा—आत्मसंयमी; मुनिः—महापुरुष; शान्तः—शान्तिपूर्वक; यत-वाक्—वाग्शक्ति पर संयम रखते हुए; मित—थोड़ा; वन्य-भुक्—जंगल में प्राप्य सामग्री को खाकर।

यदि सम्भव हो तो मिट्टी, लुगदी, लकड़ी तथा धातु जैसे भौतिक तत्त्वों से बनी भगवान् की मूर्ति को पूजा जा सकता है। जंगल में मिट्टी तथा जल से मूर्ति बनाई जा सकती है और उपर्युक्त नियमों के अनुसार उसकी पूजा की जा सकती है। जो भक्त अपने ऊपर पूर्ण संयम रखता है, उसे अत्यन्त नम्र तथा शान्त होना चाहिए और जंगल में जो भी फल तथा वनस्पतियाँ प्राप्त हों उन्हें ही खाकर संतुष्ट रहना चाहिए।

तात्पर्य : भक्त के लिए यह अनिवार्य है कि भगवान् की मूर्ति की पूजा करे; ऐसा नहीं कि वह मात्र अपने मन में भगवान् के स्वरूप का ध्यान करता हुआ गुरु-प्रदत्त मंत्र का जाप करे। जिस रूप की पूजा की जाय, उसे उपस्थित होना चाहिए। निर्विशेषवादी ध्यान करने या निर्गुण की पूजा करने का वृथा श्रम उठाते हैं और यह मार्ग अत्यन्त कठिन है। हमें निर्विशेषवादियों की विधि के अनुसार भगवान् का धाम अथवा पूजा करने की सलाह नहीं दी गई है। ध्रुव महाराज के जंगल में होने के कारण मिट्टी तथा जल से बनी मूर्ति की उपासना करने के लिए कहा गया। यदि धातु, लकड़ी या पत्थर का स्वरूप तैयार न हो सके तो सर्वोत्तम विधि यही हैं कि मिट्टी तथा जल को मिलाकर स्वरूप तैयार कर ले और उसी की पूजा करे। भक्त को चाहिए कि वह भोजन पकाने के लिए चिन्तित न हो, जंगल में अथवा शहर में जो भी फल तथा वनस्पतियाँ उपलब्ध हों उन्हें ही श्रीविग्रह पर चढ़ाएँ और उन्हें ही खाकर सन्तुष्ट रहें। उसे स्वादिष्ट भोजन प्राप्त करने का इच्छुक नहीं होना चाहिए। निस्सन्देह, जहां भी सम्भव हो, श्रीविग्रह को अच्छा से अच्छा भोजन चढ़ाए, चाहे फल तथा वनस्पतियों में से हो या पकाया अथवा अनपकाया

भोजन हो। महत्वपूर्ण बात यह कि भक्त को नियमित (*मित्-भुक्*) होना चाहिए; यही भक्त का उत्तम गुण है। उसे अपनी जीभ के स्वाद की तुष्टि के लिए किसी विशेष भोजन के पीछे नहीं पड़ना चाहिए। भगवान् की कृपा से जो भी प्रसाद उपलब्ध हो उसे खाकर सन्तुष्ट रहना चाहिए।

स्वेच्छावतारचरितैरचिन्त्यनिजमायया ।
करिष्यत्युत्तमश्लोकस्तद्ध्यायेद्धृदयङ्गमम् ॥५७॥

शब्दार्थ

स्व-इच्छा—उनकी (भगवान की) परम इच्छा से; अवतार—अवतार; चरितैः—कार्यकलाप; अचिन्त्य—अकल्पनीय; निज-मायया—अपनी ही शक्ति से; करिष्यति—करता है; उत्तम-श्लोकः—भगवान्; तत्—वह; ध्यायेत्—ध्यान करना चाहिए; हृदयम्-गमम्—अत्यन्त आकर्षक।

हे ध्रुव, प्रतिदिन तीन बार मंत्र जप करने और श्रीविग्रह की पूजा के अतिरिक्त तुम्हें भगवान् के विभिन्न अवतारों के दिव्य कार्यों के विषय में भी ध्यान करना चाहिए, जो उनकी परम इच्छा तथा व्यक्तिगत शक्ति से प्रदर्शित होते हैं।

तात्पर्य : भक्ति की निर्दिष्ट विधियाँ नौ हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, सेवा, विग्रह को सर्वस्व समर्पण इत्यादि। यहाँ पर ध्रुव महाराज को सलाह दी गई है कि वे न केवल भगवान् के रूप का ध्यान करें, वरन् उनके विभिन्न अवतारों की दिव्य लीलाओं के विषय में भी चिन्तन करें। मायावादी दार्शनिक भगवान् के अवतारों को सामान्य जीवात्माओं के स्तर में मानते हैं। यह एक भारी भूल है। भगवान् के अवतार को प्रकृति के भौतिक नियमों के अनुसार कर्म करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। यहाँ पर *स्वेच्छा* शब्द का प्रयोग यह सूचित करने के लिए किया गया है कि भगवान् अपनी परम इच्छा से प्रकट होते हैं। भगवान् द्वारा बद्धजीव को उसके कर्म के अनुसार प्रकृति के नियमों के अधीन दी गई विशेष देह को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जाता है। किन्तु जब भगवान् प्रकट होते हैं, तो उन पर भौतिक प्रकृति के नियम बलपूर्वक थोपे नहीं जा सकते। वे अपनी आन्तरिक शक्ति द्वारा इच्छानुसार प्रकट होते हैं। यही अन्तर है। बद्धजीव अपने कर्म तथा भौतिक प्रकृति की श्रेष्ठ सत्ता द्वारा दिया गया एक विशेष प्रकार का शरीर जैसे सुअर का शरीर स्वीकार करता है। किन्तु जब कृष्ण शूकर अवतार में प्रकट होते हैं, तो वे सामान्य पशु के रूप में सुअर नहीं होते। कृष्ण अत्यन्त विराट वराह अवतार के रूप में प्रकट होते हैं, जिसकी तुलना सामान्य सुअर से नहीं की जा सकती। उनका प्राकट्य तथा लोप

हमारे लिए अकल्पनीय हैं। *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है कि वे अपनी अन्तरंगा शक्ति से भक्तों की रक्षा तथा अभक्तों के विनाश के लिए प्रकट होते हैं। भक्त को समझना चाहिए कि कृष्ण कभी सामान्य पुरुष या सामान्य पशु के रूप में प्रकट नहीं होते। वराह मूर्ति या घोड़ा अथवा कछुवा रूप में उनका प्राकट्य उनकी अन्तरंगा शक्ति का प्रदर्शन है। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है *आनन्द-चिन्मय-रस-प्रतिभावितांभि:* मनुष्य को भगवान् के प्राकट्य को प्रकृति के नियमों से प्रेरित किसी पशु, मनुष्य अथवा देवता के रूप में जन्म, साधारण बद्धजीव की भाँति मानव प्राणी या पशु नहीं मान लेना चाहिए। ऐसा सोचना अपराधपूर्ण है। भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने मायावादियों की भर्त्सना भगवान् के प्रति अपराधपूर्ण होने के कारण की है, क्योंकि वे यह सोचते हैं कि भगवान् तथा बद्ध जीवात्माएँ एक ही जैसे हैं।

नारद ने ध्रुव को उपदेश दिया कि वे भगवान् की लीलाओं का ध्यान करें, क्योंकि यह भगवान् के रूप पर अपने मन को केन्द्रित करके ध्यान करने के ही तुल्य है। भगवान् के किसी भी रूप का ध्यान जितना उपयोगी है, उतना ही भगवान् के विभिन्न नामों यथा हरि, गोविन्द तथा नारायण नामों का जप करना है। किन्तु इस युग में हमें शास्त्रों में बताए गए; हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे, मंत्र का जप करने का विशेष उपदेश दिया गया है।

परिचर्या भगवतो यावत्य: पूर्वसेविता: ।
ता मन्त्रहृदयेनैव प्रयुञ्ज्यान्मन्त्रमूर्तये ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

परिचर्या:—सेवा; भगवत:—भगवान् की; यावत्य:—जिस रूप में (उपर्युक्त) संस्तुत हैं; पूर्व-सेविता:—पूर्व आचार्यों द्वारा कृत अथवा संस्तुत; ता:—वह; मन्त्र—मंत्र; हृदयेन—हृदय के भीतर; एव—निश्चय ही; प्रयुञ्ज्यात्—पूजा करे; मन्त्र-मूर्तये—जो मंत्र से अभिन्न है।

संस्तुत सामग्री द्वारा परमेश्वर की पूजा किस प्रकार की जाये, इसके लिए मनुष्य को चाहिए कि पूर्व-भक्तों के पद-चिह्नों का अनुसरण करे अथवा हृदय के भीतर ही मंत्रोच्चार करके भगवान् की, पूजा करे जो मंत्र से भिन्न नहीं हैं।

तात्पर्य : यहाँ यह संस्तुति की गई है कि यदि कोई बताई गई समस्त सामग्री से भगवान् के रूपों की पूजा-व्यवस्था नहीं कर सकता तो उसे चाहिए कि वह भगवान् के स्वरूप और शास्त्रों द्वारा वर्णित

सभी वस्तुओं को मन से प्रदान करे जिसमें जल, चन्दन-लेप, शंख, छत्र, पंखा तथा चामर सम्मिलित हैं। इनका अर्पण करते समय ध्यान धरा जाये और बारह अक्षर के मंत्र *ॐ नमो भगवते वासुदेवाय* का जप किया जाय। चूँकि मंत्र तथा भगवान् अभिन्न हैं, अत: भौतिक सामग्रियों के अभाव में भगवान् की पूजा मंत्र द्वारा करे। इस प्रसंग में उस ब्राह्मण की कथा को देखना चाहिए जिसने मन के भीतर भगवान् की पूजा की, जैसाकि *भक्ति-रसामृत-सिन्धु* में वर्णित है। यदि सामग्री उपस्थित न रहे तो उसके विभिन्न अवयवों का चिन्तन करके मंत्रोच्चार द्वारा श्रीविग्रह को अर्पित करे। भक्तियोग की ये सुविधाएँ अत्यन्त सरल व शक्तिसम्पन्न हैं।

एवं कायेन मनसा वचसा च मनोगतम् ।
परिचर्यमाणो भगवान्भक्तिमत्परिचर्यया ॥ ५९ ॥
पुंसाममायिनां सम्यग्भजतां भाववर्धन: ।
श्रेयो दिशत्यभिमतं यद्धर्मादिषु देहिनाम् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कायेन—शरीर से; मनसा—मन से; वचसा—शब्दों से; च—भी; मन:-गतम्—भगवान् के चिन्तन मात्र से; परिचर्यमाण:—भक्ति में लगे हुए; भगवान्—भगवान्; भक्ति-मत्—भक्ति के नियमों के अनुसार; परिचर्यया—भगवान् की पूजा द्वारा; पुंसाम्—भक्त का; अमायिनाम्—जो एकनिष्ठ तथा गम्भीर है; सम्यक्—पूर्णरूप से; भजताम्—भक्ति में लगा हुआ; भाव-वर्धन:—जो भक्त के भाव को बढ़ाते हैं, भगवान्, श्रेय:; श्रेय:—अन्तिम उद्देश्य; दिशति—प्रदान करता है; अभिमतम्—आकांक्षा; यत्—यावत्रूप; धर्म-आदिषु—आध्यात्मिक जीवन तथा आर्थिक विकार के विषय में; देहिनाम्—बद्धजीवों का।

इस प्रकार जो कोई गम्भीरता तथा निष्ठा से अपने मन, वचन तथा शरीर से भगवान् की भक्ति करता है और जो बताई गई भक्ति-विधियों के कार्यों में मग्न रहता है, उसे उसकी इच्छानुसार भगवान् वर देते हैं। यदि भक्त भौतिक संसार में धर्म, अर्थ, काम या भौतिक संसार से मोक्ष चाहता है, तो भगवान् इन फलों को प्रदान करते हैं।

तात्पर्य : भक्ति इतनी सभम होती है कि जो भक्ति करता है, वह भगवान् से मनचाहा वर प्राप्त कर सकता है। बद्धजीव इस भौतिक जगत में बहुत लिप्त रहते हैं और धार्मिक कृत्य करके वे धर्म तथा अर्थ का भौतिक लाभ उठाना चाहते हैं।

विरक्तश्चेन्द्रियरतौ भक्तियोगेन भूयसा ।
तं निरन्तरभावेन भजेताद्धा विमुक्तये ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

विरक्तः च—पूर्णतया विरक्त; इन्द्रिय-रतौ—इन्द्रिय-तृप्ति के विषय में; भक्ति-योगेन—भक्ति की पद्धति से; भूयसा—अत्यन्त गम्भीरता से; तम्—उस (परम) को; निरन्तर—लगातार; भावेन—समाधि की सर्वोच्च अवस्था में; भजेत—पूजा करे; अद्धा—प्रत्यक्ष; विमुक्तये—मुक्ति के लिए।

यदि कोई मुक्ति के लिए अत्यन्त उत्सुक हो तो उसे दिव्य प्रेमाभक्ति की पद्धति का दृढ़ता से पालन करके चौबीसों घंटे समाधि की सर्वोच्च अवस्था में रहना चाहिए और उसे इन्द्रियतृप्ति के समस्त कार्यों से अनिर्वायतः पृथक् रहना चाहिए।

तात्पर्य : विभिन्न व्यक्तियों के उद्देश्यों के अनुसार सिद्धि की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। सामान्यतः मनुष्य कर्मी होते हैं, क्योंकि वे इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में लगे रहते हैं। कर्मियों से ऊपर ज्ञानी हैं, जो भौतिक बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न करते रहते हैं। योगी इनसे भी अधिक उच्चस्थ हो चुके होते हैं, क्योंकि वे भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करते रहते हैं। और इन सबसे ऊपर भक्तजन हैं, जो केवल भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करते हैं। वे समाधि के उच्चतम पद पर गम्भीरता से स्थित होते हैं।

यहाँ पर ध्रुव महाराज को उपदेश दिया गया है कि यदि उनमें इन्द्रियतृप्ति के लिए कोई इच्छा नहीं है, तो उन्हें सीधे भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लग जाना चाहिए। *अपवर्ग* अर्थात् मुक्ति का मार्ग, मोक्ष नामक अवस्था से प्रारम्भ होती है। इस श्लोक में *विमुक्तये* शब्द अर्थात् 'मुक्ति के लिए' विशेष रूप से आया है। यदि मनुष्य इस भौतिक जगत में प्रसन्न रहना चाहता है, तो वह ऐसे विभिन्न भौतिक लोकों में जाने की इच्छा व्यक्त कर सकता है जहाँ इन्द्रियतृप्ति का स्तर अधिक ऊँचा हो—किन्तु वास्तविक मोक्ष तो बिना किसी आकांक्षा के ही प्राप्त होता है। इसकी व्याख्या *भक्तिरसामृत-सिन्धु* में *अन्याभिलाषिता शून्यम्* पद, अर्थात् "भौतिक इन्द्रिय सुख की आकांक्षा से रहित" से की गई है।" जो व्यक्ति अब भी विभिन्न अवस्थाओं में या लोकों में भौतिक जीवन भोगना चाहते हैं, उनके लिए भक्तियोग में मुक्ति की अवस्था की संस्तुति नहीं की जाती है। जो लोग पूरी तरह इन्द्रियतृप्ति के कल्मष से मुक्त हैं, वे अत्यन्त शुद्धतापूर्वक भक्तियोग करते हैं। *अपवर्ग* के मार्ग की धर्म, अर्थ तथा काम तक की क्रियाएँ सब इन्द्रियतृप्ति के लिए होती हैं, किन्तु जब मनुष्य *मोक्ष* की अवस्था को प्राप्त होता है, तो अभ्यास करनेवाला भगवान् के साथ तादात्म्य करना चाहता है। किन्तु वह भी इन्द्रियतृप्ति है। किन्तु जब मनुष्य मुक्ति अवस्था से ऊपर उठता है, तो वह दिव्य प्रेमाभक्ति करने के लिए भगवान्

के पार्षदों में से एक बन जाता है। यह पारिभाषिक रूप में *विमुक्ति* कहलाती है। इस विशिष्ट *विमुक्ति* के लिए नारद मुनि की संस्तुति है कि मनुष्य सीधे भक्ति में लग जाए।

इत्युक्तस्तं परिक्रम्य प्रणम्य च नृपार्भकः ।
ययौ मधुवनं पुण्यं हरेश्चरणचर्चितम् ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्तः—कहा गया; तम्—उसको (नारद मुनि को); परिक्रम्य—प्रदक्षिणा करके; प्रणम्य—नमस्कार करके; च—भी; नृप-अर्भकः—राजा का पुत्र; ययौ—पास गया; मधुवनम्—वृन्दावन का एक जंगल जो मधुवन कहलाता है; पुण्यम्—शुभ; हरेः—भगवान् का; चरण-चर्चितम्—श्रीकृष्ण के चरणकमल द्वारा अंकित।

जब राजपुत्र ध्रुव महाराज को नारद मुनि इस प्रकार उपदेश दे रहे थे तो उन्होंने अपने गुरु नारद मुनि की प्रदक्षिणा की और उन्हें सादर नमस्कार किया। तत्पश्चात् वे मधुवन के लिए चल पड़े, जहाँ श्रीकृष्ण के चरणकमल सदैव अंकित रहते हैं, अतः जो विशेष रूप से शुभ है।

तपोवनं गते तस्मिन्प्रविष्टोऽन्तःपुरं मुनिः ।
अर्हितार्हणको राज्ञा सुखासीन उवाच तम् ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

तपः-वनम्—वह वन मार्ग जहाँ ध्रुव महाराज ने तपस्या की; गते—इस प्रकार पास जाने पर; तस्मिन्—वहाँ; प्रविष्टः—प्रवेश करके; अन्तः-पुरम्—व्यक्तिगत घर के भीतर; मुनिः—नारद मुनि; अर्हित—पूजित होकर; अर्हणकः—आदरपूर्ण आचरण के द्वारा; राज्ञा—राजा द्वारा; सुख-आसीनः—अपने आसन पर सुखपूर्वक बैठा; उवाच—कहा; तम्—उस (राजा) से।

जब ध्रुव भक्ति करने के लिए मधुवन में प्रविष्ट हो गए तब महर्षि नारद ने राजा के पास जाकर यह देखना उचित समझा कि वे महल के भीतर कैसे रह रहे हैं। जब नारद मुनि वहाँ पहुँचे तो राजा ने उन्हें प्रणाम करके उनका समुचित स्वागत किया। आराम से बैठ जाने पर नारद कहने लगे।

नारद उवाच

राजन्किं ध्यायसे दीर्घं मुखेन परिशुष्यता ।
किं वा न रिष्यते कामो धर्मो वार्थेन संयुतः ॥ ६४ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; राजन्—हे राजा; किम्—क्या; ध्यायसे—सोचते हुए; दीर्घम्—अत्यन्त गहनता से; मुखेन—अपने मुँह से; परिशुष्यता—सूखते हुए; किम् वा—अथवा; न—नहीं; रिष्यते—खो जाना; कामः—इन्द्रियतृप्ति; धर्मः—धार्मिक अनुष्ठान; वा—या; अर्थेन—आर्थिक विकास से; संयुतः—से युक्त।

महर्षि नारद ने पूछा : हे राजन्, तुम्हारा मुख सूख रहा दिखता है और ऐसा लगता है कि तुम दीर्घकाल से कुछ सोचते रहे हो। ऐसा क्यों है? क्या तुम्हें धर्म, अर्थ तथा काम के मार्ग का पालन करने में कोई बाधा हुई है?

तात्पर्य : मानव सभ्यता की उन्नति की चार अवस्थाएँ हैं—धर्म, अर्थ, काम तथा कुछों के लिए मोक्ष। नारद मुनि ने राजा से उसकी मुक्ति के विषय में कुछ नहीं पूछा, बस इतना ही पूछा कि राज्य का प्रबन्ध कैसा है, जो तीन सिद्धान्तों के उन्नति के लिए हैं। चूँकि ऐसे कर्म करने वाले कभी मुक्ति में रुचि नहीं रखते, इसीलिए नारद ने राजा से इसके विषय में कुछ नहीं कहा। मुक्ति तो उन लोगों के लिए है जिन्होंने धार्मिक कृत्यों, आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति के प्रति सारी रुचि खो दी है।

राजोवाच
सुतो मे बालको ब्रह्मन्स्त्रैणेनाकरुणात्मना ।
निर्वासितः पञ्चवर्षः सह मात्रा महान्कविः ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने उत्तर दिया; सुतः—पुत्र; मे—मेरा; बालकः—अल्प वयस वाला; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; स्त्रैणेन—स्त्री में लिप्त रहने वाला; अकरुणा-आत्मना—कठोर हृदय; निर्वासितः—घर से निकाला गया; पञ्च-वर्षः—पाँच वर्ष का बालक; सह—साथ; मात्रा—माता द्वारा; महान्—महापुरुष; कविः—भक्त।

राजा ने उत्तर दिया : हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, मैं अपनी पत्नी में अत्यधिक आसक्त हूँ और मैं इतना पतित हूँ कि मैंने अपने पाँच वर्ष के बालक के प्रति भी दया भाव के व्यवहार का त्याग कर दिया। मैने उसे महात्मा तथा महान् भक्त होते हुए भी माता सहित निर्वासित कर दिया है।

तात्पर्य : इस श्लोक में अनेक विशिष्ट शब्द आये हैं, जिन्हें ध्यानपूर्वक समझना होगा। राजा ने कहा कि अपनी पत्नी में लिप्त होने के कारण उसने दया करनी छोड़ दी। यह पत्नी के प्रति अत्यधिक आसक्ति के कारण हुआ। राजा के दो पत्नियाँ थीं—पहली पत्नी सुनीति और दूसरी सुरुचि। वह दूसरी पत्नी को अधिक चाहता था, अत: उसने ध्रुव महाराज के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। ध्रुव द्वारा घर छोड़कर तपस्या करने का यही कारण था। यद्यपि पिता होने के कारण राजा पुत्र को भी चाहता था, किन्तु अपनी दूसरी पत्नी के प्रति अत्यधिक आसक्ति के कारण ध्रुव महाराज के प्रति प्रेम कुछ कम था। अब वह पश्चात्ताप कर रहा था कि उसने ध्रुव महाराज तथा उसकी माता सुनीति को एक प्रकार से

घर से निकाल दिया था। ध्रुव महाराज तो जंगल चले गये, किन्तु उनकी माता राजा से उपेक्षित होकर एक प्रकार से निर्वासित कर दी गई थीं। राजा को पश्चात्ताप हो रहा था कि उसने अपने पाँच वर्ष के पुत्र को निकाल दिया था। पिता को चाहिए कि वह पुत्र तथा पत्नी को न तो निर्वासित करे, न उनके भरण-पोषण में लापरवाही बरते। दोनों की उपेक्षा करने के कारण राजा अत्यन्त दुखी था और उसका मुख मुरझाया हुआ था। *मनुस्मृति* के अनुसार मनुष्य को अपनी पत्नी तथा बच्चों का कभी परित्याग नहीं करना चाहिए। हाँ, यदि वे आज्ञाकारी न हों और गृहस्थ जीवन के नियमों का पालन न करें तो कभी-कभी उनका परित्याग कर दिया जाता है। किन्तु ध्रुव महाराज के साथ ऐसा न था। वे अत्यन्त शिष्ट तथा आज्ञाकारी थे, साथ ही महान् भक्त भी। ऐसे व्यक्ति की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए, किन्तु राजा ने बाध्य होकर उसे निर्वासित कर दिया था। अब वह अत्यन्त दुखी था।

अप्यनाथं वने ब्रह्मन्मा स्मादन्त्यर्भकं वृकाः ।
श्रान्तं शयानं क्षुधितं परिम्लानमुखाम्बुजम् ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

अपि—निश्चय ही; अनाथम्—अरक्षित; वने—जंगल में; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; मा—अथवा, नहीं; स्म—नहीं; अदन्ति—भक्षण किया; अर्भकम्—निरीह बालक; वृकाः—भेड़िये; श्रान्तम्—थका हुआ; शयानम्—लेटा हुआ; क्षुधितम्—भूखा; परिम्लान—मुरझाया; मुख-अम्बुजम्—कमल के समान मुख।

हे ब्राह्मण, मेरे पुत्र का मुख कमल के फूल के समान था। मैं उसकी दयनीय दशा के विषय में सोच रहा हूँ। वह असुरक्षित और अत्यन्त भूखा होगा। वह जंगल में कहीं लेटा होगा और भेड़ियों ने झपट करके उसका शरीर काट खा लिया होगा।

अहो मे बत दौरात्म्यं स्त्रीजितस्योपधारय ।
योऽङ्कं प्रेम्णारुरुक्षन्तं नाभ्यनन्दमसत्तमः ॥ ६७ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; मे—मेरा; बत—निश्चय ही; दौरात्म्यम्—क्रूरता; स्त्री-जितस्य—स्त्री का गुलाम; उपधारय—जरा सोचो तो; यः—जो; अङ्कम्—गोद; प्रेम्णा—प्रेमवश; आरुरुक्षन्तम्—चढ़ने को इच्छुक; न—नहीं; अभ्यनन्दम्—उचित ढंग से आदर; असत्-तमः—अत्यन्त क्रूर.

अहो! जरा देखिये तो मैं कैसा स्त्री का गुलाम हूँ! जरा मेरी क्रूरता के विषय में तो सोचिये! वह बालक प्रेमवश मेरी गोद में चढ़ना चाहता था, किन्तु मैंने न तो उसको आने दिया, न उसे

एक क्षण भी दुलारा। जरा सोचिये कि मैं कितना कठोर-हृदय हूँ!

नारद उवाच
मा मा शुचः स्वतनयं देवगुप्तं विशाम्पते ।
तत्प्रभावमविज्ञाय प्रावृङ्क्ते यद्यशो जगत् ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; मा—मत; मा—मत; शुचः—दुखी होओ; स्व-तनयम्—अपने पुत्र के लिए; देव-गुप्तम्—भगवान् द्वारा भली-भाँति रक्षित; विशाम्-पते—हे मानव समाज के स्वामी; तत्—उसका; प्रभावम्—प्रभाव; अविज्ञाय—बिना जाने; प्रावृङ्क्ते —चारों ओर फैला; यत्—जिसका; यशः—ख्याति; जगत्—संसार भर में।

महर्षि नारद ने उत्तर दिया: हे राजन्, तुम अपने पुत्र के लिए शोक मत करो। वह भगवान् द्वारा पूर्ण रूप से रक्षित है। यद्यपि तुम्हें उसके प्रभाव के विषय में सही-सही जानकारी नहीं है, किन्तु उसकी ख्याति पहले ही संसार भर में फैल चुकी है।

तात्पर्य : कभी-कभी जब हम यह सुनते हैं कि बड़े-बड़े साधु तथा भक्त जंगल में जाकर भक्ति या ध्यान करते हैं, तो हमें आश्चर्य होता है कि कोई बिना किसी की देखभाल के जंगल में कैसे रह सकता है ? किन्तु इसका जो उत्तर नारद मुनि देते हैं, वह यह है कि ऐसे व्यक्तियों के रक्षक भगवान् हैं। *शरणागति* या आत्मसमर्पण का अर्थ है स्वीकृति अथवा दृढ़ विश्वास कि शरणागत जीव जहाँ कहीं भी होगा श्रीभगवान् उसकी रक्षा करेंगे, वह कभी अरक्षित या अकेला नहीं होगा। ध्रुव के वत्सल पिता ने सोचा कि उसका छोटा बालक, जो अभी केवल पाँच वर्ष का है, जंगल में दयनीय स्थिति में होगा, किन्तु नारद मुनि ने उसे विश्वास दिलाया और कहा, "तुम्हें अपने पुत्र के प्रभाव के बारे में ठीक से जानकारी नहीं है।" जो कोई भी भक्ति करता है, वह इस विश्व में कहीं भी कभी अरक्षित नहीं रहता।

सुदुष्करं कर्म कृत्वा लोकपालैरपि प्रभुः ।
ऐष्यत्यचिरतो राजन्यशो विपुलयंस्तव ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

सु-दुष्करम्—न कर सकने योग्य; कर्म—कार्य; कृत्वा—करके; लोक-पालैः—महापुरुषों द्वारा; अपि—भी; प्रभुः—अत्यन्त समर्थ; ऐष्यति—लौटेगा; अचिरतः—शीघ्र ही; राजन्—हे राजा; यशः—कीर्ति; विपुलयन्—बढ़ाते हुए; तव—तुम्हारी।

हे राजन्, तुम्हारा पुत्र अत्यन्त समर्थ है। वह ऐसे कार्य करेगा जो बड़े-बड़े राजा तथा साधु भी नहीं कर पाते। वह शीघ्र ही अपना कार्य पूरा करके घर वापस आएगा। तुम यह भी जान लो

कि वह तुम्हारी ख्याति को सारे संसार में फैलाएगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में नारद मुनि ने ध्रुव महाराज को *प्रभु* कहा है। यह शब्द भगवान् के लिए प्रयुक्त होता है। कभी-कभी गुरु को *प्रभुपाद* कह कर सम्बोधित किया जाता है। *प्रभु* का अर्थ है "भगवान्" और *पाद* का अर्थ है "स्थान।" वैष्णवदर्शन के अनुसार गुरु भगवान् का स्थान ग्रहण करता है अर्थात् वह भगवान् का प्रामाणिक प्रतिनिधि है। ध्रुव महाराज को भी यहाँ पर प्रभु कहा गया है, क्योंकि वे वैष्णव विचारधारा के आचार्य हैं। प्रभु का दूसरा अर्थ है, "इन्द्रियों का स्वामी।" एक अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द है *सुदुष्करम्*—"कर पाना अत्यन्त कठिन।" आखिर वह कौन सा कार्य था, जो ध्रुव कर रहे थे? जीवन का सबसे कठिन काम है भगवान् को प्रसन्न कर पाना और ध्रुव महाराज ऐसा कर दिखाने वाले थे। हमें स्मरण रखना चाहिए कि ध्रुव महाराज चल-चित्त व्यक्ति न थे; वे सेवा करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थे और उसके बाद वापस आनेवाले थे। अत: प्रत्येक भक्त को यह संकल्प करना चाहिए कि इस जीवन में वह भगवान् को प्रसन्न कर सकेगा और इस प्रकार भगवान् के धाम को वापस जाएगा। यही जीवन के सर्वोच्च उद्देश्य की पूर्ति है।

मैत्रेय उवाच
इति देवर्षिणा प्रोक्तं विश्रुत्य जगतीपतिः ।
राजलक्ष्मीमनादृत्य पुत्रमेवान्वचिन्तयत् ॥ ७० ॥

शब्दार्थ

मैत्रेय: उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; देवर्षिणा—नारद मुनि द्वारा; प्रोक्तम्—कहा गया; विश्रुत्य—सुनकर; जगती-पतिः—राजा; राज-लक्ष्मीम्—राज्य का ऐश्वर्य; अनादृत्य—परवाह किये बिना; पुत्रम्—अपना पुत्र; एव—निश्चय ही; अन्वचिन्तयत्—सोचने लगा।

मैत्रेय मुनि ने आगे कहा : नारद मुनि से उपदेश प्राप्त करने के बाद राजा उत्तानपाद ने अपने अत्यन्त विशाल एवं ऐश्वर्यमय राज्य के सारे कार्य छोड़ कर दिये और केवल अपने पुत्र ध्रुव के विषय में ही सोचने लगा।

तत्राभिषिक्तः प्रयतस्तामुपोष्य विभावरीम् ।
समाहितः पर्यचरदृष्यादेशेन पूरुषम् ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ

तत्र—तत्पश्चात्; अभिषिक्तः—स्नान करने के पश्चात्; प्रयतः—ध्यानपूर्वक; ताम्—उस; उपोष्य—उपवास करके; विभावरीम्—रात्रि; समाहितः—पूर्ण ध्यान से; पर्यचरत्—पूजा की; ऋषि—नारद ऋषि द्वारा; आदेशेन—आदेश के अनुसार; पूरुषम्—भगवान् की।

इधर, ध्रुव महाराज ने मधुवन पहुँचकर यमुना नदी में स्नान किया और उस रात्रि को अत्यन्त मनोयोग से उपवास किया। तत्पश्चात् वे नारद मुनि द्वारा बताई गई विधि से भगवान् की आराधना में मग्न हो गये।

तात्पर्य : इस विशिष्ट श्लोक की महत्ता यह है कि ध्रुव महाराज ने अपने गुरु महर्षि नारद द्वारा बताई गई विधि के अनुसार कार्य किया। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती का भी यही उपदेश है कि यदि हम भगवान् के धाम को वापस जाने में सफल होना चाहते हैं, तो हमें गुरु के आदेशों के अनुसार गम्भीरतापूर्वक कार्य करना चाहिए। सिद्धि का यही मार्ग है। सिद्धि-प्राप्ति के विषय में तनिक भी चिन्ता नहीं होनी चाहिए, क्योंकि जो गुरु के आदेशों का पालन करता है, वह अवश्य ही सिद्धि प्राप्त करता है। हमारी एकमात्र चिन्ता यह होनी चाहिए कि गुरु के आदेश को कैसे पूरा किया जाय। गुरु अपने प्रत्येक शिष्य को विशेष आदेश देने में दक्ष होता है और यदि शिष्य उस आदेश को कार्य रूप में परिणत कर देता है, तो वही सिद्धि का मार्ग है।

त्रिरात्रान्ते त्रिरात्रान्ते कपित्थबदराशनः ।
आत्मवृत्त्यनुसारेण मासं निन्येऽर्चयन्हरिम् ॥ ७२ ॥

शब्दार्थ

त्रि—तीन; रात्र-अन्ते—रात बीतने पर; त्रि—तीन; रात्र-अन्ते—रात बीतने पर; कपित्थ-बदर—कैथा तथा बेर; अशनः—खाते हुए; आत्म-वृत्ति—शरीर पालने के लिए निर्वाह; अनुसारेण—आवश्यक या न्यूनतम; मासम्—एक माह; निन्ये—बीत गया; अर्चयन्—पूजा करते; हरिम्—भगवान् की।

ध्रुव महाराज ने पहले महीने में अपने शरीर की रक्षा (निर्वाह) हेतु हर तीसरे दिन केवल कैथे तथा बेर का भोजन किया और इस प्रकार से वे भगवान् की पूजा को आगे बढ़ाते रहे।

तात्पर्य : *कपित्थ* एक फल है, जो हिन्दी में कैथा कहलाता है। इसके फल प्रायः बन्दर खाते हैं, इसे मनुष्य कम ही खाते हैं। किन्तु ध्रुव महाराज ने स्वाद की तृप्ति के लिए नहीं वरन शरीर के निर्वाह के लिए ऐसे फलों को ग्रहण करना स्वीकार किया। शरीर को भोजन चाहिए, किन्तु भक्त को चाहिए कि जीभ की तुष्टि के लिए भोजन न करे। *भगवद्गीता* में आदेश है कि शरीर को स्वस्थ रखने भर के

लिए ही भोजन किया जाय, विलास के लिए नहीं। ध्रुव महाराज आचार्य थे, किन्तु तपस्या करके वे हमें शिक्षा देना चाहते थे कि भक्ति किस प्रकार की जाये। हमें ध्रुव महाराज की भक्ति-प्रक्रिया को भली-भाँति समझना चाहिए। उन्होंने कितने कष्ट से दिन बिताये, यह अगले श्लोकों में बताया जाएगा। हमें यह सदैव स्मरण रखना होगा कि भगवान् का प्रामाणिक भक्त बनना कोई सरल कार्य नहीं, किन्तु इस युग में, भगवान् चैतन्य की कृपा से यह सरल हो गया है। किन्तु यदि हम चैतन्य महाप्रभु के उदार आदेशों का भी पालन नहीं कर सकते तो हम भक्ति के नियमित कर्तव्यों को करने की आशा कैसे कर सकते हैं ? इस युग में ध्रुव महाराज के तप का अनुसरण कर पाना कठिन है, किन्तु नियमों का पालन होना चाहिए। हमें चाहिए कि गुरुओं द्वारा बताये गये विधि-विधानों का उल्लंघन न करें क्योंकि वे बद्धजीव के लिए इन्हें सरल बता देते हैं। जहाँ तक हमारे *इस्कान* आन्दोलन का सम्बन्ध है, हम केवल यही कहते हैं कि मनुष्य चार निषेधात्मक नियमों का पालन करे, सोलह माला जप करे और जीभ को स्वाद में न लगा कर भगवान् को प्रदत्त एकमात्र प्रसाद ही ग्रहण करे। इसका यह अर्थ नहीं है कि यदि हम उपवास करें तो भगवान् भी उपवास करें। भगवान् को अच्छा से अच्छा भोग चढ़ाएँ, किन्तु हमारा उद्देश्य अपने स्वाद की पूर्ति करना नहीं होना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो सादा भोजन ग्रहण करें, जिससे भक्ति करने के लिए शरीर निर्वाह हो सके।

हमारा कर्तव्य है कि हम यह सदा स्मरण रखें कि ध्रुव महाराज की तुलना में हम नगण्य हैं। उन्होंने आत्म-साक्षात्कार के लिए जो कुछ किया उसे कर पाना हमारे लिए नितान्त असम्भव है क्योंकि हम ऐसी सेवा करने में अक्षम हैं। किन्तु इस युग के लिए हमें चैतन्य महाप्रभु ने सभी प्रकार की छूट दे रखी हैं, अत: हम इतना तो स्मरण रखें कि भक्ति हेतु कर्तव्यों को न करने से हमारे उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती। हमारा परम कर्तव्य है कि हम ध्रुव महाराज के चरण-चिह्नों का अनुसरण करें, क्योंकि वे अत्यन्त दृढ़व्रत थे। हमें भी इस जीवन में भक्ति करने के लिए अपने कार्यों को पूरा करने का व्रत लेना चाहिए; हमें इस कार्य को पूरा करने के लिए दूसरे जीवन की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए।

द्वितीयं च तथा मासं षष्ठे षष्ठेऽर्भको दिने ।
तृणपर्णादिभिः शीर्णैः कृतान्नोऽभ्यर्चयन्विभुम् ॥७३॥

शब्दार्थ

द्वितीयम्—अगले मास; च—भी; तथा—उपयुक्त विधि से; मासम्—माह; षष्ठे षष्ठे—प्रत्येक छह दिन पर; अर्भकः—अबोध बालक; दिने—दिने में; तृण-पर्ण-आदिभिः—घास-पात से; शीर्णैः—शुष्क; कृत-अन्नः—अन्न के रूप में; अभ्यर्चयन्—और इस प्रकार पूजा करता रहा; विभुम्—भगवान् के लिए।

दूसरे महीने में महाराज ध्रुव छह-छह दिन बाद खाने लगे। शुष्क घास तथा पत्ते ही उनके खाद्य पदार्थ थे। इस प्रकार उन्होंने अपनी पूजा चालू रखी।

तृतीयं चानयन्मासं नवमे नवमेऽहनि ।
अब्भक्ष उत्तमश्लोकमुपाधावत्समाधिना ॥ ७४॥

शब्दार्थ

तृतीयम्—तीसरे महीने; च—भी; आनयन्—बीतने पर; मासम्—एक महीना; नवमे नवमे—प्रत्येक नवें; अहनि—दिन में; अप्-भक्षः—केवल जल पीकर; उत्तम-श्लोकम्—भगवान्, जिनकी आराधना चुने हुए श्लोकों से की जाती है; उपाधावत्—पूजा की; समाधिना—समाधि में।

तीसरे महीने में वे प्रत्येक नवें दिन केवल जल ही पीते। इस प्रकार वे पूर्ण रूप से समाधि में रहते हुए पुण्यश्लोक भगवान् की पूजा करते रहे।

चतुर्थमपि वै मासं द्वादशे द्वादशेऽहनि ।
वायुभक्षो जितश्वासो ध्यायन्देवमधारयत् ॥ ७५॥

शब्दार्थ

चतुर्थम्—चौथे; अपि—भी; वै—उस प्रकार; मासम्—माह; द्वादशे द्वादशे—प्रति बारहवें; अहनि—दिन में; वायु—हवा; भक्षः—खाकर; जित-श्वासः—श्वास क्रिया को वश में करके; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; देवम्—परमेश्वर की; अधारयत्—पूजा की ।

चौथे महीने में ध्रुव महाराज प्राणायाम में पटु हो गये और इस प्रकार प्रत्येक बारहवें दिन वायु को श्वास से भीतर ले जाते। इस प्रकार अपने स्थान पर पूर्ण रूप से स्थिर होकर उन्होंने भगवान् की पूजा की।

पञ्चमे मास्यनुप्राप्ते जितश्वासो नृपात्मजः ।
ध्यायन्ब्रह्म पदैकेन तस्थौ स्थाणुरिवाचलः ॥ ७६॥

शब्दार्थ

पञ्चमे—पाँचवें; मासि—महीने में; अनुप्राप्ते—स्थित होकर; जित-श्वासः—तब भी श्वास को नियंत्रित करके; नृप-आत्मजः—राजा का पुत्र; ध्यायन्—ध्यान करता हुआ; ब्रह्म—भगवान्; पदा एकेन—एक पाँव से; तस्थौ—खड़ा रहा; स्थाणुः—ठूँठ के; इव—समान; अचलः—स्थिर, जड़।

पाँचवें महीने में राजपुत्र महाराज ध्रुव ने श्वास रोकने पर ऐसा नियत्रंण प्राप्त कर लिया कि

वे एक ही पाँव पर खड़े रहने में समर्थ हो गए, मानो कोई अचल ठूँठ हो। इस प्रकार उन्होंने परब्रह्म में अपने मन को केन्द्रित कर लिया।

सर्वतो मन आकृष्य हृदि भूतेन्द्रियाशयम् ।
ध्यायन्भगवतो रूपं नाद्राक्षीत्किञ्चनापरम् ॥ ७७ ॥

शब्दार्थ

सर्वतः—सभी प्रकार से; मनः—मन को; आकृष्य—केन्द्रित करके; हृदि—हृदय में; भूत-इन्द्रिय-आशयम्—इन्द्रियों के आश्रय तथा विषयों; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; भगवतः—भगवान् का; रूपम्—रूप, आकार; न अद्राक्षीत्—नहीं देखा; किञ्चन—कुछ भी; अपरम्—अन्य।

उन्होंने अपनी इन्द्रियों तथा उनके विषयों पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त कर लिया और इस तरह अपने मन को चारों ओर से खींच कर भगवान् के रूप पर स्थिर कर दिया।

तात्पर्य : यहाँ पर ध्यान के यौगिक नियमों की स्पष्ट व्याख्या की गई है। मनुष्य को मन अन्यत्र न लगाकर भगवान् के स्वरूप पर स्थिर करना होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि किसी निर्गुण वस्तु में ध्यान केन्द्रित किया जाये या उसका ध्यान किया जाये। ऐसा करना समय का अपव्यय मात्र है, क्योंकि यह अनावश्यक रूप से कष्टदायक है जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है।

आधारं महदादीनां प्रधानपुरुषेश्वरम् ।
ब्रह्म धारयमाणस्य त्रयो लोकाश्चकम्पिरे ॥ ७८ ॥

शब्दार्थ

आधारम्—आश्रय; महत्-आदीनाम्—समस्त भौतिक सृष्टि आदि, महत्-तत्त्व; प्रधान—मुख्य; पुरुष-ईश्वरम्—सभी जीवात्माओं का स्वामी; ब्रह्म—परब्रह्म परमेश्वर; धारयमाणस्य—हृदय में धारण करके; त्रयः—तीनों; लोकाः—लोक; चकम्पिरे—हिलने लगे।

इस प्रकार जब ध्रुव महाराज ने समग्र भौतिक सृष्टि के आश्रय तथा समस्त जीवात्माओं के स्वामी भगवान् को अपने वश में कर लिया तो तीनों लोक हिलने लगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *ब्रह्म* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *ब्रह्मन्* का अर्थ है, वह जो न केवल सबसे महान् है, वरन् जिसमें विस्तार की असीम शक्ति है। ध्रुव महाराज ब्रह्म को अपने हृदय में किस प्रकार आबद्ध कर सके? इस प्रश्न का उत्तर जीव गोस्वामी ने बहुत अच्छे ढंग से दिया है। उनका कथन है कि भगवान् ही ब्रह्म के मूल हैं, क्योंकि भौतिक अथवा आध्यात्मिक सब कुछ उनमें समाहित है, अतः

उनसे बड़ा कोई नहीं है। *भगवद्गीता* में भी परमेश्वर कहते हैं, ''मैं ब्रह्म का आश्रय हूँ।'' अनेक पुरुष, विशेष रूप से मायावादी दार्शनिक, ब्रह्म को महानतम सर्व-प्रसरण-वस्तु मानते हैं, किन्तु इस श्लोक से तथा *भगवद्गीता* जैसे अन्य वैदिक साहित्य से प्रकट है कि ब्रह्म का आश्रय भगवान् हैं, जिस प्रकार कि सूर्य प्रकाश का आश्रय सूर्य का गोलक है। अत: श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि भगवान् का दिव्य रूप समस्त महानता का बीज है, अत: वह परब्रह्म है। चूँकि परब्रह्म ध्रुव महाराज के हृदय में विद्यमान थे, अत: वे गुरुतम से भी बढ़कर हो गये। इसीलिए उनके भार से तीनों लोक तथा वैकुण्ठ लोक की सारी वस्तुएँ हिलने लगीं।

महत्-तत्त्व ही समस्त ब्रह्माण्डों की, जिसमें सभी जीवात्माएँ हैं, चरम परिणति है। ब्रह्म इस महत्-तत्त्व का आश्रय है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि परब्रह्म *प्रधान* तथा *पुरुष* दोनों का स्वामी है। *प्रधान* का अर्थ है सूक्ष्म पदार्थ, यथा आकाश; तथा *पुरुष* का अर्थ है जीवात्माएँ जो सूक्ष्म भौतिक जगत में आकर फँस गई हैं; इन्हें *परा प्रकृति* तथा *अपरा प्रकृति* भी कह सकते हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है। कृष्ण ही दोनों प्रकृतियों के नियन्ता हैं, अत: वे *प्रधान* तथा *पुरुष* के स्वामी हैं। वैदिक मंत्रों में भी परब्रह्म को *अन्त:-प्रविष्ट: शास्ता* कहा कहा है। इससे यह सूचित होता है कि श्रीभगवान् प्रत्येक वस्तु में प्रवेश करने वाले तथा प्रत्येक वस्तु पर नियंत्रण रखने वाले हैं। *ब्रह्म संहिता* से (५.६५) भी इसकी पुष्टि होती है। *अण्डान्तरस्थ परमाणुचयान्तरस्थं*—उसका न केवल ब्रह्माण्डों में, वरन् प्रत्येक परमाणु में प्रवेश है। *भगवद्गीता* (१०.४२) में कृष्ण यह भी कहते हैं—*विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम्।* भगवान् प्रत्येक वस्तु में प्रवेश करके उसका नियमन करते हैं। अपने हृदय में परम पुरुष के निरन्तर साहचर्य से ध्रुव महाराज ब्रह्म के समान हो गये और इस प्रकार सबसे भारी हो गये जिससे सारा ब्रह्माण्ड काँपने लगा। निष्कर्षत: ऐसा व्यक्ति जो सदा अपने हृदय में कृष्ण के दिव्य रूप का ध्यान करता है, वह अपने कार्यों से सारे विश्व को चकित कर सकता है। यही योग की सिद्धि है, जैसाकि *भगवद्गीता* (६.४७) में पुष्टि हुई है—*योगिनामपि सर्वेषाम्*—सभी योगियों में भक्तियोगी सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि वह अपने हृदय में श्रीकृष्ण का निरन्तर चिन्तन करता है और दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा रहता है। सामान्य योगी आश्चर्यजनक भौतिक कार्य कर सकते हैं, जिन्हें अष्ट सिद्धि कहा जाता है, किन्तु भगवान्

का शुद्ध भक्त इन सिद्धियों से बढ़कर ऐसे कार्य कर सकता है, जिससे सारा ब्रह्माण्ड दहल जाय।

यदैकपादेन स पार्थिवार्भक-
स्तस्थौ तदङ्गुष्ठनिपीडिता मही ।
ननाम तत्रार्धमिभेन्द्रधिष्ठिता
तरीव सव्येतरतः पदे पदे ॥ ७९ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; एक—एक; पादेन—पाँव से; सः—ध्रुव महाराज; पार्थिव—राजा का; अर्भकः—बालक; तस्थौ—खड़ा रहा; तत्-अङ्गुष्ठ—उनके अँगूठे से; निपीडिता—दब कर; मही—पृथ्वी; ननाम—नीचे झुकी; तत्र—तब; अर्धम्—आधा; इभ-इन्द्र—हाथियों का राजा; धिष्ठिता—स्थित; तरी इव—नाव के समान; सव्य-इतरतः—दाहिने तथा बाएँ; पदे पदे—पग-पग पर।

जब राजपुत्र ध्रुव महाराज अपने एक पाँव पर अविचलित भाव से खड़े रहे तो उनके पाँव के भार से आधी पृथ्वी उसी प्रकार नीचे चली गई जिस प्रकार कि हाथी के चढ़ने से (पानी में) उस के प्रत्येक कदम से नाव कभी दाएँ हिलती है, तो कभी बाएँ।

तात्पर्य : इस श्लोक का सबसे महत्त्वपूर्ण पद *पार्थिवार्भकः* अर्थात् राजा का पुत्र है। जब ध्रुव घर पर थे तो राजपुत्र होते हुए भी वे अपने पिता की गोद में चढ़ने से रोक दिये गये थे। किन्तु जब वे आत्म-साक्षात्कार अथवा भक्ति में आगे बढ़ गये तो वे अपने अँगूठे के भार से पृथ्वी को दबा सकते थे। सामान्य चेतना तथा कृष्णचेतना का यही अन्तर है। सामान्य चेतना में राजा के पुत्र को भी उसका पिता किसी वस्तु के लिए मना कर सकता है, किन्तु जब वही व्यक्ति हृदय में कृष्णचेतना से युक्त हो जाता है, तो अपने अँगूठे की दाब से पृथ्वी को धकेल सकता है।

कोई यह तर्क नहीं कर सकता "वही ध्रुव जिन्हें पिता की गोद में चढ़ने से मना कर दिया गया था सारी पृथ्वी को किस प्रकार हिला सकते थे?" इस तर्क को विद्वान् पसन्द नहीं करते, क्योंकि यह *नग्नमातृका* तर्कशास्त्र का उदाहरण है। इस तर्क से कोई यह सोच सकता है कि चूँकि माता बचपन में नंगी रहती थी, इसलिए उसे तरुण होने पर भी नंगी रहना चाहिए। ध्रुव महाराज की विमाता इसी प्रकार सोचती रही होगी, क्योंकि उसने ध्रुव को पिता की गोद में नहीं चढ़ने दिया था, अतः वह अब क्यों मानने लगी कि ध्रुव के भार से पूरी धरती हिलने लगी? वह अवश्य ही अत्यधिक आश्चर्यचकित हुई होगी जब उसने जाना होगा कि भगवान् का निरन्तर ध्यान धरने से ध्रुव महाराज पृथ्वी को उसी प्रकार दबा सकते थे, जिस प्रकार नाव पर चढ़ने पर हाथी नाव को दबाता है।

तस्मिन्नभिध्यायति विश्वमात्मनो
द्वारं निरुध्यासुमनन्यया धिया ।
लोका निरुच्छ्वासनिपीडिता भृशं
सलोकपालाः शरणं ययुर्हरिम् ॥ ८० ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—ध्रुव महाराज; अभिध्यायति—पूर्ण मनोयोग से ध्यान करते हुए; विश्वम् आत्मनः—ब्रह्माण्ड का पूर्ण शरीर; द्वारम्—दरवाजे, छेद; निरुध्य—बन्द करके; असुम्—प्राण वायु; अनन्यया—अविचल भाव से; धिया—ध्यान; लोकाः—सभी लोक; निरुच्छ्वास—श्वास लेना रोककर; निपीडिताः—दम घुटने से; भृशम्—शीघ्र; स-लोक-पालाः—विभिन्न लोकों के समस्त देवता; शरणम्—शरण; ययुः—ग्रहण की; हरिम्—भगवान् की।

जब ध्रुव महाराज गुरुता में भगवान् विष्णु अर्थात् समग्र चेतना से एकाकार हो गये तो उनके पूर्ण रूप से केन्द्रीभूत होने तथा शरीर के सभी छिद्रों के बन्द हो जाने से सारे विश्व की साँस घुटने लगी और सभी लोकों के समस्त बड़े-बड़े देवताओं का दम घुटने लगा। अतः वे भगवान् की शरण में आये।

तात्पर्य : जब सैकड़ों व्यक्ति किसी विमान में बैठे रहते हैं, तो वे व्यष्टि होकर भी हजारों मील की चाल से उड़ने वाले वायुयान के वेग में हिस्सा बँटाते हैं, इसी प्रकार जब हम इकाई शक्ति को समग्र शक्ति के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं, तो इकाई शक्ति समग्र शक्ति के बराबर शक्तिमान हो जाती है। जैसा कि पिछले श्लोक में बताया गया है अपनी आत्मोन्नति के कारण ध्रुव महाराज में समग्र गुरुता आ गई जिससे सारी पृथ्वी दब गई। ऐसी आध्यात्मिक शक्ति से उनका व्यष्टि शरीर ब्रह्माण्ड का समग्र शरीर बन गया। अतः जब उन्होंने अपने मन को भगवान् में दृढ़ता से लगाने के लिए शरीर के सारे छिद्र बन्द कर लिये तो ब्रह्माण्ड की सारी इकाईयाँ—समस्त जीवात्माएँ जिनमें बड़े-बड़े देवता भी सम्मिलित हैं—भार के कारण घुटन का अनुभव करने लगीं। अतः वे सब भगवान् की शरण में आये, क्योंकि उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि यह क्या हो गया?

ध्रुव महाराज द्वारा अपने शरीर के छेदों को बन्द करना और उससे सारे ब्रह्माण्ड के श्वास-द्वारों का रुद्ध होना एक ऐसा उदाहरण है, जो यह बताता है कि भक्त अपनी व्यक्तिगत भक्ति से सारे विश्व के लोगों को प्रभावित करके उन्हें भगवान् का भक्त बना सकता है। शुद्ध कृष्ण-चेतना से युक्त चाहे एक ही शुद्ध भक्त क्यों न हो वह सारे विश्व की चेतना को कृष्ण-चेतना में बदल सकता है। यदि हम ध्रुव

महाराज के चरित्र को पढ़ें तो इसे समझ पाना जरा भी कठिन नहीं होगा।

देवा ऊचुः

नैवं विदामो भगवन्प्राणरोधं
चराचरस्याखिलसत्त्वधाम्नः ।
विधेहि तन्नो वृजिनाद्विमोक्षं
प्राप्ता वयं त्वां शरणं शरण्यम् ॥ ८१ ॥

शब्दार्थ

देवाः ऊचुः—देवताओं ने कहा; न—नहीं; एवम्—इस प्रकार; विदामः—हम समझ पाते हैं; भगवन्—हे भगवान्; प्राण-रोधम्—रुद्ध हुआ श्वास; चर—चलता हुआ; अचरस्य—अचल का; अखिल—विश्वजनीन; सत्त्व—अस्तित्व; धाम्नः—आगार; विधेहि—कृपा करके जो आवश्यक हो करें; तत्—अतः; नः—हमारा; वृजिनात्—संकट से; विमोक्षम्—उद्धार; प्राप्ताः—निकट आता; वयम्—हम सभी; त्वाम्—तुमको; शरणम्—शरण; शरण्यम्—शरण ग्रहण की जाने योग्य।

देवताओं ने कहा : हे भगवान्, आप समस्त जड़ तथा चेतन जीवात्माओं के आश्रय हैं। हमें लग रहा है कि सभी जीवों का दम घुट रहा है और उनकी श्वास-क्रिया अवरुद्ध हो गई है। हमें ऐसा अनुभव कभी नहीं हुआ। आप सभी शरणागतों के चरम आश्रय है, अतः हम आपके पास आये हैं। कृपया हमें इस संकट से उबारिये।

तात्पर्य : भगवान् की भक्ति के फलस्वरूप प्राप्त ध्रुव महाराज के प्रभाव का अनुभव देवताओं को भी हो रहा था, जिन्होंने इसके पूर्व कभी ऐसा अनुभव नहीं किया था। ध्रुव महाराज के श्वास रोक लिये जाने पर सारे संसार की श्वास-क्रिया रुद्ध हो गई। भगवान् की इच्छा न हो तो भौतिक जीव श्वास नहीं ले पाते जबकि दिव्य आत्माएँ श्वास ले सकती हैं। भौतिक जीव तो भगवान् की बहिरंगा शक्ति के प्रतिफल हैं, जबकि दिव्य आत्माएँ अन्तरंगा शक्ति के। देवतागण दोनों प्रकार के जीवों के नियन्ता भगवान् के पास यह जानने के लिऐ गये कि उनके श्वास क्यों रुद्ध हो रहे हैं। इस जगत में सभी प्रकार की समस्याओं के हल के लिए परमेश्वर अन्तिम लक्ष्य हैं। आध्यात्मिक जगत में कोई समस्या नहीं रहती, किन्तु भौतिक जगत तो समस्याओं से भरा हुआ है। चूँकि भगवान् दोनों जगतों के स्वामी हैं, अतः समस्याएँ उत्पन्न होने पर उन्हीं के पास पहुँचना श्रेयस्कर है। जो भक्त हैं, उनके पास इस जगत में कोई समस्या नहीं है। *विश्वं पूर्णसुखायते* (*चैतन्य चरितामृत*)—भक्तगण समस्त समस्याओं से मुक्त हैं क्योंकि वे भगवान् के पूर्ण शरणागत हैं। भक्त के लिए इस संसार में प्रत्येक वस्तु अत्यन्त आनन्द-दायक है, क्योंकि उसको वह भगवान् की दिव्य भक्ति के लिए उपयोग में लाना जानता है।

श्रीभगवानुवाच
मा भैष्ट बालं तपसो दुरत्यया-
न्निवर्तयिष्ये प्रतियात स्वधाम ।
यतो हि वः प्राणनिरोध आसी-
दौत्तानपादिर्मयि सङ्गतात्मा ॥ ८२ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने उत्तर दिया; मा भैष्ट—मत डरो; बालम्—बालक ध्रुव; तपसः—कठिन तपस्या से; दुरत्ययात्—दृढ़ निश्चय; निवर्तयिष्ये—रोकने के लिए कहूँगा; प्रतियात—तुम जा सकते हो; स्व-धाम—अपने घर; यतः—जिससे; हि—निश्चय ही; वः—तुम्हारा; प्राण-निरोधः—प्राण वायु का अवरोध; आसीत्—हुआ; औत्तानपादिः—राजा उत्तानपाद के पुत्र के कारण; मयि—मुझको; सङ्गत-आत्मा—मेरे विचार में पूरी तरह लीन।

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया : हे देवो, तुम इससे विचलित न होओ। यह राजा उत्तानपाद के पुत्र की कठोर तपस्या तथा दृढ़निश्चय के कारण हुआ है, जो इस समय मेरे चिन्तन में पूर्णतया लीन है। उसी ने सारे ब्रह्माण्ड की श्वास क्रिया को रोक दिया है। तुम लोग अपने-अपने घर सुरक्षापूर्वक जा सकते हो। मैं उस बालक को कठिन तपस्या करने से रोक दूँगा तो तुम इस परिस्थिति से उबर जाओगे।

तात्पर्य : यहाँ पर प्रयुक्त एक शब्द *संगतात्मा* का अर्थ मायावादी दार्शनिकों द्वारा गलत ढंग से लगाया गया है। वे कहते हैं कि ध्रुव महाराज का आत्म परमेश्वर के परम आत्म से एक हो गया। वे इस शब्द द्वारा यह सिद्ध करना चाहते हैं कि इस प्रकार परमात्मा तथा व्यष्टि आत्मा संयुक्त हो जाते हैं और ऐसे एकीकरण के पश्चात् व्यष्टि आत्मा का पृथक् अस्तित्व नहीं रह जाता। किन्तु यहाँ पर भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि ध्रुव महाराज उनके ध्यान में इस प्रकार लीन थे कि विश्व चेतना स्वरूप वे स्वयं ध्रुव की ओर आकृष्ट हो गये। देवों को प्रसन्न करने के लिए वे स्वयं ध्रुव महाराज के पास जाकर उनको कठोर तपस्या से रोकना चाहते थे। मायावादी दार्शनिकों के इस कथन से इस निष्कर्ष की पुष्टि नहीं होती कि परमात्मा तथा आत्मा एकाकार हो जाते हैं। अपितु परमात्मा भगवान् ने ध्रुव महाराज को इस कठिन तपस्या से रोकना चाहा।

भगवान् को प्रसन्न कर लेने से सभी को प्रसन्न किया जा सकता है, उसी प्रकार जिस तरह कि पौधे की जड़ को सींच कर टहनी, पत्ती इत्यादि को तुष्ट किया जाता है। यदि मनुष्य भगवान् को अपनी ओर आकृष्ट कर सके तो स्वाभाविक है कि सारा संसार आकर्षित हो सकता है, क्योंकि कृष्ण ही सारे

ब्रह्माण्ड के कारणस्वरूप हैं। सभी देवता श्वासरोध से पूरी तरह मिट जाने के भय से आशंकित थे, किन्तु भगवान् ने विश्वास दिलाया कि ध्रुव महाराज भगवान् के परम भक्त हैं, वे ब्रह्माण्ड का संहार करने नहीं जा रहे। भक्त कभी भी अन्य जीवात्माओं से द्वेष नहीं करता।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत "ध्रुव महाराज का गृहत्याग और वनगमन" नामक आठवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter नौ

ध्रुव महाराज का घर लौटना

मैत्रेय उवाच
त एवमुत्सन्नभया उरुक्रमे
कृतावनामाः प्रययुस्त्रिविष्टपम् ।
सहस्रशीर्षापि ततो गरुत्मता
मधोर्वनं भृत्यदिदृक्षया गतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; ते—देवतागण; एवम्—इस प्रकार; उत्सन्न-भयाः—समस्त प्रकार के डर से रहित; उरुक्रमे—भगवान् को, जिनके कार्य अलौलिक हैं; कृत-अवनामाः—नमस्कार किये गये; प्रययुः—वे लौट गये; त्रि-विष्टपम्—अपने अपने दैव लोकों को; सहस्र-शीर्षा अपि—सहस्रशीर्ष कहलानेवाले भगवान् भी; ततः—वहाँ से; गरुत्मता—गरुड़ पर आरुढ़ होकर; मधोः वनम्—मधुवन; भृत्य—दास; दिदृक्षया—देखने की इच्छा से; गतः—गये।

महर्षि मैत्रेय ने विदुर से कहा : जब भगवान् ने देवताओं को इस प्रकार फिर से आश्वासन दिलाया तो वे समस्त प्रकार के भय से मुक्त हो गये और वे सब उन्हें नमस्कार करके अपने-अपने देवलोकों को चले गये। तब भगवान्, जो साक्षात् सहस्रशीर्ष अवतार हैं, गरुड़ पर सवार हुए और अपने दास ध्रुव को देखने के लिए मधुवन गये।

तात्पर्य : *सहस्रशीर्ष* शब्द गर्भोदकशायी विष्णु के लिए प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि भगवान् क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में प्रकट हुए थे, किन्तु उन्हें यहाँ गर्भोदकशायी सहस्रशीर्ष विष्णु के रूप में वर्णित किया गया है क्योंकि वे गर्भोदकशायी विष्णु से अभिन्न हैं। श्रील सनातन गोस्वामी ने अपने *भागवतामृत* में विष्णु के इस रूप को पृश्निगर्भ अवतार बतलाया है। उन्होंने ध्रुव महाराज के रहने के लिए ध्रुवलोक की सृष्टि की।

स वै धिया योगविपाकतीव्रया
हृत्पद्मकोशे स्फुरितं तडित्प्रभम् ।
तिरोहितं सहसैवोपलक्ष्य
बहिःस्थितं तदवस्थं ददर्श ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सः—ध्रुव महाराज; वै—भी; धिया—ध्यान से; योग-विपाक-तीव्रया—प्रखर योगाभ्यास के कारण; हृत्—हृदय के; पद्म-कोशे—कमल पर; स्फुरितम्—प्रकट; तडित्-प्रभम्—बिजली के समान तेजमय; तिरोहितम्—विलीन हुई; सहसा—अकस्मात्; एव—भी; उपलक्ष्य—देखकर; बहिः-स्थितम्—बाहर स्थित; तत्-अवस्थम्—उसी मुद्रा में; ददर्श—देख सका।

ध्रुव महाराज अपने प्रखर योगाभ्यास के समय भगवान् के जिस बिजली सदृश तेजमान रूप के ध्यान में निमग्न थे, वह सहसा विलीन हो गया। फलतः ध्रुव अत्यन्त विचलित हो उठे और उनका ध्यान टूट गया। किन्तु ज्योंही उन्होंने अपने नेत्र खोले, वैसे ही उन्होंने अपने समक्ष पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को उसी रूप में साक्षात् उपस्थित देखा, जिस रूप का दर्शन वे अपने हृदय में कर रहे थे।

तात्पर्य : अपने प्रखर योगमय ध्यान के कारण ध्रुव महाराज अपने हृदय में भगवान् के जिस स्वरूप का निरन्तर दर्शन कर रहे थे, किन्तु सहसा अपने हृदय से इस रूप के विलुप्त होने पर उन्होंने सोचा कि उस रूप को उन्होंने खो दिया है। इससे ध्रुव महाराज चिन्तित हुए, किन्तु आँख खुलने तथा ध्यान टूटने पर उन्होंने देखा कि भगवान् का वही रूप उनके समक्ष उपस्थित है। *ब्रह्म संहिता* में (५.३८) कहा गया है—*प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन*—जिस सत्पुरुष ने अपनी भक्ति द्वारा ईश्वर के प्रति प्रेम उत्पन्न कर लिया है, वह श्यामसुन्दर के दिव्य रूप का निरन्तर दर्शन करता है। भक्त के हृदय में स्थित श्यामसुन्दर का यह रूप काल्पनिक नहीं होता। जब भक्त की भक्ति प्रौढ़ हो जाती है, तो वह अपनी भक्ति की अवधि में जिस रूप का चिन्तन करता रहता है, वही श्यामसुन्दर सामने दिखता है। चूँकि परमेश्वर परम है, अतः चाहे भक्त के हृदय का रूप हो या मन्दिर में स्थित रूप हो अथवा वैकुठधाम वृन्दावन में स्थित आदि रूप हो, ये सभी एक ही होते हैं। वे एक दूसरे से अभिन्न होते हैं।

तद्दर्शनेनागतसाध्वसः क्षिता-
ववन्दताङ्गं विनमय्य दण्डवत् ।
दृग्भ्यां प्रपश्यन्प्रपिबन्निवार्भक-
श्चुम्बन्निवास्येन भुजैरिवाश्लिषन् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्-दर्शनेन—भगवान् का दर्शन करके; आगत-साध्वसः—अत्यधिक विह्वल ध्रुव महाराज; क्षितौ—पृथ्वी पर; अवन्दत—नमस्कार किया; अङ्गम्—शरीर; विनमय्य—गिरकर; दण्डवत्—डंडे के समान; दृग्भ्याम्—अपनी आँखों से; प्रपश्यन्—देखते हुए; प्रपिबन्—पान करते हुए; इव—सदृश; अर्भकः—बालक; चुम्बन्—चुम्बन; इव—सदृश्य; आस्येन—मुख से; भुजैः—अपनी बाहों से; इव—सदृश; आश्लिषन्—भरते हुए।

जब ध्रुव महाराज ने अपने भगवान् को अपने सन्मुख देखा तो वे अत्यन्त विह्वल हो उठे और उन्होंने उनका सादर अभिवादन किया। वे उनके समक्ष दण्ड के समान गिर पड़े और भगवत्प्रेम में

मग्न हो गये। आनन्द में ध्रुव महाराज भगवान् को इस प्रकार देख रहे थे, मानो उन्हें आँखों से पी रहे हों, उनके चरण कमलों को अपने मुख से चूम रहे हों और उन्हें अपनी भुजाओं में भर रहे हों।

तात्पर्य : स्वाभाविक है कि जब ध्रुव महाराज ने भगवान् को अपने सामने देखा तो वे विस्मय एवं सम्मान के कारण विह्वल हो उठे और ऐसा प्रतीत होने लगा मानो वे उनके सारे स्वरूप को अपनी आँखों से पी जाएँगे। भगवान् के प्रति भक्त का प्रेम इतना उत्कट होता है कि वह उनके चरण कमलों को निरन्तर चूमते रहना चाहता है, वह उनके नखाग्रों का स्पर्श करते रहना चाहता है तथा उनके चरणकमलों को लगातार भुजाओं में भरे रहना चाहता है। भगवान् को अपने समक्ष देखकर ध्रुव महाराज के शरीर में उठनेवाले ये भाव बताते हैं कि उनके शरीर में आठ प्रकार के दिव्य आनन्द प्रकट हो उठे।

स तं विवक्षन्तमतद्विदं हरि-
ज्ञात्वास्य सर्वस्य च हृद्यवस्थितः ।
कृताञ्जलिं ब्रह्ममयेन कम्बुना
पस्पर्श बालं कृपया कपोले ॥ ४॥

शब्दार्थ

सः—भगवान्; तम्—ध्रुव महाराज को; विवक्षन्तम्—गुणों का गान करने की अभिलाषा से; अ-तत्-विदम्—उसमें पटु न होने से; हरिः—भगवान्; ज्ञात्वा—जानकर; अस्य—ध्रुव का; सर्वस्य—प्रत्येक का; च—तथा; हृदि—हृदय में; अवस्थितः—स्थित होकर; कृत-अञ्जलिम्—हाथ जोड़ कर; ब्रह्म-मयेन—वैदिक मंत्रों के शब्दों से युक्त; कम्बुना—अपने शंख से; पस्पर्श—स्पर्श किया; बालम्—बालक को; कृपया—अहैतुकी कृपा से; कपोले—मस्तक पर।

यद्यपि ध्रुव महाराज छोटे से बालक थे, किन्तु वे उपयुक्त शब्दों से भगवान् की स्तुति करना चाह रहे थे। किन्तु अनुभवहीन होने के कारण वे तुरन्त अपने को सँभाल नहीं सके। प्रत्येक हृदय में वास करनेवाले भगवान् ध्रुव महाराज की विषम स्थिति को समझ गये। अतः अपनी अहैतुकी कृपा से उन्होंने अपने समक्ष हाथ जोड़कर खड़े हुए ध्रुव महाराज के मस्तक पर अपना शंख छुआ दिया।

तात्पर्य : प्रत्येक भक्त भगवान् के दिव्य गुणों का गान करना चाहता है। भक्त सदैव भगवान् के दिव्य गुणों को सुनने के लिए इच्छुक रहते हैं और इन गुणों का गान करना चाहते रहते हैं, किन्तु कभी-कभी विनम्रतावश कठिनाई उपस्थित हो जाती है। अतः प्रत्येक मनुष्य के हृदय में वास करनेवाले

भगवान् अपने भक्त को बुद्धि प्रदान करते हैं कि वह यशगान कर सके। अत: यह मानना चाहिए कि भक्त जब भगवान् के विषय में कुछ लिखता या बोलता है, तो उसके शब्द भगवान् द्वारा उसके अन्त:करण से प्रस्कुटित किये हुए होते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* के दशम अध्याय में इस प्रकार हुई है—जो लोग ईश्वर की दिव्य सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं, उन्हें भगवान् उनके अन्त:करण से आदेश देते रहते हैं कि उनके सेवा के लिए आगे क्या किया जाये। ध्रुव महाराज को अनुभव न होने के कारण जब जब भगवान् का वर्णन न कर सकने के कारण संकोच हुआ, तो भगवान् ने अपनी अहैतुकी कृपावश उनके मस्तक पर अपना शंख छुआ दिया जिससे ध्रुव को दिव्य प्रेरणा प्राप्त हो गई। यह दिव्य प्रेरणा *ब्रह्म-मय* कहलाती है, क्योंकि जब कोई इस प्रकार से प्रेरित होता है, तो उसके मुख से जो ध्वनि निकलती है, वह ठीक वेदों की ध्वनि जैसी होती है। यह ध्वनि इस भौतिक जगत की सामान्य ध्वनि नहीं होती। अत: हरे कृष्ण मंत्र की ध्वनि को भले ही वह सामान्य शब्दों में प्रस्तुत की जाती है, सांसारिक अथवा भौतिक नहीं समझना चाहिए।

स वै तदैव प्रतिपादितां गिरं
दैवीं परिज्ञातपरात्मनिर्णय: ।
तं भक्तिभावोऽभ्यगृणादसत्वरं
परिश्रुतोरुश्रवसं ध्रुवक्षिति: ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

स:—ध्रुव महाराज; वै—निश्चय ही; तदा—उस समय; एव—ही; प्रतिपादिताम्—प्राप्त करके; गिरम्—वाणी; दैवीम्—दिव्य; परिज्ञात—जाना हुआ; पर-आत्म—परम-आत्मा का; निर्णय:—निष्कर्ष; तम्—भगवान् को; भक्ति-भाव:—भक्ति में स्थित; अभ्यगृणात्—स्तुति की; असत्वरम्—बिना जल्दबाजी दिखाये; परिश्रुत—विख्यात; उरु-श्रवसम्—जिसका यश; ध्रुव-क्षिति:—ध्रुव जिसके लोक का नाश नहीं होगा।

उस समय ध्रुव महाराज को वैदिक निष्कर्ष का पूर्ण ज्ञान हो गया और वे परम सत्य तथा सभी जीवात्माओं से उनके सम्बन्ध को जान गये। भगवान् के सेवाभाव के अनुसार विश्वविख्यात ध्रुव ने, जिन्हें शीघ्र ही ऐसे लोक की प्राप्ति होनेवाली थी, जो कभी भी यहाँ तक कि प्रलय काल में विनष्ट न होने वाला है, सहज भाव से सोदेश्य व निर्णयात्मक स्तुति की।

तात्पर्य : इस श्लोक में कई विचारणीय बातें हैं। पहली तो यह कि परम सत्य तथा सापेक्षिक भौतिक एवं आत्मिक शक्तियों के मध्य का सम्बन्ध वैदिक साहित्य से परिचित व्यक्ति ही समझ सकता

है। ध्रुव महाराज कभी किसी स्कूल या अध्यापक के पास वैदिक ज्ञान सीखने नहीं गये, किन्तु अपनी भगवद्भक्ति के कारण, ज्योंही भगवान् प्रकट हुए और उन्होंने उनके मस्तक को शंख से छुआ, उन्हें सारा वैदिक ज्ञान स्वत: प्राप्त हो गया। वैदिक साहित्य को समझने की यही विधि है। मात्र विद्यालयीन शिक्षा लेने से इसे कोई नहीं समझ सकता। वेद यह संकेत करते हैं कि जिसकी परमेश्वर तथा गुरु के प्रति अविचल श्रद्धा है उसी को वैदिक ज्ञान प्राप्त हो पाता है।

ध्रुव महाराज तो वह आदर्श हैं कि वे अपने गुरु नारदमुनि के आदेशानुसार भगवद्भक्ति में लगे और उनके दृढ़ संकल्प तथा तपस्या से भक्ति करने के फलस्वरूप भगवान् उनके समक्ष साक्षात् प्रकट हुए। ध्रुव अभी बालक ही थे। वे भगवान् की उत्तम स्तुति करना चाहते थे, किन्तु पर्याप्त ज्ञान न होने से वे संकोच कर रहे थे, किन्तु जैसे ही उन्होंने अपना शंख उनके मस्तक पर छुआया, भगवान् की कृपा से उन्हें वैदिक ज्ञान पूर्णत: ज्ञात हो गया। निष्कर्ष यह है कि जीव तथा परमात्मा के अन्तर को ठीक-ठीक जान लेने पर यह ज्ञान आधारित है। व्यष्टि आत्मा परमात्मा का नित्य दास है; अत: परमात्मा की सेवा करना ही उसका परम धर्म है। यही भक्तियोग या *भक्ति-भाव* कहलाता है। ध्रुव महाराज ने जो स्तुति की वह निर्विशेषवादी दार्शनिक के रूप में नहीं, अपितु भक्त रूप में की। इसीलिए यहाँ पर स्पष्ट रूप से भक्ति भाव का उल्लेख है। परमेश्वर के प्रति प्रस्तुत की जाने वाली वही स्तुतियाँ योग्य हैं, जिनका यश दूर-दूर तक फैलता है। ध्रुव महाराज अपने पिता का राज्य प्राप्त करना चाह रहे थे, किन्तु पिता ने तो उन्हें गोद तक में बिठाने से इनकार कर दिया था। अत: उनकी इच्छा की पूर्ति के लिए भगवान् ने पहले ही ध्रुवलोक की सृष्टि की जिसका विनाश ब्रह्माण्ड के प्रलय के समय भी नहीं हो सकता। ध्रुव महाराज को यह सिद्धि हड़बड़ी में नहीं मिली, उन्होंने बड़े ही धैर्य से गुरु के आदेश का पालन किया जिससे उन्हें भगवान् के साक्षात् दर्शन प्राप्त हो सके। अब भगवान् की अहैतुकी कृपा से वे और अच्छे ढंग से भगवान् की स्तुति करने में समर्थ हुए। परमेश्वर का गुणगान या स्तुति करने के लिए भगवान् की कृपा होनी चाहिए। जब तक कोई भगवान् की अहैतुकी कृपा प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक वह भगवान् के यश का अंकन नहीं कर सकता।

ध्रुव उवाच

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना ।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ध्रुवः उवाच—ध्रुव महाराज ने कहा; यः—जो परमेश्वर; अन्तः—अन्तःकरण; प्रविश्य—प्रवेश करके; मम—मेरे; वाचम्—शब्द; इमाम्—ये सभी; प्रसुप्ताम्—निश्चल या मृत; सञ्जीवयति—पुनः जीवित होता है; अखिल—विश्वव्यापी; शक्ति—शक्ति; धरः—धारण करनेवाला; स्व-धाम्ना—अपनी अन्तरंगा शक्ति से; अन्यान् च—अन्य अंग भी; हस्त—यथा हाथ; चरण—पाँव; श्रवण—कान; त्वक्—चर्म; आदीन्—इत्यादि; प्राणान्—प्राण, जीवन-शक्ति; नमः—नमस्कार है; भगवते—भगवान् को; पुरुषाय—परम पुरुष को; तुभ्यम्—तुमको।

ध्रुव महाराज ने कहा : हे भगवन्, आप सर्वशक्तिमान हैं। मेरे अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर आपने मेरी सभी सोई हुई इन्द्रियों को—हाथों, पाँवों, स्पर्शेन्द्रिय, प्राण तथा मेरी वाणी को—जाग्रत कर दिया है। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज सहज ही अनुमान लगा सके कि आत्म-साक्षात्कार करने और साक्षात् भगवान् को देखने के पूर्व और पश्चात् उनकी जो स्थिति थी उसमें कितना अन्तर था। उन्हें अनुभव हुआ कि उनके प्राण तथा कार्य सुप्तावस्था में थे। जब तक मनुष्य आध्यात्मिक स्तर पर नहीं पहुंचता, उसके शरीर के अंग, उसका मन तथा अन्य अनुभव सोए हुए समझे जाते हैं। जब तक मनुष्य आध्यात्मिक, स्तर पर नहीं पहुंचता, उसके शरीर के अंग, उसका मन तथा अन्य अवयव सोए हुए समझे जाते हैं। जब तक मनुष्य आत्म-दशा को प्राप्त नहीं होता, तब तक उसके सारे कार्य मृत व्यक्ति के कार्य या प्रेत कार्य समझे जाते हैं। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने अपने एक गीत में स्वयं को इस प्रकार सम्बोधित किया है, ''हे जीवात्मा! जागो! तुम माया की गोद में कब तक सोते रहोगे? अब तुम्हें मानव देह प्राप्त हुई है, अतः तुम जगने और अपने को समझने का प्रयत्न करो।'' वेद भी यही घोषित करते हैं, ''उठो, उठो, तुम्हें मनुष्य रूप का वरदान प्राप्त हुआ है, अतः अपने आपको पहचानो।'' ये वैदिक आदेश हैं।

ध्रुव महाराज को वास्तविक अनुभव हुआ कि इन्द्रियों के आध्यात्मिक स्तर पर आलोकित होने से वे वैदिक आदेश के सार को—कि परमेश्वर ही परम पुरुष है, वह निर्गुण नहीं है—समझ सके। उन्हें तुरन्त ही यह बात समझ में आ गई। उन्हें इसका ज्ञान था कि दीर्घकाल से वे सुप्तप्राय थे और अब

वैदिक ज्ञान के अनुसार भगवान् की स्तुति करने के लिए प्रोत्साहन प्राप्त कर सके हैं। कोई सांसारिक व्यक्ति भगवान् की स्तुति या यशोगान नहीं कर सकता क्योंकि उसे वैदिक सार का अनुभव नहीं होता।

अत: जब ध्रुव महाराज ने अपने आपमें अन्तर देखा तो वे तुरन्त समझ गये कि यह भगवान् की अहैतुकी कृपा से हो रहा है। उन्होंने अत्यन्त श्रद्धा तथा सम्मानपूर्वक भगवान् को नमस्कार किया और समझ गये कि उन पर भगवान् की पूर्ण कृपा है। ध्रुव महाराज की इन्द्रियों तथा मन का यह आत्म-जागरण भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के प्रभाव से था। अत: इस श्लोक में *स्व-धाम्ना* शब्द का अर्थ है, "परा शक्ति द्वारा।" भगवान् की पराशक्ति की कृपा से ही आत्म प्रकाश सम्भव है। हरे कृष्ण मंत्र कीर्तन में सर्वप्रथम भगवान् की पराशक्ति की कृपा, हरे, को सम्बोधित किया गया है। जब जीवात्मा पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण कर देता है और सनातन दास के रूप में अपने को स्वीकार कर लेता है, तब पराशक्ति कार्य करती है। जब कोई मनुष्य परमेश्वर के कहने या उनके आदेश पालन के लिए तत्पर रहता है, तो वह *सेवोन्मुख* कहलाता है। उस समय पराशक्ति ही उसे भगवान् के भेद को प्रकट करती है।

पराशक्ति द्वारा प्रकट किये बिना कोई भगवान् की स्तुति कर सकने में समर्थ नहीं है। चाहे संसारी जीव कितना ही दार्शनिक चिन्तन अथवा काव्यसृजन क्यों न करे, फिर भी यह भौतिक शक्ति की क्रिया-प्रतिक्रिया माना जाता है। जब कोई पराशक्ति द्वारा सचमुच जाग्रत होता है, तो उसकी सारी इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं और वह केवल भगवान् की सेवा करता है। उस समय उसकी सारी इन्द्रियाँ—हाथ, पाँव, कान, जीभ, मन, जननांग आदि—भगवान् की सेवा में लग जाती हैं। ऐसे प्रकाश-प्राप्त भक्त के न तो कोई भौतिक कार्य रह जाते हैं और न उसे सांसारिक कामों में व्यस्त रहना रुचिकर प्रतीत होता है। इन्द्रियों को शुद्ध करने उन्हें भगवान् की सेवा में लगाने की यह प्रक्रिया भक्ति कहलाती है। प्रारम्भ में तो गुरु तथा शास्त्र के निर्देशन से इन्द्रियों को सेवा में लगाया जाता है, किन्तु साक्षात्कार के बाद वही इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं और सेवा-भाव चलता रहता है। अन्तर इतना ही होता है कि प्रारम्भ में इन्द्रियाँ यांत्रिक रूप से तत्पर होती हैं, किन्तु साक्षात्कार के बाद वे आत्म-ज्ञान द्वारा सेवा में लग जाती हैं।

एकस्त्वमेव भगवन्निदमात्मशक्त्या
मायाख्ययोरुगुणया महदाद्यशेषम् ।
सृष्ट्वानुविश्य पुरुषस्तदसद्गुणेषु
नानेव दारुषु विभावसुवद्विभासि ॥ ७॥

शब्दार्थ

एक:—एक; त्वम्—तुम; एव—निश्चय ही; भगवन्—हे भगवन्; इदम्—यह भौतिक जगत; आत्म-शक्त्या—अपनी शक्ति से; माया-आख्यया—माया नाम की; उरु—अत्यन्त शक्तिशाली; गुणया—प्रकृति के गुणों से युक्त; महत्-आदि—महत्-तत्त्व आदि.; अशेषम्—अनन्त; सृष्ट्वा—सृष्टि करके; अनुविश्य—फिर प्रवेश करके; पुरुष:—परमात्मा; तत्—माया का; असत्-गुणेषु—क्षणिक प्रकट गुणों में; नाना—प्रत्येक प्रकार से; इव—मानो; दारुषु—काष्ठ खण्डों में; विभावसु-वत्—अग्नि के समान; विभासि—प्रकट होते हो।.

हे भगवन्, आप सर्वश्रेष्ठ हैं, किन्तु आप आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों में अपनी विभिन्न शक्तियों के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकट होते रहते हैं। आप अपनी बहिरंगा शक्ति से भौतिक जगत की समस्त शक्ति को उत्पन्न करके बाद में भौतिक जगत में परमात्मा के रूप में प्रविष्ट हो जाते हैं। आप परम पुरुष हैं और क्षणिक गुणों से अनेक प्रकार की सृष्टि करते हैं, जिस प्रकार कि अग्नि विभिन्न आकार के काष्ठखण्डों में प्रविष्ट होकर विविध रूपों में चमकती हुई जलती है।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज को ज्ञान हुआ कि परमेश्वर अपनी विभिन्न शक्तियों द्वारा कार्य करता है, वह शून्य या निर्गुण नहीं बनता तथा इस प्रकार वह सर्वव्यापी हो जाता है। मायावादी चिन्तक सोचता है कि परमेश्वर समूचे दृश्य जगत में व्याप्त है, अत: उसके कोई रूप नहीं। किन्तु वैदिक ज्ञान का बोध हो जाने से यहाँ पर ध्रुव कहते हैं "आप अपनी शक्ति के द्वारा समग्र दृश्य-जगत भर में व्याप्त हैं।" यह शक्ति वास्तव में परा है, किन्तु भौतिक जगत में क्षणिक रूप से कार्यशील होने के कारण माया कहलाती है। दूसरे शब्दों में, भक्तों के अतिरिक्त सबों के लिए भगवान् की शक्ति बहिरंगा शक्ति होती है। ध्रुव महाराज इस तथ्य को अच्छी तरह समझ सके। और यह भी समझ गये कि शक्ति और शक्तिमान एक समान तथा एक ही हैं। शक्ति को शक्तिमान से पृथक् नहीं किया जा सकता।

परमात्मा के रूप में भगवान् की पहचान को यहाँ स्वीकार किया गया है। उनकी आदि परा शक्ति भौतिक शक्ति को जगाती है, जिससे मृत शरीर प्राणशक्ति से पूरित प्रतीत होता है। शून्यवादी विचारक सोचते हैं कि किन्हीं भौतिक परिस्थितियों में भौतिक वस्तु में जीवन के लक्षण प्रकट होते हैं, किन्तु

तथ्य यह है कि भौतिक शरीर स्वत: कार्य नहीं कर सकता। यहाँ तक कि मशीन को भी पृथक् शक्ति (बिजली, भाप इत्यादि) की आवश्यकता होती है। इस श्लोक में कहा गया है कि भौतिक शक्ति नाना प्रकार की भौतिक वस्तुओं में कार्य करती है, जिस प्रकार कि अग्नि विभिन्न प्रकार के लकड़ी के टुकड़ों में भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थात् लकड़ी के आकार तथा गुण के अनुसार जलती है। भक्तों में वही शक्ति पराशक्ति में परिणत हो जाती है। ऐसा सम्भव है, क्योंकि शक्ति मूलत: पराशक्ति रूप में रहती है, भौतिक रूप में नहीं। जैसाकि कहा गया है—*विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता।* आदि शक्ति भक्त को जगाती है और इस तरह वह अपने समस्त अंगों को भगवान् की सेवा में लगाता है। वही शक्ति, बहिरंगा शक्ति के रूप में अभक्तों को इन्द्रियतृप्ति के भौतिक व्यापारों में प्रवृत्त करती है। हमें माया तथा *स्वधाम* का अन्तर स्पष्ट समझ लेना चाहिए। भक्तों में तो *स्वधाम* कार्यशील रहता है और अभक्तों में माया शक्ति।

त्वद्दत्तया वयुनयेदमचष्ट विश्वं
सुप्तप्रबुद्ध इव नाथ भवत्प्रपन्नः ।
तस्यापवर्ग्यशरणं तव पादमूलं
विस्मर्यते कृतविदा कथमार्तबन्धो ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

त्वत्-दत्तया—तुम्हारे द्वारा प्रदत्त; वयुनया—ज्ञान से; इदम्—यह; अचष्ट—देख सकता है; विश्वम्—समग्र ब्रह्माण्ड; सुप्त-प्रबुद्धः—सोकर जगे हुए पुरुष; इव—के समान; नाथ—हे प्रभु; भवत्-प्रपन्नः—भगवान् ब्रह्मा, जो आपके शरणागत हैं; तस्य—उसका; आपवर्ग्य—मुक्ति के इच्छुक; शरणम्—शरण; तव—तुम्हारी; पाद-मूलम्—चरणकमल; विस्मर्यते—भुलाया जा सकता है; कृत-विदा—विद्वान पुरुष; कथम्—किस प्रकार; आर्त-बन्धो—हे दुखियों के मित्र।

हे स्वामी, ब्रह्मा पूर्ण रूप से आपके शरणागत हैं। आरम्भ में आपने उन्हें ज्ञान दिया तो वे समस्त ब्रह्माण्ड को उसी तरह देख और समझ पाये जिस प्रकार कोई मनुष्य नींद से जगकर तुरन्त अपने कार्य समझने लगता है। आप मुक्तिकामी समस्त पुरुषों के एकमात्र आश्रय हैं और आप समस्त दीन-दुखियों के मित्र हैं। अत: पूर्ण ज्ञान से युक्त विद्वान पुरुष आपको किस प्रकार भुला सकता है?

तात्पर्य : शरणागत भक्त भगवान् को क्षण-भर के लिए भी नहीं भूलते। भक्त जानता है कि भगवान् की अहैतुकी कृपा उसके अनुमान से परे है; वह नहीं समझ पाता कि भगवत्कृपा से वह कितना लाभ उठा रहा है। जो भक्त जितना ही भगवद्भक्ति में अनुरक्त रहता है उसे भगवद्भक्ति से

उतना ही प्रोत्साहन मिलता रहता है। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि जो प्रेम तथा स्नेह से भगवान् की भक्ति में निरन्तर लगे रहते हैं, उन्हें भगवान् अन्दर से बुद्धि प्रदान करता है और इस तरह वे और अधिक उन्नति कर सकते हैं। इस प्रकार प्रोत्साहन पाने के कारण भक्त भगवान् को क्षण-भर भी नहीं भूल सकता। वह उनका सदैव कृतज्ञ रहता है कि उनकी कृपा से उसे अधिकाधिक भक्ति करने की शक्ति प्राप्त हुई। भगवान् की कृपा से ज्ञान द्वारा सनक, सनातन तथा ब्रह्मा जैसे साधु पुरुषों को समग्र ब्रह्माण्ड देख सकने की शक्ति प्राप्त हो सकी। यहाँ पर उदाहरण प्रस्तुत किया गया है कि कोई मनुष्य भले ही दिन भर अपने को निद्रा से दूर रखे, किन्तु जब तक उसे आत्म-प्रकाश प्राप्त नहीं होता वह सुप्तवत् ही रहता है। वह रात में सोकर दिन में अपना कार्य भले कर ले, किन्तु जब तक उसे आध्यात्मिक प्रकाश में कार्य करने के स्तर तक नहीं पहुँचता वह सोया हुआ ही समझा जाता है। अत: भक्त कभी भी भगवान् से प्राप्त लाभ को भुलाता नहीं।

भगवान् को यहाँ *आर्त-बन्धु* कहकर सम्बोधित किया गया है, जिसका अर्थ है, ''दीन-दुखियों का मित्र।'' जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, ज्ञान की खोज में जन्म-जन्मान्तर कठिन तपस्या करने के पश्चात् ही वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है और जब मनुष्य अपने को भगवान् को समर्पित कर देता है, तो वह बुद्धिमान बनता है। मायावादी दार्शनिक परमेश्वर को समर्पित नहीं होता, अत: उसे वास्तविक ज्ञान नहीं मिल पाता। पूर्णज्ञान प्राप्त भक्त भगवान् अनुग्रह को क्षणभर भी नहीं भूल पाता।

नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते
ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः ।
अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्य-
मिच्छन्ति यत्स्पर्शजं निरयेऽपि नृणाम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—अवश्य ही; विमुष्ट-मतयः—जिन्होंने अपनी बुद्धि खो दी है; तव—तुम्हारी; मायया—माया के प्रभाव से; ते—वे; ये—जो; त्वाम्—तुम; भव—जन्म से; अप्यय—तथा मृत्यु; विमोक्षणम्—मुक्ति का कारण; अन्य-हेतोः—अन्य कार्यों के लिए; अर्चन्ति—पूजते हैं; कल्पक-तरुम्—जो कल्पतरु के समान हैं; कुणप—इस मृत शरीर का; उपभोग्यम्—इन्द्रियतृप्ति; इच्छन्ति—इच्छा करते हैं; यत्—जो; स्पर्श-जम्—स्पर्श से उत्पन्न; निरये—नरक में; अपि—भी; नृणाम्—मनुष्यों के लिए।

जो व्यक्ति इस चमड़े के थैले (शवतुल्य देह) की इन्द्रियतृप्ति के लिए ही आपकी पूजा करते हैं, वे निश्चय ही आपकी माया द्वारा प्रभावित हैं। आप जैसे कल्पवृक्ष तथा जन्म-मृत्यु से

मुक्ति के कारण को पार करके भी मेरे समान मूर्ख व्यक्ति आपसे इन्द्रियतृप्ति हेतु वरदान चाहते हैं, जो नरक में रहनेवाले व्यक्तियों के लिए भी उपलब्ध हैं।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज को पश्चात्ताप हो रहा था क्योंकि वे भौतिक लाभ के उद्देश्य से भगवान् की भक्ति में प्रवृत्त हुए थे। यहाँ पर वे अपनी इस प्रवृत्ति की भर्त्सना करते हैं। केवल अज्ञानवश ही मनुष्य इन्द्रियतृप्ति या भौतिक लाभ के उद्देश्य से भगवान् की पूजा करता है। भगवान् तो कल्पवृक्ष के सदृश हैं। चाहे जो कुछ भी उनसे लिया जा सकता है; किन्तु सामान्यत: लोग यह नहीं जानते हैं कि उनसे किस प्रकार का वरदान प्राप्त किया जाये। स्पर्श-सुख या काम-सुख तो कूकर-सूकर के जीवन में भी पाया जाता है। ऐसा सुख अत्यन्त तुच्छ होता है। यदि कोई भक्त ऐसे तुच्छ सुख के लिए भगवान् की पूजा करता है, तो समझना चाहिए कि वह समस्त ज्ञान से शून्य है।

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
किं त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

या—वह जो; निर्वृतिः—आनन्द; तनु-भृताम्—देह धारियों का; तव—तुम्हारे; पाद-पद्म—चरणकमल का; ध्यानात्—ध्यान करने से; भवत्-जन—आपके अन्तरंगी भक्तों से; कथा—कथा; श्रवणेन—सुनने से; वा—अथवा; स्यात्—सम्भव; सा—वह आनन्द; ब्रह्मणि—निर्गुण ब्रह्म में; स्व-महिमनि—अपनी महिमा; अपि—भी; नाथ—हे भगवन्; मा—कभी नहीं; भूत्—उपस्थित रहता है; किम्—क्या कहना; तु—तब; अन्तक-असि—मृत्यु की तलवार से; लुलितात्—विनष्ट होकर; पतताम्—गिरे हुओं का; विमानात्—विमान से।.

हे भगवन्, आपके चरणकमलों के ध्यान से या शुद्ध भक्तों से आपकी महिमा का श्रवण करने से जो दिव्य आनन्द प्राप्त होता है, वह उस *ब्रह्मानन्द* अवस्था से कहीं बढ़कर है, जिसमें मनुष्य अपने को निर्गुण ब्रह्म से तदाकार हुआ सोचता है। चूँकि *ब्रह्मानन्द* भी भक्ति से मिलनेवाले दिव्य आनन्द से परास्त हो जाता है, अत: उस क्षणिक आनन्दमयता का क्या कहना, जिसमें कोई स्वर्ग तक पहुँच जाये और जो कालरूपी तलवार के द्वारा विनष्ट हो जाता है? भले ही कोई स्वर्ग तक क्यों न उठ जाये, कालक्रम में वह नीचे गिर जाता है।

तात्पर्य : *श्रवणं कीर्तनम्* द्वारा भक्ति से जो दिव्य आनन्द प्राप्त होता है उसकी तुलना कर्मियों द्वारा स्वर्ग-प्राप्ति से होनेवाले सुख से या ज्ञानियों अथवा योगियों द्वारा निर्गुण परब्रह्म के साथ तादात्म्य से

प्राप्य सुख से नहीं की जा सकती। योगी सामान्यत: विष्णु के दिव्य रूप का ध्यान धरते हैं, किन्तु भक्तजन न केवल उनका ध्यान करते हैं, वरन् उनकी वास्तविक सेवा में लगे रहते हैं। पिछले श्लोक में एक शब्द आया है *भवाप्यय* जो जन्म तथा मृत्यु का सूचक है। भगवान् जन्म-मृत्यु की शृंखला से छुटकारा दिला सकते हैं। यह सोचना भ्रामक है, जैसाकि एकेश्वरवादी कहते हैं, कि एक बार जन्म-मृत्यु से छुटकारा पाने पर मनुष्य परब्रह्म में लीन हो जाता है। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि भक्तों को *श्रवणं कीर्तनम्* से जो आनन्द प्राप्त होता है उसकी तुलना *ब्रह्मानन्द* से नहीं की जा सकती जो परब्रह्म में लीन हो जाने से दिव्य आनन्द की निर्विशेष धारणा या कल्पना मात्र है।

कर्मियों की स्थिति तो और भी गिरी हुई है। उनका लक्ष्य उच्च लोकों को प्राप्त करना रहता है। *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा गया है—*यान्ति देवव्रता देवान्*—जो लोग देवताओं की पूजा करते हैं, वे स्वर्गलोक जाते हैं। किन्तु अन्यत्र भगवद्गीता (९.२१) में हम पाते हैं—*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*—ज्योंही पुण्यकर्मों का क्षय हो जाता है स्वर्ग को प्राप्त मनुष्यों को नीचे आना पड़ता है। वे आधुनिक अन्तरिक्ष यात्रियों के समान हैं, जो चन्द्रमा पर जाते हैं, किन्तु ज्योंही उनका ईंधन चुक जाता है उन्हें पृथ्वी पर पुन: उतरना पड़ता है। जिस प्रकार जेट-नोदन के बल पर चन्द्रमा या अन्य ग्रहों को जानेवाले आधुनिक अन्तरिक्ष-यात्रियों को ईंधन चुक जाने पर नीचे उतरना पड़ता है, उसी प्रकार यज्ञों तथा पुण्यकर्मों के बल पर स्वर्गलोक को प्राप्त करनेवाले लोगों को भी नीचे उतरना पड़ता है। *अन्तकासि लुलितात्*—मनुष्य काल रूपी तलवार से इस भौतिक संसार में अपने उच्च पद से काट कर गिरा दिया जाता है और वह फिर नीचे चला आता है। ध्रुव महाराज को बोध हुआ कि भक्ति का फल परम पूर्ण में तादाम्य होने से या स्वर्गलोग जाने से कहीं अधिक मूल्यवान है। *पततां विमानात्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। जो लोक स्वर्गलोक पहुँच जाते हैं, वे उन विमानों के तुल्य हैं, जो ईंधन चुकने पर नीचे गिर पड़ते हैं।

भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो
भूयादनन्त महताममलाशयानाम् ।
येनाञ्जसोल्बणमुरुव्यसनं भवाब्धिं

नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

भक्तिम्—भक्ति; मुहुः—निरन्तर; प्रवहताम्—करनेवालों का; त्वयि—तुमको; मे—मेरा; प्रसङ्गः—अन्तरंग संगति; भूयात्—सम्भव है कि; अनन्त—हे अनन्त; महताम्—महान् भक्तों का; अमल-आशयानाम्—जिनके हृदय भौतिक कल्मष से रहित हैं; येन—जिससे; अञ्जसा—सरलतापूर्वक; उल्बणम्—भयंकर; उरु—बड़ा; व्यसनम्—संकटों से पूर्ण; भव-अब्धिम्—संसार-सागर; नेष्ये—पार करूँगा; भवत्—आपके; गुण—दिव्य गुण; कथा—लीलाएँ; अमृत—अमृत, शाश्वत; पान—पीकर; मत्तः—मस्त, पागल।

ध्रुव महाराज ने आगे कहा : हे अनन्त भगवान्, कृपया मुझे आशीर्वाद दें जिससे मैं उन महान् भक्तों की संगति कर सकूँ जो आपकी दिव्य प्रेमा भक्ति में उसी प्रकार निरन्तर लगे रहते हैं जिस प्रकार नदी की तरंगें लगातार बहती रहती हैं। ऐसे दिव्य भक्त नितान्त कल्मषरहित जीवन बिताते हैं। मुझे विश्वास है कि भक्तियोग से मैं संसार रूपी अज्ञान के सागर को पार कर सकूँगा जिसमें अग्नि की लपटों के समान भयंकर संकटों की लहरें उठ रही हैं। यह मेरे लिए सरल रहेगा, क्योंकि मैं आपके दिव्य गुणों तथा लीलाओं के सुनने के लिए पागल हो रहा हूँ, जिनका अस्तित्व शाश्वत है।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज के कथन की मुख्य बात यह है कि वे शुद्ध भक्तों की संगति चाहते थे। भक्तों की संगति के बिना दिव्य भक्ति न तो पूर्ण हो सकती है, न आस्वाद्य ही। इसीलिए हमने अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ बनाया है। यदि कोई इस संघ से विलग रह कर कृष्णचेतना में प्रवृत्त होता है, तो समझें कि वह व्यामोह (भ्रम) में रह रहा है, क्योंकि ऐसा असम्भव है। ध्रुव महाराज के इस कथन से स्पष्ट है कि जब तक मनुष्य भक्त की संगति नहीं करता, तब तक उसकी भक्ति परिपक्व नहीं होती और भौतिक कार्यकलापों से पृथक् नहीं हो सकती। भगवान् का कथन है (*भागवत* ३.२५.२५)—*सतां प्रसंगान् मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः।* केवल शुद्ध भक्तों के संग में श्रीकृष्ण के वचन हृदय तथा कान को अच्छे लगते हैं। ध्रुव महाराज विशेष रूप से भक्तों की संगति चाहते थे। भक्ति-कार्यों में ऐसी संगति निरन्तर प्रवहमान नदी की तरंगों के तुल्य है। हमारे कृष्णभावनामृत संघ में चौबीसों घण्टे व्यस्त रहना पड़ता है; समय का हर पल भगवान् की सेवा में लगाया जाता है। यही भक्ति का अनवरत प्रवाह है।

कोई मायावादी चिन्तक हमसे प्रश्न कर सकता है, "आप लोग भक्तों की संगति में भले ही प्रसन्न

रहें, किन्तु भवसागर को कैसे पार करेंगे?'' ध्रुव महाराज का उत्तर है कि यह अधिक कठिन नहीं है। वे स्पष्ट कहते हैं कि इस सागर को सरलता से पार किया जा सकता है यदि कोई भगवान् के गुणों को सुनने के लिए पागल हो जाये— *भवद्-गुण-कथा*—जो कोई *श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता* तथा *चैतन्य चरितामृत* से भगवान् की कथा को निरन्तर सुनना चाहता है और इसमें रस लेता है, जैसा कोई किसी नशे का आदी हो जाये, उसके लिए इस अज्ञान रूपी संसार को पार करना सरल है। भौतिक अज्ञान-जगत की तुलना दहकती अग्नि से की गई है, किन्तु भक्त के लिए यह अग्नि कोई अर्थ नहीं रखती, क्योंकि वह तो पूर्णरूपेण भक्ति में लीन रहता है। यद्यपि यह भौतिक जगत दहकती अग्नि के सदृश्य है, किन्तु भक्त के लिए यह आनन्द से पूर्ण प्रतीत होता है (*विश्वं पूर्ण-सुखायते*)!

ध्रुव महाराज के इस कथन का सार यह है कि भक्तों की संगति में की गई भक्ति आगे भी भक्ति के विकास का कारण बनती है। केवल भक्ति से ही कोई गोलोक वृंदावन नामक दिव्य लोक को जा सकता है और वहाँ भी केवल भक्ति ही भक्ति है क्योंकि इस लोक में तथा आध्यात्मिक जगत में भक्ति सम्बन्धी कार्य-कलाप एक-से होते हैं। भक्ति कभी बदलती नहीं। उदाहरण के लिए आम को लें। यदि किसी को कच्चा आम मिले तो वह आम ही होता है और जब यह पक जता है तब भी वह आम ही रहता है, किन्तु इसका स्वाद बढ़ जाता है। इसी प्रकार से एक भक्ति वह है, जो गुरु तथा शास्त्रों के निर्देश पर की जाती है और दूसरी आध्यात्मिक जगत की भक्ति है, जो भगवान् की संगति में की जाती है। किन्तु दोनों एक ही हैं; इनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। अन्तर यही है कि एक अपरिपक्व अवस्था है और दूसरी पक्व होने के साथ ही अधिक स्वादयुक्त। केवल भक्तों की संगति द्वारा भक्ति को परिपक्व बनाया जा सकता है।

ते न स्मरन्त्यतितरां प्रियमीश मर्त्यं
ये चान्वदः सुतसुहृद्गृहवित्तदाराः ।
ये त्वब्जनाभ भवदीयपदारविन्द-
सौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु कृतप्रसङ्गाः ॥ १२॥

शब्दार्थ

ते—वे; न—कभी नहीं; स्मरन्ति—स्मरण करते हैं; अतितराम्—अत्यधिक; प्रियम्—प्रिय; ईश—हे भगवान्; मर्त्यम्—भौतिक देह; ये—जो; च—भी; अनु—के अनुसार; अदः—वह; सुत—पुत्र; सुहृत्—मित्र; गृह—घर; वित्त—सम्पत्ति; दाराः—पत्नी;

ये—जो; तु—लेकिन; अब्ज-नाभ—हे कमलनाभि वाले भगवान्; भवदीय—आपका; पद-अरविन्द—चरणकमल; सौगन्ध्य—सुगन्धि; लुब्ध—आकृष्ट; हृदयेषु—भक्तों सहित, जिनके हृदय; कृत-प्रसङ्गाः—संगति करते हैं।

हे कमलनाभ भगवान्, यदि कोई व्यक्ति किसी ऐसे भक्त की संगति करता है, जिसका हृदय सदैव आपके चरणकमलों की सुगन्ध में लुब्ध रहता है, तो वह न तो कभी अपने भौतिक शरीर के प्रति आसक्त रहता है और न सन्तति, मित्र, घर, सम्पति तथा पत्नी के प्रति देहात्मबुद्धि रखता है, जो भौतिकतावादी पुरुषों को अत्यन्त ही प्रिय हैं। वस्तुतः वह उनकी तनिक भी परवाह नहीं करता।

तात्पर्य : भक्ति का विशेष लाभ यह है कि भक्त लोग न केवल भगवान् की दिव्य लीलाओं का कीर्तन तथा श्रवण करने और उनकी स्तुति करने से आनन्द लेते हैं वरन् वे अपने शरीर के प्रति अनासक्त रहते हैं जबकि योगी लोग अपने शरीर के प्रति अत्यधिक आसक्त रहकर सोचते हैं कि वे यौगिक क्रियाओं का अभ्यास करते हुए आत्म-चेतना में आगे बढ़ सकेंगे। सामान्यतः योगियों की भक्ति के प्रति अधिक रुचि नहीं होती। वे तो प्राणायाम को ही नियमित करना चाहते हैं। यह मात्र शारीरिक व्यापार है। यहाँ पर ध्रुव महाराज स्पष्ट कहते हैं कि भक्त को शरीर के प्रति कोई रुचि नहीं रहती। वह जानता रहता है कि वह शरीर नहीं है। अतः प्रारम्भ से ही वह आसन करने में समय न गँवाकर शुद्ध भक्त की खोज करके उसकी संगति करता है और आत्म-चेतना में योगी से आगे निकल जाता है। चूँकि भक्त जानता है कि वह शरीर नहीं है, अतः वह शारीरिक सुख अथवा दुख से प्रभावित नहीं होता। वह स्त्री, सन्तान, घर, सम्पत्ति इत्यादि से किसी प्रकार का शारीरीक सम्बन्ध नहीं रखता और न इनसे मिलनेवाले सुख अथवा दुख में रुचि रखता है। भक्त होने का यही विशेष लाभ है। जीवन की यह अवस्था तभी प्राप्त होती है, जब कोई व्यक्ति शुद्ध भक्त की जो भगवान् के चरणकमलों की सुगन्धि कर सदैव आनन्द उठाता है, संगति करने के लिए इच्छुक होता है।

तिर्यङ्नगद्विजसरीसृपदेवदैत्य-
मर्त्यादिभिः परिचितं सदसद्विशेषम् ।
रूपं स्थविष्ठमज ते महदाद्यनेकं
नातः परं परम वेद्मि न यत्र वादः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तिर्यक्—पशुओं; नग—वृक्ष; द्विज—पक्षी; सरीसृप—रेंगनेवाले जीव; देव—देवता; दैत्य—असुर; मर्त्य-आदिभिः—मनुष्यों इत्यादि के द्वारा.; परिचितम्—परिव्याप्त; सत्-असत्-विशेषम्—प्रकट तथा अप्रकट योनियों द्वारा; रूपम्—रूप; स्थविष्ठम्—स्थूल विश्व का; अज—हे अजन्मा; ते—तुम्हारा; महत्-आदि—सम्पूर्ण भौतिक शक्ति से उत्पन्न.; अनेकम्—अनेक कारण; न—नहीं; अतः—इससे; परम्—दिव्य; परम—हे परम; वेद्मि—जानता हूँ; न—नहीं; यत्र—जहाँ; वादः—विभिन्न तर्क।

हे भगवन्, हे परम अजन्मा, मैं जानता हूँ कि जीवात्माओं की विभिन्न योनियाँ, यथा पशु, पक्षी, रेंगनेवाले जीव, देवता तथा मनुष्य सारे ब्रह्माण्ड में फैली हुई हैं, जो समग्र भौतिक शक्ति से उत्पन्न हैं। मैं यह भी जानता हूँ कि ये कभी प्रकट रूप में रहती हैं, तो कभी अप्रकट रूप में, किन्तु मैने ऐसा परम रूप कभी नहीं देखा जैसा कि अब आप का देख रहा हूँ। अब किसी भी सिद्धान्त के बनाने की आवश्यकता नहीं रह गई है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि वे ब्रह्माण्ड भर में व्याप्त हैं किन्तु यद्यपि प्रत्येक वस्तु उन्हीं पर टिकी है, तो भी वे पृथक् रहते हैं। उसी विचार को यहाँ पर ध्रुव महाराज ने व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि भगवान् के दिव्य रूप को देखने के पूर्व वे केवल भौतिक रूपों की किस्मों से, जिनकी संख्या चौरासी लाख है, परिचित थे। तथ्य तो यह है कि जब तक भगवान् की भक्ति नहीं की जाती, तब तक भगवान् के अनन्तिम रूप को नहीं समझा जा सकता। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१८.५५) में भी हुई है। *भक्त्या माम् अभिजानाति*—भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी साधन से परम सत्य परमेश्वर को ठीक से नहीं जाना जा सकता।

यहाँ पर ध्रुव महाराज अपने ज्ञान की प्रारम्भिक अवस्था की तुलना परमेश्वर की उपस्थिति में ज्ञान की पूर्णता से करते हैं। जीवात्मा का काम सेवा करना है। जब तक वह भगवान् को जान लेने की स्थिति में नहीं आ जाता, तब तक वह नाना प्रकार के वृक्षों, सरीसृपों, पशुओं, मनुष्यों, देवताओं इत्यादि की सेवा में लगा रहता है। आम अनुभव यह है कि कोई मनुष्य कुत्ते की सेवा करता है, तो कोई पौधे तथा लताओं की सेवा करता है, कोई देवताओं की सेवा करता है, तो कोई मानवता की अथवा अपने दफ्तर के अधिकारी की, किन्तु कोई भी कृष्ण की सेवा नहीं करता है। सामान्य जन को छोड़ भी दे, आध्यात्मिक ज्ञान में ऊपर उठे हुए व्यक्ति भी अधिक से अधिक *विराट् रूप* की सेवा में लगे रहते हैं, अथवा भगवान् के परम रूप को न समझ सकने के कारण ध्यान के द्वारा शून्यवाद की पूजा करते हैं। तथापि ध्रुव महाराज को तो परमेश्वर का आशीर्वाद मिल गया था। जब भगवान् ने उनके

मस्तक पर अपना शंख छुवाया तो वास्तविक ज्ञान अन्त:करण से प्रकट हुआ और ध्रुव महाराज भगवान् के दिव्य रूप को समझ सके। यहाँ पर ध्रुव महाराज स्वीकार करते हैं कि वे न केवल अज्ञानी ही थे, वरन् उम्र में भी बालक थे। यदि भगवान् ने उनको आशीर्वाद न दिया होता तो अबोध बालक के लिए भगवान् के परम रूप को पहचान पाना सम्भव न हो पाता।

कल्पान्त एतदखिलं जठरेण गृह्णन्
शेते पुमान्स्वदृगनन्तसखस्तदङ्के ।
यन्नाभिसिन्धुरुहकाञ्चनलोकपद्म-
गर्भे द्युमान्भगवते प्रणतोऽस्मि तस्मै ॥ १४॥

शब्दार्थ

कल्प-अन्ते—कल्प के अन्त में; एतत्—यह ब्रह्माण्ड; अखिलम्—समस्त; जठरेण—उदर के भीतर; गृह्णन्—ले करके; शेते—लेटा रहता है; पुमान्—परम पुरुष; स्व-दृक्—अपने आपको देखता हुआ; अनन्त—अनन्त जीव शेष; सखः—के साथ; तत्-अङ्के—उसकी गोद में; यत्—जिसकी; नाभि—नाभि से; सिन्धु—सागर; रुह—उगा हुआ; काञ्चन—सुनहला; लोक—लोक; पद्म—कमल के; गर्भे—पुष्प पुंज में; द्युमान्—भगवान् ब्रह्मा; भगवते—भगवान् को; प्रणतः—नमस्कार करता; अस्मि—हूँ; तस्मै—उसको।

हे भगवन्, प्रत्येक कल्प के अन्त में भगवान् गर्भोदकशायी विष्णु ब्रह्माण्ड में दिखाई पड़नेवाली प्रत्येक वस्तु को अपने उदर में समाहित कर लेते हैं। वे शेषनाग की गोद में लेट जाते हैं, उनकी नाभि से एक डंठल में से सुनहला कमल-पुष्प फूट निकलता है और इस कमल-पुष्प पर ब्रह्माजी उत्पन्न होते हैं। मैं समझ सकता हूँ कि आप वही परमेश्वर हैं। अत: मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज का भगवान् सम्बधी ज्ञान पूर्ण था। वेदों में कहा गया है—*यस्मिन् विज्ञाते सर्वमेवं विज्ञातं भवति*—भगवान् की दिव्य अहैतुकी कृपा से प्राप्त ज्ञान इतना पूर्ण होता है कि भक्तगण उसी ज्ञान से भगवान् की विभिन्न सृष्टियों से परिचित हो जाते हैं। ध्रुव महाराज के समक्ष क्षीरोदकशायी विष्णु उपस्थित थे। वे भगवान् के अन्य दो रूपों—गर्भोदकशायी विष्णु तथा कारणोदकशायी (महा) विष्णु को भी समझ सकते थे। महाविष्णु के सम्बन्ध में *ब्रह्म-संहिता* (५.४८) का कथन है—

यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य

जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथा: ।

विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

प्रत्येक कल्प के अन्त में जब समस्त लोकों का लय हो जाता है, तो प्रत्येक वस्तु गर्भोदकशायी विष्णु के शरीर में प्रवेश करती है, जो भगवान् के ही अन्य रूप शेषनाग की गोद में शयन करते हैं।

जो भक्त नहीं हैं, वे विष्णु के विभिन्न रूपों तथा सृष्टि के प्रति उनकी स्थितियों के विषय में कुछ नहीं समझ सकते। कभी-कभी नास्तिक लोग तर्क करते हैं, ''भला गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से पुष्पदण्ड किस प्रकार फूट कर निकल सकता है ?'' वे शास्त्रों के सभी वचनों को कहानी मानते हैं। परम सत्य के विषय में अनुभवहीन होने तथा प्रमाण को स्वीकार करने में हिचक के कारण वे अधिकाधिक नास्तिक बनते जाते हैं; वे भगवान् को नहीं समझ पाते। किन्तु ध्रुव महाराज जैसा भक्त भगवत्कृपा से भगवान् के विभिन्न रूपों एवं उनके पदों को जानता रहता है। कहा जाता है कि जिस पर तनिक भी भगवत्कृपा होती है, वह उनकी महिमा को समझ सकता है, अन्य लोग परम सत्य के विषय में चिन्तन करते रहते हैं किन्तु वे भगवान् को नहीं समझ पाते हैं। दूसरे शब्दों में, जब तक मनुष्य किसी भक्त के सम्पर्क में नहीं आता, तब तक वह दिव्य रूप या आध्यात्मिक जगत तथा इसके दिव्य कार्यकलापों को नहीं समझ सकता।

त्वं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्ध आत्मा
कूटस्थ आदिपुरुषो भगवांस्त्र्यधीशः ।
यद्बुद्ध्यवस्थितिमखण्डितया स्वदृष्ट्या
द्रष्टा स्थितावधिमखो व्यतिरिक्त आस्से ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; नित्य—शाश्वत; मुक्त—मुक्त; परिशुद्ध—विशुद्ध; विबुद्धः—ज्ञान से पूर्ण; आत्मा—परमात्मा; कूट-स्थः—परिवर्तनरहित; आदि—मूल; पुरुषः—पुरुष; भगवान्—छह ऐश्वर्यों से पूर्ण, भगवान्; त्रि-अधीशः—तीनों गुणों के स्वामी; यत्—जहाँ से; बुद्धि—बौद्धिक कार्यों का; अवस्थितिम्—समस्त अवस्थाएँ; अखण्डितया—अखंडित, पूर्ण; स्व-दृष्ट्या—दिव्य दृष्टि द्वारा; द्रष्टा—साक्षी; स्थितौ—(ब्रह्माण्ड) के पालनार्थ; अधिमखः—समस्त यज्ञों के भोक्ता; व्यतिरिक्तः—भिन्न-भिन्न प्रकार से; आस्से—स्थित हो।

हे भगवन्, अपनी अखंड दिव्य चितवन से आप बौद्धिक कार्यों की समस्त अवस्थाओं के परम साक्षी हैं। आप शाश्वत-मुक्त हैं, आप शुद्ध सत्व में विद्यमान रहते हैं और अपरिवर्तित रूप में परमात्मा में विद्यमान हैं। आप छह ऐश्वर्यों से युक्त आदि भगवान् हैं और भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के शाश्वत स्वामी हैं। इस प्रकार आप सामान्य जीवात्माओं से सदैव भिन्न रहते हैं। विष्णु

रूप में आप सारे ब्रह्माण्ड के कार्यों का लेखा-जोखा रखते हैं, तो भी आप पृथक् रहते हैं और समस्त यज्ञों के भोक्ता हैं।

तात्पर्य : भगवान् की सर्वसत्ता के विरुद्ध नास्तिकों का तर्क है कि यदि ईश्वर प्रकट और अन्तर्धान होता है और सोता तथा जगता है, तो फिर जीवात्मा तथा ईश्वर में अन्तर ही क्या है? यहाँ पर ध्रुव महाराज जीवात्मा तथा भगवान् के अस्तित्व का अन्तर सावधानी पूर्वक बता रहे हैं। वे इस प्रकार के अन्तर बतला रहे हैं—भगवान् शाश्वत मुक्त हैं। वे जब भी इस भौतिक जगत में प्रकट होते हैं, तो वे कभी भी प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा बँधते नहीं। अत: वे *त्रिधीश* कहलाते हैं जिसका अर्थ है तीनों गुणों के स्वामी। *भगवद्गीता* (७.१४) में कहा गया है—*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया*—समस्त जीवात्माएँ प्रकृति के तीनों गुणों से बँधी हुई हैं। भगवान् की बहिरंगा शक्ति अत्यन्त प्रबल है, किन्तु तीन गुणों के स्वामी स्वरूप भगवान् इन गुणों की क्रिया-प्रतिक्रिया से सदैव मुक्त रहते हैं। अत: वे विशुद्ध हैं, जैसाकि *ईशोपनिषद्* में कहा गया है। भौतिक जगत के कल्मष का परमेश्वर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसीलिए *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो मूर्ख और धूर्त हैं, वे मुझे सामान्य मनुष्य समझते हैं क्योंकि वे मेरे *परं भावम्* को नहीं जानते। *परं भावम्* का अर्थ है कि वे सदैव दिव्यपद पर स्थित रहते हैं। उन्हें भौतिक कल्मष नहीं व्यापता।

भगवान् एवं जीवात्मा का अन्य अन्तर यह है कि जीवात्मा सदैव अंधकार में रहता है। भले ही वह सतोगुण में स्थित हो, किन्तु तो भी वह अनेक बातों से अनजान रहता है। किन्तु परमेश्वर के साथ ऐसा नहीं है। वे भूत, वर्तमान तथा भविष्य के बारे में तथा प्रत्येक जीव के हृदय में जो कुछ घटता है उसको जानने वाले हैं। *भगवद्गीता* इसकी पुष्टि करती है (*वेदाहं समतीतानि*)। भगवान् आत्मा के अंश नहीं, वे अक्षर परमात्मा हैं जब कि जीवात्माएँ उनके भिन्नांश हैं। जीवात्मा दैवमाया के निर्देश से इस जगत में प्रकट होने के लिए बाध्य है, किन्तु जब भगवान् को प्रकट होना होता है, तो वे अपनी अन्तरंगा शक्ति अथवा *आत्म-माया* से प्रकट होते हैं। इसके अतिरिक्त, जीवात्मा का भूत, वर्तमान तथा भविष्य काल होता है। उसके जीवन का प्रारम्भ होता है—उसक जन्म होता है और बद्ध अवस्था में उसके जीवन का अन्त मृत्यु से आता है। किन्तु भगवान् तो आदिपुरुष हैं। *ब्रह्म-संहिता* में ब्रह्मा इन

आदिपुरुष गोविन्द को नमस्कार करते हैं जिनका कोई आदि नहीं है, जबकि इस भौतिक सृष्टि का आदि है। वेदान्त कहता है—*जन्माद्यस्य यत:*—प्रत्येक वस्तु परमेश्वर से उत्पन्न है, किन्तु इनका जन्म नहीं होता। वे छहों ऐश्वर्यों से युक्त हैं, अद्वितीय हैं, प्रकृति के स्वामी हैं, उनकी बुद्धि किसी भी परिस्थिति में खण्डित नहीं होती और समस्त सृष्टि के पालनकर्ता होकर भी वे पृथक् रहने वाले हैं। जैसाकि वेदों में (*कठ उपनिषद्* २.२.१३) कहा गया है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।* भगवान् परम पालनकर्ता हैं। जीवात्माएँ यज्ञ द्वारा उनकी सेवा के निमित्त हैं क्योंकि वे समस्त यज्ञों के फलों के वैध भोक्ता हैं। अत: प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि अपने जीवन, धन, बुद्धि तथा वचनों से उनकी भक्ति में लगे। जीवात्माओं की यह मूल स्वाभाविक स्थिति है। सामान्य जीवात्मा की निद्रा की तुलना कारणार्णव में भगवान् के शयन से नहीं की जा सकती। किसी भी स्थिति में जीवात्मा की तुलना परम पुरुष से नहीं की जा सकती। मायावादी दार्शनिक समझौता न कर सकने के कारण शून्यवाद या निर्गुणवाद के निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं।

यस्मिन्विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति
विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्व्यात् ।
तद्ब्रह्म विश्वभवमेकमनन्तमाद्य-
मानन्दमात्रमविकारमहं प्रपद्ये ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; विरुद्ध-गतय:—विरोधी स्वभाव का; हि—निश्चय ही; अनिशम्—सदैव; पतन्ति—प्रकट हैं; विद्या-आदय:—ज्ञान तथा अविद्या इत्यादि.; विविध—विभिन्न; शक्तय:—शक्तियाँ; आनुपूर्व्यात्—सतत; तत्—उस; ब्रह्म—ब्रह्म; विश्व-भवम्—भौतिक उत्पत्ति का कारण; एकम्—एक; अनन्तम्—अपार; आद्यम्—आदि; आनन्द-मात्रम्—केवल आनन्दमय; अविकारम्—अपरिवर्तित; अहम्—मैं; प्रपद्ये—नमस्कार करता हूँ।.

हे भगवन्, ब्रह्म के आप के निर्गुण प्राकट्य में सदैव दो विरोधी तत्त्व रहते हैं—ज्ञान तथा अविद्या। आपकी विविध शक्तियाँ निरन्तर प्रकट होती हैं, किन्तु निर्गुण ब्रह्म, जो अविभाज्य, आदि, अपरिवर्तित, असीम तथा आनन्दमय है, भौतिक जगत का कारण है। चूँकि आप वही निर्गुण ब्रह्म हैं, अत: मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि असीम निर्गुण ब्रह्म गोविन्द के दिव्य शरीर का तेज है। इस असीम तेजमण्डल में असंख्य ब्रह्माण्ड हैं, जो विभिन्न कोटि के असंख्यों लोकों से युक्त हैं। यद्यपि

परम पुरुष सब कारणों के मूल कारण हैं, किन्तु उनका निर्गुण तेज, जिसे ब्रह्म कहा जाता है, भौतिक जगत का तत्कालिक कारण है। अत: ध्रुव महाराज ने भगवान् के निर्गुण रूप को नमस्कार किया। जो निर्गुण स्वरूप का अनुभव करता है, वह अपरिवर्तनीय *ब्रह्मानन्द* का उपभोग करता है, जिसे यहाँ पर *आत्म-आनन्द* कहा गया है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि यह निर्गुण रूप या ब्रह्म का स्वरूप उन व्यक्तियों के लिए है, जो अत्यन्त ज्ञानी हैं, किन्तु व्यक्तिगत स्वरूपों या आध्यात्मिक जगत की विभिन्नता को नहीं समझ पाते। ऐसे भक्त *ज्ञान-मिश्र भक्त* कहलाते हैं, अर्थात् उनकी भक्ति के साथ अनुभवगम्य ज्ञान मिश्रित रहता है। चूँकि निर्गुण ब्रह्म का बोध परम सत्य का आंशिक ज्ञान है, अत: ध्रुव महाराज सादर नमस्कार करते हैं।

कहा जाता है कि निर्गुण ब्रह्म परम सत्य का दूरस्थ साक्षात्कार है। यद्यपि ऊपर से ब्रह्म शक्तिशून्य प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुत: *विद्या* तथा *अविद्या* के अन्तर्गत इसमें कई शक्तियाँ कार्यशील रहती हैं। इन्हीं शक्तियों के कारण विद्या तथा अविद्या निरन्तर प्रकट होती हैं। *ईशोपनिषद्* में विद्या तथा अविद्या का अत्यन्त सुन्दर वर्णन हुआ है। कहा गया है कि कभी-कभी अविद्या के कारण मनुष्य परम सत्य को पूर्णत: निर्गुण मान लेता है, किन्तु वास्तव में भक्ति के विकास के साथ ही निर्गुण तथा सगुण बोध का विकास होता रहता है। हमारी भक्ति जितनी विकसित होती है उतने ही हम परम सत्य के पास पहुँचते हैं, जब कि प्रारम्भ में दूरी अधिक होने के कारण वही निर्गुण प्रतीत होता है।

सामान्यत: लोग अविद्या शक्ति अथवा माया के वश में होने से न तो ज्ञान से युक्त होते हैं, न भक्ति से। किन्तु जब मनुष्य ज्ञानी बन जाता है, तो वह *ज्ञान-मिश्र-भक्त* की श्रेणी में पहुँच जाता है, अर्थात् उसका प्रेम ज्ञानमिश्रित होता है। जब वह कुछ आगे बढ़ता है, तो उसे बोध होता है कि परम सत्य अनेक शक्तियों से सम्पन्न एक पुरुष है। विद्वान् भक्त ही भगवान् तथा उनकी सृजन शक्ति को समझ सकता है। ज्यों ही वह परम सत्य की सृजन शक्ति को स्वीकार कर लेता है, त्योंही श्रीभगवान् के छहों ऐश्वर्य भी समझ में आ जाते हैं। जो भक्त इससे भी आगे बढ़े हुए हैं और पूर्ण ज्ञान को प्राप्त हैं, वे भगवान् का दिव्य आनन्द उठा सकते हैं। इस प्रसंग में विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने एक उदाहरण दिया

है, जो लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हुए एक मनुष्य का है। ज्यों-ज्यों वह पास आता है त्यों-त्यों वह लक्ष्य को दूरी से वैसे ही देखता है जैसे हम किसी शहर को दूरी से देखते हैं। उस समय उसे लगता है कि शहर दूर स्थित है, किन्तु वह ज्यों-ज्यों पास आता जाता है उसे मीनारें तथा झंडे दिखाई पड़ने लगते हैं। जब वह शहर के भीतर प्रवेश करता है, तो उसे विभिन्न मार्ग, वाटिकाएँ, सरोवर, बाजार तथा व्यापारी दिखाई पड़ते हैं। उसे सिनेमाघर तथा नाचते और उल्लास मनाते लोग मिलते हैं। इस प्रकार शहर के भीतर जाकर और स्वयं शहर के कार्यकलापों को देखकर वह सन्तुष्ट हो जाता है।

सत्याशिषो हि भगवंस्तव पादपद्म-
माशीस्तथानुभजतः पुरुषार्थमूर्तेः ।
अप्येवमर्य भगवान्परिपाति दीनान्
वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान् ॥ १७॥

शब्दार्थ

सत्य—वास्तविक; आशिषः—अन्य आशीर्वादों (वरों) की तुलना में; हि—निश्चय ही; भगवन्—हे भगवन्; तव—तुम्हारा; पाद-पद्मम्—चरणकमल; आशीः—वर; तथा—उस प्रकार से; अनुभजतः—भक्तों के लिए; पुरुष-अर्थ—जीवन के वास्तविक लक्ष्य का; मूर्तेः—साक्षात्; अपि—यद्यपि; एवम्—इस प्रकार; अर्य—हे श्रेष्ठ; भगवान्—श्रीभगवान्; परिपाति—पालन करता है; दीनान्—दीनों का; वाश्रा—गाय; इव—के समान; वत्सकम्—बछड़े को; अनुग्रह—कृपा करने के लिए; कातरः—उत्सुक; अस्मान्—मुझ पर।

हे भगवन्, हे परमेश्वर, आप सभी वरों के परम साक्षात् रूप हैं, अतः जो बिना किसी कामना के आपकी भक्ति पर दृढ़ रहता है, उसके लिए राजा बनने तथा राज करने की अपेक्षा आपके चरण-कमलों की रज श्रेयस्कर है। आपके चरणकमल की पूजा का यही वरदान है। आप अपनी अहैतुकी कृपा से मुझ जैसे अज्ञानी भक्त के लिए पूर्ण परिपालक हैं, जिस प्रकार गाय अपने नवजात बछड़े को दूध पिलाती है और हमले से उसकी रक्षा करके उसकी देखभाल करती है।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज को अपनी भक्ति के दोष का पता था। शुद्ध भक्ति का कोई भौतिक रूप नहीं होता और वह सकाम कर्मों अथवा मानसिक चिन्तन द्वारा पूरी नहीं होती। इसीलिए शुद्ध भक्ति अहैतुकी कहलाती है। ध्रुव महाराज जानते थे कि वे भक्ति में भगवान् की पूजा करने सोद्देश्य आये हैं—वे अपने पिता का राज्य चाहते थे। ऐसा मिश्रित भक्त कभी-कभी श्रीभगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कर सकता। अतः वे भगवान् की अहैतुकी कृपा के लिए परम कृतज्ञ थे। भगवान् इतने कृपालु हैं कि वे

अविद्या के वशीभूत कृपा तथा भौतिक लाभ के इच्छुक भक्तों की समस्त कामनाओं को तो पूरा करते ही हैं, साथ ही भक्त की सभी प्रकार से रक्षा करते हैं, जिस प्रकार गाय नवजात बछड़े को दूध पिलाती है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् अपनी भक्ति में लगे हुए भक्तों को बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वे बिना कठिनाई के इन तक पहुँच सकें। भक्तों को भक्ति के प्रति अत्यन्त निष्ठावान होना चाहिए। फिर चाहे भक्त में कितने ही दोष क्यों न हों, श्रीकृष्ण उसे मार्गदर्शन करते हुए भक्ति के उच्च पद तक पहुँचा देंगे।

ध्रुव महाराज ने यहाँ पर भगवान् को *पुरुषार्थ मूर्ति* कहा है, जिसका अर्थ है जीवन का चरम उद्देश्य। सामान्य रूप से *पुरुषार्थ* का अर्थ है भौतिक वर प्राप्त करने के लिए धर्म या भगवान् की पूजा करना। भौतिक वरदान प्राप्त करने के लिए प्रार्थना इसलिए की जाती है कि इन्द्रियों की तुष्टि हो सके और जब मनुष्य निराश हो जाता है और लाख प्रयत्न के बाद भी अपनी इन्द्रियतुष्टि नहीं कर पाता तो वह मुक्ति की कामना करता है। ये कार्य सामान्यत: *पुरुषार्थ* कहलाते हैं। किन्तु वास्तविक चरम उद्देश्य तो भगवान् को समझना है। यह *पञ्चम पुरुषार्थ* कहलाता है। इसीलिए भगवान् चैतन्य ने शिक्षा दी है कि मनुष्य को भगवान् से भौतिक सम्पत्ति, ख्याति या सुपत्नी जैसे वरदान नहीं माँगने चाहिए, उसे तो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर लगे रहने की प्रार्थना करनी चाहिए। ध्रुव महाराज अपनी भौतिक लाभ की इच्छाओं से अवगत थे, अत: भगवान् का संरक्षण चाह रहे थे जिससे वे भौतिक इच्छाओं के कारण भक्ति से विपथ न हो सकें।

मैत्रेय उवाच
अथाभिष्टुत एवं वै सत्सङ्कल्पेन धीमता ।
भृत्यानुरक्तो भगवान्प्रतिनन्द्येदमब्रवीत् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेय: उवाच—मैत्रेय ने कहा; अथ—तब; अभिष्टुत:—पूजा किये जाने पर; एवम्—इस प्रकार; वै—निश्चय ही; सत्-सङ्कल्पेन—ध्रुव महाराज द्वारा, जिनके हृदय में उत्तम आकाक्षाएँ थीं; धी-मता—अत्यधिक बुद्धिमान होने से; भृत्य-अनुरक्त:—भक्त के प्रति अनुकूल; भगवान्—भगवान् ने; प्रतिनन्द्य—उसको बधाई देकर; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा।

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा : हे विदुर, जब सद्विचारों से पूर्ण अन्त:करण वाले ध्रुव महाराज ने अपनी प्रार्थना समाप्त की तो अपने भक्तों तथा दासों पर अत्यन्त दयालु भगवान् ने उन्हें बधाई दी

और इस प्रकार कहा।

श्रीभगवानुवाच
वेदाहं ते व्यवसितं हृदि राजन्यबालक ।
तत्प्रयच्छामि भद्रं ते दुरापमपि सुव्रत ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; वेद—जानता हूँ; अहम्—मैं; ते—तुम्हारा; व्यवसितम्—दृढ संकल्प; हृदि—हृदय के भीतर; राजन्य-बालक—हे राजा के पुत्र; तत्—वह; प्रयच्छामि—तुम्हें दूँगा; भद्रम्—समस्त कल्याण; ते—तुमको; दुरापम्—यद्यपि प्राप्त करना कठिन है, दुर्लभ; अपि—तो भी; सु-व्रत—जिसने पवित्र व्रत धारण कर रखा है।

भगवान् ने कहा : हे राजपुत्र ध्रुव, तुमने पवित्र व्रतों का पालन किया है और मैं तुम्हारी आन्तरिक इच्छा भी जानता हूँ। यद्यपि तुम अत्यन्त महत्वाकांक्षी हो और तुम्हारी इच्छा को पूरा कर पाना कठिन है, तो भी मैं उसे पूरा करूँगा। तुम्हारा कल्याण हो।

तात्पर्य : भगवान् अपने भक्त के प्रति इतने दयालु होते हैं कि उन्होंने ध्रुव महाराज से तुरन्त कहा कि तुम्हारा कल्याण हो। वास्तव में भक्त ध्रुव मन ही मन अत्यन्त भयभीत थे, क्योंकि भक्ति करते हुए उन्होंने भौतिक लाभ की कामना की थी जिसके कारण ईश्वर प्रेम की अवस्था तक पहुँचने में उन्हें बाधा हो रही थी। *भगवद्गीता* (२.४४) में कहा गया है—*भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्*—जो लोग भौतिक सुख के प्रति आसक्त हैं, वे भक्ति की ओर आकर्षित नहीं हो सकते। यह तो सच है कि ध्रुव महाराज हृदय से ऐसा राज्य चाह रहे थे, जो ब्रह्मलोक से भी श्रेष्ठ हो। एक क्षत्रिय की यह स्वाभाविक आकांक्षा होती है। ध्रुव केवल पाँच वर्ष के बालक थे, अत: लड़कपन के कारण वे अपने पिता तथा परपितामह से भी बड़े साम्राज्य की आकांक्षा कर रहे थे। उनके पिता उत्तानपाद मनु के पुत्र थे और मनु ब्रह्मा के पुत्र थे। ध्रुव इन पारिवारिक सदस्यों से आगे बढ़ जाना चाह रहे थे। भगवान् को ध्रुव की नादान आकांक्षा का पता था, तो फिर उन्हें किस प्रकार ब्रह्मा से भी उच्च पद प्रदान किया जा सका?

भगवान् ने ध्रुव महाराज को आश्वस्त किया कि वे भगवत्प्रेम से विलग नहीं होंगे। उन्होंने ध्रुव को इस बात की चिन्ता न करने के लिए कहा कि भौतिक आकांक्षाओं के साथ ही वे महान् भक्त बनने की भी महत्त्वाकांक्षा रखते थे। सामान्यत: भगवान् शुद्ध भक्त को भौतिक ऐश्वर्य नहीं प्रदान करते, भले ही वह उसके लिए इच्छुक हो। लेकिन ध्रुव का मामला भिन्न था। भगवान् जान रहे थे कि वह इतना बड़ा

भक्त है कि ऐश्वर्य के होने पर भी वह भगवत्प्रेम से विचलित नहीं होगा। इस उदाहरण से यह सिद्ध हो जाता है कि अत्यन्त योग्य भक्त भौतिक सुख की सुविधा के साथ ही भगवत्प्रेम भी कर सकता है। किन्तु यह एक विशेष दशा थी।

नान्यैरधिष्ठितं भद्र यद्भ्राजिष्णु ध्रुवक्षिति
यत्र ग्रहर्क्षताराणां ज्योतिषां चक्रमाहितम् ।
मेढ्यां गोचक्रवत्स्थास्नु परस्तात्कल्पवासिनाम् ॥ २० ॥
धर्मोऽग्निः कश्यपः शुक्रो मुनयो ये वनौकसः ।
चरन्ति दक्षिणीकृत्य भ्रमन्तो यत्सतारकाः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अन्यैः—अन्यों के द्वारा; अधिष्ठितम्—शासित; भद्र—मेरे अच्छे बालक; यत्—जो; भ्राजिष्णु—देदीप्यमान; ध्रुव-क्षिति—ध्रुवलोक नामक स्थान; यत्र—जहाँ; ग्रह—ग्रह; ऋक्ष—तारापुंज; ताराणाम्—तथा तारे; ज्योतिषाम्—नक्षत्रों से; चक्रम्—चक्कर; आहितम्—किया जाता है; मेढ्याम्—केन्द्रीय दण्ड के चारों ओर; गो—बैलों का; चक्र—झुंड; वत्—सदृश; स्थास्नु—स्थिर; परस्तात्—परे; कल्प—ब्रह्मा का एक दिन (कल्प); वासिनाम्—रहेन वालों का; धर्मः—धर्म; अग्निः—अग्नि; कश्यपः—कश्यप; शुक्रः—शुक्र; मुनयः—मुनिगण; ये—जो सभी; वन-ओकसः—जंगल में रहकर; चरन्ति—चलते हैं; दक्षिणी-कृत्य—अपनी दायीं ओर करके; भ्रमन्तः—प्रदक्षिणा लगाते हुए; यत्—जो ग्रह; सतारकाः—समस्त तारों सहित।

भगवान् ने आगे कहा : हे ध्रुव, मैं तुम्हें ध्रुव नामक देदीप्यमान ग्रह प्रदान करूँगा जो कल्पान्त में प्रलय के बाद भी अस्तित्व में रहेगा। अभी तक उस ग्रह में किसी ने राज्य नहीं किया है; तथा वह समस्त सौर मण्डल, ग्रहों तथा नक्षत्रों से घिरा हुआ है। आकाश में सभी ज्योतिष्क इसी ग्रह की प्रदक्षिणा करते हैं, जिस प्रकार कि अनाज को कूटने के लिए सारे बैल एक केन्द्रीय लट्ठे के चारों ओर चक्कर लगाते हैं। धर्म, अग्नि, कश्यप तथा शुक्र जैसे ऋषियों द्वारा बसाये गये सभी तारे ध्रुवतारे को अपनी दाईं ओर रखकर उसकी परिक्रमा करते हैं, जो अन्यों के विनष्ट हो जाने पर भी इसी प्रकार बना रहता है।

तात्पर्य : यद्यपि ध्रुव महाराज द्वारा अधिकार प्राप्त करने के पूर्व भी ध्रुवतारे का अस्तित्व था, किन्तु उसका कोई अधिष्ठाता देव न था। यह ध्रुवलोक, जो हमारा ध्रुवतारा है, अन्य समस्त तारों तथा सौर मण्डल का केन्द्र है, क्योंकि वे सभी नक्षत्र तथा सौरमण्डल ध्रुवलोक की उसी प्रकार प्रदक्षिणा करते हैं जिस प्रकार बैल अन्न कूटने के लिए एक मध्यवर्ती स्तम्भ के चारों ओर घूमता है। ध्रुव ने सर्वश्रेष्ठ ग्रह (लोक) चाहा था और उनकी यह इच्छा बालकों जैसी थी, फिर भी भगवान् ने उसे पूरी

कर दिया। एक छोटा बालक अपने पिता से ऐसी वस्तु माँग सकता है, जो अभी तक उसने किसी को न दी हो, किन्तु तो भी पिता प्रेमवश उसे वह वस्तु दे देता है। इसी प्रकार यह अद्वितीय ध्रुवलोक महाराज ध्रुव को प्राप्त हुआ। इस ग्रह की विशेषता है कि प्रलय हो जाने पर, यहाँ तक कि ब्रह्मा की रात्रि के समय होनेवाले प्रलय में भी, यह बना रहेगा। प्रलय दो प्रकार का होता है—एक तो ब्रह्मा की रात्रि के समय और दूसरा ब्रह्मा के जीवन के अन्त में। ब्रह्मा के जीवन के अन्त समय कुछ चुने हुए पुरुष भगवान् के धाम जाते हैं। ध्रुव महाराज उनमें से एक हैं। भगवान् ने ध्रुव को आश्वस्त किया कि वे आंशिक प्रलय के बाद भी जीवित रहेंगे। इस प्रकार पूर्ण प्रलय होने पर वे सीधे वैकुण्ठलोक चले जाएँगे। इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि ध्रुवलोक श्वेतद्वीप, मथुरा तथा द्वारका जैसा एक लोक है। ये ईश्वर के राज्य के शाश्वत स्थल हैं, जिनका वर्णन *भगवद्गीता* (*तद्धाम् परमम्*) तथा वेदों में (*ॐ तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः*) हुआ है। *परस्तात् कल्प-वासिनाम्* शब्दों का अर्थ, "प्रलय के बाद आबाद ग्रहों से परे" है, जो वैकुण्ठलोक का सूचक है। दूसरे शब्दों में, भगवान् ने ध्रुव महाराज को वैकुण्ठलोक भेजने का आश्वासन दे दिया।

प्रस्थिते तु वनं पित्रा दत्त्वा गां धर्मसंश्रयः ।
षट्त्रिंशद्वर्षसाहस्रं रक्षिताव्याहतेन्द्रियः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

प्रस्थिते—प्रस्थान के पश्चात्; तु—लेकिन; वनम्—जंगल को; पित्रा—तुम्हारे पिता द्वारा; दत्त्वा—देकर; गाम्—सम्पूर्ण जगत; धर्म-संश्रयः—धर्मपूर्वक; षट्-त्रिंशत्—छत्तीस; वर्ष—वर्ष, साल; साहस्रम्—एक हजार; रक्षिता—राज्य करोगे; अव्याहत—बिना नाश के; इन्द्रियः—इन्द्रियों की शक्ति।

जब तुम्हारे पिता तुम्हें अपने राज्य का शासन देकर जंगल के लिए प्रस्थान करेंगे तो तुम लगातार छत्तीस हजार वर्षों तक सारे संसार पर राज्य करोगे और तुम्हारी सारी इन्द्रियाँ उतनी ही शक्तिशाली बनी रहेंगी जितनी कि वे आज हैं। तुम कभी वृद्ध नहीं होगे।

तात्पर्य : सत्ययुग में लोग प्रायः एक लाख वर्ष तक जीवित रहते थे। उन दिनों ध्रुव महाराज का छत्तीस हजार वर्षों तक राज्य करना नितान्त सम्भव था।

त्वद्भ्रातर्युत्तमे नष्टे मृगयायां तु तन्मनाः ।

अन्वेषन्ती वनं माता दावाग्निं सा प्रवेक्ष्यति ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

त्वत्—तुम्हारा; भ्रातरि—भ्राता; उत्तमे—उत्तम; नष्टे—मारे जाने पर; मृगयायाम्—शिकार में; तु—तब; तत्-मनाः—अत्यन्त शोकाकुल; अन्वेषन्ती—ढूँढते हुए; वनम्—जंगल में; माता—माता; दाव-अग्निम्—जंगल की अग्नि में; सा—वह; प्रवेक्ष्यति—प्रवेश करेगी।.

भगवान् ने आगे कहा : निकट भविष्य में तुम्हारा भाई उत्तम जंगल में शिकार करने जाएगा और जब वह शिकार में मग्न रहेगा तो मार डाला जाएगा। तुम्हारी विमाता सुरुचि अपने पुत्र की मृत्यु से पागल होकर उसकी खोज करने जंगल में जाएगी, किन्तु वहाँ वह दावाग्नि में मारी जाएगी।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज जंगल में भगवान् की खोज करने आये थे और उनके मन में अपनी विमाता से प्रतिशोध लेने की भावना थी। विमाता ने ध्रुव का अपमान किया था, जो कोई सामान्य व्यक्ति न थे, वरन् एक महान् वैष्णव थे। एक वैष्णव के चरणकमलों के प्रति किया गया अपराध संसार में सबसे बड़ा अपराध है। ध्रुव महाराज का अपमान करने के कारण सुरुचि अपने पुत्र की मृत्यु के शोक से पागल होगी और दावाग्नि में प्रवेश करेगी जिससे उसका जीवन समाप्त हो जाएगा। इसका विशेष उल्लेख भगवान् ने ध्रुव से किया था, क्योंकि वे अपनी विमाता से प्रतिशोध लेने पर दृढ़ थे। इससे हमें यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि भूलकर भी हम किसी वैष्णव को अपमानित न करें। हमें न केवल किसी वैष्णव का ही वरन् किसी का भी बिना कारण के अपमान नहीं करना चाहिए। जब सुरुचि ने ध्रुव महाराज का अपमान किया था, तो वे एक नन्हें से बालक थे। निस्सन्देह, उसे पता न था कि ध्रुव एक जाने-माने वैष्णव थे, अत: उसने अनजाने में अपराध किया था। जब कोई अनजान में किसी वैष्णव की सेवा करता है, तो भी उसका फल अच्छा होता है। श्रीभगवान् वैष्णव का विशेष पक्षपात करते हैं। वैष्णव को प्रसन्न या अप्रसन्न करने से परमेश्वर की प्रसन्नता तथा नाराजगी पर प्रभाव पड़ता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अपने गुरु की अष्टपदी प्रार्थना में कहा है—*यस्य प्रसादाद् भगवत् प्रसाद:*—मनुष्य द्वारा शुद्ध वैष्णव रूप गुरु को प्रसन्न करने पर परमेश्वर प्रसन्न होता है, किन्तु यदि वह गुरु को नाराज कर दे तो पता नहीं उसका क्या होगा।

इष्ट्वा मां यज्ञहृदयं यज्ञैः पुष्कलदक्षिणैः ।

भुक्त्वा चेहाशिषः सत्या अन्ते मां संस्मरिष्यसि ॥ २४॥

शब्दार्थ

इष्ट्वा—पूजा करके; माम्—मुझको; यज्ञ-हृदयम्—समस्त यज्ञों का हृदय; यज्ञैः—महान् यज्ञों से; पुष्कल-दक्षिणैः—प्रभूत दान वितरित करके; भुक्त्वा—भोग करने के पश्चात्; च—भी; इह—इस संसार में; आशिषः—आशीर्वाद; सत्याः—सच, सही; अन्ते—अन्त में; माम्—मुझको; संस्मरिष्यसि—स्मरण करने में समर्थ होगे।.

भगवान् ने आगे कहा : मैं समस्त यज्ञों का हृदय हूँ। तुम अनेक बड़े-बड़े यज्ञ सम्पन्न करोगे और प्रचुर दान भी दोगे। इस प्रकार तुम इस जीवन में भौतिक सुख के वरदान को भोग सकोगे और अपनी मृत्यु के समय तुम मेरा स्मरण कर सकोगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में सबसे महत्त्वपूर्ण बात है भगवान् द्वारा दी गई शिक्षाएँ कि मृत्यु के समय भगवान् का स्मरण किस प्रकार किया जाये। *अन्ते नारायण स्मृतिः*—आध्यात्मिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए हम जो भी करते हैं उसका फल सार्थक होता है, यदि हम भगवान् नारायण का स्मरण कर सकें। निरन्तर स्मरण का यह कार्यक्रम कई कारणों से भंग हो सकता है, किन्तु ध्रुव महाराज का जीवन इतना पवित्र होना था कि वे भगवान् को कभी भूल नहीं सकेंगे। अतः वे मृत्यु के समय परमेश्वर का स्मरण करेंगे और मृत्यु के पूर्व इस भौतिक संसार का सुखोपभोग इन्द्रियतृप्ति द्वारा नहीं, अपितु बड़े-बड़े यज्ञ सम्पन्न करके करेंगे। जैसाकि वेदों में उल्लेख है, जब कोई मनुष्य बड़े-बड़े यज्ञ करता है, तो उसे न केवल ब्राह्मणों को दान देना चाहिए, बल्कि क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों को भी देना चाहिए। यहाँ यह विश्वास व्यक्त किया गया है कि ध्रुव महाराज ऐसे कार्य करते रहेंगे। किन्तु इस कलियुग में जो सबसे बड़ा यज्ञ किया जा सकता है, वह *संकीर्तन यज्ञ* है। हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन लोगों को (तथा हम सबको) भगवान् का सही आदेश सिखाने के लिए चलाया गया है। इस प्रकार हम निरन्तर *संकीर्तन यज्ञ* करते रहेंगे और हरे कृष्ण मंत्र का जप करते रहेंगे। तब मृत्यु के समय हम अवश्य ही श्रीकृष्ण का स्मरण कर सकेंगे और हमारे जीवन का सारा कार्यक्रम सफल हो सकेगा। इस युग में दान का स्थान प्रसाद-वितरण ने ग्रहण कर लिया है। किसी के पास भी इतना धन नहीं कि उसे बाँट सके, किन्तु यदि हम यथासम्भव कृष्णप्रसाद का वितरण करें तो यह धन-वितरण की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होगा।

ततो गन्तासि मत्स्थानं सर्वलोकनमस्कृतम् ।

उपरिष्टादृषिभ्यस्त्वं यतो नावर्तते गतः ॥ २५॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; गन्ता असि—तुम जाओगे; मत्-स्थानम्—मेरे धाम को; सर्व-लोक—समस्त लोकों द्वारा; नमः-कृतम्—वन्दनीय होकर; उपरिष्टात्—ऊपर स्थित; ऋषिभ्यः—ऋषियों के लोकों की अपेक्षा; त्वम्—तुम; यतः—जहाँ से; न—कभी नहीं; आवर्तते—वापस आओगे; गतः—वहाँ जा करके।

भगवान् ने आगे कहा : हे ध्रुव, इस देह में अपने भौतिक जीवन के पश्चात् तुम मेरे लोक को जाओगे जो अन्य समस्त लोकों के वासियों द्वारा सदैव वंदनीय है। यह सप्त-ऋषि के लोकों के ऊपर स्थित है और वहाँ जाने के बाद तुम को इस भौतिक जगत में फिर कभी नहीं लौटना पड़ेगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में *नावर्तते* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भगवान् कहते हैं, "तुम इस भौतिक जगत में पुनः नहीं आओगे, क्योंकि तुम *मत्स्थानम्* अर्थात् मेरे धाम पहुँच जाओगे।" अतः इसी भौतिक जगत में ध्रुवलोक भगवान् विष्णु का धाम है। इसके ऊपर क्षीरसागर है, जिसके भीतर श्वेतद्वीप है। यह भी स्पष्ट सूचित है कि यह लोक ऋषियों के सप्त लोकों के ऊपर स्थित है और चूँकि यह विष्णु लोक है, अतः अन्य समस्त लोकों द्वारा पूजित है। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि प्रलय के समय इस ध्रुवलोक का क्या होगा? उत्तर सरल है। अन्य वैकुण्ठ लोकों की भाँति ध्रुवलोक बना रहता है। इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि *निवर्तते* शब्द ही इसका सूचक है कि यह लोक शाश्वत है।

मैत्रेय उवाच

इत्यर्चितः स भगवानतिदिश्यात्मनः पदम् ।
बालस्य पश्यतो धाम स्वमगाद्गरुडध्वजः ॥ २६॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा; इति—इस प्रकार; अर्चितः—सम्मानित एवं पूजित होकर; सः—परमेश्वर; भगवान्—भगवान्; अतिदिश्य—प्रदान करके; आत्मनः—अपना; पदम्—वासस्थान; बालस्य—जबकि बालक; पश्यतः—देख रहा था; धाम—उनके धाम को; स्वम्—अपनी, निजी; अगात्—वे लौट गये; गरुड-ध्वजः—भगवान् विष्णु जिनकी ध्वजा में गरुड़ का चिह्न है।

मैत्रेय मुनि ने कहा : बालक ध्रुव महाराज द्वारा पूजित तथा सम्मानित होकर और उन्हें अपना धाम देकर भगवान् विष्णु गरुड़ की पीठ पर चढ़ कर ध्रुव के देखते-देखते अपने धाम को चले गये।

तात्पर्य : इस श्लोक से प्रतीत होता है कि भगवान् विष्णु ने ध्रुव महाराज को अपना ही धाम दे दिया। उनके धाम का वर्णन *भगवद्गीता* (१५.६) में हुआ है—*यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।*

सोऽपि सङ्कल्पजं विष्णोः पादसेवोपसादितम् ।
प्राप्य सङ्कल्पनिर्वाणं नातिप्रीतोऽभ्यगात्पुरम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

सः—वह (ध्रुव); अपि—यद्यपि; सङ्कल्प-जम्—वांछित फल; विष्णोः—विष्णु का; पाद-सेवा—चरणकमल की सेवा करके; उपसादितम्—प्राप्त किया; प्राप्य—प्राप्त करके; सङ्कल्प—अपने दृढ़ निश्चय का; निर्वाणम्—संतुष्टि; न—नहीं; अतिप्रीतः—अत्यधिक प्रसन्न; अभ्यगात्—वापस गया; पुरम्—अपने घर को।

भगवान् के चरण-कमलों की उपासना द्वारा अपने संकल्प का मनवांछित फल प्राप्त करके भी ध्रुव महाराज अत्यधिक प्रसन्न नहीं हुए। तब वे अपने घर चले गए।

तात्पर्य : नारद मुनि के उपदेशानुसार भगवान् के चरणकमलों की भक्तिपूर्वक पूजा करके ध्रुव महाराज ने मनवांछित फल प्राप्त किया। उनकी इच्छा थी कि वे अपने पिता, दादा, परदादा से भी बढ़कर सम्मानित पद प्राप्त करें और यद्यपि यह बचकाना सा संकल्प था, क्योंकि ध्रुव महाराज एक नन्हें बालक थे, किन्तु भगवान् विष्णु इतने दयार्द्र हो उठे कि उन्होंने उनकी इच्छा पूरी कर दी। ध्रुव महाराज ऐसा उच्च वासस्थान चाहते थे कि जिसे उनके परिवार के अन्य किसी ने कभी प्राप्त न किया हो। फलतः उन्हें वह लोक प्रदान किया गया जिसमें भगवान् स्वयं निवास करते हैं और इस प्रकार उनका संकल्प पूरा हुआ। तो भी, जब ध्रुव महाराज घर लौट रहे थे तो वे अधिक प्रसन्न न थे, क्योंकि यद्यपि विशुद्ध भक्ति-भाव से भगवान् से किसी वस्तु की याचना नहीं की जाती, किन्तु उन्होंने अपने बाल-स्वभाव के कारण माँग प्रस्तुत की थी। इस प्रकार यद्यपि भगवान् ने उनकी इच्छापूर्ति की, किन्तु वे इससे अधिक प्रसन्न नहीं थे, अपितु उन्हें लज्जा लग रही थी कि भगवान् से उन्होंने जो कुछ माँगा था, वह उन्हें नहीं माँगना चाहिए था।

विदुर उवाच

सुदुर्लभं यत्परमं पदं हरे-
र्मायाविनस्तच्चरणार्चनार्जितम् ।
लब्ध्वाप्यसिद्धार्थमिवैकजन्मना

कथं स्वमात्मानममन्यतार्थवित् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

विदुर: उवाच—विदुर ने पूछा; सुदुर्लभम्—अत्यन्त दुर्लभ; यत्—जो; परमम्—परम; पदम्—पद, स्थान; हरे:—भगवान् का; माया-विन:—अत्यन्त वत्सल; तत्—उसके; चरण—चरणकमल; अर्चन—पूजन के द्वारा; अर्जितम्—उपलब्ध; लब्ध्वा—प्राप्त करके; अपि—यद्यपि; असिद्ध-अर्थम्—अपूर्ण; इव—मानो; एक-जन्मना—एक जीवन काल में; कथम्—क्यों; स्वम्—अपना; आत्मानम्—हृदय; अमन्यत—अनुभव किया; अर्थ-वित्—अत्यन्त चतुर होने से।

श्री विदुर ने पूछा : हे ब्राह्मण, भगवान् का धाम प्राप्त करना बहुत कठिन है। इसे केवल शुद्ध भक्ति से ही प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि अत्यन्त वत्सल तथा कृपालु भगवान् केवल उसी से प्रसन्न होते हैं। ध्रुव महाराज ने इस पद को एक ही जीवन में प्राप्त कर लिया और वे थे भी बहुत बुद्धिमान और विवेकी। तो फिर वे प्रसन्न क्यों न थे?

तात्पर्य : सन्त विदुर की जिज्ञासा अत्यन्त प्रासंगिक थी। इस सम्बन्ध में *अर्थवित्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जो उस व्यक्ति को बतानेवाला है, जो वास्तविकता तथा अवास्तविकता के बीच अन्तर करने में समर्थ हो। *अर्थवित्* को *परमहंस* भी कहते हैं। *परमहंस* प्रत्येक वस्तु के सार को ग्रहण करता है और जिस प्रकार हंस दूध तथा जल के मिश्रण में से दूध को ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार *परमहंस* भी समस्त सांसारिक बाह्य वस्तुओं का परित्याग करते हुए श्रीभगवान् को ही अपना जीवन-आधार बनाता है। ध्रुव महाराज इसी कोटि के थे और अपने संकल्प से उन्होंने मनवांछित फल भी प्राप्त कर लिया था, किन्तु फिर भी जब वे घर लौट आये तो अधिक प्रसन्न न थे।

मैत्रेय उवाच
मातु: सपत्न्या वाग्बाणैर्हृदि विद्धस्तु तान्स्मरन् ।
नैच्छन्मुक्तिपतेर्मुक्तिं तस्मात्तापमुपेयिवान् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेय: उवाच—मैत्रेय मुनि ने उत्तर दिया; मातु:—अपनी माता की; स-पत्न्या:—सौत के; वाक्-बाणै:—कटु वचनों के तीरों से; हृदि—हृदय में; विद्ध:—धँसा हुआ; तु—तब; तान्—उन सबको; स्मरन्—स्मरण करते हुए; न—नहीं; ऐच्छत्—इच्छा की; मुक्ति-पते:—भगवान् से, जिनके चरणकमल मुक्ति प्रदाता हैं; मुक्तिम्—मोक्ष; तस्मात्—अत:; तापम्—शोक; उपेयिवान्—प्राप्त हुआ।

मैत्रेय ने उत्तर दिया : ध्रुव महाराज का हृदय, जो अपनी विमाता के कटु वचनों के बाणों से बिद्ध हो चुका था, अत्यधिक संतप्त था; अत: जब उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित किया, तो वे उसके दुर्व्यवहार को नहीं भूल पाये थे। उन्होंने इस भौतिक जगत से वास्तविक

मोक्ष की माँग नहीं की, वरन् अपनी भक्ति के अन्त में, जब भगवान् उनके समक्ष प्रकट हुए तो वे अपनी उन भौतिक याचनाओं (माँगों) के लिए लज्जित थे, जो उनके मन में थीं।

तात्पर्य : इस महत्त्वपूर्ण श्लोक की व्याख्या अनेक धुरन्धर टीकाकारों ने की है। मनवांछित जीवन उद्देश्य प्राप्त करके भी ध्रुव महाराज क्यों प्रसन्न न थे? शुद्ध भक्त सभी प्रकार की भौतिक इच्छाओं से दूर रहता है। भौतिक जगत में मनुष्य की इच्छाएँ प्राय: आसुरी होती हैं। कोई किसी को अपना शत्रु समझता है; कोई शत्रु से बदला लेने की सोचता है; कोई सर्वोच्च नेता बन जाना चाहता है, तो कोई इस जगत का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति बनना चाहता है। इस प्रकार वह अन्य सबों से स्पर्धा करता है। *भगवद्गीता* के सोलहवें अध्याय में इसे आसुरी कहा गया है। शुद्ध भक्त भगवान् से कुछ भी नहीं माँगता। उसे एकमात्र यही चिन्ता रहती है कि वह निष्ठापूर्वक और गम्भीरता से भगवान् की सेवा करे। भविष्य में क्या होगा, इसकी उसे तनिक भी चिन्ता नहीं रहती। *मुकुन्द माला* स्तोत्र के लेखक राजा कुलशेखर अपनी प्रार्थना में कहते हैं, ''हे भगवन्! मुझे इस संसार में इन्द्रियतृप्ति वाले किसी पद की इच्छा नहीं है। मैं तो केवल आपकी सेवा में निरन्तर संलग्न रहना चाहता हूँ।'' इसी प्रकार भगवान् चैतन्य ने भी अपने *शिक्षाष्टक* में प्रार्थना की है, ''हे भगवन्! मुझे न तो धन की तनिक इच्छा है, न मुझे भौतिक अनुयायी चाहिए और न भोगने के लिए सुन्दर पत्नी चाहिए। मुझे तो केवल एक ही वस्तु चाहिए और वह है जन्म-जन्मांतर आपकी सेवा।'' भगवान् चैतन्य ने मुक्ति तक के लिए प्रार्थना नहीं की।

इस श्लोक में मैत्रेय ने विदुर के प्रश्न का उत्तर दिया है कि ध्रुव महाराज अपनी विमाता के प्रति प्रतिशोध-भाव से प्रेरित होकर न तो मुक्ति के विषय में सोच पाये और न वे मुक्ति के सम्बन्ध में कुछ जानते थे। अत: वे मुक्ति को जीवन का उद्देश्य बना सकने में असफल रहे। किन्तु शुद्ध भक्त तो मुक्ति की कामना भी करता नहीं। उसकी आत्मा तो भगवान् में पूर्ण रूप से समर्पित रहती है, अत: वह भगवान् से कुछ भी नहीं माँगता। जब ध्रुव महाराज ने भगवान् को अपने समक्ष देखा तो वसुदेव पद को प्राप्त हो जाने से उन्हें इस स्थिति का बोध हो सका। वसुदेव पद वह अवस्था है जहाँ भौतिक कल्मष अनुपस्थित रहता है, अर्थात् जहाँ प्रकृति के तीनों गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुणों—का प्रश्न नहीं उठता, अत: मनुष्य को भगवान् के दर्शन हो सकते हैं। चूँकि वसुदेव पद पर ईश्वर का साक्षात्कार

किया जा सकता है, अत: भगवान् को वासुदेव भी कहा जाता है।

ध्रुव महाराज तो ऐसा प्रतिष्ठित पद चाहते थे, जो उनके परदादा ब्रह्माजी भी न प्राप्त कर पाये थे। भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्त के प्रति, विशेष रूप से ध्रुव महाराज जैसे भक्त के प्रति, जो पाँच वर्ष की अवस्था में तपस्या हेतु जंगल चले गये थे, इतने वत्सल एवं कृपालु हैं कि भले ही उसका मन्तव्य अशुद्ध रहे, वे उस पर विचार नहीं करते। उन्हें तो सेवा से प्रयोजन रहता है। किन्तु यदि भक्त के मन में कोई विशेष मन्तव्य रहता है, तो भगवान् उसे किसी न किसी प्रकार जान लेते हैं और भक्त की भौतिक इच्छाओं को अपूर्ण नहीं रखते। भगवान् की भक्त के प्रति ऐसी कुछ विशेष अनुकम्पाएँ होती हैं।

ध्रुव महाराज को ध्रुवलोक प्रदान किया गया, जहाँ कभी कोई बद्धजीव नहीं रहा था। यहाँ तक कि इस ब्रह्माण्ड के सर्वश्रेष्ठ प्राणी ब्रह्मा को भी ध्रुवलोक में प्रवेश करने की अनुमति नहीं दी गई। जब भी इस ब्रह्माण्ड में कोई संकट आ पड़ता है, तो देवतागण मिलकर क्षीरोदकशायी विष्णु भगवान् के पास जाते हैं और क्षीरसागर के तट पर खड़े हो जाते हैं। इस प्रकार ध्रुव ने जो माँग की थी—अपने परदादा ब्रह्मा से भी उच्च स्थान—वह पूरी हो गई।

इस श्लोक में भगवान् को *मुक्तिपति* कहा गया है, जिसका अर्थ है, ''जिनके चरणकमलों के नीचे समस्त प्रकार की मुक्तियाँ हैं।'' मुक्ति के पाँच प्रकार हैं—सायुज्य, सारूप्य, सालोक्य, सामीप्य तथा सार्ष्टि। ये पाँचों मुक्तियाँ भगवान् की भक्ति में लगे हुए किसी भी व्यक्ति द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं, किन्तु इनमें से सायुज्य मुक्ति की कामना सामान्यत: मायावादी चिन्तकों द्वारा की जाती है। वे भगवान् के निर्विशेष ब्रह्मतेज से तदाकार हो जाना चाहते हैं। कई विद्वानों की राय है कि यद्यपि सायुज्य मुक्ति की गणना, पाँच प्रकार की मुक्तियों में की जाती है, वास्तव में यह मुक्ति है नहीं, क्योंकि सायुज्य मुक्ति प्राप्त करके भी मनुष्य पुन: भौतिक जगत में आ गिरता है। इसकी जानकारी हमें *श्रीमद्भागवत* से (१०.२.३२) प्राप्त होती है, जिसमें कहा गया है *पतन्त्यध:* अर्थात् वे पुन: नीचे गिर जाते हैं। कठिन तपस्या के बाद अद्वैतवादी चिन्तक भगवान् के निर्गुण तेज में मिल जाता है, किन्तु जीवात्मा प्रेम व्यापार में सदैव पारस्परिक आदान-प्रदान चाहता है। अत: यद्यपि अद्वैतवादी चिन्तक भगवान् के तेज से मिलकर तदाकार पद को प्राप्त होता है, किन्तु भगवान् से संगति करने एवं उनकी सेवा करने की कोई

सुविधा न होने से वह पुन: भौतिक जगत में आ गिरता है और उसके सेवा-भाव की तुष्टि भौतिक कल्याणकारी क्रियाकलापों द्वारा, यथा मानवतावाद, परोपकार तथा परमार्थवाद द्वारा होती है। मायावादी विचारधारा के बड़े-बड़े संन्यासियों तक के पतन के कितने ही उदाहरण हैं।

अत: वैष्णव चिन्तक सायुज्य मुक्ति को मुक्ति की कोटि में नहीं मानते। उनके अनुसार मुक्ति का अर्थ है माया के सेवा पद से भगवान् की प्रेमा-भक्ति में स्थानान्तरण। इस सम्बन्ध में भगवान् चैतन्य भी कहते हैं कि जीवात्मा की स्वाभाविक स्थिति भगवान् की सेवा करने की है। यही वास्तविक मुक्ति है। जब कृत्रिम पद त्याग कर कोई अपने मूल पद पर स्थित होता है, तो वह मुक्त कहलाता है। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि हुई है—जो भी भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति करता है, वह मुक्त या ब्रह्मभूत माना जाता है। *गीता* में यह भी कहा गया है कि जब भक्त में कोई भौतिक कल्मष नहीं रहता तो वह ब्रह्मभूत पद पर स्थित माना जाता है। *पद्म-पुराण* में भी इस की पुष्टि हुई है कि मुक्ति का अर्थ है भगवान् की सेवा में अनुरक्त रहना।

मैत्रेय मुनि ने बताया कि ध्रुव महाराज प्रारम्भ में भगवान् की सेवा में अनुरक्त नहीं होना चाहते थे, वरन् वे अपने परदादा से भी उच्चतर स्थान चाह रहे थे। यह भगवान् की सेवा न होकर एक प्रकार से इन्द्रियों की सेवा है। यदि किसी को इस ब्रह्माण्ड का सर्वोच्च पद अर्थात् ब्रह्मा का पद मिल भी जाये तो भी वह बद्धजीव ही है। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती का कहना है कि यदि कोई वास्तविक, शुद्ध भक्ति को प्राप्त कर लेता है, तो वह ब्रह्मा तथा इन्द्र जैसे बड़े-बड़े देवों को भी तुच्छ कीट जैसा मानता है। इसका कारण यह है कि तुच्छ से तुच्छ कीड़े में भी इन्द्रिय-तृप्ति की आकांक्षा रहती है और ब्रह्मा जैसा महापुरुष भी तो इस भौतिक प्रकृति को अपने वश में रखना चाहता है।

इन्द्रियतृप्ति का अर्थ है भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व। बद्धजीवों की सारी स्पर्धा इसी भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व प्राप्त करने पर आधारित है। आधुनिक वैज्ञानिकों को अपने ज्ञान का गुमान है कि वे नई विधियों की खोज करके भौतिक प्रकृति के नियमों पर प्रभुत्व प्राप्त कर रहे हैं। वे इसे मानवीय सभ्यता की प्रगति समझते हैं। वे जितना ही अधिक प्रकृति के नियमों पर प्रभुत्व स्थापित करते जाते हैं, वे अपने को उतना ही उन्नत मानते हैं। प्रारम्भ में ध्रुव महाराज की मनोवृत्ति ऐसी ही थी। वे इस भौतिक

जगत में ब्रह्मा से भी बड़ा पद प्राप्त करके प्रभुत्व जताना चाहते थे। अत:, जैसाकि अन्यत्र वर्णन हुआ है, भगवान् के प्रकट होने पर जब ध्रुव महाराज अपने संकल्प तथा अन्तिम रूप से प्राप्त पुरस्कार की तुलना करने बैठे तो उन्हें अनुभव हुआ कि उन्होंने तो टूटे काँच के कुछ टुकड़ों की माँग की थी, किन्तु बदले में उनको अनेक हीरे प्राप्त हुए हैं। जैसे ही उन्होंने भगवान् को अपने समक्ष देखा, उन्हें तुरन्त बोध हो आया कि उन्होंने भगवान् से ब्रह्माजी से भी बढ़कर उच्चतर पद को प्राप्त करने की कितनी ओछी माँग की है।

जब ध्रुव महाराज भगवान् को साक्षात् देखकर वसुदेव पद पर स्थित हो गये तो उनका सारा भौतिक कल्मष जाता रहा। इस प्रकार वे लज्जाग्रस्त हुए कि उनकी माँग क्या थी और उन्हें मिला क्या। उन्हें लज्जा इस बात से हुई कि यद्यपि वे अपने पिता का राज्य छोड़कर मधुवन गये थे और उन्हें नारद मुनि जैसा गुरु प्राप्त हो चुका था, तो भी वे अपनी विमाता से बदला लेने की सोच रहे थे और इसी लोक में सम्मानित पद ग्रहण करना चाह रहे थे। यही कारण था कि भगवान् से समस्त मनवांछित वरदान प्राप्त करके भी वे खिन्न थे।

जब ध्रुव महाराज ने वास्तव में भगवान् को अपने समक्ष देखा तो उनके मन में न तो अपनी विमाता से प्रतिशोध लेने की भावना थी, न ही इस भौतिक संसार पर राज्य करने की इच्छा थी, किन्तु भगवान् इतने दयालु हैं कि वे समझ गये कि ध्रुव महाराज को इनकी इच्छा है। ध्रुव महाराज के समक्ष बोलते हुए भगवान् ने *वेदाहम्* शब्द का प्रयोग किया, क्योंकि जब धुव्र महाराज ने भौतिक लाभों की मांग की तो वे उनके हृदय में विराजमान होने के कारण सब कुछ जान चुके थे। मनुष्य जो भी सोचता है उसे भगवान् सदैव जान लेते हैं। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—*वेदाहं समतीतानि।*

भगवान् ने ध्रुव महाराज की समस्त इच्छाएँ पूरी कीं। अपनी विमाता तथा सौतले भाई के प्रति उनकी प्रतिशोधपरक मनोवृत्ति पूर्ण हुई; अपने परदादा से भी श्रेष्ठ पद प्राप्त करने की इच्छा भी पूरी हुई और उसी के साथ ही ध्रुवलोक में उनका शाश्वत पद निश्चित हो गया। यद्यपि ध्रुव महाराज ने शाश्वत लोक की कल्पना भी नहीं की थी, किन्तु श्रीकृष्ण ने सोचा कि बेचारा ध्रुव इस संसार का उच्च पद

प्राप्त करके क्या करेगा? अत: उन्होंने ध्रुव को छत्तीस हजार वर्षों तक वृद्ध हुए बिना और अनेक यज्ञों को सम्पन्न करने का अवसर प्रदान करते हुए इस संसार का सर्वविख्यात राजा बन कर राज्य करने का सुअवसर प्रदान किया और इस प्रकार समस्त भौतिक भोग के पश्चात् ध्रुव को आध्यात्मिक जगत में, जिसमें ध्रुवलोक सम्मिलित है, भेज दिया।

ध्रुव उवाच
समाधिना नैकभवेन यत्पदं
विदु: सनन्दादय ऊर्ध्वरेतस: ।
मासैरहं षड्भिरमुष्य पादयो-
श्छायामुपेत्यापगत: पृथङ्मति: ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

ध्रुव: उवाच—ध्रुव महाराज ने कहा; समाधिना—समाधि में योग अभ्यास द्वारा; न—कभी नहीं; एक-भवेन—एक जन्म से; यत्—जो; पदम्—पद, स्थिति; विदु:—समझ गया; सनन्द-आदय:—सनन्दन इत्यादि चारों ब्रह्मचारी; ऊर्ध्व-रेतस:—अच्युत ब्रह्मचारी; मासै:—महीनों में; अहम्—मैं; षड्भि:—छह; अमुष्य—उनके; पादयो:—चरणकमलों का; छायाम्—आश्रय, शरण; उपेत्य—प्राप्त करके; अपगत:—गिर पड़ा; पृथक्-मति:—भगवान् के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर स्थित मेरा मन।

ध्रुव महाराज ने मन ही मन सोचा—भगवान् के चरणकमलों की छाया में स्थित रहने का प्रयत्न करना कोई सरल कार्य नहीं है, क्योंकि सनन्दन इत्यादि जैसे महान् ब्रह्मचारियों ने भी, जिन्होंने समाधि में अष्टांग योग की साधना की, अनेक जन्मों के बाद ही भगवान् के चरणारविन्द की शरण प्राप्त की है। मैंने तो छह महीनों में ही वही फल प्राप्त कर लिया है, तो भी मैं भगवान् से भिन्न प्रकार से सोचने के कारण मैं अपने पद से नीचे गिर गया हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक में ध्रुव महाराज स्वयं अपनी खिन्नता का कारण बताते हैं। सर्वप्रथम वे पश्चात्ताप करते हैं कि भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन करना आसान नहीं है। यहाँ तक कि बड़े-बड़े साधु पुरुष, यथा सनन्दन इत्यादि चारों ब्रह्मचारी—सनन्दन, सनक, सनातन तथा सनत्कुमार—अनेकानेक जन्मों तक योगाभ्यास करके समाधि में रहकर भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन कर पाने में समर्थ हुए। किन्तु जहाँ तक ध्रुव महाराज का प्रश्न है, उन्होंने तो छह मास की भक्ति से ही भगवान् का साक्षात्कार कर लिया। अत: उन्हें आशा थी कि भगवान् से भेंट होते ही वे उन्हें तुरन्त अपने धाम को लेते जाएँगे। वे यह भी स्पष्ट रूप से समझ गये कि भगवान् ने उन्हें छत्तीस हजार वर्षों तक संसार का शासन करने का वर इसलिए दिया है, क्योंकि वे प्रारम्भ में भौतिक शक्ति के वश में थे और अपनी विमाता से बदला

लेने और पिता के राज्य पर शासन करना चाह रहे थे। ध्रुव महाराज को इन दोनों विचारों के लिए घोर पश्चात्ताप हुआ।

अहो बत ममानात्म्यं मन्दभाग्यस्य पश्यत ।
भवच्छिदः पादमूलं गत्वा याचे यदन्तवत् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

अहो—अहो; बत—हाय; मम—मेरा; अनात्म्यम्—देहात्म बोध; मन्द-भाग्यस्य—अभागे का; पश्यत—जरा देखो तो; भव—भौतिक अस्तित्व; छिदः—छिन्न कर सकने वाले भगवान् के; पाद-मूलम्—चरणकमल के; गत्वा—पास जाकर; याचे—मैंने याचना की; यत्—वह जो; अन्त-वत्—नाशवान।

ओह! जरा देखो तो; मैं कितना अभागा हूँ! मैं उन भगवान् के चरणकमलों से पास पहुँच गया जो जन्म-मरण के चक्र की शृंखला को तुरन्त काट सकते हैं, किन्तु फिर भी अपनी मूर्खता के कारण, मैने ऐसी वस्तुओं की याचना की, जो नाशवान् हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अनात्म्यम्* शब्द अत्यन्त सार्थक है। 'आत्मा' का अर्थ आत्मा है और *अनात्म्य* का अर्थ है, "आत्मा के विषय में किसी प्रकार की धारणा के बिना।" श्रील ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को शिक्षा दी थी कि जब तक मनुष्य आत्मा को समझ नहीं लेता, तब तक वह जो भी करता है, वह अविद्या है और इससे जीवन में उसे हार ही मिलती है। ध्रुव महाराज को अपनी अभागी स्थिति पर खेद है, क्योंकि वे भगवान् के पास तो पहुँचे, किन्तु अज्ञानवश उन्होंने नाशवान् वस्तु की इच्छा व्यक्त की जबकि भगवान् अपने भक्तों को जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति दिलाने का परम वर देनेवाले हैं, जो किसी भी देवता के लिए दे पाना असम्भव है। जब हिरण्यकशिपु ने ब्रह्मा से अमरत्व का वर माँगा तो ब्रह्मा ने ऐसा वर देने में असमर्थता व्यक्त की क्योंकि वे स्वयं अमर नहीं हैं, अत: अमरत्व अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से परम मुक्ति प्रदान करनेवाले तो एकमात्र भगवान् हैं। अन्य कोई भी नहीं है। *हरिं विना न सृतिं तरन्ति।* कहा गया है कि भगवान् हरि के आशीर्वाद के बिना इस संसार में जन्म तथा मृत्यु की अविरल शृंखला को कोई रोक नहीं सकता। इसलिए परमेश्वर को *भव-च्छित्* भी कहा गया है। कृष्णचेतना की प्रविधि में वैष्णव दर्शन भक्त को समस्त प्रकार की भौतिक आकांक्षाओं से वर्जित करता है। वैष्णव भक्त को सदा *अन्याभिलाषिता शून्य* अर्थात् सकाम कर्म के फलों की भौतिक कामनाओं से या दार्शनिक चिन्तन से मुक्त होना चाहिए। वास्तव में ध्रुव महाराज को

परम वैष्णव नारद मुनि ने दीक्षा दी थी कि वे *ॐ नमो भगवते वासुदेवाय* का जप करें। यह मंत्र *विष्णु मन्त्र* है, क्योंकि इस मंत्र के जप का अभ्यास करनेवाले को विष्णुलोक प्राप्त होता है। ध्रुव महाराज को इसका खेद है कि एक वैष्णव द्वारा विष्णु मंत्र में दीक्षित होकर भी वे भौतिक लाभ की इच्छा कर रहे थे। उनके पश्चात्ताप का यह दूसरा कारण था। यद्यपि उन्हें भगवान् की अहैतुकी कृपा से विष्णु मंत्र का फल प्राप्त हुआ, किन्तु उन्हें पछतावा बना रहा कि भक्तियोग का अभ्यास करते हुए उन्होंने मूर्खतावश भौतिक लाभ के लिए क्यों प्रयास किया। दूसरे शब्दों में, हममें से प्रत्येक व्यक्ति को जो कृष्ण-भक्ति में लगा है, भौतिक आकांक्षाओं से पूर्णत: मुक्त होना चाहिए, अन्यथा हमें भी ध्रुव महाराज की ही तरह पछताना पड़ेगा।

मतिर्विदूषिता देवैः पतद्भिरसहिष्णुभिः ।
यो नारदवचस्तथ्यं नाग्राहिषमसत्तमः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

मतिः—बुद्धि; विदूषिता—दूषित, कल्मष-ग्रस्त; देवैः—देवताओं द्वारा; पतद्भिः—गिरनेवाले के द्वारा; असहिष्णुभिः—असहनशील द्वारा; यः—मैं जो; नारद—नारद मुनि के; वचः—उपदेशों का; तथ्यम्—सत्य; न—नहीं; अग्राहिषम्—स्वीकार किया; असत्-तमः—सर्वाधिक दुष्ट।

चूँकि सभी देवताओं को, जो उच्च लोकों में स्थित हैं, फिर से नीचे आना होगा, अत: वे सभी भक्ति द्वारा मेरे विष्णुलोक को प्राप्त करने के प्रति ईर्ष्यालु हैं। इन असहिष्णु देवताओं ने मेरी बुद्धि नष्ट कर दी है और यही एकमात्र कारण है, जिससे मैं नारदमुनि के उपदेशों के आशीर्वाद को स्वीकार नहीं कर सका!

तात्पर्य : वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक अवसरों का उल्लेख है कि जब कोई पुरुष कठिन तपस्या करता है, तो देवतागण विचलित हो उठते हैं कि कहीं स्वर्ग के उनके प्रमुख स्थान को कोई दूसरा ग्रहण न कर ले। उन्हें पता है कि स्वर्ग में उनका स्थान अस्थायी है, जैसाकि *भगवद्गीता* के नवें अध्याय में कहा गया है (*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*), स्वर्ग निवासी सभी देवता अपने पुण्यकर्मों के क्षीण होने पर पुन: इसी पृथ्वी पर आ जाते हैं।

यह तथ्य है कि देवता ही हमारे शरीर के विभिन्न अंगों के कार्यों का संचालन करते हैं। वास्तविकता तो यह है कि हम अपनी पलकें भी चलाने के लिए स्वतंत्र नहीं। हर कार्य उन्हीं के द्वारा

नियंत्रित होता है। ध्रुव महाराज इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इन देवताओं ने उनकी भक्ति से ईर्ष्यालु होकर उनके विरुद्ध, और उनकी बुद्धि को दूषित कर दिया जिससे परम वैष्णव नारद मुनि के शिष्य होते हुए भी वे नारद के सही उपदेशों को ग्रहण न कर सके। अब ध्रुव महाराज को घोर पश्चात्ताप हो रहा था कि उन्होंने उन उपदेशों की क्यों उपेक्षा की। नारद मुनि ने उनसे कहा था, ''तुम अपनी विमाता द्वारा किये गये अपमान या प्रशंसा की क्यों परवाह करते हो?'' उन्होंने ध्रुव महाराज से कहा था कि, ''तुम तो केवल बालक हो, अत: ऐसे अपमान या प्रशंसा से तुम्हें क्या लेना देना?''—किन्तु ध्रुव महाराज तो भगवान् द्वारा प्रदत्त आशीर्वाद प्राप्त करने पर तुले थे, अत: नारद ने सलाह दी थी कि वे फिलहाल अपने घर चले जाँय और बड़े होने पर भक्ति करने का प्रयास करें। ध्रुव महाराज को खेद हो रहा था कि उन्होंने नारद मुनि के उपदेश को क्यों अस्वीकार किया और क्यों भगवान् से किसी नाशवान वस्तु अर्थात् विमाता से प्रतिशोध तथा अपने पिता के राज्य पर अधिकार करने का वर पाने पर तुले रहे।

ध्रुव महाराज को पछतावा था कि उन्होंने अपने गुरु के उपदेश पर गम्भीरता से विचार नहीं किया; इसीलिए उनकी चेतना दूषित हो गई थी। तो भी भगवान् इतने दयालु हैं कि भक्ति के कारण उन्होंने धुव्र को चरम वैष्णव-लक्ष्य प्रदान किया।

दैवीं मायामुपाश्रित्य प्रसुप्त इव भिन्नदृक् ।
तप्ये द्वितीयेऽप्यसति भ्रातृभ्रातृव्यहृद्रुजा ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

दैवीम्—भगवान् की; मायाम्—माया; उपाश्रित्य—शरण ग्रहण करके; प्रसुप्त:—निद्रा में स्वप्न देखता; इव—सदृश्य; भिन्न-दृक्—विलग दृष्टि वाला; तप्ये—मैंने पश्चात्ताप किया; द्वितीये—माया में; अपि—यद्यपि; असति—क्षणिक; भ्रातृ—भाई; भ्रातृव्य—शत्रु; हृत्—हृदय के भीतर; रुजा—पश्चात्ताप से।.

ध्रुव महाराज पश्चात्ताप करने लगे कि मैं माया के वश में था; वास्तविकता से अपरिचित होने के कारण मैं उसकी गोद में सोया था। द्वैत दृष्टि के कारण मैं अपने भाई को शत्रु समझता रहा और झूठे ही यह सोचकर मन ही मन पश्चात्ताप करता रहा कि वे मेरे शत्रु हैं।

तात्पर्य : भक्त को वास्तविक ज्ञान तभी प्राप्त होता है जब भगवत्कृपा से उसे जीवन के विषय में सही निष्कर्ष ज्ञात होता है। इस भौतिक जगत में मित्रों तथा शत्रुओं का बनाना रात्रि में स्वप्न देखने जैसा है। स्वप्न में हम अवचेतन मन पर स्थित विभिन्न प्रभावों के कारण अनेकानेक बातों की सृष्टि

करते रहते हैं, किन्तु वे सभी क्षणिक तथा असत्य होती हैं। इसी प्रकार, यद्यपि हम भौतिक जीवन में जाग्रत (चैतन्य) दिखते हैं, किन्तु आत्मा तथा परमात्मा के विषय में कोई जानकारी न होने के कारण हम कल्पना से अनेक मित्र तथा शत्रु बना लेते हैं। श्रील कृष्ण दास कविराज गोस्वामी कहते हैं कि इस भौतिक जगत या भौतिक चेतना में अच्छा तथा बुरा दोनों एक से हैं। अच्छे तथा बुरे का अन्तर केवल हमारी मानसिक ऊहापोह है। वास्तविकता तो यह है कि सभी जीवात्माएँ भगवान् की सन्तानें अथवा उनकी तटस्था शक्ति के आनुषंगिक फल (उपोत्पाद) हैं। प्रकृति के गुणों से दूषित होने के कारण हम एक आध्यात्मिक स्फुलिंग को दूसरे से भिन्न मानते हैं। यह भी एक अन्य प्रकार का स्वप्न-दर्शन है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जो सचमुच विद्वान् हैं, वे किसी विद्वान, ब्राह्मण, हाथी, कुत्ते तथा चांडाल में भेद नहीं बरतते। वे बाह्य शरीर के रूप में न देखकर व्यक्ति को आत्मा के रूप में देखते हैं। उच्च ज्ञान के द्वारा मनुष्य जान पाता है कि यह देह पाँच तत्त्वों के संयोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस दृष्टि से भी मनुष्य और देवता के शरीर की बनावट एक-जैसी है। आध्यात्मिक दृष्टि से हम सभी आध्यात्मिक स्फुलिंग हैं, ईश्वर के भिन्नांश हैं। चाहे भौतिक दृष्टि से हो अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से, हम सभी एक हैं, किन्तु माया से प्रेरित होकर हम मित्र तथा शत्रु बनाते हैं, अत: ध्रुव महाराज ने कहा—*दैवीं मायामुपाश्रित्य*—उनके मोह का कारण माया की संगति थी।

मयैतत्प्रार्थितं व्यर्थं चिकित्सेव गतायुषि
प्रसाद्य जगदात्मानं तपसा दुष्प्रसादनम् ।
भवच्छिदमयाचेऽहं भवं भाग्यविवर्जित: ॥ ३४॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; एतत्—यह; प्रार्थितम्—के लिए प्रार्थना किया गया; व्यर्थम्—वृथा ही; चिकित्सा—उपचार; इव—सदृश; गत—समाप्त; आयुषि—उसके लिए जिसकी आयु; प्रसाद्य—तुष्ट करके; जगत्-आत्मानम्—ब्रह्माण्ड की आत्मा; तपसा—तपस्या से; दुष्प्रसादनम्—जिसे प्रसन्न कर पाना कठिन है; भव-छिदम्—भगवान् जो जन्म तथा मृत्यु की शृंखला को काटने में समर्थ हैं; अयाचे—याचना की; अहम्—मैंने; भवम्—जन्म तथा मृत्यु की आवृत्ति; भाग्य—भाग्य; विवर्जित:—रहित, हीन।

भगवान् को प्रसन्न कर पाना अत्यन्त कठिन है, किन्तु मैंने तो समस्त ब्रह्माण्ड के परमात्मा को प्रसन्न करके भी अपने लिए व्यर्थ की वस्तुएँ माँगी हैं। मेरे कार्य ठीक वैसे ही हैं जैसे पहले से किसी मृत व्यक्ति का उपचार करना। जरा देखो तो मैं कितना अभागा हूँ कि जन्म तथा मृत्यु की शृंखला को काटने में समर्थ परमेश्वर से साक्षात्कार कर लेने पर भी मैंने फिर उन्हीं दशाओं के

लिए पुनः प्रार्थना की है!

तात्पर्य : कभी-कभी ऐसा होता है कि भगवान् की प्रेमा-भक्ति में अनुरक्त रहनेवाला भक्त अपनी सेवा के बदले में कुछ भौतिक लाभ की कामना करता है। यह भक्ति करने की सही विधि नहीं है। निस्सन्देह, अविद्या के कारण भक्त कभी-कभी ऐसा कर बैठता है, किन्तु ध्रुव महाराज को अपने ऐसे आचरण पर पछतावा हो रहा है।

स्वाराज्यं यच्छतो मौढ्यान्मानो मे भिक्षितो बत ।
ईश्वरात्क्षीणपुण्येन फलीकारानिवाधनः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

स्वाराज्यम्—उनकी भक्ति; यच्छतः—भगवान् से, जो देने के लिए इच्छुक थे; मौढ्यात्—मूर्खता से; मानः—सम्पन्नता; मे—मेरे द्वारा; भिक्षितः—याचित; बत—ओह; ईश्वरात्—महान् सम्राट से; क्षीण—घटा हुआ; पुण्येन—जिसके पवित्र कर्म; फली-कारान्—चावल के टूटन, कना; इव—सदृश; अधनः—निर्धन मनुष्य।

पूरी तरह अपनी मूर्खता और पुण्यकर्मों की न्यूनता के कारण ही मैंने भौतिक नाम, यश तथा सम्पन्नता चाही यद्यपि भगवान् ने मुझे अपनी निजी सेवा प्रदान की थी। मेरी स्थिति तो उस निर्धन व्यक्ति की-सी है, जिस बेचारे ने महान् सम्राट के प्रसन्न होने पर मुँहमाँगी वस्तु माँगने के लिए कहे जाने पर अज्ञानवश चावल के कुछ कने ही माँगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *स्वाराज्यम्* शब्द, जिसका अर्थ "पूर्ण स्वतंत्रता" होता है, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बद्धजीव जान ही नहीं पाता कि पूर्ण स्वतंत्रता क्या है। पूर्ण स्वतंत्रता का अर्थ है अपनी ही स्वाभाविक स्थिति। परमेश्वर के अंश जीवात्मा की वास्तविक स्वाधीनता यही है कि वह सदैव परमेश्वर पर आश्रित रहे, जिस प्रकार कि एक बच्चा माता-पिता की देखरेख में स्वाधीन होकर खेलता है। बद्धजीव की स्वाधीनता का अर्थ यह नहीं है कि वह माया द्वारा उत्पन्न अवरोधों से भिड़ता रहे, अपितु वह श्रीकृष्ण की शरण में जाए। भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति माया द्वारा उत्पन्न अवरोधों से जूझ करके पूर्णतः स्वतंत्र होना चाहता है। इसे अस्तित्व के लिए संघर्ष कहा जाता है। वास्तविक स्वाधीनता तो भगवान् की सेवा में फिर से जुड़ जाना है। जो कोई वैकुण्ठलोक गोलोक वृन्दावन जाता है, वह मुक्त भाव से भगवान् की सेवा करता है। यही पूर्ण स्वतंत्रता है। इसके सर्वथा विपरीत भौतिक स्वामित्व है, जिसे हम भ्रमवश स्वतंत्रता मान लेते हैं। अनेक राजनीतिक नेताओं ने स्वतंत्रता स्थापित

करने के प्रयास किये हैं, किन्तु तथाकथित स्वतंत्रता से मनुष्यों की परतंत्रता ही बढ़ी है। जीवात्मा कभी-भी भौतिक जगत में स्वतंत्र रहने का प्रयास करके प्रसन्नता का अनुभव नहीं कर सकता। अत: मनुष्य को भगवान् के चरणकमलों में आत्मसमर्पण करके चिरन्तन सेवा करनी होती है।

ध्रुव महाराज को पछतावा है कि उन्होंने भौतिक ऐश्वर्य तथा अपने परदादा ब्रह्मा से भी अधिक सम्पन्नता की इच्छा व्यक्त की। भगवान् से उनकी यह याचना वैसी ही थी जैसी कि किसी महान सम्राट से किसी निर्धन व्यक्ति द्वारा चावल के टूटे कनों की माँग। निष्कर्ष यह निकला कि जो कोई भी भगवान् की प्रेमा-भक्ति में संलग्न है उसे भगवान् से भौतिक सम्पन्नता की याचना नहीं करनी चाहिए। भौतिक सम्पन्नता प्रदान करना बहिरंगा शक्ति के कड़े विधि-विधानों पर निर्भर करता है। शुद्ध भक्त तो भगवान् की सेवा करने का अवसर प्रदान करने की याचना करते हैं। यही हमारी असली स्वतंत्रता है। यदि हम कुछ और चाहते हैं, तो यह हमारे दुर्भाग्य का सूचक है।

मैत्रेय उवाच
न वै मुकुन्दस्य पदारविन्दयो
रजोजुषस्तात भवादृशा जना: ।
वाञ्छन्ति तद्दास्यमृतेऽर्थमात्मनो
यदृच्छया लब्धमन:समृद्धय: ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेय: उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; न—कभी नहीं; वै—निश्चय ही; मुकुन्दस्य—भगवान् का, जो मुक्ति देनेवाले हैं; पद-अरविन्दयो:—चरणकमलों का; रज:-जुष:—जो लोग धूल का स्वाद लेने के लिए इच्छुक हैं; तात—हे विदुर; भवादृशा:—आपके तुल्य; जना:—व्यक्ति; वाञ्छन्ति—कामना करते हैं; तत्—उसका; दास्यम्—दासता; ऋते—बिना; अर्थम्—स्वार्थ; आत्मन:—अपने लिए; यदृच्छया—स्वत:; लब्ध—जितना प्राप्त हो उसी से; मन:-समृद्धय:—अपने आपको धनी समझते हुए।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, आप जैसे व्यक्ति, जो मुकुन्द (मुक्तिप्रदाता भगवान्) के चरणकमलों के विशुद्ध भक्त हैं और उनके चरणकमलों में भौंरों के सदृश्य आसक्त रहते हैं, सदैव भगवान् के चरणकमलों की सेवा करने में ही प्रसन्न रहते हैं। ऐसे पुरुष, जीवन की किसी भी परिस्थिति में संतुष्ट रहते हैं और भगवान् से कभी भी किसी भौतिक सम्पन्नता की याचना नहीं करते।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि वे परम भोक्ता हैं, वे ही इस सृष्टि की प्रत्येक वस्तु के परम स्वामी और सबों के परम मित्र हैं। जब मनुष्य इन बातों को भलीभाँति जान लेता है, तो वह

सदैव सन्तुष्ट रहता है। शुद्ध भक्त कभी-भी किसी प्रकार की भौतिक सम्पन्नता के पीछे नहीं पड़ता। किन्तु कर्मी अथवा ज्ञानी या योगी अपने-अपने सुख के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। कर्मी अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए दिन-रात श्रम करते हैं; ज्ञानी मुक्ति पाने के उद्देश्य से कठिन तपस्या करते हैं और योगी भी चमत्कारी शक्ति प्राप्त करने के लिए कठिन योगाभ्यास करते हैं। किन्तु भक्त की रुचि ऐसे कार्यों में कदापि नहीं रहती; उसे न तो योगशक्ति चाहिए, न मुक्ति अथवा भौतिक सम्पन्नता। वह तो, जब तक भगवान् की सेवा में निरन्तर लगा रहता है, जीवन की किसी भी दशा में सन्तुष्ट रहता है। भगवान् के चरणों की तुलना कमल से की जाती है, जिसमें केशर की धूलि रहती है। भक्त सदैव भगवान् के चरणकमलों मधुपान में व्यस्त रहता है। जब तक कोई सभी भौतिक इच्छाओंसे मुक्त नहीं हो जाता, तब तक वह भगवान् के चरणकमलों से मधु को वास्तव में नहीं चख सकता। मनुष्य को किसी प्रकार से भौतिक परिस्थितियों के आने और जाने से विचलित हुए बिना भक्तिकार्य करते रहना होता है। भौतिक सम्पन्नता के लिए किसी प्रकार की कामना का न होना *निष्काम* कहलाता है। मनुष्य को भ्रमवश यह नहीं समझ बैठना चाहिए कि *निष्काम* का अर्थ समस्त कामनाओं का परित्याग है। यह असम्भव है। जीवात्मा शाश्वतरूप से विद्यमान है, अत: वह कामनाओं को नहीं त्याग सकता। जीवात्मा में कामनाएँ होनी ही चाहिए, यह तो जीवन का लक्षण है। जब निष्काम बनने की संस्तुति प्राप्त हो तो उसका यही अर्थ ग्रहण करना चाहिए कि हमें अपनी इन्द्रियों की तृप्ति के लिए किसी भी वस्तु की कामना नहीं करनी चाहिए। भक्त के लिए यह मन:स्थिति, अर्थात् *नि:स्पृह* होना, उचित स्थिति है। वस्तुत: हममें से प्रत्येक के पास भौतिक सुख-सुविधा के लिए अपनी-अपनी व्यवस्था रहती है। भक्त को भगवान् द्वारा प्रदत्त सुविधाओं के मानदण्ड से सदैव संतुष्ट रहना चाहिए, जैसाकि *ईशोपनिषद्* में कहा गया है (*तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:*)। इससे कृष्णभक्ति करने के लिए समय मिल जाता है।

आकर्ण्यात्मजमायान्तं सम्परेत्य यथागतम् ।
राजा न श्रद्दधे भद्रमभद्रस्य कुतो मम ॥ ३७॥

शब्दार्थ

आकर्ण्य—सुनकर; **आत्म-जम्**—अपना पुत्र; **आयान्तम्**—आते हुए; **सम्परेत्य**—मरने के बाद; **यथा**—जिस प्रकार; **आगतम्**—वापस आया हुआ; **राजा**—राजा उत्तानपाद; **न**—नहीं; **श्रद्दधे**—विश्वास हुआ; **भद्रम्**—कल्याण; **अभद्रस्य**—अशुभ का; **कुत:**—कहाँ से; **मम**—मेरा।

जब राजा उत्तानपाद ने सुना कि उसका पुत्र ध्रुव घर वापस आ रहा है, मानो मृत्यु के पश्चात् पुनर्जीवित हो रहा हो, तो उसे इस समाचार पर विश्वास नहीं हुआ क्योंकि उसे सन्देह था कि यह हो कैसे सकता है। उसने अपने को अत्यन्त अभागा समझ लिया था, अत: उसने सोचा कि ऐसा सौभाग्य उसे कहाँ नसीब हो सकता है?

तात्पर्य : पाँच वर्ष के बालक ध्रुव महाराज तपस्या के लिए जंगल चले गये और राजा को विश्वास ही नहीं हो रहा था कि इतनी अल्प आयु का बालक जंगल में रह सकता है। उसे पक्का विश्वास था कि ध्रुव मर चुका है। अत: उसे इस समाचार पर विश्वास ही नहीं हुआ कि ध्रुव महाराज घर वापस आ रहे हैं। उसके लिए यह समाचार मानो यह कह रहा हो कि एक मृत व्यक्ति वापस आ रहा है, इसलिए उसे विश्वास नहीं हो रहा था। ध्रुव महाराज के जंगल चले जाने के बाद राजा उत्तानपाद सोचता रहा कि उसी के कारण ध्रुव महाराज जंगल गये हैं, अत: वह अपने को सबसे अभागा समझ रहा था। अत: भले ही उसका खोया हुआ पुत्र मृत्यु के राज्य से वापस आ रहा था, किन्तु अपने को अत्यन्त पापी समझ लेने के कारण वह सोच रहा था कि उसके इतने भाग्य कहाँ कि खोया पुत्र वापस आ जाये।

श्रद्धाय वाक्यं देवर्षेर्हर्षवेगेन धर्षितः ।
वार्ताहर्तुरतिप्रीतो हारं प्रादान्महाधनम् ॥ ३८॥

शब्दार्थ

श्रद्धाय—श्रद्धा रखकर; वाक्यम्—वचनों में; देवर्षेः—नारद मुनि के; हर्ष-वेगेन—परम संतोष से; धर्षितः—भावविभोर होकर; वार्ता-हर्तुः—समाचार लानेवाले से; अतिप्रीतः—अत्यन्त प्रसन्न होकर; हारम्—मोती की माला; प्रादात्—प्रदान किया; महा-धनम्—अत्यन्त मूल्यवान।

यद्यपि उसे सन्देशवाहक की बातों पर विश्वास नहीं हुआ, किन्तु महर्षि नारद के वचन पर उसकी सम्पूर्ण श्रद्धा थी। अत: वह इस समाचार से अत्यन्त भावविह्वल हो उठा और हर्षातिरेक में झट उसने संदेशवाहक को एक बहुमूल्य हार भेंट कर दिया।

सदश्वं रथमारुह्य कार्तस्वरपरिष्कृतम् ।
ब्राह्मणैः कुलवृद्धैश्च पर्यस्तोऽमात्यबन्धुभिः ॥ ३९॥
शङ्खदुन्दुभिनादेन ब्रह्मघोषेण वेणुभिः ।
निश्चक्राम पुरात्तूर्णमात्मजाभीक्षणोत्सुकः ॥ ४०॥

शब्दार्थ

सत्-अश्वम्—सुन्दर घोड़ों द्वारा खींचा जानेवाला; रथम्—रथ पर; आरुह्य—चढ़ कर; कार्तस्वर-परिष्कृतम्—सुवर्णजटित; ब्राह्मणै:—ब्राह्मणों के साथ; कुल-वृद्धै:—परिवार के बूढ़े लोगों के साथ; च—भी; पर्यस्त:—घिरकर; अमात्य—अधिकारियों तथा मंत्रियों द्वारा; बन्धुभि:—तथा मित्रों से; शङ्ख—शंख; दुन्दुभि—तथा दुन्दुभी की; नादेन—ध्वनि से; ब्रह्म-घोषेण—वैदिक मंत्रों के उच्चारण से; वेणुभि:—वंशी से; निश्चक्राम—बाहर आया; पुरात्—नगर से; तूर्णम्—शीघ्रता से; आत्म-ज—पुत्र को; अभीक्षण—देखने के लिए; उत्सुक:—अत्यन्त इच्छुक।

अपने खोये हुए पुत्र के मुख को देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक राजा उत्तानपाद उत्तम घोड़ों से खींचे जानेवाले तथा स्वर्णजटित रथ पर आरूढ़ हुआ। वह अपने साथ अनेक विद्वान् ब्राह्मण, परिवार के गुरुजन, अपने अधिकारी तथा मंत्री और अपने सगे मित्रों को लेकर तुरन्त नगर से बाहर चला गया। जब वह इस दल के साथ आगे बढ़ रहा था, तो शंख, दुन्दुभी, वंशी तथा वेद-मंत्रों के उच्चारण की मंगलसूचक ध्वनि हो रही थी।

सुनीति: सुरुचिश्चास्य महिष्यौ रुक्मभूषिते ।
आरुह्य शिबिकां सार्धमुत्तमेनाभिजग्मतु: ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

सुनीति:—सुनीति; सुरुचि:—सुरुचि; च—भी; अस्य—राजा की; महिष्यौ—रानियाँ; रुक्म-भूषिते—स्वर्ण आभूषणों से विभूषित; आरुह्य—चढ़कर; शिबिकाम्—पालकी में; सार्धम्—के साथ साथ; उत्तमेन—राजा का अन्य पुत्र; अभिजग्मतु:—सभी साथ-साथ गये।

उस स्वागत-यत्रा में राजा उत्तानपाद की दोनों रानियाँ, सुनीति तथा सुरुचि और राजा का दूसरा पुत्र उत्तम दिख रहे थे। रानियाँ पालकी में बैठी थीं।

तात्पर्य : राजमहल से ध्रुव महाराज के चले जाने पर राजा अत्यन्त दुखी था, किन्तु नारद मुनि के सदय वचनों से वह कुछ-कुछ प्रसन्न था। वह अपनी पत्नी सुनीति के सौभाग्य तथा सुरुचि के दुर्भाग्य को समझ रहा था क्योंकि महल में ये तथ्य खुले रूप में प्रकट थे। तो भी जब यह समाचार महल में पहुँचा कि ध्रुव महाराज वापस आ रहे हैं, तो उनकी माता सुनीति ने दयावश तथा परम वैष्णव की माता होने के कारण दूसरी रानी सुरुचि तथा उसके पुत्र उत्तम को उसी पालकी में चढ़ाने में तनिक भी संकोच नहीं किया। यह परम वैष्णव ध्रुव महाराज की माता सुनीति की महानता थी।

तं दृष्ट्वोपवनाभ्याश आयान्तं तरसा रथात् ।
अवरुह्य नृपस्तूर्णमासाद्य प्रेमविह्वल: ॥ ४२ ॥

परिरेभेऽङ्गजं दोर्भ्यां दीर्घोत्कण्ठमनाः श्वसन् ।
विष्वक्सेनाङ्घ्रिसंस्पर्शहताशेषाघबन्धनम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (ध्रुव महाराज को); दृष्ट्वा—देखकर; उपवन—छोटा जंगल; अभ्याशे—निकट; आयान्तम्—लौटते हुए; तरसा—तेजी से; रथात्—रथ से; अवरुह्य—उतर कर; नृपः—राजा; तूर्णम्—तुरन्त; आसाद्य—निकट आकर; प्रेम—प्रेम से; विह्वलः—विभोर; परिरेभे—आलिंगन किया; अङ्ग-जम्—अपने पुत्र को; दोर्भ्याम्—अपनी बाँहों से; दीर्घ—दीर्घ समय तक; उत्कण्ठ—उत्सुक; मनाः—जिसका मन, राजा; श्वसन्—तेजी से साँस लेता; विष्वक्सेन—भगवान् के; अङ्घ्रि—चरणकमल से; संस्पर्श—स्पर्श किया जाकर; हत—नष्ट; अशेष—अनन्त; अघ—भौतिक कल्मष; बन्धनम्—जिसका बन्धन।

ध्रुव महाराज को एक उपवन के निकट पहुँचा देखकर राजा उत्तानपाद तुरन्त अपने रथ से नीचे उतर आये। वे अपने पुत्र ध्रुव को देखने के लिए दीर्घकाल से अत्यन्त उत्सुक थे, अतः वे अत्यन्त प्रेमवश दीर्घकाल से खोये अपने पुत्र का आलिंगन करने के लिए आगे बढ़े। लम्बी-लम्बी साँसें भरते हुए राजा ने उनको अपने दोनों बाहुओं में भर लिया। किन्तु ध्रुव महाराज पहले जैसे न थे; वे भगवान् के चरणकमलों के स्पर्श से आध्यात्मिक उन्नति मिलने से पूर्ण रूप से पवित्र हो चुके थे।

अथाजिघ्रन्मुहुर्मूर्ध्नि शीतैर्नयनवारिभिः ।
स्नापयामास तनयं जातोद्दाममनोरथः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; आजिघ्रन्—सूँघते हुए; मुहुः—बारम्बार; मूर्ध्नि—सिर पर; शीतैः—ठंडे; नयन—नेत्रों के; वारिभिः—जल से; स्नापयाम् आस—नहला दिया; तनयम्—पुत्र को; जात—पूर्ण; उद्दाम—बड़ी; मनः-रथः—उसकी कामना।

ध्रुव महाराज के मिलन से राजा उत्तानपाद की चिर-अभिलषित साध पूरी हुई, अतः उन्होंने बारम्बार ध्रुव का सिर सूँघा और अपने ठंडे अश्रुओं की धाराओं से उन्हें नहला दिया।

तात्पर्य : स्वभावतः जब कोई व्यक्ति रोता है, तो दो कारण हो सकते हैं। जब किसी इच्छा के पूरे होने पर अत्यधिक प्रसन्नतावश कोई रोता है, तो आँखों से निकलनेवाले अश्रु अत्यन्त ठंडे एवं मनोहर लगते हैं जब कि दुख के आँसू अत्यन्त गर्म होते हैं।

अभिवन्द्य पितुः पादावाशीर्भिश्चाभिमन्त्रितः ।
ननाम मातरौ शीर्ष्णा सत्कृतः सज्जनाग्रणीः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

अभिवन्द्य—पूजा करके; पितुः—अपने पिता के; पादौ—चरणों को; आशीर्भिः—आशीर्वादों से; च—तथा; अभिमन्त्रितः—सम्बोधित; ननाम—झुकाया; मातरौ—दोनों माताओं को; शीर्ष्णा—अपने सिर से; सत्-कृतः—आदर किया गया; सत्-जन—सज्जनों के; अग्रणीः—सर्वश्रेष्ठ।

तब समस्त सज्जनों में सर्वश्रेष्ठ ध्रुव महाराज ने सर्वप्रथम अपने पिता के चरणों में प्रणाम किया और उनके पिता ने अनेक प्रश्न पूछते हुए उनका सम्मान किया। तब उन्होंने अपनी दोनों माताओं के चरणों पर अपना सिर झुकाया।

तात्पर्य : यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि ध्रुव महाराज ने अपनी माता के साथ ही साथ अपनी विमाता को भी क्यों नमस्कार किया क्योंकि उसी के अपमान से उन्हें घर छोड़ना पड़ा था। इसका उत्तर यही है कि आत्म-साक्षात्कार द्वारा सिद्धि प्राप्त कर लेने तथा भगवान् का साक्षात् दर्शन कर लेने के कारण ध्रुव महाराज भौतिक कामना के समस्त कल्मष से पूर्ण रूप से मुक्त हो चुके थे। भक्त इस भौतिक संसार में कभी भी अपमान या सम्मान नहीं देखता। अतः भगवान् चैतन्य कहते हैं कि मनुष्य को दूब से भी अधिक विनीत होना चाहिए और सेवा करते समय उसे वृक्ष से भी अधिक सहनशील होना चाहिए। इसीलिए ध्रुव महाराज को इस श्लोक में *सज्जनाग्रणी:* कहा गया है, जिसका अर्थ है सज्जनों में सर्वश्रेष्ठ। शुद्ध भक्त सर्वश्रेष्ठ होता है, वह किसी के प्रति शत्रुभाव नहीं रखता। शत्रुता के कारण द्वैत भाव इस भौतिक जगत की सृष्टि है। आध्यात्मिक जगत में ऐसी कोई वस्तु नहीं है क्योंकि वह परम सत्य होता है।

सुरुचिस्तं समुत्थाप्य पादावनतमर्भकम् ।
परिष्वज्याह जीवेति बाष्पगद्गदया गिरा ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

सुरुचिः—सुरुचि; तम्—उस; समुत्थाप्य—उठाकर; पाद-अवनतम्—अपने चरणों पर नत; अर्भकम्—नादान बालक को; परिष्वज्य—आलिंगन करके; आह—कहा; जीव—दीर्घायु हो; इति—इस प्रकार; बाष्प—आँसुओं से; गद्गदया—रुद्ध; गिरा—वाणी से।

ध्रुव महाराज की छोटी माता सुरुचि ने यह देखकर कि निर्दोष बालक उसके चरणों पर नत है, उसे तुरन्त उठा लिया, अपनी बाँहों में भर लिया और अश्रुपूर्ण गद्गद वाणी से आशीर्वाद दिया कि मेरे बालक, चिरञ्जीवी हो।

यस्य प्रसन्नो भगवान्गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः ।
तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप इव स्वयम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिस किसी से; प्रसन्नः—प्रसन्न होता है; भगवान्—भगवान्; गुणैः—गुणों से; मैत्री-आदिभिः—मित्रता इत्यादि से.; हरिः—भगवान् हरि; तस्मै—उसको; नमन्ति—नमस्कार करते हैं; भूतानि—समस्त जीवात्माएँ; निम्नम्—नीचे की ओर; आपः—जल; इव—जिस प्रकार; स्वयम्—स्वतः ।.

जिस प्रकार स्वभावगत रूप से जल स्वतः नीचे की ओर बहता है, उसी प्रकार श्रीभगवान् के साथ मैत्रीपूर्ण आचरण के कारण दिव्य गुणों वाले व्यक्ति को सभी जीवात्माएँ मस्तक झुकाती हैं।

तात्पर्य : यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि ध्रुव के प्रति सदय न होते हुए भी सुरुचि ने उन्हें ‘‘दीर्घजीवी हो’’ ऐसा आशीर्वाद क्यों दिया? इसका उत्तर इस श्लोक में दिया हुआ है। चूँकि अपने दिव्य गुणों के कारण भगवान् ने ध्रुव महाराज को आशीष दिया था, अतः सभी लोग उन्हें सम्मान देने के लिए बाध्य थे, जिस प्रकार कि जल प्राकृतिक रूप से सदैव नीचे की ओर बहता है। भगवद्-भक्त किसी से सम्मान नहीं चाहता, किन्तु संसार में वह जहाँ कहीं भी जाता है, सम्मानित होता रहता है। श्रीनिवास आचार्य ने कहा है कि वृन्दावन के छहों गोस्वामी सारे ब्रह्माण्ड में इसीलिए पूजित हैं, क्योंकि समस्त तेज के स्रोत भगवान् को प्रसन्न कर लेने पर भक्त स्वतः सबको प्रसन्न कर लेता है और इस तरह सभी उसका सम्मान करते हैं।

उत्तमश्च ध्रुवश्चोभावन्योन्यं प्रेमविह्वलौ ।
अङ्गसङ्गादुत्पुलकावस्त्रौघं मुहुरूहतुः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

उत्तमः च—उत्तम भी; ध्रुवः च—ध्रुव भी; उभौ—दोनों; अन्योन्यम्—परस्पर; प्रेम-विह्वलौ—प्रेम से अभिभूत होकर; अङ्ग-सङ्गात्—अंग-स्पर्श के आलिंगन से; उत्पुलकौ—रोमांच हो आया; अस्त्र—अश्रुओं की; ओघम्—धारा; मुहुः—बारम्बार; ऊहतुः—आदान-प्रदान किया।.

उत्तम तथा ध्रुव महाराज दोनों भाइयों ने परस्पर अश्रुओं का आदान-प्रदान किया। वे स्नेह की अनुभूति से विभोर हो उठे और जब उन्होंने एक दूसरे का आलिंगन किया, तो उन्हें रोमांच हो आया।

सुनीतिरस्य जननी प्राणेभ्योऽपि प्रियं सुतम् ।
उपगुह्य जहावाधिं तदङ्गस्पर्शनिर्वृता ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

सुनीतिः—सुनीति, ध्रुव की असली माता; अस्य—उसकी; जननी—माता; प्राणेभ्यः—प्राणवायु से बढ़कर; अपि—भी; प्रियम्—प्रिय; सुतम्—पुत्र को; उपगुह्य—गले लगा कर; जहौ—त्याग दिया; आधिम्—सारा शोक; तत्-अङ्ग—उसका शरीर; स्पर्श—छूकर; निर्वृता—सन्तुष्ट।

ध्रुव महाराज की असली माता सुनीति ने अपने पुत्र के कोमल शरीर को गले लगा लिया, क्योंकि वह उसे अपने प्राणों से भी अधिक प्यारा था। इस प्रकार वह सारा भौतिक शोक भूल गई, क्योंकि वह परम प्रसन्न थी।

पयः स्तनाभ्यां सुस्राव नेत्रजैः सलिलैः शिवैः ।
तदाभिषिच्यमानाभ्यां वीर वीरसुवो मुहुः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

पयः—दूध; स्तनाभ्याम्—दोनों स्तनों से; सुस्राव—बहने लगा; नेत्र-जैः—नेत्रों से; सलिलैः—अश्रुओं के द्वारा; शिवैः—शुभ; तदा—उस समय; अभिषिच्यमानाभ्याम्—भीग कर; वीर—हे विदुर; वीर-सुवः—वीर को जन्म देनेवाली माता का; मुहुः—लगातार।

हे विदुर, सुनीति एक वीर की माता थी। उसके अश्रुओं ने उसके स्तनों से बहनेवाले दूध की धारा के साथ मिलकर ध्रुव महाराज के सार शरीर को भिगो दिया। यह परम मांगलिक लक्षण था।

तात्पर्य : जब देवों की स्थापना की जाती है, तो उन्हें दुग्ध, दधि तथा जल से स्नान कराया जाता है और यह संस्कार अभिषेक उत्सव कहलाता है। इस श्लोक में यह विशेष उल्लेख है कि सुनीति के नेत्रों से बहकर आनेवाले अश्रु सर्वकल्याणकारी थे। अपनी प्रिय माँ द्वारा किये गये इस अभिषेक उत्सव की कल्याणप्रदता इस बात की सूचक थी कि निकट भविष्य में ध्रुव महाराज को उनके पिता का सिंहासन मिलेगा ध्रुव महाराज के गृहत्याग की कथा यह है कि उनके पिता ने उन्हें अपनी गोद में बैठाने से मना किया, तो ध्रुव ने दृढ़ संकल्प किया कि जब तक उन्हें पिता का सिंहासन प्राप्त नहीं होगा वे घर नहीं आयेंगे। अब उनकी माता द्वारा सम्पन्न यह अभिषेकोत्सव इसका सूचक था कि वे महाराज उत्तानपाद का स्थान ग्रहण करनेवाले हैं।

इस श्लोक में आगत *वीरसुवः* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है "वीर की माता" और यह

ध्रुव की माता के लिए प्रयुक्त है। दुनिया में अनेक वीर हैं, किन्तु ध्रुव महाराज से उनकी कोई समता नहीं, क्योंकि वे न केवल इस ब्रह्माण्ड के महान् भक्त भी थे। भक्त एक महान् वीर भी होता है, क्योंकि वह माया के प्रभाव को जीत लेता है। जब भगवान् चैतन्य ने रामानन्द राय से संसार के सबसे प्रसिद्ध मनुष्य का नाम पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि जो भी भगवान् का महान् भक्त है, वही सबसे प्रसिद्ध व्यक्ति माना जा सकता है।

तां शशंसुर्जना राज्ञीं दिष्ट्या ते पुत्र आर्तिहा ।
प्रतिलब्धश्चिरं नष्टो रक्षिता मण्डलं भुवः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

ताम्—सुनीति को; शशंसुः—प्रशंसा की; जनाः—सामान्य लोग; राज्ञीम्—रानी को; दिष्ट्या—भाग्य से; ते—तुम्हारा; पुत्रः—पुत्र; आर्ति-हा—तुम्हारे समस्त कष्टों को नष्ट कर देगा; प्रतिलब्धः—अब लौटा हुआ; चिरम्—दीर्घकाल से; नष्टः—नष्ट; रक्षिता—रक्षा करेगा; मण्डलम्—मंडल, भू-गोलक; भुवः—भूमि को।

राज महल के निवासियों ने रानी की इस प्रकार से प्रशंसा की : हे रानी, दीर्घकाल से आपका प्रिय पुत्र खोया हुआ था। यह आपका परम सौभाग्य है कि वह अब वापस आ गया है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि वह दीर्घकाल तक आपकी रक्षा करेगा और आपके सारे सांसारिक कष्टों को दूर कर देगा।

अभ्यर्चितस्त्वया नूनं भगवान्प्रणतार्तिहा ।
यदनुध्यायिनो धीरा मृत्युं जिग्युः सुदुर्जयम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

अभ्यर्चितः—पूजित; त्वया—तुम्हारे द्वारा; नूनम्—फिर भी; भगवान्—भगवान्; प्रणत-आर्ति-हा—जो अपने भक्तों को संकट से उबार सके; यत्—जिसको; अनुध्यायिनः—निरन्तर ध्यान धरते हुए; धीराः—परम साधु पुरुष; मृत्युम्—मृत्यु को; जिग्युः—जीत लिया; सुदुर्जयम्—जिसे जीतना अत्यन्त कठिन है।

हे रानी, आपने अवश्य ही उन भगवान् की पूजा की होगी, जो भक्तों को बड़े संकट से उबारनेवाले हैं। जो मनुष्य निरन्तर उनका ध्यान करते हैं, वे जन्म तथा मृत्यु की प्रक्रिया से आगे निकल जाते हैं। यह सिद्धि प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है।

तात्पर्य : रानी सुनीति ने तो ध्रुव को खोया हुआ समझ लिया था, किन्तु उनकी अनुपस्थिति में वह लगातार भगवान् का ध्यान करती रही, जो भक्तों को समस्त संकटों से उबारनेवाले हैं। घर से दूर रह

कर मधुवन में ध्रुव महाराज ने ही कठिन तपस्या नहीं की, वरन् घर पर रह कर उनकी माता भी उनकी रक्षा और कल्याण के लिए निरन्तर भगवान् से प्रार्थना करती थीं। दूसरे शब्दों में, माता तथा पुत्र दोनों ही भगवान् की पूजा करते थे और दोनों को परमेश्वर का परम आशीर्वाद प्राप्त हो सका। *सुदुर्जयम्* शब्द जो विशेषण की तरह प्रयुक्त है और जिसका अर्थ है कि मृत्यु को कोई जीत नहीं सकता, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जब ध्रुव महाराज घर से दूर थे तो उनके पिता ने उन्हें मृत समझ लिया था। सामान्य रूप से यदि किसी राजा का पाँच वर्ष का पुत्र घर से दूर जंगल में हो तो उसे मृत समझ लिया जाएगा, किन्तु भगवान् की कृपा से वह न केवल सुरक्षित था, वरन् उसे परम सिद्धि का वरदान भी प्राप्त हुआ था।

लाल्यमानं जनैरेवं ध्रुवं सभ्रातरं नृपः ।
आरोप्य करिणीं हृष्टः स्तूयमानोऽविशत्पुरम् ॥५३॥

शब्दार्थ

लाल्यमानम्—प्रशंसित; जनैः—जनता द्वारा; एवम्—इस प्रकार; ध्रुवम्—महाराज ध्रुव को; स-भ्रातरम्—अपने भाई के साथ; नृपः—राजा; आरोप्य—चढ़ाकर; करिणीम्—हथिनी की पीठ पर; हृष्टः—प्रसन्न; स्तूयमानः—तथा प्रशंसित होकर; अविशत्—वापस आया; पुरम्—अपनी राजधानी को।

मैत्रेय मुनि ने आगे बताया : हे विदुर, सभी लोग जब इस प्रकार से ध्रुव महाराज की बड़ाई कर रहे थे तो राजा अत्यन्त प्रसन्न था। उसने ध्रुव तथा उनके भाई को एक हथिनी की पीठ पर सवार कराया। इस प्रकार वह अपनी राजधानी लौट आया, जहाँ सभी वर्ग के लोगों ने उसकी प्रशंसा की।

तत्र तत्रोपसङ्क्लृप्तैर्लसन्मकरतोरणैः ।
सवृन्दैः कदलीस्तम्भैः पूगपोतैश्च तद्विधैः ॥५४॥

शब्दार्थ

तत्र तत्र—जहाँ तहाँ; उपसङ्क्लृप्तैः—बनाये गये; लसत्—चमकीले; मकर—मगर के आकार के; तोरणैः—मेहराबदार दरवाजों से; स-वृन्दैः—फूलों तथा फलों के गुच्छों से; कदली—केले के वृक्षों के; स्तम्भैः—ख भों से; पूग-पोतैः—सुपारी के नये पौधों से; च—भी; तत्-विधैः—उस प्रकार का।

सारा नगर केले के स्तम्भों से सजाया गया था, जिनमें फूलों तथा फलों के गुच्छे लटक रहे थे और जहाँ-तहाँ पत्तियों तथा टहनियों से युक्त सुपारी के वृक्ष दिख रहे थे। ऐसे अनेक तोरण

भी बनाये गये थे, जो मगर के आकार के थे।

तात्पर्य : शुभ अवसरों पर ताड़ की हरी पत्तियों, नारियल के वृक्षों, सुपारी के वृक्षों तथा केले के वृक्षों एवं फल, फूल, तथा पत्तियों से सजावट करने की शुभ प्रथा भारत में अत्यन्त प्राचीन है। अपने महान् पुत्र ध्रुव महाराज के स्वागतार्थ राजा उत्तानपाद ने अच्छा प्रबन्ध कर रखा था और सभी नागरिक इस समारोह में उत्साहपूर्वक सम्मिलित हुए।

चूतपल्लववास:स्त्रङ्मुक्तादामविलम्बिभि: ।
उपस्कृतं प्रतिद्वारमपां कुम्भै: सदीपकै: ॥५५॥

शब्दार्थ

चूत-पल्लव—आम की पत्तियों से; वास:—वस्त्र; स्त्रक्—फूल की मालाएँ; मुक्ता-दाम—मोती की लड़ें; विलम्बिभि:—लटकती हुई; उपस्कृतम्—सुसज्जित; प्रति-द्वारम्—प्रत्येक द्वार पर; अपाम्—जल से पूर्ण; कुम्भै:—जलपात्रों से; स-दीपकै:—जलते हुए दीपों से।

द्वार-द्वार पर जलते हुए दीपक और तरह-तरह के रंगीन वस्त्र, मोती की लड़ों, पुष्पहारों तथा लटकती आम की पत्तियों से सज्जित बड़े-बड़े जल के कलश रखे हुए थे।

प्राकारैर्गोपुरागारै: शातकुम्भपरिच्छदै: ।
सर्वतोऽलङ्कृतं श्रीमद्विमानशिखरद्युभि: ॥५६॥

शब्दार्थ

प्राकारै:—परकोटों से; गोपुर—नगर-द्वारों; आगारै:—घरों से; शातकुम्भ—सुनहले; परिच्छदै:—अलंकृत काम से, कारीगरी से; सर्वत:—चारों ओर; अलङ्कृतम्—सजाया हुआ; श्रीमत्—बहुमूल्य, सुन्दर; विमान—विमान; शिखर—चोटी, कँगूरे; द्युभि:—चमकते हुए।

राजधानी में अनेक महल, नगर-द्वार तथा परकोटे थे, जो पहले से ही अत्यन्त सुन्दर थे, किन्तु इस अवसर पर उन्हें सुनहले आभूषणों से सजाया गया था। नगर के महलों के कँगूरे तो चमक ही रहे थे साथ ही नगर के ऊपर मँडराने वाले सुन्दर विमानों के शिखर भी।

तात्पर्य : यहाँ पर विमानों का जो उल्लेख हुआ है, उसके सम्बन्ध में श्रीमद् विजयध्वज तीर्थ ने यह सुझाया है कि इस अवसर पर स्वर्गलोक के देवता भी अपने-अपने विमानों में चढ़कर राजा की राजधानी में ध्रुव महाराज के आगमन पर आशीर्वाद देने पधारे थे। ऐसा भी प्रतीत होता है कि नगर के सभी महलों के कँगूरे तथा विमानों के शिखर सुनहरी कारीगरी से अलंकृत किये गये थे और सूर्य

प्रकाश से प्रतिबिम्बित वे चमक रहे थे। हम आसानी से ध्रुव महाराज के काल तथा आधुनिक काल के अन्तर को समझ सकते हैं, क्योंकि तब विमान सोने के बनाये जाते थे और आज-कल वे अलमुनियम बने होते है। इससे ध्रुव महाराज के समय के ऐश्वर्य और आधुनिक युग की गरीबी का पता चलता है।

मृष्टचत्वररथ्याट्टमार्गं चन्दनचर्चितम् ।
लाजाक्षतैः पुष्पफलैस्तण्डुलैर्बलिभिर्युतम् ॥५७॥

शब्दार्थ

मृष्ट—पूरी तरह स्वच्छ; चत्वर—चौक; रथ्या—मार्ग; अट्ट—चौपालें, अटारियाँ; मार्गम्—गलियाँ; चन्दन—चन्दन से; चर्चितम्—छिड़की हुई; लाज—लावा से; अक्षतैः—जौ से; पुष्प—फूलों से; फलैः—तथा फलों से; तण्डुलैः—धान से; बलिभिः—उपहार-सामग्रियों से; युतम्—युक्त।

नगर की सभी चौकें, गलियाँ, मार्ग तथा चौराहों की अटारियाँ अच्छी तरह स्वच्छ करके चन्दन जल से छिड़की गई थीं और सारे नगर में धान तथा जौ जैसे शुभ अन्न, फूल, फल तथा अन्य अनेक शुभ उपहार-सामग्रियाँ बिखेरी हुई थीं।

ध्रुवाय पथि दृष्टाय तत्र तत्र पुरस्त्रियः ।
सिद्धार्थाक्षतदध्यम्बुदूर्वापुष्पफलानि च ॥५८॥
उपजह्रुः प्रयुञ्जाना वात्सल्यादाशिषः सतीः ।
शृण्वंस्तद्वल्गुगीतानि प्राविशद्भवनं पितुः ॥५९॥

शब्दार्थ

ध्रुवाय—ध्रुव पर; पथि—मार्ग पर; दृष्टाय—देखी हुई; तत्र तत्र—जहाँ-तहाँ; पुर-स्त्रियः—घरों की महिलाएँ; सिद्धार्थ—सफेद सरसों; अक्षत—जौ; दधि—दही; अम्बु—जल; दूर्वा—दूब; पुष्प—फूल; फलानि—फल; च—भी; उपजह्रुः—वर्षा की; प्रयुञ्जानाः—उच्चारण करते हुए; वात्सल्यात्—वासल्यभाव से; आशिषः—आशीर्वाद; सतीः—भद्र महिलाएँ; शृण्वन्—सुनते हुए; तत्—उनके; वल्गु—अत्यन्त मधुर; गीतानि—गीत; प्राविशत्—प्रविष्ट किया; भवनम्—महल; पितुः—पिता के।

इस प्रकार जब ध्रुव महाराज मार्ग से जा रहे थे तो पास-पड़ोस की समस्त भद्र महिलाएँ उन्हें देखने के लिए एकत्र हो गईं, वे वात्सल्य-भाव से अपना-अपना आशीर्वाद देने लगीं और उन पर सफेद सरसों, जौ, दही, जल, दूब, फल तथा फूल बरसाने लगीं। इस प्रकार ध्रुव महाराज स्त्रियों द्वारा गाये गये मनोहर गीत सुनते हुए अपने पिता के महल में प्रविष्ट हुए।

महामणिव्रातमये स तस्मिन्भवनोत्तमे ।
लालितो नितरां पित्रा न्यवसद्दिवि देववत् ॥६०॥

शब्दार्थ

महा-मणि—मूल्यवान मणियों के; व्रात—समूह; मये—से सज्जित; सः—वह (ध्रुव); तस्मिन्—उसमें; भवन-उत्तमे—चमकीले भवन में; लालितः—लाड़-प्यार से; नितराम्—सदैव; पित्रा—पिता द्वारा; न्यवसत्—वहाँ निवास किया; दिवि—स्वर्ग में; देव-वत्—देवताओं के समान।

तत्पश्चात् ध्रुव महाराज अपने पिता के महल में रहने लगे, जिसकी दीवालें अत्यन्त मूल्यवान मणियों से सज्जित थीं। उनके वत्सल पिता ने उनकी विशेष देख-रेख की और वे उस महल में उसी तरह रहने लगे, जिस प्रकार देवतागण स्वर्गलोक में अपने प्रासादों में रहते हैं।

पय:फेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः ।
आसनानि महार्हाणि यत्र रौक्मा उपस्कराः ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

पयः—दूध; फेन—फेना, झाग; निभाः—सदृश; शय्याः—बिस्तर; दान्ताः—हाथी-दाँत के बने; रुक्म—सुनहरे; परिच्छदाः—कामदार; आसनानि—आसन; महा-अर्हाणि—अत्यन्त मूल्यवान; यत्र—जहाँ; रौक्माः—सुनहले; उपस्कराः—सामान।

महल में जो शयन-शय्या थी, वह दूध के फेन के समान श्वेत तथा अत्यन्त मुलायम थी। उसके भीतर की पलंगें हाथी-दाँत की थीं, जिनमें सोने की कारीगरी थी और कुर्सियाँ, बेन्चें तथा अन्य आसन एवं सामान सोने के बने हुए थे।

यत्र स्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च ।
मणिप्रदीपा आभान्ति ललनारत्नसंयुताः ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; स्फटिक—संगमरमर की; कुड्येषु—दीवारों पर; महा-मारकतेषु—मरकतमणि जैसी बहुमूल्य मणियों से सज्जित; च—भी; मणि-प्रदीपाः—मणियों के दीपक; आभान्ति—प्रकाश कर रहे थे; ललना—स्त्री-मूर्ति; रत्न—मणियों से निर्मित; संयुताः—पर रखी।

राजा का महल संगमरमर की दीवालों से घिरा था, जिन पर बहुमूल्य मरकत मणियों से पच्चीकारी की गई थी और जिन पर हाथ में प्रदीप्त मणिदीपक लिए सुन्दर स्त्रियों जैसी मूर्तियाँ लगी थीं।

तात्पर्य : उत्तानपाद के महल का यह वर्णन *श्रीमद्भागवत* की रचना के पूर्व हजारों वर्ष पहले की दशा को बताता है। चूँकि यह कहा गया है कि महाराज ध्रुव ने छत्तीस हजार वर्ष राज्य किया, अतः वे सत्ययुग में रहे होंगे. जब मनुष्य एक लाख वर्ष जीवित रहते थे। चारों युगों की जीवन-अवधि का वर्णन वैदिक साहित्य में उपलब्ध है। सत्ययुग में लोग एक लाख वर्ष जीवित रहते थे, त्रेता में दस

हजार वर्ष, द्वापर में एक हजार वर्ष और इस कलियुग में लोग सौ वर्ष तक जीवित रह सकते हैं। प्रत्येक युग में मनुष्य का जीवन-काल क्रमश: ९० प्रतिशत घटता जाता है। इस प्रकार एक लाख से दस हजार, फिर, एक हजार और तब सौ वर्ष।

कहा जाता है कि ध्रुव महाराज ब्रह्मा के परनाती थे। इससे यह सूचित होता है कि वे सृष्टि के प्रारम्भ में सत्ययुग में विद्यमान थे। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, ब्रह्मा के एक दिन में कई सत्ययुग होते हैं। वैदिक गणना से इन समय अट्ठाइसवाँ कल्प चल रहा है। गणना से पता चलेगा कि ध्रुव महाराज लाखों वर्ष पूर्व हुए थे, किन्तु उनके पिता के महल का वर्णन इतना भव्य है कि हम यह स्वीकार करने को तैयार नहीं कि चालीस-पचास हजार वर्ष पूर्व मानवीय सभ्यता उन्नत न थी। अभी मुगल काल तक महाराज उत्तानपाद के महल जैसी दीवालें होती थीं। जिस किसी ने दिल्ली के लाल किले को देखा है, उसने यह देखा होगा कि दीवालें संगमरमर की हैं और किसी समय रत्नों से जटित थीं। ब्रिटिश काल में ये रत्न निकाल लिए गये और ब्रिटिश संग्रहालय में भेज दिये गये।

प्राचीन काल में सांसारिक वैभव मणियों, संगमरमर, रेशम, हाथी दाँत, सोना तथा चाँदी जैसे प्राकृतिक साधनों पर निर्भर था। उस काल का आर्थिक विकास बड़ी-बड़ी मोटरकारों पर आश्रित नहीं था। मानवीय सभ्यता की प्रगति औद्योगिक संस्थानों पर नहीं, वरन् प्राकृतिक सम्पदा और भोजन के स्वामित्व पर निर्भर करती है और वे सब भगवान् द्वारा प्रदत्त हैं। अत: हम अपना समय आत्म-साक्षात्कार तथा मानव शरीर की सार्थकता में लगा सकते हैं।

इस श्लोक का एक दूसरा पक्ष भी है कि शीघ्र ही ध्रुव महाराज के पिता उत्तानपाद महल की अपनी आसक्ति त्याग कर आत्म-साक्षात्कार के लिए जंगल के लिए प्रस्थान करेंगे। *श्रीमद्भागवत* के इस वर्णन से हम आधुनिक सभ्यता तथा अन्य युगों—सत्य युग, त्रेता युग तथा द्वापर युग—की मानवीय सभ्यता का सम्पूर्ण तुलनामत्मक अध्ययन कर सकते हैं।

उद्यानानि च रम्याणि विचित्रैरमरद्रुमैः ।
कूजद्विहङ्गमिथुनैर्गायन्मत्तमधुव्रतैः ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

उद्यानानि—बगीचे; च—भी; रम्याणि—अत्यन्त सुन्दर; विचित्रैः—विविध; अमर-द्रुमैः—स्वर्ग से लाये गये वृक्षों से; कूजत्—गाते हुए; विहङ्ग—पक्षियों के; मिथुनैः—जोड़ों से; गायत्—गुंजार करते; मत्त—पागल, उन्मत्त; मधु-व्रतैः—भौंरों से।.

राजा के महल के चारों ओर बगीचे थे, जिनमें उच्चस्थ लोकों से लाये गये अनेक प्रकार के वृक्ष थे। इन वृक्षों पर मधुर गीत गाते पक्षियों के जोड़े तथा गुंजार करते मदमत्त भौंरे थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अमर-द्रुमैः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है "स्वर्ग से लाये गये वृक्ष।" उच्चस्थ लोकों को अमरलोक कहा जाता है, जहाँ मृत्यु देर से होती है, क्योंकि देवताओं की गणना के अनुसार वहाँ के लोग दस हजार वर्ष तक जीवित रहते हैं, जहाँ हमारे छह मास वहाँ के एक दिन के तुल्य होते हैं। देवता स्वर्ग लोक में देवलोक के समय के अनुसार मासों, वर्षों तथा दस हजार वर्षों तक जीवित रहते हैं और जब उनके पुण्यकर्म क्षीण हो जाते हैं, तो वे पुनः पृथ्वी पर आ जाते हैं। ये सारे कथन वैदिक साहित्य में प्राप्य हैं। जिस प्रकार वहाँ मनुष्य दस हजार वर्ष तक जीवित रहते हैं, उसी प्रकार वहाँ के वृक्ष भी। वस्तुतः इस पृथ्वी पर भी अनेक वृक्ष ऐसे हैं, जो दस हजार वर्ष तक रहते हैं, तो फिर स्वर्ग के वृक्षों का क्या कहना? उन्हें कई दस हजारों वर्ष तक जीवित रहना चाहिए और कभी-कभी, जैसाकि आज भी प्रचलित है, कुछ अमूल्य वृक्ष एक स्थान से दूसरे स्थान पर भी ले जाये जाते हैं।

अन्यत्र एक जगह कहा गया है कि जब श्रीकृष्ण अपनी पत्नी सत्यभामा के साथ स्वर्ग गये तो वे अपने साथ स्वर्ग से पारिजात पुष्प-वृक्ष पृथ्वी पर लेते आये। इसके लिए कृष्ण तथा देवताओं में युद्ध भी हुआ। यह पारिजात कृष्ण के महल में लगाया गया, जिस में सत्यभामा का निवास था। स्वर्गलोक में फूल तथा फलों के वृक्ष उत्तम होते हैं, वे अत्यन्त मनोहर तथा स्वादिष्ट होते हैं और ऐसा लगता है कि महाराज उत्तानपाद के महल में अनेक प्रकार के ऐसे वृक्ष थे।

वाप्यो वैदूर्यसोपानाः पद्मोत्पलकुमुद्वतीः ।
हंसकारण्डवकुलैर्जुष्टाश्चक्राह्वसारसैः ॥ ६४॥

शब्दार्थ

वाप्यः—बावड़ियाँ; वैदूर्य—वैदूर्य (पुखराज); सोपानाः—सीढ़ियों से; पद्म—कमल; उत्पल—नील कमल; कुमुत्-वतीः—कुमुदिनियों से पूर्ण; हंस—हंस पक्षी; कारण्डव—तथा बत्तखें; कुलैः—के झुंडों से; जुष्टाः—निवसित; चक्राह्व—चक्रवाक से; सारसैः—तथा सारसों से।.

बावड़ियों में पुखराज की सीढ़ियाँ थीं। इन बाबड़ियाँ में विविध रंग के कमल तथा

कुमुदिनियाँ, हंस, कारण्डव, चक्रवाक, सारस तथा अन्य महत्त्वपूर्ण पक्षी दिखाई पड़ रहे थे।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि महल के चारों ओर परकोटे तथा भाँति-भाँति के वृक्षों से युक्त उद्यान ही न थे, वरन् मानव-निर्मित बावड़ियाँ भी थीं, जिनका जल रंग-बिरंगे कमल के फूलों तथा कुमुदिनियों से भरा पड़ा था। बावड़ी में उतरने के लिए पुखराज जैसे मूल्यवान हीरों की सीढ़ियाँ बनाई गई थीं। इस प्रकार सुन्दर उद्यानों से घिरे महलों में हंस, चक्रवाक, कारण्डव तथा सारस जैसे प्रमुख पक्षी भी थे। ये पक्षी सामान्यत: ऐसे गन्दे स्थानों में नहीं रहते हैं, जहाँ कौए रहते हैं। इस वर्णन से कल्पना की जा सकती है कि नगर का वातावरण कितना स्वास्थ्यप्रद तथा सुन्दर था!

उत्तानपादो राजर्षि: प्रभावं तनयस्य तम् ।
श्रुत्वा दृष्ट्वाद्भुततमं प्रपेदे विस्मयं परम् ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

उत्तानपादः—राजा उत्तानपाद; राज-ऋषिः—साधु प्रकृति का महान् राजा; प्रभावम्—प्रभाव; तनयस्य—अपने पुत्र का; तम्—उसे; श्रुत्वा—सुनकर; दृष्ट्वा—देखकर; अद्भुत—आश्चर्यमय; तमम्—अधिकतम; प्रपेदे—सुखपूर्वक अनुभव किया; विस्मयम्—विस्मय; परम्—परम।

राजर्षि उत्तानपाद ने ध्रुव महाराज के यशस्वी कार्यों के विषय में सुना और स्वयं भी देखा कि वे कितने प्रभावशाली और महान् थे, इससे वे अत्यधिक प्रसन्न हुए, क्योंकि ध्रुव महाराज के कार्य अत्यन्त विस्मयकारी थे।

तात्पर्य : जब ध्रुव महाराज जंगल में तपस्या कर रहे थे तो उनके पिता उत्तानपाद ने उसके आश्चर्यजनक कार्य-कलापों के सम्बन्ध में सब कुछ सुन लिया था। यद्यपि ध्रुव महाराज राजपुत्र थे और केवल पाँच वर्ष के थे, किन्तु वे जंगल जाकर कठिन तपस्या के द्वारा भक्तियोग में लगे रहे। अत: उनके सारे कार्य आश्चर्यजनक थे और जब वे घर वापस आ गये तो स्वाभाविक था कि अपने आध्यात्मिक गुणों के कारण वे नागरिकों में अत्यन्त लोकप्रिय हो गये। उन्होंने भगवतत्कृपा से अनेक विस्मयजनक कार्य किये होंगे। जो व्यक्ति इस प्रकार के यशस्वी कार्य करे, उसका पिता भला क्यों न इतना प्रसन्न हो? महाराज उत्तानपाद सामान्य राजा न थे, वे *राजर्षि* थे। पहले के समय में इस पृथ्वी पर एक ही *राजर्षि* राज्य करता था। राजाओं को साधु प्रकृति वाले बनने की शिक्षा दी जाती थी, अत: उनके पास प्रजा के कल्याण के अतिरिक्त कोई काम नहीं रहता था। इन राजर्षियों को समुचित शिक्षा दी जाती थी

और जैसाकि *भगवद्गीता* में भी उल्लेख है, ईश्वरीय ज्ञान अथवा भक्तियोग जिसे *भगवद्गीता* कहते हैं *राजर्षि* सूर्य को प्रदान किया गया और क्रमश: वह सूर्य तथा चन्द्रमा से उत्पन्न क्षत्रिय राजाओं को प्राप्त हुआ। यदि राज्य का प्रधान साधु प्रकृति का होता है, तो प्रजा भी वैसी ही होती है और प्रजा परम प्रसन्न रहती हैं, क्योंकि उसकी भौतिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं की पूर्ति होती रहती है।

वीक्ष्योढवयसं तं च प्रकृतीनां च सम्मतम् ।
अनुरक्तप्रजं राजा ध्रुवं चक्रे भुवः पतिम् ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

वीक्ष्य—देखकर; ऊढ-वयसम्—प्रौढ़ अवस्था; तम्—ध्रुव को; च—तथा; प्रकृतीनाम्—मंत्रियों द्वारा; च—भी; सम्मतम्—अनुमोदित; अनुरक्त—प्रिय; प्रजम्—अपनी प्रजा द्वारा; राजा—राजा; ध्रुवम्—ध्रुव महाराज को; चक्रे—बना दिया; भुवः—पृथ्वी का; पतिम्—स्वामी (राजा)।

तत्पचश्चात् जब राजा उत्तानपाद ने विचार करके देखा कि ध्रुव महाराज राज्य का भार सँभालने के लिए समुचित प्रौढ़ (वयस्क) हो चुके हैं और उनके मंत्री भी सहमत हैं तथा प्रजा को भी वे प्रिय हैं, तो उन्होंने ध्रुव को इस लोक के सम्राट के रूप में सिंहासन पर बिठा दिया।

तात्पर्य : यद्यपि यह भ्रान्त धारणा है कि प्राचीन काल की सरकार निरंकुश होती थी, किन्तु इस वर्णन से पता चलता है कि राजा उत्तानपाद न केवल *राजर्षि* थे, वरन् अपने पुत्र को सिंहासन पर बिठाने के पूर्व उन्होंने अपने सारे मंत्रियों से मंत्रणा कर ली थी; प्रजा के भी मत पर विचार किया था और स्वयं भी ध्रुव के चरित्र को परखा था। तभी राजा ने विश्व के कार्यकलापों की बागडोर संभालने के लिए उन्हें सिंहासन पर बिठाया था।

जब ध्रुव महाराज-जैसा वैष्णव सारे विश्व की सत्ता का अध्यक्ष हो तो विश्व कितना सुखी होगा, इसकी न तो कल्पना की जा सकती है, न वर्णन किया जा सकता है। यहाँ तक कि आज भी यदि सभी लोक कृष्णभक्त हो लें, तो आज की प्रजातंत्र सरकार स्वर्ग-साम्राज्य जैसी हो जाये। यदि सभी लोग कृष्ण-भक्त बन जाँए तो वे ध्रुव महाराज जैसे भक्त को ही अपना मत देंगे। यदि प्रमुख कार्यकारी का पद ऐसे वैष्णव को मिल जाये तो आसुरी सरकार की सारी समस्याएँ हल हो जायें। आधुनिक युग की युवा पीढ़ी विश्व के विभिन्न भागों में सरकार का तख्ता पलटने में उत्साहपूर्वक प्रयत्नशील है, किन्तु

जब तक लोग ध्रुव महाराज के समान कृष्ण-भक्त नहीं हो जाते, तब तक सरकार में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हो सकता क्योंकि जो लोग छल-बल से राजनैतिक पद प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं, वे जनता के कल्याण के सम्बन्ध में नहीं सोच सकते। वे तो अपनी प्रतिष्ठा और आर्थिक लाभ बनाये रखने में ही व्यस्त रहते हैं। उन्हें जनता के बारे में कल्याण के बारे में सोचने के लिए समय ही नहीं मिल पाता।

आत्मानं च प्रवयसमाकलय्य विशाम्पतिः ।
वनं विरक्तः प्रातिष्ठद्विमृशन्नात्मनो गतिम् ॥ ६७॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—स्वयं; च—भी; प्रवयसम्—वृद्धावस्था; आकलय्य—समझ कर; विशाम्पतिः—राजा उत्तानपाद ने; वनम्—वन को; विरक्तः—विरक्त; प्रातिष्ठत्—प्रयाण किया; विमृशन्—चिन्तन करते; आत्मनः—अपनी, आत्म की; गतिम्—मुक्ति।

अपनी वृद्धावस्था और आत्म-कल्याण पर विचार करके, राजा उत्तानपाद ने अपने आपको सांसारिक कार्यों से विरक्त कर लिया और जंगल में चले गये।

तात्पर्य : यही *राजर्षि* का लक्षण है। राजा उत्तानपाद अत्यन्त ऐश्वर्यशाली थे और विश्व के सम्राट थे, अतः उनकी ये आसक्तियाँ महान् थीं। आधुनिक राजनीतिज्ञ राजा उत्तानपाद जैसे राजाओं सदृश महान् नहीं होते। क्योंकि उन्हें कुछ काल के लिए अधिकार मिलते हैं, अतः वे इतने आसक्त हो जाते हैं कि उस पद से तब तक नहीं हटते, जब तक क्रूर काल उन्हें उठा न ले जाये या कोई विरोधी पार्टीवाला मार न दे। यह हमारा अनुभव है कि भारत में राजनीतिज्ञ अपनी मृत्यु तक पद-त्याग नहीं करते, किन्तु प्राचीन काल में ऐसी प्रथा न थी, जैसाकि उत्तानपाद के आचरण से स्पष्ट है। अपने सुयोग्य पुत्र को सिंहासन पर बैठाने के तुरन्त बाद वे घर तथा अपना महल छोड़ कर चले गये। ऐसे सैकड़ों उदाहरण भरे पड़े हैं, जिनमें प्रौढ़ अवस्था प्राप्त होने पर राजा अपने सिंहासन त्याग कर जंगल में तपस्या करने चले गये। मानव जीवन का मुख्य उद्देश्य तपस्या करना है। जिस प्रकार ध्रुव महाराज ने अपने बाल्यपन में तपस्या की, उसी प्रकार उनके पिता उत्तानपाद ने भी बुढ़ापे में जंगल जाकर तप किया। किन्तु आजकल यह सम्भव नहीं कि लोग अपना घर छोड़ कर जंगल जाकर तपस्या करें। किन्तु यदि सभी आयु के लोग कृष्णभावनामृत-आन्दोलन की शरण ग्रहण करें तथा अवैध मैथुन,

मद्यपान, द्यूत क्रीड़ा, मांसभक्षण जैसे सामान्य कृत्यों के त्याग को ही तपस्या मान लें तथा नियमित रूप से (१६ माला) हरे कृष्ण मंत्र का जप करें तो इस विधि से इस संसार में सरलता से मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत "ध्रुव महाराज का घर लौटना" नामक नवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter दस

यक्षों के साथ ध्रुव महाराज का युद्ध

मैत्रेय उवाच
प्रजापतेर्दुहितरं शिशुमारस्य वै ध्रुवः ।
उपयेमे भ्रमिं नाम तत्सुतौ कल्पवत्सरौ ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; प्रजापतेः—प्रजापति की; दुहितरम्—पुत्री; शिशुमारस्य—शिशुमार की; वै—निश्चय ही; ध्रुवः—ध्रुव महाराज; उपयेमे—ब्याह किया; भ्रमिम्—भ्रमि; नाम—नामक; तत्-सुतौ—उसके दो पुत्र; कल्प—कल्प; वत्सरौ—तथा वत्सर।

मैत्रेय ऋषि ने कहा : हे विदुर, तत्पश्चात् ध्रुव महाराज ने प्रजापति शिशुमार की पुत्री के साथ विवाह कर लिया जिसका नाम भ्रमि था। उसके कल्प तथा वत्सर नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि अपने पिता के सिंहासन पर पदारूढ़ होने तथा आत्म-साक्षात्कार हेतु उनके वन चले जाने के बाद ही ध्रुव महाराज ने विवाह किया। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि उत्तानपाद अपने पुत्र के प्रति अत्यन्त वत्सल थे और चूँकि हर पिता का कर्तव्य है कि वह जल्दी से जल्दी अपने पुत्रों और पुत्रियों को ब्याह दे, तो फिर उन्होंने घर छोड़ने के पूर्व अपने पुत्र का विवाह क्यों नहीं किया? इसका उत्तर यही है कि महाराज उत्तानपाद *राजर्षि* थे। यद्यपि वे राजनीतिक कार्यों तथा सत्ता की व्यवस्था के कार्यों में अत्यधिक व्यस्त थे तो भी वे आत्म-साक्षात्कार के लिए अत्यन्त उत्सुक थे। अतः ज्योंही उनके पुत्र ध्रुव महाराज शासन का भार सँभालने के योग्य हो गये, उन्होंने घर छोड़ दिया, ठीक वैसे ही जैसे उनके पुत्र ने पाँच वर्ष की ही अवस्था में आत्म-साक्षात्कार हेतु बिना किसी भय के गृहत्याग कर दिया था। ऐसे उदाहरण विरले ही हैं जहाँ अन्य समस्त कार्यों के ऊपर आत्म-बोध पर अधिक बल दिया गया हो। महाराज उत्तानपाद यह भलीभाँति जानते थे कि अपने पुत्र ध्रुव महाराज का ब्याह करना उतना महत्त्वपूर्ण न था कि वन जाकर आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करने पर वे इसे प्राथमिकता देते।

इलायामपि भार्यायां वायोः पुत्र्यां महाबलः ।
पुत्रमुत्कलनामानं योषिद्रत्नमजीजनत् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

इलायाम्—अपनी पत्नी इला को; अपि—भी; भार्यायाम्—अपनी पत्नी को; वायो:—वायुदेव की; पुत्र्याम्—पुत्री को; महा-बल:—शक्तिशाली ध्रुव महाराज; पुत्रम्—पुत्र; उत्कल—उत्कल; नामानम्—नाम के; योषित्—स्त्री; रत्नम्—रत्न (श्रेष्ठ); अजीजनत्—उत्पन्न किया।

अत्यन्त शक्तिशाली ध्रुव महाराज की एक दूसरी पत्नी थी, जिसका नाम इला था और वह वायुदेव की पुत्री थी। उससे उन्हें एक अत्यन्त सुन्दर कन्या तथा उत्कल नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ।

उत्तमस्त्वकृतोद्वाहो मृगयायां बलीयसा ।
हत: पुण्यजनेनाद्रौ तन्मातास्य गतिं गता ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

उत्तम:—उत्तम; तु—लेकिन; अकृत—बिना; उद्वाह:—ब्याह; मृगयायाम्—आखेट करने में; बलीयसा—अत्यन्त बलशाली; हत:—मारा गया; पुण्य-जनेन—एक यक्ष द्वारा; अद्रौ—हिमालय पर्वत पर; तत्—उसकी; माता—माता (सुरुचि); अस्य—अपने पुत्र को; गतिम्—पथ; गता—अनुसरण किया।

ध्रुव महाराज का छोटा भाई उत्तम, जो अभी तक अनब्याहा था, एक बार आखेट करने गया और हिमालय पर्वत में एक शक्तिशाली यक्ष द्वारा मार डाला गया। उसकी माता सुरुचि ने भी अपने पुत्र के पथ का अनुसरण किया (अर्थात् मर गई)।

ध्रुवो भ्रातृवधं श्रुत्वा कोपामर्षशुचार्पित: ।
जैत्रं स्यन्दनमास्थाय गत: पुण्यजनालयम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

ध्रुव:—ध्रुव महाराज; भ्रातृ-वधम्—अपने भाई की मृत्यु का; श्रुत्वा—समाचार सुनकर; कोप—क्रोध; अमर्ष—प्रतिशोध; शुचा—विलाप से; अर्पित:—पूरित होकर; जैत्रम्—विजयी; स्यन्दनम्—रथ पर; आस्थाय—चढ़ कर; गत:—गया; पुण्य-जन-आलयम्—यक्षों की पुरी में।

जब ध्रुव महाराज ने यक्षों द्वारा हिमालय पर्वत में अपने भाई उत्तम के वध का समाचार सुना तो वे शोक तथा क्रोध से अभिभूत हो गये। वे रथ पर सवार हुए और यक्षों की पुरी अलकापुरी पर विजय करने के लिए निकल पड़े।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज का क्रुद्ध होना, शोक से अभिभूत होना तथा शत्रुओं से ईर्ष्या करना—ये सारे कार्य एक भक्त के पद के प्रतिकूल नहीं थे। यह भ्रान्त धारणा है कि भक्त को क्रोध, ईर्ष्या या शोक से अभिभूत नहीं होना चाहिए। ध्रुव महाराज राजा थे, अत: जब उनके भाई को अकारण मार दिया गया

तो उनका धर्म था कि हिमालय के यक्षों से वे बदला लेते।

गत्वोदीचीं दिशं राजा रुद्रानुचरसेविताम् ।
ददर्श हिमवद्द्रोण्यां पुरीं गुह्यकसङ्कुलाम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

गत्वा—जाकर; उदीचीम्—उत्तरी; दिशम्—दिशा; राजा—राजा ध्रुव ने; रुद्र-अनुचर—रुद्र अर्थात् शिव के अनुयायियों द्वारा; सेविताम्—बसी हुई; ददर्श—देखा; हिमवत्—हिमालय की; द्रोण्याम्—घाटी में; पुरीम्—नगरी; गुह्यक—प्रेत लोगों से; सङ्कुलाम्—पूर्ण।

ध्रुव महाराज हिमालय प्रखण्ड की उत्तरी दिशा की ओर गये। उन्होंने एक घाटी में एक नगरी देखी जो शिव के अनुचर भूत-प्रेतों से भरी पड़ी थी।

तात्पर्य : इस श्लोक में बताया गया है कि यक्ष बहुत कुछ शिव के भक्त हैं। इस तरह यक्षों को तिब्बती जन-जाति की तरह हिमालय की आदिम जाति माना जा सकता है।

दध्मौ शङ्खं बृहद्बाहुः खं दिशश्चानुनादयन् ।
येनोद्विग्नदृशः क्षत्तरुपदेव्योऽत्रसन्भृशम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

दध्मौ—बजाया; शङ्खम्—शंख; बृहत्-बाहुः—शक्तिशाली भुजाओं वाला; खम्—आकाश; दिशः च—तथा सभी दिशाएँ; अनुनादयन्—गूँजते हुए; येन—जिससे; उद्विग्न-दृशः—अत्यन्त चिन्तित दिखीं; क्षत्तः—हे विदुर; उपदेव्यः—यक्षों की पत्नियाँ; अत्रसन्—भयभीत हो गईं; भृशम्—अत्यधिक।

मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, जैसे ही ध्रुव महाराज अलकापुरी पहुँचे, उन्होंने तुरन्त अपना शंख बजाया जिसकी ध्वनि सम्पूर्ण आकाश तथा प्रत्येक दिशा में गूँजने लगी। यक्षों की पत्नियाँ अत्यन्त भयभीत हो उठीं। उनके नेत्रों से प्रकट हो रहा था कि वे चिन्ता से परिपूर्ण थीं।

ततो निष्क्रम्य बलिन उपदेवमहाभटाः ।
असहन्तस्तन्निनादमभिपेतुरुदायुधाः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; निष्क्रम्य—बाहर आकर; बलिनः—अत्यन्त बलशाली; उपदेव—कुवेर के; महा-भटाः—बड़े बड़े सैनिक; असहन्तः—असहनीय; तत्—शंख की; निनादम्—ध्वनि; अभिपेतुः—आक्रमण किया; उदायुधाः—विभिन्न आयुधों से सज्जित।

हे वीर विदुर, ध्रुव महाराज के शंख की गूँजती ध्वनि को सहन न कर सकने के कारण यक्षों के महा-शक्तिशाली सैनिक अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर अपनी नगरी से बाहर निकल आये

और उन्होंने ध्रुव पर धावा बोल दिया।

स तानापततो वीर उग्रधन्वा महारथः ।
एकैकं युगपत्सर्वानहन्बाणैस्त्रिभिस्त्रिभिः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (ध्रुव महाराज); तान्—उन सबों को; आपततः—अपने ऊपर टूटते हुए; वीरः—वीर; उग्र-धन्वा—शक्तिशाली धनुर्धर; महा-रथः—जो अनेक रथों से लड़ सके; एक-एकम्—एक-एक करके; युगपत्—एकसाथ, एक समय; सर्वान्—उन सबों को; अहन्—मार डाला; बाणैः—बाणों से; त्रिभिः त्रिभिः—तीन तीन करके।

ध्रुव महाराज, जो महारथी तथा निश्चय ही महान् धनुर्धर भी थे, तुरन्त ही एकसाथ तीन-तीन बाण छोड़ करके उन्हें मारने लगे।

ते वै ललाटलग्नैस्तैरिषुभिः सर्व एव हि ।
मत्वा निरस्तमात्मानमाशंसन्कर्म तस्य तत् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; वै—निश्चय ही; ललाट-लग्नैः—उनके सिरों से सट कर; तैः—उनके द्वारा; इषुभिः—बाण; सर्वे—सभी; एव—निश्चय ही; हि—निस्सन्देह; मत्वा—सोचकर; निरस्तम्—पराजित; आत्मानम्—अपने आप; आशंसन्—प्रशंसित; कर्म—कर्म; तस्य—उसका; तत्—वह।

जब यक्ष वीरों ने देखा कि उनके शिरों पर ध्रुव महाराज द्वारा बाण-वर्षा की जा रही है, तो उन्हें अपनी विषम स्थिति का पता चला और उन्होंने यह समझ लिया कि उनकी हार निश्चित है। किन्तु वीर होने के नाते उन्होंने ध्रुव के कार्य की सराहना की।

तात्पर्य : इस श्लोक में युद्ध के समय क्रीड़ापूर्ण प्रवृत्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यक्षों पर घनघोर आक्रमण हो रहा था। ध्रुव महाराज उनके शत्रु थे फिर भी वे ध्रुव के आश्चर्यजनक वीरतापूर्ण कार्यों को देखकर उन पर अत्यधिक प्रसन्न थे। शत्रु के शौर्य की निसंस्कोच प्रशंसा वास्तविक क्षत्रिय-प्रवृत्ति का लक्षण है।

तेऽपि चामुममृष्यन्तः पादस्पर्शमिवोरगाः ।
शरैरविध्यन्युगपद्द्विगुणं प्रचिकीर्षवः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

ते—यक्षगण; अपि—भी; च—तथा; अमुम्—ध्रुव पर; अमृष्यन्तः—असह्य होने पर; पाद-स्पर्शम्—पाँव से छुये जाकर; इव—सदृश; उरगाः—सर्प; शरैः—बाणों से; अविध्यन्—प्रहार किया जाकर; युगपत्—उसी समय; द्वि-गुणम्—दो गुना; प्रचिकीर्षवः—प्रतिशोध की भावना से।

जिस प्रकार सर्प किसी के पाँव द्वारा कुचले जाने को सहन नहीं कर पाते, उसी प्रकार यक्ष भी ध्रुव महाराज के आश्चर्यजनक पराक्रम को न सह सकने के कारण, उन पर एक साथ उनसे दुगुने बाण—अर्थात् प्रत्येक सैनिक छह-छह बाण—छोड़ने लगे और इस प्रकार उन्होंने अपनी शूरवीरता का बड़ी बहादुरी से प्रदर्शन किया।

ततः परिघनिस्त्रिंशैः प्रासशूलपरश्वधैः ।
शक्त्यृष्टिभिर्भुशुण्डीभिश्चित्रवाजैः शरैरपि ॥ ११ ॥
अभ्यवर्षन्प्रकुपिताः सरथं सहसारथिम् ।
इच्छन्तस्तत्प्रतीकर्तुमयुतानां त्रयोदश ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तपश्चात्; परिघ—लोहे के गदे; निस्त्रिंशैः—तथा तलवारों से; प्रास-शूल—त्रिशूल से; परश्वधैः—तथा बरछों से; शक्ति—तथा शक्ति से; ऋष्टिभिः—तथा भालों से; भुशुण्डीभिः—भुशुण्डी आयुध से; चित्र-वाजैः—विविध प्रकार के पंखों वाले; शरैः—वाणों से; अपि—भी; अभ्यवर्षन्—ध्रुव पर वर्षा की; प्रकुपिताः—अत्यन्त क्रुद्ध; स-रथम्—उनके रथ समेत; सह-सारथिम्—उनके रथवान सहित; इच्छन्तः—चाहते हुए; तत्—ध्रुव के कार्य; प्रतीकर्तुम्—बदला लेने के लिए; अयुतानाम्—दस हजारों का; त्रयोदश—तेरह।

यक्ष सैनिकों की संख्या एक लाख तीस हजार थी; वे सभी अत्यन्त क्रुद्ध थे और ध्रुव महाराज के आश्चर्यजनक कार्यों को विफल करने की इच्छा लिए थे। उन्होंने पूरी शक्ति से महाराज ध्रुव तथा उनके रथ तथा सारथी पर विभिन्न प्रकार के पंखदार बाणों, परिघों, निस्त्रिंशों (तलवारों), प्रासशूलों (त्रिशूलों), परश्वधों (बरछों), शक्तियों, ऋष्टियों (भालों) तथा भृशुण्डियों से वर्षा की।

औत्तानपादिः स तदा शस्त्रवर्षेण भूरिणा ।
न एवादृश्यताच्छन्न आसारेण यथा गिरिः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

औत्तानपादिः—ध्रुव महाराज; सः—वह; तदा—उस समय; शस्त्र-वर्षेण—शस्त्रों की वर्षा से; भूरिणा—निरन्तर; न—नहीं; एव—निश्चय ही; अदृश्यत—दिखाई पड़ता था; आच्छन्नः—ढका हुआ; आसारेण—निरन्तर वर्षा से; यथा—जिस प्रकार; गिरिः—पर्वत।

ध्रुव महाराज आयुधों की निरन्तर वर्षा से पूरी तरह ढक गये मानो निरन्तर जल-वृष्टि से कोई पर्वत ढक गया हो।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इंगित किया है कि यद्यपि ध्रुव महाराज शत्रुओं की निरन्तर

बाण-वर्षा से ढक गये थे, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं था कि वे युद्ध हार चुके थे। यहाँ पर निरन्तर वर्षा से आच्छादित पर्वत का उदाहरण उपयुक्त है, क्योंकि निरन्तर वर्षा से पर्वत के ढक जाने पर उसकी सारी गन्दगी धुल जाती है। इसी प्रकार शत्रुओं की निरन्तर बाण-वर्षा से ध्रुव महाराज में उन्हें पराजित करने की नवीन शक्ति आ गई। दूसरे शब्दों में, उनमें जो भी अपूर्णता थी वह सारी की सारी धुल गई।

हाहाकारस्तदैवासीत्सिद्धानां दिवि पश्यताम् ।
हतोऽयं मानवः सूर्यो मग्नः पुण्यजनार्णवे ॥ १४॥

शब्दार्थ

हाहा-कारः—हाहाकार शब्द, निराशा की ध्वनि; तदा—उस समय; एव—निश्चय ही; आसीत्—प्रकट था; सिद्धानाम्—सिद्धलोक के समस्त वासियों का; दिवि—आकाश में; पश्यताम्—युद्ध को देखते हुए; हतः—मारा गया; अयम्—यह; मानवः—मनु के पौत्र का; सूर्यः—सूर्य; मग्नः—डूबा हुआ; पुण्य-जन—यक्षों के; अर्णवे—समुद्र में।

स्वर्गलोकवासी सभी सिद्धजन आकाश से युद्ध देख रहे थे और जब उन्होंने देखा कि ध्रुव महाराज शत्रु की निरन्तर बाण-वर्षा से ढक गये हैं, तो वे हाहाकार करने लगे, "मनु के पौत्र ध्रुव हार गये, हार गये।" वे चिल्ला रहे थे कि ध्रुव महाराज तो सूर्य के समान हैं और इस समय वे यक्षों के समुद्र में डूब गए हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *मानव* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतः यह शब्द 'मनुष्य' के लिए आता है। यहाँ पर ध्रुव महाराज को भी मनुष्य कहा गया है। न केवल ध्रुव महाराज, वरन् सारा मानव समाज, मनु का वंशज है। वैदिक साहित्य के अनुसार मनु विधि के प्रदाता हैं। आज भी भारत के सारे हिन्दू मनु द्वारा प्रदत्त विधि (नियमों) का पालन करते हैं। अतः मानव समाज का प्रत्येक व्यक्ति मानव अर्थात् मनु का वंशज है। किन्तु ध्रुव महाराज विशिष्ट मानव हैं, क्योंकि वे महान् भक्त हैं।

सिद्धलोक के वासी जो विमानों के बिना आकाश में उड़ सकते हैं, युद्ध में ध्रुव महाराज के कल्याण की कामना के इच्छुक थे। अतः श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं कि न केवल भक्त परमेश्वर द्वारा सुरक्षित रहता है, वरन् समस्त देवता, यहाँ तक कि सामान्य मनुष्य भी, उसकी सुरक्षा के प्रति उत्सुक होते हैं। यहाँ पर ध्रुव महाराज को यक्षों के समुद्र में डूबा हुआ दिखाया गया है, यह भी सार्थक है। जब सूर्य क्षितिज में छिप जाता है, तो लगता है कि वह समुद्र में डूबा गया, किन्तु वास्तव में सूर्य इससे विपत्ति में नहीं फँसता। इसी प्रकार ध्रुव महाराज यक्षों के समुद्र में डूबे हुए प्रतीत हुए, किन्तु उन्हें कोई

कष्ट न था। जिस प्रकार रात बीतने पर सूर्य पुनः उदय होता है, उसी प्रकार भले ही ध्रुव महाराज कष्ट में रहे हों, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि वे परास्त हो चुके थे, क्योंकि आखिरकार यह युद्ध था और किसी भी युद्ध में चित-पट तो होती ही है।

नदत्सु यातुधानेषु जयकाशिष्वथो मृधे ।
उदतिष्ठद्रथस्तस्य नीहारादिव भास्करः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

नदत्सु—निनाद करते अथवा गरजते हुए; यातुधानेषु—प्रेत रूप यक्ष; जय-काशिषु—विजय घोष करते हुए; अथो—तब; मृधे—युद्ध में; उदतिष्ठत्—प्रकट हुआ; रथः—रथ; तस्य—ध्रुव महाराज का; नीहारात्—कुहरे; इव—सदृश; भास्करः—सूर्य।

क्षणिक विजय जैसी स्थिति देखकर यक्षों ने घोषित कर दिया कि उन्होंने ध्रुव महाराज पर विजय प्राप्त कर ली है। किन्तु तभी ध्रुव का रथ एकाएक प्रकट हुआ, जैसे कुहरे को भेदकर सूर्य सहसा प्रकट हो जाता है।

तात्पर्य : यहाँ पर ध्रुव महाराज की उपमा सूर्य से और यक्षों के विशाल दल की तुलना कुहरे से दी गई है। सूर्य की तुलना में कुहरा नगण्य होता है। भले ही सूर्य कभी-कभी कुहरे से ढका दिखाई दे, किन्तु वस्तुतः सूर्य को किसी प्रकार ढका नहीं जा सकता। हमारे नेत्र भले ही बादलों से ढक जाएं किन्तु सूर्य कभी नहीं ढका जा सकता। सूर्य के साथ इस प्रकार की उपमा से ध्रुव महाराज की सार्वभौम महानता की पुष्टि होती है।

धनुर्विस्फूर्जयन्दिव्यं द्विषतां खेदमुद्वहन् ।
अस्त्रौघं व्यधमद्बाणैर्घनानीकमिवानिलः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

धनुः—उसका धनुष; विस्फूर्जयन्—टंकार, फूत्कार; दिव्यम्—आश्चर्यमय; द्विषताम्—शत्रुओं का; खेदम्—विषाद; उद्वहन्—उत्पन्न करते हुए; अस्त्र-ओघम्—विभिन्न प्रकार के हथियार; व्यधमत्—तितर-बितर कर दिया; बाणैः—बाणों से; घन—बादलों का; अनीकम्—दल; इव—सदृश; अनिलः—वायु।

ध्रुव महाराज के धनुष-बाण टंकार तथा फूत्कार करने लगे जिससे उनके शत्रुओं के हृदय में त्रास उत्पन्न होने लगा। वे निरन्तर बाण बरसाने लगे, जिससे सभी के विभिन्न हथियार वैसे ही तितर-बितर हो गये, जिस प्रकार प्रबल वायु से आकाश में एकत्र बादल बिखर जाते हैं।

तस्य ते चापनिर्मुक्ता भित्त्वा वर्माणि रक्षसाम् ।
कायानाविविशुस्तिग्मा गिरीनशनयो यथा ॥ १७॥

शब्दार्थ

तस्य—ध्रुव के; ते—वे बाण; चाप—धनुष से; निर्मुक्ताः—छूटे हुए; भित्त्वा—भेदकर; वर्माणि—कवचों को; रक्षसाम्—असुरों के; कायान्—शरीर में; आविविशुः—घुस गये; तिग्माः—प्रखर; गिरीन्—पर्वत; अशनयः—वज्र; यथा—जिस प्रकार।

ध्रुव महाराज के धनुष से छूटे हुए प्रखर बाण शत्रुओं के कवचों तथा शरीरों में घुसने लगे, मानो स्वर्ग के राजा द्वारा छोड़ा गया वज्र हो, जो पर्वतों के शरीरों को छिन्न-भिन्न कर देता है।

भल्लैः सञ्छिद्यमानानां शिरोभिश्चारुकुण्डलैः ।
ऊरुभिर्हेमतालाभैर्दोर्भिर्वलयवल्गुभिः ॥ १८ ॥
हारकेयूरमुकुटैरुष्णीषैश्च महाधनैः ।
आस्तृतास्ता रणभुवो रेजुर्वीरमनोहराः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

भल्लैः—बाणों से; सञ्छिद्यमानानाम्—खण्ड-खण्ड हुए यक्षों के; शिरोभिः—सिरों से; चारु—सुन्दर; कुण्डलैः—कान के कुण्डलों से; ऊरुभिः—जाँघों से; हेम-तालाभैः—सुनहले ताड़ वृक्षों के समान; दोर्भिः—भुजाओं से; वलय-वल्गुभिः—सुन्दर कंकणों से; हार—हारों से; केयूर—बाजूबन्द; मुकुटैः—तथा मुकुटों; उष्णीषैः—पगड़ियों से; च—भी; महा-धनैः—बहुमूल्य; आस्तृताः—आच्छादित; ताः—वे; रण-भुवः—रणभूमि; रेजुः—चमकने लगे; वीर—वीरों के; मनः-हराः—मनों को हरनेवाले।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, ध्रुव महाराज के बाणों से जो सिर छिन्न-भिन्न हुए थे वे सुन्दर कुण्डलों तथा पागों से अच्छी तरह से अलंकृत थे। उन शरीरों के पाँव सुनहरे ताड़ के वृक्षों के समान सुन्दर थे; उनकी भुजाएं सुनहरे कंकणों तथा बाजूबन्दों से सुसज्जित थीं और उनके सिरों पर बहुमूल्य सुनहरे मुकुट थे। युद्ध भूमि में बिखरे हुए ये आभूषण अत्यन्त आकर्षक लग रहे थे और किसी भी वीर के मन को मोह सकते थे।

तात्पर्य : ऐसा लगता है कि उन दिनों सैनिक सोने के आभूषण पहन कर तथा कवच और पगड़ी पहन कर युद्ध करने जाते थे और जब वे मरते थे तो ये सारी वस्तुएँ शत्रु-सेना द्वारा ले ली जाती थीं। नानाविध स्वर्णाभूषित वर्दियों के साथ युद्धभूमि में मरना वीरों के लिए सचमुच सुनहरा अवसर होता था।

हतावशिष्टा इतरे रणाजिराद्
रक्षोगणाः क्षत्रियवर्यसायकैः ।

प्रायो विवृक्णावयवा विदुद्रुवु-
मृगेन्द्रविक्रीडितयूथपा इव ॥ २० ॥

शब्दार्थ

हत-अवशिष्टाः—मरने से बचे हुए; इतरे—अन्य; रण-अजिरात्—युद्धभूमि से; रक्षः-गणाः—यक्ष गण; क्षत्रिय-वर्य—क्षत्रियों अथवा सैनिकों में श्रेष्ठ; सायकैः—बाणों से; प्रायः—प्रायः; विवृक्ण—खण्ड-खण्ड हुए; अवयवाः—शरीर के अंग; विदुद्रुवुः—भग गये; मृगेन्द्र—सिंह द्वारा; विक्रीडित—हार कर; यूथपाः—हाथी; इव—सदृश।

जो यक्ष किसी प्रकार जीवित बच गए, उनके अंग-प्रत्यंग परम वीर ध्रुव महाराज के बाणों से कट कर खण्ड-खण्ड हो गये। वे युद्ध-भूमि छोड़ कर उसी तरह भागने लगे जैसे कि सिंह द्वारा पराजित होने पर हाथी भागते हैं।

अपश्यमानः स तदाततायिनं
महामृधे कञ्चन मानवोत्तमः ।
पुरीं दिदृक्षन्नपि नाविशद्द्विषां
न मायिनां वेद चिकीर्षितं जनः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अपश्यमानः—न देखते हुए; सः—ध्रुव; तदा—उस समय; आततायिनम्—सशस्त्र शत्रु सैनिक को; महा-मृधे—उस महायुद्ध में; कञ्चन—कोई; मानव-उत्तमः—नर-श्रेष्ठ; पुरीम्—पुरी, नगरी; दिदृक्षन्—देखने की इच्छा से; अपि—यद्यपि; न आविशत्—प्रवेश नहीं किया; द्विषाम्—शत्रुओं का; न—नहीं; मायिनाम्—मायावी का; वेद—जानता है; चिकीर्षितम्—योजनाएँ; जनः—कोई भी।

मानवों में श्रेष्ठ ध्रुव महाराज ने देखा कि उस विशाल युद्धभूमि में एक भी सशस्त्र शत्रु सैनिक शेष नहीं रहा। तब उनकी इच्छा अलकापुरी देखने को हुई। किन्तु उन्होंने मन में सोचा, ''यक्षों की मायावी योजनाओं को कोई नहीं जानता।''

इति ब्रुवंश्चित्ररथः स्वसारथिं
यत्तः परेषां प्रतियोगशङ्कितः ।
शुश्राव शब्दं जलधेरिवेरितं
नभस्वतो दिक्षु रजोऽन्वदृश्यत ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ब्रुवन्—बातें करते; चित्र-रथः—ध्रुव महाराज, जिनका रथ अत्यन्त सुन्दर था; स्व-सारथिम्—अपने सारथी से; यत्तः—सावधान; परेषाम्—अपने शत्रुओं से; प्रतियोग—जवाबी हमला; शङ्कितः—सशंकित; शुश्राव—सुना; शब्दम्—शब्द; जलधेः—समुद्र से; इव—मानो; ईरितम्—प्रतिध्वनित; नभस्वतः—वायु के कारण; दिक्षु—सभी दिशाओं में; रजः—धूल; अनु—तब; अदृश्यत—दिखाई पड़ी।

जब ध्रुव महाराज अपने मायावी शत्रुओं से सशंकित होकर अपने सारथी से बातें कर रहे थे

तो उन्हें प्रचण्ड ध्वनि सुनाई पड़ी, मानो सम्पूर्ण समुद्र उमड़ आया हो। उन्होंने देखा कि आकाश से उन पर चारों ओर से धूल भरी आँधी आ रही है।

क्षणेनाच्छादितं व्योम घनानीकेन सर्वतः ।
विस्फुरत्तडिता दिक्षु त्रासयत्स्तनयित्नुना ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

क्षणेन—एक क्षण में; आच्छादितम्—ढका हुआ; व्योम—आकाश; घन—घने बादलों का; अनीकेन—समूह से; सर्वतः—सभी दिशाओं में; विस्फुरत्—चमकती; तडिता—बिजली से; दिक्षु—सभी दिशाओं में; त्रासयत्—भयभीत करता; स्तनयित्नुना—गर्जन से।

एक क्षण में सारा आकाश घने बादलों से छा गया और घोर गर्जन सुनाई पड़ने लगा। बिजली चमकने लगी और भीषण वर्षा होने लगी।

ववृषू रुधिरौघासृक्पूयविण्मूत्रमेदसः ।
निपेतुर्गगनादस्य कबन्धान्यग्रतोऽनघ ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

ववृषुः—वर्षा होने लगी; रुधिर—रक्त की; ओघ—बाढ़; असृक्—श्लेष्मा; पूय—पीब; विट्—विष्ठा; मूत्र—मूत्र; मेदसः—तथा मज्जा; निपेतुः—गिरने लगे; गगनात्—आकाश से; अस्य—ध्रुव के; कबन्धानि—धड़; अग्रतः—समक्ष; अनघ—हे निष्पाप विदुर।

हे निष्पाप विदुर, उस वर्षा में ध्रुव महाराज के समक्ष भारी मात्रा में रक्त, श्लेष्मा (कफ), पीब, मल, मूत्र तथा मज्जा और आकाश से शरीरों के धड़ (रुंड) गिर रहे थे।

ततः खेऽदृश्यत गिरिर्निपेतुः सर्वतोदिशम् ।
गदापरिघनिस्त्रिंशमुसलाः साश्मवर्षिणः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; खे—आकाश में; अदृश्यत—दिखाई पड़ा; गिरिः—पर्वत; निपेतुः—गिरा हुआ; सर्वतः-दिशम्—सभी दिशाओं से; गदा—गदा; परिघ—परिघ; निस्त्रिंश—तलवारें; मुसलाः—मूसल; स-अश्म—पत्थर के बड़े-बड़े टुकड़ों की; वर्षिणः—वर्षा के साथ।

फिर आकाश में एक विशाल पर्वत दिखाई पड़ा और चारों ओर से बर्छे, गदा, तलवारें, परिघ तथा पत्थरों के विशाल खण्डों की वर्षा के साथ उपलवृष्टि होने लगी।

अहयोऽशनिनिःश्वासा वमन्तोऽग्निं रुषाक्षिभिः ।

अभ्यधावन्गजा मत्ताः सिंहव्याघ्राश्च यूथशः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अहयः—साँप; अशनि—वज्र; निःश्वासाः—साँस लेते हुए; वमन्तः—वमन करते; अग्निम्—अग्नि; रुषा-अक्षिभिः—क्रोधित नेत्रों से; अभ्यधावन्—आगे आये; गजाः—हाथी; मत्ताः—उन्मत्त; सिंह—शेर; व्याघ्राः—बाघ; च—भी; यूथशः—समूह के समूह।

ध्रुव महाराज ने देखा कि रोषपूर्ण आँखों वाले बहुत से सर्प अग्नि उगलते हुए उनको निगलने के लिए आगे लपक रहे हैं। साथ ही मत्त हाथियों, सिंहों तथा बाघों के समूह भी चले आ रहे हैं।

समुद्र ऊर्मिभिर्भीमः प्लावयन्सर्वतो भुवम् ।
आससाद महाह्रादः कल्पान्त इव भीषणः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

समुद्रः—समुद्र; ऊर्मिभिः—लहरों से; भीमः—भयानक; प्लावयन्—डुबाता हुआ; सर्वतः—सभी दिशाओं से; भुवम्—पृथ्वी को; आससाद—आगे आ रहा था; महा-ह्रादः—भीषण शोर करता; कल्प-अन्ते—कल्प के अन्त में (प्रलय); इव—सदृश; भीषणः—भयावना।

फिर, समस्त जगत के लिए प्रलय-काल के समान भयानक समुद्र अपनी उत्ताल तरंगों तथा भीषण गर्जना के साथ उनके समक्ष आ पहुँचा।

एवंविधान्यनेकानि त्रासनान्यमनस्विनाम् ।
ससृजुस्तिग्मगतय आसुर्या माययासुराः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

एवम्-विधानि—इस प्रकार के (कौतुक); अनेकानि—बहुत से; त्रासनानि—डरावने; अमनस्विनाम्—अल्पज्ञों के लिए; ससृजुः—उत्पन्न किया; तिग्म-गतयः—क्रूर स्वभाव वाले; आसुर्या—आसुरी; मायया—माया से; असुराः—असुर गण।

असुर-यक्ष स्वभाव से अत्यन्त क्रूर होते हैं और अपनी आसुरी माया से वे अल्पज्ञानियों को डराने वाले अनेक कौतुक कर सकते थे।

ध्रुवे प्रयुक्तामसुरैस्तां मायामतिदुस्तराम् ।
निशम्य तस्य मुनयः शमाशंसन्समागताः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ध्रुवे—ध्रुव के विरुद्ध; प्रयुक्ताम्—प्रयुक्त; असुरैः—असुरों द्वारा; ताम्—उस; मायाम्—मायावी शक्ति; अति-दुस्तराम्—अत्यन्त भयावनी; निशम्य—सुनकर; तस्य—उसका; मुनयः—बड़े-बड़े मुनि; शम्—कल्याण; आशंसन्—प्रोत्साहित करते हुए; समागताः—एकत्र हो गये।

जब मुनियों ने सुना कि ध्रुव महाराज असुरों के मायावी करतबों से पराजित हो गये हैं, तो वे उनकी मंगल-कामना के लिए तुरन्त वहाँ एकत्र हो गये।

मुनय ऊचुः
औत्तानपाद भगवांस्तव शार्ङ्गधन्वा
देवः क्षिणोत्ववनतार्तिहरो विपक्षान् ।
यन्नामधेयमभिधाय निशम्य चाद्धा
लोकोऽञ्जसा तरति दुस्तरमङ्ग मृत्युम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

मुनयः ऊचुः—मुनियों ने कहा; औत्तानपाद—हे उत्तानपाद के पुत्र; भगवान्—भगवान्; तव—तुम्हारा; शार्ङ्ग-धन्वा—शार्ङ्ग नामक धनुष को धारण करनेवाला; देवः—देव, भगवान; क्षिणोतु—वध कर दे; अवनत—शरणागतों के; आर्ति—क्लेश; हरः—हरनेवाला; विपक्षान्—विपक्षियों, शत्रुओं; यत्—जिसका; नामधेयम्—पवित्र नाम; अभिधाय—लेकर; निशम्य—सुनकर; च—भी; अद्धा—शीघ्र ही; लोकः—लोग; अञ्जसा—पूर्णतः; तरति—पार करते हैं; दुस्तरम्—दुर्लंघ्य; अङ्ग—हे ध्रुव; मृत्युम्—मृत्यु को।

सभी मुनियों ने कहा : हे उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव, अपने भक्तों के क्लेशों को हरनेवाले शार्ङ्गधन्वा भगवान् आपके भयानक शत्रुओं का संहार करें। भगवान् का पवित्र नाम भगवान् के ही समान शक्तिमान है, अतः भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन तथा श्रवण-मात्र से अनेक लोग भयानक मृत्यु से रक्षा पा सकते हैं। इस प्रकार भक्त बच जाता है।

तात्पर्य : जब ध्रुव महाराज यक्षों के मायावी करतबों से मन में अत्यन्त विक्षुब्ध थे, उसी समय बड़े-बड़े ऋषि-मुनि उनके पास गये। भगवान् द्वारा भक्त की सदा से रक्षा होती आई है। उन्हीं की प्रेरणा से वे ध्रुव महाराज को प्रोत्साहित करने और आश्वस्त करने आये थे कि उन्हें कोई भय नहीं है, क्योंकि वे पूर्णतः भगवान् के शरणागत हैं। यदि भगवत्कृपा से कोई भक्त मृत्यु के समय केवल उनके पवित्र नाम हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे नामक *महामंत्र* का जप करता है, तो वह भवसागर से पार होकर वैकुण्ठ में प्रवेश करता है। उसे जन्म-मृत्यु के आवागमन में नहीं फँसना होता। चूँकि भगवान् के पवित्र नाम के जप से मृत्यु-सागर को पार किया जा सकता है, अतः ध्रुव महाराज निश्चित रूप से यक्षों की माया को जिस से उस समय उनका मन विक्षिप्त हो रहा था, पार कर सकने में समर्थ हुए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चर्तुथ स्कन्ध के अन्तर्गत "यक्षों के साथ ध्रुव महाराज का युद्ध" नामक दसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter ग्यारह

युद्ध बन्द करने के लिए

ध्रुव को स्वायंभुव मनु की सलाह

मैत्रेय उवाच
निशम्य गदतामेवमृषीणां धनुषि ध्रुवः ।
सन्दधेऽस्त्रमुपस्पृश्य यन्नारायणनिर्मितम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने आगे कहा; निशम्य—सुनकर; गदताम्—शब्द; एवम्—इस प्रकार; ऋषीणाम्—ऋषियों के; धनुषि—अपने धनुष पर; ध्रुवः—ध्रुव महाराज ने; सन्दधे—सन्धान किया; अस्त्रम्—बाण; उपस्पृश्य—जल छूकर; यत्—जो; नारायण—नारायण द्वारा; निर्मितम्—बनाया गया।

श्री मैत्रेय ने कहा : हे विदुर, जब ध्रुव महाराज ने ऋषियों के प्रेरक शब्द सुने तो उन्होंने जल लेकर आचमन किया और भगवान् नारायण द्वारा निर्मित बाण लेकर उसे अपने धनुष पर चढ़ाया।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज को भगवान् नारायण द्वारा स्वयं निर्मित विशेष बाण प्रदान किया गया था, अतः उन्होंने यक्षों की माया को दूर करने के लिए उसे धनुष पर चढ़ाया। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१४) में कहा गया है—*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।* बिना भगवान् नारायण के कोई भी माया के कर्म को जीत पाने में समर्थ नहीं है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी इस युग के लिए एक अच्छा अस्त्र प्रदान किया है, जैसाकि *भागवत* में कथित है—*सांगोपांगास्त्र*—इस युग में माया को भगाने का नारायणास्त्र हरे कृष्ण मंत्र का जप है, जिस पर भगवान् चैतन्य के पार्षदों—अद्वैत प्रभु, नित्यानन्द, गदाधर तथा श्रीवास—ने बल दिया है।

सन्धीयमान एतस्मिन्माया गुह्यकनिर्मिताः ।
क्षिप्रं विनेशुर्विदुर क्लेशा ज्ञानोदये यथा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सन्धीयमाने—धनुष पर रखते हुए; एतस्मिन्—इस नारायणास्त्र को; मायाः—माया, मोह; गुह्यक-निर्मिताः—यक्षों द्वारा निर्मित; क्षिप्रम्—शीघ्र; विनेशुः—नष्ट हो गये; विदुर—हे विदुर; क्लेशाः—मोहजनित कष्ट तथा आनन्द; ज्ञान-उदये—ज्ञान के उदय होने पर; यथा—जिस प्रकार।

ज्योंही ध्रुव महाराज ने अपने धनुष पर नारायणास्त्र को चढ़ाया, त्योंही यक्षों द्वारा रची गई

सारी माया उसी प्रकार तुरन्त दूर हो गई जिस प्रकार कि आत्मज्ञान होने पर समस्त भौतिक क्लेश तथा सुख विनष्ट हो जाते हैं।

तात्पर्य : कृष्ण सूर्य की भाँति हैं और माया अंधकार के तुल्य है। अंधकार का अर्थ है प्रकाश का अभाव और माया का अर्थ है कृष्ण-चेतना का अभाव। कृष्ण-चेतना तथा माया सदैव पास-पास रहती हैं। ज्योंही कृष्ण-चेतना जाग्रत हो जाती है, समस्त मायाजनित भौतिक कष्ट तथा सुख दूर हो जाते हैं। *मायामेतां तरन्ति ते—महामन्त्र* का निरन्तर जप माया की शक्ति से हमें सदैव दूर रखता है।

तस्यार्षास्त्रं धनुषि प्रयुञ्जतः
सुवर्णपुङ्खाः कलहंसवाससः ।
विनिःसृता आविविशुर्द्विषद्बलं
यथा वनं भीमरवाः शिखण्डिनः ॥ ३॥

शब्दार्थ

तस्य—जब ध्रुव ने; आर्ष-अस्त्रम्—नारायण ऋषि द्वारा प्रदत्त हथियार; धनुषि—अपने धनुष पर; प्रयुञ्जतः—चढ़ाया; सुवर्ण-पुङ्खाः—सुनहले फलों वाले (तीर); कलहंस-वाससः—हंस के पंखों के समान; विनिःसृताः—निकल पड़े; आविविशुः—प्रविष्ट; द्विषत्-बलम्—शत्रु के सैनिक; यथा—जिस प्रकार; वनम्—वन में; भीम-रवाः—भीषण शब्द करते; शिखण्डिनः—मोर।

ध्रुव महाराज ने ज्योंही अपने धनुष पर नारायण ऋषि द्वारा निर्मित अस्त्र को चढ़ाया, उससे सुनहरे फलों तथा पंखोंवाले बाण हंस के पंखों के समान बाहर निकलने लगे। वे फूत्कार करते हुए शत्रु सैनिकों में उसी प्रकार घुसने लगे जिस प्रकार मोर केका ध्वनि करते हुए जंगल में प्रवेश करते हैं।

तैस्तिग्मधारैः प्रधने शिलीमुखैर्
इतस्ततः पुण्यजना उपद्रुताः ।
तमभ्यधावन्कुपिता उदायुधाः
सुपर्णमुन्नद्धफणा इवाहयः ॥ ४॥

शब्दार्थ

तैः—उनके द्वारा; तिग्म-धारैः—पैनी धार वाले; प्रधने—युद्धभूमि में; शिली-मुखैः—बाण; इतः ततः—इधर-उधर; पुण्य-जनाः—यक्षगण; उपद्रुताः—अत्यन्त क्षुब्ध होकर; तम्—ध्रुव महाराज की ओर; अभ्यधावन्—दौड़े; कुपिताः—क्रुद्ध; उदायुधाः—हथियार उठाये; सुपर्णम्—गरुड़ की ओर; उन्नद्ध-फणाः—फन उठाये; इव—सदृश; अहयः—सर्प।

उन तीखी धारवाले बाणों ने शत्रु-सैनिकों को विचलित कर दिया, और वे प्रायः मूर्च्छित हो

गये। किन्तु ध्रुव महाराज से क्रुद्ध होकर यक्षगण युद्धक्षेत्र में किसी न किसी प्रकार अपने-अपने हथियार लेकर एकत्र हो गये और उन्होंने आक्रमण कर दिया। जिस प्रकार गरुड़ के छेड़ने पर सर्प अपना-अपना फन उठाकर गरुड़ की ओर दौड़ते हैं, उसी प्रकार समस्त यक्ष सैनिक अपने-अपने हथियार उठाये ध्रुव महाराज को जीतने की तैयारी करने लगे।

स तान्पृषत्कैरभिधावतो मृधे
निकृत्तबाहूरुशिरोधरोदरान् ।
निनाय लोकं परमर्कमण्डलं
व्रजन्ति निर्भिद्य यमूर्ध्वरेतसः ॥ ५॥

शब्दार्थ

सः—वह (ध्रुव); तान्—समस्त यक्षों को; पृषत्कैः—अपने बाण से; अभिधावतः—आगे आते हुए; मृधे—युद्धभूमि में; निकृत्त—विलग, छिन्न; बाहु—भुजाएँ; ऊरु—जंघाएँ; शिरः-धर—गर्दन; उदरान्—तथा पेट; निनाय—प्रदान किया; लोकम्—लोक को; परम्—परम; अर्क-मण्डलम्—सूर्य-मण्डल; व्रजन्ति—जाते हैं; निर्भिद्य—भेदते हुए; यम्—जिसको; ऊर्ध्व-रेतसः—ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी, जो वीर्य स्खलित नहीं करते।

जब ध्रुव महाराज ने यक्षों को आगे बढ़ते देखा तो उन्होंने तुरन्त बाणों को चढ़ा लिया और शत्रुओं को खण्ड-खण्ड कर डाला। शरीरों से बाहु, पाँव, सिर तथा उदर अलग-अलग करके उन्होंने यक्षों को सूर्य-मण्डल के ऊपर स्थित लोकों में भेज दिया, जो केवल श्रेष्ठ ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारियों को प्राप्त हो पाता है।

तात्पर्य : भगवान् या उनके भक्तों द्वारा वध किया जाना अभक्तों के लिए शुभ है। ध्रुव महाराज ने यक्षों का अंधाधुन्ध वध किया था, किन्तु इससे उन्हें ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारियों को प्राप्य लोक की प्राप्ति हुई। जिस प्रकार निर्विशेष ज्ञानी अथवा भगवान् द्वारा वध किये असुर ब्रह्मलोक या सत्यलोक को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार भक्तों द्वारा वध किये गये लोग भी सत्यलोक को जाते हैं। यहाँ पर वर्णित सत्यलोक तक पहुँचने के लिए सूर्यलोक के ऊपर उठना होता है। अत: वध करना सदा ही बुरा नहीं होता। यदि भगवान् द्वारा या उनके भक्त द्वारा, अथवा किसी महान् यज्ञ के लिए वध होता है, तो भगवान् अथवा उनके भक्तों के द्वारा किए गए वध की तुलना में भौतिक वध तथाकथित अहिंसा की तुलना में नगण्य है। यहाँ तक कि जब कोई राजा, अथवा राजसत्ता किसी हत्यारे का वध करती है, तो वह हत्यारे के लिए लाभप्रद है, क्योंकि इससे उसके सारे पाप-बंधन छूट जाते हैं।

इस श्लोक का महत्त्वपूर्ण शब्द *ऊर्ध्व-रेतस:* है, जिसका अर्थ है ऐसा *ब्रह्मचारी* जिसका वीर्य कभी भी स्खलित नहीं हुआ हो। वेदों में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य इतना आवश्यक है कि भले ही कोई तपस्या या वेदों में बताए गए अनुष्ठान करे या न करे, किन्तु यदि वह शुद्ध *ब्रह्मचारी* रहता है, तो उसके कारण वह मृत्यु के पश्चात् सत्यलोक को जाता है। सामान्यत: कामी जीवन समस्त सांसारिक क्लेशों की जड़ है। वैदिक सभ्यता में विषयी जीवन पर अनेक प्रकार से अंकुश लगा रहता था। सारी सामाजिक व्यवस्था की सम्पूर्ण जनसंख्या में से केवल गृहस्थों को संयमित काम-भोग करने की अनुमति प्राप्त थी। अन्य सभी काम-भोग से दूर रहते हैं। विशेषकर इस युग के लोग वीर्यधारण करने के लाभ से परिचित नहीं हैं। फलस्वरूप वे नाना प्रकार के भौतिक गुणों में फँसकर केवल जीवन-संघर्ष में लगे रहते हैं। *ऊर्ध्व-रेतस:* शब्द विशेष रूप से मायावादी संन्यासियों को इंगित करता है, जो तपस्या के कठिन नियमों का पालन करते हैं। *भगवद्गीता* (८.१६) में भगवान् का कहना है कि भले ही कोई ब्रह्मलोक को क्यों न प्राप्त हो ले, उसे पुन: नीचे आना पड़ता है (*आब्रह्मभुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन*)। फलत: वास्तविक मुक्ति तो भक्ति द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है, क्योंकि भक्ति से मनुष्य ब्रह्मलोक से भी ऊपर जाता है, जहाँ से वह पुन: नहीं लौटता। मायावादी संन्यासियों को मुक्त होने का गर्व रहता है, किन्तु वास्तविक मुक्ति तब तक प्राप्त नहीं हो सकती जब तक भगवान् की भक्ति करके उनके सम्पर्क में न रहा जाये। कहा गया है—*हरिं बिना न सृतिं तरन्ति*—कृष्ण की कृपा के बिना किसी को मुक्ति नहीं मिल सकती।

तान्हन्यमानानभिवीक्ष्य गुह्यका-
ननागसश्चित्ररथेन भूरिशः ।
औत्तानपादिं कृपया पितामहो
मनुर्जगादोपगतः सहर्षिभिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तान्—उन यक्षों को; हन्यमानान्—मरे हुए; अभिवीक्ष्य—देखकर; गुह्यकान्—यक्षगण; अनागसः—पाप-रहित; चित्र-रथेन—ध्रुव महाराज द्वारा, जिनके पास सुन्दर रथ था; भूरिशः—अत्यधिक; औत्तानपादिम्—उत्तानपाद के पुत्र को; कृपया—कृपा से; पिता-महः—बाबा; मनुः—स्वायंभुव मनु ने; जगाद—उपदेश दिया; उपगतः—पास जाकर; सह-ऋषिभिः—ऋषियों सहित।

जब स्वायंभुव मनु ने देखा कि उनका पौत्र ध्रुव ऐसे अनेक यक्षों का वध कर रहा है, जो वास्तव में अपराधी नहीं हैं, तो वे करुणावश ऋषियों को साथ लेकर ध्रुव के पास उन्हें सदुपदेश

देने गये ।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज ने यक्षों की पुरी अलकापुरी पर इसलिए आक्रमण कर दिया था, क्योंकि उनमें से किसी यक्ष ने उनके भाई का वध कर दिया था। वास्तव में समस्त निवासी उनके भाई उत्तम का वध करने के लिए उत्तरदायी न थे, क्योंकि वध तो एक ही यक्ष ने किया था। किन्तु यक्षों द्वारा अपने भाई का वध होने से ध्रुव महाराज ने गम्भीर कार्यवाही की थी। युद्ध घोषित हो गया था और लड़ाई चल रही थी। आज के समय में भी कभी कभी ऐसा होता है, क्योंकि एक व्यक्ति की त्रुटि के कारण कभी-कभी सारे राज्य पर धावा बोल दिया जाता है। मनुष्य जाति के पिता तथा विधि-निर्माता मनु ने ऐसे सामूहिक धावे की अनुमति नहीं दी है। इसलिए वे चाहते थे कि उनका पौत्र यक्षों को न मारे, क्योंकि वे अपराधी नहीं थे।

मनुरुवाच
अलं वत्सातिरोषेण तमोद्वारेण पाप्मना ।
येन पुण्यजनानेतानवधीस्त्वमनागसः ॥ ७॥

शब्दार्थ

मनुः उवाच—मनु ने कहा; अलम्—बहुत हुआ, बस; वत्स—मेरे बालक; अतिरोषेण—अत्यन्त क्रोधपूर्वक; तमः-द्वारेण—अज्ञान का मार्ग; पाप्मना—पापी; येन—जिससे; पुण्य-जनान्—यक्षगण; एतान्—ये सब; अवधीः—तुम्हारे द्वारा मारे गये; त्वम्—तुम; अनागसः—निरपराध।

श्री मनु ने कहा : हे पुत्र, बस करो। वृथा क्रोध करना अच्छा नहीं—यह तो नारकीय जीवन का मार्ग है। अब तुम यक्षों को मार कर अपनी सीमा से परे जा रहे हो, क्योंकि ये वास्तव में अपराधी नहीं हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अतिरोषेण* शब्द का अर्थ है, "अनावश्यक क्रोध से।" जब ध्रुव महाराज सम्यक क्रोध की सीमा लाँघ गये तो उनके पितामह स्वायंभुव मनु उन्हें आगे पापकर्म करने से बचाने के लिए तुरन्त वहाँ आये। इससे हम समझ सकते हैं कि वध करना बुरा नहीं है, किन्तु जब वृथा ही वध किया जाये, अथवा जब अपराध-रहित व्यक्ति को मार दिया जाये तो ऐसे वध से नरक का मार्ग खुलता है। महान् भक्त होने के कारण ध्रुव महाराज ऐसे पाप-कर्म से बचा लिए गये।

क्षत्रिय को राज्य में शान्ति तथा व्यवस्था कायम रखने के लिए वध करने की अनुमति दी गई है;

उसे अकारण वध करने या हिंसा करने की छूट प्राप्त नहीं है। हिंसा से नारकीय जीवन का मार्ग प्रशस्त होता है, किन्तु राज्य में शान्ति-व्यवस्था बनाये रखने के लिए यह आवश्यक भी है। यहाँ पर मनु ने ध्रुव महाराज को यक्षों का वध करने से रोका क्योंकि उनमें से केवल एक ही उनके भाई उत्तम की हत्या के लिए दण्डनीय था, सभी यक्ष-नागरिक दण्डनीय नहीं थे। किन्तु हम देखते हैं कि आधुनिक युद्ध पद्धति में निर्दोष नागरिकों पर आक्रमण किये जाते हैं। मनु के नियमानुसार ऐसी युद्ध-पद्धति अत्यन्त पापपूर्ण है। यही नहीं, इस समय सभ्य राष्ट्रों द्वारा वृथा ही निर्दोष पशुओं को मारने के लिए अनेक कसाईघर चलाये जा रहे हैं। जब किसी राष्ट्र पर शत्रु आक्रमण करते हैं, तो नागरिकों का जन-संहार उनके अपने पापकर्मों का फल माना जाना चाहिए। यही प्रकृति का नियम है।

नास्मत्कुलोचितं तात कर्मैतत्सद्विगर्हितम् ।
वधो यदुपदेवानामारब्धस्तेऽकृतैनसाम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अस्मत्-कुल—हमारे कुल के लिए; उचितम्—उचित, उपयुक्त; तात—मेरे पुत्र; कर्म—कर्म; एतत्—यह; सत्—साधु पुरुष; विगर्हितम्—वर्जित; वधः—हत्या; यत्—जो; उपदेवानाम्—यक्षों का; आरब्धः—किया गया; ते—तुम्हारे द्वारा; अकृत-एनसाम्—पाप-विहीनों अथवा निर्दोषों का।

हे पुत्र, तुम निर्दोष यक्षों का जो यह वध कर रहे हो वह न तो अधिकृत पुरुषों द्वारा स्वीकार्य है और न यह हमारे कुल को शोभा देनेवाला है क्योंकि तुमसे आशा की जाती है कि तुम धर्म तथा अधर्म के विधानों को जानो।

नन्वेकस्यापराधेन प्रसङ्गाद्बहवो हताः ।
भ्रातुर्वधाभितप्तेन त्वयाङ्ग भ्रातृवत्सल ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ननु—निश्चय ही; एकस्य—एक (यक्ष) के; अपराधेन—अपराध से; प्रसङ्गात्—संगति से; बहवः—अनेक; हताः—मारे गये; भ्रातुः—अपने भाई की; वध—मृत्यु से; अभितप्तेन—शोक से; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अङ्ग—हे पुत्र; भ्रातृ-वत्सल—अपने भाई के प्रिय।

हे पुत्र, यह सिद्ध हो चुका है कि तुम अपने भाई के प्रति कितने वत्सल हो और यक्षों द्वारा उसके मारे जाने से तुम कितने सन्तप्त हो, किन्तु जरा सोचो तो कि केवल एक यक्ष के अपराध के कारण तुमने कितने अन्य निर्दोष यक्षों का वध कर दिया है।

नायं मार्गो हि साधूनां हृषीकेशानुवर्तिनाम् ।
यदात्मानं पराग्गृह्य पशुवद्भूतवैशसम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अयम्—यह; मार्गः—रास्ता; हि—निश्चय ही; साधूनाम्—भले पुरुषों का; हृषीकेश—भगवान् के; अनुवर्तिनाम्—पथ का अनुगमन करते; यत्—जो; आत्मानम्—स्वयं; पराक्—शरीर; गृह्य—मानकर; पशु-वत्—पशुओं के तुल्य; भूत—जीवात्माओं का; वैशसम्—वध।

मनुष्य को चाहिए कि वह शरीर को आत्मा न माने और इस प्रकार पशुओं की भाँति अन्यों का वध न करे। भगवान् की भक्ति के पथ का अनुसरण करनेवाले साधु पुरुषों ने इसे विशेष रूप से वर्जित किया है।

तात्पर्य : *साधूनां हृषीकेशानुवर्तिनाम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। आखिर साधु पुरुष कौन है? साधु पुरुष वह है, जो भगवान् हृषीकेश की सेवा के पथ का अनुसरण करता है। *नारद-पञ्चरात्र* में कहा गया है कि *हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते*—अपनी इन्द्रियों द्वारा भगवान् की समुचित सेवा करने की विधि भक्ति कहलाती है। अत: जो व्यक्ति पहले से भगवान् की भक्ति में लगा है, वह इन्द्रिय-तृप्ति में आखिर क्यों प्रवृत्त हो? यहाँ पर मनु ने ध्रुव महाराज को उपदेश दिया है कि वे भगवान् के शुद्ध दास हैं, तो फिर वे वृथा पशुओं की तरह देहात्मबुद्धि में क्यों प्रवृत्त हो रहे हैं? एक पशु सोचता है कि दूसरा पशु उसका आहार है, अत: देहात्मबुद्धिवश एक पशु दूसरे पर आक्रमण करता है। मनुष्य को, और विशेष रूप से भक्त को ऐसा नहीं करना चाहिए। साधु सदृश किसी भक्त को पशुओं का वृथा वध नहीं करना चाहिए।

सर्वभूतात्मभावेन भूतावासं हरिं भवान् ।
आराध्याप दुराराध्यं विष्णोस्तत्परमं पदम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सर्व-भूत—समस्त जीवात्माओं में; आत्म—परमात्मा के ऊपर; भावेन—ध्यान से; भूत—समस्त संसार का; आवासम्—घर; हरिम्—भगवान् हरि; भवान्—आप; आराध्य—पूजा करके; आप—प्राप्त कर लिया है; दुराराध्यम्—जिनकी आराधना करना कठिन है; विष्णोः—भगवान् विष्णु के; तत्—उस; परमम्—परम; पदम्—स्थान या, स्थिति को।

वैकुण्ठलोक में हरि के धाम को प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर है; किन्तु तुम इतने भाग्यशाली हो कि समस्त जीवात्माओं के परमधाम भगवान् की पूजा द्वारा तुम्हारा उस धाम को जाना निश्चित

हो चुका है।

तात्पर्य : समस्त जीवात्माओं के भौतिक शरीर तब तक विद्यमान नहीं रह सकते, जब तक उनमें आत्मा तथा परमात्मा का वास न हो। आत्मा परमात्मा पर निर्भर है, जो परमाणु में भी उपस्थित है। अत: प्रत्येक वस्तु के चाहे वह भौतिक हो अथवा आध्यात्मिक, भगवान् पर निर्भर रहने के कारण भगवान् को *भूतावास* कहा गया है। जब मनु ने यह युद्ध बन्द करने के लिए कहा तो क्षत्रिय होने के नाते ध्रुव महाराज अपने पितामह मनु से तर्क कर सकते थे, किन्तु ऐसा होने पर भी उन्हें यह सूचित किया गया कि चूँकि प्रत्येक जीवात्मा भगवान् का धाम है, अत: मन्दिर तुल्य होने से किसी भी जीव की व्यर्थ हत्या की अनुमति नहीं दी जा सकती।

स त्वं हरेरनुध्यातस्तत्पुंसामपि सम्मतः ।
कथं त्ववद्यं कृतवाननुशिक्षन्सतां व्रतम् ॥ १२॥

शब्दार्थ

सः—वह व्यक्ति; त्वम्—तुम; हरेः—परमेश्वर द्वारा; अनुध्यातः—सदैव स्मरण किया जाकर; तत्—उसका; पुंसाम्—भक्तों द्वारा; अपि—भी; सम्मतः—पूज्य; कथम्—क्यों; तु—तब; अवद्यम्—निन्दनीय (कार्य); कृतवान्—किया गया; अनुशिक्षन्—दृष्टान्त उपस्थित करके; सताम्—साधु पुरुषों का; व्रतम्—व्रत।

भगवान् के शुद्ध भक्त होने के कारण भगवान् सदैव तुम्हारे बारे में सोचते रहते हैं और तुम भी उनके सभी परम विश्वस्त भक्तों द्वारा मान्य हो। तुम्हारा जीवन आदर्श आचरण के निमित्त है। अत: मुझे आश्चर्य हो रहा है कि तुमने ऐसा निन्दनीय कार्य कैसे किया।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज शुद्ध भक्त होने के कारण भगवान् का चिन्तन करने के अभ्यस्त थे। भगवान् भी बदले में उन शुद्ध भक्तों के लिए सोचते रहते हैं, जो चौबीसों घंटे उन्हीं का चिन्तन करते हैं। जिस प्रकार शुद्ध भक्त भगवान् के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं जानता, उसी प्रकार भगवान् भी अपने शुद्ध भक्तों को छोड़कर और कुछ नहीं जानते। स्वायंभुव मनु ने इस तथ्य की ओर ध्रुव का ध्यान आकर्षित किया—"तुम न केवल शुद्ध भक्त हो, वरन् भगवान् के समस्त शुद्ध भक्तों द्वारा मान्य हो। तुम्हें सदैव ऐसे आदर्श ढंग से कार्य करना चाहिए कि दूसरे तुमसे सीख ले सकें। ऐसी परिस्थिति में यह आश्चर्यजनक है कि तुमने इतने सारे निर्दोष यक्षों का वध कर डाला है।"

तितिक्षया करुणया मैत्र्या चाखिलजन्तुषु ।
समत्वेन च सर्वात्मा भगवान्सम्प्रसीदति ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तितिक्षया—सहनशीलता से; करुणया—दया से; मैत्र्या—मैत्री से; च—भी; अखिल—समस्त; जन्तुषु—जीवात्माओं के; समत्वेन—समता से; च—भी; सर्व-आत्मा—परमात्मा; भगवान्—भगवान्; सम्प्रसीदति—प्रसन्न हो जाता है।

भगवान् अपने भक्तों से तब अत्यधिक प्रसन्न होते हैं जब वे अन्य लोगों के साथ सहिष्णुता, दया, मैत्री तथा समता का बर्ताव करते हैं।

तात्पर्य : भक्ति की सिद्धि की द्वितीयावस्था में विद्वान् भक्त का कर्तव्य है कि वह इस श्लोक के अनुसार कार्य करे। भक्तिमय जीवन की तीन अवस्थाएँ होती हैं। सबसे निचली अवस्था में भक्त का एकमात्र लगाव मन्दिर के देव से होता है, वह अत्यन्त भक्तिभाव से विधिपूर्वक भगवान् की पूजा करता है। द्वितीय अवस्था में भक्त को भगवान् से, अपने भक्त मित्रों से, निर्दोष व्यक्तियों से तथा ईर्ष्यालु पुरुषों से अपने सम्बन्धों का बोध हो जाता है। कभी-कभी ईर्ष्यालु व्यक्ति भक्तों के साथ दुर्व्यवहार करते हैं। यहाँ यह सलाह दी गई है कि सिद्धभक्त सहिष्णु हो और अज्ञानियों अथवा निर्दोष व्यक्तियों पर वह पूर्ण दया-भाव प्रदर्शित करे। उपदेशक भक्त को निर्दोष व्यक्तियों पर दया दिखानी पड़ती है, क्योंकि उन्हें वह भक्ति तक ऊँचे उठा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति स्वाभाविक स्थिति में ईश्वर का चिरन्तनदास है। अत: भक्त का कार्य है कि प्रत्येक व्यक्ति में कृष्णचेतना जाग्रत करे। यह उसकी कृपा है। जहाँ तक समान भक्तों के साथ एक भक्त के व्यवहार का प्रश्न है, उसे उनके साथ मित्रता रखनी चाहिए। उसे प्रत्येक जीवात्मा को सामान्यत: परमेश्वर का अंश रूप देखना चाहिए। विभिन्न जीवात्माएँ विभिन्न वेश-भूषा में प्रकट होती हैं, किन्तु *भगवद्गीता* के उपदेशानुसार विद्वान् पुरुष समस्त जीवात्माओं को एकसमान देखता है। भगवान् को भक्तों का यह आचरण अत्यन्त प्रिय है। इसीलिए कहा जाता है कि साधु पुरुष सदैव सहिष्णु और दयालु होता है, वह प्रत्येक जीव का मित्र होता है, वह किसी का भी शत्रु नहीं होता और वह शान्त रहता है। ये ही भक्त के कतिपय सद्गुण हैं।

सम्प्रसन्ने भगवति पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः ।
विमुक्तो जीवनिर्मुक्तो ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

सम्प्रसन्ने—प्रसन्न होने पर; भगवति—भगवान् के; पुरुषः—पुरुष; प्राकृतैः—भौतिक; गुणैः—प्रकृति के गुणों से; विमुक्तः—मुक्त हुए; जीव-निर्मुक्तः—सूक्ष्म शरीर से भी मुक्त; ब्रह्म—अनन्त; निर्वाणम्—आत्म-आनन्द; ऋच्छति—प्राप्त करता है।

जो मनुष्य अपने जीवनकाल में भगवान् को सचमुच प्रसन्न कर लेता है, वह स्थूल तथा सूक्ष्म भौतिक परिस्थितियों से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार समस्त भौतिक गुणों से छूटकर वह अनन्त आत्म-आनन्द प्राप्त करता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बताया गया है कि मनुष्य को चाहिए कि समस्त जीवात्माओं से सहिष्णुता, दया, मित्रता तथा समता का व्यवहार करे। ऐसे व्यवहार से वह भगवान् को प्रसन्न कर लेता है और उनके प्रसन्न होते ही भक्त समस्त भौतिक दशाओं से तुरन्त मुक्त हो जाता है। *भगवद्गीता* में भगवान् ने भी इसकी पुष्टि की है, ''जो निष्ठापूर्वक तथा गम्भीरतापूर्वक मेरी सेवा करता है, वह तुरन्त ही दिव्य अवस्था को प्राप्त होता है, जहाँ उसे अपार आत्मसुख प्राप्त हो सकता है।'' इस जगत में आनन्दमय जीवन की प्राप्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति कठिन संघर्ष कर रहा है। दुर्भाग्यवश लोग इसे प्राप्त करना नहीं जानते। नास्तिक जन ईश्वर में विश्वास नहीं करते और निश्चित ही वे उन्हें प्रसन्न नहीं करते हैं। यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि भगवान् को प्रसन्न करने पर मनुष्य को आत्म-पद प्राप्त हो सकता है, जहाँ वह अपार आनन्दमय जीवन का भोग करता है। भौतिक जगत से मुक्त होने का अर्थ है भौतिक प्रकृति के प्रभाव से मुक्त होना।

इस श्लोक में प्रयुक्त *सम्प्रसन्ने* शब्द का अर्थ है, ''प्रसन्न होने पर।'' मनुष्य को ऐसा कार्य करना चाहिए कि भगवान् इस कार्य से प्रसन्न हों; उसे स्वयं प्रसन्न नहीं होना है। वस्तुतः जब भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं, तो भक्त स्वतः तुष्ट हो जाता है। भक्तियोग प्रक्रिया का यही रहस्य है। भक्तियोग से बाहर प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको तुष्ट करने में लगा है। कोई भी भगवान् को प्रसन्न करने का प्रयास नहीं करता। कर्मी स्थूल रूप से अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करना चाहते हैं, किन्तु जो ज्ञानी हैं, वे भी सूक्ष्म रूप से अपने आपको ही सन्तुष्ट करने में लगे रहते हैं। कर्मी अपने आपको इन्दियतृप्ति द्वारा तथा ज्ञानी सूक्ष्म कर्मों या मानसिक चिन्तन द्वारा, तथा स्वयं को ईश्वर सोचकर तुष्ट करते हैं। योगी भी वह सोचकर अपने को तुष्ट करना चाहते हैं कि वे तरह-तरह की योग-सिद्धियाँ प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु केवल भक्त ही भगवान् को प्रसन्न करने का प्रयास करते हैं। किन्तु भक्त द्वारा आत्म-साक्षात्कार की विधि

कर्मियों तथा ज्ञानियों योगियों की विधियों से सर्वथा भिन्न होती है। जहाँ प्रत्येक प्राणी आत्मतुष्टि में लगा हुआ है, वहीं पर भक्त केवल भगवान् को तुष्ट करने का प्रयत्न करता है। भक्ति की विधि अन्यों से सर्वथा भिन्न है; भक्त अपनी इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाकर भगवान् को प्रसन्न करने के कारण तुरन्त दिव्य पद को प्राप्त होता है और असीम आनन्दमय जीवन भोगता है।

भूतैः पञ्चभिरारब्धैर्योषित्पुरुष एव हि ।
तयोर्व्यवायात्सम्भूतिर्योषित्पुरुषयोरिह ॥ १५॥

शब्दार्थ

भूतैः—भौतिक तत्त्वों द्वारा; पञ्चभिः—पाँच; आरब्धैः—प्रारम्भ की गई; योषित्—स्त्री; पुरुषः—पुरुष; एव—की तरह; हि—निश्चय ही; तयोः—उनके; व्यवायात्—विषयी जीवन द्वारा; सम्भूतिः—पुनः सृष्टि; योषित्—स्त्रियों की; पुरुषयोः—तथा पुरुषों की; इह—इस जगत में।.

भौतिक जगत की सृष्टि पाँच तत्त्वों से प्रारम्भ होती है और इस तरह प्रत्येक वस्तु, जिसमें पुरुष अथवा स्त्री का शरीर भी सम्मिलित है, इन तत्त्वों से उत्पन्न होती है। पुरुष तथा स्त्री के विषयी जीवन (समागम) से इस जगत में पुरुषों तथा स्त्रियों की संख्या में और वृद्धि होती है।

तात्पर्य : जब स्वायंभुव मनु ने देखा कि ध्रुव महाराज वैष्णव दर्शन को समझते हुए भी अपने भाई की मृत्यु के कारण असंतुष्ट हैं, तो उन्होंने यह व्याख्या की कि किस प्रकार भौतिक प्रकृति के पाँच तत्त्वों से इस भौतिक देह की रचना होती है। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि हुई है—*प्रकृतेः क्रियमाणानि*—प्राकृतिक गुणों के द्वारा ही प्रत्येक वस्तु का सृजन, पालन और संहार होता है। निस्सन्देह, इन सबके पीछे भगवान् का निर्देश रहता है। इसकी भी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है (*मयाध्यक्षेण*)। नवें अध्याय में कृष्ण कहते हैं; ‘‘मेरी अध्यक्षता में भौतिक प्रकृति क्रियाशील रहती है।’’ स्वायंभुव मनु ध्रुव महाराज को यह बता देना चाह रहे थे कि उनके भाई के शरीर की मृत्यु के लिए वास्तव में यक्ष दोषी नहीं थे; वह तो भौतिक प्रकृति का कार्य था। भगवान् में अनेक प्रकार की शक्तियाँ होती हैं और ये अनेक प्रकार से सूक्ष्म तथा स्थूल रूप में कार्य करती हैं।

ऐसी ही प्रबल शक्तियों से इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति की जाती है यद्यपि स्थूल रूप में इसमें पाँच तत्त्वों क्षिति, जल, पावक, गगन तथा वायु के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखता। इसी प्रकार समस्त योनियाँ, चाहे वे मनुष्य हों अथवा देवता, पशु हों या पक्षी, उनकी देहें भी इन्हीं पाँच तत्त्वों से उत्पन्न

की जाती हैं और फिर मैथुन द्वारा और अधिक जीवों में बढ़ती जाती हैं। यही सृष्टि, पालन तथा संहार का विधान है। इस विधि में भौतिक प्रकृति की तरंगों से किसी को विचलित नहीं होना चाहिए। अप्रत्यक्ष रीति से ध्रुव महाराज को उपदेश दिया जा रहा था कि वे अपने भाई की मृत्यु से दुखी न हों, क्योंकि शरीर के साथ हमारा सम्बन्ध सर्वथा भौतिक है। वास्तविक स्व अर्थात् आत्मा का न तो विनाश होता है, न ही किसी के द्वारा उसका वध होता है।

एवं प्रवर्तते सर्गः स्थितिः संयम एव च ।
गुणव्यतिकराद्राजन्मायया परमात्मनः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; **प्रवर्तते**—घटित होता है; **सर्गः**—सृष्टि; **स्थितिः**—पालन; **संयमः**—प्रलय; **एव**—निश्चय ही; **च**—तथा; **गुण**—गुणों की; **व्यतिकरात्**—पारस्परिक क्रिया से; **राजन्**—हे राजा; **मायया**—माया द्वारा; **परम-आत्मनः**—भगवान् की।

मनु ने आगे कहा : हे राजा ध्रुव, भगवान् की मोहमयी भौतिक शक्ति के द्वारा तथा भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों की पारस्परिक क्रिया से ही सृष्टि, पालन तथा संहार होता रहता है।

तात्पर्य : पहले प्रकृति के पाँच तत्त्वों से उत्पत्ति होती है, फिर गुणों की अन्यान्य क्रिया से स्थिति (पालन) होती है। जब बालक उत्पन्न होता है, तो माता-पिता तुरन्त उसके पालन की व्यवस्था करते हैं। सन्तान के पालन की यह प्रवृत्ति न केवल मानव समाज में पाई जाती है, वरन् पशु-समाज में भी पाई जाती है। बाघ भी अपने शिशुओं की देख-रेख करते हैं, यद्यपि उनमें अन्य पशुओं को खाने की जन्मजात प्रवृत्ति होती है। गुणों की अन्योन्य क्रिया से उत्पत्ति, पालन तथा संहार अवश्यम्भावी हैं। किन्तु हमें यह जानना चाहिए कि यह सब कुछ भगवान् की अध्यक्षता में घटित होता है। इसी विधि से सब कुछ हो रहा है। उत्पत्ति तो रजोगुण का कार्य है, पालन सतोगुण का और संहार तमोगुण का। हम यह देख सकते हैं कि जो सतोगुणी है, वह रजोगुणी या तमोगुणी की तुलना में अधिक काल तक जीवित रहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो सतोगुणी हो जाता है, वह उच्च लोक को जाता है, जहाँ उसका आयुष्य बढ़ जाता है। *ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः*—बड़े बड़े ऋषि, मुनि तथा संन्यासी, जो कि सतोगुणी होते हैं उच्च लोक को जाते हैं। जो गुणों से परे हैं, वे भी सतोगुणी होते हैं और वे वैकुण्ठलोक में शाश्वत जीवन प्राप्त करते हैं।

निमित्तमात्रं तत्रासीन्निर्गुणः पुरुषर्षभः ।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं यत्र भ्रमति लोहवत् ॥ १७॥

शब्दार्थ

निमित्त-मात्रम्—दूरस्थ कारण; तत्र—तब; आसीत्—था; निर्गुणः—कल्मषरहित; पुरुष-ऋषभः—परम पुरुष; व्यक्त—प्रकट; अव्यक्तम्—अप्रकट; इदम्—यह; विश्वम्—जगत; यत्र—जहाँ; भ्रमति—घूमता है; लोह-वत्—लोहे के समान।

हे ध्रुव, भगवान् प्रकृति के गुणों के द्वारा कलुषित नहीं होते। वे इस भौतिक दृश्य जगत की उत्पति के दूरस्थ कारण (निमित्त) हैं। उनकी प्रेरणा से अन्य अनेक कारण तथा कार्य उत्पन्न होते हैं और तब यह सारा ब्रह्माण्ड उसी प्रकार घूमता है जैसे कि लोहा चुम्बक की संचित शक्ति से घूमता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में यह बताया गया है कि इस जगत के भीतर भगवान् की बहिरंगा शक्ति किस प्रकार कार्यशील होती है। सब कुछ परमेश्वर की शक्ति से घटित होता है। नास्तिकवादी विचारक, जो भगवान् को सृष्टि का आदि कारण नहीं मानते, सोचते हैं कि यह जगत विभिन्न भौतिक तत्त्वों की क्रिया-प्रतिक्रियावश चालित होता है। तत्त्वों की अन्योन्य क्रिया का सरल उदाहरण हमें तब प्राप्त होता है जब हम सोडा तथा अम्ल को मिलाते हैं, तो झाग उत्पन्न होता है। किन्तु इस प्रकार रसायनों की प्रतिक्रिया से जीवन तो उत्पन्न नहीं किया जा सकता! जीवन की चौरासी लाख योनियाँ हैं जिनकी इच्छाएँ तथा कार्य भिन्न-भिन्न हैं। केवल रासायनिक प्रतिक्रिया के आधार पर कार्यशील भौतिक शक्ति की व्याख्या नहीं की जा सकती। इस प्रसंग में कुम्हार तथा उसके चाक का उदाहरण उपयुक्त होगा। जब चाक घूमता है, तो अनेक प्रकार के मिट्टी के पात्र निर्मित होते हैं। इन पात्रों के अनेक कारण हो सकते हैं, किन्तु मूल कारण तो कुम्हार है, जो चक्र को शक्ति प्रदान करता है। यह शक्ति उसकी अध्यक्षता से आती है। *भगवद्गीता* में इसी विचार की इस प्रकार व्याख्या की गई है—समस्त कार्य तथा कारण के पीछे भगवान् कृष्ण हैं। कृष्ण का कथन है कि उनकी शक्ति पर ही सब कुछ आश्रित है; फिर भी वे सर्वत्र नहीं हैं। मिट्टी का पात्र भौतिक शक्ति के किन्हीं कार्य-कारण की अवस्थाओं के अन्तर्गत बनता है। किन्तु कुम्हार तो पात्र में नहीं होता। इसी प्रकार, भौतिक उत्पत्ति भगवान् द्वारा की जाती है, किन्तु वे सर्वथा पृथक् रहते हैं। जैसाकि वेदों का कथन है—उन्होंने मात्र उसके ऊपर नजर

डाली और द्रव्य का विक्षोभ तुरन्त चालू हो गया।

भगवद्गीता में यह भी कहा गया है कि भगवान् भौतिक शक्ति को अपने अंश जीवों से संपृक्त कर देते हैं जिससे विभिन्न रूपों तथा विभिन्न कार्यों का सूत्रपात होता है। जीव-आत्मा की विभिन्न इच्छाओं तथा कर्मों के कारण विभिन्न योनियों में भिन्न-भिन्न शरीर उत्पन्न होते हैं। डार्विन के सिद्धान्त में जीव-आत्मा को स्वीकार नहीं किया जाता है। अत: उनके विकास की व्याख्या अधूरी है। तीनों गुणों के कार्य-कारण के फलस्वरूप विश्व में अनेक घटनाएँ घटती हैं, किन्तु उनका आदि कारण स्रष्टा या भगवान् ही हैं, जिन्हें यहाँ पर *निमित्त-मात्रम्* अर्थात् दूरस्थ कारण कहा गया है। वे अपनी शक्ति को—चक्र को—मात्र धक्का देते हैं। मायावादी चिन्तकों के अनुसार परब्रह्म ने अपने आपको अनेक रूपों में परिवर्तित कर रखा है, किन्तु तथ्य यह नहीं है। वे भौतिक गुणों के कार्य-कारण से सदा परे रहते हैं यद्यपि वे समस्त कारणों के कारण हैं। अत: *ब्रह्म-संहिता* (५.१) में ब्रह्मा कहते हैं—

ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्दविग्रह: ।

अनादिरादिर्गोविन्द: सर्वकारणकारणम् ॥

वैसे तो अनेक कार्य-कारण हैं, किन्तु आदि कारण तो कृष्ण ही हैं।

स खल्विदं भगवान्कालशक्त्या
गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्य: ।
करोत्यकर्तैव निहन्त्यहन्ता
चेष्टा विभूम्न: खलु दुर्विभाव्या ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

स:—वह; खलु—फिर भी; इदम्—यह (ब्रह्माण्ड); भगवान्—भगवान्; काल—समय की; शक्त्या—शक्ति से; गुण-प्रवाहेण—गुणों की अन्योन्य क्रिया से; विभक्त—विभाजित; वीर्य:—(जिसकी) शक्तियाँ; करोति—प्रभाव डालता है; अकर्ता—न करनेवाला; एव—यद्यपि; निहन्ति—मारता है; अहन्ता—न मारनेवाला; चेष्टा—शक्ति; विभूम्न:—भगवान् की; खलु—निश्चय ही; दुर्विभाव्या—अचिन्तनीय।

भगवान् अपनी अचिन्त्य काल-रूप परम शक्ति से प्रकृति के तीनों गुणों में अन्योन्य क्रिया उत्पन्न करते हैं जिससे नाना प्रकार की शक्तियाँ प्रकट होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे कार्यशील हैं, किन्तु वे कर्ता नहीं हैं। वे संहार तो करते हैं, किन्तु संहारकर्ता नहीं हैं। अत: यह माना जाता है कि केवल उनकी अचिन्तनीय शक्ति से सब कुछ घट रहा है।

तात्पर्य : *दुर्विभाव्या* शब्द का अर्थ ''हमारे लघु मस्तिष्क द्वारा अकल्पनीय'' और *विभक्तवीर्य:* का अर्थ ''विभिन्न शक्तियों में विभाजित'' है। भौतिक जगत में सृजनात्मक शक्तियों के प्राकट्य की यह सही विवेचना है। एक उदाहरण के द्वारा हम ईश्वर की कृपा को ठीक से समझ सकते हैं—शासन-सत्ता को दयालु होना चाहिए, किन्तु कभी-कभी शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए पुलिस लगानी पड़ती है और जो विद्रोह करते हैं उन्हें दण्ड दिया जाता है। इसी प्रकार भगवान् सदैव दयालु हैं तथा दिव्य गुणों से युक्त हैं, किन्तु कुछ जीव कृष्ण से अपने सम्बन्ध को भूल कर भौतिक प्रकृति पर अपना प्रभुत्व जताना चाहते हैं। अपने प्रयत्न के फलस्वरूप वे अनेक भौतिक अन्तक्रियाओं में फँस जाते हैं। किन्तु यह तर्क देना ठीक नहीं होगा कि शक्ति भगवान् से प्रकट होती है, इसीलिए वही कर्ता हैं। पिछले श्लोक में *निमित्तमात्रम्* शब्द इंगित करता है कि भगवान् इस भौतिक जगत के कार्य-करण से सर्वथा पृथक् रहते हैं। तो फिर सब कुछ कैसे चल रहा है? इसके लिए *दुर्विभाव्य* (अकल्पनीय) शब्द प्रयुक्त हुआ है। हमारे छोटे से मस्तिष्क में इतनी शक्ति कहाँ कि हम यह सब समझ सकें। जब तक भगवान् की शक्ति को अचिन्त्य अथवा अकल्पनीय नहीं मान लिया जाता, तब तक किसी तरह की उन्नति कर पाना सम्भव नहीं है। जो शक्तियाँ कार्य करती हैं, वे श्रीभगवान् द्वारा ही चालू की जाती हैं, किन्तु वे उनके कार्य-कारण से सदैव पृथक् (भिन्न) रहते हैं। भौतिक प्रकृति की अन्योन्य क्रिया से उत्पन्न नाना प्रकार की शक्तियाँ नानाविध योनियों तथा फलस्वरूप मिलने वाले सुख एवं दुख को उत्पन्न करती हैं।

भगवान् जिस प्रकार से कर्म करते हैं उसकी सुन्दर विवेचना *विष्णु पुराण* में मिलती है—अग्नि एक स्थान पर रहती है, किन्तु उसकी गर्मी तथा प्रकाश भिन्न-भिन्न प्रकार से कार्य करते रहते हैं। दूसरा उदाहरण बिजली-घर का है, जो एक स्थान पर स्थित होता है, किन्तु उसकी शक्ति से नाना प्रकार की मशीनें चलती हैं। उत्पादन कभी भी शक्ति के मूल स्रोत से एकरूप नहीं होता, किन्तु शक्ति का मूल स्रोत मुख्य कारण होने से उत्पादन से एकरूप है और साथ ही उससे पृथक् भी। अत: ज्ञान का सही मार्ग भगवान् चैतन्य का दर्शन *अचिन्त्य-भेदाभेद तत्त्व* है। भौतिक जगत में भगवान् ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव इन तीन रूपों में अवतरित होते हैं और ये प्रकृति के तीनों गुणों का भार सम्हालते हैं। ब्रह्मा का

अवतार लेकर वे सृष्टि करते हैं, विष्णु रूप में वे भरण करते हैं और शिव रूप में संहार भी करते हैं। किन्तु इन तीनों के मूल स्रोत गर्भोदकशायी विष्णु भौतिक प्रकृति के कार्य-कारण से अपने को पृथक् रखते हैं।

सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः ।
जनं जनेन जनयन्मारयन्मृत्युनान्तकम् ॥ १९॥

शब्दार्थ

सः—वह; अनन्तः—अनन्त; अन्त-करः—संहारकर्ता; कालः—काल, समय; अनादिः—जिसका आदि नहीं है; आदि-कृत्—प्रत्येक वस्तु का आदि; अव्ययः—न चुकने वाले; जनम्—जीवात्माएँ; जनेन—जीवात्माओं के द्वारा; जनयन्—उत्पन्न कराकर; मारयन्—मारना; मृत्युना—के द्वारा; अन्तकम्—वधकर्ता।

हे ध्रुव, भगवान् नित्य हैं, किन्तु कालरूप में वे सबों को मारनेवाले हैं। उनका आदि नहीं है, यद्यपि वे हर वस्तु के आदि कर्ता हैं। वे अव्यय हैं, यद्यपि कालक्रम में हर वस्तु चुक जाती है। जीवात्मा की उत्पत्ति पिता के माध्यम से होती है और मृत्यु द्वारा उसका विनाश होता है, किन्तु भगवान् जन्म तथा मृत्यु से सदा मुक्त हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक से भगवान् की परम सत्ता तथा अचिन्त्य शक्ति का सूक्ष्म अध्ययन किया जा सकता है। वे अनन्त हैं, अर्थात् न उनका आदि है, न अन्त, किन्तु वे मृत्यु (समय अथवा काल के रूप में) हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* में कृष्ण कहते हैं—मैं मृत्यु हूँ और जीवन के अन्त में मैं सब कुछ ले लेता हूँ। शाश्वत काल भी आदि रहित है, किन्तु वह समस्त प्राणियों का स्रष्टा है। यहाँ पर पारस पत्थर का उदाहरण दिया जाता है, जो अनेक अमूल रत्न बनाता है, किन्तु उसकी शक्ति नहीं घटती। इसी तरह सृष्टि अनेकों बार होती है, प्रत्येक वस्तु का पालन होता है और कुछ काल बाद हर वस्तु का संहार हो जाता है, किन्तु आदि स्रष्टा भगवान् की शक्ति अप्रभावित और अव्यय रहती है। ब्रह्मा द्वारा गौण सृष्टि की जाती है, क्योंकि ब्रह्मा श्रीभगवान् द्वारा उत्पन्न हैं। शिवजी सारी सृष्टि का संहार करते हैं, किन्तु अन्त में वे भी स्वयं भगवान् विष्णु द्वारा विनष्ट कर दिये जाते हैं। केवल भगवान् विष्णु बचे रहते हैं। वैदिक स्तोत्रों में कहा गया है कि आरम्भ में केवल विष्णु थे और अन्त में भी वे ही रहेंगे।

एक उदाहरण द्वारा हमें परमेश्वर की अचिन्त्य शक्ति को समझने में सहायता होगी। युद्धपद्धति के आधुनिक इतिहास में भगवान् ने हिटलर की सृष्टि की और इसके पूर्व नैपोलियन बोनापार्ट की, और

इनमें से प्रत्येक ने युद्ध में अनेक जीवात्माओं का संहार किया। किन्तु अन्त में बोनापार्ट तथा हिटलर दोनों मारे गये। आज भी लोग हिटलर तथा बोनापार्ट के सम्बन्ध में पुस्तकें लिखने तथा पढ़ने के शौकीन हैं और यह जानना चाहते है कि उन्होंने युद्ध में इतने लोगों को कैसे मारा। प्रतिवर्ष हिटलर द्वारा बन्दीग्रह में हजारों यहूदियों के वध के सम्बन्ध में जनता के पठनार्थ पुस्तकें प्रकाशित होती रहती हैं। किन्तु कोई इस पर शोध नहीं कर रहा कि हिटलर को किसने मारा और मनुष्यों के इस महान् हत्यारे को किसने उत्पन्न किया? भगवान् के भक्त विश्व के परिवर्तनशील इतिहास का अध्ययन करने में रुचि नहीं दिखाते। वे तो एकमात्र उसमें रुचि रखते हैं, जो आदि स्रष्टा, पालक तथा संहारक है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का यही उद्देश्य है।

न वै स्वपक्षोऽस्य विपक्ष एव वा
परस्य मृत्योर्विशतः समं प्रजाः ।
तं धावमानमनुधावन्त्यनीशा
यथा रजांस्यनिलं भूतसङ्घाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वै—फिर भी; स्व-पक्षः—मित्र-पक्ष; अस्य—भगवान् का; विपक्षः—शत्रु; एव—निश्चय ही; वा—अथवा; परस्य—परमेश्वर का; मृत्योः—काल रूप में; विशतः—प्रवेश करता; समम्—समान रूप से; प्रजाः—जीवात्माएँ; तम्—उसको; धावमानम्—चलायमान; अनुधावन्ति—अनुसरण करते हैं; अनीशाः—पराश्रित जीवात्माएँ; यथा—जिस तरह; रजांसि—धूल के कण; अनिलम्—वायु; भूत-सङ्घाः—अन्य भौतिक तत्त्व।

अपने शाश्वत काल रूप में श्रीभगवान् इस भौतिक जगत में विद्यमान हैं और सबों के प्रति समभाव रखनेवाले हैं। न तो उनका कोई मित्र है, न शत्रु। काल की परिधि में हर कोई अपने कर्मों का फल भोगता है। जिस प्रकार वायु के चलने पर क्षुद्र धूल के कण हवा में उड़ते हैं, उसी प्रकार अपने कर्म के अनुसार मनुष्य भौतिक जीवन का सुख भोगता या कष्ट उठाता है।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् समस्त कारणों के आदि कारण हैं, किन्तु किसी के भौतिक सुख या दुख के लिए वे जिम्मेदार नहीं रहते। परमेश्वर ऐसा पक्षपात नहीं करता। अल्पज्ञानी परमेश्वर पर दोष लगाते हैं कि वह पक्षपात करता है, जिससे कुछ लोग इस भौतिक संसार में सुख भोगते हैं और कुछ कष्ट उठाते हैं। किन्तु इस श्लोक से स्पष्ट है कि परमेश्वर ऐसा पक्षपात नहीं करते। हाँ जीवात्माएँ स्वतंत्र नहीं हैं। ज्योंही वे अपने को परम नियन्ता से स्वतंत्र घोषित कर देती हैं, त्योंही वे इस संसार में अपना भाग्य

आजमाने के लिए छोड़ दी जाती हैं। जब यह जगत ऐसी पथभ्रष्ट जीवात्माओं के लिए उत्पन्न किया जाता है, तो वे अपने-अपने कर्म उत्पन्न करती हैं और काल का लाभ उठाकर अपना भाग्य या दुर्भाग्य बनाती हैं। प्रत्येक प्राणी उत्पन्न होता है, उसका पालन होता है और अन्त में मारा जाता है। जहाँ तक इन तीनों बातों का सम्बन्ध है, ईश्वर सबों पर समभाव रखते हैं। अपने-अपने कर्म के अनुसार ही मनुष्य सुख या दुख पाता है। जीवात्मा का उच्च या निम्न पद, तथा उसके सुख तथा दुख उसके अपने कर्मों के फलस्वरूप होते हैं। इस प्रसंग में *अनीशाः* शब्द अत्यन्त उपयुक्त है, जिसका अर्थ है, "अपने अपने कर्मों पर निर्भर।" यहाँ पर उदाहरण दिया गया है कि सरकार हर नागरिक को सरकारी कार्य तथा प्रबन्ध के लिए सुविधाएँ प्रदान करती है, किन्तु मनुष्य अपनी इच्छा से ऐसी स्थिति उत्पन्न करता है, जिससे वह विभिन्न प्रकार की चेतनाओं में रहने के लिए बाध्य हो जाता है। इस श्लोक में उदाहरण दिया गया है कि जब वायु बहती है, तो धूल के कण वायु में तैरने लगते हैं, क्रमशः बिजली चमकती है फिर घनघोर वर्षा होती है और इस प्रकार वर्षाऋतु के कारण जंगल में विविधता उत्पन्न हो जाती है। ईश्वर अत्यन्त दयालु है—वह सबों को समान अवसर प्रदान करता है, किन्तु मनुष्य अपने कर्मफल के अनुसार इस भौतिक जगत में सुख या दुख भोगता है।

आयुषोऽपचयं जन्तोस्तथैवोपचयं विभुः ।
उभाभ्यां रहितः स्वस्थो दुःस्थस्य विदधात्यसौ ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

आयुषः—जीवन अवधि का; अपचयम्—ह्रास; जन्तोः—जीवात्माओं का; तथा—उसी प्रकार; एव—भी; उपचयम्—वृद्धि; विभुः—भगवान्; उभाभ्याम्—उन दोनों से; रहितः—रहित, मुक्त; स्व-स्थः—अपनी दिव्य स्थिति में सदैव स्थित; दुःस्थस्य—कर्म के नियम के अन्तर्गत जीवात्मा का; विदधाति—देता है; असौ—वह।

भगवान् विष्णु सर्वशक्तिमान हैं और वे प्रत्येक को सकाम कर्मों का फल देते हैं। इस प्रकार जीवात्मा चाहे अल्पजीवी हो या दीर्घजीवी, भगवान् तो सदा ही दिव्य पद पर रहते हैं और उनकी जीवन-अवधि के घटने या बढ़ने का कोई प्रश्न नहीं उठता।

तात्पर्य : भौतिक जगत में एक मच्छर तथा ब्रह्मा—ये दोनों जीवात्माएँ हैं, दोनों ही क्षुद्र स्फुलिंग हैं और परमेश्वर के अंश हैं। अपने-अपने कर्मफल के अनुसार परमेश्वर द्वारा मच्छर को अल्पायु मिलती है और ब्रह्मा को दीर्घायु। किन्तु *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—*कर्माणि निर्दहति*—भगवान् भक्तों के

बन्धनों को घटाता है। यही बात *भगवद्गीता* में भी कही गई है—*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र*—केवल परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए कर्म किया जाय, अन्यथा मनुष्य कर्म के कार्य-कारण से बँध जाता है। कर्म के नियमों के अनुसार जीवात्मा शाश्वत काल के शासन के अधीन होकर विश्व-भर में विचरण करता है और कभी वह मच्छर बन जाता है, तो कभी ब्रह्मा। बुद्धिमान मनुष्य के लिए यह व्यापार लाभप्रद नहीं है। *भगवद्गीता* (९.२५) में जीवात्माओं को आगाह किया गया है—*यान्ति देवव्रता देवान्*—जो देवताओं की पूजा में अनुरक्त हैं, वे देवलोक जाते हैं और जो पितरों में अनुरक्त हैं, वे पितृलोक में जाते हैं। जो सांसारिक कार्यों में रहना चाहते हैं, वे उसी में लगे रहते हैं। किन्तु जो व्यक्ति भक्ति करते हैं, वे भगवान् के धाम को जाते हैं, जहाँ न तो जन्म है, न मृत्यु, न ही कर्म के नियमानुसार विभिन्न योनियाँ हैं। जीवात्मा का सबसे बड़ा हित इसी में है कि वह भगवद्भक्ति में लगा रहे और भगवान् के परम धाम को जाए। श्रील भक्ति विनोद ठाकुर का उपदेश है, "मित्र! तुम काल की तरंगों में बहे जा रहे हो। तुम यह समझने का प्रयास करो कि तुम भगवान् के चिरन्तन दास हो। तब सब कुछ रुक जायेगा और तुम सदा सुखी रहोगे।"

केचित्कर्म वदन्त्येनं स्वभावमपरे नृप ।
एके कालं परे दैवं पुंसः काममुतापरे ॥ २२॥

शब्दार्थ

केचित्—कुछ; कर्म—सकाम कर्म; वदन्ति—कहते हैं; एनम्—वह; स्वभावम्—स्वभाव; अपरे—अन्य; नृप—हे राजा ध्रुव; एके—कुछ; कालम्—समय, काल; परे—अन्य; दैवम्—भाग्य; पुंसः—जीवात्मा की; कामम्—इच्छा; उत—भी; अपरे—अन्य।

कुछ लोग विभिन्न योनियों तथा उनके सुख-दुख में पाये जाने वाले अन्तर को कर्म-फल बताते हैं। कुछ इसे प्रकृति के कारण, अन्य लोग काल तथा भाग्य के कारण और शेष इच्छाओं के कारण बताते हैं।

तात्पर्य : दार्शनिक कई प्रकार के हैं—मीमांसक, नास्तिक, ज्योतिषी, कामुकतावादी तथा चिन्तक। वास्तविक निष्कर्ष यह है कि हमारे कर्म ही हमें इस जगत में विभिन्न योनियों में बाँध देते हैं। ये योनियाँ किस प्रकार बनीं, इसकी विवेचना वेदों में मिलती है। यह जीवात्मा की इच्छा के कारण है। जीवात्मा कोई जड़ पत्थर तो है नहीं, उसकी तरह-तरह की इच्छाएँ अथवा काम होते हैं। वेदों का

कथन है—*कामोऽकर्षीत्।* जीवात्माएँ मूलत: भगवान् के अंश हैं, जिस प्रकार अग्नि की चिनगारियाँ होती हैं, किन्तु वे जीवात्माएं प्रकृति पर विजय की कामना द्वारा आकर्षित होकर इस भौतिक जगत में नीचे गिर आई हैं। यह तथ्य है। प्रत्येक जीवात्मा यथाशक्ति भौतिक स्रोतों पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करती है।

इस काम अथवा इच्छा को विनष्ट नहीं किया जा सकता। कुछ चिन्तकों का कथन है कि यदि कोई अपनी इच्छाएँ त्याग दे तो पुन: मुक्त हो जाता है। किन्तु इच्छाओं को पूरी तरह छोड़ पाना सम्भव नहीं है, क्योंकि इच्छा तो जीवात्मा का लक्षण है। यदि इच्छा न हो तो जीवात्मा पत्थर के समान जड़ रहे। अत: श्रील नरोत्तमदास ठाकुर सलाह देते हैं कि मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी इच्छा को भगवान् की सेवा की ओर मोड़ दे। तब इच्छा शुद्ध हो जाती है। जब इच्छा शुद्ध हो जाती है, तो मनुष्य समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि विभिन्न विचारकों द्वारा प्रस्तुत योनियों तथा उनके सुख-दुख की व्याख्या करनेवाले सभी सिद्धान्त अपूर्ण हैं। वास्तविक व्याख्या तो यह है कि हम सभी भगवान् के नित्य दास हैं और ज्योंही हम इस भौतिक संसार सम्बन्ध को भूल जाते हैं त्योंही हम इस जगत में फेंक दिये जाते हैं, जहाँ हम विभिन्न कर्मों के द्वारा सुख या दुख भोगते हैं। हम इस भौतिक संसार में इच्छा द्वारा आकृष्ट होते हैं, किन्तु इस इच्छा को शुद्ध करके भगवान् की भक्ति में लगाना होगा। तब इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न रूपों तथा अवस्थाओं में हमारा मटकना बन्द हो जाएगा।

अव्यक्तस्याप्रमेयस्य नानाशक्त्युदयस्य च ।
न वै चिकीर्षितं तात को वेदाथ स्वसम्भवम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अव्यक्तस्य—अप्रकट का; अप्रमेयस्य—अप्रमेय का; नाना—अनेक; शक्ति—शक्तियाँ; उदयस्य—प्रकट करनेवाले का; च—भी; न—कभी नहीं; वै—निश्चय ही; चिकीर्षितम्—योजना; तात—हे बालक; क:—कौन; वेद—जान सकता है; अथ—अत:; स्व—अपनी; सम्भवम्—उत्पत्ति।

परम सत्य अर्थात् सत्त्व कभी भी अपूर्ण ऐन्द्रिय प्रयास द्वारा जानने का विषय नहीं रहा है, न ही उसका प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। वह पूर्ण भौतिक शक्ति सदृश नाना प्रकार की शक्तियों का स्वामी है और उसकी योजना या कार्यों को कोई भी नहीं समझ सकता। अत: निष्कर्ष यह निकलता है कि वे समस्त कारणों के आदि कारणस्वरूप हैं, अत: उन्हें कल्पना

द्वारा नहीं जाना जा सकता।

तात्पर्य : यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्योंकि अनेक प्रकार के चिन्तक भिन्न-भिन्न विधियों से सिद्धान्त बनाते हैं, तो उनमें से कौन सही है? इसका उत्तर यह है कि परम सत्य या सत्त्व कभी भी प्रत्यक्ष अनुभव या कल्पना का विषय नहीं रहा है। मनोधर्मी चिन्तक को कूप-मण्डूक कहा जा सकता है। कथा इस प्रकार है कि एक तीन फुट गहरे कूप में रहने वाले मण्डूक (मेंढक) ने अपने कुएं के ज्ञान के आधार पर अटलांटिक सागर की लम्बाई-चौड़ाई जाननी चाही। लेकिन यह उसके लिए दुष्कर था। कोई व्यक्ति भले ही कितना बड़ा शिक्षाविद्, विद्वान् या प्रोफेसर क्यों न हो, किन्तु सीमित इन्द्रियों के कारण वह परम सत्य की न तो कल्पना कर सकता है और न जान सकता है। समस्त कारणों के कारण परम सत्य को स्वयं परम सत्य से ही जाना जा सकता है। जब रात्रि में सूर्य दृष्टिगोचर नहीं होता या दिन में बादलों से ढका रहता है, तो उसे न तो शारीरिक, न ही मानसिक शक्ति अथवा वैज्ञानिक उपकरणों से उघाड़ा जा सकता है, भले ही सूर्य आकाश में हो। कोई यह दावा नहीं कर सकता कि उसने ऐसी टार्च खोज निकाली है, जिसे रात्रि में छत पर जाकर आकाश की ओर अभिमुख करने पर सूर्य दिखलाई पड़ सके। न तो ऐसी टार्च है और न ही इसकी सम्भावना है।

इस श्लोक में आया हुआ *अव्यक्त* शब्द सूचित करता है कि परम सत्य को किसी प्रकार के तथाकथित वैज्ञानिक ज्ञान के उन्नयनसमुन्नत ज्ञान से प्रकट नहीं किया जा सकता। सत्त्व प्रत्यक्ष अनुभव का विषय नहीं है। परम सत्य को वैसे ही जाना जा सकता है, जिस प्रकार बादलों से ढ़का हुआ अथवा रात्रि से आच्छादित सूर्य को, क्योंकि जब प्रात:काल सूर्य अपने आप प्रकट होता है, तो हर प्राणी उसे देख सकता है, संसार को देख सकता है और अपने आपको देख सकता है। आत्म-साक्षात्कार का यह ज्ञान *आत्मतत्त्व* कहलाता है। किन्तु जब तक मनुष्य आत्मतत्त्व को नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक वह उसी अंधकार में रहता है, जिसमें वह जन्मा था। ऐसी परिस्थिति में भगवान् की योजना को कोई भी नहीं समझ सकता। भगवान् अनेक शक्तियों से सम्पन्न हैं जैसाकि वैदिक साहित्य में कहा गया है (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*)। वे शाश्वत कालशक्ति से समन्वित हैं। वे न केवल भौतिक शक्ति से सम्पन्न हैं, जिसे हम देखते और अनुभव करते हैं, वरन् वे ऐसी अनेक गुप्त शक्तियों से युक्त हैं, जिन्हें

समय आने पर वे ही प्रकट कर सकते हैं। भौतिक विज्ञानी विभिन्न शक्तियों के आंशिक ज्ञान का अध्ययन कर सकता है। वह किसी एक शक्ति को अपने सीमित ज्ञान से समझने का प्रयास कर सकता है, किन्तु फिर भी भौतिक विज्ञान के बल पर परम सत्य को समझ पाना सम्भव नहीं हो पाता। कोई भी भौतिक विज्ञानी पहले से यह नहीं बता सकता कि भविष्य में क्या होनेवाला है। किन्तु भक्तियोग तथाकथित वैज्ञानिक ज्ञान की प्रगति से सर्वथा भिन्न है। भक्त भगवान् के समक्ष पूर्ण रूप से समर्पित हो जाता है और वे अपनी अहैतुकी कृपा से स्वयं को प्रकट करते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*ददामि बुद्धियोगं तम्*—अर्थात् मैं उसे बुद्धि प्रदान करता हूँ। आखिर यह बुद्धि क्या है? *येन माम् उपयान्ति ते।* भगवान् मनुष्य को बुद्धि देते हैं जिससे वह अज्ञान सागर को पार करके भगवान् के धाम को वापस जा सके। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि समस्त कारणों के कारण परम सत्य अथवा परब्रह्म को दार्शनिक चिन्तन द्वारा नहीं समझा जा सकता, किन्तु वे अपने भक्त के समक्ष प्रकट होते हैं, क्योंकि भक्त उनके चरणकमलों पर पूर्णत: समर्पित हो जाता है। अत: *भगवद्गीता* को स्वयं परम सत्य द्वारा उद्घाटित धर्मग्रन्थ मानना चाहिए, जिसे परम सत्य द्वारा इस लोक में प्रकट होने पर स्वयं, उच्चारित किया गया था। यदि कोई बुद्धिमान मनुष्य यह जानना चाहता है कि ईश्वर क्या है, तो उसे इस दिव्य साहित्य का अध्ययन प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में करना चाहिए। तभी कृष्ण को यथारूप समझना सरल होगा।

न चैते पुत्रक भ्रातुर्हन्तारो धनदानुगाः ।
विसर्गादानयोस्तात पुंसो दैवं हि कारणम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; च—भी; एते—ये सब; पुत्रक—हे पुत्र; भ्रातुः—तुम्हारे भाई के; हन्तारः—मारनेवाले; धनद—कुवेर के; अनुगाः—अनुचर; विसर्ग—जन्म; आदानयोः—मृत्यु का; तात—हे पुत्र; पुंसः—जीवात्मा का; दैवम्—ईश्वर; हि—निश्चय ही; कारणम्—कारण।

हे पुत्र, वे कुवेर के अनुचर यक्षगण तुम्हारे भाई के वास्तविक हत्यारे नहीं हैं; प्रत्येक जीवात्मा का जन्म तथा मृत्यु तो समस्त कारणों के कारण परमेश्वर द्वारा ही तय होती है।

स एव विश्वं सृजति स एवावति हन्ति च ।

अथापि ह्यनहङ्कारान्नाज्यते गुणकर्मभिः ॥ २५॥

शब्दार्थ

सः—वह; एव—निश्चय ही; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; सृजति—उत्पन्न करता है; सः—वह; एव—निश्चय ही; अवति—पालता है; हन्ति—संहार करता है; च—भी; अथ अपि—और भी; हि—निश्चय ही; अनहङ्कारात्—अहंकाररहित होने से; न—नहीं; अज्यते—फँसता है; गुण—गुणों से; कर्मभिः—कर्मों से।

भगवान् ही इस भौतिक जगत की सृष्टि करते, पालते और यथासमय संहार करते हैं, किन्तु ऐसे कार्यों से परे रहने के कारण वे इनमें न तो अहंकार से और न प्रकृति के गुणों द्वारा प्रभावित होते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में आये हुए *अनहंकार* शब्द का अर्थ ''अहंकाररहित'' है। बद्धजीव अहंकारी होता है और अपने कर्म के फलस्वरूप वह इस जगत में अनेक प्रकार की देह प्राप्त करता है। कभी उसे देवता की देह प्राप्त होती है और वह देह को स्वात्म मान बैठता है। इसी प्रकार जब उसे कुत्ते की देह प्राप्त होती है, तो वह अपने (स्व) को वही देह मान लेता है। किन्तु भगवान् के लिए देह तथा आत्मा में ऐसा कोई अन्तर नहीं रहता। अतः *भगवद्गीता* का प्रमाण है कि जो व्यक्ति कृष्ण को सामान्य मनुष्य समझता है, वह उनके दिव्य स्वभाव से परिचित नहीं है और महामूर्ख है। भगवान् कहते हैं—*न मां कर्माणि लिम्पन्ति*—वे जो कुछ करते हैं उनसे उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि वे प्रकृति के भौतिक गुणों से कभी भी दूषित नहीं होते। हमारे पास भौतिक शरीर का होना सिद्ध करता है कि हम तीनों गुणों से दूषित हो चुके हैं। अर्जुन से भगवान् कहते हैं, ''इसके पूर्व मेरे तथा तुम्हारे कई जन्म हुए थे, मुझे उनका स्मरण है, किन्तु तुम्हें नहीं है।'' यही जीवात्मा और परमात्मा का अन्तर है। परमात्मा का कोई भौतिक शरीर नहीं होता और भौतिक शरीर न होने से वे जो भी कार्य करते हैं उनसे वे प्रभावित नहीं होते। अनेक मायावादी चिन्तक कृष्ण के शरीर को सत्त्वगुण के केन्द्रीभूत होने का प्रभाव मानते हैं और वे कृष्ण की आत्मा को उनके शरीर से पृथक् मानते हैं। किन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि बद्धजीव का शरीर चाहे उसमें भौतिक अच्छाइयाँ कितनी भी हों, फिर भी भौतिक होता है; जबकि कृष्ण का शरीर कभी भी भौतिक नहीं होता। वह दिव्य होता है। कृष्ण में अहंकार नहीं है, क्योंकि वे मिथ्या तथा अस्थायी देह से अपनी पहचान नहीं करते। उनका शरीर सदैव नित्य है। वे इस जगत में अपने मूल, दिव्य देह के साथ अवतरित होते हैं। *भगवद्गीता* में इसकी व्याख्या *परं*

भावम् के रूप में की गई है। कृष्ण के व्यक्तित्व को समझने में *परं भावम्* तथा *दिव्यम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

एष भूतानि भूतात्मा भूतेशो भूतभावनः ।
स्वशक्त्या मायया युक्तः सृजत्यत्ति च पाति च ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; भूतानि—समस्त प्राणी; भूत-आत्मा—समस्त जीवात्माओं का परमात्मा; भूत-ईशः—प्रत्येक का नियन्ता; भूत-भावनः—प्रत्येक का पालनकर्ता; स्व-शक्त्या—अपनी शक्ति से; मायया—बहिरंगा शक्ति से; युक्तः—ऐसे साधन से; सृजति—उत्पन्न करता है; अत्ति—संहार करता है; च—तथा; पाति—पालन करता है; च—और।

भगवान् समस्त जीवात्माओं के परमात्मा हैं। वे हर एक के नियामक तथा पालक हैं; वे अपनी बहिरंगा शक्ति के माध्यम से सभी जीवों का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं।

तात्पर्य : सृष्टि करने में दो प्रकार की शक्तियाँ कार्य करती हैं। भगवान् अपनी बहिरंगा, भौतिक शक्ति के द्वारा इस भौतिक जगत की सृष्टि करते हैं, किन्तु वैकुण्ठ-जगत तो उनकी अन्तरंगा शक्ति का प्राकट्य है। वे सदैव अन्तरंगा शक्ति से सम्बद्ध रहते हैं, किन्तु भौतिक शक्ति से सदैव विलग रहते हैं। अत: *भगवद्गीता* (९.४) में भगवान् कहते हैं—*मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः*—सभी जीवात्माएँ या तो मुझमें या मेरी शक्ति में वास करती हैं, किन्तु मैं सर्वत्र नहीं रहता। वे व्यक्तिगत रूप से वैकुण्ठ जगत में सदैव स्थित रहते हैं। भौतिक जगत में भी जहाँ कहीं भी वे व्यक्तिगत रूप से उपस्थित रहते हैं वह वैकुण्ठ जगत ही माना जाता है। उदाहरणार्थ, शुद्ध भक्तों द्वारा भगवान् मन्दिरों में पूजे जाते हैं, अत: मन्दिरों को वैकुण्ठ-जगत मानना चाहिए।

तमेव मृत्युममृतं तात दैवं
सर्वात्मनोपेहि जगत्परायणम् ।
यस्मै बलिं विश्वसृजो हरन्ति
गावो यथा वै नसि दामयन्त्रिताः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

तम्—उनको; एव—निश्चय ही; मृत्युम्—मृत्यु; अमृतम्—अमरत्व; तात—हे पुत्र; दैवम्—ईश्वर; सर्व-आत्मना—सभी प्रकार से; उपेहि—शरण में जाओ; जगत्—जगत का; परायणम्—परिणति, चरम लक्ष्य; यस्मै—जिसको; बलिम्—भेंट; विश्व-सृजः—ब्रह्मा जैसे समस्त देवता; हरन्ति—ले जाते हैं; गावः—बैल; यथा—जिस प्रकार; वै—निश्चय ही; नसि—नाक में; दाम—रस्सी से; यन्त्रिताः—वश में किये गये।

हे बालक ध्रुव, तुम भगवान् की शरण में जाओ जो जगत की प्रगति के चरम लक्ष्य हैं।

ब्रह्मादि सहित सभी देवगण उनके नियंत्रण में कार्य कर रहे हैं, जिस प्रकार नाक में रस्सी पड़ा बैल अपने स्वामी द्वारा नियंत्रित किया जाता है।

तात्पर्य : परम नियामक से स्वतंत्र होने की घोषणा करना भौतिक रोग है। वस्तुत: जब हम परम नियामक को भूल जाते हैं और भौतिक प्रकृति पर अधिकार जमाना चाहते हैं, तो हमारा भौतिक अस्तित्व प्रारम्भ होता है। इस जगत में हर एक व्यक्ति परम नियामक बनने के लिए भरसक प्रयत्न कर रहा है चाहे वह व्यक्तिगत हो, राष्ट्र स्तर पर हो, सामाजिक हो अथवा अन्य रूपों में हो। ध्रुव महाराज को उनके पितामह ने युद्ध करने के लिए मना किया क्योंकि उनको चिन्ता थी कि ध्रुव व्यक्तिगत आकांक्षा के कारण यक्षों की समग्र जाति को युद्ध में विनष्ट कर देने पर तुले थे। अत: इस श्लोक में स्वायंभुव मनु परम नियंता की स्थिति बताकर ध्रुव की मिथ्या आकांक्षा के अन्तिम अंश को भी मिटा देना चाहते हैं। यहाँ पर *मृत्युम् अमृतम्* शब्द सार्थक हैं जिनका अर्थ है, ''मृत्यु तथा अमरता।'' *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं, ''मैं ही परम काल हूँ जो असुरों से सब कुछ छीन लेता है।'' असुरों का कार्य प्रकृति के स्वामी बन कर जीवन-संघर्ष करते रहना है। असुरों की बारम्बार मृत्यु होती रहती है और वे भौतिक जगत में बुरी तरह से उलझे रहते हैं। भगवान् असुरों के लिए मृत्यु, किन्तु देवों के लिए अमृत अर्थात् शाश्वत जीवन हैं। जो भक्त भगवान् की निरन्तर सेवा करते रहते हैं उन्हें पहले ही अमरत्व प्राप्त हुआ रहता है, क्योंकि वे इस जीवन में जो भी करते हैं उसे अगले जन्मों में भी करते रहेंगे। केवल भौतिक देहों के स्थान पर उन्हें दिव्य-देहें प्राप्त होंगी। असुरों की भाँति उन्हें भौतिक शरीरों को बदलना नहीं पड़ता। फलत: भगवान् एक ही साथ मृत्यु तथा अमरत्व दोनों हैं। वे असुरों के लिए मृत्यु तथा भक्तों के लिए अमरत्व हैं। वे हर एक के चरम गन्तव्य हैं, क्योंकि वे समस्त कारणों के कारण हैं। ध्रुव महाराज को यह उपदेश मिला कि कोई भी व्यक्तिगत आकांक्षा रखे बिना भगवान् की शरण में जाये। कोई यह तर्क कर सकता है कि देवताओं की पूजा क्यों की जाती है? यहाँ पर यह उत्तर दिया गया है कि केवल अल्पज्ञानी पुरुष ही देवताओं को पूजते हैं। देवता स्वयं परमेश्वर को प्रसन्न करने के उद्देश्य से ही यज्ञों को स्वीकार करते हैं।

यः पञ्चवर्षो जननीं त्वं विहाय
मातुः सपत्न्या वचसा भिन्नमर्मा ।
वनं गतस्तपसा प्रत्यगक्ष-
माराध्य लेभे मूर्ध्नि पदं त्रिलोक्याः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; पञ्च-वर्षः—पाँच साल के; जननीम्—माता को; त्वम्—तुम; विहाय—छोड़ कर; मातुः—माता का; स-पत्न्याः—सौतों के; वचसा—शब्दों से; भिन्न-मर्मा—हृदय में शोकाकुल; वनम्—जंगल को; गतः—गये हुए; तपसा—तपस्या द्वारा; प्रत्यक्-अक्षम्—परमेश्वर को; आराध्य—पूज कर; लेभे—प्राप्त किया; मूर्ध्नि—चोटी पर; पदम्—पद; त्रि-लोक्याः—तीनों लोकों की।

हे ध्रुव, तुम केवल पाँच वर्ष की आयु में ही अपनी माता कि सौत के वचनों से अत्यन्त दुखी हुए और बड़ी बहादुरी से अपनी माता का संरक्षण त्याग दिया तथा भगवान् का साक्षात्कार करने के उद्देश्य से योगाभ्यास में संलग्न होने के लिए जंगल चले गये थे। इस कारण तुमने पहले से ही तीनों लोकों में सर्वोच्च पद प्राप्त कर लिया है।

तात्पर्य : मनु को गर्व था कि ध्रुव महाराज उनके कुल के वंशधर थे, क्योंकि जब वे पाँच साल के थे तभी उन्होंने भगवान् का ध्यान करना प्रारम्भ किया और केवल छह मास में परमेश्वर का साक्षात्कार कर लिया। वस्तुतः ध्रुव महाराज मनुवंश के अथवा मनुष्य-परिवार के भूषण हैं। मनुष्य-परिवार का प्रारम्भ मनु से होता है। संस्कृत में *मनुष्य* शब्द का अर्थ "मनु की संतान" है। ध्रुव महाराज न केवल स्वायंभुव मनु के कुल की कीर्ति हैं, वरन् वे सम्पूर्ण मानव समाज की कीर्ति हैं। चूँकि ध्रुव महाराज ने पहले ही भगवान् के समक्ष समर्पण कर दिया था, अतः उनसे विशेष अनुरोध किया जा रहा था कि ऐसा कुछ न करें जो शरणागत के लिए अशोभनीय हो।

तमेनमङ्गात्मनि मुक्तविग्रहे
व्यपाश्रितं निर्गुणमेकमक्षरम् ।
आत्मानमन्विच्छ विमुक्तमात्मदृग्
यस्मिन्निदं भेदमसत्प्रतीयते ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; एनम्—वह; अङ्ग—हे ध्रुव; आत्मनि—मन में; मुक्त-विग्रहे—क्रोध-रहित; व्यपाश्रितम्—स्थित; निर्गुणम्—दिव्य; एकम्—एक; अक्षरम्—अच्युत ब्रह्म; आत्मानम्—स्व; अन्विच्छ—ढूँढने का यत्न करो; विमुक्तम्—अकलुषित; आत्म-दृक्—परमात्मा की ओर मुख किये; यस्मिन्—जिसमें; इदम्—यह; भेदम्—अन्तर; असत्—असत्य; प्रतीयते—प्रतीत होता है।

अतः हे ध्रुव, अपना ध्यान परम पुरुष अच्युत ब्रह्म की ओर फेरो। तुम अपनी मूल स्थिति में

रह कर भगवान् का दर्शन करो। इस तरह आत्म-साक्षात्कार द्वारा तुम इस भौतिक अन्तर को क्षणिक पाओगे।

तात्पर्य : जीवात्माओं की आत्म-साक्षात्कार की उनकी स्थिति के अनुसार, तीन प्रकार की दृष्टि होती है। देहात्म-बुद्धि के अनुसार मनुष्य योनियों के रूप में अन्तर देखता है। भौतिक रूपों में जीवात्मा वास्तव में अनेक भौतिक रूपों में से होकर गुजरता है, किन्तु शरीर के इन परिवर्तनों के बावजूद वह शाश्वत है। अत: देहात्म-बुद्धि के अनुसार देखे जाने पर एक मनुष्य दूसरे से भिन्न लगता है। मनु चाहते थे कि ध्रुव महाराज यक्षों के प्रति अपनी दृष्टि बदल दें क्योंकि वे उन्हें अपने से भिन्न अथवा शत्रु-रूप में देख रहे थे। यथार्थ में कोई किसी का मित्र या शत्रु नहीं होता है। प्रत्येक व्यक्ति कर्मों के अधीन विभिन्न प्रकार के शरीर धारण करता है, किन्तु जैसे ही उसे आत्म-बोध हो जाता है, तो इस नियम के अनुसार भेद नहीं पाता है। दूसरे शब्दों में, जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५४) में कहा गया है—

ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
सम: सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

पहले से मुक्त भक्त को बाह्य शरीर में भेद नहीं दिखता, वह समस्त जीवात्माओं को भगवान् के नित्य दास के रूप में देखता है। मनु ने ध्रुव महाराज को उपदेश दिया कि वे इसी दृष्टि से देखें। उन्हें ऐसा उपदेश इसलिए भी दिया गया, क्योंकि वे महान् भक्त थे, उन्हें अन्य जीवात्माओं को सामान्य दृष्टि से नहीं देखना चाहिए था। अप्रत्यक्षत: मनु ने संकेत किया कि ध्रुव ने स्नेहवश अपने भाई को अपना सगा और यक्षों को शत्रु माना है। इस प्रकार का भेद उस समय दूर हो जाता है जब मनुष्य भगवान् के नित्य दास रूप में अपनी मूल शाश्वत अवस्था में स्थित होता है।

त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त
आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ ।
भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्या-
ग्रन्थिं विभेत्स्यसि ममाहमिति प्ररूढम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; प्रत्यक्-आत्मनि—परमात्मा को; तदा—उस समय; भगवति—भगवान् को; अनन्ते—असीम को; आनन्द-मात्रे—समस्त आनन्द का आगार; उपपन्न—से युक्त; समस्त—सर्व; शक्तौ—शक्तियाँ; भक्तिम्—भक्ति; विधाय—करके; परमाम्—परम; शनकैः—तुरन्त; अविद्या—माया की; ग्रन्थिम्—गाँठ; विभेत्स्यसि—नष्ट कर दोगे, काट दोगे; मम—मेरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; प्ररूढम्—दृढ़तापूर्वक स्थित, सुदृढ़।

इस प्रकार अपनी सहज स्थिति प्राप्त करके तथा समस्त आनन्द के सर्व शक्तिसम्पन्न आगार तथा प्रत्येक जीवात्मा में परमात्मा में स्थित परमेश्वर की सेवा करके तुम तुरन्त ही ''मैं'' तथा 'मेरा' के मायाजनित बोध को भूल जाओगे।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज पहले से मुक्त पुरुष थे, क्योंकि पाँच वर्ष की ही अवस्था में उन्हें भगवान् का दर्शन हो चुका था। मुक्त होने के बावजूद भी वे इस समय माया के मोह से ग्रस्त थे, क्योंकि अपने भाई उत्तम को देहात्म-बुद्धि से देख रहे थे। सारा भौतिक जगत 'मैं' तथा 'मेरा' को आधार मानकर कार्यशील है। भौतिक जगत के प्रति आकर्षण का मूल कारण यही है। यदि मनुष्य 'मैं' तथा 'मेरा' के मायामोह से आकृष्ट हो जाता है, तो वह इसी जगत में विभिन्न सम्मानित अथवा घृणित पदों पर रहता रहेगा। भगवत्कृपा से मनु तथा ऋषियों ने ध्रुव महाराज को स्मरण दिलाया कि वे इस 'मैं-मेरे' के भौतिक बोध में न रहें। मात्र भगवद्भक्ति से उनका यह मोह सुगमता से दूर हो सकता है।

संयच्छ रोषं भद्रं ते प्रतीपं श्रेयसां परम् ।
श्रुतेन भूयसा राजन्नगदेन यथामयम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

संयच्छ—जरा रोको; रोषम्—क्रोध को; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारा; प्रतीपम्—शत्रु; श्रेयसाम्—समस्त अच्छाई का; परम्—अग्रणी; श्रुतेन—सुनकर; भूयसा—निरन्तर; राजन्—हे राजा; अगदेन—उपचार से; यथा—जिस प्रकार; आमयम्—रोग।

हे राजन्, मैंने तुम्हें जो कुछ कहा है, उस पर विचार करो। यह राग पर ओषधि के समान काम करेगा। अपने क्रोध को रोको, क्योंकि आत्मबोध के मार्ग में क्रोध सबसे बड़ा शत्रु है। मैं तुम्हारे मंगल की कामना करता हूँ। तुम मेरे उपदेशों का पालन करो।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज मुक्त जीव थे और वास्तव में वे किसी से रुष्ट न थे। किन्तु शासक होने के नाते, राज्य में शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने की दृष्टि से कुछ समय के लिए क्रुद्ध होना उनका कर्तव्य था। उनका भाई उत्तम निर्दोष था, तो भी किसी यक्ष ने उसका वध कर दिया था। राजा होने के नाते ध्रुव महाराज का कर्तव्य था कि अपराधी का वध जैसे को तैसा करते। ध्रुव राजा थे, चुनौती

उपस्थित होने पर ध्रुव महाराज ने डटकर युद्ध किया और यक्षों को यथेष्ठ रूप से दण्डित किया। किन्तु क्रोध ऐसा है कि बढ़ाने से असीमित रूप में बढ़ता है। इस दृष्टि से कि ध्रुव महाराज शासकीय क्रोध सीमा का अतिक्रमण न कर जाये, मनु ने अपने पौत्र को रोक कर उचित ही किया। ध्रुव महाराज अपने पितामह के प्रयोजन को समझ गये, अत: उन्होंने तुरन्त युद्ध बन्द कर दिया। इस श्लोक में *श्रुतेन भूयसा* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिनका अर्थ है ''निरन्तर सुनते रहने से।'' भक्ति के विषय में निरन्तर श्रवण से क्रोध के वेग को शान्त किया जा सकता है क्योंकि यह भक्ति के मार्ग में बाधक है। श्रील परीक्षित महाराज ने कहा है कि भगवान् की लीलाओं का निरन्तर श्रवण समस्त भवरोगों की रामबाण दवा है। अत: प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह भगवान् के विषय में निरन्तर श्रवण करे। इससे मानसिक सन्तुलन बना रहेगा और आध्यात्मिक जीवन की प्रगति में कोई बाधा नहीं आएगी।

दुष्टों पर ध्रुव महाराज का क्रुद्ध होना उचित था। इस प्रसंग में एक सर्प के बारे में एक लघु कथा है जो नारद के उपदेश से भक्त बन गया था। नारद ने उसे उपदेश दिया था कि अब आगे वह किसी को न काटे। चूंकि सामान्य रूप में साँप दूसरों को काटना अपना धर्म समझता है, अत: भक्त होने के नाते उसे ऐसा करने से रोका गया। दुर्भाग्यवश, लोगों ने साँप के न काटने के व्रत का अनुचित लाभ उठाया—विशेष रूप से बच्चे उस पर पत्थर फेंकने लगे। किन्तु वह किसी को न काटता, क्योंकि उसके गुरु का यही आदेश था। कुछ काल बाद जब वह अपने गुरु नारद से मिला तो उसने शिकायत की, ''मैंने निर्दोष जीवों को काटने की बुरी आदत छोड़ दी है, किन्तु वे मुझ पर पत्थर फेंक कर मेरे साथ दुर्व्यवहार कर रहे हैं।'' यह सुनकर नारद ने उसे उपदेश दिया, ''काटना मत; किन्तु अपना फन फैलाना मत भूलना जिससे लगे कि तुम काटनेवाले हो।'' ऐसा करने से वे चले जाएंगे। इसी प्रकार भक्त सदैव अहिंसक होता है, उसमें समस्त सद्‌गुण रहते हैं, किन्तु इस सामान्य जगत में, जब अन्य लोग उत्पात मचाते हैं, तो उसे उत्पातियों को भगाने के लिए उस समय अवश्य क्रुद्ध होना चाहिए।

येनोपसृष्टात्पुरुषाल्लोक उद्विजते भृशम् ।
न बुधस्तद्वशं गच्छेदिच्छन्नभयमात्मन: ॥ ३२॥

शब्दार्थ

येन—जिससे; उपसृष्टात्—वशीभूत होकर; पुरुषात्—पुरुष द्वारा; लोकः—प्रत्येक व्यक्ति; उद्विजते—भयभीत होता है; भृशम्—अत्यधिक; न—कभी नहीं; बुधः—बुद्धिमान पुरुष; तत्—क्रोध के; वशम्—वश में; गच्छेत्—जाए; इच्छन्—चाहते हुए; अभयम्—निर्भीकता, मुक्ति; आत्मनः—स्व की।

जो व्यक्ति इस भौतिक जगत से मुक्ति चाहता है उसे चाहिए कि वह क्रोध के वशीभूत न हो, क्योंकि क्रोध से मोहग्रस्त होने पर वह अन्य सबों के लिए भय का कारण बन जाता है।

तात्पर्य : भक्त या साधु पुरुष को न तो अन्यों के लिए भय का कारण बनना चाहिए और न किसी को चाहिए कि उसके भय का कारण बने। यदि दूसरे से शत्रुता का व्यवहार नहीं किया जाता तो फिर कोई किसी का शत्रु क्यों बनेगा? किन्तु जीसस क्राइस्ट का उदाहरण हमारे समक्ष है जिनके शत्रुओं ने उन्हें क्रूस (सूली) चढ़ा दिया। असुर सदैव विद्यमान रहते हैं और वे साधु पुरुषों में भी दोष निकालते रहते हैं, किन्तु साधु पुरुष कभी रुष्ट नहीं होते, भले ही उन्हें कितना ही क्यों न उकसाया जाये।

हेलनं गिरिशभ्रातुर्धनदस्य त्वया कृतम् ।
यज्जघ्निवान्पुण्यजनान्भ्रातृघ्नानित्यमर्षितः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

हेलनम्—दुर्व्यवहार; गिरिश—शिवजी के; भ्रातुः—भाई; धनदस्य—कुबेर का; त्वया—तुम्हारे द्वारा; कृतम्—किया गया; यत्—क्योंकि; जघ्निवान्—तुम्हारे द्वारा मारे गये; पुण्य-जनान्—यक्षगण; भ्रातृ—तुम्हारे भाई के; घ्नान्—मारने वाले; इति—इस प्रकार (सोचकर); अमर्षितः—क्रुद्ध।

हे ध्रुव, तुमने सोचा कि यक्षों ने तुम्हारे भाई का वध किया है, अतः तुमने अनेक यक्षों को मार डाला है। किन्तु इस कृत्य से तुमने शिवजी के भ्राता एवं देवताओं के कोषाध्यक्ष कुबेर के मन को क्षुब्ध कर दिया हैं। ख्याल करो कि तुम्हारे ये कर्म कुबेर तथा शिव दोनों के प्रति अतीव अवज्ञापूर्ण हैं।

तात्पर्य : मनु ने बताया कि यक्ष कुबेर के परिवार से सम्बन्धित हैं, अतः उनके प्रति शत्रुभाव के कारण ध्रुव महाराज शिव तथा उनके भाई कुबेर के प्रति भी अपराधी हैं। वे सामान्य व्यक्ति न थे, इसलिए उन्हें *पुण्य-जनान्* अर्थात् पवित्र व्यक्ति कहा गया है। किसी-न-किसी प्रकार से कुबेर क्षुब्ध थे और ध्रुव महाराज को सलाह दी गई कि वे उन्हें शान्त करें।

तं प्रसादय वत्साशु सन्नत्या प्रश्रयोक्तिभिः ।
न यावन्महतां तेजः कुलं नोऽभिभविष्यति ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; प्रसादय—शान्त करो; वत्स—मेरे पुत्र; आशु—शीघ्र; सन्नत्या—नमस्कार द्वारा; प्रश्रया—सदाचरण से; उक्तिभिः—विनीत वचनों से; न यावत्—इसके पूर्व कि; महताम्—महान् पुरुषों का; तेजः—कोप; कुलम्—परिवार को; नः—हमारे; अभिभविष्यति—प्रभावित कर दे।

इस कारण, हे पुत्र, तुम विनीत वचनों तथा प्रार्थना द्वारा कुबेर को शीघ्र शान्त कर लो जिससे कि उनका कोप हमारे परिवार को किसी तरह प्रभावित न कर सके।

तात्पर्य : सामान्य व्यवहार में हमें हर एक से और विशेष रूप से कुबेर जैसे उच्च-पदस्थ देवताओं से तो मित्रता बरतनी ही चाहिए। हमारा व्यवहार ऐसा हो कि कोई क्रुद्ध न हो जिससे वह व्यक्तियों, परिवारों या समाज को हानि पहुँचाए।

एवं स्वायम्भुवः पौत्रमनुशास्य मनुर्ध्रुवम् ।
तेनाभिवन्दितः साकमृषिभिः स्वपुरं ययौ ॥ ३५॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; स्वायम्भुवः—स्वायंभुव; पौत्रम्—अपने पौत्र को; अनुशास्य—शिक्षा देकर; मनुः—मनु; ध्रुवम्—ध्रुव महाराज को; तेन—उसके द्वारा; अभिवन्दितः—नमस्कृत; साकम्—साथ-साथ; ऋषिभिः—ऋषियों के साथ; स्व-पुरम्—अपने धाम को; ययौ—चले गये।

इस प्रकार जब स्वायंभुव मनु अपने पौत्र ध्रुव महाराज को शिक्षा दे चुके तो ध्रुव ने उन्हें सादर नमस्कार किया। फिर ऋषियों समेत मनु अपने धाम को चले गये।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत "युद्ध बन्द करने के लिए ध्रुव को स्वायंभुव मनु की सलाह" नामक ग्यारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बारह

ध्रुव महाराज का भगवान् के पास जाना

मैत्रेय उवाच

ध्रुवं निवृत्तं प्रतिबुद्ध्य वैशसा-
दपेतमन्युं भगवान्धनेश्वरः ।
तत्रागतश्चारणयक्षकिन्नरैः
संस्तूयमानो न्यवदत्कृताञ्जलिम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; ध्रुवम्—ध्रुव महाराज को; निवृत्तम्—विमुख; प्रतिबुद्ध्य—जानकर; वैशसात्—वध से; अपेत—शान्त; मन्युम्—क्रोध; भगवान्—कुबेर; धन-ईश्वरः—धन के स्वामी; तत्र—वहाँ; आगतः—प्रकट हुए; चारण—चारण; यक्ष—यक्षों; किन्नरैः—तथा किन्नरों द्वारा; संस्तूयमानः—पूजित होकर; न्यवदत्—बोला; कृत-अञ्जलिम्—हाथ जोड़े हुए ध्रुव से।

महर्षि मैत्रेय ने कहा : हे विदुर, ध्रुव महाराज का क्रोध शान्त हो गया और उन्होंने यक्षों का वध करना पूरी तरह बन्द कर दिया। जब सर्वाधिक समृद्ध धनपति कुबेर को यह समाचार मिला तो वे ध्रुव के समक्ष प्रकट हुए। वे यक्षों, किन्नरों तथा चारणों द्वारा पूजित होकर अपने सामने हाथ जोड़कर खड़े हुए ध्रुव महाराज से बोले।

धनद उवाच

भो भोः क्षत्रियदायाद परितुष्टोऽस्मि तेऽनघ ।
यत्त्वं पितामहादेशाद्वैरं दुस्त्यजमत्यजः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

धन-दः उवाच—धनपति (कुबेर) ने कहा; भोः भोः—अरे; क्षत्रिय-दायाद—हे क्षत्रिय पुत्र; परितुष्टः—अत्यन्त प्रसन्न; अस्मि—हूँ; ते—तुमसे; अनघ—हे पापहीन; यत्—क्योंकि; त्वम्—तुम; पितामह—अपने पितामह के; आदेशात्—आदेश से; वैरम्—शत्रुता, वैर; दुस्त्यजम्—न छोड़ी जा सकने योग्य; अत्यजः—त्याग किया है।

धनपति कुबेर ने कहा : हे निष्पाप क्षत्रियपुत्र, मुझे यह जानकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि अपने पितामह के आदेश से तुमने वैरभाव को त्याग दिया यद्यपि इसे तज पाना बहुत कठिन होता है। मैं तुमसे अत्यधिक प्रसन्न हूँ।

न भवानवधीद्यक्षान्न यक्षा भ्रातरं तव ।
काल एव हि भूतानां प्रभुरप्ययभावयोः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; भवान्—तुमने; अवधीत्—मारा है; यक्षान्—यक्षों को; न—नहीं; यक्षाः—यक्षों ने; भ्रातरम्—भाई को; तव—तुम्हारे; कालः—समय, काल; एव—निश्चय ही; हि—क्योंकि; भूतानाम्—जीवात्माओं के; प्रभुः—परमेश्वर; अप्यय-भावयोः—प्रलय तथा सृजन के।

वास्तव में न तो तुमने यक्षों को मारा है न उन्होंने तुम्हारे भाई को मारा है, क्योंकि सृजन तथा विनाश का अनन्तिम कारण परमेश्वर का नित्य स्वरूप काल ही है।

तात्पर्य : जब धनपति कुबेर ने ध्रुव महाराज को पापमुक्त कह कर सम्बोधित किया होगा तो ध्रुव महाराज ने अपने को इतने यक्षों के वध का उत्तरदायी समझ कर अपने विषय में कुछ और ही सोचा होगा; किन्तु कुबेर ने उन्हें विश्वास दिलाया कि उन्होंने सचमुच ही यक्षों का वध नहीं किया था, अत: वे पापी थे ही। उन्होंने अपने राजा के कर्तव्य को निबाहा था। कुबेर ने कहा, "तुम्हें यह भी नहीं सोचना चाहिए कि यक्षों द्वारा तुम्हारे भाई का वध हुआ। वह तो प्रकृति के नियमानुसार काल के फेर से मरा या मारा गया। प्रलय तथा सृष्टि के लिए अन्ततः नित्यकाल ही उत्तरदायी है, जो भगवान् के स्वरूपों में से एक है। तुम इन कृत्यों के भागी नहीं हो।"

अहं त्वमित्यपार्था धीरज्ञानात्पुरुषस्य हि ।
स्वाप्नीवाभात्यतद्ध्यानाद्यया बन्धविपर्ययौ ॥ ४॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; त्वम्—तुम; इति—इस प्रकार; अपार्था—मिथ्या; धीः—बुद्धि; अज्ञानात्—अज्ञान से; पुरुषस्य—पुरुष के; हि—निश्चय ही; स्वाप्नि—स्वप्न; इव—सदृश; आभाति—प्रकट होती है; अ-तत्-ध्यानात्—देहात्मबुद्धि से; यया—जिससे; बन्ध—बन्धन; विपर्ययौ—तथा दुख।

देहात्मबुद्धि के आधार पर स्व तथा अन्यों का 'मैं' तथा 'तुम' के रूप में मिथ्याबोध अविद्या की उपज है। यही देहात्मबुद्धि जन्म-मृत्यु के चक्र का कारण है और इसीसे इस जगत में हमें निरन्तर बने रहना पड़ता है।

तात्पर्य : अहं *त्वम्* अर्थात् मैं और तुम का भाव भगवान् से अपने शाश्वत सम्बन्ध को भूलने के कारण उत्पन्न होता है। परम पुरुष कृष्ण केन्द्र-बिन्दु हैं और हम सब उनके भिन्नांश हैं, ठीक वैसे ही जैसे हाथ तथा पाँव पूरे शरीर के अंश हैं। जब हमें यह ज्ञान हो जाता है कि हम परमेश्वर से शाश्वत रूप से जुड़े हैं, तो देहात्म-बुद्धिजन्य यह अन्तर नहीं रह सकता। इसी उदाहरण को यहाँ प्रयुक्त समझना चाहिए—हाथ-हाथ है और पैर-पैर, किन्तु जब वे दोनों सम्पूर्ण शरीर की सेवा में लगे जाते हैं, तो

हाथ-पाँव का अन्तर नहीं रह जाता, क्योंकि ये शरीर के अंग हैं तथा कार्य करनेवाले सभी अंगों के साथ मिलकर पूरे शरीर की रचना करते हैं। इसी प्रकार जब जीवात्माएं कृष्णभावनाभावित हो जाती हैं, तब "मैं" और "तुम" का अन्तर नहीं रह जाता क्योंकि तब प्रत्येक जीवात्मा भगवान् की सेवा में लगी होती है। चूँकि भगवान् परम पूर्ण हैं, अत: सेवाएँ भी परम हैं। चूँकि हाथ एक प्रकार से काम करते हैं और पाँव दूसरी तरह से, किन्तु उनका उद्देश्य परमेश्वर की सेवा करना है, अत: वे सब एक हैं। इसमें तथा मायावादी चिन्तक के इस कथन में कि सभी वस्तुएँ एक हैं, भ्रम नहीं होना चाहिए। वास्तविक ज्ञान तो यह है कि हाथ-हाथ है और पाँव-पाँव, शरीर-शरीर है, तो भी सब मिलकर एक हैं। ज्योंही जीवात्मा सोचता है कि वह स्वतंत्र है, वैसे ही बद्धजीवन प्रारम्भ होता है। अत: स्वतंत्र सत्ता का विचार स्वप्नवत् है। मनुष्य को कृष्णचेतना अथवा अपने मूल स्थिति में रहना चाहिए। तभी वह भव-बन्धन से छूट सकता है।

तद्गच्छ ध्रुव भद्रं ते भगवन्तमधोक्षजम् ।
सर्वभूतात्मभावेन सर्वभूतात्मविग्रहम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तत्—अत:; गच्छ—आओ; ध्रुव—ध्रुव; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारा; भगवन्तम्—भगवान् को; अधोक्षजम्—भौतिक इन्द्रियों की विचार शक्ति के परे; सर्व-भूत—समस्त जीवात्माएँ; आत्म-भावेन—उन्हें एक सोच करके; सर्व-भूत—समस्त जीवात्माओं में; आत्म—परमात्मा; विग्रहम्—मूर्ति, विग्रह रूप।

हे ध्रुव, आगे आओ। ईश्वर तुम्हारा कल्याण करें। भगवान् ही जो हमारी इन्द्रियों की विचार-शक्ति से परे हैं, समस्त जीवात्माओं के परमात्मा हैं। इसलिए सभी जीवात्माएँ बिना किसी अन्तर के एक हैं। अत: तुम भगवान् के दिव्य रूप की सेवा प्रारम्भ करो, क्योंकि वे ही समस्त जीवों के अनन्तिम आश्रय हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर *विग्रहम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह इंगित करता है कि परम सत्य ही अन्तत: भगवान् हैं। इसकी व्याख्या *ब्रह्म-संहिता* में मिलती है। *सच्चिदानन्द विग्रह:* उनका रूप है, किन्तु यह किसी भी भौतिक रूप से भिन्न प्रकार का है। जीवात्माएँ तो परम रूप की तटस्था शक्ति हैं। इस प्रकार वे परम रूप से भिन्न नहीं हैं, किन्तु इसके साथ ही वे उस परम रूप के तुल्य भी नहीं हैं। यहाँ पर ध्रुव महाराज से परम रूप की सेवा करने को कहा गया है। इसमें अन्य व्यष्टि रूपों की सेवा

सम्मिलत है। उदाहरणार्थ, वृक्ष का एक रूप है और जब वृक्ष की जड़ों में पानी डाला जाता है, तो अन्य रूप—पत्तियाँ, टहनियाँ, फूल तथा फल—भी स्वत: सिंच जाते हैं। यहाँ पर मायावादियों की यह धारणा कि परम सत्य सब कुछ है, इसलिए यह रूपहीन है, निरस्त हो जाती है। उल्टे यह पुष्ट होता है कि परम सत्य का रूप होता है (वह सगुण है) फिर भी वह सर्वव्यापी है। उससे स्वतंत्र कुछ भी नहीं है।

भजस्व भजनीयाङ्घ्रिमभवाय भवच्छिदम् ।
युक्तं विरहितं शक्त्या गुणमय्यात्ममायया ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

भजस्व—सेवा में लगो; भजनीय—पूजा के योग्य; अङ्घ्रिम्—उनको जिनके चरण कमल; अभवाय—संसार से उद्धार के लिए; भव-छिदम्—जो भौतिक बन्धन की ग्रंथि को काटता है; युक्तम्—संलग्न; विरहितम्—पृथक्, विलग; शक्त्या—उसकी शक्ति को; गुण-मय्या—त्रिगुणों से युक्त; आत्म-मायया—अपनी अकल्पनीय शक्ति से।

अत: तुम अपने आपको भगवान् की भक्ति में पूर्णरूपेण प्रवृत्त करो क्योंकि वे ही सांसारिक बन्धन से हमें छुटकारा दिला सकते हैं। अपनी भौतिक शक्ति में आसक्त रहकर भी वे उसके क्रियाकलापों से विलग रहते हैं। भगवान् की अकल्पनीय शक्ति से ही इस भौतिक जगत में प्रत्येक घटना घटती है।

तात्पर्य : यहाँ पर पिछले श्लोक से आगे विशेष रूप से उल्लेख है कि ध्रुव महाराज को भक्ति में प्रवृत्त होना चाहिए। भक्ति कभी भगवान् के निर्गुण पक्ष की नहीं हो सकती। जब भी *भजस्व* शब्द आता है, तो सेवक, सेवा तथा सेव्य ये तीनों होने चाहिए। भगवान् सेव्य हैं, सेवा करनेवाला सेवक है और प्रसन्न करने के लिए किये गये कार्यकलाप ही सेवा हैं। इस श्लोक में जो दूसरी बात कही गई है, वह यह कि केवल भगवान् की ही सेवा करनी चाहिए, अन्य किसी की नहीं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है (*मामेकं शरणं व्रज*)। देवताओं की सेवा करने की आवश्यकता नहीं है। वे परमेश्वर के हाथ-पाँव के समान हैं। जब परमेश्वर की सेवा की जाती है, तो उनके हाथ-पाँव की भी सेवा हो लेती है। अलग से सेवा करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। जैसाकि *भगवद्गीता* (१२.७) में कहा गया है—*तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।* इसका अर्थ यह हुआ कि भक्त का पक्ष लेने के लिए भगवान् उसके अन्दर से ऐसा निर्देश देते हैं कि अन्तत: वह भवबन्धन से मुक्त हो जाता है। परमेश्वर के

अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा नहीं है, जो जीवात्मा को इस जगत के बन्धन से छुड़ा सके। भौतिक शक्ति तो भगवान् की अनेक शक्तियों में से एक का प्राकट्य है (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*)। यही भौतिक शक्ति भगवान् की शक्तियों में से एक है, जिस प्रकार उष्मा तथा प्रकाश अग्नि की शक्तियाँ हैं। भौतिक शक्ति परमेश्वर से भिन्न नहीं, किन्तु साथ ही परमेश्वर को इस शक्ति से कोई सरोकार नहीं रहता। जीवात्मा तो तटस्था शक्ति से युक्त है और वह भौतिक संसार पर प्रभुत्व जताने की अपनी इच्छा के अनुसार भौतिक शक्ति में फँसा हुआ है। भगवान् इससे विलग रहता है, किन्तु जब वही जीवात्मा उनकी भक्ति करने लगता है, तो वह उनमें आसक्त हो जाता है। यह स्थिति *युक्तम्* कहलाती है। भक्तों के लिए भगवान् भौतिक शक्ति में भी विद्यमान रहते हैं। यह भगवान् की अकल्पनीय शक्ति है। भौतिक शक्ति प्रकृति के तीनों गुणों में कार्य करती है, जिससे इस जगत के कार्य तथा कारण उत्पन्न होते हैं। जो भक्त नहीं हैं, वे ऐसे कार्यकलापों में लगे रहते हैं, जबकि भक्त लोग, जो ईश्वर से युक्त रहते हैं, भौतिक शक्ति के कार्य-कारण से मुक्त हो जाते हैं। इसीलिए यहाँ पर भगवान् को *भवच्छिदम्* कहा गया है, अर्थात् वे जो इस संसार के बन्धन से छुटकारा दिला सकते हैं।

वृणीहि कामं नृप यन्मनोगतं
मत्तस्त्वमौत्तानपदेऽविशङ्कितः ।
वरं वरार्होऽम्बुजनाभपादयो-
रनन्तरं त्वां वयमङ्ग शुश्रुम ॥ ७॥

शब्दार्थ

वृणीहि—माँगो; कामम्—इच्छा; नृप—हे राजा; यत्—जो कुछ; मनः-गतम्—तुम्हारे मन के भीतर है; मत्तः—मुझसे; त्वम्—तुम; औत्तानपदे—हे महाराज उत्तानपाद के पुत्र; अविशङ्कितः—बिना हिचक के; वरम्—वरदान; वर-अर्हः—वर प्राप्त करने के योग्य; अम्बुज—कमल; नाभ—जिसकी नाभि; पादयोः—उनके चरमकमलों पर; अनन्तरम्—निरन्तर; त्वाम्—तुमको; वयम्—हमने; अङ्ग—हे ध्रुव; शुश्रुम—सुना है।

हे महाराज उत्तानपाद के पुत्र, ध्रुव महाराज, हमने सुना है कि तुम कमलनाभ भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर लगे रहते हो। अतः तुम हमसे समस्त आशीर्वाद लेने के पात्र हो। अतः बिना हिचक के जो तुम वर माँगना चाहो माँग सकते हो।

तात्पर्य : उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव महाराज पहले से ही सारे विश्व में भगवान् के परमभक्त के रूप में विख्यात हो चुके थे। वे भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर ध्यान करते थे। ऐसा शुद्ध, कल्मषरहित

भक्त देवताओं द्वारा प्रदान किये जाने वाला कोई भी आशीर्वाद ग्रहण करने का पात्र होता है। ऐसे आशीर्वादों के लिए उसे अलग से देवताओं की पूजा नहीं करनी होती। कुबेर देवों के धनपति हैं और वे स्वयं ध्रुव महाराज को मुँह-माँगा वरदान देने को कह रहे हैं। अत: श्रील बिल्वमंगल ठाकुर ने कहा है कि जो लोग भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं, उनके लिए समस्त भौतिक आशीर्वाद दासियों के समान प्रतीक्षा करते रहते हैं। भक्त के द्वार पर किसी भी समय मुक्ति देवी मुक्ति अथवा इससे भी अधिक प्रदान करने के लिए प्रतीक्षा करती रहती है। अत: भक्त होना सम्माननीय पद है। भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति द्वारा मनुष्य संसार के समस्त वरदान अनायास ही प्राप्त कर सकता है। कुबेर ने ध्रुव महाराज से कहा कि उन्होंने सुन रखा है कि ध्रुव सदैव समाधि में रहते हैं या भगवान् के चरणारविन्द का चिन्तन करते रहते हैं। दूसरे शब्दों में, उन्हें यह पता था कि ध्रुव महाराज को तीनों भौतिक लोकों में किसी वस्तु की इच्छा नहीं थी। उन्हें पता था कि वे भगवान् के चरणारविन्द को स्मरण करते रहने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं माँगेंगे।

मैत्रेय उवाच

स राजराजेन वराय चोदितो
ध्रुवो महाभागवतो महामतिः ।
हरौ स वव्रेऽचलितां स्मृतिं यया
तरत्ययत्नेन दुरत्ययं तमः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; सः—वह; राज-राजेन—राजाओं के राजा (कुबेर) द्वारा; वराय—आशीर्वाद के लिए; चोदितः—माँगने पर; ध्रुवः—ध्रुव महाराज; महा-भागवतः—प्रथम कोटि के भक्त; महा-मतिः—सर्वाधिक बुद्धिमान या विचारवान; हरौ—भगवान् के प्रति; सः—उसने; वव्रे—माँगा; अचलिताम्—स्थिर, अखण्ड; स्मृतिम्—स्मृति; यया—जिससे; तरति—पार करता है; अयत्नेन—बिना कठिनाई के; दुरत्ययम्—अलंघ्य, दुस्तर; तमः—अंधकार, अज्ञान।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, जब यक्षराज कुबेर ने ध्रुव महाराज से वर माँगने के लिए कहा तो उस परम विद्वान् शुद्ध भक्त, बुद्धिमान तथा विचारवान् राजा ध्रुव ने यही याचना की कि भगवान् में उनकी अखंड श्रद्धा और स्मृति बनी रहे, क्योंकि इस प्रकार से मनुष्य अज्ञान के सागर को सरलता से पार कर सकता है, यद्यपि उसे पार करना अन्यों के लिए अत्यन्त दुस्तर है।

तात्पर्य : वैदिक अनुष्ठानों के दक्ष अनुयायियों के विचार से वर कई प्रकार के होते हैं जिनका

सम्बन्ध धार्मिकता, आर्थिक उन्नति, इन्द्रियतृप्ति तथा मुक्ति से हो सकता है। इन चारों नियमों को *चतुर्वर्ग* कहते हैं। इन सारे चतुर्वर्गों में से मोक्ष के वर को सर्वोपरि माना जाता है। मानव के लिए भौतिक अज्ञान को पार करने में समर्थ होने को सर्वोच्च पुरुषार्थ अर्थात् वरदान माना जाता है। किन्तु ध्रुव महाराज तो ऐसा वर चाहते थे, जो उच्चतम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष से भी बढ़कर हो। वे तो ऐसा वर चाहते थे जिससे वे भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर स्मरण करते रहें। जीवन की यह अवस्था *पंचम पुरुषार्थ* कहलाती है। जब भक्त भगवान् की निरन्तर भक्ति करता हुआ इस पंचम पुरुषार्थ पद पर पहुँचता है, तो उसकी दृष्टि में चतुर्थ पुरुषार्थ अर्थात् मुक्ति तुच्छ लगने लगती है। इस प्रसंग में श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती ने कहा है कि भक्त के लिए मुक्ति तो जीवन की नारकीय अवस्था है; जहाँ तक इन्द्रियतृप्ति का प्रश्न है, जो स्वर्गलोक में सुलभ है, भक्त इसे आकाश-पुष्प ही समझता है, जिसका जीवन में कोई मूल्य नहीं है। योगी अपनी इन्द्रियों को वश में करने का यत्न करता है, किन्तु भक्त के लिए इन्द्रिय-संयम कुछ भी कठिन नहीं है। इन्द्रियों की तुलना सर्पों से की गई है, किन्तु भक्तों के लिए ये सर्प विषदन्त से रहित हैं। इस प्रकार संसार में जितने भी प्रकार के वर हो सकते हैं उनका विश्लेषण श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती ने किया है और यह स्पष्ट घोषणा की है कि शुद्ध भक्त के लिए उनका कोई महत्त्व नहीं है। ध्रुव महाराज महाभागवत भी थे। उनकी भक्त-बुद्धि अतीव महान् थी (*महा-मतिः*)। जब तक कोई अत्यन्त बुद्धिमान नहीं होता वह भक्तियोग अथवा कृष्णभावनामृत नहीं अपना सकता। अतः स्वाभाविक है कि प्रथम श्रेणी का भक्त प्रथम श्रेणी का बुद्धिमान व्यक्ति होता है और इसीलिए वह इस संसार में किसी भी प्रकार के वरदान में रुचि नहीं रखता। ध्रुव महाराज को राजाधिराज, देवताओं के धनपति कुबेर ने वरदान मांगने को कहा। उनका एकमात्र कार्य मनुष्यों को अपार सम्पत्ति प्रदान करना है। उन्हें राजाओं का राजा कहा गया है, क्योंकि जब तक कुबेर आशीष नहीं देते, कोई राजा नहीं बन सकता। राजाओं के राजा ने स्वयं ध्रुव महाराज को प्रभूत सम्पत्ति मांगने को कहा, किन्तु उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। इसलिए उन्हें *महामतिः* अर्थात् अत्यन्त विचारवान या अत्यधिक बुद्धिमान कहा गया है।

तस्य प्रीतेन मनसा तां दत्त्वैडविडस्ततः ।
पश्यतोऽन्तर्दधे सोऽपि स्वपुरं प्रत्यपद्यत ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तस्य—ध्रुव से; प्रीतेन—परम प्रसन्न होकर; मनसा—मन से; ताम्—उस स्मृति को; दत्त्वा—देकर; ऐडविडः—इडविडा का पुत्र, कुबेर; ततः—तत्पश्चात्; पश्यतः—जब ध्रुव देख रहे थे; अन्तर्दधे—अन्तर्धान हो गया; सः—वह (ध्रुव); अपि—भी; स्व-पुरम्—अपनी पुरी को; प्रत्यपद्यत—वापस चला गया।

इडविडा के पुत्र कुबेर अत्यधिक प्रसन्न हुए और उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक ध्रुव महाराज को मनचाहा वरदान दिया। तत्पश्चात् वे ध्रुव को देखते-देखते से अन्तर्धान हो गये और ध्रुव महाराज अपनी राजधानी वापस चले गये।

तात्पर्य : इडविडा का पुत्र कुबेर महाराज ध्रुव पर इसलिए अधिक प्रसन्न था क्योंकि उन्होंने भोग के योग्य कोई भौतिक वस्तु नहीं माँगी। कुबेर देवताओं में से एक हैं; अतः कोई यह तर्क कर सकता है कि ध्रुव महाराज ने किसी देवता से क्यों वरदान लिया? इसका उत्तर यही है कि वैष्णव के लिए देवता से ऐसा वर प्राप्त करने में कोई बन्धन नहीं जो कृष्ण चेतना को बढ़ाने वाला हो। उदाहरणार्थ, गोपियों ने देवी, कात्यायनी की पूजा की थी, किन्तु उन्होंने उनसे एकमात्र यही आशीर्वाद माँगा कि पति रूप में उन्हें कृष्ण प्राप्त हों। कोई भी वैष्णव देवताओं से अथवा भगवान् से किसी प्रकार का वर माँगने का इच्छुक नहीं रहता। *भागवत* में कहा गया है कि परम पुरुष द्वारा मुक्ति प्रदान की जा सकती है, किन्तु यदि भगवान् द्वारा मुक्ति भी प्रदान की जाये तो भक्त उसे अस्वीकार कर देता है। ध्रुव महाराज ने कुबेर से मुक्ति नहीं माँगी जिसमें वैकुण्ठलोक जाना होता है; उन्होंने केवल इतनी ही याचना की कि वे वैकुण्ठ या इस लोक में चाहे जहाँ भी रहें भगवान् का सदैव स्मरण करते रहें। वैष्णव सदा सबों का सम्मान करता है, अतः जब कुबेर ने उन्हें आशीर्वाद दिया तो उन्होंने उसे अस्वीकार नहीं किया। किन्तु वे ऐसी वस्तु चाहते थे, जो कृष्णचेतना को अग्रसर करने में सहायक हो।

अथायजत यज्ञेशं क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
द्रव्यक्रियादेवतानां कर्म कर्मफलप्रदम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; अयजत—पूजा की; यज्ञ-ईशम्—यज्ञों के स्वामी की; क्रतुभिः—यज्ञोत्सवों द्वारा; भूरि—बड़ी; दक्षिणैः—दक्षिणा द्वारा; द्रव्य-क्रिया-देवतानाम्—यज्ञों का (जिसमें सामग्री, कार्य तथा देवता सम्मिलित हैं); कर्म—कर्म; कर्म-फल—कर्मों का परिणाम; प्रदम्—देनेवाला।

जब तक ध्रुव महाराज घर में रहे उन्होंने समस्त यज्ञों के भोक्ता भगवान् को प्रसन्न करने के लिए यज्ञोत्सव सम्पन्न किये। जितने भी संस्कार सम्बन्धी निर्दिष्ट यज्ञ हैं, वे भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के निमित्त हैं, क्योंकि वे ही ऐसे समस्त यज्ञों के लक्ष्य हैं और यज्ञ-जन्य आशीर्वादों के प्रदाता हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (३.९) में कहा गया है—*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*—मनुष्य को चाहिए कि परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए ही कार्य करे, अन्यथा वह कर्म-फल में उलझ जाता है। वर्ण तथा आश्रम के चार विभागों के अनुसार विशेषत: ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों को महान् संस्कारोचित यज्ञ करने तथा संचित धन को उदारतापूर्वक वितरित करने की सलाह दी जाती है। ध्रुव महाराज ने एक राजा तथा आदर्श क्षत्रिय होने के नाते ऐसे अनेक यज्ञ किये और उदारतापूर्वक दान दिया। क्षत्रियों तथा वैश्यों से आशा की जाती है कि वे धन कमाकर उसका अधिकाधिक संग्रह करें। कभी-कभी वे पाप कर्मों द्वारा ऐसा करते हैं। क्षत्रिय देश पर शासन करने के लिए होते हैं; उदाहरणार्थ, ध्रुव महाराज को अपने शासन काल में यक्षों से युद्ध करना तथा उनका वध करना पड़ा। क्षत्रियों के लिए ऐसा कार्य आवश्यक है। क्षत्रिय को कायर नहीं होना चाहिए, न ही उसे अहिंसक होना चाहिए; देश पर शासन करने के लिए उसे हिंसात्मक कार्य भी करने होते हैं।

इसीलिए क्षत्रियों को अपनी संचित सम्पत्ति में से कम से कम पचास प्रतिशत दान देने की सलाह दी गई है। *भगवद्गीता* में संस्तुति की गई है कि संन्यास आश्रम में प्रविष्ट हो जाने पर भी यज्ञ, दान तथा तपस्या करना नहीं छोड़ना चाहिए। इनका कदापि त्याग न करें। तपस्या तो संन्यास आश्रम के लिए है; जो लोग सांसारिक कार्यों से विरक्त हो चुके हैं उन्हें तपस्या करनी चाहिए। जो क्षत्रिय तथा वैश्य भौतिक जगत में हैं उन्हें दान देना चाहिए। ब्रह्मचारियों को जीवन के प्रारम्भ में विभिन्न प्रकार के यज्ञ करने चाहिए।

आदर्श राजा के रूप में ध्रुव महाराज ने दान द्वारा अपना कोष लगभग खाली कर दिया। राजा का कार्य नागरिकों से केवल करों की वसूली करके धन संग्रह करना और उसको इन्द्रियतृप्ति में व्यय करना ही नहीं है। जब से राजाओं ने प्रजा से एकत्र किये गये करों को अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए व्यय

करना प्रारम्भ किया, तब से विश्व का राजतंत्र विफल हो गया है। वस्तुत:, चाहे राजतंत्र हो अथवा प्रजातंत्र, भ्रष्टाचार अभी भी सर्वत्र एक सा चल रहा है। इस समय प्रजातांत्रिक सरकार में विभिन्न दल होते हैं। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति अपनी कुर्सी बनाये रखने या अपने दल को सत्तारूढ़ बनाये रखने में व्यस्त है। राजनीतिज्ञों को जनता के कल्याण के विषय में सोचने के लिए तनिक भी समय नहीं मिलता जिसको आय कर, बिक्री कर इत्यादि के रूप में भारी कर लगाकर सताते हैं। कभी-कभी लोगों की आय का ८०-९० प्रतिशत कर में ले लिया जाता है और इसको अफसरों तथा शासनकर्ताओं के उच्च वेतन को चुकता करने में मनमाने ढंग से व्यय कर दिया जाता है। प्राचीन काल में, नागरिकों से एकत्र किया गया कर बड़े-बड़े यज्ञों को सम्पन्न करने में व्यय किया जाता था जैसाकि वैदिक साहित्य में आदेश है। किन्तु सम्प्रति सभी प्रकार के यज्ञों को कर पाना बिल्कुल असम्भव है, अत: शास्त्रों में यह संस्तुति की गई है कि लोग *संकीर्तन यज्ञ* करें। कोई भी गृहस्थ चाहे कैसी भी स्थिति में हो बिना खर्च के *संकीर्तन यज्ञ* कर सकता है। परिवार के सभी सदस्य एकसाथ बैठकर ताली बजा-बजाकर हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन कर सकते हैं। किसी न किसी प्रकार सभी लोग ऐसा यज्ञ कर सकते हैं और लोगों को प्रसाद वितरित कर सकते हैं। इस कलियुग के लिए यही पर्याप्त है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन इसी सिद्धान्त पर आधारित है—जहाँ तक सम्भव हो, मंदिर में या उससे बाहर प्रत्येक क्षण हरे कृष्ण मंत्र का जप करे तथा यथासम्भव प्रसाद वितरित करे। इस प्रक्रम को राज्य प्रशासकों के तथा जो देश की सम्पत्ति को उत्पन्न करते हैं उनके सहयोग से आगे बढ़ाया जा सकता है। मात्र प्रसाद के वितरण तथा *संकीर्तन* से सारा विश्व शान्तिपूर्ण तथा समृद्ध बन सकता है।

सामान्यत: वैदिक साहित्य में जितने भी यज्ञों की संस्तुति की गई है उनमें देवताओं को भेंट चढ़ाई जाती है। देवताओं की पूजा कम बुद्धि वाले लोगों के लिए है। वास्तव में ऐसे यज्ञों का फल भगवान् नारायण को प्राप्त होता है। *भगवद्गीता* (५.२९) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*भोक्तारं यज्ञतपसां*—वे ही समस्त यज्ञों के वास्तविक भोक्ता हैं। इसीलिए उनका नाम यज्ञपुरुष है।

यद्यपि ध्रुव महाराज महान् भक्त थे और उन्हें इन यज्ञों से कुछ लेना-देना नहीं था, किन्तु अपनी प्रजा के समक्ष आदर्श प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने अनेक यज्ञ किये और अपनी सारी सम्पत्ति दान में दे

दी। जब तक वे गृहस्थ के रूप में रहे, उन्होंने अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए एक दमड़ी भी खर्च नहीं किया। इस श्लोक में *कर्म-फलप्रदम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भगवान् जीवात्माओं के इच्छानुसार सबों को भिन्न-भिन्न कर्म प्रदान करते हैं, वे प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में परमात्मा के रूप में स्थित रहते हैं और वे इतने दयालु तथा उदार हैं कि जो कोई जो कुछ करना चाहता है वे उसके लिए सारी सुविधाएँ प्रदान करते हैं। तब जीवात्मा अपने कर्मों के फल को भी भोगता है। यदि कोई सुख भोगना चाहता है या भौतिक प्रकृति पर अधिकार जताना चाहता है, तो भगवान् इसकी भी सुविधा प्रदान करते हैं किन्तु वह कर्मफल में उलझ जाता है। इसी प्रकार यदि कोई पूर्णरूपेण भक्ति करना चाहता है, तो भगवान् उसे सारी सुविधाएँ प्रदान करते हैं और भक्त उसका फल भोगता है। इसीलिए भगवान् *कर्म-फलप्रद* नाम से विख्यात हैं।

सर्वात्मन्यच्युतेऽसर्वे तीव्रौघां भक्तिमुद्वहन् ।
ददर्शात्मनि भूतेषु तमेवावस्थितं विभुम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सर्व-आत्मनि—परमात्मा में; अच्युते—अच्युत में; असर्वे—किसी सीमा के बिना, असीम; तीव्र-ओघाम्—प्रबल वेग युक्त; भक्तिम्—भक्ति; उद्वहन्—करते हुए; ददर्श—देखा; आत्मनि—परम आत्मा में; भूतेषु—समस्त जीवात्माओं में; तम्—उसको; एव—केवल; अवस्थितम्—स्थित, विराजमान; विभुम्—सर्वशक्तिमान।

ध्रुव महाराज निर्बाध-बल के साथ हर वस्तु के आगार परमेश्वर की भक्ति करने लगे। भक्ति करते हुए उन्हें ऐसा दिखता मानो प्रत्येक वस्तु उन्हीं (भगवान्) में स्थित है और वे समस्त जीवात्माओं में स्थित हैं। भगवान् अच्युत कहलाते हैं, क्योंकि वे कभी भी अपने भक्तों को सुरक्षा प्रदान करने के मूल कर्तव्य से चूकते नहीं।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज ने न केवल अनेक यज्ञ किये, अपितु उन्होंने भगवान् की दिव्य भक्ति भी जारी रखी। जैसाकि वैदिक शास्त्रों में आदेश है, सामान्य कर्मी लोग, जो अपने सकाम कर्मों का फल भोगना चाहते हैं, अपने को यज्ञ तथा अनुष्ठानों तक ही सीमित रखते हैं। यद्यपि ध्रुव महाराज ने आदर्श राजा होने के उद्देश्य से अनेक यज्ञ किये थे तो भी वे निरन्तर भक्तियोग में लगे रहे। भगवान् शरणागत भक्तों की सदा से रक्षा करते आये हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*) भक्त भगवान् को प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित देखता है। सामान्य व्यक्ति नहीं

समझ पाते कि भगवान् प्रत्येक हृदय में किस प्रकार स्थित रह सकता है, किन्तु भक्त उन्हें वास्तव में स्थित देख सकता है। वह न केवल उनका बाह्य दर्शन करता है, अपितु अपनी आत्मदृष्टि से यह भी देख पाता है कि भगवान् पर ही सब कुछ टिका है, जैसाकि *भगवद्गीता* में कथित है (*मत्स्थानि सर्वभूतानि*)। यही महाभागवत की दृष्टि है। वह भी सबों की भाँति सब कुछ देखता है, किन्तु केवल वृक्ष, पर्वत, नगर या आकाश को न देखकर वह इन वस्तुओं में अपने पूज्य परमेश्वर को देखता है, क्योंकि सभी वस्तुएँ उन्हीं पर टिकी हैं। यह महाभागवत की दृष्टि है। संक्षेप में कह सकते हैं कि महाभागवत अत्यन्त महान् शुद्ध भक्त है, जो भगवान् को सर्वत्र तथा सबों के हृदयों में स्थित देखता है। ऐसा उन भक्तों के लिए सम्भव है जिन्होंने भगवान् के प्रति उच्च भक्ति-भाव उत्पन्न कर रखा है। जैसाकि *ब्रह्म संहिता* में (५.३८) कहा गया है—*प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्तिविलोचनेन*—जिन्होंने भगवत्प्रेम रूपी अंजन को नेत्रों में लगा रखा है, वे ही परमेश्वर का सर्वत्र साक्षात्कार कर पाते हैं, कल्पना या तथाकथित ध्यान से ऐसा सम्भव नहीं।

तमेवं शीलसम्पन्नं ब्रह्मण्यं दीनवत्सलम् ।
गोप्तारं धर्मसेतूनां मेनिरे पितरं प्रजाः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; एवम्—इस प्रकार; शील—दैवी गुण से; सम्पन्नम्—युक्त; ब्रह्मण्यम्—ब्राह्मणों के प्रति श्रद्धालु; दीन—निर्धनों के प्रति; वत्सलम्—दयालु; गोप्तारम्—रक्षक; धर्म-सेतूनाम्—धार्मिक नियमों का; मेनिरे—सोचा; पितरम्—पिता; प्रजाः—जनता।

ध्रुव महाराज सभी दैवी गुणों से सम्पन्न थे; वे भगवान् के भक्तों के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु, दीनों तथा निर्दोषों के प्रति दयालु एवं धर्म की रक्षा करनेवाले थे। इन गुणों के कारण वे समस्त नागरिकों के पिता तुल्य समझे जाते थे।

तात्पर्य : यहाँ पर ध्रुव महाराज के जिन व्यक्तिगत गुणों का वर्णन हुआ है, वे साधु स्वरूप राजा के आदर्श गुण हैं। केवल राजा ही नहीं, वरन् आज की प्रजातांत्रिक सरकार के नेताओं में भी ये देवतुल्य गुण होने चाहिए, तभी राज्य के नागरिक सुखी रह सकते हैं। यहाँ पर यह स्पष्ट बताया गया है कि नागरिक ध्रुव महाराज को अपने पिता समान मानते थे। जिस प्रकार से बालक अपने सुयोग्य पिता पर आश्रित रहकर पूर्ण रूप से सन्तुष्ट रहता है उसी प्रकार राज्य के नागरिकों को राज्य अथवा राजा द्वारा

सुरक्षा मिलने पर सभी प्रकार से सन्तुष्ट रहना चाहिए। किन्तु आजकल राज्य में सरकार की ओर से जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं, अर्थात् धन तथा जन की सुरक्षा, की भी कोई गारंटी नहीं है।

इस प्रसंग में *ब्रह्मण्यम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ध्रुव महाराज ब्रह्मणों के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु थे जो वेदों के अध्ययन में लगे रहते थे तथा परिणाम स्वरूप भगवान् के बारे में ज्ञान अर्जित किये रहते थे। वे ब्राह्मण निरन्तर कृष्णभक्ति का प्रसार करते हैं। राज्य को चाहिए कि जो भी संस्थाएँ सारे विश्व में ईश्वर-चेतना का प्रसार करती हैं उनका सम्मान करे, किन्तु दुर्भाग्यवश आज कल ऐसी एक भी सरकार या राज्य नहीं जो ऐसे आन्दोलनों की सहायता करता हो। जहाँ तक सद्गुणों का प्रश्न है, राज-प्रशासन में ऐसा एक भी व्यक्ति पाना कठिन है, जो सद्गुणों से युक्त हो। प्रशासकगण कुर्सी पर बैठकर हर प्रार्थना को अस्वीकार करते रहते हैं, मानो उन्हें इसी के लिए वेतन मिलता है। एक अन्य शब्द *दीनवत्सलम्* भी महत्त्व का है। राज्य के मुखिया को दीनों के प्रति दयालु होना चाहिए। दुर्भाग्यवश, इस युग में राज्य के एजेन्ट तथा अध्यक्ष राज्य से उच्च वेतन प्राप्त करते हैं और अपने को पवित्र मानते हैं, किन्तु वे उन कसाईघरों को चलने देते हैं जहाँ निर्दोष पशुओं का वध होता है। यदि हम ध्रुव महाराज के सद्गुणों तथा आज के राजनीतिज्ञों के गुणों की तुलना करें तो देखेंगे कि इन दोनों में असल में कोई तुलना है ही नहीं। ध्रुव महाराज सत्ययुग में हुए थे (जैसाकि अगले श्लोकों से स्पष्ट है); वे सत्ययुग के आदर्श राजा थे। इस कलियुग में सरकारी प्रशासन समस्त सद्गुणों से शून्य है। इन सब बातों पर विचार करते हुए आज मनुष्यों के समक्ष धर्म, जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा के लिए कृष्णभक्ति (कृष्ण-चेतना) ग्रहण करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रह गया है।

षट्त्रिंशद्वर्षसाहस्रं शशास क्षितिमण्डलम् ।
भोगैः पुण्यक्षयं कुर्वन्नभोगैरशुभक्षयम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

षट्-त्रिंशत्—छत्तीस; वर्ष—वर्ष; साहस्रम्—हजार; शशास—राज्य किया; क्षिति-मण्डलम्—पृथ्वी लोक में; भोगैः—भोग द्वारा; पुण्य—पवित्र कार्यों के फल का; क्षयम्—हानि, ह्रास; कुर्वन्—करते हुए; अभोगैः—तपस्या से; अशुभ—अशुभ फलों का; क्षयम्—ह्रास।

ध्रुव महाराज ने इस लोक पर छत्तीस हजार वर्षों तक राज्य किया; उन्होंने पुण्यों को भोग द्वारा और अशुभ फलों को तपस्या द्वारा क्षीण बनाया।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज ने इस लोक पर छत्तीस हजार वर्षों तक राज्य किया जिसका अर्थ यह हुआ कि वे सत्ययुग में विद्यमान थे, क्योंकि सत्ययुग में लोग एक लाख वर्षों तक जीवित रहते थे। उसके बाद के युग त्रेता में लोग दस हजार वर्ष तक और उसके अगले गुण द्वापर में एक हजार वर्ष तक जीते थे। आज के कलियुग में जीवन की अधिकतम अवधि एक सौ वर्ष है। युग-परिवर्तन के साथ जीवन अवधि तथा स्मृति, दयाभाव तथा अन्य सभी सद्गुणों का ह्रास होता रहता है। कार्य दो तरह के होते हैं—पवित्र तथा अपवित्र। पवित्र कार्य (पुण्य) करने से उच्च सुखोपभोग की सुविधा मिल सकती है, किन्तु अपवित्र कार्यों से कठिन दुख झेलना पड़ता है। किन्तु भक्त की रुचि न तो भोग में रहती है न ही वह दुख से प्रभावित होता हैं। जब वह श्रीसम्पन्न होता है, तो वह जानता है कि मैं अपने पुण्यों को क्षीण कर रहा हूँ और जब दुख में होता है, तो वह जानता है कि मैं अपने अपवित्र कार्यों (पापों) के फल क्षय कर रहा हूँ। भक्त को सुख या दुख की परवाह नहीं रहती, वह तो केवल भक्ति करना चाहता है। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि भक्ति को *अप्रतिहता* होना चाहिए अर्थात् भौतिक सुख या दुख की अवस्थाओं से बाधित होना चाहिए। भक्त अनेक प्रकार की तपस्याएं करता है, यथा वह एकादशी तथा अन्य व्रत रखता है; अवैध कामवासना से दूर रहता है, मद्यसेवन, द्यूतक्रीड़ा तथा मांसाहार से अपने को दूर रखता है। इस प्रकार वह अपने पूर्व अपवित्र जीवन के फलों से शुद्ध होता है और चूँकि वह अत्यन्त पवित्र कार्य, भक्ति, में प्रवृत्त होता है, अत: बिना अतिरिक्त प्रयास के इस जीवन का सुख भोगता है।

एवं बहुसवं कालं महात्माविचलेन्द्रियः ।
त्रिवर्गौपयिकं नीत्वा पुत्रायादान्नृपासनम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; बहु—अनेक; सवम्—वर्ष; कालम्—समय; महा-आत्मा—महान् पुरुष; अविचल-इन्द्रियः—इन्द्रियों के चलायमान हुए बिना; त्रि-वर्ग—तीन प्रकार के सांसारिक कार्य; औपयिकम्—करने के अनुकूल; नीत्वा—बिता करके; पुत्राय—अपने पुत्र को; अदात्—प्रदान कर दिया; नृप-आसनम्—राज-सिंहासन।

इस प्रकार आत्मसंयमी महापुरुष ध्रुव महाराज ने तीन प्रकार के सांसारिक कार्यों—धर्म, अर्थ, तथा काम—को ठीक तरह से अनेकानेक वर्षों तक सम्पन्न किया। तत्पश्चात् उन्होंने अपने पुत्र को राजसिंहासन सौंप दिया।

तात्पर्य : धर्म का पालन करने से भौतिक जीवन की पूर्णता प्राप्त होती है। इससे स्वत: आर्थिक विकास होता है और तब समस्त भौतिक इच्छाओं को पूरा करने में कोई कठिनाई नहीं होती। चूँकि राजा के रूप में ध्रुव महाराज को अपनी स्थिति बनाये रखना था, अन्यथा प्रजा पर शासन करना सम्भव न था अत: उन्होंने इसे अच्छी तरह निभाया। जब उन्होंने देखा कि उनका पुत्र बड़ा हो गया है और राजसिंहासन का भार ग्रहण कर सकता है, तो वे तुरन्त ही अपना भार उतार कर सांसारिक व्यस्तताओं से विरक्त हो गये।

यहाँ पर प्रयुक्त एक शब्द *अविचलेन्द्रिय* अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है कि उनकी इन्द्रियाँ विचलित नहीं हुईं, न ही उनकी इन्द्रियशक्ति घटी, यद्यपि आयु की दृष्टि से वे अत्यन्त वृद्ध हो चुके थे। चूँकि उन्होंने छत्तीस हजार वर्षों तक राज्य किया था, अत: निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे अत्यन्त वृद्ध हो चुके थे, किन्तु उनकी इन्द्रियाँ तरुण थीं, तो भी वे इन्द्रियतृप्ति में रुचि नहीं रखते थे। दूसरे शब्दों में, वे आत्म-संयमी बने रहे। उन्होंने अपने कर्तव्य सही ढंग से सांसारिक रीति से पूरे किए। यही महान् भक्तों की व्यवहार-प्रणाली है। भगवान् चैतन्य के एक महान् शिष्य श्रील रघुनाथदास गोस्वामी एक धनी व्यक्ति के पुत्र थे। उन्हें सांसारिक सुख भोगने की तनिक भी इच्छा न थी, किन्तु जब उन्हें सूबे का प्रबन्ध करने का भार सौंपा गया तो वे उसे सुचारु रूप से करते रहे। श्रील गौरसुन्दर ने उन्हें सलाह दी कि अन्दर से तुम अपने आपको तथा अपने मन को पूर्ण रूप से पृथक् रखो, किन्तु बाहर से सारे कार्य उसी तरह करते रहो जिस रूप में वे होने चाहिए। ऐसी दिव्य स्थिति केवल भक्त ही प्राप्त कर सकते हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—जहाँ योगी अपनी इन्द्रियों को बलपूर्वक वश में करना चाहते हैं, वहीं भक्तजन पूर्ण इन्द्रिय-शक्तियों से युक्त होने पर भी उनका प्रयोग नहीं करते, क्योंकि वे उन्हें उच्चतर दिव्य कर्मों में लगाते हैं।

मन्यमान इदं विश्वं मायारचितमात्मनि ।
अविद्यारचितस्वप्नगन्धर्वनगरोपमम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

मन्यमानः—मानते हुए; इदम्—यह; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; माया—बहिरंगा शक्ति द्वारा; रचितम्—निर्मित; आत्मनि—जीवात्मा को; अविद्या—मोह से; रचित—निर्मित; स्वप्न—स्वप्न; गन्धर्व-नगर—मायाजाल; उपमम्—सदृश।

श्रील ध्रुव महाराज को अनुभव हो गया कि यह दृश्य-जगत जीवात्माओं को स्वप्न अथवा मायाजाल के समान मोहग्रस्त करता रहता है, क्योंकि यह परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति माया की सृष्टि है।

तात्पर्य : कभी-कभी घने जंगल में ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ बड़े-बड़े प्रासाद तथा सुन्दर नगर हैं। इन्हें पारिभाषिक शब्दों में गंधर्व नगर कहते हैं। इसी प्रकार स्वप्न में भी हम कल्पना से अनेक मिथ्या वस्तुओं की सृष्टि करते रहते हैं। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति अथवा भक्त यह भलीभाँति जानता है कि यह दृश्य जगत क्षणिक है और माया-रूप बनकर सत्य प्रतीत हो रहा है। यह मायाजाल के सदृश्य है। किन्तु इस छाया-सृष्टि के पीछे वास्तविकता रहती है और वह है आध्यात्मिक-जगत। भक्त तो आध्यात्मिक-जगत में रुचि रखता है, इसकी छाया में उसकी रुचि नहीं रहती। चूँकि उसे परम सत्य का बोध हो चुका होता है इस कारण वह सत्य की क्षणिक छाया में रुचि नहीं दिखाता। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है (*परं दृष्ट्वा निवर्तते*)।

आत्मस्त्र्यपत्यसुहृदो बलमृद्धकोश-
मन्तःपुरं परिविहारभुवश्च रम्याः ।
भूमण्डलं जलधिमेखलमाकलय्य
कालोपसृष्टमिति स प्रययौ विशालाम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

आत्म—शरीर; स्त्री—पत्नियाँ; अपत्य—सन्तानें; सुहृदः—मित्र; बलम्—प्रभाव, सेना; ऋद्ध-कोशम्—समृद्ध खजाना; अन्तः-पुरम्—रनिवास; परिविहार-भुवः—क्रीड़ा-स्थल; च—तथा; रम्याः—सुन्दर; भू-मण्डलम्—पूरी पृथ्वी; जल-धि—समुद्रों द्वारा; मेखलम्—घिरा; आकलय्य—मान कर; काल—समय द्वारा; उपसृष्टम्—उत्पन्न; इति—इस प्रकार; सः—वह; प्रययौ—चला गया; विशालाम्—बदरिकाश्रम को।.

अन्त में ध्रुव महाराज ने सारी पृथ्वी पर फैले और महासागरों से घिरे अपने राज्य को त्याग दिया। उन्होंने अपने शरीर, पत्नियों, सन्तानों, मित्रों, सेना, समृद्ध कोश, सुखकर महलों तथा विनोद-स्थलों को माया की सृष्टियाँ मान लिया। इस तरह वे कालक्रम में हिमालय पर्वत पर स्थित बदरिकाश्रम के वन में चले गये।

तात्पर्य : जीवन के प्रारम्भ में जब ध्रुव महाराज भगवान् की खोज में जंगल गये थे तो उन्होंने यह अनुभव किया था कि सभी शारीरिक सुख माया की उपज हैं। निस्सन्देह शुरू-शुरू में वे अपने पिता

का राज्य चाहते थे और इसी की प्राप्ति के लिए भगवान् की खोज में निकले थे। किन्तु बाद में उन्होंने यह अनुभव किया कि हर वस्तु माया द्वारा उत्पन्न है। श्रील धुव्र महाराज के कार्यों से हम यह समझ सकते हैं कि यदि कोई शुरू में किसी भी लक्ष्य को लेकर कृष्णभावनाभावित हो जाता है, तो अन्त में उसे वास्तविक सत्य का बोध हो जाएगा। प्रारम्भ में ध्रुव महाराज अपने पिता का राज्य प्राप्त करने की धुन में थे, किन्तु बाद में वे महाभागवत बन गये और भौतिक सुख से उनकी रुचि जाती रही। जीवन की पूर्णता केवल भक्त ही प्राप्त कर सकते हैं। यदि कोई भक्ति का शतांश ही पूरा करके अपरिपक्व अवस्था में भ्रष्ट हो जाता है, तब भी वह उस मनुष्य से श्रेष्ठ है, जो इस जगत के सकाम कर्मों में लगातार लगा रहता है।

तस्यां विशुद्धकरणः शिववार्विगाह्य
बद्ध्वासनं जितमरुन्मनसाहृताक्षः ।
स्थूले दधार भगवत्प्रतिरूप एतद्
ध्यायंस्तदव्यवहितो व्यसृजत्समाधौ ॥ १७॥

शब्दार्थ

तस्याम्—बदरिकाश्रम में; विशुद्ध—शुद्ध करके; करणः—अपनी इन्द्रियाँ; शिव—शुद्ध; वाः—जल में; विगाह्य—स्नान करके; बद्ध्वा—स्थिर करके; आसनम्—आसन; जित—जीतकर; मरुत्—श्वासक्रिया; मनसा—मन से; आहृत—हट गई; अक्षः—इन्द्रियाँ; स्थूले—भौतिक; दधार—केन्द्रित किया; भगवत्-प्रतिरूपे—भगवान् के स्थूल रूप में; एतत्—मन; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; तत्—उस; अव्यवहितः—बिना रुके; व्यसृजत्—प्रवेश किया; समाधौ—समाधि में।

बदरिकाश्रम में ध्रुव महाराज की इन्द्रियाँ पूर्णतः शुद्ध हो गईं क्योंकि वे स्वच्छ शुद्ध जल में नियमित रूप से स्नान करते थे। वे आसन पर स्थित हो गये और फिर उन्होंने योगक्रिया से श्वास तथा प्राणवायु को वश में किया। इस प्रकार उन्होंने अपनी इन्द्रियों को पूर्ण रूप से समेट लिया। तब उन्होंने अपने मन को भगवान् के अर्चाविग्रह रूप में केन्द्रित किया जो भगवान् का पूर्ण प्रतिरूप है और इस प्रकार से उनका ध्यान करते हुए वे पूर्ण समाधि में प्रविष्ट हो गये।

तात्पर्य : यहाँ पर *अष्टांग-योग-पद्धति* का वर्णन हुआ है, जिसके ध्रुव महाराज पहले से अभ्यस्त थे। *अष्टांग-योग* किसी चकाचौंध वाले शहर में अभ्यास करने के लिए कभी नहीं था। अत: ध्रुव महाराज बदरिकाश्रम गये और एकान्त स्थान में योगाभ्यास करने लगे। उन्होंने अपना मन *अर्चा-विग्रह* पर केन्द्रित किया, जो परमेश्वर का सही प्रतिनिधित्व करता है और इस प्रकार इस विग्रह का निरन्तर

चिन्तन करते हुए वे समाधि में लीन हो गये। अर्चा-विग्रह की पूजा मूर्तिपूजा नहीं है। अर्चा-विग्रह तो भक्तों को ग्राह्य भगवान् के अवतार का प्रतिरूप है। अत: भक्तगण मन्दिर में भगवान् की सेवा अर्चा-विग्रह रूप में करते हैं, जो स्थूल पदार्थ यथा पत्थर, धातु, काष्ठ, रत्न या रंग का बना स्वरूप है। ये सभी पदार्थ स्थूल अथवा भौतिक प्रतीक कह जाते हैं। चूँकि भक्तगण पूजा के विधि-विधान का पालन करते हैं, अत: वहाँ पर भौतिक रूप में होते हुए भी भगवान् अपने आदि आत्म-रूप से अभिन्न रहते हैं। इस प्रकार भक्त को जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त होता है, अर्थात् वह भगवान् के विचार में लीन रहता है। भगवान् का यह निरन्तर विचार, जिसकी संस्तुति *भगवद्गीता* में की गई है, मनुष्य को सर्वोच्च योगी बना देता है।

भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्नजस्त्र-
मानन्दबाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः ।
विक्लिद्यमानहृदयः पुलकाचिताङ्गो
नात्मानमस्मरदसाविति मुक्तलिङ्गः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

भक्तिम्—भक्ति; हरौ—हरि में; भगवति—भगवान्; प्रवहन्—निरन्तर लगे रह कर; अजस्त्रम्—सदैव; आनन्द—आनन्दमय; बाष्प-कलया—आँसुओं की धारा से; मुहुः—बारम्बार; अर्द्यमानः—अभिभूत होकर; विक्लिद्यमान—द्रवित; हृदयः—उसका हृदय; पुलक—रोमांच; आचित—ढका; अङ्गः—उसका शरीर; न—नहीं; आत्मानम्—शरीर; अस्मरत्—स्मरण किया; असौ—वह; इति—इस प्रकार; मुक्त-लिङ्गः—सूक्ष्म शरीर से मुक्त।

दिव्य आनन्द के कारण उनके नेत्रों से सतत अश्रु बहने लगे, उनका हृदय द्रवित हो उठा और पूरे शरीर में कम्पन तथा रोमांच हो आया। भक्ति की समाधि में पहुँचने से ध्रुव महाराज अपने शारीरिक अस्तित्व को पूर्णतः भूल गये और तुरन्त ही भौतिक बन्धन से मुक्त हो गये।

तात्पर्य : निरन्तर भक्ति में लगे रहने से, जैसाकि नवधा भक्ति में संस्तुत है, भक्त के शरीर में विभिन्न लक्षण प्रकट होते हैं। ये आठ शारीरिक भाव, जिनसे पता चलता है कि भक्त भीतर से मुक्त हो चुका है, *अष्ट सात्विक* विकार कहलाते हैं। जब भक्त को अपने शरीर की रंच भर भी सुधि नहीं रह जाती तो समझना चाहिए कि वह मुक्त हो गया है। वह शरीर में बद्ध नहीं रहा है। यहाँ पर उदाहरण दिया जा सकता है कि जब नारियल पूरी तरह सूख जाता है, तो बाह्य खोल से भीतर की गरी विलग हो जाती है। सूखे नारियल को हिलाने से पता चलता है कि अन्दर की गरी बाहरी कोश या छिलके से

लगी नहीं है। इसी प्रकार जब कोई भक्ति में पूर्ण रूप से लीन हो जाता है, तो वह सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर रूपी भौतिक छिलकों से सर्वथा विलग हो जाता है। ध्रुव महाराज को जीवन की यह अवस्था निरन्तर भक्ति करते रहने से प्राप्त हो चुकी थी। उन्हें पहले ही *महाभागवत* कहा गया है, क्योंकि जब तक कोई *महाभागवत* अर्थात् उच्च कोटि का भक्त नहीं बन जाता, तब तक ये लक्षण प्रकट नहीं होते। भगवान् चैतन्य में ये समस्त लक्षण प्रकट थे। ठाकुर हरिदास में भी ये प्रकट थे और ऐसे अनेक भक्त हैं जिनमें ये लक्षण प्रकट रहते हैं। इनकी नकल नहीं की जानी चाहिए, किन्तु जब कोई सचमुच ही आगे बढ़ जाता है, तो ये लक्षण प्रकट होते हैं। उस समय यह समझना चाहिए कि भक्त भौतिक रूप से मुक्त हो गया है। निस्सन्देह, भक्ति प्रारम्भ करते ही मुक्ति का मार्ग खुल जाता है, जिस प्रकार पेड़ से तोड़ा गया नारियल तुरन्त सूखने लगता है; गरी को खोल से विलग होने में कुछ समय अवश्य लगता है।

इस श्लोक में एक महत्त्वपूर्ण शब्द आया है—*मुक्त-लिङ्ग* जिसका अर्थ है मुक्त सूक्ष्म शरीर। जब मनुष्य मरता है, तो वह स्थूल देह को त्याग देता है, किन्तु मन, बुद्धि तथा अहंकार का सूक्ष्म शरीर उसे नवीन देह में ले जाता है। इस देह में रहकर, वही सूक्ष्म देह मनुष्य को मानसिक विकास के कारण जीवन की एक अवस्था से दूसरे में ले जाती है। छोटे शिशु की मानसिक दशा बालक की दशा से भिन्न होती है और बालक की तरुण से तथा तरुण की वृद्ध पुरुष से भिन्न होती है। अत: मृत्यु के समय देहों का परिवर्तन सूक्ष्म देह के कारण होता है; मन, बुद्धि तथा अंहकार आत्मा को एक स्थूल देह से दूसरे में ले जाते हैं। यह आत्मा का देहान्तर कहलाता है। किन्तु एक अन्य अवस्था भी होती है, जब मनुष्य इस सूक्ष्म देह से भी मुक्त हो जाता है। उस समय जीवात्मा दिव्य या आत्मजगत को स्थानान्तरित होने के लिए पूरी तरह तैयार रहता है।

ध्रुव महाराज के शारीरिक लक्षणों के वर्णन से पता चलता है कि वे आध्यात्मिक (वैकुण्ठ धाम) में स्थानान्तरित होने के लिए पूर्ण रूप से उपयुक्त थे। हम दैनिक जीवन में भी सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर का अनुभव कर सकते हैं। स्वप्न में मनुष्य का देह बिस्तर पर पड़ा रहता है, किन्तु सूक्ष्म देह, आत्मा, अर्थात् जीवात्मा को दूसरे परिवेश में ले जाता है। किन्तु स्थूल देह को बनाये रखना होता है इसलिए सूक्ष्म देह वापस चला आता है और स्थूल देह में पुन: बस जाता है। अत: मनुष्य को सूक्ष्म देह से भी

स्वतंत्र होना पड़ता है। यह स्वतंत्रता *मुक्त-लिङ्ग* कहलाती है।

स ददर्श विमानाछ्यं नभसोऽवतरद्ध्रुवः ।
विभ्राजयद्दश दिशो राकापतिमिवोदितम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने; ददर्श—देखा; विमान—विमान; अछ्यम्—अत्यन्त सुन्दर; नभसः—आकाश से; अवतरत्—उतरते हुए; ध्रुवः—ध्रुव महाराज; विभ्राजयत्—आलोकित करते हुए; दश—दस; दिशः—दिशाएँ; राका-पतिम्—पूर्णचन्द्र; इव—सदृश; उदितम्—उदित।

ज्योंही उनकी मुक्ति के लक्षण प्रकट हुए, उन्होंने एक अत्यन्त सुन्दर विमान को आकाश से नीचे उतरते हुए देखा, मानो तेजस्वी पूर्ण चन्द्रमा दशों दिशाओं को आलोकित करते हुए नीचे आ रहा हो।

तात्पर्य : अर्जित ज्ञान कई प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष ज्ञान, अधिकारियों से प्राप्त ज्ञान, दिव्य ज्ञान, इन्द्रियातीत ज्ञान और अंततः आत्म-ज्ञान। जब मनुष्य अवरोही विधि से ज्ञान प्राप्त करने की अवस्था को लाँघ जाता है, तो वह तुरन्त दिव्य पद को प्राप्त हो जाता है। ध्रुव महाराज देहात्मबुद्धि से मुक्त होकर दिव्य ज्ञान को प्राप्त थे, अतः वे दिव्य विमान को देख सकते थे, जो पूर्ण चन्दमा के समान प्रकाशमान था। ज्ञान की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अनुभूति से ऐसा कर पाना सम्भव नहीं। ऐसा ज्ञान तो भगवान् की विशेष कृपा से प्राप्त होता है। किन्तु भक्ति या कृष्णचेतना की ओर क्रमशः अग्रसर होने से मनुष्य ज्ञान के इस पद को प्राप्त कर सकता है।

तत्रानु देवप्रवरौ चतुर्भुजौ
श्यामौ किशोरावरुणाम्बुजेक्षणौ ।
स्थिताववष्टभ्य गदां सुवाससौ
किरीटहाराङ्गदचारुकुण्डलौ ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अनु—तब; देव-प्रवरौ—दो अत्यन्त सुन्दर देवता; चतुः-भुजौ—चार भुजाओं वाले; श्यामौ—श्याम वर्ण के; किशोरौ—अत्यन्त तरुण; अरुण—लाल; अम्बुज—कमल; ईक्षणौ—आँखों वाले; स्थितौ—स्थित; अवष्टभ्य—लिये; गदाम्—गदा; सुवाससौ—सुन्दर वस्त्रों से युक्त; किरीट—मुकुट; हार—माला; अङ्गद—बिजावट; चारु—सुन्दर; कुण्डलौ—कान के कुण्डल सहित।

ध्रुव महाराज ने विमान में भगवान् विष्णु के दो अत्यन्त सुन्दर पार्षदों को देखा। उनके चार भुजाएँ थीं और श्याम वर्ण की शारीरिक कान्ति थी, वे अत्यन्त तरुण थे और उनके नेत्र लाल

कमल-पुष्पों के समान थे। वे हाथों में गदा धारण किये थे और उनकी वेशभूषा अत्यन्त आकर्षक थी। वे मुकुट धारण किये थे और हारों, बाजूबन्दों तथा कुण्डलों से सुशोभित थे।

तात्पर्य : विष्णुलोक के वासी भगवान् विष्णु के ही समान शारीरिक लक्षण वाले होते हैं। वे भी गदा, शंख, कमल तथा चक्र धारण करते हैं। इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि उनके चार हाथ थे और वे सुन्दर वस्त्रों से आभूषित थे। उनके शारीरिक अलंकरण का वर्णन विष्णु से मेल खाता था। अत: विमान द्वारा जो दो असामान्य व्यक्ति आये वे विष्णुलोक से सीधे आये थे।

विज्ञाय तावुत्तमगायकिङ्करा-
वभ्युत्थितः साध्वसविस्मृतक्रमः ।
ननाम नामानि गृणन्मधुद्विषः
पार्षत्प्रधानाविति संहताञ्जलिः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

विज्ञाय—जानकर; तौ—उन दोनों को; उत्तम-गाय—(उत्तम यशवाले) विष्णु के; किङ्करौ—दो दास; अभ्युत्थितः—खड़ा हो गया; साध्वस—हड़बड़ा कर; विस्मृत—भूल गया; क्रमः—उचित व्यवहार; ननाम—नमस्कार किया; नामानि—नामों को; गृणन्—उच्चारण करते, जपते; मधु-द्विषः—मधु के शत्रु, भगवान् के; पार्षत्—पार्षद; प्रधानौ—प्रमुख; इति—इस प्रकार; संहत—बद्ध; अञ्जलिः—हाथ जोड़े।

यह देखकर कि ये असाधारण पुरुष भगवान् के प्रत्यक्ष दास हैं, ध्रुव महाराज तुरन्त उठ खड़े हुए। किन्तु हड़बड़ाहट में जल्दी के कारण वे उचित रीति से उनका स्वागत करना भूल गये। अत: उन्होंने हाथ जोड़ कर केवल नमस्कार किया और वे भगवान् के पवित्र नामों की महिमा का जप करने लगे।

तात्पर्य : भगवान् के पवित्र नाम का जप हर तरह से सम्पूर्ण होता है। जब ध्रुव महाराज ने चार भुजाओं वाले तथा सुवेश वाले विष्णु दूतों को देखा, तो वे जान गये कि ये कौन थे, किन्तु कुछ समय के लिए वे चकरा गये। किन्तु फिर भगवान् के पवित्र नाम अर्थात् हरे कृष्ण मंत्र का जप करके वे अकस्मात् प्रकट होनेवाले असामान्य अतिथियों को प्रसन्न कर सके। भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन सम्पूर्ण होता है। यद्यपि विष्णु को या उनके पार्षदों को प्रसन्न करने की विधि किसी को ज्ञात नहीं, फिर भी यदि निष्ठापूर्वक केवल उनके नाम का जप किया जाय तो सब कुछ ठीक हो जाता है। अत: भक्त, चाहे संकट में हो अथवा सुख में, हरे कृष्ण मंत्र का निरन्तर जप करता है। जब वह संकट में होता है,

तो तुरन्त उससे छूट जाता है और जब वह भगवान् विष्णु या उनके पार्षदों का दर्शन करने की स्थिति में होता है, तो वह भगवान् को महामंत्र के जाप द्वारा प्रसन्न कर सकता है। महामंत्र की यह परम प्रकृति है। संकट तथा सुख दोनों की दशा में इसे बिना रोक-टोक के जपा जा सकता है।

तं कृष्णपादाभिनिविष्टचेतसं
बद्धाञ्जलिं प्रश्रयनम्रकन्धरम् ।
सुनन्दनन्दावुपसृत्य सस्मितं
प्रत्यूचतुः पुष्करनाभसम्मतौ ॥ २२॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; कृष्ण—भगवान् कृष्ण के; पाद—चरण कमलों का; अभिनिविष्ट—विचार में लीन; चेतसम्—जिसका हृदय; बद्ध-अञ्जलिम्—हाथ जोड़े; प्रश्रय—विनीत भाव से; नम्र—झुका हुआ; कन्धरम्—जिसकी गर्दन; सुनन्द—सुनन्द; नन्दौ—तथा नन्द; उपसृत्य—पास आकर; स-स्मितम्—हँसते हुए; प्रत्यूचतुः—सम्बोधित किया; पुष्कर-नाभ—विष्णु का, जिनके कमलनाभि है; सम्मतौ—निजी दास।

ध्रुव महाराज भगवान् श्रीकृष्ण के चरण-कमलों के चिन्तन में सदैव लीन रहते थे। उनका हृदय कृष्ण से पूरित था। जब परमेश्वर के दो निजी दास, जिनके नाम सुनन्द तथा नन्द थे, प्रसन्नतापूर्वक हँसते हुए उनके पास पहुँचे तो ध्रुव महाराज हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक सिर नीचा किये खड़े हो गये। तब उन्होंने ध्रुव महाराज को इस प्रकार से सम्बोधित किया।

तात्पर्य : इस श्लोक में *पुष्करनाभसम्मतौ* शब्द महत्त्वपूर्ण है। श्रीकृष्ण अथवा भगवान् विष्णु अपने कमलनेत्रों, कमलनाभि, कमलचरण तथा कमलकरपल्लवों के लिए विख्यात हैं। यहाँ पर उन्हें *पुष्करनाभ* अर्थात् ''कमलनाभ'' कहा गया है तथा *सम्मतौ* का अर्थ है, ''दो अत्यन्त आज्ञाकारी दास।'' भौतिक जीवन प्रणाली आध्यात्मिक जीवन प्रणाली से इस बात में भिन्न है कि पहली प्रणाली तो परमेश्वर की अवज्ञा है और दूसरी आज्ञाकरिता। सभी जीवात्माएँ भगवान् के भिन्नांश हैं और वे सदैव भगवान् की आज्ञा का पालन करनेवाली हैं। यही पूर्ण एकात्मकता है।

वैकुण्ठलोक में सभी जीवात्माओं की भगवान् के साथ एकात्मता बनी रहती है क्योंकि वे कभी भी उनके आदेशों का उल्लंघन नहीं करते हैं। किन्तु भौतिक जगत में वे *सम्मत* अर्थात् अनुकूल नहीं होते, वे सदैव *असम्मत* अर्थात् प्रतिकूल रहते हैं। यह मानव जीवन भगवान् के आदेशों के अनुकूल बनाये जाने की शिक्षा दिए जाने का एक अवसर है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन समाज में यह शिक्षा प्रदान

करने के लिए ही है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भौतिक प्रकृति के नियम अत्यन्त कठोर हैं; कोई भी प्रकृति के अकाट्य नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता। किन्तु जो मनुष्य शरणागत होकर परमेश्वर के आदेश का पालन करता है, वह सरलता से इन कठोर नियमों को आसानी से लाँघ लेता है। ध्रुव महाराज का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। भगवान् के आदेशों के प्रति सम्मत होकर तथा उनके प्रति प्रेम उत्पन्न करके ही ध्रुव को विष्णु के विश्वस्त दासों के प्रत्यक्ष दर्शन पाने का अवसर प्राप्त हो सका। जो ध्रुव के लिए सम्भव था, वह सबके लिए सम्भव हो सकता है। जो कोई भी गम्भीरता से भक्ति में लग जाता है, वही समय आने पर वैसी ही जीवन-सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

सुनन्दनन्दावूचतुः

भो भो राजन्सुभद्रं ते वाचं नोऽवहितः शृणु ।
यः पञ्चवर्षस्तपसा भवान्देवमतीतृपत् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सुनन्द-नन्दौ ऊचतुः—सुनन्द तथा नन्द ने कहा; भोः भोः राजन्—हे राजा; सु-भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारा; वाचम्—शब्द; नः—हमारे; अवहितः—ध्यानपूर्वक; शृणु—सुनो; यः—जो; पञ्च-वर्षः—पाँच वर्ष के; तपसा—तपस्या द्वारा; भवान्—आप; देवम्—भगवान्; अतीतृपत्—अत्यधिक प्रसन्न।

विष्णु के दोनों विश्वस्त पार्षद सुनन्द तथा नन्द ने कहा : हे राजन्, आपका कल्याण हो। हम जो कहें, कृपया उसे ध्यानपूर्वक सुनें। जब आप पाँच वर्ष के थे तो आपने कठिन तपस्या की थी और उससे आपने पुरुषोत्तम भगवान् को अत्यधिक प्रसन्न कर लिया था।

तात्पर्य : जो ध्रुव महाराज ने किया था, वह सबों के लिए सम्भव है। किसी भी पाँच वर्ष के बालक को शिक्षित किया जा सकता है और कुछ ही काल में उसे कृष्णचेतना का बोध हो सकता है और उस का जीवन सफल हो सकता है। दुर्भाग्यवश ऐसी शिक्षा का विश्व-भर में अभाव है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के अग्रणी पुरुषों का कर्तव्य है कि वे विश्व के विभिन्न भागों में बच्चों के प्रशिक्षण संस्थान खोलें जिनमें पाँच साल के बच्चे भर्ती हों। इस प्रकार ऐसे बालक न तो हिप्पी बनेंगे, न समाज के बिगड़े बालक रहेंगे; अपितु वे भगवद्भक्त हो जाएँगे। तब विश्व का मुखड़ा स्वतः बदला दिखेगा।

तस्याखिलजगद्धातुरावां देवस्य शार्ङ्गिणः ।
पार्षदाविह सम्प्राप्तौ नेतुं त्वां भगवत्पदम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके; अखिल—सम्पूर्ण; जगत्—ब्रह्माण्ड; धातुः—स्त्रष्टा; आवाम्—हम दोनों; देवस्य—भगवान् के; शार्ङ्गिणः—शार्ङ्ग धनुष को धारण करने वाले; पार्षदौ—पार्षद; इह—अब; सम्प्राप्तौ—पास आये हैं; नेतुम्—ले जाने के लिए; त्वाम्—तुमको; भगवत्-पदम्—भगवान् के स्थान तक।

हम उन भगवान् के प्रतिनिधि हैं, जो समग्र ब्रह्माण्ड का स्त्रष्टा हैं और हाथ में शार्ङ्ग नामक धनुष को धारण किये रहते हैं। आपको वैकुण्ठलोक ले जाने के लिए हमें विशेष रूप से नियुक्त किया गया है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि उनकी दिव्य लीलाओं को (चाहे इस भौतिक संसार में या आध्यात्मिक संसार में)जानकर कोई भी व्यक्ति, जो यह जानता है कि मैं कौन हूँ, किस प्रकार प्रकट होता हूँ और किस प्रकार कर्म करता हूँ, तुरन्त ही वैकुण्ठलोक जाने का भागी बन सकता है। ध्रुव पर *भगवद्गीता* का यह नियम लागू होता है। उन्होंने तपस्या द्वारा आजीवन भगवान् को समझने का प्रयास किया। अब इसका परिपक्व फल यह मिला कि वे भगवान् के विश्वश्त पार्षदों के साथ वैकुण्ठलोक जाने के योग्य हो गए।

सुदुर्जयं विष्णुपदं जितं त्वया
यत्सूरयोऽप्राप्य विचक्षते परम् ।
आतिष्ठ तच्चन्द्रदिवाकरादयो
ग्रहर्क्षताराः परियन्ति दक्षिणम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सुदुर्जयम्—प्राप्त करना कठिन; विष्णु-पदम्—विष्णुलोक; जितम्—जीता गया; त्वया—तुम्हारे द्वारा; यत्—जो; सूरयः—बड़े-बड़े देवता; अप्राप्य—बिना प्राप्त किये; विचक्षते—केवल देखते हैं; परम्—परम; आतिष्ठ—आइये; तत्—उस; चन्द्र—चन्द्रमा; दिव-आकर—सूर्य; आदयः—इत्यादि; ग्रह—नौ ग्रह (बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल बृहस्पति, शनि, युरेनस, नेप्चून तथा प्लुटो); ऋक्ष-ताराः—नक्षत्र; परियन्ति—परिक्रमा करते हैं; दक्षिणम्—दाईं ओर।

विष्णुलोक को प्राप्त कर पाना अत्यन्त कठिन है, किन्तु आपने अपनी तपस्या से उसे जीत लिया है। बड़े-बड़े ऋषि तथा देवता भी इस पद को प्राप्त नहीं कर पाते। परमधाम (विष्णुलोक) के दर्शन करने के लिए ही सूर्य, चन्द्रमा तथा अन्य ग्रह, तारे, चन्द्र-भुवन (नक्षत्र) तथा सौर-मण्डल उसकी परिक्रमा करते हैं। कृपया आइये, वहाँ जाने के लिए आपका स्वागत है।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में भी तथाकथित वैज्ञानिक, दार्शनिक तथा चिन्तक वैकुण्ठ तक जाने के लिए प्रयत्नशील हैं, किन्तु वे वहाँ कभी नहीं जा सकते। किन्तु भक्ति करते हुए भक्त न केवल वैकुण्ठलोक को जान पाता है, वरन् यथार्थ में वहाँ जाकर आनन्द तथा ज्ञान का शाश्वत जीवन बिताता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन इतना शक्तिमान है कि जीवन के नियमों का पालन करते हुए तथा भगवत्प्रेम उत्पन्न करके कोई भी भगवान् के धाम आसानी से वापस जा सकता है। इसके साक्षात् प्रमाण ध्रुव महाराज हैं। जहाँ विज्ञानीजन तथा दार्शनिक चन्द्रमा में जाकर वहाँ रुकने तथा रहने के प्रयासों में असफल रहते हैं, वहीं भक्त अन्य लोकों की यात्रा सुगमता से कर सकता है और अन्त में भगवान् के धाम जाता है। भक्तों को अन्य लोकों को देखने में रुचि नहीं रहती, किन्तु भगवान् के धाम जाते हुए वे इन समस्त लोकों को देखते हुए पार करते हैं जिस प्रकार कि दूर जानेवाला यात्री अनेक छोटे-छोटे स्टेशनों को पार करता जाता है।

अनास्थितं ते पितृभिरन्यैरप्यङ्ग कर्हिचित् ।
आतिष्ठ जगतां वन्द्यं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अनास्थितम्—कभी भी प्राप्त नहीं हुआ; ते—तुम्हारे; पितृभिः—पूर्वजों द्वारा; अन्यैः—अन्यों के द्वारा; अपि—भी; अङ्ग—हे ध्रुव; कर्हिचित्—कभी भी; आतिष्ठ—आकर रहिये; जगताम्—ब्रह्माण्ड के वासियों द्वारा; वन्द्यम्—पूज्य; तत्—वह; विष्णोः—विष्णु का; परमम्—परम; पदम्—पद, स्थान।

हे राजा ध्रुव, आज तक न तो आपके पूर्वजों ने, न अन्य किसी ने ऐसा दिव्य लोक प्राप्त किया है। यह विष्णुलोक, जहाँ विष्णु निवास करते हैं, सबों से ऊपर है। यह अन्य सभी इस ब्रह्माण्डों के निवासियों द्वारा पूजित है। आप हमारे साथ आयें और वहाँ शाश्वत वास करें।

तात्पर्य : जब ध्रुव महाराज तपस्या करने गये थे तो वे ऐसा पद प्राप्त करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थे, जिसकी कल्पना उनके पूर्वजों को स्वप्न में भी न हुई हो। उनके पिता उत्तानपाद थे, पितामह मनु और प्रपितामह ब्रह्मा थे। अतः वे ब्रह्मा द्वारा प्राप्य पद से भी बड़ा पद चाह रहे थे और उन्होंने नारद से ऐसा पद प्राप्त करने की सुविधा मांगी थी। अतः विष्णु के पार्षदों ने स्मरण दिलाया कि विष्णु जिस लोक में वास करते हैं उसे न तो उनके पूर्वज और न ब्रह्माण्ड का कोई भी वासी प्राप्त कर सका है। इसका एकमात्र कारण यही है कि इस जगत में प्रत्येक व्यक्ति या तो कर्मी या ज्ञानी अथवा योगी ही हैं, शुद्ध

भक्त तो शायद ही कोई होगा। विष्णुलोक नामक दिव्यलोक तो विशेष रूप से भक्तों के लिए है; ज्ञानियों, कर्मियों या योगियों के लिए नहीं। बड़े-बड़े ऋषि अथवा देवता ब्रह्मलोक तक नहीं पहुँच पाते हैं और जैसाकि *भगवद्गीता* में उल्लेख है ब्रह्मलोक स्थायी वास नहीं है। ब्रह्मा का जीवनकाल इतना दीर्घ है कि उनके एक दिन का भी अनुमान लगा पाना कठिन है, तो भी ब्रह्मा भी मरते हैं और उसी तरह उनके लोक के वासी भी। *भगवद्गीता* (८.१६) में कहा गया है—*आब्रह्म भुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन*—जो लोग विष्णुलोक को जाते हैं, उनके अतिरिक्त सभी जीवन के चार नियमों—जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग—द्वारा अनुशासित होते हैं। *गीता* में (१५.६) भगवान् का कथन है—*यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम् परमं मम*—वह लोक, जहाँ एक बार जाकर लौटना नहीं होता वह मेरा परम धाम है। ध्रुव महाराज को स्मरण कराया गया, "आप हमारे साथ उस लोक को जा रहे हैं जहाँ से लौटकर कोई फिर इस लोक में नहीं आता।" भौतिक विज्ञानी चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहों तक जाने का प्रयास कर रहे हैं, किन्तु वे सर्वोच्च ग्रह, ब्रह्मलोक तक जाने की कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि वह उनकी कल्पना से परे है। भौतिक गणना से यदि कोई प्रकाश की गति से यात्रा करे तो सर्वोच्च ग्रह तक पहुँचने में चालीस हजार प्रकाशवर्ष लगेंगे। यांत्रिक विधियों से ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च ग्रह तक पहुँचना दुष्कर है, किन्तु भक्तियोग द्वारा, जिसे महाराज ध्रुव ने अपनाया था, कोई भी मनुष्य इस ब्रह्माण्ड के अन्य किसी ग्रह तक ही नहीं, वरन् इस ब्रह्माण्ड से परे विष्णुलोक को जा सकता है। हमने इसकी रूपरेखा अपनी पुस्तिका *अन्य ग्रहों की सुगम यात्रा* में प्रस्तुत की है।

एतद्विमानप्रवरमुत्तमश्लोकमौलिना ।
उपस्थापितमायुष्मन्नधिरोढुं त्वमर्हसि ॥ २७॥

शब्दार्थ

एतत्—वह; विमान—विमान; प्रवरम्—अद्वितीय; उत्तमश्लोक—भगवान्; मौलिना—समस्त जीवात्माओं में शिरोमणि; उपस्थापितम्—भेजा है; आयुष्मन्—हे दीर्घजीवी; अधिरोढुम्—चढ़ने के लिए; त्वम्—तुम; अर्हसि—योग्य हो।

हे दीर्घजीवी, इस अद्वितीय विमान को उन भगवान् ने भेजा है, जिनकी स्तुति उत्तम श्लोकों द्वारा की जाती है और जो समस्त जीवात्माओं के प्रमुख हैं। आप इस विमान में चढ़ने के सर्वथा योग्य हैं।

तात्पर्य : ज्योतिष गणना के अनुसार ध्रुवतारा के साथ ही शिशुमार नामक एक अन्य तारा है, जहाँ संसार के पालनकर्ता विष्णु भगवान् वास करते हैं। शिशुमार अथवा ध्रुवलोक तक वैष्णवों के अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं जा सकता। जैसाकि आगे आने वाले श्लोकों में वर्णन किया जाएगा। ध्रुव महाराज के लिए विष्णु के पार्षद विशेष विमान लाये थे और उन्हें बताया कि भगवान् विष्णु ने यह विशेष विमान भेजा है।

वैकुण्ठ का यह विमान यंत्रों से नहीं चलता। अन्तरिक्ष में यात्रा करने की तीन विधियाँ हैं। इनमें से एक का पता आधुनिक विज्ञानियों को है। यह कपोत-वायु कहलाती है। *क* का अर्थ है, ''अन्तरिक्ष'' और कपोत का अर्थ है ''यान।'' दूसरी विधि भी कपोत-वायु है, जिसमें *कपोत* कबूतर का सूचक है। मनुष्य कबूतरों को प्रशिक्षित करके अन्तरिक्ष में जा सकता है। किन्तु तीसरी विधि अत्यन्त सूक्ष्म है। यह *आकाश-पतन* कहलाती है। यह विधि भौतिक भी है। जिस प्रकार मन बिना किसी यांत्रिक व्यवस्था के जहाँ चाहे घूम सकता है उसी प्रकार आकाशपतन विमान भी मन के वेग से उड़ सकता है। इस *आकाश-पतन* प्रणाली के परे वैकुण्ठ-विधि है, जो नितान्त आध्यात्मिक है। विष्णु ने ध्रुव महाराज को शिशुमार लाने के लिए जो विमान भेजा था वह पूर्ण रूप से आध्यात्मिक दिव्य विमान था। भौतिक विज्ञानी न तो ऐसे यान को देख सकते हैं और न कल्पना कर सकते हैं कि वह वायु में कैसे उड़ता है। यद्यपि *भगवद्गीता* में इसका उल्लेख है (*परस्तस्मात्तु भावोऽन्यः*) किन्तु भौतिक विज्ञानी को वैकुण्ठ (दिव्य आकाश) का कोई ज्ञान नहीं है।

मैत्रेय उवाच

निशम्य वैकुण्ठनियोज्यमुख्ययो-
र्मधुच्युतं वाचमुरुक्रमप्रियः ।
कृताभिषेकः कृतनित्यमङ्गलो
मुनीन्प्रणम्याशिषमभ्यवादयत् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; निशम्य—सुनकर; वैकुण्ठ—भगवान् के; नियोज्य—पार्षद; मुख्ययोः—प्रधान के; मधु-च्युतम्—मधु ढालनेवाले, अमृतमय; वाचम्—वचन; उरुक्रम-प्रियः—भगवान् के प्रिय, ध्रुव महाराज; कृत-अभिषेकः—स्नान करके; कृत—निवृत्त; नित्य-मङ्गलः—अपने नैत्यिक कर्म; मुनीन्—मुनियों को; प्रणम्य—नमस्कार करके; आशिषम्—आशीर्वाद; अभ्यवादयत्—स्वीकार किया।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : ध्रुव महाराज भगवान् के अत्यन्त प्रिय थे। जब उन्होंने

वैकुण्ठलोक वासी भगवान् के मुख्य पार्षदों की मधुरवाणी सुनी तो उन्होंने तुरन्त स्नान किया, अपने को उपयुक्त आभूषणों से अलंकृत किया और अपने नित्य आध्यात्मिक कर्म सम्पन्न किए। तत्पश्चात् उन्होंने वहाँ पर उपस्थित ऋषियों को प्रणाम किया और उनका आशीर्वाद ग्रहण किया।

तात्पर्य : हमें यह ध्यान देना चाहिए कि इस जगत को छोड़ने के समय भी ध्रुव महाराज अपनी भक्ति के प्रति कितने निष्ठावान थे। वे भक्ति के कार्यों करने में निरन्तर सतर्क रहते थे। प्रत्येक भक्त को प्रात:काल स्नान करके शरीर में तिलक धारण करना चाहिए। कलियुग में स्वर्ण या रत्नाभूषण प्राप्त कर सकना कठिन है, किन्तु शरीर भर में बारह तिलक चिह्न लगा लिए जाँय तो शरीर को पवित्र करने के लिए यह शुभ अलंकरण पर्याप्त होगा। चूँकि ध्रुव महाराज उस समय बदरिकाश्रम में रह रहे थे, अत: वहाँ पर अनेक साधु भी थे। जब विमान आया तो ध्रुव महाराज गर्वित नहीं हुए, वरन् विनीत वैष्णव की भाँति मुनियों का आशीर्वाद प्राप्त करके ही विमान पर आरूढ़ हुए।

परीत्याभ्यर्च्य धिष्ण्याछ्यं पार्षदावभिवन्द्य च ।
इयेष तदधिष्ठातुं बिभ्रद्रूपं हिरण्मयम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

परीत्य—प्रदक्षिणा करके; अभ्यर्च्य—पूजा करके; धिष्ण्य-अछ्यम्—दिव्य विमान; पार्षदौ—दोनों पार्षदों को; अभिवन्द्य—नमस्कार करके; च—भी; इयेष—प्रयत्न करने लगे; तत्—उस यान; अधिष्ठातुम्—चढ़ने के लिए; बिभ्रत्—देदीप्यमान; रूपम्—अपना स्वरूप; हिरण्मयम्—सुनहला।

चढ़ने के पूर्व ध्रुव महाराज ने विमान की पूजा की, उसकी प्रदक्षिणा की और विष्णु के पार्षदों को भी नमस्कार किया। इसी दौरान वे पिघले सोने के समान तेजमय तथा देदीप्यमान हो उठे। इस प्रकार से वे उस दिव्ययान में चढ़ने के लिए पूर्णत: सन्नद्ध थे।

तात्पर्य : परम जगत में यान, विष्णु के पार्षद तथा विष्णु स्वयं—ये सभी दिव्य (आध्यात्मिक) हैं। इनमें किसी प्रकार का भौतिक कल्मष नहीं है। गुण में भी वहाँ सभी वस्तुएँ एक हैं। जिस प्रकार विष्णु पूज्य हैं, वैसे ही उनके पार्षद, उनकी सामग्री, उनका विमान तथा उनका धाम भी है, क्योंकि विष्णु की सभी वस्तुएँ भगवान् विष्णु के ही समान हैं। परम वैष्णव होने के नाते ध्रुव महाराज को यह सब ज्ञात था, अत: उन्होंने चढ़ने के पूर्व पार्षदों तथा विमान को भी प्रणाम किया। किन्तु इसी दौरान उनके शरीर ने आत्मस्वरूप धारण कर लिया, अत: वह पिघले सोने के समान जगमगा रहा था। इस प्रकार वे भी

विष्णुलोक की अन्य सामग्रियों के समान हो गये।

मायावादी चिन्तक सोच नहीं पाते कि विभिन्न विषमताओं में यह एकत्व कैसे प्राप्त किया जा सकता है। उनके एकत्व का भाव यह है कि कोई भी विभिन्नता नहीं होती, अत: वे निर्गुणवादी हो गए हैं। चूँकि शिशुमार, विष्णुलोक अथवा ध्रुव लोक इस जगत से सर्वथा भिन्न हैं, अत: विष्णु मन्दिर भी इस भौतिक जगत से सर्वथा भिन्न होता है। जब हम मन्दिर में हों तो हमें यह समझना होगा कि हम भौतिक जगत से सर्वथा पृथक् स्थित हैं। मन्दिर में विष्णु जी, उनका आसन, उनका कक्ष तथा मन्दिर से सम्बधित अन्य सामग्रियाँ दिव्य होती हैं। इस मन्दिर में सत्त्व, रजो तथा तमो गुणों का प्रवेश नहीं हो पाता। अत: कहा गया है कि जंगल का वास सतोगुणी है, नगर वास रजोगुणी और वेश्यालय, मदिरालय या बूचड़खाने का वास तमोगुणी है। किन्तु मन्दिर का वास तो विष्णुलोक का वास है। मन्दिर की प्रत्येक वस्तु विष्णु या कृष्ण के ही समान पूजनीय है।

तदोत्तानपद: पुत्रो ददर्शान्तकमागतम् ।
मृत्योर्मूर्ध्नि पदं दत्त्वा आरुरोहाद्भुतं गृहम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तदा—तब; उत्तानपद:—राजा उत्तानपाद के; पुत्र:—पुत्र ने; ददर्श—देखा; अन्तकम्—साक्षात् मृत्यु को; आगतम्—आया हुआ; मृत्यो: मूर्ध्नि—मृत्यु के सिर पर; पदम्—पाँव; दत्त्वा—रखकर; आरुरोह—चढ़ गये; अद्भुतम्—आश्चर्यमय; गृहम्—विमान में जो भवन के तुल्य था।

जब ध्रुव महाराज उस दिव्य विमान में चढ़ने जा रहे थे तो उन्होंने साक्षात् काल (मृत्यु) को अपने निकट आते देखा। किन्तु उन्होंने मृत्यु की परवाह नहीं की; उन्होंने इस अवसर का लाभ उठाकर काल के सिर पर अपने पाँव रख दिये और वे विमान में चढ़ गये जो इतना विशाल था कि जैसे एक भवन हो।

तात्पर्य : एक भक्त तथा एक अभक्त के देहान्त को एक-जैसा समझ लेना सर्वथा भ्रामक है। जब ध्रुव महाराज उस दिव्य विमान में चढ़ रहे थे तो उन्होंने एकाएक मृत्यु को अपने पास आते देखा, किन्तु वे भयभीत नहीं हुए। मृत्यु हुआ उन्हें कष्ट दिये जाने के बदले उन्होंने मृत्यु की उपस्थिति का लाभ उठाया और उसके सिर पर अपने पाँव रख दिये। अल्पज्ञानी लोग भक्त तथा अभक्त की मृत्यु के अन्तर को नहीं जानते। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण प्रासंगिक होगा। बिल्ली मुँह से अपने बच्चे भी पकड़ती

है और चूहों को भी। ऊपर से बच्चों तथा चूहों का पकड़ा जाना एक-जैसा लगता है, किन्तु ऐसा है नहीं। चूहे के मुँह से पकड़े जाने का अर्थ है उसकी मृत्यु, किन्तु बच्चे का पकड़ा जाना बच्चे के लिए सुखकर होता है। जब ध्रुव महाराज विमान में चढ़ने लगे तो उन्होंने नमस्कार करने के लिए आई हुई मृत्यु का लाभ उठाया, वे उसके सिर पर पाँव रखकर उस अनुपम विमान में, जो एक विशाल गृह की भाँति था, चढ़ गये।

भागवत में ऐसे अन्य उदाहरण भी प्राप्त हैं। कहा जाता है कि जब कर्दम मुनि ने अपनी पत्नी देवहूति को समस्त ब्रह्माण्ड में घुमाने के लिए विमान की रचना की तो वह एक बड़े नगर-जैसा था जिसमें अनेक घर, सरोवर तथा उद्यान समाहित थे। आधुनिक विज्ञानियों ने बड़े-बड़े वायुयान बनाये हैं, किन्तु उनमें यात्री खचाखच भरे रहते हैं जिससे उन्हें सभी तरह की असुविधाएँ होती हैं।

भौतिक विज्ञानी विमान के निर्माण में भी पूरी तरह दक्ष नहीं हैं। कर्दम मुनि के विमान अथवा वैकुण्ठलोक से आये हुए विमान की बराबरी में उन्हें ऐसा विमान बनाना चाहिए जो एक विशाल नगर की भाँति सभी सुविधाओं से—यथा सरोवर, उद्यान, पार्क इत्यादि से—लैस हो। उनके विमान को अन्तरिक्ष में उड़ सकने में तथा अन्य लोकों की सैर कर सकने में सक्षम होना चाहिए। यदि वे ऐसा विमान बना सकें तो उन्हें अन्तरिक्ष में उड़ान भरते समय ईंधन के लिए अंतरिक्ष में विभिन्न स्टेशन स्थापित करने की आवश्यकता न रहेगी। ऐसे विमान में अनन्त ईंधन होगा अथवा विष्णुलोक से आये विमान की तरह वह बिना ईंधन के उड़ सकेगा।

तदा दुन्दुभयो नेदुर्मृदङ्गपणवादयः ।
गन्धर्वमुख्याः प्रजगुः पेतुः कुसुमवृष्टयः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; दुन्दुभयः—दुन्दुभी; नेदुः—बजने लगे; मृदङ्ग—मृदंग; पणव—ढोल; आदयः—इत्यादि.; गन्धर्व-मुख्याः—गन्धर्वलोक के मुख्य निवासी; प्रजगुः—गाने लगे; पेतुः—वर्षा की; कुसुम—फूल; वृष्टयः—वर्षा की तरह।

उस समय ढोल, मृदंग तथा दुन्दुभी के शब्द आकाश से गूँजने लगे, प्रमुख-प्रमुख गंधर्व जन गाने लगे और अन्य देवताओं ने ध्रुव महाराज पर फूलों की मूसलाधार वर्षा की।

स च स्वर्लोकमारोक्ष्यन्सुनीतिं जननीं ध्रुवः ।
अन्वस्मरदगं हित्वा दीनां यास्ये त्रिविष्टपम् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

सः—वह; च—भी; स्वः-लोकम्—दैव लोक को; आरोक्ष्यन्—चढ़ते समय; सुनीतिम्—सुनीति को; जननीम्—माता; ध्रुवः—ध्रुव महाराज ने; अन्वस्मरत्—स्मरण किया; अगम्—प्राप्त करना कठिन; हित्वा—पीछे छोड़ कर; दीनाम्—बेचारी; यास्ये—मैं जाऊँगा; त्रि-विष्टपम्—वैकुण्ठलोक को।

ध्रुव महाराज जब उस दिव्य विमान पर बैठे थे, जो चलनेवाला था, तो उन्हें अपनी बेचारी माता सुनीति का स्मरण हो आया। वे सोचने लगे, "मैं अपनी बेचारी माता को छोड़ कर वैकुण्ठलोक अकेले कैसे जा सकूँगा?"

तात्पर्य : ध्रुव महाराज अपनी माता सुनीति के प्रति अत्यन्त कृतज्ञता का अनुभव कर रहे थे। उन्हीं के मार्गदर्शन पर वे स्वयं विष्णु के पार्षदों द्वारा वैकुण्ठलोक ले जाये जाने में समर्थ हो पाये। अब उन्हें माता की याद आ रही थी और वे उन्हें भी साथ ले जाना चाहते थे। वस्तुत: ध्रुव महाराज की माता सुनीति ही उनकी पथ-प्रदर्शक गुरु थीं। ऐसा गुरु कभी-कभी *शिक्षा-गुरु* कहलाता है। यद्यपि नारद मुनि उनके दीक्षा-गुरु थे, किन्तु उनकी माता सुनीति ने ही भगवान् की कृपा प्राप्त करने की विधि की शिक्षा दी थी। शिक्षा-गुरु या *दीक्षा-गुरु* का कर्तव्य है कि वह शिष्य को सही-सही शिक्षा दे और उसको कार्यान्वित करना शिष्य पर निर्भर करता है। शास्त्रीय आदेशों के अनुसार *शिक्षा-गुरु* तथा *दीक्षा-गुरु* में कोई अन्तर नहीं है। सामान्यत: शिक्षा-गुरु ही बाद में दीक्षा-गुरु बनता है। किन्तु स्त्री होने के कारण विशेष रूप से माता होने के कारण, सुनीति अपने पुत्र महाराज ध्रुव की दीक्षा-गुरु नहीं हो सकती थीं। तो भी वे सुनीति के प्रति कम कृतज्ञ न थे। नारद मुनि को विष्णुलोक ले जाने का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु ध्रुव महाराज ने अपनी माता को ले जाने के लिए सोचा।

जो कुछ भगवान् की योजना होती है, वह तुरन्त फलवती होती है। इसी प्रकार जो भक्त परमेश्वर पर पूर्णत: आश्रित है, वह भगवत्कृपा से अपनी सारी इच्छाएँ पूरी कर सकता है। भगवान् अपनी इच्छाओं की पूर्ति स्वतंत्र रूप से करते हैं, किन्तु भक्त को भगवान् पर निर्भर रह कर अपनी इच्छाएं पूरी करनी पड़ती है। अत: ज्योंही ध्रुव महाराज ने अपनी बेचारी माता के विषय में सोचा, तो विष्णु के पार्षदों ने विश्वास दिलाया कि सुनीति भी दूसरे विमान से विष्णुलोक को चल रही हैं। ध्रुव महाराज ने सोचा था कि वे अपनी माँ को छोड़ कर अकेले ही वैकुण्ठलोक जा रहे हैं। यह अच्छा नहीं था,

क्योंकि तब लोग आलोचना करेंगे कि वे अपनी माता को साथ नहीं ले गये, जिसने उनके लिए इतना किया। किन्तु ध्रुव ने यह भी विचार किया कि वे व्यक्तिगत रूप से परमेश्वर नहीं थे, अत: जब श्रीकृष्ण उनकी इच्छाओं को पूरा करेंगे, तभी यह सम्भव हो सकेगा। कृष्ण ने तुरन्त उनका मनोभाव जान लिया, अत: उन्होंने ध्रुव को बता दिया कि उनकी माता भी उनके साथ ही चल रही हैं। यह घटना सिद्ध करती है कि ध्रुव महाराज जैसे भक्त की समस्त इच्छाएँ पूरी होती हैं; भगवत्कृपा से वह भगवान् के ही समान हो जाता है और जब भी वह किसी वस्तु के लिए सोचता है, तो उसकी इच्छा तुरन्त पूर्ण हो जाती है।

इति व्यवसितं तस्य व्यवसाय सुरोत्तमौ ।
दर्शयामासतुर्देवीं पुरो यानेन गच्छतीम् ॥ ३३॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; व्यवसितम्—चिन्तन; तस्य—ध्रुव का; व्यवसाय—ज्ञान; सुर-उत्तमौ—दो प्रमुख पार्षद; दर्शयाम् आसतु:—(उसको) दिखाया; देवीम्—पूज्या सुनीति; पुर:—समक्ष; यानेन—विमान से; गच्छतीम्—आगे जाती हुई।

वैकुण्ठलोक के महान् पार्षद नन्द तथा सुनन्द ध्रुव महाराज के मन की बात जान गये, अत: उन्होंने उन्हें दिखाया कि उनकी माता सुनीति दूसरे यान में आगे-आगे जा रही हैं।

तात्पर्य : यह घटना सिद्ध करती है कि जिस *शिक्षा* या *दीक्षा-गुरु* के ध्रुव महाराज जैसा शिष्य हो, जो इतनी दृढ़ता से भक्ति करे, तो उसे शिष्य अपने साथ ले जाता है भले ही गुरु उतना बढ़ा चढ़ा न हो। यद्यपि सुनीति ध्रुव महाराज को उपदेश देनेवाली थीं, किन्तु स्त्री होने के कारण वे न तो जंगल जा सकीं, न ध्रुव महाराज के समान तपस्या कर सकीं। तो भी ध्रुव महाराज अपनी माता को अपने साथ ले जाने में समर्थ हो सके। इसी प्रकार प्रह्लाद महाराज ने भी अपने नास्तिक पिता हिरण्यकशिपु का उद्धार किया। इससे यह निष्कर्ष निकला कि यदि शिष्य अथवा सन्तान अत्यधिक प्रबल भक्त हो तो वह अपने पिता-माता अथवा शिक्षा या दीक्षा-गुरु को अपने साथ वैकुण्ठलोक ले जा सकता है। श्रील भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहा करते थे, ''यदि मैं एक भी जीव को भगवान् के धाम पहुँचा सका तो मैं समझूँगा कि मेरा उद्देश्य—कृष्णभावनामृत का प्रसार—सफल हुआ।'' अब कृष्णभावनामृत आन्दोलन विश्व भर में फैल रहा है और कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि यद्यपि मैं अनेक मामलों में पंगु हूँ, किन्तु यदि मेरा एक भी शिष्य ध्रुव महाराज के समान शक्तिशाली हो जाये तो वह अपने साथ मुझे भी

वैकुण्ठलोक ले जाने में समर्थ हो सकता है।

तत्र तत्र प्रशंसद्भिः पथि वैमानिकैः सुरैः ।
अवकीर्यमाणो ददृशे कुसुमैः क्रमशो ग्रहान् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तत्र तत्र—जहाँ-तहाँ; प्रशंसद्भिः—ध्रुव महाराज के प्रशंसकों द्वारा; पथि—रास्ते में; वैमानिकैः—विभिन्न प्रकार के यानों द्वारा ले जाये जानेवाले; सुरैः—देवताओं द्वारा; अवकीर्यमाणः—बिखेरा जाकर; ददृशे—देख सके; कुसुमैः—फूलों से; क्रमशः—एक के पश्चात् एक; ग्रहान्—सौर मण्डल के समस्त ग्रह।

आकाश-मार्ग से जाते हुए ध्रुव महाराज ने क्रमशः सौर मण्डल के सभी ग्रहों को देखा और रास्ते में समस्त देवताओं को उनके विमानों में से अपने ऊपर फूलों की वर्षा करते देखा।

तात्पर्य : एक वैदिक उक्ति है—*यस्मिन् विज्ञाते सर्वमेव विज्ञातं भवति*—अर्थात् भगवान् को जान लेने पर भक्त को सब कुछ ज्ञात हो जाता है। इसी प्रकार भगवान् के लोक जाने से मनुष्य को वैकुण्ठलोक के मार्ग में पड़नेवाले अन्य सभी लोकों का ज्ञान हो जाता है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि ध्रुव महाराज का शरीर हमसे भिन्न था। वैकुण्ठ-विमान में चढ़ते समय उनका शरीर दिव्य सुनहरे रंग का हो गया था। कोई भी व्यक्ति भौतिक देह से उच्च लोकों को पार नहीं कर सकता, किन्तु जब उसे दिव्य-देह प्राप्त हो जाती है, तो वह न केवल इस जगत के उच्चतर लोकों को पार कर सकता है, वरन् इनसे परे उच्च लोक, वैकुण्ठलोक तक भी जा सकता है। यह सुविदित है कि नारद मुनिवैकुण्ठ तथा भौतिक जगत दोनों में सर्वत्र—विचरते रहते हैं।

यह भी ध्यान देने की बात है कि वैकुण्ठलोक जाते समय सुनीति का भी शरीर दिव्य-रूप हो गया था। सुनीति की भाँति ही प्रत्येक माता को चाहिए कि वह अपनी सन्तान को ध्रुव महाराज के समान भक्त बनने की शिक्षा दे। जब ध्रुव पाँच वर्ष के थे तभी सुनीति ने उन्हें शिक्षा दी कि इस संसार से विरक्त होकर भगवान् की खोज करने जंगल में जाओ। वह कभी नहीं चाहती थीं कि उनका पुत्र भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिए तप किये बिना घर में ही सुख से रहे। हर माता को सुनीति की ही तरह अपने पुत्र की का पालन करना चाहिए और पाँच वर्ष की आयु से ही ब्रह्मचारी बनने तथा आत्म-साक्षात्कार के लिए तपस्या करने की शिक्षा देनी चाहिए। इससे यह लाभ होगा कि यदि पुत्र ध्रुव के समान भक्त हुआ तो न केवल वह भगवान् के धाम को जाएगा, वरन् उसकी माता भी उसी के साथ

वैकुण्ठलोक को जा सकेगी, भले ही वह भक्ति के लिए तपस्या करने में असमर्थ रही हो।

त्रिलोकीं देवयानेन सोऽतिव्रज्य मुनीनपि ।
परस्ताद्यद्ध्रुवगतिर्विष्णोः पदमथाभ्यगात् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

त्रि-लोकीम्—तीनों लोक; देव-यानेन—दिव्य विमान से; सः—ध्रुव; अतिव्रज्य—पार करके; मुनीन्—मुनिगण; अपि—भी; परस्तात्—परे; यत्—जो; ध्रुव-गतिः—ध्रुव जिन्होंने अविचल जीवन प्राप्त किया; विष्णोः—भगवान् विष्णु का; पदम्—धाम; अथ—तब; अभ्यगात्—प्राप्त किया।

इस प्रकार ध्रुव महाराज ने सप्तर्षि कहलानेवाले ऋषियों के सात लोकों को पार किया। इसके परे उन्होंने उस लोक में अविचल दिव्य पद प्राप्त किया जहाँ भगवान् विष्णु वास करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु के दो प्रमुख पार्षद, जिनके नाम सुनन्द तथा नन्द थे, विमान को चला रहे थे। ऐसे ही दिव्य अन्तरिक्षयात्री अपना यान सप्तलोकों के परे चलाकर शाश्वत आनन्दमय जीवन के प्रक्षेत्र में प्रवेश करा पाते हैं। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई है (*परस्तस्मात्तु भावोऽन्यः*) कि इस लोक से आगे वैकुण्ठ शुरू हो जाता है, जहाँ हर वस्तु स्थायी और आनन्दमय है। ये लोक विष्णुलोक या वैकुण्ठलोक कहलाते हैं। वहीं ज्ञान का आनन्दमय जीवन प्राप्त हो सकता है। वैकुण्ठलोक के नीचे भौतिक ब्रह्माण्ड है, जहाँ ब्रह्मा तथा अन्य ब्रह्मलोक के वासी प्रलय होने तक वास करते हैं, किन्तु यह जीवन स्थायी नहीं है। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि मिलती है (*आब्रह्म भुवनाल्लोकाः*)। भले ही कोई उच्चतम लोक चला जाये, किन्तु शाश्वत जीवन प्राप्त नहीं होगा। केवल वैकुण्ठलोक पहुँच कर शाश्वत एवं आनन्दमय जीवन जिया जा सकता है।

यद्भ्राजमानं स्वरुचैव सर्वतो
लोकास्त्रयो ह्यनु विभ्राजन्त एते ।
यन्नाव्रजञ्जन्तुषु येऽननुग्रहा
व्रजन्ति भद्राणि चरन्ति येऽनिशम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो लोक; भ्राजमानम्—आलोकित; स्व-रुचा—अपने तेज से; एव—केवल; सर्वतः—सब जगह; लोकाः—लोक; त्रयः—तीन; हि—निश्चय ही; अनु—तत्पश्चात्; विभ्राजन्ते—प्रकाश करते हैं; एते—ये; यत्—जो लोक; न—नहीं; अव्रजन्—पहुँच गये हैं; जन्तुषु—जीवात्माओं को; ये—जो; अननुग्रहाः—रुष्ट; व्रजन्ति—पहुँचते हैं; भद्राणि—शुभ कार्य; चरन्ति—प्रवृत्त होते हैं; ये—जो; अनिशम्—निरन्तर।

जो लोग दूसरे जीवों पर दयालु नहीं होते, वे स्वतेजोमय इन वैकुण्ठलोकों में नहीं पहुँच

पाते, जिनके प्रकाश से इस भौतिक ब्रह्माण्ड के सभी लोक प्रकाशित हैं। जो व्यक्ति निरन्तर अन्य प्राणियों के कल्याणकारी कार्यों में लगे रहते हैं, केवल वे ही वैकुण्ठलोक पहुँच पाते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर वैकुण्ठलोकों के दो पक्षों का वर्णन हुआ है। पहला तो यह है कि वैकुण्ठलोक को सूर्य तथा चन्द्रमा की आवश्यकता नहीं है। इसकी पुष्टि *उपनिषदों* तथा *भगवद्गीता* से होती है (*न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः*)। वैकुण्ठलोक स्वयंप्रकाशित हैं, अतः सूर्य, चन्द्रमा या विद्युत् बल्बों की वहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। तथ्य तो यह है कि वैकुण्ठलोकों का प्रकाश ही आकाश में प्रतिबिम्बित होता है। इसी के प्रकाश से भौतिक ब्रह्माण्ड के सूर्य प्रकाशित होते हैं और सूर्य के प्रकाशित होने पर समस्त तारे तथा चन्द्र भी प्रकाशित होते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि भौतिक व्योम के सभी नक्षत्रगण वैकुण्ठलोक से प्रकाश प्राप्त करते हैं। यदि लोग अन्य जीवों के लगातार लिए कल्याणकारी कार्य करते हैं, तो इस भौतिक लोक से वे वैकुण्ठलोक को जाते हैं। ऐसे कल्याणकारी कार्य कृष्णचेतना में ही किये जा सकते हैं। इस भौतिक जगत में कृष्णभावनामृत के अतिरिक्त कोई भी ऐसा परोपकार नहीं है, जिसमें कोई चौबीसों घण्टे लगा रह सके।

कृष्णभावनाभावित व्यक्ति सदैव यह सोचने में लगा रहता है कि दुखी मानवजाति को किस प्रकार भगवान् के धाम ले जाया जाये। यदि उसे समस्त पतित जीवों को उबारने में सफलता नहीं मिलती तो भी कृष्णचेतनामय होने के कारण उसके लिए वैकुण्ठ का द्वार खुला रहता है। वह स्वयं वैकुण्ठलोक में प्रविष्ट होने का पात्र तो रहता ही है, यदि कोई उसका अनुसरण करता है, तो वह भी वैकुण्ठलोक को जाता है। अन्य लोग, जो ईर्ष्या–व्यापार में लगे रहते हैं, कर्मी कहलाते हैं। वे परस्पर ईर्ष्या करते हैं। वे अपनी इन्द्रियतुष्टि के लिए हजारों निर्दोष प्राणियों का वध कर सकते हैं। ज्ञानी लोग कर्मियों के समान पापी नहीं होते, किन्तु वे अन्यों को भगवान् के धाम ले जाने का यत्न नहीं करते। वे अपनी ही मुक्ति के लिए तपस्या करते हैं। योगी भी आत्मोन्नति के लिए योगशक्ति प्राप्त करने के प्रयास में लगे रहते हैं। किन्तु भक्त अर्थात् वैष्णव, जो भगवान् के दास हैं, वे पतितात्माओं के उद्धार के लिए कृष्णचेतना के कार्यक्षेत्र में आगे बढ़कर कार्य करते हैं। केवल कृष्णचेतनायुक्त व्यक्ति ही वैकुण्ठलोक में जाने के योग्य होते हैं। इस श्लोक में इसका स्पष्ट रूप से वर्णन हुआ है और *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई

है, जहाँ भगवान् कहते हैं कि जो व्यक्ति *भगवद्गीता* का संदेश विश्व भर में प्रचारित करता है, उसके समान उन्हें कोई अन्य प्रिय नहीं है।

शान्ताः समदृशः शुद्धाः सर्वभूतानुरञ्जनाः ।
यान्त्यञ्जसाच्युतपदमच्युतप्रियबान्धवाः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

शान्ताः—शान्त; सम-दृशः—समदर्शी; शुद्धाः—पवित्र; सर्व—समस्त; भूत—जीवात्माएँ; अनुरञ्जनाः—प्रसन्न करनेवाले; यान्ति—जाते हैं; अञ्जसा—सरलतापूर्वक; अच्युत—भगवान् के; पदम्—धाम को; अच्युत-प्रिय—भगवान् के भक्त; बान्धवाः—मित्र।

जो शान्त, समदर्शी तथा पवित्र हैं तथा जो अन्य सभी जीवात्माओं को प्रसन्न करने की कला जानते हैं, वे भगवान् के भक्तों से ही मित्रता रखते हैं। केवल वे ही वापस घर को अर्थात् भगवान् के धाम को सरलता से जाने में सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक के वर्णन से पूरा-पूरा संकेत मिलता है कि भगवान् के भक्त ही वैकुण्ठलोक में प्रवेश कर सकते हैं। पहली बात यह कही गई है कि भक्त शान्त होते हैं क्योंकि अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए उनकी कोई माँग नहीं होती। वे तो भगवान् की सेवा में समर्पित रहते हैं। कर्मी कभी भी शान्त नहीं रह सकते क्योंकि इन्द्रियतृप्ति के लिए उनकी बड़ी-बड़ी माँगें होती हैं। ज्ञानी भी शान्त नहीं हो सकते क्योंकि मुक्ति प्राप्त करने अथवा परब्रह्म से तदाकार होने के प्रयासों में वे अत्यधिक व्यस्त रहते हैं। इसी प्रकार से योगी योगशक्ति प्राप्त करने के लिए अशान्त बने रहते हैं। किन्तु भक्त शान्त रहता है, क्योंकि वह भगवान् पर पूर्णतः समर्पित होता है और अपने को नितान्त असहाय समझता है। जिस प्रकार शिशु अपने माता-पिता पर आश्रित रहकर परम शान्ति पाता है, उसी प्रकार भक्त भी भगवान् की कृपा पर आश्रित रहने के कारण पूरी तरह से शान्त रहता है।

भक्त समदर्शी होता है। वह सबों को एक ही दिव्य पद पर देखता है। वह जानता है कि यद्यपि अपने पूर्वकर्मों के अनुसार ही बद्धजीव विशेष शरीर धारण करता है, किन्तु वस्तुतः हर जीव परमेश्वर का अंश होता है। भक्त सभी जीवात्माओं को आत्म-दृष्टि से देखता है और देहात्म बुद्धि-स्तर पर जीव-जीव में भेद नहीं मानता। ऐसे गुण भक्तों की संगति से ही उत्पन्न होते हैं। भक्तों की संगति के बिना मनुष्य कृष्णचेतना में प्रगति नहीं कर सकता। इसलिए हमने अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

स्थापित किया है। वास्तव में जो भी इस संघ में रहता है उसमें स्वतः कृष्णचेतना उत्पन्न हो जाती है। भक्त भगवान् को प्रिय होते हैं और भगवान् भक्त को। केवल इस स्तर पर मनुष्य कृष्णचेतना में प्रगति कर सकता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति पुरुष अथवा भगवान् के भक्त ही हर किसी को प्रसन्न रख सकते हैं, जैसाकि कृष्णभावनामृत आन्दोलन से परिलक्षित होता है। हम बिना भेद के सबको आमंत्रित करते हैं; हम सबसे बैठने और हरे कृष्ण मंत्र का जप करने को कहते हैं और हम जितना भी प्रसाद दे सकते हैं, लेने को कहते हैं। इस प्रकार सभी हमसे प्रसन्न रहते हैं। यही विशेषता है। *सर्वभूतानुरञ्जनाः।* जहाँ तक शुद्धता का प्रश्न है भक्तों से अधिक शुद्ध कोई हो नहीं सकता। जो भी विष्णु का नाम एक बार भी लेता है, तुरन्त भीतर-बाहर से शुद्ध हो जाता है (*यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षम्*)। चूँकि भक्त निरन्तर हरे कृष्ण मंत्र जपता रहता है, अतः भौतिक-जगत के कल्मष उसके पास नहीं फटकते। इस प्रकार वह वास्तव में शुद्ध हो जाता है। *मुचि हय शुचि हय यदि कृष्ण भजे।* कहा जाता है कि यदि चमार अथवा चभार कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी कृष्णभक्ति करे तो ब्राह्मणपद (*शुचि*) प्राप्त कर सकता है। ऐसा व्यक्ति, जो शुद्ध कृष्णभक्त है और हरे कृष्ण मंत्र का जप करता है, सारे विश्व में सर्वाधिक शुद्ध होता है।

इत्युत्तानपदः पुत्रो ध्रुवः कृष्णपरायणः ।
अभूत्त्रयाणां लोकानां चूडामणिरिवामलः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उत्तानपदः—महाराज उत्तानपाद का; पुत्रः—पुत्र; ध्रुवः—ध्रुव महाराज; कृष्ण-परायणः—पूर्णतया कृष्णभावनाभावित; अभूत्—हुआ; त्रयाणाम्—तीनों; लोकानाम्—लोकों का; चूडा-मणिः—शीशफूल, श्रेष्ठ; इव—समान; अमलः—शुद्ध, पवित्र।

इस प्रकार महाराज उत्तानपाद के अति सम्माननीय पुत्र, पूरी तरह से कृष्णभावनाभावित ध्रुव महाराज ने तीनों लोकों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया।

तात्पर्य : संस्कृत भाषा का *कृष्णपरायण* शब्द कृष्णभावनामृत या कृष्णचेतना का सही द्योतक है। *परायण* का अर्थ है "अग्रसर होना।" जो भी कृष्ण के लक्ष्य की ओर आगे बढ़ रहा हो वह *कृष्णपरायण* या *कृष्णचेतनामय* कहलाता है। ध्रुव महाराज के उदाहरण से सूचित होता है कि प्रत्येक कृष्णभक्त तीनों लोकों के शीर्ष पर पहुँचने की आशा कर सकता है। कृष्णभक्त किसी भी महत्त्वाकांक्षी

भौतिकतावादी की कल्पना से परे उच्च स्थान ग्रहण कर सकता है।

गम्भीरवेगोऽनिमिषं ज्योतिषां चक्रमाहितम् ।
यस्मिन्भ्रमति कौरव्य मेढ्यामिव गवां गणः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

गम्भीर-वेगः—अत्यधिक वेग से; अनिमिषम्—निरन्तर; ज्योतिषाम्—नक्षत्रों का; चक्रम्—गोलक; आहितम्—जड़ा हुआ; यस्मिन्—जिसके चारों ओर; भ्रमति—घूमता है, चक्कर लगाता है; कौरव्य—हे विदुर; मेढ्याम्—मध्यवर्ती स्तम्भ; इव—सदृश; गवाम्—बैलों का; गणः—समूह।

सन्त मैत्रेय ने आगे कहा : हे कौरव वंशी विदुर, जिस प्रकार बैल अपनी दाईं ओर बाँधे मध्यवर्ती लट्ठे के चारों ओर चक्कर लगाते हैं, उसी प्रकार आकाश के सभी नक्षत्र अत्यन्त वेग से ध्रुव महाराज के धाम का निरन्तर चक्कर लगाते रहते हैं।

तात्पर्य : इस ब्रह्माण्ड का प्रत्येक ग्रह अत्यन्त वेग से यात्रा करता है। *श्रीमद्भागवत* के कथन से पता चलता है कि सूर्य भी सोलह हजार मील प्रति सेकंड की गति से यात्रा करता है और *ब्रह्म-संहिता* के इस श्लोक—*यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणाम्*—में सूर्य को भगवान् गोविन्द का नेत्र माना गया है। इसकी भी एक कक्षा होती है, जिसके भीतर यह चक्कर लगाता रहता है। इसी प्रकार अन्य समस्त ग्रहों की अपनी-अपनी कक्षाएँ हैं। किन्तु वे सभी मिलकर ध्रुवतारा या ध्रुवलोक की प्रदक्षिणा करते हैं, जहाँ पर तीनों लोकों के शीर्ष पर ध्रुव महाराज स्थित हैं। हम केवल अनुमान लगा सकते हैं कि भक्त का वास्तविक स्थान कितना ऊँचा होता है, अतः हम भगवान् के पद की श्रेष्ठता का अनुमान लगा ही नहीं सकते।

महिमानं विलोक्यास्य नारदो भगवानृषिः ।
आतोद्यं वितुदञ्श्लोकान्सत्रेऽगायत्प्रचेतसाम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

महिमानम्—यश; विलोक्य—देखकर; अस्य—ध्रुव महाराज का; नारदः—नारद मुनि; भगवान्—भगवान् के ही समान पूज्य; ऋषिः—सन्त; आतोद्यम्—वीणा; वितुदन्—बजाते हुए; श्लोकान्—श्लोक; सत्रे—यज्ञस्थल में; अगायत्—उच्चारण किया; प्रचेतसाम्—प्रचेताओं के।

ध्रुव महाराज की महिमा को देख कर, नारद मुनि अपनी वीणा बजाते प्रचेताओं के यज्ञस्थल पर गये और प्रसन्नतापूर्वक निम्नलिखित तीन श्लोकों का उच्चार किया।

तात्पर्य : नारद मुनि ध्रुव महाराज के गुरु थे। वे ध्रुव की महिमा देखकर अत्यन्त प्रसन्न थे। जिस प्रकार पिता अपने पुत्र की हर प्रकार से उन्नति देखकर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार गुरु अपने शिष्यकी उन्नति को देख कर अतीव प्रसन्न होता है।

नारद उवाच

नूनं सुनीतेः पतिदेवताया-
स्तपःप्रभावस्य सुतस्य तां गतिम् ।
दृष्ट्वाभ्युपायानपि वेदवादिनो
नैवाधिगन्तुं प्रभवन्ति किं नृपाः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; नूनम्—निश्चय ही; सुनीतेः—सुनीति का; पति-देवतायाः—पति-परायणा, अत्यन्त पतिव्रता; तपः-प्रभावस्य—तप के प्रभाव से; सुतस्य—पुत्र का; ताम्—उस; गतिम्—स्थिति को; दृष्ट्वा—देखकर; अभ्युपायान्—साधन; अपि—यद्यपि; वेद-वादिनः—वैदिक नियमों के पालक या तथाकथित वेदान्ती; न—कभी नहीं; एव—निश्चय ही; अधिगन्तुम्—प्राप्त करने के लिए; प्रभवन्ति—पात्र हैं; किम्—क्या कहा जाये; नृपाः—सामान्य राजाओं की।

महर्षि नारद ने आगे कहा : अपनी आत्मिक उन्नति तथा सशक्त तपस्या के प्रभाव से ही पतिपरायणा सुनीति के पुत्र ध्रुव महाराज ने ऐसा उच्च पद प्राप्त किया है, जो तथाकथित वेदान्तियों के लिए भी प्राप्त करना सम्भव नहीं, सामान्य मनुष्यों की तो बात ही क्या कही जाये।

तात्पर्य : इस श्लोक में *वेद-वादिनः* शब्द महत्त्व का है। सामान्यत: जो व्यक्ति वेदों का दृढ़ता से पालन करता है, वह वेदवादी कहलाता है। इनके साथ ही, तथाकथित वेदान्ती भी हैं, जो अपने आप को वेदान्त दर्शन का अनुयायी घोषित करते रहते हैं, किन्तु वे वेदान्त की गलत व्याख्या करते हैं। *भगवद्गीता* में भी *वेद-वाद-रताः* शब्द आया है, जो ऐसे व्यक्तियों का सूचक है, जो वेदों का सार समझे बिना वेदों में आसक्त रहते हैं। ऐसे लोग वेदों के सम्बध में बातें करते रहें या अपने ढंग से तपस्याएँ करते रहें, किन्तु वे ध्रुव महाराज जैसे उच्च पद को प्राप्त नहीं कर पाते। जहाँ तक सामान्य राजाओं का सम्बन्ध है, यह बिल्कुल सम्भव भी नहीं है। यहाँ पर राजाओं का विशेष रूप से उल्लेख है क्योंकि पहले समय में राजा भी *राजर्षि* हुआ करते थे। ध्रुव महाराज राजा थे और साथ ही वे ऋषि के समान ज्ञानी भी थे। किन्तु भक्ति के बिना न तो महान् क्षत्रिय राजा, न ही वेदवादी ब्राह्मण ध्रुव महाराज जैसे उच्च पद को प्राप्त कर सकता है।

यः पञ्चवर्षो गुरुदारवाक्शरै-
र्भिन्नेन यातो हृदयेन दूयता ।
वनं मदादेशकरोऽजितं प्रभुं
जिगाय तद्भक्तगुणैः पराजितम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; पञ्च-वर्षः—पाँच वर्ष की अवस्था में; गुरु-दार—अपने पिता की पत्नी के; वाक्-शरैः—कटु वचनों से; भिन्नेन—मर्माहत, अत्यधिक दुखित होकर; यातः—चला गया; हृदयेन—क्योंकि उसका हृदय; दूयता—अत्यधिक पीड़ित; वनम्—जंगल; मत्-आदेश—मेरे आदेश के अनुसार; करः—कार्य करते हुए; अजितम्—न जीता जा सकने योग्य; प्रभुम्—भगवान् को; जिगाय—परास्त कर दिया; तत्—उसके; भक्त—भक्तों के; गुणैः—गुणों से; पराजितम्—जीता हुआ।

महर्षि नारद ने आगे कहा : देखो न, किस प्रकार ध्रुव महाराज अपनी विमाता के कटु वचनों से मर्माहत होकर केवल पाँच वर्ष की अवस्था में जंगल चले गये और उन्होंने मेरे निर्देशन में तपस्या की। यद्यपि भगवान् अजेय हैं, किन्तु ध्रुव महाराज ने भगवद्भक्तों के विशिष्ट गुणों से समन्वित होकर उन्हें परास्त कर दिया।

तात्पर्य : परमेश्वर अजेय हैं, उन्हें कोई भी जीत नहीं सकता। किन्तु वे स्वेच्छा से अपने भक्तों की भक्ति के गुणों की अधीनता स्वीकार करते हैं। उदाहरणार्थ, भगवान् कृष्ण ने अपनी माता यशोदा के नियंत्रण की अधीनता स्वीकार की क्योंकि वे एक महान् भक्त थीं। भगवान् को अपने भक्तों की अधीनता प्रिय लगती है। *चैतन्यचरितामृत* में उल्लेख है कि प्रत्येक व्यक्ति भगवान् के समक्ष आकर स्तुति करता है, किन्तु भगवान् उससे उतने प्रसन्न नहीं होते जितना कि वे अपने को अधीन समझकर अपने भक्तों की प्रेममयी डांट से प्रसन्न होते हैं। भगवान् अपनी उच्चस्थ स्थिति को भूल कर अपने शुद्ध भक्त के समक्ष स्वेच्छा से समर्पण कर देते हैं। ध्रुव महाराज भगवान् को इसीलिए जीत पाये क्योंकि जब वे पाँच वर्ष के थे तभी उन्होंने भक्ति करने के लिए कठोर तपस्या की थी। यह भक्ति निस्सन्देह, नारद मुनि के निर्देशन में सम्पन्न हुई थी। भक्ति का प्रथम नियम है—*आदौ गुर्वाश्रयम्*—प्रारम्भ में प्रामाणिक गुरु स्वीकार करना होता है और यदि भक्त गुरु के आदेशों का दृढ़ता से पालन करता है, जिस प्रकार ध्रुव महाराज ने नारद मुनि के आदेश का पालन किया था, तब उसे भगवत्कृपा प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

भक्ति के गुणों का सार है कृष्ण के प्रति विशुद्ध प्रेम की उत्पत्ति। इसकी प्राप्ति कृष्ण के विषय में मात्र श्रवण से की जा सकती है। भगवान् चैतन्य ने जो नियम स्वीकार किया था, वह था—यदि कोई

भी मनुष्य कृष्ण द्वारा उद्‌घोषित दिव्य सन्देश को अथवा कृष्ण के विषय में विनीत भाव से सुनता है, तो उसमें धीरे-धीरे अमिश्रित प्रेम उत्पन्न होता है और इसी प्रेम से वह अजेय को भी जीत सकता है। मायावादी चिन्तक परमेश्वर से तदाकार होना चाहते हैं, किन्तु एक भक्त उस स्थिति से आगे निकल जाता है। भक्त न केवल गुणों में भगवान् जैसा हो जाता है, वरन् कभी-कभी वह भगवान् का पिता, माता या स्वामी हो जाता है। अर्जुन ने भी अपनी भक्ति द्वारा भगवान् कृष्ण को अपना सारथी बनाया; उन्होंने भगवान् को आज्ञा दी कि मेरा रथ यहाँ पर रखो और भगवान् ने आज्ञा का पालन किया। ये कतिपय उदाहरण हैं, जो बताते हैं कि किस प्रकार अजेय को जीत कर भक्त द्वारा उच्च पद प्राप्त किया जाता है।

यः क्षत्रबन्धुर्भुवि तस्याधिरूढ-
मन्वारुरुक्षेदपि वर्षपूगैः ।
षट्पञ्चवर्षो यदहोभिरल्पैः
प्रसाद्य वैकुण्ठमवाप तत्पदम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; क्षत्र-बन्धुः—क्षत्रिय का पुत्र; भुवि—पृथ्वी पर; तस्य—ध्रुव का; अधिरूढम्—उच्च पद; अनु—पीछे; आरुरुक्षेत्—प्राप्त करने की इच्छा कर सकता है; अपि—भी; वर्ष-पूगैः—अनेक वर्षों के पश्चात्; षट्-पञ्च-वर्षः—पाँच या छः वर्ष का; यत्—जो; अहोभिः अल्पैः—कुछ दिनों बाद; प्रसाद्य—प्रसन्न करके; वैकुण्ठम्—भगवान्; अवाप—प्राप्त किया; तत्-पदम्—उस (भगवान्) का धाम।

ध्रुव महाराज ने पाँच-छह वर्ष की अवस्था में ही छह मास तक तपस्या करके उच्च पद प्राप्त कर लिया। ओह! कोई बड़े से बड़ा क्षत्रिय अनेक वर्षों की तपस्या के बाद भी ऐसा पद प्राप्त नहीं कर सकता।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज को यहाँ पर *क्षत्र-बन्धुः* कहा गया है, जिसका अर्थ है कि उन्हें क्षत्रिय के रूप में पूर्ण प्रशिक्षण नहीं मिला था, क्योंकि वे केवल पाँच वर्ष के थे, वे वयस्क नहीं हो पाये थे। किसी क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण को शिक्षा ग्रहण करनी होती है। ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न बालक तुरन्त ब्राह्मण नहीं बन जाता; उसे शिक्षा तथा शुद्धि प्रक्रिया अपनानी होती है।

नारद मुनि को ध्रुव महाराज जैसे भक्त शिष्य पर गर्व था। उनके और भी अनेक शिष्य थे, किन्तु वे ध्रुव महाराज से विशेष रूप से प्रसन्न थे क्योंकि उन्होंने एक ही जीवनकाल में अपनी कठोर तपस्या से

वैकुंठलोक प्राप्त कर लिया, जिसे अभी तक सारे ब्रह्माण्ड में किसी अन्य राज-पुत्र या *राजर्षि* ने प्राप्त नहीं किया था। यहाँ महान् राजा भरत का दृष्टान्त दिया जा सकता है। वे भी महान् भक्त थे, किन्तु उन्हें तीन जन्मों में वैकुण्ठलोक प्राप्त हो सका। पहले जन्म में, यद्यपि उन्होंने जंगल जाकर तपस्या की थी, किन्तु एक मृगशावक के प्रति इतने वत्सल हो गये थे कि उन्हें अगले जन्म में मृग का शरीर धारण करना पड़ा। यद्यपि उन्हें मृग का शरीर प्राप्त था, किन्तु उन्हें अपना आत्म-पद स्मरण रहा और सिद्धि के लिए उन्हें अगले जीवन तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। तीसरे जीवन में उन्होंने जड़ भरत के रूप में जन्म लिया। उस जीवन में वे समस्त सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो सके और वैकुण्ठलोक को गये। ध्रुव महाराज के जीवन से यही शिक्षा मिलती है कि यदि कोई चाहे तो बिना बहुत से जन्मों की प्रतीक्षा के, वह एक ही जन्म में सिद्धि प्राप्त करके वैकुण्ठलोक जा सकता है। मेरे गुरु महाराज, श्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद कहा करते थे कि उनका प्रत्येक शिष्य दूसरे जीवन में भक्ति करने की प्रतीक्षा किये बिना इसी जीवन में, वैकुण्ठलोक को प्राप्त कर सकेगा। उसे मात्र ध्रुव महाराज के ही समान गम्भीर तथा निष्ठावान होना पड़ेगा, तभी एक ही जन्म में वैकुण्ठलोक प्राप्त करना तथा भगवान् के धाम जाना सम्भव हो सकेगा।

मैत्रेय उवाच
एतत्तेऽभिहितं सर्वं यत्पृष्टोऽहमिह त्वया ।
ध्रुवस्योद्दामयशसश्चरितं सम्मतं सताम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; एतत्—यह; ते—तुमसे; अभिहितम्—वर्णित; सर्वम्—सब कुछ; यत्—जो; पृष्टः अहम्—मुझसे पूछा गया; इह—यहाँ; त्वया—तुम्हारे द्वारा; ध्रुवस्य—ध्रुव महाराज का; उद्दाम—उत्कर्षकारी; यशसः—जिसकी ख्याति; चरितम्—चरित्र; सम्मतम्—स्वीकृत; सताम्—भक्तों द्वारा।

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा : हे विदुर, तुमने मुझसे ध्रुव महाराज की परम ख्याति तथा चरित्र के विषय में जो कुछ पूछा था वह सब मैंने विस्तार से बता दिया है। बड़े-बड़े साधु पुरुष तथा भक्त ध्रुव महाराज के विषय में सुनने की इच्छा रखते हैं।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवतम्* का अर्थ है भगवान् के सम्बन्ध में हर तरह की जानकारी। चाहे हम भगवान् की लीलाओं को सुनें या उनके चरित्र, ख्याति, अथवा उनके भक्तों के कार्यकलापों को सुनें, वे

सब एक हैं। नवदीक्षित भक्त भगवान् की लीलाओं को ही समझने का प्रयास करते हैं, वे उनके भक्तों के कार्यकलापों को सुनने में उतनी रुचि नहीं दिखाते, किन्तु असली भक्तों को ऐसा भेदभाव नहीं बरतना चाहिए। कभी-कभी अल्पज्ञानी श्रीकृष्ण के रास-नृत्य के विषय में सुनना चाहते हैं, किन्तु वे *श्रीमद्भागवत* के अन्य अंशों को सुनने की परवाह नहीं करते। ऐसे अनेक वृत्ति चलाने वाले *भागवत* वाचक हैं, जो सीधे *श्रीमद्भागवत* के रासलीला खण्डों में पहुँच जाते हैं, मानो *भागवत* के अन्य अंश बेकार हों। भेदभाव बरतना और भगवान् की रासलीला का एकाएक पढ़ा जाना आचार्यों द्वारा मान्य नहीं है। निष्ठावान भक्त को *श्रीमद्भागवत* का प्रत्येक अध्याय, यहाँ तक कि प्रत्येक शब्द को बड़े ही मनोयोग से पढ़ना चाहिए क्योंकि प्रारम्भ के श्लोक बताते हैं कि यह वैदिक साहित्य का पक्वफल है। भक्तों को *भागवत* का एक शब्द भी नहीं छोड़ना चाहिए। अत: मैत्रेय मुनि ने बल दिया है कि *भागवत* परम भक्तों द्वारा सम्मत (*सम्मतं सताम्*) है।

धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं स्वस्त्ययनं महत् ।
स्वर्ग्यं ध्रौव्यं सौमनस्यं प्रशस्यमघमर्षणम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

धन्यम्—धन देनेवाला; यशस्यम्—ख्याति देनेवाला; आयुष्यम्—आयु बढ़ानेवाला; पुण्यम्—पवित्र; स्वस्ति-अयनम्—कल्याण उत्पन्न करने वाला; महत्—महान; स्वर्ग्यम्—स्वर्ग प्राप्त करानेवाला; ध्रौव्यम्—या ध्रुवलोक; सौमनस्यम्—मन को भानेवाला; प्रशस्यम्—यशस्वी; अघ-मर्षणम्—समस्त पापों का नाश करनेवाला।

ध्रुव के आख्यान को सुनकर मनुष्य अपनी सम्पत्ति, यश तथा दीर्घायु की इच्छा को पूरा कर सकता है। यह इतना कल्याणकर है कि इसके श्रवणमात्र से मनुष्य स्वर्गलोक को जा सकता है, अथवा ध्रुवलोक को प्राप्त कर सकता है। देवता भी प्रसन्न होते हैं, क्योंकि यह आख्यान इतना यशस्वी है, इतना सशक्त है कि यह सारे पापकर्मों के फल का नाश करनेवाला है।

तात्पर्य : इस संसार में अनेक प्रकार के लोग हैं, इनमें सभी शुद्ध भक्त नहीं होते। कुछ कर्मी हैं, जो प्रचुर सम्पत्ति की कामना करते हैं। कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो केवल यश चाहते हैं। कुछ स्वर्गलोक को या ध्रुवलोक को जाना चाहते हैं और कुछ देवताओं को प्रसन्न करके भौतिक लाभ उठाना चाहते हैं। मैत्रेय ने यहाँ पर सबों को ध्रुव महाराज का आख्यान सुनने की संस्तुति की है, जिससे वे वांछित लक्ष्य प्राप्त कर सकें। यह संस्तुति की जाती है कि भक्तों (अकाम), कर्मियों (सर्वकाम) तथा ज्ञानियों

(मोक्ष-काम)—को भगवान् की पूजा करनी चाहिए जिससे उन्हें जीवन-लक्ष्य प्राप्त हो सके। इसी प्रकार यदि कोई भगवान् के भक्त के कार्य-कलापों के विषय में सुनता है, तो उसे भी वही फल मिलेगा। भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्तों के कार्यों तथा आचरण में कोई अन्तर नहीं होता है।

श्रुत्वैतच्छ्रद्धयाभीक्ष्णमच्युतप्रियचेष्टितम् ।
भवेद्भक्तिर्भगवति यया स्यात्क्लेशसङ्क्षयः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुन कर; एतत्—यह; श्रद्धया—श्रद्धा से; अभीक्ष्णम्—बारम्बार; अच्युत—भगवान् को; प्रिय—प्रिय; चेष्टितम्—कार्यकलाप; भवेत्—उत्पन्न करता है; भक्तिः—भक्ति; भगवति—भगवान् में; यया—जिससे; स्यात्—हो सके; क्लेश—कष्टों का; सङ्क्षयः—पूर्ण विनाश।

जो भी ध्रुव महाराज के आख्यान को सुनता है और श्रद्धा तथा भक्ति के साथ उनके शुद्ध चरित्र को समझने का बारम्बार प्रयास करता है, वह शुद्ध भक्तिमय धरातल प्राप्त करता है औरे शुद्ध भक्ति करता है। ऐसे कार्यों से मनुष्य भौतिक जीवन के तीनों तापों को नष्ट कर सकता हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर *अच्युत-प्रिय* शब्द महत्त्वपूर्ण है। ध्रुव महाराज का चरित्र तथा यश महान् है, क्योंकि ध्रुव भगवान् अच्युत को प्रिय हैं। जिस प्रकार भगवान् की लीलाओं तथा कार्य-कलापों को सुनना सुखद लगता है उसी प्रकार परम पुरुष प्रिय उनके भक्तों के विषय में भी सुनना सुखद और सामर्थ्यशाली है। यदि कोई इस अध्याय को पढ़कर और सुन कर ध्रुव महाराज के विषय में निरन्तर पढ़े, तो उसे इच्छानुसार जीवन की परम सिद्धि प्राप्त हो सकती है और सबसे मुख्य बात तो यह है कि उसे एक महान् भक्त बनने का अवसर प्राप्त होता है। भक्त होने का अर्थ है भौतिक जीवन की समस्त दुखद अवस्थाओं का अन्त।

महत्त्वमिच्छतां तीर्थं श्रोतुः शीलादयो गुणाः ।
यत्र तेजस्तदिच्छूनां मानो यत्र मनस्विनाम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

महत्त्वम्—बड़प्पन; इच्छताम्—इच्छा करनेवालों को; तीर्थम्—विधि; श्रोतुः—सुननेवाले का; शील-आदयः—सच्चरित्र इत्यादि; गुणाः—गुण; यत्र—जिसमें; तेजः—तेज; तत्—वह; इच्छूनाम्—कामना करनेवालों को; मानः—सम्मान; यत्र—जिसमें; मनस्विनाम्—विचारवान पुरुषों को।

जो कोई भी ध्रुव महाराज के इस आख्यान को सुनता है, वह उन्हीं के समान उत्तम गुणों को

प्राप्त करता है। जो कोई महानता, तेज या बड़प्पन चाहता है उन्हें प्राप्त करने की विधि यही है। जो विचारवान पुरुष सम्मान चाहते हैं, उनके लिए उचित साधन यही है।

तात्पर्य : इस संसार में सभी लोग लाभ, सम्मान तथा ख्याति की चाहत रखते हैं, सभी सर्वोच्च सम्मानित पद चाहते हैं, सभी महान् पुरुषों के गुणों के विषय में सुनना चाहते हैं। महान् पुरुषों की महत्त्वाकांक्षाएँ ध्रुव महाराज के कार्यकलापों के आख्यान को केवल सुन तथा समझ कर पूरी की जा सकती है।

प्रयत: कीर्तयेत्प्रात: समवाये द्विजन्मनाम् ।
सायं च पुण्यश्लोकस्य ध्रुवस्य चरितं महत् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

प्रयत:—सावधानी से; कीर्तयेत्—कीर्तन करे; प्रात:—प्रात:काल; समवाये—संगति में; द्वि-जन्मनाम्—द्विजों की; सायम्—संध्या समय; च—भी; पुण्य-श्लोकस्य—पवित्र ख्याति के; ध्रुवस्य—ध्रुव का; चरितम्—चरित्र; महत्—महान।

मैत्रेय मुनि ने संस्तुति की : मनुष्य को चाहिए कि प्रात: तथा सायंकाल अत्यन्त ध्यानपूर्वक ब्राह्मणों अथवा अन्य की संगति में ध्रुव महाराज के चरित्र तथा कार्य-कलापों का संकीर्तन करे।

तात्पर्य : कहा जाता है कि केवल भक्तों की संगति में ही भगवान् या उनके भक्तों के चरित्र तथा कार्यकलापों की महत्ता समझी जा सकती है। इस श्लोक में विशेष संस्तुति की गई है कि ध्रुव महाराज के चरित्र की विवेचना द्विजों अर्थात् योग्य ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों के समाज में की जाये। मनुष्य को चाहिए कि वह विशेषत: उन ब्राह्मणों का समाज खोजे, जो वैष्णव पद को प्राप्त हैं। इस प्रकार श्रीमद्भागवत की विवेचना तुरन्त ही प्रभाव डालती है, क्योंकि उसमें भक्तों तथा भगवान् के चरित्र तथा लीलाओं का वर्णन पाया जाता है। इस कार्य के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ की स्थापना की गई है। इस संघ के प्रत्येक केन्द्र में, न केवल प्रात:, सायं या दोपहर में, अपितु चौबीस घण्टे भगवान् की लगातार भक्ति चलती रहती है। जो भी इस संघ के सम्पर्क में आता है, वह स्वयमेव भक्त बन जाता है। हमारा यह अनुभव है कि अनेक कर्मी तथा अन्य जन इस संघ में आते हैं और इस्कान के मन्दिरों में अत्यन्त शान्त तथा सुखद वातावरण पाते हैं। इस श्लोक में आए *द्विजन्मनाम्* शब्द का अर्थ है "दो बार जन्म लेनेवालों का।" कोई भी व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ में सम्मिलित हो

सकता है और द्विज होने के लिए दीक्षित हो सकता है। जैसी सनातन गोस्वामी ने संस्तुति की है, दीक्षा तथा प्रमाणित प्रशिक्षण की विधि से कोई भी मनुष्य द्विज बन सकता है। पहला जन्म तो माता-पिता देते हैं, किन्तु दूसरा जन्म आध्यात्मिक पिता तथा वैदिक ज्ञान से सम्भव होता है। जब तक मनुष्य द्वि-जन्मा नहीं होता, वह भगवान् तथा उनके भक्तों की दिव्य विशेषताओं को नहीं समझ सकता। इसलिए वेदों का अध्ययन शूदों के लिए वर्जित है मात्र शैक्षणिक उपाधियों से शूद्र आध्यात्मिक ज्ञान को नहीं समझ सकता। इस समय, सारे विश्व में जो शिक्षा-पद्धति है उससे शूद्र उत्पन्न हो रहे हैं। बड़े से बड़ा प्रौद्योगिकीविद् शूद्र ही होता है। *कलौ शूद्रसम्भव:*—कलियुग में सभी शूद्र हैं। चूँकि विश्व की पूरी जनसंख्या शूद्र है, अत: आध्यात्मिक ज्ञान का पतन हुआ है, जिससे लोग दुखी हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का सूत्रपात योग्य ब्राह्मण उत्पन्न करने के उद्देश्य से किया गया है, जो सारे विश्व में आध्यात्मिक ज्ञान का प्रसार कर सकें जिससे लोग सुखी रह सकें।

पौर्णमास्यां सिनीवाल्यां द्वादश्यां श्रवणेऽथवा ।
दिनक्षये व्यतीपाते सङ्क्रमेऽर्कदिनेऽपि वा ॥ ४९ ॥
श्रावयेच्छ्रद्दधानानां तीर्थपादपदाश्रय: ।
नेच्छंस्तत्रात्मनात्मानं सन्तुष्ट इति सिध्यति ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

पौर्णमास्याम्—पूर्णमासी के दिन; सिनीवाल्याम्—अमावस्या के दिन; द्वादश्याम्—एकादशी के एक दिन बाद, द्वादशी को; श्रवणे—श्रवण नक्षत्र के उदयकाल में; अथवा—या; दिन-क्षये—तिथि क्षय; व्यतीपाते—नाम का विशेष दिन; सङ्क्रमे—मास के अन्त में; अर्कदिने—रविवार को; अपि—भी; वा—अथवा; श्रावयेत्—सुनाना चाहिए; श्रद्दधानानाम्—श्रद्धालु श्रोताओं को; तीर्थ-पाद—भगवान् का; पद-आश्रय:—चरणकमल की शरण में आये; न इच्छन्—न चाहते हुए; तत्र—वहाँ; आत्मना—स्व के द्वारा; आत्मानम्—मन; सन्तुष्ट:—सन्तुष्ट; इति—इस प्रकार; सिध्यति—सिद्ध हो जाता है।

जिन व्यक्तियों ने भगवान् के चरण-कमलों की शरण ले रखी है उन्हें किसी प्रकार का पारिश्रमिक लिये बिना ही ध्रुव महाराज के इस आख्यान को सुनाना चाहिए। विशेष रूप से पूर्णमासी, अमावस्या, द्वादशी, श्रवण नक्षत्र के प्रकट होने पर, तिथिक्षय पर या व्यतीपात के अवसर पर, मास के अन्त में या रविवार को यह आख्यान सुनाया जाए। निस्सन्देह, इसे अनुकूल श्रोताओं के समक्ष सुनाएँ। इस प्रकार बिना किसी व्यावसायिक उद्देश्य के सुनाने पर वाचक तथा श्रोता दोनों सिद्ध हो जाते हैं।

तात्पर्य : वृत्ति करने वाले वाचक अपने पेट की अग्नि को शान्त करने के लिए धन की माँग कर सकते हैं, किन्तु वे न तो कोई आध्यात्मिक प्रगति कर सकते हैं, न ही सिद्ध हो सकते हैं। इसीलिए जीविका कमाने के लिए व्यवसाय के रूप में *श्रीमद्भागवत* को सुनाना वर्जित है। केवल ऐसा व्यक्ति, जो भगवान् के चरणारविन्द में पूर्णतः समर्पित है, अपने व्यक्तिगत या परिवार के पालन के लिए भगवान् तथा उनके भक्तों की लीलाओं के वर्णन से पूर्ण *श्रीमद्भागवत* का वाचन करके सिद्धि प्राप्त कर सकता है। संक्षेप में यह विधि इस प्रकार है—श्रोता को भागवत-सन्देश में श्रद्धा होनी चाहिए और वाचक को भगवान् पर पूर्णतः आश्रित होना चाहिए। *भागवत* के कथा वाचन को व्यवसाय नहीं बनाना चाहिए। यदि यह ठीक से किया जाये तो न केवल वाचक को पूर्ण सन्तोष होता है, वरन् भगवान् भी वाचक तथा श्रोता दोनों से परम प्रसन्न होते हैं और इस प्रकार से दोनों ही श्रवण मात्र से भव-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

ज्ञानमज्ञाततत्त्वाय यो दद्यात्सत्पथेऽमृतम् ।
कृपालोर्दीननाथस्य देवास्तस्यानुगृह्णते ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

ज्ञानम्—ज्ञान; अज्ञात-तत्त्वाय—सत्य से अपरिचितों को; यः—जो; दद्यात्—देता है; सत्-पथे—सत्य के मार्ग पर; अमृतम्—अमरत्व; कृपालोः—कृपालु; दीन-नाथस्य—दीनों के रक्षक; देवाः—देवतागण; तस्य—उसको; अनुगृह्णते—आशीर्वाद देते हैं।

ध्रुव महाराज का आख्यान अमरता प्राप्त करने के लिए परम ज्ञान है। जो लोग परम सत्य से अवगत नहीं हैं, उन्हें सत्य के मार्ग पर ले जाया जा सकता है। जो लोग दिव्य कृपा के कारण दीन जीवात्माओं के रक्षक बनने का उत्तरदायित्व ग्रहण करते हैं, उन्हें स्वतः ही देवताओं की कृपा तथा आशीर्वाद प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य : *ज्ञानम् अज्ञात* का अर्थ है ऐसा ज्ञान जिससे प्रायः समस्त संसार अनजान है। कोई भी नहीं जानता कि परम सत्य क्या है। भौतिक वादियों को अपनी शिक्षा, दार्शनिक चिन्तन तथा वैज्ञानिक ज्ञान पर गर्व रहता है, किन्तु वास्तव में कोई भी नहीं जानता कि परम सत्य क्या है। अतः मैत्रेय मुनि संस्तुति करते हैं कि परम सत्य (तत्त्व) के विषय में लोगों को अवगत कराने के लिए भक्तों को विश्व भर में *श्रीमद्भागवत* की शिक्षाओं का उपदेश देना चाहिए। श्रील व्यासदेव ने वैज्ञानिक ज्ञान के इस

विशाल साहित्य का संकलन विशेषत: इसीलिए किया, क्योंकि लोग परम सत्य से सर्वथा अनजान होते हैं। *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में, प्रथम स्कंध में कहा गया है कि विद्वान् मुनि व्यासदेव ने इस महान् *भागवत* पुराण का संकलन जनता की अविद्या को रोकने के लिए किया। चूँकि लोग परम सत्य को नहीं जानते इसलिए नारद के आदेश से व्यासदेव ने इस *श्रीमद्भागवत* का संकलन किया। सामान्यत: लोग सत्य को जानना चाहते हैं, किन्तु वे चिन्तन द्वारा, बहुत हो सका तो निर्गुण ब्रह्म की संकल्पना तक पहुँच पाते हैं। किन्तु केवल थोड़े ही लोग भगवान् को वास्तव में जानते हैं।

श्रीमद्भागवत के वाचन का उद्देश्य लोगों को परम सत्य भगवान् के विषय में ज्ञान देना है। यद्यपि निर्गुण ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा परम पुरुष में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है, किन्तु जब तक परम पुरुष से संगति के स्तर पर न पहुंचा जाये, तब तक वास्तविक अमरता प्राप्त नहीं की जा सकती। भक्तियोग जो मनुष्य को परम पुरुष की संगति तक ले जाता है, वास्तव में अमरता है। शुद्ध भक्त पतित आत्माओं पर दयालु अथवा कृपालु होने के कारण सामान्य जनों पर दया करते हैं, और वे भागवत ज्ञान को सारे संसार में बाँटते फिरते हैं। दयालु भक्त को *दीन-नाथ* अर्थात् दीन एवं मूर्ख जनता का रक्षक कहते हैं। भगवान् कृष्ण भी दीननाथ या दीनबन्धु कहलाते हैं और उनके शुद्ध भक्त भी वही दीननाथ का पद ग्रहण करते हैं। जो दीननाथ अथवा श्रीकृष्ण के भक्त भक्तिमार्ग का उपदेश देते हैं, वे देवताओं के कृपापात्र बन जाते हैं। सामान्यत: लोग देवताओं की, विशेष रूप से शिव की, पूजा करने में रुचि रखते हैं जिससे उन्हें भौतिक लाभ हो सके, किन्तु शुद्ध भक्त को जो *श्रीमद्भागवत* में संस्तुत भक्ति के सिद्धान्तों का उपदेश देते रहते हैं, देवताओं को अलग से पूजने की आवश्यकता नहीं रह जाती। देवता स्वत: उनसे प्रसन्न होकर अपने सामर्थ्य के साथ समस्त आशीर्वाद देते हैं। जिस प्रकार पेड़ की जड़ सींचने से वृक्ष की पत्तियाँ तथा डालें स्वत: सिंच जाती हैं, उसी प्रकार भगवान् की शुद्ध भक्ति करने पर भगवान् की टहनियाँ तथा पत्तियाँ, जिन्हें देवता कहा जाता है, स्वत: भक्त से प्रसन्न हो जाते हैं और वे समस्त आशीर्वाद प्रदान करते हैं।

इदं मया तेऽभिहितं कुरूद्वह
ध्रुवस्य विख्यातविशुद्धकर्मण: ।

हित्वार्भकः क्रीडनकानि मातु-
गृहं च विष्णुं शरणं यो जगाम ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; मया—मेरे द्वारा; ते—तुमको; अभिहितम्—वर्णित; कुरु-उद्वह—हे कुरुओं सर्वश्रेष्ठ; ध्रुवस्य—ध्रुव का; विख्यात—अत्यन्त प्रसिद्ध; विशुद्ध—अत्यन्त शुद्ध; कर्मणः—जिसके कर्म; हित्वा—त्यागकर; अर्भकः—बालक; क्रीडनकानि—खिलौने तथा खेलने की अन्य वस्तुएँ; मातुः—अपनी माता का; गृहम्—घर; च—भी; विष्णुम्—विष्णु की; शरणम्—शरण; यः—जो; जगाम—चला गया।

ध्रुव महाराज के दिव्य कार्य सारे संसार में विख्यात हैं और वे अत्यन्त शुद्ध हैं। बचपन में ध्रुव महाराज ने सभी खिलौने तथा खेल की वस्तुओं का तिरस्कार किया, अपनी माता का संरक्षण त्यागा और भगवान् विष्णु की शरण ग्रहण की। अतः हे विदुर, मैं इस आख्यान को समाप्त करता हूँ, क्योंकि तुमसे इसके बारे में विस्तार से कह चुका हूँ।

तात्पर्य : चाणक्य पंडित ने कहा है कि यह जीवन हर एक के लिए लघु है, किन्तु यदि कोई ढंग से कार्य करे तो उसका यश पीढ़ियों तक चलता है। जिस प्रकार भगवान् कृष्ण सदैव विख्यात हैं, उसी प्रकार उनके भक्त की ख्याति भी सदैव बनी रहती है। अतः ध्रुव महाराज के कार्यकलापों का वर्णन करते हुए दो विशिष्ट शब्दों का व्यवहार हुआ है—*विख्यात* तथा *विशुद्ध*। ध्रुव महाराज द्वारा कम उम्र में गृहत्याग करना और जंगल में भगवान् की शरण ग्रहण करना—ये इस संसार के अद्वितीय उदाहरण हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कंध के अन्तर्गत "ध्रुव महाराज का भगवान् के पास जाना" नामक बारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तेरह

ध्रुव महाराज के वंशजों का वर्णन

सूत उवाच

निशम्य कौषारविणोपवर्णितं
ध्रुवस्य वैकुण्ठपदाधिरोहणम् ।
प्ररूढभावो भगवत्यधोक्षजे
प्रष्टुं पुनस्तं विदुरः प्रचक्रमे ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; निशम्य—सुनकर; कौषारविणा—मैत्रेय से; उपवर्णितम्—वर्णित; ध्रुवस्य—ध्रुव का; वैकुण्ठ-पद—विष्णु-धाम को; अधिरोहणम्—आरूढ़ होना; प्ररूढ—बढ़ा हुआ; भावः—भक्तिभाव; भगवति—भगवान् के प्रति; अधोक्षजे—जो प्रत्यक्ष अनुभव से परे है; प्रष्टुम्—पूछने के लिए; पुनः—फिर; तम्—मैत्रेय को; विदुरः—विदुर ने; प्रचक्रमे—प्रयास किया।

सूत गोस्वामी ने शौनक इत्यादि समस्त ऋषियों से आगे कहा : मैत्रेय ऋषि द्वारा ध्रुव महाराज के विष्णुधाम में आरोहण का वर्णन किये जाने पर विदुर में भक्तिभाव का अत्यधिक संचार हो उठा और उन्होंने मैत्रेय से इस प्रकार पूछा।

तात्पर्य : जैसाकि विदुर तथा मैत्रेय की वार्ता से स्पष्ट है, भगवान् तथा उनके भक्तों के कार्यकलाप इतने मोहक होते हैं कि न तो वर्णन करनेवाला भक्त कहते अघाता है और न सुननेवाला भक्त प्रश्नोत्तरों से थकता है। दिव्य विषयवस्तु ऐसी रोचक होती है कि न तो कोई सुनते और न ही कहते थकान का अनुभव करता है। किन्तु जो भक्त नहीं हैं, वे सोच सकते हैं कि लोग केवल भगवान् की वार्ता में इतना समय कैसे लगा सकते हैं? किन्तु भक्त कभी भी भगवान् या उनके भक्तों के विषय में सुनते तथा कहते संतुष्ट होते या अघाते नहीं। वे जितना ही अधिक सुनते और कहते हैं उतना ही अधिक सुनने के लिए उत्साहित होते हैं। हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन केवल तीन शब्दों का बारम्बार उच्चारण है। ये शब्द हैं *हरे, कृष्ण* तथा *राम,* किन्तु भक्त लोग इस मंत्र का चौबीसों घंटे कीर्तन करते थकते नहीं।

विदुर उवाच

के ते प्रचेतसो नाम कस्यापत्यानि सुव्रत ।
कस्यान्ववाये प्रख्याताः कुत्र वा सत्रमासत ॥ २ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने पूछा; के—कौन थे; ते—वे; प्रचेतसः—प्रचेतागण; नाम—नाम के; कस्य—किसके; अपत्यानि—पुत्र; सु-व्रत—हे शुभ व्रतधारी मैत्रेय; कस्य—किसके; अन्ववाये—कुल में; प्रख्याताः—प्रसिद्ध; कुत्र—कहाँ; वा—भी; सत्रम्—यज्ञ; आसत—सम्पन्न हुआ।

विदुर ने मैत्रेय से पूछा : हे महान् भक्त, प्रचेतागण कौन थे? वे किस कुल के थे? वे किसके पुत्र थे और उन्होंने कहाँ पर महान् यज्ञ सम्पन्न किये?

तात्पर्य : पिछले अध्याय में प्रचेताओं के यज्ञस्थल पर नारद द्वारा तीन श्लोक गाये जाने से विदुर को और आगे प्रश्न पूछने का प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

मन्ये महाभागवतं नारदं देवदर्शनम् ।
येन प्रोक्तः क्रियायोगः परिचर्याविधिर्हरेः ॥ ३॥

शब्दार्थ

मन्ये—सोचता हूँ; महा-भागवतम्—समस्त भक्तों में महान्; नारदम्—नारद मुनि को; देव—भगवान्; दर्शनम्—मिलने वाले; येन—जिसके द्वारा; प्रोक्तः—कहा गया; क्रिया-योगः—भक्तियोग; परिचर्या—सेवा करने के लिए; विधिः—विधि; हरेः—भगवान् की।

विदुर ने कहा : मैं जानता हूँ कि नारद मुनि समस्त भक्तों के शिरोमणि हैं। उन्होंने भक्ति की पांचरात्रिक विधि का संकलन किया है और भगवान् से साक्षात् भेंट की है।

तात्पर्य : भगवान् तक पहुँचने के दो मार्ग हैं। एक को भागवत मार्ग अथवा *श्रीमद्भागवत* का मार्ग और दूसरे को पांचरात्रिका विधि कहते हैं। पांचरात्रिका विधि मन्दिर में पूजा करने की विधि है, जबकि भागवत विधि नवधा भक्ति है, जो श्रवण तथा कीर्तन से प्रारम्भ होती है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन एकसाथ दोनों ही विधियों को अपनाता है, जिससे भगवान् के साक्षात्कार के मार्ग में निरन्तर प्रगति की जा सकती है। जैसाकि विदुर ने यहाँ उल्लेख किया है, सर्वप्रथम नारद ने यह पांचरात्रिक विधि चलायी।

स्वधर्मशीलैः पुरुषैर्भगवान्यज्ञपूरुषः ।
इज्यमानो भक्तिमता नारदेनेरितः किल ॥ ४॥

शब्दार्थ

स्व-धर्म-शीलैः—यज्ञ कर्म करते हुए; पुरुषैः—व्यक्तियों द्वारा; भगवान्—भगवान्; यज्ञ-पूरुषः—समस्त यज्ञों के भोक्ता; इज्यमानः—पूजित होकर; भक्तिमता—भक्त द्वारा; नारदेन—नारद द्वारा; ईरितः—वर्णित; किल—निस्सन्देह।

जब समस्त प्रचेता धार्मिक अनुष्ठान तथा यज्ञकर्म कर रहे थे और इस प्रकार भगवान् को

प्रसन्न करने के लिए पूजा कर रहे थे तो नारद मुनि ने ध्रुव महाराज के दिव्य गुणों का वर्णन किया।

तात्पर्य : नारद मुनि सर्वदा भगवान् की लीलाओं का गुणगान करते रहते हैं। इस श्लोक से प्रकट है कि वे न केवल भगवान् का गुणगान करते रहे हैं, वरन् भगवान् के भक्तों का भी गुणगान करना चाहते हैं। नारद मुनि का एकमात्र जीवन-लक्ष्य है भगवान् की भक्ति का प्रचार। इस हेतु उन्होंने *नारद पञ्चरात्र* का संकलन किया है, जो भक्तियोग की निर्देशिका है, जिससे भक्त लोग सदा भक्ति करने की विधि सीख सकते हैं तथा भगवान् के लिए अहर्निश यज्ञ करने में तत्पर हो सकते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में वर्णित है भगवान् ने सामाजिक जीवन के चार विभाग किये हैं—ये हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। *नारद पञ्चरात्र* में स्पष्ट वर्णन है कि प्रत्येक विभाग किस प्रकार से भगवान् को प्रसन्न करे। *भगवद्गीता* (१८.४५) में कहा गया है—*स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर:*—अपना निर्धारित कर्म सम्पन्न करके मनुष्य भगवान् को प्रसन्न कर सकता है। *भागवत* में भी (१.२.१३) कहा गया है—*स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्*—कर्तव्य की पूर्णता इसी में है कि मनुष्य अपना निर्धारित कार्य करते हुए भगवान् को प्रसन्न रखे। जब प्रचेतागण इस निर्देश के अनुसार यज्ञ कर रहे थे तो नारद इन कार्यों को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए, अत: उन्होंने यज्ञस्थल में ध्रुव महाराज के गुणों का गान करना चाहा।

यास्ता देवर्षिणा तत्र वर्णिता भगवत्कथा: ।
मह्यं शुश्रूषवे ब्रह्मन्कार्त्स्न्येनाचष्टुमर्हसि ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

या:—जो; ता:—वे सब; देवर्षिणा—नारद ऋषि द्वारा; तत्र—वहाँ; वर्णिता:—उल्लिखित; भगवत्-कथा:—भगवान् के कार्यकलापों से सम्बन्धित उपदेश; मह्यम्—मुझको; शुश्रूषवे—सुनने के लिए इच्छुक; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; कार्त्स्न्येन—पूर्णत:; आचष्टुम् अर्हसि—कृपया बताइये।

हे ब्राह्मण, नारद ने भगवान् का किस प्रकार गुणगान किया और उस सभा में किन लीलाओं का वर्णन हुआ? मैं उन्हें सुनने का इच्छुक हूँ। कृपया विस्तार से भगवान् की उस महिमा का वर्णन कीजिये।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* भगवान् की लीलाओं अर्थात् *भगवत्-कथा* का अभिलेख है। विदुर जो

कुछ मैत्रेय से सुनने को उत्सुक थे, उसे हम भी पाँच हजार वर्षों के बाद सुन सकते हैं, बशर्ते कि हम अधिक उत्सुक हों।

मैत्रेय उवाच
ध्रुवस्य चोत्कलः पुत्रः पितरि प्रस्थिते वनम् ।
सार्वभौमश्रियं नैच्छदधिराजासनं पितुः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; ध्रुवस्य—ध्रुव महाराज का; च—भी; उत्कलः—उत्कल; पुत्रः—पुत्र; पितरि—पिता के पश्चात्; प्रस्थिते—चले जाने पर; वनम्—जंगल में; सार्व-भौम—समस्त देशों सहित; श्रियम्—सम्पदा; न ऐच्छत्—इच्छा नहीं की; अधिराज—राजसी; आसनम्—सिंहासन; पितुः—पिता के।

महामुनि मैत्रेय ने उत्तर दिया : हे विदुर, जब ध्रुव महाराज वन को चले गये तो उनके पुत्र उत्कल ने अपने पिता के वैभवपूर्ण राज सिंहासन की कोई कामना नहीं की, क्योंकि वह तो इस लोक के समस्त देशों के शासक के निमित्त था।

स जन्मनोपशान्तात्मा निःसङ्गः समदर्शनः ।
ददर्श लोके विततमात्मानं लोकमात्मनि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, उत्कल; जन्मना—अपने जन्म से ही; उपशान्त—अत्यन्त संतुष्ट, संतोषी; आत्मा—जीव; निःसङ्गः—आसक्ति-रहित; सम-दर्शनः—समदर्शी; ददर्श—देखा; लोके—संसार में; विततम्—फैला; आत्मानम्—परमात्मा; लोकम्—सारा संसार; आत्मनि—परमात्मा में।

उत्कल जन्म से ही पूर्णतया सन्तुष्ट था तथा संसार से अनासक्त था। वह समदर्शी था, क्योंकि वह प्रत्येक वस्तु को परमात्मा में और प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में परमात्मा को स्थित देखता था।

तात्पर्य : महाराज ध्रुव के पुत्र उत्कल के लक्षण तथा गुण *महाभागवत* जैसे हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (६.३०) में कहा गया है—*यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति*—सिद्ध भक्त भगवान् को सर्वत्र देखता है और उसे हर वस्तु भगवान् में स्थित दिखती है। *भगवद्गीता* (९.४) में इसकी भी पुष्टि हुई है—*मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना*—भगवान् कृष्ण सारे ब्रह्माण्ड में अपने निर्गुण रूप में व्याप्त हैं। प्रत्येक वस्तु उन्हीं पर आश्रित है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे ही हर वस्तु हैं। सिद्ध *महाभागवत* भक्त इस प्रकार देखता है—वह एक ही परमात्मा को हर एक के हृदय में स्थित देखता है, उसमें जीवात्माओं के भौतिक रूपों का कोई भेदभाव नहीं रह जाता। वह हर एक को भगवान् के

अंश- रूप में देखता है। सर्वत्र ईश्वर की उपस्थिति का अनुभव करनेवाला *महाभागवत* ईश्वर की दृष्टि से कभी ओझल नहीं होता और न परमेश्वर ही उसकी दृष्टि से ओझल होता है। यह तभी सम्भव है जब कोई ईश्वर के प्रेम में बहुत आगे निकल गया हो।

आत्मानं ब्रह्म निर्वाणं प्रत्यस्तमितविग्रहम् ।
अवबोधरसैकात्म्यमानन्दमनुसन्ततम् ॥ ८ ॥
अव्यवच्छिन्नयोगाग्निदग्धकर्ममलाशयः ।
स्वरूपमवरुन्धानो नात्मनोऽन्यं तदैक्षत ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—स्व; ब्रह्म—आत्मा; निर्वाणम्—अस्तित्व का लोप; प्रत्यस्तमित—रुका हुआ; विग्रहम्—पार्थक्य, वियोग; अवबोध-रस—ज्ञान के रस से; एक-आत्म्यम्—एकाकार; आनन्दम्—आनन्द; अनुसन्ततम्—विस्तीर्ण; अव्यवच्छिन्न—सतत; योग—योगाभ्यास से; अग्नि—अग्नि से; दग्ध—जला हुआ; कर्म—सकाम इच्छाएँ; मल—मलिन; आशयः—अपने मन में; स्वरूपम्—स्वाभाविक स्थिति; अवरुन्धानः—अनुभव करते हुए; न—नहीं; आत्मनः—परमात्मा की अपेक्षा; अन्यम्—कुछ भी; तदा—तब; ऐक्षत—देखा।

उसने परब्रह्म के विषय में अपने ज्ञान के प्रसार द्वारा पहले ही शरीर-बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर ली थी। यह मुक्ति निर्वाण कहलाती है। वह दिव्य आनन्द की स्थिति को प्राप्त था और उसी आनन्दमय स्थिति में रहता रहा, जो अधिकाधिक बढ़ती जा रही थी। यह सतत भक्तियोग के कारण ही सम्भव था जिसकी तुलना अग्नि से की गई है, जो समस्त मलिन भौतिक वस्तुओं को भस्म कर देती है। वह सदैव आत्म-साक्षात्कार की अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहता था और भगवान् के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं देख सकता था और वह भक्तियोग में तल्लीन रहता था।

तात्पर्य : ये दोनों श्लोक *भगवद्गीता* के (१८.५४) निम्नलिखित श्लोक की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

"दिव्य अवस्था में स्थित पुरुष को तत्काल परब्रह्म की अनुभूति होती है और वह पूर्णरूपेण आन्दमय हो जाता है, वह न शोक करता है और न किसी वस्तु की पाने की इच्छा ही। वह सब प्राणियों में समभाव रखता है। इस अवस्था में उसे मेरे शुद्ध भक्तियोग की प्राप्ति होती है।" भगवान्

चैतन्य के *शिक्षाष्टक* के प्रारम्भ में दिये हुए प्रथम श्लोक से भी इसकी व्याख्या हो जाती है।

चेतो दर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं।

श्रेय: कैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम्॥

भक्तियोग-पद्धति सर्वोच्च योग-पद्धति है और यह-पद्धति भगवान् के पवित्र नाम के जप की ही सर्वोपरि भक्ति-कार्य है। नाम जप से भौतिक जगत से मुक्ति अथवा निर्वाण प्राप्त हो सकता है और इस प्रकार आध्यात्मिक जगत के आनन्दमय जीवन में वृद्धि होती है, जैसाकि भगवान् चैतन्य ने कहा है (*आनन्दाम्बुधि-वर्धनम्*)। जब मनुष्य इस पद पर स्थित होता है, तो उसकी रुचि भौतिक ऐश्वर्य या राजसिंहासन तथा सम्पूर्ण लोक के ऊपर प्रभुत्व जताने में नहीं रह जाती। यह स्थिति *विरक्तिरन्यत्र स्यात्* कहलाती है। यह भक्तियोग का फल है।

मनुष्य जितना ही भक्ति में आगे बढ़ता है, वह उतना ही भौतिक ऐश्वर्य तथा भौतिक कार्यों से विरक्त होता जाता है। यह आनन्दपूर्ण आत्म-प्रकृति है। *भगवद्गीता* (२.५९) में भी इसी का वर्णन है—*परं दृष्ट्वा निवर्तते*—आध्यात्मिक स्तर पर श्रेष्ठ, आनन्दमय जीवन का स्वाद चख लेने पर मनुष्य भौतिक सुख में भाग लेना छोड़ देता है। आत्मज्ञान में वृद्धि के साथ ही सभी भौतिक कामनाएँ जलकर राख हो जाती हैं, क्योंकि आत्मज्ञान अग्नि के समान होता है। योग की सिद्धि तभी सम्भव है जब मनुष्य भक्ति करता हुआ भगवान् के सतत सम्पर्क में रहे। भक्त तो पग-पग पर परम पुरुष का स्मरण करता चलता है। प्रत्येक बद्ध जीवात्मा अपने पूर्वजन्म के फलों से भरा रहता है, किन्तु यदि वह केवल भक्ति करे तो ये सभी गन्दी वस्तुएँ तुरन्त ही जलकर राख हो जाती हैं। *नारद पंचरात्र* में इसका वर्णन हुआ है—*सर्वोपाधिविनिर्मुक्तंतत्परत्वेन निर्मलम्।*

जडान्धबधिरोन्मत्तमूकाकृतिरतन्मतिः ।
लक्षितः पथि बालानां प्रशान्तार्चिरिवानलः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

जड—मूर्ख; अन्ध—अन्धा; बधिर—बहरा; उन्मत्त—पागल; मूक—गूँगा; आकृतिः—आकृति; अ-तत्—उस प्रकार का नहीं; मतिः—बुद्धि; लक्षितः—देखा जाता था; पथि—मार्ग पर; बालानाम्—अल्पज्ञों द्वारा; प्रशान्त—शान्त; अर्चिः—ज्वालाओं से युक्त; इव—सदृश; अनलः—अग्नि।

अल्पज्ञानी राह चलते लोगों को उत्कल मूर्ख, अन्धा, गूँगा, बहरा तथा पागल सा प्रतीत होता

था, किन्तु वह वास्तव में ऐसा था नहीं। वह उस अग्नि के समान बना रहा जो राख से ढकी होने के कारण लपटों से रहित होती है।

तात्पर्य : विरोधाभासों, उलझनों तथा भौतिकतावादी व्यक्तियों द्वारा पैदा की जानेवाली प्रतिकूल परिस्थितियों से अपने को बचाने के लिए जड़भरत या उत्कल जैसे परम साधु पुरुष चुपचाप रहते हैं। जो अल्पज्ञानी हैं, वे ऐसे साधु पुरुषों को पागल, बहरा या गूँगा समझते हैं। वास्तव में सिद्ध-भक्त ऐसे लोगों से, जो भक्तिमय जीवन नहीं बिताते, बातचीत करने से कतराते हैं, किन्तु जो भक्ति करते हैं उनसे वे मित्रतापूर्वक बोलते हैं और जो अबोध हैं उनको प्रबद्ध करने के लिए बोलते हैं। एक तरह से सारा संसार अभक्तों से भरा पड़ा है, अतः एक प्रकार का परम सिद्ध भक्त *भजनानन्दी* कहलाता है। किन्तु जो *गोष्ठयानन्दी* हैं, वे भक्तों की संख्या बढ़ाने के लिए उपदेश देते हैं। किन्तु ऐसे उपदेशक भी उन विरोधी तत्त्वों से बचते रहते हैं, जो आध्यात्मिक जीवन के प्रतिकूल होते हैं।

मत्वा तं जडमुन्मत्तं कुलवृद्धाः समन्त्रिणः ।
वत्सरं भूपतिं चक्रुर्यवीयांसं भ्रमेः सुतम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

मत्वा—मान कर; तम्—उत्कल को; जडम्—बुद्धिहीन; उन्मत्तम्—पागल; कुल-वृद्धाः—कुल के गुरुजन; समन्त्रिणः—मंत्रियों समेत; वत्सरम्—वत्सर को; भू-पतिम्—संसार का शासक; चक्रुः—बनाया; यवीयांसम्—छोटा; भ्रमेः—भ्रमि का; सुतम्—पुत्र।

फलतः मंत्रियों तथा कुल के समस्त गुरुजनों ने समझा कि उत्कल बुद्धिहीन और सचमुच ही पागल है। इस प्रकार उसका छोटा भाई, जिसका नाम वत्सर था और जो भ्रमि का पुत्र था, राजसिंहासन पर बिठा दिया गया और वह सारे संसार का राजा हो गया।

तात्पर्य : ऐसा लगता है कि तब राजतंत्र तो था, किन्तु नितांत निरंकुशता न थी। परिवार के गुरुजन तथा मंत्री परिवर्तन ला सकते थे और सिंहासन के लिए उचित व्यक्ति चुन सकते थे, यद्यपि राज-परिवार का ही कोई व्यक्ति सिंहासन का अधिकारी बन सकता था। आज भी जहाँ कहीं भी राजतंत्र है, कभी-कभी मंत्री तथा परिवार के गुरुजन मिलकर राज-परिवार के किसी सदस्य की बजाय किसी दूसरे सदस्य को चुनकर सिंहासन पर बिठा देते हैं।

स्वर्वीथिर्वत्सरस्येष्टा भार्यासूत षडात्मजान् ।
पुष्पार्णं तिग्मकेतुं च इषमूर्जं वसुं जयम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

स्वर्वीथि:—स्वर्वीथि; वत्सरस्य—राजा वत्सर की; इष्टा—अत्यन्त प्रिय; भार्या—पत्नी ने; असूत—जन्म दिया; षट्—छह; आत्मजान्—पुत्रों को; पुष्पार्णम्—पुष्पार्ण; तिग्मकेतुम्—तिग्मकेतु; च—भी; इषम्—इष; ऊर्जम्—ऊर्ज; वसुम्—वसु; जयम्—जय।

राजा वत्सर की अत्यन्त प्रिय पत्नी स्वर्वीथि थी और उस ने छह पुत्रों को जन्म दिया जिनके नाम थे पुष्पार्ण, तिग्मकेतु, इष, ऊर्ज, वसु तथा जय।

तात्पर्य : वत्सर की पत्नी को यहाँ *इष्टा* अर्थात् पूज्य बताया गया है। दूसरे शब्दों में, ऐसा प्रतीत होता है कि वत्सर की पत्नी में समस्त उत्तम गुण थे—उदाहरणार्थ, वह सदैव आज्ञाकारिणी तथा पति की अत्यन्त प्रिया थी। गृहस्थी के कार्यों को सँभालने में वह दक्ष थी। यदि पति तथा पत्नी दोनों उत्तमगुणों से युक्त हों और शान्तिपूर्वक रहें, तो उनकी सन्तानें उत्तम होती हैं और सारा परिवार सुखी तथा सम्पन्न रहता है।

पुष्पार्णस्य प्रभा भार्या दोषा च द्वे बभूवतुः ।
प्रातर्मध्यन्दिनं सायमिति ह्यासन्प्रभासुताः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

पुष्पार्णस्य—पुष्पार्ण की; प्रभा—प्रभा; भार्या—पत्नी; दोषा—दोषा; च—भी; द्वे—दो; बभूवतुः—थीं; प्रातः—प्रातः; मध्यन्दिनम्—मध्यन्दिनम्; सायम्—सायम्; इति—इस प्रकार; हि—निश्चय ही; आसन्—थे; प्रभा-सुताः—प्रभा के पुत्र।

पुष्पार्ण के दो पत्नियाँ थीं, जिनके नाम प्रभा तथा दोषा थे। प्रभा के तीन पुत्र हुए जिनके नाम प्रातः, मध्यन्दिनम् तथा सायम् थे।

प्रदोषो निशिथो व्युष्ट इति दोषासुतास्त्रयः ।
व्युष्टः सुतं पुष्करिण्यां सर्वतेजसमादधे ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

प्रदोषः—प्रदोष; निशिथः—निशिथ; व्युष्टः—व्युष्ट; इति—इस प्रकार; दोषा—दोषा के; सुताः—पुत्र; त्रयः—तीन; व्युष्टः—व्युष्ट; सुतम्—पुत्र; पुष्करिण्याम्—पुष्करिणी में; सर्व-तेजसम्—सर्वतेजा (सर्वशक्तिमान) नामक; आदधे—उत्पन्न किया।

दोषा के तीन पुत्र थे—प्रदोष, निशिथ तथा व्युष्ट। व्युष्ट की पत्नी का नाम पुष्करिणी था, जिसने सर्वतेजा नामक अत्यन्त बलशाली पुत्र को जन्म दिया।

स चक्षुः सुतमाकूत्यां पत्न्यां मनुमवाप ह ।
मनोरसूत महिषी विरजान्नड्वला सुतान् ॥ १५ ॥
पुरुं कुत्सं त्रितं द्युम्नं सत्यवन्तमृतं व्रतम् ।
अग्निष्टोममतीरात्रं प्रद्युम्नं शिबिमुल्मुकम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (सर्वतेजा); चक्षुः—चक्षु नामक; सुतम्—पुत्र; आकूत्याम्—आकूति में; पत्न्याम्—पत्नी में; मनुम्—चाक्षुष मनु; अवाप—प्राप्त किया; ह—निस्सन्देह; मनोः—मनु की; असूत—जन्म दिया; महिषी—रानी; विरजान्—निर्विकार; नड्वला—नड्वला ने; सुतान्—पुत्र; पुरुम्—पुरु; कुत्सम्—कुत्स; त्रितम्—त्रित; द्युम्नम्—द्युम्न; सत्यवन्तम्—सत्यवान; ऋतम्—ऋत; व्रतम्—व्रत; अग्निष्टोमम्—अग्निष्टोम; अतीरात्रम्—अतिरात्र; प्रद्युम्नम्—प्रद्युम्न; शिबिम्—शिबि; उल्मुकम्—उल्मुक को।

सर्वतेजा की पत्नी आकूति ने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम चाक्षुष था, जो मनु कल्पान्त में छठा मनु बना। चाक्षुष मनु की पत्नी नड्वला ने निम्नलिखित निर्दोष पुत्रों को जन्म दिया—पुरु, कुत्स, त्रित, द्युम्न, सत्यवान्, ऋत, व्रत, अग्निष्टोम्, अतिरात्र, प्रद्युम्न, शिबि तथा उल्मुक।

उल्मुकोऽजनयत्पुत्रान्पुष्करिण्यां षडुत्तमान् ।
अङ्गं सुमनसं ख्यातिं क्रतुमङ्गिरसं गयम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

उल्मुकः—उल्मुक ने; अजनयत्—उत्पन्न किया; पुत्रान्—पुत्रों को; पुष्करिण्याम्—अपनी पत्नी पुष्करिणी से; षट्—छह; उत्तमान्—अत्यन्त उत्तम; अङ्गम्—अंग; सुमनसम्—सुमना; ख्यातिम्—ख्याति; क्रतुम्—क्रतु; अङ्गिरसम्—अंगिरा; गयम्—गय।

उल्मुक के बारह पुत्रों में से छह पुत्र उनकी पत्नी पुष्करिणी से उत्पन्न हुए। वे सभी अति उत्तम पुत्र थे। उनके नाम थे अंग, सुमना, ख्याति, क्रतु, अंगिरा तथा गय।

सुनीथाङ्गस्य या पत्नी सुषुवे वेनमुल्बणम् ।
यद्दौःशील्यात्स राजर्षिर्निर्विण्णो निरगात्पुरात् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सुनीथा—सुनीथा; अङ्गस्य—अंग की; या—जो; पत्नी—पत्नी; सुषुवे—जन्म दिया; वेनम्—वेन; उल्बणम्—अत्यन्त कुटिल; यत्—जिसका; दौःशील्यात्—बुरा आचरण होने से; सः—वह; राज-ऋषिः—राजर्षि अंग; निर्विण्णः—अत्यन्त निराश; निरगात्—बाहर चला गया; पुरात्—घर से।

अंग की पत्नी सुनीथा से वेन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जो अत्यन्त कुटिल था। साधु स्वभाव का राजा अंग वेन के दुराचरण से अत्यन्त निराश था, फलतः उसने घर तथा राजपाट छोड़ दिया और जंगल चला गया।

यमङ्ग शेपुः कुपिता वाग्वज्रा मुनयः किल ।
गतासोस्तस्य भूयस्ते ममन्थुर्दक्षिणं करम् ॥ १९ ॥
अराजके तदा लोके दस्युभिः पीडिताः प्रजाः ।
जातो नारायणांशेन पृथुराद्यः क्षितीश्वरः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको (वेन को); अङ्ग—हे विदुर; शेपुः—उन्होंने शाप दिया; कुपिताः—क्रुद्ध; वाक्-वज्राः—जिनके शब्द वज्र के समान कठोर हैं; मुनयः—बड़े-बड़े मुनि; किल—निस्सन्देह; गत-असोः—मरने के बाद; तस्य—उसका; भूयः—साथ ही; ते—वे; ममन्थुः—मथा; दक्षिणम्—दाहिना; करम्—हाथ; अराजके—बिना राजा के; तदा—तब; लोके—संसार में; दस्युभिः—बदमाशों तथा चोरों के द्वारा; पीडिताः—दुखी; प्रजाः—सभी नागरिक; जातः—उत्पन्न हुआ; नारायण—भगवान् के; अंशेन—आंशिक प्रतिरूप द्वारा; पृथुः—पृथु; आद्यः—मूल; क्षिति-ईश्वरः—संसार का शासक।

हे विदुर, जब ऋषिगण शाप देते हैं, तो उनके शब्द वज्र के समान कठोर होते हैं। अतः जब उन्होंने क्रोधवश वेन को शाप दे दिया तो वह मर गया। उसकी मृत्यु के बाद कोई राजा न होने से चोर-उचक्के पनपने लगे, राज्य में अनियमितता फैल गयी और समस्त नागरिकों को भारी कष्ट झेलना पड़ा। यह देखकर ऋषियों ने वेन की दाहिनी भुजा को दण्ड मथनी बना लिया और उनके मथने के कारण भगवान् विष्णु अपने अंश रूप में संसार के आदि सम्राट राजा पृथु के रूप में अवतरित हुए।

तात्पर्य : राजतंत्र प्रजातंत्र से उत्तम होता है क्योंकि यदि राजतंत्र प्रबल हो तो राज्य के भीतर विधि-विधानों का सुचारु रूप से पालन होता है। सौ वर्ष पूर्व भी भारत की रियासत कश्मीर का राजा इतना प्रबल था कि यदि उसके राज्य में कोई चोर पकड़ा जाता और उसके समक्ष लाया जाता तो वह तुरन्त चोर के हाथ कटवा देता था। इस कठोर दण्ड के कारण उसके राज्य में एक भी चोरी नहीं होती थी। यहाँ तक कि यदि कोई राह में कुछ छोड़ देता तो उसे कोई छूता तक न था। नियम यह था कि जो वस्तु का मालिक हो, वही उसे ले जाये, अन्य कोई उसे छुए तक नहीं। तथाकथित प्रजातंत्र में जहाँ कहीं चोरी होती है, पुलिस वहाँ पहुँच कर मामले को दर्ज करती है, किन्तु सामान्यतः चोर कभी नहीं पकड़ा जाता और न उसे दण्ड दिया जाता है। असमर्थ सरकार होने से इस समय पूरे संसार में चोरों, उचक्कों तथा ठगों की भरमार है।

विदुर उवाच

तस्य शीलनिधेः साधोर्ब्रह्मण्यस्य महात्मनः ।
राज्ञः कथमभूद्दुष्टा प्रजा यद्विमना ययौ ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; तस्य—उसका (अंग का); शील-निधेः—उत्तम गुणों का आगार; साधोः—सन्तु पुरुष; ब्रह्मण्यस्य—ब्राह्मण सभ्यता का प्रेमी; महात्मनः—महापुरुष; राज्ञः—राजा का; कथम्—किस तरह; अभूत्—था; दुष्टा—बुरा; प्रजा—पुत्र; यत्—जिससे; विमनाः—अन्यमनस्क; ययौ—छोड़ दिया।

विदुर ने मैत्रेय से पूछा : हे ब्राह्मण, राजा अंग तो अत्यन्त भद्र था। वह अत्यन्त चरित्रवान तथा साधु पुरुष था और ब्राह्मण-संस्कृति का प्रेमी था। तो फिर इतने महान् पुरुष के वेन जैसा दुष्ट पुत्र कैसे उत्पन्न हुआ जिससे वह अपने राज्य के प्रति अन्यमनस्क हो उठा और उसे छोड़ दिया?

तात्पर्य : आशा की जाती है कि पारिवारिक जीवन में मनुष्य अपने पिता, माता, पत्नी तथा बच्चों के साथ सुखपूर्वक रहेगा, किन्तु किन्हीं परिस्थितियों में कोई पिता, माता, संतति अथवा पत्नी शत्रु बन जाते हैं। चाणक्य पंडित ने कहा है कि जो पिता अत्यधिक ऋणी होता है, वह शत्रु है, जो माता दुसरी शादी कर लेती है, वह भी शत्रु है, जो पत्नी अत्यन्त सुन्दर होती है, वह भी शत्रु है और जो पुत्र मूर्ख एवं निकम्मा हो वह भी शत्रु होता है। इस प्रकार जब परिवार का कोई सदस्य शत्रु बन जाता है, तो पारिवारिक जीवन बिताना या गृहस्थ बने रहना कठिन हो जाता है। सामान्यतः भौतिक जगत में ऐसी परिस्थितियाँ आती रहती हैं। इसीलिए वैदिक संस्कृति के अनुसार मनुष्य को पचासवें वर्ष के बाद अपने परिवार वालों से विदा ले लेनी चाहिए जिससे कि उसका शेष जीवन कृष्ण-चेतना की खोज में लगाया जा सके।

किं वांहो वेन उद्दिश्य ब्रह्मदण्डमयूयुजन् ।
दण्डव्रतधरे राज्ञि मुनयो धर्मकोविदाः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्यों; वा—भी; अंहः—पापकर्म; वेने—वेन को; उद्दिश्य—देखकर; ब्रह्म-दण्डम्—ब्राह्मण का शाप; अयूयुजन्—दण्डित करना चाहा; दण्ड-व्रत-धरे—जो दण्ड के डण्डे को धारण करता है; राज्ञि—राजा को; मुनयः—मुनिगण; धर्म-कोविदाः—धर्म से पूरी तरह ज्ञात।

विदुर ने आगे पूछा कि महान् धर्मात्मा ऋषियों ने राजा वेन को, जो स्वयं दण्ड देनेवाले दण्ड को धारण करनेवाला था, क्योंकर शाप देना चाहा और इस प्रकार उसे सबसे बड़ा दण्ड

(ब्रह्मशाप) दे डाला ?

तात्पर्य : ऐसा ज्ञात है कि राजा हर एक को दण्ड दे सकता है, किन्तु इस प्रसंग में प्रतीत होता है कि ऋषियों ने उल्टे राजा को दण्डित किया। अवश्य ही राजा ने कुछ गम्भीर कार्य किया होगा अन्यथा ऋषियों ने, जिनसे अत्यधिक सहिष्णु होने की अपेक्षा की जाती है, धार्मिक चेतना में अग्रसर होने पर भी उसे क्यों दण्डित किया ? यह भी प्रतीत होता है कि राजा ब्राह्मण संस्कृति से पृथक् सत्ता नहीं रखता था। राजा के ऊपर ब्राह्मणों का नियंत्रण रहता था और आवश्यकता पड़ने पर वे राजा को किसी हथियार से नहीं, वरन् *ब्रह्मशाप* के मंत्र से पदच्युत कर सकते थे या उसका वध कर सकते थे। ब्राह्मण इतने शक्तिशाली थे कि उनके शाप से लोग तुरन्त मर जाते थे।

नावध्येय: प्रजापाल: प्रजाभिरघवानपि ।
यदसौ लोकपालानां बिभर्त्योज: स्वतेजसा ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; अवध्येय:—अपमानित होने के लिए; प्रजा-पाल:—राजा; प्रजाभि:—प्रजा द्वारा; अघवान्—पाप से पूर्ण; अपि—यद्यपि; यत्—क्योंकि; असौ—वह; लोक-पालानाम्—अनेक राजाओं का; बिभर्ति—पालन करता है; ओज:—ओज, तेज; स्व-तेजसा—व्यक्तिगत प्रभाव से।

प्रजा का कर्तव्य है कि वह राजा का अपमान न करे, चाहे यदाकदा वह अत्यन्त पापपूर्ण कृत्य करता हुआ ही क्यों न प्रतीत हो। अपने तेज के कारण राजा अन्य शासनकर्ता प्रमुखों से सदैव अधिक प्रभावशाली होता है।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता के अनुसार राजा भगवान् का प्रतिनिधि होता है। वह *नरनारायण* कहलाता है, जो इस बात का सूचक है कि नारायण अर्थात् भगवान् राजा के रूप में समाज में प्रकट होते हैं। यह शिष्टाचार है कि प्रजा न तो ब्राह्मण का, न क्षत्रिय राजा का कभी अपमान करती है। भले ही राजा पापी प्रतीत होता हो, किन्तु प्रजा उसका अपमान नहीं करती। किन्तु वेन के विषय में ऐसा प्रतीत होता है कि उस को *नरदेवताओं* ने शाप दिया था जिससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि उसके पापकर्म अत्यन्त भयावह थे।

एतदाख्याहि मे ब्रह्मन्सुनीथात्मजचेष्टितम् ।

श्रद्धानाय भक्ताय त्वं परावरवित्तमः ॥ २४॥

शब्दार्थ

एतत्—ये सब; आख्याहि—वर्णन करें; मे—मुझसे; ब्रह्मन्—हे परम ब्राह्मण; सुनीथा-आत्मज—सुनीथा के पुत्र वेन का; चेष्टितम्—कार्यकलाप; श्रद्धानाय—श्रद्धालु, आज्ञाकारी; भक्ताय—अपने भक्त को; त्वम्—तुम; पर-अवर—भूत तथा भविष्य सहित; वित्-तमः—सुपरिचित।

विदुर ने मैत्रेय से अनुरोध किया : हे ब्राह्मण, आप भूत तथा भविष्य के समस्त विषयों में पारंगत हैं। अतः मैं आपसे राजा वेन के समस्त कार्यकलापों को सुनना चाहता हूँ। मैं आपका श्रद्धालु भक्त हूँ, अतः आप इसे विस्तार से कहें।

तात्पर्य : विदुर ने मैत्रेय को अपना गुरु मान रखा था। शिष्य सदैव अपने गुरु से प्रश्न करता है और गुरु प्रश्नों का उत्तर देता है, बशर्ते कि शिष्य भद्र हो तथा समर्पित हो। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है कि जिस पर गुरु की कृपा होती है उस पर ईश्वर की कृपा होती है। जब तक शिष्य अत्यन्त विनीत और समर्पित नहीं होता, गुरु दिव्य ज्ञान के सभी रहस्य प्रकट करने के लिए तत्पर नहीं होता। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है गुरु से ज्ञान प्राप्त करने की विधि में समर्पण, उत्सुकता तथा सेवा सम्मिलित हैं।

मैत्रेय उवाच

अङ्गोऽश्वमेधं राजर्षिराजहार महाक्रतुम् ।
नाजग्मुर्देवतास्तस्मिन्नाहूता ब्रह्मवादिभिः ॥ २५॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने उत्तर दिया; अङ्गः—राजा अंग ने; अश्वमेधम्—अश्वमेध यज्ञ; राज-ऋषिः—साधु राजा; आजहार—सम्पन्न किया; महा-क्रतुम्—महान् यज्ञ; न—नहीं; आजग्मुः—आये; देवताः—देवता; तस्मिन्—उस यज्ञ में; आहूताः—बुलाये गये; ब्रह्म-वादिभिः—यज्ञ करने में ब्राह्मणों द्वारा।

श्री मैत्रेय ने उत्तर दिया : हे विदुर, एक बार राजा अंग ने अश्वमेध नामक महान् यज्ञ सम्पन्न करने की योजना बनाई। वहाँ पर उपस्थित समस्त सुयोग्य ब्राह्मण जानते थे कि देवताओं का आवाहन कैसे किया जाता है, किन्तु उनके प्रयास के बावजूद भी किसी देवता ने न तो भाग लिया और न ही कोई उस यज्ञ में प्रकट हुआ।

तात्पर्य : वैदिक यज्ञ सामान्य कृत्य नहीं होता। ऐसे यज्ञों में देवता भाग लेते थे और इन कृत्यों में जिन पशुओं की बलि दी जाती थी उनको नवीन जीवन मिलता था। इस कलिकाल में कोई शक्तिशाली

ब्राह्मण नहीं है, जो देवताओं का आवाहन कर सके, अथवा पशुओं को नया जीवनदान दे सके। प्राचीन काल में वैदिक मंत्रों में पारंगत ब्राह्मण मंत्रों की शक्ति दिखा सकते थे, किन्तु इस युग में ऐसे ब्राह्मणों के अभाव से इस प्रकार के समस्त यज्ञ वर्जित हैं। जिस यज्ञ में घोड़ों की बलि दी जाती थी वह अश्वमेध कहलाता था। कभी-कभी गायों की भी बलि (*गवालम्भ*), खाने के लिए नहीं, वरन् मंत्रों की शक्ति द्वारा नया जीवन प्रदान करने के लिए, दी जाती थी। अत: इस युग में एकमात्र व्यावहारिक यज्ञ *संकीर्तन यज्ञ* अर्थात् चौबीसों घंटे हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करना है।

तमूचुर्विस्मितास्तत्र यजमानमथर्त्विजः ।
हवींषि हूयमानानि न ते गृह्णन्ति देवताः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तम्—राजा अंग को; ऊचु:—कहा; विस्मिता:—आश्चर्यचकित; तत्र—वहाँ; यजमानम्—यज्ञ करानेवाले को; अथ—तब; ऋत्विज:—पुरोहित; हवींषि—शुद्ध घी की आहुतियाँ; हूयमानानि—डाले जाने पर; न—नहीं; ते—वे; गृह्णन्ति—स्वीकार करते हैं; देवता:—देवतागण।

तब यज्ञ में लगे पुरोहितों ने राजा अंग को सूचित किया : हे राजन्, हम यज्ञ में विधिपूर्वक शुद्ध घी की आहुति दे रहे हैं, किन्तु हमारे सारे यत्नों के बावजूद देवतागण उसे स्वीकार नहीं कर रहे हैं।

राजन्हवींष्यदुष्टानि श्रद्धयासादितानि ते ।
छन्दांस्ययातयामानि योजितानि धृतव्रतैः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

राजन्—हे राजा; हवींषि—यज्ञ की बलि, होमसामग्री; अदुष्टानि—दूषित नहीं; श्रद्धया—श्रद्धा तथा सावधानी सहित; आसादितानि—एकत्र की गई; ते—तुम्हारे; छन्दांसि—मंत्र; अयात-यामानि—न्यून नहीं; योजितानि—विधिपूर्वक सम्पन्न; धृत-व्रतै:—सुपात्र ब्राह्मणों द्वारा।

हे राजन्, हमें ज्ञात है कि आपने अत्यन्त श्रद्धा तथा सावधानी से यज्ञ की सारी सामग्री एकत्रित की है और वह दूषित नहीं है। हमारे द्वारा उच्चरित वैदिक मंत्रों में भी किसी प्रकार की कमी नहीं है क्योंकि यहां उपस्थित सभी ब्राह्मण तथा पुरोहित योग्य है और समस्त कृत्यों को ठीक से कर भी रहे हैं।

तात्पर्य : परम्परा से ही वेदविद् ब्राह्मण लोग वैदिक मंत्रों का ठीक से उच्चारण करते हैं। मंत्र-पद

तथा संस्कृत शब्द दोनों का सही-सही उच्चारण होना चाहिए, अन्यथा मंत्र सफल नहीं होगा। इस युग में ब्राह्मण लोग न तो संस्कृत भाषा में दक्ष हैं और न उनका व्यावहारिक जीवन शुद्ध है। किन्तु हरे कृष्ण मंत्र का जप करने से यज्ञ करने से प्राप्त होनेवाला सर्वोच्च लाभ प्राप्त हो सकता है। यदि हरे कृष्ण मंत्र का ठीक से उच्चारण न भी किया जाये तो भी इसमें इतनी शक्ति है कि जपकर्ता को लाभ होता है।

न विदामेह देवानां हेलनं वयमण्वपि ।
यन्न गृह्णन्ति भागान्स्वान्ये देवाः कर्मसाक्षिणः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; विदाम—जान सकना; इह—इस प्रसंग में; देवानाम्—देवताओं का; हेलनम्—तिरस्कार, उपेक्षा; वयम्—हम; अणु—सूक्ष्म; अपि—भी; यत्—जिससे; न—नहीं; गृह्णन्ति—स्वीकार करते हैं; भागान्—भाग, अंश; स्वान्—अपने-अपने; ये—जो; देवाः—देवतागण; कर्म-साक्षिणः—यज्ञ के साक्षी।

हे राजन्, हमें ऐसा कोई कारण नहीं दिखता जिससे देवतागण अपने को किसी प्रकार से अपमानित या उपेक्षित समझ सकें, तो भी यज्ञ के साक्षी देवता अपना भाग ग्रहण नहीं कर रहे हैं। हमारी समझ में नहीं आता कि ऐसा क्यों है?

तात्पर्य : यहाँ पर यह इंगित किया गया है कि यदि पुरोहित किसी प्रकार की असावधानी बरतता है, तो देवता यज्ञ का अपना भाग ग्रहण नहीं करते। इसी प्रकार भक्ति में होनेवाले अपराध *सेवा-अपराध* कहलाते हैं। जो लोग मन्दिर में राधाकृष्ण-विग्रह की पूजा करते हैं उन्हें ऐसे अपराधों से बचना चाहिए। इन सेवा-अपराधों का वर्णन *भक्तिरसामृत सिन्धु* पुस्तक में मिलेगा। यदि हम विग्रह पर केवल दिखावे के रूप में सेवा करते भेंट चढ़ाते हैं और सेवा-अपराधों पर ध्यान नहीं देते तो राधाकृष्ण ऐसे अभक्तों की भेंट ग्रहण नहीं करते। अतः मन्दिर में पूजा करनेवाले भक्तों को अपनी विधियाँ नहीं बनानी चाहिए, वरन् स्वच्छता के विधि विधानों का ध्यान रखना चाहिए, तभी भेंटें स्वीकार की जाएँगी।

मैत्रेय उवाच

अङ्गो द्विजवचः श्रुत्वा यजमानः सुदुर्मनाः ।
तत्प्रष्टुं व्यसृजद्वाचं सदस्यांस्तदनुज्ञया ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने उत्तर दिया; अङ्गः—राजा अंग; द्विज-वचः—ब्राह्मणों के वचन; श्रुत्वा—सुनकर; यजमानः—यज्ञकर्ता; सुदुर्मनाः—मन में अत्यन्त खिन्न; तत्—उसके सम्बध में; प्रष्टुम्—पूछने के उद्देश्य से; व्यसृजत् वाचम्—वह बोला; सदस्यान्—पुरोहितों से; तत्—उनकी; अनुज्ञया—अनुमति से।

मैत्रेय ने बतलाया कि पुरोहितों के इस कथन को सुनकर राजा अंग अत्यधिक खिन्न हो उठा। तब उसने पुरोहितों से कुछ कहने की अनुमति माँगी और यज्ञस्थल में उपस्थित समस्त पुरोहितों से उसने पूछा।

नागच्छन्त्याहुता देवा न गृह्णन्ति ग्रहानिह ।
सदसस्पतयो ब्रूत किमवद्यं मया कृतम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; आगच्छन्ति—आ रहे हैं; आहुताः—आमंत्रित किये जाने पर; देवाः—देवगण; न—नहीं; गृह्णन्ति—स्वीकार कर रहे हैं; ग्रहान्—भाग; इह—इस यज्ञ में; सदसः-पतयः—हे पुरोहितो; ब्रूत—कृपया बताएँ; किम्—क्या; अवद्यम्—अपराध; मया—मेरे द्वारा; कृतम्—किया गया।

राजा अंग ने पुरोहित वर्ग को सम्बोधित करते हुए पूछा : हे पुरोहितो, आप कृपा करके बताएँ कि मुझसे कौन सा अपराध हुआ है। आमंत्रित होने पर भी देवता न तो यज्ञ में सम्मिलित हो रहे हैं और न अपना भाग ग्रहण कर रहे हैं।

सदसस्पतय ऊचुः
नरदेवेह भवतो नाघं तावन्मनाक्स्थितम् ।
अस्त्येकं प्राक्तनमघं यदिहेदृक्त्वमप्रजः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

सदसः-पतयः ऊचुः—प्रधान पुरोहित ने कहा; नर-देव—हे राजन्; इह—इस जीवन में; भवतः—आपका; न—नहीं; अघम्—पापकर्म; तावत् मनाक्—रंचमात्र भी; स्थितम्—स्थित; अस्ति—है; एकम्—एक; प्राक्तनम्—पूर्वजन्म में; अघम्—पापकर्म; यत्—जिससे; इह—जीवन में; ईदृक्—इस प्रकार; त्वम्—तुम; अप्रजः—पुत्रहीन।

प्रधान पुरोहित ने कहा : हे राजन्, हमें तो आपके इस जीवन में आप के मन से किया गया भी कोई भी पापकर्म नहीं दिखता, अतः आप तनिक भी अपराधी नहीं हैं। किन्तु हमें दिखता है कि आपने पूर्वजन्म में पापकर्म किये हैं जिनके कारण समस्त गुणों के होते हुए भी आप पुत्रहीन हैं।

तात्पर्य : विवाह करने का उद्देश्य पुत्र उत्पन्न करना होता है, क्योंकि पिता तथा पूर्वज यदि नारकीय बद्धजीवन में पड़े हो उससे उबारने के लिए पुत्र अनिवार्य है। इसीलिए चाणक्य पण्डित ने कहा है—

पुत्रहीनं गृहं शून्यम्—पुत्र के बिना विवाहित जीवन निन्दनीय है। राजा अंग अत्यन्त पवित्र राजा थे, किन्तु अपने पूर्व पापकर्मों के कारण उन्हें पुत्र प्राप्त नहीं हुआ। अत: यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि किसी के पुत्र उत्पन्न नहीं होता तो यह उसके पूर्व पापमय जीवन का फल है।

तथा साधय भद्रं ते आत्मानं सुप्रजं नृप ।
इष्टस्ते पुत्रकामस्य पुत्रं दास्यति यज्ञभुक् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

तथा—अत:; साधय—प्राप्त करने के लिए यज्ञ करें; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारा; आत्मानम्—अपना; सु-प्रजम्—उत्तम पुत्र; नृप—हे राजा; इष्ट:—पूजित होकर; ते—तुम्हारे द्वारा; पुत्र-कामस्य—पुत्र की कामना से; पुत्रम्—पुत्र; दास्यति—प्रदान करेगा; यज्ञ-भुक्—यज्ञ का भोक्ता श्रीभगवान्।

हे राजन, आपका कल्याण हो। आपके कोई पुत्र नहीं हैं, अत: यदि आप तुरन्त भगवान् से प्रार्थना करें और पुत्र माँगें तथा यदि इस कार्य के लिए यज्ञ करें तो यज्ञभोक्ता भगवान् आपकी कामना को पूर्ण करेंगे।

तथा स्वभागधेयानि ग्रहीष्यन्ति दिवौकस: ।
यद्यज्ञपुरुष: साक्षादपत्याय हरिर्वृत: ॥ ३३॥

शब्दार्थ

तथा—तत्पश्चात्; स्व-भाग-धेयानि—यज्ञ में अपने-अपने भाग; ग्रहीष्यन्ति—ग्रहण करेंगे; दिव-ओकस:—समस्त देवता; यत्—क्योंकि; यज्ञ-पुरुष:—समस्त यज्ञों का भोक्ता; साक्षात्—प्रत्यक्ष; अपत्याय—पुत्र के लिए; हरि:—भगवान्; वृत:—आमंत्रित किया जाता है।

जब समस्त यज्ञों के भोक्ता हरि को पुत्र की कामना पूरी करने के लिए आमंत्रित किया जाएगा, तो सभी देवता उनके साथ आएँगे और अपना-अपना यज्ञ-भाग ग्रहण करेंगे।

तात्पर्य : जब भी कोई यज्ञ किया जाता है, तो उसका उद्देश्य समस्त यज्ञों के भोक्ता विष्णु को प्रसन्न करना होता है और जब वे यज्ञस्थल में आने के लिए राजी हो जाते हैं, तो सभी देवता स्वत: अपने स्वामी का अनुगमन करते हैं और ऐसे यज्ञों में उनका भाग उन्हें मिलता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यज्ञ देवताओं को नहीं, वरन् भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के निमित्त किये जाते हैं।

तांस्तान्कामान्हरिर्दद्याद्यान्यान्कामयते जन: ।
आराधितो यथैवैष तथा पुंसां फलोदय: ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तान् तान्—वही वही; कामान्—इच्छित वस्तुएँ; हरिः—भगवान्; दद्यात्—देंगे; यान् यान्—जो जो; कामयते—इच्छा करता; जनः—व्यक्ति; आराधितः—पूजित होकर; यथा—जिस तरह; एव—निश्चय ही; एषः—भगवान्; तथा—उसी प्रकार; पुंसाम्—मनुष्यों का; फल-उदयः—फल।

यज्ञों का कर्ता (कर्मकाण्ड के अन्तर्गत) जिस कामना से भगवान् की पूजा करता है, वह कामना पूरी होती है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि वे पूजा करनेवाले को उसकी इच्छाके अनुसार आशीर्वाद देते हैं। भगवान् समस्त बद्धजीवों को इस संसार में अपने-अपने ढंग से कर्म करने की छूट देते हैं। किन्तु वे अपने भक्तों से कहते हैं कि उस प्रकार कर्म न करके उनके लिए श्रेयस्कर होगा कि वे उनकी शरण में आएँ, क्योंकि वे भक्तों का भार स्वयं उठाएँगे। एक भक्त तथा सकाम कर्मी के बीच यही अन्तर है। सकाम-कर्मी मात्र अपने कर्मों का फल भोगता है, किन्तु भक्त भगवान् के निर्देशन में भक्तिमार्ग पर अग्रसर होता हुआ जीवन का परम लक्ष्य—अपने घर अर्थात् भगवान् के परम धाम जाना—प्राप्त करता है। इस श्लोक में महत्त्वपूर्ण शब्द *कामान्* है, जिसका अर्थ है, ''इन्द्रिय को तृप्त करनेवाली इच्छाएँ।'' भक्त समस्त कामों से रहित होता है। वह तो *अन्याभिलाषिता-शून्य* होता है अर्थात् भक्त तो इन्द्रियतृप्ति की समस्त अभिलाषाओं से रहित होता है। इसका एकमात्र लक्ष्य भगवान् की इन्द्रियों को तुष्ट करना होता है। एक कर्मी तथा भक्त में यही अन्तर है।

इति व्यवसिता विप्रास्तस्य राज्ञः प्रजातये ।
पुरोडाशं निरवपन्शिपिविष्टाय विष्णवे ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; व्यवसिताः—निश्चय करके; विप्राः—समस्त ब्राह्मण; तस्य—उसके; राज्ञः—राजा के; प्रजातये—पुत्र-प्राप्ति के उद्देश्य से; पुरोडाशम्—यज्ञ की सामग्री; निरवपन्—प्रदान की; शिपि-विष्टाय—यज्ञ की अग्नि में स्थित, भगवान् को; विष्णवे—भगवान् विष्णु को।

इस प्रकार राजा अंग को पुत्र प्राप्ति कराने के लिए उन्होंने घट-घट वासी भगवान् विष्णु को आहुतियाँ अर्पित करने का निश्चय किया।

तात्पर्य : याज्ञिक अनुष्ठानों के अनुसार कभी-कभी यज्ञस्थल पर पशुओं की बलि दी जाती है। ऐसे पशुओं की बलि उन्हें मारने के लिए नहीं अपितु उन्हें नया जीवन प्रदान करने के लिए दी जाती है। ऐसा कर्म प्रयोगस्वरूप होता था जिससे यह देखा जा सके कि वैदिक मंत्रों का सही-सही उच्चारण

हो रहा है या नहीं। कभी-कभी चिकित्सा-प्रयोगशालाओं में छोटे-छोटे पशुओं को ओषधीय प्रभाव जानने के लिए मारा जाता है। चिकित्सालय में पशुओं को पुन: जिलाया नहीं जाता, किन्तु यज्ञस्थल में पशुओं की बलि चढ़ाने के बाद वैदिक मंत्रों के बल से उन्हें जीवन प्रदान किया जाता था। इस श्लोक में *शिपिविष्टाय* शब्द व्यवहृत हुआ है। *शिपि* का अर्थ है "यज्ञाग्नि की ज्वाला।" यदि यज्ञ-अग्नि की ज्वाला में आहुतियाँ डाली जाती हैं, तो भगवान् विष्णु वहाँ ज्वाला के रूप में उपस्थित रहते हैं। इसीलिए विष्णु को *शिपिविष्ट* कहा गया है।

तस्मात्पुरुष उत्तस्थौ हेममाल्यमलाम्बरः ।
हिरण्मयेन पात्रेण सिद्धमादाय पायसम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—उस अग्नि से; पुरुषः—पुरुष; उत्तस्थौ—प्रकट हुआ; हेम-माली—सोने का हार पहने; अमल-अम्बरः—श्वेत वस्त्रों में; हिरण्मयेन—सुनहले; पात्रेण—पात्र से; सिद्धम्—पकाया हुआ; आदाय—लाकर; पायसम्—खीर।

अग्नि में आहुति डालते ही, अग्निकुण्ड से सोने का हार पहने तथा श्वेत वस्त्र धारण किये एक पुरुष प्रकट हुआ। वह एक स्वर्णपात्र में खीर लिये हुए था।

स विप्रानुमतो राजा गृहीत्वाञ्जलिनौदनम् ।
अवघ्राय मुदा युक्तः प्रादात्पत्न्या उदारधीः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; विप्र—ब्राह्मणों की; अनुमतः—अनुमति से; राजा—राजा; गृहीत्वा—लेकर; अञ्जलिना—अंजुली में; ओदनम्—खीर; अवघ्राय—सूँघ कर; मुदा—अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक; युक्तः—सहित; प्रादात्—प्रदान किया; पत्न्यै—अपनी पत्नी को; उदार-धीः—उदार हृदय।

राजा अत्यन्त उदार था। उसने पुरोहितों की अनुमति से उस खीर को अपनी अंजुली में ले लिया और फिर सूँघ कर उसका एक भाग अपनी पत्नी को दे दिया।

तात्पर्य : इस प्रसंग में *उदारधीः* शब्द सार्थक है। राजा की पत्नी सुनीथा यह आशीष ग्रहण करने की पात्र न थी तो भी राजा इतना उदार था कि बिना किसी हिचक के उसने यज्ञपुरुष से प्राप्त वह खीर रूपी प्रसाद अपनी पत्नी को दे दिया। प्रत्युत, सब कुछ भगवान् द्वारा पूर्वयोजित होता है। जैसाकि बाद के श्लोकों में बताया जाएगा, यह घटना राजा के लिए हितकर नहीं हुई। चूँकि राजा अत्यन्त उदार था, अत: इस जगत के प्रति उसकी विरक्ति बढ़ाने के लिए भगवान् ने चाहा कि उसकी रानी से एक क्रूर

पुत्र जन्म ले जिससे राजा को गृहत्याग करना ही पड़ेगा। जैसाकि कहा जा चुका है, भगवान् विष्णु कर्मियों की सारी इच्छाएँ पूरी करते हैं, किन्तु भक्त की इच्छा वे एक भिन्न विधि से पूरी करते हैं जिससे कि वह धीरे-धीरे उनके पास पहुँच सके। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* से भी होती है (*ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते*)। भगवान् भक्त को अवसर प्रदान करते हैं कि वह आगे प्रगति करता रहे जिससे वह वापस घर की अर्थात् भगवान् के धाम जा सके।

सा तत्पुंसवनं राज्ञी प्राश्य वै पत्युरादधे ।
गर्भं काल उपावृत्ते कुमारं सुषुवेऽप्रजा ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; तत्—वह खीर; पुम्-सवनम्—जिससे पुत्र उत्पन्न होता है; राज्ञी—रानी; प्राश्य—खाकर; वै—निस्सन्देह; पत्युः—पति से; आदधे—धारण किया; गर्भम्—गर्भ; काले—उचित समय पर; उपावृत्ते—प्रकट हुआ; कुमारम्—पुत्र; सुषुवे—जन्म दिया; अप्रजा—सन्तानहीन।

यद्यपि रानी को कोई पुत्र न था, किन्तु पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति वाली उस खीर के खाने से, वह अपने पति के सहवास से गर्भवती हो गई और यथासमय उसने एक पुत्र को जन्म दिया।

तात्पर्य : दस प्रकार की शुद्धि-विधियों में *पुंसवन* भी एक है, जिसमें कुछ प्रसाद अथवा भगवान् विष्णु को प्रदत्त भोग के उच्छिष्ट को पत्नी को दिया जाता है, जिससे पति के द्वारा संभोग के पश्चात् वह गर्भ धारण कर सके।

स बाल एव पुरुषो मातामहमनुव्रतः ।
अधर्मांशोद्भवं मृत्युं तेनाभवदधार्मिकः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; बालः—बालक; एव—निश्चय ही; पुरुषः—नर; माता-महम्—नाना; अनुव्रतः—पालक, अनुगामी; अधर्म—अधर्म का; अंश—एक अंश से; उद्भवम्—प्रकट, अवतीर्ण; मृत्युम्—मृत्यु; तेन—इससे; अभवत्—हुआ; अधार्मिकः—धर्म को न माननेवाला।

वह बालक अंशतः अधर्म के वंश में उत्पन्न था। उसका नाना साक्षात् मृत्यु था और वह बालक उसका अनुगामी बना और अत्यन्त अधार्मिक व्यक्ति बन गया।

तात्पर्य : बालक की माता सुनीथा साक्षात् मृत्यु की पुत्री थी। सामान्यतः पुत्री को पिता के गुण प्राप्त होते हैं और पुत्र को माता के। अतः इस नियमानुसार राजा अंग का पुत्र अपने नाना का अनुगामी हुआ। स्मृति शास्त्र के अनुसार बालक साधारणतः अपने मामा के घर के नियमों का अनुगामी होता है।

नराणां मातुलकर्म का अर्थ है कि बालक साधारण रूप से अपने मामा की तरह होगा। यदि मातृकुल भ्रष्ट या पापी है, तो बालक भी, भले ही उत्तम पिता से उत्पन्न हो, अपने मातृकुल्य का शिकार हो जाता है। अत: वैदिक सभ्यता के अनुसार विवाह के पूर्व लड़के तथा लड़की के कुलों का पूरा ब्यौरा लिया जाता है। यदि ज्योतिष गणना के अनुसार मेल सही बैठता है, तो ब्याह होता है। किन्तु कभी-कभी त्रुटि रह जाती है, जिससे परिवार छिन्न-भिन्न हो जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सुनीथा राजा अङ्ग के लिए बहुत अच्छी पत्नी न थी, क्योंकि वह साक्षात् मृत्यु की पुत्री जो थी। कभी-कभी भगवान् अपने भक्त को अभागी पत्नी दिलाते हैं जिससे पारिवारिक परिस्थितियों के कारण वह अपनी पत्नी तथा परिवार से ऊब कर उनसे विरक्त हो ले और धीर-धीरे भक्ति की ओर उन्मुख हो सके। ऐसा लगता है कि भगवान् के विधान से ही पवित्र भक्त राजा अंग को सुनीथा जैसी भाग्यहीन पत्नी और बाद में वेन जैसा बुरा पुत्र प्राप्त हुआ। लेकिन इसका परिणाम यह हुआ कि उसे पारिवारिक बन्धन से पूर्ण मुक्ति प्राप्त हो गई और उसने भगवान् के धाम जाने के लिए अपना घर-बार छोड़ दिया।

स शरासनमुद्यम्य मृगयुर्वनगोचरः ।
हन्त्यसाधुर्मृगान्दीनान्वेनोऽसावित्यरौज्जनः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

सः—वह, वेन नामक बालक; शरासनम्—अपना धनुष; उद्यम्य—लेकर; मृगयुः—शिकारी; वन-गोचरः—जंगल में जाकर; हन्ति—मारता था; असाधुः—अत्यन्त क्रूर होकर; मृगान्—मृगों को; दीनान्—दीन; वेनः—वेन; असौ—वह रहा, वह आया; इति—इस प्रकार; अरौत्—चिल्लाते; जनः—सभी लोग।

वह दुष्ट बालक धनुष-बाण चढ़ाकर जंगल में जाता और वृथा ही निर्दोष (दीन) हिरनों को मार डालता। ज्योंही वह आता कि सभी लोग चिल्ला उठते, ''वह आया क्रूर वेन! वह आया क्रूर वेन!''

तात्पर्य : क्षत्रियों को जंगल में शिकार करने की छूट है, इसलिए कि वे वध करना सीखें, इसलिए नहीं कि खाने या अन्य कार्य के लिए पशुओं का वध करें। क्षत्रिय राजाओं को कभी-कभी अपने राज्य के अपराधी की गर्दन काट लेनी होती थी इसलिए क्षत्रियों को जंगल में शिकार खेलने की अनुमति थी। चूँकि अंग का पुत्र वेन बुरी माता से उत्पन्न था, अत: वह अत्यन्त क्रूर था। वह जंगल जाकर वृथा

ही पशुओं को मारता रहता। उसकी उपस्थिति से पड़ोस के निवासी भयभीत रहते और उसे देख कर पुकार उठते, "वेन आया, वेन आया!" इस प्रकार वह अपने जीवन के प्रारम्भ से प्रजा के लिए भयावह था।

आक्रीडे क्रीडतो बालान्वयस्यानतिदारुणः ।
प्रसह्य निरनुक्रोशः पशुमारममारयत् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

आक्रीडे—खेल के मैदान में; क्रीडतः—खेलता हुआ; बालान्—लड़के; वयस्यान्—अपनी उम्र के; अति-दारुणः—अत्यन्त क्रूर; प्रसह्य—बल से; निरनुक्रोशः—निर्दयतापूर्वक; पशु-मारम्—मानो पशु की हत्या कर रहा हो; अमारयत्—मारता था।

वह बालक ऐसा क्रूर था कि समवयस्क बालकों के साथ खेलते हुए उन्हें इतनी निर्दयता के साथ मारता मानो वे बध किये जाने वाले पशु हों।

तं विचक्ष्य खलं पुत्रं शासनैर्विविधैर्नृपः ।
यदा न शासितुं कल्पो भृशमासीत्सुदुर्मनाः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसे; विचक्ष्य—देख कर; खलम्—क्रूर; पुत्रम्—पुत्र को; शासनैः—दण्ड द्वारा; विविधैः—विविध प्रकार के; नृपः—राजा; यदा—जब; न—नहीं; शासितुम्—वश में करने के लिए; कल्पः—समर्थ; भृशम्—अत्यधिक; आसीत्—हो गया; सु-दुर्मनाः—खिन्न।

अपने पुत्र वेन का क्रूर तथा निष्ठुर आचरण देख कर, राजा अंग ने उसे सुधारने के लिए तरह-तरह के दण्ड दिये, किन्तु वह उसे सन्मार्ग में न ला सका। वह इस प्रकार से अत्यधिक खिन्न रहने लगा।

प्रायेणाभ्यर्चितो देवो येऽप्रजा गृहमेधिनः ।
कदपत्यभृतं दुःखं ये न विन्दन्ति दुर्भरम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

प्रायेण—सम्भवतः; अभ्यर्चितः—पूजा किया गया; देवः—भगवान्; ये—जो; अप्रजाः—पुत्रहीन; गृह-मेधिनः—गृहस्थ लोग; कद्-अपत्य—बुरे पुत्र से; भृतम्—उत्पन्न; दुःखम्—दुख; ये—जो; न—नहीं; विन्दन्ति—कष्ट भोगते हैं; दुर्भरम्—असहनीय।

राजा ने मन में सोचा कि पुत्रहीन व्यक्ति निश्चय ही भाग्यशाली हैं। उन्होंने अवश्य ही पूर्वजन्मों में भगवान् की पूजा की होगी जिससे उन्हें किसी कुपुत्र द्वारा दिया गया असह्य दुख न उठाना पड़े।

यतः पापीयसी कीर्तिरधर्मश्च महान्नृणाम् ।
यतो विरोधः सर्वेषां यत आधिरनन्तकः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

यतः—कुपुत्र के कारण; पापीयसी—पापमय; कीर्तिः—यश; अधर्मः—अधर्म; च—भी; महान्—महान; नृणाम्—मनुष्यों का; यतः—जिससे; विरोधः—झगड़ा; सर्वेषाम्—समस्त लोगों का; यतः—जिससे; आधिः—चिन्ता; अनन्तकः—अपार, असीम।

पापी पुत्र के कारण मनुष्य का यश मिट्टी में मिल जाता है। उसके अधार्मिक कृत्यों से घर में अधर्म और सबों में झगड़ा फैलता है। इससे केवल अन्तहीन तनाव ही उत्पन्न होता है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि विवाहित दम्पति के पुत्र होना आवश्यक है, अन्यथा उनका पारिवारिक जीवन निरर्थक रहता है। किन्तु उत्तम गुणों से रहित पुत्र अंधी आँख के समान होता है। अंधी आँख देखने के लिए कोई काम नहीं आती, इससे केवल असह्य वेदना होती है। अतः ऐसे कुपुत्र को पाकर राजा अपने को अत्यन्त अभागा समझने लगा।

कस्तं प्रजापदेशं वै मोहबन्धनमात्मनः ।
पण्डितो बहु मन्येत यदर्थाः क्लेशदा गृहाः ॥ ४५॥

शब्दार्थ

कः—कौन; तम्—उसको; प्रजा-अपदेशम्—केवल नाम का पुत्र; वै—निश्चय ही; मोह—मोह का; बन्धनम्—बन्धन; आत्मनः—आत्मा के लिए; पण्डितः—बुद्धिमान पुरुष; बहु मन्येत—सम्मान करेगा; यत्-अर्थाः—जिसके कारण; क्लेश-दाः—कष्ट-कारक; गृहाः—घर।

ऐसा कौन समझदार और बुद्धिमान है, जो इस तरह का निकम्मा पुत्र चाहेगा? ऐसा पुत्र जीवात्मा के लिए मोह का बन्धनमात्र होता है और वह मनुष्य के घर को दुखी बनाता है।

कदपत्यं वरं मन्ये सदपत्याच्छुचां पदात् ।
निर्विद्येत गृहान्मर्त्यो यत्क्लेशनिवहा गृहाः ॥ ४६॥

शब्दार्थ

कद्-अपत्यम्—कुपुत्र; वरम्—श्रेष्ठ; मन्ये—मैं सोचता हूँ; सत्-अपत्यात्—अच्छे पुत्र की अपेक्षा; शुचाम्—शोक का; पदात्—साधन; निर्विद्येत—विरक्त हो जाता है; गृहात्—घर से; मर्त्यः—मरणशील मनुष्य; यत्—जिसके कारण; क्लेश-निवहाः—नारकीय; गृहाः—घर।

तब राजा ने सोचा : सुपुत्र की अपेक्षा कुपुत्र ही अच्छा है, क्योंकि सुपुत्र से घर के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है, किन्तु कुपुत्र से नहीं। कुपुत्र घर को नरक बना देता है, जिससे बुद्धिमान

मनुष्य सरलता से अपने को अनासक्त कर लेता है।

तात्पर्य : राजा अपने भौतिक घर के प्रति लगाव और विरक्ति के रूप में सोचने लगा। प्रह्लाद महाराज के अनुसार भौतिक घर अंधकूप के समान है। यदि मनुष्य अंधे कुएँ में गिर जाता है, तो उसके लिए निकल पाना और जीवित रहना कठिन है। अत: प्रह्लाद महाराज ने सलाह दी है कि जितनी जल्दी हो सके मनुष्य इस घरेलू जीवन रूपी अंधकूप को त्याग कर जंगल में जाकर भगवान् की शरण ग्रहण कर ले। वैदिक सभ्यता के अनुसार वानप्रस्थ तथा संन्यास में गृहत्याग अनिवार्य है। किन्तु लोग गृह के प्रति इतने आसक्त रहते हैं कि वे अन्त समय तक भी गृहस्थ-जीवन को नहीं छोड़ना चाहते। अत: राजा अंग ने विरक्ति को ध्यान में रखते हुए कुपुत्र को गृहस्थ-जीवन से विरक्ति के लिए प्रेरणाप्रद मान लिया। वह कुपुत्र को अपना मित्र मानने लगा, क्योंकि वह घर से विरक्ति में राजा का सहायक हो रहा था। अन्तत: प्रत्येक मनुष्य को सीखना पड़ता है कि गृहस्थ जीवन से कैसे विरक्त हुआ जाये, अत: यदि कुपुत्र अपने बुरे आचरण के द्वारा गृहस्थ के गृहत्याग में सहायक बनता है, तो यह वरदान है।

एवं स निर्विण्णमना नृपो गृहा-
न्निशीथ उत्थाय महोदयोदयात् ।
अलब्धनिद्रोऽनुपलक्षितो नृभि-
र्हित्वा गतो वेनसुवं प्रसुप्ताम् ॥ ४७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सः—वह; निर्विण्ण-मनाः—उदास मन; नृपः—राजा अंग; गृहात्—घर से; निशीथे—अर्द्धरात्रि में; उत्थाय—उठकर; महा-उदय-उदयात्—महापुरुषों के आशीर्वाद से ऐश्वर्ययुक्त; अलब्ध-निद्रः—बिना नींद के; अनुपलक्षितः—बिना दिखे; नृभिः—मनुष्यों के द्वारा; हित्वा—त्याग कर; गतः—चला गया; वेन-सुवम्—वेन की माता को; प्रसुप्ताम्—गहरी निद्रा में मग्न।.

इस प्रकार से सोचते हुए राजा अंग को रात भर नींद नहीं आई। वह गृहस्थ जीवन से पूर्णत: उदास हो गया। अतः एक दिन अर्धरात्रि में वह अपने बिस्तर से उठा और वेन की माता (अपनी पत्नी) को गहरी निद्रा में सोते हुए छोड़कर चला गया। उसने अपने महान् ऐश्वर्यमय राज्य का मोह त्याग दिया और चुपके से अपना घर तथा ऐश्वर्य छोड़कर जंगल की ओर चला गया।

तात्पर्य : इस श्लोक में आगत *महोदयोदयात्* शब्द सूचित करता है कि महान् पुरुषों के आशीर्वाद से मनुष्य भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त कर सकता है, किन्तु जब वह भौतिक सम्पत्ति के प्रति अपनी आसक्ति

को छोड़ता है, तो इसे महापुरुषों के आशीर्वाद से भी बड़ा मानना चाहिए। राजा के लिए अपना ऐश्वर्यमय राज्य तथा तरुणी आज्ञाकारिणी पत्नी को त्याग पाना आसान नहीं था, किन्तु उसे भगवान् की कृपा ही कहेंगे कि वह आसक्ति से रहित होकर बिना किसी के देखे जंगल को चला गया। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जब महापुरुष अर्धरात्रि में अपनी पत्नी तथा धन त्याग कर घर छोड़ देते हैं।

विज्ञाय निर्विद्य गतं पतिं प्रजाः
पुरोहितामात्यसुहृद्गणादयः ।
विचिक्युरुर्व्यामतिशोककातरा
यथा निगूढं पुरुषं कुयोगिनः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

विज्ञाय—जानकर; निर्विद्य—उदास; गतम्—चला गया; पतिम्—राजा; प्रजाः—समस्त नागरिक; पुरोहित—पुरोहित; आमात्य—मंत्री; सुहृत्—मित्र; गण-आदयः—तथा सामान्यजन; विचिक्युः—खोजने लगे; उर्व्याम्—पृथ्वी पर; अति-शोक-कातराः—अत्यन्त दुखी होकर; यथा—जिस प्रकार; निगूढम्—छिपा हुआ; पुरुषम्—परमात्मा को; कु-योगिनः—अनुभवहीन योगी।

जब यह पता चला कि राजा ने उदास होकर गृहत्याग कर दिया है, तो समस्त नागरिक, पुरोहित, मंत्री, मित्र तथा सामान्यजन अत्यन्त दुखी हुए। वे सर्वत्र उसकी खोज करने लगे जैसे कोई अनुभवहीन योगी अपने भीतर परमात्मा की खोज करता है।

तात्पर्य : यहाँ पर अनुभवहीन योगी द्वारा अपने भीतर परमात्मा की खोज करने का उदाहरण अत्यन्त शिक्षाप्रद है। परम सत्य को तीन प्रकार से जाना जाता है—निर्गुण ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा भगवान्। ऐसे अनुभवहीन योगी (*कुयोगिनः*) चिन्तन द्वारा निर्गुण ब्रह्म तक पहुँच पाते हैं, किन्तु प्रत्येक जीवात्मा में स्थित परमात्मा को नहीं ढूँढ पाते। जब राजा ने घर छोड़ दिया तो यह निश्चित था कि वह अन्यत्र कहीं ठहरा होगा, किन्तु नागरिकों को पता न था कि उसकी खोज कैसे की जाये, इसलिए वे अनुभवहीन योगियों की तरह क्षुब्ध थे।

अलक्षयन्तः पदवीं प्रजापते-
र्हतोद्यमाः प्रत्युपसृत्य ते पुरीम् ।
ऋषीन्समेतानभिवन्द्य साश्रवो
न्यवेदयन्पौरव भर्तृविप्लवम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

अलक्षयन्तः—न पाकर; पदवीम्—कोई चिह्न, पता; प्रजापतेः—राजा अंग का; हत-उद्यमाः—निराश होकर; प्रत्युपसृत्य—लौटकर; ते—वे नागरिक; पुरीम्—नगर को; ऋषीन्—ऋषि; समेतान्—एकत्रित; अभिवन्द्य—नमस्कार करके; स-अश्रवः—आँखों में आँसू भर कर; न्यवेदयन्—सूचित किया, निवेदन किया; पौरव—हे विदुर; भर्तृ—राजा की; विप्लवम्—अनुपस्थिति।

जब सर्वत्र खोज करने पर नागरिकों को राजा का कोई पता न चला तो वे अत्यधिक निराश हुए और नगर को लौट आये, जहाँ पर राजा की अनुपस्थिति के कारण देश के समस्त बड़े-बड़े ऋषि एकत्र हुए थे। अश्रुपूरित नागरिकों ने ऋषियों को नमस्कार किया और विस्तारपूर्वक बताया कि वे कहीं भी राजा को नहीं पा सके।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत ‘ध्रुव महाराज के वंशजों का वर्णन’’ नामक तेरहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौदह

राजा वेन की कथा

मैत्रेय उवाच
भृग्वादयस्ते मुनयो लोकानां क्षेमदर्शिनः ।
गोप्तर्यसति वै नृणां पश्यन्तः पशुसाम्यताम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा; भृगु-आदयः—भृगु इत्यादि; ते—वे सब; मुनयः—मुनिगण; लोकानाम्—लोगों की; क्षेम-दर्शिनः—कुशल चाहनेवाले; गोप्तरि—राजा की; असति—अनुपस्थिति में; वै—निश्चय ही; नृणाम्—समस्त लोगों का; पश्यन्तः—जानते हुए; पशु-साम्यताम्—पशुतुल्य जीवन।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : हे महावीर विदुर, भृगु इत्यादि ऋषि सदैव जनता के कल्याण के लिए चिन्तन करते थे। जब उन्होंने देखा कि राजा अंग की अनुपस्थिति में जनता के हितों की रक्षा करनेवाला कोई नहीं रह गया तो उनकी समझ में आया कि बिना राजा के लोग स्वतंत्र एवं असंयमी हो जाएँगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *क्षेमदर्शिन:* शब्द महत्त्वपूर्ण है, जिसका संदर्भ इन लोगों के लिए है जो लोग सदैव जनता की भलाई की चाह रखते हैं। भृगु की अगुवाई में समस्त ऋषि सदैव सोचते रहते थे कि ब्रह्माण्ड भर के लोगों को किस प्रकार आध्यात्मिक स्तर (आत्मपद) तक उठाया जाये। निस्सन्देह, वे प्रत्येक लोक के राजा को जीवन के इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए जनता पर शासन करने का उपदेश देते रहते थे। ऋषिगण राजाध्यक्ष अथवा राजा को सलाह देते थे और वह उनके आदेशों के अनुसार प्रजा पर शासन चलाता था। राजा अंग के लोप हो जाने पर ऋषियों के आदेशों को पालने वाला कोई न था। इससे सभी नागरिक यहाँ तक उच्छृङ्खल हो गये कि उनकी तुलना पशुओं से की जाने लगी। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.१३) में वर्णन है मानव समाज को गुण तथा कर्म के अनुसार चार आश्रमों में विभक्त कर देना चाहिए। प्रत्येक समाज में बुद्धिमान वर्ग, प्रशासक वर्ग, उत्पादक वर्ग तथा श्रमिक वर्ग होना चाहिए। आधुनिक प्रजातंत्र में यह वैज्ञानिक विभाजन अस्त-व्यस्त हो गया है और शूद्रों अर्थात् श्रमिक वर्ग को मतदान द्वारा प्राशासनिक पदों के लिए चुना जाता है। जीवन के चरमलक्ष्य का ज्ञान न होने के कारण ऐसे व्यक्ति जीवन का उद्देश्य जाने बिना अपनी सनक वश नियम बनाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कोई भी सुखी नहीं है।

वीरमातरमाहूय सुनीथां ब्रह्मवादिनः ।
प्रकृत्यसम्मतं वेनमभ्यषिञ्चन्पतिं भुवः ॥ २॥

शब्दार्थ

वीर—वेन की; मातरम्—माता को; आहूय—बुलाकर; सुनीथाम्—सुनीथा नाम की; ब्रह्म-वादिनः—वेदों में पारंगत ऋषिगण; प्रकृति—मंत्रियों से; असम्मतम्—असहमत; वेनम्—वेन को; अभ्यषिञ्चन्—सिंहासन पर बैठा दिया; पतिम्—स्वामी; भुवः—विश्व का।

तब ऋषियों ने वेन की माता रानी सुनीथा को बुलाया और उनकी अनुमति से वेन को विश्व के स्वामी के रूप में सिंहासन पर बिठा दिया। तथापि सभी मंत्री इससे असहमत थे।

श्रुत्वा नृपासनगतं वेनमत्युग्रशासनम् ।
निलिल्युर्दस्यवः सद्यः सर्पत्रस्ता इवाखवः ॥ ३॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर; नृप—राजा का; आसन-गतम्—सिंहासन पर आरूढ़; वेनम्—वेन को; अति—अत्यन्त; उग्र—घोर; शासनम्—दंड देनेवाला; निलिल्युः—अपने को छिपा लिया; दस्यवः—सभी चोर; सद्यः—तुरन्त; सर्प—साँपों से; त्रस्ताः—डरे हुए; इव—सदृश; आखवः—चूहे।

यह पहले से ज्ञात था कि वेन अत्यन्त कठोर तथा क्रूर था, अतः जैसे ही राज्य के चोरों तथा उचक्कों ने सुना कि वह राज-सिंहासन पर आरूढ़ हो गया है, वे उससे बहुत भयभीत हुए और वे सब उसी तरह छिप गये जिस प्रकार चूहे अपने आपको सर्पों से छिपा लेते हैं।

तात्पर्य : जब सरकार अत्यधिक निर्बल होती है, तो चोर तथा उचक्के बढ़ जाते हैं। इसी प्रकार जब सरकार प्रबल होती है, तो सारे चोर-उचक्के लुप्त हो जाते हैं या छिप जाते हैं। निस्सन्देह, वेन अच्छा राजा न था, किन्तु वह क्रूर तथा कठोर समझा जाता था। इस तरह राज्य चोर-उचक्कों से मुक्त हो गया।

स आरूढनृपस्थान उन्नद्धोऽष्टविभूतिभिः ।
अवमेने महाभागान्स्तब्धः सम्भावितः स्वतः ॥ ४॥

शब्दार्थ

सः—राजा वेन; आरूढ—स्थित; नृप-स्थानः—राजा के आसन पर; उन्नद्धः—अत्यन्त घमंडी; अष्ट—आठ; विभूतिभिः—ऐश्वर्यों से; अवमेने—अपमान करने लगा; महा-भागान्—महापुरुषों को; स्तब्धः—अदूरदर्शी; सम्भावितः—महान् समझते हुए; स्वतः—अपने आपको।

जब राजा सिंहासन पर बैठा तो वह आठों ऐश्वर्यों से युक्त होकर सर्वशक्तिमान बन गया। फलतः वह अत्यन्त घंमडी हो गया। झूठी प्रतिष्ठा के कारण वह अपने को सर्वश्रेष्ठ समझने लगा

और इस प्रकार से वह महापुरुषों का अपमान करने लगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अष्ट-विभूतिभि:* शब्द महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है, "आठ ऐश्वर्यों से।" राजा को आठ ऐश्वर्यों से युक्त होना चाहिए। सामान्यत: योगाभ्यास के बल से राजा इन आठ ऐश्वर्यों को प्राप्त कर लेते थे। ऐसे राजा *राजर्षि* कहलाते थे। योगाभ्यास के बल से *राजर्षि* छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा बन सकता था और मनवांछित वस्तु प्राप्त कर सकता था। वह राज्य उत्पन्न कर सकता था, सबों को वश में करके उन पर शासन कर सकता था। ये ही राजा के कतिपय ऐश्वर्य होते थे। किन्तु राजा वेन को योग का अभ्यास नहीं था, तो भी उसे अपने राजपद का घमंड हो गया। विचारवान न होने के कारण वह अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने और महापुरुषों का अपमान करने लगा।

एवं मदान्ध उत्सिक्तो निरङ्कुश इव द्विपः ।
पर्यटन्रथमास्थाय कम्पयन्निव रोदसी ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; मद-अन्धः—अधिकार के कारण अन्धा हुआ; उत्सिक्तः—घमंडी; निरङ्कुशः—उद्दंड; इव—सदृश; द्विपः—हाथी; पर्यटन्—घूमता हुआ; रथम्—रथ पर; आस्थाय—चढ़कर; कम्पयन्—हिलाता हुआ; इव—निरसन्देह; रोदसी—आकाश तथा पृथ्वी।.

राजा वेन अपने ऐश्वर्य के मद से अन्धा होकर रथ पर आसीन होकर निरंकुश हाथी के समान सारे राज्य में घूमने लगा। जहाँ-जहाँ वह जाता, आकाश तथा पृथ्वी दोनों हिलने लगते।

न यष्टव्यं न दातव्यं न होतव्यं द्विजाः क्वचित् ।
इति न्यवारयद्धर्मं भेरीघोषेण सर्वशः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यष्टव्यम्—एक भी यज्ञ हो पाते; न—न तो; दातव्यम्—कोई दान दे सकता था; न—नहीं; होतव्यम्—आहुति दी जा सकती थी; द्विजाः—हे द्विजन्मा; क्वचित्—किसी भी समय; इति—इस प्रकार; न्यवारयत्—रोक दिया; धर्मम्—धार्मिक नियमों की विधियाँ; भेरी—ढिंढोरा (बाजा); घोषेण—शब्द से; सर्वशः—सर्वत्र।.

राजा वेन ने अपने राज्य में यह ढिंढोरा पिटवा दिया कि सभी द्विजों (ब्राह्मणों) को अब से किसी भी तरह का यज्ञ करने, दान देने या घृत की आहुति देने की मनाही कर दी गई। दूसरे शब्दों में, उसने सभी प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान बन्द करा दिये।

तात्पर्य : जो कुछ राजा वेन ने हजारों वर्ष पूर्व किया था वह आज सारे संसार में नास्तिक सरकारों

द्वारा किया जा रहा है। विश्व की स्थिति ऐसी नाजुक है कि कोई भी सरकार किसी भी समय धार्मिक अनुष्ठानों को बन्द करने की घोषणा कर सकती है। अन्ततः स्थिति इतनी गिर जाएगी कि इस लोक में पवित्र मनुष्यों के लिए जीना दूभर हो जाएगा। अतः बुद्धिमान मनुष्यों को चाहिए कि गम्भीरतापूर्वक कृष्णभक्ति करें जिससे वे इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त और अधिक कष्ट उठाये बिना भगवान् के धाम को जा सकें।

वेनस्यावेक्ष्य मुनयो दुर्वृत्तस्य विचेष्टितम् ।
विमृश्य लोकव्यसनं कृपयोचुः स्म सत्रिणः ॥७॥

शब्दार्थ

वेनस्य—वेन का; आवेक्ष्य—देखकर; मुनयः—सभी मुनिगण; दुर्वृत्तस्य—धूर्त के; विचेष्टितम्—कार्यकलाप; विमृश्य—विचार करके; लोक-व्यसनम्—सामान्य लोगों के लिए संकट; कृपया—दयावश; ऊचुः—कहा; स्म—भूतकाल में; सत्रिणः—यज्ञों के कर्ता।

अतः सभी ऋषिगण एकत्र हुए और वेन के अत्याचारों को देखकर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि संसार के मनुष्यों पर महान् संकट तथा प्रलय आनेवाला है। अतः वे दयावश परस्पर बातें करने लगे, क्योंकि वे स्वयं ही यज्ञों को सम्पन्न करनेवाले थे।

तात्पर्य : राजा वेन सिंहासन पर बैठने से पहले तक सभी ऋषिगण समाज का कल्याण देखने के लिए अत्यधिक उत्सुक रहते थे। जब उन्होंने देखा कि राजा वेन अत्यन्त गैरजिम्मेदार, क्रूर तथा अत्याचारी है, तो वे फिर से जनता के कल्याण के विषय में विचार करने लगे। यह समझ लेना चाहिए कि साधु, सज्जन तथा भक्त कभी भी जनकल्याण से विरत नहीं रहते। सामान्य कर्मीजन इन्द्रियतृप्ति के लिए धन संग्रह करते होते हैं और ज्ञानी मुक्ति की इच्छा से एकान्त भाव से चिन्तन करते रहते हैं, किन्तु वास्तविक भक्त तथा साधु पुरुष सदैव चिन्तित रहते हैं कि लोगों को किस प्रकार भौतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से सुखी बनाया जाए। अतः सभी ऋषि एकत्र होकर राजा वेन द्वारा उत्पन्न भयावह वातावरण से उबरने के लिए मंत्रणा करने लगे।

अहो उभयतः प्राप्तं लोकस्य व्यसनं महत् ।
दारुण्युभयतो दीप्ते इव तस्करपालयोः ॥८॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; उभयतः—दोनों ओर से; प्राप्तम्—प्राप्त; लोकस्य—लोगों का; व्यसनम्—संकट; महत्—भारी; दारुणि—लट्ठा; उभयतः—दोनों ओर से; दीप्ते—जलता हुआ; इव—सदृश; तस्कर—चोरों तथा उचक्कों से; पालयोः—तथा राजा से।

ऋषियों ने परस्पर विमर्श करके देखा कि जनता दोनों ओर से विकट स्थिति में है। जब किसी लट्ठे के दोनों सिरों पर अग्नि प्रज्वलित रहती है, तो बीच में स्थित चीटियाँ अत्यन्त विकट स्थिति में रहती हैं। इसी प्रकार उस समय एक ओर अनुत्तरदायी राजा तथा दूसरी ओर चोर-उचक्कों के कारण जनता अत्यन्त विकट स्थिति में फँसी हुई थी।

अराजकभयादेष कृतो राजातदर्हणः ।
ततोऽप्यासीद्भयं त्वद्य कथं स्यात्स्वस्ति देहिनाम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अराजक—बिना राजा के होने से; भयात्—भयवश; एषः—यह वेन; कृतः—बनाया था; राजा—राजा; अ-तत्-अर्हणः—अयोग्य होने पर भी; ततः—उससे; अपि—भी; आसीत्—था; भयम्—संकट; तु—तब; अद्य—अब; कथम्—कैसे; स्यात्—क्या हो सकता है; स्वस्ति—सुख; देहिनाम्—प्राणियों का।

राज्य को अराजकता से बचाने के लिए सोच-विचार कर ऋषियों ने राजनीतिक संकट के कारण वेन को, अयोग्य होते हुए भी राजा बनाया था। किन्तु हाय! अब तो जनता राजा द्वारा ही अशान्त बनाई जा रही है। ऐसी अवस्था में भला लोग किस प्रकार सुखी रह सकते हैं?

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१८.५) में कहा गया है कि विरक्त अवस्था में भी मनुष्य को यज्ञ, दान, तथा तप का परित्याग नहीं करना चाहिए। ब्रह्मचारियों को यज्ञ करना चाहिए, गृहस्थों को दान देना चाहिए और विरक्तों (वानप्रस्थ तथा संन्यासी) को तपस्या करनी चाहिए। ये ऐसी विधियाँ हैं जिनके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति आत्म-पद को प्राप्त हो सकता है। जब ऋषियों-मुनियों ने देखा कि राजा वेन ने ये सारे कार्य बन्द करा दिये हैं, तो उन्हें जनता की उन्नति की चिन्ता हुई। साधु पुरुष ईशचेतना या कृष्णचेतना का उपदेश देते हैं, क्योंकि वे जन-सामान्य को पाशविक जीवन के संकटों से बचाना चाहते हैं। यह देखने के लिए कि नागरिक सचमुच अपने धार्मिक कृत्य करते हैं, एक उत्तम सरकार होनी चाहिए तथा चोरों-उचक्कों पर रोक लगानी चाहिए। जब ऐसा होगा तो लोग शान्तिपूर्वक आध्यात्मिक चेतना में अग्रसर होंगे और उनके जीवन सफल हो जाएँगे।

अहेरिव पयःपोषः पोषकस्याप्यनर्थभृत् ।

वेनः प्रकृत्यैव खलः सुनीथागर्भसम्भवः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अहेः—सर्प के; इव—सदृश; पयः—दूध से; पोषः—पालन; पोषकस्य—पालक का; अपि—भी; अनर्थ—हित विरुद्ध; भृत्—होता है; वेनः—राजा वेन; प्रकृत्या—प्रकृति से; एव—निश्चय ही; खलः—दुष्ट; सुनीथा—सुनीथा के; गर्भ—गर्भ से; सम्भवः—उत्पन्न।

ऋषिगण अपने आप में सोचने लगे कि सुनीथा के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण राजा वेन स्वभाव से अत्यन्त दुष्ट (उत्पाती) है। इस दुष्ट राजा का समर्थन करना वैसा ही है जैसे सर्प को दूध पिलाना। अब यह समस्त संकटों का कारण बन गया है।

तात्पर्य : साधु पुरुष सामान्यतः सामाजिक कार्यों एवं भौतिक जीवन से पृथक् रहते हैं। साधु पुरुषों ने राजा वेन का समर्थन इसीलिए किया था कि वह नागरिकों को चोर-उचक्कों से सुरक्षित रखेगा, किन्तु सिंहासन में बैठने के बाद वह मुनियों के कष्ट का कारण बन गया। साधु पुरुष विशेष रूप से यज्ञ करने में रुचि लेते हैं जिससे आध्यात्मिक जीवन की ओर प्रगति हो, किन्तु वेन साधु पुरुषों की कृपा से अनुगृहीत न होकर उनका शत्रु बन गया, क्योंकि वह उन्हें सामान्य कर्तव्यों को करने से भी रोकने लगा। जो साँप केवल दूध तथा केले के बल पर पाला जाता है, वह अपने दाँतों में विष ही विष एकत्र करता है और उस क्षण की प्रतीक्षा में रहता है कि कब अपने स्वामी को काटे।

निरूपितः प्रजापालः स जिघांसति वै प्रजाः ।
तथापि सान्त्वयेमामुं नास्मांस्तत्पातकं स्पृशेत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

निरूपितः—नियुक्त; प्रजा-पालः—राजा; सः—वह; जिघांसति—क्षति पहुँचाना चाहता है; वै—निश्चय ही; प्रजाः—नागरिक; तथा अपि—तो भी; सान्त्वयेम—हमें समझाना चाहिए; अमुम्—उसको; न—नहीं; अस्मान्—हमको; तत्—उसका; पातकम्—पापमय फल; स्पृशेत्—छू सकेंगे।

हमने इस वेन को नागरिकों की सुरक्षा के हेतु नियुक्त किया था, किन्तु अब वह उनका शत्रु बन चुका है। इन सब न्यूनताओं के होते हुए भी, हमें चाहिए कि उसे तुरन्त समझाने का प्रयत्न करें। ऐसा करने से हमें उसके पाप स्पर्श नहीं कर सकेंगे।

तात्पर्य : ऋषियों ने वेन को राजा बनाने के लिए चुना, किन्तु वह उत्पाती सिद्ध हुआ। अतः ऋषियों को भय था कि वे पापमय कर्मों के फल के आगे न ही जायें। कर्म का नियम मनुष्य को उत्पाती पुरुष की संगति करने से वर्जित करता है। वेन को राजसिंहासन पर बैठाने के लिए चुन कर

मुनियों ने निश्चित रूप से उसका साथ दिया था। अन्ततः राजा वेन इतना उत्पाती बन गया कि ऋषियों को भय होने लगा कि वे उसके कार्यों से कलुषित न हो जायँ। अत: उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही करने के पूर्व वे उसे मनाना तथा उसकी भूल को सुधारना चाह रहे थे जिससे वह अपनी दुष्टता त्याग दे।

तद्विद्वद्भिरसद्वृत्तो वेनोऽस्माभिः कृतो नृपः ।
सान्त्वितो यदि नो वाचं न ग्रहीष्यत्यधर्मकृत् ।
लोकधिक्कारसन्दग्धं दहिष्यामः स्वतेजसा ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तत्—उसकी उत्पाती प्रकृति; विद्वद्भिः—परिचित; असत्-वृत्तः—अपवित्र; वेनः—वेन; अस्माभिः—हमारे द्वारा; कृतः—बनाया गया; नृपः—राजा; सान्त्वितः—शान्त किये जाने या समझाने पर; यदि—यदि; नः—हमारा; वाचम्—शब्द; न—नहीं; ग्रहीष्यति—वह स्वीकार करेगा; अधर्म-कृत्—सर्वाधिक दुष्ट; लोक-धिक्-कार—सार्वजनिक निन्दा; सन्दग्धम्—भस्म किया हुआ; दहिष्यामः—जला देंगे; स्व-तेजसा—अपने तेज से।.

संत सदृश मुनि लोगों ने आगे सोचा : निस्सन्देह हम उसके दुष्ट स्वभाव से भली भाँति परिचित हैं, तो भी हमीं ने वेन को राजसिंहासन पर बैठाया है। यदि हम उसे अपनी सलाह मानने के लिए राजी नहीं कर लेते तो जनता उसको दुत्कारेगी और हम भी उनका साथ देंगे। इस प्रकार हम अपने तेज से उसे भस्म कर डालेंगे।

तात्पर्य : साधु पुरुषों की रुचि राजनीतिक मामलों में भले न हो, किन्तु वे जन-सामान्य के कल्याण के विषय में सदैव सोचते रहते हैं। फलस्वरूप कभी-कभी उन्हें भी राजनीतिक क्षेत्र में उतर कर दिग्भ्रमित सरकार को या राजा को रास्ते पर लाने के लिए कदम उठाने पड़ते हैं। किन्तु कलियुग में साधु पुरुष पहले की भाँति शक्तिमान नहीं रह गये हैं। जहाँ वे अपने आध्यात्मिक तेज से पापी मनुष्य को भस्म करने में समर्थ रहते थे, वहीं अब कलियुग के प्रभाव से साधु पुरुषों में ऐसी शक्ति नहीं रही। ब्राह्मणों में तो इतनी भी शक्ति शेष नहीं रही है कि वे पशुमेध यज्ञ कर सकें। जिसमें पशुओं को नवीन जीवन लाभ के लिए अग्नि में धकेला जाता था। ऐसी परिस्थिति में, साधु पुरुषों को राजनीति में भाग न लेकर हरे कृष्ण महामंत्र के जप में तल्लीन रहना चाहिए। भगवान् चैतन्य की कृपा से केवल हरे कृष्ण महामंत्र के जप से ही जनता को बिना किसी राजनीतिक झमेले के सारा लाभ प्राप्त हो सकेगा।

एवमध्यवसायैनं मुनयो गूढमन्यव: ।
उपव्रज्याब्रुवन्वेनं सान्त्वयित्वा च सामभि: ॥ १३॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; अध्यवसाय—निर्णय करके; एनम्—उसको; मुनय:—मुनियों ने; गूढ-मन्यव:—अपना क्रोध छिपाते हुए; उपव्रज्य—पास जाकर; अब्रुवन्—बोले; वेनम्—राजा वेन से; सान्त्वयित्वा—समझा-बुझा कर; च—भी; सामभि:—मीठे वचनों से।

ऐसा निश्चय करके ऋषिगण राजा वेन के पास गये और अपना वास्तविक क्रोध छिपाते हुए उन्होंने उसे मीठे वचनों से समझाया-बुझाया। फिर उन्होंने इस प्रकार कहा।

मुनय ऊचु:
नृपवर्य निबोधैतद्यत्ते विज्ञापयाम भो: ।
आयु:श्रीबलकीर्तीनां तव तात विवर्धनम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

मुनय: ऊचु:—मुनियों ने कहा; नृप-वर्य—हे राजाओं में श्रेष्ठ; निबोध—समझने का यत्न करो; एतत्—यह; यत्—जो; ते—तुमको; विज्ञापयाम—हम उपदेश देंगे; भो:—हे राजा; आयु:—उम्र; श्री—ऐश्वर्य; बल—शक्ति; कीर्तीनाम्—उत्तम ख्याति; तव—तुम्हारी; तात—हे पुत्र; विवर्धनम्—बढ़ानेवाली।

मुनियों ने कहा: हे राजन्, हम आपके पास सदुपदेश देने आये हैं। कृपया ध्यानपूर्वक सुनें। ऐसा करने से आपकी आयु, ऐश्वर्य, बल तथा कीर्ति बढ़ेगी।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता के अनुसार राजतंत्र में राजा को साधु पुरुष तथा मुनिजन सलाह देते हैं। उनकी सलाह से वह सबसे बड़ा शासक बन सकता है और उसके राज्य का प्रत्येक प्राणी सुखी, शान्त तथा सम्पन्न हो सकता है। बड़े-बड़े राजा महान् साधु पुरुषों के आदेशों को ग्रहण करने के लिए सचेष्ट रहते थे। राजा लोग बड़े-बड़े मुनियों यथा पराशर, व्यासदेव, नारद, देवल तथा असित के आदेशों को मानते थे। दूसरे शब्दों में, पहले वे साधु पुरुषों की सत्ता को स्वीकारते थे और तब अपनी राजतंत्र शक्ति का प्रयोग करते थे। दुर्भाग्यवश, कलियुग में राज्य का मुखिया साधुपुरुषों द्वारा दिये गये आदेशों का पालन नहीं करता जिससे न तो प्रजा और न ही सरकारी व्यक्ति सुखी रहते हैं। उनकी आयु घट जाती है, प्राय: हर व्यक्ति दुष्ट है तथा शारीरिक और आध्यात्मिक शक्तियों से विहीन होता जा रहा है। यदि इस प्रजातांत्रिक युग में जनता सुखी तथा सम्पन्न होना चाहती है, तो उन्हें चाहिए कि वे धूर्तों तथा मूर्खों को न चुनें जिनमें साधु पुरुषों के लिए कोई आदर भाव नहीं है।

धर्म आचरित: पुंसां वाङ्मन:कायबुद्धिभि: ।
लोकान्विशोकान्वितरत्यथानन्त्यमसङ्गिनाम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

धर्म:—धार्मिक नियम; आचरित:—पालन करते हुए; पुंसाम्—व्यक्तियों को; वाक्—शब्दों से; मन:—मन; काय—शरीर; बुद्धिभि:—तथा बुद्धि से; लोकान्—लोक; विशोकान्—शोकरहित; वितरति—प्रदान करते हैं; अथ—निश्चय ही; आनन्त्यम्—अपार सुख, मुक्ति; असङ्गिनाम्—भौतिक प्रभावों से जो मुक्त है उन निष्काम मनुष्यों को।

जो लोग धार्मिक नियमों के अनुसार रहते हैं और जो मन, वचन, शरीर तथा बुद्धि से इनका पालन करते हैं, वे स्वर्गलोक को जाते हैं, जो समस्त शोकों (दुखों) से रहित है। इस प्रकार भौतिक प्रभाव से छूट कर वे जीवन में असीम सुख प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर साधु सदृश ऋषि आदेश देते हैं कि राजा अथवा सरकार के प्रमुख को धार्मिक जीवन बिताकर एक उदाहरण स्थापित करना चाहिए। जैसाकि भगवद्गीता में वर्णित है धर्म का अर्थ है भगवान् की पूजा करना। मनुष्य को दिखावटी धार्मिक जीवन नहीं बिताना चाहिए वरन् मन, वचन, शरीर तथा बुद्धि से भली प्रकार से भक्ति करनी चाहिए। ऐसा करने से न केवल राजा अथवा सरकार का प्रमुख प्रकृति के गुणों के कल्मष से अपने को दूर रख सकेगा, वरन् सामान्य जनता भी और वे सब क्रमश: भगवान् के धाम को जा सकेंगे। यहाँ पर जो आदेश दिये गये हैं, वे सरकार के प्रमुख के लिए पथप्रदर्शक का काम करेंगे कि उसे किस प्रकार अपनी शासन-शक्ति का उपयोग करना चाहिए और इस प्रकार न केवल इस जन्म में, वरन् मृत्यु के पश्चात् वाले जीवन में भी सुख प्राप्त करना चाहिए।

स ते मा विनशेद्वीर प्रजानां क्षेमलक्षण: ।
यस्मिन्विनष्टे नृपतिरैश्वर्यादवरोहति ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

स:—आध्यात्मिक जीवन; ते—तुम्हारे द्वारा; मा—मत; विनशेत्—विनष्ट होने दें; वीर—हे वीर; प्रजानाम्—लोगों का; क्षेम-लक्षण:—सम्पन्नता का कारण; यस्मिन्—जो; विनष्टे—नष्ट होने पर; नृपति:—राजा; ऐश्वर्यात्—ऐश्वर्य से; अवरोहति—नीचे गिरता है।

मुनियों ने आगे कहा : अत: हे महान् वीर, आपको सामान्य जनता के आध्यात्मिक जीवन को विनष्ट करने में निमित्त नहीं बनना चाहिए। यदि आपके कार्यों से उनका आध्यात्मिक जीवन विनष्ट होता है, तो आप निश्चित रूप से अपने ऐश्वर्यपूर्ण तथा राजोचित पद से नीचे गिरेंगे।

तात्पर्य : प्राचीन काल में, विश्व के प्राय: सभी भागों में राजतंत्र था, किन्तु धीरे-धीरे जैसे-जैसे

आदर्श धार्मिक जीवन से इन्द्रियतृप्ति के ईश्वर-विहीन जीवन में राजतंत्र का पतन होता गया, विश्व भर से राजतंत्र हटता गया। किन्तु जब तक सरकारी व्यक्ति धार्मिक न हों और महान् धार्मिक पुरुषों के पद-चिह्नों का अनुसरण न करें, तब तक राजतंत्र को मिटाकर उसके स्थान पर प्रजातंत्र को लाना पर्याप्त न होगा।

राजन्नसाध्वमात्येभ्यश्चोरादिभ्यः प्रजा नृपः ।
रक्षन्यथा बलिं गृह्णन्निह प्रेत्य च मोदते ॥ १७॥

शब्दार्थ

राजन्—हे राजन्; असाधु—दुष्ट; अमात्येभ्यः—मंत्रियों से; चोर-आदिभ्यः—चोरों तथा उचक्कों से; प्रजाः—नागरिक; नृपः—राजा; रक्षन्—रक्षा करते हुए; यथा—जिस प्रकार से; बलिम्—कर; गृह्णन्—स्वीकार करते हुए; इह—इस संसार में; प्रेत्य—मरकर; च—तथा; मोदते—सुख उठाता है।

मुनियों ने आगे कहा : जब राजा दुष्ट मंत्रियों के तथा चोर-उचक्कों के उत्पातों से नागरिकों की रक्षा करता है, तो अपने इन पवित्र कार्यों के कारण वह अपनी प्रजा से कर प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार पवित्र राजा इस संसार में और मृत्यु के बाद भी सुख भोग सकता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में एक पवित्र राजा के कर्तव्य का बहुत सुन्दर वर्णन हुआ है। उसका सर्वप्रथम कर्तव्य है कि अपनी प्रजा को चोर-उचक्कों साथ ही साथ उन्हीं जैसे मंत्रियों से भी सुरक्षा प्रदान करे। पहले मंत्रियों का चुनाव नहीं होता था, वरन् राजा ही उन्हें नियुक्त करता था। फलतः यदि राजा पवित्र या कठोर नहीं होता था, तो मंत्री चोर-उचक्के बन जाते थे और दीन जनता का शोषण करते रहते थे। यह देखना राजा का कर्तव्य है कि सरकारी मंत्रालयों या सार्वजनिक-विभागों में चोर-उचक्कों की भरमार तो नहीं हो रही। यदि राजा अपनी प्रजा की रक्षा चोर-उचक्कों से, सरकारी सेवा तथा जन-मामलों में समान रूप से, नहीं कर सकता तो उसे कर लेने का कोई अधिकार नहीं है। दूसरे शब्दों में, जो राजा या सरकार नागरिकों पर कर लगाती है, वह कर तभी ले सकती है जब वह राजा या सरकार नागरिकों की चोर-उचक्कों से रक्षा कर सके।

श्रीमद्भागवत के बारहवें स्कंध में (१२.१.४२) सरकारी सेवा के इन चोर-उचक्कों का वर्णन मिलता है। कहा गया है—*प्रजास्ते भक्षयिष्यन्ति म्लेच्छा राजन्यरूपिणः* "ये दम्भी म्लेच्छ (शूद्रों से भी निम्न) अपने को राजा कहकर अपनी प्रजा को सतायेंगे और उनकी प्रजा का बर्ताव निम्न स्तर का

होगा। इस तरह से गन्दी आदतों एवं मूर्खतापूर्ण व्यवहार के कारण प्रजा भी राजा के समान हो जायगी।'' भाव यह है कि कलियुग के प्रजातांत्रिक काल में सामान्य जनता शूद्रों के स्तर तक पतित हो जायगी। जैसा कहा गया है (*कलौ शूद्रसम्भवः*) व्यवहारतः विश्व की सारी जनसंख्या शूद्र हो जायगी। शूद्र चौथा वर्ग है, जो तीन उच्च सामाजिक वर्णों की सेवा करने के लिए ही उपयुक्त है। चतुर्थ श्रेणी के व्यक्ति होने के कारण शूद्र अधिक बुद्धिमान नहीं होते। चूँकि आज के प्रजातांत्रिक युग में जनता इतनी पतित हो चुकी है कि वह इसी श्रेणी के व्यक्ति को चुन सकती है, किन्तु इन शूद्रों द्वारा संचालित होने पर सरकार ठीक से नहीं चल सकती। द्वितीय श्रेणी के व्यक्ति, जिन्हें क्षत्रिय कहा जाता है, बुद्धिमान साधु पुरुषों (ब्राह्मणों) के निर्देशन में देश के शासन की डोर सँभालने के लिए उपयुक्त होते हैं। अन्य युगों—सत्ययुग, त्रेता युग तथा द्वापर युग में जनता इतनी पतित नहीं थी और सरकार के प्रमुख का चुनाव नहीं होता था। राजा ही सर्वोच्च कार्यकारी पुरुष होता था और यदि वह किसी मंत्री को चोरी करते पकड़ लेता था, तो या तो वह तुरन्त उसका वध करवा देता था या सेवा से निकाल दिया जाता था। राजा का कर्तव्य होता था कि वह चोर-उचक्कों का वध करे। इसी प्रकार उसका यह भी कर्तव्य होता था कि बेईमान मंत्री का तुरन्त वध कर दे। ऐसी चौकसी से राजा अपना शासन ठीक से चला सकता था और प्रजा भी ऐसे राजा को पाकर प्रसन्न रहती थी। निष्कर्ष यह है कि जब तक राजा चोर-उचक्कों से अपनी प्रजा की रक्षा नहीं कर सकता, तब तक उसे कोई अधिकार नहीं है कि वह अपनी इन्द्रिय-तुष्टि के लिए नागरिकों से कर-संग्रह कर सके। किन्तु यदि वह नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करता है और उन पर कर लगाता है, तो वह इस जीवन में सुखपूर्वक और शान्तिपूर्वक रह सकता है और मरने पर वह स्वर्ग को या वैकुण्ठलोक को भी जा सकता है, जहाँ वह सभी प्रकार से सुखी रहेगा।

यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान्यज्ञपूरुषः ।
इज्यते स्वेन धर्मेण जनैर्वर्णाश्रमान्वितैः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; **राष्ट्रे**—राज या राज्य में; **पुरे**—नगरों में; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **भगवान्**—भगवान्; **यज्ञ-पूरुषः**—समस्त यज्ञों का भोक्ता; **इज्यते**—पूजा जाता है; **स्वेन**—स्वतः; **धर्मेण**—वृत्ति द्वारा; **जनैः**—मनुष्यों के द्वारा; **वर्ण-आश्रम**—चार वर्ण तथा चार आश्रम इन आठ सामाजिक व्यवस्थाओं की प्रणाली; **अन्वितैः**—पालन करनेवाले।

वह राजा पवित्र समझा जाता है, जिसके राज्य तथा नगरों में प्रजा वर्ण तथा आश्रम की आठ सामाजिक व्यवस्थाओं का कठोरता से पालन करती है और जहाँ के नागरिक अपने विशिष्ट धर्म (वृत्ति) द्वारा भगवान् की सेवा में संलग्न रहते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में राजा तथा नागरिक के कर्तव्यों की सुन्दर व्याख्या मिलती है। सरकार के प्रमुख या राजा तथा प्रजा के कार्य इस प्रकार होने चाहिए कि अन्ततः प्रत्येक व्यक्ति भगवान् की भक्ति में प्रवृत्त हो। राजा अथवा सरकार का प्रमुख भगवान् का प्रतिनिधि होता है। अतः उससे यह आशा की जाती है कि सारा कार्य उत्तम रीति से चले और नागरिक चार वर्णों तथा चार आश्रमों वाली वैज्ञानिक सामाजिक व्यवस्था का अनुगमन करें। *विष्णु-पुराण* में कहा गया है कि जब तक लोग शिक्षित नहीं होते, अथवा वैज्ञानिक सामाजिक व्यवस्था में स्थित नहीं होते जिसमें चार वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) एवं चार आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) सम्मिलित हैं, तब तक समाज मानवीय समाज नहीं हो सकता और न मानव-जीवन के चरम उद्देश्य की ओर अग्रसर ही हुआ जा सकता है। यह सरकार का धर्म है कि वह देखे कि वर्णों तथा आश्रमों का पालन किया जा रहा है। जैसाकि इस श्लोक में आया है—*भगवान् यज्ञपूरुषः*—भगवान् श्रीकृष्ण यज्ञपुरुष हैं। *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा गया है—*भोक्तारं यज्ञतपसाम्*। कृष्ण ही समस्त यज्ञों के अन्तिम लक्ष्य हैं। वे ही सभी यज्ञों के भोक्ता हैं, अतः वे यज्ञपुरुष कहलाते हैं। यज्ञपुरुष शब्द भगवान् विष्णु, श्रीकृष्ण या विष्णुतत्त्व की कोटि में आनेवाले किसी भी भगवान् का सूचक होता है। मानव समाज में लोग वर्णों तथा आश्रमों में व्यवस्थित हैं और अपने-अपने कार्यों द्वारा वे भगवान् विष्णु की उपासना में लगे रहते हैं। प्रत्येक नागरिक अपनी वृत्ति में लगा रह कर अपने कर्मों के फल द्वारा सेवा करता है। यही जीवन की पूर्णता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.४६) में कथित है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

''जिस परमेश्वर से सब प्राणियों का जन्म हुआ है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त है, अपने स्वाभाविक कर्म से उसे पूजकर मनुष्य संसिद्धि को प्राप्त होता है।''

इस प्रकार शास्त्रों में वर्णित विधि के अनुसार ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों को अपने-अपने नियत कर्म करने चाहिए। इस प्रकार हर व्यक्ति भगवान् विष्णु को प्रसन्न कर सकता है। राजा को या सरकार के प्रमुख को देखना चाहिए कि सारे नागरिक इसी प्रकार से कर्म करें। दूसरे शब्दों में, राज्य या सरकार को अपने कर्तव्य से यह कह कर विमुख नहीं होना चाहिए कि राज्य तो धर्मनिरपेक्ष है, जिसमें लोगों के वर्णाश्रम धर्म के पालन करने या न करने में उसकी रुचि नहीं है। आजकल जो लोग सरकारी सेवा में हैं और लोगों पर शासन करते हैं उनके मनों में वर्णाश्रम धर्म के लिए तनिक भी आदर नहीं है। उनका पूर्ण विश्वास है कि राज्य धर्मनिरपेक्ष है। ऐसी सरकार में कोई कभी सुखी नहीं रह सकता। लोगों को वर्णाश्रम धर्म का पालन करना चाहिए और राजा का कर्तव्य है कि यह देखे कि वे इसका ठीक से पालन कर रहे हैं।

तस्य राज्ञो महाभाग भगवान्भूतभावनः ।
परितुष्यति विश्वात्मा तिष्ठतो निजशासने ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उससे; राज्ञः—राजा; महा-भाग—हे श्रेष्ठ; भगवान्—भगवान्; भूत-भावनः—जो इस दृश्य जगत का मूल कारण है; परितुष्यति—प्रसन्न हो जाता है; विश्व-आत्मा—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का परमात्मा; तिष्ठतः—स्थित होकर; निज-शासने—अपने शासन में।

हे महाभाग, यदि राजा यह देखता है कि दृश्य जगत के मूल कारण भगवान् तथा हर एक के भीतर स्थित परमात्मा की पूजा होती है, तो भगवान् प्रसन्न होते हैं।

तात्पर्य : यह वास्तव में सरकार का ही कर्तव्य है कि वह देखे कि प्रजा तथा सरकार दोनों के ही कार्यों से भगवान् तुष्ट रहें। यदि सरकार या प्रजा को भगवान् का, जो कि दृश्य जगत के मूल कारण हैं, कोई अनुमान नहीं होता अथवा विश्वात्मा अर्थात् प्रत्येक आत्मा का परम आत्मा अथवा भूतभावन का ज्ञान नहीं होता तो सुख की कोई सम्भावना नहीं रहती। निष्कर्ष यह निकला कि बिना भक्ति किये न तो प्रजा और न सरकार किसी प्रकार भी सुखी रह सकती है। आज के समय में न तो राजा और न सरकार की रुचि इस ओर है कि लोग भगवान् की भक्ति करते हैं अथवा नहीं। अपितु उनकी रुचि इन्द्रियतृप्ति के साधनों के और बढ़ाने में ही है। फलस्वरूप वे प्रकृति के कठिन नियमों की जटिल मशीनरी द्वारा दिन-प्रति-दिन जकड़ते जा रहे हैं। लोगों को प्रकृति के तीनों गुणों से मुक्त किया जाना चाहिए और

इसकी एकमात्र विधि है भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण करना। इसका उपदेश *भगवद्गीता* में दिया हुआ है। दुर्भाग्यवश इसका ज्ञान न तो सरकार को है और न जनता को; वे तो मात्र इन्द्रियतृप्ति में एवं जीवन में सुखी रहने में रुचि रखते हैं। *निज शासने* शब्द सूचित करता है कि वर्णाश्रम धर्म पालन के लिए सरकार तथा प्रजा दोनों उत्तरदायी हैं। यदि जनता एक बार वर्णाश्रम धर्म में प्रवृत्त हो ले तो पूरी सम्भावना है कि इस संसार में तथा अगले जीवन में वास्तविक जीवन तथा सम्पन्नता दोनों ही प्राप्त हो।

तस्मिंस्तुष्टे किमप्राप्यं जगतामीश्वरेश्वरे ।
लोकाः सपाला ह्येतस्मै हरन्ति बलिमादृताः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—जब वह; तुष्टे—संतुष्ट या प्रसन्न है; किम्—क्या; अप्राप्यम्—प्राप्त करना असम्भव; जगताम्—विश्व के; ईश्वर-ईश्वरे—नियन्ता के भी नियन्ता; लोकाः—लोकों के वासी; सपालाः—पालकों सहित; हि—इस कारण से; एतस्मै—उसको; हरन्ति—प्रदान करते हैं; बलिम्—पूजा की सामग्री; आदृताः—अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक।

भगवान् विश्व के नियन्ता बड़े-बड़े देवताओं द्वारा पूजित हैं। जब वे प्रसन्न हो जाते हैं, तो कुछ भी प्राप्त करना दुर्लभ नहीं रह जाता। इसीलिए सभी देवता, लोकपाल तथा उनके लोकों के निवासी भगवान् को सभी प्रकार की पूजा-सामग्री अर्पित करने में अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में सारी वैदिक सभ्यता का सारांश दिया गया है। समस्त जीवात्माओं को, चाहे वे इस लोक के हों या अन्य लोकों के, अपने कर्तव्यों द्वारा भगवान् को प्रसन्न करना होता है। जब वे प्रसन्न हो जाते हैं, तो जीवन की समस्त आवश्यकताएँ स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। वेदों में भी कहा गया है—*एको बहूनां यो विदधाति कामान्* (*कठोपनिषद्* २.२.१३)। वेदों से पता चलता है कि भगवान् सबकी आवश्यकताओं को पूरा करते हैं और हम सचमुच ही देख सकते हैं कि निम्न पशु, पक्षी तथा मधुमक्खियाँ, के पास कोई व्यवसाय या काम-धंदा नहीं होता तो भी भोजन के अभाव से वे मरते नहीं। वे प्राकृतिक ढंग से जीवित हैं और उन्हें जीवन की सारी आवश्यकताएं यथा भोजन, निद्रा, मैथुन तथा रक्षा उपलब्ध हैं।

किन्तु मानव समाज ने कृत्रिम रूप में एक नई तरह की सभ्यता को जन्म दिया है, जिसमें मनुष्य भगवान् से अपने सम्बन्ध को भूल जाता है। यहाँ तक कि आधुनिक समाज में ईश्वर की कृपा को भी

लोग भूल जाते हैं। फलतः आधुनिक सभ्य मनुष्य सदैव दुखी और अभावग्रस्त रहता है। लोग नहीं जान पाते कि जीवन का चरम लक्ष्य भगवान् विष्णु के सम्पर्क में रहना है और उन्हें प्रसन्न करना है। वे भौतिकवादी जीवन-शैली को ही सब कुछ मान बैठते हैं और उसी के दास बन गये हैं। दरअसल उनके नेता उन्हें इस पथ पर चलने के लिए सदैव प्रोत्साहित करते हैं और जनता, ईश्वरी नियमों से अनजान रहने के कारण, अपने अंधे नेताओं का अनुसरण करके दुख की राह चले जाते हैं। विश्व की इस परिस्थिति को सुधारने के लिए लोगों को कृष्णभावनामृत की शिक्षा दी जानी चाहिए और वर्णाश्रम पद्धति के अनुसार कर्म करने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए। राज्य को चाहिए कि वह देखे कि लोग भगवान् को प्रसन्न करने में तत्पर रहते हैं। यह राज्य का मूलभूत कर्तव्य है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का शुभारम्भ आम जनता को भगवान् को प्रसन्न करने की सर्वोत्तम विधि अपनाने और इस प्रकार समस्त समस्याओं को हल करने के लिए आश्वस्त करने के उद्देश्य से किया गया था।

तं सर्वलोकामरयज्ञसङ्ग्रहं
त्रयीमयं द्रव्यमयं तपोमयम् ।
यज्ञैर्विचित्रैर्यजतो भवाय ते
राजन्स्वदेशाननुरोद्धुमर्हसि ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; सर्व-लोक—समस्त लोकों में; अमर—प्रमुख देवों सहित; यज्ञ—यज्ञ; सङ्ग्रहम्—जो स्वीकार करते हैं; त्रयी-मयम्—तीन वेदों का सार; द्रव्य-मयम्—समस्त सामग्री का स्वामी; तपः-मयम्—समस्त तपस्या का उद्देश; यज्ञैः—यज्ञ के द्वारा; विचित्रैः—विभिन्न; यजतः—पूजा करते हुए; भवाय—उन्नति के लिए; ते—तुम्हारी; राजन्—हे राजा; स्व-देशान्—अपने देशवासियों को; अनुरोद्धुम्—निर्देश देना; अर्हसि—तुम्हें चाहिए।

हे राजन्, भगवान् प्रमुख अधिष्ठाता देवों सहित समस्त लोकों में समस्त यज्ञों के फल के भोक्ता हैं। परमेश्वर तीनों वेदों के सार रूप हैं, वे हर वस्तु के स्वामी हैं और सारी तपस्या के चरम लक्ष्य हैं। अतः आपके देशवासियों को आपकी उन्नति के लिए विविध प्रकार के यज्ञ करने चाहिए। दर असल आपको चाहिए कि आप उन्हें यज्ञ करने के लिए निर्देशित करें।

यज्ञेन युष्मद्विषये द्विजातिभि-
र्वितायमानेन सुराः कला हरेः ।
स्विष्टाः सुतुष्टाः प्रदिशन्ति वाञ्छितं

तद्धेलनं नार्हसि वीर चेष्टितुम् ॥ २२॥

शब्दार्थ

यज्ञेन—यज्ञ से; युष्मत्—तुम्हारे; विषये—राज्य में; द्विजातिभिः—ब्राह्मणों द्वारा; वितायमानेन—किया जाकर; सुराः—समस्त देवता; कलाः—विस्तार; हरेः—भगवान् के; सु-इष्टाः—भली-भाँति पूजित होकर; सु-तुष्टाः—अत्यधिक सन्तुष्ट; प्रदिशन्ति—प्रदान करेंगे; वाञ्छितम्—इच्छित फल; तत्-हेलनम्—उनके प्रति अनादर; न—नहीं; अर्हसि—चाहिए; वीर—हे वीर; चेष्टितुम्—करना।

जब आपके राज्य के सारे ब्राह्मण यज्ञ में संलग्न होने लगेंगे तो भगवान् के स्वांश समस्त देवता उनके कार्यों से प्रसन्न होकर आपको मनवांछित फल देंगे; अतः हे वीर, यज्ञों को बन्द न करें। यदि उन्हें बन्द कर ते हैं तो आप देवताओं का अनादर करेंगे।

वेन उवाच

बालिशा बत यूयं वा अधर्मे धर्ममानिनः ।
ये वृत्तिदं पतिं हित्वा जारं पतिमुपासते ॥ २३॥

शब्दार्थ

वेनः—राजा वेन ने; उवाच—उत्तर दिया; बालिशाः—बच्चों जैसा; बत—ओह; यूयम्—तुम सब; वा—निस्सन्देह; अधर्मे—अधार्मिक नियमों में; धर्म-मानिनः—धर्म मानते हुए; ये—तुम सब जो; वृत्तिदम्—पालन करनेवाले; पतिम्—पति को; हित्वा—त्याग कर; जारम्—परपति को; पतिम्—पति को; उपासते—पूजा करते हैं।

राजा वेन ने उत्तर दिया : तुम तनिक भी अनुभवी नहीं हो। यह अत्यन्त दुख की बात है कि तुम लोग जो कुछ करते रहे हो वह धार्मिक नहीं है, किन्तु तुम लोग उसे धार्मिक मान रहे हो। दर असल, तुम लोग अपने पालनकर्ता वास्तविक पति को त्याग रहे हो और पूजा करने के लिए किसी जार (परपति) की तलाश में हो।

तात्पर्य : राजा वेन इतना मूर्ख था कि उसने मुनियों को बच्चों के समान अनुभवहीन कह डाला। दूसरे शब्दों में, वह उनको सही ज्ञान न होने का दोषी बता रहा था। इस प्रकार उसने उनके उपदेश को अस्वीकार करके उनके विरुद्ध दोषारोपण किया कि वे उस स्त्री के समान हैं, जो अपने पालनकर्ता पति की परवाह न करके जार पति को प्रसन्न रखती है जो उसका पालन नहीं करता है। इस उपमा का मन्तव्य स्पष्ट है। क्षत्रियों का कर्तव्य है कि वे ब्राह्मणों को अनेक प्रकार के धार्मिक कार्यों में लगाएँ और राजा को ब्राह्मणों का पालक माना जाता है। यदि ब्राह्मण राजा को न पूज कर अन्य देवताओं के पास जाँय तो वे उतने ही दूषित हैं जितनी कि कुलटा स्त्री।

अवजानन्त्यमी मूढा नृपरूपिणमीश्वरम् ।
नानुविन्दन्ति ते भद्रमिह लोके परत्र च ॥ २४॥

शब्दार्थ

अवजानन्ति—अनादर करते हैं; अमी—जो; मूढाः—अज्ञानी होकर; नृप-रूपिणम्—राजा के रूप में; ईश्वरम्—भगवान् को; न—नहीं; अनुविन्दन्ति—अनुभव करते हैं; ते—वे; भद्रम्—सुख; इह—इस; लोके—संसार में; परत्र—मृत्यु के बाद; च—भी।

जो लोग अज्ञानतावश उस राजा की पूजा नहीं करते जो कि वास्तव में भगवान् है, तो वे न तो इस लोक में और न परलोक में सुख का अनुभव करते हैं।

को यज्ञपुरुषो नाम यत्र वो भक्तिरीदृशी ।
भर्तृस्नेहविदूराणां यथा जारे कुयोषिताम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन (है); यज्ञ-पुरुषः—समस्त यज्ञों का भोक्ता; नाम—नाम से; यत्र—जिसको; वः—तुम्हारी; भक्तिः—भक्ति; ईदृशी—इतनी महान; भर्तृ—पति के लिए; स्नेह—प्यार; विदूराणाम्—रहित; यथा—जिस प्रकार; जारे—जारपति को; कु-योषिताम्—कुलटा स्त्री का।

तुम लोग देवताओं के इतने भक्त हो, किन्तु वे हैं कौन? निस्सन्देह, इन देवताओं के प्रति तुम लोगों का स्नेह उस कुलटा स्त्री का सा है, जो अपने विवाहित जीवन की उपेक्षा करके अपने जारपति पर सारा ध्यान केन्द्रित कर देती है।

विष्णुर्विरिञ्चो गिरिश इन्द्रो वायुर्यमो रविः ।
पर्जन्यो धनदः सोमः क्षितिरग्निरपाम्पतिः ॥ २६ ॥
एते चान्ये च विबुधाः प्रभवो वरशापयोः ।
देहे भवन्ति नृपतेः सर्वदेवमयो नृपः ॥ २७॥

शब्दार्थ

विष्णुः—भगवान् विष्णु; विरिञ्चः—श्रीब्रह्मा; गिरिशः—शिवजी; इन्द्रः—इन्द्र; वायुः—वायु; यमः—यम, मृत्यु का अधीक्षक; रविः—सूर्यदेव; पर्जन्यः—वर्षा का निदेशक; धन-दः—कुबेर; सोमः—चन्द्रदेव; क्षितिः—पृथ्वी का अधिष्ठता देव; अग्निः—अग्निदेव; अपाम्-पतिः—वरुण, जल का स्वामी; एते—ये सब; च—तथा; अन्ये—अन्य; च—भी; विबुधाः—देवता; प्रभवः—समर्थ; वर-शापयोः—वरदान तथा शाप दोनों में; देहे—शरीर में; भवन्ति—रहते हैं; नृपतेः—राजा का; सर्व-देवमयः—सभी देवताओं से; नृपः—राजा।

विष्णु, ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, वायु, यम, सूर्यदेव, पर्जन्य, कुबेर, चन्द्रदेव, क्षितिदेव, अग्नि देव, वरुण तथा अन्य बड़े-बड़े देवता जो आशीर्वाद या शाप दे सकने में समर्थ हैं, वे सब राजा के शरीर में वास करते हैं। इसीलिए राजा सभी देवताओं का आगार माना जाता है। देवता राजा के शरीर के भिन्नांश हैं।

तात्पर्य : ऐसे अनेक असुर हैं, जो अपने को परम शक्तिमान मानते हुए अपने को सूर्य, चन्द्र तथा अन्य ग्रहों का स्वामी बताते हैं। यह मिथ्या अहंकार के कारण है। इसी प्रकार राजा वेन में आसुरी प्रवृत्ति आ गई थी और वह अपने आपको भगवान् मानने लगा था। इस कलियुग में ऐसे असुरों की भरभार है, किन्तु ऋषियों-मुनियों द्वारा इन सबकी भर्त्सना की जाती है।

तस्मान्मां कर्मभिर्विप्रा
यजध्वं गतमत्सराः ।
बलिं च मह्यं हरत
मत्तोऽन्यः कोऽग्रभुक्पुमान् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इस कारण से; माम्—मुझको; कर्मभिः—अनुष्ठान कार्यों के द्वारा; विप्राः—हे ब्राह्मणों; यजध्वम्—पूजा करो; गत—बिना; मत्सराः—ईर्ष्या किये; बलिम्—पूजा की सामग्री; च—भी; मह्यम्—मुझको; हरत—लाओ; मत्तः—मेरी अपेक्षा; अन्यः—दूसरा; कः—कौन (है); अग्र-भुक्—प्रथम आहुति का भोक्ता; पुमान्—पुरुष।

राजा वेन ने आगे कहा : इसलिए, हे ब्राह्मणो, तुम मेरे प्रति ईर्ष्या त्याग कर अपने अनुष्ठान कार्यों द्वारा मेरी पूजा करो और समस्त पूजा-सामग्री मुझ पर ही चढ़ाओ। यदि तुम लोग भी बुद्धिमान होगे, तो समझ सकोगे कि मुझसे श्रेष्ठ ऐसा कोई पुरुष नहीं जो समस्त यज्ञों की प्रथम आहुतियों को ग्रहण कर सके।

तात्पर्य : जैसाकि श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* में कहा है कि उनसे बड़ा सत्य अन्य कुछ नहीं। राजा वेन भगवान् का अनुकरण कर रहा था और मिथ्या अहंकारवश कह भी रहा था कि वह परमेश्वर है। ये सब आसुरी पुरुषों के लक्षण हैं।

मैत्रेय उवाच
इत्थं विपर्ययमतिः पापीयानुत्पथं गतः ।
अनुनीयमानस्तद्याच्ञां न चक्रे भ्रष्टमङ्गलः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इत्थम्—इस प्रकार; विपर्यय-मतिः—विपरीत बुद्धि वाला; पापीयान्—अत्यन्त पापी; उत्पथम्—सही रास्ते से; गतः—चलकर; अनुनीयमानः—सभी प्रकार से सम्मानित; तत्-याच्ञाम्—मुनियों की याचना; न—नहीं; चक्रे—स्वीकार किया; भ्रष्ट—रहित; मङ्गलः—समस्त पुण्य।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : इस प्रकार अपने पापमय जीवन के कारण दुर्बोध होने तथा सही राह से विचलित होने के कारण राजा समस्त पुण्य से क्षीण हो गया। उसने ऋषियों की सादर

प्रस्तुत प्रार्थनाएँ स्वीकार नहीं कीं, अत: उसकी भर्त्सना की गई।

तात्पर्य : निश्चित ही, असुरों को अधिकारियों की बात पर विश्वास नहीं हो सकता। वास्तव में वे सदैव उनका निरादर करते हैं। वे अपने से धर्म के सिद्धान्त स्वयं गढ़ते हैं और व्यास, नारद और यहाँ तक कि भगवान् कृष्ण जैसे महापुरुषों की अवज्ञा करते हैं। ज्योंही कोई व्यक्ति अधिकारी पुरुष की अवज्ञा करता है, वह पापी बनकर अपना सारा पुण्य खो देता है। राजा इतना घमंडी तथा अहंकारी हो गया कि उसने बड़े-बड़े ऋषियों का अनादर करने का साहस किया जिससे उसका विनाश हो गया।

इति तेऽसत्कृतास्तेन द्विजा: पण्डितमानिना ।
भग्नायां भव्ययाच्ञायां तस्मै विदुर चुक्रुधु: ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ते—समस्त ऋषि; असत्-कृता:—अपमानित होकर; तेन—राजा द्वारा; द्विजा:—ब्राह्मण; पण्डित-मानिना—अपने को अत्यन्त विद्वान मानते हुए; भग्नायाम्—टूटकर; भव्य—शुभ; याच्ञायाम्—प्रार्थना, याचना; तस्मै—उसको; विदुर—हे विदुर; चुक्रुधु:—अत्यन्त रुष्ट हुए।

हे विदुर, तुम्हारा कल्याण हो। उस मूर्ख राजा ने अपने को अत्यन्त विद्वान् समझकर ऋषियों तथा मुनियों का अपमान किया। राजा के वचनों से ऋषियों दिल टूट गया और वे उस पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए।

हन्यतां हन्यतामेष पाप: प्रकृतिदारुण: ।
जीवञ्जगदसावाशु कुरुते भस्मसाद्ध्रुवम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

हन्यताम्—उसे मार डालो; हन्यताम्—मार डालो; एष:—यह राजा; पाप:—पाप रूप; प्रकृति—स्वभाव से; दारुण:—अत्यन्त दुष्ट; जीवन्—जीवित रहते हुए; जगत्—सारा संसार; असौ—वह; आशु—शीघ्र; कुरुते—करेगा; भस्मसात्—भस्म, राख; ध्रुवम्—निश्चय ही।

सभी ऋषि तुरन्त हाहाकार करने लगे : इसे मारो! इसे मारो! यह अत्यन्त भयावह और पापी पुरुष है। यदि यह जीवित रहा तो निश्चित रूप से सारे संसार को देखते-देखते भस्म कर देगा।

तात्पर्य : साधु पुरुष सामान्यत: सभी जीवात्माओं के प्रति अत्यन्त दयालु होते हैं, किन्तु यदि कोई सर्प या बिच्छू मार दिया जाये तो वे दुखी नहीं होते। साधु पुरुषों के लिए वध करना ठीक नहीं, किन्तु वे असुरों का वध करने के लिए प्रोत्साहित होते रहते हैं क्योंकि वे सर्पों तथा बिच्छुओं के समान होते

हैं। अत: सब ऋषियों ने निश्चय किया कि राजा वेन का वध कर दिया जाय जो मानव समाज के लिए इतना भयावह था। जिस सीमा तक ऋषियों ने राजा को वास्तव में वश में करना चाहा, उसकी प्रशंसा की जानी चाहिए। यदि कोई राजा या सरकार आसुरी हो जाये तो साधु पुरुष का कर्तव्य है कि सरकार को पलट कर उसके स्थान पर ऐसे योग्य व्यक्तियों को आसीन कराए जो साधु पुरुषों की आज्ञाओं एवं उपदेशों का पालन कर सकें।

नायमर्हत्यसद्वृत्तो नरदेववरासनम् ।
योऽधियज्ञपतिं विष्णुं विनिन्दत्यनपत्रप: ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; अयम्—यह व्यक्ति; अर्हति—पात्र है; असत्-वृत्त:—अपवित्र कार्यों से पूर्ण; नर-देव—सांसारिक राजा का या देव का; वर-आसनम्—श्रेष्ठ सिंहासन; य:—जो; अधियज्ञ-पतिम्—समस्त यज्ञों का स्वामी; विष्णुम्—भगवान् विष्णु को; विनिन्दति—अपमान करता है; अनपत्रप:—निर्लज्ज।

ऋषियों ने आगे कहा : यह अपवित्र, दम्भी व्यक्ति सिंहासन पर बैठने के लिए सर्वथा अयोग्य है। यह इतना निर्लज्ज है कि इसने भगवान् विष्णु का भी अपमान करने का दुस्साहस किया है।

तात्पर्य : किसी को भगवान् विष्णु अथवा उनके भक्तों के प्रति अपमान या निन्दा को कभी सहन नहीं करना चाहिए। भक्त सामान्यत: भद्र एवं विनम्र होता है और किसी से झगड़ा करने से कतराता है। न ही वह किसी से ईर्ष्या करता है। किन्तु शुद्ध भक्त जब यह देखता है कि भगवान् विष्णु या उनके भक्तों का अपमान हो रहा है, तो वह आगबबूला हो जाता है। यह भक्त का कर्तव्य है यद्यपि भक्त विनम्रता एवं भद्रता बनाये रखता है, किन्तु यह सबसे बड़ा दोष है यदि भगवान् या उनके भक्त के अपमान होने पर वह शान्त रहता है।

को वैनं परिचक्षीत वेनमेकमृतेऽशुभम् ।
प्राप्त ईदृशमैश्वर्यं यदनुग्रहभाजन: ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

क:—कौन; वा—निस्सन्देह; एनम्—भगवान्; परिचक्षीत—निन्दा करेगा; वेनम्—राजा वेन को; एकम्—एकाकी; ऋते—सिवाय; अशुभम्—अभागा; प्राप्त:—प्राप्त करके; ईदृशम्—ऐसा; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; यत्—जिसका; अनुग्रह—कृपा; भाजन:—पात्र।

अभागे राजा वेन को छोड़कर भला ऐसा कौन होगा जो उन भगवान् की निन्दा करेगा, जिनकी कृपा से सभी प्रकार की सम्पत्ति एवं ऐश्वर्य प्राप्त होता हो?

तात्पर्य : जब मानव समाज व्यष्टि रूप से या समष्टि रूप से ईश्वर-विहीन हो जाता है और भगवान् की सत्ता की निन्दा करता है, तो समझिये कि उसका विनाश अवश्यम्भावी है। भगवान् की कृपा को न समझने से ऐसी सभ्यता में सभी प्रकार का अशुभ होता रहता है।

इत्थं व्यवसिता हन्तुमृषयो रूढमन्यवः ।
निजघ्नुर्हुङ्कृतैर्वेनं हतमच्युतनिन्दया ॥ ३४॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; व्यवसिताः—निश्चित; हन्तुम्—मारने के लिए; ऋषयः—मुनिगण; रूढ—प्रकट किया; मन्यवः—अपना क्रोध; निजघ्नुः—मार डाला; हुम्-कृतैः—हुंकार या क्रोधपूर्ण शब्दों से; वेनम्—राजा वेन को; हतम्—मृत; अच्युत—भगवान् के विरुद्ध; निन्दया—निन्दा से।

इस प्रकार अपने छिपे क्रोध को प्रकट करते हुए ऋषियों ने राजा को तुरन्त मार डालने का निश्चय कर लिया। राजा वेन भगवान् की निन्दा के कारण पहले से ही मृत तुल्य था। अतः बिना किसी हथियार के ही मुनियों ने हुंकारों से वेन को मार डाला।

ऋषिभिः स्वाश्रमपदं गते पुत्रकलेवरम् ।
सुनीथा पालयामास विद्यायोगेन शोचती ॥ ३५॥

शब्दार्थ

ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा; स्व-आश्रम-पदम्—अपने-अपने आश्रमों को; गते—लौटकर; पुत्र—उसके पुत्र का; कलेवरम्—शरीर; सुनीथा—सुनीथा, राजा वेन की माता ने; पालयाम् आस—सुरक्षित कर लिया; विद्या-योगेन—मंत्र तथा अवयवों से; शोचती—विलाप करती।

इस सब के बाद ऋषिगण अपने-अपने आश्रमों को चले गये तो राजा वेन की माता सुनीथा अपने पुत्र की मृत्यु से अत्यधिक शोकाकुल हो उठी। उसने अपने पुत्र के शव को कुछ द्रव्यों के द्वारा तथा मंत्र के बल से सुरक्षित रखने का निश्चय किया।

एकदा मुनयस्ते तु सरस्वत्सलिलाप्लुताः ।
हुत्वाग्नीन्सत्कथाश्चक्रुरुपविष्टाः सरित्तटे ॥ ३६॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; मुनयः—सभी साधु पुरुषों ने; ते—वे; तु—तब; सरस्वत्—सरस्वती नदी; सलिल—जल में; आप्लुताः—स्नान किया; हुत्वा—आहुति करके; अग्नीन्—अग्नि में; सत्-कथाः—दिव्य विषयों पर वार्ताएँ; चक्रुः—करने लगे; उपविष्टाः—बैठकर; सरित्-तटे—नदी के किनारे।

एक बार ये ही ऋषि सरस्वती नदी में स्नान करके यज्ञ-अग्नि में आहुति डालने का अपना नित्य कर्म कर रहे थे। इसके पश्चात् नदी के तट पर बैठ कर वे दिव्य पुरुष तथा उनकी लीलाओं के विषय में चर्चा करने लगे।

वीक्ष्योत्थितांस्तदोत्पातानाहुर्लोकभयङ्करान् ।
अप्यभद्रमनाथाया दस्युभ्यो न भवेद्भुवः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

वीक्ष्य—देखकर; उत्थितान्—उत्पन्न; तदा—तब; उत्पातान्—उपद्रव, अशान्ति; आहुः—कहने लगे; लोक—समाज में; भयम्-करान्—आतंक उत्पन्न करते हुए; अपि—क्या; अभद्रम्—दुर्भाग्य; अनाथायाः—बिना शासक के; दस्युभ्यः—चोर-उचक्कों से; न—नहीं; भवेत्—होए; भुवः—विश्व का।

उन दिनों देश में अनेक उपद्रव हो रहे थे जिनसे समाज में आतंक उत्पन्न हो रहा था। अतः सभी मुनि परस्पर बातें करने लगे : चूँकि राजा मर चुका है और संसार का कोई रक्षक नहीं है, अतः चोर-उचक्कों के कारण प्रजा पर विपत्ति आ सकती है।

तात्पर्य : जब भी राज्य में उपद्रव होता है या आतंक छा जाता है, तो नागरिकों की सम्पत्ति तथा उनका जीवन असुरक्षित हो जाता है। यह स्थिति चोर-उचक्कों के बढ़ने से उत्पन्न होती है। ऐसी अवस्था में यह माना जाता है कि शासक या सरकार मृत है। राजा वेन की मृत्यु के कारण ये सभी विपत्तियाँ आ गईं। अतः साधु पुरुष प्रजा के कल्याण के लिए चिन्ताग्रस्त हो उठे। निष्कर्ष यह है कि यद्यपि साधु पुरुष राजनीतिक मामलों में किसी प्रकार की दखल नहीं देते, किन्तु वे प्रजा पर सदैव दयालु रहते हैं। अतः वे समाज से विलग रह कर भी कृपा तथा दयावश विचार करते हैं कि किस प्रकार सभी नागरिक शान्तिपूर्वक अनुष्ठानों को कर सकें और वर्णाश्रम धर्म के विधि-विधानों का पालन कर सकें। यही इन मुनियों की चिन्ता का विषय था। इस कलिकाल में सब कुछ अस्त-व्यस्त है, अतः साधुपुरुषों को चाहिए कि हरे कृष्ण मंत्र का जप करें जिसकी संस्तुति शास्त्रों ने की है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलं।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

भौतिक तथा आध्यात्मिक सम्पन्नता के लिए हर एक का कर्तव्य है कि वह भक्तिपूर्वक हरे कृष्ण मंत्र का जप करे।

एवं मृशन्त ऋषयो धावतां सर्वतोदिशम् ।
पांसुः समुत्थितो भूरिश्चोराणामभिलुम्पताम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; मृशन्तः—विचार करते हुए; ऋषयः—बड़े-बड़े साधु पुरुष; धावताम्—दौड़ते हुए; सर्वतः-दिशम्—सभी दिशाओं से; पांसुः—धूल; समुत्थितः—उठी हुई; भूरिः—अत्यधिक; चोराणाम्—चोर-उचक्कों से; अभिलुम्पताम्—लूट-पाट में व्यस्त।

जब ऋषिगण इस प्रकार विचार-विर्मश कर रहे थे तो उन्होंने चारों दिशाओं से धूल की आँधी उठती देखी। यह आँधी उन चोर-उचक्कों के दौड़ा-भागी से उत्पन्न हुई थी जो नागरिकों को लूट रहे थे।

तात्पर्य : चोर-उचक्के सदैव इस ताक में रहते हैं कि राजनैतिक उथल-पुथल हो और वे जनता को लूटने का अवसर पाएं। अत: इन चोर-उचक्कों को उनके धंधे में निष्क्रिय बनाये रखने के लिए सशक्त सरकार आवश्यक है।

तदुपद्रवमाज्ञाय लोकस्य वसु लुम्पताम् ।
भर्तर्युपरते तस्मिन्नन्योन्यं च जिघांसताम् ॥ ३९ ॥
चोरप्रायं जनपदं हीनसत्त्वमराजकम् ।
लोकान्नावारयञ्छक्ता अपि तद्दोषदर्शिनः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

तत्—उस समय; उपद्रवम्—उथल-पुथल; आज्ञाय—समझ कर; लोकस्य—जनता की; वसु—धन-सम्पति; लुम्पताम्—लुटेरों द्वारा; भर्तरि—रक्षक; उपरते—मृत होने से; तस्मिन्—राजा वेन; अन्योन्यम्—परस्पर; च—भी; जिघां-सताम्—मारने की इच्छा करते हुए; चोर-प्रायम्—चोरों से पूर्ण; जन-पदम्—राज्य; हीन—रहित; सत्त्वम्—विधान; अराजकम्—राज से रहित; लोकान्—चोर उचक्के; न—नहीं; अवारयन्—दमन करते हुए; शक्ताः—करने में समर्थ; अपि—यद्यपि; तत्-दोष—उसका दोष; दर्शिनः—मानते हुए।

उस अंधड़ को देखकर साधु पुरुषों ने समझ लिया कि राजा वेन की मृत्यु के कारण अत्यधिक अव्यवस्था फैल गई है। बिना सरकार के राज्य कानून तथा व्यवस्था से विहीन हो जाता है, फलतः उन घातक चोर-उचक्कों का प्राबल्य हो उठा जो प्रजा की सम्पत्ति को लूट रहे थे। यद्यपि ऋषिगण इस उपद्रव को अपनी शक्ति से रोक सकते थे—जिस प्रकार उन्होंने राजा

का वध किया था—किन्तु उन्होंने ऐसा करना अनुचित समझा। अत: उन्होंने उपद्रव को रोकने का कोई प्रयास नहीं किया।

तात्पर्य : ऋषियों तथा मुनियों ने आपात् काल उपस्थित होने से राजा वेन का वध तो कर दिया, किन्तु मृत्यु के पश्यात् चोर-उचक्कों का जो बोल-बाला हुआ उसको दबाने के लिए सरकार में सम्मिलित होना नहीं चाहिए। ब्राह्मणों तथा साधु पुरुषों का काम वध करना नहीं है, भले ही आपात्काल उपस्थित होने पर वे ऐसा करने को बाध्य हों। वे चाहते तो अपने मंत्रों के बल से सभी चोर-उचक्कों का वध कर सकते थे, किन्तु उनके मतानुसार यह क्षत्रिय राजाओं का कर्तव्य था। अत: अनचाहे भी वध करने के इस कार्य में उन्होंने भाग नहीं लिया।

ब्राह्मण: समदृक्शान्तो दीनानां समुपेक्षक: ।
स्रवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात्पयो यथा ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मण:—ब्राह्मण; सम-दृक्—समदर्शी; शान्त:—शान्ति-प्रिय; दीनानाम्—निर्धनों का; समुपेक्षक:—सर्वथा उपेक्षा करनेवाला; स्रवते—रिस जाता है; ब्रह्म—आत्म-बल; तस्य—उसका; अपि—निश्चय ही; भिन्न-भाण्डात्—फूटे बर्तन से; पय:—जल; यथा—जिस प्रकार।

ऋषिगण सोचने लगे कि यद्यपि ब्राह्मण शान्त और समदर्शी होने के कारण निष्पक्ष होता है, तो भी उसका कर्तव्य है कि वह दीनों की उपेक्षा न करे। ऐसा करने से उसका आत्मबल उसी प्रकार घट जाता है, जिस प्रकार फूटे बर्तन से पानी रिस जाता है।

तात्पर्य : मानव समाज का सर्वोच्च वर्ग होने के कारण ब्राह्मण अधिकांशत: भक्त होते हैं। वे आध्यात्मिक प्रगति के कार्यों में व्यस्त रहने के कारण सामान्यत: इस भौतिक जगत में होनेवाली घटनाओं से अनजान रहते हैं। तो भी, जब मानव समाज पर कोई विपदा आती है, तो वे निष्पन्न नहीं रह सकते। यदि वे पीड़ित मानव समाज के उद्धार के लिए कुछ नहीं कर पाते तो यह कहा जाता है कि ऐसी उपेक्षा से उनका आत्मज्ञान घटता है। यद्यपि लगभग सभी ऋषि-मुनि अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए हिमालय जाते हैं, किन्तु प्रह्लाद महाराज ने कहा है कि वे एकमात्र मुक्ति नहीं चाहते थे। उन्होंने तब तक प्रतीक्षा करने का संकल्प किया जब तक कि संसार की समस्त पतित-आत्माएँ मुक्त न हो जाँय।

ब्राह्मण अपनी उन्नत अवस्था में वैष्णव कहलाते हैं। ब्राह्मण भी दो प्रकार के होते हैं—ब्राह्मण-पंडित और ब्राह्मण-वैष्णव। योग्य ब्राह्मण निस्सन्देह अत्यन्त विद्वान् होता है, किन्तु जब उसका ज्ञान भगवान् को समझने की दिशा में अग्रसर होता है, तो वह ब्राह्मण-वैष्णव बन जाता है। जब तक वह वैष्णव नहीं बन जाता, तब तक ब्राह्मण संस्कृति में उसकी सिद्धि अधूरी रहती है।

उन साधु पुरुषों ने बहुत ही सोच-विचार करके देखा कि यद्यपि राजा वेन पापी हैं किन्तु वह ध्रुव महाराज के वंश में उत्पन्न है, अत: इस कुल के वीर्य का संरक्षण भगवान् केशव ही कर सकेंगे। अत: साधु पुरुषों ने इस स्थिति से निपटने के लिए कुछ कदम उठाने चाहे। राजा के अभाव में सभी कुछ अस्तव्यस्त हो चुका था।

नाङ्गस्य वंशो राजर्षेरेष संस्थातुमर्हति ।
अमोघवीर्या हि नृपा वंशेऽस्मिन्केशवाश्रया: ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अङ्गस्य—राजा अंग का; वंश:—कुल; राज-ऋषे:—राजर्षि का; एष:—यह; संस्थातुम्—नष्ट होने के लिए; अर्हति—चाहिए; अमोघ—पापरहित, शक्तिशाली; वीर्या:—उनका वीर्य; हि—क्योंकि; नृपा:—राजा; वंशे—वंश में; अस्मिन्—इस; केशव—भगवान् की; आश्रया:—शरण में।

मुनियों ने निश्चय किया कि राजर्षि अंग के वंश को नष्ट नहीं होने देना चाहिए, क्योंकि इस वंश का वीर्य अत्यन्त शक्तिशाली रहा है और उसकी सन्तानें भगवत्परायण होती रही हैं।

तात्पर्य : वंशक्रम की शुद्धता *अमोघ-वीर्य* कहलाती है। द्विजों अर्थात् ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों में वीर्य-परम्परा को शुद्ध बनाये रखने के लिए गर्भाधान संस्कार से लेकर जितने भी संस्कार हैं उनका पालन किया जाना चाहिए। यदि इस शुद्धता-विधि का कठोरता से पालन नहीं किया जाता विशेषत: ब्राह्मणों द्वारा, तो वंशज अशुद्ध होते जाते हैं और धीरे धीरे उस वंश में पापकर्म दृष्टिगोचर होने लगते हैं। महाराज अंग अत्यन्त शुद्ध थे क्योंकि वे महाराज ध्रुव के वंश का वीर्य शुद्ध था। किन्तु उनका वीर्य साक्षात् मृत्यु की पुत्री, अपनी पत्नी सुनीथा, के संसर्ग में दूषित हो चुका था। इस दूषित वीर्य से राजा वेन का जन्म हुआ था। ध्रुव महाराज के वंश की यह सबसे बड़ी दुर्घटना थी। सभी ऋषि-मुनियों ने इस तथ्य पर विचार करके ही कार्यवाही करने का निश्चय किया जिसका वर्णन अगले श्लोकों में हुआ है।

विनिश्चित्यैवमृषयो विपन्नस्य महीपतेः ।
ममन्थुरूरुं तरसा तत्रासीद्बाहुको नरः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

विनिश्चित्य—निश्चय करके; एवम्—इस प्रकार; ऋषयः—ऋषियों ने; विपन्नस्य—मृत; मही-पतेः—राजा का; ममन्थुः—मंथन किया; ऊरुम्—जंघाएँ; तरसा—विशिष्ट शक्ति से; तत्र—तत्पश्चात्; आसीत्—उत्पन्न हुआ; बाहुकः—बाहुक (बौना) नामक; नरः—व्यक्ति।

इस निश्चय के बाद, साधु पुरुषों तथा मुनियों ने राजा वेन के मृत शरीर की जाँघों का अत्यन्त शक्तिपूर्वक तथा एक विशेष विधि से मंथन किया। मंथन के फलस्वरूप राजा वेन के शरीर से एक बौने जैसा व्यक्ति उत्पन्न हुआ।

तात्पर्य : राजा वेन की जांघ के मंथन से एक व्यक्ति का उत्पन्न होना यह बताता है कि आत्मा व्यष्टि है और शरीर से पृथक् रहता है। ऋषि तथा मुनि राजा वेन के मृत शरीर से एक दूसरा व्यक्ति उत्पन्न कर सके, किन्तु वे मृत राजा को जीवित नहीं कर सके। राजा वेन का निधन हो चुका था और उसने निश्चय ही दूसरा शरीर ग्रहण कर लिया था। साधु पुरुषों तथा मुनियों को वेन के शरीर से ही सरोकार था क्योंकि वह महाराज ध्रुव की वंश-परम्परा में था। अत: जिन अवयवों से दूसरा शरीर उत्पन्न किया जा सका, वे राजा वेन के मृत शरीर में विद्यमान थे। जब मृत शरीर की दोनों जाँघों को विशेष विधि से मथा गया तो एक दूसरा शरीर उत्पन्न हो गया। यद्यपि वेन का शरीर मृत था, किन्तु उसकी माता ने उसे मंत्रों तथा ओषधियों से सुरक्षित कर रखा था। फलत: नवीन शरीर उत्पन्न करने के लिए समस्त अवयव उपस्थित थे। अत: जब राजा वेन के मृत शरीर से बाहुक नामक व्यक्ति का शरीर प्रकट हुआ तो यह बहुत आश्चर्यजनक न था। यह तो केवल इसे प्राप्त करने की विधि जानने का प्रश्न था। एक शरीर के वीर्य से दूसरा शरीर उत्पन्न होता है और इसमें आत्मा के निवास करने से जीवन के लक्षण दिखाई देते हैं। कोई यह न सोचे कि महाराज वेन के मृत शरीर से दूसरा शरीर उत्पन्न करना असम्भव था। मुनियों ने अत्यन्त कौशल से यह कार्य सम्पन्न किया।

काककृष्णोऽतिह्रस्वाङ्गो ह्रस्वबाहुर्महाहनुः ।
ह्रस्वपान्निम्ननासाग्रो रक्ताक्षस्ताम्रमूर्धजः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

काक-कृष्णः—कौवे के समान काला; अति-ह्रस्व—अत्यन्त लघु; अङ्गः—उसके अंग; ह्रस्व—छोटे; बाहुः—उसकी भुजाएं; महा—विशाल; हनुः—जबड़े; ह्रस्व—छोटे; पात्—उसके पाँव; निम्न—चपटा; नास-अग्रः—नाक का अगला भाग; रक्त—लाल; अक्षः—आँखें; ताम्र—ताँबे जैसा; मूर्ध-जः—केश।

राजा वेन की जंघाओं से उत्पन्न इस व्यक्ति का नाम बाहुक था। उसकी सूरत कौवे जैसी काली थी। उसके शरीर के सभी अंग ठिगने थे, उसके हाथ तथा पाँव छोटे थे और जबड़े लम्बे थे। उसकी नाक चपटी, आँखें लाल-लाल तथा केश ताँबे जैसे रंग के थे।

तं तु तेऽवनतं दीनं किं करोमीति वादिनम् ।
निषीदेत्यब्रुवंस्तात स निषादस्ततोऽभवत् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; तु—तब; ते—वे ऋषि; अवनतम्—झुक कर; दीनम्—विनम्र; किम्—क्या; करोमि—करूँ; इति—इस प्रकार; वादिनम्—पूछते हुए; निषीद—बैठ जाओ; इति—इस प्रकार; अब्रुवन्—उन्होंने उत्तर दिया; तात—हे विदुर; सः—वह; निषादः—निषाद नाम का; ततः—तत्पश्चात्; अभवत्—हो गया।

वह अत्यन्त विनम्र था और अपना जन्म होते ही उसने विनत होकर पूछा, "महाशय, मैं क्या करूँ?" ऋषियों ने कहा, "बैठ जाओ" (निषीद)। इस प्रकार नैषाद जाति का जनक निषाद उत्पन्न हुआ।

तात्पर्य : शास्त्रों में कहा गया है कि शरीर का शिरोभाग ब्राह्मणों के, भुजाएँ क्षत्रियों के, उदर भाग वैश्यों के तथा जंघा से नीचे पाँव शूद्रों के प्रतिनिधि-स्वरूप हैं। शूद्रों को कभी-कभी कृष्ण अर्थात् काला भी कहते हैं। ब्राह्मण शुक्ल (श्वेत) कहलाते हैं और क्षत्रिय तथा वैश्य इन दोनों रंगों के मिश्रण होते हैं। किन्तु जिनका रंग अत्यन्त श्वेत होता है उनका चर्म श्वेत कुष्ठ के कारण जनित होता है, अत: यह निष्कर्ष निकलता है कि उच्च वर्ग का रंग श्वेत या सुनहरा और शूद्रों का काला होता है।

तस्य वंश्यास्तु नैषादा गिरिकाननगोचराः ।
येनाहरज्जायमानो वेनकल्मषमुल्बणम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके (निषाद के); वंश्याः—वंशज; तु—तब; नैषादाः—नैषाद नामक; गिरि-कानन—पहाड़ियों तथा जंगलों; गोचराः—निवासी; येन—क्योंकि; अहरत्—स्वयं धारण किया; जायमानः—उत्पन्न होकर; वेन—राजा वेन का; कल्मषम्—समस्त प्रकार के पाप; उल्बणम्—अत्यन्त भयानक।

जन्म होते ही उसने (निषाद ने) राजा वेन के समस्त पापपूर्ण कृत्यों के फलों को स्वयं धारण कर लिया। इसलिए यह निषाद जाति सदैव पापपूर्ण कृत्यों में—यथा चोरी, डाका तथा

शिकार में—लगी रहती है। फलतः इन्हें पर्वतों तथा जंगलों में ही रहने दिया जाता है।

तात्पर्य : नैषादों को नगरों तथा कस्बों में नहीं रहने दिया जाता क्योंकि ये स्वभाव से पापी होते हैं। फलत: इनके शरीर कुरूप होते हैं और इनके पेशे भी पापमय होते हैं। लेकिन हमें यह जान लेना चाहिए कि इन पापी मनुष्यों (कभी-कभी इन्हें किरात कहा जाता है) का भी कभी-कभी किसी शुद्ध भक्त की कृपा से उद्धार हो जाता है और वे सर्वोच्च वैष्णव पद को प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति से चाहे कोई कितना ही पापी क्यों न हो भगवान् के धाम जाने का पात्र बन जाता है। उसे केवल भक्तियोग द्वारा समस्त कल्मष से मुक्त होना होता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति भगवान् के धाम जाने का पात्र बन सकता है। भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* (९.३२) में इसकी पुष्टि की है।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

"हे पार्थ! मेरी शरण में आकर तो पापयोनि वाले, स्त्री, वैश्य और शूद्र भी परम गति को प्राप्त होते हैं।"

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत "राजा वेन की कथा" नामक चौदहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter पन्द्रह

राजा पृथु की उत्पत्ति और राज्याभिषेक

मैत्रेय उवाच
अथ तस्य पुनर्विप्रैरपुत्रस्य महीपतेः ।
बाहुभ्यां मथ्यमानाभ्यां मिथुनं समपद्यत ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने आगे कहा; अथ—इस प्रकार; तस्य—उसका; पुनः—फिर; विप्रैः—ब्राह्मणों द्वारा; अपुत्रस्य—पुत्रहीन; महीपतेः—राजा की; बाहुभ्याम्—बाँहों से; मथ्यमानाभ्याम्—मंथन करने से; मिथुनम्—युग्म; समपद्यत—उत्पन्न हुआ।

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा : हे विदुर, इस प्रकार ब्राह्मण तथा ऋषियों ने राजा वेन के मृत शरीर की दोनों बाहुओं का भी मंथन किया। फलस्वरूप उसकी बाँहों से एक स्त्री तथा एक पुरुष का जोड़ा उत्पन्न हुआ।

तद्दृष्ट्वा मिथुनं जातमृषयो ब्रह्मवादिनः ।
ऊचुः परमसन्तुष्टा विदित्वा भगवत्कलाम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस; दृष्ट्वा—देखकर; मिथुनम्—युग्म को; जातम्—उत्पन्न; ऋषयः—ऋषियों ने; ब्रह्म-वादिनः—वैदिक ज्ञान में अत्यन्त पारंगत; ऊचुः—कहा; परम—अत्यधिक; सन्तुष्टाः—प्रसन्न; विदित्वा—जानकर; भगवत्—भगवान् का; कलाम्—विस्तार।

ऋषिगण वैदिक ज्ञान में पारंगत थे। जब उन्होंने वेन की बाहुओं से एक स्त्री तथा पुरुष को उत्पन्न देखा, तो वे अत्यन्त प्रसन्न हुए क्योंकि वे जान गये कि यह युगल (दम्पति) भगवान् विष्णु के पूर्णांश का विस्तार है।

तात्पर्य : वैदिक ज्ञान में पारंगत ऋषियों तथा विद्वानों ने जो विधि अपनाई थी, वह पूर्ण थी। उन्होंने राजा वेन के समस्त पापों के फल को पहले बाहुक की उत्पत्ति द्वारा समाप्त कर दिया, जिसका वर्णन पिछले अध्याय में हो चुका है और फिर जब वेन का शरीर शुद्ध हो गया तो इसमें से एक स्त्री-पुरुष युग्म प्रकट हुआ और ऋषिगण जान गये कि वह भगवान् विष्णु का ही विस्तार है। निस्सन्देह, यह विस्तार *विष्णु-तत्त्व* न था, वरन् विष्णु का ही एक शक्ति-प्राप्त विस्तार था जिसे *आवेश* कहते हैं।

ऋषय ऊचुः
एष विष्णोर्भगवतः कला भुवनपालिनी ।

इयं च लक्ष्म्याः सम्भूतिः पुरुषस्यानपायिनी ॥ ३॥

शब्दार्थ

ऋषयः ऊचुः—ऋषियों ने कहा; एषः—यह नर; विष्णोः—भगवान् विष्णु का; भगवतः—भगवान् का; कला—विस्तार; भुवन-पालिनी—जगत का पालन करनेवाली; इयम्—यह स्त्री; च—भी; लक्ष्म्याः—लक्ष्मी की; सम्भूतिः—विस्तार; पुरुषस्य—भगवान् की; अनपायिनी—अभिन्न।

ऋषियों ने कहा : यह पुरुष तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का पालन करनेवाले भगवान् विष्णु की शक्ति का अंश है और यह स्त्री भगवान् विष्णु से कभी अलग न होनेवाली एवं सम्पत्ति की देवी, लक्ष्मी का अंश है।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् और लक्ष्मी जी के कभी भी अलग न रहने का महत्त्व स्पष्ट रूप से वर्णित है। भौतिक जगत में लोग सम्पत्ति की देवी को अत्यधिक चाहते हैं और सम्पत्ति के रूप में उसकी कृपा प्राप्त करना चाहते हैं। किन्तु उन्हें यह जान लेना चाहिए कि सम्पत्ति की देवी भगवान् विष्णु से पृथक् नहीं हो सकतीं। भौतिकतावादियों को समझ लेना होगा कि सम्पत्ति की देवी की पूजा भगवान् विष्णु के साथ-साथ की जानी चाहिए और उन्हें भिन्न नहीं समझा जाना चाहिए। सम्पत्ति की देवी की कृपा चाहनेवाले भौतिकवादियों को भौतिक ऐश्वर्य को बनाये रखने के लिए विष्णु तथा लक्ष्मी दोनों की साथ-साथ पूजा करनी चाहिए। यदि कोई भौतिकतावादी पुरुष रावण की नीति अपना कर सीता को भगवान् रामचन्द्र से विलग करना चाहता है, तो उसका सर्वनाश हो जाएगा। जो लोग सम्पत्ति की देवी की कृपा से इस संसार में धनवान बन गये हैं, उन्हें चाहिए कि वे भगवान् की सेवा में अपनी सम्पत्ति लगाएँ। इस प्रकार वे बिना किसी उपद्रव के अपनी ऐश्वर्यमयी स्थिति बनाये रख सकते हैं।

अयं तु प्रथमो राज्ञां पुमान्प्रथयिता यशः ।
पृथुर्नाम महाराजो भविष्यति पृथुश्रवाः ॥ ४॥

शब्दार्थ

अयम्—यह; तु—तब; प्रथमः—प्रथम; राज्ञाम्—राजाओं का; पुमान्—नर; प्रथयिता—विस्तार करेगा; यशः—ख्याति; पृथुः—महाराज पृथु; नाम—नामक; महा-राजः—महान् राजा; भविष्यति—होगा; पृथु-श्रवाः—व्यापक ख्याति का।

इन दोनों में से, जो नर है, वह अपने यश को विश्व भर में फैला सकेगा। उसका नाम पृथु होगा। निस्सन्देह, वह राजाओं में सबसे पहला राजा होगा।

तात्पर्य : भगवान् के अनेक प्रकार के अवतार होते हैं। शास्त्रों में कहा गया है कि गरुड़ (विष्णु-वाहन), शिव तथा अनन्त ये सभी भगवान् के ब्रह्मरूप के शक्तिमान अवतार हैं। इसी प्रकार स्वर्ग का

राजा शचीपति अर्थात् इन्द्र, भगवान् के काम-रूप के अवतार हैं। अनिरुद्ध भगवान् के मन के अवतार हैं। इसी प्रकार राजा पृथु भगवान् की शासन-शक्ति के अवतार हैं। इस प्रकार साधु पुरुषों तथा ऋषियों ने राजा पृथु के भावी कार्यों की भविष्यवाणी कर दी, जो भगवान् के अंशावतार रूप थे।

इयं च सुदती देवी गुणभूषणभूषणा ।
अर्चिर्नाम वरारोहा पृथुमेवावरुन्धती ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

इयम्—यह स्त्री; च—तथा; सु-दती—सुन्दर दाँतों वाली; देवी—सम्पत्ति की देवी; गुण—उत्तम गुणों के कारण; भूषण—आभूषण; भूषणा—विभूषित करनेवाली; अर्चिः—अर्चि; नाम—नामक; वर-आरोहा—अत्यन्त सुन्दर; पृथुम्—राजा पृथु को; एव—निश्चय ही; अवरुन्धती—अत्यन्त आसक्त रहनेवाली।

सुन्दर दाँतों वाली स्त्री उत्तम गुणों से युक्त होने के कारण पहने गये आभूषणों को भी विभूषित करनेवाली होगी। उसका नाम अर्चि होगा और भविष्य में वह राजा पृथु को अपना पति स्वीकार करेगी।

एष साक्षाद्धरेरंशो जातो लोकरिरक्षया ।
इयं च तत्परा हि श्रीरनुजज्ञेऽनपायिनी ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह नर; साक्षात्—प्रत्यक्ष; हरेः—भगवान् का; अंशः—आंशिक प्रतिनिधि; जातः—उत्पन्न; लोक—सारा विश्व; रिरक्षया—रक्षा करने की इच्छा से; इयम्—यह स्त्री; च—भी; तत्-परा—उससे अत्यधिक आसक्त; हि—निश्चय ही; श्रीः—सम्पत्ति की देवी ने; अनुजज्ञे—जन्म लिया; अनपायिनी—अभिन्न।

राजा पृथु के रूप में, भगवान् अपनी शक्ति के एक अंश से संसार के लोगों की रक्षा के लिए प्रकट हुए हैं। सम्पत्ति की देवी भगवान् की निरन्तर सहचरी हैं, अतः वे अंश रूप में राजा पृथु की रानी बनने के लिए अर्चि रूप में अवतरित हुई हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् का कथन है कि जब किसी में कोई विलक्षण शक्ति दिखे तो समझना चाहिए कि भगवान् का विशिष्ट आंशिक प्रतिनिधित्व उपस्थित हो रहा है। ऐसे असंख्य महापुरुष हैं, किन्तु वे साक्षात् विष्णु-तत्व के अंश नहीं हैं। अनेक जीवात्माओं की गणना शक्ति-तत्वों में की जाती है। विशिष्ट कार्यों के लिए शक्ति-प्राप्त ऐसे अवतार *शक्त्यावेश-अवतार* कहलाते हैं। राजा पृथु भगवान् के ऐसे ही शक्त्यावेश अवतार थे। इसी प्रकार राजा पृथु की पत्नी अर्चि भी लक्ष्मी जी की

शक्त्यावेश-अवतार थीं।

मैत्रेय उवाच

प्रशंसन्ति स्म तं विप्रा गन्धर्वप्रवरा जगुः ।
मुमुचुः सुमनोधाराः सिद्धा नृत्यन्ति स्वःस्त्रियः ॥ ७॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; प्रशंसन्ति स्म—प्रशंसा करते थे; तम्—उसका (पृथु); विप्राः—समस्त ब्राह्मण; गन्धर्व-प्रवराः—गन्धर्वों में श्रेष्ठ; जगुः—जप किया; मुमुचुः—छोड़ी, फेंकी; सुमनः-धाराः—पुष्पों की वर्षा; सिद्धाः—सिद्धलोक के पुरुष; नृत्यन्ति—नाच रही थीं; स्वः—स्वर्गलोक की; स्त्रियः—स्त्रियाँ (अप्सराएँ)।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर जी, उस समय समस्त ब्राह्मणों ने राजा पृथु की प्रशंसा और स्तुति की और गन्धर्वलोक के सर्वश्रेष्ठ गायकों ने उनकी महिमा का गायन किया। सिद्धलोक के वासियों ने उन पर पुष्पवर्षा की और स्वर्ग की सुन्दरियाँ (अप्सराएँ) भाव विभोर होकर नाचने लगीं।

शङ्खतूर्यमृदङ्गाद्या नेदुर्दुन्दुभयो दिवि ।
तत्र सर्व उपाजग्मुर्देवर्षिपितृणां गणाः ॥ ८॥

शब्दार्थ

शङ्ख—शंख; तूर्य—तुरही; मृदङ्ग—ढोल; आद्याः—इत्यादि; नेदुः—बजने लगे; दुन्दुभयः—दुन्दुभियाँ; दिवि—अन्तरिक्ष में; तत्र—वहाँ; सर्वे—सभी; उपाजग्मुः—आये; देव-ऋषि—देवता तथा मुनि; पितृणाम्—पितरों के; गणाः—समूह।

अन्तरिक्ष में शंख, दुंदुभि, तुरही तथा मृदङ्ग बजने लगे। बड़े-बड़े मुनि, पितरगण तथा स्वर्ग के पुरुष विभिन्न लोकों से पृथ्वी पर आ गये।

ब्रह्मा जगद्गुरुर्देवैः सहासृत्य सुरेश्वरैः ।
वैन्यस्य दक्षिणे हस्ते दृष्ट्वा चिह्नं गदाभृतः ॥ ९॥
पादयोररविन्दं च तं वै मेने हरेः कलाम् ।
यस्याप्रतिहतं चक्रमंशः स परमेष्ठिनः ॥ १०॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा—ब्रह्माजी; जगत्-गुरुः—ब्रह्माण्ड के स्वामी; देवैः—देवताओं द्वारा; सह—साथ में; आसृत्य—आकर; सुर-ईश्वरैः—समस्त स्वर्गों के प्रमुखों सहित; वैन्यस्य—वेन के पुत्र महाराज पृथु के; दक्षिणे—दाहिने; हस्ते—हाथ में; दृष्ट्वा—देखकर; चिह्नम्—चिह्न; गदा-भृतः—गदाधारी भगवान् विष्णु के; पादयोः—दोनों पाँवों पर; अरविन्दम्—कमल; च—भी; तम्—उसको; वै—निश्चय ही; मेने—वह समझ गया; हरेः—भगवान् के; कलाम्—अंश; यस्य—जिसका; अप्रतिहतम्—अपराजेय; चक्रम्—चक्र; अंशः—आंशिक स्वरूप; सः—वह; परमेष्ठिनः—भगवान् का।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्वामी ब्रह्मा, देवताओं तथा उनके प्रमुखों सहित, वहाँ पधारे। राजा पृथु

के दाहिने हाथ में विष्णु भगवान् की हथेली की रेखाएँ तथा चरण के तलवों पर कमल का चिह्न देखकर ब्रह्मा समझ गये कि राजा पृथु भगवान् के अंश-स्वरूप थे। जिसकी हथेली में चक्र तथा अन्य ऐसी रेखाएँ हों, उसे परमेश्वर का अंश या अवतार समझना चाहिए।

तात्पर्य : भगवान् के अवतार की पहचान करने की एक विधि होती है। आजकल किसी भी धूर्त को अवतार मानने का प्रचलन है, किन्तु इस घटना से हम देख सकते हैं कि ब्रह्मा ने स्वयं राजा पृथु के हाथों तथा पाँवों की परीक्षा विशिष्ट चिह्नों के लिए की। अपनी भविष्यवाणियों में विद्वान् मुनियों तथा ब्राह्मणों ने पृथु महाराज को भगवान् का अंश माना। किन्तु श्रीकृष्ण जब वर्तमान थे तो एक राजा ने अपने को वासुदेव घोषित कर दिया; फलतः भगवान् कृष्ण ने उसे मार डाला। किसी को भगवान् का अवतार मानने के पूर्व शास्त्रों में वर्णित लक्षणों के अनुसार उसके स्वरूप की पुष्टि की जानी चाहिए। इन लक्षणों के अभाव में भगवान् का अवतार कहलाने वाले छद्मवेषी का वध कर देना चाहिए।

तस्याभिषेक आरब्धो ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः ।
आभिषेचनिकान्यस्मै आजह्रुः सर्वतो जनाः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अभिषेकः—राजतिलक; आरब्धः—आयोजन किया गया; ब्राह्मणैः—ब्राह्मणों द्वारा; ब्रह्म-वादिभिः—वैदिक अनुष्ठानों को माननेवाले; आभिषेचनिकानि—उत्सव के लिए आवश्यक विविध सामग्री; अस्मै—उसको; आजह्रुः—एकत्र किया; सर्वतः—चारों ओर; जनाः—मनुष्यों ने।

तब ब्रह्मवादी ब्राह्मणों ने राजा के अभिषेक का सारा आयोजन किया। उत्सव में लगनेवाली विभिन्न सामग्रियों का संग्रह चारों दिशाओं के लोगों ने किया। इस प्रकार सब कुछ पूरा हो गया।

सरित्समुद्रा गिरयो नागा गावः खगा मृगाः ।
द्यौः क्षितिः सर्वभूतानि समाजह्रुरुपायनम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सरित्—नदियाँ; समुद्राः—समुद्र; गिरयः—पर्वत; नागाः—सर्प; गावः—गाएँ; खगाः—पक्षी; मृगाः—पशु; द्यौः—आकाश; क्षितिः—पृथ्वी; सर्व-भूतानि—समस्त जीवात्माएँ; समाजह्रुः—एकत्र किया; उपायनम्—विभिन्न प्रकार के उपहार।

अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार नदी, समुद्र, पर्वत, सर्प, गाय, पक्षी, पशु, स्वर्गलोक, पृथ्वीलोक तथा अन्य सभी लोकों की जीवात्माओं ने राजा को भेंट करने के लिए विविध उपहार एकत्रित किये।

सोऽभिषिक्तो महाराजः सुवासाः साध्वलङ्कृतः ।
पत्न्यार्चिषालङ्कृतया विरेजेऽग्निरिवापरः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सः—राजा; अभिषिक्तः—अभिषेक हो जाने पर; महाराजः—महाराज पृथु; सु-वासाः—सुन्दर वस्त्रों से सज्जित; साधु-अलङ्कृतः—आभूषणों से अत्यधिक विभूषित; पत्न्या—अपनी पत्नी; अर्चिषा—अर्चि के साथ; अलङ्कृतया—आभूषणों से सजाकर; विरेजे—विराज रहे थे; अग्निः—अग्नि; इव—सदृश; अपरः—दूसरा।

इस प्रकार वस्त्रों तथा आभूषणों से सुन्दर रूप से अलंकृत महाराज पृथु का अभिषेक किया गया और उन्हें सिंहासन पर बैठाया गया। वे सुन्दर आभूषणों से सज्जित अपनी पत्नी अर्चि के साथ, अग्नि के समान लग रहे थे।

तस्मै जहार धनदो हैमं वीर वरासनम् ।
वरुणः सलिलस्त्रावमातपत्रं शशिप्रभम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उसको; जहार—भेंट दिया; धन-दः—देवताओं के कोषाध्यक्ष (कुबेर) ने; हैमम्—सोने का बना हुआ; वीर—हे विदुर; वर-आसनम्—राज-सिंहासन; वरुणः—वरुणदेवः; सलिल-स्त्रावम्—जल की फुहारें बरसाते हुए; आतपत्रम्—छाता; शशि-प्रभम्—चन्द्रमा के समान प्रकाशयुक्त।

ऋषि ने आगे कहा, हे विदुर, कुबेर ने महान् राजा पृथु को सुनहरा सिंहासन भेंट किया; वरुणदेव ने एक छाता प्रदान किया जिससे निरन्तर जल की फुहारें निकल रही थीं और जो चन्द्रमा के समान प्रकाशमान था।

वायुश्च वालव्यजने धर्मः कीर्तिमयीं स्त्रजम् ।
इन्द्रः किरीटमुत्कृष्टं दण्डं संयमनं यमः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

वायुः—वायुदेव ने; च—भी; वाल-व्यजने—बालों के बने दो चँवर; धर्मः—धर्मराज ने; कीर्ति-मयीम्—नाम तथा यश को बढ़ानेवाले; स्त्रजम्—हार; इन्द्रः—स्वर्ग के राजा इन्द्र ने; किरीटम्—मुकुट; उत्कृष्टम्—अत्यन्त मूल्यवान; दण्डम्—राजदण्ड; संयमनम्—संसार पर शासन करने के लिए; यमः—मृत्यु के अधीक्षक ने।

वायु ने बालों से बने दो चामर, धर्म ने यश को बढ़ानेवाला पुष्पहार, स्वर्ग के राजा इन्द्र ने मूल्यवान मुकुट तथा यमराज ने विश्व पर शासन करने के लिए एक राजदण्ड प्रदान किया।

ब्रह्मा ब्रह्ममयं वर्म भारती हारमुत्तमम् ।

हरिः सुदर्शनं चक्रं तत्पत्न्यव्याहतां श्रियम् ॥ १६॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा—ब्रह्मा ने; ब्रह्म-मयम्—आत्मज्ञान से निर्मित; वर्म—कवच; भारती—विद्या की देवी ने; हारम्—हार; उत्तमम्—दिव्य; हरिः—भगवान् ने; सुदर्शनम् चक्रम्—सुदर्शन चक्र; तत्-पत्नी—उनकी पत्नी (लक्ष्मी) ने; अव्याहताम्—अविचल; श्रियम्—सुन्दरता तथा ऐश्वर्य।

ब्रह्माजी ने राजा पृथु को आत्मज्ञान से निर्मित कवच भेंट किया। ब्रह्मा की पत्नी भारती (सरस्वती) ने दिव्य हार दिया। भगवान् विष्णु ने सुदर्शन-चक्र दिया और उनकी पत्नी, ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी जी, ने उन्हें अविचल ऐश्वर्य प्रदान किया।

तात्पर्य : सभी देवताओं ने राजा पृथु को तरह-तरह की भेंटें दीं। हरि ने, जो भगवान् के अवतार हैं और उपेन्द्र कहलाते हैं, राजा को सुदर्शन चक्र भेंट किया। स्मरण रहे कि यह सुदर्शन चक्र भगवान् कृष्ण या विष्णु के सुदर्शन चक्र जैसा नहीं है। चूँकि महाराज पृथु भगवान् के अंश-रूप थे, अतः उन्हें जो सुदर्शन चक्र भेंट में दिया गया, वह मूल सुदर्शन चक्र की आंशिक शक्ति से युक्त था।

दशचन्द्रमसिं रुद्रः शतचन्द्रं तथाम्बिका ।
सोमोऽमृतमयानश्वांस्त्वष्टा रूपाश्रयं रथम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

दश-चन्द्रम्—दस चन्द्रमाओं से भूषित; असिम्—तलवार; रुद्रः—शिवजी ने; शत-चन्द्रम्—एक सौ चन्द्रमाओं से सुशोभित; तथा—उसी तरह से; अम्बिका—देवी दुर्गा ने; सोमः—चन्द्रदेव; अमृत-मयान्—अमृत से युक्त; अश्वान्—घोड़े; त्वष्टा—विश्वकर्मा ने; रूप-आश्रयम्—अत्यन्त सुन्दर; रथम्—रथ।

शिवजी ने दस चन्द्रमाओं से अंकित कोष (म्यान) वाली तलवार भेंट की और देवी दुर्गा ने एक सौ चन्द्रमाओं से अंकित एक ढाल भेंट की। चन्द्रदेव ने उन्हें अमृतमय घोड़े तथा विश्वकर्मा ने एक अत्यन्त सुन्दर रथ प्रदान किया।

अग्निराजगवं चापं सूर्यो रश्मिमयानिषून् ।
भूः पादुके योगमय्यौ द्यौः पुष्पावलिमन्वहम् ॥ १८॥

शब्दार्थ

अग्निः—अग्निदेव ने; आज-गवम्—बकरे तथा गायों के सींगों से बने; चापम्—धनुष; सूर्यः—सूर्यदेव ने; रश्मि-मयान्—सूर्य की किरणों के समान चमकता; इषून्—तीर; भूः—भूमि ने; पादुके—खड़ाऊँ; योग-मय्यौ—योगशक्ति से युक्त; द्यौः—आकाश के देवताओं ने; पुष्प—फूलों की; आवलिम्—भेंट; अनु-अहम्—दिन-प्रति-दिन।

अग्निदेव ने बकरों तथा गौओं के सीगों से निर्मित धनुष, सूर्यदेव ने सूर्यप्रकाश के समान तेजवान बाण, भूर्लोक के प्रमुख देव ने योगशक्ति-सम्पन्न चरण-पादुकाएँ तथा आकाश के

देवताओं ने पुनः पुनः पुष्पों की भेंटें प्रदान की।

तात्पर्य : इस श्लोक में बताया गया है कि राजा की पादुकाएँ योग-शक्ति से युक्त थीं (*पादुके योगमय्यौ*)। इस प्रकार पादुकाएँ पहनते ही राजा जहाँ चाहे जा सकता था। योगी लोग किसी भी समय अपनी इच्छानुसार एक स्थान से दूसरे को चले जा सकते हैं। ऐसी ही शक्ति राजा पृथु की पादुकाओं में थी।

नाट्यं सुगीतं वादित्रमन्तर्धानं च खेचराः ।
ऋषयश्चाशिषः सत्याः समुद्रः शङ्खमात्मजम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

नाट्यम्—नाटक की कला; सु-गीतम्—मधुर गायन की कला; वादित्रम्—वाद्ययंत्र बजाने की कला; अन्तर्धानम्—छिपने की कला; च—भी; खे-चराः—आकाश-मार्ग में यात्रा करनेवाले देवताओं ने; ऋषयः—ऋषिगणों ने; च—भी; आशिषः—आशीर्वाद; सत्याः—अमोघ; समुद्रः—समुद्र के देवता ने; शङ्खम्—शंख; आत्म-जम्—अपने में से उत्पन्न।

गगनचारी देवताओं ने राजा पृथु को नाटक, संगीत, वाद्ययंत्र तथा इच्छानुसार अन्तर्धान होने की कला प्रदान की। ऋषियों ने भी उन्हें अमोघ आशीर्वाद दिये। समुद्र ने स्वयं सागर से उत्पन्न शंख भेंट किया।

सिन्धवः पर्वता नद्यो रथवीथीर्महात्मनः ।
सूतोऽथ मागधो वन्दी तं स्तोतुमुपतस्थिरे ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सिन्धवः—समुद्रों; पर्वताः—पर्वतों; नद्यः—नदियों ने; रथ-वीथीः—रथ जाने के लिए मार्ग; महा-आत्मनः—महापुरुष का; सूतः—स्तुति करनेवाला; अथ—तब; मागधः—भाट; वन्दी—स्तुति करनेवाला; तम्—उसको; स्तोतुम्—बड़ाई करने के लिए; उपतस्थिरे—स्वयं उपस्थित हुए।

समुद्रों, पर्वतों, तथा नदियों ने उन्हें किसी अवरोध के बिना रथ हाँकने के लिए मार्ग प्रदान किया। सूत, मागध तथा वन्दीजनों ने प्रार्थनाएँ तथा स्तुतियाँ कीं। वे सभी उनके समक्ष अपनी अपनी सेवाएँ करने के लिए उपस्थित हो गये।

स्तावकांस्तानभिप्रेत्य पृथुर्वैन्यः प्रतापवान् ।
मेघनिर्ह्रादया वाचा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

स्तावकान्—स्तुति करने वाले; तान्—उन व्यक्तियों को; अभिप्रेत्य—देखकर, समझकर; पृथुः—राजा पृथु; वैन्यः—वेन का पुत्र; प्रताप-वान्—अत्यन्त शक्तिशाली; मेघ-निर्ह्रादया—मेघ-गर्जना के समान गम्भीर; वाचा—वाणी से; प्रहसन्—हँसते हुए; इदम्—यह; अब्रवीत्—बोला।

जब महान् शक्तिशाली वेन के पुत्र राजा पृथु ने अपने समक्ष इन सबों को देखा, तो वे उन्हें बधाई देने के लिए हँसे और मेघ-गर्जना जैसी गम्भीर वाणी में इस प्रकार बोले।

पृथुरुवाच

भोः सूत हे मागध सौम्य वन्दि-
ल्लोकेऽधुनास्पष्टगुणस्य मे स्यात् ।
किमाश्रयो मे स्तव एष योज्यतां
मा मय्यभूवन्वितथा गिरो वः ॥ २२॥

शब्दार्थ

पृथुः उवाच—राजा पृथु ने कहा; भोः सूत—हे सूत; हे मागध—हे मागध; सौम्य—भद्र; वन्दिन्—हे प्रार्थनारत भक्त; लोके—इस जगत में; अधुना—इस समय; अस्पष्ट—अप्रकट; गुणस्य—जिसके गुण; मे—मेरे; स्यात्—होवें; किम्—क्यों; आश्रयः—शरण; मे—मेरा; स्तवः—प्रशंसा; एषः—यह; योज्यताम्—प्रयुक्त हो सके; मा—कभी नहीं; मयि—मुझमें; अभूवन्—थे; वितथाः—वृथा; गिरः—शब्द; वः—तुम्हारे।

राजा पृथु ने कहा : हे भद्र सूत, मागध तथा अन्य प्रार्थनारत भक्तो, आपने मुझमें जिन गुणों का बखान किया है, वे तो अभी मुझमें प्रकट नहीं हुए। तो फिर आप मेरे इन गुणों की क्यों प्रशंसा कर रहे हैं? मैं नहीं चाहता कि मेरे विषय में कहे गये शब्द वृथा जाएँ। अतः अच्छा हो, यदि इन्हें किसी दूसरे को अर्पित करें।

तात्पर्य : सूत, मागध तथा वन्दीजनों द्वारा की गई प्रार्थनाएँ तथा प्रशंसाएँ महाराज पृथु के दैवी गुणों को बताने वाली थीं, क्योंकि वे भगवान् के *शक्त्यावेश* अवतार थे। चूँकि ये गुण अभी प्रकट नहीं हुए थे, अतः राजा पृथु ने भक्तों से नम्रतापूर्वक पूछा कि वे उनकी इतनी अधिक प्रशंसा क्यों कर रहे हैं। वे नहीं चाहते थे कि जब तक ये गुण वास्तव में आ न जाँय, तब तक कोई उनकी प्रशंसा करे। उनकी प्रार्थनाओं का किया जाना उपयुक्त था, क्योंकि वे ईश्वर के अवतार थे, किन्तु उन्होंने आगाह किया कि दैवी गुणों से सम्पन्न हुए बिना किसी को भगवान् का अवतार नहीं मान लेना चाहिए। आजकल भगवान् के तथाकथित अनेक अवतार हैं, किन्तु ये धूर्त तथा निरे मूर्ख हैं, जिन्हें लोग ईश्वर का अवतार मान बैठते हैं यद्यपि ये दैवी गुणों से शून्य हैं। राजा पृथु ने चाहा की कि भावी गुणों से उनके प्रति प्रशंसात्मक शब्दों की पुष्टि हो सके। यद्यपि प्रार्थनाओं में कोई दोष न था, किन्तु पृथु

महाराज ने इंगित किया कि ऐसी स्तुतियाँ किसी अयोग्य पुरुष के प्रति न की जाँय जो अपने को भगवान् का अवतार बताता हो।

तस्मात्परोक्षेऽस्मदुपश्रुतान्यलं-
करिष्यथ स्तोत्रमपीच्यवाचः ।
सत्युत्तमश्लोकगुणानुवादे
जुगुप्सितं न स्तवयन्ति सभ्याः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतः; परोक्षे—निकट भविष्य में; अस्मत्—मेरा; उपश्रुतानि—कहे गये गुणों के विषय में; अलम्—पर्याप्त; करिष्यथ—तुम कर सकोगे; स्तोत्रम्—स्तुतियाँ; अपीच्य-वाचः—हे भद्र गायक; सति—समुचित कार्य होने से; उत्तम-श्लोक—श्रीभगवान् का; गुण—गुणों की; अनुवादे—विवेचना; जुगुप्सितम्—घृणित व्यक्ति को; न—कभी नहीं; स्तवयन्ति—स्तुति प्रदान करें; सभ्याः—भद्र लोग।

हे भद्र गायको, कालान्तर में वे गुण, जिनका तुम लोगों ने वर्णन किया है, जब वास्तव में प्रकट हो जाँय तब मेरी स्तुति करना। जो भद्रलोग भगवान् की प्रार्थना करते हैं, वे ऐसे गुणों को किसी ऐसे मनुष्य में थोपा नहीं करते, जिनमें सचमुच वे न पाए जाते हों।

तात्पर्य : भगवान् के भद्र भक्तों को यह पता रहता है कि कौन ईश्वर है और कौन नहीं। किन्तु अभक्त निर्विशेषवादी, जिन्हें ईश्वर का कोई ज्ञान नहीं है और जो कभी भी ईश्वर की प्रार्थना नहीं किया करते, सदैव मनुष्य को ईश्वर मानने तथा उसकी प्रार्थनाएँ करने में रुचि रखते हैं। एक भक्त तथा असुर में यही अन्तर है। असुर अपने देवताओं को स्वयं गढ़ लेते हैं या स्वयं को ईश्वर मान लेते हैं और रावण तथा हिरण्यकशिपु के पदचिह्नों का अनुसरण करते हैं। यद्यपि पृथु महाराज वास्तव में भगवान् के अवतार थे, किन्तु उन्होंने उन प्रशंसात्मक स्तुतियों को अस्वीकार कर दिया, क्योंकि उनमें परम पुरुष के गुणों का अभी उदय नहीं हुआ था। वे इस पर बल देना चाहते थे कि यदि किसी में वास्तविक गुण न हों तो उन्हें अपने अनुयायियों या भक्तों को यशोगान नहीं करने देना चाहिए, भले ही ये गुण भविष्य में प्रकट होने वाले क्यों न हों। यदि ऐसा व्यक्ति, जो महापुरुषों के वास्तविक गुणों के न होते हुए भी अपने अनुयायियों से इस आशा में अपनी स्तुति कराता है, कि ऐसे गुण भविष्य में उसमें प्रकट हो जाएंगे, वास्तव में स्तुति नहीं, वरन् अपमान कराता है।

महद्गुणानात्मनि कर्तुमीश:
क: स्तावकै: स्तावयतेऽसतोऽपि ।
तेऽस्याभविष्यन्निति विप्रलब्धो
जनावहासं कुमतिर्न वेद ॥ २४॥

शब्दार्थ

महत्—महान; गुणान्—गुण; आत्मनि—अपने आप में; कर्तुम्—प्रकट करने के लिए; ईश:—सक्षम; क:—कौन; स्तावकै:—अनुयायियों द्वारा; स्तावयते—स्तुति कराता है; असत:—न होनेवाले; अपि—यद्यपि; ते—वे; अस्य—उसका; अभविष्यन्—हो सकता है; इति—इस प्रकार; विप्रलब्ध:—ठगा गया; जन—लोगों का; अवहासम्—उपहास, अपमान; कुमति:—मूर्ख; न—नहीं; वेद—जानता है।

भला ऐसे महान् गुणों को धारण करने में सक्षम बुद्धिमान पुरुष किस तरह अपने अनुयायियों को ऐसे गुणों की प्रशंसा करने देगा जो वास्तव में उसमें न हों? किसी मनुष्य की यह कह कर प्रशंसा करना कि यदि वह शिक्षित हो तो महान् विद्वान् या महापुरुष हो जाता है, ठगने के अतिरिक्त और क्या है? मूर्ख व्यक्ति जो ऐसी बड़ाई स्वीकार कर लेता है, वह यह नहीं जानता कि ऐसे शब्द उसके अपमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

तात्पर्य : पृथु महाराज भगवान् के अवतार थे जैसाकि ब्रह्माजी तथा अन्य देवताओं ने विविध प्रकार के स्वर्गीय उपहार देते हुए पुष्टि की थी। किन्तु तुरन्त अभिषिक्त होने के कारण उनमें दैवी गुणों का प्रस्फुटन नहीं हो सकता था, अत: वे भक्तों द्वारा की गई प्रशंसा को स्वीकार करने के लिए उद्यत न थे। तथाकथित ईश्वर के अवतारों को राजा पृथु के इस आचरण से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। दैवी गुणों से विहीन असुरों को अपने अनुयायियों की झूठी प्रशंसा ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

प्रभवो ह्यात्मन: स्तोत्रं जुगुप्सन्त्यपि विश्रुता: ।
ह्रीमन्त: परमोदारा: पौरुषं वा विगर्हितम् ॥ २५॥

शब्दार्थ

प्रभव:—अत्यन्त पराक्रमी पुरुष; हि—निश्चय ही; आत्मन:—अपनी; स्तोत्रम्—प्रशंसा; जुगुप्सन्ति—नहीं चाहते; अपि—यद्यपि; विश्रुता:—अत्यन्त प्रसिद्ध; ह्री-मन्त:—सौम्य; परम-उदारा:—अत्यन्त उदार पुरुष; पौरुषम्—शक्तिशाली कार्य; वा—भी; विगर्हितम्—निन्दनीय।

जिस प्रकार कोई सम्मानित तथा उदार व्यक्ति अपने निन्दनीय कार्यों के विषय में सुनना नहीं चाहता, उसी प्रकार अत्यन्त प्रसिद्ध तथा पराक्रमी पुरुष अपनी प्रशंसा सुनना पसन्द नहीं करता।

वयं त्वविदिता लोके सूताद्यापि वरीमभि: ।

कर्मभिः कथमात्मानं गापयिष्याम बालवत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

वयम्—हम; तु—तब; अविदिताः—अप्रसिद्ध; लोके—संसार में; सूत-आद्य—हे सूत इत्यादि जनो; अपि—इस समय तुरन्त; वरीमभिः—महान्, प्रशंसनीय; कर्मभिः—कर्मों से; कथम्—कैसे; आत्मानम्—अपने आप; गापयिष्याम—स्तुति करने के लिए लगा लूँ; बालवत्—बच्चों के समान।

राजा पृथु ने आगे कहा : हे सूत आदि भक्तो, इस समय मैं अपने व्यक्तिगत गुणों के लिए अधिक प्रसिद्ध नहीं हूँ क्योंकि अभी तो मैंने ऐसा कुछ किया नहीं जिसकी तुम लोग प्रशंसा कर सको। अत: मैं बच्चों की तरह तुम लोगों से अपने कार्यों का गुणगान कैसे कराऊँ?

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कंध के अन्तर्गत ''राजा पृथु की उत्पत्ति और राज्या-भिषेक'' नामक पन्द्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सोलह

बन्दीजनों द्वारा राजा पृथु की स्तुति

मैत्रेय उवाच

इति ब्रुवाणं नृपतिं गायका मुनिचोदिताः ।
तुष्टुवुस्तुष्टमनसस्तद्वागमृतसेवया ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; ब्रुवाणम्—कहते हुए; नृपतिम्—राजा को; गायकाः—स्तुति करनेवाले; मुनि—मुनियों द्वारा; चोदिताः—आदेश पाकर; तुष्टुवुः—प्रशंसित; तुष्ट—संतुष्ट, प्रसन्न; मनसः—उनके मन; तत्—उसके; वाक्—शब्द; अमृत—अमृत के समान; सेवया—सुनने से।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : जब राजा पृथु इस प्रकार विनम्रता से बोले, तो उनकी अमृत-तुल्य वाणी से गायक अत्यधिक प्रसन्न हुए। तब वे पुनः ऋषियों द्वारा दिये गये आदेशों के अनुसार राजा की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।

तात्पर्य : यहाँ पर *मुनिचोदिताः* शब्द ऋषियों तथा साधु पुरुषों से प्राप्त आदेशों को सूचित करता है। यद्यपि महाराज पृथु अभी सिंहासन पर बैठे मात्र ही थे और उनके दैवी गुण प्रकट नहीं हुए थे तो भी सूत, मागध तथा बन्दीजनों ने समझ लिया था कि वे भगवान् के अवतार थे। वे ऋषियों तथा विद्वान् ब्राह्मणों के द्वारा दिये आदेशों से ऐसा समझ पाये। हमें भगवान् के अवतार को अधिकारी व्यक्तियों के आदेशानुसार समझना पड़ता है। हम अपने मनगढन्त भाव से ईश्वर नहीं बना सकते। जैसाकि नरोत्तमदास ठाकुर ने कहा है—*साधु-शास्त्र-गुरु*—मनुष्य को समस्त आध्यात्मिक मामलों की परीक्षा साधुओं, शास्त्रों तथा गुरु के आदेशानुसार करनी होती है। गुरु वह है, जो अपने पूर्ववर्तियों अर्थात् साधुओं या साधुपुरुषों के आदेशों का अनुगमन करता है। प्रामाणिक गुरु कभी भी ऐसी बात नहीं बताता जिसका उल्लेख शास्त्रों में न हो। सामान्य मनुष्यों को साधु, शास्त्र तथा गुरु के आदेशों का अनुसरण करना होता है। शास्त्रों के कथन तथा प्रामाणिक गुरु या साधु के वचनों में कभी अन्तर नहीं होता।

सूत, मागध इत्यादि गायकों को विश्वसनीय रीति से पता था कि राजा पृथु भगवान् के अवतार हैं। यद्यपि राजा ने ऐसी स्तुति के लिए मना किया था, क्योंकि उनमें अभी वे गुण प्रकट न हुए थे, किन्तु गायक माने नहीं। वरन्, वे राजा से और अधिक प्रसन्न हुए, क्योंकि वास्तव में ईश्वर के अवतार होते

हुए भी वे भक्तों के साथ अपने व्यवहार में इतनें विनम्र और प्रसन्नमुख थे। इस प्रसंग में हमें पूर्ववर्ती उल्लेख (४.१५.२१) पर ध्यान देना चाहिए जहां कहा गया था कि राजा पृथु हँस रहे थे और गायकों से बातें करते समय प्रसन्न मुद्रा में थे। इस प्रकार हमें चाहिए कि हम ईश्वर से या उसके अवतारों से भद्र तथा विनीत बनना सीखें। राजा का आचरण गायकों को अच्छा लगा, अत: राजा के मना करने पर भी, साधुओं तथा मुनियों के आदेश से वे राजा के भावी कार्यों की भी प्रशंसा करते रहे।

नालं वयं ते महिमानुवर्णने
यो देववर्योऽवततार मायया ।
वेनाङ्गजातस्य च पौरुषाणि ते
वाचस्पतीनामपि बभ्रमुर्धियः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

न अलम्—समर्थ नहीं; वयम्—हम; ते—तुम्हारी; महिम—महिमा, यश; अनुवर्णने—वर्णन करने में; यः—जो; देव—भगवान्; वर्यः—सर्वप्रथम; अवततार—अवतरित हुआ; मायया—अन्तरंगा शक्ति अथवा अहैतुकी कृपा से; वेन-अङ्ग—राजा वेन के शरीर से; जातस्य—उत्पन्न होनेवाले की; च—तथा; पौरुषाणि—महिमामय कार्य; ते—तुम्हारा; वाचः-पतीनाम्—महान् वक्ताओं का; अपि—यद्यपि; बभ्रमुः—चकरा जाते हैं; धियः—मन।.

गायकों ने आगे कहा : हे राजन्, आप भगवान् विष्णु के साक्षात् अवतार हैं और उनकी अहैतुकी कृपा से आप पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं। अत: हममें इतनी सामर्थ्य कहाँ कि आपके महान् कार्यों का सही-सही गुणगान कर सकें? यद्यपि आप राजा वेन के शरीर से प्रकट हुए हैं, तो भी ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं के समान बड़े-बड़े वाचक और वक्ता भी आपके महिमामय कार्यों का सही-सही वर्णन नहीं कर सकते।

तात्पर्य : इस श्लोक में *मायया* का अर्थ है "आपकी अहैतुकी कृपा से।" मायावादी चिन्तक माया शब्द की व्याख्या 'मोह' या असत्य कह कर करते हैं। किन्तु माया का एक दूसरा भी अर्थ है—वह है "अहैतुकी कृपा।" माया के दो प्रकार हैं—*योगमाया* तथा *महामाया*। महामाया योगमाया का विस्तार है और ये दोनों ही मायाएँ भगवान् की अन्तरंगा शक्ति की भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति (*आत्म-मायया*) से उत्पन्न होते हैं; अत: हमें इस मायावादी व्याख्या को, कि भगवान् बहिरंगा शक्ति अर्थात् भौतिक शक्ति द्वारा प्रदत्त शरीर में प्रकट होते हैं, अस्वीकार कर देना चाहिए। भगवान् तथा उनका अवतार पूर्ण रूप से स्वतंत्र हैं और वे

कहीं भी और सर्वत्र अन्तरंगा शक्ति से उत्पन्न हो सकते हैं। यद्यपि राजा पृथु राजा वेन के तथाकथित मृत शरीर से उत्पन्न थे, किन्तु तो भी वे भगवान् की अन्तरंगा शक्ति से भगवान् के अवतार थे। भगवान् किसी भी वंश में प्रकट हो सकते हैं। कभी वे मत्स्य अवतार के रूप में, तो कभी वराह अवतार के रूप में प्रकट होते हैं। इस प्रकार भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति के द्वारा कहीं भी और सर्वत्र प्रकट होने के लिए मुक्त और स्वतंत्र हैं। कहा जाता है कि अनन्त मुख वाले भगवान् के ही अवतार अनन्त भी भगवान् की महिमा का वर्णन नहीं कर पाते, यद्यपि वे अनन्त काल से ऐसा करते आ रहे हैं। तो फिर ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवताओं का क्या कहना? कहा गया है कि भगवान् *शिव-विरिञ्चि-नुतम्* हैं—अर्थात् वे ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवताओं द्वारा सदैव पूजित हैं। यदि देवताओं के पास भगवान् की महिमा को व्यक्त करने के लिए समुचित भाषा नहीं मिल पाती तो भला अन्य लोग यह कैसे कर सकते हैं? फलतः सूत तथा मागध जैसे गायक राजा पृथु के विषय में कुछ भी कहने में अशक्त थे।

उत्तम श्लोकों द्वारा भगवान् की महिमा का वर्णन करके मनुष्य शुद्ध हो जाता है। यद्यपि हम भगवान् की ठीक से स्तुति नहीं कर पाते तो भी शुद्ध होने के लिए आवश्यक है कि हम ऐसा करने का प्रयास करें। इसका यह अर्थ नहीं है कि यदि ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवता उनका ठीक से गुणगान नहीं कर पाते तो हम करें ही नहीं। अपितु, जैसाकि प्रह्लाद महाराज ने कहा है, हममें से हर एक को अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार भगवान् की महिमा का वर्णन करना चाहिए। यदि हम गम्भीर एवं निष्ठावान भक्त हैं, तो भगवान् हमें सही ढंग से प्रार्थना करने की बुद्धि प्रदान करेगा।

अथाप्युदारश्रवसः पृथोर्हरेः
कलावतारस्य कथामृतादृताः ।
यथोपदेशं मुनिभिः प्रचोदिताः
श्लाघ्यानि कर्माणि वयं वितन्महि ॥ ३॥

शब्दार्थ

अथ अपि—तो भी; उदार—उदार; श्रवसः—जिसका यश; पृथोः—राजा पृथु का; हरेः—भगवान् विष्णु का; कला—अंश; अवतारस्य—अवतार; कथा—शब्द; अमृत—अमृतमय, मधुर; आदृताः—के प्रति सावधान; यथा—के अनुसार; उपदेशम्—उपदेश; मुनिभिः—बड़े-बड़े साधुओं द्वारा; प्रचोदिताः—प्रोत्साहित; श्लाघ्यानि—प्रशंसनीय; कर्माणि—कार्य; वयम्—हम; वितन्महि—विस्तार करने का यत्न करेंगे।

यद्यपि हम आपका ठीक से गुणगान कर सकने में असमर्थ हैं, तो भी हमें आपके कार्यों की

महिमा के गायन में दिव्य स्वाद प्राप्त हो रहा है। हम प्राधिकार प्राप्त मुनियों तथा पंडितों से मिले आदेशों के अनुसार ही आपकी महिमा का वर्णन करेंगे। फिर भी हम जो कुछ कह रहे हैं, वह अपर्याप्त तथा नगण्य है। हे राजन्, चूँकि आप भगवान् के साक्षात् अवतार हैं, अतः आपके समस्त कर्म उदार तथा सदैव प्रशंसनीय हैं।

तात्पर्य : कोई कितना ही दक्ष क्यों न हो, वह भगवान् की महिमा का ठीक से वर्णन नहीं कर सकता। तो भी जो भगवान् के कार्यों के गुणगान में संलग्न हैं, उन्हें ऐसा करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए। ऐसे प्रयास से भगवान् प्रसन्न होंगे। भगवान् चैतन्य ने अपने अनुयायियों को उपदेश दिया है कि वे सर्वत्र जाकर भगवान् कृष्ण के सन्देश का प्रचार करें। चूँकि यह संदेश मुख्यरूप से *भगवद्गीता* ही है, अत: उपदेशक को चाहिए कि *भगवद्गीता* का अध्ययन उसी रूप में करे जिस रूप में परम्परा से यह समझी जाती रही है और बड़े-बड़े मुनियों तथा विद्वान् भक्तों ने इसकी व्याख्या की है। जनता के समक्ष अपने पूर्ववर्ती साधु, गुरु तथा शास्त्रों के अनुसार ही भाषण देना चाहिए। भगवान् के गुणगान करने की यही सबसे सरल विधि है। किन्तु वास्तविक विधि भक्ति है क्योंकि भक्ति द्वारा कुछ ही शब्दों में भगवान् को प्रसन्न किया जा सकता है। भक्ति के बिना बड़े-बड़े पोथे लिखकर भी भगवान् को प्रसन्न नहीं किया जा सकता। भले ही कृष्णभावनामृत आन्दोलन के उपदेशक भगवान् की महिमा का वर्णन करने में असमर्थ हों तो भी उन्हें सर्वत्र जाकर लोगों से हरे कृष्ण जपने का अनुरोध करना चाहिए।

एष धर्मभृतां श्रेष्ठो लोकं धर्मेऽनुवर्तयन् ।
गोप्ता च धर्मसेतूनां शास्ता तत्परिपन्थिनाम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

एषः—यह राजा पृथु; धर्म-भृताम्—धार्मिक कर्म करनेवाले पुरुषों में; श्रेष्ठः—श्रेष्ठ; लोकम्—सारा संसार; धर्मे—धार्मिक कार्यों के; अनुवर्तयन्—ठीक से लगाये रखते हुए; गोप्ता—रक्षक; च—भी; धर्म-सेतूनाम्—धर्म के नियमों का; शास्ता—दण्ड देनेवाला; तत्-परिपन्थिनाम्—उनके विरोधियों को।.

यह राजा, महाराज पृथु, धार्मिक नियमों के पालन करनेवालों में सर्वश्रेष्ठ है। अतः वह प्रत्येक व्यक्ति को धर्म में प्रवृत्त करेगा और धर्म के उन सिद्धान्तों की रक्षा करेगा। अधर्मियों तथा नास्तिकों के लिए वह महान् दण्ड-दाता भी होगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में राजा अथवा सरकार के प्रधान के कर्तव्य का सुन्दर वर्णन हुआ है। सरकार के प्रधान का कर्तव्य है कि वह यह देखे कि सभी लोग दृढ़तापूर्वक धार्मिक जीवन का पालन कर रहे हैं। राजा को नास्तिकों को दण्डित करने में भी कठोर होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, राजा या सरकार के प्रधान को चाहिए कि नास्तिक या ईश्वरविहीन सरकार को प्रश्रय न दे। अच्छी सरकार की यही कसौटी है। धर्मनिरपेक्ष सरकार के नाम पर राजा या सरकार का प्रधान उदासीन रहता है और लोगों को सभी प्रकार के अधार्मिक कृत्य करने की छूट देता है। ऐसे राज्य में समस्त आर्थिक विकास के बावजूद लोग सुखी नहीं रह सकते। किन्तु इस कलियुग में एक भी पवित्र राजा नहीं है, अपितु चोर-उचक्कों को सरकार का प्रधान चुना जाता है। भला धर्म और ईशचेतना के बिना लोग कैसे सुखी रह सकते हैं? ये धूर्त अपनी इन्द्रिय-तुष्टि के लिए नागरिकों से मनमाना कर खसोटते हैं। भविष्य में लोग इतने तंग हो उठेंगे कि *श्रीमद्भागवत* के अनुसार वे अपने-अपने घर तथा गाँव छोड़कर जंगलों में जा बसेंगे। फिर भी कलियुग में कृष्णभावनाभावित लोगों के द्वारा प्रजातांत्रिक सरकार को कब्जे में किया जा सकता है। यदि ऐसा हो जाये तो जनता अत्यन्त सुखी हो जाये।

एष वै लोकपालानां बिभर्त्येकस्तनौ तनू: ।
काले काले यथाभागं लोकयोरुभयोर्हितम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह राजा; वै—निश्चय ही; लोक-पालानाम्—समस्त देवताओं का; बिभर्ति—धारण करता है; एकः—अकेले; तनौ—अपने शरीर में; तनूः—अनेक शरीर; काले काले—यथासमय; यथा—के अनुसार; भागम्—उचित भाग; लोकयोः—लोकों का; उभयोः—दोनों; हितम्—कल्याण।

यह राजा अकेले, अपने ही शरीर में यथासमय समस्त जीवात्माओं का पालन करने तथा विभिन्न प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करने के लिए विभिन्न देवताओं के रूप में प्रकट होकर उनको प्रसन्न रखने में समर्थ होगा। इस प्रकार वह प्रजा को वैदिक यज्ञ करने के लिए प्रेरित करके स्वर्गलोक का पालन करेगा। यथासमय वह उचित वर्षा द्वारा इस पृथ्वीलोक का भी पालन करेगा।

तात्पर्य : विभिन्न कार्यों का भार उठाने वाले जो देवता इस जगत का पालन करते हैं, वे भगवान् के सहायक मात्र हैं। जब भगवान् का कोई अवतार इस लोक में आता है, तो सूर्य, चन्द्र, इन्द्र सभी

देवता उनके साथ हो लेते हैं। फलस्वरूप ईश्वर का अवतार विभिन्न देवताओं का भी कार्य सम्पन्न करते हुए लोकों को व्यवस्थित रखता है। पृथ्वीलोक की रक्षा तो उचित वर्षा पर आश्रित है और जैसाकि *भगवद्गीता* तथा अन्य शास्त्रों में कहा गया है कि वर्षा का भार सँभालने वाले देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ किये जाते हैं।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

"सब प्राणी अन्न से भरण-पोषण करते हैं और अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा की उत्पत्ति यज्ञ से होती है और यज्ञ स्वधर्म से प्रकट होता है।" (भगवद्गीता ३.१४)

इस प्रकार यज्ञ को उचित विधि से सम्पन्न होना अनिवार्य है। जैसाकि यहाँ पर इंगित किया गया है, राजा पृथु अकेले समस्त नागरिकों को ऐसे याज्ञिक कर्म करने के लिए प्रेरित करेंगे, जिससे कोई अभाव या कष्ट न रहे। किन्तु कलियुग में, तथाकथित धर्मनिरपेक्ष राज्य में, सरकार की कार्यकारी शाखा के अध्यक्ष तथाकथित राजा और राज्याध्यक्ष हैं, जो मूर्ख तथा धूर्त हैं और प्रकृति के गूढ़ रहस्यों तथा यज्ञ के नियमों से सर्वथा अनजान हैं। ऐसे धूर्त सदैव योजनाएँ बनाते हैं, जो विफल होती रहती हैं और परिणाम स्वरूप जनता को उपद्रव सहने पड़ते हैं। ऐसी स्थिति का सामना करने के लिए शास्त्रों का उपदेश है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नाम केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

इस प्रकार सरकार की इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति का सामना करने के लिए, जनता को हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—इस महामंत्र को जपने का उपदेश दिया जाता है।

वसु काल उपादत्ते काले चायं विमुञ्चति ।
समः सर्वेषु भूतेषु प्रतपन्सूर्यवद्विभुः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

वसु—धन; काले—समय पाकर; उपादत्ते—वसूल करता या निकालता है; काले—यथासमय; च—भी; अयम्—यह राजा पृथु; विमुञ्चति—वापस कर देता है; समः—उतना ही, बराबर; सर्वेषु—सब; भूतेषु—जीवात्माओं में; प्रतपन्—चमकते हुए; सूर्य-वत्—सूर्यदेव के समान; विभुः—शक्तिमान।

यह राजा पृथु सूर्यदेव के समान प्रतापी होगा और जिस प्रकार सूर्यदेव हर एक को समान रूप से अपना प्रकाश वितरित करता है, उसी तरह राजा पृथु अपनी कृपा सबों को संवितरित करेगा। जिस प्रकार सूर्यदेव आठ मास तक जल को वाष्पित करता है और वर्षा ऋतु में प्रचुर मात्रा में उसको लौटा देता है, उसी प्रकार यह राजा भी नागरिकों से कर वसूल करेगा और आवश्यकता के समय इस धन को लौटा देगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में कर वसूल करने की विधि की सुन्दर व्याख्या हुई है। कर-वसूली तथाकथित प्राशासनिक अध्यक्षों की इन्द्रियतुष्टि के हेतु नहीं होती है। कर से प्राप्त आय को आवश्यकता पड़ने पर—यथा दुर्भिक्ष या बाढ़ के समय—नागरिकों में बाँट देना चाहिए। कर की इस आय को सरकारी नौकरों को उच्च वेतन तथा अन्य भत्ते देने में कभी भी व्यय नहीं होने देना चाहिए। किन्तु कलियुग में, नागरिकों की दशा अत्यन्त शोचनीय है, क्योंकि जनता से विविध रूपों में कर संग्रह किया जाता है, किन्तु प्रशासकों की व्यक्तिगत सुविधाओं में उसका व्यय किया जाता है।

इस श्लोक में सूर्य का उदाहरण अत्यन्त सटीक है। सूर्य पृथ्वी से लाखों मील दूर है, और यद्यपि वह पृथ्वी का स्पर्श नहीं करता तो भी सागरों से जल ग्रहण करके वर्षा ऋतु में समग्र लोक की भूमि पर इसे वितरित करके भूमि को उपजाऊ बनाता है। एक आदर्श राजा के रूप में, राजा पृथु राज्य के ग्राम-ग्राम में सूर्य के समान ही निपुणता से यह कार्य करेगा।

तितिक्षत्यक्रमं वैन्य उपर्याक्रमतामपि ।
भूतानां करुणः शश्वदार्तानां क्षितिवृत्तिमान् ॥ ७॥

शब्दार्थ

तितिक्षति—सहन करता है; अक्रमम्—अपराध; वैन्यः—राजा वेन का पुत्र; उपरि—सिर के ऊपर; आक्रमताम्—पद रखनेवालों को; अपि—भी; भूतानाम्—समस्त जीवात्मा के; करुणः—अत्यन्त दयालु; शश्वत्—सदैव; आर्तानाम्—दुखियों का; क्षिति-वृत्ति-मान्—पृथ्वी की वृत्ति ग्रहण करनेवाले।

यह राजा पृथु समस्त नागरिकों पर अत्यधिक दयालु रहेगा। यदि एक दीन पुरुष विधि-विधानों की अवहेलना करके राजा के सिर पर अपना पाँव रख दे, तो भी राजा अपनी अहैतुकी

कृपा से उस पर ध्यान न देकर क्षमा कर देगा। जगत के रक्षक के रूप में यह पृथ्वी की ही भाँति सहिष्णु होगा।

तात्पर्य : यहाँ पर राजा पृथु की सहनशीलता की तुलना पृथ्वी से की गई है। यद्यपि पृथ्वी सदैव मनुष्यों तथा पशुओं द्वारा पद-दलित होती रहती है, तो भी वह अन्न, फल, शाक इत्यादि उत्पन्न करके उन्हें भोजन देती है। आदर्श राजा के रूप में महाराज पृथु की तुलना पृथ्वी से की गई है, क्योंकि भले ही कुछ नागरिक राज्य के विधि-विधानों का उल्लंघन करें तो भी वह सहिष्णु बनकर अन्न तथा फल से उनका पालन करेगा। दूसरे शब्दों में, अपनी सुविधाओं की परवाह न करते हुए नागरिकों की सुविधाओं का ध्यान रखना राजा का कर्तव्य है। किन्तु कलियुग में ऐसा नहीं होता है। कलियुग में तो राजा तथा राज्य के प्रधान राज्य के नागरिकों से कर संग्रह करके उसका व्यय अपने सुखोपभोग में करते हैं। ऐसे अन्यायपूर्ण कर-संग्रह से लोग बेईमान हो जाते हैं और अपनी आय को तरह-तरह से छिपाने लगते हैं। अन्ततः राज्य उनसे कर संग्रह नहीं कर सकेगा और प्रभूत सैनिक तथा प्रशासनिक खर्चों की पूर्ति नहीं हो सकेगी। सारी व्यवस्था बैठ जायेगी और राज्यभर में उपद्रव तथा अशान्ति उत्पन्न हो जायेगी।

देवेऽवर्षत्यसौ देवो नरदेववपुर्हरिः ।
कृच्छ्रप्राणाः प्रजा ह्येष रक्षिष्यत्यञ्जसेन्द्रवत् ॥ ८॥

शब्दार्थ

देवे—तब देवता (इन्द्र); अवर्षति—वर्षा नहीं करता; असौ—वह; देवः—महाराज पृथु; नर-देव—राजा का; वपुः—शरीर युत; हरिः—भगवान्; कृच्छ्र-प्राणाः—दुखी जीवात्माएँ; प्रजाः—नागरिक; हि—निश्चय ही; एषः—यह; रक्षिष्यति—रक्षा करेगा; अञ्जसा—सरलतापूर्वक; इन्द्र-वत्—राजा इन्द्र के समान।

जब वर्षा नहीं होगी और जल के अभाव से नागरिक महान् संकट में होंगे तो यह राजवेषधारी भगवान् स्वर्ग के राजा इन्द्र के समान जल की पूर्ति करेगा। इस प्रकार अनावृष्टि (सूखे) से वह नागरिकों की रक्षा कर सकेगा।

तात्पर्य : सूर्य तथा इन्द्रदेव से राजा पृथु की तुलना अत्यन्त उपयुक्त है। स्वर्गलोक के राजा इन्द्र पर पृथ्वी तथा अन्य लोकों में जल वितरित करने का भार है। यहाँ यह इंगित है कि इन्द्र द्वारा अपना कार्य ठीक से न किये जाने पर राजा पृथु स्वयं वर्षा-जल का वितरण कर सकेंगे। कभी-कभी स्वर्ग के राजा

इन्द्र पृथ्वीवासियों पर इसलिए कुपित हो उठते हैं, क्योंकि उन्हें प्रसन्न करने के लिए वे यज्ञ नहीं करते। किन्तु राजा पृथु, भगवान् के अवतार होने के कारण इन्द्र की कृपा पर निर्भर नहीं रहते थे। यहाँ पर भविष्यवाणी की गई है कि यदि वर्षा का अभाव हुआ तो राजा पृथु अपनी दैवी शक्ति से इस अभाव को दूर कर देंगे। ऐसी शक्ति का प्रदर्शन वृन्दावन में वास करते समय भगवान् कृष्ण द्वारा भी किया गया था। जब इन्द्र ने सात दिनों तक वृन्दावन में अखण्ड वर्षा की तो श्रीकृष्ण ने ही गोवर्धन पर्वत को छत्र की भाँति धारण करके निवासियों की रक्षा की थी। इसीलिए भगवान् कृष्ण को गोवर्धनधारी भी कहा जाता है।

आप्याययत्यसौ लोकं वदनामृतमूर्तिना ।
सानुरागावलोकेन विशदस्मितचारुणा ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

आप्याययति—बढ़ाता है; असौ—वह; लोकम्—सम्पूर्ण संसार; वदन—अपने मुखमंडल से; अमृत-मूर्तिना—चन्द्रमा सदृश; स-अनुराग—वत्सल, प्यारी; अवलोकेन—चितवन से; विशद—चमकीली; स्मित—मन्द हास, मुसकान; चारुणा—मनोहर।

यह राजा, पृथु महाराज, अपनी प्यारी चितवन तथा अपने चन्द्रमा सदृश मुखमंडल से, जो नागरिकों के लिए अत्यधिक प्यार से सदैव हँसता रहता है, सबों के शान्त जीवन में और वृद्धि करेगा।

अव्यक्तवर्त्मैष निगूढकार्यो
गम्भीरवेधा उपगुप्तवित्तः ।
अनन्तमाहात्म्यगुणैकधामा
पृथुः प्रचेता इव संवृतात्मा ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अव्यक्त—अप्रकट; वर्त्मा—उसकी नीतियाँ; एषः—यह राजा; निगूढ—गुप्त; कार्यः—उसके कार्यकलाप; गम्भीर—गुप्त; वेधाः—सम्पन्न करने की विधि; उपगुप्त—गुप्त रखी जानेवाला; वित्तः—उसका कोष; अनन्त—अपार; माहात्म्य—महिमा का; गुण—उत्तम गुणों का; एक-धामा—एकमात्र आगार; पृथुः—राजा पृथु; प्रचेताः—समुद्रों का राजा, वरुण; इव—सदृश; संवृत—आच्छादित; आत्मा—स्वयं, स्व।

गायकों ने आगे कहा : राजा द्वारा अपनाई गई नीतियों को कोई भी नहीं समझ सकेगा। उसके कार्य भी गुप्त रहेंगे और कोई यह न जान सकेगा कि वह प्रत्येक कार्य को किस प्रकार सफल बनाएगा। उसका कोष सदा ही लोगों से अज्ञात रहेगा। वह अनन्त महिमा तथा उत्तम गुणों

का आगार होगा। उसका पद स्थायी तथा प्रच्छन्न बना रहेगा जिस प्रकार कि समुद्रों के देव वरुण चारों ओर जल से ढके रहते हैं।

तात्पर्य : सभी भौतिक तत्त्वों का एक-एक प्रमुख विग्रह (देव) होता है। वरुण अथवा प्रचेता सागरों का प्रधान देव है। बाहर से समुद्र जीवन-विहीन लगते हैं, किन्तु समुद्र-शास्त्री जानता है कि उनके जल के भीतर नाना प्रकार के जीव हैं। इस जल के अधोराज्य का राजा वरुण है। जिस प्रकार कोई यह नहीं जान पाता कि समुद्र के नीचे क्या हो रहा है, उसी प्रकार कोई यह नहीं समझ पा रहा था कि राजा पृथु कौनसी नीतियाँ अपना कर प्रत्येक काम को बन रहे थे। निस्सन्देह राजा पृथु की कूटनीति अत्यन्त गम्भीर थी। उनकी सफलता का कारण था उनका अनन्त उत्तम गुणों का आगार होना।

इस श्लोक में *उपगुप्त वित्तः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे सूचित होता है कि कोई यह नहीं जान पाएगा कि राजा पृथु के पास गुप्त रीति से कितना धन है। कहने का उद्देश्य यह है कि न केवल राजा को वरन् हर व्यक्ति को अपनी गाढ़ी कमाई गुप्त रीति से रखनी चाहिए जिससे आवश्यकता के समय उसका सदुपयोग हो सके। किन्तु कलियुग में राजा या सरकार के पास सुरक्षित कोष नहीं रहता और कागज के बने नोट ही मुद्रा-विनिमय के साधन हैं। इस प्रकार विपत्ति आने पर सरकार नोटें छाप कर कृत्रिम मुद्रास्फीति कर देती है, जिससे वस्तुओं के मूल्य कृत्रिम रूप से बढ़ जाते हैं और नागरिकों की सामान्य स्थिति शोचनीय हो जाती है। धन को गुप्त रखना पुरानी प्रथा है, क्योंकि हम देखते हैं कि महाराज पृथु के समय में भी यह प्रथा प्रचलित थी। जिस प्रकार राजा को अपना कोष गुप्त रखने का अधिकार है उसी प्रकार मनुष्यों को चाहिए कि वे अपनी कमाई को गुप्त रखें। ऐसा करना कोई दोष नहीं। मुख्य बात यह है कि हर एक को *वर्णाश्रम-धर्म-प्रणाली* की शिक्षा दी जानी चाहिए, जिससे धन का व्यय केवल अच्छे कार्यों में किया जा सके।

दुरासदो दुर्विषह आसन्नोऽपि विदूरवत् ।
नैवाभिभवितुं शक्यो वेनारण्युत्थितोऽनलः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

दुरासदः—पास तक न पहुँचा जाने योग्य; दुर्विषहः—दुःसह; आसन्नः—समीप होकर; अपि—यद्यपि; विदूर-वत्—मानो अत्यन्त दूर; न—कभी नहीं; एव—निश्चय ही; अभिभवितुम्—जीते जा सकने के लिए; शक्यः—समर्थ; वेन—राजा वेन; अरणि—अग्नि उत्पन्न करनेवाले काष्ठ से; उत्थितः—उत्पन्न; अनलः—अग्नि।

राजा पृथु का जन्म राजा वेन के मृत शरीर से उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार अरणि से अग्नि उत्पन्न होती है। अत: राजा पृथु सदैव अग्नि के समान रहेंगे और उनके शत्रु उनके पास तक नहीं पहुँच पाएँगे। निस्सन्देह, वे अपने शत्रुओं के लिए दु:सह होंगे, वे उनके पास रह कर भी उनके पास नहीं पहुँच पाएंगे, मानो वे दूर रहने के लिए बने हो। कोई भी राजा पृथु को हरा नहीं सकेगा।

तात्पर्य : *अरणि* एक प्रकार का काष्ठ है, जो घर्षण द्वारा अग्नि उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त होता है। यज्ञ सम्पन्न करते समय अरणि-काष्ठ से अग्नि जलाई जा सकती है। यद्यपि राजा पृथु अपने मृत पिता से उत्पन्न थे, किन्तु वे सदैव अग्नि जैसे बने रहेंगे। जिस प्रकार अग्नि के पास आसानी से नहीं जाया जा सकता, उसी प्रकार राजा पृथु के शत्रु, भले ही देखने में वे उनके निकट प्रतीत हों, उन तक पहुँच नहीं पाएँगे।

अन्तर्बहिश्च भूतानां पश्यन्कर्माणि चारणै: ।
उदासीन इवाध्यक्षो वायुरात्मेव देहिनाम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अन्त:—आन्तरिक रूप से; बहि:—बाह्य रूप से; च—तथा; भूतानाम्—जीवात्माओं का; पश्यन्—देखते हुए; कर्माणि—कार्य; चारणै:—गुप्तचरों द्वारा; उदासीन:—निरपेक्ष; इव—सदृश; अध्यक्ष:—साक्षी; वायु:—प्राणवायु; आत्मा—प्राणशक्ति; इव—सदृश; देहिनाम्—समस्त देहधारियों की।

राजा पृथु अपने प्रत्येक नागरिक के आन्तरिक तथा बाह्य कार्यों को देख सकने में समर्थ होंगे। फिर भी उनकी गुप्तचर व्यवस्था को कोई जान नहीं सकेगा और वे अपनी स्तुति अथवा निन्दा-सम्बन्धी मामलों में सदैव उदासीन रहेंगे। वे शरीर के भीतर स्थित वायु, अर्थात् प्राण के समान होंगे, जो बाह्य तथा आन्तरिक रूप से प्रकट होता है, किन्तु सभी व्यापारों से सदैव निरपेक्ष रहता है।

नादण्ड्यं दण्डयत्येष सुतमात्मद्विषामपि ।
दण्डयत्यात्मजमपि दण्ड्यं धर्मपथे स्थित: ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अदण्ड्यम्—अदण्डनीय; दण्डयति—दण्ड देता है; एषः—यह राजा; सुतम्—पुत्र; आत्म-द्विषाम्—अपने शत्रुओं को; अपि—भी; दण्डयति—दण्ड देता है; आत्म-जम्—अपना पुत्र; अपि—भी; दण्ड्यम्—दण्डनीय; धर्म-पथे—धर्मनिष्ठा के मार्ग पर; स्थितः—स्थित होकर।

चूँकि यह राजा सदैव धर्मनिष्ठा के मार्ग पर रहेगा, अतः वह अपने पुत्र तथा अपने शत्रु के पुत्र दोनों के प्रति समभाव रखेगा। यदि उसके शत्रु का पुत्र दण्डनीय नहीं है, तो वह उसे दण्ड नहीं देगा, किन्तु यदि स्वयं का पुत्र दण्डनीय है, तो उसे दंडित करेगा।

तात्पर्य : ये निष्पक्ष शासक के लक्षण हैं। शासक का कर्तव्य है कि वह अपराधी को दण्ड दे और निर्दोष को प्रश्रय दे। राजा पृथु इतने निरपेक्ष थे कि यदि उनका अपना पुत्र भी दण्डनीय हो तो उसे दण्ड देने में नहीं हिचकते थे। दूसरी ओर यदि उनके शत्रु का पुत्र निर्दोष हो तो उसे दण्ड देने के उद्देश्य से किसी मामले में नहीं फंसाते थे।

अस्याप्रतिहतं चक्रं पृथोरामानसाचलात् ।
वर्तते भगवानर्को यावत्तपति गोगणैः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

अस्य—इस राजा का; अप्रतिहतम्—न रुकनेवाला; चक्रम्—प्रभाव का वृत्त; पृथोः—राजा पृथु के; आ-मानस-अचलात्—मानस पर्वत तक; वर्तते—है; भगवान्—परम शक्तिमान; अर्कः—सूर्यदेव; यावत्—जिस प्रकार; तपति—चमकता है; गो-गणैः—प्रकाश की किरणों से।

जिस प्रकार सूर्यदेव अपनी प्रकाशमान रश्मियों को आर्कटिक प्रदेश तक बिना किसी अवरोध के बिखेरते हैं, उसी प्रकार राजा पृथु का प्रभाव आर्कटिक क्षेत्र तक के समस्त भूभागों पर होगा और वह आजीवन अविचल रहेगा।

तात्पर्य : यद्यपि सामान्य जनों को आर्कटिक प्रदेश नहीं दिखता, किन्तु सूर्य वहाँ बिना रोक-टोक के चमकता है। जिस प्रकार कोई भी मनुष्य सूर्य-प्रकाश को विश्व-भर में फैलने से नहीं रोक सकता उसी प्रकार राजा पृथु के शासन तथा प्रभाव को कोई नहीं रोक सकता। वह तो आजीवन अविचलित रहेगा। निष्कर्ष यह है कि न तो सूर्य तथा उसके प्रकाश को एक दूसरे से विलग किया जा सकता है, न ही राजा पृथु को उसकी शासन-शक्ति से। हर व्यक्ति के ऊपर उसका शासन अविचल भाव से चलता रहेगा। इस प्रकार राजा को उसकी शासन-शक्ति से पृथक् नहीं किया जा सकता था।

रञ्जयिष्यति यल्लोकमयमात्मविचेष्टितैः ।
अथामुमाहू राजानं मनोरञ्जनकैः प्रजाः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

रञ्जयिष्यति—प्रसन्न करेगा; यत्—क्योंकि; लोकम्—समग्र संसार; अयम्—यह राजा; आत्म—निजी; विचेष्टितैः—कार्यों द्वारा; अथ—अतः; अमुम्—उसको; आहुः—कहते हैं; राजानम्—राजा; मनः-रञ्जनकैः—मन को अच्छा लगनेवाला; प्रजाः—नागरिक ।

यह राजा अपने व्यावहारिक कार्यों द्वारा सबों को प्रसन्न करेगा और उसके सारे नागरिक अत्यन्त प्रसन्न होंगे। इस कारण नागरिकों को उसे अपना शासक राजा स्वीकार करने में अत्यधिक सन्तोष मिलेगा।

दृढव्रतः सत्यसन्धो ब्रह्मण्यो वृद्धसेवकः ।
शरण्यः सर्वभूतानां मानदो दीनवत्सलः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

दृढ-व्रतः—दृढ़संकल्प वाला; सत्य-सन्धः—सत्य-प्रतिज्ञ; ब्रह्मण्यः—ब्राह्मण संस्कृति का प्रेमी; वृद्ध-सेवकः—वृद्ध पुरुषों का दास; शरण्यः—शरणागत-वत्सल; सर्व-भूतानाम्—समस्त जीवात्माओं का; मान-दः—सबों का सम्मान करनेवाला; दीन-वत्सलः—दीनों तथा अनाथों पर अत्यधिक दयालु ।

यह राजा दृढ़संकल्प वाला तथा सत्यव्रती होगा। यह ब्राह्मण-संस्कृति का प्रेमी, वृद्धों की सेवा करने वाला तथा शरणागतों को प्रश्रय देने वाला होगा। यह सबों का सम्मान करेगा और दीन-दुखियों तथा अबोधों पर सदैव कृपालु रहेगा।

तात्पर्य : *वृद्ध-सेवकः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वृद्ध पुरुष दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे जो आयु से वृद्ध हैं और दूसरे वे जो ज्ञान से वृद्ध हैं। संस्कृत के ये दो शब्द से स्पष्ट है कि मनुष्य ज्ञानोन्नति से भी वृद्ध हो सकता है। राजा पृथु ब्राह्मणों का आदर करने वाला था और उनकी रक्षा करता था। वह वृद्ध लोगों की भी रक्षा करता था। राजा जो भी करने का निश्चय करता उसे कोई बदल नहीं सकता था। इसीको दृढ़संकल्प या दृढ़व्रत कहा जाता है।

मातृभक्तिः परस्त्रीषु पत्न्यामर्ध इवात्मनः ।
प्रजासु पितृवत्स्निग्धः किङ्करो ब्रह्मवादिनाम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

मातृ-भक्तिः—अपनी माता के समान आदर करने वाला; पर-स्त्रीषु—पराई स्त्री के प्रति; पत्न्याम्—अपनी पत्नी को; अर्धः—आधा; इव—सदृश; आत्मनः—अपने शरीर का; प्रजासु—नागरिकों के प्रति; पितृ-वत्—पिता के समान; स्निग्धः—स्नेही; किङ्करः—दास; ब्रह्म-वादिनाम्—भगवान् की महिमा का उपदेश करने वाले भक्तों का ।

यह राजा सभी स्त्रियों को अपनी माता के समान सम्मान देगा और अपनी पत्नी को अपने शरीर का आधा अंग (अर्द्धाङ्गिनी) मानेगा। यह अपनी प्रजा के प्रति पिता के समान स्नेही होगा और अपने आपको भगवान् की महिमा का उपदेश करने वाले भक्तों का परम आज्ञाकारी दास समझेगा।

तात्पर्य : विद्वान् मनुष्य अपनी पत्नी के अतिरिक्त सारी स्त्रियों को अपनी माता के समान मानता है, अन्यों की सम्पत्ति को गली में पड़ा कूड़ा समझता है और अन्यों के साथ ऐसा ही व्यवहार करता है जैसा वह अपने साथ करता है। ये विद्वान् पुरुष के लक्षण हैं, जिनका उल्लेख चाणक्य पंडित ने किया है। शिक्षा का यही मानदण्ड होना चाहिए। शिक्षा का अर्थ शैक्षिक उपाधियाँ प्राप्त करना ही नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि उसने जो कुछ अपने व्यक्तिगत जीवन में सीखा है, उसे कार्यरूप में परिणत करे। विद्वानों के ये लक्षण राजा पृथु के जीवन में प्रकट थे। राजा होकर भी वह अपने को भगवान् के भक्तों का दास मानता था। वैदिक शिष्टाचार के अनुसार यदि कोई भक्त राजपासाद में जाता तो राजा उसे तुरन्त अपना आसन प्रदान करता था। *ब्रह्मवादिनाम्* शब्द अत्यन्त सार्थक है। ब्रह्मवादी का अर्थ है भगवान् का भक्त। ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् ये परब्रह्म के विविध नाम हैं। परब्रह्म तो श्रीकृष्ण हैं। इसे *भगवद्गीता* (१०.१२) में अर्जुन ने स्वीकार किया है (*परं ब्रह्म परं धाम्*)। इस प्रकार *ब्रह्मवादिनाम्* भगवान् के भक्तों का सूचक है। राज्य को चाहिए कि भगवान् के भक्तों की सदा सेवा करे और आदर्श राज्य को चाहिए कि भक्त के आदेशों के अनुसार अपना संचालन करे। चूँकि राजा पृथु ने इस नियम का पालन किया, इसलिए उसकी अत्यन्त प्रशंसा की जाती है।

देहिनामात्मवत्प्रेष्ठः सुहृदां नन्दिवर्धनः ।
मुक्तसङ्गप्रसङ्गोऽयं दण्डपाणिरसाधुषु ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

देहिनाम्—समस्त शरीरधारी जीवों को; आत्म-वत्—अपने समान; प्रेष्ठः—प्रिय मानते हुए; सुहृदाम्—मित्रों का; नन्दि-वर्धनः—आनन्द बढ़ाते हुए; मुक्त-सङ्ग—समस्त भौतिक कल्मष से रहित पुरुषों के साथ; प्रसङ्गः—घनिष्ठतःसम्बन्धित; अयम्—यह राजा; दण्ड-पाणिः—दण्ड देने वाला हाथ; असाधुषु—अपराधियों को।

यह राजा समस्त जीवधारी प्राणियों को अपने ही समान प्रिय मानेगा और अपने मित्रों के आनन्द को सदैव बढ़ाने वाला होगा। यह मुक्त पुरुषों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रहेगा और

समस्त अपवित्र व्यक्तियों को कठोर दण्ड देने वाला होगा।

तात्पर्य : *देहिनाम्* शब्द का अर्थ है वे जो देह से युक्त हैं। जीवात्माएँ विभिन्न योनियों में देह धारण करती हैं, जिनकी संख्या चौरासी लाख है। राजा इन समस्त प्राणियों को आत्मवत् मानता था। किन्तु इस युग में तथाकथित राजा तथा राजाध्यक्ष अन्य जीवात्माओं को अपने समान नहीं मानते। उनमें से अधिकांश मांसाहारी होते हैं और भले ही वे मांसाहारी न हों और अपने को धार्मिक तथा पवित्र बताते हों, किन्तु तो भी वे अपने राज्य में गो-वध की अनुमति देते हैं। ऐसे पापी राजाध्यक्ष कभी भी लोकप्रिय नहीं हो सकते। दूसरा महत्त्वपूर्ण शब्द *मुक्त-सङ्ग-प्रसङ्गः* है, जो यह सूचित करता है कि राजा सदैव मुक्त पुरुषों की संगति करता था।

अयं तु साक्षाद्भगवांस्त्र्यधीशः
कूटस्थ आत्मा कलयावतीर्णः ।
यस्मिन्नविद्यारचितं निरर्थकं
पश्यन्ति नानात्वमपि प्रतीतम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अयम्—यह राजा; तु—तब; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवान्—भगवान्; त्रि-अधीशः—तीनों लोकों का स्वामी; कूट-स्थः—बिना किसी परिवर्तन के; आत्मा—परमात्मा; कलया—आंशिक विस्तार से; अवतीर्णः—अवतरित; यस्मिन्—जिसमें; अविद्या-रचितम्—अज्ञान से उत्पन्न; निरर्थकम्—अर्थरहित; पश्यन्ति—देखते हैं; नानात्वम्—विविधता; अपि—निश्चय ही; प्रतीतम्—मिथ्या, अप्रकट।

यह राजा तीनों लोकों का स्वामी है और सीधे भगवान् ने इसे शक्ति प्रदान की है। यह अपरिवर्तनीय है और परमेश्वर का शक्त्यावेश अवतार है। मुक्त आत्मा तथा परम विद्वान् होने के कारण यह समस्त भौतिक विविधताओं को अर्थहीन मानता है, क्योंकि इनका मूलाधार अविद्या है।

तात्पर्य : इन स्तुतियों के गायक पृथु महाराज के दिव्य गुणों का वर्णन कर रहे हैं। इन गुणों का सारांश *साक्षाद् भगवान्* इन दो शब्दों में निहित है। इससे सूचित होता है कि महाराज पृथु साक्षात् भगवान् हैं, अतः उनमें अनन्त सद्गुण हैं, किन्तु भगवान् के अवतार होने के कारण अन्य कोई इन सर्वोत्तम गुणों में महाराज पृथु की समता नहीं कर सकते। भगवान् छहों ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं और राजा पृथु में भी इतनी शक्ति है कि वे भगवान् के छहों ऐश्वर्यों को पूर्ण रूप से प्रदर्शित कर सकते थे।

कूटस्थ शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है ''बिना परिवर्तन के।'' जीवात्माएँ दो प्रकार की हैं—*नित्यमुक्त* तथा *नित्य-बद्ध*। नित्यमुक्त कभी नहीं भूलता कि वह भगवान् का नित्य दास है। जो अपने पद को नहीं भूलता और यह जानता रहता है कि वह परमेश्वर का भिन्नांश है, वह नित्यमुक्त है। ऐसा नित्यमुक्त जीवात्मा परमात्मा का अंश-रूप होता है। जैसाकि वेदों में कहा गया है—नित्यो नित्यानाम्। इस प्रकार नित्यमुक्त जीवात्मा जानता है कि वह परम नित्य या नित्य परमेश्वर का विस्तार है। ऐसे पद में स्थित होकर वह भौतिक जगत को भिन्न दृष्टि से देखता है। नित्यबद्ध जीवात्मा भौतिक विविधताओं को वास्तव में एक दूसरे से भिन्न देखता है। इस सम्बन्ध में हमें स्मरण रखना चाहिए कि बद्धजीव का शरीर वस्त्र के समान माना जाता है। मनुष्य चाहे तो विविध वस्त्र धारण कर सकता है, किन्तुजो यथार्थ ज्ञानी है, वह वस्त्रों पर ध्यान नहीं देता। जैसा कि *भगवद्गीता* (५.१८) में कहा गया है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

''यथार्थ ज्ञानी विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते तथा चाण्डाल को समान रूप से देखते हैं।''

इस प्रकार ज्ञानी पुरुष जीवात्मा को बाहर से ढकनेवाले वस्त्रों को न देखकर नाना प्रकार के वस्त्रों के भीतर की शुद्ध आत्मा को देखता है और यह अच्छी तरह जानता है कि नाना प्रकार के वस्त्र अविद्याजन्य हैं (*अविद्यारचितम्*)। शक्त्यावेश अवतार होने के कारण पृथु महाराज ने अपनी आत्म-स्थिति नहीं बदली, अतः उनके द्वारा भौतिक जगत को सत्य मानने की कोई सम्भावना नहीं थी।

अयं भुवो मण्डलमोदयाद्रे-
गोप्तैकवीरो नरदेवनाथः ।
आस्थाय जैत्रं रथमात्तचापः
पर्यस्यते दक्षिणतो यथार्कः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अयम्—*यह राजा*; भुवः—*जगत का*; मण्डलम्—*गोलक*; आ-उदय-अद्रेः—*उदयाचल से, जहाँ सबसे पहले सूर्य दिखता है*; गोप्ता—*रक्षा करेगा*; एक—*अद्वितीय*; वीरः—*शक्तिशाली*; नर-देव—*समस्त राजाओं का, मानव समाज में देवों का*; नाथः—*स्वामी*; आस्थाय—*स्थित होकर*; जैत्रम्—*विजयी*; रथम्—*उसका रथ*; आत्त-चापः—*धनुष धारण करते हुए*; पर्यस्यते—*प्रदक्षिणा करेगा*; दक्षिणतः—*दक्षिण दिशा से*; यथा—*जिस प्रकार*; अर्कः—*सूर्य*।

यह राजा अद्वितीय शक्तिशाली तथा वीर होगा, जिससे इसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं होगा। यह अपने हाथ में धनुष धारण करके विजयी रथ पर चढ़कर सूर्य के समान दिखाई देता हुआ भूमण्डल की प्रदक्षिणा करेगा, जो दक्षिण से अपनी कक्षा पर परिभ्रमण करता है।

तात्पर्य : इस श्लोक के *यथार्क:* शब्द से सूचित होता है कि सूर्य स्थिर नहीं है, वरन् अपनी उस कक्षा पर भ्रमण करता है, जिसे भगवान् ने नियत कर रखा है। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* तथा *श्रीमद्भागवत* के अन्य अंशों से भी होती है।*भागवत* के पंचम स्कंध में कहा गया है कि सूर्य अपनी कक्षा पर सोलह हजार मील प्रति सेकंड की गति से घूम रहा है। इसी प्रकार *ब्रह्म-संहिता का कथन है*—यस्याज्ञया भ्रमति सम्भृतकालचक्र:—सूर्य अपनी कक्षा में भगवान् के आदेशानुसार घूमता है। निष्कर्ष यह निकला कि सूर्य किसी एक स्थान पर स्थिर नहीं है। जहाँ तक पृथु महाराज का प्रश्न है, यहाँ यह सूचित होता है उनकी शासन-शक्ति संसार भर में फैलेगी। हिमालय पर्वत को उदयाचल या उदयाद्रि कहा जाता है क्योंकि यहीं सूर्योदय सर्वप्रथम दिखता है। यहाँ यह कहा गया है कि पृथ्वी पर पृथु महाराज का शासन हिमालय पर्वत को भी लाँघ करके समुद्रों तक फैलेगा। दूसरे शब्दों में, उसका राज्य समस्त लोक में होगा।

इस श्लोक का दूसरा महत्त्वपूर्ण शब्द *नरदेव* है। जैसाकि पिछले श्लोकों में वर्णित है, योग्य राजा, चाहे वह राजा पृथु हो या अन्य कोई, जो राज्य पर आदर्श राजा की भाँति शासन करता है उसे मनुष्य रूप में ईश्वर समझना चाहिए। वैदिक संस्कृति के अनुसार राजा को भगवान् के समान सम्मानित किया जाता है क्योंकि वह नारायण का प्रतिनिधि होता है, जो नागरिकों की रक्षा भी करता है। इसलिए उसे नाथ अर्थात् स्वामी भी कहा जाता है। यहाँ तक कि सनातन गोस्वामी भी नवाब हुसेन शाह को नरदेव के समान सम्मान देते थे यद्यपि नवाब एक मुसलमान था। अत: राजा या राज्य-प्रधान को राज्य पर शासन करने में इतना दक्ष होना चाहिए कि नागरिक उसे मानव रूप में ईश्वर की भाँति पूजें। किसी भी सरकार या राज्य के अध्यक्ष की यही सिद्ध अवस्था है।

अस्मै नृपाला: किल तत्र तत्र
बलिं हरिष्यन्ति सलोकपाला: ।

मंस्यन्त एषां स्त्रिय आदिराजं
चक्रायुधं तद्यश उद्धरन्त्यः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अस्मै—उसको; नृ-पालाः—समस्त राजा; किल—निश्चय ही; तत्र तत्र—जहाँ जहाँ; बलिम्—उपहार, भेंट; हरिष्यन्ति—प्रदान करेंगे; स—सहित; लोक-पालाः—देवता; मंस्यन्ते—मानेगा; एषाम्—इन राजाओं का; स्त्रियः—पत्नियाँ; आदि-राजम्—पहला राजा; चक्र-आयुधम्—चक्ररूपी हथियार को; तत्—उसका; यशः—ख्याति; उद्धरन्त्यः—धारण किये।

जब यह राजा सारे संसार में भ्रमण करेगा तो अन्य राजा तथा अन्य देवतागण इसे सभी प्रकार के उपहार भेंट करेंगे। उनकी रानियां भी उसे आदि राजा मानेंगी, जो अपने हाथों में चक्र तथा गदा चिह्नों को धारण करता है और उसी के गुणगान करेंगी, क्योंकि वह भगवान् के समान ख्याति वाला होगा।

तात्पर्य : जहाँ तक ख्याति का प्रश्न है राजा पृथु पहले से भगवान् के अवतार रूप में ज्ञात थे। आदि राजम् शब्द का अर्थ है "मूल राजा।" मूल राजा तो नारायण या भगवान् विष्णु हैं। लोग नहीं जानते कि मूल राजा या नारायण समस्त जीवात्माओं के रक्षक हैं। जैसाकि वेदों में पुष्टि की गई है—*एको बहूनां यो विदधाति कामान्* (कठोपनिषद् २.२.१३)। वास्तव में भगवान् समस्त जीवात्माओं का पालन करते हैं। राजा या नरदेव उनका प्रतिनिधि है, अतः राजा का कर्तव्य है कि वह जीवात्माओं के पालन हेतु सम्पत्ति के वितरण पर स्वयं निगाह रखे। यदि वह ऐसा करता है, तो वह नारायण के समान विख्यात होगा। जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख है (*तद् यशः*) पृथु महाराज में भगवान् की ख्याति विद्यमान थी क्योंकि वे सारे संसार पर वास्तव में उसी हैसियत से राज्य कर रहे थे।

अयं महीं गां दुदुहेऽधिराजः
प्रजापतिर्वृत्तिकरः प्रजानाम् ।
यो लीलयाद्रीन्स्वशरासकोट्या
भिन्दन्समां गामकरोद्यथेन्द्रः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अयम्—यह राजा; महीम्—पृथ्वी को; गाम्—गाय के रूप में; दुदुहे—दुहेगा; अधिराजः—अद्वितीय राजा; प्रजा-पतिः—मनुष्य का जनक; वृत्ति-करः—जीवन सुविधाएँ प्रदान करते हुए; प्रजानाम्—नागरिकों की; यः—जो; लीलया—खेल-खेल में; अद्रीन्—पर्वत; स्व-शरास—अपने बाण की; कोट्या—नोक से; भिन्दन्—विदीर्ण करके; समाम्—समतल; गाम्—पृथ्वी को; अकरोत्—करेगा; यथा—जैसे; इन्द्रः—स्वर्ग का राजा इन्द्र।

प्रजा का पालक यह राजा अद्वितीय है और प्रजापति देवों के तुल्य है। प्रजा के जीवन-निर्वाह के लिए यह गौ रूपी पृथ्वी का दोहन करेगा। यही नहीं, यह अपने बाण की नोक से

समस्त पर्वतों को विदीर्ण करके धरती को वैसे ही समतल करेगा, जिस प्रकार स्वर्ग का राजा इन्द्र अपने प्रबल वज्र से पर्वतों को तोड़ता है।

विस्फूर्जयन्नाजगवं धनुः स्वयं
यदाचरत्क्ष्मामविषह्यमाजौ ।
तदा निलिल्युर्दिशि दिश्यसन्तो
लाङ्गूलमुद्यम्य यथा मृगेन्द्रः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

विस्फूर्जयन्—टंकार करते हुए; आज-गवम्—बकरों तथा बैलों के सींगों से बना हुआ; धनुः—अपना धनुष; स्वयम्—स्वयं; यदा—जब; अचरत्—विचरण करेगा; क्ष्माम्—पृथ्वी पर; अविषह्यम्—दुर्धर, बिना रोक के; आजौ—युद्ध में; तदा—उस समय; निलिल्युः—छिप जाएँगे; दिशि दिशि—चारों दिशाओं में; असन्तः—आसुरी लोग; लाङ्गूलम्—पूँछ को; उद्यम्य—ऊँची करके; यथा—जिस प्रकार; मृगेन्द्रः—सिंह।

जब सिंह अपनी पूँछ ऊपर उठाकर वन में विचरण करता है, उस समय छोटे-छोटे पशु छिप जाते हैं। इसी प्रकार जब राजा पृथु अपने राज्य में भ्रमण करेंगे और बकरों तथा बैलों के सींगों से बने अपने धनुष की टंकार करेंगे जिसका युद्ध में कोई सामना नहीं कर सकता, तो सभी आसुरी धूर्त तथा चोर चारों दिशाओं में छिप जाएँगे।

तात्पर्य : पृथु जैसे राजा की तुलना सिंह से करना अत्यन्त उपयुक्त है। भारत में क्षत्रिय राजा *सिंह* कहलाते हैं। जब तक राज्य के धूर्त, चोर तथा अन्य आसुरी लोग राज करनेवाले बलवान शक्तिशाली प्रशासक अध्यक्ष से डरते नहीं, तब तक राज्य में शान्ति या सम्पन्नता नहीं हो सकती। इस तरह यदि सिंह सदृश राजा के स्थान पर कोई स्त्री प्रशासक अध्यक्ष बन जाय तो यह अत्यन्त खेदपूर्ण होगा। ऐसी परिस्थिति में लोगों को अभागा माना जाता है।

एषोऽश्वमेधाञ्शतमाजहार
सरस्वती प्रादुरभावि यत्र ।
अहार्षीद्यस्य हयं पुरन्दरः
शतक्रतुश्चरमे वर्तमाने ॥ २४॥

शब्दार्थ

एषः—यह राजा; अश्वमेधान्—अश्वमेध यज्ञ; शतम्—एक सौ; आजहार—करेगा; सरस्वती—सरस्वती नदी; प्रादुरभावि—प्रकट होती है; यत्र—जहाँ; अहार्षीत्—चुराएगा; यस्य—जिसका; हयम्—घोड़ा; पुरन्दरः—इन्द्र; शत-क्रतुः—जिसने सौ यज्ञ किये हैं; चरमे—अन्तिम यज्ञ में; वर्तमाने—वर्तमान।

यह राजा सरस्वती नदी के उद्‌गम स्थान पर सौ अश्वमेध यज्ञ करेगा। अन्तिम यज्ञ के समय, स्वर्ग का राजा इन्द्र यज्ञ के घोड़े को चुरा लेगा।

एष स्वसद्मोपवने समेत्य
सनत्कुमारं भगवन्तमेकम् ।
आराध्य भक्त्यालभतामलं तज्
ज्ञानं यतो ब्रह्म परं विदन्ति ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह राजा; स्व-सद्म—अपने महल में; उपवने—उद्यान में; समेत्य—भेंट करके; सनत्-कुमारम्—सनत्कुमार; भगवन्तम्—पूज्य; एकम्—अकेले; आराध्य—पूजकर; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; अलभत—प्राप्त करेगा; अमलम्—कल्मषरहित, निर्मल; तत्—वह; ज्ञानम्—दिव्य ज्ञान; यतः—जिससे; ब्रह्म—आत्मा; परम्—परम दिव्य; विदन्ति—जानते हैं, भोगते हैं।

यह राजा पृथु अपने प्रासाद के उद्यान में चार कुमारों में से एक, सनत्कुमार से भेंट करेगा। राजा उनकी भक्तिपूर्वक पूजा करेगा और उनसे सौभाग्यवश उपदेश प्राप्त करेगा जिससे मनुष्य दिव्य आनन्द उठा सकता है।

तात्पर्य : *विदन्ति* शब्द का अर्थ है, वह जो किसी वस्तु को जानता है या उसका आनन्द उठाता है। जब मनुष्य को गुरु से सही ढंग से उपदेश प्राप्त होता है, तथा वह दिव्य आनन्द को समझता है, तो वह जीवन का सुख पा सकता है। जैसाकि *भगवद्‌गीता* (१८.५४) में कहा गया है—*ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति*—जब ब्रह्मपद प्राप्त होता है, तो मनुष्य के न कोई आकांक्षा रह जाती है और न उसे शोक होता है। वह वास्तव में दिव्य आनन्द उठाता है। यद्यपि राजा पृथु विष्णु का अवतार था, वह अपनी प्रजा को शिष्य-परम्परा से आये गुरु से उपदेश ग्रहण करने की शिक्षा देता था। इस प्रकार कोई भी इसी भौतिक जगत में रहते हुए आनन्दमय जीवन बिताने का सौभाग्य प्राप्त कर सकता है। इस श्लोक में आगत *विदन्ति* क्रिया का अर्थ कभी-कभी ''जानते हैं'' किया जाता है। इस प्रकार जब कोई व्यक्ति ब्रह्म को अर्थात् प्रत्येक वस्तु के आदि-स्रोत को जानता है, तो वह आनन्दमय जीवन बिताता है।

तत्र तत्र गिरस्तास्ता इति विश्रुतविक्रमः ।
श्रोष्यत्यात्माश्रिता गाथाः पृथुः पृथुपराक्रमः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तत्र तत्र—जहाँ जहाँ; गिरः—शब्द; ताः ताः—अनेक, विविध; इति—इस प्रकार; विश्रुत-विक्रमः—जिसके वीरता के कार्य दूर-दूर तक विख्यात हों; श्रोष्यति—सुनेगा; आत्म-आश्रिताः—अपने विषय में; गाथाः—गीत, आख्यान; पृथुः—राजा पृथु; पृथु-पराक्रमः—स्पष्टतः शक्तिमान।

इस प्रकार जब इस राजा के वीरतापूर्ण कार्य जनता के समक्ष आ जाएँगे तो यह राजा अपने विषय में तथा अपने अद्वितीय पराक्रमपूर्ण कार्यों के विषय में सदैव सुनेगा।

तात्पर्य : अपने विषय में झूठा विज्ञापन करके तथाकथित ख्याति प्राप्त करना एक प्रकार का छल है। पृथु महाराज अपने पराक्रम के कारण जनता में विख्यात थे। उन्हें कृत्रिम रूप से आत्म-विज्ञापन करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। किसी की वास्तविक ख्याति छिपाई नहीं जा सकती।

दिशो विजित्याप्रतिरुद्धचक्रः
स्वतेजसोत्पाटितलोकशल्यः ।
सुरासुरेन्द्रैरुपगीयमान-
महानुभावो भविता पतिर्भुवः ॥ २७॥

शब्दार्थ

दिशः—सभी दिशाएँ; विजित्य—जीतकर; अप्रतिरुद्ध—बिना रोक के; चक्रः—प्रभाव या शक्ति; स्व-तेजसा—अपने तेज से; उत्पाटित—उच्छेदित, निकाला हुआ; लोक-शल्यः—जनता के दुख; सुर—देवताओं का; असुर—असुरों का; इन्द्रैः—प्रमुखों द्वारा; उपगीयमान—प्रशंसित होकर; महा-अनुभावः—महा-पुरुष; भविता—होगा; पतिः—स्वामी; भुवः—जगत का।

पृथु महाराज की आज्ञाओं का उल्लंघन कोई नहीं कर सकेगा। सारे जगत को जीतकर वह नागरिकों के तीनों तापों को समूल नष्ट करेगा। तब सारे जगत में उसको मान्यता प्राप्त होगी। तब सुर तथा असुर दोनों उसके उदार कार्यों की निस्सन्देह प्रशंसा करेंगे।

तात्पर्य : राजा पृथु के काल में यद्यपि अनेक अधीनस्थ राज्य थे, किन्तु सारे संसार पर राज्य करनेवाला एक सम्राट होता था। जिस प्रकार संसार के विभिन्न भागों में अनेक संयुक्त राज्य हैं उसी तरह प्राचीन काल में अनेक राज्यों के माध्यम से संसार पर शासन चलाया जाता था, किन्तु एक सर्वोच्च सम्राट होता था, जो समस्त अधीनस्थ राज्यों पर शासन करता था। जैसे ही छोटे-छोटे राज्यों में वर्णाश्रम-पद्धति के पालन में कोई त्रुटि आती, सम्राट उन्हें तुरन्त अपने अधीन कर लेता था।

उत्पाटित लोकशल्यः शब्द यह सूचित करता है कि महाराज पृथु ने अपनी प्रजा के समस्त कष्टों को समूल नष्ट कर दिया था। शल्य का अर्थ है "चुभनेवाले काँटे।" राज्य के नागरिकों को कई प्रकार के काँटे चुभते रहते हैं, किन्तु समस्त चतुर शासक, यहाँ तक कि महाराज युधिष्ठिर के शासन काल तक

भी, नागरिकों के कष्टों को दूर करते थे। कहा जाता है कि महाराज युधिष्ठिर के शासन में न तो कठिन शीत पड़ती थी, न झुलसाती गर्मी, न ही नागरिकों को कोई मानसिक चिन्ता थी। अच्छी सरकार का यही आदर्श है। पृथु महाराज ने ऐसी ही शान्त, सम्पन्न तथा चिन्तामुक्त सरकार की स्थापना की थी। इस प्रकार सुर तथा असुर दोनों ही महाराज पृथु के कार्यकलापों का गुणानुवाद करते थे। जो व्यक्ति या राष्ट्र सारे विश्व में अपना प्रभाव जताना चाहते हैं, उन्हें इस बात पर ध्यान देना चाहिए। यदि कोई नागरिकों के तीनों तापों को समूल नष्ट कर सकता है, तो उसे ही संसार पर राज्य करने की आकांक्षा रखनी चाहिए। मनुष्य को किसी राजनीतिक या कूटनीतिक विचार से राज्य करने की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चर्तुथ स्कन्ध के अन्तर्गत ''बन्दीजनों द्वारा राजा पृथु की स्तुति'' नामक सोलहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सत्रह

महाराज पृथु का पृथ्वी पर कुपित होना

मैत्रेय उवाच

एवं स भगवान्वैन्यः ख्यापितो गुणकर्मभिः ।
छन्दयामास तान्कामैः प्रतिपूज्याभिनन्द्य च ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रय ने कहा; एवम्—इस प्रकार; सः—वह; भगवान्—भगवान्; वैन्यः—राजा वेन के पुत्र रूप में; ख्यापितः—प्रशंसित; गुण-कर्मभिः—गुणों एवं वास्तविक कार्यों द्वारा; छन्दयाम् आस—प्रसन्न किया हुआ; तान्—उन गायकों को; कामैः—विभिन्न भेंटों द्वारा; प्रतिपूज्य—सम्मान प्रदान करके; अभिनन्द्य—प्रार्थना करके; च—भी।

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा : इस प्रकार उन गायकों ने जो महाराज पृथु की महिमा का गायन कर रहे थे, उनके गुणों तथा वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन किया। अन्त में महाराज पृथु ने सम्मानपूर्वक उन्हें अनेक भेंटें प्रदान कीं और उनकी यथेष्ट पूजा की।

ब्राह्मणप्रमुखान्वर्णान्भृत्यामात्यपुरोधसः ।
पौराञ्जानपदाञ्श्रेणीः प्रकृतीः समपूजयत् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मण-प्रमुखान्—ब्राह्मण जाति के प्रधानों को; वर्णान्—अन्य जातियों को; भृत्य—नौकर; अमात्य—मंत्रीगण; पुरोधसः—पुरोहितों को; पौरान्—पुरवासियों को; जान-पदान्—देशवासियों को; श्रेणीः—विभिन्न जातियों को; प्रकृतीः—प्रशंसकों को; समपूजयत्—उचित सत्कार किया।

इस प्रकार राजा पृथु ने ब्राह्मण तथा अन्य जातियों के समस्त नायकों, अपने नौकरों, मंत्रियों, पुरोहितों, नागरिकों, सामान्य देशवासियों, अन्य जाति के लोगों, प्रशंसकों तथा अन्यों को प्रसन्न किया और उनका सभी प्रकार से सम्मान किया। इस प्रकार वे सभी अत्यन्त प्रसन्न हो गये।

विदुर उवाच

कस्माद्दधार गोरूपं धरित्री बहुरूपिणी ।
यां दुदोह पृथुस्तत्र को वत्सो दोहनं च किम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने पूछा; कस्मात्—क्यों; दधार—धारण किया; गो-रूपम्—गाय का स्वरूप; धरित्री—पृथ्वी ने; बहु-रूपिणी—अनेक रूपों वाली; याम्—जिसको; दुदोह—दुहा; पृथुः—राजा पृथु ने; तत्र—वहाँ; कः—कौन; वत्सः—बछड़ा; दोहनम्—दोहनी, दुहने का पात्र; च—भी; किम्—क्या।

विदुर ने मैत्रेय ऋषि से पूछा : हे ब्राह्मण, जब धरती माता अनेक रूप धारण कर सकती है, तो फिर उसने गाय का ही रूप क्यों ग्रहण किया? और जब राजा पृथु ने उसको दुहा तो कौन बछड़ा बना और दुहने का पात्र क्या था?

प्रकृत्या विषमा देवी कृता तेन समा कथम् ।
तस्य मेध्यं हयं देवः कस्य हेतोरपाहरत् ॥ ४॥

शब्दार्थ

प्रकृत्या—स्वभाव से; विषमा—ऊँची-नीची; देवी—पृथ्वी; कृता—किया गया; तेन—उसके द्वारा; समा—समतल; कथम्—कैसे; तस्य—उसका; मेध्यम्—यज्ञ में बलि के हेतु; हयम्—घोड़ा; देवः—इन्द्रदेव; कस्य—किस; हेतोः—लिए; अपाहरत्—चुरा लिया।

पृथ्वी की सतह स्वभावतः कहीं ऊँची है, तो कहीं नीची। तो फिर राजा पृथु ने पृथ्वी की सतह को कैसे समतल बनाया, और स्वर्ग के राजा इन्द्र ने यज्ञ के घोड़े को क्यों चुराया?

सनत्कुमाराद्भगवतो ब्रह्मन्ब्रह्मविदुत्तमात् ।
लब्ध्वा ज्ञानं सविज्ञानं राजर्षिः कां गतिं गतः ॥ ५॥

शब्दार्थ

सनत्-कुमारात्—सनत्कुमार से; भगवतः—परम शक्तिमान; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; ब्रह्म-वित्-उत्तमात्—वैदिक ज्ञान में दक्ष; लब्ध्वा—प्राप्त करके; ज्ञानम्—ज्ञान; स-विज्ञानम्—व्यावहारिक प्रयोग के लिए; राज-ऋषिः—परम साधु राजा ने; काम्—कौन सी; गतिम्—पद; गतः—प्राप्त किया।

महान् साधु राजा, महाराज पृथु, ने परम वैदिक विद्वान सनत्कुमार से ज्ञान प्राप्त किया। अपने जीवन में इस ज्ञान को व्यवहृत करने के लिए ज्ञान प्राप्त करके उस राजा ने इच्छित गंतव्य किस प्रकार प्राप्त किया?

तात्पर्य : वैष्णवों के चार सम्प्रदाय हैं। ये चारों क्रमशः श्री ब्रह्मा, ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी, सनत्कुमार इत्यादि कुमारों तथा शिवजी से उत्पन्न हैं। ये चारों सम्प्रदाय अभी भी चल रहे हैं। जैसा राजा पृथु ने दिखला दिया है, जो दिव्य ज्ञान प्राप्त करने का इच्छुक हो उसे इन चार सम्प्रदायों में से किसी को गुरु मानना चाहिए। कहा गया है कि जब तक इन सम्प्रदायों में से किसी एक से मंत्र नहीं ग्रहण किया जाता, तब तक कलियुग में वह मंत्र काम नहीं करता। अब तो अनेक अनधिकृत सम्प्रदायों का उदय हो चुका है और वे अनधिकृत मंत्र प्रदान करके जनता को गुमराह कर रहे हैं। इन तथाकथित

सम्प्रदायों के धूर्तजन वैदिक विधि-विधानों का पालन नहीं करते। वे सभी प्रकार के पाप-कर्मों में रत रहते हुए लोगों को मंत्र देकर उन्हें दिग्भ्रमित करते रहते हैं। किन्तु बुद्धिमान लोग जानते हैं कि ये मंत्र कभी फलित नहीं होते, अतः वे उन नए सम्प्रदायों को प्रश्रय नहीं देते। लोगों को इन व्यर्थ के सम्प्रदायों से सावधान रहना चाहिए। इन्द्रिय-तृप्ति के लिए कुछ सुविधा प्राप्त करने के लिए, इस युग के अभागे लोग इन तथाकथित सम्प्रदायों से मंत्र लेते हैं। किन्तु पृथु महाराज ने निजी उदाहरण से यह दिखला दिया कि मनुष्य को प्रामाणिक सम्प्रदाय से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। अतः महाराज पृथु ने सनत्कुमार को अपने गुरु रूप में स्वीकार किया।

यच्चान्यदपि कृष्णस्य भवान्भगवतः प्रभोः ।
श्रवः सुश्रवसः पुण्यं पूर्वदेहकथाश्रयम् ॥ ६ ॥
भक्ताय मेऽनुरक्ताय तव चाधोक्षजस्य च ।
वक्तुमर्हसि योऽदुह्यद्वैन्यरूपेण गामिमाम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; च—तथा; अन्यत्—दूसरा; अपि—निश्चय ही; कृष्णस्य—कृष्ण का; भवान्—आप; भगवतः—भगवान् का; प्रभोः—शक्तिशाली; श्रवः—महिमामय कार्य; सु-श्रवसः—जो सुनने में अत्यन्त मधुर लगे; पुण्यम्—पवित्र; पूर्व-देह—अपने पूर्व अवतार का; कथा-आश्रयम्—कथा से सम्बन्धित; भक्ताय—भक्त के लिए; मे—मुझको; अनुरक्ताय—अत्यन्त ध्यानमग्न; तव—तुम्हारा; च—तथा; अधोक्षजस्य—भगवान् का जो अधोक्षज कहलाते हैं; च—और; वक्तुम् अर्हसि—सुनाएँ; यः—जिसने; अदुह्यत्—दुहा; वैन्य-रूपेण—राजा वेन के पुत्र रूप में; गाम्—गाय रूपी पृथ्वी को; इमाम्—इस।

पृथु महाराज भगवान् कृष्ण की शक्तियों के शक्त्यावेश अवतार थे। फलतः उनके कार्यों से सम्बन्धित कोई भी कथा सुनने में मनभावन लगती है और कल्याणकर होती है। मैं तो आपका तथा अधोक्षज भगवान् का भी भक्त हूँ। अतः आप उन राजा पृथु की सभी कथाएँ सुनाएँ जिन्होंने राजा वेन के पुत्र के रूप में गोरूप धरती का दोहन किया।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण को अवतारी भी कहा जाता है, जिसका अर्थ है, "जिनसे समस्त अवतार उद्भूत होते हैं।" *भगवद्गीता* (१०.८) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते*—मैं समस्त आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों का उद्गम हूँ, हर वस्तु मुझी से उद्भूत है। इस प्रकार भगवान् कृष्ण प्रत्येक प्राणी की उत्पत्ति के मूल हैं। जहाँ तक इस भौतिक जगत का प्रश्न है, ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव ये सभी कृष्ण से ही उत्पन्न हैं। कृष्ण के ये तीनों अवतार *गुण-अवतार* कहलाते

हैं। यह भौतिक जगत प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा संचालित है और ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव क्रमशः सतो, रजो तथा तमो गुणों का भार सँभालते हैं। महाराज पृथु भगवान् कृष्ण के उन गुणों के भी अवतार हैं जिनसे बद्धजीवों के ऊपर शासन किया जाता है।

इस श्लोक में आगत *अधोक्षज* शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है और इस का अर्थ है, "भौतिक इन्द्रियों के बोध से परे।" भगवान् को चिन्तन द्वारा नहीं समझा जा सकता, अतः अल्पज्ञानी तो भगवान् को समझ ही नहीं सकता। चूँकि अपनी भौतिक इन्द्रियों के सहारे मनुष्य ईश्वर का निर्गुण रूप ही निर्मित कर सकता है इसलिए भगवान् अधोक्षज कहलाते हैं।

सूत उवाच
चोदितो विदुरेणैवं वासुदेवकथां प्रति ।
प्रशस्य तं प्रीतमना मैत्रेयः प्रत्यभाषत ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; चोदितः—प्रोत्साहित; विदुरेण—विदुर के द्वारा; एवम्—इस प्रकार; वासुदेव—भगवान् कृष्ण की; कथाम्—कथा के; प्रति—विषय में; प्रशस्य—प्रशंसा करके; तम्—उसको; प्रीत-मनाः—अत्यधिक प्रसन्न होकर; मैत्रेयः—मैत्रेय ने; प्रत्यभाषत—उत्तर दिया।

सूत गोस्वामी ने आगे कहा : कि जब विदुर को भगवान् कृष्ण के विविध अवतारों के कार्यकलापों को सुनने की प्रेरणा प्राप्त हुई तो मैत्रेय ने विदुर की प्रशंसा की क्योंकि वे स्वयं उनसे प्रोत्साहित और अत्यधिक प्रसन्न थे। तब मैत्रेय ने इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : *कृष्ण कथा* अथवा उनके अवतारों की चर्चा आध्यात्मिक रूप से इतनी प्रेरणाप्रद होती है कि वक्ता तथा श्रोता कभी थकते नहीं। आध्यात्मिक वार्ताओं की यही प्रकृति है। हमने वास्तव में देखा है कि मनुष्य विदुर तथा मैत्रेय की वार्ताओं को सुनते कभी अघाता नहीं। दोनों ही भक्त हैं और विदुर जितना ही पूछते हैं, मैत्रेय बोलने के लिए उतनी ही अधिक प्रेरणा प्राप्त करते हैं। आध्यात्मिक चर्चा का लक्षण ही है कि कोई थकान का अनुभव नहीं करता। इस प्रकार विदुर के प्रश्नों को सुनकर महर्षि मैत्रेय कुंठित नहीं, अपितु विस्तार से बताने के लिए प्रोत्साहित हुए।

मैत्रेय उवाच
यदाभिषिक्तः पृथुरङ्ग विप्रै-

रामन्त्रितो जनतायाश्च पालः ।
प्रजा निरन्ने क्षितिपृष्ठ एत्य
क्षुत्क्षामदेहाः पतिमभ्यवोचन् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; यदा—जब; अभिषिक्तः—गद्दी पर बिठा दिये गये; पृथुः—राजा पृथु; अङ्ग—हे विदुर; विप्रैः—ब्राह्मणों के द्वारा; आमन्त्रितः—घोषित; जनतायाः—प्रजा का; च—भी; पालः—रक्षक; प्रजाः—नागरिक; निरन्ने—बिना अन्न के; क्षिति-पृष्ठे—पृथ्वी की सतह पर; एत्य—पास आकर; क्षुत्—भूख से; क्षाम—दुर्बल; देहाः—उनके शरीर; पतिम्—रक्षक से; अभ्यवोचन्—कहा।

मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, जब ब्राह्मणों तथा ऋषियों ने राजा पृथु को राजसिंहासन पर बिठाया दिया तथा उन्हें नागरिकों का रक्षक घोषित किया तो उस समय अन्न का अभाव था। नागरिक भूख के मारे सूख कर काँटा हो गये थे, अतः वे राजा के समक्ष आये और उन्हें अपनी वास्तविक स्थिति कह सुनाई।

तात्पर्य : यहाँ पर ब्राह्मणों द्वारा राजा के चुनाव के सम्बन्ध में जानकारी दी गई है। वर्णाश्रम-पद्धति के अनुसार ब्राह्मणों को समाज का प्रधान माना जाता है और इसलिए उन्हें सर्वोच्च सामाजिक स्थान प्राप्त है। वर्णाश्रम धर्म अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से बनाया गया है, जिसमें चार वर्ण तथा चार आश्रम हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, वर्णाश्रम धर्म मानव-कृत नहीं है, वरन् यह ईश्वर-कृत संस्था है। इस कथानक से यह स्पष्ट सूचित होता है कि राज-सत्ता को ब्राह्मण ही नियंत्रित करते थे। जब वेन जैसा दुष्ट राजा राज्य करता तो ब्राह्मण उसे अपनी शक्ति से मार डालते और योग्यता की परीक्षा करके दूसरा राजा चुनते थे। दूसरे शब्दों में, ब्राह्मण, बुद्धिमानजन या ऋषि राज्य-सत्ता पर नियंत्रण रखते थे। यहाँ पर हमें संकेत मिलता है कि ब्राह्मणों ने किस प्रकार राजा पृथु को प्रजा के रक्षक के रूप में सिंहासन पर बिठाया। प्रजा भूख के मारे दुर्बल हो जाने के कारण राजा के पास आई और उन्होंने सूचित किया कि उचित कार्यवाही की जाये। वर्णाश्रम धर्म की संरचना इतनी उत्तम थी कि ब्राह्मण राज्य के अध्यक्ष का पथ-प्रदर्शन करते थे। तब राज्याध्यक्ष प्रजा की रक्षा करता था। क्षत्रिय जनता की रक्षा का भार सँभालते थे और क्षत्रियों के संरक्षण में वैश्य गायों की रक्षा करते, अन्न उत्पन्न करते और उसका वितरण करते थे। शूद्र अर्थात् कामकाज करनेवाला वर्ग तीनों उच्च जातियों की सहायता शारीरिक श्रम द्वारा करता था। यह अत्यन्त सुचारु सामाजिक पद्धति है।

वयं राजञ्जाठरेणाभितप्ता
यथाग्निना कोटरस्थेन वृक्षाः ।
त्वामद्य याताः शरणं शरण्यं
यः साधितो वृत्तिकरः पतिर्नः ॥ १० ॥

तन्नो भवानीहतु रातवेऽन्नं
क्षुधार्दितानां नरदेवदेव ।
यावन्न नङ्क्ष्यामह उज्झितोर्जा
वार्तापतिस्त्वं किल लोकपालः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

वयम्—हम; राजन्—हे राजा; जाठरेण—भूख की ज्वाला से; अभितप्ताः—अत्यन्त त्रस्त; यथा—जिस प्रकार; अग्निना—आग से; कोटर-स्थेन—पेड़ के कोटर में; वृक्षाः—वृक्ष; त्वाम्—तुम तक; अद्य—आज; याताः—हम आये हैं; शरणम्—शरण; शरण्यम्—शरण लेने के योग्य; यः—जो; साधितः—नियुक्त; वृत्ति-करः—रोजगार देने वाला; पतिः—स्वामी; नः—हमारे; तत्—अतः; नः—हमको; भवान्—आप; ईहतु—प्रयत्न करो; रातवे—देने के लिए; अन्नम्—अनाज; क्षुधा—भूख से; अर्दितानाम्—कष्ट भोगते हुए; नर-देव-देव—हे समस्त राजाओं के परम स्वामी; यावत् न—जब तक नहीं; नङ्क्ष्यामहे—हम मर जाएंगे; उज्झित—विहीन; ऊर्जाः—अन्न; वार्ता—व्यवसाय का; पतिः—देनेवाला; त्वम्—तुम; किल—निस्सन्देह; लोक-पालः—जनता के रक्षक।

हे राजन्, जिस प्रकार वृक्ष के कोटर में लगी आग वृक्ष को धीरे-धीरे सुखा देती है, उसी प्रकार हम जठराग्नि (भूख) से सूख रहे हैं। आप शरणागत जीवों के रक्षक हैं और आप हमें वृत्ति (जीविका) देने के लिए नियुक्त हुए हैं। अतः हम सभी आपके संरक्षण में आये हैं। आप केवल राजा ही नहीं हैं, आप भगवान् के अवतार भी हैं। वास्तविक रूप में आप राजाओं के राजा हैं। आप हमें सभी प्रकार की जीविकाएँ प्रदान कर सकते हैं, क्योंकि आप हमारी जीविका के स्वामी हैं। अतः हे राजराजेश्वर, उचित अन्न वितरण के द्वारा हमारी भूख को शान्त करने की व्यवस्था कीजिये। आप हमारी रक्षा करें जिससे हम अन्न के अभाव से मरें नहीं।

तात्पर्य : यह देखना राजा का कर्तव्य है कि सामाजिक व्यवस्था में राज्य के हर एक व्यक्ति—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—पूरी तरह से काम में लगे हुए हैं। जिस प्रकार ब्राह्मणों का यह कर्तव्य है कि वे राजा चुनें, उसी प्रकार राजा का कर्तव्य है कि वह देखे कि चारों वर्ण के लोग अपने-अपने व्यवसाय में रत हैं। यहाँ पर यह इंगित किया गया है कि यद्यपि लोगों को अपना कर्तव्य निभाने की अनुमति थी, किन्तु तो भी बेरोजगारी थी। यथापि वे लोग आलसी न थे तो भी वे अपनी भूख बुझाने के लिए पर्याप्त अन्नोत्पादन नहीं कर पा रहे थे। जब लोग इस प्रकार व्यथित हों तो उन्हें चाहिए कि शासनाध्यक्ष के पास पहुँचें और राजा या अध्यक्ष को चाहिए कि लोगों के दुख का शमन करने के लिए

तत्काल उपाय करे।

मैत्रेय उवाच

पृथुः प्रजानां करुणं निशम्य परिदेवितम् ।
दीर्घं दध्यौ कुरुश्रेष्ठ निमित्तं सोऽन्वपद्यत ॥ १२॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; पृथुः—राजा पृथु; प्रजानाम्—नागरिकों की; करुणम्—दयनीय स्थिति; निशम्य—सुनकर; परिदेवितम्—विलाप; दीर्घम्—दीर्घकाल तक; दध्यौ—विचार किया; कुरु-श्रेष्ठ—हे विदुर; निमित्तम्—कारण; सः—उसने; अन्वपद्यत—ढूँढ लिया।

नागरिकों के इस शोकालाप को सुनकर तथा उनकी दयनीय स्थिति देखकर राजा ने दीर्घकाल तक इस विषय पर विचार किया कि क्या वह मूलभूत कारणों को खोज सकता है?

इति व्यवसितो बुद्ध्या प्रगृहीतशरासनः ।
सन्दधे विशिखं भूमेः क्रुद्धस्त्रिपुरहा यथा ॥ १३॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; व्यवसितः—निष्कर्ष पर पहुँच कर; बुद्ध्या—बुद्धि से; प्रगृहीत—धारण किये हुए; शरासनः—धनुष; सन्दधे—चढ़ाया; विशिखम्—बाण; भूमेः—पृथ्वी पर; क्रुद्धः—क्रोध से पूर्ण; त्रि-पुर-हा—शिवजी; यथा—मानो।

ऐसा निश्चय करके, राजा ने अपना धनुष-बाण उठाया और उन्हें पृथ्वी की ओर उसी प्रकार लक्षित किया जिस प्रकार शिवजी क्रोध से सारे जगत का विनाश कर देते हैं।

तात्पर्य : राजा पृथु को अन्नाभाव का कारण ज्ञात हो गया था। उन्हें पता चल गया था कि इसमें नागरिकों का दोष न था, क्योंकि वे अपना कार्य करने में आलसी न थे, अपितु पृथ्वी पर्याप्त अन्न उत्पन्न नहीं कर रही थी। इससे सूचित होता है कि यदि उचित व्यवस्था हो जाय तो पृथ्वी प्रचुर उत्पादन कर सकती है, किन्तु कभी-कभी विभिन्न कारणों से पृथ्वी अन्नोत्पादन नहीं भी कर सकती। यह मत, कि जनसंख्या में वृद्धि के कारण अन्नाभाव हो जाता है, सन्तोषजनक नहीं है। ऐसे अन्य कारण हैं जिनसे पृथ्वी प्रचुर उत्पादन कर सकती है या उसे बन्द कर सकती है। राजा पृथु ने सही कारणों का पता लगा कर तुरन्त ही आवश्यक कदम उठाये।

प्रवेपमाना धरणी निशाम्योदायुधं च तम् ।
गौः सत्यपाद्रवद्भीता मृगीव मृगयुद्रुता ॥ १४॥

शब्दार्थ

प्रवेपमाना—काँपते हुए; धरणी—पृथ्वी; निशाम्य—देखकर; उदायुधम्—धनुष-बाण लेकर; च—भी; तम्—राजा को; गौः—गाय; सती—बन कर; अपाद्रवत्—भागने लगी; भीता—अत्यधिक डरी हुई; मृगी इव—हिरनी के समान; मृगयु—शिकारी द्वारा; द्रुता—पीछा की गई।.

जब पृथ्वी ने देखा कि राजा पृथु उसे मारने के लिए धनुष-बाण धारण कर रहे हैं, तो वह भय के मारे काँपने लगी। उसके बाद वह उसी प्रकार भागी जिस प्रकार शिकारी द्वारा पीछा किये जाने पर हिरनी तेजी से भागती है। राजा के भय से पृथ्वी ने गाय का रूप धारण कर लिया और भागने लगी।

तात्पर्य : जिस प्रकार माता की कोख से बालक तथा बालिकाएँ उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार धरती की कुक्षि से विभिन्न रूपों में सभी प्रकार की जीवात्माएँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार माता पृथ्वी अनन्त रूप धारण कर सकती है। इस बार पृथु के क्रोध से बचने के लिए पृथ्वी ने गाय का रूप धारण किया। चूँकि गाय अवध्य है, अत: पृथ्वी ने ठीक ही समझा कि पृथु के तीरों से बचने के लिए गाय का रूप धारण किया जाये। किन्तु पृथु इस रहस्य को समझ गये, अत: उन्होंने गोरूप पृथ्वी का पीछा करना नहीं छोड़ा।

तामन्वधावत्तद्वैन्यः कुपितोऽत्यरुणेक्षणः ।
शरं धनुषि सन्धाय यत्र यत्र पलायते ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

ताम्—गोरूप पृथ्वी का; अन्वधावत्—पीछा किया; तत्—तब; वैन्यः—राजा वेन के पुत्र ने; कुपितः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; अति-अरुण—अत्यन्त लाल-लाल; ईक्षणः—आँखें; शरम्—तीर; धनुषि—धनुष पर; सन्धाय—रखकर; यत्र यत्र—जहाँ-जहाँ; पलायते—वह भागती।.

यह देखकर महाराज पृथु अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उनकी आँखें प्रात:कालीन सूर्य की भाँति लाल-लाल हो गईं। अपने धनुष पर बाण चढ़ाये वे जहाँ-जहाँ गोरूप पृथ्वी दौड़कर जाती, वहीं-वहीं उसका पीछा करते रहे।

सा दिशो विदिशो देवी रोदसी चान्तरं तयोः ।
धावन्ती तत्र तत्रैनं ददर्शानूद्यतायुधम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सा—वह गोरूप पृथ्वी; दिशः—चारों दिशाओं में; विदिशः—इधर-उधर; देवी—देवी; रोदसी—आकाश तथा पृथ्वी की ओर; च—भी; अन्तरम्—मध्य में; तयोः—उनके; धावन्ती—दौड़ती हुई; तत्र तत्र—जहाँ-जहाँ; एनम्—राजा को; ददर्श—देखा; अनु—पीछे; उद्यत—ग्रहण किये; आयुधम्—अपने हथियार।

गोरूप पृथ्वी स्वर्ग तथा पृथ्वी के बीच अन्तरिक्ष में इधर-उधर दौड़ने लगी और जहाँ भी वह जाती, राजा अपना धनुष-बाण लिए उसका पीछा करते रहे।

लोके नाविन्दत त्राणं वैन्यान्मृत्योरिव प्रजाः ।
त्रस्ता तदा निववृते हृदयेन विदूयता ॥ १७॥

शब्दार्थ

लोके—तीनों लोकों में; न—नहीं; अविन्दत—प्राप्त करा सका; त्राणम्—मुक्ति; वैन्यात्—राजा वेन के पुत्र के हाथों से; मृत्योः—मृत्यु से; इव—सदृश; प्रजाः—लोग; त्रस्ता—अत्यन्त भयभीत; तदा—उस काल; निववृते—पीछे मुड़ी; हृदयेन—अपने हृदय में; विदूयता—अत्यन्त दुखित।

जिस प्रकार मनुष्य मृत्यु के क्रूर हाथों से नहीं बच सकता, उसी प्रकार गोरूप पृथ्वी वेन के पुत्र से नहीं बच सकी। अन्त में पृथ्वी भयभीत होकर और दुखित हृदय से असहायावस्था में पीछे की ओर मुड़ी।

उवाच च महाभागं धर्मज्ञापन्नवत्सल ।
त्राहि मामपि भूतानां पालनेऽवस्थितो भवान् ॥ १८॥

शब्दार्थ

उवाच—उसने कहा; च—तथा; महा-भागम्—महान् भाग्यशाली राजा के प्रति; धर्म-ज्ञ—हे धर्म के नियमों के ज्ञाता; आपन्न-वत्सल—हे शरणागत के शरण; त्राहि—बचाओ; माम्—मुझको; अपि—निस्सन्देह; भूतानाम्—जीवात्माओं के; पालने—संरक्षण में; अवस्थितः—स्थित; भवान्—आप।

परम ऐश्वर्यवान् राजा पृथु को धर्म के ज्ञाता तथा शरणागतों के आश्रय के रूप में सम्बोधित करते हुए उसने कहा—कृपया मुझे बचाइये। आप समस्त जीवात्माओं के रक्षक हैं। अब आप इस लोक के राजा के रूप में पदस्थ हैं।

तात्पर्य : गोरूप पृथ्वी ने राजा पृथु को धर्मज्ञ अर्थात् धार्मिक नियमों का जाननेवाला कह कर सम्बोधित किया। धर्म के नियम आदेश देते हैं कि राजा या अन्य किसी के द्वारा स्त्री, गाय, शिशु, ब्राह्मण तथा वृद्ध की रक्षा की जानी चाहिए। फलतः पृथ्वी माता ने गाय का रूप धारण कर लिया। वह भी स्त्री थी। इसीलिए उसने राजा को धर्मज्ञ कहा। धार्मिक नियम यह भी आदेश देते हैं कि शरणागत का वध न किया जाय। उसने राजा पृथु को याद दिलाया कि वह न केवल ईश्वर का अवतार था, अपितु

वह पृथ्वी का राजा भी था। अत: उसका धर्म था कि वह उसे क्षमा कर दे।

स त्वं जिघांससे कस्माद्दीनामकृतकिल्बिषाम् ।
अहनिष्यत्कथं योषां धर्मज्ञ इति यो मतः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सः—वही व्यक्ति; त्वम्—तुम; जिघांससे—मारना चाहते हो; कस्मात्—क्यों; दीनाम्—दीना को; अकृत—निरपराध, बिना कुछ किये; किल्बिषाम्—कोई पापमय कर्म; अहनिष्यत्—मारोगे; कथम्—कैसे; योषाम्—स्त्री को; धर्म-ज्ञः—धर्म को जाननेवाला; इति—इस प्रकार; यः—जो; मतः—माना जाता है।

गोरूप पृथ्वी राजा से अनुनय-विनय करती रही—मैं अत्यन्त दीन हूँ और मैंने कोई पापकर्म नहीं किया। तो फिर आप मुझे क्यों मारना चाहते हैं? आप धर्म के नियमों को जाननेवाले हैं, तो फिर आप क्यों मुझसे द्वेष रख रहे हैं और क्यों एक स्त्री को मारने के लिए इस प्रकार उद्यत हैं?

तात्पर्य : पृथ्वी ने राजा से दो प्रकार से याचना की। धर्मज्ञ राजा उस व्यक्ति का, जिसने कोई पापकर्म नहीं किया, वध नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त, स्त्री अवध्य है, भले ही उसने किसी तरह का पाप क्यों न किया हो। चूँकि पृथ्वी निर्दोष थी और स्त्री थी, अत: राजा को उसे नहीं मारना चाहिए था।

प्रहरन्ति न वै स्त्रीषु कृतागःस्वपि जन्तवः ।
किमुत त्वद्विधा राजन्करुणा दीनवत्सलाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

प्रहरन्ति—मारते हैं; न—नहीं; वै—निश्चय ही; स्त्रीषु—स्त्रियों को; कृत-आगःसु—पापकर्म करने पर; अपि—यद्यपि; जन्तवः—मानव प्राणी; किम् उत—फिर क्या कहा जाये; त्वत्-विधाः—तुम्हारे समान महापुरुष; राजन्—हे राजा; करुणाः—दयालु; दीन-वत्सलाः—दीनों के प्रति स्नेहिल।

यदि स्त्री कोई पापकर्म भी करे तो मनुष्य को उस पर हाथ नहीं उठाना चाहिए। हे राजन्, आप तो इतने दयालु हैं कि आपके विषय में क्या कहा जाये? आप रक्षक हैं और दीनवत्सल हैं।

मां विपाट्याजरां नावं यत्र विश्वं प्रतिष्ठितम् ।
आत्मानं च प्रजाश्चेमाः कथमम्भसि धास्यसि ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; विपाट्य—खण्ड-खण्ड करके; अजराम्—अत्यन्त दृढ़; नावम्—नाव; यत्र—जहाँ; विश्वम्—समस्त संसार की सामग्री; प्रतिष्ठितम्—खड़ी हुई; आत्मानम्—अपने आपको; च—तथा; प्रजाः—अपनी प्रजा; च—भी; इमाः—ये सारे; कथम्—कैसे; अम्भसि—जल में; धास्यसि—धारण करोगे।

गोरूप पृथ्वी ने आगे कहा : हे राजन्, मैं एक सुदृढ़ नाव के तुल्य हूँ और समस्त संसार की सारी सामग्री मुझी पर टिकी है। यदि आप मुझे छिन्न कर देंगे तो फिर आप अपने को तथा अपनी प्रजा को डूबने से किस प्रकार बचा पायेंगे?

तात्पर्य : सम्पूर्ण लोक के नीचे *गर्भजल* है। भगवान् विष्णु इसी *गर्भजल* पर शयन करते हैं और उनकी नाभि से एक कमलनाल निकलता है और इस ब्रह्माण्ड के भीतर सभी लोक वायु में तैर रहे हैं, जो इस कमलनाल पर आश्रित हैं। यदि कोई भी लोक नष्ट कर दिया जाए तो वह *गर्भजल* में गिरेगा। अत: पृथ्वी ने राजा पृथु को आगाह किया कि उसे विनष्ट करने से राजा को कुछ नहीं प्राप्त होगा। सचमुच वह अपने आपको तथा अपनी प्रजा को इस *गर्भजल* में डूबने से कैसे बचा सकेगा? दूसरे शब्दों में, अन्तरिक्ष की तुलना वायु के सागर से की जा सकती है और प्रत्येक लोक इसमें उसी प्रकार तैर रहा है, जिस प्रकार कोई नौका या द्वीप समुद्र में तैरता है। लोकों को कभी द्वीप कहा जाता है और कभी नाव। इस प्रकार गोरूप पृथ्वी द्वारा दृश्य जगत की आंशिक व्याख्या कर दी गई है।

पृथुरुवाच
वसुधे त्वां वधिष्यामि मच्छासनपराङ्मुखीम् ।
भागं बर्हिषि या वृङ्क्ते न तनोति च नो वसु ॥ २२॥

शब्दार्थ

पृथुः उवाच—पृथु ने उत्तर दिया; वसु-धे—हे पृथ्वी; त्वाम्—तुमको; वधिष्यामि—मार डालूँगा; मत्—मेरा; शासन—आदेश; पराक्-मुखीम्—अवज्ञा करके; भागम्—अपना अंश; बर्हिषि—यज्ञ में; या—जो; वृङ्क्ते—स्वीकार करती है; न—नहीं; तनोति—देती है; च—तथा; नः—हमको; वसु—उपज।

राजा पृथु ने पृथ्वी को उत्तर दिया: हे पृथ्वी, तुमने मेरी आज्ञा तथा नियमों का उल्लंघन किया है। तुमने हमारे द्वारा सम्पन्न यज्ञों में देवता के रूप में अपना अंश ग्रहण किया है, किन्तु बदले में पर्याप्त अन्न नहीं उत्पन्न किया। इस कारण मैं तुम्हारा वध कर दूँगा।

तात्पर्य : गोरूप पृथ्वी ने कहा कि वह न केवल स्त्री है, वरन् निर्दोष और निष्पाप भी है। अत: उसने तर्क किया कि उसका वध नहीं किया जाना चाहिए। साथ ही, उसने यह भी संकेत किया कि राजा धर्मज्ञ होता है, अत: उसे धार्मिक नियमों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए जो स्त्री-वध को वर्जित बताते हैं। उत्तर में महाराज पृथु ने कहा कि पहली बात तो यह कि पृथ्वी ने उसके आदेशों का उल्लंघन

किया है। यह उसका पहला आपराधिक कृत्य है। दूसरे यह कि वह अपना यज्ञ-भाग ग्रहण करती रही है, किन्तु बदले में उसने पर्याप्त अन्न नहीं उत्पन्न किया।

यवसं जग्ध्यनुदिनं नैव दोग्ध्यौधसं पयः ।
तस्यामेवं हि दुष्टायां दण्डो नात्र न शस्यते ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यवसम्—हरी घास; जग्धि—चरती हो; अनुदिनम्—प्रतिदिन; न—कभी नहीं; एव—निश्चय ही; दोग्धि—देती हो; औधसम्—थन में; पयः—दूध; तस्याम्—जब एक गाय; एवम्—इस प्रकार; हि—निश्चय ही; दुष्टायाम्—अपराधी होकर; दण्डः—दण्ड, सजा; न—नहीं; अत्र—यहाँ; न—नहीं; शस्यते—उचित।

यद्यपि तुम नित्य ही हरी घास चरती हो, किन्तु तुम हमारे उपयोग के लिए अपने थन को दूध से भरती नहीं हो। चूँकि तुम जान-बूझ कर अपराध कर रही हो, अतः तुम्हारे द्वारा गाय का रूप धारण करने के कारण तुम्हें दण्ड देना अनुचित नहीं कहा जा सकता।

तात्पर्य : गाय चरागाह की हरी-हरी घास चरती है और अपने थन को पर्याप्त मात्रा में दूध से भरती है, जिसे ग्वाले दोह सकें। यज्ञ इसलिए किये जाते हैं कि प्रचुर बादल बनें और पृथ्वी पर वर्षा करें। *पयः* शब्द से दूध तथा जल दोनों ही अर्थ ग्रहण होते हैं। देवता के रूप में पृथ्वी अपना यज्ञ-भाग तो ग्रहण करती थी—अर्थात् हरी-हरी घास चरती थी—किन्तु बदले में वह प्रचुर अन्न नहीं उत्पन्न कर रही थी, अर्थात् वह अपने थन को दूध से पूरित नहीं कर रही थी। अतः पृथु महाराज उसके अपराध के लिए उसे दण्ड देने की धमकी ठीक ही थी।

त्वं खल्वोषधिबीजानि प्राक्सृष्टानि स्वयम्भुवा ।
न मुञ्चस्यात्मरुद्धानि मामवज्ञाय मन्दधीः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; खलु—निश्चय ही; ओषधि—जड़ी-बूटियों तथा अन्नों के; बीजानि—बीज; प्राक्—पूर्वकाल में; सृष्टानि—उत्पन्न; स्वयम्भुवा—ब्रह्मा द्वारा; न—नहीं; मुञ्चसि—देती हो; आत्म-रुद्धानि—अपने भीतर छिपाये हुए; माम्—मुझको; अवज्ञाय—आज्ञा का पालन न करके; मन्द-धीः—अल्प बुद्धि वाली।

तुमने इस तरह अपनी बुद्धि गँवा दी है कि मेरी आज्ञा के होते हुए भी तुम जड़ी-बूटियों तथा अन्नों के बीज नहीं दे रही हो, जिन्हें पूर्वकाल में ब्रह्मा ने उत्पन्न किया था और जो तुम्हारे भीतर छिपे हुए हैं।

तात्पर्य : इस ब्रह्माण्ड में लोकों की सृष्टि करते समय ब्रह्माजी ने विविध अन्नों, जड़ी-बूटियों, पौधों तथा वृक्षों के बीज भी उत्पन्न किये। जब बादल प्रचुर जल बरसाते हैं, तो बीज उगकर फल, अन्न, शाक इत्यादि उत्पन्न करते हैं। पृथु महाराज अपना उदाहरण देते हुए यह संकेत देते हैं कि जब भी अन्न का अभाव हो तो सरकार के अध्यक्ष को चाहिए कि वह देखे कि उत्पादन क्यों रुका हुआ है और उसे ठीक करने के लिए क्या कदम उठाए जाएँ।

अमूषां क्षुत्परीतानामार्तानां परिदेवितम् ।
शमयिष्यामि मद्बाणैर्भिन्नायास्तव मेदसा ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

अमूषाम्—उन सबों का; क्षुत्-परीतानाम्—भूख से पीड़ितों का; आर्तानाम्—दुखियों का; परिदेवितम्—क्रन्दन, विलाप; शमयिष्यामि—शमन करूँगा; मत्-बाणैः—मेरे बाणों से; भिन्नायाः—खण्ड-खण्ड करके; तव—तुम्हारे; मेदसा—मांस से।

अब मैं अपने बाणों से तुम्हारा खण्ड-खण्ड कर दूँगा और तुम्हारे मांस से क्षुधार्त नागरिकों को, जो अन्न के अभाव में त्राहि-त्राहि कर रहे हैं, सन्तुष्ट करूँगा। इस प्रकार मैं अपने राज्य की प्रजा का बिलखना दूर करूँगा।

तात्पर्य : यहाँ पर हमें थोड़ा संकेत मिलता है कि सरकार किस प्रकार गोमांस खाने की व्यवस्था करे। यहाँ पर इंगित है कि विरली परिस्थिति में जब अन्न न हो तो सरकार गोमांस खाने की अनुमति दे। किन्तु जब पर्याप्त खाद्यान्न हों तो सरकार को चाहिए कि केवल जीभ के स्वाद के लिए गोमांस खाने की अनुमति न दे। दूसरे शब्दों में, विरली परिस्थितियों में जब अन्नाभाव हो तभी मांसाहार की अनुमति दी जाये, अन्यथा नहीं। सरकार को जीभ की तुष्टि के लिए बूचड़खानों को बनाये रखना और वृथा ही पशुओं के वध की स्वीकृति देना उचित नहीं।

जैसाकि पिछले श्लोक में वर्णन हुआ है, गायों तथा अन्य पशुओं को खाने के लिए पर्याप्त घास दी जानी चाहिए। यदि पर्याप्त घास देने पर भी गाय दूध नहीं देती और भोजन का नितान्त अभाव रहे तो सूखी (दूध न देनेवाली) गायों को भूखी जनता का पेट भरने के लिए उपयोग में लाया जाना चाहिए। आवश्यकता के सिद्धान्त के अनुसार पहले तो मानव समाज को अन्न तथा शाक उपजाने का यत्न करना चाहिए, किन्तु यदि वे इसमें असफल रहें तो फिर मांसाहार करना चाहिए; अन्यथा नहीं।

आजकल मानव समाज की जैसी संरचना है, उसमें सारे संसार में पर्याप्त अन्नोत्पादन होता है। अत: बूचड़खानों के खोले जाने का अनुमोदन नहीं किया जा सकता। कुछ राष्ट्रों के पास इतना अतिरिक्त अन्न रहता है कि उसे समुद्र में फेंक दिया जाता है और कभी-कभी सरकार अधिक अन्न उपजाने पर रोक लगा देती है। कहने का तात्पर्य यह है कि पृथ्वी समूची जनसंख्या के उदर-पोषण के लिए पर्याप्त अन्न उत्पन्न करती है, किन्तु अन्न का वितरण व्यापार के नियमों से तथा लाभ कमाने की इच्छा से सीमित रहता है। फलत: कहीं अन्न का अभाव रहता है, तो कहीं अधिकता। यदि सारी पृथ्वी में अन्न-वितरण की व्यवस्था के लिए एक ही सरकार हो तो अभाव का प्रश्न ही न उठे, बूचड़खाने खोलने की आवश्यकता ही न पड़े और अधिक जनसंख्या के झूठे सिद्धान्त प्रस्तुत करने की आवश्यकता ही न रहे।

पुमान्योषिदुत क्लीब आत्मसम्भावनोऽधमः ।
भूतेषु निरनुक्रोशो नृपाणां तद्वधोऽवधः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

पुमान्—पुरुष; योषित्—स्त्री; उत—भी; क्लीबः—नपुंसक; आत्म-सम्भावनः—अपने ही पोषण ही रुचि रखनेवाला; अधमः—नीच; भूतेषु—अन्य जीवात्माओं को; निरनुक्रोशः—बिना दया के, निर्दय; नृपाणाम्—राजाओं के लिए; तत्—उसका; वधः—वध करना, मारना; अवधः—न मारने के समान।

ऐसा कोई भी क्रूर व्यक्ति—चाहे वह पुरुष, स्त्री या नपुंसक हो—जो अपनी निजी भरण-पोषण में ही रुचि रखता है और दूसरे जीवों पर दया नहीं दिखाता, राजा द्वारा वध्य है। ऐसा वध कभी भी वास्तविक वध नहीं माना जाता।

तात्पर्य : पृथ्वी अपने स्वाभाविक रूप में स्त्री के तुल्य है, अत: उसे राजा के संरक्षण की आवश्यकता होती है। किन्तु पृथु महाराज तर्क करते हैं कि उनके राज्य का कोई नागरिक, चाहे वह पुरुष हो, स्त्री अथवा नपुंसक, यदि अपने साथी पर दयालु नहीं है, तो राजा उसका वध कर सकता है और इस वध की गणना वास्तविक वध में नहीं की जाती। जहाँ तक आध्यात्मिक कार्य-क्षेत्र की बात है, जब भक्त आत्मतुष्ट रह कर श्रीकृष्ण की महिमा का उपदेश नहीं करता तो वह प्रथमकोटि का भक्त नहीं माना जाता। जो भक्त उपदेश देने का प्रयास करता है और उन दीन-दुखियों पर दया रखता है जिन्हें श्रीकृष्ण का ज्ञान नहीं है, वह श्रेष्ठ भक्त है। भगवान् की प्रार्थना करते हुए प्रह्लाद महाराज ने कहा

था कि वे इस भौतिक जगत से अपनी मुक्ति के इच्छुक नहीं हैं, अपितु जब तक समस्त पतित आत्माओं का उद्धार नहीं हो जाता वे उस स्थिति से मुक्त नहीं होना चाहते। भौतिक क्षेत्र में भी यदि कोई व्यक्ति दूसरों का कल्याण नहीं चाहता तो भगवान् या पृथु महाराज जैसे उनके अवतार द्वारा उसकी भर्त्सना की जानी चाहिए।

त्वां स्तब्धां दुर्मदां नीत्वा मायागां तिलशः शरैः ।
आत्मयोगबलेनेमा धारयिष्याम्यहं प्रजाः ॥ २७॥

शब्दार्थ

त्वाम्—तुम; स्तब्धाम्—अत्यन्त गर्वीली; दुर्मदाम्—उन्मत्त; नीत्वा—ऐसी दशा में ले जाकर; माया-गाम्—छद्म गाय; तिलशः—खण्ड-खण्ड; शरैः—अपने बाणों से; आत्म—अपने; योग-बलेन—योगशक्ति से; इमाः—ये सब; धारयिष्यामि—धारण करूँगा; अहम्—मैं; प्रजाः—सभी नागरिक या जीवात्माएँ।

तुम गर्व से अत्यन्त फूली हुई हो और प्रायः उन्मत सी हो गई हो। इस समय तुमने अपनी योगशक्ति से गाय का रूप धारण कर रखा है, तो भी मैं तुम्हें अनाज की दानों की भाँन्ति खण्ड-खण्ड कर दूँगा और अपने योग-बल से सारी जनता को धारण करूँगा।

तात्पर्य : पृथ्वी ने राजापृथु से कहा था कि यदि वे उसका विनाश करेंगे तो वह तथा उसकी प्रजा गर्भ-सागर के जल में गिर जायगी। अब राजा पृथु उसका उत्तर दे रहे हैं। यद्यपि पृथ्वी ने राजा द्वारा वध किये जाने से अपनी बचने के लिए योगशक्ति के द्वारा गाय का रूप धारण लिया था, किन्तु राजा को यह तथ्य ज्ञात था और वह अन्न के छोटे टुकड़ों की भाँति उसके खण्ड-खण्ड करने में तनिक भी नहीं हिचकेगा। जहाँ तक प्रजा के विनाश की बात थी, महाराज पृथु ने बलपूर्वक कहा कि वे अपनी योगशक्ति से प्रजा को सम्भाल लेंगे। उन्हें पृथ्वी की सहायता नहीं चाहिए। भगवान् विष्णु के अवतार होने के कारण पृथु महाराज में संकर्षण की शक्ति थी, जिसे विज्ञानी जन गुरुत्वाकर्षण शक्ति कहते हैं। भगवान् असंख्य ग्रहों को अन्तरिक्ष में बिना किसी अवलम्ब के धारण किये हुए हैं; उसी प्रकार पृथु महाराज को भी अपनी प्रजा को तथा स्वयं को, पृथ्वी की सहायता लिये बिना, अन्तरिक्ष में धारण किये रहने में कोई कठिनाई न होती। भगवान् को योगेश्वर कहा गया है, फलतः राजा ने पृथ्वी को सूचित किया कि पृथ्वी की सहायता के बिना उसके स्थिर रहने के बारे में कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

एवं मन्युमयीं मूर्तिं कृतान्तमिव बिभ्रतम् ।
प्रणता प्राञ्जलिः प्राह मही सञ्जातवेपथुः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; मन्यु-मयीम्—अत्यधिक क्रुद्ध; मूर्तिम्—रूप; कृत-अन्तम्—साक्षात् काल (मृत्यु), यमराज; इव—सदृश; बिभ्रतम्—से युक्त; प्रणता—शरणागत; प्राञ्जलिः—हाथ जोड़े; प्राह—कहा; मही—पृथ्वी ने; सञ्जात—उत्पन्न; वेपथुः—कम्पन।

इस समय पृथु महाराज ठीक यमराज जैसे बन गये और उनका सारा शरीर अत्यन्त क्रोधित प्रतीत होने लगा। दूसरे शब्दों में, वे साक्षात् क्रोध लग रहे थे। उनके शब्द सुनकर पृथ्वी काँपने लगी। उसने आत्म-समर्पण कर दिया और हाथ जोड़ कर इस प्रकार कहने लगी।

तात्पर्य : भगवान् दुष्टों के लिए साक्षात् काल तथा भक्तों के लिए परम प्रिय भगवान् रहते हैं। *भगवद्गीता* (१०.३४) में भगवान् कहते हैं—*मृत्युः सर्वहरश्चाहम्*—मैं सबको निगल लेनेवाली मृत्यु हूँ। श्रद्धाविहीन तथा न विश्वास करनेवाले लोगों का; जो भगवान् के प्राकट्य को चुनौती देते हैं, भगवान् उनके समक्ष काल रूप में प्रकट होकर उद्धार कर देंगे। उदाहरणार्थ, हिरण्यकशिपु ने भगवान् की सत्ता को चुनौती दी तो भगवान् उससे नृसिंह देव के रूप में मिले और उसका वध कर दिया। इसी प्रकार पृथ्वी ने महाराज पृथु को साक्षात् काल के समान देखा और साक्षात् क्रोध के रूप में भी। इसलिए वह काँपने लगी। भगवान् की सत्ता को किसी भी परिस्थिति में कोई चुनौती नहीं दे सकता। श्रेयस्कर यही होता है कि उनकी शरण ग्रहण की जाये और सदैव के लिए उनका संरक्षण प्राप्त किया जाये।

धरोवाच
नमः परस्मै पुरुषाय मायया
विन्यस्तनानातनवे गुणात्मने ।
नमः स्वरूपानुभवेन निर्धुत-
द्रव्यक्रियाकारकविभ्रमोर्मये ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

धरा—पृथ्वी; उवाच—बोली; नमः—मैं नमस्कार करती हूँ; परस्मै—सत्त्व को; पुरुषाय—पुरुष को; मायया—माया से; विन्यस्त—विस्तारित; नाना—अनेक; तनवे—जिसके रूप; गुण-आत्मने—तीनों गुणों के स्रोत को; नमः—नमस्कार करती हूँ; स्वरूप—वास्तविक रूप का; अनुभवेन—समझ कर; निर्धुत—अप्रभावित; द्रव्य—पदार्थ; क्रिया—कर्म; कारक—कर्ता; विभ्रम—मोह; ऊर्मये—भवसागर की तरंगें।

पृथ्वी ने कहा : हे भगवन्, आपकी स्थिति दिव्य है और आपने अपनी माया के द्वारा तीनों

गुणों की अन्योन्य क्रिया से स्वयं को नाना रूपों तथा योनियों में विस्तारित कर रखा है। अन्य कुछ स्वामियों से भिन्न आप सदैव दिव्य स्थिति में रहते हैं और भौतिक सृष्टि द्वारा प्रभावित नहीं होते जो विभिन्न भौतिक अन्योन्य क्रियाओं से प्रभावित है। फलतः आप भौतिक कर्मों से मोहग्रस्त नहीं होते।

तात्पर्य : जब राजा पृथु ने राज्यादेश सुनाया तो पृथ्वी समझ गई कि राजा भगवान् का साक्षात् शक्त्यावेश अवतार है। फलस्वरूप राजा भूत, वर्तमान तथा भविष्य सब कुछ जानता है; अतः पृथ्वी उसे धोखा नहीं दे सकती। पृथ्वी पर आरोप लगाया गया था कि वह जड़ी-बूटियों तथा अन्नों के बीजों को छिपाये हुए है, अतः वह यह बताने जा रही थी कि उन्हें किस प्रकार पुनः प्रकट किया जा सकता है। पृथ्वी को पता था कि राजा उस पर अत्यन्त क्रुद्ध है और उसे आभास हुआ कि जब तक वह उनके क्रोध को शान्त नहीं कर लेती, तब तक उनके समक्ष कोई सकारात्मक कार्यक्रम रख पाना असम्भव था। अतः प्रारम्भ में विनीत भाव से वह अपने आपको भगवान् के शरीर के अंश रूप में प्रस्तुत करती है। वह निवेदन करती है कि भौतिक जगत में जितने भी दैहिक रूप प्रकट होते हैं, वे विराट शरीर के अंश हैं। यह कहा जाता है कि अधोलोक भगवान् के पाँव के अंश हैं और उच्चतर लोक उनके सिर के अंश हैं। भगवान् इस भौतिक जगत की सृष्टि अपनी बहिरंगा शक्ति से करते हैं, किन्तु एक प्रकार से यह बहिरंगा शक्ति उनसे भिन्न नहीं है। किन्तु साथ ही भगवान् बहिरंगा शक्ति में प्रकट नहीं होते, वरन् वे सदैव आत्म-शक्ति में स्थित होते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.१०) में कहा गया है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः*—भौतिक प्रकृति भगवान् की अध्यक्षता में कार्य कर रही है। अतः भगवान् बहिरंगा शक्ति से अनासक्त नहीं हैं। इस श्लोक में उन्हें *गुण-आत्मा* कहकर सम्बोधित किया गया है, जिसका अर्थ है भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों का स्रोत। जैसाकि *भगवद्गीता* (१३.१५) में कहा गया है—*निर्गुणं गुणभोक्तृ च*—बहिरंगा शक्ति से अनासक्त रहकर भी भगवान् उसके स्वामी हैं। इस प्रसंग में भगवान् चैतन्य के दर्शन को सरलतापूर्वक समझा जा सकता है कि भगवान् एक ही समय अपनी सृष्टि के साथ एक हैं तथा भिन्न भी हैं (*अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्व*)। पृथ्वी कहती है कि यद्यपि भगवान् बहिरंगा शक्ति से आसक्त हैं, तो भी वे *निर्धूत* हैं, वे बहिरंगा शक्ति से कर्मों से सर्वथा मुक्त हैं। भगवान् सदैव अपनी

अन्तरंगा शक्ति में स्थित रहते हैं अत: इस श्लोक में कहा गया है—*स्वरूप अनुभवेन*। भगवान् सदैव अपनी अन्तरंग शक्ति में स्थित रहते हैं, फिर भी उन्हें बहिरंगा तथा अन्तरंगा शक्तियों का पूरा ज्ञान रहता है, जिस प्रकार उनका भक्त सदैव दिव्य स्थिति में रहते हुए भौतिक शरीर से आसक्त हुए बिना भगवान् की सेवा करता है। श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं, जो भक्त सदैव भगवान् की भक्ति में लीन रहता है, वह अपनी भौतिक स्थिति की परवाह न करके सदैव मुक्त रहता है। यदि एक भक्त दिव्य बना रह सकता है, तो फिर श्रीभगवान् के लिए सर्वथा सम्भव है कि वे बहिरंगा शक्ति से आसक्त हुए बिना अन्तरंगा शक्ति में बने रहें। इस स्थिति को समझने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। जिस प्रकार भक्त अपनी भौतिक देह से मोहग्रस्त नहीं होता, उसी प्रकार भगवान् इस भौतिक जगत की बहिरंगा शक्ति से कभी भी मोहग्रस्त नहीं होते। भक्त के लिए भौतिक देह कभी व्यवधान नहीं बनती, यद्यपि वह प्राकृतिक देह में स्थित रहता है, जो अनेक भौतिक परिस्थितियों से संचालित है—यथा शरीर के भीतर पाँच प्रकार के वायु हैं तथा अनेक अंग हैं—हाथ, पाँव, जीभ, लिंग, गुदा इत्यादि और ये सब अलग-अलग ढंग से कार्य करते हैं। आत्मा अर्थात् जीवात्मा, जो कि अपनी स्थिति से परिचित होता है, निरन्तर हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे मंत्र के कीर्तन में रत रहता है। उसका शारीरिक कार्यों से कोई सरोकार नहीं रहता। यद्यपि भगवान् इस भौतिक जगत से सम्बन्धित हैं, किन्तु वे सदैव आत्म-शक्ति में स्थित रहते हैं और भौतिक जगत के कार्यों से अनासक्त बने रहते हैं। जहाँ तक भौतिक शरीर का प्रश्न है, उसमें छ: प्रकार की तरंगें अथवा लाक्षणिक भौतिक अवस्थाएँ हैं—भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु। मुक्त जीव कभी इन छहों से कोई प्रयोजन नहीं रखता। भगवान् समस्त शक्तियों के सर्वशक्तिमान स्वामी होने के कारण बहिरंगा शक्ति से कुछ सम्बन्ध रखते हैं, किन्तु वे भौतिक जगत में बहिरंगा शक्ति की प्रतिक्रियाओं से सदैव स्वतंत्र रहते हैं।

येनाहमात्मायतनं विनिर्मिता
धात्रा यतोऽयं गुणसर्गसङ्ग्रहः ।
स एव मां हन्तुमुदायुधः स्वरा-

डुपस्थितोऽन्यं शरणं कमाश्रये ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

येन—जिसके द्वारा; अहम्—मैं; आत्म-आयतनम्—समस्त जीवात्माओं का आश्रय; विनिर्मिता—बनाया गया; धात्रा—परमेश्वर द्वारा; यतः—कारण; अयम्—यह; गुण-सर्ग-सङ्ग्रहः—विभिन्न भौतिक तत्त्वों का मेल; सः—वह; एव—निश्चय ही; माम्—मुझको; हन्तुम्—मारने के लिए; उदायुधः—हथियार सहित उद्यत; स्वराट्—पूर्णतया स्वतंत्र; उपस्थितः—मेरे समक्ष उपस्थित; अन्यम्—अन्य; शरणम्—शरण; कम्—किसकी; आश्रये—शरण में जाऊँ।

पृथ्वी ने आगे कहा : हे भगवन्, आप भौतिक सृष्टि के पूर्ण संचालक हैं। आपने इस दृश्य जगत की तथा तीन गुणों की उत्पत्ति की है, अतः आपने मुझ पृथ्वी को बनाया है, जो समस्त जीवात्माओं की आश्रय है। फिर भी हे भगवन्, आप परम स्वतंत्र हैं। अब जबकि चूँकि आप मेरे समक्ष उपस्थित होकर मुझे अपने हथियारों से मारने के लिए उद्यत हैं, आप मुझे बताएँ कि मैं किसकी शरण गहूँ और मुझे शरण दे भी कौन सकता है?

तात्पर्य : यहाँ पर पृथ्वी पूर्ण आत्म-समर्पण के लक्षण प्रकट कर रही है। जैसाकि कहा जा चुका है कि जिसे श्रीकृष्ण मारने को उद्यत हों, भला उसे कौन बचा सकता है और जिसकी वे रक्षा करें उसको कौन मार सकता है? चूँकि भगवान् पृथ्वी को मारने के लिए उद्यत थे, अतः उसे कोई भी शरण देनेवाला नहीं था। हम सबों को भगवान् का संरक्षण प्राप्त है, अतः उचित यही होगा कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति उनकी शरण में जाये। *भगवद्गीता* (१८.६६) में भगवान् उपदेश देते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

"तू सब प्रकार के धर्मों को त्याग कर एकमात्र मेरी शरण में आ जा। मैं तेरा सम्पूर्ण पापों से उद्धार कर दूँगा, तू डर मत।"

श्रील भक्ति विनोद ठाकुर गाते हैं, "हे भगवन्, जो कुछ भी मेरे पास है—यहाँ तक कि अपना मन, अपना घर, अपना शरीर, तथा इस शरीर से सम्बन्धित जो कुछ भी है, मैं अब आपको समर्पित करता हूँ। अब आप अपनी इच्छानुसार जो भी करना चाहें, उसके लिए पूर्णतः स्वतंत्र हैं। आप चाहें तो मुझे मारें और चाहें तो बचाएँ। प्रत्येक दशा में मैं आपका शाश्वत दास हूँ और आपको अधिकार है कि चाहे जो भी करें।"

य एतदादावसृजच्चराचरं
स्वमाययात्माश्रययावितर्क्यया ।
तयैव सोऽयं किल गोप्तुमुद्यतः
कथं नु मां धर्मपरो जिघांसति ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; एतत्—ये; आदौ—सृष्टि के आरम्भ में; असृजत्—उत्पन्न किया; चर-अचरम्—जड़ तथा जंगम जीव; स्व-मायया—अपनी शक्ति से; आत्म-आश्रयया—अपने ही आश्रय में शरण प्राप्त; अवितर्क्यया—अकल्पनीय; तया—उसी माया से; एव—निश्चय ही; सः—वह; अयम्—यह राजा; किल—निश्चय ही; गोप्तुम् उद्यतः—शरण देने के लिए तैयार; कथम्—कैसे; नु—तब; माम्—मुझको; धर्म-परः—धर्मपालक; जिघांसति—मारने की इच्छा करता है।

आपने सृष्टि के प्रारम्भ में अपनी अकल्पनीय शक्ति से इन समस्त जड़ तथा चेतन जीवों को उत्पन्न किया है। अब आप उसी शक्ति से जीवात्माओं की रक्षा करने के लिए उद्यत हैं। आप धर्म के नियमों के परम रक्षक हैं। आप मुझ गोरूप को मारने के लिए इतने उत्सुक क्यों हैं?

तात्पर्य : पृथ्वी तर्क करती है कि इसमें सन्देह नहीं है कि जो सृष्टि करता है, वह अपनी इच्छा से संहार भी कर सकता है। पृथ्वी प्रश्न करती है कि, जब भगवान् हर एक प्राणी को शरण देने के लिए तैयार रहते हैं, तो फिर आप उसे क्यों मारना चाह रहे हैं? अन्ततः पृथ्वी ही समस्त जीवात्माओं की आश्रय स्थल है और पृथ्वी ही उनके लिए खाद्यान्न उत्पन्न करती है।

नूनं बतेशस्य समीहितं जनै-
स्तन्मायया दुर्जययाकृतात्मभिः ।
न लक्ष्यते यस्त्वकरोदकारयद्-
योऽनेक एकः परतश्च ईश्वरः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—अवश्य ही; बत—निश्चय ही; ईशस्य—भगवान् का; समीहितम्—कार्य, योजना; जनैः—मनुष्यों द्वारा; तत्-मायया—उनकी शक्ति से; दुर्जयया—जो दुर्जय है; अकृत-आत्मभिः—जो अधिक अनुभवी नहीं हैं; न—कभी नहीं; लक्ष्यते—देखे जाते हैं; यः—जो; तु—तब; अकरोत्—उत्पन्न किया; अकारयत्—उत्पन्न कराया; यः—जो; अनेकः—कई; एकः—एक; परतः—अकल्पनीय शक्ति से; च—तथा; ईश्वरः—नियन्ता।

हे भगवन्, यद्यपि आप एक हैं, तो भी अपनी अकल्पनीय शक्तियों से आपने अपने को अनेक रूपों में विस्तारित कर रखा है। आपने इस ब्रह्माण्ड की रचना ब्रह्मा के माध्यम से की है। अतः आप प्रत्यक्षतः पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। जो लोग अधिक अनुभवी नहीं हैं, वे आपके दिव्य कार्यों को नहीं समझ सकते क्योंकि वे व्यक्ति आपकी माया से आवृत हैं।

तात्पर्य : ईश्वर एक है, किन्तु वह अनेक शक्तियों, यथा भौतिक शक्ति, आध्यात्मिक शक्ति, तटस्था

शक्ति इत्यादि में विस्तार करता है। जब तक किसी पर विशेष कृपा न हो वह नहीं समझ सकता कि इन शक्तियों के माध्यम से भगवान् किस प्रकार कार्य करते हैं। जीवात्माएँ भी भगवान् की तटस्था शक्तियाँ हैं। ब्रह्मा भी इन जीवात्माओं में से एक है, किन्तु परमेश्वर ने इन्हें विशेष शक्ति प्रदान की है। यद्यपि ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड के स्रष्टा माने जाते हैं, किन्तु परम स्रष्टा तो भगवान् ही हैं। इस श्लोक का *मायया* शब्द महत्त्व का है। माया का अर्थ है शक्ति। ब्रह्माजी शक्तिमय नहीं हैं, वरन् वे भगवान् की तटस्था शक्ति के प्राकट्यों में से एक हैं। कहने का तात्पर्य यह कि ब्रह्मा मात्र कर्त्ता हैं। यद्यपि कभी-कभी योजनाएँ विरोधाभासी लगती हैं, किन्तु समस्त कर्म के पीछे एक विशिष्ट योजना होती है। जो अनुभवी है और भगवान् पर जिसकी कृपा है, वह भगवान् की परम योजना को, जिसके अनुसार सारे काम हो रहे हैं, समझ सकता है।

सर्गादि योऽस्यानुरुणद्धि शक्तिभि-
र्द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मभिः ।
तस्मै समुन्नद्धनिरुद्धशक्तये
नमः परस्मै पुरुषाय वेधसे ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

सर्ग-आदि—उत्पत्ति, पालन तथा संहार; यः—जो; अस्य—इस भौतिक जगत का; अनुरुणद्धि—उत्पन्न करता है; शक्तिभिः—अपनी ही शक्ति से; द्रव्य—भौतिक तत्त्व; क्रिया—इन्द्रियाँ; कारक—नियामक देवता; चेतना—बुद्धि; आत्मभिः—अहंकार से; तस्मै—उसको; समुन्नद्ध—प्रकट; निरुद्ध—अवरुद्ध, छिपी; शक्तये—इन शक्तियों का स्वामी; नमः—नमस्कार; परस्मै—दिव्य; पुरुषाय—भगवान् को; वेधसे—समस्त कारणों के कारण।

हे भगवन्, आप अपनी शक्तियों द्वारा भौतिक तत्त्वों, इन्द्रियों, इनके नियामक देवों, बुद्धि, अहंकार तथा प्रत्येक वस्तु के आदि कारण हैं। अपनी शक्ति से आप इस सम्पूर्ण दृश्य जगत की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं। आपकी ही शक्ति से प्रत्येक वस्तु कभी प्रकट होती है और कभी प्रकट नहीं होती है। अतः आप समस्त कारणों के कारण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। मैं आपको सादर नमस्कार करती हूँ।

तात्पर्य : सभी कार्य सम्पूर्ण शक्ति अर्थात् *महत्-तत्त्व* की उत्पत्ति के साथ प्रारम्भ होते हैं। तब तीन गुणों के क्षोभ से भौतिक तत्त्वों की उत्पत्ति होती है; मन, अहंकार तथा इन्द्रियों के नियामक भी तभी उत्पन्न होते हैं। ये सब एक-एक करके भगवान् की अकल्पनीय शक्ति से प्रसूत होते हैं। आधुनिक

इलेक्ट्रानिकी में केवल एक बटन दबाने से क्रियाओं की शृंखला चालू हो जाती है, जिससे एक के बाद एक अनेक कार्य सम्पन्न होते हैं। इसी प्रकार भगवान् उत्पत्ति का बटन दबाते हैं, तो विभिन्न शक्तियाँ तत्त्वों को तथा उनके विभिन्न नियामकों को उत्पन्न करती हैं और बाद में अन्योन्य क्रियाओं से भगवान् की अकल्पनीय योजना बन जाती है।

स वै भवानात्मविनिर्मितं जगद्
भूतेन्द्रियान्तःकरणात्मकं विभो ।
संस्थापयिष्यन्नज मां रसातला-
दभ्युज्जहाराम्भस आदिसूकरः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निश्चय ही; भवान्—स्वयं; आत्म—अपने से; विनिर्मितम्—निर्मित; जगत्—जगत; भूत—भौतिक तत्त्व; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; अन्तः-करण—मन, हृदय; आत्मकम्—से बना; विभो—हे स्वामी; संस्थापयिष्यन्—पालन करते हुए; अज—हे अजन्मा; माम्—मुझको; रसातलात्—रसातल नामक अधो लोक से; अभ्युज्जहार—बाहर निकाला; अम्भसः—जल से; आदि—प्रारम्भिक; सूकरः—वराह।

हे भगवन्, आप अजन्मा हैं। एक बार आपने आदि सूकर (वराह) रूप में मुझे ब्रह्माण्ड के नीचे के जल से बाहर निकाला था। आपने संसार के पालन हेतु अपनी शक्ति से सभी भौतिक तत्त्वों, इन्द्रियों तथा मन की उत्पत्ति की है।

तात्पर्य : यहाँ पर उस समय का उल्लेख है जब श्रीकृष्ण वराह के रूप के में प्रकट हुए थे और जल में डूबी हुई पृथ्वी का उद्धार किया था। हिरण्याक्ष असुर ने धरती को इसकी कक्षा से अलग करके गर्भोदक सागर के जल में फेंक दिया था। तब भगवान् ने आदि वराह का रूप धारण करके धरती का उद्धार किया था।

अपामुपस्थे मयि नाव्यवस्थिताः
प्रजा भवानद्य रिरक्षिषुः किल ।
स वीरमूर्तिः समभूद्धराधरो
यो मां पयस्युग्रशरो जिघांससि ॥ ३५॥

शब्दार्थ

अपाम्—जल की; उपस्थे—सतह पर स्थित; मयि—मुझमें; नावि—नाव में; अवस्थिताः—खड़े हुए; प्रजाः—जीवात्माएँ; भवान्—आप; अद्य—जब; रिरक्षिषुः—रक्षा करने के इच्छुक; किल—निस्सन्देह; सः—वह; वीर-मूर्तिः—परम वीर के रूप में; समभूत्—हो गया; धरा-धरः—पृथ्वीलोक का रक्षक; यः—जो; माम्—मुझको; पयसि—दूध के लिए; उग्र-शरः—तीखे बाणों से; जिघांससि—मारना चाहते हो।

हे भगवन्, इस प्रकार आपने एक बार जल-राशि से मेरा उद्धार किया, जिससे आपका नाम धराधर, अर्थात् पृथ्वी को धारण करनेवाला पड़ा। तो भी आप इस समय, महान् वीर के रूप में अपने तीखे बाणों से मुझे मारने के लिए उद्यत हैं। किन्तु मैं तो जल की नाव के सदृश हूँ जो प्रत्येक वस्तु को तैराये रखती है।

तात्पर्य : भगवान् *धराधर* कहलाते हैं जिसका अर्थ है, ''वह जो वराह अवतार के रूप में पृथ्वी को अपनी दाढ़ों पर रखते हैं।'' इस प्रकार पृथ्वी भगवान् के विरोधाभासी कार्यों की बात बता रही है। यद्यपि भगवान् ने एक बार पृथ्वी की रक्षा की थी, किन्तु अब वे पृथ्वी रूपी नाव को उलटना चाह रहे हैं। भगवान् की गतिविधि को कोई नहीं समझ पाता। अल्पज्ञान के कारण मनुष्य को भगवान् की गतिविधियाँ विरोधाभासी जान पड़ती हैं।

नूनं जनैरीहितमीश्वराणा-
अस्मद्विधैस्तद्गुणसर्गमायया ।
न ज्ञायते मोहितचित्तवर्त्मभि-
स्तेभ्यो नमो वीरयशस्करेभ्यः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निस्सन्देह; जनैः—जनता द्वारा; ईहितम्—कार्यकलाप, गतिविधियाँ; ईश्वराणाम्—नियन्ताओं के; अस्मत्-विधैः—मेरे सदृश; तत्—भगवान् के; गुण—भौतिक प्रकृति के गुणों का; सर्ग—सृष्टि करनेवाली; मायया—अपनी शक्ति से; न—कभी नहीं; ज्ञायते—समझे जाते हैं; मोहित—मोहग्रस्त; चित्त—जिनके मन; वर्त्मभिः—रास्ता; तेभ्यः—उनको; नमः—नमस्कार; वीर-यशः-करेभ्यः—जो वीरों को भी ख्याति प्रदान करता है।.

हे भगवन्, मैं भी आपकी त्रिगुणात्मक शक्ति से उत्पन्न हूँ, फलतः मैं आपकी गतिविधियों से भ्रमित हूँ। जब आपके भक्तों के कार्यकलाप समझ के परे हैं, तो फिर आपकी लीलाओं के विषय में क्या कहा जाये? इस प्रकार प्रत्येक वस्तु हमें विरोधाभासी और आश्चर्यजनक लगती है।

तात्पर्य : भगवान् के विभिन्न रूपों तथा अवतारों के कार्यकलाप असामान्य तथा आश्चर्यजनक होते हैं। बेचारा क्षुद्र मानव इन कार्यकलापों के उद्देश्यों तथा योजनाओं को कैसे समझ सकता है? अतः श्रील जीव गोस्वामी ने कहा है कि जब तक भगवान् के कार्यों को अकल्पनीय नहीं स्वीकार कर लिया जाता, उनकी व्याख्या असम्भव है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् गोलोक वृन्दावन में श्रीकृष्ण के रूप में नित्य स्थित हैं। उसके साथ ही साथ उन्होंने अनेक रूपों में अपना विस्तार कर रखा है यथा राम, नृसिंह,

वराह तथा संकर्षण के अन्य प्रत्यक्ष अवतार। संकर्षण बलदेव के विस्तार हैं और बलदेव श्रीकृष्ण के प्रथम प्राकट्य हैं। इसलिए ये सभी अवतार *कला* कहलाते हैं।

ईश्वराणाम् शब्द सभी ईश्वरों का सूचक है। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.३९) में कहा गया है— *रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्। श्रीमद्भागवत* में इसकी पुष्टि हुई है कि समस्त अवतार भगवान् के आंशिक विस्तार अर्थात् कला हैं। किन्तु श्रीकृष्ण आदि भगवान् हैं। *ईश्वराणाम्* शब्द बहुवचन है, अत: इससे यह अर्थ नहीं ग्रहण करना चाहिए कि कई ईश्वर हैं। वास्तव में ईश्वर तो एक है, किन्तु वह अनेक रूपों में अपना विस्तार करता है और अनेक प्रकार से कार्य करता है। कभी-कभी सामान्य पुरुष इससे किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है और इन कार्यों को विरोधाभासी0 मानने लगता है, किन्तु ये हैं नहीं। भगवान् के समस्त कार्यकलापों के पीछे एक महान् योजना छिपी रहती है।

समझने के लिए कभी-कभी यह कहा जाता है कि भगवान् चोर के तथा गृहस्थ के भी हृदय में विद्यमान हैं, किन्तु चोर के हृदय का परमात्मा कहता है, ''जाओ और अमुक घर से वस्तुएँ चुरा लाओ,'' किन्तु उसी समय वह गृहस्थ से कहता है, ''चोरों तथा सेंध लगाने वालों से होशियार रहो।'' भिन्न भिन्न व्यक्तियों को दिये गये ये आदेश विरोधी प्रतीत होते हैं, किन्तु हमें जान लेना चाहिए कि भगवान् परमात्मा के पास कुछ योजना है और हमें ऐसे कार्यकलापों को विरोधी नहीं मानना चाहिए। सबसे अच्छा मार्ग है कि पूर्ण मनोयोग से भगवान् में समर्पित हो जाया जाये और उनके द्वारा रक्षित होकर सदैव शान्तिपूर्वक रहा जाये।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत ''महाराज पृथु का पृथ्वी पर कुपित होना'' नामक सत्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter अठारह

पृथु महाराज द्वारा पृथ्वी का दोहन

मैत्रेय उवाच
इत्थं पृथुमभिष्टूय रुषा प्रस्फुरिताधरम् ।
पुनराहावनिर्भीता संस्तभ्यात्मानमात्मना ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने आगे कहा; इत्थम्—इस प्रकार; पृथुम्—राजा पृथु को; अभिष्टूय—स्तुति करने के बाद; रुषा—क्रोध से; प्रस्फुरित—काँपते हुए; अधरम्—उसके होंठ; पुनः—फिर; आह—उसने कहा; अवनिः—पृथ्वीलोक; भीता—डरी हुई; संस्तभ्य—स्थिर होकर; आत्मानम्—मन को; आत्मना—बुद्धि से।

मैत्रय ने विदुर को सम्बोधित करते हुए आगे कहा : हे विदुर, जब पृथ्वी ने स्तुति पूरी करती तब भी राजा पृथु शान्त नहीं हुए थे, उनके होंठ क्रोध से काँप रहे थे। यद्यपि पृथ्वी डरी हुई थी, किन्तु उसने धैर्य धारण करके राजा को आश्वस्त करने के लिए इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया।

सन्नियच्छाभिभो मन्युं निबोध श्रावितं च मे ।
सर्वतः सारमादत्ते यथा मधुकरो बुधः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सन्नियच्छ—कृपया शान्त करें; अभिभो—हे राजा; मन्युम्—क्रोध; निबोध—समझने का प्रयास करें; श्रावितम्—जो कुछ कहा गया है; च—भी; मे—मेरे; सर्वतः—सभी जगह से; सारम्—सार; आदत्ते—ग्रहण करता है; यथा—जिस प्रकार; मधु-करः—भौंरा; बुधः—बुद्धिमान पुरुष।

हे भगवन्, आप अपने क्रोध को पूर्णतः शान्त करें और जो कुछ मैं निवेदन कर रही हूँ, उसे धैर्यपूर्वक सुनें। कृपया इस ओर ध्यान दें। मैं भले ही दीन हूँ, किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति सभी स्थानों से ज्ञान के सार को ग्रहण करता है, जिस प्रकार भौंरा प्रत्येक फूल से मधु संचित करता है।

अस्मिंल्लोकेऽथवामुष्मिन्मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
दृष्टा योगाः प्रयुक्ताश्च पुंसां श्रेयःप्रसिद्धये ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अस्मिन्—इस; लोके—जीवनकाल में; अथ वा—या; अमुष्मिन्—अगले जन्म में; मुनिभिः—मुनियों द्वारा; तत्त्व—सत्य; दर्शिभिः—दर्शन कर चुकने वालों के द्वारा; दृष्टाः—संस्तुत; योगाः—विधियाँ; प्रयुक्ताः—काम में लाई गईं; च—भी; पुंसाम्—मनुष्यों के; श्रेयः—लाभ; प्रसिद्धये—प्राप्त करने में।

मानव समाज को इस जीवन में ही नहीं वरन् अगले जन्म में भी लाभ पहुँचाने के लिए बड़े-बड़े ऋषियों तथा मुनियों ने जनता की सम्पन्नता के अनुकूल विभिन्न विधियों की संस्तुति की है।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता में वेदों में प्रस्तुत तथा मुनियों और ब्राह्मणों द्वारा प्रस्तुत पूर्ण ज्ञान का उपयोग मानव समाज के लाभ के लिए किया जाता है। वैदिक आदेश श्रुति कहलाते हैं और ऋषियों ने इन सिद्धान्तों के विषय में जो अतिरिक्त ज्ञान प्रस्तुत किया है, वह स्मृति कहलाता है। ये वैदिक आदेशों का अनुसरण करते हैं। मानव-समाज को *श्रुति* तथा *स्मृति* दोनों के ही आदेशों का लाभ उठाना चाहिए । जो भी आध्यात्मिक जीवन में उन्नति करना चाहता है उसे इन आदेशों को ग्रहण करके नियमों का पालन करना चाहिए। श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृत सिंधु* में कहा है कि यदि कोई अपने को आध्यात्मिक जीवन में उन्नत मानता है, किन्तु श्रुतियों तथा स्मृतियों के संदर्भ ग्रहण नहीं करता तो वह समाज के लिए परेशानी पैदा करना है। मनुष्य को चाहिए कि श्रुतियों तथा स्मृतियों का पालन न केवल आध्यात्मिक जीवन में, वरन् भौतिक जीवन में भी करे। जहाँ तक मानव समाज का सम्बध है, मानव-जाति के जनक मनु द्वारा दिये गये नियमों का भी, जिसे *मनुस्मृति* कहते हैं, पालन किया जाना चाहिए।

मनुस्मृति में कहा गया है कि स्त्री को स्वतंत्रता नहीं प्रदान करनी चाहिए, वरन् उसे पिता, पति तथा प्रौढ़ पुत्र का संरक्षण मिलना चाहिए। प्रत्येक दशा में स्त्री को किसी संरक्षक के आश्रित रहना चाहिए। आजकल स्त्रियों को पुरुषों की भाँति पूरी स्वतंत्रता मिली हुई है, किन्तु हम देखते हैं कि ऐसी स्वतंत्र स्त्रियाँ संरक्षकों की देखरेख में रहनेवाली स्त्रियों की अपेक्षा अधिक सुखी नहीं हैं। यदि लोग ऋषियों, श्रुतियों तथा स्मृतियों के आदेशों का पालन करें तो वे इस जीवन में और अगले जीवन में भी सुखपूर्वक रह सकते हैं। दुर्भाग्यवश धूर्त लोग सुखी रहने के लिए जीवन के अनेक साधन पैदा कर रहे हैं। हर व्यक्ति तरह-तरह के साधन ढूँढ रहा है। इस प्रकार मानव-समाज भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन का कोई आदर्श नहीं रह गया है, जिससे लोग भरमाये हुए हैं और संसार में न तो शान्ति है न सुख। यद्यपि संयुक्त राष्ट्र द्वारा मानव समाज की समस्याओं को हल करने के प्रयास हो रहे हैं, किन्तु वे अभी भी दिग्भ्रमित हैं। वेदों के मुक्त आदेशों का पालन न करने से वे दुखी हैं।

इस श्लोक में दो महत्त्वपूर्ण शब्द आये हैं—*अस्मिन्* तथा *अमुष्मिन्*। *अस्मिन्* का अर्थ है, ''इस जीवन में'' और *अमुष्मिन्* का अर्थ है, ''अगले जीवन में।'' दुर्भाग्यवश इस युग में बड़े-बड़े प्रोफेसरों तथा विद्वानों का भी विश्वास है कि अगला जीवन होता ही नहीं; सब कुछ इसी जीवन में समाप्त हो

जाता है। चूँकि ये सब धूर्त तथा मूर्ख हैं, अतः ये कौन सा उपदेश दे सकते हैं? फिर भी ये अपने को विद्वान् तथा प्रोफेसर मानते हैं। इस श्लोक में *अमुष्मिन्* शब्द अत्यन्त सुस्पष्ट है। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह अपने जीवन को इस प्रकार ढाले कि उसका अगला जीवन लाभप्रद हो। जिस प्रकार बच्चों को इसलिए शिक्षित किया जाता कि बाद में वे सुखी रहें उसी प्रकार मनुष्य को इस जीवन में शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, जिससे मृत्यु के पश्चात् शाश्वत तथा सम्पन्न जीवन प्राप्त किया जा सके। इसलिए आवश्यक है कि जो कुछ श्रुतियों तथा स्मृतियों में दिया हुआ है, लोग उसका पालन करें जिससे जीवन-उद्देश्य सफल हो।

तानातिष्ठति यः सम्यगुपायान्पूर्वदर्शितान् ।
अवरः श्रद्धयोपेत उपेयान्विन्दतेऽञ्जसा ॥ ४॥

शब्दार्थ

तान्—उन; आतिष्ठति—पालन करता है; यः—जो कोई; सम्यक्—पूर्णतः; उपायान्—नियम; पूर्व—प्राचीनकाल में; दर्शितान्—आदेशित; अवरः—अनुभव-हीन; श्रद्धया—श्रद्धया से; उपेतः—स्थित; उपेयान्—कर्मफल; विन्दते—सुख भोगता है; अञ्जसा—सरलता से।

जो कोई प्राचीन ऋषियों द्वारा बताये गये नियमों तथा आदेशों का पालन करता है, वह व्यावहारिक कार्यों में उनका उपयोग कर सकता है। ऐसा व्यक्ति सरलता से जीवन तथा सुखों का भोग कर सकता है।

तात्पर्य : वैदिक नियम हमें प्रेरित करते हैं कि हम महापुरुषों के पदचिह्नों का अनुसरण करें (*महाजनो येन गतः स पन्थाः*)। इस प्रकार हम अपने इस जीवन तथा अगले जीवन में लाभ उठा सकते हैं और अपने भौतिक जीवन को भी सुधार सकते हैं। प्राचीन ऋषियों तथा मुनियों द्वारा स्थापित नियमों का पालन करते हुए हम जीवन का उद्देश्य बड़ी सरलता से समझ सकते हैं। इस श्लोक का *अवरः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है, "अनुभवहीन।" प्रत्येक बद्धजीव अनुभवहीन होता है। प्रत्येक व्यक्ति *अबोधजात* अर्थात् जन्मतः मूर्ख होता है। आजकल सभी प्रजातांत्रिक सरकारों में सभी प्रकार के मूर्ख तथा धूर्त निर्णय करते हैं, लेकिन वे कर क्या सकते हैं? उनके विधान का क्या परिणाम निकलता है? वे आज एक नियम बनाते हैं और कल उसे सबक के मारे निरस्त कर देते हैं। एक राजनीतिक दल देश का उपयोग एक उद्देश्य के लिए करता है, तो अगले क्षण दूसरा दल दूसरे

प्रकार की सरकार बनाकर सभी नियमों तथा विधानों का अन्त कर देता है। यह चर्वितचर्वण विधि (*पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्*) मानव समाज को कभी सुखी नहीं बना सकती। मानव समाज को सुखी तथा सम्पन्न बनाने के लिए हमें मुक्त पुरुषों द्वारा दी गई आदर्श विधियों को स्वीकार करना होगा।

ताननादृत्य योऽविद्वानर्थानारभते स्वयम् ।
तस्य व्यभिचरन्त्यर्था आरब्धाश्च पुनः पुनः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तान्—उनकी; अनादृत्य—उपेक्षा करके; यः—जो कोई; अविद्वान्—धूर्त; अर्थान्—योजनाएँ; आरभते—प्रारम्भ करता है; स्वयम्—स्वयं; तस्य—उसके; व्यभिचरन्ति—सफल नहीं होते; अर्थाः—कार्य; आरब्धाः—प्रयत्न किये गये; च—तथा; पुनः पुनः—बार-बार।

ऐसा मूर्ख पुरुष जो कोई मनोकल्पना द्वारा अपने निजी साधन तथा माध्यम तैयार करता है और साधुओं द्वारा स्थापित दोषहीन आदेशों को मान्यता नहीं प्रदान करता, वह अपने प्रयासों में बार-बार असफल होता है।

तात्पर्य : आजकल प्राचीन आचार्यों तथा मुक्त पुरुषों द्वारा दिये गये निर्दोष आदेशों का उल्लंघन करना एक फैशन बन चुका है। आजकल के लोग इतने पतित हो चुके हैं कि उन्हें मुक्तजीव या बद्धजीव में अन्तर प्रतीत नहीं होता। बद्धजीव में चार दोष होते हैं—वह त्रुटि करेगा, वह मोहग्रस्त होगा, वह दूसरों को धोखा दे सकता है तथा उसकी इन्द्रियाँ अपूर्ण होती हैं। अतः हमें मुक्त पुरुषों से आदेश ग्रहण करना होगा। कृष्णभावनामृत आन्दोलन सीधे भगवान् से उन व्यक्तियों के माध्यम से आदेश प्राप्त करता है, जो इन आदेशों का दृढ़ता से पालन करते रहते हैं। कोई अनुयायी भले ही मुक्त पुरुष न हो, किन्तु यदि वह मुक्त रूप भगवान् का अनुसरण करता है, तो स्वाभाविक रूप से उसके कर्म भौतिक प्रकृति के कल्मषों से मुक्त होते हैं। अतः भगवान् चैतन्य कहते हैं, "मेरे आदेश से तुम गुरु बन सकते हो।" भगवान् के दिव्य आदेशों में पूर्ण श्रद्धा रखकर तथा इन आदेशों का पालन करके मनुष्य तुरन्त गुरु बन सकता है। भौतिकतावादी लोग मुक्त पुरुष से आदेश ग्रहण करने में रुचि नहीं रखते, वे तो अपने ही कल्पित विचारों में रुचि रखते हैं, जिसके कारण उन्हें अपने प्रयासों में बार-बार असफल होना पड़ता है। चूँकि अब सारा संसार बद्धजीवों के अपूर्ण आदेशों का अनुसरण कर रहा है, इसलिए मानवता पूर्णतः मोहग्रस्त है।

पुरा सृष्टा ह्योषधयो ब्रह्मणा या विशाम्पते ।
भुज्यमाना मया दृष्टा असद्भिरधृतव्रतैः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

पुरा—प्राचीनकाल में; सृष्टाः—उत्पन्न; हि—निश्चय ही; ओषधयः—जड़ी-बूटियाँ तथा अन्न; ब्रह्मणा—ब्रह्मा द्वारा; याः—वे जो; विशाम्-पते—हे राजा; भुज्यमानाः—भोग किया गया; मया—मेरे द्वारा; दृष्टाः—देखा गया; असद्भिः—अभक्तों द्वारा; अधृत-व्रतैः—समस्त आध्यात्मिक कृत्यों से शून्य।

हे राजन्, प्राचीनकाल में ब्रह्मा ने जिन बीजों, मूलों, जड़ी-बूटियों तथा अन्नों की सृष्टि की थी वे अब उन अभक्तों द्वारा उपभोग किये जा रहे हैं, जो समस्त आत्म-ज्ञान से शून्य हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा ने इस भौतिक जगत की सृष्टि जीवात्माओं के उपयोग के लिए तो की थी, किन्तु सृष्टि इस व्यवस्था के अनुसार हुई थी कि वे समस्त जीवात्माएँ जो इसमें इन्द्रियतृप्ति के लिए आएँगी उन्हें ब्रह्माजी वेदों की शिक्षा देंगे, जिससे वे भगवान् इस संसार को छोड़कर के धाम को वापस जा सकें। पृथ्वी पर उगनेवाली सभी आवश्यक वस्तुएँ यथा फल, फूल, वृक्ष, अन्न, पशु इत्यादि भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ में प्रयुक्त किये जाने के निमित्त उत्पन्न की गई थीं। किन्तु गोरूप पृथ्वी निवेदन कर रही है कि ये समस्त सुविधाएँ ऐसे अभक्तों द्वारा उपयोग में लाई जा रही हैं, जिनके पास आत्मज्ञान के लिए कोई योजना नहीं है। यद्यपि पृथ्वी में अन्न, फल तथा फूल उत्पन्न करने की अपार क्षमता है, किन्तु जब अभक्तों द्वारा जिनका के कोई आध्यात्मिक उद्देश्य नहीं है। इनका उपभोग होने लगता है, तो पृथ्वी स्वयं इन सबका उत्पादन रोक देती है। हर वस्तु भगवान् की है, अतः उनको प्रसन्न करने के लिए हर वस्तु का उपयोग हो सकता है। वस्तुओं का उपभोग जीवात्माओं की इन्द्रिय-तुष्टि हेतु नहीं होना चाहिए। इस भौतिक प्रकृति के आदेशानुसार यही प्रकृति की पूरी व्यवस्था है।

इस श्लोक में दो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं—*असद्भिः* तथा *अधृतव्रतैः असद्भिः* का तात्पर्य अभक्त है। *भगवद्गीता* में अभक्तों को *दुष्कृतिनः* (दुष्ट); *मूढाः* (गधे या धूर्त); *नराधमाः* (मनुष्यों में सबसे पतित) तथा *माययापहृत-ज्ञानाः* (वे जिन्होंने माया शक्ति के कारण ज्ञान खो दिया है) कहा गया है। ये सभी *असत्* अर्थात् अभक्त लोग हैं। अभक्तों को *गृह-व्रत* भी कहा गया है, जबकि भक्त *धृतव्रत* कहलाते हैं। समस्त वैदिक व्यवस्था यही है कि दिग्भ्रमित बद्धजीवों को, जो भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताने आये हैं, *धृत-व्रत* बनने की शिक्षा दी जाये। इसका अर्थ यह हुआ उन्हें इसका व्रत लेना चाहिए

कि वे परमेश्वर की इन्द्रियों को तुष्ट करके ही अपनी इन्द्रियों की तुष्टि करेंगे या भौतिक जीवन का सुख भोगेंगे। परमेश्वर श्रीकृष्ण की इन्द्रियतुष्टि के लिए किये गये कार्यकलाप *कृष्णार्थेऽखिलचेष्टा:* कहलाते हैं। इससे यह सूचित होता है कि मनुष्य सभी प्रकार के कार्य कर सकता है, किन्तु ये सब कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए किये जाने चाहिए। *भगवद्गीता* में इसे *यज्ञार्थात्* कर्म कहा गया है। यज्ञ शब्द का अर्थ भगवान् विष्णु है। हमें केवल उन्हीं को प्रसन्न करने के लिये कार्य करना है। किन्तु आधुनिक युग (कलियुग) में लोगों ने विष्णु को एकदम भुला दिया है और वे इन्द्रियतुष्टि के लिए कार्य करते हैं। ऐसे लोग क्रमश: निर्धन होते जाएँगे, क्योंकि वे उन वस्तुओं को अपनी इन्द्रिय तुष्टि के लिए प्रयोग न कर सकेंगे जो परमेश्वर के द्वारा उपभोग्य हैं। यदि वे ऐसा ही करते रहे तो अन्तत: निर्धनता आ जाएगी और अन्न, फल या फूल नहीं उत्पन्न होंगे। *भागवत्* के बारहवें स्कंध में बताया गया है कि कलियुग के अन्त में लोग इतने दूषित हो चुकेंगे कि अन्न, गेहूँ, गन्ना या दूध कुछ भी उत्पन्न नहीं होगा।

अपालितानादृता च भवद्भिर्लोकपालकै: ।
चोरीभूतेऽथ लोकेऽहं यज्ञार्थेऽग्रसमोषधी: ॥ ७॥

शब्दार्थ

अपालिता—किसी रक्षा के बिना; अनादृता—उपेक्षित; च—भी; भवद्भि:—आपके समान; लोक-पालकै:—अध्यक्षों या राजाओं द्वारा; चोरी-भूते—चोरों से आक्रान्त होकर; अथ—अत:; लोके—इस संसार में; अहम्—मैंने; यज्ञ-अर्थे—यज्ञ सम्पन्न करने के हेतु; अग्रसम्—छिपा ली हैं; ओषधी:—सभी जड़ी-बूटियाँ तथा अनाज।

हे राजन्, अभक्तों द्वारा अन्न तथा जड़ी-बूटियों का उपयोग तो किया ही जा रहा है, मेरी भी ठीक से देखभाल नहीं की जा रही। मेरी उन राजाओं द्वारा उपेक्षा हो रही है, जो उन चोरों को दण्ड नहीं दे रहे जो अन्न का उपयोग इन्द्रियतुष्टि के लिए कर रहे हैं। फलस्वरूप मैंने उन समस्त बीजों को छिपा लिया है, जो यज्ञ सम्पन्न करने के निमित्त हैं।

तात्पर्य : जो कुछ पृथु महाराज तथा उनके पिता राजा वेन के काल में घटित हुआ था, वह आज भी हो रहा है। बड़े पैमाने पर औद्योगिक तथा कृषि उत्पादों के उत्पादन हेतु वृहद् आयोजन सामने आते हैं, किन्तु ये सारे उत्पादन इन्द्रिय-तुष्टि के निमित्त हैं। अत: उत्पादन क्षमता होते हुए भी अभाव छाया रहता है, क्योंकि संसार चोरों से भरा पड़ा है। *चोरीभूते* शब्द इस बात का सूचक है कि जनता चौर-वृत्ति पर उतर आई है। वैदिक ज्ञान के अनुसार मनुष्य तभी चोर बनते हैं जब वे इन्द्रियतृप्ति हेतु

आर्थिक विकास की योजनाएँ बनाते हैं। *भगवद्गीता* में भी बताया गया है कि यदि कोई यज्ञ किये बिना अर्थात् भगवान् को अर्पित किये बिना अन्न खाता है, तो वह चोर है और दण्डनीय है। आध्यात्मिक साम्यवाद के अनुसार इस भूमण्डल की सारी सम्पति भगवान् की है। जनता का अधिकार है कि भगवान् को भेंट अर्पित करने के बाद ही वस्तुओं का प्रयोग करे। प्रसाद ग्रहण करने की यही विधि है। जब तक कोई इस विधि से प्रसाद ग्रहण नहीं करता, वह निश्चित रूप से चोर है। यह राजाओं तथा लोकपालों का कर्तव्य है कि ऐसे चोरों को दण्ड दें और विश्व का उत्तम रीति से पालन करे। यदि ऐसा नहीं होता तो अन्न नहीं उत्पन्न होगा और लोग भूखों मरेंगे। इससे लोगों को कम भोजन तो मिलेगा ही, वे एक दूसरे को मार कर खाएँगे। वे पहले से ही मांस के लिए पशुओं का वध कर रहे हैं, अत: जब अन्न, शाक तथा फल नहीं होंगे तो वे अपने बाप-बेटों को मार कर अपना उदर-पोषण करेंगे।

नूनं ता वीरुधः क्षीणा मयि कालेन भूयसा ।
तत्र योगेन दृष्टेन भवानादातुमर्हति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—अत:; ताः—वे; वीरुधः—ओषधियाँ, जड़ी-बूटियाँ तथा अन्न; क्षीणाः—जीर्ण-शीर्ण; मयि—मुझमें; कालेन—समय के साथ; भूयसा—अत्यधिक; तत्र—अत:; योगेन—समुचित साधनों से; दृष्टेन—पूर्व आचार्यों द्वारा संस्तुत; भवान्—आप; आदातुम्—लेने के लिए; अर्हति—चाहिए।

मेरे भीतर दीर्घ काल से भीगे रहने के कारण सारे धान्य-बीज निश्चित रूप से जीर्ण हो चुके हैं। अत: आप तुरन्त आचार्यों अथवा शास्त्रों द्वारा बताई गई मानक विधि से उन्हें निकालने की व्यवस्था करें।

तात्पर्य : जब अन्न का अभाव हो तो सरकार को चाहिए कि शास्त्रों में वर्णित तथा आचार्यों द्वारा अनुमोदित विधियों का पालन करे। इस प्रकार प्रचुर अन्न उत्पादन होगा और अन्नाभाव तथा दुर्भिक्ष को रोका जा सकेगा। *भगवद्गीता* में यज्ञ करने के लिए कहा गया है। यज्ञ करने से आकाश में पर्याप्त बादल एकत्र होते हैं जिससे पर्याप्त वर्षा होती है। इस तरह खेती-बाड़ी की देखभाल हो जाती है। जब पर्याप्त अन्नोत्पादन होता है, तो जनता अन्न खाती है और गायों, बकरियों जैसे घरेलू पशुओं को भी प्रचुर घास तथा अन्न खाने को मिलता है। इस व्यवस्था के अनुसार यदि मनुष्य यज्ञ करें तो अन्नाभाव

दूर हो जायेगा। कलियुग में केवल *संकीर्तन यज्ञ* की संस्तुति की गई है।

इस श्लोक में *योगेन* अर्थात् "स्वीकृत विधियों" तथा *दृष्टेन* अर्थात् "पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा दिखाई गई" शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। यदि कोई यह सोचता है कि आधुनिक यंत्रों—यथा ट्रैक्टरों—के द्वारा अन्न उत्पन्न किया जा सकता है, तो यह उसकी भूल है। यदि कोई रेगिस्तान में जाए और ट्रैक्टर चलाए तो भी अन्न पैदा नहीं होगा। हम नाना प्रकार की विधियाँ अपना सकते हैं, किन्तु यह जानना नितान्त आवश्यक है कि यदि यज्ञ नहीं किये जाएँगे तो पृथ्वी अन्न उत्पन्न करना बन्द कर देगी। पृथ्वी ने पहले ही बता दिया है कि अभक्त लोग अन्न का उपभोग कर रहे हैं, इसलिए उसने यज्ञ के लिए अन्न सुरक्षित कर रखा है। अब नास्तिक यह नहीं मानेंगे कि अन्न आध्यात्मिक विधि से उत्पन्न किया जा सकता है, किन्तु वे मानें या नहीं, तथ्य तो यही है कि हम यांत्रिक विधि से अन्न उत्पन्न नहीं कर सकते। जहाँ तक स्वीकृत विधि का सवाल है, शास्त्रों में कहा गया है कि इस युग के बुद्धिमान लोग *संकीर्तन यज्ञ* को अपनाएँगे, इससे वे भगवान् श्री चैतन्य की पूजा करेंगे जिनके शरीर का रंग सुनहरा है और जिनके साथ उनके विश्वासपात्र भक्त रहते हैं, जो सारे संसार में इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन का सदुपदेश करते हैं। वर्तमान परिस्थिति में इस *संकीर्तन* को प्रचलित करके ही संसार को बचाया जा सकता है। हमने पिछले श्लोक में पढ़ा है कि जो कृष्णभक्त नहीं है, वह चोर है। चोर भौतिक दृष्टि से कितना ही सम्पन्न क्यों न हो उसे समुचित पद प्रदान नहीं किया जा सकता। चोर चोर है और वह दण्डनीय है। कृष्णभक्त न होने के कारण लोग चोर बने हैं, फलतः उन्हें प्राकृतिक नियमों के अन्तर्गत दण्ड मिल रहा है। कोई इसे रोक नहीं सकता। भले ही कितने ही राहत-फण्ड तथा मानवतावादी संस्थाएँ क्यों न खोल दी जायँ, जब तक लोग कृष्णचेतना (भक्ति) ग्रहण नहीं करते, तब तक अन्नाभाव तथा कष्ट बना रहेगा।

वत्सं कल्पय मे वीर येनाहं वत्सला तव ।
धोक्ष्ये क्षीरमयान्कामाननुरूपं च दोहनम् ॥ ९॥
दोग्धारं च महाबाहो भूतानां भूतभावन ।
अन्नमीप्सितमूर्जस्वद्भगवान्वाञ्छते यदि ॥ १०॥

शब्दार्थ

वत्सम्—बछड़ा; कल्पय—व्यवस्था करो; मे—मेरे लिए; वीर—हे वीर; येन—जिससे; अहम्—मैं; वत्सला—स्नेहपूर्ण; तव—तुम्हारा; धोक्ष्ये—पूरी करूँगी; क्षीर-मयान्—दूध के रूप में; कामान्—इच्छित वस्तुएँ; अनुरूपम्—विभिन्न जीवात्माओं के

अनुसार; च—भी; दोहनम्—दोहनी, पात्र; दोग्धारम्—दुहनेवाला; च—भी; महा-बाहो—हे सशक्त भुजाओंवाले; भूतानाम्—समस्त जीवात्माओं के; भूत-भावन—जीवात्माओं के रक्षक; अन्नम्—अन्न; ईप्सितम्—वांछित; ऊर्जः-वत्—पोषणयुक्त; भगवान्—पूज्य आप; वाञ्छते—इच्छा करते हैं; यदि—यदि।

हे परम वीर, जीवात्माओं के रक्षक, यदि आप जनता को प्रचुर अन्न देकर उनके कष्टों का निवारण करना चाहते हैं और यदि आप मुझे दुह कर उनका पोषण करना चाहते हैं, तो इसके लिए आपको उपयुक्त बछड़ा तथा दूध रखने के लिए दोहनी की व्यवस्था करनी होगी। साथ ही दुहनेवाले का भी प्रबन्ध करना होगा। चूँकि मैं अपने बछड़े के प्रति अत्यन्त वत्सला हूँगी, अतः मुझसे दुग्ध प्राप्त करने की आपकी मनोकामना पूरी हो जाएगी।

तात्पर्य : गाय दुहने के लिए ये उत्तम आदेश हैं। गाय के लिए सर्वप्रथम बछड़ा चाहिए जिसके स्नेह से गाय स्वेच्छा से अधिक दूध दे सकेगी। इसके साथ ही पटु दुहनेवाला तथा दूध रखने के लिए पात्र (दोहनी) भी चाहिए। जिस प्रकार गाय बछड़े के प्रति वत्सल हुए बिना अधिक दूध नहीं दे सकती, उसी प्रकार पृथ्वी भी कृष्णभक्तों के प्रति वत्सल हुए बिना प्रचुर अन्न उत्पन्न नहीं कर सकती। यद्यपि गोरूप में पृथ्वी को अलंकारिक शैली से व्यक्त किया गया है, किन्तु इसका भावार्थ अत्यन्त सुस्पष्ट है। जिस प्रकार बछड़ा गाय से दूध निकलवा सकता है, उसी प्रकार समस्त जीवात्माएँ जिनमें पशु, पक्षी, मधुमक्खी, सर्प तथा जलचर सम्मिलित हैं, पृथ्वी से तभी अपना-अपना भोजन प्राप्त कर सकते हैं जब वे *असत्* या *अधृत-व्रत* न हों, जैसाकि पहले कहा जा चुका है। जब मानव समाज *असत्* अथवा कृष्णचेतनाशून्य हो जाता है, तो सारे संसार को दुख उठाना पड़ता है। यदि मनुष्य सदाचरण करें तो पशुओं को भी पर्याप्त भोजन मिलेगा और वे सुखी रहेंगे। ईश्वरविहीन मानव पशुओं को सुरक्षा तथा उनके भोजन के प्रति अपने कर्तव्य को न समझ कर अन्न के अभाव की पूर्ति के लिए उनका वध करता है। इस प्रकार कोई भी सुखी नहीं रहता और विश्व की वर्तमान दशा का यही कारण है।

समां च कुरु मां राजन्देववृष्टं यथा पयः ।
अपर्तावपि भद्रं ते उपावर्तेत मे विभो ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

समाम्—समतल; च—भी; कुरु—करो; माम्—मुझको; राजन्—हे राजा; देव-वृष्टम्—इन्द्र की कृपा से होनेवाली वर्षा; यथा—जिससे; पयः—जल; अप-ऋतौ—वर्षा ऋतु के न रहने पर; अपि—भी; भद्रम्—कल्याण; ते—तुम तक; उपावर्तेत—यह रुक सकता है; मे—मुझ पर; विभो—हे भगवान्।

हे राजन्, मैं आपको बता रही हूँ कि आपको समस्त भूमण्डल की सतह समतल बनानी होगी। वर्षा ऋतु न रहने पर भी इससे मुझे सहायता मिलेगी। राजा इन्द्र की कृपा से वर्षा होती है। इससे वर्षा का जल भूमण्डल पर टिका रहेगा जिससे पृथ्वी सदैव आर्द्र (नम) रहेगी और इस प्रकार से यह सभी तरह के उत्पादन के लिए शुभ होगा।

तात्पर्य : स्वर्ग का राजा इन्द्र वर्षा करने तथा वज्र गिराने का प्रभारी है। सामान्यत: पर्वतों के ऊपर वज्र गिरा कर उन्हें चूर-चूर किया जाता है। ये प्रस्तर-खण्ड कालान्तर में फैल जाते हैं और पृथ्वी की सतह कृषि योग्य हो जाती हैं। समतल भूमि अनाज के उत्पादन के लिए विशेष रूप से उपयोगी होती है। इस प्रकार पृथ्वी ने महाराज पृथु से निवेदन किया कि वे ऊँची भूमि तथा पर्वतों को तोड़ कर पृथ्वी की सतह को समतल बनाएँ।

इति प्रियं हितं वाक्यं भुव आदाय भूपतिः ।
वत्सं कृत्वा मनुं पाणावदुहत्सकलौषधीः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; प्रियम्—अच्छे लगनेवाले; हितम्—उपयोगी, लाभप्रद; वाक्यम्—शब्द; भुवः—पृथ्वी के; आदाय—विचार करके; भू-पतिः—राजा; वत्सम्—बछड़ा; कृत्वा—बनाकर; मनुम्—स्वायंभुव मनु को; पाणौ—हाथों में; अदुहत्—दुहा; सकल—समस्त; ओषधीः—जड़ी-बूटियाँ तथा अन्न।

पृथ्वी के कल्याणकारी तथा प्रिय वचनों को राजा ने अंगीकार कर लिया। तब उन्होंने स्वायंभुव मनु को बछड़ा बनाया और गोरूप पृथ्वी से समस्त ओषधियों और अन्न का दोहन कर के उन्हें अपनी अंजुली में भर लिया।

तथापरे च सर्वत्र सारमाददते बुधाः ।
ततोऽन्ये च यथाकामं दुदुहुः पृथुभाविताम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तथा—उसी तरह; अपरे—अन्य; च—भी; सर्वत्र—सभी जगह; सारम्—रस, निचोड़; आददते—ग्रहण कर लिया; बुधाः—बुद्धिमान पुरुष; ततः—तत्पश्चात्; अन्ये—अन्य लोग; च—भी; यथा-कामम्—इच्छानुसार; दुदुहुः—दुह लिया; पृथु-भाविताम्—महाराज पृथु के वश में हुई पृथ्वी को।

अन्य लोगों ने, जो महाराज पृथु के ही समान बुद्धिमान थे, पृथ्वी में से सार निकाल लिया। निस्सन्देह, प्रत्येक व्यक्ति ने राजा पृथु के पद-चिह्नों का अनुसरण करते हुए इस अवसर का लाभ

उठाया और पृथ्वी से अपनी मनोवाञ्छित वस्तुएँ प्राप्त कीं।

तात्पर्य : पृथ्वी को *वसुन्धरा* भी कहते हैं। *वसु* का अर्थ है "धन" तथा *धरा* का अर्थ होता है "धारण करनेवाला।" इस पृथ्वी के भीतर के सभी प्राणी मनुष्यों की आवश्यकता को पूरा करते हैं और पृथ्वी में से इन समस्त जीवात्माओं को समुचित साधनों से बाहर निकाला जा सकता है। जैसाकि पृथ्वी द्वारा प्रस्तावित और राजा पृथु द्वारा स्वीकृत किया गया कि जो कुछ भी पृथ्वी के भीतर से लिया जाता है—चाहे खानों में से लिया जाता है, या भूमण्डल की सतह में से या कि वायुमण्डल में से, हर वस्तु को सदा पुरुषोत्तम भगवान् की सम्पत्ति मानना चाहिए और उसे यज्ञ अर्थात् भगवान् विष्णु के उपयोग में लगाना चाहिए। ज्योंही यह यज्ञविधि बन्द कर दी जाती है, पृथ्वी सारा उत्पादन—शाक, वृक्ष, पौधे, फल, खनिज पदार्थों आदि को अपने में रोक लेगी। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गयी है यज्ञ की स्थापना सृष्टि के प्रारम्भ में ही की गई थी। नियमित रूप से यज्ञ करने, सम्पत्ति के समान-वितरण तथा इन्द्रियतुष्टि के नियमन से सारा जगत शान्तिमय तथा समृद्धिमय हो जाएगा। जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि इस कलियुग में *संकीर्तन यज्ञ* अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ द्वारा प्रचारित उत्सवों को प्रत्येक शहर तथा गाँव में करना चाहिए। बुद्धिमान व्यक्तियों को अपने व्यक्तिगत आचरण से *संकीर्तन यज्ञ* सम्पन्न करने को प्रोत्साहित करना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि उन्हें अवैध मैथुन, मांसाहार, द्यूतक्रीड़ा तथा मादक द्रव्य सेवन से बचना चाहिए। यदि समाज के बुद्धिमान व्यक्ति अथवा समाज कर ब्राह्मण वर्ग विधि-विधानों का पालन करें तो वर्तमान विश्व की पूरी स्थिति, जो कि अस्तव्यस्त अवस्था में है, अवश्य ही सुधर जाये और लोग सुखी तथा सम्पन्न बन जाँय।

ऋषयो दुदुहुर्देवीमिन्द्रियेष्वथ सत्तम ।
वत्सं बृहस्पतिं कृत्वा पयश्छन्दोमयं शुचि ॥ १४॥

शब्दार्थ

ऋषयः—ऋषियों ने; दुदुहुः—दुहा; देवीम्—पृथ्वी को; इन्द्रियेषु—इन्द्रियों में; अथ—तब; सत्तम—हे विदुर; वत्सम्—बछड़ा; बृहस्पतिम्—बृहस्पति मुनि को; कृत्वा—करके; पयः—दूध; छन्दः-मयम्—वैदिक स्तोत्रों के रूप में; शुचि—शुद्ध।

समस्त ऋषियों ने बृहस्पति को बछड़ा बनाया और इन्द्रियों को दोहनी। उन्होंने शब्द, मन तथा श्रवण को पवित्र करनेवाले समस्त प्रकार के वैदिक ज्ञान को दुह लिया।

तात्पर्य : बृहस्पति स्वर्ग के पुरोहित हैं। ऋषियों ने तार्किक विधि से बृहस्पति के माध्यम से मानव समाज के लाभ के लिए, न केवल इस लोक में वरन् समस्त ब्रह्माण्डों में वैदिक ज्ञान प्राप्त किया। दूसरे शब्दों में, वैदिक ज्ञान को मानव समाज की आवश्यकता माना जाता है। यदि मानव समाज पृथ्वी से शरीर-भरण के लिए अन्न तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ लेकर सन्तुष्ट हो जाये तो समाज पर्याप्त उन्नति नहीं कर सकता। मानवता के पास मन, कान तथा ध्वनि स्पन्दन (स्फुरण) के लिए समुचित भोजन होना चाहिए। जहाँ तक दिव्य स्फुरण का प्रश्न है, समस्त वैदिक ज्ञान का सार हरे कृष्ण महामंत्र है। यदि कलियुग में इस वैदिक महामंत्र का नित्य श्रवणं-कीर्तन की भक्तिमयी विधि से श्रवण तथा कीर्तन होता रहे तो समस्त समाज पवित्र हो जाए और मानवता भौतिक तथा आध्यात्मिक रूप से सुखी रहे।

कृत्वा वत्सं सुरगणा इन्द्रं सोममदूदुहन् ।
हिरण्मयेन पात्रेण वीर्यमोजो बलं पयः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

कृत्वा—बनाकर; वत्सम्—बछड़ा; सुर-गणाः—देवताओं ने; इन्द्रम्—स्वर्ग के राजा इन्द्र को; सोमम्—अमृत; अदूदुहन्—दुह लिया; हिरण्मयेन—सोने के; पात्रेण—पात्र से; वीर्यम्—मानसिक शक्ति; ओजः—इन्द्रियों की शक्ति; बलम्—शारीरिक शक्ति; पयः—दूध।

समस्त देवताओं ने स्वर्ग के राजा इन्द्र को बछड़ा बनाया और उन्होंने पृथ्वी में से सोम रस अर्थात् अमृत दुह लिया। इस प्रकार वे मानसिक, शारीरिक तथा ऐन्द्रिय शक्ति में अत्यन्त बलशाली हो गये।

तात्पर्य : इस श्लोक में *सोम* का अर्थ अमृत है। *सोम* एक प्रकार का पेय है, जो स्वर्गलोक में चन्द्रमा से लेकर विभिन्न उच्च लोकों में देवलोकों तक बनाया जाता है। सोम नामक इस पेय को पीकर देवता मन से, इन्द्रिय से तथा शरीर से अधिक शक्तिशाली हो उठते हैं। *हिरण्मयेन पात्रेण* से सूचित होता है कि यह सोम रस सामान्य मादक शराब नहीं है। देवता किसी प्रकार का मादक पेय नहीं छूते थे। और न सोम कोई दवा है। यह एक भिन्न प्रकार का पेय है, जो स्वर्गलोक में उपलब्ध है। असुरों द्वारा तैयार की जानेवाली शराब से सोम सर्वथा भिन्न है। जैसाकि अगले श्लोक में बताया गया है।

दैतेया दानवा वत्सं प्रह्लादमसुरर्षभम् ।

विधायादूदुहन्क्षीरमयःपात्रे सुरासवम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

दैतेयाः—दिति के पुत्र; दानवाः—असुरों ने; वत्सम्—बछड़ा; प्रह्लादम्—प्रह्लाद महाराज को; असुर—दानव; ऋषभम्—प्रधान; विधाय—बनाकर; अदूदुहन्—दुह लिया; क्षीरम्—दूध; अयः—लोह; पात्रे—पात्र में; सुरा—शराब; आसवम्—खमीर से बनाया गया द्रव यथा यवसुरा।

दिति के पुत्रों तथा असुरों ने असुर-कुल में उत्पन्न प्रह्लाद महाराज को बछड़ा बनाया और उन्होंने अनेक प्रकार की सुरा तथा आसव निकाल कर उसे लोहे के पात्र में रख दिया।

तात्पर्य : असुरों के अपने पेय हैं, जो सुरा तथा यवसुरा के रूप में होते हैं, ठीक वैसे ही जैसे देवता सोमरस का पान करते हैं। दिति से उत्पन्न असुरजन सुरा तथा यवसुरा पीकर प्रसन्न रहते हैं। आज के समय में भी आसुरी वृत्ति वाले लोग सुरा तथा यवसुरा ही पीने के आदी होते हैं। इस प्रसंग में प्रह्लाद महाराज का नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। चूँकि प्रह्लाद महाराज हिरण्यकशिपु के पुत्र रूप में असुरों के कुल में उत्पन्न हुए थे, अतः उनकी कृपा से असुरगण तब से आज तक सुरा तथा यवसुरा पीते आ रहे हैं। *अयः* (लोहा) शब्द भी महत्त्व का है। जहाँ अमृतमय सोम को स्वर्णपात्र में रखा जाता था, वहीं सुरा तथा यवसुरा लोहपात्र में रखी जाती थीं। सोमरस श्रेष्ठ होने के कारण स्वर्णपात्र में रखा जाता है और सुरा तथा यवसुरा निकृष्ट होने से लोह पात्र में।

गन्धर्वाप्सरसोऽधुक्षन्पात्रे पद्ममये पयः ।
वत्सं विश्वावसुं कृत्वा गान्धर्वं मधु सौभगम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

गन्धर्व—गन्धर्व लोक के वासी; अप्सरसः—अप्सरा लोक के वासी; अधुक्षन्—दुह लिया; पात्रे—पात्र में; पद्म-मये—कमल के; पयः—दूध; वत्सम्—बछड़ा; विश्वावसुम्—विश्वावसु को; कृत्वा—बना कर; गान्धर्वम्—गीत; मधु—मीठा, मधुर; सौभगम्—सुन्दरता।

गन्धर्व लोक तथा अप्सरालोक के निवासियों ने विश्वावसु को बछड़ा बनाया और कमल पुष्प के पात्र में दूध दुहा। इस दूध ने मधुर संगीत-कला तथा सुन्दरता का रूप धारण किया।

वत्सेन पितरोऽर्यम्णा कव्यं क्षीरमधुक्षत ।
आमपात्रे महाभागाः श्रद्धया श्राद्धदेवताः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

वत्सेन—बछड़े से; पितरः—पितृलोक के वासी; अर्यम्णा—पितृलोक के देव अर्यमा से; कव्यम्—पितरों को दी जानेवाली बलि; क्षीरम्—दूध; अधुक्षत—निकाला; आम-पात्रे—मिट्टी के कच्चे पात्र में; महा-भागाः—अत्यन्त भाग्यशाली; श्रद्धया—अत्यन्त श्रद्धा समेत; श्राद्ध-देवताः—मृत परिजनों के सम्मान में किये जानेवाले श्राद्ध कर्म के मुख्य देवता.

श्राद्ध कर्म के मुख्य देवता एवं पितृलोक के भाग्यशाली निवासियों ने अर्यमा को बछड़ा बनाया। उन्होंने अत्यन्त श्रद्धा सहित मिट्टी के कच्चे पात्र में कव्य (पितरों को दी जानेवाली बलि) दुह लिया।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा गया है—*पितॄन् यान्ति पितृ-व्रताः*। जो लोग परिवार-कल्याण में रुचि रखते हैं, वे *पितृ-व्रताः* कहलाते हैं। पितृलोक नाम का एक लोक है और इसका प्रधान विग्रह *अर्यमा* कहलाता है। वह कुछ-कुछ देवता जैसा है, जिसे प्रसन्न कर लेने से परिवार के प्रेतों को स्थूल शरीर प्राप्त होता है। जो पापी होते हैं और अपने परिवार, घर, गाँव या देश के प्रति आसक्त रहते हैं उन्हें भौतिक तत्त्वों से निर्मित देह प्राप्त नहीं होती, वरन् मन, अहंकार तथा बुद्धि से युक्त सूक्ष्म शरीर मिलता है। जिन्हें ऐसी सूक्ष्म देह प्राप्त होती है, वे प्रेत कहलाते हैं। यह प्रेतस्थिति अत्यन्त कष्टप्रद होती है क्योंकि भूत-प्रेत बुद्धि, मन तथा अहंकार होने के कारण भौतिक जीवन व्यतीत करना चाहता है, किन्तु स्थूल शरीर न होने से वह ऐसा नहीं कर पाता और भौतिक तुष्टि के अभाव में वह उपद्रव मचाता रहता है। पारिवारिक सदस्यों, विशेष रूप से पुत्र का यह कर्तव्य है कि अर्यमा को या भगवान् विष्णु को पिंड दे। भारत में अनन्त काल से मृत व्यक्ति का पुत्र गया जाता है और वहाँ पर एक विष्णु मन्दिर में अपने प्रेतात्मा पिता को पिंड देता है। ऐसा नहीं है कि सबों के पिता प्रेत बनते हैं, किन्तु भगवान् विष्णु के चरणों पर पिण्डदान दिया जाता है, जिससे यदि किसी के परिवार का कोई व्यक्ति प्रेत बने तो उसे स्थूल देह प्राप्त हो। किन्तु यदि कोई विष्णु प्रसाद प्राप्त करता रहता है, तो उसके प्रेत होने या मनुष्य से निम्न योनि में जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। वैदिक सभ्यता में श्राद्ध कर्म होता है, जिसमें अत्यन्त श्रद्धा तथा भक्ति से भोजन दिया जाता है। यदि कोई विष्णु के चरणकमलों पर या उनके पितृलोक के प्रतिनिधि अर्यमा को श्रद्धा समेत पिंड प्रदान करता है, तो उसके पूर्वजों को भौतिक शरीर प्राप्त होता है, जिससे वे अपने हिस्से का भौतिक सुख भोग सकते हैं, अर्थात् उन्हें प्रेत नहीं बनना पड़ता।

प्रकल्प्य वत्सं कपिलं सिद्धाः सङ्कल्पनामयीम् ।
सिद्धिं नभसि विद्यां च ये च विद्याधरादयः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

प्रकल्प्य—नियुक्त करके; वत्सम्—बछड़ा; कपिलम्—कपिल मुनि को; सिद्धाः—सिद्धलोक के वासी; सङ्कल्पना-मयीम्—इच्छा से आगे बढ़नेवाली; सिद्धिम्—योगशक्तियाँ; नभसि—आकाश में; विद्याम्—ज्ञान; च—भी; ये—जो; च—भी; विद्याधर-आदयः—विद्याधर लोक के वासी तथा अन्य।

तत्पश्चात् सिद्धलोक तथा विद्याधरलोक के वासियों ने कपिल मुनि को बछड़ा बनाया और सम्पूर्ण आकाश को पात्र बना कर अणिमादि सारी योगशक्तियाँ दुह लीं। निस्सन्देह, विद्याधर लोक के वासियों ने आकाश में उड़ने की कला प्राप्त की।

तात्पर्य : सिद्धलोक तथा विद्याधरलोक इन दोनों लोकों के वासियों को स्वभावतः योगशक्तियाँ प्राप्त हैं जिनके द्वारा वे न केवल अन्तरिक्ष में ही किसी यान के बिना उड़ सकते हैं वरन् इच्छानुसार एक लोक से दूसरे लोक को भी उड़कर जा सकते हैं। जिस प्रकार मछलियाँ जल में तैरती हैं उसी प्रकार विद्याधर-लोक के वासी आकाश-समुद्र में तैरते हैं। जहाँ तक सिद्धलोक के वासियों का प्रश्न है, उनमें समस्त योग-शक्तियाँ पाई जाती हैं। इस लोक के योगी आठों यौगिक क्रियाओं का अभ्यास करते हैं। ये हैं यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। यौगिक क्रियाओं का क्रमशः नियमित अभ्यास करते रहने से, योगियों को विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ये हैं अणिमा, लघिमा इत्यादि। यहाँ तक कि वे ग्रह का निर्माण भी कर सकते हैं और जो भी चाहते हैं प्राप्त कर सकते हैं और जिस जिस व्यक्ति पर नियंत्रण करने चाहें कर सकते हैं। इस प्रकार सिद्धलोक के समस्त वासी स्वभावतः इन योग-शक्तियों से सम्पन्न होते हैं। वास्तव में यह विस्मयजनक बात होगी यदि हम इस लोक में किसी को बिना यान के आकाश में उड़ता देखें, किन्तु विद्याधरलोक में यह उसी तरह आम बात है, जिस प्रकार कि पक्षी का आकाश में उड़ना। इसी प्रकार, सिद्धलोक के सभी वासी योगी हैं।

इस श्लोक में कपिल मुनि का नाम महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वे सांख्य दर्शन के संस्थापक थे और उनके पिता कर्दम मुनि महान् योगी थे। कर्दम मुनि ने तो ऐसा विमान तैयार किया था, जो एक छोटे नगर के बराबर था जिसमें नानाविध उद्यान, भवन, दास तथा दासियाँ थे। इस साज-सामान के साथ कपिलदेव की माता देवहूति और उनके पिता कर्दम मुनि ने समस्त ब्रह्माण्डों की यात्रा की और विभिन्न

लोकों में गये।

अन्ये च मायिनो मायामन्तर्धानाद्भुतात्मनाम् ।
मयं प्रकल्प्य वत्सं ते दुदुहुर्धारणामयीम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अन्ये—अन्य; च—भी; मायिनः—मायावी जादूगर; मायाम्—मायावी शक्तियाँ; अन्तर्धान—अदृश्य होने; अद्भुत—आश्चर्यजनक; आत्मनाम्—शरीर का; मयम्—मय नामक असुर को; प्रकल्प्य—बनाकर; वत्सम्—बछड़ा; ते—उन्होंने; दुदुहुः—दुहा; धारणामयीम्—इच्छा से उत्पन्न होनेवाली।

किम्पुरुष-लोक के वासियों ने भी मय दानव को बछड़ा बनाया और उन्होंने योगशक्तियाँ दुह लीं जिनसे मनुष्य किसी दूसरे की दृष्टि से तुरन्त ओझल हो सकता है और अन्य किसी रूप में पुनः प्रकट हो सकता है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि किम्पुरुष-लोक के वासी अनेक आश्चर्यजनक यौगिक प्रदर्शन कर सकते हैं, अर्थात् जितनी भी आश्चर्यजनक वस्तुओं की कल्पना की जा सकती है, उन्हें वे प्रदर्शित कर सकते हैं। इस लोक के वासी जो चाहें या जो भी कल्पना कर सकें उसे कर सकते हैं। ऐसी शक्तियां भी यौगिक शक्तियां है। ऐसी योगशक्ति की प्राप्ति *ईशिता* कहलाती है। असुर ऐसी शक्ति सामान्यत: योगाभ्यास से प्राप्त करते हैं। *श्रीमद्भागवत* के दशम स्कंध में सजीव वर्णन है कि श्रीकृष्ण के समक्ष असुरगण किन भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होते हैं। उदाहरणार्थ, बकासुर एक विशाल बगुले के रूप में श्रीकृष्ण तथा गोपों के समक्ष प्रकट हुआ था। इस लोक में रहते हुए भगवान् कृष्ण को अनेक असुरों से लड़ना पड़ा जो किम्पुरुष की मायावी शक्तियाँ प्रदर्शित कर सकते थे। यद्यपि किम्पुरुषलोक के वासियों को ऐसी शक्तियाँ स्वभावत: प्राप्त हैं, किन्तु इस लोक में विभिन्न यौगिक अभ्यासों से ये शक्तियाँ प्राप्त की जा सकती हैं।

यक्षरक्षांसि भूतानि पिशाचाः पिशिताशनाः ।
भूतेशवत्सा दुदुहुः कपाले क्षतजासवम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यक्ष—यक्षगण (कुबेर के वंशज); रक्षांसि—राक्षसगण (मांसभक्षी); भूतानि—भूतों; पिशाचाः—पिशाचों ने; पिशित-अशनाः—मांस खाने के अभ्यस्त; भूतेश—रुद्र रूपी शिव-अवतार; वत्साः—बछड़ा; दुदुहुः—दुह लिया; कपाले—कपाल के पात्र में; क्षत-ज—रक्त; आसवम्—खमीर उठा पेय।

तब मांसाहार के आदी यक्षों, राक्षसों, भूतों तथा पिशाचों ने श्री शिव के अवतार रुद्र (भूतनाथ) को बछड़ा बनाया और रक्त से निर्मित पेय पदार्थों को दुहकर उन्हें कपालों से बने पात्रों में रखा।

तात्पर्य : मनुष्यों के रूप में कुछ प्रकार की जीवात्माएँ ऐसी भी हैं जिनका रहन-सहन तथा भोज्य पदार्थ अत्यन्त घृणित है। सामान्य रूप से वे मांस तथा खमीर उठे रक्त का भोजन करते हैं, जिसे इस श्लोक में *क्षतजासवम्* कहा गया है। ऐसे अधम पुरुषों के अगुआ, जिन्हें यक्ष, राक्षस, भूत तथा पिशाच कहा जाता है, तमोगुणी होते हैं। ये रुद्र के अधीन आते हैं। रुद्र शिव के अवतार हैं और प्रकृति के तमोगुण के स्वामी हैं। शिवजी का दूसरा नाम भूतनाथ है, जिसका अर्थ है, ''भूतों के स्वामी।'' रुद्र का जन्म ब्रह्मा के नेत्रों के मध्य, भृकुटियों से तब हुआ जब वे चार कुमारों पर अत्यन्त कुपित हो गये थे।

तथाहयो दन्दशूकाः सर्पा नागाश्च तक्षकम् ।
विधाय वत्सं दुदुहुर्बिलपात्रे विषं पयः ॥ २२॥

शब्दार्थ

तथा—उसी प्रकार; अहयः—बिना फनवाले साँप; दन्दशूकाः—बिच्छू; सर्पाः—फनवाले साँप; नागाः—बड़े सर्प; च—तथा; तक्षकम्—सर्पों के प्रमुख, तक्षक को; विधाय—बनाकर; वत्सम्—बछड़ा; दुदुहुः—दुह लिया; बिल-पात्रे—साँप के बिल रूपी पात्र में; विषम्—विष; पयः—दूध के रूप में।

तत्पश्चात् फनवाले तथा बिना फनवाले साँपों, नागों, बिच्छुओं तथा अन्य विषैले पशुओं ने पृथ्वी के दूध के रूप में अपना-अपना विष दुह लिया और इस विष को साँप के बिलों में रख दिया। उन्होंने तक्षक को बछड़ा बनाया था।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में विविध प्रकार की जीवात्माएँ हैं और इस श्लोक में उल्लिखित विभिन्न प्रकार के रेंगनेवाले जीव तथा बिच्छुओं के जीवन-निर्वाह की व्यवस्था भगवान् ने की है। बात यह है कि इस पृथ्वी से सभी जीव अपनी-अपनी खाद्य-वस्तुएँ प्राप्त करते हैं। भौतिक गुणों की संगति के अनुसार ही किसी एक प्रकार का चरित्र विकसित होता है। *पयः पानं भुजंगानाम्*—यदि कोई साँप को दूध पिलाता है, तो इससे उसका विष ही बढ़ता है। किन्तु यदि यही दूध किसी प्रतिभाशाली मुनि या सन्त को दिया जाये तो उसके मस्तिष्क में ऐसे ऊतक बनेंगे जिनसे वह उच्च आध्यात्मिक चिन्तन कर सकता है। इस प्रकार भगवान् हर एक को भोजन देते हैं, किन्तु जीवात्मा भौतिक प्रकृति के जिस

प्रकार के गुणों के सम्पर्क में आता है उसी के अनुसार वह अपना विशिष्ट चरित्र ढालता है।

पशवो यवसं क्षीरं वत्सं कृत्वा च गोवृषम् ।
अरण्यपात्रे चाधुक्षन्मृगेन्द्रेण च दंष्ट्रिणः ॥ २३॥
क्रव्यादाः प्राणिनः क्रव्यं दुदुहुः स्वे कलेवरे ।
सुपर्णवत्सा विहगाश्चरं चाचरमेव च ॥ २४॥

शब्दार्थ

पशवः—पशु; यवसम्—हरी घास को; क्षीरम्—दूध; वत्सम्—बछड़ा; कृत्वा—बनाकर; च—भी; गो-वृषम्—शिवजी का वाहन, बैल; अरण्य-पात्रे—जंगल रूपी पात्र में; च—भी; अधुक्षन्—दुहा; मृग-इन्द्रेण—सिंह के द्वारा; च—तथा; दंष्ट्रिणः—तेज दाँतोंवाले पशु; क्रव्य-अदाः—कच्चा मांस खानेवाले पशु; प्राणिनः—जीवात्माएँ; क्रव्यम्—मांस; दुदुहुः—दुह लिया; स्वे—अपने; कलेवरे—अपने शरीर रूपी पात्र में; सुपर्ण—गरुड़ रूपी; वत्साः—बछड़ा; विहगाः—पक्षी; चरम्—चर जीवात्माएँ; च—भी; अचरम्—अचर (जड़) जीवात्माएँ; एव—निश्चय ही; च—भी।

गायों जैसे चौपाये पशुओं ने शिव के वाहन बैल को बछड़ा और जंगल को दुहने का पात्र बनाया। इस प्रकार उन्हें खाने के लिए ताजी हरी घास मिल गई। बाघों जैसे हिंस्र पशुओं ने सिंह को बछड़ा बनाया और इस प्रकार वे दूध के रूप में मांस प्राप्त कर सके। पक्षियों ने गरुड़ को वत्स बनाया और पृथ्वी से चर कीटों तथा अचर घासों तथा पौधों के रूप में दूध प्राप्त किया।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु के वाहन गरुड़ से अनेक मांसभक्षी पक्षी उत्पन्न हुए हैं। सचमुच ही एक विशेष प्रकार का पक्षी भी होता है, जिसे बन्दरों को खाना बहुत भाता है। चील्हें बकरों को खा जाती है तथा अनेक पक्षी फल तथा बेर ही खाते हैं। इसलिए इस श्लोक में चरम् शब्द चलने फिरनेवाले पशुओं के लिए तथा अचरम् शब्द घासों, फलों, शाकों के लिए प्रयुक्त हुए है।

वटवत्सा वनस्पतयः पृथग्रसमयं पयः ।
गिरयो हिमवद्वत्सा नानाधातून्स्वसानुषु ॥ २५॥

शब्दार्थ

वट-वत्साः—बरगद के वृक्ष को बछड़ा बनाकर, बट रूपी बछड़ा; वनः-पतयः—वृक्षों ने; पृथक्—विभिन्न; रस-मयम्—रसों के रूप में; पयः—दूध; गिरयः—पर्वत; हिमवत्-वत्साः—हिमालय रूपी बछड़ा; नाना—विविध; धातून्—धातुएँ; स्व—अपनी; सानुषु—चोटियों पर।

वृक्षों ने बरगद के पेड़ को बछड़ा बनाकर अनेक सुस्वादु रसों को दूध के रूप में दुह लिया। पर्वतों ने हिमालय को बछड़ा तथा पर्वत श्रृंगों को पात्र बनाकर नाना प्रकार की धातुएँ दुहीं।

सर्वे स्वमुख्यवत्सेन स्वे स्वे पात्रे पृथक्पयः ।
सर्वकामदुघां पृथ्वीं दुदुहुः पृथुभाविताम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—सभी ने; स्व-मुख्य—अपने-अपने प्रधानों द्वारा; वत्सेन—बछड़े के रूप में; स्वे स्वे—अपने-अपने; पात्रे—पात्रों में; पृथक्—भिन्न -भिन्न; पयः—दूध; सर्व-काम—सभी वांछित वस्तु; दुघाम्—दूध के रूप में; पृथ्वीम्—पृथ्वीलोक को; दुदुहुः—दुहा; पृथु-भाविताम्—राजा पृथु द्वारा शासित।

पृथ्वीलोक ने सबों को अपना-अपना भोजन प्रदान किया है। राजा पृथु के काल में, पृथ्वी पूर्ण रूप से राजा के अधीन थी। अतः पृथ्वी के सभी वासी अपना-अपना बछड़ा उत्पन्न करके तथा विभिन्न प्रकार के पात्रों में अपने विशिष्ट प्रकार के दूध को रख कर अपना भोजन प्राप्त कर सके।

तात्पर्य : यह इसका प्रमाण है कि भगवान् हर एक को भोजन प्रदान करते हैं। जैसाकि वेदों में पुष्टि की गई है—*एको बहूनां यो विदधाति कामान्।* यद्यपि भगवान् एक है, किन्तु पृथ्वी के द्वारा वह सबों की आवश्यकताओं को पूरा करता है। विभिन्न लोकों में भिन्न-भिन्न प्रकार की जीवात्माएँ हैं और वे अपने-अपने लोकों से विभिन्न रूपों में अपनी खाद्य सामग्री प्राप्त करती हैं। इन कथनों के आधार पर भला यह कैसे विश्वास कर लिया जाये कि चन्द्रमा पर जीवात्मा नहीं है? प्रत्येक चन्द्रमा पार्थिव है, क्योंकि यह पाँच तत्त्वों से बना होता है और प्रत्येक लोक अपने-अपने वासियों की आवश्यकतानुसार खाद्य पदार्थ उत्पन्न करता है। वैदिक शास्त्रों के अनुसार यह सच नहीं है कि चन्द्रमा न तो अन्न उत्पन्न करता है और न उसमें कोई जीवात्मा रह रही है।

एवं पृथ्वादयः पृथ्वीमन्नादाः स्वन्नमात्मनः ।
दोहवत्सादिभेदेन क्षीरभेदं कुरूद्वह ॥ २७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; पृथु-आदयः—राजा पृथु तथा अन्यों ने; पृथ्वीम्—पृथ्वी को; अन्न-अदाः—अन्न के इच्छुक समस्त जीव; सु-अन्नम्—अपना वांछित खाद्य पदार्थ; आत्मनः—अपने निर्वाह हेतु; दोह—दुहने के लिए; वत्स-आदि—बछड़े, पात्र तथा दुहनेवाले के द्वारा; भेदेन—विभिन्न; क्षीर—दूध; भेदम्—विभिन्न; कुरु-उद्वह—हे कुरुओं में प्रधान।

हे कुरुश्रेष्ठ विदुर जी, इस प्रकार राजा पृथु तथा अन्नभोजियों ने विभिन्न प्रकार के बछड़े उत्पन्न किये और अपने-अपने खाद्य-पदार्थों को दुह लिया। इस तरह उन्होंने विभिन्न प्रकार के खाद्य-पदार्थ प्राप्त किये जो दूध का प्रतीक हैं।

ततो महीपतिः प्रीतः सर्वकामदुघां पृथुः ।
दुहितृत्वे चकारेमां प्रेम्णा दुहितृवत्सलः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; मही-पतिः—राजा; प्रीतः—प्रसन्न होकर; सर्व-काम—समस्त इच्छाएँ; दुघाम्—दूध के रूप में उत्पन्न करनेवाला; पृथुः—राज पृथु; दुहितृत्वे—अपनी पुत्री मानकर; चकार—किया; इमाम्—पृथ्वी को; प्रेम्णा—प्रेम के कारण; दुहितृ-वत्सलः—अपनी पुत्री के प्रति स्नेहमय।

तत्पश्चात् राजा पृथु पृथ्वी से अत्यन्त प्रसन्न हो गये क्योंकि उसने विभिन्न जीवात्माओं के लिए प्रचुर मात्रा में भोजन की पूर्ति की। इस प्रकार पृथ्वी के प्रति राजा स्नेहिल हो उठा, मानो वह उसकी पुत्री हो।

चूर्णयन्स्वधनुष्कोट्या गिरिकूटानि राजराट् ।
भूमण्डलमिदं वैन्यः प्रायश्चक्रे समं विभुः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

चूर्णयन्—खण्ड-खण्ड करते हुए; स्व—अपने; धनुः-कोट्या—धनुष के बल से; गिरि—पर्वतों के; कूटानि—शिखरों को; राज-राट्—सम्राट; भू-मण्डलम्—समस्त पृथ्वी; इदम्—यह; वैन्यः—वेन के पुत्र ने; प्रायः—प्रायः; चक्रे—कर दिया; समम्—समतल; विभुः—शक्तिमान।

फिर राजधिराज महाराज पृथु ने अपने बाण की शक्ति से पर्वतों को तोड़ कर भूमण्डल के समस्त ऊबड़-खाबड़ स्थानों को समतल कर दिया। उनकी कृपा से भूमण्डल की पूरी सतह प्रायः सपाट हो गई।

तात्पर्य : सामान्यतः पृथ्वी के पर्वतीय भाग वज्रपात से सपाट होते रहते हैं। सामान्यतः यह स्वर्ग के राजा इन्द्र का कार्य है, किन्तु भगवान् के अवतार राजा पृथु ने इसके लिए इन्द्र की प्रतीक्षा नहीं की, वरन् अपने बलशाली बाण के द्वारा पर्वतों को स्वयं खण्ड-खण्ड कर दिया।

अथास्मिन्भगवान्वैन्यः प्रजानां वृत्तिदः पिता ।
निवासान्कल्पयां चक्रे तत्र तत्र यथार्हतः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; अस्मिन्—इस पृथ्वी पर; भगवान्—श्रीभगवान्; वैन्यः—वेन का पुत्र; प्रजानाम्—प्रजा का; वृत्तिदः—जीविका देनेवाला; पिता—पिता; निवासान्—आवास, वास-स्थान; कल्पयाम्—उपयुक्त; चक्रे—बनाया; तत्र तत्र—जहाँ-तहाँ; यथा—जिस प्रकार; अर्हतः—वांछित, उपयुक्त।

राजा पृथु अपनी सारी प्रजा के लिए पिता तुल्य था। वह उन्हें उचित जीविका देने में प्रत्यक्ष

रूप से व्यस्त था। उसने भूमण्डल की सतह को समतल करके जितने भी निवास-स्थानों की आवश्यकता थी उनके लिए विभिन्न स्थल नियत कर दिये।

ग्रामान्पुरः पत्तनानि दुर्गाणि विविधानि च ।
घोषान्व्रजान्सशिबिरानाकरान्खेटखर्वटान् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

ग्रामान्—गाँव; पुरः—नगर; पत्तनानि—बस्तियाँ; दुर्गाणि—किले; विविधानि—नाना प्रकार के; च—भी; घोषान्—ग्वालों की बस्तियाँ; व्रजान्—गोशालाएँ; स-शिबिरान्—छावनियाँ; आकरान्—खानें; खेट—खेतिहरों की बस्तियाँ; खर्वटान्—पहाड़ी गाँव।

इस प्रकार राजा ने अनेक प्रकार के गाँवों, बस्तियों, नगरों की स्थापना की और अनेक किले, ग्वालों की बस्तियाँ, पशुशालाएँ, छावनियाँ, खानें, खेतिहर बस्तियाँ तथा पहाड़ी गाँव बनवाये।

प्राक्पृथोरिह नैवैषा पुरग्रामादिकल्पना ।
यथासुखं वसन्ति स्म तत्र तत्राकुतोभयाः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

प्राक्—पूर्व; पृथोः—राजा पृथु के; इह—इस पृथ्वी पर; न—कभी नहीं; एव—निश्चय ही; एषा—यह; पुर—नगरों की; ग्राम-आदि—गाँवों आदि की.; कल्पना—नियोजित व्यवस्था; यथा—जिस प्रकार; सुखम्—सुविधाजनक; वसन्ति स्म—रहते थे; तत्र तत्र—जहाँ तहाँ; अकुतः-भयाः—बिना हिचक के, बेखटके।

राजा पृथु के शासन के पूर्व विभिन्न नगरों, ग्रामों, गोचरों इत्यादि की सुनियोजित व्यवस्था न थी। सब कुछ तितर-बितर था और हर व्यक्ति अपनी सुविधा के अनुसार अपना वास-स्थान बनाता था। किन्तु राजा पृथु के काल से नगरों तथा ग्रामों की योजनाएँ बनने लगीं।

तात्पर्य : इस कथन से लगता है कि नगर-योजना नवीन नहीं है, वरन् राजा पृथु के काल से चली आ रही है। हम भारत के अत्यन्त प्राचीन नगरों में सुव्यवस्थित योजना विधियाँ पाते हैं। *श्रीमद्भागवत* में ऐसे प्राचीन नगरों के अनेक वर्णन आये हैं। यहाँ तक कि पाँच हजार वर्ष पूर्व श्रीकृष्ण की राजधानी द्वारका सुनियोजित नगरी थी तथा इसी प्रकार मथुरा तथा हस्तिनापुर (अब नई दिल्ली) जैसे अनेक सुनियोजित नगर थे। इस प्रकार नगरों की योजना कोई नवीन कल्पना नहीं है, वरन् वह प्राचीन युग में विद्यमान थी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत ''पृथु महाराज द्वारा पृथ्वी का दोहन'' नामक अठारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter उन्नीस

राजा पृथु के एक सौ अश्वमेध यज्ञ

मैत्रेय उवाच
अथादीक्षत राजा तु हयमेधशतेन सः ।
ब्रह्मावर्ते मनोः क्षेत्रे यत्र प्राची सरस्वती ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; अथ—तत्पश्चात्; अदीक्षत—शुरू किया; राजा—राजा ने; तु—तब; हय—घोड़ा, अश्व; मेध—यज्ञ; शतेन—एक सौ सम्पन्न करने के लिए; सः—वह; ब्रह्मावर्ते—ब्रह्मावर्त नाम से विख्यात; मनोः—स्वायंभुव मनु के; क्षेत्रे—भूभाग में; यत्र—जहाँ; प्राची—पूर्व की ओर; सरस्वती—सरस्वती नदी।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, राजा पृथु ने उस स्थान पर जहाँ सरस्वती नदी पूर्वमुखी होकर बहती है, एक सौ अश्वमेध यज्ञ आरम्भ किए। यह भूखण्ड ब्रह्मावर्त कहलाता है, जो स्वायंभुव मनु द्वारा शासित था।

तदभिप्रेत्य भगवान्कर्मातिशयमात्मनः ।
शतक्रतुर्न ममृषे पृथोर्यज्ञमहोत्सवम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तत् अभिप्रेत्य—यह विचार कर; भगवान्—परमशक्तिशाली; कर्म-अतिशयम्—सकाम कर्मों में बाजी मारनेवाला; आत्मनः—स्व; शत-क्रतुः—इन्द्र, जिसने एक सौ यज्ञ किये थे; न—नहीं; ममृषे—सहन कर सका; पृथोः—राजा पृथु का; यज्ञ—यज्ञ का; महा-उत्सवम्—महोत्सव।

जब स्वर्ग के राजा सर्वाधिक शक्तिशाली इन्द्र ने यह देखा तो उसने विचार किया कि सकाम कर्मों में राजा पृथु उससे बाजी मारने जा रहा है। अतः वह राजा पृथु द्वारा किये जा रहे यज्ञ-महोत्सव को सहन न कर सका।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में जो भी सुखोपभोग करने या भौतिक प्रकृति पर शासन करने के लिए आता है, वह दूसरों से ईर्ष्या करता है। यह ईर्ष्या स्वर्ग के राजा इन्द्र में भी पाई जाती है। जैसाकि शास्त्रों से प्रकट है, इन्द्र अनेक बार अनेक पुरुषों के प्रति ईर्ष्यालु रहा था। वह विशेष रूप से महान् सकाम कर्मों तथा योग अभ्यास अथवा सिद्धियों के प्रति ईर्ष्या रखता था। सहन न कर सकने के कारण वह उन्हें छिन्न-भिन्न करना चाहता था। उसे यह भय बना रहता था कि कहीं कोई योगशक्ति के लिए अधिक बड़े यज्ञ सम्पन्न करके उसका पद न हथिया ले। चूँकि इस भौतिक संसार में कोई भी पराई

विभूति नहीं देख सकता, अत: प्रत्येक व्यक्ति *मत्सर,* अर्थात् ईष्यालु कहलाता है। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है कि भागवत *निर्मत्सरों* के लिए है। दूसरे शब्दों में, जो ईर्ष्या के कल्मष से मुक्त नहीं है, वह कृष्णचेतना में अग्रसर नहीं हो सकता। किन्तु कृष्णचेतना में यदि कोई किसी से आगे निकल जाता है, तो भक्त सोचता है कि वह व्यक्ति कितना भाग्यवान है, जो भक्तिभाव में आगे बढ़ गया है। इस प्रकार का *निर्मत्सर* वैकुण्ठ की विशेषता है। फिर भी, जब कोई अपने प्रतियोगी से ईर्ष्या करता है, तो वह भौतिक प्राणी होता है। इस भौतिक जगत में पदापित देवता तक ईर्ष्या से मुक्त नहीं हैं।

यत्र यज्ञपतिः साक्षाद्भगवान्हरिरीश्वरः ।
अन्वभूयत सर्वात्मा सर्वलोकगुरुः प्रभुः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; यज्ञ-पतिः—समस्त यज्ञों का भोक्ता; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवान्—भगवान्; हरिः—विष्णु ने; ईश्वरः—परम नियन्ता; अन्वभूयत—दर्शन दिया; सर्व-आत्मा—प्रत्येक का परमात्मा; सर्व-लोक-गुरुः—समस्त लोकों का स्वामी अथवा हर एक का शिक्षक; प्रभुः—स्वामी।

भगवान् विष्णु हर प्राणी के हृदय में परमात्मा-रूप में स्थित हैं। वे समस्त लोकों के स्वामी तथा समस्त यज्ञ-फलों के भोक्ता हैं। वे राजा पृथु द्वारा किये गये यज्ञों में साक्षात् उपस्थित थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में आगत *साक्षात्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। पृथु महाराज भगवान् विष्णु के *शक्त्यावेश* अवतार थे। वस्तुत: पृथु महाराज एक जीवात्मा थे, किन्तु उन्हें भगवान् विष्णु से विशेष शक्तियाँ प्राप्त थीं। फिर भी भगवान् विष्णु तो साक्षात् भगवान् ठहरे, अत: वे *विष्णुतत्त्व* कोटि में आते हैं। महाराज पृथु *जीवतत्त्व* की कोटि में थे। विष्णुतत्त्व ईश्वर का सूचक है, किन्तु जीवतत्त्व ईश्वर के अंश का। जब ईश्वर का अंश विशेष शक्तिसम्पन्न हो जाता है, तो वह *शक्त्यावेश* अवतार कहलाता है। यहाँ पर विष्णु *हरिरीश्वर:* के रूप में वर्णित हैं। भगवान् इतने दयालु हैं कि वे अपने भक्तों के सारे कष्टों को दूर कर देते हैं, अत: वे हरि कहलाते हैं। वे ईश्वर कहे जाते हैं, क्योंकि वे जो चाहें सो कर सकते हैं। वे परम नियन्ता हैं। परम ईश्वर पुरुषोत्तम तो भगवान् श्रीकृष्ण हैं। वे अपनी शक्ति का प्रदर्शन ईश्वर अथवा परम नियन्ता के रूप में करते हैं, जब वे *भगवद्गीता* (१८.६६) में अपने भक्त को आश्वस्त करते हैं, ''समस्त धर्मों को त्याग कर मेरी शरण में आ। मैं समस्त पापों से तेरा उद्धार कर दूँगा। तू डर

मत।'' यदि भक्त केवल उनकी शरण ग्रहण कर ले तो वे उसे समस्त पापकर्मों के फल से मुक्त कर देते हैं। यहाँ पर उन्हें *सर्वात्मा* कहा गया है, जिसका अर्थ यह है कि वे प्रत्येक जीव के हृदय में परमात्मा रूप में स्थित हैं और इसी कारण वे सबके शिक्षक (गुरु) हैं। यदि हम *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण द्वारा दिये गये उपदेशों को ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त कर सकें तो हमारे जीवन तुरन्त सार्थक हो जाँए। भगवान् श्रीकृष्ण से बढ़कर मानव समाज को भला कौन शिक्षा दे सकता है?

अन्वितो ब्रह्मशर्वाभ्यां लोकपालैः सहानुगैः ।
उपगीयमानो गन्धर्वैर्मुनिभिश्चाप्सरोगणैः ॥ ४॥

शब्दार्थ

अन्वितः—साथ में; ब्रह्म—ब्रह्मा द्वारा; शर्वाभ्याम्—तथा शिव द्वारा; लोक-पालैः—विभिन्न लोकों के प्रधानों द्वारा; सह अनुगैः—अपने-अपने अनुचरों के साथ; उपगीयमानः—प्रशंसित होकर; गन्धर्वैः—गन्धर्वलोक के वासियों द्वारा; मुनिभिः—मुनियों द्वारा; च—भी; अप्सरः-गणैः—अप्सरालोक के वासियों द्वारा।

जब भगवान् विष्णु यज्ञस्थल में प्रकट हुए तो उनके साथ ब्रह्माजी, शिवजी तथा सभी लोकपाल एवं उनके अनुचर भी थे। जब वे वहाँ प्रकट हुए तो गन्धर्वलोक-निवासियों, ऋषियों तथा अप्सरा लोक के निवासियों सभी ने मिलकर प्रशंसा की।

सिद्धा विद्याधरा दैत्या दानवा गुह्यकादयः ।
सुनन्दनन्दप्रमुखाः पार्षदप्रवरा हरेः ॥ ५॥

शब्दार्थ

सिद्धाः—सिद्ध लोक के वासी; विद्याधराः—विद्याधर लोक के वासी; दैत्याः—दिति के वंशज, दैत्य; दानवाः—असुर; गुह्यक-आदयः—यक्ष इत्यादि.; सुनन्द-नन्द-प्रमुखाः—सुनन्द तथा नन्द इत्यादि भगवान् के मुख्य पार्षद; पार्षद—पार्षद, सहयोगी; प्रवराः—प्रतिष्ठित; हरेः—भगवान् के।

भगवान् के साथ में सिद्धलोक तथा विद्याधर लोक के वासी, दिति की समस्त सन्तानें, असुर तथा यक्षगण थे। उनके साथ सुनन्द तथा नन्द इत्यादि उनके प्रमुख पार्षद भी थे।

कपिलो नारदो दत्तो योगेशाः सनकादयः ।
तमन्वीयुर्भागवता ये च तत्सेवनोत्सुकाः ॥ ६॥

शब्दार्थ

कपिलः—कपिल मुनि; नारदः—नारद ऋषि; दत्तः—दत्तात्रेय; योग-ईशाः—योगशक्ति के स्वामी; सनक-आदयः—सनक इत्यादि; तम्—भगवान् विष्णु; अन्वीयुः—पीछे-पीछे; भागवताः—परम भक्तजन; ये—सभी जो; च—भी; तत्-सेवन-उत्सुकाः—भगवान् की सेवा के लिए सदैव उत्सुक रहने वाले।

भगवान् विष्णु के साथ भगवान् की सेवा में सदैव लगे रहनेवाले परम भक्तगण अर्थात् कपिल, नारद तथा दत्तात्रेय नामक ऋषि और साथ ही साथ सनत्कुमार इत्यादि योगेश्वर उस यज्ञ में सम्मिलित हुए।

यत्र धर्मदुघा भूमिः सर्वकामदुघा सती ।
दोग्धि स्माभीप्सितानर्थान्यजमानस्य भारत ॥ ७॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; धर्म-दुघा—धर्म हेतु प्रचुर दूध को उत्पन्न करनेवाली; भूमिः—पृथ्वी; सर्व-काम—समस्त इच्छाएँ; दुघा—दूध रूप में प्रदान करनेवाली; सती—गाय; दोग्धि स्म—पूर्ण किया; अभीप्सितान्—इच्छाओं को; अर्थान्—वस्तुएँ; यजमानस्य—यज्ञकर्ता के; भारत—हे विदुर।.

हे विदुर, उस महान् यज्ञ में सारी भूमि दूध देनेवाली कामधेनु बन गई और इस प्रकार यज्ञ सम्पन्न करने से जीवन की समस्त आवश्यकताएँ पूरी होने लगीं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *धर्मदुघा* शब्द महत्त्वपूर्ण है, जो *कामधेनु* का सूचक है। कामधेनु को *सुरभि* भी कहते हैं। सुरभि गाएँ वैकुण्ठ में पायी जाती हैं और जैसाकि *ब्रह्म संहिता* में कहा गया है, भगवान् श्रीकृष्ण इन गायों के पालन में लगे रहते हैं—*सुरभिरभिपालयन्तम्*। सुरभि गाय को चाहे जितनी बार दुहा जाय और चाहे जितने दूध की आवश्यकता हो, वह देती है। दूध की आवश्यकता अनेक दुग्ध-पदार्थों के बनाने में होती है, विशेष रूप से घी की आवश्यकता बड़े-बड़े यज्ञों में पड़ती है। जब तक हम निर्दिष्ट किय गये गये यज्ञ नहीं करते हमारी जीवन-आवश्यकताएँ रुक जाती हैं। *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है कि ब्रह्माजी ने यज्ञ सहित मानव समाज की सृष्टि की। यज्ञ का अर्थ है भगवान् को तुष्ट रखने के लिए कार्य करना। किन्तु इस युग में ऐसे सुयोग्य ब्राह्मण खोज पाना कठिन है, जो वेदों के अनुसार यज्ञ करा सकें। अतः *श्रीमद्भागवत* में संस्तुति की गई है कि *संकीर्तन-यज्ञ* करके तथा यज्ञ पुरुष भगवान् चैतन्य को प्रसन्न करके मनुष्य प्राचीन समय में यज्ञों से प्राप्त होनेवाले सभी फलों को प्राप्त कर सकता है (*यज्ञै संकीर्तन-प्रायैः*)। राजा पृथु तथा अन्यों ने बड़े-बड़े यज्ञ सम्पन्न कर के पृथ्वी से जीवन की सभी आवश्यकताएँ प्राप्त कीं। अब फिर से अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ ने इस *संकीर्तन-यज्ञ* के आन्दोलन को प्रारम्भ किया है। मनुष्यों को चाहिए कि इस महान् यज्ञ का लाभ उठाए और संघ के कार्यों में सम्मिलित हों। तब किसी प्रकार का अभाव नहीं

रहेगा। यदि *संकीर्तन-यज्ञ* किया जाये तो औद्योगिक उपक्रमों में भी कोई कठिनाई नहीं रहेगी। अत: इस पद्धति का जीवन के समस्त अंगों—सामाजिक, राजनीतिक, औद्योगिक, व्यापारिक आदि—में सूत्रपात किया जाना चाहिए। तब सभी कुछ शान्तिपूर्वक तथा सरलता से चलने लगेगा।

ऊहुः सर्वरसान्नद्यः क्षीरदध्यन्नगोरसान् ।
तरवो भूरिवर्ष्माणः प्रासूयन्त मधुच्युतः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

ऊहुः—लाती थी; सर्व-रसान्—सभी प्रकार के स्वाद; नद्यः—नदियाँ; क्षीर—दूध; दधि—दही; अन्न—तरह-तरह के अनाज; गो-रसान्—अन्य दूध की वस्तुएँ; तरवः—वृक्ष; भूरि—अधिक; वर्ष्माणः—देहधारी; प्रासूयन्त—फल देने लगे; मधु-च्युतः—मधु चुवाते हुए।

बहती हुई नदियाँ समस्त प्रकार के स्वाद—मीठा, खट्टा, चटपटे इत्यादि—प्रदान करने लगीं तथा बड़े-बड़े वृक्ष प्रचुर मात्रा में फल तथा मधु देने लगे। गायें पर्याप्त हरी घास खाकर प्रभूत मात्रा में दूध, दही, घी तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ देने लगीं।

तात्पर्य : यदि नदियाँ प्रदूषित न हों और उन्हें अपने ढंग से ही बहने दिया जाये, अथवा कभी-कभी भूमि को बाढ़-जल से भरने दिया जाये तो भूमि इतनी अपजाऊ हो सकती है कि सभी प्रकार के शाक, वृक्ष तथा पौधे उत्पन्न होने लगें। *रस* शब्द का अर्थ स्वाद है। वास्तव में सभी रस पृथ्वी के भीतर के स्वाद हैं और ज्योंही धरती में बीज बोये जाते हैं कि विभिन्न पौधे फूट कर बाहर निकलते हैं और हमारे विभिन्न स्वादों की पूर्ति करते हैं। उदाहरणार्थ, गन्ने के रस से मीठे स्वाद की तथा संतरे के रस से खटमिट्ठे स्वाद की पूर्ति होती है। इसी प्रकार अनन्नास तथा अन्य फल हैं। साथ ही मिर्च भी है जिनसे चटपटे स्वाद की पूर्ति होती है। यद्यपि पृथ्वी वही है, किन्तु विभिन्न बीजों के कारण विभिन्न स्वाद उत्पन्न होते हैं। जैसाकि श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.१०) में कहा है—*बीजं मां सर्वभूतानाम्*—मैं सारे अस्तित्वों का मूल आदि बीज हूँ। इस तरह से सभी प्रकार की व्यवस्था रहती है। और जैसाकि *ईशोपनिषद्* में कथित है—*पूर्णम् इदम्।* भगवान् ने समस्त आवश्यक वस्तुओं के उत्पन्न किये जाने की पूरी व्यवस्था कर रखी है। अत: लोगों को यज्ञ-पुरुष भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना सीखना चाहिए। निस्सन्देह, जीवात्मा का प्रमुख कार्य भगवान् को प्रसन्न रखना है, क्योंकि जीवात्मा भगवान् का ही अंश है। अत: सारी प्रणाली इस प्रकार व्यवस्थित है कि जीवात्मा उसी तरह कर्तव्य निभाए जैसी कि उसे

स्वाभाविक स्थिति प्राप्त है। ऐसा न करने से समस्त जीवात्माओं को कष्ट उठाना पड़ेगा। यही प्रकृति का नियम है।

तरवो भूरिवर्ष्माण: शब्दों से बड़े-बड़े और अत्यधिक बढ़े हुए वृक्षों की जानकारी मिलती है। इन वृक्षों का कार्य मधु तथा तरह-तरह के फल उत्पन्न करना है। दूसरे शब्दों में, जंगलों का भी कार्य मधु, फल तथा फूल प्रदान करना होता है। दुर्भाग्यवश कलियुग में, यज्ञ के अभाव में जंगलों में बड़े-बड़े वृक्ष होते हुए भी उनसे पर्याप्त फल तथा मधु प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार सब कुछ यज्ञ पर निर्भर करता है। इस युग में यज्ञ करने का सर्वश्रेष्ठ साधन सारे संसार में संकीर्तन-आन्दोलन का विस्तार करना है।

सिन्धवो रत्ननिकरान्गिरयोऽन्नं चतुर्विधम् ।
उपायनमुपाजह्रुः सर्वे लोकाः सपालकाः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सिन्धवः—समुद्र; रत्न-निकरान्—रत्नों के समूह; गिरयः—पर्वत; अन्नम्—खाद्य वस्तुएँ; चतुः-विधम्—चारों प्रकार की; उपायनम्—उपहार; उपाजह्रुः—ले आय; सर्वे—समस्त; लोकाः—सभी लोकों के मनुष्य; स-पालकाः—अपने-अपने लोक-पालों सहित।

सामान्य जनों तथा समस्त लोकों के प्रमुख देवों ने राजा पृथु को तरह-तरह के उपहार लाकर प्रदान किये। समुद्र अमूल्य रत्नों से तथा पर्वत रसायनों एवं उर्वरकों से पूर्ण थे। चारों प्रकार के खाद्य पदार्थ प्रभूत मात्रा में उत्पन्न होते थे।

तात्पर्य : जैसाकि *ईशोपनिषद्* में कहा गया है, इस भौतिक सृष्टि में—न केवल मनुष्यों के लिए अपितु पशुओं, सरीसृपों, जलचरों तथा वृक्षों के लिए अर्थात् जीवात्माओं के लिए सभी आवश्यक वस्तुएँ उत्पन्न करने की क्षमता है। समुद्र मोती, मूँगे तथा अन्य रत्न उत्पन्न करते हैं जिससे नियमों के पालककर्ता लोग उनका उपभोग कर सकें। इसी प्रकार पर्वत भी रसायनों से परिपूर्ण हैं, जिसके कारण उनसे निकलनेवाली नदियाँ उन रसायनों को खेतों में फैलाकर चारों प्रकार के खाद्य पदार्थों को उर्वर बनाएं। ये पदार्थ हैं *चर्व्य* (चबाये जानेवाले), *लेह्य* (चाटे जानेवाले), *चूष्य* (निगले जानेवाले) तथा *पेय* (पिये जानेवाले)।

पृथु महाराज की अभ्यर्थना अन्य लोकवासियों तथा उनके अधिष्ठाता देवों द्वारा की गई। उन्होंने तरह-तरह के उपहार दिये और उन्हें उपयुक्त राजा के रूप में स्वीकार किया, जिसकी व्यवस्था से

विश्व-भर का प्रत्येक नागरिक सुखी तथा सम्पन्न बन सके। इस श्लोक में स्पष्ट संकेत है कि समुद्र रत्नोत्पादन के लिए हैं, किन्तु कलियुग में इनका मुख्य उपयोग मछली पकड़ने के लिए किया जाता है। शूद्रों तथा निर्धन मनुष्यों को मछली पकड़ने दिया जाता था, किन्तु उच्च वर्ग के लोग, यथा क्षत्रिय तथा वैश्य मोती, मूँगे तथा रत्न एकत्र किया करते थे। यद्यपि निर्धन व्यक्ति टनों मछली पकड़ते थे, किन्तु उनका मूल्य मूँगे या मोती के एक टुकड़े के बराबर भी नहीं होता था। इस युग में उर्वरकों के उत्पादन हेतु अनेक बड़े-बड़े कारखाने स्थापित हुए हैं, किन्तु जब भगवान् यज्ञ करने से प्रसन्न होते हैं, तो पर्वत स्वत: इतना उर्वरक उत्पन्न करते हैं कि खेतों में खाद्य पदार्थों का अच्छा उत्पादन होता है। सब कुछ मनुष्य द्वारा यज्ञ की वैदिक विधियों को स्वीकार करने पर निर्भर करता है।

इति चाधोक्षजेशस्य पृथोस्तु परमोदयम् ।
असूयन्भगवानिन्द्र: प्रतिघातमचीकरत् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; च—भी; अधोक्षज-ईशस्य—अधोक्षज को पूज्य भगवान् माननेवाले; पृथो:—राजा पृथु का; तु—तब; परम—सर्वोच्च; उदयम्—ऐश्वर्य; असूयन्—ईर्ष्यावश; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; इन्द्र:—स्वर्ग के राजा ने; प्रतिघातम्—विघ्न; अचीकरत्—चेष्टा की।

राजा पृथु पुरुषोत्तम भगवान् पर आश्रित थे जिन्हें अधोक्षज कहा जाता है। राजा पृथु ने इतने यज्ञ सम्पन्न किये थे कि ईश्वर की कृपा से उनका अत्यधिक उत्कर्ष हुआ था। किन्तु उनका यह ऐश्वर्य स्वर्ग के राजा इन्द्र से न सहा गया और उसने इसमें विघ्न डालने की चेष्टा की।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अधोक्षज, भगवान् इन्द्र:* तथा *पृथो:* शब्दों से तीन पृथक् उद्देश्य व्यक्त हुए हैं। विष्णु के अवतार होते हुए भी आखिरकार वे जीवात्मा तो थे ही, अत: उन्हें भगवान् का भक्त होना ही चाहिए था। भले ही भक्त भगवान् का *शक्त्यावेश* अवतार क्यों न हो उसे भगवान् के साथ अपने सम्बध को भूलना नहीं चाहिए। कलियुग में अनेक स्वनिर्मित अवतार या यूं कहें धूर्त हैं, जो अपने को भगवान् घोषित करते हैं। *भगवान्* इन्द्र शब्द बताता है कि जीवात्मा राजा इन्द्र के समान शक्तिशाली एवं पूज्य हो सकता है क्योंकि राजा इन्द्र भी सामान्य जीवात्मा है और उसमें भी बद्धजीव के चारों दोष विद्यमान हैं। इस श्लोक में इन्द्र को *भगवान्* कहा गया है, जिसका प्रयोग सामान्यत: भगवान् के ही प्रसंग में होता है। यहाँ पर इन्द्र को भगवान् इसलिए कहा गया है, क्योंकि उसके हाथ में अत्यधिक

शक्ति है। वह भगवान् होकर भी भगवान् के अवतार राजा पृथु से द्वेष रखता है। भौतिक जीवन के दोष इतने प्रबल हैं कि कल्मष के कारण राजा इन्द्र ईश्वर के अवतार से ईर्ष्या कर रहा है।

अत: हमें यह समझने का प्रयास करना चाहिए कि आखिर बद्धजीव कैसे पतित बनता है। राजा पृथु का ऐश्वर्य भौतिक परिस्थितियों पर आश्रित नहीं था। जैसा इस श्लोक में वर्णित है वे *अधोक्षज* के परम भक्त थे। *अधोक्षज* शब्द भगवान् के लिए आया है, जो मन तथा शब्दों की अभिव्यक्ति के परे हैं। किन्तु भगवान् अपने भक्त के समक्ष अपने आदि रूप में, जो आनन्द तथा ज्ञान से युक्त है, प्रकट होते हैं। इस प्रकार भक्त अपने समक्ष भगवान् का दर्शन करता है, यद्यपि भगवान् हमारी इन्द्रियों की अभिव्यक्ति तथा हमारी प्रत्यक्ष अनुभूति के परे हैं।

चरमेणाश्वमेधेन यजमाने यजुष्पतिम् ।
वैन्ये यज्ञपशुं स्पर्धन्नपोवाह तिरोहितः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

चरमेण—अन्तिम; अश्व-मेधेन—अश्वमेध यज्ञ द्वारा; यजमाने—यज्ञ करते समय; यजुः-पतिम्—यज्ञ के स्वामी, विष्णु को प्रसन्न करने के लिए; वैन्ये—राजा वेन के पुत्र; यज्ञ-पशुम्—यज्ञ में बलि होनेवाला पशु; स्पर्धन्—ईर्ष्यावश; अपोवाह—चुरा लिया; तिरोहितः—अदृश्य।

जिस समय महाराज पृथु अन्तिम अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे, तो इन्द्र ने अदृश्य होकर यज्ञ का घोड़ा चुरा लिया। उसने राजा पृथु के प्रति ईर्ष्या भाव से ही ऐसा किया।

तात्पर्य : राजा इन्द्र को *शतक्रतु* कहा जाता है, क्योंकि उसने सौ अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किये थे। किन्तु यह हमें ज्ञात होना चाहिए कि यज्ञ में बलि किये गये पशु मारे नहीं जाते थे। यदि यज्ञ के समय वैदिक मंत्रों का ठीक से उच्चारण किया जाये तो बलि दिया गया पशु नवीन जीवन प्राप्त करके बाहर आ जाता था। यज्ञ की सफलता की यही कसौटी थी। जब राजा पृथु एक सौ यज्ञ कर रहे थे तो इन्द्र को ईर्ष्या हुई, क्योंकि वह नहीं चाहता था कि कोई उससे आगे निकल जाये। सामान्य जीवात्मा होने के कारण उसे राजा पृथु से ईष्या होने लगी। उसने अदृश्य होकर ये यज्ञ का घोड़ा चुरा लिया जिससे यज्ञ की कार्यवाही में व्यवधान पड़ गया।

तमत्रिर्भगवानैक्षत्त्वरमाणं विहायसा ।

आमुक्तमिव पाखण्डं योऽधर्मे धर्मविभ्रमः ॥ १२॥

शब्दार्थ

तम्—राजा इन्द्र को; अत्रिः—अत्रि मुनि; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; ऐक्षत्—देख सका; त्वरमाणम्—तेजी से बढ़ते हुए; विहायसा—आकाश में; आमुक्तम् इव—मुक्त पुरुष की भाँति; पाखण्डम्—पाखण्डी, धूर्त; यः—जो; अधर्मे—अधर्म में; धर्म—धर्म; विभ्रमः—धोखे से, भ्रमवश।.

घोड़े को ले जाते समय राजा इन्द्र ने ऐसा वेष धारण कर रखा था जिससे वह मुक्त पुरुष जान पड़े। वास्तव में उसका यह वेष ठगी के रूप में था, क्योंकि इससे झूठे ही धर्म का बोध हो रहा था। इस प्रकार जब इन्द्र आकाश मार्ग में पहुँचा तो अत्रि मुनि ने उसे देख लिया और समझ गये कि स्थिति क्या है।

तात्पर्य : इस श्लोक में प्रयुक्त *पाखंड* या *पाषंड शब्द* से ऐसे धूर्त का बोध होता है, जो अपने को धार्मिक व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करता है, किन्तु वास्तव में पापी होता है। इन्द्र ने दूसरों को धोखा देने के लिए केसरिया (गेरुआ) वस्त्र धारण कर रखा था। इस केसरिया वेष का अनेक धूर्तों ने दुष्प्रयोग करते हुए अपने को मुक्त पुरुष या ईश्वर का अवतार कह कर प्रस्तुत किया है। इस प्रकार से लोग ठगे जाते हैं। जैसाकि हमने बारम्बार कहा है, बद्धजीव में ठगने की प्रवृत्ति होती है, अतः राजा इन्द्र जैसे व्यक्ति में भी यह प्रवृत्ति देखी जाती है। इससे यह समझा जा सकता है कि राजा इन्द्र तक भौतिक कल्मष से मुक्त नहीं। इसीलिए *आमुक्तम् इव* शब्दों का प्रयोग हुआ है। संन्यासियों द्वारा धारण किया गया केसरिया बाना यह बताता है कि वे सांसारिकता से विरक्त होकर भगवान् की सेवा में अनुरक्त रहते हैं। ऐसा ही भक्त वास्तविक संन्यासी या मुक्त पुरुष है। *भगवद्गीता* (६.१) में कहा गया है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

"जो पुरुष कर्मफल में अनासक्त रह कर अपने कर्तव्य का पालन करता है, वही सच्चा संन्यासी और योगी है; न की अग्नि को त्यागनेवाला अथवा कर्म को त्यागनेवाला।"

दूसरे शब्दों में, जो अपने कर्मफलों को भगवान् को अर्पित कर देता है, वही संन्यासी तथा योगी है। पृथु महाराज के यज्ञकाल से ही ठगनेवाले, संन्यासी तथा योगी होते आये हैं। यह ठगविद्या राजा इन्द्र द्वारा मूर्खता से चालू की गई। किसी-किसी युग में ऐसी ठगविद्या का बोलबाला रहता है और

किसी युग में वह इतनी प्रबल नहीं होती। यह तो संन्यासियों का कर्तव्य है कि वे सतर्क रहें। जैसाकि भगवान् चैतन्य द्वारा कहा गया है,—*संन्यासीर अल्प छिद्र सर्वलोके गाय*—संन्यासी के चरित्र का एक छोटा-सा धब्बा भी जनता द्वारा बढ़ा दिया जाता है (*चैतन्य चरि., मध्य* १२.५१)। अत: जब तक मनुष्य अत्यन्त निष्ठावान् तथा गम्भीर न हो, उसे संन्यास नहीं ग्रहण करना चाहिए। उसे जनता को ठगने के लिए इसे नहीं अपनाना चाहिए। इस कलियुग में संन्यास न धारण करना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि इस युग में उत्तेजनाएँ अत्यन्त प्रबल हैं। केवल सम्मान्य तथा आत्म-ज्ञान में बढ़े-चढ़े व्यक्ति को ही संन्यास धारण करना चाहिए। जीविकोपार्जन या अन्य भौतिक उद्देश्य से इस आश्रम को स्वीकार नहीं करना चाहिए।

अत्रिणा चोदितो हन्तुं पृथुपुत्रो महारथः ।
अन्वधावत सङ्क्रुद्धस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अत्रिणा—अत्रि मुनि के द्वारा; चोदितः—कहने से, प्रेरणा से; हन्तुम्—मारने के लिए; पृथु-पुत्रः—राजा पृथु के पुत्र ने; महा-रथः—परमवीर; अन्वधावत—पीछा किया; सङ्क्रुद्धः—अत्यन्त क्रुद्ध; तिष्ठ तिष्ठ—ठहरो ठहरो; इति—इस प्रकार; च—भी; अब्रवीत्—कहा।

जब अत्रि मुनि ने राजा पृथु के पुत्र को राजा इन्द्र की चाल बतायी तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और "ठहरो! ठहरो!!" कहते हुए इन्द्र को मारने के लिए उसका पीछा करने लगा।

तात्पर्य : जब कोई क्षत्रिय अपने शत्रु को ललकारता है, तो तिष्ठ तिष्ठ शब्दों का प्रयोग करता हैं। लड़ता हुए क्षत्रिय युद्धभूमि से भाग नहीं सकता। किन्तु जब कायरतावश कोई क्षत्रिय युद्धभूमि से शत्रु को अपनी पीठ दिखाता भागता है, तो उसे तिष्ठ तिष्ठ शब्दों से ललकारा जाता है। सच्चा क्षत्रिय अपने शत्रु को कभी न तो पीछे से मारता है और न कभी युद्ध में पीठ दिखाता है। क्षत्रिय नियम तथा अनुभाव के अनुसार वह या तो विजयी होता है या युद्धभूमि में मरता है। स्वर्ग का राजा होने से यद्यपि राजा इन्द्र अत्यन्त सम्मानित था, किन्तु यज्ञ का घोड़ा चुराने से वह पतित हो गया था। अत: क्षत्रिय नियमों की अवहेलना करके वह भागा जा रहा था। राजा पृथु के पुत्र ने *तिष्ठ तिष्ठ* शब्दों से उसे ललकारा।

तं तादृशाकृतिं वीक्ष्य मेने धर्मं शरीरिणम् ।
जटिलं भस्मनाच्छन्नं तस्मै बाणं न मुञ्चति ॥ १४॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; तादृश-आकृतिम्—वैसे वेश में; वीक्ष्य—देख कर; मेने—समझा; धर्मम्—पवित्र या धार्मिक; शरीरिणम्—देहधारी; जटिलम्—जटाजूट; भस्मना—राख से; आच्छन्नम्—सारे शरीर को पोते; तस्मै—उस पर; बाणम्—बाण; न—नहीं; मुञ्चति—छोड़ा।

राजा इन्द्र ने संन्यासी का कपट-वेष धारण कर रखा था, उसके सिर पर जटा-जूट था और सारा शरीर राख से पुता था। ऐसे वेश में देखकर राजा पृथु के पुत्र ने इन्द्र को धर्मात्मा तथा पवित्र संन्यासी समझा, अत: उसने उस पर अपने बाण नहीं छोड़े।

वधान्निवृत्तं तं भूयो हन्तवेऽत्रिरचोदयत् ।
जहि यज्ञहनं तात महेन्द्रं विबुधाधमम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

वधात्—मारने से; निवृत्तम्—रुके; तम्—पृथु के पुत्र को; भूय:—पुन:; हन्तवे—मारने के लिए; अत्रि:—अत्रि मुनि ने; अचोदयत्—प्रेरित किया; जहि—मारो; यज्ञ-हनम्—यज्ञ में बाधक; तात—हे पुत्र; महा-इन्द्रम्—स्वर्ग के महान् राजा इन्द्र को; विबुध-अधमम्—समस्त देवताओं में निम्नतम।

जब अत्रि मुनि ने देखा कि राजा पृथु के पुत्र ने इन्द्र को नहीं मारा वरन् उससे धोखा खाकर वह लौट आया है, तो मुनि ने पुन: उसे स्वर्ग के राजा को मारने का आदेश दिया, क्योंकि उनके विचार से इन्द्र राजा पृथु के यज्ञ में विघ्न डाल कर समस्त देवताओं में सबसे अधम बन चुका था।

एवं वैन्यसुत: प्रोक्तस्त्वरमाणं विहायसा ।
अन्वद्रवदभिक्रुद्धो रावणं गृध्रराडिव ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; वैन्य-सुत:—राजा पृथु का पुत्र; प्रोक्त:—आज्ञा किये जाने पर; त्वरमाणम्—तेजी से आगे बढ़ रहा, इन्द्र; विहायसा—आकाश में; अन्वद्रवत्—पीछा करने लगा; अभिक्रुद्ध:—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; रावणम्—रावण को; गृध्र-राट्—गृद्धराज, जटायु; इव—सदृश।

इस प्रकार सूचित किये जाने पर राजा वेन के पौत्र ने तुरन्त इन्द्र का पीछा करना प्रारम्भ किया, जो तेजी से आकाश से होकर भाग रहा था। वह उस पर अत्यन्त कुपित हुआ और उसका पीछा करने लगा मानो गृद्धराज रावण का पीछा कर रहा हो।

सोऽश्वं रूपं च तद्धित्वा तस्मा अन्तर्हितः स्वराट् ।
वीरः स्वपशुमादाय पितुर्यज्ञमुपेयिवान् ॥ १७॥

शब्दार्थ

सः—राजा इन्द्र; अश्वम्—घोड़ा; रूपम्—साधु पुरुष का छद्म वेश; च—भी; तत्—वह; हित्वा—त्याग कर; तस्मै—उसके लिए; अन्तर्हितः—अप्रकट, लुप्त; स्व-राट्—इन्द्र; वीरः—परम वीर; स्व-पशुम्—अपना पशु; आदाय—लाकर; पितुः—अपने पिता के; यज्ञम्—यज्ञ में; उपेयिवान्—लौट आया।

जब इन्द्र ने देखा कि पृथु का पुत्र उसका पीछा कर रहा है, तो उसने तुरन्त ही अपना कपट-वेष त्याग दिया और घोड़े को छोड़ कर वह उस स्थान से अन्तर्धान हो गया। महाराज पृथु का महान् वीर पुत्र घोड़े को लेकर अपने पिता के यज्ञस्थल में लौट आया।

तत्तस्य चाद्भुतं कर्म विचक्ष्य परमर्षयः ।
नामधेयं ददुस्तस्मै विजिताश्व इति प्रभो ॥ १८॥

शब्दार्थ

तत्—उस; तस्य—उसके; च—भी; अद्भुतम्—विस्मयकारी; कर्म—पराक्रम; विचक्ष्य—देख कर; परम-ऋषयः—बड़े-बड़े मुनियों ने; नामधेयम्—नाम; ददुः—प्रदान किया; तस्मै—उसको; विजित-अश्वः—विजिताश्व (जिसने घोड़े को जीत लिया); इति—इस प्रकार; प्रभो—हे विदुर महाशय।

हे विदुर महाशय, जब ऋषियों ने राजा पृथु के पुत्र का आश्चर्यजनक पराक्रम देखा तो सबों ने उसका नाम विजिताश्व रखना स्वीकार किया।

उपसृज्य तमस्तीव्रं जहाराश्वं पुनर्हरिः ।
चषालयूपतश्छन्नो हिरण्यरशनं विभुः ॥ १९॥

शब्दार्थ

उपसृज्य—उत्पन्न करके; तमः—अंधकार; तीव्रम्—घना; जहार—ले गया; अश्वम्—घोड़ा; पुनः—फिर से; हरिः—राजा इन्द्र ने; चषाल-यूपतः—पशु की बलि दिये जानेवाले काठ के यंत्र से; छन्नः—घिर कर; हिरण्य-रशनम्—सोने की जंजीर से बँधा; विभुः—अत्यन्त शक्तिमान।

हे विदुर, स्वर्ग का राजा तथा अत्यन्त शक्तिशाली होने के कारण इन्द्र ने तुरन्त यज्ञस्थल पर घोर अंधकार फैला दिया। इस प्रकार पूरे स्थल को प्रच्छन्न करके उसने पुनः वह घोड़ा हर लिया जो बलि-स्थल पर काष्ठ-यंत्र के समीप सोने की जंजीर से बँधा था।

अत्रिः सन्दर्शयामास त्वरमाणं विहायसा ।
कपालखट्वाङ्गधरं वीरो नैनमबाधत ॥ २०॥

शब्दार्थ

अत्रिः—अत्रि मुनि ने; सन्दर्शयाम् आस—दिखलाया; त्वरमाणम्—तेजी से जाते हुए; विहायसा—आकाश में; कपाल-खट्वाङ्ग—लाठी के ऊपर खोपड़ी टाँगे; धरम्—धारण किये; वीरः—वीर (राजा पृथु का पुत्र); न—नहीं; एनम्—स्वर्ग का राजा, इन्द्र; अबाधत—मारा।

अत्रि मुनि ने राजा पृथु के पुत्र को पुनः दिखलाया कि इन्द्र आकाश से होकर भागा जा रहा है। परम वीर पृथु-पुत्र ने पुनः उसका पीछा किया। किन्तु जब उसने देखा कि उसने हाथ में जो दण्ड धारण कर रखा है उस पर खोपड़ी लटक रही है और वह पुनः संन्यासी वेश में है, तो उसने उसे मारना उचित नहीं समझा।

अत्रिणा चोदितस्तस्मै सन्दधे विशिखं रुषा ।
सोऽश्वं रूपं च तद्धित्वा तस्थावन्तर्हितः स्वराट् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अत्रिणा—अत्रि मुनि द्वारा; चोदितः—प्रेरित; तस्मै—इन्द्र के लिए; सन्दधे—स्थापित किया; विशिखम्—अपना तीर; रुषा—क्रोध से; सः—राजा इन्द्र; अश्वम्—घोड़े को; रूपम्—संन्यासी वेश को; च—भी; तत्—उस; हित्वा—त्याग कर; तस्थौ—वहाँ रहता रहा; अन्तर्हितः—अदृश्य; स्व-राट्—स्वाधीन इन्द्र।

जब अत्रि मुनि ने पुनः आदेश दिया तो राजा पृथु का पुत्र अत्यन्त कुपित हुआ और उसने अपने धनुष पर बाण चढ़ा लिया। यह देख कर राजा इन्द्र ने तुरन्त संन्यासी का वह कपट वेष त्याग दिया और घोड़े को छोड़ कर वह स्वयं अदृश्य हो गया।

वीरश्चाश्वमुपादाय पितृयज्ञमथाव्रजत् ।
तदवद्यं हरे रूपं जगृहुर्ज्ञानदुर्बलाः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

वीरः—राजा पृथु का पुत्र; च—भी; अश्वम्—घोड़े को; उपादाय—लेकर; पितृ-यज्ञम्—अपने पिता के यज्ञस्थल पर; अथ—तत्पश्चात्; अव्रजत्—गया; तत्—वह; अवद्यम्—निन्दनीय; हरेः—इन्द्र का; रूपम्—वेश; जगृहुः—ग्रहण कर लिया; ज्ञान-दुर्बलाः—जिनमें ज्ञान की कमी है।

तब परम वीर पृथु-पुत्र विजिताश्व पुनः वह घोड़ा लेकर अपने पिता के यज्ञ स्थल पर लौट आया। उसी काल से, कुछ अल्पज्ञानी पुरुष छद्म संन्यासी का वेष धारण करने लगे हैं। राजा इन्द्र ने ही इसका सूत्रपात किया था।

तात्पर्य : अनन्त काल से संन्यासी त्रिदण्ड धारण करते रहे हैं। बाद में शंकराचार्य ने एकदण्डी संन्यास का सूत्रपात किया। त्रिदण्डी संन्यासी वैष्णव संन्यासी होता है और एकदण्डी संन्यासी मायावादी संन्यासी होता है। संन्यासियों के और भी अनेक प्रकार हैं, किन्तु वे वैदिक कर्मकाण्डों द्वारा

मान्य नहीं हैं। इन्द्र ने एक छद्म संन्यास का सूत्रपात करके राजा पृथु के पुत्र विजिताश्व से अपने को छिपाने का यत्न किया। अब तो कई प्रकार के संन्यासी हैं। कुछ नंगे रहते हैं, तो कुछ एक कपाल तथा त्रिशूल धारण किये रहते हैं और *कापालिक* कहलाते हैं। इन सभी का सूत्रपात निरर्थक परिस्थितियों में हुआ। जो अल्पज्ञानी हैं, वे ही इन्हें संन्यासी मानते हैं, यद्यपि ये आध्यात्मिक प्रगति के लिए प्रामाणिक पथप्रदर्शक नहीं होते। इस समय कुछ मिशनरी संस्थाओं ने वैदिक अनुष्ठानों को जाने बिना, कुछ संन्यासी बनाये हैं, जो पापकर्म करते रहते हैं। शास्त्रों में जिन पापकर्मों को वर्जित किया गया है वे हैं—अवैध मैथुन, मादक द्रव्य सेवन, मांसाहार तथा द्यूतक्रीड़ा। ये तथाकथित संन्यासी इन सभी कृत्यों में लगे रहते हैं। वे मांस, मछली, अंडा तथा सभी कुछ खाते हैं। वे यह बहाना करके सुरापान करते हैं कि बिना शराब, मछली तथा मांस के आर्कटिक क्षेत्र के निकटवर्ती ठंडे प्रदेशों में रहना कठिन है। ये संन्यासी दीनों की सेवा के नाम पर पापकर्म करते हैं, जिससे बेचारे पशुओं का वध होता है और वे इन संन्यासियों के पेट में चले जाते हैं। जैसाकि निम्नलिखित श्लोकों में कहा गया है, ये संन्यासी नहीं, पाखण्डी हैं। वैदिक साहित्य कहता है कि जो पुरुष भगवान् नारायण को शिव या ब्रह्मा के समकक्ष रखता है, वह तुरन्त पाखण्डी हो जाता है। पुराणों का कथन है—

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मारुद्रादिदैवतैः ।
समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद् ध्रुवम् ॥

कलियुग में पाखण्डियों का बोलबाला है। किन्तु चैतन्य महाप्रभु ने अपना संकीर्तन-आन्दोलन चला कर इन पाखण्डियों का अन्त करने का प्रयास किया है। जो लोग अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ द्वारा चलाये जा रहे संकीर्तन-आन्दोलन का लाभ उठाते हैं, वे अपने को इन पाखण्डियों से बचा सकेंगे।

यानि रूपाणि जगृहे इन्द्रो हयजिहीर्षया ।
तानि पापस्य खण्डानि लिङ्गं खण्डमिहोच्यते ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यानि—ये सब; रूपाणि—रूप; जगृहे—स्वीकार किया; इन्द्रः—स्वर्ग के राजा इन्द्र ने; हय—घोड़ा; जिहीर्षया—चुराने की इच्छा से; तानि—उन सब; पापस्य—पापकर्मों का; खण्डानि—चिह्न; लिङ्गम्—प्रतीक; खण्डम्—खण्ड शब्द; इह—यहाँ; उच्यते—कहा जाता है।

इन्द्र ने घोड़े को चुरा ले जाने की इच्छा से संन्यासी के जो जो रूप धारण किये, वे नास्तिकवाद दर्शन के प्रतीक हैं।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता के अनुसार वर्णाश्रम व्यवस्था में संन्यास एक प्रमुख अंग है। मनुष्य को आचार्यों की परम्परा के अनुसार संन्यास ग्रहण करना चाहिए। किन्तु आजकल के अधिकांश तथाकथित संन्यासी ईश्वरचेतना में शून्य होते हैं। ऐसा संन्यास इन्द्र ने महाराज पृथु के ईर्ष्यावश चलाया था और आज कलियुग में फिर वही प्रकट हो रहा है। एक प्रकार से आज का कोई भी संन्यासी प्रामाणिक नहीं है। किसी को वैदिक जीवन पद्धति में कोई परिवर्तन करने का अधिकार नहीं है। यदि कोई ईर्ष्यावश ऐसा करता है, तो उसे पाखण्डी या नास्तिक मानना चाहिए। *वैष्णव तन्त्र* में कहा गया है—

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मारुद्रादिदैवतैः ।

समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद् ध्रुवम् ॥

यद्यपि यह वर्जित है, किन्तु ऐसे अनेक पाखंडी हैं, जो *दरिद्र-नारायण* तथा *स्वामीनारायण* जैसे शब्द गढ़ते रहते हैं, यद्यपि ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवता तक नारायण की समता नहीं कर सकते।

एवमिन्द्रे हरत्यश्वं वैन्ययज्ञजिघांसया ।
तद्गृहीतविसृष्टेषु पाखण्डेषु मतिर्नृणाम् ॥ २४॥
धर्म इत्युपधर्मेषु नग्नरक्तपटादिषु ।
प्रायेण सज्जते भ्रान्त्या पेशलेषु च वाग्मिषु ॥ २५॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; इन्द्रे—जब स्वर्ग के राजा इन्द्र ने; हरति—चुरा लिया; अश्वम्—घोड़ा; वैन्य—राजा वेन के पुत्र का; यज्ञ—यज्ञ; जिघांसया—बन्द करने की इच्छा से; तत्—उसके द्वारा; गृहीत—स्वीकृत; विसृष्टेषु—त्यक्त; पाखण्डेषु—छद्म वेष के प्रति; मतिः—आकर्षण; नृणाम्—सामान्य लोगों का; धर्मः—धर्म-पद्धति; इति—इस प्रकार; उपधर्मेषु—झूठे धर्मों के प्रति; नग्न—नंगा; रक्त-पट—लाल-वेश वाला; आदिषु—इत्यादि.; प्रायेण—सामान्यतः; सज्जते—आकर्षित होता है; भ्रान्त्या—मूर्खतावश; पेशलेषु—पटु; च—तथा; वाग्मिषु—वाक्पटु, विदग्ध।

इस प्रकार पृथु महाराज के यज्ञ से घोड़े को चुराने के लिए राजा इन्द्र ने कई प्रकार के संन्यास धारण किये। कुछ संन्यासी नंगे रहते हैं और कभी-कभी लाल वस्त्र धारण करते हैं—वे कापालिक कहलाते हैं। ये इनके पापकर्मों के प्रतीक मात्र हैं। ऐसे तथाकथित संन्यासी पापियों

द्वारा अत्यन्त समादृत होते हैं, क्योंकि वे नास्तिक होते हैं और अपने को सही ठहराने के लिए तर्क प्रस्तुत करने में अत्यन्त पटु होते हैं। किन्तु हमें ज्ञान होना चाहिए कि ऐसे लोग ऊपर से धर्म के समर्थक प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तव में होते नहीं। दुर्भाग्यवश मोहग्रस्त व्यक्ति इन्हें धार्मिक मानकर इनकी ओर आकृष्ट होकर अपना जीवन विनष्ट कर लेते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है, इस कलियुग में अपनी दीन दशा के कारण लोग अल्पजीवी, आत्मज्ञान से शून्य तथा झूठे धर्मों को स्वीकार करनेवाले होंगे जिससे वे सदैव मानसिक रूप से विक्षुब्ध रहेंगे। वैदिक शास्त्रों ने कलियुग में संन्यास ग्रहण करना वर्जित बताया है, क्योंकि अल्पज्ञानी लोग ठगी करने के लिए संन्यास ग्रहण कर सकते हैं। वास्तविक धर्म तो भगवान् की शरण में जाना है। हमें कृष्णभावनामृत में रहकर भगवान् की सेवा करनी चाहिए। अन्य समस्त संन्यास पद्धतियाँ तथा धर्म प्रामाणिक नहीं हैं। इस कलियुग में वे धार्मिक होने का दावा कर रहे हैं; यह अत्यधिक शोचनीय है।

तदभिज्ञाय भगवान्पृथुः पृथुपराक्रमः ।
इन्द्राय कुपितो बाणमादत्तोद्यतकार्मुकः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; अभिज्ञाय—जान कर; भगवान्—ईश्वर के अवतार; पृथुः—राजा पृथु ने; पृथु-पराक्रमः—अत्यन्त पराक्रमी; इन्द्राय—इन्द्र पर; कुपितः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; बाणम्—बाण; आदत्त—लिया; उद्यत—तैयार; कार्मुकः—तीर।

अत्यन्त पराक्रमी महाराज पृथु ने तुरन्त अपना धनुष-बाण ले लिया और वे इन्द्र को मारने के लिए सन्नद्ध हो गये, क्योंकि इन्द्र ने इस प्रकार के अनियमित संन्यास का सूत्रपात्र किया था।

तात्पर्य : राजा का कर्तव्य है कि वह किन्हीं अधार्मिक पद्धतियों को प्रचलित न होने दे। चूँकि राजा पृथु भगवान् के अवतार थे, अतः यह उनका परम कर्तव्य था कि समस्त प्रकार के अधर्मों को नष्ट कर दें। उनके पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए समस्त राज्य के प्रधानों को चाहिए कि वे ईश्वर के प्रामाणिक प्रतिनिधि बनें और समस्त अधर्मों का विच्छेदन करें। दुर्भाग्यवश से तो कायर हैं जो धर्मनिरपेक्ष राज्य की घोषणा करते हैं। ऐसी मनोवृत्ति धार्मिक तथा अधार्मिक पद्धतियों में समन्वय स्थापित करने की एक विधि होती है, किन्तु इससे नागरिक आत्म-उन्नति के प्रति अरुचि प्रदर्शित करने

लगते हैं। इस प्रकार स्थिति इस हद तक बिगड़ जाती है कि मानव समाज नरक बन जाता है।

तमृत्विजः शक्रवधाभिसन्धितं
विचक्ष्य दुष्प्रेक्ष्यमसह्यरंहसम् ।
निवारयामासुरहो महामते
न युज्यतेऽत्रान्यवधः प्रचोदितात् ॥ २७॥

शब्दार्थ

तम्—राजा पृथु को; ऋत्विजः—पुरोहितगण; शक्र-वध—इन्द्र का वध; अभिसन्धितम्—अपने को तैयार करते हुए; विचक्ष्य—देखकर; दुष्प्रेक्ष्यम्—देखने में भयंकर; असह्य—असहनीय; रंहसम्—जिसका वेग; निवारयाम् आसुः—उन्होंने मना किया; अहो—ओह; महा-मते—हे महापुरुष; न—नहीं; युज्यते—आपको शोभनीय; अत्र—इस यज्ञ-स्थल में; अन्य—दूसरे; वधः—वध; प्रचोदितात्—शास्त्र-विहित।

जब पुरोहितों तथा अन्य सबों ने महाराज पृथु को अत्यन्त कुपित तथा इन्द्र वध के लिए उद्यत देखा तो उन्होंने प्रार्थना की : हे महात्मा, उसे मत मारें, क्योंकि यज्ञ में केवल यज्ञ-पशु का ही वध किया जा सकता है। शास्त्रों में ऐसे ही आदेश दिये गये हैं।

तात्पर्य : पशु-वध कई उद्देश्यों से किया जाता है। इससे वैदिक मंत्रों के उचित उच्चारण की परीक्षा हो जाती है और यज्ञ-अग्नि में डाले गये पशु को नवीन जीवन प्रदान किया जाता है। भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के लिए किये जा रहे यज्ञ में किसी का वध नहीं होना चाहिए। तो भला इन्द्र को कैसे मारा जा सकता है, जो कि वास्तव में यज्ञ में पूजा जाता है और भगवान् का अंश है? अतः पुरोहितों ने राजा पृथु से अनुरोध किया कि वे इन्द्र का वध न करें।

वयं मरुत्वन्तमिहार्थनाशनं
ह्वयामहे त्वच्छ्रवसा हतत्विषम् ।
अयातयामोपहवैरनन्तरं
प्रसह्य राजन्जुहवाम तेऽहितम् ॥ २८॥

शब्दार्थ

वयम्—हम; मरुत्-वन्तम्—राजा इन्द्र को; इह—यहाँ; अर्थ—आपके हेतु; नाशनम्—विध्वंसक; ह्वयामहे—बुला लेंगे; त्वत्-श्रवसा—आपके सुयश से; हत-त्विषम्—पहले से अपनी शक्ति से रहित, निस्तेज; अयातयाम—इसके पूर्व कभी भी न प्रयुक्त; उपहवैः—आवाहन-मंत्रों के द्वारा; अनन्तरम्—शीघ्र ही; प्रसह्य—बलपूर्वक; राजन्—हे राजा; जुहवाम—अग्नि में बलि कर देंगे; ते—तुम्हारे; अहितम्—शत्रु।

हे राजन्, आपके यज्ञ में विघ्न डालने के कारण इन्द्र का तेज वैसे ही घट चुका है। हम अभूतपूर्व वैदिक मंत्रों के द्वारा उसका आवाहन करेंगे। वह अवश्य आएगा। इस प्रकार हम अपने

मंत्र-बल से उसे अग्नि में गिरा कर देंगे, क्योंकि वह आपका शत्रु है।

तात्पर्य : यज्ञ में वैदिक मंत्रों के समुचित उच्चारण से आश्चर्यजनक कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं। किन्तु कलियुग में एक भी सुयोग्य ब्राह्मण नहीं है, जो मंत्रों का सही-सही उच्चारण कर सके। अत: ऐसे महान् यज्ञों का आयोजन नहीं करना चाहिए। इस युग के लिए तो जो एकमात्र यज्ञ बतलाया गया है, वह संकीर्तन-आन्दोलन ही है।

इत्यामन्त्र्य क्रतुपतिं विदुरास्यर्त्विजो रुषा ।
स्रुग्घस्ताञ्जुह्वतोऽभ्येत्य स्वयम्भू: प्रत्यषेधत ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; आमन्त्र्य—सूचित करके; क्रतु-पतिम्—यज्ञों के स्वामी, राजा पृथु को; विदुर—हे विदुर; अस्य—पृथु के; ऋत्विज:—पुरोहित; रुषा—क्रोध में; स्रुक्-हस्तान्—हाथ में स्रुवा लेकर; जुह्वत:—आहुति डालते हुए; अभ्येत्य—प्रारम्भ करते ही; स्वयम्भू:—ब्रह्माजी ने; प्रत्यषेधत—रोक दिया।

हे विदुर, राजा को यह सलाह दे चुकने पर, यज्ञ करने में जुटे हुए पुरोहितों ने क्रोध में आकर स्वर्ग के राजा इन्द्र का आवाहन किया। वे अग्नि में आहुति डालने ही वाले थे कि वहाँ पर ब्रह्माजी प्रकट हुए और उन्होंने यज्ञ आरम्भ करने से रोक दिया।

न वध्यो भवतामिन्द्रो यद्यज्ञो भगवत्तनु: ।
यं जिघांसथ यज्ञेन यस्येष्टास्तनव: सुरा: ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वध्य:—वध के योग्य; भवताम्—आप सबों के द्वारा; इन्द्र:—स्वर्ग का राजा इन्द्र; यत्—क्योंकि; यज्ञ:—इन्द्र का नाम; भगवत्-तनु:—भगवान् के शरीर का अंश; यम्—जिसको; जिघांसथ—मारना चाह रहे हो; यज्ञेन—यज्ञ के द्वारा; यस्य—इन्द्र का; इष्टा:—पूज्य होकर; तनव:—शरीर के अंग; सुरा:—देवता।

ब्रह्माजी ने उन्हें इस प्रकार सम्बोधित किया : हे याजको, आप स्वर्ग के राजा इन्द्र को नहीं मार सकते, यह कार्य आपका नहीं है। आपको जान लेना चाहिए कि इन्द्र भगवान् के ही समान हैं। वस्तुत: वे भगवान् के सबसे अधिक शक्तिशाली सहायक हैं। आप इस यज्ञ द्वारा समस्त देवताओं को प्रसन्न करना चाह रहे हैं, किन्तु आपको ज्ञात होना चाहिए कि ये समस्त देवता स्वर्ग के राजा इन्द्र के ही अंश हैं। तो फिर आप इस महान् यज्ञ में उनका वध कैसे कर सकते हैं?

तदिदं पश्यत महद्धर्मव्यतिकरं द्विजाः ।
इन्द्रेणानुष्ठितं राज्ञः कर्मैतद्विजिघांसता ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तत्—तब; इदम्—यह; पश्यत—जरा देखो; महत्—महान; धर्म—धार्मिक जीवन का; व्यतिकरम्—विघ्न; द्विजाः—हे ब्राह्मणों; इन्द्रेण—इन्द्र द्वारा; अनुष्ठितम्—किया गया; राज्ञः—राजा का; कर्म—कार्य; एतत्—यह यज्ञ; विजिघांसता—विघ्न डालने का इच्छुक।

राजा पृथु के महान् यज्ञ में विघ्न डालने तथा आपत्ति उठाने के उद्देश्य से राजा इन्द्र ने ऐसे साधन अपनाये हैं, जो भविष्य में धार्मिक जीवन के सुपथ को नष्ट कर सकते हैं। मैं इस ओर आप लोगों का ध्यान आकृष्ट कर रहा हूँ। यदि आप और अधिक विरोध करेंगे तो वह अपनी शक्ति का दुरुपयोग करके अनेक अधार्मिक पद्धतियों को फैलाएगा।

पृथुकीर्तेः पृथोर्भूयात्तर्ह्येकोनशतक्रतुः ।
अलं ते क्रतुभिः स्विष्टैर्यद्भवान्मोक्षधर्मवित् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

पृथु-कीर्तेः—व्यापक कीर्तिवाले; पृथोः—राज पृथु का; भूयात्—हो; तर्हि—अतः; एक-ऊन-शत-क्रतुः—निन्यानब्वे यज्ञ करनेवाला; अलम्—कोई लाभ नहीं, बस; ते—तुम्हारे; क्रतुभिः—यज्ञ करने से; सु-इष्टैः—सुसम्पन्न; यत्—क्योंकि; भवान्—आप; मोक्ष-धर्म-वित्—मोक्ष के मार्ग को जाननेवाले।

ब्रह्माजी ने अन्त में कहा : "बस, महाराज पृथु के निन्यानब्वे यज्ञ ही रहने दो।" फिर वे महाराज पृथु की ओर मुड़े और उनसे कहा "आप मोक्ष मार्ग से भलीभाँति परिचित हैं, अतः आपको और अधिक यज्ञ करने से क्या मिलेगा?"

तात्पर्य : ब्रह्माजी राजा पृथु को निरन्तर एक सौ यज्ञ सम्पन्न करने से रोकने आये थे। राजा पृथु सौ यज्ञ करने के लिए कृत-संकल्प थे और इन्द्र ने इसे गम्भीरता से लिया, क्योंकि वह *शतक्रतु* नाम से विख्यात था। जिस प्रकार इस भौतिक जगत में सभी जीवात्माओं का स्वभाव है कि वे अपने प्रतियोगियों से ईर्ष्या करते हैं, उसी प्रकार स्वर्ग का राजा इन्द्र राजा पृथु के प्रति ईर्ष्यालु था, अतः वह उनके एक सौ यज्ञों को सम्पन्न नहीं होने देना चाहता था। वस्तुतः एक प्रकार से काफी स्पर्धा थी और राजा पृथु को रोकने के लिए तथा अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करने के लिए इन्द्र नाना प्रकार की अधार्मिक पद्धतियाँ चलाने लगा। इन अधार्मिक कार्यों से विरत करने के लिए ब्रह्मा जी यज्ञस्थल पर स्वयं उपस्थित हुए। जहाँ तक महाराज पृथु का प्रश्न था, वे तो भगवान् के परम भक्त थे, अतः उनके लिए

निर्दिष्ट वैदिक अनुष्ठानों को करने की कोई आवश्यकता न थी। ऐसे अनुष्ठान कर्म कहलाते हैं और दिव्य स्थिति को प्राप्त भक्त के लिए इन्हें करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। फिर भी आदर्श राजा होने के नाते यज्ञ करना पृथु का कर्तव्य था। अत: समझौता तैयार किया गया। ब्रह्माजी के आशीर्वाद से राजा पृथु इन्द्र से अधिक विख्यात होंगे। इस प्रकार राजा पृथु का एक सौ यज्ञ करने का संकल्प अप्रत्यक्ष रूप से ब्रह्मा के आशीर्वाद से पूरा हुआ।

नैवात्मने महेन्द्राय रोषमाहर्तुमर्हसि ।
उभावपि हि भद्रं ते उत्तमश्लोकविग्रहौ ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एव—निश्चय ही; आत्मने—तुमसे अभिन्न; महा-इन्द्राय—स्वर्ग के राजा इन्द्र पर; रोषम्—क्रोध; आहर्तुम्—करने के लिए; अर्हसि—तुम्हें चाहिए; उभौ—तुम दोनों; अपि—निश्चय ही; हि—भी; भद्रम्—कल्याण; ते—तुम्हारा; उत्तम-श्लोक-विग्रहौ—भगवान् के अवतार।

ब्रह्माजी ने कहा : आप दोनों का कल्याण हो क्योंकि आप तथा इन्द्र दोनों ही भगवान् के अंश हैं। अत: आपको इन्द्र पर क्रुद्ध नहीं होना चाहिए; वह आपसे अभिन्न है।

मास्मिन्महाराज कृथा: स्म चिन्तां
निशामयास्मद्वच आदृतात्मा ।
यद्ध्यायतो दैवहतं नु कर्तुं
मनोऽतिरुष्टं विशते तमोऽन्धम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

मा—मत; अस्मिन्—इसमें; महा-राज—हे राजा; कृथा:—करें; स्म—पूर्ववत्; चिन्ताम्—मन का विक्षोभ; निशामय—कृपया विचार करें; अस्मत्—मेरे; वच:—वचन; आदृत-आत्मा—अत्यन्त पूज्य; यत्—क्योंकि; ध्यायत:—ध्यानमग्न का; दैव-हतम्—विधाता द्वारा बिगाड़ा गया; नु—निश्चय ही; कर्तुम्—करने के लिए; मन:—मन; अति-रुष्टम्—अत्यन्त क्रुद्ध; विशते—प्रवेश करता है; तम:—अंधकार; अन्धम्—घना।

हे राजन्, दैवी व्यवधानों के कारण उचित रीति से आप के यज्ञ सम्पन्न न होने पर आप तनिक भी क्षुब्ध तथा चिन्तित न हों। कृपया मेरे वचनों को अति आदर भाव से ग्रहण करें। सदैव स्मरण रखें कि प्रारब्ध से जो कुछ घटित होता है उसके लिए हमें अधिक दुखी नहीं होना चाहिए। ऐसी पराजयों को सुधारने का जितना ही प्रयत्न किया जाता है, उतना ही हम भौतिकतावादी विचार के घने अंधकार में प्रवेश करते हैं।

तात्पर्य : कभी-कभी साधु स्वरूप या धार्मिक व्यक्ति को भी जीवन में पराजय देखनी पड़ती है।

ऐसी घटनाओं को दैवी मान लेना चाहिए। यद्यपि अप्रसन्न रहने के पर्याप्त कारण हो सकते हैं, किन्तु ऐसी पराजयों का प्रतिवाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि जितना ही इन पराजयों को सुधारने का प्रयत्न किया जाता है हम उतने ही चिन्ता के गहन अँधेरे में प्रवेश करते जाते हैं। भगवान् कृष्ण ने भी इस सम्बन्ध में उपदेश दिया है। क्षुब्ध होने के बजाय हमें सहन करना चाहिए।

क्रतुर्विरमतामेष देवेषु दुरवग्रहः ।
धर्मव्यतिकरो यत्र पाखण्डैरिन्द्रनिर्मितैः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

क्रतुः—यज्ञ; विरमताम्—बन्द हो; एषः—यह; देवेषु—देवताओं में; दुरवग्रहः—अवांछित कामनाएँ; धर्म-व्यतिकरः—नियमों का अतिक्रमण; यत्र—जहाँ; पाखण्डैः—पापकर्मों के द्वारा; इन्द्र—स्वर्ग के राजा द्वारा; निर्मितैः—बनाये गये।

ब्रह्माजी ने आगे कहा : इन यज्ञों को बन्द कीजिये क्योंकि इनके कारण इन्द्र अनेक अधर्म कर रहा है। आपको भली भाँति ज्ञात होना चाहिए कि देवताओं में भी अनेक अवांछित कामनाएँ होती हैं।

तात्पर्य : सामान्य व्यावहारिक कार्यों में अनेक प्रतियोगी होते हैं और कभी-कभी वेदों के कर्मकाण्ड विषयक अध्यायों को लेकर *कर्मियों* के बीच स्पर्धा तथा द्वेष उत्पन्न होता है। कर्मी को ईर्ष्यालु होना चाहिए क्योंकि वह भौतिक सुखों को छक कर भोगना चाहता है। यह भव रोग है। फलतः *कर्मियों* के बीच, चाहे सामान्य व्यापार हो या यज्ञ हो, सदैव स्पर्धा रहती है। ब्रह्माजी का उद्देश्य इन्द्र तथा महाराज पृथु के बीच स्पर्धा का अन्त करना था। चूँकि महाराज पृथु महान् भक्त एवं ईश्वर के अवतार थे, इसलिए उनसे प्रार्थना की गई कि वे यज्ञों को बन्द कर दें जिससे इन्द्र और आगे अधर्म न चलाएँ जिसका पालन अपराधिक प्रवृत्ति के लोग सदा करते हैं।

एभिरिन्द्रोपसंसृष्टैः पाखण्डैर्हारिभिर्जनम् ।
ह्रियमाणं विचक्ष्वैनं यस्ते यज्ञध्रुगश्वमुट् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

एभिः—इन; इन्द्र-उपसंसृष्टैः—इन्द्र द्वारा विरचित; पाखण्डैः—पापपूर्ण कार्य द्वारा; हारिभिः—मनोहर; जनम्—सामान्य लोग; ह्रियमाणम्—चुराये गये; विचक्ष्व—देखो तो; एनम्—ये; यः—जो; ते—तुम्हारा; यज्ञ-ध्रुक्—यज्ञ में विघ्न उत्पन्न करके; अश्व-मुट्—घोड़े को चुरानेवाला।

जरा देखिये कि राजा इन्द्र यज्ञ के घोड़े को चुरा कर किस प्रकार यज्ञ में विघ्न डाल रहा था!

उसके द्वारा प्रचारित मनोहर पापमय कार्य सामान्य जनों द्वारा आगे बढ़ाये जाते रहेंगे।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (३.२१) में कहा गया है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

"महापुरुष जो जो आचरण करता है, साधारण मनुष्य उसका अनुसरण करते हैं। वह पुरुष अपने विलक्षण कर्मों से जो आदर्श स्थापित कर देता है, सम्पूर्ण विश्व उसके अनुसार कार्य करता है।"

राजा इन्द्र ने अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए ही महाराज पृथु को एक सौ अश्वमेध यज्ञ न करने देने का विचार किया। अतः उसने घोड़ा चुरा लिया और वह अपने को अनेक अधार्मिक पुरुषों के बीच, संन्यासी का छद्म वेष धारण करके छिपाता रहा। ऐसे कार्य सामान्य लोगों को आकर्षक लगते हैं, अतः वे घातक हैं। ब्रह्माजी ने सोचा कि इन्द्र द्वारा इस प्रकार अधर्म फैलाने की अपेक्षा श्रेयस्कर यही होगा कि यज्ञ बन्द करा दिया जाय। भगवान् बुद्ध ने ऐसा ही कदम उठाया था, जब लोग वैदिक आदेशों द्वारा संस्तुत पशुयज्ञों में बुरी तरह फँसे हुए थे। भगवान् बुद्ध को वैदिक यज्ञों का निषेध करके अहिंसा धर्म का सूत्रपात करना पड़ा। वस्तुतः यज्ञों में वध किये गये पशुओं को नव जीवन प्रदान किया जाता था, किन्तु ऐसे लोग जो मंत्रशक्ति से रहित थे इन वैदिक अनुष्ठानों का लाभ उठा रहे थे और वृथा ही बेचारे पशुओं का वध कर रहे थे। अतः उस समय भगवान् बुद्ध को वेदों की सत्ता अस्वीकार करनी पड़ी। मनुष्य को ऐसे यज्ञ नहीं करने चाहिए जिनसे अव्यवस्था पनपे। ऐसे यज्ञों को बन्द करना ही श्रेयस्कर होगा।

जैसाकि हमने बारम्बार दुहराया है, कलियुग में सुयोग्य ब्राह्मणों के अभाव में वेद-विहित यज्ञों को सम्पन्न करना सम्भव नहीं है। इसीलिए शास्त्र *संकीर्तन-यज्ञ* करने का उपदेश देते हैं। *संकीर्तन-यज्ञ* से भगवान् चैतन्य के रूप में भगवान् प्रसन्न होंगे और पूजित होंगे। यज्ञों को सम्पन्न करने का एकमात्र उद्देश्य भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना है। भगवान् विष्णु या श्रीकृष्ण भगवान् चैतन्य के रूप में विद्यमान हैं, अतः बुद्धिमान लोगों को चाहिए कि *संकीर्तन-यज्ञ* द्वारा उन्हें तुष्ट करें। इस युग में भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने का यह एक सरलतम उपाय है। लोगों को चाहिए कि इस युग में विभिन्न शास्त्रों

में यज्ञों के विषय में जो आदेश प्राप्त हैं, उनका लाभ उठाएँ और इस पापमय कलियुग में अनावश्यक उत्पात न फैलाएँ। इस कलियुग में सारे संसार के मनुष्य पशुओं के वध हेतु कसाईखाने खोलने में पटु हैं, क्योंकि वे पशु-मांस खाते हैं। यदि पहले जैसे धार्मिक अनुष्ठान किये जाते हैं, तो पशुओं का वध और बढ़ेगा। कलकत्ता में अनेक कसाइयों की दुकानें हैं जिनमें देवी काली की प्रतिमा रखी रहती है और पशु-भक्षक लोग सोचते हैं कि ऐसी दुकानों से मांस खरीदना अच्छा होगा, क्योंकि यह तो देवीकाली के भोग का शेष अंश है। वे नहीं जानते कि देवी काली कभी भी मांसाहारी भोजन स्वीकार नहीं करतीं, क्योंकि वे शिवजी की साध्वी पत्नी हैं। शिवजी भी महान् वैष्णव हैं और कभी मांस नहीं खाते। देवी काली शिवजी का उच्छिष्ट ही ग्रहण करती हैं। अत: उनके द्वारा मांस या मछली खाये जाने की कोई सम्भावना नहीं है। ऐसी भेंटें तो देवी काली के पार्षद स्वीकार करते हैं, जिन्हें भूत, पिशाच तथा राक्षस कहा जाता है, अत: जो लोग देवी काली से मांस या मछली का प्रसाद प्राप्त करते हैं, वह उनका छोड़ा गया प्रसाद न होकर भूतों तथा पिशाचों का जूठन होता है।

भवान्परित्रातुमिहावतीर्णो
धर्मं जनानां समयानुरूपम् ।
वेनापचारादवलुप्तमद्य
तद्देहतो विष्णुकलासि वैन्य ॥ ३७॥

शब्दार्थ

भवान्—आप; परित्रातुम्—उद्धार के लिए; इह—इस संसार में; अवतीर्ण:—अवतार लेकर; धर्मम्—धर्म; जनानाम्—सामान्य लोगों का; समय-अनुरूपम्—समय तथा परिस्थिति के अनुसार; वेन-अपचारात्—राजा वेन के दुष्कर्मो से; अवलुप्तम्—लुप्तप्राय; अद्य—इस समय; तत्—उसकी; देहत:—देह से; विष्णु—विष्णु का; कला—अंश; असि—तुम हो; वैन्य—हे राजा वेन के पुत्र।

हे वेन-पुत्र राजा पृथु, आप भगवान् विष्णु के अंश हैं। राजा वेन के उत्पाती कार्यों के कारण धर्म प्राय: लुप्त हो चुका था। आपने उचित समय पर भगवान् विष्णु के रूप में अवतार लिया। निस्सन्देह, आप धर्म की रक्षा के लिए ही राजा वेन के शरीर से प्रकट हुए हैं।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु जिस प्रकार से असुरों को मार कर श्रद्धालुओं की रक्षा करते हैं उसका उल्लेख *भगवद्गीता* (४.८) में मिलता है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

"भक्तजनों का उद्धार, दुष्टों का नाश तथा धर्म का फिर से स्थापन करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ।"

भगवान् विष्णु अपने दो हाथों में असुरों को मारने के लिए गदा तथा चक्र धारण किये रहते है और अन्य दो हाथों में भक्तों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए कमल तथा शंख लिये रहते हैं। जब भगवान् का अवतार इस धरती पर या इस ब्रह्माण्ड में होता है, तो वे असुरों का वध तथा भक्तों की रक्षा एक साथ करते हैं। कभी-कभी भगवान् विष्णु, भगवान् कृष्ण या भगवान् राम के रूप में प्रकट होते हैं। शास्त्रों में इन सब रूपों का वर्णन मिलता है। वे कभी कभी भगवान् बुद्ध के रूप में अपने *शक्त्यावेश* अवतार में प्रकट होते हैं। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, ये *शक्त्यावेश* अवतार जीवात्मा में निहित भगवान् विष्णु की शक्ति के अवतार हैं। जीवात्माएँ भी भगवान् विष्णु के अंश हैं, किन्तु वे उतनी शक्तिमान नहीं होतीं, अत: जब कोई जीवात्मा विष्णु के अवतार के रूप में प्रकट होता है, तो उसे भगवान् द्वारा विशेष शक्ति प्रदान की गई होती है।

जब राजा पृथु को भगवान् विष्णु का अवतार कहा जाता है, तो उन्हें *शक्त्यावेश* अवतार मानना चाहिए जो भगवान् विष्णु का अंश है और उनके द्वारा विशेष रूप से शक्ति प्रदान किया हुआ था। भगवान् विष्णु द्वारा शक्ति-प्रदत्त जीवात्मा विष्णु के अवतार के रूप में भक्ति उपासना पद्धति का उपदेश देने के लिए होता है। ऐसा व्यक्ति भगवान् विष्णु के समान ही कर्म करके तर्कों द्वारा असुरों को हराता है और शास्त्रानुमोदित भक्ति उपासना पद्धति का उपदेश देता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में संकेत किया गया है, जब कोई अद्वितीय पुरुष भक्तियोग का उपदेश देता है, तो हमें जान लेना चाहिए कि वह भगवान् विष्णु अथवा भगवान् कृष्ण द्वारा शक्ति प्रदत्त है। *चैतन्य-चरितामृत* में (अन्त्य ७.११) पुष्टि की गई है कि—*कृष्ण शक्ति विना नहे तार प्रवर्तन*—जब तक किसी को ईश्वर द्वारा विशेष शक्ति प्रदत्त न हो, वह भगवान् के पवित्र नाम की महिमा की व्याख्या नहीं कर सकता। यदि कोई ऐसे शक्तिप्रदत्त पुरुष की आलोचना करता है या दोष निकालता है, तो उसे विष्णु के प्रति अपराधी समझना चाहिए और वह दण्डनीय है। भले ही ऐसे लोग नकली तिलक तथा माला धारण करके वैष्णव बन लें, किन्तु

यदि वे शुद्ध वैष्णव की निन्दा करते हैं, तो भगवान् उन्हें कभी क्षमा नहीं कर सकता। शास्त्रों में इसके कई उदाहरण हैं।

स त्वं विमृश्यास्य भवं प्रजापते
सङ्कल्पनं विश्वसृजां पिपीपृहि ।
ऐन्द्रीं च मायामुपधर्ममातरं
प्रचण्डपाखण्डपथं प्रभो जहि ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

सः—उपर्युक्त; त्वम्—तुम; विमृश्य—विचार करके; अस्य—इस जगत का; भवम्—अस्तित्व, संसार; प्रजा-पते—हे मनुष्यों के त्राता; सङ्कल्पनम्—दृढ़ निश्चय; विश्व-सृजाम्—विश्व के जनकों का; पिपीपृहि—पूरा करो; ऐन्द्रीम्—इन्द्र के द्वारा उत्पन्न; च—भी; मायाम्—माया; उपधर्म—तथाकथित संन्यास के अधर्म का; मातरम्—माता; प्रचण्ड—घातक; पाखण्ड-पथम्—पापपूर्ण कर्मों का मार्ग; प्रभो—हे भगवान्; जहि—जीत लीजिए।

हे प्रजा-पालक, विष्णु द्वारा प्रदत्त अपने इस अवतार के उद्देश्य पर विचार कीजिये। इन्द्र द्वारा सर्जित अधर्म अनेक अवांछित धर्मों की जननी है। अतः आप तुरन्त ही इन पाखण्डों का अन्त कर दीजिये।

तात्पर्य : ब्रह्माजी राजा पृथु को *प्रजापते* रूप में इसलिए सम्बोधित करते हैं जिससे वे अपनी प्रजा की शान्ति तथा सम्पन्नता को स्थिर रखने के दायित्व को न भूलें। भगवान् ने महाराज पृथु को इसी कार्य के लिए शक्ति-सम्पन्न किया था। आदर्श राजा का यह कर्तव्य है कि वह देखे कि लोग धर्म का ठीक से पालन करते है। ब्रह्मा ने राजा पृथु से विशेष रूप से राजा इन्द्र द्वारा सर्जित छद्म धर्मों पर विजय प्राप्त करने का अनुरोध किया। दूसरे शब्दों में, राजसत्ता का या राजा का धर्म है कि वह अनैतिक व्यक्तियों द्वारा पैदा किये गये छद्म धर्मों पर रोक लगाएँ। मूलतः धर्म एक है, जो भगवान् द्वारा प्रदत्त है और यह दो रूपों में शिष्य-परम्परा से प्राप्त होता है। ब्रह्मा ने पृथु महाराज से अनुरोध किया कि वे इन्द्र से वृथा स्पर्धा न करें, जो उनके द्वारा सौ यज्ञों को पूरा न होने देने पर तुला हुआ था। विरोधी क्रिया करने की अपेक्षा महाराज पृथु के लिए श्रेयस्कर होगा कि यज्ञों को बन्द कर दें। अच्छी सरकार स्थापित करने तथा उचित व्यवस्था लाने के लिए यह किया गया।

मैत्रेय उवाच
इत्थं स लोकगुरुणा समादिष्टो विशाम्पतिः ।

तथा च कृत्वा वात्सल्यं मघोनापि च सन्दधे ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेय: उवाच—मैत्रेय ने कहा; इत्थम्—इस प्रकार; स:—राजा पृथु; लोक-गुरुणा—समस्त मनुष्यों के आदि गुरु ब्रह्मा द्वारा; समादिष्ट:—आदेशित; विशाम्-पति:—लोगों का स्वामी, राजा; तथा—उस प्रकार; च—भी; कृत्वा—करके; वात्सल्यम्—स्नेह; मघोना—इन्द्र से; अपि—तक; च—भी; सन्दधे—सन्धि कर ली।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : जब परम गुरु ब्रह्माजी ने राजा पृथु को इस प्रकार उपदेश दिया तो उन्होंने यज्ञ करने की अपनी उत्सुकता त्याग दी और अत्यन्त स्नेहपूर्वक राजा इन्द्र से सन्धि कर ली।

कृतावभृथस्नानाय पृथवे भूरिकर्मणे ।
वरान्ददुस्ते वरदा ये तद्बर्हिषि तर्पिता: ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

कृत—सम्पन्न करके; अवभृथ-स्नानाय—यज्ञ के पश्चात् स्नान करके; पृथवे—राजा पृथु को; भूरि-कर्मणे—अनेक शौर्यवाले कार्य के लिए विख्यात; वरान्—वर, आशीर्वाद; ददु:—दिया; ते—वे सब; वर-दा:—वर देनेवाले, देवतागण; ये—जो; तत्-बर्हिषि—ऐसे यज्ञ करने में; तर्पिता:—प्रसन्न हो गये।

इसके पश्चात् पृथु महाराज ने स्नान किया, जो प्रथानुसार यज्ञ के अन्त में किया जाता है, और महिमायुक्त कार्यों से अत्यन्त प्रसन्न देवताओं से आशीष तथा वर प्राप्त किये।

तात्पर्य : यज्ञ का अर्थ भगवान् विष्णु है, क्योंकि सारे यज्ञ भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के लिए सम्पन्न किये जाते हैं। चूँकि यज्ञ करने से देवता स्वयमेव प्रसन्न होते हैं, अत: वे यज्ञकर्ता को आशीष देते हैं। जब मनुष्य पौधे की जड़ में पानी डालता है, तो डालें, तने, टहनियाँ, फूल तथा पत्ती सभी तुष्ट होते हैं। इसी प्रकार जब कोई उदर को भोजन पहुँचाता है, तो शरीर के सभी अंग पुनर्जागरित हो उठते हैं। यदि कोई यज्ञ करके अकेले भगवान् विष्णु को प्रसन्न कर लेता है, तो अन्य सारे देवता स्वत: सन्तुष्ट हो जाते हैं। बदले में देवता भक्त को वर देते हैं। अत: शुद्ध भक्त कभी भी देवताओं से सीधा वर नहीं माँगता। उसका तो एकमात्र व्यापार भगवान् की सेवा करना है। अत: उसे देवताओं द्वारा प्रदत्त वस्तुओं की कभी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती।

विप्रा: सत्याशिषस्तुष्टा: श्रद्धया लब्धदक्षिणा: ।
आशिषो युयुजु: क्षत्तरादिराजाय सत्कृता: ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

विप्राः—सभी ब्राह्मण; सत्य—सही; आशिषः—जिसके आशीर्वाद; तुष्टाः—अत्यन्त सन्तुष्ट होकर; श्रद्धया—अत्यन्त सम्मानपूर्वक; लब्ध-दक्षिणाः—दक्षिणा प्राप्त किये हुए; आशिषः—आशीर्वाद; युयुजुः—प्रदान किया; क्षत्तः—हे विदुर; आदि-राजाय—आदि राजा को; सत्-कृताः—सम्मानित होकर।

आदिराज पृथु ने उस यज्ञ में उपस्थित समस्त ब्राह्मणों को अत्यन्त सम्मानपूर्वक सभी प्रकार की भेंटें प्रदान कीं। इन ब्राह्मणों ने प्रसन्न होकर राजा को अपनी ओर से हार्दिक शुभाशीष दिये।

त्वयाहूता महाबाहो सर्व एव समागताः ।
पूजिता दानमानाभ्यां पितृदेवर्षिमानवाः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

त्वया—तुम्हारे द्वारा; आहूताः—आमंत्रित; महा-बाहो—हे परम शक्तिशाली; सर्वे—सभी; एव—निश्चय ही; समागताः—एकत्र; पूजिताः—सम्मानित हुए; दान—दान से; मानाभ्याम्—सम्मान से; पितृ—पितृलोक के वासी; देव—देवता; ऋषि—ऋषिगण; मानवाः—तथा सामान्य जन।

समस्त ऋषियों तथा ब्राह्मणों ने कहा : हे शक्तिशाली राजा, आपके आमंत्रण पर सभी वर्ग के जीवों ने इस सभा में भाग लिया है। वे पितृलोक तथा स्वर्गलोकों से आये हैं, साथ ही सामान्यजन एवं ऋषिगण भी इस सभा में उपस्थित हुए हैं। अब वे सभी आपके व्यवहार तथा आपके दान से अत्यन्त सन्तुष्ट हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत ''राजा पृथु के सौ अश्वमेध यज्ञ,'' नामक उन्नीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बीस

महाराज पृथु के यज्ञस्थल में भगवान् विष्णु का प्राकट्य

मैत्रेय उवाच

भगवानपि वैकुण्ठः साकं मघवता विभुः ।
यज्ञैर्यज्ञपतिस्तुष्टो यज्ञभुक्तमभाषत ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा; भगवान्—भगवान् विष्णु; अपि—भी; वैकुण्ठः—वैकुण्ठवासी; साकम्—के साथ; मघवता—राजा इन्द्र; विभुः—भगवान्; यज्ञैः—यज्ञों के द्वारा; यज्ञ-पतिः—समस्त यज्ञों का स्वामी; तुष्टः—प्रसन्न; यज्ञ-भुक्—यज्ञों का भोक्ता; तम्—राजा पृथु से; अभाषत—कहा।

मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, महाराज पृथु द्वारा निन्यानवे अश्वमेध यज्ञों के सम्पन्न किये जाने से भगवान् विष्णु अत्यन्त प्रसन्न हुए और वे यज्ञस्थल में प्रकट हुए। उनके साथ राजा इन्द्र भी था। तब भगवान् विष्णु ने कहना प्रारम्भ किया।

श्रीभगवानुवाच

एष तेऽकार्षीद्भङ्गं हयमेधशतस्य ह ।
क्षमापयत आत्मानममुष्य क्षन्तुमर्हसि ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् विष्णु ने कहा; एषः—यह राजा इन्द्र; ते—तुम्हारा; अकार्षीत्—किया; भङ्गम्—उत्पात; हय—अश्व; मेध—यज्ञ; शतस्य—एक सौवें का; ह—निश्चय ही; क्षमापयतः—क्षमाप्रार्थी; आत्मानम्—तुम से; अमुष्य—उसको; क्षन्तुम्—क्षमा करने के लिए; अर्हसि—तुम्हें चाहिए।

भगवान् विष्णु ने कहा : हे राजा पृथु, स्वर्ग के राजा इन्द्र ने तुम्हारे सौवें यज्ञ में विघ्न डाला है। अब वह मेरे साथ तुमसे क्षमा माँगने के लिए आया है, अतः उसे क्षमा कर दो।

तात्पर्य : इस श्लोक में *आत्मानम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। योगी तथा ज्ञानी एक दूसरे को (अथवा सामान्य पुरुष को भी) आत्मा कहकर सम्बोधित करते हैं, क्योंकि इन्द्रियातीत पुरुष जीवात्मा को शरीर कभी नहीं मानता। चूँकि आत्मा भगवान् का अंश होता है, अतः आत्मा तथा परम-आत्मा में गुणात्मक अन्तर नहीं होता। जैसाकि अगले श्लोक में बताया जाएगा, शरीर तो बाह्यावरण मात्र है, अतः सिद्ध इन्द्रियातीत पुरुष स्वयं में तथा अन्य में भेद नहीं मानता।

सुधियः साधवो लोके नरदेव नरोत्तमाः ।
नाभिद्रुह्यन्ति भूतेभ्यो यर्हि नात्मा कलेवरम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सु-धियः—परम बुद्धिमान व्यक्ति; साधवः—शुभ करने के लिए उद्यत; लोके—इस जगत में; नर-देव—हे राजा; नर-उत्तमाः—मनुष्यों में श्रेष्ठ; न अभिद्रुह्यन्ति—द्रोह नहीं करते; भूतेभ्यः—अन्य जीवों से; यर्हि—क्योंकि; न—कभी नहीं; आत्मा—स्व या आत्मा; कलेवरम्—यह शरीर।

हे राजन्, जो व्यक्ति परम बुद्धिमान तथा दूसरों का शुभचिन्तक होता है, वह मनुष्यों में श्रेष्ठ समझा जाता है। सिद्ध पुरुष कभी दूसरों से बैर नहीं करता। जो अग्रगण्य बुद्धिमान हैं, वे यह भली-भाँति जानते हैं कि यह भौतिक शरीर आत्मा से भिन्न है।

तात्पर्य : सामान्य के जीवन में हम देखते हैं कि यदि कोई पागल आदमी किसी की हत्या कर देता है, तो उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति द्वारा उसे क्षमा दे दी जाती है। मुख्य भाव यह है कि जीवात्मा सदैव शुद्ध रहता है, क्योंकि वह तो भगवान् का अंश होता है। जब वह भौतिक शक्ति के चंगुल में पड़ जाता है, तो वह भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों का शिकार बन जाता है। वह जो कुछ भी करता है, भौतिक प्रकृति के वश में होकर करता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (५.१४) में कहा गया है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

''देह रूपी नगरी का स्वामी देहबद्ध जीवात्मा, कर्म अथवा कर्मफल को नहीं रचता और न किसी को कर्म में प्रवृत्त करता है। यह सब तो प्रकृति के गुणों द्वारा ही रचा जाता है।''

वास्तव में जीवात्मा या आत्मा कुछ नहीं करता, सब कुछ प्रकृति के गुणों के वशीभूत होकर ही होता है। जब मनुष्य रोगी होता है, तो रोग के लक्षण समस्त प्रकार की पीड़ा के कारण बन जाते हैं। जो दिव्यचेतना या कृष्णचेतना में उन्नत हैं, वे न तो आत्मा से ईर्ष्या करते हैं और न प्रकृति के गुणों के अधीन आत्मा के कार्यों से। उन्नत इन्द्रियातीत पुरुष *सुधियः* कहलाते हैं। *सुधी* के कई अर्थ हैं—बुद्धि, अत्यन्त उन्नत तथा भक्त। जो भक्त है और बुद्धि से अत्यन्त उन्नत भी, वह आत्मा या शरीर के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं करता। यदि कोई त्रुटि होती है, तो वह क्षमा कर देता है। कहा गया है कि क्षमा आत्मज्ञानी सिद्ध पुरुषों का गुण है।

पुरुषा यदि मुह्यन्ति त्वादृशा देवमायया ।
श्रम एव परं जातो दीर्घया वृद्धसेवया ॥ ४॥

शब्दार्थ

पुरुषाः—लोग; यदि—यदि; मुह्यन्ति—मोहग्रस्त होते हैं; त्वादृशाः—तुम्हारी तरह; देव—परमेश्वर की; मायया—माया से; श्रमः—परिश्रम; एव—निश्चय ही; परम्—एकमात्र; जातः—उत्पन्न; दीर्घया—दीर्घकाल तक; वृद्ध-सेवया—गुरुजनों की सेवा से।.

यदि तुम जैसे पुरुष, जो पूर्व आचार्यों के आदेशों के अनुसार कार्य करने के कारण इतने उन्नत हैं, मेरी माया से मोहग्रस्त हो जाँय तो तुम्हारी समस्त सिद्धि को समय का अपव्यय मात्र ही समझा जाएगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में *वृद्ध-सेवया* शब्द महत्त्वपूर्ण है। वृद्ध का अर्थ "बूढ़ा" और *सेवया* का अर्थ "सेवा द्वारा" है। पूर्णज्ञान तो आचार्यों या मुक्त जीवों से प्राप्त होता है। परम्परा-पद्धति के द्वारा प्रशिक्षित हुए बिना ज्ञान अर्जन में कोई भी परिपूर्ण नहीं हो सकता। पृथु महाराज को इसी प्रकार की शिक्षा प्राप्त थी, अत: उन्हें सामान्य व्यक्ति नहीं माना जा सकता था। सामान्य मनुष्य को केवल देहात्मबुद्धि होती है, जिससे वह प्रकृति के गुणों से सदैव मोहग्रस्त रहता है।

अत: कायमिमं विद्वानविद्याकामकर्मभि: ।
आरब्ध इति नैवास्मिन्प्रतिबुद्धोऽनुषज्जते ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अतः—अतएव; कायम्—शरीर; इमम्—यह; विद्वान्—ज्ञानी; अविद्या—अज्ञान से; काम—इच्छाएँ; कर्मभिः—कर्म से; आरब्धः—उत्पन्न; इति—इस प्रकार; न—कभी नहीं; एव—निश्चय ही; अस्मिन्—इस शरीर के प्रति; प्रतिबुद्धः—ज्ञानी; अनुषज्जते—आसक्त होता है।.

जो लोग जीवन की देहात्मबुद्धि की अवधारणा से भली-भाँति परिचित हैं, जो यह जानते हैं कि यह शरीर मोह से उत्पन्न अज्ञान, आकांक्षाओं तथा कर्मों से रचित है, वे इस शरीर के प्रति कभी भी आसक्त नहीं होते।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, सुधीजन अपने को शरीर नहीं मानते। अज्ञान से उत्पन्न होने के कारण शरीर के दो प्रकार के कार्य हैं। जब हम देहात्मबुद्धि में सोचते हैं कि इन्द्रियतृप्ति हमारी सहायक होगी तो हम मोह में होते हैं। दूसरे प्रकार का मोह यह सोचना है कि उन आकांक्षाओं को पूरा करने के प्रयास से मनुष्य सुखी हो जाएगा, जो मोहग्रस्त शरीर से उत्पन्न होती हैं या उच्च लोकों को प्राप्त करने या विभिन्न प्रकार के वैदिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने से उत्पन्न हैं। यह मोह है। इसी प्रकार से राजनीतिक उत्थान के लिए किये गये भौतिक कर्म तथा विश्व के लोगों को सुखी बनाने के उद्देश्य से किये गये सामाजिक तथा मानवतापूर्ण कार्य भी मोहमय हैं, क्योंकि मुख्य सिद्धान्त तो

देहात्मबुद्धि है, जो मोहमय है। देहात्मबुद्धि में हम जो कुछ भी चाहते या करते हैं वह सब मोहमय हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् विष्णु ने महाराज पृथु को बताया कि यद्यपि यज्ञों के करने से सामान्य लोगों के लिए आदर्श उपस्थित होता है, किन्तु जहाँ तक उनके स्वात्म का प्रश्न है, उनकी कोई आवश्यकता नहीं थी। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४५) में पुष्टि की गई है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

"वेद मुख्य रूप से प्रकृति के तीनों गुणों का ही वर्णन करने वाले हैं। हे अर्जुन! तू इन गुणों का लंघन करके उनसे आगे निकल जा। सम्पूर्ण द्वन्द्वों और योगक्षेम की चिन्ता से मुक्त होकर आत्मपरायण बन।"

वेदों में वर्णित अनुष्ठान-विधान मुख्यत: प्रकृति के तीनों गुणों पर निर्भर करते हैं, अत: अर्जुन को सलाह दी गई कि वह वेद-कर्मों का उल्लंघन कर दे। अर्जुन को जिन कर्मों को करने के लिए कहा गया वे भक्ति के दिव्य कर्म थे।

असंसक्त: शरीरेऽस्मिन्नमुनोत्पादिते गृहे ।
अपत्ये द्रविणे वापि क: कुर्यान्ममतां बुध: ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

असंसक्त:—अनासक्त; शरीरे—शरीर में; अस्मिन्—इस; अमुना—ऐसी देहात्मबुद्धि से; उत्पादिते—उत्पन्न; गृहे—घर में; अपत्ये—सन्तान में; द्रविणे—सम्पत्ति में; वा—अथवा; अपि—भी; क:—कौन; कुर्यात्—करना चाहिए; ममताम्—आकर्षण; बुध:—विद्वान पुरुष।

जो देहात्मबुद्धि के प्रति रंचमात्र भी आसक्त नहीं है, भला ऐसा अत्यन्त बुद्धिमान पुरुष किस प्रकार घर, सन्तान, सम्पत्ति तथा ऐसी ही अन्य शारीरिक बातों में देहात्मबुद्धि के द्वारा प्रभावित हो सकता है?

तात्पर्य : वैदिक अनुष्ठान भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के निमित्त होते हैं। किन्तु ऐसे कार्यों से वास्तव में भगवान् को प्रसन्न नहीं किया जा सकता, अपितु भगवान् की अनुमति से मनुष्य अपनी इन्द्रियों की तुष्टि करने का प्रयास करता है। दूसरे शब्दों में, जो भौतिकतावादी इन्द्रियतृप्ति में रुचि रखते हैं उन्हें वैदिक अनुष्ठान करने के बहाने अपनी इन्द्रियतुष्टि की अनुमति अथवा छूट प्रदान की जाती है। यही *त्रैगुण्यविषया वेदा:* कहलाता है। वैदिक कृत्य तो प्रकृति के तीनों गुणों पर निर्भर करते हैं। जो

लोग भौतिक स्थिति से ऊपर उठ चुके होते हैं, वे ऐसे वैदिक कृत्यों की तनिक भी परवाह नहीं करते। अपितु वे तो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति जैसे उच्चतर कार्यों में रुचि रखते हैं। ऐसी भक्ति *निस्त्रैगुण्य* कहलाती है। भगवान् की भक्ति का देहात्मबुद्धि से कोई सरोकार नहीं होता।

एक: शुद्ध: स्वयंज्योतिर्निर्गुणोऽसौ गुणाश्रय: ।
सर्वगोऽनावृत: साक्षी निरात्मात्मात्मन: पर: ॥७॥

शब्दार्थ

एक:—एक; शुद्ध:—शुद्ध; स्वयम्—स्वयं; ज्योति:—तेजोमय; निर्गुण:—भौतिक उपाधियों से रहित; असौ—वह; गुण-आश्रय:—उत्तम गुणों का आगार; सर्व-ग:—सर्वत्र जाने में समर्थ; अनावृत:—अनाच्छादित; साक्षी—गवाह; निरात्मा—किसी अन्य आत्मा के; आत्म-आत्मन:—शरीर तथा मन को; पर:—दिव्य।

आत्मा एक, शुद्ध, अभौतिक तथा स्वयं-तेजमय है। वह समस्त उत्तम गुणों का आगार एवं सर्व-व्यापक है। वह किसी भौतिक आवरण से रहित और समस्त कार्यों का साक्षी है। वह अन्य जीवात्माओं से सर्वथा भिन्न तथा समस्त देहधारियों से परे है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में दो महत्त्वपूर्ण शब्द आये हैं—*असंसक्त:* अर्थात् ''बिना आसक्ति के'' तथा *बुध:* अर्थात् ''हर वस्तु को जानने वाला।'' जानने वाले से तात्पर्य है कि वह न केवल अपनी स्वाभाविक स्थिति से पूर्ण रूप से परिचित हो, वरन् भगवान् की भी स्थिति को जाने। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक में भगवान् विष्णु अपने अथवा परमात्मा के सम्बन्ध में वर्णन कर रहे हैं। परमात्मा सदैव देहधारी आत्मा से तथा भौतिक जगत से भी भिन्न हैं। अत: उन्हें *पर* कहा गया है। *पर* का अर्थ है, भगवान् एक है। भगवान् एक हैं, जबकि इस संसार में आये हुए बद्धजीव विभिन्न रूपों में रहते हैं। ये देवता, मनुष्य, पशु, वृक्ष, पक्षी, मधुमक्खी इत्यादि रूपो में रहते हैं। इस प्रकार जीवात्माएँ एक न होकर अनेक हैं। जैसे कि, वेदों में पुष्टि की गई है : *नित्यो नित्योनां चेतन तनानाम्* ऐसी जीवात्माएँ जो अनेक हैं और संसार में बँधी हुई हैं, शुद्ध नहीं होतीं। किन्तु भगवान् शुद्ध और अनासक्त होते हैं। भौतिक देह से ढके होने के कारण जीवात्माएँ आत्म-तेजोमय नहीं होतीं, जबकि परमात्मा स्वतेजोमय होता है। जीवात्माएं प्रकृति के गुणों से दूषित होने के कारण सगुण कहलाते हैं, जबकि परमात्मा भौतिक गुणों पर निर्भर न होने के कारण निर्गुण कहलाते हैं। प्रकृति के गुणों से दूषित होने के कारण जीवात्माएँ *गुणाश्रित* हैं, जबकि भगवान् *गुणाश्रय* हैं। बद्धजीव की दृष्टि भौतिक कल्मष से ढकी रहती है, अत: वह अपने कर्मों के कारण को तथा अपने विगत जीवन को

नहीं देख सकता। किन्तु भगवान् भौतिक देह से प्रच्छन्न न होने के कारण जीवात्मा के समस्त कार्यों के साक्षी हैं। जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों ही आत्मा हैं। वे गुण में एक हैं, किन्तु वे कई प्रकार से भिन्न भी हैं विशेषत: छ: ऐश्वर्यों के सम्बन्ध में जो भगवान् में पूर्णरुपेण विद्यमान हैं। पूर्णज्ञान का अर्थ होता है कि जीवात्मा अपनी तथा परमेश्वर की स्थिति को जाने। यही पूर्ण ज्ञान है।

य एवं सन्तमात्मानमात्मस्थं वेद पूरुष: ।
नाज्यते प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणै: स मयि स्थित: ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

य:—जो कोई; एवम्—इस प्रकार; सन्तम्—विद्यमान; आत्मानम्—आत्मा तथा परमात्मा; आत्म-स्थम्—अपने शरीर के भीतर स्थित; वेद—जानता है; पूरुष:—पुरुष; न—कभी नहीं; अज्यते—प्रभावित होता है; प्रकृति—भौतिक प्रकृति में; स्थ:—स्थित; अपि—यद्यपि; तत्-गुणै:—प्रकृति के गुणों से; स:—ऐसा व्यक्ति; मयि—मुझमें; स्थित:—स्थित।

ऐसा व्यक्ति जो परमात्मा तथा आत्मा के पूर्णज्ञान को प्राप्त होता है, भौतिक प्रकृति में रहते हुए भी उसके गुणों से प्रभावित नहीं होता, क्योंकि वह सदैव मेरी दिव्य प्रेमाभक्ति में स्थित रहता है।

तात्पर्य : जब भगवान् इस भौतिक जगत में प्रकट होते हैं, तो वे प्रकृति के गुणों से प्रभावित नहीं होते हैं। इसीप्रकार जो भगवान् से सम्बद्ध हैं, वे भौतिक देह या भौतिक जगत में रहते हुए भी भौतिक गुणों से प्रभावित नहीं होते। इसका वर्णन *भगवद्गीता* (१४.२६) में बड़े ही सुन्दर ढंग से हुआ है :

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो पूर्ण रूप से मेरे अनन्य भक्तियोग में संलग्न है, वह अविलम्ब त्रिगुणमयी माया का उल्लंघन करके मुक्त हो जाता है।" इस सम्बन्ध में श्रील रूप गोस्वामी का कथन है कि यदि कोई मन, वचन तथा कर्म से सदैव भगवान् की सेवा में लगा रहता है, तो उसे इस भौतिक जगत में रहते हुए भी मुक्त मानना चाहिए।

य: स्वधर्मेण मां नित्यं निराशी: श्रद्धयान्वित: ।
भजते शनकैस्तस्य मनो राजन्प्रसीदति ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यः—जो भी; स्व-धर्मेण—अपने वृत्तिपरक कार्यों के द्वारा; माम्—मुझको; नित्यम्—नियमित रूप से; निराशीः—बिना किसी उद्देश्य के; श्रद्धया—श्रद्धा तथा भक्ति से; अन्वितः—युक्त; भजते—पूजता है; शनकैः—धीरे-धीरे; तस्य—उसका; मनः—मन; राजन्—हे राजा पृथु; प्रसीदति—पूर्णतया तुष्ट हो जाता है।.

भगवान् विष्णु ने आगे कहा : हे राजा पृथु, जब कोई अपना वृत्तिपरक कर्म करता हुआ, किसी भौतिक लाभ के उद्देश्य के बिना मेरी सेवा में लगा रहता है, तो वह अपने अन्तःकरण में उत्तरोत्तर संतुष्टि प्राप्त करता है।

तात्पर्य : *विष्णु पुराण* से भी इस श्लोक की पुष्टि होती है। वृत्तिपरक कार्य को वर्णाश्रम धर्म कहते हैं और यह भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन के चारों वर्णों और आश्रमों पर लागू होता है—यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। जो कोई वर्णाश्रम धर्म-पद्धति के अनुसार कर्म करता है और फल की इच्छा नहीं करता, वह क्रमशः सन्तुष्ट होता जाता है। जीवन का परम उद्देश्य वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए भगवान् की भक्ति करना है। *भगवद्गीता* में इस प्रक्रम को *कर्मयोग* कहा गया है। दूसरे शब्दों में, हमें केवल भगवान् की तुष्टि तथा सेवा के लिए कर्म करना चाहिए। अन्यथा हम कर्मफलों के बंधन में उलझ जाएँगे।

प्रत्येक व्यक्ति वर्णाश्रम धर्म में लगा हुआ है, किन्तु भौतिक व्यवसायों का उद्देश्य भौतिक लाभ नहीं होना चाहिए, अपितु हर एक को चाहिए कि अपने-अपने कर्मों के फल भगवान् को अर्पण करे। ब्राह्मण को विशेष रूप से अपना कर्म भौतिक लाभ की दृष्टि से न करके भगवान् को प्रसन्न करने के लिए करना चाहिए। क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को भी इसी प्रकार से कर्म करना चाहिए। इस भौतिक जगत् में हर व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यवसाय में लगा है, किन्तु ऐसे कर्मों का उद्देश्य भगवान् को प्रसन्न रखना होना चाहिए। भक्ति अत्यन्त सरल है और कोई भी इसे अपना सकता है। जो जिस रूप में है, वैसे ही रहे; उसे अपने घर में परमेश्वर के अर्चा-विग्रह को स्थापित-भर करना होगा। यह विग्रह राधा-कृष्ण का हो या लक्ष्मी-नारायण का हो। (भगवान् के अनेक अन्य रूप भी हैं)। इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र अपने सच्चे परिश्रम के बल पर अर्चा-विग्रह को पूज सकता है। चाहे जो भी वर्णाश्रम धर्म हो, मनुष्य को श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, समर्पण इत्यादि के द्वारा भक्ति करनी चाहिए। इस प्रकार मनुष्य अपने को भगवान् की भक्ति में बड़ी आसानी से लगा सकता है। जब भगवान् किसी की सेवा से प्रसन्न हो जाते हैं, तो जीवन का उद्देश्य पूरा हो जाता है।

**परित्यक्तगुणः सम्यग्दर्शनो विशदाशयः ।
शान्तिं मे समवस्थानं ब्रह्म कैवल्यमश्नुते ॥ १० ॥**

शब्दार्थ

परित्यक्त-गुणः—जो गुणों से विरक्त है; सम्यक्—सम; दर्शनः—जिसकी दृष्टि; विशद—अकलुषित; आशयः—जिसका मन या हृदय; शान्तिम्—शान्ति; मे—मेरा; समवस्थानम्—समान पद; ब्रह्म—आत्मा; कैवल्यम्—भौतिक कल्मष से मुक्ति; अश्नुते—प्राप्त करता है।

जब हृदय समस्त भौतिक कल्मषों से शुद्ध हो जाता है, तो भक्त का मन विशद तथा पारदर्शी हो जाता है और वह वस्तुओं को समान रूप में देख सकता है। जीवन की इस अवस्था में शान्ति मिलती है और मनुष्य मेरे समान पद के सच्चिदानन्द-विग्रह रूप में स्थित हो जाता है।

तात्पर्य : मायावादी *कैवल्य* सम्बन्धी विचार वैष्णवों के विचारों से भिन्न है। मायावादी सोचता है कि ज्योंही कोई समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है, वह परमेश्वर में तदाकार हो जाता है। वैष्णव चिन्तक की *कैवल्य* सम्बन्धी विचारधारा भिन्न है। वह अपनी तथा भगवान् दोनों की स्थितियों को समझता है। अकलुषित अवस्था में जीवात्मा अपने को परमात्मा का नित्य दास मानता है, जो ब्रह्म-साक्षात्कार कहलाता है। यह पद सरलता से प्राप्त हो जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, जब कोई भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में अनुरक्त रहता है, तो उसे तुरन्त ही दिव्य कैवल्य पद अथवा ब्रह्मपद प्राप्त होता है।

**उदासीनमिवाध्यक्षं द्रव्यज्ञानक्रियात्मनाम् ।
कूटस्थमिममात्मानं यो वेदाप्नोति शोभनम् ॥ ११ ॥**

शब्दार्थ

उदासीनम्—उदासीन; इव—केवल; अध्यक्षम्—अधीक्षक; द्रव्य—भौतिक तत्त्वों; ज्ञान—ज्ञानेन्द्रियाँ; क्रिया—कर्मेन्द्रियाँ; आत्मनाम्—तथा मन का; कूट-स्थम्—स्थिर; इमम्—यह; आत्मानम्—आत्मा; यः—जो कोई; वेद—जानता है; आप्नोति—प्राप्त करता है; शोभनम्—कल्याण।

जो कोई भी यह जानता है कि पाँच तत्त्वों, कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों तथा मन से निर्मित यह शरीर केवल स्थिर आत्मा द्वारा संचालित होता है, वह भौतिक बन्धन से मुक्त होने योग्य है।

तात्पर्य : इस श्लोक में बताया गया है कि मनुष्य बन्धन से किस प्रकार मुक्त हो सकता है। पहली बात जो मनुष्य को जाननी चाहिए, वह यह है कि जीव शरीर से पृथक् है। जीव *देही* है और यह भौतिक शरीर *देह* कहलाता है। देह निरन्तर परिवर्तनशील है, किन्तु आत्मा (देही) स्थिर है; इसीलिए आत्मा को *कूट-स्थम्* कहा जाता है देह में जो परिवर्तन होते हैं, वे तीन गुणों की प्रतिक्रिया के

फलस्वरूप होते हैं जिसने आत्मा की स्थिर-स्थिति जान ली है, उसे सुख तथा दुख के रूप में प्रकृति के गुणों की अन्तक्रिया के आवागमन से विचलित नहीं होना चाहिए। *भगवद्गीता* में भी भगवान् ने कहा है कि शरीर पर तीनों गुणों की प्रतिक्रिया से सुख तथा दुख आते-जाते रहते हैं, अत: मनुष्य को इन बाह्य गतिविधियों से विचलित नहीं होना चाहिए। यद्यपि कभी-कभी मनुष्य इनमें फँस जाता है, किन्तु उसे इन्हें सहन करना सीखना चाहिए जीवात्मा को बाह्य शरीर के कर्म तथा फल के प्रति अनासक्त रहना चाहिए।

भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि पाँच भौतिक तत्त्वों (क्षिति, जल, पावक, गगन तथा समीर) एवं सूक्ष्म तत्त्वों (मन, बुद्धि तथा अहंकार) से बना हुआ यह शरीर आत्मा से सर्वथा भिन्न है। अत: मनुष्य को इन आठ तत्त्वों की क्रिया-प्रतिक्रिया से विचलित नहीं होना चाहिए। इस अनासक्ति की अवस्था को प्राप्त करने की व्यावहारिक विधि यह है कि भक्ति-मय सेवा की जाये। जो व्यक्ति चौबीसों घंटे भक्ति में लगा रहता है, वही बाह्य शरीर के घात-प्रतिघातों से अनासक्त रह सकता है। जब मनुष्य किसी विशेष विचार में मग्न होता है, तो वह किसी अन्य बाह्य कर्म को न तो देखता है, न सुनता है भले ही वह उसकी उपस्थिति में घट रहा हो। इसी प्रकार जो भक्ति में पूर्ण रूप से निमग्न रहते हैं उन्हें अपने बाह्य शरीर की परवाह नहीं रहती। यह अवस्था समाधि कहलाती है। जो व्यक्ति समाधि में स्थित होता है, वह उच्चकोटि का योगी कहलाता है।

भिन्नस्य लिङ्गस्य गुणप्रवाहो
द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मन: ।
दृष्टासु सम्पत्सु विपत्सु सूरयो
न विक्रियन्ते मयि बद्धसौहृदा: ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

भिन्नस्य—भिन्न; लिङ्गस्य—शरीर का; गुण—तीनों गुणों का; प्रवाह:—निरन्तर परिवर्तन; द्रव्य—भौतिक तत्त्व; क्रिया—कर्म; कारक—देवता; चेतना—तथा मन; आत्मन:—से युक्त; दृष्टासु—अनुभव होने पर; सम्पत्सु—सुख; विपत्सु—दुख; सूरय:—ज्ञानी लोग; न—कभी नहीं; विक्रियन्ते—विचलित होते हैं; मयि—मुझ में; बद्ध-सौहृदा:—मित्रता में बँध कर।

भगवान् विष्णु ने राजा पृथु से कहा : हे राजन्, तीनों गुणों की अन्योन्य क्रिया से ही यह भौतिक जगत निरन्तर परिवर्तनशील है। यह शरीर पाँच तत्त्वों, इन्द्रियों, इन्द्रियों के नियामक देवताओं तथा आत्मा द्वारा विक्षुब्ध किये जाने वाले मन से मिल कर बना है। चूँकि आत्मा इन

स्थूल तथा सूक्ष्म तत्त्वों के इस मेल से सर्वथा भिन्न है, अतः मेरा भक्त जो मित्रता तथा प्रेम के द्वारा मुझसे दृढ़तापूर्वक बँधा है, यह भली भाँति जानते हुए, कभी भी भौतिक सुख तथा दुख से विचलित नहीं होता।

तात्पर्य : प्रश्न उठता है कि यदि जीवात्मा को शारीरिक संयोग के कार्यकलापों का अधीक्षण करना है, तो वह शरीर के कार्यों से किस प्रकार उदासीन रह सकता है? इसका उत्तर इस प्रकार है—ये कार्यकलाप आत्मा के कार्यों से सर्वथा भिन्न हैं। यहाँ पर एक मोटा सा उदाहरण दिया जा सकता है। एक व्यापारी अपनी मोटरकार में बैठकर उसकी चाल का निरीक्षण करता रहता है और चालक को सलाह भी देता रहता है, वह जानता रहता है कि कितना पेट्रोल खर्च हो रहा है और वह अपनी कार के बारे में सबकुछ जानता है, किन्तु तो भी वह अपनी कार से भिन्न रहता है और अपने व्यापार के विषय में अधिक चिन्तित होता है। कार में चलते हुए भी वह अपने व्यापार तथा कार्यालय के विषय में सोचता रहता है भले ही वह कार में बैठा रहता है, किन्तु उसका कार से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। जिस प्रकार व्यापारी सदैव अपने व्यापार के विचारों में मग्न रहता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी भगवान् की सेवा करने के विचारों में मग्न रह सकता है। तभी वह भौतिक शरीर के कार्यकलापों से अपने को पृथक् रख सकता है। ऐसी निर्लिप्त अवस्था भक्त के लिए ही सम्भव है।

यहाँ पर *बद्ध सौहृदाः* शब्द का प्रयोग विशेष प्रयोजन से हुआ है। कर्मी, ज्ञानी तथा योगी जनों को भक्ति में नहीं बाँधा जा सकता। कर्मीजन शरीर के कार्यों में व्यस्त रहते हैं। उनके जीवन का लक्ष्य शरीर को ही सुविधा पहुँचाना होता है। ज्ञानी लोग दार्शनिक चिन्तन द्वारा बंधन से छूटना चाहते हैं, किन्तु उन्हें मुक्त पद प्राप्त नहीं होता। भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण न कर पाने से वे ब्रह्म-साक्षात्कार के उच्च पद से नीचे गिर जाते हैं। योगियों में भी देहात्मबुद्धि होती है—वे मानते हैं कि धारणा, आसन, प्राणायाम इत्यादि के द्वारा वे आध्यात्मिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं किन्तु भक्त की स्थिति सदैव दिव्य होती है, क्योंकि भगवान् से उसका सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ होता है, अतः केवल भक्त ही शरीर के कर्मों तथा फलों से पृथक् रह कर अपने वास्तविक कर्म अर्थात् भगवान् की सेवा में संलग्न रह सकते हैं।

समः समानोत्तममध्यमाधमः
सुखे च दुःखे च जितेन्द्रियाशयः ।
मयोपक्लिप्ताखिललोकसंयुतो
विधत्स्व वीराखिललोकरक्षणम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

समः—समभाव; समान—सभी समान; उत्तम—श्रेष्ठ; मध्यम—बीच की स्थिति वाला; अधमः—निम्नस्तरीय; सुखे—सुख में; च—तथा; दुःखे—दुख में; च—भी; जित-इन्द्रिय—जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है; आशयः—तथा मन; मया—मेरे द्वारा; उपक्लिप्त—व्यवस्थित; अखिल—सम्पूर्ण; लोक—लोगों द्वारा; संयुतः—साथ-साथ; विधत्स्व—प्रदान करो; वीर—हे वीर; अखिल—समस्त; लोक—नागरिकों को; रक्षणम्—सुरक्षा, आश्रय।

हे वीर राजा, स्वयं समभाव रखते हुए अपने से उत्तम, मध्यम तथा निम्न स्तर के लोगों पर समानता का व्यवहार करो, क्षणिक सुख या दुख से विचलित न हो। अपने मन तथा इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखो। मेरी व्यवस्था से तुम जिस किसी भी परिस्थिति में रखे जाओ, उस दिव्य स्थिति में रह कर राजा का कर्तव्य निबाहो, किन्तु तुम्हारा एकमात्र कर्तव्य अपने राज्य के नागरिकों को संरक्षण प्रदान करना है।

तात्पर्य : यहाँ पर साक्षात् भगवान् विष्णु से आदेश प्राप्त करने का उदाहरण मिलता है। मनुष्य को भगवान् विष्णु के आदेश का पालन करना होता है, चाहे वह प्रत्यक्ष रूप में उनसे प्राप्त हो या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि-गुरु के माध्यम से हो। अर्जुन ने कुरुक्षेत्र का युद्ध भगवान् कृष्ण के प्रत्यक्ष आदेश पर लड़ा। इसी प्रकार यहाँ पर पृथु महाराज को उनके कर्तव्यों के विषय में भगवान् विष्णु आदेश दे रहे हैं। हमें *भगवद्गीता* में बताये गये नियमों का दृढ़ता से पालन करना चाहिए। *व्यवसायात्मिका बुद्धिः*—प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह भगवान् कृष्ण या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि से आदेश प्राप्त करे और निजी स्वार्थ से तटस्थ रहकर इन आदेशों को प्राणों से भी प्रिय माने। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि मनुष्य को इसकी तनिक भी परवाह नहीं करनी चाहिए कि वह मुक्त हो रहा है अथवा नहीं, उसे तो अपने गुरु से प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त आदेशों का सहज भाव से पालन करते रहना चाहिए ऐसा करने से उसे सदैव मुक्त पद प्राप्त होता रहेगा। सामान्य व्यक्ति को जाति-प्रथा (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) तथा आध्यात्मिक व्यवस्था (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) द्वारा निर्दिष्ट कर्तव्यों के अनुसार वर्णाश्रम धर्म के विधि-विधानों का पालन करना चाहिए। यदि कोई नियमित रूप से तथा दृढ़तापूर्वक ऐसा करता है, तो वह भगवान् विष्णु को प्रसन्न करता है।

भगवान् विष्णु ने पृथु महाराज को राजा के रूप में दैहिक कार्यों से अपने को विलग रखने और

सदैव भगवान् की सेवा में संलग्न रहकर मुक्त पद पर स्थित रहने का आदेश दिया था। पिछले श्लोक में आगत *बद्ध-सौहृदा:* की व्याख्या यहाँ की जा रही है। यदि मनुष्य अपने को देह के कार्यों से पृथक् रखता है, तो वह भगवान् के प्रत्यक्ष सम्पर्क में रह सकता है, अथवा उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि अर्थात् गुरु से आदेश प्राप्त कर सकता है और उन आदेशों का निष्ठापूर्वक पालन कर सकता है। भगवान् हमें भक्ति करने में मदद करने के लिए आदेश देते हैं और इस प्रकार परम धाम वापस जाने में सहायक बनते हैं। गुरु के रूप में वे बाहर से हमें आदेश देते हैं। अत: मनुष्य को चाहिए कि गुरु को सामान्य मनुष्य न समझे *भागवत* (११.१७.२७) में भगवान् कहते हैं—*आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्*—गुरु को सामान्य मानव नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वह भगवान् का प्रतिनिधि होता है। मनुष्य को चाहिए कि गुरु को भगवान् समझे और उससे न तो कभी द्वेष करे और न उसे सामान्य मनुष्य समझे। यदि हम गुरु के उपदेशों का पालन करें और भगवान् की भक्ति करें तो हम शारीरिक तथा भौतिक कर्मों के कल्मष से मुक्त रहकर जीवन को सफल बना सकते हैं।

श्रेय: प्रजापालनमेव राज्ञो
यत्साम्पराये सुकृतात्षष्ठमंशम् ।
हर्तान्यथा हृतपुण्य: प्रजाना-
मरक्षिता करहारोऽघमत्ति ॥ १४॥

शब्दार्थ

श्रेय:—शुभ; प्रजा-पालनम्—जनता पर शासन; एव—निश्चय ही; राज्ञ:—राजा के लिए; यत्—क्योंकि; साम्पराये—अगले जन्म में; सु-कृतात्—पुण्यों से; षष्ठम् अंशम्—छठा भाग; हर्ता—संग्रह करने वाला; अन्यथा—नहीं तो; हृत-पुण्य:—पुण्य से वञ्चित; प्रजानाम्—प्रजा का; अरक्षिता—रक्षा न करने वाला; कर-हार:—कर वसूल करने वाला; अघम्—पाप; अत्ति—प्राप्त करता है या भोगता है।.

राजा का निर्दिष्ट धर्म है कि वह राज्य के सारे के सारे नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करे। ऐसा करने से राजा को अगले जन्म में प्रजा के पुण्यों का छठा भाग प्राप्त होता है। किन्तु जो राजा अथवा प्रशासक प्रजा से केवल कर वसूल करता है और नागरिकों को समुचित सुरक्षा प्रदान नहीं करता तो उसके पुण्य प्रजा छीन लेती है और सुरक्षा न प्रदान करने के बदले में उसे प्रजा के पापकर्मों का भागी होना पड़ता है।

तात्पर्य : यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि सभी लोग मोक्ष प्राप्त करने के उद्देश्य से आध्यात्मिक कार्यों में लगे रहें और भौतिक जगत के कार्यों के प्रति उदासीन हो जाँय, तो फिर कार्य

किस प्रकार आगे बढ़े ? और यदि कार्यों को जैसे चलना चाहिए, वैसे आगे बढ़ना है, तो भला राज्य का प्रधान ऐसे कार्यों के प्रति उदासीन कैसे रह सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में यहाँ पर *श्रेय:* शब्द का प्रयोग हुआ है। समाज में कार्यों का विभाजन भगवान् ने आँख मूँदकर या आकस्मिक रूप से नहीं किया, जैसे कि मूर्ख लोग सोचते हैं। ब्राह्मण को उचित ढंग से अपना कर्म करना चाहिए, उसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को भी करना चाहिए। इससे प्रत्येक व्यक्ति जीवन की परम पूर्णता अर्थात् भवबंधन से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। *भगवद्गीता* (१८.४५) में इसकी पुष्टि हुई है। *स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर:*—अपना निर्दिष्ट कर्तव्य करके मनुष्य परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

भगवान् विष्णु ने महाराज पृथु को यह उपदेश नहीं दिया कि वे राज्य और प्रजा के पालन के भार को त्याग कर मुक्ति के लिए हिमालय पर्वत चले जाँय। वे तो राजा का अपना कर्तव्य निबाहते हुए मुक्ति-लाभ कर सकते हैं। राजा अथवा राज्य के प्रधान का कर्तव्य होता है कि वह देखे कि प्रजा आत्म-मोक्ष के लिए अपना-अपना कार्य कर रही है। धर्म-निरपेक्ष राज्य में जो राजा या राज्य-अध्यक्ष, प्रजा के प्रति उदासीन होता है, उसके लिए यह आवश्यक नहीं। आधुनिक काल में सरकार प्रजा के कर्तव्यों के लिए अनेक विधि-विधान तो बनाती है, किन्तु वह यह नहीं देखती कि नागरिक आत्मज्ञान में प्रगति कर रहे हैं अथवा नहीं। यदि सरकार इस ओर उदासीन रहती है, तो लोग मनमानी करते हैं, उन्हें ईश-साक्षात्कार या आध्यात्मिक जीवन की कोई परवाह नहीं रहती और इस प्रकार वे पापकर्मों में उलझ जाते हैं।

प्रशासकीय प्रमुख को चाहिए कि वह सामान्य जनता से केवल कर एकत्र न करे और उनके कल्याण के प्रति निष्ठुर न बना रहे। राजा का वास्तविक कर्तव्य है कि वह यह देखे कि नागरिक क्रमश: पूर्ण रूप से कृष्णभावनाभावित हो जाँय। कृष्णभावनाभावित होने का अर्थ है समस्त पापकर्मों से मुक्ति। ज्योंही राज्य से पापकर्मों का पूर्णत: निर्मूलन हो जाता है, तो फिर युद्ध, बीमारी, दुर्भिक्ष या प्राकृतिक आपदाएँ नहीं आते। ऐसा महाराज युधिष्ठिर के शासन-काल में वास्तव में था। यदि कोई राजा या राज्याध्यक्ष प्रजा को कृष्णभक्त बनने के लिए प्रेरणा दे सकता है, तो वह प्रजा पर शासन करने के लिए योग्य है, अन्यथा उसे कर संग्रह करने का कोई अधिकार नहीं है यदि राजा प्रजा के आध्यात्मिक हितों को ध्यान में रखता है, तो उसे कर लगाने में कठिनाई नहीं होती। इस प्रकार इस जीवन में प्रजा तथा

राजा दोनों सुखी रहेंगे और राजा अपने अगले जन्म में प्रजा के पुण्यों का छठा अंश प्राप्त कर सकेगा। अन्यथा पापपूर्ण प्रजा पर कर लगा कर वह उनके पाप का ही भागी होगा।

यही सिद्धान्त माता-पिता तथा गुरुओं पर भी लागू किया जा सकता है। यदि माता-पिता कुत्ते-बिल्लियों के समान सन्तानें उत्पन्न करके उन्हें आने वाली मृत्यु से नहीं बचा सकते, तो वे अपनी पाशविक सन्तानों के कार्यों के जिम्मेदार होंगे। हाल ही में ऐसी सन्तानें हिप्पी बनने लगी हैं। इसी प्रकार यदि गुरु अपने शिष्यों को पापकर्मों से विरत नहीं कर सकता तो वह उनके कर्मों का भागी होता है। समाज के आजकल के नेताओं को प्रकृति के इन सूक्ष्म तत्त्वों का ज्ञान नहीं है। चूँकि नेताओं को अल्पज्ञान है और नागरिक भी सामान्य रूप से धूर्त तथा चोर हैं, अत: मानव समाज का कल्याण नहीं हो सकता। इस समय सारे संसार में राज्य तथा नागरिकों में किसी प्रकार का समन्वय न होने के कारण सदैव तनाव, युद्ध तथा चिन्ता बनी रहती है। जो ऐसी सामाजिक दशाओं का अपरिहार्य परिणाम है।

एवं द्विजाछ्यानुमतानुवृत्त-
धर्मप्रधानोऽन्यतमोऽवितास्या: ।
ह्रस्वेन कालेन गृहोपयातान्
द्रष्टासि सिद्धाननुरक्तलोक: ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; द्विज—ब्राह्मणों का; अछ्य—अग्रणी द्वारा; अनुमत—स्वीकृत; अनुवृत्त—गुरु परम्परा से प्राप्त; धर्म—धार्मिक सिद्धान्त; प्रधान:—प्रमुख; अन्यतम:—अनासक्त; अविता—रक्षक; अस्या:—पृथ्वी का; ह्रस्वेन—लघु; कालेन—समय से; गृह—अपने घर; उपयातान्—स्वत: आया हुआ; द्रष्टासि—तुम देखोगे; सिद्धान्—सिद्ध पुरुष; अनुरक्त-लोक:—प्रजा का प्रिय।

भगवान् विष्णु ने आगे कहा : हे राजा पृथु, यदि तुम विद्वान् ब्राह्मणों से शिष्य परम्परा द्वारा प्राप्त आदेशों के अनुसार प्रजा का संरक्षण करते रहोगे और यदि तुम उनके द्वारा निर्दिष्ट धार्मिक नियमों का अनुसरण मनोरथों से अनासक्त रहकर करते रहोगे तो तुम्हारी सारी प्रजा सुखी रहेगी और तुमसे स्नेह रखेगी और तब तुम्हें शीघ्र ही सनकादि (सनक, सनातन, सनन्दन, सनत्कुमार) चारों कुमारों जैसे मुक्त पुरुषों के दर्शन हो सकेंगे।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु ने राजा पृथु को सलाह दी कि हर व्यक्ति *वर्णाश्रम धर्म* के नियमों का पालन करे; तभी मनुष्य का इस संसार में, चाहे वह जिस स्थिति में रहे, मृत्यु के पश्चात्, मोक्ष निश्चित है किन्तु इस युग में वर्णाश्रम धर्म की पद्धति अस्त-व्यस्त हो चुकी है, अत: इन नियमों का कड़ाई से

पालन कर पाना कठिन है। जीवन में पूर्णता प्राप्त करने का एकमात्र उपाय कृष्णचेतना का विकास करना है, जिस प्रकार वर्णाश्रम धर्म का पालन विविध पुरुषों द्वारा विभिन्न पदों पर रहते हुए किया जाता है। उसी प्रकार कृष्ण–चेतना के सिद्धान्तों का पालन प्रत्येक व्यक्ति द्वारा संसार के प्रत्येक भाग में किया जा सकता है।

यहाँ पर उल्लेख करने का विशेष अभिप्राय है कि मनुष्य को पराशर तथा मनु जैसे *द्विजाग्र्यों* अर्थात् अग्रणी ब्राह्मणों का अनुसरण करना चाहिए। इन ऋषियों ने पहले ही आदेश दे रखे हैं कि *वर्णाश्रम* धर्म के नियमों का किस प्रकार पालन किया जाये इसी प्रकार सनातन गोस्वामी तथा रूप गोस्वामी ने भगवान् के शुद्ध भक्त बनने के नियम दे रखे हैं। इसीलिए यह अनिवार्य है कि परम्परागत आचार्यों के उपदेशों का अनुसरण किया जाय, जिन्होंने परम्परा से गुरू से शिष्य तक पहुँचे, ज्ञान को प्राप्त किया है इस प्रकार भौतिक जीवन–यापन करते हुए तथा अपना पद छोड़े बिना भौतिक कल्मष के बन्धन से छूटा जा सकता है। इसीलिए भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने उपदेश दिया है कि मनुष्य को अपना घर बदलने की आवश्यकता नहीं है। उसे मात्र परम स्रोत (परम्परा) का श्रवण करके नियमों को जीवन में व्यवहृत करना होता है। इस प्रकार जीवन की परम सिद्धि—मुक्ति—को प्राप्त करके मनुष्य भगवान् के धाम को प्राप्त हो सकता है। दूसरे शब्दों में, जिस परिवर्तन की आवश्यकता है, वह शरीर में नहीं वरन् चेतना में होता है दुर्भाग्यवश इस युग में लोग शरीर के प्रति लगाव रखते हैं, आत्मा के प्रति नहीं। उन्होंने आत्मा नहीं, वरन् शरीर से सम्बद्ध अनेक *वादों* का आविष्कार कर लिया है।

प्रजातंत्र के इस युग में विधान के लिए अनेक सरकारी प्रतिनिधि मतदान करते हैं प्रतिदिन वे एक नया नियम निकालते हैं। किन्तु ये नियम अनुभवहीन बद्धजीवों द्वारा निर्मित कल्पना की उपज के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, अत: उनसे मानव समाज को किसी प्रकार की राहत नहीं मिल सकती। प्राचीन काल में यद्यपि राजा निरंकुश होते थे, किन्तु वे ऋषियों–मुनियों द्वारा स्थापित नियमों का दृढ़ता से पालन करते थे। इससे देश के शासन में कोई त्रुटि नहीं आ पाती थी और सब कुछ ठीक रहता था। प्रजा पूर्णत: पवित्र होती थी और राजा वैध कर संग्रह करता था जिससे स्थिति सुखकर रहती थी। आजकल तथाकथित प्रशासकों का चुनाव ऐसे महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों में से होता है, जो केवल अपना स्वार्थ देखते हैं, उन्हें शास्त्रों का कोई ज्ञान नहीं होता। दूसरे शब्दों में, प्रशासनाधिकारी नितान्त मूर्ख तथा

धूर्त होते हैं और सामान्य जनता शूद्र होती है। मूर्खों, धूर्त्तों तथा शूद्रों का यह सम्मिलन कभी भी संसार में शान्ति और सम्पन्नता नहीं ला सकता। इसीलिए हमें समाज में समय-समय पर युद्ध, साम्प्रदायिक झगड़े तथा भाई-भाई में संघर्ष इत्यादि जैसे उपद्रव देखने को मिलते हैं। ऐसी परिस्थितियों में वे न तो मनुष्य को मुक्ति की ओर ले जा सकते हैं और न मन:शान्ति प्रदान कर सकते हैं *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जो भी आडम्बरपूर्ण विचारों में जीता है और शास्त्रों से सम्बन्ध नहीं रखता वह कभी सफल नहीं होता और उसे न तो सुख मिल पाता है और न मृत्यु के पश्चात् मुक्ति।

वरं च मत्कञ्चन मानवेन्द्र
वृणीष्व तेऽहं गुणशीलयन्त्रितः ।
नाहं मखैर्वै सुलभस्तपोभि-
र्योगेन वा यत्समचित्तवर्ती ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

वरम्—आशीर्वाद; च—भी; मत्—मुझसे; कञ्चन—जो भी चाहो; मानव-इन्द्र—हे मनुष्यों के प्रमुख; वृणीष्व—माँगो; ते—तुम्हारा; अहम्—मैं; गुण-शील—उच्चगुणों तथा श्रेष्ठ आचरणों द्वारा; यन्त्रितः—मुग्ध होकर; न—नहीं; अहम्—मैं; मखैः—यज्ञों से; वै—निश्चय ही; सु-लभः—सरलता से प्राप्त; तपोभिः—तपस्या द्वारा; योगेन—योगाभ्यास के द्वारा; वा—अथवा; यत्—जिससे; सम-चित्त—समभाव वालों में; वर्ती—स्थित।

हे राजन्, मैं तुम्हारे उच्च गुणों तथा उत्तम आचरण से मुग्ध और प्रभावित हूँ; अत: तुम मुझसे मनचाहा वर माँग सकते हो। जो उत्तम गुणों तथा शील से युक्त नहीं है, वह मात्र यज्ञ, कठिन तपस्या अथवा योग के द्वारा मेरी कृपा प्राप्त नहीं कर सकता। किन्तु जो समस्त परिस्थितियों में समभाव बनाए रखता है, मैं उसके अन्त:करण में सदैव सन्तुलित रहता हूं।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु महाराज पृथु के उत्तम चरित्र तथा आचरण से अत्यधिक प्रसन्न थे, अत: उन्हें वर मांगने के लिए कहा। भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि उन्हें न तो महान् यज्ञों द्वारा, न ही तपस्या या योग साधना के द्वारा प्रसन्न किया जा सकता है। वे तो केवल उच्च चरित्र तथा आचरण द्वारा प्रसन्न होते हैं। किन्तु ये गुण तब तक विकसित नहीं होते, जब तक कोई भगवान् का शुद्ध भक्त न बन जाए। जो कोई भी भगवान् के प्रति शुद्ध अविचल भक्ति करता है उसमें आत्मा के रूप में ये उत्तम गुण विकसित हो जाते हैं। आत्मा भगवान् का अंश होने से उनके समस्त उत्तम गुणों से युक्त रहता है। किन्तु जब आत्मा प्रकृति के गुणों से दूषित हो जाता है, तो भौतिक गुणों के अनुसार मनुष्य अच्छा या बुरा माना

जाता है। किन्तु जब मनुष्य समस्त भौतिक गुणों को पार कर जाता है, तो सारे उत्तम गुण प्रकट होते हैं। भक्तों के ऐसे छब्बीस गुण इस प्रकार हैं—(१) प्रत्येक के प्रति दयालु, (२) किसी से भी न झगड़ना, (३) परम सत्य में स्थिर रहना, (४) सबों के प्रति समता, (५) दोषहीन, (६) दानशील, (७) मृदु, (८) स्वच्छ, (९) सरल, (१०) परोपकारी, (११) शान्त, (१२) कृष्ण में पूर्ण रूप से आसक्त, (१३) अहंकारविहीन, (१४) विनयसम्पन्न, (१५) स्थिर, (१६) आत्म-संयमी (१७) मिताहारी, (१८) विवेकी, (१९) पूज्य, (२०) विनीत, (२१) गम्भीर, (२२) दयालु, (२३) मैत्रीयुक्त, (२४) कवित्वमय, (२५) पटु तथा (२६) मौन। भगवान् जीवात्माओं में इन दिव्य गुणों के विकसित होने से प्रसन्न होते हैं, कृत्रिम रूप से यज्ञ करने तथा योग साधन से नहीं। दूसरे शब्दों में, जब तक कोई शुद्ध भक्त बनने के लायक नहीं होता, उसे भवबंधन से मुक्ति पाने की आशा नहीं करनी चाहिए।

मैत्रेय उवाच
स इत्थं लोकगुरुणा विष्वक्सेनेन विश्वजित् ।
अनुशासित आदेशं शिरसा जगृहे हरेः ॥ १७॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; सः—उसने; इत्थम्—इस प्रकार; लोक-गुरुणा—समस्त लोकों के परम स्वामी द्वारा; विष्वक्सेनेन—भगवान् द्वारा; विश्व-जित्—विश्व पर विजय करने वाला (महाराज पृथु); अनुशासितः—आदेश दिया गया; आदेशम्—आदेश, आज्ञा; शिरसा—सिर से; जगृहे—स्वीकार किया; हरेः—भगवान् का।

महान् संत मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, इस प्रकार समस्त विश्व के जीतने वाले महाराज पृथु ने भगवान् के आदेशों को शिरोधार्य किया।

तात्पर्य : मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के चरणकमलों में नतमस्तक होकर उनके आदेशों को स्वीकार करे। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् द्वारा कही गई हर बात को उसी रूप में अत्यन्त ध्यानपूर्वक तथा सम्मान के साथ स्वीकार किया जाए। भगवान् के वचनों में किसी प्रकार का संशोधन या परिवर्धन हमारा कार्य नहीं, जैसाकि आजकल के अनेक तथाकथित विद्वान् तथा स्वामी जो *भगवद्गीता* के वचनों पर अपनी टीका करते हैं वे ऐसा करने लगे हैं। यहाँ पर महाराज पृथु द्वारा उदाहरण प्रस्तुत किया गया है कि किस प्रकार भगवान् के आदेश को स्वीकार किया जाये। परम्परा-प्रणाली से ज्ञान प्राप्त करने की यही विधि है।

स्पृशन्तं पादयो: प्रेम्णा व्रीडितं स्वेन कर्मणा ।
शतक्रतुं परिष्वज्य विद्वेषं विससर्ज ह ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

स्पृशन्तम्—स्पर्श करते हुए; पादयो:—पाँवों का; प्रेम्णा—हर्षातिरेकवश; व्रीडितम्—लज्जित; स्वेन—अपने ही; कर्मणा—कार्यों से; शत-क्रतुम्—राजा इन्द्र को; परिष्वज्य—हृदय से लगाकर; विद्वेषम्—ईर्ष्या; विससर्ज—त्याग दिया; ह—निस्सन्देह ।

राजा इन्द्र जो सामने खड़ा था, अपने कार्यों से अत्यन्त लज्जित हुआ और राजा पृथु के चरणकमलों का स्पर्श पाने के लिए उनके समक्ष गिर पड़ा। किन्तु पृथु महाराज ने अत्यन्त हर्षातिरेक में उसे तुरन्त हृदय से लगा लिया और यज्ञ के अश्व को चुराने के कारण उत्पन्न समस्त ईर्ष्या त्याग दी।

तात्पर्य : ऐसी अनेक घटनाएँ हैं, जब मनुष्य किसी वैष्णव के चरणकमलों के प्रति अपराध कर देता है और बाद में पछताता है। यहाँ पर भी हम देखते हैं कि यद्यपि स्वर्ग का राजा इन्द्र इतना शक्तिशाली था कि भगवान् विष्णु के साथ में था, किन्तु उसने अपने को महाराज पृथु के यज्ञ के घोड़े को चुराने के लिए अपराधी अनुभव किया। वैष्णव के चरणकमलों पर अपराध करने वाले को भगवान् कभी क्षमा नहीं करते। इसके अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। परम योगी तथा महामुनि दुर्वासा ने अम्बरीष महाराज का अपमान किया, तो उन्हें अम्बरीष महाराज के चरणकमलों पर गिरना पड़ा।

इन्द्र ने राजा पृथु के चरणकमलों पर गिरने का विचार किया, किन्तु राजा इतना उदार वैष्णव था कि महाराज इन्द्र को अपने चरणों पर गिरने नहीं देना चाहता था, अपितु उसने तुरन्त उन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया। वे दोनों ही एक दूसरे पर क्रुद्ध थे और ईर्ष्यालु थे; किन्तु दोनों ही वैष्णव थे, अत: उन्हें अपनी ईर्ष्या के कारण को समंजित करना पड़ा। वैष्णवों के मध्य सहयोगी आचरण का यह सर्वोत्तम उदाहरण है। किन्तु आजकल लोग वैष्णव न होने के कारण आपस में निरन्तर झगड़ते रहते हैं और मानव जीवन का लक्ष्य पूरा किये बिना मृत्यु प्राप्त करते हैं। संसार में कृष्णभावनामृत आन्दोलन को प्रसारित करने की नितान्त आवश्यकता है, क्योंकि भले ही लोग कभी-कभी एक दूसरे पर रुष्ट तथा मनोमालिन्यपूर्ण रहें, किन्तु कृष्णभावनाभावित होने से ऐसी प्रतियोगिता, स्पर्धा तथा ईर्ष्या को बिना कठिनाई के समंजित किया जा सकता है।

भगवानथ विश्वात्मा पृथुनोपहृतार्हणः ।
समुज्जिहानया भक्त्या गृहीतचरणाम्बुजः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; अथ—तदनन्तर; विश्व-आत्मा—परमात्मा; पृथुना—राजा पृथु द्वारा; उपहृत—प्रदत्त; अर्हणः—पूजा की सारी सामग्री; समुज्जिहानया—क्रमशः वर्द्धित; भक्त्या—जिसकी भक्ति; गृहीत—पकड़ा हुआ; चरण-अम्बुजः—चरणकमल।

राजा पृथु ने अपने ऊपर कृपालु भगवान् के चरण-कमलों की प्रभूत पूजा की। इस प्रकार भगवान् के चरणकमलों की आराधना करते हुए भक्ति में महाराज पृथु का आनन्द क्रमशः बढ़ता गया।

तात्पर्य : जब भक्त के शरीर में विविध प्रकार का भावातिरेक प्रकट हो तो समझना चाहिए कि भक्ति पूर्णता को प्राप्त हो चुकी है। दिव्य आनन्द के कई प्रकार हैं, यथा रोना, हँसना, गिरना, प्रमत्त के सदृश चिल्लाना इत्यादि ये सारे लक्षण कभी-कभी भक्त के शरीर में दिखते हैं। ये *अष्ट-सात्त्विक* विकार कहलाते हैं, जिनका अर्थ है आठ प्रकार के दिव्य रूपान्तर इनका अनुकरण नहीं किया जा सकता, किन्तु जब भक्त सचमुच सिद्ध हो जाता है, तो ये सारे लक्षण उसके शरीर में दृष्टिगोचर होने लगते हैं। भगवान् तो भक्तवत्सल हैं, अर्थात् वे अपने विशुद्ध भक्त के प्रति स्नेह रखते हैं। अतः भक्त तथा भगवान् के बीच जो दिव्य आनन्दमय आदान-प्रदान होता है, वह इस जगत के कार्य-कलापों की तरह नहीं होता।

प्रस्थानाभिमुखोऽप्येनमनुग्रहविलम्बितः ।
पश्यन्पद्मपलाशाक्षो न प्रतस्थे सुहृत्सताम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

प्रस्थान—जाने के लिए; अभिमुखः—उद्यत; अपि—यद्यपि; एनम्—उसको (पृथु को); अनुग्रह—दया से; विलम्बितः—रोक लिया गया; पश्यन्—देखते हुए; पद्म-पलाश-अक्षः—जिसके नेत्र कमल की पंखुड़ियों के समान हैं; न—नहीं; प्रतस्थे—प्रस्थान किया; सुहृत्—शुभेच्छु; सताम्—भक्तों का।

भगवान् प्रस्थान करने ही वाले थे, किन्तु वे राजा पृथु के व्यवहार के प्रति इतने वत्सल हो चले थे कि वे गये नहीं। अपने कमलनेत्रों से महाराज पृथु के आचरण को देखकर वे रुक गये, क्योंकि वे सदा ही अपने भक्तों के हितैषी हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर *सुहृत्सताम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भगवान् अपने भक्त पर सदैव वत्सल रहते हैं और सदैव उसके हित के लिए सोचते रहते हैं। यह पक्षपात नहीं है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भगवान् सबों के लिए समान हैं (*समोऽहं सर्वभूतेषु*), किन्तु जो उनकी सेवा करता है वे

उसके प्रति विशेष वत्सल रहते हैं किसी दूसरे स्थान पर, भगवान् कहते हैं कि भक्त सदैव उनके हृदय में वास करता है और वे भी सदैव भक्त के हृदय में वास करते हैं।

अपने विशुद्ध भक्त के प्रति भगवान् की यह वत्सलता न तो अस्वाभाविक है और न किसी प्रकार का पक्षपात है। उदाहरणार्थ, पिता अपने अनेक पुत्रों के होते हुए भी कभी-कभी उस एक पुत्र के प्रति विशेष स्नेह रखता है, जो उसके प्रति झुकाव रखता है। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* (१०.१०) में की गई है :

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

जो लोग प्रेम तथा स्नेह से भगवान् की भक्ति में निरन्तर लगे रहते हैं, वे प्रत्येक हृदय में स्थित परमात्मा रूप भगवान् के प्रत्यक्ष सम्पर्क में रहते हैं। भगवान् भक्त से दूर नहीं हैं। वे प्रत्येक हृदय में विद्यमान हैं, किन्तु केवल भक्त ही उनके अस्तित्व को जान सकता है और प्रत्यक्ष सम्पर्क में होने से वह किसी भी क्षण भगवान् से आदेश प्राप्त करता है। अत: भक्त द्वारा न तो त्रुटि करने का कोई अवसर आता है और न भगवान् की ओर से अपने शुद्ध भक्तों का कोई पक्षपात किया जाता है।

स आदिराजो रचिताञ्जलिर्हरिं
विलोकितुं नाशकदश्रुलोचनः ।
न किञ्चनोवाच स बाष्पविक्लवो
हृदोपगुह्यामुमधादवस्थितः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; आदि-राजः—आदि राजा; रचित-अञ्जलिः—हाथ जोड़े हुए; हरिम्—भगवान् को; विलोकितुम्—देखने के लिए; न—नहीं; अशकत्—समर्थ था; अश्रु-लोचनः—अश्रुपूरित नेत्र; न—नहीं; किञ्चन—कुछ भी; उवाच—कहा; सः—उसने; बाष्प-विक्लवः—वाणी रुद्ध होने से, गद्गद् कण्ठ से; हृदा—अपने हृदय से; उपगुह्य—आलिंगन करके; अमुम्—भगवान् को; अधात्—रहता रहा; अवस्थितः—खड़ा।

नेत्रों में अश्रु भर आने तथा वाणी रुद्ध हो जाने आदि से राजा महाराज पृथु न तो ठीक से भगवान् को देख सके और न भगवान् को सम्बोधित करके कुछ बोल सके। उन्होंने केवल अपने हृदय के भीतर भगवान् का आलिंगन किया और हाथ जोड़े हुए उसी तरह खड़े रहे।

तात्पर्य : जिस प्रकार *ब्रह्म-संहिता* में कृष्ण को *आदि-पुरुष* कहा गया है उसी प्रकार इस श्लोक में राजा पृथु को, भगवान् का शक्त्यावेश अवतार होने के कारण, *आदि राजः* कहा गया है। महान् भक्त

होने के साथ ही वे परम वीर थे जिसने अपने राज्य के समस्त दुष्टों पर विजय पा ली थी। वे लड़ने में स्वर्ग के राजा इन्द्र के समान पराक्रमी थे। उन्होंने अपनी प्रजा को सुरक्षा प्रदान की और उन्हें पुण्यकार्यों तथा भगवान् की भक्ति में लगाये रखा। उन्होंने सभी प्रकार की विपत्तियों में प्रजा को शरण प्रदान किये बिना एक पाई भी कर के रूप में वसूल नहीं की। जीवन की सबसे बड़ी विपत्ति है ईश्वरविहीन होना और इस प्रकार पापी बन जाना। यदि राज्य का प्रधान या राजा प्रजा को अवैध मैथुन, मांसाहार, मादक द्रव्य-सेवन तथा द्यूतक्रीड़ा की छूट देता है, तो राजा उसके लिए उत्तरदायी होता है और उसे प्रजा के पापों का फल भोगना पड़ता है, क्योंकि वह प्रजा से वृथा कर वसूल करता है। शासक के लिए ये इतने सारे नियम हैं और चूँकि राजा पृथु ने इन सभी नियमों का पालन किया, इसलिए उन्हें *आदि राज:* कहा गया है।

महाराज पृथु जैसा उत्तरदायी राजा प्रथम कोटि का शुद्ध भक्त भी हो सकता है। राजा पृथु के आचरण में हम स्पष्ट देखते हैं कि किस प्रकार वे भीतर तथा बाहर से शुद्ध भक्ति में भावविभोर हो गए थे।

आज ही हमने बम्बई के समाचार पत्र में पढ़ा है कि सरकार मद्य-निषेध कानून को वापस लेने जा रही है। गांधीजी के असहयोग आन्दोलन के समय से ही बम्बई में मद्यपान की छूट नहीं थी। किन्तु दुर्भाग्यवश नागरिक इतने चालाक हैं कि उन्होंने अवैध शराब बनाना बढ़ा दिया है और शराब दुकानों में खुले रूप में न बिक कर, शौचालयों तथा अन्य ऐसे ही कुत्सित स्थानों में बिकती है। इस प्रकार की तस्करी को न रोक पाने के कारण सरकार ने सस्ते मूल्य पर शराब की पूर्ति करने का निश्चय किया है, जिससे लोग शौचालयों की अपेक्षा सरकार से शराब खरीदें। सरकार नागरिकों के पापपूर्ण जीवन को बदल पाने में असफल रही है, अत: राजकोष को भरने के लिए और कर की क्षति न हो, इस उद्देश्य से सरकार ने जनता के लिए कम मूल्य पर शराब बनाने का निश्चय किया है।

इस प्रकार की सरकार पापमय जीवन के फलों को अर्थात् युद्ध, अकाल, भूकम्प तथा अन्य विपदाओं को रोक नहीं सकती। प्रकृति का नियम है कि जब ईश्वर के नियम में त्रुटियाँ होने लगती हैं (जिसे *भगवद्गीता* में *धर्मस्य ग्लानि:* कहा गया है), तो उस समय युद्ध के अचानक छिड़ जाने के रूप में कठोर दण्ड मिलता है। हमने हाल ही में भारत तथा पाकिस्तान के बीच छिड़े युद्ध को अपनी आँखों

देखा है। एक पखवाड़े के भीतर ही जन तथा धन की अपार क्षति हुई और सम्पूर्ण संसार में हलचल मच गई थी। पापमय जीवन के यही परिणाम हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का उद्देश्य लोगों को शुद्ध और पूर्ण बनाना है। यदि हम कृष्णचेतना के फलस्वरूप आंशिक रूप में भी शुद्ध हो सकें, जैसाकि *भागवत* में कहा गया है (*नष्टप्रायेष्वभद्रेषु*) तो कामवासना, लालच, भव रोग कम हो जाँय। यह *श्रीमद्भागवत* अथवा कृष्णचेतना के सन्देश को प्रसारित करने से ही सम्भव है। बड़े-बड़े औद्योगिक और व्यापारिक प्रतिष्ठानों ने सुरक्षा कोष में हजारों रुपये दिये हैं, जो बारूद के रूप में धन को भस्म कर रहा है, किन्तु इसे दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि यदि उनसे कृष्णभावनामृत आन्दोलन की प्रगति के लिए धन माँगा जाता है, तो वे आनाकानी करते हैं। ऐसी परिस्थितियों में संसार में समय-समय पर उथल-पुथल तथा युद्ध आरम्भ होते रहेंगे, जो कृष्णभावनाभावित न होने का परिणाम है।

अथावमृज्याश्रुकला विलोकयन्-
नतृप्तदृग्गोचरमाह पूरुषम् ।
पदा स्पृशन्तं क्षितिमंस उन्नते
विन्यस्तहस्ताग्रमुरङ्गविद्विषः ॥ २२॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; अवमृज्य—पोंछ कर; अश्रु-कलाः—अपने नेत्रों के अश्रु; विलोकयन्—देखते हुए; अतृप्त—असंतुष्ट; दृक्-गोचरम्—आँखों को दिखाई पड़ने वाला; आह—कहा; पूरुषम्—भगवान् को; पदा—अपने चरणकमलों से; स्पृशन्तम्—स्पर्श करते हुए; क्षितिम्—पृथ्वी; अंसे—कंधे पर; उन्नते—उठा हुआ; विन्यस्त—बिखरा; हस्त—हाथ का; अग्रम्—अगला भाग; उरङ्ग-विद्विषः—सर्पों के शत्रु, गरुड़ का।

भगवान् अपने चरण-कमलों से पृथ्वी को स्पर्श करते हुए खड़े थे और उनके हाथ का अगला भाग सर्पों के शत्रु गरुड़ के उन्नत कंधे पर था। महाराज पृथु नेत्रों से अश्रु पोंछते हुए भगवान् को देखने का प्रयास कर रहे थे, किन्तु ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो राजा उन्हें देखकर अघा नहीं रहा था। इस प्रकार राजा ने निम्नलिखित स्तुतियाँ अर्पिथ कीं।

तात्पर्य : इस श्लोक में उल्लेखनीय बात यह है कि भगवान् पृथ्वी के ऊपर इसका स्पर्श-सा करते हुए खड़े थे। ब्रह्मलोक से लेकर स्वर्गलोक तक के उच्चलोकों के वासी आध्यात्मिक जीवन में इतने आगे बढ़े हुए हैं कि जब भी वे इस लोक में या अन्य अधोलोकों में आते हैं, तो वे भारहीनता अपनाए रहते हैं जिसका अर्थ है कि वे पृथ्वी का स्पर्श किये बिना खड़े रह सकते हैं। भगवान् विष्णु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, किन्तु इस ब्रह्माण्ड के किसी एक लोक में निवास करने के कारण वे इसके

किसी देवता की भाँति आचरण करते हैं। जब वे पृथु महाराज के समक्ष प्रथम बार प्रकट हुए तो वे पृथ्वी का स्पर्श नहीं कर रहे थे, किन्तु जब वे महाराज पृथु के आचरण से सन्तुष्ट हो गये तो वैकुण्ठवासी नारायण की भाँति व्यवहार करने लगे। पृथु के स्नेह में आकर उन्होंने पृथ्वी का स्पर्श किया, किन्तु उन्होंने अपने हाथ के अगले भाग को गरुड़ के उन्नत कंधे पर रखा जिससे वे गिर न पड़े, क्योंकि भगवान् को पृथ्वी पर खड़े रहने का अभ्यास नहीं है। ये सभी महाराज पृथु के प्रति उनकी वत्सलता के लक्षण हैं। अपने को परम भाग्यशाली मानकर पृथु महाराज हर्षातिरेक के कारण भगवान् को ठीक से देख नहीं पाये, फिर भी उन्होंने रुद्ध वाणी से उनकी स्तुति करनी प्रारम्भ की।

पृथुरुवाच
वरान्विभो त्वद्वरदेश्वराद्बुधः
कथं वृणीते गुणविक्रियात्मनाम् ।
ये नारकाणामपि सन्ति देहिनां
तानीश कैवल्यपते वृणे न च ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

पृथुः उवाच—पृथु महाराज ने कहा; वरान्—आशीर्वाद, वर; विभो—हे परमेश्वर; त्वत्—तुमसे; वर-द-ईश्वरात्—भगवान् से, जो वर देने वालों में अग्रणी हैं; बुधः—बुद्धिमान पुरुष; कथम्—कैसे; वृणीते—याचना कर सकता है; गुण-विक्रिया—प्रकृति के गुणों से मोहग्रस्त; आत्मनाम्—जीवात्माओं का; ये—जो; नारकाणाम्—नरकवासी जीवात्माओं का; अपि—भी; सन्ति—हैं; देहिनाम्—देहधारियों का; तान्—वे सब; ईश—हे ईश्वर; कैवल्य-पते—तादात्म्य के दाता; वृणे—याचना करता हूँ; न—नहीं; च—भी।

हे प्रभो, आप वर देने वाले देवों में सर्वश्रेष्ठ हैं। अतः कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति आपसे ऐसे वर क्यों माँगेगा जो प्रकृति के गुणों से मोहग्रस्त जीवात्माओं के निमित्त हैं? ऐसे वरदान तो नरक में वास करने वाली जीवात्माओं को भी अपने जीवन-काल में स्वतः प्राप्त होते रहते हैं। हे भगवन्, आप निश्चित ही अपने साथ तादात्म्य प्रदान कर सकते हैं, किन्तु मैं ऐसा वर नहीं चाहता।

तात्पर्य : मनुष्य की याचना के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के वर होते हैं। कर्मियों के लिए श्रेष्ठ वर उच्चलोकों की प्राप्ति है, जहाँ जीवन-काल दीर्घ है और जीवन तथा सुख का स्तर अधिक ऊँचा है। अन्य लोग, यथा ज्ञानी तथा योगी भगवान् में तादात्म्य के इच्छुक रहते हैं। यह *कैवल्य* है। इसीलिए भगवान् को *कैवल्यपति* कहा गया है। किन्तु भक्तों को भगवान् से एक भिन्न प्रकार का वर प्राप्त होता है। वे न ही स्वर्ग की चिन्ता करते हैं और न ही भगवान् में तादात्म्य चाहते हैं। भक्तों के अनुसार

कैवल्य और भगवान् में तादात्म्य तथा नरक में कोई अन्तर नहीं होता। इस प्रकार जगत का प्रत्येक प्राणी नारक कहलाता है, क्योंकि यह संसार स्वयं नारकीय होता है। महाराज पृथु ने कहा कि उन्हें न तो कर्मियों द्वारा अभीप्सित वर की कामना है, न ज्ञानियों तथा योगियों द्वारा अभीप्सित वरों की। भगवान् चैतन्य के परम भक्त श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती प्रभु ने कहा है कि *कैवल्य* नारकीय जीवन से श्रेष्ठ नहीं होता और जहाँ तक स्वर्गलोक के आनन्दों की बात है, वे मायाजाल के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। भक्त इनकी इच्छा नहीं रखते। भक्तों को तो श्रीब्रह्मा या श्रीशिव द्वारा ग्रहण किये गये पदों की भी कोई परवाह नहीं रहती, न ही वे भगवान् विष्णु की समता करना चाहते हैं। भगवान् के शुद्ध भक्त होने के नाते पृथु महाराज ने अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी।

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्-
न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः ।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो
विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः ॥ २४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; कामये—इच्छा करता हूँ; नाथ—हे स्वामी; तत्—वह; अपि—भी; अहम्—मैं; क्वचित्—किसी भी समय; न—नहीं; यत्र—जहाँ; युष्मत्—तुम्हारे; चरण-अम्बुज—चरणकमलों का; आसवः—अमृत; महत्-तम—सबसे बड़े भक्तों के; अन्तः-हृदयात्—अन्तस्तल से; मुख—मुखों से; च्युतः—निकली; विधत्स्व—प्रदान कीजिये; कर्ण—कान; अयुतम्—दस लाख; एषः—यह; मे—मेरा; वरः—वर।

हे भगवान्, मैं आपसे तादात्म्य के वर की इच्छा नहीं करता, क्योंकि इसमें आपके चरण-कमलों का अमृत रस नहीं है। मैं तो दस लाख कान प्राप्त करने का वर माँगता हूँ जिससे मैं आपके शुद्ध भक्तों के मुखारविन्दों से आपके चरण-कमलों की महिमा का गान सुन सकूँ।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में महाराज पृथु ने भगवान् को *कैवल्य-पति* कहकर सम्बोधित किया है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वे *कैवल्य* चाह रहे थे। इसका स्पष्टीकरण इस श्लोक में हुआ है : "हे भगवान्! मैं ऐसा वर नहीं चाहता।" महाराज पृथु भगवान् की महिमा के श्रवण के लिए दस लाख कान चाहते थे। उन्होंने इसका विशेष उल्लेख किया है कि भगवान् की महिमा शुद्ध भक्तों के मुख से निकलनी चाहिए जो अपने अन्तस्तल से बोलते हैं। *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में (१.१.३) में कहा गया है—*शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्*—श्रीशुकदेव गोस्वामी के मुखारविन्द से निस्सृत होने के कारण *श्रीमद्भागवत* और अधिक सुस्वादु बन गया। हम यह सोच सकते हैं कि भगवान् की महिमा तो किसी

के भी मुख से, चाहे भक्त हो या अभक्त, निकल सकती है, किन्तु यहाँ पर विशेष रूप से उल्लिखित है कि भगवान् की महिमा शुद्ध भक्तों के हृदय से निकलनी चाहिए। श्रील सनातन गोस्वामी ने अभक्तों के मुख से भगवद्-महिमा सुनने की पूरी तरह से मनाही की है। *श्रीमद्भागवत* के अनेक व्यावसायिक कथावाचक हैं, जो अत्यन्त आलंकारिक ढंग से कथा कहते हैं, किन्तु शुद्ध भक्त उनके मुख से कथा सुनना पसन्द नहीं करते, क्योंकि ऐसा महिमा-वर्णन मात्र भौतिक ध्वनि का उच्चारण है। किन्तु जब यही महिमा शुद्ध भक्त के मुख से सुनी जाती है, तो भगवान् की महिमा का तुरन्त प्रभाव पड़ता है।

भागवत (३.२५.२५) में आये हुए *सतां प्रसंगान् मम वीर्य संविदः* शब्दों का अर्थ है, जब शुद्ध भक्त भगवान् की महिमा का उच्चारण करता है, तो वह प्रभावशाली होती है। ब्रह्माण्ड में भगवान् के असंख्य भक्त हैं और वे अनन्तकाल से भगवान् की महिमा का वर्णन करते रहे हैं, किन्तु तो भी उसका कोई अन्त नहीं है। इसीलिए पृथु महाराज ने असंख्य कान माँगे जिस प्रकार कि रूप गोस्वामी ने भी भगवान् के गुणगान करने तथा सुनने के लिए लाखों जीभों तथा कानों की याचना की थी। दूसरे शब्दों में, यदि हमारे कान निरन्तर भगवान् की महिमा को सुनने में व्यस्त रहें तो उन्हें उस मायावादी दर्शन को सुनने का अवकाश ही नहीं मिल सकेगा जिसके कारण आध्यात्मिक उन्नति संकट में फँसी है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि यदि कोई मनुष्य मायावादी चिन्तक से भगवान् के कार्य-कलापों के विषय में सुनता है, तो भले ही वह वैदिक साहित्य क्यों न हो, अन्ततः उसका विनाश हो जाता है। ऐसे मायावादी दर्शन को सुनकर आध्यात्मिक जीवन के परम उद्देश्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

स उत्तमश्लोक महन्मुखच्युतो
भवत्पदाम्भोजसुधा कणानिलः ।
स्मृतिं पुनर्विस्मृततत्त्ववर्त्मनां
कुयोगिनां नो वितरत्यलं वरैः ॥ २५॥

शब्दार्थ

सः—वह; उत्तम-श्लोक—चुने हुए श्लोकों से प्रशंसित, हे भगवान्; महत्—महान् भक्तों के; मुख-च्युतः—मुख से निकली; भवत्—आपके; पद-अम्भोज—चरणकमलों से; सुधा—अमृत के; कण—छोट-छोटे खण्ड; अनिलः—सुखकर वायु; स्मृतिम्—स्मरण शक्ति; पुनः—फिर; विस्मृत—भूली हुई; तत्त्व—सत्य के प्रति; वर्त्मनाम्—ऐसे पुरुषों का जिनका पथ; कु-योगिनाम्—जो भक्ति में नहीं लगे, ऐसे पुरुषों का; नः—हम सबों का; वितरति—पुनः देता है; अलम्—वृथा; वरैः—अन्य वर।

हे भगवान्, महान् पुरुष आपका महिमा-गान उत्तम श्लोकों द्वारा करते हैं। आपके चरण-कमलों की प्रशंसा केसर कणों के समान है। जब महापुरुषों के मुखों से निकली दिव्य वाणी

आपके चरण-कमलों की केसर-धूलि की सुगन्ध का वहन करती है, तो विस्मृत जीवात्मा आपसे अपने सम्बन्ध को स्मरण करता है। इस प्रकार भक्त-गण क्रमश: जीवन के वास्तविक मूल्य को समझ पाते हैं। अत: हे भगवान्, मैं आपके शुद्ध भक्त के मुख से आपके विषय में सुनने का अवसर प्राप्त करने के अतिरिक्त किसी अन्य वर की कामना नहीं करता।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में व्याख्या की जा चुकी है कि शुद्ध भक्त के मुख से ही भगवान् की महिमा सुननी चाहिए। इसकी और आगे व्याख्या यहाँ की जा रही है। शुद्ध भक्त की दिव्य वाणी इतनी शक्तिमान होती है कि उसमें जीवात्मा को भगवान् के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध का स्मरण हो आता है। इस जगत में माया के वशीभूत होने से हमने भगवान् के प्रति अपने सम्बन्ध का विस्मरण कर दिया है, जिस प्रकार कि प्रगाढ़ निद्रा में मनुष्य अपने कर्तव्यों को भूल जाता है। वेदों में कहा गया है कि हम सभी माया के प्रभाव के अन्तर्गत सोये हुए हैं। हमें इस नींद से जगना है और सही सेवा में तत्पर होना है, तभी हम इस मनुष्य-जीवन का समुचित लाभ उठा सकते हैं। ठाकुर भक्तिविनोद के एक गीत में आया है कि भगवान् चैतन्य कहते हैं—*जीव जाग, जीव जाग।* भगवान् प्रत्येक सुप्त जीवात्मा को जगने और भक्ति में लगने के लिए कहते हैं जिससे उसके इस जीवन के उद्देश्य की पूर्ति हो सके। यह उद्बोधन शुद्ध भक्त के मुख से निकलता है।

शुद्ध भक्त भगवान् के चरणारविन्द में शरण लेकर सदैव उनकी सेवा करता है, अत: वह भगवान् के चरणकमलों पर बिखरे केसर के कृपा-कणों के निरन्तर सम्पर्क में रहता है। यद्यपि जब शुद्ध भक्त बोलता है, तो उसकी वाणी इस भौतिक आकाश की ध्वनि से मेल खाती है, किन्तु आध्यात्मिक रूप से यह इतनी शक्तिशाली होती है कि यह भगवान् के चरणकमलों पर बिखरी केसर धूलि का स्पर्श करती है। ज्योंही सुप्त जीवात्मा शुद्ध भक्त के मुख से निकली शक्तिशाली वाणी को सुनता है उसे तत्क्षण भगवान् के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध का स्मरण हो आता है, यद्यपि उस क्षण तक वह सब कुछ भूला हुआ था।

अत: बद्धजीव के लिए यह महत्त्वपूर्ण है कि वह शुद्ध भक्त के मुख से श्रवण करे, क्योंकि वह सारी भौतिक इच्छाओं या प्राकृतिक गुणों के कल्मष से रहित होकर भगवान् के चरणों पर पूर्ण रूप से समर्पित रहता है। हम सभी *कुयोगी* हैं, क्योंकि हम भगवान् के प्रति नित्य दास के रूप में अपने

सम्बन्ध को भूलकर भौतिक जगत की सेवा में तल्लीन रहते हैं। हमारा यह कर्तव्य है कि हम *कुयोगी* बने हुए पद से उठकर *सुयोगी* बनें। शुद्ध भक्त से श्रवण विधि की संस्तुति समस्त वैदिक शास्त्रों में की गई है, किन्तु भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने विशेष रूप से इसे कहा है। मनुष्य जिस स्थिति में है, चाहे वह जैसी भी हो, उसी में रहते हुए यदि वह शुद्ध भक्त के मुख से सुनता है, तो धीरे-धीरे वह भगवान् से अपने सम्बन्ध को समझता है और उनकी प्रेमाभक्ति करके जीवन को सफल बनाता है। अत: आध्यात्मिक ज्ञान की दिशा में उन्नति करने के लिए शुद्ध भक्त के मुख से श्रवण की विधि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

यश: शिवं सुश्रव आर्यसङ्गमे
यदृच्छया चोपशृणोति ते सकृत् ।
कथं गुणज्ञो विरमेद्विना पशुं
श्रीर्यत्प्रवव्रे गुणसङ्ग्रहेच्छया ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यशः—कीर्ति; शिवम्—कल्याणकारी, मंगलमय; सु-श्रवः—हे सुकीर्ति वाले भगवान्; आर्य-सङ्गमे—उच्च भक्तों की संगति में; यदृच्छया—जिस-तिस प्रकार, जैसे-तैसे; च—भी; उपशृणोति—सुनता है; ते—तुम्हारा; सकृत्—एक बार भी; कथम्—कैसे; गुण-ज्ञः—उत्तम गुणों की प्रशंसा करने वाला; विरमेत्—रुक सकता है; विना—जब तक; पशुम्—पशु; श्रीः—सम्पत्ति की देवी, लक्ष्मीजी; यत्—जो; प्रवव्रे—स्वीकृत; गुण—आपके गुण; सङ्ग्रह—प्राप्त करने की; इच्छया—इच्छा से।

हे अत्यन्त कीर्तिमय भगवान्, यदि कोई शुद्ध भक्तों की संगति में रहकर आपके कार्यकलापों की कीर्ति का एक बार भी श्रवण करता है, तो जब तक कि वह पशु तुल्य न हो, वह भक्तों की संगति नहीं छोड़ता, क्योंकि कोई भी बुद्धिमान पुरुष ऐसा करने की लापरवाही नहीं करेगा। आपकी महिमा के कीर्तन और श्रवण की पूर्णता तो धन की देवी लक्ष्मी जी द्वारा तक स्वीकार की गई थीं जो आपके अनन्त कार्यकलापों तथा दिव्य महिमा को सुनने की इच्छुक रहती थीं।

तात्पर्य : इस संसार में भक्तों की संगति (*आर्य संगम*) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है। *आर्य* शब्द का अर्थ है आध्यात्मिक दृष्टि से प्रगतिशील। मानव जाति के इतिहास में आर्य कुल को विश्व की अत्यन्त उन्नत जाति माना जाता है, क्योंकि उसने वैदिक सभ्यता ग्रहण की होती है। आर्य कुल सारे संसार में फैला हुआ है और भारतीय-आर्य कहलाता है। पुरा इतिहास काल में आर्य कुल के सभी सदस्य वैदिक नियमों का पालन करते थे जिसके कारण वे आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नति कर सके। राजा राजर्षि

कहलाते थे, तो इस प्रकार से क्षत्रिय के रूप में अथवा जनता के रक्षकों की भाँति शिक्षित होते थे और आध्यात्मिक जीवन में इतने उन्नत थे कि नागरिकों को कोई कष्ट नहीं होता था।

आर्य कुल द्वारा भगवान् के कीर्तिमान की अत्यधिक बड़ाई की जाती है। यद्यपि अन्यों के लिए कोई प्रतिबंध नहीं है, किन्तु आर्य वंश आध्यात्मिक जीवन के सार को जल्दी ग्रहण कर सकता है। तो फिर यूरोपियों तथा अमरीकियों में कृष्णचेतना को इतनी सरलता से क्यों फैलाया जा रहा है? इतिहास बताता है कि जब ये उपनिवेशवाद फैलाना चाह रहे थे तो इन्होंने अपना जौहर दिखाया, किन्तु आजकल भौतिक विज्ञान की उन्नति के कारण दूषित होने से उनके लड़के तथा नाती–पोते दुराचारी बन रहे हैं। इसका कारण है कि वे अपनी आदि आध्यात्मिक संस्कृति, जो कि वैदिक सभ्यता है, भूलते जा रहे हैं। इस समय आर्य कुल के ये वंशज कृष्णभावनामृत आन्दोलन को अत्यन्त गम्भीरता से अपना रहे हैं। अन्य लोग भी, जो शुद्ध भक्तों के मुख से हरे कृष्ण महामंत्र का जप सुनते तथा उनकी संगति करते हैं, दिव्य उच्चारण से मंत्रमुग्ध हो जाते हैं। ये दिव्य उच्चारण यदि आर्यों द्वारा किये जाते हैं, तो अत्यन्त प्रभावशाली होते हैं, किन्तु भले ही कोई आर्यकुल का न हो, वह महामंत्र को केवल सुनकर वैष्णव हो जाता है, क्योंकि उच्चारण का प्रत्येक व्यक्ति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

महाराज पृथु इंगित करते हैं कि भगवान् नारायण की सतत संगिनी लक्ष्मीजी भगवान् की महिमा को विशेष रूप से सुनने की इच्छुक रहती थीं और उन्होंने शुद्ध भक्त गोपियों की संगति के लिए कठिन तपस्या की थी। मायावादी चिन्तक पूछ सकता है कि हरे कृष्ण महामंत्र का वर्षों तक निरन्तर जप क्यों किया जाये, क्यों न रुककर *कैवल्य* या *मोक्ष* या तादात्म्य का प्रयत्न किया जाय? इसके उत्तर में महाराज पृथु का दृढ़तापूर्वक कथन है कि इस जप का आकर्षण इतना अधिक होता है कि कोई पशु ही इस विधि को त्याग सकता है। यदि कोई संयोगवश भी इस दिव्य ध्वनि के सम्पर्क में आता है, तो भी ऐसा होता है। इस सम्बन्ध में पृथु महाराज अत्यन्त दृढ़ हैं—केवल पशु ही हरे कृष्ण जप का त्याग कर सकता है। जो पशु नहीं हैं वरन् वास्तव में बुद्धिमान, उन्नत, मानवीय, सभ्य पुरुष हैं, वे हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे महामंत्र का जप त्याग नहीं सकते।

अथाभजे त्वाखिलपूरुषोत्तमं

गुणालयं पद्मकरेव लालसः ।
अप्यावयोरेकपतिस्पृधोः कलि-
र्न स्यात्कृतत्वच्चरणैकतानयोः ॥ २७॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; आभजे—मैं भक्ति करूँगा; त्वा—तुम्हारे प्रति; अखिल—समस्त; पूरुष-उत्तमम्—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्; गुण-आलयम्—समस्त दिव्य गुणों के आगार; पद्म-करा—कमल धारण करने वाली लक्ष्मीजी; इव—सदृश; लालसः—इच्छुक; अपि—निस्सन्देह; आवयोः—लक्ष्मी का तथा मेरा; एक-पति—एक स्वामी, पतिव्रता; स्पृधोः—स्पर्धा करते हुए; कलिः—झगड़ा; न—नहीं; स्यात्—हो सकता है; कृत—किया हुआ; त्वत्-चरण—आपके चरणकमलों के प्रति; एक-तानयोः—एकाग्रता।

अब मैं भगवान् के चरणकमलों की सेवा में संलग्न रहना और कमलधारिणी लक्ष्मीजी के समान सेवा करना चाहता हूँ, क्योंकि भगवान् समस्त दिव्य गुणों के आगार हैं। मुझे भय है कि लक्ष्मीजी तथा मेरे बीच झगड़ा छिड़ जाएगा, क्योंकि हम दोनों एक ही सेवा में एकाग्र भाव से लगे होंगे।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् को *अखिल पुरुषोत्तम* कहकर सम्बोधित किया गया है। *पुरुष* का अर्थ "भोक्ता" है और *उत्तम* का अर्थ "सर्वश्रेष्ठ।" संसार में अनेक प्रकार के भोक्ता हैं। सामान्य रूप से इन्हें तीन वर्गों में रखा जाता है—बद्ध, मुक्त तथा शाश्वत। वेदों में परमेश्वर को शाश्वतों का परम शाश्वत कहा गया है (*नित्यो नित्यानाम्*)। परमेश्वर तथा जीवात्मा दोनों ही नित्य हैं। परम नित्यों को *विष्णु तत्त्व* अर्थात् भगवान् विष्णु तथा उनके अंश कहा जाता है। अतः *नित्य* से भगवान् का, कृष्ण से लेकर महाविष्णु, नारायण तथा श्रीकृष्ण के अन्य विस्तारों का बोध होता है। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है, (*रामादि मूर्तिषु*) भगवान् विष्णु के लाखों करोड़ों विस्तार हैं, जो राम, नृसिंह, वराह तथा अन्य अवतारों के रूप में हैं। वे सभी नित्य कहलाते हैं।

मुक्त शब्द से उन जीवात्माओं का बोध होता है, जो इस भौतिक संसार में कभी नहीं आते। बद्धजीव वे हैं, जो इस संसार में प्रायः शाश्वत रूप से रह रहे हैं। ये बद्धजीव भौतिक संसार में प्रकृति के तीन तापों से मुक्त होने और जीवन का आनन्द उठाने के लिए अत्यधिक संघर्ष करते रहते हैं, जबकि मुक्त पहले से ही मुक्त हुए रहते हैं। वे कभी इस भौतिक जगत में नहीं आते। भगवान् विष्णु इस भौतिक जगत के स्वामी हैं, अतः प्रकृति द्वारा उनके नियंत्रित होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। फलतः भगवान् विष्णु को यहाँ पर *पुरुषोत्तम* अर्थात् *विष्णु तत्त्वों* तथा *जीव तत्त्वों* में सर्वश्रेष्ठ कहकर सम्बोधित किया गया है। अतः भगवान् विष्णु से *जीव तत्त्व* की तुलना या समता करना एक प्रकार का

अपराध है। मायावादी चिन्तक जीव तथा परमेश्वर को समान और एक मानते हैं, किन्तु भगवान् विष्णु के चरणकमलों के प्रति यह सबसे बड़ा अपराध है।

भौतिक जगत में हमारा व्यावहारिक अनुभव है कि निम्न वर्ग के पुरुष द्वारा श्रेष्ठ व्यक्ति की पूजा होती है। इसी प्रकार *पुरुषोत्तम* अर्थात् सबसे महान्, भगवान् कृष्ण या विष्णु की पूजा अन्यों द्वारा की जाती है। इसीलिए पृथु महाराज ने निश्चय किया कि वे भगवान् विष्णु के चरणकमलों की सेवा में लगे रहेंगे। पृथु महाराज को विष्णु का अवतार माना जाता है, किन्तु हैं, वे शक्त्यावेश अवतार कहलाते हैं। इस श्लोक का अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द *गुणालयम्* है, जो विष्णु को समस्त दिव्य गुणों के आगार रूप में बताता है। मायावादी चिन्तक परम सत्य की दृष्टि से *निर्गुण*—गुणों से हीन—मानते हैं, किन्तु वास्तव में वे उत्तम गुणों के आगार हैं। भगवान् का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गुण है भक्तों के प्रति वत्सल-भाव, जिसके कारण वे *भक्त-वत्सल* कहलाते हैं। भक्त सदा भगवान् के चरणों की सेवा करना चाहते हैं और भगवान् भी अपने भक्तों की प्रेमा-भक्ति स्वीकार करने के लिए उद्यत रहते हैं। इस सेवा-विनिमय में अनेक दिव्य कार्य होते हैं, जिन्हें दिव्य गुणात्मक कार्य कहते हैं। भगवान् के कुछ दिव्य गुण इस प्रकार हैं, वे सर्वज्ञाता हैं, सर्वत्र विद्यमान हैं, सर्वव्यापी हैं, सर्वशक्तिमान हैं, सब कारणों के कारण हैं, परम सत्य हैं, समस्त सुखों के आगार हैं, समस्त ज्ञान के सागर हैं, सर्वकल्याणकारी, इत्यादि हैं।

पृथु महाराज की इच्छा थी कि लक्ष्मीजी के साथ वे भी भगवान् की सेवा करें, किन्तु उनकी इस इच्छा का यह अर्थ नहीं होता कि वे *माधुर्यभाव* को प्राप्त थे। लक्ष्मीजी भगवान् की सेवा *माधुर्यभाव* से कर रही हैं। यद्यपि लक्ष्मीजी का स्थान भगवान् का वक्षस्थल है, किन्तु भक्त के रूप में वे भगवान् के चरणकमलों की सेवा करने में सुख मानती हैं। पृथु महाराज केवल भगवान् के चरणकमलों का ही ध्यान कर रहे थे, क्योंकि वे *दास्यभाव* के पद पर स्थित हैं। अगले श्लोक में बताया गया है कि पृथु महाराज लक्ष्मीजी को जगन्माता के रूप में देख रहे थे। फलतः *माधुर्यभाव* के पद पर उनके साथ उनके स्पर्धा करने का प्रश्न नहीं उठता। तो भी उन्हें भय था कि लक्ष्मी कहीं उन्हें भगवान् की सेवा में लगा देखकर इसे अपमान न समझ लें। इससे यह पता चलता है कि परम जगत में कभी-कभी भगवान् के दासों के बीच स्पर्धा चलती है, किन्तु वह द्वेषरहित होती है। यदि वैकुण्ठलोकों में कोई भक्त भगवान् की सेवा में आगे बढ़ जाता है, तो उसकी श्रेष्ठ सेवा से कोई ईर्ष्या नहीं करता, वरन् उस तक स्वयं

पहुँचने की आकांक्षा करता है।

जगज्जनन्यां जगदीश वैशसं
स्यादेव यत्कर्मणि नः समीहितम् ।
करोषि फल्ग्वप्युरु दीनवत्सलः
स्व एव धिष्ण्येऽभिरतस्य किं तया ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

जगत्-जनन्याम्—विश्व की माता (लक्ष्मी) में; जगत्-ईश—हे विश्व के स्वामी; वैशसम्—क्रोध; स्यात्—हो सकता है; एव—निश्चय ही; यत्-कर्मणि—जिसके कार्य में; नः—मेरा; समीहितम्—आकांक्षा; करोषि—विचार करते हो; फल्गु—तुच्छ सेवा; अपि—यद्यपि; उरु—अत्यधिक; दीन-वत्सलः—दीनों के प्रति स्नेह करने वाले; स्वे—अपने; एव—निश्चय ही; धिष्ण्ये—तुम्हारे ऐश्वर्य में; अभिरतस्य—परम सन्तुष्ट का; किम्—क्या आवश्यकता; तया—उसके साथ।

हे जगदीश्वर, लक्ष्मीजी विश्व की माता हैं, तो भी मैं सोचता हूँ कि उनकी सेवा में हस्तक्षेप करने तथा उसी पद पर जिसके प्रति वे इतनी आसक्त हैं कार्य करने से, वे मुझसे क्रुद्ध हो सकती हैं। फिर भी मुझे आशा है कि इस भ्रम के होते हुए भी आप मेरा पक्ष लेंगे, क्योंकि आप दीनवत्सल हैं और भक्त की तुच्छ सेवाओं को भी बहुत करके मानते हैं। अतः यदि वे रुष्ट भी हो जाँय तो आपको कोई हानि नहीं होगी, क्योंकि आप आत्मनिर्भर हैं, अतः उनके बिना भी आपका काम चल सकता है।

तात्पर्य : माता लक्ष्मीजी भगवान् नारायण की नितान्त चरण-सेवा के लिए विख्यात हैं। वे आदर्श पत्नी हैं, क्योंकि वे हर प्रकार से भगवान् नारायण का ध्यान रखती हैं। वे न केवल उनके चरणकमलों का ध्यान रखती हैं, वरन् घर का सारा कार्य भी करती हैं—सुस्वादु भोजन पकाती हैं, भगवान् के भोजन के समय पंखा झलती हैं, उनके मुख पर चन्दन लेप करतीं तथा उनकी शय्या तथा आसन को व्यवस्थित करती हैं। इस प्रकार वे भगवान् की सेवा में निरन्तर लगी रहती हैं, जिसके कारण अन्य किसी भक्त को भगवान् के नित्य-कर्मों में हस्तक्षेप करने का अवसर ही नहीं प्राप्त हो पाता। अतः पृथु महाराज को लगभग विश्वास था कि लक्ष्मीजी की सेवा में हस्तक्षेप होने से वे चिढ़कर उन पर रुष्ट हो सकती हैं। किन्तु जगज्जननी लक्ष्मीजी पृथु महाराज जैसे तुच्छ भक्त पर क्योंकर क्रुद्ध होतीं? ऐसा सम्भव नहीं था। फिर भी पृथु महाराज अपने बचाव के लिए भगवान् से अपना पक्ष लेने की याचना करते हैं। पृथु महाराज सामान्य वैदिक अनुष्ठानों को करने तथा कर्मकाण्ड के अनुसार यज्ञ करने में लगे थे, किन्तु भगवान् अत्यन्त दयालु एवं उदार होने के कारण उन्हें जीवन का परम पद अर्थात् भक्ति प्रदान

करने के लिए उद्यत थे।

जब कोई व्यक्ति वैदिक अनुष्ठान तथा यज्ञ करता है, तो वह उच्चलोकों को जाने के उद्देश्य से ऐसा करता है, किन्तु ऐसे यज्ञों के द्वारा कोई भगवान् के धाम जाने का अधिकारी नहीं हो सकता। फिर भी भगवान् इतने उदार हैं कि किसी की तुच्छ से तुच्छ सेवा को भी स्वीकार कर लेते हैं। इसीलिए *विष्णु पुराण* में कहा गया है कि *वर्णाश्रम धर्म* के सिद्धान्तों का पालन करके परमेश्वर को प्रसन्न किया जा सकता है। भगवान् के प्रसन्न होने पर यज्ञकर्ता भक्तियोग के पद को प्राप्त होता है। अत: पृथु महाराज को आशा थी कि भगवान् उनकी छोटी सी सेवा को लक्ष्मीजी की सेवा से बढ़कर मान लेंगे। लक्ष्मीजी चञ्चला कही जाती हैं, क्योंकि वे एक स्थान पर स्थिर नहीं रहतीं, अत: पृथु महाराज ने संकेत किया कि यदि क्रोधवश वे अन्यत्र चली भी जाँए तो भगवान् विष्णु को कोई हानि नहीं पहुँचेगी, क्योंकि वे आत्मनिर्भर हैं और लक्ष्मीजी के बिना भी वे सब काम कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, जब गर्भोदकशायी विष्णु ने अपनी नाभि से ब्रह्माजी को उत्पन्न किया, तो उन्होंने पास ही में स्थित चरण दबाती लक्ष्मीजी से कोई सहायता नहीं ली। सामान्य रूप से जब पुत्र उत्पन्न करना होता है, तो पत्नी पति से गर्भाधारण करती है और समय आने पर पुत्र जनती है। किन्तु ब्रह्माजी के जन्म में गर्भोदकशायी विष्णु से लक्ष्मी ने गर्भ धारण नहीं किया। आत्मनिर्भर होने के कारण भगवान् ने अपनी नाभि से ब्रह्माजी को उत्पन्न किया। अत: पृथु महाराज को विश्वास था कि यदि लक्ष्मी जी उनसे रुष्ट हो भी जाँए तो न तो भगवान् को और न उन्हें किसी प्रकार की क्षति की सम्भावना है।

भजन्त्यथ त्वामत एव साधवो
व्युदस्तमायागुणविभ्रमोदयम् ।
भवत्पदानुस्मरणादृते सतां
निमित्तमन्यद्भगवन्न विद्महे ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

भजन्ति—पूजते हैं; अथ—अत:; त्वाम्—तुमको; अत: एव—अत:; साधव:—सभी साधु पुरुष; व्युदस्त—जो दूर करते हैं; माया-गुण—प्रकृति के गुण; विभ्रम—भ्रान्त विचार; उदयम्—उत्पन्न; भवत्—आपके; पद—चरणकमल; अनुस्मरणात्—निरन्तर स्मरण करने से; ऋते—सिवाय; सताम्—महान् पुरुषों का; निमित्तम्—कारण; अन्यत्—अन्य; भगवन्—हे भगवान्; न—नहीं; विद्महे—समझता हूँ।

बड़े-बड़े साधु पुरुष जो सदा ही मुक्त रहते हैं, आपकी भक्ति करते हैं, क्योंकि भक्ति के द्वारा ही इस संसार के मोहों से छुटकारा पाया जा सकता है। हे भगवन्, मुक्त जीवों द्वारा आपके

चरणकमलों की शरण ग्रहण करने का एकमात्र कारण यही हो सकता है कि ऐसे जीव आपके चरणकमलों का निरन्तर ध्यान धरते हैं।

तात्पर्य : कर्मी लोग प्राय: दैहिक सुखों के लिए सकाम कर्म करते हैं, किन्तु ज्ञानी भौतिक सुखों की खोज में रुचि नहीं दिखाते। वे समझते हैं कि आत्मा होने के कारण उन्हें इस भौतिक जगत से कुछ भी लेना देना नहीं। आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् परिपक्व बुद्धि वाले ज्ञानी भगवान् के चरणकमलों में समर्पित हो जाना चाहिए जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*बहूनां जन्मनामन्ते*—आत्म-साक्षात्कार तब तक पूर्ण नहीं होता, जब तक भक्त-पद को प्राप्त न हुआ जाये। अत: *भागवत* में कहा गया है कि जो *आत्माराम* हैं, वे प्रकृति के गुणों के समस्त संदूषणों से मुक्त होते हैं। जब तक मनुष्य प्रकृति के गुणों द्वारा, विशेष रूप से रज तथा तम गुणों के द्वारा, प्रभावित रहता है तब तक वह लोभी तथा कामी बना रहता है, अत: वह कठिन परिश्रम में लगा रहकर अहर्निश कार्य करता है। ऐसे अहंकार से वह लगातार एक योनि से दूसरी में घूमता रहता है और उसे किसी भी योनि में चैन नहीं मिलता। ज्ञानी इस तथ्य को जानता है, अत: वह कार्य करना बन्द करके कर्म-संन्यास ग्रहण कर लेता है।

तो भी यह वास्तविक सन्तोष का पद नहीं है। आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् ज्ञानी की भौतिक बुद्धि उसे भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने की ओर ले जाती है। तब वह निरन्तर भगवान् के चरणकमलों के ध्यान में मग्न रहने लगता है। अत: पृथु महाराज ने यह निष्कर्ष निकाला कि जिन मुक्त व्यक्तियों ने भक्ति-पथ ग्रहण कर लिया है, उन्हें जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त हो चुका है। यदि मुक्ति ही अपने आप में अन्त होती तो मुक्त व्यक्ति द्वारा भक्ति ग्रहण किये जाने की आवश्यकता न पड़ती। दूसरे शब्दों में, भगवान् के चरणकमलों की भक्ति से प्राप्त होने वाला आनन्द आत्म-साक्षात्कार से प्राप्त दिव्य आनन्द अर्थात् *आत्मानन्द* से कहीं बढ़कर है। अत: पृथु महाराज ने निश्चय किया कि वे केवल भगवान् की महिमा का श्रवण करेंगे और इस प्रकार भगवान् के चरणकमलों में अपने मन को लगाएँगे। यही जीवन की चरम सिद्धि है।

मन्ये गिरं ते जगतां विमोहिनीं
वरं वृणीष्वेति भजन्तमात्थ यत् ।
वाचा नु तन्त्या यदि ते जनोऽसित:

कथं पुनः कर्म करोति मोहितः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

मन्ये—मानता हूँ; गिरम्—वाणी; ते—तुम्हारी; जगताम्—भौतिक जगत के प्रति; विमोहिनीम्—मोहने वाली; वरम्—वर; वृणीष्व—स्वीकार करो (माँगो); इति—इस प्रकार; भजन्तम्—आपके भक्तों को; आत्थ—आपने कहा; यत्—क्योंकि; वाचा—वेदों के कथन से; नु—निश्चय ही; तन्त्या—रस्सियों से; यदि—यदि; ते—तुम्हारे; जनः—सामान्य लोग; असितः—बँधे हुए नहीं; कथम्—कैसे; पुनः—फिर-फिर; कर्म—सकाम कर्म; करोति—करते हैं; मोहितः—मोहित होकर।

हे भगवन्, आपने अपने विशुद्ध भक्त से जो कुछ कहा है, वह निश्चय ही अत्यन्त मोह में डालने वाला है। आपने वेदों में जो लालच दिये हैं, वे शुद्ध भक्तों के लिए उपयुक्त नहीं हैं। सामान्य लोग वेदों की अमृतवाणी से बँधकर कर्मफल से मोहित होकर पुनः पुनः सकाम कर्मों में लगे रहते हैं।

तात्पर्य : गौड़ीय संप्रदाय के महान् आचार्य श्रील नरोत्तम दास ठाकुर ने कहा है कि जो लोग वेदों के सकाम कर्मों के प्रति अर्थात् कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के प्रति अत्यधिक आसक्त हैं, समझो कि उनका सर्वनाश हो चुका है। वेदों में तीन प्रकार के कर्म बताये गये हैं—कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड तथा उपासनाकाण्ड। जो लोग कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड में रत हैं उनका सर्वनाश इस अर्थ में हो चुका है, क्योंकि जो भी इस भौतिक देह में बन्दी है, चाहे वह देवता हो राजा या निम्न पशु हो, सभी का विनाश होना है। प्रकृति के ताप-त्रय सबों के लिए हैं। अपनी आत्म-स्थिति को समझने के लिए ज्ञान का अनुशीलन भी कुछ हद तक समय का अपव्यय है। चूँकि जीवात्मा परमेश्वर का अंश है, अत: उसको चाहिए कि तुरन्त भक्ति में लग जाये। इसीलिए पृथु महाराज कहते हैं कि भौतिक वरों का लालच इस भौतिक जगत के बन्धन का दूसरा जाल है। अत: वे भगवान् से स्पष्ट कह देते हैं कि भौतिक सुविधाओं के रूप में उनके द्वारा प्रदान किये जाने वाले वर निश्चय ही मोह के कारण हैं। शुद्ध भक्त को कभी भी भुक्ति या मुक्ति में रुचि नहीं रहती।

भगवान् कभी-कभी नवदीक्षित भक्तों को वर देते हैं, जिन्हें इसका ज्ञान नहीं हुआ रहता कि ये भौतिक सुविधाएँ उन्हें सुखी नहीं बना सकतीं। अत: *चैतन्य चरितामृत* में भगवान् का कथन है कि अल्पज्ञ किन्तु निष्ठावान् भक्त ही भगवान् से किसी लाभ की याचना कर सकता है, किन्तु भगवान् सर्वज्ञ होने के कारण सामान्यत: भौतिक वर नहीं देते, अपितु अपने भक्त के द्वारा भोग्य सारी सुविधाएँ हर लेते हैं, जिससे भक्त को अन्तत: पूर्ण रूप से समर्पण करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, भक्त के लिए भौतिक लाभ का वरदान कभी शुभ नहीं होता। वेदों के ये कथन कि बड़े-बड़े यज्ञ करने के प्रतिफल

स्वरुप स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है, मात्र भ्रामक हैं। अतः *भगवद्गीता* (२.४२) में भगवान् कहते हैं—*यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।* अल्पज्ञ वर्ग के मनुष्य (*अविपश्चितः*) ही वेदों की सुधामयी वाणी से आकृष्ट होकर भौतिक लाभ की आकांक्षा से सकाम कर्म में प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार वे जन्म-जन्मांतर विभिन्न योनियों में भटकते रहते हैं।

त्वन्माययाद्धा जन ईश खण्डितो
यदन्यदाशास्त ऋतात्मनोऽबुधः ।
यथा चरेद्बालहितं पिता स्वयं
तथा त्वमेवार्हसि नः समीहितुम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

त्वत्—तुम्हारी; मायया—माया द्वारा; अद्धा—निश्चय ही; जनः—सामान्यजन; ईश—हे भगवान्; खण्डितः—विभक्त; यत्—क्योंकि; अन्यत्—अन्य; आशास्ते—कामना करते हैं; ऋत—वास्तविक; आत्मनः—अपने से; अबुधः—बिना जाने; यथा—जिस प्रकार; चरेत्—प्रवृत्त होता है; बाल-हितम्—अपने बालक का कल्याण; पिता—पिता; स्वयम्—स्वतः; तथा—उसी प्रकार; त्वम्—आप; एव—निश्चय ही; अर्हसि नः समीहितुम्—मेरे हित में करें।

हे भगवन्, आपकी माया के कारण इस भौतिक जगत के सभी प्राणी अपनी वास्तविक स्वाभाविक स्थिति भूल गये हैं और वे अज्ञानवश समाज, मित्रता तथा प्रेम के रूप में निरन्तर भौतिक सुख की कामना करते हैं। अतः आप मुझे किसी प्रकार का भौतिक लाभ माँगने के लिए न कहें, बल्कि जिस प्रकार पिता अपने पुत्र द्वारा माँगने की प्रतीक्षा किये बिना उसके कल्याण के लिए सब कुछ करता है, उसी प्रकार से आप भी जो मेरे हित में हो मुझे प्रदान करें।

तात्पर्य : पुत्र का कर्तव्य है कि वह बिना कुछ माँगे अपने पिता पर आश्रित रहे। सुपुत्र को विश्वास होता है कि पिता अच्छे से जानता है कि पुत्र को कैसे लाभ पहुँचाया जाए। इसी प्रकार शुद्ध भक्त भगवान् से किसी प्रकार के लाभ की याचना नहीं करता, न ही आध्यात्मिक लाभ के लिए कुछ माँगता है। शुद्ध भक्त तो भगवान् के चरणों में पूर्ण रूप से समर्पित रहता है और भगवान् उसका भार ग्रहण करते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६६) में कहा गया है : *अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि।* पिता पुत्र की आवश्यकताओं से परिचित होता है और उनकी पूर्ति करता है। परमेश्वर भी जीवात्माओं की आवश्यकताओं से अनजान रहते हैं और प्रचूर मात्रा में उनकी पूर्ति करते रहते हैं। इसीलिए *ईशोपनिषद्* का कथन है कि इस संसार में सभी कुछ पूर्ण है (*पूर्णम् इदम्*)। कठिनाई यह है कि जीवात्मा विस्मरण के कारण वृथा की आवश्यकताएँ उत्पन्न करता है और अपने आपको भौतिक कर्मों में बाँध

देता है। परिणाम यह होता है कि जन्म-जन्मांतर कर्मों का अन्त नहीं मिल पाता।

हमारे समक्ष नाना प्रकार की जीवात्माएँ हैं और इनमें से प्रत्येक देहान्तर तथा कर्म में फँसी हुई है। हमारा एकमात्र कर्तव्य है कि हम भगवान् की शरण ग्रहण करें और उन्हें सारा भार सँभालने दें, क्योंकि जो हमारे लिए शुभ है, उससे वे परिचित हैं।

अत: पृथु महाराज भगवान् से कहते हैं कि परम पिता के रूप में जो कुछ पृथु के लिए लाभप्रद हो वही वर दें। जीवात्मा की यही सही स्थिति है। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु अपने *शिक्षाष्टक* में हमें उपदेश देते हैं—

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।

मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

"हे परम शक्तिमान भगवान्! मैं न तो धन संग्रह करना चाहता हूँ, न मुझे सुन्दर स्त्री का भोग करने की इच्छा है और न मुझे अनेक अनुयायी चाहिए। मुझे तो जन्म-जन्मातर आपकी अहैतुकी भक्ति चाहिए।"

निष्कर्ष यह निकला कि शुद्ध भक्त को न तो भक्ति से किसी प्रकार के भौतिक लाभ की कामना करनी चाहिए और न सकाम कर्म या दार्शनिक चिन्तन के द्वारा मोहग्रस्त होना चाहिए। उसे निरन्तर भगवान् की सेवा में लगे रहना चाहिए। यही जीवन की चरम सिद्धि है।

मैत्रेय उवाच

इत्यादिराजेन नुतः स विश्वदृक्
तमाह राजन्मयि भक्तिरस्तु ते ।
दिष्ट्येदृशी धीर्मयि ते कृता यया
मायां मदीयां तरति स्म दुस्त्यजाम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; आदि-राजेन—आदि राजा (पृथु) द्वारा; नुतः—पूजित होकर; सः—वह (भगवान्); विश्व-दृक्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को देखने वाला; तम्—उससे; आह—कहा; राजन्—हे राजा; मयि—मुझमें; भक्तिः—भक्ति; अस्तु—ऐसा ही हो; ते—तुम्हारा; दिष्ट्या—सौभाग्य से; ईदृशी—इस प्रकार की; धीः—बुद्धि; मयि—मुझमें; ते—तुम्हारे द्वारा; कृता—किया जाकर; यया—जिससे; मायाम्—माया को; मदीयाम्—मेरा; तरति—पार करता है; स्म—निश्चय ही; दुस्त्यजाम्—त्यागने में कठिन।

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा कि पृथु महाराज की प्रार्थना सुनकर ब्रह्माण्ड के साक्षी भगवान् ने राजा को इस प्रकार सम्बोधित किया: हे राजन्, तुम्हारी मुझमें निरन्तर भक्ति बनी रहे। ऐसे शुद्ध

उद्देश्य से, जिसे तुमने बुद्धिमत्तापूर्वक व्यक्त किया है, दुर्लंघ्य माया को पार किया जा सकता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि भगवान् ने की है कि माया दुर्लंघ्य है। कोई भी कर्म, ज्ञान या योग द्वारा माया से पार नहीं पा सकता। इससे पार पाने का एकमात्र साधन भक्ति है जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१४) में भगवान् ने स्वयं कहा है—*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।* यदि कोई भवसागर को पार करना चाहता है, तो भक्ति के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प नहीं है। अत: भक्त चाहे स्वर्ग में रहे या नरक में, उसे कभी भी किसी भौतिक पद की इच्छा नहीं करनी चाहिए। शुद्ध भक्त को सदैव भगवान् की सेवा में संलग्न रहना चाहिए, क्योंकि वही उसकी वास्तविक वृत्ति है। इसी स्थिति में पाँव जमाकर प्रकृति के कठोर नियमों पर विजय पाई जा सकती है।

तत्त्वं कुरु मयादिष्टमप्रमत्त: प्रजापते ।
मदादेशकरो लोक: सर्वत्राप्नोति शोभनम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तत्—अत:; त्वम्—तुम; कुरु—करो; मया—मेरे द्वारा; आदिष्टम्—आज्ञा; अप्रमत्त:—दिग्भ्रमित हुए बिना; प्रजा-पते—हे प्रजा के स्वामी; मत्—मेरा; आदेश-कर:—आज्ञा पालन करने वाला; लोक:—कोई व्यक्ति; सर्वत्र—सभी जगह; आप्नोति—प्राप्त करता है; शोभनम्—मङ्गल।

हे प्रजा के पालक राजा, अब से मेरी आज्ञा का पालन करने में सावधानी बरतना और किसी भी प्रकार दिग्भ्रमित मत होना। जो भी श्रद्धापूर्वक इस प्रकार मेरी आज्ञा का पालन करता है उसका सर्वत्र मंगल होता है।

तात्पर्य : धार्मिक जीवन का सार है भगवान् के आदेशों का पालन करना और जो ऐसा करता है, वह पूर्ण रूप से धार्मिक है। *भगवद्गीता* (१८.६५) में भगवान् कहते हैं—*मन्मना भव मद्भक्त:*—"सदैव मेरा ही चिन्तन करो और मेरे भक्त बनो।" वे आगे भी कहते हैं (*भगवद्गीता* १८.६६)—*सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—"सभी प्रकार की भौतिक व्यस्तताओं को त्याग कर मेरे शरणागत होओ।" यही धर्म का मूल नियम है। जो कोई भी भगवान् के ऐसे आदेश का पालन करता है, वह वास्तव में धार्मिक पुरुष है। अन्य सबों को वंचक कहा गया है, क्योंकि धर्म के नाम पर न जाने कितने प्रकार के कार्य दुनिया भर में चल रहे हैं, जो वास्तव में धार्मिक नहीं हैं। किन्तु जो भगवान् की आज्ञा का पालन करता है उसका सर्वत्र मंगल ही होता है।

मैत्रेय उवाच
इति वैन्यस्य राजर्षेः प्रतिनन्द्यार्थवद्वचः ।
पूजितोऽनुगृहीत्वैनं गन्तुं चक्रेऽच्युतो मतिम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; वैन्यस्य—राजा वेन के पुत्र (पृथु महाराज) का; राज-ऋषेः—राजर्षि का; प्रतिनन्द्य—आदर करके; अर्थ-वत् वचः—सारगर्भित प्रार्थना; पूजितः—पूजित होकर; अनुगृहीत्वा—अनुग्रह जता कर; एनम्—राजा पृथु; गन्तुम्—उस स्थान से जाने के लिए; चक्रे—निश्चय किया; अच्युतः—भूल न करने वाले, अर्थात् अचूक भगवान्; मतिम्—मन।

मैत्रेय वे विदुर से कहा कि भगवान् ने महाराज पृथु द्वारा की गई सारगर्भित प्रार्थना की भूरि-भूरि प्रशंसा की। इस प्रकार राजा द्वारा समुचित रूप से पूजित होकर भगवान् ने उन्हें आशीर्वाद दिया और प्रस्थान का निश्चय किया।

तात्पर्य : इस श्लोक के सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द *प्रतिनन्द्यार्थवद्वचः* हैं। जिनका अर्थ है कि भगवान् ने राजा द्वारा की गई सार्थक प्रार्थना की प्रशंसा की। जब भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है, तो वह भौतिक लाभ की याचना न करके उनकी कृपा माँगता है; वह प्रार्थना करता है कि जन्म-जन्मांतर वह भगवान् के चरणकमलों की सेवा करता रहे। इसीलिए भगवान् चैतन्य ने *मम जन्मनि जन्मनि* शब्दों का प्रयोग किया है जिनका अर्थ "जन्म-जन्मांतर" है, क्योंकि भक्त यह भी नहीं चाहता कि जन्म का चक्र रुके। भगवान् तथा भक्त इस जगत में एक जन्म के बाद दूसरे जन्म में प्रकट होते रहते हैं, किन्तु ऐसे जन्म दिव्य होते हैं। *भगवद्गीता* के चतुर्थ अध्याय में भगवान् ने अर्जुन को बताया कि उनके तथा अर्जुन दोनों ही के इसके पूर्व अनेक जन्म हो चुके हैं। भगवान् को तो इन जन्मों का स्मरण है, किन्तु अर्जुन इन्हें भूल चुका है। भगवान् तथा उनके विश्वासपात्र भक्त भगवान् के सन्देश को पूरा करने के उद्देश्य से कई बार प्रकट हो सकते हैं, किन्तु ऐसे जन्म दिव्य होते हैं क्योंकि इनमें भौतिक जन्म सरीखी कष्टमय स्थितियाँ नहीं आतीं, अतः वे दिव्य कहलाते है।

मनुष्य को भगवान् तथा भक्त के दिव्य जन्म के विषय में जानना चाहिए। भगवान् द्वारा जन्म ग्रहण करने का उद्देश्य भक्ति की स्थापना करना होता है, जो धर्म की पूर्ण पद्धति है और भक्त का जन्म भक्ति सम्प्रदाय को सारे विश्व में प्रचारित करने के लिए होता है। पृथु महाराज भक्ति सम्प्रदाय को प्रसारित करने के लिए भगवान् की शक्ति के अवतार थे और भगवान् ने उन्हें इसी पद पर बने रहने का वर दिया। अतः जब राजा ने किसी प्रकार का भौतिक वर प्राप्त करना अस्वीकार कर दिया तो भगवान् इससे अत्यधिक प्रसन्न हुए। इस श्लोक का अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द *अच्युत* है, जिसका अर्थ है अमोघ या

अचूक। यद्यपि भगवान् इस जगत में प्रकट होते हैं, किन्तु उन्हें बद्धजीव कभी नहीं माना जाता, जो पतनशील हैं। जब भगवान् प्रकट होते हैं, तो वे प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहकर अपनी दिव्य स्थिति में रहते हैं। इसीलिए *भगवद्गीता* में अपने प्राकट्य के गुण को *आत्म-मायया* अर्थात् अन्तरंगा शक्ति से सम्पन्न मानते हैं। भगवान् अच्युत होने के कारण इस भौतिक जगत में जन्म लेने के लिए भौतिक प्रकृति द्वारा बाध्य नहीं किए जाते हैं। वे तो धर्म की संस्थापना करने तथा मानव-समाज में आसुरी प्रभाव को नष्ट करने के लिए अवतरित होते हैं।

देवर्षिपितृगन्धर्वसिद्धचारणपन्नगाः ।
किन्नराप्सरसो मर्त्याः खगा भूतान्यनेकशः ॥ ३५ ॥
यज्ञेश्वरधिया राज्ञा वाग्वित्ताञ्जलिभक्तितः ।
सभाजिता ययुः सर्वे वैकुण्ठानुगतास्ततः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

देव—देवता; ऋषि—ऋषिगण; पितृ—पितृलोक के वासी; गन्धर्व—गन्धर्व लोक के वासी; सिद्ध—सिद्धलोक के वासी; चारण—चारणलोक के वासी; पन्नगाः—सर्पलोक के वासी; किन्नर—किन्नरलोक के वासी; अप्सरसः—अप्सरा लोक के वासी; मर्त्याः—पृथ्वी के वासी; खगाः—पक्षी; भूतानि—अन्य जीवात्माएँ; अनेकशः—अनेक; यज्ञ-ईश्वर-धिया—अपने को परमेश्वर का अंश मानने वाली बुद्धि से; राज्ञा—राजा द्वारा; वाक्—मधुर शब्दों से; वित्त—सम्पत्ति; अञ्जलि—करबद्ध; भक्तितः—भक्तिभाव से; सभाजिताः—भलीभाँति पूजित; ययुः—चले गये; सर्वे—सभी; वैकुण्ठ—भगवान् विष्णु के; अनुगताः—अनुचर; ततः—वहाँ से।

राजा पृथु ने देवताओं, ऋषियों, पितृलोक, गंधर्वलोक, सिद्धलोक, चारणलोक, पन्नगलोक, किन्नरलोक, अप्सरो लोक तथा पृथ्वीलोक और पक्षियों के लोक के वासियों की पूजा की। उन्होंने यज्ञस्थल पर उपस्थित अन्य अनेक जीवों की पूजा की। उन्होंने इन सबकी तथा भगवान् के पार्षदों की मधुर वचन तथा यथासम्भव धन के द्वारा, हाथ जोड़कर पूजा की। इस उत्सव के बाद भगवान् विष्णु के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए वे सभी अपने-अपने लोकों को चले गये।

तात्पर्य : आधुनिक तथाकथित वैज्ञानिक समाज में यह विचार प्रचलित है कि अन्य लोकों में जीवन नहीं है, केवल पृथ्वीलोक में ही बुद्धि तथा वैज्ञानिक ज्ञान वाले प्राणी विद्यमान हैं। किन्तु वैदिक साहित्य इस मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त को नहीं मानता। वैदिक ज्ञान के मानने वाले भली-भाँति परिचित हैं कि विविध लोकों में नाना प्रकार के जीव यथा देवता, ऋषि, पितृगण, गन्धर्व, पन्नग, किन्नर, चारण, सिद्ध तथा अप्सराएँ वास करते हैं। वेद बताते हैं कि सभी लोकों में—इसी आकाश में—ही नहीं, वरन्

आध्यात्मिक आकाश में भी नाना प्रकार के जीव वास करते हैं। यद्यपि ये सारे जीव एक ही दिव्य प्रकृतिवाले और भगवान् के ही समान भौतिक गुण वाले हैं, किन्तु वे आठ तत्त्वों क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर, मन, बुद्धि एवं अहंकार के संयोग के फलस्वरूप विविध शरीर धारण करते हैं। किन्तु आध्यात्मिक लोक में देह और देही में ऐसा कोई भेद नहीं होता। भौतिक संसार में विभिन्न लोकों में विभिन्न शरीरधारियों में उनके विशिष्ट रूपों और आकारों से भेद प्रकट होते हैं। हमें वैदिक साहित्य से यह भली-भाँति ज्ञात होता है कि भौतिक तथा आध्यात्मिक (परा) दोनों ही प्रकार के लोकों में भिन्न-भिन्न बुद्धि वाले जीव हैं। पृथ्वी भूर्लोक का एक ग्रह है। भूर्लोक के ऊपर छह अन्य लोक हैं और इसी तरह इसके नीचे भी सात लोक हैं। अत: यह समस्त ब्रह्माण्ड *चतुर्दशभुवन* कहलाता है, जिससे सूचित होता है कि चौदह विभिन्न लोक हैं। भौतिक आकाश से परे एक दूसरा आकाश है, जिसे *परव्योम* या आध्यात्मिक आकाश कहते हैं, जहाँ आध्यात्मिक (चिन्मय) लोक हैं। इन लोकों के वासी भगवान् की नाना प्रकार से प्रेमाभक्ति करते हैं जिनमें विभिन्न भाव सम्मिलित हैं यथा—*दास्य भाव, सख्य भाव, वात्सल्य भाव, माधुर्य भाव* तथा इन सबसे ऊपर *परकीय भाव। परकीय भाव* कृष्ण के वास स्थान कृष्णलोक में प्रचलित है। यह लोक गोलोक वृन्दावन भी कहलाता है तथा, यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ निरन्तर वास करते हैं तो भी वे लाखों करोड़ों रूपों में अपना विस्तार करते हैं। अपने इन्हीं एक रूप में वे इस धरा के विशेष स्थान, वृन्दावन धाम में प्रकट होते हैं जहाँ वे परव्योम स्थित गोलोक वृन्दावन धाम की मूल लीलाएँ करके बद्धजीवों को भगवान् के धाम जाने के लिए आकृष्ट करते हैं।

भगवानपि राजर्षेः सोपाध्यायस्य चाच्युतः ।
हरन्निव मनोऽमुष्य स्वधाम प्रत्यपद्यत ॥ ३७॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; अपि—भी; राज-ऋषेः—राजर्षि का; स-उपाध्यायस्य—अन्य समस्त पुरोहितों सहित; च—भी; अच्युतः—अचूक भगवान्; हरन्—मोहते हुए; इव—निस्सन्देह; मनः—मन; अमुष्य—उसका; स्व-धाम—अपने धाम को; प्रत्यपद्यत—लौट गये।

राजा तथा वहाँ पर उपस्थित पुरोहितों के मनों को मोहित करने के बाद अच्युत भगवान् परव्योम में अपने धाम वापस चले गये।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् सर्व-आत्ममय हैं, अत: वे अपना शरीर बदले बिना परव्योम से नीचे आ सकते हैं, इसीलिए वे *अच्युत* अथवा अचूक कहलाते हैं। जब जीवात्मा इस संसार में आ गिरता है, तो

उसे भौतिक शरीर धारण करना होता है और वह भौतिक शरीर-रूप में *अच्युत* नहीं कहला सकता। चूँकि वह भगवान् की सेवा-कार्य के पद से नीचे पतित होता है, अत: जीव भौतिक जीवन की बद्ध अवस्थाओं में दुख भोगने के लिए अथवा उसका आनंद उठाने के प्रयास में भौतिक शरीर ग्रहण करता है। अत: पतित जीवात्मा *च्युत* है और भगवान् *अच्युत* कहलाते हैं। भगवान् सबों के लिए मनमोहक थे—केवल राजा ही के लिए नहीं, अपितु उन पुरोहितों के लिए भी जो वैदिक कर्मकाण्डों के अत्यधिक आदी थे। सर्व-मोहक होने के कारण भगवान् को कृष्ण अर्थात् ''सबको आकृष्ट करने वाले'' कहा जाता है। महाराज पृथु के यज्ञस्थल में भगवान् क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में प्रकट हुए जो भगवान् श्रीकृष्ण के स्वांश हैं। वे कारणोदकशायी विष्णु के द्वितीय अवतार हैं, जो भौतिक सृष्टि के मूल हैं और गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में विस्तार करके प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश करते हैं। क्षीरोदकशायी विष्णु उन पुरुषों में से एक हैं, जो प्रकृति के भौतिक गुणों को अपने वश में रखते हैं।

अदृष्टाय नमस्कृत्य नृपः सन्दर्शितात्मने ।
अव्यक्ताय च देवानां देवाय स्वपुरं ययौ ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

अदृष्टाय—जो दृष्टि से नहीं देखा जा सकता है उसको; नमः-कृत्य—नमस्कार करके; नृपः—राजा; सन्दर्शित—अभिव्यक्त, प्रकट; आत्मने—परमात्मा को; अव्यक्ताय—जो भौतिक जगत में प्रकट न हो सके; च—भी; देवानाम्—देवताओं के; देवाय—परमेश्वर को; स्व-पुरम्—अपने घर को; ययौ—लौट गये।.

तत्पश्चात् राजा पृथु ने समस्त देवों के परम स्वामी भगवान् को सादर नमस्कार किया। यद्यपि वे भौतिक दृष्टि से देखे जाने की वस्तु नहीं हैं, फिर भी भगवान् ने महाराज पृथु के नेत्रों के समक्ष अपने को प्रकट किया। भगवान् को नमस्कार करके राजा अपने घर चले आये।

तात्पर्य : परमेश्वर भौतिक आँखों से दिखाई नहीं पड़ते, किन्तु जब भौतिक इन्द्रियाँ भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगी होती हैं और इस प्रकार पवित्र हो जाती हैं, तो भगवान् स्वत: भक्त के समक्ष अपने को प्रकट करते हैं। *अव्यक्त* का अर्थ है ''अप्रकट।'' यद्यपि यह संसार भगवान् की ही सृष्टि है, किन्तु वह आँखों से नहीं दिखाई पड़ते। किन्तु महाराज पृथु ने अपनी शुद्ध भक्ति से आत्म-दृष्टि विकसित कर ली थी। अत: यहाँ पर ईश्वर को *सन्दर्शितात्मा* कहा गया है, क्योंकि सामान्य नेत्रों से अदृश्य रह कर भी वे भक्त को दृष्टिगोचर होते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत ''महाराज पृथु के यज्ञस्थल में भगवान्

विष्णु का प्राकट्य'' नामक बीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter इक्कीस

महाराज पृथु द्वारा उपदेश

मैत्रेय उवाच
मौक्तिकैः कुसुमस्त्रग्भिर्दुकूलैः स्वर्णतोरणैः ।
महासुरभिभिर्धूपैर्मण्डितं तत्र तत्र वै ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; मौक्तिकैः—मोतियों से; कुसुम—फूलों की; स्रग्भिः—मालाओं से; दुकूलैः—वस्त्र से; स्वर्ण—सुनहले; तोरणैः—द्वारों से; महा-सुरभिभिः—अत्यधिक सुगन्धित; धूपैः—धूप (सुगन्धित द्रव्य) से; मण्डितम्—अलंकृत; तत्र तत्र—वहाँ-वहाँ; वै—निश्चय ही।

महर्षि मैत्रेय ने विदुर से कहा : जब राजा ने अपनी नगरी में प्रवेश किया, तो उसके स्वागत के लिए नगरी को मोतियों, पुष्पहारों, सुन्दर वस्त्रों तथा सुनहरे द्वारों से सुन्दर ढंग से सजाया गया था और सारी नगरी अत्यन्त सुगन्धित धूप से सुवासित थी।

तात्पर्य : वास्तविक ऐश्वर्य तो प्राकृतिक देन से मिलता है यथा सोना, चाँदी, मोती, मणि, ताजे पुष्प, वृक्ष तथा रेशम। वैदिक सभ्यता भगवान् की इन्हीं प्राकृतिक देनों को ऐश्वर्य तथा अलकंरण मानती है। ऐसे ऐश्वर्य से मानसिक दशा तुरन्त बदल जाती है और पूरे वातावरण का अध्यात्मीकरण हो जाता है। राजा पृथु की राजधानी ऐसे ही अमूल्य ऐश्वर्यमय अलंकरणों से सजाई गई थी।

चन्दनागुरुतोयार्द्ररथ्याचत्वरमार्गवत् ।
पुष्पाक्षतफलैस्तोक्मैर्लाजैरर्चिर्भिरर्चितम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

चन्दन—चन्दन; अगुरु—एक सुगन्धित बूटी, अरगजा; तोय—जल से; आर्द्र—छिड़का हुआ; रथ्या—रथमार्ग; चत्वर—छोटा उद्यान; मार्गवत्—गलियाँ; पुष्प—फूल; अक्षत—अखंड, समूचे; फलैः—फलों के द्वारा; तोक्मैः—खनिज; लाजैः—गीले अन्न; अर्चिर्भिः—दीपकों से; अर्चितम्—सजाया गया।

नगर भर की गलियाँ, सड़कें तथा छोटे पार्क चन्दन तथा अरगजा के सुगन्धित जल से सींच दिये गये थे और सर्वत्र समूचे फलों, फूलों, भीगोए हुए अन्नों, विविध खनिजों तथा दीपों के अलंकरणों से सजे थे। सभी मांगलिक वस्तुओं के दृश्य उपस्थित कर रहे थे।

सवृन्दैः कदलीस्तम्भैः पूगपोतैः परिष्कृतम् ।

तरुपल्लवमालाभिः सर्वतः समलङ्कृतम् ॥ ३॥

शब्दार्थ

स-वृन्दैः—फूलों तथा फलों के सहित; कदली-स्तम्भैः—केले के ख भों से; पूग-पोतैः—सुपारी की टहनियों से; परिष्कृतम्—सुन्दर ढंग से स्वच्छ किये गये; तरु—नये पौधे; पल्लव—आम की नवीन कोंपलें; मालाभिः—मालाओं से; सर्वतः—सर्वत्र; समलङ्कृतम्—अच्छी तरह सजाया हुआ।

चौराहों पर फलों तथा फूलों के गुच्छे एवं केले के ख भे तथा सुपारी की टहनियाँ लगाई गई थी। यह सारी सजावट मिलकर अत्यन्त आकर्षक लग रही थी।

प्रजास्तं दीपबलिभिः सम्भृताशेषमङ्गलैः ।
अभीयुर्मृष्टकन्याश्च मृष्टकुण्डलमण्डिताः ॥ ४॥

शब्दार्थ

प्रजाः—नागरिक; तम्—उसको; दीप-बलिभिः—दीपों से; सम्भृत—सज्जित; अशेष—अपार; मङ्गलैः—मांगलिक सामग्री से; अभीयुः—स्वागत के लिए आगे आये; मृष्ट—सुन्दर कान्ति वाली; कन्याः च—तथा अविवाहित लड़कियाँ; मृष्ट—टकराते हुए; कुण्डल—कान का आभूषण; मण्डिताः—अलंकृत।

जब राजा ने नगर में प्रवेश किया, तो समस्त नागरिकों ने दीप, पुष्प तथा दधि जैसे अनेक मांगलिक द्रव्यों से उनका स्वागत किया। राजा की अगवानी अनेक सुन्दर कन्याओं ने भी की जिनके शरीर विविध आभूषणों से सुशोभित थे और जिनके कुण्डल परस्पर टकरा रहे थे।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता के अनुसार किसी विशिष्ट अतिथि, जैसे कि दूल्हे, राजा या गुरु के स्वागत में सुपारी, केला, नवांकुरित गेहूँ, धान, दही तथा सिंदूर जैसे मांगलिक प्राकृतिक पदार्थों को शहर भर में बिखेर दिया जाता है। इसी प्रकार अविवाहित लड़कियों द्वारा, जो बाह्य तथा अन्तः से शुद्ध होती हैं और सुन्दर वस्त्रों तथा आभूषणों से सज्जित होती हैं, स्वागत कराया जाता है, जो शुभ माना जाता है। कुमारियाँ अर्थात् अविवाहित कन्याएँ, जिनका स्पर्श पुरुष द्वारा नहीं हुआ होता, समाज की माँगलिक सदस्याएँ होती हैं। आज भी हिन्दू समाज के अत्यन्त रूढ़िगत परिवारों में अविवाहित लड़कियों को न तो घर के बाहर जाने दिया जाता है और न लड़कों से मिलने दिया जाता है। जब तक विवाह नहीं हो जाता, उनके माँ-बाप बड़ी सावधानी से उनकी देखरेख करते हैं, विवाह के बाद उनके युवा पति उनकी रक्षा करते हैं और प्रौढ़ होने पर उनकी सन्तानें उनकी देखरेख करती हैं। इस प्रकार से रक्षित स्त्रियाँ मनुष्य के लिए शक्ति का शुभ स्रोत बनी रहती हैं।

शङ्खदुन्दुभिघोषेण ब्रह्मघोषेण चर्त्विजाम् ।

विवेश भवनं वीरः स्तूयमानो गतस्मयः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

शङ्ख—शंख; दुन्दुभि—दुन्दुभियों के; घोषेण—शब्द से; ब्रह्म—वैदिक; घोषेण—उच्चारण से; च—भी; ऋत्विजाम्—पुरोहितों के; विवेश—प्रवेश किया; भवनम्—महल में; वीरः—राजा; स्तूयमानः—पूजित होकर; गत-स्मयः—अहंकार-रहित।

जब राजा ने महल में प्रवेश किया, तो शंख तथा दुन्दुभियाँ बजने लगीं, पुरोहित-गण वैदिक मंत्रों का उच्चारण करने लगे और बन्दीजन विभिन्न प्रकार से स्तुतिगान करने लगे। किन्तु इतने स्वागत-समारोह के बावजूद राजा पर रञ्चमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा।

तात्पर्य : राजा का अत्यन्त शानदार ऐश्वर्यमय ढंग से किया गया, किन्तु उसे किसी प्रकार का गर्व नहीं हुआ। अत: कहा जाता है कि शक्तिशाली तथा ऐश्वर्यवान महापुरुष कभी गर्व नहीं करते। इस प्रसंग में वृक्ष का उदाहरण दिया जाता है, जो फूलों-फलों से लदा होकर भी विनयशीलता नीचे झुक जाता है, अहंकार से सीधा तना हुआ नहीं रहता। यह महापुरुषों के चरित्र का विलक्षण गुण है।

पूजितः पूजयामास तत्र तत्र महायशाः ।
पौराञ्जानपदांस्तांस्तान्प्रीतः प्रियवरप्रदः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

पूजितः—पूजा जाकर; पूजयाम् आस—पूजा की; तत्र तत्र—जहाँ-तहाँ, सर्वत्र; महा-यशाः—महान् कार्य करने वाले; पौरान्—नगर के भद्र जन; जान-पदान्—सामान्य नागरिक; तान् तान्—उसी प्रकार से; प्रीतः—प्रसन्न किया; प्रिय-वर-प्रदः—समस्त वर देने के लिए प्रस्तुत।

नगर के भद्र तथा सामान्य जनों ने राजा का हार्दिक स्वागत किया और राजा ने भी उन्हें मनवांछित आशीर्वाद दिया।

तात्पर्य : सम्मान्य राजा के पास उसकी प्रजा की पहुँच होती थी। सामान्य रूप से बड़े तथा छोटे सभी तरह के लोग राजा को देखने की इच्छा रखते थे और उससे आशीर्वाद प्राप्त करना चाहते थे। राजा को इसका पता रहता था, अत: जब भी वह प्रजा से मिलता था उनकी इच्छाओं की अविलम्ब पूर्ति करता था या उनकी शिकायतों को दूर करता था। इस प्रकार के व्यवहार में राजतंत्र तथाकथित प्रजातंत्र सरकार से अच्छा होता है, क्योंकि प्रजातंत्र में प्रजा कार्यकारी अध्यक्ष से नहीं मिल पाती और प्रजा की शिकायतों को दूर करने के लिए कोई उत्तरदायी नहीं होता। उत्तरदायी राजतंत्र में सरकार के विरुद्ध प्रजा की कोई शिकायत नहीं रहती थी और यदि कोई रहती भी थी तो राजा के पास पहुँच कर तुरन्त उसका निराकरण किया जा सकता था।

स एवमादीन्यनवद्यचेष्टितः
कर्माणि भूयांसि महान्महत्तमः ।
कुर्वन्शशासावनिमण्डलं यशः
स्फीतं निधायारुरुहे परं पदम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

सः—राजा पृथु; एवम्—इस प्रकार; आदीनि—प्रारम्भ से ही; अनवद्य—उदार; चेष्टितः—विभिन्न कार्य करते हुए; कर्माणि—कार्य; भूयांसि—बारम्बार; महान्—महान्; महत्-तमः—सबसे महान्; कुर्वन्—करते हुए; शशास—राज्य किया; अवनि-मण्डलम्—पृथ्वी पर; यशः—ख्याति; स्फीतम्—व्यापक; निधाय—प्राप्त करके; आरुरुहे—प्राप्त किया; परम् पदम्—परमेश्वर के चरणकमलों को।

राजा पृथु महानतम से भी महान् महापुरुष थे, अतः वे सबों के पूज्य थे। उन्होंने पृथ्वी पर शासन करते हुए अनेक प्रशंसनीय कार्य किये और अत्यन्त उदार बने रहे। ऐसी महान् सफलता प्राप्त कर तथा सारे विश्व में अपनी कीर्ति फैलाकर अन्त में वे भगवान् के चरणकमलों को प्राप्त हुए।

तात्पर्य : प्रजा पर शासन करते हुए उत्तरदायी राजा या कार्याध्यक्ष को अनेक कार्य करने पड़ते हैं। राजा या सरकार का सबसे महत्त्वपूर्ण कर्तव्य वेदसम्मत विभिन्न यज्ञों को करना है। दूसरा कर्तव्य यह देखना है कि जाति विशेष के लोग अपना नियत कार्य करते रहें। राजा का यह भी कर्तव्य है कि वह देखे कि प्रत्येक व्यक्ति वर्ण तथा आश्रम के कर्तव्यों का पूर्णतः पालन कर रहा है। इसके साथ ही, जैसाकि राजा पृथु ने उदाहरण प्रस्तुत किया, राजा को चाहिए कि वह अधिकाधिक अन्नोत्पादन के लिए पृथ्वी का विकास करे।

महान् पुरुष भी कई तरह के होते हैं—महान्, महानतर तथा महानतम। किन्तु राजा पृथु इन सबसे बढ़कर थे। इसीलिए उन्हें यहाँ *महत्तम* कहा गया है। महाराज पृथु क्षत्रिय थे और वे क्षत्रिय धर्म का पूर्ण रूप से निर्वाह करते थे। इसी प्रकार ब्राह्मण, वैश्य तथा शूद्र भी अपने-अपने कार्य का सुचारु रूप से निर्वाह कर सकते हैं जिससे जीवन के अन्त में वैकुण्ठलोक की प्राप्ति हो सकती है, जिसे परम पद कहा गया है। *परं पदम्* अर्थात् वैकुण्ठलोक की प्राप्ति केवल भक्ति से सम्भव है। निर्गुण ब्रह्म क्षेत्र भी *परं पदम्* कहलाता है, किन्तु जब तक मनुष्य का भगवान् से सम्बन्ध नहीं होता, वह इस *परं पदम्* से इस भौतिक जगत में फिर गिर जाता है। इसीलिए कहा गया है—*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः*—निर्विशेषवादी परम पद अथवा निर्गुण ब्रह्मज्योति को प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं,

किन्तु दुर्भाग्यवश परमेश्वर से सम्बन्ध विहीन होने के कारण वे पुनः भौतिक जगत में चले आते हैं। यदि कोई अन्तरिक्ष में उड़ सके तो वह ऊँचाई तक जा सकता है, किन्तु जब तक वह किसी लोक को प्राप्त न कर ले, उसे पुनः पृथ्वी पर आना पड़ता है। इसी प्रकार जो निर्विशेषवादी निर्गुण ब्रह्मज्योति के परमपद तक पहुँच कर वैकुण्ठलोक में प्रवेश नहीं कर पाते, वे पुनः इस जगत में लौट आते हैं और उन्हें भौतिक लोकों में से किसी एक में शरण लेनी पड़ती है। भले ही वे ब्रह्मलोक या सत्यलोक प्राप्त कर लें, किन्तु ये सभी लोक तो भौतिक जगत में ही स्थित हैं।

सूत उवाच

तदादिराजस्य यशो विजृम्भितं
गुणैरशेषैर्गुणवत्सभाजितम् ।
क्षत्ता महाभागवतः सदस्पते
कौषारविं प्राह गृणन्तमर्चयन् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; तत्—वह; आदि-राजस्य—आदि राजा की; यशः—ख्याति; विजृम्भितम्—अत्यन्त योग्य; गुणैः—गुणों से; अशेषैः—असीम; गुण-वत्—उपयुक्त; सभाजितम्—प्रशंसित होकर; क्षत्ता—विदुर; महा-भागवतः—परम-भक्त; सदः-पते—ऋषियों के नायक; कौषारविम्—मैत्रेय से; प्राह—कहा; गृणन्तम्—बातें करते; अर्चयन्—सादर नमस्कार करते।

सूत गोस्वामी ने आगे कहा : हे ऋषियों के नायक शौनक जी, संसार भर में अत्यन्त योग्य, महिमामंडित तथा जगत भर में प्रशंसित आदि राजा पृथु के विविध कार्यों के विषय में मैत्रेय ऋषि को इस प्रकार कहते हुए सुनकर महान् भक्त विदुर ने अत्यन्त विनीत भाव से उनकी पूजा की और उनसे निम्नानूसार प्रश्न किया।

विदुर उवाच

सोऽभिषिक्तः पृथुर्विप्रैर्लब्धाशेषसुरार्हणः ।
बिभ्रत्स वैष्णवं तेजो बाह्वोर्याभ्यां दुदोह गाम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; सः—वह (राजा पृथु); अभिषिक्तः—राज्याभिषेक होने पर; पृथुः—राजा पृथु; विप्रैः—ऋषियों तथा ब्राह्मणों द्वारा; लब्ध—प्राप्त; अशेष—असंख्य; सुर-अर्हणः—देवताओं द्वारा दिये गये उपहार; बिभ्रत्—विस्तार किया; सः—उसने; वैष्णवम्—भगवान् विष्णु से प्राप्त; तेजः—शक्ति; बाह्वोः—भुजाएँ; याभ्याम्—जिनसे; दुदोह—दुहा; गाम्—पृथ्वी को।

विदुर ने कहा : हे ब्राह्मण मैत्रेय, यह जानकर अत्यंत हर्ष हो रहा है कि ऋषियों तथा ब्राह्मणों ने राजा पृथु का राज्याभिषेक किया। सभी देवताओं ने उन्हें अनेक उपहार दिये और

उन्होंने स्वयं भगवान् विष्णु से शक्ति प्राप्त करके अपने प्रभाव का विस्तार किया। इस प्रकार उन्होंने पृथ्वी का अत्यधिक विकास किया।

तात्पर्य : चूँकि पृथु महाराज भगवान् विष्णु के शक्त्यावेश अवतार थे और स्वभावत: भगवान् के महान् वैष्णव भक्त थे, अत: सभी देवता उनसे प्रसन्न थे और उन्हें नाना प्रकार के उपहार दे रहे थे जिस से वे अपनी राजकीय शक्ति का प्रयोग कर सके। ऋषियों तथा साधु पुरुषों ने भी उनके राज्याभिषेक में भाग लिया था। इस प्रकार उनका आशीर्वाद प्राप्त करके राज पृथु ने पृथ्वी पर शासन किया और प्रजा को प्रसन्न करने के लिए पृथ्वी के समस्त साधनों का दोहन किया। इसके विषय में राजा पृथु के कार्यों से सम्बद्ध पिछले एक अध्याय में बतलाया जा चुका है। जैसाकि अगले श्लोक से पता चलेगा, प्रत्येक राजाध्यक्ष को अपने राज्य में शासन करने के लिए महाराज पृथु के चरण-चिह्नों का अनुसरण करना चाहिए। चाहे प्रमुख कार्यकारी राजा हो या राष्ट्रपति, चाहे राजतंत्र हो या प्रजातंत्र, यह विधि इतनी पूर्ण है कि इसका पालन करने से प्रत्येक व्यक्ति सुखी रहेगा और वह भगवान् की भक्ति सरलता से कर सकेगा।

को न्वस्य कीर्तिं न शृणोत्यभिज्ञो
यद्विक्रमोच्छिष्टमशेषभूपाः ।
लोकाः सपाला उपजीवन्ति काम-
मद्यापि तन्मे वद कर्म शुद्धम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

कः—कौन; नु—लेकिन; अस्य—इस राजा पृथु की; कीर्तिम्—ख्याति; न शृणोति—नहीं सुनता; अभिज्ञः—बुद्धिमान; यत्—उसका; विक्रम—वीरता; उच्छिष्टम्—जूठन; अशेष—असंख्य; भूपाः—राजा; लोकाः—लोक; स-पालाः—अपने देवताओं सहित; उपजीवन्ति—जीवन यापन करते हैं; कामम्—वांछित वस्तुएँ; अद्य अपि—आज भी; तत्—वह; मे—मुझसे; वद—कृपया कहो; कर्म—कार्य; शुद्धम्—शुभ।

पृथु महाराज के कर्म इतने महान् थे और उनकी शासन-प्रणाली इतनी उदार थी कि आज भी सभी राजा तथा विभिन्न लोकों के देवता उनके चरण-चिह्नों पर चलते हैं। भला ऐसा कौन होगा जो उनकी कीर्तिमय कार्यों को सुनना नहीं चाहेगा? उनके कर्म इतने पवित्र तथा शुभ हैं कि मैं उनके सम्बन्ध में पुन: पुन: सुनना चाहता हूँ।

तात्पर्य : संत विदुर द्वारा पृथु महाराज के विषय में बारम्बार सुनने का मन्तव्य यह था कि सामान्य राजाओं तथा कार्याध्यक्षों के लिए ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया जाये जिससे वे पृथु महाराज के कार्यों के

विषय में सुनकर अपने राज्यों में प्रजा की शान्ति तथा उनकी सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए ठीक से शासन चला सकें। दुर्भाग्यवश आज के समय में कोई भी पृथु महाराज के विषय में सुनने या उनके पदचिह्नों का अनुसरण करने की परवाह नहीं करता, इसीलिए विश्व का कोई भी राष्ट्र न तो सुखी है और न आध्यात्मिक ज्ञान में अग्रसर है, यद्यपि मानव-जीवन का एकमात्र ध्येय एवं उद्देश्य यही है।

मैत्रेय उवाच
गङ्गायमुनयोर्नद्योरन्तरा क्षेत्रमावसन् ।
आरब्धानेव बुभुजे भोगान्पुण्यजिहासया ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेय: उवाच—मैत्रेय ने कहा; गङ्गा—गंगा नदी; यमुनयो:—यमुना नदी के; नद्यो:—दो नदियों के; अन्तरा—मध्यवर्ती; क्षेत्रम्—भूमि में; आवसन्—रहते हुए; आरब्धान्—प्रारब्धवश; एव—सदृश; बुभुजे—भोग किया; भोगान्—सम्पत्ति; पुण्य—पवित्र कार्य; जिहासया—कम करने के लिए।

मैत्रेय ऋषि ने विदुर से कहा : हे विदुर, राजा पृथु गंगा तथा यमुना इन दो महान् नदियों के मध्यवर्ती भूभाग में रहते थे। वे अत्यन्त ऐश्वर्यवान थे, अत: ऐसा प्रतीत होता था मानो अपने पूर्व पुण्यों के फल को कम करने के लिए ही प्रारब्ध से प्राप्त सम्पत्ति का भोग कर रहे थे।

तात्पर्य : ‘‘पवित्र’’ तथा ‘‘अपवित्र’’ शब्द केवल सामान्य प्राणी के कर्मों के सम्बन्ध में लागू होते हैं। किन्तु महाराज पृथु को तो साक्षात् भगवान् विष्णु से शक्ति प्राप्त थी, अत: उन पर पवित्र तथा अपवित्र कार्यों का फल लागू नहीं होता। जैसाकि हम पहले कह चुके है, भगवान् जब किसी कार्य विशेष के उद्देश्य से किसी जीव को विशेष शक्ति प्रदान करते हैं, तो उसे *शक्त्यावेश अवतार* कहा जाता है, किन्तु पृथु महाराज शक्त्यावेश अवतार के साथ-साथ महान् भक्त भी थे। भक्त को विगत कर्मों का फल नहीं भोगना पड़ता। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—*कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजाम्*—भगवान् द्वारा भक्तों के पूर्व पुण्य तथा पापों के फल निरस्त कर दिए जाते हैं। *आरब्धान् एव* शब्दों का अर्थ है ‘‘मानो पूर्व कर्मों द्वारा प्राप्त,’’ किन्तु पृथु महाराज के लिए पूर्व कर्मों के फल की बात ही नहीं उठती, अत: यहाँ पर *एव* शब्द सामान्य पुरुषों से तुलना के अर्थ में प्रयुक्त है। भगवान् *भगवद्गीता* में कहते हैं—*अवजानन्ति मां मूढा: ।* इसका यह अर्थ हुआ कि कभी-कभी लोग भगवान् के अवतार को सामान्य पुरुष मान लेते हैं। भले ही परमेश्वर, उनके अवतार या भक्त अपने को सामान्य व्यक्ति मानें, किन्तु उन्हें कभी भी ऐसा नहीं मानना चाहिए। न ही ऐसे व्यक्ति को अवतार या भक्त मान लेना चाहिए

जो शास्त्रों तथा आचार्यों के प्रामाणिक वचनों के द्वारा पुष्ट न होता हो। शास्त्र के प्रमाण से सनातन गोस्वामी ने भगवान् चैतन्य महाप्रभु को श्रीकृष्ण का साक्षात् अवतार मान लिया, यद्यपि भगवान् चैतन्य ने इस तथ्य को कभी प्रकट नहीं किया। इसीलिए यह कहा जाता है कि आचार्य या गुरु को कभी सामान्य व्यक्ति नहीं समझना चाहिए।

सर्वत्रास्खलितादेशः सप्तद्वीपैकदण्डधृक् ।
अन्यत्र ब्राह्मणकुलादन्यत्राच्युतगोत्रतः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सर्वत्र—सभी स्थानों पर; अस्खलित—अखण्ड, अटल; आदेशः—आज्ञा; सप्त-द्वीप—सात द्वीप; एक—एक; दण्ड-धृक्—राजदण्ड धारण करने वाला; अन्यत्र—के अतिरिक्त; ब्राह्मण-कुलात्—ब्राह्मण तथा साधु पुरुष; अन्यत्र—के अतिरिक्त; अच्युत-गोत्रतः—भगवान् के वंशज (वैष्णव)।

महाराज पृथु चक्रवर्ती राजा थे और इस भूमण्डल के सातों द्वीपों पर शासन करने के लिए राजदण्ड धारण करने वाले थे। उनके अटल आदेश का उल्लंघन साधु-जनों, ब्राह्मणों और वैष्णवों के अतिरिक्त कोई नहीं कर सकता था।

तात्पर्य : सप्तद्वीप से भूमण्डल तक के जिन सात विशाल द्वीपों या महाद्वीपों का बोध होता है वे हैं—एशिया, यूरोप, अफ्रीका, उत्तरी अमरीका, दक्षिणी अमरीका, आस्ट्रेलिया तथा ओशीनिया। आधुनिक युग में लोगों की यह भ्रान्त धारणा है कि वैदिक काल में या पुरैतिहासिक काल में अमरीका तथा संसार के अन्य कई भूभागों का पता नहीं था, किन्तु यह सच नहीं है। पृथु महाराज ने तथाकथित पुरैतिहासिक काल से कई हजार वर्ष पूर्व संसार पर शासन किया और यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि उस काल में संसार के सभी भागों का न केवल पता था, वरन् वे एक ही राजा पृथु द्वारा शासित भी थे। जिस देश में पृथु महाराज ने वास किया था वह अवश्य ही भारत रहा होगा, क्योंकि इस अध्याय के श्लोक ११ में बताया जा चुका है कि वे गंगा तथा यमुना नदियों के द्वाबे में निवास करते थे, जिसे "ब्रह्मावर्त" कहा जाता है और आधुनिक काल में इसे ही पंजाब तथा उत्तरी भारत का भूभाग जाना जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कभी भारत के राजाओं ने समूचे संसार पर राज्य किया और उनकी संस्कृति वैदिक थी।

अस्खलित शब्द बताता है कि राजा के आदेश का सारे विश्व में कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता था। किन्तु ऐसे आदेश कभी भी साधु पुरुषों या भगवान् विष्णु के भक्तों को वश में करने के लिए जारी

नहीं किये जाते थे। भगवान् *अच्युत* कहलाते हैं और *भगवद्गीता* में अर्जुन ने भगवान् कृष्ण को इसी नाम से सम्बोधित किया है (*सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत*)। *अच्युत* का अर्थ है, जो कभी गिरता नहीं, क्योंकि प्रकृति के गुणों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जब कोई मनुष्य अपनी मूल स्थिति से नीचे गिरकर भौतिक जगत में आता है, तो वह च्युत कहलाता है, अर्थात् वह *अच्युत* से अपने सम्बन्ध को भूल रहा है। वास्तव में प्रत्येक जीवात्मा भगवान् का अंश या पुत्र है। प्रकृति के गुणों के वश में आकर जीवात्मा इस सम्बन्ध को भूल जाता है और विभिन्न योनियों के रूप में सोचता है, किन्तु जब पुन: उसे पूर्व चेतना प्राप्त होती है, तो वह ऐसी शारीरिक उपाधियों से बाधित नहीं होता। *भगवद्गीता* (५.१८) में *पण्डिता: समदर्शिन:* के शब्दों में इसे सूचित किया गया है।

भौतिक उपाधियों से जाति, रंग, नस्ल, राष्ट्रीयता आदि के रूप में अन्तर उत्पन्न होता है। जहाँ तक भौतिक शरीर का सम्बन्ध है, विभिन्न गोत्र अन्तर बताने वाले हैं, किन्तु जब कोई कृष्णभावनामृत में आ जाता है, तो वह तुरन्त अच्युत गोत्रधारी बन जाता है और इस प्रकार वह जाति, नस्ल, रंग तथा राष्ट्रीयता सम्बन्धी समस्त विचारों को लाँघ जाता है।

पृथु महाराज का ब्राह्मण कुल पर जो वैदिक ज्ञान में विद्वान् पण्डितों का द्योतक है, या अन्य वैष्णवों पर अधिकार न था, जो वैदिक ज्ञान से ऊपर थे। *पद्म पुराण* में यह कहा गया है—

अर्च्ये विष्णौ शिलाधीर्गुरुषु नरमतिर्वैष्णवे जाति-बुद्धि
र्विष्णोर्वा वैष्णवानां कलिमलमथने पादतीर्थेऽम्बुबुद्धि:।
श्रीविष्णोर्नाम्नि मन्त्रे सकलकलुषहे शब्द सामान्यबुद्धि-
र्विष्णौ सर्वेश्वरेशे तदितरसमधीर्यस्य वा नारकी स:॥

''जो यह सोचता है कि मन्दिर का अर्चा-विग्रह काष्ठ या पत्थर का बना है, जो शिष्य-परम्परा में गुरु को सामान्य व्यक्ति मानता है, जो अच्युत गोत्री वैष्णवों को किसी विशेष जाति या नस्ल से सम्बन्धित मानता है या जो चरणामृत अथवा गंगा जल को सामान्य जल मानता है, वह नरक में बसने के योग्य है।''

इस श्लोक में प्रस्तुत किये गये तथ्यों से प्रतीत होता है कि लोग तब तक राजा द्वारा शासित रहने चाहिए, जब तक वे वैष्णवों तथा ब्राह्मणों के पद पर नहीं पहुँच जाते, क्योंकि वे किसी के भी अधीन

नहीं होते। ब्राह्मण वह है, जो ब्रह्म को जानता है और वैष्णव वह है, जो भगवान् की सेवा करता है।

एकदासीन्महासत्रदीक्षा तत्र दिवौकसाम् ।
समाजो ब्रह्मर्षीणां च राजर्षीणां च सत्तम ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; आसीत्—व्रत लिया; महा-सत्र—महान् यज्ञ; दीक्षा—दीक्षा; तत्र—उस उत्सव में; दिव-ओकसाम्—देवताओं का; समाजः—सभा; ब्रह्म-ऋषीणाम्—परम साधु ब्राह्मणों का; च—भी; राज-ऋषीणाम्—परम साधु राजाओं का; च—भी; सत्-तम—सबसे महान् भक्त।

एक बार राजा पृथु ने एक महान् यज्ञ सम्पन्न करने का व्रत लिया जिसमें ऋषि, ब्राह्मण, स्वर्गलोक के देवता तथा बड़े-बड़े राजर्षि एकत्र हुए।

तात्पर्य : इस श्लोक में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कही गई है कि यद्यपि राजा पृथु का वासस्थान भारत में गंगा तथा यमुना नदियों के मध्य में था, किन्तु उनके उस महान् यज्ञ में देवताओं ने भी भाग लिया, जो यह बताता है कि पहले देवतागण इस लोक में आया करते थे। इसी प्रकार अर्जुन, युधिष्ठिर तथा अन्य अनेक महापुरुष उच्चलोकों की यात्रा किया करते थे। इस प्रकार उपयुक्त विमानों तथा अन्तरिक्ष यानों द्वारा लोक लोकान्तर में सञ्चार था।

तस्मिन्नर्हत्सु सर्वेषु स्वर्चितेषु यथार्हतः ।
उत्थितः सदसो मध्ये ताराणामुडुराडिव ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस सभा में; अर्हत्सु—पूज्यों का; सर्वेषु—सभी; सु-अर्चितेषु—भली-भाँति पूजित; यथा-अर्हतः—योग्यता के अनुसार; उत्थितः—उठकर खड़े हो गये; सदसः—सभासदों के; मध्ये—बीच; ताराणाम्—तारों के; उडु-राट्—चन्द्रमा; इव—सदृश।

उस महान् सभा में महाराज पृथु ने सर्वप्रथम समस्त सम्मानीय अतिथियों की उनके पदों के अनुसार यथा-योग्य पूजा की। फिर वे उस सभा के मध्य में खड़े हो गये। ऐसा प्रतीत हुआ मानो तारों के बीच पूर्ण चन्द्रमा का उदय हुआ हो।

तात्पर्य : वैदिक पद्धति के अनुसार पृथु महाराज ने उस यज्ञस्थल पर महापुरुषों के स्वागत की जो व्यवस्था की थी वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतिथि स्वागत की पहली विधि उनका पाद-प्रक्षालन है और वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि जब महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया, तो श्रीकृष्ण को अतिथियों के पाद-प्रक्षालन का कार्य सौंपा गया था। इसी तरह महाराज पृथु ने भी देवताओं, ऋषियों,

ब्राह्मणों तथा महाराजाओं के समुचित स्वागत की व्यवस्था की थी।

प्रांशुः पीनायतभुजो गौरः कञ्जारुणेक्षणः ।
सुनासः सुमुखः सौम्यः पीनांसः सुद्विजस्मितः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

प्रांशुः—अत्यन्त ऊँचा; पीन-आयत—पूर्ण तथा चौड़ी; भुजः—बाँहें; गौरः—गोरे रंग का; कञ्ज—कमल के समान; अरुण-ईक्षणः—चमकीले नेत्र, जो सूर्योदय के समान हैं; सु-नासः—सीधी नाक; सु-मुखः—सुन्दर मुँह; सौम्यः—सौम्य; पीन-अंसः—उठे हुए कंधे; सु—सुन्दर; द्विज—दाँत; स्मितः—हँसते हुए।

राजा पृथु का शरीर अत्यन्त ऊँचा और पुष्ट था और उनका रंग गोरा था। उनकी बाहें पूर्ण तथा चौड़ी और नेत्र उदीयमान सूर्य के समान चमकीले थे। उनकी नाक सीधी, मुख अत्यन्त सुन्दर तथा व्यक्तित्व सौम्य था। मुस्कान से युक्त उनके मुख में दाँत सुन्दर ढंग से लगे थे।

तात्पर्य : चारों वर्णों में क्षत्रिय पुरुष तथा स्त्रियाँ सामान्यत: अत्यन्त सुन्दर होते हैं। जैसाकि अगले श्लोकों से प्रकट है, पृथु के शारीरिक अंग न केवल आकर्षक थे, वरन् उनके शरीर में सभी शुभ लक्षण उपलब्ध थे।

कहा जाता है, "मुख मन का सूचक है।" मनुष्य की मानसिक स्थिति उसके चेहरे की बनावट से प्रकट होती है। किसी व्यक्ति विशेष की शारीरिक बनावट उसके पूर्वकर्मों के अनुसार होती है, क्योंकि पूर्वकर्मों के अनुसार ही उसकी अगली शारीरिक बनावट होती है। चाहे मानव समाज हो, चाहे पशु या देवताओं का समाज हो। विभिन्न प्रकार के शरीरों में देहान्तर का यह प्रमाण है।

व्यूढवक्षा बृहच्छ्रोणिर्वलिवल्गुदलोदरः ।
आवर्तनाभिरोजस्वी काञ्चनोरुरुदग्रपात् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

व्यूढ—चौड़ी; वक्षाः—छाती; बृहत्-श्रोणिः—चौड़ी कमर; वलि—झुर्रियाँ, सिलवट; वल्गु—अत्यन्त सुन्दर; दल—वटवृक्ष की पत्ती के समान; उदरः—पेट; आवर्त—कुण्डलीदार; नाभिः—नाभि; ओजस्वी—प्रकाशयुक्त; काञ्चन—सुनहली; उरुः—जाँघें; उदग्र-पात्—उभरे हुए पंजे।

महाराज पृथु की छाती चौड़ी थी, उनकी कमर अत्यन्त स्थूल तथा उनका उदर बल पड़े हुए होने के कारण वट वृक्ष की पत्तियों की रचना के समान लग रहा था। उनकी नाभि भँवर जैसी तथा गहरी, उनकी जाँघें सुनहरे रंग की तथा उनके पंजे उभरे हुए थे।

सूक्ष्मवक्रासितस्निग्धमूर्धजः कम्बुकन्धरः ।
महाधने दुकूलाछ्ये परिधायोपवीय च ॥ १७॥

शब्दार्थ

सूक्ष्म—अत्यन्त महीन; वक्र—घुँघराले; असित—काले; स्निग्ध—चिकने; मूर्धजः—सिर के बाल; कम्बु—शंख सदृश; कन्धरः—गला; महा-धने—अत्यन्त मूल्यवान; दुकूल-अछ्ये—धोती पहने; परिधाय—शरीर के ऊपरी भाग में; उपवीय—जनेऊ के समान रखा हुआ; च—भी।

उनके सिर के काले तथा चिकने बाल अत्यन्त सुन्दर तथा घुँघराले थे और शंख जैसी गरदन शुभ रेखाओं से अलंकृत थी। वे अत्यन्त मूल्यवान धोती पहने थे और शरीर के ऊपरी भाग में सुन्दर सी चादर ओढ़े थे।

व्यञ्जिताशेषगात्रश्रीर्नियमे न्यस्तभूषणः ।
कृष्णाजिनधरः श्रीमान्कुशपाणिः कृतोचितः ॥ १८॥

शब्दार्थ

व्यञ्जित—सूचित; अशेष—असंख्य; गात्र—शारीरिक; श्रीः—शोभा; नियमे—नियमित; न्यस्त—त्यक्त; भूषणः—वस्त्र; कृष्ण—काला; अजिन—चमड़ी; धरः—धारण किये; श्रीमान्—सुन्दर; कुश-पाणिः—उँगलियों में कुश धारण किये; कृत—सम्पन्न किया; उचितः—वाञ्छित।

चूँकि महाराज को यज्ञ सम्पन्न करने के लिए दीक्षित किया जा रहा था, अतः उन्हें अपने बहुमूल्य वस्त्र उतारने पड़े थे, जिससे उनका प्राकृतिक शारीरिक सौन्दर्य दृष्टिगोचर हो रहा था। उन्हें काला मृग चर्म पहने तथा उँगली में कुश-वलय (पैती) पहने देखकर अच्छा लग रहा था, क्योंकि इससे उनकी शारीरिक कान्ति बढ़ गई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि यज्ञ के पूर्व महाराज पृथु समस्त विधि-सम्मत कृत्य सम्पन्न कर चुके थे।

शिशिरस्निग्धताराक्षः समैक्षत समन्ततः ।
ऊचिवानिदमुर्वीशः सदः संहर्षयन्निव ॥ १९॥

शब्दार्थ

शिशिर—ओस; स्निग्ध—गीला; तारा—नक्षत्र; अक्षः—आँखें; समैक्षत—देखा; समन्ततः—चारों ओर; ऊचिवान्—बोलने लगा; इदम्—यह; उर्वीशः—अत्यन्त सम्मान्य; सदः—सदस्यों के मध्य; संहर्षयन्—उनकी प्रसन्नता को बढ़ाते हुए; इव—मानो।

सभा के सदस्यों को प्रोत्साहित करने तथा उनकी प्रसन्नता को बढ़ाने के लिए राजा पृथु ने, ओस से नम आकाश में तारों के समान नेत्रों से, उन पर दृष्टि फेरी और फिर गम्भीर वाणी में उनसे कहा।

चारु चित्रपदं श्लक्ष्णं मृष्टं गूढमविक्लवम् ।
सर्वेषामुपकारार्थं तदा अनुवदन्निव ॥ २० ॥

शब्दार्थ

चारु—सुन्दर; चित्र-पदम्—अलंकारिक; श्लक्ष्णम्—अत्यन्त स्पष्ट; मृष्टम्—महान्; गूढम्—सार्थक; अविक्लवम्—निःशंक; सर्वेषाम्—सबों को; उपकार-अर्थम्—लाभ पहुँचाने के लिए; तदा—उस समय; अनुवदन्—दुहराने लगा; इव—समान।

महाराज पृथु की वाणी अत्यन्त सुन्दर, आलंकारिक भाषा से युक्त, सुस्पष्ट तथा श्रुतिमधुर थी। उनके शब्द अत्यन्त गम्भीर तथा अर्थवान् थे। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो वे बोलते समय परम सत्य सम्बन्धी अपनी निजी अनुभूति व्यक्त कर रहे थे जिससे वहाँ पर उपस्थित सभी लोग लाभ उठा सकें।

तात्पर्य : महाराज पृथु की बाह्य शारीरिक बनावट अत्यन्त सुन्दर थी और उनकी वाणी भी सभी प्रकार से ओजस्वी थी। उनके शब्द आलंकारिक भाषा से युक्त होने से सुनने में मधुर, विनम्र तथा सुस्पष्ट और किसी प्रकार की शंका या दुविधा से रहित थे।

राजोवाच
सभ्याः शृणुत भद्रं वः साधवो य इहागताः ।
सत्सु जिज्ञासुभिर्धर्ममावेद्यं स्वमनीषितम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने कहा; सभ्याः—हे देवियों और सज्जनों; शृणुत—कृपा करके सुनिये; भद्रम्—कल्याण; वः—तुम्हारा; साधवः—समस्त महापुरुष; ये—जो; इह—यहाँ; आगताः—उपस्थित; सत्सु—भद्र पुरुषों के प्रति; जिज्ञासुभिः—जानने के इच्छुक; धर्मम्—धार्मिक नियम; आवेद्यम्—निवेदन करे; स्व-मनीषितम्—अपना-अपना निश्चय।

राजा पृथु ने कहा : हे सभासदो, आप सब का कल्याण हो। जितने भी महापुरुष इस सभा में उपस्थित हुए हैं, वे मेरी प्रार्थना को ध्यानपूर्वक सुनें। जो भी व्यक्ति वास्तव में कुछ जानने का इच्छुक हो वह भद्र-जनों की इस सभा के समक्ष अपना निश्चय प्रस्तुत करे।

तात्पर्य : प्रस्तुत श्लोक में *साधवः* (समस्त महापुरुष) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जब कोई व्यक्ति महान् एवं विख्यात होता है, तो अनेक दुर्जन उसके शत्रु बन जाते हैं, क्योंकि भौतिकतावादियों का स्वभाव ईर्ष्या करना है। किसी भी सभा में कई प्रकार के लोग रहते हैं, अतः महाराज पृथु की सभा में भी अनेक शत्रु उपस्थित रहे होंगे, भले ही वे अपने आपको व्यक्त न कर सकें। किन्तु महाराज पृथु को ऐसे लोगों की चिन्ता थी जो भद्र थे, अतः सर्वप्रथम उन्होंने समस्त भ्रद पुरुषों को सम्बोधित किया; उन्होंने ईर्ष्यालु व्यक्तियों की परवाह नहीं की। फिर भी उन्होंने अपने को राजा के रूप में प्रस्तुत नहीं

किया, क्योंकि वे ऋषियों तथा साधु पुरुषों की सभा के समक्ष अत्यन्त विनीत भाव से अपने विचार प्रस्तुत करना चाह रहे थे। विश्व सम्राट होने के कारण वे उन्हें आज्ञा दे सकते थे, किन्तु वे इतने विनीत तथा ईमानदार थे कि उन्होंने अपने प्रौढ़ निश्चय को स्पष्ट करने के लिए सर्व स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया। इस जगत का प्रत्येक प्राणी गुणों से बद्ध होने के कारण चार अवगुणों से युक्त रहता है। यद्यपि पृथु महाराज इन सबसे ऊपर थे, तो भी उन्होंने सामान्य बद्धजीव के समान अपने विचार वहाँ पर उपस्थित ऋषियों, मुनियों तथा महापुरुषों के समक्ष रखे।

अहं दण्डधरो राजा प्रजानामिह योजितः ।
रक्षिता वृत्तिदः स्वेषु सेतुषु स्थापिता पृथक् ॥ २२॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; दण्ड-धरः—राजदण्ड धारण करने वाला; राजा—राजा; प्रजानाम्—प्रजा का; इह—इस संसार में; योजितः—तत्पर; रक्षिता—रक्षक; वृत्ति-दः—आजीविका देने वाला; स्वेषु—अपने आप में; सेतुषु—अपनी-अपनी सामाजिक व्यवस्थाओं (मर्यादा) में; स्थापिता—स्थापित; पृथक्—अलग-अलग।

राजा पृथु ने आगे कहा : भगवत्कृपा से मैं इस लोक का राजा नियुक्त हुआ हूँ और मैं प्रजा के ऊपर शासन करने, उसे विपत्ति से बचाने तथा वैदिक आदेश से स्थापित सामाजिक व्यवस्था में प्रत्येक की स्थिति के अनुसार उसे आजीविका प्रदान करने के लिए यह राजदण्ड धारण कर रहा हूँ।

तात्पर्य : यह माना जाता है कि राजा की नियुक्ति भगवान् द्वारा अपने लोक विशेष के हित की रक्षा के लिए की जाती है। प्रत्येक लोक में एक अधिष्ठाता व्यक्ति होता है, जिस प्रकार आजकल प्रत्येक देश का एक राष्ट्रपति होता है। यदि कोई राष्ट्रपति या राजा बनता है, तो यह समझना चाहिए कि उसे यह सुअवसर ईश्वर-प्रदत्त है। वैदिक पद्धति के अनुसार राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मानकर प्रजा द्वारा उसका मानव रूपी ईश्वर के ही समान आदर किया जाता है। वास्तव में वैदिक आदेशों के अनुसार परमेश्वर समस्त जीवात्माओं का और विशेष रूप से मनुष्यों का पालन करता है, जिससे वे उच्चतम पद प्राप्त करें। निम्न योनियों में अनेक जन्म लेते रहने के बाद जब जीवात्मा को मनुष्य योनि प्राप्त होती है विशेष रूप से सभ्य जीवन का तो समाज चार श्रेणियों में बँट जाता है जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* में कहा है (*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्*)। ये चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र समाज के प्राकृतिक वर्ण है और जैसाकि पृथु महाराज ने घोषणा की कि प्रत्येक वर्ण के प्रत्येक व्यक्ति को जीविकोपार्जन

का उपयुक्त साधन प्राप्त होना चाहिए। राजा या सरकार का कर्तव्य है कि वह देखे कि लोग वर्णाश्रम धर्म का पालन करें तथा अपने-अपने व्यवसाय में लगे हों। आधुनिक समय में सरकारी या राजकीय संरक्षण प्राप्त न होने से सामाजिक व्यवस्था लगभग ढह गई है। किसी को भी ज्ञात नहीं है कि कौन ब्राह्मण है, कौन क्षत्रिय है, कौन वैश्य अथवा कौन शूद्र है। लोग अपने को जन्म से ही किसी वर्ण विशेष से सम्बद्ध बताते हैं। सरकार का कर्तव्य है कि वह वृत्तिपरक कार्यों तथा भौतिक प्रकृति के गुणों के अनुसार वर्णाश्रम-व्यवस्था स्थापित करे जिससे सम्पूर्ण संसार सुसंस्कृत हो सके। यदि सरकार चार सामाजिक वर्णों का पालन नहीं करती तो मानव समाज पशु समाज के तुल्य है, जिसमें न शान्ति और न सम्पन्नता रहती है, केवल अशान्ति व्याप्त रहती है। आदर्श राजा के रूप में महाराज पृथु ने वैदिक सामाजिक व्यवस्था का दृढ़तापूर्वक पालन किया।

प्रजायते इति प्रजा। प्रजा शब्द का अर्थ है, जो जन्म लेता है, अतः पृथु राजा ने अपने राज्य में जन्मे सभी लोगों—*प्रजानाम्*—को सुरक्षा प्रदान की। प्रजा का अर्थ न केवल मनुष्य है, वरन् इसमें पशु, वृक्ष तथा अन्य सजीव प्राणी भी आते हैं। यह राजा का कर्तव्य है कि वह सभी को संरक्षण तथा भोजन प्रदान करे। आधुनिक समाज के मूर्ख तथा धूर्तजन सरकार के उत्तरदायित्व-क्षेत्र को नहीं जानते। पशु भी उस भूमि की प्रजा हैं जिसमें उनका जन्म होता है और उन्हें भी भगवान् के सहारे जीने का अधिकार प्राप्त है। पशुओं की बड़े पैमाने पर हत्या से पशुओं की जनसंख्या में गड़बड़ी होने के कारण कसाई, देश तथा सरकार का भविष्य संकट में पड़ जाएगा।

तस्य मे तदनुष्ठानाद्यानाहुर्ब्रह्मवादिनः ।
लोकाः स्युः कामसन्दोहा यस्य तुष्यति दिष्टदृक् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; मे—मेरा; तत्—उस; अनुष्ठानात्—सम्पन्न करने से; यान्—वह जो; आहुः—कहा जाता है; ब्रह्म-वादिनः—वैदिक ज्ञान के वेत्ता; लोकाः—भूखंड; स्युः—होए; काम-सन्दोहाः—इच्छित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए; यस्य—जिसका; तुष्यति—संतुष्ट होता है; दिष्ट-दृक्—नियति का द्रष्टा।

महाराज पृथु ने कहा : मेरा विचार है कि राजा के कर्तव्य-पालन करने से मैं वैदिक ज्ञान के वेत्ताओं द्वारा वर्णित अभीष्ट उद्देश्य प्राप्त कर सकूंगा। यह गन्तव्य निश्चय ही भगवान् की प्रसन्नता से प्राप्त होता है, जो समस्त नियति का द्रष्टा है।

तात्पर्य : महाराज पृथु ने *ब्रह्मवादिनः* (वैदिक ज्ञान में दक्षजनों द्वारा) शब्द पर बल दिया है। ब्रह्म

वेदों का सूचक है, जिन्हें *शब्द-ब्रह्म* भी कहा जाता है। लिपिबद्ध सामान्य भाषा में लिखित होने पर भी सामान्य भाषा नहीं। वैदिक साहित्य के साक्ष्य को ही अन्तिम प्रमाण मानना चाहिए। वैदिक साहित्य में पर्याप्त जानकारी है, विशेषत:राजा के कर्तव्य पालन के सम्बन्ध में प्रचुर जानकारी प्राप्त है। जो राजा अपने लोक के समस्त प्राणियों को सुरक्षा प्रदान करते हुए अपने निर्धारित कर्तव्य निबाहता है, वह स्वर्गलोक का भागी होता है। यह सब परमेश्वर की प्रसन्नता पर भी निर्भर है। इसका अर्थ यह नहीं है कि यदि कोई अपना कर्तव्य भली-भाँति निबाहता है, तो वह स्वत: स्वर्गलोक चला जाएगा, यह तो परमेश्वर के प्रसन्न होने पर निर्भर करता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि परमेश्वर को प्रसन्न कर लेने पर मनुष्य को अपने कार्यों का वांछित फल प्राप्त होता है। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध के द्वितीय अध्याय में भी इसकी पुष्टि हुई है—

अत: पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागश: ।

स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् ॥

नियत कार्यों का ठीक से सम्पादन ही परमेश्वर की परम तुष्टि है। *काम-सन्दोहा* शब्द का अर्थ है, ''वांछित फल की प्राप्ति।'' प्रत्येक प्राणी जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है, किन्तु आधुनिक सभ्यता के महान् वैज्ञानिक सोचते हैं कि मनुष्य जीवन की कोई योजना नहीं है। यह निपट मूर्खता अत्यन्त घातक है और सभ्यता को अत्यन्त खतरनाक बनाती है। लोग प्रकृति के उन नियमों को नहीं जानते जो परमेश्वर के आदेश हैं। पक्के नास्तिक होने के कारण उनका ईश्वर के अस्तित्व तथा उनके आदेशों पर कोई विश्वास नहीं होता, अत: वे यह नहीं जान पाते कि प्रकृति किस प्रकार कार्यशील है। आम जनता की, जिसमें तथाकथित वैज्ञानिक तथा दार्शनिक सम्मिलित हैं, यह निरी मूर्खता जीवन को ऐसा भयावह बना देती है, जिससे लोग यह नहीं जान पाते कि वे जीवन में उन्नति कर रहे हैं अथवा नहीं। *श्रीमद्भागवत* (७.५.३०) के अनुसार वे संसार के गहनतम क्षेत्र की ओर अग्रसर हो रहे हैं— *अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रम्।* अत: दार्शनिकों, वैज्ञानिकों तथा सामान्य जनों को जीवन की नियति के विषय में सही ज्ञान प्रदान करने के लिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन चलाया गया है। प्रत्येक व्यक्ति को इस आन्दोलन से लाभ उठाना चाहिए और यह सीखना चाहिए कि जीवन का वास्तविक लक्ष्य क्या है।

य उद्धरेत्करं राजा प्रजा धर्मेष्वशिक्षयन् ।
प्रजानां शमलं भुङ्क्ते भगं च स्वं जहाति सः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई (राजा या शासक); उद्धरेत्—वसूल करते हैं; करम्—कर, टैक्स; राजा—राजा; प्रजाः—नागरिक; धर्मेषु—अपने-अपने कर्तव्यों में; अशिक्षयन्—उन्हें उनके कर्तव्यों की शिक्षा दिये बिना; प्रजानाम्—नागरिकों का; शमलम्—अपवित्र; भुङ्क्ते—भोगता है; भगम्—धन; च—भी; स्वम्—अपना; जहाति—त्यागता है; सः—वह राजा।

कोई राजा जो अपनी प्रजा को वर्ण तथा आश्रम के अनुसार अपने-अपने कर्तव्यों को करने की शिक्षा न देकर उनसे केवल कर और उपकर वसूल करता है, उसे प्रजा द्वारा किये गये अपवित्र कार्यों के लिए दण्ड भोगना होता है। ऐसी अवनति के साथ ही राजा की अपनी सम्पदा भी जाती रहती है।

तात्पर्य : राजा, शासक या राष्ट्रपति को चाहिए कि अपना कर्तव्य निबाहे बिना केवल अपने पद पर बना न रहे। उसे अपने राज्य के अन्तर्गत लोगों को सिखाना चाहिए कि वर्ण तथा आश्रम धर्म का कैसे निर्वाह किया जाये। यदि राजा ऐसे आदेश देने में ढिलाई बरतता है और मात्र कर लगाने में ही सन्तुष्ट रहता है, तो जो इस संग्रहण कार्य में शरीक होते हैं यथा सभी सरकारी कर्मचारी तथा राज्य का प्रमुख, उन्हें जनता के अपवित्र कार्यों (पापकर्मों) का भागी होना पड़ता है। प्रकृति के नियम अत्यन्त सूक्ष्म हैं। उदाहरणार्थ, यदि कोई किसी पापमय स्थान पर भोजन करता है, तो वह वहाँ पर घटित पाप के कर्मफल का भागी होता है (इसीलिए वैदिक प्रथा है कि गृहस्थ ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को उत्सव सम्पन्न करते समय अपने घर भोजन करने के लिए आमंत्रित करता है, क्योंकि ब्राह्मण और वैष्णव उसे पापकर्म से मुक्त करा सकते हैं, किन्तु कट्टर ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को चाहिए कि वे सभी जगहों के आमंत्रण स्वीकार न करें। हाँ, जिन भोजों में प्रसाद वितरित होता हो वहाँ जाने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है)। ऐसे अनेक सूक्ष्म नियम हैं जिनका लोगों को ज्ञान नहीं होता, किन्तु कृष्णभावनामृत आन्दोलन विश्व-भर के लोगों के लाभार्थ इस वैदिक ज्ञान का वैज्ञानिक विधि से प्रचार कर रहा है।

तत्प्रजा भर्तृपिण्डार्थं स्वार्थमेवानसूयवः ।
कुरुताधोक्षजधियस्तर्हि मेऽनुग्रहः कृतः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; प्रजाः—हे प्रजागण; भर्तृ—स्वामी के; पिण्ड-अर्थम्—मृत्यु के पश्चात् कल्याण; स्व-अर्थम्—अपना हित; एव—निश्चय ही; अनसूयवः—बिना ईर्ष्या के; कुरुत—करो; अधोक्षज—भगवान्; धियः—उनका चिन्तन; तर्हि—अतः; मे—मुझ पर; अनुग्रहः—कृपा; कृतः—की गई।

पृथु महाराज ने आगे कहा : अतः प्रिय प्रजाजनों, तुम्हें अपने राजा की मृत्यु के बाद उसके कल्याण के लिए वर्ण तथा आश्रम की अपनी-अपनी स्थितियों के अनुसार अपने-अपने कर्तव्यों का उचित ढंग से पालन करना चाहिए और उस के साथ ही अपने हृदयों में भगवान् का निरन्तर चिन्तन करना चाहिए। ऐसा करने से तुम अपने हितों की रक्षा कर सकोगे और अपने राजा की मृत्यु के उपरान्त उसके कल्याण के लिए अनुग्रह प्रदान कर सकोगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अधोक्षज-धियः* शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं जिनका अर्थ है "कृष्णभावनामृत।" राजा तथा प्रजा दोनों को कृष्णभावनाभावित होना चाहिए अन्यथा मृत्यु के बाद उन्हें निम्न योनियों में जाना होगा। उत्तरदायी सरकार को चाहिए कि सबों के लाभ हेतु कृष्णभावनामृत की शिक्षा दे। कृष्णभावनामृत के बिना राज्य अथवा नागरिक कोई भी जिम्मेदार नहीं बन सकते। अतः पृथु महाराज ने नागरिकों से विशेष रूप से अनुरोध किया कि वे कृष्णभावनाभावित हों और वे उन्हें यह सिखाने के लिए अत्यधिक उत्सुक थे। कृष्णभावनामृत का सार *भगवद्गीता* (९.२७) में दिया हुआ है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

"तू जो भी कर्म करे, जो कुछ खाए, जो कुछ दान दे और जो भी तपस्या करे, वह सब कृष्णभावनामृत में करे या भगवान् को प्रसन्न करने के लिए करे।" यदि सरकारी नौकरों समेत राज्य के सारे लोगों को आध्यात्मिक जीवन की विधि सिखला दी जाये तो यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के कठोर नियमों के द्वारा विभिन्न प्रकार से कड़ा से कड़ा दण्ड पा सकता है, किन्तु वे इनसे प्रभावित नहीं होंगे।

यूयं तदनुमोदध्वं पितृदेवर्षयोऽमलाः ।
कर्तुः शास्तुरनुज्ञातुस्तुल्यं यत्प्रेत्य तत्फलम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यूयम्—यहाँ पर उपस्थित तुम सभी; तत्—उस; अनुमोदध्वम्—मेरे प्रस्ताव का अनुमोदन करें; पितृ—पितृलोक से आने वाले लोग; देव—स्वर्ग से आने वाले लोग; ऋषयः—बड़े-बड़े मुनि तथा साधुपुरुष; अमलाः—पापकर्मों से निर्मल; कर्तुः—कर्ता; शास्तुः—आज्ञा देने वाला; अनुज्ञातुः—समर्थक का; तुल्यम्—समान; यत्—जो; प्रेत्य—मरकर; तत्—वह; फलम्—फल।

मैं समस्त शुद्ध अन्तःकरण वाले देवताओं, पितरों तथा साधुपुरुषों से प्रार्थना करता हूँ कि वे

मेरे प्रस्ताव का समर्थन करें, क्योंकि मृत्यु के पश्चात् किसी भी कर्म का फल इसके कर्ता, आदेशकर्ता तथा समर्थक के द्वारा समान रूप से भोग्य होता है।

तात्पर्य : पृथु महाराज का शासन परिपूर्ण था, क्योंकि यह वैदिक आदेशों के अनुसार चलाया जा रहा था। पृथु महाराज पहले ही बता चुके हैं कि सरकार का मुख्य कर्तव्य यह देखना है कि सभी लोग अपना-अपना कर्तव्य निबाहें और कृष्णभावनामृत के पद तक ऊपर उठें। सरकार को इस तरह चलाया जाये कि प्रत्येक व्यक्ति स्वत: कृष्णभावनाभावित हो सके। अत: राजा पृथु चाह रहे थे कि वे इसमें उनका सम्पूर्ण सहयोग दें, क्योंकि उनकी सहमति होने पर मृत्यु के पश्चात् उन्हें भी राजा के ही समान लाभ मिलेगा। यदि कुशल राजा होने के कारण पृथु महाराज को स्वर्ग की प्राप्ति हो तो उनको सहयोग देने वाली प्रजा भी उनके साथ ऊपर उठ सकेगी। चूँकि इस समय जो कृष्णभावनामृत-आन्दोलन चलाया जा रहा है, वह शुद्ध, परिपूर्ण तथा प्रामाणिक है और पृथु महाराज के चरणचिह्नों का अनुसरण कर रहा है, अत: जो भी इस आन्दोलन में सहयोग देता है या इसके नियमों को स्वीकार करता है, उसे वही फल मिलेगा जो कृष्णभावनामृत का सक्रिय रूप से प्रचार करनेवाले कार्यकर्ताओं को मिलेगा।

अस्ति यज्ञपतिर्नाम केषाञ्चिदर्हसत्तमाः ।
इहामुत्र च लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नावत्यः क्वचिद्भुवः ॥ २७॥

शब्दार्थ

अस्ति—है; यज्ञ-पतिः—समस्त यज्ञों का भोक्ता; नाम—नामक; केषाञ्चित्—कुछ के मत से; अर्ह-सत्तमाः—हे माननीय; इह—इस लोक में; अमुत्र—मृत्यु के बाद; च—भी; लक्ष्यन्ते—दृष्टिगोचर हैं; ज्योत्स्ना-वत्यः—शक्तिमान, सुन्दर; क्वचित्—कहीं कहीं; भुवः—शरीर।

माननीय देवियो तथा सज्जनो, शास्त्रों के प्रामाणिक कथनों के अनुसार कोई ऐसा परम अधिकारी होना चाहिए जो हमें अपने-अपने वर्तमान कार्यों के अनुसार पुरस्कृत कर सके। अन्यथा इस जीवन में तथा मृत्यु के बाद के जीवन में कुछ लोग असामान्य सुन्दर तथा शक्तिमान क्योंकर हो सकते हैं?

तात्पर्य : पृथु महाराज का अपने राज्य में शासन करने का एकमात्र उद्देश्य अपनी प्रजा को ईश्वर-चेतना के पद तक उठाना था। चूँकि यज्ञशाला में विशाल सभा एकत्र थी, अत: वहाँ विभिन्न प्रकार के लोग उपस्थित थे, किन्तु उनकी अभिरुचि उन लोगों से बातें करने में थी जो नास्तिक नहीं थे। पिछले श्लोकों में बताया जा चुका है कि पृथु महाराज ने नागरिकों को *अधोक्षज-धियः* अर्थात् कृष्ण

भावनाभावित बनने की सलाह दी थी और इस श्लोक में वे शास्त्रों का प्रमाण विशेष रूप से प्रस्तुत करते हैं, यद्यपि उनका पिता कट्टर नास्तिक था, जो वेदों में वर्णित आदेशों का पालन नहीं करता था और जिसने समस्त यज्ञों को रोक रखा था जिससे सारे ब्राह्मण रूष्ट हो गये थे और उन्होंने उसको न केवल सिंहासनच्युत किया था, वरन् शाप देकर मार डाला था। नास्तिक लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। वे दैनन्दिन जीवन में जो भी घटनाएँ घटती हैं उन्हें भौतिक व्यवस्था तथा दैवयोग के कारण हुई मानते हैं। नास्तिक लोग *प्रकृति* तथा *पुरुष* के संयोग के निरीश्वर सांख्य दर्शन में विश्वास करते हैं। वे केवल पदार्थ को मानते हैं और उनकी यह धारणा है कि मिश्रण की कतिपय परिस्थितियों में प्राण का उदय होता है, जो *पुरुष* रूप में प्रकट होता है, फिर पदार्थ तथा प्राण के संयोग से अनेक प्रकार की सृष्टियाँ होती हैं। नास्तिक लोग वेदों के आदेशों की भी नहीं मानते। उनके अनुसार सभी वैदिक आदेश मात्र ऐसे सिद्धान्त हैं जिनका जीवन में कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए पृथु महाराज ने सुझाव रखा कि आस्तिक लोग नास्तिकों के विचारों का ठोस खंडन इस आधार पर करेंगे कि श्रेष्ठबुद्धि की व्यवस्था के बिना अनेक प्रकार की सृष्टियाँ सम्भव नहीं हैं। नास्तिक लोग अस्पष्ट रूप से कहते हैं कि ये विभिन्न सृष्टियाँ संयोगवश बनती हैं; किन्तु आस्तिक लोग वेदों के आदेशों पर विश्वास करने के कारण वेदों के निर्देशानुसार ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

विष्णु पुराण में कहा गया है कि सारी की सारी वर्णाश्रम व्यवस्था भगवान् को प्रसन्न करने के लिए है। ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों या कि ब्रह्मचारियों, गृहस्थों, वानप्रस्थों तथा संन्यासियों के कर्तव्यों के पालन हेतु बनाये गये विधि-विधान परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए बने हैं। यद्यपि सम्प्रति तथाकथित ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों ने मूल संस्कृति खो दी है, तो भी वे जन्म-अधिकार से अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र होने का दावा करते हैं। पर वे यह मानने को तैयार नहीं कि ये सामाजिक तथा आध्यात्मिक व्यवस्थाएँ भगवान् विष्णु की पूजा के लिए हैं। शंकराचार्य ने जो घातक मायावाद सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि ईश्वर निराकार है, वह वेदों के आदेशों से मेल नहीं खाता; इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने मायावादी चिन्तकों को भगवान् के विरुद्ध सबसे बड़ा अपराधी बतलाया है। वैदिक प्रणाली के अनुसार जो वेदों की आज्ञाएँ नहीं मानता वह नास्तिक है। जब भगवान् बुद्ध ने

अहिंसा के सिद्धान्त का उपदेश दिया तो उन्हें वेदों के प्रमाण को बाध्य होकर इनकार करना पड़ा, जिसके फलस्वरूप वेद-अनुयायियों ने उन्हें नास्तिक मान लिया। यद्यपि श्री चैतन्य महाप्रभु ने बौद्ध दर्शन के अनुयायियों को नास्तिक बतलाया, क्योंकि वे वेदों के प्रमाण का निषेध करते हैं, किन्तु वे शंकराचार्य मतानुयायियों को बौद्धों से अधिक घातक मानते थे, क्योंकि वे छलपूर्वक वेदों के प्रमाण को स्थापित करना चाहते थे, किन्तु वास्तव में वे बौद्धों के मायावादी दर्शन का अनुसरण करते थे। शंकरवादी दार्शनिकों का यह सिद्धान्त है कि हमें ईश्वर का स्वरूप कल्पित करना होता है, जो ईश्वर की सत्ता के निषेध से कहीं अधिक घातक होता है। नास्तिकों तथा मायावादियों द्वारा इस प्रकार से दार्शनिक सिद्धान्त बनाने के बावजूद कृष्णभावनामृत के अनुयायी भगवद्गीता में दिये गये आदेशों का दृढ़ता से पालन करते हैं, क्योंकि भगवद्गीता को वैदिक शास्त्र का सार माना जाता है। *भगवद्गीता* (१८.४६) में कहा गया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

"जिस परमेश्वर से सब प्राणियों का जन्म हुआ है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त है, मनुष्य अपने स्वाभाविक कर्म से उसे पूजकर सिद्धि प्राप्त करता है।" इससे सूचित होता है कि भगवान् प्रत्येक वस्तु का मूल स्रोत है जैसाकि *वेदान्त सूत्र* में कहा गया है (*जन्माद्यस्य यतः*)। स्वयं भगवान् ने भी *भगवद्गीता* में पुष्टि की है—*अहं सर्वस्य प्रभवः*—"मैं प्रत्येक वस्तु का मूल हूँ।" भगवान् समस्त उद्भवों का मूल स्रोत है और उसी के साथ परमात्मा-रूप में वह सारी सृष्टि में फैला हुआ है, अतः परम सत्य तो भगवान् हैं और हर एक जीव अपना कर्तव्य करते हुए भगवान् को प्रसन्न रखने के लिए है (*स्व-कर्मणा तमभ्यर्च्य*)। महाराज पृथु इस सूत्र को जनता के बीच में प्रचारित करना चाहते थे।

मानव-सभ्यता की सबसे बड़ी महत्ता यह है कि मनुष्य को विभिन्न वृत्तिपरक कर्तव्यों में लगा रहकर इनके द्वारा परमेश्वर को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करना चाहिए। यही जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है—*स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्*—नियत कर्तव्य को पूरा करते हुए यदि कोई भगवान् को केवल प्रसन्न कर लेता है, तो वह जीवन में सफल होता है। इसका ज्वलन्त उदाहरण अर्जुन है। वह

क्षत्रिय था, उसका कर्तव्य लड़ना था। उसने नियत कर्तव्यों का पालन करते हुए परमेश्वर को तुष्ट किया। अत: वह परिपूर्ण (सिद्ध) हो गया। हर एक को इसी नियम का पालन करना चाहिए। जो नास्तिक ऐसा नहीं करते उनकी भर्त्सना *भगवद्गीता* (१६.१९) में इस प्रकार की गई है—*तानहं द्विषत: क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।* इस श्लोक में स्पष्ट उल्लेख है कि जो व्यक्ति ईश्वर से द्वेष रखते हैं, वे अत्यन्त अधम तथा अत्यधिक उपद्रवी मनुष्य होते हैं। परमेश्वर के विधि-विधानों के अन्तर्गत ऐसे उपद्रवी मनुष्यों को संसार के गहनतम भाग में डाल दिया जाता है और वे असुरों से या नास्तिकों से जन्म लेते हैं। जन्म-जन्मांतर ऐसे असुर और भी नीचे जाते रहते हैं और अन्त में बाघों या अन्य हिंस्र पशुओं की योनि में जाते हैं। इस प्रकार उन्हें लाखों वर्षों तक कृष्णज्ञान के बिना अंधकार में रहना होता है।

भगवान् पुरुषोत्तम कहलाते हैं। वे अन्य जीवों की ही तरह होते हैं, किन्तु वे समस्त जीवों में श्रेष्ठ होते हैं या उनके नायक होते हैं। इसका उल्लेख वेदों में भी हुआ है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।* वे समस्त नित्यों के प्रधान, समस्त जीवात्माओं के प्रधान और पूर्ण हैं। उन्हें अन्य जीवों के मामलों में हस्तक्षेप करके कोई लाभ प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रहती, किन्तु सबों के पालक होने के कारण उन्हें अधिकार है कि वे उन्हें ऐसे स्तर पर ले आएँ कि सभी जीव सुखी रहें। पिता चाहता है कि उसके सभी पुत्र उसके निर्देशन में सुखी हों। इसी प्रकार भगवान् या कृष्ण या परमात्मा को अधिकार है कि वे सभी जीवों को सुखी देखें। इस संसार में रहते हुए, किसी के लिए सुखी रहने की संभावना नहीं है। पिता तथा पुत्र तो नित्य हैं, किन्तु यदि जीवात्मा आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण शाश्वत जीवन के पद को प्राप्त नहीं करता तो उसके सुख का प्रश्न ही नहीं होता, किन्तु उन्हें अधिकार है कि अच्छों तथा बुरों में वे भेद करें यद्यपि पुरुषोत्तम को सामान्य जीवों से कोई लाभ नहीं उठाना होता। सही मार्ग यही होना चाहिए कि भगवान् को प्रसन्न करने के लिए कर्म किये जाँय जैसाकि हम बता चुके हैं (*स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्*)। जीवात्मा चाहे जो भी कर्म करे, किन्तु यदि उसे सिद्धि चाहिए तो भगवान् को प्रसन्न करना होगा। अत: जो उन्हें प्रसन्न कर लेता है उसे जीवन की अच्छी सुविधाएँ प्राप्त होती हैं और जो अप्रसन्न रखता है, वह अवांछित स्थितियों में पड़ता है।

अत: यह निष्कर्ष निकला कि दो प्रकार के कर्म हैं—संसारी तथा यज्ञार्थ (*यज्ञार्थात्-कर्म*)। जो कर्म यज्ञ के लिए नहीं होता वह बन्धन का कारण बनता है—*यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं*

कर्मबन्धन:—"विष्णु के यज्ञ हेतु कर्म करना होता है अन्यथा यह कर्म मनुष्य को भौतिक संसार के बन्धन में डालता है" (*भगवद्गीता* ३.९)। यह कर्म बन्धन प्रकृति के कठोर नियमों के अनुसार प्रदान किया जाता है। यह भौतिक जीवन प्रकृति के द्वारा समुपस्थित अवरोधों पर विजय प्राप्त करने के लिए एक संघर्ष होता है। असुर-गण इन अवरोधों पर विजय पाने के लिए सतत संघर्ष करते रहते हैं और प्रकृति की मोहमयी शक्ति से अज्ञानी जीवात्माएँ कठिन परिश्रम करती हैं और इसी को सुख मानती हैं। यह माया कहलाती है। कठिन जीवन-संघर्ष के कारण वे पुरुषोत्तम भगवान् की सत्ता को अस्वीकार कर देते हैं।

जीवात्माओं के कार्यों को नियमित रखने के लिए ईश्वर ने हमें संहिताएँ प्रदान की हैं जिस प्रकार राजा अपने राज्य में विधि-संहिताएँ जारी करता है और जो भी नियम भंग करता है, वह दण्डित होता है। इसी प्रकार भगवान् ने वेदों का अच्युत ज्ञान प्रदान किया है, जिसे मानव जीवन के चार प्रकार के दोष कलुषित नहीं कर पाते। ये हैं त्रुटि करना, मोहग्रस्त होना, ठगना तथा इन्द्रियों का अपूर्ण होना। यदि हम वेदों से निर्देश न लेकर मनमाने ढंग से कार्य करते हैं, तो हम ईश्वरी नियमों के द्वारा अवश्य दण्डित होंगे, क्योंकि ईश्वर चौरासी लाख योनियाँ प्रदान करता है। प्रकृति द्वारा प्रदत्त शरीर के अनुसार ही भौतिक जीवन अथवा इन्द्रियतृप्ति की क्रिया चलती रहती है, फलत: कर्मों का विभाजन पाप तथा पुण्य के रूप में हुआ है। *भगवद्गीता* (७.२८)में स्पष्ट उल्लेख है—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रता:॥

"जिन्होंने पुण्यकर्मों का आचरण किया है और जिनके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये हैं, वे द्वन्द्व रूप मोह से मुक्त पुरुष निष्ठापूर्वक मेरी सेवा करते हैं।" भगवान् की प्रेमाभक्ति में इस प्रकार लगे रहने को *अक्षोक्षज धिय:* कहते हैं जिसे राजा पृथु अपनी प्रजा द्वारा पालन किया जाना चाह रहे थे।

विभिन्न प्रकार के जीव संयोगवश तथा आवश्यकता के कारण नहीं उत्पन्न होते, ये तो जीवात्माओं के पाप तथा पुण्यकर्मों के अनुसार ईश्वर द्वारा निर्मित विभिन्न व्यवस्थाएँ होती हैं। पुण्यकर्म करके मनुष्य अच्छे राष्ट्र में, अच्छे परिवार में जन्म ले सकता है, सुन्दर शरीर प्राप्त कर सकता है और अच्छी शिक्षा प्राप्त कर सकता है या धनी बन सकता है। अतएव हम देखते हैं कि विभिन्न देशों तथा लोकों में जीवन

स्तर, शारीरिक स्वरूप तथा शैक्षिक स्तर भिन्न-भिन्न होते हैं और ये सब भगवान् द्वारा पाप या पुण्यकर्मों के अनुसार प्रदत्त हैं। अत: जीवन के विभिन्न प्रकार संयोगवश नहीं, अपितु पूर्वयोजना से विकसित होते हैं। यह योजना वेदों में वर्णित है। मनुष्य को चाहिए कि इस ज्ञान से लाभ उठाए और अपने जीवन को इस प्रकार ढाले कि जीवन के अन्त में, विशेष रूप से मनुष्य जीवन के अन्त समय, कृष्ण-चेतना का अभ्यास करते हुए भगवान् के धाम जा सके।

संयोग के सिद्धान्त की श्रेष्ठ व्याख्या वैदिक साहित्य में *अज्ञात-सुकृति* शब्दों में प्राप्त होती है, जिससे कर्ता के अनजाने किये गये पुण्यकर्मों का बोध होता है। किन्तु ये कर्म भी पूर्वनियोजित होते हैं। उदाहरणार्थ, कृष्ण सामान्य मनुष्य के रूप में आते हैं, वे चैतन्य महाप्रभु जैसे भक्त के रूप में आते हैं या फिर अपना प्रतिनिधि गुरु या शुद्ध भक्त के रूप में भेजते हैं। यह भी भगवान् द्वारा नियोजित कार्य होता है। वे प्रचार करने तथा शिक्षा देने आते हैं, अत: परमेश्वर के मायावश पुरुष को उनसे मिलने, बोलने तथा शिक्षा ग्रहण करने का अवसर प्राप्त होता है और यदि किसी प्रकार से बद्धजीव ऐसे महापुरुषों की शरण में आता है और उनके घनिष्ठ सम्पर्क से कृष्णभक्त बन जाता है, तो वह भौतिक जीवन की परिस्थितियों से बच जाता है। अत: *भगवद्गीता* (१८.६६) में श्रीकृष्ण आदेश देते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच: ॥

"सब प्रकार के धर्मों को छोड़ो और मेरी शरण में आओ। मैं तुम्हें सारे पाप कर्मों से मुक्त कर दूँगा। डरो नहीं।" *सर्व पापेभ्य:* का अर्थ है "समस्त पापपूर्ण कार्यों से।" जो व्यक्ति शुद्ध भक्त, गुरु या पृथु महाराज जैसे भगवान् के प्रामाणिक अवतार की संगति का लाभ उठाकर ईश्वर की शरण में जाता है उसकी रक्षा कृष्ण करते हैं। तब उसका जीवन सफल हो जाता है।

मनोरुत्तानपादस्य ध्रुवस्यापि महीपते: ।
प्रियव्रतस्य राजर्षेरङ्गस्यास्मत्पितु: पितु: ॥ २८ ॥
ईदृशानामथान्येषामजस्य च भवस्य च ।
प्रह्लादस्य बलेश्चापि कृत्यमस्ति गदाभृता ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

मनोः—मनु (स्वायंभुव मनु) के; उत्तानपादस्य—ध्रुव महाराज के पिता उत्तानपाद के; ध्रुवस्य—ध्रुव महाराज के; अपि—निश्चय ही; मही-पतेः—राजा के; प्रियव्रतस्य—ध्रुव महाराज के परिवार में प्रियव्रत के; राजर्षेः—राजर्षि का; अङ्गस्य—अङ्ग के; अस्मत्—मेरे; पितुः—पिता के; पितुः—पिता के; ईदृशानाम्—ऐसे महापुरुषों के; अथ—भी; अन्येषाम्—अन्यों के; अजस्य—परम अमर के; च—भी; भवस्य—जीवात्माओं के; च—भी; प्रह्लादस्य—महाराज प्रह्लाद के; बलेः—महाराज बलि के; च—भी; अपि—निश्चय ही; कृत्यम्—उनके द्वारा स्वीकार किया हुआ; अस्ति—है; गदा-भृता—गदा धारण करने वाले भगवान्।

इसकी पुष्टि न केवल वेदों के साक्ष्य से होती है, अपितु मनु, उत्तानपाद, ध्रुव, प्रियव्रत तथा मेरे पितामह अंग एवं महाराज प्रह्लाद तथा बलि जैसे अन्य महापुरुषों तथा सामान्य व्यक्तियों के व्यक्तिगत आचरण द्वारा होती है। ये सभी आस्तिक थे और गदाधारी भगवान् के अस्तित्व में विश्वास करने वाले थे।

तात्पर्य : नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं कि मनुष्य को अपने कार्यों के सही मार्ग का निर्धारण साधु पुरुषों के चरणचिह्नों तथा किसी गुरु के पथप्रदर्शन में ज्ञानग्रंथों (शास्त्रों) के अनुसरण द्वारा करना चाहिए (*साधु-शास्त्र-गुरु-वाक्य*)। साधु पुरुष वैदिक आदेशों को प्रमाण मानकर तथा गुरु महापुरुषों के जीवन से उदाहरण देकर समुचित निर्देशन करता है। अपना जीवन सुधारने के लिए सर्वोत्तम विधि यही है कि यहाँ पर महाराज पृथु ने स्वायंभुव मनु से लेकर जिन अधिकारी महापुरुषों के नाम गिनाये हैं, उनके पदचिह्नों पर चला जाये। जीवन में सबसे सुरक्षित मार्ग यही है कि *श्रीमद्भागवत* में उल्लिखित महापुरुषों का अनुसरण किया जाये। ब्रह्मा, शिव, नारद, मनु, चारों कुमार, प्रह्लाद, बलि, यमराज, भीष्म, जनक, शुकदेव गोस्वामी तथा कपिल—ये सब महाजन हैं।

दौहित्रादीनृते मृत्योः शोच्यान्धर्मविमोहितान् ।
वर्गस्वर्गापवर्गाणां प्रायेणैकात्म्यहेतुना ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

दौहित्र-आदीन्—मेरे पिता वेन जैसे दौहित्र; ऋते—के अतिरिक्त; मृत्योः—मृत्यु के; शोच्यान्—शोचनीय; धर्म-विमोहितान्—धर्म के पथ पर मोहग्रस्त हुए; वर्ग—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष; स्वर्ग—स्वर्गलोक तक ऊपर उठना; अपवर्गाणाम्—भौतिक कल्मष से मुक्त; प्रायेण—प्रायः; एक—एक; आत्म्य—श्रीभगवान्; हेतुना—के कारण।

यद्यपि धर्म के पथ पर साक्षात् मृत्यु के दौहित्र तथा मेरे पिता वेन जैसे शोचनीय पुरुष मोहग्रस्त हो जाते हैं, किन्तु ऊपर जिन समस्त महापुरुषों का उल्लेख हुआ है, वे यह स्वीकार करते हैं कि चतुर्वर्गों—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—का अथवा स्वर्ग के एकमात्र दाता पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर हैं।

तात्पर्य : पृथु महाराज के पिता राजा वेन को ब्राह्मणों तथा साधुओं द्वारा तिरस्कृत होना पड़ा,

क्योंकि उसने भगवान् के अस्तित्व का निषेध करते हुए भगवान् को वैदिक यज्ञों द्वारा तुष्ट करने की विधि का बहिष्कार किया। दूसरे शब्दों में, वह नास्तिक था; उसका ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास न था और उसने अपने राज्य में वैदिक यज्ञों पर रोक लगा दी थी। पृथु महाराज ने वेन के चरित्र को शोचनीय कहा है, क्योंकि धार्मिक कृत्यों के सम्पन्न किये जाने के विषय में वह मूर्ख था। नास्तिकों का मत है कि धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्ष में सफलता पाने के लिए भगवान् की सत्ता स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उनके अनुसार धर्म का उद्देश्य काल्पनिक ईश्वर की स्थापना है, जो मनुष्य को सच्चरित्र ईमानदार तथा न्यायप्रिय बनने के लिए प्रेरित करता है, जिससे सामाजिक व्यवस्था शान्ति के साथ चलती रहे। यही नहीं, वे यह भी कहते हैं कि इस कार्य के लिए ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सच्चरित्रता तथा नैतिकता के नियमों का अनुपालन पर्याप्त होगा। इसी प्रकार अच्छी-अच्छी योजनाएँ बनाकर यदि आर्थिक विकास के लिए श्रम किया जाये तो स्वतः आर्थिक उन्नति हो जाएगी। इसी प्रकार इन्द्रियतृप्ति ईश्वर की कृपा के अधीन नहीं है, क्योंकि यदि कोई चाहे किसी भी साधन से प्रचुर धन अर्जित करता है, तो उसे इन्द्रियतृप्ति के अनेक अवसर प्राप्त होंगे। जहाँ तक मोक्ष का प्रश्न है उनका कथन है कि मोक्ष की बात करने की कोई आवश्यकता नहीं हैं क्योंकि मरने के बाद सब कुछ समाप्त हो जाता है। किन्तु महाराज पृथु ने ऐसे नास्तिकों के प्रमाण को, जिनका अग्रणी, मृत्यु का दौहित्र तथा उनका पिता वेन था, नहीं स्वीकार किया। सामान्यतः पुत्री पिता के गुण अर्जित करती है और पुत्र अपनी माता के गुण पाता है। इस प्रकार मृत्यु की पुत्री सुनीथा को अपने पिता के सारे गुण मिले और वेन ने माता के गुणों को उत्तराधिकार में पाया। जो मनुष्य जन्म-मृत्यु के चक्र के विधि-विधानों द्वारा नियंत्रित होता है उसके विचार भौतिक ही बने रहते है। चूँकि राजा वेन ऐसा ही व्यक्ति था, अतः वह ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानता था। आधुनिक सभ्यता राजा वेन के ही सिद्धान्तों को मानती है, किन्तु यदि हम धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का विश्लेषणात्मक अध्ययन करें तो हमें भगवान् की सत्ता को मानना पड़ेगा। वैदिक साहित्य के अनुसार ईश्वर द्वारा प्रदत्त विधि-संहिता ही धर्म है।

यदि कोई धर्म तथा नैतिकता के मामलों में परमेश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता तो उसे बताना होगा कि एक ही नैतिक स्तर के दो व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न फल क्यों प्राप्त होते हैं। यह सामान्य रूप से देखा जाता है कि यदि दो व्यक्तियों की नैतिकता, ईमानदारी तथा सदाचार का स्तर

एक-सा हो तो भी उनके पद एक से नहीं होते। इसी तरह आर्थिक विकास के क्षेत्र में यह देखा जाता है कि यदि दो पुरुष समान रूप से अहर्निश श्रम करें तो भी परिणाम एक से नहीं होते। एक व्यक्ति बिना काम किये ऐश्वर्यवान् हो सकता है, जबकि दूसरा व्यक्ति कठिन श्रम करके भी पेटभर भोजन नहीं पाता। इसी प्रकार इन्द्रियतृप्ति के विषय में भी है। कभी-कभी पर्याप्त भोजन होने पर भी किसी-किसी मनुष्य का पारिवारिक जीवन सुखी नहीं रहता या वह अविवाहित ही रह जाता है, जबकि दूसरा मनुष्य आर्थिक स्थिति के ठीक न होते हुए भी इन्द्रियतृप्ति के अवसर प्राप्त करता रहता है। मनुष्य की अपेक्षा कूकर या शूकर जैसे पशुओं को भी इन्द्रियतृप्ति के अधिक अवसर प्राप्त होते रहते हैं। यदि हम मोक्ष को छोड़ दें और केवल जीवन की मूल आवश्यकताओं—धर्म, अर्थ तथा काम—पर विचार करें तो हम देखेंगे कि वे प्रत्येक के लिए एकसमान नहीं होतीं। अत: यह मानना ही होगा कि कोई-न-कोई ऐसा है, जो विभिन्न स्तरों को निश्चित करता है। कहने का तात्पर्य यह कि न केवल मोक्ष के लिए, अपितु इस जगत की सामान्य से सामान्य आवश्यकताओं के लिए भी मनुष्य को भगवान् पर निर्भर रहना होगा। अत: पृथु महाराज ने यह संकेत किया कि धनी माँ-बाप के होते हुए भी कभी-कभी उनकी सन्तानें सुखी नहीं रहतीं। इसी तरह कभी-कभी कुशल से कुशल डाक्टर द्वारा ओषधि दिये जाने पर रोगी मर जाता है। अथवा बड़ी-से-बड़ी नाव होते हुए भी मनुष्य डूब जाता है। इस तरह हम प्रकृति द्वारा उपस्थित बाधाओं के विरुद्ध संघर्ष कर सकते हैं, किन्तु हमें तब तक सफलता नहीं मिलती जब तक भगवान् की कृपा नहीं होती।

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना-
मशेषजन्मोपचितं मलं धिय: ।
सद्य: क्षिणोत्यन्वहमेधती सती
यथा पदाङ्गुष्ठविनि:सृता सरित् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

यत्-पाद—जिनके चरणकमल की; सेवा—सेवा; अभिरुचि:—रुचि; तपस्विनाम्—कठिन तपस्या करने वाले व्यक्ति; अशेष—असंख्य; जन्म—जन्म; उपचितम्—ग्रहण करते हैं; मलम्—गन्दगी; धिय:—मन; सद्य:—शीघ्र; क्षिणोति—नष्ट करता है; अन्वहम्—प्रतिदिन; एधती—बढ़ने वाली; सती—होते हुए; यथा—जिस प्रकार; पद-अङ्गुष्ठ—चरणकमलों के अँगूठे से; विनि:सृता—निकला; सरित्—जल।

भगवान् के चरणकमलों की सेवा के लिए अभिरुचि होने से सन्तप्त मनुष्य अपने मन में असंख्य जन्मों से संचित मल को शीघ्र ही धो सकते हैं। जिस तरह भगवान् के चरणकमलों के

अँगूठों से निकलने वाला गंगा जल सब मलों को धो देता है, उसी प्रकार इस विधि से मन तुरन्त ही स्वच्छ हो जाता है और धीरे-धीरे आध्यात्मिकता अथवा कृष्णचेतना का विकास होता है।

तात्पर्य : भारत में यह देखा जा सकता है कि जो नित्य गंगा स्नान करता है, वह प्राय: समस्त रोगों से मुक्त रहता है। कलकत्ता के एक अत्यन्त सम्मान्य ब्राह्मण ने कभी भी डाक्टर की ओषधि नहीं खाई। बीमार पड़ने पर वह केवल गंगा जल पीता था और थोड़े ही समय में अच्छा हो जाता था। गंगा की महिमा समस्त भारतवासियों को तथा हमें भी ज्ञात है। गंगा नदी कलकत्ता के निकट से होकर बहती है। कभी-कभी गंगा के जल में मल तथा आस-पास की फैक्टरियों की अन्य गंदी वस्तुएँ बहती रहती हैं, तो भी हजारों लोग गंगा जल में स्नान करते हैं और वे नितान्त स्वस्थ तथा आध्यात्मिक अभिरुचि वाले होते हैं। यह गंगा जल का प्रभाव है। गंगा की ऐसी महिमा है, क्योंकि यह भगवान् के चरणकमलों के अंगूठे से निकली हैं। इसी प्रकार यदि कोई भगवान् के चरणकमलों की सेवा करता है या कृष्णभक्ति करता है, तो उसके असंख्य जन्मों से संचित सारे मल धुल जाते हैं। हमने देखा है कि ऐसे अनेक लोग जिनके विगत जीवन अत्यन्त कलुषित रहे हैं, कृष्णभक्ति ग्रहण करने के बाद उनके सारे कलुष धुल जाते हैं और आध्यात्मिक उन्नति बड़ी तेजी से होने लगती है। अत: पृथु महाराज उपदेश देते हैं कि परमेश्वर के आशीर्वाद के बिना किसी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं, चाहे वह तथाकथित धार्मिक, आर्थिक उन्नति हो या इन्द्रियतृप्ति। अत: मनुष्य को भगवान् की सेवा या कृष्णभक्ति करके तुरन्त पूर्ण मनुष्य बनना चाहिए, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* द्वारा होती है (*क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति*)। एक जिम्मेदार राजा होने के कारण ही पृथु महाराज संस्तुति करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति भगवान् की शरण में जाये और इस प्रकार तुरन्त शुद्ध हो ले। श्रीकृष्ण भी *भगवद्गीता* में कहते हैं कि केवल उनकी सेवा करने से ही मनुष्यों के सारे पाप-कर्म फल दूर हो जाते हैं। जिस प्रकार उनकी शरण जाने पर श्रीकृष्ण किसी मनुष्य के समस्त पाप कर्मों के फल को दूर कर देते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण का प्रतिनिधि भी है जो भगवान् की कृपा के रूप में कार्य करता है। शिष्य को दीक्षित करने के बाद उसके पापमय जीवन के समस्त कर्म-फलों को हर लेता है। इस प्रकार यदि शिष्य गुरु द्वारा बताए नियमों का पालन करता है, तो वह शुद्ध रहता है और भौतिक कल्मष से दूषित नहीं होता।

इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि गुरु को, जो सदैव श्रीकृष्ण के प्रतिनिधि का कार्य करता है, शिष्य के सारे पापों को समाप्त करना होता है। कभी-कभी गुरु को अपने शिष्यों के पापों से अभिभूत हो कर स्वयं कष्ट उठाना पड़ता है। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने सलाह दी है कि अधिक शिष्य नहीं बनाये जाँय।

विनिर्धुताशेषमनोमलः पुमा-
नसङ्गविज्ञानविशेषवीर्यवान् ।
यदङ्घ्रिमूले कृतकेतनः पुनर्
न संसृतिं क्लेशवहां प्रपद्यते ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

विनिर्धुत—विशेष रूप से धुला हुआ; अशेष—अनन्त; मनः-मलः—मानसिक चिन्तन अथवा मन का संचित मल; पुमान्—पुरुष; असङ्ग—ऊब कर; विज्ञान—वैज्ञानिक ढंग से; विशेष—विशेष रूप से; वीर्य-वान्—भक्तियोग से पुष्ट; यत्—जिसके; अङ्घ्रि—चरणकमल की; मूले—जड़ में; कृत-केतनः—शरण में जाकर; पुनः—फिर; न—कभी नहीं; संसृतिम्—संसार को; क्लेश-वहाम्—कष्टों से पूर्ण; प्रपद्यते—ग्रहण करता है।

जब भक्त पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के चरणकमलों की शरण में आ जाता है, तो उसका सारा अज्ञान या कपोल कल्पनाएं धुल जाते हैं और उसमें वैराग्य प्रकट होने लगता है। यह तभी सम्भव है, जब वह भक्तियोग के अभ्यास से परिपुष्ट हो ले। एक बार भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर लेने पर भक्त कभी भी इस संसार में लौटना नहीं चाहता, जो तीन प्रकार के तापों (क्लेशों) से भरा हुआ है।

तात्पर्य : जैसाकि भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने अपने *शिक्षाष्टक* में कहा है, भगवान् के पवित्र नाम—हरे कृष्ण महामंत्र—का जप अथवा भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन द्वारा मनुष्य का मन क्रमशः समस्त प्रकार के मल से स्वच्छ हो जाता है। अनन्तकाल से भौतिक संगति में रहने से हमारे मनों में कूड़े का अम्बार लग चुका है। इसका पूरा-पूरा प्रभाव तब देखने को मिलता है, जब जीवात्मा अपने को शरीर मान बैठता है और इस तरह देहात्मबुद्धि से वह प्रकृति के कठोर नियमों में बँधकर जन्म तथा मृत्यु के चक्र में पड़ जाता है। जब मनुष्य भक्तियोग द्वारा अपने को शक्तिशाली बना लेता है, तो उसके मन का यह भ्रम दूर हो जाता है और उसे इन्द्रियतृप्ति अथवा इस संसार के प्रति कोई रुचि नहीं रह जाती।

भक्ति का लक्षण है *वैराग्य* तथा *ज्ञान*। मनुष्य शरीर नहीं है, यह बोध ही *ज्ञान* है और *वैराग्य* का

अर्थ है इन्द्रियतृप्ति के प्रति अरुचि। भव-बन्धन से विलग होने के ये दोनों मूल सिद्धान्त भक्तियोग के बल पर फलीभूत हो सकते हैं। इस प्रकार जब भक्त भगवान् के चरणकमलों की प्रेमा-भक्ति में स्थिर हो जाता है, तो शरीर-त्याग के बाद वह इस संसार में पुन: नहीं आता जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में भगवान् द्वारा हुई है (*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन*)।

इस श्लोक में आगत *विज्ञान* शब्द का विशेष महत्त्व है। जब मनुष्य अपने को शरीर नहीं मानता तो वह जो आध्यात्मिक अभिज्ञान प्राप्त करता है, वह ज्ञान है और इसी की व्याख्या *भगवद्गीता* में *ब्रह्म-भूत* के रूप में की गई है। भौतिक संसार की बद्ध अवस्था में आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य अपनी भौतिक पहचान बनाये रखना चाहता है। भौतिक संसार तथा आध्यात्मिक संसार के अन्तर का बोध ही ज्ञान है। ज्ञान प्राप्त करने अथवा ब्रह्मभूत अवस्था प्राप्त कर लेने पर अन्तत: भक्ति की प्राप्ति होती है, जिसमें मनुष्य को अपनी स्थिति तथा भगवान् की स्थिति का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है। यहाँ पर यह बोध *विज्ञान-विशेष* के रूप में व्याख्यायित हुआ है। अत: भगवान् का कथन है कि मेरा ज्ञान ही *विज्ञान* है। दूसरे शब्दों में, जब मनुष्य परमेश्वर के वैज्ञानिक ज्ञान से युक्त हो जाता है, तो उसका मोक्ष सुनिश्चित है। *भगवद्गीता* (९.२) में भक्ति के विज्ञान को *प्रत्यक्षावगमं धर्म्यम्* कहा गया है।

मनुष्य भक्तियोग के द्वारा आध्यात्मिक जीवन में अपनी प्रगति को प्रत्यक्ष देख सकता है। अन्य योगों जैसे कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा ध्यानयोग में वह अपनी उन्नति के विषय में सुनिश्चित नहीं हो पाता, किन्तु भक्तियोग में उसे उसी प्रकार अपनी उन्नति का पता चल जाता है, जिस प्रकार भोजन करने वाले को पता चल जाता है कि उसकी भूख तुष्ट हो गई। भोग तथा भौतिक संसार पर अधिकार करने की झूठी क्षुधा वासना तथा अज्ञान की प्रमुखता के कारण होती है। *भक्ति-योग* से इन दोनों में कमी आती है और मनुष्य सतोगुण में स्थित हो जाता है। इसको पार कर वह शुद्ध सत्त्व में पहुँच जाता है, जो भौतिक गुणों से कलुषित नहीं होता। इस प्रकार स्थित होकर भक्त के सारे सन्देह जाते रहते हैं। उसे यह पता रहता है कि वह इस भौतिक जगत में फिर से नहीं लौटेगा।

तमेव यूयं भजतात्मवृत्तिभि-

र्मनोवचःकायगुणैः स्वकर्मभिः ।
अमायिनः कामदुघाङ्घ्रिपङ्कजं
यथाधिकारावसितार्थसिद्धयः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; एव—निश्चय ही; यूयम्—तुम समस्त नागरिक; भजत—पूजा करो; आत्म—अपना; वृत्तिभिः—वृत्तिपरक कार्य द्वारा; मनः—मन; वचः—वाणी; काय—शरीर; गुणैः—विशिष्ट गुणों द्वारा; स्व-कर्मभिः—अपने-अपने कर्मों से; अमायिनः—बिना हिचक; काम-दुघ—समस्त इच्छाओं को पूर्ण करने वाले; अङ्घ्रि-पङ्कजम्—चरणकमल की; यथा—जिस प्रकार; अधिकार—सामर्थ्य; अवसित-अर्थ—अपने हित के विषय में पूरी तरह आश्वस्त; सिद्धयः—तुष्टि।

पृथु महाराज ने अपने प्रजाजनों को उपदेश दिया : तुम सबों को अपने मन, वचन, देह तथा कर्मों के फल सहित सदैव खुले मन से भगवान् की भक्ति करनी चाहिए। तुम सब अपनी सामर्थ्य तथा वृत्तिपरक कार्यों के अनुसार पूरे विश्वास तथा बिना हिचक के भगवान् के चरणकमलों की सेवा में संलग्न रहो। तब निश्चय ही तुम्हें अपने-अपने जीवन-उद्देश्य प्राप्त करने में सफलता प्राप्त होगी।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* के अठारहवें अध्याय में कहा गया है—*स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य*—मनुष्य को अपने वृत्तिपरक कार्यों द्वारा भगवान् की पूजा करनी होती है। इसमें चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के सिद्धान्त को स्वीकार करना पड़ता है। अत: पृथु महाराज कहते हैं—*गुणैः स्वकर्मभिः।* इस पदांश की व्याख्या *भगवद्गीता* में इस प्रकार प्राप्त है—*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः*—"भगवान् द्वारा प्राकृतिक गुणों तथा उन गुणों के अन्तर्गत विशिष्ट कर्तव्यों के अनुसार चारों जातियाँ (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) बनाई गईं।" जो व्यक्ति सतोगुणी होता है, वह निश्चित रूप से अन्यों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान होता है। अत: वह ब्राह्मण के कार्य—सत्य बोलना, इन्द्रियों का संयम, मन का संयम, स्वच्छता, सहिष्णुता, आत्मज्ञान तथा भक्ति का ज्ञान—कर सकता है। इस प्रकार यदि वह सच्चे ब्राह्मण की भाँति भगवान् की सेवा करता है, तो उसके जीवन का अन्तिम लक्ष्य पूरा हो जाता है। इसी प्रकार क्षत्रियों के कर्तव्य हैं नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करना, दान देना, राजकाज में वैदिक व्यवस्था का पालन तथा यदि शत्रु आक्रमण कर दे तो निर्भीक होकर लड़ना। इस प्रकार एक क्षत्रिय अपने वृत्तिपरक कार्यों से भगवान् को प्रसन्न कर सकता है। इसी तरह वैश्य अपने वृत्तिपरक कर्मों को करता हुआ—अन्न उपजा कर, गौवों की सुरक्षा करके तथा अधिक कृषि उत्पादन होने पर आवश्यक व्यापार द्वारा—भगवान् को प्रसन्न कर सकता है। चूँकि शूद्रों के अधिक बुद्धि नहीं होती, अत: उन्हें

सामाजिक जीवन के उच्चतर स्तरों की सेवा करने में श्रमिक की भाँति लगे रहना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य भगवान् को अपने मन, वचन, कर्म से प्रसन्न करना होना चाहिए। जिस प्रकार शरीर के चार विभाग हैं—सिर, हाथ, पेट तथा पाँव—उसी प्रकार मानव समाज भी मनुष्यों के भौतिक गुणों तथा वृत्तिपरक कर्मों के अनुसार चार श्रेणियों में बँटा हुआ है। इस तरह ब्राह्मणों को सिर का, क्षत्रियों को भुजाओं का, वैश्यों को पेट का तथा शूद्रों को पैरों का कार्य करना पड़ता है। जीवन के निर्दिष्ट कर्मों को करते समय न कोई छोटा है, न कोई बड़ा। हाँ, इनमें उच्चतर तथा निम्नतर जैसे विभाग होते हैं, किन्तु भगवान् को प्रसन्न करने का एकमात्र लक्ष्य होने से उनमें कोई अन्तर नहीं होता।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब ब्रह्मा, शिव तथा अन्य बड़े-बड़े देवता भगवान् की पूजा करते हैं, ऐसा माना जाता है तो फिर इस लोक का सामान्य व्यक्ति उनकी सेवा किस प्रकार कर सकता है? इसकी स्पष्ट व्याख्या पृथु महाराज ने *यथाधिकार* शब्द के प्रयोग द्वारा की है, जिसका अर्थ है "अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार।" यदि कोई निष्ठापूर्वक अपना कर्तव्य पूरा करे तो वही पर्याप्त होगा। उसे न तो ब्रह्मा बनने की आवश्यकता है न शिव, इन्द्र, चैतन्य या रामानुजाचार्य, जिनकी सामर्थ्य हम सबों से निश्चय ही बहुत अधिक है। यहाँ तक कि भौतिक गुणों के अनुसार जीवन के सबसे नीचे स्तर पर स्थित शूद्र भी वही सफलता प्राप्त कर सकता है। कोई भी व्यक्ति भक्ति में सफलता प्राप्त कर सकता है, यदि उसमें द्विधा न रहे। यहाँ यह बताया गया है कि मनुष्य को स्पष्ट वक्ता तथा खुले दिमाग वाला (*अमायिन:*) होना चाहिए। भक्ति में सफलता प्राप्त करने के लिए जीवन के निम्न स्तर पर स्थित होना कोई अयोग्यता नहीं है। इसके लिए एकमात्र योग्यता है कि वह निष्कपट हो तथा उसमें हिचक न हो, फिर चाहे वह ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र। तब वह गुरु के निर्देशन में अपना वृत्तिपरक कर्म करता हुआ जीवन की उच्चतम सफलता प्राप्त कर सकता है। *भगवद्गीता* (९.३२) में भगवान् ने स्वयं पुष्टि की है—*स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।* चाहे कोई ब्राह्मण हो या कि क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा निचले दर्जे की स्त्री, इससे कोई अन्तर नहीं आता। यदि कोई शरीर, मन तथा बुद्धि से गम्भीरतापूर्वक भक्ति में प्रवृत्त होता है, तो वह अवश्य ही भगवान् के धाम वापस जाता है। भगवान् के चरणकमलों को *कामदुघाङ्घ्रि पंकजम्* कहा गया है, क्योंकि वे प्रत्येक व्यक्ति की इच्छाओं को पूरा करने में समर्थ हैं। एक भक्त अपने इसी जीवन में सुखी रहता है, क्योंकि इस संसार

में हमारी तो अनेक आवश्यकताएँ हैं, किन्तु भक्त की सारी आवश्यकताएँ पूरी हुई रहती हैं और अन्त में जब वह शरीर त्यागता है, तो वह बिना किसी संदेह के भगवान् के धाम को वापस जाता है।

असाविहानेकगुणोऽगुणोऽध्वरः
पृथग्विधद्रव्यगुणक्रियोक्तिभिः ।
सम्पद्यतेऽर्थाशयलिङ्गनामभि-
र्विशुद्धविज्ञानघनः स्वरूपतः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

असौ—भगवान्; इह—इस संसार; अनेक—विभिन्न; गुणः—गुण; अगुणः—दिव्य; अध्वरः—यज्ञ; पृथक्-विध—किस्में; द्रव्य—भौतिक तत्त्व; गुण—अवयव; क्रिया—कार्य; उक्तिभिः—विभिन्न मंत्रों के उच्चारण से; सम्पद्यते—पूजा जाता है; अर्थ—हित; आशय—प्रयोजन; लिङ्ग—रूप; नामभिः—नाम से; विशुद्ध—कल्मषरहित; विज्ञान—विज्ञान; घनः—घनीभूत; स्व-रूपतः—अपने निजी रूप में।

भगवान् दिव्य हैं। वे इस भौतिक जगत द्वारा कलुषित नहीं होते। यद्यपि वे घनीभूत आत्मा हैं जिसमें कोई भौतिक विविधता नहीं है, किन्तु फिर भी बद्धजीव के लाभ हेतु वे विभिन्न भौतिक तत्त्वों, अनुष्ठानों तथा मंत्रों द्वारा यज्ञकर्ता के मनोरथों एवं उद्देश्यों के अनुसार विविध नामों से देवताओं को समर्पित होने वाले यज्ञों को स्वीकार करते हैं।

तात्पर्य : वेदों में भौतिक सम्पन्नता के लिए विभिन्न प्रकार के यज्ञों की संस्तुतियाँ की गई हैं। *भगवद्गीता* (३.१०) में इसकी पुष्टि की गई है कि ब्रह्मा ने मनुष्यों तथा देवताओं समेत समस्त जीवात्माओं को उत्पन्न किया और उन्हें अपनी-अपनी आकांक्षाओं के अनुसार यज्ञ करने का उपदेश दिया (*सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा*)। इन्हें यज्ञ कहा गया है क्योंकि ये भगवान् विष्णु को तुष्ट करने के लिए सम्पन्न किये जाते हैं। यज्ञ करने का उद्देश्य भौतिक लाभ की प्राप्ति है, किन्तु साथ ही इनका लक्ष्य परमेश्वर को प्रसन्न करना भी रहता है, अतः वेदों में ऐसे यज्ञों की संस्तुति की गई है। ऐसे कार्य *कर्मकाण्ड* कहलाते हैं और कर्मकाण्ड प्रकृति के तीन प्रकार के गुणों से संदूषित रहते हैं। सामान्य रूप से कर्मकाण्ड के अनुष्ठान रजोगुण में किये जाते हैं, किन्तु बद्धजीवों अर्थात् मनुष्यों तथा देवताओं दोनों को ही यज्ञ करने होते हैं, क्योंकि इनके बिना कोई सुखी नहीं रह सकता।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि ये कर्मकाण्ड अनुष्ठान भले ही संदूषित हों, किन्तु इनमें कुछ-न-कुछ भक्ति रहती है, क्योंकि जब कभी यज्ञ किया जाता है भगवान् विष्णु को मध्यवर्ती स्थान प्रदान किया जाता है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भगवान् को प्रसन्न करने के लिए

यत्किंचित प्रयास भी भक्ति है और यह अत्यन्त मूल्यवान है। रंचमात्र भी भक्ति अनुष्ठानों की भौतिक प्रकृति को शुद्ध बनाती है और भक्ति से ये अनुष्ठान धीरे-धीरे दिव्य रूप धारण कर लेते हैं। अत: यद्यपि ऐसे यज्ञ ऊपरी तौर पर से कर्मकाण्ड रहते हैं, किन्तु उनके फल दिव्य होते हैं। कुछ यज्ञ यथा सूर्ययज्ञ, इन्द्र-यज्ञ तथा चन्द्र-यज्ञ देवताओं के नाम पर सम्पन्न किये जाते हैं, किन्तु ये देवता भगवान् के शारीरिक अंग होते हैं। ये देवता कोई भी आहुति (भेंट) अपने निमित्त स्वीकार नहीं कर सकते, किन्तु वे भगवान् के लिए स्वीकार कर सकते हैं। यह वैसा ही है जैसाकि सरकारी कर वसूल करने वाला अपने लिए कर संग्रह न करके सरकार के लिए कर की वसूली कर सकता है। किसी भी यज्ञ को जो इस प्रकार के पूर्णज्ञान तथा बोध के साथ किया जाता है, *भगवद्गीता* में *ब्रह्मार्पणम्*—भगवान् को अर्पित यज्ञ—कहा गया है। चूँकि परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई यज्ञों के फल को नहीं भोग सकता, इसलिए भगवान् का कहना है कि वे ही समस्त यज्ञों के वास्तविक भोक्ता हैं (*भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्*)। इसी दृष्टि से यज्ञ सम्पन्न होने चाहिए। *भगवद्गीता* (४.२४) का कथन है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

"जो कृष्णभावना में पूर्णतया मग्न है, उस पुरुष के लिए भगवद्धाम की प्राप्ति निश्चित है क्योंकि वह उन ब्रह्मरूप क्रियाओं के परायण रहता है, जिनमें ब्रह्म ही अग्निरूपी गति है और अर्पित हवि भी ब्रह्ममय है।" यज्ञकर्त्ता को सदा यह ध्यान में रखना चाहिए कि वेदों में वर्णित यज्ञ भगवान् को प्रसन्न करने के लिए हैं। *विष्णुराराध्यते पन्था:* (*विष्णु पुराण* ३.८.९)। परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए जो कुछ भी किया जाये, चाहे वह भौतिक हो या आध्यात्मिक, उसे वास्तविक यज्ञ समझना चाहिए और ऐसे यज्ञों के करने से भवबन्धन से मुक्ति मिल जाती है। भवबन्धन से मुक्ति पाने की प्रत्यक्ष विधि भक्ति है, जो निम्नलिखित नौ प्रकार की होती है (*भागवत* ७.५.२३)—

श्रवणं कीर्तनं विष्णो: स्मरणं पादसेवनं।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

इस श्लोक में वर्णित नवधा भक्ति को *विशुद्धविज्ञानघन:* कहा गया है, अर्थात् भगवान् विष्णु के रूप में दिव्य ज्ञान को केन्द्रित करके भगवान् को प्रसन्न करना। परमेश्वर को प्रसन्न करने की सर्वोत्तम

विधि यही है। जो इस प्रत्यक्ष विधि को नहीं अपना पाता उसे विष्णु को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ की अप्रत्यक्ष विधि अर्थात् यज्ञ को अपनाना चाहिए। इसीलिए विष्णु को *यज्ञपति* कहा जाता है। *श्रिय: पतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम्* (*भागवत* २.९.१५)।

परम पुरुषोत्तम भगवान् का गहन विज्ञान सर्वोच्च बिन्दुपर संकेद्रित है। उदाहरणार्थ, ओषधि विज्ञान कुछ वस्तुओं को ऊपर-ऊपर जानता है, किन्तु डाक्टर लोग ठीक से यह नहीं जानते कि शरीर के भीतर क्या हो रहा है। किन्तु श्रीकृष्ण हर वस्तु को विस्तार से जानते हैं, क्योंकि उनमें भौतिक विज्ञान का एक भी दोष नहीं हैं। भगवान् विशुद्ध विज्ञानघन हैं। अत: यद्यपि वे कर्मकाण्डीय यज्ञों को स्वीकार करते हैं, तो भी वे दिव्य पद पर बने रहते हैं। फलत: अनेक गुणों से भगवान् के बहुत से दिव्य गुणों का परिचय मिलता है, क्योंकि भौतिक गुणों से वे अप्रभावित रहते हैं। विभिन्न प्रकार की सामग्रियाँ या भौतिक तत्त्व क्रमश: आध्यात्मिक ज्ञान में परिणत होते रहते हैं, क्योंकि अन्तत: भौतिक तथा आध्यात्मिक गुणों में कोई अन्तर नहीं रह जाता, क्योंकि प्रत्येक वस्तु परमात्मा से उद्भूत है। उत्तरोत्तर साक्षात्कार तथा शुद्धि की विधि से इसका बोध होता है। इसका एक ज्वलन्त उदाहरण ध्रुव महाराज हैं जिन्होंने भौतिक लाभ के लिए वन में जाकर ध्यान धारण किया, किन्तु अन्त में आध्यात्मिक रूप से इतने आगे बढ़ गये कि भौतिक लाभ के लिए उन्होंने किसी प्रकार के वर की चाह नहीं की। वे तो परमेश्वर की संगति से ही परम तुष्ट थे। *आशय* का अर्थ है 'संकल्प'। सामान्य रूप से बद्धजीव में भौतिक लाभ का संकल्प होता है, किन्तु जब यज्ञ के द्वारा भौतिक लाभ की आकांक्षाएँ तुष्ट हो जाती हैं, तो मनुष्य को उत्तरोत्तर आत्म-पद प्राप्त होता है। तब उसका जीवन पूर्ण हो जाता है। अत: *श्रीमद्भागवत* (२.३.१०) में संस्तुति की गई है—

अकाम: सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी:।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

प्रत्येक प्राणी चाहे वह *अकाम* (भक्त), *सर्वकाम* (कर्मी) अथवा *मोक्षकाम* (ज्ञानी या योगी) हो, भक्ति की प्रत्यक्ष विधि द्वारा भगवान् की उपासना के लिए प्रोत्साहित होता है। इस प्रकार वह एक ही साथ भौतिक तथा आध्यात्मिक लाभ प्राप्त कर सकता है।

प्रधानकालाशयधर्मसङ्ग्रहे
शरीर एष प्रतिपद्य चेतनाम् ।
क्रियाफलत्वेन विभुर्विभाव्यते
यथानलो दारुषु तद्गुणात्मकः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

प्रधान—प्रकृति; काल—समय; आशय—अभिलाषा; धर्म—वृत्तिपरक कर्म; सङ्ग्रहे—समुच्चय में; शरीरे—शरीर में; एषः—यह; प्रतिपद्य—स्वीकार करके; चेतनाम्—चेतना को; क्रिया—कार्य के; फलत्वेन—फल से; विभुः—भगवान्; विभाव्यते—प्रकट होती है; यथा—जिस प्रकार; अनलः—अग्नि; दारुषु—काष्ठ में; तत्-गुण-आत्मकः—आकार तथा गुण के अनुसार।

भगवान् सर्वव्यापी हैं, किन्तु वे प्रकृति, काल, अभिलाषा तथा वृत्तिपरक कर्मों के संयोग से उत्पन्न विभिन्न प्रकार के शरीरों में भी प्रकट होते हैं। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार की चेतनाएँ विकसित होती हैं, जिस प्रकार विभिन्न आकार-प्रकार वाले काष्ठ खण्डों में एक सी ही अग्नि विभिन्न रूपों में प्रकट होती है।

तात्पर्य : भगवान् प्रत्येक जीव के भीतर परमात्मा रूप में निरन्तर वास करते रहते हैं। प्रत्येक जीव प्रकृति द्वारा प्रदत्त भौतिक शरीर के अनुसार जागरूक होता है। भौतिक अवयव काल के वेग से सक्रिय होते हैं और इस तरह प्रकृति के तीन गुण प्रकट होते हैं। इन तीनों गुणों के साहचर्य से जीवात्मा एक विशेष प्रकार का शरीर विकसित करता है। पशु जीवन में तमोगुण इतना प्रधान रहता है कि परमात्मा का बोध नहीं हो पाता, यद्यपि वह पशु के हृदय में भी विद्यमान होता है, किन्तु मनुष्य जीवन में चेतना के विकसित होने के फलस्वरूप मनुष्य अपने कर्मों से (*क्रियाफलत्वेन*) तमो तथा रजो गुणों को लाँघ कर सतोगुण को प्राप्त कर सकता है। इसीलिए हर किसी व्यक्ति को यह सलाह दी जाती है कि वह आध्यात्मिक रूप से प्रगत व्यक्ति का संग करे। वेदों का (*मुण्डकोपनिषद्* १.२.१२) आदेश है—*तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्*—जीवन की पूर्णता प्राप्त करने या जीवात्मा की वास्तविक स्वाभाविक स्थिति समझने के लिए मनुष्य को गुरु के पास जाना चाहिए, *गुरुमेवाभिगच्छेत्,* यह तो अनिवार्य है। इसमें किसी प्रकार की छूट नहीं है। इसका भाव यही होता है कि मनुष्य को गुरु के पास जाना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार की संगति से मनुष्य में भगवान् के प्रति चेतना जागृत होती रहती है। ऐसी चेतना की परम सिद्धि कृष्णभावनामृत कहलाती है। प्रकृति द्वारा दिए गए शरीर के अनुसार चेतना बनती है, जिस प्रकार की चेतना विकसित होती है उसी के अनुसार कार्य होते हैं और इन कार्यों की शुद्धता के अनुसार ही प्रत्येक हृदय में विद्यमान भगवान् का साक्षात्कार होता है। यहाँ पर दिया गया उदाहरण अत्यन्त

उपयुक्त है। अग्नि वही रहती है, किन्तु ईंधन या काष्ठ के आकार के अनुसार अग्नि सीधी, मुड़ी, छोटी, बड़ी होती है।

चेतना के विकास के अनुसार ईश्वर-साक्षात्कार होता है। इसीलिए मनुष्य जीवन में विभिन्न प्रकार की तपस्याएँ करने की संस्तुति की जाती है, जिनका वर्णन *भगवद्‌गीता* में हुआ है (कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग तथा भक्तियोग)। निसेनी की तरह योग की अनेक सीढ़ियाँ हैं जिनसे चढ़कर ऊपर तक पहुँचा जाता है और इन्हीं सीढ़ियों के स्तर के अनुसार व्यक्ति कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग या भक्तियोग में स्थित माना जाता है। निस्सन्देह, भगवान् के साक्षात्कार की निसेनी में सबसे ऊपरी सीढ़ी भक्तियोग की है। दूसरे शब्दों में, अपनी चेतना के विकास के अनुसार मनुष्य को अपनी आत्म-सत्ता का बोध होता है और इस प्रकार उसके पूर्णतया शुद्ध होने पर वह ब्रह्मानन्द में स्थित होता है, जो अनन्त है। अत: चैतन्य के रूप में भगवान् द्वारा प्रवर्तित संकीर्तन आन्दोलन सीधी तथा सरल विधि है, जिससे चेतना के विशुद्धरूप कृष्णभावनामृत तक पहुँचा जा सकता है, जिस पद पर भगवान् का पूर्ण साक्षात्कार हो जाता है। परमेश्वर के परम साक्षात्कार हेतु क्रमश: विभिन्न प्रकार के यज्ञों को सम्पन्न करने के आदेश प्राप्त हैं, जिसकी पुष्टि भगवान् ने स्वयं *भगवद्‌गीता* (४.११) में की है—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।* भगवान् का साक्षात्कार मनुष्य द्वारा समर्पण के अनुपात में होता है। पूर्ण समर्पण तभी होता है, जब मनुष्य में पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है। *बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते* (*भगवद्‌गीता* ७.१९)।

अहो ममामी वितरन्त्यनुग्रहं
हरिं गुरुं यज्ञभुजामधीश्वरम् ।
स्वधर्मयोगेन यजन्ति मामका
निरन्तरं क्षोणितले दृढव्रता: ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

अहो—हे तुम सब; मम—मेरे; अमी—वे सब; वितरन्ति—बाँटते हुए; अनुग्रहम्—कृपा; हरिम्—भगवान्; गुरुम्—परम गुरु; यज्ञ-भुजाम्—यज्ञ की बलि ग्रहण करने के पात्र सभी देवता; अधीश्वरम्—परम स्वामी; स्व-धर्म—वृत्तिपरक कर्म के; योगेन—बल पर; यजन्ति—पूजा करते हैं; मामका:—मेरे सम्बन्धी; निरन्तरम्—लगातार; क्षोणि-तले—पृथ्वी तल पर; दृढ-व्रता:—दृढ़ संकल्प के साथ।

भगवान् समस्त यज्ञों के फल के स्वामी तथा भोक्ता हैं। साथ ही वे परम गुरु भी हैं। इस भूतल के आप सभी नागरिक, जिनका मुझसे सम्बन्ध है और जो अपने कर्मों द्वारा भगवान् की

पूजा कर रहे हैं, मुझ पर परम अनुग्रह कर रहे हैं। अतः हे नागरिको, मैं तुम सबको धन्यवाद देता हूँ।

तात्पर्य : महाराज पृथु ने अपनी प्रजा को भक्ति करने का जो उपदेश दिया वह दो रूपों में समाप्त होता है। उन्होंने बारम्बार नवदीक्षितों को तो अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुसार भक्ति करने का उपदेश दिया है, किन्तु यहाँ पर वे उन भक्तों को विशेष रूप से धन्यवाद देते हैं, जो पहले से समस्त यज्ञों के भोक्ता तथा अन्तर्यामी के रूप में परम गुरु परमेश्वर की भक्ति में लगे हुए हैं। यहाँ पर *गुरु* शब्द का विशेष रूप से उल्लेख है, जो परम पुरुष का चैत्य गुरु के रूप में संकेत करता है। परमात्मा रूप भगवान् सबों के हृदय में स्थित हैं और वे प्रत्येक जीव को अपनी शरण में आने और भक्ति में संलग्न होने के लिए प्रेरित करते रहते हैं। अतः वे आदि गुरु हैं। वे बद्धजीव को आन्तरिक तथा बाह्यरूप से सहायता करने के लिए स्वयं गुरु के रूप में प्रकट होते हैं। इसीलिए यहाँ पर उन्हें *गुरुम्* कहा गया है। किन्तु ऐसा लगता है कि पृथ्वी भर के सारे लोग महाराज पृथु की प्रजा थे। उनमें से अधिकांश वस्तुतः सभी भक्ति में लगे हुए थे। उन्होंने उन सबों को भक्ति करने तथा इस प्रकार उन पर अनुग्रह करने के लिए विनीत भाव से धन्यवाद दिया। दूसरे शब्दों में, जिस राज्य में प्रजा तथा राज्याध्यक्ष भगवान् की भक्ति में लगे रहते हैं, वहाँ वे एक दूसरे की सहायता करके लाभान्वित होते हैं।

मा जातु तेजः प्रभवेन्महर्द्धिभि-
स्तितिक्षया तपसा विद्यया च ।
देदीप्यमानेऽजितदेवतानां
कुले स्वयं राजकुलाद्द्विजानाम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

मा—कभी मत करो; जातु—किसी भी समय; तेजः—परम शक्ति; प्रभवेत्—प्रकट करते हैं; महा—बड़ी; ऋद्धिभिः—ऐश्वर्य से; तितिक्षया—सहिष्णुता से; तपसा—तप से; विद्यया—शिक्षा द्वारा; च—भी; देदीप्यमाने—पहले से महिमामंडितों पर; अजित-देवतानाम्—वैष्णव अथवा भगवान् के भक्त के; कुले—समाज में; स्वयम्—व्यक्तिगत रूप से; राज-कुलात्—राज परिवार से बड़ा; द्विजानाम्—ब्राह्मणों का।

ब्राह्मण तथा वैष्णव अपनी सहिष्णुता, तपस्या, ज्ञान तथा शिक्षा जैसे गुणों के द्वारा स्वयं ही महिमामंडित होते हैं। इन दिव्य ऋद्धियों के कारण वैष्णव राजकुल से अधिक शक्तिशाली होते हैं। अतः यह सलाह दी जाती है कि राजकुल इन दोनों कुलों पर अपना शौर्य (विक्रम) प्रदर्शित न करें और उनको अपमानित करने से बचें।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में पृथु महाराज ने राज्य के शासकों तथा नागरिकों के लिए भक्ति की महत्ता बताई है। अब वे बता रहे हैं कि भक्ति में क्रमश: किस प्रकार स्थिर हुआ जाये। श्रील रूप गोस्वामी को शिक्षा देते हुए श्री चैतन्य महाप्रभु ने भगवद्भक्ति की उपमा एक लता से दी थी। लता का तना कमजोर होता है, अत: उसे बढ़ने के लिए दूसरे वृक्ष के सहारे की आवश्यकता होती है और बढ़ते हुए पर्याप्त सुरक्षा की आवश्यकता होती है ताकि यह नष्ट न हो जाए। भक्ति रूपी लता को सुरक्षा प्रदान करने का उल्लेख करते हुए श्री चैतन्य महाप्रभु ने वैष्णवों के चरणकमलों के प्रति अपराध से बचने पर विशेष बल दिया है। ऐसे अपराध *वैष्णव अपराध* कहलाते हैं। यदि कोई *वैष्णव अपराध* करता है, तो उसकी भक्ति-प्रगति रुक जाती है। चाहे कोई भक्ति में कितना ही अग्रसर हो, यदि वह किसी वैष्णव के प्रति अपराध करता है, तो उसकी सारी उन्नति चौपट हो जाती है। शास्त्रों में बताया गया है कि महान् योगी दुर्वासा मुनि ने वैष्णव अपराध किया था, फलस्वरूप अपराध से अपने को बचाने के लिए उन्हें एक वर्ष तक निरन्तर सारे ब्रह्माण्ड में, यहाँ तक कि वैकुण्ठलोक में भी भ्रमण करते रहना पड़ा। अन्त में जब वे वैकुण्ठ में भगवान् के पास पहुँचे तो भी सुरक्षा नहीं मिली। अत: वैष्णव के चरणों के प्रति अपराध न करने के लिए सतर्क रहना चाहिए। सबसे जघन्य वैष्णव अपराध *गुर्वपराध* है, जो गुरु के चरणों पर किया जाता है। भगवान् के पवित्र नाम का जप करते हुए *गुर्वपराध* अत्यन्त जघन्य माना जाता है। *गुरोरवज्ञा श्रुतिशास्त्र निन्दनम्* (पद्म पुराण)। पवित्र नाम के जप के विपरीत जो दस अपराध किये जाते हैं उनमें प्रमुख अपराध हैं, गुरु की अवज्ञा तथा वैदिक साहित्य की निन्दा।

वैष्णव की अत्यन्त सरल परिभाषा श्री चैतन्य महाप्रभु ने दी है—जो किसी को तुरन्त भगवान् का स्मरण दिलाए, वह वैष्णव है। इस श्लोक में वैष्णव तथा ब्राह्मण दोनों का उल्लेख है। वैष्णव विद्वान् ब्राह्मण माना जाता है, अत: वह *ब्राह्मण-वैष्णव* या *ब्राह्मण-पंडित* कहलाता है। दूसरे शब्दों में, वैष्णव पहले से ब्राह्मण होता है, किन्तु ब्राह्मण के लिए आवश्यक नहीं कि वह शुद्ध वैष्णव हो। जब कोई व्यक्ति अपनी शुद्ध सत्ता को जान लेता है, *ब्रह्म जानाति,* तो वह तुरन्त *ब्राह्मण* बन जाता है। ब्राह्मण अवस्था में वह परम सत्य के विषय में निर्गुण दृष्टि रखता है, किन्तु जब ब्राह्मण भगवान् के सगुण रूप को जान लेता है, तो वह वैष्णव बन जाता है। वैष्णव ब्राह्मण से भी बढ़कर होता है। भौतिक रूप से मानव-समाज में ब्राह्मण का स्थान सर्वोच्च होता है, किन्तु वैष्णव ब्राह्मण से भी बड़ा होता है। ब्राह्मण

तथा वैष्णव दोनों ही आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत होते हैं। *भगवद्गीता* में ब्राह्मण के गुण सत्यनिष्ठा, समता, इन्द्रिय-निग्रह, सहिष्णुता, सरलता, ब्रह्म-ज्ञान, शास्त्रों में दृढ़ विश्वास तथा जीवन में ब्राह्मण-गुणों का सम्प्रयोग बताये गये हैं। इन गुणों के अतिरिक्त जब कोई भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति करता है, तो वह वैष्णव बन जाता है। पृथु महाराज अपनी भक्ति-परायण प्रजा को ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के प्रति अपराध न करने के लिए सचेत करते हैं। उनके चरणकमलों के प्रति किये गये अपराध इतने विनाशकारी होते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण के परिवार में जन्मे यदुवंशी तक उनके चरणों पर अपराध करने के कारण विनष्ट हो गये। भगवान् कभी भी ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के चरणकमलों के प्रति अपराध को सहन नहीं कर सकते। कभी-कभी अपने अधिकारपूर्ण पदों के कारण राजकुमार अथवा सरकारी नौकर ब्राह्मणों तथा वैष्णवों की उपेक्षा करते हैं, उन्हें यह पता नहीं रहता कि ऐसे अपराध के फलस्वरूप वे विनष्ट हो जाएँगे।

ब्रह्मण्यदेवः पुरुषः पुरातनो
नित्यं हरिर्यच्चरणाभिवन्दनात् ।
अवाप लक्ष्मीमनपायिनीं यशो
जगत्पवित्रं च महत्तमाग्रणीः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मण्य-देवः—ब्राह्मण संस्कृति का स्वामी; पुरुषः—परम पुरुष; पुरातनः—सबसे प्राचीन; नित्यम्—शाश्वत; हरिः—भगवान्; यत्—जिसका; चरण—चरणकमल; अभिवन्दनात्—पूजा के द्वारा; अवाप—प्राप्त किया; लक्ष्मीम्—ऐश्वर्य; अनपायिनीम्—निरन्तर; यशः—ख्याति; जगत्—विश्व का; पवित्रम्—पवित्र करने वाली; च—भी; महत्—महान्; तम—सर्वाधिक परम; अग्रणीः—सर्वोपरि प्रथम।

पुरातन, शाश्वत तथा समस्त महापुरुषों में अग्रणी भगवान् ने अपनी स्थिर ख्याति के ऐश्वर्य को ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के चरणकमलों की उपासना के द्वारा प्राप्त किया जो समग्र ब्रह्माण्ड को पवित्र करने वाला है।

तात्पर्य : यहाँ पर परम पुरुष को *ब्रह्मण्यदेव* कहा गया है। *ब्रह्मण्य ब्राह्मण,* वैष्णव अथवा ब्राह्मण संस्कृति का द्योतक है और *देव* का अर्थ है "पूज्य भगवान्!" अतः जब तक कोई वैष्णव के दिव्य पद पर या सतोगुण पद पर (ब्राह्मण के रूप में) नहीं होता, तब तक वह भगवान् को नहीं समझ सकता। रजो तथा तमो गुणों की निम्न अवस्थाओं में तो भगवान् को समझ पाना और भी कठिन होता है। अतः यहाँ पर भगवान् को ब्राह्मण तथा वैष्णव संस्कृति वाले व्यक्तियों द्वारा पूज्य अर्चा-विग्रह बताया गया

है।

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।

जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नम:॥

(*विष्णु पुराण* १.१९.६५)

भगवान् कृष्ण ब्राह्मण संस्कृति तथा गोवंश के आदि रक्षक हैं। इनको जाने तथा इनका सम्मान किये बिना ब्रह्मज्ञान समझ में नहीं आता और इस ज्ञान के बिना कोई भी कल्याणकारी कार्य या मानवतावादी प्रचार-कार्य सफल नहीं हो सकता। भगवान् पुरुष या परम भोक्ता होता है। वह भगवान् न केवल अवतार लेने पर भोगता है, वरन् शाश्वत (*नित्यम्*) अनादि काल (*पुरातन*) से वह ऐसा करता आ रहा है। *यच्चरणाभिवन्दनात्*—पृथु महाराज ने कहा कि भगवान् को यह शाश्वत ख्याति रूपी ऐश्वर्य ब्राह्मणों के चरणकमलों की निरन्तर पूजा से मिला है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् को भौतिक लाभ प्राप्त करने के लिए कुछ भी नहीं करना पड़ता। चूँकि वे निरन्तर परिपूर्ण रहते हैं, अत: उन्हें किसी चीज की आवश्यकता नहीं होती। तो यह भी कहा जाता है कि उन्होंने यह ऐश्वर्य ब्राह्मणों के चरणकमलों की सेवा करके प्राप्त किया है। ये उनके आदर्श कार्य हैं। जब श्रीकृष्ण द्वारका में थे तो उन्होंने नारद के चरणकमलों पर अपना मस्तक रख कर उनका सम्मान किया था। जब विप्र सुदामा उनके घर आये, तो उन्होंने सुदामा के चरण धोये और अपनी शय्या में बैठाया। भगवान् होते हुए भी उन्होंने महाराज युधिष्ठिर तथा कुन्ती का आदर किया। भगवान् के ये आदर्श आचरण हम सबों को शिक्षा देने के लिए हैं। हमें उनके व्यक्तिगत आचरण से सीखना चाहिए कि किस प्रकार गौवों की रक्षा की जाये, किस प्रकार ब्राह्मणों के गुण विकसित किये जाँय और ब्राह्मणों तथा भक्तों का किस प्रकार आदर किया जाये। श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (३.२१)में कहा है—*यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन:*—महापुरुष जिस-जिस तरह आचरण करता है उसका अनुकरण लोग स्वत: ही करते हैं। भला भगवान् से बढ़कर महापुरुष अन्य कौन हो सकता है और किसका आचरण उनसे अधिक आदर्शमय हो सकता है? ऐसा नहीं है कि उन्हें भौतिक लाभ प्राप्त करने के लिए इन कर्मों को करने की आवश्यकता थी, अपितु संसार को आचरण सिखाने के लिए ये सारे कार्य सम्पन्न किये गये।

यहाँ पर भगवान् को *महत्-तम-अग्रणी:* कहा गया है। इस संसार में *महत्तम* अर्थात् महापुरुष तो

ब्रह्माजी तथा शिव हैं, किन्तु वे इनसे भी ऊपर हैं। *नारायण: परोऽव्यक्तात्*—भगवान् इस संसार में उत्पन्न की गई समस्त वस्तुओं से ऊपर दिव्य स्थिति में हैं। उनका ऐश्वर्य, धन, सौन्दर्य, ज्ञान, त्याग तथा ख्याति सभी *जगत्-पवित्रम्* अर्थात् सारे संसार को पवित्र करने वाले हैं। हम जितनी ही उनके ऐश्वर्य के विषय में बातें करते हैं, यह संसार उतना ही अधिक पवित्र होता जाता है। इस संसार में भौतिक व्यक्ति का ऐश्वर्य स्थिर नहीं है। जो आज धनी है, वह कल दरिद्र हो सकता है, जो आज विख्यात है, वही कल अप्रसिद्ध बन सकता है। भौतिक ऐश्वर्य कभी स्थिर नहीं रहता, किन्तु भगवान् के छहों ऐश्वर्य न केवल आध्यात्मिक जगत में वरन् इस भौतिक जगत में भी शाश्वत हैं। भगवान् कृष्ण का यश स्थिर है और उनके ज्ञानग्रन्थ *भगवद्गीता* का आज भी आदर होता है। भगवान् से सम्बन्धित सारी वस्तुएँ शाश्वत हैं।

यत्सेवयाशेषगुहाशय: स्वराड्
विप्रप्रियस्तुष्यति काममीश्वर: ।
तदेव तद्धर्मपरैर्विनीतै:
सर्वात्मना ब्रह्मकुलं निषेव्यताम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसकी; सेवया—सेवा से; अशेष—अपार; गुहा-आशय:—प्रत्येक के हृदय में वास; स्व-राट्—लेकिन फिर भी पूर्णत: स्वतंत्र; विप्र-प्रिय:—ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को प्यारे; तुष्यति—सन्तुष्ट होता है; कामम्—इच्छाओं का; ईश्वर:—भगवान्; तत्—उस; एव—निश्चय ही; तत्-धर्म-परै:—भगवान् के चरणचिह्नों का अनुसरण करते हुए; विनीतै:—विनम्रता से; सर्व-आत्मना—सभी प्रकार से; ब्रह्म-कुलम्—ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के वंशज; निषेव्यताम्—उनकी सेवा में निरन्तर लगे रहकर।

अनन्त काल तक स्वतंत्र रहने वाले तथा प्रत्येक हृदय में वास करने वाले भगवान् उन लोगों से अत्यधिक प्रसन्न रहते हैं, जो उनके चरणचिह्नों का अनुसरण करते हैं और बिना किसी हिचक के ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के वंशजों की सेवा करते हैं, क्योंकि वे सदैव ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को परम प्रिय हैं और ये सदा ही उनको प्रिय हैं।

तात्पर्य : कहा जाता है कि भगवान् यह देखकर अत्यधिक प्रसन्न होते हैं कि कोई उनके भक्त की सेवा करता है। पूर्ण होने के कारण उन्हें किसी की सेवा की आवश्यकता नहीं रहती, लेकिन इसमें तो हमारा ही हित है कि हम भगवान् की सभी प्रकार से सेवा करें। परम पुरुष के प्रति ऐसी सेवा प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं, किन्तु ब्राह्मणों तथा वैष्णवों की सेवा के द्वारा सम्भव है। श्रील नरोत्तमदास ठाकुर का गीत है—*छाडिया वैष्णव सेवा निस्तार पायेछे केबा* अर्थात् जब तक वैष्णवों तथा ब्राह्मणों की सेवा नहीं की जाती तब तक भवसागर से कोई छुटकारा नहीं है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का भी कहना

है—*यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादः*—गुरु महाराज की इन्द्रियों को तुष्ट करके ही भगवान् की इन्द्रियों को तुष्ट किया जा सकता है। ऐसे आचरण का शास्त्रों में उल्लेख तो है ही, आचाय र्भी इसका पालन करते हैं। पृथु महाराज ने अपनी प्रजा को भगवान् के आदर्श आचरण का अनुसरण करने तथा इस प्रकार ब्राह्मणों एवं वैष्णवों की सेवा में प्रवृत्त होने की सलाह दी।

पुमाँल्लभेतानतिवेलमात्मनः
प्रसीदतोऽत्यन्तशमं स्वतः स्वयम् ।
यन्नित्यसम्बन्धनिषेवया ततः
परं किमत्रास्ति मुखं हविर्भुजाम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

पुमान्—पुरुष; लभेत—प्राप्त कर सकता है; अनति-वेलम्—अविलम्ब; आत्मनः—अपनी आत्मा के; प्रसीदतः—प्रसन्न होने पर; अत्यन्त—अत्यधिक; शमम्—शान्ति; स्वतः—अपने आप; स्वयम्—स्वयं; यत्—जिसका; नित्य—नियमित; सम्बन्ध—सम्बन्ध; निषेवया—सेवा के बल पर; ततः—तत्पश्चात्; परम्—श्रेष्ठ; किम्—क्या; अत्र—यहाँ; अस्ति—है; मुखम्—मुख; हविः—घी; भुजाम्—पीने वाले।

ब्राह्मणों तथा वैष्णवों की नियमित सेवा करते रहने से मनुष्य के हृदय का मैल दूर होता है और इस प्रकार परम शान्ति तथा भौतिक आसक्ति से मुक्ति मिलती है और वह सन्तुष्ट हो जाता है। इस संसार में ब्राह्मणों की सेवा से बढ़कर कोई सकाम कर्म नहीं, क्योंकि इससे देवता प्रसन्न होते हैं जिनके लिए अनेक यज्ञों की संस्तुति की जाती है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (२.६५) में कहा गया है—*प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते।* जब तक आत्मतुष्टि नहीं होती, इस संसार के दुखों से छुटकारा नहीं मिल पाता। अतः आत्मतुष्टि की पूर्णता प्राप्त करने के लिए ब्राह्मणों तथा वैष्णवों की सेवा करना अनिवार्य है। इसीलिए श्रील नरोत्तम दास ठाकुर कहते हैं—

ताँदेर चरण सेवि भक्त-सने वास।
जनमे जनमे हय, एइ अभिलाष॥

"मैं जन्म-जन्मांतर आचार्यों के चरणकमलों की सेवा करना तथा भक्तों की संगति में रहना चाहता हूँ।" भक्तों की संगति में रहकर तथा आचार्यों के आदेशों के पालन से ही आध्यात्मिक वातावरण बनाये रखा जा सकता है। गुरू ही सर्वोत्तम ब्राह्मण है। इस कलियुग में ब्राह्मण कुल की सेवा कर पाना अत्यन्त दुष्कर है। वराह पुराण के अनुसार सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि कलियुग का लाभ उठाकर

असुरों ने ब्राह्मण कुल में जन्म ले लिया है—*राक्षसा: कलिम् आश्रित्य जायन्ते ब्रह्मयोनिषु* (*वराह पुराण*)। दूसरे शब्दों में, इस युग में शास्त्रों तथा लोगों की अविद्या का लाभ उठाते हुए तथाकथित ब्राह्मण तथा गोस्वामी वंशानुगत अधिकार से अपने को ब्राह्मण तथा वैष्णव बताते हैं। ऐसे झूठे ब्राह्मण कुलों की सेवा करने से कोई लाभ नहीं हो सकता। अत: मनुष्य को चाहिए कि वह प्रामाणिक गुरु तथा उसके संगियों का आश्रय ग्रहण करे और उनकी सेवा करे, क्योंकि इससे नवदीक्षित को पूर्ण संतोष प्राप्त हो सकेगा। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *भगवद्गीता* के श्लोक—(२.४१) *व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन*—की व्याख्या में इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। श्रील नरोत्तमदास ठाकुर द्वारा बताए गए भक्तियोग के विधि-विधानों का पालन करते हुए मनुष्य मुक्ति के दिव्य पद को शीघ्र प्राप्त हो सकता है जैसाकि इस श्लोक में बताया गया है (*अत्यन्त शमम्*)।

अनतिवेलम् (अविलम्ब) शब्द का विशिष्ट प्रयोग सार्थक है, क्योंकि ब्राह्मणों तथा वैष्णवों की सेवा करने मात्र से ही मुक्ति मिल सकती है। कठिन तपस्या करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण नारद मुनि स्वयं हैं। अपने पूर्वजन्म में वे दासी के पुत्र थे, किन्तु उन्हें उन्नत ब्राह्मणों तथा वैष्णवों की सेवा करने का सुअवसर प्राप्त हुआ जिससे अगले जन्म में वे न केवल मुक्त हो सके वरन् सम्पूर्ण वैष्णव शिष्य-परम्परा में वे परम गुरु के रूप में प्रसिद्ध हो सके। अत: वैदिक विधि में प्रथा के रूप में यह संस्तुति की जाती है कि किसी अनुष्ठान को सम्पन्न करने के बाद ब्राह्मणों को भोजन कराया जाय।

अश्नात्यनन्त: खलु तत्त्वकोविदै:
श्रद्धाहुतं यन्मुख इज्यनामभि: ।
न वै तथा चेतनया बहिष्कृते
हुताशने पारमहंस्यपर्यगु: ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

अश्नाति—खाता है; अनन्त:—भगवान्; खलु—तो भी; तत्त्व-कोविदै:—परम सत्य को जानने वाले व्यक्ति; श्रद्धा—विश्वास; हुतम्—अग्नि में आहुतियाँ देना; यत्-मुखे—जिसका मुख; इज्य-नामभि:—विभिन्न देवताओं के नाम से; न—कभी नहीं; वै—निश्चय ही; तथा—उसी तरह; चेतनया—जीवनी शक्ति से; बहि:-कृते—विलग किया जाकर; हुत-अशने—यज्ञ-अग्नि में; पारमहंस्य—भक्तों का; पर्यगु:—कभी भी बाहर नहीं जाता है।

यद्यपि भगवान् अनन्त विभिन्न देवताओं के नामों से अग्नि में अर्पित हवियों को खाते हैं, किन्तु वे अग्नि के माध्यम से खाने में उतनी रुचि नहीं दिखाते जितनी कि विद्वान साधुओं तथा

भक्तों के मुख से भेंट को स्वीकार करने में, क्योंकि तब उन्हें भक्तों की संगति त्यागनी नहीं होती।

तात्पर्य : वैदिक आदेशों के अनुसार अग्नियज्ञ विभिन्न देवताओं के नामों पर भगवान् को भोजन प्रदान करने के लिए किया जाता है। अग्नियज्ञ करते समय मंत्रों में स्वाहा शब्द का उच्चारण किया जाता है, यथा—*इन्द्राय स्वाहा, आदित्याय स्वाहा।* ये मंत्र इन्द्र, आदित्य जैसे विभिन्न देवों के नाम पर भगवान् को प्रसन्न करने के लिए उच्चरित किये जाते हैं, क्योंकि भगवान् का कथन है—

नाहं तिष्ठामि वैकुण्ठे योगिनां हृदयेषु वा।

तत्र तिष्ठामि नारद यत्र गायन्ति मद्‌भक्ताः॥

''न मैं वैकुण्ठ में हूँ न योगियों के हृदय में। मैं वहाँ रहता हूँ जहाँ मेरे भक्त मेरी लीलाओं की महिमा का गान करते हैं।'' यह समझना चाहिए कि भगवान् अपने भक्तों का साथ नहीं छोड़ते।

अग्नि जीवशून्य है, किन्तु भक्त तथा ब्राह्मण परमेश्वर के सजीव प्रतिनिधि हैं। अतः ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को खिलाने का अर्थ है, प्रत्यक्ष भगवान् को खिलाना। अतः यह निष्कर्ष निकला कि अग्नि में आहुति डालने की अपेक्षा मनुष्य को चाहिए कि ब्राह्मण तथा वैष्णवों को भोजन दे, क्योंकि यह विधि अग्नियज्ञ की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली है। इस सिद्धान्त का प्रत्यक्ष उदाहरण अद्वैत प्रभु ने प्रस्तुत किया। जब उन्होंने अपने पिता का श्राद्ध उत्सव किया, तो सब से पहले उन्होंने हरिदास ठाकुर को बुलाकर उन्हें भोजन दिया। यह प्रथा है कि श्राद्ध कर्म के बाद किसी उच्च ब्राह्मण को भोजन दिया जाये, किन्तु अद्वैत प्रभु ने सबसे पहले हरिदास ठाकुर को भोजन दिया जिनका जन्म एक मुसलमान परिवार में हुआ था। अतः हरिदास ठाकुर ने अद्वैत प्रभु से पूछा कि वे ऐसा कार्य क्यों कर रहे हैं जिससे ब्राह्मण-समाज में उनकी स्थिति बिगड़ जाये। अद्वैत प्रभु ने उत्तर दिया कि हरिदास ठाकुर को भोजन देकर वे लाखों उच्च कोटि के ब्राह्मणों को भोजन दे रहे हैं। वे इस बात के लिए किसी भी विद्वान् ब्राह्मण से बात करने के लिए तैयार थे और यह सिद्ध करना चाहते थे कि हरिदास ठाकुर जैसे शुद्ध भक्त को भोजन देकर वे उतना ही आशीष प्राप्त करते हैं जितना कि हजारों विद्वान् ब्राह्मणों को भोजन कराने से। यज्ञ करते समय लोग आहुति डालते हैं, किन्तु यदि वैष्णवों को ये आहुतियाँ दी जाँय तो निश्चय ही वे अधिक प्रभावशाली होंगी।

यद्ब्रह्म नित्यं विरजं सनातनं
श्रद्धातपोमङ्गलमौनसंयमैः ।
समाधिना बिभ्रति हार्थदृष्टये
यत्रेदमादर्श इवावभासते ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; ब्रह्म—ब्राह्मण-संस्कृति; नित्यम्—शाश्वत रूप से; विरजम्—निष्कलंक; सनातनम्—अनादि; श्रद्धा—श्रद्धा; तपः—तपस्या; मङ्गल—शुभ; मौन—मूक रहना; संयमैः—मन तथा इन्द्रियों को वश में करते हुए; समाधिना—पूर्ण मनोयोग से; बिभ्रति—प्रकाशित करता है; ह—जैसे उसने किया; अर्थ—वेदों का असली प्रयोजन; दृष्टये—प्राप्त करने के उद्देश्य से; यत्र—जिसमें; इदम्—यह सब; आदर्शे—दर्पण में; इव—सदृश; अवभासते—प्रकट होता है।

ब्राह्मण-संस्कृति में ब्राह्मणों का दिव्य स्थान शाश्वत रूप से बनाए रखा जाता है, क्योंकि वेदों के आदेशों को श्रद्धा, तप, शास्त्रीय निर्णय, मन तथा इन्द्रिय-निग्रह एवं ध्यान के साथ स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार जीवन का वास्तविक लक्ष्य ठीक उसी तरह से प्रकाशमान हो उठता है, जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में किसी का मुँह भली-भाँति प्रतिबिम्बित होता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बताया गया था कि एक जीवित ब्राह्मण को खिलाना अग्नि में आहुतियाँ डालने से अधिक प्रभावकारी है। अब इस श्लोक में स्पष्ट वर्णन किया गया है कि ब्राह्मणत्व क्या है और ब्राह्मण कौन है। इस कलियुग में, इस तथ्य का लाभ उठाया जा रहा है कि ब्राह्मण भोजन कराना यज्ञों के करने से श्रेयस्कर है और इस तरह ऐसे लोग स्वयं को ब्राह्मण-भोजन के अधिकारी बताने लगे हैं, जो ब्राह्मण परिवारों में उत्पन्न हुए हैं, किन्तु उनमें ब्राह्मणों के एक भी गुण नहीं रहते। ऐसे व्यक्तियों तथा असली ब्राह्मणों में अन्तर करने के उद्देश्य से ही महाराज पृथु ब्राह्मण तथा ब्राह्मण-संस्कृति का यथार्थ वर्णन कर रहे हैं। मनुष्य को प्रकाशहीन अग्नि की भाँति बन कर अपनी स्थिति का लाभ नहीं उठाना चाहिए। ब्राह्मण को वेदों के निर्णय की भली-भाँति जानकारी होनी चाहिए, जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—वैदिक निर्णय या वेदान्तज्ञान कृष्णज्ञान है। यह तथ्य है कि जिस रूप में श्रीकृष्ण हैं उसके जान लेने से मनुष्य पूर्ण ब्राह्मण हो जाता है, जैसाकि *भगवद्गीता* में उल्लिखित है (*जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः*)। जो ब्राह्मण श्रीकृष्ण को अच्छी तरह जान लेता है, वह सदैव दिव्य स्थिति में रहता है। इसकी पुष्टि भी *भगवद्गीता* (१४.२६) में हुई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

''जो पूर्णरूप से मेरे अनन्य भक्तियोग के परायण है और किसी स्थिति में उससे डिगता नहीं, वह अविलम्ब त्रिगुणमयी माया का उल्लंघन करके ब्रह्मभूत हो जाता है।''

अत: भगवान् कृष्ण का भक्त वास्तव में एक पूर्ण ब्राह्मण है। उसकी स्थिति दिव्य होती है, क्योंकि वह बद्धजीवन के चारों दोषों से मुक्त होता है। ये दोष हैं—त्रुटि करना, मोहग्रस्त होना, धोखा देना तथा अपूर्ण इन्द्रियों वाला होना। पूर्ण वैष्णव या कृष्णभक्त सदैव दिव्य स्थिति में रहता है, क्योंकि वह कृष्ण तथा उसके प्रतिनिधि के रूप में बोलता है। चूँकि वैष्णव लोग श्रीकृष्ण के ही स्वर में बोलते हैं, अत: वे जो कुछ भी कहते हैं, वह चारों दोषों से रहित होता है। उदाहरणार्थ, श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* में कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि उन्हीं का चिन्तन करे, उन्हीं का भक्त बने, उन्हीं को नमस्कार और उन्हीं की पूजा करे और अन्त में उन्हीं की शरण में जाये। ये भक्तिकर्म दिव्य हैं और चारों दोषों से रहित हैं। अत: जो भी भगवान् कृष्ण का एकनिष्ठ भक्त है और इस सम्प्रदाय का प्रचार श्रीकृष्ण के आदेशों के ही अनुसार करता है, वह *विरजम्* होता है। अत: असली ब्राह्मण या वैष्णव वेदों के निर्णय पर या भगवान् द्वारा दिये गये वैदिक ज्ञान पर निर्भर रहता है। केवल वैदिक ज्ञान से हम परम सत्य की वास्तविक स्थिति को समझ सकते हैं, जो *श्रीमद्भागवत* के अनुसार तीन रूपों में प्रकट होता है—निर्गुण ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा भगवान्। यह ज्ञान सनातन काल से सम्पूर्ण माना जा रहा है और ब्राह्मण या वैष्णव-संस्कृति इसी सिद्धान्त पर आश्रित रही है। अत: मनुष्य को चाहिए कि वेदों का अध्ययन न केवल ज्ञानार्जन के लिए करे, वरन् इस ज्ञान तथा इन कार्यकलापों को भगवान् तथा वेदों के ही शब्दों में श्रद्धासहित फैलाने के लिए करे।

इस श्लोक का *मङ्गल* (शुभ) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। श्रील श्रीधर स्वामी ने उद्धरण दिया है कि जो उत्तम है, उसे करना और जो उत्तम न हो, उसका त्याग करना *मङ्गल* या शुभ है। उत्तम कार्य करने का अर्थ है, जो कुछ भी भक्ति करने के अनुकूल हो उसे स्वीकार करना और उसके त्यागने का अर्थ है कि भक्ति करने में जो प्रतिकूल हो उसे अस्वीकार करना। हम अपने कृष्णभावनामृत आन्दोलन में इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए चार निषिद्धों—अवैध विषयी जीवन, मादक द्रव्य-सेवन, द्यूत-क्रीड़ा तथा मांसाहार का बहिष्कार करते हैं और प्रतिदिन कम से कम सोलह बार हरे कृष्ण महामंत्र का

जाप और तीन बार गायत्री मंत्र का जाप करते हुए ध्यान में लगते हैं। इस प्रकार मनुष्य ब्राह्मण संस्कृति और आध्यात्मिक शक्ति को अखण्डित बनाये रख सकता है। यदि कोई भक्ति के इन नियमों का दृढ़ता से पालन करते हुए चौबीसों घण्टे हरे कृष्ण महामंत्र का जाप करता है, तो वह आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होकर अन्ततः भगवान् के साक्षात् दर्शन करने के लिए पूर्ण रूप से योग्य हो जाता है। चूँकि वैदिक ज्ञान के अध्ययन करने या जानने का एकमात्र परम उद्देश्य श्रीकृष्ण को प्राप्त करना है, अतः जो प्रारम्भ से ही उपर्युक्त विधि से वैदिक नियमों का पालन करता है, वह परम सत्य भगवान् श्रीकृष्ण के सम्पूर्ण स्वरूप को उसी प्रकार स्पष्ट रूप से देख सकता है, जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में प्रतिबिम्बित अपने मुख को देखा जा सकता है। अतः निष्कर्ष यह निकला कि कोई ब्राह्मण इसलिए ब्राह्मण नहीं बन जाता कि वह जीवात्मा है या ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ है, अपितु उसमें शास्त्रों में निर्दिष्ट समस्त गुण होने चाहिए और उसे अपने जीवन में ब्राह्मण-नियमों का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार वह अन्ततः पूर्ण रूप से कृष्णभक्त बन जाता है और यह समझ सकता है कि कृष्ण क्या हैं। *ब्रह्म-संहिता* (५.३८) में इसका निम्नलिखित वर्णन मिलता है कि भक्त किस प्रकार अपने हृदय के भीतर श्रीकृष्ण को अपने समक्ष देखता रहता है—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन

सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

कृष्ण का शुद्ध प्रेम विकसित होने से भक्त श्यामसुन्दर भगवान् का अपने हृदय में निरन्तर दर्शन करता रहता है। ब्राह्मण-संस्कृति की यह परिपूर्ण अवस्था है।

तेषामहं पादसरोजरेणु-
मार्या वहेयाधिकिरीटमायुः ।
यं नित्यदा बिभ्रत आशु पापं
नश्यत्यमुं सर्वगुणा भजन्ति ॥ ४३॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उन सबके; अहम्—मैं; पाद—पाँव; सरोज—कमल; रेणुम्—धूलि; आर्याः—हे श्रेष्ठ व्यक्तियो; वहेय—धारण करूँगा; अधि—तक; किरीटम्—मुकुट; आयुः—जीवन भर; यम्—जिसको; नित्यदा—सदैव; बिभ्रतः—लेते हुए; आशु—शीघ्र ही; पापम्—पापकर्म; नश्यति—नष्ट हो जाते हैं; अमुम्—वे सब; सर्व-गुणाः—अत्यन्त योग्य; भजन्ति—पूजा करते हैं।

यहाँ पर समुपस्थित हे आर्यगण, मैं आपका आशीर्वाद चाहता हूँ कि मैं आजीवन अपने मुकुट में ऐसे ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के चरणकमलों की धूलि धारण करता रहूँ। जो ऐसी चरण-धूलि धारण करता है, वह शीघ्र ही पापमय जीवन से उत्पन्न समस्त कर्मफलों से मुक्त हो जाता है और अंततः समस्त उत्तम तथा वांछित गुणों से परिपूर्ण हो जाता है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि भगवान् पर जिसकी अटूट श्रद्धा होती है अर्थात् जो भगवान् के शुद्ध भक्त या वैष्णव में अटल श्रद्धा रखता है, उसमें देवताओं के सारे गुण आ जाते हैं। *यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः* (*भागवत* ५.१८.१२)। प्रह्लाद महाराज ने भी कहा है—*नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिम्* (*भागवत* ७.५.३२)। जब तक विशुद्ध वैष्णव के चरणकमलों की रेणु को मस्तक पर धारण नहीं किया जाता तब तक भगवान् का ज्ञान नहीं होता और जब तक भगवान् का ज्ञान नहीं हो पाता यह जीवन अधूरा रहता है। ऐसा महापुरुष विरला ही है, जिसने भगवान् को पूरी तरह जान लेने के बाद तथा अनेकानेक जीवनों तक कठिन तपस्या करने के बाद अपने को उनमें पूर्णतः समर्पित कर दिया हो। राजा के सिर पर मुकुट भार ही होता है, यदि राजा ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के चरणकमलों की धूलि को उस पर धारण नहीं करता। दूसरे शब्दों में, यदि पृथु महाराज जैसा उदार राजा ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के आदेशों का अनुसरण नहीं करता अथवा ब्राह्मण-संस्कृति का पालन नहीं करता तो वह राज्य पर भारस्वरूप होता है क्योंकि वह प्रजा का कल्याण नहीं कर सकता। महाराज पृथु आदर्श शासक के एक उत्तम उदाहरण थे।

गुणायनं शीलधनं कृतज्ञं
वृद्धाश्रयं संवृणतेऽनु सम्पदः ।
प्रसीदतां ब्रह्मकुलं गवां च
जनार्दनः सानुचरश्च मह्यम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

गुण-अयनम्—जिसने समस्त सद्गुण प्राप्त किये हैं; शील-धनम्—उत्तम आचरण ही जिसकी सम्पत्ति है; कृत-ज्ञम्—आभारी; वृद्ध-आश्रयम्—विद्वानों की शरण ग्रहण करने वाला; संवृणते—प्राप्त करता है; अनु—निश्चय ही; सम्पदः—समस्त ऐश्वर्य; प्रसीदताम्—प्रसन्न हों; ब्रह्म-कुलम्—ब्राह्मण वर्ग; गवाम्—गौएं; च—तथा; जनार्दनः—भगवान्; स—सहित; अनुचरः—अपने भक्त; च—तथा; मह्यम्—मुझको।

जो कोई भी ब्राह्मणत्व के गुणों को अर्थात् सदाचार, कृतज्ञता तथा अनुभवी लोगों का आश्रय प्राप्त कर लेता है, उसे संसार का सारा ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है। अतः मेरी यही चाह है कि श्रीभगवान् अपने पार्षदों सहित ब्राह्मण कुल, गौओं तथा मुझ पर प्रसन्न रहें।

तात्पर्य : भगवान् की पूजा *नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च* स्तुति से की जाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भगवान् ब्राह्मणों तथा ब्राह्मण-संस्कृति के साथ ही गौओं का सम्मान एवं परिपालन करते हैं। दूसरे शब्दों में, जहाँ कहीं भी ब्राह्मण तथा ब्राह्मण-संस्कृति होगी वहाँ गौएँ तथा उनका संरक्षण होगा। जिस समाज या संस्कृति में ब्राह्मण या ब्राह्मण संस्कृति नहीं होती वहाँ गौओं को सामान्य पशु समझ कर मानव सभ्यता का त्याग करके उनका वध कर दिया जाता है। पृथु महाराज द्वारा *गवाम्* शब्द का विशेष उल्लेख महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भगवान् सदा से गौओं एवं भक्तों के साथ सम्बन्धित रहते आये हैं। चित्रों में भगवान् कृष्ण को सदैव गायों तथा ग्वालबाल एवं गोपियों के साथ दिखाया जाता है। भगवान् कृष्ण अकेले नहीं रह सकते। अतः पृथु महाराज ने *सानुचरश्च* शब्द का प्रयोग किया है, जो इसका सूचक है कि वे सदा अपने अनुयायियों तथा भक्तों के साथ रहते हैं।

भक्त में देवताओं के सारे सद्गुण आ जाते हैं; वह *गुणायनम्* अर्थात् समस्त सद्गुणों का आगार होता है। उसकी एकमात्र सम्पत्ति सदाचरण है और वह कृतज्ञ होता है। ब्राह्मणों तथा वैष्णवों का एक गुण भगवत्कृपा के लिए कृतज्ञता है। प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् का कृतज्ञ होना चाहिए कि वे समस्त जीवात्माओं का पालन करते हैं और उनकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। जैसाकि वेदों में (*कठोपनिषद् २.२.१३*) में कहा गया है—एको बहूनां यो विदधाति कामान्—परमेश्वर जीवात्माओं की सारी आवश्यकताएँ पूरी करता है। अतः जो जीवात्मा भगवान् के प्रति कृतज्ञ है, वह निश्चय ही सद्गुणों से पूर्ण है।

इस श्लोक का *वृद्धाश्रयं* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। वृद्ध से ज्ञान में बढ़े-चढ़े व्यक्ति का बोध होता है। वृद्ध पुरुष दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे जिनकी आयु अधिक होती है और दूसरे वे जो ज्ञान में बढ़े-चढ़े हैं। आयु बढ़ने से ही कोई वृद्ध नहीं हो जाता। जो ज्ञान में बढ़ा-चढ़ा होता है, वही वास्तव में वृद्ध है (*ज्ञानवृद्ध*)। *वृद्धाश्रयं* का अर्थ हुआ वह व्यक्ति जो ज्ञान में बढ़े-चढ़े गुरुजनों की शरण ग्रहण करता है, जो ब्राह्मण के समस्त गुणों को अर्जित कर सकता है और जिसे सदाचारी बनाया जा

सकता है। जब कोई सचमुच सद्गुणों को प्राप्त कर लेता है, वह भगवान् की कृपा के प्रति कृतज्ञ होता है तथा प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण करता है, तो वह सारे ऐश्वर्य से समन्वित होता है। ऐसा व्यक्ति ही ब्राह्मण या वैष्णव होता है। अत: पृथु महाराज भगवान् के पार्षदों, भक्तों, वैष्णवों, ब्राह्मणों तथा गौओं सहित भगवान् के आशीर्वादों तथा कृपा की याचना करते हैं।

मैत्रेय उवाच
इति ब्रुवाणं नृपतिं पितृदेवद्विजातय: ।
तुष्टुवुर्हृष्टमनस: साधुवादेन साधव: ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेय: उवाच—मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा; इति—इस प्रकार; ब्रुवाणम्—बोलते हुए; नृ-पतिम्—राजा को; पितृ—पितृलोक के वासी; देव—देवता; द्वि-जातय:—तथा द्विजों (ब्राह्मणों एवं वैष्णवों) ने; तुष्टुवु:—सन्तुष्ट; हृष्ट-मनस:—मन में अत्यन्त प्रसन्न; साधु-वादेन—बधाई देते हुए; साधव:—उपस्थित समस्त साधु पुरुष।

मैत्रेय ऋषि ने कहा : राजा पृथु को इस प्रकार सम्भाषण करते सुनकर सभी देवताओं, पितृलोक के वासियों, ब्राह्मणों तथा उस सभा में उपस्थित साधु पुरुषों ने अपनी शुभकामनाएँ व्यक्त करते हुए साधुवाद दिया।

तात्पर्य : जब कोई व्यक्ति किसी सभा में बहुत अच्छा भाषण देता है, तो श्रोता लोग साधु! साधु! कहकर अपनी शुभकामनाएँ व्यक्त करते हैं। यही साधुवाद है। उस सभा में जितने साधु पुरुष, पितर तथा देवता उपस्थित थे और जिन्होंने पृथु महाराज को बोलते सुना उन्होंने साधु! साधु! शब्दों से अपनी शुभकामना व्यक्त की। उन सबों ने पृथु महाराज के सन्देश को अंगीकार कर लिया और वे अत्यधिक प्रसन्न हुए।

पुत्रेण जयते लोकानिति सत्यवती श्रुति: ।
ब्रह्मदण्डहत: पापो यद्वेनोऽत्यतरत्तम: ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

पुत्रेण—पुत्र के द्वारा; जयते—विजय प्राप्त करता है; लोकान्—समस्त स्वर्ग लोकों की; इति—इस प्रकार; सत्य-वती—सत्य होता है; श्रुति:—वेद; ब्रह्म-दण्ड—ब्राह्मणों के शाप से; हत:—मारा गया; पाप:—परम पापी; यत्—क्योंकि; वेन:—महाराज पृथु का पिता; अति—अत्यधिक; अतरत्—उद्धार हो गया; तम:—नारकीय जीवन के अंधकार से।

उन सबों ने घोषित किया कि वेदों का यह निर्णय पूरा हुआ कि पुत्र के कर्म से मनुष्य स्वर्गलोकों को जीत सकता है, क्योंकि ब्राह्मणों के शाप से मारा गया अत्यन्त पापी वेन अब अपने पुत्र महाराज पृथु के द्वारा नारकीय जीवन के गहन अंधकार से उबारा गया था।

तात्पर्य : वैदिक उल्लेख के अनुसार *पुत्* नामक एक नारकीय ग्रह है और जो इस ग्रह से किसी व्यक्ति को उबारता है, वह *पुत्र* कहलाता है। अत: विवाह का उद्देश्य ऐसा पुत्र उत्पन्न करना है, जो अपने पिता का, चाहे वह *पुत्* नरक में क्यों न गिरा हो, उद्धार कर सके। महाराज पृथु का पिता अत्यन्त पापी व्यक्ति था, अत: ब्राह्मणों ने शाप द्वारा उसे मार डाला था। उस सभा में उपस्थित सभी साधु पुरुष, मुनि तथा ब्राह्मण, महाराज पृथु से उनके जीवन के महदुद्देश्य को सुनकर आश्वस्त हो चुके थे कि वेदों का कथन सत्य सिद्ध हो चुका है। धार्मिक विवाह में पत्नी को ग्रहण करने का प्रयोजन पुत्र की प्राप्ति है—ऐसा पुत्र जो अपने पिता को नारकीय जीवन के गहन अंधकार से उबारने में समर्थ हो। विवाह का उद्देश्य इन्द्रियतृप्ति नहीं, अपितु अपने पिता को उबारने वाले योग्य पुत्र की प्राप्ति है। किन्तु यदि पुत्र अयोग्य असुर हो जाये तो फिर वह अपने पिता को नारकीय जीवन से कैसे उबार सकता है? अत: पिता का धर्म है कि वह वैष्णव होकर बच्चों को वैष्णव बनाए। तब यदि पिता धोखे से भी अगले जन्म में नरक में गिरता है, तो ऐसा पुत्र उसी प्रकार उसे उबार सकता है, जिस प्रकार महाराज पृथु ने अपने पिता का उद्धार किया।

हिरण्यकशिपुश्चापि भगवन्निन्दया तमः ।
विविक्षुरत्यगात्सूनोः प्रह्लादस्यानुभावतः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

हिरण्यकशिपुः—प्रह्लाद महाराज का पिता; च—भी; अपि—पुनः; भगवत्—भगवान् की; निन्दया—निन्दा से; तमः—नारकीय जीवन के गहनतम क्षेत्र में; विविक्षुः—प्रविष्ट किया; अत्यगात्—उबार लिया गया; सूनोः—अपने पुत्र; प्रह्लादस्य—महाराज प्रह्लाद के; अनुभावतः—प्रभाव से।

इसी प्रकार हिरण्यकशिपु अपने पापकर्मों से भगवान् की सत्ता (श्रेष्ठता) का उल्लंघन करता हुए नारकीय जीवन के गहनतम क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ, किन्तु अपने महान् पुत्र प्रह्लाद महाराज की कृपा से उसका भी उद्धार हो सका और वह भगवान् के धाम वापस चला गया।

तात्पर्य : जब प्रह्लाद महाराज को उनकी भक्ति तथा सहिष्णुता के कारण नृसिंह देव ने वर दिया तो उन्होंने भगवान् के एक भी वर को यह सोचकर स्वीकार नहीं किया कि, ऐसा करना एक निष्ठावान भक्त को शोभा नहीं देता। अच्छा पुरस्कार पाने के लालच से भगवान् की सेवा किये जाने को प्रह्लाद महाराज ने एक व्यापारिक सौदा मानते हुए तिरस्कृत किया है। चूँकि प्रह्लाद महाराज वैष्णव थे, अत: उन्होंने अपने लिए कोई वरदान न माँग कर अपने पिता के प्रति वत्सलता प्रकट की। यद्यपि उनके पिता

ने उन्हें यातनाएँ दी थी और यदि भगवान् ने उसका वध न कर दिया होता तो उसके द्वारा वे स्वयं मारे गये होते, किन्तु तो भी प्रह्लाद महाराज ने उसके लिए भगवान् से क्षमा माँगी। भगवान् ने उनकी अभिलाषा स्वीकार करके हिरण्यकशिपु को नारकीय जीवन के गहनतम अंधकार से उबारा, जिससे वह अपने पुत्र की कृपा से भगवान् के धाम वापस जा सका। प्रह्लाद महाराज ऐसे वैष्णव के सर्वोत्तम उदाहरण हैं, जो इस संसार में नारकीय जीवन बिताने वाले पापी पुरुषों के प्रति अत्यन्त दयालु होते हैं। इसीलिए कृष्ण *पर-दु:ख-दु:खी कृपाम्बुधि:* नाम से जाने जाते हैं। भगवान् के सभी शुद्ध भक्त प्रह्लाद महाराज के ही समान इस संसार में पापी लोगों के उबारने के लिए दया से परिपूर्ण हो कर आते हैं। वे सभी प्रकार के कष्टों को सहिष्णु बन कर सहते हैं, क्योंकि वैष्णव का यह एक अन्य गुण है, जो संसार की नारकीय दशाओं से पापी पुरुषों के उद्धार के लिए प्रयत्नशील रहता है। अत: वैष्णवों की निम्न विधि से स्तुति की जाती है—

वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।

पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नम: ॥

वैष्णव का मुख्य कार्य पतित आत्माओं का उद्धार करना है।

वीरवर्य पित: पृथ्व्या: समा: सञ्जीव शाश्वती: ।
यस्येदृश्यच्युते भक्ति: सर्वलोकैकभर्तरि ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

वीर-वर्य—वीरों में सर्वश्रेष्ठ; पित:—पिता; पृथ्व्या:—पृथ्वी का; समा:—वर्ष में बराबर; सञ्जीव—जीवित रहते; शाश्वती:—सदा के लिए; यस्य—जिसका; ईदृशी—इस तरह; अच्युते—परमेश्वर को; भक्ति:—भक्ति में बराबर; सर्व—सभी; लोक—लोक, ग्रह; एक—एक; भर्तरि—पालक।.

सभी साधु ब्राह्मणों ने पृथु महाराज को इस प्रकार सम्बोधित किया—हे वीरश्रेष्ठ, हे पृथ्वी के पिता, आप दीर्घजीवी हों, क्योंकि आपमें समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी अच्युत भगवान् के प्रति अत्यधिक श्रद्धा है।

तात्पर्य : सभा में उपस्थित साधु पुरुषों ने पृथु महाराज को दीर्घ आयु प्राप्त करने का आशीर्वाद दिया, क्योंकि भगवान् के प्रति उनकी श्रद्धा तथा भक्ति अटूट थी। यद्यपि जीवन की अवधि सीमित वर्षों की होती है, किन्तु यदि सौभाग्यवश कोई भक्त हो जाता है, तो वह प्रदत्त जीवन-अवधि को पार कर लेता है। निस्सन्देह कभी-कभी योगी अपने इच्छानुसार मरते हैं, प्राकृतिक नियमों के अनुसार नहीं।

भक्त की दूसरी विशेषता यह है कि वह भगवद्भक्ति के कारण सदा-सदा के लिए जीवित रहता है। कहा गया है कि *कीर्तिर्यस्य स जीवति*—"जो अपने पीछे अच्छी ख्याति छोड़ता है, वह सदैव जीवित रहता है।" विशेष रूप से भगवान् का भक्त तो निश्चित रूप से सदैव जीवित रहता है। जब भगवान् चैतन्य महाप्रभु रामानन्द राय से वार्तालाप कर रहे थे तो चैतन्य महाप्रभु ने पूछा, "सबसे बड़ा यश क्या है?" रामानन्द राय का उत्तर था—जो महान् भक्त के रूप में ख्यातिप्राप्त है उसी की सर्वाधिक ख्याति है, क्योंकि भक्त न केवल वैकुण्ठलोक में ही सदैव वास करता है, किन्तु वह इस संसार में भी अपनी ख्याति से सदा जीवित रहता है।

अहो वयं ह्यद्य पवित्रकीर्ते
त्वयैव नाथेन मुकुन्दनाथाः ।
य उत्तमश्लोकतमस्य विष्णो-
र्ब्रह्मण्यदेवस्य कथां व्यनक्ति ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह, अरे; वयम्—हम; हि—निश्चय ही; अद्य—आज; पवित्र-कीर्ते—हे परम शुद्ध; त्वया—तुम्हारे द्वारा; एव—निश्चय ही; नाथेन—भगवान् द्वारा; मुकुन्द—श्रीभगवान्; नाथाः—परमेश्वर की प्रजा होकर; ये—जो; उत्तम-श्लोक-तमस्य—भगवान् का, जिनकी प्रशंसा उत्तम श्लोकों द्वारा की जाती है; विष्णोः—विष्णु का; ब्रह्मण्य-देवस्य—ब्राह्मणों के पूज्य भगवान् का; कथाम्—शब्द; व्यनक्ति—व्यक्त किये गये।.

श्रोताओं ने आगे कहा : हे राजा पृथु, आपकी कीर्ति परम शुद्ध है, क्योंकि आप ब्राह्मणों के स्वामी भगवान् की महिमाओं का उपदेश दे रहे हैं। हमारे बड़े भाग हैं कि हमने आपको स्वामी रूप में प्राप्त किया जिससे हम अपने आपको भगवान् के प्रत्यक्ष आश्रय में समझ रहे हैं।

तात्पर्य : नागरिकों ने घोषित किया कि महाराज पृथु के संरक्षण में रहते हुए वे अपने को भगवान् के ही संरक्षण में समझ रहे हैं। इस संसार में इस प्रकार की समझ सामाजिक स्थायित्व की सही स्थिति है। चूँकि वेदों का कथन है कि भगवान् ही समस्त जीवों के पालक और नायक हैं, अतः राजा या शासनाध्यक्ष को परम पुरुष का प्रतिनिधि होना चाहिए। तभी वह भगवान् के समान सम्मान प्राप्त करने का दावा कर सकता है। इस श्लोक में यह भी संकेत किया गया है कि राजा या शासनाध्यक्ष किस प्रकार समाज का नायक बन सकता है, क्योंकि पृथु महाराज भगवान् विष्णु की श्रेष्ठता तथा उनकी महिमा का गान कर रहे थे। ऐसे राजा या नेता की अध्यक्षता में रहना मानव समाज का पूर्ण अधिकार है। अतः वे भगवान् के उचित प्रतिनिधि थे। ऐसे राजा या नेता का मूल दायित्व अपने राज्य में ब्राह्मण-

सभ्यता तथा गौओं को सुरक्षा प्रदान करना है।

नात्यद्भुतमिदं नाथ तवाजीव्यानुशासनम् ।
प्रजानुरागो महतां प्रकृतिः करुणात्मनाम् ॥५०॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अति—अत्यधिक; अद्भुतम्—आश्चर्यजनक; इदम्—यह; नाथ—हे स्वामी; तव—तुम्हारा; आजीव्य—आय का स्त्रोत; अनुशासनम्—प्रजा के ऊपर शासन; प्रजा—नागरिक; अनुरागः—प्रेम; महताम्—बड़े का; प्रकृतिः—प्रकृति; करुण—दयावान; आत्मनाम्—जीवात्माओं का।

हे नाथ! अपनी प्रजा पर शासन करना तो आपका वृत्तिपरक धर्म है। यह आप-जैसे महापुरुष के लिए कोई आश्चर्यजनक कार्य नहीं है, क्योंकि आप अत्यन्त दयालु हैं और अपनी प्रजा के हितों के प्रति अत्यन्त प्रेम रखते हैं। यही आपके चरित्र की महानता है।

तात्पर्य : राजा का कर्तव्य है कि वह अपनी प्रजा की रक्षा करे और अपनी जीविका के लिए उस पर कर लगाए। चूँकि वैदिक समाज चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—में विभाजित है, अत: शास्त्रों में उनकी जीविका के साधनों का भी उल्लेख हुआ है। ब्राह्मणों को चाहिए कि वे ज्ञान का प्रसार करें, अत: वे अपने शिष्यों से दान ले—किन्तु राजा को चाहिए कि वह प्रजा को जीवन के उच्चतम स्तर तक उठने के लिए सुरक्षा प्रदान करे, अत: वह इसके लिए प्रजा पर कर लगा सकता है। चूँकि वणिक वर्ग सारे समाज के लिए अन्न उत्पन्न करता है, अत: वह इससे थोड़ा लाभ ले सकता है, जबकि शूद्र ब्राह्मणों, क्षत्रियों या वैश्यों की भाँति कार्य नहीं कर सकते, अत: उन्हें समाज के उच्चतर वर्गों की सेवा करनी चाहिए और उनसे अपने जीवन की समस्त आवश्यकताएँ पूरी करवानी चाहिए।

यहाँ पर योग्य राजा या राज नेता के लक्षणों को इस प्रकार बताया गया है—उसे लोगों पर अत्यन्त दयालु होना चाहिए और उनके मुख्य हित का ध्यान रखना चाहिए जो कि उन्हें भगवान् का उच्चस्थ भक्त बनना है। महापुरुष स्वभाव से अन्यों का हित करने वाले होते हैं और एक वैष्णव तो समाज का सबसे दयालु व्यक्ति होता है। अत: हम वैष्णव नायक को इस प्रकार प्रणाम करते हैं—

वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।

पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः॥

एकमात्र वैष्णव नेता ही लोगों की समस्त अभिलाषाओं को पूरा कर सकता हैं (*वाञ्छाकल्पतरुः*) और वह अत्यन्त दयावान होता है, क्योंकि वह मानव-समाज का महान् कल्याणकर्ता है। वह

पतितपावन है, क्योंकि यदि राजा या शासनाध्यक्ष ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के पदचिह्नों पर चलते हैं, जो स्वभावत: प्रचार-कार्य में अग्रणी होते हैं, तो वैश्य भी वैष्णवों तथा ब्राह्मणों का अनुसरण करेंगे और शूद्र इनकी सेवा करेंगे। इस प्रकार सारा समाज जीवन की परम सिद्धि हेतु एक परिपूर्ण संस्था बन जाता है।

अद्य नस्तमस: पारस्त्वयोपासादित: प्रभो ।
भ्राम्यतां नष्टदृष्टीनां कर्मभिर्दैवसंज्ञितै: ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

अद्य—आज; न:—हम सबों का; तमस:—संसार के अंधकार का; पार:—दूसरी ओर; त्वया—तुम्हारे द्वारा; उपासादित:—बढ़ा हुआ; प्रभो—हे स्वामी; भ्राम्यताम्—भटकने वालों को; नष्ट-दृष्टीनाम्—जिनका जीवन-लक्ष्य खो चुका है; कर्मभि:—गत कर्मों के कारण; दैव-संज्ञितै:—श्रेष्ठ अधिकारी द्वारा व्यवस्थित।

नागरिकों ने आगे कहा : आज आपने हमारी आँखें खोल दी हैं और हमें बताया है कि इस अंधकार के सागर को किस प्रकार पार किया जाये। अपने पूर्वकर्मों तथा दैवी व्यवस्था के कारण हम सकाम कर्मों के जाल में फँसे हुए हैं और हमारा जीवन-लक्ष्य ओझल हो चुका है, जिसके कारण हम इस ब्रह्माण्ड में भटक रहे हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *कर्मभि: दैव-संज्ञितै:* पद अत्यन्त सार्थक है। अपने कर्मों के गुण के अनुसार हम प्रकृति के गुणों के सम्पर्क में आते हैं और दैवी विधान के द्वारा हमें विभिन्न प्रकार के शरीरों में ऐसे कर्मों के फलों को भोगने का अवसर मिलता है। इस प्रकार सभी जीवात्माएँ अपने जीवन-लक्ष्य के ओझल होने से विभिन्न योनियों में ब्रह्माण्ड भर में भटकती रहती हैं—कभी निम्न योनियों में जन्म ग्रहण करती हैं, तो कभी स्वर्ग लोक में स्थान प्राप्त करती हैं—इस प्रकार हम सभी अनन्त काल से भटकते रहे हैं। गुरु तथा भगवान् की कृपा से हमें भक्ति का संकेत प्राप्त होता है और तब हमारे जीवन की प्रगति शुरू होती है। यहाँ पर राजा पृथु के प्रजा जनों ने इसे स्वीकार किया है; वे पूरी चेतनावस्था में यह स्वीकार कर रहे हैं कि महाराज पृथु के कार्यों से वे लाभान्वित हुए हैं।

नमो विवृद्धसत्त्वाय पुरुषाय महीयसे ।
यो ब्रह्म क्षत्रमाविश्य बिभर्तीदं स्वतेजसा ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार है; विवृद्ध—अत्यन्त सम्मानित; सत्त्वाय—सत्त्व को; पुरुषाय—पुरुष को; महीयसे—इस प्रकार से महिमामंडित पुरुष को; यः—जो; ब्रह्म—ब्राह्मण संस्कृति; क्षत्रम्—प्रशासनिक कार्य; आविश्य—प्रविष्ट होकर; बिभर्ति—पालन करते हुए; इदम्—यह; स्व-तेजसा—अपने तेज से।

हे स्वामी! आप विशुद्ध सत्त्व-स्थिति को प्राप्त हैं, अतः आप परमेश्वर के सक्षम प्रतिनिधि हैं। आप अपने तेज से ही महिमावान हैं और इस तरह ब्राह्मण-संस्कृति को पुनर्स्थापित करते हुए सारे संसार का पालन करते हैं तथा अपने क्षात्र धर्म का निर्वाह करते हुए प्रत्येक व्यक्ति की रक्षा करते हैं।

तात्पर्य : ब्राह्मण-संस्कृति के समुचित प्रसार तथा सरकार की समुचित सुरक्षा के बिना समाज का कोई मानदण्ड स्थिर नहीं रह सकता। इस बातको इस श्लोक में उस महाराज पृथु की प्रजा ने स्वीकार किया है, जो अपनी सत्त्व-स्थिति के कारण अपने राज्य में अद्भुत स्थिति बनाये रखने में समर्थ थे। *विवृद्ध-सत्त्वाय* शब्द सार्थक है। भौतिक जगत में तीन गुण होते हैं—सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण। तमोगुण से सतोगुण तक पहुँचने के लिए भक्ति एक साधन है। जीवन के निम्न स्तर से उच्चतम् स्तर तक उठने के लिए भक्ति करने के अलावा और कोई साधन नहीं हैं। *श्रीमद्भागवत* के पिछले अध्यायों में यही उपदेश दिया गया है कि मनुष्य निम्न स्थिति से उच्चतम स्थिति तक पहुँचने के लिए भक्तों की संगति करे और उनके मुख से *श्रीमद्भागवत* का नियमित श्रवण करे।

शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।

हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥

"जब मनुष्य श्रवण तथा कीर्तन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में भक्ति की ओर उन्मुख होता है, तो प्रत्येक हृदय के वासी भगवान् भक्त के हृदय को पवित्र करने में सहायता पहुँचाते हैं।" (*भागवत* १.२.१७)। इस प्रकार उत्तरोत्तर शुद्धि से रजो तथा तमो गुणों का प्रभाव जाता रहता है और मनुष्य सत्त्व पद को प्राप्त होता है। रजो तथा तमो गुणों के सम्पर्क से मनुष्य लालची तथा कामी हो जाता है, किन्तु जब वही मनुष्य सत्त्वपद तक उठ जाता है, तो वह जीवन की किसी भी स्थिति से सन्तुष्ट रहता है और लालच तथा वासना से विहीन हो जाता है। ऐसी मानसिकता उसके सत्त्वपद पर स्थित होने की सूचक है। मनुष्य को इस सत्त्व को पार करके विशुद्ध सत्त्व तक ऊपर उठना होता है, जिसे *विवृद्ध सत्त्व* कहते हैं। सत्त्व की इस विवृद्ध अवस्था में मनुष्य कृष्णभावनाभावित (भक्त) हो सकता है। इसीलिए महाराज पृथु को यहाँ पर *विवृद्ध सत्त्व* के रूप में सम्बोधित किया गया है। यद्यपि महाराज पृथु शुद्ध भक्त के

दिव्य पद पर स्थित थे, किन्तु मानव समाज के हित में वे ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के पद पर उतर आये थे और इस प्रकार अपने तेज से उन्होंने सारे संसार को संरक्षण प्रदान किया था। यद्यपि वे क्षत्रिय राजा थे, किन्तु वैष्णव होने के कारण ब्राह्मण भी थे। ब्राह्मण के रूप में वे प्रजा को समुचित आदेश दे सकते थे और क्षत्रिय रूप में उसे सुरक्षा प्रदान कर सकते थे। इस प्रकार महाराज पृथु की प्रजा एक कुशल राजा के द्वारा सभी प्रकार से सुरक्षित थी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत ''महाराज पृथु द्वारा उपदेश'' नामक इक्कीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter बाईस

चारों कुमारों से पृथु महाराज की भेंट

मैत्रेय उवाच
जनेषु प्रगृणत्स्वेवं पृथुं पृथुलविक्रमम् ।
तत्रोपजग्मुर्मुनयश्चत्वारः सूर्यवर्चसः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; जनेषु—नागरिक; प्रगृणत्सु—प्रार्थनारत; एवम्—इस प्रकार; पृथुम्—महाराज पृथु को; पृथुल—अत्यधिक; विक्रमम्—शक्तिशाली; तत्र—वहाँ; उपजग्मुः—आये; मुनयः—कुमार; चत्वारः—चारों; सूर्य—सूर्य के समान; वर्चसः—तेजस्वी।

महामुनि मैत्रेय ने कहा : जिस समय सारे नागरिक परम शक्तिमान महाराज पृथु की इस प्रकार स्तुति कर रहे थे उसी समय वहाँ पर सूर्य के समान तेजस्वी चारों कुमार आये।

तांस्तु सिद्धेश्वरान्राजा व्योम्नोऽवतरतोऽर्चिषा ।
लोकानपापान्कुर्वाणान्सानुगोऽचष्ट लक्षितान् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तान्—उन; तु—लेकिन; सिद्ध-ईश्वरान्—समस्त योग शक्तियों के स्वामी को; राजा—राजा ने; व्योम्नः—आकाश से; अवतरतः—उतरते हुए; अर्चिषा—अपने दिव्य तेज से; लोकान्—लोकों को; अपापान्—पापरहित; कुर्वाणान्—करते हुए; स-अनुगः—अपने पार्षदों सहित; अचष्ट—पहचान लिया; लक्षितान्—उन्हें देखकर।

समस्त योग शक्तियों के स्वामी चारों कुमारों के देदीप्यमान् तेज को देखकर राजा तथा उनके पार्षदों ने उन्हें आकाश से उतरते ही पहचान लिया।

तात्पर्य : चारों कुमारों को *सिद्धेश्वरान्* कहा गया है, जिसका अर्थ है ''समस्त योग शक्तियों के स्वामी।'' जो योग में सिद्धि प्राप्त कर सकता है उसे तुरन्त ही आठ प्रकार की यौगिक सिद्धियाँ प्राप्त

हो जाती हैं। ये हैं—लघिमा, अणिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य इत्यादि। सिद्धेश्वरों के रूप में चारों कुमार सभी यौगिक सिद्धियाँ प्राप्त कर चुके थे और फलस्वरूप अन्तरिक्ष में यंत्रों के बिना ही यात्रा कर सकते थे। जब वे पृथु महाराज के पास आ रहे थे तो वे किसी विमान से नहीं, अपितु स्वत: आये। दूसरे शब्दों में, ये चारों कुमार अन्तरिक्षयात्री भी थे, जो बिना किसी यान के यात्रा कर सकते थे। सिद्धलोक नामक लोक के निवासी अन्तरिक्ष में एक लोक से दूसरे लोक तक यान के बिना ही यात्रा कर सकते हैं। किन्तु यहाँ पर कुमारों की जिस विशिष्ट शक्ति का उल्लेख हुआ है, वह है कि वे जहाँ भी जाते वह स्थान पापरहित हो जाता था। महाराज पृथु के शासन में इस पृथ्वी पर प्रत्येक वस्तु पापरहित थी, अत: उन्होंने राजा के पास आने का निर्णय लिया। सामान्यत: वे किसी पापमय लोक में नहीं जाते।

तद्दर्शनोद्गतान्प्राणान्प्रत्यादित्सुरिवोत्थित: ।
ससदस्यानुगो वैन्य इन्द्रियेशो गुणानिव ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्—उसको; दर्शन—देखकर; उद्गतान्—अत्यधिक इच्छा प्रकट किये जाने पर; प्राणान्—प्राण; प्रत्यादित्सु:—शान्तिपूर्वक जाते हुए; इव—सदृश; उत्थित:—उठा; स—सहित; सदस्य—पार्षद या अनुयायी; अनुग:—अधिकारी; वैन्य:—राजा पृथु; इन्द्रिय-ईश:—जीवात्मा; गुणान् इव—प्रकृति के गुणों से मानो प्रभावित।

चारों कुमारों को देखकर पृथु महाराज उनके स्वागत के लिए आतुर हो उठे। अत: अपने पार्षदों सहित वे तुरन्त इस तरह तेज़ी से उठ कर खड़े हो गये मानो कोई बद्धजीव प्रकृति के गुणों द्वारा तुरन्त आकृष्ट हो उठा हो।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (३.२७) में कहा गया है—

प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश: ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

प्रत्येक बद्धजीव प्रकृति के गुणों के एक विशेष मेल से प्रभावित होता है। फलत: बद्धजीव विशेष प्रकार के कर्म की ओर आकर्षित होता है और उसे करने के लिए वह बाध्य हो जाता है। क्योंकि वह भौतिक प्रकृति के पूर्णत: वश में होता है। यहाँ पर पृथु महाराज की तुलना ऐसे बद्धजीव से इसलिए नहीं की गई है कि वे सचमुच बद्धजीव थे, अपितु इसलिए कि वे कुमारों के स्वागत के लिए इतने आतुर थे मानो उनके बिना प्राण निकल जाएँगे। बद्धजीव ऐसी वस्तुओं के प्रति आकर्षित होता है जिनसे इन्द्रियतृप्ति होती है। उसके नेत्र सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ देखना चाहते हैं, उसके कान मधुर संगीत

सुनना चाहते हैं, नाक सुगन्धित पुष्पों का रसास्वादन करना चाहती है और जिह्वा उत्तम भोजन चखना चाहती है। इसी प्रकार उसकी अन्य इन्द्रियाँ, यथा हाथ, पाँव, पेट, गुप्तांग, मन भी भोग्य पदार्थों के आकर्षण से अपने को रोक नहीं पातीं। इसी प्रकार पृथु महाराज भी चारों कुमारों के स्वागत से अपने को रोक नहीं पा रहे थे। ये कुमार अपने तेज से प्रकाशमान थे, फलतः न केवल राजा, अपितु उनके अनुयायियों तथा सभासदों ने भी उन चारों का स्वागत किया। कहा जाता है कि इस संसार में समान रुचि वाले व्यक्ति एक दूसरे से आकर्षित होते हैं। एक शराबी दूसरे शराबी के प्रति आकृष्ट होता है, इसी तरह साधु पुरुष साधु पुरुष के प्रति आकृष्ट होता है। चूँकि पृथु महाराज सर्वोच्च आध्यात्मिक पद पर थे, अतः वे उसी कोटि के कुमारों के प्रति आकृष्ट हुए। अतः यह उक्ति सही है कि मनुष्य संगति से पहचाना जाता है।

गौरवाद्यन्त्रितः सभ्यः प्रश्रयानतकन्धरः ।
विधिवत्पूजयां चक्रे गृहीताध्यर्हणासनान् ॥ ४॥

शब्दार्थ

गौरवात्—गौरव से; यन्त्रितः—पूर्णतः; सभ्यः—अत्यन्त सभ्य; प्रश्रय—विनीत भाव से; आनत-कन्धरः—अपने कन्धे (गरदन) झुकाए; विधि-वत्—शास्त्रोक्त विधियों से; पूजयाम्—पूजा; चक्रे—सम्पन्न की; गृहीत—स्वीकार करते हुए; अधि—के सहित; अर्हण—स्वागत की सामग्री; आसनान्—आसन पर।

जब वे महान् ऋषिगण शास्त्रविहित ढंग से उनके द्वारा किये गये स्वागत को स्वीकार कर राजा द्वारा प्रदत्त आसनों पर बैठ गये तो राजा उनके गौरव के वशीभूत होकर तुरन्त नतमस्तक हुआ। इस प्रकार उसने चारों कुमारों की पूजा की।

तात्पर्य : ये चारों कुमार वैष्णव सम्प्रदाय के परम्परा-गुरु हैं। ब्रह्म सम्प्रदाय, श्री सम्प्रदाय, कुमार सम्प्रदाय तथा रुद्र सम्प्रदाय—इन चारों सम्प्रदायों में से कुमार सम्प्रदाय इन्हीं चारों कुमारों के नाम में से है। अतः पृथु महाराज सम्प्रदाय-आचार्यों के प्रति अत्यन्त विनयशील थे। जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा—*साक्षाद्धरित्वेन समस्तशास्त्रैः।* गुरु अर्थात् परम्परा-आचार्य का भगवान् के ही समान आदर किया जाना चाहिए। इस श्लोक में आगत *विधिवत्* शब्द अत्यन्त सटीक है। इसका यह अर्थ हुआ कि पृथु महाराज ने गुरु या आचार्य का स्वागत करते समय शास्त्रों में बताई विधियों का कड़ाई से पालन किया। जब भी किसी आचार्य का दर्शन हो, मनुष्य को चाहिए कि वह तुरन्त उनके समक्ष नतमस्तक हो। पृथु महाराज ने *विधिवत्* यह क्रिया सम्पन्न की, अतः यहाँ पर *प्रश्रयानत-कन्धरः*

शब्द आये हैं। विनयवश वे कुमारों के समक्ष झुक गये।

तत्पादशौचसलिलैर्मार्जितालकबन्धनः ।
तत्र शीलवतां वृत्तमाचरन्मानयन्निव ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तत्-पाद—उनके चरणकमल; शौच—धुला; सलिलैः—जल से; मार्जित—छिड़का गया; अलक—बाल; बन्धनः—जूड़ा, राशि; तत्र—वहाँ; शीलवताम्—सम्मानित पुरुषों के; वृत्तम्—आचरण; आचरन्—आचरण करते हुए; मानयन्—अभ्यास करते हुए; इव—सदृश।

तत्पश्चात् राजा ने कुमारों के चरणकमलों के धोये हुए जल को लेकर अपने बालों पर छिड़का। ऐसे शिष्ट आचरण से राजा ने आदर्श पुरुष की तरह यह प्रदर्शित किया कि आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत व्यक्ति का किस प्रकार सम्मान करना चाहिए।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है।—*आपनि आचरि प्रभु जीवेरे शिखाय।* यह सर्वविदित है कि श्री चैतन्य महाप्रभु ने आचार्य के रूप में जो शिक्षा दी उसे वे अपने जीवन में उतारते थे। यद्यपि अनेक महापुरुषों ने उन्हें श्रीकृष्ण के अवतार के रूप में पहचान लिया था, किन्तु जब वे भक्त के रूप में उन्हें उपदेश देते थे, वे कभी भी अवतारी कहलाना पसन्द नहीं करते थे। भले ही कोई श्रीकृष्ण का अवतार या भगवान् का शक्त्यावेशावतार हो, किन्तु उसे इसको विज्ञापित नहीं करना चाहिए कि वह अवतार है। लोग स्वयं ही कालक्रम में सचाई जान लेंगे। पृथु महाराज आदर्श वैष्णव राजा थे, अतः वे अपने निजी आचरण से दूसरों को सिखाना चाहते थे कि कुमारों के समान महापुरुषों का किस प्रकार स्वागत-सत्कार करना चाहिए। यह वैदिक प्रथा है कि जब कोई साधु पुरुष किसी के घर जाये तो वह चरण पखार कर चरणोदक को अपने तथा परिवार के व्यक्तियों के सिर के ऊपर छिड़के। पृथु महाराज ने ऐसा किया, क्योंकि वे जनता के आदर्श शिक्षक थे।

हाटकासन आसीनान्स्वधिष्ण्येष्विव पावकान् ।
श्रद्धासंयमसंयुक्तः प्रीतः प्राह भवाग्रजान् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

हाटक-आसने—सोने के बने सिंहासन पर; आसीनान्—बैठे हुए; स्व-धिष्ण्येषु—बलिवेदी पर; इव—मानो; पावकान्—अग्नि; श्रद्धा—सम्मान; संयम—संयम; संयुक्तः—से विभूषित; प्रीतः—प्रसन्न; प्राह—कहा; भव—शिवजी; अग्र-जान्—से बड़े।

चारों मुनि शिवजी से भी ज्येष्ठ थे और जब वे सोने के बने हुए सिंहासन पर बैठा दिये गये तो ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो वेदी पर अग्नि प्रज्ज्वलित हो रही हो। महाराज पृथु ने उनसे

अत्यन्त शिष्टता तथा सम्मानपूर्वक बड़े ही संयमित स्वर में कहा।

तात्पर्य : कुमारों को शिवजी का अग्रज बताया गया है। जब ब्रह्माजी के शरीर से कुमारों की उत्पत्ति हुई तो इनसे विवाह करने और जनसंख्या बढ़ाने के लिए कहा गया। चूँकि सृष्टि के प्रारम्भ में जनसंख्या बढ़ाना आवश्यक था, अत: ब्रह्माजी एक-एक करके पुत्रों को जन्म देते जा रहे थे और उन्हें वृद्धि करने का आदेश देते जाते थे। किन्तु जब कुमारों से कहा गया तो उन्होंने इनकार कर दिया। वे आजीवन ब्रह्मचारी ही रहकर भगवान् की सेवा में तत्पर रहना चाह रहे थे। इन कुमारों को नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा जाता है, जिसका अर्थ है कि वे कभी विवाह नहीं करेंगे। विवाह से इनकार करने के कारण ब्रह्माजी अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उनकी आँखें लाल-लाल हो गईं। तब उनके नेत्रों के मध्य से शिवजी या रुद्र प्रकट हुए। फलस्वरूप क्रोध गुण को रुद्र कहा जाता है। शिवजी का भी अपना सम्प्रदाय है, जो ''रुद्र सम्प्रदाय'' कहलाता है। ये लोग भी वैष्णव कहलाते हैं।

पृथुरुवाच
अहो आचरितं किं मे मङ्गलं मङ्गलायनाः ।
यस्य वो दर्शनं ह्यासीद्दुर्दर्शानां च योगिभिः ॥ ७॥

शब्दार्थ

पृथुः उवाच—राजा पृथु ने कहा; अहो—हे भगवान्; आचरितम्—अभ्यास; किम्—क्या; मे—मेरे द्वारा; मङ्गलम्—कल्याण; मङ्गल-आयनाः—हे साक्षात् कल्याण; यस्य—जिससे; वः—तुम्हारा; दर्शनम्—दर्शन; हि—निश्चय ही; आसीत्—सम्भव हो सका; दुर्दर्शानाम्—कठिनाई से दृश्य, दुर्लभ; च—भी; योगिभिः—योगियों द्वारा।

राजा पृथु ने कहा : हे साक्षात् कल्याणमूर्ति महामुनियो, आपका दर्शन तो योगियों के लिए भी दुर्लभ है। निस्सन्देह आपका दर्शन दुर्लभ है। मैं नहीं जानता कि मुझसे ऐसा कौन-सा पुण्य बन पड़ा है, जिससे आप मेरे समक्ष इतनी सहजता से प्रकट हुए हैं।

तात्पर्य : जब किसी के आध्यात्मिक जीवन में कुछ असाधारण घटना घटती है, तो यह समझना चाहिए कि किसी *अज्ञात-सुकृति* अर्थात् किसी अज्ञात पुण्य कर्म से ऐसा हुआ है। भगवान् या उनके शुद्ध भक्त का दर्शन प्राप्त कर पाना कोई साधारण घटना नहीं है। जब ऐसी घटनाएँ घटें तो इन्हें पूर्व पुण्यकर्मों का परिणाम समझना चाहिए जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.२८) में हुई है—*येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।* जो व्यक्ति समस्त पापकर्मों के फलों से मुक्त हो जाता है और केवल पुण्यकर्मों में लगा रहता है, वही भक्ति में प्रवृत्त हो सकता है। यद्यपि महाराज पृथु का जीवन पुण्यकर्मों

से ओतप्रोत था, तो भी उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि उन्हें कुमारों के दर्शन किस प्रकार हो सके। उन्हें इसका अनुमान ही नहीं हो रहा था कि उन्होंने किस प्रकार के पुण्यकर्म किये होंगे। यह राजा पृथु की विनयशीलता का चिह्न है, जिन का जीवन पुण्यकर्मों के कारण इतना भरा हुआ था कि उनको भगवान् विष्णु तक ने दर्शन दिये थे और भविष्यवाणी की थी कि कुमार भी उन्हें दर्शन देंगे।

किं तस्य दुर्लभतरमिह लोके परत्र च ।
यस्य विप्राः प्रसीदन्ति शिवो विष्णुश्च सानुगः ॥८॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; तस्य—उसका; दुर्लभ-तरम्—अत्यन्त कठिनाई से प्राप्य; इह—इस; लोके—संसार में; परत्र—मृत्यु के पश्चात्; च—अथवा; यस्य—जिसका; विप्राः—ब्राह्मण या वैष्णव; प्रसीदन्ति—प्रसन्न हो जाते हैं; शिवः—सर्व-कल्याणमय; विष्णुः—भगवान् विष्णु; च—भी; स-अनुगः—साथ-साथ चलने वाले।.

जिस पर ब्राह्मण तथा वैष्णव प्रसन्न हो जाते हैं, वह व्यक्ति इस संसार में तथा साथ ही मृत्यु के बाद भी दुर्लभ से दुर्लभ वस्तु प्राप्त कर सकता है। यही नहीं, ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के साथ-साथ रहने वाले कल्याणकारी शिव तथा भगवान् विष्णु का भी उस व्यक्ति को अनुग्रह प्राप्त हो जाता है।

तात्पर्य : ब्राह्मण तथा वैष्णव तो परम कल्याणमय भगवान् विष्णु के संवाहक हैं। *ब्रह्म-संहिता* (५.३८) में इसकी पुष्टि हुई है—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

भक्तगण भगवान् गोविन्द के अत्यन्त प्रेमवश उन्हें सदा अपने हृदयों में धारण करते हैं। भगवान् तो पहले से सबों के हृदय में विद्यमान हैं, किन्तु वैष्णव तथा ब्राह्मण प्रेम विभोर होने पर सदैव उनका दर्शन करते हैं। फलतः ब्राह्मण तथा वैष्णव विष्णु को भी धारण करने वाले हैं। वे जहाँ भी जाते हैं, भगवान् विष्णु, शिवजी अथवा भगवान् के भक्त भी उनके साथ हो लेते हैं। चारों कुमार ब्राह्मण थे और वे महाराज पृथु के स्थान पर गये थे, अतः स्वाभाविक था कि भगवान् विष्णु तथा उनके भक्त भी वहाँ उपस्थित थे। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकलता है कि जब किसी व्यक्ति पर ब्राह्मण तथा वैष्णव

प्रसन्न होते हैं, तो भगवान् विष्णु भी प्रसन्न होते हैं। इसकी पुष्टि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर द्वारा आठ श्लोकों में की गई गुरु-स्तुति से होती है—*यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसाद: ।* यदि गुरु को, जो ब्राह्मण तथा वैष्णव दोनों ही होता है, प्रसन्न कर लिया जाय तो भगवान् भी प्रसन्न होते हैं। और यदि भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं, तो इस संसार में या मृत्यु के बाद मनुष्य को और क्या प्राप्त करने को रह जाता है?

नैव लक्ष्यते लोको लोकान्पर्यटतोऽपि यान् ।
यथा सर्वदृशं सर्व आत्मानं येऽस्य हेतवः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एव—इस प्रकार; लक्षयते—देख सकते हैं; लोकः—लोग; लोकान्—समस्त लोकों में; पर्यटतः—विचरण करते; अपि—यद्यपि; यान्—जिसको; यथा—जिस तरह; सर्व-दृशम्—परमात्मा; सर्वे—सबों में; आत्मानम्—प्रत्येक प्राणी के भीतर; ये—जो; अस्य—इस जगत के; हेतवः—कारण।.

पृथु महाराज ने आगे कहा : यद्यपि आप समस्त लोकों में विचरण करते रहते हैं, किन्तु लोग आपको नहीं जान पाते, जिस प्रकार वे प्रत्येक हृदय में वास करने वाले और प्रत्येक वस्तु के साक्षी परमात्मा को नहीं जान पाते। यहाँ तक कि ब्रह्मा तथा शिव भी परमात्मा को नहीं जान पाते।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है—*मुह्यन्ति यत् सूरयः ।* कभी-कभी ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, चन्द्र जैसे देवता भी भगवान् को समझ नहीं पाते। जब श्रीकृष्ण इस लोक में थे तो ब्रह्मा तथा इन्द्र ने भी उन्हें गलत समझा। तो फिर योगियों या ज्ञानियों का क्या कहना जो भगवान् को निर्गुण मानते हैं? इसी प्रकार चारों कुमार जैसे महापुरुष तथा वैष्णव भी सामान्य पुरुषों से अदृश्य रहते हैं, यद्यपि वे विभिन्न लोकों में सदैव विचरण करते रहते हैं। जब सनातन गोस्वामी भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के दर्शन हेतु गये तो चन्द्रशेखर आचार्य उन्हें नहीं पहचान पाये। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भगवान् प्रत्येक हृदय में स्थित हैं और वैष्णव भी जो उनके शुद्ध भक्त हैं संसार भर में भ्रमण करते रहते हैं, किन्तु भौतिक संसार की माया से ग्रस्त लोग इस सृष्टि के अथवा वैष्णवों के स्रोत रूप भगवान् के रूप को नहीं समझ पाते। अत: यह कहा जाता है कि मनुष्य अपने भौतिक नेत्रों से न तो भगवान् को देख सकता है और न ही वैष्णव को, उसे अपनी इन्द्रियों को शुद्ध करके भगवान् की सेवा करनी होती है। तभी क्रमश: वह अनुभव कर सकता है कि भगवान् कौन हैं और वैष्णव कौन है।

अधना अपि ते धन्याः साधवो गृहमेधिनः ।
यद्गृहा ह्यर्हवर्याम्बुतृणभूमीश्वरावराः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अधनाः—निर्धन; अपि—यद्यपि; ते—वे; धन्याः—धन्य हैं; साधवः—साधु पुरुष; गृह-मेधिनः—गृहस्थ लोग; यत्-गृहाः—जिनके घर; हि—निश्चय ही; अर्ह-वर्य—अत्यन्त पूज्य; अम्बु—जल; तृण—घास; भूमि—स्थल; ईश्वर—स्वामी; अवराः—दास।

कोई भी व्यक्ति जो धनवान हो तथा गृहस्थ जीवन व्यतीत कर रहा हो, वह भी अतीव धन्य हो जाता है, जब उसके घर में साधु पुरुष उपस्थित होते हैं। गृह स्वामी तथा सेवक, जो सम्मान्य अतिथियों को जल, आसन तथा स्वागत सामग्री प्रदान करने में लगे रहते हैं, वे धन्य हो जाते हैं और वह घर भी धन्य हो जाता है।

तात्पर्य : यदि कोई मनुष्य अधिक धनी नहीं होता तो वह धन्य नहीं है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति पारिवारिक जीवन के प्रति अधिक आसक्त होता है, तो वह भी धन्य नहीं है। किन्तु साधु पुरुष निर्धन अथवा गृहस्थ के घर जाने के लिए सदैव तैयार रहते हैं। जब ऐसा होता है, तो घर का स्वामी तथा उसके सेवक धन्य हो जाते हैं, क्योंकि वे साधु पुरुषों के चरण-प्रक्षालन के लिए जल प्रदान करते हैं, उन्हें आसन देते हैं और उनके स्वागत की अन्य वस्तुएँ देते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि यदि कोई साधु पुरुष किसी साधारण व्यक्ति के भी घर जाता है, तो उसके आशीर्वाद से वह व्यक्ति धन्य हो जाता है। अत: यह वैदिक पद्धति है कि आशीर्वाद लने के लिए गृहस्थ द्वारा किसी साधु पुरुष को आमंत्रित किया जाता है। यह पद्धति आज भी भारत में प्रचलित है। अत: साधु पुरुष जहाँ कहीं भी जाते हैं, गृहस्थ उनका सत्कार करते हैं और बदले में उनसे दिव्य ज्ञान प्राप्त करते हैं। अत: संन्यासियों का कर्तव्य है कि वे गृहस्थों पर अनुग्रह करने के लिए भ्रमण करते रहें, क्योंकि वे आध्यात्मिक जीवन के मूल्यों के प्रति प्राय: अनजान होते हैं।

यह तर्क किया जा सकता है कि सभी गृहस्थ इतने धनवान नहीं कि वे बड़े-बड़े साधु पुरुषों का सत्कार कर सकें, क्योंकि उनके साथ सदा उनके शिष्य भी रहते हैं। यदि कोई गृहस्थ किसी साधु पुरुष को आतिथ्य प्रदान करता है, तो उसे उनके साथ वालों का भी सत्कार करना होता है। शास्त्रों में बताया गया है कि दुर्वासा मुनि के साथ साठ हजार शिष्य रहते थे और यदि उनके सत्कार में तनिक भी त्रुटि हो जाती तो वे अत्यन्त कुपित होते और कभी-कभी अतिथिसेवी को शाप भी दे देते थे। वस्तुत: हर एक गृहस्थ, चाहे उसकी स्थिति या आर्थिक दशा कैसी ही क्यों न हो, भक्तिपूर्वक साधु पुरुषों का

सम्मान कर सकता है और उन्हें कम से कम पानी तो पीने को दे ही सकता है, क्योंकि पानी सर्वत्र प्राप्य है। भारतवर्ष की प्रथा है कि यदि अचानक कोई सामान्य व्यक्ति भी आ जाए तो यदि गृहस्थ उसे भोजन नहीं दे सके तो पीने को जल तो देता ही है। यदि जल भी न हो तो बैठने को आसन या चटाई ही दे। यदि चटाई भी न हो तो भूमि को झाड़ कर उसी पर बैठाए। यदि वह यह भी न कर सके, तो हाथ जोड़कर वह यह कहकर अतिथि को ले सकता हैं आपका स्वागत है! यदि इतना भी न कर पाये तो उसे अपनी दीन-हीन दशा पर तरस आनी चाहिए और आँसू बहाने चाहिए और समस्त परिवार, पत्नी तथा सन्तान सहित केवल प्रणाम करना चाहिए। इस प्रकार वह किसी भी अतिथि को, चाहे वह साधु पुरुष हो या राजा हो, प्रसन्न कर सकता है।

व्यालालयद्रुमा वै तेष्वरिक्ताखिलसम्पदः ।
यद्गृहास्तीर्थपादीयपादतीर्थविवर्जिताः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

व्याल—विषैले सर्प; आलय—घर; द्रुमाः—वृक्ष; वै—निश्चय ही; तेषु—उन घरों में; अरिक्त—अत्यधिक; अखिल—समस्त; सम्पदः—ऐश्वर्य, वैभव; यत्—जो; गृहाः—घर; तीर्थ-पादीय—साधु पुरुषों के चरणों का; पाद-तीर्थ—चरणों के प्रक्षालन से प्राप्त जल; विवर्जिताः—रहित।

इसके विपरीत जिस गृहस्थ के घर में भगवान् के भक्तों के चरण नहीं पड़ते और जहाँ उन चरणों के प्रक्षालन के लिए जल नहीं रहता, वह घर समस्त ऐश्वर्य तथा धन-सम्पन्न होते हुए भी ऐसे वृक्ष के तुल्य माना जाता है, जिसमें केवल विषैले सर्प रहते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *तीर्थ-पादीय* शब्द का अर्थ भगवान् विष्णु के भक्त या वैष्णव है। जहाँ तक ब्राह्मणों की बात है, पिछले श्लोक में उनके स्वागत के सम्बन्ध में कहा जा चुका है। इस श्लोक में वैष्णवों पर विशेष बल दिया गया है। सामान्यतः संन्यासी लोग गृहस्थों को सन्मार्ग दिखाने का कार्य करते हैं। कुछ संन्यासी एकदंडी होते हैं और कुछ त्रिदंडी संन्यासी होते हैं। एकदण्डी संन्यासी शंकराचार्य के अनुयायी होते हैं और मायावादी संन्यासी कहलाते हैं। त्रिदंडी संन्यासी वैष्णव आचार्यों—यथा रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य आदि के अनुयायी होते हैं और ये गृहस्थों को उपदेश देते हैं। एकदंडी संन्यासी शुद्ध ब्रह्मपद पर स्थित हो सकते हैं, क्योंकि वे भली-भाँति अवगत रहते हैं कि आत्मा शरीर से भिन्न है, किन्तु वे मुख्यतः निर्विशेषवादी होते हैं। वैष्णव परम सत्य को परम पुरुष मानते हैं और ब्रह्मतेज को भगवान् के आश्रित मानते हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.२७) में पुष्टि हुई

है—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्।* निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि *तीर्थपादीय* वैष्णवों के लिए ही प्रयुक्त है। *भागवत* (१.१३.१०) में एक अन्य प्रसंग भी मिलता है—*तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि।* वैष्णव जिस किसी भी स्थान में जाता है, वह तीर्थ बन जाता है। वैष्णव संन्यासी अपने चरणकमलों के स्पर्श से प्रत्येक स्थान को तीर्थ बनाने के लिए विश्व-भर का भ्रमण करते रहते हैं। यहाँ इसका उल्लेख है कि जिस घर में वैष्णव का स्वागत पिछले श्लोक में वर्णित विधि से नहीं होता, उसे विषधरों का आवास समझना चाहिए। कहा जाता है कि चन्दन जैसे बहुमूल्य वृक्ष के चारों ओर विषैला सर्प रहता है। चन्दन वृक्ष अत्यन्त शीतल होता है और विषैला सर्प अपने विषैले दाँत के कारण अत्यन्त तप्त रहता है, अत: शीतल बनने के उद्देश्य से वह चन्दन वृक्ष की शरण ग्रहण करता है। इसी प्रकार ऐसे अनेक धनिक पुरुष हैं, जो अपने द्वार पर कुत्ते या चौकीदार रखते हैं और द्वार पर ऐसे पट्ट लगा देते हैं जैसे "प्रवेश वर्जित है," "राहगीरों का प्रवेश निषिद्ध है," "कुत्तों से सावधान" इत्यादि। पाश्चात्य देशों में तो कभी-कभी अनधिकार प्रवेश करने वाले को गोली मार दी जाती है और इसकी गणना अपराध में नहीं होती। यह आसुरी गृहस्थों की स्थिति है और ऐसे घरों को विषैले सर्पों का आगार समझा जाता है। ऐसे परिवार के सदस्य सर्पों से तनिक भी अच्छे नहीं हैं, क्योंकि सर्प अत्यन्त ईर्ष्यालु होते हैं और जब वे साधु पुरुषों के प्रति ईर्ष्या करते हैं, तो उनकी स्थिति और भी भयानक हो जाती है। चाणक्य पण्डित ने कहा है कि, ईर्ष्यालु जीव दो प्रकार के होते हैं, सर्प और ईर्ष्यालु मानव। ईर्ष्यालु व्यक्ति तो सर्प से भी अधिक घातक है, क्योंकि सर्प को मंत्रों से या जड़ी-बूटियों से मुग्ध किया जा सकता है, किन्तु ईर्ष्यालु पुरुष को किसी भी साधन से शान्त नहीं किया जा सकता।

स्वागतं वो द्विजश्रेष्ठा यद्व्रतानि मुमुक्षवः ।
चरन्ति श्रद्धया धीरा बाला एव बृहन्ति च ॥ १२॥

शब्दार्थ

सु-आगतम्—स्वागत; वः—तुमको; द्विज-श्रेष्ठाः—ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ; यत्—जिसके; व्रतानि—व्रत, संकल्प; मुमुक्षवः—मुक्ति की इच्छा रखने वाले पुरुषों के; चरन्ति—आचरण करते हैं; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; धीराः—संयमी; बालाः—बालक; एव—सदृश; बृहन्ति—देते हैं; च—भी।

महाराज पृथु ने चारों कुमारों को ब्राह्मणश्रेष्ठ सम्बोधित करके स्वागत किया और उन्हें कहा कि आपने जन्म से ही ब्रह्मचर्य व्रत का दृढ़ता से पालन किया है और यद्यपि आप मुक्ति के अनुभवी नहीं हैं, तो भी आप अपने को छोटे-छोटे बालकों के समान रखते हैं।

तात्पर्य : कुमारों की विशेषता यह है कि वे आजन्म ब्रह्मचारी थे। उन्होंने अपने को चार-पाँच वर्ष के बालकों की भाँति रखा, क्योंकि तरुण होने पर इन्द्रियाँ कभी-कभी विचलित हो उठती हैं और ब्रह्मचर्य धारण कर पाना कठिन हो जाता है। अत: कुमार जान बूझकर बालक बने रहे, क्योंकि बाल्यकाल में इन्द्रियाँ कभी भी वासना से विचलित नहीं होतीं। कुमारों के जीवन का यही महत्त्व था और इसलिए महाराज पृथु ने उन्हें *ब्राह्मणश्रेष्ठ* कह कर सम्बोधित किया है। ये कुमार न केवल ब्राह्मणश्रेष्ठ (भगवान् ब्रह्मा) की सन्तान थे, वरन् उन्हें यहाँ पर *द्विजश्रेष्ठ* (ब्राह्मणों में श्रेष्ठ) कहकर सम्बोधित किया गया है, क्योंकि वे वैष्णव भी थे। जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, इनका अपना सम्प्रदाय है और वह निम्बार्क सम्प्रदाय के रूप में आज भी चल रहा है। वैष्णव आचार्यों के चार सम्प्रदायों में से निम्बार्क सम्प्रदाय भी एक है। महाराज पृथु ने कुमारों की स्थिति की विशेष रूप से प्रशंसा की, क्योंकि वे आजन्म ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर रहे थे। किन्तु राजा ने कुमारों को *वैष्णव-श्रेष्ठ* कहकर सम्बोधित किया जिससे वैष्णववाद के प्रति उनकी अत्यधिक रुचि प्रकट होती है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह वैष्णव के जन्म पर विचार किये बिना उसका सत्कार करे। *वैष्णवे जातिबुद्धि: ।* वैष्णव के जन्म पर विचार नहीं किया जाना चाहिए। वैष्णव सदैव ब्राह्मणों में श्रेष्ठ होता है, अत: प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह वैष्णव का आदर न केवल ब्राह्मण के रूप में अपितु सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण के रूप में करे।

कच्चिन्न: कुशलं नाथा इन्द्रियार्थार्थवेदिनाम् ।
व्यसनावाप एतस्मिन्पतितानां स्वकर्मभि: ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; न:—हमारी; कुशलम्—कुशलता; नाथा:—हे स्वामियो; इन्द्रिय-अर्थ—इन्द्रियतृप्ति ही जीवन लक्ष्य है; अर्थ-वेदिनाम्—जो व्यक्ति केवल इन्द्रियतृप्ति को ही जान पाते हैं; व्यसन—दुर्गुण, बीमारी; आवापे—प्राप्त किया; एतस्मिन्—इस संसार में; पतितानाम्—पतित जनों का; स्व-कर्मभि:—अपनी-अपनी सामर्थ्य से।

पृथु महाराज ने मुनियों से ऐसे व्यक्तियों के विषय में पूछा जो अपने पूर्व कर्मों के कारण इस विपत्तिमय संसार में फँसे हुए हैं। क्या ऐसे व्यक्तियों को, जिनका एकमात्र लक्ष्य इन्द्रियतृप्ति है, सौभाग्य प्राप्त हो सकता है?

तात्पर्य : महाराज पृथु ने कुमारों से उनका कुशल नहीं पूछा, क्योंकि वे अपने ब्रह्मचारी जीवन के कारण सदैव कल्याणकारी हैं। चूँकि वे सदैव मुक्तिपथ के गामी हैं, अत: उनके अकुशल होने का कोई

प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरे शब्दों में, जो ब्राह्मण तथा वैष्णवजन आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर दृढ़ता से चलते हैं, वे सदैव भाग्यशाली होते हैं। पृथु महाराज ने तो अपने निमित्त यह प्रश्न पूछा था, क्योंकि वे गृहस्थ की स्थिति में थे और राज्याधिकारी थे। राजा लोग केवल गृहस्थ रहकर विषय-सुख में तल्लीन नहीं रहते, अपितु उन्हें कभी कभी पशुओं का शिकार भी करना पड़ता है, क्योंकि उन्हें वध करने की कला का अभ्यास करना होता है, अन्यथा अपने शत्रुओं से युद्ध करना मुश्किल हो जाए। ये बातें शुभ नहीं हैं। क्षत्रियों को चार प्रकार के पापकर्मों की छूट है—अवैध संभोग के लिए स्त्री से संगति, मांसाहार, मादकद्रव्य सेवन तथा द्यूतक्रीड़ा। राजनैतिक कारणों से उन्हें कभी-कभी ये पापकर्म करने होते हैं। क्षत्रिय कभी द्यूतक्रीड़ा से कतराते नहीं। इसका ज्वलन्त प्रमाण पाण्डवों का है। जब दुर्योधन ने पाण्डवों को द्यूतक्रीड़ा के लिए अपना राज्य दाव पर लगाने के लिए ललकारा तो वे उससे इनकार नहीं कर सके और उसी द्यूतक्रीड़ा से उन्होंने अपना सारा राजपाट खो दिया और उनकी पत्नी का भी अपमान हुआ। इसी प्रकार यदि विरोधी पक्ष ललकारे तो क्षत्रिय युद्ध करने से मुख नहीं मोड़ सकते। अत: इन सब तथ्यों पर विचार करते हुए महाराज पृथु ने पूछा कि क्या कोई शुभ मार्ग है? गृहस्थ जीवन तो अशुभ है, क्योंकि गृहस्थ का अर्थ ही है इन्द्रियतृप्ति का विचार और ज्योंही इन्द्रियतृप्ति हो जाती है, वैसे ही मनुष्य की स्थिति संकट में पड़ जाती है। यह भौतिक जगत पग-पग पर विपदाग्रस्त है—*पदं पदं यद् विपदां न तेषाम्* (*भागवत* १०.१४.५८) इस भौतिक संसार में प्रत्येक व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति के लिए संघर्ष कर रहा है इन सभी बातों को स्पष्ट करते हुए पृथु महाराज ने चारों कुमारों से इन पतित बद्धजीवों के बारे में पूछा जो अपने पिछले अशुभ कर्मों के कारण इस भौतिक संसार में दुख भोग रहे हैं। उनके शुभ आध्यात्मिक जीवन की कोई सम्भावना है? इस श्लोक में *इन्द्रियार्थार्थवेदिनाम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे उन पुरुषों का संकेत मिलता है जिनका एकमात्र उद्देश्य इन्द्रियों की तुष्टि है। इन्हें *पतितानाम्* अर्थात् पतित भी कहा गया है। केवल वही पुरुष उठा हुआ (सिद्ध) समझा जाता है, जो इन्द्रियतृप्ति के समस्त कार्यों को रोक देता है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द *स्व-कर्मभि:* है। मनुष्य अपने पिछले जन्म के बुरे कर्मों के कारण ही पतित होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने ही कर्मों के कारण अपनी पतित अवस्था के लिए उत्तरदायी होता है। जब इन कर्मों के स्थान पर भक्ति की जाती है, तो शुभ जीवन का शुभारम्भ होता है।

भवत्सु कुशलप्रश्न आत्मारामेषु नेष्यते ।
कुशलाकुशला यत्र न सन्ति मतिवृत्तयः ॥ १४॥

शब्दार्थ

भवत्सु—आप से; कुशल—सौभाग्य; प्रश्नः—सवाल; आत्म-आरामेषु—सदैव आत्मिक आनन्द में मग्न; न इष्यते—कोई आवश्यकता नहीं होती; कुशल—सौभाग्य; अकुशलाः—अकुशलता; यत्र—जहाँ; न—कभी नहीं; सन्ति—रहते हैं; मति-वृत्तयः—कोरी कल्पना।

पृथु महाराज ने आगे कहा : हे महाशयो, आपसे आपकी कुशल तथा अकुशल पूछने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आप नित्य आध्यात्मिक आनन्द में लीन रहते हैं। आप में कुशल तथा अकुशल की मानसिक वृत्तियाँ पाई ही नहीं जाती हैं।

तात्पर्य : *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (अन्त्य ४.१७६) में कहा गया है—

'द्वैते' भद्राभद्र-ज्ञान, सब—'मनोधर्म'।

एइ भाल, एइ मन्द',—एइ सब 'भ्रम'॥

इस संसार में शुभ तथा अशुभ केवल मन के भ्रम हैं, क्योंकि ऐसी वस्तुएँ भौतिक जगत के सम्पर्क के कारण ही विद्यमान हैं। यह *आत्म-माया* कहलाती है। हम प्रकृति द्वारा अपने को उसी प्रकार उत्पन्न मानते हैं जिस प्रकार कि स्वप्न में हम अनेक वस्तुओं का अनुभव करते प्रतीत होते हैं। फिर भी आत्मा सदैव दिव्य होता है। भौतिक स्वरूप से उसके प्रच्छन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह आवरण स्वप्न या सम्मोह-सा होता है। *भगवद्गीता* (२.६२) में भी कहा गया है—*सङ्गात् सञ्जायते कामः।* मात्र संगति से अनेक कृत्रिम आवश्यकताएँ उत्पन्न होती हैं। *ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।* जब हम अपनी वास्तविक स्वाभाविक स्थिति को भुलाकर भौतिक वस्तुओं का भोग करना चाहते हैं, तो हमारी भौतिक इच्छाएँ प्रकट होती हैं और हम अनेक प्रकार के भोग-विलास के सम्पर्क में आते हैं। ज्योंही भौतिक सुख की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं त्योंही हमारी संगति के कारण उनको भोगने के लिए एक प्रकार की उत्सुकता होती है और जब इस छद्म भोग से हम सुखी नहीं होते तो हममें दूसरा भ्रम उत्पन्न होता है, जिसे क्रोध कहा जाता है और क्रोध के प्रकट होने से भ्रम और भी प्रबल हो जाता है। इस प्रकार मोहग्रस्त होने पर हम श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध को भूलने लगते हैं; फलस्वरूप हमारी वास्तविक बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। इस प्रकार हम इस भौतिक जगत में उलझ जाते हैं। *भगवद्गीता* (२.६३) में कहा गया है—

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

भौतिक संगति से हम अपनी आत्म-चेतना खो बैठते है; फलतः शुभ तथा अशुभ का प्रश्न उठता है। किन्तु जो *आत्माराम* अर्थात् स्वरूपसिद्ध हैं, वे ऐसे प्रश्नों से परे हैं। *आत्माराम* क्रमशः आत्मिक आनन्द में और अधिक उन्नति करते हुए भगवान् की संगति को प्राप्त होते हैं। यही जीवन की सिद्धि है। प्रारम्भ में कुमार स्वरूपसिद्ध निर्विशेषवादी थे, किन्तु उत्तरोत्तर वे परमेश्वर की लीलाओं के प्रति आकृष्ट होते गये। निष्कर्ष यह निकला कि जो भगवान् की भक्ति में सदैव रत रहते हैं उनके लिए शुभ तथा अशुभ की द्वैतता का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः पृथु महाराज कुमारों के लिए नहीं, अपितु अपने लिए कुशल-याचना कर रहे हैं।

तदहं कृतविश्रम्भः सुहृदो वस्तपस्विनाम् ।
सम्पृच्छे भव एतस्मिन्क्षेमः केनाञ्जसा भवेत् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; अहम्—मैं; कृत-विश्रम्भः—पूरी तरह आश्वस्त होकर; सु-हृदः—मित्र; वः—हमारा; तपस्विनाम्—भौतिक कष्ट सहने वाले; सम्पृच्छे—पूछना चाहता हूँ; भवे—इस संसार में; एतस्मिन्—यह; क्षेमः—अन्तिम वास्तविकता, कल्याण; केन—किस विधि से; अञ्जसा—अविलम्ब; भवेत्—प्राप्त किया जा सकता है।

मैं पूर्ण रूप से आश्वस्त हूँ कि आप जैसे महापुरुष इस संसार की अग्नि में सन्तप्त होने वाले व्यक्तियों के एकमात्र मित्र हैं। अतः मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि इस संसार में हम किस प्रकार जल्दी से जल्दी जीवन का परम उद्देश्य प्राप्त कर सकते हैं।

तात्पर्य : जब साधु द्वार-द्वार जाकर उन व्यक्तियों से भेंट करते हैं, जो सांसारिकता में बहुत अधिक लगे हुए हैं, तो यह समझना चाहिए कि वे किसी व्यक्तिगत लाभ से ऐसा नहीं करते। यह तथ्य है कि साधु पुरुष भौतिकतावादी व्यक्तियों के पास वास्तविक कुशलक्षेम के विषय में बताने के लिए जाते हैं। महाराज पृथु को इस बात का पूरा-पूरा विश्वास था, अतः उन्होंने कुमारों से उनका कुशल पूछ कर समय का अपव्यय करने के बजाये उनसे यह जानना उचित समझा कि क्या इस संसार की विषम परिस्थिति से किसी प्रकार उबरा जा सकता है ? फिर भी यह महाराज पृथु का कोई निजी प्रश्न न था। यह प्रश्न तो सामान्य जनों को शिक्षा प्रदान करने के लिए उठाया गया था कि जब भी उनकी भेंट किसी साधु पुरुष से हो तो वे तुरन्त उसकी शरण में जाँय और सांसारिक तापों से उबरने का उपाय पूछें, अतः

श्रील नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं—*संसार विषानले दिवानिशि हिया ज्वले, जुडायते ना कैनु उपाय*—"हम नित्य भौतिक कष्टों से पीड़ित रहते हैं, हमारे हृदय जलते रहते हैं, किन्तु हम इनसे उबरने का कोई उपाय नहीं ढूँढ पाते।" भौतिकतावादी व्यक्ति को तपस्वी भी कहा जा सकता है—अर्थात् ऐसा व्यक्ति जो नित्य भौतिक तापों को सहता रहता है। उसे इन भौतिक तापों से तभी छुटकारा मिल सकता है जब वह हरे-कृष्ण-मंत्र-संकीर्तन की शरण ले। इसकी व्याख्या नरोत्तमदास ठाकुर ने भी की है—*गोलोकेर प्रेम-धन, हरिनाम-संकीर्तन, रति ना जन्मिल केने ताय।* उन्हें इसका पश्चात्ताप था कि वे हरे-कृष्ण-मंत्र की दिव्य ध्वनि के प्रति जो आकर्षण है उसका अनुसरण नहीं कर पाये। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इस संसार के सभी व्यक्ति भौतिक तापों से पीड़ित हैं और यदि कोई इनसे छुटकारा पाना चाहता है, तो उसे साधु पुरुषों, या ईश्वर के भक्तों की संगति करनी चाहिए और हरे-कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे-महामंत्र का जप करना चाहिए। भौतिकतावादी व्यक्तियों के लिए एकमात्र यही शुभ मार्ग है।

व्यक्तमात्मवतामात्मा भगवानात्मभावनः ।
स्वानामनुग्रहायेमां सिद्धरूपी चरत्यजः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

व्यक्तम्—स्पष्ट; आत्म-वताम्—अध्यात्मवादियों का; आत्मा—जीवन लक्ष्य; भगवान्—भगवान्; आत्म-भावनः—जीवों को ऊपर उठाने की कामना करने वाले; स्वानाम्—जिनके अपने भक्तगण; अनुग्रहाय—केवल कृपा दिखाने के लिए; इमाम्—इस प्रकार; सिद्ध-रूपी—पूर्णतया स्वरूपसिद्ध; चरति—भ्रमण करते हैं; अजः—नारायण।

भगवान् अपने अंश-रूप जीवों को ऊपर उठाने के लिए सतत इच्छुक रहते हैं और उन्हीं के विषेश लाभ हेतु सारे संसार में आप-जैसे स्वरूपसिद्ध पुरुषों के रूप में भ्रमण करते रहते हैं।

तात्पर्य : अध्यात्मवादियों के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं—यथा ज्ञानी अथवा निर्विशेषवादी, योगी तथा भगवद्भक्त। किन्तु चारों कुमार योगी तथा ज्ञानी पहले थे और भक्त बाद में। वे प्रारम्भ में निर्विशेषवादी थे, किन्तु बाद में भक्ति करने लगे, अतः वे अध्यात्मवादियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। भक्त तो भगवान् के प्रतिनिधि होते हैं और बद्धजीवों को मूल चेतना तक लाने के लिए वे सारे संसार में विचरते रहते हैं तथा बद्धजीवों को कृष्णचेतना के विषय में उपदेश देते हैं। श्रेष्ठ भक्त *आत्मवत्* कहलाते हैं अर्थात् जिन्हें परम-आत्मा का पूरी तरह से बोध हो चुका है। भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में परमात्मा के रूप में स्थित हैं और वे उसे कृष्णचेतना (*कृष्णभावनामृत*) तक ऊपर उठाने का प्रयत्न करते हैं। अतः

वे *आत्म-भावन* कहलाते हैं। भगवान् प्रत्येक जीव को बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वह उनके विषय में जान सके। वे प्रत्येक व्यक्ति के सखा रूप में उसके पास उठते-बैठते हैं और प्रत्येक जीवात्मा को उसके इच्छानुरूप सुविधाएँ प्रदान करते रहते हैं।

इस श्लोक में *आत्मवताम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। भक्तों के तीन भिन्न-भिन्न प्रकार होते हैं—*कनिष्ठ अधिकारी, मध्यम अधिकारी* तथा *उत्तम अधिकारी* जो क्रमश: नवदीक्षित, उपदेशक तथा *महाभागवत* अर्थात् सिद्ध भक्त के लिए प्रयुक्त होते हैं। *महाभागवत* वह है, जो न केवल वेदों के पूर्ण ज्ञान से परिचित होता है, वरन् वैदिक साक्ष्य के आधार पर अन्यों को भी आश्वस्त कर सकता है। *महाभागवत* अन्य जीवात्माओं को भी बिना भेदभाव के भगवान् का अंश मानता है। *मध्यम अधिकारी* अर्थात् उपदेशक भी शास्त्रों में पारंगत होता है और अन्यों को भी आश्वस्त कर सकता है, किन्तु वह उपयुक्त तथा अनुपयुक्त में भेद करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वह आसुरी जीवात्माओं की तनिक भी परवाह नहीं करता। कनिष्ठ अधिकारी अर्थात् नवदीक्षित शास्त्रों के विषय में अधिक नहीं जानता है, किन्तु भगवान् पर उसकी पूरी श्रद्धा होती है। ये चारों कुमार तो *महाभागवत* थे, क्योंकि परम सत्य का भली-भाँति विश्लेषण करने के बाद ही वे भक्त हुए थे। दूसरे शब्दों में, उन्हें वैदिक सूक्त का पूरा-पूरा ज्ञान था। *भगवद्गीता* में भगवान् ने इसकी पुष्टि की है कि भक्त तो अनेक हैं, किन्तु जो वैदिक सूक्त में पारंगत होता है, वह उन्हें सर्वाधिक प्रिय होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार उच्चतम पद तक उठना चाहता है। कर्मी जिन्हें देहात्म बोध रहता है, वे अधिकाधिक इन्द्रियतृप्ति चाहते हैं। ज्ञानियों का सर्वोच्च लक्ष्य ब्रह्मतेज में मिल जाना है, किन्तु भक्त संसार भर में भगवान् की महिमा का उपदेश देना ही अपना चरम लक्ष्य समझता है। फलत: भक्त ही भगवान् के वास्तविक प्रतिनिधि होते हैं और इसलिए वे प्रत्यक्ष नारायण के रूप में सारे विश्व का भ्रमण करते हैं, क्योंकि उनके हृदयों में नारायण का वास होता है और वे नारायण की महिमा का उपदेश देते हैं। नारायण का प्रतिनिधि नारायण के ही समान होता है, किन्तु उसे मायावादियों की तरह यह नहीं सोच लेना चाहिए कि वह नारायण बन गया है। मायावादी साधारणत: संन्यासी को नारायण कह कर पुकारते हैं। उनका विचार है कि मात्र संन्यास ग्रहण करने से मनुष्य नारायण के तुल्य या साक्षात् नारायण बन जाता है। किन्तु एक वैष्णव का निष्कर्ष इससे भिन्न होता है जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है—

साक्षाद्धरित्वेन समस्त-शास्त्रै

रुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्भिः।

किन्तु प्रभोर्यः प्रिय एव तस्य

वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥

वैष्णव विचारधारा के अनुसार भक्त नारायण के ही समान होता इसलिए नहीं है कि वह नारायण बनना चाहता है, अपितु वह नारायण का परम विश्वस्त दास बनना चाहता है। ऐसे महापुरुष सामान्य लोगों के लाभ के हेतु गुरुओं का कार्य करते हैं, अतः जो गुरु नारायण की महिमा का गुणगान करता है उसे नारायण मानकर सब प्रकार से आदर देना चाहिए।

मैत्रेय उवाच

पृथोस्तत्सूक्तमाकर्ण्य सारं सुष्ठु मितं मधु ।
स्मयमान इव प्रीत्या कुमारः प्रत्युवाच ह ॥ १७॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा; पृथोः—राजा पृथु का; तत्—वह; सूक्तम्—वैदिक निष्कर्ष; आकर्ण्य—सुनकर; सारम्—अत्यन्त सारगर्भित; सुष्ठु—युक्तियुक्त, उपयुक्त; मितम्—परिमित, न्यूनतम; मधु—सुनने में मधुर; स्मयमानः—हँसते हुए; इव—सदृश; प्रीत्या—परम प्रसन्नतापूर्वक; कुमारः—ब्रह्मचारी ने; प्रत्युवाच—उत्तर दिया; ह—इस प्रकार।

महर्षि मैत्रेय ने कहा : इस प्रकार ब्रह्मचारियों में श्रेष्ठ सनत्कुमार पृथु महाराज की अत्यन्त सारगर्भित, युक्तियुक्त तथा श्रुतिमधुर वाणी सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होकर हँसे और कहने लगे।

तात्पर्य : कुमारों के समक्ष पृथु महाराज की वार्ता अनेक गुणों से युक्त होने के कारण अत्यन्त श्लाघनीय थी। वाणी को चुने हुए शब्दों से युक्त होना चाहिए जो सुनने में मधुर और स्थिति के अनुकूल हो। ऐसी वाणी ही सार्थक होती है। ये सारे सद्गुण पृथु महाराज की वाणी में विद्यमान थे, क्योंकि वे पूर्ण भक्त थे। कहा गया है कि *यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः*—''जो व्यक्ति भगवान् में अडिग श्रद्धा रखता है और उनकी सेवा में लगा रहता है, उसमें सारे गुण प्रकट हो आते हैं'' (*भागवत* ५.१८.१२)। इस प्रकार कुमारगण अत्यन्त प्रसन्न हो उठे और सनत्कुमार ने इस प्रकार कहा।

सनत्कुमार उवाच

साधु पृष्टं महाराज सर्वभूतहितात्मना ।

भवता विदुषा चापि साधूनां मतिरीदृशी ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सनत्-कुमारः उवाच—सनत्कुमार ने कहा; साधु—साधु प्रकृति का; पृष्टम्—प्रश्न; महाराज—हे राजा; सर्व-भूत—सभी जीवात्माएँ; हित-आत्मना—सबों का हित चाहने वाले के द्वारा; भवता—आपके द्वारा; विदुषा—अत्यन्त विद्वान; च—तथा; अपि—यद्यपि; साधूनाम्—साधु पुरुषों की; मतिः—बुद्धि; ईदृशी—ऐसी।

सनत्कुमार ने कहा : हे राजा पृथु, आपने मुझसे बहुत ही अच्छा प्रश्न पूछा है। ऐसे प्रश्न, विशेष रूप से आप-जैसे पर-हितकारी द्वारा उठाये जाने के कारण समस्त जीवात्माओं के लिए अत्यन्त लाभप्रद हैं। यद्यपि आप सब कुछ जानते हैं, किन्तु आप ऐसे प्रश्नों को इसीलिए पूछ रहे हैं, क्योंकि यह साधु पुरुषों का आचरण है। ऐसी बुद्धि आपके सर्वथा अनुरूप है।

तात्पर्य : महाराज पृथु दिव्य विज्ञान में पारंगत थे; फिर भी उन्होंने अपने को कुमारों के समक्ष अज्ञानी के रूप में प्रस्तुत किया। इसका उद्देश्य यह है कि भले ही कोई व्यक्ति कितना सम्मान्य क्यों न हो, उसे अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति के समक्ष ऐसे ही प्रश्न प्रस्तुत करने चाहिए। उदाहरणार्थ, अर्जुन को समस्त दिव्य विज्ञान प्राप्त था, किन्तु वे श्रीकृष्ण से इस प्रकार पूछ रहे थे मानो उन्हें कुछ ज्ञात ही नहीं था। इसी प्रकार पृथु महाराज सब कुछ जानते थे, किन्तु उन्होंने कुमारों के समक्ष अपने आपको इस प्रकार प्रस्तुत किया मानो वे कुछ भी नहीं जानते थे। तात्पर्य यह है कि महापुरुषों द्वारा भगवान् या उनके भक्तों के समक्ष जो प्रश्न प्रस्तुत किये जाते हैं, वे सामान्य लोगों के लाभ के लिए होते हैं। अत: कभी-कभी महापुरुष जान-बूझकर उच्चतर अधिकारी से प्रश्न करते हैं, क्योंकि वे सदैव दूसरों के कल्याण का चिन्तन करते रहते हैं।

सङ्गमः खलु साधूनामुभयेषां च सम्मतः ।
यत्सम्भाषणसम्प्रश्नः सर्वेषां वितनोति शम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सङ्गमः—संगति; खलु—निश्चय ही; साधूनाम्—भक्तों की; उभयेषाम्—दोनों के लिए; च—भी; सम्मतः—अभिमत, निर्णायक; यत्—जो; सम्भाषण—विवेचना; सम्प्रश्नः—प्रश्न तथा उत्तर; सर्वेषाम्—सबों का; वितनोति—फैलाता है; शम्—वास्तविक सुख।

जब भक्तों का समागम होता है, तो उनकी विवेचनाएँ, प्रश्न तथा उत्तर वक्ता तथा श्रोता दोनों ही के लिए निर्णायक होते हैं। इस प्रकार ऐसा समागम प्रत्येक व्यक्ति के वास्तविक सुख के हेतु लाभप्रद है।

तात्पर्य : भक्तों के वार्तालाप को सुनना ही भगवान् के सशक्त संदेश को प्राप्त करने का एकमात्र

साधन है। उदाहरणार्थ, *भगवद्गीता* दीर्घकाल से सारे संसार में, विशेष रूप से पश्चिमी जगत में, विख्यात है, किन्तु भक्तों द्वारा विषय की विवेचना न होने से इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन की स्थापना के पूर्व पाश्चात्य जगत का एक भी व्यक्ति कृष्णभावनाभावित नहीं हुआ। किन्तु जब उसी *भगवद्गीता* को यथारूप में परम्परा के माध्यम से प्रस्तुत किया गया तो इसका प्रभाव आत्म-साक्षात्कार के रूप में तुरन्त प्रकट हुआ।

चारों कुमारों में से सनत्कुमार ने पृथु महाराज को बताया कि कुमारों से उनकी भेंट से न केवल पृथु महाराज अकेले वरन् उनके साथ-साथ कुमारगण भी लाभान्वित हुए हैं। जब नारद मुनि ने ब्रह्माजी से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विषय में पूछा तो ब्रह्माजी ने नारद जी को धन्यवाद दिया कि उन्होंने भगवान् के विषय में कुछ कहने का अवसर प्रदान किया। अत: किसी दूसरे साधु पुरुष द्वारा किसी अन्य साधु पुरुष से भगवान् के विषय में या जीवन के चरम उद्देश्य के विषय में पूछे गये प्रश्न प्रत्येक वस्तु को आध्यात्मिक बना देते हैं। जो कोई भी ऐसी चर्चा का लाभ उठाता है, वह इस जन्म तथा अगले जन्म में सुख प्राप्त करता है।

उभयेषाम् शब्द को कई प्रकार से वर्णित किया जा सकता है। सामान्यत: लोग दो प्रकार के होते हैं—भौतिकतावादी तथा अध्यात्मवादी। भक्तों की चर्चाओं से दोनों ही प्रकार के लोग लाभान्वित होते हैं। भौतिकतावादी को भक्तों की संगति से यह लाभ होता है कि उसका जीवन नियमित हो जाता है, जिससे भक्त बनने या जीवात्मा की वास्तविक स्थिति को समझाने के लिए वर्तमान जीवन को सफल बनाने की संभावना बढ़ जाती है। जब मनुष्य इस अवसर का लाभ उठाता है, तो अगले जन्म में उसका मानव देह धारण करना या पूर्णत: मुक्त होकर भगवान् के धाम को जाना सुनिश्चित हो जाता है। निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि यदि कोई भक्तों की चर्चा में सम्मिलित होता है, तो उसे भौतिक तथा आध्यात्मिक रूप से लाभ प्राप्त होता है। वक्ता तथा श्रोता एवं कर्मी तथा ज्ञानी समान रूप से लाभान्वित होते हैं। भक्तों के बीच आध्यात्मिक विषयों से सम्बन्धित चर्चाएँ सबों के लिए लाभप्रद होती हैं। फलत: कुमारों ने यह स्वीकार किया कि इस समागम से न केवल राजा लाभान्वित हो रहा था वरन् कुमार भी लाभ उठा रहे थे।

अस्त्येव राजन्भवतो मधुद्विषः
पादारविन्दस्य गुणानुवादने ।
रतिर्दुरापा विधुनोति नैष्ठिकी
कामं कषायं मलमन्तरात्मनः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अस्ति—है; एव—निश्चय ही; राजन्—हे राजा; भवतः—आपका; मधु-द्विषः—भगवान् का; पाद-अरविन्दस्य—चरणकमलों का; गुण-अनुवादने—महिमा-गायन में; रतिः—आसक्ति; दुरापा—अत्यन्त कठिन; विधुनोति—धो देती है; नैष्ठिकी—अत्यन्त निष्ठावान; कामम्—वासनामय; कषायम्—अतिरंजित काम-वासनाएँ; मलम्—गंदा; अन्तः-आत्मनः—अन्तस्तल से।

सनत्कुमार ने आगे कहा : हे राजन्, भगवान् के चरणकमलों के गुणानुवाद के प्रति आपका पहले से ही झुकाव है। ऐसी आसक्ति दुर्लभ होती है, किन्तु एक बार भगवान् में अविचल श्रद्धा हो जाने पर यह अन्तस्तल की समस्त कामवासनाओं को स्वतः ही धो डालती है।

तात्पर्य : भागवत (३.२५.२५) का कथन है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।

तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

भगवान् के अनुग्रह से भक्तों की संगति द्वारा भौतिकतावादी पुरुष के हृदय का सारा मैल धुल जाता है। जिस प्रकार पालिश करने के बाद चाँदी चमक उठती है, उसी तरह भक्तों की संगति से भौतिकतावादी पुरुष का हृदय कामवासनाओं से रहित हो जाता है। वास्तव में जीव का भौतिक सुख या कामवासनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वह तो निद्रा में मानो स्वप्न देखता है। किन्तु शुद्ध भक्तों की संगति से उसकी नींद टूटती है और आत्मा तुरन्त अपनी स्वाभाविक स्थिति को भगवान् के शाश्वत दास के रूप में समझकर अपने यश को प्राप्त करता है। पृथु महाराज पहले से स्वरूपसिद्ध जीव थे, फलतः उनमें भगवान् के गुणानुवाद की सहज प्रवृत्ति थी और कुमारों ने विश्वास दिलाया कि वे भगवान् की माया के शिकार कभी नहीं बन सकते। दूसरे शब्दों में, भगवान् की महिमा का श्रवण तथा कीर्तन ही हृदय को भौतिक कल्मष से स्वच्छ रखने का एकमात्र उपाय है। कर्म, ज्ञान तथा योग विधि से कोई भी अपने हृदय के कल्मष को दूर नहीं कर सकता, किन्तु यदि मनुष्य एक बार भक्ति करके भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर लेता है, तो बिना किसी कठिनाई के उसके हृदय का सारा मल दूर हो जाता है।

शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणां
क्षेमस्य स्‍यग्विमृशेषु हेतुः ।
असङ्ग आत्मव्यतिरिक्त आत्मनि
दृढा रतिर्ब्रह्मणि निर्गुणे च या ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

शास्त्रेषु—शास्त्रों में; इयान् एव—केवल यह; सु-निश्चितः—ठीक से निर्धारित; नृणाम्—मानव समाज के; क्षेमस्य—कल्याण का; स्‍यक्—पूर्णतया; विमृशेषु—पूर्ण विचार-विमर्श से; हेतुः—कारण; असङ्गः—विरक्ति; आत्म-व्यतिरिक्ते—देहात्मबुद्धि; आत्मनि—परमात्मा के प्रति; दृढा—सशक्त; रतिः—आसक्ति; ब्रह्मणि—अध्यात्म; निर्गुणे—गुणों से परे परमेश्वर में; च—तथा; या—जो।

भलीभाँति विचार करने के बाद शास्त्रों में यह निश्चित किया गया है कि मानव समाज के कल्याण का चरम लक्ष्य देहात्मबुद्धि से विरक्ति एवं प्रकृति के गुणों से परे दिव्य परमेश्वर के प्रति सुदृढ़ आसक्ति है।

तात्पर्य : मानव समाज का प्रत्येक व्यक्ति जीवन का चरम लाभ उठाने में लगा हुआ है, किन्तु जो लोग देहात्मबुद्धि वाले हैं, वे न तो चरम लक्ष्य प्राप्त कर पाते हैं और न यह समझ पाते हैं कि लक्ष्य क्या है। जीवन के चरम लक्ष्य का वर्णन *भगवद्गीता* (२.५९) में मिलता है। *परं दृष्ट्वा निवर्तते।* जब मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य खोज लेता है, तो उसे देहात्मबुद्धि से विरक्ति हो जाती है। इस श्लोक में इंगित हुआ है कि मनुष्य को अध्यात्म—(*ब्रह्मणि*) आसक्ति में वृद्धि करनी चाहिए। जैसाकि *वेदान्त सूत्र* (१.१.१) में पुष्टि हुई है—*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा*—ब्रह्म या अध्यात्म के प्रति जिज्ञासा के बिना मनुष्य सांसारिक आसक्ति को नहीं त्याग पाता। जीव चौरासी लाख योनियों में घूमते हुए मनुष्य जीवन के लक्ष्य को नहीं समझ पाता, क्योंकि इन सभी योनियों में देहात्मबुद्धि प्रबल रहती है। *अथातो ब्रह्मजिज्ञासा* का अर्थ है कि देहात्मबुद्धि से बाहर निकलने के लिए मनुष्य को ब्रह्म के विषय में या तो जिज्ञासा करनी होती है या आसक्ति बढ़ानी होती है। तभी वह दिव्य भक्ति को प्राप्त कर सकता है—*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः।* ब्रह्म के प्रति आसक्ति में वृद्धि का अर्थ है भक्ति में लगना। जो लोग ब्रह्म के निर्गुण रूप के प्रति आसक्त हैं, वे दीर्घकाल तक इसी तरह नहीं रह पाते। निर्विशेषवादी इस जगत को मिथ्या कहकर (*जगन्मिथ्या*) त्यागने के बाद पुनः इसी *जगन्मिथ्या* में आते हैं, भले ही वे ब्रह्म के प्रति आसक्ति को सुदृढ़ करने के लिए संन्यास लेते हों। इसी प्रकार से कई योगी तथा विश्वामित्र जैसे ऋषि, जो परमात्मा स्वरूप अन्तर्यामी ब्रह्म के प्रति आसक्त रहते हैं, स्त्रियों के शिकार होकर पतित होते हैं। अतः सभी शास्त्रों में भगवान् के प्रति प्रगाढ़ आसक्ति का उपदेश मिलता है। संसार से विरक्ति का यही

एकमात्र साधन है और *भगवद्गीता* (२.५९) में *परं दृष्ट्वा निवर्तते* के रूप में इसकी व्याख्या की गई है। भक्ति के प्रति अनुराग बढ़ने से सारे भौतिक कार्यकलाप बन्द हो सकते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी ईश्वरप्रेम को जीवन का चरम उद्देश्य बताया है (*प्रेमा पुमर्थो महान्*)। ईश्वरप्रेम बढ़ाये बिना आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती।

सा श्रद्धया भगवद्धर्मचर्यया
जिज्ञासयाध्यात्मिकयोगनिष्ठया ।
योगेश्वरोपासनया च नित्यं
पुण्यश्रवःकथया पुण्यया च ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सा—वह भक्ति; श्रद्धया—श्रद्धा तथा संकल्प से; भगवत्-धर्म—भक्ति; चर्यया—विवेचना से; जिज्ञासया—जिज्ञासा से; अध्यात्मिक—अध्यात्म सम्बन्धी; योग-निष्ठया—आत्मज्ञान में दृढ़ निश्चय से; योग-ईश्वर—भगवान् की; उपासनया—पूजा से; च—तथा; नित्यम्—नियमित रूप से; पुण्य-श्रवः—जिसके सुनने से; कथया—विवेचना से; पुण्यया—पुण्य से; च—भी।

भक्ति करने, भगवान् के प्रति जिज्ञासा करने, जीवन में भक्तियोग का व्यवहार करने, पूर्ण पुरुषोत्तम योगेश्वर भगवान् की पूजा करने तथा भगवान् की महिमा का श्रवण एवं कीर्तन करने से परमेश्वर के प्रति आसक्ति बढ़ाई जा सकती है। ये सारे कार्य अपने आप में परम पवित्र हैं।

तात्पर्य : *योगेश्वर* शब्द भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनके भक्तों के लिए प्रयुक्त होता है। *भगवद्गीता* में यह शब्द दो बार आया है। अठारहवें अध्याय (१८.७८) में श्रीकृष्ण को भगवान् हरि कहा गया है, जो समस्त योग-शक्ति के स्वामी हैं (*यत्र योगेश्वरः कृष्णः*)। छठे अध्याय के अन्त में भी (६.४७) *योगेश्वर* शब्द की व्याख्या *स मे युक्ततमो मतः* करके की गई है। *युक्ततम* से सर्वोच्च योगी अर्थात् भक्त-गण का बोध होता है, जिसे योगेश्वर भी कहा जा सकता है। इस श्लोक में *योगेश्वर उपासना* का अर्थ है शुद्ध भक्त की सेवा करना। अतः नरोत्तम दास ठाकुर कहते हैं—*छाडिया वैष्णव-सेवा निस्तार पायछे केबा*—शुद्ध भक्त की सेवा किये बिना आध्यात्मिक जीवन में आगे नहीं बढ़ा जा सकता है। प्रह्लाद महाराज ने भी (*भागवत* ७.५.३२) कहा है—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।

महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत् यावत् ॥

मनुष्य को चाहिए कि ऐसे शुद्ध भक्त की शरण में जाए, जो सदैव भक्ति में लगा रहता है और उसे

संसार से कुछ लेना-देना नहीं रहता। केवल उसी की सेवा से मनुष्य भवसागर को पार कर सकता है। इस श्लोक में संस्तुति की गई है (*योगेश्वर उपासनया*) कि मनुष्य को चाहिए कि सर्वोच्च योगी या भक्त के चरणकमलों की सेवा करे। सर्वोच्च भक्त की सेवा का अर्थ होता है उससे भगवान् की महिमा का श्रवण करना। शुद्ध भक्त के मुख से भगवान् की महिमा के श्रवण से पवित्र जीवन का लाभ मिलता है। *भगवद्गीता* (७.२८) में भी कहा गया है कि पवित्र हुए बिना मनुष्य भक्ति में नहीं जुट सकता।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ति मां दृढव्रताः॥

भक्ति में स्थित होने के लिए प्रकृति के समस्त भौतिक गुणों के कल्मष को पूरी तरह धो डालना होता है। भक्ति के कार्य में पहली बात है—*आदौ गुर्वाश्रयम्*—मनुष्य को चाहिए कि प्रामाणिक गुरु बनाए और उससे दिव्य वृत्तिपरक धर्म (*सद्धर्म पृच्छा*) के विषय में पूछताछ करे और फिर साधु पुरुषों तथा भक्तों के पदचिह्नों का अनुगमन करे (*साधु-मार्ग-अनुगमनम्*)। रूप गोस्वामी-कृत *भक्तिरसामृत-सिन्धु* में ये आदेश दिये गये हैं।

निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् के प्रति अनुरक्ति बढ़ाने के लिए पहले प्रामाणिक गुरु बनाना होता है और उससे भक्ति की विधियाँ सीखनी होती हैं तथा भगवान् के दिव्य सन्देश एवं महिमा के विषय में सुनना होता है। इस प्रकार मनुष्य को भक्ति के विषय में अपना निश्चय बढ़ाना होता है। तभी भगवान् के प्रति अनुरक्ति बढ़ाने में बहुत आसानी होगी।

अर्थेन्द्रियारामसगोष्ठ्यतृष्णया
तत्सम्मतानामपरिग्रहेण च ।
विविक्तरुच्या परितोष आत्मनि
विना हरेर्गुणपीयूषपानात् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अर्थ—धन; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आराम—तृप्ति; स-गोष्ठी—अपने संगी सहित; अतृष्णया—वितृष्णा से; तत्—उस; सम्मतानाम्—उनके द्वारा अनुमोदित; अपरिग्रहेण—अस्वीकृति द्वारा; च—भी; विविक्त-रुच्या—अरुचि; परितोषे—प्रसन्नता; आत्मनि—स्व; विना—रहित; हरेः—भगवान् के; गुण—गुण; पीयूष—अमृत; पानात्—पीने से।

ऐसे लोगों की संगति न करके, जो केवल इन्द्रियतृप्ति एवं धनोपार्जन के फेर में रहते हैं, मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन में उन्नति करनी चाहिए। उसे न केवल ऐसे लोगों से दूर रहना

चाहिए, वरन् जो उनका संग करते हैं उनसे भी बचना चाहिए। मनुष्य को अपना जीवन इस प्रकार ढालना चाहिए कि जिसमें उसे भगवान् हरि की महिमा का अमृत पान किये बिना चैन न मिले। इस प्रकार इन्द्रियभोग से विरक्ति उत्पन्न होने पर मनुष्य उन्नति कर सकता है।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में हर एक व्यक्ति धन तथा इन्द्रियतृप्ति में रुचि रखता है। उसका एकमात्र उद्देश्य अधिक से अधिक धन अर्जित करके उसे इन्द्रियों की तुष्टि में व्यय करना होता है। श्रील शुकदेव गोस्वामी ने *भागवत* (२.१.३) में भौतिकतावादी पुरुषों के लक्षण इस प्रकार बताए हैं—

निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वय:।

दिवा चार्थेहया राजन् कुटुम्बभरणेन वा॥

भौतिकतावादी पुरुषों का यह अनूठा उदाहरण है। रात्रि में वे छह घंटों से अधिक सो कर या काम-क्रीड़ा में व्यस्त रहकर समय गँवाते हैं। यह तो उनका रात का व्यापार है। प्रात:काल वे कार्यालय या दुकान में धन कमाने जाते हैं। ज्योंही उनके हाथ में कुछ धन आ जाता है वे अपने बच्चों तथा अन्यों के लिए वस्तुएँ खरीदने में लग जाते हैं। ऐसे लोग जीवन के महत्त्व को कि ईश्वर क्या है, जीवात्मा क्या है और ईश्वर से उसका क्या सम्बन्ध है आदि बातें समझने की कभी परवाह नहीं करते। हालत यहाँ तक बिगड़ चुकी है कि जो लोग धार्मिक कहलाते हैं, वे भी इस समय केवल इन्द्रियतृप्ति में लगे हुए हैं। इस कलियुग में अन्य युगों की अपेक्षा भौतिकतावादी पुरुषों की संख्या बढ़कर किसी भी अन्य युग से अधिक हो चुकी है, अत: जो लोग भगवान् के धाम को वापस जाना चाहते हैं उन्हें न केवल सिद्ध पुरुषों की सेवा करनी चाहिए, अपितु उन्हें ऐसे भौतिकतावादी पुरुषों का साथ छोड़ देना चाहिए जिनका एकमात्र उद्देश्य धन कमाना और धन को इन्द्रियतृप्ति में व्यय करना है। उन्हें इन लोगों के उद्देश्य को अर्थात् धन तथा इन्द्रियतृप्ति को अपना जीवन लक्ष्य नहीं बनाना चाहिए। इसीलिए कहा गया है—*भक्ति: परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र च* (भागवत ११.२.४२)। भक्ति में आगे बढ़ने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य भौतिकतावादी जीवन-प्रणाली में रुचि न रखे। जिन विषयों में भक्तों की रुचि होती है उनमें अभक्त कोई रुचि नहीं रखते।

मात्र भौतिकतावादी पुरुषों का निषेध या संगति का बहिष्कार करने से ही काम नहीं चलेगा। हमारे पास काम होना चाहिए। कभी-कभी यह देखा गया है आध्यात्मिक उन्नति की इच्छा वाले लोग भौतिक

समाज का परित्याग कर निर्जन स्थान में चले जाते हैं, जैसाकि योगियों के लिए बताया गया है, किन्तु इससे मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती, क्योंकि अनेक बार ऐसे योगी भी भ्रष्ट होते देखे जाते हैं। जहाँ तक ज्ञानियों का प्रश्न है वे भगवान् के चरणकमलों की शरण न ग्रहण करने के कारण नीचे गिरते हैं। निर्विशेषवादी या शून्यवादी भौतिक संगति से दूर ही रह सकते हैं, बिना भक्ति में निरत हुए वे अध्यात्म में स्थित नहीं रह सकते। भक्ति का प्रारम्भ भगवान् की महिमा के श्रवण से होता है। इस श्लोक में इसी की संस्तुति है—*विना हरेर्गुणपीयूषपानात्।* मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की महिमा का अमृत पिये और इसका अर्थ होता है कि सदैव भगवान् की महिमा का श्रवण तथा कीर्तन करे। आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होने की मुख्य विधि यही है। भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने *चैतन्य-चरितामृत* में इसी की संस्तुति की है। यदि कोई आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करना चाहता है, तो भाग्यशाली होने पर गुरु से उसकी भेंट हो सकती है और उसी से वह श्रीकृष्ण के विषय में सीख सकता है। गुरु तथा श्रीकृष्ण दोनों की सेवा से उसे भक्ति का बीज (*भक्ति-लता-बीज*) प्राप्त होता है और यदि वह इस बीज को अपने हृदय में बोकर श्रवण तथा कीर्तन के जल से सींचता है, तो यह विशाल भक्ति लता का रूप धारण कर लेती है। यह लता इतनी प्रबल होती है कि ब्रह्माण्ड के आवरण को भेद कर आत्म-लोक में पहुँच जाती है और तब तक बढ़ती रहती है जब तक श्रीकृष्ण के चरणारविन्द का आश्रय नहीं पा लेती, जिस प्रकार कि सामान्य लता छत पर दृढ़ आश्रय लेने तक धीरे-धीरे बढ़ती रहती है और फिर उसमें वांछित फल लगने लगते हैं। ऐसे फल के बढ़ने का मूल कारण होता है भक्ति-लता को श्रवण तथा कीर्तन रूपी जल से सींचते जाना। इस फल को यहाँ पर भगवान् की महिमा के श्रवण करने का अमृत कहा गया है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य भक्तों के समाज से बाहर नहीं रह सकता; उसे भक्तों की संगति में रहना चाहिए जहाँ भगवान् की महिमा का निरन्तर श्रवण तथा कीर्तन होता है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन इसी उद्देश्य से प्रारम्भ किया गया है, जिससे सैकड़ों इस्कान केन्द्रों में लोगों को श्रवण तथा कीर्तन का सुअवसर प्राप्त हो सके, वे गुरु को पा सकें और भौतिक पुरुषों की संगति से विलग हो सकें। इस प्रकार से लोग भगवान् के धाम वापस जाने की सुदृढ़ आधार-भूमि तैयार कर सकते हैं।

अहिंसया पारमहंस्यचर्यया
स्मृत्या मुकुन्दाचरिताछ्यसीधुना ।
यमैरकामैर्नियमैश्चाप्यनिन्दया
निरीहया द्वन्द्वतितिक्षया च ॥ २४॥

शब्दार्थ

अहिंसया—अहिंसा द्वारा; पारमहंस्य-चर्यया—महान् आचार्यों के चरणचिह्नों का अनुसरण करने से; स्मृत्या—स्मरण करने से; मुकुन्द—भगवान्; आचरित-अछ्य—उनकी लीलाओं का केवल प्रचार करने से; सीधुना—अमृत से; यमैः—नियामक सिद्धान्तों के पालन से; अकामैः—भौतिक आकांक्षाओं से विहीन; नियमैः—विधि-विधानों का दृढ़ता से पालन करने से; च—भी; अपि—निश्चय ही; अनिन्दया—निन्दा किये बिना; निरीहया—सादा जीवन व्यतीत करते हुए; द्वन्द्व—द्वैतभाव; तितिक्षया—सहिष्णुता से; च—तथा।

आध्यात्मिक उन्नति के इच्छुक व्यक्ति को चाहिए कि वह अहिंसक हो, महान् आचार्यों के पदचिह्नों का अनुगमन करे, भगवान् की लीलाओं के अमृत का सदैव स्मरण करे, बिना किसी भौतिक कामना के यम-नियमों का पालन करे और ऐसा करते हुए दूसरों की निन्दा न करे। भक्त को अत्यन्त सादा जीवन बिताना चाहिए और विरोधी तत्त्वों की द्वैतता से विचलित नहीं होना चाहिए। उसे चाहिए कि वह उन्हें सहन करना सीखे।

तात्पर्य : भक्त वास्तव में साधु पुरुष होते हैं। साधु अथवा भक्त का पहला गुण अहिंसा है। जो लोग भक्ति पथ में चलने या भगवान् के धाम वापस जाने के इच्छुक हैं उन्हें पहले अहिंसा का अभ्यास करना चाहिए। साधु को *तितिक्षवः कारुणिकाः* (भागवत ३.२५.२१) कहा गया है। भक्त को सहिष्णु एवं अन्यों के प्रति अत्यन्त दयालु होना चाहिए; उदाहरणार्थ यदि उसे कोई चोट लगे तो उसे सह लेना चाहिए, किन्तु यदि किसी अन्य को चोट लगे तो भक्त को यह सह्य नहीं होता है। सारा संसार हिंसा से पूर्ण है, अतः भक्त का पहला कार्य है कि वह इस हिंसा को रोके जिसमें पशुओं का वध सम्मिलित है। भक्त न केवल मानव समाज का, अपितु समस्त जीवों का मित्र होता है, क्योंकि वह समस्त जीवात्माओं को भगवान् की सन्तानों के रूप में देखता है। वह केवल अपने को ईश्वर का पुत्र बताकर तथा अन्यों को यह समझ कर कि उनमें आत्मा नहीं है, मारे जाने नहीं देता। भगवान् का *भक्त* कभी भी ऐसी विचारधारा का पोषक नहीं होता। *सुहृदः सर्वदेहिनाम्*—असली भक्त समस्त जीवात्माओं का मित्र होता है। *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण ने अपने को जीवों की समस्त योनियों का पिता कहा है। फलतः श्रीकृष्ण का भक्त सबों का मित्र होता है। यही अहिंसा कहलाती है। इस अहिंसा का अभ्यास तभी सम्भव है जब हम महान् आचार्यों के पदचिह्नों पर चलें। अतः वैष्णव-दर्शन के अनुसार हमें चारों

सम्प्रदायों के महान् आचार्यों का अनुसरण करना होता है।

सम्प्रदाय (शिष्य परम्परा) से बाहर आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होने का प्रयत्न करना मात्र हास्यास्पद है। अत: कहा गया है—*आचार्यवान् पुरुषो वेद*—जो आचार्यों की शिष्य परम्परा का अनुसरण करता है, वह वस्तुओं को असली रूप में जान पाता है (*छान्दोग्य उपनिषद्* ६.१४.२) *तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत*—दिव्य ज्ञान समझने के लिए मनुष्य को चाहिए कि प्रामाणिक गुरु के पास जाये (मुण्डक उपनिषद् १.२.१२)। *आध्यात्मिक जीवन में स्मृत्या* शब्द का बहुत महत्त्व है। *स्मृत्या* का अर्थ है श्रीकृष्ण को सैदव याद करना। जीवन को इस प्रकार ढालना चाहिए कि श्रीकृष्ण का चिन्तन किये बिना रहा ही न जा सके। हमें खाते, सोते, बोलते, चलते तथा काम करते हुए श्रीकृष्ण में ही खोये रहना चाहिए। हमारे कृष्णभावनामृत-संघ की संस्तुति है कि हम अपने जीवन को ऐसा बनाएँ कि हम श्रीकृष्ण का स्मरण कर सकें। हमारी इस्कान समिति के भक्त दिव्य अगरबत्तियाँ बनाते समय श्रीकृष्ण या उनके भक्तों का गुणगान सुनते रहते हैं। शास्त्रों का कथन है—*स्मर्तव्य: सततं विष्णु:*—भगवान् विष्णु का निरन्तर स्मरण करना चाहिए। *विस्मर्तव्यो न जातुचित्।* विष्णु को कभी भूलना नहीं चाहिए। यही आध्यात्मिक जीवन-शैली है। *स्मृत्या।* भगवान् का स्मरण चालू रखा जा सकता है यदि हम उनका निरन्तर श्रवण करते रहें। अत: इस श्लोक में संस्तुति की गई है कि *मुकुन्दाचरिताग्र्यसीधुना। सीधु* का अर्थ है अमृत। *श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता* या इसी प्रकार के प्रामाणिक साहित्य से श्रीकृष्ण के विषय में सुनना, कृष्णभावना में वास करना है। कृष्णभावना की एकाग्रता शक्ति उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त हो सकती है, जो यम-नियमों का दृढ़ता से पालन करते हैं। हमने अपने कृष्णभावनामृत आन्दोलन में यह नियम बना रखा है कि भक्त सोलह माला प्रतिदिन जप करे और नियामक सिद्धान्तों का पालन करे। इससे भक्त जीवन में आध्यात्मिक उन्नति में स्थिर रह सकता है।

इस श्लोक में यह भी कहा गया है कि इन्द्रियों को वश में करके (*यमै:*) मनुष्य उन्नति कर सकता है। इन्द्रियों को वश में करने से मनुष्य *स्वामी* या *गोस्वामी* बन सकता है। अत: जो *स्वामी* या *गोस्वामी* उपाधि लगाते हैं उन्हें इन्द्रियों को वश में रखने के लिए विशेष रूप से सतर्क रहना चाहिए। दरअसल, उन्हें अपनी इन्द्रियों का स्वामी होना ही चाहिए। यह तभी सम्भव है जब वे किसी प्रकार की भौतिक इन्दियतृप्ति की इच्छा न रखें। यदि किसी कारणवश इन्द्रियाँ स्वतंत्र रूप से कार्य करना चाहें तो

उन्हें वश में करना चाहिए। यदि हम भौतिक इन्दियतृप्ति से बचने का अभ्यास कर सकें तो इन्द्रियाँ स्वत: ही वश में हो जाती हैं।

इस सम्बन्ध में एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात का उल्लेख हुआ है—*अनिन्दया*—हमें दूसरे की धर्म प्रणाली की आलोचना नहीं करनी चाहिए। विभिन्न प्रकार की धर्म प्रणालियां विभिन्न गुणों के अन्तर्गत कार्यशील हैं। जो रजो तथा तमो गुणों के अन्तर्गत कार्यशील हैं, वे सत्त्व गुण पद्धति पर चलने वाले धर्म के समान परिपूर्ण नहीं हो सकते। *भगवद्गीता* में सभी वस्तुओं को तीन वर्गों में रखा गया है, अत: धर्मों की भी उसी तरह श्रेणियाँ की गई हैं। जब लोग रजो तथा तमो गुणों के अधीन होंगे तो उनकी धर्म पद्धति भी उसी तरह की होगी। भक्त इन पद्धतियों की आलोचना न करके अपने अनुयायियों को अपने सिद्धान्तों में दृढ़ रहने के लिए प्रोत्साहित करता है, जिससे वे क्रमश: सात्त्विक धर्म के पद को प्राप्त कर सकें। केवल आलोचना करते रहने से भक्त का मन विचलित हो जाता है। इस तरह भक्त को सहनशील होना चाहिए तथा क्षुब्ध न होना सीखना चाहिए।

भक्त की एक अन्य विशेषता है *निरीहया* अर्थात् सादा जीवन। *निरीहा* का अर्थ है 'सरल' अथवा 'विनीत'। भक्त को न तो तड़क-भड़क से रहना चाहिए, न भौतिकतावादी पुरुषों का अनुकरण करना चाहिए। भक्त के लिए 'सादा जीवन उच्च विचार' सन्स्तुत है। उसे उतना ही स्वीकार करना चाहिए जितने से शरीर स्वस्थ रह कर भक्ति कर सके। आवश्यकता से अधिक न तो खाए और न सोए। वह जिन्दा रहने के लिए भोजन करे, न कि भोजन करने के लिए जिन्दा रहे। वह प्रतिदिन छह सात घंटे सोए। ये ही भक्तों के लिए नियम हैं जिनका पालन होना चाहिए। जब तक शरीर है तब तक भौतिक जीवन के तीन प्रकार के ताप सताते रहेंगे। हम उनसे बच नहीं सकते। हमें कभी-कभी नवदीक्षित भक्तों के पत्र प्राप्त होते हैं कि श्रीकृष्ण-भक्ति करते रहने पर भी वे बीमार क्यों पड़ते हैं? उन्हें इस श्लोक से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि उन्हें सहिष्णु बनना होगा (*द्वन्द्व तितिक्षया*)। यह संसार द्वैतपूर्ण है। मनुष्य को यह नहीं सोचना चाहिए कि चूँकि वह बीमार हो गया है, अत: वह कृष्णभावनामृत से भ्रष्ट हो गया है। कृष्णभक्ति बिना किसी भौतिक विरोध के या बाधा के चलती रहती है। अत: श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (२.१४) में यह उपदेश दिया है—*तांस्तितिक्षस्व भारत*—"हे अर्जुन तुम सारी अड़चनों को सहो। तुम कृष्णभक्ति के कार्यों में स्थिर होओ।"

हरेर्मुहुस्तत्परकर्णपूर-
गुणाभिधानेन विजृम्भमाणया ।
भक्त्या ह्यसङ्गः सदसत्यनात्मनि
स्यान्निर्गुणे ब्रह्मणि चाञ्जसा रतिः ॥ २५॥

शब्दार्थ

हरेः—भगवान् के; मुहुः—निरन्तर; तत्-पर—भगवान् के सन्दर्भ में; कर्ण-पूर—कान का आभूषण; गुण-अभिधानेन—दिव्य गुणों की विवेचना से; विजृम्भमाणया—कृष्ण-चेतना (भक्ति) को बढ़ाने से; भक्त्या—भक्ति से; हि—निश्चय ही; असङ्गः—अदूषित; सत्-असति—भौतिक जगत; अनात्मनि—आत्मनि (आध्यात्मिक ज्ञान) का उल्टा; स्यात्—होना चाहिए; निर्गुणे—अध्यात्म में; ब्रह्मणि—परमेश्वर में; च—तथा; अञ्जसा—सरलतापूर्वक; रतिः—आकर्षण।

भक्त को चाहिए कि भगवान् के दिव्य गुणों के निरन्तर श्रवण द्वारा भक्ति-अनुशीलन में उत्तरोत्तर वृद्धि करे। ये लीलाएँ भक्तों के कानों के आभूषण सदृश हैं। भक्ति करने तथा भौतिक गुणों को पार करने से मनुष्य सहज ही अध्यात्म में भगवान् में स्थिर हो सकता है।

तात्पर्य : इस श्लोक का विशेष उल्लेख श्रवण द्वारा भक्ति की पुष्टि हेतु किया गया है। भक्त पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की लीलाओं या इनसे सम्बद्ध विषयों के अतिरिक्त और कुछ नहीं सुनना चाहता। हम सिद्धपुरुषों से *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* सुनकर अपनी भक्ति की प्रखरता को बढ़ा सकते हैं। हम सिद्ध पुरुषों से जितना ही अधिक सुनेंगे भक्ति में उतना ही अग्रसर होंगे और जितना ही हम भक्ति के क्षेत्र में आगे बढ़ेंगे उतना ही भौतिक जगत से विरक्त होते जायेंगे। जैसाकि भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने उपदेश दिया है कि हम जितना ही भौतिक जगत से विरक्त होंगे उतनी ही भगवान् के प्रति आसक्ति में वृद्धि होगी। अत: जो भक्त भक्ति में सतत प्रगति करना तथा भगवान् के धाम को जाना चाहता है उसे सारे इन्द्रियसुख तथा ऐसे व्यक्तियों की संगति त्याग देनी चाहिए जो धन तथा इन्दियतृप्ति के पीछे दीवाने रहते हैं। यही भगवान् चैतन्य महाप्रभु का उपदेश है (*चैतन्य-चरितामृत, मध्य,* ११.८)—

निष्किञ्चनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य

पारं परं जिगमिषोर्भवसागरस्य।

सन्दर्शनं विषयिणाम् अथ योषितां च

हा हन्त हन्त विष-भक्षणतोऽप्यसाधु॥

इस श्लोक में आये हुए *ब्रह्मणि* शब्द की टीका निर्विशेषवादियों अथवा भागवत के कथावाचकों ने की है, जो जन्मना जाति-प्रथा के समर्थक हैं। उनके अनुसार ब्रह्मणि का अर्थ निर्गुण (निराकार) ब्रह्म

है। किन्तु *भक्त्या* तथा *गुणाभिधानेन* शब्दों के प्रसंग में ऐसा अर्थ नहीं निकाला जा सकता। निर्विशेषवादियों के अनुसार निर्गुण ब्रह्म दिव्य गुणों से सम्पन्न नहीं होता, अत: हमें *ब्रह्मणि* का अर्थ "भगवान् में" ग्रहण करना चाहिए। जैसाकि अर्जुन ने *भगवद्गीता* में स्वीकार किया है श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं, अत: जहाँ कहीं भी *ब्रह्म* शब्द आया है, वह श्रीकृष्ण के लिए प्रयुक्त है, निर्गुण ब्रह्म तेज के लिए नहीं। *ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते* (भागवत १.२.११)। ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् इन सबको ब्रह्म माना जा सकता है, किन्तु जहाँ भक्ति शब्द का प्रसंग आए या दिव्य गुणों के स्मरण का उल्लेख है, तो यह भगवान् का द्योतक होगा, निर्गुण ब्रह्म का नहीं।

यदा रतिर्ब्रह्मणि नैष्ठिकी पुमा-
नाचार्यवान्ज्ञानविरागरंहसा ।
दहत्यवीर्यं हृदयं जीवकोशं
पञ्चात्मकं योनिमिवोत्थितोऽग्निः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; रतिः—आसक्ति; ब्रह्मणि—भगवान् में; नैष्ठिकी—स्थिर; पुमान्—मनुष्य; आचार्यवान्—गुरु के प्रति पूर्णत: समर्पित; ज्ञान—ज्ञान; विराग—विरक्ति; रंहसा—के बल से; दहति—जलाता है; अवीर्यम्—नपुंसक; हृदयम्—हृदय के भीतर; जीव-कोशम्—आत्मा का आवरण; पञ्च-आत्मकम्—पाँचों तत्त्व; योनिम्—जन्म का स्रोत; इव—सदृश; उत्थितः—उद्भूत; अग्निः—आग।

गुरु की कृपा से तथा ज्ञान एवं विराग के जागरित होने से भगवान् के प्रति आसक्ति में स्थिर हो जाने पर जीवात्मा जो शरीर के अन्तस्तल में स्थित तथा पाँच तत्त्वों से आच्छादित है अपने भौतिक परिवेश को उसी प्रकार जला देता है, जिस प्रकार काष्ठ से उत्पन्न अग्नि काष्ठ को ही भस्मसात् कर देती है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि हृदय के भीतर जीवात्मा तथा परमात्मा साथ-साथ निवास करते हैं। वेदों का कथन है—*हृदि ह्ययमात्मा*—आत्मा तथा परमात्मा दोनों हृदय के भीतर वास करते हैं। जीवात्मा का उद्धार तब होता है, जब वह भौतिक हृदय से बाहर निकल आता है अथवा हृदय को स्वच्छ करके आध्यात्मिक बना देता है। यहाँ पर दिया गया दृष्टान्त अत्यन्त उपयुक्त है—*योनिम् इवोत्थितोऽग्निः।* अग्नि काष्ठ से उत्पन्न हो जाती है, तो यह काष्ठ को ही पूर्ण रूप से जला देती है। इसी प्रकार जब कोई जीवात्मा भगवान् के प्रति आसक्ति बढ़ा देता है, तो समझना चाहिए कि वह अग्नि के तुल्य है। प्रज्ज्वलित अग्नि ताप तथा प्रकाश से दृष्टिगोचर होती है। इसी प्रकार जब हृदय के भीतर

जीवात्मा पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान से प्रकाशित एवं संसार से विरक्त हो जाता है, तो वह अपने पंचतत्त्वों के आवरण को जला देता है और पाँच प्रकार की आसक्तियों यथा अविद्या, अहंकार, आसक्ति, ईर्ष्या तथा भौतिक चेतना में तल्लीनता से मुक्त हो जाता है। अत: इस श्लोक में *पञ्चात्मकम्* या तो पाँच तत्त्वों के लिए या कि भौतिक कल्मष के पाँच आवरणों के लिए आया है। जब ये सब ज्ञान तथा विराग की अग्नि से भस्म हो जाते हैं, तो मनुष्य भगवान् की भक्ति में स्थिर होता है। जब तक मनुष्य प्रामाणिक गुरु की शरण में नहीं जाता और उसके उपदेश के अनुसार श्रीकृष्ण के प्रति अनुरक्ति नहीं बढ़ाता तब तक जीवात्मा के हृदय से पाँचों आवरण हटाये नहीं जा सकते। जीवात्मा हृदय में केन्द्रित है और उसको हृदय से निकालने का अर्थ है उसका उद्धार, इसकी यह विधि है। मनुष्य को प्रामाणिक गुरु की शरण लेनी चाहिए और उनके आदेशों से अपना आध्यात्मिक ज्ञान बढ़ाना चाहिए, इस भौतिक संसार से विरक्त होना चाहिए और इस प्रकार मुक्त हो जाना चाहिए। अत: सिद्ध भक्त भौतिक शरीर के भीतर नहीं रहता; वह तो अपने आध्यात्मिक शरीर के भीतर वैसे ही रहता है जैसे कि जटा के भीतर रहते हुए भी नारियल (गरी) जटा से भिन्न रहता है। अत: शुद्ध भक्त का शरीर चिन्मय शरीर (आध्यात्मिक शरीर) कहलाता है। दूसरे शब्दों में, भक्त का शरीर भौतिक कार्यकलापों से सम्बन्धित नहीं रहता; फलस्वरूप भक्त सदैव मुक्त रहता है (ब्रह्मभूयाय कल्पते) जैसाकि भगवद्गीता (१४.२६) में पुष्टि की गई है। इसकी पुष्टि श्रील रूप गोस्वामी ने इस प्रकार की है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।
निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्त: स उच्यते॥

“जो मन, वचन तथा कर्म से भगवान् की सेवा में पूर्णत: लगा रहता है, वह चाहे जिस भी स्थिति में रहे, अपने शरीर के भीतर होते हुए भी मुक्त रहता है।”

दग्धाशयो मुक्तसमस्ततद्गुणो
नैवात्मनो बहिरन्तर्विचष्टे ।
परात्मनोर्यद्व्यवधानं पुरस्तात्
स्वप्ने यथा पुरुषस्तद्विनाशे ॥ २७॥

शब्दार्थ

दग्ध-आशय:—समस्त इच्छाओं का जल जाना; मुक्त—मुक्त; समस्त—सभी; तत्-गुण:—द्रव्य के सम्बन्ध में गुण; न—नहीं; एव—निश्चय ही; आत्मन:—आत्मा या परमात्मा; बहि:—बाह्य; अन्त:—आन्तरिक; विचष्टे—कार्यशील; पर-आत्मनो:—

परमात्मा का; यत्—जो; व्यवधानम्—अन्तर; पुरस्तात्—मानो प्रारम्भ में हो; स्वप्ने—स्वप्न में; यथा—जिस प्रकार; पुरुषः—व्यक्ति; तत्—वह; विनाशे—समाप्त होते हुए।

जब मनुष्य भौतिक समस्त इच्छाओं से रहित और भौतिक गुणों से मुक्त हो जाता है, तो वह अन्तः तथा बाह्य रूप से किये गये कार्यों में अन्तर नहीं देखता है। उस समय आत्म-साक्षात्कार के पूर्व विद्यमान आत्मा तथा परमात्मा का अन्तर विनष्ट हो जाता है। स्वप्न टूटने पर स्वप्न तथा स्वप्न देखने वाले के बीच कोई अन्तर नहीं रह जाता।

तात्पर्य : जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है (*अन्याभिलाषिता शून्यम्*) मनुष्य को समस्त इच्छाओं से रहित होना चाहिए। समस्त इच्छाओं से रहित हो जाने पर चिन्तन या सकाम कर्म की आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसी अवस्था में यह समझना चाहिए कि वह भौतिक देह से मुक्त है। इसका उदाहरण पहले ही दिया जा चुका है कि सूखी गरी नारियल के जटा से पृथक् हो जाती है। यह मुक्ति की अवस्था है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (२.१०.६) में कहा गया है *मुक्ति* का अर्थ है *स्वरूपेण व्यवस्थितिः*—अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहना। जब तक देहात्मबुद्धि रहती है तब तक सभी भौतिक इच्छाएँ पीछा नहीं छोड़तीं, किन्तु जब मनुष्य यह सोच लेता है कि वह श्रीकृष्ण का शाश्वत दास है, तो उसकी इच्छाएँ भौतिक नहीं रहती हैं। भक्त इसी चेतना से कार्य करता है। दूसरे शब्दों में, जब शरीर से सम्बन्धित भौतिक इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं, तो मनुष्य वास्तव में मुक्त हो जाता है।

मुक्त हो जाने पर मनुष्य अपनी व्यक्तिगत इन्द्रियतृप्ति के लिए कुछ भी नहीं करता। फिर आगे वह जो कुछ भी करता है, वह अनासक्त होता है। बद्ध अवस्था में दो प्रकार के कर्म होते हैं। मनुष्य शरीर के लिए कार्य करता है, किन्तु साथ-ही वह मुक्त होने के लिए भी कार्य करता है। समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त होने पर भक्त शरीर तथा आत्मा के लिए कर्म की द्वैतता से परे हो जाता है। तब देहात्मबुद्धि समाप्त हो जाती है। इसीलिए श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

जब मनुष्य भगवान् की सेवा में पूर्ण रूप से संलग्न होता है, तो वह जीवन की किसी भी अवस्था में मुक्त रहता है। वह *जीवन्मुक्त* कहलाता है। ऐसी मुक्त-अवस्था में इन्द्रियतृप्ति के लिए किये गये कार्यों तथा मुक्ति के लिए किये गये कार्यों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। जब मनुष्य इन्द्रियतृप्ति की

इच्छाओं से मुक्त हो जाता है, तो उस पर शोक या मोह के फलों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कर्मियों तथा ज्ञानियों द्वारा किये गये कर्मों से शोक तथा मोह उत्पन्न होता है, किन्तु स्वरूपसिद्ध पुरुष, जो केवल भगवान् के लिए ही कर्म करता है, इन्हें अनुभव नहीं करता। यह एकात्म की दशा है अथवा भगवान् के अस्तित्व में तदाकार होना है। इसका अर्थ यह हुआ कि जीव अपनी पृथक् सत्ता होते हुए भी पृथक् स्वार्थ नहीं रखता। वह भगवान् की सेवा में पूरी तरह लग जाता है, उसे अपनी इन्द्रियतृप्ति से कोई वास्ता नहीं रह जाता, अत: वह केवल भगवान् को देखता है, अपने आपको नहीं। उसके स्वार्थों का पूर्ण अन्त हो जाता है। नींद टूटने पर स्वप्न समाप्त हो जाता है, किन्तु स्वप्न में मनुष्य अपने को राजा मानकर शाही शान, सैनिक आदि सब कुछ देख सकता है। स्वप्न समाप्त होने पर वह अपने अतिरिक्त और कुछ नहीं देखता। इसी प्रकार मुक्त पुरुष जानता है कि वह परमेश्वर का अंशरूप है और उन्हीं के इच्छानुसार सारे कार्य करता रहता है। इस तरह वह उनके तथा अपने बीच कोई अन्तर नहीं देखता, यद्यपि दोनों की सत्ताएँ पृथक् -पृथक् रहती हैं। *नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*—परमात्मा तथा आत्मा के एकाकार का यह पूर्ण बोध है।

आत्मानमिन्द्रियार्थं च परं यदुभयोरपि ।
सत्याशय उपाधौ वै पुमान्पश्यति नान्यदा ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—आत्मा; इन्द्रिय-अर्थम्—इन्द्रियतृप्ति हेतु; च—तथा; परम्—दिव्य; यत्—जो; उभयो:—दोनों; अपि—निश्चय ही; सति—स्थित होकर; आशये—भौतिक इच्छाएँ; उपाधौ—उपाधि या नाम; वै—निश्चय ही; पुमान्—मनुष्य; पश्यति—देखता है; न अन्यदा—अन्यथा नहीं।

जब आत्मा इन्द्रियतृप्ति के हेतु रहता है, तो वह नाना प्रकार की इच्छाएँ उत्पन्न करता है, जिसके कारण उसको उपाधियाँ दी जाती हैं। किन्तु जब मनुष्य दिव्य स्थिति में रहता है, तो वह भगवान् की इच्छाओं को पूरा करने के अतिरिक्त और किसी कार्य में रुचि नहीं दिखाता।

तात्पर्य : भौतिक इच्छाओं से आच्छादित होने के कारण आत्मा को विशेष प्रकार की देह-उपाधियों से ढका हुआ माना जाता है। इस प्रकार आत्मा अपने को पशु, मनुष्य, देवता, पक्षी, इत्यादि मानता है। अहंकार से जनित झूठी पहचान से कई प्रकार से प्रभावित होकर और मोहमयी भौतिक इच्छाओं से आच्छादित होकर वह पदार्थ तथा आत्मा में भेद करने लगता है। जब मनुष्य इस प्रकार के भेदभाव से रहित होता है, तो पदार्थ तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं रह जाता। तब तो आत्मा ही प्रमुख

कारण बन जाता है। जब तक मनुष्य भौतिक इच्छाओं से ढका हुआ रहता है, वह अपने को भोक्ता या स्वामी मानता है। इस प्रकार वह इन्द्रियतृप्ति के लिए कार्य करता है और भौतिक पीड़ा, सुख तथा दुख से प्रभावित होता है। किन्तु जब मनुष्य जीवन के इस बोध से मुक्त हो जाता है, तो फिर वह उपाधियों से प्रभावित नहीं होता और वह प्रत्येक वस्तु को परमेश्वर के परिप्रेक्ष्य में आध्यात्मिक मानता है। श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृत सिन्धु* (१.२.२५५) में इसकी व्याख्या की है—

अनासक्तस्य विषयान्यथार्हमुपयुञ्जतः।

निर्बन्धः कृष्ण सम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते॥

मुक्त पुरुष को न तो इन्द्रियतृप्ति से, न ही अन्य किसी भौतिक पदार्थ से लगाव होता है। वह समझ जाता है कि प्रत्येक वस्तु भगवान् से सम्बन्धित है और प्रत्येक वस्तु का उपयोग भगवान् की सेवा में किया जाना चाहिए। फलतः वह किसी भी वस्तु का त्याग नहीं करता। उसके लिए किसी भी वस्तु को त्यागने का प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि परमहंस जानता है कि किस प्रकार प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सेवा में लगाया जाए। मूलतः प्रत्येक वस्तु आध्यात्मिक है, कुछ भी भौतिक नहीं है। *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (मध्य ८.२७४) में भी कहा गया है कि *महाभागवत* में कोई भौतिक दृष्टि नहीं होती—

स्थावर-जंगम देखे, ना देखे तार मूर्ति।

सर्वत्र हय निज इष्ट-देव-स्फूर्ति॥

यद्यपि वह वृक्षों, पर्वतों तथा अन्य जीवों को यहाँ-वहाँ देखता है, किन्तु वह उन्हें परमेश्वर की सृष्टि रूप में देखता है, वह केवल स्रष्टा को देखता है, सृजित को नहीं। दूसरे शब्दों में, सृजित तथा स्रष्टा में कोई अन्तर नहीं दिखता। वह प्रत्येक वस्तु में भगवान् के दर्शन करता है। वह प्रत्येक वस्तु में श्रीकृष्ण को और श्रीकृष्ण में प्रत्येक वस्तु को पाता है। यही एकाकार है।

निमित्ते सति सर्वत्र जलादावपि पूरुषः ।
आत्मनश्च परस्यापि भिदां पश्यति नान्यदा ॥ २९॥

शब्दार्थ

निमित्ते—कारणों के फलस्वरूप; सति—होते हुए; सर्वत्र—सभी जगह; जल-आदौ अपि—जल तथा अन्य प्रतिबिम्बित करने वाले माध्यम; पूरुषः—पुरुष; आत्मनः—अपने; च—तथा; परस्य अपि—दूसरे का भी; भिदाम्—अन्तर; पश्यति—देखता है; न अन्यदा—अन्य कोई कारण नहीं।

विभिन्न निमित्तों (कारणों) के फलस्वरूप ही मनुष्य अपने तथा दूसरों में अन्तर देखता है, जिस प्रकार के जल, तेल या दर्पण में एक ही पदार्थ के प्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न प्रकार से दिखते हैं।

तात्पर्य : आत्मा एक है और वह है भगवान्। वह *स्वांश* तथा *विभिन्नांश* में प्रकट होता है। जीव *विभिन्नांश* है। भगवान् के विभिन्न अवतार *स्वांश* हैं। इस प्रकार परमेश्वर की विभिन्न शक्तियाँ हैं और इन शक्तियों के विभिन्न विस्तार (अंश) हैं। इस प्रकार विभिन्न कारणों से एक ही तत्त्व भगवान् के विभिन्न विस्तार हैं। यही असली ज्ञान है, किन्तु जब जीव उपाधि से आवृत रहता है, तो उसे वैसे ही अन्तर जान पड़ते हैं जैसे जल, तेल, या दर्पण में देखने पर अपने ही प्रतिबिम्बों में अन्तर जान पड़ता है। जब कोई वस्तु जल से प्रतिबिम्बित होती है, तो वह चल प्रतीत होती है, किन्तु जब बर्फ से प्रतिबिम्बित होती है, तो स्थिर लगती है। तेल से प्रतिबिम्बित होने पर वही धुँधली जान पड़ती है। वस्तु एक है, किन्तु विभिन्न अवस्थाओं में वह भिन्न प्रतीत होती है। यदि पात्रता कारण को निकाल लिया जाय तो सारी वस्तुएँ एक ही प्रतीत होती हैं। दूसरे शब्दों में, जब भक्तियोग के अभ्यास से मनुष्य परमहंस अथवा सिद्ध अवस्था को प्राप्त होता है, तो उसे सर्वत्र श्रीकृष्ण के ही दर्शन होते हैं। उसके लिए मानो अन्य कोई वस्तु रहती ही नहीं।

निष्कर्ष के रूप हम कह सकते हैं कि विभिन्न कारणों से जीवात्मा पशु, मनुष्य, देवता, वृक्ष जैसे विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होता है। वास्तव में प्रत्येक जीवात्मा परमेश्वर की तटस्था शक्ति है। अत: *भगवद्गीता* (५.१८) में व्याख्या की गई है कि जो वास्तविक आत्मा के दर्शन कर लेता है उसे विद्वान्, ब्राह्मण तथा कुत्ते, हाथी या गाय में कोई अन्तर नहीं दिखता। *पण्डिता: समदर्शिन:।* जो वास्तव में पण्डित है, वह केवल जीवात्मा को देखता है उसके बाह्य-आवरण को नहीं। अत: जो अन्तर है, वह विभिन्न कर्मों का फल है और जब हम कर्म करना बन्द करके भक्ति के कार्यों में लग जाते हैं, तो हम यह समझ पाते हैं कि हम अन्यों से भिन्न नहीं हैं, उनका रूप चाहे जो भी हो। ऐसा केवल कृष्णभावनामृत के अन्तर्गत ही सम्भव है। इस आन्दोलन में विश्व के सभी भागों की सभी जातियों के लोग भाग ले रहे हैं और वे अपने को भगवान् का दास समझने के कारण काले-गोरे या पीले-लाल में

कोई भेदभाव नहीं देखते। अतः कृष्णभावनामृत-आन्दोलन ही एकमात्र साधन है, जिससे जीवात्माएँ समस्त उपाधियों से मुक्त हो सकती हैं।

इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनः ।
चेतनां हरते बुद्धेः स्तम्बस्तोयमिव ह्रदात् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

इन्द्रियैः—इन्द्रियों के द्वारा; विषय—विषय वस्तु; आकृष्टैः—आकृष्ट होकर; आक्षिप्तम्—विचलित; ध्यायताम्—सदैव सोचते हुए; मनः—मन; चेतनाम्—चेतना; हरते—खो जाती है; बुद्धेः—बुद्धि की; स्तम्बः—बड़े-बड़े तिनके, कुशादि; तोयम्—जल; इव—सदृश; ह्रदात्—झील (जलाशय) से।

जब मनुष्य का मन तथा इन्द्रियाँ सुख-भोग के हेतु विषय-वस्तुओं के प्रति आकर्षित होते हैं, तो मन विचलित हो जाता है। परिणाम स्वरूप लगातार विषय-वस्तुओं का चिन्तन करने से मनुष्य की असली कृष्णचेतना वैसे ही खो जाती है, जैसे कि जलाशय के किनारे उगे हुए बड़ी बड़ी कुश जैसी घास के द्वारा चूसे जाने के कारण जलाशय का जल।

तात्पर्य : इस श्लोक में बड़े ही सुन्दर ढंग से बताया गया है कि हमारी मूल कृष्णचेतना किस प्रकार दूषित हो जाती है और हम किस प्रकार परमेश्वर से अपने सम्बन्ध को उत्तरोत्तर भूलते जाते हैं। पिछले श्लोक में बताया गया है कि हमें निरन्तर भगवान् की भक्ति में लगे रहना चाहिए जिससे भक्ति की प्रज्ज्वलित अग्नि समस्त भौतिक इच्छाओं को भस्म कर दे और हम जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो सकें। यह वह अप्रत्यक्ष विधि भी है, जिससे हम परमेश्वर के चरणारविन्द में अपनी अटूट श्रद्धा बनाये रख सकते हैं। जब मन को निरन्तर इन्द्रियतृप्ति के बारे में सोचने के लिए छोड़ दिया जाता है, तो वह हमारे भौतिक बन्धन का कारण बन जाता है। यदि हमारा मन इन्द्रियतृप्ति के विषयों से ही पूरित रहे तो हम कृष्णभक्ति करने की चाह रखकर भी सतत अभ्यास के कारण इन्द्रियतृप्ति के विषय को नहीं भूल सकते। यदि कोई संन्यास आश्रम ग्रहण कर ले, किन्तु मन को वश में न कर पाए तो वह सदैव इन्द्रियतृप्ति—यथा परिवार, समाज, कीमती घर इत्यादि—के बारे में सोचता रहेगा। भले ही वह हिमालय में या जंगल में क्यों न चला जाय उसका मन इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं में रमा रहेगा। इस प्रकार क्रमशः मनुष्य की बुद्धि प्रभावित होती रहेगी जिससे कृष्णचेतना (भक्ति) के प्रति उसकी मौलिक रुचि समाप्त हो जाएगी।

यहाँ पर दिया गया उदाहरण अत्यन्त सटीक है। यदि किसी विशाल जलाशय के चारों ओर ऊंची-

ऊंची कुश घास उगी हो तो उसका जल सूख जाएगा। इसी प्रकार जब भौतिक इच्छाएं बढ़ जाती हैं, तो चेतना का स्वच्छ जल सूख जाता है। अत: कुश को पहले से ही काट देना या समूल नष्ट कर देना चाहिए। श्री चैतन्य महाप्रभु का उपदेश है कि यदि धान के खेत में खर-पतवारों को उगने दिया जाए तो वे उर्वरक तथा जल का उपयोग कर लेंगे और धान के पौधे सूख जाएँगे। इन्द्रियभोग की इच्छा ही इस जगत में हमारे पतन का कारण है और हम तीन प्रकार के तापों एवं जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के शिकार होते रहते हैं। किन्तु यदि हम अपनी इच्छाओं को भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति की ओर मोड़ दें तो हमारी इच्छाएँ पवित्र हो जाती हैं। हम इच्छाओं को मार नहीं सकते। हमें उन्हें विभिन्न उपाधियों से शुद्ध करना है। यदि हम अपने को निरन्तर किसी विशेष राष्ट्र, समाज या परिवार के सदस्य के रूप में मान कर उन्हीं का चिन्तन करते रहें तो हम जन्म-मरण के बद्धजीवन में दृढ़तापूर्वक उलझ जाते हैं। किन्तु यदि हमारी इच्छाएँ भगवान् की सेवा में लग जाँए तो वे पवित्र हो जाती हैं और हम भौतिक कल्मष से तुरन्त मुक्त हो जाते हैं।

भ्रश्यत्यनुस्मृतिश्चित्तं ज्ञानभ्रंशः स्मृतिक्षये ।
तद्रोधं कवयः प्राहुरात्मापह्नवमात्मनः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

भ्रश्यति—विनष्ट हो जाती है; अनुस्मृतिः—निरन्तर चिन्तन; चित्तम्—चेतना; ज्ञान-भ्रंशः—वास्तविक ज्ञान से विरहित; स्मृति-क्षये—स्मृति के विनाश से; तत्-रोधम्—उस विधि का अवरुद्ध होना; कवयः—बड़े-बड़े पंडितों ने; प्राहुः—विचार व्यक्त किया है; आत्म—आत्मा का; अपह्नवम्—विनाश; आत्मनः—आत्मा का।

जब मनुष्य अपनी मूल चेतना से इधर-उधर हटता है, तो वह न तो अपनी पूर्वस्थिति को स्मरण रख पाता है और न वर्तमान स्थिति को पहचान पाता है। स्मरण-शक्ति के नष्ट हो जाने पर जितना भी ज्ञान अर्जित किया जाता है, वह एक झूठी आधार-शिला पर टिका रहता है। जब ऐसी घटना घटती है, तो पंडित जन कहते हैं कि आत्मा का विनाश हो गया।

तात्पर्य : जीवात्मा या आत्मा नित्य एवं शाश्वत है। इसका विनाश नहीं हो सकता, किन्तु जब वास्तविक ज्ञान काम नहीं करता तो पंडितजन कहते हैं कि इसका विनाश हो चुका है। पशुओं तथा मनुष्यों में यही अन्तर है। अल्पज्ञ दार्शनिकों के अनुसार पशुओं में आत्मा नहीं होती, किन्तु वास्तविकता यह है कि पशुओं में आत्मा होती है। फिर भी पशुओं की निरी अज्ञानता के कारण ऐसा लगता है कि उनकी आत्माएँ विनष्ट हो चुकी हैं। बिना आत्मा के शरीर हिल नहीं सकता। सजीव एवं

निर्जीव शरीर का यही अन्तर है। जब आत्मा शरीर से बाहर निकल जाता है, तो शरीर मृत कहलाता है। आत्मा को तभी विनष्ट कहा जाता है जब समुचित ज्ञान प्रदर्शित नहीं हो पाता। हमारी मूल चेतना कृष्णचेतना है क्योंकि हम कृष्ण के अंश है। जब यह चेतना दिग्भ्रमित हो जाती है और मनुष्य भौतिक वातावरण में आ गिरता है, जिससे मूल चेतना दूषित होती है, तो वह सोचने लगता है कि यह भौतिक तत्त्वों का फल है। इस प्रकार वह भगवान् के अंश रूप में अपनी स्थिति को उसी प्रकार भूल जाता है, जिस प्रकार कि सोते समय मनुष्य अपने आप को भूल जाता है। इस प्रकार मूल चेतना के कार्यकलापों के अवरुद्ध होने से विनष्ट आत्मा के सारे कार्यकलाप मिथ्या आधार पर सम्पन्न होते हैं। आज के समय में, मानवीय सभ्यता देहात्मबुद्धि के छद्म-स्तर पर कार्य कर रही है, अत: यह कहा जा सकता है कि वर्तमान युग के लोगों ने अपनी आत्माएँ खो दी हैं और इस प्रकार वे पशुतुल्य हैं।

नात: परतरो लोके पुंस: स्वार्थव्यतिक्रम: ।
यदध्यन्यस्य प्रेयस्त्वमात्मन: स्वव्यतिक्रमात् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अत:—इसके बाद; परतर:—बढ़कर; लोके—इस संसार में; पुंस:—जीवात्माओं का; स्व-अर्थ—लाभ; व्यतिक्रम:—रुकावट; यत्-अधि—इसके आगे; अन्यस्य—दूसरों का; प्रेयस्त्वम्—अधिक रुचिकर; आत्मन:—अपने लिए; स्व—अपना; व्यतिक्रमात्—रुकावट से।

आत्म-साक्षात्कार की अपेक्षा अन्य विषयों को अधिक रुचिकर सोचना—मनुष्य के अपने हित के लिए इससे बड़ी बाधा कोई नहीं होती है।

तात्पर्य : मनुष्य जीवन विशेष रूप से आत्म-साक्षात्कार के निमित्त है। ''आत्म'' का अर्थ है परमात्मा तथा जीव अर्थात् भगवान् तथा जीवात्मा। किन्तु जब मनुष्य अपने शरीर तथा शारीरिक इन्द्रियतृप्ति में अधिक रुचि रखने लगता है, तो वह आत्म-साक्षात्कार के पथ पर अपने लिए अवरोध उत्पन्न कर लेता है। माया के प्रभाव से वह इन्द्रियतृप्ति में अधिक रस लेता है, जो इस संसार में आत्म-साक्षात्कार के इच्छुक व्यक्तियों के लिए वर्जित है। इन्द्रियतृप्ति में रस न लेकर मनुष्य को परमात्मा की इन्द्रियों को तुष्ट करने में अपने कार्यकलापों को मोड़ लेना चाहिए। इस नियम के विपरीत जो भी किया जाएगा, वह निश्चित ही उसके हित के विरुद्ध होगा।

अर्थेन्द्रियार्थाभिध्यानं सर्वार्थापह्नवो नृणाम् ।

भ्रंशितो ज्ञानविज्ञानाद्येनाविशति मुख्यताम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अर्थ—धन; इन्द्रिय-अर्थ—इन्द्रियों की तुष्टि के लिए; अभिध्यानम्—निरन्तर ध्यान करने से; सर्व-अर्थ—चार प्रकार की उपलब्धियाँ, पुरुषार्थ; अपह्नवः—विनाशकारी; नृणाम्—मानव समाज की; भ्रंशितः—से रहित; ज्ञान—ज्ञान; विज्ञानात्—भक्ति से; येन—इससे; आविशति—प्रवेश करता है; मुख्यताम्—जड़ जीवन।

धन कमाने तथा इन्द्रितृप्ति के लिए उसके उपयोग के विषय में निरन्तर सोचते रहने से मानव-समाज के प्रत्येक व्यक्ति का पुरुषार्थ विनष्ट होता है। जब कोई ज्ञान तथा भक्ति से शून्य हो जाता है, वह वृक्षों तथा पत्थरों की सी जड़ योनियों में प्रवेश करता है।

तात्पर्य : *ज्ञान* का अर्थ है अपनी स्वाभाविक स्थिति को समझना और *विज्ञान* का अर्थ है जीवन में उस ज्ञान को व्यवहार में लाना। मनुष्य जीवन प्राप्त करके व्यक्ति को *ज्ञान* तथा *विज्ञान* की स्थिति प्राप्त कर लेनी चाहिए, किन्तु इस सुअवसर के होते हुए भी यदि कोई गुरु तथा शास्त्रों की सहायता से *ज्ञान* तथा *विज्ञान* प्राप्त नहीं कर पाता अर्थात् वह इस सुअवसर का उपयोग नहीं करता है, तो अगले जन्म में उसे जड़ योनि प्राप्त होना निश्चित है। जड़ योनि के अन्तर्गत पर्वत, वृक्ष, पौधे इत्यादि आते हैं। जीवन की यह अवस्था *पुण्यताम्* या *मुख्यताम्* कहलाती है, जिसका अर्थ है सभी कार्यकलाप शून्य हो जाना। ऐसे दार्शनिक, जो समस्त कार्यकलापों को समाप्त करने के पक्षपाती हैं, शून्यवादी कहलाते हैं। सहज रूप में हमारे सारे कार्यकलाप उत्तरोत्तर भक्ति की ओर उन्मुख होने चाहिए। किन्तु कुछ ऐसे भी दार्शनिक हैं, जो कर्मों को शुद्ध न करके प्रत्येक वस्तु को शून्य या समस्त कार्यकलापों से रहित कर देना चाहते हैं। क्रियाशीलता का ऐसा अभाव वृक्षों तथा पर्वतों में पाया जाता है। यह प्रकृति द्वारा प्रदत्त दण्ड जैसा है। यदि हम आत्म-साक्षात्कार के जीवन-लक्ष्य को उचित ढंग से प्राप्त नहीं कर सकते तो प्रकृति हमें वृक्ष तथा पर्वत के रूप में जड़ बनाकर दंड देगी। इसलिए इन्द्रियतृप्ति के हेतु किये गये कर्मों की यहाँ भर्त्सना की गई है। जो निरन्तर धन-अर्जन तथा इन्द्रियतृप्ति के विषय में ही सोचता रहता है, वह ऐसे पथ पर अग्रसर होता है जो आत्मघाती है। वस्तुतः समूचा मानव-समाज इसी पथ का अनुसरण कर रहा है कि भीख माँगके, चोरी करके अथवा उधार लेने से, चाहे जिस प्रकार से धन आए, लोग धन कमाने तथा उसका उपभोग इन्द्रियतृप्ति करने जुटे हुए हैं। ऐसी सभ्यता आत्म-साक्षात्कार के पथ में सबसे बड़ी बाधक है।

न कुर्यात्कर्हिचित्सङ्गं तमस्तीव्रं तितीरिषुः ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां यदत्यन्तविघातकम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

न—मत; कुर्यात्—करे; कर्हिचित्—कभी भी; सङ्गम्—संगति, साथ; तमः—अज्ञान; तीव्रम्—तेज गति से; तितीरिषुः—वे पुरुष जो अज्ञान को पार करने के इच्छुक है; धर्म—धर्म; अर्थ—आर्थिक विकास; काम—इन्द्रियतृप्ति; मोक्षाणाम्—मोक्ष का; यत्—जो; अत्यन्त—अत्यधिक; विघातकम्—बाधक या रुकावट।

जो अज्ञान के सागर को पार करने की प्रबल इच्छा रखते हैं, उन्हें कभी भी तमोगुण के साथ साथ नहीं जुड़ना चाहिए, क्योंकि सुखवादी कार्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के मार्ग में अत्यन्त बाधक हैं।

तात्पर्य : जीवन के चार नियम हैं, जो मनुष्य को धर्म के अनुसार रहने, समाज में अपनी स्थिति के अनुसार धन अर्जित करने, नियम के अनुसार विषय वस्तुओं को भोगने तथा इस भौतिक आसक्ति से मोक्ष के पथ में अग्रसर होने की अनुमति देते हैं। जब तक यह शरीर है इन समस्त स्वार्थों (पुरुषार्थों) से पूरी तरह अलग रह पाना असम्भव है। किन्तु यह भी कहीं नहीं कहा गया है कि मनुष्य केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए कार्य करे और इसी के लिए धन कमाए तथा सारे धार्मिक नियमों की बलि दे दे। आज के समय में, मानव-समाज को धर्म की तनिक भी चिन्ता नहीं है। वह तो धर्महीन आर्थिक विकास में परम दत्तचित्त है। उदाहरणार्थ, कसाईघरों में बधिकों को आसानी से पैसा मिल जाता है, किन्तु ऐसा धंधा धार्मिक नियमों पर आधारित नहीं है। इसी प्रकार इन्द्रियतृप्ति तथा कामवासना पूर्ति के लिए अनेक वेश्यालय तथा नाइट क्लब हैं। संभोग की छूट गृहस्थ जीवन में तो है, किन्तु वेश्यागमन वर्जित है, क्योंकि हमारे सारे कार्यकलापों का लक्ष्य इस संसार के बंधन से छूटकर मोक्ष प्राप्त करना है। इसी प्रकार, भले ही सरकार मदिरालयों को खोलने का लाइसेंस दे दे, किन्तु इसका अभिप्राय यह तो नहीं है कि निर्बाध रूप से मदिरालय खुलते जाँए और अवैध शराब का धंधा हो। लाइसेंस देने का अभिप्राय प्रतिबन्ध लगाना है। किसी को चीनी, आटे या दूध का लाइसेंस नहीं लेना होता, क्योंकि इन वस्तुओं पर प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता नहीं होती। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को यह सलाह दी जाती है कि वह इस प्रकार कार्य करे कि आध्यात्मिक जीवन तथा मोक्ष की नियमित प्रगति की प्रक्रिया बाधित न हो। अतः इन्द्रियतृप्ति की वैदिक विधि इस प्रकार नियोजित की जाती है कि आर्थिक विकास होता रहे, इन्द्रियतृप्ति भी हो तथा उसके साथ ही अन्त में मोक्ष प्राप्त हो। वैदिक सभ्यता हमें शास्त्रों के रूप में सारा ज्ञान प्रदान करती है और यदि हम शास्त्रों तथा गुरु के निर्देशन में नियमित जीवन बिताएँ

तो हमारी सारी भौतिक इच्छाएँ पूरी हो जाएँगी और साथ ही हम मोक्ष प्राप्त कर सकेंगे।

तत्रापि मोक्ष एवार्थ आत्यन्तिकतयेष्यते ।
त्रैवर्ग्योऽर्थो यतो नित्यं कृतान्तभयसंयुतः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अपि—भी; मोक्षः—मोक्ष; एव—निश्चय ही; अर्थे—के हेतु; आत्यन्तिकतया—सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण; इष्यते—ग्रहण करे; त्रै-वर्ग्यः—अन्य तीन, अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम; अर्थः—हित, पुरुषार्थ; यतः—जिससे; नित्यम्—नियमित रूप से; कृत-अन्त—मृत्यु; भय—डर; संयुतः—संलग्न।

चारों पुरुषार्थ अर्थात्—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—में से मोक्ष को अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक ग्रहण करना चाहिए। अन्य तीन तो प्रकृति के कठोर नियम अर्थात् काल (मृत्यु) द्वारा नाशवान् हैं।

तात्पर्य : *मोक्ष* को अन्य तीन पुरुषार्थों की अपेक्षा अधिक गम्भीरतापूर्वक ग्रहण करना चाहिए। जैसाकि सूत गोस्वामी ने *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में उपदेश दिया है कि धर्म आर्थिक विकास की सफलता पर अवलम्बित नहीं है। चूँकि हम इन्द्रियतृप्ति में अत्यधिक आसक्त रहते हैं, अत: हम मन्दिर या गिरजाघर में ईश्वर के पास किसी न किसी आर्थिक कारण से जाते हैं। किन्तु आर्थिक विकास का अर्थ इन्द्रियतृप्ति नहीं है। हमें चाहिए कि इन सबमें ऐसा समंजन करें कि हमें मोक्ष प्राप्त हो सके। इसीलिए इस श्लोक में मोक्ष पर बल दिया गया है। अन्य तीन पुरुषार्थ भौतिक होने के कारण नश्वर हैं। इस जीवन में बैंक में किसी भी द्वारा प्रचुर धन संचित कर लेने तथा अनेक वस्तुओं का स्वामी बन जाने पर भी सारी वस्तुएँ मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाएँगी। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि मृत्यु तो भगवान् है, जो भौतिकतावादी मनुष्य द्वारा अर्जित सारी वस्तुएँ अपने साथ लेते जाते हैं। मूर्खतावश हम इसकी ओर ध्यान नहीं देते। मूर्खतावश न तो हम मृत्यु से डरते हैं, न ही इसका विचार करते हैं कि मृत्यु अपने साथ धर्म, अर्थ तथा काम के द्वारा अर्जित प्रत्येक वस्तु को लेती जाएगी। धर्म के द्वारा हमें स्वर्ग की भी प्राप्ति हो सकती है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के चंगुल से भी हमें छुटकारा मिल गया। तात्पर्य यह कि हम *त्रैवर्ग्य*—धर्म, अर्थ तथा काम—के अपने-अपने स्वार्थों की बलि तो कर सकते हैं, किन्तु मोक्ष की नहीं। मोक्ष के सम्बन्ध में *भगवद्गीता* (४.९) में कहा गया है—*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति।* मोक्ष का अर्थ होता है कि इस शरीर को त्यागने के बाद मनुष्य को दूसरा शरीर ग्रहण नहीं करना होता। निर्विशेषवादियों के लिए मोक्ष का अर्थ है निर्गुण ब्रह्म

से तादात्म्य। किन्तु वास्तव में यह मोक्ष नहीं है, क्योंकि मनुष्य को उस निर्गुण पद से पुनः इस भौतिक संसार में नीचे आना होता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की शरण खोजे और उनकी भक्ति में लग जाए। यही असली मोक्ष है। अतः निष्कर्ष यह निकला कि हमें पुण्य कर्म, आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति पर बल नहीं देना चाहिए। हमें तो भगवान् विष्णु के दिव्य धाम पहुँचने की चिन्ता करनी चाहिए। जिनमें से गोलोक वृन्दावन सबसे ऊपर है और वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण निवास करते हैं। अतः मोक्ष के इच्छुक लोगों के लिए यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन सबसे बड़ा उपहार है।

परेऽवरे च ये भावा गुणव्यतिकरादनु ।
न तेषां विद्यते क्षेममीशविध्वंसिताशिषाम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

परे—जीवन की उच्चतर स्थिति में; अवरे—जीवन की निम्नतर अवस्था में; च—तथा; ये—ये सब; भावाः—विचार; गुण—भौतिक गुण; व्यतिकरात्—अन्योन्य क्रिया से; अनु—पीछे-पीछे चलना; न—कभी नहीं; तेषाम्—उनका; विद्यते—विद्यमान है; क्षेमम्—कुशल; ईश—परमेश्वर; विध्वंसित—विनष्ट; आशिषाम्—आशीर्वादों का।

हम उच्चतर जीवन की विभिन्न अवस्थाओं को जीवन की निम्नतर अवस्थाओं से अलग करते हुए वरदानस्वरूप ग्रहण करते हैं, किन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार के भेदभाव भौतिक प्रकृति के गुणों की अन्योन्य क्रिया के प्रसंग में ही विद्यमान रहते हैं। वस्तुतः जीवन की इन अवस्थाओं का कोई स्थायी अस्तित्व नहीं होता, क्योंकि ये परम नियन्ता द्वारा विनष्ट कर दी जाएंगी।

तात्पर्य : हम इस संसार में जीवन के उच्चतर रूप को आशीर्वाद (वरदान) के रूप में ग्रहण करते हैं और निम्नतर रूप को अभिशाप। उच्चतर अथवा निम्नतर का यह अन्तर तभी तक रहता है जब तक विभिन्न भौतिक गुण परस्पर क्रिया करते हैं। दूसरे शब्दों में, हम अपने अच्छे कर्मों से उच्चतर लोकों को या उच्चतर जीवन स्तर (यथा उत्तम शिक्षा, सुन्दर शरीर, इत्यादि) को प्राप्त होते हैं। ये सब पुण्य कर्मों के प्रतिफल हैं। इसी तरह अपवित्र कार्यों से हम अशिक्षित रह जाते हैं, कुरूप शरीर पाते हैं, गरीब बने रहते हैं, इत्यादि। किन्तु जीवन की ये विभिन्न अवस्थाएँ सतो, रजो तथा तमो गुणों की पारस्परिक क्रिया द्वारा प्रकृति के नियमों के अधीन हैं। ये सारे गुण इस समग्र विश्व के विलय के समय कार्य करना बन्द कर देते हैं। अतः भगवान् ने *भगवद्गीता* (८.१६) में कहा है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥

भले ही हम अपने आपको विज्ञान की उन्नति के बल पर या जीवन के धार्मिक नियमों—त्याग तथा कर्म—से उच्चतर लोक तक उठा लें, किन्तु प्रलय के समय ये सारे लोक तथा उनके प्राणी विनष्ट हो जाँएगे। इस श्लोक में *ईशविध्वंसिताशिषाम्* सूचित करता है कि ये सारे आशीर्वाद परम नियन्ता द्वारा ध्वस्त कर दिये जाएँगे। उस समय कोई हमारी रक्षा नहीं करेगा। चाहे इस लोक में हों, या अन्य लोक में, हमारे शरीर विनष्ट हो जाएँगे और हमें महाविष्णु के शरीर के भीतर लाखों वर्षों तक अचेत अवस्था में रहना होगा और जब सृष्टि पुन: प्रकट होगी तो उसमें हमें विभिन्न योनियों में जन्म लेकर अपने कार्य प्रारम्भ करने होंगे। अत: मात्र उच्चतर लोक तक उठ जाने से ही हमें सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। हमें इस दृश्य जगत से बाहर निकलने, आत्मजगत में जाने और भगवान् की शरण ग्रहण करने का प्रयास करना चाहिए। यही हमारी सर्वोच्च उपलब्धि है। हमें किसी भी उच्च या निम्न भौतिक वस्तु के प्रति आकृष्ट न होकर उन्हें समान स्तर पर देखना चाहिए। हमारा वास्तविक कार्य जीवन-उद्देश्य की खोज और भगवान् की भक्ति करना होना चाहिए। इस प्रकार हम ज्ञान तथा आनन्द से परिपूर्ण अपने आध्यात्मिक कार्यों में सतत आशीर्वाद पाते रहेंगे।

नियमित मानवीय सभ्यता से धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्रगति होती है। मानव समाज में धर्म होना ही चाहिए। बिना धर्म के मानव समाज पशुओं का समाज है। आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति को धर्म पर आधारित होना चाहिए। जब धर्म, अर्थ तथा काम समंजित हो जाते हैं, तो जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग से मुक्ति निश्चित है। किन्तु इस कलिकाल में धर्म तथा मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। लोगों की रुचि केवल आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति की ओर है। फलत: सारे विश्व में पर्याप्त आर्थिक उन्नति के बावजूद मानव-समाज के आचार-विचार पशुतुल्य हैं। जब सब कुछ नितान्त पशुतुल्य हो जाता है, तो प्रलय होता है। इस प्रलय को *ईश विध्वंसिताशिषाम्* के रूप में ग्रहण करना चाहिए। भगवान् द्वारा प्रदत्त आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति का आशीर्वाद अन्त में विनष्ट हो जाता है। इस कलियुग के अन्त में भगवान् कल्कि अवतार के रूप में प्रकट होंगे और उनका एकमात्र कार्य होगा ब्रह्माण्ड के समस्त मनुष्यों का संहार। इस नरसंहार के बाद पुन: स्वर्णिम युग आएगा। अत: हमें जान लेना होगा कि हमारे सारे भौतिक कार्यकलाप बच्चों की खिलवाड़ सदृश हैं। बच्चे समुद्रतट पर खेल

करते हैं, पिता तट पर बैठा-बैठा बच्चों के द्वारा महलों का दीवालों का बनना आदि देखता रह सकता है, किन्तु अन्त में पिता के कहने पर बच्चों को सब कुछ छोड़कर घर वापस आना पड़ता है। तब सब कुछ नष्ट हो जाता है। जो लोग आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति के बच्चों जैसे खिलवाड़ में लगे रहते हैं, कभी-कभी भगवान् उन पर विशेष अनुग्रह करके उनके सारे निर्माण कार्यों को विनष्ट कर देते हैं।

भगवान् ने कहा है—*यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।* भगवान् ने युधिष्ठिर महाराज से कहा कि जब वे अपने भक्त पर विशेष अनुकम्पा करते हैं, तो उसका सारा धन-वैभव हर लेते हैं। अतः सामान्यतः यह देखा जाता है कि वैष्णव अधिक धनवान नहीं होते। जब कोई वैष्णव या भक्त धनवान होने के साथ-साथ परमेश्वर की सेवा करने की इच्छा व्यक्त करता है, तो उसकी भक्ति अवरुद्ध हो जाती है। भगवान् उस पर कृपा प्रदर्शित करने के लिए उसकी तथाकथित आर्थिक उन्नति तथा भौतिक ऐश्वर्य को विनष्ट कर देते हैं। इस प्रकार भक्त बारम्बार आर्थिक उन्नति करने के प्रयासों से निराश होकर अन्ततः भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है। ऐसा कार्य भी *ईशविध्वंसिताशिषाम्* माना जा सकता है, जिसके द्वारा भगवान् मनुष्य के ऐश्वर्य को नष्ट करके उसे आध्यात्मिक ज्ञान से सम्पन्न करते हैं। उपदेश देते समय हमने देखा है कि भौतिकतावादी व्यक्ति हमारे पास आते हैं और आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए नमस्कार करते हैं, जिसका अर्थ होता है कि वे और अधिक भौतिक ऐश्वर्य की इच्छा रखते हैं। यदि उनकी इस प्रकार की ऐश्वर्य-इच्छा को रोका जाये तो ऐसे व्यक्ति भक्तों को कभी नमस्कार भी न करना चाहें। ऐसे भौतिकतावादी पुरुष केवल अपनी आर्थिक प्रगति से नाता रखते हैं। वे सन्तों या परमेश्वर को प्रणाम करते हैं और उपदेश कार्य के लिए कुछ दान देते हैं जिससे उन्हें और आर्थिक लाभ हो सके।

किन्तु यदि कोई अपनी भक्ति में एकनिष्ठ है, तो भगवान् उस भक्त को अपनी आर्थिक प्रगति त्यागने के लिए बाध्य करते हैं और अपने प्रति पूर्ण समर्पण करा लेते हैं। चूँकि भगवान् अपने भक्त को ऐश्वर्य का वरदान नहीं देते, अतः लोग भगवान् विष्णु की पूजा करने से डरते हैं, क्योंकि वे देखते हैं कि भगवान् विष्णु को पूजने वाले वैष्णव धनी नहीं होते। किन्तु ऐसे भौतिकतावादी पुरुष शिवजी की उपासना करके धन प्राप्त करने के अनेक अवसर प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि शिवजी देवी दुर्गा के पति हैं, जो इस ब्रह्माण्ड की अधिष्ठात्री हैं। शिवजी के अनुग्रह से ऐसे भक्त को देवी दुर्गा से आशीर्वाद प्राप्त

करने का सुयोग प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, रावण शिवजी का महान् उपासक तथा भक्त था जिसके बदले में उसे देवी दुर्गा के समस्त वर प्राप्त थे, यहाँ तक कि उसके सारे साम्राज्य के भवन स्वर्ण निर्मित थे। इस युग में ब्राजील में स्वर्ण की अथाह राशि मिली है और पुराणों में प्राप्त ऐतिहासिक सन्दर्भों से हम यह अन्दाजा लगा सकते हैं कि यह रावण का साम्राज्य था। किन्तु भगवान् रामचन्द्र द्वारा यह सम्राज्य को ध्वस्त कर दिया गया था।

ऐसी घटनाओं के अध्ययन से हम *ईश-विध्वंसिताशिषाम्* का पूरा अर्थ समझ सकते हैं। भगवान् कभी अपने भक्तों को भौतिक आशीष नहीं देते, क्योंकि इससे वे संसार में जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के चक्र में पुन: उलझ जाएँगे। भौतिक ऐश्वर्य से रावण-जैसे व्यक्ति इन्द्रिय तृप्ति के लिए फूल उठते हैं। रावण ने सीता का, जो भगवान् रामचन्द्र की पत्नी तथा ऐश्वर्य की देवी थीं, यह सोचकर अपहरण करने का दु:साहस किया कि वह भगवान् की ह्लादिनी शक्ति को भोग सकेगा। किन्तु वास्तव में ऐसे कार्य से रावण विनष्ट हो गया। आज के समय की मानवीय सभ्यता आर्थिक उन्नति तथा इन्द्रियतृप्ति के प्रति इतनी अधिक आसक्त है कि वह विनाश के कगार पर खड़ी है।

तत्त्वं नरेन्द्र जगतामथ तस्थूषां च
देहेन्द्रियासुधिषणात्मभिरावृतानाम् ।
यः क्षेत्रवित्तपतया हृदि विश्वगाविः
प्रत्यक्चकास्ति भगवांस्तमवेहि सोऽस्मि ॥ ३७॥

शब्दार्थ

तत्—अत:; त्वम्—तुम; नर-इन्द्र—हे श्रेष्ठ राजन्; जगताम्—चरों का; अथ—इसलिए; तस्थूषाम्—अचर; च—भी; देह—शरीर; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; असु—प्राण; धिषणा—विचार से; आत्मभि:—आत्म-साक्षात्कारसे; आवृतानाम्—इस प्रकार से आच्छादित लोगों का; य:—जो; क्षेत्र-वित्—क्षेत्र का ज्ञाता; तपतया—वश में करके; हृदि—हृदय में; विश्वक्—हर जगह; आवि:—अभिव्यक्त; प्रत्यक्—प्रत्येक रोमकूप में; चकास्ति—चमकता हुआ; भगवान्—श्रीभगवान्; तम्—उसको; अवेहि—जानने का प्रयास करो; स: अस्मि—मैं वह हूँ।.

सनत्कुमार ने राजा को उपदेश दिया—अत: हे राजा पृथु, उन भगवान् को समझने का प्रयास करो जो प्रत्येक हृदय में प्रत्येक जीव के साथ निवास कर रह रहे हैं, चाहे वह चर हो या अचर। प्रत्येक जीव स्थूल भौतिक शरीर से तथा प्राण एवं बुद्धि से निर्मित सूक्ष्म शरीर से पूर्णतया आवृत है।

तात्पर्य : इस श्लोक में विशेष रूप से यह उपदेश दिया गया है मनुष्य जीवन में आर्थिक विकास

के लिए प्रयत्न करने तथा इन्द्रियतृप्ति में समय गँवाने की अपेक्षा मनुष्य को चाहिए कि वह उन भगवान् को समझते हुए आध्यात्मिक गुणों के अनुशीलन का प्रयत्न करे, जो प्रत्येक जीव के हृदय में विराजमान हैं। आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही रूपों में एक साथ भगवान् इस शरीर में आसीन हैं, जो स्थूल तथा सूक्ष्म तत्त्वों से ढका रहता है। इसे समझ लेना ही वास्तविक आध्यात्मिक संस्कृति पाना है। आध्यात्मिक संस्कृति में प्रगति करने की दो विधियाँ हैं—एक तो निर्विशेषवादियों की विधि तथा दूसरी भक्ति। निर्विशेषवादी इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि वह तथा परमात्मा एक हैं, किन्तु भक्त अथवा सगुणवादी परम सत्य का साक्षात्कार यह समझकर कर सकता है कि *प्रभु* परम नियन्ता है, हम जीवात्माएँ उसी के अधीन हैं और हमारा धर्म है कि हम उसकी सेवा करें। वैदिक आदेश है—*तत्त्वमसि* "तुम वही हो" तथा *सोऽहम्* "मैं वही हूँ।" इन मंत्रों की निर्विशेषवादी व्याख्या है कि परमेश्वर या परम सत्य तथा जीवात्मा एक हैं, किन्तु भक्तों के मत से ये मंत्र इस पर बल देते हैं कि परमेश्वर तथा हम सभी समान गुण वाले हैं। *तत्त्वमसि, अयम् आत्मा ब्रह्म।* परमेश्वर तथा जीवात्मा दोनों ही आत्मा हैं। इसको समझना ही आत्म-साक्षात्कार है। यह मनुष्य जीवन आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन द्वारा परमेश्वर तथा अपने आपको जानने के लिए है। मनुष्य को चाहिए कि केवल आर्थिक उन्नति तथा इन्द्रियतृप्ति में ही अमूल्य जीवन को विनष्ट न करे।

इस श्लोक में *क्षेत्रवित्* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। *भगवद्गीता* (१३.२) में इस शब्द की व्याख्या की गई है—*इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।* यह शरीर क्षेत्र (कर्मक्षेत्र) कहलाता है और शरीर के स्वामी (आत्मा तथा शरीर स्थित परमात्मा) *क्षेत्रवित्* कहलाते हैं। किन्तु इन दोनों क्षेत्रवितों में अन्तर है। एक *क्षेत्रवित्* अर्थात् शरीर का ज्ञाता परमात्मा है, जो प्रत्येक आत्मा को निर्देशित करता रहता है। परमात्मा से सही निर्देश प्राप्त करने पर सफलता प्राप्त होती है। वे भीतर तथा बाहर दोनों ओर से निर्देश देने वाले हैं। भीतर से वे *चैत्य गुरु* अर्थात् हृदय में स्थित गुरु के रूप में निर्देश देते हैं। अप्रत्यक्ष रूप में वे बाहर से गुरु के रूप में प्रकट होकर जीवात्मा की सहायता करते रहते हैं। दोनों ही तरह से भगवान् जीवात्मा को निर्देश देते रहते हैं जिससे वह भौतिक कार्यकलाप पूरा करके भगवान् के धाम वापस जा सके। कोई भी व्यक्ति चाहे तो वह शरीर के भीतर आत्मा तथा परमात्मा को देख सकता है, क्योंकि जब तक इन दोनों का शरीर के भीतर निवास रहता है तब तक शरीर आभामय और ताजा बना

रहता है। किन्तु इन दोनों के प्रयाण करते ही स्थूल शरीर सड़ने लगता है। जो व्यक्ति आध्यात्मिक रूप से आगे है, वह मृत शरीर तथा सजीव शरीर में अन्तर जान कर सकता है। निष्कर्ष रूप में, मनुष्य को चाहिए कि तथाकथित आर्थिक उन्नति तथा इन्द्रियतृप्ति में अपना समय न गँवा कर परमात्मा तथा आत्मा एवं उनके सम्बन्ध को समझने के लिए आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन करे। इस प्रकार ज्ञान के बढ़ने से मनुष्य को मोक्ष तथा जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त हो सकता है। कहा जाता है कि यदि कोई तथाकथित सांसारिक कर्तव्यों का परित्याग भी कर दे और मोक्ष मार्ग का अनुगमन करे तो भी वह घाटे में नहीं रहता। किन्तु जो व्यक्ति मोक्ष मार्ग को ग्रहण नहीं करता और फिर भी आर्थिक उन्नति तथा इन्द्रियतृप्ति सम्पन्न करता रहता है, वह सब कुछ खो देता है। इस प्रसंग में व्यासदेव के समक्ष नारद का यह कथन (भागवत १.५.१७) अत्यन्त उपयुक्त है—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे
र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं
को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥

यदि कोई व्यक्ति चाहे भावावेश में हो या अन्य किसी कारण से भगवान् के चरणारविन्द की शरण ग्रहण करता है और यदि कालक्रम में जीवन का चरम लक्ष्य नहीं प्राप्त कर पाता या अनुभव की कमी से नीचे गिर जाता है, तो कोई क्षति नहीं होती। किन्तु जो मनुष्य भक्ति न करके केवल अपने भौतिक कर्तव्य ही अच्छी तरह निबाहता है उसे कोई लाभ नहीं मिलता।

यस्मिन्निदं सदसदात्मतया विभाति
माया विवेकविधुति स्त्रजि वाहिबुद्धिः ।
तं नित्यमुक्तपरिशुद्धविशुद्धतत्त्वं
प्रत्यूढकर्मकलिलप्रकृतिं प्रपद्ये ॥ ३८॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; इदम्—यह; सत्-असत्—परमेश्वर तथा उनकी शक्तियाँ; आत्मतया—समस्त कार्य तथा कारण के मूल रूप; विभाति—प्रकट करता है; माया—माया, मोह; विवेक-विधुति—जानबूझ कर मुक्त किये गये; स्त्रजि—रस्सी में; वा—अथवा; अहि—सर्प; बुद्धिः—बुद्धि; तम्—उसको; नित्य—शाश्वत रूप से; मुक्त—मुक्त; परिशुद्ध—कल्मषहीन; विशुद्ध—शुद्ध; तत्त्वम्—सत्य; प्रत्यूढ—दिव्य; कर्म—सकाम कर्म; कलिल—अपवित्रताएँ; प्रकृतिम्—आध्यात्मिक शक्ति में स्थित; प्रपद्ये—आत्मसमर्पण करो।

भगवान् इस शरीर के भीतर कारण तथा कार्य के एकाकार रूप में अपने को प्रकट करते हैं, किन्तु जो विवेक रस्सी में सर्प के भ्रम को दूर करने वाला है, यदि उससे किसी ने माया को पार कर लिया है, तो वही यह समझ सकता है कि परमात्मा भौतिक सृष्टि से परे हैं और शुद्ध अन्तरंगा शक्ति में स्थित हैं। भगवान् समस्त भौतिक कल्मष से परे हैं और एकमात्र उन्हीं की शरण में जाना चाहिए।

तात्पर्य : इस श्लोक का मन्तव्य मायावादियों के आत्मा और परमात्मा के एकाकार होने के निष्कर्ष का खण्डन करना है। मायावादी निष्कर्ष यह है कि आत्मा तथा परमात्मा एक हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है। मायावादियों का दावा है कि निर्गुण ब्रह्म से परे कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है और पृथकत्व की भावना ही माया है, जिस कारण मनुष्य रस्सी को सर्प समझ बैठता है। रस्सी तथा सर्प का दृष्टान्त आमतौर पर मायावादी दार्शनिक प्रस्तुत करते हैं। अत: *विवर्तवाद* के सूचक ये शब्द यहाँ पर विशेष रूप से आये हैं। वास्तव में परमात्मा ही भगवान् हैं और वह नित्य-मुक्त हैं। दूसरे शब्दों में, इस शरीर के भीतर आत्मा के साथ-साथ परमात्मा का भी निवास करता रहता है, जिसकी पुष्टि वेदों में भी की गई है। वे एक ही वृक्ष पर बैठे हुए दो मित्रों की भाँति हैं, तो भी परमात्मा माया से ऊपर है। माया को *बहिरंगा शक्ति* कहते हैं और जीवात्मा तटस्था शक्ति कहलाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है। भौतिक शक्ति, जिसका प्रतिनिधित्व पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश इत्यादि के रूप में होता है तथा आत्मशक्ति अर्थात् जीवात्मा दोनों ही परमेश्वर की शक्तियाँ हैं। यद्यपि शक्ति तथा शक्तिमान एकरूप हैं, किन्तु जीवात्मा अर्थात् जीव बहिरंगा शक्ति से प्रभावित होने की सम्भावना के कारण भगवान् को अपने से अभिन्न मानता है।

इस श्लोक का *प्रपद्ये* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह *भगवद्गीता* के (१८.६६) निष्कर्ष का सूचक है—*सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।* अन्यत्र भगवान् कहते हैं—*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते* (*भगवद्गीता* ७.१९)। यह *प्रपद्ये* या *शरणं व्रज* परमात्मा के प्रति प्राणी के समर्पण का सूचक है। जब जीव आत्मसमर्पण कर चुकता है, तो उसकी समझ में आता है कि यद्यपि भगवान् उसके हृदय में स्थित हैं, किन्तु वे उससे श्रेष्ठ हैं। भगवान् सदैव संसार से परे हैं, यद्यपि भगवान् तथा संसार एक ही लगते हैं। वैष्णव दर्शन के अनुसार वे एक होने के साथ-साथ भिन्न भी हैं। भौतिक

शक्ति उनकी बहिरंगा शक्ति का प्राकट्य है और चूँकि शक्ति शक्तिमान से अभिन्न है, अत: ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् तथा आत्मा (जीव) एक हैं, किन्तु वास्तव में जीव भौतिक शक्ति के वश में रहता है, जबकि भगवान् सदा उससे परे। जब तक भगवान् जीव से श्रेष्ठ न हो तब तक *प्रपद्ये* अर्थात् शरण जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। *प्रपद्ये* शब्द भक्ति की विधि का सूचक है। मात्र रस्सी तथा सर्प के भक्तिहीन चिन्तन से कोई परम सत्य तक नहीं पहुँच सकता। अत: परम सत्य को समझने के लिए विचार-विमर्श या कल्पना की अपेक्षा भक्ति पर बल दिया गया है।

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः ।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; पाद—चरण; पङ्कज—कमल; पलाश—पंखुड़ियाँ या अंगूठे; विलास—भोग; भक्त्या—भक्ति से; कर्म—सकाम कर्म; आशयम्—इच्छा; ग्रथितम्—कठोर ग्रंथि; उद्ग्रथयन्ति—समूल नष्ट कर देते हैं; सन्तः—भक्तजन; तत्—उसके; वत्—सदृश; न—कभी नहीं; रिक्त-मतयः—भक्ति से रहित मनुष्य; यतयः—अधिकाधिक प्रयत्न करके; अपि—यद्यपि; रुद्ध—बन्द; स्रोतः-गणाः—इन्द्रियसुख की लहरें; तम्—उसको; अरणम्—शरण ग्रहण करने योग्य; भज—भक्ति में लगो; वासुदेवम्—वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण की।

जो भक्तजन नित्य ही भगवान् के चरणकमलों के अँगुष्ठों की सेवा में रत रहते हैं, वे सकाम कर्म की जोर से बँधी गाँठ जैसी इच्छाओं को सरलता से लाँघ जाते हैं। चूँकि ऐसा कर पाना दु:साध्य है, अत: अभक्तजन—ज्ञानी तथा योगी—इन्द्रियतृप्ति की तरंगों को रोकने का प्रयास करके भी ऐसा नहीं कर पाते। अत: तुम्हें आदेश है कि तुम वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण की भक्ति में लग जाओ।

तात्पर्य : तीन प्रकार के अध्यात्मवादी—*ज्ञानी, कर्मी* तथा *भक्त*—प्रकृति के गुणों के प्रभाव पर काबू पाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। ये सभी इन्द्रियों के प्रभाव को, जो नदी की निरन्तर लहरों के समान हैं, जीतने का प्रयत्न करते हैं। नदी की लहरें अनवरत उठती रहती हैं, उन्हें रोक पाना दुष्कर होता है। इसी प्रकार भौतिक सुख की इच्छा की लहरें भी इतनी प्रबल होती हैं कि उन्हें भक्तियोग के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से नहीं रोका जा सकता। *भक्तजन* भगवान् के चरणकमलों के प्रति अपनी दिव्य भक्ति के कारण दिव्य आनन्द से इतने अभिभूत हो जाते हैं कि उनकी भौतिक सुख की इच्छाएँ

स्वयमेव रुक जाती हैं। ज्ञानी तथा योगी भगवान् के चरणकमलों में आसक्त न होने के कारण इच्छा की तरंगों से संघर्ष करते रहते हैं। उन्हें इस श्लोक में *रिक्तमतय:* कहा गया है, जिसका अर्थ है भक्ति से विहीन। दूसरे शब्दों में, यद्यपि ज्ञानी तथा योगी भौतिक कर्मों की इच्छाओं से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वस्तुत: वे इन्द्रियों के कार्यकलापों को रोकने के मिथ्या दार्शनिक चिन्तन या श्रमसाध्य प्रयत्नों में उलझते जाते हैं। जैसाकि पहले कहा जा चुका है (*भागवत* १.२.७)—

वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित:।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥

यहाँ भी उसी बात पर बल है। *भज वासुदेवम्* बताता है कि जो वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण की प्रेमाभक्ति में लगा रहता है, वह सरलता से इच्छा की तरंगों को रोक सकता है। जब तक इन तरंगों को कृत्रिम ढंग से रोकने का प्रयास होता रहेगा, उसे असफलता ही हाथ लगेगी। इस श्लोक में यही संकेत मिलता है। सकाम कर्म की इच्छाओं की जड़ें गहरी होती हैं, किन्तु इच्छा रूपी वृक्षों को भक्ति से पूर्ण रूप से उन्मूलित किया जा सकता है, क्योंकि भक्ति श्रेष्ठ इच्छा का प्रयोग करती है। श्रेष्ठ इच्छाओं में लगे रहने से निकृष्ट इच्छाओं को त्यागा जा सकता है, इच्छा को रोक पाना असम्भव है। निकृष्ट इच्छाओं में प्रवृत्त न हों, इसके लिए परमेश्वर की इच्छा करनी होती है। ज्ञानी लोग परमेश्वर से एकाकार होने की इच्छा बनाये रखते हैं, किन्तु ऐसी इच्छा को भी काम-वासना माना जाता है। इसी प्रकार से योगी योगशक्ति की कामना करते हैं, किन्तु वह भी काम-वासना है। किन्तु भक्त इच्छारहित होने के कारण पवित्र हो जाते हैं। उन्हें इच्छा रोकने के लिए किसी कृत्रिम उपाय की आवश्यकता नहीं पड़ती। भगवान् के चरणकमलों के अँगूठों के संरक्षण में इच्छाएँ आध्यात्मिक सुख की साधन बन जाती हैं। यहाँ कुमारों द्वारा यह बताया गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमल समस्त सुखों (आनन्द) के आगार हैं। अत: वृथा ही भौतिक सुख के लिए इच्छाओं को रोकने का विफल प्रयास करने के बजाय मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करे। जब तक वह भौतिक सुख के लिए इच्छाओं को रोकने में असमर्थ रहता है, तब तक इस संसार के बन्धन से मुक्त होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। यह तर्क किया जा सकता है कि नदी की तरंगें लगातार समुद्र की ओर बहती रहती हैं और उन्हें रोका नहीं जा सकता। जब ज्वार आता है, तो इससे नदी की धारा रुद्ध हो जाती है

और स्वयं नदी में बाढ़ आ जाती है। उस समय समुद्र की लहरें नदी की लहरों से अधिक मुखर हो उठती हैं। इसी प्रकार बुद्धिमान भक्त कृष्णचेतना में भगवान् की सेवा के हेतु कई तरह की योजनाएँ बनाता है, जिससे अचल भौतिक इच्छाएँ भगवान् की सेवा की इच्छाओं से आप्लावित हो जाती हैं। जैसाकि यामुनाचार्य ने पुष्टि की है कि जब से वे भगवान् के चरणकमलों की सेवा की ओर उन्मुख हुए, तब से नित्य ही भगवान् की सेवा करने की नवीन से नवीन इच्छाएँ उठती रहती हैं, जिसके फलस्वरूप विषयी जीवन की अचल इच्छा तुच्छ पड़ गई है। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि वे ऐसी इच्छाओं पर थूकते हैं। *भगवद्गीता* (२.५९) भी पुष्टि करती है—*परं दृष्ट्वा निवर्तते*—निष्कर्षत: भगवान् के चरणकमलों की सेवा के लिए प्रेमपूर्ण इच्छा विकसित करने से इन्द्रियतृप्ति की सारी इच्छाएँ दमित हो सकती हैं।

कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेशां
षड्वर्गनक्रमसुखेन तितीर्षन्ति ।
तत्त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रिं
कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तर दुस्तरार्णम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

कृच्छ्र:—कष्टकारक; महान्—अत्यधिक; इह—यहाँ (इस जीवन में); भव-अर्णवम्—संसार रूपी समुद्र; अप्लव-ईशाम्—अभक्तों का जिन्होंने भगवान् के चरणकमलों की शरण नहीं ग्रहण की; षट्-वर्ग—छहों इन्द्रियाँ; नक्रम्—मगर; असुखेन—अत्यन्त कठिनाई से; तितीर्षन्ति—पार करते हैं; तत्—अत:; त्वम्—तुम; हरे:—भगवान् के; भगवत:—परमेश्वर के; भजनीयम्—आराधनीय; अङ्घ्रिम्—चरणकमल को; कृत्वा—करके; उडुपम्—नाव; व्यसनम्—सभी प्रकार के संकट; उत्तर—पार करो; दुस्तर—अत्यन्त कठिन; अर्णम्—सागर को।.

अज्ञान के सागर को पार करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि उसमें अनेक भयानक मगरमच्छ भरे पड़े हैं। जो भक्त नहीं हैं, वे इस समुद्र को पार करने के लिए कठिन तपस्या करते हैं, किन्तु हम तुम्हारे लिए बता रहे हैं कि तुम एकमात्र भगवान् के चरणकमलों का आश्रय लो, वे समुद्र को पार करने के लिए नाव के समान हैं। यद्यपि सागर को लाँघना कठिन है, किन्तु भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करके तुम सभी संकटों को पार कर जाओगे।

तात्पर्य : यहाँ पर संसार की तुलना अज्ञान के विशाल सागर से की गई है। इस सागर का दूसरा नाम *वैतरणी* है। वैतरणी समुद्र कारणार्णव है, जिसमें असंख्य ब्रह्माण्ड गेंदों के समान तैर रहे हैं। इस सागर की दूसरी ओर (उस पार) वैकुण्ठ का दिव्य लोक है, जिसे *भगवद्गीता* (८.२०) में *परस्तस्मात्तु*

भावोऽन्यः कहा गया है। इस प्रकार इस भौतिक प्रकृति के परे एक निरन्तर विद्यमान रहने वाली आध्यात्मिक प्रकृति है। यद्यपि कारणार्णव में सारे भौतिक ब्रह्माण्ड बारम्बार विलीन होते रहते हैं, किन्तु वैकुण्ठलोक आध्यात्मिक होने के कारण कभी विनष्ट नहीं होते। वे नित्य विद्यमान रहते हैं। मनुष्य शरीर धारण करने से जीवात्मा को अज्ञान सागर, जो यही भौतिक ब्रह्माण्ड है, पार कर के परव्योम में प्रवेश होने का अवसर प्राप्त होता है। यद्यपि अनेक उपायों या नावों से समुद्र पार किया जा सकता है, किन्तु कुमारगण राजा को भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने की सलाह देते हैं जैसे मनुष्य किसी अच्छी नाव का सहारा लेना चाहेगा। अभक्त लोग जो भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं करते, अन्य उपायों (*कर्म, ज्ञान* तथा *योग*) से अज्ञान के सागर को पार करने का यत्न करते हैं, किन्तु उन्हें इसमें काफी कठिनाई उठानी पड़ती है। कभी-कभी तो वे इतनी कठिनाई में फँस जाते हैं कि समुद्र पार ही नहीं कर पाते। अभक्तों को इसकी गारंटी नहीं कि वे समुद्र को पार कर ही लें और यदि वे पार कर भी लेंगे तो उन्हें कठिन तपस्या करनी होती है। दूसरी ओर यदि कोई भक्ति करता है और यह श्रद्धा रखता है, तो भगवान् के चरणकमल ऐसी नाव हैं, जो उसे समुद्र के पार आसानी से और सुख पूर्वक उतार देंगे।

इसीलिए पृथु महाराज को समस्त संकटों को पार करने के लिए भगवान् के चरणारविन्द रूपी नाव को ग्रहण करने की सलाह दी गई है। ब्रह्माण्ड के घातक तत्त्वों की तुलना समुद्री मगरों से की गई है। कोई भले ही कितना कुशल तैराक क्यों न हो, किन्तु उस पर यदि मगरमच्छ आक्रमण कर दें तो वह बच नहीं पाता। कभी-कभी देखा जाता है कि अनेक तथाकथित स्वामी तथा योगी अपने आपको विज्ञापित करते हैं कि वे अज्ञान के सागर को पार कर सकते हैं और अन्यों को भी पार करने में सहायता कर सकते हैं, किन्तु वास्तव में वे अपनी ही इन्द्रियों के शिकार होते हैं। अपने अनुयायियों को अज्ञान रूपी समुद्र को पार कराना तो दूर रहा, ऐसे योगी तथा स्वामी स्त्री रूपी माया के शिकार हो जाते हैं और उस समुद्र के मगरों द्वारा निगल लिए जाते हैं।

मैत्रेय उवाच

स एवं ब्रह्मपुत्रेण कुमारेणात्ममेधसा ।
दर्शितात्मगतिः सम्यक्प्रशस्योवाच तं नृपः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; सः—राजा; एवम्—इस प्रकार; ब्रह्म-पुत्रेण—ब्रह्मा के पुत्र द्वारा; कुमारेण—कुमारों में से एक के द्वारा; आत्म-मेधसा—आत्मज्ञान में पारंगत; दर्शित—दिखाया जाकर; आत्म-गतिः—आध्यात्मिक प्रगति; सम्यक्—पूर्णतया; प्रशस्य—पूजा करके; उवाच—कहा; तम्—उससे; नृपः—राजा ने।.

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा : इस प्रकार ब्रह्मा के पुत्र कुमारों में से एक के द्वारा जो पूर्ण आत्मज्ञानी था, पूर्ण आत्मज्ञान प्राप्त करके राजा ने उनकी निम्नलिखित शब्दों से आराधना की।

तात्पर्य : इस श्लोक के *आत्म-मेधसा* शब्द की टीका श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने की है। वे कहते हैं आत्मनि का अर्थ है—''भगवान् श्रीकृष्ण में या परमात्मनि।'' भगवान् श्रीकृष्ण परमात्मा हैं। ईश्वरः परमः कृष्णः (*ब्रह्म-संहिता* १५.१)। अतः जिसका मन कृष्णचेतना में लगा हो वह *आत्म-मेधाः* है। इसका विलोम शब्द *गृहमेधी* है, जिससे ऐसे व्यक्ति का बोध होता है, जिसका मन सदैव भौतिक कार्यों के चिन्तन में उलझा रहता है। *आत्म-मेधाः* सदैव कृष्णचेतना में श्रीकृष्ण के कार्यकलापों का चिन्तन करता रहता है। चूँकि ब्रह्मा के पुत्र सनत्कुमार पूर्णतः श्रीकृष्ण के भक्त थे, अतः वे आत्मोन्नति का मार्ग बता सकते थे। *आत्मगतिः* शब्द कर्मों के उस पथ का सूचक है, जिससे मनुष्य श्रीकृष्ण को जान सकता है।

राजोवाच

कृतो मेऽनुग्रहः पूर्वं हरिणार्तानुकम्पिना ।
तमापादयितुं ब्रह्मन्भगवन्यूयमागताः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने कहा; कृतः—किया हुआ; मे—मेरे प्रति; अनुग्रहः—अहैतुकी कृपा; पूर्वम्—पहले; हरिणा—भगवान् विष्णु द्वारा; आर्त-अनुकम्पिना—दुखी पुरुषों पर दयालु; तम्—उस; आपादयितुम्—पुष्टि के लिए; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; भगवन्—हे शक्तिमान; यूयम्—तुम सब; आगताः—यहाँ आये हो।.

राजा ने कहा : हे ब्राह्मण, हे शक्तिमान, पहले भगवान् विष्णु ने मुझ पर अहैतुकी कृपा प्रदर्शित की थी और यह संकेत किया था कि आप मेरे घर पधारेंगे। आप लोग उसी आशीर्वाद की पुष्टि करने के लिए यहाँ पर आये हैं।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु उस समय यज्ञस्थल पर प्रकट हुए थे जब राजा पृथु महान् यज्ञ (अश्वमेध) कर रहे थे और तब उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि कुमारगण शीघ्र ही आएँगे और राजा को उपदेश देंगे। अतः महाराज पृथु को भगवान् की अहैतुकी कृपा का स्मरण था, इसलिए उन्होंने कुमारों के आगमन पर उनका स्वागत किया, क्योंकि वे भगवान् की भविष्यवाणी को पूरा कर रहे थे।

दूसरे शब्दों में, जब भगवान् कोई भविष्यवाणी करते हैं, तो वे उसे किसी भक्त के माध्यम से पूरा करते हैं। इसी प्रकार श्री चैतन्य महाप्रभु ने भविष्यवाणी की थी कि भगवान् के महिमामय नाम का तथा हरे कृष्ण महामंत्र का विश्व के समस्त नगरों तथा गाँवों में प्रसार होगा। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर तथा श्रीलभक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपाद ने इस महान् भविष्यवाणी को पूरा करने की इच्छा व्यक्त की और हम उन्हीं के पदचिह्नों का अनुगमन कर रहे हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने भक्तों के विषय में अर्जुन से कहा (*भगवद्गीता* ९.३१)—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*—"हे कुन्तीपुत्र। तुम घोषणा करके बता दो कि मेरा भक्त कभी विनष्ट नहीं होगा।" भगवान् चाहते तो यह घोषणा स्वयं कर सकते थे, किन्तु उनकी इच्छा थी कि अर्जुन यह घोषणा करे और इस प्रकार आश्वस्त होना चाहते थे कि उनका वचन खण्डित न हो। भगवान् स्वयं वचन देते हैं और उनके विश्वासपात्र भक्त उस वचन को पूरा करते हैं। भगवान् विपत्तिग्रस्त मानवता के लाभ हेतु अनेक वचन देते रहते हैं। यद्यपि भगवान् विपत्तिग्रस्त मानव पर दयालु रहते हैं, किन्तु मनुष्य सामान्यतः उनकी सेवा करने के आतुर नहीं रहते। यह सम्बन्ध पिता तथा पुत्र जैसा है। पिता अपने पुत्र के कल्याण की सदैव कामना करता है, भले ही पुत्र पिता की उपेक्षा करे या उसे भूल जाए। *अनुकम्पिना* शब्द महत्त्वपूर्ण है। ईश्वर जीवात्माओं पर इतने दयालु होते हैं कि वे पतितात्माओं के लाभ हेतु स्वयं इस संसार में अवतरित होते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

"जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का उत्कर्ष होता है, उस समय, हे अर्जुन! मैं अवतरित होता हूँ" (*भगवद्गीता* ४.७)।

अतः भगवान् केवल दयावश अपने विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं। श्रीकृष्ण पतित आत्माओं पर दया करने के लिए ही इस लोक में प्रकट हुए; भगवान् बुद्ध असुरों द्वारा मारे जाने वाले निरीह पशुओं के प्रति दयाभाव से प्रकट हुए; भगवान् नृसिंह देव प्रह्लाद महाराज पर दया करने के लिए प्रकट हुए। निष्कर्ष यह कि भगवान् इस संसार में पतितात्माओं पर इतने दयालु रहते हैं कि या तो वे स्वयं प्रकट होते हैं या अपने भक्तों तथा दासों को अपनी इच्छा पूरी करने के लिए भेजते हैं जिससे सारे पतित जीव

भगवान् के धाम वापस चले जाँए। इसी प्रकार श्रीकृष्ण ने सारे मानव समाज के लाभ के लिए अर्जुन को *भगवद्गीता* का उपदेश दिया। अत: बुद्धिमान लोगों को इस कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के विषय में भी गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए और उनके शुद्ध भक्तों द्वारा यथारूप प्रचारित *भगवद्गीता* के उपदेशों का लाभ उठाना चाहिए।

निष्पादितश्च कार्त्स्न्येन भगवद्भिर्घृणालुभिः ।
साधूच्छिष्टं हि मे सर्वमात्मना सह किं ददे ॥ ४३॥

शब्दार्थ

निष्पादितः च—तथा आज्ञा का समुचित पालन हो गया; कार्त्स्न्येन—पूर्णतः; भगवद्भिः—भगवान् के प्रतिनिधियों द्वारा; घृणालुभिः—अत्यन्त दयालु द्वारा; साधु-उच्छिष्टम्—साधु पुरुषों का जूठन; हि—निश्चय ही; मे—मेरा; सर्वम्—हर चीज; आत्मना—हृदय तथा आत्मा; सह—साथ; किम्—क्या; ददे—दूँ।

हे ब्राह्मण, आपने तो भगवान् के आदेश का सम्यक् पालन किया है, क्योंकि आप उन्हीं के समान उदार भी हैं। अत: यह मेरा कर्तव्य है कि आपको कुछ अर्पित करूँ, किन्तु मेरे पास जो कुछ भी है, वह साधु पुरुषों के भोजन में से बचा-खुचा प्रसाद ही है। मैं आपको क्या दूँ?

तात्पर्य : इस श्लोक में *साधूच्छिष्टम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। पृथु महाराज को अपना राज्य भृगु तथा अन्य साधु पुरुषों से वैसे ही प्राप्त हुआ था जैसे किसी को उच्छिष्ट (जूठन या प्रसाद) प्राप्त हो। राजा वेन की मृत्यु के बाद सारा विश्व लोकप्रिय शासक से वंचित हो चुका था। अनेक आपत्तियाँ घिरने लगी थीं, अत: भृगु आदि ऋषियों ने राजा वेन के मृत शरीर से राजा पृथु के शरीर को उत्पन्न किया। चूँकि राजा पृथु को ऋषियों की कृपा से राज्य प्राप्त हुआ था, अत: वे अपने राज्य को कुमारों जैसे ऋषियों में वितरित करना नहीं चाह रहे थे। जब पिता भोजन करता रहता है, तो वह दयावश पुत्र को भी जूठन दे सकता है, किन्तु यह जूठन पुन: पिता को नहीं दिया जा सकता, भले ही यह उसी के द्वारा चर्वित हो चुका हो। पृथु महाराज की स्थिति कुछ ऐसी ही थी। उनके पास जो भी था वह उच्छिष्ट (जूठन) रूप में था, अत: उसे वे कुमारों को नहीं दे सकते थे। किन्तु अप्रत्यक्ष रूप में उन्होंने कुमारों को अपना सब कुछ दे डाला, फलत: उन्होंने उसे जिस रूप में चाहा उपभोग किया। यह अगले श्लोक से स्पष्ट होगा।

प्राणा दाराः सुता ब्रह्मन्गृहाश्च सपरिच्छदाः ।
राज्यं बलं मही कोश इति सर्वं निवेदितम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

प्राणाः—प्राण, जीवन; दाराः—स्त्री; सुताः—सन्तानें; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; गृहाः—घर; च—भी; स—सहित; परिच्छदाः—समस्त सामग्री; राज्यम्—राज्य; बलम्—शक्ति, सेना; मही—धरती; कोशः—खजाना; इति—इस प्रकार; सर्वम्—सब कुछ; निवेदितम्—अर्पित।

राजा ने आगे कहा : अतः हे ब्राह्मणो, मेरा प्राण, पत्नी, बच्चे, घर, घर का साज-सामान, मेरा राज्य, सेना, पृथ्वी तथा विशेष रूप से मेरा राजकोष—ये सब आपको अर्पित हैं।

तात्पर्य : *दारा:* के स्थान पर कहीं-कहीं *राय:* पाठ मिलता है, जिसका अर्थ होता है "सम्पत्ति।" भारत में अब भी ऐसे धनी व्यक्ति हैं, जो राज्य द्वारा राय के रूप में सम्मानित हैं। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु का एक महान् भक्त रामानन्द राय कहलाता था, क्योंकि यह मद्रास का राज्यपाल था और अत्यन्त धनी था। अब भी अनेक राय उपाधिधारी हैं—राय बहादुर, राय चौधरी इत्यादि। *दारा:* अर्थात् पत्नी को ब्राह्मणों को दिये जाने की अनुमति नहीं है। दान के पात्र को सब कुछ प्रदान किया जाता है, किन्तु कहीं भी यह नहीं पाया जाता कि पत्नी दान में दी जाये; अतः यहाँ पर *दारा:* के स्थान पर *राय:* पाठ अधिक उपयुक्त है। यही नहीं, चूँकि पृथु महाराज ने कुमारों को सर्वस्व अर्पित कर दिया, अतः *कोश:* (खजाना) का पृथक् उल्लेख नहीं होना चाहिए था। राजे तथा महाराजे अपना निजी कोश रखते थे जिसे *रत्न-भाण्ड* कहा जाता था। *रत्न-भाण्ड* विशेष प्रकार का कोश-कक्ष होता था जिसमें विशेष प्रकार के हीरे-जवाहरात तथा चूड़ियाँ, हार इत्यादि रखे जाते थे और ये नागरिकों द्वारा राजा को भेंटस्वरूप प्राप्त होते थे। ये हीरे-जवाहरात नियमित कोश से पृथक् रखे जाते थे जिसमें भूमि-कर आदि संचित होता था। इस प्रकार पृथु महाराज ने कुमारों के चरणकमलों में अपना निजी कोष (हीरे-जवाहरात) अर्पित कर दिया। यह पहले ही स्वीकार किया जा चुका है कि राजा पृथु की सारी सम्पत्ति ब्राह्मणों की थी। वह तो राज्य के कल्याण के लिए उसका उपयोग कर रहा था। यदि यह सम्पत्ति वास्तव में ब्राह्मणों की थी तो वह किस प्रकार पुनः उन्हें प्रदान की जा सकती है? इस सम्बन्ध में *श्रीपाद श्रीधर स्वामी* ने व्याख्या की है कि यह भेंट तो वैसी है जैसे दास द्वारा अपने स्वामी को दिया गया भोजन। भोजन पहले से स्वामी का होता है, क्योंकि वह उसके द्वारा खरीदा हुआ होता है, किन्तु सेवक भोजन बनाकर स्वामी के खाने योग्य बनाता है और उसे प्रदान करता है। इस तरह पृथु महाराज के पास जो कुछ था, उसे उन्होंने कुमारों को अर्पित कर दिया।

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्व लोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सैना-पत्यम्—सेनापति का पद; च—तथा; राज्यम्—शासक का पद; च—तथा; दण्ड—अनुशासन; नेतृत्वम्—नेतृत्व; एव—निश्चय ही; च—तथा; सर्व—समस्त; लोक-अधिपत्यम्—लोकों का स्वामित्व; च—तथा; वेद-शास्त्र-वित्—वैदिक साहित्य का ज्ञाता; अर्हति—पात्र होता है।

चूँकि केवल ऐसा व्यक्ति, जो वैदिक ज्ञान के अनुसार पूर्ण रूप से शिक्षित हो, सेनापति, राज्य का शासक, दण्डदाता तथा सारे लोक का स्वामी होने का पात्र होता है, अतः पृथु महाराज ने कुमारों को सर्वस्व अर्पित कर दिया।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि केवल साधु पुरुषों तथा कुमारों-जैसे ब्राह्मणों के आदेशों पर राज्य का शासन चलाया जाना चाहिए। जब संसार भर में राजतंत्र का बोलबाला था, तो राजा को साधु-पुरुष तथा ब्राह्मणों की परिषद् ही निर्देश देती थी। राज्य का शासक अर्थात् राजा ब्राह्मणों के दास के रूप में अपना कार्य करता था। ऐसा नहीं था कि ब्राह्मण या राजागण तानाशाह थे, न ही वे अपने को राज्य का स्वामी समझते थे। राजा भी वैदिक साहित्य में पारंगत होते थे और इस तरह वे *ईशोपनिषद्* के इस आदेश से परिचित होते थे—*ईशावास्यमिदं सर्वम्*—जो कुछ भी विद्यमान है, वह भगवान् का है। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण भी कहते हैं कि वे सभी लोकों के स्वामी हैं (*सर्व-लोकमहेश्वरम्*)। ऐसा होने से कोई भी अपने को राज्य का स्वामी नहीं कह सकता। राज्य के राजा, राष्ट्रपति या अध्यक्ष को यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि वह स्वामी नहीं, अपितु दास है।

वर्तमान युग के राजा या राष्ट्रपति यह भूल जाते हैं कि वे ईश्वर के दास हैं। वे अपने को जनता का दास समझते हैं। वर्तमान प्रजातंत्र सरकार अपने को जनता की सरकार घोषित करती है—ऐसी सरकार जो जनता द्वारा जनता के लिए बनी है, किन्तु वेदों में इस प्रकार की सरकार की स्वीकृति नहीं दी गई है। वेदों का मत है कि राज्य का संचालन भगवान् को प्रसन्न करने के लिए होना चाहिए, अतः इसे भगवान् के प्रतिनिधि द्वारा शासित होना चाहिए। यदि राज्य का अध्यक्ष वैदिक ज्ञान से विहीन हो तो उसे शासक नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए। इस श्लोक में स्पष्ट उल्लेख है कि सभी उच्च सरकारी पद ऐसे व्यक्तियों के लिए हैं, जो वेदों की शिक्षाओं से ज्ञात हों (*वेदशास्त्रविद् अर्हति*)। वेदों में निश्चित आदेश है कि राजा, सेनापति, सैनिक तथा नागरिक किस प्रकार आचरण करें। दुर्भाग्यवश इस युग में अनेक ऐसे तथाकथित दार्शनिक हैं, जो किसी प्रमाण का उद्धरण दिये बिना आदेश देते हैं और अनेक

नेता उनके अवैधानिक आदेश का पालन करते हैं। फलत: लोग प्रसन्न नहीं हैं।

कार्ल मार्क्स द्वारा प्रस्तुत द्वंद्वात्मक साम्यवाद का आधुनिक सिद्धान्त, जिसका अनुसरण साम्यवादी सरकारें कर रही हैं, पूर्ण नहीं है। वैदिक साम्यवाद के अनुसार राज्य के किसी भी व्यक्ति को भूखों नहीं मरना चाहिए। इस समय ऐसी अनेक भ्रष्ट संस्थाएँ हैं, जो भूखे लोगों को भोजन प्रदान करने के उद्देश्य से जनता से धन एकत्र कर रही हैं, किन्तु वे इस धन का निश्चित रूप से दुरुपयोग ही करती हैं। वैदिक आदेशों के अनुसार सरकार को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि भुखमरी का प्रश्न ही न उठे। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि गृहस्थ को चाहिए कि वह छिपकली या सर्प तक को भूखों न मरने दे, उन्हें भी भोजन दिया जाये। वास्तव में भुखमरी का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि प्रत्येक वस्तु भगवान् की है और वे ऐसी व्यवस्था करते हैं कि हर एक को भोजन मिले। वेदों में (*कठोपनिषद्* २.२.१३) में कहा गया है—*एको बहूनां यो विदधाति कामान्।* परमेश्वर हर एक को जीवन की आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करता है, अत: भुखमरी का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि कोई भूखों मरता है, तो तथाकथित शासक, अधीक्षक या राष्ट्रपति की दुर्व्यवस्था के कारण ऐसा होता है।

अत: यह स्पष्ट है, जो व्यक्ति वैदिक आदेशों में पारंगत (*वेदशास्त्रवित्*) न हो वह राष्ट्रपति, अधीक्षक आदि का चुनाव न लड़े। पहले के राजा राजर्षि होते थे, जिसका अर्थ होता है कि यद्यपि वे राजा की तरह से कार्य करते थे, किन्तु वे साधु पुरुष होते थे, क्योंकि वे वेदों की आज्ञाओं का उल्लंघन नहीं करते थे और साधु पुरुषों तथा ब्राह्मणों के आदेशों के अनुसार राज्य करते थे। इस व्यवस्था के अनुसार आज के सारे राष्ट्रपति, अधीक्षक तथा मुख्य कार्यकारी अपने-अपने पदों के लिए अयोग्य हैं, क्योंकि उन्हें वैदिक प्राशासनिक ज्ञान नहीं है और वे बड़े-बड़े साधुओं तथा ब्राह्मणों से निर्देश नहीं प्राप्त करते। वेदों तथा ब्राह्मणों के आदेशों की अवज्ञा के कारण ही पृथु महाराज के पिता राजा वेन को ब्राह्मणों ने मार डाला था। अत: पृथु महाराज भली-भाँति जानते थे कि उन्हें साधु पुरुषों तथा ब्राह्मणों के सेवक के रूप में इस लोक का शासन करना शोभा देता है।

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।
तस्यैवानुग्रहेणान्नं भुञ्जते क्षत्रियादयः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

स्वम्—अपना; एव—ही; ब्राह्मणः—ब्राह्मण; भुङ्क्ते —भोगता है; स्वम्—अपना; वस्ते—पहनता है; स्वम्—अपना; ददाति—दान देता है; च—तथा; तस्य—उसकी; एव—ही; अनुग्रहेण—कृपा से; अन्नम्—अन्न; भुञ्जते—खाता है; क्षत्रिय-आदयः—क्षत्रिय आदि समाज के अन्य वर्ण।

क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र केवल ब्राह्मणों की कृपा से अपना भोजन प्राप्त करते हैं। केवल ब्राह्मण ही ऐसे हैं, जो अपनी ही सम्पत्ति का भोग करते हैं, अपने कपड़े पहनते हैं और अपना ही धन दान में देते हैं।

तात्पर्य : भगवान् की पूजा *नमो ब्रह्मण्य देवाय* शब्दों से की जाती है, जिससे सूचित होता है कि परमेश्वर ब्राह्मणों को पूज्य देव मानते हैं। परमेश्वर सबों द्वारा पूज्य हैं, किन्तु अन्यों को शिक्षा देने के लिए वे ब्राह्मणों की पूजा करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को ब्राह्मणों के आदेशों का पालन करना चाहिए, क्योंकि उनका एकमात्र कार्य *शब्द-ब्रह्म* अर्थात् वैदिक ज्ञान को सारे संसार में प्रसारित करना है। जब भी वैदिक ज्ञान के प्रसार हेतु ब्राह्मणों का अभाव होता है, तो मानव समाज में अव्यवस्था फैल जाती है। चूँकि ब्राह्मण तथा वैष्णव भगवान् के प्रत्यक्ष सेवक (दास) होते हैं, अत: वे अन्यों पर आश्रित नहीं रहते। वास्तव में संसार की सारी वस्तुएँ ब्राह्मणों की हैं, किन्तु वे विनयवश क्षत्रियों या राजाओं तथा वैश्यों या व्यापारियों से दान ग्रहण करते हैं। प्रत्येक वस्तु ब्राह्मणों की है, किन्तु क्षत्रिय सरकार तथा व्यापारी वर्ग को चाहिए कि प्रत्येक वस्तु को बैंकरों की भाँति अपनी अमानत में रखें और जब भी ब्राह्मणों को धन की आवश्यकता पड़े तो क्षत्रिय तथा वैश्य तुरन्त उसकी पूर्ति करें। यह बचतखाते की भाँति है, जिसका जमाकर्ता इच्छानुसार अपना धन निकाल सकता है। भगवान् की सेवा में रत रहने के कारण ब्राह्मणों के पास इतना समय नहीं कि संसार-भर की अर्थ-व्यवस्था को सँभालें, अत: सारी पूँजी क्षत्रियों या राजाओं द्वारा रखी जाती है, जो ब्राह्मणों के माँगने पर उस पूँजी को प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में ब्राह्मण या वैष्णव पराये खर्चे पर जीवनयापन नहीं करते; वे अपना खर्च करते हैं, यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि वे धन को अन्यों से एकत्र कर रहे हैं। क्षत्रियों तथा वैश्यों को दान देने का अधिकार नहीं है, क्योंकि उनके पास जो कुछ भी रहता है, वह ब्राह्मणों का होता है। अत: केवल ब्राह्मणों के आदेश पर ही क्षत्रिय तथा वैश्य दान दे सकते हैं। दुर्भाग्यवश इस समय ब्राह्मणों का अभाव है और चूँकि तथाकथित क्षत्रिय तथा वैश्य ब्राह्मणों के आदेशों का पालन नहीं करते फलस्वरूप संसार में अराजकता फैली हुई है।

इस श्लोक की दूसरी पंक्ति संकेत करती है कि क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ब्राह्मणों की कृपा से ही

भोजन पाते हैं। दूसरे शब्दों में, उन्हें ब्राह्मणों द्वारा वर्जित कोई भी चीज नहीं खानी चाहिए। ब्राह्मण तथा वैष्णव जानते हैं कि क्या खाना चाहिए और वे कोई ऐसी वस्तु नहीं खाते जो पहले भगवान् को अर्पित न की जा चुकी हो। वे केवल प्रसाद अर्थात् भगवान् को अर्पित भोजन का जूठन खाते हैं। क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों को केवल कृष्ण-प्रसाद खाना चाहिए जो उन्हें ब्राह्मणों की कृपा से प्रदान किया जाता है। वे कसाईघर खोलकर मांस, मछली या अंडा नहीं खा सकते, न शराब पी सकते हैं और न बिना अनुमति के इस कार्य के लिए धन अर्जित कर सकते हैं। चूँकि वर्तमान युग में समाज का संचालन ब्राह्मणों के आदेशों से नहीं होता, अतः सारी जनता पापकर्मों में डूबी है। फलस्वरूप सबों को प्रकृति दंडित कर रही है। कलियुग की दशा ऐसी ही है।

यैरीदृशी भगवतो गतिरात्मवाद
एकान्ततो निगमिभिः प्रतिपादिता नः ।
तुष्यन्त्वदभ्रकरुणाः स्वकृतेन नित्यं
को नाम तत्प्रतिकरोति विनोदपात्रम् ॥ ४७॥

शब्दार्थ

यैः—उनके द्वारा; ईदृशी—इस प्रकार की; भगवतः—भगवान् की; गतिः—गति; आत्म-वादे—आध्यात्मिक विचार; एकान्ततः—पूर्ण जानकारी में; निगमिभिः—वैदिक साक्ष्यों से; प्रतिपादिता—निश्चित रूप से स्थापित; नः—हमको; तुष्यन्तु—तुष्ट हों; अदभ्र—अनन्त; करुणाः—कृपा; स्व-कृतेन—अपने कार्य से; नित्यम्—शाश्वत; कः—कौन; नाम—कोई नहीं; तत्—वह; प्रतिकरोति—प्रतिकार या बदला ले सकता है; विना—रहित; उद-पात्रम्—अंजली में पानी देना।

पृथु महाराज ने आगे कहा : जिन व्यक्तियों ने भगवान् के सम्बन्ध में आत्म-साक्षात्कार के पथ को बता कर अपार सेवा की हो और जिनकी व्याख्याएँ पूर्ण विश्वास एवं वैदिक साक्ष्य द्वारा हमारे उत्थान के लिए की जाती हों, भला उनसे उऋण होने के लिए अंजुली-भर जल के अतिरिक्त और क्या अर्पित किया जा सकता है? ऐसे महापुरुषों को उनके ही कार्यों के द्वारा सन्तुष्ट किया जा सकता है, जो उनकी अपार कृपावश मानव समाज के बीच में संवितरित हुए हैं।

तात्पर्य : संसार के महापुरुष मानव समाज के कल्याण हेतु सेवा करने के लिए उत्सुक रहते हैं, किन्तु वह व्यक्ति सबसे बड़ी सेवा करता है, जो भगवान् के सम्बन्ध में आत्म-साक्षात्कार सम्बन्धी ज्ञान का वितरण करता है। समस्त जीवात्माएँ माया के चंगुल में हैं, किन्तु वे अपनी वास्तविक पहचान को भूल कर शान्तिपूर्ण जीवन बिताने के लिए एक शरीर से दूसरे में देहान्तरण करते हुए संसार में भटकती

रहती हैं। किन्तु इन जीवात्माओं को आत्म-साक्षात्कार का रंचमात्र ज्ञान न होने से मानसिक शान्ति तथा स्थायी सुख की इच्छा रखते हुए भी चैन नहीं मिलता। कुमारगण, नारद, प्रह्लाद, जनक, शुकदेव गोस्वामी, कपिल देव जैसे साधु पुरुष तथा वैष्णव आचार्यों के अनुयायी एवं दास भी भगवान् एवं जीवात्मा सम्बन्धी ज्ञान का प्रसार करके मानवता की बहुमूल्य सेवा कर सकते हैं। ऐसा ज्ञान मानवता के लिए वरदान है।

श्रीकृष्ण का ज्ञान ऐसा ही एक महान् उपहार है, कि लाभ-दाता को जिसका बदला चुका पाना असम्भव है। इसीलिए पृथु महाराज ने कुमारों से प्रार्थना की कि वे जीवों को माया के चंगुल से उबारने के अपने उपकारी कार्यों से ही तुष्ट हों। राजा ने देखा कि उनके महान् कार्यों के लिए उन्हें सन्तुष्ट करने का कोई अन्य साधन नहीं है। *विनोद-पात्रम्* शब्द को दो शब्दों में विभाजित किया जा सकता है—*विना* तथा *उद-पात्रम्* या फिर इसे एक ही शब्द मानने पर इसका अर्थ होगा 'हँसाने वाला', 'मसखरा'। मसखरे का कार्य केवल हँसाना है और जो व्यक्ति गुरु या कृष्ण के दिव्य सन्देश के शिक्षक से उऋण होने का प्रयास करता है, वह मसखरे की तरह उपहास का पात्र बन जाता है, क्योंकि ऐसे ऋण को चुका पाना असम्भव है। सबों का श्रेष्ठ मित्र तथा उपकारी वह है, जो मनुष्यों में मूल कृष्णचेतना जागरित कर सके।

मैत्रेय उवाच
त आत्मयोगपतय आदिराजेन पूजिताः ।
शीलं तदीयं शंसन्तः खेऽभवन्मिषतां नृणाम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—महर्षि मैत्रेय ने कहा; ते—वे; आत्म-योग-पतयः—भक्ति द्वारा आत्म-साक्षात्कार के स्वामी; आदि-राजेन—मूल राजा (पृथु) द्वारा; पूजिताः—पूजित; शीलम्—आचरण; तदीयम्—राजा का; शंसन्तः—प्रशंसति होकर; खे—आकाश में; अभवन्—प्रकट हुआ; मिषताम्—देखते हुए; नृणाम्—मनुष्यों के।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : महाराज पृथु द्वारा इस प्रकार पूजित होकर भक्ति में प्रवीण ये चारों कुमार अत्यन्त गद्गद हुए। दरअसल वे आकाश में दिखाई पड़े और उन्होंने राजा के शील की प्रशंसा की और सभी लोगों ने उनके दर्शन किये।

तात्पर्य : कहा जाता है कि देवता कभी भूतल का स्पर्श नहीं करते। वे केवल आकाश में ही चलते-फिरते और यात्रा करते हैं। महर्षि नारद की भाँति ही कुमारों को भी आकाश में यात्रा करने के

लिए किसी यान (यंत्र) की आवश्यकता नहीं पड़ती। सिद्धलोक के वासी भी बिना यान के अन्तरिक्ष में विचरण कर सकते हैं। चूँकि वे एक लोक से दूसरे लोक को जा सकते हैं, इसलिए वे *सिद्ध* कहलाते हैं—अर्थात् उन्होंने सभी योग शक्तियाँ प्राप्त की हैं। ऐसे योगसिद्ध पुरुष इस युग में पृथ्वी पर नहीं मिलते, क्योंकि मानवता इसकी पात्र नहीं है। फिर भी कुमारों ने महाराज पृथु के गुणों की तथा उनकी भक्तिमयता एवं विनयशीलता की प्रशंसा की। वे राजा पृथु की पूजा-विधि से अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। महाराज पृथु की अनुकम्पा से ही उनकी प्रजा कुमारों को आकाश मार्ग में उड़ते देख सकी।

वैन्यस्तु धुर्यो महतां संस्थित्याध्यात्मशिक्षया ।
आप्तकाममिवात्मानं मेन आत्मन्यवस्थितः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

वैन्यः—वेन महाराज के पुत्र (पृथु); तु—निस्सन्देह; धुर्यः—प्रमुख; महताम्—महापुरुषों के; संस्थित्या—पूर्णतया स्थिर होकर; आध्यात्म-शिक्षया—आत्म-साक्षात्कार के विषय में; आप्त—लब्ध; कामम्—इच्छाएँ; इव—सदृश; आत्मानम्—आत्मतोष में; मेने—विचार किया; आत्मनि—अपने में; अवस्थितः—स्थित।

महाराज पृथु अपने तत्त्वज्ञान में पूर्ण रूप से स्थित होने के कारण महापुरुषों में प्रमुख थे। वे आध्यात्मिक ज्ञान में सफलता प्राप्त व्यक्ति की भाँति परम संतुष्ट थे।

तात्पर्य : भक्ति में स्थिर रहने से मनुष्य को अत्यन्त आत्मतोष होता है। वास्तव में आत्मतोष तो शुद्ध भक्त ही प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि भगवान् की सेवा करने के अतिरिक्त उन्हें कोई अन्य इच्छा नहीं होती। चूँकि भगवान् को किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करनी होती, अतः वे अपने आप में पूर्णतः तुष्ट रहते हैं। इसी प्रकार से जिस भक्त को भगवान् की सेवा करने के अतिरिक्त कोई अन्य इच्छा नहीं रहती वह परमेश्वर के ही समान आत्मतुष्ट रहता है। प्रत्येक व्यक्ति मन:शान्ति तथा आत्मतोष के पीछे दौड़ता है, किन्तु ये गुण भगवान् के शुद्ध भक्त होने पर ही प्राप्त हो सकते हैं।

पिछले श्लोकों में राजा पृथु के अपने अथाह ज्ञान तथा पूर्ण भक्ति के विषय में जो कुछ कहा है उसकी यहाँ पुष्टि हो जाती है, क्योंकि वे महात्माओं में सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं। *भगवद्गीता* (९.१३) में श्रीकृष्ण ने महात्माओं के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

''हे पृथापुत्र! जो महापुरुष भुलावे में नहीं आते, वे दैवी प्रकृति के संरक्षण में रहते हैं। वे भक्ति में

पूर्ण रूप से रत रहते हैं, क्योंकि वे मुझे आदि तथा अव्यय भगवान् के रूप में जानते हैं।''

महात्मा माया के फंदे में नहीं पड़ते, वरन् वे आध्यात्मिक शक्ति के संरक्षण में रहते हैं। इसीलिए वास्तविक महात्मा सदैव भगवान् की भक्ति में रत रहता है। पृथु महाराज में महात्मा के सभी लक्षण प्रकट थे, इसीलिए उन्हें इस श्लोक में *धुर्यो महताम्* अर्थात् महात्माओं में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

कर्माणि च यथाकालं यथादेशं यथाबलम् ।
यथोचितं यथावित्तमकरोद्ब्रह्मसात्कृतम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

कर्माणि—कार्य-कलाप; च—भी; यथा-कालम्—समय तथा परिस्थिति के अनुकूल; यथा-देशम्—स्थान तथा स्थिति के उपयुक्त; यथा-बलम्—अपनी शक्ति के अनुरूप; यथा-उचितम्—जहाँ तक सम्भव हो, यथासम्भव; यथा-वित्तम्—इस सम्बन्ध में जो जितना धन व्यय कर सके; अकरोत्—सम्पन्न किया; ब्रह्म-सात्—परम सत्य में; कृतम्—किया।

आत्मतुष्ट होने के कारण महाराज पृथु समय, स्थान, शक्ति तथा आर्थिक स्थिति के अनुसार जितनी पूर्णता से सम्भव हो सकता था अपने कर्तव्यों को पूरा करते थे। इन सारे कार्यों के द्वारा उनका एकमात्र उद्देश्य परम सत्य को प्रसन्न करना था। इस प्रकार उन्होंने अपने कर्मों का भली-भाँति निर्वाह किया।

तात्पर्य : महाराज पृथु एक उत्तरदायी राजा थे और उन्हें एक क्षत्रिय, एक राजा तथा एक भक्त के कार्य एक ही साथ करने होते थे। भगवद्भक्ति में कुशल होने के कारण वे अपने कार्यों को समय, शक्ति निजी धन क्षमता के अनुसार अच्छी तरह से पूरा कर सकते थे। इस दृष्टि से इस श्लोक में *कर्माणि* शब्द महत्त्वपूर्ण है। पृथु महाराज के कार्य सामान्य नहीं होते थे, क्योंकि उनका सम्बन्ध भगवान् से होता था। श्रील रूप गोस्वामी का उपदेश है कि जो वस्तुएँ भक्ति के अनुकूल हों उनका बहिष्कार नहीं करना चाहिए और न ही भक्ति के अनुकूल कार्यों को साधारण कर्म अथवा सकाम कर्म समझना चाहिए। उदाहरणार्थ, एक सामान्य कर्मी अपनी इन्द्रियतृप्ति के हेतु से अपना व्यवसाय चलाता है। भक्त उसी काम को उसी तरह से कर सकता है, किन्तु उसका उद्देश्य परमेश्वर को प्रसन्न करना रहता है। फलत: उसके कार्य साधारण नहीं होते।

अतएव पृथु महाराज के कार्यकलाप साधारण नहीं थे, अपितु वे आध्यात्मिक एवं दिव्य थे, क्योंकि उनका लक्ष्य भगवान् को प्रसन्न करना था। जिस प्रकार योद्धा अर्जुन को श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने के लिए युद्ध करना पड़ा, उसी तरह पृथु महाराज को श्रीकृष्ण की संतुष्टि के लिए राजा के कार्य करने

पड़े। निस्सन्देह, उन्होंने सारे संसार के लिए राजा के रूप में जो कुछ किया वह भक्त के सर्वथा अनुरूप था। इसीलिए एक वैष्णव कवि ने कहा है—*वैष्णवेर क्रियामुद्रा विज्ञे ना बुझाय*—शुद्ध भक्त के कार्यों को कोई नहीं समझ सकता। शुद्ध भक्त के कार्य सामान्य कार्यों की तरह लग सकते हैं, किन्तु उनके पीछे अत्यधिक महत्ता—भगवान् की संतुष्टि—व्याप्त रहती है। एक वैष्णव के कार्य-कलापों को समझने के लिए मनुष्य को अत्यन्त पटु होना पड़ता है। महाराज पृथु ने कभी भी चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों की सीमा के बाहर कोई कार्य नहीं किया, यद्यपि वैष्णव के रूप में वे सारे संसार का शासन करते रहे और उसी के साथ भगवान् को प्रसन्न करके इन सारे कार्यों से ऊपर भी बने रहे। अपने आपको शुद्ध भक्त के रूप में प्रकट न करते हुए बाह्य रूप से वे अत्यन्त शक्तिशाली तथा कर्तव्यनिष्ठ राजा बने रहे। दूसरे शब्दों में, उनका कोई भी कार्य अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं होता था, वे जो कुछ भी करते थे वह भगवान् की इन्द्रियों की तुष्टि के लिए होता था। इसकी स्पष्ट व्याख्या अगले श्लोक में की गई है।

फलं ब्रह्मणि सन्न्यस्य निर्विषङ्गः समाहितः ।
कर्माध्यक्षं च मन्वान आत्मानं प्रकृतेः परम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

फलम्—परिणाम, फल; ब्रह्मणि—परम सत्य में; सन्न्यस्य—त्याग कर, अर्पित करके; निर्विषङ्गः—दूषित हुए बिना; समाहितः—पूर्णतया समर्पित; कर्म—कर्म; अध्यक्षम्—अधीक्षक; च—तथा; मन्वानः—सदैव चिन्तन करते हुए; आत्मानम्—परमात्मा के विषय में; प्रकृतेः—भौतिक प्रकृति का; परम्—अतीत, परे।

महाराज पृथु ने अपने आपको प्रकृति से परे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के शाश्वत दास के रूप में समर्पित कर दिया था। फलस्वरूप उनके कर्मों के सारे फल भगवान् को समर्पित थे। वे अपने आपको सदैव सर्वेश्वर भगवान् के दास के रूप में समझते रहे।

तात्पर्य : भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति में महाराज पृथु का जीवन कर्मयोग का सुन्दर उदाहरण है। कर्मयोग शब्द का प्रयोग प्रायः *भगवद्गीता* में हुआ है और यहाँ पर महाराज पृथु इसका प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि वास्तव में कर्मयोग क्या है। कर्मयोग के समुचित पालन की पहली आवश्यकता यहाँ पर दी गई है। *फलं ब्रह्मणि संन्यस्य* (अथवा *विन्यस्य*)—मनुष्य को अपने कर्मों का फल परब्रह्म कृष्ण पर छोड़ देना चाहिए। ऐसा करने से मनुष्य वास्तव में संन्यास आश्रम में स्थित हो जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.२) में कहा गया है, अपने कर्मों के फल को भगवान् को अर्पित

कर देना ही संन्यास है।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

"बुद्धिमान जन समस्त कर्मफलों के छोड़ने को त्याग कहते हैं और उस अवस्था को बड़े-बड़े विद्वान् संन्यास कहते हैं।" यद्यपि पृथु महाराज गृहस्थ जीवन बिता रहे थे, किन्तु वास्तव में वे संन्यास आश्रम में थे। अगले श्लोकों से यह स्पष्ट हो जायेगा।

निर्विषंगः (अदूषित) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि महाराज पृथु अपने कर्मों के फलों के प्रति आसक्त न थे। इस संसार में प्रत्येक मनुष्य जो कुछ संचित करता है या जिसके लिए कार्य करता है उसका स्वामी बनने की सदैव सोचता रहता है। जब कोई अपने कर्मों के फल को भगवान् की सेवा में लगा देता है, तो वास्तव में वह कर्मयोग का अभ्यास करता होता है। प्रत्येक व्यक्ति कर्मयोग का अभ्यास कर सकता है, किन्तु गृहस्थों के लिए यह विशेष रूप से सुगम है, क्योंकि वे भगवान् के श्रीविग्रह को घर में स्थापित करके भक्तियोग की विधियों से उसकी पूजा कर सकते हैं। इस विधि के नौ अंग होते हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवा, श्रीविग्रह की पूजा, प्रार्थना, आज्ञा-पालन, सखा रूप में कृष्ण की सेवा तथा उन्हें ही सर्वस्व अर्पण।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(भागवत ७.५.२३)

कर्मयोग तथा भक्तियोग की इन विधियों को सारे संसार में प्रसारित करने का कार्य अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ कर रहा है। इन विधियों को कोई भी इसे संघ के सदस्यों के उदाहरणों का अनुसरण करने से सीख सकता है।

घर में अथवा मन्दिर में श्रीविग्रह को प्रत्येक वस्तु का स्वामी और प्रत्येक व्यक्ति को श्रीविग्रह का दास माना जाता है। भगवान् दिव्य हैं, क्योंकि वे इस सृष्टि के अंग नहीं हैं। इस श्लोक में *प्रकृतेः परम्* शब्दों का इसीलिए प्रयोग हुआ है, क्योंकि इस संसार में प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति भगवान् की बहिरंगा शक्ति से हुई है, किन्तु भगवान् स्वयं इस शक्ति से उत्पन्न नहीं हैं। भगवान् सारी सृष्टि के परम अधीक्षक

हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (९.१०) में पुष्टि की गई है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

"हे कुन्तीपुत्र! यह प्रकृति मेरे निर्देशन में कार्य करती है और समस्त चराचर जीवों को उत्पन्न करती है और इसीके आदेश से इस जगत का बारम्बार सृजन एवं संहार होता है।"

पदार्थ की आश्चर्यजनक अन्योन्यक्रिया से जितने भी भौतिक परिवर्तन होते हैं तथा भौतिक प्रगति होती है, वह भगवान् कृष्ण की अध्यक्षता में होती है। संसार में जितनी घटनाएँ घटती हैं, वे अंधाधुंध नहीं घटतीं। यदि कोई श्रीकृष्ण का दास बना रहता है और उनकी सेवा में सब कुछ लगा देता है, तो वह भौतिक संसार में अपने जीवन-काल में ही जीवन्मुक्त मान लिया जाता है। सामान्य रूप से शरीर त्यागने के बाद मुक्ति प्राप्त होती है, किन्तु यदि कोई पृथु महाराज की भाँति रहता है, तो इसी जीवन में वह मुक्त हो जाता है। कृष्णचेतना (भक्ति) में मनुष्य के कर्मों के फल भगवदिच्छा पर निर्भर करते हैं। निस्सन्देह फल सर्वत्र ही व्यक्तिगत पटुता पर निर्भर नहीं करता, अपितु पूर्णरूपेण भगवदिच्छा पर निर्भर करता है। *फलं ब्रह्मणि संन्यस्य* का वास्तविक माहात्म्य यही है। जो जीव भगवान् की सेवा में अनुरक्त हो उसे अपने आपको कभी भी स्वामी या अधीक्षक नहीं मानना चाहिए। समर्पित भक्त को भक्तियोग के वर्णित विधि-विधानों के अनुसार अपना कार्य करते रहना चाहिए। उसके कार्यों के फल पूर्ण रूप से भगवदिच्छा पर आश्रित रहते हैं।

गृहेषु वर्तमानोऽपि स साम्राज्यश्रियान्वितः ।
नासज्जतेन्द्रियार्थेषु निरहम्मतिरर्कवत् ॥५२॥

शब्दार्थ

गृहेषु—घर में; वर्तमानः—उपस्थित; अपि—यद्यपि; सः—राजा पृथु; साम्राज्य—पूरा राज्य; श्रिया—ऐश्वर्य; अन्वितः—लीन; न—कभी नहीं; असज्जत—आकर्षित हुआ; इन्द्रिय-अर्थेषु—इन्द्रियतृप्ति हेतु; निः—न तो; अहम्—मैं हूँ; मतिः—विचार; अर्क—सूर्य; वत्—सदृश।

महाराज पृथु, जो अपने सारे साम्राज्य की सम्पत्ति के कारण अत्यन्त ऐश्वर्यवान् थे, घर में एक गृहस्थ की भाँति रहते थे। चूँकि वे अपने ऐश्वर्य का उपयोग अपनी इन्द्रियतृप्ति के हेतु कभी नहीं करना चाहते थे, अतः वे विरक्त बने रहे, जिस प्रकार कि सूर्य सभी परिस्थितियों में अप्रभावित रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में गृहेषु शब्द महत्त्वपूर्ण है। चारों आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास में से केवल गृहस्थ को ही स्त्री-प्रसंग की अनुमति है, अत: गृहस्थाश्रम में एक प्रकार से भक्त के लिए इन्द्रियतृप्ति की छूट है। तो भी पृथु महाराज विशिष्ट थे, क्योंकि गृहस्थ बने रहने की छूट होने और साम्राज्य का विपुल ऐश्वर्य रहने पर भी वे कभी इन्द्रियतृप्ति में प्रवृत्त नहीं हुए। यह विशेष लक्षण था, जो उनके भगवान् के विशुद्ध भक्त होने का सूचक था। शुद्ध भक्त कभी भी इन्द्रियतृप्ति के प्रति आकृष्ट नहीं होता, फलस्वरूप वह मुक्त रहता है। भौतिक जीवन में मनुष्य अपनी संतुष्टि के लिए इन्द्रितृप्ति में प्रवृत्त होता है, किन्तु भक्ति या मुक्त जीवन में उसका लक्ष्य भगवान् की इन्द्रियों को तुष्ट करना होता है।

इस श्लोक में महाराज पृथु की उपमा सूर्य से दी गई है (अर्कवत्)। कभी-कभी सूर्य मूत्र, मल तथा अन्य दूषित वस्तुओं पर चमकता है, किन्तु सर्वशक्तिमान होने के कारण वह इन दूषित वस्तुओं के सम्पर्क में आकर भी प्रभावित नहीं होता। उल्टे सूर्य-प्रकाश दूषित तथा गंदी जगहों को विशुद्ध और कीटाणु-रहित करता है। इसी प्रकार भले भी भक्त नाना प्रकार के भौतिक कार्यकलापों में प्रवृत्त हो, किन्तु इन्द्रियतृप्ति की इच्छा न होने से वह उनसे कभी प्रभावित नहीं होता। विपरित इसके वह समस्त भौतिक कार्यकलापों को भगवान् की सेवा की ओर मोड़ देता है। चूँकि शुद्ध भक्त जानता है कि किस प्रकार हर वस्तु को भगवान् की सेवा में लगाया जाये, अत: वह भौतिक कार्यकलापों से सदा अप्रभावित रहता है। उन्हें वह अपनी दिव्य योजनाओं से ऐसे कार्यकलापों को पवित्र बना देता है। इसका वर्णन *भक्तिरसामृत-सिन्धु* में हुआ है। सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्—उसका लक्ष्य भौतिक उपाधियों से प्रभावित हुए बिना भगवान् की सेवा में पूर्ण रूप से पवित्र हो जाना है।

एवमध्यात्मयोगेन कर्माण्यनुसमाचरन् ।
पुत्रानुत्पादयामास पञ्चार्चिष्यात्मसम्मतान् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; अध्यात्म-योगेन—भक्तियोग के द्वारा; कर्माणि—कर्म; अनु—सदैव; समाचरन्—करते हुए; पुत्रान्—पुत्रों को; उत्पादयाम् आस—उत्पन्न किया; पञ्च—पाँच; अर्चिषि—अपनी पत्नी अर्चि से; आत्म—निजी; सम्मतान्—इच्छा के अनुसार।

भक्ति की मुक्त अवस्था में स्थित होकर पृथु महाराज ने न केवल समस्त सकाम कर्मों को सम्पन्न किया, अपितु अपनी पत्नी अर्चि से पाँच पुत्र भी उत्पन्न किये। निस्सन्देह, उनके सारे पुत्र

उनकी निजी इच्छानुसार उत्पन्न हुए थे।

तात्पर्य : गृहस्थ के रूप में पृथु महाराज को अपनी पत्नी अर्चि से पाँच पुत्र प्राप्त हुए और ये पाँचों पुत्र उनकी इच्छानुसार उत्पन्न हुए थे। वे किसी सनक या संयोग से नहीं उत्पन्न हुए थे। अपनी इच्छानुसार किस प्रकार सन्तान उत्पन्न की जाये, इस युग (कलियुग) में एक प्रकार से अज्ञात है। इसका रहस्य पति-पत्नी द्वारा शुद्धि-विधियों का, जिन्हें संस्कार कहते हैं, अपनाया जाना है। इन संस्कारों में से पहला संस्कार गर्भाधान *संस्कार* है, जो विशेष रूप से उच्च वर्णों—ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों—के लिए अनिवार्य है। जैसाकि भगवद्गीता में कहा गया है कि जो स्त्री-प्रसंग धर्म के विपरीत नहीं रहता वह स्वयं श्रीकृष्ण है। धार्मिक नियमों के अनुसार जब कोई सन्तान उत्पन्न करना चाहे तो उसे संभोग के पूर्व *गर्भाधान-संस्कार* सम्पन्न करना चाहिए। संभोग के पूर्व माता-पिता की जैसी मानसिकता होती है उसका प्रभाव निश्चित रूप से उत्पन्न होने वाली सन्तान की मानसिकता पर पड़ेगा। हो सकता है कामवश उत्पन्न की गई सन्तान माता-पिता की आशा के अनुरूप न निकले। शास्त्रों का कथन है—यथा योनिर्यथा बीजम्। यथा योनि: से माता का संकेत है और यथा बीजम् से पिता का। यदि संभोग के पूर्व माता-पिता की मानसिक दशा सुस्थिर है, तो उनसे जो सन्तान उत्पन्न होगी वह अवश्य ही उनकी मानसिक दशा को प्रतिबिम्बित करेगी। अत: *आत्मसम्मतान्* शब्दों से लक्षित होता है कि सन्तान उत्पन्न करने के पूर्व पृथु महाराज तथा अर्चि ने गर्भाधान-संस्कार सम्पन्न किया होगा, फलत: उनके सारे पुत्र उनकी इच्छाओं तथा विशुद्ध मानसिक दशाओं वाले उत्पन्न हुए। पृथु महाराज ने काम के वशी भूत होकर पुत्रों को जन्म नहीं दिया। न ही वे इन्द्रियतृप्ति हेतु अपनी पत्नी के प्रति आकृष्ट हुए थे। उन्होंने गृहस्थ के रूप में सारे विश्व में भविष्य में अपना शासन चलाने के लिए पुत्र उत्पन्न किये।

विजिताश्वं धूम्रकेशं हर्यक्षं द्रविणं वृकम् ।
सर्वेषां लोकपालानां दधारैक: पृथुर्गुणान् ॥५४॥

शब्दार्थ

विजिताश्वम्—विजिताश्व नामक; धूम्रकेशम्—धूम्रकेश नामक; हर्यक्षम्—हर्यक्ष नामक; द्रविणम्—द्रविण नामक; वृकम्—वृक नामक; सर्वेषाम्—सभी; लोक-पालानाम्—लोकों के लोकपालों का; दधार—स्वीकार किया; एक:—एक; पृथु:—पृथु महाराज; गुणान्—समस्त गुणों को।.

विजिताश्व, धूम्रकेश, हर्यक्ष, द्रविण तथा वृक नामक पाँच पुत्र उत्पन्न करने के बाद भी पृथु महाराज इस लोक पर राज्य करते रहे। उन्होंने अन्य समस्त लोकों पर शासन करने वाले देवों के

समस्त गुणों को आत्मसात् किया।

तात्पर्य : प्रत्येक लोक का एक प्रधान देव होता है। भगवद्गीता से पता चलता है कि सूर्य का प्रधान देव विवस्वान है। इसी प्रकार चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहों के भी प्रधान देव हैं। वास्तव में अन्य समस्त लोकों के प्रधान देव सूर्य तथा चन्द्रमा के प्रधान देवों की सन्तानें हैं। इस पृथ्वी लोक में दो क्षत्रिय वंश हैं: एक सूर्य के प्रधान देव से उत्पन्न है और दूसरा चन्द्रमा के प्रधान देव से। ये वंश क्रमश: सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश कहलाते हैं। जब इस लोक पर राजतंत्र था, तो इसका मुख्य सदस्य सूर्यवंशी था और अधीन राजा चन्द्रवंश के थे। किन्तु महाराज पृथु इतने शक्तिमान थे कि वे अन्य लोकों के प्रधान देवों के समस्त गुणों से ओतप्रोत थे।

आधुनिक युग में लोगों ने पृथ्वी से चन्द्रमा तक जाने का प्रयास किया है, किन्तु वे वहाँ किसी को भी नहीं पा सके, चन्द्रमा के प्रधान देव से मिलने की बात तो दूर रही। किन्तु वैदिक साहित्य बारम्बार कहता है कि चन्द्रमा अत्यन्त बुद्धिमान निवासियों से पूर्ण है जिनकी गणना देवताओं में की जाती है; अत: हमें हमेशा सन्देह होता रहता है कि पृथ्वी के आधुनिक विज्ञानियों ने किस प्रकार की चन्द्र-यात्रा की है!

गोपीथाय जगत्सृष्टे: काले स्वे स्वेऽच्युतात्मक: ।
मनोवाग्वृत्तिभि: सौम्यैर्गुणै: संरञ्जयन्प्रजा: ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

गोपीथाय—सुरक्षा के लिए; जगत्-सृष्टे:—परम स्रष्टा का; काले—यथा-समय; स्वे स्वे—अपने-अपने; अच्युत-आत्मक:—कृष्णभक्त होने से; मन:—मन; वाक्—शब्द; वृत्तिभि:—व्यवसाय से; सौम्यै:—अत्यन्त सौम्य, भद्र; गुणै:—गुण से; संरञ्जयन्—प्रसन्न रखते हुए; प्रजा:—नागरिक जन।

चूँकि महाराज पृथु भगवान् के पूर्ण भक्त थे, अत: वे सारे नागरिकों को उनकी अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार प्रसन्न रखते हुए भगवान् की सृष्टि की रक्षा करना चाहते थे। अत: पृथु महाराज उन्हें अपनी वाणी, मन, कर्म तथा सौम्य आचरण से सभी प्रकार प्रसन्न रखते थे।

तात्पर्य : जैसाकि अगले श्लोक में बताया जाएगा, पृथु महाराज दूसरों के मन की बातों को समझ सकने की अलौकिक शक्ति के कारण सभी प्रकार के नागरिकों को प्रसन्न रखते थे। निस्सन्देह, वे इतने व्यवहार कुशल थे कि प्रत्येक नागरिक सन्तोष और पूर्ण शान्ति का अनुभव करता था। इस श्लोक में अच्युतात्मक: शब्द महत्पवूर्ण हैं, क्योंकि महाराज पृथु इस लोक में भगवान् के प्रतिनिधि के रूप में

शासन करते थे। उन्हें पता था कि वे भगवान् के प्रतिनिधि हैं और भगवान् की सृष्टि की रक्षा ठीक से होनी चाहिए। सृष्टि के पीछे क्या उद्देश्य है, इसे नास्तिक नहीं समझ सकते। यद्यपि आत्म जगत की तुलना में यह भौतिक जगत हेय है, तो भी इसके पीछे कुछ न कुछ प्रयोजन है। आधुनिक विज्ञानी तथा दार्शनिक इस प्रयोजन को नहीं समझ सकते, न ही वे स्रष्टा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। वे प्रत्येक बात को वैज्ञानिक अनुसन्धान द्वारा स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वे किसी भी वस्तु को परम स्रष्टा में केन्द्रित नहीं करते। कोई भक्त ही सृष्टि के प्रयोजन को समझ सकता है। यह प्रयोजन है उन व्यष्टि जीवात्माओं को सुविधाएँ प्रदान करना जो भौतिक प्रकृति पर अधिकार जताना चाहती हैं। अत: इस लोक के शासक को यह जानना चाहिए कि सभी निवासी, विशेष रूप से मनुष्य, इस भौतिक जगत में इन्द्रिय-सुख भोगने के लिए आये हैं। अत: शासक का कर्तव्य है कि वह उनके इन्द्रियभोग को तुष्ट करे और साथ ही उन्हें कृष्णचेतना तक उठा दे जिससे वे अन्त में भगवान् के धाम वापस जा सकें।

राजा या शासनाध्यक्ष को इस विचार को ध्यान में रखते हुए संसार में राज्य करना चाहिए। इससे हर व्यक्ति संतुष्ट रहेगा। किन्तु यह कैसे किया जाये? महाराज पृथु के समान अनेक उदाहरण हैं और इस लोक में उनके शासन का इतिहास श्रीमद्भागवत में विस्तार से वर्णित है। इस पतित युग में भी यदि शासक, अधीक्षक तथा राष्ट्रपति पृथु महाराज के उदाहरण से लाभ उठाएँ तो सारे संसार में निश्चय ही शान्ति तथा सम्पन्नता का साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

राजेत्यधान्नामधेयं सोमराज इवापर: ।
सूर्यवद्विसृजन्गृह्णन्प्रतपंश्च भुवो वसु ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

राजा—राजा; इति—इस प्रकार; अधात्—ले लिया; नामधेयम्—नामधारी; सोम-राज:—चन्द्रलोक का राजा; इव—सदृश; अपर:—दूसरी ओर; सूर्य-वत्—सूर्यदेव के समान; विसृजन्—वितरित करते हुए; गृह्णन्—खींचते हुए; प्रतपन्—कठोर अनुशासन से; च—भी; भुव:—संसार का; वसु—कर या लगान।

महाराज पृथु चन्द्र के राजा सोमराज के समान विख्यात हो गये। वे सूर्यदेव के समान शक्तिशाली तथा कर-संग्रहणकर्ता भी थे। सूर्य ताप तथा प्रकाश बाँटता है, किन्तु साथ ही समस्त लोकों के जल को खींच लेता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में महाराज पृथु की तुलना सूर्य तथा चन्द्रमा के राजाओं से की गई है। चन्द्रमा तथा सूर्य के राजा ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जिस तरह भगवान् ब्रह्माण्ड को शासित होना

देखना चाहते हैं। सूर्य ताप तथा प्रकाश वितरित करता है और साथ ही सभी लोकों के जल को खींचता रहता है। चन्द्रमा रात्रि में अत्यन्त सुहावना लगता है और दिन में सूर्य के ताप में किए कार्य से थका व्यक्ति चन्द्रमा के प्रकाश में आनन्द उठा सकता है। सूर्यदेव के समान पृथु महाराज ने अपने राज्य को सुख प्रदान करने के लिए अपना ताप तथा प्रकाश वितरित किया, क्योंकि बिना ताप तथा प्रकाश के कोई जीवित नहीं रह सकता। इसी तरह पृथु महाराज एक ओर जनता पर कर लगाते और नागरिकों तथा सरकार को इतने कड़े आदेश देते कि कोई भी उनकी अवज्ञा करने का साहस न करता। दूसरी ओर वे चाँदनी के समान सबों को प्रसन्न रखते। चन्द्रमा तथा सूर्य दोनों का ही कुछ न कुछ प्रभाव होता है, जिससे ब्रह्माण्ड में व्यवस्था बनी रहती है। आधुनिक विज्ञानियों तथा दार्शनिकों को ब्रह्माण्ड-पालन की भगवान् की पक्की व्यवस्था से परिचित हो लेना चाहिए।

दुर्धर्षस्तेजसेवाग्निर्महेन्द्र इव दुर्जयः ।
तितिक्षया धरित्रीव द्यौरिवाभीष्टदो नृणाम् ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

दुर्धर्षः—अजेय; तेजसा—तेज से; इव—सदृश; अग्निः—अग्नि; महा-इन्द्रः—स्वर्ग के राजा; इव—के समान; दुर्जयः—अजेय; तितिक्षया—सहिष्णुता द्वारा; धरित्री—पृथ्वी; इव—के सदृश; द्यौः—स्वर्ग लोक के; इव—के सदृश; अभीष्ट-दः—इच्छाओं को पूरा करने वाले; नृणाम्—मानव समाज का।

महाराज पृथु इतने प्रबल तथा शक्तिमान थे कि उनके आदेशों का उल्लंघन करना मानो अग्नि को जीतना था। वे इतने बलशाली थे कि उनकी उपमा स्वर्ग के राजा इन्द्र से दी जाती थी जिसकी शक्ति अजेय है। दूसरी ओर महाराज पृथु पृथ्वी के समान सहिष्णु भी थे और मानव समाज की विभिन्न इच्छाएँ पूरी करने में वे स्वयं स्वर्ग के समान थे।

तात्पर्य : राजा का कर्तव्य है कि प्रजा की रक्षा करे और उसकी इच्छाओं को पूरा करे। साथ ही प्रजा को चाहिए कि वह राज्य के नियमों का पालन करे। महाराज पृथु ने अच्छी सरकार के समस्त मानदण्ड बनाए रखे। वे इतने दुर्धर्ष थे कि उनके आदेशों का उल्लंघन वही कर सकता था, जो अग्नि से ताप तथा प्रकाश निकलना बन्द करा सके। वे इतने बलशाली थे कि उनकी तुलना स्वर्ग के राजा इन्द्र से की जाती थी। इस युग में आधुनिक विज्ञानी नाभिकीय हथियारों के विषय में प्रयोग कर रहे हैं, किन्तु पहले के युग में ब्रह्मास्त्र छोड़े जाते थे। तो भी ये ब्रह्मास्त्र तथा नाभिकीय हथियार इन्द्र के वज्र की तुलना में नगण्य हैं। जब इन्द्र अपना वज्र छोड़ता है, तो बड़े से बड़ा पर्वत विदीर्ण हो जाता है।

दूसरी ओर महाराज पृथु पृथ्वी के समान सहिष्णु थे और वे अपनी प्रजा की सारी इच्छाओं की पूर्ति उसी तरह करते थे जैसे आकाश से जल की मूसलधार वर्षा गिरती है। बिना वर्षा के इस लोक पर विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति असम्भव है। जैसाकि *भगवद्‌गीता* (३.१४) में *कहा गया है*—पर्जन्याद् अन्न सम्भवः—अन्न तभी उत्पन्न होता है जब आकाश से वर्षा होती है। बिना अन्न के पृथ्वी पर कोई सन्तुष्ट नहीं हो सकता। फलतः कृपा के अपार वितरण की तुलना बादलों से होने वाली जल-वर्षा से की गई है। महाराज पृथु वर्षा जल के ही समान निरन्तर अपनी कृपा का वितरण करते थे। दूसरे शब्दों में, महाराज पृथु गुलाब के फूल से भी कोमल और वज्र से भी कठोर थे। इस प्रकार वे अपने साम्राज्य पर शासन करते थे।

वर्षति स्म यथाकामं पर्जन्य इव तर्पयन् ।
समुद्र इव दुर्बोधः सत्त्वेनाचलराडिव ॥५८॥

शब्दार्थ

वर्षति—बरसते; स्म—थे; यथा-कामम्—इच्छानुसार; पर्जन्यः—जल; इव—के सदृश; तर्पयन्—प्रसन्न करते हुए; समुद्रः—समुद्र; इव—के सदृश; दुर्बोधः—न समझ में आने वाला; सत्त्वेन—सत्तात्मक स्थिति से; अचल—पर्वत; राट् इव—राजा के समान।

जिस प्रकार वर्षा से हर एक की इच्छाएँ पूरी होती हैं उसी तरह महाराज पृथु सबों को तुष्ट रखते थे। वे समुद्र के समान थे, क्योंकि कोई उनकी गहराई (गम्भीरता) को नहीं समझ सकता था और उद्देश्य की दृढ़ता में वे पर्वतराज मेरु के समान थे।

तात्पर्य : दुखी मनुष्यों पर महाराज पृथु की दया अत्यधिक ताप के बाद जलवर्षा के समान होती थी। समुद्र इतना विस्तृत होता है कि इसकी लम्बाई तथा चौड़ाई नापना अत्यन्त कठिन होता है। इसी प्रकार पृथु महाराज इतने धीर तथा गंभीर थे कि कोई उनके प्रयोजनों की थाह नहीं पा सकता था। मेरु नामक पर्वत ब्रह्माण्ड की धुरी के समान स्थित है और कोई इसे एक इंच भी नहीं हिला सकता। उसी प्रकार महाराज पृथु के निश्चय कर लेने के बाद कोई उन्हें उस निश्चय से डिगा नहीं सकता था।

धर्मराडिव शिक्षायामाश्चर्ये हिमवानिव ।
कुवेर इव कोशाढ्यो गुप्तार्थो वरुणो यथा ॥५९॥

शब्दार्थ

धर्म-राट् इव—यमराज (मृत्यु के अधीक्षक) के समान; शिक्षायाम्—शिक्षा में; आश्चर्ये—ऐश्वर्य में; हिमवान् इव—हिमालय पर्वत के समान; कुवेरः—स्वर्गलोक के कोशपति; इव—सदृश; कोश-आढ्यः—सम्पत्ति के स्वामी होने के मामले में; गुप्त-अर्थः—छिपाना; वरुणः—वरुण नामक देवता; यथा—जिस प्रकार।

महाराज पृथु की बुद्धि तथा शिक्षा मृत्यु के अधीक्षक यमराज के बिलकुल समान थी। उनका ऐश्वर्य हिमालय पर्वत से तुलनीय था, जहाँ सभी बहुमूल्य हीरे, जवाहरात तथा धातुएँ संचित हैं। उनके पास स्वर्ग के कोषाध्यक्ष कुवेर के समान विपुल सम्पत्ति थी। वरुण देवता के ही समान उनके रहस्यों का किसी को पता न था।

तात्पर्य : यमराज या धर्मराज को मृत्यु के अधीक्षक के रूप में ऐसी-ऐसी पापी जीवात्माओं का निपटारा करना पड़ता है जिन्होंने जीवन भर पापकर्म किये हैं। फलस्वरूप यमराज को न्याय के मामले में पटु माना जाता है। पृथु महाराज भी अत्यधिक विद्वान् तथा नागरिकों का न्याय करने में अत्यन्त निष्पक्ष थे। उनके ऐश्वर्य की तुलना में हिमालय पर्वत के खनिज तथा रत्न ही ठहर सकते थे। अत: उनकी तुलना स्वर्ग के कोषाध्यक्ष कुवेर से की जाती है। उनके जीवन-रहस्यों का कोई भी पता नहीं लगा सकता था जिस प्रकार जल, रात्रि तथा पश्चिमी आकाश के अधिपति देव वरुण के रहस्यों का कोई पता नहीं लगा सकता। वरुण सर्वज्ञाता हैं और पापों के लिए दण्ड देने वाले हैं, अत: क्षमा के लिए उनसे प्रार्थना की जाती है। वह रोगों को भेजने वाले तथा कभी-कभी मित्र एवं इन्द्र के संगी भी बताये जाते हैं।

मातरिश्वेव सर्वात्मा बलेन महसौजसा ।
अविषह्यतया देवो भगवान्भूतराडिव ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

मातरिश्वा—वायु; इव—सदृश; सर्व-आत्मा—सर्वव्यापी; बलेन—शारीरिक बल से; महसा ओजसा—धैर्य तथा शक्ति से; अविषह्यतया—असहिष्णुता से; देवः—देवता; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; भूत-राट् इव—रुद्र या सदाशिव की तरह।

महाराज पृथु अपनी शारीरिक बल तथा ऐन्द्रिय शक्ति में वायु के समान बलशाली थे, जो कहीं भी तथा सर्वत्र आ जा सकता है। अपनी असह्यता में वे शिवजी या सदाशिव के अंश सर्वशक्तिमान रुद्र के समान थे।

कन्दर्प इव सौन्दर्ये मनस्वी मृगराडिव ।
वात्सल्ये मनुवन्नृणां प्रभुत्वे भगवानजः ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

कन्दर्पः—कामदेव; इव—सदृश; सौन्दर्ये—सुन्दरता में; मनस्वी—विचारशीलता में; मृग-राट् इव—पशुओं के राजा सिंह के समान; वात्सल्ये—स्नेह में; मनु-वत्—स्वायम्भुव मनु के समान; नृणाम्—मानव समाज का; प्रभुत्वे—आधिपत्य, शासन करने के मामले में; भगवान्—स्वामी; अजः—ब्रह्मा।

वे शारीरिक सुन्दरता में कामदेव के समान तथा विचारशीलता में सिंह के समान थे। वात्सल्य में वे स्वायंभुव मनु के समान थे और अपनी नियंत्रण-क्षमता में ब्रह्माजी के समान थे।

बृहस्पतिर्ब्रह्मवादे आत्मवत्त्वे स्वयं हरिः
भक्त्या गोगुरुविप्रेषु विष्वक्सेनानुवर्तिषु ।
ह्रिया प्रश्रयशीलाभ्यामात्मतुल्यः परोद्यमे ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

बृहस्पतिः—स्वर्गलोक के पुरोहित; ब्रह्म-वादे—आध्यात्मिक ज्ञान में; आत्म-वत्त्वे—आत्म-नियंत्रण के मामले में; स्वयम्—साक्षात्; हरिः—श्रीभगवान्; भक्त्या—भक्ति में; गो—गाय; गुरु—गुरु; विप्रेषु—ब्राह्मणों में; विष्वक्सेन—भगवान्; अनुवर्तिषु—अनुयायी; ह्रिया—लज्जा से; प्रश्रय-शीलाभ्याम्—अत्यन्त भद्र आचरण से; आत्म-तुल्यः—अपने ही समान आप; पर-उद्यमे—परोपकारी कार्यों में।

पृथु महाराज के निजी आचरण में समस्त उत्तम गुण प्रकट होते थे। अपने आत्म-ज्ञान में वे ठीक बृहस्पति के समान थे। आत्म-नियंत्रण (इन्द्रियजय) में वे साक्षात् भगवान् के समान थे। जहाँ तक भक्ति का प्रश्न था, वे भक्तों के परम अनुयायी थे। जो गो-रक्षा के प्रति आसक्त और गुरु तथा ब्राह्मणों की सारी सेवा करते थे। वे परम सलज्ज थे और उनका आचरण अत्यन्त भद्र था। जब वे किसी परोपकार में लग जाते तो इस प्रकार कार्य करते थे मानो अपने लिए ही कार्य कर रहे हों।

तात्पर्य : भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने सार्वभौम भट्टाचार्य से बात करने के बाद उन्हें बृहस्पति का अवतार कह कर सम्मानित किया था। बृहस्पति स्वर्गलोक के प्रमुख पुरोहित हैं और ब्रह्मवाद या मायावाद दर्शन के अनुयायी हैं। बृहस्पति महान् तर्क-शास्त्री भी हैं। इस कथन से प्रतीत होता है कि यद्यपि महाराज पृथु भगवान् की प्रेमाभक्ति में रहने वाले महान् भक्त थे, किन्तु वे अपने वैदिक शास्त्रों के गम्भीर ज्ञान के बल पर सभी प्रकार के निर्विशेषवादियों तथा मायावादियों को परास्त कर सकते थे। हमें महाराज पृथु से सीखना चाहिए कि एक वैष्णव या भक्त को न केवल भगवद्भक्ति में स्थिर रहना चाहिए, वरन् आवश्यकता पड़ने पर निर्विशेषवादियों से तर्क करने तथा उन्हें इस मतपर कि परम सत्य निर्विशेष है, परास्त करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

भगवान् आदर्श आत्मजयी या ब्रह्मचारी हैं। जब महाराज युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण को अपने द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले राजसूय यज्ञ का अध्यक्ष चुना तो भीष्म पितामह ने श्रीकृष्ण को सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मचारी कहकर प्रशंसा की थी। चूँकि भीष्म पितामह स्वयं ब्रह्मचारी थे, अत: वे *व्यभिचारी* तथा *ब्रह्मचारी* में अन्तर बताने के लिए सर्वथा उपयुक्त थे। यद्यपि पृथु महाराज गृहस्थ और पाँच पुत्रों के पिता थे, फिर भी वे परम आत्मसंयमी माने जाते थे। जो व्यक्ति मानवता के लाभ हेतु कृष्णभक्त-पुत्र उत्पन्न करता है, वही वास्तविक ब्रह्मचारी है। जो कुत्ते-बिल्लियों की तरह सन्तान उत्पन्न करते हैं, वे उपयुक्त पिता नहीं हैं। ब्रह्मचारी शब्द ब्रह्म पद से कार्य करने या भक्ति करने वाले के लिए भी आता है। निर्गुण ब्रह्म विचार में कोई गतिशीलता नहीं होती, किन्तु जब भगवान् के सम्बन्ध में कोई कार्य करता है, तो वह ब्रह्मचारी कहलाता है। इस प्रकार पृथु महाराज एकसाथ आदर्श ब्रह्मचारी तथा गृहस्थ थे। *विष्वक्सेनानुवर्तिषु उन भक्तों का सूचक है, जो भगवान् की सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं। अन्य भक्तों को भी इनका अनुसरण करना चाहिए। श्रील नरोत्तमदास ठाकुर ने कहा है*—एइ छय गोसाञि याँर, मुञि ताँर दास—वे छहों गोस्वामियों के पदचिह्नों पर चलने वाले किसी का भी शिष्य बनने को तैयार हैं।

यही नहीं, समस्त वैष्णवों की भाँति महाराज पृथु गो-रक्षा, गुरुओं तथा योग्य ब्राह्मणों के प्रति श्रद्धालु थे। वे अत्यन्त विनम्र तथा भद्र भी थे और जब भी वे जनता के लिए कोई परोपकारी या कल्याणकारी कार्य करते तो वे उसी प्रकार परिश्रम करते मानो वह उनका निजी कार्य हो। दूसरे शब्दों में, उनके परोपकारी कार्य दिखावे के लिए नहीं होते थे, अपितु निजी भावना तथा निष्ठा से किये जाते थे। समस्त परोपकारी कार्य इसी तरह किये जाने चाहिए।

कीर्त्योर्ध्वगीतया पुम्भिस्त्रैलोक्ये तत्र तत्र ह ।
प्रविष्ट: कर्णरन्ध्रेषु स्त्रीणां राम: सतामिव ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

कीर्त्या—कीर्ति से; ऊर्ध्व-गीतया—उच्च घोषणा द्वारा; पुम्भि:—सामान्य जनता द्वारा; त्रै-लोक्ये—ब्रह्माण्ड भर में; तत्र तत्र—सर्वत्र; ह—निश्चय ही; प्रविष्ट:—प्रवेश करते हुए; कर्ण-रन्ध्रेषु—कान के छेदों में; स्त्रीणाम्—स्त्रियों के; राम:—भगवान् रामचन्द्र; सताम्—भक्तों के; इव—सदृश।

सारे ब्रह्माण्ड भर में—उच्चतर, निम्नतर तथा मध्य लोकों में—पृथु महाराज की कीर्ति उच्च स्वर से घोषित की जा रही थी। सभी महिलाओं तथा साधु पुरुषों ने उनकी महिमा को सुना जो

भगवान् रामचन्द्र की महिमा के समान मधुर थी।

तात्पर्य : इस श्लोक में *स्त्रीणाम्* तथा *राम:* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। स्त्रियाँ कुछ वीरों की प्रशंसा को बड़े ही ध्यान से सुनती और उसका आनन्द लेती हैं। इस श्लोक से लगता है कि पृथु महाराज की ख्याति इतनी व्यापक थी कि ब्रह्माण्ड-भर की स्त्रियाँ उसे अत्यन्त चाव से सुनती थीं। साथ ही उनकी महिमा ब्रह्माण्ड भर में भक्तों को भी सुनाई पड़ती थी जो भगवान् रामचन्द्र की महिमा के ही समान सुख देने वाली थी। भगवान् रामचन्द्र का राज्य आज भी विद्यमान है और भारत में तो रामराज्य दल नामक राजनीतिक दल भी बन गया था, जो राम के राज्य के ही समान राज्य स्थापित करना चाहता था। दुर्भाग्यवश आधुनिक राजनीतिज्ञ रामराज्य तो चाहते हैं, किन्तु राम से विहीन। यद्यपि उन्होंने ईश्वरभक्ति के विचार को समाप्त कर दिया है, तो भी वे रामराज्य स्थापित करना चाहते हैं। ऐसे प्रस्ताव भक्तों को अमान्य हैं। पृथु महाराज की ख्याति साधु पुरुषों द्वारा इसलिए सुनी जाती थी, क्योंकि वे आदर्श राजा रामचन्द्र का ही प्रतिनिधित्व करते थे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत "चारों कुमारों से पृथु महाराज की भेंट" नामक बाईसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter तेईस

महाराज पृथु का भगवद्धाम गमन

मैत्रेय उवाच
दृष्ट्वात्मानं प्रवयसमेकदा वैन्य आत्मवान् ।
आत्मना वर्धिताशेषस्वानुसर्गः प्रजापतिः ॥ १ ॥

जगतस्तस्थुषश्चापि वृत्तिदो धर्मभृत्सताम् ।
निष्पादितेश्वरादेशो यदर्थमिह जज्ञिवान् ॥ २ ॥

आत्मजेष्वात्मजां न्यस्य विरहाद्रुदतीमिव ।
प्रजासु विमनःस्वेकः सदारोऽगात्तपोवनम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; दृष्ट्वा—देखकर; आत्मानम्—शरीर की; प्रवयसम्—वृद्धावस्था; एकदा—एक बार; वैन्यः—राजा पृथु ने; आत्म-वान्—आध्यात्मिक शिक्षा से पूर्ण रूप से ज्ञात; आत्मना—अपने द्वारा; वर्धित—बढ़ा हुआ; अशेष—अपार; स्व-अनुसर्गः—भौतिक ऐश्वर्य की उत्पत्ति; प्रजा-पतिः—प्रजा का रक्षक; जगतः—चल; तस्थुषः—अचल; च—भी; अपि—निश्चय ही; वृत्ति-दः—आजीविका देने वाला; धर्म-भृत्—धर्म मानने वाला; सताम्—भक्तों का; निष्पादित—पूर्णतया सम्पन्न किया गया; ईश्वर—भगवान् की; आदेशः—आज्ञा; यत्-अर्थम्—उनकी सहमति से; इह—इस संसार में; जज्ञिवान्—किया; आत्म-जेषु—अपने पुत्रों को; आत्म-जाम्—पृथ्वी को; न्यस्य—सूचित करते हुए; विरहात्—वियोग से;

रुदतीम् इव—मानो विलाप करती हुई; प्रजासु—प्रजा को; विमनःसु—दुखियारों को; एकः—अकेले; स-दारः—अपनी पत्नी सहित; अगात्—चला गया; तपः-वनम्—वन में जहाँ तप किया जा सके।

अपने जीवन की अन्तिम अवस्था में, जब महाराज पृथु ने देखा कि मैं वृद्ध हो चला हूँ तो उस महापुरुष ने, जो संसार का राजा था, अपने द्वारा संचित सारे ऐश्वर्य को जड़ तथा जंगम जीवों में बाँट दिया। उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति के लिए धार्मिक नियमों के अनुसार आजीविका (पेंशन) की व्यवस्था कर दी और भगवान् के आदेशों का पालन करके, उनकी पूर्ण सहमति से उन्होंने अपने पुत्रों को अपनी पुत्रीस्वरूपा पृथ्वी को सौंप दिया। तब महाराज पृथु अपनी प्रजा को, जो राजा के वियोग के कारण विलख रही थी, त्याग कर तपस्या करने के लिए पत्नीसहित वन को अकेले चले गये।

तात्पर्य : महाराज पृथु भगवान् के *शक्त्यावेश* अवतारों में से एक थे, अतः वे इस पृथ्वी पर परमेश्वर के आदेशों को पूरा करने के लिए प्रकट हुए थे। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है कि परमेश्वर समस्त लोकों के स्वामी हैं और वे यह देखने के लिए उत्सुक रहते हैं कि प्रत्येक लोक के वासी सुखपूर्वक रहते हुए अपने-अपने कर्म करते रहें। ज्योंही कर्मों के पालन में कोई विषमता आने लगती है त्योंही भगवान् पृथ्वी पर प्रकट होते हैं जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.७) में इस प्रकार हुई है—*यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।*

चूँकि राजा वेन के शासनकाल में अनेक विषमताएँ आ गईं थीं, अतः भगवान् ने अपने सबसे विश्वासपात्र भक्त महाराज पृथु को सब कुछ ठीक करने के लिए भेजा था। फलतः भगवान् के आदेशों को पूरा करने तथा संसार के मामलों को तय करने के बाद महाराज पृथु कार्यमुक्त होना चाह रहे थे। उनका प्रशासन आदर्श था और अब उनका कार्यमुक्ति-काल भी आदर्श होना था। फलतः उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति अपने पुत्रों में बाँट दी और उन्हें संसार का शासन करने के लिए नियुक्त कर दिया। फिर वे अपनी पत्नी सहित वन को चले गये। इस सम्बन्ध में यह महत्त्वपूर्ण बात है कि कहा जाता है कि महाराज पृथु अकेले वन गये और फिर भी अपने साथ अपनी पत्नी को भी लेते गये। वैदिक नियमों के अनुसार गृहस्थ जीवन का परित्याग करने पर मनुष्य अपने साथ अपनी पत्नी को ले जा सकता है, क्योंकि पति तथा पत्नी एक इकाई माने जाते हैं। इस प्रकार वे दोनों मोक्ष के लिए साथ-साथ तपस्या कर सकते हैं। महाराज पृथु ने जो एक आदर्श व्यक्ति थे, इसी मार्ग का अनुसरण किया और यही

वैदिक सभ्यता की भी विधि है। मनुष्य को अन्त काल तक घर पर ही नहीं रहना चाहिए, अपितु उपयुक्त समय आने पर पारिवारिक जीवन से पृथक् होकर भगवद्धाम वापस जाने की तैयारी करनी चाहिए। ईश्वर के *शक्त्यावेश* अवतार होने के कारण महाराज पृथु का जो श्रीकृष्ण के प्रतिनिधि के रूप में वैकुण्ठ से आये थे, भगवद्धाम जाना निश्चित था। तो भी सभी प्रकार से आदर्श प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने तपोवन में कठिन तपस्या भी की। ऐसा प्रतीत होता है कि उन दिनों गृहत्याग के बाद तपस्या करने के निमित्त अनेक तपोवन होते थे। दरअसल, भगवान् की शरण ग्रहण करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को तपोवन जाना अनिवार्य हुआ करता था, क्योंकि पारिवारिक जीवन से विरक्त होना और साथ ही घर में रहते रहना अत्यन्त कठिन होता है।

तत्राप्यदाभ्यनियमो वैखानससुसम्मते ।
आरब्ध उग्रतपसि यथा स्वविजये पुरा ॥ ४॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अपि—भी; अदाभ्य—कठोर; नियमः—तपस्या; वैखानस—विरक्त जीवन (वानप्रस्थ) के नियम; सु-सम्मते—पूर्णतया मान्य; आरब्धः—प्रारम्भ करते हुए; उग्र—कठोर; तपसि—तपस्या; यथा—जिस प्रकार; स्व-विजये—संसार को जीतने में; पुरा—पहले।

पारिवारिक जीवन से निवृत्त होकर महाराज पृथु ने वानप्रस्थ जीवन के नियमों का कड़ाई से पालन किया और वन में कठिन तपस्या की। वे इन कार्यों में उसी गम्भीरता से जुट गये जिस तरह पहले वे शासन चलाने तथा हर एक पर विजय पाने के लिए जुट जाते थे।

तात्पर्य : जिस तरह पारिवारिक जीवन बिताते समय सक्रिय रहना अत्यावश्यक है, उसी तरह पारिवारिक जीवन से निवृत्त होने पर मन तथा इन्द्रियों को वश में रखना आवश्यक है। ऐसा तभी सम्भव है जब मनुष्य अपने आपको पूरी तरह भगवान् की भक्ति में लगाये रखे। वास्तव में वैदिक सामाजिक व्यवस्था का उद्देश्य मनुष्य को अन्ततः भगवान् के धाम वापस जाने के योग्य बनाना है। गृहस्थ आश्रम एक प्रकार से नियमित जीवन के साथ-साथ इन्द्रियतृप्ति के लिए छूट है। इसका उद्देश्य जीवन के बीच में ही विरक्त होकर तपस्या में पूरी तरह से संलग्न होना है, जिससे सदा-सदा के लिए भौतिक इन्द्रियतृप्ति से छुटकारा मिल जाय। फलतः जीवन की वानप्रस्थ अवस्था में तपस्या पर अत्यन्त बल दिया जाता है। महाराज पृथु ने वानप्रस्थ जीवन के समस्त नियमों का सही-सही पालन किया, जिसे *वैखानस आश्रम* कहते हैं। *वैखानस-सुसम्मते* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वानप्रस्थ जीवन में

विधि-विधानों का भी कठोरता से पालन किया जाता है। दूसरे शब्दों में, महाराज पृथु जीवन के हर क्षेत्र में आदर्श चरित्र थे। *महाजनो येन गतः स पन्थाः*—मनुष्य को चाहिए कि महापुरुषों के पदचिह्नों पर चले। इस प्रकार महाराज पृथु के आदर्श चरित्र का अनुसरण करके कोई भी इस जीवन में अथवा सक्रिय जीवन से निवृत्त होने पर पूर्ण बन सकता है। इस प्रकार इस शरीर को त्याग कर मनुष्य मुक्त हो सकता है और भगवान् के धाम जा सकता है।

कन्दमूलफलाहारः शुष्कपर्णाशनः क्वचित् ।
अब्भक्षः कतिचित्पक्षान्वायुभक्षस्ततः परम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

कन्द—तना; मूल—जड़ें; फल—फल; आहारः—खाकर; शुष्क—सूखी; पर्ण—पत्तियाँ; अशनः—खाकर; क्वचित्—कभी-कभी; अप्-भक्षः—जल पीकर; कतिचित्—कई; पक्षान्—पखवारों तक; वायु—हवा; भक्षः—साँस लेकर; ततः परम्—तत्पश्चात्।

तपोवन में महाराज पृथु कभी वृक्षों के तने तथा जड़ें खाते रहे तो कभी फल तथा सूखी पत्तियाँ। कुछ हफ्तों तक उन्होंने केवल जल पिया। अन्त में वे केवल वायु ग्रहण करके उसी से निर्वाह करने लगे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में योगियों को सलाह दी गई है कि वे जंगल में एकान्त में जाकर पवित्र स्थान में अकेले रहें। पृथु महाराज के आचरण से हम समझ सकते हैं कि जब वे जंगल गये तो उन्होंने कुछ भक्तों या शिष्यों द्वारा शहर से भेजा गया किसी प्रकार का पका भोजन नहीं खाया। जैसे ही कोई जंगल में रहने का व्रत लेता है, उसे केवल कन्द मूल, तने, फल, सूखी पत्तियाँ या प्रकृति द्वारा प्रदत्त वस्तुएँ खानी चाहिए। पृथु महाराज ने जंगल में रहने के लिए इन नियमों को कठोरतापूर्वक अंगीकार किया। अतः वे सूखी पत्तियों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं खाते थे और थोड़े से जल के अतिरिक्त कुछ पीते भी नहीं थे। कभी-कभी तो वे केवल हवा पर रह जाते थे। कभी-कभी वे वृक्षों के कुछ फल खा लेते थे। इस प्रकार वे जंगल में रहकर भोजन के मामले में कठिन तपस्या करने लगे। दूसरे शब्दों में, जो आध्यात्मिक जीवन में उन्नति चाहता है उसे अधिक भोजन नहीं करना चाहिए। श्री रूप गोस्वामी ने भी आगाह किया है कि अधिक खाना तथा अधिक श्रम नियमविरुद्ध हैं (*अत्याहारः प्रयासश्च*)। इनसे कभी भी आध्यात्मिक जीवन में उन्नति नहीं की जा सकती।

वैदिक आदेश के अनुसार जंगल में रहना पूर्णतः सतोगुणी, शहर में रहना रजोगुणी तथा वेश्यालय

या मदिरालय में रहना तामसिक है। किन्तु मन्दिर में रहना वैकुण्ठ में रहना है, क्योंकि वह प्रकृति के समस्त गुणों से परे होता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन मनुष्य को भगवान् के मन्दिर में रहने का सुअवसर प्रदान करता है, जो वैकुण्ठ के ही समान होता है। अत: कृष्णभक्त को न तो जंगल जाने की जरूरत है, न ही जंगल में रहने वाले महाराज पृथु या ऋषियों तथा मुनियों का कृत्रिम रूप से अनुकरण करने का प्रयास की।

श्री रूप गोस्वामी शासन के मंत्री पद से अवकाश पाने के बाद वृन्दावन गये और महाराज पृथु की भाँति एक वृक्ष के नीचे रहने लगे। तब से अनेक लोग रूप गोस्वामी के चरित्र का अनुकरण करके वृन्दावन गये हैं। किन्तु आध्यात्मिक जीवन में उन्नति करने के बजाय उनमें से अनेक भौतिक आदतों में फँस गये हैं और वृन्दावन जाकर भी अवैध यौनाचार, द्यूत क्रीड़ा तथा नशे के शिकार हुए हैं। अब कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का सूत्रपात पाश्चात्य देशों में किया गया है। किन्तु पाश्चात्यवासियों के लिए सम्भव नहीं कि वे जंगल जाकर वैसी ही कठिन तपस्या करें जैसी पृथु महाराज या रूप गोस्वामी ने की थी। तो भी पाश्चात्यवासी या अन्य लोग श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर का अनुसरण मन्दिर में रहकर कर सकते हैं, क्योंकि मन्दिर का वास जंगल वास से परे है। वे कृष्णप्रसाद के अतिरिक्त कुछ न ग्रहण करने का व्रत ले सकते हैं, विधि-विधानों का पालन कर सकते हैं और प्रतिदिन १६ माला हरे-कृष्ण-मंत्र का जप कर सकते हैं। इस प्रकार उनका आध्यात्मिक जीवन कभी भी विचलित नहीं होगा।

ग्रीष्मे पञ्चतपा वीरो वर्षास्वासारषाण्मुनिः ।
आकण्ठमग्नः शिशिरे उदके स्थण्डिलेशयः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ग्रीष्मे—गर्मी की ऋतु में; पञ्च-तपाः—पाँच प्रकार के ताप; वीरः—वीर; वर्षासु—वर्षा ऋतु में; आसारषाट्—वर्षा की झड़ी की पहुँच में रहकर; मुनिः—मुनियों की तरह; आकण्ठ—गले तक; मग्नः—डूबे हुए; शिशिरे—जाड़े में; उदके—जल के भीतर; स्थण्डिले-शयः—फर्श पर लेटे हुए।

वानप्रस्थ के नियमों तथा ऋषियों-मुनियों के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए पृथु महाराज ने ग्रीष्म ऋतु में पञ्चाग्नियों का सेवन किया, वर्षा ऋतु में वे वर्षा की झड़ी में बाहर ही रहे और जाड़े की ऋतु में गले तक जल के भीतर खड़े रहे। वे भूमि पर बिना बिस्तर के सोते रहे।

तात्पर्य : जो भक्तियोग को स्वीकार नहीं कर सकते ऐसे ज्ञानी तथा योगी इस प्रकार की तपस्याएँ करते हैं। वे ऐसा इसलिए करते हैं जिससे भौतिक कल्मष से शुद्ध हो सकें। *पञ्च-तपाः* से पाँच प्रकार

की अग्नियों का बोध होता है। इस विधि में मनुष्य को अग्नि के वृत्त के भीतर बैठना होता है, जिसकी लपटें चारों ओर से निकलती हैं और सिर के ऊपर से सूर्य सीधे दहकता रहता है। तपस्या के लिए निर्धारित *पञ्चतपा:* में से यह एक प्रकार है। इसी प्रकार वर्षा ऋतु में मनुष्य को वर्षा की झड़ी में रहना होता है और शीत ऋतु में गले तक ठंडे पानी में बैठना होता है। जहाँ तक बिस्तर का सवाल है, तपस्वी को भूमि पर लेटना होता है। ऐसी कठिन तपस्या का उद्देश्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण का भक्त बनना है। जैसा की अगले श्लोक में बताया गया है।

तितिक्षुर्यतवाग्दान्त ऊर्ध्वरेता जितानिलः ।
आरिराधयिषुः कृष्णमचरत्तप उत्तमम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

तितिक्षुः—सहन करते हुए; यत—वश में करते हुए; वाक्—शब्द; दान्तः—इन्द्रियों को वश में करते हुए; ऊर्ध्व-रेताः—वीर्य स्खलन के बिना; जित-अनिलः—प्राण वायु को जीतते हुए; आरिराधयिषुः—केवल इच्छा करते हुए; कृष्णम्—कृष्ण को; अचरत्—अभ्यास किया; तपः—तपस्या; उत्तमम्—श्रेष्ठ।

अपनी वाणी तथा इन्द्रियों को वश में करने, वीर्य स्खलित न होने देने तथा अपने शरीर के भीतर प्राण-वायु को वश में करने के लिए महाराज पृथु ने ये सारी कठिन तपस्याएँ साधीं। यह सब उन्होंने श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने के लिए किया। इसके अतिरिक्त उनका कोई अन्य प्रयोजन न था।

तात्पर्य : कलियुग के लिए *बृहन्नारदीय पुराण* में संस्तुति की गई है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा मान्य होने के लिए चौबीसों घण्टे भगवान् का नाम जपने की आवश्यकता है। दुर्भाग्यवश जो लोग इस गुर को नहीं स्वीकार करते वे किसी और प्रकार की तपस्या का आश्रय लिए बिना अन्य प्रकार का छद्म चिन्तन पसन्द करते हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि परिशुद्ध होने के लिए या तो ऊपर वर्णित तपस्या की कठिन विधि को स्वीकार किया जाये या फिर श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने के लिए भक्ति की जाये। जो व्यक्ति कृष्णभक्त होता है, वह अत्यन्त बुद्धिमान है, क्योंकि कलियुग में ऐसी कठिन तपस्याएँ कर पाना सम्भव नहीं है। हमें भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु जैसे महापुरुषों का अनुसरण करने की ही आवश्यकता है। स्वरचित *शिक्षाष्टक* में भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने लिखा

है—*परं विजयते श्रीकृष्ण संकीर्तनम्*—श्रीकृष्ण के नाम की जय हो जो प्रारम्भ से हृदय को विशुद्ध करके तुरन्त मुक्ति प्रदान करता है। *भवमहादावाग्नि निर्वापनम्।* यदि समस्त योगों का असली उद्देश्य श्रीकृष्ण को प्रसन्न करना है, तो इस युग के लिए संस्तुत यह सरल भक्तियोग पर्याप्त है। किन्तु यह आवश्यक है कि भगवान् की सेवा में निरन्तर संलग्न रहा जाए। यद्यपि पृथु महाराज ने अपना तप श्रीकृष्ण के आविर्भाव के बहुत पहले किया था, किन्तु इसका उद्देश्य श्रीकृष्ण को ही प्रसन्न करना था।

ऐसे अनेक मूर्ख हैं, जो यह दावा करते हैं कि श्रीकृष्ण की पूजा केवल पाँच हजार वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुई जब भगवान् कृष्ण भारत में प्रकट हुए, किन्तु तथ्य यह नहीं है। पृथु महाराज ने श्रीकृष्ण की पूजा लाखों वर्ष पूर्व की, क्योंकि पृथु महाराज ध्रुव के वंशज थे जिन्होंने सत्ययुग में छत्तीस हजार वर्षों तक राज्य किया था। यदि ध्रुव महाराज एक लाख वर्ष की आयु तक जीवित न रहे हों, वे छत्तीस हजार वर्षों तक कैसे राज्य करते रहे? बात तो यह है कि कृष्णपूजा सृष्टि के आरम्भ से ही विद्यमान थी और सत्ययुग, त्रेतायुग तथा द्वापर युग में से होते हुए अब कलियुग में चल रही है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, कृष्ण केवल ब्रह्मा के इसी कल्प में नहीं, अपितु प्रत्येक कल्प में प्रकट होते हैं। फलत: कृष्ण की पूजा प्रत्येक कल्प में की जाती है। ऐसा नहीं है कि जब पाँच हजार वर्ष पूर्व इस पृथ्वी पर श्रीकृष्ण प्रकट हुए तभी से यह पूजा चालू हुई। यह मूर्खतापूर्ण निष्कर्ष है, जिसकी पुष्टि वैदिक साहित्य से नहीं होती।

इस श्लोक की द्वितीय पंक्ति *आरिराधयिषु: कृष्णमचरत्तप उत्तमम्* भी महत्त्वपूर्ण है। कृष्णपूजन के विशेष उद्देश्य के लिए महाराज पृथु ने अनेक प्रकार की कठिन तपस्याएँ कीं। किन्तु इस युग में श्रीकृष्ण विशेष रूप से दयालु हैं कि वे अपने दिव्य नाम के दिव्य उच्चारण से ही प्रकट हो जाते हैं। जैसाकि *नारद पञ्चरात्र* में कहा गया है—*आराधितो यदि हरिस्तपसा तत: किम्।* यदि कृष्ण की पूजा की जाए, यदि उन्नति के लक्ष्य वे ही हैं, तो अनेक प्रकार की कठोर तपस्याएँ करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि लक्ष्य तो पहले ही प्राप्त हो चुका है। यदि सभी प्रकार की तपस्याएँ करके कोई कृष्ण को नहीं प्राप्त कर पाता तो उसकी सारी तपस्या व्यर्थ रहती है, क्योंकि बिना कृष्ण के सारी तपस्या वृथा का श्रम है। *श्रम एव हि केवलम्* (भागवत १.२.८)। अत: हमें यह सोचकर हतोत्साहित नहीं होना चाहिए कि हम जंगल जाकर कठिन तपस्या नहीं कर पा रहे। हमारा जीवन इतना अल्प है कि हमें

वैष्णव आचार्यों द्वारा बताये गये नियमों का दृढ़ता से पालन करना चाहिए और शान्तिपूर्वक कृष्णभक्ति करनी चाहिए। हताश होने की कोई आवश्यकता नहीं है। नरोत्तमदास ठाकुर का तो कहना है—*आनन्दे बलहरि, भज वृन्दावन, श्रीगुरु-वैष्णव-पदे मजाइया मन।* दिव्य, आनन्दमय जीवन के लिए हरे-कृष्ण-मंत्र का जप करो, पवित्र स्थान वृन्दावन जाकर पूजा करो और सदैव भगवान् गुरु तथा वैष्णवों की सेवा करो। अत: यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन अत्यन्त सरल एवं निरापद है। हमें केवल भगवान् के आदेशों का पालन एवं उनकी शरण ग्रहण करनी होती है। इसमें हमें गुरु के आदेश का पालन करना होता है, कृष्णभक्ति का उपदेश देना होता है और वैष्णवों के पथ का अनुसरण करना होता है। गुरु के आदेशों का पालन करने तथा हरे-कृष्ण का जप करने से सब कुछ ठीक हो जाएगा।

तेन क्रमानुसिद्धेन ध्वस्तकर्ममलाशयः ।
प्राणायामैः सन्निरुद्धषड्वर्गश्छिन्नबन्धनः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तेन—इस तरह तपस्या करने से; क्रम—क्रमशः; अनु—निरन्तर; सिद्धेन—सिद्धि से; ध्वस्त—विनष्ट; कर्म—सकाम कर्म; मल—गंदी वस्तुएँ; आशयः—इच्छा; प्राण-आयामैः—प्राणायाम योग के अभ्यास से; सन्—होकर; निरुद्ध—रुका हुआ; षट्-वर्गः—मन तथा इन्द्रियाँ; छिन्न-बन्धनः—समस्त बन्धनों से मुक्त।

इस प्रकार कठिन तपस्या करने से महाराज पृथु क्रमशः आध्यात्मिक जीवन में स्थिर और सकाम कर्म की समस्त इच्छाओं से पूर्ण रूप से मुक्त हो गये। उन्होंने मन तथा इन्द्रियों को वश में करने के लिए प्राणायाम योग का भी अभ्यास किया जिससे वे सकाम कर्म की समस्त इच्छाओं से पूर्ण रूप से मुक्ति पा गये।

तात्पर्य : इस श्लोक में *प्राणायामैः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि *हठयोगी* तथा *अष्टांग योगी* प्राणायाम का अभ्यास करते हैं, किन्तु सामान्यत: वे इसके उद्देश्य को नहीं जानते। प्राणायाम का उद्देश्य मन तथा इन्द्रियों को सकाम कर्म की ओर प्रवृत्त होने से रोकना है। पाश्चात्य देशों में जो तथाकथित प्राणायाम (योग) करते हैं उन्हें इसका रंचमात्र भी ज्ञान नहीं होता। प्राणायाम का उद्देश्य शरीर को बलवान तथा कठोर श्रम के लिए अनुकूल बनाना नहीं है। इसका उद्देश्य तो कृष्ण की पूजा करना है। पिछले श्लोक में इसका विशेष रूप से उल्लेख है कि पृथु महाराज जो भी तप, प्राणायाम तथा योग करते थे उसका उद्देश्य श्रीकृष्ण का पूजन था। अत: योगियों के लिए भी पृथु महाराज एक उत्तम उदाहरण का काम कर सकते हैं। जो भी उन्होंने किया वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण को प्रसन्न

करने के लिए था।

जो सकाम कर्म में व्यस्त रहते हैं उनके मन सदैव अपवित्र इच्छाओं से पूर्ण रहते हैं। सकार्म कर्म द्वारा हम अपनी दूषित इच्छाओं को प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रकट करते हैं। जब तक मनुष्य में दूषित इच्छाएँ प्रबल रहती हैं, उसे एक के बाद दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है। तथाकथित योगी योग के असली उद्देश्य को समझे बिना अपने शरीर को स्वस्थ बनाये रखने के लिए योग का अभ्यास करते हैं। इस प्रकार वे सकाम कर्म में प्रवृत्त होते हैं और इच्छाओं से बँधकर उन्हें दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है। उन्हें इसका ज्ञान नहीं होता कि जीवन का चरम लक्ष्य श्रीकृष्ण तक पहुँचना है। ऐसे योगियों को विभिन्न योनियों में विचरण करते रहने से बचाने के लिए शास्त्रों की यह चेतावनी है कि इस युग में योगाभ्यास एक तरह से समय का अपव्यय है। ऊपर उठने का एकमात्र साधन हरे–कृष्ण–महामंत्र का जप है।

राजा पृथु के कार्यकलाप सत्ययुग में हुए थे। किन्तु आधुनिक युग में पतितात्माएँ योग अभ्यास को ठीक से नहीं समझ पातीं और वे इसका अभ्यास करने से असमर्थ हैं। फलत: शास्त्रों का कथन है—*कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा।* निष्कर्ष यह निकला कि जब तक कर्मी, ज्ञानी तथा योगी भगवान् कृष्ण की भक्ति के बिन्दु तक नहीं पहुंच जाते, तब तक उनके तथाकथित तप तथा योग का कोई महत्त्व नहीं होता। *नाराधित:*—यदि हरि की पूजा नहीं की जाती तो ध्यान योग, कर्म योग इत्यादि करने से कोई लाभ नहीं। जहाँ तक प्राणायाम की बात है, भगवान् के नाम का कीर्तन तथा प्रेमविभोर होकर नाचना भी प्राणायाम माने जाते हैं। एक पिछले श्लोक में सनत्कुमार ने महाराज पृथु को भगवान् वासुदेव की सेवा में निरन्तर रत रहने का आदेश दिया है।

यत्पादपंकजपलाशविलासभक्त्या

कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्त:।

केवल वासुदेव को पूजने से सकाम कर्म की इच्छाओं से मुक्त हुआ जा सकता है। वासुदेव की पूजा किये बिना योगियों तथा ज्ञानियों को ऐसी इच्छाओं से मुक्ति नहीं मिल पाती।

तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-

स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्।

(भागवत ४.२२.३९)

यहाँ पर प्रणायाम का कोई अन्य उद्देश्य नहीं है। वास्तविक उद्देश्य तो मन तथा इन्द्रियों को सुदृढ़ करना है, जिससे उन्हें भक्ति की ओर प्रवृत्त किया जा सके। इस युग में यह संकल्प हरे कृष्ण नाम का कीर्तन मात्र करने से आसानी से प्राप्त हो सकता है।

सनत्कुमारो भगवान्यदाहाध्यात्मिकं परम् ।
योगं तेनैव पुरुषमभजत्पुरुषर्षभः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सनत्-कुमारः—सनत्कुमार ने; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; यत्—जो; आह—कहा; आध्यात्मिकम्—जीवन की आध्यात्मिक उन्नति; परम्—चरम; योगम्—योग; तेन—उससे; एव—निश्चय ही; पुरुषम्—परम पुरुष; अभजत्—पूजा की; पुरुष-ऋषभः—मनुष्यों में श्रेष्ठ।

इस प्रकार मनुष्यों में श्रेष्ठ महाराज पृथु ने आध्यात्मिक उन्नति के उस पथ का अनुसरण किया जिसका उपदेश सनत्कुमार ने किया था; अर्थात् उन्होंने भगवान् कृष्ण की पूजा की।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि संत सनत्कुमार के उपदेशानुसार महाराज पृथु प्राणायाम योग करते हुए भगवान् की सेवा में लगे रहे। इस श्लोक में *पुरुषमभजत्पुरुषर्षभः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *पुरुषर्षभः* महाराज पृथु के लिए आया है, जो मनुष्यों में श्रेष्ठ थे और *पुरुषम्* भगवान् के लिए आया है। निष्कर्ष यह निकलता है कि जो पुरुषों में श्रेष्ठ होता है, वह परम पुरुष की सेवा करता है। एक *पुरुष* शब्द पूजनीय के लिए तथा दूसरा *पुरुष* शब्द पूजक के लिए है। जब पूजा करने वाला पुरुष अर्थात् जीवात्मा अपने को परम पुरुष से एकाकार मानता है, तो वह मोहित होकर अविद्या के अंधकार में गिर जाता है। जैसाकि भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (२.१२) में कहा है—युद्धक्षेत्र में एकत्र सभी प्राणी तथा कृष्ण भी स्वयं भूतकाल में भी व्यक्तियों के रूप में थे और भविष्य में भी रहेंगे। फलतः दोनों पुरुष—जीवात्मा तथा परमात्मा—कभी भी अपनी सत्ता नहीं खोते।

वास्तव में जो स्वरूपसिद्ध है, वह इस जन्म में तथा अगले जन्मों में भी भगवान् की सेवा में लगा रहता है। भक्तों के लिए वास्तव में इस जीवन तथा अगले जीवन में कोई अन्तर नहीं रहता। इस जीवन में नवदीक्षित भक्त को भगवान् की सेवा करने का प्रशिक्षण दिया जाता है और अगले जीवन में वह वैकुण्ठ में भगवान् के निकट पहुँच जाता है और वैसी ही सेवा करता रहता है। नवदीक्षित भक्त के लिए भी भक्ति *ब्रह्मभूयाय कल्पते* मानी जाती है। भगवद्भक्ति को कभी भी भौतिक कर्म नहीं माना

जाता। *ब्रह्मभूत* पद से कर्म करने के कारण भक्त पहले ही मुक्त हो जाता है। अत: उसे ब्रह्मभूत अवस्था तक पहुँचने के लिए किसी अन्य प्रकार के योग-साधन की आवश्यकता नहीं रहती। यदि भक्त गुरु के आदेशों पर अटल रहता है, विधि-विधानों का पालन करता है और हरे-कृष्ण-मंत्र का जप करता है, तो यह समझना चाहिए कि उसने ब्रह्मभूत अवस्था पहले ही प्राप्त कर ली है, जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.२६) में पुष्टि की गई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो पूर्ण भक्ति में रत और सभी परिस्थितियों में अचूक बना रहता है, वह प्रकृति के गुणों को तुरन्त पार कर लेता है और ब्रह्म के पद को प्राप्त होता है।"

भगवद्धर्मिणः साधोः श्रद्धया यततः सदा ।
भक्तिर्भगवति ब्रह्मण्यनन्यविषयाभवत् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

भगवत्-धर्मिणः—भगवान् की भक्ति करने वाला; साधोः—भक्त का; श्रद्धया—श्रद्धा से; यततः—प्रयास करते हुए; सदा—सदैव; भक्तिः—भक्ति; भगवति—भगवान् की; ब्रह्मणि—निर्गुण ब्रह्म की उत्पत्ति; अनन्य-विषया—बिना किसी विचलन के, दृढ़; अभवत्—हो गया।

इस प्रकार महाराज पृथु चौबीसों घंटे कठोरता से विधि-विधानों का पालन करते हुए पूर्ण रूप से भक्ति में लग गये। इससे भगवान् कृष्ण के प्रति इनमें प्रेम तथा भक्ति का उदय हुआ और वे स्थिर हो गये।

तात्पर्य : *भगवद् धर्मिणः* शब्द बताता है कि महाराज पृथु जिस धार्मिक विधि का पालन कर रहे थे वह कृत्रिमता से दूर थी। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ (१.१.२) में कहा गया है—*धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र*—जो धार्मिक नियम केवल कृत्रिम हैं, वे ठगने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वीर राघवाचार्य ने *भगवद्-धर्मिणः* की व्याख्या *निवृत्त-धर्मेण* के रूप में की है, जिससे सूचित होता है कि यह भौतिक महत्त्वाकांक्षाओं से कलुषित नहीं हो सकता। जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

जब कोई भौतिक इच्छाओं से प्रेरित नहीं होता, सकाम कर्म की विधियों से दूषित तथा मनगढ़त

चिन्तन से दूषित नहीं होता और अच्छी तरह भगवान् की अनुकूल सेवा में लगा रहता है, तो उसकी सेवा भगवद्धर्म या शुद्ध भक्ति कहलाती है। इस श्लोक में *ब्रह्मणि* निर्गुण ब्रह्म का सूचक नहीं है। निर्गुण ब्रह्म भगवान् के अधीन है और चूँकि निर्गुण ब्रह्म के उपासक ब्रह्म तेज से एकाकार होना चाहते हैं, अत: वे भगवद्धर्म के अनुयायी नहीं कहे जा सकते। अपने भौतिक सुख में भ्रमित होकर निर्विशेषवादी भगवान् के अस्तित्व में मिल जाना चाहता है, किन्तु भगवान् का शुद्ध भक्त ऐसा कभी नहीं चाहता। अत: शुद्ध भक्त वास्तव में भगवद्धर्मी होता है।

इस श्लोक से स्पष्ट है कि महाराज पृथु कभी भी निर्गुण *ब्रह्म* के उपासक न थे, वे सदैव भगवान् के शुद्ध भक्त ही रहे। *भगवति ब्रह्मणि* से ऐसे व्यक्ति का बोध होता है, जो भगवान् की भक्ति में लगा रहता है। भक्त का निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी ज्ञान स्वत: प्रकट हो जाता है और वह निर्गुण ब्रह्म में कभी भी एकाकार होना नहीं चाहता। महाराज पृथु अपने भक्ति सम्बन्धी कार्यों को पूरा करने में स्थिर हो गये। उन्हें कर्म, ज्ञान या योग की शरण नहीं लेनी पड़ी।

तस्यानया भगवतः परिकर्मशुद्ध-
सत्त्वात्मनस्तदनुसंस्मरणानुपूर्त्या ।
ज्ञानं विरक्तिमदभून्निशितेन येन
चिच्छेद संशयपदं निजजीवकोशम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अनया—इससे; भगवतः—भगवान् का; परिकर्म—भक्ति के कार्य; शुद्ध—शुद्ध, दिव्य; सत्त्व—अस्तित्व; आत्मनः—मन का; तत्—परमेश्वर का; अनुसंस्मरण—निरन्तर स्मरण; अनुपूर्त्या—ठीक से किये जाने पर; ज्ञानम्—ज्ञान; विरक्ति—अनासक्ति; मत्—रखते हुए; अभूत्—प्रकट हुआ; निशितेन—उत्कट कार्यों से; येन—जिससे; चिच्छेद—पृथक् होते हैं; संशय-पदम्—संदेह की स्थिति; निज—अपनी; जीव-कोशम्—जीवात्मा का आवरण (कोश)।

निरन्तर भक्ति करते रहने से पृथु महाराज का मन शुद्ध हो गया, अत: वे भगवान् के चरणारविन्द का निरन्तर चिन्तन करने लगे। इससे वे पूरी तरह से विरक्त हो गये और पूर्णज्ञान प्राप्त करके समस्त संशयों से परे हो गये। इस तरह वे मिथ्या अहंकार तथा जीवन के भौतिक बोध से मुक्त हो गये।

तात्पर्य : *नारद पञ्चरात्र* में भगवान् की भक्ति की उपमा महारानी से दी गई है। जब महारानी दर्शन देती हैं, तो अनेक सेविकाएँ उसके साथ रहती हैं। भक्ति की सेविकाएँ हैं—ऐश्वर्य, मुक्ति तथा योग शक्तियाँ। कर्मी लोग भौतिक सुख में बहुत लिप्त रहते हैं, ज्ञानी लोग भौतिक बन्धन से छुटकारा पाने

के लिए इच्छुक रहते हैं और योगी आठ प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए लालायित रहते हैं। *नारद पंचरात्र* से हमें ज्ञात होता है कि जिसे शुद्ध भक्ति की अवस्था प्राप्त हो जाती है उसे सकाम कर्मों से प्राप्त होने वाले समस्त ऐश्वर्य, दार्शनिक चिन्तन तथा योग अभ्यास भी प्राप्त हो जाते हैं। अत: श्रील बिल्वमंगल ठाकुर ने अपने *कृष्णकर्णामृत* में प्रार्थना की है, ''हे भगवान्! यदि मुझमें आपके लिए अटूट भक्ति है, तो आप साक्षात् मेरे समक्ष प्रकट हों। फिर तो सकाम कर्मों के फल तथा दार्शनिक चिन्तन—*धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष*—ये सब मेरे अनुचर बनकर मेरे आदेश की प्रतीक्षा में खड़े रहेंगे।'' भाव यह है कि ज्ञानी लोग ब्रह्मविद्या से संस्कारित होकर भौतिक प्रकृति के चंगुल से निकलने के लिए अधिक प्रयास करते हैं। किन्तु भक्त ही ऐसा है, जो अपनी भक्ति के बल पर स्वत: अपने भौतिक शरीर से विरक्त हो जाता है। जब भक्त का आध्यात्मिक शरीर व्यक्त होने लगता है तब वह वास्तव में दिव्य जीवन के कार्यों में प्रवेश कर जाता है।

इस समय हमारा सम्पर्क भौतिक शरीर, भौतिक मन तथा भौतिक बुद्धि से बना हुआ है, किन्तु जब हम इन भौतिक अवस्थाओं से मुक्त हो जाते हैं, तो हमारे बुद्धि, मन तथा आध्यात्मिक शरीर प्रकट होते हैं। उस अध्यात्मिक अवस्था में, भक्त को कर्म, ज्ञान तथा योग के सारे लाभ प्राप्त होते हैं। यद्यपि भक्त यौगिक प्रक्रिया प्राप्त करने के लिए कभी भी सकाम कर्मों अथवा दार्शनिक चिन्तन में नहीं लगता, किन्तु वे स्वत: उसके समक्ष सेवा हेतु प्रकट हो जातेऋ्र हैं। भक्त किसी प्रकार का भौतिक ऐश्वर्य नहीं चाहता किन्तु यह ऐश्वर्य उसके समक्ष अपने आप प्रकट हो जाता है। उसे इसके लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। अपनी भक्ति के कारण वह स्वत: *ब्रह्मभूत* हो जाता है। जैसा पहले कहा जा चुका है, इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.२६) में हुई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

''जो पूर्ण भक्ति में रत है और सभी परिस्थितियों में अचूक बना रहता है, वह प्रकृति के गुणों को तुरन्त पार कर लेता है और ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।''

नियमित भक्ति करते रहने के कारण भक्त को जीवन की दिव्य स्थिति प्राप्त होती है। उसका मन अध्यात्म में लगा रहने के कारण वह भगवान् के चरणकमलों के अतिरिक्त कुछ और सोच ही नहीं

सकता। *संस्मरण-अनुपूर्त्या* शब्द का अर्थ यही है। भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर चिन्तन करते हुए भक्त अविलम्ब शुद्ध सत्त्व में स्थित हो जाता है। *शुद्ध सत्त्व* वह पद है, जो सतोगुण समेत प्रकृति के गुणों से ऊपर होता है। इस भौतिक जगत में सतोगुण परम सिद्धि का सूचक है, किन्तु मनुष्य को इस गुण को भी लाँघकर *शुद्ध सत्त्व* अवस्था तक पहुँचना होता है, जहाँ भौतिक प्रकृति के तीनों गुण अपना प्रभाव नहीं दिखा सकते।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है—यदि किसी की पाचन शक्ति प्रबल है, तो भोजन करने के पश्चात् उसके उदर में स्वत: इतनी अग्नि उत्पन्न हो जाती है कि बिना किसी ओषधि के सब कुछ पच सकता है। इसी प्रकार भक्ति की अग्नि इतनी प्रबल होती है कि भक्त को पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने या भौतिक आकर्षण से विरक्ति के लिए अलग से कुछ नहीं करना होता। ज्ञानी ज्ञान के विषय में दीर्घकाल तक विवेचन करते रहने से भौतिक आकर्षणों से विरक्त हो सकता है और अन्त में इस तरह *ब्रह्मभूत* अवस्था तक पहुँच सकता है, किन्तु भक्त को यह सब झंझट नहीं करनी पड़ती। अपनी भक्ति के बल पर वह बिना किसी शंका के *ब्रह्मभूत* अवस्था को प्राप्त होता है। योगी तथा ज्ञानी अपनी स्वाभाविक स्थिति के सम्बन्ध में सदैव संशयग्रस्त रहते हैं, इसीलिए वे अपने को गलती से परमेश्वर से एक हो जाने की सोचते रहते हैं। किन्तु भक्त का परमेश्वर से सम्बन्ध नि:संशय रूप से स्पष्ट रहता है और उसे तुरन्त समझ में आ जाता है कि उसकी स्थिति नितान्त दास की है। ज्ञानी तथा योगी भक्ति के बिना अपने को मुक्त समझ सकते हैं, किन्तु उनकी बुद्धि भक्त जितनी विमल नहीं होती। दूसरे शब्दों में, ज्ञानी तथा योगी जब तक भक्तों की स्थिति को प्राप्त नहीं हो लेते तब तक वास्तव में मुक्त नहीं हो सकते। *श्रीमद्भागवत* (१०.२.३२) का कथन है—

आरुह्य कृच्छ्रेन परं पदं तत:
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रिय: ।

ज्ञानी तथा योगी ब्रह्मसाक्षात्कार के सर्वोच्च पद तक उठ सकते हैं, किन्तु भगवान् के चरणारविन्द के प्रति भक्ति के अभाव में वे पुन: भौतिक प्रकृति में आ गिरते हैं। अत: ज्ञान तथा योग को मुक्ति की असली विधि नहीं मान लेना चाहिए। महाराज पृथु ने भक्ति के द्वारा इन स्थितियों को स्वत: लाँघ लिया था। चूँकि वे भगवान् के *शक्त्यावेश* अवतार थे, अत: मुक्ति पाने के लिए उन्हें कुछ नहीं करना पड़ा।

वे पृथ्वी पर भगवान् की इच्छापूर्ति हेतु वैकुण्ठ लोक से आये थे, फलतः उन्हें ज्ञान, योग या कर्म किये बिना ही भगवान् के धाम को वापस जाना था। यद्यपि पृथु महाराज भगवान् के शुद्ध भक्त थे, फिर भी उन्होंने लोगों को जीवन के कर्तव्यों को सही ढंग से सम्पन्न करने तथा अन्ततः भगवान् के धाम वापस जाने की समुचित विधि सिखाने के लिए भक्ति की प्रक्रिया स्वीकार की।

छिन्नान्यधीरधिगतात्मगतिर्निरीह-
स्तत्तत्यजेऽच्छिनदिदं वयुनेन येन ।
तावन्न योगगतिभिर्यतिरप्रमत्तो
यावद्गदाग्रजकथासु रतिं न कुर्यात् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

छिन्न—पृथक् होकर; अन्य-धीः—जीवन के अन्य बोध (देहात्म बुद्धि); अधिगत—पूर्ण आश्वस्त होकर; आत्म-गतिः—आध्यात्मिक जीवन का चरम लक्ष्य; निरीहः—इच्छारहित; तत्—उसे; तत्यजे—त्याग दिया; अच्छिनत्—काट दिया था; इदम्—यह; वयुनेन—ज्ञान से; येन—जिससे; तावत्—तब तक; न—कभी नहीं; योग-गतिभिः—योग पद्धति का अभ्यास; यतिः—अभ्यास करने वाला; अप्रमत्तः—बिना किसी भ्रम के; यावत्—जब तक; गदाग्रज—कृष्ण का; कथासु—शब्द; रतिम्—आकर्षण; न—कभी नहीं; कुर्यात्—इसे करो।

जब महाराज पृथु देहात्मबुद्धि से पूर्ण रूप से मुक्त हो गये तो उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण को परमात्मा रूप में प्रत्येक के हृदय में स्थित देखा। इस प्रकार उनसे सारे आदेश पाने में समर्थ होने पर उन्होंने योग तथा ज्ञान की अन्य सारी विधियाँ त्याग दीं। ज्ञान तथा योग की सिद्धियों में भी उनकी रुचि नहीं रह गई, क्योंकि उन्होंने पूरी तरह यह अनुभव किया कि जीवन का चरम लक्ष्य तो श्रीकृष्ण की भक्ति है और जब तक योगी तथा ज्ञानी कृष्णकथा के प्रति आकृष्ट नहीं होते, संसार सम्बन्धी उनके सारे भ्रम (मोह) कभी भी दूर नहीं हो सकते।

तात्पर्य : जब तक मनुष्य देहात्मबुद्धि में अत्यधिक लीन रहता है, तब तक वह आत्म-साक्षात्कार की अनेकानेक विधियों में रुचि लेता रहता है, यथा योग विधि या चिन्तन इत्यादि। किन्तु जब मनुष्य समझ लेता है कि जीवन का परम लक्ष्य श्रीकृष्ण तक पहुँचना है, तो वह अपने हृदय के भीतर कृष्ण का अनुभव करने लगता है और कृष्णभावनामृत में स्थित प्रत्येक व्यक्ति की सहायता करने लगता है। वास्तव में जीवन की पूर्णता श्रीकृष्ण के विषय में सुनने की प्रवृत्ति पर निर्भर करती है। इसीलिए इस श्लोक में कहा गया है—*यावद्गदाग्रजकथासु रतिं न कुर्यात्।* जब तक मनुष्य कृष्ण में तथा उनकी लीलाओं में रुचि नहीं रखता तब तक योग विधि से या ज्ञान द्वारा मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।

भक्ति की अवस्था प्राप्त कर लेने के बाद महाराज पृथु को ज्ञान तथा योग की विधियों में अरुचि हो गई, अत: उन्हें त्याग दिया। यह शुद्ध भक्तिमय जीवन की अवस्था है, जिसका वर्णन रूप गोस्वामी ने किया है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

वास्तविक ज्ञान का अर्थ यह समझ लेना है कि जीवात्मा भगवान् का नित्य दास है। यह ज्ञान अनेकानेक जन्मों के बाद प्राप्त होता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१९) में हुई है—*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।* परमहंस अवस्था में मनुष्य कृष्ण को ही सब कुछ मान लेता है—*वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ:।* जब मनुष्य समझने लगता है कि श्रीकृष्ण ही सब कुछ हैं और कृष्णभक्ति (चेतना) ही जीवन की परम सिद्धि है, तो वह परमहंस या महात्मा हो जाता है। ऐसा महात्मा या परमहंस दुर्लभ होता है। परमहंस या शुद्ध भक्त कभी भी हठयोग या चिन्तन के प्रति आकर्षित नहीं होता। वह तो भगवान् की अमिश्रित भक्ति में ही रुचि रखता है। इन विधियों का पूर्व-अभ्यस्त व्यक्ति कभी कभी भक्ति के साथ-साथ ज्ञान तथा योग का भी अभ्यास करता है, किन्तु ज्योंही वह अमिश्रित भक्ति की अवस्था को प्राप्त होता है, वह आत्म-साक्षात्कार की अन्य समस्त विधियों को त्याग देता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य जब एक बार श्रीकृष्ण को सुस्पष्ट रूप से चरम लक्ष्य समझ लेता है, वह ज्ञान प्राप्त करने के लिए योग या चिन्तन विधियों से मुख मोड़ लेता है।

एवं स वीरप्रवर: संयोज्यात्मानमात्मनि ।
ब्रह्मभूतो दृढं काले तत्याज स्वं कलेवरम् ॥ १३॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; स:—उसने; वीर-प्रवर:—वीरों में श्रेष्ठ; संयोज्य—प्रयुक्त करके; आत्मानम्—मन को; आत्मनि—परमात्मा में; ब्रह्म-भूत:—मुक्त होकर; दृढम्—दृढ़तापूर्वक; काले—समय आने पर; तत्याज—त्याग दिया; स्वम्—अपना; कलेवरम्—शरीर।.

समय आने पर जब पृथु महाराज को अपना शरीर त्याग करना था उन्होंने अपने मन को दृढ़तापूर्वक श्रीकृष्ण के चरणकमलों में स्थिर कर लिया और इस प्रकार से ब्रह्मभूत अवस्था में स्थित होकर उन्होंने भौतिक शरीर त्याग दिया।

तात्पर्य : एक बंगाली कहावत के अनुसार जीवन में मनुष्य जितनी आध्यात्मिक उन्नति करता है,

उसकी परीक्षा मृत्यु के समय होगी। *भगवद्गीता* (८.६) में भी इसकी पुष्टि हुई है—*यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित:।* कृष्णभक्ति करने वाले जानते हैं कि उनकी परीक्षा मृत्यु के समय होनी है। यदि मरते समय भी कोई कृष्ण का स्मरण कर सकता है, तो उसे गोलोक वृन्दावन या कृष्णलोक मिलता है और इस प्रकार उसका जीवन सफल हो जाता है। पृथु महाराज जब कृष्ण के अनुग्रह से जान गये कि उनका काल निकट है, तो वे अत्यन्त आनन्दित हो उठे और ब्रह्मभूत अवस्था में योग-विधि का अभ्यास करते हुए अपना शरीर त्यागने के लिए सन्नद्ध हो गये। अगले श्लोकों में इसका पूरा वर्णन है कि स्वेच्छा से अपने शरीर को त्याग कर भगवान् के धाम को कैसे जाया जा सकता है। पृथु महाराज की भाँति मृत्यु के समय किये गये योगाभ्यास से मनुष्य शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ होते हुए भी शरीर को जल्दी से त्याग सकता है। प्रत्येक भक्त शारीरिक तथा मानसिक रूप से स्वस्थ रहते हुए शरीर त्यागना चाहता है। राजा कुलशेखर ने भी *मुकुन्द-माला-स्तोत्र* में यही कामना व्यक्त की थी—

कृष्ण त्वदीयपदपंकज-पञ्जरान्तम्
अद्यैव मे विशतु मानसराजहंस:।
प्राण-प्रयाणसमये कफवातपित्तै:
कण्ठावरोधन-विधौ स्मरणं कुतस्ते॥

राजा कुलशेखर स्वस्थ रहते हुए अपना शरीर छोड़ना चाहते थे, अत: उन्होंने श्रीकृष्ण से प्रार्थना की कि वे शरीर तथा मन से स्वस्थ रहते ही उन्हें तुरन्त मरने दें। जब मनुष्य मरता है, तो प्राय: वात, पित्त तथा कफ से उसका कण्ठ रुद्ध हो जाता है। चूँकि कण्ठ रुद्ध होने पर उच्चारण कर पाना दुष्कर हो जाता है, अत: श्रीकृष्ण की कृपा से ही मृत्यु के समय हरे-कृष्ण का जप हो पाता है। किन्तु अपने को मुक्तासन-स्थिति में रखकर योगी तुरन्त शरीर त्याग देता है और जिस लोक में चाहता है चला जाता है। सिद्ध योगी योग के बल से इच्छानुसार देह का त्याग कर सकता है।

सम्पीड्य पायुं पार्ष्णिभ्यां वायुमुत्सारयञ्छनैः ।
नाभ्यां कोष्ठेष्ववस्थाप्य हृदुरःकण्ठशीर्षणि ॥ १४॥

शब्दार्थ

सम्पीड्य—रोककर; पायुम्—गुदाद्वार; पार्ष्णिभ्याम्—एड़ी से; वायुम्—ऊपर जाने वाली वायु को; उत्सारयन्—ऊपर धकेलकर; शनैः—धीरे-धीरे; नाभ्याम्—नाभि से; कोष्ठेषु—हृदय तथा कण्ठ में; अवस्थाप्य—स्थिर करके; हृत्—हृदय में; उरः—ऊपर की ओर; कण्ठ—गला, कंठ; शीर्षणि—दोनों भौहों के मध्य (मस्तक) में।

जब महाराज पृथु ने विशेष यौगिक आसन साधा तो उन्होंने अपनी एड़ियों से अपना गुदाद्वार बन्द कर लिया और दोनों एड़ियों को दबाया, फिर धीरे-धीरे प्राणवायु को नाभिचक्र से होते हुए वे हृदय तथा कण्ठ तक ऊपर की ओर ले गये और अन्त में उसे दोनों भौहों के मध्य पहुँचा दिया।

तात्पर्य : यहाँ पर जिस आसन का वर्णन है, वह *मुक्तासन* है। योग विधि में निद्रा, भोजन तथा मैथुन को वश में करने वाले कठोर विधि-विधानों का पालन करने के बाद विभिन्न आसनों की अनुमति दी जाती है। योगी का चरम लक्ष्य इच्छानुसार अपने शरीर का त्याग करने में समर्थ होना है। जिसने योगाभ्यास में सिद्धि प्राप्त कर ली है, वह जब तक चाहता है शरीर में रहता है या जब तक वह पूर्ण नहीं होता, शरीर को ब्रह्माण्ड के भीतर या बाहर, जहाँ भी चाहे जाने देता है, जा सकता है। कुछ योगी अपना शरीर उच्चतर लोकों में जाकर वहाँ की भौतिक सुविधाओं का भोग करने के लिए छोड़ते हैं। किन्तु बुद्धिमान योगी इस संसार में व्यर्थ अपना समय गँवाना नहीं चाहते, वे उच्चतर लोकों की भौतिक सुविधाओं की भी परवाह नहीं करते। वे तो दिव्याकाश में सीधे भगवान् के धाम पहुँचने में रुचि रखते हैं।

इस श्लोक के वर्णन से पता लगता है कि महाराज पृथु उच्चतर लोकों में जाने के तनिक भी इच्छुक न थे। वे तुरन्त भगवान् के धाम लौटना चाह रहे थे। यद्यपि महाराज पृथु ने कृष्णभक्ति की प्राप्ति के पश्चात् समस्त योगाभ्यास बन्द कर दिया था, फिर भी उन्होंने पूर्व अभ्यास का लाभ उठाते हुए भगवान् के धाम जल्दी लौट जाने के लिए अपने आपको *ब्रह्मभूत* पद पर स्थापित कर लिया। इस विशेष प्रकार के आसन, मुक्तासन, का उद्देश्य कुण्डलिनी चक्र पर विजय प्राप्त करना है तथा धीरे-धीरे प्राण को *मूलाधार चक्र* से *स्वाधिष्ठान चक्र* और फिर *मणिपूर चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्ध चक्र* तथा अन्त में *आज्ञा चक्र* तक ले जाना है। जब योगी दोनों भौहों के मध्य *आज्ञाचक्र* में पहुँच जाता है, तो वह *ब्रह्मरन्ध्र* में प्रवेश करने में सक्षम होता है और तब वह किसी भी लोक को, वैकुण्ठलोक या कृष्णलोक तक जा सकता है। कहने का निष्कर्ष यह है कि मनुष्य को भगवान् के धाम वापस जाने के लिए *ब्रह्मभूत* अवस्था पर पहुँचना होता है। किन्तु जो लोग कृष्णभक्ति करते हैं या भक्तियोग का

अभ्यास करते हैं (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्*) वे मुक्तासन का अभ्यास किये बिना ही भगवान् के पास लौट जाते हैं। मुक्तासन का उद्देश्य ब्रह्मभूत अवस्था तक जाना है, क्योंकि बिना ब्रह्मभूत अवस्था प्राप्त किये कोई भी दिव्याकाश में नहीं जा सकता। *भगवद्गीता* (१४.२६) में कहा गया है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

भक्तियोग का अभ्यास करने वाला भक्तियोगी निरन्तर ब्रह्मभूत अवस्था में स्थित रहता है (*ब्रह्मभूयाय कल्पते*)। यदि भक्त ब्रह्मभूत पद पर रह सकता है, तो वह मृत्यु के बाद स्वतः दिव्याकाश में प्रवेश करता है और भगवान् के पास वापस चला जाता है, अतः भक्त को इसका खेद नहीं होना चाहिए कि वह कुण्डलिनी चक्र का अभ्यास नहीं कर पाया अथवा एक के पश्चात् एक छहों चक्रों को भेद नहीं सका। जहाँ तक महाराज पृथु की बात है, वे इस विधि का पहले ही अभ्यास कर चुके थे और चूँकि वे अपनी सहज मृत्यु की प्रतीक्षा नहीं कर सकते थे, अतः उन्होंने *षट्चक्र* भेदन की विधि का लाभ उठाया और इच्छानुसार अपने शरीर का त्याग करके दिव्याकाश में प्रवेश किया।

उत्सर्पयंस्तु तं मूर्ध्नि क्रमेणावेश्य निःस्पृहः ।
वायुं वायौ क्षितौ कायं तेजस्तेजस्ययूयुजत् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

उत्सर्पयन्—इस प्रकार स्थापित करते हुए; तु—लेकिन; तम्—वायु को; मूर्ध्नि—सिर में; क्रमेण—धीरे-धीरे; आवेश्य—रखते हुए; निःस्पृहः—समस्त इच्छाओं से मुक्त होकर; वायुम्—शरीर के वायु भाग को; वायौ—ब्रह्माण्डकोश की समग्र वायु में; क्षितौ—सम्पूर्ण पृथ्वीकोश में; कायम्—भौतिक शरीर को; तेजः—शरीर की अग्नि; तेजसि—भौतिक कोश की सम्पूर्ण अग्नि में; अयूयुजत्—मिला दिया।

इस प्रकार पृथु महाराज अपने प्राणवायु को धीरे धीरे ब्रह्मरन्ध्र तक ऊपर ले गये जिससे उनकी समस्त सांसारिक आकांक्षाएँ समाप्त हो गईं। उन्होंने धीरे-धीरे अपने प्राण वायु को समष्टि वायु में, अपने शरीर को समष्टि पृथ्वी में और अपने शरीर की अग्नि (तेज) को समष्टि अग्नि में लीन कर दिया।

तात्पर्य : आध्यात्मिक चिनगारी (*ब्रह्मज्योति*), जो बाल की नोक के दस हजारवें भाग के बराबर बताई जाती है, इस भौतिक संसार में बलपूर्वक भेजी जाती है। यह चिनगारी स्थूल भौतिक तथा सूक्ष्म

तत्त्वों से ढक जाती है। भौतिक शरीर पाँच स्थूल तत्त्वों—क्षिति, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश (ईथर)—तथा तीन सूक्ष्म तत्त्वों—मन, बुद्धि तथा अहंकार—से बना होता है। जब मनुष्य को मुक्ति मिलती है, तो वह इन भौतिक कोशों (आवरणों) से बाहर निकल जाता है। दरअसल, योग की सफलता इन भौतिक आवरणों से मुक्ति पाने तथा आध्यात्मिक जगत में प्रविष्ट होने में निहित है। भगवान् बुद्ध की निर्वाण सम्बन्धी शिक्षाएँ इसी सिद्धान्त पर आधारित हैं। उन्होंने अपने शिष्यों को ध्यान तथा योग के सहारे इन भौतिक आवरणों को त्यागने की शिक्षा दी। उन्होंने आत्मा के विषय में कोई सूचना नहीं दी, किन्तु यदि उनके उपदेशों का ठीक से पालन किया जाये तो मनुष्य भौतिक आवरणों से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

जब कोई जीवात्मा भौतिक आवरणों को त्यागता है, तो वह आत्मा के रूप में बना रहता है। इस आत्मा को ब्रह्मज्योति में मिलने के लिए चिन्मय आकाश में प्रवेश करना होता है। दुर्भाग्यवश जब तक जीवात्मा को आध्यात्मिक जगत तथा वैकुण्ठ लोकों की जानकारी नहीं रहती तब तक ९९.९ प्रतिशत सम्भावना यही रहती है कि वह पुनः भौतिक जगत में आ गिरे। किन्तु ब्रह्मज्योति से आध्यात्मिक लोक में जाने की सम्भावना बहुत कम होती है। निर्विशेषवादी इस ब्रह्मज्योति में विविधता नहीं मानते और बौद्ध लोग इसे शून्य मानते हैं। प्रत्येक दशा में, चाहे कोई दिव्याकाश को बिना विविधता के माने या शून्य, किन्तु वैकुण्ठ या कृष्णलोक जैसे आध्यात्मिक लोकों में जो दिव्य आनन्द है, वह वहाँ नहीं मिलता। विभिन्न प्रकार के आनन्द प्राप्त न होने पर आत्मा जीवन का आनन्द भोगने के लिए आकृष्ट होता है और कृष्णलोक या वैकुण्ठलोक की कोई जानकारी न होने से वह भौतिक कार्यकलापों में आ गिरता है, जिससे वह भौतिक सुख भोग सके।

खान्याकाशे द्रवं तोये यथास्थानं विभागशः ।
क्षितिमम्भसि तत्तेजस्यदो वायौ नभस्यमुम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

खानि—शरीर में विभिन्न इन्द्रियों के द्वार (छिद्र); आकाशे—आकाश में; द्रवम्—तरल पदार्थ; तोये—जल में; यथा-स्थानम्—उपयुक्त स्थान पर; विभागशः—जिस प्रकार वे विभाजित हैं; क्षितिम्—पृथ्वी; अम्भसि—जल में; तत्—वह; तेजसि—अग्नि में; अदः—अग्नि; वायौ—वायु में; नभसि—आकाश में; अमुम्—उस।

इस प्रकार पृथु महाराज ने अपनी इन्द्रियों के छिद्रों को आकाश में और अपने शरीर के द्रवों, यथा रक्त तथा विभिन्न स्रावों को, समष्टि जल में, पृथ्वी को जल में, फिर जल को अग्नि में,

अग्नि को वायु में और वायु को आकाश में मिला दिया (लीन कर दिया)।

तात्पर्य : इस श्लोक में महत्त्वपूर्ण शब्द हैं—*यथास्थानं विभागश: । श्रीमद्‌भागवत* के द्वितीय स्कंध के पंचम अध्याय में ब्रह्मा ने नारद से स्पष्ट बताया है कि सृष्टि कैसे बनी और फिर इन्द्रियों के विभाग, इन्द्रियों के नियामक, इन्द्रियों के पदार्थ (तन्मात्रा) तथा भौतिक तत्त्व इत्यादि को एक-एक करके समझाया है। उन्होंने यह भी बताया है कि वे एक के पश्चात् एक—वायु आकाश से, अग्नि वायु से, जल अग्नि से, पृथ्वी जल से, किस प्रकार उत्पन्न हुए। सृष्टि की प्रक्रिया को समझना आवश्यक है, जैसे जैसे यह दृश्य जगत पर लागू होता है। इसी प्रकार परमेश्वर द्वारा यह शरीर भी उसी प्रक्रिया से उत्पन्न किया जाता है। ब्रह्माण्ड में प्रवेश करके भगवान् इस दृश्य जगत की उत्पत्ति उत्तरोत्तर करते हैं। इसी प्रकार जीवात्मा माता के गर्भ में प्रवेश करके अपने स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर को समष्टि आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी से अवयवों को ग्रहण करके संचित करता है। *यथास्थानं विभागश:* शब्द सूचित करते हैं कि मनुष्य को सृष्टि-प्रक्रिया समझनी चाहिए और इस सृष्टि प्रक्रिया के विलोम-क्रम पर विचार करना चाहिए जिससे भौतिक कल्मष से मुक्त हुआ जा सके।

इन्द्रियेषु मनस्तानि तन्मात्रेषु यथोद्भवम् ।
भूतादिनामून्युत्कृष्य महत्यात्मनि सन्दधे ॥ १७॥

शब्दार्थ

इन्द्रियेषु—इन्द्रियों में; मनः—मन; तानि—इन्द्रियों को; तत्-मात्रेषु—इन्द्रियों के पदार्थों में; यथा-उद्भवम्—जहाँ से उनकी उत्पत्ति हुई; भूत-आदिना—पाँचों तत्त्वों द्वारा; अमूनि—वे सारे इन्द्रिय पदार्थ (तन्मात्राएँ); उत्कृष्य—बाहर निकाल कर; महति—महत्तत्व में; आत्मनि—अहंकार को; सन्दधे—लीन कर दिया।.

उन्होंने स्थितियों के अनुसार मन को इन्द्रियों में और इन्द्रियों को इन्द्रियपदार्थों (तन्मात्राओं) में और अहंकार को समष्टि भौतिक शक्ति, महत् तत्त्व, में लीन कर दिया।

तात्पर्य : जहाँ तक अहंकार का प्रश्न है, सम्पूर्ण भौतिक शक्ति दो भागों में प्राप्त की जाती है—एक तो तमोगुण से विक्षुब्ध होकर तथा दूसरा रजोगुण तथा सतोगुण से विक्षुब्ध होकर। तमोगुण के विक्षोभ से पाँचों स्थूल तत्त्व उत्पन्न होते हैं। रजोगुण के विक्षोभ से मन और सतोगुण के विक्षोभ से मिथ्या अहंकार उत्पन्न होता है। मन की रक्षा एक विशेष देवता द्वारा होती है। कभी-कभी मन का अधीक्षक कोई देव या देवता भी माना जाता है। इस प्रकार समष्टि मन अर्थात् भौतिक देवता द्वारा नियंत्रित भौतिक मन इन्द्रियों में लीन कर दिया गया। इन्द्रियों को इन्द्रिय-पदार्थों (तन्मात्राओं) में लीन

किया गया। इन्द्रिय पदार्थ हैं—रूप, स्वाद, गंध, शब्द इत्यादि। शब्द (नाद) ही इन्द्रिय-पदार्थों का चरम स्रोत है। मन इन्द्रियों द्वारा और इन्द्रियाँ तन्मात्राओं द्वारा आकर्षित हुईं और इन सबों को अन्त में आकाश में लीन कर दिया गया। सृष्टि इस प्रकार से सुनियोजित है कि कारण तथा कार्य एक के बाद एक आते रहते हैं। प्रलय प्रक्रिया में मूल कार्य एवं कारण समाहित रहता है। चूँकि भौतिक जगत में चरम कारण *महत् तत्त्व* है, अत: प्रत्येक वस्तु क्रमश: समाप्त होकर महत् तत्त्व में लीन हो गई। इसकी तुलना *शून्यवाद* से की जा सकती है, किन्तु यह तो असली आध्यात्मिक मन या चेतना को शुद्ध करने की विधि है।

जब मन के समस्त भौतिक कल्मष धुल जाते हैं, तो शुद्ध चेतना काम करने लगती है। दिव्याकाश की ध्वनि लहरी (नाद) स्वत: ही समस्त कल्मषों को धो सकती है, जिसकी पुष्टि चैतन्य महाप्रभु ने की है—*चेतो-दर्पण-मार्जनम्।* समस्त भौतिक कल्मषों को मन से धो डालने के लिए हमें चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए और हरे कृष्ण मंत्र का जप करना चाहिए। इस कठिन श्लोक का यही सारांश समझना चाहिए। ज्योंही जप की इस विधि से सारा भौतिक कल्मष धुल जाता है, त्योंही सारी इच्छाएँ तथा भौतिक कर्मों के फल लुप्त हो जाते हैं और असली शान्तिप्रद जीवन प्रारम्भ हो जाता है। इस कलियुग में इस श्लोक में वर्णित योग-विधि को सम्पन्न कर पाना अत्यन्त दुष्कर है। जब तक कोई ऐसे योग में पटु न हो, सर्वोत्तम यही है कि भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु की विधि को अपनाया जाये और यह विधि है *श्रीकृष्ण संकीर्तनम्।* इस प्रकार हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे, मंत्र के जप की सरल विधि से समस्त भौतिक कल्मषों से मुक्त हुआ जा सकता है। जिस तरह इस भौतिक संसार का प्रारम्भ भौतिक शब्द (नाद) से होता है उसी तरह आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ आध्यात्मिक शब्द (नाद) से होता है।

तं सर्वगुणविन्यासं जीवे मायामये न्यधात्
तं चानुशयमात्मस्थमसावनुशयी पुमान् ।
ज्ञानवैराग्यवीर्येण स्वरूपस्थोऽजहात्प्रभु: ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; सर्व-गुण-विन्यासम्—समस्त गुणों के अगार; जीवे—उपाधियों को; माया-मये—समस्त शक्तियों का आगार; न्यधात्—स्थित किया; तम्—उस; च—भी; अनुशयम्—उपाधि; आत्म-स्थम्—आत्म-साक्षात्कार में स्थित; असौ—वह;

अनुशयी—जीवात्मा; पुमान्—भोक्ता; ज्ञान—ज्ञान; वैराग्य—विरक्ति; वीर्येण—वीर्य से; स्वरूप-स्थः—अपनी स्वाभाविक स्थिति में स्थित; अजहात्—धाम को वापस गया; प्रभुः—नियन्ता के।

तब पृथु महाराज ने जीवात्मा की सम्पूर्ण उपाधि माया के परम प्रभु (नियन्ता) को सौंप दी। ज्ञान तथा वैराग्य एवं भक्ति की आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा वे जीवात्मा की उन समस्त उपाधियों से मुक्त हो गये, जिनसे वे घिरे थे। इस प्रकार कृष्णभावना की अपनी मूल स्वाभाविक स्थिति (स्वरूप-स्थिति) में रहकर उन्होंने प्रभु (इन्द्रियों के नियन्ता) के रूप में अपने शरीर को त्याग दिया।

तात्पर्य : जैसाकि वेदों में कथित है भगवान् ही भौतिक शक्ति के स्रोत हैं। इसीलिए उन्हें कभी-कभी *मायामय* कहा जाता है, जिसका अर्थ है, वह परम पुरुष जो अपनी भौतिक शक्ति से लीलाएँ करता है। भगवान् की परम इच्छा से जीव भौतिक शक्ति के फन्दे में आ जाता है। *भगवद्गीता* से (१८.६१) हमें पता चलता है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

ईश्वर समस्त बद्धजीवों के हृदय में स्थित हैं और उन्हीं की परम इच्छा से जीवात्मा विभिन्न प्रकार के शरीरों में भौतिक प्रकृति के ऊपर शासन करने की सुविधा प्राप्त करता है। शरीर एक चलायमान यंत्र है, जो सम्पूर्ण भौतिक माया द्वारा प्रदत्त है। यद्यपि जीव तथा भगवान् दोनों ही भौतिक शक्ति (माया) के अन्तर्गत स्थित हैं, किन्तु भगवान् जीव को माया द्वारा विविध शरीर प्रदान करके उसकी गतियों को निर्देशित करता है। इस प्रकार जीव सारे ब्रह्माण्डों में विविध शरीर-रूपों में भ्रमण करता है और कर्मफलों में भाग लेते हुए विभिन्न स्थितियों में फँसता रहता है।

जब पृथु महाराज ज्ञान की वृद्धि तथा इच्छाओं से विरक्ति के कारण आध्यात्मिक रूप से सशक्त हो गये तो वे *प्रभु* अर्थात् इन्द्रियों के स्वामी (कभी-कभी गोस्वामी या स्वामी भी) हो गये। इसका अर्थ यह हुआ कि अब वे माया द्वारा नियंत्रित नहीं हो रहे थे। जब मनुष्य इतना प्रबल हो जाता है कि माया का प्रभाव त्याग सके तो वह *प्रभु* कहलाता है। इस श्लोक का *स्वरूपस्थः* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक जीव की वास्तविक पहचान यह है कि वह यह समझे कि मैं कृष्ण का शाश्वत दास हूँ। यह ज्ञान *स्वरूपोपलब्धि* कहलाता है। भक्ति करते रहने से भक्त धीरे-धीरे भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को

समझने लगता है। अपनी विशुद्ध आध्यात्मिक स्थिति का यह ज्ञान ही स्वरूपोपलब्धि है और जब कोई इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है, तो वह समझ सकता है कि वह भगवान् के साथ किस रूप में अर्थात् दास, मित्र या पिता अथवा प्रेमी के रूप में सम्बन्धित है। यह समझ *स्वरूपस्थ:* कहलाती है। पृथु महाराज को इस स्वरूप का अच्छी तरह ज्ञान था और अगले श्लोकों से स्पष्ट हो जाएगा कि उन्होंने स्वयं ही इस संसार या शरीर को वैकुण्ठ से आये रथ पर चढ़कर छोड़ दिया।

इस श्लोक में *प्रभु* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि जब कोई पूर्ण रूप से स्वरूपसिद्ध हो जाता है और उसी स्थिति के अनुसार कार्य करता है, तो वह *प्रभु* कहलाता है। गुरु को ''प्रभुपाद'' कहा जाता है, क्योंकि वह पूर्ण रूप से स्वरूपसिद्ध जीव होता है। पाद का अर्थ है ''स्थान या पद'' अत: *प्रभुपाद* से सूचित होता है कि उसे प्रभु या भगवान् का पद प्रदान किया गया है, क्योंकि वह भगवान् की ओर से कार्य करता है। जब तक कोई इन्द्रियों का नियामक अथवा प्रभु नहीं होता वह गुरु की तरह कार्य नहीं कर सकता जिसे परम प्रभु भगवान् कृष्ण द्वारा अधिकृत किया होता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने गुरु की प्रशंसा में कहा है—

साक्षाद् धरित्वेन समस्त शास्त्रैर-

रुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्भि:।

''गुरु को परमेश्वर के ही समान आदर प्राप्त है, क्योंकि वह भगवान् का अत्यन्त विश्वासपात्र सेवक है।'' इस प्रकार पृथु महाराज को भी प्रभुपाद या प्रभु कहा जा सकता है जैसाकि यहाँ पर कहा गया है। इस सम्बन्ध में एक अन्य प्रश्न पूछा जा सकता है। चूँकि पृथु महाराज भगवान् के *शक्त्यावेशावतार* थे, अत: प्रभु बनने के लिए उन्हें विधि-विधानों को सम्पन्न करने की क्या आवश्यकता थी? चूँकि वे इस पृथ्वी पर आदर्श राजा के रूप में प्रकट हुए थे और चूँकि राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा को भक्ति करने का आदेश दे, अत: उन्होंने अन्यों को शिक्षा देने के लिए भक्ति के विधि-विधानों का पालन किया। इसी प्रकार यद्यपि चैतन्य महाप्रभु स्वयं कृष्ण थे, किन्तु उन्होंने हमें शिक्षा दी कि किस प्रकार भक्त के रूप में श्रीकृष्ण तक पहुँचा जाये। कहा गया है *आपनि आचरि' भक्ति शिखाइनु सबारे।* भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने अपने व्यक्तिगत कार्यों के माध्यम से आदर्श प्रस्तुत करते हुए अन्यों के समक्ष भक्ति की विधि की शिक्षा दी। इसी प्रकार से पृथु महाराज यद्यपि *शक्त्यावेश*

अवतार थे, प्रभु का पद प्राप्त करने के लिए एक भक्त सा आचरण किया। यही नहीं, *स्वरूपस्थ:* का अर्थ है ''पूर्ण मोक्ष'' जैसाकि भागवत (२.१०.६) में कहा गया है—*हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थिति:*—जब जीव माया के कार्यों का परित्याग कर देता है और ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेता है, जिसमें वह भक्ति कर सके तो उसकी यह अवस्था *स्वरूपस्थ:* या पूर्णमोक्ष कहलाती है।

अर्चिर्नाम महाराज्ञी तत्पत्न्यनुगता वनम् ।
सुकुमार्यतदर्हा च यत्पद्भ्यां स्पर्शनं भुव: ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अर्चि: नाम—अर्चि नामक; महा-राज्ञी—महारानी; तत्-पत्नी—महाराज पृथु की पत्नी; अनुगता—अपने पति के साथ जाने वाली; वनम्—वन को; सु-कुमारी—अत्यन्त कोमल शरीर वाली; अ-तत्-अर्हा—योग्य न होना; च—भी; यत्-पद्भ्याम्—जिसके चरण से; स्पर्शनम्—स्पर्श; भुव:—पृथ्वी पर।

पृथु महाराज की पत्नी महारानी अर्चि अपने पति के साथ वन को गई थीं। महारानी होने के कारण उनका शरीर अत्यन्त कोमल था। यद्यपि वे वन में रहने के योग्य न थीं, किन्तु उन्होंने स्वेच्छा से अपने चरणकमलों से पृथ्वी का स्पर्श किया।

तात्पर्य : पृथु महाराज की पत्नी महारानी और राजा की पुत्री भी थीं, अत: उन्हें पृथ्वी पर चलने का अनुभव न था, क्योंकि महारानियाँ महलों के बाहर निकलती ही नहीं थीं। वे जंगलों में तो नहीं ही गई थीं और उस सूनसान में रहने की कठिनाइयों का अनुभव नहीं किया था। वैदिक सभ्यता में महारानियों द्वारा ऐसे त्याग एवं पति के प्रति निष्ठा के सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं। जब रामचन्द्र वन को गये तो माता सीता भी पति के साथ-साथ गईं। भगवान् रामचन्द्र अपने पिता के आज्ञापालन हेतु वन गये थे, किन्तु माता सीता को ऐसा कोई आदेश नहीं था। फिर भी उन्होंने स्वेच्छा से अपने पति के मार्ग का अनुसरण किया। इसी प्रकार राजा धृतराष्ट्र की पत्नी गान्धारी भी अपने पति के साथ वन को गईं। पृथु, भगवान् रामचन्द्र तथा धृतराष्ट्र जैसे महापुरुषों की पत्नियाँ होने के कारण वे सभी आदर्श पतिव्रता स्त्रियाँ थीं। ऐसी महारानियों ने भी सामान्य लोगों को, यह दिखाकर कि किस प्रकार पतिव्रता बन कर जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में पति का अनुगमन करना चाहिए, शिक्षाएँ दी हैं। यदि पति राजा होता है, तो वे उसके पार्श्व में महारानी की तरह बैठती हैं और यदि वह वन को जाता है, तो वे उसका अनुगमन करती हैं, भले ही वन में उन्हें कितने ही कष्ट क्यों न सहने पड़ें। इसलिए यहाँ यह कहा गया है (*अतद्-अर्हा*) कि यद्यपि वे अपना पाँव भूमि पर नहीं रखना चाहती थीं तो भी जब वे अपने पति

के साथ वन को गईं उन्होंने सारे कष्ट अंगीकार किये।

अतीव भर्तुर्व्रतधर्मनिष्ठया
शुश्रूषया चार्षदेहयात्रया ।
नाविन्दतार्तिं परिकर्शितापि सा
प्रेयस्करस्पर्शनमाननिर्वृतिः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अतीव—अत्यधिक; भर्तुः—पति का; व्रत-धर्म—सेवा का व्रत; निष्ठया—संकल्प से; शुश्रूषया—सेवा से; च—भी; आर्ष—ऋषि के समान; देह—शरीर; यात्रया—रहन-सहन; न—नहीं; अविन्दत—देखा; आर्तिम्—कोई कष्ट; परिकर्शिता अपि—दुर्बल होने पर भी; सा—वह; प्रेयः-कर—अत्यन्त सुखद; स्पर्शन—स्पर्श; मान—लगा हुआ; निर्वृतिः—आनन्द।

यद्यपि महारानी अर्चि ऐसे कष्टों को सहने की अभ्यस्त न थीं, तो भी वन में रहने के अनुष्ठानादि में उन्होंने ऋषियों की तरह अपने पति का साथ दिया। वे भूमि पर शयन करतीं और केवल फल, फूल और पत्तियाँ खातीं। चूँकि वे इन कार्यों के लिए उपयुक्त न थीं, अतः वे अत्यन्त दुर्बल हो गईं। फिर भी अपने पति की सेवा करने से उन्हें जो आनन्द प्राप्त होता था उसके कारण उन्हें किसी कष्ट का अनुभव नहीं होता था।

तात्पर्य : *भर्तुर्व्रतधर्मनिष्ठया* शब्द सूचित करते हैं कि स्त्री का धर्म है कि सभी परिस्थितियों में पति की सेवा करे। वैदिक सभ्यता में जीवन के प्रारम्भ से ही मनुष्य को ब्रह्मचारी, फिर आदर्श गृहस्थ, तब वानप्रस्थ और अन्त में संन्यासी बनने की शिक्षा दी जाती है। स्त्री को सभी परिस्थितियों में पति का अनुगमन करने की शिक्षा दी जाती है। ब्रह्मचर्य अवस्था के बाद मनुष्य गृहस्थ जीवन अपनाता है। स्त्री को भी माता-पिता द्वारा शिक्षा दी जाती है कि वह पतिव्रता पत्नी बने। इस प्रकार जब लड़की तथा लड़के का गठबंधन किया जाता है, तो दोनों को उच्च उद्देश्य के लिए जीवन अर्पित करने की शिक्षा दी जाती है। लड़के को शिक्षा दी जाती है कि वह जीवन के इस महदुद्देश्य के लिए अपना कर्तव्य निबाहे और लड़की से कहा जाता है कि वह पति का अनुगमन करे। पतिव्रता स्त्री का कर्तव्य है कि गृहस्थ जीवन में वह अपने पति को सभी प्रकार से प्रसन्न रखे। और जब पति पारिवारिक जीवन से निवृत्त हो, तो वह वन जाये और वानप्रस्थ जीवन या वनवासी जीवन बिताए। उस समय पत्नी को अपने पति के साथ रहकर उसकी वैसी ही देख-भाल करनी चाहिए जैसी कि गृहस्थ जीवन में करती थी। किन्तु जब पति संन्यास ग्रहण करे तो पत्नी को घर लौटकर साध्वी बनकर अपने बच्चों तथा पुत्र-वधुओं के समक्ष

आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए और उन्हें दिखाना चाहिए कि किस प्रकार तपस्वी जीवन बिताया जाये।

जब श्री चैतन्य महाप्रभु ने संन्यास ग्रहण किया, तो उनकी पत्नी विष्णुप्रियादेवी ने भी अपने पति के गृहत्याग के कारण तपस्वी जीवन बिताने का व्रत ले लिया, यद्यपि उनकी आयु केवल सोलह वर्ष की थी। वे माला जपतीं और एक माला पूरी करने के पश्चात् चावल का एक दाना एकत्र करतीं। इस प्रकार वे जितनी बार माला फेरतीं उतने ही चावल एकत्र करतीं, तब उन्हें पकातीं और प्रसाद ग्रहण करतीं। इसे तपस्या कहते हैं। आज भी भारत में विधवाएँ अथवा वे स्त्रियाँ, जिनके पति संन्यास ग्रहण कर लेते हैं, अपने बच्चों के साथ रहते हुए भी तपस्या के नियमों का पालन करती हैं। पृथु महाराज की पत्नी अर्चि पत्नी का धर्म निबाहने के लिए दृढ़संकल्प थीं और जब उनके पति वन में थे तो वे केवल फल तथा पत्तियां खातीं और भूमि पर लेटती थीं। चूँकि स्त्री का शरीर पुरुष की अपेक्षा अधिक सुकोमल होता है, अतः रानी अर्चि अत्यन्त दुर्बल—*परिकर्शिता*—हो गईं। जब कोई तपस्या करता है, तो उसका शरीर प्रायः दुर्बल हो जाता है। आध्यात्मिक जीवन में मोटा होना कोई गुण नहीं, क्योंकि आध्यात्मिक जीवन में लगे रहने से शरीर की सुविधाएँ—खाना, सोना, संभोग इत्यादि—न्यूनतम हो जाती हैं। जंगल में विधि-विधानों के अनुसार रहने से अत्यन्त दुर्बल हो जाने पर भी रानी अर्चि अप्रसन्न न थीं, क्योंकि उन्हें अपने महान् पति की सेवा का सुअवसर मिल रहा था।

देहं विपन्नाखिलचेतनादिकं
पत्युः पृथिव्या दयितस्य चात्मनः ।
आलक्ष्य किञ्चिच्च विलप्य सा सती
चितामथारोपयदद्रिसानुनि ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

देहम्—शरीर; विपन्न—पूर्णतया रहित; अखिल—समस्त; चेतन—जीवन से; आदिकम्—लक्षणों; पत्युः—अपने पति के; पृथिव्याः—संसार; दयितस्य—दयालु का; च आत्मनः—तथा अपना; आलक्ष्य—देखकर; किञ्चित्—अत्यल्प; च—तथा; विलप्य—विलाप करके; सा—वह; सती—पतिव्रता; चिताम्—चिता पर; अथ—अब; आरोपयत्—रखा; अद्रि—पर्वत; सानुनि—चोटी पर।

जब महारानी अर्चि ने अपने पति को, जो उनके प्रति तथा पृथ्वी के प्रति अत्यन्त दयालु थे, जीवन के लक्षणों से रहित देखा तो उन्होंने थोड़ा विलाप किया और फिर पर्वत की चोटी पर चिता बनाकर अपने पति के शरीर को उस पर रख दिया।

तात्पर्य : यह देखकर कि उनके पति में जीवन के सभी लक्षण क्षीण हो चुके हैं, महारानी ने थोड़ी

देर तक विलाप किया। *किञ्चित्* का अर्थ है "कुछ समय के लिए।" महारानी को भली भाँति जानती थीं कि उनके पति मरे नहीं थे, भले ही जीवन के लक्षण—गति, बुद्धि तथा इन्द्रिय—बोध बन्द हो चुके थे। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.१३) में कहा गया है—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

"जिस तरह इस शरीर में देहधारी आत्मा निरन्तर बचपन से युवावस्था और फिर वृद्धावस्था में जाता है, उसी प्रकार मृत्यु होने पर आत्मा दूसरे शरीर में चला जाता है। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति कभी ऐसे परिवर्तन से मोहग्रस्त नहीं होता।"

जब जीव एक शरीर से दूसरे में स्थानान्तरित होता है, जिसे सामान्य रूप से मृत्यु कहते हैं, तो बुद्धिमान मनुष्य कभी विलाप नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि जीव मरा नहीं, केवल एक शरीर से दूसरे में स्थानान्तरित हुआ है। महारानी को अपने पति के शव के साथ वन में अकेला होने के कारण भयभीत होना चाहिए था, किन्तु महान् पुरुष की पत्नी होने के कारण वे क्षण भर तक रोईं और तुरन्त समझ गईं कि उन्हें अनेक कार्य करने हैं। अत: विलाप में अपना समय न गँवा करके, उन्होंने पर्वत की चोटी पर तुरन्त चिता तैयार की और उस पर अपने पति के शरीर को जलने के लिए रख दिया।

महाराज पृथु को यहाँ *दयित* कहा गया है, क्योंकि वे न केवल इस पृथ्वी के राजा थे, वरन् अपनी सन्तान के समान पृथ्वी की रक्षा करते थे। इसी प्रकार वे अपनी पत्नी की भी रक्षा करते थे। राजा का कर्तव्य होता था कि हर एक को, विशेष रूप से पृथ्वी या जिस भूमि का वह शासक हो तथा प्रजा और परिजनों को सुरक्षा प्रदान करे। चूँकि पृथु महाराज कुशल राजा थे, अत: उन्होंने हर एक को सुरक्षा प्रदान की। इसीलिए उन्हें यहाँ पर *दयित* कहा गया है।

विधाय कृत्यं ह्रदिनीजलाप्लुता
दत्त्वोदकं भर्तुरुदारकर्मण: ।
नत्वा दिविस्थांस्त्रिदशांस्त्रि: परीत्य
विवेश वह्निं ध्यायती भर्तृपादौ ॥ २२॥

शब्दार्थ

विधाय—सम्पन्न करके; कृत्यम्—अनुष्ठान; ह्रदिनी—छोटी नदी के जल में; जल-आप्लुता—अच्छी तरह स्नान करके; दत्त्वा उदकम्—जलाञ्जलि देकर; भर्तुः—अपने पति की; उदार-कर्मणः—जो अत्यन्त उदार था; नत्वा—नमस्कार करके; दिवि-स्थान्—आकाश में स्थित; त्रि-दशान्—तीन करोड़ देवता; त्रिः—तीन बार; परीत्य—परिक्रमा करके; विवेश—प्रवेश किया; वह्निम्—अग्नि में; ध्यायती—ध्यान करती हुई; भर्तृ—अपने पति के; पादौ—दोनों चरणकमल।.

इसके पश्चात् महारानी ने आवश्यक दाह-कृत्य किये और जलाञ्जलि दी। फिर नदी में स्नान करके उन्होंने आकाश स्थित विभिन्न लोकों के विभिन्न देवताओं को नमस्कार किया। तब अग्नि की प्रदक्षिणा की और अपने पति के चरणकमलों का ध्यान करते हुए उन्होंने अग्नि की लपटों में प्रवेश किया।

तात्पर्य : अपने मृत पति की चिता की लपटों में सती पत्नी का प्रवेश *सह-गमन* कहलाता है। *सह-गमन* की वैदिक सभ्यता में यह प्रथा अनन्त काल से चली आ रही है, यहाँ तक कि भारत में अंग्रेजी राज्य काल में भी इसका कठोरता से पालन होता रहा। किन्तु धीरे-धीरे इसका ह्रास होता गया, यहाँ तक कि जब पत्नी अपने मृत पति के साथ अग्नि में प्रवेश करने का साहस न करती तो उसके सम्बन्धी उसे अग्नि में झोंकने लगे। इस तरह इस प्रथा को बन्द करना पड़ा। किन्तु आज भी ऐसे छिट-पुट काण्ड होते हैं जहाँ पत्नी स्वेच्छा से अपने पति के साथ अग्नि में भस्म हो जाती है। १९४० ई. के बाद भी हमने एक सती को इस प्रकार मरते देखा है।

विलोक्यानुगतां साध्वीं पृथुं वीरवरं पतिम् ।
तुष्टुवुर्वरदा देवैर्देवपत्न्यः सहस्रशः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

विलोक्य—देखकर; अनुगताम्—पति के बाद मरते; साध्वीम्—पतिव्रता स्त्री को; पृथुम्—राजा पृथु की; वीर-वरम्—परम योद्धा; पतिम्—पति; तुष्टुवुः—स्तुति की; वर-दाः—वर देने में समर्थ, वरदायिनी; देवैः—देवताओं के साथ; देव-पत्न्यः—देवताओं की पत्नियों ने; सहस्रशः—हजारों।.

महान् राजा पृथु की पतिव्रता पत्नी अर्चि के इस वीरतापूर्ण कार्य को देखकर हजारों देवपत्नियों ने प्रसन्न होकर अपने पतियों सहित रानी की स्तुति की।

कुर्वत्यः कुसुमासारं तस्मिन्मन्दरसानुनि ।
नदत्स्वमरतूर्येषु गृणन्ति स्म परस्परम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

कुर्वत्यः—करते हुए; कुसुम-आसारम्—फूलों की वर्षा; तस्मिन्—उसमें; मन्दर—मन्दर पर्वत की; सानुनि—चोटी पर; नदत्सु—बजते हुए; अमर-तूर्येषु—देवताओं के नगाड़े की ध्वनि; गृणन्ति स्म—बातें कर रही थीं; परस्परम्—एक दूसरे से।.

उस समय देवता मन्दर पर्वत की चोटी पर आसीन थे। उनकी पत्नियाँ चिता की अग्नि पर

फूलों की वर्षा करने लगीं और एक दूसरे से (इस प्रकार) बातें करने लगीं।

देव्य ऊचुः

अहो इयं वधूर्धन्या या चैवं भूभुजां पतिम् ।
सर्वात्मना पतिं भेजे यज्ञेशं श्रीर्वधूरिव ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

देव्यः ऊचुः—देवों की पत्नियों (देवियों) ने कहा; अहो—ओह; इयम्—यह; वधूः—पत्नी; धन्या—धन्य है; या—जो; च—भी; एवम्—जिस तरह; भू—संसार का; भुजाम्—सारे राजाओं का; पतिम्—राजा को; सर्व-आत्मना—सब प्रकार से; पतिम्—पति को; भेजे—पूजा की; यज्ञ-ईशम्—भगवान् विष्णु को; श्रीः—लक्ष्मी; वधूः—पत्नी; इव—समान।

देवताओं की पत्नियों ने कहा : महारानी अर्चि धन्य हैं! हम देख रही हैं कि राज राजेश्वर पृथु की इस महारानी ने अपने पति की अपने मन, वाणी तथा शरीर से उसी प्रकार सेवा की है, जिस प्रकार ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी भगवान् यज्ञेश अथवा विष्णु की करती हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *यज्ञेशं श्रीर्वधूरिव* शब्द सूचित करते हैं कि महारानी अर्चि ने अपने पति की सेवा उसी प्रकार से की जिस तरह ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी भगवान् विष्णु की करती हैं। हम इस संसार के इतिहास में भी देख सकते हैं कि जब भगवान् कृष्ण, जो परम विष्णु हैं, द्वारका में राज्य कर रहे थे तो कृष्ण की पटरानी रुक्मिणी अपने हाथों से भगवान् की सेवा करती थीं, यद्यपि उनकी सहायता के लिए हजारों दासियाँ रहती थीं। इसी प्रकार वैकुण्ठलोक में लक्ष्मी जी स्वयं नारायण की सेवा करती हैं, यद्यपि भगवान् की सेवा के लिए हजारों भक्त उद्यत रहते हैं। देवताओं की पत्नियाँ भी ऐसा ही करती हैं और पुराने जमाने में सारे मनुष्यों की पत्नियाँ भी ऐसा करती थीं। वैदिक सभ्यता में स्त्री तथा पुरुष मानव निर्मित तलाक जैसे कानून से विलग नहीं होते थे। हमें मानव समाज में पारिवारिक जीवन बनाये रखने की आवश्यकता को समझना चाहिए और तलाक के कृत्रिम कानून का सदा के लिए उन्मूलन कर देना चाहिए। पति तथा पत्नी को कृष्णभक्ति करनी चाहिए और लक्ष्मी-नारायण अथवा कृष्ण-रुक्मिणी का अनुकरण करना चाहिए। इस प्रकार संसार में शान्ति तथा सामंजस्य स्थापित हो सकता है।

सैषा नूनं व्रजत्यूर्ध्वमनु वैन्यं पतिं सती ।
पश्यतास्मानतीत्यार्चिर्दुर्विभाव्येन कर्मणा ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; एषा—यह; नूनम्—अवश्य ही; व्रजति—जा रही है; ऊर्ध्वम्—ऊपर की ओर; अनु—पीछे-पीछे; वैन्यम्—वेन के पुत्र, पृथु; पतिम्—पति; सती—सती; पश्यत—जरा देखो तो; अस्मान्—हमको; अतीत्य—ऊपर से पार करके, लाँघकर; अर्चिः—अर्चि; दुर्विभाव्येन—अकल्पनीय; कर्मणा—कार्यों से।

देवों की पत्नियों ने आगे कहा : जरा देखो तो कि वह सती नारी अर्चि किस प्रकार अपने अचिन्त्य पुण्य कर्मों के प्रभाव से अब भी अपने पति का अनुगमन करती हुई ऊपर की ओर, जहाँ तक हम देख सकती हैं, चली जा रही है।

तात्पर्य : महाराज पृथु का विमान तथा महारानी अर्चि को ले जाने वाला विमान, ये दोनों ही स्वर्गलोक की नारियों की दृष्टि से ओझल हो रहे थे। ये नारियाँ आश्चर्यचकित थीं कि किस प्रकार पृथु महाराज तथा उनकी पत्नी को इतना सम्मानित पद प्राप्त हुआ है। यद्यपि वे उच्च लोक के निवासियों की पत्नियाँ थीं और पृथु महाराज निम्न लोक (पृथ्वी) के निवासी थे, किन्तु राजा अपनी पत्नी समेत देवलोक से ऊपर वैकुण्ठलोक को जा रहे थे। *ऊर्ध्वम्* (ऊपर की ओर) शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जो नारियाँ बातें कर रहीं थीं वे, चन्द्रमा, सूर्य से लेकर ब्रह्मलोक या सर्वोच्च लोकों की थीं। ब्रह्मलोक के ऊपर दिव्याकाश है और उस आकाश में असंख्य वैकुण्ठ लोक हैं। अत: *ऊर्ध्वम्* शब्द सूचित करता है कि वैकुण्ठलोक इन भौतिक लोकों से परे या ऊपर हैं और पृथु तथा उनकी पत्नी अर्चि इन्हीं वैकुण्ठलोकों को जा रहे थे। इससे यह भी सूचित होता है कि पृथु तथा उनकी पत्नी अर्चि अपना-अपना भौतिक शरीर अग्नि में छोड़ते ही तुरन्त आध्यात्मिक शरीर धारण करके दिव्य विमानों में बैठ गये जो भौतिक तत्त्वों को पार कर आध्यात्मिक आकाश में पहुँच सकते थे। वे पृथक् -पृथक् विमानों में आरूढ़ थे, अत: यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चिता में भस्म होने पर भी उनके शरीर पृथ्क-पृथ्क व्यक्ति रहे। दूसरे शब्दों में, उन्होंने कभी अपनी सत्ता नहीं खोई, अर्थात् शून्य नहीं हुए, जैसाकि निर्विशेषवादी कल्पना करते हैं।

स्वर्ग की नारियाँ ऊपर तथा नीचे दोनों ओर देखने में सक्षम थीं। जब वे नीचे देख रही थीं तो उन्हें पृथु का शरीर भस्म होते और अर्चि को चिता में प्रविष्ट होते देखा और जब वे ऊपर देख रही थीं तो उन्हें दिखा कि वे दोनों अलग-अलग विमानों में किस तरह वैकुण्ठलोक को जा रहे हैं। यह सब *दुर्विभाव्येन कर्मणा* अर्थात् अचिन्त्य कर्म द्वारा सम्भव है। पृथु महाराज शुद्ध भक्त थे और उनकी पत्नी अर्चि केवल अपने पति का अनुगमन कर रही थीं, फलत: वे दोनों शुद्ध भक्त माने जा सकते हैं जिससे वे अचिन्त्य-कर्म करने में सक्षम थे। ऐसे कर्म सामान्य व्यक्ति द्वारा सम्भव नहीं हैं। सचमुच ही,

सामान्य पुरुषों के लिए भक्ति करना भी सरल नहीं, न ही सामान्य स्त्रियाँ पातिव्रत्य धर्म का निर्वाह करके सभी प्रकार से अपने पतियों का साथ दे सकती हैं। स्त्री को उच्च योग्यता की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी कि अपने भक्त पति के चरणचिह्नों पर चलने की है। तभी पति तथा पत्नी दोनों मोक्ष प्राप्त करते हैं और वैकुण्ठलोक को जाते हैं। यह महाराज पृथु तथा उनकी पत्नी के अचिन्त्य कर्मों द्वारा प्रत्यक्ष है।

तेषां दुरापं किं त्वन्यन्मर्त्यानां भगवत्पदम् ।
भुवि लोलायुषो ये वै नैष्कर्म्यं साधयन्त्युत ॥ २७॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उनके लिए; दुरापम्—प्राप्त करना कठिन, दुर्लभ; किम्—क्या; तु—लेकिन; अन्यत्—और कुछ; मर्त्यानाम्—मनुष्यों का; भगवत्-पदम्—भगवान् का राज्य; भुवि—संसार में; लोल—क्षणिक; आयुषः—जीवन अवधि; ये—वे; वै—निश्चय ही; नैष्कर्म्यम्—मोक्ष का मार्ग; साधयन्ति—पालन करते हैं; उत—सही सही।

इस संसार में प्रत्येक मनुष्य का जीवन-काल लघु है, किन्तु जो भक्ति में अनुरक्त हैं, वे भगवान् के धाम वापस जाते हैं, क्योंकि वे सचमुच मोक्ष के मार्ग पर होते हैं। ऐसे लोगों के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.३३) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।* यह संसार दुखों (*असुखम्*) से पूर्ण है और साथ ही अनित्य है, अतः मनुष्य का एकमात्र कर्तव्य है कि वह अपने आपको भक्ति में लगाए। मानव जीवन का यही सर्वोत्तम अन्त है। जो भक्त भगवान् के चरणकमलों की सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं उन्हें न केवल समस्त भौतिक लाभ प्राप्त होते हैं, वरन् समस्त आत्मिक लाभ भी मिलते हैं, क्योंकि जीवन के अन्त समय में वे भगवान् के धाम वापस जाते हैं। उनके गन्तव्य को इस श्लोक में *भगवत्-पदम्* कहा गया है। *पदम्* शब्द का अर्थ है "धाम" है तथा *भगवत्* का अर्थ "भगवान् का।" इस प्रकार भक्तों का गन्तव्य भगवान् का धाम है।

इस श्लोक में *नैष्कर्म्यम्* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है "दिव्य ज्ञान।" जब तक मनुष्य दिव्य ज्ञान को प्राप्त करके भगवान् की भक्ति नहीं करता तब तक वह पूर्ण नहीं होता। सामान्यतः ज्ञान, योग तथा कर्म विधियों को जन्म-जन्मांतर करते रहने पर मनुष्य को भगवान् की शुद्ध भक्ति करने का अवसर प्राप्त होता है। यह अवसर शुद्ध भक्त की कृपा से ही मिलता है और इसी विधि से मनुष्य को मोक्ष प्राप्त हो सकता है। इस कथा के प्रसंग में देवताओं की पत्नियों को पश्चात्ताप हो रहा था क्योंकि

यद्यपि उनका जन्म स्वर्ग में हुआ, उनकी आयु लाखों वर्ष की थी और उन्हें सारी सुविधाएँ प्राप्त थी, किन्तु वे पृथु महाराज तथा उनकी पत्नी के समान भाग्यशालिनी नहीं थी, क्योंकि वे उनसे भी ऊपर जा रहे थे। दूसरे शब्दों में, पृथु महाराज तथा उनकी पत्नी को स्वर्ग तथा यहाँ तक कि ब्रह्मलोक जाने की भी इच्छा नहीं थी, क्योंकि वे जिस पद को प्राप्त कर रहे थे वह अतुलनीय थी। *भगवद्गीता* (८.१६) में भगवान् पुष्टि करते हैं—*आब्रह्मभुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन*—"इस ससार में उच्चतम लोक से लेकर निम्नतम लोक तक सभी दुख के स्थान हैं जहाँ जन्म-मृत्यु का चक्कर लगा रहता है।" दूसरे शब्दों में, यदि कोई उच्चतमलोक, ब्रह्मलोक, को भी जाता है, तो उसे पुन: जन्म तथा मृत्यु के कष्टों में लौटना पड़ता है। *भगवद्गीता* (९.२१) में भगवान् कृष्ण बलपूर्वक कहते हैं—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

"इस प्रकार जब वे स्वर्ग का इन्द्रिय-सुख भोग लेते हैं, तो वे इस मर्त्यलोक में पुन: वापस आ जाते हैं।" इस प्रकार पुण्यों के चुक जाने पर मनुष्य को पुन: अध:लोकों में आना पड़ता है और फिर से पुण्यकर्म शुरू करने होते हैं। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* (१.५.१२) में कहा गया है—*नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितम्*—"जब तक भगवद्भक्ति प्राप्त न हो जाए मुक्ति का मार्ग तनिक भी सुरक्षित (बाधाहीन) नहीं होता।" यदि कोई निर्गुण ब्रह्मज्योति को प्राप्त कर भी ले तो भी इस भौतिक संसार में उसके आ गिरने की सम्भावना बनी ही रहती है। यदि ब्रह्मज्योति से नीचे गिरना सम्भव है, तो फिर सामान्य योगियों तथा कर्मियों का क्या कहना जो केवल उच्चतर भौतिक लोकों तक ही उठ पाते हैं? इस तरह उच्चतर लोकों के वासियों की पत्नियों ने कर्म, ज्ञान तथा योग के फल को अधिक नहीं सराहा।

स वञ्चितो बतात्मध्रुक्कृच्छ्रेण महता भुवि ।
लब्ध्वापवर्ग्यं मानुष्यं विषयेषु विषज्जते ॥ २८॥

शब्दार्थ

स:—वह; वञ्चित:—ठगा गया; बत—निश्चय ही; आत्म-ध्रुक्—अपने से ईर्ष्या करने वाला; कृच्छ्रेण—कठिनाई से; महता—महान् कार्यों से; भुवि—इस संसार में; लब्ध्वा—पाकर; आपवर्ग्यम्—मोक्ष का मार्ग; मानुष्यम्—मनुष्य के शरीर में; विषयेषु—इन्द्रियतृप्ति के कार्य में, वासनाओं में; विषज्जते—लगा रहता है।

जो मनुष्य इस संसार में अत्यन्त संघर्षमय कार्यों को सम्पन्न करने में लगा रहता है, और जो

मनुष्य का शरीर पाकर—जो कि दुखों से मोक्ष प्राप्त करने का एक अवसर होता है—कठिन सकाम कार्यों को करता रहता है, तो उसे ठगा गया तथा अपने ही प्रति ईर्ष्यालु समझना चाहिए।

तात्पर्य : इस संसार में लोग विभिन्न कार्यों में इसलिए लगे रहते हैं कि इन्द्रियतृप्ति में उन्हें थोड़ी सफलता प्राप्त हो ले। कर्मी जन अत्यधिक कठिन कर्मों को करने में व्यस्त रहते हैं और इसलिए वे बड़ी-बड़ी फैक्टरियाँ खोलते हैं, विशाल नगरों का निर्माण कराते हैं, बड़ी-बड़ी वैज्ञानिक खोजें करते हैं। दूसरे शब्दों में, वे उच्चतर लोकों को प्राप्त करने के लिए अत्यन्त महँगा त्याग करने में लगे रहते हैं। इसी प्रकार योगी ऐसे ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिए योग की कठिन साधना करते हैं। ज्ञानी लोग भौतिक प्रकृति के फंदे से छूटने के लिए चिन्तन में मग्न रहते हैं। इस प्रकार हर व्यक्ति इन्द्रियों की तृप्ति के लिए कठिन से कठिन कार्य में संलग्न रहता है। किन्तु वे सभी इन्द्रिय तृप्ति में संलग्न माने जाते हैं, क्योंकि वे भौतिक अस्तित्व के लिए कोई न कोई सुविधा चाहते हैं। वास्तव में ऐसे कार्यों का फल क्षणिक होता है। जैसाकि श्रीकृष्ण ने स्वयं *भगवद्गीता* (७.२३) में घोषणा की है—*अन्तवत्तु फलं तेषाम्*—''(जो लोग देवताओं की पूजा करते हैं उनके) फल सीमित तथा क्षणिक हैं।'' इस तरह योगियों, कर्मियों तथा ज्ञानियों के कर्मों के फल क्षणिक हैं। यही नहीं, कृष्ण कहते हैं—*तद्भवत्यल्पमेधसाम्*—''वे केवल अल्प बुद्धि वाले मनुष्यों के लिए हैं।'' *विषय* शब्द इन्द्रियतृप्ति का सूचक है। कर्मी सीधे कहते हैं कि उन्हें इन्द्रियतृप्ति चाहिए। योगियों को भी इन्द्रियतृप्ति चाहिए, किन्तु किंचित उच्चकोटि की। वे योगाभ्यास के द्वारा कुछ आश्चर्यचकित करने वाले करतब दिखाना चाहते हैं। इस प्रकार वे छोटे से छोटा या बड़े से बड़ा बनने में सफल होने का प्रयास करते हैं अथवा पृथ्वी जैसे लोक की सृष्टि कर दिखाना चाहते हैं या विज्ञानी बनकर अनेकानेक आश्चर्यजनक यंत्रों का आविष्कार करना चाहते हैं। इसी प्रकार ज्ञानी भी इन्द्रियतृप्ति में लगे रहते हैं, क्योंकि वे परमेश्वर से तादात्म्य चाहते रहते हैं। इस प्रकार इन सारे कर्मों का मुख्य उद्देश्य कम या अधिक मात्रा में इन्द्रियतृप्ति रहता है। किन्तु भक्तजन इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में व्यस्त नहीं होते। वे तो भगवान् की सेवा का अवसर प्राप्त करके संतुष्ट हो लेते हैं। यद्यपि वे सभी अवस्थाओं में सन्तुष्ट रहते हैं, तो भी उनके लिए ऐसा कुछ भी नहीं जिसे वे प्राप्त न कर सकते हों, क्योंकि वे भगवान् की शुद्ध भक्ति में लगे रहते हैं।

देवताओं की पत्नियाँ इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करने वालों को *वञ्चित* कहकर भर्त्सना करती हैं।

जो इस प्रकार कर्म में लगे हैं, वे निस्सन्देह *आत्महा* अर्थात् अपनी हत्या आप करने वाले हैं। *श्रीमद्भागवत* (११.२०.१७) में कहा गया है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।

मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

जब मनुष्य को कोई विशाल सागर पार करना होता है, तो उसे एक सुदृढ़ नाव की आवश्यकता होती है। कहा जाता है कि अज्ञान रूपी सागर को पार करने के लिए मानव शरीर एक उत्तम नाव स्वरूप है। मनुष्य जीवन में गुरु अच्छे नाविक का काम करता है। श्रीकृष्ण की कृपा से अनुकूल हवाएँ भी मिल जाती हैं, जो श्रीकृष्ण के उपदेश तुल्य हैं। मनुष्य शरीर नाव है, श्रीकृष्ण के आदेश अनूकल हवाएँ हैं और गुरु नाविक है। गुरु जानता है कि पाल को कैसे साधा जाये कि हवा अनुकूल रहे और गन्तव्य तक नाव खे ले जाई जाये। किन्तु यदि इस अवसर का लाभ नहीं उठाया गया तो यह मनुष्य-जीवन वृथा नष्ट हो जाता है। समय तथा जीवन को नष्ट करना आत्म-घात जैसा है।

इस श्लोक में *लब्ध्वापवर्ग्यम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि श्री जीव गोस्वामी के अनुसार *आपवर्ग्यम्* अथवा मोक्ष का पथ निर्गुण ब्रह्म में लीन होना नहीं, अपितु सालोक्यादि सिद्धि है, जिसका अर्थ है उस लोक को प्राप्त करना जिसमें भगवान् निवास करते हैं। मोक्ष पाँच प्रकार के हैं जिनमें से सायुज्य मुक्ति भी एक है, जिसका अर्थ है परमेश्वर में या निर्गुण ब्रह्म के तेज में लीन होना। चूँकि ब्रह्मतेज से भौतिक आकाश में गिरने की आशंका बनी रहती है, इसलिए श्रील जीव गोस्वामी उपदेश देते हैं कि इस मानव जन्म में मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य भगवान् के धाम वापस जाना होना चाहिए। *स वञ्चितः* शब्द सूचित करते हैं कि एक बार मनुष्य जीवन प्राप्त कर लेने पर यदि वह भगवान् के धाम वापस जाने की तैयारी नहीं करता तो सचमुच ही वह ठगा जाता है। समस्त अभक्त भगवान् के धाम वापस जाने में रुचि न रखने के कारण शोच्य हैं, क्योंकि मनुष्य-जीवन भक्ति करने के लिए मिला है, अन्य किसी कार्य के लिए नहीं।

मैत्रेय उवाच

स्तुवतीष्वमरस्त्रीषु पतिलोकं गता वधूः ।
यं वा आत्मविदां धुर्यो वैन्यः प्रापाच्युताश्रयः ॥ २९॥

शब्दार्थ

मैत्रेय: उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; स्तुवतीषु—स्तुति कर रही; अमर-स्त्रीषु—देवताओं की पत्नियों द्वारा; पति-लोकम्—जिस लोक में पति गया था; गता—पहुँचकर; वधू:—पत्नी; यम्—जहाँ; वा—अथवा; आत्म-विदाम्—स्वरूपसिद्ध पुरुषों का; धुर्य:—सर्वोच्च; वैन्य:—वेन का पुत्र (पृथु महाराज); प्राप—प्राप्त किया; अच्युत-आश्रय:—भगवान् का आश्रय।

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा : हे विदुर, जब देवताओं की पत्नियाँ इस प्रकार परस्पर बातें कर रही थीं तो अर्चि ने उस लोक को प्राप्त कर लिया था जहाँ उनके पति सर्वोत्कृष्ट स्वरूपसिद्ध महाराज पृथु पहुँच चुके थे।

तात्पर्य : वैदिक शास्त्रों के अनुसार जो स्त्री अपने पति के साथ मरती है या अपने पति की जलती चिता में भस्म हो जाती है, वह अपने पति के लोक को जाती है। इस संसार में पितृलोक के ही समान *पतिलोक* भी है। किन्तु इस श्लोक में *पतिलोक* इस भौतिक ब्रह्माण्ड के किसी भी लोक का सूचक नहीं है, क्योंकि सर्वोच्च स्वरूपसिद्ध व्यक्ति होने के कारण पृथु महाराज अवश्य ही भगवान् के धाम वापस गये होंगे और उन्होंने वैकुण्ठ लोक को प्राप्त किया होगा। महारानी अर्चि भी पतिलोक गईं, किन्तु यह लोक इस भौतिक ब्रह्माण्ड में नहीं है, क्योंकि वे वास्तव में अपने पति के लोक में गईं। इस भौतिक संसार में भी जब कोई स्त्री अपने पति के साथ मरती है, तो वह अगले जन्म में अपने पति से पुन: मिल जाती है। इस प्रकार महाराज पृथु तथा महारानी अर्चि वैकुण्ठ लोक में जाकर मिले। वैकुण्ठलोक में पति तथा पत्नियाँ रहते अवश्य हैं, किन्तु न तो वहाँ विषय-भोग सम्भव है, न ही सन्तानें उत्पन्न करना। वहाँ के पति-पत्नी परम सुन्दर होते हैं, एक दूसरे से आकर्षित होते हैं, किन्तु विषयी जीवन नहीं बिताते। चूँकि पति-पत्नी श्रीकृष्ण की भक्ति तथा भगवान् की महिमा के गायन तथा कीर्तन में निरन्तर लगे रहते हैं, अत: वे संभोग को आनन्ददायक नहीं मानते।

भक्तिविनोद ठाकुर का भी कहना है कि इस संसार में रहते हुए पति तथा पत्नी अपने घर को वैकुण्ठ बना सकते हैं। इस संसार में श्रीकृष्ण की भक्ति में रत रह कर तथा अपने घर में भगवान् की मूर्ति स्थापित करके और शास्त्रों के अनुसार मूर्ति की सेवा करके पति तथा पत्नी वैकुण्ठलोक का-सा जीवन बिता सकते हैं। इससे उनके मन में संभोग का विचार उत्पन्न नहीं होता। भक्ति में उन्नति की यही परीक्षा है। जो भक्ति में उन्नत है, वह कभी भी विषयी जीवन के प्रति आकृष्ट नहीं होता और ज्योंही वह विषयी जीवन से विरक्त होकर अपेक्षतया भगवान् की भक्ति में आसक्त रहता है, वह अपने को वैकुण्ठलोक में निवास करता अनुभव करता है। वास्तव में भौतिक जगत नाम का कोई जगत नहीं है,

किन्तु जब मनुष्य भगवान् की सेवा भूलकर अपनी इन्द्रियों की सेवा में तल्लीन रहता है, तो यह कहा जाता है कि वह भौतिक जगत में रह रहा है।

इत्थम्भूतानुभावोऽसौ पृथुः स भगवत्तमः ।
कीर्तितं तस्य चरितमुद्दामचरितस्य ते ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

इत्थम्-भूत—इस प्रकार; अनुभावः—अत्यन्त महान्, शक्तिमान; असौ—उस; पृथुः—राजा पृथु; सः—वह; भगवत्-तमः—स्वामियों में श्रेष्ठ; कीर्तितम्—वर्णित; तस्य—उसका; चरितम्—चरित्र; उद्दाम—अत्यन्त महान; चरितस्य—ऐसे गुणों से युक्त; ते—तुमसे।

मैत्रेय ने आगे कहा : भक्तों में महान् महाराज पृथु अत्यन्त शक्तिशाली थे और उनका चरित्र अत्यन्त उदार तथा उद्दाम था। मैंने यथासम्भव तुमसे उसका वर्णन किया है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *भगवत्तमः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि *भगवत्* शब्द विशेषतया भगवान् के लिए प्रयुक्त होता है और भगवान् शब्द इसीसे निकला है। किन्तु कभी-कभी हम देखते हैं कि भगवान् शब्द ब्रह्मा, शिव तथा नारद जैसे महापुरुषों के लिए भी प्रयुक्त होता है। यही बात पृथु महाराज के साथ भी है, जिन्हें यहाँ पर भगवानों में श्रेष्ठ कहा गया है। किसी भी मनुष्य को इस प्रकार तभी सम्बोधित किया जा सकता है जब उसमें अद्वितीय तथा असामान्य गुण हों, अथवा जिसने अन्तर्धान होने पर उच्चतम लक्ष्य प्राप्त किया हो, अथवा जो ज्ञान तथा अज्ञान में अन्तर जानता हो। दूसरे शब्दों में, भगवान् शब्द का प्रयोग सामान्य पुरुषों के लिए नहीं किया जाना चाहिए।

य इदं सुमहत्पुण्यं श्रद्धयावहितः पठेत् ।
श्रावयेच्छृणुयाद्वापि स पृथोः पदवीमियात् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; इदम्—इस; सु-महत्—अत्यन्त महान्; पुण्यम्—पवित्र; श्रद्धया—श्रद्धा-समेत; अवहितः—ध्यानपूर्वक; पठेत्—पढ़ता है; श्रावयेत्—व्याख्या करता है; शृणुयात्—सुनता है; वा—अथवा; अपि—निश्चय ही; सः—वह व्यक्ति; पृथोः—राजा पृथु के; पदवीम्—पद को; इयात्—प्राप्त करता है।

जो व्यक्ति श्रद्धा तथा ध्यानपूर्वक राजा पृथु के महान् गुणों को पढ़ता है, या स्वयं सुनता है अथवा अन्यों को सुनाता है, वह अवश्य ही महाराज पृथु के लोक को प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में, ऐसा व्यक्ति भी वैकुण्ठलोक अर्थात् भगवान् के धाम को वापस जाता है।

तात्पर्य : भक्ति करते समय *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* पर विशेष बल दिया जाता है। इसका अर्थ है

कि विष्णु के विषय में श्रवण तथा कीर्तन से भक्ति प्रारम्भ होती है। जब हम विष्णु का नाम लेते हैं, तो उसका अर्थ ''विष्णु से सम्बन्धित बातें'' भी होता हैं। *शिवपुराण* में शिवजी ने विष्णु पूजा को सर्वोच्च बताया है, किन्तु इससे भी श्रेष्ठ है वैष्णवों या विष्णु से सम्बन्धित किसी भी वस्तु की पूजा। यहाँ यह तथ्य बताया गया है कि वैष्णव के सम्बन्ध में श्रवण तथा कीर्तन विष्णु के श्रवण-कीर्तन के समान है, क्योंकि मैत्रेय ने बताया है, जो कोई ध्यानपूर्वक पृथु महाराज के विषय में सुनता है उसे भी महाराज पृथु को मिलनेवाला लोक प्रप्त होता है। विष्णु तथा वैष्णव में कोई द्वैतभाव नहीं है। इसे *अद्वयज्ञान* कहते हैं। एक वैष्णव विष्णु के ही समान महत्त्वपूर्ण है, इसीलिए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अपने *गुरु-अष्टक* ग्रन्थ में लिखा है—

साक्षाद्धरित्वेन समस्तशास्त्रै-
रुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्भिः।
किन्तु प्रभोर्यः प्रिय एव तस्य
वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥

''गुरु का सम्मान परमेश्वर के ही समान किया जाता है, क्योंकि वह भगवान् का परम विश्वसनीय सेवक होता है। इसे सभी शास्त्रों ने स्वीकार किया गया है और सभी विद्वानों ने इसका पालन किया है, अतः मैं श्रीहरि के प्रामाणिक प्रतिनिधि, अपने गुरु के चरणकमलों को नमस्कार करता हूँ।''

परम वैष्णव गुरु होता है और भगवान् से अभिन्न। कहा जाता है कि कभी-कभी भगवान् चैतन्य महाप्रभु गोपियों के नाम का जप करते थे। जब उनके कुछ शिष्य उनसे इस के बजाय श्रीकृष्ण का नाम लेने को कहते तो वे शिष्यों पर अत्यन्त रूष्ट हो जाते थे। इस घटना को लेकर इतना वितण्डा हो गया कि चैतन्य महाप्रभु ने संन्यास ग्रहण करने का निश्चय कर लिया क्योंकि गृहस्थ आश्रय में उन्हें गम्भीरता पूर्वक नहीं लिया जाता था। चूँकि श्री चैतन्य महाप्रभु गोपियों के नाम का जप करते थे, अतः गोपियों या भगवान् के भक्तों की पूजा भगवान् की भक्ति के ही समान है। भगवान् ने स्वयं भी कहा है कि मेरे भक्तों की भक्ति करना मेरी प्रत्यक्ष भक्ति से श्रेष्ठ है। कभी-कभी *सहजिया* भक्त अन्य भक्तों के कार्य-कलापों को छोड़कर केवल श्रीकृष्ण की व्यक्तिगत लीलाओं में ही रुचि रखते हैं। ऐसा भक्त उच्चस्तरीय नहीं होता। जो भक्त तथा भगवान् को समान स्तर (पद) पर देखता है, वही आगे उन्नति करता है।

ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चस्वी राजन्यो जगतीपतिः ।
वैश्यः पठन्विट्पतिः स्याच्छूद्रः सत्तमतामियात् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणः—ब्राह्मण; ब्रह्म-वर्चस्वी—आध्यात्मिक शक्ति को प्राप्त हुआ; राजन्यः—राजसी; जगती-पतिः—संसार का राजा; वैश्यः—वैश्य वर्ण; पठन्—पढ़ने से; विट्-पतिः—पशुओं का स्वामी; स्यात्—हो जाता है; शूद्रः—श्रमिक वर्ग; सत्तम-ताम्—महाभक्त का पद; इयात्—प्राप्त करता है।

यदि कोई पृथु महाराज के गुणों को सुनता है और यदि वह ब्राह्मण है, तो वह ब्रह्मशक्ति में निपुण हो जाता है; यदि वह क्षत्रिय है, तो संसार का राजा बन जाता है; यदि वह वैश्य है, तो अन्य वैश्यों तथा अनेक पशुओं का स्वामी हो जाता है और यदि शूद्र हुआ तो वह उच्चकोटि का भक्त बन जाता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में संस्तुति की गई है कि अपनी स्थिति का, ध्यान न करते हुए मनुष्य को भक्त बनना चाहिए। चाहे मनुष्य *अकाम* हो, या *सकाम* हो अथवा *मोक्षकाम* हो, उसे भगवान् की पूजा और उनकी भक्ति करनी चाहिए। ऐसा करने से जीवन के किसी भी क्षेत्र में उसे विजय प्राप्त होती है। भक्तियोग—विशेष रूप से श्रवण तथा कीर्तन—इतना शक्तिशाली है कि इससे मनुष्य सिद्ध हो सकता है। इस श्लोक में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों का उल्लेख है, किन्तु यह समझना आवश्यक है कि यहाँ इन चारों का उल्लेख उन कुलों में ही उत्पन्न लोगों से है। चाहे कोई ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र, मात्र श्रवण तथा कीर्तन से उसे सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

ब्राह्मण कुल में जन्म लेना अन्तिम रूप से ध्येय नहीं है, उसमें ब्राह्मण की शक्ति होनी चाहिए जिसे *ब्रह्मतेज* कहते हैं। इसी प्रकार राज परिवार में जन्म लेना पर्याप्त नहीं, उसमें संसार में शासन करने की शक्ति होनी चाहिए। इसी प्रकार वैश्य के रूप में जन्म लेना पर्याप्त नहीं; उसके पास हजारों पशु (गाएँ) होने चाहिए और उसे अन्य वैश्यों के ऊपर शासन करने योग्य होना चाहिए जैसे कि वृन्दावन में नन्द महाराज ने किया। नन्द महाराज वैश्य थे जिनके पास नौ लाख गाएँ थीं और वे अनेक गोपों तथा ग्वाल-बालों के ऊपर शासन करते थे। शूद्र कुल में उत्पन्न व्यक्ति भक्ति करने तथा भगवान् एवं भक्तों की लीलाओं के श्रवण मात्र से ही ब्राह्मणों से भी बड़ा बन सकता है।

त्रिः कृत्व इदमाकर्ण्य नरो नार्यथवादृता ।

अप्रजः सुप्रजतमो निर्धनो धनवत्तमः ॥ ३३॥

शब्दार्थ

त्रिः—तीन बार; कृत्वः—उच्चारण करके; इदम्—यह; आकर्ण्य—सुनकर; नरः—मनुष्य; नारी—स्त्री; अथवा—या; आदृता—समादरित; अप्रजः—सन्तान-हीन; सु-प्रज-तमः—अनेक सन्तानों वाला; निर्धनः—गरीब; धन-वत्—धनी; तमः—सर्वाधिक।

चाहे नर हो या नारी, जो कोई भी महाराज पृथु के इस वृत्तान्त को अत्यन्त आदरपूर्वक सुनता है, वह यदि निःसन्तान है, तो सन्तान युक्त और यदि निर्धन है, तो वह धनवान बन जाता है।

तात्पर्य : भौतिकतावादी व्यक्ति, जिन्हें धन तथा परिवार अत्यन्त प्रिय हैं, विशेष रूप से देवी दुर्गा, शिवजी तथा ब्रह्मा जैसे विभिन्न देवताओं की पूजा करते हैं जिससे उनके मनोरथ पूरे हों। ऐसे व्यक्ति *श्रियैश्वर्य-प्रजेप्सवः* कहलाते हैं। *श्री* का अर्थ है "सौन्दर्य," *ऐश्वर्य* का अर्थ है "धन," *प्रजा* का अर्थ है "सन्तानें" तथा *ईप्सव* का अर्थ है "इच्छुक।" जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कंध में कहा गया है, विभिन्न प्रकार के वरदानों के लिए विभिन्न देवताओं की पूजा करनी होती है। किन्तु यहाँ यह कहा गया है कि पृथु महाराज के जीवन तथा चरित्र के विषय में सुनने मात्र से विपुल धन तथा सन्तान दोनों की प्राप्ति होती है। मनुष्य को पृथु महाराज के इतिहास, जीवन तथा कार्यों को केवल पढ़ना और समझना होता है। यहाँ इस बात की सलाह दी जाती है कि मनुष्य उन्हें कम से कम तीन बार पढ़े जो दीन हैं, वे भगवान् तथा उनके भक्तों के विषय में सुनने से इतना लाभ प्राप्त करेंगे कि उन्हें अन्य देवताओं के पास जाने की आवश्यकता नहीं रह जाएगी। इस श्लोक का *सुप्रजतमः* (अनेक बच्चों से घिरा हुआ) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सम्भव है कि किसी के अनेक सन्तानें हों, किन्तु उनमें से एक भी योग्य न निकले। किन्तु यहाँ पर यह कहा गया है कि इस प्रकार से प्राप्त सारी सन्तानें योग्य रुप से शिक्षित, धनी, सुन्दर तथा बलशाली होंगी (*सुप्रजतमः*)।

अस्पष्टकीर्तिः सुयशा मूर्खो भवति पण्डितः ।
इदं स्वस्त्ययनं पुंसाममङ्गल्यनिवारणम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

अस्पष्ट-कीर्तिः—जिसका यश प्रकट न हो; सु-यशाः—अत्यन्त प्रसिद्ध; मूर्खः—निरक्षर; भवति—हो जाता है; पण्डितः—विद्वान; इदम्—यह; स्वस्ति-अयनम्—कल्याण; पुंसाम्—मनुष्यों का; अमङ्गल्य—अशुभ; निवारणम्—दूर करने वाला।

जो इस वृत्तान्त को तीन बार सुनता है, वह यदि समाज में सम्मानित नहीं है, तो अत्यन्त

विख्यात हो जाएगा और यदि निरक्षर है, तो परम विद्वान् बन जाएगा। दूसरे शब्दों में, पृथु महाराज का वृत्तान्त सुनने में इतना शुभ है कि वह समस्त दुर्भाग्य को दूर भगाता है।

तात्पर्य : इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति कुछ-न-कुछ लाभ, सम्मान तथा ख्याति चाहता है। विभिन्न अवस्थाओं में भगवान् या उनके भक्त की संगति में रहने के कारण मनुष्य सब प्रकार से बहुत सरलता से ऐश्वर्यवान् हो सकता है। भक्ति करने तथा उपदेश देने से मनुष्य प्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण बन सकता है, भले ही समाज में उसका मान न हो। जहां तक शिक्षा का प्रश्न है, केवल *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* को सुनकर वह समाज में महान् पंडित माना जा सकता है, क्योंकि इन ग्रन्थों में भगवान् तथा उनके भक्तों की लीलाओं का वर्णन है। यह संसार पग-पग पर विपत्तियों से भरा हुआ है, किन्तु भक्त को डर नहीं रह जाता, क्योंकि भक्ति इतनी कल्याणकारी है कि यह समस्त दुर्भाग्य का प्रतिकार स्वत: कर देती है। चूँकि पृथु महाराज के विषय में सुनना (*श्रवणम्*) भक्ति के कार्यों में से एक है, अत: स्वाभाविक है कि उसके सुनने से सौभाग्य प्राप्त होता है।

धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं कलिमलापहम्
धर्मार्थकाममोक्षाणां सम्यक्सिद्धिमभीप्सुभिः ।
श्रद्धयैतदनुश्राव्यं चतुर्णां कारणं परम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

धन्यम्—धन का साधन; यशस्यम्—यश का स्रोत; आयुष्यम्—दीर्घ जीवन का स्रोत; स्वर्ग्यम्—स्वर्ग जाने का साधन; कलि—कलियुग में; मल-अपहम्—कल्मष को घटाने वाला; धर्म—धर्म; अर्थ—आर्थिक विकास; काम—इन्द्रियतृप्ति; मोक्षाणाम्—मोक्ष का; सम्यक्—पूर्णतया; सिद्धिम्—सिद्धि; अभीप्सुभिः—इच्छुकों के द्वारा; श्रद्धया—अत्यन्त श्रद्धा से; एतत्—यह चरित्र; अनुश्राव्यम्—सुना जाना चाहिए; चतुर्णाम्—चारों; कारणम्—कारणों का; परम्—चरम।

पृथु महाराज के चरित्र को सुनकर मनुष्य महान् बन सकता है, अपनी जीवन-अवधि (आयु) बढ़ा सकता है, स्वर्ग को जा सकता है और इस कलिकाल के कल्मषों का नाश कर सकता है। साथ ही वह धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के हितों में उन्नति ला सकता है। अत: सभी प्रकार से यही अच्छा है कि जो लोग ऐसी वस्तुओं में रुचि रखते हैं, वे पृथु महाराज के जीवन तथा चरित्र के विषय में पढ़ें तथा सुनें।

तात्पर्य : कोई भी पृथु महाराज के जीवन तथा चरित्र के वृत्तान्तों को पढ़कर तथा सुन कर स्वाभाविक तौर पर भक्त बन जाता है और ज्योंही वह भक्त बन जाता है उसकी सारी भौतिक इच्छाएँ

पूरी हो जाती हैं। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* (२.३.१०) में संस्तुति की गई है—

अकाम: सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी: ।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

यदि मनुष्य भगवान् के धाम वापस जाना चाहता है या शुद्ध (*अकाम*) भक्त बनना चाहता है, या कुछ भौतिक सम्पत्ति चाहता है (*सकाम* या *सर्वकाम*) या फिर परब्रह्म के तेज में लीन होना चाहता है (*मोक्षकाम*) तो उसे भक्तियोग साधने तथा भगवान् विष्णु या उनके भक्त के विषय में श्रवण तथा कीर्तन करने की सलाह दी जाती है। वैदिक साहित्य का यही निचोड़ है। *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:* (*भगवद्गीता* १५.१५)। वैदिकज्ञान का उद्देश्य श्रीकृष्ण तथा उनके भक्तों को समझना है। जब भी हम श्रीकृष्ण के विषय में कुछ कहते हैं, हम उनके भक्तों की भी बात करते हैं, क्योंकि वे अकेले नहीं हैं। वे कभी भी निर्विशेष या शून्य नहीं हैं। कृष्ण विशेष से पूर्ण (सविशेष) हैं और ज्योंही कृष्ण उपस्थित हो जाते हैं, तो शून्य के लिए स्थान ही नहीं रह पाता।

विजयाभिमुखो राजा श्रुत्वैतदभियाति यान् ।
बलिं तस्मै हरन्त्यग्रे राजान: पृथवे यथा ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

विजय-अभिमुख:—जो विजय के लिए प्रस्थान करने वाला होता है; राजा—राजा; श्रुत्वा—सुनकर; एतत्—यह; अभियाति—प्रस्थान करता है; यान्—रथ पर; बलिम्—कर या भेंट; तस्मै—उसको; हरन्ति—भेंट करते हैं; अग्रे—समक्ष; राजान:—अन्य राजा; पृथवे—राजा पृथु को; यथा—जिस तरह करते थे।.

यदि विजय तथा शासन-शक्ति का इच्छुक कोई राजा अपने रथ पर चढ़कर प्रस्थान करने के पूर्व पृथु महाराज के चरित्र का तीन बार जप करता है, तो उसके अधीन सारे राजा उसके आदेश से ही सारा कर उसी प्रकार लाकर रखते हैं जिस प्रकार महाराज पृथु के अधीन राजा उनको दिया करते थे।

तात्पर्य : चूँकि क्षत्रिय राजा संसार पर शासन करना चाहता है, अत: वह अन्य समस्त राजाओं को अपने अधीन करना चाहता है। ऐसी ही स्थिति तब भी थी जब पृथु महाराज पृथ्वी पर शासन कर रहे थे। उस समय इस लोक के वे एकमात्र सम्राट थे। यहाँ तक कि पाँच हजार वर्ष पूर्व महाराज युधिष्ठिर तथा महाराज परीक्षित इस लोक के एकछत्र सम्राट थे। चूँकि कभी-कभी अधीनस्थ राजा विद्रोह किया करते थे, अत: सम्राट के लिए अनिवार्य हो जाता था कि वह जाकर उन्हें दण्ड दे। पृथु महाराज के

जीवन तथा चरित्र के वृत्तान्तों के जप की यह विधि संस्तुत की जाती है, जिससे संसार में राज्य करने के अभिलाषी राजा अन्य राजाओं पर विजय पा सकें।

मुक्तान्यसङ्गो भगवत्यमलां भक्तिमुद्वहन् ।
वैन्यस्य चरितं पुण्यं शृणुयाच्छ्रावयेत्पठेत् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

मुक्त-अन्य-सङ्गः—समस्त भौतिक कल्मष से रहित होकर; भगवति—भगवान् के प्रति; अमलाम्—विशुद्ध; भक्तिम्—भक्ति; उद्वहन्—करते हुए; वैन्यस्य—महाराज वेन के पुत्र का; चरितम्—चरित्र; पुण्यम्—पवित्र; शृणुयात्—सुने; श्रावयेत्—सुनाए; पठेत्—तथा पढ़े।

शुद्ध भक्त भक्तियोग की विविध विधियों का पालन करते हुए कृष्ण-चेतना में पूर्णतया लीन होने के कारण दिव्य पद पर स्थित हो सकता है, किन्तु तो भी भक्ति करते समय उसे पृथु महाराज के जीवन तथा चरित्र के विषय में सुनना, दूसरों को सुनने की प्रेरणा देना तथा पढ़ना चाहिए।

तात्पर्य : नवदीक्षित भक्त भगवान् की लीलाओं को, विशेष रूप से *श्रीमद्भागवत* में वर्णित रास-लीला के विषय में सुनने का अत्यन्त इच्छुक रहता है। ऐसे भक्त को समझ लेना चाहिए कि पृथु महाराज की लीलाएँ भी भगवान् की लीलाओं से अभिन्न हैं। पृथु महाराज ने आदर्श राजा के रूप में अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया कि प्रजा पर किस प्रकार शासन करना चाहिए, किस प्रकार उसे शिक्षित करना चाहिए, किस प्रकार राज्य का आर्थिक विकास करना चाहिए, किस प्रकार शत्रुओं से लड़ना चाहिए, किस प्रकार यज्ञ करने चाहिए...आदि आदि...। इस प्रकार "सहजिया" या नवदीक्षित भक्त को सलाह दी जाती है कि वह भले ही अपने को उच्च भक्ति की दिव्य स्थिति पर समझे तो भी वह पृथु महाराज के कार्यकलापों के सम्बन्ध में अवश्य सुने, जपे तथा अन्यों को सुनाए।

वैचित्रवीर्याभिहितं महन्माहात्म्यसूचकम् ।
अस्मिन्कृतमतिमर्त्यं पार्थवीं गतिमाप्नुयात् ॥ ३८॥

शब्दार्थ

वैचित्रवीर्य—हे विचित्रवीर्य के पुत्र (विदुर); अभिहितम्—कहा गया; महत्—महान्; माहात्म्य—महानता; सूचकम्—उद्बुद्ध करने वाला; अस्मिन्—इसमें; कृतम्—किया हुआ; अति-मर्त्यम्—असामान्य; पार्थवीम्—पृथु महाराज के सम्बन्ध में; गतिम्—उन्नति, लक्ष्य; आप्नुयात्—प्राप्त करना चाहिए।

मैत्रेय मुनि ने आगे कहा : हे विदुर, मैंने यथासम्भव पृथु महाराज के चरित्र के विषय में

बतलाया है, जो मनुष्य के भक्तिभाव को बढ़ाने वाला है। जो कोई भी इसका लाभ उठाता है, वह भी महाराज पृथु की तरह ही भगवान् के धाम को वापस जाता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में आया हुआ *श्रावयेत्* शब्द इंगित करता है कि मनुष्य को न केवल स्वयं पढ़ना चाहिए वरन् अन्यों को भी पढ़ने तथा सुनने के लिए प्रेरित करना चाहिए। यह उपदेश देना कहलाता है। चैतन्य महाप्रभु ने इस अभ्यास की संस्तुति की है—*यारे देख, तारे कह 'कृष्ण'-उपदेश* (*चैतन्य-चरितामृत,* मध्य ७.१२८) "जिससे भी मिलो उससे कृष्ण द्वारा दिये गये उपदेशों के विषय में बातें करो या उसे कृष्ण के वृत्तान्त सुनाओ।" पृथु महाराज की भक्ति का इतिहास भगवान् की लीलाओं के वृत्तान्त के समान ही शक्तिदायक है। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की लीलाओं तथा पृथु महाराज के कार्यकलापों में अन्तर न माने और जब भी अवसर मिले पृथु महाराज के विषय में सुनने के लिए अन्यों को प्रेरित करे। केवल अपने हित के लिए उनकी लीलाओं को नहीं पढ़े, अपितु अन्यों को भी उनके विषय में पढ़ने तथा सुनने के लिए प्रेरित करे। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति लाभान्वित हो सकता है।

अनुदिनमिदमादरेण शृण्वन्
पृथुचरितं प्रथयन्विमुक्तसङ्गः ।
भगवति भवसिन्धुपोतपादे
स च निपुणां लभते रतिं मनुष्यः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

अनु-दिनम्—प्रतिदिन; इदम्—यह; आदरेण—आदरपूर्वक; शृण्वन्—सुनते हुए; पृथु-चरितम्—पृथु महाराज के वृत्तान्त को; प्रथयन्—कीर्तन करते हुए; विमुक्त—मुक्त; सङ्गः—साथ; भगवति—भगवान् के प्रति; भव-सिन्धु—अज्ञानरूपी सागर; पोत—नाव; पादे—जिनके चरणकमल; सः—वह; च—भी; निपुणाम्—पूर्ण; लभते—प्राप्त करता है; रतिम्—आसक्ति, अनुराग; मनुष्यः—मनुष्य।

जो भी महाराज पृथु के कार्यकलापों के वृत्तान्त को नियमित रूप से अत्यन्त श्रद्धापूर्वक पढ़ता, कीर्तन करता तथा वर्णन करता है, उसका अविचल विश्वास तथा अनुराग निश्चय ही भगवान् के चरणकमलों के प्रति नित्यप्रति बढ़ता जाता है। भगवान् के चरणकमल वह नौका है, जिसके द्वारा मनुष्य अज्ञान के सागर को पार करता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *भवसिन्धुपोतपादे* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् के चरणकमल *महत्पदम्* कहलाते हैं, जिसका अर्थ है कि सारा भौतिक जगत भगवान् के चरणकमलों पर निर्भर करता है।

जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.८) में कहा गया है—*अहं सर्वस्य प्रभवः*—मुझसे ही सब कुछ उद्भूत है। यह दृश्य जगत भी, जिसकी तुलना अज्ञान सागर से की गई है, भगवान् के चरणकमलों पर आश्रित है। फलतः शुद्ध भक्त के लिए यह अज्ञानरूपी महासागर भी घट जाता है। जिसने भगवान् के चरणकमलों की शरण ले रखी है उसे इस समुद्र को पार करने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उसने पहले से ही भगवान् के चरणकमलों में स्थित होने के कारण उसे पार कर लिया होता है। वह भगवान् अथवा भगवान् के भक्त की महिमा का श्रवण तथा कीर्तन करने से भगवान् के चरणकमलों की सेवा में स्थिर हो जाता है। नियमित रूप से प्रतिदिन पृथु महाराज के जीवनवृत्त को सुनाकर भी यह पद आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रसंग में *विमुक्त-सङ्गः* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। चूँकि हम प्रकृति के तीन गुणों से संग करते हैं, अतः इस संसार में हमारी स्थिति अत्यन्त संकटपूर्ण है, किन्तु जब हम *श्रवणं कीर्तनं* द्वारा भगवान् की भक्ति में लग जाते हैं, तो हम तुरन्त *विमुक्त-सङ्गः* अर्थात् मुक्त हो जाते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कंध के अन्तर्गत "महाराज पृथु का भगवद्धाम गमन"* नामक *तेईसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter चौबीस

शिवजी द्वारा की गई स्तुति का गान

मैत्रेय उवाच
विजिताश्वोऽधिराजासीत्पृथुपुत्रः पृथुश्रवाः ।
यवीयोभ्योऽददात्काष्ठा भ्रातृभ्यो भ्रातृवत्सलः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; विजिताश्वः—विजिताश्व नाम का; अधिराजा—सम्राट; आसीत्—हुआ; पृथु-पुत्रः—महाराज पृथु का पुत्र; पृथु-श्रवाः—महान् कार्यों का; यवीयोभ्यः—छोटे भाइयों को; अददात्—दे दिया; काष्ठाः—विभिन्न दिशाएँ; भ्रातृभ्यः—भाइयों को; भ्रातृ-वत्सलः—भाइयों के प्रति अत्यन्त स्नेहिल।

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा : महाराज पृथु का सबसे बड़ा पुत्र विजिताश्व, जिसकी ख्याति अपने पिता की ही तरह थी, राजा बना और उसने अपने छोटे भाइयों को पृथ्वी की विभिन्न दिशाओं पर राज्य करने का अधिकार सौंप दिया, क्योंकि वह अपने भाइयों को अत्यधिक चाहता था।

तात्पर्य : पिछले अध्याय में महाराज पृथु के जीवन तथा चरित्र का वर्णन कर चुकने के बाद मैत्रेय

मुनि ने पृथु की वंश परम्परा में पुत्रों तथा पौत्रों का वर्णन प्रारम्भ किया। महाराज पृथु की मृत्यु के बाद उनका सबसे बड़ा पुत्र विजिताश्व इस पृथ्वी का राजा हुआ। वह अपने छोटे भाइयों के प्रति अत्यन्त स्नेह रखता था, अत: वह चाहता था कि वे संसार की विभिन्न दिशाओं पर शासन करें। अनादि काल से नियम है कि राजा की मृत्यु के पश्चात् उसका सबसे बड़ा पुत्र सामान्यत: राजा बनता है। जब पृथ्वी पर पाण्डवों का राज्य था तब राजा पाण्डु के ज्येष्ठ पुत्र महाराज युधिष्ठिर ही सम्राट बने थे और उनके छोटे भाई उनकी सहायता करते थे। इसी प्रकार राजा विजिताश्व के छोटे भाई विश्व की विभिन्न दिशाओं के अधीक्षक नियुक्त हुए।

हर्यक्षायादिशत्प्राचीं धूम्रकेशाय दक्षिणाम् ।
प्रतीचीं वृकसंज्ञाय तुर्यां द्रविणसे विभुः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

हर्यक्षाय—हर्यक्ष को; अदिशत्—प्रदान किया; प्राचीम्—पूर्व दिशा; धूम्रकेशाय—धूम्रकेश को; दक्षिणाम्—दक्षिण दिशा; प्रतीचीम्—पश्चिम दिशा; वृक-संज्ञाय—वृक नामक भाई को; तुर्याम्—उत्तर दिशा; द्रविणसे—द्रविण को; विभुः—स्वामी।

महाराज विजिताश्व ने संसार का पूर्वी भाग अपने भाई हर्यक्ष को, दक्षिणी भाग धूम्रकेश को, पश्चिमी भाग वृक को तथा उत्तरी भाग द्रविण को प्रदान किया।

अन्तर्धानगतिं शक्राल्लब्ध्वान्तर्धानसंज्ञितः ।
अपत्यत्रयमाधत्त शिखण्डिन्यां सुसम्मतम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अन्तर्धान—विलुप्त होने की; गतिम्—शक्ति; शक्रात्—इन्द्र से; लब्ध्वा—पाकर; अन्तर्धान—अन्तर्धान; संज्ञितः—नाम पड़ा; अपत्य—संतानें; त्रयम्—तीन; आधत्त—उत्पन्न कीं; शिखण्डिन्याम्—अपनी पत्नी शिखण्डिनी से; सु-सम्मतम्—सबों द्वारा अनुमत।

पूर्वकाल में महाराज विजिताश्व ने स्वर्ग के राजा इन्द्र को प्रसन्न करके उनसे अन्तर्धान की पदवी प्राप्त की थी। उनकी पत्नी का नाम शिखण्डिनी था जिससे उन्हें तीन उत्तम पुत्र हुए।

तात्पर्य : महाराज विजिताश्व अन्तर्धान नाम से विख्यात थे, जिसका अर्थ होता है "विलुप्त होना।" यह पदवी उन्हें इन्द्र से प्राप्त हुई थी। यह उस समय की बात है जब इन्द्र ने महाराज पृथु के घोड़े को यज्ञस्थल से चुरा लिया था। जब वह घोड़ा चुरा रहा था, तो औरों के लिए तो वह अदृश्य था, किन्तु महाराज पृथु के पुत्र विजिताश्व ने उसे देख लिया था। यह जानते हुए कि इन्द्र उसके पिता का घोड़ा चुराये ले जा रहा है विजिताश्व ने उस पर आक्रमण नहीं किया। इससे पता चलता है कि महाराज

विजिताश्व सही व्यक्तियों का सम्मान करते थे। यद्यपि इन्द्र उसके पिता का घोड़ा चुराये ले जा रहा था, किन्तु विजिताश्व को ज्ञात था कि इन्द्र कोई सामान्य चोर नहीं है। चूँकि इन्द्र एक महान् शक्तिशाली देवता था और भगवान् का सेवक था, अत: विजिताश्व ने जानबूझ कर उसे क्षमा कर दिया था यद्यपि इन्द्र गलत कार्य कर रहा था। इससे इन्द्र विजिताश्व पर परम प्रसन्न हुआ। देवताओं में इच्छानुसार प्रकट होने तथा छिपने की योगशक्ति पाई जाती है और चूँकि इन्द्र विजिताश्व पर परम प्रसन्न था, अत: उसने उसे यह योगशक्ति प्रदान की। इस प्रकार विजिताश्व अन्तर्धान कहलाया।

पावक: पवमानश्च शुचिरित्यग्नय: पुरा ।
वसिष्ठशापादुत्पन्ना: पुनर्योगगतिं गता: ॥ ४॥

शब्दार्थ

पावक:—पावक नामक; पवमान:—पवमान नामक; च—भी; शुचि:—शुचि नामक; इति—इस प्रकार; अग्नय:—अग्निदेव; पुरा—प्राचीन काल में; वसिष्ठ—वसिष्ठ मुनि; शापात्—शाप से; उत्पन्ना:—अब उत्पन्न; पुन:—फिर से; योग-गतिम्—योगाभ्यास का पद; गता:—प्राप्त किया।

महाराज अन्तर्धान के तीनों पुत्रों के नाम थे पावक, पवमान तथा शुचि। पूर्वकाल में ये तीनों व्यक्ति अग्निदेव थे, परन्तु वसिष्ठ ऋषि के शाप से वे महाराज अन्तर्धान के पुत्रों के रूप में उत्पन्न हुए; फलत: वे अग्निदेवों के ही समान शक्तिमान थे और फिर से अग्निदेवों के रूप में स्थित होने के कारण उन्होंने योगशक्ति का पद प्राप्त किया।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (६.४१-४३) में कहा गया है कि जो योगाभ्यास से नीचे गिरता है, वह स्वर्गलोक को जाता है और वहाँ सुख भोगकर पुन: पृथ्वी पर आता है तथा किसी धनी कुल में या पवित्र ब्राह्मण-कुल में जन्म लेता है। अत: यह समझना चाहिए कि जब देवता भ्रष्ट होते हैं, तो वे पृथ्वी पर अत्यन्त धनी तथा पवित्र कुलों में जन्म लेते हैं। ऐसे परिवारों में कृष्णभक्ति करने का अवसर प्राप्त होता है, जिससे उन्हें वाञ्छित गन्तव्य प्राप्त होता है। महाराज अन्तर्धान के पुत्र अग्नि के अधीक्षक देवता थे, उन्होंने अपनी पूर्वस्थिति प्राप्त की थी और योगबल से वे स्वर्ग को चले गये।

अन्तर्धानो नभस्वत्यां हविर्धानमविन्दत ।
य इन्द्रमश्वहर्तारं विद्वानपि न जघ्निवान् ॥ ५॥

शब्दार्थ

अन्तर्धानः—अन्तर्धान राजा; नभस्वत्याम्—अपनी पत्नी नभस्वती से; हविर्धानम्—हविर्धान नामक; अविन्दत—प्राप्त किया; यः—जो; इन्द्रम्—राजा इन्द्र को; अश्व-हर्तारम्—जो उसके पिता का घोड़ा चुरा रहा था; विद्वान् अपि—जानते हुए भी; न जघ्निवान्—नहीं मारा।

महाराज अन्तर्धान के नभस्वती नामक एक दूसरी पत्नी थी जिससे उन्हें हविर्धान नामक एक अन्य पुत्र की प्राप्ति हुई। चूँकि महाराज अन्तर्धान अत्यन्त उदार थे, अतः उन्होंने यज्ञ से अपने पिता के घोड़े को चुराते हुए इन्द्रदेव को मारा नहीं।

तात्पर्य : अनेक शास्त्रों तथा पुराणों से ज्ञात होता है कि स्वर्ग का राजा इन्द्र चोरी करने तथा अपहरण करने में अत्यन्त दक्ष था। वह मालिक की अनदेख में किसी भी वस्तु को चुरा सकता था और बिना पहचान में आए किसी की पत्नी को हर सकता था। एक बार उसने अपनी अन्तर्धान कला से गौतम मुनि की पत्नी के साथ बलात्कार किया। इसी प्रकार अदृश्य होकर उसने महाराज पृथु का घोड़ा चुरा लिया। यद्यपि मानव-समाज में ऐसे कार्य कुत्सित समझे जाते हैं, किन्तु इन्द्र ऐसे कार्यों से नीच अर्थात् भ्रष्ट हुआ नहीं समझा गया। यद्यपि अन्तर्धान को पता चल गया था कि राजा इन्द्र उसके पिता का घोड़ा चुराये ले जा रहा था, किन्तु उसने मारा नहीं, क्योंकि वह जानता था कि कभी-कभी अत्यन्त शक्तिशाली पुरुष भी ऐसा घृणित कार्य करते हैं, अतः इसकी ज्यादा परवाह नहीं करनी चाहिए। *भगवद्गीता* (९.३०) में स्पष्ट रूप से कहा गया है :

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

भगवान् कहते हैं कि यदि भक्त कुत्सित कार्य भी करे तो उसे साधु ही समझना चाहिए, क्योंकि वह भगवान् की अविचल भक्ति करता है। भगवान् के भक्त कभी भी जान-बूझकर कोई पापकर्म नहीं करते, किन्तु कभी-कभी पुरानी आदतों के कारण वे कुछ घृणित कार्य कर बैठते हैं। ऐसे कार्यों को गम्भीरता से नहीं लेना चाहिए, क्योंकि भगवान् के भक्त चाहे इस लोक में हों या स्वर्गलोक में, अत्यन्त शक्तिशाली होते हैं। यदि किसी कारणवश वे कोई घृणित कार्य कर बैठते हैं, तो इस पर ध्यान नहीं देना चाहिए अपितु उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिए।

राज्ञां वृत्तिं करादानदण्डशुल्कादिदारुणाम् ।
मन्यमानो दीर्घसत्त्रव्याजेन विससर्ज ह ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

राज्ञाम्—राजाओं की; वृत्तिम्—जीविका का साधन; कर—लगान, टैक्स; आदान—वसूली; दण्ड—दण्ड; शुल्क—अर्थ-दण्ड; आदि—इत्यादि.; दारुणाम्—अत्यन्त कष्टप्रद; मन्यमान:—मानते हुए; दीर्घ—लम्बा; सत्र—यज्ञ; व्याजेन—बहाने से; विससर्ज—त्याग दिया; ह—प्राचीन काल में।.

जब भी परम शक्तिशाली अन्तर्धान को प्रजा से कर लेना, प्रजा को दण्ड देना या उस पर कठोर जुर्माना लगाना होता तो ऐसा करने को उनका जी नहीं चाहता था। फलत: उन्होंने ऐसे कार्यों से मुख मोड़ लिया और वे विभिन्न प्रकार के यज्ञ सम्पन्न करने में व्यस्त रहने लगे।

तात्पर्य : यहाँ यह स्पष्ट है कि कभी-कभी राजा होने के नाते राजा को ऐसे कार्य करने पड़ते हैं, जो वांछनीय नहीं होते। यथा, अर्जुन युद्ध करने के लिए बिल्कुल इच्छुक न था, क्योंकि अपने सम्बन्धियों तथा परिजनों से युद्ध करना या उन्हें मारना उसे बिल्कुल अच्छा नहीं लग रहा था। फिर भी क्षत्रियों को ऐसे अवांछित कार्य कर्तव्य के रूप में करने ही पड़ते थे। कर वसूलते समय या अपराध-कार्य करने के लिए प्रजा को दण्डित करते समय महाराज अन्तर्धान को तनिक भी प्रसन्नता न होती, फलत: उन्होंने यज्ञ करने के बहाने कम उम्र में ही राजसी शक्ति से मुख मोड़ दिया।

तत्रापि हंसं पुरुषं परमात्मानमात्मदृक् ।
यजंस्तल्लोकतामाप कुशलेन समाधिना ॥ ७॥

शब्दार्थ

तत्र अपि—अपनी व्यस्तता के बावजूद; हंसम्—जो अपने सम्बन्धियों के कष्ट को दूर करता है; पुरुषम्—परम पुरुष को; परम-आत्मानम्—परम प्रिय परमात्मा; आत्म-दृक्—जिसने आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर लिया है; यजन्—पूजा द्वारा; तत्-लोकताम्—उसी लोक को; आप—प्राप्त किया; कुशलेन—सरलतापूर्वक; समाधिना—समाधि में लीन रह कर।.

यद्यपि महाराज अन्तर्धान यज्ञ करने में व्यस्त रहते थे, किन्तु स्वरूपसिद्ध व्यक्ति होने के नाते वे भक्तों के समस्त भय को दूर करने वाले भगवान् की भक्ति भी करते रहे। इस प्रकार भगवान् की पूजा करते हुए महाराज अन्तर्धान समाधि में लीन रह कर सरलतापूर्वक भगवान् के ही लोक को प्राप्त हुए।

तात्पर्य : चूँकि सामान्यत: यज्ञ सकाम कर्मियों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं, अत: यहाँ विशेष उल्लेख है (*तत्रापि*) कि यद्यपि महाराज अन्तर्धान बाह्य रूप से यज्ञ करते थे, किन्तु उनकी वास्तविक वृत्ति तो श्रवण तथा कीर्तन द्वारा भक्ति करनी थी। दूसरे शब्दों में, वे सामान्य यज्ञों को *संकीर्तन-यज्ञ* की विधि से सम्पन्न करते थे जिसकी संस्तुति यहाँ पर की गई है (भागवत ७.५.२३)

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

भक्ति को *कीर्तन-यज्ञ* कहते हैं। *संकीर्तन-यज्ञ* के द्वारा मनुष्य सरलता से उस लोक को जाता है जहाँ परमेश्वर का वास है। पाँच प्रकार के मोक्षों में से जिस लोक में भगवान् रहते हैं उसे प्राप्त करके भगवान् के साथ रहने को *सालोक्य* मोक्ष कहते हैं।

हविर्धानाद्धविर्धानी विदुरासूत षट्सुतान् ।
बर्हिषदं गयं शुक्लं कृष्णं सत्यं जितव्रतम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

हविर्धानात्—हविर्धान से; हविर्धानी—हविर्धान की पत्नी ने; विदुर—हे विदुर; असूत—जन्म दिया; षट्—छह; सुतान्—पुत्रों को; बर्हिषदम्—बर्हिषत् नामक; गयम्—गय नामक; शुक्लम्—शुक्ल नामक; कृष्णम्—कृष्ण नामक; सत्यम्—सत्य नामक; जितव्रतम्—जितव्रत को।.

महाराज अन्तर्धान के पुत्र हविर्धान की पत्नी का नाम हविर्धानी था जिसने छह पुत्रों को जन्म दिया, जिनके नाम थे बर्हिषत्, गय, शुक्ल, कृष्ण, सत्य तथा जितव्रत।

बर्हिषत्सुमहाभागो हाविर्धानिः प्रजापतिः ।
क्रियाकाण्डेषु निष्णातो योगेषु च कुरूद्वह ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

बर्हिषत्—बर्हिषत्; सु-महा-भागः—अत्यन्त भाग्यशाली; हाविर्धानिः—हाविर्धानि नामक; प्रजा-पतिः—प्रजापति का पद; क्रिया-काण्डेषु—सकाम कर्म करने में; निष्णातः—लीन रहने वाला; योगेषु—योगाभ्यास में; च—भी; कुरु-उद्वह—हे कुरुओं में श्रेष्ठ (विदुर)!.

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा : हे विदुर, हविर्धान का अत्यन्त शक्तिशाली पुत्र बर्हिषत् विभिन्न प्रकार के यज्ञादि, कर्मकाण्ड तथा योगाभ्यास में अत्यन्त कुशल था। अपने महान् गुणों के कारण वह प्रजापति कहलाया।

तात्पर्य : सृष्टि के प्रारम्भ में जीवों की संख्या अधिक न थी, अतः शक्तिशाली जीवात्माओं या देवताओं को सन्तान उत्पन्न करने तथा जनसंख्या बढ़ाने के लिए प्रजापति के रूप में नियुक्त किया जाता था। प्रजापति कई थे। ब्रह्मा, दक्ष तथा मनु को भी कभी कभी प्रजापति कहा जाता है। हविर्धान का पुत्र बर्हिषत् भी इनमें से एक था।

यस्येदं देवयजनमनुयज्ञं वितन्वतः ।
प्राचीनाग्रैः कुशैरासीदास्तृतं वसुधातलम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; इदम्—यह; देव-यजनम्—यज्ञों द्वारा देवों को तुष्ट करना; अनुयज्ञम्—निरन्तर यज्ञ करते रहना; वितन्वतः—करते हुए; प्राचीन-अग्रैः—पूर्व दिशा की ओर रखते हुए; कुशैः—कुशों से; आसीत्—हो गई; आस्तृतम्—बिखरे हुए; वसुधा-तलम्—पृथ्वी के ऊपर।

महाराज बर्हिषत् ने संसार भर में अनेक यज्ञ किये। उन्होंने कुश घासों को बिखेर कर उनके अग्रभागों को पूर्व की ओर रखा।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, महाराज बर्हिषत् यज्ञों के कर्मकाण्ड में गहनभाव से लीन रहते थे (*क्रिया-काण्डेषु निष्णात:*)। इसका अर्थ यह हुआ कि ज्योंही एक स्थान पर यज्ञ समाप्त होता था, उसी के निकट दूसरे स्थान पर वह दूसरा यज्ञ प्रारम्भ कर देता था। आज के समय में भी सारे संसार में *संकीर्तन* यज्ञ सम्पन्न किये जाने की ऐसी ही आवश्यकता है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन ने विभिन्न स्थानों पर *संकीर्तन* यज्ञ सम्पन्न करना प्रारम्भ कर दिया है और यह देखा गया है कि जहाँ भी ऐसा यज्ञ किया जाता है, वहाँ हजारों लोग एकत्र होते हैं और उसमें भाग लेते हैं। इस प्रकार से प्राप्त अदृश्य कल्याण को सारे संसार भर में चालू करना चाहिए। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के सदस्यों को एक के पश्चात् एक इतने *संकीर्तन* यज्ञ करने चाहिए कि लोग, हँसी-हँसी में ही सही या फिर गम्भीरतापूर्वक हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे-महामंत्र का जाप करें। इससे उनके हृदय विमल होंगे। भगवान् का पवित्र नाम (*हरेर्नाम*) इतना शक्तिशाली होता है कि चाहे हँसी में जपा जाये या गम्भीरतापूर्वक, इस मंत्र की ध्वनि चारों ओर समान रूप से फैलती है। इस समय महाराज बर्हिषत् की भाँति बारम्बार यज्ञ करना सम्भव नहीं है, किन्तु संकीर्तन यज्ञ करना तो हमारे वश में है, क्योंकि इसमें कुछ भी धन लगता नहीं। कोई कहीं भी बैठकर हरे-कृष्ण-महामंत्र का जप कर सकता है। यदि पृथ्वी तल को हरे कृष्ण मंत्र के जप से आप्लावित कर दिया जाये तो संसार के लोग परम सुखी हो जाँय।

सामुद्रीं देवदेवोक्तामुपयेमे शतद्रुतिम्
यां वीक्ष्य चारुसर्वाङ्गीं किशोरीं सुष्ठ्वलङ्कृताम् ।
परिक्रमन्तीमुद्वाहे चकमेऽग्निः शुकीमिव ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सामुद्रीम्—समुद्र की कन्या को; देव-देव-उक्ताम्—परम देवता ब्रह्मा के कहने से; उपयेमे—विवाह किया; शतद्रुतिम्—शतद्रुति नामक; याम्—जिसको; वीक्ष्य—देखकर; चारु—अत्यन्त आकर्षक; सर्व-अङ्गीम्—शरीर के सभी अंग; किशोरीम्—युवती; सुष्ठु—अत्यधिक; अलङ्कृताम्—आभूषणों से सजी; परिक्रमन्तीम्—परिक्रमा करती, घूमती; उद्वाहे—विवाह में; चकमे—आकर्षित होकर; अग्निः—अग्निदेव ने; शुकीम्—शुकी को; इव—सदृश।

महाराज बर्हिषत् (आगे प्राचीनबर्हि नाम से विख्यात) को परम देवता ब्रह्माजी ने समुद्र की कन्या शतद्रुति के साथ विवाह करने का आदेश दिया था। उसके शरीर के अंग-प्रत्यंग अत्यन्त सुन्दर थे और वह अत्यन्त युवा थी। वह समुचित परिधानों से अलंकृत थी। जब वह विवाह-मण्डप में आकर प्रदक्षिणा करने लगी तो अग्निदेव उस पर इतने मोहित हो गये कि उन्होंने उसे संगी बना कर उसके साथ भोग करना चाहा जिस तरह पहले भी उन्होंने शुकी के साथ करना चाहा था।

तात्पर्य : इस श्लोक में *सुष्ठ्वलङ्कृतम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जब कन्या का विवाह वैदिक रीति से होता है, तो उसे मूल्यवानवस्त्रों तथा आभूषणों से अत्यधिक अलकृंत किया जाता है और विवाह के समय वधू वर की सात प्रदक्षिणाएँ करती है। तत्पश्चात् वर वधू एक दूसरे को देखते हैं और जीवन भर के लिए आकर्षित हो जाते हैं। जब वर बधू को अतीव सुन्दरी पाता है, तो उनके मध्य अति प्रबल आकर्षण स्थिर हो जाता है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में कथित है, स्त्री तथा पुरुष स्वभाव से एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होते हैं और जब वे विवाह से बँध जाते हैं, तो यह आकर्षण और भी सुदृढ़ हो जाता है। इस प्रकार अत्यधिक आकृष्ट होकर वर (दूल्हा) बढ़िया घर और अन्न उत्पन्न करने के लिए अच्छा खेत बनाना चाहता है। तब सन्तान उत्पन्न होती है, मित्र बनते हैं तथा सम्पत्ति आती है। इस प्रकार मनुष्य जीवन की भौतिकता में अधिकाधिक फँसता जाता है और सोचने लगता है, "यह मेरा है," "मैं ही काम करने वाला हूँ।" इस तरह संसार का मोह बढ़ता जाता है।

शुकीम् इव शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जब शतद्रुति प्राचीनबर्हि की प्रदक्षिणा कर रही थी अग्नीदेव उसकी सुन्दरता पर उसी तरह मोहित हो गये जिस प्रकार वे पहले सप्तर्षि की पत्नी शुकी पर मोहित हो चुके थे। जब बहुत काल पूर्व सप्तर्षि-सभा में अग्निदेव उपस्थित थे तो वे शुकी पर जब वह प्रदक्षिणा कर रही थी इसी प्रकार मोहित हुए थे। तब अग्नि की पत्नी स्वाहा ने शुकी का रूप धारण कर अग्नि के साथ संभोग किया था। न केवल अग्नि, अपितु स्वर्ग के राजा इन्द्र तथा कभी-कभी ब्रह्मा तथा शिव जैसे बड़े-बड़े देवता भी काममोहित होते रहे हैं। जीवात्माओं में काम-भावना

इतनी प्रबल होती है कि सारा भौतिक संसार विषय-आकर्षण के द्वारा ही संचालित हो रहा है और काम-वासना के कारण ही मनुष्य भौतिक संसार में रहने तथा विभिन्न प्रकार के शरीर धारण करने के लिए बाध्य होता है। अगले श्लोक में विषयी जीवन के प्रति आकर्षण का चित्रण हुआ है।

विबुधासुरगन्धर्वमुनिसिद्धनरोरगाः ।
विजिताः सूर्यया दिक्षु क्वणयन्त्यैव नूपुरैः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

विबुध—विद्वान; असुर—असुर; गन्धर्व—गन्धर्व लोक के वासी; मुनि—बड़े-बड़े साधु; सिद्ध—सिद्ध लोक के वासी; नर—पृथ्वी लोक के वासी; उरगाः—नाग लोक के वासी; विजिताः—मोहित; सूर्यया—नवेली द्वारा; दिक्षु—समस्त दिशाओं में; क्वणयन्त्या—झंकार करती हुई; एव—केवल; नूपुरैः—अपने नुपुरों से।

जब शतद्रुति का इस तरह विवाह हो रहा था, तो असुर, गन्धर्वलोक के वासी, बड़े-बड़े साधु एवं सिद्धलोक, पृथ्वीलोक तथा नागलोक के वासी, सभी परम विद्वान् होते हुए भी उसके नुपूरों की झनकार से मोहित हो रहे थे।

तात्पर्य : सामान्य रूप से कम आयु में विवाह हो जाने पर एक सन्तान को जन्म देने के पश्चात् स्त्री अधिक सुन्दर हो जाती है। सन्तान को जन्म देना नारी का प्राकृतिक कार्य है। इस प्रकार एक के बाद एक सन्तान उत्पन्न करके वह अधिकाधिक सुन्दर होती जाती है। किन्तु शतद्रुति इतनी सुन्दर थी कि उसने अपने विवाहोत्सव में ही सारे संसार को मोह लिया। दरअसल, उसने अपने नुपूरों की झनकार से ही बड़े-बड़े विद्वानों तथा महान् देवताओं को आकृष्ट कर लिया। इससे सूचित होता है कि सभी देवता उसका सौंदर्य देखना चाह रहे थे, किन्तु वस्त्राभूषणों से ढकी होने के कारण वे उसे ठीक से देख नहीं पा रहे थे। चूँकि वे उसके पाँव ही देख रहे थे, अतः नुपूरों की झनकार सुनकर ही वे मोहित हो रहे थे। उन्हें उसका पूरा सौंदर्य देखने की आवश्यकता न थी। कभी-कभी मनुष्य स्त्रियों की चूड़ियों की खनक, नुपूरों की झनकार अथवा साड़ी देखकर ही काममोहित हो उठता है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकला कि स्त्री माया का पूर्ण रूप है। यद्यपि विश्वामित्र मुनि आँखें बन्द किये योगाभ्यास में लीन थे, किन्तु जब उन्होंने मेनका की चूड़ियों की खनक सुनी तो उनका दिव्य ध्यान टूट गया। इस प्रकार विश्वामित्र मेनका के चंगुल में आ गये और उससे एक सन्तान उत्पन्न हुई जो शकुन्तला नाम से जगत्प्रसिद्ध हुई। निष्कर्ष यह है कि कोई भी अपने को नारी-आकर्षण से नहीं बचा सकता, भले ही वह महान् देवता अथवा उच्चलोक का वासी क्यों न हो। केवल भगवद्भक्त, जो कृष्ण पर आसक्त है,

स्त्री के आकर्षण से बच पाता है। एक बार कृष्ण द्वारा आकृष्ट होने पर संसार की माया उसे आकर्षित नहीं कर सकती।

प्राचीनबर्हिषः पुत्राः शतद्रुत्यां दशाभवन् ।
तुल्यनामव्रताः सर्वे धर्मस्नाताः प्रचेतसः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

प्राचीनबर्हिषः—राजा प्राचीनबर्हि के; पुत्राः—पुत्र; शतद्रुत्याम्—शतद्रुति के गर्भ से; दश—दस; अभवन्—उत्पन्न हुए; तुल्य—समान; नाम—नाम; व्रताः—व्रत; सर्वे—सभी; धर्म—धार्मिकता में; स्नाताः—पूर्णतया मग्न; प्रचेतसः—सबों का प्रचेता नाम पड़ा।

राजा प्राचीनबर्हि ने शतद्रुति के गर्भ से दस पुत्र उत्पन्न किये। वे सभी समान रूप से धर्मात्मा थे और प्रचेता नाम से विख्यात हुए।

तात्पर्य : *धर्म-स्नाताः* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि दसों पुत्र धर्म में पूर्णतः रत थे। साथ ही वे समस्त उत्तम गुणों से सम्पन्न थे। मनुष्य तभी पूर्ण माना जाता है जब वह पूर्ण रूप से धार्मिक हो, अपनी भक्ति के व्रत में पूर्ण हो, ज्ञान में पूर्ण हो एवं उत्तम आचरण वाला हो। सभी प्रचेतागण समान रूप से सिद्ध थे।

पित्रादिष्टाः प्रजासर्गे तपसेऽर्णवमाविशन् ।
दशवर्षसहस्राणि तपसार्चंस्तपस्पतिम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

पित्रा—पिता द्वारा; आदिष्टाः—आदेश पाकर; प्रजा-सर्गे—सन्तान उत्पन्न करने के विषय में; तपसे—तपस्या करने में; अर्णवम्—समुद्र में; आविशन्—प्रविष्ट होकर; दश-वर्ष—दस साल; सहस्राणि—हजारों; तपसा—अपनी तपस्या से; आर्चन्—पूजा की; तपः—तपस्या के; पतिम्—स्वामी की।

जब इन सभी प्रचेताओं को उनके पिता ने विवाह करके सन्तान उत्पन्न करने का आदेश दिया तो सबों ने समुद्र में प्रवेश किया और दस हजार वर्षों तक तपस्या की। इस प्रकार उन्होंने समस्त तपस्या के स्वामी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की उपासना की।

तात्पर्य : कभी-कभी ऋषि तथा साधु संसार के शोरगुल से दूर एकान्तवास करने के लिए हिमालय पर्वत में जाते हैं। किन्तु ऐसा लगता है कि एकान्तवास में तपस्या करने के लिए प्राचीनबर्हि के सभी पुत्रों ने समुद्र के भीतर प्रवेश किया। चूँकि वे दस हजार वर्षों तक तपस्या करते रहे, अतः यह घटना सत्ययुग की है, क्योंकि तब लोग एक लाख वर्ष तक जीवित रहते थे। यह भी महत्त्वपूर्ण बात है

कि तपस्या करते हुए उन्होंने तपेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना की। यदि चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कोई तपस्या करना चाहता है, तो उसे भगवान् की कृपा प्राप्त करनी चाहिए। यदि उसे भगवत्कृपा प्राप्त हो गई तो समझिये कि उसने सारी तपस्याएँ समाप्त करके उनमें दक्षता प्राप्त कर ली है। दूसरी ओर, यदि उसे भक्ति की पूर्ण अवस्था प्राप्त नहीं हो पाती तो उसकी सारी तपस्याएं व्यर्थ हैं, क्योंकि तपस्या करने से प्राप्त होने वाले सर्वोच्च फल को परमेश्वर के बगैर कोई ग्रहण नहीं कर सकता। जैसाकि *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा गया है, भगवान् श्रीकृष्ण समस्त तपस्याओं तथा यज्ञों के स्वामी हैं। *भोक्तारं यज्ञ तपसां सर्वलोक महेश्वरम्।* इस प्रकार तपस्या का वांछित फल भगवान् श्रीकृष्ण से ही प्राप्त हो सकता है।

श्रीमद्भागवत (३.३३.७) में कहा गया है—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्

यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।

तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या

ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

भले ही कोई चाण्डाल कुल में अर्थात् मानव समाज का सबसे निचले वर्ग में क्यों न जन्मा हो, यदि वह भगवान् के नाम का जप करता है, तो वह धन्य है, क्योंकि यह समझा जाता है कि ऐसे जप से भक्त यह सिद्ध कर देता है कि पिछले जन्म में उसने सभी प्रकार की तपस्याएँ की थीं। भगवान् चैतन्य की कृपा से जो कोई महामंत्र (हरे कष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे।) का जप करता है, वह उस परम सिद्धि को प्राप्त करता है, जिसे पहले के लोग समुद्र में प्रवेश करके दस हजार वर्षों तक तपस्या करके प्राप्त करते थे। यदि इस कलियुग में कोई हरे कृष्ण मंत्र जप करने का लाभ नहीं उठाता, जो इस युग की पतितात्माओं के लिए सबसे बड़ी छूट है, तो यह समझना चाहिए कि वह भगवान् की माया से मोहग्रस्त है।

यदुक्तं पथि दृष्टेन गिरिशेन प्रसीदता ।
तद्ध्यायन्तो जपन्तश्च पूजयन्तश्च संयताः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; उक्तम्—कहा गया; पथि—रास्ते में; दृष्टेन—भेंट करके; गिरिशेन—भगवान् शिव द्वारा; प्रसीदता—अत्यन्त प्रसन्न होकर; तत्—वही; ध्यायन्तः—ध्यान करते हुए; जपन्तः च—और जप करते हुए; पूजयन्तः च—और पूजते हुए; संयताः—अत्यन्त संयमपूर्वक।

जब प्राचीनबर्हि के सभी पुत्रों ने तपस्या करने के उद्देश्य से घर छोड़ दिया तो उन्हें शिवजी मिले, जिन्होंने अत्यन्त कृपा करके उन्हें परम सत्य के विषय में उपदेश दिया। प्राचीनबर्हि के सभी पुत्रों ने उनके उपदेशों को अत्यन्त सावधानी तथा मनोयोग से जपते तथा पूजा करते हुए उनके विषय में ध्यान किया।

तात्पर्य : यह स्पष्ट है कि तपस्या करने के लिए या किसी भी प्रकार की भक्ति के लिए गुरु द्वारा पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता पड़ती है। यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि महाराज प्राचीनबर्हि के दसों पुत्रों को भगवान् शिव के प्रकट होने से यह कृपा प्राप्त हुई और उन्होंने दयावश उन्हें तपस्या करने के विषय में उपदेश दिया। वास्तव में भगवान् शिव उन दसों के गुरु हो गये और बदले में उनके शिष्यों ने उनके उपदेशों को इतनी गम्भीरता से ग्रहण किया कि मात्र उन पर ध्यान करने से (*ध्यायन्तः*) वे सिद्ध हो सके। यही सफलता का रहस्य है। दीक्षा ग्रहण करके तथा गुरु से आदेश प्राप्त करके शिष्य को बिना हिचक के गुरु के उपदेशों या आदेशों के विषय में ध्यान करना चाहिए और अपने आपको किसी अन्य वस्तु से विचलित नहीं होने देना चाहिए। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का भी यही मत है जिन्होंने *भगवद्गीता* के (२.४१) एक श्लोक (*व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन*) की व्याख्या करते हुए इंगित किया है कि शिष्य के लिए गुरु का आदेश ही जीवनाधार है। शिष्य भगवान् के धाम जा रहा है या नहीं, इसकी परवाह न करके उसका पहला कर्तव्य है गुरु के आदेश का पालन करे। इस प्रकार शिष्य को गुरु के आदेश पर ध्यान धारण करना चाहिए। यही समग्र ध्यान है। उसे न केवल उस आदेश के विषय में ध्यान करना चाहिए, अपितु उन साधनों की खोज भी करनी चाहिए जिनसे वह ठीक से उपासना कर सके और उसे पूरी कर सके।

विदुर उवाच

प्रचेतसां गिरित्रेण यथासीत्पथि सङ्गमः ।
यदुताह हरः प्रीतस्तन्नो ब्रह्मन्वदार्थवत् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने पूछा; प्रचेतसाम्—समस्त प्रचेताओं की; गिरित्रेण—शिवजी द्वारा; यथा—जिस प्रकार; आसीत्—था; पथि—रास्ते में; सङ्गमः—भेंट; यत्—जो; उत आह—कहा; हरः—शिवजी ने; प्रीतः—प्रसन्न होकर; तत्—वह; नः—हमको; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; वद—कहो; अर्थ-वत्—अर्थ समझा कर।.

विदुर ने मैत्रेय से पूछाः हे ब्राह्मण, प्रचेतागण रास्ते में शिवजी से क्यों मिले? कृपया मुझे बताएँ कि उनसे किस प्रकार भेंट हुई, भगवान् शिव उनसे किस प्रकार इतने प्रसन्न हो गये और उन्होंने क्या उपदेश दिया? निस्सन्देह, ऐसी बातें महत्वपूर्ण हैं और मैं चाहता हूँ कि आप कृपा करके मुझसे इनका वर्णन करें।

तात्पर्य : जब भी भक्त तथा भगवान् के बीच या उच्च भक्तों में परस्पर महत्त्वपूर्ण वार्ताएँ हों तो मनुष्य को उन्हें उत्सुकता से सुनना चाहिए। नैमिषारण्य की सभा में जहाँ सभी ऋषियों को सूत गोस्वामी *श्रीमद्भागवत* सुना रहे थे, उनसे भी महाराज परीक्षित तथा शुकदेव गोस्वामी की वार्ताओं के विषय में पूछा गया, क्योंकि ऋषियों को विश्वास था कि उनकी वार्ताएँ भी भगवान् कृष्ण तथा अर्जुन के मध्य हुई वार्ताओं के समान महत्त्वपूर्ण रही होंगी। जिस तरह प्रत्येक व्यक्ति *भगवद्गीता* से पूर्णतया अवगत होना चाहता है, उसी प्रकार विदुर भी शिव तथा प्रचेताओं के बीच हुई वार्ता के विषय में ऋषि मैत्रेय से जानने के लिए उत्सुक थे।

**सङ्गमः खलु विप्रर्षे शिवेनेह शरीरिणाम् ।
दुर्लभो मुनयो दध्युरसङ्गाद्यमभीप्सितम् ॥ १७॥**

शब्दार्थ

सङ्गमः—संग, समागम; खलु—निश्चय ही; विप्र-ऋषे—हे ब्राह्मण श्रेष्ठ; शिवेन—शिव के साथ; इह—इस संसार में; शरीरिणाम्—भौतिक देहों में बँधे हुओं का; दुर्लभः—कठिन; मुनयः—मुनिगण; दध्युः—ध्यान में लगे हुए; असङ्गात्—प्रत्येक वस्तु से विरक्त; यम्—जिसको; अभीप्सितम्—इच्छा करते हुए।.

विदुर ने आगे कहा : हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, देहधारियों के लिए शिवजी के साथ साक्षात् सम्पर्क कर पाना अत्यन्त कठिन है। बड़े-बड़े ऋषि भी जिन्हें भौतिक आसक्ति से कोई लेनदेन नहीं होता, उनका समागम पाने के लिए ही, ध्यान में लीन रहने के बावजूद भी उनका संसर्ग प्राप्त नहीं कर पाते।

तात्पर्य : चूँकि बिना विशेष कारण के शिवजी अवतरित नहीं होते, अतः सामान्य व्यक्ति का उनसे सम्पर्क कर पाना कठिन है। किन्तु जब भगवान् का आदेश होता है, तो उन्हें किसी विशेष अवसर पर अवतार लेना होता है। इस प्रसंग में *पद्म पुराण* में कहा गया है कि कलियुग में मायावाद दर्शन का

उपदेश देने के लिए शिवजी ब्राह्मण के रूप में प्रकट हुए थे। यह दर्शन बौद्ध दर्शन के एक प्रकार के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। *पद्म पुराण* का कथन है—

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते।

मयैव विहितं देवी कलौ ब्राह्मणमूर्तिना॥

शिवजी ने पार्वती से पहले ही बता दिया था कि वे बौद्ध दर्शन के उन्मूलन हेतु संन्यासी ब्राह्मण के वेश में मायावाद दर्शन का विस्तार करेंगे। यह संन्यासी और कोई नहीं बल्कि श्रीपाद शंकराचार्य थे। बौद्ध दर्शन के प्रभावों पर विजय पाने तथा वेदान्त दर्शन का प्रसार करने के लिए श्रीपाद शंकराचार्य को बौद्ध दर्शन के साथ कुछ समझौता करना पड़ा और उस समय की आवश्यकता के अनुसार उन्होंने केवल अद्वैतवाद का उपदेश दिया, अन्यथा उन्हें मायावाद दर्शन के उपदेश देने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इस समय मायावाद दर्शन या बौद्ध दर्शन के उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं है। भगवान् चैतन्य ने इन दोनों का बहिष्कार किया। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन भगवान् चैतन्य के दर्शन का प्रसार और दोनों प्रकार के मायावादी दर्शनों का बहिष्कार कर रहा है। एक प्रकार से बौद्ध दर्शन तथा शंकर दर्शन सांसारिक स्तर पर मायावाद के विभिन्न रूप हैं। इनमें से किसी का भी आध्यात्मिक महत्त्व नहीं है। आध्यात्मिक महत्त्व तो *भगवद्गीता* के दर्शन को स्वीकार करने के पश्चात् है, जो भगवान् की शरण ग्रहण करने में फलीभूत होता है। सामान्यत: लोग किसी लाभ के लिए शिवजी की पूजा करते हैं और उनका साक्षात् दर्शन किए बिना भी वे उनकी उपासना करके बड़े-बड़े भौतिक लाभ प्राप्त करते हैं।

आत्मारामोऽपि यस्त्वस्य लोककल्पस्य राधसे ।
शक्त्या युक्तो विचरति घोरया भगवान्भवः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

आत्म-आरामः—आत्मतुष्ट; अपि—यद्यपि वह है; यः—जो है; तु—लेकिन; अस्य—इस; लोक—भौतिक जगत; कल्पस्य—प्रकट होने पर; राधसे—इस संसार की सहायता के लिए; शक्त्या—शक्ति से; युक्तः—साथ; विचरति—कार्य करता है; घोरया—अत्यन्त भयानक; भगवान्—भगवान्; भवः—शिव।

शिवजी जो अत्यन्त शक्तिशाली देवता हैं और वे आत्माराम हैं, जिनका नाम भगवान् विष्णु के ही बाद आता है। यद्यपि उन्हें इस भौतिक जगत में किसी वस्तु की कोई आकांक्षा नहीं है, किन्तु वे संसारी लोगों के कल्याण कार्य में सदैव व्यस्त रहते हैं और अपनी घोर शक्तियों—यथा देवी काली तथा देवी दुर्गा—के साथ रहते हैं।

तात्पर्य : शिवजी भगवान् के सबसे बड़े भक्त माने जाते हैं। वे सभी प्रकार के वैष्णवों में श्रेष्ठ माने जाते हैं (*वैष्णवानां यथा शम्भुः*)। फलतः शिवजी का एक वैष्णव सम्प्रदाय है, जिसे रुद्र सम्प्रदाय कहते हैं। जिस प्रकार ब्रह्माजी से ब्रह्म सम्प्रदाय चलता है उसी प्रकार शिवजी से रुद्र सम्प्रदाय। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (६.३.२०) में कहा गया है शिवजी बारह महाजनों में से एक हैं—

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।

प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥

ईश्वर की भक्ति का उपदेश करने वाले बारह महाजन हैं। *शम्भु* का अर्थ है शिवजी। उनकी शिष्य-परम्परा विष्णुस्वामी सम्प्रदाय नाम से भी ज्ञात है और वर्तमान विष्णुस्वामी सम्प्रदाय को वल्लभ सम्प्रदाय भी कहते हैं। वर्तमान ब्रह्म-सम्प्रदाय मध्व-गौड़ीय सम्प्रदाय कहलाता है। यद्यपि शिवजी मायावाद दर्शन का उपदेश करते प्रतीत होते थे, किन्तु शंकराचार्य के रूप में अपनी लीलाओं के अन्त में उन्होंने वैष्णव दर्शन—*भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते*—का उपदेश दिया। उन्होंने भगवान् कृष्ण या गोविन्द की पूजा के विषय में इस श्लोक में तीन बार बल दिया है और उन्होंने अपने शिष्यों को आगाह किया है कि वे मात्र शब्दजाल तथा व्याकरणिक गुत्थियों के द्वारा मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते। यदि कोई सचमुच मुक्ति चाहता है, तो उसे भगवान् कृष्ण की पूजा करनी चाहिए। यही श्रीपाद शंकराचार्य का अन्तिम उपदेश है।

यहाँ पर यह उल्लेख हुआ है कि शिवजी सदैव अपनी भौतिक शक्ति के साथ रहते हैं (*शक्त्या-घोरया*)। भौतिक शक्ति—देवी दुर्गा या देवी काली—सदैव उनके वश में रहती हैं। देवी काली तथा दुर्गा समस्त असुरों को मारकर उनकी सेवा करती हैं। कभी-कभी देवी काली इतनी क्रुद्ध हो उठती हैं कि बिना विचारे सारे असुरों का वध कर देती हैं। देवी काली के सर्वाधिक प्रचलित चित्र में उन्हें असुरों के मुंडों की माला पहने और बाएँ हाथ से एक सिर को पकड़े तथा दाएँ में एक विशाल खड्ग लिए दिखाया जाता है। महान् युद्ध काली द्वारा असुरों के विनाश के प्रतीक स्वरूप हैं और वास्तव में देवी काली द्वारा किए जाते हैं।

सृष्टिस्थितिप्रलयसाधनशक्तिरेका (*ब्रह्म-संहिता* ५.४४)

असुर लोग भौतिक वैभव से पूजा द्वारा देवी काली या दुर्गा को प्रसन्न रखना चाहते हैं, किन्तु जब

असुर अत्यधिक असह्य हो उठते हैं, तो देवी काली उनका बड़े पैमाने पर वध करने मे हिचकती नहीं हैं। असुरगण शिवजी की शक्ति के रहस्य को नहीं जानते और वे भौतिक लाभ के लिए देवी काली या दुर्गा या शिवजी की पूजा करते हैं। अपने आसुरी आचरण के कारण वे भगवान् की शरण में नहीं जाते जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१५) में संकेत मिलता है।

न मां दुष्कृतिनो मूढा: प्रपद्यन्ते नराधमा:।

माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिता:॥

शिवजी का कार्य अत्यन्त कठिन है, क्योंकि उन्हें देवी काली (या दुर्गा) की शक्ति काम में लानी पड़ती है। एक अन्य प्रचलित चित्र में देवी काली को कभी-कभी शिवजी के शरीर पर खड़ा दिखलाया जाता है, जो यह बताता है कि कभी-कभी काली द्वारा असुरों का वध बन्द करवाने के लिए शिवजी को पृथ्वी पर दण्डवत् लेटना पड़ता है। चूँकि शिवजी महान् भौतिक शक्ति (देवी दुर्गा) को अपने वश में रखते हैं, अत: शिव के उपासक इस संसार में प्रचुर ऐश्वर्य युक्त पद प्राप्त करते हैं। शिवजी के आदेश से शिवभक्त सभी भौतिक सुविधाएँ प्राप्त करता है। इसके विपरीत विष्णु के उपासक वैष्णव भौतिक सम्पत्ति में शनै-शनै निर्धन होते जाते हैं, क्योंकि भगवान् विष्णु अपने भक्तों को सांसारिक ऐश्वर्य के बन्धन में नहीं पड़ने देना चाहते। वे तो अपने भक्तों को अन्त:करण से बुद्धि प्रदान करते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.१०) में कहा गया है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

"जो निरन्तर मेरी भक्ति में रत रहते हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।"

इस प्रकार भगवान् विष्णु अपने भक्त को बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वह भगवान् के धाम को वापस जा सकता है। चूँकि भक्त को किसी प्रकार के भौतिक वैभव से कोई सरोकार नहीं रहता, अत: वह देवी काली या दुर्गा के अधीन नहीं रहता।

शिवजी इस संसार में तमोगुण के भी अधीक्षक हैं। उनकी शक्ति, देवी दुर्गा, समस्त जीवों को अविद्या के अंधकार में रखती हुई बतायी जाती है (*या देवी सर्वभूतेषु निद्रा-रूपं संस्थिता*)। ब्रह्मा तथा

शिव दोनों ही भगवान् विष्णु के अवतार हैं, किन्तु ब्रह्मा को सृष्टि करने का भार सौंपा गया जब कि शिवजी को संहार का, जिसे वे अपनी भौतिक शक्ति देवी काली या देवी दुर्गा की सहायता से पूरा करते हैं। इस प्रकार इस श्लोक में शिवजी को ध्वंसक शक्तियों (*शक्त्या-घोरया*) के साथ रहते बताया गया है और वस्तुस्थिति भी यही है।

मैत्रेय उवाच
प्रचेतसः पितुर्वाक्यं शिरसादाय साधवः ।
दिशं प्रतीचीं प्रययुस्तपस्याद‍ृतचेतसः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—ऋषि मैत्रेय ने कहा; प्रचेतसः—राजा प्राचीनबर्हि के सारे पुत्र; पितुः—पिता के; वाक्यम्—शब्द को; शिरसा—मस्तक पर; आदाय—धारण करके; साधवः—सभी पवित्र; दिशम्—दिशा की ओर; प्रतीचीम्—पश्चिमी; प्रययुः—चले गये; तपसि—तपस्या में; आद‍ृत—गम्भीरतापूर्वक स्वीकार करके; चेतसः—हृदय में।

ऋषि मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, अपनी साधु प्रकृति के कारण प्राचीनबर्हि के सभी पुत्रों ने अपने पिता के वचनों को शिरोधार्य किया और पिता की आज्ञा पूरी करने के उद्देश्य से वे पश्चिम दिशा की ओर चले गये।

तात्पर्य : इस श्लोक में *साधवः* (पवित्र या सदाचारी) शब्द आज की परिस्थिति में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह *साधु* शब्द से निकला है। पूर्ण साधु वह है, जो भगवान् की भक्ति में सदैव लगा रहता है। प्राचीनबर्हि के पुत्रों को *साधवः* कहा गया है, क्योंकि वे पिता के आज्ञाकारी थे। पिता, राजा तथा गुरु को भगवान् का प्रतिनिधि माना जाता है, अतः उनका भगवान् के ही समान आदर किया जाना चाहिए। पिता, गुरु तथा राजा का धर्म है कि वे अपने अधीनस्थों को इस प्रकार नियंत्रित करें कि अन्ततः वे भगवान् के शुद्ध भक्त बन सकें। वह तो बड़ों का कर्तव्य है और अधीनस्थों का कर्तव्य यह है कि वे आदेशों का सही तथा अनुशासित ढंग से पालन करें। *शिरसा* (अपने मस्तक पर) शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि प्रचेताओं ने पिता के आदेश को मस्तक पर धारण कर लिया, जिसका अर्थ है कि उन्होंने उसे पूरी तरह स्वीकार कर लिया।

ससमुद्रमुप विस्तीर्णमपश्यन्सुमहत्सरः ।
महन्मन इव स्वच्छं प्रसन्नसलिलाशयम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

स-समुद्रम्—समुद्र के निकट ही; उप—कुछ-कुछ; विस्तीर्णम्—अत्यन्त लम्बा चौड़ा; अपश्यन्—उन्होंने देखा; सु-महत्—अत्यन्त विशाल; सरः—जलाशय; महत्—महापुरुष; मनः—मन; इव—सदृश; सु-अच्छम्—स्वच्छ, निर्मल; प्रसन्न—प्रसन्न; सलिल—जल; आशयम्—शरण में आये हुए।

चलते-चलते प्रचेताओं ने एक विशाल जलाशय देखा जो समुद्र के समान ही विशाल दिखता था। इसका जल इतना शान्त था मानो किसी महापुरुष का मन हो और इसके जलचर इतने बड़े जलाशय की संरक्षण में होकर अत्यन्त शान्त तथा प्रसन्न प्रतीत हो रहे थे।

तात्पर्य : *स-समुद्र* का अर्थ है समुद्र के निकट। वह जलाशय खाड़ी के समान था, क्योंकि समुद्र के निकट ही था। *उप* शब्द जिस का अर्थ है ''न्यूनाधिक'' कई प्रकार से प्रयुक्त होता है यथा *उपपति* से ''कुछ-कुछ'' पति अर्थात् पति के समान प्रेमी सूचित होता है। *उप* का अर्थ 'बड़ा' 'छोटा' या 'पास' भी होता है। इन सब बातों को देखते हुए, प्रचेताओं ने जो जलाशय देखा था, वह वास्तव में एक बड़ी खाड़ी या झील (सरोवर) था। किन्तु यह जलाशय समुद्र की तरह उद्दाम लहरों से युक्त न होकर अत्यन्त शान्त था। इसका जल इतना निर्मल था मानो किसी महापुरुष का मन हो। ज्ञानी, योगी, भक्त—ये सभी महापुरुष अथवा शुद्ध भक्त हैं जो महान् आत्माएं भी कहलाती हैं, किन्तु हैं अत्यन्त दुर्लभ। योगियों तथा ज्ञानियों में अनेक महापुरुष मिलते हैं, किन्तु ऐसा महापुरुष, जो भगवान् का शुद्ध भक्त हो और भगवान् के प्रति पूर्णत: समर्पित हो, विरला ही होता है—*स महात्मा सुदुर्लभ:* (*भगवद्गीता* ७.१९)। भक्त का मन सदैव शान्त एवं निष्काम होता है, क्योंकि वह सदैव *अन्याभिलाषिता शून्यम्* होता है, अर्थात् श्रीकृष्ण के अतिरिक्त और किसी की दास, मित्र, पिता, माता या प्रेमी के रूप में सेवा नहीं करना चाहता। कृष्ण की निरन्तर संगति के कारण भक्त सदैव अत्यन्त शान्त रहता है। यह भी महत्त्वपूर्ण बात है कि उस जलाशय के सारे प्राणी भी अत्यधिक शान्त थे। चूँकि भक्त के शिष्य महापुरुष की शरण में रहते हैं, वे परम शान्त हो जाते हैं और भवसागर की लहरों से विचलित नहीं होते।

इस भौतिक संसार को प्राय: अज्ञान-सागर कहा जाता है। ऐसे सागर की प्रत्येक वस्तु विचलित होती रहती है। भक्त का मन भी समुद्र या जलाशय के समान है, किन्तु उसमें उद्वेलन नहीं होता। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४१) में कहा गया है—*व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।* जो भगवान् की सेवा में दृढ़ हैं, वे किसी तरह विचलित नहीं होते। *भगवद्गीता* (६.२२) में कहा गया है—*यस्मिन्स्थितो न दु:खेन गुरुणापि विचाल्यते।* यदि जीवन में विफलताएँ भी आएँ तो भी भक्त विचलित

नहीं होता। अतः जो भी महापुरुष या भक्त की शरण ग्रहण करता है, वह शान्त हो जाता है। *चैतन्य चरितामृत* (मध्य १९.१४९) में कहा गया है—*कृष्ण भक्त—निष्काम, अतएव 'शान्त'।* कृष्ण का भक्त सदैव शान्त रहता है, क्योंकि वह निष्काम होता है, किन्तु योगी, कर्मी तथा ज्ञानी अनेक इच्छाओं से पूर्ण होते हैं। कोई यह तर्क कर सकता है कि भक्त भगवान् के धाम जाना चाहते हैं, अतः वे भी इच्छाओं से पूर्ण होते हैं, किन्तु ऐसी इच्छाओं से उनके मन विक्षुब्ध नहीं होते। यद्यपि भक्त भगवान् के धाम जाना चाहता है, किन्तु वह जीवन की सभी परिस्थितियों में प्रसन्न रहता है। फलतः इस श्लोक में *महन्-मनः* शब्द यह आभास देने के लिए प्रयुक्त हुआ है कि जलायश का पानी उतना ही शान्त था जितना कि भक्त का मन।

नीलरक्तोत्पलाम्भोजकह्लारेन्दीवराकरम् ।
हंससारसचक्राह्वकारण्डवनिकूजितम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

नील—नील; रक्त—लाल; उत्पल—कमल; अम्भः-ज—जल से उत्पन्न; कह्लार—कमल की एक किस्म; इन्दीवर—कमल की एक किस्म; आकरम्—खान; हंस—हंस पक्षी; सारस—एक पक्षी; चक्राह्व—चकवा नाम का पक्षी; कारण्डव—पक्षी विशेष; निकूजितम्—चहक रहे थे।.

उस विशाल सरोवर में विभिन्न प्रकार के कमल पुष्प थे। कुछ नीले थे तो कुछ लाल, कुछ रात्रि में खिलने वाले थे, तो कुछ दिन में और इन्दीवर जैसे कुछ कमल शाम को खिलने वाले थे। इन सब फूलों से सारा सरोवर पुष्पों की खान सा प्रतीत हो रहा था। फलस्वरूप सरोवर के तटों पर हंस, सारस, चक्रवाक, कारण्डव तथा अन्य सुन्दर जलपक्षी खड़े हुए थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *आकरम्* (खान) शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जलाशय ऐसी खान के सदृश लग रहा था, जिसमें विभिन्न प्रकार के कमल उत्पन्न होते हों। कुछ कमल तो दिन में खिलने वाले थे, कुछ रात्रि में और कुछ सायंकाल खिलने वाले थे, और तदनुसार उनके नाम तथा रंग भिन्न-भिन्न थे, ये सभी फूल सरोवर में विद्यमान थे और सरोवर शान्त था तथा कमल पुष्पों से पूरित था अतः हंस, चक्रवाक तथा कारण्डव जैसे पक्षी किनारों पर खड़े थे और विभिन्न प्रकार के गीत गा रहे थे, जिससे सारा दृश्य मनोरम लगता था। जिस प्रकार प्रकृति के तीन गुणों के मेल से भिन्न-भिन्न प्रकार के मनुष्य होते हैं, उसी प्रकार पक्षी, वृक्ष, भौंरे भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के अनुसार ही सारी वस्तुएँ विभाजित हैं। हंस तथा सारस जैसे पक्षी, जो स्वच्छ जल तथा कमल पुष्पों का

आनन्द उठाते हैं, गंदे स्थानों पर बैठने वाले कौवों से पृथक् हैं। इसी प्रकार मनुष्य हैं—वे रजोगुणी तथा तमोगुणी होते हैं और सतोगुणी भी। यह सृष्टि इतनी विचित्र है कि प्रत्येक समाज में भिन्नताएँ हैं। इस प्रकार कमल पुष्पों से पूरित उस विशाल सरोवर के तट पर सभी उत्तम पक्षी आनन्द ले रहे थे।

मत्तभ्रमरसौस्वर्यहृष्टरोमलताङ्घ्रिपम् ।
पद्मकोशरजो दिक्षु विक्षिपत्पवनोत्सवम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

मत्त—पागल; भ्रमर—भौंरे; सौ-स्वर्य—भिनभिनाहट के साथ; हृष्ट—प्रसन्नतापूर्वक; रोम—शरीर के बाल; लता—बेलें; अङ्घ्रिपम्—वृक्ष; पद्म—कमल; कोश—कोश, दलपुञ्ज; रजः—केशर; दिक्षु—सभी दिशाओं में; विक्षिपत्—बिखेरते हुए; पवन—वायु; उत्सवम्—उत्सव, पर्व।

उस सरोवर के चारों ओर तरह-तरह के वृक्ष तथा लताएँ थीं और उन पर मतवाले भौंरे गूँज रहे थे। भौंरों की मधुर गूँज से वृक्ष अत्यन्त उल्लसित लग रहे थे और कमल पुष्पों का केसर वायु में बिखर रहा था। इन सबसे ऐसा वातावरण उत्पन्न हो रहा था मानो कोई उत्सव हो रहा हो।

तात्पर्य : वृक्ष तथा लताएँ भी विविध प्रकार के जीव हैं। जब भौंरें इन वृक्षों तथा लताओं से मधु संचय करने के लिए आते हैं, तो ये वृक्ष अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। वायु भी ऐसे अवसर का लाभ उठाकर कमल पुष्पों के केशर को बिखेर देती है। तिस पर हंसों का कलरव तथा शान्त जल। प्रचेतागण ऐसे वातावरण को एक अनवरत उत्सव मान बैठे। इस वर्णन से प्रतीत होता है कि प्रचेतागण शिवलोक पहुँच गये थे, जो हिमालय पर्वत में स्थित माना जाता है।

तत्र गान्धर्वमाकर्ण्य दिव्यमार्गमनोहरम् ।
विसिस्म्यू राजपुत्रास्ते मृदङ्गपणवाद्यनु ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; गान्धर्वम्—मधुर ध्वनि; आकर्ण्य—सुनकर; दिव्य—स्वर्गिक; मार्ग—समान रूप से; मनः-हरम्—सुन्दर; विसिस्म्युः—वे चकित हो गये; राज-पुत्राः—राजा बर्हिषत के पुत्र; ते—वे सब; मृदङ्ग—मृदंग, ढोल; पणव—ताशा, धौंसा; आदि—सब मिलकर; अनु—सदैव।

जब राजा के पुत्रों ने मृदंग तथा पणव के साथ-साथ अन्य राग-रागिनियों की कर्णप्रिय ध्वनि सुनी तो वे अत्यन्त विस्मित हुए।

तात्पर्य : सरोवर के निकट विभिन्न फूल तथा जीव तो थे ही, इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार की राग-रागिनियाँ सुनाई पड़ रही थीं। कहाँ यह दृश्य! कहाँ निर्विशेषवादियों का अनेकरूपता से हीन

शून्यवाद! वास्तव में मनुष्य को सच्चिदानन्द की सिद्धि प्राप्त करनी होती है। चूँकि निर्विशेषवादी सृष्टि की इन विविध रूपों को स्वीकार नहीं करते, अत: वे दिव्य आनन्द का भोग नहीं कर सकते। प्रचेतागण जिस स्थान पर पहुँचे थे वह शिव का धाम था। निर्विशेषवादी सामान्यत: शिव के उपासक होते हैं, किन्तु शिवजी कभी-भी अपने धाम में विविधता के बिना नहीं रहते। इस प्रकार मनुष्य चाहे जहाँ जाये, चाहे शिव, विष्णु या ब्रह्म लोक को जाये, ज्ञान तथा आनन्द से पूर्ण मनुष्यों को सर्वत्र अनेकरूपता (विचित्रता) दिखाई पड़ेगी।

तर्ह्येव सरसस्तस्मान्निष्क्रामन्तं सहानुगम् ।
उपगीयमानममरप्रवरं विबुधानुगै: ॥ २४॥
तप्तहेमनिकायाभं शितिकण्ठं त्रिलोचनम् ।
प्रसादसुमुखं वीक्ष्य प्रणेमुर्जातकौतुका: ॥ २५॥

शब्दार्थ

तर्हि—इतने में; एव—निश्चय ही; सरस:—जल से; तस्मात्—उसमें से; निष्क्रामन्तम्—निकलते हुए; सह-अनुगम्—महापुरुषों के साथ; उपगीयमानम्—अनुयायियों द्वारा वन्दित; अमर-प्रवरम्—देवताओं में प्रधान; विबुध-अनुगै:—अपने संगियों के साथ; तप्त-हेम—पिघला सोना; निकाय-आभम्—शारीरिक अंग; शिति-कण्ठम्—नीला कंठ; त्रि-लोचनम्—तीन नेत्र वाले; प्रसाद—दयालु; सु-मुखम्—सुन्दर चेहरा; वीक्ष्य—देखकर; प्रणेमु:—प्रणाम किया; जात—उत्पन्न हुआ; कौतुका:—कुतूहल।

प्रचेतागण भाग्यवान थे कि उन्होंने प्रमुख देव शिवजी को उनके पार्षदों सहित जल से बाहर आते देखा। उनकी शारीरिक कान्ति तपे हुए सोने के समान थी, उनका कंठ नीला था और उनके तीन नेत्र थे जिनसे वे भक्तों पर कृपादृष्टि डाल रहे थे। उनके साथ अनेक गन्धर्व गायक थे, जो उनका गुणगान कर रहे थे। ज्यों ही प्रेचताओं ने शिवजी को देखा उन्होंने तुरन्त ही कुतूहलवश उन्हें नमस्कार किया और वे उनके चरणों पर गिर पड़े।

तात्पर्य : *विबुधानुगै:* शब्द बताता है कि शिवजी के साथ सदैव गन्धर्व तथा किन्नर जैसे स्वर्ग के वासी रहते हैं। ये सब संगीत में अत्यन्त पटु होते हैं और निरन्तर शिवजी की पूजा करते रहते हैं। चित्रों में शिवजी को सदैव श्वेत रंग का दिखाया जाता है, किन्तु यहाँ पर उनके शरीर का रंग श्वेत न होकर गलाये गये सोने या चमकीले पीले रंग का है। अत्यन्त दयालु होने के कारण शिवजी आशुतोष कहलाते हैं। देवताओं में से शिवजी को निम्नवर्ग के लोग भी प्रसन्न कर लेते हैं, उन्हें केवल बेलपत्र चढ़ाने तथा नमस्कार करने की आवश्यकता है। इस प्रकार उनका नाम आशुतोष है, जिसका अर्थ है कि वे तुरन्त ही प्रसन्न होने वाले हैं।

सामान्यत: जो लोग भौतिक सम्पन्नता चाहते हैं, वे ऐसे वरदान के लिए शिवजी के पास जाते हैं, उनके अत्यन्त दयालु होने के कारण भक्तों को मनवांछित फल देते हैं। असुरगण उनकी इस उदारता का लाभ उठाते हैं और कभी-कभी उनसे ऐसा वर प्राप्त कर लेते हैं, जो अन्यों के लिए अत्यन्त घातक होता है। उदाहरणार्थ, वृकासुर ने शिवजी से ऐसा वर प्राप्त किया था जिसकि वह जिस किसी का सिर को छू देता उसका अन्त हो जाता था। यद्यपि कभी-कभी शिवजी अपने भक्तों को ऐसे उदारतापूर्वक वर प्रदान करते हैं, किन्तु कठिनाई यह है कि कभी-कभी असुरगण कपटी होने के कारण ऐसे वरों का दुरुपयोग करना चाहते हैं। उदाहारणार्थ, वृकासुर ने वर प्राप्त करके शिवजी के सिर का स्पर्श करना चाहा। किन्तु विष्णु के भक्त कभी-भी ऐसे वर की इच्छा नहीं रखते, न ही विष्णु अपने भक्तों को ऐसा वर देते हैं जिससे संसार भर में अशान्ति फैले।

स तान्प्रपन्नार्तिहरो भगवान्धर्मवत्सलः ।
धर्मज्ञान्शीलसम्पन्नान्प्रीतः प्रीतानुवाच ह ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सः—शिवजी; तान्—उनको; प्रपन्न-आर्ति-हरः—सभी प्रकार के भयों को दूर करने वाला; भगवान्—ईश्वर; धर्म-वत्सलः—अत्यन्त धार्मिक; धर्म-ज्ञान्—धर्म से अवगत पुरुष; शील-सम्पन्नान्—अत्यन्त सदाचारी; प्रीतः—प्रसन्न होकर; प्रीतान्—अत्यन्त भद्र आचरण वाला; उवाच—उनसे बातें की; ह—भूतकाल में।

शिवजी प्रचेताओं से अत्यन्त प्रसन्न हुए, क्योंकि सामान्यत: शिवजी पवित्र तथा सदाचारी पुरुषों के रक्षक हैं। राजकुमारों से अत्यन्त प्रसन्न होकर वे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु या कृष्ण *भक्तवत्सल* कहलाते हैं। यहाँ पर शिवजी को *धर्मवत्सल* कहा गया है। *धर्मवत्सल* उस व्यक्ति का द्योतक है, जो धार्मिक नियमों के अनुसार जीवन बिताता है। फिर भी इन दो शब्दों का अतिरिक्त महत्त्व है। कभी-कभी शिवजी का पाला ऐसे व्यक्तियों से पड़ता है, जो रजोगुणी तथा तमोगुणी होते हैं। ऐसे व्यक्ति सदैव ही धार्मिक नहीं होते और न उनके कार्य ही पवित्र होते हैं। चूँकि वे भौतिक लाभ से वशीभूत होकर शिवजी की उपासना करते हैं, अत: कभी-कभी वे धार्मिक नियमों का पालन करते हैं। जब शिवजी देखते हैं कि उनके भक्त धर्मानुसार चलते हैं, तो वे उन्हें आशीर्वाद दे देते हैं। प्राचीनबर्हि के पुत्र प्रचेतागण स्वभाव से अत्यन्त पवित्र एवं भद्र थे, अत: शिवजी उन पर तुरन्त प्रसन्न हो गये। शिवजी समझ गये कि ये राजकुमार किसी वैष्णव के पुत्र हैं, अत: शिवजी ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की इस प्रकार प्रार्थना की।

श्रीरुद्र उवाच

यूयं वेदिषदः पुत्रा विदितं वश्चिकीर्षितम् ।
अनुग्रहाय भद्रं व एवं मे दर्शनं कृतम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

श्री-रुद्रः उवाच—शिवजी बोले; यूयम्—तुम सब; वेदिषदः—राजा प्राचीनबर्हि के; पुत्राः—पुत्र; विदितम्—जानते हुए; वः—तुम्हारी; चिकीर्षितम्—इच्छाएँ; अनुग्रहाय—तुम पर अनुग्रह के लिए; भद्रम्—तुम्हारा कल्याण हो; वः—तुम सभी; एवम्—इस प्रकार; मे—मेरा; दर्शनम्—दर्शन; कृतम्—प्राप्त किया।

शिवजी ने कहा : तुम सभी प्राचीनबर्हि के पुत्र हो, तुम्हारा कल्याण हो। मैं जानता हूँ कि तुम क्या करने जा रहे हो, अतः मैंने तुम पर कृपा करने के लिए ही अपना दर्शन दिया है।

तात्पर्य : इन शब्दों से शिव इंगित करते हैं कि जो कुछ राजकुमार करने वाले हैं, वह उन्हें पहले से ज्ञात है। वास्तव में वे कठिन तपस्या द्वारा भगवान् विष्णु की आराधना करने जा रहे थे। यह जानकर शिवजी तुरन्त ही अत्यधिक प्रसन्न हुए जैसाकि अगले श्लोक से विदित होगा। इससे सूचित होता है कि जो व्यक्ति भगवान् का भक्त नहीं है, किन्तु उनकी सेवा करना चाहता है उसे शिव जैसे प्रधान देवताओं का आशीर्वाद प्राप्त होता है, अतः भगवद्भक्त को अलग से देवताओं को प्रसन्न नहीं करना पड़ता। मात्र परमेश्वर की आराधना द्वारा वह उन सबों को प्रसन्न कर सकता है। उसे देवताओं से भी किसी भौतिक आशीर्वाद की याचना नहीं करनी पड़ती है, क्योंकि देवतागण प्रसन्न होकर स्वतः सब कुछ प्रदान करते हैं। देवता तो भगवान् के दास हैं, अतः वे सभी प्रकार से भक्तों की सहायता के लिए उद्यत रहते हैं। इसीलिए श्रील बिल्वमंगल ठाकुर ने कहा है कि यदि मनुष्य परमेश्वर की शुद्ध भक्ति करता है, तो भौतिक ऐश्वर्य प्रदान करने वाले देवों की बात तो दूर रही मुक्ति की देवी तक उसकी सेवा के लिए तैयार रहती हैं। दरअसल, सभी देवता भक्त की सेवा करने का अवसर पाने की प्रतीक्षा करते रहते हैं। अतः कृष्ण के भक्त को किसी ऐश्वर्य या मुक्ति के लिए प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। वह भक्ति के दिव्य पद पर रह कर धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के सारे लाभ प्राप्त करता है।

यः परं रंहसः साक्षात्त्रिगुणाज्जीवसंज्ञितात् ।
भगवन्तं वासुदेवं प्रपन्नः स प्रियो हि मे ॥ २८॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; परम्—दिव्य; रंहसः—नियामक का; साक्षात्—प्रत्यक्षतः; त्रि-गुणात्—प्रकृति के तीनों गुणों से; जीव-संज्ञितात्—जीव कही जाने वाली जीवात्माओं से; भगवन्तम्—श्रीभगवान्; वासुदेवम्—श्रीकृष्ण का; प्रपन्नः—शरणागत; सः—वह; प्रियः—अत्यन्त प्यारा; हि—निस्सन्देह; मे—मुझे।

शिवजी ने आगे कहा : जो व्यक्ति प्रकृति तथा जीवात्मा में से प्रत्येक के अधिष्ठाता भगवान् कृष्ण के शरणागत है, वह वास्तव में मुझे अत्यधिक प्रिय है।

तात्पर्य : अब शिवजी कारण बताते हैं कि वे राजकुमारों के समक्ष साक्षात् क्यों आये। कारण यह था कि सभी राजकुमार भगवान् कृष्ण के भक्त थे। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

"अनेक जन्म-जन्मांतरों में जो ज्ञानी होता है, वह मुझे सब कारणों का कारण जान कर मेरी शरण ग्रहण करता है। ऐसा महापुरुष दुर्लभ होता है।"

सामान्य पुरुषों को शिवजी विरले ही दर्शन देते हैं। इसी प्रकार वासुदेव कृष्ण की शरण में जाने वाले व्यक्ति भी विरले ही हैं, क्योंकि पूर्णतः भगवान् की शरण में आये हुए लोग दुर्लभ हैं (*स महात्मा सुदुर्लभः*)। फलतः शिवजी विशेष रूप से प्रचेताओं को देखने आये थे, क्योंकि वे सब भगवान् वासुदेव के पूर्णतः शरणागत थे। वासुदेव का उल्लेख भागवत के प्रारम्भिक मंत्र में भी हुआ है—*ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।* चूँकि वासुदेव चरम सत्य हैं, अतः शिवजी स्पष्ट कहते हैं कि जो भगवान् वासुदेव का भक्त है और श्रीकृष्ण का शरणागत है, वह मुझे अत्यन्त प्रिय है। भगवान् वासुदेव, कृष्ण न केवल सामान्य जनों द्वारा पूज्य हैं, वरन् शिव, ब्रह्मा तथा अन्य देवता भी उनकी पूजा करते हैं। *यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैः* (भागवत १२.१३.१)—कृष्ण की पूजा ब्रह्मा, शिव, वरुण, इन्द्र, चन्द्र तथा अन्य सभी देवता करते हैं। यही हाल भक्तों का है। जो भी कृष्णभक्ति करता है, जो यह खोजने तथा समझने का प्रयास करता होता है कि कृष्णचेतना है क्या, वह तुरन्त उनका प्रिय बन जाता है। इसी प्रकार सभी देवता इसकी ताक में रहते हैं कि कौन सचमुच भगवान् वासुदेव की शरण में है। चूँकि प्रचेता राजकुमार वासुदेव के शरणागत थे, अतः शिवजी इच्छापूर्वक उनसे भेंट करने आये।

भगवद्गीता में भगवान् वासुदेव या श्रीकृष्ण को पुरुषोत्तम कहा गया है। वास्तव में वे भोक्ता (पुरुष) तथा परम (उत्तम) दोनों हैं। वे हर वस्तु—प्रकृति तथा पुरुष के भोक्ता हैं। प्रकृति के तीनों

गुणों के प्रभाव से जीवात्मा प्रकृति पर अधिकार जताना चाहता है, किन्तु वह वास्तविक भोक्ता (पुरुष) न होकर प्रकृति है, जिसका वर्णन *भगवद्गीता* (७.५) में हुआ है—*अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।* इस प्रकार जीव वास्तव में प्रकृति या परमेश्वर की तटस्था शक्ति है। भौतिक शक्ति (माया) के संग होने से वह प्रकृति पर अधिकार करना चाहता है। *भगवद्गीता* (१५.७) में इसकी पुष्टि हुई है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

"इस बद्ध संसार में जीवात्माएँ मेरे शाश्वत अंगस्वरूप हैं। वे बद्ध जीवन के कारण मन समेत छहों इन्द्रियों से संघर्ष करती रहती हैं।"

प्रकृति पर अधिकार करने की चेष्टा में जीवात्मा अपने अस्तित्व के लिए कठिन संघर्ष करता है। दरअसल सुखोपभोग के लिए वह इतना कठिन श्रम करता है कि भौतिक साधनों का ठीक से उपभोग भी नहीं कर पाता। अतः वह कभी-कभी जीव या प्रकृति कहलाता है, क्योंकि वह तटस्था शक्ति में स्थित होता है। जब जीवात्मा प्रकृति के तीनों गुणों से आच्छादित होता है, तो *जीव-संज्ञिता* कहलाती है। जीवात्माएँ दो प्रकार की होती हैं—*क्षर* तथा *अक्षर*। *क्षर* वे हैं, जो च्युत होकर बद्ध हो गई हैं और *अक्षर* वे हैं, जो बद्ध नहीं हैं। अधिकांश जीवात्माएँ आध्यत्मिक जगत में रहती हैं और *अक्षर* कहलाती हैं। वे ब्रह्म पद पर होती हैं। वे तीनों गुणों से बद्ध जीवात्माओं से भिन्न होती हैं।

क्षर तथा *अक्षर* इन दोनों से ऊपर होने के कारण भगवान् श्रीकृष्ण अथवा वासुदेव को *भगवद्गीता* (१५.१८) में *पुरुषोत्तम* कहा गया है। निर्विशेषवादी वासुदेव को निर्गुण ब्रह्म बताते हैं, किन्तु वास्तव में निर्गुण ब्रह्म कृष्ण के अधीन होता है, जिसकी पुष्टि भी *भगवद्गीता* (१४.२७) में हुई है—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्।* *ब्रह्म-संहिता* (५.४०) में भी पुष्टि हुई है कि श्रीकृष्ण ही निर्गुण ब्रह्म के स्रोत हैं—*यस्य प्रभा प्रभावतो जगदण्डकोटि।* निर्गुण ब्रह्म श्रीकृष्ण के शारीरिक तेज के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और इस तेज की किरणों में असंख्य ब्रह्माण्ड तैर रहे हैं। इस तरह सभी प्रकार से वासुदेव कृष्ण परमेश्वर हैं और शिवजी भगवान् के शरणागतों पर परम प्रसन्न रहते हैं। श्रीकृष्ण यही चाहते हैं कि समर्पण पूर्णतः हो जैसाकि *भगवद्गीता* के अन्तिम अध्याय (१८.६६) में उन्होंने इंगित किया है—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।*

साक्षात् शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। तथाकथित भक्त तो अनेक हैं, किन्तु वास्तव में वे केवल कर्मी तथा ज्ञानी होते हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्ष रूप से भगवान् श्रीकृष्ण के भक्त नहीं होते। कभी-कभी कर्मी अपने कर्म का कर्मफल वासुदेव को अर्पित कर देते हैं, जो *कर्मार्पणम्* कहलाता है। ये सकाम कर्म माने जाते हैं, क्योंकि कर्मीजन भगवान् विष्णु को भी शिव तथा ब्रह्मा जैसा देवता मानते हैं। चूँकि वे विष्णु को देवताओं के समान पद पर मानते हैं, अतः उनके अनुसार देवताओं के प्रति समर्पण वासुदेव के प्रति समर्पण जैसा है। किन्तु यहाँ पर इस मत का तिरस्कार हुआ हैं, क्योंकि यदि यह सत्य होता तो शिवजी कहते कि मुझमें, वासुदेव, विष्णु या ब्रह्मा में समर्पण एक ही है। किन्तु शिवजी ऐसा नहीं कहते, क्योंकि वे स्वयं वासुदेव की शरण में जाते हैं और जो कोई भी वासुदेव की शरण में जाता है, वह उन्हें परम प्रिय है। यहाँ पर इसका स्पष्ट वर्णन हुआ है। निष्कर्ष यह है कि शिव का भक्त शिव को प्रिय नहीं है, किन्तु भगवान् कृष्ण का भक्त शिव को अत्यन्त प्रिय है।

स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान्
विरिञ्चतामेति ततः परं हि माम् ।
अव्याकृतं भागवतोऽथ वैष्णवं
पदं यथाहं विबुधाः कलात्यये ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

स्व-धर्म-निष्ठः—जो अपने धर्म या वृत्ति पर स्थित रहता है; शत-जन्मभिः—एक सौ जन्मों तक; पुमान्—जीवात्मा; विरिञ्चताम्—ब्रह्मा का पद; एति—प्राप्त करता है; ततः—पश्चात्; परम्—ऊपर; हि—निश्चय ही; माम्—मुझको प्राप्त करता है; अव्याकृतम्—बिना विचलित हुए; भागवतः—भगवान् को; अथ—अतः; वैष्णवम्—भगवान् का शुद्ध भक्त; पदम्—पद; यथा—जिस तरह; अहम्—मैं; विबुधाः—देवतागण; कला-अत्यये—संसार के संहार के बाद।

जो व्यक्ति अपने वर्णाश्रम धर्म को समुचित रीति से एक सौ जन्मों तक निबाहता है, वह ब्रह्मा के पद को प्राप्त करने के योग्य हो जाता है और इससे अधिक योग्य होने पर वह शिवजी के पास पहुँच सकता है। किन्तु जो व्यक्ति अनन्य भक्तिवश सीधे भगवान् कृष्ण या विष्णु की शरण में जाता है, वह तुरन्त वैकुण्ठलोक में पहुँच जाता है। शिवजी तथा अन्य देवता इस संसार के संहार के बाद ही इन लोक को प्राप्त कर पाते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में विकास-प्रक्रम की चरम परिणति सम्बन्धी विचार प्रस्तुत हुआ है। जैसाकि वैष्णव कवि जयदेव गोस्वामी ने कहा है—*प्रलय पयोधि जले धृतवान् असि वेदम्।* आइये, हम विकास-प्रक्रम की खोज को प्रलय से प्रारम्भ करें। जिस समय सारा ब्रह्माण्ड जल से पूरित था।

उस समय अनेक मछलियाँ तथा अन्य जलचर थे, इनसे ही लताओं तथा वृक्षों का विकास हुआ। फिर इनसे कीड़े-मकोड़े तथा सरीसृपों का विकास हुआ, जिनसे पक्षी, पशु तथा मनुष्य और अन्त में सभ्य मानव का विकास हुआ। अब सभ्य मानव ऐसे चौराहे पर है जहाँ से वह आध्यात्मिक जीवन में आगे विकास कर सकता है। यहाँ यह कहा गया है कि जब जीव को जीवन का सभ्य रूप प्राप्त होता है, तो *स्वधर्म,* अर्थात् अपने कर्म तथा गुणों के अनुसार उसमें सामाजिक श्रेणियाँ होनी चाहिए (*स्वधर्मनिष्ठः*)। *भगवद्गीता* (४.१३) में इसका संकेत है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः

"प्रकृति के तीनों गुणों तथा उनके कार्यों के अनुसार मैंने मानव-समाज के चारों वर्णों की सृष्टि की।"

सभ्य मानव-समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—ये चार वर्ण होने चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने वर्ण के अनुसार कर्म करना चाहिए। यहाँ यह कहा गया है (*स्वधर्मनिष्ठः*) कि ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य या शूद्र होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि कोई अपने पद पर अटल रहे और अपने विशिष्ट कार्य को करे तो वह सभ्य मनुष्य समझा जाता है। अन्यथा वह पशु तुल्य है। यहाँ यह भी कहा गया है कि जो भी स्वधर्म को एक सौ जन्मों तक सम्पन्न करता है (उदाहरणार्थ, ब्राह्मण एक ब्राह्मण की तरह कर्म करता रहता है) वह ब्रह्मलोक में जाने का अधिकारी बन जाता है। इसी तरह शिवलोक या सदाशिवलोक भी है, जो आध्यात्मिक तथा भौतिक (मर्त्य) जगत की सीमा पर स्थित है। यदि ब्रह्मलोक में स्थित रहने के बाद कोई अधिक योग्य बन जाता है, तो वह सदाशिवलोक को भेज दिया जाता है। इसी प्रकार यदि कोई और भी योग्य हो जाता है, तो वह वैकुण्ठलोक जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति का, यहाँ तक कि देवताओं का भी, लक्ष्य वैकुण्ठलोक प्राप्त करना रहता है और एक निष्काम भक्त यदि भौतिक लाभ की इच्छा न रखता हो, तो इसे पा लेता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (८.१६) में संकेत है, कोई भले ही ब्रह्मलोक को क्यों न प्राप्त कर ले, किन्तु भौतिक कष्टों से उसे छुटकारा नहीं मिल पाता (*आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन*)। इसी प्रकार शिवलोक तक पहुँच कर भी मनुष्य सुरक्षित नहीं रहता, क्योंकि शिवलोक तटस्थ है। किन्तु यदि कोई वैकुण्ठलोक को प्राप्त कर लेता है, तो उसे जीवन की परम सिद्धि प्राप्त हो जाती है और उसका विकास-प्रक्रम समाप्त हो

जाता है (*मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते*)। दूसरे शब्दों में, यहाँ इसकी पुष्टि की गई है कि मानव-समाज में जिस व्यक्ति ने चेतना विकसित कर ली है उसे कृष्ण-भक्ति करनी चाहिए जिससे वह इस शरीर को त्यागने के बाद तुरन्त वैकुण्ठलोक या कृष्णलोक को जा सके। *त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन* (भगवद्गीता ४.९)। जो भक्त कृष्णभक्ति करता है और जो ब्रह्मलोक या शिवलोक जैसे किसी भी लोक से आकृष्ट नहीं होता वह कृष्णलोक को भेज दिया जाता है (*मामेति*) यही जीवन की तथा विकास-प्रक्रम की चरम परिणति है।

अथ भागवता यूयं प्रियाः स्थ भगवान्यथा ।
न मद्भागवतानां च प्रेयानन्योऽस्ति कर्हिचित् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; भागवताः—भक्त; यूयम्—तुम सब; प्रियाः—प्रिय; स्थ—तुम हो; भगवान्—भगवान्; यथा—जिस तरह; न—न तो; मत्—मेरी अपेक्षा; भागवतानाम्—भक्तों का; च—भी; प्रेयान्—अत्यन्त प्रिय; अन्यः—दूसरा; अस्ति—है; कर्हिचित्—किसी समय, कभी।

तुम सभी भगवान् के भक्त हो, अतः तुम मेरे लिए भगवान् के समान पूज्य हो। इस प्रकार से मैं यह जानता हूँ कि भक्त भी मेरा आदर करते हैं और मैं उन्हें प्यारा हूँ। इस प्रकार भक्तों को मेरे समान अन्य कोई प्रिय नहीं हो सकता है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि *वैष्णवानां यथा शम्भुः*—शिवजी समस्त भक्तों में श्रेष्ठ हैं। अतः भगवान् श्रीकृष्ण के सारे भक्त शिवजी के भी भक्त हैं। वृन्दावन में शिवजी का एक मन्दिर है, जिसे गोपीश्वर कहते हैं। गोपियाँ न केवल शिव की उपासना करती थीं, अपितु कात्यायनी या दुर्गा की भी। किन्तु उनका एकमात्र लक्ष्य कृष्ण की कृपापात्र बनना था। भगवान् कृष्ण का भक्त शिव का कभी भी अनादर नहीं करता, प्रत्युत कृष्ण के परम भक्त के रूप में उनकी पूजा करता है। अतः जब भी कोई भक्त शिव की आराधना करता है, तो वह उनसे उसे कृष्ण का कृपाभाजन बनाने की प्रार्थना करता है, वह उनसे भौतिक लाभ नहीं माँगता। *भगवद्गीता* (७.२०) में कहा गया है कि सामान्यतः लोग देवताओं की पूजा भौतिक लाभ के लिए करते हैं। *कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः।* काम के वशीभूत होकर वे देवताओं की पूजा करते हैं, किन्तु भक्त ऐसा नहीं करता, क्योंकि वह कामाभिभूत कभी नहीं होता। शिवजी के लिए किसी भक्त के और असुर के आदर में यही अन्तर होता है। असुर शिव की पूजा करता है, वह कोई-न-कोई वर प्राप्त करता है, उसका दुरुपयोग करता है और अन्त में भगवान् के हाथों मारा जाता है।

भगवान् ही उसे मुक्ति प्रदान करते हैं।

चूँकि शिवजी भगवान् के महान् भक्त हैं, इसीलिए वे भगवान् के सभी भक्तों को प्यार करते हैं। शिवजी ने प्रचेताओं को बताया कि भगवान् के भक्त होने के कारण वे उन्हें प्रिय हैं। शिवजी केवल प्रचेताओं पर ही दयालु नहीं थे, उन्हें तो भगवान् का कोई भी भक्त प्रिय है। भक्तगण शिव को प्रिय ही नहीं हैं, अपितु वे उनके द्वारा भगवान् के समान ही आदरित होते हैं। इसी प्रकार भगवान् के भक्त भी शिव की पूजा भगवान् कृष्ण के परम प्रिय भक्त के रूप में करते हैं। वे उन्हें पृथक् से भगवान् के रूप में नहीं पूजते। नाम-अपराधों की सूची में यह उल्लेख है कि हर अर्थात् शिव के नाम जप को हरि के समान मानना अपराध है। भक्तों को जानना चाहिए कि विष्णु ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं और शिवजी उनके भक्त हैं। भक्त का आदर भगवान् के ही समान किया जाना चाहिए और कभी-कभी तो उनसे भी बढ़कर। दरअसल, स्वयं भगवान् राम ने कभी शिव की पूजा की थी। यदि भगवान् भक्त की पूजा करते हैं, तो फिर एक भक्त दूसरे भक्त की भगवान् के समान पूजा क्यों नहीं कर सकता? यही निष्कर्ष है। इस श्लोक से प्रतीत होता है कि शिवजी असुरों को औपचारिकता वश आशीर्वाद देते हैं। वास्तव में उन्हें भगवान् का ही भक्त प्यारा है।

इदं विविक्तं जप्तव्यं पवित्रं मङ्गलं परम् ।
निःश्रेयसकरं चापि श्रूयतां तद्वदामि वः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; विविक्तम्—विशेष; जप्तव्यम्—सदैव जप करने के लिए; पवित्रम्—अत्यन्त शुद्ध; मङ्गलम्—कल्याणकर; परम्—दिव्य; निःश्रेयस-करम्—अत्यन्त उपयोगी; च—भी; अपि—निश्चय ही; श्रूयताम्—कृपा करके सुनें; तत्—वह; वदामि—मैं कह रहा हूँ; वः—तुमसे।

अब मैं एक मंत्र का उच्चारण करूँगा जो न केवल दिव्य, पवित्र तथा शुभ है वरन् जीवन-उद्देश्य को प्राप्त करने के इच्छुक हर एक के लिए यही श्रेष्ठ स्तुति भी है। जब मैं इस मंत्र का उच्चारण करूँ तो तुम सब सावधानी से ध्यानपूर्वक सुनना।

तात्पर्य : *विविक्तम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शिव द्वारा सुनायी गई इस स्तुति को सम्प्रदायपरक नहीं समझना चाहिए, अपितु इसे अत्यन्त रहस्यात्मक मानकर समृद्धि प्राप्त करने या शुभ जीवन-लक्ष्य के लिए शिव के आदेशों का पालन करना चाहिए और भगवान् की स्तुति तथा महिमा का गान उसी तरह करना चाहिए जैसाकि स्वयं शिवजी ने किया।

मैत्रेय उवाच

इत्यनुक्रोशहृदयो भगवानाह ताञ्छिवः ।
बद्धाञ्जलीन्राजपुत्रान्नारायणपरो वचः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; अनुक्रोश-हृदयः—अत्यन्त दयालु, करुणाई; भगवान्—भगवान् ने; आह—कहा; तान्—प्रचेताओं से; शिवः—शिवजी; बद्ध-अञ्जलीन्—हाथ जोड़े खड़े हुए; राज-पुत्रान्—राजा के पुत्रों को; नारायण-परः—नारायण के भक्त, शिवजी; वचः—शब्द।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : भगवान् नारायण के परम भक्त महापुरुष शिवजी अहैतुकी कृपावश हाथ जोड़ कर खड़े हुए राजा के पुत्रों से कहते रहे।

तात्पर्य : शिवजी स्वेच्छा से राजपुत्रों को आशीर्वाद देने और उनके हित में कुछ करने आये थे। उन्होंने स्वयं मंत्र का उच्चारण किया जिससे कि मंत्र की शक्ति बढ़ती रहे। उन्होंने राजपुत्रों को इस मंत्र को जपने का आदेश दिया। जब कोई मंत्र किसी महान् भक्त द्वारा उच्चरित होता है, तो वह अधिक शक्तिशाली हो जाता है। यद्यपि हरे कृष्ण महामंत्र स्वयं शक्तिशाली है, किन्तु दीक्षा के समय गुरु शिष्य को मंत्र देता है, क्योंकि गुरु द्वारा उच्चरित होने से मंत्र अधिक शक्तिशाली बन जाता है। शिवजी ने राजपुत्रों से मंत्र को ध्यानपूर्वक सुनने के लिए कहा, क्योंकि मन लगाये बिना मंत्र सुनना अपराध है।

श्रीरुद्र उवाच

जितं त आत्मविद्वर्यस्वस्तये स्वस्तिरस्तु मे ।
भवताराधसा राद्धं सर्वस्मा आत्मने नमः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

श्री-रुद्रः उवाच—शिवजी ने कहा; जितम्—समस्त महिमाएँ, उत्कर्ष; ते—तुम्हारे; आत्म-वित्—स्वरूपसिद्ध; वर्य—श्रेष्ठ; स्वस्तये—कल्याण के लिए; स्वस्तिः—कल्याण; अस्तु—हो; मे—मेरा; भवता—आपसे; आराधसा—सब विधि से पूर्ण (सर्वात्मक) द्वारा; राद्धम्—पूज्य; सर्वस्मै—परमात्मा; आत्मने—परमात्मा को; नमः—नमस्कार है।

शिवजी ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की इस प्रकार स्तुति की: हे भगवान्, आप धन्य हैं। आप सभी स्वरूपसिद्धों में महान् हैं चूंकि आप उनका सदैव कल्याण करने वाले हैं, अतः आप मेरा भी कल्याण करें। आप अपने सर्वात्मक उपदेशों के कारण पूज्य हैं। आप परमात्मा हैं, अतः पुरुषोत्तम स्वरूप आपको मैं नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : ज्योंही भक्त भगवान् की स्तुति के लिए प्रोत्साहित होता है त्योंहीं वह प्रारम्भ में इस प्रकार बोलते हुए स्तुति करने लगता है—"हे भगवान् आप धन्य हैं।" भगवान् की महिमा का गान

इसलिए किया जाता है, क्योंकि वे स्वरूपसिद्ध पुरुषों में प्रधान माने जाते हैं। जैसाकि वेदों में (कठोपनिषद् २.२.१३) में कहा गया है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*—परम पुरुषोत्तम भगवान् ही समस्त जीवों में प्रधान पुरुष हैं। जीव कई प्रकार के होते हैं—कुछ तो इस भौतिक जगत में रहते हैं और कुछ वैकुण्ठलोक में। जो वैकुण्ठलोक में रहते हैं, वे पूर्णरूपेण स्वरूपसिद्ध होते हैं, क्योंकि आध्यात्मिक स्तर पर जीव भगवान् की सेवा करना नहीं भूलता। अत: वैकुण्ठलोक में भगवान् की भक्ति करने वाले सारे लोग शाश्वत स्थिर रहते हैं, क्योंकि वे परमेश्वर की स्थिति के साथ-साथ अपनी स्वाभाविक स्थिति से भी परिचित होते हैं। इस प्रकार स्वरूपसिद्ध जीवों में भगवान् परम स्वरूपसिद्ध पुरुष कहलाते हैं। *नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।* जब जीव भगवान् को परम पुरुष समझने में स्थिर हो जाता है, तो वास्तव में वह सर्वकल्याणमय स्थिति पर स्थिर हो जाता है। यहाँ पर शिवजी प्रार्थना करते हैं कि भगवान् की कृपा से उनका शुभ स्थान सदैव बना रहे।

परमेश्वर सभी प्रकार से पूर्ण हैं और उनका यही उपदेश है कि जो उन्हें पूजता है, वह भी पूर्ण हो जाता है। जैसाकि भगवद्गीता (१५.१५) में कहा गया है—*मत्त: स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।* भगवान् सबों के हृदय में परमात्मा रूप में स्थित हैं, किन्तु वे अपने भक्तों पर इतने दयालु रहते हैं कि उनकी सतत उन्नति के लिए उन्हें उपदेश देते रहते हैं। जब वे सर्व-परिपूर्ण से उपदेश ग्रहण करते हैं, उनके भ्रमित होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। इसकी पुष्टि भगवद्गीता (१०.१०) में इस प्रकार हुई है—*ददामि बुद्धि-योगं तं येन मामुपयान्ति ते।* भगवान् शुद्ध भक्त को उपदेश देने के लिए सतत उद्यत रहते हैं जिससे वह भक्ति में उन्नति करता चले। चूँकि भगवान् *सर्वात्मा* के रूप में उपदेश देते हैं, अत: शिवजी उन्हें *सर्वात्मा आत्मने नम:* करके सम्मान अपर्ण करते हैं। व्यष्टि जीव आत्मा कहलात है और भगवान् आत्मा तथा परमात्मा दोनों हैं। प्रत्येक हृदय में स्थित होने के कारण भगवान् परम-आत्मा कहलाते हैं। अत: उन्हें सभी नमस्कार करते हैं। इस प्रसंग में *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध (१.८.२०) में कुन्ती की स्तुति का उल्लेख किया जा सकता है—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रिय:॥

परमहंसों को उपदेश देने के लिए भगवान् सदैव उद्यत रहते हैं, क्योंकि वे संसार के कल्मषों से

पूर्ण रूप से मुक्त होते हैं। भगवान् ऐसे भक्तों को यह बतलाने के लिए कि भक्ति में कैसे स्थिर रहा जाये उपदेश देते हैं। इसी प्रकार *भागवत* (१.७.१०) में आत्माराम श्लोक में कहा गया है—

आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।

कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

आत्माराम शब्द भौतिक जगत से विरक्त होकर आत्म-साक्षात्कार में लगे रहने वालों के लिए आया है। ऐसे स्वरूपसिद्ध पुरुष सामान्यतः दो प्रकार के होते हैं—*सगुण* तथा *निर्गुण।* किन्तु निर्विशेषवादी भी भगवान् के वैयक्तिक दिव्य गुणों के प्रति आकृष्ट होने पर भक्त बन जाते हैं। निष्कर्षतः शिवजी भगवान् वासुदेव के स्थिर भक्त बने रहना चाहते थे। जैसाकि अगले श्लोकों में बताया गया है शिवजी कभी-भी निर्विशेषवादियों की तरह परमेश्वर से तादात्म्य नहीं चाहते, अपितु वे इसे अपना सौभाग्य मानते हैं कि वे परम पुरुष रूपी भगवान् की भक्ति में स्थिर बने रहें। इसी ज्ञान से मनुष्य यह समझ पाता है कि सभी जीवात्माएँ, जिनमें ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवता सम्मिलित हैं, परमेश्वर के दास हैं।

नमः पङ्कजनाभाय भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मने ।
वासुदेवाय शान्ताय कूटस्थाय स्वरोचिषे ॥ ३४॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार है; पङ्कज-नाभाय—उन भगवान् को जिनकी नाभि से कमल प्रकट होता है; भूत-सूक्ष्म—इन्द्रिय वस्तुएँ (तन्मात्रा); इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आत्मने—उत्पत्ति; वासुदेवाय—भगवान् वासुदेव को; शान्ताय—सदैव शान्त रहने वाले को; कूट-स्थाय—अपरिवर्तित रहने वाले को; स्व-रोचिषे—स्वयं प्रकाश को।

हे भगवान्, आपकी नाभि से कमल पुष्प निकलता है, इस प्रकार से आप सृष्टि के उद्गम हैं। आप इन्द्रियों तथा तन्मात्राओं के नियामक हैं। आप सर्वव्यापी वासुदेव भी हैं। आप परम शान्त हैं और स्वयंप्रकाशित होने के कारण आप छह प्रकार के विकारों से विचलित नहीं होते।

तात्पर्य : इस ब्रह्माण्ड में गर्भोदकशायी विष्णु गर्भोदक में शयन करते हैं और उनकी नाभि से कमल का फूल निकलता है। इस फूल से ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मा इस संसार की सृष्टि आरम्भ करते हैं। इस प्रकार गर्भोदकशायी विष्णु भौतिक इन्द्रियों तथा तन्मात्राओं के उद्गम हैं। चूँकि शिवजी अपने आपको इस संसार के पदार्थों में से एक मानते हैं, अतः उनकी इन्द्रियाँ परम स्रष्टा के अधीन हैं। परमेश्वर को हृषीकेश अर्थात् इन्द्रियों का स्वामी भी कहा जाता है, जिससे सूचित होता है कि हमारी

इन्द्रियाँ तथा तन्मात्राएँ परमेश्वर द्वारा निर्मित हैं। अत: वे हमारी इन्द्रियों को वश में रख सकते हैं और अपने अनुग्रहवश अपनी सेवा में प्रवृत्त करते हैं। बद्ध अवस्था में, जीवात्मा इस संसार में संघर्ष करता है और भौतिक तुष्टि में इन्द्रियों को लगाता है। यदि परमात्मा की अनुकम्पा हो गई तो वह इन्हीं इन्द्रियों को भगवद्भक्ति में लगा सकता है। शिवजी भौतिक इन्द्रियों द्वारा पथभ्रष्ट न होकर भौतिक कल्मष से दूर रहते हुए उन्हें भगवान् की सेवा में लगाना चाहते हैं। भगवान् वासुदेव की कृपा होने पर जो सर्वव्यापक हैं, मनुष्य अपनी इन्द्रियों को बिना विचलन के भक्ति में लगा सकता है जैसे भगवान् विचलित हुए बिना कार्य करते हैं।

इस श्लोक का *शान्ताय कूटस्थाय स्वरोचिषे* अंश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस संसार में विद्यमान रहकर भी भगवान् भवसागर की लहरों से विचलित नहीं होते हैं। किन्तु बद्धजीव छह प्रकार के विकारों से विचलित होते हैं। ये हैं—भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु। यद्यपि बद्धजीव इन सबसे बहुत जल्दी प्रभावित होता है, किन्तु परमात्मास्वरूप भगवान् वासुदेव इनसे कभी विचलित नहीं होते। इसीलिए यहाँ यह कहा गया है कि वे सदैव शान्त (*कूटस्थाय*) तथा अपने कौशल्य के कारण अविचल रहते हैं, जिसे यहाँ *स्वरोचिषे* कहा गया है, जिसका अर्थ है कि वे अपनी दिव्य स्थिति के कारण स्वयंप्रकाशित होते हैं। दूसरे शब्दों में, जीव यद्यपि वह परमेश्वर के प्रकाश में होता है, कभी-कभी परमेश्वर के प्रकाश से अपनी क्षुद्र स्थिति के कारण नीचे गिरकर भौतिक बद्ध जीवन में प्रवेश करता है। किन्तु भगवान् इस प्रकार बद्ध नहीं होते, इसीलिए उन्हें स्वयंप्रकाशित कहा गया है। फलत: वासुदेव की शरण में रहकर या भक्ति में प्रवृत्त होकर इस संसार में कोई भी बद्धजीव पूर्ण रह सकता है।

सङ्कर्षणाय सूक्ष्माय दुरन्तायान्तकाय च ।
नमो विश्वप्रबोधाय प्रद्युम्नायान्तरात्मने ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सङ्कर्षणाय—निर्माण (समन्वय) के स्वामी को; सूक्ष्माय—सूक्ष्म रूप या अव्यक्त को; दुरन्ताय—दुर्लंघ्य को; अन्तकाय—संहार के स्वामी को; च—भी; नमः—नमस्कार; विश्व-प्रबोधाय—ब्रह्माण्ड का विकास करने वाले को; प्रद्युम्नाय—प्रद्युम्न को; अन्तः-आत्मने—घट-घट वासी परमात्मा को।

हे भगवान्, आप सूक्ष्म भौतिक तत्त्वों के उद्गम, समस्त संघटन और संहार के स्वामी, संकर्षण नामक अधिष्ठाता तथा समस्त बुद्धि के अधिष्ठाता प्रद्युम्न हैं। अत: मैं आपको सादर

नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड संकर्षण नाम से जाने वाले परमेश्वर की संघटनकारी शक्ति से चल रहा है। भौतिक विज्ञानी भले ही गुरुत्वाकर्षण के नियम की खोज कर चुके हों जिससे भौतिक शक्ति से पदार्थों का संघटन होता है, किन्तु समस्त संघटनों का स्वामी अपने मुख से निकलने वाली प्रज्ज्वलित अग्नि से प्रलय (संहार) भी कर सकता है। इसका वर्णन भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय में मिलता है, जिसमें भगवान् के विराट रूप का वर्णन है। अपनी संहारक शक्ति के कारण संघटन का स्वामी इस संसार का संहारकर्ता भी है। संकर्षण संघटन तथा संहार के अधिष्ठाता हैं, जबकि भगवान् वासुदेव के एक अन्य *रूप* प्रद्युम्न इस विश्व की वृद्धि तथा उसकी स्थिति के लिए उत्तरदायी हैं। *सूक्ष्माय* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस स्थूल शरीर के भीतर सूक्ष्म शरीर यथा मन, बुद्धि तथा अहंकार वास करते हैं। भगवान् अपने विविध रूपों (वासुदेव, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न तथा संकर्षण) में इस संसार में स्थूल तथा सूक्ष्म तत्त्वों को बनाये रखते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में उल्लेख हुआ है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश स्थूल तत्त्व हैं, जबकि मन, बुद्धि तथा अहंकार सूक्ष्म तत्त्व हैं। ये सभी भगवान् द्वारा वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के रूप में नियंत्रित होते हैं और इसका और आगे वर्णन निम्नलिखित श्लोक में किया जाएगा।

नमो नमोऽनिरुद्धाय हृषीकेशेन्द्रियात्मने ।
नमः परमहंसाय पूर्णाय निभृतात्मने ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

नमः—आपको नमस्कार है; नमः—नमस्कार है; अनिरुद्धाय—अनिरुद्ध को; हृषीकेश—इन्द्रियों के स्वामी; इन्द्रिय-आत्मने—इन्द्रियों के नियामक को; नमः—नमस्कार है; परम-हंसाय—परमहंस को; पूर्णाय—परम पूर्ण को; निभृत-आत्मने—उसे जो इस जगत से अलग स्थित है।.

हे परम अधिष्ठाता अनिरुद्ध रूप भगवान्, आप इन्द्रियों तथा मन के स्वामी हैं। अतः मैं आपको बारम्बार नमस्कार करता हूँ। आप अनन्त तथा साथ ही साथ संकर्षण कहलाते हैं, क्योंकि अपने मुख से निकलने वाली धधकती हुई अग्नि से आप सारी सृष्टि का संहार करने में समर्थ हैं।

तात्पर्य : *हृषीकेशेन्द्रियात्मने*—मन इन्द्रियों का स्वामी है और अनिरुद्ध मन के अधिष्ठाता हैं। भक्ति करने के लिए मन को कृष्ण के चरणकमलों में स्थिर करना होता है, अतः शिवजी मन के अधिष्ठाता

अनिरुद्ध से प्रार्थना करते हैं कि वे प्रसन्न हों जिससे उनका मन भगवान् के चरणकमलों में लगे। भगवद्गीता (९.३४) में कहा गया है—*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।* भक्ति करने के लिए मन को भगवान् के चरणकमलों के ध्यान में लगाना होता है। भगवद्गीता (१५.१५) में यह भी कहा गया है—*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—भगवान् से ही स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति आते हैं। अतः यदि भगवान् अनिरुद्ध प्रसन्न हो जाँय तो भगवान् की भक्ति में मन लगाने में सहायता मिलती है। इस श्लोक में यह भी इंगित है कि अनिरुद्ध अपने विस्तार स्वरूप से सूर्यदेव भी हैं। चूँकि सूर्यदेव भगवान् अनिरुद्ध के ही विस्तार हैं, अतः इस श्लोक में शिवजी सूर्यदेव की भी स्तुति करते हैं।

भगवान् कृष्ण अपने चतुर्मुखी विस्तार (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध) के कारण मानसिक क्रियाओं—सोचना, अनुभव करना, इच्छा करना तथा कर्म करना—के भी स्वामी हैं। शिवजी अनिरुद्ध की सूर्यदेव के रूप में स्तुति करते हैं, जो बाह्य भौतिक *तत्त्वों* के अधिष्ठाता हैं जिनसे यह शरीर बनता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *परमहंस* शब्द सूर्यदेवता का अन्य नाम है। यहाँ पर सूर्यदेव को *निभृतात्मने* कह कर सम्बोधित किया गया है, जो इस बात का सूचक है कि वर्षा के द्वारा वह विभिन्न लोकों का पालन करते हैं। सूर्यदेव समुद्रों के जल को भाप में बदल कर बादल बनाते हैं और फिर जल को सारी भूमि पर वितरित करते हैं। पर्याप्त वर्षा होने से अन्न उत्पन्न होता है, जिससे प्रत्येक लोक के जीवों का भरण होता है। सूर्यदेव को भी यहाँ *पूर्ण* कहा गया है, क्योंकि सूर्य से निस्सृत किरणों का कोई अन्त नहीं है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही करोड़ों वर्षों से सूर्यदेव बिना किसी कमी के ताप तथा प्रकाश प्रदान करते रहे हैं। *परमहंस* शब्द उन व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होता है, जो पूर्ण रूप से विमल हैं। जब प्रचुर सूर्य प्रकाश (धूप) होता है, तो मन स्वच्छ तथा पारदर्शी रहता है। दूसरे शब्दों में, सूर्यदेव जीवात्मा के मन को परमहंस-पद पर स्थित होने में सहायक होते हैं। शिवजी अनिरुद्ध से अपने ऊपर दयालु होने की प्रार्थना करते हैं, जिससे उनका मन सदैव विमल रहे और भगवान् की भक्ति में लगा रहे। जिस प्रकार अग्नि समस्त मलिन वस्तुओं को शुद्ध करती है, उसी प्रकार सूर्य भी प्रत्येक वस्तु को शुद्ध बनाता है, विशेष रूप से मन के मैल को शुद्ध करता है, जिससे मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त करने के स्तर पर उठ सकता है।

स्वर्गापवर्गद्वाराय नित्यं शुचिषदे नमः ।
नमो हिरण्यवीर्याय चातुर्होत्राय तन्तवे ॥ ३७॥

शब्दार्थ

स्वर्ग—स्वर्गलोक; अपवर्ग—मोक्ष का मार्ग; द्वाराय—द्वार को; नित्यम्—शाश्वत; शुचि-षदे—परम पवित्र को; नमः—नमस्कार है; नमः—नमस्कार है; हिरण्य—स्वर्ण; वीर्याय—वीर्य को; चातुः-होत्राय—चातुर्होत्र नामक वैदिक यज्ञ को; तन्तवे—विस्तार करने वाले को।

हे भगवान् अनिरुद्ध, आपके आदेश से स्वर्ग तथा मोक्ष के द्वार खुलते हैं। आप निरन्तर जीवों के शुद्ध हृदय में निवास करते हैं, अतः मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप स्वर्ण सदृश वीर्य के स्वामी हैं और इस प्रकार आप अग्नि रूप में चातुर्होत्र इत्यादि वैदिक यज्ञों में सहायता करते हैं। अतः मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : *स्वर्ग* शब्द स्वर्गलोक का सूचक है और *अपवर्ग* का अर्थ है मोक्ष। जो लोग वेदों में वर्णित कर्मकाण्डीय कर्मों में लगे रहते हैं, वे वास्तव में प्रकृति के तीन गुणों से बँध जाते हैं। अतः भगवद्गीता का कथन है कि मनुष्य को सकाम कर्मों के प्रक्षेत्र से ऊपर उठकर रहना चाहिए। मुक्ति कई प्रकार की होती है। सर्वश्रेष्ठ मुक्ति तो परमेश्वर की भक्ति में प्रवृत्त होना है। भगवान् अनिरुद्ध न केवल सकाम कर्मियों को उच्चतर लोकों में पहुँचने में सहायक होते हैं, अपितु अपनी अक्षय शक्ति से भक्त को भक्ति में प्रवृत्त कराते हैं। जिस प्रकार ताप भौतिक शक्ति का स्रोत है उसी प्रकार भगवान् अनिरुद्ध का प्रोत्साहन वह शक्ति है, जिससे मनुष्य भक्ति करने में प्रवृत्त हो सकता है।

नम ऊर्ज इषे त्रय्याः पतये यज्ञरेतसे ।
तृप्तिदाय च जीवानां नमः सर्वरसात्मने ॥ ३८॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार है; ऊर्जे—पितृलोक के पोषक को; इषे—समस्त देवताओं का भरण करने वाला; त्रय्याः—तीनों वेदों के; पतये—स्वामी को; यज्ञ—यज्ञ; रेतसे—चन्द्रलोक के प्रमुख श्रीविग्रह को; तृप्ति-दाय—उनको जो सबों को तृप्त करते हैं; च—भी; जीवानाम्—जीवात्माओं का; नमः—नमस्कार है; सर्व-रस-आत्मने—सर्वव्यापी परमात्मा को।

हे भगवन्, आप पितृलोक तथा सभी देवताओं के भी पोषक हैं। आप चन्द्रमा के प्रमुख श्रीविग्रह और तीनों वेदों के स्वामी हैं। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ, क्योंकि आप समस्त जीवात्माओं की तृप्ति के मूल स्रोत हैं।

तात्पर्य : जब जीव इस जगत में जन्म लेता है, विशेषतः मनुष्य के रूप में, तो देवताओं, साधु पुरुषों तथा सामान्य जीवों के प्रति उसके कई ऋण होते हैं। शास्त्रों का वचन है—*देवर्षिभूताप्तनृणां*

पितॄणाम्। इस प्रकार उसका अपने पूर्वजों के प्रति भी ऋण होता है। शिवजी भगवान् अनिरुद्ध से प्रार्थना करते हैं कि मुझे शक्ति दीजिये, जिससे मैं पितरों, देवों, सामान्य जीवों तथा साधुओं के प्रति अपने ऋणों से उऋण हो सकूँ और अपने आपको पूर्ण रूप से भगवान् की भक्ति में लगा सकूँ। जैसाकि *भागवत* (११.५.४१) में कहा गया है—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां
न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

मनुष्य भक्ति में पूर्ण रूप से प्रवृत्त होने से देवताओं, साधु पुरुषों, पितरों, पूर्वजों आदि के ऋण से मुक्त हो जाता है। इसीलिए शिवजी भगवान् अनिरुद्ध से प्रार्थना करते हैं कि वे उन्हें शक्ति प्रदान करें जिससे वे सभी ऋणों से मुक्त होकर भगवद्भक्ति में पूर्णरूपेण तत्पर हो सकें।

जीव को जीभ से भोजन का जो स्वाद मिलता है उसके लिए सोम अर्थात् चन्द्रमा का श्रीविग्रह उत्तरदायी है। शिवजी भगवान् अनिरुद्ध से प्रार्थना करते हैं कि उन्हें ऐसी शक्ति दें जिससे वे जीभ से भगवान् के प्रसाद के अतिरिक्त अन्य किसी का स्वाद न लें। श्रील भक्ति विनोद ठाकुर ने एक श्लोक में लिखा है कि समस्त इन्द्रियों में जीभ ही सबसे दुर्जेय शत्रु है। जीभ पर नियंत्रण पाने से अन्य सभी इन्द्रियाँ वश में की जी सकती हैं और जीभ केवल श्रीविग्रह को अर्पित प्रसाद ग्रहण करने से वश में की जा सकती है। शिवजी द्वारा अनिरुद्ध से जो प्रार्थना की गई वह इसी प्रयोजन के लिए है (*तृप्ति-दाय*); वे उनसे यही प्रार्थना करते हैं कि वे उनकी सहायता करें जिससे वे भगवान् को अर्पित प्रसाद को ग्रहण करके प्रसन्न रह सकें।

सर्वसत्त्वात्मदेहाय विशेषाय स्थवीयसे ।
नमस्त्रैलोक्यपालाय सह ओजोबलाय च ॥ ३९॥

शब्दार्थ

सर्व—समस्त; सत्त्व—अस्तित्व; आत्म—जीव; देहाय—शरीर को; विशेषाय—विभिन्नता को; स्थवीयसे—भौतिक संसार को; नमः—नमस्कार; त्रै-लोक्य—तीनों लोकों के; पालाय—पालक; सह—के साथ; ओजः—ओज; बलाय—बल (शक्ति) को; च—भी।

हे भगवान्, आप विराटस्वरूप हैं जिसमें समस्त जीवात्माओं के शरीर समाहित हैं। आप

तीनों लोकों के पालक हैं, फलतः आप मन, इन्द्रियों, शरीर तथा प्राण का पालन करने वाले हैं। अतः मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : जिस प्रकार जीवात्मा का शरीर असंख्य कोषों, कीटाणुओं तथा जीवाणुओं से बना है उसी प्रकार भगवान् का विराट शरीर में समस्त जीवों के शरीर समाहित हैं। शिवजी उस विराट शरीर की प्रार्थना कर रहे हैं जिसमें अन्य समस्त शरीर सम्मिलित हैं, जिससे प्रत्येक व्यक्ति सशरीर भक्ति कर सके। चूँकि यह शरीर इन्द्रियों से बना है, अतः समस्त इन्द्रियों को भक्ति में लगाना चाहिए। उदाहरणार्थ, नाक को चाहिए कि भगवान् के चरणकमलों पर अर्पित फूलों की सुगन्धि ले, हाथों को चाहिए कि भगवान् के मन्दिर को बुहारे, इत्यादि। निस्सन्देह, प्रत्येक जीवात्मा का प्राण होने के कारण भगवान् तीनों लोकों के पालक हैं, अतः वे प्रत्येक जीवात्मा को पूर्ण शारीरिक तथा मानसिक शक्ति के साथ-साथ जीवन को वास्तविक कर्म में प्रवृत्त करा सकते हैं। इस प्रकार प्रत्येक जीवात्मा को अपने प्राण (जीवन), अर्थ (धन), बुद्धि तथा वाणी से भगवान् की सेवा करनी चाहिए। *श्रीमद्भागवत* (१०.२२.३५) में आया है—

एतावज्जन्म साफल्यं देहिनामिह देहिषु।

प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेयआचरणं सदा॥

यदि कोई भगवद्भक्ति करना भी चाहे तो भगवान् की आज्ञा के बिना वह ऐसा नहीं कर सकता। शिवजी जीवात्माओं को यह दिखाने के लिए कि भक्ति कैसे की जाती है, इतनी प्रकार से प्रार्थना कर रहे हैं।

अर्थलिङ्गाय नभसे नमोऽन्तर्बहिरात्मने ।
नमः पुण्याय लोकाय अमुष्मै भूरिवर्चसे ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

अर्थ—तात्पर्य; लिङ्गाय—प्रकट करने हेतु; नभसे—आकाश को; नमः—नमस्कार; अन्तः—भीतर; बहिः—तथा बाहर; आत्मने—अपने आपको; नमः—नमस्कार; पुण्याय—पुण्य कर्मों को; लोकाय—सृष्टि के लिए; अमुष्मै—मृत्यु के परे; भूरि-वर्चसे—परम तेज।

हे भगवान्, आप अपनी दिव्य वाणी (शब्दों) को प्रसारित करके प्रत्येक वस्तु का वास्तविक अर्थ प्रकट करने वाले हैं। आप भीतर-बाहर सर्वव्याप्त आकाश हैं और इस लोक में तथा इससे परे किये जाने वाले समस्त पुण्यकर्मों के परम लक्ष्य हैं। अतः मैं आपको पुनः पुनः

सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : वैदिक प्रमाण *शब्द-ब्रह्म* कहलाता है। ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं, जो हमारी अपूर्ण इन्द्रियों के निरीक्षण से परे हैं, किन्तु शब्द का प्रामाणिक साक्ष्य पूर्ण है। वेद *शब्द-ब्रह्म* कहलाते हैं, क्योंकि वेदों का प्रमाण (साक्ष्य) ही परम ज्ञान है। इसका कारण यह है कि *शब्द-ब्रह्म* या वेद भगवान् का प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु *शब्द-ब्रह्म* का वास्तविक सार तो हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन है। इस दिव्य ध्वनि के उच्चारण से भौतिक तथा आध्यात्मिक सारी वस्तुओं का अर्थ प्रकट हो जाता हैं। यह हरे कृष्ण महामंत्र भगवान् से अभिन्न है। प्रत्येक वस्तु का अर्थ वायु के माध्यम से प्राप्त शब्द ध्वनि से प्रकट होता है। यह ध्वनि चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक, किन्तु बिना शब्द-ध्वनि के किसी बात का कोई अर्थ समझा नहीं जा सकता। वेदों में कहा गया है—*अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याय नारायण:स्थित:*— ''नारायण सर्वव्यापी हैं और वे भीतर तथा बाहर स्थित रहते हैं।'' इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१३.३४) में इस प्रकार हुई है—

यथा प्रकाशयत्येक: कृत्स्नं लोकमिमं रवि:।

क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥

''हे भरतवंशी! जिस प्रकार इस ब्रह्माण्ड को अकेला सूर्य प्रकाशित करता है, उसी प्रकार जीवात्मा तथा परमात्मा चेतना द्वारा सम्पूर्ण शरीर को प्रकाशित करते हैं।''

दूसरे शब्दों में, आत्मा तथा परमात्मा की चेतना सर्वव्यापी है, आत्मा अपनी सीमित चेतना से सम्पूर्ण भौतिक शरीर में व्याप्त रहती है और भगवान् की परम चेतना सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त रहती है। चूँकि आत्मा शरीर के भीतर स्थित है, अत: चेतना सारे शरीर में व्याप्त रहती है। इसी प्रकार परमात्मा या श्रीकृष्ण इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं, अत: हर वस्तु व्यवस्थित रूप से कार्य करती है। *मयाध्यक्षेण प्रकृति:सूयते सचराचरम्*—''हे कुन्ती पुत्र! यह प्रकृति मेरे निर्देशन में कार्य कर रही है और समस्त चर तथा अचर प्राणियों को उत्पन्न करती है।'' (*भगवद्गीता* ९.१०)।

अत: शिवजी भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि वे कृपालु हों, जिससे केवल हरे कृष्ण मंत्र के जप से ही भौतिक एवं आध्यात्मिक लोकों में प्रत्येक वस्तु को समझा जा सके। इस प्रसंग में *अमुष्मै* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इससे उच्चलोक प्राप्त करने के बाद सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य इंगित होता है। जो कर्मी हैं,

वे अपने पूर्वकर्मों के फल के अनुसार स्वर्ग प्राप्त करते हैं और ज्ञानियों को भी जो ब्रह्म-ज्योति में लीन होना चाहते है, वाञ्छित फल मिलता है, किन्तु अन्ततः भक्त ही, जो साक्षात् भगवान् की संगति चाहते हैं, वैकुण्ठलोक या गोलोक वृन्दावन को जाते हैं। *श्रीमद्भागवत* (१०.१२) में भगवान् को *पवित्रं परमम्* कहा गया है। इसकी पुष्टि इस श्लोक से होती है। शुकदेव गोस्वामी ने कहा है कि श्रीकृष्ण के साथ खेलने वाले ग्वालबाल सामान्य जीव नहीं थे। विभिन्न जन्मों में अनेक पुण्यकर्मों को संचित करते रहने से ही भगवान् का साहचर्य प्राप्त होता है। चूँकि पवित्रात्मा ही उन्हें प्राप्त कर सकते हैं, अतः भगवान् परम शुद्ध हैं।

प्रवृत्ताय निवृत्ताय पितृदेवाय कर्मणे ।
नमोऽधर्मविपाकाय मृत्यवे दुःखदाय च ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

प्रवृत्ताय—प्रवृत्ति; निवृत्ताय—निवृत्ताय; पितृ-देवाय—पितृलोक के स्वामी को; कर्मणे—सकाम कर्मों के फल को; नमः—नमस्कार; अधर्म—अधर्म; विपाकाय—फल को; मृत्यवे—मृत्यु को; दुःख-दाय—समस्त प्रकार के दुखों का कारण; च—भी।

हे भगवान्, आप पुण्यकर्मों के फलों के दृष्टा हैं। आप प्रवृत्ति, निवृत्ति तथा उनके कर्म-रूपी परिणाम (फल) हैं। आप अधर्म से जनित जीवन के दुखों के कारणस्वरूप हैं, अतः आप मृत्यु हैं। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित हैं और उन्हीं से जीवात्मा में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति उत्पन्न होती हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१५.१५) में हुई है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो

मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

"मैं प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होती हैं।"

भगवान् कुछ ऐसा करते हैं जिससे असुर लोग तो उन्हें भूल जाते हैं, किन्तु भक्त उनका स्मरण करते रहते हैं। मनुष्य में निवृत्ति भी भगवान् के ही कारण है। *भगवद्गीता* के अनुसार (१६.७)—*प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः*—असुरों को यह पता नहीं रहता कि किधर प्रवृत्त हुआ जाये और किधर नहीं। यद्यपि असुर भक्ति के विरोधी हैं, किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि वे भगवान् की इच्छा से ऐसा करते हैं। चूँकि असुर भगवान् की भक्ति नहीं करना चाहते, अतः भगवान् उनके हृदय के

भीतर से उन्हें ऐसी बुद्धि देते हैं कि वे उन्हें भूल जाँय। सामान्य कर्मी पितृलोक जाना चाहते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा गया है—*यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रता:*—"जो देवताओं की पूजा करते हैं, वे देवताओं में जन्म लेंगे और जो पितरों को पूजते हैं, वे पितरों के पास जाएँगे।"

इस श्लोक का *दु:खदाय* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जो अभक्त हैं, वे जन्ममरण के चक्र में निरन्तर घूमते रहते हैं। यह अत्यन्त दुखदायी अवस्था है। चूँकि कर्मों के अनुसार मनुष्य को पद प्राप्त होता है, अत: असुर या अभक्त ऐसी दुखदायी स्थितियों में पड़े रहते हैं।

नमस्त आशिषामीश मनवे कारणात्मने
नमो धर्माय बृहते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
पुरुषाय पुराणाय साङ्ख्ययोगेश्वराय च ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

नम:—नमस्कार; ते—तुमको; आशिषाम् ईश—हे समस्त आशीर्वादों को प्रदान करने वालों में श्रेष्ठ; मनवे—परम मन या परम मनु को; कारण-आत्मने—समस्त कारणों के कारण; नम:—नमस्कार; धर्माय—समस्त धर्मों के ज्ञाता को; बृहते—सर्वश्रेष्ठ; कृष्णाय—कृष्ण को; अकुण्ठ-मेधसे—जिनकी चेतना कभी कुण्ठित नहीं होती उन्हें; पुरुषाय—परम पुरुष को; पुराणाय—सबसे प्राचीन; साङ्ख्य-योग-ईश्वराय—सांख्य योग के नियमों के अधीश्वर को; च—तथा।

हे भगवान्, आप आशीर्वादों के समस्त प्रदायकों में सर्वश्रेष्ठ, सबसे प्राचीन तथा समस्त भोक्ताओं में परम भोक्ता हैं। आप समस्त सांख्य योग-दर्शन के अधिष्ठाता हैं। आप समस्त कारणों के कारण भगवान् कृष्ण हैं। आप सभी धर्मों में श्रेष्ठ हैं, आप परम मन हैं और आपका मस्तिष्क (बुद्धि) ऐसा है, जो कभी कुण्ठित नहीं होता। अत: मैं आपको बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक में *कृष्णाय अकुण्ठ-मेधसे* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। आधुनिक विज्ञानियों ने अनिश्चितता सिद्धान्त की खोज कर लेने के बाद एक तरह से सोचना बन्द कर दिया है, किन्तु वास्तव में मनुष्य के लिए कोई भी मानसिक कार्य ऐसा नहीं है, जिसे काल तथा आकाश की सीमाओं में बाँधा न जा सके। जीवात्मा अणु है, अर्थात् परमात्मा का एक अणु है, फलत: उसका मस्तिष्क (मन) भी अणुवत् है। उसमें अनन्त ज्ञान नहीं समा सकता, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि श्रीकृष्ण का भी मस्तिष्क सीमित है। जो कुछ कृष्ण कहते या करते हैं वह समय तथा आकाश (दिक्) से बँधा नहीं है। *भगवद्गीता* (७.२६) में भगवान् कहते हैं—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।

भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

"हे अर्जुन! भूतकाल में जो हुआ है, वर्तमान में जो कुछ हो रहा है तथा आगे जो कुछ होना है, मैं वह सब भगवान् के रूप में जानता हूँ। मैं सभी जीवों को भी जानता हूँ, किन्तु मुझे कोई नहीं जानता।"

कृष्ण तो सब कुछ जानते हैं, किन्तु जब तक उनकी कृपा न हो कोई उन्हें जान नहीं सकता। अत: कृष्ण तथा उनके प्रतिनिधि के लिए अनिश्चितता सिद्धान्त का प्रश्न ही नहीं उठता। कृष्ण जो भी कहते हैं, वह अपने में पूर्ण और निश्चित है और वह भूत, वर्तमान तथा भविष्य पर लागू होता है। और जो कुछ कृष्ण कहते हैं उसे जानने वाले के लिए कोई अनिश्चितता नहीं है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन भगवान् कृष्ण द्वारा कही गई *भगवद्गीता* पर आधारित है और जो इस आन्दोलन से जुड़े हुए हैं उनके लिए अनिश्चितता का कोई प्रश्न ही नहीं है।

भगवान् कृष्ण को यहाँ पर *आशिषाम् ईश* कह कर भी सम्बोधित किया गया है। महापुरुष, मुनि तथा देवता सामान्य जीवों को ही आशीष दे सकते हैं, किन्तु स्वयं वे भगवान् से आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। श्रीकृष्ण से आशीर्वाद पाये बिना कोई किसी अन्य को आशीर्वाद नहीं दे सकता। *मनवे* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है, "मनु को।" मनु वैदिक साहित्य के स्वायम्भुव मनु हैं, जो कृष्ण के अवतार हैं। सारे मनु कृष्ण के *शक्त्यावेश* अवतार हैं (*मन्वन्तर-अवतार*)। ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु, एक मास में ४२०, एक वर्ष में ५,०४० और ब्रह्मा के जीवन-काल में कुल ५,०४,००० मनु होते हैं। चूँकि सारे मनु मानव-समाज के अधीक्षक होते हैं, अत: श्रीकृष्ण अन्तत: मानव-समाज के परम अधीक्षक हैं। *मनवे* का दूसरा अर्थ सभी प्रकार के मंत्रों की सिद्धि भी होता है। मंत्र बद्धजीव को बन्धन से छुड़ाता है, अत: हरे कृष्ण मंत्र का जप करने मात्र से ही मनुष्य का किसी भी स्थिति से उद्धार हो सकता है।

कारणात्मने—प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई कारण होता है। इस श्लोक में भाग्यवाद के सिद्धान्त का खंडन है। चूँकि हर वस्तु का कारण होता है, अत: भाग्य का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। चूँकि तथाकथित विज्ञानी तथा दार्शनिक वास्तविक कारण ढूँढ पाने में असमर्थ रहते हैं, अत: वे वृथा ही

बकते हैं कि सब संयोगवश घटित होता है। *ब्रह्म-संहिता* में कृष्ण को समस्त कारणों का कारण कहा गया है। यहाँ उन्हें *कारणात्मने* कह कर सम्बोधित किया गया है; अत: उनका व्यक्तित्व ही प्रत्येक वस्तु का मूल कारण या बीज है। जैसाकि *वेदान्त सूत्र* (१.१.२) में वर्णित है—*जन्माद्यस्य यत:*—परम सत्य समस्त सृष्टि का परम कारण है।

सांख्ययोगेश्वराय शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण को योगेश्वर कहा गया है। अकल्पनीय योगशक्तियों से संपन्न हुऐ बिना कोई ईश्वर नहीं माना जा सकता। इस कलिकाल में जिन्हें थोड़ी भी योगशक्ति प्राप्त है वे अपने को ईश्वर कहते हैं, किन्तु ऐसे छद्म ईश्वर निरे मूर्ख माने जा सकते हैं, क्योंकि परम पुरुष श्रीकृष्ण ही समस्त योग-शक्तियों एवं सिद्धियों से समन्वित हैं। इस समय प्रचलित सांख्य योग पद्धति का प्रवर्तन नास्तिक कपिल द्वारा हुआ, किन्तु आदि सांख्ययोग पद्धति का प्रवर्तन श्रीकृष्ण के अवतार, देवहूति के पुत्र, कपिल द्वारा किया गया था। इसी प्रकार कृष्ण के अन्य अवतार दत्तात्रेय ने भी सांख्ययोग पद्धति की व्याख्या की। इस तरह श्रीकृष्ण समस्त सांख्ययोग पद्धतियों तथा योग-शक्तियों के स्त्रोत हैं।

पुरुषाय पुराणाय शब्द भी ध्यान देने योग्य हैं। *ब्रह्म-संहिता* में कृष्ण को *आदि पुरुष* के रूप में स्वीकार किया गया है। *भगवद्गीता* में उन्हें *पुराण पुरुष* अर्थात् सबसे प्राचीन पुरुष भी माना गया है। यद्यपि वे सभी महापुरुषों में सबसे पुराने हैं, तो भी वे सबों में तरुण, नवयौवन से पूर्ण भी हैं। एक और शब्द *धर्माय* भी महत्त्वपूर्ण है। चूँकि श्रीकृष्ण समस्त धर्मों के आदि प्रवर्तक हैं, अत: *भागवत* (६.३.१९) में कहा गया है—*धर्मं तु साक्षाद् भगवत्प्रणीतम्।* कोई भी नवीन धर्म प्रचारित नहीं कर सकता, क्योंकि श्रीकृष्ण द्वारा स्थापित धर्म पहले ही विद्यमान है। *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण हमें मूल धर्म की जानकारी देते हैं और सभी प्रकार के धर्मों का परित्याग करने को कहते हैं। वास्तविक धर्म तो उनके प्रति समर्पण है। *महाभारत* में भी कहा गया है—

ये च वेदविदो विप्रा ये चाध्यात्मविदो जना:।

ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम्॥

इसका सारांश यह है कि जिसने ठीक से वेदों का अध्ययन किया है, जो पूर्ण विप्र है अर्थात् वेदों का ज्ञाता है, आध्यात्मिक जीवन को समझता है, वही परम पुरुष श्रीकृष्ण को सनातन धर्म के रूप में

बताता है। अत: शिवजी हमें सनातन धर्म के नियमों की शिक्षा देते हैं।

शक्तित्रयसमेताय मीढुषेऽहङ्कृतात्मने ।
चेतआकूतिरूपाय नमो वाचो विभूतये ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

शक्ति-त्रय—तीन प्रकार की शक्तियाँ; समेताय—आगार को; मीढुषे—रुद्र को; अहङ्कृत-आत्मने—अहंकार के स्रोत; चेत:—ज्ञान; आकूति—कार्य करने की उत्सुकता; रूपाय—रूप को; नम:—मेरा नमस्कार है; वाच:—वाणी को; विभूतये—विभिन्न प्रकार के ऐश्वर्यों को।

हे भगवान्, आप कर्ता, करण और कर्म—इन तीनों शक्तियों के नियामक हैं। अत: आप शरीर, मन तथा इन्द्रियों के परम नियन्ता हैं। आप अहंकार के परम नियन्ता रुद्र भी हैं। आप वैदिक आदेशों के ज्ञान तथा उनके अनुसार किए जाने वाले कर्मों के स्रोत हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति मिथ्या अहंकार द्वारा निर्देशित होता है, अत: शिवजी मिथ्या अहंकार को भगवान् की कृपा से पवित्र करना चाह रहे हैं। चूँकि शिवजी या रुद्र ही अहंकार के नियन्ता हैं, इसलिए वे भगवान् की कृपा से अप्रत्यक्ष रूप से अपने को शुद्ध कर लेना चाहते हैं, जिससे उनका वास्तविक अहंकार जाग्रत हो सके। निस्सन्देह, आध्यात्मिक ज्ञान में रुद्र सदैव जागरूक रहते हैं, किन्तु वे हमारे लाभ के लिए ही इस प्रकार से स्तुति कर रहे हैं। निर्विशेषवादियों के लिए शुद्ध अहंकार तो *अहं ब्रह्मास्मि*—"मैं यह शरीर न होकर आत्मा हूँ" है। किन्तु वास्तव में आत्मा को भक्ति सम्बन्धी कार्य करने होते हैं। इसीलिए शिवजी वेदों के आदेशानुसार मन तथा कर्म से भगवान् की भक्ति में लगने के लिए प्रार्थना करते हैं। अहंकार को शुद्ध करने की यही विधि है। *चेत:* का अर्थ है "ज्ञान"। बिना पूर्ण ज्ञान के पूर्ण रूप से कर्म नहीं किया जा सकता। ज्ञान का असली स्रोत *वाच:* या शब्द है, शब्द जो वैदिक आदेशों से प्राप्त होता है। यहा वाच: शब्द का अर्थ है वैदिक आदेश। सृष्टि की उत्पत्ति शब्द से ही हुई और यदि शब्द स्पष्ट तथा शुद्ध हो तो पूर्ण ज्ञान तथा पूर्ण कर्म प्रकट होते हैं। महामंत्र—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—के जप से यह सब सम्भव है। इस प्रकार शिवजी ज्ञान तथा वेदों के निर्देशानुसार कर्म की शुद्धि के द्वारा अपने शरीर, मन तथा कर्मों की शुद्धि के लिए बारम्बार प्रार्थना कर रहे हैं। वे भगवान् की प्रार्थना कर रहे हैं, जिससे उनका मन, इन्द्रियाँ तथा वाणी—ये सब केवल भक्ति की ओर ही उन्मुख हों।

दर्शनं नो दिदृक्षूणां देहि भागवतार्चितम् ।
रूपं प्रियतमं स्वानां सर्वेन्द्रियगुणाञ्जनम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

दर्शनम्—दर्शन; नः—हमारी; दिदृक्षूणाम्—देखने की इच्छा; देहि—कृपा करके दिखाएं; भागवत—भक्तों का; अर्चितम्—उनके द्वारा पूजित; रूपम्—स्वरूप; प्रिय-तमम्—सर्वाधिक प्रिय; स्वानाम्—अपने भक्तों का; सर्व-इन्द्रिय—सभी इन्द्रियाँ; गुण—गुण; अञ्जनम्—अत्यन्त मनोहर।

हे भगवान्, मैं आपको उस रूप में देखने का इच्छुक हूँ, जिस रूप में आपके अत्यन्त प्रिय भक्त आपकी पूजा करते हैं। आपके अन्य अनेक रूप हैं, किन्तु मैं तो उस रूप का दर्शन करना चाहता हूँ जो भक्तों को विशेष रूप से प्रिय है। आप मुझ पर अनुग्रह करें और मुझे वह स्वरूप दिखलाएं, क्योंकि जिस रूप की भक्त पूजा करते हैं वही इन्द्रियों की इच्छाओं को पूरा कर सकता है।

तात्पर्य : वेद-मंत्र या श्रुति में कहा गया है कि परमेश्वर *सर्वकाम: सर्वगन्ध: सर्वरस:* हैं। दूसरे शब्दों में, वे *रसो वै स:* कहलाते हैं अर्थात् सभी रसमय सम्बन्धों के स्रोत। हमारी विभिन्न इन्द्रियाँ हैं (देखने, स्वाद लेने, सूँघने, स्पर्श करने की शक्तियाँ इत्यादि) और हमारी इन सभी इन्द्रियों की इच्छाएँ तभी पूरी हो सकती हैं, जब इन्हें भगवान् की सेवा में लगा दिया जाये। *हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते*—"भक्ति का अर्थ है समस्त इन्द्रियों को इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश में लगाना" (*नारद पंचरात्र*) किन्तु भौतिक इन्द्रियों को भगवान् की भक्ति में नहीं लगाया जा सकता, अत: मनुष्य को सभी उपाधियों से मुक्त हो जाना चाहिए। *सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।* मनुष्य को समस्त उपाधियों अथवा मिथ्या अहंकार से रहित होकर शुद्ध होना चाहिए। जब हम अपनी इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाते हैं, तो हमारी इच्छाएँ अथवा मनोवृत्तियाँ ठीक से पूरी होती हैं। अत: शिवजी भगवान् को उस रूप में देखना चाहते हैं, जो बौद्ध दार्शनिकों अथवा बौद्धों के लिए अकल्पनीय है।

निर्विशेषवादी तथा शून्यवादी भी परमेश्वर का रूप देखते हैं। बौद्ध मन्दिरों में ध्यानमग्न बुद्ध की मूर्तियाँ रहती हैं, किन्तु इनकी पूजा उस रूप में नहीं होती जैसी कि वैष्णव मन्दिरों में राधाकृष्ण, सीताराम या लक्ष्मीनारायण के रूपों की होती है। विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों में या तो राधाकृष्ण या लक्ष्मीनारायण की पूजा की जाती है। शिवजी भगवान् के पूर्ण रूप को उसी प्रकार देखना चाहते हैं जिस प्रकार भक्त देखना चाहते हैं। यहाँ पर *रूपं प्रियतमं स्वानाम्* का विशेष उल्लेख हुआ है, जिसका

तात्पर्य है कि शिवजी उस रूप का दर्शन करना चाहते हैं, जो भक्तों को अत्यन्त प्रिय है। *स्वानाम्* महत्त्वपूर्ण है क्योंकि भगवान् को केवल भक्त ही अत्यन्त प्रिय हैं। उन्हें ज्ञानी, योगी तथा कर्मी उतने प्रिय नहीं जितने कि भक्त प्रिय हैं। कर्मी भगवान् को अपनी आवश्यकता पूर्ति करने वाले के रूप में देखना चाहते हैं, ज्ञानी उनसे तादात्म्य होने के लिए उन्हें देखना चाहते हैं। और योगी उन्हें अंशत: अपने हृदय में परमात्मा रूप में स्थित देखना चाहते हैं, किन्तु भक्तजन उन्हें सर्वांग रूप में देखना चाहते हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.३०) में कहा गया है—

वेणुं क्वणन्तमरविन्ददलायताक्षं
बर्हावतंसमसिताम्बुदसुन्दराङ्गम् ।
कन्दर्पकोटिकमनीयविशेषशोभं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

"मैं आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अपने वंशीवादन में निपुण हैं, जिनके नेत्र खिले हुए कमलदलों के समान हैं, जिनका सिर मोरपंखों से अलंकृत है, जिनकी सुन्दरता नील-मेघों के समान है और जिनकी अद्वितीय शोभा करोड़ों कामदेवों को मोहित करती है।" इस प्रकार शिवजी की इच्छा है कि वे भगवान् के यहाँ वर्णित रूप का दर्शन करें अर्थात् उस रूप में जिस रूप में वे भागवतों या भक्तों के समक्ष प्रकट होते हैं। तात्पर्य यह कि शिवजी भगवान् के सर्वांग रूप को देखना चाहते हैं, निर्विशेषवादियों या शून्यवादियों की तरह नहीं। यद्यपि भगवान् विभिन्न रूपों में एक ही हैं (*अद्वैतमच्युतमनादिम्*) तो भी गोपियों के साथ विहार करने वाला उनका रूप तथा ग्वालबालों के संग उनका तरुण रूप (*किशोर मूर्ति*) अत्यन्त पूर्ण है। अत: वैष्णव लोग भगवान् के वृन्दावन की लीलाओं वाले रूप को प्रधान मानते हैं।

स्निग्धप्रावृड्घनश्यामं सर्वसौन्दर्यसङ्ग्रहम् ।
चार्वायतचतुर्बाहु सुजातरुचिराननम् ॥ ४५ ॥
पद्मकोशपलाशाक्षं सुन्दरभ्रु सुनासिकम् ।
सुद्विजं सुकपोलास्यं समकर्णविभूषणम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

स्निग्ध—चिकना; प्रावृट्—वर्षाकाल के; घन-श्यामम्—घने बादलों सा; सर्व—समस्त; सौन्दर्य—सुन्दरता; सङ्ग्रहम्—राशि; चारु—सुन्दर; आयत—शारीरिक अंग; चतुः-बाहु—चार भुजाओं वाले को; सु-जात—अत्यन्त सुन्दर; रुचिर—अत्यन्त मनोहर; आननम्—मुख; पद्म-कोश—कमल पुष्पों का गुच्छा; पलाश—पंखड़ियाँ, दल; अक्षम्—नेत्र; सुन्दर—सुन्दर; भ्रु—भौंहें; सु-नासिकम्—उन्नत नाक; सु-द्विजम्—सुन्दर दाँत; सु-कपोल—सुन्दर मस्तक; आस्यम्—मुख; सम-कर्ण—एकसमान सुन्दर कान; विभूषणम्—पूर्णतः सज्जित।

भगवान् की सुन्दरता वर्षाकालीन श्याम मेघों के समान है। उनके शारीरिक अंग वर्षा जल के समान चमकीले हैं। दरअसल, वे समस्त सौंदर्य के समष्टि (सारसर्वस्व) हैं। भगवान् की चार भुजाएं हैं, सुन्दर मुख है और उनके नेत्र कमलदलों के तुल्य हैं। उनकी नाक उन्नत, उनकी हँसी मोहने वाली, उनका मस्तक सुन्दर तथा उनके कान सुन्दर और आभूषणों से सज्जित हैं।

तात्पर्य : ग्रीष्म ॠतु की तपन के बाद आकाश में काले-काले बादल अत्यन्त सुहावने लगते हैं। *ब्रह्म-संहिता* में पुष्टि की गई है—*बर्हावतंसमसिताम्बुदसुन्दराङ्गम्।* भगवान् अपने बालों में मोर पंख धारण करते हैं, उनका शरीर श्याम बादलों के समान है। सुन्दर या स्निग्ध शब्द का अर्थ "अत्यन्त लुभावना" है। *कन्दर्प कोटि कमनीय।* श्रीकृष्ण की सुन्दरता इतनी मोहक है कि करोड़ों कामदेव भी उसकी समता नहीं कर सकते। विष्णु रूप में भगवान् का रूप समस्त ऐश्वर्यों से सुसज्जित रहता है, अतः शिवजी नारायण या विष्णु के अत्यन्त ऐश्वर्यवान रूप का दर्शन पाने का प्रयास कर रहे हैं। सामान्यतः भगवान् की पूजा नारायण या विष्णु की पूजा से प्रारम्भ होती है, किन्तु कृष्ण तथा राधा की पूजा गुप्त विधि से की जाती है। भगवान् नारायण की पूजा *पाञ्चरात्रिक* विधि से की जाती है, जबकि भगवान् कृष्ण की पूजा भागवत-विधि से की जाती है। उनकी पाञ्चरात्र विधि से पूजा किये बिना कोई भी व्यक्ति भगवान् की पूजा भागवत विधि से नहीं कर सकता है। वास्तव में नवदीक्षित भक्त भगवान् की पूजा *नारद पञ्चरात्र* द्वारा निर्दिष्ट पाञ्चरात्रिक विधि से ही करते हैं। नवदीक्षित भक्त राधा कृष्ण की पूजा नहीं कर सकते, अतः मन्दिरों में विधि-विधानों के अनुसार ही लक्ष्मीनारायण की पूजा की जाती है। भले ही मन्दिर में राधाकृष्ण विग्रह हो, किन्तु नवदीक्षित भक्तों द्वारा की गयी पूजा लक्ष्मीनारायण पूजा के रूप में ही स्वीकार्य होती है। पाञ्चरात्रिक विधि से की गई पूजा *विधि-मार्ग* कहलाती है और भागवत विधि से की गई पूजा *राग-मार्ग* कहलाती है। *राग-मार्ग* के सिद्धान्त उन भक्तों के लिए हैं, जो वृन्दावन पद को प्राप्त हैं।

वृन्दावन के वासी—गोपियाँ, माता यशोदा, नन्द महाराज, गोप, गाएँ तथा अन्य सब—वास्तव में *राग-मार्ग* या *भागवत-मार्ग* के पद पर स्थित हैं। वे पाँच मूल रसों को भोगते हैं—*दास्य, सख्य,*

वात्सल्य, माधुर्य तथा *शान्त*। यद्यपि *भागवत-मार्ग* में ये पाँच रस पाये जाते हैं, किन्तु *भागवत-मार्ग* तो विशेषरूप से *वात्सल्य* तथा *माधुर्य* रसों के लिए है। परन्तु *विप्रलम्भ सख्य* भी है, जो गोपों द्वारा भोगा जाता है। यद्यपि गोपों तथा कृष्ण के मध्य मित्रता है, किन्तु यह मित्रता कृष्ण तथा अर्जुन की ऐश्वर्य-मित्रता से भिन्न है। जब अर्जुन ने भगवान् का विश्वरूप देखा तो उन्हें भय हुआ कि उन्होंने तो कृष्ण को सामान्य मित्र माना था, फलतः उन्होंने क्षमा माँगी। किन्तु वृन्दावन के ग्वालबाल जो कृष्ण के मित्र हैं, वे उनके कंधों पर चढ़ते हैं, कृष्ण को अन्यों के समान अपने ही तुल्य मानते हैं, वे उनसे कभी भी डरते नहीं, न वे कभी क्षमा माँगते हैं। इस प्रकार *राग-मार्ग* या *भागवत-मार्ग* कृष्ण के साथ उच्चतर पद पर मित्रता है। यह पद *विप्रलम्भ* मित्रता का है। वात्सल्य भाव तथा माधुर्य भाव वृन्दावन के *राग-मार्ग* में देखे जा सकते हैं।

कुछ अनैतिक लोग पांचरात्रिक विधि के *विधि-मार्ग* से कृष्ण की भक्ति किये बिना ही *राग-मार्ग* में तुरन्त कूदना चाहते हैं। इन्हें *सहजिया* कहते हैं। कुछ ऐसे अधम (असुर) भी हैं, जो अपने स्वेच्छाधारी आचरण का लाभ उठाते हुए कृष्ण तथा गोपियों के साथ उनकी लीलाओं की नकल करने में ही आनन्द लेते हैं। ऐसे अधम लोग जो *राग-मार्ग* पर पुस्तकें तथा गीत लिखकर प्रकाशित करते हैं, वे निश्चित ही नरकगामी हैं। दुर्भाग्यवश वे अपने साथ औरों को भी पतित बनाते हैं। कृष्णभक्ति में लगे हुए भक्तों को ऐसे अधमों से बचना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि लक्ष्मीनारायण की पूजा करते समय *विधि-मार्ग* का कठोर अनुसरण करे, भले ही मन्दिर में भगवान् राधाकृष्ण-रूप में क्यों न हों। राधाकृष्ण में लक्ष्मीनारायण निहित हैं, अतः *विधि-मार्ग* से ही पूजा करनी चाहिए और लक्ष्मीनारायण के ही रूप में भगवान् सेवा स्वीकार करते हैं। *भक्ति-रसामृत-सिंधु* नामक कृति में राधाकृष्ण या लक्ष्मीनारायण के *विधि-मार्ग*-पूजा सम्बन्धी आवश्यक निर्देश दिये गये हैं। यद्यपि *विधि-मार्ग* पूजा में चौंसठ प्रकार के अपराध हो सकते हैं, किन्तु *राग-मार्ग* पूजा में ऐसे अपराधों पर विचार नहीं किया जाता, क्योंकि उस पद पर स्थित भक्त अत्यन्त उन्नत होते हैं, उनके द्वारा अपराध का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु यदि *विधि-मार्ग* स्तर (पद) पर विधि-विधानों का पालन न करके अपराधों को ढूँढने में ही दृष्टि जमा दी जाये तो प्रगति नहीं हो सकती।

शिवजी ने कृष्ण के सौंदर्य-वर्णन में *चार्वायतचतुर्बाहु सुजातरुचिराननम्* शब्दों का प्रयोग नारायण

या विष्णु के सुन्दर चतुर्भुज रूप के लिए किया है। जो श्रीकृष्ण की पूजा करते हैं, वे उन्हें *सुजातरुचिराननम्* के रूप में वर्णन करते हैं। *विष्णु तत्त्व* में परमेश्वर के लाखों-करोड़ों रूप रहते हैं, किन्तु इन सबमें श्रीकृष्ण का रूप ही सुन्दरतम है। इसलिए जो कृष्ण-पूजक हैं उनके लिए *सुजात-रुचिराननम्* शब्द का प्रयोग हुआ है।

भगवान् विष्णु के चारों हाथ भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए हैं। जिन दो हाथों में कमल तथा शंख धारण किये हैं, वे भक्तों के लिए हैं और शेष दो जिनमें चक्र तथा गदा धारण किये रहते हैं, असुरों के लिए हैं। वास्तव में उनके चारों हाथ कल्याणप्रद हैं, चाहे वे कमल तथा शंख धारण किये हों या चक्र तथा गदा। जिन असुरों का भगवान् विष्णु के चक्र तथा गदा से वध होता है, वे दिव्य-लोक को जाते हैं। जिस तरह कमल तथा शंख वाले हाथों द्वारा रक्षित भक्त भी दिव्य लोक को जाते हैं। किन्तु जो असुर दिव्यलोक को जाते हैं, वे निर्गुण ब्रह्मज्योति में स्थित होते हैं, जबकि भक्तों को वैकुण्ठलोक में प्रविष्ट होने दिया जाता है। कृष्ण के भक्त तुरन्त गोलोक वृन्दावनलोक को भेज दिये जाते हैं।

भगवान् के सौन्दर्य की उपमा वर्षा से दी गई है, क्योंकि जब वर्षा ऋतु में वर्षा होती है, तो यह लोगों को अधिकाधिक भाती है। ग्रीष्म की भीषण तपन के बाद लोग वर्षा ऋतु का अत्यधिक आनन्द लेते हैं। यही नहीं, गाँवों के लोग घर के बाहर निकल कर वर्षा का प्रत्यक्ष आनन्द लेते हैं। इस प्रकार भगवान् के शारीरिक अंगों की तुलना वर्षाकालीन बादलों से की गई है। भक्त भगवान् के सौन्दर्य का आनन्द लेते हैं, क्योंकि यह समस्त प्रकार की सुन्दरताओं का संग्रह होता है। इसीलिए *सर्व सौन्दर्य संग्रहम्* शब्द का प्रयोग हुआ है। कोई यह नहीं कह सकता कि भगवान् के शरीर का कोई अंग कम सुन्दर है। यह *पूर्णम्* होता है। प्रत्येक वस्तु पूर्ण रहती है। चाहे वह ईश्वर की सृष्टि हो, ईश्वर की सुन्दरता हो या उनके शारीरिक अंग हों—वे सब इतने पूर्ण होते हैं कि भगवान् के सौंदर्य को देखकर किसी की भी इच्छा पूरी हो जाती है। *सर्व सौन्दर्य* शब्द सूचित करता है कि भौतिक जगत में तथा वैकुण्ठलोक में भिन्न-भिन्न प्रकार की सुन्दरताएँ होती हैं और भगवान् में वे सब रहती हैं। भौतिकतावादी तथा अध्यात्मवादी समान रूप से भगवान् के सौंदर्य का आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। चाहे असुर हों या देवता, भौतिकतावादी हों या अध्यात्मवादी, भगवान् सबों को आकृष्ट करने वाले हैं, इसीलिए वे कृष्ण कहलाते हैं। इसी प्रकार उनके भक्त भी सबों को आकृष्ट करने वाले हैं। जैसाकि षड्गोस्वामी स्तोत्र में

उल्लेख है— *धीराधीर जनप्रियौ*—गोस्वामी धीर (भक्त) तथा अधीर (असुर) दोनों को समान रूप से प्रिय हैं। जब श्रीकृष्ण वृन्दावन में थे तो वे असुरों को प्रिय नहीं थे, किन्तु वृन्दावन में रहते हुए छहों गोस्वामी असुरों को प्रिय थे। अपने भक्तों के साथ बर्ताव में भगवान् की यही विशिष्टता है। कभी-कभी वे अपने भक्तों को अपने से भी बढ़कर श्रेय देते हैं। उदाहरणार्थ, कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में भगवान् कृष्ण युद्ध के लिए केवल आदेश दे रहे थे। युद्ध का सारा श्रेय तो अर्जुन को मिला। *निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्*—"हे सव्यसाची (अर्जुन)! तुम इस युद्ध में केवल कारणस्वरूप बनो" (*भगवद्गीता* ११.३३)। हर योजना कृष्ण की थी, किन्तु विजय का श्रेय मिला अर्जुन को। इसी प्रकार कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में प्रत्येक घटना भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु की भविष्यवाणी के अनुसार घट रही है, किन्तु श्रेय मिलता है श्री चैतन्य महाप्रभु के आज्ञाकारी सेवकों को। इस प्रकार यहाँ पर भगवान् को *सर्व सौन्दर्य संग्रह* के रूप में वर्णित किया गया है।

प्रीतिप्रहसितापाङ्गमलकै रूपशोभितम् ।
लसत्पङ्कजकिञ्जल्कदुकूलं मृष्टकुण्डलम् ॥ ४७॥
स्फुरत्किरीटवलयहारनूपुरमेखलम् ।
शङ्खचक्रगदापद्ममालामण्युत्तमर्द्धिमत् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

प्रीति—अनुग्रहपूर्ण; प्रहसित—हास्य; अपाङ्गम्—तिरछी चितवन; अलकैः—घुँघराले वालों से; रूप—सौंदर्य; शोभितम्—सुशोभित; लसत्—चमकता हुआ; पङ्कज—कमल का; किञ्जल्क—केशर; दुकूलम्—वस्त्र; मृष्ट—झलमलाते; कुण्डलम्—कान के आभूषण; स्फुरत्—चमचमाता; किरीट—मुकुट; वलय—कंकण; हार—गले की माला; नूपुर—पाँव का घुँघुरूदार आभूषण; मेखलम्—करधनी; शङ्ख—शंख; चक्र—चक्र; गदा—गदा; पद्म—कमल का फूल; माला—फूल की माला; मणि—मोती; उत्तम—श्रेष्ठ; ऋद्धि-मत्—इस कारण और भी सुन्दर।

भगवान् अपने मुक्त तथा दयापूर्ण हास्य तथा भक्तों पर तिरछी चितवन के कारण अनुपम सुन्दर लगते हैं। उनके बाल काले तथा घुँघराले हैं। हवा में उड़ता उनका वस्त्र कमल के फूलों में से उड़ते हुए केशर-रज के समान प्रतीत होता है। उनके झलमलाते कुण्डल, चमचमाता मुकुट, कंकण, बनमाला, नूपुर, करधनी तथा शरीर के अन्य आभूषण शंख, चक्र, गदा तथा कमल पुष्प से मिलकर उनके वक्षस्थल पर पड़ी कौस्तुभमणि की प्राकृतिक शोभा को बढ़ाते हैं।

तात्पर्य : *प्रहसितापाङ्ग* शब्द जो कृष्ण की मुस्कान तथा चितवन का द्योतक है, गोपियों के साथ भगवान् कृष्ण के व्यवहार के प्रसंग में प्रयुक्त है। जब गोपियों के हृदय में वे मार्धुय रस की वृद्धि करते

हैं, तो भगवान् सदैव विनोद मुद्रा में रहते हैं। शंख, चक्र, गदा तथा पद्म या तो उनके हाथों में या हथेली में दिखाये जाते हैं। हस्तरेखा ज्योतिष के अनुसार जिसकी हथेली में ये चिह्न पाये जाते हैं, वह महापुरुष होता है और ये भगवान् को सूचित करने वाले हैं।

सिंहस्कन्धत्विषो बिभ्रत्सौभगग्रीवकौस्तुभम् ।
श्रियानपायिन्या क्षिप्तनिकषाश्मोरसोल्लसत् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

सिंह—शेर; स्कन्ध—कंधे; त्विषः—बालों की लटें; बिभ्रत्—धारण किये हुए; सौभग—भाग्यवाली; ग्रीव—गर्दन; कौस्तुभम्—कौस्तुभ मणि; श्रिया—सुन्दरता; अनपायिन्या—कभी न घटने वाली; क्षिप्त—मात करने वाली; निकष—कसौटी; अश्म—पत्थर; उरसा—वक्षस्थल के साथ; उल्लसत्—झिलमिलाती है।

भगवान् के कन्धे सिंह के समान हैं। इन पर मालाएँ, हार एवं घुँघराले बाल पड़े हैं, जो सदैव झिलमिलाते रहते हैं। इनके साथ ही साथ कौस्तुभमणि की सुन्दरता है और भगवान् के श्याम वक्षस्थल पर श्रीवत्स की रेखाएँ हैं, जो लक्ष्मी के प्रतीक हैं। इन सुवर्ण रेखाओं की चमाहट सुवर्ण कसौटी पर बनी सुवर्ण लकीरों से कहीं अधिक सुन्दर है। दरअसल ऐसा सौन्दर्य सुवर्ण कसौटी को मात करने वाला है।

तात्पर्य : सिंह के कंधों पर घुँघराले बाल अत्यधिक सुन्दर लगते हैं। भगवान् के कंधे सिंह के ही समान थे और उनके कंधे पर पड़ी मालाओं, *हार* तथा कौस्तुभमणि की माला के कारण उनकी सुन्दरता सिंह से भी बढ़ गई थी। भगवान् के वक्षस्थल पर श्रीवत्स की रेखाएँ हैं, जो लक्ष्मी के चिह्न हैं। फलत: उनका वक्षस्थल सोने की कसौटी की सुन्दरता को भी मात करता है। काली कसौटी का पत्थर जिस पर सोने की शुद्धता परखने के लिए सोना रगड़ा जाता है सोने की रेखाएँ बन जाने के कारण अत्यन्त सुन्दर लगने लगता है। भगवान् का वक्षस्थल अपनी शोभा में कसौटी की शोभा से भी बढ़कर है।

पूररेचकसंविग्नवलिवल्गुदलोदरम् ।
प्रतिसङ्क्रामयद्विश्वं नाभ्यावर्तगभीरया ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

पूर—श्वास; रेचक—नि:श्वास; संविग्न—चलायमान; वलि—उदर में पड़ने वाली सिलवटें; वल्गु—सुन्दर; दल—बरगद के पत्ते के समान; उदरम्—पेट; प्रतिसङ्क्रामयत्—नीचे की ओर भँवरदार; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; नाभ्या—नाभि; आवर्त—कुण्डली; गभीरया—गहराई में।

भगवान् का उदर (पेट) त्रिवली के कारण सुन्दर लगता है। गोल होने के कारण उनका

उदर वटवृक्ष के पत्ते के समान जान पड़ता है और जब वे श्वास-प्रश्वास लेते हैं, तो इन सलबटों का हिलना-जुलना अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होता हैं। भगवान् की नाभि के भीतर की कुण्डली इतनी गहरी है मानो सारा ब्रह्माण्ड उसी में से उत्पन्न हुआ हो और पुनः उसी में समा जाना चाहता हो।

तात्पर्य : यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भगवान् की नाभि से निकले कमलनाल से उत्पन्न हुआ। तब ब्रह्माजी ने इस कमलनाल के ऊपर आसीन होकर सारे ब्रह्माण्ड की रचना की। भगवान् की नाभि इतनी गहरी तथा चक्करदार है कि मानो सारा ब्रह्माण्ड उनकी शोभा से आकृष्ट होकर पुनः उसी के भीतर समा जाना चाहता है। नाभि तथा उदर की त्रिवली से भगवान् का शारीरिक सौन्दर्य बढ़ जाता है। भगवान् के शारीरिक अंगो का विवरण विशेषतः पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का सूचक है। निर्विशेषवादी भगवान् के सुन्दर शरीर को नहीं समझ सकते, जिसका वर्णन शिवजी द्वारा की गई स्तुति में यहाँ हुआ है। यद्यपि निर्विशेषवादी शिवजी की पूजा में लगे रहते हैं, किन्तु शिवजी ने भगवान् विष्णु के शारीरिक अंगों का जो स्तवन किया है, उसे समझने में वे असमर्थ रहते हैं। भगवान् विष्णु को *भागवत* (११.५.३३) में *शिवविरिञ्चिनुतम्* कहा गया है, क्योंकि वे ब्रह्मा तथा शिवजी द्वारा सदैव पूजित हैं।

श्यामश्रोण्यधिरोचिष्णुदुकूलस्वर्णमेखलम् ।
समचार्वङ्घ्रिजङ्घोरुनिम्नजानुसुदर्शनम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

श्याम—श्याम वर्ण का; श्रोणि—कमर के निचे वाला भाग; अधि—अतिरिक्त; रोचिष्णु—सुहावना; दुकूल—वस्त्र; स्वर्ण—सुनहली; मेखलम्—करधनी; सम—समान; चारु—सुन्दर; अङ्घ्रि—चरणकमल; जङ्घ—पिंडली; ऊरु—जाँघें; निम्न—निचली; जानु—घुटने; सु-दर्शनम्—सुघड़, दर्शनीय।

भगवान् की कटि का अधोभाग श्यामल रंग का है और पीताम्बर से ढका है। उसमें सुनहली, जरीदार करधनी है। उनके एक समान चरणकमल, पिंडलियाँ, जाँघें तथा घुटने अनुपम सुन्दर हैं। निस्सन्देह, भगवान् का सम्पूर्ण शरीर अत्यन्त सुडौल प्रतीत होता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* (६.३.२०) में जिन बारह महाजनों का उल्लेख है उनमें शिवजी भी एक हैं। ये हैं—स्वयम्भू, नारद, शम्भु, कुमार, कपिल, मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्म, बलि, वैयासकी या शुकदेव गोस्वामी तथा यमराज। शिव की पूजा करने वाले निर्विशेषवादियों को चाहिए कि भगवान् के दिव्य सच्चिदानन्द विग्रह के विषय में जानें। यहाँ पर शिवजी अत्यन्त कृपा करके भगवान् के अंगों का वर्णन कर रहे हैं। अतः निर्विशेषवादियों का यह तर्क कि भगवान् का कोई स्वरूप नहीं होता, किसी

भी दशा में स्वीकार्य नहीं है।

पदा शरत्पद्मपलाशरोचिषा
नखद्युभिर्नोऽन्तरघं विधुन्वता ।
प्रदर्शय स्वीयमपास्तसाध्वसं
पदं गुरो मार्गगुरुस्तमोजुषाम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

पदा—चरणकमल द्वारा; शरत्—शरद ऋतु; पद्म—कमल पुष्प; पलाश—दल; रोचिषा—अत्यन्त मनोहर; नख—नाखून; द्युभिः—तेज से; नः—हमारा; अन्तः-अघम्—मल; विधुन्वता—धो सकने वाला; प्रदर्शय—दिखलाइये; स्वीयम्—अपना; अपास्त—घटता हुआ; साध्वसम्—जगत का कष्ट; पदम्—चरणकमल; गुरो—हे गुरु; मार्ग—पथ; गुरुः—गुरु; तमः-जुषाम्—अज्ञान के कारण कष्ट उठाने वाले व्यक्ति।

हे भगवन्, आपके दोनों चरणकमल इतने सुन्दर हैं मानो शरत् ऋतु में उगने वाले कमल पुष्प के खिलते हुए दो दल हों। दरअसल आपके चरणकमलों के नाखूनों से इतना तेज निकलता है कि वह बद्धजीव के हृदय के सारे अंधकार को तुरन्त छिन्न कर देता है। हे स्वामी, मुझे आप अपना वह स्वरूप दिखलायें जो किसी भक्त के हृदय के अन्धकार को नष्ट कर देता है। मेरे भगवन्, आप सबों के परम गुरु हैं, अतः आप जैसे गुरु के द्वारा अज्ञान के अंधकार से आवृत सारे बद्धजीव प्रकाश प्राप्त कर सकते हैं।

तात्पर्य : शिवजी ने इस प्रकार से भगवान् के स्वरूप का प्रामाणिक रूप से वर्णन किया है। अब वे भगवान् के चरणकमलों का दर्शन करना चाहते हैं। जब कोई भक्त भगवान् के दिव्य रूप का दर्शन करना चाहता है, तो वह अपना ध्यान सबसे पहले भगवान् के चरणकमलों पर केन्द्रित करता है। *श्रीमद्भागवत* को भगवान् की दिव्य वाणी माना जाता है और इसके बारह स्कंध भगवान् के दिव्य रूप के अनुसार विभाजित हैं। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम दो स्कंध भागवत के चरण हैं, अतः शिवजी ने सुझाया है कि मनुष्य को पहले भगवान् के चरणों का दर्शन करना चाहिए। इसका यह भी अर्थ होता है कि यदि कोई गहन भाव से *श्रीमद्भागवत* पढ़ना चाहता है, तो उसे पहले प्रथम तथा द्वितीय स्कंध पढ़ने चाहिए।

भगवान् के चरणकमलों की सुन्दरता की उपमा शरदकालीन कमलदलों से दी गई है। प्रकृति का नियम है कि शरत् ऋतु में नदियों तथा सरोवरों का गंदा जल निर्मल हो जाता है। उस समय उनमें खिलने वाले कमल अत्यन्त चमकीले तथा सुन्दर लगते हैं। कमल पुष्प की तुलना भगवान् के चरणों से

की गई है और कमलदलों की तुलना भगवान् के पाँव के नाखूनों से। भगवान् के चरणों के नाखून अत्यन्त चमकीले हैं जिसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* द्वारा होती है—*आनन्दचिन्मयसदुज्ज्वल-विग्रहस्य*—भगवान् के दिव्य शरीर का अंग-प्रत्यंग *आनन्दचिन्मयसदुज्ज्वल* हैं। इस तरह प्रत्येक अंग निरन्तर उज्ज्वल रहता है। जिस प्रकार धूप से संसार का अंधकार भाग जाता है, उसी तरह भगवान् के शरीर का तेज बद्धजीव के अन्त:करण के अंधकार को दूर कर देता है। दूसरे शब्दों में, जो कोई भी दिव्य विज्ञान को समझना चाहता है तथा भगवान् के दिव्य शरीर का दर्शन करना चाहता है उसे चाहिए कि वह पहले *श्रीमद्भागवत* के प्रथम तथा द्वितीय स्कन्धों को पढ़कर भगवान् के चरणकमलों का दर्शन प्राप्त करने का यत्न करे। भगवान् के चरणकमलों का दर्शन होने से अन्त:करण से सभी प्रकार के सन्देह तथा भय दूर हो जाते हैं।

भगवद्गीता (१६.१) में कहा गया है कि आत्मिक उन्नति के लिए मनुष्य को निर्भय होना चाहिए। *अभयं सत्त्वसंशुद्धि:।* भय तो भौतिकता में निमग्न होने का प्रतिफल है। *श्रीमद्भागवत* (११.२.३७) में यह भी कहा गया है—*भयं द्वितीयाभिनिवेशत: स्यात्*—भय तो देहात्मबुद्धि से उपजता है। जब तक मनुष्य सोचता रहता है कि वह शरीर है तब तक वह डरता है और ज्योंही वह इस भौतिक बोध से मुक्त हो जाता है, तो वह तुरन्त *ब्रह्मभूत* अर्थात् स्वरूपसिद्ध होकर निर्भय हो जाता है। *ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा* (*भगवद्गीता* १८.५४)। निर्भय हुए बिना प्रसन्न नहीं रहा जा सकता। भक्त सदैव निर्भय तथा प्रसन्नमुख रहते हैं, क्योंकि वे निरन्तर भगवान् के चरणकमलों की सेवा में लगे रहते हैं। कहा भी गया है (*भागवत* १.२.२०)—

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगत:।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते॥

भगवद्भक्ति योग के अभ्यास से मनुष्य निर्भय तथा प्रसन्न रहता है। जब तक मनुष्य निर्भय तथा प्रसन्न नहीं रहता, वह भगवद् विज्ञान को समझ नहीं पाता। *भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते।* यह श्लोक उनके लिए है, जो इस संसार के भय से पूर्ण रूप से मुक्त हो चुके हैं। इस प्रकार मुक्त होकर ही भगवान् के दिव्य रूप को समझा जा सकता है। अत: शिवजी सबों को भगवद् भक्तियोग का अभ्यास करने का उपदेश देते हैं। अगले श्लोकों से स्पष्ट हो जायेगा कि ऐसा करने से सचमुच मुक्त हुआ जा

सकता है और आध्यात्मिक आनन्द उठाया जा सकता है।

कहा भी गया है—

ॐ अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

भगवान् परम गुरु हैं और परमेश्वर का प्रामाणिक प्रतिनिधि भी गुरु होता है। भगवान् अपने चरणकमलों के नाखूनों के तेज से भक्त को भीतर से प्रकाशित करते हैं और उनका प्रतिनिधि गुरु बाहर से करता है। भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करने तथा सदा गुरु का उपदेश ग्रहण करने से ही आध्यात्मिक जीवन में प्रगति तथा वैदिक ज्ञान की प्राप्ति की जा सकती है—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

इस प्रकार वेदों (*श्वेताश्वर उपनिषद्* ६.२३) का मत है कि भगवान् के चरणकमलों में तथा गुरु में अटल श्रद्धा होने पर ही वास्तविक वैदिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

एतद्रूपमनुध्येयमात्मशुद्धिमभीप्सताम् ।
यद्भक्तियोगोऽभयदः स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; रूपम्—रूप; अनुध्येयम्—ध्यान करना चाहिए; आत्म—स्व; शुद्धिम्—शुद्धि; अभीप्सताम्—इच्छा रखने वालों का; यत्—जो; भक्ति-योगः—भक्ति; अभय-दः—निर्भय कराने वाली; स्व-धर्मम्—अपने वृत्तिपरक कार्यों को; अनुतिष्ठताम्—करने में।.

हे भगवन्, जो लोग अपने जीवन को परिशुद्ध बनाना चाहते हैं, उन्हें उपर्युक्त विधि से आपके चरणकमलों का ध्यान करना चाहिए। जो अपने वर्ण के अनुरूप कार्य को पूरा करने की धुन में हैं और जो भय से मुक्त होना चाहते हैं, उन्हें भक्तियोग की इस विधि का अनुसरण करना चाहिए।

तात्पर्य : कहा गया है कि भगवान् का दिव्य नाम, स्वरूप, लीलाएँ तथा उनके संगीजनों को कोरी इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता; अतः इन इन्द्रियों को शुद्ध करने के लिए भक्ति करनी होती है, जिससे भगवान् के दर्शन हो सकें। किन्तु यहाँ पर यह बताया गया है कि जो भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर ध्यान करते हैं उनकी इन्द्रियाँ भौतिक कल्मषों से पवित्र हो जाती हैं और वे भगवान् का

प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं। इस युग में सामान्य लोगों के बीच "ध्यान" शब्द अत्यन्त लोकप्रिय है, किन्तु वे इसके वास्तविक अर्थ को नहीं समझते। किन्तु वैदिक साहित्य से पता चलता है कि योगीजन भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर ध्यान करते हैं। *ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः* (भागवत १२.१३.१)। योगियों का यही वास्तविक कार्य है; भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करना। अतः शिवजी उपदेश देते हैं कि जो वास्तव में परिशुद्ध होना चाहते हैं, उन्हें इस प्रकार के ध्यान में या योग में लगना चाहिए जिससे न केवल अन्तःकरण में भगवान् का निरन्तर दर्शन किया जा सकता है वरन् साक्षात् उनका दर्शन हो सकता है और वैकुण्ठलोक या गोलोक वृन्दावन में उनका पार्षद बना जा सकता है।

स्वधर्मम् (यथा *स्वधर्मम् अनुतिष्ठताम्* में) शब्द सूचित करता है कि यदि जीवन में सचमुच सुरक्षा चाहिए तो —वर्णाश्रम धर्म जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के वृत्तिपरक कार्यों का द्योतक है और जो मानवता के लिए उपयुक्त व्यवस्था है—के साथ-साथ भक्तियोग ग्रहण करना चाहिए। सामान्यतः लोग सोचते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के कर्मों को करने या कि ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी का कर्तव्य पूरा कर लेने से ही वे निर्भय हो जाते हैं या उन्हें निश्चित रूप से मोक्ष प्राप्त हो जाता है, किन्तु वस्तुतः जब तक इन सारे कर्मों को भक्तियोग के साथ-साथ सम्पन्न नहीं किया जाता तब तक कोई निर्भय नहीं हो सकता। *भगवद्गीता* में कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग आदि के वर्णन मिलते हैं, किन्तु जब तक भक्तियोग तक नहीं पहुँचा जाता, अन्य सारे योग जीवनसिद्धि को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते। दूसरे शब्दों में, भक्तियोग ही मोक्ष का एकमात्र साधन है। *चैतन्य-चरितामृत* में भी भगवान् चैतन्य तथा रामानन्द राय के मध्य इस जगत से मोक्ष प्राप्त करने के सम्बन्ध में जो वार्ता है, उससे यही निष्कर्ष निकलता है। उस वार्ता में रामानन्द राय ने वर्णाश्रम धर्म के पालन का प्रसंग उठाया तो भगवान् चैतन्य ने इंगित किया कि वर्णाश्रम धर्म केवल बाह्य है (*एहो बाह्य*), अकेले वर्णाश्रम धर्म के कर्तव्यों के पालन से मोक्ष की कोई गारंटी नहीं है। अन्त में रामानन्द राय ने भक्तियोग का उल्लेख किया—*स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिः* (*भागवत* १०.१४.३)। मनुष्य चाहे जिस अवस्था में रहे, यदि वह भक्तियोग करता है, जिसका शुभारम्भ भक्तों के मुख से भगवान् के दिव्य सन्देश को सुनने (*श्रुतिगताम्*) से होता है, तो वह क्रमशः अजेय ईश्वर को जीत

लेता है।

ईश्वर को अजेय माना जाता है, किन्तु जो व्यक्ति स्वरूपसिद्ध पुरुषों की वाणी को विनयपूर्वक सुनता है, वह अजेय को जीत लेता है। निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि मनुष्य को केवल वर्णाश्रम धर्म का ही पालन नहीं करना चाहिए, अपितु किसी स्वरुपसिद्ध पुरुष से सुनना आरम्भ करके भक्तियोग में भी लगना चाहिए। इस विधि से भक्त अजेय भगवान् को जीत सकेगा और इस भौतिक शरीर को त्यागने के बाद उनका पार्षद बनेगा।

भवान्भक्तिमता लभ्यो दुर्लभः सर्वदेहिनाम् ।
स्वाराज्यस्याप्यभिमत एकान्तेनात्मविद्गतिः ॥ ५४॥

शब्दार्थ

भवान्—आप; भक्ति-मता—भक्त द्वारा; लभ्यः—प्राप्य; दुर्लभः—प्राप्त कर पाना अत्यन्त कठिन; सर्व-देहिनाम्—अन्य समस्त देहधारियों (जीवात्माओं) का; स्वाराज्यस्य—स्वर्ग के राजा का; अपि—भी; अभिमतः—अन्तिम लक्ष्य; एकान्तेन—तादात्म्य के द्वारा; आत्म-वित्—स्वरूपसिद्ध का; गतिः—गन्तव्य ।

हे भगवन्, स्वर्ग का राजा इन्द्र भी जीवन के परम लक्ष्य—भक्ति—को प्राप्त करने का इच्छुक रहता है। इसी प्रकार जो अपने को आपसे अभिन्न मानते हैं (*अहं ब्रह्मास्मि*), उनके भी एकमात्र लक्ष्य आप ही हैं। किन्तु आपको प्राप्त कर पाना उनके लिए अत्यन्त कठिन है जब कि भक्त सरलता से आपको पा सकता है।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* में आया है—*वेदेषु दुर्लभमदुर्लमात्मभक्तौ।* इससे सूचित होता है कि वैदिक साहित्य या वेदान्त दर्शन के अध्ययन-मात्र से जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त कर पाना और परम गंतव्य वैकुण्ठ लोक या गोलोक वृन्दावन तक पहुंच पाना कठिन है, किन्तु भक्तों को यह सर्वोच्च सिद्धि अवस्था सहज ही प्राप्य है। *ब्रह्म-संहिता* की उक्त पद का यही अर्थ है। शिवजी ने भी इस श्लोक में यही बात कही है। कर्मयोगियों, ज्ञान योगियों और ध्यान योगियों के लिए भगवान् को पाना अत्यन्त कठिन है। किन्तु जो भक्तियोगी हैं उनके लिए यह रंच मात्र भी दुष्कर नहीं है। *स्वाराज्यस्य* शब्द में *स्वर* से स्वर्गलोक और *स्वाराज्य* से स्वर्गलोक के राजा इन्द्र का बोध होता है। सामान्यतः सभी कर्मी स्वर्ग जाना चाहते हैं, किन्तु स्वयं स्वर्ग का राजा इन्द्र चाहता है कि वह भक्तियोग में निष्णात बने। जो लोग अपने आपको *अहं ब्रह्मास्मि* कहते हैं, वे भी वैकुण्ठलोक या गोलोक वृन्दावन पहुँच कर पूर्ण मोक्ष चाहते हैं। *भगवद्गीता* (१८.५५) में कहा गया है।—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

"भगवान् को यथारूप में केवल भक्ति द्वारा ही जाना जा सकता है और जब मनुष्य ऐसी भक्ति से भगवान् की पूर्ण चेतना में स्थित होता है, तो वह ईश्वर के धाम में प्रवेश कर सकता है।"

अतः स्वर्ग में जाने के इच्छुक व्यक्ति को भक्तियोग के द्वारा भगवान् को जानने का प्रयत्न करना चाहिए। मात्र भक्तियोग के अभ्यास से मनुष्य भगवान् को वास्तव में समझ सकता है किन्तु भक्तियोग समझे बगैर मनुष्य दिव्य लोक में प्रवेश नहीं कर सकता। कोई भले ही स्वर्गलोक को प्राप्त हो ले या अपने को ब्रह्म समझ ले (*अहं ब्रह्मास्मि*), किन्तु यह साक्षात्कार की इति नहीं है। मनुष्य को पहले भक्तियोग द्वारा भगवान् की स्थिति को समझना चाहिए, तभी उसे जीवन की वास्तविक सिद्धि प्राप्त हो सकेगी।

तं दुराराध्यमाराध्य सतामपि दुरापया ।
एकान्तभक्त्या को वाञ्छेत्पादमूलं विना बहिः ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (तुमको); दुराराध्यम्—पूजा करना अत्यन्त कठिन; आराध्य—पूजा करके; सताम् अपि—सत्पुरुषों के लिए भी; दुरापया—प्राप्त कर पाना दुष्कर; एकान्त—शुद्ध; भक्त्या—भक्ति से; कः—ऐसा कौन है; वाञ्छेत्—चाहेगा; पाद-मूलम्—चरणकमल; विना—रहित; बहिः—बाहरी लोग।

हे भगवन्, शुद्ध भक्ति कर पाना तो मुक्त पुरुषों के लिए भी कठिन है, किन्तु आप हैं कि एकमात्र भक्ति से ही प्रसन्न हो जाते हैं। अतः जीवन-सिद्धि का इच्छुक ऐसा कौन पुरुष होगा जो आत्म-साक्षात्कार की अन्य विधियों को अपनाएगा?

तात्पर्य : *सताम्* शब्द अध्यात्मवादियों के लिए आया है। अध्यात्मवादी तीन प्रकार के होते हैं—*ज्ञानी, योगी* तथा *भक्त*। इन तीनों में से भगवान् के पास पहुँचने वाला सर्वाधिक उपयुक्त प्रतिभागी केवल भक्त है। यहाँ इस बात पर बल दिया गया है कि जो भक्ति नहीं करते, वे भगवान् के चरणकमलों की खोज नहीं करते हैं। कभी कभी मुर्ख लोग यह मानते हैं कि ईश्वर किसी भी तरह से—*कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग* से—प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु यहाँ पर यह अभिमत स्पष्ट रूप से व्यक्त है कि केवल *भक्तियोग* से ही भगवत्कृपा प्राप्त हो सकती है। यहाँ पर *दुराराध्य* शब्द विशेष प्रयोजनीय है। भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी विधि से भगवान् के चरणकमल प्राप्त करना

दुष्कर है।

यत्र निर्विष्टमरणं कृतान्तो नाभिमन्यते ।
विश्वं विध्वंसयन्वीर्यशौर्यविस्फूर्जितभ्रुवा ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; निर्विष्टम् अरणम्—शरणागत प्राणी; कृत-अन्तः—दुर्दम्य काल; न अभिमन्यते—आक्रमण नहीं करता; विश्वम्—समूचा ब्रह्माण्ड; विध्वंसयन्—संहार द्वारा; वीर्य—पराक्रम; शौर्य—प्रभाव; विस्फूर्जित—मात्र विस्तार से; भ्रुवा—भौंहों के।

उनके भृकुटि-विस्तार-मात्र से जो दुर्जेय काल तत्क्षण सारे ब्रह्माण्ड का संहार कर सकता है, वही दुर्जेय काल आपको चरणकमलों की शरण में गये भक्त के निकट तक नहीं पहुँच पाता।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१०.३४) में कहा गया है कि मृत्युरूप में भगवान् मनुष्य के सारे वैभव को ध्वस्त कर देते हैं। *मृत्युः सर्वहरश्चाहम्*—"मैं सबों को निगलने वाला काल हूँ।" भगवान् मृत्यु के रूप में बद्धजीव द्वारा बनाई गई सारी वस्तुएँ छीन लेते हैं। इस संसार में प्रत्येक वस्तु काल के साथ विनष्ट होती रहती है। किन्तु काल अपनी सारी शक्ति के होते हुए भी भक्त के कार्यों में अवरोध उत्पन्न नहीं कर पाता, क्योंकि भक्त को भगवान् के चरणकमलों का पूर्ण आश्रय जो प्राप्त है। इसी कारण भक्त दुर्जेय काल से मुक्त है। जिन कर्मियों तथा ज्ञानियों का भक्ति से कोई वास्ता नहीं है उनके सारे कार्य कलाप काल के द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं। कर्मियों की भौतिक उन्नति को विनष्ट होना ही है, इसी प्रकार ज्ञानियों द्वारा निर्गुण साक्षात्कार भी समय के साथ विनष्ट हो जाता है।

आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः

पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रियः ।

(*भागवत* १०.२.३२)

कर्मियों की तो छोड़िये, ज्ञानी तो निर्गुण ब्रह्मज्योति प्राप्त करने के लिए कठिन तपस्या करते हैं, किन्तु उन्हें भगवान् के चरणकमल प्राप्त नहीं होते, वे पुनः इस संसार में आ गिरते हैं। जब तक कोई शुद्ध भक्ति में स्थित न हो तब तक मोक्ष की कोई गारंटी नहीं रहती, भले ही उसे स्वर्गलोक या निर्गुण ब्रह्मज्योति ही क्यों न प्राप्त हो। किन्तु भक्त की उपलब्धि काल के प्रभाव से नष्ट नहीं होती। यदि भक्त ठीक से भक्ति नहीं भी कर पाता तो वह अगले जन्म में फिर वहीं से साधना प्रारम्भ करता है जहाँ से

छूट गई थी। किन्तु कर्मियों तथा ज्ञानियों को ऐसी सुविधा प्राप्त नहीं है, क्योंकि उनकी उपलब्धियाँ विनष्ट हो जाती हैं। भक्त की उपलब्धि कभी नष्ट नहीं होती, वह निरन्तर बनी रहती है, चाहे पूरी हो या अधूरी। यही वैदिक शास्त्रों का मत है। *शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।* यदि मनुष्य भक्तियोग को पूरा नहीं कर पाता तो उसे अगले जीवन में शुद्ध भक्त के परिवार में या धनी परिवार में जन्म लेकर उसे पूरा करने का अवसर प्रदान किया जाता है। ऐसे परिवारों में उसे भक्ति में और आगे प्रगति करने का अच्छा अवसर मिल पाता है।

मृत्यु का अधीक्षक यमराज जब अपने गणों को आदेश दे रहा था, तो उसने उन्हें भक्तों के पास न जाने को कह दिया। उसका कहना था, ''भक्तों का सम्मान करो, किन्तु उनके निकट मत जाओ।'' इस प्रकार भगवद्भक्त यमराज के अधिकार क्षेत्र में नहीं आते। यमराज भगवान् का प्रतिनिधि है और वह प्रत्येक जीव की मृत्यु को नियंत्रित करता है, तो भी उसे भक्तों से कुछ लेना-देना नहीं होता। वह काल जो पलक मारने की अवधि में समग्र दृश्य जगत का संहार कर सकता है, किन्तु उसे भक्तों से कोई सरोकार नहीं रहता। दूसरे शब्दों में, भक्त अपने जीवन-काल में जितनी भक्ति करता है, वह काल द्वारा नष्ट नहीं हो सकता। काल के प्रभाव से परे होने के कारण यह आध्यात्मिक सम्पत्ति सनातन बनी रहती है।

क्षणार्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥५७॥

शब्दार्थ

क्षण-अर्धेन—आधा क्षण; अपि—भी; तुलये—तुलना कर सकता; न—कभी नहीं; स्वर्गम्—स्वर्गलोक; न—न तो; अपुनः-भवम्—ब्रह्म से तादात्म्य; भगवत्—भगवान् के; सङ्गि—संगी; सङ्गस्य—संग का लाभ उठाने वाला; मर्त्यानाम्—बद्धजीव का; किम् उत—वहाँ क्या है; आशिषः—आशीर्वाद।

संयोग से भी यदि कोई क्षण भर के लिए भक्त की संगति पा जाता है, तो उसे कर्म और ज्ञान के फलों का तनिक भी आकर्षण नहीं रह जाता। तब उन देवताओं के वरदानों में उसके लिए रखा ही क्या है, जो जीवन और मृत्यु के नियमों के अधीन हैं?

तात्पर्य : यहाँ कर्मियों, ज्ञानियों तथा भक्तों में से भक्त को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती का गीत है—*कैवल्यं नरकायते त्रिदशपूराकाशपुष्पायते* (चैतन्य-चन्द्रामृत)। *कैवल्य* का अर्थ है भगवान् के तेज में लीन होना तथा *त्रिदशपूर देवताओं* के निवासस्थान स्वर्गलोक

का द्योतक है। इस प्रकार भक्त के लिए *कैवल्य-सुख* नरक के समान है, क्योंकि भक्त अपने व्यक्तित्व को खोकर ब्रह्मतेज में मिलने को आत्मघात मानता है। भक्त सदैव अपने व्यक्तित्व को बनाये रखना चाहता है, जिससे वह भगवान् की सेवा कर सके। दरअसल, वह स्वर्ग जाने को मायाजाल के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानता। भक्त के लिए क्षणिक सुख कोई अर्थ नहीं रखता। वह इतने उच्च पद पर रहता है कि उसे कर्म या ज्ञान के कर्मों में कोई रुचि नहीं रहती। आध्यात्मिक पद पर स्थित भक्त के लिए कर्म या ज्ञान के फल भी तुच्छ हैं। भक्तियोग ही भक्त को सारा सुख प्रदान करने के लिए पर्याप्त है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.२.६) में कहा गया है—*ययात्मा सुप्रसीदति।* मनुष्य केवल भक्ति से पूर्ण रूप से सन्तुष्ट रह सकता है और यह भक्त की संगति से सम्भव है। शुद्ध भक्त से आशीर्वाद पाये बिना कोई न तो पूर्ण तुष्ट हो सकता है, न भगवान् की दिव्य स्थिति को ही समझ सकता है।

अथानघाङ्घ्रेस्तव कीर्तितीर्थयो-
रन्तर्बहिःस्नानविधूतपाप्मनाम् ।
भूतेष्वनुक्रोशसुसत्त्वशीलिनां
स्यात्सङ्गमोऽनुग्रह एष नस्तव ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; अनघ-अङ्घ्रेः—भगवान् के, जिनके चरण समस्त पापों को नष्ट करने वाले हैं; तव—तुम्हारी (आपकी); कीर्ति—कीर्ति महिमा; तीर्थयोः—पवित्र गंगा जल; अन्तः—भीतर; बहिः—बाहर; स्नान—स्नान करना; विधूत—धोया हुआ; पाप्मनाम्—मन की दूषित अवस्था; भूतेषु—सामान्य जीवों को; अनुक्रोश—कृपा या वर; सु-सत्त्व—पूर्णतया सतोगुण में; शीलिनाम्—ऐसे गुणों वालों का; स्यात्—हो; सङ्गमः—साथ, समागम; अनुग्रहः—कृपा; एषः—यह; नः—हमको; तव—तुम्हारी (आपकी)।

हे भगवन्, आपके चरणकमल समस्त कल्याण के कारण हैं और समस्त पापों के कल्मष को विनष्ट करने वाले हैं। अतः मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप मुझे अपने भक्तों की संगति का आशीर्वाद दें, क्योंकि आपके चरणकमलों की पूजा करने से वे पूर्णतया शुद्ध हो चुके हैं और बद्धजीवों पर अत्यन्त कृपालु हैं। मेरी समझ में तो आपका असली आशीर्वाद यही होगा कि आप मुझे ऐसे भक्तों की संगति करने की अनुमति दें।

तात्पर्य : गंगा-जल सभी प्रकार के पापों के फलों का निवारण करने वाला माना जाता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति गंगा में स्नान करता है, तो उसके जीवन-भर के कल्मष धुल जाते हैं। गंगाजल की ऐसी महिमा का कारण यह है कि गंगाजी भगवान् के चरणकमलों से निकलती हैं। इसी प्रकार जो

प्रत्यक्ष भगवान् के चरणकमल के सम्पर्क में रहते हैं और जो उनके गुणों का गायन करते हैं, वे सारे भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाते हैं। ऐसे शुद्ध भक्त ही सामान्य बद्धजीवों पर अनुग्रह कर सकते हैं। श्रील वृन्दावन दास ठाकुर का गीत है कि भगवान् चैतन्य के भक्त इतने शक्तिशाली हैं कि उनमें से प्रत्येक भक्त एक ब्रह्माण्ड को बन्धन से मुक्ति दिला सकता है। दूसरे शब्दों में, भक्तों का कार्य है कि वे भगवान् की महिमा का उपेदश करें और सभी बद्धजीवों को शुद्ध सत्त्व पद तक पहुँचाएँ। यहाँ पर *सु-सत्त्व* शब्द का अर्थ शुद्ध सत्त्व है, जो भौतिक सत्त्व से आगे की दिव्य अवस्था है। शिवजी अपनी विशिष्ट स्तुति के द्वारा हमें यह शिक्षा देते हैं कि सर्वोत्तम मार्ग यही है कि भगवान् विष्णु तथा उनके वैष्णव भक्तों की शरण में जाया जाये।

न यस्य चित्तं बहिरर्थविभ्रमं
तमोगुहायां च विशुद्धमाविशत् ।
यद्भक्तियोगानुगृहीतमञ्जसा
मुनिर्विचष्टे ननु तत्र ते गतिम् ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; यस्य—जिसका; चित्तम्—हृदय; बहिः—बाहरी; अर्थ—रुचि; विभ्रमम्—मोहित; तमः—अंधकार; गुहायाम्—कूप (गुफा) में; च—भी; विशुद्धम्—शुद्ध; आविशत्—प्रवेश किया; यत्—जो; भक्ति-योग—भक्ति; अनुगृहीतम्—कृपा प्राप्त; अञ्जसा—प्रसन्नतापूर्वक; मुनिः—विचारवान; विचष्टे—देखता है; ननु—फिर भी; तत्र—वहाँ; ते—तुम्हारे; गतिम्—कार्यकलाप।

जिसका हृदय भक्तियोग से पूर्ण रूप से पवित्र हो चुका हो तथा जिस पर भक्ति देवी की कृपा हो, ऐसा भक्त कभी भी अंधकूप सदृश माया द्वारा मोहग्रस्त नहीं होता। इस प्रकार समस्त भौतिक कल्मष से रहित होकर ऐसा भक्त आपके नाम, यश, स्वरूप, कार्य इत्यादि को अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक समझ सकता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* (३.२५.२५) में कहा गया है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।

तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥

शुद्ध भक्तों की संगति-मात्र से भगवान् के दिव्य नाम, यश, गुण तथा कार्य समझ में आ जाते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने बारम्बार कहा है—

'साधु-संग' 'साधु-संग'—सर्व शास्त्रे कय।

लव-मात्र साधु-संगे सर्व-सिद्धि हय॥

(*चैतन्य-चरितामृत मध्य* २२.५४)

केवल शुद्ध भक्त की संगति करने से ही मनुष्य कृष्णचेतना में आश्चर्यजनक रूप से अग्रसर होता है। *साधु-संग* का अर्थ है हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करते हुए कृष्णचेतना (भक्ति) में लगे रहना और कृष्ण के लिए ही कार्य करना। हरे कृष्ण मंत्र के कीर्तन से मनुष्य शुद्ध हो जाता है, इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने इस कीर्तन पर बल दिया है। *चेतो-दर्पण-मार्जनम्*—श्रीकृष्ण के नाम-जप से हृदय रूपी दर्पण स्वच्छ हो जाता है और भक्त को बाह्य बातों में अरुचि होने लगती है। जब मनुष्य भगवान् की माया के वश में रहता है, तो हृदय अशुद्ध रहता है; और जब हृदय शुद्ध नहीं रहता तो उसे यह नहीं दिखता कि वस्तुएँ भगवान् से किस प्रकार सम्बन्धित हैं। *इदं हि विश्वं भगवानिवेतर:* (*भागवत* १.५.२०)। जिसका हृदय शुद्ध है उसके लिए यह सारा दृश्य जगत भगवान् के अतिरिक्त कुछ नहीं है, किन्तु जिसका हृदय दूषित होता है उसे वस्तुएँ दूसरी तरह से दिखती हैं। अत: सत्संग से ही मनुष्य का हृदय पूरी तरह से शुद्ध हो सकता है।

जिसका हृदय शुद्ध होता है, वह कभी भी माया द्वारा आकृष्ट नहीं होता, क्योंकि माया प्रत्येक जीव को प्रकृति पर अधिकार जताने के लिए आकर्षित करती है। जब भक्त श्रवण, कीर्तन, स्मरण इत्यादि के द्वारा भक्ति करता रहता है, तो उसका शुद्ध हृदय विचलित नहीं होता। भक्ति करने की कुल नौ विधियाँ हैं। शुद्ध मानस वाला भक्त कभी भी विचलित नहीं होता। भक्तियोग में महामंत्र का जप करते हुए दस अपराधों से तथा श्रीविग्रह की पूजा करते हुए चौंसठ अपराधों से बचना चाहिए। जब भक्त इन समस्त विधि-विधानों का पालन करता है, तो भक्तिदेवी उस पर परम प्रसन्न होती हैं और तब वह किसी बाहरी वस्तु से विचलित नहीं होता। भक्त को मुनि भी कहते हैं। मुनि का अर्थ है "विचारवान।" भक्त उतना ही विचारवान होता है जितना कि एक अभक्त कल्पनाशील। अभक्त की कल्पना अशुद्ध रहती है, किन्तु भक्त के विचार शुद्ध होते हैं। कपिल तथा शुकदेव गोस्वामी भी मुनि कहलाते हैं, किन्तु व्यासदेव को महामुनि कहा जाता है। भक्त को तभी मुनि कहते हैं जब वह भगवान् को शुद्धतापूर्वक समझ सके। निष्कर्ष यह निकला कि जब मनुष्य का हृदय भक्तों के सत्संग से तथा भगवान् के कीर्तन तथा पूजा करते समय अपराधों से बचने से शुद्ध हो जाता है, तो भगवान् अपना दिव्य नाम, रूप तथा कार्यकलाप

प्रकट करते हैं।

यत्रेदं व्यज्यते विश्वं विश्वस्मिन्नवभाति यत् ।
तत्त्वं ब्रह्म परं ज्योतिराकाशमिव विस्तृतम् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; इदम्—यह; व्यज्यते—प्रकट है; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; विश्वस्मिन्—दृश्य जगत में; अवभाति—प्रकट होता है; यत्—जो; तत्—वह; त्वम्—तुम (आप); ब्रह्म—निर्गुण ब्रह्म; परम्—दिव्य; ज्योतिः—तेज; आकाशम्—अकाश; इव—सदृश; विस्तृतम्—फैला हुआ।

हे भगवन्, निर्गुण ब्रह्म सूर्य के प्रकाश अथवा आकाश की भाँति सर्वत्र फैला हुआ है। और जो सारे ब्रह्माण्ड भर में फैला है तथा जिसमें सारा ब्रह्माण्ड दिखाई देता है, वह निर्गुण ब्रह्म आप ही हैं।

तात्पर्य : वैदिक शास्त्रों का कथन है कि प्रत्येक वस्तु ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। सारा दृश्य जगत ब्रह्मज्योति पर आश्रित है। किन्तु निर्विशेषवादी यह नहीं समझ पाते कि इतना विशाल दृश्य जगत एक व्यक्ति पर किस प्रकार से टिका है। इस प्रकार भगवान् की यह अकल्पनीय शक्ति उनकी समझ में नहीं आती; इसीलिए वे चकित रहते हैं और परमेश्वर को व्यक्ति रूप में सदा ही अस्वीकार करते रहते हैं। इस भ्रम को शिवजी स्वयं यह कर दूर करते हैं कि सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त निर्गुण ब्रह्म भगवान् के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् अपने ब्रह्म स्वरूप के कारण धूप के समान सर्वव्यापी हैं। यह उदाहरण समझ पाना अत्यन्त सरल है। सारे लोक सूर्य के प्रकाश (धूप) पर टिके हैं, तो भी धूप तथा धूप का स्रोत (सूर्य) इन लोकों से पृथक् हैं। इसी प्रकार आकाश या वायु भी सर्वत्र फैले हैं। वायु घट के भीतर भी है और गन्दे तथा पवित्र स्थानों का भी एक जैसा स्पर्श करती है। किन्तु प्रत्येक दशा में आकाश अदूषित रहता है। इसी प्रकार धूप भी अपवित्र तथा पवित्र स्थानों का स्पर्श करती है और यद्यपि ये दोनों सूर्य द्वारा ही उत्पन्न हैं, किन्तु प्रत्येक दशा में सूर्य समस्त गन्दी वस्तुओं से पृथक् रहता है। इसी प्रकार भगवान् सर्वत्र स्थित हैं। इस जगत में पवित्र तथा अपवित्र दोनों प्रकार की वस्तुएँ हैं, किन्तु शास्त्रों के अनुसार पवित्र वस्तुएँ भगवान् के सामने का भाग तथा अपवित्र वस्तुएँ भगवान् का पिछला भाग बताई गई हैं। *भगवद्गीता* (९.४) में भगवान् स्पष्ट कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

''मेरे अव्यक्त रूप द्वारा यह सारा ब्रह्माण्ड व्याप्त है। सारे जीव मुझमें स्थित हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।''

भगवद्गीता का यह श्लोक बताता है कि भगवान् अपने ब्रह्म स्वरूप के कारण सर्वत्र व्याप्त हैं। प्रत्येक वस्तु उन पर टिकी है, किन्तु वे उसमें नहीं रहते। इससे निष्कर्ष यह निकला कि बिना भक्तियोग के निर्विशेषवादी भी ब्रह्मतत्त्व को नहीं समझ सकते। वेदान्त सूत्र का कथन है—*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।* इसका अर्थ है कि हमें ब्रह्म, परमात्मा या परब्रह्म को समझना चाहिए। *श्रीमद्भागवत* में भी परम सत्य को अद्वितीय बताया गया है, किन्तु उनका बोध तीन रूपों में किया जाता है—निर्गुण ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा भगवान्। भगवान् ही अन्तिम सत्य हैं और इस श्लोक में शिवजी पुष्टि करते हैं कि परम सत्य व्यक्ति हैं। वे स्पष्ट कहते हैं—*तत्त्वं ब्रह्म परं ज्योतिराकाशमिव विस्तृतम्।* यहाँ एक सामान्य उदाहरण दिया जा रहा है—एक सफल व्यापारी के कई फैक्टरियाँ तथा आफिस हैं और उसके आदेश से सारे कार्य चलते हैं। यदि कोई यह कहे कि सारा व्यापार अमुक व्यक्ति पर निर्भर है, तो उसके कहने का प्रयोजन यह नहीं है कि सारी फैक्टरियाँ तथा आफिस उस व्यक्ति के सर पर टिके हैं। अपितु इसका अर्थ यह है कि वह अपने मस्तिष्क से या अपनी शक्ति के विस्तार द्वारा अबाध रूप से अपना व्यापार चला रहा है। इसी प्रकार भगवान् की बुद्धि तथा शक्ति से भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत का कार्य चल रहा है। यहाँ पर अद्वैतवाद का जो सिद्धान्त बताया गया है, वह इस तथ्य से मेल खाता है कि समस्त शक्ति के परम स्रोत भगवान् कृष्ण हैं। इसका स्पष्ट वर्णन हुआ है। यह भी बताया गया है कि श्रीकृष्ण के निर्गुण स्वरूप को कैसे जाना जा सकता है—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।

प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥

''हे कुन्तीपुत्र! मैं जल का स्वाद हूँ, सूर्य तथा चन्द्रमा का प्रकाश हूँ; वैदिक मंत्रों में ॐ अक्षर हूँ, मैं आकाश में शब्द और मनुष्य में पौरुष हूँ।'' (*भगवद्गीता* ७.८)

इस प्रकार कृष्ण को प्रत्येक वस्तु की योग शक्ति माना जा सकता है।

यो माययेदं पुरुरूपयासृजद्

बिभर्ति भूयः क्षपयत्यविक्रियः ।
यद्भेदबुद्धिः सदिवात्मदुःस्थया
त्वमात्मतन्त्रं भगवन्प्रतीमहि ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; मायया—माया से; इदम्—यह; पुरु—अनेक; रूपया—रूपों के द्वारा; असृजत्—उत्पन्न किया; बिभर्ति—पालन करता है; भूयः—पुनः; क्षपयति—संहार करता है; अविक्रियः—बिना किसी परिवर्तन के; यत्—जो; भेद-बुद्धिः—अन्तर करने की बुद्धि; सत्—शाश्वत; इव—सदृश; आत्म-दुःस्थया—अपने आपको कष्ट देते हुए; त्वम्—तुमको; आत्म-तन्त्रम्—पूर्णतया स्वतंत्र; भगवन्—हे भगवन्; प्रतीमहि—मैं समझता हूँ।

हे भगवन्, आपकी शक्तियाँ अनेक हैं और वे नाना रूपों में प्रकट होती हैं। आपने ऐसी ही शक्तियों से इस दृश्य जगत की उत्पत्ति की है और यद्यपि आप इसका पालन इस प्रकार करते हैं मानो यह चिरस्थायी हो, किन्तु अन्त में आप इसका संहार कर देते हैं। यद्यपि आप कभी-भी ऐसे परिवर्तनों द्वारा विचलित नहीं होते, किन्तु जीवात्माएँ इनसे विचलित होती रहती हैं, इसलिए वे इस दृश्य जगत को आपसे भिन्न अथवा पृथक् मानती हैं। हे भगवन्, आप सर्वदा स्वतंत्र हैं और मैं तो इसे प्रत्यक्ष देख रहा हूँ।

तात्पर्य : यहाँ स्पष्ट बताया गया है कि श्रीकृष्ण की अनेक शक्तियाँ हैं, जिन्हें तीन वर्गों में रखा जा सकता है—बहिरंगा शक्ति, अन्तरंगा शक्ति तथा तटस्था शक्ति। दृश्य जगत भी भिन्न-भिन्न हैं—यथा आध्यात्मिक जगत (वैकुण्ठ) तथा भौतिक जगत। इसी प्रकार जीवात्माएँ भी भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं—कुछ बद्ध हैं और कुछ नित्य मुक्त। नित्यमुक्त जीवात्माएँ कभी-भी माया के सम्पर्क में नहीं आतीं। किन्तु इस जगत में कुछ जीवात्माएँ बद्ध होती हैं और वे अपने को परमेश्वर से विलग मानती हैं। माया के सम्पर्क में रहने से इनका अस्तित्व सदा संकट में रहता है। सदैव संकट में रहने के कारण बद्धजीव माया को अत्यन्त कष्टप्रद समझता है। एक वैष्णव कवि ने इस तथ्य को इस प्रकार व्यक्त किया है—

कृष्ण भुलि सेइ जीव अनादि-बहिर्मुख।

अतएव माया तारे देय संसार-दुःख॥

जब जीवात्मा परमात्मा को भूल जाता है और परमात्मा की नकल करते हुए स्वतंत्र रूप से भोग करना चाहता है, तो वह अपने को मिथ्या ही भोक्ता मान बैठता है और परमात्मा से विलग हो जाता है। अतः माया पराशक्ति जीवात्मा के लिए अत्यन्त कष्टप्रद है, किन्तु परमात्मा के लिए रंचमात्र भी नहीं। परमात्मा के लिए माया तथा पराशक्ति एकसमान हैं। इस श्लोक में शिवजी बताते हैं कि माया

कभी भी भगवान् के लिए कष्टप्रद नहीं होती। वे परम स्वतंत्र हैं, किन्तु जीवात्मा के स्वतंत्र न होने से माया कष्टप्रद है। फलत: अपरा शक्ति भेद उत्पन्न करती है।

किन्तु मायावादी विचारक इसे नहीं समझ सकते, इसलिए वे माया से मुक्ति चाहते हैं। किन्तु वैष्णव चिन्तक भगवान् को भलीभाँति समझता है, अत: माया में उसे किसी प्रकार का उपद्रव नहीं दिखता। इसका कारण यही है कि वह भगवान् की सेवा में माया का उपयोग करना जानता है। अपराध विभाग तथा प्रशासन विभाग भले ही नागरिकों की दृष्टि में पृथक्-पृथक् प्रतीत हों, किन्तु सरकार के लिए तो ये दोनों विभाग एक जैसे हैं। अपराध विभाग अपराधियों के लिए कष्टप्रद है, किन्तु आज्ञाकारी नागरिकों के लिए नहीं। इसी प्रकार यह माया भले ही बद्धजीव के लिए कष्टप्रद हो, किन्तु भगवान् की सेवा में लगे हुए मुक्तजीवों से इसका कोई प्रयोजन नहीं रहता। *पुरुष अवतार* महाविष्णु के माध्यम से भगवान् ने इस समग्र दृश्य जगत की उत्पत्ति की। केवल श्वास से ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति करके वे भगवान् विष्णु के रूप में दृश्य जगत का पालन करते हैं। तब संकर्षण रूप में वे उसका संहार करते हैं। सृष्टि, पालन तथा संहार के बावजूद भगवान् अप्रभावित (निर्लिप्त) बने रहते हैं। भगवान् के ये कार्यकलाप तुच्छ जीवों के लिए भले ही उद्विग्न करने वाले हों, किन्तु अत्यन्त महान् होने के कारण भगवान् पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। भेद-बुद्धि द्वारा दृष्टिहीन हुए बिना शिवजी या कोई भी शुद्ध भक्त इसे स्पष्ट देख सकता है। भक्त के लिए भगवान् परमात्मा हैं और चूँकि वे परम शक्तिमान हैं, अत: उनकी शक्तियाँ भी दिव्य होती हैं। भक्त के लिए कुछ भी भौतिक नहीं होता, क्योंकि भौतिक जगत का अर्थ है भगवान् को विस्मृत करना।

क्रियाकलापैरिदमेव योगिन:
श्रद्धान्विता: साधु यजन्ति सिद्धये ।
भूतेन्द्रियान्त:करणोपलक्षितं
वेदे च तन्त्रे च त एव कोविदा: ॥ ६२॥

शब्दार्थ

क्रिया—कार्य; कलापै:—विधियों से; इदम्—यह; एव—निश्चय ही; योगिन:—योगीजन; श्रद्धा-अन्विता:—श्रद्धा तथा दृढ़ निश्चय से; साधु—उचित रीति से; यजन्ति—पूजा करते हैं; सिद्धये—सिद्धि के लिए; भूत—भौतिक शक्ति; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; अन्त:-करण—हृदय; उपलक्षितम्—के द्वारा लक्षित; वेदे—वेदों में; च—भी; तन्त्रे—शास्त्रों में; च—भी; ते—आप; एव—निश्चय ही; कोविदा:—पटु, मर्मज्ञ।

हे भगवन्, आपका विराट रूप, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, अहंकार (जो भौतिक हैं) तथा

आपके अंश रूप सर्व नियामक परमात्मा इन सभी पाँच तत्त्वों से बना है। भक्तों के अतिरिक्त अन्य योगी—यथा कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगी—अपने-अपने पदों में अपने-अपने कार्यों द्वारा आपकी पूजा करते हैं। वेदों में तथा शास्त्रों में जो वेदों के निष्कर्ष हैं, कहा गया है कि केवल आप ही पूज्य हैं। सभी वेदों का यही अभिमत है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में शिवजी भगवान् के उस रूप का दर्शन करना चाहते थे जिसमें भक्तों की रुचि सदा रहती है। भौतिक जगत में भगवान् के अन्य रूप भी प्रकट होते हैं जिसमें ब्रह्मा तथा अन्य देवता सम्मिलित हैं और भौतिकतावादी लोग इन्हीं की पूजा करते हैं। *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कंध के तृतीय अध्याय (श्लोक १०) में कहा गया है कि जो लोग भौतिक लाभ चाहते हैं उन्हें विभिन्न देवताओं की पूजा करनी चाहिए। निष्कर्ष रूप में भागवत् की संस्तुति है :-

अकाम: सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी: ।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

भक्त, ज्ञानी (मोक्षकाम) तथा कर्मी (सर्वकाम) सभी भगवान् विष्णु की पूजा करना चाहते हैं। यज्ञ करते समय, जैसाकि यहाँ कहा गया है (*यज्ञकामै:*), मनुष्य को स्मरण रखना चाहिए कि देवता परमेश्वर के दूत हैं। वास्तव में पूजनीय तो यज्ञेश्वर विष्णु हैं। इस प्रकार भले ही वैदिक तथा तांत्रिक यज्ञों में विभिन्न देवों की पूजा की जाती हो, यज्ञ के वास्तविक लक्ष्य तो भगवान् विष्णु हैं। अत: *भगवद्गीता* (९.२३) में उल्लेख है—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता: ।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

"हे कुन्तीपुत्र! मनुष्य जो कुछ भी अन्य देवों को अर्पित करे, वह वास्तव में मेरे लिए ही होता है, किन्तु वह बिना वास्तविक ज्ञान के अर्पित किया गया होता है।"

इस प्रकार विभिन्न देवताओं के उपासक भी भगवान् की ही पूजा करते हैं, किन्तु वे नियामक सिद्धान्तों के विपरीत ऐसा करते हैं। अनुष्ठानों का प्रयोजन भगवान् विष्णु को तुष्ट करना है। *विष्णुपुराण* (३.८.९) में इसी बात की पुष्टि की गई है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण पर: पुमान् ।

विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम्॥

यहाँ पर यह स्पष्ट उल्लेख है कि कर्मी, ज्ञानी या योगी—वस्तुत: हर कोई-यदि वह वेदों तथा तंत्रों का वास्तव में मर्मज्ञ होता है, तो वह भगवान् विष्णु को ही पूजता है। *कोविदा:* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह भगवान् के भक्तों का सूचक है। केवल भक्त ही इस तथ्य को भली-भाँति जानते हैं कि भगवान् विष्णु सर्वव्यापी हैं। भौतिक शक्ति (माया) के अन्तर्गत वे पाँच तत्त्वों तथा मन, बुद्धि एवं मिथ्या अहंकार द्वारा व्यक्त हैं। उन्हें एक अन्य शक्ति—जीव—के द्वारा भी प्रदर्शित किया जाता है और भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत में जितने भी प्राकट्य हैं, वे सब मिलकर भगवान् की विभिन्न शक्तियों को ही प्रदर्शित करते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् एक हैं और उनका विस्तार हर वस्तु में होता है। इसे वैदिक सूक्ति—*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—से समझा जा सकता है। जो इसे जानता है, वह भगवान् विष्णु की आराधना में ही अपनी समस्त शक्ति को केन्द्रित करता है।

त्वमेक आद्य: पुरुष: सुप्तशक्ति-
स्तया रज:सत्त्वतमो विभिद्यते ।
महानहं खं मरुदग्निवार्धरा:
सुरर्षयो भूतगणा इदं यत: ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; एक:—अकेले; आद्य:—आदि; पुरुष:—पुरुष; सुप्त—सोई हुई; शक्ति:—शक्ति; तया—उससे; रज:—रजोगुण; सत्त्व—सतोगुण; तम:—अज्ञान, तमोगुण; विभिद्यते—अनेक भेद हो जाते हैं; महान्—समष्टि शक्ति; अहम्—अहंकार; खम्—आकाश; मरुत्—वायु; अग्नि—अग्नि; वा:—जल; धरा:—पृथ्वी; सुर-ऋषय:—देवता तथा ऋषिगण; भूत-गणा:—जीव; इदम्—यह सब; यत:—जिससे।

हे भगवन्, आप समस्त कारणों के कारण एकमात्र परम पुरुष हैं। इस भौतिक जगत की सृष्टि के पूर्व आपकी भौतिक शक्ति सुप्त रहती है, किन्तु जब आपकी शक्ति गतिमान होती है, तो आपके तीनों गुण—सत्त्व, रज तथा तमो गुण—क्रिया करते हैं। फलस्वरूप समष्टि भौतिक शक्ति अर्थात् अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी तथा विभिन्न देवता एवं ऋषिगण प्रकट होते हैं। इस प्रकार भौतिक जगत की उत्पत्ति होती है।

तात्पर्य : यदि सारी सृष्टि एक है अर्थात् परमेश्वर या विष्णु के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, तो फिर मर्मज्ञ अध्यात्मवादी क्योंकर इस श्लोक में दी गई कोटियों का उल्लेख करते हैं? विद्वान् तथा विशेषज्ञ क्योंकर पदार्थ तथा आत्मा में भेद मानते हैं? इन प्रश्नों के उत्तरस्वरूप शिवजी कहते हैं कि आत्मा तथा

पदार्थ विचारकों द्वारा निर्मित नहीं हैं, अपितु भगवान् विष्णु द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं, जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है—*त्वमेक आद्यः पुरुषः।* यद्यपि भौतिक तथा आध्यात्मिक कोटियाँ भगवान् द्वारा ही बनाई गई हैं, किन्तु भगवान् की सेवा में निरत जीवों के लिए ऐसा कोई विभेद नहीं होता। जो लोग भगवान् की नकल करके भोक्ता बनना चाहते हैं उनके लिए भौतिक जगत ही सब कुछ है। दरअसल यह भौतिक जगत सभी के सृष्टा आदि भगवान् की विस्मृति ही है। पदार्थ तथा आत्मा का अन्तर भगवान् की सुप्त शक्ति का फल है, क्योंकि भगवान् उन जीवों को कुछ सुविधा प्रदान करना चाहते हैं, जो भगवान् के भोगों का अनुकरण करना चाहते हैं। केवल ऐसे जीवों के लिए ही भगवान् की सुप्त शक्ति से इस भौतिक जगत की उत्पत्ति हुई है। उदाहरणार्थ, कभी-कभी बच्चे अपनी माता के अनुकरण पर रसोईघर में भोजन पकाना चाहते हैं। ऐसे अवसर पर माता कुछ खिलौने लाकर रख देती है, जिससे बच्चे भोजन पकाने में लग जाँय और उसका अनुकरण कर सकें। इसी प्रकार जब कुछ जीव भगवान् के कार्यों का अनुकरण करना चाहते हैं, तो उनके लिए भगवान् इस दृश्य जगत की उत्पत्ति करता है। इस प्रकार भौतिक सृष्टि भगवान् की भौतिक शक्ति (माया) द्वारा उत्पन्न होती है। भगवान् के दृष्टिपात करने से ही माया गतिशील होती है। उस समय प्रकृति के तीनों गुण गतिशील हो जाते हैं और सर्वप्रथम भौतिक शक्ति का प्राकट्य *महत् तत्त्व* के रूप में, फिर क्रमशः अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी के रूप में होता है। सृष्टि के पश्चात् जीव दृश्य जगत में घुल-मिल जाते हैं और वे ब्रह्मा तथा सप्त ऋषियों के रूप में बाहर निकलते हैं, फिर विभिन्न देवता प्रकट होते हैं। देवताओं से मनुष्य, पशु, वृक्ष, पक्षी तथा अन्य सभी पदार्थ निकलते हैं। किन्तु आदि कारण तो भगवान् हैं जिसकी पुष्टि यहाँ पर—*त्वमेक आद्यः पुरुषः* द्वारा—हुई है। *ब्रह्म-संहिता* (५.१) में भी इसकी पुष्टि मिलती है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।

अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

जो लोग भौतिक शक्ति अर्थात् माया के वश में हैं, वे यह नहीं समझ सकते कि प्रत्येक वस्तु का उद्भव भगवान् कृष्ण से हुआ है। इसका सारांश वेदान्त की इस उक्ति *जन्माद्यस्य यतः* (*वेदान्त सूत्र* १.१.२)—में मिलता है। *भगवद्गीता* (१०.८) में कृष्ण ने भी इसी की पुष्टि की है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

"मैं समस्त आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों का उद्‌गम हूँ। प्रत्येक वस्तु मुझी से उद्‌भूत है। बुद्धिमान लोग इसे भली भाँति जानते हुए मेरी सेवा में रत होते हैं और अपने अन्तःकरण से मेरी पूजा करते हैं।"

जब श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे प्रत्येक वस्तु के उद्‌गम हैं (*अहं सर्वस्य प्रभवो*), तो उनका अभीष्ट यही रहता है कि वे ब्रह्मा, शिव, पुरुष अवतारों, भौतिक जगत तथा इस जगत के समस्त जीवों के भी उद्‌गम हैं। वस्तुतः *प्रभव* (सृष्टि) शब्द इस भौतिक जगत के लिए ही प्रयुक्त है, क्योंकि आध्यात्मिक जगत तो शाश्वत है, उसकी उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। चतुःश्लोकी *श्रीमद्‌भागवत* में कृष्ण कहते हैं—*अहमेवासमेवाग्रे*—"मैं सृष्टि के पूर्व विद्यमान था" (भागवत २.९.३३)। वेदों में भी कहा गया है—*एको नारायणःआसीत्*—"सृष्टि के पूर्व केवल नारायण थे।" शंकराचार्य ने भी इसी की पुष्टि की है। *नारायणः परोऽव्यक्तात्*—"नारायण इस सृष्टि से परे हैं" (*गीताभाष्य*)। चूँकि नारायण के सारे कार्य आध्यात्मिक हैं, अतः जब उन्होंने कहा, "सृष्टि हो" तो वह सृष्टि आध्यात्मिक थी। "भौतिक" शब्द तो उनके मनों में विद्यमान हैं, जो यह भूल गये हैं कि नारायण ही आदि कारण हैं।

सृष्टं स्वशक्त्येदमनुप्रविष्ट-
श्चतुर्विधं पुरमात्मांशकेन ।
अथो विदुस्तं पुरुषं सन्तमन्तर्
भुङ्क्ते हृषीकैर्मधु सारघं यः ॥६४॥

शब्दार्थ

सृष्टम्—सृष्टि में; स्व-शक्त्या—अपनी ही शक्ति से; इदम्—इस दृश्य जगत में; अनुप्रविष्टः—प्रवेश करते हुए; चतुः-विधम्—चार प्रकार के; पुरम्—शरीर; आत्म-अंशकेन—अपने ही अंश रूप; अथो—अतः; विदुः—जानो; तम्—उस; पुरुषम्—भोक्ता को; सन्तम्—स्थित; अन्तः—भीतर; भुङ्क्ते—भोग करता है; हृषीकैः—इन्द्रियों द्वारा; मधु—मिठास; सार-घम्—मधु, शहद; यः—जो।

हे भगवन्, आप अपनी शक्तियों के द्वारा सृष्टि कर लेने के बाद, सृष्टि में चार रूपों में प्रवेश करते हैं। आप जीवों के अन्तःकरण में स्थित होने के कारण उन्हें जानते हैं और यह भी जानते हैं कि वे किस प्रकार इन्द्रिय-भोग कर रहे हैं। इस भौतिक जगत का तथाकथित सुख ठीक वैसा ही है जैसा कि शहद के छत्ते में मधु एकत्र होने के बाद मधुमक्खी द्वारा उसका आस्वाद।

तात्पर्य : यह दृश्य जगत भगवान् की बहिरंगा शक्ति का प्रदर्शन है और चूँकि निर्जीव पदार्थ स्वत: गतिमान नहीं हो सकता, इसलिए भगवान् स्वयं इस भौतिक सृष्टि में अपने अंश रूप में (परमात्मा) प्रवेश करते हैं। वे अपने पृथक्-पृथक् अंशों (जीवों) के रूप में भी प्रविष्ट होते हैं। दूसरे शब्दों में, जीव तथा भगवान् दोनों ही भौतिक सृष्टि को गतिशील करने के लिए इसमें प्रवेश करते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.५) में कहा गया है—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

''हे महाबाहु अर्जुन! इस अपरा प्रकृति के अतिरिक्त मेरी एक परा प्रकृति भी है, जिसमें सभी जीव समाहित हैं, जो भौतिक प्रकृति से संघर्ष कर रहे हैं और ब्रह्माण्ड को बनाये रखते हैं।''

किन्तु भौतिक जगत स्वत: कार्य नहीं कर सकता, अत: जीव चार प्रकार के शरीरों में इस के भीतर प्रवेश करते हैं। इस श्लोक का *चतुर्विधम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। इस जगत में चार प्रकार के जीव उत्पन्न हैं—ये हैं *जरायुज* (गुण से उत्पन्न), *अण्डज* (अण्डे से उत्पन्न), *स्वेदज* (स्वेद से उत्पन्न) तथा *उद्भिज* (बीज से उत्पन्न)। ये जीव भले ही देखने मे कैसे ही लगें, ये सभी इन्द्रियभोग में लगे रहते हैं।

यहाँ पर भौतिकतावादी वैज्ञानिकों के इस विचार का निषेध हो जाता है कि मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य जीवों में आत्मा नहीं होती। चाहे वे भ्रूण, अंडे, पसीने या बीज से क्यों न उत्पन्न हों, जीवों की चौरासी लाख योनियाँ भगवान् के ही अंश हैं, अत: इनमें से प्रत्येक में अलग से एक दिव्य ज्योति की चिनगारी तथा आत्मा है। जीव की कोटि का ध्यान न करते हुए कि वह मनुष्य है, पशु है, वनस्पति है, कीटाणु अथवा जीवाणु है, भगवान् प्रत्येक जीव के अन्त:करण में स्थित रहते हैं। वे ही सभी जीवों को अपनी इच्छा पूरी करने के लिए निर्देश देते हैं क्योंकि सभी जीव इस संसार में इन्द्रिय भोग की इच्छा पूरी करने के लिए आते हैं। इस तरह परमात्मा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् प्रत्येक जीव की इच्छाओं से परिचित हैं। *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है—

सर्वस्व चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्त: स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

''मैं प्रत्येक जीव के अन्त:करण में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होते

हैं।''

समस्त जीवों के अन्त:करण में स्थित होने के कारण भगवान् उन्हें स्मृति (स्मरण शक्ति) प्रदान करते हैं जिससे वे वस्तुओं का भोग कर सकें। इस प्रकार जीव अपने-अपने मधुकोष (छत्ते) बनाकर उनका सुख लूटते हैं। मधुमक्खी का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि जब मधुमक्खियाँ अपने मधुकोष का भोग करना चाहती हैं, तो उन्हें अन्य मक्खियों के दंश सहने पड़ते हैं। इस प्रकार जब मधुमक्खियाँ मधु की मिठास का आनन्द लूटती होती हैं, तो उसी के साथ ही उन्हें कष्ट भी सहने होते हैं क्योंकि मक्खियां एक दूसरे को काटती है। दूसरे शब्दों में, जीवों को कष्ट तथा आनन्द उठाने होते हैं, किन्तु भगवान् उनके सुखभोग की सारी योजनाओं से परिचित होने के कारण पृथक् रहते हैं। उपनिषदों में एक वृक्ष पर बैठे दो पक्षियों का दृष्टान्त दिया गया है। एक पक्षी (जीव) वृक्ष के फल का भोग करता है और दूसरा पक्षी (परमात्मा) केवल उसे देखता रहता है। *भगवद्गीता* (१३.२३) में भगवान् को परमात्मा के रूप में *उपद्रष्टा* (साक्षी) तथा *अनुमन्ता* (अनुमति प्रदान करने वाला) कहा गया है।

इस प्रकार भगवान् जीवों के मात्र साक्षी बनकर उन्हें इन्द्रियभोग की अनुमति प्रदान करते हैं। परमात्मा ही बुद्धि के दाता हैं जिससे मधुमक्खियाँ छत्ता बनाती हैं, विभिन्न फूलों से मधु लाकर उसका संग्रह करती हैं और फिर उसका भोग करती हैं। यद्यपि परमात्मा जीवों से पृथक् रहता है, किन्तु उनके मनोभावों से परिचित होने के कारण उन्हें सुविधाएँ प्रदान करता है, जिससे वे अपने कर्मों के फल को भोग सकें। मानव-समाज मधुकोष के समान है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न स्रोतों से मधु अथवा धन एकत्र करने तथा समष्टि सुख के लिए बड़े-बड़े राज्य बनाने में व्यस्त रहता है। किन्तु राज्य बन जाने पर अन्य राष्ट्र अपना दंशन प्रारम्भ करते हैं। कभी-कभी वे जब परस्पर युद्ध छेड़ देते हैं, तो मनुष्यों के मधुकोष दुख के मूल बन जाते हैं। यद्यपि मनुष्य अपनी इन्द्रियों के मधु को भोगने के लिए अपने-अपने मधुकोश निर्मित करते हैं, किन्तु उसी के साथ वे अन्य व्यक्तियों अथवा राष्ट्रों के दंशन को भी सहते हैं। परमात्मा के रूप में भगवान् इन सारी गतिविधियों को देखते रहते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् तथा जीव दोनों ही इस भौतिक जगत में प्रवेश करते हैं। परमात्मा पूज्य है, क्योंकि उसने भौतिक जगत में जीवों के सुख की व्यवस्था की। किन्तु भौतिक जगत होने के कारण बिना मादकता

के कोई भी जीव किसी प्रकार का सुख भोग नहीं सकता। भौतिक सुख का अर्थ ही है मादकता, जबकि आध्यात्मिक भोग का अर्थ है, भगवान् के संरक्षण में विशुद्ध आनन्द।

स एष लोकानतिचण्डवेगो
विकर्षसि त्वं खलु कालयानः ।
भूतानि भूतैरनुमेयतत्त्वो
घनावलीर्वायुरिवाविषह्यः ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—यह; लोकान्—सारे लोकों को; अति—अत्यधिक; चण्ड-वेगः—प्रचण्ड वेग; विकर्षसि—नष्ट करता है; त्वम्—तुम; खलु—फिर भी; काल-यानः—समय आने पर; भूतानि—सभी जीव; भूतैः—अन्य जीवों से; अनुमेय-तत्त्वः—परम सत्य का अनुमान लगाया जा सकता है; घन-आवलीः—बादल; वायुः—वायु; इव—सदृश; अविषह्यः—असह्य।

हे भगवन्, आपकी परम सत्ता का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया जा सकता, किन्तु संसार की गतिविधियों को देखकर कि समय आने पर सब कुछ विनष्ट हो जाता है, इसका अनुमान लगाया जा सकता है। काल का वेग अत्यन्त प्रचण्ड है और प्रत्येक वस्तु किसी अन्य वस्तु के द्वारा विनष्ट होती जा रही है—जैसे एक पशु दूसरे पशु द्वारा निगल लिया जाता है। काल प्रत्येक वस्तु को उसी प्रकार तितर-बितर कर देता है, जिस प्रकार आकाश में बादलों को वायु छिन्न-भिन्न कर देती है।

तात्पर्य : प्रकृति के नियमानुसार विनाशलीला चलती रहती है। इस संसार के भीतर कुछ भी स्थायी नहीं है, यद्यपि विज्ञानी, विचारक, कर्मी तथा अन्य लोग वस्तुओं को स्थायी बनाने का प्रयास कर रहे हैं। एक सिरफिरे विज्ञानी ने हाल ही में घोषित किया है कि अन्ततः जीवन को विज्ञान के द्वारा स्थायी बना दिया जाएगा। कुछ तथाकथित विज्ञानी प्रयोगशाला में जीवों का निर्माण करने का भी प्रयास कर रहे हैं। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति येन-केन-प्रकारेण भगवान् के अस्तित्व एवं उसकी परम सत्ता को नकारने में व्यस्त है। फिर भी भगवान् इतने शक्तिमान हैं कि वे मृत्यु के रूप में प्रत्येक वस्तु को नष्ट कर देते हैं। जैसाकि श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (१०.३४) में कहते हैं—*मृत्युः सर्वहरश्चाहम्*—"मैं सबों को कालकवलित करने वाली मृत्यु हूँ।" भगवान् नास्तिकों के लिए मृत्यु-तुल्य हैं, क्योंकि भौतिक संसार में वे जो कुछ एकत्र करते हैं उसे भगवान् उठा लेता है। प्रह्लाद का पिता हिरण्यकशिपु भगवान् के अस्तित्व को नहीं मानता था और वह अपने पाँच वर्ष के पुत्र को ही मार डालना चाहता

था, क्योंकि उस बालक की भगवान् पर अटूट श्रद्धा थी। किन्तु समय आने पर भगवान् नृसिंहदेव के रूप में प्रकट हुए और पुत्र के समक्ष ही हिरण्यकशिपु का वध कर दिया। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.१३.४७) में कहा गया है वध का यह कार्य प्राकृतिक है। *जीवो जीवस्य जीवनम्*—"एक पशु दूसरे पशु का भोजन है।" मेंढक को साँप खाता है, साँप को नेवला और नेवले को कोई अन्य जीव खाता है। इस प्रकार भगवान् की इच्छानुसार विनाश का क्रम चलता रहता है। यद्यपि इसमें हमें प्रत्यक्ष रूप से भगवान् का कोई हाथ नहीं दिखता, किन्तु भगवान् की विनाशलीला से अनुभव होता है कि इसमें उनका हाथ है। हम यह देख सकते हैं कि वायु के द्वारा बादल तितर-बितर होते हैं, भले ही हम यह न देख पाएँ कि ऐसा किस प्रकार हो रहा है, क्योंकि वायु को देख पाना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार भले ही हम प्रत्यक्ष रूप से भगवान् को न देखें, किन्तु इतना तो हम देखते ही हैं कि किस प्रकार विनाशलीला उनके वश में है। भगवान् के नियंत्रण में विनाशलीला जोरों से चलती रहती है, किन्तु नास्तिक उसे देख नहीं पाते।

प्रमत्तमुच्चैरिति कृत्यचिन्तया
प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम् ।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे
क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

प्रमत्तम्—पागल पुरुष; उच्चैः—जोर से; इति—इस प्रकार; कृत्य—किये जाने वाले; चिन्तया—ऐसी इच्छा से; प्रवृद्ध—अत्यधिक अग्रसर; लोभम्—लालच; विषयेषु—भौतिक सुख में; लालसम्—ऐसा चाहते हुए; त्वम्—तुम; अप्रमत्तः—पूर्णतया समाधि में; सहसा—एकाएक; अभिपद्यसे—उन्हें पकड़ लेता है; क्षुत्—भूखा; लेलिहानः—लालची जीभ से; अहिः—साँप; इव—सदृश; आखुम्—चूहे को; अन्तकः—विनष्ट करने वाला, काल।

हे भगवन्, इस संसार के सारे प्राणी कुछ-न-कुछ योजना बनाने में पागल हैं तथा यह या वह करते रहने की इच्छा से काम में जुटे रहते हैं। अनियंत्रित लालच के कारण यह सब होता है। जीवात्मा में भौतिक सुख की लालसा सदैव बनी रहती है, किन्तु आप नित्य सतर्क रहते हैं और समय आने पर आप उस पर उसी प्रकार टूट पड़ते हैं जिस प्रकार सर्प चूहे पर झपटता है और आसानी से निगल जाता है।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति लोभी होता है और वह भौतिक सुख के लिए तरह-तरह की योजनाएँ बनाता है। भौतिक सुख की लालसा के कारण प्रत्येक जीवात्मा को प्रमत्त (पागल) कहा गया है।

भगवद्गीता (३.२७) में कहा गया है—

प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश: ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

''प्रकृति के तीन गुणों के वशीभूत होकर मोहग्रस्त आत्मा अपने को कर्मों का कर्ता मान बैठता है, जबकि वास्तव में वे प्रकृति द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं।''

हर कार्य प्रकृति के नियमों के अनुसार सम्पन्न होता है और ये नियम श्रीभगवान् के नियंत्रण में रहते हैं। नास्तिक या मूढ़ इसे नहीं जानते। वे अपनी योजनाएँ बनाने में और बड़े-बड़े राष्ट्र अपने साम्राज्य विस्तृत करने में लगे रहते हैं। फिर भी हम जानते हैं कि समय समय पर अनेक राज्य इस तरह बने और नष्ट हो गये। जनता की निदी मूर्खता से अनेक राज-परिवार अस्तित्व में आये, किन्तु कालक्रम में वे सब परिवार तथा राज्य नष्ट हो गये। तब भी मूढ़ नास्तिक लोग भगवान् की श्रेष्ठता स्वीकार नहीं करते। ऐसे मूर्ख लोग अनावश्यक रूप से भगवान् की परम सत्ता को माने बगैर अपने-अपने कार्य गढ़ते रहते हैं। तथाकथित राजनीतिज्ञ अपने-अपने राष्ट्र की समृद्धि बढ़ाने के लिए योजनाएँ बनाने में लगे रहते हैं, किन्तु सच तो यह है कि वे अपने पद को ऊपर उठाने में ही लगे रहते हैं। भौतिक पद की अपनी लालसा के लिए वे जनता के समक्ष अपने को नेता रूप में प्रस्तुत करते हैं और उनसे वोट बटोरते हैं यद्यपि वे पूर्ण रूप से प्रकृति के नियमों की पकड़ में होते हैं। ये आधुनिक सभ्यता के कुछ दोष हैं। ईश्वर-भक्ति तथा भगवान् की श्रेष्ठता को स्वीकार किये बिना जीवात्माएँ अन्तत: अपनी ही योजनाओं से उद्विग्न और भ्रमित हो उठती हैं। आर्थिक विकास की अवैध योजनाओं के फलस्वरूप विश्वभर में वस्तुओं के दाम प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं जिससे निर्धन वर्ग का जीवन दूभर गया है और वे इस का परिणाम भोग रहे हैं। कृष्णचेतना (भक्ति) के अभाव से लोग तथाकथित नेताओं तथा योजना बनाने वालों से ठगे जाते हैं। फलस्वरूप लोगों के कष्ट बढ़ते जाते हैं। प्रकृति के नियमों के अनुसार जो परमेश्वर से अनुमोदित है, इस जगत में कुछ भी स्थायी नहीं हो सकता; अत: अपनी रक्षा के लिए सबों को परमेश्वर की शरण ग्रहण करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

‘‘मुनिजन मुझे ही समस्त यज्ञों तथा तपों का परम प्रयोजन, समस्त लोकों तथा देवताओं का परमेश्वर तथा समस्त जीवों का उपकारी एवं शुभचिन्तक समझ करके भौतिक कष्टों से शान्ति प्राप्त करते हैं।’’

यदि कोई अपनी मन:शान्ति तथा समाज में अमन चैन चाहता है, तो उसे भगवान् को वास्तविक भोक्ता मान लेना चाहिए। भगवान् सारे ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु का स्वामी (अधिष्ठाता) और साथ ही सारे जीवों का परम मित्र भी है। इसे समझकर ही लोग व्यष्टि तथा समष्टि रूप से प्रसन्नता से तथा शान्तिपूर्वक रह सकते हैं।

कस्त्वत्पदाब्जं विजहाति पण्डितो
यस्तेऽवमानव्ययमानकेतनः ।
विशङ्कयास्मद्गुरुरर्चति स्म यद्
विनोपपत्तिं मनवश्चतुर्दश ॥ ६७॥

शब्दार्थ

कः—कौन; त्वत्—तुम्हारे; पद-अब्जम्—चरणकमल; विजहाति—अवहेलना करेगा; पण्डितः—विद्वान; यः—जो; ते—तुमको; अवमान—उपेक्षा करते हुए; व्ययमान—घटाते हुए; केतनः—यह शरीर; विशङ्कया—बिना किसी सन्देह के; अस्मत्—हमारे; गुरुः—गुरु, पिता; अर्चति स्म—पूजा करता था; यत्—जो; विना—बिना; उपपत्तिम्—विक्षोभ; मनवः—मनुगण; चतुः-दश—चौदह।

हे भगवन्, कोई भी विद्वान् पुरुष जानता है कि आपकी पूजा के बिना सारा जीवन व्यर्थ है। भला यह जानते हुए वह आपके चरणकमलों की उपासना क्यों त्यागेगा? यहाँ तक कि हमारे गुरु तथा पिता ब्रह्मा ने बिना किसी भेदभाव के आपकी आराधना की और चौदहों मनुओं ने उनका अनुसरण किया।

तात्पर्य : *पंडित* शब्द का अर्थ है, ‘‘ज्ञानी मनुष्य या ज्ञानवान्।’’ वास्तव में ज्ञानी मनुष्य कौन है? *भगवद्गीता* (७.१९) में ज्ञानी मनुष्य को इस प्रकार बताया गया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

‘‘अनेक जन्मजन्मांतरों के बाद जो वास्तव में ज्ञानवान है, वह मुझे समस्त कारणों का कारण तथा मैं ही सब कुछ हूँ, समझ कर मेरी शरण में आता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है।’’

इस तरह जब कोई ज्ञानी मनुष्य अनेक जन्मों तथा आत्म-साक्षात्कार के अनेक सनकी प्रयासों के बाद सचमुच ज्ञानी बनता है, तो वह भगवान् कृष्ण की शरण में जाता है। ऐसा ज्ञानी व्यक्ति या महात्मा जानता है कि वासुदेव कृष्ण ही सब कुछ हैं (*वासुदेवः सर्वमिति*)। पंडितजन सदैव सोचते हैं कि बिना कृष्ण की पूजा किये या उनका भक्त बने यह जीवन व्यर्थ है। श्रील रूप गोस्वामी भी कहते हैं कि जब मनुष्य महान् भक्त बन जाता है, तो उसकी समझ में आता है कि उसे संयत तथा धैर्यवान् (*क्षान्तिः*) होना चाहिए और उसे समय न गँवाकर भगवान् की सेवा करनी चाहिए (*अव्यर्थ कालत्वम्*)। उसे समस्त भौतिक आकर्षण से विरक्त होना चाहिए (*विरक्तिः*) और उसे अपने कर्मों के बदले में किसी प्रकार के सम्मान की कामना नहीं करनी चाहिए (*मानशून्यता*); उसे विश्वास होना चाहिए कि श्रीकृष्ण उस पर कृपा करेंगे(*आशाबन्धः*); उसे सदैव भगवान् की सेवा करने के लिए उत्सुक रहना चाहिए (*समुत्कण्ठा*)। ज्ञानी सदैव कीर्तन तथा श्रवण द्वारा भगवान् की महिमा का गान करने के लिए उत्सुक रहता है (*नाम-गाने सदा रुचिः*) और भगवान् के दिव्य गुणों का वर्णन करते अघाता नहीं (*आसक्तिस्तद्गुणाख्याने*)। उसे भगवान् की लीलास्थलियों के प्रति भी आकर्षण होना चाहिए (*प्रीतिस्तद्वसतिस्थले*)। ये सिद्ध भक्त के लक्षण हैं।

एक महान् भक्त या पूर्ण पुरुष जो वास्तव में पंडित है, वह भगवान् के चरणकमलों की सेवा का परित्याग नहीं कर सकता। यद्यपि ब्रह्मा की आयु दीर्घ (४,३२,००,००,००० वर्ष ब्रह्मा के एक दिन अथवा १२ घंटे के बराबर है) है, तो भी ब्रह्माजी मृत्यु से भयभीत रहते हैं और भगवान् की भक्ति करते हैं। इसी प्रकार सारे मनु भी, जो ब्रह्मा के दिन में प्रकट होते तथा विलुप्त होते रहते हैं, भगवान् की भक्ति करते हैं। ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु प्रकट होते तथा लुप्त होते हैं। प्रथम मनु स्वायम्भुव मनु हैं। प्रत्येक मनु ७१ युगों तक जीवित रहता है जिनमें से प्रत्येक युग ४३,२०००० वर्षों का होता हैं। इस तरह यद्यपि मनुओं की आयु काफी लम्बी होती है, किन्तु वे अगले जीवन के लिए भगवान् की भक्ति करते रहकर तैयारी करते हैं। इस युग में मनुष्य केवल साठ से अस्सी वर्ष तक जीवित रहता है और यह लघु आयु भी क्रमशः घटती जा रही है। इसलिए मनुष्यों के लिए और भी आवश्यक है कि भगवान् चैतन्य महाप्रभु के बताये हरे कृष्ण मंत्र के सतत कीर्तन द्वारा भगवान् के चरणकमलों की पूजा करें।

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।

अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

(*शिक्षाष्टक* ३)

जब कोई भक्ति में व्यस्त रहता है, तो उसके चारों ओर ईर्ष्यालु लोग रहते हैं और प्रायः उसके शत्रु उसे परास्त करना चाहते हैं या उसकी भक्ति को भंग करना चाहते हैं। इस युग के लिए यह कोई नई बात नहीं है, क्योंकि प्राचीन काल में भी भगवद्भक्ति में व्यस्त प्रह्लाद महाराज को उनके असुर पिता हिरण्यकशिपु ने यातना पहुँचाई थी। नास्तिक सदैव भक्त को तंग करने के लिए उद्यत रहते हैं; अतः चैतन्य महाप्रभु ने सुझाव दिया है कि मनुष्य को ऐसे लोगों के प्रति सहिष्णु होना चाहिए। तो भी मनुष्य को हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करते रहना चाहिए और उसका उपदेश भी करना चाहिए, क्योंकि ऐसे उपदेश तथा कीर्तन से ही जीवन-सिद्धि मिलती है। मनुष्य को सभी प्रकार से अपने जीवन को पूर्ण रूप से सिद्ध बनाने की आवश्यकता का प्रचार करना चाहिए और कीर्तन करना चाहिए। इस प्रकार मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की भक्ति में लगा रहे और ब्रह्मा इत्यादि पूर्व आचार्यों के पदचिह्नों पर चले।

अथ त्वमसि नो ब्रह्मन्परमात्मन्विपश्चिताम् ।
विश्वं रुद्रभयध्वस्तमकुतश्चिद्भया गतिः ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; त्वम्—तुम, हे स्वामी; असि—हो; नः—हमारे; ब्रह्मन्—हे परब्रह्म; परम-आत्मन्—हे परमात्मा; विपश्चिताम्—विद्वान मनुष्यों के लिए; विश्वम्—सारा ब्रह्माण्ड; रुद्र-भय—रुद्र से भयभीत; ध्वस्तम्—संहार किया हुआ; अकुतश्चित्-भया—निश्चित रूप से निर्भर, भयशून्य; गतिः—गन्तव्य, आश्रय।

हे भगवन्, जो वास्तव में विद्वान् मनुष्य हैं, वे सभी आपको परब्रह्म एवं परमात्मा के रूप में जानते हैं। यद्यपि सारा ब्रह्माण्ड भगवान् रुद्र से भयभीत रहता है, क्योंकि वे अन्ततः प्रत्येक वस्तु को नष्ट करने वाले हैं, किन्तु विद्वान् भक्तों के लिए आप निर्भय आश्रय हैं।

तात्पर्य : इस दृश्य जगत की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के लिए तीन महाधीश हैं—ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव (महेश्वर)। प्रलय के समय यह भौतिक शरीर नष्ट हो जाता है। विराट शरीर तथा जीव का लघु शरीर दोनों ही चरम अन्त में विनाशशील हैं। किन्तु भक्तों को शरीर-विनाश का कोई भय नहीं रहता, क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास होता है कि विनाश के बाद वे अपने घर अर्थात् भगवान् के धाम

वापस जायेंगे (*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेतिसोऽर्जुन*)।

यदि कोई दृढ़तापूर्वक भक्तियोग का अनुसरण करता है, तो उसे मृत्यु का भय नहीं रह जाता, क्योंकि उसका भगवान् के धाम वापस जाना पूर्वनिश्चित है। अभक्त ही मृत्यु से डरते हैं, क्योंकि उन्हें इसकी कोई गारंटी नहीं होती कि वे कहाँ जाएँगे या अगले जन्म में उन्हें किस प्रकार का शरीर प्राप्त होगा। इस श्लोक का *रुद्रभय* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि रुद्र अर्थात् शिवजी ही 'रुद्रभय' की बात कर रहे हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि रुद्र भी कई हैं—इनकी संख्या ग्यारह है और ये रुद्र (शिव), जो भगवान् की स्तुति कर रहे हैं, अन्य रुद्रों से भिन्न हैं, यद्यपि ये भी उन्हीं के समान शक्तिमान हैं। निष्कर्ष यह निकला कि एक रुद्र दूसरे रुद्र से भयभीत रहता है, क्योंकि इनमें से प्रत्येक इस दृश्य जगत के संहार में लगा रहता है। किन्तु भक्त की दृष्टि में तो प्रत्येक व्यक्ति रुद्र से डरता है, यहाँ तक कि स्वयं रुद्र भी। भक्त कभी भी रुद्र से नहीं डरता, क्योंकि भगवान् के चरणकमलों की शरण में रहने से वह सदैव सुरक्षित रहता है। जैसाकि श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (९.३१) में कहा है—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*—"हे अर्जुन! तुम यह स्पष्ट घोषणा कर सकते हो कि मेरा (भगवान् श्रीकृष्ण का) शुद्ध भक्त किसी भी दशा में विनष्ट नहीं होता।"

इदं जपत भद्रं वो विशुद्धा नृपनन्दनाः ।
स्वधर्ममनुतिष्ठन्तो भगवत्यर्पिताशयाः ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; जपत—जपते हुए; भद्रम्—समस्त कल्याण; वः—तुम सभी; विशुद्धाः—शुद्ध; नृप-नन्दनाः—राजा के पुत्र; स्व-धर्मम्—अपने-अपने कार्य; अनुतिष्ठन्तः—करते हुए; भगवति—भगवान् को; अर्पित—अर्पित कर; आशयाः—समस्त आज्ञाकारिता से युक्त।

हे राजपुत्रो, तुम लोग विशुद्ध हृदय से राजाओं की भाँति अपने-अपने नियत कर्म करते रहो। भगवान् के चरणकमलों पर अपने मन को स्थिर करते हुए इस स्तुति (स्तोत्र) का जप करो। इससे तुम्हारा कल्याण होगा, क्योंकि इससे भगवान् तुम पर अत्यधिक प्रसन्न होंगे।

तात्पर्य : शिवजी द्वारा की गई स्तुति अत्यन्त प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण है। अपने कर्म में लगे रहते हुए भी परमेश्वर की स्तुति करने मात्र से मनुष्य पूर्ण बन सकता है। जीवन का असली उद्देश्य तो भगवद्भक्त बनना है। इसकी परवाह नहीं करनी चाहिए कि उसकी सामाजिक स्थिति क्या है। चाहे ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा अमरीकी, अंग्रेज, भारतीय, इस संसार में कहीं भी रहकर

श्रीभगवान् की स्तुति करके भक्ति की जा सकती है। हरे कृष्ण महामंत्र भी स्तुति ही है, क्योंकि स्तुति में भगवान् को नाम से सम्बोधित किया जाता है और भगवान् से विनय की जाती है कि वे सौभाग्य का वरदान देकर अपनी भक्ति में लगायें। हरे कृष्ण महामंत्र भी कहता है, ''हे भगवान् कृष्ण, हे भगवान् राम, हे भगवान् की शक्ति हरे! कृपया मुझे अपनी सेवा में लगाइये।'' भले ही कोई निम्न वर्ग का क्यों न हो, वह हर अवस्था में भक्ति कर सकता है जैसाकि *भागवत* (१.२.६) में कहा गया है—*अहैतुक्यप्रतिहता:*—''भक्ति को किसी भी भौतिक दशा में रोका नहीं जा सकता।'' भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने भी यही विधि बताई है।

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थाने स्थिता: श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥

(भागवत १०.१४.३)

मनुष्य अपनी स्थिति में रहते हुए अथवा अपना कर्म करते हुए सिद्ध पुरुषों से भगवान् के सन्देश को सुन सकता है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन इसी सिद्धान्त पर आधारित है और हम लोग संसार भर में श्रीकृष्ण के सन्देश को सुनने का अवसर प्रदान करने के लिए विभिन्न केन्द्र खोल रहे हैं जिससे लोग अपने घर को अर्थात् भगवान् के धाम वापस जा सकें।

तमेवात्मानमात्मस्थं सर्वभूतेष्ववस्थितम् ।
पूजयध्वं गृणन्तश्च ध्यायन्तश्चासकृद्धरिम् ॥ ७० ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; एव—निश्चय ही; आत्मानम्—परमात्मा को; आत्म-स्थम्—अपने हृदय में; सर्व—समस्त; भूतेषु—प्रत्येक जीव में स्थित; अवस्थितम्—स्थित; पूजयध्वम्—उनकी पूजा करो; गृणन्त: च—सदैव कीर्तन करते हुए; ध्यायन्त: च—ध्यान करते हुए; असकृत्—निरन्तर; हरिम्—श्रीभगवान् का।

अत: हे राजकुमारो, भगवान् सबके हृदयों में स्थित हैं। वे तुम लोगों के भी हृदयों में हैं, अत: भगवान् की महिमा का जप करो और निरन्तर उसी का ध्यान करो।

तात्पर्य : *असकृत्* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसका अर्थ 'कुछ पलों के लिए' नहीं, अपितु ''अनवरत रूप से'' है। यही आदेश भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने अपने *शिक्षाष्टक* में दिया है। *कीर्तनीय:*

सदा हरिः—"भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन चौबीसों घण्टे करना चाहिए।" अतः इस कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में भक्तों को नित्यप्रति सोलह बार माला का जप करने के लिए कहा जाता है। वास्तव में ठाकुर हरिदास की भाँति भगवन्नाम का चौबीसों घण्टे जप ही करना चाहिए। वे दिन में ३ लाख बार नाम-जप करते थे। दरअसल इसके सिवाय उनके पास कोई दूसरा काम ही न था। रघुनाथ दास गोस्वामी जैसे अन्य कुछ गोस्वामी भी नियमपूर्वक जप करते तथा नमस्कार करते थे। जैसाकि *षड्-गोस्वामी-अष्टक* में श्रीनिवासाचार्य ने स्तुति की है—*सङ्ख्यापूर्वक नाम गान-नतिभिः कालावसानीकृतौ। संख्यापूर्वक* शब्द का अर्थ है "गिनती को स्थिर बनाये रखते हुए।" रघुनाथ दास गोस्वामी न केवल भगवन्नाम का जप करते थे, वरन् उसी त्वरा से वे नमस्कार भी करते थे।

चूँकि ये राजकुमार भगवान् की पूजा के लिए पहले से तपस्या करने जा रहे थे, अतः शिवजी ने उन्हें उपदेश दिया कि वे भगवान् का निरन्तर जप तथा ध्यान करते रहें। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि शिवजी ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की वैसी ही स्तुति की जैसी कि उनके पिता ब्रह्मा ने उन्हें बतलाई थी। इस प्रकार से वे परम्परा-पद्धति के अनुसार राजकुमारों को उपदेश दे रहे थे। मनुष्य को चाहिए कि वह न केवल गुरु से प्राप्त आदेशों के अनुसार आचरण करे वरन् अपने शिष्यों में भी इस ज्ञान का वितरण करता चले।

आत्मानमात्मस्थं सर्व भूतेष्ववस्थितम् शब्द भी महत्त्वपूर्ण हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सारे जीवों के उद्गम हैं। चूँकि सारे जीव उनके भिन्नांश हैं, अतः वे सबके पिता हैं। प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित होने के कारण परमेश्वर को अपने हृदय के भीतर खोजा जा सकता है। इस श्लोक में भगवान् की पूजा-विधि को अत्यन्त सरल एवं पूर्ण बताया गया है, क्योंकि कहीं भी और किसी भी अवस्था में होते हुए भगवान् के नाम का केवल जप करना चाहिए। कीर्तन तथा श्रवण से स्वतः ही मनुष्य ध्यान में लग जाता है।

योगादेशमुपासाद्य धारयन्तो मुनिव्रताः ।
समाहितधियः सर्व एतदभ्यसतादृताः ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ

योग-आदेशम्—भक्तियोग का यह आदेश; उपासाद्य—निरन्तर पढ़ते हुए; धारयन्तः—तथा आत्मसात करते हुए; मुनि-व्रताः—मुनियों का व्रत, मौन व्रत लो; समाहित—मन में सदैव स्थिर, एकाग्रभाव से; धियः—बुद्धि से; सर्वे—तुम सब; एतत्—यह; अभ्यसत—अभ्यास करो; आदृताः—अत्यन्त आदरपूर्वक।

हे राजपुत्रो, मैंने स्तुति के रूप में तुम्हें पवित्र नाम-जप की योगपद्धति बतला दी है। तुम सब इस स्तोत्र को अपने मनों में धारण करते हुए इस पर दृढ़ रहने का व्रत लो जिससे तुम महान् मुनि बन सको। तुम्हें चाहिए कि मुनि की भाँति मौन धारण करके तथा ध्यानपूर्वक एवं आदर सहित इसका पालन करो।

तात्पर्य : हठयोग पद्धति में मनुष्य को ध्यान, धारणा, आसन इत्यादि शारीरिक आसन करने होते हैं। उसे एक स्थान पर विशेष आसन लगा करके अपनी नाक के अग्रभाग पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करनी होती है। हठयोग पद्धति में इतने सारे विधि-विधान हैं कि इस युग में उन्हें कर पाना कठिन है। किन्तु भक्तियोग की वैकल्पिक पद्धति न केवल इस युग के लिए वरन् अन्य युगों के लिए भी अत्यन्त सहज है, क्योंकि इस योग-पद्धति का उपदेश शिवजी द्वारा महाराज प्राचीन बर्हिषत् के पुत्रों को दिया गया था। भक्तियोग-पद्धति कोई नवीन नहीं है, क्योंकि पाँच हजार वर्ष पूर्व भगवान् कृष्ण ने भक्तियोग को सर्वोच्च योग के रूप में बतलाया था। *भगवद्गीता* (६.४७) में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

"योगियों में से जो अत्यन्त श्रद्धापूर्वक प्रेमाभक्ति में मेरी पूजा करता है, वह योग में मुझसे भली-भाँति संयुक्त रहता है और सबों में सर्वोच्च है।"

सर्वोच्च योगी वह है, जो अपने भीतर श्रीकृष्ण का निरन्तर ध्यान करता है और भगवान् की महिमा का कीर्तन करता रहता है। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार का भक्तियोग अनन्त काल से चला आ रहा है और अब इस कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में चालू है।

इस प्रसंग में *मुनि-व्रतः* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जो आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करना चाहते हैं, उन्हें मौन रहना चाहिए। मौन का अर्थ है केवल कृष्ण-कथा की बात करना या कृष्ण का गुणानुवाद। यह मौन महाराज अम्बरीष जैसा है—*स वै मनः कृष्ण पदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठ-गुणानुवर्णने*—"राजा अम्बरीष ने सदैव भगवान् के चरणकमल में ही अपने मन को स्थिर रखा और और उन्हीं का गुणानुवाद किया" (*भागवत* ९.४.१९)। हमें चाहिए कि हम इस जीवन के अवसर को

महान् संत बनने में लगाएं और इसका उपयोग अवांछित व्यक्तियों से व्यर्थ बातें करने में न करें। हमें या तो कृष्ण का गुणानुवाद करना चाहिए या हरे कृष्ण का कीर्तन करना चाहिए। यह मुनिव्रत कहलाता है। बुद्धि को अत्यन्त प्रखर होना चाहिए (*समाहित-धिय*) तथा कृष्णभक्ति की दिशा में कार्य करना चाहिए। *एतदभ्यसतादृता:* शब्द बताते हैं कि यदि इन आदेशों को गुरु से आदरपूर्वक प्राप्त किया जाये और विधिपूर्वक इनका अभ्यास किया जाये तो यह भक्तियोग अत्यन्त सरल लगेगा।

इदमाह पुरास्माकं भगवान्विश्वसृक्पति: ।
भृग्वादीनामात्मजानां सिसृक्षु: संसिसृक्षताम् ॥ ७२ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; आह—कहा; पुरा—पहले; अस्माकम्—हमसे; भगवान्—स्वामी; विश्व-सृक्—ब्रह्माण्ड के स्रष्टा; पति:—स्वामी; भृगु-आदीनाम्—भृगु इत्यादि ऋषियों का; आत्मजानाम्—उनके पुत्रों का; सिसृक्षु:—उत्पत्तिके इच्छुक; संसिसृक्षताम्—सृष्टि के लिए उत्तरदायी।.

सर्वप्रथम समस्त प्रजापतियों के स्वामी ब्रह्मा ने हमें यह स्तुति सुनायी थी। भृगु आदि प्रजापतियों को भी इसी स्तोत्र की शिक्षा दी गई थी, क्योंकि वे सन्तानोत्पत्ति करना चाह रहे थे।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु ने ब्रह्मा को उत्पन्न किया; फिर ब्रह्मा ने शिव तथा भृगुमुनि इत्यादि अन्य ऋषियों—मरीचि, आत्रेय, वसिष्ठ तथा अन्य—को उत्पन्न किया। इन सब ऋषियों को सन्तान उत्पन्न करने का भार सौंपा गया था। चूँकि प्रारम्भ में जीवों की संख्या अधिक न थी, अत: विष्णु ने सन्तान उत्पन्न करने का कार्य ब्रह्मा को सौंपा और ब्रह्मा ने सृष्टि बनाये रखने के लिए हजारों देवता तथा ऋषि उत्पन्न किये। साथ ही ब्रह्मा ने अपने पुत्रों तथा शिष्यों को यह स्तुति, जिसे शिवजी सुना रहे हैं, सुनाकर सचेत किया कि भौतिक सृष्टि का अर्थ है भौतिक व्यस्तता, किन्तु इस व्यस्तता का निराकरण भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को सदैव स्मरण करते हुए किया जा सकता है, जैसाकि शिवजी द्वारा की गई इस स्तुति में बताया गया है। इस प्रकार से हम भगवान् के निरन्तर सम्पर्क में रह सकते हैं। इस तरह सृष्टि में व्यस्तता के बावजूद हम कृष्ण-भक्ति के पथ से विचलित नहीं होंगे। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन विशेष रूप से इसी प्रयोजन से चलाया गया है। इस जगत में प्रत्येक व्यक्ति वर्णाश्रम धर्म में बताये गये वृत्तिपरक कर्म में लगा रहता है। यह ठीक है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने काम में लगे हुए हैं, किन्तु यदि वे अपने पहले कर्तव्य—भगवान् से निरन्तर सम्पर्क रखने—को स्मरण रखते हैं, तो सब कुछ सफल हो जाएगा। यदि वे केवल वर्णाश्रम धर्म का ही पालन

करने में लगे रहते हैं और भगवान् से अपने शाश्वत सम्बन्ध का स्मरण नहीं करते तो उनका सारा व्यापार तथा सारा वर्णाश्रम धर्म मात्र समय का अपव्यय होगा। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध (१.२.८) में इसकी पुष्टि की गई है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विश्वक्सेनकथासु यः।

नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

निष्कर्ष यह है कि अपने-अपने वृत्तिपरक कर्म को निबाहते हुए कृष्णभक्ति के कार्य में बाधा नहीं पहुँचने देना चाहिए। मात्र *श्रवणं कीर्तनं* की भक्ति करनी चाहिए। अपने कर्म (धर्म) को नहीं छोड़ना चाहिए। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.४६) में कहा गया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

"मनुष्य अपना कर्म करता हुआ जीवों के उद्गम तथा सर्वव्यापी भगवान् की पूजा करके सिद्धि प्राप्त कर सकता है।"

इस प्रकार मनुष्य अपना कर्म करता रह सकता है, किन्तु यहाँ पर शिवजी ने जो स्तुति बताई है यदि उससे मनुष्य भगवान् की पूजा करता है, तो उसका जीवन पूर्णरूपेण सफल हो जाता है। *स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्* (*भागवत* १.२.१३)। हमें अपना कर्म तो करना ही चाहिए, किन्तु यदि हम अपने कर्मों से भगवान् को प्रसन्न कर सकें तो हमारा जीवन सफल हो जाये।

ते वयं नोदिताः सर्वे प्रजासर्गे प्रजेश्वराः ।
अनेन ध्वस्ततमसः सिसृक्ष्मो विविधाः प्रजाः ॥ ७३ ॥

शब्दार्थ

ते—उसके द्वारा; वयम्—हम सब; नोदिताः—आज्ञापित; सर्वे—सभी; प्रजा-सर्गे—प्रजा उत्पन्न करते समय; प्रजा-ईश्वराः—समस्त जीवों के नियन्ता; अनेन—इसके द्वारा; ध्वस्त-तमसः—सभी प्रकार के अज्ञान से मुक्त होकर; सिसृक्ष्मः—हमने उत्पन्न किया; विविधाः—अनेक प्रकार के; प्रजाः—जीव।.

जब ब्रह्मा द्वारा हम सब प्रजापतियों को प्रजा उत्पन्न करने का आदेश हुआ तो हमने भगवान् की प्रशंसा में इस स्तोत्र का जप किया जिससे हम समस्त अविद्या से पूरी तरह से मुक्त हो गये। इस तरह हम विविध प्रकार के जीवों की उत्पत्ति कर पाये।

तात्पर्य : इस श्लोक से यह समझ में आता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में एकसाथ अनेक प्रकार के

जीव उत्पन्न हुए। यहाँ पर अर्थहीन डार्विन का विकासवाद लागू नहीं होता। ऐसा नहीं है कि लाखों वर्ष पूर्व बुद्धिमान मनुष्य का अस्तित्व न था। उल्टा यह पता चलता है कि सबसे बुद्धिमान प्राणी ब्रह्माजी सबसे पहले उत्पन्न हुए। तब ब्रह्माजी ने मरीचि, भृगु, आत्रेय, वसिष्ठ तथा शिव जैसे साधु पुरुषों को उत्पन्न किया। तब उन्होंने कर्मों के अनुसार विभिन्न प्रकार के जीव उत्पन्न किए। *श्रीमद्‌भागवत* में कपिल देव ने अपनी माता को बताया है कि जीवात्मा को अपने कर्म के अनुसार विशेष शरीर प्राप्त होता है और उच्चतर अधिकारी ही इस शरीर के विषय में निर्णय करते हैं। ये उच्चतर अधिकारी भगवान् द्वारा नियुक्त होते हैं और इनके नाम हैं—ब्रह्मा, मनु तथा अन्य प्रजापति। इस प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ से ही यह देखा जा सकता है कि सब से पहला जीव सबसे अधिक बुद्धिमान था। ऐसा नहीं है कि तथाकथित आधुनिक बुद्धि विकास की क्रमिक प्रक्रिया से विकसित हुई हो। जैसाकि *ब्रह्म-वैवर्त पुराण* में कहा गया है, क्रमिक विकास होता तो है, किन्तु शरीर का विकास नहीं होता। सारे शारिरिक रूप पहले से रहते हैं। केवल शरीर के भीतर का आत्म स्फुलिंग ही प्रकृति के नियमों द्वारा श्रेष्ठ अधिकारी के अधीक्षण में प्रगति करता है। इस श्लोक से यह समझ में आता है कि सृष्टि के प्रारम्भ से विभिन्न प्रकार के जीव विद्यमान थे। ऐसा नहीं है कि उनमें से कुछ विलुप्त हो गये हैं। सब कुछ यहाँ पर हैं, केवल ज्ञान के अभाव के कारण हम वस्तुओं को उनके वास्तविक रूप में नहीं देख पा रहे हैं।

इस श्लोक का *ध्वस्त-तमस:* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि अज्ञान से मुक्त हुए बिना विभिन्न प्रकार के जीवों की उत्पत्ति को नियंत्रित नहीं किया जा सकता। जैसाकि *श्रीमद्‌भागवत* (३.३१.१) में कहा गया है—*दैवनेत्रेण*—श्रेष्ठ अधिकारियों के नियंत्रण में ही शरीर मिलता है। यदि ये श्रेष्ठ अधिकारी सभी प्रकार की अपूर्णताओं से मुक्त नहीं होंगे तो वे जीवों के विकास को किस प्रकार नियंत्रित कर सकेंगे? वैदिक अनुदेशों के माननेवाले डार्विन के विकासवाद को स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि यह अधूरे ज्ञान के कारण विकसित है।

अथेदं नित्यदा युक्तो जपन्नवहितः पुमान् ।
अचिराच्छ्रेय आप्नोति वासुदेवपरायणः ॥७४॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; इदम्—यह; नित्यदा—नियमित रूप से; युक्तः—मनोयोग से; जपन्—मन के भीतर जपने से; अवहितः—पूर्ण रूप से सतर्क; पुमान्—मनुष्य; अचिरात्—अविलम्ब; श्रेयः—कल्याण; आप्नोति—प्राप्त करता है; वासुदेव-परायणः—भगवान् कृष्ण का भक्त।

भगवान् कृष्ण के भक्त जिसका मन सदैव उन्हीं में लीन रहता है और जो अत्यन्त ध्यान तथा आदरपूर्वक इस स्तोत्र का जप करता है शीघ्र ही जीवन की परम सिद्धि प्राप्त होगी।

तात्पर्य : सिद्धि का अर्थ है भगवान् कृष्ण का भक्त बनना। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध (१.२.२८) में कहा गया है—*वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः।* जीवन का चरम लक्ष्य वासुदेव या श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्ण का कोई भी भक्त केवल स्तुति करने से समस्त सिद्धि, भौतिक लाभ तथा मुक्ति प्राप्त कर सकता है। बड़े-बड़े ऋषियों तथा महापुरुषों ने, ब्रह्मा तथा शिव ने, भगवान् कृष्ण की अनेक प्रकार से स्तुतियाँ की हैं। भगवान् कृष्ण *शिवविरिञ्चिनुतम्* कहलाते हैं (*भागवत* ११.५.३३)। *शिव* अर्थात्, भगवान् शिव तथा *विरिञ्चि* अर्थात् ब्रह्मा। ये दोनों देवता भगवान् वासुदेव कृष्ण की स्तुति करते रहते हैं। यदि हम इन महापुरुषों के पदचिह्नों पर चलें और भगवान् कृष्ण के भक्त बन सकें तो हमारा जीवन सार्थक हो जाये। दुर्भाग्यवश लोग इस रहस्य को नहीं जानते। *न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुम्*—"वे नहीं जानते कि जीवन का वास्तविक प्रयोजन तथा परम सिद्धि भगवान् विष्णु (कृष्ण) की पूजा है (*भागवत* ७.५.३१)। माया से समझौता करके प्रसन्न रहना असम्भव है। श्रीकृष्ण का भक्त बने बिना मनुष्य केवल दिग्भ्रमित तथा कुंठित बन सकता है। जीवों को इस विपदा से बचाने के लिए ही *भगवद्गीता* (७.१९) में भगवान् कृष्ण ने संकेत किया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

"अनेक जन्म-जन्मांतरों के बाद ज्ञानी मनुष्य भली भाँति यह जानते हुए कि वासुदेव रूप में मैं ही सब कुछ हूँ, मेरी शरण में आ जाता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है।"

वासुदेव के भक्त बनकर हम जो चाहे वही वर प्राप्त कर सकते हैं।

श्रेयसामिह सर्वेषां ज्ञानं निःश्रेयसं परम्।
सुखं तरति दुष्पारं ज्ञाननौर्व्यसनार्णवम्॥ ७५॥

शब्दार्थ

श्रेयसाम्—समस्त उपलब्धियों का; इह—इस संसार में; सर्वेषाम्—प्रत्येक पुरुष का; ज्ञानम्—ज्ञान; निःश्रेयसम्—परम लाभ; परम्—दिव्य; सुखम्—सुख; तरति—लाँघ जाता है; दुष्पारम्—दुस्तर; ज्ञान—ज्ञान रूपी; नौः—नाव; व्यसन—खतरा; अर्णवम्—समुद्र।

इस संसार में उपलब्धि के अनेक प्रकार हैं, किन्तु इन सबों में ज्ञान की उपलब्धि सर्वोपरि मानी जाती है, क्योंकि ज्ञान की नौका में आरूढ़ होकर ही अज्ञान के सागर को पार किया जा सकता है। अन्यथा यह सागर दुस्तर है।

तात्पर्य : वास्तव में इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति अज्ञान के कारण कष्ट उठा रहा है। प्रतिदिन यह देखने में आता है कि ज्ञानहीन मनुष्य किसी तरह का आपराधिक कृत्य कर बैठता है और बाद में पकड़ा जाता है और दण्डित होता है। जब कि उसे अपने इस पापकर्म का बोध नहीं रहा होता है। ऐसा अज्ञान संसार-भर में पाया जाता है। लोग यह समझ ही नहीं पाते कि अवैध कामी आदत से वे अपने जीवन को संकट में डाल रहे हैं, अपने स्वाद के लिए पशुओं को मारते हैं और मद्यपान तथा द्यूतक्रीड़ा में मस्त रहते हैं। यह अत्यन्त शोचनीय है कि संसार के नेता इन पापकर्मों के प्रभावों को नहीं जानते। बजाय इसके वे सारी घटनाओं को सहज भाव से लेते हुए अज्ञान सागर को और चौड़ा बनाने में सफल होते जाते हैं।

ऐसे अज्ञान के विपरीत इस भौतिक संसार में पूर्णज्ञान महानतम उपलब्धि है। व्यावहारिक जीवन में हम देख सकते हैं कि ज्ञानवान् व्यक्ति जीवन के अनेक खतरनाक उतार चड़ावों से बच जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है—*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते*—"जब मनुष्य वास्तव में ज्ञानवान बन जाता है, तो वह परमात्मा की शरण में जाता है।" *वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः*—"ऐसा महापुरुष विरले ही पाया जाता है।"

यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन उन तथाकथित नेताओं की आँखें खोलने के लिए कृत्यसंकल्प है, जो अज्ञान से भरे हुए हैं और इस प्रकार उन्हें जीवन के अनेक उतार-चड़ावों तथा घातक परिस्थितियों से बचाता है। सबसे बड़ा खतरा है मनुष्य से निम्नतर योनि को प्राप्त होना। इस मनुष्य देह को बड़ी ही कठिनाई से इसीलिए प्राप्त किया गया जिससे इसका लाभ उठाकर पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् गोविन्द के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। शिवजी उपदेश देते हैं कि जो उनके स्तोत्र का लाभ उठायेंगे वे शीघ्र ही भगवान् के भक्त बनेंगे और अज्ञान सागर को पार करने तथा जीवन को पूर्ण बनाने

में समर्थ हो सकेंगे।

य इमं श्रद्धया युक्तो मद्गीतं भगवत्स्तवम् ।
अधीयानो दुराराध्यं हरिमाराधयत्यसौ ॥ ७६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; इमम्—यह; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; युक्तः—अनुरक्तिपूर्वक; मत्-गीतम्—मेरे द्वारा रचित गीत या मेरे द्वारा गाया गीत; भगवत्-स्तवम्—भगवान् की प्रार्थना; अधीयानः—नियमित पाठ द्वारा; दुराराध्यम्—पूजा करना अत्यन्त कठिन; हरिम्—भगवान् को; आराधयति—किन्तु पूजा कर सकता है; असौ—ऐसा मनुष्य।

यद्यपि भगवान् की भक्ति करना एवं उनकी पूजा करना अत्यन्त कठिन है, किन्तु यदि कोई मेरे द्वारा रचित एवं गाये गये इस स्तोत्र का केवल पाठ करता है, तो वह सरलतापूर्वक भगवान् की कृपा प्राप्त कर सकता है।

तात्पर्य : यह विशेष तौर पर महत्त्वपूर्ण बात है कि शिवजी भगवान् वासुदेव के शुद्ध भक्त हैं। *वैष्णवानां यथा शम्भुः*—"समस्त वैष्णवों में शिवजी सर्वोच्च हैं।" फलतः शिवजी का एक वैष्णव शिष्य परम्परा का सम्प्रदाय चला आया है, जिसे रुद्र-सम्प्रदाय कहते हैं। इस समय जो वैष्णवों का विष्णुस्वामी सम्प्रदाय है, वह रुद्र या शिव से सम्बन्धित है। भगवान् कृष्ण या वासुदेव का भक्त होना अत्यन्त कठिन है। इसी लिए *दुराराध्यम्* शब्द विशेष रूप से प्रयुक्त हुआ है। देवताओं की पूजा उतनी कठिन नहीं है, किन्तु भगवान् कृष्ण या वासुदेव का भक्त बनना इतना आसान नहीं है। यदि कोई महापुरुषों के आदर्शों तथा उनके पदचिह्नों पर चले तो वह सरलता से भगवान् वासुदेव का भक्त बन सकता है, जैसाकि शिवजी ने उपदेश दिया है। प्रह्लाद महाराज द्वारा भी इसकी पुष्टि हुई है। भक्ति का अभ्यास मनोधर्मियों के द्वारा सम्भव नहीं। भक्ति एक विशेष उपलब्धि है, जिसे वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है, जिसने शुद्ध भक्त की शरण ग्रहण की है। जैसाकि प्रह्लाद महाराज ने पुष्टि की है—*महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्*—"जब तक सभी प्रकार के भौतिक दोषों से मुक्त शुद्ध भक्त के चरणकमलों की धूल को धारण नहीं की जाती, तब तक भगवान् की भक्ति में प्रविष्ट नहीं हुआ जा सकता।" (*भागवत* ७.५.३२)।

विन्दते पुरुषोऽमुष्माद्यद्यदिच्छत्यसत्वरम् ।
मद्गीतगीतात्सुप्रीताच्छ्रेयसामेकवल्लभात् ॥ ७७ ॥

शब्दार्थ

विन्दते—प्राप्त करता है; पुरुषः—भक्त; अमुष्मात्—भगवान् से; यत् यत्—जो जो; इच्छति—कामना करता है; असत्वरम्—स्थिर होकर; मत्-गीत—मेरे द्वारा गाया हुआ; गीतात्—गीत से; सु-प्रीतात्—भगवान् से, जो अत्यन्त प्रसन्न होते हैं; श्रेयसाम्—समस्त आशीर्वादों (वर) में से; एक—एक; वल्लभात्—प्रियतम से।

समस्त शुभ आशीर्वादों में से सर्वप्रिय वस्तु भगवान् हैं। जो मनुष्य मेरे द्वारा गाये गये इस गीत को गाता है, वह भगवान् को प्रसन्न कर सकता है। ऐसा भक्त भगवान् की भक्ति में स्थिर होकर परमेश्वर से मनवाञ्छित फल प्राप्त कर सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (६.२२) में कहा गया है—*यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः*—यदि किसी को भगवान् की कृपा प्राप्त हो जाये तो उसमें किसी प्रकार की आकांक्षा या इच्छा शेष नहीं रहती। जब ध्रुव महाराज तप के द्वारा पूर्ण बन गये और जब उन्होंने भगवान् का साक्षात् दर्शन प्राप्त कर लिया तो उनसे मनवांछित वर माँगने को कहा गया, किन्तु उन्होंने उत्तर दिया कि मुझे कुछ भी नहीं चाहिए, क्योंकि मैं भगवान् के दर्शन प्राप्त करने से ही सन्तुष्ट हूँ। भगवान् की सेवा के अतिरिक्त हम जो कुछ भी माँगते हैं वह माया के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्यदास'* (*चैतन्य-चरितामृत, मध्य* २०.१०८)। प्रत्येक जीवात्मा भगवान् का शाश्वत दास है, अतः जब कोई भगवान् की भक्ति में लग जाता है, तो उसे जीवन की परमसिद्धि प्राप्त हो जाती है। आज्ञाकारी दास अपने स्वामी के अनुग्रह से किसी भी इच्छा की पूर्ति कर सकता है और जो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में अपने को लगा लेता है, उसे तो और कुछ भी नहीं चाहिए। उसकी सारी इच्छाओं की पूर्ति भगवान् की निरन्तर सेवा करने में ही हो जाती है। शिवजी हमें बताते हैं कि यदि कोई भी भक्त उनके द्वारा सुनाई गई स्तुति का जप करता है, तो वह सफल हो सकता है।

इदं यः कल्य उत्थाय प्राञ्जलिः श्रद्धयान्वितः ।
शृणुयाच्छ्रावयेन्मर्त्यो मुच्यते कर्मबन्धनैः ॥ ७८ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह स्तुति; यः—जो भक्त; कल्ये—प्रातःकाल; उत्थाय—उठकर; प्राञ्जलिः—हाथ जोड़ कर; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; अन्वितः—लीन रहकर; शृणुयात्—स्वयं जपता तथा सुनता है; श्रावयेत्—तथा सुनाता है; मर्त्यः—ऐसा मनुष्य; मुच्यते—मुक्त हो जाता है; कर्म-बन्धनैः—सकाम कर्मों से उत्पन्न सभी प्रकार के कर्म बन्धनों से।

जो भक्त प्रातःकाल उठकर हाथ जोड़कर शिवजी के द्वारा गाई गई इस स्तुति का जप करता

है और अन्यों को सुनाता है, वह निश्चय ही समस्त कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : मुक्ति का अर्थ है सकाम कर्मों के फल से मुक्त होना। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (२.१०.६) में आया है—*मुक्तिः हित्वान्यथारूपम्।* मुक्ति का अर्थ है अन्य सभी कार्यों का परित्याग और अपनी स्वाभाविक स्थिति में स्थिर हो जाना (*स्वरूपेण व्यवस्थितिः*)। इस बद्ध अवस्था में हम एक के बाद दूसरे सकाम कर्म में उलझे रहते हैं। कर्म-बन्धन का अर्थ है ''सकाम कर्म का बन्धन।'' जब तक मनुष्य का मन सकाम कर्मों में लगा रहता है, तब तक उसे सुखी रहने की योजनाएँ बनानी पड़ती हैं। किन्तु भक्तियोग सर्वथा भिन्न है। इसमें तो परम सत्य के आदेशानुसार कार्य करना होता है। जब हम किसी परम सत्ता के निर्देशानुसार कर्म करते हैं, तो हम कर्मफलों से नहीं बँधते। उदाहरणार्थ, अर्जुन ने इसलिए युद्ध किया, क्योंकि भगवान् चाहते थे, अतः युद्ध के परिणाम के लिए अर्जुन जिम्मेदार न था। जहाँ तक भक्ति का प्रश्न है श्रवण तथा कीर्तन भी उतना ही अच्छा है जितना कि शरीर, मन तथा इन्द्रियों से कर्म करना। वास्तव में, श्रवण तथा कीर्तन भी इन्द्रियों के कर्म ही हैं। जब इन्द्रियों का उपयोग अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए किया जाता है, तो वे मनुष्य को कर्म में फँसा देती हैं, किन्तु जब उनका उपयोग भगवान् को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है, तो वे उसे भक्ति में स्थापित कर देती हैं।

गीतं मयेदं नरदेवनन्दनाः
परस्य पुंसः परमात्मनः स्तवम् ।
जपन्त एकाग्रधियस्तपो महत्
चरध्वमन्ते तत आप्स्यथेप्सितम् ॥ ७९ ॥

शब्दार्थ

गीतम्—गाया गया; मया—मेरे द्वारा; इदम्—यह; नरदेव-नन्दनाः—हे राजपुत्रो; परस्य—परमेश्वर का; पुंसः—भगवान्; परम-आत्मनः—प्रत्येक का परमात्मा; स्तवम्—प्रार्थना, स्तोत्र; जपन्तः—जप करते हुए; एक-अग्र—पूर्ण मनोयोग से; धियः—बुद्धि; तपः—तपस्या; महत्—महान; चरध्वम्—तुम अभ्यास करो; अन्ते—अन्त में; ततः—तत्पश्चात्; आप्स्यथ—प्राप्त करोगे; ईप्सितम्—अभीष्ट, वांछित फल।

हे राजकुमारो, मैंने तुम्हें जो स्तुति गाकर सुनाई वह परमात्मा स्वरूप भगवान् को प्रसन्न करने के निमित्त थी। मैं तुम्हें इस स्तुति को गाने की सलाह देता हूँ, क्योंकि यह बड़ी-से-बड़ी तपस्या के समान प्रभावशाली है। इस प्रकार जब तुम सब परिपक्व हो जाओगे तो तुम्हारा जीवन सफल होगा और तुम्हें सारे अभीष्ट लक्ष्य प्राप्त हो सकेंगे।

तात्पर्य : यदि हम अध्यवसायपूर्वक भक्ति करते रहें तो निश्चित रूप से समय आने पर हमारी सारी इच्छाएँ पूरी होंगी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कंध के अन्तर्गत ''शिव द्वारा की गई स्तुति का गान'' नामक चौबीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पच्चीस

राजा पुरञ्जन के गुणों का वर्णन

मैत्रेय उवाच
इति सन्दिश्य भगवान्बार्हिषदैरभिपूजितः ।
पश्यतां राजपुत्राणां तत्रैवान्तर्दधे हरः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—महर्षि मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; सन्दिश्य—उपदेश देकर; भगवान्—सर्वशक्तिमान; बार्हिषदैः—राजा बर्हिषत् के पुत्रों द्वारा; अभिपूजितः—पूजा किया जाकर; पश्यताम्—उनके देखते-देखते; राज-पुत्राणाम्—राजा के पुत्रों का; तत्र—वहाँ; एव—निश्चय ही; अन्तर्दधे—अर्न्तधान हो गये; हरः—शिवजी।

महर्षि मैत्रेय ने विदुर से आगे कहा : हे विदुर, शिवजी ने इस प्रकार से राजा बर्हिषत् के पुत्रों को उपदेश दिया। राजकुमारों ने भी शिवजी की अगाध भक्ति के साथ तथा श्रद्धापूर्वक पूजा की। अन्त में वे राजकुमारों की दृष्टि से ओझल हो गये।

तात्पर्य : इस अध्याय से प्राचीन काल में राजा के अधीन साम्राज्य सम्बन्धी एक महान् शिक्षा प्राप्त होती है। राजा बर्हिषत् ने राजकार्य से निवृत्त होने के पूर्व अपने पुत्रों को तप करने के लिए भेज दिया जिससे वे प्रजा की भलाई करने योग्य आदर्श राजा बन सकें। इसी के साथ ही राजा बर्हिषत् नारद मुनि से भौतिक जगत तथा इसका उपभोग करने वाले जीवात्मा के विषय में उपदेश ग्रहण कर रहे थे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि राज्य का भार ग्रहण करने के पूर्व राजा तथा राजकुमारों को किस प्रकार प्रशिक्षित किया जाता था। प्रजा के कल्याण-कार्यों का लक्ष्य भगवान् को समझना होता था। यह मनुष्य-जीवन ईश्वर तथा उनसे अपने सम्बन्ध को समझने तथा उनकी सेवा में कार्य करने के लिए विशेष रूप से प्राप्त होता है। चूँकि प्रजा की आध्यात्मिक शिक्षा का दायित्व राजा के ऊपर रहता था, अत: राजा तथा प्रजा दोनों ही कृष्णभक्ति में प्रसन्न रहते थे। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना होगा कि प्राचीन बर्हिषत् का राज-वंश नारद मुनि के प्रसिद्ध शिष्य तथा भगवद्भक्त महाराज ध्रुव से चला आ रहा है। राजा प्राचीन

बर्हिषत् विभिन्न प्रकार के यज्ञों को सम्पन्न करने के कारण सकाम कर्मों में अत्यधिक व्यस्त रहते थे। ऐसे यज्ञों के करने से कोई स्वर्गलोक की प्राप्ति कर सकता है, किन्तु उसकी मुक्ति अथवा भगवद्धाम जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। जब नारद मुनि ने देखा कि महाराज ध्रुव का वंशज इस प्रकार के सकाम कर्मों में लगा रहकर पथभ्रष्ट हो रहा है, तो नारद जी को उस पर दया आई और वे स्वयं उसे जीवन के परम वरदान, भक्तियोग, का उपदेश देने के लिए आये। इस पच्चीसवें अध्याय में अत्यन्त रोचक ढंग से इसका वर्णन हुआ है कि नारद मुनि ने किस प्रकार राजा प्राचीन बर्हिषत् को परोक्ष रूप में भक्तियोग से अवगत कराया।

रुद्रगीतं भगवतः स्तोत्रं सर्वे प्रचेतसः ।
जपन्तस्ते तपस्तेपुर्वर्षाणामयुतं जले ॥ २ ॥

शब्दार्थ

रुद्र-गीतम्—शिवजी द्वारा गाया गया गीत; भगवतः—भगवान् का; स्तोत्रम्—स्तुति; सर्वे—सभी; प्रचेतसः—प्रचेता नामक राजकुमार; जपन्तः—उच्चारण करते हुए; ते—उन सबों ने; तपः—तपस्या; तेपुः—साधना की; वर्षाणाम्—वर्षों की; अयुतम्—दस हजार; जले—जल के भीतर।

सभी प्रचेतागण दस हजार वर्षों तक जल के भीतर खड़े रहकर शिवजी द्वारा दिये गये स्तोत्र का जप करते रहे।

तात्पर्य : निस्सन्देह, इस युग में यह सुनकर किसी के भी अत्यन्त आश्चर्य होगा कि वे राजकुमार दस हजार वर्षों तक किस प्रकार जल में खड़े रहे। किन्तु चाहे वायु में खड़ा रहना हो या जल के भीतर—दोनों एकसमान हैं। केवल सीखना-भर है कि इसे कैसे किया जाये। जलचर तो जल के भीतर आजीवन रहते हैं। जल में रह सकने के लिए विशेष अनुकूल स्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं। उन दिनों लोग एक लाख वर्ष तक जीवित रहते थे। यदि इस अवधि में से कोई दस हजार वर्ष तपस्या में लगा देता था, तो उसका भावी जीवन सफल हो जाता था। अतः यह कोई आश्चर्यजनक बात न थी। यद्यपि इस युग में ऐसा चमत्कार असम्भव है, किन्तु सतयुग में संभव था।

प्राचीनबर्हिषं क्षत्तः कर्मस्वासक्तमानसम् ।
नारदोऽध्यात्मतत्त्वज्ञः कृपालुः प्रत्यबोधयत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

प्राचीनबर्हिषम्—राजा प्राचीनबर्हिषत् को; क्षत्तः—हे विदुर; कर्मसु—सकाम कर्मों में; आसक्त—रत; मानसम्—चित्त; नारदः—नारदमुनि ने; अध्यात्म—अध्यात्मविद्या; तत्त्व-ज्ञः—विशारद, सत्य का ज्ञाता; कृपालुः—कृपा करके; प्रत्यबोधयत्—उपदेश दिया।

जब राजकुमार जल के भीतर कठिन तपस्या कर रहे थे तो उनके पिता विभिन्न प्रकार के सकाम कर्म सम्पन्न करने में रत थे। उसी समय समस्त आध्यात्मिक जीवन के ज्ञाता तथा शिक्षक परम सन्त नारद ने राजा पर अत्यन्त कृपालु होकर उन्हें आध्यात्मिक जीवन के विषय में उपदेश देने का निश्चय किया।

तात्पर्य : जैसाकि भगवान् चैतन्य के परम भक्त प्रबोधानन्द सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है, *कैवल्य* अर्थात् ब्रह्मतेज के साथ तादात्म्य, एक प्रकार से नरक को जाना है। इसी प्रकार स्वर्गिक जीवन का आनन्द उठाने के लिए स्वर्ग जाने की इच्छा भी मायाजाल है। इसका अर्थ यह हुआ कि भक्त कभी भी ज्ञानियों तथा कर्मियों के अन्तिम लक्ष्य को कोई महत्त्व प्रदान नहीं करता। कर्मियों का अन्तिम लक्ष्य स्वर्गलोक को प्राप्त करना है और ज्ञानियों का लक्ष्य ब्रह्मतेज के साथ तदाकार होना है। जैसाकि भगवान् चैतन्य ने पुष्टि की है, ज्ञानी निस्सन्देह, कर्मियों से श्रेष्ठ हैं। *कोटि कर्मनिष्ठमध्ये एक 'ज्ञानी' श्रेष्ठ*—"एक ज्ञानी अर्थात् निर्विशेषवादी हजारों सकाम कर्मियों से श्रेष्ठ होता है" (*चैतन्य-चारितामृत, मध्य* १९.१४७) अतः भक्त कभी भी कर्म के पथ में प्रविष्ट नहीं होता। जब नारद मुनि ने राजा को सकाम कर्म में व्यस्त देखा तो उन्हें दया आई। इसमें सन्देह नहीं कि संसारी कर्मियों की तुलना में यज्ञ सम्पन्न करके उच्चलोक की आकांक्षा करने वाले श्रेष्ठ हैं, किन्तु शुद्ध भक्ति में कर्म तथा ज्ञान दोनों ही माया के मोहक गुण माने जाते हैं।

श्रेयस्त्वं कतमद्राजन्कर्मणात्मन ईहसे ।
दुःखहानिः सुखावाप्तिः श्रेयस्तन्नेह चेष्यते ॥ ४॥

शब्दार्थ

श्रेयः—चरम अशीर्वाद, वर; त्वम्—तुम; कतमत्—वह क्या है?; राजन्—हे राजा; कर्मणा—सकाम कार्म द्वारा; आत्मनः—आत्मा का; ईहसे—चाहते हो; दुःख-हानिः—समस्त कष्टों का लोप; सुख-अवाप्तिः—समस्त सुखों की प्राप्ति; श्रेयः—आशीर्वाद; तत्—वह; न—कभी नहीं; इह—इस प्रसंग में; च—तथा; इष्यते—प्राप्य है।

नारद मुनि ने राजा प्राचीनबर्हिषत् से पूछाः हे राजन्, तुम इन सकाम कर्मों के द्वारा कौन सी इच्छा पूरी करना चाहते हो? जीवन का मुख्य उद्देश्य तो समस्त कष्टों से छुटकारा पाना तथा सुख भोगना है, किन्तु इन दोनों को सकाम कर्म द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता।

तात्पर्य : इस संसार में मोह ने वास्तविक बुद्धि को अच्छादित कर रखा है। रजोगुणी व्यक्ति किञ्चित् लाभ के लिए कठोर श्रम करने को उद्यत रहता है, किन्तु उसे इसका ज्ञान भी नहीं रहता कि काल उसे सदा के लिए कुछ भी भोगने नहीं देगा। श्रम की तुलना में मनुष्य को जो लाभ मिलता है, वह उपयोगी नहीं होता और यदि उपयोगी हुआ भी, तो निरापद नहीं होता। यदि कोई मनुष्य पैदायती धनी नहीं है और वह घर, मोटर तथा अन्य भौतिक वस्तुएँ खरीदना चाहता है, जिसके लिए उसे वर्षों अहर्निश श्रम करना पड़ता है। इस प्रकार बिना कुछ कष्ट उठाये सुख की प्राप्ति नहीं होती।

वास्तव में इस संसार के भीतर विशुद्ध सुख तो मिल ही नहीं सकता। यदि हम कोई सुखोपभोग करना चाहते हैं, तो बदले में कोई दूसरा कष्ट उठाना होगा। कुल मिलाकर दुख इस संसार की प्रकृति बन चुका है और हम जो भी सुख भोगना चाहते हैं वह मात्र छलावा (मोह) है। अन्ततः हम सबों को जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु के कष्ट सहने पड़ते हैं। भले ही हम बढ़िया से बढ़िया दवाएँ खोज निकालें, किन्तु रोग या मृत्यु द्वारा उत्पन्न कष्टों को रोक पाना असम्भव है। वस्तुतः दवा, रोग अथवा मृत्यु के लिए निराकरण नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि इस संसार में कहीं भी सुख नहीं है, किन्तु मोहग्रस्त व्यक्ति तथाकथित सुख के लिए कठिन श्रम करता है। निस्सन्देह कठिन श्रम करने को ही सुख मान लिया जाता है। यही मोह है।

इसीलिए नारद मुनि ने राजा प्राचीनबर्हिषत् से पूछा कि वे इतने व्ययसाध्य यज्ञों को करके क्या पाना चाह रहे हैं। यदि कोई स्वर्गलोक पा भी ले तो उसे जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु से छुटकारा नहीं मिल सकता। चाहे तो कोई यह तर्क कर सकता है कि भक्तों को भी भक्ति के लिए कठिन तपस्या करते समय अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं। निस्सन्देह, नवदीक्षितों के लिए भक्ति-साधना अत्यन्त कष्टप्रद लग सकती है, किन्तु उन्हें यह आशा तो बनी रहती है कि अन्ततः उनके सारे कष्ट दूर होंगे और उन्हें सुख की चरम अवस्था प्राप्त हो सकेगी। सामान्य कर्मियों को ऐसी आशा नहीं रहती, क्योंकि उन्हें स्वर्गलोक की प्राप्ति हो भी जाय तो जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु से मुक्ति का कोई आश्वासन प्राप्त नहीं रहता। यहाँ तक कि सर्वोच्च लोक (ब्रह्मलोक) में स्थित ब्रह्मा को भी मरना पड़ता है। भले ही ब्रह्मा का जन्म तथा मृत्यु सामान्य व्यक्ति के जन्म तथा मृत्यु से भिन्न हो, किन्तु इस संसार में वे भी जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु के दुख से बच नहीं पाते। अतः यदि कोई सचमुच इन कष्टों से मुक्ति का इच्छुक

है, तो उसे भक्ति करनी चाहिए। इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (४.९) में की है।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

''हे अर्जुन! जो व्यक्ति मेरे प्राकट्य तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति से अवगत है, वह इस शरीर को त्यागने पर इस भौतिक जगत में पुन: जन्म नहीं लेता वरन् मेरे धाम को प्राप्त होता है।''

इस प्रकार भक्त पूर्ण कृष्णभक्ति प्राप्त करने पर मृत्यु के पश्चात् इस संसार में फिर नहीं आता। वह भगवान् के धाम को वापस जाता है। यही सुख की चरमावस्था है, जिसमें दुख का लेशमात्र भी नहीं रहता।

राजोवाच
न जानामि महाभाग परं कर्मापविद्धधी: ।
ब्रूहि मे विमलं ज्ञानं येन मुच्येय कर्मभि: ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने उत्तर दिया; न—नहीं; जानामि—जानता हूँ; महा-भाग—हे महापुरुष; परम्—दिव्य; कर्म—कर्मों के द्वारा; अपविद्ध—बींधी जाकर; धी:—मेरी बुद्धि; ब्रूहि—कृपया बताइये; मे—मुझको; विमलम्—विशुद्ध; ज्ञानम्—ज्ञान; येन—जिससे; मुच्येय—मैं छुटकारा पा सकूँ; कर्मभि:—कर्मों से।

राजा ने उत्तर दिया: हे महात्मन् नारद, मेरी बुद्धि सकाम कर्मों में उलझी हुई है, अत: मुझे अपने जीवन के चरम लक्ष्य का ज्ञान नहीं रह गया है। कृपा करके मुझे विशुद्ध ज्ञान प्रदान कीजिये जिससे मैं सकाम कर्मों के बन्धन से छुटकारा पा सकूँ।

तात्पर्य : श्री नरोत्तमदास ठाकुर का गीत है—

सत्संग छाडि' कैनु असते विलास।

ते-कारणे लागिल ये कर्म-बन्ध-फाँस॥

जब तक मनुष्य सकाम कर्मों से बँधा रहेगा उसे एक के बाद दूसरा शरीर धारण करना होगा। यह *कर्म-बन्ध-फाँस* कहलाती है। चाहे कोई पुण्यकर्मों से बँधा रहे या पापकर्मों से, दोनों ही भौतिक शरीरों में बँधे रहने के कारण हैं। पुण्यकर्मों के कारण मनुष्य समृद्ध परिवार में जन्म लेकर अच्छी शिक्षा तथा सुन्दर शरीर प्राप्त कर सकता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उसको जीवन के दुखों से छुटकारा मिल गया। पाश्चात्य देशों में न तो समृद्ध परिवार में जन्म लेना कोई असामान्य बात है, न उच्च

शिक्षा तथा सुन्दर शरीर प्राप्त करना ही, किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं है कि पाश्चात्य लोग जीवन के कष्टों से मुक्त हैं। यद्यपि आजकल पाश्चात्य देशों की तरुण पीढ़ी को पर्याप्त शिक्षा, शारीरिक सुन्दरता तथा धन उपलब्ध है और यद्यपि वहाँ पर्याप्त भोजन, वस्त्र तथा इन्द्रियतृप्ति की समस्त सुविधाएँ सुलभ हैं, किन्तु वे दुखी हैं। दरअसल वे इतने दुखी हैं कि वे हिप्पी बन रहे हैं और प्रकृति के नियम उन्हें अत्यन्त दुखमय जीवन बिताने के लिए बाध्य करते हैं। वे मैले-कुचैले घूमते हैं। न तो उनके कोई आश्रय है, न भोजन है। वे सड़कों में सोते हैं। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि कोई पुण्यकर्म करने से ही सुखी नहीं बन सकता। यह सच नहीं है कि जो राजसी ठाठ-बाट में जीवन बिताते हैं, वे जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु के भौतिक कष्टों से मुक्त हैं। अत: कोई पुण्य या पापकर्मों के आधार पर ही सुखी नहीं हो सकता। ऐसे कर्मों से केवल बन्धन तथा एक शरीर से दूसरे में देहान्तर होता है। नरोत्तम दास ठाकुर इसे ही *कर्म-बन्ध-फाँस* कहते हैं।

राजा प्राचीनबर्हिषत् ने इसे स्पष्टत: स्वीकार करते हुए नारद मुनि से प्रश्न किया कि वे इस *कर्म-बन्ध-फाँस* से किस प्रकार निकल सकते हैं। *वेदान्त सूत्र* के प्रथम श्लोक में वस्तुत: यही बात कही गई है—*अथातो ब्रह्म जिज्ञासा।* जब मनुष्य *कर्म-बन्ध-फाँस* का निर्वाह करते हुए हताश दशा को प्राप्त हो जाता है, तो वह जीवन के वास्तविक महत्त्व के विषय में जिज्ञासा प्रकट करता है। यही *ब्रह्म-जिज्ञासा* है। जीवन के चरमलक्ष्य के विषय में जिज्ञासा करने के लिए वेदों का (*मुण्डकोपनिषद्* ११.२.१२) आदेश है—*तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्*—"तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए।"

राजा प्राचीनबर्हिषत् को नारद मुनि जैसे परम गुरु मिले, अत: उन्होंने उस ज्ञान के विषय में प्रश्न किया जिससे *कर्म-बन्ध-फाँस* से छूटा जा सके। मानव जीवन का यही वास्तविक उद्देश्य है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.२.१०) में कहा गया है *जीवस्य तत्व-जिज्ञासा जाथेयिश चेह कर्मभि:* मनुष्य का एकमात्र कार्य है कि वह प्रामाणिक गुरु से *कर्म-बन्ध-फाँस* से निकलने का उपाय पूछे।

गृहेषु कूटधर्मेषु पुत्रदारधनार्थधी: ।
न परं विन्दते मूढो भ्राम्यन्संसारवर्त्मसु ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; कूट-धर्मेषु—छद्म धर्म में; पुत्र—पुत्र; दार—स्त्री; धन—सम्पत्ति; अर्थ—जीवन लक्ष्य पुरुषार्थ; धी:—मानने वाला; न—नहीं; परम्—परम; विन्दते—प्राप्त करता है; मूढ:—दुष्ट; भ्राम्यन्—घूमता हुआ; संसार—संसार के; वर्त्मसु—रास्तों पर।

जो तथाकथित सुन्दर जीवन अर्थात् सन्तान तथा स्त्री में फँस कर गृहस्थ के रूप में रहने तथा सम्पत्ति के पीछे लगे रहने में ही रुचि रखते हैं, वे इन्हीं वस्तुओं को जीवन का चरम लक्ष्य मान बैठते हैं। ऐसे लोग जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त किये बिना इस संसार में ही विभिन्न देहों में घूमते रहते हैं।

तात्पर्य : जो लोग गृहस्थ जीवन के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं—जिसका अर्थ है स्त्री, बच्चों, सम्पत्ति तथा घर गृहस्थी से बँधे रहना—वे कूट धर्म में लगे रहते हैं। प्रह्लाद महाराज ने इस *कूट धर्म* को *अन्धकूप* कहा है। उन्होंने जान बूझकर इसे *अन्धकूप* कहा है, क्योंकि यदि मनुष्य इस कुएँ में गिर जाता है, तो वह मर जाता है। भले ही वह सहायता के लिए चीखे चिल्लाये, किन्तु कोई सुनेगा नहीं या कोई उसकी सहायता के लिए आगे नहीं आता।

भ्राम्यन् संसार-वर्त्मषु पद महत्त्वपूर्ण शब्द हैं। *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (मध्य १९.१५१) में श्री चैतन्य महाप्रभु ने स्पष्ट बताया है—*ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।* सभी जीवात्माएँ विभिन्न लोकों में भिन्न-भिन्न शरीर धारण करके विचरण करती हैं और यदि घूमते घूमते भगवत्कृपा से किसी भक्त से उनकी भेंट हो जाती है, तो उनके जीवन सार्थक हो जाते हैं। यद्यपि राजा प्राचीनबर्हिषत् सकाम कर्म में लगे हुए थे, किन्तु नारदमुनि उनके समक्ष प्रकट हुए। राजा अत्यन्त भाग्यवान था कि उसे नारद की संगति प्राप्त हो सकी। उन्होंने उसे आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान किया। समस्त सन्तों का कर्तव्य है कि वे नारद मुनि के चरणचिह्नों पर चलते हुए संसार भर के प्रत्येक देश तथा गाँव में विचरण करें और मोहग्रस्त व्यक्तियों को जीवन-उद्देश्य के विषय में उपदेश देकर उन्हें कर्म-बन्ध-फाँस से छुड़ाएँ।

नारद उवाच

भो भोः प्रजापते राजन्पशून्पश्य त्वयाध्वरे ।
संज्ञापिताञ्जीवसङ्घान्निर्घृणेन सहस्रशः ॥ ७॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद मुनि ने उत्तर दिया; भोः भोः—हे, अरे; प्रजा-पते—हे प्रजा के शासक; राजन्—हे राजा; पशून्—पशुओं को; पश्य—देखो; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अध्वरे—यज्ञ में; संज्ञापितान्—मारे गये; जीव-सङ्घान्—पशु समूह; निर्घृणेन—निर्दयतापूर्वक; सहस्रशः—हजारों।

नारद मुनि ने कहा : हे प्रजापति, हे राजन्, तुमने यज्ञस्थल में जिन पशुओं का निर्दयतापूर्वक

वध किया है, उन्हें आकाश में देखो।

तात्पर्य : चूँकि वेदों में पशु-यज्ञ की संस्तुति है, अत: समस्त धार्मिक अनुष्ठानों में पशुबलि दी जाती है। किन्तु शास्त्रों में दी गई विधि से पशुबलि करके संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। मनुष्य को इन अनुष्ठानों से ऊपर उठकर वास्तविक सत्य—जीवन लक्ष्य—जानने का प्रयत्न करना चाहिए। नारद मुनि ने राजा को जीवन के असली लक्ष्य का उपदेश देकर उसके हृदय में वैराग्य की भावना जगानी चाही। ज्ञान तथा वैराग्य ही जीवन के चरमलक्ष्य हैं। बिना ज्ञान के मनुष्य भौतिक सुखों को नहीं छोड़ सकता और भौतिक सुख से विरक्त हुए बिना मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर सकता। कर्मी प्राय: इन्द्रियतृप्ति में लगे रहते हैं और इसके लिए वे अनेक सारे पापकर्म कर सकते हैं। पशुवध तो ऐसे पापकर्मों में से एक है। फलत: नारदमुनि ने अपनी योगशक्ति से राजा प्राचीनबर्हिषत् को वे सारे मृत पशु दिखलाये जिनका राजा ने वध किया था।

एते त्वां सम्प्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशसं तव ।
सम्परेतमय:कूटैश्छिन्दन्त्युत्थितमन्यव: ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

एते—ये सब; त्वाम्—तुम्हारी; सम्प्रतीक्षन्ते—प्रतीक्षा कर रहे हैं; स्मरन्त:—स्मरण करते हुए; वैशसम्—पीड़ा; तव—तुम्हारी; सम्परेतम्—मृत्यु के पश्चात्; अय:—लोहे के; कूटै:—सींगों से; छिन्दन्ति—छेदेंगे; उत्थित—जागृत; मन्यव:—क्रोध।

ये सारे पशु तुम्हारे मरने की प्रतीक्षा कर रहे हैं जिससे वे उन पर किये गये आघातों का बदला ले सकें। तुम्हारी मृत्यु के बाद वे अत्यन्त क्रोधपूर्वक तुम्हारे शरीर को लोहे के अपने सींगों से बेध डालेंगे।

तात्पर्य : नारद मुनि का उद्देश्य राजा प्राचीनबर्हिषत् का ध्यान यज्ञों में होने वाले अत्यधिक पशुवध के अत्याचार की ओर आकृष्ट करना था। शास्त्रों का कथन है कि यज्ञ में पशुओं का वध करने से उन्हें मनुष्य-जन्म प्राप्त होता है। इसी प्रकार जो क्षत्रिय युद्धभूमि में न्यायोचित उद्देश्य से अपने शत्रुओं से लड़ते हुए अपने शत्रुओं को मारते हैं, वे मृत्यु के पश्चात् स्वर्गलोक प्राप्त करते हैं। मनुस्मृति में कहा गया है कि राजा के लिए यह आवश्यक है कि वह हत्यारे को इसी जीवन में दण्डित करे जिससे अपने अपराधों के लिए उसे अगले जन्म में कष्ट न भोगना पड़े। इसी आधार पर नारद मुनि राजा को आगाह कर रहे हैं कि उसके द्वारा यज्ञ में जितने पशुओं का वध हुआ है वे उसकी मृत्यु के बाद अपना बदला

लेने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। नारद मुनि यहाँ पर अपनी बात का खंडन नहीं कर रहे हैं। नारद मुनि राजा को विश्वास दिलाना चाहते थे कि अत्यधिक पशुवध खतरनाक है, क्योंकि यदि ऐसे यज्ञ में थोड़ी-सी भी त्रुटि रह जाती है, तो बलि किया गया पशु मनुष्य देह नहीं पा सकता। फलत: यज्ञ करने वाले पुरुष को ऐसे पशु की मृत्यु के लिए उत्तरदायी होना पड़ेगा, ठीक वैसे जैसे कोई हत्यारा अन्य व्यक्ति की हत्या के लिए जिम्मेदार होता है जब किसी बूचड़खाने में पशुओं का वध किया जाता है, तो उस वध के लिए छ: व्यक्ति उत्तरदायी होते हैं, जो उस वध से सम्बधित हैं। जो व्यक्ति पशुवध की आज्ञा देता है, जो वध करता है, जो उसकी सहायता करता है, जो उसके मांस को खरीदता है, जो उसके मांस को पकाता है तथा जो उसे खाता है—ये सब हत्या के लिए उत्तरदायी बनते हैं। नारद मुनि राजा का ध्यान इसी तथ्य की ओर आकृष्ट करना चाह रहे थे। इस प्रकार से यज्ञ में भी पशुवध को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता।

अत्र ते कथयिष्येऽमुमितिहासं पुरातनम् ।
पुरञ्जनस्य चरितं निबोध गदतो मम ॥ ९॥

शब्दार्थ

अत्र—यहाँ पर; ते—तुमसे; कथयिष्ये—कहूँगा; अमुम्—इस प्रसंग में; इतिहासम्—इतिहास; पुरातनम्—अत्यन्त प्राचीन; पुरञ्जनस्य—पुरञ्जन के विषय में; चरितम्—उसका चरित्र, आख्यान; निबोध—समझने का यत्न करो; गदत: मम—मैं सुना रहा हूँ।.

इस सम्बन्ध में मैं एक प्राचीन इतिहास सुनाना चाहता हूँ जो पुरञ्जन नामक राजा के चरित से सम्बन्धित है। इसे ध्यानपूर्वक सुनो।

तात्पर्य : नारद मुनि एक दूसरे प्रसंग की ओर मुड़ गये—यह था राजा पुरञ्जन का इतिहास। यह राजा प्राचीनबर्हिषत् का इतिहास है, जिसे भिन्न ढंग से कहा गया है। दूसरे शब्दों में, यह रूपक या अन्योक्ति है। *पुरञ्जन* शब्द का अर्थ है ''जो देह का भोग करता है।'' इसकी स्पष्ट व्याख्या अगले कुछ अध्यायों में मिलती है। चूँकि भौतिक कर्मों में रत व्यक्ति भौतिक कार्यों से सम्बद्ध कहानियाँ सुनना चाहता है, अत: नारद ने राजा पुरञ्जन का चरित सुनाना प्रारम्भ किया जो एक तरह से प्राचीनबर्हिषत् का ही इतिहास था। नारद मुनि ने प्रत्यक्षरूप से यज्ञों की भर्त्सना नहीं की जिनमें पशुबलि दी जाती थी; किन्तु भगवान् बुद्ध ने प्रत्यक्ष रूप से ऐसा किया। श्रील जयदेव गोस्वामी ने कहा—*निन्दसि यज्ञ विधेरहह श्रुतिजातम्। श्रुतिजातम्* शब्द बताता है कि वेदों में पशुयज्ञ की संस्तुति है, किन्तु भगवान् बुद्ध

ने पशुयज्ञ बन्द कराने के लिए वैदिक प्रमाण का विरोध किया। फलत: जो वेदों के अनुयायी हैं, वे भगवान् बुद्ध को नहीं मानते। चूँकि वे वेदों के प्रमाण को नहीं मानते, इसलिए उन्हें नास्तिक के रूप में चित्रित किया जाता है। नारद मुनि वेदों के प्रमाण की अवहेलना नहीं कर सकते, किन्तु वे राजा प्राचीनबर्हिषत् को बता देना चाहते थे कि कर्मकाण्ड का मार्ग अत्यन्त कठिन एवं खतरनाक है।

मूर्ख लोग इन्द्रियसुख के लिए कर्मकाण्ड के कठिन मार्ग का अनुसरण करते हैं और जो लोग इन्द्रियसुख के प्रति अत्यधिक अनुरक्त रहते हैं, वे मूढ़ (दुष्ट) कहलाते हैं। मूढ़ अत्यन्त कठिनाई से जीवन के चरम लक्ष्य को समझ पाते हैं। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन को अग्रसर करते समय हमें सचमुच यह देखने को मिलता है कि अनेक लोग इसके प्रति आकृष्ट नहीं होते, क्योंकि वे सकाम कर्म में लगे रहने वाले मूढ़ हैं। कहा भी गया है—*उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये।* यदि मूर्ख व्यक्ति को उपदेश दिया जाता है, तो वह क्रुद्ध होता है और उपदेश से लाभ उठाने के बजाय उसके विरुद्ध कार्य करता है। चूँकि नारद मुनि इससे भली-भाँति परिचित थे, अत: उन्होंने अप्रत्यक्ष रीति से राजा को उसका पूरा इतिहास बताकर उपदेश देना चाहा। सोने या हीरे की नथुनी या बाली पहनने के लिए नाक या कान छिदवाना पड़ता है। इन्द्रियतृप्ति के लिए इस प्रकार की पीड़ा कर्मकाण्ड के मार्ग पर सह ली जाती है। यदि कोई भविष्य में सुख चाहता है, तो उसे वर्तमान में कष्ट उठाना पड़ेगा। यदि कोई भविष्य में करोड़पती बनकर सुखोपभोग करना चाहता है, तो उसे इस जीवन में धन संचित करने के लिए अत्यधिक श्रम करना होगा। यही *कर्म-काण्ड* है। जो इस मार्ग के प्रति अनुरक्त हैं उन्हें खतरे तो सहने ही पड़ते हैं। नारद मुनि राजा प्राचीनबर्हिषत् को दिखा देना चाहते थे कि सकाम कर्म में लगे रहने के लिए कितने महान् कष्ट सहने पड़ते हैं। जो व्यक्ति भौतिक कर्म के प्रति अत्यधिक आसक्त रहता है, वह *विषयी* कहलाता है। *विषयी* का अर्थ है विषय का भोग करने वाला, जिसका अर्थ है खाना, सोना, संभोग करना तथा अपनी रक्षा करना। नारद मुनि राजा पुरञ्जन की कथा के माध्यम से यह बताना चाह रहे हैं कि खाना, सोना, संभोग करना तथा अपनी रक्षा करना—ये सारे कर्म अत्यन्त कष्टप्रद एवं खतरनाक हैं।

इतिहासम् तथा *पुरातनम्* शब्द यह बताते हैं कि यद्यपि जीवात्मा भौतिक शरीर के भीतर रहता है, किन्तु उसका इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। इस सम्बन्ध में श्रील भक्ति विनोद ठाकुर का गीत है—

अनादि कर्मफले, पड़ि' भवार्णवजले, तरिबारे ना देखि उपाय—''अपने पूर्वकर्मों के कारण मैं संसार रूपी सागर के जल में गिर गया हूँ और अब मुझे इसमें से निकलने का कोई उपाय नहीं सूझ रहा।'' इस भौतिक जगत में प्रत्येक जीवात्मा अपने विगत कर्मों के कारण दुख उठा रहा है, अत: हर एक का अपना-अपना प्राचीन इतिहास है। मूर्ख भौतिक विज्ञानियों ने विकास सम्बन्धी अपने-अपने सिद्धान्त बनाये हैं जिनका सम्बन्ध केवल भौतिक शरीर से है। किन्तु वास्तव में यही असली विकास नहीं है। असली विकास तो जीवात्मा का इतिहास है, जो *पुरञ्जन* अर्थात् शरीर के भीतर रहने वाला है। श्री नारद मुनि इस विकास सिद्धान्त की व्याख्या विज्ञ पुरुषों के लिए भिन्न रूप में करेंगे।

आसीत्पुरञ्जनो नाम राजा राजन्बृहच्छ्रवा: ।
तस्याविज्ञातनामासीत्सखाविज्ञातचेष्टित: ॥ १० ॥

शब्दार्थ

आसीत्—था; पुरञ्जन:—पुरञ्जन; नाम—नामक; राजा—राजा; राजन्—हे राजा; बृहत्-श्रवा:—यशस्वी, जिसके कार्य महान् थे; तस्य—उसका; अविज्ञात—अविज्ञात, ज्ञात न होना; नामा—नामक; आसीत्—था; सखा—मित्र; अविज्ञात—अज्ञात; चेष्टित:—जिसके कर्म।

हे राजन्, प्राचीन काल में पुरुञ्जन नामक एक राजा था, जो अपने महान् कार्यों के लिए विख्यात था। उसके एक मित्र था जिसका नाम अविज्ञात (अज्ञात) था। अविज्ञात के कार्यों को कोई भी नहीं समझ सकता था।

तात्पर्य : प्रत्येक जीवात्मा *पुरञ्जन* है। *पुरम्* शब्द का अर्थ है ''इस शरीर के भीतर या इस रूप के भीतर'' तथा *जन* का अर्थ है ''जीवात्मा''। अत: प्रत्येक व्यक्ति *पुरञ्जन* है। प्रत्येक जीवात्मा अपने शरीर का राजा माना जा सकता है, क्योंकि जीवात्मा को अपनी इच्छानुसार शरीर का उपभोग करने की छूट है। वह अपने शरीर को सामान्यत: इन्द्रियतृप्ति में लगाता है, क्योंकि जिसे देहात्मबुद्धि प्राप्त है, वह इन्द्रियों की सेवा को ही जीवन का चरम लक्ष्य समझता है। यह *कर्मकाण्ड* विधि है। जिसे आन्तरिक ज्ञान नहीं है, जो यह नहीं जानता कि वह वास्तव में शरीर के भीतर का जीवात्मा है और जो इन्द्रियों के आदेशों का ही पालन करता है, वह भौतिकतावादी है। ऐसा व्यक्ति जो मात्र इन्द्रियतृप्ति में रुचि रखता है *पुरञ्जन* कहलाता है। चूँकि ऐसा व्यक्ति अपनी इन्द्रियों का उपभोग अपनी सनक के अनुसार करता है, अत: उसे राजा भी कहा जा सकता है। एक गैर जिम्मेदार राजा अपने राजसी पद को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति मानकर इन्द्रियतृप्ति के हेतु अपने कोष का दुरुपयोग करने लगता है।

बृहच्छ्रवाः शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। *छ्रवः* शब्द का अर्थ है "यश"। जीवात्मा अत्यन्त प्राचीन काल से विख्यात है जैसाकि *भगवद्गीता* (२.२०) में कहा गया है—*न जायते म्रियते वा*—"जीवात्मा न कभी उत्पन्न होता है और न मरता है।" शाश्वत होने से, जीवात्मा के कर्म भी शाश्वत हैं, भले ही वह उन्हें विभिन्न शरीरों में सम्पन्न करे। *न हन्यते हन्यमाने शरीरे*—"इस शरीर का विनाश हो जाने पर भी वह मरता नहीं।" इस प्रकार जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में देहान्तर करता है और विभिन्न कर्म करता रहता है। प्रत्येक शरीर में जीवात्मा न जाने कितने कार्य करता है। कभी वह वीर बनता है—जैसे हिरण्यकशिपु तथा कंस या कि आधुनिक युग में नैपोलियन या हिटलर। ऐसे पुरुषों के कार्य सचमुच महान् होते हैं, किन्तु उनके शरीर का नाश होते ही सभी कुछ नष्ट हो जाता है। केवल उनका नाम रह जाता है। अतः जीवात्मा को *बृहच्छ्रवाः* कहा जा सकता है; वह नाना प्रकार के कार्यों के फलस्वरूप विख्यात हो सकता है। तो भी उसके एक मित्र होता है, जिसे वह नहीं जानता। भौतिकतावादी पुरुष यह नहीं जानते कि परमात्मा रूप में ईश्वर प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में विद्यमान है। यद्यपि परमात्मा जीवात्मा के निकट मित्र रूप में आसीन रहता है, किन्तु जीवात्मा उसे नहीं जान पाता। फलस्वरूप उसे *अविज्ञात-सखा* कहा गया है, जिसका अर्थ है "जिसके एक अज्ञात मित्र है।" *अविज्ञात-चेष्टितः* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जीवात्मा को परमात्मा के निर्देशानुसार कठिन श्रम करना पड़ता है और वह प्राकृतिक नियमों के द्वारा संचालित होता है। तो भी वह अपने को ईश्वर तथा प्रकृति के कठोर नियमों से स्वतंत्र मानता है। *भगवद्गीता* (२.२४) में कहा गया है—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥

"यह व्यष्टि आत्मा अटूट तथा अघुलनशील है। न तो इसे जलाया जा सकता है न सुखाया जा सकता है। यह नित्य, सर्वव्यापी, अपरिवर्तनशील, अचर तथा सनातन (शाश्वत) है।"

जीवात्मा सनातन (शाश्वत) है। चूँकि इसे न तो किसी हथियार से मारा जा सकता है, न अग्नि से जलाया जा सकता है, न जल से भिगोया जा सकता है, न वायु से सुखाया जा सकता है, अतः इसे भौतिक प्रतिक्रियाओं से निर्लिप्त माना गया है। यद्यपि वह शरीर बदलता रहता है, किन्तु उस पर भौतिक परिस्थितियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह भौतिक परिस्थितियों में रहकर अपने मित्र

परमात्मा के आदेशानुसार कार्य करता रहता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

"मैं प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न हैं।" इस प्रकार भगवान् परमात्मा रूप में प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित है और जीवात्मा जिस दिशा में कार्य करना चाहता है उसे वैसे ही निर्देशित करता है। जीवात्मा को यह पता नहीं है कि इस जन्म में तथा विगत जन्मों में भगवान् उसे सभी प्रकार की इच्छाएँ पूरी करने का अवसर प्रदान करता रहा है। भगवान् की स्वीकृति के बिना कोई भी इच्छा पूरी नहीं हो सकती। भगवान् द्वारा प्रदत्त समस्त सुविधाओं के प्रति बद्धजीव अचेत रहता है।

सोऽन्वेषमाणः शरणं बभ्राम पृथिवीं प्रभुः ।
नानुरूपं यदाविन्ददभूत्स विमना इव ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सः—वह राजा पुरञ्जन; अन्वेषमाणः—खोजता हुआ; शरणम्—आश्रय; बभ्राम—घूमा; पृथिवीम्—सम्पूर्ण पृथ्वीलोक पर; प्रभुः—स्वतंत्र स्वामी बनने के लिए; न—कभी नहीं; अनुरूपम्—इच्छानुकूल, उपयुक्त; यदा—जब; अविन्दत्—पा सका; अभूत्—हुआ; सः—वह; विमनाः—खिन्न; इव—सदृश।

राजा पुरञ्जन अपने रहने के लिए उपयुक्त स्थान खोजने लगा और इस तरह वह सारा संसार घूम आया। फिर भी कड़ी दौड़-धूप के बाद भी उसे अपनी इच्छा के अनुकूल कोई स्थान नहीं मिला। अन्त में वह अत्यन्त खिन्न और निराश हो उठा।

तात्पर्य : पुरञ्जन का भ्रमण ठीक वैसा ही था जैसाकि आज के हिप्पियों का। सामान्यतः ये हिप्पी उच्चकुल के तथा बड़े बाप की सन्तानें होते हैं। ऐसा नहीं है कि वे सदैव निर्धन ही रहे हों। वे किसी न किसी तरह अपने धनी माता-पिता के आश्रय को त्याग कर सारे विश्व भर में घूमते रहते हैं। जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख किया गया है, जीवात्मा *प्रभु* बनना चाहता है। *प्रभु* का अर्थ है "स्वामी" किन्तु वस्तुतः जीवात्मा स्वामी नहीं होता, वह तो ईश्वर का नित्य दास है। जब जीवात्मा भगवान् श्रीकृष्ण की शरण त्याग कर स्वतंत्र रूप से प्रभु बनना चाहता है, तो वह सारी सृष्टि का चक्कर लगाता है। जीवन की चौरासी लाख योनियाँ हैं और इस सृष्टि में अरबों-खरबों लोक हैं। जीवात्मा इन समस्त योनियों तथा विभिन्न लोकों में भटकता रहता है और वह राजा पुरञ्जन के समान है, जिसने अपने अनुकूल स्थान की खोज करने के लिए सारे विश्व का भ्रमण किया था।

श्री नरोत्तमदास ठाकुर के गीत की पंक्तियाँ हैं—*कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, केवल विषेर भाण्ड*—"कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के पथ विष के मजबूत बर्तन के तुल्य हैं।" *अमृत बलिया येबा खाय, नाना योनि सदा फिरे*—"जो धोखे से इस विष को अमृत समझ कर पीता है, वह विभिन्न योनियों में घूमता रहता है।" *कदर्य भक्षण करे*—"और वह अपने शरीर के अनुसार सभी प्रकार की घृणित वस्तुएँ खाता है।" उदाहरणार्थ, जब जीवात्मा शूकर का शरीर धारण करता है, तो वह विष्टा खाता है। जब वह कौवे के रूप में रहता है, तो सभी प्रकार का मल, यहाँ तक कि पीब तथा मज्जा भी खाता है और प्रसन्न होता है। इस प्रकार नरोत्तमदास ठाकुर यह इंगित करते हैं कि जीवात्मा विभिन्न शरीरों में भ्रमण करता और कुत्सित से कुत्सित पदार्थ खाता रहता है और जब वह अन्तत: सुखी नहीं हो पाता तो या तो खिन्न रहने लगता है या फिर हिप्पी बन जाता है।

अत: इस श्लोक में कहा गया है कि राजा को कहीं भी कोई उपयुक्त स्थान नहीं मिल पाया (*न अनुरूपम्*)। इसका कारण यह है कि किसी भी योनि में तथा संसार के किसी भी लोक में जीवात्मा सुखी नहीं रह सकता क्योंकि इस संसार की प्रत्येक वस्तु आत्मा के अनुकूल नहीं है। जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है, जीवात्मा स्वतंत्र होकर प्रभु बनना चाहता है, किन्तु ज्योंही वह इस विचार को अपने मन से निकाल देता है और ईश्वर अर्थात् श्रीकृष्ण का दास बन जाता है, तो वह तुरन्त सुखी हो जाता है। इसीलिए श्रील भक्तिविनोद ठाकुर गाते हैं—*मिछे मायार वशे, याच्छ भेसे', खाच्छ हाबुडुबु भाइ*—"हे जीव! तुम माया की तरंगों में क्यों बहे जा रहे हो?" *भगवद्गीता* (१८.६१) में कहा गया है—

ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

"हे अर्जुन! परमेश्वर प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित है और उन सभी जीवों का निर्देशन कर रहा है, जो माया रूपी यंत्र पर आरूढ़ हैं।"

जीवात्मा शरीर रूपी यंत्र द्वारा अनेक योनियों में से होकर न जाने कितने-कितने लोकों में ले जाया जाता है। इसीलिए भक्तिविनोद ठाकुर जीवात्मा से पूछते हैं कि उसे क्यों इन शारीरिक यंत्रों द्वारा इतनी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में ले जाया जा रहा है। उनका उपदेश है कि कृष्ण की शरण में जाने से माया

की तरंगों को पार किया जा सकता है—*जीव कृष्णदास, ए विश्वास, कर्ले त'आर दु:ख नाइ।* ज्योंही कृष्ण से हमारा साक्षात्कार हो जाता है, भगवान् आदेश देते हैं कि—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच: ॥

"सभी प्रकार के धर्मों को छोड़कर एकमात्र मेरी शरण में आओ। मैं तुम्हें सारे पापकर्मों से मुक्त कर दूँगा। डरो नहीं। (*भगवद्गीता* १८.६६)।

इस प्रकार हम तुरन्त ही एक शरीर से दूसरे में और एक लोक से दूसरे लोक में विचरण करने की झंझट से मुक्त हो जाते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—*ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव* (*चैतन्य-चरितामृत, मध्य* १९.१५१)। यदि कोई भ्रमण करता हुआ जीवात्मा इतना भाग्यशाली हुआ कि भक्तों की संगति कर सके और कृष्णभावनाभावित हो सके तो वास्तव में यहीं से उसका असली जीवन प्रारम्भ हो जाता है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन सभी भटकती हुई जीवात्माओं को श्रीकृष्ण की शरण में जाने का तथा इस प्रकार सुखी बनने का अवसर प्रदान करता है।

इस श्लोक के *विमना इव* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इस भौतिक जगत में स्वर्ग का राजा इन्द्र भी चिन्ता से पूर्ण रहता है। जहाँ ब्रह्मा तक चिन्तित हों वहाँ इस लोक के सामान्य प्राणियों का क्या कहना? *भगवद्गीता* (८.१६) भी पुष्टि करती है—*आब्रह्म भुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन*—"इस भौतिक जगत में सर्वोच्च लोक से लेकर निम्नतम लोक तक—ये सभी दुख के आगार हैं, जहाँ जन्म तथा मृत्यु बारम्बार होते रहते हैं।" इस जगत में जीवात्मा कभी सन्तुष्ट नहीं होता। यहाँ तक कि ब्रह्मा, इन्द्र या चन्द्र का पद प्राप्त करके भी मनुष्य चिन्तित रहता है, क्योंकि वह इस संसार को सुख का स्थान मानता है।

न साधु मेने ता: सर्वा भूतले यावती: पुर: ।
कामान्कामयमानोऽसौ तस्य तस्योपपत्तये ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; साधु—अच्छा; मेने—सोचा था; ता:—उनको; सर्वा:—सब; भू-तले—इस पृथ्वी पर; यावती:—सभी प्रकार के; पुर:—आवास स्थान; कामान्—इन्द्रियभोग के साधन; कामयमान:—इच्छा करते हुए; असौ—वह राजा; तस्य—उसका; तस्य—उसका; उपपत्तये—प्राप्त करने के लिए।

राजा पुरञ्जन की इन्द्रियभोग की लालसाएँ असीम थीं, अत: वह सारे संसार में ऐसा स्थान

खोजने के लिए भ्रमण करता रहा जहाँ उसकी इच्छाएँ पूरी हो सकें। किन्तु हाय! उसे सर्वत्र अभाव की अनुभूति ही प्रतीत हुई।

तात्पर्य : महान् वैष्णव कवि श्रील विद्यापति का गीत है—*तातल सैकते, वारिबिन्दुसम सुतमितरमणीसमाजे*—यहाँ पर समाज, मित्रता तथा प्यार से युक्त भौतिक इन्द्रियतृप्ति की तुलना मरुस्थल में गिरने वाली पानी की बूँद से की गई है। मरुस्थल की प्यास बुझाने के लिए तो अनेक सागरों का जल चाहिए, अत: यदि उसके ऊपर पानी की एक बूँद गिरे तो उससे क्या लाभ? इसी प्रकार जीवात्मा परम पुरुष भगवान् का अंश स्वरूप है जिन्हें *वेदान्त सूत्र* में *आनन्दमयोऽभ्यासात्* अर्थात् आनन्द से पूर्ण कहा गया है। किन्तु भगवान् के अंश होने पर जीव पूर्ण भोग (सुख) प्राप्त करने का प्रयास करता है किन्तु भगवान् से पृथक् रहकर वह पूर्ण सुख नहीं पा सकता। भले ही अनेक योनियों में भ्रमण करता हुआ जीवात्मा किसी एक शरीर में किसी प्रकार का भोग प्राप्त कर ले, किन्तु किसी भी भौतिक देह में इन्द्रियों का पूर्ण भोग प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार पुरञ्जन जीवात्मा विभिन्न देहों में घूमता है, किन्तु भोग के प्रयास में उसे सर्वत्र निराशा हाथ लगती है। दूसरे शब्दों में, पदार्थ से आच्छादित जीवात्मा को किसी भी दशा में इन्द्रियों का पूर्ण भोग प्राप्त नहीं हो सकता। कोई मृग शिकारी द्वारा किये गये संगीतमय नाद में लीन हो सकता है, किन्तु परिणाम क्या होता है—मृत्यु! इसी प्रकार मछली अपनी जीभ की तृप्ति में परम कुशल है, किन्तु जब वह मछुए द्वारा फेंके गये चारे को खा लेती है, तो उसे जान से हाथ धोना पड़ता है। यहाँ तक कि परम बलशाली हाथी भी हथिनी के साथ संभोग करते हुए पकड़े जाने पर अपनी स्वतंत्रता खो देता है। प्रत्येक योनि में जीवात्मा को अपनी इन्द्रियों की तुष्टि के लिए एक शरीर प्राप्त होता है, किन्तु एकसाथ वह सारी इन्द्रियों का भोग नहीं कर सकता। किन्तु मनुष्य जीवन में जीवात्मा को अपनी समस्त इन्द्रियों को तृप्त करने का अवसर मिलता है, किन्तु इन्द्रियतृप्ति के प्रयास में वह इतना तंग आ जाता है कि अन्तत: खिन्न हो उठता है। अपनी इन्द्रियों की तुष्टि के लिए वह जितना अधिक प्रयास करता है, उतना ही अधिक वह उलझता जाता है।

स एकदा हिमवतो दक्षिणेष्वथ सानुषु ।
ददर्श नवभिर्द्वार्भि: पुरं लक्षितलक्षणाम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सः—उस राजा पुरञ्जन ने; एकदा—एक बार; हिमवतः—हिमालय पर्वत के; दक्षिणेषु—दक्षिणी; अथ—तत्पश्चात्; सानुषु—शिखरों पर; ददर्श—देखा; नवभिः—नौ; द्वार्भिः—द्वारों से युक्त; पुरम्—नगर; लक्षित—दृश्य; लक्षणाम्—सुलक्षणों वाला।.

एक बार, इस प्रकार से विचरण करते हुए, उसने हिमालय पर्वत के दक्षिण में, भारतवर्ष नामक देश में एक नगर देखा जिसमें चारों ओर नौ दरवाजे थे और जो समस्त सुलक्षणों से युक्त था।

तात्पर्य : हिमालय पर्वत के दक्षिण का भूभाग भारतवर्ष है। जो जीव भारतवर्ष में जन्म लेता है, वह अत्यन्त भाग्यशाली माना जाता है। निस्सन्देह, चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

भारत-भूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार।

जन्म सार्थक करि'कर पर-उपकार॥

(*चै. च. आदि* ९.४१)

इस प्रकार जो भी भारतभूमि में जन्म लेता है, उसे जीवन की सारी सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। वह भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए इन सुविधाओं का उपयोग करके अपने जीवन को सार्थक बना सकता है। जीवन-उद्देश्य प्राप्त करने के पश्चात्, मनुष्य अपने ज्ञान तथा अनुभव को मानव-हित में सारे संसार में वितरित कर सकता है। दूसरे शब्दों में, जो मनुष्य अपने पूर्व-पुण्यों के कारण भारतवर्ष में जन्म लेता है, उसे इस मनुष्य-जीवन को विकसित करने की पूरी सुविधा मिलती है। भारतवर्ष की जलवायु ऐसी है कि कोई भी इसमें भौतिक परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना शान्तिपूर्वक जीवन बिता सकता है। दरअसल, महाराज युधिष्ठिर या भगवान् रामचन्द्र जी के काल में लोग समस्त चिन्ताओं से मुक्त रहते थे। न तो अधिक शीत होती थी, न अधिक गर्मी पड़ती थी। भगवान् रामचन्द्र अथवा महाराज युधिष्ठिर के काल में तीनों प्रकार के ताप (अध्यात्मिक, अधिभौतिक तथा अधिदैविक) थे ही नहीं। किन्तु इस समय, अन्य देशों की तुलना में भारत कृत्रिमतः विक्षुब्ध है। इन सब भौतिक हलचलों के बावजूद इस देश की संस्कृति ऐसी है कि मनुष्य सरलता से जीवन का लक्ष्य अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इस तरह भारतवर्ष में जन्म लेने के लिए मनुष्य को पूर्वजन्म में पुण्य करने होते हैं।

इस श्लोक का *लक्षित-लक्षणाम्* शब्द सूचित करता है कि भारतवर्ष में शरीर धारण करना अत्यन्त शुभ है। वैदिक संस्कृति ज्ञानमय है और इस देश में जन्म लेने वाला मनुष्य यहाँ के वैदिक ज्ञान तथा

सांस्कृतिक पद्धति का, जिसे *वर्णाश्रम-धर्म* कहते हैं, लाभ उठा सकता है। आज भी विश्व में भ्रमण करते समय बहुत से ऐसे देश हमारी दृष्टि में आये हैं जहाँ मनुष्यों को सारी भौतिक सुविधाएँ हैं, किन्तु आध्यात्मिक उन्नति के लिए कोई सुविधा नहीं हैं। हमें सर्वत्र या तो सुविधाओं का अभाव मिलता है या एकांगी सुविधाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। अंधा चल सकता है, किन्तु देख नहीं सकता और लँगड़ा चल नहीं सकता, किन्तु देख सकता है। *अन्ध-पङ्गु-न्याय।* अंधा व्यक्ति लँगड़े को अपने कंधे पर बिठा सकता है और लँगड़ा आदमी उसे रास्ता बता सकता है। इस प्रकार वे सहयोग से काम चला लेते हैं, किन्तु अलग-अलग वे देखने या चलने का काम ठीक से नहीं कर सकते। इसी प्रकार यह मनुष्य देह आध्यात्मिक जीवन एवं भौतिक सुविधाओं को व्यवस्थित रखने के लिए प्राप्त हुई है। पाश्चात्य देशों में तो विशेष रूप से भौतिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं, किन्तु किसी को आध्यात्मिक उन्नति का कोई ज्ञान नहीं है। अनेक लोग आध्यात्मिक ज्ञान के पीछे दीवाने हैं, किन्तु बीच में अनेक ठग आकर उनका धन ले कर उन्हें उल्लू बनाकर चले जाते हैं। सौभाग्यवश कृष्णभावनामृत-आन्दोलन भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए सभी प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करता है। इसलिए पाश्चात्य देशों के लोगों को चाहिए कि इस आन्दोलन का लाभ उठाएँ। भारत के गाँव, जो आज भी औद्योगिक शहरों से अछूते हैं, वहाँ कोई चाहे जिस भी अवस्था में हो उस में रह सकता है और आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है। इस शरीर को नौ द्वारों से युक्त नगर कहा गया है। ये नौ द्वार हैं—दो नेत्र, दो कान, दो नथुने, एक मुँह, उपस्थ तथा गुदा। जब नवों द्वार स्वच्छ रहें और ठीक से कार्य करें तो समझना चाहिए कि शरीर स्वस्थ है। भारतवर्ष में ग्रामीणों द्वारा ये नौ द्वार स्वच्छ रखे जाते हैं, क्योंकि वे प्रात:काल जल्दी उठकर नदी या कुएँ में स्नान करते हैं, मन्दिर में जाकर मंगल-आरती करते हैं और हरे कृष्ण महामंत्र का उच्चारण करके प्रसाद ग्रहण करते हैं। इस प्रकार मनुष्य जीवन की प्रत्येक सुविधा का लाभ उठाया जा सकता है। हम पाश्चात्य देशों में अपने संघ के विभिन्न केन्द्रों में इस पद्धति को क्रमश: लागू कर रहे हैं। जो इसका लाभ उठाता है, वह आध्यात्मिक जीवन की ओर अधिकाधिक उन्मुख होता है। इस समय भारतवर्ष की तुलना लँगड़े व्यक्ति से की जा सकती है और पाश्चात्य देशों की अंधे व्यक्ति से। विगत दो हजार वर्षों से भारतवर्ष विदेशी शासकों के अधीन रहा है, जिससे उसकी प्रगति लँगड़ी हो चुकी है। पाश्चात्य देशों में भौतिक ऐश्वर्य की चमक-दमक से लोगों की आँखें अंधी हो चुकी हैं। इस

कृष्णाभावनामृत-आन्दोलन में भारतवर्ष के लँगड़े व्यक्ति तथा पाश्चात्य देश के अंधे व्यक्ति को मिल जाना चाहिए। तब भारत का लँगड़ा मनुष्य पाश्चात्य देश के अंधे वासी की सहायता से चल सकता है और पाश्चात्य देश का अंधा भारत के लँगड़े की सहायता से देख सकता है। संक्षेप में, पाश्चात्य देशों की भौतिक उन्नति तथा भारत की आध्यात्मिक निधि को समस्त मानव समाज की उन्नति के लिए एकसाथ जोड़ दिया जाना चाहिए।

प्राकारोपवनाट्टालपरिखैरक्षतोरणैः ।
स्वर्णरौप्यायसैः शृङ्गैः सङ्कुलां सर्वतो गृहैः ॥ १४॥

शब्दार्थ

प्राकार—दीवालें; उपवन—उद्यान; अट्टाल—अटारियाँ, मीनारें; परिखैः—खाइयों से; अक्ष—खिड़कियों; तोरणैः—द्वारों से; स्वर्ण—सोना; रौप्य—चाँदी; अयसैः—लोहे से निर्मित; शृङ्गैः—कंगूरों या शिखरों से; सङ्कुलाम्—खचाखच भरा हुआ; सर्वतः—चारों ओर; गृहैः—घरों से।

वह नगर चारों ओर दीवालों तथा उद्यानों से घिरा था और उसके भीतर मीनारें, नहरें, खिड़कियाँ तथा झरोखे थे। वहाँ के घर सोने, चाँदी तथा लोहे के बने गुम्बदों से अलंकृत थे।

तात्पर्य : शरीर की सुरक्षा के लिए त्वचा की दीवाल होती है। शरीर के रोम उद्यानों के तुल्य हैं तथा नाक तथा मस्तक जैसे उच्चस्थ भाग मीनारों के समान हैं। शरीर में पड़ी हुई झुर्रियाँ खाइयों या नहरों के तुल्य हैं, आँखें झरोखे हैं और पलकें सुरक्षात्मक दरवाजे हैं। तीन प्रकार की धातुएँ—सोना, चाँदी तथा लोहा—ये प्रकृति के तीन गुणों के सूचक हैं। सोना सतोगुण का, चाँदी रजोगुण का तथा लोहा तमोगुण का प्रतीक है। इस शरीर को कभी-कभी तीन तत्त्वों (त्रिधातुओं) से युक्त एक थैला कहा जाता है। ये त्रिधातुएँ हैं—कफ, पित्त तथा वायु। *यस्मात्बुद्धिः कुणपे त्रिधातुके। भागवत* के अनुसार (१०.८४.१३) जो व्यक्ति कफ, पित्त तथा वात के इस थैले को आत्मा (स्व) मानता है, वह गाय या गधे के तुल्य है।

नीलस्फटिकवैदूर्यमुक्तामरकतारुणैः ।
क्लिप्तहर्म्यस्थलीं दीप्तां श्रिया भोगवतीमिव ॥ १५॥

शब्दार्थ

नील—नीलम; स्फटिक—स्फटिक; वैदूर्य—हीरे; मुक्ता—मोती; मरकत—पन्ना; अरुणैः—लालों से; क्लिप्त—सजा हुआ; हर्म्य-स्थलीम्—राजमहल की फर्शें; दीप्ताम्—दीप्ति युक्त; श्रिया—सौंदर्य से; भोगवतीम्—भोगवती नामक स्वर्ग की नगरी; इव—सदृश।

उस नगर के घरों की फर्शें नीलम, स्फटिक, हीरे, मोती, पन्ना तथा लाल से निर्मित थीं। घरों की कान्ति के कारण यह नगर भोगवती नामक स्वर्गीय नगरी के समान लग रहा था।

तात्पर्य : इस शरीर रूपी नगर की राजधानी हृदय है। जिस प्रकार किसी राज्य की राजधानी में ऊँचे-ऊँचे तथा कान्तिमय प्रासाद रहते हैं, उसी प्रकार हृदय अनेक इच्छाओं तथा विषयभोग की अनेक योजनाओं से पूर्ण होता है। ऐसी योजनाओं की तुलना कभी कभी नीलम, स्फटिक, पन्ना, मोती इत्यादि से की जा सकती है। इस प्रकार हृदय भौतिक सुख की समस्त योजनाओं का केन्द्र बना रहता है।

सभाचत्वररथ्याभिराक्रीडायतनापणैः ।
चैत्यध्वजपताकाभिर्युक्तां विद्रुमवेदिभिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सभा—सभा भवन; चत्वर—चौराहे; रथ्याभिः—सड़कों से; आक्रीड-आयतन—द्यूतक्रीड़ा स्थल; आपणैः—दूकानों से; चैत्य—विहार स्थल; ध्वज-पताकाभिः—ध्वज तथा पताकाओं से; युक्ताम्—सुसज्जित; विद्रुम—वृक्षरहित; वेदिभिः—चबूतरों से।.

उस नगर में अनेक सभाभवन, चौराहे, सड़कें, खान-पान-गृह, द्यूतक्रीड़ा-स्थल, बाजार, विश्रामालय, झंडियाँ, पताकाएँ तथा सुन्दर उद्यान थे। वह नगर इन सबसे घिरा था।

तात्पर्य : राजधानी का इस प्रकार से वर्णन हुआ है। राजधानी में अनेक सभागार तथा चौराहे, अनेक सड़कें तथा वीथियाँ, द्यूतक्रीड़ा स्थल, बाजार, विश्राम-गृह हुआ करते हैं, जो तरह-तरह की झंडियों तथा पताकाओं से सजे होते हैं। चौराहों में चारों ओर वेदिका स्तम्भ लगे रहते हैं और ये चौराहे वृक्षों से रहित होते हैं। शरीर का हृदय सभागार के समान है, क्योंकि जीवात्मा परमात्मा सहित हृदय के भीतर स्थित रहता है, जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।* यह हृदय ही समस्त स्मृति, विस्मृति तथा विचार विमर्ष का केन्द्र होता है। शरीर में आँखें, कान तथा नाक इन्द्रियभोग के आकर्षण-स्थल के तुल्य हैं तथा शरीर के भीतर चलने वाली वायु इधर-उधर जाने वाली सड़कों के तुल्य हैं। शरीर के भीतर तथा स्नायुओं में वायु को नियमित करने की योगविधि *सुषुम्ना* कहलाती है, जिसका अर्थ है मोक्ष का मार्ग। यह शरीर विश्रामालय के तुल्य है, क्योंकि जीवात्मा थककर इस शरीर में ही विश्राम करता है। हथेलियाँ तथा तलवे झंडे तथा झंडियों के तुल्य माने जा सकते हैं।

पुर्यास्तु बाह्योपवने दिव्यद्रुमलताकुले ।
नदद्विहङ्गालिकुलकोलाहलजलाशये ॥ १७॥

शब्दार्थ

पुर्याः—नगर के; तु—तब; बाह्य-उपवने—बाहरी उद्यान में; दिव्य—अत्यन्त सुन्दर; द्रुम—वृक्ष; लता—बेलों; आकुले—से पूरित; नदत्—शब्द करते हुए; विहङ्ग—पक्षी; अलि—भौंरा; कुल—समूह; कोलाहल—गुंजार; जल-आशये—सरोवर में।

उस नगर के बाहर एक सुन्दर सरोवर के चारों ओर अनेक सुन्दर वृक्ष तथा लताएँ थीं। उस सरोवर में पक्षियों तथा भौंरों के झुंड के झुंड थे, जो सदैव कूजते तथा गुंजार करते थे।

तात्पर्य : चूँकि यह शरीर एक विशाल नगर के तुल्य है, अत: उसमें इन्द्रियभोग के लिए जलाशयों तथा उद्यानों की व्यवस्था होनी चाहिए। शरीर के विभिन्न अंगों में से जो इन्द्रियों को उत्तेजित करने वाले हैं, उनकी चर्चा यहाँ अप्रत्यक्ष रूप से हुई है। चूँकि शरीर में जननेद्रियाँ होती हैं, अत: उम्र आने पर, चाहे नर हो या नारी, कामोत्तेजना उत्पन्न होती है। व्यक्ति जब तक बालक रहता है, सुन्दर स्त्री को देखकर उसके मन में उत्तेजना उत्पन्न नहीं होती। इन्द्रियों के होते हुए भी जब तक परिपक्व अवस्था नहीं होती, कामोत्तेजना उत्पन्न नहीं होती। यहाँ पर कामोत्तेजना उत्पन्न करने वाली अनुकूल परिस्थितियों की उपमा सुन्दर उद्यान से दी गई है। जब कोई स्त्री को देखता है, तो सहज ही कामोत्तेजना उत्पन्न होती है। कहा जाता है कि यदि मनुष्य एकान्त स्थान में स्त्री को देखे और उसका मन उत्तेजित न हो, तो वह ब्रह्मचारी समझा जाता है। किन्तु ऐसा कर पाना प्राय: असम्भव है। काम वासना इतनी प्रबल होती है कि स्त्री के दर्शन, स्पर्श या बोलने से या उसका विचार आने जैसे ऐसे कई कारणों से मनुष्य उत्तेजित हो उठता है। फलत: ब्रह्मचारी या संन्यासी को स्त्री के संग में, विशेष रूप से एकान्त में रहने के लिए वर्जित किया जाता है। शास्त्रों का मत है कि स्त्री से एकान्त में बातें नहीं करनी चाहिए, भले ही वह अपनी पुत्री, बहिन या माता ही क्यों न हो। कामोत्तेजना इतनी प्रबल होती है कि विद्वान् से विद्वान् पुरुष ऐसी परिस्थितियों में उत्तेजित (कामुक) हो उठता है। यदि ऐसी स्थिति है, तो भला सुन्दर उद्यान में सुन्दर तरुणी को देखकर कोई कैसे शान्त रह सकता है?

हिमनिर्झरविप्रुष्मत्कुसुमाकरवायुना ।
चलत्प्रवालविटपनलिनीतटसम्पदि ॥ १८॥

शब्दार्थ

हिम-निर्झर—हिमाच्छादित पर्वत प्रपातों से; विप्रुट्-मत्—जलकणों को ले जाकर; कुसुम-आकर—वासन्ती; वायुना—वायु से; चलत्—हिलते हुए; प्रवाल—शाखाएँ; विटप—वृक्ष; नलिनी-तट—कमलिनी से भरे सरोवर के तट पर; सम्पदि—ऐश्वर्यवान।

सरोवर के तट पर खड़े हुए वृक्षों की शाखाएँ उन जलकणों को ग्रहण कर रही थीं जो हिमाच्छादित पर्वत से गिरने वाले झरनों से वासन्ती वायु द्वारा ले जाये जा रहे थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *हिम-निर्झर* शब्द विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जलप्रपात (झरना) *रस* (सम्बन्ध) का द्योतक है। शरीर में अनेक प्रकार के रस हैं। इनमें से सर्वश्रेष्ठ रस *आदि-रस* (शृंगार रस) कहलाता है। जब *आदि-रस* कामदेव द्वारा प्रेरित वासन्ती वायु के सम्पर्क में आता है, तो यह उत्तेजित हो उठता है। दूसरे शब्दों में, ये सब रूप, रस, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श के प्रतिरूप हैं। वायु स्पर्श है, प्रपात रस (स्वाद) है, वासन्ती वायु (*कुसुमाकर*) सुगन्धि है। ये विविध भोग जीवन को मोहक बनाते हैं और हम भौतिक संसार के वशीभूत हो जाते हैं।

नानारण्यमृगव्रातैरनाबाधे मुनिव्रतैः ।
आहूतं मन्यते पान्थो यत्र कोकिलकूजितैः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

नाना—विभिन्न; अरण्य—वन; मृग—पशु; व्रातैः—समूहों से; अनाबाधे—अहिंसा के मामले में; मुनि-व्रतैः—मुनियों के तुल्य; आहूतम्—मानो बुलाये जा रहे हों; मन्यते—सोचता है; पान्थः—यात्री, पथिक; यत्र—जहाँ; कोकिल—कोयल के; कूजितैः—कू-कू करने से।

ऐसे वातावरण में वन के पशु भी मुनियों के समान ही अहिंसक एवं ईर्ष्याहीन हो गये थे, अतः वे किसी पर आक्रमण नहीं करते थे। यही नहीं, सर्वत्र कोयलें कूज रही थीं। उस रास्ते से निकलने वाले किसी भी पथिक को मानो उस सुन्दर उद्यान में विश्राम करने का निमंत्रण दिया जा रहा हो।

तात्पर्य : स्त्री तथा बच्चों से भरापूरा परिवार वन के शान्त वातावरण के सदृश है। बच्चों की तुलना अहिंसक पशुओं से की गई है। कभी-कभी स्त्रियों तथा बच्चों को *स्वजनाख्य-दस्यु* कहा जाता है, जिसका अर्थ है कि स्वजनों के नाम से लुटेरे। मनुष्य अत्यन्त परिश्रम से धन कमाता है, किन्तु उसकी पत्नी तथा बच्चों द्वारा उसका धन उसी प्रकार हथिया लिया जाता जिस प्रकार जंगल के रास्ते से जाने वाले व्यक्ति को चोर तथा लुटेरे लूट लेते हैं। फिर भी परिवार के भीतर पत्नी तथा बच्चों की यह धमा-चौकड़ी पारिवारिक उद्यान में कोयल की कूक के समान प्रतीत होती है। ऐसे वातावरण द्वारा आमंत्रित

किया जाकर मनुष्य जो आनन्दमय पारिवारिक जीवन बिताता है अपने परिवार को हर हालपर अपने साथ रखना चाहता है।

यदृच्छयागतां तत्र ददर्श प्रमदोत्तमाम् ।
भृत्यैर्दशभिरायान्तीमेकैकशतनायकैः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यदृच्छया—अचानक, बिना किसी प्रयोजन के; आगताम्—आयी हुई; तत्र—वहाँ; ददर्श—देखा; प्रमदा—एक स्त्री; उत्तमाम्—अत्यन्त सुन्दरी; भृत्यैः—सेवकों से घिरी; दशभिः—दस; आयान्तीम्—आगे आती हुई; एक-एक—प्रत्येक; शत—सौ; नायकैः—मुखिया, पति के साथ।

उस अद्भुत उद्यान में विचरण करते हुए राजा पुरञ्जन ने अचानक एक सुन्दर स्त्री देखी जो अनायास ही चली आ रही थी। उसके साथ दस नौकर थे और प्रत्येक नौकर के साथ सैकड़ों पत्नियाँ थीं।

तात्पर्य : शरीर की उपमा सुन्दर उद्यान से दी जा चुकी है। युवावस्था में कामवासना जाग्रत होती है और स्त्री के साथ सहवास करने के लिए बुद्धि अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार उन्मुख होती है। प्रत्यक्ष रूप से न सही, बुद्धि या कल्पना के द्वारा प्रत्येक स्त्री या पुरुष विपरीत लिंग की खोज में रहता है। बुद्धि मन को प्रेरित करती है और मन दसों इन्द्रियों को वश में करता है। इनमें से पाँच तो ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। प्रत्येक इन्द्रिय न जाने कितनी इच्छाएँ पूरा करने की चाह रखती है। ऐसी स्थिति है इस शरीर की तथा शरीर के स्वामी पुरञ्जन की, जो शरीर के भीतर बसा है।

पञ्चशीर्षाहिना गुप्तां प्रतीहारेण सर्वतः ।
अन्वेषमाणामृषभमप्रौढां कामरूपिणीम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

पञ्च—पाँच; शीर्ष—सिर; अहिना—सर्प द्वारा; गुप्ताम्—रक्षित; प्रतीहारेण—अंगरक्षक द्वारा; सर्वतः—चारों ओर; अन्वेषमाणाम्—खोज करती हुई; ऋषभम्—पति; अप्रौढाम्—भोली-भाली, किशोरी; काम-रूपिणीम्—अत्यन्त आकर्षक।

वह स्त्री पाँच फनों वाले एक सर्प द्वारा चारों ओर से रक्षित थी। वह अत्यन्त सुन्दरी तथा तरुणी थी और उपयुक्त पति खोजने के लिए अत्यधिक उत्सुक प्रतीत हो रही थी।

तात्पर्य : जीव के शरीर के भीतर प्राण-शक्ति के रूप में पाँच प्रकार के वायु—प्राण, अपान, व्यान, समान तथा उदान—कार्य करते हैं। प्राण की तुलना सर्प से की गई है, क्योंकि वह केवल हवा पीकर

रह सकता है। वायु द्वारा ले जाये गये प्राण को प्रतिहार या अंगरक्षक के रूप में वर्णित किया गया है। प्राण के बिना कोई एक पल भी जीवित नहीं रह सकता। दरअसल, सारी इन्द्रियाँ प्राण के अधीन कार्य करती हैं।

वह स्त्री, जो बुद्धि की प्रतीक है, पति की तलाश में थी। इससे पता चलता है कि बुद्धि चेतना के बिना कार्य नहीं कर सकती। सुन्दर स्त्री जब तक उपयुक्त पति द्वारा रक्षित नहीं होती, तब तक वह व्यर्थ है। बुद्धि को सदैव नवीन रहना चाहिए, इसीलिए यहाँ *अप्रौढाम्* (तरुणी) शब्द प्रयुक्त हुआ है। भौतिक भोग का अर्थ है रूप, रस, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श के लिए बुद्धि का प्रयोग।

सुनासां सुदतीं बालां सुकपोलां वराननाम् ।
समविन्यस्तकर्णाभ्यां बिभ्रतीं कुण्डलश्रियम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सु-नासाम्—अत्यन्त सुन्दर नाक; सु-दतीम्—अत्यन्त सुन्दर दाँत; बालाम्—तरुणी; सु-कपोलाम्—सुन्दर मस्तक; वर-आननाम्—सुन्दर मुख; सम—समान रूप से; विन्यस्त—व्यवस्थित; कर्णाभ्याम्—दोनों कान; बिभ्रतीम्—चमचमाते हुए; कुण्डल-श्रियम्—सुन्दर कुण्डलों (बालियों) वाली।

उस स्त्री के नाक, दाँत तथा मस्तक सभी अतीव सुन्दर थे। उसके कान भी समान रूप से सुन्दर थे और चमचमाते कुण्डलों से सुशोभित थे।

तात्पर्य : बुद्धि का शरीर इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं को भोगता है, जो उसे ऊपर से ढके हैं—यथा गंध, दृष्टि तथा ध्वनि। *सुनासाम्* (सुन्दर नाक) शब्द गंध के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की इन्द्रिय को सूचित करता है। इसी प्रकार स्वाद के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने का यंत्र मुख है, क्योंकि किसी वस्तु को चबा कर तथा जीभ से स्पर्श करके उसका स्वाद जाना जा सकता है। *सुकपोलाम्* (सुन्दर मस्तक) उस विमल मस्तिष्क (मन) का सूचक है, जो वस्तुओं को उसी रूप में जानने में समर्थ है। बुद्धि द्वारा सारी वस्तुएँ व्यवस्थित की जा सकती हैं। दोनों कानों में पहने गये कुण्डल बुद्धि की ही करामात हैं। इस प्रकार यहाँ पर ज्ञान प्राप्त करने की विधियों का वर्णन-आलंकारिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

पिशङ्गनीवीं सुश्रोणीं श्यामां कनकमेखलाम् ।
पद्भ्यां क्वणद्भ्यां चलन्तीं नूपुरैर्देवतामिव ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

पिशङ्ग—पीला; नीवीम्—वस्त्र; सु-श्रोणीम्—सुन्दर कमर; श्यामाम्—श्याम रंग की; कनक—सुनहली; मेखलाम्—करधनी; पद्भ्याम्—पाँवों से; क्वणद्भ्याम्—शब्द करती हुए; चलन्तीम्—चलते हुए; नूपुरैः—नूपुरों से; देवताम्—स्वर्ग का वासी; इव—सदृश।.

उस स्त्री की कमर तथा नितम्ब अत्यन्त सुन्दर थे। वह पीली साड़ी और सुनहरी करधनी पहने थी। चलते समय उसके नूपुर खनक रहे थे। वह ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो स्वर्ग की निवासिनी हो।

तात्पर्य : इस श्लोक में उन्नत नितम्बों तथा उरोजों वाली स्त्री को, जो आकर्षक साड़ी पहने हो तथा आभूषणों से सजी हो, देखकर मन में जो आह्लाद उत्पन्न होता है उसी को व्यक्त किया गया है।

स्तनौ व्यञ्जितकैशोरौ समवृत्तौ निरन्तरौ ।
वस्त्रान्तेन निगूहन्तीं व्रीडया गजगामिनीम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

स्तनौ—दो उरोजों; व्यञ्जित—सूचित करने वाले; कैशोरौ—किशोरावस्था; सम-वृत्तौ—समान गोलाकार; निरन्तरौ—सटे हुए, अत्यन्त निकट स्थित; वस्त्र-अन्तेन—साड़ी के आँचल से; निगूहन्तीम्—ढकने का प्रयास करती हुई; व्रीडया—लज्जावश; गज-गामिनीम्—हाथी के समान चलने वाली।.

स्त्री अपनी साड़ी के अञ्चल से अपने समवर्तुल एवं सटे हुए स्तनों को ढकने का प्रयास कर रही थी। वह हाथी के समान चलती हुई लज्जावश अपने स्तनों को बारम्बार ढकने का प्रयास कर रही थी।

तात्पर्य : दोनों स्तन राग तथा द्वेष के प्रतीक हैं। *भगवद्गीता* (३.३४) में राग तथा द्वेष के लक्षणों का वर्णन हुआ है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।

तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।

"देहधारी जीवों द्वारा इन्द्रिय-पदार्थों के प्रति आकर्षण तथा विकर्षण का अनुभव होता है, किन्तु मनुष्य को इन्द्रियों तथा इन्द्रिय-पदार्थों (विषयों) के वशीभूत नहीं होना चाहिए, क्योंकि ये आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में अवरोधक हैं।"

राग तथा द्वेष के ये प्रतिनिधि आध्यात्मिक जीवन में प्रगति के लिए सर्वथा प्रतिकूल हैं। मनुष्य को स्त्री के स्तनों के प्रति आकृष्ट नहीं होना चाहिए। महान् सन्त शंकराचार्य ने स्त्री के स्तनों को रक्त तथा पेशियों का समुच्चय माना है, अत: उन्नत स्तनों के अग्रभाग की मोहक शक्ति से आकृष्ट नहीं होना

चाहिए। ये माया के दूत हैं, जो पुरुष को शिकार बनाते हैं। चूँकि स्तन समान रूप से आकर्षक होते हैं, अत: उन्हें *समवृत्तौ* कहा गया है। कामोत्तेजना वृद्ध पुरुष के भी मन में मृत्यु पर्यन्त रहती है। इस उत्तेजना से मुक्ति पाने के लिए यामुनाचार्य के समान अत्युच्च आध्यात्मिक चेतना होनी चाहिए। उन्होंने कहा है—

यदवधि मम चेत: कृष्णपादारविन्दे

नवनवरसधामन्युद्यतं रन्तुमासीत्।

तदवधि बत नारीसङ्गमे स्मर्यमाणे

भवति मुखविकार: सुष्ठु निष्ठावनं च।

"चूँकि मैं श्रीकृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर मग्न रहता हूँ, जिससे मुझे नित नूतन आनन्द प्राप्त होता है, अत: जब भी मैं काम (विषय) के आनन्द के विषय में सोचता हूँ तो इस विचार पर मैं थू-थू करता हूँ और मेरे होंठ बुरे स्वाद से अकड़ जाते हैं।" जो आध्यात्मिक रूप से आगे बढ़ा है, वह मांस तथा रुधिर के लोथड़ों से, जो नारी के स्तनस्वरूप हैं, आकृष्ट नहीं होता। *निरन्तरौ* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यद्यपि स्तन अलग-अलग स्थान पर स्थित रहते हैं, किन्तु वे एक-सा प्रभाव दिखाते हैं। हमें राग तथा द्वेष में कोई अन्तर नहीं मानना चाहिए। जैसाकि *भगवद्गीता* (३.३७) में कहा गया है—ये दोनों रजोगुण से उत्पन्न हैं (*काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव:*)।

निगूहन्तीम् (ढकने का प्रयत्न करती हुई) शब्द सूचित करता है कि भले ही कोई काम, क्रोध, लोभ आदि से रंजित क्यों न हो, किन्तु कृष्णभक्ति (चेतना) से ये सारे नष्ट हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, काम (विषय) का उपयोग कृष्ण की सेवा के लिए किया जा सकता है। काम से प्रेरित सामान्य कर्मी अहर्निश श्रम करता है; इसी प्रकार भक्त भी कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए अहर्निश काम कर सकता है। जिस प्रकार कर्मी काम-क्रोध की तुष्टि के लिए कठिन श्रम करते हैं भक्तों को चाहिए कि कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए उसी प्रकार कार्य करें। इसी प्रकार क्रोध का उपयोग भी कृष्ण की सेवा में किया जा सकता है। उसका उपयोग अभक्त असुरों पर किया जाता है। हनुमान जी ने अपने क्रोध का ऐसा ही उपयोग किया। वे भगवान् रामचन्द्र के महान् भक्त थे। उन्होंने अभक्त असुर रावण के राज्य में अग्नि लगाकर अपने क्रोध का सदुपयोग किया। इस प्रकार काम का उपयोग श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने और

क्रोध का उपयोग असुरों को दण्ड देने के लिए किया जा सकता है। जब इन दोनों का उपयोग श्रीकृष्ण की सेवा में किया जाता है, तो इनकी भौतिक महत्ता जाती रहती है और इन्हें आध्यात्मिक महत्त्व प्राप्त हो जाता है।

तामाह ललितं वीरः सव्रीडस्मितशोभनाम् ।
स्निग्धेनापाङ्गपुङ्खेन स्पृष्टः प्रेमोद्भ्रमद्भ्रुवा ॥ २५॥

शब्दार्थ

ताम्—उसको; आह—सम्बोधित किया; ललितम्—अत्यन्त धीमे से; वीरः—वीर ने; स-व्रीड—लज्जा से युक्त; स्मित—हँसते हुए; शोभनाम्—अत्यन्त सुन्दर; स्निग्धेन—काम वासना से; अपाङ्ग-पुङ्खेन—चितवन के तीर से; स्पृष्टः—इस प्रकार बिंधा हुआ; प्रेम-उद्भ्रमत्—प्रेम उत्पन्न करने वाली; भ्रुवा—भौंहों से।

वीर पुरञ्जन उस सुन्दर रमणी की भौंहो तथा मुख की मुसकान से अत्यधिक आकृष्ट हुआ और उसके कामवासना रूपी तीरों से तुरन्त बिंध गया। जब वह लजाती हुई हँसी तो पुरञ्जन को और भी सुन्दर लगी, अतः वीर होते हुए भी वह उसको सम्बोधित करने से अपने को रोक न सका।

तात्पर्य : प्रत्येक जीव दो तरह से वीर होता है। जब वह माया का शिकार होता है, तो वह भौतिक जगत में महान् वीर की तरह महान् नेता, राजनीतिज्ञ, व्यापारी, उद्योगपति इत्यादि की तरह कार्य करता है और उसके वीरतापूर्ण कार्यों से सभ्यता की प्रगति होती है। वह इन्द्रियों के स्वामी, गोस्वामी के रूप में भी वीर बन सकता है। भौतिक कार्यकलाप तो झूठे वीरतापूर्ण कार्य हैं, जबकि भौतिक विषयों से इन्द्रियों को मोड़ना महान् वीरता है। कोई भौतिक जगत में कितना ही बड़ा वीर क्यों न हो वह स्त्रियों के मांस एवं रक्त के पिंड रूपी स्तनों से तुरन्त पराजित हो जाता है। इस संसार में भौतिक कार्यों के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं—जैसे रोम का वीर अन्टोनी, जो क्लियोपात्रा की सुन्दरता पर मोहित हो गया। इसी प्रकार महाराष्ट्र की राजनीति में भारतीय वीर बाजीराव एक स्त्री का शिकार होकर पराजित हो गया। इतिहास से पता चलता है कि पहले के राजनीतिज्ञ सुन्दरियों का उपयोग प्रशिक्षित विषकन्या के रूप में किया करते थे। इन सुन्दरियों के शरीर में जीवन के प्रारम्भ से विष का टीका लगाया जाता था, जिससे वे विष के प्रभाव से प्रतिरक्षित हो जाती थी और स्वयं इतनी विषैली कि, यदि वे किसी पुरुष का चुम्बन कर लें तो वह मर जाए। इन विषकन्याओं का उपयोग शत्रु को चुम्बन मात्र से मारने के लिए किया जाता था। इस प्रकार मानव इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते

हैं जब वीरों को स्त्रियों के द्वारा ही ध्वस्त कर दिया गया। श्रीकृष्ण का अंश होने से, जीव निश्चय ही महान् वीर होता है, किन्तु अपनी इसी एक दुर्बलता के कारण वह भौतिक शरीर के प्रति आकृष्ट होता है—

कृष्ण बहिर्मुख हञा भोग-वाञ्छा करे।

निकटस्थ माया तारे जापटिया धरे।

प्रेमविवर्त में कहा गया है कि जब जीवात्मा प्रकृति को भोगना चाहता है, तो माया उस पर तुरन्त झपट्टा मारती है। जीवात्मा को जबर्दस्ती इस भौतिक जगत में नहीं भेजा जाता। वह स्त्री-आकर्षण के कारण स्वेच्छा से आता है। प्रत्येक जीव को छूट है कि वह प्रकृति द्वारा आकृष्ट हो या फिर वीर की तरह आकर्षण का विरोध करे। यह केवल जीव द्वारा आकर्षित होने या न होने का प्रश्न है। माया के सम्पर्क में जबर्दस्ती आने का प्रश्न ही नहीं उठता। जो प्रकृति के आकर्षण का प्रतिरोध करके स्थिर बना रहता है, वह वास्तव में वीर है और गोस्वामी कहलाने का पात्र है। इन्द्रियों का स्वामी बने बिना कोई गोस्वामी नहीं हो सकता। जीव इस जगत में इन दोनों स्थितियों में से एक का चयन कर सकता है। चाहे तो वह इन्द्रियों का दास बन सकता है अथवा उनका स्वामी बन सकता है। इन्द्रियों का दास बनकर मनुष्य महान् भौतिक वीर बन सकता है और इन्द्रियों का स्वामी बनकर वह आध्यात्मिक वीर अथवा गोस्वामी बन सकता है।

का त्वं कञ्जपलाशाक्षि कस्यासीह कुतः सति ।
इमामुप पुरीं भीरु किं चिकीर्षसि शंस मे ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

का—कौन; त्वम्—तुम; कञ्ज-पलाश—कमल की पंखड़ियों के समान; अक्षि—आँखें; कस्य—किसकी; असि—हो; इह—यहाँ; कुतः—कहाँ से; सति—हे साध्वी; इमाम्—यह; उप—निकट; पुरीम्—नगर; भीरु—हे डरपोक; किम्—क्या; चिकीर्षसि—करना चाहती हो; शंस—कृपा करके बताओ; मे—मुझे।

हे कमलनयनी, कृपा करके मुझे बताओ कि तुम कहाँ से आ रही हो, तुम कौन हो और तुम किसकी पुत्री हो? तुम अत्यन्त साध्वी लगती हो। यहाँ आने का तुम्हारा क्या प्रजोजन है? तुम क्या करना चाह रही हो? कृपया ये सारी बातें मुझसे कहो।

तात्पर्य : *वेदान्त सूत्र* की प्रथम सूक्ति है—*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।* मनुष्य देह पाकर अपने आपसे तथा अपनी बुद्धि से अनेक प्रश्न करने चाहिए। मनुष्य से निम्न जीवों में उनकी बुद्धि जीवन की मूल

आवश्यकताओं—खाने, सोने, संभोग करने तथा स्वयं की रक्षा करने—से ऊपर नहीं उठ पाती। कुत्ते, बिल्लियाँ तथा बाघ भी कुछ-न-कुछ खाने के लिए, कहीं-न-कहीं सोने के लिए, अपनी रक्षा के लिए तथा सफलतापूर्वक संभोग करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। किन्तु मनुष्य का शरीर पाकर उसे इतना बुद्धिमान तो होना ही चाहिए कि स्वयं से यह पूछे कि मैं कौन हूँ? मैं इस संसार में क्यों आया? मेरा क्या कर्तव्य है? परम नियन्ता कौन है? जड़ तथा जंगम में क्या अन्तर है? इत्यादि ऐसे अनेक प्रश्न हैं। जो बुद्धिमान है उसे तो प्रत्येक वस्तु के आदि स्रोत के विषय में जिज्ञासा करनी चाहिए—*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।* हर जीव में कुछ-न-कुछ बुद्धि होती है, किन्तु मनुष्य का रूप मिलने पर जीव को अपने आध्यात्मिक स्वरूप के विषय में जिज्ञासा करनी चाहिए। यही वास्तविक मानवीय बुद्धि है। कहा गया है कि जो केवल अपने शरीर के विषय में ही जागरूक रहता है, वह पशु के तुल्य है भले ही वह मानव देह-धारी हो। *भगवद्गीता* (१५.१५) में श्रीकृष्ण कहते हैं—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—मैं सबके हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होते हैं।'' पशु रूप में जीव ईश्वर से अपने सम्बन्ध को बिल्कुल भूला रहता है। यह *अपोहनम्* या विस्मृति है। किन्तु मनुष्य रूप में यह चेतना अधिक विकसित रहती है, अतः मनुष्य को ईश्वर के साथ अपना सम्बन्ध समझने का अवसर मिलता है। मनुष्य देह धारण करके उसे अपनी बुद्धि का उपयोग ऐसे ही प्रश्नों के पूछने में करना चाहिए जिस प्रकार कि पुरञ्जन जीव अज्ञात तरुणी से पूछता है कि वह कहाँ से आई है, उसका क्या काम है इत्यादि। ये *आत्मतत्त्व* के विषय में जिज्ञासाएँ हैं। निष्कर्ष यह निकला कि जब तक जीव आत्मतत्त्व (आत्म-साक्षात्कार) के विषय में जिज्ञासु नहीं होता, तब तक वह पशु के समान है।

क एतेऽनुपथा ये त एकादश महाभटाः ।
एता वा ललनाः सुभ्रु कोऽयं तेऽहिः पुरःसरः ॥ २७॥

शब्दार्थ

के—कौन; एते—ये सब; अनुपथाः—अनुचर; ये—जो; ते—तुम्हारे; एकादश—ग्यारह; महा-भटाः—अत्यन्त शूरवीर अंग रक्षक; एताः—ये सब; वा—भी; ललनाः—स्त्रियाँ; सु-भ्रु—हे सुलोचनी; कः—कौन; अयम्—यह; ते—तुम्हारा; अहिः—सर्प; पुरः—सामने; सरः—चलने वाला।

हे कमलनयनी, तुम्हारे साथ के ग्यारह बलिष्ट अंगरक्षक और ये दस विशिष्ट सेवक कौन हैं? इन दस सेवकों के पीछे-पीछे ये स्त्रियाँ कौन हैं तथा तुम्हारे आगे-आगे चलने वाला यह सर्प

कौन है?

तात्पर्य : मन के दस बलिष्ट नौकर हैं—पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। ये दसों मन की अधीक्षण में कार्य करते हैं। मन समेत ये दसों—कुल मिलकर ग्यारह—प्रबल अंगरक्षक बनते हैं। इन्द्रियों के अधीन सैकड़ों स्त्रियों को यहाँ पर *ललना:* कहा गया है। मन बुद्धि के अधीन रहकर कार्य करता है और ये दसों इन्द्रियाँ मन के अधीन रहती हैं और दस इन्द्रियों के अधीन असंख्य इच्छाएँ हैं जिनकी पूर्ति होनी है। किन्तु ये सब प्राण पर आश्रित हैं जिसे यहाँ सर्प के रूप में प्रदर्शित किया गया है। जब तक प्राण रहता है तभी तक मन कार्य करता है और मन के अधीन सारी इन्द्रियाँ काम करती हैं और इन इन्दियों से अनेक भौतिक इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। वास्तव में पुरञ्जन नामक जीव इतने सारे ताम-झाम से अत्यधिक उलझन में रहता है। यह सारा ताम-झाम अनेक प्रकार की चिन्ताओं को जन्म देता है, किन्तु जो व्यक्ति श्रीभगवान् की शरण में चला जाता है और सारा कार्य उन्हीं पर छोड़ देता है, वह ऐसी सारी चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। अत: प्रह्लाद महाराज क्षणिक भौतिक जीवन को स्वीकार करने वाले व्यक्ति को भगवान् की शरण ग्रहण करने और सारी चिन्ताओं से मुक्त होने के लिए तथा कथित जिम्मेदारियों को छोड़ देने का उपदेश देते हैं।

त्वं ह्रीर्भवान्यस्यथ वाग्रमा पतिं
विचिन्वती किं मुनिवद्रहो वने ।
त्वदङ्घ्रिकामाप्तसमस्तकामं
क्व पद्मकोश: पतित: कराग्रात् ॥ २८॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; ह्री:—लज्जा; भवानी—शिव की पत्नी; असि—हो; अथ—कि; वाक्—सरस्वती, विद्या की देवी; रमा—लक्ष्मी; पतिम्—पति के; विचिन्वती—विचार में मग्न, खोज में रत; किम्—क्या तुम हो; मुनि-वत्—मुनि के समान; रह:—एकान्त स्थान में; वने—वन में; त्वत्-अङ्घ्रि—तुम्हारे पाँव; काम—इच्छुक; आप्त—प्राप्त; समस्त—सभी; कामम्—इच्छित वस्तुएँ; क्व—कहाँ हैं; पद्म-कोश:—कमल पुष्प; पतित:—गिरा हुआ; कर—हाथ के; अग्रात्—अग्रभाग या हथेली से।

हे सुन्दर बाला, तुम साक्षात् लक्ष्मी या भगवान् शिव की पत्नी भवानी अथवा ब्रह्मा की पत्नी अर्थात् विद्या की देवी सरस्वती के समान हो। यद्यपि तुम अवश्यमेव इनमें से एक हो, किन्तु मैं तुम्हें इस वन में अकेले विचरण करती देख रहा हूँ। निस्सन्देह, तुम मुनियों की भाँति मौन हो। ऐसा तो नहीं है कि तुम अपने पति को खोज रही हो? चाहे तुम्हारा पति जो कोई भी हो, किन्तु जिस तन्मयता से तुम उसे खोज रही हो यह देखकर उसे सारे ऐश्वर्य प्राप्त हो जाएँगे। मैं सोचता हूँ

कि तुम लक्ष्मी हो, किन्तु तुम्हारे हाथ में कमल पुष्प नहीं है, अतः मैं पूछ रहा हूँ कि तुमने उसे कहाँ फेंक दिया?

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति सोचता है, वह सबसे बुद्धिमान है। कभी वह अपनी बुद्धि को शिव की पत्नी उमा की पूजा में लगाता है, जिससे सुन्दर स्त्री प्राप्त हो। कभी कभी कोई ब्रह्मा के समान विद्वान् बनना चाहता है, तो वह अपनी बुद्धि को विद्या की देवी सरस्वती की पूजा में लगाता है। कभी-कभी जब कोई विष्णु के समान ऐश्वर्यशाली बनना चाहता है, तो वह लक्ष्मी की पूजा करता है। इस श्लोक में पुरञ्जन नामक मोहग्रस्त जीव इतनी सारी जिज्ञासाएँ करता है और यह नहीं समझ पाता कि वह अपनी बुद्धि किस तरह लगाए। बुद्धि का उपयोग भगवान् की सेवा के लिए करना चाहिए। जब मनुष्य इस प्रकार अपनी बुद्धि लगाता है, तो ऐश्वर्य की देवी स्वतः अनुकूल हो जाती हैं। ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी जी कभी भी अपने पति विष्णु के बिना नहीं रहतीं, अतः जब कोई विष्णु को पूजता है, तो लक्ष्मी जी स्वतः अनुकूल हो जाती है। मनुष्य को रावण के समान अकेले लक्ष्मी की पूजा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वे दीर्घकाल तक बिना पति के नहीं रह सकतीं। इसीलिए उनका एक नाम चञ्चला है। इस श्लोक से स्पष्ट है कि उस तरुणी से बात करने वाला पुरञ्जन हमारी बुद्धि का प्रतीक है। वह उस तरुणी की लज्जाशीलता की प्रशंसा ही नहीं करता, वरन् उस लज्जा के कारण क्रमशः उसके प्रति और अधिक आकृष्ट होता जाता है। वह वास्तव में उसका पति बनना चाह रहा है, इसीलिए वह पूछता है कि क्या वह भावी पति के विषय में सोच रही है या कि वह विवाहित है। यह भोग-इच्छा का उदाहरण है। जो ऐसी इच्छाओं से आकर्षित होता है, वह इस संसार से बँध जाता है और जो आकर्षित नहीं होता उसे मोक्ष प्राप्त होता है। राजा पुरञ्जन उस तरुणी की सुन्दरता की प्रशंसा कर रहा था मानो वह लक्ष्मी हो, किन्तु साथ ही वह सतर्क था कि लक्ष्मी का भोग विष्णु के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता। चूँकि उसे सन्देह था कि वह तरुणी लक्ष्मी है या नहीं, इसीलिए वह पूछता है कि वह कमल क्यों नहीं धारण किये है? यह संसार भी लक्ष्मी के समान है, क्योंकि माया भगवान् विष्णु के निर्देशानुसार कार्य करती हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* का कथन है (*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*)।

कोई भी जीव इस संसार का भोग नहीं कर सकता। यदि कोई इसका भोग करना चाहता है, तो वह तुरन्त रावण, हिरण्यकशिपु या कंस जैसा असुर बन जाता है। चूँकि रावण ऐश्वर्य की देवी,

सीतादेवी, का भोग करना चाहता था, अत: वह अपने परिवार, सम्पत्ति तथा ऐश्वर्य सहित विनष्ट हो गया। किन्तु यदि भगवान् विष्णु चाहें तो माया को भोगा जा सकता है। अपनी इन्द्रियों तथा इच्छाओं की तुष्टि का अर्थ है लक्ष्मी का नहीं, अपितु माया का भोग।

नासां वरोर्वन्यतमा भुविस्पृक्
पुरीमिमां वीरवरेण साकम् ।
अर्हस्यलङ्कर्तुमदभ्रकर्मणा
लोकं परं श्रीरिव यज्ञपुंसा ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; आसाम्—इनके; वरोरु—हे सुभगे; अन्य-तमा—कोई भी; भुवि-स्पृक्—पृथ्वी को छूते हुए; पुरीम्—नगरी; इमाम्—यह; वीर-वरेण—महान् वीर; साकम्—सहित; अर्हसि—पात्र हो; अलङ्कर्तुम्—अलंकृत करने के लिए; अदभ्र—यशस्वी; कर्मणा—कार्यों से; लोकम्—संसार; परम्—दिव्य; श्री:—लक्ष्मी; इव—सदृश; यज्ञ-पुंसा—समस्त यज्ञों के भोक्ता सहित।

हे परम सौभाग्यशालिनी, ऐसा लगता है कि मैंने जिन स्त्रियों के नाम गिनाये हैं उनमें से तुम कोई नहीं हो, क्योंकि मैं देख रहा हूँ कि तुम्हारे पाँव पृथ्वी का स्पर्श कर रहे हैं। किन्तु यदि तुम इस लोक की कोई सुन्दरी हो, तो जिस प्रकार लक्ष्मी जी विष्णु के साथ वैकुण्ठलोक की श्रीवृद्धि करती हैं, उसी प्रकार तुम भी मेरे साथ संगति करके इस नगरी की सुन्दरता बढ़ाओ। तुम्हें ज्ञात हो कि मैं महान् वीर हूँ और इस लोक का अत्यन्त पराक्रमी राजा हूँ।

तात्पर्य : आसुरी तथा भक्तिमयी अभिरुचि में अन्तर है। भक्त यह अच्छी तरह जानते हैं कि लक्ष्मी जी जो विष्णु या नारायण की चिरसंगिनी हैं किसी जीव द्वारा भोग्या नहीं हैं। यह उच्च भावना कृष्णचेतना (भक्ति) कहलाती है। तो भी प्रत्येक व्यक्ति नारायण की समृद्धि का अनुकरण करते हुए सुखी रहना चाहता है। इस श्लोक में पुरञ्जन उस तरुणी को एक सामान्य स्त्री के रूप में मानता है, किन्तु उससे आकृष्ट होने के कारण वह उससे अनुरोध करता है कि वह उसकी संगिनी बनकर लक्ष्मी सदृश सुखी बन जाये। इस प्रकार वह अपना परिचय अत्यन्त प्रभावशाली राजा के रूप में देता है, जिससे वह स्त्री उसे अपना पति बना ले और लक्ष्मी की भाँति सुखी हो सके। भगवान् का दास बन कर इस संसार को भोगने की इच्छा देव तुल्य है, किन्तु असुर लोग भगवान् को माने बिना इस संसार का भोग करना चाहते हैं। एक असुर तथा देवता में यही अन्तर होता है।

इस श्लोक में उल्लिखित *भुवि-स्पृक्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जब कभी देवता पृथ्वी पर उतरते हैं, तो

वे भूमि का स्पर्श नहीं करते। पुरञ्जन यह जान गया कि यह तरुणी किसी दिव्य लोक अथवा उच्चतर लोकों से सम्बन्धित नहीं है, क्योंकि उसके पैर भूमि का स्पर्श कर रहे थे। चूँकि इस संसार की प्रत्येक युवती चाहती है कि उसका पति प्रभावशाली धनी और बलवान हो, अतः पुरञ्जन अपने को ऐसा ही व्यक्ति बताकर उसे बहकाना चाहता था। इस भौतिक जगत में चाहे वह नर हो या नारी, प्रत्येक व्यक्ति भोग करना चाहता है। नर सुन्दर नारी का भोग चाहता है और स्त्री शक्तिशाली ऐश्वर्यवान् पुरुष को भोगना चाहती है। इस प्रकार की भौतिक इच्छाओं से युक्त प्रत्येक जीव पुरुष या भोक्ता कहलाता है। ऊपरी तौर से ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्री भोग्या है और पुरुष भोक्ता, किन्तु भीतर से प्रत्येक जीव भोक्ता है, इसीलिए इस जगत की प्रत्येक वस्तु *माया* कहलाती है।

यदेष मापाङ्गविखण्डितेन्द्रियं
सव्रीडभावस्मितविभ्रमद्भ्रुवा ।
त्वयोपसृष्टो भगवान्मनोभवः
प्रबाधतेऽथानुगृहाण शोभने ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यत्—क्योंकि; एषः—यह; मा—मुझको; अपाङ्ग—तुम्हारी चितवन ने; विखण्डित—विचलित; इन्द्रियम्—जिसकी इन्द्रियाँ अथवा मन; स-व्रीड—लज्जायुत; भाव—प्यार; स्मित—हँसती हुई; विभ्रमत्—मोहने वाली; भ्रुवा—भौंहों वाली; त्वया—तुम्हारे द्वारा; उपसृष्टः—प्रभावित होकर; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; मनः-भवः—कामदेव; प्रबाधते—पीड़ित कर रहा है; अथ—अतः; अनुगृहाण—कृपा करो; शोभने—हे सुन्दरी।

सचमुच तुम्हारी चितवन ने आज मेरे मन को अत्यन्त विचलित कर दिया है। तुम्हारी मुस्कान लज्जायुक्त होकर भी अत्यन्त कामयुक्त होने के कारण मेरे अन्तर में परम शक्तिशाली कामदेव को जाग्रत कर रही है। अतः हे सुन्दरी, मैं तुमसे कृपा की याचना करता हूँ।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति के भीतर कामेच्छाएँ होती हैं और ज्योंही मनुष्य किसी सुन्दरी की भौंहों की गति से विचलित होता है कि भीतर से कामदेव अपना बाण हृदय पर चलाता है। इस प्रकार मनुष्य सुन्दरी की भौंहों की गति (चितवन) से तुरन्त परास्त हो जाता है। जब मनुष्य कामेच्छा से विचलित हो जाता है, तो उसकी इन्द्रियाँ सभी प्रकार के विषयों से (यथा वाणी, स्पर्श, रूप, गंध, स्वाद इत्यादि भोग्य वस्तुओं से) आकर्षित होती हैं। ये आकर्षक इन्द्रिय-वस्तुएँ (विषय) उसे स्त्री के वश में होने के लिए बाध्य कर देती हैं। इस प्रकार जीव का बद्ध जीवन प्रारम्भ होता है। बद्ध जीवन का अर्थ है स्त्री के वश में होना और जीव निश्चित रूप से स्त्री या पुरुष का कृपाकांक्षी रहता है। इस प्रकार जीव एक

दूसरे के बन्धन में रहते हैं और इस तरह माया द्वारा मोहित होकर वे बद्ध जीवन बिताते रहते हैं।

त्वदाननं सुभ्रु सुतारलोचनं
व्यालम्बिनीलालकवृन्दसंवृतम् ।
उन्नीय मे दर्शय वल्गुवाचकं
यद्व्रीडया नाभिमुखं शुचिस्मिते ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

त्वत्—तुम्हारा; आननम्—मुख; सु-भ्रु—सुन्दर भौंहों वाली; सु-तार—सुन्दर पुतलियों वाली; लोचनम्—आँखें; व्यालम्बि—छितरे हुए; नील—नीले रंग के; अलक-वृन्द—केश राशि; संवृतम्—घिरे हुए; उन्नीय—ऊपर उठाकर; मे—मुझको; दर्शय—दिखाओ; वल्गु-वाचकम्—सुनने में मधुर शब्दों वाली; यत्—जो; व्रीडया—लज्जा से; न—नहीं; अभिमुखम्—समक्ष, आमने-सामने; शुचि-स्मिते—हे सुन्दर हँसी वाली स्त्री, सुहासिनी।

हे सुन्दरी, सुन्दर भौंहों तथा आँखों से युक्त तुम्हारा मुख अत्यन्त सुन्दर है, जिस पर नीले केश बिखरे हुए हैं। साथ ही तुम्हारे मुख से मधुर ध्वनि निकल रही है। फिर भी तुम लज्जा से इतनी आवृत हो कि मेरी ओर देख नहीं पा रही। अतः हे सुन्दरी, मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि तुम हँसो और अपना सिर उठाकर मुझे देखो तो।

तात्पर्य : जब कोई व्यक्ति किसी स्त्री से आकृष्ट होता है, तो ऐसा ही कहता है। प्रकृति द्वारा इस प्रकार बँध जाना मोह कहलाता है। जब कोई माया की सुन्दरता से इस प्रकार मोहित होता है, तो वह उसे भोगने के लिए अति आतुर हो उठता है। इसका विस्तृत वर्णन पुरञ्जन के इस उदाहरण से प्राप्त होता है, जो एक सुन्दरी पर मोहित है। बद्ध जीवन में जीव मुख, भौंहों, आँखों, वाणी या अन्य किसी वस्तु से आकर्षित होता है। यदि संक्षेप में कहें तो प्रत्येक वस्तु आकर्षक बन जाती है। जब स्त्री या पुरुष एक दूसरे द्वारा आकृष्ट होते हैं, तो सुन्दर या असुन्दर का कोई अर्थ नहीं रह जाता। प्रेमी को प्रेमिका के मुख पर हर चीज अत्यन्त सुन्दर दिखती है और इस तरह से वह मोहित हो जाता है। इसी आकर्षण के कारण जीव का इस भौतिक जगत में पतन होता है। *भगवद्गीता* (७.२७) में इसका वर्णन मिलता है—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥

"हे अर्जुन! हे शत्रुओं के विजेता! समस्त जीवात्माएँ मोह में जन्म लेती हैं और इच्छा तथा द्वेष के द्वन्द्वों के कारण परास्त होती हैं।"

जीवन की यह अवस्था *अविद्या* कहलाती है। अविद्या का विलोम है वास्तविक ज्ञान। *श्रीईशोपनिषद्* में *विद्या* तथा *अविद्या* का अन्तर बताया गया है। अविद्या के द्वारा मनुष्य बद्ध होता है और विद्या से मुक्त होता है। पुरञ्जन ने यहाँ स्वीकार किया है कि वह अविद्या से आकृष्ट हुआ है। अब वह अविद्या का पूर्ण स्वरूप देखना चाहता है, अत: वह सुन्दरी से प्रार्थना करता है कि वह अपना सिर उठाए जिससे वह प्रत्यक्ष उसे देख सके। इस तरह वह उन विभिन्न अंगों को देखने का इच्छुक है, जिससे अविद्या आकर्षक बनती है।

नारद उवाच
इत्थं पुरञ्जनं नारी याचमानमधीरवत् ।
अभ्यनन्दत तं वीरं हसन्ती वीर मोहिता ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; इत्थम्—इसके पश्चात्; पुरञ्जनम्—पुरञ्जन को; नारी—स्त्री; याचमानम्—याचना करते हुए; अधीर-वत्—अत्यन्त अधीर होकर; अभ्यनन्दत—उसने सम्बोधित किया; तम्—उस; वीरम्—वीर को; हसन्ती—हँसते हुए; वीर—हे वीर; मोहिता—उससे आकृष्ट होकर।

नारद ने आगे कहा : हे राजन्, जब राजा उस सुन्दरी का स्पर्श करने तथा उसका भोग करने के लिए अत्यधिक मोहित एवं अधीर हो उठा तो वह बाला भी उसके शब्दों से आकृष्ट हुई और उसने हँसते हुए उसकी याचना स्वीकार कर ली। इस समय तक वह राजा के प्रति निश्चय ही आकृष्ट हो चुकी थी।

तात्पर्य : इस घटना से हम यह समझ सकते हैं कि जब मनुष्य आक्रान्त हो जाता है और स्त्री से प्रणय-याचना करने लगता है, तो स्त्री भी पुरुष के प्रति आकृष्ट हो जाती है। *भागवत* (५.५.८) में इस क्रिया को *पुंस:स्त्रिया मिथुनीभावमेतम्* कहा गया है। यह आकर्षण विषयी जीवन के स्तर पर उत्पन्न होता है। इस प्रकार कामोत्तेजना भौतिक बंधन का आगम स्थल है। अत: यह बद्ध जीवन अर्थात् भौतिक संभोग का आगम स्थल ही आध्यात्मिक जीवन की विस्मृति का कारण है। इस प्रकार से जीव की मूल कृष्णचेतना दब जाती है या फिर भौतिक चेतना में बदल जाती है और इस प्रकार से मनुष्य इन्द्रियतृप्ति में लग जाता है।

न विदाम वयं सम्यक्कर्तारं पुरुषर्षभ ।

आत्मनश्च परस्यापि गोत्रं नाम च यत्कृतम् ॥ ३३॥

शब्दार्थ

न—नहीं; विदाम—जानती हूँ; वयम्—मैं (हम); सम्यक्—भली-भाँति; कर्तारम्—पैदा करने वाले को; पुरुष-ऋषभ—हे मनुष्यों में श्रेष्ठ; आत्मनः—अपना; च—तथा; परस्य—औरों का; अपि—भी; गोत्रम्—गोत्र, वंश का इतिहास; नाम—नाम; च—तथा; यत्-कृतम्—कौन किसके द्वारा बनाया गया है।.

उस युवती ने कहा : हे मनुष्यश्रेष्ठ, मैं नहीं जानती कि मुझे किसने उत्पन्न किया है? मैं तुम्हें यह ठीक-ठीक नहीं बता सकती। न ही मैं अपने या दूसरों के गोत्र के नामों को जानती हूँ।

तात्पर्य : जीव अपनी उत्पत्ति को नहीं जानता। वह यह नहीं जानता कि इस जगत की रचना क्यों हुई, दूसरे लोग इस जगत में क्यों काम कर रहे हैं और इस जगत का चरम स्रोत क्या है। कोई भी इन प्रश्नों के उत्तर नहीं जानता। यही अज्ञान या अविद्या है। जीवन की उत्पत्ति के विषय में खोज करने पर कुछ विख्यात विज्ञानी रासायनिक संघटनों की कोशिकाओं के समुच्चय को ढूँढ पाये हैं, किन्तु वास्तव में इस जगत में जीवन के मूल स्रोत को कोई भी नहीं जानता। *ब्रह्मजिज्ञासा* पद का प्रयोग इस जगत में अपने अस्तित्व के मूल स्रोत को जानने की उत्सुकता को सूचित करने के लिए किया जाता है। कोई दार्शनिक, विज्ञानी या राजनीतिज्ञ ठीक-ठीक नहीं जानता है कि हम कहाँ से आये, हम अपने अस्तित्व के लिए क्यों विकट संघर्ष कर रहे हैं और फिर हम कहाँ जाएँगे। सामान्यत: लोगों का यह मत है कि हम सब यहाँ संयोगवश आये हैं और जब हमारे ये शरीर नष्ट हो जाएँगे तो हमारे सारे नाटकीय कार्य-कलाप बन्द हो जाएँगे और हम शून्य हो जाएँगे। ऐसे विज्ञानी तथा विचारक निर्विशेषवादी एवं शून्यवादी हैं। इस श्लोक में सुन्दरी जीव की वास्तविक स्थिति बता रही है। वह पुरञ्जन को अपने पिता का नाम नहीं बता सकती, क्योंकि उसे यह ज्ञात नहीं है कि वह कहाँ से आई और न वह यह जानती है कि वह उस स्थान में क्यों आई है। वह साफ-साफ कह देती है कि इन सब बातों के विषय में वह अनजान है। इस भौतिक जगत में जीव की यही स्थिति है। कहने को तो अनेक विज्ञानी, दार्शनिक तथा बड़े-बड़े नेता हैं, किन्तु वे यह नहीं जानते कि वे कहाँ से आये हैं और न यह जानते हैं कि तथाकथित सुख पाने के लिए वे इस जगत में व्यस्त क्यों हैं। इस जगत में रहने के लिए अनेक सुविधाएँ हैं, किन्तु हम इतने मूर्ख हैं कि कभी यह नहीं पूछते कि किसने इस संसार को हमारे रहने योग्य बनाया और इसकी इतने सुन्दर ढंग से व्यवस्था की है? प्रत्येक वस्तु व्यवस्थित रूप से चल रही है; किन्तु अज्ञानी लोग सोचते हैं कि इस संसार में सारी वस्तुएँ संयोग से बनी हैं और मृत्यु के पश्चात् वे शून्य हो

जाएँगी। वे सोचते हैं कि यह सुन्दर आवास स्थल अपने आप इसी तरह बना रहेगा।

इहाद्य सन्तमात्मानं विदाम न ततः परम् ।
येनेयं निर्मिता वीर पुरी शरणमात्मनः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

इह—यहाँ; अद्य—आज; सन्तम्—विद्यमान; आत्मानम्—जीवात्माएँ; विदाम—इतना ही जानते हैं; न—नहीं; ततः परम्—इसके आगे; येन—जिससे; इयम्—यह; निर्मिता—उत्पन्न की गई; वीर—हे वीर; पुरी—नगरी; शरणम्—विश्रामस्थल; आत्मनः—समस्त जीवों का।

हे वीर, हम इतना ही जानते हैं कि हम इस स्थान में हैं। हम यह नहीं जानते कि आगे क्या होगा। दरअसल, हम इतने मूर्ख हैं कि यह भी जानने का प्रयत्न नहीं करते कि हमारे रहने के लिए किसने इतना सुन्दर स्थान बनाया है?

तात्पर्य : कृष्णचेतना का अभाव ही अविद्या (अज्ञान) है। *श्रीमद्भागवत* (५.५.५) में इसे *पराभवस्तावदबोधजात:* कहा गया है। प्रत्येक व्यक्ति अज्ञानी रूप में उत्पन्न होता है, यही *भागवत* का कथन है। अपनी अज्ञानता के कारण हम राष्ट्रवाद, परोपकारवाद, अन्तर्राष्ट्रीयवाद, विज्ञान, दर्शन इत्यादि कई अन्य चीजों को जन्म देते हैं। इन सबके मूल में हमारा अज्ञान काम करता है। यदि अज्ञान ही मूल सिद्धान्त हो तो फिर ज्ञान की इतनी उन्नति से क्या लाभ? जब तक मनुष्य कृष्णभक्ति नहीं करता तब तक उसके सारे कार्य व्यर्थ हैं। यह मनुष्य जीवन अज्ञान को भगाने के लिए मिला है, किन्तु लोग बिना जाने हुए कि अज्ञान को कैसे भगाया जाये, तरह-तरह की योजनाएँ बनाते रहते हैं और मृत्यु के बाद ये सारी योजनाएँ नष्ट हो जाती हैं।

एते सखायः सख्यो मे नरा नार्यश्च मानद ।
सुप्तायां मयि जागर्ति नागोऽयं पालयन्पुरीम् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

एते—ये सब; सखायः—पुरुष मित्र; सख्यः—स्त्री संगीजन; मे—मेरे; नराः—मनुष्य; नार्यः—स्त्रियाँ; च—तथा; मान-द—हे अत्यन्त सम्माननीय; सुप्तायाम्—सोते हुए; मयि—मैं हूँ; जागर्ति—जगता रहता है; नागः—सर्प; अयम्—यह; पालयन्—रक्षा करते हुए; पुरीम्—इस नगरी की।

हे भद्र पुरुष, ये सारे पुरुष तथा स्त्रियाँ जो मेरे साथ हैं, मेरे मित्र हैं और यह साँप सदैव जागता रहता है तथा मेरे सोते समय भी इस पुरी की रक्षा करता है। मैं इतना ही जानती हूँ, इसके आगे कुछ भी नहीं जानती।

तात्पर्य : पुरञ्जन ने उस सुन्दरी से उन ग्यारह पुरुषों तथा उनकी पत्नियों एवं सर्प के विषय में पूछा। उस सुन्दरी ने इन सबका संक्षिप्त उत्तर दिया। उसे स्पष्टत रूप से अपने इर्द-गिर्द के पुरुषों, स्त्रियों तथा सर्प का पूरा-पूरा ज्ञान न था। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, सर्प जीव के प्राण का प्रतीक है। प्राण तब भी जाग्रत रहता है जब शरीर तथा इन्द्रियाँ थक जाती है और कोई कार्य नहीं कर सकतीं। यहाँ तक कि अचेतनावस्था में, जब हम सोते रहते हैं, तो यह प्राण रूपी सर्प ज्यों का त्यों जाग्रत रहता है, फलत: हम सोते समय स्वप्न देखते हैं। जब जीव इस भौतिक शरीर को त्यागता है, तो भी प्राण अक्षत रहता है और दूसरे भौतिक शरीर में ले जाया जाता है। इसे देहान्तर कहते हैं और इस प्रक्रिया को हम मृत्यु कहते हैं। वास्तव में मृत्यु नाम की कोई वस्तु नहीं है। प्राण सदैव आत्मा के संग रहता है और जब आत्मा अपनी तथाकथित निद्रा से उठता है, तो वह अपने ग्यारह मित्रों, अर्थात् इन्द्रियों तथा मन एवं उनकी विभिन्न इच्छाओं को (पत्नियाँ) देखता है। प्राण तो शाश्वत है। यहाँ तक कि जब हम सोते रहते हैं, तो श्वास चलती रहती है और यह सर्प शरीर के भीतर आने वाली वायु को खाकर जीवित रहता है। वायु श्वास के रूप में प्रकट होती है और जब तक श्वास चलती है तब तक हम समझ सकते हैं कि सोने वाला व्यक्ति जीवित है। जब यह स्थूल शरीर निद्रा में होता है, तो प्राण क्रियाशील रहता है और शरीर की रक्षा करता रहता है। इस प्रकार सर्प सजीव बताया गया है तथा शरीर को जीवित रखने के लिए वायु का भक्षण करता है।

दिष्ट्यागतोऽसि भद्रं ते ग्राम्यान्कामानभीप्ससे ।
उद्वहिष्यामि तांस्तेऽहं स्वबन्धुभिररिन्दम ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

दिष्ट्या—मेरे सौभाग्य से; आगत: असि—यहाँ आये हो; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारा; ग्राम्यान्—विषय भोग की; कामान्—इच्छित वस्तुएँ; अभीप्ससे—भोग करना चाहते हो; उद्वहिष्यामि—पूरा करूँगी; तान्—उन सबको; ते—तुमको; अहम्—मैं; स्व-बन्धुभि:—अपने समस्त मित्रों सहित; अरिम्-दम—हे शत्रु संहारक।

हे शत्रुसंहारक, तुम किसी न किसी तरह यहाँ पर आये, यह मेरे लिए अत्यन्त सौभाग्य की बात है। तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हें अपनी इन्द्रियों को सन्तुष्ट करने की उत्कण्ठा है, अत: मैं तथा मेरे सभी मित्र तुम्हारी इच्छाओं को पूरा करने का भरसक प्रयास करेंगे।

तात्पर्य : जीव इस जगत में इन्द्रियतृप्ति के लिए आता है और उसकी बुद्धि, जो स्त्रीस्वरूपा है उसे सही मार्ग बताती है, जिससे वह अपनी इच्छाओं को जी भर कर पूरा कर सकता है। किन्तु वास्तव में

बुद्धि तो परमात्मा अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से प्राप्त होती है, जो इस भौतिक जगत में आये प्रत्येक जीव को सारी सुविधाएँ प्रदान करते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४१) में कहा गया है—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

"इस अध्यात्म पथ के अनुगामी अपने उद्देश्य में दृढ़संकल्प रहते हैं और उनका लक्ष्य एक ही होता है। परन्तु हे कुरुनन्दन! जो दृढ़संकल्प नहीं हैं, उनकी बुद्धि अनेक शाखाओं में विभक्त होती है।"

जब भक्त आत्म-साक्षात्कार की ओर अग्रसर होता रहता है, तो उसका एकमात्र लक्ष्य भगवान् की सेवा करना रहता है। वह किसी अन्य भौतिक या आध्यात्मिक कर्म की परवाह नहीं करता। राजा पुरञ्जन एक सामान्य जीव का प्रतीक है और स्त्री उस जीव की बुद्धि है। दोनों के मिलने से जीव अपनी इन्द्रियों का भोग करता है और बुद्धि उसके भोग की सारी सामग्री जुटाती है। जैसे ही जीव को मनुष्य देह मिलती है, वह परिवार की परम्परा, राष्ट्रीयता, रीति-रिवाजों इत्यादि से बँध जाता है। ये सब कुछ भगवान् की माया द्वारा दिलाया जाता है। इस प्रकार जीव देहात्मबोध में अपनी बुद्धि का उपयोग अपनी इन्द्रियों की यथासम्भव तुष्टि के लिए करता है।

इमां त्वमधितिष्ठस्व पुरीं नवमुखीं विभो ।
मयोपनीतान्गृह्णानः कामभोगाञ्शतं समाः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

इमाम्—इस; त्वम्—तुम; अधितिष्ठस्व—जरा ठहरो; पुरीम्—नगरी में; नव-मुखीम्—नौ द्वारों वाली; विभो—मेरे स्वामी; मया—मेरे द्वारा; उपनीतान्—व्यवस्थित; गृह्णानः—ग्रहण करते हुए; काम-भोगान्—इन्द्रियतृप्ति के लिए वस्तुएँ; शतम्—सौ; समाः—वर्ष।

हे स्वामी, मैंने तुम्हारे लिए ही इस नौ द्वारों वाली नगरी की व्यवस्था की है, जिससे सभी प्रकार से तुम्हारी इन्द्रिय-तुष्टि हो सके। तुम यहाँ सौ वर्षों तक रह सकते हो और तुम्हें भोग की सारी सामग्री प्रदान की जायेगी।

तात्पर्य : *धर्मार्थकाममोक्षाणां द्वाराः सम्प्राप्तिहेतवः।* धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के क्षेत्र में सभी प्रकार की सफलता का कारण स्त्री है। जब पुरुष पत्नी ग्रहण करता (विवाह करता) है, तो यह माना जाता है कि उसे मोक्ष की दिशा में प्रगति के लिए सहायता मिल रही है। जीवन के प्रारम्भ में मनुष्य

को ब्रह्मचारी के रूप में शिक्षित किया जाता है और फिर उपयुक्त लड़की के साथ विवाह करके गृहस्थ जीवन बिताने दिया जाता है। यदि गृहस्थाश्रम की ठीक से शिक्षा मिले तो मनुष्य को मानव जीवन की समस्त सुविधाएँ—भोजन, नींद, संभोग तथा सुरक्षा—प्राप्त हो जाती हैं। यदि विधि-विधान के अनुसार सब कुछ किया जाये तो प्रत्येक सुविधा उपलब्ध है।

कं नु त्वदन्यं रमये ह्यरतिज्ञमकोविदम् ।
असम्परायाभिमुखमश्वस्तनविदं पशुम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

कं—किससे; नु—तब; त्वत्—तुम्हारी अपेक्षा; अन्यं—अन्य; रमये—मैं भोग करूँगी; हि—निश्चय ही; अरति-ज्ञम्—कामसुख न जानने वाला; अकोविदम्—अतः, मूर्ख; असम्पराय—अगले जीवन के ज्ञान से रहित; अभिमुखम्—आगे देखते हुए; अश्वस्तन-विदम्—जो यह नहीं जानता कि आगे क्या हो रहा है; पशुम्—पशु तुल्य।.

भला मैं अन्यों के साथ कैसे रमण करने की अपेक्षा कर सकती हूँ, क्योंकि न तो उन्हें रति का ज्ञान है, न वे जीवित अवस्था में अथवा मरने के बाद इस जीवन का भोग करना जानते हैं? ऐसे मूर्ख व्यक्ति पशुतुल्य हैं क्योंकि वे इन्द्रिय-भोग की क्रिया को न इस जीवन में और न ही मृत्यु के उपरान्त जानते हैं।

तात्पर्य : चूँकि जीवों की चौरासी लाख योनियाँ हैं, अत: जीवन की परिस्थितियाँ भी अनेक हैं। जीवन की निम्न कोटियों में (पौधों में) संभोग की कोई व्यवस्था नहीं रहती, किन्तु उच्चतर कोटियों में (यथा पक्षी तथा मधुमक्खियों में) संभोग होता है फिर भी कीड़े-मकौड़े और पशु विषयी जीवन को भोगना नहीं जानते। किन्तु मनुष्य को पूरा-पूरा ज्ञान रहता है कि किस प्रकार रति-सुख उठाया जाये। दरअसल ऐसे अनेक तथाकथित ज्ञानी हैं, जो विषयी जीवन भोगने का निर्देश देते हैं। यहाँ तक कि *कामशास्त्र* नामक एक विज्ञान भी है, जो काम-विज्ञान ही है। मनुष्य जीवन में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास जैसे आश्रम भी हैं। इनमें से केवल गृहस्थाश्रम में विषयी जीवन पाया जाता है। ब्रह्मचारी को संभोग की अनुमति नहीं है, वानप्रस्थ स्वेच्छा से संभोग से विरत होता है और संन्यासी तो पूर्णत: विरक्त रहता है। कर्मी लोग ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ अथवा संन्यास जीवन नहीं बिताते, क्योंकि उन्हें गृहस्थ जीवन अत्यन्त प्रिय है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य भौतिकता के प्रति अत्यधिक उन्मुख रहते हैं। वे गृहस्थ जीवन इसीलिए पसन्द करते हैं, क्योंकि इस में संभोग की छूट है। वे सोचते हैं कि अन्य आश्रम पशु-जीवन से भी हेय हैं, क्योंकि पशुओं में मैथुन या संभोग तो होता है, जबकि ब्रह्मचारी,

वानप्रस्थ तथा संन्यासी संभोग से पूर्णत: विरक्त रहते हैं। फलत: कर्मी लोग आध्यात्मिक जीवन के इन आश्रमों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं।

धर्मो ह्यत्रार्थकामौ च प्रजानन्दोऽमृतं यशः ।
लोका विशोका विरजा यान्न केवलिनो विदुः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

धर्मः—धार्मिक अनुष्ठान; हि—निश्चय ही; अत्र—यहाँ (गृहस्थाश्रम में); अर्थ—आर्थिक विकास; कामौ—इन्द्रियतृप्ति; च—तथा; प्रजा-आनन्दः—सन्तति का सुख; अमृतम्—त्याग का फल; यशः—यश, प्रतिष्ठा; लोकाः—लोक; विशोकाः—शोकरहित; विरजाः—रोगरहित; यान्—जो; न—कभी नहीं; केवलिनः—योगी; विदुः—जानते हैं।

सुन्दरी ने आगे कहा : इस संसार में गृहस्थ जीवन में ही धर्म, अर्थ, काम तथा पुत्र-पौत्र इत्यादि सन्ततियाँ उत्पन्न करने का सारा सुख है। इसके पश्चात् चाहे तो मोक्ष तथा भौतिक यश भी प्राप्त किया जा सकता है। गृहस्थ ही यज्ञ के फल का रस ग्रहण कर सकता है, जिससे उसे श्रेष्ठ लोकों की प्राप्ति होती है। योगियों (यतियों) के लिए यह भौतिक सुख अज्ञात जैसा है। वे ऐसे सुख की कल्पना भी नहीं कर सकते।

तात्पर्य : वैदिक अनुदेशों के अनुसार मानवीय कर्मों के दो मार्ग हैं—एक *प्रवृत्ति-मार्ग* दूसरा *निवृत्ति-मार्ग।* इन दोनों मार्गों का मूल सिद्धान्त धार्मिक जीवन है। पशुजीवन में केवल प्रवृत्ति मार्ग होता है। प्रवृत्ति-मार्ग का अर्थ है इन्द्रिय सुख भोगना और निवृत्ति-मार्ग का अर्थ है आध्यात्मिक प्रगति। पशुओं तथा असुरों के जीवन में निवृत्ति-मार्ग की कोई अवधारणा नहीं पाई जाती और न प्रवृत्ति मार्ग की ही सचमुच कोई धारणा होती है। प्रवृत्ति-मार्ग बताता है कि इन्द्रियतृप्ति की प्रवृत्ति का पाया जाना बुरा नहीं, किन्तु उसे वैदिक आदेशों के अनुसार होना चाहिए। उदाहरणार्थ, प्रत्येक व्यक्ति में विषयी जीवन की प्रवृत्ति होती है, किन्तु आसुरी सभ्यता में विषय-सुख अप्रतिबन्धित रूप से भोगा जाता है। वैदिक संस्कृति में काम (विषय) -सुख वैदिक आदेशों के अनुसार भोगा जाता है। इस प्रकार वेद सभ्य मनुष्यों को दिशा-निर्देश देते हैं कि किस प्रकार इन्द्रियतृप्ति के लिए उनकी प्रवृत्ति की तुष्टि की जाये।

किन्तु निवृत्ति-मार्ग में विषय-सुख पूर्णत: वर्जित है। सामाजिक व्यवस्था चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास—में विभाजित है और इनमें से वैदिक आदेशों के अनुसार केवल गृहस्थाश्रम में प्रवृत्ति मार्ग का अनुसरण किया जा सकता है। अन्य तीन आश्रमों—ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ

एवं संन्यास—में काम (विषय) के लिए कोई सुविधा नहीं है।

इस श्लोक में स्त्री केवल प्रवृत्ति-मार्ग की बात कर रही है और निवृत्ति-मार्ग के लिए हतोत्साहित कर रही है। वह स्पष्ट कहती है कि यतियों को तो मात्र *कैवल्य* से ही प्रयोजन रहता है, अत: वे प्रवृत्ति-मार्ग के सुख के विषय में सोच भी नहीं पाते। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति वैदिक सिद्धान्तों पर चलता है, वह भौतिक जीवन का सुख न केवल इस जीवन में सुखी रहकर भोगता है वरन् वह अगले जीवन में स्वर्ग को पाकर भी भोगता है। ऐसा व्यक्ति इस जीवन में सभी प्रकार का ऐश्वर्य—यथा पुत्र तथा पौत्र इत्यादि प्राप्त करता है, क्योंकि वह सदैव धार्मिक कृत्यों में लगा रहता है। भौतिक कष्ट हैं—जन्म, बुढ़ापा, रोग तथा मृत्यु, किन्तु प्रवृत्ति मार्ग में रुचि रखने वाले लोग जन्म, बुढ़ापा, रोग तथा मृत्यु के समय नाना प्रकार के धार्मिक कृत्य करते रहते हैं। वे जन्म, जरा इत्यादि की तनिक भी परवाह किये बिना वैदिक अनुष्ठानों के अनुसार विशिष्ट धार्मिक अनुष्ठान करते रहते हैं।

किन्तु वस्तुत: प्रवृत्ति मार्ग विषयी जीवन पर आधारित है। *श्रीमद्भागवत* (७.९.४५) का वचन है—*यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छम्।* जो गृहस्थ प्रवृत्ति मार्ग में अत्यधिक अनुरक्त रहता है, वह गृहस्थ नहीं वरन् *गृहमेधि* कहलाता है। यद्यपि गृहस्थ इन्द्रियतृप्ति की इच्छा करता है, किन्तु वह वैदिक अनुदेशों के अनुसार चलता है, परन्तु *गृहमेधि* केवल इन्द्रियतृप्ति में रुचि रखता है, उसे वैदिक आदेशों से कोई प्रयोजन नहीं रहता। *गृहमेधि* विषयी जीवन का समर्थक होता है, वह अपने लड़के-बच्चों को भी विषय में प्रवृत्त होने देता है और अन्त में सभी प्रकार के यश से वंचित रहता है। गृहस्थ इस जीवन में तो विषयी जीवन बिताता ही है और अगले जीवन में भी वैसा ही करता है, किन्तु *गृहमेधि* को यह पता नहीं रहता कि अगला जीवन क्या है, क्योंकि वह इसी जीवन में विषय-सुख भोगने में ही लगा रहता है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि जो काम (विषय) के प्रति अत्यधिक उन्मुख रहता है, वह दिव्य आध्यात्मिक जीवन की परवाह नहीं करता। इस कलियुग में तो विशेषत: लोग आध्यात्मिक उन्नति की परवाह नहीं करते। यदि कभी-कभी वह इस ओर उन्मुख होता है, तो यह देखा जाता है कि अनेक धूर्तों के बहकावे में आकर वह आध्यात्मिक जीवन की नकली पद्धति अपना सकता है।

पितृदेवर्षिमर्त्यानां भूतानामात्मनश्च ह ।
क्षेम्यं वदन्ति शरणं भवेऽस्मिन्यद्गृहाश्रमः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

पितृ—पूर्वज, पितरगण; देव—देवता; ऋषि—ऋषिगण; मर्त्यानाम्—सामान्य मनुष्यों का; भूतानाम्—जीवों का; आत्मनः—अपना; च—भी; ह—निश्चय ही; क्षेम्यम्—लाभप्रद; वदन्ति—कहते हैं; शरणम्—शरण; भवे—भौतिक जगत में; अस्मिन्—इस; यत्—जो; गृह-आश्रमः—गृहस्थ जीवन।

उस स्त्री ने आगे कहा : अधिकारियों के अनुसार गृहस्थ जीवन न केवल अपने को वरन् समस्त पितरों, देवताओं, ऋषियों, साधु पुरुषों तथा अन्य सबों को अच्छा लगने वाला है। इस प्रकार गृहस्थ जीवन अत्यन्त उपयोगी है।

तात्पर्य : वैदिक पद्धति के अनुसार जो भी इस संसार में पैदा हुआ है उसके ऊपर अनेक ऋ्रण होते हैं। वह देवताओं का—जैसे सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, वरुण इत्यादि का—ऋ्रणी है, क्योंकि जीवन की आवश्यकताओं को ये ही पूरा करते हैं। देवताओं की कृपा से ही हमें धूप, प्रकाश, जल तथा अन्य आवश्यक प्राकृतिक सुविधाएं प्राप्त होती हैं। हम अपने पूर्वजों के भी ऋ्रणी हैं, क्योंकि उन्होंने हमें शरीर, सम्पत्ति, बुद्धि, समाज, मित्रता तथा प्यार प्रदान किया है। इसी प्रकार हम राजनीति तथा समाज विज्ञान के लिए सामान्य जनता के ऋ्रणी हैं। हम घोड़े, गाय, गधे, कुत्ते तथा बिल्ली जैसे निम्न पशुओं के भी ऋ्रणी हैं। इस प्रकार जन्म लेते ही मनुष्य पर अनेक ऋण चढ़ते जाते हैं जिनसे उसे उऋण होना होता है। यदि वह उनसे उऋ्रण नहीं होता तो जन्म-मरण के चक्कर में पुनः फँसना पड़ता है। गृहमेधी भौतिक वस्तुओं में अत्यधिक लगा रहने के कारण जान ही नहीं पाता कि यदि वह मुकुन्द के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ले तो वह सारे ऋणों से तुरन्त उऋण हो जाता है। दुर्भाग्यवश गृहमेधी को कृष्णभक्ति में कोई रुचि नहीं होती। प्रह्लाद महाराज कहते हैं—

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा

मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।

(भागवत ७.५.३०)

गृहव्रत गृहमेधी ही है। जो विषयी जीवन को सब कुछ मानता है उसे कृष्णभक्ति अटपटी लगती है। वह या तो अपने आप से या अन्यों से शिक्षा ग्रहण करके या फिर उनसे बातें करके विषय वासनाओं में इतना अनुरक्त रहता है कि कृष्णभक्ति कर ही नहीं सकता।

का नाम वीर विख्यातं वदान्यं प्रियदर्शनम् ।
न वृणीत प्रियं प्राप्तं मादृशी त्वादृशं पतिम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

का—कौन; नाम—निस्सन्देह; वीर—हे वीर पुरुष; विख्यातम्—सुप्रसिद्ध; वदान्यम्—उदार; प्रिय-दर्शनम्—सुन्दर; न—नहीं; वृणीत—स्वीकार करेगा; प्रियम्—सरलता से; प्राप्तम्—प्राप्त हुआ; मादृशी—मुझ जैसी; त्वादृशम्—तुम्हारे समान; पतिम्—पति।

हे वीर पुरुष, इस संसार में ऐसी कौन (स्त्री) होगी जो तुम जैसे पति को स्वीकार नहीं करेगी? तुम इतने प्रसिद्ध, उदार, इतने सुन्दर तथा सुलभ हो।

तात्पर्य : प्रत्येक पति निस्सन्देह, अपनी पत्नी के लिए वीर होता है। दूसरे शब्दों में, यदि स्त्री किसी पुरुष को प्यार करती है, तो वह उसे अत्यन्त सुन्दर एवं उदार दिखता है। जब तक कोई दूसरे को सुन्दर न दिखे, भला उसको कौन अपना सारा जीवन अर्पित कर देगा? पति अत्यन्त उदार माना जाता है, क्योंकि वह पत्नी को जितनी वह चाहे उतनी सन्तान प्रदान करता जाता है। प्रत्येक स्त्री को बच्चों की चाह रहती है, अत: कोई भी पति, जो काम की तुष्टि कर सके और इच्छानुसार बच्चे उत्पन्न कर सके, अत्यन्त उदार माना जाता है। न केवल सन्तानें उत्पन्न करके पति उदार बनता है, वरन् अपनी पत्नी को आभूषण, अच्छा भोजन तथा वस्त्र देकर वह उसे अपने वश में कर लेता है। इस प्रकार से संतुष्ट पत्नी कभी भी अपने पति का साथ नहीं छोड़ती। *मनु-संहिता* की संस्तुति है कि पत्नी को सन्तुष्ट रखने के लिए पति को चाहिए कि उसे कुछ गहने दे, क्योंकि स्त्रियो को सामान्यत: घर, गहनों, वस्त्रों तथा बच्चों इत्यादि की चाह होती है। इस प्रकार स्त्री ही सारे भौतिक सुखों की केन्द्रबिन्दु है।

इस प्रसंग में *विख्यातम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य सदैव सुन्दर स्त्री के साथ छेड़छाड़ करता है, जिसे कभी-कभी बलात्कार कहते हैं। यद्यपि बलात्कार वैध नहीं है, किन्तु यह तथ्य है कि स्त्रियाँ ऐसे मनुष्य को चाहती हैं, जो बलात्कार में पटु होता है।

कस्या मनस्ते भुवि भोगिभोगयो:
स्त्रिया न सज्जेद्भुजयोर्महाभुज ।
योऽनाथवर्गाधिमलं घृणोद्धत
स्मितावलोकेन चरत्यपोहितुम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

कस्या:—किसका; मन:—मन; ते—तुम्हारा; भुवि—इस संसार में; भोगि-भोगयो:—सर्प के समान शरीर वाला; स्त्रिया:—स्त्री का; न—नहीं; सज्जेत्—आकर्षित हो जाता है; भुजयो:—भुजाओं द्वारा; महा-भुज—हे बलिष्ठ भुजाओं वाले, महाबाहु; य:—

जो; अनाथ-वर्गा—हम जैसी अनाथ स्त्रियों का; अधिम्—मन का सन्ताप; अलम्—सक्षम; घृणा-उद्धत—छेड़छाड़ से; स्मित-अवलोकेन—आकर्षक हँसी से; चरति—विचरण करता है; अपोहितुम्—कम (शान्त) करने के लिए।

हे महाबाहु, इस संसार में ऐसा कौन है, जो सर्प के शरीर जैसी तुम्हारी भुजाओं से आकृष्ट न हो जाये? वास्तव में तुम अपनी मोहक मुस्कान तथा अपनी छेड़छाड़ युक्त दया से हम जैसी पतिविहीन स्त्रियों के सन्ताप को दूर करते हो। हम सोचती हैं कि तुम केवल हमारे हित के लिए ही पृथ्वी पर विचरण कर रहे हो।

तात्पर्य : जब किसी पतिविहीन स्त्री के साथ कोई आक्रमक पुरुष छेड़छाड़ करता है, तो वह इसे कृपा समझती है। स्त्रियाँ सामान्यत: पुरुषों की लम्बी-लम्बी भुजाओं से अत्यधिक आकर्षित होती हैं। सर्प का शरीर गोल होता है और पूँछ की ओर पतला होता जाता है। मनुष्य की सुन्दर भुजाएँ स्त्रियों को सर्पों की भाँति प्रतीत होती हैं और वे ऐसी भुजाओं का आलिंगन चाहती हैं।

इस श्लोक में *अनाथवर्गा* शब्द अत्यन्त सार्थक है। "*नाथ*" का अर्थ है "पति" और "अ" का अर्थ है "रहित"। जिस तरुणी के पति नहीं होता वह *अनाथ* कहलाती है, अर्थात् उसकी रक्षा करने वाला कोई नहीं होता। किशोरावस्था प्राप्त करते ही स्त्री के मन में कामवासना हिलोरें लेने लगती है। अत: पिता का धर्म है कि वय:सन्धि आते ही वह अपनी पुत्री का विवाह कर दे; अन्यथा पति न होने से वह अत्यधिक सन्तप्त रहेगी। इस आयु में जो भी व्यक्ति उसकी कामवासना को तृप्त कर दे, वही उसके लिए सन्तोष देने वाला बन जाता है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि वय:सन्धि में जो भी व्यक्ति स्त्री की कामवासना को तृप्त कर दे, उसे वह आजीवन प्यार करेगी, चाहे वह जो भी हो। इस प्रकार से इस संसार में तथाकथित प्रेम काम-तुष्टि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

नारद उवाच

इति तौ दम्पती तत्र समुद्य समयं मिथः ।
तां प्रविश्य पुरीं राजन्मुमुदाते शतं समाः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; इति—इस प्रकार; तौ—वे दोनों; दम्-पती—पति तथा पत्नी; तत्र—वहाँ; समुद्य—समान रूप से उत्साही; समयम्—स्वीकार करते हुए; मिथः—परस्पर; ताम्—उस स्थान में; प्रविश्य—प्रवेश करके; पुरीम्—नगरी में; राजन्—हे राजा; मुमुदाते—जीवन का भोग किया; शतम्—एक सौ; समाः—वर्ष।

नारद मुनि ने आगे कहा : हे राजन्, वे दोनों—स्त्री तथा पुरुष—एक दूसरे का पारस्परिक सौहार्द द्वारा समर्थन करते हुए उस नगरी में प्रविष्ट हुए और उन्होंने एक सौ वर्षों तक जीवन का

सुख भोगा।

तात्पर्य : इस प्रसंग में 'एक सौ वर्ष' महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य को एक सौ वर्ष तक जीवित रहने की छूट है। सूर्य से दूरी के अनुसार विभिन्न लोकों में जीवन की यह अवधि भिन्न-भिन्न है। दूसरे शब्दों में, इस लोक की सौ वर्ष की अवधि अन्य लोकों के सौ वर्ष की अवधि से भिन्न हो सकती है। ब्रह्मलोक में समय की गणना के अनुसार ब्रह्माजी एक सौ वर्ष तक जीवित रहते हैं, किन्तु ब्रह्मा का एक दिन इस लोक के करोड़ों वर्षों के बराबर होता है। इसी प्रकार स्वर्गलोक का एक दिन इस लोक के छह मास के बराबर होता है। फिर भी प्रत्येक लोक में मनुष्य की आयु सौ वर्ष के आस-पास रहती है। विभिन्न लोकों में जीवन-अवधि के अनुसार ही उनके जीवन-स्तरों में भी भिन्नता रहती है।

उपगीयमानो ललितं तत्र तत्र च गायकैः ।
क्रीडन्परिवृतः स्त्रीभिर्ह्रदिनीमाविशच्छुचौ ॥ ४४॥

शब्दार्थ

उपगीयमानः—गाया जाकर; ललितम्—अत्यन्त सुन्दर ढंग से; तत्र तत्र—जहाँ तहाँ; च—भी; गायकैः—चारणों द्वारा; क्रीडन्—खेलते हुए; परिवृतः—घिरा हुआ; स्त्रीभिः—स्त्रियों से; ह्रदिनीम्—नदी के जल में; आविशत्—घुसा; शुचौ—जब वह बहुत गर्म होता तो।

राजा पुरञ्जन की महिमा तथा महिमामय कार्यों का गान अनेक चारण किया करते थे। ग्रीष्म ॠतु में जब बहुत गर्मी पड़ती तो वह जलाशय में प्रवेश करता था। उसके चारों ओर अनेक स्त्रियाँ होती थीं और वह उनके संग आनन्द उठाता।

तात्पर्य : जीव अपने जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न कार्य करता है। इनमें से एक अवस्था *जाग्रत* है और दूसरी *स्वप्न* की। तीसरी अवस्था *सुषुप्ति* अर्थात् अचेतावस्था है और अन्तिम अवस्था मृत्यु के पश्चात् आती है। पिछले श्लोक में जाग्रत अवस्था का वर्णन हुआ है—अर्थात् पुरुष तथा स्त्री का विवाह हो गया और वे एक सौ वर्षों तक आनन्द से रहे। इस श्लोक में स्वप्नावस्था का वर्णन है, क्योंकि पुरञ्जन जो भी कार्य दिन में करता वे उसे रात्रि में स्वप्न में दिखते। पुरञ्जन अपनी पत्नी के साथ इन्द्रियसुख के लिए रहता था और रात्रि में यही इन्द्रियसुख विभिन्न रूपों में दिखता था। जब मनुष्य अत्यधिक थक जाता है, तो उसे अच्छी नींद आती है और जब कोई धनी पुरुष थकता है, तो वह अनेक स्त्री-मित्रों सहित विहार-स्थल में जाता है और उनके साथ जलक्रीड़ा करता है। इस

संसार में जीव की ऐसी ही प्रवृत्ति होती है। जीव कभी भी स्त्री से तुष्ट नहीं हो सकता जब तक उसे ब्रह्मचर्य की शिक्षा न प्राप्त हो। सामान्यत: मनुष्य अनेक स्त्रियों के साथ भोग करना चाहता है, यहाँ तक कि बुढ़ापे में भी उनकी कामेच्छा इतनी प्रबल रहती है कि वह तरुणियों के संग रहना चाहता है। इस प्रकार प्रबल कामेच्छा के कारण ही जीव इस संसार से अधिकाधिक उलझता जाता है।

सप्तोपरि कृता द्वार: पुरस्तस्यास्तु द्वे अध: ।
पृथग्विषयगत्यर्थं तस्यां य: कश्चनेश्वर: ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सप्त—सात; उपरि—ऊपर; कृता:—निर्मित; द्वार:—द्वार; पुर:—नगरी के; तस्या:—उस; तु—तब; द्वे—दो; अध:—नीचे; पृथक्—भिन्न-भिन्न; विषय—स्थानों तक; गति-अर्थम्—जाने के लिए; तस्याम्—उस नगरी में; य:—जो; कश्चन—कोई भी; ईश्वर:—स्वामी, अधीक्षक।

उस नगरी के नौ द्वारों में से सात तो भूतल पर थे और दो पृथ्वी के नीचे थे। कुल नौ द्वार बनाए गए थे और ये नवों द्वार भिन्न-भिन्न स्थानों को जाते थे। इन सारे द्वारों का उपयोग उस नगरी का अधीक्षक करता था।

तात्पर्य : शरीर के सात द्वार जो ऊपर स्थित हैं, वे हैं—दो आँखें, दो नथुने, दो कान तथा एक मुँह। दो अधोमुखी द्वार हैं—गुदा तथा जननेन्द्रियाँ। इन समस्त द्वारों का उपयोग शरीर का राजा, जो कि जीव है, भिन्न भिन्न भौतिक आनन्द उठाने के लिए करता है। विभिन्न स्थानों के लिए भिन्न-भिन्न द्वारों का होना आज भी भारत के प्राचीन नगरों में पाया जाता है। पहले राजधानी चारों ओर से दीवालों से घिरी रहती थी और विभिन्न शहरों या दिशाओं में जाने के लिए विभिन्न द्वारों से होकर जाना होता था। पुरानी दिल्ली में आज भी कश्मीरी द्वार (गेट), लाहोरीद्वार (गेट) जैसे विभिन्न द्वार तथा चाहारदीवारी के ध्वंसावशेष विद्यमान हैं। इसी प्रकार अहमदाबाद में दिल्ली द्वार है। इस उपमा की मुख्य बात यह है कि जीव विभिन्न भौतिक ऐश्वर्यों का भोग करना चाहता है और प्रकृति ने इस हेतु शरीर में अनेक छिद्र बनाये हैं, जिन्हें वह इन्द्रियभोग के लिए काम में ला सकता है।

पञ्च द्वारस्तु पौरस्त्या दक्षिणैका तथोत्तरा ।
पश्चिमे द्वे अमूषां ते नामानि नृप वर्णये ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

पञ्च—पाँच; द्वारः—द्वार; तु—तब; पौरस्त्याः—पूर्व दिशा की ओर; दक्षिणा—दक्षिणी; एका—एक; तथा—भी; उत्तरा—उत्तर की ओर एक; पश्चिमे—इसी प्रकार पश्चिमी दिशा में; द्वे—दो; अमूषाम्—उनमें से; ते—तुमसे; नामानि—नाम; नृप—हे राजा; वर्णये—मैं वर्णन करूँगा।

हे राजन्, नौ द्वारों में से पाँच पूर्व की ओर, एक उत्तर तथा एक दक्षिण दिशा को और दो पश्चिम की ओर जाते थे। अब मैं इन विभिन्न द्वारों के नाम बताने का प्रयास करूँगा।

तात्पर्य : सतह के सात द्वारों अर्थात् दो आँखें, दो नथुने, दो कान तथा मुँह में से पाँच सामने देखते हैं, जिन्हें पूर्व दिशा की ओर जाते बताया गया है। चूँकि सामने देखने का अर्थ है सूर्य को देखना, अत: इन्हें पूर्वी द्वार कहा गया है, क्योंकि सूर्य पूर्व में उदय होता है। उत्तरी तथा दक्षिणी दिशाओं के एक-एक द्वार दोनों कानों के सूचक हैं और पश्चिम दिशा के दो द्वार गुदा तथा जननेन्द्रिय सूचक हैं। इन समस्त द्वारों का वर्णन नीचे किया गया है।

खद्योताविर्मुखी च प्राग्द्वारावेकत्र निर्मिते ।
विभ्राजितं जनपदं याति ताभ्यां द्युमत्सखः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

खद्योता—खद्योता नामक; आविर्मुखी—आविर्मुखी नामक; च—भी; प्राक्—पूर्व दिशा की ओर; द्वारौ—दो द्वार; एकत्र—एक स्थान पर; निर्मिते—बनाये गये थे; विभ्राजितम्—विभ्राजित नामक; जन-पदम्—नगरी; याति—जाता था; ताभ्याम्—उनसे; द्युमत्—द्युमान नामक; सखः—अपने मित्र के साथ।

खद्योता तथा आविर्मुखी नाम के दो द्वार पूर्व की ओर स्थित थे, किन्तु वे दोनों एक स्थान पर ही बनाये गये थे। राजा इन दोनों द्वारों से होकर विभ्राजित नामक नगरी को अपने मित्र द्युमान के साथ जाया करता था।

तात्पर्य : खद्योता तथा आविर्मुखी ये दोनों नाम "जुगनू" तथा "प्रकाश स्तम्भ" के सूचक हैं। इससे सूचित होता है कि दोनों आँखों में से बाईं आँख की देखने की शक्ति कम है। यद्यपि दोनों आँखें एक ही स्थान पर स्थित हैं, किन्तु दाईं आँख अधिक देखती है और बाईं कम। राजा अथवा जीव इन दोनों द्वारों का उपयोग वस्तुओं को ठीक ढंग से देखने के लिए करता है, किन्तु वह उन्हें तब तक ठीक से नहीं देख सकता जब तक उसके साथ द्युमान् नामक मित्र न हो। यह मित्र सूर्य है। यद्यपि दोनों आँखें एक स्थान पर स्थित हैं, किन्तु वे सूर्य के बिना देख नहीं सकतीं। *विभ्राजितं जनपदम्।* यदि कोई कुछ स्पष्ट देखना चाहता है (*विभ्राजितम्*) तो उसे दोनों आँखों से देखना चाहिए तथा उनके मित्र सूर्य की सहायता लेनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति इस शरीर का राजा है, क्योंकि वह अपनी इच्छानुसार विभिन्न

द्वारों का उपयोग करता है। यद्यपि उसे अपने देखने तथा सुनने की शक्ति पर गर्व रहता है, किन्तु वह प्रकृति की सहायता पर बहुत कुछ आश्रित है।

नलिनी नालिनी च प्राग्द्वारावेकत्र निर्मिते ।
अवधूतसखस्ताभ्यां विषयं याति सौरभम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

नलिनी—नलिनी नामक; नालिनी—नालिनी नामक; च—भी; प्राक्—पूर्वी; द्वारौ—दो द्वार; एकत्र—एक स्थान पर; निर्मिते—निर्मित; अवधूत—अवधूत नामक; सखः—अपने मित्र के साथ; ताभ्याम्—उन दोनों द्वारों से; विषयम्—स्थान; याति—जाता था; सौरभम्—सौरभ नामक।

इसी प्रकार पूर्व में नलिनी तथा नालिनी नामक (अन्य) दो द्वार थे और ये भी एक स्थान पर बनाये गये थे। इन द्वारों से राजा अपने मित्र अवधूत के साथ सौरभ नगर को जाया करता था।

तात्पर्य : *नलिनी* तथा *नालिनी* नामक दो द्वार दोनों नथुने हैं। जीव इन दोनों द्वारों का उपयोग विभिन्न अवधूतों अर्थात् वायुओं—के द्वारा करता है। यह श्वास क्रिया है। इन द्वारों से जीव सौरभ नगर को अर्थात् सुगन्ध को जाता है। दूसरे शब्दों में, नथुने अपने मित्र वायु की सहायता से संसार में विभिन्न सुगन्धों का भोग करते हैं। नलिनी तथा नालिनी नथुनों के मार्ग हैं, जिनसे जीव श्वास लेता तथा निकालता है। इस प्रकार वह इन्द्रिय सुख की सुगन्ध का आनन्द लेता है।

मुख्या नाम पुरस्ताद्द्वास्तयापणबहूदनौ ।
विषयौ याति पुरराड्रसज्ञविपणान्वितः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

मुख्या—मुख्यता या मुख्य; नाम—नामक; पुरस्तात्—पूर्व दिशा में; द्वाः—द्वार; तया—उससे; आपण—आपण नामक; बहूदनौ—बहूदन नामक; विषयौ—दो स्थान; याति—जाता था; पुर-राट्—नगर का राजा (पुरञ्जन); रस-ज्ञ—रसज्ञ नामक; विपण—विपण नामक; अन्वितः—के साथ।

पूर्व दिशा में स्थित पाँचवें द्वार का नाम मुख्या अर्थात् मुख्य था। इस द्वार से वह रसज्ञ तथा विपण नामक दो मित्रों के साथ बहूदन तथा आपण नामक दो स्थानों को जाता था।

तात्पर्य : यहाँ पर मुख को मुख्य अर्थात् सबसे महत्त्वपूर्ण द्वार बतलाया गया है। मुख इसलिए महत्त्वपूर्ण द्वार है, क्योंकि इससे दो कार्य सम्पन्न होते हैं। पहला खाने का तथा दूसरा बोलने का। खाने का काम रसज्ञ अर्थात् जीभ नामक मित्र के द्वारा सम्पन्न होता है, क्योंकि जीभ विभिन्न प्रकार के भोजनों का स्वाद ले सकती है। जीभ से बोलने का भी काम लिया जाता है—चाहे भौतिक सुख की बात हो

या वैदिक ज्ञान हो। लेकिन यहाँ पर भौतिक इन्द्रिय-सुख पर बल है इसीलिए *रसज्ञ* शब्द व्यवहृत हुआ है।

पितृहूर्नृप पुर्या द्वार्दक्षिणेन पुरञ्जनः ।
राष्ट्रं दक्षिणपञ्चालं याति श्रुतधरान्वितः ॥५०॥

शब्दार्थ

पितृहूः—पितृहू नामक; नृप—हे राजा; पुर्याः—पुरी को; द्वाः—द्वार; दक्षिणेन—दक्षिण का; पुरञ्जनः—राजा पुरञ्जन; राष्ट्रम्—राष्ट्र; दक्षिण—दक्षिणी; पञ्चालम्—पञ्चाल नामक; याति—जाता था; श्रुत-धर-अन्वितः—अपने मित्र श्रुतधर के साथ।

नगर के दक्षिणी द्वार का नाम पितृहू था, जिससे होकर राजा पुरञ्जन अपने मित्र श्रुतधर के साथ दक्षिण-पञ्चाल नामक नगर देखने जाया करता था।

तात्पर्य : दाहिना कान कर्मकाण्डीय अर्थात् सकाम कर्मों के लिए प्रयुक्त होता है। जब तक मनुष्य भौतिक सुखोपभोग से जुड़ा रहता है, वह अपने दाहिने कान से सुनता है और अपनी पंचेन्द्रियों का उपयोग पितृलोक जैसे उच्चतर लोक जाने के लिए करता है। इसीलिए दाहिने कान को यहाँ पितृहू द्वार कहा गया है।

देवहूर्नाम पुर्या द्वा उत्तरेण पुरञ्जनः ।
राष्ट्रमुत्तरपञ्चालं याति श्रुतधरान्वितः ॥५१॥

शब्दार्थ

देवहूः—देवहू; नाम—नाम से विख्यात; पुर्याः—पुरी का; द्वाः—द्वार; उत्तरेण—उत्तरी दिशा में; पुरञ्जनः—राजा पुरञ्जन; राष्ट्रम्—देश; उत्तर—उत्तरी; पञ्चालम्—पंचाल; याति—जाता था; श्रुत-धर-अन्वितः—अपने मित्र श्रुतधर के साथ।

उत्तर दिशा में देवहू नामक द्वार था जिससे होकर राजा पुरञ्जन अपने मित्र श्रुतधर के साथ उत्तर-पञ्चाल नामक स्थान को जाया करता था।

तात्पर्य : दोनों कान उत्तर तथा दक्षिण दिशा में स्थित हैं। दक्षिण दिशा में स्थित कान अत्यन्त प्रबल है और वह इन्द्रियभोग की बातें सुनने के लिए उत्सुक रहता है। किन्तु उत्तर दिशा में स्थित कान गुरु से दीक्षा लेने तथा चिदाकाश (परव्योम) जाने के काम आता है। दाहिना कान *पितृहू* कहलाता है, जिसका अर्थ है कि इससे उच्चतर लोक तथा पितृ लोक की प्राप्ति की जाती है, किन्तु बायाँ कान, जो *देवहू* कहलाता है और भी अधिक उच्चतर लोकों, जैसे महर्लोक, तपोलोक तथा ब्रह्मलोक या इनसे भी ऊपर के लोकों को जहां मनुष्य स्थायी रूप से स्थित होने की इच्छा रखता है प्राप्त करने के काम आता

है। *भगवद्गीता* (९.२५) में इसकी व्याख्या की गई है—

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

"जो देवताओं को पूजते हैं, वे देवताओं के बीच उत्पन्न होंगे, जो भूत-प्रेतों की पूजा करते हैं, वे उनके बीच जन्म लेंगे, जो पूर्वजों (पितरों) को पूजते हैं, वे पितरों के पास जाते हैं और जो मेरी पूजा करते हैं, वे मेरे पास रहते हैं।"

जो लोग इस जन्म में तथा अगले जन्म में सुखी रहना चाहते हैं, वे पितृलोक जाना चाहते हैं। ऐसे लोग वैदिक आदेशों को दायें कान से सुनते हैं। किन्तु जो तपोलोक, ब्रह्मलोक, वैकुण्ठलोक या कृष्णलोक जाना चाहते हैं, उन्हें ऐसे लोकों में पहुँचने के लिए गुरु से दीक्षा लेनी होनी है।

आसुरी नाम पश्चाद्द्वास्तया याति पुरञ्जनः ।
ग्रामकं नाम विषयं दुर्मदेन समन्वितः ॥५२॥

शब्दार्थ

आसुरी—आसुरी; नाम—नामक; पश्चात्—पश्चिम दिशा में; द्वाः—द्वार; तया—उससे; याति—जाया करता था; पुरञ्जनः—राजा पुरञ्जन; ग्रामकम्—ग्रामक; नाम—नामक; विषयम्—विषय भोग की नगरी; दुर्मदेन—दुर्मद से; समन्वितः—के साथ-साथ।

पश्चिम दिशा में आसुरी नामक एक द्वार था, जिससे होकर राजा पुरञ्जन अपने मित्र दुर्मद के साथ ग्रामक नाम की नगरी को जाया करता था।

तात्पर्य : नगरी की पश्चिमी दिशा में आसुरी नाम का द्वार था, क्योंकि यह विशेषकर असुरों के लिए था। असुर शब्द उनके लिए प्रयुक्त होता है, जो इन्द्रियतृप्ति में विशेषकर कामवासना की तृप्ति में लगे रहते हैं, क्योंकि वे विषयी जीवन के प्रति अत्यधिक आसक्त होते हैं। इस प्रकार पुरञ्जन जीव अपनी कामेन्द्रियों से भरपूर भोग करता है। फलतः वह *ग्रामक* नामक स्थान को जाया करता था। भौतिक इन्द्रियतृप्ति *ग्राम्य* भी कहलाती है और वह स्थान जहाँ कामेच्छा तुष्ट की जाती है, *ग्रामक* कहलाता है। *ग्रामक* जाते समय पुरञ्जन अपने साथ *दुर्मद* को ले लेता था। *विषय* शब्द भोजन, शयन, संभोग तथा सुरक्षा (भय) इन चार शारीरिक आवश्यकताओं के लिए प्रयुक्त होता है। *दुर्मदेन* शब्द का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है—*दुर्* अर्थात् "दुष्ट या पापी" और *मद* अर्थात् "पागलपन"। प्रत्येक जीवात्मा, जो भौतिक प्रकृति के सम्पर्क में है, *मद* या पागल कहलाता है। कहा जाता है—

पिशाची पाइले येन मतिच्छन्न हय।

मायाग्रस्त जीवेर हय से भाव उदय॥

(*प्रेम-विवर्त*)

जब मनुष्य पर भूत सवार होता है, तो वह पागल हो जाता है और वह अनाप-शनाप बोलता है। अत: इन्द्रियतृप्ति में व्यस्त रहने के लिए दुर्मद जैसे मित्र को अर्थात् जो भवरोग से बुरी तरह ग्रस्त हो मित्र बनाया जाता है।

आसुरी नाम पश्चाद् द्वा: शब्द एक दूसरे अर्थ के कारण महत्त्वपूर्ण हैं। सूर्य सर्वप्रथम पूर्व दिशा में—बंगाल की खाड़ी में—दिखता है और धीरे-धीरे यह पश्चिम को जाता है। ऐसा अनुभव किया जाता है कि पश्चिम के लोग इन्द्रियतृप्ति में अधिक आसक्त होते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने स्वयं इसकी पुष्टि की है—*पश्चिमेर लोक सब मूढ अनाचार* (*चैतन्यचरितामृत,* आदि १०.८९)। जितना ही पश्चिम चलते जाइये, लोग आध्यात्मिक जीवन में उतना ही कम रुचि रखने वाले दिखेंगे। वे वैदिक आदर्शों के प्रतिकूल आचरण करते मिलेंगे। इसके फलस्वरूप पश्चिम के लोग इन्द्रियतृप्ति के प्रति अधिक आसक्त हैं। इसी *भागवत* में पुष्टि हुई है कि *आसुरीनाम पश्चाद् द्वा:।* दूसरे शब्दों में, पश्चिमी देश के लोग आसुरी सभ्यता में अर्थात् भौतिकतावादी जीवन में रुचि रखते हैं। इसीलिए भगवान् चैतन्य की इच्छा थी कि संसार की पश्चिमी दिशा में कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का प्रचार हो, जिससे इन्द्रियतृप्ति में आसक्त लोग इसके उपदेशों से लाभ उठा सकें।

निर्ऋतिर्नाम पश्चाद् द्वास्तया याति पुरञ्जनः ।
वैशसं नाम विषयं लुब्धकेन समन्वितः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

निर्ऋतिः—निर्ऋति; नाम—नामक; पश्चात्—पश्चिमी; द्वाः—द्वार; तया—जिससे; याति—जाया करता था; पुरञ्जनः—राजा पुरञ्जन; वैशसम्—वैशस; नाम—नामक; विषयम्—स्थान को; लुब्धकेन—अपने मित्र लुब्धक; समन्वितः—के साथ-साथ।

पश्चिम दिशा का दूसरा द्वार निर्ऋति कहलाता था। पुरञ्जन इस द्वार से होकर अपने मित्र लुब्धक के साथ वैशस नामक स्थान को जाया करता था।

तात्पर्य : यह संकेत गुदा के लिए है। गुदा को नाक, कान तथा आँख की पश्चिम दिशा में स्थित माना जाता है। यह द्वार विशेष रूप से मृत्यु के लिए है। जब कोई साधारण जीवात्मा शरीर को त्यागता

है, तो वह गुदा से होकर निकलता है। अत: यह पीड़ाजनक होता है। जब कोई मल विसर्जन करता है, तो भी पीड़ा होती है। जीव के साथ उसका मित्र *लुब्धक* अर्थात् 'लालच' भी इसी मार्ग से जाता है। लालचवश हम जरूरत से ज्यादा खाते हैं, फलत: मल त्याग के समय पीड़ा होती है। निष्कर्ष यह निकला कि यदि ठीक से मल त्याग हो तो मनुष्य चंगा अनुभव करता है। यह द्वार निर्ऋति अर्थात् कष्टप्रद द्वार कहलाता है।

अन्धावमीषां पौराणां निर्वाक्पेशस्कृतावुभौ ।
अक्षण्वतामधिपतिस्ताभ्यां याति करोति च ॥५४॥

शब्दार्थ

अन्धौ—अन्धा; अमीषाम्—उनमें से; पौराणाम्—निवासियों से; निर्वाक्—निर्वाक् नामक; पेशस्कृतौ—पेशस्कृत नाम का; उभौ—दोनों; अक्षण्-वताम्—आँख वाले व्यक्तियों को; अधिपति:—शासक; ताभ्याम्—उन दोनों के साथ; याति—जाया करता था; करोति—कार्य करता था; च—तथा।

इस नगरी के अनेक निवासियों में निर्वाक् तथा पेशस्कृत नामक दो व्यक्ति थे। यद्यपि राजा पुरञ्जन आँख वाले व्यक्तियों (दिठियारों) का शासक था, किन्तु वह इन दोनों अंधों के साथ रहता था। वह उनके साथ जहाँ-तहाँ जाता था और नानाविध कार्य किया करता था।

तात्पर्य : यहाँ पर जीव के हाथों तथा पाँवों की ओर संकेत है। दोनों पाँव बोलते नहीं और अंधे होते हैं। यदि कोई चलने के लिए अपने पाँवों पर ही आश्रित रहे तो वे उसे किसी गड्ढे में गिरा सकते हैं या किसी से टक्कर करा सकते हैं। इस प्रकार अंधे पाँवों द्वारा मार्ग दर्शन किये जाने पर मनुष्य का जीवन संकटग्रस्त हो सकता है।

काम करने वाली इन्द्रियों में हाथ तथा पाँव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु इनके आँखें नहीं होतीं। इसका अर्थ यह हुआ कि हाथों तथा पाँवों में छिद्र नहीं होते। सिर में तो कई छिद्र होते हैं यथा दो आँखें, दो नथने, दो कान तथा एक मुख, किन्तु अधोभाग में मुखाओं और टांगो में कोई छिद्र नहीं होते। फलत: हाथों तथा पाँवों को अन्ध कहा गया है। यद्यपि जीव के शरीर में अनेक छिद्र होते हैं, तो भी उसे हाथों तथा पाँवों से ही कार्य करना होता है। यद्यपि जीव अन्य अनेक इन्द्रियों का स्वामी है, किन्तु जब उसे कहीं जाना होता है या कुछ कार्य करना होता है अथवा किसी को छूना होता है, तो उसे अपने अंधे हाथों तथा पाँवों को ही प्रयोग में लाना होता है।

स यर्ह्यन्त:पुरगतो विषूचीनसमन्वित: ।
मोहं प्रसादं हर्षं वा याति जायात्मजोद्भवम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

स:—वह; यर्हि—जब; अन्त:-पुर—अपने रनिवास में; गत:—जाता था; विषूचीन—मन के; समन्वित:—सहित; मोहम्—मोह; प्रसादम्—संतोष; हर्षम्—हर्ष; वा—अथवा; याति—अनुभव करता था; जाया—पत्नी; आत्म-ज—पुत्र; उद्भवम्—से उत्पन्न।

कभी-कभी वह अपने एक मुख्य दास (मन) विषूचीन के साथ अपने अन्त:पुर जाया करता था। उस समय उसकी पत्नी तथा पुत्रों से मोह, संतोष तथा हर्ष उत्पन्न होते थे।

तात्पर्य : वैदिक मत के अनुसार आत्मा तो हृदय के भीतर स्थित है। जैसाकि वैदिक भाषा में कहा गया है—*हृद्ययमात्मा प्रतिष्ठित:*—आत्मा तो अपने अन्त:करण में है। किन्तु भौतिक अवस्था में आत्मा भौतिक गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुणों—से ढका रहता है और हृदय के भीतर ये तीनों गुण क्रिया करते हैं। उदाहरणार्थ, सतो गुण में रहने पर प्रसन्नता का अनुभव होता है। रजोगुण होने पर भौतिक सुख के कारण संतोष मिलता है और तमोगुण के कारण मोह उत्पन्न होता है। ये सारे कार्य मन के हैं और ये सोचने, अनुभव करने तथा इच्छा के द्वारा क्रियाशील होते हैं।

जब जीव अपनी पत्नी, सन्तान तथा घर से घिरा होता है, तो वह मानसिक धरातल पर कार्य करता है। कभी वह प्रसन्न रहता है, तो कभी संतुष्ट, कभी असंतुष्ट रहता है, तो कभी मोहग्रस्त हो जाता है। समाज, मित्रता तथा प्रेम से मोहग्रस्त होकर जीव सोचता है कि उसके तथाकथित समाज, मित्रता तथा प्रेम, राष्ट्रीयता, जाति इत्यादि उसे संरक्षण प्रदान करेंगे। उसे यह पता ही नहीं रहता कि मृत्यु के पश्चात् वह प्रबल प्रकृति के हाथों में फेंक दिया जायेगा जो उसे वर्तमान कार्य के अनुसार विशेष प्रकार का शरीर प्रदान करेगी। हो सकता है कि यह शरीर मनुष्य का न भी हो। इस प्रकार समाज, स्त्री तथा मित्रता के मध्य जीव के सुरक्षित बने रहने का विचार मात्र मोह ही है। विभिन्न भौतिक शरीरों में बद्ध सभी देहधारी जीव वर्तमान भौतिक सुख के कार्यों द्वारा मोहग्रस्त रहते हैं। वे अपना मुख्य कार्य, जो भगवान् के धाम को वापस जाने का है, भूल जाते हैं।

ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को, जो कृष्णभावनाभावित नहीं है, मोहग्रस्त समझना चाहिए। भौतिक वस्तुओं से उसे जो तथाकथित हर्ष तथा संतोष प्राप्त होता है, उसे भी मोह ही समझना चाहिए। वास्तव में मनुष्य को समाज, मित्रता, प्रेम या अन्य कोई माया के आक्रमण से नहीं बचा सकता जो जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा तथा रोग के रूप में होता रहता है। इस मोहावस्था से एक भी जीव को निकाल पाना कठिन है,

अत: भगवान् श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (७.१४) में कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

''यह मेरी दैवी माया तीन गुणों से युक्त है और इसे जीत पाना कठिन है। किन्तु जो मेरी शरण ग्रहण कर चुके हैं, वे इसे सरलता से पार कर सकते हैं।'' अत: जब तक मनुष्य श्रीकृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं करता, तब तक वह प्रकृति के तीन गुणों के बंधन से निकल नहीं पाता।

एवं कर्मसु संसक्त: कामात्मा वञ्चितोऽबुध: ।
महिषी यद्यदीहेत तत्तदेवान्ववर्तत ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कर्मसु—कर्मों में; संसक्त:—अत्यन्त आसक्त; काम-आत्मा—कामी; वञ्चित:—ठगा गया; अबुध:—अल्पज्ञानी; महिषी—पटरानी; यत् यत्—जो जो; ईहेत—चाहती थी; तत् तत्—वही वही; एव—निश्चय ही; अन्ववर्तत—पालन करता था।

इस प्रकार विभिन्न प्रकार के मानसिक उहापोह तथा सकाम कर्मों में फँसा रह कर राजा पुरञ्जन पूर्ण रूप से भौतिक बुद्धि के वश में हो गया और ठगा गया। वह दरअसल ही अपनी रानी की समस्त इच्छाओं को पूरा किया करता था।

तात्पर्य : जब जीव इतना मोहग्रस्त हो जाता है कि वह अपनी पत्नी या भौतिक बुद्धि के वशीभूत हो जाता है, तो उसे अपनी तथाकथित पत्नी की बुद्धि की तुष्टि करनी पड़ती है और उसी के आदेशानुसार कार्य करना होता है। विभिन्न शास्त्रों का उपदेश है कि भौतिक सुविधा के लिए मनुष्य को चाहिए कि आभूषण प्रदान करके तथा उसके समस्त आदेशों का पालन करते हुए अपनी पत्नी को सदैव प्रसन्न रखे। इस प्रकार पारिवारिक जीवन में किसी तरह की परेशानी न होगी। अत: अपने सामाजिक हित के लिए मनुष्य को चाहिए कि अपनी पत्नी को प्रसन्न रखे। इस प्रकार जब वह अपनी पत्नी का दास हो जाता है, तो उसे पत्नी के इच्छानुसार कार्य करना होता है। इस प्रकार वह अधिकाधिक फँसता जाता है। बंगाल में कहावत है कि जो अपनी पत्नी का आज्ञाकारी दास बन जाता है, वह अपनी ख्याति खो देता है। किन्तु कठिनाई तो यह है कि जब तक पत्नी का दास न बना जाये तब तक पारिवारिक जीवन अस्त-व्यस्त रहता है। पाश्चात्य देशों में इसी उपद्रव के कारण तलाक,

विवाह-विच्छेद का कानून जन्म लेता है और भारत जैसे पूर्वी देशों में सम्बन्ध-विच्छेद चालू है। अब भारत में तलाक का नया कानून चालू हो जाने से इस उपद्रव की पुष्टि हो जाती है। अन्त:करण के भीतर मन कार्य करता है, सोचता है, अनुभव करता है और इच्छा करता है और अपनी पत्नी के वश में होने का अर्थ है भौतिक बुद्धि के वश में होना। इस प्रकार मनुष्य अपनी पत्नी से सन्तान उत्पन्न करता है और मानसिक आडम्बर के वश में आकर अनेक प्रकार के कार्यों में फँस जाता है।

क्वचित्पिबन्त्यां पिबति मदिरां मदविह्वलः ।
अश्नन्त्यां क्वचिदश्नाति जक्षत्यां सह जक्षिति ॥ ५७ ॥
क्वचिद्गायति गायन्त्यां रुदत्यां रुदति क्वचित् ।
क्वचिद्धसन्त्यां हसति जल्पन्त्यामनु जल्पति ॥ ५८ ॥
क्वचिद्धावति धावन्त्यां तिष्ठन्त्यामनु तिष्ठति ।
अनु शेते शयानायामन्वास्ते क्वचिदासतीम् ॥ ५९ ॥
क्वचिच्छृणोति शृण्वन्त्यां पश्यन्त्यामनु पश्यति ।
क्वचिज्जिघ्रति जिघ्रन्त्यां स्पृशन्त्यां स्पृशति क्वचित् ॥ ६० ॥
क्वचिच्च शोचतीं जायामनु शोचति दीनवत् ।
अनु हृष्यति हृष्यन्त्यां मुदितामनु मोदते ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी कभी; पिबन्त्याम्—पीते हुए; पिबति—वह पीता था; मदिराम्—शराब; मद-विह्वलः—उन्मत्त; अश्नन्त्याम्—जब वह खाती; क्वचित्—कभी; अश्नाति—खाता था; जक्षत्याम्—जब चबाती; सह—उसके साथ; जक्षिति—वह चबाता था; क्वचित्—कभी; गायति—गाता था; गायन्त्याम्—अपनी पत्नी के गाने पर; रुदत्याम्—जब वह रोती; रुदति—वह भी रोता; क्वचित्—कभी; क्वचित्—कभी; हसन्त्याम्—जब वह हँसती; हसति—हँसता था; जल्पन्त्याम्—जब वह अनाप-शनाप बोलती; अनु—साथ-साथ; जल्पति—वह बकता; क्वचित्—कभी; धावति—वह दौड़ता था; धावन्त्याम्—जब वह दौड़ती; तिष्ठन्त्याम्—उसके शान्त खड़े रहने पर; अनु—साथ-साथ; तिष्ठति—खड़ा रहता था; अनु—उसके साथ; शेते—सोता था; शयानायाम्—जब वह सोती थी; अनु—उसके साथ; आस्ते—वह भी बैठता था; क्वचित्—कभी; आसतीम्—जब वह बैठती थी; क्वचित्—कभी; शृणोति—सुनता था; शृण्वन्त्याम्—जब वह सुनने में व्यस्त होती; पश्यन्त्याम्—जब वह कुछ देखती होती; अनु—उसके साथ; पश्यति—वह भी देखता था; क्वचित्—कभी; जिघ्रति—सूँघता था; जिघ्रन्त्याम्—जब उसकी पत्नी सूँघती होती; स्पृशन्त्याम्—जब वह कुछ स्पर्श करती; स्पृशति—वह भी छूता था; क्वचित्—उस समय; क्वचित् च—कभी कभी; शोचतीम्—जब विलाप करती; जायाम्—उसकी पत्नी; अनु—उसके साथ; शोचति—वह भी विलाप करता; दीन-वत्—दीन व्यक्ति के समान; अनु—उसके साथ; हृष्यति—प्रसन्न होता था; हृष्यन्त्याम्—जब वह प्रसन्न होती; मुदिताम्—जब वह सन्तुष्ट होती; अनु—उसके साथ; मोदते—उसे भी संतोष होता।.

जब रानी मद्यपान करती तो राजा पुरञ्जन भी मदिरा पीने में व्यस्त रहता। जब रानी भोजन करती तो वह भी उसके साथ-साथ खाता; जब वह चबाती तो वह भी साथ-साथ चबाता। जब रानी गाती तो राजा भी गाता। इसी प्रकार जब रानी रोती तो वह रोता और जब-जब रानी हँसती तो वह भी हँसता। जब रानी अनाप-शनाप बोलती तो वह भी उसी तरह बोलता करता और जब

रानी चलती तो वह उसके पीछे हो लेता। जब रानी शान्त भाव से खड़ी होती तो वह भी खड़ा रहता और जब रानी बिस्तर में लेट जाती तो वह भी लेट जाता। जब रानी बैठती तो वह भी बैठ जाता और जब रानी कुछ सुनती तो वह भी वही सुनता। जब रानी कोई वस्तु देखती तो वह भी उसी को देखता और जब रानी कुछ सूँघती तो राजा भी उसी को सूँघने लगता। जब रानी कुछ छूती तो राजा भी उसे छूता था और जब उसकी प्रिया रानी शोकमग्न होती तो बेचारा राजा भी शोक में उसका साथ देता। इसी तरह रानी को जब सुख मिलता उसका भोग राजा भी करता और जब रानी सन्तुष्ट हो जाती तो राजा भी तुष्टि का अनुभव करता।

तात्पर्य : मन ही वह स्थान है जहाँ आत्मा स्थित है और मन बुद्धि के द्वारा संचालित होता है। जीवात्मा हृदय के भीतर स्थित होने से बुद्धि का अनुसरण करता है। बुद्धि को यहाँ पर रानी के रूप में चित्रित किया गया है और मन के वश में होकर आत्मा भौतिक बुद्धि का उसी तरह अनुसरण करता है, जिस प्रकार राजा अपनी पत्नी का कर रहा था। निष्कर्ष यह निकला कि बुद्धि ही जीव के बन्धन का कारण है। बात यह है कि इस जाल से निकलने के लिए मनुष्य को आध्यात्मिक बुद्धि का सहारा लेना पड़ता है।

महाराज अम्बरीष के जीवन में हम यह देखते हैं कि उन्होंने अपना मन पहले श्रीकृष्ण के चरणकमलों में लगाया जिससे उनकी बुद्धि विमल हो गई। महाराज अम्बरीष ने अपनी अन्य इन्द्रियों को भी भगवान् की सेवा में लगाये रखा। वे अपने नेत्रों का प्रयोग मन्दिर में फूलों से सुन्दर रीति से सजे विग्रह को देखने में करते थे, अपनी घ्राणशक्ति को फूलों की सुगन्ध सूँघने में और अपने पाँवों को मन्दिर तक जाने में प्रयुक्त करते थे। उनके हाथ मन्दिरों की सफाई करने में लगे रहते और उनके कान श्रीकृष्ण का गुणानुवाद सुनते थे। उनकी जीभ दो कार्य करती—एक तो श्रीकृष्ण का गुणगान और दूसरे श्रीविग्रह पर चढ़ा प्रसाद चखने में। भौतिकता-ग्रस्त व्यक्ति, जो पूरी तरह बुद्धि के वश में हैं, ये सारे कार्य नहीं कर सकते। इस प्रकार वे जाने या अनजाने भौतिक बुद्धि के आदेशों के वश में हो जाते हैं। इस तथ्य को अगले श्लोक में सार रूप में दिया गया है।

विप्रलब्धो महिष्यैवं सर्वप्रकृतिवञ्चितः ।

नेच्छन्ननुकरोत्यज्ञः क्लैब्यात्क्रीडामृगो यथा ॥ ६२॥

शब्दार्थ

विप्रलब्धः—बन्दी; महिष्या—महिषी (पटरानी) द्वारा; एवम्—इस प्रकार; सर्व—समस्त; प्रकृति—अस्तित्व; वञ्चितः—ठगा जाकर; न इच्छन्—न चाहते हुए; अनुकरोति—अनुकरण करता था; अज्ञः—मूर्ख राजा; क्लैब्यात्—बलपूर्वक; क्रीडा-मृगः—पालतू जानवर; यथा—के समान।

इस प्रकार राजा पुरञ्जन अपनी सुन्दर पत्नी के द्वारा बन्दी बना हुआ था और ठगा जा रहा था। वास्तव में वह संसार में अपने सम्पूर्ण अस्तित्व में ठगा जा रहा था। बेचारा वह मूर्ख राजा अपनी इच्छा के विरुद्ध अपनी पत्नी के वश में उसी प्रकार रहता जिस प्रकार कोई पालतू जानवर अपने स्वामी की इच्छानुसार नाचता रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *विप्रलब्ध* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *वि* अर्थात् "विशेष रूप से" और *प्रलब्ध* अर्थात् "प्राप्त"। राजा ने अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए रानी को प्राप्त किया और इस प्रकार वह सारे भौतिक संसार द्वारा ठगा गया। यद्यपि वह ऐसा करना नहीं चाहता था, किन्तु बुद्धि के वश में रहकर वह पालतू जानवर का-सा आचरण कर रहा था। जिस प्रकार पालतू बन्दर अपने स्वामी के इच्छानुसार नाचता है उसी प्रकार राजा पुरञ्जन अपनी रानी के इशारों पर नाच रहा था। *श्रीमद्भागवत* (५.५.२) में कहा गया है—*महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः*—यदि कोई किसी सन्त पुरुष या भक्त की संगति करता है, तो उसका मोक्ष-मार्ग स्पष्ट हो जाता है। किन्तु यदि वह स्त्री का या किसी ऐसे व्यक्ति का साथ करता है, जो स्त्री पर अत्यन्त आसक्त रहता हो तो उसके बन्धन का मार्ग प्रशस्त होता है।

कुल मिलाकर, मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति के लिए स्त्री की संगति छोड़ देनी चाहिए। संन्यास आश्रम का यही तात्पर्य है। संन्यास लेने के पूर्व मनुष्य को अवैध स्त्री प्रसंग से बचने का अभ्यास करना होता है। विषयी जीवन, चाहे वह वैध हो या अवैध, एक-सा होता है, किन्तु अवैध स्त्री के प्रसंग से मनुष्य अधिकाधिक बँधता जाता है। अपने विषयी जीवन को नियमित करने से सम्भावना रहती है कि उसे अन्ततः काम वासना या स्त्री-संग से मुक्ति मिल जाये। यदि ऐसा हो सके तो आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ना आसान हो जाता है।

नारद मुनि ने इस अध्याय में बतलाया है कि मनुष्य किस प्रकार अपनी प्रियतमा पत्नी की संगति से मोहित होता है। अपनी पत्नी के प्रति आकर्षण का अर्थ है भौतिक गुणों के प्रति आकर्षण। जो तमोगुण के भौतिक गुण से आकृष्ट होता है, वह जीवन की अधोगति में रहता है और जो सतोगुण से

आकृष्ट होता है, वह उत्तम स्थिति में रहता है। कभी-कभी यह देखा जाता है कि जब मनुष्य सतोगुण पद पर आसीन होता है, तो वह ज्ञान के अनुशीलन के प्रति आकृष्ट होता है। वास्तव में यह स्थिति श्रेष्ठ है, क्योंकि ज्ञान के कारण भक्ति अपनाने में वरीयता आती है। जब तक मनुष्य ज्ञान के पद अर्थात् ब्रह्मभूत अवस्था को प्राप्त नहीं होता, वह भक्ति में आगे प्रगति नहीं कर सकता। भगवान् श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (१८.५४) में कहा है—

ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

सम: सर्वेषु भूतेषू मद्भक्तिं लभते पराम्॥

''जो इस प्रकार आध्यात्मिक रूप से स्थित होता है, उसे तुरन्त ही परब्रह्म का साक्षात्कार होता है और वह पूर्ण रूप से प्रसन्न हो जाता है। उसे किसी वस्तु के लिए न तो इच्छा होती है, न शोक होता है; वह प्रत्येक जीव पर समभाव रखता है। इस अवस्था में वह मेरी शुद्ध भक्ति प्राप्त कर लेता है।''

ज्ञान की स्थिति लाभकारी है, क्योंकि यह एक ऐसा साधन है इससे भक्ति का पद प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु यदि कोई सीधे भक्ति करता है, तो बिना प्रयास के ही ज्ञान प्रकट होता है। इसकी पुष्टि *भागवत* (१.२.७) में इस प्रकार हुई है।

वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित:।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥

भक्ति स्वत:ही हमारे सांसारिक ज्ञान को प्रकट कर देती है। जो पर्याप्त रूप से ज्ञानी होता है, वह तुरन्त ही तथाकथित समाज, परिवार तथा प्रेम के साथ-साथ अन्य सारी वस्तुओं से विरक्त हो जाता है। जब तक मनुष्य इनसे लगाव रखता है तब तक न तो ज्ञान का प्रश्न उठता है, न ही भक्ति का। किन्तु सीधे भक्ति करने पर मनुष्य ज्ञान तथा विरक्ति दोनों से पूरित हो उठता है। इस प्रकार जीवन सार्थक बन जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत ''राजा पुरञ्जन के गुणों का वर्णन'' नामक पच्चीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter छब्बीस

राजा पुरञ्जन का आखेट के लिए जाना और रानी का क्रुद्ध

होना

नारद उवाच
स एकदा महेष्वासो रथं पञ्चाश्वमाशुगम् ।
द्वीषं द्विचक्रमेकाक्षं त्रिवेणुं पञ्चबन्धुरम् ॥ १ ॥
एकरश्म्येकदमनमेकनीडं द्विकूबरम् ।
पञ्चप्रहरणं सप्तवरूथं पञ्चविक्रमम् ॥ २ ॥
हैमोपस्करमारुह्य स्वर्णवर्माक्षयेषुधिः ।
एकादशचमूनाथः पञ्चप्रस्थमगाद्वनम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; सः—राजा पुरञ्जन; एकदा—एक बार; महा-इष्वासः—विशाल धनुष बाण लेकर; रथम्—रथ; पञ्च-अश्वम्—पाँच घोड़े; आशु-गम्—तेजी से चलने वाले; द्वि-ईषम्—दो तीर; द्वि-चक्रम्—दो पहिए; एक—एक; अक्षम्—धुरी; त्रि—तीन; वेणुम्—ध्वजाएँ; पञ्च—पाँच; बन्धुरम्—अवरोध, डोरियाँ; एक—एक; रश्मि—लगाम; एक—एक; दमनम्—सारथी; एक—एक; नीडम्—बैठने का स्थान; द्वि—दो; कूबरम्—जुए; पञ्च—पाँच; प्रहरणम्—आयुध; सप्त—सात; वरूथम्—आवरण अथवा शरीर के अवयव; पञ्च—पाँच; विक्रमम्—चालें; हैम—सुनहला; उपस्करम्—आभूषण; आरुह्य—चढ़ कर, सवार होकर; स्वर्ण—सोने का; वर्मा—कवच; अक्षय—न समाप्त होने वाला; इषु-धिः—तरकस; एकादश—ग्यारह; चमू-नाथः—सेनापतियों; पञ्च—पाँच; प्रस्थम्—गन्तव्य; अगात्—गया; वनम्—वन में।

नारद मुनि ने आगे कहा : हे राजन्, एक बार राजा पुरञ्जन ने अपना विशाल धनुष लिया और सोने का कवच धारण करके तरकस में असंख्य तीर भर कर वह अपने ग्यारह सेनापतियों के साथ अपने रथ पर बैठ गया, जिसे पाँच तेज घोड़े खींच रह थे और पञ्चप्रस्थ नामक वन में गया। उसने अपने साथ उस रथ में दो विस्फोटक तीर ले लिये। यह रथ दो पहियों तथा एक घूमते हुए धुरे पर स्थित था। रथ पर तीन ध्वजाएँ, एक लगाम, एक सारथी, एक बैठने का स्थान, दो काठी (जुए), पाँच आयुध तथा सात आवरण थे। यह रथ पाँच भिन्न-भिन्न शैलियों से गति कर रहा था और उसके सामने पाँच अवरोध थे। रथ की सारी साज-सज्जा सोने की बनी थी।

तात्पर्य : इन तीनों श्लोकों में बताया गया है कि किस प्रकार जीव का भौतिक शरीर बहिरंगा शक्ति के तीन गुणों के नियंत्रण में रहता है। यह शरीर रथ है और जीव ही इस शरीर का स्वामी है जैसाकि *भगवद्गीता* (२.१३) में कहा गया है—*देहिनोऽस्मिन्यथा देहे।* शरीर (देह) का *स्वामी देही* कहलाता है और वह इस शरीर के भीतर, विशेषत: हृदय के भीतर, विद्यमान रहता है। जीव एक सारथी द्वारा चलाया जाता है। यह रथ तीन गुणों से बना है, जो कि प्रकृति के तीनों गुण हैं, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१८.६१) में हुई है—*यन्त्रारूढानि मायया।* यंत्र का अर्थ है वाहन। यह शरीर प्रकृति

द्वारा प्रदत्त है और इस शरीर का चालक है परमात्मा। जीव रथ के भीतर बैठा रहता है। ऐसी है वास्तविक स्थिति।

जीवात्मा सदैव तीन गुणों—सत्त्व, रज तथा तम—द्वारा प्रभावित होता रहता है। इसकी भी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१३) में हुई है—*त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः*—जीवात्मा प्रकृति के तीन गुणों द्वारा मोहग्रस्त होता रहता है। इस श्लोक में इन तीनों गुणों को तीन पताकाएँ कहा गया है। पताका से कोई भी व्यक्ति जान सकता है कि यह रथ किसका है। इसी प्रकार प्रकृति के तीनों गुणों से यह जाना जा सकता है कि रथ किस दिशा में जा रहा है। दूसरे शब्दों में, जिसके आँखें हैं वह समझ सकता है कि प्रकृति के किसी विशेष गुण द्वारा यह शरीर किधर जा रहा है। इन तीनों श्लोकों में यह बताया गया है कि मनुष्य धार्मिक बनना चाहते हुए भी किस प्रकार तमोगुण से प्रभावित होता है। नारद मुनि प्राचीनबर्हिषत् को दिखा देना चाहते थे कि राजा तमोगुण से प्रभावित है, यद्यपि वह परम धर्मात्मा माना जाता था।

कर्मकाण्डीय के अनुसार मनुष्य वेदों द्वारा निर्देशित विविध यज्ञ सम्पन्न करता है और उन सभी यज्ञों में पशुबलि का आदेश है, ताकि मारे जाने वाले पशुओं के जीवन पर वैदिक मंत्रों की शक्ति की परीक्षा हो सके। पशुबलि निश्चय ही तमोगुण के अधीन होकर की जाती है। भले ही कोई कितना धार्मिक प्रवृत्ति वाला क्यों न हो, पशुबलि की संस्तुति सभी शास्त्रों में, न केवल वेदों में, वरन् अन्य सम्प्रदायों के आधुनिक शास्त्रों तक में है। ये पशु-यज्ञ धर्म के नाम पर किये जाते हैं, किन्तु वास्तव में ये तो तमोगुण वाले व्यक्तियों के निमित्त होते हैं। जब ऐसे लोग पशुओं का वध करते हैं, तो वे धर्म की दुहाई देते हैं। किन्तु जहाँ धर्म दिव्य पद्धति हो—यथा वैष्णव धर्म—वहाँ पशुबलि (यज्ञ) को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। ऐसे दिव्य धर्म की संस्तुति श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (१८.६६) में की है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

''तुम सभी धर्मों को छोड़कर केवल मेरी शरण में आओ। मैं तुम्हें समस्त पाप-बन्धनों से मुक्त कर दूँगा। तुम डरो नहीं।'' चूँकि राजा प्राचीनबर्हिषत् विविध यज्ञों के करने में व्यस्त था जिनमें पशुओं की हत्या की जाती थी, अतः नारद मुनि ने उसे बताया कि ऐसे यज्ञ तमोगुण से प्रभावित होने के कारण किये जाते हैं। *श्रीमद्भागवत* के तो प्रारम्भ में ही (१.१.२) कहा गया है—*प्रोज्झित कैतवोऽत्र।* ऐसे

सारे धर्मों को जो ठगी में लगे हैं *श्रीमद्भागवत* में स्थान प्राप्त नहीं है। *भगवद्धर्म* जो भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को बताता है—पशुबलि की संस्तुति नहीं की जाती। संकीर्तन-यज्ञ में, जिसमें—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम हरे हरे—महामंत्र का जप किय जाता है, कहीं भी पशुबलि की संस्तुति नहीं है।

इन तीनों श्लोकों में राजा पुरञ्जन का पशुओं को मारने के लिए जंगल को प्रस्थान करना प्रतीकात्मक रूप से तमोगुण से प्रेरित जीव का विभिन्न इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में लगना है। यह भौतिक शरीर स्वयं बताता है कि जीवात्मा प्रकृति के तीन गुणों द्वारा प्रभावित है और उसे भौतिक वस्तुओं का भोग करने के लिए प्रवृत्त किया जा रहा है। जब शरीर तमोगुण से प्रभावित होता है, तो संक्रमण अत्यन्त बिकट होता है। जब शरीर रजोगुण से प्रभावित होता है, तो संक्रमण लक्षणात्मक स्तर पर होता है, किन्तु जब शरीर सतोगुण से प्रभावित होता है, तो यही सांसारिक भौतिक संक्रमण परिशुद्ध हो जाता है। विभिन्न धर्मों में बताये गये धार्मिक अनुष्ठान सतोगुण-स्तर पर ही होते हैं, किन्तु इस भौतिक जगत में कभी-कभी सतोगुण भी अन्य गुणों से दूषित हो जाता है, अत: कभी-कभी सतोगुणी व्यक्ति भी तमोगुण के प्रभाव में आ जाता है।

यहाँ पर इसका वर्णन हुआ है कि एक बार राजा पुरञ्जन पशुओं का वध करने के लिए जंगल में गया। इसका अर्थ यही होता है कि जीवात्मा तमोगुण के प्रभाव में आ गया। जिस जंगल में राजा आखेट करने लगा उसका नाम *पञ्चप्रस्थ* था। *पञ्च* का अर्थ ''पाँच'' होता है, अत: यह पाँच इन्द्रिय वस्तुओं (विषयों) का सूचक है। शरीर में पाँच कर्मेन्द्रियाँ होती हैं—हाथ, पाँव, जीभ, गुदा तथा जननेद्रिय। इन कर्मेन्द्रियों का पूरा-पूरा लाभ उठाकर शरीर भौतिक जीवन का भोग करता है। रथ को पाँच घोड़े खींच रहे हैं, जो पाँच इन्द्रियों—आँख, कान, नाक, त्वचा तथा जीभ-के प्रतीक हैं। ये इन्द्रियाँ विषयों के प्रति शीघ्र आकृष्ट होती हैं, फलस्वरूप घोड़ों को तेजी से चलने वाला बताया गया है। राजा पुरञ्जन के रथ में दो विस्फोटक आयुध हैं जिनकी तुलना अहंकार से की जा सकती है। इस अहंकार की दो प्रवृत्तियाँ होती हैं—मैं यह शरीर हूँ (*अहन्ता*) और मेरे सभी शारीरिक सम्बन्धी मेरे हैं (*ममता*)।

रथ के दोनों पहिए दो गतियील सुविधाओं जैसे हैं—पापी जीवन तथा धार्मिक जीवन। रथ तीन

पताकाओं से सुसज्जित है, जो प्रकृति के तीनों गुणों के द्योतक हैं। पाँच प्रकार के अवरोध पंचवायु हैं, जो शरीर के भीतर प्रवाहित होते हैं। ये हैं—प्राण, अपान, उदान, समान तथा व्यान। शरीर में सात आवरण पाये जाते हैं—ये हैं त्वचा, पेशी, वसा, रक्त, मज्जा, अस्थि तथा वीर्य। जीव तीन सूक्ष्म तथा पाँच स्थूल तत्त्वों से ढका है। ये वास्तव में वे अवरोध हैं, जो जीव को भौतिक बन्धन से मोक्ष के मार्ग में जाते हुए मिलते हैं।

इस श्लोक में *रश्मि* (रस्सी) शब्द मन का सूचक है। *नीड* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि *नीड* तो पक्षियों का घोंसला होता है। यहाँ पर *नीड* हृदय है जहाँ पर जीवात्मा स्थित है। जीवात्मा केवल एक स्थान पर बैठता है। उसके बन्धन के दो कारण होते हैं—शोक तथा मोह। इस संसार में जीवात्मा उसी वस्तु के पीछे दौड़ता है, जो उसे कभी मिल नहीं सकती। अत: वह मोह में पड़ा रहता है। ऐसी मोहग्रस्त दशा में होने से वह सदैव शोक करता रहता है। इस प्रकार शोक तथा मोह *द्विकूबर* अर्थात् बन्धन के दो स्थान कहे गये हैं।

जीवात्मा अपनी सारी इच्छाएँ पाँच विभिन्न विधियों से पूरी करता है, जो उसकी कर्मेन्द्रियों को सूचित करती हैं। सुनहरे आभूषण तथा वस्त्र सूचित करते हैं कि जीवात्मा रजोगुण से प्रभावित है। जिस व्यक्ति के पास अकूत धन होता है, वह विशेष रूप से रजोगुण के वश में होता है। रजोगुण के कारण वह इस संसार में अनेक वस्तुओं का भोग करना चाहता है। ग्यारह सेनापति दस इन्द्रियों तथा मन के सूचक हैं। मन सदैव दस सेनापतियों के साथ मिलकर संसार के भोग की योजनाएँ बनाता रहता है। पञ्चप्रस्थ नामक जंगल, जहाँ राजा आखेट करने गया था, पाँच इन्द्रिय विषयों—रूप, स्वाद, शब्द, गंध तथा स्पर्श—का जंगल है। इस प्रकार इन तीन श्लोकों में नारद मुनि भौतिक शरीर की स्थिति तथा इसके भीतर जीवात्मा के बन्दी होने का वर्णन करते हैं।

चचार मृगयां तत्र दृप्त आत्तेषुकार्मुकः ।
विहाय जायामतदर्हां मृगव्यसनलालसः ॥ ४॥

शब्दार्थ

चचार—किया (खेला); मृगयाम्—आखेट, शिकार; तत्र—वहाँ; दृप्तः—गर्वपूर्वक; आत्त—लेकर; इषु—तीर; कार्मुकः—धनुष; विहाय—त्याग कर; जायाम्—अपनी पत्नी को; अ-तत्-अर्हाम्—यद्यपि असम्भव; मृग—आखेट, मृगया; व्यसन—बुरी लत; लालसः—से प्रोत्साहित होकर।

यद्यपि राजा पुरञ्जन के लिए अपनी रानी को एक पल भर भी छोड़ना कठिन था। तो भी उस

दिन उसे शिकार का ऐसा शौक लगा कि अपनी पत्नी की परवाह किये बिना वह बड़े गर्व से धनुष-बाण लेकर जंगल चला गया।

तात्पर्य : एक प्रकार का शिकार स्त्री-शिकार कहलाता है। बद्धजीव कभी भी एक पत्नी से संतुष्ट नहीं होता। जिनकी इन्द्रियाँ अपने वश में नहीं होतीं वे विशेष रूप से अनेक स्त्रियों की तलाश में रहते हैं। राजा पुरञ्जन द्वारा अपनी धर्मपत्नी को छोड़ना बद्धजीव द्वारा इन्द्रियतृप्ति के लिए अनेक स्त्रियों की खोज का प्रतीक है। राजा जहाँ भी जाता है, उसे अपनी पत्नी को साथ ले जाना होता है, किन्तु जब राजा या जीव इन्द्रियतृप्ति की लालसा से त्रस्त हो जाता है, तो वह धार्मिक नियमों की परवाह नहीं करता। बजाय इसके वह गर्व के साथ आसक्ति तथा घृणा का धनुष बाण धारण करता है। हमारी चेतना सदैव दो प्रकार से कार्य करती है—एक तो सही मार्ग से तथा दूसरे गलत मार्ग से। जब किसी को रजोगुण के अधीन होने से अपने पद का गर्व हो जाता है, तो वह सही मार्ग त्याग कर गलत मार्ग अपना लेता है। क्षत्रिय राजाओं को कभी-कभी सलाह दी जाती है कि वे जंगल जाकर खूँख्वार पशुओं का शिकार करें जिससे वे वध करना सीख सकें, किन्तु इसका उद्देश्य इन्द्रियतृप्ति कभी नहीं है। मांस खाने के लिए पशुओं का वध करना मनुष्यों के लिए वर्जित है।

आसुरीं वृत्तिमाश्रित्य घोरात्मा निरनुग्रहः ।
न्यहनन्निशितैर्बाणैर्वनेषु वनगोचरान् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

आसुरीम्—आसुरी; वृत्तिम्—व्यापार; आश्रित्य—ग्रहण करने से; घोर—कठोर; आत्मा—चेतना, हृदय; निरनुग्रहः—दयाहीन; न्यहनत्—वध किया; निशितैः—तीखे; बाणैः—बाणों से; वनेषु—वन में; वन-गोचरान्—जंगली पशुओं को।

उस समय राजा पुरञ्जन आसुरी वृत्तियों के प्रभाव में आ गया था, जिसके कारण उसका हृदय कठोर तथा दयाशून्य हो गया था, अतः उसने अपने तीखे बाणों से बिना सोचे-विचारे अनेक निर्दोष जंगली पशुओं का वध कर दिया।

तात्पर्य : जब किसी मनुष्य को अपने पद का गर्व हो जाता है, तो वह रजो तथा तमो गुणों के प्रभाव में आकर बिना रोक-टोक के अपनी इन्द्रियों का भोग करना चाहता है। इस तरह उसे आसुरी कहा जाता है। आसुरी होने पर लोग निरीह पशुओं के प्रति दयावान नहीं रह जाते; फलतः वे अनेक कसाईघर चलाते हैं। इसे *सूना* या *हिंसा* कहते हैं। कलियुग में रजो तथा तमोगुण में वृद्धि होने से प्रायः

सभी लोग आसुरी हैं, अत: उन्हें मांस खाना प्रिय है, जिसके लिए वे अनेक कसाईघर चलाते हैं।

इस कलिकाल में दया की वृत्ति प्राय: शून्य हो गई है; अत: मनुष्यों तथा राष्ट्रों के बीच सदैव संघर्ष तथा युद्ध चलते रहते हैं। मनुष्य यह नहीं समझते कि जिस प्रकार वे बिना रोक-टोक के अनेक पशुओं का वध करते हैं उसी प्रकार से महायुद्धों में उनका भी वध होगा। यह पाश्चात्य देशों में तो बहुत ही स्पष्ट दिखता है। पश्चिमी देशों में कसाईघरों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है, इसीलिए प्रति पाँचवें या दसवें वर्ष महायुद्ध होता है, जिसमें असंख्य लोग पशुओं से भी बुरी दशा में मारे जाते हैं। कभी-कभी युद्ध के समय सैनिक-शत्रुओं को बन्दी शिविरों में रखकर उनकी नृशंस हत्या कर दी जाती है। कसाईघरों में तथा जंगल में शिकारियों द्वारा निर्बन्ध पशु-वध का ही यह दुष्परिणाम है। अभिमानी आसुरी लोग न तो प्रकृति के नियमों से, न ही ईश्वरीय नियमों से परिचित होते हैं; इसीलिए वे परवाह किये बिना बे-रोकटोक पशुओं का वध करते रहते हैं। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में पशुवध सर्वथा वर्जित है। अत: किसी को तब तक इसके प्रामाणिक छात्र के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता जब तक वह चार विधि-विधानों का व्रत नहीं ले लेता। ये हैं—पशु-वध न करना, मादक द्रव्य का सेवन न करना, अवैध स्त्री संसर्ग न करना तथा जुआ न खेलना। यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन ही एकमात्र उपाय है, जिसके द्वारा इस कलिकाल में मनुष्यों के पापकर्मों का निवारण किया जा सकता है।

तीर्थेषु प्रतिदृष्टेषु राजा मेध्यान्पशून्वने ।
यावदर्थमलं लुब्धो हन्यादिति नियम्यते ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तीर्थेषु—पवित्र स्थानों में; प्रतिदृष्टेषु—वेदों के आदेशानुसार; राजा—राजा; मेध्यान्—वध के योग्य; पशून्—पशुओं को; वने—वन में; यावत्—जब तक; अर्थम्—आवश्यकतानुसार; अलम्—इससे अधिक नहीं; लुब्ध:—लालची बनकर; हन्यात्—वध करे; इति—इस प्रकार; नियम्यते—नियमित करता है।

यदि राजा मांस खाने का अत्यधिक इच्छुक हो तो वह यज्ञ के लिए शास्त्रों में दिये गये आदेशों के अनुसार बन जाकर कुछ केवल वध्य पशुओं का वध करे। किसी को वृथा ही या बिना रोकटोक पशुओं के वध की अनुमति नहीं है। वेद उन मूर्ख पुरुषों के द्वारा अंधाधुंध पशुवध को नियमित करते हैं, जो तमोगुण तथा अविद्या द्वारा प्रभावित रहते हैं।

तात्पर्य : यह प्रश्न किया जा सकता है कि जीव द्वारा इन्द्रियतृप्ति पर क्यों प्रतिबन्ध लगाया जाये? यदि राजा वध सीखने के लिए जंगल जाकर पशुओं का वध कर सकता है, तो फिर इन्द्रियधारी जीव

को निर्बन्ध इन्द्रियतृप्ति क्यों न करने दी जाये? इस समय यह तर्क उन तथाकथित स्वामियों तथा योगियों द्वारा भी दिया जाता है, जो यह खुले आम कहते हैं कि जब हमारे पास इन्द्रियाँ हैं, तो फिर उनकी तृप्ति क्यों न की जाये। किन्तु ये मूर्ख स्वामी तथा योगी शास्त्रों के आदेशों को नहीं जानते। कभी-कभी इनमें से कुछ मूढ़ तो शास्त्रों का विरोध तक करते हैं। यहाँ तक कि वे भरी सभा में घोषित करते हैं कि शास्त्रों या अन्य ग्रन्थों की कोई आवश्यकता नहीं है। वे कहते हैं ''मेरे पास आओ, मेरे स्पर्श करते ही तुम तुरन्त ब्रह्मभूत हो जाओगे।''

चूँकि आसुरी लोग चाहते हैं कि वे ठगे जाँय, अत: उन्हें ठगने वालों की कमी नहीं है। कलियुग में इस समय तो सम्पूर्ण मानव-समाज ऐसे ठगों एवं ठगे जाने वालों से भरा पड़ा है। इसीलिए वैदिक शास्त्रों ने इन्द्रियतृप्ति के लिए समुचित आदेश दिये हैं। इस युग में प्रत्येक व्यक्ति मांस तथा मछली खाना, शराब पीना और विषयभोग में लिप्त रहना चाहता है, किन्तु वैदिक आदेशानुसार संभोग की अनुमति केवल विवाहित जीवन में है, मांस-भक्षण केवल उन पशुओं का विहित है, जो मार कर देवी काली पर चढ़ाये गये हों तथा मादक द्रव्य-सेवन की केवल सीमित रूप में अनुमति है। इस श्लोक का *नियम्यते* शब्द सूचित करता है कि पशु-वध, मादक-द्रव्य सेवन तथा विषयभोग नियमित होना चाहिए।

नियम मनुष्यों के लिए होते हैं, पशुओं के लिए नहीं। सड़क-परिवहन के नियम कि दाहिने या बाएँ चलो मनुष्यों के लिए बने हैं न कि पशुओं के लिए। यदि कोई पशु इन नियमों का उल्लंघन करे तो उसे दण्डित नहीं किया जाता, किन्तु मनुष्य को किया जाता है। वेद पशुओं के लिए नहीं, अपितु मानव-समाज द्वारा समझे जाने के लिए हैं। जो व्यक्ति बिना विवेक के वेदों द्वारा दिये गये विधि-विधानों का अतिक्रमण करता है, वह दण्डनीय है। अत: मनुष्य को चाहिए कि अपनी कामवासनाओं के अनुसार इन्द्रियों का भोग न करे, वरन् वेदों में दिये गये नियमों के अनुसार अपने को नियमित करे। यदि राजा को जंगल में आखेट करने की अनुमति है, तो वह उसकी इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं है। हम वध करने की कला के साथ खिलवाड़ नहीं कर सकते। यदि राजा चोर-उचक्कों से डरता है, किन्तु दीन पशुओं को मार कर बड़े ही आनन्द से घर पर उनका मांस खाता है, तो उसे राजा बने रहने का कोई औचित्य नहीं है। उससे उसका पद ले लिया जाना चाहिए। चूँकि इस युग में राजाओं में आसुरी वृत्तियाँ

होती हैं, इसीलिए प्रत्येक देश में प्रकृति के नियमों द्वारा राजतंत्र का सफाया हो रहा है।

इस युग में लोग इतने गिर चुके हैं कि एक ओर वे बहुविवाह पर प्रतिबन्ध लगा रहे हैं और दूसरी ओर नाना प्रकार से स्त्रियों की खोज में रहते हैं। अनेक व्यापारिक प्रतिष्ठान विज्ञापित करते रहते हैं कि अमुक क्लब या दूकान में टापलेस (नंगी) युवतियाँ उपलब्ध हैं। इस प्रकार आधुनिक समाज में स्त्रियाँ इन्द्रियभोग की साधन बन गई हैं। किन्तु वेदों का वचन है कि यदि किसी को एक से अधिक स्त्री को भोगने की रुचि है—जैसाकि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और कभी-कभी शूद्र वर्णों में होता है—तो वह एक से अधिक विवाह कर सकता है। विवाह का अर्थ है स्त्री का पूरा-पूरा उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना और बिना विषयासक्ति के शान्तिपूर्वक रहना। किन्तु इस समय विषयासक्ति अनियंत्रित है। तो भी समाज में यह नियम बनाया जाता है कि कोई एक से अधिक विवाह नहीं कर सकता। यह आसुरी समाज का अनोखापन है।

य एवं कर्म नियतं विद्वान्कुर्वीत मानवः ।
कर्मणा तेन राजेन्द्र ज्ञानेन न स लिप्यते ॥ ७॥

शब्दार्थ

यः—जो; एवम्—इस प्रकार; कर्म—कार्य; नियतम्—नियमित; विद्वान्—विद्वान्; कुर्वीत—करना चाहिए; मानवः—मनुष्य; कर्मणा—ऐसे कार्यों से; तेन—इससे; राज-इन्द्र—हे राजा; ज्ञानेन—ज्ञान से; न—कभी नहीं; सः—वह; लिप्यते—लिप्त होता है।.

नारद मुनि ने राजा प्राचीनबर्हिषत् से आगे कहा : हे राजा, जो व्यक्ति शास्त्रानुमोदित कर्मों का आचरण करता है, वह सकाम कर्मों में लिप्त नहीं होता।

तात्पर्य : जिस प्रकार से सरकार नागरिकों को विशेष रूप से कार्य के लिए कुछ व्यापार-अनुमति पत्र बनाती है, उसी प्रकार वेदों में ऐसे आदेश हैं, जो हमारे सकाम कर्मों को नियंत्रित एवं नियमित करते हैं। सभी जीव इस संसार में अपने आप भोग के लिए आये हैं; फलतः इन्द्रियभोग को नियमित करने के लिए वेद हैं। जो व्यक्ति वैदिक नियमों के अनुसार इन्द्रिय भोग करता है, वह अपने कर्मों एवं उनके फलों में बँधता नहीं। *भगवद्गीता* (३.९) में आया है—*यज्ञार्थात् कर्मणः*—मनुष्य को यज्ञ के लिए अर्थात् विष्णु को प्रसन्न करने के लिए कर्म करना चाहिए। *अन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*—अन्यथा कोई भी कर्मफल जीव के बन्धन का कारण बनेगा। मनुष्य विशेष रूप से जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के बन्धन से छुटकारा प्राप्त करने के निमित्त है। अतः उसे वैदिक नियमों के अनुसार आचरण करना होता

है, जिससे वह अपनी इन्द्रियतृप्ति की इच्छाओं को पूरा कर ले और साथ ही धीरे-धीरे भवबन्धन से भी मुक्त हो ले। ऐसे नियमों के अनुसार किया गया कर्म ज्ञान कहलाता है। वस्तुत:, वेद शब्द का अर्थ ही "ज्ञान" है। *ज्ञानेन न स लिप्यते* बताता है कि वैदिक नियमों का पालन करने से मनुष्य कर्मों तथा उनके फलों के बन्धन में नहीं फँसता।

इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति को वैदिक आदेशानुसार आचरण करने का उपदेश दिया जाता है न कि गैर जिम्मेदार तरीके से। जब कोई व्यक्ति किसी राज्य के नियमों तथा लाइसेंसों के अनुसार कार्य करता है, तो वह किसी अपराधिक कृत्य में नहीं फंसता। किन्तु मानवनिर्मित नियम सदैव दोषपूर्ण होते हैं, क्योंकि वे ऐसे व्यक्तियों द्वारा बनाये जाते हैं, जो त्रुटियाँ कर सकते हैं, मोहग्रस्त हो सकते हैं, ठगे जा सकते हैं और अपूर्ण इन्द्रियों वाले होते हैं। किन्तु वैदिक आदेश इनसे भिन्न हैं, क्योंकि उनमें ये चारों दोष नहीं पाये जाते। वैदिक आदेशों में त्रुटि नहीं हो सकती। वैदिक ज्ञान सीधे ईश्वर से प्राप्त होता है, अत: उसमें ठगी, मोह, त्रुटियों, इन्द्रियों की अपूर्णता का प्रश्न ही नहीं उठता। सारा वैदिक ज्ञान पूर्ण है, क्योंकि वह परम्परा द्वारा ईश्वर से प्राप्त हुआ है। *श्रीमद्भागवत* (१.१.१) में कहा गया है—*तेने ब्रह्म हृदा य आदि कवये।* इस ब्रह्माण्ड के आदि प्राणी को, जो आदि कवि या ब्रह्मा कहलाता है, श्रीकृष्ण द्वारा अन्त:करण में उपदेश दिया गया था। श्रीकृष्ण से इन आदेशों को प्राप्त करके ब्रह्मा ने इस ज्ञान को परम्परा विधि से नारद को प्रदान किया और नारद ने इसे व्यास को दिया। इस प्रकार वैदिक ज्ञान परिपूर्ण है। यदि हम वैदिक ज्ञान के अनुसार आचरण करते हैं, तो पापकर्मों में फँसने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अन्यथा कर्म कुर्वाणो मानारूढो निबध्यते ।
गुणप्रवाहपतितो नष्टप्रज्ञो व्रजत्यध: ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अन्यथा—नहीं तो; कर्म—सकाम कर्म; कुर्वाण:—करते हुए; मान-आरूढ:—अभिमान के वशीभूत होकर; निबध्यते—फँस जाता है; गुण-प्रवाह—गुणों के प्रभाव से; पतित:—गिरा हुआ, पतित; नष्ट-प्रज्ञ:—बुद्धिभ्रष्ट; व्रजति—जाता है; अध:—गर्त में, नीचे।

अन्यथा जो मनुष्य मनमाना कर्म करता है, वह मिथ्या अभिमान के कारण नीचे गिर जाता है और इस तरह प्रकृति के तीनों गुणों में फँस जाता है। इस प्रकार से जीव अपनी वास्तविक बुद्धि से रहित हो जाता है और जन्म-मृत्यु के चक्र में सदा-सदा के लिए खो जाता है। इस प्रकार वह

मल के एक सूक्ष्म जीवाणु से लेकर ब्रह्मलोक में उच्च पद तक ऊपर-नीचे आता-जाता रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में कई शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। पहला है *अन्यथा* ''नहीं तो,'' जो उस की ओर संकेत करता है, जिसे वैदिक विधि-विधानों की परवाह नहीं रहती। वेदों द्वारा निर्दिष्ट विधि-विधान *शास्त्र-विधि* कहलाते हैं। *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है कि जो *शास्त्र-विधि* को स्वीकार नहीं करता है और मनमाना कार्य करता है अथवा मिथ्या गर्व से फूला रहता है, उसे इस जीवन में न तो कभी सिद्धि प्राप्त होती है और न सुख अथवा भौतिकता से मुक्ति ही मिलती है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।

न स सिद्धिमाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

''जो शास्त्रों के आदेशों की अवहेलना करता है और मनमाने ढंग से कार्य करता है उसे न तो सिद्धि मिलती है, न सुख अथवा परम धाम'' (*भगवद्गीता* १६.२३)। इस प्रकार जो जानबूझ कर शास्त्र-विधि का उल्लंघन करता है, वह अपने ही कारण से प्रकृति के गुणों द्वारा उतना ही इस संसार में फँसता जाता है। अतः मानव-समाज को जीवन के वैदिक नियमों का पालन करना चाहिए जिनका सार *भगवद्गीता* में उपलब्ध हैं। अन्यथा भौतिक संसार में ही जीवन बिताना होगा। मूर्ख लोग नहीं जानते कि जीव चौरासी लाख योनियों में घूमता रहता है। क्रमिक विकास-विधि के द्वारा जब किसी को मनुष्य का रूप प्राप्त होता है, तो उससे आशा की जाती है कि वह वेदों द्वारा निर्दिष्ट विधि-विधानों का पालन करेगा। श्री चैतन्य महाप्रभु का कहना है कि अनादि काल से जीव अपनी आसुरी प्रवृत्ति के कारण प्रकृतिजन्य त्रयतापों को सहता आ रहा है; यह प्रवृत्ति भगवान् के प्रति विद्रोह करने की भावना है। श्रीकृष्ण ने भी *भगवद्गीता* (१५.७) में इसकी पुष्टि की है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

''इस बद्ध जगत में जीवात्माएँ मेरे शाश्वत अंश के रूप में हैं। बद्ध जीवन के कारण उन्हें मन समेत अपनी छहों इन्द्रियों से अत्यधिक संघर्ष करना पड़ता है।'' प्रत्येक जीवात्मा भगवान् का अंश है, अतः उसे इस संसार के त्रयतापों में डाले जाने का कोई कारण नहीं है, किन्तु जीव अपने को झूठे ही भोक्ता मान कर स्वेच्छा से इस भौतिक अस्तित्व को स्वीकार कर लेता है। उसे इस भयावह स्थिति से

बचाने के लिए ही भगवान् ने व्यासदेव का अवतार लेकर सारा वैदिक साहित्य प्रदान किया है। इसीलिए कहा गया है—

कृष्ण भुलि' सेइ जीव अनादि-बहिर्मुख।

अतएव माया तारे देय संसार-दुःख॥

"श्रीकृष्ण को भुलाने के कारण जीव अनादिकाल से भौतिकतावादी बन गया है। अतः श्रीकृष्ण की माया उसे इस जगत में नाना प्रकार के कष्ट दे रही है।"(*श्रीचैतन्य-चरितामृत,* मध्य २०.११७)।

माया-मुग्ध जीवेर नाहि स्वतः कृष्ण-ज्ञान।

जीवेरे कृपाय कैला कृष्ण वेद-पुराण॥

"जब जीव माया द्वारा मुग्ध कर लिया जाता है, तो उसकी कृष्णचेतना पुनरूज्जीवित नहीं हो पाती। ऐसी परिस्थिति में कृष्ण ने कृपा करके चार वेद तथा अठारह पुराण प्रदान किये हैं।" (*चैतन्य चरितामृत,* मध्य २०.१२२)। इसीलिए प्रत्येक मनुष्य को वैदिक आदेशों का लाभ उठाना चाहिए, अन्यथा वह मनमाने कार्य करेगा और बिना किसी मार्गदर्शक के रह जाएगा।

इस श्लोक में *मानारूढः* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। महान् विचारक तथा वैज्ञानिक बनने के बहाने विश्वभर के लोग मानसिक स्तर पर कार्य कर रहे हैं। ऐसे व्यक्ति सामान्यतः अभक्त होते हैं, क्योंकि वे प्रथम जीव ब्रह्माजी को भगवान् द्वारा दिये गये उपदेशों की परवाह नहीं करते। इसीलिए *भागवत* का (५.१८.१२) कथन है—

हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा

मनोरथेनासति धावतो बहिः।

जो व्यक्ति भक्त नहीं है (अभक्त) वह बौद्धिक स्तर पर कार्य करने के कारण सुपात्र नहीं होता। ऐसे व्यक्ति को समय-समय पर अपने ज्ञान का मानक बदलना पड़ता है। फलस्वरूप हम देखते हैं कि एक दार्शनिक दूसरे से सहमत नहीं होता और एक वैज्ञानिक दूसरे वैज्ञानिक के सर्वथा विपरीत सिद्धान्त प्रस्तुत कर सकता है। इसका एकमात्र कारण ज्ञान के किसी मानक (आदर्श) के बिना मानसिक स्तर पर काम करते रहना है। किन्तु वैदिक आदेशों में ज्ञान का मानक स्वीकृत है—भले ही कभी-कभी कथन परस्पर विरोधी लगे। चूँकि वेद ज्ञान के मानक हैं, अतः भले वे विरोधी लगें, किन्तु उन्हें मानना

चाहिए। यदि उन्हें स्वीकार नहीं किया जाता तो फिर भव-बन्धन में पड़े रहना होता है।

इस श्लोक में भौतिक परिस्थितियों को *गुण-प्रवाह* कहा गया है। अत: श्रीभक्ति-विनोद ठाकुर ने अपने एक गीत में कहा है—*मिछे मायार वशे, याच्छ भेसे'खाच्छा हाबुडुबु भाइ*—"तुम क्यों कष्ट उठा रहे हो? तुम कभी प्रकृति की तरंगों में ऊपर और कभी नीचे क्यों जा रहे हो।" *जीव कृष्ण दास, ए विश्वास, कर्ले त'आर दु:ख नाइ*—"अत: तुम अपने आपको कृष्ण का दास मान लो। तब तुम्हारे सारे कष्ट दूर हो जायेंगे।" ज्योंही कोई कृष्ण की शरण में आता है और *भगवद्गीता* को ज्ञान के पूर्ण मानक रूप में स्वीकार कर लेता है, वह प्रकृति के गुणों से बाहर आ जाता है और वह कभी नीचे नहीं गिरता तथा अपने ज्ञान को नहीं खोता।

नष्टप्रज्ञ: । प्रज्ञ का अर्थ है "पूर्ण ज्ञान," और *नष्टप्रज्ञ* का अर्थ है "जिसे पूर्ण ज्ञान नहीं है।" जिसे पूर्ण ज्ञान नहीं होता उसके पास केवल अनुमान (मनोधर्म) रहता है। ऐसे मनोधर्म से मनुष्य नीचे की ओर गिरता हुआ नारकीय अवस्था को प्राप्त होता है। शास्त्रों द्वारा निर्धारित नियमों का उल्लंघन करने से मनुष्य का हृदय शुद्ध नहीं हो सकता और जब हृदय शुद्ध नहीं होता तो वह प्रकृति के तीनों भौतिक गुणों के अनुसार कार्य करता है। इन कार्यों का सुन्दर वर्णन *भगवद्गीता* के सत्रहवें अध्याय में श्लोक १ से लेकर ६ में हुआ है। *भगवद्गीता* (२.४५) में यह भी बताया गया है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्य सत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

"वेदों में प्रकृति के तीन गुणों के विषय में ही मुख्य रूप से वर्णन है। हे अर्जुन! इन तीन गुणों से ऊपर उठो। इन सबसे परे (अतीत) हो जाओ। समस्त द्वन्द्वों तथा लाभ और सुरक्षा की समस्त चिन्ताओं से मुक्त बनो और आत्मपरायण होओ।" सम्पूर्ण संसार तथा सारा भौतिक ज्ञान इन तीन गुणों में निहित है। मनुष्य को इन तीनों से ऊपर उठना होता है और इस दिव्य पद को पाने के लिए भगवान् के आदेशों का पालन करना होता है। इस प्रकार यह जीवन सार्थक हो जाता है। अन्यथा वह भौतिक प्रकृति के तीन गुणों की लहरों से नीचे फेंक दिया जाएगा। इसकी आगे की व्याख्या प्रह्लाद महाराज के शब्दों में *श्रीमद्भागवत* (७.५.३०) में प्राप्त है—

मतिर्न कृष्णे परत: स्वतो वा मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।

अन्दान्तगोभिर्विशतां तमिस्त्रं पुनः पुनश्र्चर्वितचर्वणानाम्॥

भौतिकतावादी व्यक्ति भौतिक सुखों में इतने अधिक व्यस्त रहते हैं कि उन्हें अपने भौतिक अनुभवों के अतिरिक्त कुछ भी पता नहीं रहता और वे प्रकृति के गुणों की लहर में बह जाते हैं। वे चर्वितचर्वण का जीवन व्यतीत करते हैं और वे अपनी अनियंत्रित इन्द्रियों द्वारा संचालित होते हैं। इस प्रकार वे नारकीय जीवन के अंधकारमय स्थानों में जाते हैं।

तत्र निर्भिन्नगात्राणां चित्रवाजैः शिलीमुखैः ।
विप्लवोऽभूद्दुःखितानां दुःसहः करुणात्मनाम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; निर्भिन्न—भिदकर; गात्राणाम्—शरीरों वाले; चित्र-वाजैः—तरह तरह के पंखों वाले; शिली-मुखैः—तीरों द्वारा; विप्लवः—विनाश, संहार; अभूत्—हुआ; दुःखितानाम्—अत्यन्त दुखितों का; दुःसहः—असह्य; करुण-आत्मनाम्—अत्यन्त दयालु पुरुषों का।

जब राजा पुरञ्जन इस प्रकार आखेट करने लगा तो तीक्ष्ण बाणों से भिदकर जंगल में अनेक पशु अत्यधिक पीड़ा से अपना प्राण त्यागने लगे। राजा के इन विनाशकारी निर्दयतापूर्ण कार्यों को देखकर दयालु पुरुष अत्यन्त खिन्न हो गए। इस प्रकार के दयालु पुरूष यह सारा वध देख कर सहन नहीं कर सके।

तात्पर्य : जब आसुरी लोग पशुओं का वध करते हैं, तो देवता या भगवान् के भक्त इस वध से अत्यन्त आहत होते हैं। इस आधुनिक युग की आसुरी सभ्यताओं में विश्वभर में अनेक प्रकार की बध-शालाएँ (कसाईघर) चालू हैं। धूर्त स्वामी तथा योगी मूर्ख लोगों को मांस खाने तथा पशुओं का वध करने के लिए प्रोत्साहित करते रहते हैं और उसी के साथ-साथ वे अपना तथाकथित ध्यान एवं योग भी चालू रखते हैं। ये सारे कार्य अत्यन्त जघन्य हैं और कोई भी दयालु व्यक्ति तथा भगवान् का भक्त ऐसा दृश्य देखकर अत्यन्त अप्रसन्न होता है। आखेट की क्रिया भी एक भिन्न प्रकार से चल रही है, जैसाकि हम पहले कह चुके हैं। स्त्रियों का आखेट, विभिन्न प्रकार की शराबें पीना, नशे में रहना, पशुओं का वध तथा मैथुन-सुख—ये सब आधुनिक सभ्यता के आधार हैं। वैष्णवजन संसार की ऐसी दशा देखकर अत्यन्त अप्रसन्न रहते हैं, इसीलिए वे कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के प्रसार में व्यस्त हैं।

जंगल में पशुओं के शिकार तथा वध, कसाईघरों में पशुओं का सामूहिक वध तथा वेश्यालयों में जो क्लबों और संस्थाओं के विभिन्न नामों के अन्तर्गत चलाये जाते हैं, और तरुणियों का शोषण—इन

सब को देखकर भक्तजन दुखी होते हैं। यज्ञ में पशुओं के वध के प्रति अत्यन्त दयालु होने के कारण नारद ने राजा प्राचीनबर्हिषत् को उपदेश देना प्रारम्भ किया। इन उपदेशों में उन्होंने बताया कि मेरे जैसे भक्त मानव-समाज में प्रचलित इस प्रकार के वध से अत्यन्त दुखी हैं। इस प्रकार के वध से न केवल सन्त पुरुष दुखी होते हैं, वरन् भगवान् भी दुखी होते हैं और बुद्ध के अवतार के रूप में प्रकट होते हैं। इसीलिए जयदेव गोस्वामी गाते हैं—*सदयहृदयदर्शितपशुघातम्।* मात्र पशुओं की हत्या रोकने के लिए भगवान् बुद्ध दयावश प्रकट हुए। कुछ धूर्त यह मत व्यक्त करते हैं कि पशुओं के आत्मा नहीं होता, अथवा वे जड़ हैं। इस प्रकार वे अपना औचित्य स्थापित करते हैं कि पशु की हत्या में कोई पाप नहीं होता। वस्तुत: पशु जड़ नहीं हैं, अपितु उनका वध करने वालों का हृदय जड़ होता है। अत: उन्हें कोई तर्क या दर्शन नहीं भाता। वे कसाईघरों को चालू रखते हैं और जंगल में पशुओं का वध करते रहते हैं। निष्कर्षत: जो व्यक्ति नारद जैसे साधु पुरुषों एवं उनकी परम्परा के उपदेशों की परवाह नहीं करता, वह निश्चय ही *नष्टप्रज्ञ* की कोटि में पहुँचकर नरक को जाता है।

शशान्वराहान्महिषान्गवयान्रुरुशल्यकान् ।
मेध्यानन्यांश्च विविधान्विनिघ्नन्श्रममध्यगात् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

शशान्—खरगोशों; **वराहान्**—सुअरों; **महिषान्**—भैंसों; **गवयान्**—नीलगायों; **रुरु**—कृष्ण मृग; **शल्यकान्**—साहियों; **मेध्यान्**—शिकारी जानवरों; **अन्यान्**—अन्यों को; **च**—तथा; **विविधान्**—विभिन्न; **विनिघ्नन्**—मार करके; **श्रमम् अध्यगात्**—अत्यधिक थक गया।

इस प्रकार राजा पुरञ्जन ने अनेक पशुओं का वध किया जिसमें खरगोश, सुअर, भैंसे, नीलगाय, श्याम हिरण, साही तथा अन्य शिकारी जानवर शामिल थे। लगातार शिकार करते रहने से राजा अत्यधिक थक गया।

तात्पर्य : तमोगुणी मनुष्य अनेक पापकर्म करता है। श्रील रूप गोस्वामी अपने *भक्तिरसामृत-सिन्धु* में कहते हैं कि मनुष्य केवल अज्ञान से पापी बनता है। पापमय जीवन का परिणाम है कष्ट भोगना। जो नियमों को नहीं जानते और आदर्श नियमों का उल्लंघन करते हैं, वे कानून द्वारा दण्डित होते हैं। इसी प्रकार प्रकृति के नियम भी बड़े कठोर हैं। यदि बालक परिणाम जाने बिना अग्नि को छूता है, तो वह जल जाता है, भले ही वह बच्चा ही क्यों न हो। यदि कोई बालक प्रकृति के नियम का उल्लंघन करता है, तो उसके साथ कोई अनुकम्पा नहीं बरती जाती। मनुष्य केवल अज्ञानवश ही प्रकृति के नियमों का

उल्लंघन करता है और जब उसे ज्ञान हो जाता है, तो वह और आगे पापकर्म नहीं करता।

राजा अनेक पशुओं का वध कर लेने के बाद अत्यन्त थक गया। जब मनुष्य किसी सन्त पुरुष के सम्पर्क में आता है, तो उसे प्रकृति के कठोर नियमों का पता चलता है और वह धार्मिक बन जाता है। अधार्मिक मनुष्य पशु-तुल्य है, किन्तु कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में ऐसे मनुष्य को वस्तुओं का सही-सही ज्ञान हो जाता है और वह चार वर्जित कार्यों को त्याग देता है। ये हैं—अवैध मैथुन, मांस भक्षण, द्यूत-क्रीड़ा तथा मद्यसेवन। यही धार्मिक जीवन का सूत्रपात है। जो अपने को तथाकथित रूप से धार्मिक कह कर इन चार वर्जित कर्मों में लगाते हैं, वे कपटी हैं। धार्मिक जीवन तथा पापकर्म एक दूसरे के साथ-साथ नहीं चल सकते। यदि कोई सचमुच धार्मिक जीवन या मोक्ष-पथ का अनुसरण करना चाहता है, तो उसे इन चार मूलभूत नियमों पर दृढ़ रहना होगा। कोई कितना ही पापी क्यों न हो यदि उसे उपयुक्त गुरु से ज्ञान प्राप्त होता है और वह अपने विगत पापकर्मों के लिए पश्चात्ताप करता है और उन्हें बन्द कर देता है, तो वह तुरन्त घर लौटने अर्थात् भगवान् के धाम वापस जाने का पात्र बन जाता है। यह तभी सम्भव है जब शास्त्र-विधियों का तथा गुरु के उपदेशों का पालन किया जाये।

इस समय सारा संसार अंधी भौतिकतावादी सभ्यता से विरक्ति लेने के कगार पर है, जिसकी तुलना जंगल में पशुओं के आखेट से की जा सकती है। लोगों को इस कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का लाभ उठाना चाहिए और उन्हें हत्या करने के इस कष्टप्रद जीवन से विराम लेना चाहिए। कहा जाता है कि पशुओं के हत्यारों को न तो जीना चाहिए न मरना। यदि वे पशुओं को मारने तथा स्त्रियों के साथ भोग करने के लिए जीवित रहते हैं, तो उनका जीवन अधिक सम्पन्न नहीं रहता। और ज्योंही हत्यारा मरता है, वह निम्न योनि में जन्म-मरण के चक्कर में प्रवेश करता है। यह भी वांछनीय नहीं है। निष्कर्ष यह निकलता है कि हत्यारों को हत्या करनी बन्द कर देनी चाहिए और जीवन को सफल बनाने के लिए कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में सम्मिलित होना चाहिए। आत्महत्या करके ऐसा भ्रमित एवं हताश व्यक्ति कभी विश्राम प्राप्त नहीं करता, क्योंकि आत्महत्या से उसे निम्नयोनि में जाना होगा या भूत-प्रेत बनना होगा, क्योंकि उसे स्थूल देह नहीं प्राप्त होगी। अत: सर्वश्रेष्ठ उपाय यही है कि पापकर्मों से पूर्ण विरक्ति ले ली जाये और कृष्णभक्ति की जाये। इस प्रकार मनुष्य पूर्ण बनकर घर को अर्थात् भगवान् के धाम वापस जा सकता है।

ततः क्षुत्तृट्परिश्रान्तो निवृत्तो गृहमेयिवान् ।
कृतस्नानोचिताहारः संविवेश गतक्लमः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ततः—पत्पश्चात्; क्षुत्—भूख से; तृट्—प्यास से; परिश्रान्तः—अत्यधिक थक कर; निवृत्तः—विराम या विरक्ति लेकर; गृहम् एयिवान्—अपने घर वापस आया; कृत—करके; स्नान—स्नान; उचित-आहारः—समुचित भोजन; संविवेश—विश्राम किया; गत-क्लमः—थकान से रहित होकर।.

इसके बाद अत्यन्त थका-माँदा, भूखा एवं प्यासा राजा अपने राजमहल लौट आया। लौटने के बाद उसने स्नान किया और यथोचित भोजन किया। तब उसने विश्राम किया और इस तरह सारी थकान से मुक्त हो गया।

तात्पर्य : भौतिकतावादी मनुष्य पूरे सप्ताह अत्यधिक परिश्रम करता है। वह सदैव पूछता रहता है, ''धन कहाँ है ? धन कहाँ है ?'' फिर सप्ताहान्त में वह इन कार्यों से छुट्टी लेकर विश्राम करने के लिए किसी एकान्त स्थान में जाना चाहता है। राजा पुरञ्जन अपने घर इसलिए लौट आया, क्योंकि जंगल में पशुओं का शिकार करते-करते वह अत्यधिक थक चुका था। इस प्रकार उसके अन्त:करण ने उसे और पापकर्म करने से मना करके उसे अपने घर लौटने के लिए विवश किया। *भगवद्गीता* में भौतिकतावादी व्यक्तियों को *दुष्कृतिन:* कहा गया है, जिसका अर्थ है कि वे सदा पापकर्मों में लगे रहते हैं। जब मनुष्य को चेत होता है कि वह पापकर्मों में लगा है, तो उसका विवेक जागता है, जिसे यहाँ पर रूपक के अलंकार की भाषा में महल कहा गया है। सामान्यत: भौतिकतावादी मनुष्य रजो तथा तमो गुणों से प्रभावित होता है। रजो तथा तमों गुणों का परिणाम होता है काम तथा लोभ। भौतिकतावादी मनुष्य के जीवन में कर्मठता का अर्थ है काम तथा लोभ के वशीभूत होकर कार्य करना। किन्तु जब उसे चेत होता है, तो वह निवृत्ति चाहता है। वैदिक सभ्यता में ऐसी निवृत्ति के लिए संस्तुति की गई है और जीवन के इस भाग को वानप्रस्थ कहते हैं। भौतिकतावादी के लिए तो वानप्रस्थ और भी आवश्यक है, क्योंकि वह पापमय जीवन के कार्यों से निवृत्त होना चाहता है।

राजा पुरञ्जन का घर आना, स्नान करना और उपयुक्त भोजन करना-ये बताते हैं कि भौतिकतावादी मनुष्य को पापमय जीवन से निवृत्ति ले लेनी चाहिए और गुरु स्वीकार करके शुद्ध होकर उससे जीवन के मूल्य के बारे में सुनना चाहिए। ऐसा करने पर उसे ताजगी (नवीनता) महसूस होगी जिस प्रकार कि स्नान करने से होती है। प्रामाणिक गुरु से दीक्षा प्राप्त करके उसे सभी प्रकार के पापकर्मों का, यथा

अवैध मैथुन, मद्यपान, द्यूत क्रीड़ा तथा मांसाहार का परित्याग कर देना चाहिए।

इस श्लोक में *उचिताहारः* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। *उचित* का अर्थ है उपयुक्त। मनुष्य को उपयुक्त भोजन ही करना चाहिए। जिस तरह सुअर विष्ठा के लिए दौड़ता है, उस तरह हमें भोजन के पीछे नहीं पड़ना चाहिए। *भगवद्गीता* (१७.८) में मनुष्य के भोज्य पदार्थों का सात्त्विक आहार के शीर्षक से वर्णन किया गया है। मनुष्य को रजो तथा तमोगुणी भोजन नहीं करना चाहिए। यही *उचिताहार* या उपयुक्त भोजन करना है। जो लोग सदैव मांस खाते या मद्य पीते हैं, जो रजो तथा तमो गुणों का आहार है उन्हें इन वस्तुओं का त्याग कर देना चाहिए जिससे उनकी वास्तविक चेतना जाग्रत हो सके। इससे मनुष्य शान्त तथा तरोताजा हो सकता है। यदि कोई अशान्त या थका हुआ रहे तो ईश्वर-ज्ञान को नहीं समझ सकता। *श्रीमद्भागवत* (१.२.२०) में कहा गया है—

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसंगस्य जायते ॥

जब तक मनुष्य रजो तथा तमोगुण के प्रभाव से मुक्त नहीं हो लेता, उसे शान्ति नहीं मिलती और बिना शान्ति के ईश्वर-ज्ञान को समझ पाना कठिन है। राजा पुरञ्जन का अपने घर लौटना मनुष्य का अपनी पूर्व चेतना में लौटने का सूचक है। यह पूर्व चेतना ही कृष्णचेतना है। जिसने अनेक पापकर्म किये हों, विशेष रूप से वन में पशुओं का वध या शिकार किया हो, उसके लिए तो कृष्ण-चेतना (भक्ति) नितान्त आवश्यक है।

आत्मानमर्हयां चक्रे धूपालेपस्रगादिभिः ।
साध्वलङ्कृतसर्वाङ्गो महिष्यामादधे मनः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—अपने आप; अर्हयाम्—मानो किया जाना हो; चक्रे—किया; धूप—सुगंधित पदार्थ; आलेप—चन्दन से शरीर को पोतना; स्रक्—माला; आदिभिः—इत्यादि से; साधु—अच्छे स्वभाव का, सुन्दर ढंग से; अलङ्कृत—सजा हुआ; सर्व-अङ्गः—सारे शरीर पर; महिष्याम्—रानी को; आदधे—दिया, किया; मनः—ध्यान।

तत्पश्चात् राजा पुरञ्जन ने अपने शरीर में उपयुक्त आभूषण धारण किये। उसने अपने शरीर के ऊपर चन्दन का लेप किया और फूलों की माला पहनी। इस प्रकार वह पूर्णतः तरोताजा (विश्रान्त) हो गया। इसके बाद वह अपनी रानी की खोज करने लगा।

तात्पर्य : जब मनुष्य में उत्तम चेतना जगती है और वह किसी साधु पुरुष को अपना गुरु बना लेता

है, तो वह अनेक वैदिक उपदेश सुनता है, जो दर्शन, कथा, भक्तों के आख्यान तथा ईश्वर एवं भक्तों के मध्य कथोपकथन के आदान-प्रदान के रूप में होते हैं। इस प्रकार वह मन में ताजगी (नवीनता) का अनुभव करता है, जिस प्रकार सारे शरीर में चन्दन लेप करने तथा आभूषण पहनने से अनुभव होता है। इन अलंकरणों की तुलना धार्मिक तथा आत्मज्ञान से की जा सकती है। ऐसे ज्ञान से मनुष्य भौतिक जीवन से विरक्त होता है और अपने आपको *श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक साहित्य सुनने में लगाता है। इस श्लोक में प्रयुक्त *साध्व-अलंकृत* शब्द बताता है कि मनुष्य को चाहिए कि साधु पुरुषों के उपदेशों से संचित ज्ञान में लीन रहे। जिस प्रकार राजा पुरञ्जन अपनी प्राणप्रिया रानी को ढूँढने लगा उसी प्रकार साधु पुरुषों से प्राप्त किये ज्ञान से अलंकृत मनुष्य को अपनी मूल चेतना—कृष्णभावनामृत—को ढूँढने का यत्न करना चाहिए। जब तक साधु पुरुष अपने उपदेशों से कृपा नहीं दिखाते तब तक किसी के लिए कृष्णचेतना प्राप्त करना कठिन है। अत: श्रील नरोत्तमदास ठाकुर गाते हैं—*साधु-शास्त्र-गुरु-वाक्य, चित्तेते करिया ऐक्य।* यदि हम साधु पुरुष बनना चाहते हैं या अपनी मूल कृष्णचेतना को प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमें साधु, शास्त्र तथा गुरु की संगति करनी चाहिए। यही प्रक्रिया है।

तृप्तो हृष्टः सुदृप्तश्च कन्दर्पाकृष्टमानसः ।
न व्यचष्ट वरारोहां गृहिणीं गृहमेधिनीम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तृप्तः—तुष्ट; हृष्टः—प्रसन्न; सु-दृप्तः—अत्यन्त गर्वित; च—भी; कन्दर्प—कामदेव से; आकृष्ट—आकर्षित; मानसः—उसका मन; न—नहीं; व्यचष्ट—प्रयत्न किया; वर-आरोहाम्—उच्चतर चेतना; गृहिणीम्—पत्नी को; गृह-मेधिनीम्—जो अपने पति को भौतिक जीवन में रखती है।

भोजन कर लेने तथा अपनी भूख और प्यास बुझा लेने के बाद पुरञ्जन को मन में कुछ प्रफुल्लता हुई। वह उच्चतर चेतना तक न पहुँच कर कामदेव द्वारा मोहित हो गया और उसे अपनी पत्नी को ढूँढने की इच्छा हुई जिसने उसे गृहस्थ जीवन में प्रसन्न कर रखा था।

तात्पर्य : यह श्लोक उन लोगों के लिए महत्त्वपूर्ण है, जो अपने को कृष्णचेतना तक ऊपर उठाना चाहते हैं। जब कोई भक्त गुरु से दीक्षा लेता है, तो वह अपनी आदतें बदल देता है और मांस खाना, अवैध मैथुन करना, जुआ खेलना तथा शराब पीना छोड़ देता है। शास्त्रों में सात्त्विक आहार के अन्तर्गत गेहूँ, चावल, तरकारी, फल, दूध, चीनी तथा दूध की वस्तुएँ बताई गई हैं। चावल-दाल, रोटी, तरकारी,

दूध तथा चीनी जैसे सामान्य आहार सन्तुलित होते हैं, किन्तु कभी-कभी यह देखा जाता है कि दीक्षाप्राप्त पुरुष प्रसाद के नाम पर अत्यन्त विलासी (गरिष्ठ) भोजन करता है। अपने पूर्व पापमय जीवन के कारण वह कामदेव द्वारा आकृष्ट होता है और खूब डट कर अच्छा भोजन करता है। यह स्पष्ट देखा गया है कि जब नवदीक्षित कृष्णभक्त अधिक भोजन करता है, तो उसका पतन हो जाता है। वह शुद्ध कृष्णचेतना (भक्ति) तक न उठकर कामदेव द्वारा आकृष्ट हो जाता है। तथाकथित ब्रह्मचारी स्त्री के द्वारा विचलित हो जाता है और वानप्रस्थ पुनः अपनी पत्नी से संभोग करने के लिए आकृष्ट होता है, अथवा वह किसी नई पत्नी की तलाश करने लगता है। हो सकता है कि भावनावश वह अपनी पत्नी छोड़कर भक्तों एवं गुरु की संगति में चला जाए, किन्तु अपने पूर्व पापकर्मों के कारण वह वहाँ ठहर नहीं पाता। वह कामदेव द्वारा आकृष्ट होने से, कृष्णचेतना को प्राप्त करने के बजाय नीचे गिर जाता है और इन्द्रियसुख के लिए दूसरी पत्नी ले आता है। नारद मुनि ने *श्रीमद्भागवत* (१.५.१७) में कृष्णचेतना से भौतिक जीवन में नवदीक्षित भक्त के पतन का वर्णन किया है—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे

र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।

यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं

को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मत: ॥

इससे सूचित होता है कि यद्यपि नवदीक्षित भक्त अपरिपक्वता के कारण कृष्णभावनामृत से नीचे गिर सकता है, किन्तु उसकी कृष्णसेवा व्यर्थ नहीं जाती। किन्तु जो व्यक्ति गृहस्थ जीवन में अथवा तथाकथित सामाजिक एवं पारिवारिक कर्तव्यों में अडिग रहता है और कृष्णभक्ति नहीं करता उसे कोई लाभ नहीं होता। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत को स्वीकार करता है उसे अत्यन्त सावधान रहना चाहिए और वर्जित कार्यों से दूर रहना चाहिए जिसका उल्लेख रूप गोस्वामी ने *उपदेशामृत* में किया है—

अत्याहार प्रयासश्च प्रजल्पो नियमाग्रह: ।

जन संगश्च लौल्यं च षड्भिर्भक्तिर्विनश्यति ॥

नवदीक्षित भक्त को न तो ज्यादा खाना चाहिए और न ही आवश्यकता से अधिक धनसंग्रह करना चाहिए। अधिक खाना और अधिक धनसंग्रह करना *अत्याहार* कहा जाता है। ऐसे *अत्याहार* के लिए

काफी प्रयत्न करना पड़ता है। यह *प्रयास* कहलाता है। हो सकता है कि ऊपर-ऊपर से कोई अपने को विधि-विधानों के प्रति अत्यन्त निष्ठावान दिखाए, किन्तु साथ ही भीतर-भीतर उनके पालन करने में दृढ़ न रह सके। यह *नियमाग्रह* कहलाता है। अवांछित व्यक्तियों के साथ मिलने से अर्थात् *जनसङ्ग* से वह काम तथा लोभ से दूषित हो जाता है और भक्ति के पथ से नीचे गिर जाता है।

अन्तःपुरस्त्रियोऽपृच्छद्विमना इव वेदिषत् ।
अपि वः कुशलं रामाः सेश्वरीणां यथा पुरा ॥ १४॥

शब्दार्थ

अन्तः-पुर—रनिवास की; स्त्रियः—स्त्रियों से; अपृच्छत्—पूछा; विमनाः—अत्यन्त उत्सुक होकर; इव—मानो; वेदिषत्—हे राजा प्राचीनबर्हि; अपि—क्या; वः—तुम्हारी; कुशलम्—कुशल मंगल; रामाः—हे सुन्दरियो; स-ईश्वरीणाम्—अपनी मालकिन या स्वामिनी सहित; यथा—जिस तरह; पुरा—पहले।

उस समय राजा पुरञ्जन कुछ-कुछ उत्सुक हुआ और उसने रनिवास की स्त्रियों से पूछा: हे सुन्दरियो, तुम सब अपनी स्वामिनी सहित पहले के समान प्रसन्न तो हो?

तात्पर्य : इस श्लोक में *वेदिषत्* शब्द राजा प्राचीनबर्हि का सूचक है। जब मनुष्य भक्तों की संगति में आकर अपने में नवीनता पाता है और उसमें कृष्णभक्ति जगती है, तो वह अपने मनोरथ से सलाह लेता है—अर्थात् सोचता, अनुभव करता तथा चाहता है—और यह निश्चय करता है कि वह भौतिक कार्यों में लौट जाये या कि आध्यात्मिक चेतना में अडिग रहे। *कुशलम्* शब्द जो कुछ शुभ है उसका सूचक है। यदि मनुष्य भगवान् विष्णु की भक्ति में लग जाये तो वह अपने घर को पूर्णतः शुभ बना सकता है। जब कोई विष्णु भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में लगता है, अर्थात् भौतिक कार्यों में लगता है, तो वह सदैव चिन्ताओं से ग्रस्त रहता है। विचारवान् व्यक्ति को चाहिए कि अपने मन से सलाह ले और तय करे कि मन की इन प्रवृत्तियों का किस प्रकार उपयोग किया जाये। यदि कोई श्रीकृष्ण के विषय में ही निरन्तर सोचता है, उनकी सेवा करने का विचार करता है और उन्हीं की आज्ञा पालन करने की कामना करता है, तो यह समझना चाहिए कि उसने अपनी बुद्धि से अच्छी शिक्षा प्राप्त की है, क्योंकि बुद्धि तो माता है। यद्यपि राजा विश्रान्त हो चुका था फिर भी उसने अपनी पत्नी के विषय में पूछा। इस तरह वह सलाह ले रहा था, सोच रहा था और चाह रहा था कि वह अपनी स्थिर उत्तम चेतना की ओर फिर से कैसे लौटे। मन सलाह दे सकता है कि विषय-भोग से मनुष्य प्रसन्न रह सकता है, किन्तु जब वह कृष्णचेतना में आगे बढ़ जाता है, तो भौतिक कार्यों में उसे सुख नहीं

मिलता। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* (२.५९) में की गई है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

"देहधारी जीव को इन्द्रिभोग से रोका जा सकता है, परन्तु विषयासक्ति बनी रहती है। किन्तु उच्च रस के अनुभव द्वारा ऐसे व्यापारों को त्यागकर वह चेतना (बुद्धियोग) में स्थिर हो जाता है।" जब तक मनुष्य अपने को भक्ति के श्रेष्ठ व्यापार में न लगा ले वह इन्द्रिय-विषयों से विरक्त नहीं हो सकता। *परं दृष्ट्वा निवर्तते।* कोई तभी भौतिक कार्यों को छोड़ सकता है जब वह सचमुच भक्ति करने में लग जाये।

न तथैतर्हि रोचन्ते गृहेषु गृहसम्पदः
यदि न स्याद्गृहे माता पत्नी वा पतिदेवता ।
व्यङ्गे रथ इव प्राज्ञः को नामासीत दीनवत् ॥ १५॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तथा—पूर्ववत्; एतर्हि—इस क्षण; रोचन्ते—अच्छे लगते हैं; गृहेषु—घर में; गृह-सम्पदः—घरेलू साज-सामान; यदि—अगर; न—नहीं; स्यात्—हो; गृहे—घर में; माता—माँ; पत्नी—भार्या; वा—अथवा; पति-देवता—पति-परायण; व्यङ्गे—पहियों से रहित; रथे—रथ में; इव—सदृश; प्राज्ञः—विद्वान मनुष्य; कः—ऐसा कौन है; नाम—निस्सन्देह; आसीत—बैठेगा; दीन-वत्—दीन के समान।

राजा पुरञ्जन ने कहा : मेरी समझ में नहीं आ रहा कि मेरे घर का सारा साज-सामान पहले की भाँति मुझे अच्छा क्यों नहीं लग रहा? मैं सोचता हूँ कि यदि घर में माता अथवा पति-परायण पत्नी न हो तो घर पहियों से विहीन रथ की तरह प्रतीत होता है। ऐसा कौन मूर्ख है, जो ऐसे व्यर्थ के रथ पर बैठेगा?

तात्पर्य : परम राजनीतिज्ञ चाणक्य पण्डित ने कहा है—

माता यस्य गृहे नास्ति भार्या चाप्रियवादिनी।

अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम्॥

"यदि किसी के घर पर अपनी माता या प्रियवादिनी पत्नी न हो तो उसे घर छोड़कर जंगल चले जाना चाहिए, क्योंकि उसके लिए जंगल तथा घर में कोई अन्तर नहीं होता।" वास्तविक माता भगवद्भक्ति है और असली पत्नी वह है, जो भक्ति के कार्यों में अपने पति की सहायता करती है।

सुखी घर के लिए ये दोनों बातें आवश्यक हैं।

वास्तव में स्त्री को पुरुष की शक्ति माना जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रत्येक महापुरुष के पीछे या तो माता रही हैं या उसकी पत्नी। यदि घर में अच्छी पत्नी तथा माता हों तो गृहस्थ जीवन सुखी रहता है। ऐसी दशा में गृहस्थी के सारे कार्य तथा घर का सारा साज-सामान मन को भाता है। भगवान् चैतन्य महाप्रभु को अच्छी माता तथा प्रियवादिनी पत्नी दोनों प्राप्त थीं और वे अपने घर में अत्यन्त सुखी थे। फिर भी सारी मानवता के लाभ के लिए उन्होंने संन्यास ले लिया और अपनी माता तथा पत्नी दोनों को त्याग दिया। दूसरे शब्दों में, घर पर सुखी रहने के लिए आवश्यक है कि माता तथा पत्नी दोनों रहें, अन्यथा गृहस्थ जीवन कोई अर्थ नहीं रखता। जब तक मनुष्य धर्म के क्षेत्र में बुद्धि द्वारा पथ-प्रदर्शन प्राप्त नहीं करता और भगवान् की भक्ति नहीं करता तब तक उसका घर सन्त पुरुषों को प्रिय नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में, यदि किसी के अच्छी माता या अच्छी पत्नी हो तो, जब तक नितान्त आवश्यक न हो, संन्यास लेने की आवश्यकता नहीं है, जैसाकि भगवान् चैतन्य महाप्रभु के साथ हुआ।

क्व वर्तते सा ललना मज्जन्तं व्यसनार्णवे ।
या मामुद्धरते प्रज्ञां दीपयन्ती पदे पदे ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

क्व—कहाँ; वर्तते—इस समय है; सा—वह; ललना—स्त्री; मज्जन्तम्—डूबते हुए; व्यसन-अर्णवे—संकट के सागर में; या—जो; माम्—मुझको; उद्धरते—उबारती है; प्रज्ञाम्—सद्बुद्धि; दीपयन्ती—जागृत करके; पदे पदे—प्रत्येक पग पर।

कृपया मुझे उस सुन्दरी का पता बताओ जो मुझे सदैव संकट के समुद्र में डूबने से उबारती है। वह मुझे पग-पग पर सद्बुद्धि प्रदान करके बचाती है।

तात्पर्य : अच्छी पत्नी तथा सद्बुद्धि में कोई अन्तर नहीं होता। जिसके सद्बुद्धि होती है, वह ठीक से विचार-विमर्श कर सकता है और अपने आपको संकटों से बचा सकता है। इस संसार में पग-पग पर संकट है। *श्रीमद्भागवत* (१०.१४.५८) में कहा गया है—*पदं-पदं यद् विपदां न तेषां।* यह भौतिक संसार वास्तव में बुद्धिमान लोगों या भक्तों के रहने का स्थान नहीं है, क्योंकि पग-पग पर संकट हैं। भक्त के लिए तो वैकुण्ठ ही असली स्थान है, जहाँ न चिन्ता है और न संकट। सद्बुद्धि का अर्थ है कृष्णभक्त होना। *श्रीचैतन्य-चरितामृत* में कहा गया है—*कृष्ण ये भजे से बड़ चतुर।* जब तक कोई कृष्णभक्त नहीं बनता उसे बुद्धिमान (चतुर) नहीं कहा जा सकता।

यहाँ हम देखते हैं कि राजा पुरञ्जन अपनी सुभार्या को खोज रहा है, जो उसे इस संसार में मिलने वाली संकटमय परिस्थितियों से बचाती रहती थी। जैसा पहले कहा जा चुका है असली पत्नी धर्मपत्नी होती है, जिसे धार्मिक नियमों के अनुसार स्वीकार किया गया हो। धर्मपत्नी से उत्पन्न सन्तानें पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारी होती हैं, किन्तु अविवाहिता पत्नी से उत्पन्न सन्तान को पिता की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता। *धर्मपत्नी* शब्द पतिव्रता पत्नी का भी सूचक है। पतिव्रता पत्नी वह है, जो विवाह के पूर्व किसी भी पुरुष से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। यदि एक बार स्त्री को अपनी युवावस्था में सभी प्रकार के पुरुषों से मिलने-जुलने दिया जाता है, तो उसका पतिव्रता रह पाना कठिन हो जाता है। सामान्यत: वह पतिव्रता नहीं रह सकती। जब मक्खन को आग के निकट लाया जाता है, तो वह पिघल जाता है। स्त्री अग्नि के समान है और पुरुष मक्खन के समान। किन्तु यदि मनुष्य को पतिव्रता पत्नी मिल जाये जो धार्मिक विवाह संस्कार के द्वारा स्वीकृत की गई है, तो वह संकटमय परिस्थितियों में अत्यधिक सहायक हो सकती है। वास्तव में ऐसी पत्नी समस्त सद्बुद्धि का उद्‍गम है। ऐसी पत्नी होने से यदि परिवार भगवद्‍भक्ति करता है, तो वह घर वास्तव में गृहस्थाश्रम बन जाता है।

रामा ऊचु:
नरनाथ न जानीमस्त्वत्प्रिया यद्व्यवस्यति ।
भूतले निरवस्तारे शयानां पश्य शत्रुहन् ॥ १७॥

शब्दार्थ

रामा: ऊचु:—स्त्रियों ने कहा; **नर-नाथ**—हे राजा; **न जानीम:**—हम नहीं जानतीं; **त्वत्-प्रिया**—तुम्हारी प्रिया ने; **यत् व्यवस्यति**—क्यों इस प्रकार का जीवन धारण कर रखा है; **भू-तले**—पृथ्वी पर; **निरवस्तारे**—बिना बिस्तर के; **शयानाम्**—लेटी हुई; **पश्य**—देखो; **शत्रु-हन्**—हे शत्रुओं का वध करने वाले।

सभी स्त्रियों ने राजा को सम्बोधित किया: हे प्रजा के स्वामी, हम यह नहीं जानतीं कि आपकी प्रिया ने क्यों ऐसी स्थिति बना रखी है। हे शत्रुओं के संहारक ! कृपया देखें। वे बिना बिस्तर के जमीन पर लेटी हुई हैं। हम नहीं समझ पा रहीं कि वे ऐसा क्यों कर रही हैं।

तात्पर्य : जब मनुष्य विष्णुभक्ति से रहित होता है, तो वह अनेक पापकर्म करता है। राजा पुरञ्जन ने घर छोड़कर अपनी पत्नी की उपेक्षा की और स्वयं पशुओं के वध में लग गया। ऐसी स्थिति समस्त भौतिकतावादी मनुष्यों की है। वे अपनी विवाहिता धर्मपत्नी की परवाह नहीं करते। वे पत्नी को अपनी इन्द्रियतृप्ति का साधन मानते हैं, भक्ति का नहीं। निर्बाध विषयी जीवन बिताने के लिए कर्मी कठोर श्रम

करते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि किसी भी स्त्री के साथ संभोग करके उसे धन देकर चुकता कर दो, मानो वह कोई व्यापार की वस्तु हो। इस प्रकार वे ऐसी भौतिक उपलब्धि के लिए कठोर श्रम करते हैं। ऐसे लोग अपनी सद्बुद्धि खो चुके होते हैं। उन्हें अपने अन्त:करण में बुद्धि की खोज करनी चाहिए। जिस व्यक्ति की शास्त्र के नियमों के अनुसार विवाहित धर्मपत्नी नहीं होती वह सदैव मोहग्रस्त बुद्धि वाला होता है।

राजा पुरञ्जन की पत्नी भूमि पर लेटी थी, क्योंकि पति द्वारा उसकी उपेक्षा हुई थी। वास्तव में पति द्वारा स्त्री की सदैव रक्षा होनी चाहिए। हम सभी कहते हैं कि लक्ष्मी जी नारायण के वक्षस्थल पर विद्यमान हैं। दूसरे शब्दों में, पत्नी को अपने पति की प्यारी और सुरक्षिता होना चाहिए। जिस प्रकार लोग धन बचाकर उसे अपने पास सुरक्षित रखते हैं, उसी तरह पत्नी की सुरक्षा अपने निजी देखरेख में की जानी चाहिए। जिस प्रकार बुद्धि सदैव हृदय के भीतर रहती है, उसी प्रकार साध्वी पत्नी को अपने प्रिय पति के हृदय में सदैव स्थान मिलना चाहिए। पति तथा पत्नी का यही वास्तविक सम्बन्ध है। इसीलिए पत्नी अर्धांगिनी कहलाती हैं। कोई एक पाँव, एक हाथ या शरीर के किसी एक अंग से काम नहीं चला सकता। इसी प्रकार पति तथा पत्नी को प्रकृति के व्यवस्था के अनुसार एकसाथ रहना चाहिए। निम्न योनियों में, विशेष रूप से पक्षियों तथा पशुओं में नर तथा मादा साथ-साथ रहते हैं। यह प्राकृतिक व्यवस्था है। इसी प्रकार मानव जीवन में पति तथा पत्नी का एकसाथ रहना आदर्श जीवन है। घर को भक्ति का स्थान होना चाहिए, पत्नी को पतिव्रता होना चाहिए और अनुष्ठान द्वारा स्वीकार की गई होना चाहिए। इस प्रकार से मनुष्य घर में सुखी रह सकता है।

नारद उवाच

पुरञ्जनः स्वमहिषीं निरीक्ष्यावधुतां भुवि ।
तत्सङ्गोन्मथितज्ञानो वैक्लव्यं परमं ययौ ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; पुरञ्जनः—राजा पुरञ्जन; स्व-महिषीम्—अपनी रानी को; निरीक्ष्य—देखकर; अवधुताम्—साधु की तरह; भुवि—पृथ्वी पर; तत्—उसके; सङ्ग—साथ से; उन्मथित—प्रोत्साहित; ज्ञानः—जिसका ज्ञान; वैक्लव्यम्—मोहग्रस्त; परमम्—परम; ययौ—हो गया।

महर्षि नारद ने कहा : हे राजा प्राचीनबर्हि, जैसे ही राजा पुरञ्जन ने अपनी रानी को अवधूत की भाँति पृथ्वी पर लेटे देखा, वह तुरन्त मोहग्रस्त हो गया।

तात्पर्य : इस श्लोक का *अवधुताम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह उस साधु के लिए प्रयुक्त होता है, जिसे अपने शरीर की सुधि-बुधि नहीं रहती। चूँकि रानी बिना बिस्तर के अस्त-व्यस्त वस्त्रों सहित जमीन पर लेटी थी, इसलिए राजा पुरञ्जन अत्यधिक दुखी हुआ। दूसरे शब्दों में, उसे इसका पश्चात्ताप हुआ कि उसने अपनी बुद्धि की उपेक्षा की है और स्वयं जंगल जाकर पशुवध में व्यस्त रहा है। तात्पर्य यह कि जब मनुष्य अपनी बुद्धि की उपेक्षा करता है या उससे विलग हो जाता है, तो वह पापकर्म में प्रवृत्त होता है। अपनी सद्बुद्धि या कृष्णचेतना की उपेक्षा के कारण वह मोहग्रस्त होता है और पापकर्मों में लग जाता है। जब इसका एहसास होता है, तो वह पश्चात्ताप करता है। ऐसे पश्चात्ताप का वर्णन नरोत्तमदास ठाकुर ने किया है—

हरि-हरि विफले जनम गोङाइनु

मनुष्य-जन्म पाइया; राधा कृष्ण ना भजिया

जानिया शुनिया विष खाइनु

वे कहते हैं कि मुझे अपना मनुष्य-जन्म बर्बाद करने तथा जानबूझ कर विष पीने का पछतावा है। कृष्ण-भक्त न बनकर मनुष्य जानबूझ कर भौतिक जीवन का विषपान करता है। सारांश यह है कि अपनी सतीसाध्वी पत्नी के अभाव में या यह कहें कि जब वह अपनी बुद्धि खो देता है और कृष्णभक्ति नहीं करता तो मनुष्य निश्चित रूप से पापकर्म में प्रवृत्त होता है।

सान्त्वयन्श्लक्ष्णया वाचा हृदयेन विदूयता ।
प्रेयस्याः स्नेहसंरम्भलिङ्गमात्मनि नाभ्यगात् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सान्त्वयन्—समझाते हुए; श्लक्ष्णया—मीठे; वाचा—वचनों से; हृदयेन—हृदय से; विदूयता—अत्यधिक पछताते हुए; प्रेयस्याः—अपनी प्रेयसी के; स्नेह—प्यार से; संरम्भ—क्रोध का; लिङ्गम्—लक्षण; आत्मनि—हृदय में; न—नहीं; अभ्यगात्—उठा।

दुखित हृदय से राजा अपनी पत्नी से अत्यन्त मीठे शब्द कहने लगा। यद्यपि वह दुखी था और उसे प्रसन्न करने का प्रयास कर रहा था, किन्तु उसने अपनी प्राणप्रिया पत्नी के हृदय में क्रोध का एक भी लक्षण नहीं देखा।

तात्पर्य : राजा को अत्यन्त दुख हुआ कि वह अपनी पत्नी को अकेले छोड़ पापकर्म में प्रवृत्त होने जंगल गया था। जब कोई अपने पापकर्मों अर्थात् कृष्ण-भक्ति तथा सद्बुद्धि को छोड़ने के लिए पश्चात्ताप

करता है, तो भवसागर के बन्धनों से छुटकारा पाने का उसका मार्ग प्रशस्त हो जाता है। *श्रीमद्भागवत* (५.५.५) में कहा गया है—*पराभवस्तावदबोधजातो यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम्।* जब मनुष्य अपनी कृष्णभावना तथा आत्म-साक्षात्कार के प्रति रुचि खो बैठता है, तो वह पापकर्म में लगता है। कृष्ण-भक्ति से विहीन जीवन के सारे कार्य वृथा हैं और जीवन को पराजय और दुरूपयोग की ओर ले जाते हैं। स्वाभाविक है कि जिसे कृष्ण-भक्ति प्राप्त होती है, वह मनुष्य-जीवन के पूर्व पापकर्मों के लिए पश्चात्ताप करता है। इसी विधि से भौतिक जीवन में अविद्या के चंगुल से छुटकारा पाया जा सकता है।

अनुनिन्येऽथ शनकैर्वीरोऽनुनयकोविदः ।
पस्पर्श पादयुगलमाह चोत्सङ्गलालिताम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अनुनिन्ये—मनाना आरम्भ किया; अथ—इस प्रकार; शनकैः—धीरे-धीरे; वीरः—वीर; अनुनय-कोविदः—मनाने में निपुण; पस्पर्श—स्पर्श किया; पाद-युगलम्—दोनों पाँव; आह—कहा; च—भी; उत्सङ्ग—गोद में; लालिताम्—इस प्रकार आलिंगन करते हुए।

चूँकि राजा मनाने में अत्यन्त निपुण था, अतः उसने रानी को धीरे-धीरे मनाना प्रारम्भ किया। पहले उसने उसके दोनों पाँव छुये, फिर उसका आलिंगन किया और अपनी गोद में बैठाकर इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया।

तात्पर्य : मनुष्य को सर्वप्रथम अपने पूर्वकर्मों के लिए पश्चात्ताप करके अपनी कृष्ण-भक्ति जाग्रत करनी होती है। जिस प्रकार राजा पुरञ्जन ने अपनी पत्नी को मनाना प्रारम्भ किया, उसी प्रकार जानबूझ कर मनुष्य को कृष्णभक्ति के पद तक पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करने के लिए गुरु के पाद-पद्मों का स्पर्श करना चाहिए। स्वतः प्रयास से कृष्णभक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। अतः मनुष्य को चाहिए कि स्वरूपसिद्ध कृष्णभक्त के पास पहुँचकर उसके चरणकमलों का स्पर्श करे। इसीलिए प्रह्लाद महाराज (*भागवत* ७.५.३२) कहते हैं—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रि

स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।

महीयसां पादरजोऽभिषेकं

निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्॥

जब तक मनुष्य ऐसे व्यक्ति के चरणकमल की धूल को अपने मस्तक पर धारण नहीं करता जो महात्मा या भक्त बन चुका है तब तक उसका कृष्ण-भक्ति के द्वार तक प्रवेश नहीं होता। यह आत्मसमर्पण का शुभारम्भ है। भगवान् कृष्ण चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति उनकी शरण में आये और यह आत्मसमर्पण का कार्य तब शुरू होता है जब मनुष्य प्रामाणिक गुरु के चरण-स्पर्श करता है। निष्ठापूर्वक गुरु की सेवा करने से ही कृष्णभक्तिमय जीवन का शुभारम्भ होता है। गुरु के चरण-स्पर्श करने का अर्थ है मिथ्या गर्व का त्याग और भौतिक जगत में अपने पद पर व्यर्थ न फूलना। जो लोग अपने उच्च स्थान के कारण वृथा ही भौतिक जीवन के अंधकार में रहते हैं—जैसे तथाकथित वैज्ञानिक एवं विचारक—वे वास्तव में नास्तिक हैं। वे प्रत्येक वस्तु के चरम कारण को नहीं जानते। यद्यपि वे मोहग्रस्त रहते हैं, किन्तु वे ऐसे व्यक्ति के चरणकमलों में आत्मसमर्पण करने में हिचकते हैं, जो वस्तुओं को उनके सही-सही रूप में जानता है। दूसरे शब्दों में, केवल कोरे ज्ञान से कृष्णभक्ति जाग्रत नहीं की जा सकती। मनुष्य को प्रामाणिक गुरु की शरण में जाना ही होगा। इसी विधि से उसे सहायता मिल सकती है।

पुरञ्जन उवाच

नूनं त्वकृतपुण्यास्ते भृत्या येष्वीश्वराः शुभे ।
कृतागःस्वात्मसात्कृत्वा शिक्षादण्डं न युञ्जते ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

पुरञ्जनः उवाच—पुरञ्जन ने कहा; नूनम्—निश्चय ही; तु—तब; अकृत-पुण्याः—जो पुण्यात्मा नहीं है, अभागा; ते—वे; भृत्याः—दास; येषु—जिनको; ईश्वराः—स्वामी; शुभे—हे शुभ लक्षणों वाली; कृत-आगःसु—पाप करके; आत्मसात्—अपना कर; कृत्वा—करके; शिक्षा—उपदेश के रूप में; दण्डम्—दण्ड; न युञ्जते—नहीं देते।

राजा पुरञ्जन ने कहा : हे सुन्दरी, जब स्वामी किसी मनुष्य को दास रूप में स्वीकार तो कर लेता है, किन्तु उसके अपराधों के लिए उसे दण्ड नहीं देता तो उस दास को समझना चाहिए कि वह अभागा है।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता के अनुसार घरेलू पशुओं तथा दासों के साथ अपने पुत्र के तुल्य व्यवहार करना चाहिए। कभी-कभी घरेलू पशु तथा बालक किसी बदले की भावना से नहीं, अपितु प्यारवश दण्डित किये जाते हैं। इसी तरह कभी-कभी स्वामी अपने दास को रास्ते पर लाने के लिए किसी बदले की भावना से नहीं वरन् प्यारवश दण्ड देता है। इस प्रकार राजा पुरञ्जन ने अपनी पत्नी द्वारा दिये गये

दण्ड को अपने ऊपर किया गया अनुग्रह समझा। उसने अपने को रानी का आज्ञाकारी सेवक माना। वह उस पर पापकर्म करने—जंगल में शिकार करने तथा उसे घर पर छोड़ देने—के लिए नाराज थी। राजा पुरञ्जन ने इस दण्ड को अपनी पत्नी के वास्तविक प्यार के रूप में ग्रहण किया। इसी प्रकार जब मनुष्य को ईश्वर की इच्छा से प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित होना पड़ता है, तो उसे विचलित नहीं होना चाहिए। वास्तविक भक्त इसी तरह सोचता है। जब भक्त किसी विषम स्थिति को प्राप्त होता है, तो वह इसे ईश्वर का अनुग्रह मानता है—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

(*भागवत* १०.१४.८)

इस श्लोक से पता चलता है कि भक्त जीवन की पराजयों को भगवान् के वरदान के रूप में मानता है और यह सोचकर भगवान् को अधिक नमस्कार करता है तथा प्रार्थना करता है कि उसके पूर्व दुष्कर्मों का यह हल्का दण्ड मिल रहा है। यदि कोई त्रुटि करे तो सरकार या ईश्वर द्वारा प्रदत्त दण्ड वास्तव में कल्याणकारी होता है। *मनुसंहिता* में कहा गया है कि जब राजा किसी हत्यारे को मृत्यु दण्ड देता है, तो उसे दयालु समझना चाहिए क्योंकि हत्यारा इस जीवन में दण्डित होकर पापकर्म से मुक्त हो जाता है और अगले जीवन में वह समस्त पापों से मुक्त हो कर जन्म लेता है। यदि कोई स्वामी द्वारा दिये गये दण्ड को पुरस्कार मानता है, तो वह इतना बुद्धिमान हो जाता है कि फिर कभी उस दुष्कर्म को नहीं करता।

परमोऽनुग्रहो दण्डो भृत्येषु प्रभुणार्पितः ।
बालो न वेद तत्तन्वि बन्धुकृत्यममर्षणः ॥ २२॥

शब्दार्थ

परमः—परम; अनुग्रहः—कृपा; दण्डः—दण्ड; भृत्येषु—दासों पर; प्रभुणा—स्वामी द्वारा; अर्पितः—दिया गया; बालः—मूर्ख; न—नहीं; वेद—जानता है; तत्—उस; तन्वि—हे तन्वंगी; बन्धु-कृत्यम्—मित्र का कर्तव्य; अमर्षणः—क्रुद्ध।

हे तन्वंगी, जब कोई स्वामी अपने सेवक को दण्ड देता है, तो उसे परम अनुग्रह समझ कर

स्वीकार कर लेना चाहिए। जो क्रुद्ध होता है, वह अत्यन्त मूर्ख है और वह यह नहीं जानता कि ऐसा करना तो उसके मित्र का कर्तव्य होता है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि यदि मूर्ख को अच्छी बात भी सिखाई जाये तो वह उसे नहीं मानता। उल्टे वह क्रुद्ध होता है। ऐसे क्रोध की उपमा सर्प-विष से दी जाती है, क्योंकि जब साँप को दूध और केला खिलाया जाता है, तो इससे उसका विष बढ़ता ही है। दयालु और नम्र होने की बजाय अच्छी वस्तुएँ खिलाये जाने पर साँप अपना विष बढ़ाता है। इसी प्रकार मूर्ख को उपदेश देने पर वह अपने को सुधारने के बजाय उल्टे क्रुद्ध होता है।

सा त्वं मुखं सुदति सुभ्र्वनुरागभार-
व्रीडाविलम्बविलसद्धसितावलोकम् ।
नीलालकालिभिरुपस्कृतमुन्नसं नः
स्वानां प्रदर्शय मनस्विनि वल्गुवाक्यम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सा—वह (तुम, मेरी पत्नी); त्वम्—तुम; मुखम्—अपना मुँह; सु-दति—सुन्दर दाँतों वाली; सु-भ्रु—सुन्दर भौंहों वाली; अनुराग—प्यार, आसक्ति से; भार—बोझिल; व्रीडा—लज्जा; विलम्ब—नीचे झुके; विलसत्—चमकते हुए; हसित—हँसते हुए; अवलोकम्—चितवन से; नील—नीले; अलक—बाल से युक्त; अलिभिः—भौंरों के समान; उपस्कृतम्—इस प्रकार सुन्दर बनकर; उन्नसम्—उठी हुई (उन्नत) नाक से युक्त; नः—मुझको; स्वानाम्—तुम्हारा अपना हूँ; प्रदर्शय—दिखलाओ; मनस्विनि—हे विचारमग्न सुन्दरी; वल्गु-वाक्यम्—मीठे वचनों से।

हे प्रिये, तुम अत्यन्त सुन्दर दाँतों वाली हो। तुम अपने आकर्षक अंगों के कारण अत्यन्त मनस्वी लगती हो। तुम अपना क्रोध त्याग कर मुझ पर कृपा करो और अत्यन्त प्यार से तनिक मुस्कराओ। जब मैं तुम्हारे सुन्दर मुखमण्डल की मुसकान, तुम्हारे नीले रंग वाले बाल एवं तुम्हारी उन्नत नासिका को देखूँगा तथा तुम्हारे मीठे वचनों को सुनूंगा तो तुम मुझे और भी सुन्दर लगोगी और अपनी ओर आकृष्ट करती प्रतीत हो ओगी। तुम मेरी अत्यन्त आदरणीया स्वामिनी हो।

तात्पर्य : स्त्रैण पति अपनी पत्नी की बाह्य सुन्दरता से आकृष्ट होकर उसका आज्ञाकारी दास बनना चाहता है। इसीलिए श्रीपाद शंकराचार्य ने उपदेश दिया है कि हमें स्त्री के हाड़-मांस से आकृष्ट नहीं होना चाहिए। इस सम्बन्ध में एक कहानी कही जाती है कि एक बार एक मनुष्य किसी स्त्री की सुन्दरता पर आसक्त हो गया और इस तरह प्रेम दर्शाने लगा कि उस स्त्री ने उसे अपनी सुन्दरता के सारे

अवयवों को दिखाने की योजना बनाई। उस स्त्री ने उस मनुष्य से भेंट करने की, एक तिथि निश्चित की और उस दिन उसने जुलाब ले लिया जिससे रात-दिन वह केवल दस्त करती रही और सारा मल एक पात्र में संग्रह करती रही। दूसरी रात्रि को जब वह व्यक्ति उस स्त्री से मिलने आया तो वह उसे अत्यन्त कुरूप तथा दुर्बल दिखी। अत: उस व्यक्ति ने पूछा कि वह स्त्री कहाँ है, जिसके साथ उस की नियुक्ति थी? इस पर उस स्त्री ने कहा कि मैं ही वह स्त्री हूँ। उस व्यक्ति को विश्वास नहीं हुआ क्योंकि उसे नहीं पता था कि उस का सौन्दर्य उसके जुलाब लेने के कारण लुप्त हो चुका था जिससे वह दिन रात दस्त करती रही थी जब वह पुरुष उस से तर्क करने लगा, तो उस स्त्री ने पुन: कहा कि वह सुन्दर नहीं लग रही, क्योंकि उसकी सुन्दरता के अवयव उससे विलग हो चुके हैं। जब उस पुरुष ने पूछा कि वे अवयव किस प्रकार विलग हो सके तो स्त्री ने कहा—"चलिए, आपको दिखा दूँ।" उसने उसे मल तथा वमन से युक्त वह पात्र दिखाया। इस प्रकार मनुष्य को पता चला कि सुन्दर स्त्री केवल रक्त, मल, मूत्र तथा इसी प्रकार के घृणित अवयवों से बनी हुई है। यह वास्तविकता है, किन्तु मनुष्य मोहक सौंदर्य से आकृष्ट होकर माया का शिकार बनता रहता है।

राजा पुरञ्जन ने अपनी पत्नी से प्रार्थना की कि वह पूर्व सुन्दरता को प्राप्त हो। वह उसे उसी प्रकार सचेष्ट कर रहा था जिस प्रकार जीवात्मा अपनी मूल चेतना को जाग्रत करता है, जो अत्यन्त सुन्दर होती है। रानी के समस्त सुन्दर अंगों की तुलना कृष्णभक्ति के सुन्दर स्वरूप से की जा सकती है। जब मनुष्य मूल कृष्णचेतना को लौटता है, तो वह स्थिर हो जाता है और उसका जीवन सफल हो जाता है।

तस्मिन्दधे दममहं तव वीरपत्नि
योऽन्यत्र भूसुरकुलात्कृतकिल्बिषस्तम् ।
पश्ये न वीतभयमुन्मुदितं त्रिलोक्या-
मन्यत्र वै मुररिपोरितरत्र दासात् ॥ २४॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उसको; दधे—दूँगा; दमम्—दण्ड; अहम्—मैं; तव—तुमको; वीर-पत्नि—हे वीर की पत्नी; य:—जो; अन्यत्र—इसके अतिरिक्त; भू-सुर-कुलात्—इस पृथ्वी पर देवताओं के कुल से (ब्राह्मणों से); कृत—किया हुआ; किल्बिष:—अपराध; तम्—उसको; पश्ये—मैं देखता हूँ; न—नहीं; वीत—रहित; भयम्—डर; उन्मुदितम्—चिन्तारहित; त्रि-लोक्याम्—तीनों लोकों में; अन्यत्र—और कहीं; वै—निश्चय ही; मुर-रिपो:—मुर के शत्रु (कृष्ण) का; इतरत्र—दूसरी ओर; दासात्—दास की अपेक्षा।

हे वीरपत्नी, मुझे बताओ कि क्या किसी ने तुम्हें अपमानित किया है? मैं ऐसे व्यक्ति को

यदि वह ब्राह्मण कुल का नहीं है, दण्ड देने के लिए तैयार हूँ, मैं मुररिपु (श्रीकृष्ण) के दास के अतिरिक्त तीनों लोकों में किसी को भी क्षमा नहीं करूँगा। तुम्हें अपमानित करके कोई स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण नहीं कर सकता, क्योंकि मैं उसे दण्ड देने के लिए तैयार हूँ।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता के अनुसार ब्राह्मण तथा, जो मुरा नामक असुर का शत्रु होने के कारण मुरद्विष कहलाने वाले कृष्ण का भक्त कहलाते हैं, राज्य के विधि-विधानों से बँधे नहीं होते। दूसरे शब्दों में, ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के अतिरिक्त राज्य के नियमों को भंग करने वाला प्रत्येक व्यक्ति दण्डनीय है। ब्राह्मण तथा वैष्णव नियम-भंग से उत्पन्न होने वाले कर्मफलों से भली-भाँति परिचित रहते हैं, अत: वे राज्य या प्रकृति के नियमों का उल्लंघन नहीं करते। यदि कभी वे नियमों की अवज्ञा करते हुए प्रतीत भी हों तो भी वे राजा द्वारा दण्डनीय नहीं होते। यही उपदेश नारद मुनि ने राजा प्राचीनबर्हिषत् को दिया। राजा पुरञ्जन राजा प्राचीनबर्हिषत् का प्रतिनिधि था। नारद मुनि राजा प्राचीनबर्हिषत् को उनके पूर्वज महाराज पृथु का स्मरण करा रहे थे जिन्होंने कभी ब्राह्मणों अथवा वैष्णवों को दण्ड नहीं दिया था।

मनुष्य की शुद्ध चेतना या कृष्णचेतना भौतिक कार्यकलापों के कारण दूषित हो जाती है। त्याग, दान, पुण्यकर्म इत्यादि के द्वारा शुद्ध चेतना जाग्रत की जा सकती है, किन्तु जब कोई ब्राह्मण या वैष्णव के प्रति अपराध करके कृष्णचेतना को दूषित कर लेता है, तो उसे जाग्रत कर पाना कठिन हो जाता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने वैष्णव अपराध को प्रमत्त हाथी द्वारा किये गये अपराध के तुल्य बताया है। मनुष्य को ब्राह्मण या वैष्णव के प्रति अपराध न करने के प्रति सतर्क रहना चाहिए। दुर्वासा जैसे महान् योगी को भी महाराज अम्बरीष जैसे वैष्णव का अपमान करने के लिए, जो न तो ब्राह्मण थे, न संन्यासी, अपितु सामान्य गृहस्थ थे, सुदर्शन चक्र की यातना सहनी पड़ी थी। महाराज अम्बरीष वैष्णव थे; इसीलिए दुर्वासा मुनि को दण्डित होना पड़ा।

निष्कर्ष यह है कि यदि कृष्णचेतना भौतिक पापों से आवृत हो जाये तो हरे कृष्ण मंत्र का उच्चारण करके पापों को दूर किया जा सकता है, किन्तु यदि कोई ब्राह्मण या वैष्णव का अपमान करके कृष्णचेतना को दूषित कर लेता है, तो वह तब तक अपनी चेतना को प्राप्त नहीं कर पाता जब तक कि अपमानित ब्राह्मण या वैष्णव को वह प्रसन्न न कर ले। दुर्वासा मुनि को इसी पथ का अनुसरण करना

पड़ा था, क्योंकि उन्हें महाराज अम्बरीष की शरण में जाना पड़ा था। वैष्णव का अपराध तभी मिट सकता है जब अपराधकर्ता क्षमायाचना करे इसके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं हैं।

वक्त्रं न ते वितिलकं मलिनं विहर्षं
संरम्भभीममविमृष्टमपेतरागम् ।
पश्ये स्तनावपि शुचोपहतौ सुजातौ
बिम्बाधरं विगतकुङ्कुमपङ्करागम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

वक्त्रम्—मुख; न—कभी नहीं; ते—तुम्हारा; वितिलकम्—निरलंकृत; मलिनम्—मलिन; विहर्षम्—खिन्न; संरम्भ—क्रोध से; भीमम्—भयानक; अविमृष्टम्—कान्तिहीन; अपेत-रागम्—स्नेहशून्य; पश्ये—मैने देखा है; स्तनौ—तुम्हारे स्तन; अपि—भी; शुचा-उपहतौ—तुम्हारे आँसुओं से सिक्त; सु-जातौ—इतने सुन्दर; बिम्ब-अधरम्—बिम्बा के समान लाल होंठ; विगत—रहित; कुङ्कुम-पङ्क—केशर के; रागम्—रंग।

प्रिये, आज तक मैंने कभी भी तुम्हारे मुख को तिलक से रहित नहीं देखा, न ही मैंने तुम्हें कभी खिन्न तथा कान्ति या स्नेह से रहित देखा है। न ही मैंने तुम्हारे दोनों स्तनों को नेत्र अश्रुओं से सिक्त देखा है। न ही मैंने तुम्हारे बिम्बा फलों के समान लाल-लाल होठों को कभी लालिमा से रहित देखा है।

तात्पर्य : प्रत्येक स्त्री तिलक तथा सिन्दूर लगाने पर अत्यन्त सुन्दर लगती है। जब स्त्री के होंठ लाल केशर या सिन्दूर से रंजित रहते हैं, तो स्त्री अत्यधिक आकर्षक लगती है। किन्तु जब मनुष्य की चेतना तथा बुद्धि कृष्ण की विमल चेतना से रहित होती है, तो ये खिन्न तथा कान्तिहीन लगते हैं जिससे मनुष्य तीक्ष्ण बुद्धि होते हुए भी कोई लाभ नहीं उठा पाता।

तन्मे प्रसीद सुहृदः कृतकिल्बिषस्य
स्वैरं गतस्य मृगयां व्यसनातुरस्य ।
का देवरं वशगतं कुसुमास्त्रवेग-
विस्रस्तपौंस्नमुशती न भजेत कृत्ये ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; मे—मुझसे; प्रसीद—प्रसन्न हो जाओ; सु-हृदः—अभिन्न मित्र; कृत-किल्बिषस्य—पापकर्म किये जाने पर; स्वैरम्—स्वतंत्र रूप से; गतस्य—गये हुए का; मृगयाम्—आखेट के लिए; व्यसन-आतुरस्य—पापपूर्ण इच्छा से प्रभावित होकर; का—कौन स्त्री; देवरम्—पति को; वश-गतम्—अपने वश में; कुसुम-अस्त्र-वेग—कामदेव के तीर से बिंधा; विस्रस्त—छिन्न; पौंस्नम्—धैर्य; उशती—अत्यन्त सुन्दर; न—कभी नहीं; भजेत—प्यार करते; कृत्ये—कर्तव्य में।

हे रानी, मैं अपनी पापपूर्ण इच्छाओं के कारण तुमसे बिना पूछे शिकार करने जंगल चला गया। अतः मैं स्वीकार करता हूँ कि मुझसे अपराध हुआ। फिर भी मुझे अपना अन्तरंग समझ

कर तुम्हें अत्यन्त प्रसन्न होना चाहिए। मैं वास्तव में अत्यधिक दुखी हूँ, किन्तु कामदेव के बाणों से बिद्ध होने के कारण मैं कामुक हो रहा हूँ। भला ऐसी कौन सुन्दरी होगी जो अपने कामुक पति को त्याग देगी और उससे मिलना अस्वीकार कर देगी?

तात्पर्य : स्त्री तथा पुरुष दोनों एक दूसरे को चाहते हैं, यह इस संसार की रीति है। स्त्रियाँ अपने को सदैव आकर्षक बनाये रखती हैं जिससे वे अपने कामुक पतियों को आकर्षक लगें। जब कभी कोई कामुक पुरुष अपनी पत्नी के समक्ष आता है, तो वह उसकी छेड़छाड़ का लाभ उठाकर जीवन का आनन्द लेती है। सामान्यत: जब पुरुष स्त्री पर टूट पड़ता है चाहे वह उसका पति हो या अन्य कोई हो तो उसे आनन्द आता है। दूसरे शब्दों में, जब मनुष्य की बुद्धि का सदुपयोग होता है, तो बुद्धि तथा बुद्धिमान पुरुष दोनों को परम संतोष मिलता है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (७.९.४५) में कहा गया है—

यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं

कण्डूयनेन करयोरिव दु:खदु:खम्।

कर्मियों का वास्तविक सुख विषयी-जीवन है। वे घर के बाहर कठिन श्रम करते हैं और इस परिश्रम की तुष्टि के लिए वे घर आकर विषयी-जीवन का भोग करते हैं। राजा पुरञ्जन जंगल में आखेट करने गया और वहाँ कठिन श्रम करके घर लौट आया जिससे विषयसुख उठा सके। यदि मनुष्य एक सप्ताह भी घर से बाहर किसी और शहर में रहता है, तो वह सप्ताह के अन्त में घर जाने तथा घर में अपनी पत्नी के साथ विषय-सुख लूटने के लिए अत्यधिक उत्सुक रहता है। *श्रीमद्भागवत* में इसकी पुष्टि हुई है—*यन्मैथुनादि गृहमेधि सुखं हि तुच्छम्*—कर्मी लोग विषयसुख के लिए ही इतना श्रम करते हैं। आधुनिक मानव-समाज ने अनियंत्रित विषयी-जीवन को छूट देकर जीवन की भौतिकतावादी धारा में सुधार किया है। इसे पश्चिमी जगत में स्पष्ट देखा जा सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कंध के अन्तर्गत "राजा पुरञ्जन का आखेट के लिए जाना और रानी का क्रुद्ध होना" नामक छब्बीसवें अध्याय के भक्ति वेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter सत्ताईस

राजा पुरञ्जन की नगरी पर चण्डवेग का धावा और कालकन्या का चरित्र

नारद उवाच
इत्थं पुरञ्जनं सध्र्यग्वशमानीय विभ्रमैः ।
पुरञ्जनी महाराज रेमे रमयती पतिम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; इत्थम्—इस प्रकार; पुरञ्जनम्—राजा पुरञ्जन को; सध्र्यक्—पूर्णतया; वशमानीय—अपने वश में करके; विभ्रमैः—अपने आकर्षण से; पुरञ्जनी—राजा पुरञ्जन की पत्नी ने; महा-राज—हे राजा; रेमे—भोग किया; रमयती—समस्त तुष्टि प्रदान करती; पतिम्—अपने पति को।

महर्षि नारद ने आगे कहा : हे राजन्, अनेक प्रकार से अपने पति को मोहित करके अपने वश में करती हुई राजा पुरञ्जन की पत्नी उसे सारा आनन्द प्रदान करने लगी और उसके साथ विषयी जीवन व्यतीत करने लगी।

तात्पर्य : वन में आखेट करने के पश्चात् राजा पुरञ्जन घर लौटा और स्नान करने तथा अच्छा भोजन कर लेने के बाद उसने अपनी पत्नी को ढूँढा। जब उसने देखा कि वह बिना बिस्तर के भूमि में लेटी है और कोई उपयुक्त वस्त्र धारण नहीं किये हैं, तो वह अत्यन्त दुखी हुआ। तब वह उसके प्रति आकृष्ट हुआ और फिर उसके साथ में रहकर भोग करने लगा। इसी प्रकार से संसारी जीव पापकर्मों में प्रवृत्त रहता है। उसके ये पापकर्म पुरञ्जन द्वारा किये गये आखेट के समान हैं।

पापमय जीवन का निराकरण कई धार्मिक विधियों से किया जा सकता है—यथा यज्ञ, व्रत तथा दान। इस प्रकार मनुष्य अपने पापकर्मों के फल से मुक्त होकर अपनी मूल कृष्णचेतना को भी जगा सकता है। घर आकर, स्नान करके, भोजन कर लेने, तरोताजा होने तथा अपनी स्त्री की खोज करने पर पुरञ्जन को अपने पारिवारिक जीवन का चेत हुआ। दूसरे शब्दों में, वेदों में आदिष्ट निर्दिष्ट गृहस्थ जीवन पापमय अनुत्तरदायित्वपूर्ण जीवन से अच्छा है। यदि कृष्णचेतना में स्त्री तथा पुरुष मिल जाँय और शान्तिपूर्वक रहें तो अत्युत्तम है। किन्तु यदि पति अपनी पत्नी के प्रति अधिक आसक्त रहकर अपने जीवन-कार्यों को भूल जाता है, तो, भौतिक जीवन की उलझनें फिर शुरू हो जाएँगी। इसीलिए श्रील रूप गोस्वामी ने संस्तुति की है—*अनासक्तस्य विषयान्* (*भक्तिरसामृत सिन्धु* १.२.२५५)। पति तथा पत्नी विषयवासना से रहित होकर आध्यात्मिक जीवन की उन्नति के लिए एकसाथ रह सकते हैं। पति

को भक्ति करनी चाहिए और पत्नी को वैदिक आदेशों के अनुसार धार्मिक तथा श्रद्धावान् होना चाहिए। ऐसा संयोग उत्तम होता है। किन्तु यदि पति विषयभोग के कारण पत्नी के प्रति अधिक आसक्त होता है, तो स्थिति गम्भीर हो जाती है। स्त्रियाँ सामान्यत: अधिक कामुक होती हैं। कहा जाता है कि स्त्री की कामवासना पुरुष की अपेक्षा नौगुनी प्रबल होती है। अत: पुरुष का यह कर्तव्य है कि वह स्त्री को सुन्दर आभूषण, भोजन तथा वस्त्र प्रदान करके तथा उसे धार्मिक कृत्यों की ओर उन्मुख करके अपने वश में रखे। निस्सन्देह स्त्री के सन्तान भी होनी चाहिए। इससे वह पुरुष के लिए बाधा न बनेगी। दुर्भाग्यवश यदि मनुष्य स्त्री के प्रति केवल कामवासना से आकृष्ट होता है, तो गृहस्थ जीवन घृणित बन जाता है।

महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य पंडित ने कहा है—*भार्या रूपवती शत्रु:*—सुन्दर पत्नी शत्रु होती है। निस्सन्देह, प्रत्येक स्त्री अपने पति की दृष्टि में रूपवती है। भले ही अन्यों की दृष्टि में वह अत्यन्त सुन्दरी न प्रतीत हो, किन्तु पति के लिए तो वह अत्यन्त सुन्दरी होती है क्योंकि वह उससे बहुत अधिक आकृष्ट होता है। यदि पति की दृष्टि में पत्नी अत्यन्त सुन्दरी है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि पति उस पर अत्यधिक मोहित है। यह आकर्षण काम का आकर्षण है। सारा संसार दो प्रकार के गुणों—रजोगुण तथा तमोगुण—से मोहित है। सामान्यत: स्त्रियाँ अधिक रजोगुणी और मन्द बुद्धि होती हैं, अत: मनुष्य को उनके रजो तथा तमो गुणों के वश में नहीं होना चाहिए। भक्तियोग करने से मनुष्य सतोगुण पद को प्राप्त हो सकता है। यदि सतोगुण में स्थित पति रजो तथा तमोगुणी पत्नी को अपने वश में रखता है, तो स्त्री को लाभ पहुँचता है। वह रजो तथा तमो गुणों को भूलकर अपने पति की आज्ञाकारिणी बन जाती है, जो कि सतोगुण में स्थित होता है। ऐसा जीवन अभिनन्दनीय है। तब स्त्री तथा पुरुष दोनों की बुद्धियाँ मिलकर अच्छी तरह कार्य करने लगती हैं और वे आत्म-साक्षात्कार की दिशा में प्रगति कर सकते हैं; अन्यथा पति अपनी पत्नी के वश में रहकर अपने सतोगुण को खोकर रजोगुण तथा तमोगुण के अधीन हो जाता है। इस प्रकार सारी स्थिति दूषित हो जाती है।

निष्कर्ष यह निकला कि गृहस्थ-जीवन अनुत्तरदायित्वपूर्ण पापमय जीवन से श्रेयस्कर होता है, किन्तु यदि पति अपनी पत्नी के अधीन हो जाता हैं, तो पुन: भौतिक जीवन का बंधन प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य का भौतिक बन्धन बढ़ता जाता है। इसीलिए वैदिक प्रणाली के अनुसार कुछ वर्ष

के बाद मनुष्य के लिए गृहस्थ-जीवन छोड़कर वानप्रस्थ तथा संन्यास की संस्तुति की जाती है।

स राजा महिषीं राजन्सुस्नातां रुचिराननाम् ।
कृतस्वस्त्ययनां तृप्तामभ्यनन्ददुपागताम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सः—उस; राजा—राजा ने; महिषीम्—रानी को; राजन्—हे राजा; सु-स्नाताम्—अच्छी तरह नहाई हुई; रुचिर-आननाम्—आकर्षक मुख वाली; कृत-स्वस्ति-अयनाम्—शुभ वस्त्रों तथा आभूषणों से सुसज्जित; तृप्ताम्—तृप्त; अभ्यनन्दत्—स्वागत किया; उपागताम्—पास जाकर।

रानी ने स्नान किया और शुभ वस्त्रों तथा आभूषणों से अपने को सुसज्जित किया। भोजन करने तथा परम संतुष्ट होने के बाद वह राजा के पास आई। उस अत्यन्त सुसज्जित तथा आकर्षक मुख वाली को देखकर राजा ने उसका तन्मयता अभिनन्दन किया।

तात्पर्य : स्त्री सामान्यत: अच्छे वस्त्र धारण करती है और सुन्दर आभूषण पहनती है। कभी-कभी वह बालों में फूल भी धारण करती है। स्त्रियाँ प्राय: अपने को संध्या समय सुसज्जित करती हैं, क्योंकि उसी समय उनके पति काम से घर वापस आते हैं। यह तो स्त्री का कर्तव्य है कि जब उसका पति काम से वापस आये तो वह अपने आप को सुन्दर ढंग से सजाए जिससे उस का पति उसे देख कर आकृष्ट हो और सन्तुष्ट रहे। दूसरे शब्दों में, स्त्री समस्त सद्‌बुद्धि को प्रेरणा देती है। अपनी पत्नी को सुसज्जित देखकर मनुष्य अपने परिवार के विषय में गम्भीरता से विचार कर सकता है। जब मनुष्य पारिवारिक मामलों में अत्यधिक उलझता है, तो वह पारिवारिक कार्यों को ठीक से नहीं कर पाता। अत: स्त्री को प्रेरणाप्रद समझा जाता है और उसे पति की बुद्धि को सुचारु रखना चाहिए जिससे दोनों मिलकर पारिवारिक मामलों को ठीक से चला सकें।

तयोपगूढः परिरब्धकन्धरो
रहोऽनुमन्त्रैरपकृष्टचेतनः ।
न कालरंहो बुबुधे दुरत्ययं
दिवा निशेति प्रमदापरिग्रहः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तया—रानी के द्वारा; उपगूढः—आलिंगन किया; परिरब्ध—आलिंगित; कन्धरः—कंधे; रहः—एकान्त में; अनुमन्त्रैः—विनोदपूर्वक; अपकृष्ट-चेतनः—चेतना को नीचे गिराकर; न—नहीं; काल-रंहः—समय बीतने के साथ; बुबुधे—ज्ञान था; दुरत्ययम्—जीतना असम्भव; दिवा—दिन; निशा—रात्रि; इति—इस प्रकार; प्रमदा—स्त्री द्वारा; परिग्रहः—मोहित।

रानी पुरञ्जनी ने राजा का आलिंगन किया और राजा ने भी उसे बाहों में भर लिया। इस

प्रकार एकान्त में वे विनोद करते रहे और राजा पुरञ्जन अपनी सुन्दर स्त्री पर इतना मोहित रहने लगा कि उसे अच्छे-बुरे का विचार न रहा। वह भूल गया कि रात तथा दिन बीतने का अर्थ है व्यर्थ ही आयु का घटते जाना।

तात्पर्य : इस श्लोक में *प्रमदा* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सुन्दर स्त्री अपने पति के लिए प्रेरणादायक अवश्य है, किन्तु साथ ही अवनति का कारण भी है। *प्रमदा* का अर्थ है ''प्रेरणादायक'' तथा ''प्रमत्त करने वाली।'' सामान्यत: गृहस्थ दिन-रात के बीते रहने पर गम्भीरता से ध्यान नहीं देता। अज्ञानी मनुष्य इतना ही समझता है कि दिन आता है और उसके बीत जाने पर रात आती है। यह तो प्रकृति का नियम है, किन्तु वह यह नहीं जानता कि जब प्रात:काल सूर्योदय होता है, तो उसकी आयु उसी के अनुसार क्षीण होती जाती है। इस प्रकार दिन-प्रति-दिन जीवन-काल घटता है और मनुष्य अपने कर्तव्य को भूलकर एकान्त में अपनी पत्नी के साथ विषय-भोग में लगा रहता है। ऐसी अवस्था *अपकृष्ट-चेतन* अर्थात् अवनत चेतना कहलाती है। मानवीय चेतना का सदुपयोग कृष्णचेतना (भक्ति) तक ऊपर उठने के लिए होना चाहिए, किन्तु अपनी पत्नी तथा पारिवारिक मामलों में अत्यधिक आसक्त रहने के कारण मनुष्य कृष्णचेतना की परवाह नहीं करता। इस प्रकार वह अपक्रमित होता है और उसे इसका पता भी नहीं रहता कि वह लाखों डालर खर्च करके भी बीते हुए एक भी क्षण को मोल नहीं ले सकता। जीवन की सबसे बड़ी क्षति है श्रीकृष्ण को जाने बिना जीवन बिता देना। हमें जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करना चाहिए और जीवन के समुचित उपयोग का अर्थ है भगवान् की भक्ति बढ़ाना। बिना भगवद्भक्ति के जीवन के सारे कार्य समय के अपव्यय-मात्र हैं। *श्रम एव हि केवलम्।* केवल कर्तव्यनिष्ठ बनकर हम जीवन का लाभ नहीं उठा सकते। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.२.८) में पुष्टि हुई है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

यदि ठीक से अपना कर्तव्य करने के बाद कृष्णचेतना में प्रगति नहीं होती तो यह समझना चाहिए सारा श्रम व्यर्थ रहा।

शयान उन्नद्धमदो महामना
महार्हतल्पे महिषीभुजोपधिः ।
तामेव वीरो मनुते परं यत-
स्तमोऽभिभूतो न निजं परं च यत् ॥ ४॥

शब्दार्थ

शयानः—लेटा हुआ; उन्नद्ध-मदः—अत्यधिक मोहग्रस्त; महा-मनाः—मनस्वी; महा-अर्ह-तल्पे—बहुमूल्य शय्या पर; महिषी—रानी की; भुज—बाँहें; उपधिः—तकिया; ताम्—उसको; एव—निश्चय ही; वीरः—वीर; मनुते—उसने मान लिया था; परम्—जीवन लक्ष्य; यतः—जिससे; तमः—अज्ञान से; अभिभूतः—आवृत; न—नहीं; निजम्—अपना; परम्—परमेश्वर; च—तथा; यत्—जो।

इस प्रकार अत्यधिक मोहग्रस्त होने से मनस्वी होते हुए भी राजा पुरञ्जन अपनी पत्नी की भुजाओं के तकिये पर अपना सिर रखे सदैव लेटा रहता था। इस प्रकार वह उस रमणी को ही अपने जीवन का सर्वस्व मानने लगा। अज्ञान के आवरण से ढका होने के कारण उसे आत्म-साक्षात्कार का स्वयं का अथवा भगवान् का कोई ज्ञान न रहा।

तात्पर्य : मनुष्य जीवन आत्म-साक्षात्कार के लिए है। पहले मनुष्य को अपने आपका दर्शन करना होता है, जिसे इस श्लोक में *निजम्* कहा गया है। तब उसे परमात्मा को समझना होता है। किन्तु मनुष्य जब भौतिकता में अत्यधिक अनुरक्त हो जाता है, तो वह स्त्री को ही सब कुछ मानने लगता है। भौतिक आसक्ति का यह मूल सिद्धान्त है। ऐसी स्थिति में वह न तो अपने आपका और न ही भगवान् का साक्षात्कार कर पाता है। *श्रीमद्भागवत* (५.५.२) में कहा गया है—*महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्*। यदि वह महात्माओं या भक्तों की संगति करता है, तो उसकी मुक्ति का द्वार खुल जाता है। किन्तु यदि वह स्त्रियों के प्रति या स्त्रियों में अनुरक्त रहने वाले पुरुषों के प्रति अर्थात् प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से स्त्रियों के प्रति आकृष्ट होता है, तो उसके लिए *तमो-द्वारम्* अर्थात् नारकीय जीवन के अंधकारमय क्षेत्र का द्वार खुल जाता है।

राजा पुरञ्जन महात्मा, बुद्धिमान तथा उन्नत चेतनावाला व्यक्ति था, किन्तु स्त्री के प्रति अत्यधिक अनुरक्ति के कारण उसकी चेतना मलिन हो गई थी। आधुनिक युग में शराब, स्त्री तथा मांस-भक्षण के कारण लोगों की चेतना अत्यधिक मलिन हो गई। अतः लोग आत्म-साक्षात्कार की दिशा में तनिक भी प्रगति नहीं कर पाते। आत्म-साक्षात्कार की पहली सीढ़ी है अपने आपको शरीर से भिन्न आत्मा मानना। दूसरी सीढ़ी है प्रत्येक आत्मा, अर्थात् प्रत्येक जीव को परमात्मा का अंश-रूप मानना। *भगवद्गीता* (१५.७) में इसकी पुष्टि हुई है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन: ।

मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

"इस बद्ध जगत में जीवात्माएँ मेरे शाश्वत अंश हैं। बद्धजीवन के कारण वे मन समेत अपनी छहों इन्द्रियों द्वारा अत्यधिक कठिन संघर्ष करती रहती हैं।"

सभी जीवात्माएँ परमेश्वर के अंशरूप हैं। दुर्भाग्यवश, वर्तमान संस्कृति में स्त्रियों तथा पुरुषों को प्रारम्भ से ही एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होने दिया जाता है; फलस्वरूप वे आत्म-साक्षात्कार की स्थिति तक कभी नहीं पहुँच पाते। उन्हें इसका पता ही नहीं रहता कि बिना आत्म-साक्षात्कार के इस मनुष्य जीवन में सर्वाधिक क्षति होती है। हृदय में स्त्री का निरन्तर चिन्तन करना बहुमूल्य शैय्या पर स्त्री के साथ शयन करने के तुल्य है। हृदय ही असली शैय्या है और वही सर्वाधिक मूल्यवान शैय्या है। जब मनुष्य स्त्री तथा धन के विषय में सोचता है, तो वह अपनी पत्नी की भुजाओं में लेट जाता है और अत्यधिक विषयवासना में फँसकर आत्म-साक्षात्कार के अयोग्य बन जाता है।

तयैवं रममाणस्य कामकश्मलचेतसः ।
क्षणार्धमिव राजेन्द्र व्यतिक्रान्तं नवं वयः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तया—उसके साथ; एवम्—इस प्रकार; रममाणस्य—रमण करते हुए; काम—काम से पूर्ण; कश्मल—पापपूर्ण; चेतसः—उसका हृदय; क्षण-अर्धम्—आधे क्षण में; इव—सदृश; राज-इन्द्र—हे राजा; व्यतिक्रान्तम्—बीत गया; नवम्—नया; वयः—वायु, जीवन।

हे राजा प्राचीनबर्हिषत्, इस प्रकार राजा पुरञ्जन काम तथा पापमय कर्मफलों से पूरित हृदय से अपनी पत्नी के साथ भोग-विलास करने लगा और इस तरह आधे ही क्षण में उनका नव जीवन तथा युवावस्था बीत गयी।

तात्पर्य : श्रील गोविन्ददास ठाकुर का गीत है—

ए-धन, यौवन, पुत्र, परिजन

इथे कि आछे परतीति रे

कमल-दल-जल, जीवन टलमल

भज हुं हरिपद नीति रे

वे इस गीत में बताते हैं कि युवावस्था के भोगविलास में कोई आनन्द नहीं है। युवावस्था में मनुष्य

सभी प्रकार के विषयों को भोगने के लिए आतुर हो उठता है। रूप, स्वाद, गंध, स्पर्श तथा शब्द—ये इन्द्रियविषय हैं। आधुनिक वैज्ञानिक विधि इन पाँचों इन्द्रियों के भोग को बढ़ावा देती है। नई पीढ़ी सुन्दर रूप देखने, रेडियो समाचार सुनने तथा इन्द्रियों को सुख देने वाले गीत सुनने, सुगन्ध तथा सुन्दर पुष्प सूँघने, तरुणी के नरम शरीर या स्तन को छूने तथा कामेन्द्रियों को सहलाने में अति प्रसन्न होती है। यह सब पशुओं को भी सुखकर लगता है, इसीलिए मानव समाज में पाँच विषयों के भोग पर प्रतिबन्ध है। यदि वह इनका पालन नहीं करता तो वह पशुतुल्य बन जाता है।

इस प्रकार इस श्लोक में स्पष्ट कथन है—*कामकश्मलचेतस:*—राजा पुरञ्जन की चेतना कामेच्छाओं तथा पापकर्मों के कारण दूषित हो चुकी थी। पिछले श्लोक में कहा गया है कि यद्यपि पुरञ्जन की चेतना उन्नत थी, किन्तु वह अपनी पत्नी के साथ कोमल शैय्या पर लेटा रहता था। इससे सूचित होता है कि वह अत्यधिक कामासक्त था। इस श्लोक के *नवं वय:* शब्द भी महत्त्वपूर्ण हैं। ये शब्द सोलह से तीस वर्ष की अवस्था बताते हैं। ये तेरह या पन्द्रह वर्ष ऐसे हैं जिसमें कोई अपनी इन्द्रियों का अत्यधिक भोग कर सकता है। जब मनुष्य इस आयु को प्राप्त करता है, तो वह सोचता है कि जीवन इसी प्रकार चलता रहेगा और इन्द्रियों का भोग होता रहेगा, किन्तु समय तथा ज्वार कभी किसी की प्रतीक्षा नहीं करते। युवावस्था तुरन्त ढल जाती है। जो युवावस्था को पापकर्म करने में ही लगा देता है, वह युवावस्था के बीत जाने पर निराश होता है। युवावस्था के भौतिक सुख उस व्यक्ति को भाते हैं जिसे किसी प्रकार की आध्यात्मिक शिक्षा नहीं मिली रहती। यदि उसे केवल देहात्मबुद्धि की शिक्षा मिली रहती है, तो उसे निराश जीवन बिताना पड़ता है, क्योंकि चालीस वर्ष के अन्दर इन्द्रिय-सुख समाप्त हो जाता है, चालीस वर्ष के बाद उसे मोहरहित जीवन बिताना पड़ता है, क्योंकि उसे आध्यात्मिक ज्ञान नहीं रहता। ऐसे व्यक्ति के लिए युवावस्था का अन्त आधे ही क्षण में हो जाता है। इस प्रकार राजा पुरञ्जन का आनन्द, जिसे वह अपनी पत्नी के साथ लेट कर लूट रहा था, तुरन्त ही बीत गया।

काम-कश्मलचेतस: से भी यह सूचित होता है कि मनुष्य जीवन में प्रकृति के नियमों के द्वारा इन्द्रियभोग की निर्बाध छूट नहीं है। यदि वह निर्बाध होकर इन्द्रियों का भोग करता है, तो उसका जीवन पापमय हो जाता है। पशु प्रकृति के नियमों का उल्लंघन नहीं करते। उदाहरणार्थ, पशुओं में वर्ष

के कुछ महीनों में ही कामेच्छा अत्यन्त प्रबल रहती है। सिंह अत्यन्त शक्तिशाली होता है—वह मांसभक्षी है और अत्यन्त बलिष्ठ होता है। किन्तु यह वर्ष में केवल एक बार संभोग करता है। इसी प्रकार धार्मिक आदेशों के अनुसार मनुष्य को भी मास में केवल एक बार स्त्री के रजोदर्शन के पश्चात् मैथुन करने की छूट है और यदि पत्नी गर्भवती हो तो संभोग की अनुमति नहीं है। यही मनुष्यों के लिए नियम है। मनुष्य को एक से अधिक पत्नी रखने की अनुमति प्राप्त है, क्योंकि पत्नी के गर्भिणी रहने पर वह उससे संभोग नहीं कर सकता। यदि वह ऐसे समय में संभोग करना चाहता है, तो वह दूसरी पत्नी के पास जा सकता है। ये नियम *मनु संहिता* तथा अन्य शास्त्रों में वर्णित हैं।

ये नियम तथा शास्त्र मनुष्यों के निमित्त हैं, अत: यदि कोई इन नियमों का अतिक्रमण करता है, तो वह पापी है। निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि अनियंत्रित इन्द्रिय-भोग का अर्थ है पापमय कर्म। अवैध स्त्रीमैथुन वह है, जिससे शास्त्रों के नियमों का उल्लंघन होता है। जब कोई शास्त्रों या वेदों के नियमों का अतिक्रमण करता है, तो वह पापकर्म करता है। जो मनुष्य पापकर्म करता है, वह अपनी चेतना नहीं बदल सकता। हमारा वास्तविक कार्य है कि हम अपनी चेतना को *कश्मल* से परम शुद्ध कृष्णचेतना में बदलें। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है (*परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्*)। श्रीकृष्ण ही परम विशुद्ध हैं और यदि हम अपनी चेतना को भौतिक सुख से कृष्ण की ओर मोड़ते हैं, तो हम शुद्ध बनते हैं। इसी विधि की संस्तुति भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने *चेतो-दर्पण-मार्जनम्* प्रक्रिया के नाम से की है।

तस्यामजनयत्पुत्रान्पुरञ्जन्यां पुरञ्जनः ।
शतान्येकादश विराडायुषोऽर्धमथात्यगात् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उस; अजनयत्—उत्पन्न किये; पुत्रान्—पुत्र; पुरञ्जन्याम्—पुरञ्जनी से; पुरञ्जनः—राजा पुरञ्जन ने; शतानि—सौ; एकादश—ग्यारह; विराट्—हे राजा; आयुषः—जीवन का; अर्धम्—आधा; अथ—इस तरह; अत्यगात्—उसने व्यतीत किया।

तब नारद मुनि ने राजा प्राचीनबर्हिषत् को सम्बोधित करते हुए कहा : हे विराट, इस प्रकार राजा पुरञ्जन के अपनी पत्नी पुरञ्जनी के गर्भ से १,१०० पुत्र उत्पन्न हुए। किन्तु इस कार्य में उसका आधा जीवन व्यतीत हो गया।

तात्पर्य : इस श्लोक में कई महत्त्वपूर्ण शब्द हैं जिनमें सबसे पहले *एकादश शतानि हैं*। पुरञ्जन को

अपनी पत्नी से ११०० पुत्र उत्पन्न हुए और इस प्रकार उसका आधा जीवन व्यतीत हो गया। वास्तव में हर मनुष्य के साथ ऐसा होता है। यदि कोई सौ वर्ष तक जीवित रहता है, तो इसमें से पचास वर्ष की आयु तक उसके पुत्र उत्पन्न होते रहते हैं। दुर्भाग्यवश इस समय लोग सौ वर्ष भी जीवित नहीं रहते तो भी वे साठ वर्ष की आयु तक सन्तान उत्पन्न करते हैं। दूसरी बात यह कि पहले के लोग एक सौ से दो सौ तक पुत्र तथा पुत्रियाँ उत्पन्न करते थे। जैसाकि अगले श्लोक से पता चलेगा, राजा पुरञ्जन के १,१०० पुत्रों के साथ-साथ ११० पुत्रियाँ भी पैदा हुई। इस समय के लोग इतनी अधिक सन्तानें उत्पन्न नहीं कर सकते। उल्टे, वे गर्भनिरोधक विधियों द्वारा जनसंख्या को रोकने के लिए प्रयत्नशील हैं।

हमें वैदिक साहित्य में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता जिसमें गर्भनिरोधक विधियों का प्रयोग हुआ हो, यद्यपि वे सैकड़ों संतानें उत्पन्न करते थे। गर्भनिरोधक विधि से जनसंख्या पर नियंत्रण एक अन्य पापकर्म है, किन्तु इस कलियुग में लोग इतने पापी हो गये हैं कि वे अपने पापमय जीवन के फलों की तनिक भी परवाह नहीं करते। राजा पुरञ्जन अपनी पत्नी पुरञ्जनी के साथ लेटा रहता था और उसने अनेक सन्तानें उत्पन्न कीं, किन्तु इन श्लोकों में कहीं कोई उल्लेख नहीं कि उसने गर्भनिरोधक विधि का उपयोग किया हो। वैदिक शास्त्रों के अनुसार गर्भनिरोधक विधि तो विषयी जीवन पर संयम रखना होनी चाहिए। इसमें ऐसा नहीं है कि निर्बाध गति से संभोग तो किया जाये, किन्तु गर्भाधान को रोककर सन्तानें न उत्पन्न होने दी जाँय। यदि मनुष्य की चेतना ठीक है, तो वह अपनी धर्मपत्नी की राय लेता है और फिर बुद्धिपूर्वक जीवन-मान निर्धारित करता है। दूसरे शब्दों में, यदि सौभाग्यवश अच्छी प्रयत्नशील पत्नी प्राप्त हुई तो पारस्परिक विचार-विमर्श से मनुष्य यह निश्चित कर सकता है कि यह जीवन कृष्णचेतना में प्रगति के निमित्त है, अनेक सन्तानें उत्पन्न करने के लिए नहीं। सन्तानें परिणाम हैं और जब मनुष्य अपनी सद्बुद्धि की राय लेता है, तो वह देख सकता है कि उसकी कृष्णचेतना का विस्तार ही उसकी सन्तानें अथवा परिणाम होने चाहिए।

दुहितृर्दशोत्तरशतं पितृमातृयशस्करीः ।
शीलौदार्यगुणोपेताः पौरञ्जन्यः प्रजापते ॥ ७॥

शब्दार्थ

दुहितृः—कन्याएँ; दश-उत्तर—दस अधिक; शतम्—एक सौ; पितृ—पिता; मातृ—तथा माता के समान; यशस्करीः—यशस्वी; शील—उत्तम आचरण; औदार्य—उदारता; गुण—गुण; उपेताः—से युक्त; पौरञ्जन्यः—पुरञ्जन की कन्याएँ; प्रजा-पते—हे प्रजापति!.

हे प्रजापति राजा प्राचीनबर्हिषत्, इस तरह राजा पुरञ्जन के ११० कन्याएँ भी उत्पन्न हुईं। ये सब-की-सब अपने पिता तथा माता के समान यशस्विनी थी; उनका आचरण भद्र था, ये उदार थीं और अन्य उत्तम गुणों से युक्त थीं।

तात्पर्य : शास्त्रोक्त नियमों के अनुसार उत्पन्न सन्तानें माता-पिता के ही समान उत्तम गुणों वाली होती हैं, किन्तु अवैध रूप से उत्पन्न सन्तानें *वर्णसंकर* हो जाती हैं। वर्णसंकर सन्तान अपने परिवार, कुल, यहाँ तक कि अपने प्रति भी अनुत्तरदायित्वपूर्ण होती है। प्राचीन काल में गर्भाधान संस्कार का पालन करके वर्णसंकर सन्तानों पर रोक रखी जाती थी। इस श्लोक में यद्यपि हम राजा पुरञ्जन के अनेक सन्तानें पाते हैं, किन्तु वे वर्णसंकर नहीं थीं। वे सबकी सब उत्तम आचरण वाली सन्तानें थीं और उनमें अपने माता-पिता के ही समान सारे उत्तम गुण थे।

भले ही हम अनेक उत्तम सन्तानें उत्पन्न कर लें, किन्तु संभोग के लिए निर्धारित विधि से परे की हमारी आकांक्षा पापपूर्ण तो है ही। किसी भी इन्द्रिय का अत्यधिक भोग पापपूर्ण कार्य को जन्म देता है। अतः मनुष्य को जीवन के अन्त में स्वामी या गोस्वामी बनना पड़ता है। मनुष्य पचास वर्ष तक सन्तान उत्पन्न कर सकता है, किन्तु इसके बाद उसे सन्तान उत्पन्न करना बन्द करके वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार उसे घर छोड़कर संन्यासी बनना होता है। संन्यासी की पदवी *स्वामी* या *गोस्वामी* है, जिसका अर्थ है कि वह भोग से सर्वथा दूर रहता है। मनुष्य को सनक में आकर संन्यासी नहीं बनना चाहिए, उसे पूर्ण विश्वास होना चाहिए कि वह विषयवासनाओं को पूरी तरह रोक सकेगा। निस्सन्देह, राजा पुरञ्जन का गृहस्थ जीवन अत्यन्त सुखी था। जैसा यहाँ वर्णित है, उसके ११०० पुत्र तथा ११० पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि उसके पुत्र तथा पुत्रियाँ उत्पन्न हों और चूँकि राजा पुरञ्जन की पुत्रियों की संख्या पुत्रों से कम थी, इससे ऐसा लगता है कि उसका गृहस्थ जीवन अत्यन्त सुखी एवं सुविधाजनक था।

स पञ्चालपतिः पुत्रान्पितृवंशविवर्धनान् ।
दारैः संयोजयामास दुहितृः सदृशैर्वरैः ॥८॥

शब्दार्थ

सः—वह; पञ्चाल-पतिः—पञ्चाल का राजा; पुत्रान्—पुत्र; पितृ-वंश—पिता का वंश; विवर्धनान्—बढ़ाते हुए; दारैः—पत्नियों सहित; संयोजयाम् आस—विवाह किया; दुहितॄः—कन्याएँ; सदृशैः—योग्य; वरैः—पतियों के साथ।

तत्पश्चात् पञ्चाल देश के राजा पुरञ्जन ने अपने पैतृक कुल की वृद्धि के लिए अपने पुत्रों का विवाह योग्य वधुओं के साथ और अपनी कन्याओं का विवाह योग्य वरों के साथ कर दिया।

तात्पर्य : वैदिक प्रथा के अनुसार हर व्यक्ति को विवाहित होना चाहिए। मनुष्य को इसलिए पत्नी ग्रहण करनी पड़ती है कि वह सन्तान उत्पन्न कर सके और ये सन्तानें आगे चलकर भोजन तथा दाह-क्रिया जैसे कार्य सम्पन्न कर सकें जिससे पुरखे प्रसन्न रह सकें। भगवान् विष्णु के नाम पर दिया गया अर्पण *पिण्डोदक* कहलाता है और किसी भी वंश के वंशजों के लिए आवश्यक है कि अपने पितरों को पिण्ड प्रदान करे।

पञ्चाल का राजा पुरञ्जन न केवल अपने विषयी जीवन से तुष्ट था, अपितु उसने अपने ११०० पुत्रों तथा ११० पुत्रियों को विवाहित उनके काम-भोग जीवन की व्यवस्था कर दी। इस प्रकार निरंकुश परिवार को वंश के पद तक उठाया जा सकता है। इस श्लोक की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पुरञ्जन ने अपने पुत्रों तथा पुत्रियों सभी का विवाह करा दिया। माता-पिता का कर्तव्य है कि वह अपने पुत्रों तथा पुत्रियों के विवाह की व्यवस्था करे। वैदिक समाज में यह अनिवार्य है। विवाह के पूर्व पुत्रों तथा पुत्रियों को विपरीत लिंगी लोगों से स्वच्छन्दतापूर्वक मिलने नहीं दिया जाना चाहिए। इस वैदिक सामाजिक संगठन की विशेष बात यही है कि इससे अवैध स्त्री-प्रसंग या कि वर्णसंकरता रुकती है, जो कि इस समय विविध नामों के रूप में प्रचलित है। दुर्भाग्यवश इस युग में माता-पिता अपनी सन्तानों को विवाहित करने के लिए चिन्तित रहते हैं, किन्तु सन्तानें माता-पिता द्वारा व्यवस्थित विवाह करने से मना कर देती हैं। इसीलिए संसार में विभिन्न नामों के अन्तर्गत वर्णसंकरों की इतनी वृद्धि हो रही है।

पुत्राणां चाभवन्पुत्रा एकैकस्य शतं शतम् ।
यैर्वै पौरञ्जनो वंशः पञ्चालेषु समेधितः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

पुत्राणाम्—पुत्रों के; च—भी; अभवन्—उत्पन्न हुए; पुत्राः—पुत्र; एक-एकस्य—प्रत्येक के; शतम्—एक सौ; शतम्—सौ; यैः—जिनसे; वै—निश्चय ही; पौरञ्जनः—राजा पुरञ्जन का; वंशः—वंश; पञ्चालेषु—पंचाल देश में; समेधितः—फैल गया।

इन अनेक पुत्रों में से प्रत्येक के कई सौ पुत्र उत्पन्न हुए। इस प्रकार राजा पुरञ्जन के पुत्रों तथा

पौत्रों से सारा पंचाल देश भर गया।

तात्पर्य : हमें स्मरण रखना चाहिए कि पुरञ्जन जीव है और पंचाल देश शरीर है। शरीर जीव की कर्मभूमि है, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ।* अंग दो होते हैं—एक तो जीव (क्षेत्रज्ञ) तथा, दूसरा जीव का शरीर (क्षेत्र)। यदि कोई थोड़ा भी विचार करे तो स्पष्ट हो जाएगा कि प्रत्येक जीव शरीर से ढका हुआ है और शरीर ही उसकी सम्पत्ति है। व्यावहारिक अनुभव तथा शास्त्रों से यह जाना जा सकता है। *भगवद्गीता* (२.१३) में कहा गया है—*देहिनोऽस्मिन्यथा देहे।* शरीर का स्वामी—आत्मा—इस शरीर के भीतर रहता है। यह शरीर पंचाल देश है जहाँ जीव गंध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द के द्वारा इन्द्रियों का भोग कर सकता है। इस संसार में प्रत्येक जीव सूक्ष्म तथा स्थूल तत्त्वों से आवृत होकर कर्म तथा कर्मफल उत्पन्न करता है, जिन्हें रूपक के रूप में पुत्र तथा पौत्र कहा गया है। ये कर्मफल दो प्रकार के होते हैं—पवित्र तथा अपवित्र। इस प्रकार हमारा जीवन विभिन्न कर्मफलों से आवृत होता रहता है। इस प्रसंग में श्रील नरोत्तम दास ठाकुर लिखते हैं—

कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, केवल विषेर भाण्ड

अमृत बलिया येबा खाय

नाना योनि सदा फिरे, कदर्य भक्षण करे

तार जन्म अध:पाते याय

"कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड विष के प्याले के तुल्य हैं। जो भी इन्हें अमृत समझ कर पीता है उसे नाना शरीरों में अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता है। ऐसा मनुष्य सभी प्रकार के भक्ष्याभक्ष्य खाता है और अपने इन्द्रियभोग के कारण सर्वत्र घृणित बनता है।"

इस प्रकार जिससे वंश-वृद्धि होती है, वह कर्मफलों का क्षेत्र विषयी जीवन से प्रारम्भ होता है। पुरञ्जन ने अपने वंश की वृद्धि पुत्र तथा पौत्र उत्पन्न करके की। इस प्रकार जीवात्मा इन्द्रियतृप्ति में लगकर हजारों कर्मों तथा कर्मफलों में फँसता है। इस प्रकार वह इस संसार में इन्द्रियतृप्ति के लिए रहता है और एक शरीर से दूसरे में अन्तरण करता रहता है। अनेक पुत्र तथा पौत्र उत्पन्न करने की इस विधि से तथाकथित समाज, राष्ट्र, जाति इत्यादि का जन्म होता है। ये सब विषयी जीवन के प्रतिफल हैं। जैसाकि प्रह्लाद महाराज ने कहा है (भागवत ७.९.४५)—*यन्मैथुनादि गृहमेधि सुखं हि तुच्छम्।*

गृहमेधी वह है, जो इस संसार में बना रहना चाहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह इस शरीर या समाज के भीतर रह कर मित्रता, प्रेम तथा वंश-सुख भोगना चाहता है। उसका एकमात्र सुख है कि इन्द्रियसुखार्थियों की संख्या बढ़े। वह स्त्री-संभोग करता है, पुत्र उत्पन्न करता है, जिनके विवाह के पश्चात् पौत्र उत्पन्न होते हैं। ये पौत्र भी विवाह करके सन्तानें उत्पन्न करते हैं। इससे सारा संसार आवश्यकता से अधिक आबाद हो जाता है और तब प्रकृति युद्ध, भुखमरी, रोग, भूकम्प इत्यादि के रूप में नाना प्रकार के कर्मफल उत्पन्न करती है। इस तरह सारी जनसंख्या विनष्ट होकर पुनः जन्म लेती है। *भगवद्गीता* (८.१९) में बारम्बार सृजन तथा प्रलय की यह क्रिया वर्णित है—*भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।* कृष्णाचेतना के अभाव में यह सारी सृष्टि तथा विनाश मानव-सभ्यता के नाम पर चलते रहते हैं। आत्मा तथा परमात्मा के ज्ञान के अभाव में यह चक्र निरन्तर चलता जाता है।

तेषु तद्रिक्थहारेषु गृहकोशानुजीविषु ।
निरूढेन ममत्वेन विषयेष्वन्वबध्यत ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तेषु—उनमें; तत्-रिक्थ-हारेषु—इस धन के लुटेरे; गृह—घर; कोश—खजाना; अनुजीविषु—सेवकों के लिए; निरूढेन—गहरी; ममत्वेन—आसक्ति से; विषयेषु—विषयों में; अन्वबध्यत—बद्ध हो गया।

ये पुत्र तथा पौत्र एक प्रकार से पुरञ्जन के घर, खजाना, नौकर, सचिव एवं दूसरे सारे साज-सामान समेत सारी धन-सम्पदा को लूटने वाले थे तथा अन्य साज-सामान सारी धन सम्पदा को लूटने वाले थे। राजा पुरञ्जन का इन वस्तुओं से प्रगाढ़ सम्बन्ध था।

तात्पर्य : इस श्लोक का *रिक्थहारेषु* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है "धन को लूटने वाले।" किसी के भी पुत्र, पौत्र तथा अन्य वंशज अन्ततः उसकी संचित सम्पत्ति के लुटेरे ही तो होते हैं। ऐसे अनेक विख्यात व्यापारी तथा उद्योगपति हैं, जो अनन्त सम्पत्ति अर्जित करते हैं और जिनकी जनता में काफी प्रतिष्ठा रहती है, किन्तु अन्त में उनकी सारी सम्पत्ति उनके पुत्रों तथा पौत्रों द्वारा लूट ली जाती है। हमने भारत में एक ऐसा उद्योगपति देखा है, जो राजा पुरञ्जन की ही तरह अत्यन्त विषयी था और जिसके आधा दर्जन पत्नियाँ थीं। इन पत्नियों में से हर एक के लिए पृथक्-पृथक् आवास का प्रबन्ध था, जिसमें हजारों रुपये खर्च होते थे। जब मैं उससे बातें कर रहा था, तो मैंने देखा कि वह अपने प्रत्येक पुत्र तथा पुत्री के लिए कम-से-कम पाँच लाख रुपये जुटाने के लिए प्रयत्नशील था। इस

तरह ऐसे उद्योगपति, व्यापारी या कर्मी शास्त्रों में *मूढ* कहे जाते हैं। वे कठिन श्रम करते हैं, धन जोड़ते हैं और इसमें सुख पाते हैं कि उनके पुत्र तथा पौत्र उस धन को लूटें। ऐसे लोग अपनी सम्पत्ति को वास्तविक मालिक के पास लौटाना नहीं चाहते। जैसाकि *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा गया है—*भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्*—समस्त सम्पत्ति का असली स्वामी तथा भोक्ता परमेश्वर है तथाकथित धन कमाने वाले वे हैं, जो व्यापार तथा उद्योग के नाम पर भगवान् के धन को छीनने के दाव-पेच जानते हैं। इस धन को संग्रह करने के बाद उन्हें इससे अपने पुत्रों तथा पौत्रों द्वारा लुटता देखकर आनन्द होता है। यह जीवन की भौतिकतावादी शैली है। इसमें मनुष्य शरीर के भीतर बन्दी रहता है और मिथ्या अहंकार के द्वारा मोहग्रस्त रहता है। इस प्रकार वह सोचता है, "मैं यह शरीर हूँ," "मैं मनुष्य हूँ," "मैं अमरीकी या भारतीय हूँ।" यह देहात्मबुद्धि अहंकार के कारण उत्पन्न होती है। इसी मिथ्या अहंकार के वशीभूत होकर मनुष्य अपने को परिवार, राष्ट्र या समुदाय से अपने को एकाकार समझता है। इस प्रकार भौतिक जगत से उसकी आसक्ति बढ़ती ही जाती है और फिर जीव के लिए इस बंधन से निकल पाना कठिन हो जाता है। ऐसे लोगों का वर्णन *भगवद्गीता* में सोलहवें अध्याय (१६.१३-१५) में इस प्रकार हुआ है—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥

"आसुरी पुरुष सोचता है : आज मेरे पास इतना धन है और कल तक मैं अपनी योजनाओं द्वारा इतना और जोड़ लूँगा। इस समय मेरी सम्पत्ति इतनी है और भविष्य में बढ़कर इतनी हो जायेगी। वह मेरा शत्रु है, मैने उसे मार दिया है और मेरे अन्य शत्रु भी मारे जायेंगे। मैं हर वस्तु का स्वामी हूँ, मैं ही भोक्ता हूँ, मैं पूर्ण हूँ, शक्तिमान तथा सुखी हूँ। मैं सबसे धनी व्यक्ति हूँ और अपने कुलीन परिजनों से घिरा हुआ हूँ। मेरे समान कोई अन्य शक्तिशाली तथा सुखी नहीं है। मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और सुख

भोगूँगा, इस प्रकार ऐसे व्यक्ति अविद्या द्वारा मोहित किये जाते हैं।''

इस प्रकार लोग विभिन्न श्रमसाध्य कार्यों में लगे रहते हैं और शरीर, घर, परिवार, राष्ट्र इत्यादि के प्रति उनकी आसक्ति गहराती जाती है।

ईजे च क्रतुभिर्घोरैर्दीक्षितः पशुमारकैः ।
देवान्पितॄन्भूतपतीन्नानाकामो यथा भवान् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ईजे—पूजा की; च—भी; क्रतुभिः—यज्ञों से; घोरैः—नृशंस; दीक्षितः—प्रोत्साहित होकर; पशु-मारकैः—जिसमें पशुओं का वध किया जाता है; देवान्—देवतागण; पितॄन्—पूर्वज, पुरखे; भूत-पतीन्—मानव समाज के बड़े-बड़े नेता; नाना—विविध; कामः—इच्छाओं से युक्त; यथा—जिस प्रकार; भवान्—तुम।

नारद मुनि ने आगे कहा : हे राजा प्राचीनबर्हिषत्, तुम्हारी ही तरह राजा पुरञ्जन भी अनेक इच्छाओं में उलझा हुआ। इसलिए उसने देवताओं, पितरों तथा सामाजिक नेताओं की पूजा विविध यज्ञों द्वारा की, किन्तु ये सारे यज्ञ नृशंस थे, क्योंकि उनके पीछे पशुओं के वध की भावना काम कर रही थी।

तात्पर्य : इस श्लोक में नारद मुनि कहते हैं कि वे पुरञ्जन के चरित्र द्वारा राजा प्राचीनबर्हिषत् को उपदेश देना चाहते हैं। वास्तव में राजा प्राचीनबर्हिषत् के कार्यों का यह सारा वर्णन अलंकारमयी भाषा में है। इस श्लोक में नारद स्पष्ट कहते हैं—*यथा भवान्* अर्थात् तुम्हारी तरह, जिससे सारा सन्देह दूर हो जाता है और संकेत मिलता है कि राजा पुरञ्जन स्वयं राजा प्राचीनबर्हिषत् है। परम वैष्णव होने के नाते नारद मुनि यज्ञों में पशुवध को बन्द कराना चाह रहे थे। वे जानते थे कि यदि वे राजा को यज्ञ बन्द करने के लिए कहेंगे तो वह नहीं मानेगा; इसीलिए वे पुरञ्जन का चरित सुना रहे हैं। किन्तु वे इस श्लोक में अपने मनोभाव को चाहे अपूर्ण रूप से, ''तुम्हारी तरह'' कहकर प्रकट कर देते हैं। सामान्यतः कर्मी जनों को जिनकी आसक्ति अपने वंशजों की संख्या बढ़ाने में होती है उनको अनेक यज्ञ करने होते हैं और भविष्य के लिए अनेक देवाताओं की पूजा करनी होती है तथा अनेक नेताओं, राजनीतितज्ञों, विचारकों तथा विज्ञानियों को प्रसन्न रखना होता है ताकि आने वाली पीढ़ियाँ ठीक तरह से रह सकें। तथाकथित वैज्ञानिक भावी पीढ़ियों की सुख-सुविधा के लिए अत्यधिक उत्सुक दिखते हैं, इसीलिए वे इंजनों, कारों, वायुयानों इत्यादि को चलाने के लिए तरह-तरह से ऊर्जा उत्पन्न करने के उपायों की खोज करने का प्रयास कर रहे हैं। अब तो पेट्रोल कम हो रहा है। ये सारे कार्यकलाप

भगवद्गीता (२.४१) में वर्णित हैं—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धियोऽव्यवसायिनाम्॥

"जो लोग आध्यात्मिक पथ पर हैं, वे अपने उद्देश्य के प्रति दृढ़संकल्प हैं और उनका लक्ष्य एक है। हे कुरुनन्दन! जो लोग संकल्पशील नहीं हैं उन्हीं की बुद्धि अनेक शाखाओं में विभक्त होती है।"

वास्तव में जो सब कुछ जानते हैं, वे कृष्णभक्ति करने के लिए तत्पर रहते हैं, किन्तु जो मूढ़ हैं, *दुष्कृतना:* हैं और *नराधम* हैं—जो समस्त प्रकार की बुद्धि से रहित हैं (*माययापहृतज्ञाना:*) और जो आसुरी जीवन बिताते हैं (*आसुरं भावम् आश्रित:*), वे कृष्ण भक्ति में कोई रुचि नहीं दिखाते। फलत: वे नाना प्रकार के कर्मों में फँसते रहते हैं। ऐसे कार्य मुख्य रूप से पशुवध पर केन्द्रित होते हैं। आधुनिक सभ्यता पशु-वध पर केन्द्रित है। कर्मी लोग विज्ञापित करते हैं कि बिना मांसाहार के विटामिन-आपूर्ति सम्भव नहीं है और उनका बल घटेगा, अत: अपने को काम करने के योग्य बनाये रखने के लिए मांस खाना चाहिए, फिर इस मांस को पचाने के लिए मदिरा पीनी चाहिए और फिर मदिरापान और मांस भक्षण में संतुलन रखने के लिए गधे की तरह घोर परिश्रम करने के लिए प्रचुर संभोग भी करना चाहिए।

पशु-वध की दो विधियाँ हैं। एक धार्मिक यज्ञों के नाम पर पशु-वध किया जाता है। बौद्ध धर्म को छोड़कर संसार के सारे धर्मों में पूजा के निमित्त पशुओं के वध किये जाने की व्यवस्था है। वैदिक सभ्यता के अनुसार मांसाहारियों को कतिपय विधि-विधानों के अनुसार कालीमन्दिर में बकरे की बलि देने की छूट है, जिसके मांस को खाया जा सकता है। इसी प्रकार चण्डिका देवी की पूजा करके सुरा पीने का भी विधान है। इसका उद्देश्य प्रतिबन्ध है, किन्तु लोगों ने सारे प्रतिबन्धों को तिलांजलि दे दी है। वे नियमित रूप से मद्यशालाएँ तथा कसाईघर खोलते जा रहे हैं और मद्यपान तथा मांसाहार करते रहते हैं। नारद मुनि जैसे वैष्णव आचार्य को ज्ञात था कि धर्म के नाम पर पशुओं का वध करने वाले जन्म-मृत्यु के चक्कर में पड़ते रहते हैं और जीवन के असली उद्देश्य जो परम-धाम को वापस जाना है, उसका भूल जाते हैं।

इस प्रकार महर्षि नारद जब व्यास मुनि को *श्रीमद्भागवत* का उपदेश दे रहे थे तो उन्होंने वेदों में

वर्णित कर्मकाण्ड विधियों की भर्त्सना की। उन्होंने व्यास से कहा—

जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः

स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः।

यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो

न मन्यते तस्य निवारणं जनः॥

"सामान्यतः लोगों में भोग की सहज प्रवृत्ति होती है और तुमने तो धर्म के नाम पर उन्हें ऐसा करने के लिए प्रोत्साहित किया है। यह गर्हित और निष्प्रयोजनीय है। चूँकि वे तुम्हारे आदेशों से निर्देशित होते हैं, वे ऐसे कार्यों को धर्म के नाम पर स्वीकार करेंगे और वर्जनाओं की तनिक भी परवाह नहीं करेंगे (भागवत १.५.१५)।"

श्रील नारद ने व्यासदेव को अनेक उपवेदों का संकलन करने के लिए धिक्कारा है, जो साधारण मनुष्य के मार्गदर्शन के लिए हैं। नारद ने इनकी भर्त्सना की है, क्योंकि इनमें सीधी भक्ति का नामोल्लेख भी नहीं है। नारद के ही आदेशों पर व्यासदेव ने भगवान् की प्रत्यक्ष पूजा का विधान किया जिसका उल्लेख *श्रीमद्भागवत* में हुआ है। निष्कर्ष यह है कि न तो भगवान् विष्णु, न ही उनका भक्त धर्म के नाम पर पशुवध की अनुमति देता है। निस्सन्देह, धर्म के नाम पर पशुवध को समाप्त करने के उद्देश्य से ही कृष्ण ने भगवान् बुद्ध के रूप में अवतार लिया। तमोगुण के प्रभाव से ही धर्म के नाम पर पशुवध किया जाता है जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.३१-३२) में इंगित किया गया है—

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।

अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।

सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

"हे पार्थ! वह अपूर्ण बुद्धि राजसी है, जो धर्म तथा अधर्म, करणीय तथा अकरणीय में अन्तर नहीं कर पाती। जो बुद्धि अधर्म को धर्म तथा धर्म को अधर्म मानती है और मोह तथा अंधकार में रहकर सदैव विपरीत दिशा में लगी रहती है, उसे तामसी बुद्धि कहते हैं।"

जो तमोगुणी हैं, वे पशुओं के वध के लिए धार्मिक प्रणालियाँ गढ़ते हैं। वास्तव में धर्म दिव्य है।

जैसाकि भगवान् श्रीकृष्ण की शिक्षा है, हमें समस्त धर्मों का परित्याग करके उन्हीं की शरण में जाना चाहिए (*सर्वधर्मान्परित्यज्य*)। इस प्रकार भगवान्, उनके भक्त तथा प्रतिनिधि सभी दिव्य धर्म की शिक्षा देते हैं, जिसमें पशुवध के लिए कोई स्थान नहीं है। सबसे बड़े दुर्भाग्य की बात है कि इस समय भारत में अनेक तथाकथित मिशनरी धर्म के नाम पर अधर्म फैला रहे हैं। वे सामान्य व्यक्ति को ईश्वर मानते हैं और प्रत्येक व्यक्ति को, जिसमें तथाकथित संन्यासी भी सम्मिलित हैं, मांस खाने को कहते हैं।

युक्तेष्वेवं प्रमत्तस्य कुटुम्बासक्तचेतसः ।
आससाद स वै कालो योऽप्रियः प्रिययोषिताम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

युक्तेषु—उपयोगी कर्मों में; एवम्—इस प्रकार; प्रमत्तस्य—असावधान रहकर; कुटुम्ब—परिवार के प्रति; आसक्त—अनुरक्त; चेतसः—चेतना; आससाद—आ गया; सः—वह; वै—निश्चय ही; कालः—मृत्यु, समय; यः—जो; अप्रियः—अच्छा न लगने वाला; प्रिय-योषिताम्—जो पुरुष स्त्रियों में अनुरक्त रहते हैं, उनके लिए।

इस प्रकार राजा पुरञ्जन कर्मकाण्ड में तथा अपने परिवार के प्रति अनुरक्त रहकर और दूषित चेतना होने से अन्ततः ऐसे बिन्दु पर पहुँच गया जिसे भौतिक वस्तुओं में बुरी तरह अनुरक्त लोग बिल्कुल नहीं चाहते।

तात्पर्य : इस श्लोक में *प्रिययोषिताम्* तथा *अप्रियः* अत्यन्त सार्थक शब्द हैं। *योषित्* का अर्थ है "स्त्री" और प्रिय का अर्थ है "प्यारा" या "मनभावन।" मृत्यु उन्हें प्रिय नहीं लगती जो भौतिक सुख के प्रति अधिक अनुरक्त रहते हैं और जिसका अन्त संभोग में होता है। इस प्रसंग में एक अत्यन्त शिक्षाप्रद कहानी है। एक बार एक साधु पुरुष मार्ग पर जा रहा था, तो उसे एक राजकुमार मिला। उसने उसे यह कह कर आशीर्वाद दिया, "राजकुमार! तुम सदा जीते रहो।" फिर उसे एक अन्य साधु पुरुष मिला तो उससे उसने कहा, "चाहो तो जिओ या मरो।" फिर उसे एक ब्रह्मचारी भक्त मिला तो उसे आशीर्वाद दिया, "हे भक्त! तुम तुरन्त मर जाओ।" अन्त में उसे एक शिकारी मिला। उसने कहा, "न तो जिओ, न मरो।" बात ऐसी है कि जो लोग कामी हैं और इन्द्रियतृप्ति में लगे रहते हैं, वे मरना नहीं चाहते। सामान्य रूप से राजकुमार के पास इन्द्रियभोग के लिए पर्याप्त धन होता है, इसीलिए साधु ने कहा कि तुम सदा जीते रहो, क्योंकि जब तक वह जीवित रहेगा सुख भोगेगा और मरने के बाद नरक जाएगा। चूँकि ब्रह्मचारी भक्त तपस्वी जीवन बिता रहा था जिससे कि वह भगवान् के धाम जाए, इसलिए साधु पुरुष ने उसे आशीर्वाद दिया कि वह तुरन्त मर जाए जिससे वृथा श्रम करते रहना न पड़े

और वह भगवद्धाम जा सके। साधु पुरुष चाहे मरे या जीवित रहे क्योंकि जीवन के दौरान वह भगवान् की सेवा में लगा है और मृत्यु के बाद भी वह भगवान् की सेवा ही करेगा उसका अत: वर्तमान जीवन तथा अगला जीवन एक सा ही है क्यो्कि वह दोनों प्रकार से भगवान् की सेवा करता है। चूँकि शिकारी पशुओं के वध का जघन्य कार्य करता है और चूँकि मरने पर वह नरक जायेगा, इसीलिए उसे उपदेश दिया गया कि वह चाहे जिये या मरे।

अन्त में राजा पुरञ्जन को बुढ़ापा आ गया। बुढ़ापे में इन्द्रियाँ शिथिल पड़ने लगती हैं और यद्यपि वृद्धपुरुष इद्रियों को भोगना चाहता है, विशेष रूप से विषयसुख, किन्तु ऐसा करने में असमर्थ रहता है, क्योंकि इन्द्रियाँ साथ नहीं दे पातीं। ऐसे कामी पुरुष कभी मरना नहीं चाहते। ऐसे लोग निरन्तर जीवित रहना तथा तथाकथित वैज्ञानिक विधि से अपने जीवन को बढ़ाना चाहते हैं। कुछ मूर्ख रूसी विज्ञानी भी दावा करते हैं कि वैज्ञानिक प्रगति से वे मनुष्य को अमर बनाने जा रहे हैं। ऐसे ही सिरफिरों के नेतृत्व में सभ्यता आगे बढ़ रही है। किन्तु निर्मम मृत्यु इन सबों को समेट लेती है, यद्यपि वे सदा जीवित रहना चाहते हैं। हिरण्यकशिपु में ऐसी ही प्रवृत्ति देखने को मिलती है, किन्तु जब समय आ गया तो भगवान् ने स्वयं क्षण-भर में उसका अन्त कर दिया।

चण्डवेग इति ख्यातो गन्धर्वाधिपतिर्नृप ।
गन्धर्वास्तस्य बलिनः षष्ट्युत्तरशतत्रयम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

चण्डवेगः—चण्डवेग; इति—इस प्रकार; ख्यातः—विख्यात; गन्धर्व—गन्धर्वलोक का वासी; अधिपतिः—राजा; नृप—हे राजा; गन्धर्वाः—अन्य गन्धर्व; तस्य—उसके; बलिनः—अत्यन्त बलशाली सैनिक; षष्टि—साठ; उत्तर—अधिक; शत—सौ; त्रयम्—तीन।

हे राजन्, गन्धर्वलोक में चण्डवेग नाम का एक राजा है। उसके अधीन ३६० अत्यन्त शक्तिशाली गन्धर्व सैनिक हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर आलंकारिक ढंग से काल का वर्णन चण्डवेग के रूप में हुआ है। क्योंकि समय और ज्वार किसी की प्रतीक्षा नहीं करते, यहां काल को चण्डवेग कहा गया है, जिसका अर्थ होता है, "अत्यन्त तेजी से गुजरने वाला।" ज्यों-ज्यों काल बीतता है इसकी गणना वर्षों के रूप में की जाती है। एक वर्ष में ३६० दिन होते हैं और चण्डवेग के सैनिकों की भी संख्या इस श्लोक में इतनी ही बताई गई है। समय तेजी से बीतता है और चण्डवेग के सैनिक हमारे जीवन-दिनों को तेजी से लेते

जाते हैं। ज्योंही सूरज उदय तथा अस्त होता है हमारी जीवन-अवधि घटती जाती है। इस प्रकार एक दिन बीतने के साथ ही हमारे जीवन का एक दिन चला जाता है। इसीलिए कहा गया है कि जीवन की अवधि को बचा के नहीं रखा जा सकता। किन्तु यदि मनुष्य भक्ति में लग जाता है, तो सूर्य उससे समय को छीन नहीं सकता। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (२.३.१७) में कहा गया है—*आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ।* तात्पर्य यह कि यदि कोई अमर होना चाहता है, तो उसे इन्द्रियतृप्ति त्याग देनी चाहिए। भक्ति में लगने से मनुष्य क्रमशः भगवान् के नित्य धाम में प्रवेश कर सकता है।

कभी-कभी मृगतृष्णा तथा अन्य भ्रमपूर्ण वस्तुओं को गन्धर्व कहा जाता है। हमारी जीवन अवधि (आयु) की क्षति को हमारी बढ़ती आयु कहा जाता है; इस प्रकार जीवन के दिनों का बिना देखे अप्रत्यक्ष रूप से व्यतीत होना आलंकारिक ढंग से गंधर्व के रूप में वर्णित है। जैसाकि अगले श्लोकों में बताया जायेगा, ये गन्धर्व स्त्री तथा पुरुष दोनों होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि स्त्री तथा पुरुष दोनों ही अदृश्य रूप से कालवश अपनी आयु खोते हैं जिसे यहाँ पर चण्डवेग के रूप में वर्णित किया गया है।

गन्धर्व्यस्तादृशीरस्य मैथुन्यश्च सितासिताः ।
परिवृत्त्या विलुम्पन्ति सर्वकामविनिर्मिताम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

गन्धर्व्यः—गन्धर्विनियाँ; तादृशीः—उसी प्रकार; अस्य—चण्डवेग की; मैथुन्यः—मिथुन की संगिनी; च—भी; सित—श्वेत; असिताः—श्याम; परिवृत्त्या—घेरे हुए; विलुम्पन्ति—लूटती हैं; सर्व-काम—सभी प्रकार की इच्छित वस्तुएँ; विनिर्मिताम्—बनी हुई।

चण्डवेग के साथ-साथ गंधर्विनियों की संख्या सैनिकों के ही समान थी और वे बारम्बार इन्द्रियसुख की सारी सामग्री लूट रही थीं।

तात्पर्य : दिनों की तुलना चण्डवेग के सैनिकों से की गई है। सामान्यतः रात्रि विषयसुख का समय होता है। दिन श्वेत माने जाते हैं और रात्रियाँ श्याम, या दूसरी दृष्टि से रात्रियाँ दो प्रकार की होती हैं—श्याम तथा श्वेत। ये दिन तथा रातें मिलकर दोनों हमारी आयु को तथा हम जो कुछ इन्द्रिय तृप्ति के लिए बनाते है, उसे क्षीण करते हैं। भौतिक कर्म का अर्थ है इन्द्रियतृप्ति के लिए वस्तुओं का निर्माण। विज्ञानी शोध में रत हैं कि हम अपनी इन्द्रियों की तुष्टि किस प्रकार अधिक से अधिक कर सकते हैं। इस कलियुग में इन्द्रियतृप्ति की क्रिया को सुविधाजनक बनाने के लिए नाना प्रकार के यंत्र

बनाये जा रहे हैं। विभिन्न घरेलू कार्यों के लिए अनेक यंत्र बन चुके हैं—यथा आजकल बर्तन धोने, फर्श साफ करने, दाढ़ी बनाने, बाल बनाने, इन सबके लिए मशीनें हैं। इन्द्रियतृप्ति की ये सारी सुविधाएँ इस श्लोक में *सर्व-काम-विनिर्मिताम्* के रूप में वर्णित हैं। किन्तु काल इतना प्रबल है कि न केवल हमारी आयु क्षीण होती जाती है, वरन् इन्द्रियतृप्ति की सारी मशीनें तथा सुविधाएँ भी क्षीण होती जाती हैं। इसीलिए इस श्लोक में *विलुम्पन्ति* (लुट रहे हैं) शब्द का प्रयोग हुआ है। हमारे जीवन के प्रारम्भ से ही हर वस्तु लूटी जा रही है।

हमारी वस्तुओं तथा हमारी आयु की यह लूट हमारे जन्म लेने के दिन से ही चालू है। एक दिन आयेगा जब मृत्यु सबका सफाया कर देगी और जीव को जीवन का नया अध्याय प्रारम्भ करने के लिए नये शरीर में प्रवेश करना होगा और भौतिक भोग के इस चक्र को फिर से युद्ध करना होगा। प्रह्लाद महाराज इस क्रिया को *पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्* (भागवत ७.५.३०) कहते हैं। भौतिक जीवन का अर्थ ही चर्वितचर्वण होता है। भौतिक जीवन का केन्द्र-बिन्दु इन्द्रियतृप्ति है। विभिन्न शरीरों में जीव विविध इन्द्रियों का भोग करता है और विभिन्न सुविधाएँ जुटा कर वह चर्वितचर्वण करता है। चाहे हम गन्ने को अपने दाँतों से चूसें या मशीन से, बात एक ही है—गन्ने का रस मिलता है। हम गन्ने से रस निकालने की अनेक युक्तियाँ निकाल सकते हैं, किन्तु परिणाम वही रहता है।

ते चण्डवेगानुचराः पुरञ्जनपुरं यदा ।
हर्तुमारेभिरे तत्र प्रत्यषेधत्प्रजागरः ॥ १५॥

शब्दार्थ

ते—वे सब; चण्डवेग—चण्डवेग के; अनुचराः—सेवक; पुरञ्जन—राजा पुरञ्जन की; पुरम्—पुरी, शहर को; यदा—जब; हर्तुम्—लूटना; आरेभिरे—प्रारम्भ किया; तत्र—वहाँ; प्रत्यषेधत्—रक्षा किया; प्रजागरः—बड़े सर्प ने।

जब राजा गन्धर्वराज (चण्डवेग) तथा उसके सेवक पुरञ्जन की नगरी को लूटने लगे तो पाँच फनों वाले एक सर्प ने नगरी की रखवाली करनी शुरू कर दी।

तात्पर्य : जब मनुष्य सोता है, तो विभिन्न स्वप्नों में प्राण सक्रिय रहता है। सर्प के पाँच फन सूचित करते हैं कि प्राण पाँच प्रकार की वायुओं से घिरा है—प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान। जब शरीर निष्क्रिय होता है, तो प्राण सक्रिय रहता है। पचास वर्ष की आयु तक मनुष्य इन्द्रियतृप्ति के लिए क्रियाशील रहता है, किन्तु इसके बाद शक्ति घटने लगती है, यद्यपि अधिक बल लगाकर वह दो या

तीन वर्ष और—अधिक से अधिक पचपन वर्ष तक-कार्य कर सकता है। इसीलिए सरकारी नियमों में अवकाश प्राप्त करने की आयु पचपन वर्ष ही है। पचास वर्ष के बाद शक्ति जिस प्रकार क्षीण होती है उसे आलंकारिक रूप से यहाँ पर पाँच फन वाले सर्प के रूप में दिखाया गया है।

स सप्तभिः शतैरेको विंशत्या च शतं समाः ।
पुरञ्जनपुराध्यक्षो गन्धर्वैर्युयुधे बली ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; सप्तभिः—सात; शतैः—सौ से; एकः—अकेले; विंशत्या—बीस सहित; च—भी; शतम्—सौ; समाः—वर्ष; पुरञ्जन—राजा पुरञ्जन का; पुर-अध्यक्षः—नगर की रखवाली करने वाला; गन्धर्वैः—गन्धर्वों से; युयुधे—युद्ध किया; बली—अत्यन्त वीर।

वह पाँच फनों वाला सर्प, जो राजा पुरञ्जन की पुरी का रक्षक था, गन्धर्वों से एक सौ वर्षों तक लड़ता रहा। वह उनसे अकेला ही लड़ा यद्यपि उनकी संख्या ७२० थी।

तात्पर्य : ३६० दिन तथा ३६० रातें मिलकर चण्डवेग (काल) के ७२० सैनिक हैं। मनुष्य को इन सैनिकों से जन्म के प्रारम्भ के लेकर मृत्यु पर्यन्त लड़ना पड़ता है। यह जीवन-संघर्ष कहलाता है। इतने संघर्ष के बाद भी जीवात्मा मरता नहीं। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.२०) में पुष्टि की गई है यह जीवात्मा शाश्वत है—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

"आत्मा के लिए न तो कभी जन्म है न कभी मृत्यु। एक बार जन्म लेकर वह कभी मरता नहीं। वह अजन्मा, शाश्वत, न मरने वाला तथा पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर उसका वध नहीं होता।" वास्तव में जीवात्मा न तो जन्म लेता है, न मरता है, किन्तु उसे जीवन-भर प्रकृति के कठोर नियमों से संघर्ष करना पड़ता है। उसे अनेक कष्ट भी उठाने पड़ते हैं। इतना होते हुए भी जीवात्मा मोहवश सोचता है कि इन्द्रियतृप्ति के लिए वह ठीक से रह रहा है।

क्षीयमाणे स्वसम्बन्धे एकस्मिन्बहुभिर्युधा ।

चिन्तां परां जगामार्तः सराष्ट्रपुरबान्धवः ॥ १७॥

शब्दार्थ

क्षीयमाणे—कमजोर पड़ने पर; स्व-सम्बन्धे—उसके अभिन्न मित्र; एकस्मिन्—अकेला; बहुभिः—अनेक वीरों के साथ; युधा—युद्ध द्वारा; चिन्ताम्—चिन्ता; पराम्—अत्यधिक, परम; जगाम—प्राप्त किया; आर्तः—दुखी होकर; स—सहित; राष्ट्र—राज्य के; पुर—नगरी के; बान्धवः—मित्र तथा सम्बन्धी।

चूँकि उसे अकेले इतने सैनिकों से लड़ना था, जो सारे के सारे महावीर थे, अतः पाँच फनों वाला सर्प क्षीण पड़ने लगा। यह देखकर कि उसका अभिन्न मित्र क्षीण पड़ रहा है, राजा पुरञ्जन तथा उस नगरी में रहने वाले उसके सारे मित्र तथा नागरिक अत्यन्त चिन्तित हो उठे।

तात्पर्य : जीव तो शरीर के भीतर निवास करता है और शरीर के अंगों से अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करता है, जिन्हें यहाँ पर नागरिक तथा मित्र की संज्ञा प्रदान की गई है। कोई मनुष्य अनेक सैनिकों से अकेला कुछ काल तक लड़ता रह सकता है, किन्तु सदा के लिए नहीं। शरीर के भीतर जीव सौ वर्षों तक सही ढंग से लड़ता रह सकता है, किन्तु इसके बाद नहीं। इसके बाद जीव घुटने टेक देता है। इस प्रसंग में श्रील भक्तिविनोद ठाकुर का गीत द्दष्टव्य है—*वृद्ध काल आओल सब सुख भागल।* जब मनुष्य बूढ़ा हो जाता है, तो भौतिक सुख भोग पाना कठिन हो जाता है। सामान्यतः लोग सोचते हैं कि धर्म तथा धर्मनिष्ठा जीवन के अन्त समय आते हैं और उस समय लोग अधिक ध्यानमग्न रहने लगते हैं तथा ध्यान के नाम पर यौगिक अभ्यास करते हैं। किन्तु जिन लोगों ने इन्द्रियतृप्ति में जीवन बिताया है उनके लिए ध्यान बहकावा है। जैसाकि *भगवद्गीता* के छठे अध्याय में कहा गया है कि ध्यान (धारणा) कठिन होता है और इसे युवावस्था से सीखना होता है। ध्यान धरने के लिए आवश्यक है कि सभी प्रकार की इन्द्रियतृप्ति से विमुख रहा जाय। दुर्भाग्यवश ध्यान उन लोगों के लिए फैशन बन गया हो जो विषय-वासनाओं में अत्यधिक लिप्त रहते हैं। जीवन के लिए संघर्ष करते रहने से ऐसे ध्यान का कोई अर्थ नहीं रह जाता। कभी-कभी ऐसी ध्यान विधियाँ आध्यात्मिक ध्यान के लिए होती है। जीव रूपी राजा पुरञ्जन ने, जीवन-संघर्ष से ऊब कर अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों सहित दिव्य ध्यान की शरण ली।

स एव पुर्यां मधुभुक्पञ्चालेषु स्वपार्षदैः ।
उपनीतं बलिं गृह्णन्स्त्रीजितो नाविदद्भयम् ॥ १८॥

शब्दार्थ

सः—वह; एव—निश्चय ही; पुर्याम्—नगरी के भीतर; मधु-भुक्—विषयी जीवन भोगते हुए; पञ्चालेषु—अपने राज्य पञ्चाल में (पाँच विषय); स्व-पार्षदैः—अपने पार्षदों सहित; उपनीतम्—लाया जाकर; बलिम्—कर; गृह्णन्—स्वीकार करके; स्त्री-जितः—स्त्रियों के वश में हुआ; न—नहीं; अविदत्—समझ सका; भयम्—मृत्यु भय को।

राजा पुरञ्जन पञ्चाल नामक नगरी से कर एकत्र करता और विषय-भोग में लगा रहता। स्त्रियों के पूरी तरह वश में होने से वह समझ ही नहीं पाया कि उसका जीवन बीता जा रहा है और वह मृत्यु के निकट पहुँच रहा है।

तात्पर्य : सरकारी व्यक्ति जिनमें राजा, राष्ट्रपति, सचिव तथा मंत्री सम्मिलित हैं, संचित किये जाने वाले कर का उपयोग अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए कर सकते हैं। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि कलियुग में राज्य के सारे कर्मचारी (*राजन्य*) तथा वे जो सरकार से सम्बन्धित हैं और उच्चमंत्री, सचिव तथा राष्ट्रपति केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए कर एकत्र करेंगे। सरकार का खर्च अधिक होता है और कर में वृद्धि किये बिना सरकारें चल नहीं सकतीं। जब कर एकत्र हो जाता है, तो उसका उपयोग सरकारी अफसरों की इन्द्रियतृप्ति के लिए होता है। ऐसे गैरजिम्मेदार अफसर यह भूल जाते हैं कि एक समय ऐसा आयेगा जब मृत्यु आकर उनके सारे इन्द्रियसुख को अपने साथ लेती जायेगी। कुछ लोगों का विश्वास है कि जीवन के पश्चात् सब कुछ नष्ट हो जाता है। यह नास्तिकता का सिद्धान्त बहुत समय पूर्व चार्वाक नामक दार्शनिक ने चलाया था। उसने कहा था कि मनुष्य को चाहिए कि माँग कर, उधार लेकर अथवा चुराकर ठाठ से रहे। उसने यह भी कहा था कि मनुष्य को मृत्यु, अगले जीवन, विगत जीवन या अपवित्र जीवन से भयभीत नहीं होना चाहिए, क्योंकि शरीर के जल जाने पर सब कुछ समाप्त हो जाता है। यह दर्शन उन लोगों का है, जो भौतिकता में लिप्त रहने के अत्यधिक आदी हैं। ऐसे दार्शनिक विचारों से कोई न तो मृत्यु के भय से बच सकता है और न अगले घृणित जन्म से बचा रह पाता है।

कालस्य दुहिता काचित्त्रिलोकीं वरमिच्छती ।
पर्यटन्ती न बर्हिष्मन्प्रत्यनन्दत कश्चन ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

कालस्य—काल की; दुहिता—कन्या, पुत्री; काचित्—कोई; त्रि-लोकीम्—तीनों लोकों में; वरम्—पति; इच्छती—की आंकाक्षा से; पर्यटन्ती—सारे संसार में घूमती हुई; न—कभी नहीं; बर्हिष्मन्—हे राजा प्राचीनबर्हिषत्; प्रत्यनन्दत—प्रस्ताव स्वीकार कर लिया; कश्चन—कोई।

हे राजा प्राचीनबर्हिषत्, इसी समय काल की कन्या तीनों लोकों में पति की खोज कर रही

थी। यद्यपि उसे ग्रहण करने के लिए कोई तैयार नहीं हुआ, किन्तु वह घूमती रही।

तात्पर्य : समय बीतने पर जब शरीर वृद्ध हो जाता है, तो एक प्रकार से अक्षम हो जाता है और जरा या बुढ़ापा घेर लेता है। इस संसार में मूलत: चार प्रकार के कष्ट हैं—जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु। न तो कोई विज्ञान, न ही कोई विचारक इन चारों प्रकार के कष्टों का कोई हल प्रस्तुत कर पाया है। यहाँ पर जरा की अक्षमता को आलंकारिक ढंग से काल की कन्या के रूप में व्यक्त किया गया है। यद्यपि उसे कोई नहीं चाहता, किन्तु वह किसी को भी अपना पति बनाने के लिए उत्सुक रहती है। कोई भी वृद्ध तथा अक्षम नहीं बनना चाहता, किन्तु यह सबों के लिए अनिवार्य है।

दौर्भाग्येनात्मनो लोके विश्रुता दुर्भगेति सा ।
या तुष्टा राजर्षये तु वृतादात्पूरवे वरम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

दौर्भाग्येन—दुर्भाग्य से; आत्मनः—अपने आप; लोके—संसार में; विश्रुता—विख्यात; दुर्भगा—अत्यन्त भाग्यहीन; इति—इस प्रकार; सा—वह; या—जो; तुष्टा—संतुष्ट होकर; राज-ऋषये—महान् राजा को; तु—लेकिन; वृता—स्वीकार होकर; अदात्—दे दिया; पूरवे—राजा पूरु को; वरम्—वर।

काल की कन्या (जरा) बड़ी अभागिन थी। फलत: लोग उसे दुर्भगा कहते थे। किन्तु एक बार वह एक महान् राजा पर प्रसन्न हो गई और चूँकि राजा ने उसे स्वीकार कर लिया था, इसलिए उसने उसे वरदान दिया।

तात्पर्य : जैसाकि भक्ति विनोद ठाकुर गाते हैं—*सब सुख भागल*—बुढ़ापे में सारे सुख लुप्त हो जाते हैं, इसीलिए कोई जरा (बुढ़ापा) को पसन्द नहीं करता। काल की कन्या के रूप में जरा को अत्यन्त हतभाग्या कहा जाता है। किन्तु एक बार राजा ययाति ने इसे स्वीकार किया था। ययाति के श्वसुर शुक्राचार्य ने शाप दिया था कि वह उसे स्वीकार करे। जब शुक्राचार्य की कन्या राजा ययाति को ब्याही गई तो उसके साथ शर्मिष्ठा नामक उसकी सहेली भी उसके साथ गई। बाद में राजा ययाति शर्मिष्ठा पर अत्यधिक आसक्त हो गये तो शुक्राचार्य की कन्या ने अपने पिता से शिकायत की। फलत: शुक्राचार्य ने राजा ययाति को समय से पूर्व वृद्ध होने का शाप दे दिया। राजा ययाति के पाँच तरुण पुत्र थे और उसने अपने पाँचों पुत्रों से बुढ़ापे के बदले अपना यौवन देने की विनती की। केवल सबसे छोटा पुत्र पुरु इसके लिए राजी हुआ। ययाति का बुढ़ापा स्वीकार करने पर उसे सारा राजपाट मिल गया। कहा जाता है कि ययाति के दो अन्य पुत्रों को, जो आज्ञाकारी नहीं थे, भारत के बाहर, सम्भवत:

तुर्की तथा ग्रीस के राज्य दिये गये। तात्पर्य यह कि मनुष्य सभी प्रकार की सम्पत्ति तथा वैभव एकत्र कर सकता है, किन्तु बुढ़ापे में कोई उसका भोग नहीं कर पाता। यद्यपि पुरु को अपने पिता का सारा राज्य प्राप्त हुआ था, किन्तु वह सारे वैभव का उपभोग नहीं कर पाया, क्योंकि उसने अपने यौवन को अर्पित कर दिया था। मनुष्य को कृष्णभक्त बनने के लिए बुढ़ापे की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। बुढ़ापे की अशक्तता के कारण, कोई कितना भी धनवान क्यों न हो, कृष्णभक्ति में प्रगति नहीं कर पाता।

कदाचिदटमाना सा ब्रह्मलोकान्महीं गतम् ।
वव्रे बृहद्व्रतं मां तु जानती काममोहिता ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कदाचित्—एक बार; अटमाना—घूमती हुई; सा—वह; ब्रह्म-लोकात्—ब्रह्मलोक से; महीम्—पृथ्वी पर; गतम्—आ कर; वव्रे—प्रस्ताव रखा; बृहत्-व्रतम्—नैष्ठिक ब्रह्मचारी; माम्—मुझको; तु—तब; जानती—जानते हुए; काम-मोहिता—कामासक्त।

एक बार जब मैं सर्वोच्च लोक, ब्रह्मलोक से इस पृथ्वी पर आ रहा था, तो संसार भर का भ्रमण करते हुए काल की कन्या से मेरी भेंट हुई। वह मुझे नैष्ठिक ब्रह्मचारी जान कर मुझपर अत्यन्त कामातुर हो गई और उसने प्रस्ताव रखा कि मैं उसे अपना लूँ।

तात्पर्य : नारद मुनि *नैष्ठिक ब्रह्मचारी* थे अर्थात् वे विषयी जीवन से आजीवन विमुख रहे। फलत: वे परम तरुण थे। उन पर जरा का कोई प्रभाव न था। बुढ़ापे (जरा) की अशक्तता सामान्य मनुष्य को व्याप सकती है, किन्तु नारद मुनि तो सर्वथा भिन्न थे। तो भी नारद मुनि को सामान्य व्यक्ति समझ कर काल-कन्या ने उनके सामने अपनी कामेच्छा व्यक्त की। स्त्री के आकर्षण से विरत होने के लिए अगाध शक्ति की आवश्यकता होती है। बूढ़े लोगों के लिए भी ऐसा कर पाना कठिन हो तो युवकों के लिए क्या कहा जाये! जो लोग ब्रह्मचारी के रूप में रहते हैं उन्हें नारद मुनि के चरणचिह्नों पर चलना चाहिए, जिन्होंने जरा के प्रस्ताव को कभी भी स्वीकार नहीं किया। जो लोग कामवासना के प्रति अत्यन्त लिलायित रहते हैं, वे जरा के शिकार बनते हैं और शीघ्र ही उनकी आयु क्षीण हो जाती है। जो मनुष्य जीवन का उपयोग कृष्णभक्ति के लिए नहीं कर पाते वे जरा के शिकार होकर इस संसार में बहुत जल्दी मर जाते हैं।

मयि संरभ्य विपुलमदाच्छापं सुदु:सहम् ।

स्थातुमर्हसि नैकत्र मद्याच्ञाविमुखो मुने ॥ २२॥

शब्दार्थ

मयि—मुझको; संरभ्य—क्रुद्ध होकर; विपुल—अपार; मदात्—मोहवश; शापम्—शाप; सु-दुःसहम्—असहनीय; स्थातुम् अर्हसि—रुकना चाहोगे; न—कभी नहीं; एकत्र—एक स्थान में; मत्—मेरी; याच्ञा—याचना; विमुखः—नकार कर; मुने—हे मुनि।

महर्षि नारद ने आगे कहा : जब मैंने उसकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी तो वह मुझपर अत्यन्त क्रुद्ध हुई और मुझे घोर शाप देने लगी। चूँकि मैंने उसकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी थी, अतः उसने कहा कि तुम किसी एक स्थान पर अधिक काल तक टिक नहीं सकोगे।

तात्पर्य : नारद मुनि को दिव्य देह प्राप्त थी; अतः उन पर जरा, रोग, जन्म तथा मृत्यु का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता था। नारद भगवान् के सर्वाधिक दयावान भक्त हैं और उनका एकमात्र कार्य है सारे ब्रह्माण्ड में विचरण करना तथा भगवद्भक्ति का उपदेश करना। दूसरे शब्दों में, उनका एकमात्र कार्य हर एक को वैष्णव बनाना है। अतः उन्हें किसी भी स्थान पर उपदेश देने के बाद रुकने की आवश्यता नहीं होती है। चूँकि वे अपने इच्छानुसार पहले से सारे विश्व का विचरण करते रहते हैं, इसलिए काल-कन्या का शाप सौभाग्यपूर्ण बताया गया है। नारद मुनि के ही समान अन्य अनेक भक्त विविध ब्रह्माण्डों में भिन्न-भिन्न स्थानों में भगवान् की महिमा का उपदेश करने में लगे हुए हैं। ऐसे महापुरुषों पर भौतिक नियम लागू नहीं होते।

ततो विहतसङ्कल्पा कन्यका यवनेश्वरम् ।
मयोपदिष्टमासाद्य वव्रे नाम्ना भयं पतिम् ॥ २३॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; विहत-सङ्कल्पा—निराश होकर; कन्यका—काल की कन्या; यवन-ईश्वरम्—अछूतों के राजा को; मया उपदिष्टम्—मेरे द्वारा सूचित; आसाद्य—पास आकर; वव्रे—स्वीकार कर लिया; नाम्ना—नामक; भयम्—भय; पतिम्—पति रूप में।

इस प्रकार जब वह मेरी ओर से निराश हो गई तो मेरी अनुमति से वह यवनों के राजा के पास गई जिसका नाम भय था और उसे ही अपने पति रूप में स्वीकार कर लिया।

तात्पर्य : परम वैष्णव होने के कारण श्री नारद मुनि अन्यों का हित करने के लिए सदैव उद्यत रहते हैं, भले ही कोई उन्हें शाप ही क्यों न दे रहा हो। यद्यपि काल-कन्या को नारद मुनि ने मना कर दिया था, किन्तु उसे शरण प्रदान की गई। एक वैष्णव के अतिरिक्त ऐसी हतभाग्या कन्या को भला और कौन शरण दे सकता है! जब जरा का आक्रमण होता है, तो हर व्यक्ति क्षुद्र बनकर समाप्त होने लगता

है। नारद मुनि ने काल-कन्या को शरण दी और सामान्य कर्मियों पर करारा प्रहार किया। यदि कोई नारद मुनि के उपदेशों को मानता है, तो उनकी कृपा से भय का सागर हट जाता है।

ऋषभं यवनानां त्वां वृणे वीरेप्सितं पतिम् ।
सङ्कल्पस्त्वयि भूतानां कृतः किल न रिष्यति ॥ २४॥

शब्दार्थ

ऋषभम्—श्रेष्ठ; यवनानाम्—अछूतों में; त्वाम्—तुमको; वृणे—मैं स्वीकार करती हूँ; वीर—हे वीर; ईप्सितम्—वांछित; पतिम्—पति; सङ्कल्पः—दृढ़ निश्चय; त्वयि—तुमको; भूतानाम्—समस्त जीवों का; कृतः—यदि किया गया; किल—निश्चय ही; न—कभी नहीं; रिष्यति—विफल नहीं होता।

यवनों के राजा के पास पहुँचकर काल-कन्या ने उसे वीर रूप में सम्बोधित करते हुए कहा : महाशय, आप अछूतों में श्रेष्ठ हैं। मैं आपको प्रेम करती हूँ और आपको पति रूप में ग्रहण करना चाहती हूँ। मैं जानती हूँ कि यदि कोई आपसे दोस्ती करता है, तो वह निराश नहीं होता।

तात्पर्य : *यवनानाम् ऋषभ* शब्द यवनों के राजा के सूचक हैं। *यवन* तथा *म्लेच्छ* शब्द उन लोगों के लिए प्रयुक्त होते हैं, जो वैदिक नियमों को नहीं मानते। वैदिक नियमों के अनुसार मनुष्य को प्रातः-काल उठकर स्नान करना चाहिए, हरे कृष्ण का जाप करना चाहिए, अर्चा-विग्रह की मंगल-आरती करनी चाहिए, वैदिक साहित्य पढ़ना चाहिए, प्रसाद ग्रहण करना चाहिए और अर्चा-विग्रह का साज-श्रृंगार करने में लग जाना चाहिए। मनुष्य को मंदिर बनाने के लिए भी धन संग्रह करना चाहिए और यदि वह गृहस्थ है, तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र के निर्दिष्ट कार्य करने चाहिए। इस प्रकार उसे आध्यात्मिक सूझबूझ का जीवन बिताना चाहिए, यही वैदिक सभ्यता है। जो इन सारे नियमों का पालन नहीं करता, वही यवन या म्लेच्छ कहलाता है। हमें इन शब्दों से किन्हीं अन्य देशों की जातियाँ नहीं समझना चाहिए। इनके लिए राष्ट्रीयता कोई सीमा नहीं है—कोई भारत में रहे या बाहर, यदि वह वैदिक नियमों का पालन नहीं करता तो वह *म्लेच्छ* या *यवन* कहलाता है। जो मनुष्य वैदिक नियमों में बताये गये स्वच्छता सम्बन्धी नियमों का पालन नहीं करता उसे अनेक छुआछूत के रोग होते रहते हैं। चूँकि कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में विद्यार्थियों को वैदिक नियम पालन करने की सलाह दी जाती है, इसलिए वे स्वभावतः स्वच्छ रहते हैं।

यदि कोई मनुष्य कृष्णभक्त है, तो वह सत्तर-अस्सी वर्ष का होकर भी तरुण की भाँति कार्य कर सकता है। इस प्रकार काल-कन्या किसी वैष्णव को परास्त नहीं कर सकती। श्रील कृष्णदास

कविराजगोस्वामी जब बहुत बूढ़े हो गये तो उन्होंने *श्रीचैतन्य-चरितामृत* लिखना प्रारम्भ किया, फिर भी उन्होंने भगवान् चैतन्य की लीलाओं के सम्बन्ध में सबसे अधिक आश्चर्यजनक साहित्य प्रस्तुत किया। श्रील रूप गोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी ने भी अपने आध्यात्मिक जीवन का शुभारम्भ अत्यन्त वृद्धावस्था में किया अर्थात् जब वे अपने वृत्तिपरक कार्य और पारिवारिक जीवन से मुक्त हो चुके थे, फिर भी उन्होंने आध्यात्मिक जीवन की उन्नति के लिए प्रचुर मूल्यवान साहित्य का सृजन किया। इसकी पुष्टि श्रील श्रीनिवास आचार्य द्वारा गोस्वामियों की प्रशंसा से होती है—

नानाशास्त्रविचारणैकनिपुणौ सद्धर्मसंस्थापकौ

लोकानां हितकारिणौ त्रिभुवने मान्यौ शरण्याकरौ।

राधाकृष्णपदारविन्दभजनानन्देन मत्तालिकौ

वन्दे रूपसनातनौ रघुयुगौ श्रीजीवगोपलकौ॥

"मैं छहों गोस्वामियों—श्री सनातन गोस्वामी, श्री रूप गोस्वामी, श्री रघुनाथ भट्ट गोस्वामी, श्री रघुनाथ दास गोस्वामी, श्री जीव गोस्वामी तथा श्री गोपाल भट्ट गोस्वामी को सादर नमस्कार करता हूँ जो मानवता के कल्याण हेतु शाश्वत धार्मिक नियमों की स्थापना के उद्देश्य से शास्त्रों की छानबीन करते रहते हैं। इस प्रकार उनका तीनों लोकों में सम्मान है और वे शरण लेने योग्य हैं, क्योंकि वे गोपियों के भाव में लीन रहते हैं और राधाकृष्ण की दिव्य सेवा में लगे रहते हैं।"

जरा भक्त को कष्ट नहीं देती, क्योंकि भक्त नारद मुनि के आदेशों तथा संकल्प का अनुसरण करता है। सभी भक्त नारद मुनि की शिष्य-परम्परा में आते हैं, क्योंकि वे नारद के आदेशों के अनुसार—यथा *नारद पञ्चरात्र* अथवा *पाञ्चरात्रिका* विधि के अनुसार अर्चा-विग्रह की पूजा करते हैं। भक्त *पाञ्चरात्रिका-विधि* के साथ *भागवत-विधि* के भी नियमों का पालन करता है। *भागवत-विधि* में उपदेश कार्य भी सम्मिलित है—*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः।* *पाञ्चरात्रिका* विधि में, *अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनं* सम्मिलित हैं। चूँकि भक्त नारद मुनि के आदेशों का पालन करता है, इसलिए उसे जरा, रोग या मृत्यु का भय नहीं रहता। वह देखने में भले ही वृद्ध लगे, किन्तु वह सामान्य व्यक्ति की भाँति बुढ़ापे से हार नहीं मानता। फलस्वरूप बुढ़ापा भक्त को मृत्यु से भयभीत नहीं बनाता जितना कि सामान्य व्यक्ति मृत्यु से भयभीत रहता है। जब जरा किसी भक्त की शरण ग्रहण करती है, तो काल-कन्या भक्त के भय को

कम कर देती है। भक्त जानता रहता है कि मृत्यु के बाद उसे भगवान् के धाम वापस जाना है, अत: उसे मृत्यु का भय नहीं रहता। इस प्रकार अधिक उम्र (बुढ़ापा) भक्त को हतोत्साहित न करके उसे निडर बनाती है, जिससे वह सुखी रहता है।

द्वाविमावनुशोचन्ति बालावसदवग्रहौ ।
यल्लोकशास्त्रोपनतं न राति न तदिच्छति ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

द्वौ—दो प्रकार के; इमौ—ये; अनुशोचन्ति—पश्चात्ताप करते हैं; बालौ—अज्ञानी; असत्—मूर्ख; अवग्रहौ—पथ का अनुसरण करते हुए; यत्—जो; लोक—प्रथानुसार; शास्त्र—शास्त्रों के अनुसार; उपनतम्—प्रस्तुत; न—कभी नहीं; राति—पालन करता है; न—कभी नहीं; तत्—वह; इच्छति—इच्छा करता है।.

जो लोकरीति के अनुसार अथवा शास्त्रों के आदेशानुसार दान नहीं देता और जो इस प्रकार के दान का ग्रहण नहीं करता, उन दोनों को ही तमोगुणी समझना चाहिए। ऐसे लोग मूर्खों के पथ का अनुसरण करते हैं। निश्चित ही उन्हें अन्त में पछताना पड़ता है।

तात्पर्य : यहाँ इसका उल्लेख है कि यदि कोई वास्तव में शुभ जीवन बिताना चाहता है, तो उसे शास्त्रों का पालन करना चाहिए। *भगवद्गीता* (१६.२३) में इसी को इस प्रकार कहा गया है—

य: शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारत:।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

"जो मनुष्य शास्त्रों के आदेशों का उल्लंघन करके मनमाने ढंग से आचरण करता है उसे न तो सिद्धि मिलती है, न सुख और न परम धाम।" जो वैदिक आदेशों का कठोरता से पालन नहीं करता उसे जीवन में सफलता या सुख की प्राप्ति नहीं हो पाती, भगवान् के धाम वापस जाना तो कोसों दूर की बात है।

एक शास्त्रीय आदेश बताता है कि यदि कोई स्त्री स्वेच्छा से पत्नी बनने का अनुरोध करे तो गृहस्थ, क्षत्रिय या शासक को उसके अनुरोध को ठुकराना नहीं चाहिए। चूँकि नारद मुनि ने काल-कन्या को यवन राजा के प्रति समर्पित होने के लिए निर्दिष्ट किया था, इसलिए यवनराज उसे इनकार नहीं कर सका। सभी कार्यकलाप शास्त्रों के आदेशों के अनुसार सम्पन्न किये जाने चाहिए। शास्त्रीय आदेशों की नारद मुनि जैसे ऋषियों द्वारा पुष्टि की गई है। जैसाकि नरोत्तम दास ठाकुर कहते हैं—*साधु शास्त्र गुरु वाक्य, चित्तेते करिया ऐक्य।* मनुष्य को चाहिए कि साधु पुरुषों, शास्त्रों तथा गुरु के नियमों

पर चले। इस प्रकार जीवन में सफलता अवश्य मिलती है। कालकन्या यवनराज के समक्ष साधु, शास्त्र तथा गुरुसम्मत विधि से ही उपस्थित हुई थी। अत: उसे अस्वीकार किये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता था।

अथो भजस्व मां भद्र भजन्तीं मे दयां कुरु ।
एतावान्पौरुषो धर्मो यदार्ताननुकम्पते ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अथो—अत:; भजस्व—स्वीकार करो; माम्—मुझको; भद्र—हे महाशय; भजन्तीम्—सेवा करने के लिए इच्छुक; मे—मुझको; दयाम्—दया; कुरु—करो; एतावान्—इस तरह के; पौरुष:—किसी पुरुष के लिए; धर्म:—धर्म; यत्—वह; आर्तान्—आर्त को; अनुकम्पते—दयालु है।

काल कन्या ने आगे कहा : हे भद्र, मैं आपकी सेवा के लिए उपस्थित हूँ। कृपया मुझे स्वीकार करके मेरे ऊपर दया करें। पुरुष का सबसे बड़ा कर्तव्य है कि दुखी व्यक्ति पर अनुकम्पा करे।

तात्पर्य : यवनराज चाहता तो काल-कन्या को अस्वीकार कर देता, किन्तु उसने उसकी प्रार्थना पर विचार किया, क्योंकि यह नारद मुनि का आदेश था। इस तरह उसने काल-कन्या को भिन्न रूप में स्वीकार कर लिया। दूसरे शब्दों में, नारद मुनि के आदेश या भक्ति-पथ तीनों लोकों में प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा मान्य है और यवनराज के लिए तो विशेष रूप से। स्वयं भगवान् चैतन्य ने हर एक से संसार के प्रत्येक कोने-कोने में प्रत्येक ग्राम तथा नगर में, भक्तियोग सम्प्रदाय का प्रचार करने के लिए कहा। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के उपदेशकों ने सचमुच अनुभव किया है कि नारद मुनि की *पाञ्चरात्रिका* विधि के बल पर यवनों तथा म्लेच्छों तक ने आध्यात्मिक जीवन स्वीकार किया है। जब मानव जाति चैतन्य महाप्रभु द्वारा बताई गई शिष्य-परम्परा का पालन करेगी तो संसार भर के लोग इससे लाभान्वित होंगे।

कालकन्योदितवचो निशम्य यवनेश्वर: ।
चिकीर्षुर्देवगुह्यं स सस्मितं तामभाषत ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

काल-कन्या—काल की पुत्री द्वारा; उदित—कहे गये; वच:—शब्द; निशम्य—सुनकर; यवन-ईश्वर:—यवनों का राजा; चिकीर्षु:—पालन करने की इच्छा से; देव—विधाता का; गुह्यम्—गुप्त कार्य; स:—उसने; स-स्मितम्—हँसते हुए; ताम्—उसको; अभाषत—सम्बोधित किया।

कालकन्या का कथन सुनकर यवनराज हँसने लगा और विधाता का गुप्त कार्य पूरा करने की युक्ति खोजने लगा। तब उसने काल-कन्या को इस प्रकार सम्बोधित किया।

तात्पर्य : *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (आदि ५.१४२) में कहा गया है—

एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य।

यारे यैछे नाचाय, से तैछे करे नृत्य॥

वास्तव में परम नियन्ता तो भगवान् श्रीकृष्ण हैं, शेष सभी उनके दास है। यवनराज भी श्रीकृष्ण का दास था, अत: वह भी कालकन्या के माध्यम से श्रीकृष्ण का ही कार्य करना चाह रहा था। यद्यपि कालकन्या का अर्थ जरा या बुढ़ापा है, किन्तु यवनराज कालकन्या को सर्वत्र प्रवेश करा कर कृष्ण की सेवा करना चाह रहा था। इस प्रकार जो भी विवेकी पुरुष है, वह बुढ़ापा प्राप्त करने पर काल (मृत्यु) से भयभीत रहेगा। मूर्ख लोग भौतिक कार्यों में इस प्रकार लिप्त रहते हैं मानो वे सदैव जीवित रहेंगे और भौतिक सुख का भोग करेंगे, किन्तु वास्तव में भौतिकता में उन्नति है ही नहीं। मोहवश लोग सोचते हैं कि ऐश्वर्य उनकी रक्षा करेगा, किन्तु भौतिक विज्ञान में काफी प्रगति होने पर भी मानव समाज की समस्याएँ—जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग—जैसी की तैसी बनी हुई हैं। तो भी मूर्ख विज्ञानी सोचते हैं कि उन्होंने भौतिक प्रगति की है। जब कालकन्या अर्थात् बुढ़ापा उन पर आक्रमण करता है, तो वे काल से भयभीत होते हैं यदि वे विवेकी हों। जो अविवेकी हैं, वे मृत्यु की परवाह नहीं करते और न ही इस जीवन में ही यह जानते हैं कि मृत्यु के बाद क्या होने वाला है। उनकी यह भ्रान्त धारण बनी हुई कि मृत्यु के बाद जीवन नहीं है, अत: वे इस जीवन में अत्यन्त गैरजिम्मेदारी से काम करते हैं और निर्बाध होकर विषयसुख भोगते हैं। बुद्धिमान मनुष्य के लिए बुढ़ापे का प्रकट होना आध्यात्मिक जीवन के लिए प्रेरित करता है। आमतौर से लोग आनेवाली मृत्यु से डरते हैं। यवनराज ने कालकन्या का उपयोग इस कार्य के लिए करना चाहा।

मया निरूपितस्तुभ्यं पतिरात्मसमाधिना ।
नाभिनन्दति लोकोऽयं त्वामभद्रामसम्मताम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; निरूपितः—निश्चित किया गया; तुभ्यम्—तुम्हारे लिए; पतिः—पति; आत्म—मन के; समाधिना—ध्यान से; न—कभी नहीं; अभिनन्दति—स्वागत है; लोकः—लोग; अयम्—ये; त्वाम्—तुमको; अभद्राम्—अशुभ; असम्मताम्—अस्वीकार्य।

यवनराज ने उत्तर दिया: मैंने बहुत सोच-विचार के बाद तुम्हारे लिए एक पति निश्चित किया है। वास्तव में सबों की दृष्टि में तुम अशुभ तथा उत्पाती हो। चूँकि तुम्हें कोई भी पसन्द नहीं करता, अतः तुम्हें कोई पत्नी रूप में कैसे स्वीकार कर सकता है?

तात्पर्य : काफी सोच-विचार के बाद यवनराज ने बुरे अवसर का सर्वोत्तम उपयोग करना चाहा। काल-कन्या किसी को पसन्द नहीं थी, किन्तु भगवान् की सेवा के लिए हर वस्तु का उपयोग हो सकता है। इसलिए यवनराज ने उसे किसी-न-किसी काम में लगाना चाहा। इस उद्देश्य को पहले ही बताया जा चुका है—जरा रूप में काल-कन्या सभी लोगों में भय उत्पन्न कर सकती है, जिससे वे डर कर श्रीकृष्ण की भक्ति में लगकर अगले जीवन की तैयारी में लग सकें।

त्वमव्यक्तगतिर्भुङ्क्ष्व लोकं कर्मविनिर्मितम् ।
या हि मे पृतनायुक्ता प्रजानाशं प्रणेष्यसि ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; अव्यक्त-गतिः—जिसकी गति अलक्षित हो; भुङ्क्ष्व—भोग करो; लोकम्—यह संसार; कर्म-विनिर्मितम्—सकाम कर्मों द्वारा निर्मित; या—जो; हि—निश्चय ही; मे—मेरा; पृतना—सैनिक की; युक्ता—सहायता से; प्रजा-नाशम्—जीवों का संहार; प्रणेष्यसि—बिना बाधा के कर सकोगी।

यह संसार सकाम कर्मों का प्रतिफल है। अतः तुम सभी लोगों पर अलक्षित रह कर आक्रमण कर सकती हो। मेरे सैनिकों के बल की सहायता से तुम बिना किसी विरोध के उनका संहार कर सकती हो।

तात्पर्य : *कर्म विनिर्मितम्* का अर्थ है, "सकाम कर्मों द्वारा निर्मित।" यह समग्र भौतिक जगत, विशेष रूप से आजकल, सकाम कर्मों का प्रतिफल है। प्रत्येक व्यक्ति इस संसार को सड़कों, मोटरों, बिजली, गगनचुम्बी भवनों, उद्योगों, व्यापारों से अलंकृत करने में व्यस्त है। यह उन व्यक्तियों के लिए अत्यन्त सुखद लगता है, जो इन्द्रियतृप्ति में लगे हैं और आध्यात्मिक स्वरूप से अपरिचित हैं। *श्रीमद्भागवत* (५.५.४) में वर्णन हुआ है कि—

नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म

यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति।

न साधु मन्ये यत आत्मनोऽय-

मसन्नपि क्लेशद आस देहः ॥

जो आत्मा के ज्ञान से रहित हैं, वे भौतिक कर्मों के पीछे दीवाने रहते हैं और इन्द्रियतृप्ति के लिए पापमय कर्म करते रहते हैं। ऋषभदेव के अनुसार ऐसे कार्य अशुभ हैं, क्योंकि इनसे मनुष्य को अगले जीवन में घृणित देह धारण करनी पड़ती है। यह हम सबका अनुभव है कि शरीर को कितना ही सुखी क्यों न रखा जाये, वह सदैव कष्ट देता रहता है और तीन प्रकार के क्लेशों से घिरता रहता है। अन्यथा इतने सारे अस्पतालों, कल्याण-परिषदों तथा जीवन-बीमा प्रतिष्ठानों की क्या आवश्यकता थी? वास्तविकता तो यह है कि इस संसार में सुख है ही नहीं; लोग दुखों का सामना करने का प्रयत्न कर रहे हैं। मूर्ख लोग दुख को ही सुख मानते हैं, इसलिए यवनराज ने ऐसे लोगों पर अदृश्य रूप में जरा, रोग तथा असामयिक मृत्यु के द्वारा वार करने का निश्चय किया। निस्सन्देह, मृत्यु के पश्चात् जन्म होता है, अतः यवनराज ने ठीक ही सोचा कि वह समस्त कर्मियों को काल-कन्या के माध्यम से मार दे और उन्हें बता दे कि भौतिक प्रगति वास्तव में प्रगति नहीं हैं। प्रत्येक जीव एक आध्यात्मिक जीव है और फलस्वरूप आध्यात्मिक प्रगति के बिना मनुष्य जीवन चौपट हो जाता है।

प्रज्वारोऽयं मम भ्राता त्वं च मे भगिनी भव ।
चराम्युभाभ्यां लोकेऽस्मिन्नव्यक्तो भीमसैनिकः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

प्रज्वारः—प्रज्वार नामक; अयम्—यह; मम—मेरा; भ्राता—भाई; त्वम्—तुम; च—भी; मे—मेरी; भगिनी—बहिन; भव—बन जाओ; चरामि—मैं विचरण करूँगा; उभाभ्याम्—तुम दोनों के द्वारा; लोके—संसार में; अस्मिन्—इस; अव्यक्तः—अप्रकट; भीम—भयंकर; सैनिकः—सैनिकों सहित।

यवनराज ने कहा : यह मेरा भाई प्रज्वार है। तुम्हें मैं अपनी बहिन के रूप में स्वीकार करता हूँ। मैं तुम दोनों का तथा अपने भयंकर सैनिकों का उपयोग इस संसार के भीतर अदृश्य रूप से करूँगा।

तात्पर्य : नारद मुनि ने कालकन्या को यवनराज के पास इस उद्देश्य से भेजा था कि वह उसकी पत्नी बन जाये, किन्तु यवनराज ने उसे पत्नी के रूप में स्वीकार न करके बहिन के रूप में स्वीकार किया। जो लोग वैदिक नियमों को नहीं जानते वे मनमाना संभोग करते हैं; फलतः कभी-कभी वे अपनी बहिनों तक के साथ संभोग करने में नहीं हिचकते। इस कलियुग में तो ऐसे अनेक उदाहरण

मिलते हैं। यद्यपि यवनराज ने नारद का मान रखने के लिए उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली, किन्तु वह लगातार अवैध स्त्री-प्रसंग के विषय में सोचता रहा। इसका कारण यह था कि वह यवनों तथा म्लेच्छों का राजा था।

प्रज्वार: शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसका अर्थ है "भगवान् विष्णु द्वारा भेजा गया ज्वर।" ऐसा ज्वर सदैव १०७ डिग्री पर रहता है, जिस ताप पर मृत्यु हो जाती है। इसीलिए म्लेच्छों तथा यवनों के राजा ने काल-कन्या से प्रार्थना की कि वह उसकी बहिन बन जाये। उसे पत्नी बनने के लिए कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि यवन तथा म्लेच्छ विषयी जीवन में कोई भेदभाव नहीं मानते। इस प्रकार ऊपर से चाहे बहिन हो, माता या पुत्री लगे, फिर भी संभोग कर सकता है। यवनराज का भाई प्रज्वार था और कालकन्या तो साक्षात् अक्षमता थी ही। ये दोनों यवनराज की सेना—गंदगी, अवैध स्त्री-प्रसंग तथा ज्वर के कारण मृत्यु के साथ मिलकर और उससे शक्ति प्राप्त करके भौतिक जीवनशैली को ध्वंस करने में समर्थ थे। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि नारद पर जरा का कोई प्रभाव न था। इसी प्रकार नारद मुनि के सेवक या शुद्ध वैष्णव पर भी जरा आक्रमण नहीं कर सकती।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत "राजा पुरञ्जन की नगरी पर चण्डवेग का धावा और कालकन्या का चरित्र" नामक सत्ताईसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अट्ठाईस

अगले जन्म में पुरञ्जन को स्त्री-योनि की प्राप्ति

नारद उवाच
सैनिका भयनाम्नो ये बर्हिष्मन्दिष्टकारिणः ।
प्रज्वारकालकन्याभ्यां विचेरुरवनीमिमाम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; सैनिकाः—सैनिक; भय-नाम्नः—भय के; ये—जो; बर्हिष्मन्—हे राजा प्राचीनबर्हिषत्; दिष्ट-कारिणः—काल की आज्ञा के पालक; प्रज्वार—प्रज्वार; काल-कन्याभ्याम्—तथा कालकन्या सहित; विचेरुः—घूमने लगे; अवनीम्—पृथ्वी पर; इमाम्—इस।

नारद मुनि ने आगे कहा : हे राजा प्राचीनबर्हिषत्, तत्पश्चात् यवनराज साक्षात् भय, प्रज्वार, काल-कन्या तथा अपने सैनिकों सहित सारे संसार में विचरने लगा।

तात्पर्य : मृत्यु के पूर्व की जीवन-अवस्था अत्यन्त भयावह होती है, क्योंकि प्राय: इसी में

निर्बलता तथा अनेक रोगों का शिकार बनना पड़ता है। शरीर पर आक्रमण करने वाले रोगों की तुलना यहाँ पर सैनिकों से की गई है। ये सैनिक भी कोई साधारण सैनिक नहीं, इनका संचालन यवनराज करता है। *दिष्ट-कारिण:* शब्द सूचित करता है कि वह उनका संचालक है। जब मनुष्य जवान होता है, तो वह बुढ़ापे की परवाह नहीं करता और मन-भर कर स्त्री-संभोग करता है, जिससे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। तब तो वह मृत्यु को बुलाने लगता है। जो मनुष्य युवावस्था में जितना ही स्त्री-संभोग करता है, वह बुढ़ापे में उतना ही कष्ट पाता है।

त एकदा तु रभसा पुरञ्जनपुरीं नृप ।
रुरुधुर्भौमभोगाढ्यां जरत्पन्नगपालिताम् ॥ २॥

शब्दार्थ

ते—वे; एकदा—एक बार; तु—तब; रभसा—अत्यन्त वेग से; पुरञ्जन-पुरीम्—पुरञ्जन की नगरी को; नृप—हे राजा; रुरुधुः—घेर लिया; भौम-भोग-आढ्याम्—इन्द्रियभोग से परिपूर्ण; जरत्—बूढ़ा; पन्नग—सर्प द्वारा; पालिताम्—सुरक्षित।

एक बार इन भयानक सैनिकों ने पुरञ्जन-नगरी पर बड़े वेग से आक्रमण किया। यद्यपि यह नगरी भोग की सारी सामग्री से परिपूर्ण थी, किन्तु इसकी रखवाली एक बूढ़ा सर्प कर रहा था।

तात्पर्य : इन्द्रियतृप्ति में संलग्न रहने से शरीर दिन प्रतिदिन जर्जर होता जाता है। अन्त में शक्ति इतनी क्षीण हो जाती है कि इसकी तुलना बूढ़े सर्प से की जाती है। पहले ही प्राण की तुलना सर्प से की जा चुकी है। जब शरीर के भीतर का प्राण क्षीण होने लगता है, तो शरीर भी क्षीण हो जाता है। इस समय मृत्यु के लक्षण चारों ओर मँडराने लगते हैं—अर्थात् यमराज के भयानक दूत दिखने लगते हैं और घोर आक्रमण करने लगते हैं। वैदिक प्रथा के अनुसार ऐसी अवस्था प्राप्त होने के पूर्व ही मनुष्य को घर छोड़कर ईश्वर के सन्देश का उपदेश करने के लिए आजीवन संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए। किन्तु यदि मनुष्य घर पर रहता है और उसकी प्रिया पत्नी तथा पुत्र उसकी सेवा करते हैं, तो इन्द्रिय-तृप्ति के कारण वह निश्चय ही क्षीण होता चला जाता है और जब अन्त में मृत्यु आती है, तो ऐसा मनुष्य अपने पीछे आध्यात्मिक सम्पत्ति विहीन शरीर छोड़ जाता है। वर्तमान समय में तो बूढ़ा से बूढ़ा व्यक्ति भी अपने परिवार को नहीं छोड़ता, वह अपनी पत्नी, बच्चों, धन, ऐश्वर्य, घर इत्यादि से बँधा रहता है। इस प्रकार जीवन के अन्तकाल में मनुष्य को चिन्ता रहती है कि उसकी पत्नी की रक्षा कैसे होगी और वह परिवार को कैसे सँभालेगी। इस प्रकार सामान्यत: मृत्यु के पूर्व लोग अपनी पत्नी के

विषय में सोचते हैं। *भगवद्गीता* के (८.६) अनुसार—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित: ॥

"मरते समय मनुष्य जिस किसी स्थिति के विषय में स्मरण करता है, उस स्थिति को वह निश्चित रूप से प्राप्त करता है।"

जीवन के अन्तकाल में मनुष्य सोचता है कि सारे जीवन में उसने क्या-क्या किया है और इस तरह जीवन के अन्त में उसके जो भी विचार तथा इच्छाएँ होती हैं उसी के अनुसार उसे दूसरा शरीर (देहान्तर) प्राप्त होता है। जो जीवन-भर घर में ही लिप्त रहता है उसके लिए स्वाभाविक है कि अन्तकाल में अपनी प्राणप्रिया पत्नी के विषय में सोचे। अत: अगले जीवन में उसे स्त्री का शरीर प्राप्त होता है और साथ में उसे पुण्य या पापकर्मों का फल भी मिलता है। इस अध्याय में राजा पुरञ्जन द्वारा स्त्री-देह प्राप्ति के विषय में विस्तार से बताया गया है।

कालकन्यापि बुभुजे पुरञ्जनपुरं बलात् ।
ययाभिभूत: पुरुष: सद्यो नि:सारतामियात् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

काल-कन्या—काल की पुत्री ने; अपि—भी; बुभुजे—अधिकार कर लिया; पुरञ्जन-पुरम्—पुरञ्जन की नगरी पर; बलात्—बलपूर्वक; यया—जिसके द्वारा; अभिभूत:—चंगुल में फँसकर; पुरुष:—मनुष्य; सद्य:—तुरन्त; नि:सारताम्—निकम्मापन; इयात्—प्राप्त करता है।

धीरे-धीरे कालकन्या ने घातक सैनिकों की सहायता से पुरञ्जन की नगरी के समस्त वासियों पर आक्रमण कर दिया और उन्हें सभी प्रकार से निकम्मा बना दिया।

तात्पर्य : जीवन के अन्त समय जब मनुष्य पर बुढ़ापे का आक्रमण होता है, तो उसका शरीर किसी काम के लायक नहीं रह जाता। इसीलिए वैदिक शिक्षा कहती है कि मनुष्य बचपन में ब्रह्मचर्य का अभ्यास करे अर्थात् वह पूर्ण रूप से भगवान् की सेवा में लगा रहे और स्त्रियों से किसी प्रकार का सम्पर्क न रखे। जब बालक बड़ा होता है और २०-२५ वर्ष का होता है, तो उसका विवाह होता है। समय से विवाह होने पर तुरन्त ही उसके स्वस्थ तथा हृष्ट-पुष्ट बच्चे उत्पन्न होते हैं। इस समय लड़कियों की संख्या बढ़ रही है, क्योंकि तरुण लोग संभोग के मामले में निर्बल हैं। लड़का (पुत्र) तभी उत्पन्न हो सकता है जब पुरुष का वीर्य स्त्री से प्रबल हो और यदि स्त्री प्रबल हुई तो लड़की उत्पन्न होती है।

अत: यदि कोई विवाह के बाद पुत्र की उत्पत्ति चाहता है, तो उसे ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। पचास वर्ष की आयु प्राप्त होते ही मनुष्य को गृहस्थ जीवन का परित्याग कर देना चाहिए। उस समय तक पुत्र को बड़ा हो जाना चाहिए जिससे परिवार का सारा उत्तरदायित्व उसे सौंपा जा सके। तब पति-पत्नी को विरक्त जीवन बिताने के लिए दूर-दूर तीर्थस्थलों की यात्रा करनी चाहिए। जब पति-पत्नी घर तथा परिवार से विरक्त हो जाते हैं, तो पत्नी अपनी प्रौढ़ सन्तानों के संरक्षण में रहने के लिए घर वापस लौट आती है और गृहस्थी के कार्यों से अलग रहती है। तब पति भगवान् की कुछ सेवा करने के उद्देश्य से संन्यास ले लेता है।

यह सभ्यता की पूर्ण पद्धति है। मनुष्य-जीवन विशेष रूप से ईश्वर-साक्षात्कार के लिए है। यदि कोई जीवन के प्रारम्भ से कृष्णभक्ति नहीं करता तो जीवन के अन्त में उसे स्वीकार कराने का अभ्यास कराना चाहिए। दुर्भाग्यवश न तो बचपन में ऐसी शिक्षा का कोई प्रबन्ध है और न अन्तिम काल में ही कोई अपना परिवार छोड़ पाता है। ऐसी स्थिति है पुरञ्जन की नगरी इस देह की।

तयोपभुज्यमानां वै यवना: सर्वतोदिशम् ।
द्वार्भि: प्रविश्य सुभृशं प्रार्दयन्सकलां पुरीम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

तया—कालकन्या द्वारा; उपभुज्यमानाम्—अधिकृत; वै—निश्चय ही; यवना:—यवनगण; सर्वत:-दिशम्—सभी दिशाओं से; द्वार्भि:—द्वारों से; प्रविश्य—घुस कर; सु-भृशम्—अत्यधिक; प्रार्दयन्—कष्ट देते हुए; सकलाम्—सर्वत्र; पुरीम्—नगरी में।

जब कालकन्या ने शरीर पर आक्रमण किया, तो यवनराज के घातक सैनिक विभिन्न द्वारों से नगरी में घुस आये। फिर वे सभी नागरिकों को अत्यधिक कष्ट देने लगे।

तात्पर्य : शरीर में नौ द्वार हैं—दो आँखें, दो नथुने, दो कान, एक मुँह, गुदा तथा शिश्न। जब मनुष्य को बुढ़ापा सताता है, तो शरीर के विभिन्न द्वारों पर रोगों का प्राकट्य होता है। उदाहरणार्थ, आँखों की ज्योति कम पड़ जाती है, जिससे चश्मे की जरूरत पड़ने लगती है और कानों से भी कम सुनाई पड़ने लगता है; अत: सुनने के सहायक यंत्र लगाने पड़ते हैं। नथुने कफ से सट जाते हैं और मनुष्य को सूँघने वाली अमोनिया की शीशी रखनी पड़ती है। इसी प्रकार मुँह के भीतर दाँत ठीक से चबा नहीं सकते, जिससे नकली दाँतों की आवश्यकता पड़ती है। गुदा भी कष्ट देने लगती है और ठीक से शौच नहीं हो पाता। कभी-कभी एनीमा लेना पड़ता है। मूत्र ठीक से न निकलने से कभी-कभी

अन्य सर्जिकल नली व्यवहार में लानी पड़ती है। इस प्रकार से सैनिकों ने पुरञ्जन की नगरी के विभिन्न द्वारों पर धावा बोल दिया। इस प्रकार बुढ़ापे में शरीर के सभी द्वार रोगों से अवरुद्ध हो जाते हैं और मनुष्य को अनेक ओषधियों तथा शल्य उपकरणों की सहायता लेनी पड़ती है।

तस्यां प्रपीड्यमानायामभिमानी पुरञ्जनः ।
अवापोरुविधांस्तापान्कुटुम्बी ममताकुलः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उस नगरी के; प्रपीड्यमानायाम्—विभिन्न कष्टों में पड़ कर; अभिमानी—अत्यधिक लिप्त; पुरञ्जनः—राजा पुरञ्जन ने; अवाप—प्राप्त किया; उरु—अनेक; विधान्—प्रकार के; तापान्—क्लेश; कुटुम्बी—परिवार वाले; ममता-आकुलः—परिवार से लगाव के कारण अत्यधिक व्यग्र।

जब इस प्रकार वह नगरी सैनिकों तथा कालकन्या के द्वारा विपदाग्रस्त हो गई तो अपने परिवार की ममता में लिप्त राजा पुरञ्जन यवनराज तथा काल-कन्या के आक्रमण से संकट में पड़ गया।

तात्पर्य : जब हम शरीर का उल्लेख करते हैं, तो उसमें बाहरी स्थूल शरीर के विविध अंग, मन, बुद्धि तथा अहंकार सम्मिलित होते हैं। वृद्धावस्था में ये सब अत्यन्त निर्बल हो जाते हैं जिससे अनेक रोग आ घेरते हैं। शरीर का स्वामी आत्मा ठीक से काम न कर सकने के कारण अत्यन्त दुखी होता है। *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है कि जीवात्मा ही इस शरीर का स्वामी (क्षेत्रज्ञ) है और यह शरीर कर्मभूमि (क्षेत्र) है। जब खेत में तरह-तरह के झाड़झंखाड़ उग आते हैं, तो खेत के स्वामी के लिए कार्य कर पाना कठिन हो जाता है। यही स्थिति आत्मा की हो जाती है, जब शरीर रोग के कारण भार बन जाता है। शरीर के ठीक से काम न करने तथा चिन्ता के कारण शरीर पर अतिरिक्त भार लदता रहता है।

कन्योपगूढो नष्टश्रीः कृपणो विषयात्मकः ।
नष्टप्रज्ञो हृतैश्वर्यो गन्धर्वयवनैर्बलात् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

कन्या—कालकन्या के द्वारा; उपगूढः—आलिंगित होकर; नष्ट-श्रीः—समस्त सौंदर्य से रहित; कृपणः—कंजूस; विषय-आत्मकः—इन्द्रियतृप्ति में लिप्त; नष्ट-प्रज्ञः—बुद्धि से विहीन; हृत-ऐश्वर्यः—ऐश्वर्य से वंचित; गन्धर्व—गन्धर्वों; यवनैः—तथा यवनों द्वारा; बलात्—बलपूर्वक।

कालकन्या द्वारा आलिंगन किए जाने से धीरे-धीरे राजा पुरञ्जन का सारा शारीरिक सौंदर्य

जाता रहा। अत्यधिक विषयासक्त होने से उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई और उसका सारा ऐश्वर्य नष्ट हो गया। सभी कुछ खो जाने पर गन्धर्वों तथा यवनों ने उसे बलपूर्वक जीत लिया।

तात्पर्य : जब मनुष्य बुढ़ापे का शिकार हो जाता है, किन्तु फिर भी इन्द्रियतृप्ति में लगा रहता है, तो उसका व्यक्तिगत सौंदर्य, बुद्धि तथा सारी सम्पत्ति क्रमशः नष्ट हो जाती है। इस प्रकार वह कालकन्या के प्रबल आक्रमण को सह नहीं पाता।

विशीर्णां स्वपुरीं वीक्ष्य प्रतिकूलाननादृतान् ।
पुत्रान्पौत्रानुगामात्याञ्जायां च गतसौहृदाम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

विशीर्णाम्—छिन्न-भिन्न; स्व-पुरीम्—अपनी नगरी को; वीक्ष्य—देखकर; प्रतिकूलान्—प्रतिकूल बातें; अनादृतान्—अनादृत होकर; पुत्रान्—पुत्रों को; पौत्र—नाती; अनुग—नौकर; अमात्यान्—मंत्रीगण को; जायाम्—स्त्री को; च—यथा; गत-सौहृदाम्—प्रतिकूल।

तब राजा पुरञ्जन ने देखा कि उसकी नगरी अस्त-व्यस्त हो गई है और उसके पुत्र, पौत्र, नौकर तथा मंत्री सभी क्रमशः उसके विरोधी बनते जा रहे हैं। उसने यह भी देखा कि उसकी पत्नी स्नेहशून्य एवं अन्यमनस्क हो रही है।

तात्पर्य : जब मनुष्य अशक्त हो जाता है, तो उसकी इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाती हैं, अर्थात् वे उसके वश में नहीं रह जातीं। तब इन्द्रियाँ तथा विषय-वस्तुएँ उसका विरोध करना प्रारम्भ कर देती हैं। जब मनुष्य कष्टमय स्थिति में होता है, तो उसके परिवार के सदस्य भी—पुत्र, पौत्र तथा पत्नी तक—अनादर करने लगते हैं। तब वे घर के मालिक के वश में नहीं रहते। जिस प्रकार इन्द्रियतृप्ति के लिए इन्द्रियाँ आवश्यक हैं, उसी प्रकार इन्द्रियों को बदले में शरीर से शक्ति की आवश्यकता होती है। मनुष्य अपने सुख के लिए परिवार बसाता है। इसी तरह परिवार के सदस्य घर के मुखिया से सुख चाहते हैं। जब उन्हें पर्याप्त धन नहीं मिलता तो उन्हें अरुचि उत्पन्न होती है और वे उसकी आज्ञाओं अथवा इच्छाओं का पालन नहीं करते। यह सब उसकी कृपणता के कारण होता है। *कृपण* शब्द छठे श्लोक में आया है और यह *ब्राह्मण* शब्द के विरोध में आया है। मनुष्य-जीवन पा करके उसे ब्राह्मण बनना चाहिए जिसका अर्थ होता है ब्रह्म की स्वाभाविक स्थिति को समझना और वैष्णव रूप में उसकी सेवा करना। हमें मनुष्य-जीवन में ही यह सुविधा मिलती है और यदि हम इस अवसर का सदुपयोग नहीं कर पाते तो हम कृपण बन जाते हैं। कृपण वह है, जिसके पास धन तो रहता है, किन्तु उसको वह ठीक से

खर्च नहीं करता। यह मनुष्य-जीवन विशेषत: ब्रह्म को समझने तथा ब्राह्मण बनने के लिए मिला है और यदि हम इसका ठीक से उपयोग नहीं करते तो हम कृपण बने रहते हैं। हम वास्तव में देख सकते हैं कि जिस मनुष्य के पास धन होता है, किन्तु वह उसे खर्चता नहीं तो वह कृपण बना रहता है और कभी सुखी नहीं रहता। इसी प्रकार जिसकी बुद्धि इन्द्रियतृप्ति के कारण भ्रष्ट हो जाती है, वह आजीवन कृपण बना रहता है।

आत्मानं कन्यया ग्रस्तं पञ्चालानरिदूषितान् ।
दुरन्तचिन्तामापन्नो न लेभे तत्प्रतिक्रियाम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—अपने आपको; कन्यया—कालकन्या द्वारा; ग्रस्तम्—आलिंगित; पञ्चालान्—पञ्चाल; अरि-दूषितान्—शत्रुओं से दूषित; दुरन्त—अलंघ्य; चिन्ताम्—चिन्ता; आपन्न:—प्राप्त करके; न—नहीं; लेभे—प्राप्त किया; तत्—उसका; प्रतिक्रियाम्—उपाय।

जब राजा पुरञ्जन ने देखा कि उसके परिवार के समस्त प्राणी, उसके सम्बन्धी, अनुचर, दास, मंत्री तथा अन्य सभी उसके विरुद्ध हो गये हैं, तो वह अत्यन्त चिन्तित हुआ। किन्तु उसे इस स्थिति से छूटने का कोई उपाय न दिखाई दिया, क्योंकि वह कालकन्या द्वारा बुरी तरह परास्त कर दिया गया था।

तात्पर्य : जब मनुष्य वृद्धावस्था के कारण निर्बल हो जाता है, तो परिवार के सदस्य, नौकर तथा मंत्रीगण उसकी परवाह नहीं करते। तब वह इसका प्रतिकार करने में समर्थ नहीं रहता, वह अधिकाधिक चिन्तित होता है और अपनी दयनीय स्थिति पर पछताता रहता है।

कामानभिलषन्दीनो यातयामांश्च कन्यया ।
विगतात्मगतिस्नेह: पुत्रदारांश्च लालयन् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

कामान्—सुख के साधन; अभिलषन्—अभिलाषा करते हुए; दीन:—बेचारा; यात-यामान्—बासी; च—भी; कन्यया—कालकन्या के प्रभाव से; विगत—खोया हुआ; आत्म-गति—जीवन का असली लक्ष्य; स्नेह:—आसक्ति; पुत्र—पुत्रों; दारान्—पत्नी; च—तथा; लालयन्—दुलारते हुए।

कालकन्या के प्रभाव से विषयभोग की सारी वस्तुएँ बासी पड़ गई थीं। अपनी कामेच्छाओं के बने रहने के कारण राजा पुरञ्जन अत्यन्त दीन बन चुका था। उसे अपने जीवन-लक्ष्य का भी पता न था। वह अब भी अपनी पत्नी तथा बच्चों के प्रति अत्यन्त आसक्त था और उनके पालन

के सम्बन्ध में चिन्तित था।

तात्पर्य : आजकल की सभ्यता की यह सही-सही स्थिति है। प्रत्येक व्यक्ति शरीर, घर तथा परिवार के पालन में लगा हुआ है। फलतः प्रत्येक व्यक्ति जीवन के अन्तिम समय में भ्रमित हो जाता है और उसे इसका ज्ञान नहीं रहता कि आध्यात्मिक जीवन क्या है और जीवन का लक्ष्य क्या है। इन्द्रियतृप्ति की सभ्यता में भला आध्यात्मिक जीवन कैसे चल सकता है! क्योंकि मनुष्य केवल इस जीवन के विषय में सोचता रहता है। यद्यपि अगला जीवन एक तथ्य है, किन्तु उसे इसके विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती।

गन्धर्वयवनाक्रान्तां कालकन्योपमर्दिताम् ।
हातुं प्रचक्रमे राजा तां पुरीमनिकामतः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

गन्धर्व—गन्धर्व सैनिकों; यवन—तथा यवन सैनिकों द्वारा; आक्रान्ताम्—हराया हुआ; काल-कन्या—कालकन्या द्वारा; उपमर्दिताम्—कुचला हुआ; हातुम्—त्यागने के लिए; प्रचक्रमे—बाध्य हुआ; राजा—राजा पुरञ्जन; ताम्—उस; पुरीम्—पुरी को; अनिकामतः—अनिच्छित।

राजा पुरञ्जन की नगरी गन्धर्व तथा यवन सैनिकों द्वारा जीत ली गई और यद्यपि राजा इस नगरी को त्यागना नहीं चाहता था, किन्तु परिस्थितिवश उसे ऐसा करना पड़ा, क्योंकि कालकन्या ने उसे कुचल दिया था।

तात्पर्य : जीव भगवान् की संगति से विलग होकर इस भौतिक जगत को भोगने का प्रयत्न करता है। उसे विशेष प्रकार का शरीर धारण करके, जो ब्रह्मा के शरीर से लेकर सूक्ष्म जीव तक का हो सकता है, इस संसार को भोगने का अवसर प्रदान किया जाता है। उत्पत्ति के वैदिक इतिहास से हमें पता चलता है कि ब्रह्मा पहला प्राणी था जिसने ब्रह्माण्ड की जनसंख्या बढ़ाने के लिए सात ॠषियों तथा प्रजापतियों को उत्पन्न किया। इस प्रकार प्रत्येक जीव अपने विगत कर्म के अनुसार विशेष प्रकार का शरीर प्राप्त करता है, जो ब्रह्मा से लेकर मल में रहने वाले सूक्ष्मजीवाणु तक का हो सकता है। विशेष प्रकार के शरीर की दीर्घकालीन संगति तथा कालकन्या और माया के अनुग्रह से मनुष्य इस भौतिक शरीर के प्रति अत्यधिक आसक्त हो जाता है, यद्यपि यह शरीर पीड़ा का आगार है। भले ही कोई मनुष्य सूक्ष्म जीव को मल से विलग करने का प्रयास करे, किन्तु वह उसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता। वह लौटकर फिर मल में जाता है। इसी प्रकार सुअर प्रायः गन्दे स्थानों में रहता है, मल

खाता है और यदि कोई उसे हटाकर स्वच्छ स्थान में रखना चाहे तो वह फिर वहीं लौट आता है। इस प्रकार यदि हम प्रत्येक जीव का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि वह अधिक सुविधाप्रद स्थान में जाने का प्रतिकार करता है। यद्यपि राजा पुरञ्जन पर चारों ओर से आक्रमण हो रहे थे, किन्तु वह अपनी नगरी को छोड़ने को तैयार न था। दूसरे शब्दों में, जीव चाहे जैसी स्थिति में हो शरीर को त्यागना नहीं चाहता, किन्तु उसे छोड़ना ही पड़ेगा, क्योंकि भौतिक शरीर शाश्वत नहीं है।

जीव इस भौतिक जगत को विविध प्रकार से भोगना चाहता है, इसीलिए प्रकृति के नियम उसे एक शरीर से दूसरे में जाने की छूट देते हैं, जिस प्रकार मनुष्य शिशु से बालक तथा बालक से तरुण और फिर प्रौढ़ के शरीर को प्राप्त करता है। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। अन्तिम अवस्था में जब शरीर वृद्ध तथा अक्षम हो जाता है, तो जीव इसे छोड़ने में आनाकानी करता है, जब कि यह आगे किसी काम की नहीं रह जाती। यद्यपि यह संसार तथा भौतिक देह आरामदेह नहीं हैं, तो भी जीव इन्हें क्यों नहीं छोड़ना चाहता? ज्योंही मनुष्य को भौतिक देह प्राप्त होती है उसे इसके पालन के लिए कठिन श्रम करना पड़ता है। वह तरह-तरह के कार्यों में जुट जाता है और प्रत्येक दशा में उसे इस शरीर के पालन-हेतु श्रम करना ही पड़ता है। दुर्भाग्यवश समाज को आत्मा के देहान्तर के विषय में जानकारी नहीं है। चूँकि जीवात्मा सच्चिदानन्द रूप के शाश्वत साम्राज्य में प्रवेश करने की आशा नहीं रखता, इसलिए वह वर्तमान शरीर से चिपका रहना चाहता है, भले ही वह व्यर्थ क्यों न हो चुका हो। फलस्वरूप इस संसार में सबसे बड़े कल्याणकार्य कृष्णभावनामृत-आन्दोलन को आगे बढ़ाना होगा।

यह आन्दोलन मानव-समाज को ईश्वर के धाम के विषय में यह जानकारी प्रदान करता है कि ईश्वर है, कृष्ण हैं और प्रत्येक जीव ईश्वर के पास लौटकर निरन्तर आनन्द तथा ज्ञान में रह सकता है। जो कृष्णभक्त है, वह इस शरीर को त्यागने से भयभीत नहीं रहता, क्योंकि उसकी स्थिति सदैव शाश्वत है। कृष्णभक्त सदैव भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगा रहता है और शरीर त्यागने के बाद भी भगवान् की सेवा में निरन्तर बना रहा। भक्तजन सदैव मुक्त रहते हैं जबकि कर्मीजन इस जर्जर भौतिक देह को छोड़ने में अत्यधिक भयभीत रहते हैं।

भयनाम्नोऽग्रजो भ्राता प्रज्वारः प्रत्युपस्थितः ।

ददाह तां पुरीं कृत्स्नां भ्रातुः प्रियचिकीर्षया ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

भय-नाम्नः—भय नामक; अग्र-जः—बड़ा; भ्राता—भाई; प्रज्वारः—प्रज्वार ने; प्रत्युपस्थितः—वहाँ उपस्थित होकर; ददाह—आग लगा दी; ताम्—उस; पुरीम्—पुरी में; कृत्स्नाम्—पूरी तरह से; भ्रातुः—अपने भाई को; प्रिय-चिकीर्षया—प्रसन्न करने के लिए।

ऐसी दशा में यवनराज के बड़े भाई प्रज्वार ने अपने छोटे भाई भय को प्रसन्न करने के लिए नगरी में आग लगा दी।

तात्पर्य : वैदिक प्रथा के अनुसार शव का ही अग्निदाह किया जाता है, किन्तु मृत्यु के पूर्व भी एक दूसरी अग्नि या ज्वर होता है, जिसे प्रज्वार या विष्णुज्वार कहा जाता है। चिकित्सा विज्ञान इसकी पुष्टि करता है कि यदि मनुष्य का ताप १०७ डिग्री से अधिक बढ़ जाता है, तो मनुष्य तुरन्त मर जाता है। यह प्रज्वार जीव को जीवन की अन्तिम अवस्था में दहकती अग्नि में छोड़ देता है।

तस्यां सन्दह्यमानायां सपौरः सपरिच्छदः ।
कौटुम्बिकः कुटुम्बिन्या उपातप्यत सान्वयः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उस पुरी के; सन्दह्यमानायाम्—अग्नि में प्रज्वलित होने पर; स-पौरः—समस्त पुरवासियों सहित; स-परिच्छदः—समस्त नौकरों तथा भृत्यों सहित; कौटुम्बिकः—अनेक सम्बन्धियों वाला राजा; कुटुम्बिन्या—अपनी पत्नी सहित; उपातप्यत—उस अग्नि का ताप सहने लगा; स-अन्वयः—अपने अनुचरों सहित।

जब सारी नगरी जलने लगी तो सारे नागरिक तथा राजा के नौकर, उसके परिवार के सदस्य, पुत्र, पौत्र, पत्नियाँ तथा अन्य सम्बन्धी अग्नि की चपेट में आ गये। इस प्रकार राजा पुरञ्जन अत्यन्त दुखी हो गया।

तात्पर्य : शरीर के अनेक भाग होते हैं जैसे इन्द्रियां, अंग, त्वचा, पेशियाँ, रक्त रस और जिन्हें यहाँ पर आलंकारिक ढंग से पुत्र, पौत्र, नागरिक तथा नौकर-चाकर कहा गया है। जब शरीर पर *विष्णुज्वार* का आक्रमण होता है, तो इतना ताप उत्पन्न होता है कि मनुष्य को मूर्छा आ जाती है—इसका अर्थ यह है कि शरीर में इतनी पीड़ा होती है कि व्यक्ति मूर्च्छित हो जाता है उसे इस बात का पता ही नहीं चलता कि उसके शरीर में क्या हो रहा है। दरअसल, मृत्यु के समय मनुष्य इतना विवश हो जाता है कि न चाहते हुए भी उसे अपना शरीर त्याग करके दूसरे में प्रवेश करना पड़ता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि मनुष्य भले ही वैज्ञानिक प्रगति के बल पर अपने रहन-सहन की स्थिति में अस्थायी रूप से सुधार कर ले, किन्तु वह जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु के कष्टों को दूर नहीं कर सकता। ये सब प्रकृति

के माध्यम से भगवान् के वश में हैं। मूर्ख व्यक्ति इस सीधी-सी बात को नहीं समझ सकता। आजकल लोग समुद्र के गर्भ में पेट्रोलियम की खोज कर रहे हैं, उन्हें भविष्य की चिन्ता है, किन्तु वे जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु की स्थितियों को सुधारने का कोई प्रयास नहीं करते। इस प्रकार अज्ञानी पुरुष अपने भविष्य के विषय में कुछ भी न जानने के कारण अपने सारे कार्यों में परास्त होता रहता है।

यवनोपरुद्धायतनो ग्रस्तायां कालकन्यया ।
पुर्यां प्रज्वारसंसृष्टः पुरपालोऽन्वतप्यत ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यवन—यवनों द्वारा; उपरुद्ध—आक्रमण किया गया; आयतनः—अपना घर; ग्रस्तायाम्—अधिकार में किया गया; काल-कन्यया—कालकन्या द्वारा; पुर्याम्—नगरी; प्रज्वार-संसृष्टः—प्रज्वार द्वारा निकट पहुँचा जाकर; पुर-पालः—नगरी का पालक; अन्वतप्यत—अत्यन्त दुखी हुआ।

जब नगरी की रखवाली करने वाले सर्प ने देखा कि नागरिकों पर काल-कन्या का आक्रमण हो रहा है, तो वह यह देखकर अत्यन्त सन्तप्त हुआ कि यवनों ने आक्रमण करके उसके घर में आग लगा दी है।

तात्पर्य : जीव दो प्रकार के शरीरों को ओढ़े रहता है—सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर। मृत्यु के समय यह स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, किन्तु सूक्ष्म शरीर द्वारा जीव किसी दूसरे स्थूल शरीर में ले जाया जाता है। आधुनिक युग के तथाकथित वैज्ञानिक यह नहीं देख सकते कि किस प्रकार सूक्ष्म शरीर एक शरीर से दूसरे में आत्मा को ले जाने का कार्य करता है। इस सूक्ष्म शरीर को नगरी के रक्षक सर्प के रूप में वर्णित किया गया है। जब चारों ओर आग लगी हो तो नगर का रक्षक (पुलिस अधीक्षक) भी भगकर नहीं निकल सकता। जब नगरी में सुरक्षा स्थापित रहती है और आग का अभाव होता है, तो पुलिस अधीक्षक नागरिकों पर अपना अधिकार जता सकता है, किन्तु जब नगरी में चारों ओर से आक्रमण हो रहा हो तो वह निरुपाय बन जाता है। ज्योंही प्राण स्थूल शरीर को त्यागने को उद्यत था, तो सूक्ष्म शरीर भी पीड़ा का अनुभव करने लगा।

न शेके सोऽवितुं तत्र पुरुकृच्छ्रोरुवेपथुः ।
गन्तुमैच्छत्ततो वृक्षकोटरादिव सानलात् ॥ १४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; शेके—समर्थ; सः—वह; अवितुम्—रक्षा करने में; तत्र—वहाँ; पुरु—अत्यधिक; कृच्छ्र—कठिनाई; उरु—बड़ी; वेपथुः—पीड़ा; गन्तुम्—बाहर जाने के लिए; ऐच्छत्—इच्छा की; ततः—वहाँ से; वृक्ष—वृक्ष के; कोटरात्—कोटर से; इव—सदृश; स-अनलात्—अग्नि लगे हुए।

जिस प्रकार जंगल में आग लगने पर वृक्ष के कोटर में रहने वाला सर्प उस वृक्ष को छोड़ना चाहता है, उसी प्रकार वह नगर अधीक्षक सर्प भी अग्नि के प्रचण्ड ताप के कारण नगरी छोड़ने के लिए इच्छुक हो उठा।

तात्पर्य : जंगल में आग लगने पर सर्पों के लिए जंगल छोड़ पाना कठिन हो जाता है। अन्य पशु तो अपनी लम्बी टांगों के बल से भग जाते हैं, किन्तु बेचारे सर्प रेंगकर चल सकने के कारण प्राय: अग्नि में जल जाते हैं। अन्तिम अवस्था में शरीर के अन्य अंग उतने प्रभावित नहीं होते जितना कि प्राण।

शिथिलावयवो यर्हि गन्धर्वैर्हृतपौरुषः ।
यवनैररिभी राजन्नुपरुद्धो रुरोद ह ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

शिथिल—ढीले; अवयवः—अंग-प्रत्यंग; यर्हि—जब; गन्धर्वैः—गन्धर्वों के द्वारा; हृत—पराजित; पौरुषः—शारीरिक शक्ति; यवनैः—यवनों के द्वारा; अरिभिः—शत्रुओं द्वारा; राजन्—हे राजा प्राचीनबर्हिषत्; उपरुद्धः—रोके जाने पर; रुरोद—जोर से चिल्लाया; ह—वस्तुतः।

गन्धर्वों तथा यवन सैनिकों द्वारा उस सर्प के शरीर के अंग जर्जर कर दिए गए, क्योंकि उन्होंने उसकी शारीरिक शक्ति को परास्त कर दिया था। जब उसने शरीर त्यागना चाहा तो उसके शत्रुओं ने रोक लिया। अपने प्रयास में विफल होने के कारण वह जोर से चीत्कार करने लगा।

तात्पर्य : जीवन की अन्तिम अवस्था में रोग के प्रभाव से शरीर के विभिन्न द्वार अवरुद्ध हो जाते हैं जिसका कारण है कफ, पित्त और वात का असंतुलन। इससे जीव अपने कष्ट को व्यक्त नहीं कर पाता और उसके चारों ओर खड़े रहने वाले सम्बन्धी मरणासन्न मनुष्य से *घुर-घुर* की आवाज सुनते हैं। राजा कुलशेखर ने अपने *मुकुन्दमाला स्तोत्र* में कहा है—

कृष्ण त्वदीयपदपंकजपञ्जरान्तम्

अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः ।

प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः

कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते ॥

"हे कृष्ण! मुझे जल्दी मृत्यु दो जिससे मेरा मनरूपी हंस आपके चरणकमलों की नाल से घिर जाय। अन्यथा मेरी अन्तिम श्वास के समय जब मेरा गला रुद्ध हो जायेगा तो मैं आपके विषय में कैसे सोच पाऊँगा?" हंस को पानी के भीतर डुबकी मारने तथा कमलनालों से घिरे रहने में बड़ा आनन्द आता है। यह फँसना एक प्रकार का विलास है। यदि हम स्वस्थ रहते हुए भगवान् के चरणकमलों का चिन्तन करते हुए मरते हैं, तो यह परम सौभाग्य है। बुढ़ापे में, मृत्यु के समय गला कभी-कभी कफ से सँध जाता है या हवा से अवरुद्ध हो जाता है। ऐसी अवस्था में हरे कृष्ण महामंत्र का उच्चारण नहीं हो पाता। इस तरह मनुष्य कृष्ण को भूल जाता है। निस्सन्देह, जो कृष्णभक्ति में दृढ़ हैं, वे जीवन की किसी भी अवस्था में, विशेष करके जब उन्हें मृत्यु की सूचना मिल जाती है, कृष्ण को नहीं भूल सकते क्योंकि वे हरे कृष्ण मंत्र जपने के अभ्यस्त होते हैं।

दुहितॄः पुत्रपौत्रांश्च जामिजामातृपार्षदान् ।
स्वत्वावशिष्टं यत्किञ्चिद्गृहकोशपरिच्छदम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

दुहितॄः—पुत्रियों; पुत्र—पुत्रों; पौत्रान्—नातियों के विषय में; च—तथा; जामि—बहुओं; जामातृ—दामादों; पार्षदान्—पार्षदों; स्वत्व—सम्पत्ति; अवशिष्टम्—शेष; यत् किञ्चित्—जो कुछ भी; गृह—घर; कोश—खजाना; परिच्छदम्—घरेलू साज-सामान।

तब राजा पुरञ्जन अपनी पुत्रियों, पुत्रों, पौत्रों, पुत्रवधुओं, जामाता, नौकरों तथा अन्य पार्षदों के साथ-साथ अपने घर, घर के सारे साज-सामान तथा जो कुछ भी सञ्चित धन था, उन सबके विषय में सोचने लगा।

तात्पर्य : प्राय: देखा गया है कि जिन्हें देह से बहुत मोह होता है वे डाक्टर से कुछ काल के लिए जीवन बढ़ा देने के लिए याचना करते हैं। यदि तथाकथित विज्ञानी आक्सीजन तथा अन्य ओषधियों के बल से रोगी की आयु कुछ मिनटों के लिए बढ़ा देते हैं, तो वे इसे महान् सफलता मानते हैं, यद्यपि रोगी को अन्तत: मरना पड़ता है। यही जीवन-संघर्ष कहलाता है। रोगी तथा डाक्टर मृत्यु के समय जीवन की अवधि बढ़ाने के विषय में सोचते हैं, जबकि पहले से शरीर के सभी अवयव प्राय: मृतप्राय हो चुके होते हैं।

अहं ममेति स्वीकृत्य गृहेषु कुमतिर्गृही ।

दध्यौ प्रमदया दीनो विप्रयोग उपस्थिते ॥ १७॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; मम—मेरा; इति—इस प्रकार; स्वी-कृत्य—स्वीकार करके; गृहेषु—घर में; कु-मतिः—दुर्बुद्धि; गृही—गृहस्थ; दध्यौ—ध्यान दिया; प्रमदया—अपनी पत्नी सहित; दीनः—अत्यन्त निर्धन; विप्रयोगे—जब वियोग; उपस्थिते—आ उपस्थित हुआ।.

राजा पुरञ्जन अपने परिवार के प्रति तथा ''मैं'' और ''मेरे'' विचार में अत्यधिक आसक्त था। चूँकि वह अपनी पत्नी के प्रति अत्यधिक मोहित था, इसलिए वह पहले से दीन बन चुका था। वियोग के समय वह अत्यन्त दुखी हो गया।

तात्पर्य : इस श्लोक से स्पष्ट है कि मरते समय भौतिक सुख के विचार कहीं नहीं जाते। यह सूचित करता है कि जीवात्मा सूक्ष्म शरीर—मन, बुद्धि तथा अहंकार—द्वारा ले जाया जाता है। अहंकार के कारण जीव अब भी भौतिक सुख भोगना चाहता है और उसको न भोग पाने से वह दुखी हो जाता है। वह अपने अस्तित्व को बढ़ाने के लिए बौद्धिक योजना बनाता है और स्थूल शरीर त्यागने पर भी वह सूक्ष्म शरीर द्वारा दूसरे स्थूल शरीर में ले जाया जाता है। सूक्ष्म शरीर का देहान्तरण इन भौतिक आँखों से नहीं दिखता, अत: जब मनुष्य स्थूल देह छोड़ता है, तो हम सोचते हैं कि वह मर गया। सूक्ष्म शरीर भौतिक सुख की योजनाएँ बनाता है, स्थूल शरीर तो उनको भोगने का साधन मात्र है। इस प्रकार इस स्थूल देह की उपमा पत्नी से दी जा सकती है, क्योंकि पत्नी ही वह साधन है, जो इन्द्रियतृप्ति की सारी सामग्री प्रस्तुत करती है। स्थूल शरीर से दीर्घकालीन संगति के कारण जीव को इससे बिछुड़ते हुए दुख होता है। जीव की मानसिक क्रियाशीलता उसे दूसरा स्थूल शरीर धारण करने के लिए बाध्य करती है।

स्त्री संस्कृत भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है ''विस्तार।'' स्त्री के माध्यम से ही मनुष्य पुत्र, पुत्रियाँ, पौत्र इत्यादि के रूप में अपना विस्तार करता है। मृत्यु के समय परिवार के सदस्यों के प्रति अनुराग प्रखर हो जाता है। प्राय: यह देखा जाता है कि मृत्यु के निकट आने पर मनुष्य अपने प्रिय पुत्र को बुलाकर उस पर अपनी पत्नी तथा अन्य साज-सामान की रक्षा का भार डाल देता है और कहता है, ''मेरे बेटे! मैं जाने को बाध्य हूँ, तुम परिवार की देखभाल करना।'' वह अपने गन्तव्य को न जानते हुए भी इस प्रकार कहता है।

लोकान्तरं गतवति मय्यनाथा कुटुम्बिनी ।
वर्तिष्यते कथं त्वेषा बालकाननुशोचती ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

लोक-अन्तरम्—अन्य जीवन में; गतवति मयि—मेरे चले जाने पर; अनाथा—पतिविहीन; कुटुम्बिनी—अपने परिवार से घिरी; वर्तिष्यते—रहेगी; कथम्—कैसे; तु—तब; एषा—यह स्त्री; बालकान्—बच्चों को; अनुशोचती—विलाप करती हुई।

राजा पुरञ्जन अत्यन्त चिन्तित होकर सोचने लगा, "हाय! मेरी पत्नी इतने सारे बच्चों से परेशान होगी। जब मैं यह शरीर छोड़ दूँगा तो यह किस प्रकार परिवार के इन सभी सदस्यों का पालन करेगी? हाय! वह परिवार पालन के विचार से अत्यधिक कष्ट पाएगी।"

तात्पर्य : अपनी पत्नी के विषय में उसके इतने सारे विचार यह सूचित करते हैं कि राजा स्त्री के विचार में कितना निमग्न था। सामान्यत: पतिपरायण स्त्री अत्यन्त आज्ञाकारिणी पत्नी होती है। इससे पति अपनी पत्नी के प्रति आकृष्ट होता है और मृत्यु के समय वह अपनी पत्नी के विषय में बहुत अधिक सोचता है। यह अत्यन्त घातक स्थिति है, जैसाकि राजा पुरञ्जन के जीवन से स्पष्ट है। यदि मृत्यु के समय कोई कृष्ण के बजाय अपनी स्त्री के विषय में सोचता है, तो वह निश्चय ही भगवान् के धाम वापस नहीं जा सकता, अपितु उसे स्त्री का शरीर धारण करके भौतिक जीवन का नया अध्याय प्रारम्भ करना पड़ता है।

न मय्यनाशिते भुङ्क्ते नास्नाते स्नाति मत्परा ।
मयि रुष्टे सुसन्त्रस्ता भर्त्सिते यतवाग्भयात् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; मयि—जब तक मैं; अनाशिते—खा नहीं लेता था; भुङ्क्ते—वह खाती थी; न—नहीं; अस्नाते—स्नान नहीं कर लेता था; स्नाति—नहाती थी; मत्-परा—मेरे प्रति अनुरक्त; मयि—जब मैं; रुष्टे—नाराज होता था; सु-सन्त्रस्ता—अत्यन्त डरी रहती थी; भर्त्सिते—जब मैं डाँटता फटकारता था; यत-वाक्—संयमित वाणी; भयात्—डर से।

राजा पुरञ्जन अपनी पत्नी के साथ अपने पुराने व्यवहारों को सोचने लगा। उसे याद आया कि उसकी पत्नी तब तक भोजन नहीं करती थी, जब तक वह स्वयं खा नहीं चुकता था; वह तब तक नहीं नहाती थी जब तक वह नहीं नहा लेता था और वह उस पर सदा इतनी अधिक अनुरक्त थी कि यदि वह कभी झिड़क देता था और उस पर नाराज हो जाता था, तो वह मौन रहकर उसके दुर्व्यवहार को सह लेती थी।

तात्पर्य : पत्नी अपने पति के प्रति सदैव विनम्र रहती है। विनम्रता, सदाचार तथा सेवाभाव पत्नी के ऐसे गुण हैं जिससे पति उसके प्रति अत्यन्त भावुक रहता है। पारिवारिक जीवन में पति का पत्नी पर

अनुरक्त रहना हितकर होता है, किन्तु आध्यात्मिक विकास के लिए यह अधिक उपयुक्त नहीं होता।अत: घर-घर में कृष्णभक्ति की नींव पड़नी चाहिए। यदि कृष्णभक्ति में पति तथा पत्नी एक दूसरे पर अनुरक्त हैं, तो वे दोनों लाभ उठा सकते हैं, क्योंकि कृष्ण ही उनके अस्तित्व का केन्द्रबिन्दु है। अन्यथा यदि पति अपनी पत्नी के प्रति अधिक अनुरक्त रहता है, तो अगले जन्म में वह स्त्री बनता है। इसी प्रकार पति पर अत्यधिक अनुरक्त होने से स्त्री को अगले जन्म में पुरुष बनना होता है। निस्सन्देह, पुरुष बनना स्त्री के हित में है, किन्तु पुरुष के लिए स्त्री बनना तनिक भी लाभप्रद नहीं है।

प्रबोधयति माविज्ञं व्युषिते शोककर्शिता ।
वर्त्मैतद्गृहमेधीयं वीरसूरपि नेष्यति ॥ २० ॥

शब्दार्थ

प्रबोधयति—अच्छी सलाह देती है; मा—मुझको; अविज्ञम्—मूर्ख; व्युषिते—मेरे बाहर जाने पर; शोक—शोक से; कर्शिता—दुख से सूखी हुई; वर्त्म—रास्ता; एतत्—यह; गृह-मेधीयम्—गृहस्थी के कार्यों का; वीर-सूः—वीरों की जननी; अपि—यद्यपि; नेष्यति—क्या कर सकेगी।.

राजा पुरञ्जन सोचता रहा कि उसके मोहग्रस्त होने पर किस तरह उसकी पत्नी उसे अच्छी सलाह देती थी और उसके घर से बाहर चले जाने पर वह कितनी दुखी हो जाती थी। यद्यपि वह अनेक पुत्रों एवं वीरों की माता थी तो भी राजा को डर था कि वह गृहस्थी का भार नहीं ढो सकेगी।

तात्पर्य : मृत्यु के समय राजा पुरञ्जन अपनी पत्नी के विषय में सोच रहा था। यह दूषित चेतना कहलाती है। जैसाकि भगवान् श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (१५.७) में बतलाया है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन: ।
मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

“इस बद्ध जगत में जितने जीव हैं, वे मेरे शाश्वत अंश हैं। बद्धजीवन के कारण वे मन समेत छहों इन्द्रियों द्वारा अत्यधिक श्रम में लगे हुए हैं।”

जीव आखिर परमेश्वर श्रीकृष्ण का ही अंश है। गुणात्मक रूप से कृष्ण तथा जीव की स्वाभाविक स्थितियाँ एक सी हैं; अन्तर केवल इतना ही है कि जीवात्मा सदैव परमात्मा का सूक्ष्म कण है। *ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन: ।* इस बद्ध जीवन के संसार में परमात्मा का अंश, यह जीवात्मा, अपने दूषित मन तथा चेतना के कारण संघर्ष में लगा रहता है। परमेश्वर का अंश होने से यह आशा की

जाती है कि जीवात्मा श्रीकृष्ण के विषय में सोचेगा, किन्तु यहाँ पर हम देखते हैं कि जीवस्वरूप राजा पुरञ्जन केवल स्त्री के विषय में सोच रहा है। किसी इन्द्रिय विषय में ऐसी मानसिक व्यस्तता के कारण ही जीव को इस भौतिक संसार में जीवन-संघर्ष करना पड़ता है। चूँकि राजा पुरञ्जन अपनी पत्नी के विषय में सोचता है, अत: इस जगत में उसका जीवन-संघर्ष उसकी मृत्यु के साथ समाप्त नहीं होगा। जैसाकि अगले श्लोकों से विदित होगा, उसे अपनी पत्नी के ही विचार में लीन रहने के कारण अगले जन्म में स्त्री का शरीर धारण करना पड़ा। इस प्रकार सामाजिक, राजनीतिक, छद्मधार्मिक, राष्ट्रीय तथा जातीय भावों में मन को लीन रखना ही बन्धन का कारण है। इस बन्धन से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को अपने जीवनकाल में अपने कार्यकलापों को बदलना पड़ता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (३.९) में हुई है—*यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन:।* यदि हम इसी जीवन में अपनी चेतना नहीं बदलते तो जो कुछ भी हम सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा राष्ट्रीय कल्याण के नाम पर कार्य करते हैं वह सब हमारे बन्धन का कारण बनता है। इसका अर्थ यह हुआ कि हमें आगे भी भौतिक बद्धजीवन बिताना पड़ता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.७) में कहा गया है—*मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।* जब मन तथा इन्द्रियाँ भौतिक कार्यों में लगी रहती हैं, तो जीवन-संघर्ष करना पड़ता है और सुख के लिए संघर्ष करना पड़ता है। प्रत्येक जीवन में मनुष्य सुखी रहने के लिए संघर्ष करता है। वास्तव में इस संसार में कोई भी सुखी नहीं है किन्तु संघर्ष से सुख की झूठी प्रतीति होती है। मनुष्य को कठिन श्रम करना पड़ता है और जब उसे परिश्रम का फल मिलता है, तो वह स्वयं को सुखी अनुभव करता है। इस संसार में कोई यह यहीं जानता कि वास्तविक सुख क्या है। *सुखं आत्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्* (*भगवद्गीता* ६.२१)। वास्तविक सुख का बोध तो दिव्य इन्द्रियों द्वारा होता है। किन्तु जब तक मनुष्य शुद्ध नहीं होता, दिव्य इन्द्रियाँ प्रकट नहीं होतीं, अत: इन्द्रियों को शुद्ध करने के लिए मनुष्य को कृष्णभक्ति करनी चाहिए और इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाना चाहिए। तभी वास्तविक सुख मिलेगा तथा मुक्ति प्राप्त होगी। *भगवद्गीता* (१५.८) में कहा गया है—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वर:।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥

''जिस प्रकार वायु गन्ध को वहन करती है उसी प्रकार जीव इस संसार में जीवन सम्बन्धी विविध

विचारों को एक शरीर से दूसरे शरीर में ढोता है।'' यदि वायु किसी गुलाब के बगीचे से होकर बहती है, तो वह गुलाब की सुगन्ध ग्रहण करती है और यदि किसी गन्दे स्थान से होकर बहती है, तो अपने साथ दुर्गन्ध ले जाती है। इसी प्रकार जीवस्वरूप राजा पुरञ्जन अपनी प्राण-वायु को अपनी पत्नी पर प्रवाहित करता है, इसीलिए उसे अगले जीवन में स्त्री का शरीर धारण करना पड़ता है।

कथं नु दारका दीना दारकीर्वापरायणाः ।
वर्तिष्यन्ते मयि गते भिन्ननाव इवोदधौ ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कथम्—कैसे; नु—वस्तुतः; दारकाः—पुत्र; दीनाः—बेचारे, अनाथ; दारकीः—पुत्रियों; वा—अथवा; अपरायणाः—जिनका कोई आश्रय नहीं है; वर्तिष्यन्ते—रहेंगे; मयि—जब मैं; गते—इस संसार से चला जाऊँगा; भिन्न—विदीर्ण, टूटी हुई; नावः—नाव; इव—सदृश; उदधौ—सागर में।

राजा पुरञ्जन आगे भी चिन्तित रहने लगा: ''जब मैं इस संसार से चला जाऊँगा तो मेरे ऊपर पूर्णतः आश्रित पुत्र तथा पुत्रियाँ किस प्रकार अपना जीवन निर्वाह करेंगी? उनकी स्थिति जहाज में चढ़े हुए उन यात्रियों के समान है जिनका जहाज सागर के बीच में ही टूट जाता है।''

तात्पर्य : मृत्यु के समय प्रत्येक जीव को चिन्ता होती है कि उसकी पत्नी तथा पुत्रों का क्या होगा। इसी प्रकार एक राजनीतिज्ञ भी सोचता है कि उसके मरने पर देश अथवा उसके राजनीतिक दल का क्या होगा। जब तक कोई पूर्णतः कृष्णभक्त नहीं होता, उसे अपनी विशेष चेतना के अनुरूप ही अगले जन्म में शरीर धारण करना होता है। चूँकि पुरञ्जन केवल अपनी पत्नी तथा बच्चों के विषय में सोचता है और अपनी पत्नी के ही विचार में अधिक मग्न रहता है, इसलिए उसे अगले जीवन में स्त्री का शरीर धारण करना होगा। इसी प्रकार कोई राजनीतिज्ञ या राष्ट्रप्रेमी जो जन्म से ही किसी भूभाग (देश) से विशेष रूप से अनुरक्त रहता है, वह अपना राजनीतिक जीवन समाप्त करने के बाद अगले जन्म में उसी देश में पुनः जन्म लेगा। अपने जीवनकाल में मनुष्य जो कार्य करता है उससे भी अगला जन्म प्रभावित होगा। कभी-कभी राजनेता अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए अनेक कुकृत्य करते हैं। विपक्षी दल के किसी व्यक्ति की हत्या करा देना किसी राजनेता के लिए कोई बड़ी बात नहीं होती। यद्यपि ऐसे राजनेता को उसके अपने तथाकथित देश में जन्म लेने दिया जाता है, किन्तु उसने अपने पूर्व जीवन में जो पापकर्म किये हैं उनके लिए कष्ट भोगना ही पड़ता है।

देहान्तर का यह विज्ञान आधुनिक विज्ञानियों के लिए पूरी तरह से अज्ञात है। ये तथाकथित

विज्ञानी इन वस्तुओं के विषय में तनिक भी चिन्ता नहीं करना चाहते, क्योंकि यदि वे इस सूक्ष्म विषय पर और जीवन की समस्याओं पर विचार करें तो वे देखेंगे कि उनका भविष्य अंधकारमय है। इसीलिए वे भविष्य के विषय में विचार करने से कतराते हैं और सामाजिक, राजनीतिक तथा राष्ट्रीय आवश्यकता के नाम पर नाना प्रकार के पापकर्म करते रहते हैं।

एवं कृपणया बुद्ध्या शोचन्तमतदर्हणम् ।
ग्रहीतुं कृतधीरेनं भयनामाभ्यपद्यत ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कृपणया—दीन; बुद्ध्या—बुद्धि से; शोचन्तम्—पछताते हुए; अ-तत्-अर्हणम्—जिस पर उसे नहीं पछताना चाहिए था; ग्रहीतुम्—बन्दी बनाने के लिए; कृत-धीः—दृढ़संकल्प यवनराज; एनम्—उसको; भय-नामा—भय नामक; अभ्यपद्यत—तुरन्त आ गया।.

यद्यपि राजा पुरञ्जन को अपनी पत्नी तथा बच्चों के भाग्य के विषय में पश्चात्ताप नहीं करना चाहिए था फिर भी उसने अपनी दीन बुद्धि के कारण ऐसा किया। उसी समय, भय नामक यवनराज उसे बन्दी करने के लिए तुरन्त निकट आ धमका।

तात्पर्य : मूर्ख लोग यह नहीं जानते कि प्रत्येक जीव अपने कर्मों तथा कर्म फलों के लिए उत्तरदायी है। जब तक जीव छोटे बच्चे या अबोध बालक के रूप में रहता है तब तक माता-पिता का यह कर्तव्य होता है कि वे उसे जीवन के मूल्यों की सही जानकारी दें; जब वह बड़ा हो जाये तो उसे जीवन के सारे कार्य करने के लिए छोड़ देना चाहिए। माता-पिता मृत्यु के पश्चात् अपनी सन्तान की सहायता नहीं कर सकते। पिता अपनी सन्तानों की तुरन्त सहायता के लिए कुछ सम्पत्ति जोड़ सकता है, किन्तु उसे इन विचारों में डूबा नहीं रहना चाहिए कि उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके परिवार का भरण-पोषण कैसे होगा। बद्धजीव का यही रोग है। वह न केवल अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए पापकर्म करता है, वरन् मरने के पश्चात् अपनी सन्तान के लिए इतना धन छोड़ जाना चाहता है कि वे भी इसे इन्द्रियतृप्ति में अच्छी तरह खर्च कर सकें।

जो भी हो, प्रत्येक प्राणी मृत्यु से भयभीत रहता है, इसीलिए मृत्यु को भय कहा गया है। यद्यपि राजा पुरञ्जन अपनी पत्नी तथा सन्तान के विषय में सोचने में लगा हुआ था, किन्तु मृत्यु ने इसकी प्रतीक्षा नहीं की। मृत्यु किसी मनुष्य की प्रतीक्षा नहीं करती, वह अपना कार्य तुरन्त निपटाती है। चूँकि मृत्यु बिना किसी हिचक के जीव को अपने साथ ले जाती है, अतः नास्तिकों के लिए यह चरम ईश्वर-

साक्षात्कार है। जो ईश-चेतना को भुलाकर मात्र अपने देश, समाज और रिश्तेदारों के बारे में ही सोचते हुए जीवन बर्बाद करते रहते हैं। इस श्लोक में *अतद्-अर्हणम्* अत्यन्त सार्थक है, क्योंकि इसका अर्थ है कि मनुष्य को अपने परिवार के सदस्यों, देशवासियों तथा समाज के कल्याणकार्यों में अत्यधिक व्यस्त नहीं होना चाहिए। इनसे मनुष्य का आध्यात्मिक विकास नहीं होता। दुर्भाग्यवश आज के समाज में तथाकथित शिक्षित व्यक्तियों को आध्यात्मिक उन्नति के विषय में कोई ज्ञान नहीं है। यद्यपि मनुष्य जीवन पाकर उन्हें आध्यात्मिक उन्नति करने का अवसर मिलता है, किन्तु वे कृपण के कृपण बने रहते हैं। वे अपने सम्बन्धियों, देशवासियों, समाज इत्यादि के विषय में ही सोच-सोचकर अपने जीवन को अनुचित ढंग से उपयोग में लाकर इसे बर्बाद करते रहते हैं। मनुष्य का वास्तविक कर्तव्य है कि वह मृत्यु पर विजय पाना सीखे। श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (४.९) में मृत्यु को जीतने की विधि बताई है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत: ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

''हे अर्जुन! जो मेरे प्राकट्य तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति को भलीभाँति जानता है, वह शरीर त्यागने के बाद इस जगत में पुन: जन्म नहीं लेता, वरन् वह मेरे शाश्वत धाम को प्राप्त होता है।''

जो पूर्ण रुप से कृष्णभावनाभावित है, वह इस शरीर को त्यागने के बाद दूसरा शरीर धारण नहीं करता, वरन् भगवान् के धाम वापस जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को यह सिद्धि प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। दुर्भाग्यवश ऐसा न करके लोग समाज, मित्रता, प्यार तथा सम्बन्धियों के विचार में मग्न रहते हैं। किन्तु यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन सारे विश्व के लोगों को मृत्यु को जीतने की शिक्षा दे रहा है। *हरिं बिना न सृतिं तरन्ति।* भगवान् की शरण ग्रहण किये बिना कोई मृत्यु पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता।

पशुवद्यवनैरेष नीयमान: स्वकं क्षयम् ।
अन्वद्रवन्ननुपथा: शोचन्तो भृशमातुरा: ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

पशु-वत्—पशु के समान; यवनै:—यवनों के द्वारा; एष:—यह, पुरञ्जन; नीयमान:—बन्दी बनाकर ले जाया गया; स्वकम्—अपने; क्षयम्—घर; अन्वद्रवन्—पीछे-पीछे; अनुपथा:—उसके सेवक; शोचन्त:—विलाप करते; भृशम्—अत्यधिक; आतुरा:—अत्यन्त दुखी।

जब यवनगण राजा पुरञ्जन को पशु की भाँति बाँधकर उसे अपने स्थान को ले जाने लगे तो

राजा के अनुचर अत्यन्त शोकाकुल हो उठे। उन्हें भी विलाप करते हुए राजा के साथ-साथ जाना पड़ा।

तात्पर्य : जब यमराज तथा उसके दूत जीव को न्याय के स्थल ले जाते हैं, तो प्राण, इच्छाएँ आदि भी जीव के अनुचर के रूप में उसके साथ जाती हैं। इसकी पुष्टि वेदों में हुई है। जब जीव यमराज द्वारा बन्दी बना कर ले जाया जाता है (*तम् उत्क्रामन्तम्*) तो प्राण भी उसके साथ चला जाता है (*प्राणोऽनूत्क्रामति*) और जब प्राण निकल जाता है (*प्राणम् अनूत्क्रामन्तम्*) तो सारी इन्द्रियां (*सर्वे प्राणाः*) भी साथ चली जाती हैं (*अनुत्क्रामन्ति*)। जब जीवात्मा तथा प्राण निकल जाते हैं, तो पंचतत्त्वों से उत्पन्न पदार्थ का पिंड पीछे छूटा रह जाता है। तब जीवात्मा न्यायालय में पहुँचता है, जहाँ यमराज तय करता है कि उसे कैसा शरीर मिले। आधुनिक विज्ञानी इस विधि से अपरिचित हैं। प्रत्येक जीव इस जन्म में अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी है और मृत्यु के बाद उसे यमराज के दरबार में ले जाया जाता है जहाँ वह यह तय करता है कि उसे किस तरह का अगला शरीर मिले। यद्यपि स्थूल शरीर छूट जाता है, किन्तु जीवात्मा तथा उसकी इच्छाएँ एवं उसके विगत कर्मों के फल उसके साथ-साथ जाते हैं। यह तो यमराज पर निर्भर करता है कि पिछले कर्मों के अनुसार वह उसे कैसा शरीर प्रदान करे।

पुरीं विहायोपगत उपरुद्धो भुजङ्गमः ।
यदा तमेवानु पुरी विशीर्णा प्रकृतिं गता ॥ २४॥

शब्दार्थ

पुरीम्—नगरी को; विहाय—छोड़कर; उपगतः—चला गया; उपरुद्धः—बन्दी; भुजङ्गमः—सर्प; यदा—जब; तम्—उसको; एव—निश्चय ही; अनु—पीछे-पीछे; पुरी—नगरी; विशीर्णा—ध्वस्त, तहस-नहस; प्रकृतिम्—पदार्थ में; गता—परिणत हो गयी।.

वह सर्प भी, जिसे यवनराज के सैनिकों ने बन्दी बनाकर पहले ही नगरी के बाहर कर दिया था, अन्यों के साथ अपने स्वामी के पीछे-पीछे चलपड़ा। ज्योंही इन सबों ने नगरी को छोड़ दिया त्योंही वह नगरी तहस-नहस (ध्वस्त) होकर धूल में मिल गई।

तात्पर्य : जब जीव को बन्दी बना लिया जाता है, तो उसके सारे अनुचर—प्राण, इन्द्रियाँ तथा विषय—पदार्थ के पिंड अर्थात् शरीर का परित्याग कर देते हैं। जब जीवात्मा तथा उसके साथी प्रयाण कर जाते हैं, तो शरीर कार्य नहीं करता। वह अपने मूलभूत तत्त्वों—क्षिति, जल, पावक, गगन तथा

समीर—में परिणत हो जाता है। जब शत्रु किसी नगरी पर आक्रमण करते हैं और उसके वासी जब उसे छोड़कर बाहर चले जाते हैं, तो वे उस नगरी पर बमबारी करके उसे तहस-नहस कर देते हैं। जब हम कहते हैं, ''तुम धूल हो और धूल में मिल जाओगे,'' तो हमारा प्रयोजन शरीर से ही होता है। जब नगरी पर शत्रु का आक्रमण होता है और उस पर बमबारी हो जाती है, तो नागरिक सामान्यतः उसे छोड़कर चले जाते हैं और उस नगरी का अस्तित्व मिट जाता है।

मूर्ख व्यक्ति ही नगरी के वासियों की परवाह किये बिना नगरी को सुधारने का प्रयास करता है। इसी प्रकार जीव भी, जिसे आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त नहीं है बाह्य शरीर की रक्षा करता है, उसे यह पता ही नहीं रहता कि मुख्य कारण तो शरीर के भीतर स्थित आत्मा है। जब मनुष्य को आध्यात्मिक ज्ञान होता है, तो आत्मा निरन्तर देहान्तरण से बच जाता है। जो लोग अपने शरीर के प्रति अधिक अनुरक्त हैं, उन्हें *श्रीमद्भागवत* गाय तथा गधे के समान मानती है (*स एव गो-खरः*)। गाय अत्यन्त अबोध पशु है और गधा भारढोने वाला जानवर है। जो देहात्मबुद्धि के कारण श्रम करता रहता है, वह गधे के तुल्य है और अपने स्वार्थ को नहीं पहचानता। कहा भी गया है (*भागवत* १०.८४.१३)—

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके

स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।

यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि-

ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥

''जो तीन तत्त्वों से बने इस शरीर को आत्मा मानता है, जो शरीर के उपजातों को अपना परिजन मानता है, जो अपनी जन्मभूमि को पूज्य मानता है और जो तीर्थों की यात्रा में दिव्य ज्ञानियों से मिलने के लिए नहीं, अपितु केवल स्नान करने के लिए जाता है, उसे गधा या गाय समझना चाहिए।''

कृष्णभक्ति से विहीन मानव-सभ्यता केवल निम्न पशुओं की सभ्यता है। हो सकता है ऐसी सभ्यता मृतशरीर (शव) का अध्ययन करे और मस्तिष्क या हृदय पर विचार करे, किन्तु शरीर का कोई भी भाग तब तक महत्त्वपूर्ण नहीं है जब तक उसमें आत्मा विद्यमान न हो। गायों तथा गधों की आधुनिक सभ्यता में विज्ञानीजन मृत पुरुष के मस्तिष्क या हृदय की उपयोगिता की खोज करते हैं।

विकृष्यमाणः प्रसभं यवनेन बलीयसा ।
नाविन्दत्तमसाविष्टः सखायं सुहृदं पुरः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

विकृष्यमाणः—खींचे जाने पर; प्रसभम्—बलपूर्वक; यवनेन—यवन के द्वारा; बलीयसा—अत्यन्त शक्तिशाली; न अविन्दत्—स्मरण नहीं कर सकता; तमसा—तमोगुण से; आविष्टः—आच्छादित होने से; सखायम्—अपने मित्र को; सुहृदम्—शुभैषी; पुरः—प्रारम्भ से।

जब राजा पुरञ्जन शक्तिशाली यवन द्वारा बलपूर्वक घसीटा जा रहा था, तब भी अपनी निरी मूर्खता के कारण वह अपने मित्र तथा हितैषी परमात्मा का स्मरण नहीं कर सका।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (५.२९) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

यदि मनुष्य केवल तीन बातें जानता है—कि भगवान् श्रीकृष्ण ही परम भोक्ता हैं, वे ही प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं और वे प्रत्येक जीव के परम मित्र हैं—तो वह पूर्ण कृष्णचेतना में रह सकता है और सुखी तथा सन्तुष्ट रह सकता है। यदि मनुष्य इसे नहीं जानता और देहात्मबुद्धि से कार्य करता है, तो वह प्रकृति द्वारा प्रदत्त विपत्तियों द्वारा सदैव सताया जाता है। वास्तव में परमेश्वर सबों के निकट बैठा हुआ है। *ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति* (*भगवद्गीता* १८.६१)। जीवात्मा तथा परमात्मा एक ही वृक्ष में पास-पास बैठे हुए हैं, किन्तु मूर्ख जीवात्मा प्राकृतिक नियमों द्वारा प्रताड़ित होने पर भी अपनी रक्षा के लिए भगवान् की ओर दृष्टि नहीं डालता। वह अपने को प्रकृति के कठोर से कठोर नियम का सामना करने में समर्थ मानता है। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। जीवात्मा को परमेश्वर की ओर उन्मुख होना पड़ेगा और उनकी शरण लेनी होगी। तभी वह यवन या यमराज के शक्तिशाली आक्रमण से बचा रह सकता है।

इस श्लोक का *सखायम्* (मित्र) शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि ईश्वर सदैव जीवात्मा के निकट स्थित है। परमेश्वर को *सुहृदम्* (हितैषी) भी कहा गया है। परमेश्वर माता अथवा पिता की भाँति सदैव हितैषी है। भले ही पुत्र कितने अपराध क्यों न करे, माता-पिता सदैव उसके हितैषी बने रहते हैं। इसी प्रकार अपने समस्त पापों और भगवान् की इच्छाओं का उल्लंघन करने के बावजूद यदि हम अपने को उनके प्रति समर्पित कर देते हैं, तो तुरन्त भौतिक प्रकृति की कठिनाइयों से वे हमारी रक्षा करते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है (*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*)। दुर्भाग्यवश कुसंगति तथा

इन्द्रियतृप्ति के प्रति अत्यधिक आसक्ति के कारण हम अपने परम मित्र परमेश्वर को स्मरण नहीं कर पाते।

तं यज्ञपशवोऽनेन संज्ञप्ता येऽदयालुना ।
कुठारैश्छिच्छिदुः क्रुद्धाः स्मरन्तोऽमीवमस्य तत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; यज्ञ-पशवः—यज्ञ में बलि दिये गये पशु; अनेन—उसके द्वारा; संज्ञप्ताः—मारे गये; ये—जो; अदयालुना—अत्यन्त निर्दय द्वारा; कुठारैः—फरसे से; चिच्छिदुः—खण्ड खण्ड; क्रुद्धाः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; स्मरन्तः—याद करते हुए; अमीवम्—पापकर्म; अस्य—उसके; तत्—वह।

उस घोर निर्दयी राजा पुरञ्जन ने विविध यज्ञों में अनेक पशुओं का वध किया था। अब वे सारे पशु इस अवसर का लाभ उठाकर उसे अपने सींगों से बेधने लगे। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो उसे फरसों से टुकड़े-टुकड़े करके काटा जा रहा है।

तात्पर्य : जो लोग धर्म के नाम पर या भोजन के लिए पशुओं का वध करने के लिए लालायित रहते हैं, उन्हें मृत्यु के पश्चात् ऐसी ही यातना सहने के लिए तैयार रहना चाहिए। *मांस* शब्द संकेत देता है कि जिन पशुओं को हम मारते हैं उन्हें अवसर प्राप्त होगा कि वे हमें मारें। यद्यपि वास्तव में कोई जीव मारा नहीं जाता, किन्तु मृत्यु के पश्चात् पशुओं के सींगों से बेधे जाने की पीड़ा का अनुभव होगा। इसे न जानने के कारण ही दुर्बुद्धि लोग निरीह पशुओं का वध करते जाते हैं। तथाकथित मानव सभ्यता ने धर्म या भोजन के नाम पर पशुओं के वध के लिए अनेक कसाईघर खोल रखे हैं। जो थोड़े धार्मिक हैं, वे मन्दिरों, मस्जिदों या यहूदी उपासनागृहों में पशुओं की बलि देते हैं और जो नीच तथा अधम हैं, वे कसाईघर चलाते हैं। जिस प्रकार मानव समाज में यह नियम है कि प्राण के बदले प्राण लिया जाये, उसी प्रकार ईश्वर की व्यवस्था के अनुसार एक जीव का दूसरे के ऊपर अपना अधिकार जताना वर्जित है। परम पिता के अनुसार प्रत्येक प्राणी को जीवित रहने की स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। भगवान् सदा से पशु-वध का चाहे धर्म के लिए अथवा भोजन के लिए तिरस्कार करते आये हैं। *भगवद्गीता* (१६.१९) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

“जो लोग ईर्ष्यालु और दुष्ट हैं, वे मनुष्यों में अधम हैं और वे मेरे द्वारा विभिन्न आसुरी योनियों में

इस भवसागर में फेंक दिये जाते हैं।'' पशु-हत्यारों (*द्विषत:*) को, जो अन्य जीवों तथा ईश्वर से द्वेष रखते हैं, अंधकार में डाल दिया जाता है। वे जीवन के उद्देश्य को कभी नहीं समझ पाते। इसकी व्याख्या आगे के श्लोकों में की गई है।

अनन्तपारे तमसि मग्नो नष्टस्मृति: समा: ।
शाश्वतीरनुभूयार्तिं प्रमदासङ्गदूषित: ॥ २७॥

शब्दार्थ

अनन्त-पारे—अपार; तमसि—संसार के अंधकार में; मग्नः—डूबा हुआ; नष्ट-स्मृतिः—समस्त बुद्धि से रहित; समाः—अनेक वर्षों तक; शाश्वतीः—निरन्तर; अनुभूय—अनुभव करके; आर्तिम्—तीनों ताप; प्रमदा—स्त्री के; सङ्ग—संगति से; दूषितः—मलिन।

स्त्रियों की दूषित संगति के कारण जीवरूप राजा पुरञ्जन निरन्तर संसार के समस्त कष्टों को सहता है और अनेकानेक वर्षों तक समस्त प्रकार की स्मृति से शून्य होकर भौतिक जीवन के अंधकार क्षेत्र में पड़ा रहता है।

तात्पर्य : यह भौतिक संसार का वर्णन है। इस भौतिक संसार का अनुभव तब होता है जब मनुष्य श्रीकृष्ण के दास रूप में अपनी वास्तविक सत्ता को भूलकर (*नष्ट स्मृति:*) स्त्री के प्रति आसक्त रहता है। इस प्रकार एक-एक करके अनेक जन्मों तक वह इस संसार के तीनों तापों को सदैव सहता रहता है। मानव सभ्यता को अविद्या के अंधकार से बचाने के लिए ही कृष्णभावनामृत-आन्दोलन चालू किया गया था। इसका मूल उद्देश्य विस्मृत जीवात्मा को प्रबोधित करना और उसे मूल कृष्णचेतना की याद दिलाना है। इस प्रकार जीवात्मा अविद्या के संकट तथा देहान्तरण से बच सकता है। जैसाकि श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने गाया है—

अनादि करम-फले, पडिऽ भवार्णव-जले,

तरिबारे ना देखि उपाय

ए विषय-हलाहले, दिवा-निशि हिया ज्वले

मन कभु सुख नाहि पाय

''मैं अपने पूर्वकर्मों के कारण अविद्या के समुद्र में गिर गया हूँ। मैं इस विषतुल्य अपार सागर से निकलने का कोई साधन नहीं ढूँढ पा रहा। हम इन्द्रियसुख द्वारा सुखी रहने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वह तथाकथित सुख उस भोजन के तुल्य है, जो अत्यन्त गर्म होने के कारण हृदय में पीड़ा पहुँचाता है।

मुझे अहर्निश जलन का अनुभव होता रहता है और मेरे मन को सन्तोष नहीं मिल पाता।''

यह संसार सदैव चिन्ताओं से पूर्ण है। लोग चिन्ता को कम करने के अनेक उपाय ढूँढ रहे हैं, किन्तु वे सही पथ-प्रदर्शन न पाकर मद्यपान तथा यौनाचार के द्वारा भौतिक चिन्ता को भूलने का प्रयास करते रहते हैं। वे मूर्ख यह नहीं जान पाते कि मद्यपान तथा संभोग द्वारा चिन्ता से बचने के प्रयत्न में वे अपने भौतिक जीवन की अवधि बढ़ाते जाते हैं। इस प्रकार से भौतिक चिन्ता से बच पाना कठिन है।

प्रमदासङ्गदूषित: शब्द बताते हैं कि अन्य कल्मष को यदि छोड़ दें तो केवल स्त्री के प्रति आसक्त रहना ही मनुष्य की दशा को दयनीय बनाने के लिए काफी है। इसीलिए वैदिक सभ्यता में स्त्रियों का सङ्ग त्यागने के लिए प्रारम्भ से शिक्षा दी जाती है। जीवन की पहली अवस्था ब्रह्मचारी की है, दूसरी अवस्था गृहस्थ की, तीसरी वानप्रस्थ की और चौथी संन्यास की। ये सारी अवस्थाएँ इसीलिए बनाई गई हैं, जिससे मनुष्य अपने को स्त्री-संगति से अपने को अलग कर सके।

तामेव मनसा गृह्णन्बभूव प्रमदोत्तमा ।
अनन्तरं विदर्भस्य राजसिंहस्य वेश्मनि ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उसके; एव—निश्चय ही; मनसा—मन से; गृह्णन्—स्वीकार करते हुए; बभूव—हो गया; प्रमदा—स्त्री; उत्तमा—कुलीन; अनन्तरम्—मृत्यु के पश्चात्; विदर्भस्य—विदर्भ के; राज-सिंहस्य—अत्यन्त शक्तिशाली राजा के; वेश्मनि—घर में।

चूँकि राजा पुरञ्जन ने अपनी पत्नी का स्मरण करते हुए अपने शरीर का त्याग किया था, अत: वह अगले जन्म में अच्छे कुल की एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री बनी। उसने राजा विदर्भ के घर में राजा की कन्या रूप में अगला जन्म लिया।

तात्पर्य : चूँकि राजा पुरञ्जन अपनी मृत्यु के समय अपनी पत्नी का स्मरण कर रहा था, इसलिए उसे अगले जन्म में स्त्री का शरीर प्राप्त हुआ। *भगवद्गीता* के निम्न श्लोक से (८.६) इसकी पुष्टि होती है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित: ॥

''मनुष्य शरीर त्यागने समय जिस अवस्था का स्मरण करता है, वह उसे अवश्य प्राप्त करता है।''

जब कोई जीव किसी विशेष बात के विषय में सोचने का आदी हो जाता है या किसी विचार में

मग्न रहता है, तो मृत्यु के समय वह उसके विषय में अवश्य सोचता है। मृत्यु के समय वह जागृतावस्था में, स्वप्न में या सुषुप्तावस्था में जो कुछ देखे रहता है उसका स्मरण करता है। परमेश्वर की संगति छूटने के बाद जीव एक देह से दूसरे में प्रकृति के नियमानुसार तब तक देहान्तर करता रहता है जब तक उसे मनुष्य की देह प्राप्त नहीं हो जाती। यदि वह भौतिक विचारों में मग्न रहता है और आध्यात्मिक जीवन से अपरिचित रहता है तथा भगवान् गोविन्द की शरण ग्रहण नहीं करता जिनके हाथ में जन्म और मृत्यु की समस्याओं का समाधान है, तो वह अगले जन्म में स्त्री बनता है, विशेषकर यदि वह मृत्यु के समय अपनी पत्नी का स्मरण करता है। *श्रीमद्भागवत* (३.३१.१) में कहा गया है—*कर्मणा दैवनेत्रेण।* जीव पुण्य तथा पाप दोनों करता है। इन सबका लेखा-जोखा करने के बाद उसके वरिष्ठ अधिकारियों द्वारा जीव को नया शरीर मिलता है। यद्यपि राजा पुरञ्जन अपनी पत्नी के प्रति अत्यधिक आसक्त था, किन्तु तो भी उसने अनेक पुण्यकर्म किये थे। फलस्वरूप यद्यपि उसने स्त्री का स्वरूप प्राप्त किया, किन्तु उसे शक्तिशाली राजा की कन्या बनने का अवसर प्रदान किया गया। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* से (६.४१) होती है—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वती: समा:।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥

"असफल योगी अनेकानेक वर्षों तक पुण्यात्माओं के लोक में सुख भोगकर किसी पुण्य परिवार अथवा धनवान परिवार में जन्म लेता है।"

यदि कोई मनुष्य सकाम कर्मों में आसक्त रहने या योग के कारण भक्तियोग के पथ से भ्रष्ट होता है, तो उसे उच्च कुल में जन्म लेने का अवसर प्रदान किया जाता है। इस प्रकार भगवान् द्वारा नियुक्त उच्चाधिकारी जीव की इच्छाओं को ध्यान में रखते हुए पूर्ण न्याय बरतते हैं। यद्यपि राजा पुरञ्जन अपनी पत्नी के विचारों में डूबा रहने के कारण स्त्री बना, किन्तु पूर्व पुण्यों के कारण उनका जन्म राजपरिवार में हुआ। तात्पर्य यह है कि दूसरा शरीर प्रदान किये जाते समय हमारे समस्त कर्मों का मूल्यांकन किया जाता है। इसीलिए नारद मुनि ने व्यासदेव को उपदेश दिया कि मनुष्य को अन्य सारे वृत्तिपरक कर्मों (धर्मों) को त्याग कर केवल कृष्णभक्ति करनी चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी यही उपदेश दिया। यद्यपि मनुष्य आध्यात्मिक चेतना के पथ से च्युत हो सकता है, किन्तु फिर भी वह किसी भक्त या धनी

के घर में मनुष्य रूप में जन्म प्राप्त करेगा। इस प्रकार से वह मनुष्य अपनी भक्ति को फिर से चालू कर सकता है।

उपयेमे वीर्यपणां वैदर्भीं मलयध्वजः ।
युधि निर्जित्य राजन्यान्पाण्ड्यः परपुरञ्जयः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

उपयेमे—विवाह किया; वीर्य—शौर्य का; पणाम्—पुरस्कार; वैदर्भीम्—विदर्भ की कन्या; मलय-ध्वजः—मलयध्वज; युधि—युद्ध में; निर्जित्य—विजयी होकर; राजन्यान्—अन्य राजकुमार; पाण्ड्यः—पाण्डु देश में उत्पन्न अथवा सर्वश्रेष्ठ विद्वान; पर—दिव्य; पुरम्—नगरी; जयः—विजेता।

यह निश्चय हुआ था कि राजा विदर्भ की कन्या वैदर्भी का विवाह अत्यन्त शक्तिशाली पुरुष मलयध्वज के साथ किया जाये जो पाण्डुदेश का रहने वाला था। उसने अन्य राजकुमारों को पराजित करके राजा विदर्भ की कन्या के साथ विवाह कर लिया।

तात्पर्य : क्षत्रियों में प्रचलन है कि किसी राजकुमारी का विवाह कुछ शर्तों के अन्तर्गत किया जाये। उदाहरणार्थ, द्रौपदी का विवाह उसके साथ होना था, जो मछली की परछाईं देख कर उसे बाण द्वारा वेध देगा। इसी तरह श्रीकृष्ण ने सात बलवान साँड़ों को हरा कर अपनी एक रानी को प्राप्त किया था। यह वैदिक प्रथा थी कि राजा अपनी कन्या का विवाह कुछ शर्तों के साथ करे। राजा विदर्भ की कन्या वैदर्भी एक परम भक्त तथा शक्तिशाली राजा को प्रदान की गई थी। चूँकि मलयध्वज एक शक्तिशाली राजा तथा महान् भक्त था, इसलिए वह सारी शर्तों को पूरा करता था। मलयध्वज नाम ही ऐसे भक्त का सूचक है, जो मलय पर्वत की भाँति अटल हो और अपने प्रचार से अन्य भक्तों को भी अटल बनाये। ऐसा महाभागवत अपनी बात को सभी को मनवा सकता है। प्रबल भक्त अन्य समस्त आध्यात्मिक विचारधाराओं—यथा ज्ञान, कर्म तथा योग के विरुद्ध प्रचार करता है। वह अपनी भक्ति-पताका फहराकर अन्य आध्यात्मिक विचारधाराओं को जीतने पर अटल रहता है। जब भी एक भक्त तथा अभक्त में शास्त्रार्थ होता है, तो शुद्ध प्रबल भक्त सदैव विजयी होता है।

पाण्ड्य शब्द *पण्डा* से बना है, जिसका अर्थ है "ज्ञान"। जब तक कोई शीर्षस्थ विद्वान् न हो वह अभक्तिपूर्ण विचारों पर विजय नहीं पा सकता। *पर* शब्द का अर्थ है "दिव्य" तथा *पुर* शब्द का अर्थ है "नगरी"। *पर-पुर* वैकुण्ठ है और *जय* शब्द जीतने वाले का सूचक है। इसका अर्थ यह हुआ कि शुद्ध भक्त यदि भक्ति में प्रबल है और उसने सभी अभक्तिपूर्ण विचारों पर विजय पा ली है, तो वह वैकुण्ठ

को भी जीत सकता है। दूसरे शब्दों में, केवल भक्ति के द्वारा वैकुण्ठ को जीता जा सकता है। भगवान् को अजित कहा गया है, किन्तु एक प्रबल भक्त अपनी दृढ़ भक्ति तथा सच्ची अनुरक्ति से भगवान् को भी जीत लेता है। भगवान् कृष्ण सबों के लिए साक्षात् भय हैं, किन्तु स्वेच्छा से वे यशोदा माता की छड़ी से भी भयभीत होते हैं। कृष्ण को उनके भक्त के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं जीत सकता। ऐसे ही एक भक्त ने राजा विदर्भ की कन्या के साथ विवाह किया।

तस्यां स जनयां चक्र आत्मजामसितेक्षणाम् ।
यवीयसः सप्त सुतान्सप्त द्रविडभूभृतः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उससे; सः—राजा ने; जनयाम् चक्रे—उत्पन्न किया; आत्मजाम्—पुत्री; असित—श्याम; ईक्षणाम्—आँखों वाली; यवीयसः—छोटा, अत्यन्त शक्तिमान; सप्त—सात; सुतान्—पुत्र; सप्त—सात; द्रविड—द्रविड़ देश (दक्षिण भारत); भू—भूभाग के; भृतः—राजा।

राजा मलयध्वज के एक पुत्री हुई जिसकी आँखें श्यामल थीं। उसके सात पुत्र भी हुए जो आगे चलकर द्रविड़ नामक देश के शासक बने। इस प्रकार उस देश में सात राजा हुए।

तात्पर्य : राजा मलयध्वज परम भक्त था। राजा विदर्भ की कन्या के साथ विवाह करने के बाद उसके एक सुन्दर कन्या उत्पन्न हुई, जिसकी आँखें श्यामल थीं। आलंकारिक रूप में इसका अर्थ यह हुआ कि उसकी कन्या भी भक्ति-गुण से सम्पन्न थी, क्योंकि उसकी आँखें सदैव कृष्ण पर लगी रहती थीं। भक्त के लिए जीवन में कृष्ण के अतिरिक्त अन्य कोई दृष्टि नहीं होती। सातों पुत्र भक्ति की सात विधाएँ हैं—श्रवण, स्मरण, कीर्तन, पूजन, प्रार्थना, दिव्य भक्ति करना तथा भगवान् के चरणकमलों की सेवा करना। नौ प्रकार की भक्ति में से केवल सात उसे प्राप्त थीं। शेष दो का—सख्यभाव तथा आत्मनिवेदन का—बाद में विकास होना था। दूसरे शब्दों में, भक्ति की दो कोटियाँ हैं—*विधि-मार्ग* तथा *राग-मार्ग*। सख्यभाव तथा आत्मनिवेदन ये दोनों *राग-मार्ग* के अन्तर्गत आते हैं। नवदीक्षित भक्त के लिए तो *विधि-मार्ग* की सात विधाएँ ही महत्त्वपूर्ण हैं।

यवीयसः शब्द सूचित करता है कि ये विधियाँ अत्यन्त शक्तिशाली हैं। जब भक्त *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् अर्चनं वन्दनं दास्यं* में लग जाता है और इन्हें प्राप्त कर लेता है, तो बाद में वह *सख्यम्* एवं *आत्मनिवेदनम्* को भी प्राप्त कर लेता है। सामान्यतः संसार-भर में भक्ति का उपदेश देने वाले सारे आचार्य *सख्यम् आत्मनिवेदनम्* कोटि के होते हैं। नवदीक्षित भक्त वास्तव में उपदेशक

नहीं बन सकता। उसे अन्य सात क्षेत्रों (*श्रवणं कीर्तनं* इत्यादि) में भक्ति करने की सलाह दी जाती है। यदि वह इन प्रारम्भिक सातों को सफलतापूर्वक पूरा कर लेता है, तो भविष्य में वह *सख्यम् आत्मनिवेदनम्* पद को प्राप्त कर लेता है।

द्रविड़ देश का विशेष उल्लेख दक्षिण भारत के पाँच द्रविड़ देशों के लिए हुआ है। ये सब मूल भक्ति की विधियों (*श्रवणं कीर्तनं* इत्यादि) को सम्पन्न करने में अत्यन्त प्रबल हैं। कुछ महान् आचार्य, यथा रामानुजाचार्य तथा मध्वाचार्य द्रविड़ देश के ही थे, जो महान् उपदेशक हुए। वे सभी *सख्यम् आत्मनिवेदनम्* पद पर आसीन थे।

एकैकस्याभवत्तेषां राजन्नर्बुदमर्बुदम् ।
भोक्ष्यते यद्वंशधरैर्मही मन्वन्तरं परम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एक-एकस्य—हर एक के; अभवत्—हुए; तेषाम्—उनके; राजन्—हे राजा; अर्बुदम्—एक करोड़; अर्बुदम्—एक करोड़; भोक्ष्यते—भोगेंगे; यत्—जिसका; वंश-धरैः—वंशजों द्वारा; मही—सारा संसार; मनु-अन्तरम्—एक मनु के अन्त तक; परम्—तथा उसके पश्चात्।

हे राजा प्राचीनबर्हिषत्, मलयध्वज राजा के पुत्रों ने लाखों पुत्रों को जन्म दिया और ये सब एक मनु की अवधि के अन्त तक तथा उसके बाद भी सारे संसार का पालन करते रहे।

तात्पर्य : ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं। एक मन्वन्तर अर्थात् मनु की आयु ७१ × ४३,२०,००० वर्ष है। एक मनु के बाद दूसरा मनु आता है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड का जीवन-चक्र चलता रहता है। चूँकि एक के बाद एक मनु की परम्परा चलती है, अतः कृष्णभक्ति सम्प्रदाय चलता रहता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.१) में हुई है—

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।

विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

"प्रसन्नचित्त भगवान् ने कहा—मैंने इस अविनाशी योग विज्ञान की शिक्षा विवस्वान् को दी, विवस्वान् ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को दी।" सूर्यदेव विवस्वान् ने *भगवद्गीता* एक मनु को प्रदान की और इस मनु ने अपने पुत्र को दी जिसने फिर उसे अन्य मनु को प्रदान की। इस प्रकार कृष्णभक्ति का प्रचार कभी रुकता नहीं। किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि यह कृष्णभावनामृत-

आन्दोलन नया है। जैसाकि *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* से पुष्टि होती है, यह अत्यन्त प्राचीन आन्दोलन है, क्योंकि यह एक मनु से दूसरे को हस्तान्तरित होता रहा है।

वैष्णवों में कुछ व्यक्तिगत मतभेद हो सकते हैं, किन्तु कृष्णभक्ति सम्प्रदाय तो आगे बढ़ते ही रहता है। हम देख सकते हैं कि विगत १०० वर्षों में श्रील भक्ति विनोद ठाकुर के आदेश से श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज ने सुसम्बद्ध रूप से कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का उपदेश कार्य प्रारम्भ किया। श्रील भक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज के सारे शिष्य गुरुभाई हैं और यद्यपि इनमें कुछ मतभिन्नताएँ है और वे मिलकर एकसाथ काम नहीं करते, किन्तु इनमें से प्रत्येक अपनी व्यक्तिगत क्षमता से कृष्णभावनामृत-आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए कार्य कर रहा है और विश्व भर में इसे प्रचारित करने के लिए अनेक शिष्य उत्पन्न कर रहा है। जहाँ तक हमारी बात है, हमने पहले ही अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ की स्थापना की है और कई हजार यूरोपीय तथा अमरीकी इस आन्दोलन में सम्मिलित हो चुके हैं। यह आन्दोलन दावाग्नि के समान फैल रहा है। नवधा भक्ति पर आश्रित श्रीकृष्णभक्ति सम्प्रदाय कभी रुकने वाला नहीं। यह किसी जातिपाँति, रंग तथा देश के भेदभाव के बिना आगे बढ़ता रहेगा। इसे कोई रोक नहीं सकता।

इस श्लोक में *भोक्ष्यते* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार राजा अपनी प्रजा को सुरक्षा प्रदान करता है उसी प्रकार ये सारे भक्त भक्ति के सिद्धान्तों का पालन करते हुए संसार-भर के लोगों को सुरक्षा प्रदान करेंगे। संसार के लोग तथाकथित धार्मिक स्वामियों, योगियों, कर्मियों तथा ज्ञानियों से तंग आ चुके हैं, क्योंकि इनमें से कोई भी आध्यात्मिक पद तक पहुँचने का सही मार्ग नहीं बता पाता। सारे संसार में भक्ति का प्रचार करने वाले चार सम्प्रदाय हैं। ये हैं—रामानुज सम्प्रदाय, मध्व सम्प्रदाय, विष्णुस्वामी सम्प्रदाय तथा निम्बार्क सम्प्रदाय। मध्व गौड़ीय सम्प्रदाय भगवान् चैतन्य महाप्रभु की देन है। ये सारे भक्त कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का व्यापक प्रचार कर रहे हैं और निर्दोष जनता को संरक्षण प्रदान कर रहे हैं, जो छद्म अवतारों, स्वामियों, योगियों तथा बाबाओं से संत्रस्त हैं।

अगस्त्य: प्राग्दुहितरमुपयेमे धृतव्रताम् ।
यस्यां दृढच्युतो जात इध्मवाहात्मजो मुनिः ॥ ३२॥

शब्दार्थ

अगस्त्यः—अगस्त्य मुनि ने; प्राक्—पहली; दुहितरम्—कन्या को; उपयेमे—विवाह दिया; धृत-व्रताम्—व्रत धारण किये; यस्याम्—जिससे; दृढच्युतः—दृढच्युत नामक; जातः—उत्पन्न हुआ; इध्मवाह—इध्मवाह नामक; आत्म-जः—पुत्र; मुनिः—मुनि।

भगवान् कृष्ण के परम भक्त मलयध्वज की पहली कन्या का विवाह अगस्त्य मुनि के साथ हुआ। उससे एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम दृढच्युत था जिससे इध्मवाह नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ।

तात्पर्य : अगस्त्य मुनि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नाम है। यह मन का द्योतक है। अगस्त्य सूचित करता है कि इन्द्रियाँ स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं करतीं और मुनि शब्द "मन" का सूचक है। मन समस्त इन्द्रियों का केन्द्र है और ये इन्द्रियाँ मन के बिना कोई कार्य नहीं कर सकतीं। जब मन भक्ति सम्प्रदाय को ग्रहण करता है, तो यह सेवा में लग जाता है। भक्ति सम्प्रदाय (भक्तिलता) मलयध्वज की पहली पुत्री है और जैसाकि पहले बताया जा चुका है उसकी आँखें कृष्ण पर लगी रहती थीं (*असितेक्षणाम्*)। कोई किसी देवता की भक्ति नहीं कर सकता; भक्ति तो केवल भगवान् विष्णु की की जा सकती है (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*)। भगवान् को निराकार मानते हुए मायावादियों का कहना है कि भक्ति किसी भी प्रकार की पूजा के लिए प्रयुक्त हो सकता है। यदि ऐसा होता तो भक्त किसी भी देव या देव रूप की कल्पना करके उसकी पूजा करता। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि भक्ति केवल विष्णु तथा उनके अंशों की ही की जा सकती है। अत: भक्तिलता *दृढव्रता* है, क्योंकि जब मन भक्ति में लग जाता है, तो वह च्युत नहीं होता। यदि कोई अन्य साधनों से—यथा कर्मयोग या ज्ञानयोग से—आगे बढ़ना चाहता है, तो वह गिर जाता है, किन्तु यदि वह भक्ति में स्थिर (दृढ़) है, तो वह गिरता नहीं।

इस प्रकार भक्तिलता से दृढच्युत नामक पुत्र उत्पन्न होता है और दृढच्युत से इध्मवाह उत्पन्न होता है। इध्मवाह का अर्थ है अपने गुरु के पास यज्ञ-समिधा लेकर जाने वाला। कहने का तात्पर्य यह कि भक्तिलता मनुष्य को आध्यात्मिक पद पर स्थिर कर देती है। इस प्रकार स्थिर रहनेवाला कभी नहीं गिरता और उससे जो पुत्र उत्पन्न होंगे वे शास्त्रीय आदेशों के दृढ़पालक होंगे। जैसाकि वेदों का कथन है—

तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्

समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

जो भक्ति में दीक्षित होते हैं, वे वैदिक शास्त्रीय आदेशों के दृढ़पालक होते हैं।

विभज्य तनयेभ्यः क्ष्मां राजर्षिर्मलयध्वजः ।
आरिराधयिषुः कृष्णं स जगाम कुलाचलम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

विभज्य—बाँटकर; तनयेभ्यः—अपने पुत्रों में; क्ष्माम्—सम्पूर्ण पृथ्वी को; राज-ऋषिः—परम साधु राजा; मलयध्वजः—मलयध्वज; आरिराधयिषुः—आराधना करने की इच्छा से; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण की; सः—वह; जगाम—चला गया; कुलाचलम्—कुलाचल नामक स्थान में।

इसके पश्चात् राजर्षि मलयध्वज ने अपना सारा राज्य अपने पुत्रों में बाँट दिया। तब वे पूरे मनोयोग से भगवान् कृष्ण की पूजा करने के लिए कुलाचल नामक एकान्त स्थान में चले गये।

तात्पर्य : महाराज मलयध्वज निश्चित रूप से *महाभागवत* थे। भक्ति करने के कारण भक्ति सम्प्रदाय का प्रचार करने के लिए उनके कई पुत्र तथा शिष्य हुए। वास्तव में सारा संसार ऐसे शिष्यों में विभाजित हो जाना चाहिए और हर एक को कृष्णभक्ति सम्प्रदाय का प्रचार करने में लग जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, जब शिष्य बड़े हो जाँय और प्रचार कार्य कर सकें तो गुरु को चाहिए कि वह अवकाश ग्रहण कर ले और एकान्त स्थान में बैठ कर लिखे तथा *निर्जन-भजन* करे। इसका अर्थ हुआ मौन होकर एकान्त वास तथा भक्ति। यह *निर्जन-भजन*—जो एकान्त में परमेश्वर की आराधना है—नवदीक्षित के लिए सम्भव नहीं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने कभी भी नवदीक्षित भक्त को किसी एकान्त स्थान में जाकर भक्ति करने की सलाह नहीं दी। उन्होंने इस सम्बन्ध में एक गीत लिखा है—

दुष्ट मन, तुमि किसेर वैष्णव?
प्रतिष्ठार तरे, निर्जनेर घरे,
तव हरिनाम केवल कैतव

"अरे मेरे मन! तुम किस तरह के भक्त हो? केवल सस्ती पूजा के लिए तुम एकान्त स्थान में बैठकर हरे कृष्ण महामंत्र जपने का स्वांग भरते हो, किन्तु यह सब धोखा है।" इस प्रकार श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने सदैव इसका समर्थन किया कि प्रत्येक भक्त योग्य गुरु के निर्देशन में भक्ति सम्प्रदाय का सारे विश्व में उपदेश दे। प्रौढ़ हो जाने पर ही एकान्त स्थान में बैठा जा सकता है और संसार-भर में प्रचार के कार्य से अवकाश ग्रहण किया जा सकता है। इस आदर्श का पालन करते

हुए अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत-संघ के भक्तगण संसार भर के विभिन्न भागों में उपदेश देने का कार्य करते हैं। अब वे अपने गुरु को सक्रिय उपदेश-कार्य से विराम लेने के लिए छोड़ सकते हैं। गुरुओं के जीवन की अन्तिम अवस्था में भक्तों को चाहिए कि उपदेश कार्य अपने हाथों में ले लें। इस प्रकार गुरु निर्जन स्थान में बैठ कर *निर्जन-भजन* कर सकता है।

हित्वा गृहान्सुतान्भोगान्वैदर्भी मदिरेक्षणा ।
अन्वधावत पाण्ड्येशं ज्योत्स्नेव रजनीकरम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

हित्वा—त्याग कर; गृहान्—घर को; सुतान्—बच्चों को; भोगान्—भौतिक सुखों को; वैदर्भी—राजा विदर्भ की पुत्री; मदिर-ईक्षणा—मादक लोचनों वाली; अन्वधावत—अनुगमन किया; पाण्ड्य-ईशम्—राजा मलयध्वज का; ज्योत्स्ना इव—चन्द्रिका के समान; रजनी-करम्—चन्द्रमा।

जिस प्रकार रात्रि में चाँदनी चन्द्रमा का अनुसरण करती है, उसी तरह राजा मलयध्वज के कुलाचल जाते ही मादक नेत्रों वाली उसकी अनुरक्त पत्नी अपने घर, पुत्र के होते हुए भी समस्त भोगों को तिलांजलि देकर उसके साथ हो ली।

तात्पर्य : जिस प्रकार वानप्रस्थ अवस्था में पत्नी भी पति के साथ हो लेती है उसी प्रकार जब गुरु *निर्जन-भजन* के लिए एकान्त वास करता है, तो उसके कुछ बढ़ेचढ़े भक्त उसकी सेवा करने के उद्देश्य से उसके साथ हो लेते हैं। दूसरे शब्दों में, जिन्हें गृहस्थ जीवन अत्यन्त प्रिय है उन्हें गुरु की सेवा के लिए आगे बढ़कर आना चाहिए और समाज, मित्रता तथा प्रेम द्वारा प्राप्त सुविधाओं का परित्याग करना चाहिए। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर-कृत *गुर्वष्टक* में एक श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादः ।* शिष्य को सदैव स्मरण रखना चाहिए कि गुरु की सेवा करने से वह सहज ही कृष्णभक्ति में अग्रसर हो सकता है। सभी शास्त्र कहते हैं कि गुरु को प्रसन्न करने तथा उसकी सेवा करने से भक्ति की सिद्ध अवस्था प्राप्त की जा सकती है।

इस श्लोक का *मदिरेक्षणा* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। श्रील जीव गोस्वामी ने अपनी कृति *सन्दर्भ* में *मदिर* शब्द की व्याख्या ''मादक'' के रूप में की है। यदि अर्चाविग्रह को देखकर किसी की आँखें मादक बन जाँय तो उसे *मदिरेक्षण* कहा जा सकता है। रानी वैदर्भी की आँखें अत्यन्त मोहक थीं जिस प्रकार कि मन्दिर में अर्चा-विग्रह को देखने से मनुष्य की आँखें *मदिरेक्षण* हो जाती हैं। जब तक भक्त महान् नहीं होता तब तक वह मन्दिर में अर्चा-विग्रह पर अपनी आँखें नहीं टिका पाता।

तत्र चन्द्रवसा नाम ताम्रपर्णी वटोदका ।
तत्पुण्यसलिलैर्नित्यमुभयत्रात्मनो मृजन् ॥ ३५॥
कन्दाष्टिभिर्मूलफलैः पुष्पपर्णैस्तृणोदकैः ।
वर्तमानः शनैर्गात्रकर्शनं तप आस्थितः ॥ ३६॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; चन्द्रवसा—चन्द्रवसा नदी; नाम—नामक; ताम्रपर्णी—ताम्रपर्णी नदी; वटोदका—वटोदका नदी; तत्—उन नदियों के; पुण्य—पवित्र; सलिलैः—जल से; नित्यम्—नित्य प्रति; उभयत्र—दोनों प्रकार से; आत्मनः—अपने आपको; मृजन्—नहाकर; कन्द—मूल; अष्टिभिः—तथा बीजों से; मूल—जड़ें; फलैः—तथा फलों से; पुष्प—फूल; पर्णैः—तथा पत्तों से; तृणा—घास; उदकैः—तथा जल से; वर्तमानः—निर्वाह करते हुए; शनैः—धीरे-धीरे; गात्र—अपना शरीर; कर्शनम्—दुबला करके; तपः—तपस्या; आस्थितः—किया।

कुलाचल प्रान्त में चन्द्रवसा, ताम्रपर्णी तथा वटोदका नाम की तीन नदियाँ थीं। राजा मलयध्वज नित्य ही इन पवित्र नदियों में जाकर स्नान करता था। इस प्रकार उसने बाहर तथा अन्दर से अपने को पवित्र कर लिया था। वह स्नान करता और कन्द, बीज, पत्तियाँ, फूल, जड़ें, फल तथा घास खाता तथा जल पीता था। इस प्रकार वह कठिन तपस्या करने लगा। अन्त में वह अत्यन्त कृश कार्य हो गया।

तात्पर्य : यह हम निश्चित रूप से देख सकते हैं कि कृष्णभक्ति में अग्रसर होने के लिए मनुष्य को अपने शरीर-भार पर नियंत्रण रखना चाहिए। यदि कोई अत्यधिक मोटा हो जाए तो समझना चाहिए कि वह आध्यात्मिक रूप से उन्नति नहीं कर रहा है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर अपने मोटे शिष्यों की कटु आलोचना किया करते थे। भाव यह है कि जिसे कृष्णभक्ति में आगे बढ़ने की इच्छा हो उसे अत्यधिक भोजन नहीं करना चाहिए। भक्त लोग पहले जंगलों या पहाड़ों में तीर्थयात्रा के लिए जाते थे, किन्तु आजकल ऐसी कठिन तपस्या सम्भव नहीं है। मनुष्य को केवल इतना प्रसाद खाना चाहिए जो आवश्यकता से अधिक न हो। वैष्णव पंचांग के अनुसार उपवास के अनेक दिन हैं—यथा एकादशी तथा भगवान् एवं भक्तों के आविर्भाव एवं तिरोभाव के दिन। ये सारे उपवास शरीर की चर्बी को कम करने के उद्देश्य से हैं, जिससे भक्त न तो आवश्यकता से अधिक सोये और न निष्क्रिय तथा आलसी बने। अधिक खाने से अधिक नींद आयेगी। यह मनुष्य-जीवन तप के लिए मिला है और तप का अर्थ है संभोग, आहार इत्यादि पर नियंत्रण। इससे आध्यात्मिक कार्यों के लिए समय बचेगा और मनुष्य अपने को बाहर तथा भीतर दोनों प्रकार से शुद्ध कर सकता है। इस प्रकार से शरीर तथा मन दोनों शुद्ध

हो सकते हैं।

शीतोष्णवातवर्षाणि क्षुत्पिपासे प्रियाप्रिये ।
सुखदु:खे इति द्वन्द्वान्यजयत्समदर्शनः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

शीत—जाड़ा; उष्ण—गर्मी; वात—हवा; वर्षाणि—तथा वर्षा ऋतुएँ; क्षुत्—भूख; पिपासे—तथा प्यास; प्रिय—सुहावना; अप्रिये—तथा न अच्छा लगने वाला; सुख—सुख; दु:खे—तथा कष्ट; इति—इस प्रकार; द्वन्द्वानि—द्वैतभाव को; अजयत्—जीत लिया; सम-दर्शनः—समदर्शी, समदृष्टि रखने वाला।

तपस्या के द्वारा राजा मलयध्वज धीरे-धीरे शरीर तथा मन से जाड़ा तथा गर्मी, सुख तथा दुख, वायु तथा वर्षा, भूख तथा प्यास, अच्छा तथा बुरा इन द्वैतभावों के प्रति समान दृष्टि वाला हो गया। इस प्रकार उसने सभी द्वन्द्वों पर विजय प्राप्त कर ली।

तात्पर्य : मुक्ति का अर्थ है संसार की द्वैतता से छुटकारा पाना। जब तक कोई स्वरूपसिद्ध नहीं होता उसे संसार के द्वन्द्व संघर्षो से गुजरना पड़ता है। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं कि वह सहनशीलता के द्वारा सारे द्वन्द्वों पर विजय प्राप्त करे। श्रीकृष्ण संकेत करते हैं कि जाड़ा तथा गर्मी जैसे द्वन्द्व ही हमें इस संसार में कष्ट पहुँचाते हैं। जाड़े में हम स्नान नहीं करना चाहते, किन्तु गर्मियों में हम दो-तीन बार स्नान करना चाहते हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण यह उपदेश देते हैं कि जब जीवन में इस प्रकार के द्वन्द्व आये-जायें तो हमें विचलित नहीं होना चाहिए।

इन द्वन्द्वों में समदृष्टि रखने के लिए सामान्य मनुष्य को काफी तपस्या करनी पड़ती है। जो जीवन के द्वन्द्वों से विचलित होता है, वह एक सापेक्ष स्थिति ग्रहण कर चुका होता है, अत: उसे शास्त्रों में वर्णित तपस्या करनी होती है, जिससे वह इस भौतिक शरीर को लाँघ करके इस संसारिकता का अन्त कर दे। राजा मलयध्वज ने अपना गृहत्याग करके, कुलाचल जाकर, पवित्र नदियों में स्नान करके केवल फल, मूल, पत्तियाँ जैसी वनस्पतियाँ खाकर और पकाया हुआ भोजन या अन्न त्यागकर कठिन तपस्या की थी। ये अत्यन्त कठोर अभ्यास हैं। आजकल घर छोड़कर किसी जंगल में या हिमालय में जाकर कठिन तपस्या करना अत्यन्त दुष्कर है। एक तरह से यह असम्भव है। यदि किसी से मांसाहार, मद्यपान, द्यूत क्रीड़ा तथा अवैध संभोग बन्द करने के लिए भी कहा जाये तो वह ऐसा नहीं कर पाता। अत: वह हिमालय या कुलाचल जाय भी तो वहाँ क्या करेगा? इस युग में ऐसा त्याग कठिन है, इसीलिए भगवान् कृष्ण ने भक्तियोग को स्वीकार करने की सलाह दी है। भक्तियोग स्वत: मनुष्य को

जीवन के द्वन्द्वों से उबारेगा। भक्तियोग में कृष्ण केन्द्रबिन्दु होते हैं और कृष्ण तो सदैव दिव्य हैं। इस प्रकार द्वन्द्वों को पार करने के लिए मनुष्य को सदैव भगवान् की भक्ति में लगे रहना चाहिए, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.२६) में हुई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

''जो पूर्ण भक्ति में लगा रहता है और किसी भी दशा में नीचे नहीं गिरता, वह तुरन्त प्रकृति के गुणों को पार करके ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।''

यदि वास्तव में कोई भगवान् की भक्ति—भक्तियोग—में लगा है, तो वह स्वत: अपनी इन्द्रियों, अपनी वाणी तथा अन्य अनेक वस्तुओं पर नियंत्रण रखता है। यदि एक बार निष्ठापूर्वक भक्तियोग में लग जाया जाय तो फिर नीचे गिरने की कोई सम्भावना नहीं रहती। यदि वह नीचे गिरे भी तो भी कोई हानि नहीं होती। कुछ काल के लिए भले ही किसी के भक्ति-कार्य में अवरोध आ जाये, किन्तु ज्योंही उसे दूसरा अवसर मिलता है, तो अभ्यासकर्त्ता वहीं से उसे दोबारा प्रारम्भ करता है जहाँ पर उसने छोड़ा था।

तपसा विद्यया पक्वकषायो नियमैर्यमैः ।
युयुजे ब्रह्मण्यात्मानं विजिताक्षानिलाशयः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

तपसा—तपस्या से; विद्यया—शिक्षा से; पक्व—जलाकर; कषाय:—समस्त मल; नियमै:—विधानों से; यमै:—आत्मसंयम से; युयुजे—उसने स्थिर किया; ब्रह्मणि—ब्रह्म में, आत्म-साक्षात्कार में; आत्मानम्—अपने आपको; विजित—पूर्णतया वश में; अक्ष—इन्द्रियाँ; अनिल—प्राण; आशय:—चेतना।

पूजा से, तप साधना से तथा नियमों के पालन से राजा मलयध्वज ने अपनी इन्द्रियों, प्राण तथा चेतना को जीत लिया। इस प्रकार उसने हर वस्तु को परब्रह्म (कृष्ण) रूपी केन्द्रबिन्दु पर स्थिर कर लिया।

तात्पर्य : जब भी *ब्रह्म* शब्द आता है, तो निर्विशेषवादी इसका अर्थ ब्रह्मज्योति के रूप में करते हैं। किन्तु वास्तव में परब्रह्म तो कृष्ण या वासुदेव हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है—*वासुदेव: सर्वमिति*—वासुदेव निर्गुण ब्रह्म की भाँति सर्वत्र व्याप्त हैं। कोई ''किसी'' निराकार वस्तु पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं कर सकता। इसलिए *भगवद्गीता* (१२.५) में कहा गया है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्—जिनके मन अप्रकट निराकार ब्रह्म में केन्द्रित हैं, उनके लिए प्रगति कर पाना कष्टप्रद है। अत: जब यहाँ पर यह कहा जाता है कि राजा मलयध्वज ने अपना मन *ब्रह्म* में स्थिर कर दिया तो *ब्रह्म* का अर्थ है भगवान् वासुदेव।

आस्ते स्थाणुरिवैकत्र दिव्यं वर्षशतं स्थिरः ।
वासुदेवे भगवति नान्यद्वेदोद्वहन्रतिम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

आस्ते—रहे आये; स्थाणुः—अचल; इव—सदृश; एकत्र—एक स्थान पर; दिव्यम्—देवताओं के; वर्ष—वर्ष; शतम्—एक सौ; स्थिरः—स्थिर; वासुदेवे—भगवान् कृष्ण पर; भगवति—भगवान्; न—नहीं; अन्यत्—अन्य कुछ; वेद—जान पाये; उद्वहन्—रखते हुए; रतिम्—आसक्ति।

इस प्रकार देवों की गणना के एक सौ वर्षों तक वे एक ही स्थान पर अचल बने रहे। इसके बाद उन्हें भगवान् कृष्ण के प्रति भक्तिमयी आसक्ति उत्पन्न हुई और वे उसी स्थिति में स्थिर रहे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

"अनेक जन्म-जन्मांतरों के बाद जिसे वास्तव में ज्ञान होता है, वह मुझे समस्त करणों का कारण मानकर मेरी शरण में आता है और मुझी को सब कुछ मानता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है।" वासुदेव श्रीकृष्ण ही सब कुछ हैं, जो यह जान लेता है, वह सबसे बड़ा योगी है। *भगवद्गीता* में यह बताया गया है कि लोग अनेक जन्मों के बाद इसे जान पाते हैं। इसकी पुष्टि इस श्लोक के *दिव्यं वर्षशतम्* शब्दों से भी होती है। देवताओं की गणना के अनुसार एक दिन (१२ घंटे) पृथ्वी के छह मास के बराबर होता है। देवताओं के सौ वर्ष पृथ्वी के छत्तीस हजार वर्षों के तुल्य हुए। इस प्रकार राजा मलयध्वज ने छत्तीस हजार वर्षों तक तपस्या की। इसके बाद वे भगवान् की भक्ति में स्थिर हुए। सामान्य मनुष्य को इतने वर्षों तक जीवित रहने के लिए अनेक बार जन्म लेना होगा। इससे श्रीकृष्ण के अभिमत की पुष्टि होती है। कृष्णचेतना प्राप्त करना तथा कृष्ण ही सब कुछ हैं, इस विचार में स्थिर रहना तथा कृष्ण की सेवा करना—ये सिद्धि अवस्था के लक्षण हैं। जैसाकि *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (मध्य २२.६२) में कहा गया है—*कृष्णे भक्ति कैले सर्वकर्म कृत हय।* जब कोई पूजा द्वारा या कृष्ण की भक्ति करते हुए इस निष्कर्ष तक पहुँचता है कि कृष्ण ही सब कुछ हैं, तो मनुष्य सचमुच ही सब तरह से

पूर्ण हो जाता है। उसे न केवल इस निष्कर्ष पर पहुँचना होता है कि कृष्ण ही सब कुछ हैं, वरन् इस विचार पर स्थिर भी रहना पड़ता है। यही जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है और अन्त में मलयध्वज ने यही सिद्धि प्राप्त की।

स व्यापकतयात्मानं व्यतिरिक्ततयात्मनि ।
विद्वान्स्वप्न इवामर्शसाक्षिणं विरराम ह ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

सः—राजा मलयध्वज; व्यापकतया—सर्वव्यापी होने से; आत्मानम्—परमात्मा को; व्यतिरिक्ततया—विभेद से; आत्मनि—अपने आप में; विद्वान्—सुशिक्षित; स्वप्ने—स्वप्न में; इव—सदृश; अमर्श—ज्ञान; साक्षिणम्—साक्षी; विरराम—उदासीन हो गया; ह—निश्चय ही।

आत्मा और परमात्मा में अन्तर कर सकने के कारण राजा मलयध्वज ने पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया। आत्मा एक-स्थानिक है, जबकि परमात्मा सर्वव्यापी है। यह भौतिक देह आत्मा नहीं है, अपितु आत्मा इस भौतिक देह का साक्षी है—उन्हें इसका पूरा-पूरा ज्ञान हो गया।

तात्पर्य : बद्धजीव प्राय: भौतिक देह, आत्मा तथा परमात्मा का अन्तर समझने के प्रयास में निराश हो जाता है। मायावादी चिन्तक दो प्रकार के हैं—बौद्ध दर्शन के अनुयायी तथा शंकर-दर्शन के अनुयायी। बुद्ध के अनुयायी शरीर के परे कुछ भी नहीं मानते और शंकराचार्य के अनुयायी परमात्मा की पृथक् सत्ता को नहीं मानते। शांकरमत के अनुयायी विश्वास करते हैं कि अन्तत: आत्मा और परमात्मा एकरूप हैं। किन्तु वैष्णव चिन्तक पूर्ण ज्ञानी होने के कारण इस शरीर को बहिरंगा शक्ति से बना मानता है और परमात्मा, को प्रत्येक आत्मा के भीतर स्थित तथा इस प्रकार उससे भिन्न मानता है। जैसाकि श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (१३.३) में कहा है—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

"हे अर्जुन! तुम जान लो कि मैं समस्त देहों को जाननेवाला हूँ। इस देह तथा इसके स्वामी को जानना ही ज्ञान है। ऐसा मेरा मत है।"

शरीर को क्षेत्र माना जाता है और आत्मा (जीव) को उस क्षेत्र में कार्य करने वाला। किन्तु एक अन्य आत्मा भी है, जिसे परमात्मा कहते हैं, जो आत्मा के साथ रहकर केवल साक्षी बना रहता है। आत्मा (जीव) कार्य करता है और शरीर के फलों का भोग करता है, किन्तु परमात्मा केवल आत्मा के

कार्यों को देखता हैं किन्तु कर्म-फलों का भोग नहीं करता। परमात्मा प्रत्येक कार्यक्षेत्र में वर्तमान है, किन्तु आत्मा तो केवल अपने सीमित शरीर में रहता है। राजा मलयध्वज को ज्ञान की यह पूर्णता प्राप्त थी, वह आत्मा, परमात्मा तथा भौतिक देह में अन्तर करने में सक्षम था।

साक्षाद्भगवतोक्तेन गुरुणा हरिणा नृप ।
विशुद्धज्ञानदीपेन स्फुरता विश्वतोमुखम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवता—भगवान् द्वारा; उक्तेन—आदेशित; गुरुणा—गुरु द्वारा; हरिणा—भगवान् हरि द्वारा; नृप—हे राजा; विशुद्ध—शुद्ध; ज्ञान—ज्ञान के; दीपेन—प्रकाश से; स्फुरता—प्रकाशित; विश्वतः-मुखम्—चारों ओर।

इस प्रकार राजा मलयध्वज को पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हुई, क्योंकि शुद्ध अवस्था में उसे साक्षात् भगवान् ने उपदेश दिया था। ऐसे दिव्य ज्ञान के द्वारा वह प्रत्येक वस्तु को समस्त दृष्टिकोणों से समझ सकता था।

तात्पर्य : इस श्लोक में *साक्षाद्भगवतोक्तेन गुरुणा हरिणा* पद महत्त्वपूर्ण है। जब भक्त भगवान् की भक्ति द्वारा अपने को पूर्णत: शुद्ध कर लेता है, तो भगवान् स्वयं आत्मा से बात करते हैं। *भगवद्गीता* (१०.१०) में भगवान् कृष्ण ने इसकी पुष्टि की है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

"जो प्रेमपूर्वक मेरी सतत पूजा करते हैं उन्हें मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।"

भगवान् प्रत्येक हृदय में परमात्मा रूप में स्थित हैं और चैत्य गुरु अर्थात् आन्तरिक गुरु की तरह कार्य करते हैं। किन्तु वे सिद्ध भक्तों को ही साक्षात् आदेश देते हैं। प्रारम्भ में जब भक्त अत्यन्त निष्ठावान् होता है, तो भगवान् उसके अन्त:करण से आदेश देते हैं कि गुरु के पास जाओ, किन्तु जब वह गुरु से भक्ति के विधि विधानों के अनुसार शिक्षा प्राप्त कर लेता है और *राग-भक्ति* के स्तर को प्राप्त कर लेता है, तो भगवान् भी उसे अन्त:करण से आदेश देते हैं—*तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।* यह स्पष्ट लाभ मुक्त जीव को प्राप्त होता है। इस अवस्था को प्राप्त करके राजा मलयध्वज परमेश्वर के सम्पर्क में आया और सीधे उनसे आदेश प्राप्त करने लगा।

परे ब्रह्मणि चात्मानं परं ब्रह्म तथात्मनि ।
वीक्षमाणो विहायेक्षामस्मादुपरराम ह ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

परे—दिव्य; ब्रह्मणि—ब्रह्म में; च—तथा; आत्मानम्—आत्मा को; परम्—परम; ब्रह्म—ब्रह्म; तथा—भी; आत्मनि—अपने में; वीक्षमाणः—देखते हुए; विहाय—त्याग कर; ईक्षाम्—अन्तर; अस्मात्—इस विधि से; उपरराम—शान्त हो गया; ह—निश्चय ही।

इस प्रकार राजा मलयध्वज परमात्मा को अपने पास बैठा हुआ और स्वयं आत्मा रूप को परमात्मा के निकट बैठा हुआ देख सकता था। चूँकि वे दोनों साथ-साथ थे, अतः उनके स्वार्थों का भिन्न होना आवश्यक न था। इस प्रकार उसने ऐसे कार्य करने बन्द कर दिये।

तात्पर्य : भक्ति की सिद्धावस्था में भक्त अपने तथा भगवान् के स्वार्थों में कोई अन्तर नहीं देखता। दोनों के स्वार्थ एकाकार हो जाते हैं। वह जो कुछ भी करता है, भगवान् के हित में करता है। साथ ही वह प्रत्येक वस्तु को परमात्मा में और परमात्मा को हर वस्तु में देखता है। इस अवस्था को प्राप्त हो जाने पर उसे आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों में कोई अन्तर नहीं दिखता। यह भौतिक जगत परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति होने के कारण उसके लिए आध्यात्मिक जगत बन जाता है। पूर्ण भक्त के लिए शक्ति तथा शक्तिमान में कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार तथाकथित भौतिक जगत आध्यात्मिक जगत बन जाता है (*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*)। प्रत्येक वस्तु भगवान् की सेवा के लिए है और निपुण भक्त किसी भी तथाकथित वस्तु का उपयोग भगवान् की सेवा के लिए कर सकता है। आध्यात्मिक पद को प्राप्त किये बिना कोई भी भगवान् की सेवा नहीं कर सकता। इस प्रकार यदि किसी तथाकथित भौतिक वस्तु को भगवान् की सेवा में प्रयुक्त कर लिया जाये तो वह भौतिक नहीं रह जाती। इस प्रकार शुद्ध भक्त की पूर्ण दृष्टि चारों दिशाओं में देखती है।

पतिं परमधर्मज्ञं वैदर्भी मलयध्वजम् ।
प्रेम्णा पर्यचरद्धित्वा भोगान्सा पतिदेवता ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

पतिम्—अपने पति; परम—परम; धर्म-ज्ञम्—धर्म का ज्ञाता; वैदर्भी—राजा विदर्भ की पुत्री ने; मलय-ध्वजम्—मलयध्वज को; प्रेम्णा—प्रेम से; पर्यचरत्—भक्ति-पूर्वक सेवा की; हित्वा—त्याग कर; भोगान्—इन्द्रियसुख; सा—उसने; पति-देवता—पति को परमेश्वर मानकर।

राजा विदर्भ की कन्या अपने पति को परमेश्वर रूप में सर्वेसर्वा मानती थी। उसने सारे

इन्द्रिय-सुख त्याग दिये और पूर्णतः विरक्त होकर वह अपने परम ज्ञानी पति के सिद्धान्तों का पालन करने लगी। इस प्रकार वह उसकी सेवा में लगी रही।

तात्पर्य : अलंकारिक भाषा में राजा मलयध्वज गुरु रूप है और उसकी पत्नी वैदर्भी शिष्य है। शिष्य गुरु को परमेश्वर-रूप मानता है। जैसाकि *गुर्वाष्टक* में श्रील विश्वनाथ चन्द्रवर्ती ठाकुर ने कहा है— *साक्षाद्धरित्वेन*—"मनुष्य गुरु को साक्षात् भगवान् मानता है।" मनुष्य को मायावादी चिन्तकों की विधि से गुरु स्वीकार न करके यहाँ पर बताई गई विधि से स्वीकार करना चाहिए। चूँकि गुरु भगवान् का परम विश्वस्त दास होता है, इसलिए उसे भगवान् के ही समान मानना चाहिए। गुरु की एक सामान्य मनुष्य की भाँति, उपेक्षा या अवज्ञा नहीं की जानी चाहिए।

यदि कोई स्त्री इतनी भाग्यशाली हो कि वह किसी शुद्ध भक्त की पत्नी हो तो वह इन्द्रियतृप्ति की किसी इच्छा के बिना अपने पति की सेवा कर सकती है। यदि वह अपने उच्चस्थ पति की सेवा में लगी रहती है, तो उसे स्वतः ही अपने पति की आध्यात्मिक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। यदि शिष्य को प्रामाणिक गुरु मिल जाता है, तो केवल उसको प्रसन्न करके वह भगवान् की सेवा का अवसर प्राप्त कर सकता है।

चीरवासा व्रतक्षामा वेणीभूतशिरोरुहा ।
बभावुप पतिं शान्ता शिखा शान्तमिवानलम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

चीर-वासा—पुराने वस्त्र पहने; व्रत-क्षामा—तपस्या के कारण अत्यन्त दुर्बल; वेणी-भूत—उलझे हुए, लटें पड़ीं; शिरोरुहा—उसके बाल; बभौ—चमकती थी; उप पतिम्—अपने पति के निकट; शान्ता—अत्यन्त शान्त; शिखा—लपटें; शान्तम्—बुझी हुई; इव—सदृश; अनलम्—अग्नि के।

राजा विदर्भ की पुत्री पुराने वस्त्र पहनती थी। वह तपस्या के कारण अत्यन्त दुर्बल हो गई थी। वह अपने बाल नहीं सँवारती थी जिससे उसमें लटें पड़ गई थीं। यद्यपि वह सदैव अपने पति के निकट रहती थी, किन्तु वह अत्यन्त मौन थी तथा अविचलित अग्नि की लपट के समान अक्षुब्ध (शान्त) थी।

तात्पर्य : जब कोई लकड़ी जलाता है, तो पहले धुआँ तथा विक्षोभ होता है, किन्तु आग लगने पर लकड़ी ठीक से जलने लगती है। इसी प्रकार जब पति तथा पत्नी तप के नियमों का पालन करते हैं, तो वे शान्त रहते हैं और कामोत्तेजित नहीं होते। इस तरह पति-पत्नी दोनों को आध्यात्मिक लाभ मिलता

है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए विलासी जीवन का पूर्ण त्याग करना होता है।

इस श्लोक में *चीरवासा* शब्द पुराने फटे वस्त्रों के लिए आया है। पत्नी को विशेष रूप से संयमित होना चाहिए; उसे विलासी वस्त्रों की इच्छा नहीं करनी चाहिए। उसे अपनी आवश्यकताएँ कम-से-कम कर देनी चाहिए और भोजन तथा नींद भी घटा देनी चाहिए। मैथुन का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यदि पत्नी अपने विशुद्ध भक्त पति की सेवा में लगी रहे तो उसे कभी कामेच्छा नहीं सताती। वानप्रस्थ अवस्था ऐसी ही है। यद्यपि पति तथा पत्नी साथ-साथ रह सकते हैं, किन्तु पत्नी इतना तप करती है कि मैथुन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार पति तथा पत्नी निरन्तर साथ-साथ रहते हैं। चूँकि पत्नी सदैव पति से निर्बल होती है, अत: इस श्लोक में इसको *उप पतिम्* शब्द से व्यक्त किया गया है। *उप* का अर्थ है "के निकट" अथवा "लगभग समान।" पुरुष होने से पति अपनी पत्नी की अपेक्षा अधिक आगे बढ़ा होता है, तो भी पत्नी से आशा की जाती है कि वह अपनी विलासप्रिय आदतें छोड़ दे। उसे अच्छे वस्त्र तक नहीं पहनने चाहिए और न ही बाल सँवारने चाहिए। बाल सँवारना स्त्रियों का मुख्य कार्य है। वानप्रस्थ आश्रम में पत्नी को अपने बालों की परवाह नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार उसके बालों में गाठें पड़ जायेंगी। फलत: पत्नी पति के लिए मोहक नहीं रहेगी और स्वयं भी कामेच्छा से विचलित नहीं होगी। इस प्रकार पति-पत्नी दोनों आध्यात्मिक चेतना में अग्रसर हो सकते हैं। यह उन्नत अवस्था परमहंस अवस्था कहलाती है और एक बार प्राप्त हो जाने पर पति-पत्नी देहात्मबुद्धि से छूट जाते हैं। यदि शिष्य गुरु की सेवा में अविचल रहे तो उसे माया के चंगुल में फँसने का डर नहीं रह जाता।

अजानती प्रियतमं यदोपरतमङ्गना ।
सुस्थिरासनमासाद्य यथापूर्वमुपाचरत् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

अजानती—न जानने से; प्रिय-तमम्—प्राणप्रिय पति को; यदा—जब; उपरतम्—मर गया; अङ्गना—स्त्री; सुस्थिर—अविचल; आसनम्—आसन में; आसाद्य—निकट जाकर; यथा—जिस तरह; पूर्वम्—पहले; उपाचरत्—सेवा करती रही।

राजा विदर्भ की पुत्री सुस्थिर मुद्रा में आसन लगाये अपने पति की तब तक पूर्ववत् सेवा करती रही, जब तक उसे यह पता नहीं लग गया कि उसने इस शरीर से कूच कर दिया है।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि रानी सेवा करते समय अपने पति से बोलती तक न थी। वह

केवल समुचित कार्य ही करती रहती थी। इस प्रकार उसने तब तक सेवा करनी बन्द नहीं की जब तक उसके पति के शरीर से प्राण निकल नहीं गये।

यदा नोपलभेताङ्घ्रावूष्माणं पत्युरर्चती ।
आसीत्संविग्नहृदया यूथभ्रष्टा मृगी यथा ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; न—नहीं; उपलभेत—अनुभव किया; अङ्घ्रौ—पावों में; ऊष्माणम्—गर्मी; पत्युः—अपने पति के; अर्चती—सेवा करते समय; आसीत्—हुई; संविग्न—चिन्तित; हृदया—हृदय में; यूथ-भ्रष्टा—अपने पति से बिछुड़ी; मृगी—हिरनी; यथा—जिस प्रकार।

जब वह अपने पति के चरण दबा रही थी तो उसे अनुभव हुआ कि उसके पाँव अब गरम नहीं हैं, अतः वह समझ गई कि उसने पहले ही इस शरीर को त्याग दिया है। अकेली छूट जाने पर उसे अत्यधिक चिन्ता हुई। अपने पति के साथ से विरहित वह अपने को उस मृगी के समान अनुभव करने लगी जो अपने पति से बिछुड़ गई हो।

तात्पर्य : ज्योंही शरीर में रक्त तथा वायु का संचार रुक जाता है, यह समझा जाता है कि आत्मा ने शरीर छोड़ दिया है। रक्त का संचार जब बन्द होता है, तो हाथ तथा पाँव ठंडे पड़ने लगते हैं। यह जानने के लिए कि शरीर जीवित है या नहीं, लोग हृदय की धड़कनों तथा हाथों और पाँवों का ठंडा पड़ना देखते हैं।

आत्मानं शोचती दीनमबन्धुं विक्लवाश्रुभिः ।
स्तनावासिच्य विपिने सुस्वरं प्ररुरोद सा ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—अपने विषय में; शोचती—विलाप करती; दीनम्—दुखियारी; अबन्धुम्—बिना मित्र के; विक्लव—भग्नहृदया; अश्रुभिः—आँसुओं से; स्तनौ—उसके स्तन; आसिच्य—भिगोती; विपिने—जंगल में; सुस्वरम्—जोर से; प्ररुरोद—रोने लगी; सा—वह।

जंगल में अकेली तथा विधवा जाने पर विदर्भ की पुत्री विलाप करने लगी; उसके आँसू निरन्तर झड़ रहे थे जिससे उसके स्तन भीग गये थे और वह जोर-जोर से रो रही थी।

तात्पर्य : प्रतीकात्मक रूप में रानी को राजा की शिष्या माना गया है, अतः जब गुरु का मर्त्य शरीर छूटता है, तो शिष्य को उसी प्रकार रोना चाहिए जिस प्रकार राजा के मरने पर रानी रोती है। किन्तु शिष्य तथा गुरु कभी विलग नहीं होते, क्योंकि जब तक शिष्य गुरु के आदेशों का दृढ़ता से पालन

करता रहता है तब तक गुरु शिष्य के साथ रहता है। यह *वाणी* (शब्दों) की संगति कहलाती है। भौतिक उपस्थिति *वपु:* कहलाती है। जब तक गुरु भौतिक रूप में उपस्थित रहे, शिष्य को चाहिए कि गुरु के भौतिक शरीर की सेवा करे और जब उसका भौतिक शरीर न रहे तो शिष्य को चाहिए कि गुरु के आदेशों का पालन करे।

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ राजर्षे इमामुदधिमेखलाम् ।
दस्युभ्य: क्षत्रबन्धुभ्यो बिभ्यतीं पातुमर्हसि ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

उत्तिष्ठ—उठिये; उत्तिष्ठ—उठिये; राज-ऋषे—हे राजर्षि; इमाम्—यह पृथ्वी; उदधि—समुद्र से; मेखलाम्—घिरी हुई; दस्युभ्य:—चोरों से; क्षत्र-बन्धुभ्य:—दुष्ट राजाओं से; बिभ्यतीम्—अत्यधिक डरी; पातुम्—रक्षा करना; अर्हसि—तुम्हें चाहिए।

हे राजर्षि, उठिये, उठिये, देखिये, ''जल से घिरी हुई यह पृथ्वी चोरों एवं तथाकथित राजाओं से भरी पड़ी है।'' यह संसार अत्यधिक भयभीत है। आपका कर्तव्य है कि आप उसकी रक्षा करें।

तात्पर्य : जब कभी भगवान् या उनके प्रतिनिधि की आज्ञा से किसी आचार्य का आगमन होता है, तो वह धर्म स्थापित करता है, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है। *धर्म* का अर्थ है भगवान् के आदेशों के अनुसार चलना। धर्म उसी समय से प्रारम्भ होता है जब कोई भगवान् की शरण में जाता है। आचार्य का यह कर्तव्य है कि वह प्रामाणिक धार्मिक प्रणाली चलाए और सबों को भगवान् के समक्ष नतमस्तक होने के लिए प्रेरित करे। धर्म का पालन करने के लिए भक्ति की जाती है, जिसमें विशेषकर श्रवण, कीर्तन, स्मरण जैसे नौ विभाग हैं। दुर्भाग्यवश जब आचार्य नहीं रहता तो चोर तथा अभक्त लाभ उठाकर तथाकथित स्वामियों, योगियों, उपकारियों, सामाजिक कार्यकताओं इत्यादि के रूप में अवैध सिद्धान्तों का प्रचलन कर देते हैं। वास्तव में मनुष्य-जीवन तो परमेश्वर की आज्ञाओं के पालन हेतु है, जैसाकि *भगवद्गीता* (९.३४) में कहा गया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण: ॥

''सदैव मेरे विषय में सोचने में अपना मन लगाओ तथा मेरे भक्त बनो। मुझे नमस्कार करो और मेरी पूजा करो। मुझमें पूर्णत: लिप्त रहकर तुम अवश्य ही मेरे पास आओगे।''

मानव-समाज का मुख्य कार्य ईश्वर के विषय में सदैव चिन्तन करना, उनका भक्त बनना, उनकी पूजा करना और उनके समक्ष नतमस्तक होना है। आचार्य, जो भगवान् का प्रामाणिक प्रतिनिधि होता है, इन सिद्धान्तों की स्थापना करता है, किन्तु जब उसका निधन हो जाता है, तो ये सारी बातें पुन: अव्यवस्थित हो जाती हैं। आचार्य के असली शिष्य इस स्थिति से उबरने के लिए गुरु के आदेशों का निष्ठापूर्वक पालन करते हैं। इस समय एक प्रकार से सारा संसार चोरों तथा अभक्तों से भयभीत है, अत: यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन संसार को अधार्मिक सिद्धान्तों से बचाने के लिए चलाया गया है। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि इस आन्दोलन में सहयोग दे, जिससे संसार में वास्तविक शान्ति तथा सुख लाये जा सकें।

एवं विलपन्ती बाला विपिनेऽनुगता पतिम् ।
पतिता पादयोर्भर्तू रुदत्यश्रूण्यवर्तयत् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विलपन्ती—विलाप करती; बाला—अबोध स्त्री, अबला; विपिने—निर्जन वन में; अनुगता—साथ गई हुई; पतिम्—पति को; पतिता—गिरी हुई; पादयो:—पैरों पर; भर्तु:—पति के; रुदती—रोती हुई; अश्रूणि—आँसू; अवर्तयत्—गिरा रही थी।

इस प्रकार वह परम आज्ञाकारिणी पत्नी अपने मृत पति के चरणों पर गिर पड़ी और उस एकान्त वन में करुण क्रन्दन करने लगी। उसकी आँखों से आँसू झर रहे थे।

तात्पर्य : जिस प्रकार पतिपरायणा पत्नी अपने पति के मरने पर दुखी होती है, उसी तरह जब गुरु मरता है, तो सारे शिष्य शोक-संतप्त हो जाते हैं।

चितिं दारुमयीं चित्वा तस्यां पत्यु: कलेवरम् ।
आदीप्य चानुमरणे विलपन्ती मनो दधे ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

चितिम्—चिता; दारु-मयीम्—लकड़ी से बनी; चित्वा—चुनकर; तस्याम्—उस पर; पत्यु:—पति का; कलेवरम्—शरीर; आदीप्य—जलाकर; च—भी; अनुमरणे—उसके साथ मरने के लिए; विलपन्ती—विलाप करती; मन:—अपना मन; दधे—स्थिर किया।

तब उसने लकड़ियो से चिता बनाकर और अग्नि लगाकर उसमें अपने पति के शव को रख दिया। इस सबके बाद वह दारूण विलाप करने लगी और अपने पति के साथ अग्नि में भस्म होने के लिए स्वयं भी तैयार हो गयी।

तात्पर्य : यह अत्यन्त प्राचीन वैदिक प्रथा है कि श्रद्धावान पत्नी अपने पति के साथ ही मर जाती है। यह *सह-मरण* कहलाता है। यह प्रथा भारत में अंग्रेजों के आगमन काल तक प्रचलित थी। किन्तु उस समय तक यदि कोई स्त्री पति के साथ नहीं मरना चाहती थी तो कभी-कभी उसके सम्बन्धी उसे बलपूर्वक ऐसा करने के लिए बाध्य कर देते थे। पहले ऐसा न था। पत्नी स्वेच्छा से अग्नि में प्रवेश करती थी। ब्रिटिश सरकार ने इसे अमानुषिक समझ कर बन्द करा दिया। किन्तु हम भारत के प्राचीन इतिहास में पाते हैं कि जब महाराज पाण्डु मरे तो उनकी दो पत्नियाँ माद्री तथा कुन्ती जीवित थीं। प्रश्न यह था कि वे दोनों मरें या एक। महाराज पाण्डु की मृत्यु के बाद यह तय हुआ कि केवल एक ही मरे—माद्री अपने पति के साथ मरे और कुन्ती पाँचों पाण्डवों के पालन के लिए जीवित रहे। हमने १९३६ में देखा है कि एक पतिपरायणा पत्नी स्वेच्छा से अपने पति के साथ अग्नि में प्रविष्ट हुई थी।

इससे सूचित होता है कि भक्त की पत्नी को ऐसा करने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसी प्रकार गुरुभक्त शिष्य को चाहिए कि यदि वह गुरु के सन्देश को कार्य रूप देने में असफल रहता है, तो वह गुरु के साथ मर जाए। जिस प्रकार भगवान् इस पृथ्वी पर धर्म की पुनर्स्थापना के लिए आते हैं उसी तरह उनका प्रतिनिधि—गुरु—भी धर्म की पुनर्स्थापना के लिए आता है। यह तो शिष्यों का कर्तव्य है कि गुरु के सन्देश को ग्रहण करके उसे कार्यरूप में परिणत करें। अन्यथा अच्छा हो कि शिष्य भी गुरु के साथ मर जाये। दूसरे शब्दों में, गुरु की इच्छापूर्ति के लिए शिष्य को अपना जीवन-उत्सर्ग करने तथा अपने सारे निजी विचारों को त्यागने के लिए सन्नद्ध होना चाहिए।

तत्र पूर्वतरः कश्चित्सखा ब्राह्मण आत्मवान् ।
सान्त्वयन्वल्गुना साम्ना तामाह रुदतीं प्रभो ॥५१॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; पूर्वतरः—पहले का पुराना; कश्चित्—कोई; सखा—मित्र; ब्राह्मणः—ब्राह्मण ने; आत्मवान्—अत्यन्त विद्वान्; सान्त्वयन्—सान्त्वना देते हुए; वल्गुना—अत्यन्त मधुर; साम्ना—शमन करने वाली वाणी से; ताम्—उसको; आह—कहा; रुदतीम्—रोदन करती हुई; प्रभो—हे राजा!.

हे राजन्, एक ब्राह्मण, जो राजा पुरञ्जन का पुराना मित्र था उस स्थान पर आया और रानी को मृदुल वाणी से सान्त्वना देने लगा।

तात्पर्य : पुराने मित्र का ब्राह्मण रूप में प्रकट होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। परमात्मा रूप में कृष्ण सबके पुराने सखा हैं। वैदिक आदेशों के अनुसार कृष्ण जीव के पास बैठे रहते हैं। इस श्रुति मंत्र—*द्वा*

सुपर्णा सयुजा सखाया:—भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में सुहृद रूप में स्थित रहता है। भगवान् सदैव इच्छुक रहता है कि जीव उसके धाम वापस आये। साक्षी के रूप में जीव के पास बैठकर भगवान् उसे समस्त भौतिक सुखों को भोगने का अवसर प्रदान करता है, किन्तु जब भी समय मिलता है, तो वह उसे उपदेश भी देता है कि भौतिक साधनों से सुख भोगने की अपेक्षा वह भगवान् की ओर मुख मोड़े और उसका शरणागत बने। जब कोई अपने गुरु के सन्देश का अनुगमन करते के लिए उद्यत रहता है, तो उसका यह संकल्प भगवान् के दर्शन करने के समान होता है। जैसाकि पहले कहा गया है इसका अर्थ हुआ गुरु के आदेश से भगवान् से भेंट। यह *वाणी-सेवा* कहलाती है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर *भगवद्गीता* के *व्यवसायात्मिका बुद्धरेकेह कुरुनन्दन* (२.४१) श्लोक की टीका करते हुए कहते हैं कि मनुष्य को चाहिए कि गुरु के वचनों की सेवा करे। शिष्य को चाहिए कि जो गुरु आज्ञा दे उस पर दृढ़ रहे। इसी दिशा में चलकर वह भगवान् का दर्शन करता है।

भगवान् रानी के समक्ष ब्राह्मण रूप में प्रकट हुए, किन्तु वे अपने मूलरूप में श्रीकृष्ण रूप में क्यों नहीं प्रकट हुए? श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि जब तक कोई भगवान् के प्रेम में अत्यधिक आगे बढ़ा हुआ नहीं होता तब तक वह उन्हें उस रूप में नहीं देख सकता। फिर भी यदि वह अपने गुरु द्वारा बनाये गये नियमों में दृढ़ रहता है, तो वह किसी-न-किसी तरह भगवान् की संगति प्राप्त करता है। चूँकि भगवान् हृदय में स्थित हैं, अत: वे निष्ठावान् शिष्य को अन्त:करण से उपदेश दे सकते हैं। इसकी भी पुष्टि *भगवद्गीता* (१०.१०) में हुई है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

"जो निरन्तर मेरी भक्ति करते हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।"

निष्कर्ष यह निकला कि यदि कोई शिष्य अपने गुरु के सन्देश को कार्य-रूप देना चाहता है, तो वह तुरन्त *वाणी* या *वपु:* से परमेश्वर की संगति प्राप्त करता है। भगवान् के दर्शन का यही रहस्य है। भगवान् को वृन्दावन के किसी कुंज में विहार करते हुए देखने की अपेक्षा, यदि कोई अपने गुरु के वचनों के पालन के नियम पर दृढ़ रहे तो वह बिना किसी कठिनाई के परमेश्वर का दर्शन कर सकता

है। इसीलिए श्रील बिल्व मंगल ठाकुर ने कहा है—

भक्तिस्त्वयि स्थिरतरा भगवन् यदि स्याद्

दैवेन नः फलति दिव्यकिशोरमूर्तिः।

मुक्तिः स्वयं मुकुलिताञ्जलि सेवतेऽस्मान्

धर्मार्थकामगतयः समयप्रतीक्षाः॥

"हे भगवान्! यदि मैं आपकी भक्ति में लगा होऊँ तो मैं आपको सर्वत्र उपस्थित पा सकता हूँ। जहाँ तक मुक्ति का प्रश्न है, मेरे विचार में वह तो मेरे द्वार पर हाथ जोड़े मेरी सेवा करने के लिए प्रतीक्षा करती है और उसके साथ धर्म, अर्थ तथा काम सम्बन्धी सारी भौतिक सुविधाएँ खड़ी रहती हैं।" (*कृष्ण-कर्णामृत* १०७)। यदि कोई भक्ति में बहुत आगे बढ़ा हुआ है, तो उसे भगवान् के दर्शन करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। यदि कोई अपने गुरु की सेवा करता है, तो वह न केवल भगवान् के दर्शन करता है, अपितु मुक्ति भी प्राप्त करता है। जहाँ तक भौतिक सुख-सुविधाएँ हैं, वे स्वतः आती हैं, जिस प्रकार रानी के पीछे-पीछे दासियाँ जाती हैं। शुद्ध भक्त के लिए मुक्ति कोई समस्या नहीं होती। सारी भौतिक सुविधाएँ जीवन के हर स्तर पर उसकी प्रतीक्षा करती रहती हैं।

ब्राह्मण उवाच
का त्वं कस्यासि को वायं शयानो यस्य शोचसि ।
जानासि किं सखायं मां येनाग्रे विचचर्थ ह ॥५२॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणः उवाच—विद्वान् ब्राह्मण ने कहा; का—कौन; त्वम्—तुम; कस्य—किसकी; असि—हो; कः—कौन; वा—अथवा; अयम्—यह पुरुष; शयानः—लेटा हुआ; यस्य—जिसके लिए; शोचसि—तुम विलाप कर रही हो; जानासि किम्—क्या तुम जानती हो; सखायम्—मित्र को; माम्—मुझको; येन—जिसके साथ; अग्रे—पहले; विचचर्थ—तुम विचार-विमर्श करती थी; ह—निश्चय ही।

ब्राह्मण ने इस प्रकार पूछा: तुम कौन हो? तुम किसकी पत्नी या पुत्री हो? यहाँ लेटा हुआ पुरुष कौन है? ऐसा प्रतीत होता है कि तुम इस मृत शरीर के लिए विलाप कर रही हो। क्या तुम मुझे नहीं पहचानती हो? मैं तुम्हारा शाश्वत सखा हूँ। तुम्हें स्मरण होगा कि पहले तुमने मुझसे कई बार परामर्श किया है।

तात्पर्य : जब किसी व्यक्ति का कोई सम्बन्धी मरता है, तो विरक्ति स्वतः उत्पन्न होती है। यदि भौतिक आसक्ति के कल्मष से पूर्ण रूप से मुक्त हुआ जा सके तभी अन्त:करण में स्थित परमात्मा से

परामर्श करना सम्भव है। जो शुद्ध एवं निष्ठावान् है उसे हृदयस्थ परमात्मा से परामर्श करने का अवसर प्राप्त होता है। परमात्मा शाश्वत चैत्यगुरु है और वह बाह्य रूप में उपदेशक तथा दीक्षा-गुरु के रूप में प्रकट होता है। भगवान् अन्त:करण में निवास कर सकता है और मनुष्य के समक्ष प्रकट होकर उसे उपदेश भी दे सकता है। इस तरह गुरु अन्त:करण में स्थित परमात्मा से भिन्न नहीं होता। किसी भी कल्मषहीन आत्मा या जीव को परमात्मा से साक्षात्कार का अवसर प्राप्त हो सकता है। जिस प्रकार अन्त:करण में स्थित परमात्मा से परामर्श करने का अवसर प्राप्त होता है, उसी तरह अपने सम्मुख स्थित परमात्मा को देखने का अवसर मिलता है। तब मनुष्य परमात्मा से साक्षात् परामर्श कर सकता है। यह शुद्ध भक्त का कर्तव्य है कि वह प्रामाणिक गुरु के पास जाए और अन्त:करण में स्थित परमात्मा से परामर्श करे।

जब ब्राह्मण ने स्त्री से पूछा कि भूमि पर लेटा कौन है, तो उस स्त्री ने उत्तर दिया कि वह उसका गुरु है और उसके अभाव से वह अत्यन्त व्यग्र है कि वह क्या करे। ऐसे अवसर पर परमात्मा तुरन्त प्रकट हो आता है, बशर्ते कि भक्त गुरु के आदेशों का पालन करके अपने हृदय को शुद्ध कर चुका हो। एक निष्ठावान् भक्त जो गुरु के आदेशों का पालन करता है, निश्चय ही, परमात्मा से अपने हृदय के माध्यम से आदेश प्राप्त करता है। इस प्रकार निष्ठावान् भक्त की सहायता प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से गुरु तथा परमात्मा द्वारा की जाती है। *श्रीचैतन्य-चरितामृत* में इसकी पुष्टि होती है—*गुरु कृष्ण प्रसादे पाय भक्तिलता बीज*—यदि भक्त अपने गुरु की निष्ठापूर्वक सेवा करता है, तो कृष्ण स्वत: प्रसन्न होते हैं। *यस्य प्रसादाद् भगवद् प्रसाद: ।* गुरु को प्रसन्न कर लेने पर श्रीकृष्ण स्वत: प्रसन्न हो जाते हैं। इस प्रकार भक्त अपने गुरु तथा परमात्मा दोनों का लाभ उठाता है। परमात्मा आन्तरिक रूप से जीवात्मा का सखा है और सदैव उसके साथ रहता है। परमात्मा जीव की सहायता के लिए सदैव, यहाँ तक कि इस जगत की उत्पत्ति के पूर्व भी, उद्यत रहा है। इसीलिए यहाँ पर कहा गया है—*येनाग्रे विचचर्थ। अग्रे* शब्द का अर्थ है ''उत्पत्ति के पूर्व।'' इस प्रकार परमात्मा जीव के साथ सृष्टि के पूर्व से रह रहा है।

अपि स्मरसि चात्मानमविज्ञातसखं सखे ।
हित्वा मां पदमन्विच्छन्भौमभोगरतो गत: ॥५३॥

शब्दार्थ

अपि स्मरसि—क्या तुम्हें स्मरण है; च—भी; आत्मानम्—परमात्मा को; अविज्ञात—अज्ञात; सखम्—मित्र को; सखे—हे मित्र; हित्वा—छोड़कर; माम्—मुझको; पदम्—पद, स्थिति; अन्विच्छन्—चाहते हुए; भौम—भौतिक; भोग—सुख; रत:—अनुरक्त; गत:—हो गये।

ब्राह्मण ने आगे कहा : हे मित्र, यद्यपि इस समय तुम मुझे तुरन्त नहीं पहचान सकते हो, किन्तु क्या तुम्हें स्मरण नहीं है कि भूतकाल में तुम मेरे अन्तरंग मित्र थे? दुर्भाग्यवश तुमने मेरा साथ छोड़ कर इस भौतिक जगत के भोक्ता का पद स्वीकार किया था।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (७.२७) में कहा गया है—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत।

सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥

"हे अर्जुन! हे शत्रुओं के विजेता! सभी जीव मोह में उत्पन्न होते हैं और इच्छा तथा घृणा के द्वन्द्व द्वारा अभिभूत होते हैं।" इस तथ्य की यह व्याख्या है कि किस प्रकार से जीव इस भौतिक जगत में आ पड़ता है। आध्यात्मिक जगत में न द्वैत है, न ही घृणा। भगवान् अनेक रूपों में अपना विस्तार करते हैं। अधिकाधिक आनन्द उठाने के लिए वे विभिन्न कोटियों में अपना विस्तार करते हैं। जैसाकि *वराह पुराण* में उल्लेख है—वे *विष्णु-तत्त्व* (*स्वांश* रूप) तथा अपनी तटस्था शक्ति (*विभिन्नांश,* जीव) में स्वयं विस्तार करते हैं। इस प्रकार से विस्तारित जीवों की संख्या अनन्त है, जिस प्रकार सूर्य-प्रकाश के कण सूर्य के असंख्य विस्तार हैं। जीव *विभिन्नांश* और भगवान् की तटस्था शक्ति हैं। जब जीवों को भोग की इच्छा होती है, तो वे द्वंद्व (द्वैत) की चेतना विकसित करते हैं और भगवान् की सेवा करने से घृणा करने लगते हैं। इस प्रकार जीव इस भौतिक जगत में आ पड़ते हैं। *प्रेम विवर्त* में कहा गया है—

कृष्ण-बहिर्मुख हञा भोग-वाञ्छा करे।

निकट-स्थ माया तारे जापटिया धरे॥

जीव की सहज स्थिति यह है कि वह दिव्य प्रेमभाव से भगवान् की सेवा करे। किन्तु जब जीव श्रीकृष्ण की नकल करना चाहता है या स्वयं कृष्ण बनना चाहता है, तो वह भौतिक जगत में आ गिरता है। चूँकि श्रीकृष्ण परम पिता हैं, इसलिए जीवों के प्रति उनका स्नेह नित्य है। जब जीव भौतिक जगत में आ गिरता है, तो परमेश्वर अपने स्वांश विस्तार (परमात्मा) से जीव के साथ रहते हैं। इस प्रकार किसी-न-किसी दिन जीव भगवान् के धाम वापस जा सकता है।

अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करने से जीव भगवान् की सेवा से च्युत होता है और इस जगत में

भोक्ता के रूप में पद प्राप्त करता है। उससे भी ऊँचा पद प्राप्त करने की इच्छा से जीव उल्टे जन्म-मरण के चक्कर में फँस जाता है। वह अपना पद मनुष्य, देवता, बिल्ली, कुत्ता, वृक्ष इत्यादि के रूप में चुनता है। इस प्रकार जीव चौरासी लाख योनियों में से शरीर ग्रहण करके अनेक प्रकार के सुखोपभोगों से अपने को सन्तुष्ट करता है, किन्तु परमात्मा यह नहीं चाहता कि जीव यह सब करे। फलत: परमात्मा उससे भगवान् की शरण में आने के लिए आदेश देता है। तब परमात्मा जीव का भार अपने ऊपर ले लेता है। किन्तु जब तक जीव भौतिक इच्छाओं से अदूषित न हो तब तक वह परमेश्वर की शरण में नहीं जा सकता। *भगवद्गीता* (५.२९) में भगवान् कहते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

"साधु पुरुष मुझे समस्त यज्ञों तथा तपस्याओं का परम कारण, समस्त लोकों तथा देवताओं का स्वामी तथा जीवों का कल्याणकर्त्ता हितैषी मानते हुए भौतिक यातनाओं से शान्ति प्राप्त करते हैं।"

परमेश्वर सबों का परम मित्र है, किन्तु जब कोई सुखी रहने की अपनी योजना बना रहा हो और इस तरह प्रकृति के गुणों में स्वयं को उलझा रहा हो तो वह अपने परम मित्र के आदेश से लाभ नहीं उठा सकता है। जब सृष्टि होती है, तो जीव अपनी पूर्व इच्छाओं के अनुसार विविध रूप धारण करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सभी योनियाँ या जीव-रूप एकसाथ उत्पन्न होते हैं। डार्विन का यह सिद्धान्त, कि प्रारम्भ में मनुष्य नहीं था, अपितु वह अनेकानेक वर्षों में विकसित हुआ, मात्र एक मूर्खतापूर्ण कथन है। वैदिक साहित्य से हमें पता चलता है कि इस ब्रह्माण्ड का प्रथम प्राणी ब्रह्मा था। सर्वाधिक बुद्धिमान होने के कारण उसने संसार-भर में पाई जाने वाली समस्त योनियों की सृष्टि का कार्यभार अपने ऊपर ले लिया।

हंसावहं च त्वं चार्य सखायौ मानसायनौ ।
अभूतामन्तरा वौक: सहस्रपरिवत्सरान् ॥५४॥

शब्दार्थ

हंसौ—दो हंस; अहम्—मैं; च—यथा; त्वम्—तुम; च—भी; आर्य—हे महापुरुष; सखायौ—दो मित्र; मानस-अयनौ—मानस सरोवर में एकसाथ; अभूताम्—हो गये; अन्तरा—पृथक्; वा—निस्सन्देह; ओक:—अपने असली घर से; सहस्र—हजारों; परि—लगातार; वत्सरान्—वर्षों।

हे मित्र, मैं और तुम दोनों हंसों के तुल्य हैं। हम एक ही मानसरोवर रूपी हृदय में साथ-साथ

रहते हैं, यद्यपि हम हजारों वर्षों से साथ साथ रह रहे हैं। किन्तु फिर भी हम अपने मूल निवास से बहुत दूर हैं।

तात्पर्य : जीव तथा भगवान् का मूल स्थान आध्यात्मिक जगत है जहाँ वे दोनों शान्तिपूर्वक एकसाथ रहते हैं। चूँकि जीव भगवान् की सेवा में लगा रहता है, इसलिए वे दोनों आध्यात्मिक जगत में आनन्दमय जीवन बिताते हैं। किन्तु जब जीव आनन्द उठाना चाहता है, तो वह भौतिक जगत में आ गिरता है। इस स्थिति में भी भगवान् उसके साथ परमात्मा रूप में सुहृद रहता है। अपनी विस्मृति के कारण जीव को पता नहीं चलता कि परमेश्वर परमात्मा रूप में उसके साथ है। इस प्रकार जीव प्रत्येक कल्प में बद्ध बना रहता है। यद्यपि भगवान् उसके मित्र के रूप में उसके साथ-साथ रहता है, किन्तु जीव विस्मृति के कारण उसे पहचान नहीं पाता।

स त्वं विहाय मां बन्धो गतो ग्राम्यमतिर्महीम् ।
विचरन्पदमद्राक्षीः कयाचिन्निर्मितं स्त्रिया ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह हंस; त्वम्—तुम्हीं; विहाय—छोड़कर; माम्—मुझको; बन्धो—हे मित्र; गतः—चला गया; ग्राम्य—भौतिक; मतिः—चेतना; महीम्—पृथ्वी पर; विचरन्—घूमते हुए; पदम्—पद; अद्राक्षीः—तुमने देखा; कयाचित्—किसी के द्वारा; निर्मितम्—निर्मित; स्त्रिया—स्त्री द्वारा।

हे मित्र, तुम मेरे वही मित्र हो। जबसे तुमने मुझे छोड़ा है, तुम अधिकाधिक भौतिकतावादी हो गये हो और मेरी ओर न देख कर तुम इस संसार में, जिसे किसी स्त्री ने निर्मित किया है, विभिन्न रूपों में घूमते रहे हो।

तात्पर्य : जब जीव नीचे गिरता है, तो वह भौतिक जगत में आता है, जिसकी सृष्टि भगवान् की बहिरंगा शक्ति से हुई है। यहाँ पर इस शक्ति को "कोई स्त्री" या प्रकृति के रूप में वर्णित किया गया है। यह भौतिक जगत उन तत्त्वों से बना है, जो महत् तत्त्व से प्राप्त हुए। यह भौतिक जगत इस प्रकार बहिरंगा शक्ति द्वारा उत्पन्न होकर बद्धजीव का तथाकथित निवासस्थान बन जाता है। इस भौतिक जगत में जीव विभिन्न घर या कि विभिन्न शरीर स्वीकार करके इधर-उधर विचरता है। कभी वह उच्च लोकों का भ्रमण करता है, तो कभी निम्न लोकों का। कभी वह उच्च योनियों में घूमता है, तो कभी निम्न योनियों में। इस प्रकार वह अनन्त काल से इस भौतिक ब्रह्माण्ड के भीतर विचरता रहा है। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज॥

(*श्रीचैतन्य-चरितामृत, मध्य* १९.१५१)

जीव अनेक योनियों में घूमता रहता है, किन्तु वह भाग्यशाली होता है जब उसकी पुन: अपने मित्र से या तो साक्षात् या उसके प्रतिनिधि रूप में, भेंट होती है।

वास्तव में श्रीकृष्ण ही समस्त जीवों को भगवान् के धाम लौटने का उपदेश देते हैं। कभी-कभी वे अपना प्रतिनिधि भेजते हैं, जो उनके संदेश को जीवों तक पहुँचा कर उन्हें भगवान् के धाम लौटने के लिए प्रेरित करते हैं। दुर्भाग्यवश जीव भौतिक सुख में इतना लिप्त है कि वह न तो कृष्ण, न उनके प्रतिनिधि के आदेशों को गम्भीरता से लेता है। इस भौतिक प्रवृत्ति को इस श्लोक में *ग्राम्यमति:* (इन्द्रियतृप्ति) कहा गया है। *महीम्* शब्द का अर्थ है "इस भौतिक जगत के अन्दर।" इस भौतिक जगत में सारे जीव कामोन्मुख हैं। फलत: वे अनेक शरीरों में बँध जाते हैं और संसार के कष्टों को सहते रहते हैं।

पञ्चारामं नवद्वारमेकपालं त्रिकोष्ठकम् ।
षट्कुलं पञ्चविपणं पञ्चप्रकृति स्त्रीधवम् ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

पञ्च-आरामम्—पाँच उद्यान; नव-द्वारम्—नौ द्वार; एक—एक; पालम्—पालक; त्रि—तीन; कोष्ठकम्—कमरे; षट्—छह; कुलम्—परिवार; पञ्च—पाँच; विपणम्—बाजार; पञ्च—पाँच; प्रकृति—भौतिक तत्त्व; स्त्री—स्त्री; धवम्—स्वामी।

उस नगर (शरीर) में पाँच उद्यान, नौ द्वार, एक पालक (रक्षक), तीन कमरे, छह परिवार, पाँच बाजार, पाँच तत्त्व तथा एक स्त्री है, जो घर की स्वामिनी है।

पञ्चेन्द्रियार्था आरामा द्वार: प्राणा नव प्रभो ।
तेजोऽबन्नानि कोष्ठानि कुलमिन्द्रियसङ्ग्रह: ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

पञ्च—पाँच; इन्द्रिय-अर्था:—इन्द्रियविषय; आरामा:—उद्यानों; द्वार:—दरवाजे; प्राणा:—इन्द्रियों के छिद्र; नव—नौ; प्रभो—हे राजा; तेज:-अप्—अग्नि तथा जल; अन्नानि—अन्न या पृथ्वी; कोष्ठानि—कोठे, कमरे; कुलम्—कुल, परिवार; इन्द्रिय-सङ्ग्रह:—पाँचों इन्द्रियाँ तथा मन।

हे मित्र, पाँच उद्यान पाँच प्रकार के इन्द्रियसुख के विषय हैं और इसका रखवाला प्राण है, जो नौ द्वारों से आता जाता है। तीन प्रकोष्ठ तीन प्रमुख अवयव—अग्नि, जल तथा पृथ्वी—हैं।

मन समेत पाँचों इन्द्रियों का समुच्चय इसके छह परिवार हैं।

तात्पर्य : पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं—दृष्टि, स्वाद, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श। ये नौ द्वारों से होकर कार्य करती हैं, जो इस प्रकार हैं—दो आँखें, दो कान, एक मुँह, दो नथुने, एक जननेन्द्रिय तथा एक गुदा। ये छिद्र नगर के परकोटे के दरवाजों के तुल्य हैं। प्रमुख अवयव हैं—पृथ्वी, जल तथा अग्नि और मुख्यकर्त्ता है मन जो बुद्धि द्वारा अनुशासित है।

विपणस्तु क्रियाशक्तिर्भूतप्रकृतिरव्यया ।
शक्त्यधीशः पुमांस्त्वत्र प्रविष्टो नावबुध्यते ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

विपणः—बाजार; तु—तब; क्रिया-शक्तिः—कर्मेन्द्रियाँ; भूत—पाँच स्थूल तत्त्व; प्रकृतिः—भौतिक तत्त्व; अव्यया—शाश्वत; शक्ति—शक्ति; अधीशः—नियामक; पुमान्—मनुष्य; तु—तब; अत्र—यहाँ; प्रविष्टः—घुसा हुआ; न—नहीं; अवबुध्यते—समझ में आता है।

पाँच बाजार पाँचों कर्मेन्द्रियाँ हैं। वे पाँच शाश्वत तत्त्वों की संयुक्त शक्ति से अपना व्यापार करती हैं। इस सारी कर्मठता के पीछे आत्मा काम करता है। आत्मा पुरुष है और वही वास्तविक भोक्ता है। किन्तु इस समय शरीर रूपी नगर के भीतर छिपा होने के कारण वह ज्ञानशून्य है।

तात्पर्य : भौतिक सृष्टि में जीवात्मा पाँच तत्त्वों—क्षिति, जल, पावक, आकाश तथा समीर—के बल पर प्रवेश करता है और इस प्रकार उसका शरीर बनता है। यद्यपि जीवात्मा भीतर से कार्य करता है, किन्तु फिर भी वह अज्ञात रहता है। जीवात्मा भौतिक सृष्टि में प्रवेश करता है, किन्तु माया से मोहित होने के कारण वह प्रच्छन्न रहता है। अज्ञान (*नावबुध्यते*) के कारण देहात्मबुद्धि की प्रधानता रहती है। यद्यपि बुद्धि स्त्रीलिंग है, किन्तु समस्त कार्यों में उसकी प्रधानता के कारण इस श्लोक में उसे *अधीशः* या नियामक कहा गया है। जीव अग्नि, जल तथा अन्न के बल पर जीवित रहता है। इन तीनों के संयोग से ही शरीर का पालन होता है। इसीलिए शरीर को प्रकृति या भौतिक सृष्टि कहा जाता है। सारे तत्त्व क्रमशः मिलकर मांस, अस्थि, रक्त इत्यादि बनाते हैं। ये सब विभिन्न कमरों के समान हैं। वेदों में कहा गया है कि पचने के बाद भोजन तीन भागों में बँट जाता है। ठोस अंश मल बन जाता है और अर्धतरल अंश मांस में परिणत हो जाता है। द्रव भाग पीला होता जाता है और यह पुनः तीन भागों में बँट जाता है। इनमें से एक मूत्र कहलाता है। इसी प्रकार अग्नि भाग भी तीन में विभाजित हो जाता है, जिनमें से एक अस्थि कहलाता है। पाँच तत्त्वों में से अग्नि, जल तथा भोजन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

ये तीनों पिछले श्लोक में वर्णित हैं, किन्तु आकाश तथा समीर का उल्लेख नहीं हुआ। इन सब की व्याख्या *भगवद्गीता* (१३.२०) में इस प्रकार हुई है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥

"भौतिक प्रकृति तथा पुरुष को अनादि समझना चाहिए। इनके रूपान्तर तथा गुणधर्म प्रकृति की उपज हैं।" प्रकृति तथा पुरुष शाश्वत हैं। जब वे दोनों सम्पर्क में आते हैं, तो विभिन्न प्रतिक्रियाएँ एवं स्वरूप बनते हैं। इन सबको प्रकृति के तीन गुणों की पारस्परिक क्रिया का प्रतिफल मानना चाहिए।

तस्मिंस्त्वं रामया स्पृष्टो रममाणोऽश्रुतस्मृतिः ।
तत्सङ्गादीदृशीं प्राप्तो दशां पापीयसीं प्रभो ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस स्थिति में; त्वम्—तुम; रामया—स्त्री के साथ; स्पृष्टः—सम्पर्क में होने से; रममाणः—रमण करते हुए; अश्रुत-स्मृतिः—आध्यात्मिक अस्तित्व की याद किये बिना; तत्—उसके; सङ्गात्—संगति से; ईदृशीम्—इस तरह की; प्राप्तः—प्राप्त हुई; दशाम्—दशा, अवस्था; पापीयसीम्—पापकर्मों से पूर्ण; प्रभो—मेरे मित्र।

हे मित्र, जब तुम भौतिक इच्छा रूपी स्त्री के साथ ऐसे शरीर में प्रवेश करते हो तो तुम इन्द्रियसुख में अत्यधिक लिप्त हो जाते हो। इसीलिए तुम्हें अपना आध्यात्मिक जीवन भूल गया है। अपनी भौतिक अवधारणाओं के कारण तुम्हें नाना कष्ट उठाने पड़ रहे हैं।

तात्पर्य : जब मनुष्य भौतिकता में उलझ जाता है, तो उसमें आध्यात्मिक जीवन के विषय में सुनने की शक्ति नहीं रह जाती। आध्यात्मिक जीवन को भूलने के कारण ही वह भौतिक जगत में अधिकाधिक फँसता जाता है। यह पापकर्मों का फल है। पापकर्मों के कारण भौतिक अवयवों से विभिन्न प्रकार के शरीर विकसित होते हैं। राजा पुरञ्जन ने अपने पापकर्मों के कारण ही *वैदर्भी* नामक स्त्री का शरीर धारण किया था। *भगवद्गीता* स्पष्ट कहती है कि ऐसा शरीर निम्न जात मनुष्यों का होता है (*स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः*)। किन्तु यदि कोई भगवान् की शरण ग्रहण करता है, तो वह निम्न जात होकर भी परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। मनुष्य निम्न कुल में तभी जन्म लेता है जब उसकी आध्यात्मिक बुद्धि घट जाती है।

न त्वं विदर्भदुहिता नायं वीरः सुहृत्तव ।

न पतिस्त्वं पुरञ्जन्या रुद्धो नवमुखे यया ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

न—न तो; त्वम्—तुम; विदर्भ-दुहिता—विदर्भ की पुत्री; न—नहीं; अयम्—यह; वीरः—वीर; सु-हृत्—हितैषी पति; तव—तुम्हारा; न—नहीं; पतिः—पति; त्वम्—तुम; पुरञ्जन्याः—पुरञ्जनी की; रुद्धः—बन्दी; नव-मुखे—नव द्वार वाले शरीर में; यया—माया से।

वास्तव में न तो तुम विदर्भ की पुत्री हो और न यह पुरुष (मलयध्वज) तुम्हारा हितेच्छु पति है। न ही तुम पुरञ्जनी के वास्तविक पति थे। तुम तो इस नव द्वार वाले शरीर में केवल बन्दी थे।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में अनेक जीव एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं और एक विशेष प्रकार के शरीर से आसक्ति बढ़ जाने पर पिता, पति, माता, पत्नी इत्यादि के रूप में सम्बन्धित हो जाते हैं। वास्तव में प्रत्येक जीव की पृथक् पहचान है और पदार्थ के सम्पर्क के कारण ही वह अन्य शरीरों के साथ में रहता है और झूठे ही उनसे सम्बन्ध स्थापित करता है। झूठे शरीर परिवार, जाति, समाज तथा राष्ट्रीयता के नाम पर विविध संगतियाँ उत्पन्न करते हैं। वास्तव में प्रत्येक जीव भगवान् का अंश है, किन्तु जीव है कि भौतिक देह में अत्यधिक लिप्त रहता है। भगवान् कृष्ण प्रकट होकर *भगवद्गीता* तथा वैदिक साहित्य के रूप में उपदेश देते हैं। वे यह उपदेश इसलिए देते हैं, क्योंकि वे जीव के शाश्वत मित्र हैं। ये उपदेश महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनसे जीव को दैहिक व्यापारों से मुक्ति मिल सकती है। जब नदी का पानी नीचे की ओर बहता है, तो उसमें किनारे के अनेक तिनके तथा शैवाल मिलते रहते हैं। वे नदी की धारा के साथ बहते रहते हैं, किन्तु जब लहरें इन्हें इधर-उधर उछाल देती हैं, तो वे अलग हो जाते है और अन्यत्र जा लगते हैं। इसी प्रकार इस जगत में असंख्य जीव भौतिक प्रकृति की लहरों द्वारा ले जाये जा रहे हैं। ये लहरें कभी-कभी उन्हें इकट्ठा कर देती हैं और वे एक दूसरे से मित्रता तथा परिवार, जाति या राष्ट्रीयता का दैहिक सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। अन्त में वे प्रकति की लहरों द्वारा एक दूसरे से विलग कर दिए जाते हैं। यह क्रिया प्रकृति की उत्पत्ति के समय से ही चलती आ रही है। इस प्रसंग में श्रील भक्तिविनोद ठाकुर का गीत है—

मिछे मायार वशे, याच्छ भेसे'

खाच्छ हाबुडुबु, भाइ

जीव कृष्ण-दास, ए विश्वास,

कार्ले त' आर, दुःख नाइ

“हे जीवो! तुम भौतिक प्रकृति की लहरों द्वारा ले जाये जा रहे हो। कभी तो तुम ऊपर होते हो, कभी डूबने लगते हो। इस प्रकार तुम्हारा शाश्वत जीवन विनष्ट हो रहा है। यदि तुम श्रीकृष्ण को पकड़ कर एक बार फिर उनके चरणकमलों की शरण ग्रहण कर सको तो तुम दुखदायक सांसारिक कष्टों से उबर सकते हो।”

इस श्लोक में *सुहृत्* (हितैषी) तथा *तव* (तुम्हारा) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। किसी का तथाकथित पति, परिजन, पुत्र, पिता कोई भी वास्तव में हितैषी नहीं हो सकता है। एकमात्र हितैषी तो स्वयं श्रीकृष्ण हैं। जैसाकि श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (५.२९) में पुष्टि करते हैं—*सुहृदं सर्वभूतानाम्।* समाज, मित्रता, प्रेम तथा हितैषी—ये सब विभिन्न देहों में बंधे हुए होने के फलस्वरूप हैं। लोगों को इसे जानना चाहिए और शारीरिक फंदे से, जिसमें वह जन्म-जन्मांतर पड़ा रहता है, निकलने का प्रयत्न करना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करे और भगवान् के धाम वापस जाये।

माया ह्येषा मया सृष्टा यत्पुमांसं स्त्रियं सतीम् ।
मन्यसे नोभयं यद्वै हंसौ पश्यावयोर्गतिम् ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

माया—माया; हि—निश्चय ही; एषा—यह; मया—मेरे द्वारा; सृष्टा—रचित; यत्—जिससे; पुमांसम्—नर को; स्त्रियम्—नारी को; सतीम्—साध्वी; मन्यसे—तुम मानते हो; न—नहीं; उभयम्—दोनों; यत्—क्योंकि; वै—निश्चय ही; हंसौ—भौतिक कल्मष से रहित; पश्य—देखो; आवयोः—हमारी; गतिम्—अन्तिम स्थिति।

तुम कभी अपने को पुरुष, कभी सती स्त्री और कभी नपुंसक मानते हो। यह सब शरीर के कारण है, जो माया द्वारा उत्पन्न है। यह माया मेरी शक्ति है और वास्तव में हम दोनों—तुम और मैं—विशुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप हैं। तुम इसे समझने का प्रयास करो। मैं वास्तविक स्थिति बताने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

तात्पर्य : परमेश्वर तथा जीवात्मा दोनों की वास्तविक स्थिति गुणात्मक रूप से एक-सी है। परमेश्वर परम आत्मा है तथा जीवात्मा व्यष्टि आध्यात्मिक आत्मा है। यद्यपि दोनों ही मूल आध्यात्मिक स्वरूप हैं, किन्तु जीवात्मा जब भौतिक प्रकृति के सम्पर्क में आता है, तो अपनी पहचान को भूल जाता है और बद्ध हो जाता है। तब वह अपने को प्रकृति का प्रतिफल करके मानता है। भौतिक देह के कारण वह यह भूल जाता है कि वह परमेश्वर का सनातन अंश है। इसकी पुष्टि इस प्रकार होती है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:। *भगवद्गीता* में *सनातन* शब्द कई स्थलों पर आया है। भगवान् तथा जीव दोनों ही सनातन हैं और *सनातन* नामक एक स्थान भी है, जो इस प्रकृति से परे है। जीव तथा ईश्वर का वास्तविक वासस्थान सनातन राज्य है, यह भौतिक जगत नहीं। यह भौतिक जगत अस्थिर है, भगवान् की बहिरंगा शक्ति है और जीव इस भौतिक जगत में इसलिए आया, क्योंकि वह भगवान् के पद का अनुकरण करना चाहता था। वह इस भौतिक जगत में यथाशक्ति इन्द्रियभोग करने का प्रयत्न करता है। इस संसार में बद्धजीव के सारे कार्य विभिन्न प्रकार के शरीरों में सम्पन्न होते रहते हैं, किन्तु जब जीव को विकसित चेतना प्राप्त हो तो उसे अपनी स्थिति को सुधारने और पुन: वैकुण्ठ का सदस्य (वासी) बनने का प्रयत्न करना चाहिए। जिस विधि से वह भगवान् के धाम वापस जा सकता है, वह भक्तियोग है, जिसे कभी-कभी *सनातन धर्म* कहते हैं। भौतिक देह के अनुसार किसी क्षणिक धर्म को न स्वीकार करके मनुष्य को सनातन धर्म या भक्तियोग स्वीकार करना चाहिए जिससे वह भौतिक देहों के इस बन्धन से छुटकारा पा सके और भगवान् के धाम वापस जा सके। जब तक मानव-समाज झूठी भौतिक पहचान (स्वरूप) के आधार पर कार्य करता रहेगा, तब तक सारा विज्ञान तथा दर्शन का तथाकथित विकास व्यर्थ है। उनसे मानव-समाज गुमराह होता है। *अन्धा यथान्धैरुपनीयमाना:।* इस संसार में अन्धा अन्धे का मार्गदर्शन कर रहा है।

अहं भवान्न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भो: ।
न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; भवान्—तुम; न—नहीं; च—भी; अन्य:—भिन्न; त्वम्—तुम; त्वम्—तुम; एव—निश्चय ही; अहम्—मैं हूँ; विचक्ष्व—देखो; भो:—हे मित्र; न—नहीं; नौ—हमारा; पश्यन्ति—देखते हैं; कवय:—विद्वान पुरुष; छिद्रम्—दोष; जातु—किसी समय; मनाक्—किञ्चित; अपि—भी।

हे मित्र, मैं परमात्मा और तुम आत्मा होकर भी हम गुणों में भिन्न नहीं हैं, क्योंकि हम दोनों आध्यात्मिक हैं। वास्तव में, हे मित्र, तुम मुझसे अपनी स्वाभाविक स्थिति में भी गुणात्मक रूप से भिन्न नहीं हो। तुम इस विषय पर तनिक विचार करो। जो वास्तव में महान् विद्वान् हैं और जिन्हें ज्ञान है वे तुममें तथा मुझमें कोई गुणात्मक अन्तर नहीं पाते।

तात्पर्य : भगवान् तथा जीव दोनों ही गुणात्मक रूप से एक हैं। इन दोनों में कोई तथ्यात्मक अन्तर नहीं है। मायावादी चिन्तक बारम्बार माया से इसीलिए पराजित होते रहते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि

परमात्मा तथा आत्मा में कोई भेद नहीं है अथवा परमात्मा है ही नहीं। वे सोचने में यह भी भूल करते हैं कि प्रत्येक वस्तु परमात्मा है। किन्तु जो *कवय:* अर्थात् विद्वान हैं, वे तथ्यों से परिचित होते हैं। वे ऐसी भूल नहीं करते। वे जानते हैं कि ईश्वर तथा आत्मा गुण में एक ही हैं, किन्तु जीवात्मा माया के चंगुल में पड़ता है, जबकि परमात्मा माया का नियंता है। माया तो परमेश्वर की सृष्टि है (*मया सृष्टा*); अत: परमेश्वर माया का अधीक्षक होता है। यद्यपि जीवात्मा गुण में परमेश्वर के ही तुल्य है, किन्तु वह माया के वश में है। मायावादी चिन्तक अधीक्षक तथा अधीन में भेद नहीं कर पाते।

यथा पुरुष आत्मानमेकमादर्शचक्षुषोः ।
द्विधाभूतमवेक्षेत तथैवान्तरमावयोः ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; **पुरुषः**—जीवात्मा; **आत्मानम्**—अपने शरीर को; **एकम्**—एक; **आदर्श**—दर्पण में; **चक्षुषोः**—आँखों से; **द्विधा-आभूतम्**—दो के रूप में उपस्थित; **अवेक्षेत**—देखता है; **तथा**—उसी तरह; **एव**—निश्चय ही; **अन्तरम्**—अन्तर; **आवयोः**—हम दोनों में।.

जिस प्रकार मनुष्य अपने शरीर के प्रतिबिम्ब को दर्पण में अपने से अभिन्न देखता है जब कि दूसरे लोग वास्तव में दो शरीर देखते हैं, उसी प्रकार अपनी इस भौतिक अवस्था में जिसमें जीव प्रभावित होकर भी प्रभावित नहीं होता, ईश्वर तथा जीव में अन्तर होता है।

तात्पर्य : मायावादी चिन्तक परमेश्वर तथा जीव के बीच कोई अन्तर नहीं देख पाते, क्योंकि वे पदार्थ के प्रतिबन्ध से प्रभावित रहते हैं। जब सूर्य घड़े के जल में प्रतिबिम्बित होता है, तो सूर्य को पता रहता है कि उसमें तथा जल में प्रतिबिम्बित सूर्य में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु जो अज्ञानी हैं, वे प्रत्येक घड़े में सूर्य के छोटे-छोटे प्रतिबिम्ब पाते हैं। जहाँ तक दीप्ति का प्रश्न है, वह तो मूल सूर्य तथा प्रतिबिम्ब दोनों में रहती है, किन्तु प्रतिबिम्ब छोटे होते हैं जबकि सूर्य अत्यन्त विशाल है। वैष्णव चिन्तक इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जीव आदि भगवान् के लघु प्रतिरूप हैं। गुण की दृष्टि से जीव और भगवान् एक हैं किन्तु मात्रा की दृष्टि से जीव भगवान् के लघु अंश है। परमेश्वर पूर्ण, शक्तिमान तथा ऐश्वर्यवान है। पिछले श्लोक में भगवान् कहते हैं "मेरे मित्र, तुम और मैं अभिन्न हैं।" यह अभिन्नता गुणात्मक है, क्योंकि परमात्मा के लिए यह आवश्यक नहीं जान पड़ा कि वे याद दिलाते कि वे मात्रात्मक रूप में एक नहीं हैं। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति यह कभी नहीं सोचता कि वह और परमात्मा सभी प्रकार से एक से हैं। यद्यपि गुणात्मक रूप में भगवान् तथा जीवात्मा एक-से हैं, जीवात्मा अपनी

आध्यात्मिक पहचान को भूलता रहता है, किन्तु परमात्मा कभी नहीं भूलता। लिप्त और अलिप्त में यही भेद है। भगवान् सदैव अलिप्त रहते हैं, किन्तु जीवात्मा प्रकृति के संसर्ग में रहने के कारण अपनी वास्तविक पहचान को भूल जाता है, अतः जब वह अपने को बद्ध अवस्था में पाता है, तो अपनी पहचान शरीर रूप में करता है। किन्तु भगवान् के लिए शरीर तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं रहता। वे पूर्णतः आत्मा हैं, उनके भौतिक शरीर नहीं होता। यद्यपि जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों ही शरीर के भीतर रहते हैं, परमात्मा उपाधि से रहित है, जबकि बद्धजीव को विशेष प्रकार के शरीर के रूप में नामोंद्दिष्ट किया जाता है। परमात्मा अन्तर्यामी कहलाता है और वह सर्वव्यापी है। *भगवद्गीता* (१३.३) में इसकी पुष्टि हुई है—*क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत*—हे भारत! तुम्हें यह पता होना चाहिए कि मैं समस्त शरीरों का ज्ञाता भी हूँ।

परमात्मा प्रत्येक शरीर में उपस्थित है, जबकि जीवात्मा विशेष प्रकार के शरीर में बद्ध रहता है। व्यष्टि आत्मा यह नहीं समझ पाता कि दूसरे शरीर में क्या हो रहा है, किन्तु परमात्मा को भली-भाँति पता है कि समस्त शरीरों में क्या हो रहा है। दूसरे शब्दों में, परमात्मा सदैव अपने पूर्ण आध्यात्मिक पद में उपस्थित रहते हैं जबकि जीवात्मा की अपने आपको भूलने की प्रवृत्ति होती है। न ही व्यष्टि आत्मा सर्वत्र उपस्थित रहता है। सामान्य रूप से जीवात्मा बद्ध अवस्था में परमात्मा के साथ अपने सम्बन्ध को नहीं समझ सकता, किन्तु कभी-कभी समस्त बद्ध स्थिति से मुक्त होने पर उसे परमात्मा तथा अपने में जो वास्तविक अन्तर है, वह दिखता है। जब परमात्मा आत्मा से कहता है, ''मैं और तुम एक ही हैं,'' तो बद्धजीव को गुणात्मक रूप से उसकी आध्यात्मिक पहचान याद कराने के लिए ऐसा होता है। *श्रीमद्भागवत* (३.२८.४०) में कहा गया है—

यथोल्मुकाद्विस्फलिङ्गाद्धूमाद्वापि स्वसम्भवात्।

अप्यात्मत्वेनाभिमताद्यथाग्निः पृथगुल्मुकात्॥

अग्नि के भिन्न-भिन्न रूप होते हैं—लपट, चिनगारी तथा धूम। यद्यपि ये सभी गुण में एक हैं, किन्तु तो भी अग्नि, लपट, चिनगारी तथा धूम इन सबमें अन्तर है। जीव तो बद्ध हो जाता है, किन्तु भगवान् कभी भी बद्ध न होने के कारण भिन्न है। वेदों का कथन है—*आत्मा तथा पृथग् द्रष्टा भगवान् ब्रह्मसंज्ञितः। आत्मा* जीवात्मा भी है और साथ ही साथ भगवान् भी जो सभी वस्तुओं का द्रष्टा है।

यद्यपि दोनों आत्मा हैं, किन्तु उनमें सदा ही अन्तर रहता है। स्मृति में भी कहा गया है—*यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्ति।* जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ निकलती रहती हैं, उसी प्रकार विशाल आध्यात्मिक लपट में क्षुद्र जीवात्माएँ उपस्थित रहती हैं। *भगवद्गीता* (९.४) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः*—सभी जीव मुझमें हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ। यद्यपि सारे जीव उन्हीं पर आश्रित हैं, जिस प्रकार विशाल लपट में छोटी-छोटी चिनगारियाँ रहती हैं, किन्तु दोनों पृथक्-पृथक् स्थित हैं। इस प्रकार *विष्णु पुराण* में कहा गया है—

एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा।

परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्॥

"अग्नि एक स्थान पर रहती है, किन्तु वह गर्मी तथा प्रकाश का वितरण करती रहती है। इसी प्रकार भगवान् अपनी शक्तियों को विविध प्रकारों से वितरित करते रहते हैं।" जीवात्मा इन शक्तियों (तटस्था शक्ति)में से ही एक है। एक प्रकार से शक्ति तथा शक्तिमान एक हैं, किन्तु वे पृथक्-पृथक् स्थित हैं। इसी प्रकार *ब्रह्म-संहिता* में जिस सच्चिदानन्द रूप की पुष्टि हुई है (*ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः*) वह जीवात्मा से उसकी बद्ध तथा मुक्त अवस्थाओं से भिन्न है। केवल नास्तिक ही जीवात्मा तथा भगवान् को सभी प्रकार से एक समझते हैं। इसीलिए चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—*मायावादी भाष्य शुनिले हय सर्वनाश*—यदि कोई मायावादी चिन्तकों के उपदेशों का पालन करे और यह विश्वास करे कि भगवान् तथा जीव एक हैं, तो वास्तविक दर्शन की दिशा में उसकी बुद्धि सदा के लिए भ्रष्ट समझो।

एवं स मानसो हंसो हंसेन प्रतिबोधितः ।
स्वस्थस्तद्व्यभिचारेण नष्टामाप पुनः स्मृतिम् ॥६४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सः—वह (जीवात्मा); मानसः—मन में एकसाथ रहने वाला; हंसः—हंस के समान; हंसेन—दूसरे हंस के द्वारा; प्रतिबोधितः—उपदेशित होकर; स्व-स्थः—आत्म-साक्षात्कार में स्थित; तत्-व्यभिचारेण—परमात्मा से बिछुड़ने के कारण; नष्टाम्—नष्ट हुआ; आप—प्राप्त; पुनः—फिर से; स्मृतिम्—वास्तविक स्मरण शक्ति।

इस प्रकार दोनों हंस हृदय में एकसाथ रहते हैं। जब एक हंस दूसरे को उपदेश देता है, तो वह अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहता है। इसका अर्थ है कि वह अपनी मूल कृष्णचेतना को प्राप्त कर लेता है, जिसे उसने भौतिक आसक्ति के कारण खो दिया था।

तात्पर्य : यहाँ स्पष्ट कहा गया है—*हंसो हंसेन प्रतिबोधितः।* जीवात्मा तथा परमात्मा की उपमा दो हंसों से दी गई है, क्योंकि वे निष्कलंक अर्थात् श्वेत होते हैं, किन्तु इनमें से एक हंस श्रेष्ठ है और दूसरे का उपदेशक है। जब निम्न हंस दूसरे से बिछुड़ जाता है, तो वह भौतिक सुख के प्रति आकृष्ट होता है। यही उसके पतन का कारण है। किन्तु जब वह दूसरे हंस से उपदेश ग्रहण करता है, तो उसे अपनी वास्तविक स्थिति का बोध होता है और वह अपनी मूल चेतना को फिर से प्राप्त कर लेता है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण अपने भक्तों को उबारने तथा असुरों को मारने के लिए अवतरित होते हैं। वे *भगवद्गीता* के रूप में अपना उदात्त (उत्कृष्ट) उपदेश भी देते हैं। जीव को भगवान् तथा गुरु की कृपा से अपनी स्थिति को समझना होता है, क्योंकि मात्र शैक्षिक योग्यता से *भगवद्गीता* के मूलपाठ को नहीं समझा जा सकता। मनुष्य को सिद्ध पुरुष से *भगवद्गीता* सीखनी चाहिए।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

"गुरु के पास जाकर सत्य सीखने का प्रयत्न तो करो। उससे विनम्रतापूर्वक जिज्ञासा करो और उसकी सेवा करो। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति तुम्हें ज्ञान प्रदान कर सकता है, क्योंकि उसने सत्य को देखा है।"(*भगवद्गीता* ४.३४)

इस प्रकार मनुष्य को प्रामाणिक गुरु की खोज करके अपनी मूल चेतना प्राप्त करनी चाहिए। तब जीव की समझ में आयेगा कि वह परमात्मा के सदैव अधीन है। ज्योंही वह अधीनता अस्वीकार करके भोक्ता बनने कि चेष्टा करता है, उसका भौतिक बन्धन प्रारम्भ हो जाता है। जब वह स्वामी अथवा भोक्ता बनने के भाव का परित्याग करता है, तो वह मुक्त अवस्था को प्राप्त करता है। *स्वस्थः* शब्द का अर्थ है—"अपनी मूल स्थिति में होना।" जब वह श्रेष्ठता की अवांचित मनोवृत्ति को छोड़ देता है, तो वह अपनी मूल स्थिति को प्राप्त करता है। *तद्व्यभिचारेण* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह सूचित करता है कि जब जीव अवज्ञावश ईश्वर से विलग हो जाता है, तो उसकी वास्तविक चेतना जाती रहती है। केवल कृष्ण तथा गुरु की कृपा से वह अपनी मुक्त अवस्था को प्राप्त कर सकता है। ये श्लोक श्रील नारद मुनि द्वारा कहे गये हैं और इन्हें कहने का उनका मूल उद्देश्य है हमारी चेतना को जाग्रत करना। यद्यपि जीवात्मा तथा परमात्मा गुणात्मक रूप से एक हैं, किन्तु जीवात्मा को परमात्मा के

आदेशों का पालन करना होता है। यही मुक्ति की अवस्था है।

बर्हिष्मन्नेतदध्यात्मं पारोक्ष्येण प्रदर्शितम् ।
यत्परोक्षप्रियो देवो भगवान्विश्वभावनः ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

बर्हिष्मन्—हे राजा प्राचीनबर्हि; एतत्—यह; अध्यात्मम्—आत्म-साक्षात्कार का वर्णन; पारोक्ष्येण—परोक्ष रूप से; प्रदर्शितम्—उपदेश किया; यत्—क्योंकि; परोक्ष-प्रियः—अप्रत्यक्ष वर्णन से रोचक; देवः—परमेश्वर; भगवान्—भगवान्; विश्व-भावनः—समस्त कारणों के कारण।

हे राजा प्राचीनबर्हि, समस्त कारणों के कारण भगवान् परोक्ष रूप से समझे जाने के लिए सुविख्यात हैं। इस प्रकार मैने तुमसे पुरञ्जन की कथा कही। वास्तव में यह आत्म-साक्षात्कार के लिए उपदेश है।

तात्पर्य : पुराणों में आत्म-साक्षात्कार की ऐसी अनेक कथाएँ हैं। जैसाकि वेदों में कहा गया है—*परोक्षप्रिया इव हि देवाः।* पुराणों में ऐसी अनेक कथाएँ हैं, जो आध्यात्मिक विषयों में सामान्य पुरुष को आनन्द देने वाली हैं, किन्तु ये वास्तव में तथ्यों को बताने के लिए हैं। इन्हें आध्यात्मिक उद्देश्य से रहित केवल कथाएँ नहीं समझना चाहिए। इनमें से कुछ ऐतिहासिक तथ्यों को बताने वाली हैं। किन्तु मनुष्य को कथा के वास्तविक अभिप्राय में रुचि होनी चाहिए। अप्रत्यक्ष उपदेश सामान्य मनुष्य की समझ में जल्दी आता है। वस्तुतः भक्तियोग का मार्ग भगवान् की लीलाओं के प्रत्यक्ष सुनने का मार्ग है (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*) किन्तु जो लोग भगवान् के कार्यों को प्रत्यक्ष नहीं सुनना चाहते या उन्हें समझ नहीं सकते वे नारद मुनि द्वारा वर्णित इस कथा के समान कथाओं या बोधकथाओं को सुनकर लाभ उठा सकते हैं।

इस अध्याय के कतिपय महत्त्वपूर्ण शब्दों का संग्रह नीचे दिया जा रहा है—

आदेशकारी—पापकर्मों से उत्पन्न क्रियाएँ।

अगस्त्य—मन।

अमात्य—इन्द्रियों का अधीक्षक, मन।

अर्बुद-अर्बुद—भगवान् के नाम, गुण रूप इत्यादि का विभिन्न प्रकार से श्रवण तथा कीर्तन।

अरि—अवरोध यथा रोग।

भोग—सुख। यहाँ यह शब्द आध्यात्मिक जीवन में वास्तविक सुख के लिए प्रयुक्त है।

भृत्य—शरीर के दास अर्थात् इन्द्रियाँ।

द्रविड-राज—भक्ति अथवा भक्ति करने का पात्र व्यक्ति।

द्वार—शरीर के दरवाजे, यथा आँखें तथा कान।

गृह—घर। आध्यात्मिक अनुशीलन के लिए एकान्त स्थान या भक्तों की सत्संगति आवश्यक है।

इध्मवाह—वह भक्त जो गुरु के पास जाता है। *इध्म* का अर्थ है समिधा। ब्रह्मचारी को यज्ञ करते समय समस्त अग्नि जलाने के लिए इस *इध्म* को ले जाना होता है। आध्यात्मिक उपदेश के द्वारा ब्रह्मचारी को शिक्षा दी जाती है कि वह अग्नि जलाकर प्रात:काल आहुति दे। उसे गुरु के पास जाकर आध्यात्मिक विषयों की शिक्षा ग्रहण करनी होती है। वैदिक आदेश तो यह है कि जब वह गुरु के पास जाये तो यज्ञ करने के लिए अपनी समिधा लेकर जाये। वैदिक आदेश यह है—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।

समित्पाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

"आध्यात्मिक विषय सीखने के लिए शिष्य को गुरु के पास जाना चाहिए। ऐसा करने के लिए उसे यज्ञ के लिए समिधा ले जाना चाहिए। ऐसे गुरु का लक्षण यह है कि वह वैदिक निष्कर्ष समझने में निपुण होता है, अत: वह भगवान् की सेवा में निरन्तर लगा रहता है।" (*मुण्डकोपनिषद्* १.२.१२)। ऐसे प्रामाणिक गुरु की सेवा करके बद्धजीव भौतिक सुख से क्रमश: विरक्त होता जाता है और गुरू के निरीक्षण में आत्म-साक्षात्कार की दिशा में प्रगति करता है। जो लोग माया से भ्रमित हैं, वे जीवन को सफल बनाने के लिए कभी-भी गुरु के पास जाने में रुचि नहीं दिखाते।

जाया—बुद्धि।

जीर्ण-सर्प—थकी हुई प्राण वायु।

कालकन्या—वृद्धावस्था की अशक्तता।

काम—तेज ज्वर।

कुलाचल—वह स्थान जहाँ किसी प्रकार का उहापोह नहीं होती।

कुटुम्बिनी—बुद्धि।

मदिरेक्षण—वह जिसकी आँखें इतनी आकर्षक होती हैं कि जो भी उन्हें देखता है, वह प्रमत्त हो

जाता है अर्थात् अत्यन्त सुन्दरी तरुणी। जीव गोस्वामी के अनुसार मदिरेक्षण साक्षात् भक्ति की देवी है। यदि कोई भक्ति सम्प्रदाय के प्रति आकृष्ट होता है, तो वह भगवान् तथा गुरु की सेवा में लग जाता है और उसका जीवन सफल हो जाता है। वैदर्भी, जो एक स्त्री थी वह अपने पति की अनुगामिनी बन गई। जिस प्रकार अपने पति की सेवा के लिए उसने अपने आरामदेह घर को छोड़ दिया उसी प्रकार अध्यात्म ज्ञान के इच्छुक विद्यार्थी को अपने गुरु की सेवा के लिए सब कुछ छोड़ देना चाहिए। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादः*—यदि कोई जीवन में वास्तविक सफलता चाहता है, तो उसे अपने गुरु के आदेशों का दृढ़ता से पालन करना चाहिए। ऐसा करने से वह आध्यात्मिक जीवन में तेजी से प्रगति कर सकता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती का यह कथन *श्वेताश्वतर उपनिषद्* (६.२३) के निम्न आदेश के अनुसार है—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

"केवल उन महान् लोगों को जो भगवान् तथा गुरु दोनों में निर्विवाद श्रद्धा रखते हैं, वैदिक ज्ञान स्वतः प्राप्त होता है।" *छान्दोग्य उपनिषद्* में कहा गया है—*आचार्यवान् पुरुषो वेद*—जो प्रामाणिक गुरु के पास जाता है, वही आत्मदर्शन के विषय में सब कुछ जान सकता है।

मलयध्वज—चन्दन के समान उत्तम भक्त।

पञ्चाल—पाँचों इन्द्रियविषय।

परिच्छद—चेतनाओं का समूह।

पौर-जन—शरीर को निर्मित करने वाले सातों तत्त्व।

पौत्र—धैर्य तथा गम्भीरता।

प्रज्वार—एक प्रकार का ज्वर, जिसे *विष्णुज्वार* कहते हैं।

प्रतिक्रिया—मंत्र तथा ओषधि जैसे प्रतिक्रिया दिखाने वाले कारक।

पुर-पालक—प्राणवायु।

पुत्र—चेतना।

सैनिक—तीन प्रकार के ताप।

सप्त-सुत—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, वन्दन, पाद-सेवन, अर्चन तथा दास्य इत्यादि भक्ति के सात अंग।

सौहृद्य—प्रयास।

सुत—वैदर्भी का पुत्र, अर्थात् जो सकाम कर्म में आगे बढ़ा हो और भक्त गुरु के सम्पर्क में आये। ऐसा व्यक्ति भक्ति में रुचि रखने लगता है।

वैदर्भी—स्त्री जो पहले पुरुष थी, किन्तु जिसने अगले जीवन में स्त्री का जन्म लिया, क्योंकि वह स्त्री के प्रति अत्यधिक आसक्त था। *दर्भ* का अर्थ है कुश। कर्मकाण्डीय अनुष्ठानों में कुश की आवश्यकता पड़ती है। वैदर्भी का अर्थ हुआ जो कर्मकाण्डीय बुद्धि वाले के घर में जन्म ले। किन्तु यदि कोई कर्मकाण्डीय कार्य करते हुए सौभाग्य से किसी भक्त के सम्पर्क में आता है, जिस प्रकार वैदर्भी ने मलयध्वज के साथ विवाह करके किया, तो उसका जीवन सफल हो जाता है। तब वह भगवान् की भक्ति करने लगता है। केवल प्रामाणिक गुरु के आदेशों के पालन से बद्धजीव मुक्त हो पाता है।

विदर्भ-राजसिंह—श्रेष्ठ पुरुष जो कर्मकाण्ड में निपुण हो।

वीर्य—कृपालु।

यवन—यमराज का दास।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कंध के अन्तर्गत "अगले जन्म में पुरञ्जन को स्त्री-योनि की प्राप्ति" नामक अट्ठाईसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter उन्तीस

नारद तथा राजा प्राचीनबर्हि के मध्य वार्तालाप

प्राचीनबर्हिरुवाच
भगवंस्ते वचोऽस्माभिर्न सम्यगवगम्यते ।
कवयस्तद्विजानन्ति न वयं कर्ममोहिताः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

प्राचीनबर्हिः उवाच—राजा प्राचीनबर्हि ने कहा; भगवन्—हे स्वामी; ते—तुम्हारे; वचः—शब्द; अस्माभिः—हमारे द्वारा; न—कभी नहीं; सम्यक्—पूर्णतया; अवगम्यते—समझे जाते हैं; कवयः—पटु लोग; तत्—वह; विजानन्ति—समझ सकते हैं; न—कभी नहीं; वयम्—हम; कर्म—कर्मों द्वारा; मोहिताः—मोहित।

राजा प्राचीनबर्हि ने उत्तर दिया : हे प्रभु, हम आपके कहे गये राजा पुरञ्जन के रूपक आख्यान (अन्योक्ति) का सारांश पूर्ण रूप से नहीं समझ सके। वास्तव में जो आध्यात्मिक ज्ञान में निपुण हैं, वे तो समझ सकते हैं, किन्तु हम जैसे सकाम कर्मों में अत्यधिक लिप्त पुरुषों के लिए आपके आख्यान का तात्पर्य समझ पाना अत्यन्त कठिन है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.१३) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

''तीनों गुणों (सतो, रजो तथा तमो) से मोहित यह सारा संसार मुझको नहीं जान पाता; मैं गुणों से ऊपर तथा अक्षय हूँ।'' सामान्यतः लोग प्रकृति के तीन गुणों से मोहग्रस्त हैं, इसलिए वे यह नहीं जान पाते कि इस दृश्य जगत में समस्त भौतिक कार्यकलापों के पीछे पूर्म पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण हैं। सामान्य रूप से जब लोग पाप या पुण्यकर्मों में प्रवृत्त रहते हैं, तो उनका भक्ति सम्बन्धी ज्ञान पूर्ण नहीं होता। नारद मुनि ने राजा बर्हिष्मान् से जो रूपक आख्यान कहा वह बद्धजीवों को भक्ति में प्रवृत्त करने के लिए विशेष रूप से कहा गया है। यह सम्पूर्ण आख्यान भक्त द्वारा सरलता से समझ लिया जाता है, किन्तु जो भक्ति के बजाय इन्द्रियतृप्ति में लिप्त रहते हैं, वे इसे ठीक से नहीं समझ पाते। राजा बर्हिष्मान् ने इसे स्वीकार किया है।

यह उन्तीसवाँ अध्याय बताता है कि स्त्रियों के प्रति अत्यधिक आसक्ति से मनुष्य अगले जन्म में स्त्री बनता है, किन्तु जो मनुष्य भगवान् या उसके प्रतिनिधि की संगति करता है, वह समस्त भौतिक आसक्ति से रहित होकर मुक्त हो जाता है।

नारद उवाच

पुरुषं पुरञ्जनं विद्याद्यद्व्यनक्त्यात्मनः पुरम् ।
एकद्वित्रिचतुष्पादं बहुपादमपादकम् ॥ २॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; पुरुषम्—जीव, भोक्ता को; पुरञ्जनम्—राजा पुरञ्जन; विद्यात्—जानना चाहिए; यत्—जिससे; व्यनक्ति—उत्पन्न करता है; आत्मनः—स्वयं का; पुरम्—वासस्थान; एक—एक; द्वि—दो; त्रि—तीन; चतुः-पादम्—चार पैरों वाला, चौपाया; बहु-पादम्—अनेक पैरों वाला; अपादकम्—पाँवहीन।.

नारद मुनि ने कहा : तुम जानो कि पुरञ्जन रूपी जीव अपने कर्म के अनुसार विभिन्न रूपों में

देहान्तर करता रहता है, जो एक, दो, तीन, चार या अनेक पाँव वाले या पाँवविहीन हो सकते हैं। इन विभिन्न प्रकार के रूपों में देहान्तर करने वाला जीव तथाकथित भोक्ता के रूप में पुरञ्जन कहा जाता है।

तात्पर्य : आत्मा एक रूप से दूसरे में जिस प्रकार देहान्तर करता है उसका यहा अत्यन्त सुन्दर वर्णन हुआ है। *एकपाद* से भूतों का बोध होता है, क्योंकि यह कहा जाता है कि वे एक पाँव के बल चलते हैं। *द्विपाद* मनुष्य हैं। जब मनुष्य वृद्ध तथा अक्षम हो जाता है, तो वह *त्रिपाद* हो जाता है, क्योंकि वह डंडे या छड़ी के सहारे चलता है। किन्तु *चतुष्पाद* पशुओं के लिए प्रयुक्त है। *बहुपाद* ऐसे प्राणी हैं जिनके चार से अधिक पाँव होते हैं। ऐसे अनेक कीड़े तथा जलचर होते हैं जिनके अनेक पाँव होते हैं। *अपादक* शब्द का अर्थ है पाँवविहीन जो सर्पों के लिए प्रयुक्त है। पुरञ्जन ऐसे व्यक्ति का सूचक है, जो विभिन्न प्रकार के शरीरों को प्राप्त करके भोग करता है। भोग की उसकी यह प्रवृत्ति इस संसार में विभिन्न प्रकार के शरीरों द्वारा प्रदान की जाती है।

योऽविज्ञाताहृतस्तस्य पुरुषस्य सखेश्वरः ।
यन्न विज्ञायते पुम्भिर्नामभिर्वा क्रियागुणैः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; अविज्ञात—अज्ञात; आहृतः—वर्णित; तस्य—उस; पुरुषस्य—जीव का; सखा—चिर मित्र; ईश्वरः—स्वामी; यत्—क्योंकि; न—कभी नहीं; विज्ञायते—जाना जाता है; पुम्भिः—जीवों द्वारा; नामभिः—नामों से; वा—अथवा; क्रिया-गुणैः—कर्मों या गुणों द्वारा।

जिस पुरुष को मैंने अविज्ञात कहा है, वह जीव का स्वामी तथा शाश्वत मित्र परमेश्वर है। चूँकि जीव भगवान् को भौतिक नामों, गुणों या कर्मों द्वारा नहीं जान सकते, फलतः वह बद्धजीव के लिए सदैव अज्ञात रहता है।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् बद्धजीव के लिए अज्ञात रहता है, इसलिए वैदिक साहित्य में उसे कभी-कभी निराकार, अविज्ञात या *अवाङ्मनसागोचर* नामों से अभिहित किया जाता है। वास्तव में यह तथ्य है कि जहाँ तक रूप, नाम, गुण, लीलाओं या साज सामान का सम्बन्ध है, भगवान् को भौतिक इन्द्रियों द्वारा नहीं समझा जा सकता। किन्तु जब मनुष्य आध्यात्मिक रूप से जाग्रत होता है, तो वह उसके नाम रूप, गुण इत्यादि सभी समझ सकता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१८.५५) में हुई है—*भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः*—जब कोई भक्ति में लगा होता है तभी वह भगवान् को सत्यरूप

से देख समझ सकता है। पाप तथा पुण्य कर्मों में प्रवृत्त सामान्य पुरुष भगवान् के रूप, नाम तथा कर्मों को नहीं समझ सकते। किन्तु भक्त भगवान् को अनेक प्रकार से जान सकता है। उसे पता है कि श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं, उनका पता गोलोक वृन्दावन है और उनके सारे कार्यकलाप आध्यात्मिक हैं। चूँकि भगवान् के रूप तथा कार्यों को भौतिकताग्रस्त लोग नहीं समझ पाते, इसीलिए शास्त्रों में उन्हें निराकार कहा गया है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भगवान् के कोई रूप नहीं है; इसका अर्थ यह है कि कर्मी उसे समझ नहीं पाते। *ब्रह्म-संहिता* में उनके रूप को *सच्चिदानन्दविग्रह* कहा गया है। *पद्म पुराण* से इसकी पुष्टि होती है—

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः ।

सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः ॥

''कोई भी अपनी कुंठित भौतिक इन्द्रियों द्वारा श्रीकृष्ण के असली रूप को नहीं समझ सकता। किन्तु भगवान् भक्तों की दिव्य प्रेमाभक्ति से प्रसन्न होकर भक्तों के समक्ष अपने को स्वयं प्रकट करते हैं।''

चूँकि भौतिक इन्द्रियों द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण के नाम, रूप तथा गुण नहीं जाने जा सकते, अतः उन्हें *अधोक्षज* अर्थात् ''भौतिक दृष्टि से परे'' कहा जाता है। जब इन्द्रियाँ भक्तिकार्यों द्वारा शुद्ध हो जाती हैं, तो भक्त भगवान् के विषय में उन्हीं की कृपा से सभी कुछ समझ जाता है। इस श्लोक में *पुम्भिर्नामभिर्वा क्रियागुणैः* पद महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण के अनेक नाम, कार्य तथा गुण हैं, किन्तु इनमें से एक भी भौतिक नहीं है। इस तथ्य के बावजूद भी शास्त्रों में इन नामों, कार्यों तथा लीलाओं का उल्लेख होने तथा भक्तों द्वारा समझे जाने पर भी कर्मी उन्हें नहीं समझ पाते और न ज्ञानी ही। यद्यपि भगवान् विष्णु के हजारों नाम हैं, किन्तु कर्मी तथा ज्ञानी भगवान् के नामों के साथ देवों तथा मनुष्यों के नाम मिलाते रहते हैं। चूँकि वे भगवान् के वास्तविक नाम को नहीं समझते, अतः वे यह मानकर चलते हैं कि उन्हें कोई भी नाम दिया जा सकता है। उनका विश्वास है कि परमेश्वर निराकार है, अतः वे उसे किसी भी नाम से पुकार सकते हैं, अन्यथा वे यह मानते हैं कि उसका कोई नाम नहीं है। किन्तु यह सत्य नहीं है। यहाँ स्पष्ट कहा गया है—*नामभिर्वा क्रियागुणैः ।* भगवान् के विशेष नाम हैं—यथा राम, कृष्ण, गोविन्द, नारायण, विष्णु तथा अधोक्षज। निस्सन्देह, नाम तो अनेक हैं, किन्तु बद्धजीव

उन्हें समझ नहीं पाता।

यदा जिघृक्षन्पुरुषः कार्त्स्न्येन प्रकृतेर्गुणान् ।
नवद्वारं द्विहस्ताङ्घ्रि तत्रामनुत साध्विति ॥ ४॥

शब्दार्थ

यदा—जब; जिघृक्षन्—भोगने की इच्छा से; पुरुषः—जीव; कार्त्स्न्येन—समग्र रूप में; प्रकृतेः—प्रकृति का; गुणान्—गुण; नव-द्वारम्—नौ द्वारों वाला; द्वि—दो; हस्त—हाथ; अङ्घ्रि—पाँव; तत्र—वहाँ; अमनुत—उसने सोचा; साधु—उत्तम; इति—इस प्रकार।

जब जीव समग्ररूप से प्रकृति के गुणों का भोग करने की इच्छा करता है, तो वह अनेक शारीरिक रूपों में से उस शरीर को चुनता है, जिसमें नौ द्वार, दो हाथ तथा दो पाँव होते हैं। इस प्रकार वह मनुष्य या देवता बनना श्रेयस्कर मानता है।

तात्पर्य : इस बात की यहाँ पर उत्तम व्याख्या प्रस्तुत की गई है कि किस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण का अंश रूप आध्यात्मिक जीव अपनी इच्छा से भौतिक देह स्वीकार करता है। दो हाथ, दो पाँव इत्यादि स्वीकार करके जीव प्रकृति के गुणों का भरपूर भोग करता है। भगवान् श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (७.२७) में कहते हैं—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।

सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥

"हे भारत (अर्जुन), हे शत्रुओं के विजेता! सभी जीव मोहवश उत्पन्न हैं और इच्छा तथा घृणा के द्वन्द्व द्वारा परास्त होते हैं।"

मूलतः जीव आध्यात्मिक प्राणी है, किन्तु जब वह वास्तव में भौतिक जगत का भोग करना चाहता है, तो वह नीचे उतरता है। इस श्लोक से पता चलता है कि जीव पहले मनुष्य शरीर धारण करता है, किन्तु अपने अधम कार्यों के कारण वह धीरे धीरे निम्न योनियों में—पशु, वृक्ष, जलचर रूपों में—गिरता रहता है। विकास की क्रमिक क्रिया से जीव को पुनः मनुष्य का शरीर प्राप्त होता है और उसे एक और अवसर दिया जाता है कि वह देहान्तर-चक्र से उबर सके। किन्तु यदि वह अपनी स्थिति को समझने का अवसर फिर हाथ से जाने देता है, तो वह पुनः विभिन्न शरीरों में जन्म तथा मृत्यु के चक्र में पड़ जाता है।

जीव इस भौतिक जगत में क्यों आना चाहता है, इसे समझना कठिन नहीं है। आर्य परिवार में,

जहाँ मांसाहार, मद्यपान, द्यूत, यौनाचार इत्यादि पर प्रतिबन्ध है, जन्म लेकर भी लोग इन वर्जित वस्तुओं का भोग करना चाहते हैं। कोई न कोई ऐसा मिल ही जायगा जो अवैध यौनाचार के लिए वेश्या के यहाँ जाना चाहता है या होटल में जाकर मांस खाना तथा मद्यपान करना चाहता है। कोई-न-कोई ऐसा मिल जायेगा जो रात्रि क्लबों में जाकर जुआ खेलना या ऐसी ही तथाकथित क्रियाओं पसन्द करता है। ये इच्छाएँ जीवों के अन्त:करण में पहले से विद्यमान रहती हैं, किन्तु कुछ जीव इन घृणित कार्यों को भोगने में लग जाते हैं; फलत: वे गिर कर निम्न पद पर आ जाते हैं। जो जीव जितना ही पतित जीवन की अभिलाषा करता है, वह उतना ही कुत्सित रूप धारण करने के लिए नीचे गिरता जाता है। यह देहान्तरण तथा विकास की प्रक्रिया है। कोई पशु-विशेष किसी एक इन्द्रिय सुख की प्रबल भावना से युक्त हो सकता है, किन्तु मनुष्य तो सभी इन्द्रियों का भोग कर सकता है। जब तक समुचित शिक्षा नहीं दी जाती वह प्रकृति के गुणों का शिकार होता रहता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (३.२७) में की गई है—

प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश: ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

"मोहग्रस्त जीव प्रकृति के तीन गुणों के वशीभूत होकर अपने आपको उन कर्मों का कर्ता मान बैठता है, जो वास्तव में प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं।" जैसे ही मनुष्य अपनी इन्द्रियों का भोग करना चाहता है, वह अपने को प्रकृति के अधीन बना लेता है और स्वत: जन्म-मृत्यु के चक्र में आ पड़ता है।

बुद्धिं तु प्रमदां विद्यान्ममाहमिति यत्कृतम् ।
यामधिष्ठाय देहेऽस्मिन्पुमान्भुङ्क्तेऽक्षभिर्गुणान् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

बुद्धिम्—बुद्धि; तु—तब; प्रमदाम्—तरुणी स्त्री (पुरञ्जनी) को; विद्यात्—जानना चाहिए; मम—मेरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; यत्-कृतम्—बुद्धि द्वारा सम्पन्न; याम्—जो बुद्धि; अधिष्ठाय—शरण ग्रहण करके; देहे—शरीर में; अस्मिन्—इस; पुमान्—जीव; भुङ्क्ते—भोगता है (कष्ट उठाता तथा सुख पाता है); अक्षभि:—इन्द्रियों से; गुणान्—प्रकृति के तीन गुण।

नारद मुनि ने आगे कहा : इस प्रसंग में उल्लिखित प्रमदा शब्द भौतिक बुद्धि या अविद्या के लिए प्रयुक्त है। इसे इसी रूप में समझो। जब मनुष्य ऐसी बुद्धि का आश्रय ग्रहण करता है, तो वह अपने को शरीर समझ बैठता है। "मैं" तथा "मेरी" की भौतिक बुद्धि से प्रभावित होकर

वह अपनी इन्द्रियों से दुख तथा सुख का अनुभव करने लगता है। इस प्रकार जीव बन्धन में पड़ जाता है।

तात्पर्य : इस भौतिक संसार में तथाकथित बुद्धि वास्तव में अविद्या है। बुद्धि के विमल होने पर इसे *बुद्धियोग* कहते हैं। दूसरे शब्दों में, जब बुद्धि भगवान् कृष्ण के इच्छाधीन हो जाती है, तो वह *बुद्धियोग* या भक्तियोग कहलाती है। अत: *भगवद्गीता* (१०.१०) में श्रीकृष्ण कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

''जो लोग मेरी सतत भक्ति करते तथा प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।''

वास्तविक बुद्धि का अर्थ है भगवान् से जुड़ना। जब ऐसा हो जाता है, तो भगवान् अन्त:करण से वास्तविक बुद्धि प्रदान करते रहते हैं जिससे मनुष्य भगवान् के धाम को वापस जा सकता है। इस श्लोक में भौतिक बुद्धि को *प्रमदा* के रूप में वर्णन किया गया है, क्योंकि इस संसार में जीव झूठे ही वस्तुओं को अपनी कहता है। वह सोचता है कि मैं एक-छत्र राजा हूँ। यह अविद्या है। वास्तव में उसका कुछ नहीं होता। यहाँ तक कि शरीर तथा इन्द्रियाँ भी उसकी नहीं होती, क्योंकि ये उसे भगवान् की प्रेरणा से प्रकृति द्वारा उसकी विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रदत्त हैं। वास्तव में जीव का कुछ भी नहीं है, किन्तु वह प्रत्येक वस्तु के पीछे पगलाया रहता है और कहता है, ''यह मेरी है, यह मेरी है, यह मेरी है।'' *जनस्य मोहोऽयम् अहं ममेति।* यही मोह है। जीव का कुछ भी नहीं है, किन्तु वह हर वस्तु को अपनी बताता है। भगवान् चैतन्य महाप्रभु संस्तुति करते हैं कि इस मिथ्या बुद्धि को मार्जित करना चाहिए (*चेतो-दर्पण-मार्जनम्*)। जब बुद्धि रूपी दर्पण चमकने लगता है, तो जीव के असली कार्य प्रारम्भ होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जब मनुष्य कृष्णचेतना को प्राप्त होता है, तो उसकी असली बुद्धि कार्य करती है। उस समय उसे ज्ञान होता है कि प्रत्येक वस्तु तो श्रीकृष्ण की है, मेरी नहीं। जब तक मनुष्य हर वस्तु को अपनी मानता है तब तक वह भौतिक चेतना में रहता है और जब वह पूरी तरह समझ जाता है कि हर वस्तु श्रीकृष्ण की है, तो वह कृष्णचेतना को प्राप्त कर लेता है।

सखाय इन्द्रियगणा ज्ञानं कर्म च यत्कृतम् ।
सख्यस्तद्वृत्तयः प्राणः पञ्चवृत्तिर्यथोरगः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सखायः—मित्र; इन्द्रिय-गणाः—सारी इन्द्रियाँ; ज्ञानम्—ज्ञान; कर्म—कार्य; च—भी; यत्-कृतम्—इन्द्रियों द्वारा किया हुआ; सख्यः—सखियाँ; तत्—इन्द्रियों की; वृत्तयः—व्यापार; प्राणः—प्राणवायु; पञ्च-वृत्तिः—पाँच प्रकार की वृत्तियों वाला; यथा—जिस प्रकार; उरगः—सर्प।

पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँचों कर्मेन्द्रियाँ पुरञ्जनी के नर मित्र हैं। जीव को इन इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करने तथा कार्य में प्रवृत्त होने में सहायता मिलती है। इन्द्रियों के व्यापार उसकी सखियाँ हैं और वह सर्प जिसे पाँच फनों वाला बताया गया है, पाँच प्रकार की क्रियाओं के भीतर कार्यशील प्राणवायु है।

तात्पर्य : कृष्ण–बहिर्मुख हञा भोग वाञ्छा करे।

निकटस्थ माया तारे जापटिया धरे॥

(*प्रेम-विवर्त*)

भौतिक जगत को भोगने की इच्छा से जीव स्थूल तथा सूक्ष्म देहें ओढ़े हुए रहता है। इस तरह उसे इन्द्रियों को भोगने का अवसर प्रदान किया जाता है। अत: वे इन्द्रियाँ भौतिक जगत को भोगने की साधन हैं। फलत: इन्द्रियों को मित्र कहा गया है। कभी-कभी अत्यधिक पापकर्म करने से जीव को स्थूल शरीर नहीं मिल पाता, अत: वह सूक्ष्म रूप में मँडराता रहता है। यह प्रेत-जीवन है। स्थूल शरीर न प्राप्त कर पाने से वह इस सूक्ष्म शरीर से अनेक कष्ट प्रदान करता है। अत: जो लोग स्थूल शरीर में रह रहे हैं, उनके लिए भूत-प्रेत की उपस्थिति अत्यन्त भयावह है। *भगवद्गीता* (१५.१०) में उल्लेख है—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।

विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुष: ॥

"मूर्ख व्यक्ति न तो यह समझ सकता है कि जीव अपने शरीर को कैसे छोड़ता है, न यही कि प्रकृति के गुणों के अधीन वह किस तरह के शरीर का भोग करता है। किन्तु जिनकी आँखों को ज्ञान का प्रशिक्षण प्राप्त है, वे यह सब देख सकते हैं।"

जीव प्राणवायु में समाहित है, जो संचरण के लिए विभिन्न प्रकार से कार्य करती है। चूँकि

प्राणवायु—प्राण, अपान, उदान, व्यान तथा समान—पाँच प्रकार से कार्य करती है, अत: इसकी तुलना पाँच फनों वाले सर्प से की गई है। कुण्डलिनी चक्र से होकर आत्मा सर्प की भाँति रेंगता है। प्राणवायु की तुलना उरग सर्प से की जाती है। *पञ्चवृत्ति* पाँचों इन्द्रियविषयों रूप, स्वाद, ध्वनि, गंध एवं स्पर्श के द्वारा आकृष्ट इन्द्रियों की तुष्टि की इच्छा है।

बृहद्बलं मनो विद्यादुभयेन्द्रियनायकम् ।
पञ्चालाः पञ्च विषया यन्मध्ये नवखं पुरम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

बृहत्-बलम्—अत्यन्त शक्तिशाली; मनः—मन; विद्यात्—जानना चाहिए; उभय-इन्द्रिय—ज्ञान तथा कर्म दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ; नायकम्—नेता; पञ्चालाः—पञ्चाल नामक राज्य; पञ्च—पाँच; विषयाः—इन्द्रिय पदार्थ; यत्—जिसके; मध्ये—बीच में; नव-खम्—नव छिद्रों वाली; पुरम्—नगरी।.

ग्यारहवाँ सेवक, जो अन्यों का नायक है, मन कहलाता है। वह कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों—इन दोनों का नायक है। पञ्चाल राज्य वह वातावरण है, जिसमें पाँच इन्द्रिय-पदार्थों (विषयों) का भोग किया जाता है। इस पञ्चाल राज्य के भीतर शरीर रूपी नगरी है, जिसमें नौ द्वार (छिद्र) हैं।

तात्पर्य : मन समस्त कार्यों का केन्द्रविन्दु है, जिसे *बृहद्बल* कहा गया है। माया के चंगुल से निकलने के लिए मनुष्य को मन पर नियंत्रण रखना होता है। प्रशिक्षण के अनुसार मन जीव का मित्र है और शत्रु भी। यदि किसी को अच्छा प्रबन्धक मिल जाता है, तो उसकी जायदाद की व्यवस्था ठीक से होती है, किन्तु यदि प्रबन्धक चोर हुआ तो सारी जायदाद तहस-नहस हो जाती है। इसी प्रकार जीव अपनी भौतिक बद्ध अवस्था में अपने कार्या-धिकार अपने मन को सौंप देता है। फलस्वरूप विषयों के भोगने में वह मन द्वारा विभ्रमित किया जा सकता है। अत: श्रील अम्बरीष महाराज ने अपने मन को पहले भगवान् के चरणकमलों में लगाया। *स वै मन: कृष्णपदारविन्दयो: ।* जब मन भगवान् के चरणकमलों के ध्यान में संलग्न रहता है, तो इन्द्रियाँ वश में रहती हैं। नियंत्रण की यह पद्धति *यम* कहलाती है, जिसका अर्थ है, ''इन्द्रियों का नियमन।'' जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को वश में कर लेता है, वह *गोस्वामी* कहलाता है किन्तु जो उनको वश में नहीं कर पाता वह *गोदास* कहलाता है। मन इन्द्रियों के कार्यों का निर्देशन करता है, जो विभिन्न छिद्रों द्वारा व्यक्त होते हैं जिसका वर्णन अगले श्लोक में हुआ है।

अक्षिणी नासिके कर्णौ मुखं शिश्नगुदाविति ।
द्वे द्वे द्वारौ बहिर्याति यस्तदिन्द्रियसंयुतः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अक्षिणी—दो आँखें; नासिके—दो नथुने; कर्णौ—दो कान; मुखम्—मुँह; शिश्न—लिंग; गुदौ—तथा मलद्वार; इति—इस प्रकार; द्वे—दो; द्वे—दो; द्वारौ—द्वार; बहिः—बाहर; याति—जाता है; यः—जो; तत्—द्वारों से होकर; इन्द्रिय—इन्द्रियों के द्वारा; संयुतः—साथ-साथ।

आँखें, नथुने तथा कान—इन द्वारों की जोड़ियाँ एक स्थान पर स्थित हैं। मुँह, शिश्न तथा गुदा भी अन्य द्वार हैं। इन नौ द्वारों वाले शरीर में स्थित होकर जीव बाह्यतः भौतिक जगत में कार्य करता है और रूप तथा स्वाद जैसे इन्द्रियविषयों का भोग करता है।

तात्पर्य : अपनी आध्यात्मिक स्थिति से अवगत न रहते हुए जीव मन के द्वारा निर्देशित होकर इन नौ द्वारों से भौतिक वस्तुओं का भोग करने बाहर जाता है। इन भौतिक वस्तुओं के साथ अपने दीर्घ सम्पर्क के कारण वह अपने वास्तविक आध्यात्मिक कार्यों को भूल जाता है और इस तरह दिग्भ्रमित हो जाता है। सारा संसार तथाकथित वैज्ञानियों तथा विचारकों के नेतृत्व में दिग्भ्रमित हो रहा है। जिन्हें आत्मा का कोई ज्ञान नहीं है। इस प्रकार बद्धजीव अधिकाधिक फँसता जाता है।

अक्षिणी नासिके आस्यमिति पञ्च पुरः कृताः
दक्षिणा दक्षिणः कर्ण उत्तरा चोत्तरः स्मृतः ।
पश्चिमे इत्यधो द्वारौ गुदं शिश्नमिहोच्यते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अक्षिणी—दो नेत्र; नासिके—दो नथुने; आस्यम्—मुँह; इति—इस प्रकार; पञ्च—पाँच; पुरः—सामने; कृताः—निर्मित; दक्षिणा—दक्षिणी द्वार; दक्षिणः—दाहिना; कर्णः—कान; उत्तरा—उत्तरी द्वार; च—भी; उत्तरः—बायाँ कान; स्मृतः—जाना हुआ; पश्चिमे—पश्चिम दिशा में; इति—इस प्रकार; अधः—नीचे; द्वारौ—दो द्वार; गुदम्—मलद्वार; शिश्नम्—लिंग (पुरुष की इन्द्रिय); इह—यहाँ; उच्यते—कहा जाता है।

दो आँखें, दो नथुने तथा मुँह ये पाँचों सामने स्थित हैं। दाहिना कान दक्षिणी द्वार है और बायाँ कान उत्तरी द्वार। पश्चिम की ओर स्थित दो छिद्र या द्वार गुदा तथा शिश्न कहलाते हैं।

तात्पर्य : समस्त दिशाओं में से पूर्व दिशा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सूर्य उधर से उदय होता है। इस प्रकार पूर्वी दिशा के द्वार—आँखें, नाक तथा मुँह—शरीर के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण द्वार हैं।

खद्योताविर्मुखी चात्र नेत्रे एकत्र निर्मिते ।

रूपं विभ्राजितं ताभ्यां विचष्टे चक्षुषेश्वरः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

खद्योता—खद्योत नामक; आविर्मुखी—आविर्मुखी नामक; च—भी; अत्र—यहाँ; नेत्रे—दो आँखें; एकत्र—एक स्थान पर; निर्मिते—निर्मित; रूपम्—रूप; विभ्राजितम्—विभ्राजित (चमकीला) नामक; ताभ्याम्—आखों से होकर; विचष्टे—देखते हैं; चक्षुषा—नेत्रों से; ईश्वरः—स्वामी।

खद्योत तथा आविर्मुखी नाम से जिन दो द्वारों का वर्णन किया गया है वे एक ही स्थान पर अगल-बगल स्थित दो नेत्र हैं। विभ्राजित नामक नगरी को रूप समझना चाहिए। इस प्रकार दोनों नेत्र सदैव विभिन्न प्रकार के रूपों को देखने में व्यस्त रहते हैं।

तात्पर्य : दोनों नेत्र प्रकाश जैसे चमकीले पदार्थों से आकर्षित होते हैं। कभी-कभी हम देखते हैं कि छोटे-छोटे कीड़े अग्नि के प्रकाश से आकर्षित होकर उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार जीव के दोनों नेत्र चमकीले तथा सुन्दर रूपों के प्रति आकृष्ट होते हैं। वे उनमें उसी प्रकार फँस जाते हैं, जिस प्रकार अग्नि से आकर्षित होकर कीड़े।

नलिनी नालिनी नासे गन्धः सौरभ उच्यते ।
घ्राणोऽवधूतो मुख्यास्यं विपणो वाग्रसविद्रसः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

नलिनी—नलिनी नामक; नालिनी—नालिनी नामक; नासे—दोनों नथुने; गन्धः—सुगन्धित; सौरभः—सौरभ (सुगन्ध); उच्यते—कहलाता है; घ्राणः—गंध की इन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय; अवधूतः—अवधूत नामक; मुख्या—मुख्या नामक(प्रमुख); आस्यम्—मुँह; विपणः—विपण नामक; वाक्—वाणी; रस-वित्—रसज्ञ, स्वाद लेने में पटु; रसः—स्वाद की इन्द्रिय (जीभ)।

नलिनी तथा नालिनी नामक दोनों द्वार दो नासाछिद्र (नथुने) हैं और सुगन्ध को सौरभ नामक नगरी ही कहा गया है। अवधूत नामक मित्र घ्राणेन्द्रिय है। मुख्या नामक द्वार मुख है और विपण वाक्शक्ति है। रसज्ञ ही स्वाद की इन्द्रिय (जीभ) है।

तात्पर्य : *अवधूत* शब्द का अर्थ है "सर्वथा मुक्त।" अवधूत अवस्था प्राप्त कर लेने पर मनुष्य किसी प्रकार के यम-नियमों द्वारा प्रतिबन्धित नहीं होता। दूसरे शब्दों में, वह जिस तरह चाहे कार्य कर सकता है। यह अवधूत अवस्था वायु की भाँति है, जो किसी प्रकार के अवरोध की परवाह नहीं करती। *भगवद्गीता* (६.३४) में कहा गया है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

“हे कृष्ण! यह मन अस्थिर, मथने वाला जिद्दी तथा अत्यन्त बलिष्ठ है और मेरी समझ में इसको वश में करना वायु को वश में करने से भी अधिक कठिन है।”

जिस प्रकार वायु किसी के रोके नहीं रुकती, उसी प्रकार दोनों नथुने एक ही स्थान पर स्थित होकर बिना अवरोध के गन्ध का अनुभव करते रहते हैं। जीभ के होने से मुँह सभी प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजनों का निरन्तर स्वाद लेता रहता है।

आपणो व्यवहारोऽत्र चित्रमन्धो बहूदनम् ।
पितृहूर्दक्षिण: कर्ण उत्तरो देवहू: स्मृत: ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

आपण:—आपण नामक; व्यवहार:—जीभ का कार्य; अत्र—यहाँ; चित्रम्—सभी प्रकार के; अन्ध:—खाद्य; बहूदनम्—बहूदन नामक; पितृ-हू:—पितृहू नामक; दक्षिण:—दाहिना; कर्ण:—कान; उत्तर:—बायाँ; देव-हू:—देवहू; स्मृत:—कहलाता है।

आपण नामक नगरी जीभ के बोलने के कार्य की सूचक है और बहूदन तरह-तरह के व्यंजनों का सूचक है। दायाँ कान पितृहू द्वार कहलाता है और बायाँ कान देवहू द्वार।

प्रवृत्तं च निवृत्तं च शास्त्रं पञ्चालसंज्ञितम् ।
पितृयानं देवयानं श्रोत्राच्छ्रुतधराद्व्रजेत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

प्रवृत्तम्—इन्द्रिय भोग की विधि; च—भी; निवृत्तम्—विरक्ति की विधि; च—भी; शास्त्रम्—शास्त्र; पञ्चाल—पंचाल; संज्ञितम्—के नाम से अभिहित, नामक; पितृ-यानम्—पितृलोक को जाते हुए; देव-यानम्—देवलोक को जाते हुए; श्रोत्रात्—सुनकर; श्रुत-धरात्—श्रुतधर नामक संगी से; व्रजेत्—ऊपर उठाया जा सकता है।

नारद मुनि ने आगे कहा : दक्षिण पञ्चाल कही जाने वाली नगरी सकाम कर्म में भोग की विधि अर्थात् प्रवृत्ति-मार्ग को बताने वाले शास्त्रों की सूचक है। उत्तर पञ्चाल नामक अन्य नगरी निवृत्ति मार्ग—सकाम कर्म को घटाने तथा ज्ञान को बढ़ाने वाला मार्ग—बताने वाले शास्त्रों के लिए प्रयुक्त है। जीव को ज्ञान की प्राप्ति दो कानों द्वारा होती है और कुछ लोग पितृलोक तथा कुछ देवलोक को जाते हैं। यह सब दोनों कानों द्वारा सम्भव होता है।

तात्पर्य : वेदों को *श्रुति* कहते हैं और कानों के द्वारा उनसे प्राप्त ज्ञान *श्रुतधर* कहलाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, मनुष्य केवल श्रवण करने से देवलोक या पितृलोक, यहाँ तक कि वैकुण्ठलोक, को जाते हैं। इन सब की व्याख्या पिछले अध्यायों में की जा चुकी है।

आसुरी मेढ्रमर्वाग्द्वार्व्यवायो ग्रामिणां रतिः ।
उपस्थो दुर्मदः प्रोक्तो निरृतिर्गुद उच्यते ॥ १४॥

शब्दार्थ

आसुरी—आसुरी नामक; मेढ्रम्—शिश्न (लिंग); अर्वाक्—मूर्खों तथा उचक्कों का; द्वाः—द्वार; व्यवायः—स्त्री-प्रसंग करने के लिए; ग्रामिणाम्—सामान्य पुरुषों की; रतिः—आसक्ति; उपस्थः—प्रजननेन्द्रिय; दुर्मदः—दुर्मद; प्रोक्तः—कहलाती है; निरृतिः—निर्ऋति; गुदः—गुदा; उच्यते—कहलाती है।

ग्रामक नामक पुरी, जहाँ निचले आसुरी द्वार (शिश्न) से पहुँचा जाता है, स्त्री-संभोग के लिए है जो उन सामान्य पुरुषों के लिए अत्यन्त मोहक है जो निरे मूर्ख एवं धूर्त हैं। जननेन्द्रिय दुर्मद कहलाती है और गुदा निर्ऋति कहलाती है।

तात्पर्य : जब संसार का अधः पतन होता है, तो सभ्यता आसुरी हो जाती है और सामान्य लोग अत्यन्त गम्भीरता से गुदा तथा शिश्न को समस्त कार्यों का केन्द्रबिन्दु मान बैठते हैं। यहाँ तक कि वृन्दावन जैसे पवित्र स्थान के लोग भी गुदा तथा शिश्न-व्यापार को आध्यात्मिक कर्म मानते हैं। ऐसे लोग सहजिया कहलाते हैं। उनकी विचारधारा के अनुसार संभोग-क्रिया में रत रहकर लोग आध्यात्मिक पद प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु *श्रीमद्भागवत* के इन श्लोकों से यह प्रकट है कि संभोग-तुष्टि की इच्छा तो निम्न लोगों—*अर्वाक्*—के लिए है। ऐसे मूर्खों को रास्ते पर लाना कठिन है। इन श्लोकों में निम्न लोगों की कामवासना की भर्त्सना की गई है। *दुर्मद* शब्द का अर्थ ‘‘कुनिर्देशित’’ और *निर्ऋति* का अर्थ ‘‘पापकर्म’’ हैं। यद्यपि इससे स्पष्ट है कि सामान्य दृष्टि से भी कामासक्ति गर्हित और दु:लक्षित है फिर भी ‘सहजिया’ अपने को आध्यात्मिक कर्मों में रत भक्त मानते हैं। फलत: कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति अब वृन्दावन नहीं जाता। कभी-कभी हमसे पूछा जाता है कि आखिर हमने वृन्दावन को क्यों अपना केन्द्र बनाया? ऊपरी तौर से यह निष्कर्ष निकलता है कि इन सहजिया लोगों के कार्य-कलापों से वृन्दावन पतित हो चुका है, फिर भी आध्यात्मिक दृष्टि से वृन्दावन ही ऐसा स्थान है जहाँ ये समस्त पापी पुरुष कुत्तों, सुअरों तथा बन्दरों का जन्म लेकर उबरते हैं। वृन्दावन में ऐसी योनि में रहकर अगले जन्म में ये सब आध्यात्मिक पद प्राप्त कर सकते हैं।

वैशसं नरकं पायुर्लुब्धकोऽन्धौ तु मे शृणु ।
हस्तपादौ पुमांस्ताभ्यां युक्तो याति करोति च ॥ १५॥

शब्दार्थ

वैशसम्—वैशस नामक; नरकम्—नरक; पायुः—गुदा नामक कर्मेन्द्रिय; लुब्धकः—लुब्धक (अत्यन्त लालची) नामक; अन्धौ—अन्धा; तु—तब; मे—मुझसे; शृणु—सुनो; हस्त-पादौ—हाथ तथा पाँव; पुमान्—जीव; ताभ्याम्—उनके साथ; युक्तः—लगा हुआ; याति—जाता है; करोति—करता है; च—तथा।

जब यह कहा जाता है कि पुरञ्जन वैशस जाता है, तो उसका अर्थ है कि वह नरक जाता है। उसके साथ लुब्धक रहता है, जो गुदा नामक कर्मेन्द्रिय है। इसके पूर्व मैंने दो अंधे साथियों का भी उल्लेख किया था। इन्हें हाथ तथा पाँव समझना चाहिए। जीव हाथ तथा पाँव की सहायता से सभी प्रकार के कार्य करता और इधर-उधर जाता है।

अन्तःपुरं च हृदयं विषूचिर्मन उच्यते ।
तत्र मोहं प्रसादं वा हर्षं प्राप्नोति तद्गुणैः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अन्तः-पुरम्—रनिवास; च—तथा; हृदयम्—हृदय; विषूचिः—विषूचिन् नामक दास; मनः—मन; उच्यते—कहलाता है; तत्र—वहाँ; मोहम्—मोह; प्रसादम्—सन्तोष; वा—अथवा; हर्षम्—हर्ष; प्राप्नोति—प्राप्त करता है; तत्—मन का; गुणैः—प्रकृति के गुणों द्वारा।

अन्तःपुर हृदय का सूचक है। विषूचिन् (सर्वत्र जाते हुए) मन को बताने वाला है। जीव मन के भीतर प्रकृति के गुणों का भोग करता है। ये सारे प्रभाव कभी मोह उत्पन्न करते हैं, तो कभी सन्तोष तथा उल्लास।

तात्पर्य : इस संसार में जीव का मन तथा बुद्धि प्रकृति के गुणों द्वारा प्रभावित होते रहते हैं और इन गुणों की संगति के अनुसार मन इधर-उधर जाने का आदी हो जाता है। उसी के अनुसार हृदय संतोष, उल्लास या मोह का अनुभव करता है। वास्तव में जीव निष्क्रिय रहता है। प्रकृति के गुण ही मन तथा हृदय पर कार्य करते हैं और जीव उनके फलों का भोग करता है। *श्रीमद्भागवत* (३.२७) में स्पष्ट कहा गया है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

“मोहग्रस्त आत्मा प्रकृति के तीनों गुणों के वश में होकर अपने को समस्त कर्मों का कर्त्ता मानता है, जब कि वास्तव में वे प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं।”

यथा यथा विक्रियते गुणाक्तो विकरोति वा ।

तथा तथोपद्रष्टात्मा तद्वृत्तीरनुकार्यते ॥ १७॥

शब्दार्थ

यथा यथा—जिस जिस प्रकार; विक्रियते—विक्षुब्ध होती है; गुण-अक्त:—गुणों से लिप्त; विकरोति—जैसा करती है; वा—अथवा; तथा तथा—उसी उसी प्रकार; उपद्रष्टा—दर्शक; आत्मा—आत्मा; तत्—बुद्धि का; वृत्ती:—व्यापार; अनुकार्यते—अनुकरण करता है।

पहले यह बताया जा चुका है कि रानी मनुष्य की बुद्धि है। सोते समय या जागते हुए बुद्धि विभिन्न परिस्थितियाँ उत्पन्न करती है। दूषित बुद्धि के कारण जीव कुछ सोचता है और अपनी बुद्धि के कार्य-कारणों का केवल अनुकरण करता है।

तात्पर्य : राजा पुरञ्जन की रानी को यहाँ पर साक्षात् बुद्धि कहा गया है। बुद्धि स्वप्न तथा जाग्रत दोनों ही अवस्थाओं में क्रियाशील रहती है, किन्तु यह प्रकृति के गुणों द्वारा दूषित हो जाती है। बुद्धि के दूषित होने से जीव भी दूषित हो जाता है। बद्ध अवस्था में जीव अपनी दूषित बुद्धि के अनुसार ही कार्य करता है। यद्यपि वह मात्र दर्शक बना रहता है, फिर भी दूषित बुद्धि द्वारा बाध्य होकर वह कार्य करता है, किन्तु वह रहता है अप्रत्यक्ष कर्त्ता के रूप में ही।

देहो रथस्त्विन्द्रियाश्वः संवत्सररयोऽगतिः ।
द्विकर्मचक्रस्त्रिगुणध्वजः पञ्चासुबन्धुरः ॥ १८॥
मनोरश्मिर्बुद्धिसूतो हृन्नीडो द्वन्द्वकूबरः ।
पञ्चेन्द्रियार्थप्रक्षेपः सप्तधातुवरूथकः ॥ १९॥
आकूतिर्विक्रमो बाह्यो मृगतृष्णां प्रधावति ।
एकादशेन्द्रियचमूः पञ्चसूनाविनोदकृत् ॥ २०॥

शब्दार्थ

देहः—शरीर; रथः—रथ; तु—लेकिन; इन्द्रिय—ज्ञानेन्द्रियाँ; अश्वः—घोड़े; संवत्सर—समग्र वर्ष; रयः—जीवन अवधि, आयु; अगतिः—गतिहीन; द्वि—दो; कर्म—कर्म; चक्रः—पहिए; त्रि—तीन; गुण—प्रकृति के गुण; ध्वजः—पताकाएँ; पञ्च—पाँच; असु—प्राण; बन्धुरः—बन्धन; मनः—मन; रश्मिः—रज्जु; बुद्धि—बुद्धि; सूतः—रथ चलाने वाला, सारथी; हृत्—हृदय; नीडः—बैठने का स्थान; द्वन्द्व—द्वैतभाव; कूबरः—जुए; पञ्च—पाँच; इन्द्रिय-अर्थ—इन्द्रिय विषय; प्रक्षेपः—आयुध; सप्त—सात; धातु—तत्त्व; वरूथकः—आवरण; आकूतिः—कर्मेन्द्रियों के प्रयास; विक्रमः—शौर्य; बाह्यः—बाहरी; मृग-तृष्णाम्—झूठी महत्त्वाकांक्षा; प्रधावति—पीछे-पीछे दौड़ता है; एकादश—ग्यारह; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; चमूः—सैनिक; पञ्च—पाँच; सूना—ईर्ष्या; विनोद—हर्ष, विलास; कृत्—कार्य।

नारद मुनि ने आगे कहा : जिसे मैने रथ कहा था, वह वास्तव में शरीर है। इन्द्रियाँ ही वे घोड़े हैं, जो रथ को खींचते हैं। ज्यों-ज्यों वर्षानुवर्ष समय बीतता जाता है, ये घोड़े बिना किसी अवरोध के दौते हैं, किन्तु वास्तव में वे कोई प्रगति नहीं कर पाते। पाप तथा पुण्य इस रथ के दो पहिए हैं। प्रकृति के तीनों गुण इस रथ की ध्वजाएँ हैं। पाँच प्रकार के प्राण जीव के बन्धन बनते

हैं और मन को रस्सी (रज्जु) माना जाता है। बुद्धि इस रथ का सारथी है। हृदय रथ में बैठने का स्थान है और हर्ष तथा पीड़ा जैसे द्वन्द्व जुए हैं। सातों तत्त्व (धातुएँ) इस रथ के ओहार (आवरण) हैं, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ उसकी पाँच प्रकार की बाह्य गतियाँ हैं और ग्यारहों इन्द्रियाँ सैनिक हैं। इन्द्रिय-सुख में मग्न रहने के कारण रथ पर आसीन जीव झूठी अभिलाषाओं को पूरा करने के लिए इतराता है और जन्म-जन्मांतर तक इन्द्रियसुख के पीछे दौड़ता रहता है।

तात्पर्य : इन श्लोकों में इन्द्रिय-सुख में जीव की लिप्तता का अत्यन्त सुन्दर ढंग से वर्णन हुआ है। *संवत्सर* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जीव दिन-प्रतिदिन, सप्ताह-प्रति सप्ताह, पाख-प्रति पाख, मास-प्रति मास, वर्ष-प्रति वर्ष रथ की प्रगति में उलझता जाता है। यह रथ दो पहियों पर टिका है, जो पाप कर्म तथा पुण्य कर्म हैं। जीव अपने पाप तथा पुण्यकर्मों के अनुसार विशिष्ट तरह का शरीर पाकर विशेष स्थिति प्राप्त करता है, किन्तु विभिन्न शरीरों में उसके देहान्तरण को प्रगति नहीं माना जा सकता। वास्तविक प्रगति की व्याख्या *भगवद्गीता* (४.९) में की गई है—*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति*—जब दूसरा शरीर ग्रहण नहीं करना होता तभी मनुष्य वास्तविक प्रगति करता है। जैसाकि *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (मध्य १९.१३८) में कहा गया है—

एइत ब्रह्माण्ड भरि'अनन्त जीवगण।

चौरासीलक्ष योनिते करये भ्रमण॥

जीव सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-भर में घूमता है और विभिन्न लोकों में विविध योनियों में जन्म लेता रहता है। इस प्रकार वह ऊपर-नीचे घूमता है, किन्तु यह वास्तविक प्रगति नहीं है। वास्तविक प्रगति तो इस भौतिक जगत से पूरी तरह से छूटना है। जैसाकि *भगवद्गीता* (८.१६) में कथित है—

आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

''इस भौतिक संसार में सबसे ऊँचे लोक से लेकर सबसे निम्न लोक तक सभी दुख के स्थान हैं, जहाँ बारम्बार जन्म तथा मृत्यु होती रहती है। किन्तु,हे कुन्तीपुत्र! जो मेरे धाम को प्राप्त कर लेता है उसका फिर से जन्म नहीं होता।'' यदि कोई ब्रह्मलोक को, जो ब्रह्माण्ड का सर्वोच्च लोक है, पा जाता है, तो उसे पुनः अधःलोकों में उतरना पड़ता है। इस प्रकार वह प्रकृति के तीनों गुणों के वशीभूत हो

कर निरन्तर ऊपर-नीचे घूमता रहता है, किन्तु मोहग्रस्त होने से वह सोचता है कि प्रगति हो रही है। वह उस वायुयान के समान है, जो पृथ्वी के गुरुत्त्वाकर्षण केन्द्र से बाहर निकलने में अक्षम होने के कारण लगातार पृथ्वी के चक्कर काट रहा होता है। वास्तव में वायुयान कोई प्रगति नहीं कर पाता, क्योंकि वह पृथ्वी के गुरुत्त्वाकर्षण से बँधा हुआ होता है।

जिस प्रकार राजा रथ पर आरूढ़ होता है उसी तरह जीवात्मा शरीर में आसीन है। उसके बैठने का स्थान हृदय है जहाँ वह जीवन-संघर्ष में जुटा रहना है और यह संघर्ष बिना किसी प्रगति के अनवरत चलता रहता है। नरोत्तमदास ठाकुर के शब्दों में—

कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्ड, केवल विषेर भाण्ड,

अमृत बलिया येबा खाय।

नाना योनि सदा फिरे, कदर्य भक्षण करे,

तार जन्म अधः-पाते याय॥

कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के प्रभाव में आकर जीव अत्यधिक संघर्ष करता है और एक के बाद एक विविध योनियों में वह विभिन्न शरीर प्राप्त करता रहता है। वह सभी प्रकार के गर्हित भोजन करता है और अपने सुखभोग के कार्यों द्वारा धिक्कारा जाता है। यदि कोई सचमुच जीवन में प्रगति करना चाहता है, तो उसे कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड की विधियों को त्याग देना चाहिए। कृष्णचेतना में स्थिर होने पर मनुष्य जन्म तथा मृत्यु के बन्धन तथा व्यर्थ जीवन-संघर्ष से मुक्त हो सकता है। यहाँ पर *मृगतृष्णाम् प्रधावति* पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जीव इन्द्रियसुख की प्यास से प्रभावित होता है। वह उस मृग के तुल्य है, जो मरुस्थल में पानी की खोज के लिए निकलता है। मरुस्थल में पशु द्वारा पानी की खोज व्यर्थ जाती है। सचमुच में वहाँ पानी तो रहता नहीं, हाँ, पशु उसे ढूँढ़ने के प्रयास में अपने प्राणों की बलि चढ़ा देता है। प्रत्येक व्यक्ति यह सोचकर भावी सुख की योजना बनाता है कि यदि वह किसी तरह अमुक स्थान तक पहुँच सके तो सुखी हो सकता है, किन्तु जब वह वास्तविक रूप में उस स्थान पर पहुँचता है, तो देखता है कि वहाँ कोई सुख नहीं है। तब वह और आगे किसी दूसरे स्थान तक पहुँचना चाहता है। यही मृगतृष्णा है और इस भौतिक जगत का इन्द्रियसुख इस की आधारभूमि है।

संवत्सरश्चण्डवेगः कालो येनोपलक्षितः
तस्याहानीह गन्धर्वा गन्धर्व्यो रात्रयः स्मृताः ।
हरन्त्यायुः परिक्रान्त्या षष्ट्युत्तरशतत्रयम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

संवत्सरः—वर्ष; चण्ड-वेगः—चण्डवेग नामक; कालः—समय; येन—जिससे; उपलक्षितः—सांकेतिक; तस्य—आयु का; अहानि—दिन; इह—इस जीवन में; गन्धर्वाः—गन्धर्वगण; गन्धर्व्यः—गन्धर्वियाँ; रात्रयः—रात्रियाँ; स्मृताः—जानी जाती हैं; हरन्ति—ले लेते हैं; आयुः—आयु, उम्र; परिक्रान्त्या—भ्रमण करके; षष्टि—साठ; उत्तर—अधिक; शत—सौ; त्रयम्—तीन।

जिसे पहले चण्डवेग अर्थात् शक्तिशाली काल कहा गया था वह दिन तथा रात से बना है जिनके नाम गन्धर्व और गन्धर्वी हैं। शरीर की आयु दिन तथा रात के बीतने से क्रमशः घटती जाती है जिनकी संख्या ३६० है।

तात्पर्य : *परिक्रान्त्या* शब्द का अर्थ है "भ्रमण करके।" जीव अपने रथ पर वर्ष के ३६० दिन तथा रात भ्रमण करता रहता है। जीवन के इन ३६० दिन तथा रात को पूरा करने के लिए किये गये वृथा श्रम को जीवन की प्रगति मान लिया जाता है।

कालकन्या जरा साक्षाल्लोकस्तां नाभिनन्दति ।
स्वसारं जगृहे मृत्युः क्षयाय यवनेश्वरः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

काल-कन्या—काल की पुत्री; जरा—वृद्धावस्था; साक्षात्—प्रत्यक्ष; लोकः—समस्त जीव; ताम्—उसको; न—नहीं; अभिनन्दति—स्वागत करते हैं; स्वसारम्—अपनी बहन के रूप में; जगृहे—स्वीकार किया; मृत्युः—मृत्यु; क्षयाय—नाश के लिए; यवन-ईश्वरः—यवनों के राजा ने।

जिसे कालकन्या कहा गया है, उसे वृद्धावस्था (जरा) समझना चाहिए। कोई भी वृद्धावस्था नहीं स्वीकार करना चाहता, किन्तु यवनराज, जो साक्षात् मृत्यु है, जरा (वृद्धावस्था) को अपनी बहन के रूप में स्वीकार करता है।

तात्पर्य : शरीर के भीतर बन्दी जीव कालकन्या अर्थात् वृद्धावस्था को मृत्यु के तुरन्त पहले स्वीकार करता है। यवनराज मृत्यु अर्थात् यमराज का प्रतीक है। यमराज के पास जाने के पूर्व जीवात्मा जरा अर्थात् वृद्धावस्था को, जो यवनराज की बहन है, स्वीकार करता है। अपवित्र कार्यों के फलस्वरूप मनुष्य यवनराज तथा उसकी बहन के वश में आ जाता है। जो लोग कृष्णभक्ति करते हैं और नारद मुनि द्वारा बताई गई भक्ति में लगे रहते हैं, उन्हें यवनराज तथा उसकी बहन जरा से प्रभावित नहीं होना

पड़ता। कृष्णभक्त होकर मनुष्य मृत्यु को जीत लेता है। इस भौतिक शरीर को छोड़ने के बाद वह दूसरा भौतिक शरीर न धारण करके घर को अर्थात् भगवान् के पास वापस जाता है। इसकी सम्पुष्टि *भगवद्गीता* (४.९) में हुई है।

आधयो व्याधयस्तस्य सैनिका यवनाश्चराः ।
भूतोपसर्गाशुरयः प्रज्वारो द्विविधो ज्वरः ॥ २३ ॥
एवं बहुविधैर्दुःखैर्दैवभूतात्मसम्भवैः ।
क्लिश्यमानः शतं वर्षं देहे देही तमोवृतः ॥ २४ ॥
प्राणेन्द्रियमनोधर्मानात्मन्यध्यस्य निर्गुणः ।
शेते कामलवान्ध्यायन्ममाहमिति कर्मकृत् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

आधयः—मानसिक क्लेश; व्याधयः—शारीरिक क्लेश या रोग; तस्य—यवनेश्वर के; सैनिकाः—सिपाही; यवनाः—यवनगण; चराः—अनुचर; भूत—जीवों के; उपसर्ग—विपत्ति के समय; आशु—तुरन्त; रयः—अत्यन्त शक्तिशाली; प्रज्वारः—प्रज्वार नामक; द्वि-विधः—दो प्रकार का; ज्वरः—ज्वर; एवम्—इस प्रकार; बहु-विधैः—विभिन्न प्रकारों के; दुःखैः—कष्टों के द्वारा; दैव—भाग्यवश; भूत—अन्य जीवों द्वारा; आत्म—शरीर तथा मन द्वारा; सम्भवैः—उत्पन्न; क्लिश्यमानः—कष्ट पाकर; शतम्—सौ; वर्षम्—वर्ष; देहे—शरीर में; देही—जीव; तमः-वृतः—भौतिक अंधकार से आच्छादित; प्राण—जीवन का; इन्द्रिय—इन्द्रियों का; मनः—मन का; धर्मान्—गुण; आत्मनि—आत्मा को; अध्यस्य—भ्रमवश मानते हुए; निर्गुणः—यद्यपि दिव्य; शेते—लेट जाता है; काम—इन्द्रियसुख का; लवान्—खंडों पर; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; मम—मेरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; कर्म-कृत्—कर्ता।

यवनेश्वर (यमराज) के अनुचर मृत्यु के सैनिक कहलाते हैं, जो शरीर तथा मन सम्बन्धी विविध क्लेश माने जाते हैं। प्रज्वार दो प्रकार के ज्वरों का सूचक है—अत्यधिक ताप तथा अत्यधिक शीत—जैसे टाइफाइड तथा निमोनिया। शरीर के भीतर लेटा हुआ जीव विविध क्लेशों द्वारा, जो दैविक, भौतिक तथा अपने ही शरीर तथा मन से सम्बन्धित हैं, विचलित होता रहता है। समस्त प्रकार के क्लेशों के होते हुए भी जीव इस संसार को भोगने की इच्छा से अनेकानेक योजनाओं में बह जाता है। निर्गुण (दिव्य) होकर भी जीव अपने अज्ञान के कारण अहंकारवश (मैं तथा मेरा) इन भौतिक कष्टों को स्वीकार करता है। इस प्रकार वह इस शरीर के भीतर सौ वर्षों तक रहता है।

तात्पर्य : वेदों का कथन है—*असङ्गोऽयं पुरुषः।* जीवात्मा वास्तव में इस जगत से विलग है, क्योंकि आत्मा भौतिक नहीं होती है। *भगवद्गीता* में यह भी कहा गया है कि जीवात्मा उत्कृष्ट शक्ति है और सारे भौतिक तत्त्व अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, निकृष्ट शक्ति हैं। इन तत्त्वों को *भिन्न* अथवा पृथक्

शक्ति भी कहा गया है। जब अन्तरंगा या उत्कृष्ट शक्ति बहिरंगा शक्ति के संसर्ग में आती है, तो उसे अनेक क्लेश उठाने पड़ते हैं। *भगवद्गीता* (२.१४) में भगवान् यह भी कहते हैं—*मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदःखदाः*—भौतिक शरीर होने के कारण जीवात्मा को अनेक क्लेश उठाने पड़ते हैं, जो वायु, जल, अग्नि, अत्यधिक ताप, अत्यधिक शीत, धूप, अधिक भोजन, अस्वास्थ्यकर भोजन, शरीर के तीनों तत्त्वों का असंतुलन (कफ, पित्त तथा वायु) आदि द्वारा उत्पन्न होते हैं। शरीर की आँतें, गला, मस्तिष्क तथा अन्य भाग सभी प्रकार के रोगों से प्रभावित होते रहते हैं, जो इतने शक्तिशाली होते हैं कि जीव को अत्यधिक कष्ट पहुँचाते हैं। किन्तु जीवात्मा इन सारे भौतिक तत्त्वों से सर्वथा भिन्न रहता है। इस श्लोक में वर्णित दो प्रकार के ज्वर आज की भाषा में निमोनिया तथा टाइफाइड हैं। जब शरीर अत्यधिक ज्वर से ग्रस्त होता है, तो टाइफाइड तथा निमोनिया होता है, जिन्हें *प्रज्वार* कहा गया है। अन्य जीव भी अनेक प्रकार के क्लेशों के जनक हैं—यथा सरकार कर वसूलती है तथा और अनेक चोर, उचक्के तथा ठग भी हैं। अन्य जीवों द्वारा उत्पन्न क्लेश *अधिभौतिक* कहलाते हैं। दुर्भिक्ष, महामारी, युद्ध, भूकम्प इत्यादि के रूप में भी क्लेश होते हैं। ये देवताओं या हमारी शक्ति से परे अन्य स्त्रोतों से उत्पन्न होते हैं। वास्तव में जीवों के अनेक शत्रु हैं और इन सबका वर्णन यह दिखाने के लिए किया गया है कि यह संसार कितना कष्टकारक है।

इस संसार के मूलभूत कष्ट को जानते हुए प्रयास यही होना चाहिए कि भौतिकता के चंगुल से छूटकर भगवान् के धाम वापस जाया जाये। वास्तव में जीव इस शरीर में तनिक भी सुखी नहीं है। शरीर के कारण ही उसे भूख-प्यास लगती है और वह मन, वचन, क्रोध, पेट, लिंग, गुदा इत्यादि के द्वारा प्रभावित होता है। दिव्य जीवात्मा को अनेकानेक कष्ट इसीलिए घेर लेते हैं, क्योंकि वह इस संसार में अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करना चाहता है। यदि वह केवल इन्द्रियतुष्टि के कार्यों से अपने को विलग कर ले और अपनी इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगा दे तो संसार की सारी समस्याएँ तुरन्त घट जाँय और कृष्णभक्ति में प्रगति के फलस्वरूप वह सभी क्लेशों से मुक्त होकर इस शरीर को त्यागने के बाद भगवान् के धाम को वापस जा सकता है।

यदात्मानमविज्ञाय भगवन्तं परं गुरुम् ।

पुरुषस्तु विषज्जेत गुणेषु प्रकृतेः स्वदृक् ॥ २६॥
गुणाभिमानी स तदा कर्माणि कुरुतेऽवशः ।
शुक्लं कृष्णं लोहितं वा यथाकर्माभिजायते ॥ २७॥

शब्दार्थ

यदा—जब; आत्मानम्—परमात्मा को; अविज्ञाय—भूलकर; भगवन्तम्—भगवान्; परम्—परम; गुरुम्—उपदेशक को; पुरुषः—जीव; तु—तब; विषज्जेत—अपने को हवाले करता है; गुणेषु—गुणों के प्रति; प्रकृतेः—प्रकृति के; स्व-दृक्—अपना कल्याण देखने वाला; गुण-अभिमानी—प्रकृति के गुणों से अपनी पहचान करने वाला; सः—वह; तदा—उस समय; कर्माणि—कर्म; कुरुते—करता है; अवशः—तुरन्त; शुक्लम्—श्वेत; कृष्णम्—काला, श्याम; लोहितम्—लाल; वा—अथवा; यथा—के अनुसार; कर्म—कर्म; अभिजायते—जन्म लेता है।.

जीव की यह प्रकृति है कि उसे अपना अच्छा या बुरा भाग्य चुनने की कुछ-कुछ छूट है, किन्तु जब वह अपने परम स्वामी भगवान् को भुला देता है, तो वह अपने को प्रकृति के गुणों के हवाले कर देता है। इस तरह प्रकृति के गुणों के वशीभूत होकर वह अपने को शरीर मान बैठता है। कभी वह तमोगुण, तो कभी रजोगुण और कभी सतोगुण के अधीन होता है। इस प्रकार जीव प्रकृति के गुणों के अधीन रह कर विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त करता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१३.२२) में विभिन्न प्रकार के शरीरों की व्याख्या पाई जाती है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

"प्रकृति में तीनों गुणों को भोगते हुए जीव अपना जीवनयापन करता है। इसका कारण है प्रकृति के साथ उसकी संगति। इस प्रकार उसकी विभिन्न योनियों में अच्छों तथा बुरों से मिलाप होता है।"

प्रकृति के गुणों के सम्पर्क में आने से जीव को चौरासी लाख योनियों में से नाना प्रकार के शरीर प्राप्त होते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि जीव को कुछ-कुछ स्वतंत्रता प्राप्त है, जो *स्वदृक्* शब्द से परिलक्षित है, जिसका अर्थ है, "जो अपना कल्याण देख सके।"जीव की स्वाभाविक स्थिति अत्यन्त तुच्छ है और चुनाव करते समय उसे धोखा हो सकता है। वह भगवान् का अनुकरण करने को चुन सकता है। एक नौकर स्वयं अपना व्यापार शुरू करना चाह सकता है और इस तरह वह अपने स्वामी का अनुकरण करता है और ऐसा करने पर उसे अपने स्वामी का संरक्षण छोड़ देना होता है। इस प्रकार वह कभी सफल होता है, तो कभी असफल। इसी प्रकार श्रीकृष्ण का अंश जीव भी भगवान् की स्पर्धा करने के लिए अपना व्यापार प्रारम्भ करता है। भगवान् का पद पाने के लिए अनेक प्रतियोगी हो जाते हैं, किन्तु भगवान् जैसा बनना तनिक भी संभव नहीं है। इस प्रकार विभिन्न पक्षों द्वारा भगवान् का

अनुकरण करने के फलस्वरूप विकट जीवन-संघर्ष चल रहा है। भवबन्धन का कारण भगवान् की सेवा से हटकर उनका अनुकरण करना है। भगवान् का अनुकरण मायावादी चिन्तक करते हैं, क्योंकि वे कृत्रिम ढंग से भगवान् से तादात्म्य करना चाहते हैं। जब वे अपने को मुक्त मानते हैं, तो वे ज्ञान के भ्रम में होते हैं। कोई न तो ईश्वर हो सकता है, न ही उनके समान बन सकता है। ऐसी कल्पना करना भवबन्धन में बने रहना है।

शुक्लात्प्रकाशभूयिष्ठाँल्लोकानाप्नोति कर्हिचित् ।
दु:खोदर्कान्क्रियायासांस्तम:शोकोत्कटान्क्वचित् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

शुक्लात्—सतोगुण से; प्रकाश—प्रकाश से; भूयिष्ठान्—गुणसम्पन्न; लोकान्—लोक; आप्नोति—प्राप्त करता है; कर्हिचित्—कभी-कभी; दु:ख—कष्ट; उदर्कान्—परिणाम; क्रिया-आयासान्—कठिन कार्यों से पूर्ण; तम:—अंधकार; शोक—शोक में; उत्कटान्—परिपूर्ण, बहुल; क्वचित्—कभी-कभी।

जो सतोगुणी हैं, वे वैदिक आदेशों के अनुसार पुण्यकर्म करते हैं और इस तरह वे उच्चलोकों को जाते हैं जहाँ देवों का निवास है। जो रजोगुणी हैं, वे मनुष्य लोक में विभिन्न प्रकार के उत्पादक काम करते हैं। इसी प्रकार तमोगुणी पुरुष विभिन्न प्रकार के कष्ट उठाते हैं और पशु जगत में वास करते हैं।

तात्पर्य : तीन तरह के लोक हैं—उच्च, मध्य तथा अध:। जो सतोगुणी होते हैं, वे उच्च लोकों—ब्रह्म (सत्य), तप:, जन: तथा मह: लोकों को जाते हैं। जो रजोगुणी हैं उन्हें भू: तथा भुव: लोकों की प्राप्ति होती है। जो तमोगुणी हैं, वे अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल, पाताल या पशु जगत में स्थान पाते हैं। गुणात्मक दृष्टि से जीव तथा भगवान् एक हैं, किन्तु अपनी विस्मृति के कारण जीव को विभिन्न लोकों में विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त होते हैं। आज के समय में मानव समाज बुरी तरह से रजोगुण से प्रभावित है; फलस्वरूप लोग बड़े-बड़े कारखानों में काम करने में लगे हुए हैं। वे यह भूल जाते हैं कि ऐसे स्थानों में रहना कितना कष्टप्रद है। *भगवद्गीता* में ऐसे कामों को *उग्रकर्म* कहा गया है। जो लोग श्रमिकों की शक्ति का उपयोग करते हैं, वे पूँजीपति कहलाते हैं और वास्तविक काम करने वाले श्रमिक या मजदूर कहलाते हैं। वास्तव में वे दोनों ही पूँजीपति हैं और मजदूर रजोगुणी तथा तमोगुणी दोनों हैं। इसका परिणाम यह है कि सदा ही अत्यन्त विकट (उग्र) स्थिति बनी रहती है। इनके विपरीत वे लोग हैं, जो सतोगुणी हैं—कर्मी तथा ज्ञानीजन। कर्मीजन वैदिक आदेशों के

अनुसार उच्चलोकों तक पहुँचने का प्रयास करते हैं। ज्ञानीजन ब्रह्म में तदाकार होने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार इस जगत में विभिन्न योनियों में सभी वर्ग के जीव पाये जाते हैं। इससे संसार में श्रेष्ठ तथा निकृष्ट जीव-रूपों के पाये जाने की व्याख्या हो जाती है।

क्वचित्पुमान्क्वचिच्च स्त्री क्वचिन्नोभयमन्धधीः ।
देवो मनुष्यस्तिर्यग्वा यथाकर्मगुणं भवः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; पुमान्—नर; क्वचित्—कभी; च—भी; स्त्री—नारी; क्वचित्—कभी; न—नहीं; उभयम्—दोनों; अन्ध—अन्धा; धीः—जिसकी बुद्धि; देवः—देवता; मनुष्यः—मनुष्य; तिर्यक्—पशु, पक्षी आदि; वा—अथवा; यथा—अनुसार; कर्म—कर्म के; गुणम्—गुण; भवः—जन्म।

भौतिक प्रकृति के तमोगुण से आच्छादित होकर जीवात्मा कभी नर, कभी नारी, कभी नपुंसक, कभी मनुष्य, कभी देवता, कभी पक्षी, पशु इत्यादि बनता है। इस प्रकार वह इस भौतिक जगत में घूमता रहता है। वह प्रकृति के गुणों के अधीन अपने कर्मों के कारण विभिन्न प्रकार के शरीर स्वीकार करता रहता है।

तात्पर्य : वास्तव में जीव भगवान् का अंश है, फलतः वह आध्यात्मिक गुणसम्पन्न है। वह कभी भौतिक नहीं होता। उसका भौतिक बोध उसकी विस्मृति से उत्पन्न होने के कारण एक गलती है। वह भगवान् के ही समान तेजोमय (चमकीला) है। किन्तु सूर्य तथा सूर्यप्रकाश अत्यन्त चमकीले (तेजोमय) होते हैं। भगवान् पूर्ण चमकते सूर्य के सदृश हैं और जीव सूर्य के उन लघु कणों के समान हैं, जिनसे सूर्य-प्रकाश बनता है। जब ये लघु कण मायारूपी बादल से ढक जाते हैं, तो उनका चमकीलापन अदृश्य हो जाता है। जब माया के बादल हट जाते हैं, तो वे कण पुनः पूर्ववत् चमकने लगते हैं। ज्योंही जीव माया के अज्ञान से आच्छादित हो जाता है, वह भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को नहीं समझ सकता। यदि किसी तरह वह भगवान् के समक्ष पहुँच जाता है, तो वह अपने को भी उतना ही प्रकाशपूर्ण (तेजोमय) पाता है जितने की भगवान्, भले ही वह उतना व्यापक न हो। चूँकि जीव परमेश्वर का अनुकरण करना चाहता है, इसलिए वह माया से आच्छादित है। हम न तो भगवान् का अनुकरण कर सकते हैं, न ही हम परम भोक्ता बन सकते हैं। यह सम्भव नहीं है, किन्तु जब हम ऐसा होना सम्भव सोचते हैं, तो हम माया द्वारा बद्ध हो जाते हैं। इस तरह परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाने के कारण ही जीव माया के चंगुल में आ फँसता है।

माया के वश में होकर जीव भूतप्रेत बाधा से त्रस्त व्यक्ति जैसा बन जाता है। ऐसा व्यक्ति अनर्गल प्रलाप करता रहता है। जब जीव माया के वश में होता है, तो वह तथाकथित विज्ञानी, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ या समाजवादी बन जाता है और प्रतिक्षण वह मानव-समाज के कल्याण हेतु तरह-तरह की योजनाएँ प्रस्तुत करता रहता है। अन्ततः ये सारी योजनाएँ विफल होती हैं, क्योंकि ये भ्रामक (मोहमय) हैं। इस प्रकार जीव भूल जाता है कि वह भगवान् का शाश्वत दास है। उल्टे, वह माया का दास बन बैठता है। प्रत्येक दशा में वह दास रहता है। यह उसका दुर्भाग्य है कि भगवान् को भुलाने के कारण वह माया का दास बन जाता है। माया का दास होने से कभी वह राजा बनता है, कभी सामान्य नागरिक, कभी ब्राह्मण तो कभी शूद्र इत्यादि। कभी वह सुखी रहता है, तो कभी सम्पन्न व्यक्ति के रूप में रहता है। कभी वह लघु कीट बनता है। कभी वह स्वर्ग में रहता है, तो कभी नरक में। कभी वह देवता बनता है, तो कभी असुर। कभी वह दास बनता है, तो कभी स्वामी। इस प्रकार जीव सारे ब्रह्माण्ड में घूमता रहता है। जब वह प्रामाणिक गुरु के सम्पर्क में आता है तभी उसे अपनी वास्तविक स्वाभाविक स्थिति का बोध होता है। तब वह इस संसार से ऊब जाता है। उस समय, कृष्णचेतना में आकर वह अपने विगत सांसारिक अनुभवों पर पश्चात्ताप करता है। यह पश्चात्ताप लाभप्रद होता है, क्योंकि इससे उसका भौतिक बद्ध जीवन पवित्र हो जाता है। तब वह भगवान् से उनकी सेवा में लगा लेने के लिए प्रार्थना करता है और उस समय श्रीकृष्ण उसे माया के बन्धन से मोक्ष दिला देते हैं। भगवान् कृष्ण ने इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* (७.१४) में की है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

"मेरी यह त्रिगुणमयी दैवी शक्ति दुर्लंघ्य है। किन्तु जो मेरी शरण में आ जाते हैं, वे इसे सरलता से पार कर सकते हैं।"

केवल कृष्ण के अनुग्रह से माया के चंगुल से छूटा जा सकता है। ज्ञान या अन्य कर्मों से इससे छुटकारा पाना असम्भव है। जब जीव को कृष्ण की कृपा से अपनी वास्तविक स्थिति का बोध होता है, तो वह अपने को कृष्णचेतना में सदैव दृढ़ रखकर उसी के अनुसार कार्य करता है। इस प्रकार वह क्रमशः माया के चंगुल से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाता है। जब उसकी कृष्णचेतना दृढ़ होती है, तो माया

उसे छू नहीं पाती। इस प्रकार कृष्णभक्तों की संगति में रह कर जीव इस संसार के कल्मष से मुक्त हो सकता है। इस प्रसंग में श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी का कथन है (*श्रीचैतन्य-चरितामृत,* मध्य २२.२५)—

ताते कृष्ण भजे, करे गुरुर सेवन।

माया-जाल छूटे, पाय कृष्णेर चरण॥

"कृष्णचेतना की अवस्था में जीव अपने गुरु के निर्देशानुसार भक्ति में लगा रहता है। इस तरह वह माया के चंगुल से छूट कर भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है।"

क्षुत्परीतो यथा दीनः सारमेयो गृहं गृहम् ।
चरन्विन्दति यद्दिष्टं दण्डमोदनमेव वा ॥ ३० ॥
तथा कामाशयो जीव उच्चावचपथा भ्रमन् ।
उपर्यधो वा मध्ये वा याति दिष्टं प्रियाप्रियम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

क्षुत्-परीतः—भूख से पीड़ित; यथा—जिस प्रकार; दीनः—दरिद्र; सारमेयः—कुत्ता; गृहम्—एक घर से; गृहम्—दूसरे घर को; चरन्—घूमते हुए; विन्दति—प्राप्त करता है; यत्—जिसका; दिष्टम्—प्रारब्ध के अनुसार; दण्डम्—दण्ड; ओदनम्—भोजन; एव—निश्चय ही; वा—अथवा; तथा—उसी तरह; काम-आशयः—विभिन्न इच्छाओं का अनुसरण करता; जीवः—जीव; उच्च—ऊँचा; अवच—नीचा; पथा—रास्ते पर; भ्रमन्—घूमते हुए; उपरि—ऊपर; अधः—नीचे; वा—अथवा; मध्ये—बीच में; वा—अथवा; याति—जाता है; दिष्टम्—भाग्य के अनुसार; प्रिय—सुखकर; अप्रियम्—अच्छा न लगने वाला।

यह जीव ठीक उस कुत्ते के तुल्य है, जो भूख से परेशान भोजन पाने के लिए द्वार-द्वार जाता है। अपने प्रारब्ध के अनुसार वह कभी दण्ड पाता है और खदेड़ दिया जाता है, अथवा कभी-कभी खाने को थोड़ा भोजन भी पा जाता है। इसी प्रकार, जीव भी अनेकानेक इच्छाओं के वशीभूत होकर अपने भाग्य के अनुसार विभिन्न योनियों में भटकता रहता है। कभी वह उच्च स्थान प्राप्त करता है, तो कभी निम्न स्थान। कभी वह स्वर्ग को जाता है, कभी नरक को, तो कभी मध्य लोकों को और ऐसा चलता रहता है।

तात्पर्य : यहाँ पर जीव की स्थिति की तुलना कुत्ते से की गई है। भाग्यवश कुत्ते का मालिक धनी हो सकता है और संयोग से वह सड़कों में घूमने वाला कुत्ता बन सकता है। धनी मालिक का कुत्ता होने पर वह मौज से रहता है। पाश्चात्य देशों में कभी-कभी कुत्ते का मालिक अपनी वसीयत में उसके नाम पर लाखों डालर की राशि छोड़ कर मरता है। किन्तु सड़कों पर बिना भोजन के घूमने वाले कुत्तों

की भी संख्या कम नहीं होती। अत: जीव की बद्ध अवस्था की तुलना कुत्ते से करना अत्यन्त उपयुक्त है। किन्तु यदि कुत्ता ही बनना पड़े तो बुद्धिमान मनुष्य श्रीकृष्ण का कुत्ता बनना पसन्द करेगा। भौतिक जगत में कुत्ता कभी ऊँचे उठता है, तो कभी सड़क पर घूमता है, किन्तु आध्यात्मिक जगत में कृष्ण का कुत्ता सदैव सुखी रहता है। इसीलिए श्रील भक्तिविनोद ठाकुर गाते हैं—*वैष्णव ठाकुर तोमार कुकुर बलिया जानह मोरे।* इस प्रकार वे किसी वैष्णव का कुत्ता बनना पसन्द करते हैं। कुत्ता अपने मालिक के द्वार पर सदैव रहता है और अवांछित व्यक्ति को अपने मालिक के पास नहीं फटकने देता। इसी प्रकार मनुष्य को वैष्णव की सेवा करनी चाहिए और उसे सब तरह से प्रसन्न रखना चाहिए। जब तक वह ऐसा नहीं करता, उसकी आध्यात्मिक प्रगति नहीं हो सकती। यही नहीं, यदि इस जगत में वह सतोगुणी नहीं बनता तो वह उच्च लोकों को नहीं जा सकता। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.१८) में हुई है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसा:।

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसा:॥

''जो सतोगुणी हैं, वे क्रमश: उच्चलोकों को जाते हैं, जो रजोगुणी हैं, वे पृथ्वीलोक में रहते हैं और जो तमोगुणी हैं, वे नरक लोकों को जाते हैं।''

विभिन्न लोकों में जीवन के अनेक प्रकार हैं और ये सभी जीव द्वारा सतो, रजो तथा तमोगुणों को विकसित करने के कारण प्राप्त होते हैं। यदि कोई सतोगुणी है, तो वह उच्चलोक को जाता है, यदि वह रजोगुणी है, तो मध्य लोकों में रहता है, किन्तु यदि वह तमोगुणी है, तो निम्न योनियों में धकेल दिया जाता है।

दु:खेष्वेकतरेणापि दैवभूतात्महेतुषु ।
जीवस्य न व्यवच्छेद: स्याच्चेत्तत्तत्प्रतिक्रिया ॥ ३२॥

शब्दार्थ

दु:खेषु—दुखों में; एकतरेण—एक से; अपि—भी; दैव—भाग्य; भूत—अन्य जीव; आत्म—मन तथा शरीर; हेतुषु—के कारण; जीवस्य—जीव का; न—कभी नहीं; व्यवच्छेद:—छुटकारा; स्यात्—सम्भव है; चेत्—यद्यपि; तत्-तत्—उन-उन दुखों की; प्रतिक्रिया—विरोधी क्रिया।

सारे जीव भाग्य, अन्य जीवों अथवा मन तथा शरीर सम्बन्धी दुखों से छुटकारा पाने का प्रयास करते हैं। तो भी इन नियमों का प्रतिकार करने के प्रयासों के बावजूद वे प्रकृति के

नियमों द्वारा बद्ध रहते हैं।

तात्पर्य : जिस प्रकार कोई कुत्ता एक टुकड़ा रोटी या दण्ड पाने के लिए इधर-उधर भटकता है, उसी प्रकार जीव भी भौतिक दुख से छुटकारा पाने के लिए लगातार अनेक प्रकार की योजनाएँ बनाकर सुखी रहना चाहता है। यही जीवन-संघर्ष है। इसे हम अपने दैनिक जीवन में घटित होते देख सकते हैं कि किस प्रकार कष्टमय परिस्थितियों को दूर करने के लिए हमें योजनाएँ बनाने के लिए बाध्य होना पड़ता है। एक प्रकार की कष्टमय परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिए हमें एक अन्य प्रकार की कष्टमय परिस्थिति में पड़ना होता है। निर्धन व्यक्ति धनाभाव के कारण कष्ट पाता है, किन्तु यदि वह धनी बनना चाहता है, तो उसे अनेक प्रकार से संघर्ष करना होता है। वास्तव में यह कोई प्रतिक्रिया न होकर माया का जाल होता है। यदि वह व्यक्ति अपनी स्थिति से छुटकारा पाने के लिए प्रयास न करके अपनी वर्तमान स्थिति को अपने पूर्व कर्मों के कारण प्राप्त हुई मान कर सन्तुष्ट रहता है, तो वह अपनी शक्ति को कृष्णभक्ति विकसित करने में लगा सकता है। इसकी संस्तुति समस्त वैदिक साहित्य में हुई है (भागवत १.५.१८)—

तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो
न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः ।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं
कालेन सर्वत्र गभीररंहसा ॥

"जो लोग वास्तव में बुद्धिमान और चिन्तन की ओर उन्मुख हैं, उन्हें यही प्रयत्न करना चाहिए कि उनका अन्त सार्थक हो जो उच्चतमलोक (ब्रह्मलोक) से निम्नतम लोक (पाताल) तक विचरण करते रहने पर भी प्राप्य नहीं है। जहाँ तक इन्द्रिय-सुख का प्रश्न है, वह कालक्रम में स्वतः प्राप्त किया जा सकता है, जिस प्रकार न चाहते हुए भी हमें स्वतः कष्ट प्राप्त होते हैं।" मनुष्य को चाहिए कि कृष्णभक्ति विकसित करते रहने का प्रयत्न करे; अपनी भौतिक स्थिति को सुधारने के प्रयास में व्यर्थ समय न गँवाए। वास्तव में भौतिक स्थिति को सुधार पाना कठिन है। सुधारने का अर्थ है अन्य दुखपूर्ण स्थिति को अंगीकार करना। किन्तु यदि हम अपनी कृष्णभक्ति में सुधार लाने का प्रयास करते हैं, तो बिना किसी बाह्य प्रयास के ही भौतिक जीवन के क्लेश भाग जाते हैं। इसीलिए श्रीकृष्ण वचन

देते हैं—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*—"हे कुन्तीपुत्र! तुम निर्भय होकर घोषित कर दो कि मेरा भक्त कभी नहीं मरता" (*भगवद्गीता* ९.३१)। जो भक्तिपथ का अनुसरण करता है, वह तन तथा मन के कष्टों के होते हुए तथा अन्य जीवों एवं भाग्य द्वारा आ मिलने वाले तथा अपने वश से परे के कष्टों के होते हुए भी विनष्ट नहीं होता।

यथा हि पुरुषो भारं शिरसा गुरुमुद्वहन् ।
तं स्कन्धेन स आधत्ते तथा सर्वाः प्रतिक्रियाः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; हि—निश्चय ही; पुरुषः—मनुष्य; भारम्—भार; शिरसा—सिर पर; गुरुम्—भारी; उद्वहन्—ढोते हुए; तम्—वह; स्कन्धेन—कन्धे पर; सः—वह; आधत्ते—रखता है; तथा—उसी तरह; सर्वाः—सभी; प्रतिक्रियाः—विरोधी क्रियाएँ।.

मनुष्य बोझ को सिर पर लेकर ढो सकता है और जब यह उसे भारी लगने लगे तो कभी-कभी वह बोझ को कन्धे पर रख कर अपने सिर को विश्राम देता है। इस तरह वह बोझ से छुटकारा पाने के लिए प्रयास करता है। फिर भी, वह इस बोझ से मुक्त होने के लिए चाहे जो भी विधि निकाले, वह उस बोझ को एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखने से अधिक और कुछ नहीं कर सकता।

तात्पर्य : बोझ को एक स्थान से दूसरे में स्थानान्तरित करने का यह सुन्दर वर्णन है। जब मनुष्य सिर पर रखे बोझ से थकता है, तो वह उसे सिर से हटाकर कंधे पर रख लेता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह बोझ ढोने से बच गया। इसी प्रकार मानव-समाज सभ्यता के नाम पर एक प्रकार के कष्ट को हटाने के लिए दूसरे प्रकार का कष्ट उत्पन्न करता है। समकालिक सभ्यता में हम देखते हैं कि हमें एक स्थान से दूसरे स्थान तक त्वरित गति से ले जाने के लिए अनेक वाहन बनाए जाते हैं, किन्तु उसी के साथ हमने अन्य समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं। हमें अनेक सड़कों का निर्माण करना पड़ता है, किन्तु फिर भी ये सड़कें वाहनों की भीड़ का सामना करने के लिए पर्याप्त नहीं होती। साथ ही वायु प्रदूषण तथा ईंधन की कमी जैसी समस्याएँ उठती हैं। निष्कर्ष यह है कि हम अपने कष्टों का निवारण करने के लिए चाहे जो विधयाँ निकाल लें, उनसे हमारे कष्टों का अन्त नहीं हो पाता। यह मात्र मोह है। हम बोझ को केवल सिर से हटाकर कन्धे पर रखते हैं। अपनी समस्याओं को न्यूनतम करने का सही उपाय है भगवान् की शरण ग्रहण करके उनके संरक्षण में अपने को छोड़ देना। भगवान् दयालु

होने के कारण हमारे कष्टमय जीवन को सुखी बनाने के लिए व्यवस्था करेंगे।

नैकान्ततः प्रतीकारः कर्मणां कर्म केवलम् ।
द्वयं ह्यविद्योपसृतं स्वप्ने स्वप्न इवानघ ॥ ३४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एकान्ततः—अन्ततः; प्रतीकारः—निवारण; कर्मणाम्—विभिन्न कर्मों का; कर्म—अन्य कर्म; केवलम्—एकमात्र; द्वयम्—दोनों; हि—क्योंकि; अविद्या—मोह के कारण; उपसृतम्—स्वीकृत; स्वप्ने—स्वप्न में; स्वप्नः—सपना; इव—सदृश; अनघ—हे पापकर्मों से मुक्त, शुद्ध हृदय।

नारद ने आगे कहा : हे शुद्धहृदय पुरुष, कोई भी व्यक्ति कर्मों के फल का निराकरण कृष्णभक्ति से रहित अन्य कर्म करके नहीं कर सकता। ऐसे सारे कर्म हमारे अज्ञान के कारण हैं। जब हम कोई कष्टप्रद स्वप्न देखते हैं, तो हम किसी कष्टप्रद व्यामोह के द्वारा छुटकारा नहीं पा सकते। स्वप्न का निवारण तो जग कर ही किया जा सकता है। इसी प्रकार हमारा भौतिक अस्तित्व हमारे अज्ञान तथा मोह के कारण है। जब तक हममें कृष्णभक्ति नहीं जग जाती, ऐसे स्वप्नों से छुटकारा नहीं मिल सकता। समस्त समस्याओं को हल कर लेने के लिए हमें कृष्णचेतना को जागृत करना होगा।

तात्पर्य : सकाम कर्म दो प्रकार के हैं। बोझ को चाहे हम सिर पर रखें या कन्धे पर, वास्तव में बोझ तो किसी भी स्थान पर एक-जैसा है। किन्तु बोझ के स्थान का परिवर्तन निवारण के नाम पर होता है। इस सम्बन्ध में प्रह्लाद महाराज ने कहा है कि इस संसार में मूढ़ लोग शारीरिक सुख के लिए, यह जाने बिना, इतना विस्तृत आयोजन करते हैं कि यदि ये योजनाएँ सफल हो भी जाँय तो वे आखिरकार माया ही तो होते हैं। लोग मायावी शरीर-सुख के लिए दिन-रात कार्य करते हैं, किन्तु सुख प्राप्त करने का यह ढंग नहीं है। मनुष्य को भौतिक बन्धन से निकलकर भगवान् के धाम को वापस जाना होता है। यही वास्तविक सुख है। इसलिए वेदों का आदेश है—''इस भौतिक जगत के अधंकार में मत रहो। आध्यात्मिक जगत के प्रकाश में जाओ।'' इस भौतिक शरीर के दुख के निराकरण हेतु एक दूसरी कष्टमय स्थिति स्वीकार करनी होती है। ये दोनों ही स्थितियाँ केवल मोह हैं। एक कष्ट के निवारण हेतु दूसरे कष्ट को सहने में कोई लाभ नहीं है। निष्कर्ष यह निकलता है कि जब तक मनुष्य इस संसार में विद्यमान रहता है, वह शाश्वत रूप से सुखी नहीं रह सकता। इसका एकमात्र निवारण है इस भौतिक जगत से सदा के लिए मुक्त होकर भगवान् के धाम को वापस जाना।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
मनसा लिङ्गरूपेण स्वप्ने विचरतो यथा ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

अर्थे—वास्तविक कारण; हि—निश्चय ही; अविद्यमाने—न रहने पर; अपि—यद्यपि; संसृतिः—संसार; न—नहीं; निवर्तते—छुटकारा पाता है; मनसा—मन से; लिङ्ग-रूपेण—सूक्ष्म शरीर से; स्वप्ने—स्वप्न में; विचरतः—कार्य करते हुए; यथा—जिस प्रकार।

कभी-कभी हमें इसलिए कष्ट होता है, क्योंकि हमें स्वप्न में शेर या सर्प दिख जाता है, किन्तु वास्तव में वहाँ न तो शेर होता है, न सर्प। इस प्रकार हम अपनी सूक्ष्म अवस्था में कोई परिस्थिति उत्पन्न कर लेते हैं और उसके परिणामों को भोगते हैं। इन कष्टों का निवारण तब तक नहीं हो सकता जब तक कि हम अपने स्वप्न से जग नहीं जाते।

तात्पर्य : जैसाकि वेदों का कथन है, जीव सदैव सूक्ष्म तथा स्थूल इन दोनों प्रकार के शरीरों से पृथक् रहता है। हमारे सारे कष्ट भौतिक इन शरीरों के कारण हैं। *भगवद्गीता* (२.१४) में इसकी व्याख्या की गई है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

"हे कुन्तीपुत्र! सुख तथा दुख का अस्थायी प्राकट्य और फिर उनका अदृश्य होना शीत तथा ग्रीष्म ऋतुओं के प्राकट्य तथा उनके प्रस्थान के समान है। हे भारत! वे इन्द्रियों एवं विषयों के संयोग से उत्पन्न हैं और मनुष्य को चाहिए कि अविचल भाव से उन्हें सहना सीखे।" इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बताया कि सारे शारीरिक कष्ट आते जाते रहते हैं। मनुष्य को चाहिए कि इन्हें सहना सीखे। हमारे सारे कष्टों का कारण यह संसार है, क्योंकि एक बार भौतिक स्थिति से छूट जाने पर हमें फिर से कष्ट नहीं उठाने पड़ते। इसीलिए वेदों की शिक्षा है कि मनुष्य यह वास्तव में समझे कि वह पदार्थ नहीं, अपितु ब्रह्म है (*अहं ब्रह्मास्मि*)। यह समझ तब तक नहीं आ पाती जब तक कोई *ब्रह्मकर्म* अर्थात् भक्ति में प्रवृत्त नहीं हो जाता। भौतिक स्थिति से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को कृष्णभावनामृत अपनाना आवश्यक है और वही एकमात्र उपचार है।

अथात्मनोऽर्थभूतस्य यतोऽनर्थपरम्परा ।

संसृतिस्तद्व्यवच्छेदो भक्त्या परमया गुरौ ॥ ३६ ॥
वासुदेवे भगवति भक्तियोगः समाहितः ।
सध्रीचीनेन वैराग्यं ज्ञानं च जनयिष्यति ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; आत्मनः—जीव का; अर्थ-भूतस्य—वास्तविक रुचि वाले का; यतः—जिससे; अनर्थ—अवांछित वस्तुओं का; परम्-परा—शृंखला; संसृतिः—संसार; तत्—उसका; व्यवच्छेदः—विच्छेद, रुकना; भक्त्या—भक्ति से; परमया—शुद्ध; गुरौ—परमेश्वर या उसके प्रतिनिधि को; वासुदेवे—वासुदेव में; भगवति—भगवान्; भक्ति-योगः—भक्ति; समाहितः—एकाग्रचित्त; सध्रीचीनेन—पूर्ण रूप से; वैराग्यम्—विरक्ति; ज्ञानम्—पूर्णज्ञान; च—तथा; जनयिष्यति—प्रकट करता है।अतः; आत्मनः—जीव का; अर्थ-भूतस्य—वास्तविक रुचि वाले का; यतः—जिससे; अनर्थ—अवांछित वस्तुओं का; परम्-परा—शृंखला; संसृतिः—संसार; तत्—उसका; व्यवच्छेदः—विच्छेद, रुकना; भक्त्या—भक्ति से; परमया—शुद्ध; गुरौ—परमेश्वर या उसके प्रतिनिधि को; वासुदेवे—वासुदेव में; भगवति—भगवान्; भक्तियोगः—भक्ति; समाहितः—एकाग्रचित्त; सध्रीचीनेन—पूर्ण रूप से; वैराग्यम्—विरक्ति; ज्ञानम्—पूर्णज्ञान; च—तथा; जनयिष्यति—प्रकट करता है।

जीव का वास्तविक हित इसमें है कि वह अविद्या से निकले जिसके कारण उसे बारम्बार जन्म तथा मृत्यु सहनी पड़ती है। इसका एकमात्र निवारण है भगवान् के प्रतिनिधि के माध्यम से उनकी ही शरण ग्रहण करना। जब तक मनुष्य भगवान् वासुदेव की भक्ति नहीं करता, तब तक वह न तो इस भौतिक जगत से पूर्णतः विरक्त हो सकता है और न अपने असली ज्ञान को ही प्रकट कर सकता है।

तात्पर्य : कृत्रिम भौतिक परिस्थिति से विरक्त होने का यही उपाय है। इसका एकमात्र निवारण है कृष्णभावनामृत को अपनाना और भगवान् वासुदेव की भक्ति में निरन्तर लगे रहना। प्रत्येक व्यक्ति सुखी रहने का प्रयास करता है और इस सुख को प्राप्त करने के लिए जो विधि अपनाई जाती है, वह स्वार्थ कहलाती है। दुर्भाग्यवश इस संसार के भीतर भटकता बद्धजीव यह नहीं जानता कि उसके स्वार्थ का चरम लक्ष्य वासुदेव है। संसृति का प्रारम्भ मोहग्रस्त देहात्मबुद्धि से होता है और इसके फलस्वरूप अनेक अवांछित वस्तुओं की शृंखला (अनर्थ) प्रारम्भ हो जाती है। ये अवांछित वस्तुएँ इन्द्रियतृप्ति के लिए वस्तुतः मानसिक आकांक्षाएँ हैं। इस प्रकार मनुष्य इस संसार में विभिन्न प्रकार के शरीरों को धारण करता है। मनुष्य को पहले मन को वश में करना होता है, जिससे मन की आकांक्षाओं की शुद्धि हो सके। यह विधि *नारद-पञ्चरात्र* में *सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्* के रूप में वर्णित है। जब तक मन शुद्ध नहीं हो जाता, इस भौतिक स्थिति से छुटकारा पाने का प्रश्न ही नहीं उठता। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.७.६) में कहा गया है—

अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगमधोक्षजे।

लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम्॥

''जीव के भौतिक क्लेश, जो उसके लिए व्यर्थ हैं, भक्ति की विधि अपना लेने से दूर किये जा सकते हैं। किन्तु सर्वसाधारण इसे नहीं जानता, अत: विद्वान् व्यासदेव ने इस वैदिक साहित्य का संकलन किया जो परम सत्य से सम्बन्धित है।'' *अनर्थ* अर्थात् अवांछित वस्तुएँ एक जीवन से दूसरे तक चलती रहती हैं। इस बन्धन से निकलने के लिए मनुष्य को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव, कृष्ण की भक्ति करनी होती है। इस प्रसंग में *गुरु* शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ ''भारी'' या ''श्रेष्ठ'' के रूप में किया जा सकता है। श्रील ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को उपदेश दिया था—*गुरुर्न स स्यात्...न मोचयेद् य: समुपेतमृत्युम्*—''जब तक अपने शिष्य को जन्म-मृत्यु के आवागमन से बाहर न निकाल सके, मनुष्य को चाहिए कि वह गुरु का पद स्वीकार न करे (भागवत ५.५.१८)। यह संसार वास्तव में विभिन्न प्रकार के कर्मों की क्रिया-प्रतिक्रिया (घात-प्रतिघात) की शृंखला है। यही जन्म तथा मृत्यु का कारण है। इस क्रिया को वासुदेव की सेवा में लग कर ही रोका जा सकता है।

भक्ति उन कार्यों को सूचित करती है, जो भगवान् वासुदेव की सेवा में सम्पन्न किये जाते हैं। चूँकि भगवान् वासुदेव सर्वश्रेष्ठ हैं, अत: मनुष्य को देवताओं की सेवा न करके उन्हीं की सेवा में लगना चाहिए। भक्ति का शुभारम्भ नवदीक्षित अवस्था से लेकर भगवान् की प्रेमाभक्ति तक विस्तारित है। सभी अवस्थाओं का अभिप्राय भगवान् वासुदेव को प्रसन्न करना है। जब मनुष्य वासुदेव की भक्ति में अत्यधिक अग्रसर हो जाता है, तो वह शरीर की सेवा से पूर्ण रूप से विरक्त हो जाता है और इस प्रकार विरक्त होकर वह ज्ञान में पारंगत हो जाता है और भगवान् वासुदेव की सेवा में संलग्न होता है। श्री चैतन्य महाप्रभु का कहना है—*जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्य दास'*—''प्रत्येक जीव अपनी स्वाभाविक स्थिति के फलस्वरूप कृष्ण का चिर दास है।'' ज्योंही वह भगवान् वासुदेव की भक्ति प्रारम्भ करता है उसे उसकी स्वाभाविक स्थिति प्राप्त हो जाती है। यह स्थिति मुक्त अवस्था कहलाती है। *मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थिति:*—मुक्त अवस्था में मनुष्य अपनी मूल कृष्णभक्ति स्थिति में रहता है। वह ''मैं'' तथा ''मेरा'' के मोह के अन्तर्गत सम्पन्न की जाने वाली अनेक प्रकार की सेवाओं—सामाजिक सेवा, राष्ट्रीय सेवा, जाति सेवा, कुत्ते की सेवा, वाहन—सेवा आदि—को तिलांजलि दे देता है।

जैसाकि *भागवत* (१.२.७) में व्याख्या की गई है—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥

"श्रीकृष्ण की भक्ति करके मनुष्य तुरन्त अहैतुक ज्ञान तथा इस संसार से विरक्ति प्राप्त कर लेता है।" इस प्रकार मनुष्य को किसी भौतिक इच्छा, मानसिक चिन्तन या कर्म के बिना वासुदेव की सेवा में लग जाना चाहिए।

सोऽचिरादेव राजर्षे स्यादच्युतकथाश्रयः ।
शृण्वतः श्रद्दधानस्य नित्यदा स्यादधीयतः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अचिरात्—शीघ्र; एव—ही; राज-ऋषे—हे राजाओं में श्रेष्ठ; स्यात्—हो जाता है; अच्युत—भगवान् की; कथा—आख्यानों पर; आश्रयः—आश्रित; शृण्वतः—सुनने वाले; श्रद्दधानस्य—श्रद्धावान; नित्यदा—सदैव; स्यात्—हो जाता है; अधीयतः—अनुशीलन द्वारा।

हे राजर्षि, जो श्रद्धावान् है, जो भगवान् की महिमा का निरन्तर श्रवण करता रहता है, जो सदैव कृष्णचेतना के अनुशीलन तथा भगवान् के कार्यकलापों को सुनने में लगा रहता है, वह शीघ्र ही भगवान् का साक्षात्कार करने के योग्य हो जाता है।

तात्पर्य : वासुदेव की दिव्य प्रेमा-भक्ति में निरन्तर लगे रहने का अर्थ है भगवान् के गुणों को निरन्तर सुनते रहना। भक्तियोग के सिद्धान्त हैं—*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद्सेवनम् /अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनं*—ये एकमात्र साधन हैं जिनसे सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। भगवान् के गुणों के श्रवण मात्र से मनुष्य दिव्य पद को प्राप्त करता है।

यत्र भागवता राजन्साधवो विशदाशयाः ।
भगवद्गुणानुकथनश्रवणव्यग्रचेतसः ॥ ३९ ॥
तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र-
पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति ।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णै-
स्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; भागवताः—परमभक्तगण; राजन्—हे राजा; साधवः—साधु पुरुष; विशद-आशयाः—विशाल हृदय वाले; भगवत्—भगवान् के; गुण—गुण; अनुकथन—नियमित रूप से पाठ करना; श्रवण—सुनना; व्यग्र—उत्सुक; चेतसः—

जिसकी चेतना; तस्मिन्—वहाँ; महत्—महापुरुषों का; मुखरिताः—मुखों से निकला; मधु-भित्—मधु नामक असुर के मारने वाले का; चरित्र—कार्यकलाप या चरित्र; पीयूष—अमृत का; शेष—अधिक; सरितः—नदियाँ; परितः—चारों ओर; स्रवन्ति—बहती हैं; ताः—वे सब; ये—जो; पिबन्ति—पीते हैं; अवितृषः—सन्तुष्ट हुए बिना; नृप—हे राजा; गाढ—सावधान; कर्णैः—कानों से; तान्—उनको; न—कभी नहीं; स्पृशन्ति—स्पर्श करते हैं; अशन—भूख; तृट्—प्यास; भय—डर; शोक—दुख; मोहाः—मोह।

हे राजन्, जिस स्थान में शुद्ध भक्त विधि-विधानों का पालन करते हुए तथा इस प्रकार से नितान्त सचेष्ट रहते हुए एवं उत्सुकतापूर्वक भगवान् के गुणों का श्रवण एवं कीर्तन करते रहते हैं उस स्थान में यदि किसी को अमृत के निरन्तर प्रवाह को सुनने का अवसर प्राप्त हो तो वह जीवन की आवश्यकताएँ—भूख तथा प्यास—भूल जायेगा और समस्त प्रकार के भय, शोक तथा मोह के प्रति निश्चेष्ट हो जायेगा।

तात्पर्य : कृष्णचेतना का अनुशीलन वहीं सम्भव है जहाँ महान् भक्त एकसाथ रहते हैं और भगवान् के गुणों का श्रवण तथा कीर्तन करते रहते हैं। वृन्दावन जैसे पवित्र स्थानों में अनेक भक्त भगवान् के गुणों का निरन्तर श्रवण तथा कीर्तन करते रहते हैं। यदि ऐसे स्थान में भक्तों के मुख से निरन्तर अमृत की धारा बहते हुए अनुभव करने का अवसर मिल पाये तो कृष्णचेतना का अनुशीलन अत्यन्त सरल हो जाता है। जब मनुष्य भगवान् के गुणों का निरन्तर श्रवण करता है, तो वह देहात्मबुद्धि से ऊपर उठ जाता है। देहात्मबुद्धि होने पर उसे भूख, प्यास, भय, शोक तथा मोह सताते हैं। किन्तु यदि वह भगवान् के गुणों का श्रवण तथा कीर्तन करता रहता है, तो वह देहात्मबुद्धि से आगे निकल जाता है।

भगवद्गुणानुकथनश्रवणव्यग्रचेतसः पद का अर्थ है "ऐसा स्थान खोजने के लिए सदैव उत्सुक रहना जहाँ भगवान् के गुणों का श्रवण तथा कीर्तन होता हो।" इस श्लोक में यह पद महत्त्व पूर्ण है। एक व्यापारी ऐसे स्थान में जाने के लिए उत्सुक रहता है जहाँ व्यापार होता हो। इसी प्रकार एक भक्त मुक्त भक्तों के मुखारविन्द से सुनने के लिए व्यग्र रहता है और ज्योंही उसे मुक्त भक्तों से भगवान् की महिमा सुनने को मिलती है, वह तुरन्त कृष्णचेतना से पूरित हो उठता है। इसकी पुष्टि *भागवत* (३.२५.२५) में अन्यत्र भी हुई है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो

भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।

तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि

श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥

"शुद्ध भक्तों की संगति में भगवान् की लीलाओं तथा कार्यकलापों की विवेचना कानों तथा हृदय को अत्यन्त सुखद तथा सन्तुष्ट करनेवाली हैं। ऐसे ज्ञान के अनुशीलन से मनुष्य क्रमशः मुक्तिपथ पर अग्रसर होता है। फिर वह मुक्त हो जाता है और उसकी आसक्ति स्थिर हो जाती है, तत्पश्चात् वास्तविक भक्ति प्रारम्भ होती है।" (भागवत ३.२५.२५) शुद्ध भक्त की संगति से मनुष्य भगवान् के गुणों को सुनने और कीर्तन करने में अनुरक्त होता है। इस प्रकार वह कृष्णचेतना का अनुशीलन कर सकता है और अनुशीलन की प्रगति के साथ ही भगवान् के प्रति उसकी श्रद्धा तथा भक्ति बढ़ती जाती है और वह शीघ्र ही पूर्ण कृष्णचेतना प्राप्त कर लेता है। कृष्णचेतना अनुशीलन की सफलता का रहस्य है उपयुक्त व्यक्ति से श्रवण करना। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कभी भी शारीरिक आवश्यकताओं—भोजन, नींद, मैथुन, सुरक्षा—से विचलित नहीं होता।

एतैरुपद्रुतो नित्यं जीवलोकः स्वभावजैः ।
न करोति हरेर्नूनं कथामृतनिधौ रतिम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

एतैः—इनसे; उपद्रुतः—विचलित; नित्यम्—सदैव; जीव-लोकः—भौतिक संसार में बद्धजीव; स्व-भाव-जैः—प्राकृतिक; न करोति—नहीं करता; हरेः—भगवान् का; नूनम्—निश्चय ही; कथा—शब्दों के; अमृत—अमृत के; निधौ—समुद्र में; रतिम्—आसक्ति।

चूँकि बद्धजीव सदैव भूख तथा प्यास जैसी शारीरिक आवश्यकताओं से विचलित होता रहता है, अतः उसे भगवान् की अमृतवाणी सुनने का अनुराग उत्पन्न करने के लिए बहुत कम समय मिल पाता है।

तात्पर्य : भक्तों की संगति के बिना कृष्णचेतना का अनुशीलन सम्भव नहीं है। नवदीक्षित के लिए एकान्त स्थान में कृष्णचेतना का अनुशीलन—*निर्जन-भजन*—सम्भव नहीं है, क्योंकि उसे शारीरिक आवश्यकताएँ (भोजन, नींद, मैथुन, सुरक्षा) सताती रहेंगी। इस प्रकार से विचलित रहने से कृष्णचेतना का अनुशीलन सम्भव नहीं है। अतः हम देखते हैं कि, "सहजिया" भक्त, जो प्रत्येक वस्तु को सहज मानते हैं, वे सिद्ध भक्तों की संगति नहीं करते। ऐसे व्यक्ति भक्ति के नाम पर नाना प्रकार के पापकर्म—यथा अवैध स्त्री-प्रसंग, मद्यपान, द्यूत-क्रीड़ा तथा मांसाहार—करते हैं। ऐसे अनेक तथाकथित भक्त हैं, जो इस प्रकार के पापकर्मों में लगे रह कर अपने को भक्त कहते हैं। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति पापकर्म

करता है उसे कृष्णभक्त नहीं माना जा सकता। पापकर्मों में रत व्यक्ति कृष्णचेतना विकसित नहीं कर सकता, जैसाकि इस श्लोक में इंगित किया गया है।

प्रजापतिपतिः साक्षाद्भगवान्गिरिशो मनुः ।
दक्षादयः प्रजाध्यक्षा नैष्ठिकाः सनकादयः ॥ ४२॥
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
भृगुर्वसिष्ठ इत्येते मदन्ता ब्रह्मवादिनः ॥ ४३॥
अद्यापि वाचस्पतयस्तपोविद्यासमाधिभिः ।
पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति पश्यन्तं परमेश्वरम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

प्रजापति-पतिः—समस्त प्रजापतियों के पिता, ब्रह्माजी; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; गिरिशः—शिवजी; मनुः—मनु; दक्ष-आदयः—राजा दक्ष इत्यादि; प्रजा-अध्यक्षाः—मनुष्यों के शासक; नैष्ठिकाः—प्रबल ब्रह्मचारी; सनक-आदयः—सनक इत्यादि; मरीचिः—मरीचि; अत्रि-अङ्गिरसौ—अत्रि तथा अंगिरा; पुलस्त्यः—पुलस्त्य; पुलहः—पुलह; क्रतुः—क्रतु; भृगुः—भृगु; वसिष्ठः—वसिष्ठ; इति—इस प्रकार; एते—ये सब; मत्-अन्ताः—मुझसे अन्त होने वाले; ब्रह्म-वादिनः—ब्राह्मण, वैदिक साहित्य के वक्ता; अद्य अपि—आज तक; वाचः-पतयः—वाणी के स्वामी; तपः—तपस्या; विद्या—ज्ञान; समाधिभिः—तथा ध्यान से; पश्यन्तः—देखते हुए; अपि—यद्यपि; न पश्यन्ति—नहीं देखते; पश्यन्तम्—देखने वाला; परम-ईश्वरम्—भगवान् को।

समस्त प्रजापतियों के पिता परम शक्तिशाली ब्रह्माजी; शिव; मनु, दक्ष तथा मानवजाति के अन्य शासक; प्रथम कोटि के ब्रह्मचारी सनक, सनातन इत्यादि चारों परम साधु; मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु तथा वसिष्ठ जैसे महर्षि; तथा स्वयं मैं (नारद)—ये सभी महान् ब्राह्मण हैं, जो वैदिक साहित्य पर अधिकारपूर्वक बोल सकते हैं। हम सब तप, ध्यान तथा ज्ञान के कारण अत्यन्त शक्तिशाली हैं। तो भी भगवान् को साक्षात् देखते हुए और अन्वेषण करने पर भी हम उनके विषय में पूर्णतः नहीं जानते।

तात्पर्य : नृतत्त्वशास्त्रियों के फूहड़ डार्विन सिद्धान्त के अनुसार बुद्धिमान प्राणी चालीस हजार वर्ष पूर्व इस लोक पर प्रकट नहीं हुए थे, क्योंकि उस काल तक विकास की क्रिया वहाँ तक नहीं पहुँच पाई थी। किन्तु पुराण तथा महाभारत जैसे वैदिक इतिहास ग्रन्थ बताते हैं कि लाखों वर्ष पूर्व से मानव इतिहास प्रारम्भ होता है। सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा नामक अत्यन्त बुद्धिमान व्यक्ति था, जिससे समस्त मनु, सनक तथा सनातन जैसे ब्रह्मचारी, शिव तथा नारद इत्यादि ऋषि उत्पन्न हुए। इन सभी महापुरुषों ने महान् तपस्याएँ कीं और वे वैदिक साहित्य के अधिकारी बने। वेदों में मनुष्यों तथा समस्त जीवों का पूर्ण ज्ञान निहित है। उपर्युक्त सारे महापुरुष न केवल शक्तिमान हैं—भूत, भविष्य और वर्तमान के द्रष्टा

हैं—वरन् उसी के साथ भक्त भी हैं। फिर भी इतने ज्ञानी होने और भगवान् विष्णु का साक्षात्कार करने पर भी वे भगवान् विष्णु एवं जीव के पारस्परिक सम्बन्ध को पूर्ण रूप से नहीं समझ पाते। इसका अभिप्राय यह है कि इन महापुरुषों का भी अनन्त-विषयक ज्ञान अत्यन्त सीमित है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल ज्ञान में आगे बढ़ जाने से किसी को भगवान् विषयक ज्ञान में दक्ष नहीं माना जा सकता। भगवान् को उच्च ज्ञान से नहीं, अपितु शुद्ध भक्ति से समझा जा सकता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१८.५५) में हुई है—*भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत:*—जब तक मनुष्य शुद्ध दिव्य भक्ति नहीं करता तब तक वास्तविक रूप में वह भगवान् को नहीं समझ सकता है। हर व्यक्ति को भगवान् के विषय में कुछ-न-कुछ ज्ञान होता है। तथाकथित वैज्ञानिक तथा चिन्तक (ज्ञानी) अपने ज्ञान के बल पर परमेश्वर को समझने में असमर्थ हैं। जब तक मनुष्य भक्ति के स्तर तक नहीं उतरता तब तक ज्ञान पूर्ण नहीं होता। इसकी पुष्टि *भागवत* से (१०.१४.२९) होती है—

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि।

जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽप चिरं विचिन्वन्॥

ज्ञानी लोग हजारों वर्षों तक परमेश्वर के विषय में चिन्तन करते रहते हैं, किन्तु जब तक भगवान् की कृपा नहीं होती तब तक उनकी महिमा समझ में नहीं आती। इस श्लोक में जिन ऋषियों का उल्लेख है वे सब उस ब्रह्मलोक के निकटवर्ती लोकों में रहते हैं, जहाँ सनक, सनातन, सनन्दन तथा सनत्कुमार इन चार ऋषियों सहित ब्रह्मा निवास करते हैं। ये ऋषि विभिन्न नक्षत्रों में रहते हैं, जिन्हें दक्षिणी नक्षत्र कहा जाता है और जो ध्रुवतारा के चारों ओर हैं। ध्रुवतारा अथवा ध्रुवलोक इस ब्रह्माण्ड की खूँटी (केन्द्र) है और सारे नक्षत्र इसके चारों ओर घूमते हैं। जहां तक हम देख सकते हैं सभी नक्षत्र इस ब्रह्माण्ड के लोक हैं। पाश्चात्य सिद्धान्त के अनुसार समस्त नक्षत्रगण विभिन्न सूर्य हैं, किन्तु वैदिक जानकारी के अनुसार इस ब्रह्माण्ड में केवल एक ही सूर्य है। समस्त तथाकथित नक्षत्र विभिन्न लोक हैं। इस ब्रह्माण्ड के अतिरिक्त लाखों अन्य ब्रह्माण्ड हैं और इनमें से प्रत्येक में वैसे ही असंख्य नक्षत्र तथा लोक हैं।

शब्दब्रह्मणि दुष्पारे चरन्त उरुविस्तरे ।

मन्त्रलिङ्गैर्व्यवच्छिन्नं भजन्तो न विदुः परम् ॥ ४५॥

शब्दार्थ

शब्द-ब्रह्मणि—वैदिक साहित्य में; दुष्पारे—अनन्त; चरन्तः—लगे हुए; उरु—अत्यधिक; विस्तरे—व्यापक; मन्त्र—वैदिक मंत्रों का; लिङ्गैः—लक्षणों से; व्यवच्छिन्नम्—आंशिक शक्तिशाली (देवता); भजन्तः—पूजा करते हुए; न विदुः—नहीं जानते; परम्—परमेश्वर।

अनन्त वैदिक ज्ञान के अनुशीलन तथा वैदिक मंत्रों के लक्षणों से विभिन्न देवताओं की पूजा के बावजूद देव-पूजा से परम शक्तिशाली भगवान् को समझने में कोई सहायता नहीं मिलती।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.२०) में कहा गया है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥

"जिनके मन भौतिक इच्छाओं के द्वारा विकृत हो चुके हैं, वे देवताओं की शरण में जाते हैं और अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार वे पूजा के विशिष्ट विधि-विधानों का पालन करते हैं।" अधिकांश लोग शक्ति प्राप्त करने के लिए देवताओं की पूजा करना चाहते हैं। प्रत्येक देवता की विशिष्ट शक्ति होती है। उदाहरणार्थ, स्वर्ग के राजा इन्द्र में पृथ्वी के ऊपर वर्षा करने की शक्ति है, जिससे पृथ्वी पर प्रचुर वनस्पति उत्पन्न हो सके। इस देवता का वर्णन वेदों में इस प्रकार हुआ है—*वज्रहस्तः पुरन्दरः।* इन्द्र हाथ में व्रज धारण किये हुए जल-पूर्ति पर शासन करता है। यह वज्र इन्द्र द्वारा नियंत्रित है। इसी प्रकार अन्य देवता अग्नि, वरुण, चन्द्र, सूर्य—विशिष्ट शक्तियों से युक्त हैं। वैदिक मंत्रों में इन समस्त देवताओं को प्रतीकात्मक आयुध द्वारा पूजा जाता है। इसीलिए यहाँ पर कहा गया है—*मन्त्रलिंगैर्व्यवच्छिन्नम्।* ऐसी पूजा से कर्मियों को पशु, धन, सुन्दर पत्नी, अनेक दास इत्यादि के रूप में ऐश्वर्य का वरदान प्राप्त होता है। किन्तु ऐसे ऐश्वर्य से वह भगवान् को नहीं जान पाता।

यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः ।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम् ॥ ४६॥

शब्दार्थ

यदा—जब; यस्य—जिसका; अनुगृह्णाति—अहैतुकी कृपा करता है; भगवान्—भगवान्; आत्म-भावितः—भक्त द्वारा अनुभूत; सः—ऐसा भक्त; जहाति—त्यागता है; मतिम्—चेतना; लोके—भौतिक जगत में; वेदे—वैदिक कार्यों में; च—भी; परिनिष्ठिताम्—स्थिर।

जब मनुष्य पूर्णतः भक्ति में लगा रहता है, तो अहैतुकी कृपा प्रदर्शित करने वाले भगवान् उस पर कृपा करते हैं। ऐसे अवसर पर जाग्रत भक्त सारे भौतिक कार्यों तथा वेदों में वर्णित

अनुष्ठानों को त्याग देता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बताया गया है कि ज्ञानी लोग भगवान् को जान पाने में असमर्थ रहते हैं। उसी प्रकार इस श्लोक में इंगित किया गया है कि जो लोग वैदिक अनुष्ठानों तथा सकाम कर्मों का पालन करते हैं, वे भी भगवान् का दर्शन करने में असमर्थ रहते हैं। दोनों श्लोकों में कर्मियों तथा ज्ञानियों को भगवान् को समझने के लिए अयोग्य बताया गया है। जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने वर्णन किया है, जब मनुष्य ज्ञान तथा कर्म से पूर्णरूपेण मुक्त हो जाता है, तो वह भौतिक इच्छाओं से दूषित हुए बिना शुद्ध भक्ति में लग सकता है (*अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्*)। *आत्मभावितः* शब्द अत्यन्त सार्थक है, जो यह बताता है कि यदि मनुष्य निरन्तर भगवान् का चिन्तन करता है, तो वे उसके मन में जागते हैं। शुद्ध भक्त निरन्तर भगवान् के चरणकमलों का चिन्तन करता रहता है (*स वै मनः कृष्ण पदारविन्दयोः*)। शुद्ध भक्त भगवान् के विचारों में मग्न रहे बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। *भगवद्गीता* में भगवान् का यह निरन्तर चिन्तन *सतत युक्तानाम्* के रूप में वर्णित है। *भजतां प्रीतिपूर्वकम्*—यह प्रेमाभक्ति है। चूँकि भगवान् भक्त के अन्तःकरण से आदेश देता है, अतः भक्त सभी प्रकार के भौतिक कर्मों से बच जाता है। यहाँ तक कि वैदिक अनुष्ठानों को भी भौतिक कर्म माना जाता है, क्योंकि ऐसे कार्यों से मनुष्य अन्य लोकों में, जो देवताओं के वासस्थान हैं, चला जाता है। *भगवद्गीता* (९.२५) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

''जो लोग देवाताओं की पूजा करते हैं, वे देवताओं के बीच जन्म लेते हैं, जो भूतप्रेतों की पूजा करते हैं, वे उनके बीच जन्म लेते हैं; जो अपने पूर्वजों को पूजते हैं, वे पितरों के पास जाते हैं और जो मेरी पूजा करते हैं, वे मेरे पास रहते हैं।''

आत्मभावितः शब्द यह भी सूचित करता है कि भक्त सदैव बद्धजीवों को छुटकारा दिलाने के लिए उपदेश देता रहता है। षड्गोस्वामियों के विषय में कहा जाता है—*नानाशास्त्र विचारणैकनिपुणौ सद्धर्मसंस्थापकौ लोकानां हितकारिणौ।* भगवान् का शुद्ध भक्त सदैव सोचता रहता है कि किस प्रकार पतित बद्धजीवों का उद्धार किया जाये। भक्तों द्वारा पतित जीवों का उद्धार करने के प्रयास से प्रभावित

होकर भगवान् अपनी अहैतुकी कृपावश अन्तःकरण से ही सभी लोगों को प्रकाश देते हैं। यदि एक भक्त दूसरे से आशीर्वाद प्राप्त करता है, तो वह *कर्म-काण्ड* तथा *ज्ञान-काण्ड* के कर्मों से मुक्त हो जाता है। जैसी कि *ब्रह्म-संहिता* में पुष्टि हुई है—*वेदेषु दुर्लभम्*—श्रीभगवान् को कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के द्वारा नहीं जाना जा सकता। *अदुर्लभम् आत्म-भक्तौ*—भगवान् केवल निष्ठावान् भक्त द्वारा जाना जाता है।

इस दृश्य जगत की उत्पत्ति भगवान् द्वारा होती है और सारे जीव यहाँ पर सुख भोगने के लिए आये हैं। विभिन्न यम-नियमों द्वारा वैदिक आदेशों के अनुसार उनका पथ-प्रदर्शन होता है और बुद्धिमान मनुष्य इन आदेशों से लाभ उठाते हैं। इस प्रकार वे अविचल भाव से भौतिक जीवन का भोग करते हैं। यह वास्तव में मोह है और इस मोह से अपने आप निकल पाना कठिन है। सामान्य जन भौतिक कार्यों (*कर्मकाण्ड*) में लगे रहते हैं और जब वे कुछ उन्नति कर लेते हैं, तो वे वेदवर्णित अनुष्ठानों के प्रति आकृष्ट होते हैं। किन्तु इन अनुष्ठानों से निराश होकर वे पुनः कर्मकाण्ड की ओर बढ़ते हैं। इस प्रकार वे कर्मकाण्ड तथा वैदिक अनुष्ठान, इन दोनों का पालन करने वाले बद्धजीवन में फँस जाते हैं। ऐसे लोग गुरु तथा कृष्ण की कृपा से ही भक्ति-बीज प्राप्त कर पाते हैं। इसकी पुष्टि *श्रीचैतन्य-चरितामृत* में हुई है—*गुरु कृष्ण प्रसादे पाय भक्तिलताबीज।*

जब मनुष्य भक्ति में लग जाता है, तो कर्मकाण्ड उसे नहीं खींच पाते। जब मनुष्य अनेक उपाधियों से घिरा रहता है, तो वह भक्ति नहीं कर सकता। उसे ऐसे उपाधि वाले कार्यों से मुक्त (*सर्वोपाधि विनिर्मुक्तम्*) और शुद्ध होना पड़ता है, जिससे वह शुद्ध इन्द्रियों से भगवान् की सेवा कर सके। *हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते*—शुद्ध इन्द्रियों से भगवान् की सेवा भक्तियोग कहलाती है। परमात्मा निष्ठावान् भक्त की सदा सहायता करता है, क्योंकि वह प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित है, जिसकी पुष्टि श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (१०.१०) में इस प्रकार की है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

"जो लोग निरन्तर मेरी भक्ति करते हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि देता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।"

भौतिक जगत के कल्मष से मुक्त होने की यही अवस्था है। ऐसे अवसर पर भक्त अन्य भक्त को अपना मित्र बनाता है और तब उसके भौतिक कार्यकलाप पूर्ण रूप से बन्द हो जाते हैं। तब उसे भगवान् की कृपा प्राप्त होती है और भौतिक सभ्यता से उसकी श्रद्धा उठ जाती है, जो वर्णाश्रम धर्म के साथ प्रारम्भ होती है। श्री चैतन्य महाप्रभु स्पष्ट कहते हैं कि मनुष्य को वर्णाश्रम धर्म से मुक्त हो जाना चाहिए। तब वह अपने आपको भगवान् कृष्ण का चिर सेवक समझने लगता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने स्वयं यह स्थिति प्राप्त की थी—

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो

नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।

किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे-

र्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः॥

(*पद्यावली* ६३)

"मैं न तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र हूँ, न ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यासी हूँ। मैं क्या हूँ? मैं भगवान् कृष्ण के दास के दास का चिर दास हूँ।" शिष्य-परम्परा से मनुष्य इस निष्कर्ष को प्राप्त कर सकता है, जो दिव्य पद की परम सिद्धि है।

तस्मात्कर्मसु बर्हिष्मन्नज्ञानादर्थकाशिषु ।
मार्थदृष्टिं कृथाः श्रोत्रस्पर्शिष्वस्पृष्टवस्तुषु ॥ ४७॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतः; कर्मसु—कर्म में; बर्हिष्मन्—हे राजा प्राचीनबर्हिषत्; अज्ञानात्—अज्ञान से; अर्थ-काशिषु—भड़कीले कर्मफल में; मा—कभी नहीं; अर्थ-दृष्टिम्—जीवन लक्ष्य मानकर; कृथाः—करते हैं; श्रोत्र-स्पर्शिषु—कर्णप्रिय, मधुर; अस्पृष्ट—बिना स्पर्श किये; वस्तुषु—वास्तविक हित, स्वार्थ।

हे राजा बर्हिष्मान्, तुम्हें अज्ञानवश कभी भी वैदिक अनुष्ठानों या सकाम कर्मों को अपनाना नहीं चाहिए, भले ही वे कर्णप्रिय क्यों न हों, अथवा आत्म सिद्धि के लक्ष्य प्रतीत होते हों। तुम्हें चाहिए कि इन्हें कभी भी जीवन का चरम लक्ष्य न समझो।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (२.४२-४३) में कहा गया है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥

"अल्पबुद्धि मनुष्य वेद के उन आलंकारिक वचनों में बहुत आसक्त रहते हैं जिनमें स्वर्ग, उच्चकुल, अधिकार इत्यादि देने वाले नाना प्रकार के सकाम कर्मों का विधान है। भोग और ऐश्वर्य की अभिलाषा के कारण वे कहते हैं कि इससे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है।"

सामान्य रूप से लोग वैदिक अनुष्ठानों में बताये सकाम कर्मों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं। राजा बर्हिष्मान् की तरह बड़े-बड़े यज्ञ सम्पन्न करके मनुष्य स्वर्ग लोक जाने की अकांक्षा करता है। श्रीनारद मुनि राजा बर्हिष्मान् को ऐसे सकाम कर्मों से विमुख करना चाह रहे थे। अत: अब वे प्रत्यक्ष उससे कह रहे हैं, "तुम ऐसे क्षणिक लाभों में रुचि मत दिखलाओ।" आधुनिक सभ्यता में लोग वैज्ञानिक विधियों से प्रकृति के साधनों का दोहन करना चाहते हैं। असल में इसे ही प्रगति समझा जाने लगा है। किन्तु वास्तव में यह प्रगति नहीं, केवल सुनने में सुखद लगती है। भले ही ऐसी कृत्रिम विधियों से हम प्रगति कर रहे हों, किन्तु हम अपने असली उद्देश्य को भूलते जा रहे हैं। इसीलिए भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं—*जड-विद्या यत मायार वैभव तोमार भजने बाधा*—"भौतिकवादी विद्या मात्र माया की चमक-दमक है, क्योंकि इससे आध्यात्मिक प्रगति में बाधा पहुँचती है।"

इस लोक में या अन्य लोकों में अनुभव किये जाने वाले जीवन के क्षणिक सुखों को मोह समझना चाहिए, क्योंकि वे जीवन के वास्तविक प्रयोजन का स्पर्श भी नहीं करते। जीवन का वास्तविक प्रयोजन तो भगवान् के धाम वापस जाना है। जीवन के वास्तविक प्रयोजन से अनजान रहकर लोग या तो स्थूल भौतिक कार्यों या फिर अनुष्ठानों में प्रवृत्त होते हैं। यहाँ पर राजा बर्हिष्मान् से अनुरोध किया गया है कि वह ऐसे कार्यों में लिप्त न हो। वेदों का कथन है कि जीवन का वास्तविक प्रयोजन यज्ञ करना है। भारतीय जन समुदाय का एक अंश, जिसे आर्यसमाजी कहा जाता है, वेदों के इस यज्ञ सम्बन्धी भाग पर अत्यधिक बल देता है। किन्तु यह श्लोक इंगित करता है कि ऐसे यज्ञों को भ्रामक समझना चाहिए। वस्तुत: मानव जीवन का उद्देश्य ईश्वर-साक्षात्कार या कृष्णभक्ति होना चाहिए। निस्सन्देह, वैदिक अनुष्ठान अत्यन्त चमकदार हैं और सुनने में मधुर लगते हैं, किन्तु उनसे जीवन-उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती।

स्वं लोकं न विदुस्ते वै यत्र देवो जनार्दनः ।
आहुर्धूम्रधियो वेदं सकर्मकमतद्विदः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

स्वम्—अपना, निजी; लोकम्—घर को; न—कभी नहीं; विदुः—जानते हैं; ते—ऐसे व्यक्ति; वै—निश्चय ही; यत्र—जहाँ; देवः—भगवान्; जनार्दनः—कृष्ण या विष्णु; आहुः—कहते हैं; धूम्र-धियः—अल्पज्ञानी व्यक्ति; वेदम्—चारों वेद; स-कर्मकम्—अनुष्ठानों से पूर्ण; अ-तत्-विदः—ऐसे व्यक्ति जिन्हें ज्ञान नहीं है।

अल्पज्ञानी मनुष्य वैदिक अनुष्ठानों को ही सब कुछ मान बैठते हैं। उन्हें यह ज्ञान नहीं है कि वेदों का प्रयोजन अपने निजी धाम (घर) को जानना है जहाँ भगवान् निवास करते हैं। अपने असली धाम में रुचि न रखकर वे मोहग्रस्त होकर, अन्य धामों की खोज करते रहते हैं।

तात्पर्य : सामान्यतः लोग अपने इस जीवन-स्वार्थ से कि भगवान् के धाम वापस जाना है, अपरिचित होते हैं। वे आध्यात्मिक जगत में अपने असली धाम को नहीं जानते। आध्यात्मिक जगत में अनेक वैकुण्ठलोक हैं और सर्वोच्च लोक तो कृष्णलोक या गोलोक वृन्दावन है। सभ्यता की तथाकथित प्रगति के बावजूद लोगों को वैकुण्ठ लोकों की कोई जानकारी नहीं है। इस समय तथाकथित सभ्य लोग अन्य ग्रहों (लोकों) को जाने का प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु वे यह नहीं जानते कि यदि वे सर्वोच्च लोक, ब्रह्मलोक चले भी जाँय तो उन्हें पुनः इस लोक में आना होगा। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (८.१६) में इस प्रकार हुई है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

“हे अर्जुन इस भौतिक जगत में सर्वोच्च लोक से लेकर सबसे निम्न लोक तक के सभी लोक क्लेश के स्थान हैं, जहाँ बारम्बार जन्म-मृत्यु होते रहते हैं। किन्तु हे कुन्तीपुत्र! जो मेरे धाम को प्राप्त कर लेता है, वह पुनः जन्म नहीं लेता।”

यदि कोई इस ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोक तक पहुँच भी जाता है, तो पुण्यकर्मों के क्षीण हो जाने पर उसे वापस लौटना पड़ता है। अन्तरिक्ष-यान आकाश में भले ही अत्यधिक ऊँचाई प्राप्त कर लें, किन्तु ज्योंही उनका ईंधन समाप्त हो जाता है उन्हें पृथ्वी लोक पर लौट आना पड़ता है। ये सारे कार्य मोहवश सम्पन्न किये जाते हैं। असली प्रयास अब भगवान् के धाम वापस जाने का होना चाहिए। यह विधि *भगवद्गीता* में वर्णित है। *यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्*—जो लोग भगवान् की भक्ति करते हैं, वे

भगवान् के धाम को वापस जाते हैं। मनुष्य-जीवन अत्यन्त मूल्यवान है; अतः मनुष्य को चाहिए कि अन्य लोकों की खोज में इस जीवन को व्यर्थ न गँवाए। उसे इतना बुद्धिमान होना चाहिए कि वह भगवान् के धाम वापस जा सके। उसे आध्यात्मिक वैकुण्ठलोकों के विषय में और विशेष रूप से गोलोक वृन्दावन नामक लोक के विषय में जानने के लिए उत्सुक होना चाहिए और भक्ति जैसी सरल विधि से, जो श्रवण करने से प्रारम्भ होती है (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*), वहाँ पहुँचने की कला सीखनी चाहिए। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* (१२.३.५१) में भी हुई है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥

केवल हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करने से मनुष्य परम लोक को जा सकता है (*परं व्रजेत्*)। यह इस युग के लोगों पर विशेष रूप से लागू होता है (*कलेर्दोषनिधे*)। इस युग का विशेष लाभ यह है कि केवल हरे कृष्ण महामंत्र का जप करके मनुष्य समस्त भौतिक कल्मष से शुद्ध होकर घर को अर्थात् भगवान् के धाम वापस जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

आस्तीर्य दर्भैः प्रागग्रैः कार्त्स्न्येन क्षितिमण्डलम्
स्तब्धो बृहद्वधान्मानी कर्म नावैषि यत्परम् ।
तत्कर्म हरितोषं यत्सा विद्या तन्मतिर्यया ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

आस्तीर्य—आच्छादित करके; दर्भैः—कुशा से; प्राक्-अग्रैः—पूर्व की ओर मुख किये; कार्त्स्न्येन—सम्पूर्ण; क्षिति-मण्डलम्—संसार भर में; स्तब्धः—गर्वीली शुरुआत; बृहत्—अत्यधिक, महान्; वधात्—बध के द्वारा; मानी—अपने को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझने वाला, अभिमानी; कर्म—कर्म; न अवैषि—नहीं जानते हो; यत्—जो; परम्—परम; तत्—उस; कर्म—कर्म; हरि-तोषम्—भगवान् को प्रसन्न करना; यत्—जो; सा—वह; विद्या—शिक्षा; तत्—भगवान् को; मतिः—चेतना; यया—जिससे।

हे राजन्, सारा संसार कुशों के तीखे अग्र भाग से ढका है और इस कारण तुम्हें अभिमान हो गया है क्योंकि तुमने यज्ञों में अनेक प्रकार के पशुओं का वध किया है। अपनी मूर्खतावश तुम्हें यह ज्ञात नहीं है कि भगवान् को प्रसन्न करने का एकमात्र उपाय भक्ति है। तुम इस तथ्य को नहीं समझ सकते। तुम्हें वे ही कार्य करने चाहिए जिनसे भगवान् प्रसन्न हों। हमारी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि हम कृष्णचेतना के स्तर तक ऊपर उठ सकें।

तात्पर्य : इस श्लोक में नारद मुनि राजा की प्रत्यक्ष भर्त्सना करते हैं, क्योंकि वह ऐसे यज्ञों के

करने में व्यस्त था जिनमें अनेक पशुओं का वध होता था। राजा सोच रहा था कि अनेक यज्ञों को सम्पन्न कर लेने के कारण वह महान् है, किन्तु नारद मुनि उसकी प्रत्यक्ष भर्त्सना करते हैं कि पशु-वध के कारण ही उसे झूठा गर्व है। वास्तव में कोई भी ऐसा कार्य, जो कृष्णचेतना तक नहीं ले जाता, पापकर्म है और ऐसी शिक्षा, जो कृष्ण को समझने में सहायक नहीं होती, झूठी है। यदि कृष्णचेतना का अभाव हो तो मनुष्य केवल मिथ्या कर्मों तथा झूठी शिक्षा में लगा रहता है।

हरिर्देहभृतामात्मा स्वयं प्रकृतिरीश्वरः ।
तत्पादमूलं शरणं यतः क्षेमो नृणामिह ॥५०॥

शब्दार्थ

हरिः—श्रीहरि; देह-भृताम्—देहधारी जीवों का; आत्मा—परमात्मा; स्वयम्—स्वयं; प्रकृतिः—भौतिक प्रकृति; ईश्वरः—नियामक; तत्—उसका; पाद-मूलम्—पाँव; शरणम्—शरण; यतः—जिससे; क्षेमः—सौभाग्य; नृणाम्—मनुष्यों का; इह—इस संसार में।

भगवान् श्रीहरि इस संसार के समस्त देहधारी जीवों के परमात्मा तथा प्रदर्शक हैं। वे प्रकृति के समस्त भौतिक कार्यों के परम नियामक हैं। वे हमारे श्रेष्ठ सखा भी हैं, अतः प्रत्येक व्यक्ति को उनके चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए। ऐसा करने से जीवन कल्याणमय हो जाएगा।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१८.६१) में कहा गया है—*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*—हे अर्जुन! परमेश्वर हर एक के हृदय में स्थित है। जीवात्मा शरीर के भीतर है और परमात्मा भी वहीं है। वह अन्तर्यामी तथा चैत्य गुरु कहलाता है। जैसाकि भगवान् श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहते हैं, वे हर एक वस्तु का नियंत्रण करते हैं—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

"मैं सब प्राणियों के हृदय में बैठा हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न हैं।"

हर प्राणी शरीर के भीतर स्थित परमात्मा द्वारा निर्देशित है, अतः अच्छा यही हो कि उनका आदेश ग्रहण करके सुखी रहा जाये। उनका आदेश प्राप्त करने के लिए भक्त होना आवश्यक है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१०.१०) में भी हुई है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

"जो भक्तिपरायण हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि देता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।"

यद्यपि परमात्मा प्रत्येक प्राणी के हृदय में है (*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*) किन्तु वह केवल उन्हीं शुद्ध भक्तों से बात करता है, जो उसकी सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं। *चैतन्य भागवत* (अन्त्य ३.४५) में कहा गया है—

ताहारे से बलि विद्या, मन्त्र, अध्ययन।

कृष्ण-पाद-पद्मे ये करये स्थिर मन॥

"जिसने कृष्ण के पादपद्मों में अपना मन स्थिर कर दिया है, समझो कि उसने श्रेष्ठ विद्या प्राप्त कर ली है और सारे वेदों का अध्ययन कर लिया है।" *चैतन्य भागवत* के अन्य उद्धरण भी अत्यन्त उपयुक्त हैं। यथा—

सेइ से विद्यार फल जानिह निश्चय।

कृष्ण-पाद-पद्मे यदि चित्तवृत्ति रय॥

"शिक्षा का उत्तम फल है कि अपने मन को कृष्ण के चरणकमल में लगाया जाये" (आदि १३.१७८)।

'दिग्विजय करिब,'—विद्यार कार्य नहे।

ईश्वरे भजिले, सेइ विद्या 'सत्य' कहे॥

"भौतिक शिक्षा (विद्या) द्वारा संसार को जीत लेना वांछनीय नहीं है। यदि मनुष्य अपने को भक्ति में लगाता है, तो उसकी शिक्षा सार्थक है" (आदि १३.१७३)।

पडे केने लोक—कृष्णभक्ति जानिबारे।

से यदि नहिल, तबे विद्याय कि करे॥

"शिक्षा का उद्देश्य श्रीकृष्ण तथा उनकी भक्ति को समझना है। यदि कोई ऐसा नहीं करता तो उसकी शिक्षा झूठी है" (आदि १२.४९)।

ताहारे से बलि धर्म, कर्म सदाचार।

ईश्वरे से प्रीति जन्मे सम्मत सबार॥

"सुसंस्कृत, शिक्षित, सक्रिय तथा धार्मिक होने का अर्थ है कृष्ण के लिए स्वाभाविक प्रेम विकसित करना" (अन्त्य ३.४४)। प्रत्येक व्यक्ति कृष्ण के लिए प्रच्छन्न प्रेम रखता है और उसे संस्कृति तथा शिक्षा द्वारा जाग्रत करना होता है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का यही उद्देश्य है। एक बार भगवान् चैतन्य ने श्रीरामानन्द राय से पूछा कि शिक्षा का श्रेष्ठ अंग क्या है, तो उन्होंने उत्तर दिया कि कृष्णचेतना में प्रगति।

स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमण्वपि ।
इति वेद स वै विद्वान्यो विद्वान्स गुरुर्हरिः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निश्चय ही; प्रिय-तमः—अत्यन्त प्रिय; च—भी; आत्मा—परमात्मा; यतः—जिससे; न—कभी नहीं; भयम्—डर; अणु—सूक्ष्म; अपि—भी; इति—इस प्रकार; वेद—(जो) जानता है; सः—वह; वै—निश्चय ही; विद्वान्—शिक्षित; यः—जो; विद्वान्—शिक्षित; सः—वह; गुरुः—गुरु; हरिः—भगवान् से अभिन्न।

जो भक्ति में लगा हुआ है, वह इस संसार से रंचमात्र भी नहीं डरता। इसका कारण यह है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् परम आत्मा हैं और सबके मित्र हैं। जो इस रहस्य को जानता है, वही वास्तव में शिक्षित है और ऐसा शिक्षित व्यक्ति ही संसार का गुरु हो सकता है। जो वस्तुतः प्रामाणिक गुरु अर्थात् कृष्ण का प्रतिनिधि है, वह कृष्ण से अभिन्न होता है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*साक्षाद्-धरित्वेन समस्त शास्त्रै-रुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्भिः।* हर शास्त्र में गुरु को परमेश्वर का प्रतिनिधि कहा गया है। गुरु को भगवान् से अभिन्न समझा जाता है, क्योंकि वह भगवान् का परम विश्वासपात्र दास होता है (*किन्तु प्रभोर्यः प्रिय एव तस्य*)। तात्पर्य यह कि परमात्मा तथा आत्मा एक दूसरे को परमप्रिय हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने आपसे प्यार करता है, किन्तु जब वह आगे बढ़ जाता है, तो वह परमात्मा को भी प्यार करने लगता है। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी की पूजा करने की संस्तुति नहीं करता। वह जानता है कि काम तथा भौतिक सुख से प्रभावित होकर देवताओं की पूजा करने की अपेक्षा भगवान् की पूजा करना सरल है, अतः भक्त सदैव भगवान् की प्रेमाभक्ति में संलग्न रहता है। ऐसा व्यक्ति वास्तविक गुरु है। *पद्मपुराण* में कहा गया है—

षट्कर्मनिपुणो विप्रो मन्त्रतन्त्रविशारदः ।
अवैष्णवो गुरुर्न स्याद् वैष्णवः श्वपचो गुरुः ॥

"भले ही ब्राह्मण शास्त्रों में निपुण हो और ब्राह्मण के षड्कर्मों को जानता हो, किन्तु वह तब तक गुरु नहीं हो सकता जब तक भगवान् का भक्त न हो। किन्तु यदि कोई चाण्डाल के परिवार में उत्पन्न होकर भगवान् का शुद्ध भक्त है, तो वह गुरु बन सकता है।" निष्कर्ष यह निकला कि जब तक कोई भगवान् का शुद्ध भक्त नहीं होता, वह गुरु नहीं बन सकता। जो भक्ति के उपर्युक्त विवरण के अनुसार गुरु होता है उसको यह समझना चाहिए कि वह साक्षात् भगवान् के रूप में उपस्थित है। यहाँ पर प्रयुक्त शब्दों (*गुरुर्हरिः*) के अनुसार प्रामाणिक गुरु से परामर्श करने का अर्थ है साक्षात् भगवान् से परामर्श करना। अतः मनुष्य को ऐसे प्रामाणिक गुरु की शरण लेनी चाहिए। जीवन की सफलता का अर्थ है ऐसा गुरु बनाना जो कृष्ण को एकमात्र परम प्रिय व्यक्ति मानता है। मनुष्य को भगवान् के ऐसे विश्वस्त भक्त की पूजा करनी चाहिए।

नारद उवाच
प्रश्न एवं हि सञ्छिन्नो भवतः पुरुषर्षभ ।
अत्र मे वदतो गुह्यं निशामय सुनिश्चितम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; प्रश्नः—प्रश्न; एवम्—इस प्रकार; हि—निश्चय ही; सञ्छिन्नः—उत्तरित; भवतः—तुम्हारा; पुरुष-ऋषभ—हे श्रेष्ठ पुरुष; अत्र—यहाँ; मे वदतः—मैं जिस तरह कह रहा हूँ; गुह्यम्—रहस्यपूर्ण, गुप्त; निशामय—सुनो; सु-निश्चितम्—भली-भाँति निश्चित किया।

महर्षि नारद ऋषि ने आगे कहा : हे महापुरुष, तुमने जो कुछ मुझसे पूछा है मैंने उसका समुचित उत्तर दे दिया है। अब एक अन्य आख्यान सुनो जो साधु पुरुषों द्वारा स्वीकृत है और अत्यन्त गुह्य है।

तात्पर्य : श्रीनारद मुनि स्वयं ही राजा बर्हिष्मान् के गुरु का कार्य कर रहे हैं। नारद की यह आन्तरिक इच्छा थी कि राजा उनके उपदेशों से तुरन्त सभी कर्मकाण्ड बन्द कर दे और भक्ति करने लगे। किन्तु सब कुछ समझते हुए भी राजा अपने कार्यों को बन्द करने के लिए तैयार न था। जैसाकि अगले श्लोकों से स्पष्ट हो जाएगा, राजा अपने पुत्रों को बुलाने वाला था, जो तपस्या करने के लिए घर से दूर गये हुए थे। उनके लौटने पर वह उन्हें राज्य सौंपकर घर छोड़ कर बाहर जाना चाहता था। अनेक लोगों के साथ ऐसा ही होता है। वे प्रामाणिक गुरु बनाकर उसकी बातें सुनते हैं, किन्तु जब गुरु कहता है कि घर छोड़कर भक्ति करो तो वे हिचकिचाते हैं। गुरु का यह कर्तव्य है कि शिष्य को तब

तक उपदेश देता रहे जब तक उसकी समझ में न आ जाये कि यह भौतिकतावादी जीवन-शैली, अर्थात् कर्मकाण्ड तनिक भी लाभप्रद नहीं है। वास्तव में मनुष्य को प्रारम्भ से ही भक्ति करनी चाहिए जैसाकि प्रह्लाद महाराज ने उपदेश दिया है—*कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह* (भागवत ७.६.१)। वेदों के सभी आदेशों के अनुसार हमें समझ लेना चाहिए जब तक हम कृष्णचेतना तथा भक्ति ग्रहण नहीं करते हम इस संसार में भौतिक कर्मों में अपना समय व्यर्थ गँवाते रहते हैं। इसलिए नारद मुनि ने एक अन्य वृत्तान्त सुनाने का निश्चय किया जिससे राजा गृहस्थी को त्याग सके।

क्षुद्रं चरं सुमनसां शरणे मिथित्वा
रक्तं षडङ्घ्रिगणसामसु लुब्धकर्णम् ।
अग्रे वृकानसुतृपोऽविगणय्य यान्तं
पृष्ठे मृगं मृगय लुब्धकबाणभिन्नम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

क्षुद्रम्—घास; चरम्—चरते हुए; सुमनसाम्—सुन्दर फूलों के उद्यान की; शरणे—रक्षा में; मिथित्वा—मैथुन करते हुए; रक्तम्—अनुरक्त; षट्-अङ्घ्रि—षट्पद या भौंरों का; गण—समूह; सामसु—गाने के प्रति; लुब्ध-कर्णम्—जिसके कान आकृष्ट हैं; अग्रे—सामने; वृकान्—भेड़िये; असु-तृपः—दूसरों को खाकर जीने वाले; अविगणय्य—अपेक्षा करके; यान्तम्—जाते हुए; पृष्ठे—पीछे; मृगम्—हिरन को; मृगय—ढूँढो; लुब्धक—शिकारी के; बाण—बाणों से; भिन्नम्—बेधे जाने वाला।

हे राजा, उस हिरन की खोज करो जो एक सुन्दर उद्यान में अपनी हिरनी के साथ घास चरने में मस्त है। वह हिरन अपने कार्य (चरने) में अत्यधिक अनुरक्त है और उस उद्यान के भौरों के मधुर गुंजार का आनन्द ले रहा है। उसकी स्थिति को समझने का प्रयास करो। उसे इसका पता ही नहीं कि उसके सामने भेड़िया है, जो अन्यों के मांस को खाकर अपना पेट पालन करने का आदी है। हिरन के पीछे शिकारी है, जो उसे तीक्ष्ण बाणों से बेधने के लिए तैयार है। इस प्रकार हिरन की मृत्यु निश्चित है।

तात्पर्य : यहाँ एक रूपक (अन्योक्ति) है, जिसमें राजा से सदा भयानक स्थिति में रह रहे हिरन को ढूँढ निकालने के लिए कहा जाता है। यद्यपि वह चारों ओर से संकट से घिरा है, किन्तु वह सुन्दर उद्यान में घास चरता रहता है और चारों ओर के संकट से बेसुध है। सभी जीव, विशेष रूप से मनुष्य अपने को परिवार के बीच अत्यन्त सुखी मानते हैं, मानो किसी उद्यान में भौंरों की मधुर गुंजार सुनते हुए प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवार की शोभा अपनी पत्नी में केन्द्रित माने। भौंरों की गुंजार की तुलना बच्चों की बोली से की जा सकती है। मनुष्य हिरन के ही समान यह जाने बिना कि उसके समक्ष

काल-रूपी भेड़िया खड़ा है, अपने परिवार का भोग करता रहता है। जीव के सकाम कर्म उसके लिए एक अन्य घातक स्थिति उत्पन्न करते रहते हैं और उसे विभिन्न देह धारण करने के लिए बाध्य करते हैं। हिरन के लिए मरुस्थल में मृगतृष्णा के पीछे दौड़ना कोई असामान्य घटना नहीं है। हिरन भी अत्यन्त कामी होता है। निष्कर्ष यह है कि जो हिरन की तरह रहता है, वह कालान्तर में मृत्यु का शिकार होता है। इसीलिए वैदिक साहित्य की सलाह है कि हम अपनी स्वाभाविक स्थिति को समझें और मृत्यु आने के पहले ही भक्ति करें। *भागवत* के अनुसार (११.९.२९)—

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते

मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।

तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्

निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥

अनेक जन्मों के पश्चात् हमें यह मनुष्य देह मिलती है, अतः मृत्यु आने के पूर्व हमें भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करनी चाहिए। मानव जीवन की यही पूर्णता है।

सुमनःसमधर्मणां स्त्रीणां शरण आश्रमे पुष्पमधुगन्धवत्क्षुद्रतमं काम्यकर्मविपाकजं कामसुखलवं जैह्व्यौपस्थ्यादि विचिन्वन्तं मिथुनीभूय तदभिनिवेशितमनसं षडङ्घ्रिगणसामगीतवदतिमनोहरवनितादिजनालापेष्वतितरामतिप्रलोभितकर्णमग्रे वृकयूथवदात्मन।आयुर्हरतोऽहोरात्रान्तान्काललवविशेषानविगणय्य गृहेषु विहरन्तं पृष्ठत एव परोक्षमनुप्रवृत्तो लुब्धकः कृतान्तोऽन्तः शरेण यमिह पराविध्यति तमिममात्मानमहो राजन्भिन्नहृदयं द्रष्टुमर्हसीति ॥ ५४॥

शब्दार्थ

सुमनः—फूल; सम-धर्मणाम्—समानधर्मा, हूबहू; स्त्रीणाम्—स्त्रियों की; शरणे—शरण में; आश्रमे—गृहस्थ जीवन; पुष्प—फूलों में; मधु—शहद की; गन्ध—सुगन्ध; वत्—सदृश; क्षुद्र-तमम्—अत्यन्त क्षुद्र, नगण्य; काम्य—इच्छित; कर्म—कर्मों का; विपाक-जम्—के फलस्वरूप प्राप्त; काम-सुख—इन्द्रियतृप्ति का; लवम्—एक खंड; जैह्व्य—जिह्वा सुख; औपस्थ्य—संभोग सुख; आदि—इत्यादि; विचिन्वन्तम्—सदैव चिन्तन करते हुए; मिथुनी-भूय—संभोगरत; तत्—अपनी पत्नी के साथ; अभिनिवेशित—सदैव मग्न; मनसम्—जिसका मन; षट्-अङ्घ्रि—भौंरों का; गण—समूह; साम—मधुर; गीत—गुंजार; वत्—सदृश; अति—अत्यन्त; मनोहर—आकर्षक; वनिता-आदि—पत्नी इत्यादि; जन—लोगों का; आलापेषु—बातों में; अतितराम्—अत्यधिक; अति—अधिक; प्रलोभित—आसक्त; कर्णम्—जिसके कान; अग्रे—आगे; वृक-यूथ—भेड़ियों का झुंड; वत्—सदृश; आत्मनः—अपने आप का; आयुः—उम्र; हरतः—हरण करते हुए; अहः-रात्रान्—दिन तथा रातें; तान्—वे सब; काल-लव-विशेषान्—समय के क्षण; अविगणय्य—बिना विचारे; गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; विहरन्तम्—भोगते या विहार करते; पृष्ठतः—पीछे से; एव—निश्चय ही; परोक्षम्—अदृश्य रूप से; अनुप्रवृत्तः—पीछा करते हुए; लुब्धकः—शिकारी; कृत-अन्तः—यमराज; अन्तः—हृदय में; शरेण—बाण से; यम्—जिसको; इह—इस संसार में; पराविध्यति—बेधता है; तम्—उस; इमम्—यह; आत्मानम्—अपने आप, स्वतः; अहो राजन्—हे राजा; भिन्न-हृदयम्—बिंधे हुए हृदय वाला; द्रष्टुम्—देखने के लिए; अर्हसि—तुम्हें चाहिए; इति—इस प्रकार।

हे राजन्, स्त्री उस पुष्प के समान है, जो प्रारम्भ में अत्यन्त आकर्षक एवं अन्त में अत्यन्त

घृणा योग्य हो जाता है। जीव कामेच्छाओं के कारण स्त्री के साथ फँसता है और वह उसी प्रकार संभोग-सुख प्राप्त करता है, जिस प्रकार फूलों की सुगन्ध का भोग किया जाता है। इस प्रकार वह जिह्वा से लेकर शिश्न तक इन्द्रियतृप्ति का जीवन बिताता है और इस प्रकार जीव अपने को गृहस्थ जीवन में अत्यन्त सुखी मानता है। अपनी स्त्री के साथ रहते हुए वह सदैव ऐसे विचारों में मग्न रहता है। वह अपनी पत्नी तथा बच्चों की बातें सुनने में आनन्द का अनुभव करता है। ये उन भौंरों की मधुर गुंजार के तुल्य होती हैं, जो प्रत्येक फूल से मधु एकत्र करते रहते हैं। वह भूल जाता है कि उसके समक्ष काल खड़ा है, जो दिन-रात के बीतने के साथ ही उसकी आयु का हरण करता जा रहा है। उसे न तो धीरे-धीरे हो रही अपनी आयु-क्षय दिखती है और न उसे यमराज की ही परवाह रहती है, जो पीछे से उसे मारने का प्रयत्न करते रहते हैं। तुम इसे समझने का प्रयास करो। तुम अत्यन्त शोचनीय स्थिति में हो और चारों ओर से संकट से घिरे हो।

तात्पर्य : भौतिक जीवन का अर्थ है भगवान् कृष्ण के दास के रूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति को भूलना और यह विस्मरण गृहस्थाश्रम में विशेष रूप से बढ़ जाता है। गृहस्थ आश्रम में युवक किसी युवा सुन्दरी स्त्री को पत्नी रूप में स्वीकार करता है, किन्तु कालान्तर में, अनेक बच्चों को जन्म देने तथा वृद्ध होते जाने पर पत्नी परिवार के भरणपोषण के लिए अनेक वस्तुओं की माँग करती है। उस समय पत्नी उसी व्यक्ति को, जिसने उसे युवावस्था में स्वीकार किया था, घृणित लगने लगती है। कोई भी मनुष्य दो कारणों से गृहस्थ आश्रम को स्वीकार करता है—पत्नी पति की रुचि के अनुकूल स्वादिष्ट व्यंजन तैयार करती है और रात्रि में वह उसे काम-सुख प्रदान करती है। गृहस्थ आश्रम में आसक्त व्यक्ति सदैव इन्हीं दो बातों का चिन्तन करता रहता है—स्वादिष्ट भोजन तथा काम-सुख। पत्नी की बातें, परिवार का विनोद करने वाली होती हैं तथा बच्चों की बातें जीव को आकृष्ट करती हैं। इस प्रकार वह यह भूल जाता है कि उसे एक दिन मरना है और अनुकूल शरीर में प्रवेश पाने के लिए अगले जीवन की तैयारी करनी है।

उद्यान में स्थित हिरन अन्योक्ति के रूप में प्रयुक्त है, जिससे नारद मुनि राजा को बताना चाहते हैं कि राजा स्वयं इसी प्रकार की परिस्थितियों से घिरा है। वास्तव में प्रत्येक प्राणी की ऐसी ही पारिवारिक स्थिति है, जो उसे पथभ्रष्ट कर देती है। इस प्रकार जीव इसे भूल जाता है कि उसे भगवान्

के धाम वापस जाना है। वह केवल पारिवारिक जीवन में उलझा रहता है। इसीलिए प्रह्लाद महाराज ने इंगित किया है—*हित्वात्मपातं गृहम् अन्धकूपं वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत।* गृहस्थ-जीवन अन्धकूप के सदृश है, जिसमें गिरकर मनुष्य असहाय होकर मर जाता है। प्रह्लाद महाराज बताते हैं कि इन्द्रियों के ठीक रहते तथा बलवान रहते हुए मनुष्य को गृहस्थाश्रम त्याग देना चाहिए और वृन्दावन जाकर भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर लेनी चाहिए। वैदिक सभ्यता के अनुसार मनुष्य को एक आयु विशेष में (पचास वर्ष पर) वानप्रस्थ ग्रहण करके अन्त में संन्यासी रूप में अकेले रहना चाहिए। यही वैदिक सभ्यता की संस्तुत विधि है, जिसे वर्णाश्रम धर्म कहते हैं। जब गृहस्थ जीवन को भोग कर कोई संन्यास ग्रहण करता है, तो भगवान् विष्णु को प्रसन्न कर लेता हैं।

मनुष्य को अपने परिवार या सांसारिक जीवन में अपनी स्थिति को समझना चाहिए। इसीको बुद्धिमत्ता कहते हैं। उसे अपनी जीभ के स्वाद को पूरा करने तथा पत्नी के साथ सम्भोग करने में ही नहीं फँसे रहना चाहिए। ऐसा करने पर मनुष्य अपने जीवन को व्यर्थ गँवाता है। वैदिक सभ्यता के अनुसार मनुष्य को एक अवस्था विशेष में परिवार को त्यागना ही पड़ता है, यदि आवश्यक हुआ तो बल का प्रयोग भी करना पड़ता। दुर्भाग्यवश वैदिक जीवन के तथाकथित अनुयायी जीवन के अन्तकाल तक भी अपना परिवार नहीं त्यागते, जब तक मृत्यु उसे विवश नहीं कर देती। सामाजिक प्रणाली में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है और समाज को चार वर्णों तथा चार आश्रमों वाले वैदिक सिद्धान्तों को फिर से अपनाना चाहिए।

स त्वं विचक्ष्य मृगचेष्टितमात्मनोऽन्त-
श्चित्तं नियच्छ हृदि कर्णधुनीं च चित्ते ।
जह्यङ्गनाश्रममसत्तमयूथगाथं
प्रीणीहि हंसशरणं विरम क्रमेण ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

सः—वही पुरुष; त्वम्—तुम; विचक्ष्य—विचार करके; मृग-चेष्टितम्—हिरन के कार्य; आत्मनः—स्वयं के; अन्तः—भीतरी; चित्तम्—चेतना; नियच्छ—स्थिर करो; हृदि—हृदय में; कर्ण-धुनीम्—कर्णेन्द्रिय; च—तथा; चित्ते—चेतना को; जहि—छोड़ दो; अङ्गना-आश्रमम्—गृहस्थ जीवन; असत्-तम—अत्यन्त घृणित; यूथ-गाथम्—नर तथा नारी की गाथाओं से पूर्ण; प्रीणीहि—स्वीकार करो; हंस-शरणम्—मुक्त जीवों की शरण; विरम—विरक्त बनो; क्रमेण—क्रमशः।.

हे राजन्, तुम हिरन की अन्योक्ति की स्थिति को समझने का प्रयास करो। तुम अपने प्रति पूर्ण सचेत रहो और कर्म के द्वारा स्वर्गलोक जाने के श्रवण-सुख को त्याग दो। गृहस्थ जीवन

त्याग दो, क्योंकि वह विषयभोगों से तथा ऐसी वस्तुओं की कथाओं से पूर्ण है। तुम मुक्त पुरुषों की कृपा से भगवान् की शरण ग्रहण करो। इस प्रकार से इस संसार के प्रति अपनी आसक्ति का त्याग करो।

तात्पर्य : श्रील नरोत्तमदास ठाकुर अपने एक गीत में लिखते हैं—

कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, केवल विषेर भाण्ड

अमृत बलिया येबा खाय

नाना योनि सदा फिरे, कदर्य भक्षण करे,

तार जन्म अध:पाते याय

''कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड विष के प्यालों के तुल्य हैं। जो भी इनको अमृत समझ कर पीता है उसे जन्म-जन्मांतर विभिन्न प्रकार की देहों में कठिन संघर्ष करना पड़ता है। ऐसा व्यक्ति सभी प्रकार के व्यर्थ पदार्थ खाता है और तथाकथित इन्द्रियसुख के कार्यों के कारण तिरस्कृत हो जाता है।''

सामान्यत: लोग सांसारिक कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के कर्मफलों के प्रति आकृष्ट होते हैं। वे स्वर्गलोक जाने की अभिलाषा, ब्रह्म में तादात्म्य अथवा जीभ तथा जननेन्द्रियों के आनन्द से मुग्ध होकर पारिवारिक जीवन में ही बने रहना चाहते हैं। नारद मुनि राजा बर्हिष्मान् को स्पष्ट उपदेश देते हैं कि वह सम्पूर्ण जीवन गृहस्थाश्रम में न व्यतीत करे। गृहस्थ आश्रम में रहने का अर्थ है अपनी पत्नी के वश में होना। मनुष्य को यह सब त्याग कर परमहंस आश्रम में जाना चाहिए, अर्थात् अपने आप को गुरु के अधीन कर देना चाहिए। परमहंस आश्रम भगवान् का आश्रम है, जहां गुरु ने शरण ले रखी है। *श्रीमद्भागवत* (११.३.२१) में प्रामाणिक गुरु के लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासु: श्रेय उत्तमम्।

शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥

''जो व्यक्ति वास्तविक सुख प्राप्त करने का इच्छुक हो, उसे प्रामाणिक गुरु की खोज करनी चाहिए और दीक्षा के द्वारा उसकी शरण ग्रहण करनी चाहिए। गुरु की योग्यता यह है कि उसे शास्त्रार्थ और विचार-विमर्श द्वारा अर्जित शास्त्रों के निर्णय का ज्ञान हो और वह इन निष्कर्षों को आश्वस्त कर सके। ऐसे महापुरुष, जिन्होंने सारी सांसारिकता को त्याग कर भगवान् की शरण ग्रहण कर ली है,

उनको प्रामाणिक गुरु मानना चाहिए।''

परमहंस वह है, जिसने परब्रह्म अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण ग्रहण कर ली हो। यदि कोई ऐसे परमहंस गुरु की शरण ग्रहण करता है, तो धीरे-धीरे वह अभ्यास तथा उपदेश से भौतिक जीवन से विरक्त होने लगता है और अन्त में भगवान् के धाम को जाता है। *अङ्गनाश्रममसत्तमयूथगाथं* का विशिष्ट उल्लेख अत्यन्त रोचक है। सारा संसार स्त्री के द्वारा नियंत्रित होने के कारण माया के चंगुल में है। मनुष्य न केवल अपनी स्त्री के वश में हैं, अपितु वह तरह-तरह के संभोग साहित्य से नियंत्रित है। भौतिक जगत में फँसने का यही कारण है। मनुष्य अपने ही प्रयास से इस घृणित संगति को नहीं छोड़ पाता, किन्तु यदि वह परमहंस रूप प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण कर लेता है, तो वह क्रमश: आध्यात्मिक जीवन के पद को प्राप्त कर लेगा।

वेदों के मोहक शब्द, जो मनुष्य को स्वर्गलोक जाने या परब्रह्म में तदाकार होने के लिए प्रेरित करते हैं, अल्पज्ञों के लिए हैं, जिन्हें *भगवद्गीता* में *माययापहतज्ञाना:* (जिनका ज्ञान माया द्वारा हर लिया गया है) कहा गया है। वास्तविक ज्ञान का अर्थ है भौतिक जीवन की कष्टकर अवस्था का बोध। मनुष्य को प्रामाणिक मुक्त पुरुष अर्थात् गुरु की शरण ग्रहण करनी चाहिए और क्रमश: आध्यात्मिक पद तक उठना चाहिए जिससे भौतिक जगत से विरक्त हुआ जा सके। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *हंस शरणम्* का अर्थ है, वह कुटी जिसमें साधु पुरुष रहते हैं। सामान्यत: साधु जंगल में दूरस्थ स्थान पर या साधारण कुटिया में रहता है। लेकिन हमें ध्यान रखना होगा कि समय बदल चुका है। जंगल जाकर कुटिया में रहना भले ही साधु के हित में हो, किन्तु यदि कोई उपदेशक हो जाता है, विशेषकर पाश्चात्य देशों में, तो उसे अनेक तरह के लोगों को आमंत्रित करना पड़ता है, जो सुखद मकानों में रहने के अभ्यस्त होते हैं। अत: इस युग में साधु को लोगों के स्वागतार्थ समुचित प्रबन्ध करना और उन्हें कृष्णचेतना सन्देश के प्रति आकर्षित करना होता है। सम्भवत: श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने पहली बार साधु पुरुषों के रहने के लिए बड़े-बड़े प्रासादों एवं मोटरकारों का प्रचलन किया जिससे बड़े शहरों की जनता आकृष्ट हो सके। मुख्य तथ्य तो यह है कि लोगों को साधुओं की संगति करनी पड़ती है। इस युग में लोग जंगल में जाकर साधु की खोज नहीं करेंगे। उल्टे, साधुओं को बड़े शहरों में आकर ऐसे लोगों से भेंट करने के लिए व्यवस्था करनी होगी जो आधुनिक

भौतिक सुविधाओं के अभ्यस्त हैं। धीरे-धीरे ये लोग समझ सकेंगे कि ऐसे प्रासाद या सुखद मकान तनिक भी आवश्यक नहीं हैं। वास्तविक आवश्यकता है कि जैसे भी हो सके कर्मबन्धन से मुक्त हुआ जाये। श्रील रूप गोस्वामी के आदेशानुसार—

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हम् उपयुञ्जत: ।

निर्बन्ध:कृष्ण सम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते ॥

"जब मनुष्य अनासक्त होता है और इसके साथ ही प्रत्येक वस्तु को कृष्ण के हेतु मानने लगता है, तो उसे वैराग्य से युक्त कहा जाता है" (भक्ति-रसामृत-सिन्धु १.२.२५५)।

मनुष्य को भौतिक ऐश्वर्य में लिप्त नहीं हो जाना चाहिए, किन्तु कृष्णभावनामृत-आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए भौतिक ऐश्वर्य को अपनाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, भौतिक ऐश्वर्य को *युक्तवैराग्य* के रूप में, अर्थात् विरक्ति के लिए स्वीकार किया जा सकता है।

राजोवाच

श्रुतमन्वीक्षितं ब्रह्मन्भगवान्यदभाषत ।

नैतज्जानन्त्युपाध्याया: किं न ब्रूयुर्विदुर्यदि ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने कहा; श्रुतम्—सुना गया; अन्वीक्षितम्—विचार किया गया; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; यत्—जो; अभाषत—तुमने कहा है; न—नहीं; एतत्—यह; जानन्ति—जानते हैं; उपाध्याया:—कर्मकाण्ड के शिक्षक; किम्—क्यों; न ब्रूयु:—उन्होंने शिक्षा नहीं दी; विदु:—वे जानते थे; यदि—अगर।

राजा ने कहा : हे ब्राह्मण, आपने जो कुछ कहा है उसे मैंने अत्यन्त मनोयोग से सुना है और सम्यक् विचार के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि जिन आचार्यों (शिक्षकों) ने मुझे कर्मकाण्ड में प्रवृत्त किया, वे इस गुह्य ज्ञान को नहीं जानते थे। और यदि वे इससे अवगत थे तो फिर उन्होंने मुझे क्यों नहीं बताया?

तात्पर्य : वास्तव में समाज के तथाकथित शिक्षक या अग्रणी लोग जीवन के उद्देश्य को ठीक से नहीं जानते। ऐसे लोगों को *भगवद्गीता* में *माययापहृतज्ञाना:* कहा गया है। वे अत्यन्त विद्वान् प्रतीत होते हैं, किन्तु माया के प्रभाव से उनका ज्ञान हर लिया गया होता है। वास्तविक ज्ञान का अर्थ है कृष्ण की खोज। *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:* सारा ज्ञान श्रीकृष्ण की खोज करने के निमित्त है, क्योंकि श्रीकृष्ण ही प्रत्येक वस्तु के मूल हैं। *जन्माद्यस्य यत:।* *भगवद्गीता* (१०.२) में कृष्ण कहते हैं—*अहमादिर्हि*

देवानां—मैं समस्त देवों का स्रोत हूँ। इस प्रकार श्रीकृष्ण समस्त देवताओं के जिनमें ब्रह्मा, शिव इत्यादि सम्मिलित हैं, मूल तथा आदि स्रोत हैं। वैदिक अनुष्ठान विभिन्न देवताओं को प्रसन्न करने के लिए हैं, किन्तु जब तक कोई प्रगतिमान (विद्वान) नहीं होता वह यह नहीं समझ पाता कि श्रीकृष्ण ही आदि पुरुष है। *गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।* नारद के उपदेशों को सुन कर राजा को चेत हुआ। जीवन का वास्तविक उद्देश्य भगवान् की भक्ति प्राप्त करना है। अत: राजा ने तथाकथित पुरोहिती आदेशों को नकार देने का निश्चय किया, क्योंकि उनमें जीवन के उद्देश्य के विषय में कोई शिक्षा न दी जाकर अनुयायियों को केवल अनुष्ठानों में लगाये रखा जाता है। आज के समय में संसार भर में गिरजाघरों, मन्दिरों तथा मस्जिदों के प्रति लोग आकृष्ट नहीं होते, क्योंकि मूर्ख पुरोहित अपने अनुयायियों को ज्ञान प्रदान नहीं कर पाते। जीवन-उद्देश्य से अपरिचित रहने के कारण वे भक्तों को अंधकार में रखते हैं। फलत: जो सचमुच शिक्षित हैं, वे अनुष्ठानों के प्रति अरुचि रखने लगे हैं, किन्तु साथ ही उन्हें इससे कुछ ज्ञान नहीं प्राप्त हो पाता। अत: समस्त वर्गों के लोगों को जागरुक करने के लिए यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। महाराज बर्हिष्मान् के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का लाभ उठाए और अनेक धर्मों के वेश में चलने वाले रूढ़ीगत अनुष्ठानों का परित्याग करे। गोस्वामी लोग प्रारम्भ से ही उन पुरोहितों से भिन्न थे, जो केवल अनुष्ठानों में लगे रहते थे। दरअसल श्रील सनातन गोस्वामी ने ही वैष्णवों के मार्गदर्शन के लिए *हरि-भक्ति-विलास* का संग्रह किया। वैष्णव लोग पुरोहितों के निर्जीव कार्यों की परवाह न करके पूर्णत: कृष्णभक्ति करते हैं और इसी जीवन में पूर्ण बनते हैं। इसका वर्णन पिछले श्लोक में *परमहंस शरणम्* अर्थात् परमहंस की शरण लेने ओर इस जीवन को सफल बनाने के रूप में हुआ है।

संशयोऽत्र तु मे विप्र सञ्छिन्नस्तत्कृतो महान् ।
ऋषयोऽपि हि मुह्यन्ति यत्र नेन्द्रियवृत्तय: ॥ ५७॥

शब्दार्थ

संशय:—सन्देह; अत्र—यहाँ; तु—लेकिन; मे—मेरा; विप्र—हे ब्राह्मण; सञ्छिन्न:—काट दिया, दूर कर दिया; तत्-कृत:—उससे किया गया; महान्—महान; ऋषय:—ऋषिगण; अपि—भी; हि—निश्चय ही; मुह्यन्ति—मोहग्रस्त हो जाते हैं; यत्र—जहाँ; न—नहीं; इन्द्रिय—इन्द्रियों का; वृत्तय:—कार्यकलाप।

हे ब्राह्मण, आपके आदेशों तथा मुझे कर्मकाण्ड में प्रवृत्त करने वाले मेरे गुरुओं के उपदेशों में विरोधाभास जान पड़ता है। मैं अब भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य के अन्तर को समझ सकता हूँ।

मुझे पहले इनके विषय में कुछ संशय थे, किन्तु आपने कृपा करके इन संशयों को मिटा दिया है। अब मैं समझ सकता हूँ कि बड़े बड़े ऋषि भी जीवन के वास्तविक उद्देश्य के विषय में कैसे मोहग्रस्त होते हैं। निस्सन्देह, इन्द्रियतृप्ति का कोई सवाल ही नहीं उठता।

तात्पर्य : राजा बर्हिष्मान् स्वर्ग प्राप्ति के लिए तरह-तरह के यज्ञ सम्पन्न कर रहा था। लोग सामान्यत: ऐसे कृत्यों के प्रति आकृष्ट होते हैं और विरले ही भक्ति के प्रति कोई आकृष्ट होता हैं। जैसाकि चैतन्य महाप्रभु ने पुष्टि की है। परम भाग्यशाली व्यक्ति ही भक्ति में लगता है। यहाँ तक कि तथाकथित वेद-विद्वान् भी भक्ति के विषय में मोहग्रस्त होते हैं। वे इन्द्रियतृप्ति के लिए सामान्य रूप से अनुष्ठानों के प्रति आकृष्ट होते हैं। भक्ति में इन्द्रियतृप्ति कहाँ! वहाँ तो केवल भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति होती है। अत: इन्द्रियतृप्ति में संलग्न तथाकथित पुरोहित भक्ति को पसन्द नहीं करते। जबसे भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने इस कृष्णभावनामृत-आन्दोलन को प्रारम्भ किया, तभी से ब्राह्मण अथवा पुरोहित इसके विरुद्ध रहे हैं। जब चैतन्य महाप्रभु ने इस आन्दोलन को प्रारम्भ किया, उन्होंने इस्लामी सरकार के न्यायाधीश काजी से शिकायतें कीं। फलत: चैतन्य महाप्रभु को तथाकथित वेदवादियों के इस प्रचार के विरुद्ध अवज्ञा-आन्दोलन चलाना पड़ा। ये लोग *कर्म-जड-स्मार्त* कहे गये हैं, जिसका अर्थ है अनुष्ठानों में संलग्न पुरोहितगण। यहाँ कहा गया है कि ऐसे लोग मोहग्रस्त हो जाता हैं (*ऋषयोऽपि हि मुह्यन्ति*)। ऐसे कर्म-जड़-स्मार्तों *से बचने के लिए मनुष्य को भगवान् के आदेशों का कड़ाई से पालन करना चाहिए।—*

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच: ॥

''समस्त प्रकार के धर्म का परित्याग करो और मेरी शरण में आओ। मैं तुम्हें समस्त पापों से उबार लूँगा। डरो नहीं'' (*भगवद्गीता* १८.६६)।

कर्माण्यारभते येन पुमानिह विहाय तम् ।
अमुत्रान्येन देहेन जुष्टानि स यदश्नुते ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

कर्माणि—सकाम कर्म; आरभते—करना प्रारम्भ करता है; येन—जिससे; पुमान्—जीव; इह—इस जीवन में; विहाय—त्याग कर; तम्—उस; अमुत्र—अगले जीवन में; अन्येन—दूसरे; देहेन—शरीर के द्वारा; जुष्टानि—परिणाम; सः—वह; यत्—जो; अश्नुते—भोगता है।

इस जीवन में जीव जो कुछ भी करता है, उसका फल वह अगले जीवन में भोगता है।

तात्पर्य : मनुष्य प्रायः यह नहीं जानता कि एक शरीर दूसरे से किस प्रकार सम्बद्ध रहता है। यह कैसे सम्भव है कि इस जीवन में किये गये कर्मों का फल वह अगले जीवन में प्राप्त होने वाले शरीर में भोगे? राजा नारद मुनि से इसी प्रश्न का उत्तर चाह रहा है। यह कैसे सम्भव है कि इस जीवन में जिसे मनुष्य शरीर प्राप्त है उसे अगले जीवन में मनुष्य शरीर प्राप्त नहीं होता? यहाँ तक कि बड़े-बड़े वैज्ञानिक तथा दार्शनिक भी एक शरीर से दूसरे शरीर में कर्मों के अन्तरण को नहीं समझ पाते। जैसा हम अनुभव करते हैं, प्रत्येक आत्मा के एक अलग शरीर होता है और प्रत्येक व्यक्ति के कर्म या प्रत्येक शरीर के कर्मों को दूसरे शरीर या व्यक्ति द्वारा नहीं भोगना होता। प्रश्न यह है कि एक शरीर के कर्म अगले जन्म में किस प्रकार भोगे जाते हैं?

इति वेदविदां वादः श्रूयते तत्र तत्र ह ।
कर्म यत्क्रियते प्रोक्तं परोक्षं न प्रकाशते ॥५९॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; वेद-विदाम्—वेदों के ज्ञाता; वादः—कथन; श्रूयते—सुना जाता है; तत्र तत्र—जगह जगह, जहाँ तहाँ; ह—निश्चय ही; कर्म—कर्म; यत्—जो; क्रियते—किया जाता है; प्रोक्तम्—जैसा कहा जा चुका है; परोक्षम्—अज्ञात; न प्रकाशते—प्रत्यक्ष प्रकट नहीं हो पाता।

वेदवादियों का कथन है कि मनुष्य अपने पूर्व कर्मों के फल का भोग करता है। किन्तु व्यावहारिक रूप में यह देखा जाता है कि पिछले जन्म में जिस शरीर ने कर्म किया था वह तो नष्ट हो चुका होता है। अतः उस कर्म का भोग एक भिन्न शरीर द्वारा किस प्रकार सम्भव है?

तात्पर्य : नास्तिक लोग पूर्वकर्मों के फल का साक्ष्य चाहते हैं, अतः वे प्रश्न करते हैं, "कहाँ इसका प्रमाण है कि मैं विगत कर्म के फलों को भोग रहा हूँ?" उन्हें इसका ज्ञान नहीं है कि किस तरह सूक्ष्म शरीर वर्तमान शरीर के कर्मफलों को अगले स्थूल शरीर तक पहुँचाता है। भले ही वर्तमान स्थूल शरीर नष्ट हो जाये, किन्तु सूक्ष्म शरीर नष्ट नहीं होता; यह आत्मा को दूसरे शरीर तक ले जाता है। वस्तुतः स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर पर निर्भर रहता है, अतः अगला स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर के अनुसार सुख तथा दुख उठाता है। आत्मा तब तक सूक्ष्म शरीर द्वारा लेजाया जाता रहता है जब तक वह स्थूल

भौतिक बन्धन से मुक्त नहीं हो जाता।

नारद उवाच

येनैवारभते कर्म तेनैवामुत्र तत्पुमान् ।
भुङ्क्ते ह्यव्यवधानेन लिङ्गेन मनसा स्वयम् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; येन—जिसके द्वारा; एव—निश्चय ही; आरभते—प्रारम्भ करता है; कर्म—सकाम कर्म; तेन—उसी शरीर से; एव—निश्चय ही; अमुत्र—अगले जीवन में; तत्—वह; पुमान्—जीव; भुङ्क्ते —भोग करता है; हि—क्योंकि; अव्यवधानेन—किसी परिवर्तन के बिना; लिङ्गेन—सूक्ष्म शरीर से; मनसा—मन से; स्वयम्—स्वयं, खुद।

नारद मुनि ने आगे कहा : इस जीवन में जीव स्थूल शरीर में कर्म करता है। यह शरीर मन, बुद्धि तथा अहंकार से निर्मित सूक्ष्म शरीर द्वारा कार्य करने के लिए बाध्य किया जाता है। इस स्थूल शरीर के विनष्ट होने पर भी सूक्ष्म शरीर फल भोगने या कष्ट उठाने के लिए बना रहता है। अतः इससे कोई परिवर्तन नहीं होता।

तात्पर्य : जीव के दो प्रकार के शरीर होते हैं—सूक्ष्म तथा स्थूल। वास्तव में वह सूक्ष्म शरीर के द्वारा भोग करता है, जो मन, बुद्धि तथा अहंकार से बना है। स्थूल शरीर कारणस्वरूप बाह्य आवरण है। जब यह स्थूल शरीर नहीं रहता या मर जाता है, तो स्थूल शरीर का मूल—मन, बुद्धि तथा अहंकार—बना रहता है और दूसरा स्थूल शरीर ग्रहण कर लेता है। यद्यपि स्थूल शरीर ऊपर से बदलते हैं, किन्तु स्थूल शरीर का असली मूल-मन, बुद्धि तथा अहंकार का सूक्ष्म शरीर सदैव बना रहता है। सूक्ष्म शरीर के कार्य, चाहे वे पुण्य हों या पाप, अन्य परिस्थिति उत्पन्न करते हैं जिसमें जीव अगले स्थूल शरीर में सुख या दुख उठाता है। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर बना रहता है, जबकि स्थूल शरीर एक के बाद एक-एक करके बदलता रहता है।

चूँकि आधुनिक वैज्ञानिक तथा दार्शनिक अत्यधिक भौतिकतावादी हैं और मायावश उनका ज्ञान हर लिया गया है, अतः वे यह नहीं बता पाते कि स्थूल शरीर किस तरह बदलता है। भौतिकतावादी चिन्तक डार्विन ने स्थूल शरीर में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करने का प्रयत्न किया है, किन्तु सूक्ष्म शरीर या आत्मा का ज्ञान न होने से वह यह स्पष्ट नहीं कर सका कि विकास क्रिया किस प्रकार अग्रसर होती है। मनुष्य का स्थूल शरीर बदलता रहता है, किन्तु वह सूक्ष्म शरीर से कार्य करता रहता है। लोग सूक्ष्म शरीर के कार्यों को नहीं समझ पाते, अतः वे मोहग्रस्त रहते हैं कि एक स्थूल शरीर के

कार्य दूसरे स्थूल शरीर को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। सूक्ष्म शरीर के कार्य भी परमात्मा द्वारा नियोजित हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में में बताया गया है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

"मैं सबों के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होते हैं।"

चूँकि परमात्मा रूप में परमेश्वर सदैव प्रत्येक जीवात्मा का मार्गदर्शन करता है, अतः जीवात्मा को पता रहता है कि पूर्वकर्मों के अनुसार किस प्रकार कार्य किया जाये। दूसरे शब्दों में, परमात्मा उसे स्मरण दिलाता है कि इस प्रकार से कैसे कार्य किया जाये। अतः यद्यपि ऊपर से स्थूल शरीर में परिवर्तन जान पड़ता है, किन्तु जीवात्मा के जीवनों के बीच सातत्य रहता है।

शयानमिममुत्सृज्य श्वसन्तं पुरुषो यथा ।
कर्मात्मन्याहितं भुङ्क्ते तादृशेनेतरेण वा ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

शयानम्—बिस्तर में लेटे हुए; इमम्—यह शरीर; उत्सृज्य—त्याग कर; श्वसन्तम्—श्वास लेता हुआ; पुरुषः—जीव; यथा—जिस प्रकार; कर्म—कार्य; आत्मनि—मन में; आहितम्—सम्पन्न हुआ; भुङ्क्ते—भोगता है; तादृशेन—वैसे ही शरीर से; इतरेण—भिन्न शरीर से; वा—अथवा।

स्वप्न देखते समय जीव अपने वास्तविक शरीर को त्याग देता है और अपने मन तथा बुद्धि के कार्यों से वह दूसरे शरीर में, यथा देवता या कुत्ते के शरीर में, प्रवेश करता है। इस स्थूल शरीर को त्याग कर जीव इस लोक में अथवा अन्य लोक में किसी पशु या देवता के शरीर में प्रवेश करता है। इस प्रकार वह अपने पिछले जीवन के कर्मफलों को भोगता है।

तात्पर्य : यद्यपि मन, बुद्धि तथा अहंकार सुख तथा दुख के मूल कारण हैं, तो भी भोगने के लिए निमित्त (कारण) स्वरूप स्थूल शरीर की आवश्यकता पड़ती है। स्थूल शरीर भले बदलता रहे, किन्तु सूक्ष्म शरीर सक्रिय बना रहता है। जब तक जीव को अन्य स्थूल शरीर नहीं प्राप्त हो जाता, वह सूक्ष्म शरीर या भूतप्रेत के शरीर में बना रहता है। स्थूल शरीर के बिना ही जब सूक्ष्म शरीर कार्य करता है तब जीव भूत-प्रेत बन जाता है। जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है—*शयानमिममुत्सृज्य श्वसन्तम्।* स्थूल शरीर बिस्तर पर लेट कर आराम कर सकता है और स्थूल शरीर रूपी यंत्र के कार्य करते रहने पर भी जीव स्थूल शरीर को छोड़कर स्वप्न में चला जाता है और फिर उसी में लौट आता है। जब वह शरीर में लौट आता हो तो स्वप्न को भूल जाता है। इसी प्रकार जब जीव अन्य स्थूल शरीर धारण करता है,

तो वह अपने वर्तमान स्थूल शरीर को भूल जाता है। निष्कर्ष यह है कि मन, बुद्धि तथा अहंकार से निश्चित सूक्ष्म शरीर आकांक्षाओं का वातावरण उत्पन्न कर देता है, जिसे जीव सूक्ष्म शरीर में ही भोगता है। वास्तव में जीव तो सूक्ष्म शरीर में ही रहता है, भले ही स्थूल शरीर बदलता रहे और जीव विभिन्न लोकों में शरीरों में निवास करे। सूक्ष्म शरीर में जीव द्वारा सम्पन्न सारे कार्य मोहपूर्ण कहलाते हैं, क्योंकि वे स्थायी नहीं होते। मोक्ष का अर्थ है सूक्ष्म देह के चंगुल से बाहर निकलना, जबकि स्थूल शरीर से मोक्ष का अर्थ है एक स्थूल शरीर से दूसरे में आत्मा का देहान्तरण। जब मन को कृष्णचेतना की शिक्षा मिलती है, तो मनुष्य या तो स्वर्गलोक या वैकुण्ठलोकों को जाता है, अतः मनुष्य को शिष्य-परम्परा द्वारा भगवान् से प्राप्त वैदिक आदेशों से प्राप्त ज्ञान के अनुशीलन से अपनी चेतना बदलनी होती है। यदि हम इस जीवन में सूक्ष्म शरीर को कृष्ण विषयक चिन्तन का प्रशिक्षण देते हैं, तो इस स्थूल शरीर को छोड़ने पर हम कृष्णलोक को जायेंगे। इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् ने की है (*भगवद्गीता* ४.९)—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो व्यक्ति मेरे प्राकट्य तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति से अवगत है, वह इस शरीर को त्यागने के पश्चात् इस संसार में जन्म नहीं लेता बल्कि मेरे शाश्वत धाम को प्राप्त होता है।"

इस प्रकार स्थूल शरीर का परिवर्तन उतना महत्त्वपूर्ण नहीं जितना कि सूक्ष्म शरीर का है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन लोगों में सूक्ष्म शरीर को प्रकाशित करने की शिक्षा प्रदान करता है। इस प्रसंग में आदर्श उदाहरण अम्बरीष महाराज का है—जिन्होंने अपने मन को सदैव भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों में लगाये रखा। *स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः।* इसी प्रकार इस जीवन में हमें अर्चाविग्रह रूप में उपस्थित श्रीकृष्ण के चरणकमलों में अपने मन को निरन्तर स्थिर रखना चाहिए। हमें उनकी पूजा भी करनी चाहिए। यदि हम अपनी वाणी को भगवान् के गुणगान में और कानों को उनकी लीलाओं के श्रवण करने में लगाएँ और यम-नियमों के द्वारा मन को कृष्णचेतना अग्रसर करने के लिए अक्षत रखें तो निश्चय ही हम आध्यात्मिक पद को प्राप्त कर सकेंगे। तब मृत्यु के समय मन, बुद्धि तथा अहंकार भौतिक रुप में दूषित नहीं होंगे। जीव के साथ मन, बुद्धि तथा अहंकार भी उपस्थित रहते हैं।

जब मन, बुद्धि तथा अहंकार शुद्ध हो जाते हैं, तो जीव की सारी कर्मेन्द्रियाँ आध्यात्मिक बन जाती हैं। इस तरह जीव सच्चिदानन्द रूप प्राप्त कर लेता है। परमेश्वर तो सदैव सच्चिदानन्द रूप है, किन्तु जीव भगवान् का अंश होकर भी सुखोपभोग की इच्छा से इस संसार में आकर भौतिक रुप में दूषित हो जाता है। भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* (९.३४) में अपने धाम लौटने का नुस्खा बताया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण: ॥

"सदैव मेरा चिन्तन करो और मेरे भक्त बनो। मेरी पूजा करो और मुझे ही नमस्कार करो। इस तरह मुझी में पूर्ण रूप से मग्न रहने पर तुम मेरे पास आ सकोगे।"

ममैते मनसा यद्यदसावहमिति ब्रुवन् ।
गृह्णीयात्तत्पुमान्राद्धं कर्म येन पुनर्भव: ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

मम—मेरा; एते—ये सब; मनसा—मन से; यत् यत्—जो जो; असौ—वह; अहम्—मैं (हूँ); इति—इस प्रकार; ब्रुवन्—स्वीकार करते हुए; गृह्णीयात्—अपने ऊपर ले लेता है; तत्—वह; पुमान्—जीव; राद्धम्—पूर्ण; कर्म—कर्म; येन—जिससे; पुन:—फिर; भव:—संसार।

जीव इस देहात्मबुद्धि के अन्तर्गत कार्य करता है कि, "मैं यह हूँ, मैं वह हूँ, यह मेरा कर्तव्य है, अत: मैं इसे करूँगा।" ये सब मानसिक संस्कार है और ये सारे कर्म अस्थायी हैं; फिर भी भगवान् के अनुग्रह से जीव को अपने समस्त मनोरथ पूरे करने का अवसर प्राप्त होता है। इस लिए उसे दूसरा शरीर प्राप्त होता है।

तात्पर्य : जब तक मनुष्य देहात्मबुद्धि में लीन रहता है, तब तक उसके सारे कार्य उसी स्तर पर सम्पन्न होते है। इसे समझना कठिन नहीं है। संसार में हम देख रहे है कि प्रत्येक राष्ट्र अन्य राष्ट्र को पिछाड़ देना चाह रहा है और प्रत्येक व्यक्ति अपने संगी व्यक्ति से आगे बढ़ जाना चाहता है। ये सारे कार्य सभ्यता की प्रगति के नाम पर चल रहे है। शरीर को सुखी बनाने की अनेक योजनाएँ है, जो स्थूल शरीर के नष्ट होने पर सूक्ष्म शरीर तक पहुँचती है। यह तथ्य नहीं है कि स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने पर जीव भी नष्ट हो जाता है। यद्यपि अनेक महान् दार्शनिकों तथा शिक्षकों की यह मान्यता है कि शरीर के नष्ट होने पर सब कुछ नष्ट हो जाता है, किन्तु यह सच (तथ्य) नहीं है। इस श्लोक में नारद मुनि का कथन है कि मृत्यु आने पर मनुष्य अपनी योजनाएँ अपने साथ लेता जाता है (गृह्णीयात्) और

इन योजनाओं को सम्पन्न करने के लिए उसे दूसरा शरीर प्राप्त होता है। यही *पुनर्भव:* कहलाता है। जब स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, तो जीव की सारी योजनाएँ मन द्वारा ग्रहण कर ली जाती है और भगवदनुग्रह से जीव को अगले जीवन में इन योजनाओं को साकार करने का अवसर प्राप्त होता है। यह कर्म का विधान कहलाता है। जब तक मन कर्म-विधान में लिप्त रहता है उसे अगले जीवन में एक विशेष प्रकार का शरीर धारण करना पड़ता है।

इस शरीर को सुखी या दुखी बनाने के लिए किये गये कार्यों का समुच्चय कर्म है। हमने सचमुच यह देखा है कि जब एक सज्जन मरने वाले थे तो उन्होंने अपने डाक्टर से कहा कि वह उन्हें चार वर्षों तक और जीवित रहने का अवसर प्रदान करे जिससे वे अपनी योजनाएँ पूरी कर सकें। इसका अर्थ यह हुआ कि वे सज्जन मरते समय अपनी योजनाओं के विषय में सोच रहे थे। अपनी मृत्यु के बाद वह व्यक्ति अपनी योजनाएँ अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा—जो मन, बुद्धि तथा अहंकार से बना है—अपने साथ लेता गया। इस प्रकार परमात्मा के अनुग्रह से, जो हमारे हृदय में सदैव विद्यमान है, उसे दूसरा अवसर प्राप्त होगा।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्त: स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च—अगले जन्म में उसे परमात्मा से स्मृति प्राप्ति होती है और वह विगत जीवन की योजनाओं को सम्पन्न करने लगता है। *भगवद्गीता* के एक अन्य श्लोक (१८.६१) में भी इसकी व्याख्या की गई है—

ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

''हे अर्जुन! परमेश्वर सबों के हृदय में स्थित है और उन समस्त जीवों को जो मानो माया से निर्मित यंत्र पर आरूढ़ हैं घूमने का निर्देशन कर रहा है।'' प्रकृति द्वारा प्रदत्त वाहन पर आसीन तथा अन्त:करण से परमात्मा द्वारा याद दिलाये जाने पर यह जीव अपनी योजनाओं की पूर्ति के लिए ब्रह्माण्ड-भर में यह सोचते हुए संघर्ष करता रहता है ''मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं अमरीकी हूँ, मैं भारतीय हूँ'' इत्यादि ये सारी उपाधियाँ एक-जैसी है। एक अमरीकी की अपेक्षा एक ब्राह्मण होने या नीग्रो की अपेक्षा एक अमरीकी बनने में कोई लाभ नहीं है। असल में यह सब प्रकृति के गुणों के अन्तर्गत देहात्मबुद्धि है।

यथानुमीयते चित्तमुभयैरिन्द्रियेहितैः ।
एवं प्राग्देहजं कर्म लक्ष्यते चित्तवृत्तिभिः ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; अनुमीयते—अनुमान लगाया जा सकता है; चित्तम्—चेतना या मानसिक स्थिति; उभयैः—दोनों; इन्द्रिय—इन्द्रियों का; ईहितैः—क्रियाओं के द्वारा; एवम्—उसी तरह; प्राक्—पूर्व; देहजम्—शरीर द्वारा सम्पन्न; कर्म—कर्म; लक्ष्यते—देखा जा सकता है; चित्त—चेतना के; वृत्तिभिः—व्यापारों से।

जीव की मानसिक स्थिति को दो प्रकार की इन्द्रियों—कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों—द्वारा समझा जा सकता है। इसी प्रकार किसी मनुष्य की मानसिक स्थिति से उसके पूर्वजन्म की स्थिति को समझा जा सकता है।

तात्पर्य : अंग्रेजी में एक कहावत है, "मुख मन का दर्पण है।" यदि कोई क्रोधित होता है, तो उसका क्रोध उसके मुख पर तुरन्त प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार स्थूल शरीर की क्रियाओं से अन्य मानसिक दशाएँ प्रकट होती है। दूसरे शब्दों में, स्थूल शरीर के सारे कार्य मानसिक अवस्था के प्रतिफल हैं। मन के कार्य है—सोचना, अनुभव करना तथा इच्छा करना। मन की इच्छाएँ शरीर की क्रियाओं से प्रकट होती हैं। निष्कर्ष यह है कि हम शरीर तथा इन्द्रियों की क्रियाओं से मन की अवस्था को समझ सकते हैं। पूर्वशरीर के पूर्वकर्मों द्वारा मन की अवस्था प्रभावित होती है। जब मन किसी इन्द्रिय विशेष के साथ जुड़ जाता है, तो किसी-न-किसी रूप में वह तुरन्त प्रकट हो जाता है। उदाहरणार्थ, जब मन में क्रोध रहता है, तो जीभ लड़खड़ाने लगती है। इसी प्रकार जब मन का क्रोध हाथों द्वारा प्रकट होता है, तो लड़ाई होने लगती है। पाँव द्वारा प्रकट होने पर पादप्रहार होता है। मन की सूक्ष्म क्रियाएँ विविध इन्द्रियों द्वारा अनेक प्रकार से प्रकट होती रहती है। कृष्णचेतना में भी मनुष्य का मन इसी प्रकार से कार्य करता है। जीभ हरे कृष्ण महामंत्र का जप करती है, आनन्दविभोर होने से हाथ ऊपर उठते हैं और पाँव नाचने लगते हैं। ये लक्षण *अष्ट-सात्त्विक-विकार* कहलाते हैं। *सात्त्विक-विकार* का अर्थ है सतोगुण भाव या कभी-कभी दिव्य अनुभूति में रूपान्तर।

नानुभूतं क्व चानेन देहेनादृष्टमश्रुतम् ।
कदाचिदुपलभ्येत यद्रूपं यादृगात्मनि ॥ ६४ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; अनुभूतम्—अनुभव किया गया; क्व—किसी समय; च—भी; अनेन देहेन—इस शरीर से; अदृष्टम्—कभी न देखा गया; अश्रुतम्—कभी न सुना हुआ; कदाचित्—कभी कभी; उपलभ्येत—अनुभव किया जा सकता है; यत्—जो; रूपम्—रूप; यादृक्—जैसा भी; आत्मनि—मन में।.

कभी-कभी हमें ऐसी वस्तु का अचानक अनुभव होता है, जिसे हमने इस शरीर में देख या सुनकर कभी अनुभव नहीं किया। कभी-कभी हमें ऐसी वस्तुएँ अचानक स्वप्न में दिख जाती हैं।

तात्पर्य : कभी-कभी स्वप्न में हमें ऐसी वस्तुएँ दिखती हैं जिनका अनुभव हमने इस शरीर में कभी नहीं किया हो। कभी-कभी हम स्वप्नों में अपने आपको आकाश में उड़ते हुए अनुभव करते हैं, यद्यपि हमें उड़ने का कोई अनुभव नहीं होता। इसका अर्थ यह हुआ कि पूर्वजन्म में या तो हम देवता थे या आकाशचारी के रूप में आकाश में उड़े थे। मन में इन सब अनुभवों की छाप रहती है, जो अचानक प्रकट होते हैं। यह गहरे जल की तली पर होने वाली उस सड़न क्रिया के समान है, जो पानी की सतह पर प्रकट होने वाले बुलबुलों से कभी-कभी प्रकट होती है। कभी-कभी हम स्वप्न में ऐसे स्थान में पहुँच जाते हैं जिसे हम जीवन-भर न तो देखे रहते हैं, न अनुभव किये रहते हैं, किन्तु यह इस बात का प्रमाण है कि हमने पूर्वजन्म में इसका अनुभव किया था। यह छाप मन में संचित रहती है और कभी-कभी स्वप्न या विचार में प्रकट हो उठती है। तात्पर्य यह कि मन हमारे विगत जीवनों के अनुभवों तथा विविध विचारों का संग्रहालय है। इस प्रकार एक जीवन से दूसरे जीवन तक, विगत जीवन से इस जीवन तक और इससे भावी जीवन तक सातत्य-शृंखला बनी रहती है। इसकी पुष्टि ऐसे कथनों के द्वारा भी होती है कि अमुक व्यक्ति जन्मजात कवि, वैज्ञानिक या भक्त है। यदि हम महाराज अम्बरीष की तरह इस जीवन में कृष्ण का निरन्तर चिन्तन करें (*स वै मन: कृष्ण पदारविन्दयो:*) तो हम मृत्यु के समय भगवान् के धाम को चले जाएँगे। यदि हमारा कृष्णभक्त बनने का प्रयास पूरा नहीं भी हो पाता तो हमारी कृष्णभक्ति अगले जीवन में भी बनी रहेगी। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (६.४१) में हुई है—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वती: समा:।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥

"असफल योगी पुण्यात्माओं के लोक में अनेकानेक वर्षों तक भोग करने के बाद धनी व्यक्तियों या सदाचारी लोगों के परिवार में जन्म लेता है।"

यदि हम कृष्ण-ध्यान के सिद्धान्तों का दृढ़ता से पालन करें तो निस्सन्देह, हम अगले जीवन में गोलोक वृन्दावन नामक कृष्णलोक को भेजे जायेंगे।

तेनास्य तादृशं राजँल्लिङ्गिनो देहसम्भवम् ।
श्रद्धत्स्वाननुभूतोऽर्थो न मनः स्प्रष्टुमर्हति ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

तेन—अतः; अस्य—जीव का; तादृशम्—उसके समान; राजन्—हे राजन्; लिङ्गिनः—सूक्ष्म मानसिक आवरण वाला; देह-सम्भवम्—पूर्वशरीर में उत्पन्न; श्रद्धत्स्व—इसे तथ्य मानो; अननुभूतः—अनदेखा; अर्थः—वस्तु; न—कभी नहीं; मनः—मन में; स्प्रष्टुम्—प्रकट करने के लिए; अर्हति—समर्थ है।

अतः हे राजन्, सूक्ष्म मानसिक आवरण वाला यह जीव अपने पूर्व शरीर के कारण सभी प्रकार के विचार तथा प्रतिबिम्ब विकसित करता रहता है। मेरी बात को तुम निश्चय समझो। जब तक पूर्व शरीर में कोई वस्तु देखी हुई नहीं रहती, तब तक मन के द्वारा उसकी कल्पना करने की सम्भावना नहीं उठती।

तात्पर्य : कृष्ण-बहिर्मुख हञा भोगवाच्छा करे।

निकटस्थ माया तारे जापटिया धरे॥

(*प्रेम-विवर्त*)

भगवान् कृष्ण ही वास्तविक परम भोक्ता हैं। जब जीव उनका अनुकरण करना चाहता है, तो उसे भौतिक प्रकृति पर स्वामित्व जताने की अपनी झूठी अभिलाषाओं को पूरा करने का अवसर प्रदान कर दिया जाता है। यही उसके पतन का शुभारम्भ है। जब तक वह इस भौतिक वातावरण में रहता है, मन उसका सूक्ष्म वाहन रहता है, जो सभी प्रकार की भौतिक इच्छाओं का भण्डार है। ऐसी इच्छाएँ विविध शारीरिक रूपों में प्रकट होती है। श्रील नारद मुनि राजा से इस तथ्य को ग्रहण करने के लिए कहते हैं, क्योंकि वे अधिकारी हैं। निष्कर्ष यह है कि मन हमारी विगत इच्छाओं का भण्डार है और हमें यह वर्तमान शरीर उन्हीं विगत इच्छाओं के कारण प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार इस शरीर में हम जो कुछ चाहते हैं, वह भावी शरीर में प्राप्त होगा। इस प्रकार मन विभिन्न प्रकार के शरीरों का स्रोत है।

यदि मन को कृष्णभक्ति द्वारा शुद्ध कर लिया जाये तो भविष्य में आध्यात्मिक तथा कृष्णभक्ति से युक्त शरीर ही प्राप्त होता रहेगा। ऐसा शरीर ही हमारा आदि रूप है जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने पुष्टि की है—*जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्यदास'*—"प्रत्येक जीव स्वाभाविक रूप से कृष्ण का शाश्वत

दास है।'' यदि कोई व्यक्ति भगवान् की भक्ति में लगा रहता है, तो समझना चाहिए कि वह इसी जीवन में मुक्त हो चुका है। इसकी पुष्टि श्रील रूप गोस्वामी द्वारा हुई है (*भक्ति-रसामृत-सिन्धु* १.२.१८७)—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

''जो मनसा, वाचा, कर्मणा भगवान् की दिव्य सेवा में लगा रहता है, उसे भौतिक जीवन की सभी अवस्थाओं में मुक्त समझना चाहिए।'' कृष्णभावनामृत आन्दोलन इसी सिद्धान्त पर आधारित है। हमें लोगों को भगवान् की सेवा में सदा लिप्त रहने की शिक्षा देनी चाहिए, क्योंकि वही उनकी स्वाभाविक स्थिति है। जो निरन्तर भगवान् की सेवा में लगा हो उसे पहले से मुक्त समझना चाहिए। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.२६) में भी हुई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

''जो शुद्ध भक्ति के दिव्य कार्यों में सदैव लगा रहता है, वह तुरन्त प्रकृति के गुणों को पार करके आध्यात्मिक पद पर ऊपर उठ जाता है।'' अतः भक्त त्रिगुणातीत और ब्राह्मण-पद से भी परे होता है। ब्राह्मण रजो तथा तमो इन दो निम्नगुणों से दूषित हो सकता है। जो शुद्ध भक्त मानसिक स्तर पर अनुभव की गई भौतिक इच्छाओं से मुक्त होता है और काल्पनिक ज्ञान या सकाम कर्म से भी मुक्त होता है, वह भौतिक परिस्थितियों से ऊपर उठा हुआ तथा मुक्त होता है।

मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति ।
भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यतः ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

मनः—मन; एव—निश्चय ही; मनुष्यस्य—मनुष्य के; पूर्व—विगत; रूपाणि—अनेक रूप; शंसति—सूचित करता है; भविष्यतः—आगे जन्म लेने वाले का; च—भी; भद्रम्—कल्याण; ते—तुम्हारा; तथा—उसी तरह; एव—निश्चय ही; न—नहीं; भविष्यतः—भावी जन्म लेने वाले का।

हे राजन्, तुम्हारा कल्याण हो। यह मन प्रकृति के साहचर्य के अनुसार जीव द्वारा विशेष प्रकार का शरीर धारण करने का कारण है। मनुष्य अपने मानसिक संघटन के अनुसार यह जान सकता है कि पूर्वजन्म में वह कैसा था और भविष्य में वह कैसा शरीर धारण करेगा। इस प्रकार मन भूत (गत) तथा भावी शरीरों की सूचना देता है।

तात्पर्य : मन मनुष्य के गत तथा भावी जीवन विषयक सूचनाओं को देने वाला सूचकांक है। यदि कोई मनुष्य भगवान् का भक्त है उसने पूर्वजन्म में भक्ति की थी। इसी प्रकार यदि किसी का मन अपराधी है, तो वह पूर्वजन्म में अपराधी था। इसी प्रकार मन के अनुसार हम जान सकते हैं कि भावी जीवन में क्या-क्या होगा। *भगवद्गीता* (१४.१८) में यह कहा गया है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसा: ।

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसा: ॥

''जो लोग सतोगुणी हैं वे क्रमश: उच्च लोकों को जाते हैं; जो रजोगुणी हैं वे पृथ्वी लोक में रहते हैं और जो तमोगुणी हैं वे नरक लोकों को जाते हैं।''

यदि कोई मनुष्य सतोगुणी होता है, तो उसके मानसिक कार्य उसे उच्चलोकों को ले जायेंगे। इसी प्रकार यदि किसी की मानसिकता निम्न है, तो उसका भावी जीवन अत्यन्त घृणित होगा। जीव के भूत तथा भविष्य के जीवन उसकी मानसिक दशा से सूचित होते हैं। नारद मुनि यहाँ पर राजा को कल्याण का आशीर्वाद दे रहे हैं, जिससे राजा को किसी वस्तु की इच्छा अथवा इन्द्रियतृप्ति के लिए किसी प्रकार की योजना बनाने की आवश्यकता न रहे। राजा भविष्य में श्रेष्ठतर जीवन प्राप्त करने के उद्देश्य से सकाम अनुष्ठान करने में व्यस्त था। नारद मुनि चाहते थे कि वह सारे मनोरथ त्याग दे। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, सारे देहधारी अपने मनोरथों के अनुसार स्वर्ग तथा नरक को जाते हैं और भौतिक सुख तथा दुख मानसिक धरातल तक ही सीमित होते हैं। वे मन रूपी रथ (मनोरथ) पर घटित होते हैं, अत: कहा गया है (*भागवत* ५.१८.१२) कि—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना

सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुरा: ।

हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा

मनोरथेनासति धावतो बहि: ॥

''जिसमें भगवान् के लिए अटूट निष्ठा होती है, उसमें देवताओं के समस्त सद्गुण पाये जाते हैं। किन्तु जो भगवद्भक्त नहीं है, उसमें भौतिक गुण ही पाये जाते हैं जिनका कोई मूल्य नहीं होता। इसका कारण यह है कि वह मानसिक धरातल पर मँडराता रहता है और माया की चमक-दमक के प्रति

निश्चित रुप से आकृष्ट होता रहता है।''

जब तक मनुष्य भगवद्भक्त नहीं बनता या पूर्ण रूप से कृष्णभावनाभावित नहीं हो जाता, तब तक वह मानसिक धरातल पर मँडराएगा और नाना प्रकार के शरीरों में उत्कर्ष तथा अपकर्ष को प्राप्त होगा। भौतिक दृष्टि से जिन गुणों को उत्तम माना जाता है, वे सब व्यर्थ होते हैं, क्योंकि इन तथाकथित गुणों से मनुष्य जन्म-मृत्यु के चक्र से नहीं छूट सकेगा। निष्कर्ष यह निकलता है कि मनुष्य को मनोरथ से रहित होना चाहिए। *अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्*—मनुष्य को भौतिक इच्छाओं, दार्शनिक चिन्तन तथा सकाम कर्म से सर्वथा मुक्त होना चाहिए। मानव जाति के लिए सर्वोत्तम मार्ग है कि वह भगवान् की दिव्य भक्ति को अनुकूल दृष्टि से स्वीकार कर ले। मानव-जीवन की सर्वोत्कृष्ट सार्थकता यही है।

अदृष्टमश्रुतं चात्र क्वचिन्मनसि दृश्यते ।
यथा तथानुमन्तव्यं देशकालक्रियाश्रयम् ॥ ६७॥

शब्दार्थ

अदृष्टम्—न देखी गई; अश्रुतम्—न सुनी गई; च—तथा; अत्र—इस जीवन में; क्वचित्—कभी; मनसि—मन में; दृश्यते—देखे जाते हैं; यथा—जिस प्रकार; तथा—उसी प्रकार; अनुमन्तव्यम्—समझा जाना चाहिए; देश—स्थान; काल—समय; क्रिया—कर्म; आश्रयम्—आश्रित।

कभी-कभी स्वप्न में हम ऐसी वस्तु देखते हैं, जिसको हम इस जीवन में कभी न तो अनुभव किये होते और न सुने होते हैं, किन्तु ये सभी घटनाएँ विभिन्न कालों, स्थानों तथा परिस्थितियों में अनुभव की गई होती हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में यह कहा गया था कि दिन में हम जो अनुभव करते हैं, उसे ही रात्रि में सपने में देखते हैं। किन्तु यह ऐसा क्यों है कि जिस वस्तु को न तो हमने देखा हो और न जिसके बारे में कभी सुना हो वह कभी-कभी हमें सपने में दिखती है? यहाँ यह कहा गया है कि भले ही इस जीवन में ऐसी घटनाओं का अनुभव न हुआ हो, वे पूर्वजन्मों में अनुभव की गई रहती हैं। काल तथा परिस्थिति के अनुसार वे इस प्रकार मिल जाती हैं कि स्वप्न में हमें कभी न अनुभव की गई किसी आश्चर्यजनक वस्तु के रूप में दिखती है। उदाहरणार्थ, हमें स्वप्न में पर्वत की चोटी पर समुद्र दिख सकता है, अथवा हम सूखा समुद्र देख सकते हैं। ये देश तथा काल में विभिन्न अनुभवों के मेल होते हैं। कभी-कभी हमें सुनहरा पर्वत दिखाई पड़ सकता है। यह सोना तथा पर्वत के पृथक् पृथक्

अनुभवों के कारण होता है। स्वप्न में मोहवश हम इन पृथक्-पृथक् कारकों को मिला देते हैं। इस प्रकार हम सुनहरा पर्वत या दिन के समय तारे देख पाते हैं। तात्पर्य यह कि ये सारे मनोरथ हैं, यद्यपि उनका वास्तविक अनुभव भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में हुआ रहता है। स्वप्न में मात्र वे मिल जाते है। अगले श्लोक में इसकी और भी व्याख्या की गई है।

सर्वे क्रमानुरोधेन मनसीन्द्रियगोचराः ।
आयान्ति बहुशो यान्ति सर्वे समनसो जनाः ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—सभी; क्रम-अनुरोधेन—क्रमानुसार; मनसि—मन में; इन्द्रिय—इन्द्रियों द्वारा; गोचराः—अनुभूत; आयान्ति—आते हैं; बहुशः—अनेक प्रकार से; यान्ति—चले जाते हैं; सर्वे—सभी; समनसः—मन से; जनाः—जीव।

जीव का मन विभिन्न स्थूल शरीरों में रहा करता है और इन्द्रियतृप्ति के लिए व्यक्ति की इच्छाओं के अनुसार मन विविध विचारों को अंकित करता रहता है। ये मन में विभिन्न मिश्रणों (मेलों) के रूप में प्रकट होते हैं। अतः कभी-कभी ये प्रतिबिम्ब ऐसी वस्तुओं के रूप में प्रकट होते हैं, जो पहले न तो कभी सुनी गई और न देखी गई होती हैं।

तात्पर्य : कुत्ते के शरीर में स्थित जीव के कार्यों का अनुभव किसी भिन्न शरीर के मन द्वारा किया जा सकता है, अतः ये कार्य न तो कभी सुने गए और न ही देखे गए प्रतीत होते हैं। मन बना रहता है, यद्यपि शरीर बदल जाता है। यहाँ तक कि इसी जीवन में भी हम कभी-कभी अपने बचपन के स्वप्नों का अनुभव करते हैं। यद्यपि ऐसी घटनाएँ बाद में विचित्र लगती हैं, किन्तु वे सब मन में अंकित हुई रहती हैं, फलतः वे स्वप्न में दिखाई पड़ती हैं। सूक्ष्म शरीर समस्त प्रकार की भौतिक इच्छाओं का भण्डार है और इसी के द्वारा आत्मा का देहान्तरण होता है। जब तक मनुष्य कृष्णभक्ति में पूर्ण रूप से निमग्न नहीं होगा, तब तक वे इच्छाएँ आती-जाती रहेंगी। यह तो मन का स्वभाव है सोचना, अनुभव करना और इच्छा करना। जब तक मन भगवान् कृष्ण के चरणकमलों के ध्यान में संलग्न नहीं होगा, तब तक वह नाना प्रकार के भौतिक भोगों की इच्छा करता रहेगा। ऐन्द्रिय प्रतिबिम्बों का अंकन क्रमानुसार हुआ रहता है और वे एक-एक करके प्रकट होते हैं, अतः जीव को एक के बाद दूसरा शरीर धारण करना होता है। मन भौतिक सुख की योजना बनाता है और स्थूल शरीर इन्हें पूरा करने के साधन प्रदान करता है। मन वह मंच है, जिससे होकर समस्त इच्छाएँ तथा योजनाएँ आती-जाती हैं।

अत: श्रील नरोत्तम दास ठाकुर गाते हैं—

गुरु मुख पद्मवाक्य, चित्तेते करिया ऐक्य

आर न करिह मने आशा।

नरोत्तम दास ठाकुर सबों को गुरु के आदेशों का पालन करने का उपदेश देते हैं। मनुष्य को और कोई कामना नहीं करनी चाहिए। यदि गुरु द्वारा बताये गये विधि-विधानों का दृढ़तापूर्वक पालन हो तो मन कृष्ण की सेवा के अतिरिक्ति अन्य किसी प्रकार की इच्छा नहीं कर सकेगा। ऐसा प्रशिक्षण ही जीवन की सार्थकता है।

सत्त्वैकनिष्ठे मनसि भगवत्पार्श्ववर्तिनि ।
तमश्चन्द्रमसीवेदमुपरज्यावभासते ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

सत्त्व-एक-निष्ठे—पूर्ण कृष्णचेतना में; मनसि—मन में; भगवत्—भगवान् के साथ; पार्श्व-वर्तिनि—लगातार साथ रहने से; तम:—अंध ग्रह; चन्द्रमसि—चन्द्रमा में; इव—सदृश; इदम्—यह दृश्य जगत; उपरज्य—सम्बन्धित होकर; अवभासते—प्रकट होता है।.

कृष्ण-चेतना का अर्थ है ऐसी मानसिक दशा में भगवान् के साथ निरन्तर साहचर्य जिससे कि भक्त इस दृश्य जगत् को वैसा ही देख सके जैसा कि भगवान् देख सकते हैं। ऐसा देख पाना सदैव सम्भव नहीं होता, लेकिन यह राहु नामक अंधग्रह के समान प्रकट होता है, जो पूर्ण चन्द्र होने पर ही देखा जाता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में कहा गया है कि सारी इच्छाएँ एक-एक करके मन: पटल पर दृष्टिगोचर होती रहती हैं। किन्तु कभी-कभी भगवत्कृपा से इच्छाओं का सारा भण्डार एक ही बार में दृष्टिगोचर हो जाता है। *ब्रह्म-संहिता* (५.५४) में कहा गया है—*कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजाम्।* जब मनुष्य कृष्णभक्ति में पूर्ण रूप से लीन होता है, तो भौतिक इच्छाओं का भण्डार न्यूनतम रहता है। दरअसल, ये इच्छाएँ स्थूल शरीर के रूप में प्रतिफलित नहीं होतीं, अपितु वे भगवान् कृपा से मन:पटल पर दृष्टिगोचर होती हैं।

इस प्रसंग में पूर्ण चन्द्र के समक्ष होने वाला अंधकार, जिसे चन्द्र-ग्रहण कहते हैं, राहु नामक एक अन्य ग्रह के रूप में होता है। वैदिक ज्योतिर्विज्ञान के अनुसार यद्यपि राहु ग्रह अदृश्य है, किन्तु इसे ग्रह के रूप में स्वीकार किया जाता है। कभी-कभी यह ग्रह पूर्णमासी की रात्रि में दिखता है। तब यह ग्रह

चन्द्रमा की कक्षा के निकट विद्यमान प्रतीत होता है। आधुनिक चन्द्रयात्रियों की विफलता का कारण यही राहु ग्रह हो सकता है दूसरे शब्दों में जो लोग चन्द्रमा की यात्रा पर जाते हैं, वे सम्भवतः इस अदृश्य राहु ग्रह की यात्रा करते है। वे चन्द्रमा तक न जाकर राहु ग्रह पर पहुंच कर ही वापस चले आते हैं। इस संदर्भ के अतिरिक्त बात यह है कि जीव में भौतिक सुखभोग की अनन्त इच्छाएँ रहती हैं और उसे एक स्थूल शरीर से अन्य शरीर में तब तक देहान्तर करना पड़ता है जब तक उन इच्छाओं का अन्त नहीं हो जाता।

जब तक जीव कृष्णभक्ति स्वीकार नहीं करता, कोई भी जीव जन्म-मृत्यु के चक्र से बच नहीं पाता, अतः इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि कृष्णभक्ति में तल्लीन होने पर एक ही झटके में जीव भूत तथा भविष्य के मनोरथों से मुक्त हो जाता है (*सत्त्वैकनिष्ठे*)। तब भगवत् कृपा से सारी वस्तुएँ एकसाथ मन के भीतर प्रकट होती है। इस प्रसंग में विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने माता यशोदा का उदाहरण दिया है जिन्हें भगवान् के मुख के भीतर सारा दृश्य जगत दिखा। भगवान् की ही कृपा से माता यशोदा को श्रीकृष्ण के मुख के भीतर सारे ब्रह्माण्ड तथा लोक दिखलाई पड़े। इसी प्रकार कृष्णभक्त एकसाथ अपनी सुप्त इच्छाओं को देख सकता है और भावी देहान्तर से सदा के लिए मुक्ति पा सकता है। यह सुविधा विशेषतः भक्त को प्रदान की जाती है, जिससे भगवान् के धाम वापस जाने का रास्ता साफ हो जाये।

यहाँ पर इसकी व्याख्या की गई है कि जिन वस्तुओं का अनुभव हमें इस जीवन में नहीं होता, उन्हें भी हम क्यों देखते हैं। जो कुछ हम देखते हैं, वह स्थूल देह की भावी अभिव्यक्ति होती है या जो पहले से ही मनः-पटल पर संचित होता है। चूँकि कृष्णभक्त को भावी स्थूल देह धारण नहीं करनी पड़ती, अतः उसकी अंकित इच्छाओं की पूर्ति स्वप्न में हो जाती है। इसीलिए कभी-कभी हमें स्वप्न में ऐसी वस्तुएँ दिख जाती है जिनका हमारे वर्तमान जीवन में अनुभव नहीं हुआ रहता।

नाहं ममेति भावोऽयं पुरुषे व्यवधीयते ।
यावद्बुद्धिमनोऽक्षार्थगुणव्यूहो ह्यनादिमान् ॥ ७० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; मम—मेरा; इति—इस प्रकार; भावः—चेतना; अयम्—यह; पुरुषे—जीव में; व्यवधीयते—विलग रहता है; यावत्—जब तक; बुद्धि—बुद्धि; मनः—मन; अक्ष—इन्द्रियाँ; अर्थ—इन्द्रिय विषय; गुण—गुणों का; व्यूहः—प्राकट्य; हि—निश्चय ही; अनादि-मान्—सूक्ष्म शरीर (अनादि काल से विद्यमान)।

जब तक बुद्धि, मन, इन्द्रियों, विषयों तथा भौतिक गुणों के प्रतिफलों से बना हुआ सूक्ष्म भौतिक शरीर रहता है तब तक मिथ्या अहंकार और स्थूल शरीर भी रह जाते हैं।

तात्पर्य : मन, बुद्धि तथा अहंकार से निर्मित सूक्ष्म शरीर में इच्छाओं की पूर्ति क्षिति, जल, पावक, गगन तथा समीर से बने स्थूल शरीर के बिना पूरी नहीं हो सकतीं। जब स्थूल भौतिक शरीर प्रकट नहीं होता तो जीव वस्तुत: गुणों के अनुसार कार्य नहीं कर सकता। इस श्लोक में स्पष्ट बताया गया है कि मन तथा बुद्धि की सूक्ष्म क्रियाएँ जीव के सूक्ष्म शरीर के सुखों तथा दुखों के कारण चलती रहती हैं। भौतिक पहचान की चेतना (यथा मैं और मेरा) तब भी बनी रहती हैं, क्योंकि ऐसी चेतना अनादि काल से चली आ रही होती है। किन्तु यदि कोई कृष्णचेतना की समझ होने से आध्यात्मिक जगत में पहुँच जाता है, तो स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के कार्य तथा कारण आत्मा को नहीं सताते।

सुप्तिमूर्च्छोपतापेषु प्राणायनविघातत: ।
नेहतेऽहमिति ज्ञानं मृत्युप्रज्वारयोरपि ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ

सुप्ति—प्रगाढ़ निद्रा में; मूर्च्छ—बेहोशी; उपतापेषु—या आघात पहुँचने पर; प्राण-अयन—प्राण वायु के संचरण का; विघाततः—रुकावट से; न—नहीं; ईहते—सोचता है; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; ज्ञानम्—ज्ञान; मृत्यु—मरते हुए; प्रज्वारयोः—या प्रखर ज्वर होने पर; अपि—भी।

जब जीव गाढ़ निद्रा, मूर्च्छा, किसी गंभीर क्षति से उत्पन्न गहन आघात, मृत्यु के समय या प्रखर ज्वर की अवस्था में रहता है, तो प्राण-वायु का संचरण रुक जाता है। उस समय जीव आत्मा से शरीर की पहचान करने का ज्ञान खो देता है।

तात्पर्य : मूर्ख लोग आत्मा के अस्तित्व को नकारते हैं, किन्तु यह एक तथ्य है कि जब हम सो जाते हैं, तो हमें भौतिक शरीर की सुधि (पहचान) नहीं रहती और जगने पर सूक्ष्म शरीर की सुधि जाती रहती है। दूसरे शब्दों में, सोते समय हम स्थूल शरीर के कार्यों को भूल जाते हैं और जब स्थूल शरीर कार्य करता रहता है, तो हम सुप्तावस्था के कार्य भूल जाते हैं। वास्तव में निद्रा तथा जागरण दोनों ही अवस्थाएँ माया की सृष्टियाँ हैं। जीव का न तो सुप्तावस्था के कार्यों से और न जाग्रत अवस्था के कार्यों से कोई सम्बन्ध रहता है। जब मनुष्य प्रगाढ़ निद्रा या मूर्छावस्था में होता है, तो उसे स्थूल

शरीर की सुधि नहीं रहती। इसी प्रकार क्लोरोफार्म या अन्य किसी निश्चेतक के प्रभाव से जीव स्थूल शरीर को भूल जाता है और शल्य चिकित्सा के समय उसे पीड़ा का अनुभव नहीं होता है। इसी प्रकार जब किसी महान् क्षति से मनुष्य को एकाएक आघात पहुँचता है, तो वह स्थूल शरीर की पहचान को भूल जाता है। मृत्यु के समय, जब शरीर का ताप १०७ डिग्री तक बढ़ जाता है, तो जीव मूर्छावस्था में चला जाता है और अपने स्थूल शरीर को पहचान नहीं पाता। ऐसी दशाओं में शरीर के भीतर संचरण करने वाली प्राण-वायु रुद्ध हो जाती है और मनुष्य स्थूल शरीर की पहचान भूल जाता है। आध्यात्मिक शरीर के प्रति अज्ञान के कारण हमें उसके कार्यों का पता नहीं चल पाता और अज्ञान के कारण हम एक मिथ्या स्तर से दूसरे में कूदते रहते हैं। हम कभी स्थूल शरीर के प्रति कार्य करते हैं, तो कभी सूक्ष्म शरीर के प्रति। यदि हम कृष्ण की कृपा से अपने आध्यात्मिक शरीर में कार्य करते हैं, तो स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों शरीरों से पार निकल जाते हैं। दूसरे शब्दों में, हम धीरे-धीरे आध्यात्मिक शरीर के प्रति कार्य करने का अभ्यास कर सकते हैं। जैसाकि *नारद पञ्चरात्र* में कहा गया है—*हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते*—भक्ति का अर्थ आध्यात्मिक शरीर तथा आध्यात्मिक इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाना है। जब हम ऐसे कर्म में लग जाते हैं, तो स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के कर्म तथा प्रतिफल रुक जाते हैं।

गर्भे बाल्येऽप्यपौष्कल्यादेकादशविधं तदा ।
लिङ्गं न दृश्यते यूनः कुह्वां चन्द्रमसो यथा ॥ ७२ ॥

शब्दार्थ

गर्भे—गर्भ में; बाल्ये—बाल्यकाल में; अपि—भी; अपौष्कल्यात्—अविकसित होने के कारण; एकादश—दस इन्द्रियाँ तथा मन; विधम्—के रूप में; तदा—उस समय; लिङ्गम्—सूक्ष्म शरीर अथवा मिथ्या अहंकार; न—नहीं; दृश्यते—दिखाई पड़ता है; यूनः—तरुण का; कुह्वाम्—अमावस्या में; चन्द्रमसः—चन्द्रमा; यथा—जिस तरह।

जब मनुष्य तरुण होता है, तो दसों इन्द्रियाँ तथा मन पूरी तरह दिखाई पड़ते हैं, किन्तु माता के गर्भ या बाल्यकाल में इन्द्रियाँ तथा मन उसी तरह ढके रहते हैं जिस तरह अमावस्या की रात्रि के अंधकार से पूर्ण-चन्द्रमा ढका रहता है।

तात्पर्य : जब जीव गर्भ में रहता है, तो उसका स्थूल शरीर, दस इन्द्रियाँ तथा मन पूर्णतः विकसित नहीं होते। तब इन्द्रियों के विषय उसे विचलित नहीं कर पाते। किसी स्वप्न में एक तरुण व्यक्ति तरुणी को उपस्थित देख सकता है, क्योंकि तब इन्द्रियाँ सक्रिय होती हैं। किन्तु एक शिशु या बालक अपने

स्वप्नों में तरुणी को नहीं देखेगा। युवावस्था में, स्वप्न में भी इन्द्रियाँ सक्रिय रहती हैं, अत: तरुणी के उपस्थित न होने पर भी इन्द्रियाँ अपना कार्य करती हैं और वीर्य-स्खलन हो सकता है। सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों के कार्य इस बात पर निर्भर करते हैं कि परिस्थितियाँ कितनी विकसित हैं। यहाँ पर चन्द्रमा का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। अमावस्या की रात्रि में, यद्यपि पूर्ण चमकता हुआ चन्द्रमा उपस्थित रहता है, किन्तु परिस्थितियों के कारण वह उपस्थित नहीं जान पड़ता। इसी प्रकार जीव की इन्द्रियाँ विद्यमान होती हैं, किन्तु वे तभी सक्रिय होती हैं जब स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर विकसित हो जाते हैं। जब तक स्थूल शरीर की इन्द्रियाँ विकसित नहीं हो जातीं तब तक वे सूक्ष्म शरीर पर कोई क्रिया नहीं करतीं। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर में इच्छाओं के अभाव के कारण स्थूल शरीर का विकास नहीं हो पाता।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥ ७३ ॥

शब्दार्थ

अर्थे—इन्द्रिय विषय; हि—निश्चय ही; अविद्यमाने—अनुपस्थिति में; अपि—यद्यपि; संसृति:—भौतिक संसार; न—कभी नहीं; निवर्तते—रुक जाता है; ध्यायत:—ध्यान करते हुए; विषयान्—इन्द्रिय विषयों के बारे में; अस्य—जीव का; स्वप्ने—स्वप्न में; अनर्थ—अवांछित वस्तुओं का; आगम:—प्राकट्य; यथा—जिस प्रकार।

जब जीव स्वप्न देखता है, तो वास्तव में इन्द्रियविषय उपस्थित नहीं रहते। किन्तु इन्द्रियविषयों के साथ मनुष्य का सम्पर्क होने से वे प्रकट हो जाते हैं। इसी प्रकार अविकसित इन्द्रियों वाले जीव का भौतिक रूप से अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता, भले ही वह इन्द्रियविषयों के सम्पर्क में न हो।

तात्पर्य : कभी-कभी कहा जाता है कि बच्चा अबोध (निर्दोष) है इसलिए वह पूर्ण रूप से शुद्ध है, किन्तु वास्तव में तथ्य यह नहीं है। कर्मों के प्रभाव, जो कि सूक्ष्म शरीर में सुरक्षित रहते हैं, तीन क्रमागत अवस्थाओं—बीज (मूल), *कूटस्थ* (इच्छा) तथा *फलोन्मुख* (फलने के निकट) में प्रकट होते हैं। प्रकट अवस्था *प्रारब्ध* (पहले से कार्यशील) कहलाती है। चेतन अथवा अचेतन अवस्था में सूक्ष्म अथवा स्थूल शरीर की क्रियाएँ भले ही प्रकट न हों, किन्तु ऐसी अवस्थाएँ मुक्त नहीं कही जा सकतीं। शिशु भले ही अबोध हो, किन्तु उसे मुक्तात्मा नहीं कहा जा सकता है। प्रत्येक वस्तु आरक्षित रहती है और यथासमय प्रकट होती है। सूक्ष्म शरीर में किसी प्रकार के प्राकट्य के अभाव में भी

इन्द्रियभोग के विषय कार्य कर सकते हैं। हमने ऊपर स्वप्नदोष का उल्लेख किया है, जिसमें भौतिक इन्द्रियाँ भौतिक पदार्थों के प्रकट न रहने पर भी कार्य करती हैं। भले ही सूक्ष्म शरीर में प्रकृति के तीनों गुण प्रकट न हों, किन्तु इनका दूषण (कल्मष) सुरक्षित रहता है और यथासमय प्रकट होता है। यदि सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों की प्रतिक्रयाएँ नहीं भी प्रकट हों तो भी मनुष्य भौतिक परिस्थितियों से मुक्त नहीं हो पाता। इसलिए यह कहना गलत है कि शिशु मुक्तात्मा के समान निर्दोष होता है।

एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत्षोडश विस्तृतम् ।
एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयते ॥ ७४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; पञ्च-विधम्—पाँच इन्द्रियविषयों; लिङ्गम्—सूक्ष्म शरीर; त्रि-वृत्—तीनों गुणों से प्रभावित; षोडश—सोलह; विस्तृतम्—फैला हुआ; एषः—यह; चेतनया—जीव के साथ; युक्तः—जुड़ा हुआ; जीवः—बद्धजीव; इति—इस प्रकार; अभिधीयते—माना जाता है।

पाँच इन्द्रिय विषय, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन—ये सोलह भौतिक विस्तार हैं। ये सब जीव के साथ संयोजित रहते हैं और प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा प्रभावित होते हैं। इस प्रकार बद्धजीव के अस्तित्व को समझा जाता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१५.७) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन: ।

मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

"इस बद्ध जगत में सारे जीव मेरे ही शाश्वत भिन्न अंश हैं। बद्धजीव होने से वे मन समेत छ: इन्द्रियों के साथ कठिन संघर्ष करते रहते हैं।"

यहाँ इसकी भी व्याख्या हुई है कि जीव सोलह भौतिक तत्त्वों के सम्पर्क में आता है और प्रकृति के तीन गुणों से प्रभावित होता है। जीव तथा सोलह तत्त्वों का यह समुच्चय मिलकर *जीव-भूत* बनाते हैं, जो बद्धजीव है और प्रकृति के अन्तर्गत कठिन संघर्ष करता है। सबसे पहले समग्र जगत प्रकृति के तीनों गुणों से विक्षुब्ध होता है और वे जीव की जीवन-अवस्थाएँ बन जाते हैं। इस प्रकार सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर विकास करते रहते हैं और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इत्यादि अवयव स्वरूप रहते हैं। श्री मध्वाचार्य के अनुसार जब चेतना, जो हृदय की जीवनीशक्ति है, प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा विक्षुब्ध होती है तब जीव का सूक्ष्म शरीर भौतिक अवस्था में कार्य करने के लिए सम्भव होता है, जो

मन, इन्द्रिय पदार्थों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियों से युक्त होता है।

अनेन पुरुषो देहानुपादत्ते विमुञ्चति ।
हर्षं शोकं भयं दु:खं सुखं चानेन विन्दति ॥ ७५ ॥

शब्दार्थ

अनेन—इस विधि से; पुरुषः—जीव; देहान्—स्थूल शरीरों को; उपादत्ते—प्राप्त करता है; विमुञ्चति—त्यागता है; हर्षम्—प्रसन्नता; शोकम्—शोक; भयम्—भय, डर; दु:खम्—दुख; सुखम्—सुख; च—भी; अनेन—स्थूल शरीर से; विन्दति—भोगता है।.

सूक्ष्म शरीर की क्रियाओं से जीव स्थूल शरीरों को विकसित करता और त्यागता रहता है। यह आत्मा का देहान्तरण कहलाता है। इस प्रकार आत्मा विभिन्न प्रकार के हर्ष, शोक, भय, सुख तथा दुख का अनुभव करता है।

तात्पर्य : इस व्याख्या से स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि मूलत: जीव का स्वरूप भगवान् के ही समान शुद्ध आध्यात्मिक था। किन्तु जब इस संसार में मन इन्द्रियतृप्ति की इच्छाओं से दूषित हो जाता है, तो वह भौतिक अवस्था में चला आता है और अपना भौतिक जीवन प्रारम्भ करता है, जिसका अर्थ है कि वह एक शरीर से दूसरे में जाता है और इस संसार में अधिकाधिक फँसता जाता है। कृष्णभावनामृत की विधि जिसमें मनुष्य सदैव कृष्ण का चिन्तन करता है। वह दिव्य विधि है, जिससे मनुष्य अपनी मूल आध्यात्मिक स्थिति को लौट सकता है। भक्ति का अर्थ है श्रीकृष्ण का सदैव चिन्तन।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

''सदैव मेरा चिन्तन करो और मेरे भक्त बनो। मेरी पूजा करो और मुझे ही नमस्कार करो। इस प्रकार तुम निश्चय ही मेरे पास आओगे। मैं तुम्हें यह वचन देता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय मित्र हो'' (*भगवद्गीता* १८.६५)।

मनुष्य को सदैव भगवान् की भक्ति करनी चाहिए। जैसाकि अर्चना-मार्ग में संस्तुत है, मनुष्य को चाहिए कि मन्दिर में श्रीविग्रह की पूजा करे और गुरु तथा श्रीविग्रह को निरन्तर नमस्कार करे। ये विधियाँ उन लोगों के लिए हैं, जो वास्तव में भौतिक बन्धन से मुक्त होना चाहते हैं। आधुनिक मनोविज्ञानी मन की क्रियाओं—चिन्तन, अनुभव तथा कामना—का अध्ययन कर सकते हैं, किन्तु वे

गहराई तक नहीं जा पाते। यह उनके ज्ञान के अभाव तथा किसी मुक्त आचार्य की संगति न होने के कारण है।

जैसाकि *भगवद्गीता* (४.२) में कहा गया है—

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।

स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥

"इस प्रकार शिष्य-परम्परा द्वारा यह परम ज्ञान प्राप्त किया गया और राजर्षियों ने इसे इस विधि से जाना, किन्तु कालक्रम में यह परम्परा खण्डित हो गई जिससे यह विज्ञान यथार्थ रूप में लुप्त हो गया प्रतीत होता है।" तथाकथित मनोविज्ञानियों एवं दार्शनिकों के पथ-प्रदर्शन में आधुनिक युग के लोग सूक्ष्म शरीर के कार्यों से अपरिचित हैं, अतः वे आत्मा के देहान्तर का अभिप्राय नहीं समझ पाते। ऐसे विषयों में हमें *भगवद्गीता* के (२.१३) प्रामाणिक कथनों को मानना चाहिए—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

"जिस प्रकार बद्धजीव को इस देह में क्रम से कौमार, यौवन तथा वृद्धावस्था की प्राप्ति होती है, उसी तरह मृत्यु होने पर अन्य देह की प्राप्ति होती है। स्वरूपसिद्ध धीर पुरुष इस परिवर्तन से सम्मोहित नहीं होता।" जब तक सारा मानव-समाज *भगवद्गीता* के इस महत्त्वपूर्ण श्लोक को नहीं समझ लेता, तब तक सभ्यता ज्ञान की ओर नहीं, अपितु अज्ञान की दिशा में बढ़ती जाएगी।

यथा तृणजलूकेयं नापयात्यपयाति च ।
न त्यजेन्म्रियमाणोऽपि प्राग्देहाभिमतिं जनः ॥ ७६ ॥
यावदन्यं न विन्देत व्यवधानेन कर्मणाम् ।
मन एव मनुष्येन्द्र भूतानां भवभावनम् ॥ ७७ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; तृण-जलूका—एक प्रकार का कीट; इयम्—यह; न अपयाति—जाती नहीं है; अपयाति—जाती है; च—भी; न—नहीं; त्यजेत्—त्याग देता है; म्रियमाणः—मरणप्राय; अपि—भी; प्राक्—पूर्व; देह—शरीर के साथ; अभिमतिम्—पहचान; जनः—व्यक्ति; यावत्—जब तक; अन्यम्—दूसरा; न—नहीं; विन्देत—प्राप्त करता है; व्यवधानेन—रुकने से; कर्मणाम्—कर्मों का; मनः—मन; एव—निश्चय ही; मनुष्य-इन्द्र—हे पुरुषों के शासक; भूतानाम्—समस्त जीवों का; भव—संसार का; भावनम्—कारण।

इल्ली (कीट विशेष) एक पत्ती को छोड़ने के पहले दूसरी पत्ती को पकड़ कर एक से दूसरी

पत्ती में जाती है। इसी प्रकार जीव को अपना शरीर त्यागने के पूर्व अपने पूर्व कर्म के अनुसार अन्य शरीर को ग्रहण करना होता है। इसका कारण यह है कि मन सभी प्रकार की इच्छाओं का आगार (भण्डार) है।

तात्पर्य : भौतिक कार्य में अत्यधिक लिप्त जीव भौतिक शरीर के प्रति बहुत अधिक आसक्त रहता है। यहाँ तक कि मृत्यु के समय भी वह अपने शरीर के विषय में तथा अपने सम्बन्धियों के बारे में सोचता रहता है। इस प्रकार वह देहात्मबुद्धि में इतना लीन रहता है कि मृत्यु के क्षण तक भी अपने वर्तमान शरीर को छोड़ना नहीं चाहता। कभी-कभी कोई कोई व्यक्ति मृत्यु के पूर्व अनेक दिनों तक मूर्छावस्था में रहता है। यह विशेष रूप से उन तथाकथित राजनीतिज्ञों तथा नेताओं के साथ घटित होता है, जो यह सोचते हैं कि उनके बिना सारे देश तथा समाज में अराजकता फैल जाएगी। यही माया है। राजनीतिक नेता अपना राजनीतिक पद नहीं छोड़ना चाहते। उनका या तो किसी शत्रु के द्वारा वध कर दिया जाता है या फिर मृत्यु उन्हें मिटा देती है। उत्तम व्यवस्था द्वारा जीव को दूसरा शरीर प्रदान किया जाता है, किन्तु वर्तमान शरीर के प्रति आसक्ति के कारण वह दूसरे शरीर में नहीं जाना चाहता, अत: उसे प्राकृतिक नियमों के द्वारा दूसरा शरीर स्वीकार करने को बाध्य किया जाता है।

प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश: ।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥

"प्रकृति के तीन गुणों के अधीन मोहग्रस्त जीव अपने आपको उन समस्त कार्यों का कर्त्ता मान बैठता है, जो वास्तव में प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं" (*भगवद्गीता* ३.२७)।

प्रकृति अत्यन्त प्रबल है और भौतिक गुण मनुष्य को दूसरा शरीर ग्रहण करने के लिए बाध्य कर देते हैं। यह शक्ति तब दिखती है जब जीव एक उत्तम शरीर से अधम शरीर में जाता है। जो मनुष्य इस शरीर में कुत्ते या सुअर जैसा आचरण करता है उसे अगले जीवन में कुत्ते या सुअर का शरीर धारण करना होगा। भले ही कोई प्रधान मंत्री या राष्ट्रपति के शरीर का भोग कर रहा हो, किन्तु जब उसे यह पता चल जाता है कि उसे कुत्ते या सुअर का शरीर धारण करना पड़ेगा तो वह वर्तमान शरीर को त्यागना नहीं चाहता। अत: वह मृत्यु के पूर्व अनेक दिनों तक मूर्छा में पड़ा रहता है। अनेक राजनेताओं की मृत्यु के समय ऐसा देखा गया है। निष्कर्ष यह है कि अगला शरीर परम नियन्ता द्वारा पहले से ही

निश्चित कर दिया जाता है। जीव तुरन्त ही वर्तमान शरीर को छोड़ कर दूसरे में प्रवेश कर जाता है। कभी-कभी जीव अनुभव करता है कि वर्तमान शरीर की उसकी अनेक इच्छाएँ पूरी नहीं हो पाईं। जो अपने जीवन के प्रति अत्यधिक आसक्त होते हैं उन्हें प्रेत शरीर में रहना पड़ता है और दूसरा स्थूल शरीर धारण करने को नहीं मिलता। यहाँ तक कि प्रेत शरीर में भी वे अपने पड़ोसियों तथा सम्बन्धियों को तंग करते रहते हैं। ऐसी स्थिति का मुख्य कारण मन है। मन के ही अनुसार विभिन्न प्रकार के शरीर उत्पन्न होते हैं और जीव को उन्हें ग्रहण करना पड़ता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (८.६) में हुई है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित: ॥

"शरीर छोड़ते समय मनुष्य जैसी अवस्था का स्मरण करता है उसे वह निश्चित रूप से वही प्राप्त करता है।" अपने शरीर तथा मन में मनुष्य चाहे कुत्ते की तरह या ईश्वर की तरह सोच सकता है और उसे अगला जीवन उसी के अनुसार मिलता है। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* (१३.२२) में की गई है—

पुरुष: प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

"प्रकृति में स्थित जीवात्मा प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणों का भोग करते हुए जीवन शैली अपनाता है। गुणों का यही संग जीवात्मा के उत्तम-अधम योनियों में जन्म का कारण है।" जीव भौतिक गुणों के संग के अनुसार ही उत्तम या अधम शरीर में देहान्तर करता है। यदि वह तमोगुण का साथ करता है, तो उसे पशु या अधम व्यक्ति का शरीर प्राप्त होता है, किन्तु यदि वह सतो या रजोगुण का साथ करता है, तो उसे तदनुसार शरीर प्राप्त होता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.१८) में भी हुई है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसा: ।

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसा: ॥

"जो लोग सतोगुणी हैं, वे क्रमश: उच्चलोकों को जाते हैं, जो रजोगुणी हैं, वे पृथ्वी लोक पर रह पाते हैं, किन्तु जो तमोगुणी हैं, उनका नरकलोकों को अधोपतन होता हैं।"

संगति का मूल कारण मन है। यह महान् कृष्णभावनामृत-आन्दोलन मानव-समाज के लिए वरदान है, क्योंकि भक्ति के द्वारा यह सबों को कृष्ण के विषय में निरन्तर चिन्तन करने की शिक्षा देता

है। इस प्रकार जीवन के अन्त में मनुष्य कृष्ण की संगति को प्राप्त होता है। यह *नित्य लीला प्रविष्ट* अर्थात् गोलोक वृन्दावन में प्रवेश कहलाता है। *भगवद्गीता* (१८.५५) का कथन है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

"केवल भक्ति के द्वारा भगवान् के सही रूप को समझा जा सकता है। जब कोई ऐसी भक्ति से परमेश्वर का पूर्ण बोध प्राप्त कर लेता है, तो वह भगवान् के धाम में प्रविष्ट हो सकता है।" कृष्णभक्ति में मन के पूर्ण रूप से लीन होने पर मनुष्य गोलोक वृन्दावन नामक लोक में प्रवेश कर सकता है। भगवान् की संगति को प्राप्त करने के लिए कृष्ण को समझना आवश्यक है। कृष्ण को समझने की विधि भक्ति कहलाती है।

कृष्ण के स्वरूप को समझ लेने पर मनुष्य कृष्णलोक में प्रवेश करने और उनकी संगति करने का पात्र बन जाता है। ऐसे प्रतिष्ठित पद का कारण मन है। मन से ही मनुष्य को कुत्तों तथा सुअरों जैसे शरीर प्राप्त हो सकते हैं। अतः मन को कृष्णभक्ति में लीन रखना मानव जीवन की महानतम सिद्धि है।

यदाक्षैश्चरितान्ध्यायन्कर्माण्याचिनुतेऽसकृत् ।
सति कर्मण्यविद्यायां बन्धः कर्मण्यनात्मनः ॥ ७८ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; अक्षैः—इन्द्रियों द्वारा; चरितान्—भोगे गये सुख; ध्यायन्—चिन्तन करते हुए; कर्माणि—कर्म; आचिनुते—करता है; असकृत्—सदैव; सति कर्मणि—जब भौतिक व्यापार होते रहते हैं; अविद्यायाम्—मोहवश; बन्धः—बन्धन; कर्मणि—कर्म में; अनात्मनः—भौतिक शरीर का।

जब तक हम इन्द्रियसुखों का भोग करना चाहते हैं तब तक हम भौतिक कार्यों की सृष्टि करते रहते हैं। जब जीव भौतिक क्षेत्र में कर्म करता है, तो वह इन्द्रियों को भोगता है और ऐसा करने से वह भौतिक कर्मों की एक और शृंखला को जन्म देता है। इस प्रकार जीवात्मा बद्ध आत्मा के रूप में जकड़ जाता है।

तात्पर्य : सूक्ष्म शरीर में रहते हुए हम इन्द्रियतृप्ति के हेतु अनेक योजनाएँ बनाते हैं। ये सारी योजनाएँ मन में बीज रूप में अंकित होती रहती हैं। बद्ध जीवन में जीव एक के बाद एक अनेक शरीरों की शृंखला को जन्म देता है। यह कर्म-बन्धन कहलाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (३.९) में कहा गया है—*यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*—यदि हम विष्णु को प्रसन्न करने के लिए ही

कर्म करते हैं, तो भौतिक कर्म के कारण बन्धन नहीं होता, किन्तु यदि हम ऐसा नहीं करते तो हम एक-एक करके भौतिक कर्मों में बँधते जाते हैं। ऐसी दशा में यह मान लेना होगा कि चिन्तन, अनुभव तथा इच्छा से हम भावी भौतिक शरीरों की सृष्टि करते रहते हैं। भक्तिविनोद ठाकुर के शब्दों में—*अनादि कर्म फले, पडि'भवार्णव जले*। जीव अपने पुराने भौतिक कर्मों के कारण कर्मबन्धन के सागर में गिर जाता है। इस तरह भौतिक कर्म के समुद्र में गोता लगाने की बजाय हमें केवल जीवन निर्वाह के लिए भौतिक कर्म करना चाहिए। शेष समय भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगाना चाहिए। इस प्रकार कर्म के फल से उबरा जा सकता है।

अतस्तदपवादार्थं भज सर्वात्मना हरिम् ।
पश्यंस्तदात्मकं विश्वं स्थित्युत्पत्त्यप्यया यतः ॥ ७९ ॥

शब्दार्थ

अतः—अतएव; तत्—उस; अपवाद-अर्थम्—छुटकारा पाने के लिए; भज—भक्ति में लगो; सर्व-आत्मना—अपनी सारी इन्द्रियों सहित; हरिम्—भगवान् को; पश्यन्—देखते हुए; तत्—भगवान् का; आत्मकम्—वश में; विश्वम्—दृश्य जगत; स्थिति—पालन; उत्पत्ति—सृष्टि; अप्ययाः—तथा संहार; यतः—जिससे।

तुम्हें यह सदैव जानना चाहिए कि भगवान् की इच्छा से ही इस दृश्य जगत की उत्पत्ति, पालन तथा संहार होता है। फलतः इस दृश्य जगत के अन्तर्गत सारी वस्तुएँ भगवान् के अधीन हैं। इस पूर्ण ज्ञान से प्रकाश प्राप्त करने के लिए मनुष्य को सदैव भगवद्भक्ति में लगे रहना चाहिए।

तात्पर्य : भौतिक अवस्था में आत्म-साक्षात्कार अथवा अपने को ब्रह्म या आत्मा मानना अत्यन्त कठिन है। किन्तु यदि हम भगवद्भक्ति अपना लेते हैं, तो भगवान् शनै-शनै स्वयं को प्रकट करते हैं। इस प्रकार प्रगतिशील भक्त को धीरे-धीरे अपनी आध्यात्मिक स्थिति का पता चल जाता है। हम रात्रि के अंधकार में कुछ भी नहीं देख सकते, यहाँ तक कि स्वयं को भी नहीं देख पाते, किन्तु जब धूप रहती है, तो हम न केवल सूर्य को अपितु इस संसार की सारी वस्तुओं को भी देखते हैं। *भगवद्गीता* (७.१) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥

"हे पार्थ! अब सुनो कि किस प्रकार मेरी पूर्ण चेतना में मन को मुझमें लगाकर योग का अभ्यास

करने से तुम मुझे पूरी तरह संशय-रहित हो कर जान सकते हो, इसमें कोई संशय नहीं है।''

जब हम कृष्णभावनाभावित होने के उद्देश्य से अपने आपको भगवद्भक्ति में लगाते हैं, तो हम न केवल कृष्ण को अपितु उनसे सम्बन्धित प्रत्येक बात को समझ लेते हैं। दूसरे शब्दों में, कृष्णचेतना द्वारा न केवल कृष्ण तथा दृश्य जगत को अपितु अपनी स्वाभाविक स्थिति को भी समझा जा सकता है। कृष्णचेतना में रहकर हम यह समझ सकते हैं इस सृष्टि की उत्पत्ति, इसका पालन तथा इसका संहार भगवान् के द्वारा होता है। हम भी भगवान् के भिन्नांश हैं। उन्हीं के नियंत्रण में सारी वस्तुएँ हैं, अतः हमारा एकमात्र कर्तव्य है कि हम परमेश्वर की शरण में जाँय और उनकी दिव्य प्रेमपूर्ण सेवा में लग जाँय।

मैत्रेय उवाच
भागवतमुख्यो भगवान्नारदो हंसयोर्गतिम् ।
प्रदर्श्य ह्यमुमामन्त्र्य सिद्धलोकं ततोऽगमत् ॥ ८० ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; भागवत—भक्तों का; मुख्यः—प्रमुख; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; नारदः—नारद मुनि; हंसयोः—जीव तथा भगवान् की; गतिम्—स्वाभाविक स्थिति; प्रदर्श्य—दिखला कर; हि—निश्चय ही; अमुम्—उस (राजा) को; आमन्त्र्य—बुलाकर; सिद्ध-लोकम्—सिद्ध लोक को; ततः—तत्पश्चात्; अगमत्—चला गया।

मैत्रेय ऋषि ने कहा : महान् सन्त तथा परम भक्त नारद ने इस प्रकार राजा प्राचीनबर्हि के समक्ष भगवान् तथा जीव की स्वाभाविक स्थिति की व्याख्या प्रस्तुत की। राजा को आमंत्रित करते हुए नारद मुनि सिद्धलोक को वापस चले गये।

तात्पर्य : सिद्धलोक तथा ब्रह्मलोक एक ही लोक-मंडल के भीतर हैं। ब्रह्मलोक इस ब्रह्माण्ड में सबसे ऊपर स्थित लोक समझा है और सिद्धलोक इसका उपग्रह है। सिद्धलोक के सभी निवासी योगशक्ति से सम्पन्न होते हैं। इस श्लोक से प्रतीत होता है कि नारद मुनि सिद्धलोक के वासी हैं, यद्यपि वे सभी लोकों में विचरण करते रहते हैं। सिद्धलोक के सभी निवासी अन्तरिक्ष-पुरुष हैं और वे बिना किसी यंत्र के अन्तरिक्ष में विचरण कर सकते हैं। सिद्धलोक के वासी मात्र अपनी योगिक सिद्धि के बल पर एक लोक से दूसरे लोक की यात्रा कर सकते हैं। राजा प्राचीनबर्हि को उपदेश देने के बाद नारद मुनि सिद्धलोक को चले गये और राजा को सिद्धलोक का आमंत्रण देते गये।

प्राचीनबर्ही राजर्षिः प्रजासर्गाभिरक्षणे ।
आदिश्य पुत्रानगमत्तपसे कपिलाश्रमम् ॥ ८१ ॥

शब्दार्थ

प्राचीनबर्हिः—राजा प्राचीनबर्हि; राज-ऋषिः—साधु राजा; प्रजा-सर्ग—नागरिकों का समूह; अभिरक्षणे—रक्षा करने के लिए; आदिश्य—आदेश देकर; पुत्रान्—अपने पुत्रों को; अगमत्—प्रस्थान किया; तपसे—तपस्या करने के लिए; कपिल-आश्रमम्—कपिलाश्रम नामक तीर्थ स्थल को।

अपने मंत्रियों की उपस्थिति में राजर्षि प्राचीनबर्हि ने अपने पुत्रों को नागरिकों की रक्षा करने के लिए आदेश छोड़ा। तब उन्होंने घर छोड़ दिया और तपस्या हेतु कपिलाश्रम नामक तीर्थस्थान के लिए प्रस्थान किया।

तात्पर्य : इस श्लोक में *प्रजासर्ग* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जब राजर्षि प्राचीनबर्हि को नारद मुनि ने गृहत्याग करने तथा भगवद्भक्ति करने की दीक्षा दी तब तक उसके पुत्र जल में तपस्या करके नहीं लौटे थे। किन्तु उसने उनके वापस आने की प्रतीक्षा नहीं की, अपितु यह संदेश देते गये कि वे प्रजा की रक्षा करें। वीर राघव आचार्य के अनुसार ऐसी रक्षा का अर्थ है प्रजा को चार वर्णों तथा चार आश्रमों के विशिष्ट विभागों में गठित करना। राजाओं का उत्तरदायित्व होता था कि वे यह देखें कि प्रजा चारों वर्णों (अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) तथा चारों आश्रमों (अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) के धर्मों का पालन कर रही है। इस वर्णाश्रम धर्म को सुगठित किये बिना किसी राज्य में प्रजा पर शासन चलाना अत्यन्त कठिन है। मात्र विधान सभा में प्रत्येक वर्ष अधिनियम बना कर राज्य में प्रजा पर शासन करना तथा उन्हें पूर्ण शान्ति में रखना सम्भव नहीं है। अच्छी सरकार के लिए वर्णाश्रम धर्म अत्यावश्यक है। मनुष्य के एक वर्ग (ब्राह्मणों) को बुद्धिमान तथा ब्राह्मण के रूप में योग्य होना चाहिए, दूसरे वर्ग (क्षत्रिय) को प्रशासन में प्रशिक्षित होना चाहिए, अन्य वर्ग को व्यापार में (वैश्य) और इससे भी अवर वर्ग (शूद्र) को श्रम में प्रशिक्षित होना चाहिए। मनुष्यों के ये चारों वर्ग प्रकृति के अनुसार पहले से हैं, किन्तु सरकार का कर्तव्य होता है कि वह देखे कि ये चारों वर्ग अपने-अपने वर्ण का नियमपूर्वक पालन करें। यह अभिरक्षण कहलाता है।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब नारद के उपदेश से महाराज प्राचीनबर्हि जीवन के उद्देश्य के प्रति आश्वस्त हो गया तो उसने अपने पुत्रों के लौटने की क्षणमात्र भी प्रतीक्षा नहीं की, वरन् तुरन्त ही प्रस्थान कर दिया। उसे अपने पुत्रों के लौटने पर अनेक कार्य करने थे, किन्तु उसने उनके लिए केवल सन्देश छोड़ा। उसने जान लिया था कि यह उसका मुख्य कर्तव्य था। उसने अपने पुत्रों के लिए केवल

सन्देश छोड़ा और वह आध्यात्मिक उन्नति के लिए घर छोड़ कर चला गया। यही वैदिक सभ्यता की विधि है।

श्रीधर स्वामी का कथन है कि कपिलाश्रम गंगा नदी तथा बंगाल की खाड़ी के संगम पर स्थित है, जिसे अब गंगासागर कहा जाता है। आज भी यह स्थान तीर्थयात्रा के लिए प्रसिद्ध है और मकर संक्रान्ति के दिन प्रतिवर्ष लाखों लोग यहाँ एकत्र होकर स्नान करते हैं। इसका नाम कपिलाश्रम इसलिए है क्योंकि यहाँ पर भगवान् कपिल ने रहकर तपस्या की थी। उन्होंने सांख्य दर्शन का प्रवर्तन किया।

तत्रैकाग्रमना धीरो गोविन्दचरणाम्बुजम् ।
विमुक्तसङ्गोऽनुभजन्भक्त्या तत्साम्यतामगात् ॥ ८२ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; एक-अग्र-मनाः—पूर्ण मनोयोग से; धीरः—गम्भीर; गोविन्द—कृष्ण के; चरण-अम्बुजम्—चरणकमलों की; विमुक्त—मुक्त होकर; सङ्गः—भौतिक संगति; अनुभजन्—लगातार भक्ति में लगकर; भक्त्या—शुद्ध भक्ति से; तत्—भगवान् के साथ; साम्यताम्—समता; अगात्—प्राप्त किया।

कपिलाश्रम में तपस्या करके राजा प्राचीनबर्हि ने समस्त भौतिक उपाधियों से पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर ली। वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर लगा रहा और गुणात्मक दृष्टि से भगवान् के ही समान आध्यात्मिक पद पर पहुँच गया।

तात्पर्य : *तत् साम्यताम् अगात्* पद का विशेष महत्त्व है। राजा ने भगवान् के ही समान पद प्राप्त कर लिया। निश्चित रूप से इससे यह सिद्ध हो जाता है कि भगवान् सदैव पुरुष होता है। अपने निराकार रूप में वह अपने दिव्य शरीर की किरणों के समान होता है। जब जीव आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त कर लेता है, तो उसे भी सच्चिदानन्द-विग्रह जैसा शरीर मिल जाता है। यह आध्यात्मिक शरीर कभी भी भौतिक तत्त्वों के साथ नहीं मिलता। बद्ध जीवन में यद्यपि वह भौतिक तत्त्वों (यथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार) से घिरा रहता है, किन्तु वह उनसे सदा पृथक् भी बना रहता है। अन्य शब्दों में, जीव किसी भी समय भौतिक स्थिति से मुक्त हो सकता है, बशर्ते कि वह वैसा होना चाहे। यह भौतिक परिवेश माया कहलाता है। कृष्ण के अनुसार (*भगवद्गीता* ७. १४)—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

"मेरी यह दैवी शक्ति अर्थात् त्रिगुणमयी माया बड़ी दुस्तर है। परन्तु जो मेरे शरणागत हो जाते हैं,

वे सुगमतापूर्वक इसे तर जाते हैं।"

ज्योंही जीव भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लग जाता है, वह तुरन्त ही समस्त भौतिक स्थितियों से मुक्ति पा लेता है (*स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते*)। जीव भौतिक स्थिति में जीवभूत पद पर रहता है, किन्तु जब वह भगवान् की भक्ति करता है, तो वह ब्रह्मभूत पद को प्राप्त होता है। ब्रह्मभूत पद पर जीव भौतिक बन्धन से छूट जाता है और भगवान् की सेवा में लग जाता है। इस श्लोक में आगत धीर शब्द को कभी-कभी *वीर* पढ़ा जाता है। वास्तव में इन दोनों में बहुत कम अन्तर है। *धीर* का अर्थ है "गम्भीर" और *वीर* का अर्थ है "बहादुर।" जो माया से संघर्ष करता है, वह वीर (बहादुर) है और जो अपनी स्थिति को समझने में अत्यन्त गम्भीर होता है, वह धीर है। बिना धीर अथवा वीर बने वह आध्यात्मिक मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

एतदध्यात्मपारोक्ष्यं गीतं देवर्षिणानघ ।
यः श्रावयेद्यः शृणुयात्स लिङ्गेन विमुच्यते ॥ ८३ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; अध्यात्म—आध्यात्मिक; पारोक्ष्यम्—प्रामाणिक विवरण; गीतम्—वर्णन किये गये; देव-ऋषिणा—देवर्षि नारद के द्वारा; अनघ—हे निष्पाप विदुर; यः—जो; श्रावयेत्—वर्णन कर सकता है; यः—जो; शृणुयात्—सुन सकता है; सः—वह; लिङ्गेन—देहात्मबुद्धि से; विमुच्यते—छूट जाता है।

हे विदुर, जो कोई जीव के आध्यात्मिक अस्तित्व को समझने से सम्बद्ध, नारद द्वारा कहे गये इस आख्यान को सुनता है या ऐसे अन्यों को सुनाता है, वह देहात्मबुद्धि की अवधारणा से मुक्त हो जाएगा मुक्त हो जाएगा।

तात्पर्य : यह भौतिक सृष्टि आत्मा का स्वप्न है। वस्तुतः इस भौतिक जगत का संपूर्ण अस्तित्व महाविष्णु का स्वप्न है, जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में वर्णन मिलता है—

यः कारणार्णवजले भजति स्म योग-

निद्रामनन्तजगदण्डसरोमकूपः ।

यह जगत महाविष्णु की स्वप्नावस्था द्वारा उत्पन्न हुआ। वास्तविक मंच तो आध्यात्मिक जगत है, किन्तु जब आत्मा परमात्मा का अनुकरण करना चाहता है, तो वह उस स्वप्न-जगत में भेज दिया जाता है। प्रकृति के भौतिक गुणों के संपर्क में आने के पश्चात, जीव सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों को विकसित करता है। जीव को जब श्रीनारद महामुनि या उनके दासों की संगति करने का सुअवसर मिलता है, तो

वह भौतिक सृष्टि के स्वप्न लोक तथा देहात्मबुद्धि से मुक्त हो जाता है।

एतन्मुकुन्दयशसा भुवनं पुनानं
देवर्षिवर्यमुखनिःसृतमात्मशौचम् ।
यः कीर्त्यमानमधिगच्छति पारमेष्ठ्यं
नास्मिन्भवे भ्रमति मुक्तसमस्तबन्धः ॥ ८४॥

शब्दार्थ

एतत्—यह आख्यान; मुकुन्द-यशसा—भगवान् कृष्ण की ख्याति से; भुवनम्—यह भौतिक जगत; पुनानम्—पवित्र करने वाला; देव-ऋषि—ऋषियों के; वर्य—प्रमुख; मुख—मुख से; निःसृतम्—निकला हुआ; आत्म-शौचम्—हृदय को पवित्र करने वाला; यः—जो कोई; कीर्त्यमानम्—कीर्तन किया गया; अधिगच्छति—वापस जाता है; पारमेष्ठ्यम्—आध्यात्मिक जगत को; न—कभी नहीं; अस्मिन्—इसमें; भवे—भौतिक जगत में; भ्रमति—घूमता है; मुक्त—मुक्त होकर; समस्त—सभी; बन्धः—बन्धनों से।

नारद मुनि द्वारा उद्बोधित यह आख्यान (कथा) भगवान् की दिव्य ख्याति से पूर्ण है। अतः जब इस आख्यान का वर्णन किया जाता है, तो वह इस भौतिक जगत को पवित्र कर देता है। वह जीव के हृदय को पवित्र करता है और उसे आध्यात्मिक स्वरूप प्राप्त करने में सहायक होता है। जो कोई इस दिव्य आख्यान को सुनाता है, वह समस्त भौतिक बन्धनों से मुक्त हो जाएगा और उसे इस भौतिक जगत में भटकना नहीं पड़ेगा।

तात्पर्य : जैसाकि श्लोक संख्या ७९ में इंगित किया जा चुका है, नारद मुनि ने अनुष्ठानों एवं कर्मों को सम्पन्न करने में समय न गँवाकर राजा प्राचीनबर्हि को भक्ति करने का उपदेश दिया। इस अध्याय में सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों के सजीव वर्णन अत्यन्त वैज्ञानिक हैं और नारद मुनि द्वारा व्याख्यायित किये जाने के कारण अत्यन्त प्रामाणिक हैं। ये आख्यान भगवान् की महिमा से पूर्ण होने के कारण मन की शुद्धि के लिए अत्यन्त सशक्त साधन हैं। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने पुष्टि की है—*चेतो दर्पणमार्जनम्।* जितना ही हम कृष्ण के विषय में बोलते, सुनते या उपदेश देते हैं उतना ही हम शुद्ध होते जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हमें भ्रान्तियुक्त स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर धारण न करके अपनी आध्यात्मिक पहचान ग्रहण करनी होती है। जो इस आध्यात्मिक ज्ञान को समझने का प्रयास करता है, वह इस अज्ञान-सागर से उबर आता है। इस प्रसंग में *पारमेष्ठ्यम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *पारमेष्ठ्यम्* को ब्रह्मलोक भी कहते हैं, जहाँ ब्रह्मा निवास करता है। ब्रह्मलोक के वासी सदैव ऐसे आख्यानों की चर्चा करते हैं जिससे इस संसार के संहार के बाद वे सीधे वैकुण्ठलोक को जा सकें। जो वैकुण्ठलोक

को चला जाता है उसे इस संसार में इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता। कभी-कभी आध्यात्मिक कार्य भी *पारमेष्ठ्यम्* कहलाते हैं।

अध्यात्मपारोक्ष्यमिदं मयाधिगतमद्भुतम् ।
एवं स्त्रियाश्रमः पुंसश्छिन्नोऽमुत्र च संशयः ॥ ८५ ॥

शब्दार्थ

अध्यात्म—आध्यात्मिक; पारोक्ष्यम्—अधिकारी द्वारा वर्णित; इदम्—यह; मया—मेरे द्वारा; अधिगतम्—सुना हुआ; अद्भुतम्—आश्चर्यजनक; एवम्—इस प्रकार; स्त्रिया—स्त्री के साथ; आश्रमः—शरण; पुंसः—जीव का; छिन्नः—मिट जाता है; अमुत्र—अगले जन्म के विषय में; च—भी; संशयः—सन्देह।

यहाँ पर अधिकार पूर्वक वर्णित राजा पुरञ्जन का रूपक मैंने अपने गुरु से सुना था। यह अध्यात्मिक ज्ञान से पूर्ण है। यदि कोई इस रूपक के उद्देश्य को समझ ले तो वह निश्चय ही देहात्मबुद्धि से छुटकारा पा जाएगा और मृत्यु के पश्चात् जीवन को ठीक से समझ सकेगा। यदि वह आत्मा के देहान्तर को ठीक से न समझ पाये तो वह इस आख्यान को पढ़कर उसे अच्छी तरह समझ सकता है।

तात्पर्य : *स्त्रिया* शब्द, जिसका अर्थ "पत्नी के साथ" है, महत्त्वपूर्ण है। साथ-साथ रहने वाले स्त्री तथा पुरुष ही इस संसार के सार-समाहार हैं। स्त्री तथा पुरुष के मध्य अत्यन्त प्रबल आकर्षण होता है। सभी योनियों में नर तथा मादा के मध्य पाया जाने वाला आकर्षण उनके अस्तित्व का आधारभूत सिद्धान्त है। पारम्पारिक मेल-जोल का यह सिद्धान्त मानव-समाज पर भी लागू होता है, किन्तु यह नियमित होता है। संसार का अर्थ है नर तथा मादा का एकसाथ रहना तथा एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होना। किन्तु आध्यात्मिक जीवन को भली-भाँति जान लेने पर विपरीत लिंग के लिए आकर्षण पूरी तरह समाप्त हो जाता है। ऐसे आकर्षण से ही मनुष्य इस भौतिक जगत में अत्यधिक आसक्त रहता है। यह हृदय के भीतर की कठोर ग्रन्थि है।

पुंसः स्त्रिया मिथुनीभावमेतं

तयोर्मिथो हृदयग्रन्थिमाहुः।

अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तै

र्जनस्य मोहोऽयमहं ममेति॥

(*भागवत* ५.५.८)

प्रत्येक व्यक्ति इस जगत में इन्द्रियतृप्ति के प्रति आसक्त होकर आता है और इन्द्रियतृप्ति की कठोर ग्रन्थि नर तथा मादा के मध्य आकर्षण है। इस आकर्षण से मनुष्य *गृहक्षेत्रसुताप्तवित्त*—अर्थात् घर, भूमि, सन्तान, मित्र, धन इत्यादि के रूप में अत्यधिक आसक्त रहता है। इस प्रकार मनुष्य "मैं" तथा "मेरा" की देहात्मबुद्धि में फँस जाता है। किन्तु यदि वह राजा पुरञ्जन की कथा को समझता है और यह भी समझता है कि किस प्रकार कामवासना के कारण वह अगले जन्म में स्त्री बना तो मनुष्य को देहान्तर की क्रिया भी समझ में आ जायेगी।

विशेष टिप्पणी :

मध्वाचार्य सम्प्रदाय के श्रीविजयध्वज तीर्थ के अनुसार निम्नलिखित श्लोकों में से प्रथम दो श्लोक इस अध्याय के ४५ वें श्लोक के बाद आते हैं और शेष दो श्लोक ७९ वें श्लोक के बाद आते है।

सर्वेषामेव जन्तूनां सततं देहपोषणे।
अस्ति प्रज्ञा समायत्ता को विशेषस्तदा नृणाम्॥१अ॥
लब्ध्वेहान्ते मनुष्यत्वं हित्वा देहाद्यसद्ग्रहम्।
आत्मसृत्या विहायेदं जीवात्मा स विशिष्यते॥२अ॥

सर्वेषाम्—सभी; एव—निश्चय ही; जन्तूनाम्—पशुओं का; सततम्—सदैव; देह-पोषणे—शरीर के पालन के लिए; अस्ति—है; प्रज्ञा—बुद्धि; समायत्ता—आधारित; कः—क्या; विशेषः—अन्तर; तदा—तब; नृणाम्—मनुष्यों का; लब्ध्वा—प्राप्त करके; इह—यहाँ; अन्ते—अनेक जन्मों के अन्त में; मनुष्यत्वम्—मनुष्य जीवन; हित्वा—त्याग कर; देह-आदि—स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर में; असत्-ग्रहम्—गलत जीवन का बोध; आत्म—आध्यात्मिक ज्ञान के; सृत्या—पथ के द्वारा; विहाय—त्याग कर; इदम्—यह शरीर; जीव-आत्मा—आत्मा; सः—वह; विशिष्यते—प्रमुख बन जाता है।

शरीर, स्त्री तथा बच्चों को पालने की इच्छा पशु समाज में भी देखी जाती है। पशुओं में ऐसे व्यापारों की व्यवस्था करते रहने की पूरी बुद्धि होती है। यदि मनुष्य केवल इसी बात में उन्नत हो तो फिर उसमें तथा पशु में क्या अन्तर है? मनुष्य को यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि विकास प्रक्रम में अनेकानेक जन्मों के पश्चात् यह मानव जीवन प्राप्त होता है। जो बुद्धिमान मनुष्य स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर की देहात्मबुद्धि को त्याग देता है, वह आध्यात्मिक ज्ञान के प्रकाश से परमेश्वर के ही समान प्रधान आत्मा बन जाएगा।

तात्पर्य : कहा जाता है कि मनुष्य तर्कशील पशु है, किन्तु इस श्लोक से हम यह भी समझ सकते हैं कि पशु जीवन में भी तर्कशक्ति पाई जाती है। जब तक तर्कशक्ति न हो, पशु किस प्रकार कठिन श्रम करके अपना शरीर-पालन कर सकता है? यह कहना कि पशु तर्कशील नहीं है असत्य है; हाँ उनकी

तर्कशीलता उन्नत नहीं होती। हम किसी तरह से उनकी तर्कशीलता से इनकार नहीं कर सकते। बात यह है कि मनुष्य को भगवान् को समझने के लिए तर्कशक्ति का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि यही मानव जीवन की पूर्णता है।

भक्तिः कृष्णे दया जीवेष्वकुण्ठज्ञानमात्मनि।
यदि स्यादात्मनो भूयादपवर्गस्तु संसृतेः ॥१आ॥

भक्तिः—भक्ति; कृष्णे—कृष्ण में; दया—दया; जीवेषु—अन्य जीवों पर; अकुण्ठ-ज्ञानम्—पूर्ण ज्ञान; आत्मनि—आत्मा का; यदि—यदि; स्यात्—हो; आत्मनः—आत्मा का; भूयात्—हो; अपवर्गः—मोक्ष; तु—तब; संसृतेः—भौतिक जीवन के बन्धन से।

यदि जीव का विकास कृष्णभक्ति में होता है और वह अन्यों पर दयालु होता है, यदि उसका आत्म-साक्षात्कार का आध्यात्मिक ज्ञान पूर्ण होता है, तो उसे संसार के बन्धन से अविलम्ब मोक्ष प्राप्त हो जाएगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में *दया जीवेषु* का अर्थ है "अन्य जीवों के प्रति दया" जिससे सूचित होता है कि यदि जीव आत्म-साक्षात्कार में प्रगति करने का इच्छुक है, तो उसे अन्य जीवों के प्रति दयालु होना चाहिए। इसका यह अर्थ हुआ कि उसे अपने आप पूर्ण बनकर तथा कृष्ण के चिर दास के रूप में अपनी स्थिति को समझने के बाद इस ज्ञान का उपदेश करना चाहिए। इसका उपदेश करना ही जीवों के प्रति वास्तविक दया दिखाना है। अन्य प्रकार के मानव-कल्याणकारी कार्य शरीर के लिए क्षणिक लाभप्रद हो सकते हैं, किन्तु जीव के आत्मा होने से मनुष्य वास्तविक दया तभी दिखा सकता है जब वह उसे आध्यात्मिक स्थिति का ज्ञान करा दे। जैसाकि चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*जीवेर "स्वरूप" हय—कृष्णेर 'नित्यदास'*—प्रत्येक जीव स्वाभाविक रूप से कृष्ण का दास है। मनुष्य को इसका अनुभव करना चाहिए और जनसमूह में इसका उपदेश देना चाहिए। यदि कोई यह अनुभव कर लेता है कि वह कृष्ण का नित्य दास है, किन्तु इसका उपदेश नहीं देता तो उसका साक्षात्कार अधूरा है। अतः श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर गाते हैं—*दुष्ट मन, तुमि किसेर वैष्णव? प्रतिष्ठार तरे, निर्जनेर घरे, तवहरिनाम केवल कैतव*—हे मेरे मन! तुम कैसे वैष्णव हो? तुम झूठी प्रतिष्ठा तथा भौतिक ख्याति के लिए एकान्त स्थान में हरे कृष्ण मंत्र का जप कर रहे हो। इस प्रकार जो लोग उपदेश नहीं देते उनकी आलोचना की जाती है। वृन्दावन में ऐसे अनेक वैष्णव हैं, जो उपदेश करना पसन्द नहीं करते। वे

हरिदास ठाकुर की नकल करते हैं। एकान्त स्थान में उनके तथाकथित जप का वास्तविक फल यह होता है कि वे सोते हैं और स्त्री तथा धन का चिन्तन करते हैं। इसी प्रकार जो मन्दिर में पूजा करता है और जनसमूह के हितों को नहीं देखता अथवा भक्तों को नहीं पहचानता वह कनिष्ठ अधिकारी कहलाता है—

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।

न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥

(भागवत ११.२.४७)

अदृष्टं दृष्टवन्नङ्क्षेद् भूतं स्वप्नवदन्यथा।
भूतं भवद्भविष्यच्च सुप्तं सर्वरहोरहः॥२आ॥

अदृष्टम्—भावी सुख; दृष्ट-वत्—प्रत्यक्ष अनुभव की तरह; नङ्क्षेत्—परास्त हो जाता है; भूतम्—भौतिक संसार; स्वप्नवत्—स्वप्न की तरह; अन्यथा—नहीं तो; भूतम्—गत, भूतकाल में घटित; भवत्—वर्तमान; भविष्यत्—भविष्य; च—भी; सुप्तम्—स्वप्न; सर्व—सबों का; रहः-रहः—रहस्य।

काल के अन्तर्गत भूत, वर्तमान तथा भविष्य में जो कुछ घटित होता है, वह मात्र स्वप्न है। समस्त वैदिक साहित्य का यही रहस्य है।

तात्पर्य : वास्तव में सारा संसार मात्र स्वप्न है, अतः भूत, वर्तमान या भविष्य का प्रश्न ही नहीं उठता। जो लोग कर्मकाण्ड विचार वाले हैं जिसका तात्पर्य है कि वे ''सकाम कर्मों द्वारा भविष्य के सुख के लिए कार्यरत हैं'' वे भी स्वप्न देखते हैं। इसी तरह गत सुख तथा वर्तमान सुख भी स्वप्न मात्र हैं। वास्तविकता तो कृष्ण तथा कृष्ण-सेवा है, जो हमें माया के चंगुल से बचा सकती है जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* (७.१४) में कहा है—*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*—जो मेरी शरण ग्रहण करते हैं, वे मेरी माया को पार कर जाते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कंध के अन्तर्गत ''नारद तथा राजा प्राचीनबर्हि के मध्य वार्तालाप'' नामक उन्तीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तीस

प्रचेताओं के कार्यकलाप

विदुर उवाच

ये त्वयाभिहिता ब्रह्मन्सुताः प्राचीनबर्हिषः ।
ते रुद्रगीतेन हरिं सिद्धिमापुः प्रतोष्य काम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; ये—जो; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अभिहिताः—कहे गये थे; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; सुताः—सभी पुत्र; प्राचीनबर्हिषः—राजा प्राचीनबर्हि के; ते—वे सब; रुद्र-गीतेन—भगवान् शिव द्वारा रचे गये गीत से; हरिम्—भगवान् को; सिद्धिम्—सफलता; आपुः—प्राप्त किया; प्रतोष्य—प्रसन्न करके; काम्—क्या।.

विदुर ने मैत्रेय से जानना चाहाः हे ब्राह्मण, आपने पहले मुझसे प्राचीनबर्हि के पुत्रों के विषय में बतलाया था कि उन्होंने शिव द्वारा रचे हुए गीत के जप से भगवान् को प्रसन्न किया। तो उन्हें इस प्रकार क्या प्राप्त हुआ?

तात्पर्य : प्रारम्भ में मैत्रेय ऋषि ने प्राचीनबर्हि के पुत्रों के कार्यकलापों का वर्णन किया था। ये पुत्र समुद्र जैसे एक बड़े सरोवर के निकट गये और वहाँ पर भाग्यवश शिवजी से भेंट हो गई तो उन्होंने शिव द्वारा रचित गीतों के जप से भगवान् को प्रसन्न करना सीखा। तब नारद मुनि ने उनके पिता से पुरञ्जन की रूपक कथा कह कर कर्मों के प्रति उनकी आसक्ति को व्यर्थ सिद्ध कर दिया। अब विदुर पुनः प्राचीनबर्हि के पुत्रों के विषय में जानना चाहते थे—विशेष रूप से वे यह जानने के इच्छुक थे कि श्रीभगवान् को प्रसन्न कर लेने के बाद प्राचीनबर्हि के पुत्रों ने क्या प्राप्त किया। यहाँ पर *सिद्धिम् आपुः* अर्थात् सिद्धि प्राप्त की शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (७.३) में कहते हैं—*मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये*—हजारों व्यक्तियों में कोई एक यह जानने के लिए उत्सुक रहता है कि आध्यात्मिक विषयों में किस प्रकार सिद्धि प्राप्त की जाये। *भगवद्गीता* (८.१५) में भी परम सिद्धि का वर्णन हुआ है—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥

"मुझको प्राप्त हुए भक्तियोगी महात्माजनों का इस दुखपूर्ण अनित्य संसार में जन्म फिर कभी नहीं होता, क्योंकि वे परम संसिद्धि को प्राप्त हो चुके होते हैं।" और वह परम सिद्धि क्या है? इसी श्लोक में उसका भी वर्णन है। परम सिद्धि है भगवान् के धाम को लौटना जिससे मनुष्य को फिर से इस संसार में नहीं आना पड़ता और एक शरीर से दूसरे में देहान्तर नहीं करना पड़ता। शिव की कृपा से प्रचेतागणों ने वास्तव में सिद्धि प्राप्त कर ली और भौतिक सुविधाओं का अधिकाधिक भोग करके वे भगवान् के धाम को लौट गये। मैत्रेय अब विदुर से इसी का वर्णन करेंगे।

किं बार्हस्पत्येह परत्र वाथ
कैवल्यनाथप्रियपार्श्ववर्तिनः ।
आसाद्य देवं गिरिशं यदृच्छया
प्रापुः परं नूनमथ प्रचेतसः ॥ २॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; बार्हस्पत्य—हे बृहस्पति के शिष्य; इह—यहाँ; परत्र—विभिन्न लोकों में; वा—अथवा; अथ—इस तरह; कैवल्य-नाथ—मोक्ष के प्रदाता को; प्रिय—प्यारा; पार्श्व-वर्तिनः—से सम्बद्ध होने से; आसाद्य—मिलकर; देवम्—देवता; गिरि-शम्—कैलाश पर्वत के स्वामी को; यदृच्छया—भाग्य से; प्रापुः—प्राप्त किया; परम्—परमेश्वर; नूनम्—निश्चय ही; अथ—अतएव; प्रचेतसः—बर्हिषत् के पुत्र।

हे बार्हस्पत्य, राजा बर्हिषत् के पुत्रों ने, जिन्हें प्रचेता कहते हैं, उन्होंने भगवान् शिवजी से भेंट करने के बाद क्या प्राप्त किया, जो मोक्षदाता भगवान् को अत्यन्त प्रिय हैं? वे वैकुण्ठलोक तो गये ही, किन्तु इसके अतिरिक्त उन्होंने इस जीवन में, अथवा अन्य जीवनों में इस संसार में क्या प्राप्त किया?

तात्पर्य : इस लोक में अथवा अन्य लोकों में इसी जीवन में अथवा अगले जीवन में सभी तरह के भौतिक सुख प्राप्त होते हैं। जीव इस भौतिक ब्रह्माण्ड में अनेक योनियों एवं अनेक लोकों में घूमता रहता है। जीवन-काल में प्राप्त होने वाले सुख तथा दुख *इह* कहलाते हैं और अगले जीवन में प्राप्त होने वाले सुख-दुख *परत्र* कहलाते हैं।

वस्तुत: श्रीमहादेव (शिव) इस भौतिक जगत के महान् देवता हैं। सामान्यत: जनसाधारण को दिये जाने वाले उनके आशीर्वादों का अर्थ होता है भौतिक सुख। इस जगत की अधिष्ठात्री देवी दुर्गा भगवान् महादेव अथवा गिरिश के अधीन रहती हैं। अत: भगवान् महादेव किसी को भी किसी तरह का भौतिक सुख प्रदान कर सकते हैं। सामान्यत: लोग भौतिक सुख प्राप्त करने की इच्छा से भगवान् गिरिश के भक्त बनना पसन्द करते हैं, किन्तु प्रचेताओं की तो भाग्यवश महादेव जी से भेंट हुई थी। भगवान् महादेव ने उन्हें भगवान् की पूजा करने का उपदेश दिया और स्वयं भी भगवान् की स्तुति की। जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, शिवजी द्वारा की गई विष्णु की स्तुति (*रुद्रगीत*) के उच्चारण-मात्र से प्रचेतागण वैकुण्ठ को चले गये। कभी-कभी भक्तगण भौतिक सुख भी भोगना चाहते हैं, फलत: भक्त के वैकुण्ठलोक में प्रवेश के पूर्व भगवान् उसे भौतिक सुख भोगने का अवसर प्रदान करते हैं। कभी-कभी भक्त को जनलोक, महर्लोक, तपोलोक, सिद्धलोक इत्यादि जैसे लोक में भेज दिया

जाता है। किन्तु जो शुद्ध भक्त है उसे किसी प्रकार के भौतिक सुख की इच्छा नहीं रहती। फलतः शुद्ध भक्त को सीधे वैकुण्ठलोक भेजा जाता है, जिसे यहाँ पर *परम्* कहा गया है। इस श्लोक में विदुर बृहस्पति के शिष्य मैत्रेय से प्रचेताओं की विभिन्न सिद्धियों के विषय में पूछते हैं।

मैत्रेय उवाच
प्रचेतसोऽन्तरुदधौ पितुरादेशकारिणः ।
जपयज्ञेन तपसा पुरञ्जनमतोषयन् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; प्रचेतसः—प्रचेताओं ने; अन्तः—भीतर; उदधौ—समुद्र में; पितुः—अपने पिता के; आदेश-कारिणः—आज्ञाकारी; जप-यज्ञेन—मंत्रों के जप से; तपसा—कठिन तपस्या से; पुरम्-जनम्—भगवान् को; अतोषयन्—प्रसन्न किया।.

मैत्रेय ऋृषि ने कहा : राजा प्राचीनबर्हि के पुत्र प्रचेताओं ने अपने पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए समुद्र जल के भीतर कठिन तपस्या की। भगवान् शिव द्वारा प्रदत्त मंत्र का बारम्बार उच्चारण करके वे भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने में समर्थ हुए।

तात्पर्य : कोई चाहे तो भगवान् से प्रत्यक्ष रूप से प्रार्थना कर सकता है, किन्तु यदि वह शिवजी तथा ब्रह्माजी जैसे महान् भक्तों द्वारा की गई प्रार्थनाओं को दोहराता है या महापुरुषों के पदचिह्नों का अनुसरण करता है, तो वह सरलतापूर्वक भगवान् को प्रसन्न कर सकता है। उदाहरणार्थ, हम कभी-कभी *ब्रह्म-संहिता* के (५.२९) निम्नलिखित मंत्र का जप करते हैं—

चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्ष-
लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्।
लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं आदि भगवान् प्रथम प्रजापति गोविन्द की पूजा करता हूँ जो चिन्तामणि से बने तथा लाखों कल्पवृक्षों से घिरे आवासों में गायों का पालन करते हैं तथा समस्त इच्छाओं को प्रदान करने वाले हैं। लाखों लक्ष्मियाँ अथवा गोपियाँ बड़े ही आदर तथा प्रेम से सदैव उनकी सेवा करती रहती हैं।" चूँकि यह प्रार्थना ब्रह्मा द्वारा की गई थी, अतः हम इसे गाकर उनका अनुसरण करते हैं। भगवान् को प्रसन्न करने का यही सुगम उपाय है। शुद्ध भक्त कभी परमेश्वर के पास सीधे पहुँचने का प्रयास नहीं करता।

भगवान् के पास जाने की सबसे महत्त्वपूर्ण विधि है भक्तों की शिष्य-परम्परा द्वारा जाना। इस तरह शिव द्वारा की गई भगवान् की प्रार्थना प्रचेताओं ने दुहराई और वे परमेश्वर को प्रसन्न करने में सफल हुए।

यहाँ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को पुरञ्जन कहा गया है। मध्वाचार्य के अनुसार जीव को पुरञ्जन कहा जाता है, क्योंकि वह इस भौतिक जगत का वासी हो गया है और प्रकृति के त्रिगुणों के कारण उसे इसी जगत में रहना पड़ता है। इस भौतिक जगत (पुर) की सृष्टि भगवान् द्वारा की जाती है और वे इसमें प्रविष्ट भी होते हैं। *अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थम्।* भगवान् जीव के हृदय के भीतर तथा परमाणु के भीतर प्रवेश करते हैं, इसीलिए भगवान् तथा जीव दोनों ही पुरञ्जन कहलाते हैं। एक पुरञ्जन जीव परम पुरञ्जन के अधीन है, अत: अधीनस्थ पुरञ्जन का कर्तव्य है कि वह परम पुरञ्जन को तुष्ट रखे। यही भक्ति है। रुद्र या शिव ही वैष्णव सम्प्रदाय के, जिसे "रुद्र सम्प्रदाय" कहते हैं, मूल आचार्य हैं। *रुद्रगीतेन* शब्द सूचित करता है, कि रुद्र की शिष्य-परम्परा में प्रचेताओं को आध्यात्मिक सफलता प्राप्त हुई।

दशवर्षसहस्रान्ते पुरुषस्तु सनातन: ।
तेषामाविरभूत्कृच्छ्रं शान्तेन शमयन्रुचा ॥ ४॥

शब्दार्थ

दश-वर्ष—दस साल; सहस्र-अन्ते—एक हजार के अन्त में; पुरुष:—परम पुरुष; तु—तब; सनातन:—शाश्वत; तेषाम्—प्रचेताओं का; आविरभूत्—प्रकट हुआ; कृच्छ्रम्—कठिन तपस्या; शान्तेन—तुष्ट करते हुए; शमयन्—शान्त करते हुए; रुचा—अपने सौन्दर्य से।

प्रचेताओं द्वारा दस हजार वर्षों तक कठिन तपस्या किये जाने के बाद भगवान् तपस्या का फल देने के लिए उनके समक्ष अत्यन्त मनोहर रूप में प्रकट हुए। इससे प्रचेताओं को अपना श्रम सार्थक प्रतीत हुआ।

तात्पर्य : दस हजार वर्षों तक तपस्या करते रहना बहुत सुखद प्रयास नहीं लगता, तो भी भक्तगण भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिए ऐसी तपस्याएँ करते हैं। उस काल में जब जीवन अत्यन्त दीर्घ होता था, लोग हजारों वर्षों तक कठिन तपस्या कर सकते थे। कहा जाता है कि रामायण के रचयिता वाल्मीकि ने साठ हजार वर्षों तक ध्यान रूपी तपस्या की। भगवान् ने प्रचेताओं की तपस्या की सराहना की और अन्त में वे अत्यन्त मनोहर रूप में उनके समक्ष प्रकट हुए। इस प्रकार वे सभी अत्यन्त प्रसन्न हुए और की गई अपनी तपस्या के कष्ट को भूल गए। भौतिक जगत में यदि कोई कठिन श्रम के बाद

सफल होता है, तो वह अत्यधिक प्रसन्न होता है। इसी प्रकार भक्त भी भगवान् के संसर्ग में आते ही सारे श्रम तथा सारी तपस्या को भूल जाता है। यद्यपि ध्रुव महाराज केवल पाँच वर्ष के बालक थे, किन्तु उन्होंने सूखी पत्तियाँ खाकर, केवल जल पीकर तथा निराहार रहकर कठिन तपस्या की। इस तरह वे छ:मास के पश्चात् भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन कर सके थे। जब उन्होंने भगवान् का दर्शन किया, तो वे अपनी सारी तपस्या भूल गये और कहा—*स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि*—"हे भगवान्! मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ।"

असल में, ये तपस्याएँ सत्ययुग, द्वापर तथा त्रेतायुग में की गई थीं, इस कलियुग में नहीं। इस कलियुग में हरे कृष्ण महामंत्र का जप करने से वही फल प्राप्त किया जा सकता है। चूँकि इस युग के लोग पतित हैं अत: भगवान् इतने दयालु हैं कि उनको वे सबसे सरल विधि-प्रदान करते हैं। हरे कृष्ण महामंत्र के जप मात्र से कोई भी वही परिणाम प्राप्त कर सकता है। जैसाकि भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने इंगित किया है, हम इतने अभागे हैं कि हम हरे कृष्ण महामंत्र—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण, हरे हरे /हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का जप करने की ओर भी आकृष्ट नहीं होते।

सुपर्णस्कन्धमारूढो मेरुशृङ्गमिवाम्बुद: ।
पीतवासा मणिग्रीव: कुर्वन्वितिमिरा दिश: ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सुपर्ण—भगवान् विष्णु के वाहन गरुड़ के; स्कन्धम्—कन्धों पर; आरूढ:—आसीन; मेरु—मेरु नामक पर्वत की; शृङ्गम्—चोटी पर; इव—सदृश; अम्बुद:—बादल; पीत-वासा:—पीला वस्त्र पहने; मणि-ग्रीव:—कौस्तुभ मणि से सुशोभित गर्दन; कुर्वन्—करते हुए; वितिमिरा:—अंधकार से मुक्त; दिश:—सारी दिशाएँ।

गरुड़ के कन्धे पर आसीन भगवान् मेरु पर्वत की चोटी पर छाये बादल के समान प्रतीत हो रहे थे। भगवान् का दिव्य शरीर आकर्षक पीताम्बर से ढका था और उनकी गर्दन कौस्तुभ मणि से सुशोभित थी। भगवान् के शारीरिक तेज से ब्रह्माण्ड का सारा अंधकार दूर हो रहा था।

तात्पर्य : जैसाकि *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य २२.३१) में कहा गया है—

कृष्ण—सूर्यसम; माया हय अन्धकार।

याहाँ कृष्ण, ताहाँ नाहि मायार अधिकार॥

भगवान् प्रकाशमान सूर्य के समान हैं, अत: जहाँ भी वे उपस्थित रहते हैं वहाँ अंधकार या अज्ञान नहीं रह सकता। वास्तव में यह अंधकारमय ब्रह्माण्ड सूर्य द्वारा प्रकाशित है, किन्तु सूर्य तथा चन्द्रमा परमेश्वर के शारीरिक तेज को ही परावर्तित करते हैं। *भगवद्गीता* (७.८) में भगवान् कहते हैं—

प्रभास्मि शशिसूर्ययोः—मैं सूर्य तथा चन्द्रमा दोनों की प्रकाशमान शक्ति हूँ। निष्कर्ष यह है कि भगवान् का शारीरिक तेज ही सारे जीवन का उद्‌गम है। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* में भी हुई है—*यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि*। भगवान् के शारीरिक तेज से प्रकाशित होने पर सारी वस्तुएँ अंधकार से मुक्त हो जाती हैं।

काशिष्णुना कनकवर्णविभूषणेन
भ्राजत्कपोलवदनो विलसत्किरीटः ।
अष्टायुधैरनुचरैर्मुनिभिः सुरेन्द्रै
रासेवितो गरुडकिन्नरगीतकीर्तिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

काशिष्णुना—चमकीले; कनक—सोना; वर्ण—रंग के; विभूषणेन—आभूषणों से; भ्राजत्—चमकते हुए; कपोल—मस्तक; वदनः—मुख; विलसत्—झिलमिलाता हुआ; किरीटः—मुकुट; अष्ट—आठ; आयुधैः—आयुधों से; अनुचरैः—सेवा करने वालों से; मुनिभिः—मुनियों से; सुर-इन्द्रैः—देवताओं से; आसेवितः—सेवित; गरुड—गरुड़ द्वारा; किन्नर—किन्नर लोक के वासी; गीत—गाया हुआ; कीर्तिः—कीर्ति, महिमा।

भगवान् का मुख अत्यन्त सुन्दर था और उनका सिर चमकीले मुकुट तथा सुनहरे आभूषणों से सुशोभित था। यह मुकुट झिलमिला रहा था और सिर पर अत्यन्त सुन्दर ढंग से लगा था। भगवान् के आठ भुजाएँ थीं और प्रत्येक भुजा में एक विशेष आयुध था। वे देवताओं, ऋषियों तथा अन्य पार्षदों से घिरे हुए थे। ये सब उनकी सेवा कर रहे थे। भगवान् का वाहन गरुड़ अपने पंखों को फड़फड़ा कर वैदिक स्तोत्रों से भगवान् की महिमा का इस प्रकार गान कर रहा था मानो वह किन्नर लोक का वासी हो।

तात्पर्य : सामान्य रूप से विष्णु को चार भुजाओं में चार वस्तुएँ लिये प्रदर्शित किया जाता है (ये हैं शंख, चक्र, गदा तथा कमल पुष्प)। किन्तु यहाँ पर उन्हें आठ भुजाओं में आठ प्रकार के आयुध धारण किये हुए दिखाया गया है। वीरराघव आचार्य के अनुसार शंख तथा कमल पुष्प भी आयुध हैं। चूँकि भगवान् परम नियन्ता हैं, अतः वे जो भी अपने हाथ में धारण करते हैं, उसे आयुध माना जा सकता है। चार हाथ चार प्रकार के आयुध धारण किये रहते हैं और अन्य चार हाथों में वे धनुष, बाण, त्रिशूल तथा सर्प धारण करते हैं। श्री वीरराघव आचार्य शंख, चक्र, गदा, पद्म, शार्ङ्ग, शर इत्यादि को आठ आयुध बताते हैं।

किसी राजा के साथ सदैव उसके मंत्री, सचिव तथा सेनापति होते हैं, भगवान् विष्णु के साथ भी

उनके अनुचर—देवता, ऋषि, साधु इत्यादि—रहते हैं। वे कभी अकेले नहीं रहते। अत: भगवान् के निराकार होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वे स्वयं तथा उनके सभी पार्षद भी व्यक्ति हैं। इस श्लोक में दिये हुए वर्णन से लगता है कि गरुड़ किन्नरलोक का वासी था। किन्नरलोक के वासियों के स्वरूप भी गरुड़ जैसे होते हैं। उनके शरीर के अंग मनुष्यों जैसे होते हैं, किन्तु उनके पंख होते हैं। *गीतकीर्ति:* शब्द सूचित करता है कि किन्नरलोक के वासी भगवान् के यशोगान में अत्यन्त निपुण होते हैं। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—*जगदण्डकोटिकोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्।* प्रत्येक ब्रह्माण्ड में अनेक प्रकार के लोक होते हैं और प्रत्येक लोक की अपनी विशेषताएँ होती हैं। इस श्लोक के आधार पर हमें विदित होता है कि किन्नरलोक के वासी अपने पंखों से उड़ सकते हैं। एक अन्य लोक भी है, जो सिद्धलोक कहलाता है, जिसके वासी पंखों के बिना भी उड़ सकते हैं। इस प्रकार प्रत्येक लोक में पृथक्-पृथक् सुविधाएँ प्राप्त हैं। यही भगवान् की विविध सृष्टि का सौंदर्य है।

पीनायताष्टभुजमण्डलमध्यलक्ष्म्या
स्पर्धच्छ्रिया परिवृतो वनमालयाद्य: ।
बर्हिष्मत: पुरुष आह सुतान्प्रपन्नान्
पर्जन्यनादरुतया सघृणावलोक: ॥ ७॥

शब्दार्थ

पीन—बलिष्ठ; आयत—लम्बी; अष्ट—आठ; भुज—भुजाएँ; मण्डल—घेरा के; मध्य—बीच में; लक्ष्म्या—लक्ष्मी से; स्पर्धत्—स्पर्धा करते हुए; श्रिया—जिसकी सुन्दरता; परिवृत:—पड़ी हुई; वन-मालया—फूलों की माला से; आद्य:—आदि भगवान्; बर्हिष्मत:—राजा प्राचीनबर्हि के; पुरुष:—भगवान्; आह—सम्बोधित किया; सुतान्—पुत्रों को; प्रपन्नान्—शरणागत; पर्जन्य—बादल के समान; नाद—जिसकी ध्वनि; रुतया—वाणी से; स-घृण—दयापूर्वक; अवलोक:—अपनी दृष्टि, चितवन।

भगवान् के गले के चारों ओर घुटनों तक पहुँचने वाली फूलों की माला लटक रही थी। उनकी आठ बलिष्ट तथा लम्बी भुजाएँ उस माला से विभूषित थीं, जो लक्ष्मी जी की सुन्दरता को चुनौती दे रही थीं। दयापूर्ण चितवन तथा मेघ-गर्जना के समान वाणी से भगवान् ने राजा प्राचीनबर्हिषत् के पुत्रों को सम्बोधित किया जो उनकी शरण में आ चुके थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *आद्य:* शब्द महत्त्वपूर्ण है। भगवान् परमात्मा तथा ब्रह्म के भी मूलस्रोत हैं। जैसी कि *भगवद्गीता* (१४.२७) में पुष्टि हुई है—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*—परम सत्य, निराकार ब्रह्म से प्रारम्भ न होकर, आदि भगवान् श्रीकृष्ण से प्रारम्भ होता है। जब अर्जुन को कृष्ण की महानता का अनुभव हो गया तो उसने उन्हें इस प्रकार सम्बोधित किया (*भगवद्गीता* १०.१२)—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।

पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥

"आप परब्रह्म, परम धाम, पावन परम तत्त्व और सनातन दिव्य पुरुष हैं। आप ही चिन्मय दिव्य सौन्दर्य आदि देव, अजन्मा और सर्वव्यापी हैं।"

ब्रह्म-संहिता का यह भी कथन है—*अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्*—परमेश्वर अनादि है, किन्तु वह समस्त कारणों का कारण है। *वेदान्त सूत्र* का कहना है—*जन्माद्यस्य यतः*—परम सत्य वह है, जिससे प्रत्येक वस्तु उद्भूत है। परम सत्य को *आदिपुरुष* कहा जाता है। अतः परम सत्य निराकार नहीं, अपितु पुरुष है।

श्रीभगवानुवाच
वरं वृणीध्वं भद्रं वो यूयं मे नृपनन्दनाः ।
सौहार्देनापृथग्धर्मास्तुष्टोऽहं सौहृदेन वः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; वरम्—वर, आशीर्वाद; वृणीध्वम्—माँगो; भद्रम्—कल्याण; वः—तुम सबका; यूयम्—तुम सब; मे—मुझसे; नृप-नन्दनाः—हे राजपुत्रो; सौहार्देन—मित्रता से; अपृथक्—अभिन्न; धर्माः—कार्य; तुष्टः—प्रसन्न; अहम्—मैं; सौहृदेन—मित्रता से; वः—तुम सबका।

भगवान् ने कहा : हे राजपुत्रो, मैं तुम लोगों के परस्पर मित्रतापूर्ण सम्बन्धों से अत्यधिक प्रसन्न हूँ। तुम सभी एक ही कार्य—भक्ति—में लगे हो। मैं तुम लोगों की मित्रता से इतना अधिक प्रसन्न हूँ कि मैं तुम्हारा कल्याण चाहता हूँ। अब तुम जो वर चाहो माँग सकते हो।

तात्पर्य : चूँकि राजा प्राचीनबर्हिषत् के पुत्र मिलकर कृष्णभक्ति कर रहे थे, अतः भगवान् उनसे अत्यधिक प्रसन्न थे। राजा प्राचीनबर्हिषत् के सभी पुत्र पृथक्-पृथक् जीव थे, किन्तु भगवान् की भक्ति करने में वे सभी एक थे। परमेश्वर को प्रसन्न करने अथवा भक्ति करने के लिए जीवों में एकता का प्रयास वास्तविक एकता है। भौतिक जगत में ऐसी एकता सम्भव नहीं है। भले ही आधिकारिक रूप से लोग एकमत हो लें, किन्तु उनके अलग-अलग स्वार्थ होते हैं। उदाहरणार्थ, संयुक्त राष्ट्र-संघ में सभी राष्ट्रों की अपनी-अपनी विशिष्ठ राष्ट्रीय आकांक्षाएँ होती हैं, अतः उन्हें एकमत नहीं किया जा सकता। इस संसार में जीवों के बीच विविधता इतनी प्रबल है कि कृष्णभावनामृत-संघ में भी कभी-कभी भिन्न मतों एवं विचारों तथा भौतिक स्वार्थों के प्रति झुकाव के कारण सदस्यों में विरोध पाया जाता है।

वस्तुतः कृष्णभक्ति में द्वैत नहीं रह सकता। वहाँ एकमात्र उद्देश्य है यथाशक्ति श्रीकृष्ण की सेवा करना। यदि सेवा को लेकर कोई मतभेद होता है, तो उसे आध्यात्मिक समझना चाहिए। जो भगवद्भक्ति में लगे हुए हैं, वे किसी भी परिस्थिति में विलग नहीं हो सकते। इससे भगवान् अत्यन्त प्रसन्न होते हैं और अपने भक्तों को कोई भी वर प्रदान करने के लिए तैयार रहते हैं जैसाकि इस श्लोक में इंगित किया गया है। हम देख सकते हैं कि भगवान् राजा प्राचीनबर्हिषत् के सभी पुत्रों को वर देने के लिए तुरन्त तैयार हो जाते हैं।

योऽनुस्मरति सन्ध्यायां युष्माननुदिनं नरः ।
तस्य भ्रातृष्वात्मसाम्यं तथा भूतेषु सौहृदम् ॥ ९॥

शब्दार्थ

यः—जो; अनुस्मरति—सदैव स्मरण करता है; सन्ध्यायाम्—शाम के समय; युष्मान्—तुमको; अनुदिनम्—प्रतिदिन; नरः—मनुष्य; तस्य भ्रातृषु—अपने भाइयों के प्रति; आत्म-साम्यम्—व्यक्तिगत समानता; तथा—और; भूतेषु—समस्त जीवों के प्रति; सौहृदम्—मित्रता।

भगवान् ने आगे कहा : जो प्रतिदिन संध्या समय तुम्हारा स्मरण करेंगे वे अपने भाइयों के प्रति तथा अन्य समस्त जीवों के प्रति मैत्रीभाव रखेंगे।

ये तु मां रुद्रगीतेन सायं प्रातः समाहिताः ।
स्तुवन्त्यहं कामवरान्दास्ये प्रज्ञां च शोभनाम् ॥ १०॥

शब्दार्थ

ये—जो लोग; तु—लेकिन; माम्—मुझको; रुद्र-गीतेन—रुद्र गीत द्वारा; सायम्—संध्या समय; प्रातः—प्रातःकाल; समाहिताः—सावधान रहकर; स्तुवन्ति—प्रार्थना करते हैं; अहम्—मैं; काम-वरान्—इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए समस्त वर, अभीष्ट वरदान; दास्ये—प्रदान करूँगा; प्रज्ञाम्—बुद्धि; च—भी; शोभनाम्—दिव्य।

जो लोग शिवजी द्वारा प्रणीत स्तुति से प्रातः तथा सायंकाल मेरी प्रार्थना करेंगे, उन्हें मैं वर प्रदान करूँगा। इस तरह वे अपनी इच्छाओं को पूरा करने के साथ-साथ सद्बुद्धि भी प्राप्त कर सकेंगे।

तात्पर्य : सद्बुद्धि का अर्थ है भगवान् के धाम को वापस जाना। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१०.१०) में हुई है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

"जो निरन्तर मेरी भक्ति करते तथा प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं उन्हें मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकें।"

जो अपनी विविध इच्छाओं की पूर्ति के उद्देश्य से भगवान् की प्रार्थना करता है, उसे यह जान लेना चाहिए कि इच्छा की चरमपूर्ति भगवान् के धाम को वापस जाना है। इस श्लोक में इंगित किया गया कि जो राजा प्राचीनबर्हिषत् के पुत्र प्रचेताओं के कार्यकलापों का स्मरण करता है उसका कल्याण और उद्धार होगा। अत: राजा के उन पुत्रों के लिए क्या कहना जो भगवान् से प्रत्यक्ष जुड़े हुए हैं? परम्परा-पद्धति की यही रीति है। यदि हम आचार्यों का अनुसरण करते हैं, तो हमें अपने पूर्ववर्तियों जैसा लाभ प्राप्त होता है। यदि कोई अर्जुन के निर्णयों का अनुसरण करता है, तो समझो कि वह भगवान् से सीधे *भगवद्गीता* सुन रहा है। प्रत्यक्ष भगवान् से *भगवद्गीता* सुनने तथा अर्जुन जैसे महापुरुष का, जिसने *भगवद्गीता* पहले भगवान् के मुख से सुनी थी, अनुसरण करने में कोई अन्तर नहीं होता। कभी-कभी मूर्ख लोग तर्क करते हैं कि इस समय कृष्ण उपस्थित नहीं हैं, इसलिए उनसे प्रत्यक्ष उपदेश प्राप्त नहीं किया जा सकता। ऐसे मूर्ख यह नहीं जानते कि *भगवद्गीता* के प्रत्यक्ष सुनने तथा इसके पढ़ने में तब तक कोई अन्तर नहीं है जब तक इसे उसी रूप में स्वीकार किया जाता है, जिस रूप में इसे भगवान् ने कहा था। किन्तु यदि कोई अपनी अधूरी विवेचना से *भगवद्गीता* समझना चाहता है, तो वह *भगवद्गीता* के रहस्यों को नहीं समझ सकता, भले ही लौकिक दृष्टि में वह कितना ही बड़ा विद्वान् क्यों न हो।

यद्यूयं पितुरादेशमग्रहीष्ट मुदान्विताः ।
अथो व उशती कीर्तिर्लोकाननु भविष्यति ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यत्—चूँकि; यूयम्—तुम लोगों ने; पितुः—पिता की; आदेशम्—आज्ञा; अग्रहीष्ट—शिरोधार्य की है; मुदा-अन्विताः—अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक; अथो—अतः; वः—तुम्हारी; उशती—आकर्षण, कमनीय; कीर्तिः—महिमा; लोकान् अनु—सारे ब्रह्माण्ड भर में; भविष्यति—सम्भव हो सकेगी, फैल जाएगी।.

चूँकि तुम लोगों ने अपने अन्तःकरण से प्रसन्नतापूर्वक अपने पिता की आज्ञा अत्यन्त श्रद्धापूर्वक शिरोधार्य की है और उसका पालन किया है, अतः तुम्हारे आकर्षक गुण संसार-भर में सराहे जाएँगे।

तात्पर्य : चूँकि जीव भगवान् का भिन्नांश है, अत: उसे थोड़ी सी स्वतंत्रता प्राप्त है। कभी-कभी

अल्पबुद्धि व्यक्ति पूछते हैं कि यद्यपि सभी प्राणी भगवान् के अधीन में हैं, किन्तु मनुष्य को कष्ट में क्यों रखा जाता है। अति अल्प स्वतंत्रता प्राप्त होने से जीव चाहे परमेश्वर की आज्ञा का पालन करे अथवा उल्लंघन कर दे। यदि वह आज्ञापालन करता है, तो वह सुखी रहता है और यदि नहीं करता तो दुखी होता है। अत: जीव स्वयं सुख या दुख को जन्म देता है। परमेश्वर किसी पर इन्हें लादता नहीं। परमेश्वर ने प्रचेताओं की प्रशंसा की क्योंकि उन्होंने अपने पिता की आज्ञा श्रद्धापूर्वक शिरोधार्य की थी। फलत: भगवान् ने राजा प्राचीनबर्हिषत् के पुत्रों को आशीर्वाद दिया।

भविता विश्रुत: पुत्रोऽनवमो ब्रह्मणो गुणै: ।
य एतामात्मवीर्येण त्रिलोकीं पूरयिष्यति ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

भविता—होगा; विश्रुत:—अत्यन्त प्रसिद्ध; पुत्र:—पुत्र; अनवम:—न्यून नहीं; ब्रह्मण:—ब्रह्मा से; गुणै:—गुणों में; य:—जो; एताम्—यह सब; आत्म-वीर्येण—अपनी संतति से; त्रि-लोकीम्—तीनों संसार को; पूरयिष्यति—पूर्ण कर देगा।.

तुम सब को एक उत्तम पुत्र प्राप्त होगा जो भगवान् ब्रह्माजी से किसी भी प्रकार न्यून नहीं होगा। फलस्वरूप वह सारे ब्रह्माण्ड में अत्यन्त प्रसिद्ध होगा और उससे उत्पन्न पुत्र तथा पौत्र तीनों लोकों को भर देंगे।

तात्पर्य : जैसाकि अगले श्लोक में बताया गया है, प्रचेतागण कण्डु ऋषि की पुत्री से विवाह करेंगे। यहाँ यह मत दिया गया है कि पुत्र का नाम विश्रुत होगा और वह अपने सद्-चरित्र से अपने माता-पिता दोनों की ख्याति को बढ़ाएगा। वस्तुत: वह ब्रह्माजी से बढ़कर होगा। महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य ने कहा है कि यदि किसी उद्यान या जंगल में कोई उत्तम वृक्ष हो तो उसके फूल अपनी सुगन्ध से जंगल को भर देंगे। इसी प्रकार परिवार का एक सुपुत्र सारे संसार में परिवार को प्रसिद्ध बनाता है। कृष्ण ने यदुवंश में जन्म लिया, फलत: यदुवंश संसार-भर में प्रसिद्ध हो गया।

कण्डो: प्रम्लोचया लब्धा कन्या कमललोचना ।
तां चापविद्धां जगृहुर्भूरुहा नृपनन्दना: ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

कण्डो:—कण्डु मुनि की; प्रम्लोचया—प्रम्लोचा नाम की अप्सरा से; लब्धा—प्राप्त किया; कन्या—पुत्री; कमल-लोचना—कमल जैसे नेत्रों वाली; ताम्—उसको; च—भी; अपविद्धाम्—छोड़ी हुई; जगृहु:—स्वीकार किया; भूरुहा:—वृक्ष; नृप-नन्दना:—हे राजा प्राचीनबर्हिषत् के पुत्रो!.

हे राजा प्राचीनबर्हिषत् के पुत्रो, प्रम्लोचा नामक अप्सरा ने कण्डु की कमलनयनी कन्या को

जंगली वृक्षों की रखवाली में छोड़ दिया और फिर वह स्वर्गलोक को चली गई। यह कन्या कण्डु ऋषि तथा प्रम्लोचा नामक अप्सरा के संयोग से उत्पन्न हुई थी।

तात्पर्य : जब भी कोई ऋषि भौतिक शक्ति के लिए कठोर तपस्या करता है, तो स्वर्ग का राजा इन्द्र ईर्ष्यालु हो उठता है। सभी देवताओं पर संसार का कार्य चलाने के लिए उत्तरदायित्व है और वे पुण्यकर्मों के कारण अत्यन्त योग्य होते हैं। यद्यपि वे सामान्य जीव हैं, किन्तु वे ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्र तथा वरुण जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण पदों को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। जैसाकि इस संसार की रीति है, स्वर्ग का राजा इन्द्र किसी भी ऋषि के द्वारा कठोर तपस्या करने पर ईर्ष्या करने लगता है। यह सारा संसार ऐसी ही ईर्ष्या से पूर्ण है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने पड़ोसी से भयभीत रहता है। प्रत्येक व्यापारी अपने संगियों से भयभीत रहता है, क्योंकि यह संसार समस्त प्रकार के ईर्ष्यालु व्यक्तियों का कर्मक्षेत्र है, जो यहाँ पर भगवान् के ऐश्वर्य से स्पर्धा करने के लिए आये हुए हैं। इस प्रकार इन्द्र कण्डु द्वारा सम्पन्न कठोर तपस्या से अत्यन्त भयभीत था और उसने उसके व्रत तथा तपस्या को खण्डित करने के लिए प्रम्लोचा को भेजा। ऐसी ही घटना विश्वामित्र के साथ भी घटित हुई थी। शास्त्रों की अन्य घटनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि इन्द्र सदा से ईर्ष्यालु रहा है। जब राजा पृथु इन्द्र से बढ़कर विभिन्न यज्ञ सम्पन्न कर रहा था, तो इन्द्र अत्यन्त ईर्ष्यालु हो उठा और उसने राजा पृथु के यज्ञ में गड़बड़ी मचाई। इसकी व्याख्या पिछले अध्यायों में की जा चुकी है। इन्द्र को कण्डु ऋषि का व्रत भंग करने में सफलता प्राप्त हुई, क्योंकि ऋषि प्रम्लोचा नामक अप्सरा की सुन्दरता से मोहित हो गया और उससे एक कन्या को जन्म दिया। यहाँ पर इस कन्या को कमलनयनी तथा अत्यन्त सुन्दरी कहा गया है। अपने उद्देश्य में सफल होकर प्रम्लोचा नवजात शिशु को वृक्षों की निगरानी में छोड़कर स्वर्ग लौट गई। सौभाग्यवश वृक्षों ने शिशु का पालन-पोषण करने की सहमति दे दी।

क्षुत्क्षामाया मुखे राजा सोमः पीयूषवर्षिणीम् ।
देशिनीं रोदमानाया निदधे स दयान्वितः ॥ १४॥

शब्दार्थ

क्षुत्—भूख से; क्षामायाः—व्याकुल होने पर; मुखे—मुँह में; राजा—राजा; सोमः—चन्द्रमा; पीयूष—अमृत; वर्षिणीम्—डालते हुए; देशिनीम्—तर्जनी अंगुली; रोदमानायाः—रोने पर; निदधे—डाला; सः—वह; दया-अन्वितः—दयालु होते हुए।

तत्पश्चात् वृक्षों के संरक्षण में रखा गया वह शिशु भूख से रोने लगा। उस समय वन के राजा

अर्थात् चन्द्रलोक के राजा ने दयावश अपनी अंगुली (तर्जनी) शिशु के मुख में रखी जिससे अमृत निकलता था। इस प्रकार उस शिशु का पालनपोषण चन्द्र राजा की कृपा से हुआ।

तात्पर्य : यद्यपि अप्सरा ने शिशु को वृक्षों के संरक्षण में छोड़ा था, किन्तु वे ठीक से उसका पालन न कर सके, अत: उन्होंने उसे चन्द्रमा राजा चन्द्र के सुपुर्द कर दिया। तो चन्द्रराज ने शिशु की भूख को शमित करने के लिए उसके मुख के भीतर अपनी अँगुली डाल दी।

प्रजाविसर्ग आदिष्टा: पित्रा मामनुवर्तता ।
तत्र कन्यां वरारोहां तामुद्वहत मा चिरम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

प्रजा-विसर्गे—सन्तान उत्पन्न करने के लिए; आदिष्टाः—आदेश पाकर; पित्रा—पिता द्वारा; माम्—मेरा आदेश; अनुवर्तता—पालन करती हुई; तत्र—वहाँ; कन्याम्—कन्या को; वर-आरोहाम्—अत्यन्त योग्य तथा अत्यन्त सुन्दरी; ताम्—उसको; उद्वहत—ब्याह लिया; मा—बिना; चिरम्—समय गँवाये।

चूँकि तुम सभी मेरी आज्ञा का पालन करने वाले हो, अत: मैं तुम्हें उस कन्या के साथ तुरन्त विवाह करने के लिए कहता हूँ क्योंकि वह अत्यन्त योग्य है, सुन्दरी है और उत्तम गुणों वाली है। अपने पिता की आज्ञा के अनुसार तुम उससे संतति उत्पन्न करो।

तात्पर्य : सभी प्रचेता न केवल भगवान् के परम भक्त थे, अपितु वे अपने पिता के आज्ञाकारी थे। अत: भगवान् ने उन्हें प्रम्लोचा की पुत्री के साथ विवाह करने की आज्ञा दी।

अपृथग्धर्मशीलानां सर्वेषां व: सुमध्यमा ।
अपृथग्धर्मशीलेयं भूयात्पत्न्यर्पिताशया ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अपृथक्—किसी अन्तर के बिना; धर्म—व्यापार; शीलानाम्—जिसका चरित्र; सर्वेषाम् व:—तुम सबों का; सु-मध्यमा—पतली कमर वाली लड़की; अपृथक्—समान; धर्म—व्यापार; शीला—अच्छे आचरण वाली; इयम्—यह; भूयात्—हो; पत्नी—पत्नी; अर्पित-आशया—पूर्णतया समर्पित।

तुम सभी भाई भक्त तथा अपने पिता के आज्ञाकारी पुत्र होने के कारण समान स्वभाव वाले हो। यह लड़की भी उसी तरह की है और तुम सबके प्रति समर्पित है। अत: यह लड़की तथा तुम प्राचीनबर्हिषत् के सारे पुत्र एक ही नियम से बँधे होकर समान पद पर स्थित हो।

तात्पर्य : वैदिक नियमों के अनुसार कोई स्त्री एक से अधिक पति वाली नहीं हो सकती, किन्तु पुरुष कई पत्नियों वाला हो सकता है। किन्तु विशेष उदाहरणों में स्त्री के भी एक से अधिक पति हो

सकते हैं। उदाहरणार्थ, द्रौपदी का विवाह पाँचों पाण्डवों के साथ हुआ था। इसी प्रकार भगवान् ने प्राचीनबर्हिषत् के पुत्रों को कण्डु ऋषि तथा प्रम्लोचा से उत्पन्न कन्या के साथ विवाह करने के लिए आदेश दिया। विशेष दशाओं में कन्या को एक से अधिक पुरुषों के साथ विवाह करने की अनुमति प्राप्त है, यदि वह सभी पतियों के साथ समान व्यवहार कर सके। सामान्य स्त्री के लिए ऐसा सम्भव नहीं है। विशेष योग्यता प्राप्त स्त्री को ही एक से अधिक पति करने की छूट है। इस कलिकाल में ऐसी सन्तुलित स्त्री खोज पाना कठिन है। शास्त्र के अनुसार—*कलौ पञ्च विवर्जयेत्।* इस युग में स्त्री अपने देवर के साथ ब्याह नहीं कर सकती। किन्तु आज भी भारत के कुछ पहाड़ी भागों में यह प्रथा चालू है। भगवान् का कथन है—*अपृथग्धर्मशीलेयं भूयात् पत्न्यर्पिताशया।* भगवान् के आशीर्वाद से सब कुछ सम्भव है। भगवान् ने उस कन्या को विशेष आशीर्वाद दिया कि वह कन्या समभाव से सभी भाइयों के प्रति समर्पित रहे। *अपृथग्धर्म* अर्थात् ''उद्देश्य में किसी अन्तर के बिना कर्तव्य'' की शिक्षा *भगवद्गीता* में दी गई है। *भगवद्गीता* तीन भागों में विभाजित है—कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग। *योग* शब्द का अर्थ है ''भगवान् की ओर से काम करना।'' जैसाकि *भगवद्गीता* से (३.९) प्रमाणित है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

''श्रीविष्णु के लिए यज्ञ रूप में कर्म करना अनिवार्य है, अन्यथा कर्म मनुष्य को इस जगत से बाँध लेता है। अतः हे कुन्तीपुत्र! उनकी प्रसन्नता के लिए संस्तुत कार्य करो और इस प्रकार करने से तुम सदा अनासक्त तथा बन्धन से मुक्त रहोगे।''

मनुष्य *यज्ञ पुरुष* भगवान् को प्रसन्न करने के लिए अपने कर्तव्यों के अनुसार कार्य कर सकता है। यही *अपृथग्धर्म* कहलाता है। शरीर के विभिन्न अंग भिन्न-भिन्न प्रकार से कार्य कर सकते हैं, किन्तु मूल उद्देश्य तो सम्पूर्ण शरीर का पालन होता है। इसी प्रकार यदि हम भगवान् को प्रसन्न करने के लिए कार्य करें तो हम देखेंगे कि सबों को प्रसन्न किया जा सकता है। हमें प्रचेताओं का अनुसरण करना चाहिए जिनका एकमात्र उद्देश्य परमेश्वर को प्रसन्न करना था। यही *अपृथग्धर्म* कहलाता है। *भगवद्गीता* के अनुसार (१८.६६)—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—सभी प्रकार के धर्मों को त्याग कर मेरी शरण ग्रहण करो। श्रीकृष्ण का यही उपदेश है। हमारा एकमात्र उद्देश्य भगवान् को प्रसन्न करना है। यही

एकत्व या अभिन्नता अथवा अपृथग्धर्म है।

दिव्यवर्षसहस्राणां सहस्रमहतौजसः ।
भौमान्भोक्ष्यथ भोगान्वै दिव्यांश्चानुग्रहान्मम ॥ १७॥

शब्दार्थ

दिव्य—स्वर्गिक; वर्ष—वर्ष; सहस्राणाम्—हजारों का; सहस्रम्—एक हजार; अहत—अपराजित रहकर; ओजसः—तुम्हारा बल; भौमान्—इस संसार का; भोक्ष्यथ—भोगोगे; भोगान्—सुख; वै—निश्चय ही; दिव्यान्—स्वर्गलोक का; च—भी; अनुग्रहात्—कृपा से; मम—मेरी।

तब भगवान् ने सभी प्रचेताओं को आशीर्वाद दिया: हे राजकुमारो, मेरे अनुग्रह से तुम इस संसार की तथा स्वर्ग की सभी सुविधाओं को भोग सकते हो। तुम उन्हें बिना किसी बाधा के पूर्ण समर्थ रहते हुए दस लाख दिव्य वर्षों तक भोग सकते हो।

तात्पर्य : भगवान् ने प्रचेताओं को जितनी लम्बी आयु का आशीर्वाद दिया वह स्वर्गलोक की काल-माप के अनुसार परिगणित होती है। इस पृथ्वी लोक के हमारे छह मास स्वर्गलोक के बारह घंटों के तुल्य है। इस प्रकार तीस दिन बराबर एक मास के और बारह मास एक वर्ष के तुल्य हैं। प्रचेताओं को स्वर्गलोक की इस परिगणना के अनुसार दस लाख वर्षों तक सारी भौतिक सुविधाएँ भोगने का वर प्राप्त हुआ। यद्यपि यह आयु अत्यन्त दीर्घ है, किन्तु प्रचेताओं को सम्पूर्ण शारीरिक बल से युक्त रहने का वर प्रदान किया गया। यदि कोई इस संसार में अनेक वर्षों तक जीवित रहना चाहता है, तो उसे वृद्धावस्था, अक्षमता तथा अन्य अनेक कष्ट सहने होंगे। किन्तु प्रचेताओं को सम्पूर्ण शारीरिक बल सहित भौतिक भोग भोगने का वर मिला। यह विशेष सुविधा उन्हें इसीलिए दी गई जिससे वे पूरी भक्ति करते रहें। अगले श्लोक में इसकी व्याख्या की गई है।

अथ मय्यनपायिन्या भक्त्या पक्वगुणाशयाः ।
उपयास्यथ मद्धाम निर्विद्य निरयादतः ॥ १८॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; मयि—मुझमें; अनपायिन्या—अविचल; भक्त्या—भक्ति से; पक्व-गुण—भौतिक कल्मष से रहित; आशयाः—मन; उपयास्यथ—प्राप्त करोगे; मत्-धाम—मेरा धाम; निर्विद्य—विरक्त होकर; निरयात्—संसार से; अतः—इस प्रकार।

तत्पश्चात् तुम मेरे प्रति शुद्ध भक्ति विकसित करोगे और समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाओगे। उस समय तथाकथित स्वर्गलोक तथा नरकलोक में भौतिक भोगों से विरक्त होकर तुम मेरे धाम को लौटोगे।

तात्पर्य : भगवत्कृपा से प्रचेताओं को विशेष सुविधाएँ प्रदान की गईं थीं। यद्यपि वे भौतिक सुखोपभोग के लिए लाखों वर्ष जीवित रहे, किन्तु तो भी वे भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में अविचल बने रहे। इस प्रकार लीन रहकर सारे प्रचेता भौतिक आसक्ति से पूर्णतया मुक्त हो गए। भौतिक आसक्ति अत्यन्त प्रबल होती है। भौतिकतावादी एक जन्म में धन, धरती, मित्र, समाज, मित्रता, प्यार आदि अर्जित करता है और इस शरीर के विनष्ट होने पर वह स्वर्गलोक का भी भोग चाहता है। किन्तु यदि मनुष्य भक्ति में लगा रहता है, तो वह समस्त भौतिक सुख तथा दुख से विरक्त हो जाता है। इस संसार में जो लोग स्वर्गलोक भेजे जाते हैं समस्त सुखोपभोग करते कहे जाते हैं, किन्तु जो नरकलोक को भेजे जाते हैं उन्हें नारकीय अवस्था बितानी होती है। किन्तु भक्त स्वर्ग तथा नरक इन दोनों की अवस्थाओं से परे हैं। *भगवद्गीता* के अनुसार (१४.२६) भक्त की स्थिति इस प्रकार है :—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो मनुष्य पूर्ण भक्ति में लगा रहता है, जो किसी भी परिस्थिति में भ्रष्ट नहीं होता है, वह तुरन्त भौतिक प्रकृति के गुणों को पार करके ब्रह्म के पद तक पहुँचता है।"

भक्त सदैव ब्रह्म पद पर स्थिर रहता है। उसे भौतिक सुख या दुख से कुछ सरोकार नहीं रहता। जब वह भक्ति में दृढ़ रहता है और समस्त भौतिक आसक्ति से रहित एवं प्रकृति के तीनों गुणों से अदूषित रहता है, तो वह घर को अर्थात् भगवान् के धाम वापस जाने में सक्षम होता है। यद्यपि विशेष आशीर्वाद के कारण प्रचेतागण लाखों वर्षों तक भौतिक सुखों का भोग कर सकते थे, किन्तु वे उनके प्रति आसक्त नहीं रहे। अत: भौतिक सुखोपभोग के बाद वे वैकुण्ठलोक प्राप्त करके और भगवान् के पास वापस गए।

पक्वगुणाशया: शब्द का विशिष्ट महत्त्व है, क्योंकि इसका अर्थ है कि भक्ति द्वारा मनुष्य प्रकृति के तीनों गुणों के प्रभाव को छोड़ने में समर्थ होता है। जब तक मनुष्य इन गुणों से प्रभावित होता रहता है, वह भगवान् के पास नहीं लौट पाता। इसकी स्पष्ट व्याख्या हुई है कि भौतिक जगत के सारे लोक—ब्रह्मलोक से नरकलोक तक—भक्त के लिए अनुपयुक्त स्थान हैं। *पदं पदं यद्विपदां न तेषां।* जहाँ पग-पग पर विपदा हो वह निश्चय ही, सुखमय स्थान नहीं है। अत: भगवान् *भगवद्गीता* (८.१६) में कहते

हैं—

आब्रह्मभुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

"हे अर्जुन! भौतिक जगत में सबसे ऊपरी ब्रह्मलोक से लेकर नीचे तक के सभी लोक क्लेशपूर्ण स्थान हैं, जहाँ जन्म तथा मृत्यु बारम्बार होते हैं। परन्तु हे कुन्तीपुत्र! जो मेरे धाम को प्राप्त हो जाता है, वह इस संसार में पुन: जन्म नहीं लेता।"

अत: यदि कोई इस भौतिक ब्रह्माण्ड में सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक को भी प्राप्त कर ले तो भी कोई लाभ नहीं। किन्तु यदि कोई किसी प्रकार से भगवान् के धाम को जा सके तो वह फिर इस संसार में कभी नहीं लौटता।

गृहेष्वाविशतां चापि पुंसां कुशलकर्मणाम् ।
मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; आविशताम्—प्रविष्ट हुए; च—तथा; अपि—भी; पुंसाम्—मनुष्यों का; कुशल-कर्मणाम्—शुभ कर्मों में लगे हुए; मत्-वार्ता—मेरी कथाओं में; यात—बीतता है; यामानाम्—जिसका प्रत्येक क्षण; न—नहीं; बन्धाय—बन्धन हेतु; गृहा:—गृहस्थ जीवन; मता:—विचार किया गया।

जो लोग भक्ति के शुभ कार्यों में लगे होते हैं, वे यह भलीभाँति समझते हैं कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही समस्त कर्मों के परम भोक्ता हैं। अत: जब भी ऐसा व्यक्ति कोई कार्य करता है, तो कर्मफल भगवान् को अर्पित कर देता है और भगवान् की कथाओं में व्यस्त रहते हुए ही सारा जीवन बिताता है। ऐसा व्यक्ति गृहस्थाश्रम में रह कर भी कर्मफलों से प्रभावित नहीं होता।

तात्पर्य : सामान्यत: परिवार में रहते हुए व्यक्ति सकाम कर्म में अत्यधिक आसक्त रहता है अर्थात् वह अपने कर्मों के फलों को भोगने का प्रयास करता हैं। किन्तु भक्त जानता है कि श्रीकृष्ण ही परम भोक्ता तथा स्वामी हैं (*भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्*)। अत: भक्त अपने को किसी भी व्यापार का स्वामी नहीं समझता। वह सदा भगवान् को ही स्वामी मानता है, अत: अपने सारे व्यापारों के फल परमेश्वर को ही अर्पित करता रहता है। अत: जो व्यक्ति इस तरह अपने परिवार तथा बच्चों के बीच रहता है, वह कभी भी भौतिक संसार के कल्मष से प्रभावित नहीं होता। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता*

(३.९) में इस प्रकार हुई है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

जो व्यक्ति अपने कर्मों के फल भोगना चाहता है, वह कर्म फल से बँध जाता है। किन्तु जो व्यक्ति फल या लाभ को भगवान् को अर्पित कर देता है, वह उनसे नहीं बँधता। सफलता का यही रहस्य है। सामान्यतः कर्मफल से मुक्त होने के उद्देश्य से ही लोग संन्यास ग्रहण करते हैं। जो व्यक्ति अपने कर्मों के फल को ग्रहण नहीं करता, अपितु परमेश्वर को अर्पित कर देता है, वह निश्चित रूप से मुक्त अवस्था में रहता है। श्री रूप गोस्वामी ने इसकी पुष्टि *भक्तिरसामृत सिन्धु* में इस प्रकार की है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

जो व्यक्ति अपने जीवन, धन, वाणी, बुद्धि तथा अपने पास जो कुछ भी है उस सबसे भगवान् की सेवा में लगा रहता है, वह हर अवस्था में मुक्त होगा। ऐसा व्यक्ति जीवन्मुक्त कहलाता है। जो लोग कृष्ण-भक्ति से रहित होकर भौतिक कार्यों में लगे रहते हैं, वे भवबन्धन में अधिकाधिक फँसते जाते हैं। उन्हें अपने सारे कर्मों के फल भोगने पड़ते हैं। अतः यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन मानवता के लिए महानतम वरदान है क्योंकि यह मनुष्य को कृष्णभक्ति में सदैव लगाये रखता है। भक्तगण कृष्ण का ही चिन्तन करते हैं, कृष्ण के लिए ही कर्म करते हैं, उन्हीं के लिए खाते, पीते तथा सोते हैं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु कृष्ण की सेवा में लगती है। कृष्ण भक्ति में लगा पूरा जीवन मनुष्य को भौतिक कल्मष से बचाता है। जैसाकि भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज ने कहा है—

कृष्ण-भजने याहा हय अनुकूल।

विषय बलिया त्यागे ताहा हय भूल॥

यदि कोई इतना सक्षम हो कि प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सेवा में अर्पित कर सके तो उसके लिए इस भौतिक जगत का परित्याग भारी भूल होगी। मनुष्य को सीखना चाहिए कि किस प्रकार प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सेवा में लगाया जाये, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का सम्बन्ध श्रीकृष्ण से है। यही जीवन का असली उद्देश्य और सफलता का रहस्य है। *भगवद्गीता* (३.१९) में इसकी पुष्टि की

गई है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

''इसलिए कर्मफल में अनासक्त भाव से कर्तव्य की भाँति कर्म करना चाहिए, क्योंकि अनासक्त होकर किया गया कर्म परम लक्ष्य की प्राप्ति कराने वाला है।''

भगवद्गीता के तृतीय अध्याय में इन्द्रियतृप्ति हेतु तथा परमेश्वर को प्रसन्न करने के हेतु भौतिक कार्यों पर विशेष विचार किया गया है। निष्कर्ष यह है कि ये एक जैसे नहीं हैं। इन्द्रियतृप्ति के हेतु किये गये कार्य भौतिक बन्धन के कारण हैं, जबकि कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए किये गये वही कार्य मुक्ति के कारण बनते हैं। वही कार्य बन्धन तथा मुक्ति का कारण कैसे हो सकता है, इसकी व्याख्या इस प्रकार है—दूध की बनी हुई बहुत सी वस्तुएँ—यथा खीर, रबड़ी इत्यादि—खाने से कुपच हो सकता है, किन्तु कुपच होते हुए भी दूध से ही बना और काली मिर्च तथा नमक से मिला मट्ठा कुपच को दूर कर देता है। दूसरे शब्दों में, दूध की बनी एक वस्तु कुपच तथा अतिसार का कारण बन सकती है, किन्तु दूध से ही बनी दूसरी वस्तु उसे अच्छा कर सकती है।

यदि कोई व्यक्ति विशेष भगवत्कृपा से भौतिक ऐश्वर्य को प्राप्त करता है, तो उसे उस ऐश्वर्य को बन्धन का कारण नहीं समझना चाहिए। जब किसी प्रौढ़ भक्त को ऐश्वर्य-लाभ होता है, तो उस पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि वह इस ऐश्वर्य को भगवान् की सेवा में लगाने की विधि जानता है। संसार के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। पृथु महाराज, प्रह्लाद महाराज, जनक, ध्रुव, वैवस्वत मनु तथा महाराज इक्ष्वाकु जैसे अनेक राजा हुए हैं। ये महान् राजा थे और इन पर भगवान् की विशेष कृपा भी थी। यदि भक्त प्रौढ़ (परिपक्व) नहीं है, तो भगवान् उसके समस्त ऐश्वर्य को छीन लेते हैं; भगवान् स्वयं इस सिद्धान्त को बताते हैं—*यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः*—मैं अपने भक्त पर जो सबसे पहली कृपा दिखाता हूँ, वह है उसके समस्त ऐवश्र्य का हरण। जो ऐश्वर्य भक्ति में बाधक होता है, उसे भगवान् ले लेते हैं, किन्तु यदि कोई व्यक्ति भक्ति में परिपक्व है, तो वे उसे सारी भौतिक सुविधाएँ प्रदान करते हैं।

नव्यवद्धृदये यज्ञो ब्रह्मैतद्ब्रह्मवादिभिः ।
न मुह्यन्ति न शोचन्ति न हृष्यन्ति यतो गताः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

नव्य-वत्—सदैव नवीन; हृदये—हृदय में; यत्—क्योंकि; ज्ञः—परमात्मा, परम ज्ञाता; ब्रह्म—ब्रह्म; एतत्—यह; ब्रह्म-वादिभिः—परम सत्य के पक्षधरों द्वारा; न—कभी नहीं; मुह्यन्ति—मोहग्रस्त होते हैं; न—कभी नहीं; शोचन्ति—पश्चात्ताप करते हैं; न—कभी नहीं; हृष्यन्ति—हर्षित होते हैं; यतः—जब; गताः—प्राप्त किये हुए।

सदैव भक्ति कार्यों में संलग्न रह कर भक्तजन अपने आपको ताजा तथा अपने कार्यों में सदैव नवीन (नया नया) अनुभव करते हैं। भक्त के हृदय के भीतर सर्वज्ञाता परमात्मा प्रत्येक वस्तु को अधिकाधिक नया बनाता रहता है। परम सत्य के पक्षधर (ब्रह्मवादी) इसे ब्रह्मभूत कहते हैं। ऐसी ब्रह्मभूत अर्थात् मुक्त अवस्था में मनुष्य कभी मोहग्रस्त नहीं होता। न ही वह पश्चात्ताप करता है, न वृथा ही हर्षित होता है। यह ब्रह्मभूत अवस्था के कारण होता है।

तात्पर्य : भक्त अपने अन्तःकरण में स्थित परमात्मा द्वारा अनेक प्रकार से भक्ति में अग्रसर होने के लिए प्रेरित होता रहता है। भक्त न तो कभी ऊबने का अनुभव करता है, न ही अपने को निष्क्रिय अवस्था में समझता है। भौतिक जगत में यदि कोई किसी के नाम को बार-बार पुकारे तो वह कुछ मिनटों में ऊब उठता है, किन्तु हरे कृष्ण मंत्र को अहर्निश थके बिना जपा जा सकता है। जप की संख्या बढ़ाने पर नित नया जान पड़ता है। श्रील रूप गोस्वामी का कहना है कि यदि किसी तरह उन्हें लाखों कान तथा जीभें मिल जातीं तो वे हरे कृष्ण महामंत्र के जप के दिव्य आनन्द का आस्वाद न कर सकते। अत्यन्त सिद्ध भक्त के लिए कोई भी वस्तु प्रेरणाहीन नहीं लगती। *भगवद्गीता* (१०.१०) में भगवान् कहते हैं कि वे प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण में स्थित हैं और स्मरण तथा विस्मरण में जीव की सहायता करते हैं। भगवत्कृपा से भक्त प्रेरणा ग्रहण करते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

"जो मुझमें निरन्तर श्रद्धा रखते हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।"

जैसाकि कहा जा चुका है, जो भक्ति के शुभ कार्य (*कुशलकर्मणां*) में लगे होते हैं, वे परमात्मा द्वारा निर्देशित होते हैं, जिसे इस श्लोक में *ज्ञ* कहा गया है अर्थात् वह जो भूत, वर्तमान तथा भविष्य सभी जानता है। परमात्मा केवल एकनिष्ठ, शुद्ध भक्तों को ही आदेश देता है कि वे भगवान् तक पहुँचने

में किस प्रकार प्रगति कर सकते हैं। इस प्रसंग में श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि परमात्मा प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित है, किन्तु भक्त के हृदय में वह स्वयं अपने को अधिकाधिक नवीन रूप में प्रकट करता है। उससे प्रेरणा ग्रहण करके भक्त उसकी भक्ति में और अधिक दिव्य आनन्द का अनुभव करता है।

मैत्रेय उवाच
एवं ब्रुवाणं पुरुषार्थभाजनं
जनार्दनं प्राञ्जलयः प्रचेतसः ।
तद्दर्शनध्वस्ततमोरजोमला
गिरागृणन्गद्गदया सुहृत्तमम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; एवम्—इस प्रकार; ब्रुवाणम्—बोलते हुए; पुरुष-अर्थ—जीवन के परम लक्ष्य का; भाजनम्—दाता; जन-अर्दनम्—भक्त के समस्त अवगुणों को दूर करने वाला; प्राञ्जलयः—हाथ जोड़ कर; प्रचेतसः—प्रचेतागण; तत्—उसको; दर्शन—देखकर; ध्वस्त—नष्ट; तमः—तमोगुण का; रजः—रजोगुण का; मलाः—मल, कल्मष; गिरा—वाणी से; अगृणन्—प्रार्थना की; गद्गदया—गद्गद होकर; सुहृत्-तमम्—समस्त मित्रों में श्रेष्ठ को।

मैत्रेय ऋषि ने कहा : भगवान् के इस प्रकार कहने पर प्रचेताओं ने उनकी प्रार्थना की। भगवान् जीवन की समस्त सिद्धियों को देने वाले और परम कल्याणकर्ता हैं। वे परम मित्र भी हैं, क्योंकि वे भक्तों के समस्त कष्टों को हरते हैं। प्रचेताओं ने आनन्दातिरेक से गद्गद वाणी में प्रार्थना करनी प्रारम्भ की। वे भगवान् का साक्षात् दर्शन करने से शुद्ध हो गये।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् को *पुरुषार्थ भाजनम्* (जीवन के परम लक्ष्य के प्रदाता) कहा गया है। हमें जीवन में जो भी सफलता चाहिए, वह भगवान् की कृपा से प्राप्त हो सकती है। चूँकि प्रचेताओं को पहले से भगवान् की कृपा प्राप्त थी, अतः उन पर तीनों भौतिक गुणों के कल्मष (मल) का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उनसे सारे भौतिक गुण उसी तरह दूर हो गये जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अंधकार भाग जाता है। चूँकि भगवान् उनके समक्ष प्रकट हुए, अतः रजो तथा तमोगुणों का सारा कल्मष दूर हो गया। इसी प्रकार जब शुद्ध भक्त हरे कृष्ण महामंत्र का जप करता है, तो वह भी समस्त कल्मष से शुद्ध हो जाता है, क्योंकि भगवन्नाम तथा भगवान् एक हैं, जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.२.१७) में कहा गया है—

शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।

हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥

''पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण जो प्रत्येक हृदय में स्थित परमात्मा हैं और सत्यनिष्ठ भक्तों के कल्याणकर्ता हैं, अपने उन भक्तों के हृदयों को भौतिक सुख की इच्छाओं से विमल करते हैं, जो उनके संदेशों को सुनने के लिए उत्सुक रहते हैं। ये संदेश ठीक से श्रवण तथा कीर्तन करने पर अत्यन्त कल्याणकारी होते हैं।''

भगवन्नाम स्वयं भगवान् है। यदि कोई नाम का कीर्तन करता है तथा सुनता है, तो वह शुद्ध हो जाता है। क्रमशः सारा भौतिक कल्मष दूर हो जाता है। प्रचेतागण भगवान् की उपस्थिति के कारण पहले ही शुद्ध हो चुके थे, अतः वे हाथ जोड़कर समुचित प्रार्थना कर सके। दूसरे शब्दों में, जब भक्तगण भक्ति में लग जाते हैं, तो तुरन्त ही उनके सारे कल्मष दूर हो जाते हैं, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है (*स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते*)। कभी-कभी भक्त जन असन्तुष्ट हो जाते हैं कि भगवान् उन्हें अपना साक्षात् दर्शन नहीं देते। अतः जब प्रचेताओं ने साक्षात् भगवान् को देखा तो उनकी अप्रसन्नता दूर हो गई।

प्रचेतस ऊचुः
नमो नमः क्लेशविनाशनाय
निरूपितोदारगुणाह्वयाय ।
मनोवचोवेगपुरोजवाय
सर्वाक्षमार्गैरगताध्वने नमः ॥ २२॥

शब्दार्थ

प्रचेतसः ऊचुः—प्रचेताओं ने कहा; नमः—नमस्कार है; नमः—नमस्कार है; क्लेश—भौतिक दुख; विनाशनाय—दूर करने वाले को; निरूपित—निर्णीत; उदार—उदार; गुण—गुण; आह्वयाय—नाम वाले को; मनः—मन का; वचः—वाणी का; वेग—चाल; पुरः—सामने; जवाय—गति वाले को; सर्व-अक्ष—सभी इन्द्रियों के; मार्गैः—रास्तों से; अगत—अदृश्य; अध्वने—जिसका मार्ग; नमः—हम नमस्कार करते हैं।

प्रचेताओं ने कहा : हे भगवन्, आप समस्त प्रकार के क्लेशों को हरने वाले हैं। आपके उदार दिव्य गुण तथा पवित्र नाम कल्याणप्रद हैं। इसका निर्णय पहले ही हो चुका है। आप मन तथा वाणी से भी अधिक वेग से जा सकते हैं। आप भौतिक इन्द्रियों द्वारा नहीं देखे जा सकत। अतः हम आपको बारम्बार सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : *निरूपित* शब्द जिसका अर्थ है ''निष्कर्ष निकाला'' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ईश्वर को

खोजने अथवा आध्यात्मिक ज्ञान में प्रगति के लिए कोई शोध नहीं करनी होती है। वेदों में निष्कर्ष रूप से सब कुछ दिया हुआ है। अत: *भगवद्गीता* (१५.१५) में भगवान् कहते हैं—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:*—वेदों के द्वारा भगवान् का ज्ञान प्राप्त करना पूर्ण तथा निर्णायक होता है। वेदों का कथन है—*अत: श्रीकृष्ण नामादि न भवेद्ग्राह्यम् इन्द्रियै:*—हमारी कुंठित भौतिक इन्द्रियों के द्वारा भगवान् के दिव्य नाम, रूप, गुण तथा लीलाएँ नहीं समझी जा सकतीं। *सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यद:*—जब भक्त अपनी इन्द्रियों को भक्ति में लगाता है, तो भगवान् अपनी अहैतुकी दया से भक्त के समक्ष स्वत: प्रकट होते हैं। यही निर्णायक वेद-विधि है। वेद यह भी संकेत करते हैं कि भगवान् के पवित्र नामों का कीर्तन करने-मात्र से निश्चित रूप से आध्यात्मिक प्रगति हो सकती है। हम भगवान् के पास मन या वाणी के वेग से नहीं पहुँच सकते, किन्तु यदि हम भक्ति में लगे रहें तो उनके पास सरलता से तथा तेजी से पहुँच सकते हैं। दूसरे शब्दों में, परमेश्वर भक्ति से आकृष्ट होते हैं और अपेक्षा इसके कि हम उन तक अपनी मीमांसा से पहुँचें वे हमारे पास अधिक वेग से पहुँच सकते हैं। भगवान् ने कहा है कि वे ज्ञान की सीमा तथा विचार की गति से परे हैं फिर भी उनकी अहैतुकी कृपा से उन तक आसानी से पहुँचा जा सकता है। इस प्रकार वे अपनी अहैतुकी कृपा से ही प्राप्त किये जा सकते हैं। अन्य विविधाँ प्रभावशाली नहीं होतीं।

शुद्धाय शान्ताय नम: स्वनिष्ठया
मनस्यपार्थं विलसद्द्वयाय ।
नमो जगत्स्थानलयोदयेषु
गृहीतमायागुणविग्रहाय ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

शुद्धाय—शुद्ध रूप को; शान्ताय—अत्यन्त शान्त रूप को; नम:—नमस्कार है; स्व-निष्ठया—अपने पद पर स्थित रह कर; मनसि—मन में; अपार्थम्—अर्थहीन, निरर्थ; विलसत्—प्रकट होते हुए; द्वयाय—द्वैत जगत वाले को; नम:—नमस्कार; जगत्—दृश्य जगत का; स्थान—पालन (स्थिति); लय—संहार; उदयेषु—तथा उत्पत्ति के लिए; गृहीत—स्वीकृत; माया—भौतिक; गुण—प्रकृति के गुणों के; विग्रहाय—रूपों को।

हे भगवन्, हम आपको प्रणाम करने की याचना करते हैं। जब मन आप में स्थिर होते हैं, तो यह द्वैतपूर्ण संसार भौतिक सुख का स्थान होते हुए भी व्यर्थ प्रतीत होता है। आपका दिव्य रूप दिव्य आनन्द से पूर्ण है। अत: हम आपका अभिवादन करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के रूप में आपका प्राकट्य इस दृश्य जगत की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के उद्देश्य से होता है।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त, जिसका मन सदैव भगवद्भक्ति में लगा रहता है, इस संसार की असारता को समझता है। यद्यपि ऐसा भक्त भौतिक कार्यों को करने में लगा रहता है, किन्तु यह अवस्था *अनासक्ति* कहलाती है। जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने बताया है—*अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जत: ।* भक्त सदैव भौतिक कार्यों के प्रति अनासक्त रहता है, क्योंकि मुक्त अवस्था में उसका मन सदैव भगवान् के चरणकमलों में स्थिर रहता है।

यह भौतिक जगत द्वैत कहलाता है। भक्त अच्छी तरह जानता है कि इस संसार की प्रत्येक वस्तु भगवान् की शक्ति के प्राकट्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रकृति के तीनों गुणों को बनाये रखने के लिए परमेश्वर ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के विभिन्न रूप धारण करते हैं। इन गुणों से अप्रभावित रहकर भगवान् इस दृश्य जगत की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के लिए विविध रूप धारण करते हैं। निष्कर्ष यह है कि यद्यपि शुद्ध भक्त भगवान् की सेवा करते हुए भौतिक कार्यों में संलग्न प्रतीत होता है, किन्तु उसे भली-भाँति पता रहता है कि इन्द्रियतृप्ति हेतु भौतिक सुख का कोई उपयोग नहीं है।

नमो विशुद्धसत्त्वाय हरये हरिमेधसे ।
वासुदेवाय कृष्णाय प्रभवे सर्वसात्वताम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

नम:—नमस्कार; विशुद्ध-सत्त्वाय—आपको जिसका अस्तित्व समस्त भौतिक प्रभाव से मुक्त है; हरये—भक्तों के कष्टों को हरने वाला; हरि-मेधसे—जिसका मस्तिष्क बद्धजीव के उद्धार हेतु कार्य करता है; वासुदेवाय—सर्वव्यापी भगवान् को; कृष्णाय—कृष्ण को; प्रभवे—प्रभाव को बढ़ाने वाला; सर्व-सात्वताम्—सभी प्रकार के भक्तों का।

हे भगवन्, हम आपको सादर नमस्कार करते हैं, क्योंकि आपका अस्तित्व समस्त भौतिक प्रभावों से पूर्णतया स्वतंत्र है। आप सदैव अपने भक्तों के क्लेशों को हर लेते हैं, क्योंकि आपका मस्तिष्क जानता है कि ऐसा किस प्रकार करना चाहिए। आप परमात्मा रूप में सर्वत्र रहते हैं, अत: आप वासुदेव कहलाते हैं। आप वसुदेव को अपना पिता मानते हैं और आप कृष्ण नाम से विख्यात हैं। आप इतने दयालु हैं कि अपने समस्त प्रकार के भक्तों के प्रभाव को बढ़ाते हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में कहा गया है कि दृश्य जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार के उद्देश्य से (*गृहीतमाया गुणविग्रहाय*) भगवान् तीन प्रकार के शरीर (ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव) धारण करते है। भौतिक जगत के तीन प्रमुख देव (ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव) गुण अवतार कहलाते हैं। भगवान् के अनेक प्रकार के अवतार हैं, किन्तु इस जगत में पहला अवतार ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर (शिव) के

रूप में हुआ। इनमें से ब्रह्मा तथा शिव भौतिक शरीर धारण करते हैं, किन्तु भगवान् विष्णु भौतिक शरीर स्वीकार नहीं करते, फलतः उन्हें *विशुद्ध-सत्त्व* कहा जाता है। उनका अस्तित्व प्रकृति के तीनों गुणों के कल्मष से सर्वथा मुक्त है। अतः विष्णु को ब्रह्मा तथा शिव की कोटि का नहीं मानना चाहिए। शास्त्र हमें ऐसा करने से वर्जित करते हैं।

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादि दैवतैः।

समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद्ध्रुवम्॥

जो भगवान् विष्णु को ब्रह्मा या शिव जैसे देवों की कोटि में मानता है या ब्रह्मा तथा शिव को विष्णु के तुल्य मानता है उसे *पाषण्डी* (श्रद्धाविहीन, विश्वास न करने वाला) मानना चाहिए। अतः इस श्लोक में विष्णु को *नमो विशुद्धसत्त्वाय* के रूप से पृथक् किया गया है। हमारे समान जीवात्मा होते हुए भी ब्रह्माजी अपने पुण्यकर्मों के कारण महान् हैं, इसीलिए उन्हें ब्रह्मा का उच्च पद प्राप्त है। शिवजी वास्तव में जीवात्मा जैसे नहीं हैं, किन्तु वे भगवान् नहीं हैं। उनकी स्थिति भगवान्—जीवात्मा विष्णु तथा ब्रह्मा के बीचोंबीच है। अतः *ब्रह्म-संहिता* (५.४५) में शिवजी की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

क्षीरं यथा दधि विकारविशेषयोगात्

सञ्जायते न हि ततः पृथगस्ति हेतोः।

यः शम्भुतामपि तथा समुपैति कार्याद्

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

शिवजी को दधि के समान माना गया है। दधि रूपांतरित दूध ही तो होता है फिर भी उसे दूध नहीं माना जाता। इसी प्रकार शिवजी भगवान् विष्णु की लगभग सभी शक्तियों को धारण करते हैं और जीव के गुणों से भी ऊपर हैं, किन्तु वे विष्णु के सर्वथा समान नहीं हैं जिस प्रकार दधि रूपांतरित दूध होते हुए भी दूध के समान नहीं होता।

यहाँ पर भगवान् को *वासुदेवाय कृष्णाय* भी कहा गया है। कृष्ण आदि भगवान् हैं और सारे विष्णु उनके *स्वांश* या *कला* हैं। *स्वांश* को *अंश* भी कहते हैं। सभी विष्णु तत्त्व स्वांश हैं। कृष्ण को वासुदेव कहते हैं, क्योंकि वे इस संसार में वसुदेव के पुत्र के रूप में प्रकट हुए थे। इसी प्रकार वे देवकीनन्दन,

यशोदानन्दन, नन्दनन्दन आदि कहलाते हैं।

भगवान् अपने भक्तों के प्रभाव को बढ़ाने में बारम्बार रुचि लेते हैं। अत: यहाँ पर उन्हें *प्रभवे सर्वसात्वताम्* कहा गया है। *सात्वत* जाति वैष्णवों अर्थात् भगवान् के शुद्ध भक्तों का एक समुदाय है। भगवान् की शक्तियाँ असीम हैं और वे चाहते हैं कि उनके भक्तों को भी असीम शक्तियाँ प्राप्त हों। अत: भगवद्भक्त अन्य जीवों से सदैव भिन्न होता है।

हरि शब्द का अर्थ है समस्त क्लेशों का हरण करने वाला तथा *हरिमेधसे* का अर्थ है कि भगवान् बद्धजीव को माया के चंगुल से छुड़ाने के लिए सदैव योजना बनाते रहते हैं। भगवान् इतने दयालु हैं कि बद्धजीवों के उद्धार के लिए स्वयं अवतरित होते हैं और जब भी वे आते हैं, अपनी योजनाएँ बनाते हैं।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

"भक्तजनों का उद्धार, दुष्टों का नाश तथा धर्म की पुन: स्थापना के लिए मैं युगयुग में प्रकट होता हूँ।" (*भगवद्गीता* ४.८)।

चूँकि भगवान् समस्त बद्धजीवों का माया के चंगुल से उद्धार करते हैं इसलिए वे *हरिमेधस्* कहलाते हैं। अवतारों की सूची में कृष्ण को परम तथा आदि ईश्वर कहा गया है—

एते चांशकला: पुंस: कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे॥

(भागवत १.३.२८)

जब इस भौतिक संसार में भगवद्भक्त देवता असुरों द्वारा पीड़ित किये जाते हैं, तो आदि भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट होते हैं।

नम: कमलनाभाय नम: कमलमालिने ।
नम: कमलपादाय नमस्ते कमलेक्षण ॥ २५॥

शब्दार्थ

नमः—सादर नमस्कार है; कमल-नाभाय—भगवान् को जिनकी नाभि से आदि कमल पुष्प प्रकट हुआ; नमः—नमस्कार; कमल-मालिने—कमल पुष्प की माला धारण करने वाला; नमः—नमस्कार; कमल-पादाय—जिसके चरणकमल पुष्प के समान सुन्दर तथा सुगन्धित हैं; नमः ते—आपको नमस्कार है; कमल-ईक्षण—जिनके नेत्र कमल की पंखड़ियों के सदृश हैं।

हे भगवन्, हम आपको सादर नमस्कार करते हैं, क्योंकि आपकी ही नाभि से कमल पुष्प निकलता है, जो समस्त जीवों का उद्गम है। आप सदैव कमल की माला से सुशोभित रहते हैं और आपके चरण सुगंधित कमल पुष्प के समान हैं। आपके नेत्र भी कमल पुष्प की पंखड़ियों के सदृश हैं, अतः हम आपको सदा ही सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : *कमलनाभाय* शब्द सूचित करता है कि भगवान् विष्णु इस सृष्टि के उद्गम हैं। गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से कमल पुष्प फूटता है। इस पुष्प से ब्रह्माण्ड के पहले प्राणी श्रीब्रह्मा का जन्म होता है और बाद में ब्रह्मा सारे ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं, अतः समस्त सृष्टि के उद्गम भगवान् विष्णु हैं और सारे विष्णुतत्त्वों के उद्गम भगवान् कृष्ण हैं। फलस्वरूप समस्त वस्तुओं के उद्गम श्रीकृष्ण हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* से (१०.८) भी होती है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

"मैं अप्राकृत तथा प्राकृत जगत का कारण हूँ। प्रत्येक वस्तु मुझी से उद्भूत है। जो बुद्धिमान इसे ठीक से जानता है, वह भक्ति में लगता है और अपने हृदय से मेरी पूजा करता है।" भगवान् कृष्ण कहते हैं "मैं प्रत्येक वस्तु का उद्गम हूँ।" अतः हम जो कुछ भी देखते हैं वह उन्हीं से प्रकट होता है। वेदान्त के इस सूत्र से भी इसकी पुष्टि होती है—*जन्माद्यस्य यतः*—"परम सत्य वह है, जिससे प्रत्येक वस्तु उद्भूत होती है।"

नमः कमलकिञ्जल्कपिशङ्गामलवाससे ।
सर्वभूतनिवासाय नमोऽयुङ्क्ष्महि साक्षिणे ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; कमल-किञ्जल्क—कमल पुष्प के केसर के समान; पिशङ्ग—पीला; अमल—स्वच्छ; वाससे—उसको जिसका वस्त्र; सर्व-भूत—समस्त जीवों के; निवासाय—आश्रय को; नमः—नमस्कार; अयुङ्क्ष्महि—करने दो; साक्षिणे—परम साक्षी को।

हे भगवन्, आपके द्वारा धारण किया गया वस्त्र कमल पुष्प के केसर के समान पीले रंग का है, किन्तु यह किसी भौतिक पदार्थ का बना हुआ नहीं है। प्रत्येक हृदय में निवास करने के

कारण आप समस्त जीवों के समस्त कार्यों के प्रत्यक्ष साक्षी हैं। हम आपको पुन:पुन: सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् के वस्त्र तथा उनकी सर्वव्यापकता का वर्णन हुआ है। भगवान् पीले रंग का वस्त्र धारण करते हैं, किन्तु उसे कभी भौतिक नहीं समझना चाहिए। उनके वस्त्र भी भगवान् हैं। वे भगवान् से अभिन्न हैं, क्योंकि वे आध्यात्मिक हैं।

सर्वभूतनिवासाय शब्द और आगे स्पष्ट करता है कि भगवान् किस प्रकार प्रत्येक हृदय में वास करते हैं और बद्धजीव के सारे कार्यों के प्रत्यक्ष साक्षी का कार्य करते हैं। इस जगत में बद्धजीव इच्छाएँ रखते है और इन्हीं के अनुसार कार्य करते हैं। इन सारे कार्यों को भगवान् देखते रहते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* द्वारा (१५.१५) भी होती है—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्त: स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—''मैं सबों के हृदय में आसीन हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न हैं।'' भगवान् प्रत्येक प्राणी के हृदय में उपस्थित हैं और जीव को बुद्धि प्रदान करते हैं। जीव की इच्छाओं के अनुसार ही भगवान् उसे स्मरण या विस्मरण कराते रहते हैं। यदि जीव आसुरी होता है और भगवान् को भूलना चाहता है, तो भगवान् उसे ऐसी बुद्धि देते हैं कि वह उन्हें सदैव भूला रहे। इसी प्रकार जब भक्त भगवान् की सेवा करना चाहता है, तो परमात्मा स्वरूप भगवान् उसे बुद्धि प्रदान करते हैं कि वह भक्ति में प्रगति करे। भगवान् हमारे सारे कार्यों के साक्षी बने रहते हैं और हमारी इच्छाओं को अनुभव करते हैं। परमेश्वर हमें इच्छानुसार कार्य करने की सुविधाएँ प्रदान करते हैं।

रूपं भगवता त्वेतदशेषक्लेशसङ्क्षयम् ।
आविष्कृतं न: क्लिष्टानां किमन्यदनुकम्पितम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

रूपम्—स्वरूप; भगवता—आप भगवान् द्वारा; तु—लेकिन; एतत्—यह; अशेष—अनन्त; क्लेश—कष्ट; सङ्क्षयम्—भगाने के लिए; आविष्कृतम्—प्रकट; न:—हम सबका; क्लिष्टानाम्—भौतिक दशाओं से कष्ट पाने वालों का; किम् अन्यत्—क्या कहें; अनुकम्पितम्—जिन पर आपकी कृपा रहती है।

हे भगवन्, हम बद्धजीव देहात्मबुद्धि के कारण सदैव अज्ञान से घिरे रहते हैं, अत: हमें भौतिक जगत के क्लेश ही सदैव प्रिय लगते हैं। इन क्लेशों से हमारा उद्धार करने के लिए ही आपने इस दिव्य रूप में अवतार लिया है। यह हम-जैसे कष्ट भोगने वालों पर आपकी अनन्त अहैतुकी कृपा का प्रमाण है। तो फिर उन भक्तों के विषय में क्या कहें जिनके प्रति आप सदैव

कृपालु रहते हैं ?

तात्पर्य : जब भगवान् अपने आदि रूप में प्रकट होते हैं, तो वे पवित्रात्माओं का उद्धार और दुष्टों के संहार के लिए कार्य करते हैं (*भगवद्गीता* ४.८)। यद्यपि वे असुरों का संहार करते हैं, किन्तु फिर भी इससे उन्हें लाभ मिलता है। कहा गया है कि जितने प्राणी कुरुक्षेत्र युद्ध में मरे थे उन्हें अपनी आदि स्वाभाविक स्थिति (स्वरूप) प्राप्त हो गई थी, क्योंकि उन्हें अर्जुन के रथ पर आसीन श्रीकृष्ण के साक्षात् दर्शन का सुअवसर प्राप्त हुआ था। कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल पर ऊपर-ऊपर से दो बातें चल रही थीं—असुरों का विनाश हो रहा था और भक्त अर्जुन की रक्षा की जा रही थी। किन्तु जो परिणाम निकला वह सबों के लिए समान था। इसीलिए कहा जाता है कि भगवान् के प्रकट होने से भौतिक जगत के कारण उत्पन्न सभी तरह के क्लेश कम हो जाते हैं।

इस श्लोक में यह स्पष्ट उल्लेख है कि यह स्वरूप (*अशेषक्लेशसंक्षयम्*) न केवल भक्तों वरन् अन्य सबों द्वारा अनुभव किये जाने वाले क्लेशों को कम करने के लिए है *आविष्कृतं नः क्लिष्टानाम्।* प्रचेताओं ने अपने आपको सामान्य मनुष्य करके बताया है। *किम् अन्यदनुकम्पितम्।* भक्तों पर भगवान् की सदैव कृपा रहती है। भगवान् न केवल बद्धजीवों पर कृपा करते हैं, अपितु भक्तों पर भी करते हैं, जो अपनी भक्ति के कारण पहले से ही मुक्त हुए रहते हैं।

मन्दिरों में भगवान् के जिस रूप की पूजा की जाती है, वह *अर्चा-विग्रह* या *अर्चावतार* कहलाता है। यह सुविधा नवदीक्षित भक्तों को दी जाती है, जिससे वे भगवान् के असली रूप का साक्षात् दर्शन कर सकें, अर्चा के रूप में सादर नमस्कार कर सकें तथा यज्ञ कर सकें। ऐसी सुविधाओं से नवदीक्षित धीरे-धीरे अपनी मूल कृष्णचेतना का आवाहन करते हैं। नवदिक्षितों के लिए मन्दिरों में *अर्चा-विग्रह* की पूजा भगवान् का सबसे मूल्यवान वरदान है। फलतः सभी नवदीक्षितों को अपने घर अथवा मन्दिर में *अर्चा-विग्रह* (*अर्चावतार*) रखकर भगवान् की पूजा करनी चाहिए।

एतावत्त्वं हि विभुभिर्भाव्यं दीनेषु वत्सलैः ।
यदनुस्मर्यते काले स्वबुद्ध्याभद्ररन्धन ॥ २८॥

शब्दार्थ

एतावत्—इस प्रकार; त्वम्—तुम; हि—निश्चय ही; विभुभिः—अंशों के द्वारा; भाव्यम्—समझाने के लिए; दीनेषु—दीन भक्तों के; वत्सलैः—दयालु; यत्—जो; अनुस्मर्यते—स्मरण किया जाता है; काले—समय के आने पर; स्व-बुद्ध्या—अपनी भक्ति से; अभद्र-रन्धन—हे समस्त अमंगल के विनाशकर्ता, अमंगलहारी।.

हे भगवन्, आप समस्त अमंगल के विनाशकर्ता हैं। आप अपने अर्चा-विग्रह विस्तार के द्वारा अपने दीन भक्तों पर दया करने वाले हैं। आप हम सबों को अपना शाश्वत दास समझें।

तात्पर्य : *अर्चाविग्रह* नामक भगवान् का स्वरूप उनकी अनन्त शक्तियों का विस्तार है। जब भगवान् भक्त की सेवा से धीरे-धीरे संतुष्ट हो जाते हैं, तो समय आने पर वे भक्त को अपने शुद्ध दास के रूप में अपना लेते हैं। स्वभाव से भगवान् परम दयालु हैं, अत: वे नवदीक्षित भक्तों की सेवा स्वीकार करते हैं जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.२६) में हुई है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

"यदि कोई मुझे भक्ति एवं प्रेमपूर्वक एक पत्ता, एक फूल, फल या जल भी अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।" भक्तजन *अर्चाविग्रह* पर खाद्य पदार्थ चढ़ाते हैं, जो शाक, फल, पत्तियाँ तथा जल के रूप में होते हैं। भक्तवत्सल होने के कारण भगवान् इन भेंटों को स्वीकार करते हैं। नास्तिक लोग यह सोचते हैं कि भक्तजन मूर्तिपूजा में लगे हैं, किन्तु वास्तविकता इससे भिन्न होती है। जनार्दन भगवान् तो *भाव* अर्थात् सेवा की प्रवृत्ति को ग्रहण कहते हैं। नवदीक्षित भक्त भगवान् की ऐसी पूजा का महत्त्व भले ही न समझें, किन्तु भक्तवत्सल भगवान् अपने भक्तों को अपनाकर यथासमय उन्हें अपने धाम ले जाते हैं।

इस सम्बन्ध में एक ब्राह्मण की कहानी है, जो अपने मन में भगवान् को खीर चढ़ाया करता था। उस ब्राह्मण के पास न तो धन था, न *अर्चाविग्रह* की पूजा करने का कोई साधन था, किन्तु उसने अपने मन में इन सबकी सुन्दर व्यवस्था कर ली थी। अर्चाविग्रह को स्नान कराने के लिए पवित्र नदियों से जल लाने के लिए उसके पास सुनहरे पात्र थे, वह अर्चाविग्रह को खीर सहित अत्यन्त उत्तम भोजन चढ़ाता था। एक बार जब वह खीर चढ़ा रहा था, तो उसे लगा कि वह बहुत अधिक गरम है, अत: उसने सोचा कि क्यों न चख कर देख लूँ कि कहीं अधिक गरम तो नहीं है। जब उसने खीर चखने के लिए अपनी अँगुली खीर में डाली तो वह जल गई। इससे उसका ध्यान टूट गया। यद्यपि वह मन से प्रसाद चढ़ा रहा था, किन्तु फिर भी भगवान् ने उसे स्वीकार कर लिया था। फलत: भगवान् ने उस

ब्राह्मण को अपने धाम लाने के लिए तुरन्त एक रथ भेज दिया। अत: प्रत्येक निष्ठावान् भक्त का कर्तव्य है कि वह घर में या मन्दिर में अर्चाविग्रह को माने और प्रामाणिक शास्त्रों तथा गुरुसम्मत विधि से भगवान् के स्वरूप की पूजा करे।

येनोपशान्तिर्भूतानां क्षुल्लकानामपीहताम् ।
अन्तर्हितोऽन्तर्हृदये कस्मान्नो वेद नाशिषः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

येन—जिस विधि से; उपशान्तिः—समस्त इच्छाओं की संतुष्टि; भूतानाम्—जीवों की; क्षुल्लकानाम्—अत्यन्त पतितों की; अपि—यद्यपि; ईहताम्—अनेक वस्तुओं की कामना करते हुए; अन्तर्हितः—छिपे हुए; अन्तः-हृदये—हृदय के भीतर; कस्मात्—क्यों; नः—हमारे; वेद—जानता है; न—नहीं; आशिषः—इच्छाएँ।

जब भगवान् अपनी सहज दया से अपने भक्त के विषय में सोचते हैं, तो उस विधि से ही नवदीक्षित भक्तों की सारी इच्छाएँ पूर्ण होती हैं। जीव के अत्यन्त तुच्छ होने पर भी भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हैं। भगवान् जीव के सम्बन्ध में प्रत्येक बात, यहाँ तक कि उसकी समस्त इच्छाओं, को भी जानते रहते हैं। यद्यपि हम अत्यन्त तुच्छ जीव हैं फिर भी भगवान् हमारी इच्छाओं को क्यों नहीं जानेंगे?

तात्पर्य : सिद्ध भक्त अपने आपको सिद्ध नहीं मानता। वह सदा अत्यन्त विनीत होता है। भगवान् अपने परमात्मा रूप में प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित रहते हैं और अपने भक्तों के मनोभावों तथा इच्छाओं को समझ सकते हैं। वे अभक्तों को भी अपनी अपनी इच्छाएँ पूर्ण करने का अवसर प्रदान करते हैं जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है (*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*)।

तुच्छ से तुच्छ जीव भी जो कुछ चाहता है, भगवान् उसको अंकित करते रहते हैं और उन इच्छाओं को पूरा करने के लिए उसे अवसर प्रदान करते हैं। यदि अभक्तों की इच्छाएँ पूर्ण हो सकती हैं, तो फिर भक्तों की क्यों नहीं होंगी? शुद्ध भक्त निष्काम भाव से भगवान् की सेवा करता है और यदि वह अपने अन्तस्तल से, जहाँ भगवान् का वास है, चाहता है और यदि वह किसी अन्य भाव से रहित है, तो भगवान् क्यों नहीं समझेंगे? यदि निष्ठावान् भक्त भगवान् या अर्चा-विग्रह की सेवा करता है, तो उसके सारे कार्य सफल हो जाते हैं, क्योंकि हृदय में स्थित भगवान् उसकी निष्ठा को समझ लेते हैं। इस प्रकार यदि भक्त पूर्ण विश्वास के साथ भक्ति सम्बन्धी सारे कार्य करता जाता है, तो अन्त में उसे सफलता प्राप्त होगी।

असावेव वरोऽस्माकमीप्सितो जगतः पते ।
प्रसन्नो भगवान्येषामपवर्गगुरुर्गतिः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

असौ—उस; एव—निश्चय ही; वरः—वर; अस्माकम्—हमारा; ईप्सितः—इच्छित; जगतः—ब्रह्माण्ड के; पते—हे स्वामी; प्रसन्नः—प्रसन्न, तुष्ट; भगवान्—भगवान्; येषाम्—जिसके साथ; अपवर्ग—दिव्य प्रेमाभक्ति का; गुरुः—शिक्षक; गतिः—जीवन का चरम लक्ष्य।

हे जगत् के स्वामी, आप भक्तियोग के वास्तविक शिक्षक हैं। हमें सन्तोष है कि हमारे जीवन के परमलक्ष्य आप हैं और हम प्रार्थना करते हैं कि आप हम पर प्रसन्न हों। यही हमारा अभीष्ट वर है। हम आपकी पूर्ण प्रसन्नता के अतिरिक्त और कुछ भी कामना नहीं करते।

तात्पर्य : इस श्लोक के *अपवर्ग गुरुर्गतिः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। *श्रीमद्भागवत* के अनुसार (१.२.११) परमेश्वर ही परम सत्य का चरम तथ्य है—*ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।* परम सत्य तीन प्रकार से अनुभव किया जाता है—निर्गुण ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्। *अपवर्ग* का अर्थ "मोक्ष" है। *पवर्ग* का अर्थ है "भौतिक संसार।" इस संसार में मनुष्य सदैव कठोर श्रम करता है, किन्तु अन्त में निराश हो जाता है। तब उसकी मृत्यु हो जाती और पुनः कठोर श्रम करने के लिए उसे अन्य शरीर प्राप्त होता है। भौतिक संसार का यही चक्र है। *अपवर्ग* इसका विपरीत है। इसमें मनुष्य कुत्ते-बिल्लियों की तरह कठोर श्रम न करके भगवान् के धाम को वापस जाता है। मोक्ष का प्रारम्भ परमेश्वर के ब्रह्मतेज में मिल जाने से होता है। यह ज्ञानी सम्प्रदाय वालों का विचार है, किन्तु भगवान् का साक्षात्कार इससे बड़ी चीज है। जब भक्त समझता है कि भगवान् प्रसन्न हैं, तो मोक्ष अर्थात् ब्रह्मतेज में मिलना कठिन नहीं होता। जिस प्रकार सूर्यप्रकाश से सूर्य तक पहुँचा जाता है, उसी तरह मनुष्य को निर्गुण ब्रह्मतेज के माध्यम से भगवान् के पास पहुँचना होता है। यदि कोई भगवान् को प्रसन्न कर ले तो भगवान् के निर्गुण तेज में मिल जाना कठिन नहीं रह जाता।

वरं वृणीमहेऽथापि नाथ त्वत्परतः परात् ।
न ह्यन्तस्त्वद्विभूतीनां सोऽनन्त इति गीयसे ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

वरम्—वर; वृणीमहे—माँगेंगे; अथ अपि—अतः; नाथ—हे स्वामी; त्वत्—तुमसे (आपसे); परतः परात्—प्रकृति आदि से परे; न—नहीं; हि—निश्चय ही; अन्तः—अन्त; त्वत्—तुम्हारे; विभूतीनाम्—ऐश्वर्य का; सः—वह (तुम); अनन्तः—अनन्त; इति—इस प्रकार; गीयसे—विख्यात हो।

अतः हे स्वामी, हम आपसे वर देने के लिए प्रार्थना करेंगे, क्योंकि आप समस्त दिव्य प्रकृति से परे हैं और आपके ऐश्वर्यों का कोई अन्त नहीं है। अतः आप अनन्त नाम से विख्यात हैं।

तात्पर्य : प्रचेताओं को भगवान् से कोई वर माँगने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि भक्तजन तो भगवान् की उपस्थिति मात्र से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। ध्रुव महाराज ने भगवान् का दर्शन करने के लिए कठिन तपस्या की थी और वे भगवान् से वर प्राप्त करना चाहते थे। वे अपने पिता का सिंहासन—या उससे भी श्रेष्ठतर पद—प्राप्त करना चाहते थे, किन्तु जब भगवान् उनके समक्ष उपस्थित हुए तो वे सब कुछ भूल गये। उन्होंने यही कहा, ''हे स्वामी, मैं आपसे कोई वर नहीं चाहता।'' भक्त की यही वास्तविक स्थिति होती है। भक्त तो भगवान् के समक्ष रहना चाहता है—चाहे इस लोक में हो या अन्यत्र—और उनकी सेवा में लगे रहना चाहता है। भक्तों के लिए यही चरम लक्ष्य तथा वर है।

भगवान् ने प्रचेताओं से वर माँगने के लिए कहा था, अत: उन्होंने कहा, ''हम कौन सा वर माँगें? भगवान् अनन्त हैं, अत: वर भी अनन्त हैं।'' तात्पर्य यह कि यदि कोई वर माँगता है, तो उसे अनन्त वर माँगने चाहिए। इस श्लोक के *त्वत् परत:* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् तो *परत: परात्* हैं। *पर* शब्द का अर्थ है—इस भौतिक जगत से परे अर्थात् दिव्य। निर्विशेष ब्रह्मतेज इस जगत से परे है और इसे *परं पद* कहा जाता है। *आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदम्* (भागवत १०.२.३२)। भगवान् के निर्विशेष तेज में मिल जाना *परं पदम्* कहलाता है, किन्तु इससे भी उच्च दिव्य पद होता है, वह है भगवान् की संगति। *ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते* (भागवत १.२.११)। परम सत्य का बोध पहले निर्विशेष ब्रह्म, फिर परमात्मा तथा अन्त में भगवान् के रूप में होता है। इस तरह भगवान् *परत: परात्* हैं, अर्थात् ब्रह्म तथा परमात्मा के साक्षात्कार से ऊपर हैं। इस प्रसंग में जीव गोस्वामी इंगित करते हैं कि *परत: परात्* का अर्थ है ''सर्वश्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ।'' सर्वश्रेष्ठ तो आध्यात्मिक जगत है और यह ब्रह्म कहलाता है। किन्तु भगवान् तो परब्रह्म कहलाते हैं, अत: *परत: परात्* का अर्थ है ''ब्रह्म-साक्षात्कार से श्रेष्ठ।''

जैसाकि अगले श्लोकों में बताया गया है, प्रचेताओं की योजना कुछ ऐसी माँग प्रस्तुत करने की थी जो अनन्त हो। भगवान् की लीलाएँ, गुण, रूप तथा नाम सभी अनन्त हैं। इन सबका कोई अन्त नहीं है। किन्तु यदि सारे जीव परमेश्वर की अनन्त शक्तियों को सुनने में लग जाँय तो वे अनन्त से सीधे जुड़ जाते हैं। श्रवण तथा कीर्तन के द्वारा अनन्त का ऐसा ज्ञान अनन्त बन जाता है।

पारिजातेऽञ्जसा लब्धे सारङ्गोऽन्यन्न सेवते ।
त्वदङ्घ्रिमूलमासाद्य साक्षात्किं किं वृणीमहि ॥ ३२॥

शब्दार्थ

पारिजाते—पारिजात नामक नैसर्गिक वृक्ष; अञ्जसा—पूर्णतया; लब्धे—प्राप्त करके; सारङ्गः—भौंरा; अन्यत्—अन्यत्र; न सेवते—सेवन नहीं करता; त्वत्-अङ्घ्रि—तुम्हारे चरणकमल; मूलम्—प्रत्येक वस्तु के मूलाधार तक; आसाद्य—पहुँच कर; साक्षात्—प्रत्यक्ष; किम्—क्या; किम्—क्या; वृणीमहि—माँगें।.

हे स्वामी, जब भौंरा दिव्य पारिजात वृक्ष के निकट पहुँच जाता है, तो वह उसे कभी नहीं छोड़ता क्योंकि उसे ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। इसी प्रकार जब हमने आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण की है, तो हमें और क्या वर माँगने की आवश्यकता है?

तात्पर्य : जब भक्त भगवान् के चरणकमलों की सेवा में वास्तव में लगा हो तो उसे अन्य कोई वर माँगने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि उसकी व्यस्तता अपने में पूर्ण होती है। जब भौंरा पारिजात वृक्ष के निकट आ जाता है, तो उसे असीमित मात्रा में मधु प्राप्त हो जाता है। उसे दूसरे वृक्ष पर जाने की आवश्यकता नहीं रह जाती। यदि कोई भगवान् के चरणकमलों की सेवा में स्थिर हो चुका है, तो उसे अनन्त आनन्द प्राप्त होता है, अतः उसे और कोई वर माँगने की आवश्यकता नहीं रह जाती। पारिजात वृक्ष इस संसार में साधारण रूप में प्राप्य नहीं है। पारिजात वृक्ष का दूसरा नाम कल्पवृक्ष या मनोरथ पूर्ण करने वाला वृक्ष है। ऐसे वृक्ष से मुँहमाँगा वर प्राप्त किया जा सकता है। इस संसार में यदि नारंगी चाहिए तो वह नारंगी वृक्ष से मिलेगी और आम के वृक्ष से आम मिलेंगे, किन्तु न तो आम के वृक्ष से नारंगी मिल सकती है न नारंगी के वृक्ष से आम। किन्तु पारिजात वृक्ष से जो चाहो सो मिल सकता है-चाहे नारंगी लो, चाहे आम या केला आदि। यह वृक्ष वैकुण्ठलोक में पाया जाता है। *चिन्तामणि प्रकरसद्मसु कल्पवृक्षलक्षावृतेषु।* वैकुण्ठलोक, जिसे चिन्तामणि धाम कहते हैं, ऐसे कल्पवृक्षों से घिरा है, किन्तु पारिजात वृक्ष इन्द्रलोक में भी प्राप्य है। इस पारिजात वृक्ष को श्रीकृष्ण अपनी रानी सत्यभामा को प्रसन्न करने के लिए लाये थे और इसे रानियों के लिए बने द्वारका के महलों में रोप दिया गया था। भगवान् के चरणकमल भी पारिजात रानियों के लिए निर्मित्त वृक्ष के सदृश हैं और भक्तगण भौंरों के समान हैं। वे सदैव भगवान् के चरणकमलों में आसक्त रहते हैं।

यावत्ते मायया स्पृष्टा भ्रमाम इह कर्मभिः ।

तावद्भवत्प्रसङ्गानां सङ्गः स्यान्नो भवे भवे ॥ ३३॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; ते—तुम्हारी (आपकी); मायया—माया से; स्पृष्टाः—दूषित; भ्रमामः—हम घूमते हैं; इह—इस संसार में; कर्मभिः—कर्मों के कारण; तावत्—तब तक; भवत्-प्रसङ्गानाम्—आपके प्रेमी भक्तों की; सङ्गः—संगति; स्यात्—हो; नः—हमारी; भवे भवे—प्रत्येक योनि में।.

हे स्वामी, हमारी प्रार्थना है कि जब तक हम अपने सांसारिक कल्मष के कारण इस संसार में रहें और एक शरीर से दूसरे में तथा एक लोक से दूसरे लोक में घूमते रहें, तब तक हम उनकी संगति में रहें जो आपकी लीलाओं की चर्चा करने में लगे रहते हैं। हम जन्म-जन्मांतर विभिन्न शारीरिक रूपों में और विभिन्न लोको में इसी वर के लिए प्रार्थना करते हैं।

तात्पर्य : यह सर्वश्रेष्ठ वर है, जिसे भक्त भगवान् से माँग सकता है। चैतन्य महाप्रभु के द्वारा भी हुई है : *स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिः* (*भागवत* १०.१४.३)। भाग्य के अनुसार मनुष्य किसी एक स्थिति में हो या दूसरी में, प्रत्येक दशा में उसे भगवान् के कार्यकलापों तथा लीलाओं का श्रवण करते रहना चाहिए। शुद्ध भक्त कभी अपनी मुक्ति या आवागमन के चक्र से बचने की प्रार्थना नहीं करता, क्योंकि उसकी दृष्टि में इनका महत्त्व नहीं होता। भक्त के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात होती है भगवान् की लीलाओं तथा गुणों के सम्बन्ध में श्रवण करने का अवसर पाना। जो लोग इस संसार में भगवद्भक्ति करते हैं उन्हें वैकुण्ठ में भी यही सुअवसर प्राप्त होगा। इस प्रकार भक्त के लिए वैकुण्ठ में सब कुछ है क्योंकि जब तक वह भगवान् की लीलाओं का श्रवण कर सकता है अथवा जहां भी वह कीर्तन कर सकता है, वहाँ भगवान् उपस्थित रहते हैं। *तत्र तिष्ठामि नारद यत्र गायन्ति मद्भक्ताः ।* जब शुद्ध भक्त मिलकर भगवान् के विषय में कीर्तन, श्रवण या कथन करते हैं, तो वह स्थान, जहाँ वे एकत्रित होते हैं, वैकुण्ठ बन जाता है। भक्त को वैकुण्ठ जाने के लिए भगवान् से प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। शुद्ध भक्त कहीं भी भगवान् के गुणों का केवल निरपराध भाव से जप करके वैकुण्ठ या वृन्दावन बना सकता है।

प्रत्येक जीवन (*भवे भवे*) में भगवान् के गुणों का गान सुनने का अवसर प्राप्त हो, इसके लिए प्रचेतागण भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं। जीव एक देह से दूसरे में देहान्तरण करता है। भक्त इस क्रिया को बन्द करने के पक्ष में नहीं हैं। चैतन्य महाप्रभु प्रार्थना करते हैं—*मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि*—हे भगवान्, मैं जन्म-जन्मांतर आपकी शुद्ध भक्ति में स्थिर रहूँ। विनयवश भक्त

अपने आपको वैकुण्ठ जाने के अयोग्य समझता है। वह अपने को सदैव प्रकृति के गुणों से मलीन समझता है। भक्त को इन गुणों से भी मुक्त होने के लिए प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं रहती। भक्ति स्वयं दिव्य पद है, अत: इस विशिष्ट सुविधा की याचना करना व्यर्थ है। निष्कर्ष यह निकला कि शुद्ध भक्त जन्म-मृत्यु के चक्र को रोकने के लिए उत्सुक नहीं रहता, वह तो उन भक्तों की संगति करने के लिए उत्सुक रहता है, जो भगवान् के कीर्तन तथा उनके गुणों के श्रवण में लगे हुए हैं।

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तुलयाम—तुलना करते हैं; लवेन—क्षण (लव) से; अपि—भी; न—नहीं; स्वर्गम्—स्वर्ग लोक की प्राप्ति; न—नहीं; अपुनः-भवम्—ब्रह्मतेज में मिलने के लिए; भगवत्—भगवान् का; सङ्गि—पार्षदों से; सङ्गस्य—संगति का; मर्त्यानाम्—मनुष्यों का, जो मरणशील हैं; किम् उत—क्या कम है; आशिषः—आशीर्वाद, वर।

एक क्षण की भी शुद्ध भक्त की संगति के सामने स्वर्गलोक जाने अथवा पूर्ण मोक्ष पा कर ब्रह्मतेज में मिलने (कैवल्य) की कोई तुलना नहीं की जा सकती है। शरीर को त्याग कर मरने वाले जीवों के लिए सर्वश्रेष्ठ वर तो शुद्ध भक्तों की संगति है।

तात्पर्य : भगवान् चैतन्य के एक परम भक्त सन्त प्रबोधानन्द सरस्वती ने कहा है—*कैवल्यं नरकायते त्रिदशपूर आकाशपुष्पायते।* शुद्ध भक्त के लिए ब्रह्मतेज में मिलने अथवा कैवल्य का सुख नरक में रहने के समान है। इसी प्रकार स्वर्गलोक (त्रिदशपूर) को जाना अन्य प्रकार का मायाजाल है। दूसरे शब्दों में, शुद्ध भक्त कर्मियों के लक्ष्य (स्वर्ग) अथवा ज्ञानियों के लक्ष्य (कैवल्य) को महत्त्व प्रदान नहीं करता। वह तो अन्य शुद्ध भक्त के साथ क्षण भर की भी संगति को स्वर्ग या कैवल्य से कहीं अधिक महत्त्व देता है। इस संसार में रहने वाले तथा जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़े जीवों के लिए सर्वश्रेष्ठ वर शुद्ध भक्तों की संगति है। मनुष्य को चाहिए कि ऐसे शुद्ध भक्तों को खोज कर उनके साथ रहे। इससे इस भौतिक जगत में रहते हुए भी पूर्ण सुख प्राप्त किया जा सकता है। इसी उद्देश्य से यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन प्रारम्भ किया गया है। अत्यधिक भौतिकता में ग्रस्त मनुष्य इस आन्दोलन से लाभ उठा सकता है और इससे भलीभाँति सम्पर्क बढ़ा सकता है। इस तरह दिग्भ्रमित तथा हताश प्राणी भक्तों की संगति में परम सुख पा सकते हैं।

यत्रेड्यन्ते कथा मृष्टास्तृष्णायाः प्रशमो यतः ।
निर्वैरं यत्र भूतेषु नोद्वेगो यत्र कश्चन ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; ईड्यन्ते—पूजा की जाती है या चर्चा चलती है; कथाः—कथा; मृष्टाः—शुद्ध; तृष्णायाः—भौतिक इच्छाओं की; प्रशमः—तुष्टि; यतः—जिससे; निर्वैरम्—वैर का न होना; यत्र—जहाँ; भूतेषु—जीवों में; न—नहीं; उद्वेगः—भय; यत्र—जहाँ; कश्चन—किसी प्रकार का, कोई।

जब भी दिव्य लोक की कथाओं की चर्चा चलती है, श्रोतागण, भले ही क्षण-भर के लिए क्यों न हो, समस्त भौतिक तृष्णाएँ भूल जाते हैं। यही नहीं, आगे से वे एक दूसरे से न तो वैर करते हैं, न किसी कुण्ठा या भय से ग्रस्त होते हैं।

तात्पर्य : वैकुण्ठ का अर्थ है "कुण्ठा से रहित" और भौतिक जगत का अर्थ है कुण्ठा से पूर्ण। जैसाकि प्रह्लाद महाराज ने कहा है—*सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्।* जिन जीवात्माओं ने इस जगत को अपना आवास बनाया है वे सदैव कुण्ठा से भरे रहते हैं। जब शुद्ध भक्तों के द्वारा भगवान् की पवित्र कथाएँ कही जाती हैं, तो कोई भी स्थान वैकुण्ठ बन जाता है। यह *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* की विधि है, जिसमें भगवान् विष्णु के विषय में कीर्तन एवं श्रवण किया जाता है। भगवान् स्वयं इसकी पुष्टि करते हैं—

नाहं तिष्ठामि वैकुण्ठे योगिनां हृदयेषु वा।
तत्र तिष्ठामि नारद यत्र गायन्ति मद्भक्ताः ॥

"हे नारद! न तो मैं अपने निवास वैकुण्ठ में रहता हूँ, न योगियों के हृदय में रहता हूँ। मैं तो उस स्थान में वास करता हूँ जहाँ मेरे भक्त मेरे पवित्र नाम का कीर्तन करते हैं और मेरे रूप, लीलाओं तथा गुणों की चर्चा चलाते हैं।" दिव्य उच्चारण में भगवान् की उपस्थिति के कारण वैकुण्ठलोक का वातावरण प्रबुद्ध होता है। यह वातावरण भय तथा कुण्ठा से मुक्त होता है। इसमें एक जीव दूसरे जीव से डरता नहीं। भगवान् के पवित्र नाम तथा गुणों के श्रवण से मनुष्य पुण्यकर्म करने लगता है। *शृण्वतां स्वकथाः कृष्ण पुण्यश्रवणकीर्तनः* (*भागवत* १.२.१७)। इस प्रकार उसकी भौतिक तृष्णाएँ तुरन्त समाप्त हो जाती हैं। कृष्णभावनामृत-संघ द्वारा चलाया गया यह संकीर्तन-आन्दोलन वैकुण्ठलोक की सृष्टि करने के लिए है, जहाँ कोई कुण्ठा नहीं है। इसकी विधि है *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* द्वारा सारे संसार में प्रचार। भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति अपने संगी से द्वेष करता है। जब तक मानव-समाज में हरे कृष्ण महामंत्र—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का

संकीर्तन यज्ञ नहीं होता तब तक उसमें पाशविक विद्वेष बना रहता है। फलत: प्रचेताओं ने सदैव भक्तों के समाज में रहने का निश्चय किया और इसे ही मानव-जीवन का सर्वश्रेष्ठ वर माना।

यत्र नारायणः साक्षाद्भगवान्न्यासिनां गतिः ।
संस्तूयते सत्कथासु मुक्तसङ्गैः पुनः पुनः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; नारायणः—भगवान् नारायण; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवान्—भगवान्; न्यासिनाम्—संन्यासियों का; गतिः—परम लक्ष्य; संस्तूयते—पूजा की जाती है; सत्-कथासु—अच्छे अच्छे कथा प्रसंगों द्वारा; मुक्त-सङ्गैः—भव कल्मष से मुक्त व्यक्तियों द्वारा; पुनः पुनः—बारम्बार।

जहाँ भक्तों के बीच भगवान् के पवित्र नाम का श्रवण तथा कीर्तन चलता रहता है, वहाँ भगवान् नारायण उपस्थित रहते हैं। संन्यासियों के चरम लक्ष्य भगवान् नारायण ही हैं और नारायण की पूजा उन व्यक्तियों द्वारा इस संकीर्तन आन्दोलन के माध्यम से की जाती है, जो भौतिक कल्मष से मुक्त हो चुके हैं। वे बारम्बार भगवान् के पवित्र नाम का उच्चारण करते हैं।

तात्पर्य : मायावादी संन्यासी नारायण की वास्तविक उपस्थिति से वंचित रह जाते हैं। इसका कारण यह है कि वे झूठे ही अपने को साक्षात् नारायण कहते हैं। मायावादी संन्यासियों में एक दूसरे को नारायण कहने का शिष्टाचार है। यह कहना कि प्रत्येक प्राणी नारायण का मन्दिर है सही है, किन्तु अन्य किसी मनुष्य को नारायण मानना महान् अपराध है। दरिद्रनारायण (निर्धन नारायण) की संकल्पना भी एक महान् अपराध है, क्योंकि इसमें निर्धन को नारायण स्वरूप मानने का प्रयास किया जाता है। यहाँ तक कि ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवताओं के साथ नारायण की समता करना अपराध है।

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मारुद्रादि दैवतैः।
समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद्ध्रुवम्॥

"जो भगवान् नारायण को ब्रह्मा तथा शिव जैसे बड़े-बड़े देवताओं के समान मानता है उसे पाषण्डी कोटि में गिना जाता है।" तथ्य तो यह है कि यज्ञ संकीर्तन द्वारा भगवान् को तुरन्त प्रसन्न किया जा सकता है। तब नारायण स्वयं अवतरित होकर वहाँ उपस्थित होते हैं। इस कलियुग में चैतन्य महाप्रभु के रूप में भगवान् तुरन्त ही उपस्थित हो जाते हैं। *श्रीमद्भागवत* (११.५.३२) में भगवान् चैतन्य महाप्रभु के विषय में कहा गया है—

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।

यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥

"कलियुग में बुद्धिमान पुरुष कृष्ण-नाम का निरन्तर गायन करने वाले ईश्वर के अवतार की पूजा करने के लिए सामूहिक कीर्तन करते हैं। यद्यपि उनका रंग श्याम नहीं है, किन्तु वे साक्षात् कृष्ण हैं। उनके साथ उनके पार्षद, सेवक, आयुध तथा विश्वस्त संगी रहते हैं।" आखिर, यह मनुष्य जीवन नारायण को प्रसन्न करने के लिए ही मिला है और संकीर्तन यज्ञ द्वारा इसकी पूर्ति की जा सकती है। जब भी भगवान् के पवित्र नाम का सामूहिक कीर्तन होता है, भगवान् गौर नारायण अपने भगवान् चैतन्य रूप में तुरन्त प्रकट होते हैं और संकीर्तन यज्ञ द्वारा पूजे जाते हैं।

इस श्लोक में कहा गया है कि *न्यासिनां गतिः* अर्थात् नारायण संन्यासियों के चरम लक्ष्य हैं। जिन व्यक्तियों ने संसार का परित्याग कर दिया है उनका लक्ष्य नारायण की प्राप्ति है। अतः वैष्णव संन्यासी नारायण की सेवा में अपना जीवन समर्पित करता हैं, इसलिए वैष्णव संन्यासी अपना जीवन नारायण की सेवा हेतु अर्पण कर देता है और झूठे ही स्वयं के नारायण होने का दावा नहीं करता। जो नारायण बनने का प्रयत्न करता है, वह तुरन्त निर्वैर होने के बजाय भगवान् से वैर रखने लगता है। इसलिए नारायण बनने का प्रयत्न करना सबसे बड़ा अपराध है। वास्तव में जब कोई व्यक्ति भगवान् के दिव्य कार्यकलापों का कीर्तन करता है या चर्चा करता है, तो वह निर्वैर बन जाता है। इस संसार में हर व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से वैर रखता है, किन्तु भगवान् का नाम उच्चारण करने अथवा नाम की चर्चा चलाने से वह समस्त भौतिक तृष्णाओं से रहित तथा निर्वैर हो जाता है। भगवान् से ईर्ष्या (वैर) करने के कारण हम अन्य सभी जीवों से वैर रखने लगे हैं। जब हम भगवान् से वैर रखना छोड़ देंगे तो मानव समाज में वास्तविक शान्ति, एकता तथा बन्धुत्व आएगा। नारायण अथवा संकीर्तन यज्ञ के बिना इस संसार में शान्ति नहीं आ सकती।

तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया ।
भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उनका; विचरताम्—विचरण करने वालों का; पद्भ्याम्—अपने पाँवों से; तीर्थानाम्—पवित्र स्थानों का; पावन-इच्छया—पवित्र करने की इच्छा से; भीतस्य—डरे हुए संसारी पुरुष का; किम्—क्यों; न—नहीं; रोचेत—अच्छा लगता है; तावकानाम्—आपके भक्तों की; समागमः—भेंट।

हे भगवन्, आपके पार्षद तथा भक्त संसार-भर में तीर्थस्थानों तक को पवित्र करने के लिए

भ्रमण करते रहते हैं। जो इस संसार से भयभीत हैं, क्या ऐसा कार्य इन सबके लिए रुचिकर नहीं होता?

तात्पर्य : भक्त दो प्रकार के होते हैं—*गोष्ठानन्दी* तथा *भजनानन्दी*। *भजनानन्दी* एक ही स्थान पर रहते हैं, वे कहीं जाते नहीं। ऐसे भक्त सदैव भगवान् की भक्ति में लगे रहते हैं। वे आचार्यों द्वारा बताये गये महामंत्र का जप करते हैं और कभी-कभी उपदेश देने बाहर जाते हैं। गोष्ठानन्दी भक्त वे हैं, जो संसार भर में भक्तों की संख्या बढ़ाने के इच्छुक रहते हैं। वे सारे संसार तथा उसमें निवास करने वाले व्यक्तियों को शुद्ध करने के लिए विचरण करते रहते हैं। चैतन्य महाप्रभु का आदेश है—

पृथिवीते आछे यत नगरादि ग्राम।

सर्वत्र प्रचार हैबे मोर नाम॥

चैतन्य महाप्रभु चाहते थे कि उनके अनुयायी संसार-भर में प्रत्येक नगर तथा ग्राम में प्रचार के लिए जाँय। चैतन्य-सम्प्रदाय के जो लोग भगवान् चैतन्य के सिद्धान्तों का दृढ़ता से पालन करते हैं उन्हें भगवान् चैतन्य के सन्देश को, जो श्रीकृष्ण के वचन—*भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत*—ही है, विश्व-भर में प्रचार करने के लिए भ्रमण करना होता है। भक्तगण जितना ही कृष्णकथा के सिद्धान्तों का उपदेश करेंगे, उतना ही संसार-भर के लोग लाभान्वित होंगे।

नारद मुनि जैसे भक्त, जो प्रचारार्थ सर्वत्र घूमते हैं, गोष्ठानन्दी कहलाते हैं। नारद मुनि ब्रह्माण्ड-भर में विभिन्न प्रकार के भक्त उत्पन्न करने के लिए सदैव विचरण करते रहते हैं। नारद मुनि ने तो बहेलिये तक को भक्त बना लिया था। उन्होंने ध्रुव तथा प्रह्लाद को भी भक्त बनाया। वस्तुत: सारे भक्त नारद मुनि के ऋणी हैं, क्योंकि वे स्वर्ग तथा नरक दोनों में विचरण कर चुके थे। भगवद्भक्त नरक से भी नहीं डरता। वह सर्वत्र, यहाँ तक कि नरक में भी, भगवान् की महिमा का प्रचार करने के लिए जाता है क्योंकि भक्त की दृष्टि में स्वर्ग तथा नरक में कोई अन्तर नहीं रहता।

नारायणपरा: सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।

स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन:॥

"नारायण का शुद्ध भक्त कहीं भी जाने से डरता नहीं। उसके लिए स्वर्ग तथा नरक समान हैं।" (*भागवत* ६.१७.२८)। ऐसे भक्त सर्वत्र घूम कर इस भौतिक संसार से डरने वालों का उद्धार करते रहते

हैं। कुछ लोग भौतिक भोगों से हताश तथा दिग्भ्रमित होने के कारण पहले से ही इस संसार से ऊबे हैं और कुछ लोग, जो बुद्धिमान हैं, परमेश्वर को जानने में रुचि रखते हैं। ये दोनों ही तरह के लोग संसार-भर में विचरण करने वाले शुद्ध भक्त से लाभ उठा सकते हैं।

जब कोई शुद्ध भक्त किसी तीर्थस्थान में जाता है, तो उसके मन में उसे शुद्ध करने की अभिलाषा होती है। अनेक पापी तीर्थस्थानों में स्नान करते हैं। वे गंगा तथा यमुना नदियों के जल में प्रयाग, वृन्दावन तथा मथुरा जैसे स्थानों में स्नान करते हैं। इस प्रकार पापी मनुष्य शुद्ध होते हैं, किन्तु उनके पापपूर्ण कर्म तथा उनके फल तीर्थस्थानों में रह जाते हैं। अत: जब कोई भक्त ऐसे तीर्थस्थानों में स्नान करने आता है, तो पापियों द्वारा छोड़े हुए पापपूर्ण कर्मफलों का निराकरण हो जाता है। *तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्त:स्थेन गदाभृता* (*भागवत* १.१३.१०)। चूँकि भक्त के हृदय में सदैव भगवान् विराजमान रहते हैं, अत: वह जिस किसी स्थान में जाता है, वह तीर्थस्थान बन जाता है, जो कि भगवान् को समझने का पवित्र स्थान होता है। अत: प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह शुद्ध भक्त की संगति करे और भव-कल्मष से छुटकारा पा ले। प्रत्येक व्यक्ति को विचरण करने वाले भक्तों से लाभ उठाना चाहिए, क्योंकि इन भक्तों का एकमात्र कार्य बद्धजीवों को माया के चंगुल से छुड़ाना है।

वयं तु साक्षाद्भगवन्भवस्य
प्रियस्य सख्यु: क्षणसङ्गमेन ।
सुदुश्चिकित्स्यस्य भवस्य मृत्योर्
भिषक्तमं त्वाद्य गतिं गता: स्म ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

वयम्—हम; तु—तब; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवन्—हे स्वामी; भवस्य—शिवजी की; प्रियस्य—अत्यन्त प्रिय; सख्यु:—आपके मित्र; क्षण—क्षण भर के; सङ्गमेन—संगति से; सुदुश्चिकित्स्यस्य—जिसका उपचार कर पाना अत्यन्त दुष्कर है; भवस्य—भौतिक अस्तित्व का; मृत्यो:—मृत्यु का; भिषक्-तमम्—सर्वश्रेष्ठ वैद्य; त्वा—तुम; अद्य—आज; गतिम्—लक्ष्य; गता:—प्राप्त कर लिया; स्म—निश्चय ही।

हे भगवन्, हम भाग्यशाली हैं कि आपके अत्यन्त प्रिय तथा अभिन्न मित्र शिवजी की क्षणमात्र की संगति से हम आपको प्राप्त कर सके हैं। आप इस संसार के असाध्य रोग का उपचार करने में समर्थ सर्वश्रेष्ठ वैद्य हैं। हमारा सौभाग्य था कि हमें आपके चरणकमलों का आश्रय प्राप्त हो सका।

तात्पर्य : यह कहा गया है—*हरिं विना न सृतिं तरन्ति।* भगवान् के चरणकमलों का आश्रय लिये

बिना माया, जन्म की पुनरावृत्ति, जरा, रोग तथा मृत्यु के चंगुल से नहीं बचा जा सकता। प्रचेताओं को शिवजी की कृपा से भगवान् की शरण प्राप्त हो सकी। शिवजी भगवान् विष्णु के परम भक्त हैं—*वैष्णवानां यथा शम्भु:*—शिवजी सर्वश्रेष्ठ वैष्णव हैं और जो लोग शिवजी के असली भक्त हैं, वे शिवजी के उपदेशों का पालन करते हैं और भगवान् विष्णु के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर लेते हैं। किन्तु शिवजी के तथाकथित भक्त, जो भौतिक सम्पन्नता के पीछे पड़े रहते हैं, धोखा खाते हैं। उन्हें शिवजी वास्तव में धोखा नहीं देते क्योंकि उन्हें लोगों को धोखा देने में कोई सरोकार नहीं है, किन्तु शिवजी के तथाकथित भक्त चाहते हैं कि उन्हें धोखा दिया जाये, अत: आशुतोष शिवजी उन्हें सभी प्रकार के भौतिक वर देते रहते हैं। ये वर विडम्बना स्वरूप तथाकथित भक्तों का विनाश का कारण बन सकते हैं। उदाहरणार्थ, रावण ने शिवजी से समस्त भौतिक वर प्राप्त कर लिये थे, किन्तु परिणाम यह हुआ कि वह अपने परिवार, राज्य तथा सर्वस्व सहित विनष्ट हो गया, क्योंकि उसने शिवजी के वर का दुरुपयोग किया। अपनी भौतिक शक्ति के कारण वह इतना अहंकारी और घमण्डी हो गया कि उसने भगवान् रामचन्द्र की पत्नी का अपहरण करने का दुस्साहस किया। इस प्रकार से वह विनष्ट हो गया। शिवजी से वर प्राप्त करना कठिन नहीं है, किन्तु वे वास्तविक वर नहीं होते। प्रचेताओं ने शिवजी से भौतिक वर प्राप्त करके भगवान् विष्णु के चरणकमलों की शरण ली। यह वास्तविक वर है। गोपियों ने भी वृन्दावन में शिवजी की पूजा की और आज भी गोपीश्वर रूप में भगवान् वहाँ हैं। किन्तु गोपियों ने शिवजी से प्रार्थना की कि वे भगवान् कृष्ण को उनका पति होने का आशीर्वाद दें। यदि किसी का उद्देश्य भगवद्धाम को वापस जाना है, तो देवताओं की पूजा करने में कोई हानि नहीं है। साधारण लोग तथा भौतिक लाभ की दृष्टि से देवताओं के पास जाते हैं जिसका संकेत *भगवद्गीता* (७.२०) में मिलता है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना: प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता:।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियता: स्वया॥

“जिनके मन भौतिक इच्छाओं से विकृत हो चुके हैं, वे देवताओं की शरण ग्रहण करते हैं और अपने मन के अनुसार पूजा के विधि-विधानों का पालन करते हैं।” भौतिक लाभों के पीछे पड़ा व्यक्ति हृतज्ञान (जिसकी बुद्धि नष्ट हो गई है) कहलाता है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात है कि शास्त्रों में

कभी-कभी शिवजी को भगवान् से अभिन्न बताया जाता है। बात यह है कि शिवजी तथा भगवान् विष्णु परस्पर इतने घुले-मिले हुए हैं कि उनकी विचारधारा में कोई अन्तर नहीं रहता। वास्तविकता तो यह है कि *एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य*—कृष्ण ही एकमात्र ईश्वर हैं, अन्य सब उनके दास या भक्त हैं (*श्रीचैतन्यचरितामृत,* आदि ५.१४२)। यह सत्य है कि इस विषय में शिवजी तथा भगवान् विष्णु में कोई अन्तर नहीं हैं। शास्त्रों में कहीं भी शिवजी अपने को भगवान् विष्णु के समान होने का दावा नहीं करते। यह तो शिवजी के तथाकथित भक्तों की करामात है, जो दावा करते हैं कि शिव तथा विष्णु एक हैं। *वैष्णव तन्त्र* में इसका सर्वथा निषेध हुआ है—*यस्तु नारायणं देवम्।* भगवान् विष्णु, शिव तथा ब्रह्मा में स्वामी तथा दास का घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिव-विरि-श्चि-नुतम् शिव तथा ब्रह्मा विष्णु को आदर देते हैं और नमस्कार करते हैं। उनको समान मानना महान् अपराध है। वे इस दृष्टि से सम हैं कि भगवान् विष्णु भगवान् हैं और अन्य सभी उनके शाश्वत दास हैं।

यन्नः स्वधीतं गुरवः प्रसादिता
विप्राश्च वृद्धाश्च सदानुवृत्त्या ।
आर्या नताः सुहृदो भ्रातरश्च
सर्वाणि भूतान्यनसूययैव ॥ ३९ ॥
यन्नः सुतप्तं तप एतदीश
निरन्धसां कालमदभ्रमप्सु ।
सर्वं तदेतत्पुरुषस्य भूम्नो
वृणीमहे ते परितोषणाय ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; नः—हमारे द्वारा; स्वधीतम्—अध्ययन किया गया; गुरवः—श्रेष्ठ व्यक्ति, गुरुजन; प्रसादिताः—प्रसन्न होने पर; विप्राः—ब्राह्मण; च—तथा; वृद्धाः—वृद्धजन; च—तथा; सत्-आनुवृत्त्या—अपने सदाचरण से; आर्याः—श्रेष्ठजन; नताः—नमस्कार करने से; सु-हृदः—मित्रगण; भ्रातरः—भाई; च—तथा; सर्वाणि—समस्त; भूतानि—जीव; अनसूयया—द्वेषरहित; एव—निश्चय ही; यत्—जो; नः—हमारा; सु-तप्तम्—कठिन; तपः—तपस्या; एतत्—यह; ईश—हे भगवान्; निरन्धसाम्—निराहार; कालम्—समय तक; अदभ्रम्—दीर्घ; अप्सु—जल के भीतर; सर्वम्—सभी; तत्—उस; एतत्—इस; पुरुषस्य—भगवान् का; भूम्नः—महान; वृणीमहे—वर मागँते हैं; ते—आपका; परितोषणाय—सन्तोष के लिए।

हे भगवन्, हमने वेदों का अध्ययन किया है, गुरु बनाया है और ब्राह्मणों, भक्तों तथा आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यधिक उन्नत वरिष्ट पुरुषों को सम्मान प्रदान किया है। हमने अपने किसी भी भाई, मित्र या अन्य किसी से ईर्ष्या नहीं की। हमने जल के भीतर रहकर कठिन तपस्या भी की है और दीर्घकाल तक भोजन नहीं ग्रहण किया। हमारी ये सारी आध्यात्मिक सम्पदाएँ

आपको प्रसन्न करने के लिए सादर समर्पित हैं। हम आपसे केवल यही वर माँगते हैं, अन्य कुछ भी नहीं।

तात्पर्य : जैसाकि श्रीमद्भागवत में कहा गया है—*संसिद्धिर्हरितोषणम्*—वास्तविक सिद्धि भगवान् को प्रसन्न करना है। *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—वेदों को समझने के लिए भगवान् को समझना होता है। जिसने उन्हें समझ लिया है, वह अनेकानेक जन्मों के बाद उनकी शरण ग्रहण करता है। हमें प्रचेताओं में ये सारे गुण मिल जाते हैं। उन्होंने जल के भीतर कठिन तपस्या की और दीर्घकाल तक निराहार रहे। उन्होंने यह तपस्या किसी भौतिक लाभ के लिए नहीं, अपितु भगवान् को प्रसन्न करने के लिए की थी। मनुष्य किसी भी प्रकार के—भौतिक या आध्यात्मिक—कार्य में लगा रह सकता है, किन्तु उद्देश्य होना चाहिए भगवान् को प्रसन्न रखना। यह श्लोक वैदिक सभ्यता का पूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है। जो लोग भक्त बनने का अभ्यास कर रहे हों, उन्हें न केवल भगवान् के प्रति आभारी होना चाहिए, अपितु ज्ञान में जो वरिष्ठ हैं, जो आर्य हैं तथा भगवान् के वास्तविक भक्त हैं, उनका भी सम्मान करना चाहिए। आर्य वह है, जो गप्पें नहीं हाँकता वरन् भगवान् का वास्तविक भक्त है। *आर्य* का अर्थ है, ''उन्नत या प्रगतिशील।'' पूर्वकाल में जो लोग अपने को आर्य कहते थे, वे भगवान् के भक्त होते थे। उदाहरणार्थ, *भगवद्गीता* (२.२) में श्रीकृष्ण ने यह कह कर अर्जुन की भर्त्सना की कि वह अनार्य की तरह बोल रहा है—

श्रीभगवानुवाच
कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥

''भगवान् कृष्ण ने कहा, हे अर्जुन! संग्राम की इस विषम स्थिति में तुममें ये अशुद्धताएँ किस कारण से आ गई? ये तो उन मनुष्यों के योग्य नहीं हैं, जो जीवन की श्रेष्ठ गरिमा को जानते हैं। उच्च लोकों की प्राप्ति कराने वाले भी नहीं हैं, अपितु अपयश का कारण हैं।'' अर्जुन क्षत्रिय होते हुए भी परमेश्वर द्वारा आदेशित होने पर लड़ने से इनकार कर रहा था। भगवान् ने उसे अनार्य वंश का कह कर उसकी भर्त्सना की। जो कोई भगवद्भक्ति में अग्रसर है, वह अवश्य ही अपना कर्तव्य जानता है, चाहे यह कर्तव्य हिंसात्मक या अहिंसात्मक हो। यदि यह भगवान् द्वारा स्वीकृत है और उनका आदेश है, तो

उसे अवश्य करना चाहिए। आर्य अपना कर्तव्य पूरा करता है। आर्यजन वृथा ही जीवों से शत्रुता नहीं रखते। वे कभी कसाईघर नहीं चलाते और न ही दीन पशुओं के शत्रु होते हैं। प्रचेताओं ने अनेक वर्षों तक जल के भीतर रहकर भी तपस्या की थी। तपस्या को स्वीकार करना उन्नत सभ्यता का न्याय संगत कर्तव्य है।

निरन्धसाम् शब्द का अर्थ हैं, ''निराहार।'' वृथा ही अधिक भोजन करना आर्य का कार्य नहीं है, अपितु जहाँ तक हो सके सीमित भोजन करना चाहिए। जब आर्य लोग भोजन करते हैं, तो वे स्वीकृत भोज्य पदार्थ ही खाते हैं। इसके सम्बन्ध में भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.२६) में कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

''यदि कोई मुझे प्रेम तथा भक्तिपूर्वक एक पत्ता, फूल, फल अथवा जल अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।'' इस प्रकार उन्नत आर्यों के लिए अनेक प्रतिबन्ध होते हैं। यद्यपि भगवान् इच्छानुसार सब कुछ खा सकते हैं, किन्तु वे अपने को फल, फूल, पत्ता, दूध इत्यादि तक सीमित रखते हैं। इस प्रकार इस श्लोक में आर्यों के कार्यों का वर्णन हुआ है।

मनुः स्वयम्भूर्भगवान्भवश्च
येऽन्ये तपोज्ञानविशुद्धसत्त्वाः ।
अदृष्टपारा अपि यन्महिम्नः
स्तुवन्त्यथो त्वात्मसमं गृणीमः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

मनुः—स्वायंभुव मनु; स्वयम्भूः—ब्रह्मा; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; भवः—शिवजी; च—भी; ये—जो; अन्ये—अन्य; तपः—तपस्या; ज्ञान—ज्ञान द्वारा; विशुद्ध—शुद्ध; सत्त्वाः—जिसका अस्तित्व; अदृष्ट-पाराः—जो अन्त को नहीं देख सकते; अपि—यद्यपि; यत्—तुम्हारी; महिम्नः—महिमा की; स्तुवन्ति—प्रार्थना करते हैं; अथो—अतः; त्वा—तुमको; आत्म-समम्—यथाशक्ति; गृणीमः—हमने प्रार्थना की।

हे भगवन्, तप तथा ज्ञान के कारण सिद्धिप्राप्त बड़े-बड़े योगी तथा शुद्ध सत्व में स्थित लोगों के साथ-साथ मनु, ब्रह्मा तथा शिव जैसे महापुरुष भी आपकी महिमा तथा शक्तियों को पूरी तरह नहीं समझ पाते। फिर भी वे यथाशक्ति आपकी प्रार्थना करते हैं। उसी प्रकार हम इन महापुरुषों से काफी क्षुद्र होते हुए भी अपने सामर्थ्य के अनुसार प्रार्थना कर रहे हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा, शिव, मनु (मानव जाति का जनक), परम साधु पुरुष तथा बड़े-बड़े ऋषि

जिन्होंने अपनी तपस्या तथा भक्ति के बल पर उच्चस्थान प्राप्त किया है, भगवान् की तुलना में ज्ञान में अधूरे हैं। इस संसार के सभी प्राणियों के साथ ऐसा ही है। कोई मनुष्य किसी भी वस्तु में, विशेष रूप से ज्ञान में, परमेश्वर के समकक्ष नहीं हो सकता। फलत: भगवान् के प्रति की गई किसी की भी प्रार्थना पूर्ण नहीं होती। परमेश्वर की पूर्ण महिमा को माप पाना असम्भव है, क्योंकि वह अनन्त है। भगवान् भी अपने अनन्त अर्थात् शेष अवतार के रूप में अपनी महिमा का वर्णन कर सकने में असमर्थ हैं। यद्यपि अनन्त के हजारों मुख हैं और वे अनेक वर्षों से भगवान् की महिमा का गान करते रहे हैं, किन्तु वे भी भगवान् की महिमा का अन्त नहीं पा सके। इस प्रकार परमेश्वर की शक्तियों एवं महिमा का अनुमान लगा पाना असम्भव है।

तो भी प्रत्येक व्यक्ति भक्तिपूर्वक भगवान् की प्रार्थना कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने एक सापेक्ष पद में स्थित है; इस कारण भगवान् की महिमा का बखान करने में कोई भी सक्षम नहीं है। ब्रह्मा तथा शिव से लेकर हममें से प्रत्येक व्यक्ति परमेश्वर का दास है। हम सब अपने-अपने कर्मों के अनुसार सापेक्ष पदों पर स्थित हैं, फिर भी भगवान् की महिमा को पहचानते हुए हम अपने-अपने हृदय तथा आत्मा से प्रार्थना कर सकते हैं। यही हमारी सिद्धि है। घोर अंधकार में रहकर भी मनुष्य को यथाशक्ति भगवान् की प्रार्थना करने की अनुमति है। अत: *भगवद्गीता* (९.३२) में भगवान् कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु: पापयोनय:।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

"हे पार्थ! मेरी शरण आकर तो निम्नतर योनि वाले-स्त्री, वैश्य तथा शूद्र भी परम गति को प्राप्त हो सकते हैं।"

यदि कोई निष्ठापूर्वक भगवान् के चरणकमलों को धीरता के साथ स्वीकार करता है, तो वह भगवान् तथा भगवान् के दास की कृपा से शुद्ध हो जाता है। *भागवत* (२.४.१८) में शुकदेव गोस्वामी ने इसकी पुष्टि की है—*येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रया: शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नम:।* जो भगवान् के दास अर्थात् गुरु के प्रयास से भगवान् के चरणकमलों का आश्रय लेता है, वह भले ही निम्नकुल में क्यों न जन्मा हो तुरन्त शुद्ध हो जाता है। वह अपने घर, भगवद्धाम वापस जाने के योग्य हो जाता है।

नमः समाय शुद्धाय पुरुषाय पराय च ।
वासुदेवाय सत्त्वाय तुभ्यं भगवते नमः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; समाय—सर्वसम को; शुद्धाय—जो कभी पाप कर्मों द्वारा दूषित नहीं होता; पुरुषाय—परम पुरुष को; पराय—दिव्य; च—भी; वासुदेवाय—सर्वत्र रहने वाले को; सत्त्वाय—उसे जो दिव्य पद को प्राप्त है; तुभ्यम्—तुमको; भगवते—भगवान् को; नमः—नमस्कार।

हे भगवन्, आपके न तो शत्रु हैं न मित्र। अतः आप सबों के लिए समान हैं। आप पापकर्मों के द्वारा कलुषित नहीं होते और आपका दिव्य रूप सदैव भौतिक सृष्टि से परे है। आप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, क्योंकि आप सर्वव्यापी हैं, अतः आप वासुदेव कहलाते हैं। हम आपको सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव कहलाते हैं क्योंकि वे सर्वत्र निवास करते हैं। *वस* शब्द का अर्थ है "बसना या निवास करना।" जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—*एकोऽप्यसौ रचयितुं जगदण्डकोटिम्*—भगवान् अपने स्वांशों द्वारा प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश करके भौतिक सृष्टि की रचना करते हैं। वे प्रत्येक जीव के हृदय में तथा प्रत्येक परमाणु में भी प्रवेश करते हैं (*परमाणुचयान्तरस्थ*)। सर्वत्र रहने के कारण भगवान् वासुदेव कहलाते हैं। इस संसार में सर्वत्र रहते हुए भी वे प्रकृति के गुणों से कलुषित नहीं होते। अतः *ईशोपनिषद्* में भगवान् को *अपापविद्धम्* कहा गया है। वे प्रकृति के गुणों से कभी भी प्रभावित नहीं होते। जब भगवान् इस लोक में अवतरित होते हैं, तो वे अनेक प्रकार के कार्य करते हैं। वे असुरों को मारते हैं और ऐसे कार्य करते हैं जिनकी अनुमति वेद नहीं देते अर्थात् जिन्हें पापपूर्ण माना जाता है। यद्यपि वे इस प्रकार के कार्य करते हैं, किन्तु अपने कर्म से वे दूषित नहीं होते। इसीलिए यहाँ पर उन्हें शुद्ध कहा गया है। भगवान् सम भी हैं। इस सम्बन्ध में *भगवद्गीता* (९.२९) का कथन है—*समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः*—भगवान् का न कोई मित्र है, न कोई शत्रु। वे सबों के लिए समान (सम) हैं।

सत्त्वाय शब्द सूचित करता है कि भगवान् का स्वरूप भौतिक नहीं है। यह *सच्चिदानन्दविग्रहः* है—*ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।* उनका शरीर हमारे भौतिक शरीर से भिन्न होता है। कोई यह न सोचे कि भगवान् के भी हमारे जैसा भौतिक शरीर है।

मैत्रेय उवाच

इति प्रचेतोभिरभिष्टुतो हरिः
प्रीतस्तथेत्याह शरण्यवत्सलः ।
अनिच्छतां यानमतृप्तचक्षुषां
ययौ स्वधामानपवर्गवीर्यः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; प्रचेतोभिः—प्रचेताओं द्वारा; अभिष्टुतः—प्रशंसित, स्तुति करने पर; हरिः—भगवान्; प्रीतः—प्रसन्न होकर; तथा—उसी तरह; इति—इस प्रकार; आह—कहा; शरण्य—शरणागतों के लिए; वत्सलः—स्नेहभाजन; अनिच्छताम्—इच्छा न होते हुए; यानम्—विदा; अतृप्त—तृप्त नहीं हुए; चक्षुषाम्—नेत्र; ययौ—चला गया; स्व-धाम—अपने धाम को; अनपवर्ग-वीर्यः—जिनका वीर्य कभी पराजित नहीं होता, अप्रतिहत।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, इस प्रकार प्रचेताओं द्वारा सम्बोधित तथा पूजित होकर शरणागतों के रक्षक भगवान् ने कहा, ''तुमने जो कुछ माँगा है, वह पूरा हो।'' तत्पश्चात् कभी न पराजित होनेवाले भगवान् ने विदा ली। प्रचेतागण उनसे विलग नहीं होना चाह रहे थे, क्योंकि उन्होंने जी-भर कर उन्हें नहीं देखा था।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अनपवर्गवीर्य* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *अन* का अर्थ है बिना, *पवर्ग* का अर्थ भौतिकवादी जीवन शैली तथा *वीर्य* का अर्थ शक्ति है। भगवान् की शक्ति में छह मूल ऐश्वर्य हैं जिनमें एक विरक्ति है। यद्यपि प्रचेता भगवान् को जी-भर कर देखना चाहते थे, किन्तु भगवान् चले गये। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार यह अन्य असंख्य भक्तों के प्रति उनकी दया का प्रदर्शन है। यद्यपि प्रचेता उनके प्रति आकृष्ट हो रहे थे, किन्तु वे चले गये। यह उनकी विरक्ति का सूचक है। ऐसी विरक्ति भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने भी दिखलाई थी जब वे संन्यास लेकर अद्वैत प्रभु के साथ रह रहे थे। वहाँ के सभी भक्त चाह रहे थे कि वे कुछ दिन और रुकें, किन्तु महाप्रभु बिना हिचक के वहाँ से चले गये। निष्कर्ष यह निकला कि यद्यपि भगवान् अपने भक्तों के प्रति अपार दयाभाव रखते हैं, किन्तु वे किसी से लिप्त नहीं होते। वे सृष्टि-भर के अपने समस्त भक्तों पर समान रूप से दयालु हैं।

अथ निर्याय सलिलात्प्रचेतस उदन्वतः ।
वीक्ष्याकुप्यन्द्रुमैश्छन्नां गां गां रोद्धुमिवोच्छ्रितैः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; निर्याय—बाहर निकल कर; सलिलात्—जल से; प्रचेतसः—सभी प्रचेता; उदन्वतः—समुद्र के; वीक्ष्य—देखकर; अकुप्यन्—अत्यन्त क्रुद्ध हुए; द्रुमैः—वृक्षों से; छन्नाम्—ढकी हुई; गाम्—पृथ्वी को; गाम्—स्वर्ग को; रोद्धुम्—रोकने के लिए; इव—मानो; उच्छ्रितैः—अत्यन्त ऊँचे-ऊँचे।

तत्पश्चात् सभी प्रचेता समुद्र के जल से बाहर निकल आये। तब उन्होंने देखा कि पृथ्वी

(स्थल) पर सारे वृक्ष बढ़कर काफी ऊँचे हो चुके हैं मानो वे स्वर्ग के मार्ग को रोकना चाहते हों। इन वृक्षों ने सारे पृथ्वीतल को आच्छादित कर रखा था। उस समय प्रचेता अत्यन्त कुपित हुए।

तात्पर्य : राजा प्राचीनबर्हिषत् अपने पुत्रों (प्रचेताओं) द्वारा तपस्या पूरी करके लौटने के पूर्व ही अपना राज-पाट छोड़ कर चले गये थे। भगवान् ने इन पुत्रों अर्थात् प्रचेताओं को जल से बाहर निकल कर अपने पिता के राज्य में जाकर प्रजा की रक्षा करने का आदेश दिया। किन्तु जब वे जल से निकल कर बाहर आये तो उन्होंने देखा कि राजा की अनुपस्थिति में सब कुछ उपेक्षित हो गया था। सर्वप्रथम उन्होंने देखा कि कृषि-कार्य बन्द हो जाने से खाद्यान्नों का उत्पादन नहीं हो रहा था। वस्तुतः सारा पृथ्वीतल ऊँचे-ऊँचे वृक्षों से लगभग ढका हुआ था। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो ये वृक्ष स्वर्ग जाने वालों के रास्ते को रोक कर खड़े हों। जब प्रचेताओं ने पृथ्वी की सतह को इस प्रकार से ढका हुआ देखा तो वे अत्यन्त क्रुद्ध हुए। उनकी इच्छा थी कि फसलों के लिए सारी भूमि साफ कर ली जाय।

यह सत्य नहीं है कि जंगल तथा वृक्ष बादलों तथा वर्षा को आकर्षित करते हैं, क्योंकि समुद्र के ऊपर भी वर्षा होती है। मनुष्य पृथ्वीतल के जंगलों को साफ करके तथा भूमि को कृषि-योग्य बना कर कहीं भी रह सकते हैं। लोग गाएँ रख सकते हैं और इस तरह सभी प्रकार की आर्थिक समस्याएँ सुलझाई जा सकती हैं। मनुष्य को अनाज उत्पन्न करने के लिए काम करना होगा और गायों की रक्षा करनी होगी। जंगलों की लकड़ी झोपड़ियाँ बनाने के काम में लाई जा सकती है। इस प्रकार मनुष्यों की आर्थिक समस्या सुलझाई जा सकती है। इस समय संसार-भर में अत्यन्त अधिक निर्जन भूमि है, जिसका यदि समुचित उपयोग किया जाय तो अन्न का अभाव न रहे। जहाँ तक वर्षा का प्रश्न है, यज्ञ करने से वर्षा होती है। *भगवद्गीता* (३.१४) में कहा गया है—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

''सभी प्राणी अन्न पर निर्भर रहते हैं और अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा की उत्पत्ति यज्ञ सम्पन्न करने से होती है और यज्ञ स्वधर्म से उत्पन्न है।'' यज्ञ करने से मनुष्य को प्रचुर वर्षा तथा अन्न प्राप्त होगा।

ततोऽग्निमारुतौ राजन्नमुञ्चन्मुखतो रुषा ।
महीं निर्वीरुधं कर्तुं संवर्तक इवात्यये ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; अग्नि—आग; मारुतौ—तथा वायु; राजन्—हे राजन्; अमुञ्चन्—निकालते हुए; मुखतः—अपने मुखों से; रुषा—क्रोध से; महीम्—पृथ्वी को; निर्वीरुधम्—वृक्षरहित; कर्तुम्—करने के लिए; संवर्तकः—प्रलयाग्नि; इव—सदृश; अत्यये—प्रलय के समय।

हे राजन्, प्रलय के समय शिवजी क्रोध में आकर अपने मुख से अग्नि तथा वायु छोड़ते हैं। प्रचेताओं ने भी पृथ्वीतल को पूर्णतः वृक्षरहित करने के लिए अपने मुखों से अग्नि तथा वायु निकाली।

तात्पर्य : इस श्लोक में विदुर को *राजन्* कह कर सम्बोधित किया गया है। इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि धीर कभी कुपित नहीं होता, क्योंकि वह सदा भक्ति में स्थित रहता है। चूँकि महान् भक्त अपनी इन्द्रियों को वश में रख सकते हैं, अतः भक्त को राजन् कहकर सम्बोधित किया जा सकता है। राजा प्रजा को वश में करके कई प्रकार से अपना शासन चलाता है, इसी प्रकार जो अपनी इन्द्रियों को वश में रख सके वह अपनी इन्द्रियों का राजा है। वह *स्वामी* या *गोस्वामी* है। *स्वामियों* तथा *गोस्वामियों* को कभी-कभी *महाराज* कह कर सम्बोधित किया जाता है।

भस्मसात्क्रियमाणांस्तान्द्रुमान्वीक्ष्य पितामहः ।
आगतः शमयामास पुत्रान्बर्हिष्मतो नयैः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

भस्मसात्—जलकर राख होना; क्रियमाणान्—किया जाता हुआ; तान्—उन सब; द्रुमान्—वृक्षों को; वीक्ष्य—देखकर; पितामहः—ब्रह्मा; आगतः—वहाँ आया; शमयाम् आस—शान्त किया; पुत्रान्—पुत्रों को; बर्हिष्मतः—राजा बर्हिष्मान् के; नयैः—तर्क द्वारा।

यह देखकर कि पृथ्वी के सारे वृक्ष जलकर राख हो रहे हैं, ब्रह्माजी तुरन्त राजा बर्हिष्मान् के पुत्रों के पास आये और उन्होंने तर्कपूर्ण शब्दों से उन्हें शान्त किया।

तात्पर्य : जब भी किसी लोक में कोई असामान्य घटना घटती है, तो सारे संसार के प्रभारी होने के कारण ब्रह्माजी तुरन्त स्थिति पर काबू पाने के लिए वहाँ पहुँच जाते हैं। ब्रह्माजी तब भी आये थे जब हिरण्यकशिपु ने अपनी कठिन तपस्या से सारे ब्रह्माण्ड को हिला दिया था। किसी भी संस्थान का जिम्मेदार व्यक्ति अपने संस्थान में शान्ति तथा समन्वय बनाये रखने के लिए सदैव सतर्क रहता है। इसी

प्रकार ब्रह्मा को इस ब्रह्माण्ड के भीतर शान्ति बनाये रखने की अनुमति दी जाती है। फलतः उन्होंने राजा बर्हिष्मान् के पुत्रों को युक्ति संगत तर्क से शान्त किया।

तत्रावशिष्टा ये वृक्षा भीता दुहितरं तदा ।
उज्जह्रुस्ते प्रचेतोभ्य उपदिष्टाः स्वयम्भुवा ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अवशिष्टाः—शेष, बचे हुए; ये—जो; वृक्षाः—वृक्ष; भीताः—भयभीत; दुहितरम्—अपनी कन्या को; तदा—उस समय; उज्जह्रुः—ला कर दे दिया; ते—उन्होंने; प्रचेतोभ्यः—प्रचेताओं को; उपदिष्टाः—उपदेश पाकर; स्वयम्भुवा—ब्रह्मा द्वारा।

बचे हुए वृक्षों ने प्रचेताओं से डर कर ब्रह्मा की राय से अपनी कन्या को लाकर तुरन्त उन्हें दे दिया।

तात्पर्य : इस अध्याय के तेरहवें श्लोक में वृक्षों की कन्या का उल्लेख हुआ है। यह कन्या कण्डु तथा प्रम्लोचा से उत्पन्न हुई थी। प्रम्लोचा अप्सरा इस शिशु को जन्म देने के बाद तुरन्त स्वर्गलोक चली गई। शिशु को रोते देखकर चन्द्र लोक के राजा को उस पर दया आ गई और उसने उसके मुँह में अपनी अँगुली डालकर उसके प्राणों की रक्षा की। वृक्षों ने इस कन्या का पालन-पोषण किया और जब वह बड़ी हो गई तो ब्रह्मा के आदेश से उन्होंने उसे लाकर प्रचेताओं को पत्नी रूप में सौंप दिया। इस कन्या का नाम मारिषा था, जैसाकि अगले श्लोक में व्याख्या की जाएगी। वृक्षों के प्रमुख देव ने लाकर कन्या सौंपी। इस प्रसंग में श्रील जीव गोस्वामी का कथन है—*वृक्षाः तदधिष्ठातृदेवताः*—वृक्षों का अर्थ उन वृक्षों का अधिष्ठाता देव है। वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि जल का एक अधिष्ठाता देव होता है, इसी प्रकार वृक्षों का भी एक अधिष्ठाता देव होता है। प्रचेतागण समस्त वृक्षों को भस्मसात् किये जा रहे थे, क्योंकि वे वृक्षों को अपना शत्रु मान रहे थे। प्रचेताओं को शान्त करने के लिए ब्रह्मा की राय से वृक्षों के प्रमुख देव ने पुत्री मारिषा को उन्हें सौंप दिया।

ते च ब्रह्मण आदेशान्मारिषामुपयेमिरे ।
यस्यां महदवज्ञानादजन्यजनयोनिजः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

ते—वे समस्त प्रचेता; च—भी; ब्रह्मणः—ब्रह्मा के; आदेशात्—आदेश से; मारिषाम्—मारिषा के साथ; उपयेमिरे—ब्याह कर लिया; यस्याम्—जिसमें; महत्—महापुरुष को; अवज्ञानात्—अवज्ञा के कारण; अजनि—जन्म लिया; अजन-योनि-जः—ब्रह्मा का पुत्र, दक्ष।

ब्रह्मा के आदेश से समस्त प्रचेताओं ने उस कन्या को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर

लिया। इस कन्या के गर्भ से ब्रह्मा के पुत्र दक्ष ने जन्म लिया। दक्ष को मारिष के गर्भ से इसलिए जन्म लेना पड़ा, क्योंकि उसने महादेवजी (शिवजी) की आज्ञा का उल्लंघन तथा अनादर किया था। फलतः उसे दो बार शरीर त्याग करना पड़ा।

तात्पर्य : इस प्रसंग में *महद्-अवज्ञानात्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। राजा दक्ष ब्रह्मा के पुत्र थे, अतः पूर्वजन्म में वे ब्राह्मण थे, किन्तु महादेवजी का अपमान या अनादर करके अब्राह्मण की तरह आचरण करने के कारण उन्हें क्षत्रिय के वीर्य से जन्म लेना पड़ा, अर्थात् वे प्रचेताओं के पुत्र बने। यही नहीं, शिव का अनादर करने के कारण उन्हें स्त्री के गर्भ में जन्म धारण करने का कष्ट सहना पड़ा। एक बार वे शिवजी के अनुचर वीरभद्र द्वारा दक्ष की यज्ञशाला में मारे गये। इतना काफी न था, अतः उन्हें फिर से मारिषा के गर्भ से जन्म लेना पड़ा। दक्षयज्ञ तथा विध्वसंक घटनाओं के अन्त में दक्ष ने शिवजी की प्रार्थना की। यद्यपि उन्हें शरीर त्याग कर क्षत्रिय के वीर्य से गर्भित स्त्री के गर्भ से जन्म लेना पड़ा, किन्तु भगवान् शिवजी की कृपा से उन्हें सारा ऐश्वर्य प्राप्त हुआ। ये भौतिक प्रकृति के सूक्ष्म नियम हैं। दुर्भाग्यवश इस आधुनिक युग के लोग नहीं जानते कि ये नियम किस प्रकार चलते हैं। आत्मा की अमरता तथा इसके देहान्तर का कोई ज्ञान न होने से आजकल सारी जनता घोर अज्ञान में है। इसीलिए *भागवत* (१.१.१०) में कहा गया है—*मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्याह्युपद्रुताः।* इस कलियुग के सारे लोग दुष्ट, आलसी, अभागे तथा भौतिक परिस्थितियों से क्षुब्ध रहते हैं।

चाक्षुषे त्वन्तरे प्राप्ते प्राक्सर्गे कालविद्रुते ।
यः ससर्ज प्रजा इष्टाः स दक्षो दैवचोदितः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

चाक्षुषे—चाक्षुष नामक; तु—लेकिन; अन्तरे—मन्वन्तर; प्राप्ते—आने पर; प्राक्—पूर्व; सर्गे—सृष्टि; काल-विद्रुते—कालक्रम से विनष्ट; यः—जो; ससर्ज—उत्पन्न किया; प्रजाः—जीव; इष्टाः—इच्छित; सः—वह; दक्षः—दक्ष; दैव—भगवान् द्वारा; चोदितः—प्रेरणा पाकर।

उसका पूर्व शरीर विनष्ट हो चुका था, किन्तु उसी दक्ष ने परमेश्वर की प्रेरणा से चाक्षुष मन्वन्तर में समस्त मनोवांछित जीवों की सृष्टि की।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (८.१७) में कहा गया है—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।

रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥

''मानव गणना के अनुसार ब्रह्मा के एक दिन की अवधि एक हजार युग है और इतनी ही बड़ी रात होती है।'' ब्रह्मा के एक दिन में चारों युगों—सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलि—के एक हजार चक्कर लगते हैं। उस एक दिन में चौदह मन्वन्तर होते हैं और इन मन्वन्तरों में यह चाक्षुष मन्वन्तर छठा है। ब्रह्मा के एक दिन के विभिन्न मनु इस प्रकार हैं—स्वायंभुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्ष-सावर्णि, ब्रह्म-सावर्णि, धर्म-सावर्णि, रुद्र-सावर्णि, देव-सावर्णि तथा इन्द्र-सावर्णि।

इस प्रकार ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं और एक वर्ष में ५,०४० मनु होते हैं। ब्रह्मा को एक सौ वर्ष जीवित रहना होता है, फलत: ब्रह्मा के जीवन में कुल मनुओं की संख्या ५,०४,००० हो जाती है। यह गणना एक ब्रह्माण्ड की है और ऐसे असंख्य ब्रह्माण्ड हैं। ये समस्त मनु महाविष्णु की श्वास क्रिया मात्र द्वारा आते-जाते रहते हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—

यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य

जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथा:।

विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

जगदण्डनाथ का अर्थ ब्रह्मा है। ऐसे असंख्य जगदण्डनाथ हैं, अत: हम अनेक मनुओं की गणना कर सकते हैं। यह युग वैवस्वत मनु के नियंत्रण में है। प्रत्येक मनु ४३,२०,००० × ७१ वर्ष तक जीवित रहता है। वर्तमान मनु पहले ही ४३,२०,००० × २८ वर्ष पूरा कर चुका है। अन्त में इन सारे दीर्घ जीवनों का भौतिक प्रकृति के नियमों से विनाश होता है। दक्ष-यज्ञ का विवाद स्वायम्भुव मन्वन्तर काल में हुआ, फलस्वरूप शिवजी ने दक्ष को दण्डित किया, किन्तु शिवजी की स्तुति करके उसने पुन: अपना पूर्व ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार दक्ष ने पाँचवें मन्वन्तर तक घोर तपस्या की। इस तरह चाक्षुष नामक छठे मन्वन्तर के प्रारम्भ में शिव के आशीर्वाद से दक्ष को पूर्व वैभव प्राप्त हो सका।

यो जायमान: सर्वेषां तेजस्तेजस्विनां रुचा ।

स्वयोपादत्त दाक्ष्याच्च कर्मणां दक्षमब्रुवन् ॥ ५० ॥
तं प्रजासर्गरक्षायामनादिरभिषिच्य च ।
युयोज युयुजेऽन्यांश्च स वै सर्वप्रजापतीन् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; जायमानः—अपने जन्म के तुरन्त बाद; सर्वेषाम्—सबों का; तेजः—कान्ति; तेजस्विनाम्—चमकीला; रुचा—तेज से; स्वया—उसका; उपादत्त—ढका; दाक्ष्यात्—दक्ष होने से; च—तथा; कर्मणाम्—सकाम कर्मों में; दक्षम्—दक्ष; अब्रुवन्—कहलाया; तम्—उसको; प्रजा—सभी जीव; सर्ग—उत्पन्न करते हुए; रक्षायाम्—पालन कार्य के लिए; अनादिः—प्रथम जन्मा, ब्रह्मा; अभिषिच्य—नियुक्त करके; च—भी; युयोज—लगाया; युयुजे—लगाया; अन्यान्—दूसरों को; च—तथा; सः—वह; वै—निश्चय ही; सर्व—सभी; प्रजा-पतीन्—जीवों के जनकों को।

जन्म लेने के बाद अपनी अद्वितीय शारीरिक कान्ति के कारण दक्ष ने अन्य सबों की शारीरिक कान्ति को ढाँप दिया। चूँकि वह सकाम कार्य करने में अत्यन्त पटु (दक्ष) था, इसलिए उसका नाम दक्ष पड़ा। इसलिए ब्रह्मा ने उसे जीवों को उत्पन्न करने तथा उनके पालन के कार्य में लगा दिया। समय आने पर दक्ष ने अन्य प्रजापतियों को भी उत्पत्ति तथा पालन के कार्य में नियुक्त कर दिया।

तात्पर्य : दक्ष ब्रह्मा के ही समान शक्तिशाली बन गया। फलतः ब्रह्माजी ने उसे प्रजा की उत्पत्ति करने के लिए नियुक्त कर दिया। दक्ष अत्यन्त प्रभावशाली एवं ऐश्वर्यवान् था। दक्ष ने अपने काल में मरीचि आदि अन्य प्रजापतियों को नियुक्त किया। इस प्रकार ब्रह्माण्ड की जनसंख्या बढ़ी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत "प्रचेताओं के कार्यकलाप" नामक तीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter इकतीस

प्रचेताओं को नारद का उपदेश

मैत्रेय उवाच
तत उत्पन्नविज्ञाना आश्वधोक्षजभाषितम् ।
स्मरन्त आत्मजे भार्यां विसृज्य प्राव्रजन्गृहात् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; ततः—पत्पश्चात्; उत्पन्न—विकसित; विज्ञानाः—पूर्ण ज्ञान से युक्त; आशु—अत्यन्त शीघ्र; अधोक्षज—भगवान् द्वारा; भाषितम्—कहे गये; स्मरन्तः—याद करते हुए; आत्म-जे—अपने पुत्र के पास; भार्याम्—पत्नी को; विसृज्य—छोड़ कर; प्राव्रजन्—चले गये; गृहात्—घर से।

महान् सन्त मैत्रेय ने आगे कहा : तत्पश्चात् प्रचेता हजारों वर्षों तक घर में रहे और आध्यात्मिक चेतना में पूर्ण ज्ञान विकसित किया। अन्त में उन्हें भगवान् के आशीर्वादों की याद

आई और वे अपनी पत्नी को अपने सुयोग्य पुत्र के जिम्मे छोड़कर घर से निकल पड़े।

तात्पर्य : प्रचेताओं द्वारा तपस्या सम्पन्न कर लेने पर भगवान् ने उन्हें आशीर्वाद दिया। भगवान् ने उन्हें यह आशीष दिया कि गृहस्थ जीवन समाप्त कर लेने के बाद वे समय आने पर भगवान् के धाम लौट आएँगे। अपना गृहस्थ जीवन समाप्त करने के बाद, देवताओं की गणना के अनुसार जो कई हजार वर्षों तक चला, प्रचेताओं ने अपनी पत्नी को अपने पुत्र दक्ष के संरक्षण में रख कर घर छोड़ने का निश्चय किया। यह वैदिक सभ्यता का विधान है। जीवन के प्रारम्भ में ब्रह्मचारी रहकर मनुष्य को कठिन तपस्या करते हुए आध्यात्मिक ज्ञान अर्जित करना होता है। ब्रह्मचारी या छात्र को स्त्रियों के साथ मेल-मिलाप करने नहीं दिया जाता, जिससे वे जीवन के प्रारम्भ में काम-सुख के विषय में कुछ न जानें। आधुनिक सभ्यता का मूलभूत दोष यह है कि लड़कों तथा लड़कियों को पाठशाला तथा विद्यालय में ही विषयी जीवन का भोग करने की स्वतंत्रता दे दी जाती है। फलत: अधिकांश बच्चे वर्णसंकर होते हैं, अर्थात् वे अवांछित माता तथा पिता से उत्पन्न हुए होते हैं। फलस्वरूप सारे संसार में अराजकता व्याप्त है। वास्तव में मानवीय सभ्यता को वैदिक नियमों पर आधारित होना चाहिए, जिसका अर्थ है कि जीवन के प्रारम्भ में लड़कों तथा लड़कियों को तपस्या करनी चाहिए और जब वे बड़े हो जाँय तो उनका विवाह हो, फिर वे कुछ काल तक घर में रहें और संतति उत्पन्न करें। जब बच्चे बड़े हो जाँय तो मनुष्य घर छोड़ दे और कृष्णभक्ति की खोज करे। इस प्रकार वह भगवान् के धाम जाकर जीवन को सार्थक बना सकता है।

जब तक कोई विद्यार्थी-जीवन में तपस्या नहीं करता, उसे ईश्वर के अस्तित्व का बोध नहीं हो पाता और कृष्ण के साक्षात्कार के बिना उसका जीवन पूर्ण नहीं हो पाता। निष्कर्ष यह है कि जब लड़के प्रौढ़ हो लें तो पत्नी को लड़कों की देख-रेख छोड़ दें और तब पति कृष्णभक्ति विकसित करने के लिए घर से चला जाये। सब कुछ प्रौढ़ ज्ञान के विकास पर निर्भर करता है। प्रचेताओं के पिता राजा प्राचीनबर्हिषत् ने अपने पुत्रों के आगमन के पूर्व ही, जो जल में तपस्या कर रहे थे, घर छोड़ दिया था। ज्योंही उपयुक्त अवसर मिले अथवा पूर्ण कृष्णभक्ति विकसित हो ले, मनुष्य को चाहिए कि वह घर छोड़ दे, भले ही उसके सारे कार्य पूरे न हुए हों। पहले प्राचीनबर्हिषत् अपने पुत्रों के आने की प्रतीक्षा कर रहा था, किन्तु नारद के उपदेश से ज्योंही उसकी बुद्धि जगी, उसने अपने मंत्रियों से कहा कि वे

उसके आदेशों को पुत्रों तक पहुँचा दें। इस प्रकार उनके आने की प्रतीक्षा किये बिना उसने घर का परित्याग कर दिया।

मनुष्य के लिए सुखप्रद गृहस्थ जीवन का त्याग सर्वथा आवश्यक है और प्रह्लाद महाराज ने इसी का उपदेश दिया है। *हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपम्*—भौतिकतावादी जीवन-शैली समाप्त करने के लिए मनुष्य को तथाकथित सुखप्रद गृहस्थ जीवन छोड़ देना चाहिए, क्योंकि यह आत्मा के हनन (*आत्मपातम्*) का साधन मात्र है। घर को अंधकूप माना गया है, जो घासपात से ढका रहता है। यदि कोई इसमें गिरता है, तो लोगों से उपेक्षित होकर वह मर जाता है। अत: मनुष्य को गृहस्थ जीवन में अत्यधिक लिप्त नहीं होना चाहिए, क्योंकि इससे यह मनुष्य की कृष्णभक्ति के विकास को नष्ट कर देता है।

दीक्षिता ब्रह्मसत्रेण सर्वभूतात्ममेधसा ।
प्रतीच्यां दिशि वेलायां सिद्धोऽभूद्यत्र जाजलि: ॥ २ ॥

शब्दार्थ

दीक्षिता:—संकल्प करके; ब्रह्म-सत्रेण—परमात्मा के ज्ञान द्वारा; सर्व—समस्त; भूत—जीव; आत्म-मेधसा—आत्म (अपने) स्वरूप को मानते हुए; प्रतीच्याम्—पश्चिमी; दिशि—दिशा में; वेलायाम्—समुद्र तट पर; सिद्ध:—पूर्ण; अभूत्—हो गया; यत्र—जहाँ; जाजलि:—ऋषि जाजलि।

प्रचेतागण पश्चिम दिशा में समुद्रतट की ओर गये जहाँ जाजलि ऋषि निवास कर रहे थे। उन्होंने वह आध्यात्मिक ज्ञान पुष्ट कर लिया जिससे मनुष्य समस्त जीवों के प्रति समभाव रखने लगता है। इस तरह वे कृष्णभक्ति में पटु हो गये।

तात्पर्य : *ब्रह्मसत्र* शब्द का अर्थ हैं "आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन।" वास्तव में वेद तथा कठिन तप—ये दोनों ब्रह्म कहलाते हैं। *वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म। ब्रह्म* का अर्थ परब्रह्म (परम सत्य) भी है। मनुष्य को वेदों के अध्ययन तथा घोर तपस्या द्वारा परब्रह्म विषयक ज्ञान का अनुशीलन करना होता है। प्रचेताओं ने इस कार्य को समुचित रूप से सम्पन्न किया, फलत: वे समस्त जीवों पर समभाव प्राप्त कर सके। जैसाकि *भगवद्गीता* द्वारा (१८.५४) पुष्ट होता है—

ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

सम: सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

"मुक्त पुरुष को तत्काल परब्रह्म की अनुभूति होती है तथा वह पूर्णत: प्रसन्न हो जाता है। वह न

शोक करता है और न किसी वस्तु की इच्छा करता है; वह प्रत्येक जीव पर समभाव रखता है। इस अवस्था में उसे मेरे प्रति शुद्ध भक्तियोग की प्राप्ति होती है।''

जब मनुष्य को वास्तव में आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है, तो वह विभिन्न प्राणियों में अन्तर नहीं करता। यह पद संकल्पशक्ति से प्राप्त होता है। जब पूर्णज्ञान प्रसार करता है, तो उसे जीव का बाह्य आवरण दिखना बन्द हो जाता है। उसे शरीर के भीतर का आत्मा दिखने लगता है। इस प्रकार उसे मनुष्य तथा पशु में और एक विद्वान् ब्राह्मण तथा एक चण्डाल में अन्तर नहीं दिखता।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

''यथार्थ ज्ञानी विद्या-विनय युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता तथा चण्डाल को सम दृष्टि से देखता है।'' (*भगवद्गीता* ५.१८)

विद्वान् पुरुष आध्यात्मिक स्तर पर सबों को एकसमान देखता है और भक्त सबों में कृष्णभक्ति को विकसित होते देखना चाहता है। जिस स्थान पर प्रचेता रह रहे थे वह आध्यात्मिक कार्यों के लिए सर्वथा उपयुक्त था, क्योंकि यह बताया गया है कि वहाँ पर जाजलि ऋषि ने मुक्ति प्राप्त की थी। सिद्धि या मुक्ति के इच्छुक व्यक्ति को मुक्त हुए पुरुष की संगति करनी चाहिए। यह *साधु-संग* कहलाता है।

तान्निर्जितप्राणमनोवचोदृशो
जितासनान्शान्तसमानविग्रहान् ।
परेऽमले ब्रह्मणि योजितात्मनः
सुरासुरेड्यो ददृशे स्म नारदः ॥ ३॥

शब्दार्थ

तान्—उन सबों को; निर्जित—पूर्णतया संयमित; प्राण—प्राणवायु (प्राणायाम विधि से); मनः—मन; वचः—वाणी; दृशः—तथा दृष्टि; जित-आसनान्—योगिक आसन को जीतने वाला; शान्त—शान्त; समान—सीधा; विग्रहान्—जिनके शरीर; परे—दिव्य; अमले—समस्त भौतिक कल्मष से रहित; ब्रह्मणि—ब्रह्म में; योजित—संलग्न; आत्मनः—जिनके मन; सुर-असुर-ईड्यः—देवों तथा असुरों द्वारा पूजित; ददृशे—देखा; स्म—था; नारदः—नारद मुनि ने।

योगासन का अभ्यास कर लेने पर प्रचेताओं ने प्राणवायु, मन, वाणी तथा बाह्य दृष्टि को वश में करना सीख लिया। इस तरह प्राणायाम विधि से वे भौतिक आसक्ति से पूर्ण रूप से मुक्त हो गये। सीधे बैठकर वे परब्रह्म में अपने मन को केन्द्रित कर सके। जब वे यह प्राणायाम कर रहे थे तो देवताओं तथा असुरों दोनों द्वारा पूजित वन्दित नारद मुनि उन्हें देखने आये।

तात्पर्य : इस श्लोक में *परे अमले* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। *श्रीमद्भागवत* में ब्रह्म-साक्षात्कार की व्याख्या की गई है। परब्रह्म का साक्षात्कार तीन अवस्थाओं में होता है—निराकार तेज (परब्रह्म), अन्तर्यामी परमात्मा तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्। अपनी स्तुति (४.२४.४५) में शिवजी परब्रह्म के स्वरूप पर ध्यान केन्द्रित करते थे—*स्निग्ध प्रावृड्घनश्यामम्।* शिवजी के उपदेश से प्रचेताओं ने भी परब्रह्म के श्यामसुन्दर रूप को मन में धारण किया। यद्यपि निर्गुण ब्रह्म, परमात्मा ब्रह्म तथा परम पुरुष (ब्रह्म) ये सभी आध्यात्मिक स्तर पर एकसमान हैं, किन्तु अध्यात्म में परब्रह्म का स्वरूप ही चरम लक्ष्य होता है।

नारद ऋषि सर्वत्र विचरण करते रहते हैं। वे असुरों के पास जाते हैं और देवताओं के पास भी जाते हैं जहाँ उनका समान आदर होता है, इसीलिए उन्हें यहाँ पर *सुरासुरेड्य* कहा गया है, जिसका अर्थ है देवों तथा असुरों द्वारा पूजित। नारद मुनि के लिए प्रत्येक द्वार खुला रहता है। यद्यपि असुरों तथा देवों में सनातन शत्रुता है, किन्तु नारदजी का सर्वत्र सम्मान होता है। निस्सन्देह, नारद जी को देवता माना जाता है और *देवर्षि* का अर्थ है देवताओं के बीच साधुपुरुष। किन्तु असुर तक भी नारद मुनि से वैर नहीं रखते, अत: उनकी पूजा असुरों तथा देवताओं द्वारा समान रूप से की जाती है। परम वैष्णव की स्थिति नारद मुनि के ही समान होनी चाहिए—पूर्णतया स्वतंत्र एवं द्वेषरहित।

तमागतं त उत्थाय प्रणिपत्याभिनन्द्य च ।
पूजयित्वा यथादेशं सुखासीनमथाब्रुवन् ॥ ४॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; आगतम्—आया हुआ; ते—सभी प्रचेता; उत्थाय—उठकर; प्रणिपत्य—नमस्कार करके; अभिनन्द्य—स्वागत करके; च—भी; पूजयित्वा—पूजा करके; यथा आदेशम्—विधिपूर्वक; सुख-आसीनम्—सुखपूर्वक आसीन होकर; अथ—इस प्रकार; अब्रुवन्—उन्होंने कहा।

प्रचेताओं ने ज्योंही देखा कि नारद मुनि आये हुए हैं, वे नियमानुसार तुरन्त अपने आसनों से खड़े हो गये। यथा अपेक्षित तुरन्त उन्हें नमस्कार किया तथा उनकी पूजा करने लगे और जब उन्होंने देखा कि वे ठीक से आसन ग्रहण कर चुके हैं, तो उन्होंने उनसे प्रश्न पूछना प्रारम्भ किया।

तात्पर्य : यह उल्लेखनीय है कि सभी प्रचेता भगवान् पर अपना मन केन्द्रित करने के उद्देश्य से योगसाधना कर रहे थे।

प्रचेतस ऊचुः
स्वागतं ते सुरर्षेऽद्य दिष्ट्या नो दर्शनं गतः ।
तव चङ्क्रमणं ब्रह्मन्नभयाय यथा रवेः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

प्रचेतसः ऊचुः—प्रचेताओं ने कहा; सु-आगतम्—स्वागत; ते—तुम्हारा (तुमको); सुर-ऋषे—हे देवर्षि; अद्य—आज; दिष्ट्या—सौभाग्य से; नः—हम सबके; दर्शनम्—दर्शन; गतः—आया हुआ; तव—तुम्हारा; चङ्क्रमणम्—घूमना-फिरना, गतिविधियाँ; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; अभयाय—अभय के लिए; यथा—जिस तरह; रवेः—सूर्य की।

सभी प्रचेता नारद मुनि को सम्बोधित करने लगे: हे ऋषि, हे ब्राह्मण, आशा है कि आपको यहाँ आने में किसी प्रकार की बाधा नहीं हुई होगी। यह हमारा परम सौभाग्य है कि हमें आपके दर्शन हो रहे हैं। सूर्य के चलने से लोग रात के अंधकार के भय से मुक्ति पाते हैं—यह भय चोरों तथा उचक्कों से उत्पन्न होता है। उसी प्रकार आपका भ्रमण सूर्य के ही समान है, क्योंकि आप समस्त प्रकार के भय को भगाने वाले हैं।

तात्पर्य : रात्रि के अंधकार से प्रत्येक व्यक्ति, विशेष रूप से बड़े-बड़े नगरों में, चोरों तथा उचक्कों से भयभीत रहता है। लोग प्रायः सड़कों पर निकलते डरते हैं और हम जानते हैं न्यूयार्क जैसे महानगर में भी लोग रात्रि के समय बाहर निकलना पसन्द नहीं करते। रात्रि के समय प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह नगर में हो या ग्राम में कुछ-न-कुछ भयभीत रहता है। किन्तु सूर्योदय होते ही सबों को चैन मिलता है। इसी प्रकार यह संसार अंधकारपूर्ण है। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक पल दुर्घटना से भयभीत रहता है, किन्तु जब उसे नारद-जैसे भक्त के दर्शन होते हैं, तो उसका सारा भय जाता रहता है। जिस प्रकार सूर्य अंधकार को भगा देता है उसी प्रकार नारद-जैसे ऋषि के प्रकट होने से अज्ञान भाग जाता है। जब कोई नारद से या उनके प्रतिनिधि, गुरु, से मिलता है, तो वह अज्ञानजनित समस्त चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है।

यदादिष्टं भगवता शिवेनाधोक्षजेन च ।
तद्गृहेषु प्रसक्तानां प्रायशः क्षपितं प्रभो ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; आदिष्टम्—आदेश (उपदेश) दिया गया था; भगवता—महापुरुष; शिवेन—शिवजी द्वारा; अधोक्षजेन—भगवान् विष्णु द्वारा; च—भी; तत्—वह; गृहेषु—गृहस्थी में; प्रसक्तानाम्—हम आसक्तों द्वारा; प्रायशः—लगभग, प्रायः; क्षपितम्—विस्मृत; प्रभो—हे स्वामी।

हे स्वामी, हम आपको बता दें कि गृहस्थी में अत्यधिक आसक्त रहने के कारण हम शिवजी

तथा भगवान् विष्णु से प्राप्त उपदेशों को प्रायः भूल चुके हैं।

तात्पर्य : गृहस्थ जीवन में रहते जाना एक प्रकार से इन्द्रियभोग के लिए छूट है। मनुष्य को समझ लेना चाहिए कि इन्द्रिय भोग आवश्यक नहीं है, किन्तु उसे उसी प्रकार स्वीकार करना पड़ता है, जिस तरह जीवित रहना। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* (१.२.१०) में मिलती है—*कामस्य नेन्द्रियप्रीतिः।* मनुष्य को अपनी इन्द्रियों को वश में करके गोस्वामी बनना होता है। उसे अपनी इन्द्रियों का उपयोग केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए ही नहीं करना चाहिए, अपितु उनका उपयोग उतना ही करना चाहिए जितने से शरीर तथा आत्मा का भरण हो सके। श्रील रूप गोस्वामी की संस्तुति है कि—*अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः।* मनुष्य को विषयों में आसक्त नहीं होना चाहिए, अपितु उतना ही इन्द्रियभोग करना चाहिए जितना आवश्यक हो। यदि कोई आवश्यकता से अधिक भोग करना चाहता है, तो वह गृहस्थ जीवन के प्रति आसक्त हो जाता है, जिसका अर्थ है बन्धन। समस्त प्रचेताओं ने गृहस्थाश्रम में रहने की अपनी भूल स्वीकार की।

तन्नः प्रद्योतयाध्यात्मज्ञानं तत्त्वार्थदर्शनम् ।
येनाञ्जसा तरिष्यामो दुस्तरं भवसागरम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; नः—हमारे लिए; प्रद्योतय—कृपया जगाइये; अध्यात्म—दिव्य; ज्ञानम्—ज्ञान; तत्त्व—परम सत्य; अर्थ—के हेतु; दर्शनम्—दर्शन शास्त्र; येन—जिससे; अञ्जसा—सरलता से; तरिष्यामः—तर सकें; दुस्तरम्—पार करने में कठिन; भव-सागरम्—अविद्या के समुद्र को।

हे स्वामी, हमें दिव्य ज्ञान से प्रकाशित कीजिये जो उस प्रकाश स्तम्भ की तरह कार्य कर सके जिससे हम अविद्या रूपी संसार-सागर को पार कर सकें।

तात्पर्य : प्रचेताओं ने नारद मुनि से दिव्य ज्ञान प्रदान करने की विनती की। सामान्य रूप से जब कोई साधारण व्यक्ति किसी साधु से मिलता है, तो वह कुछ भौतिक आशीर्वाद प्राप्त करना चाहता है। किन्तु प्रचेताओं को किसी भौतिक लाभ की इच्छा न थी, क्योंकि वे उसका पर्याप्त उपभोग कर चुके थे। न ही वे अपनी भौतिक इच्छाओं को पूरा करना चाह रहे थे। वे तो अविद्या के सागर को पार करने के इच्छुक थे। प्रत्येक व्यक्ति को इन भौतिक बन्धनों से निकलने में रूचि लेनी चाहिए और इस सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी साधु पुरुष के निकट जाना चाहिए। उसे साधु पुरुष से भौतिक सुख के लिए आशीर्वाद (वर) प्राप्त करने की परवाह नहीं करनी चाहिए। सामान्यतः

गृहस्थजन साधुओं का स्वागत उनसे आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए करते हैं, किन्तु उनका वास्तविक उद्देश्य तो इस संसार में सुखी रहना होता है। शास्त्रों में ऐसे आशीर्वाद के लिए याचना करने की संस्तुति नहीं की गई है।

मैत्रेय उवाच
इति प्रचेतसां पृष्टो भगवान्नारदो मुनिः ।
भगवत्युत्तमश्लोक आविष्टात्माब्रवीन्नृपान् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; प्रचेतसाम्—प्रचेताओं द्वारा; पृष्टः—पूछे जाने पर; भगवान्—भगवान् के महान् भक्त; नारदः—नारद ने; मुनिः—अत्यन्त विचारवान; भगवति—भगवान् में; उत्तम-श्लोके—अत्यन्त ख्याति वाले; आविष्ट—मग्न; आत्मा—जिसका मन; अब्रवीत्—उत्तर दिया; नृपान्—राजाओं को।

ऋषि मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, प्रचेताओं द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर भगवान् के विचारों में निरन्तर लीन रहने वाले परम भक्त नारद ने उत्तर दिया।

तात्पर्य : इस श्लोक में *भगवान् नारदः* सूचित करता है कि नारद सदैव श्रीभगवान् के विचारों में लीन रहते हैं। *भगवत्युत्तमश्लोक आविष्टात्मा।* नारद के पास कृष्ण का ध्यान धरने, कृष्ण का गुणगान करने तथा कृष्ण का उपदेश करने के अतिरिक्त कोई अन्य कार्य नहीं रहता, इसीलिए उन्हें कभी कभी भगवान् कहा जाता है। भगवान् का अर्थ है "समस्त ऐश्वर्यों वाला"। जब किसी मनुष्य के हृदय के भीतर भगवान् स्थित रहता है, तो उसे भी भगवान् कहा जाता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है—*साक्षाद्धरित्वेन समस्तशास्त्रैः*—प्रत्येक शास्त्र में गुरु को साक्षात् भगवान् माना गया है। किन्तु इससे यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि गुरु या नारद जैसे साधु पुरुष सचमुच भगवान् हो गए हैं, वरन् इन्हें ऐसा इसलिए स्वीकार किया जाता है, क्योंकि उनके हृदय में भगवान् निरन्तर रहते हैं। जैसाकि यहाँ पर उल्लेख हुआ है (*आविष्टात्मा*), जब कोई केवल कृष्ण के चिन्तन में लीन रहता है, तो वह भगवान् भी कहलाता है। भगवान् के पास सारे ऐश्वर्य होते हैं। यदि किसी के हृदय में सदैव भगवान् रहते हों तो क्या उसे समस्त ऐश्वर्य स्वतः उपलब्ध नहीं हो जाते? इस अर्थ में नारद जैसे महान् भक्त भगवान् कहला सकते हैं। किन्तु जब कोई धूर्त या धोखेवाज भगवान् कहलाता है, तो हम उसे सहन नहीं कर सकते। उसके पास या तो सारा ऐश्वर्य होना चाहिए या समस्त ऐश्वर्यों का स्वामी भगवान् होना चाहिए।

नारद उवाच

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः ।
नृणां येन हि विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; तत् जन्म—वही जन्म; तानि—वे; कर्माणि—कर्म; तत्—वही; आयुः—उम्र; तत्—वही; मनः—मन; वचः—वाणी; नृणाम्—मनुष्यों की; येन—जिससे; हि—निश्चय ही; विश्व-आत्मा—परमात्मा; सेव्यते—सेवित होता है; हरिः—भगवान्; ईश्वरः—परम नियन्ता।

महर्षि नारद ने कहा : जब कोई जीवात्मा परम नियन्ता भगवान् की भक्ति करने के लिए जन्म लेता है, तो उसका जन्म, उसके सारे सकाम कर्म, उसकी आयु, उसका मन तथा उसकी वाणी सभी यथार्थ में सिद्ध हो जाते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक का *नृणाम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य-जन्म के अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के जन्म हैं, किन्तु नारद मुनि यहाँ पर मनुष्य-जन्म के विषय में विशेष रूप से कह रहे हैं। मनुष्यों में भी अनेक प्रकार के मनुष्य होते हैं। इनमें से जो मनुष्य आध्यात्मिक चेतना या कृष्णभक्ति में प्रगति कर चुके होते हैं, वे आर्य कहलाते हैं। इन आर्यों में से भी जो लोग भगवद्भक्ति में लगे रहते हैं उन का जीवन धन्य है। *नृणाम्* शब्द बताता है कि निम्न पशु भगवद्भक्ति नहीं कर सकते, किन्तु पूर्ण मानव समाज में प्रत्येक व्यक्ति को भगवद्भक्ति में लगना चाहिए। इसका कोई महत्त्व नहीं है कि वह निर्धन या धनी, श्वेत या काले परिवार में जन्मा है। मानव-समाज में जन्म लेने वाले व्यक्तियों में अनेक प्रकार की भौतिक भिन्नता हो सकती हैं, किन्तु सबों को भगवद्भक्ति करनी चाहिए। सम्प्रति सभ्य कहे जानेवाले राष्ट्रों ने आर्थिक विकास के फेर में ईश्वर-चेतना को त्याग रखा है। वे ईश्वर-चेतना को विकसित करने में तनिक भी रुचि नहीं रखते। पहले उनके पूर्वज धार्मिक नियमों को सम्पन्न करने में व्यस्त रहते थे। चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, बौद्ध या यहूदी या अन्य कुछ, हर एक की कोई-न-कोई धार्मिक संस्था होती है। किन्तु वास्तविक धर्म का अर्थ है ईश्वर-भक्त (भगवद्भावनाभावित) होना। यहाँ इसका विशेष उल्लेख है कि यदि कृष्णभक्ति में रुचि रखी जाये तो जन्म सार्थक होता है। वही कर्म सफल है, जिससे भगवान् की सेवा हो सके। दार्शनिक चिन्तन या ज्ञान तभी सफल होता है जब उसे भगवान् को समझने में लगाया जाये। वे ही इन्द्रियाँ धन्य हैं, जो भगवान् की सेवा में लगी रहें। वास्तव में भक्ति का अर्थ है इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाना। आज के समय में, हमारी इन्द्रियाँ

शुद्ध नहीं हैं, इसीलिए वे समाज-सेवा, मित्रता, प्रेम, राजनीति इत्यादि में लगी रहती हैं। किन्तु जब ये इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा में लग जाती हैं, तो मनुष्य को भक्ति प्राप्त होती है। अगले श्लोक में इसकी विशद व्याख्या की गई है।

जब भगवान् चैतन्य महाप्रभु के एक महान् भक्त ने महाप्रभु को देखा तो उसने कहा कि उसकी सारी कामनाएँ पूर्ण हो गईं "आज सभी कुछ शुभ है। आज मेरी जन्मभूमि तथा पास-पड़ोस पूर्णतः महिमामण्डित हो गये। आज मेरी सारी इन्द्रियाँ—आँखों से लेकर अँगूठे तक—भाग्यशाली हैं। आज मेरा जीवन सफल हुआ है, क्योंकि मैं उन चरणकमलों को देख सका जिनकी पूजा लक्ष्मी जी करती हैं।"

किं जन्मभिस्त्रिभिर्वेह शौक्रसावित्रयाज्ञिकैः ।
कर्मभिर्वा त्रयीप्रोक्तैः पुंसोऽपि विबुधायुषा ॥ १० ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या लाभ; जन्मभिः—जन्मों से; त्रिभिः—तीन; वा—अथवा; इह—इस संसार में; शौक्र—वीर्य से; सावित्र—दीक्षा से; याज्ञिकैः—पूर्ण ब्राह्मण बनने से; कर्मभिः—कर्म से; वा—अथवा; त्रयी—वेदों में; प्रोक्तैः—उपदिष्ट; पुंसः—मनुष्य को; अपि—भी; विबुध—देवताओं की; आयुषा—आयु से।

सुसंस्कारी मनुष्य के तीन प्रकार के जन्म होते हैं। पहला जन्म शुद्ध माता-पिता से होता है, जिसे वीर्य द्वारा जन्म (शौक्र) कहते हैं। दूसरा जन्म गुरु से दीक्षा लेते समय होता है और यह 'सावित्र' कहलाता है। तीसरा जन्म 'याज्ञिक' कहलाता है और यह भगवान् विष्णु की पूजा का अवसर मिलने पर होता है। ऐसे जन्म लेने के अवसर प्राप्त होने पर भी यदि किसी को किसी देवता की भी आयु मिल जाये और वह वस्तुतः भगवान् की सेवा में रत न हो तो सब कुछ व्यर्थ हो जाता है। इसी प्रकार कर्म चाहे सांसारिक हों या आध्यात्मिक, यदि वे भगवान् को प्रसन्न करने हेतु न हों तो वे व्यर्थ हैं।

तात्पर्य : *शौक्र-जन्म* शब्द का अर्थ है "वीर्यपात से जन्म लेना।" पशु भी इस प्रकार जन्म ले सकते हैं, किन्तु वैदिक सभ्यता के अनुसार शौक्र जन्म में से जन्मे मनुष्य में सुधार लाया जा सकता है। जन्म लेने के पूर्व अथवा माता-पिता के सम्पर्क के पूर्व *गर्भाधान संस्कार* होता है जिसका पालन किया जाना चाहिए। यह संस्कार उच्च जातियों के लिए, विशेष रूप से ब्राह्मणों के लिए संस्तुत है। शास्त्रों का कथन है कि यदि उच्च जातियाँ गर्भाधान संस्कार का पालन नहीं करतीं तो सारा वंश शूद्र बन जाता है।

यह भी कहा गया है कि इस कलियुग में गर्भाधान संस्कार न होने से प्रत्येक व्यक्ति शूद्र होता है। यही वैदिक पद्धति है। किन्तु *पाञ्चरात्रिका* पद्धति के अनुसार, यद्यपि गर्भाधान संस्कार के अभाव में प्रत्येक व्यक्ति शूद्र है, किन्तु यदि किसी में कृष्णभक्त बनने की तनिक भी प्रवृत्ति है, तो उसे भक्ति के दिव्य पद तक उठने का अवसर मिलना चाहिए। हमारा कृष्णभावनामृत-आन्दोलन इसी पाञ्चरात्रिका विधि को अपनाता है जैसाकि श्रील सनातन गोस्वामी का उपदेश है—

यथा काञ्चनतां याति कांस्यं रस विधानतः।

तथा दीक्षा विधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम्॥

"जिस प्रकार कांस्य धातु पारे के साथ मिलाये जाने पर सोने में बदल जाती है, उसी प्रकार एक पुरुष सोने के समान शुद्ध न होने पर भी केवल दीक्षा के द्वारा ब्राह्मण या द्विज बन सकता है" (*हरिभक्ति विलास* २.१२)। इस प्रकार यदि कोई व्यक्ति उपयुक्त व्यक्ति द्वारा दीक्षित हो तो उसे तुरन्त द्विज माना जा सकता है। अतः हम अपने कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में शिष्य को पहली दीक्षा देकर उसे हरे कृष्ण महामंत्र का जप करने को कहते हैं। इस मंत्र को नियमित जपने तथा विधि-विधानों का पालन करते रहने से वह ब्राह्मण के रूप में दीक्षित होने के योग्य हो जाता है, क्योंकि जब तक कोई योग्य ब्राह्मण नहीं बन जाता उसे भगवान् विष्णु की पूजा करने की अनुमति नहीं दी जाती। यह *याज्ञिक जन्म* कहलाता है। हमारे कृष्णभानामृत-आन्दोलन में जब तक कोई दो बार दीक्षा ग्रहण नहीं कर लेता—पहली बार हरे कृष्ण जप द्वारा तथा दूसरी बार गायत्री मंत्र के जप द्वारा—तब तक उसे न तो रसोई में, न ही पूजाघर में प्रवेश करने दिया जाता है। किन्तु जब कोई उस पद को प्राप्त करता है, जिसमें वह अर्चा-विग्रह की पूजा कर सके तो उसके पूर्वजन्म पर ध्यान नहीं दिया जाता।

चण्डालोऽपि द्विजश्रेष्ठो हरिभक्तिपरायणः।

हरिभक्तिविहीनश्च द्विजोऽपि श्वपचाधमः॥

"भले ही कोई चण्डाल के परिवार में क्यों न जन्म ले, यदि वह भगवद्भक्ति करता है, तो वह श्रेष्ठ ब्राह्मण बन जाता है। किन्तु यदि ब्राह्मण होकर भी वह भक्ति से शून्य है, तो वह अधम श्वपच (कुत्ता खाने वाला) के समान होता है।" यदि कोई व्यक्ति भक्ति में पारंगत है, तो चाहे वह चण्डाल कुल में क्यों न जन्म ले, शुद्ध हो जाता है। जैसाकि प्रह्लाद महाराज कहते हैं (*भागवत* ७.९.१०)—

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-

पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम् ।

यदि कोई ब्राह्मण हो और समस्त ब्राह्मण गुणों से युक्त हो यदि वह भगवान् की पूजा करने से विमुख होता है तो वह अधम समझा जाता है। किन्तु यदि कोई मनुष्य भगवान् की सेवा में आसक्त रहता है, तो वह महिमामंडित होता है भले ही वह चांडाल कुल में क्यों न जन्मा हो। निस्सन्देह, ऐसा चण्डाल न केवल स्वयं को वरन् अपने परिवार के पुरखों को भी तार देता है। भक्ति के बिना गर्वीला ब्राह्मण अपना भी उद्धार नहीं कर सकता, उसका परिवार तो दूर रहा। शास्त्रों में कई उदाहरण मिलते हैं, जहाँ यह देखा जाता है कि ब्राह्मण भी क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, म्लेच्छ तक बन गया है। और ऐसे भी अनेक उदाहरण हैं जहाँ क्षत्रिय, वैश्य या अन्य निम्न कुल में उत्पन्न व्यक्ति अठारह वर्ष की अवस्था पा लेने पर व्यक्ति दीक्षा के द्वारा ब्राह्मण पद को प्राप्त कर सका है। अत: नारद मुनि कहते हैं (*भागवत* ७.११.३५)—

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।

यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत्॥

यह तथ्य नहीं है कि ब्राह्मण कुल में उत्पन्न व्यक्ति स्वत: ब्राह्मण हो जाता है। उसके ब्राह्मण बनने का अच्छा अवसर रहता है, किन्तु जब तक वह ब्राह्मण-गुणों को पूरा नहीं कर लेता उसे ब्राह्मण नहीं स्वीकार किया जा सकता। दूसरी ओर, यदि किसी शूद्र व्यक्ति में भी ये ब्राह्मण गुण पाये जाते हैं, तो उसे तुरन्त ही ब्राह्मण के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। इसकी पुष्टि के लिए भागवत, महाभारत, भरद्वाज संहिता, पंचरात्र तथा अन्य अनेक शास्त्रों में उदाहरण मिलते हैं।

जहाँ तक देवताओं की आयु का प्रश्न है, ब्रह्माजी के सम्बन्ध में कहा गया है (*भगवद्गीता* ८.१७)—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदु:।

रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जना:॥

ब्रह्मा का एक दिन चतुर्युगों से एक हजार गुना बड़ा होता है (४३,२०,००० वर्ष)। ब्रह्मा की एक रात्रि भी इसी प्रकार होती है। ब्रह्मा ऐसे दिन-रात वाले एक सौ वर्षों तक जीवित रहता है। *विबुधायुषा*

शब्द सूचित करता है कि यदि किसी को दीर्घायु भी प्राप्त हो, किन्तु यदि वह भक्त नहीं है, तो उसका जीवन व्यर्थ है। जीवात्मा परमेश्वर का शाश्वत सेवक है और जब तक वह भक्ति नहीं करता, उसकी आयु, उत्तम जन्म, सत्कार्य तथा सभी कुछ व्यर्थ हैं।

श्रुतेन तपसा वा किं वचोभिश्चित्तवृत्तिभिः ।
बुद्ध्या वा किं निपुणया बलेनेन्द्रियराधसा ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्रुतेन—वैदिक शिक्षा से; तपसा—तपस्या से; वा—अथवा; किम्—क्या अर्थ; वचोभिः—वाणी से; चित्त—चेतना का; वृत्तिभिः—व्यापार से; बुद्ध्या—बुद्धि से; वा—अथवा; किम्—क्या लाभ; निपुणया—निपुण, पटु; बलेन—बल से; इन्द्रिय-राधसा—इन्द्रियों की शक्ति से।

भक्ति के बिना कठिन तपस्या, सुनने, बोलने की शक्ति, चिन्तन शक्ति, उच्च ज्ञान, बल तथा इन्द्रियों की शक्ति का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

तात्पर्य : उपनिषदों से (*मुण्डकोनिषद* ३.२.३) हमें पता चलता है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो

न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-

स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

केवल वेदों के अध्ययन से परमेश्वर के साथ हमारे सम्बन्ध कभी आगे नहीं बढ़ सकते। अनेक मायावादी संन्यासी वेदों, वेदान्त सूत्रों तथा उपनिषदों के अध्ययन में रत रहते हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश वे ज्ञान का सार ग्रहण नहीं कर पाते। दूसरे शब्दों में, वे भगवान् को नहीं जानते। तो फिर समस्त वेदों के अध्ययन से क्या लाभ, यदि कोई वेदों के सार श्रीकृष्ण को न ग्रहण कर पाये? भगवान् ने *भगवद्गीता* (१५.१५) में पुष्टि की है—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—समस्त वेदों के द्वारा मैं जानने योग्य हूँ।

ऐसी अनेक धार्मिक पद्धतियाँ हैं जिनमें तपस्या पर अत्यधिक बल दिया जाता है, किन्तु अन्त तक लोग भगवान् कृष्ण को नहीं समझ पाते। अतः ऐसी तपस्या का कोई अर्थ नहीं है। यदि कोई सचमुच भगवान् के पास पहुँच चुका है, तो उसे तपस्या करने की कोई आवश्यकता नहीं है। भगवान् को भक्तियोग द्वारा समझा जाता है। *भगवद्गीता* के नवम अध्याय में भक्ति को *राजगुह्यम्*—समस्त गुह्यज्ञान का राजा—कहा गया है। वैदिक साहित्य के अनेक उत्तम वाचक हैं और वे रामायण, श्रीमद्भागवत

तथा भगवद्गीता का वाचन करते हैं। कभी-कभी ये व्यावसायिक वाचक अत्यधिक पाण्डित्य तथा वाग्वैदग्ध्य प्रदर्शित करते हैं। दुर्भाग्यवश वे भगवान् के भक्त नहीं होते; अत: वे ज्ञान के सार श्रीकृष्ण के विषय में श्रोताओं को प्रभावित नहीं कर पाते। यद्यपि अनेक विचारवान लेखक तथा सृजनशील दार्शनिक हैं, किन्तु अपने समस्त पाण्डित्य के बावजूद यदि वे भगवान् तक नहीं पहुँच पाते तो वे कोरे ज्ञानी हैं। इस संसार में अनेक प्रखर बुद्धिमान व्यक्ति हैं और वे इन्द्रियतृप्ति के लिए अनेक खोजें करते रहते हैं। वे समस्त भौतिक तत्त्वों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करते हैं, किन्तु उनके पटु ज्ञान तथा समस्त सृष्टि के दक्ष वैज्ञानिक विश्लेषण के बावजूद उनके प्रयास व्यर्थ हैं, क्योंकि वे भगवान् को नहीं समझ पाते।

जहाँ तक हमारी इन्द्रियों का प्रश्न है, ऐसे अनेक पशु तथा पक्षी हैं, जो हमसे अधिक दक्षतापूर्वक अपनी इन्द्रियों का उपयोग कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, गिद्ध अथवा बाज आसमान में बहुत ऊँचाई पर उड़ते हुए भी भूमि की छोटी सी वस्तु को साफ-साफ देख सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि उनकी दृष्टि इतनी प्रखर है कि वे काफी दूरी से खाद्य शव को पहचान लेते हैं। निश्चय ही उनकी दृष्टि मनुष्य की दृष्टि से अधिक प्रखर है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनका अस्तित्व मनुष्य के अस्तित्व से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार कुत्ते काफी दूरी से अनेक वस्तुओं को सूँघ लेते हैं। अनेक मछलियाँ अपने शत्रुओं के आने को समझ लेती हैं। ये सारे उदाहरण *श्रीमद्भागवत* में वर्णित हैं। यदि हमारी इन्द्रियाँ जीवन के चरम लक्ष्य, भगवान् के साक्षात्कार को प्राप्त करने में सहायता नहीं कर सकतीं तो वे सब व्यर्थ हैं।

किं वा योगेन साङ्ख्येन न्यासस्वाध्याययोरपि ।
किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या लाभ; वा—अथवा; योगेन—योगाभ्यास द्वारा; साङ्ख्येन—सांख्य दर्शन के अध्ययन से; न्यास—संन्यास ग्रहण करने से; स्वाध्याययोः—तथा वैदिक साहित्य के अध्ययन से; अपि—भी; किम्—क्या लाभ; वा—अथवा; श्रेयोभिः—शुभ कर्मों द्वारा; अन्यैः—अन्य; च—तथा; न—कभी नहीं; यत्र—जहाँ; आत्म-प्रदः—आत्मा की तुष्टि; हरिः—भगवान्।

जो दिव्य विधिविधान पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का साक्षात्कार कराने में सहायक नहीं होते, वे व्यर्थ हैं, चाहे वह योगाभ्यास हो या पदार्थ का वैश्लेषिक अध्ययन, कठिन तपस्या, संन्यास ग्रहण करना या कि वैदिक साहित्य का अध्ययन हो। भले ही ये आध्यात्मिक प्रगति के

महत्त्वपूर्ण पक्ष क्यों न हों, किन्तु जब तक कोई भगवान् हरि को नहीं जान लेता ये सारी विधियाँ व्यर्थ हैं।

तात्पर्य : *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (मध्य २४.१०९) में कहा गया है—

भक्ति विना केवल ज्ञाने 'मुक्ति' नाहि हय।

भक्ति साधन करे येइ 'प्राप्त-ब्रह्म-लय'॥

निर्विशेषवादी, भक्ति न करके अन्य अभ्यास करते हैं जैसे भौतिक तत्त्वों का विश्लेषण, पदार्थ तथा आत्मा में भेद एवं योग-प्रणाली। ये तभी तक उपयोगी हैं जब तक वे भक्ति के पूरक हैं। इसीलिए चैतन्य महाप्रभु ने सनातन गोस्वामी से कहा था कि भक्ति के बिना *ज्ञान, योग* तथा *सांख्यदर्शन* से वांछित फल प्राप्त नहीं हो सकते। निर्विशेषवादी परमब्रह्म से तादात्म्य चाहते हैं, किन्तु इस तादात्म्य के लिए भी भक्ति चाहिए। परमेश्वर का साक्षात्कार तीन रूपों—निर्गुण ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्—में होता है। इन सबके लिए भक्ति की आवश्यकता पड़ती है। कभी-कभी मायावादी हरे कृष्ण महामंत्र का जप करते भी पाये जाते हैं, यद्यपि उनका लक्ष्य ब्रह्म से तादात्म्य रहता है। कभी-कभी योगी भी हरे कृष्ण महामंत्र का जप करते हैं, किन्तु उनका लक्ष्य भक्तों से भिन्न होता है। इन सभी विधियों में—चाहे वह कर्म हो, ज्ञान हो या योग—भक्ति आवश्यक है। यही इस श्लोक का सारांश है।

श्रेयसामपि सर्वेषामात्मा ह्यवधिरर्थतः ।
सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मात्मदः प्रियः ॥ १३॥

शब्दार्थ

श्रेयसाम्—शुभ कार्यों का; अपि—निश्चय ही; सर्वेषाम्—समस्त; आत्मा—आत्मा; हि—निश्चय ही; अवधिः—लक्ष्य; अर्थतः—वास्तव में; सर्वेषाम्—सभी; अपि—निश्चय ही; भूतानाम्—जीवों का; हरिः—भगवान्; आत्मा—परमात्मा; आत्म-दः—मूल पहचान प्रदान करने वाला; प्रियः—प्रिय।

यथार्थ रूप में भगवान् ही समस्त आत्म-साक्षात्कार के मूल स्रोत हैं। फलतः समस्त शुभ कार्यों—कर्म, ज्ञान, योग तथा भक्ति—का लक्ष्य भगवान् हैं।

तात्पर्य : जीवात्मा भगवान् की तटस्था शक्ति है और यह संसार बहिरंगा शक्ति है। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य को यह समझना चाहिए कि भगवान् ही पदार्थ तथा आत्मा दोनों के मूल स्रोत हैं। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* (७.४-५) में की गई है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

''पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—ऐसी ये सारी आठ प्रकार की अलग-अलग मेरी अपरा सकियाँ है। किन्तु हे महाबाहु अर्जुन! इस अपरा (जड़) प्रकृति के अतिरिक्त मेरी एक जीवरूप परा (चेतन) प्रकृति भी है, जो उन सभी जीवों से बनी है, जो भौतिक शक्ति से संघर्ष करते रहते हैं और ब्रह्माण्ड को बनाये रखते हैं।''

यह समग्र दृश्य जगत पदार्थ तथा आत्मा के संयोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आत्मा वाला अंश जीव है और ये जीव ही प्रकृति या शक्ति के रूप में वर्णित हैं। जीव को कभी भी पुरुष या परम पुरुष नहीं कहा जाता, अतः जीव को परमात्मा से एकाकार करना कोरी अविद्या है। जीव तो परमेश्वर की तटस्था शक्ति है यद्यपि शक्ति तथा शक्तिमान में वास्तव में कोई अन्तर नहीं होता। जीव का धर्म है कि वह अपने वास्तविक रूप को पहचाने। जब वह ऐसा करता है, तो कृष्ण उसे भक्ति पद प्राप्त करने की सारी सुविधाएँ प्रदान करते हैं। यही जीवन की पूर्णता है। यह वैदिक उपनिषदों में इंगित हुआ है—*यमेवैष वृणुते तेन लब्ध्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।* भगवान् श्रीकृष्ण भी *भगवद्गीता* (१०.१०) में इसकी पुष्टि करते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

''जो लोग मेरी सतत भक्ति तथा प्रेमपूर्वक पूजा करते हैं, उन्हें मैं ज्ञान प्रदान करता हूँ जिससे वे मुझ तक आ सकते हैं।'' निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य को भक्तियोग पद तक पहुँचना चाहिए चाहे वह कर्मयोग, ज्ञानयोग या अष्टांग योग से शुभारम्भ क्यों न करे। जब तक भक्तियोग के पद को प्राप्त नहीं किया जाता, आत्म-साक्षात्कार या परम सत्य का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता।

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन

तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः ।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां
तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥ १४॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; तरोः—वृक्ष की; मूल—जड़; निषेचनेन—सींचने से; तृप्यन्ति—संतुष्ट हो जाते हैं; तत्—इसके; स्कन्ध—तना; भुज—शाखाएँ; उपशाखाः—टहनियाँ; प्राण—प्राण वायु; उपहारात्—भोजन करने से; च—तथा; यथा—जिस तरह; इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों का; तथा एव—उसी तरह; सर्व—सभी देवताओं की; अर्हणम्—पूजा; अच्युत—भगवान् की; इज्या—पूजा।.

जिस तरह वृक्ष की जड़ को सींचने से तना, शाखाएँ तथा टहनियाँ पुष्ट होती हैं और जिस तरह पेट को भोजन देने से शरीर की इन्द्रियाँ तथा अंग प्राणवान् बनते हैं उसी प्रकार भक्ति द्वारा भगवान् की पूजा करने से भगवान् के ही अंग रूप सभी देवता स्वतः तुष्ट हो जाते हैं।

तात्पर्य : कभी-कभी लोग पूछते हैं कि यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन देवताओं को छोड़कर केवल श्रीकृष्ण की पूजा का समर्थन क्यों करता है ? इसका उत्तर इस श्लोक में दिया हुआ है। वृक्ष की जड़ को सींचने का उदाहरण अत्यन्त सटीक है। *भगवद्गीता* (१५.१) में कहा जाता है—*ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्*—यह दृश्य जगत नीचे की ओर विस्तृत है, इसका मूल भगवान् है। जैसाकि भगवान् स्वयं *भगवद्गीता* (१०.८) में पुष्टि करते हैं—*अहं सर्वस्य प्रभवः*—मैं समस्त आध्यात्मिक तथा भौतिक संसारों का स्रोत हूँ। श्रीकृष्ण सभी वस्तुओं के मूल हैं, अतः कृष्णसेवा का अर्थ है सभी देवताओं की स्वतः सेवा हो जाना। कभी-कभी यह तर्क दिया जाता है कि सफलता के लिए कर्म तथा ज्ञान में भक्ति के मिश्रण की और कभी-कभी भक्ति में कर्म तथा ज्ञान के मिश्रण की आवश्यकता पड़ती है। वास्तविकता यह है कि यद्यपि ज्ञान भक्ति के बिना कभी सफल नहीं हो सकते, भक्ति कर्म तथा ज्ञान की सहायता नहीं मांगती वास्तव में, जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है—*अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्*—शुद्ध भक्ति को कर्म तथा ज्ञान के स्पर्श से दूषित नहीं किया जाना चाहिए। आधुनिक समाज अनेक प्रकार के कल्याणकारी कार्यों, मानवतावादी कार्यों इत्यादि में व्यस्त है, किन्तु लोग यह नहीं समझते कि जब तक भगवान् कृष्ण को इन सारे कार्यों का केन्द्रबिन्दु नहीं बनाया जाता, ये कार्य कभी भी सफल नहीं हो सकते। कोई यह प्रश्न कर सकता है कि कृष्ण तथा देवता रूपी उनके शरीर के विभिन्न अंगों की पूजा करने में क्या हानि है, तो इसका उत्तर भी इस श्लोक में प्राप्त है। बात यह है कि उदर को भोजन देने से इन्द्रियाँ स्वतः सन्तुष्ट हो जाती हैं। यदि कोई अपने नेत्रों या कानों को

अलग से भोजन दे, तो उसका परिणाम बुरा होगा। केवल उदर को भोजन देकर हम समस्त इन्द्रियों को तुष्ट कर देते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय की अलग-अलग सेवा कर पाना न तो आवश्यक है, न सम्भव ही है। निष्कर्ष यह है कि केवल कृष्णसेवा से सब कुछ पूरा हो जाता है। जैसाकि *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य २२.६२) में पुष्टि की गई है—*कृष्णे भक्ति कैले सर्वकर्म कृत हय*—यदि मनुष्य भगवान् की भक्ति में लगा रहे तो अन्य सारे कार्य स्वत: सम्पन्न हो जाते हैं।

यथैव सूर्यात्प्रभवन्ति वारः
पुनश्च तस्मिन्प्रविशन्ति काले ।
भूतानि भूमौ स्थिरजङ्गमानि
तथा हरावेव गुणप्रवाहः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; एव—निश्चय ही; सूर्यात्—सूर्य से; प्रभवन्ति—उत्पन्न होता है; वारः—जल; पुनः—फिर से; च—तथा; तस्मिन्—उसमें; प्रविशन्ति—प्रवेश कर जाता है; काले—कालक्रम से; भूतानि—समस्त जीव; भूमौ—पृथ्वी पर; स्थिर—अचर; जङ्गमानि—तथा चर; तथा—उसी प्रकार; हरौ—भगवान् में; एव—निश्चय ही; गुण-प्रवाहः—भौतिक प्रकृति का उद्भव।

वर्षा काल में सूर्य से जल उत्पन्न होता है और कालक्रम में अर्थात् ग्रीष्मकाल में वही जल सूर्य द्वारा पुनः सोख लिया जाता है। इसी प्रकार समस्त चर तथा अचर जीव इस पृथ्वी से उत्पन्न होते हैं और कुछ काल के पश्चात् वे पुनः पृथ्वी में धूल के रूप में मिल जाते हैं। इसी प्रकार से प्रत्येक वस्तु श्रीभगवान् से उद्भूत होती है और कालक्रम से पुनः उन्हीं में लीन हो जाती है।

तात्पर्य : अल्पज्ञान के कारण निर्विशेषवादी यह नहीं समझ पाते कि किस प्रकार कोई वस्तु भगवान् से निकल कर फिर उन्हीं में लीन हो जाती है। *ब्रह्म-संहिता* (५.४०) में पुष्टि हुई है—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-

कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम् ।

तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

कृष्ण के शरीर से दिव्य किरणें निकलती हैं और इन्हीं किरणों में, जो ब्रह्मतेज है, सारी वस्तुएँ विद्यमान रहती हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.४) में हुई है—*मत्स्थानि सर्वभूतानि।* यद्यपि श्रीकृष्ण सर्वत्र साक्षात् उपस्थित नहीं रहते, किन्तु उनकी शक्ति ही समस्त सृष्टि का कारण है। सम्पूर्ण दृश्य जगत

श्रीकृष्ण की शक्ति के प्रदर्शन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इस श्लोक में दिये गये दोनों उदाहरण अत्यन्त ज्वलन्त हैं। वर्षाऋतु में वर्षा पृथ्वी पर वनस्पति को पुनः जीवित करके पशुओं तथा मनुष्यों को जीवनीशक्ति प्रदान करने में सहायक बनती है। जब वर्षा नहीं होती तो अन्न का अभाव हो जाता है और मनुष्य तथा पशु मरने लगते हैं। समस्त वनस्पतियाँ तथा सारे चर प्राणी मूलतः पृथ्वी की उपज हैं। वे पृथ्वी से ही प्रकट होकर उसी में पुनः मिल जाते हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण शक्ति कृष्ण के शरीर से प्रकट होती है और उस समय सारा संसार दृष्टिगोचर होने लगता है। जब वे अपनी शक्ति को समेट लेते हैं, तो प्रत्येक वस्तु लुप्त हो जाती है। *ब्रह्म-संहिता* (५.४८) में इसे भिन्न प्रकार से कहा गया है—

यस्यैक निश्वसितकालमथावलम्ब्य

जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः ।

विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

सारी भौतिक सृष्टि भगवान् के शरीर से उद्भूत है और प्रलय के समय वह पुनः उन्हीं में प्रविष्ट हो जाती है। यह सृष्टि तथा प्रलय की प्रक्रिया महाविष्णु के श्वास लेने से संभव होती है, जो श्रीकृष्ण के ही एक अंशमात्र हैं।

एतत्पदं तज्जगदात्मनः परं
सकृद्विभातं सवितुर्यथा प्रभा ।
यथासवो जाग्रति सुप्तशक्तयो
द्रव्यक्रियाज्ञानभिदाभ्रमात्ययः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह दृश्य जगत; पदम्—निवास स्थान; तत्—वह; जगत्-आत्मनः—भगवान् का; परम्—दिव्य; सकृत्—कभी-कभी; विभातम्—प्रकट होने वाला; सवितुः—सूर्य का; यथा—जिस प्रकार; प्रभा—सूर्य प्रकाश; यथा—जिस प्रकार; असवः—इन्द्रियाँ; जाग्रति—प्रकट होती हैं; सुप्त—निष्क्रिय; शक्तयः—शक्तियाँ; द्रव्य—भौतिक तत्त्व; क्रिया—कर्म; ज्ञान—ज्ञान; भिदा-भ्रम—भ्रम से उत्पन्न अन्तर; अत्ययः—लुप्त हो जाते हैं।

जिस प्रकार सूर्य-प्रकाश सूर्य से अभिन्न है, उसी प्रकार यह दृश्य जगत भी भगवान् से अभिन्न है। अतः भगवान् इस भौतिक सृष्टि के भीतर सर्वत्र व्याप्त हैं। जब इन्द्रियाँ चेतन रहती हैं, तो वे शरीर के अंगस्वरूप प्रतीत होती हैं, किन्तु जब शरीर सोया रहता है, तो सारी क्रियाएँ

अव्यक्त होती हैं। इसी प्रकार सारा दृश्य जगत भिन्न प्रतीत होने पर भी परम पुरुष से अभिन्न है।

तात्पर्य : इससे चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रतिपादित *अचिन्त्य भेदाभेद तत्त्व* के दर्शन की पुष्टि होती है। भगवान् एकसाथ इस दृश्य जगत से भिन्न तथा अभिन्न हैं। पिछले श्लोक में कहा गया है कि भगवान् वृक्ष की जड़ की तरह समस्त वस्तुओं के मूल कारण हैं। इसकी भी व्याख्या की जा चुकी है कि भगवान् किस प्रकार सर्वव्यापी हैं। वे इस भौतिक जगत की समस्त वस्तुओं के अन्दर स्थित हैं। चूँकि भगवान् की शक्ति उनसे अभिन्न है, अत: यह दृश्य जगत भिन्न प्रतीत होते हुए भी उनसे अभिन्न है। सूर्यप्रकाश (धूप) सूर्य से भिन्न नहीं है, किन्तु साथ ही उससे भिन्न भी है। धूप में रहते हुए भी कोई सूर्य में नहीं रहता। जो लोग इस संसार में रह रहे हैं, वे भगवान् के शरीर की किरणों में रहते हैं, किन्तु वे उन्हें सशरीर नहीं देख पाते।

इस श्लोक का *पदम्* शब्द भगवान् के निवासस्थान का सूचक है। इसकी पुष्टि *ईशोपनिषद्* में *ईशावास्यमिदं सर्वम्* में हुई है। भले ही मकान मालिक मकान के एक कमरे में रह रहा हो, किन्तु सारा मकान उसी का होता है। भले ही राजा बकिंघम महल के एक कमरे में रहे, किन्तु सारा महल उसकी सम्पत्ति होता है। उसे उस महल को अपना बताने के लिए महल के प्रत्येक कमरे में रहना आवश्यक नहीं है। वह सभी कमरों में भले ही स्वयं उपस्थित न रहे, किन्तु फिर भी सारा महल उसकी राजसी सम्पत्ति समझा जाता है।

सूर्यप्रकाश प्रकाश है, सूर्यगोलक स्वयं प्रकाश है और सूर्यदेव भी प्रकाश ही है। किन्तु सूर्य का प्रकाश और सूर्यदेव विवस्वान एकरूप नहीं हैं। एकसाथ एक और भिन्न होने का यही अर्थ है (*अचिन्त्य भेदाभेद तत्त्व*)। सभी ग्रह सूर्यप्रकाश पर निर्भर हैं और सूर्य के ताप से वे अपनी कक्षाओं में घूमते हैं। सभी ग्रहों में सारे वृक्ष तथा पौधे सूर्यप्रकाश से ही बढ़ते और रंग बदलते रहते हैं। सूर्य की किरणें होने के कारण वे सूर्य प्रकाश से अभिन्न हैं। इसी प्रकार सारे ग्रह जो सूर्यप्रकाश पर निर्भर करते हैं, सूर्य से अभिन्न हैं। यह सारा संसार सूर्य पर पूर्णतया निर्भर है, क्योंकि यह सूर्य से ही उत्पन्न है और इसके सारे फलों में सूर्य निहित है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण समस्त कारणों के कारण हैं और सारे परिणाम उसी मूल कारण से व्याप्त हैं। समस्त दृश्य जगत को परमेश्वर की विस्तृत शक्ति समझना होगा।

जब मनुष्य सोता है, तो उसकी इन्द्रियाँ निष्क्रिय रहती हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि

इन्द्रियाँ अनुपस्थित रहती हैं। जगने पर इन्द्रियाँ पुनः सक्रिय हो जाती हैं। इसी प्रकार यह दृश्य जगत कभी प्रकट होता है, तो कभी अप्रकट, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।* जब दृश्य जगत का लय हो जाता है, तो यह एक प्रकार की निद्रावस्था या निष्क्रिय अवस्था में रहता है। दृश्य जगत चाहे सक्रिय हो या निष्क्रिय, परमेश्वर की शक्ति सदैव विद्यमान रहती है। इस तरह ''प्रकट'' तथा ''अप्रकट'' शब्द केवल भौतिक जगत के लिए व्यवहृत हैं।

यथा नभस्यभ्रतमःप्रकाशा
भवन्ति भूपा न भवन्त्यनुक्रमात् ।
एवं परे ब्रह्मणि शक्तयस्त्वमू
रजस्तमः सत्त्वमिति प्रवाहः ॥ १७॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; नभसि—आकाश में; अभ्र—बादल; तमः—अंधकार; प्रकाशाः—तथा प्रकाश; भवन्ति—विद्यमान रहते हैं; भू-पाः—हे राजाओं; न भवन्ति—प्रकट नहीं होते; अनुक्रमात्—क्रम से; एवम्—इस प्रकार; परे—परम; ब्रह्मणि—ब्रह्म में; शक्तयः—शक्तियाँ; तु—तब; अमूः—वे; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; सत्त्वम्—सतोगुण; इति—इस प्रकार; प्रवाहः—प्राकट्य, प्रवाह।

हे राजाओ, आकाश में कभी बादल, कभी अंधकार और कभी प्रकाश रहता है। इनका प्राकट्य एक क्रम से होता रहता है। इसी तरह सतो, रजो तथा तमोगुण परब्रह्म में क्रमशः शक्ति रूप में प्रकट होते हैं। कभी वे प्रकट होते हैं, तो कभी लुप्त होते हैं।

तात्पर्य : अंधकार, प्रकाश तथा बादल कभी प्रकट होते हैं, तो कभी छिप जाते हैं, किन्तु उनके छिप जाने पर भी उनकी शक्ति बनी रहती है। आकाश में हमें कभी बादल दिखते हैं, तो कभी वर्षा और कभी हिमपात। कभी हम रात देखते हैं, तो कभी दिन और कभी प्रकाश देखते हैं, तो कभी अंधकार।इन सबका अस्तित्व सूर्य के कारण है, किन्तु सूर्य पर इन परिवर्तनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार यद्यपि भगवान् समग्र दृश्य जगत के मूल कारण हैं, किन्तु उन पर भौतिक संसार का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.४) में हुई है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

''भूमि, जल, अग्नि, वायु, शून्य, मन, बुद्धि तथा अहंकार—ये आठ मिलकर मेरी भिन्न भौतिक शक्तियों का निर्माण करते हैं।''

यद्यपि भौतिक तत्त्व भगवान् की शक्ति हैं, किन्तु वे पृथक्-पृथक् हैं। अत: भगवान् पर भौतिक दशाओं का प्रभाव नहीं पड़ता। *वेदान्त-सूत्र* पुष्टि करता है—*जन्माद्यस्य यत:*—इस संसार की सृष्टि, पालन तथा संहार परमेश्वर के अस्तित्व के कारण है। फिर भी भौतिक तंत्रों में परिवर्तनों का भगवान् पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसका संकेत *प्रवाह* शब्द से मिलता है। सूर्य सदैव तेजी से चमकता है, वह बादलों या अंधकार से प्रभावित नहीं होता। इसी प्रकार भगवान् सदैव अपनी आध्यात्मिक शक्ति में उपस्थित रहते हैं और भौतिक प्रसर्जन से प्रभावित नहीं होते। *ब्रह्म-संहिता* (५.१) पुष्टि करती हैं—

ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्दविग्रह: ।
अनादिरादिर्गोविन्द: सर्वकारणकारणम् ॥

''श्रीकृष्ण जिन्हें गोविन्द कहा जाता है भगवान् हैं। उनका शरीर नित्य, आनन्दमय तथा आध्यात्मिक होता है। वे सबों के मूल स्रोत हैं। उनका अन्य स्रोत नहीं है और वे समस्त कारणों के कारण हैं।'' यद्यपि वे समस्त कारणों के कारण हैं, तो भी वे परम (दिव्य) हैं और उनका रूप सच्चिदानन्द है। कृष्ण सभी वस्तुओं के आश्रय हैं और यही समस्त शास्त्रों का अभिमत है। इस दृश्य जगत का दूरस्थ कारण कृष्ण तथा निकटस्थ कारण प्रकृति है। *चैतन्य-चरितामृत* में कहा गया है कि प्रकृति को प्रत्येक वस्तु का कारण मानना वैसे ही है जैसे बकरी के गलस्तन को दूध का कारण मानना। यद्यपि भौतिक प्रकृति इस दृश्य जगत का निकटस्थ कारण है, किन्तु मूल कारण तो नारायण अथवा कृष्ण हैं। कुछ लोग मिट्टी के पात्र का कारण मिट्टी को मानते हैं। हम कुम्हार के चाक में प्रचुर मिट्टी देखते हैं जिससे अनेक पात्र बनाये जाने हैं और यद्यपि अल्पज्ञानी व्यक्ति कहेंगे कि पात्र का कारण चाक के ऊपर रखी मिट्टी है, किन्तु जो ज्ञान में बढ़े-चढ़े हैं, वे कुम्हार को आदि कारण मानते हैं, क्योंकि वही मिट्टी लाता है और चाक चलाता है। भले ही इस दृश्य जगत की उत्पत्ति में भौतिक प्रकृति सहायक कारक के रूप में हो, किन्तु वह परम कारण नहीं हैं। इसीलिए *भगवद्गीता* (९.१०) में भगवान् कहते हैं—*मयाध्यक्षेण प्रकृति: सूयते सचराचरम्*—''हे कुन्तीपुत्र! यह प्रकृति मेरे निर्देशन में कार्य करती है और समस्त चल तथा अचल प्राणियों को उत्पन्न करती है।''

परमेश्वर भौतिक शक्ति पर अपनी दृष्टि डालते हैं और इस चितवन से प्रकृति के तीनों गुण उद्वेलित होते हैं। फिर सृष्टि उत्पन्न होती है। निष्कर्ष यह हुआ कि प्रकृति इस भौतिक जगत का कारण नहीं है।

परमेश्वर ही समस्त कारणों के कारण हैं।

तेनैकमात्मानमशेषदेहिनां
कालं प्रधानं पुरुषं परेशम् ।
स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहम्
आत्मैकभावेन भजध्वमद्धा ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तेन—अतः; एकम्—एक; आत्मानम्—परमात्मा को; अशेष—अनन्त; देहिनाम्—जीवों का; कालम्—काल, समय; प्रधानम्—भौतिक कारण; पुरुषम्—परम पुरुष; पर-ईशम्—दिव्य नियन्ता; स्व-तेजसा—अपनी आध्यात्मिक शक्ति से; ध्वस्त—विलग; गुण-प्रवाहम्—भौतिक प्रवाह से; आत्म—आत्मा; एक-भावेन—एक के रूप में स्वीकार करने से; भजध्वम्—भक्ति में लगो; अद्धा—प्रत्यक्ष।

चूँकि परमेश्वर समस्त कारणों के कारण हैं, अतः वे समस्त जीवों के परमात्मा हैं और वे निकटवर्ती तथा सुदूर कारण हैं। चूँकि वे भौतिक प्रसर्जनों से विलग हैं, अतः वे उनकी अन्योन्य क्रियाओं से मुक्त हैं और प्रकृति के स्वामी हैं। अतः तुम्हें उनसे गुणात्मक रूप से अपने आपको अभिन्न मानते हुए उनकी सेवा करनी चाहिए।

तात्पर्य : वैदिक परिगणनाओं के अनुसार सृष्टि के तीन कारण हैं—काल, अवयव तथा सृष्टिकर्ता। ये तीनों मिलकर *त्रितयात्मक* अर्थात् तीन कारण कहलाते हैं। इन्हीं तीन कारणों से इस संसार की सारी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। ये समस्त कारण भगवान् में पाये जाते हैं जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में पुष्टि की गई है—*सर्वकारणकारणम्।* इसीलिए नारद मुनि प्रचेताओं को प्रत्यक्ष कारण भगवान् की पूजा करने का उपदेश देते हैं। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, वृक्ष की जड़ सींचने से वृक्ष के सारे अंग अनुप्राणित हो उठते हैं। नारद मुनि के उपदेशानुसार मनुष्य को सीधे भक्ति में लगना चाहिए। इसीमें सारा पुण्यकर्म आ जाता है। *चैतन्य-चरितामृत* का कथन है—*कृष्णे भक्ति कैले सर्व कर्मकृत हय*—जब कोई भक्ति में परमेश्वर श्रीकृष्ण की पूजा करता है, तो वह स्वतः अन्य सारे पुण्यकर्म करता है। इस श्लोक में *स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहम्* पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भगवान् कभी भी भौतिक गुणों से प्रभावित नहीं होते, यद्यपि वे सब भगवान् की ही अध्यात्मिक शक्ति से नि:सृत होते हैं। जो लोग वास्तव में इस ज्ञान में निष्णात हैं, वे प्रत्येक वस्तु का उपयोग भगवान् की सेवा के लिए कर सकते हैं, क्योंकि इस संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसका सम्बन्ध भगवान् से न हो।

दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन केन वा ।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

दयया—दया दिखाने से; सर्व-भूतेषु—समस्त जीवों पर; सन्तुष्ट्या—सन्तुष्ट होने से; येन केन वा—किसी न किसी तरह; सर्व-इन्द्रिय—समस्त इन्द्रियाँ; उपशान्त्या—वश में करके; च—भी; तुष्यति—सन्तुष्ट होता है; आशु—तुरन्त; जनार्दनः—समस्त जीवों का स्वामी।.

समस्त जीवों पर दया करने से, येन-केन प्रकार से सन्तुष्ट रहने से तथा इन्द्रियों को वश में करने से मनुष्य भगवान् जनार्दन को बहुत शीघ्र संतुष्ट कर सकता है।

तात्पर्य : ये कुछ विधियाँ हैं जिनके द्वारा भक्त भगवान् को संतुष्ट कर सकता है। इनमें सबसे पहली है *दयया सर्वभूतेषु* अर्थात् समस्त बद्धजीवों पर दया दिखाना। दया दिखाने की सर्वोत्तम विधि है कृष्णभक्ति को फैलाना। सम्पूर्ण संसार इस ज्ञान के अभाव से पीड़ित है। लोगों को जानना चाहिए कि भगवान् ही सभी वस्तुओं का मूल कारण है। ऐसा समझ कर प्रत्येक व्यक्ति को भगवद्भक्ति में लग जाना चाहिए। जो लोग वास्तव में विद्वान् हैं और आध्यात्मिक ज्ञान में प्रगति कर चुके हैं उन्हें संसार-भर में कृष्णभक्ति का उपदेश करना चाहिए जिससे लोग उसे ग्रहण करके अपने जीवन को सफल बना सकें।

सर्वभूतेषु शब्द सार्थक है क्योंकि यह न केवल मनुष्यों के लिए वरन् चौरासी लाख योनियों में प्रकट होने वाले समस्त जीवों के लिए आया है। भक्त न केवल मानवजाति को लाभ पहुँचा सकता है, अपितु समस्त जीवों को भी। प्रत्येक व्यक्ति हरे कृष्ण महामंत्र के जप से आध्यात्मिक लाभ उठा सकता है। जब हरे कृष्ण की दिव्य ध्वनि का उच्चारण किया जाता है, तो पौधे-पशु तथा कीड़े तक लाभान्वित होते हैं। इस प्रकार हरे कृष्ण महामंत्र का उच्चस्वर से कीर्तन करके मनुष्य समस्त जीवों पर दया करता है। संसार-भर में कृष्णभावनामृत-आन्दोलन को फैलाने के लिए भक्तों को सभी परिस्थितियों में प्रसन्न रहना चाहिए।

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।

स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥

(भागवत ६.१७.२८)

भक्त को उपदेश कार्य के लिए यदि नरक में भी जाना पड़े, तो उसे परवाह नहीं रहती। यद्यपि भगवान् वैकुण्ठ में हैं, किन्तु वे एक सुअर के शरीर में भी वास करते हैं। नरक में उपदेश करते हुए भी

शुद्ध भक्त शुद्ध बना रहता है, क्योंकि वह निरन्तर भगवान् की संगति में रहता है। इस दशा को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अपनी इन्द्रियाँ वश में रखनी होती हैं। जब उसका मन भगवद्भक्ति में रत होता है, तो इन्द्रियाँ स्वत: वश में हो जाती हैं।

अपहतसकलैषणामलात्म-
न्यविरतमेधितभावनोपहूत: ।
निजजनवशगत्वमात्मनोऽय-
न्न सरति छिद्रवदक्षर: सतां हि ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अपहत—परास्त हुईं; सकल—सभी; एषण—इच्छाएँ; अमल—निष्कलंक; आत्मनि—मन को; अविरतम्—निरन्तर; एधित—बढ़ते हुए; भावना—भव से; उपहूत:—बुलाया जाकर; निज-जन—अपने भक्तों के; वश—नियंत्रण में; गत्वम्—जाते हुए; आत्मन:—अपने; अयन्—जानते हुए; न—कभी नहीं; सरति—दूर चला जाता है; छिद्र-वत्—आकाश की तरह; अक्षर:—भगवान्; सताम्—भक्तों को; हि—निश्चय ही।

समस्त इच्छाओं के दूर हो जाने से भक्तगण समस्त मानसिक विकारों (कल्मष) से मुक्त हो जाते हैं। इस तरह वे भगवान् का निरन्तर चिन्तन कर सकते हैं और उनको भावपूर्वक सम्बोधन कर सकते हैं। भगवान् अपने को अपने भक्तों के वश में जानते हुए उन्हें क्षण भर के लिए भी नहीं छोड़ते, जिस प्रकार सिर के ऊपर का आकाश कभी अदृश्य नहीं होता।

तात्पर्य : पिछले श्लोक से प्रकट है कि भगवान् जनार्दन अपने भक्तों के कार्यों से तुरन्त प्रसन्न हो जाते हैं। शुद्ध भक्त सदैव भगवान् के विचार में मग्न रहता है। जैसा कहा गया—*शृण्वतां स्वकथा: कृष्ण: ।* निरन्तर कृष्ण का चिन्तन करते रहने से शुद्ध भक्त का हृदय समस्त प्रकार की इच्छाओं से मुक्त हो जाता है। इस संसार में जीव का हृदय भौतिक इच्छाओं से पूर्ण रहता है। किन्तु जब जीव शुद्ध हो जाता है, तो वह किसी भौतिक वस्तु के विषय में नहीं सोचता। मन के शुद्ध हो जाने पर उसे योगसिद्धि प्राप्त हो जाती है, क्योंकि योगी को अपने अन्त:करण में सदैव भगवान् के दर्शन होते रहते हैं (*ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिन:*)। ज्योंही भगवान् भक्त के हृदय में वास करने लगते हैं, भक्त प्रकृति के गुणों से दूषित नहीं होता। जब तक वह इन गुणों के वश में रहता है, वह अनेक वस्तुओं की इच्छा करता है और इन्द्रियसुख के लिए अनेक योजनाएँ बनाता है, किन्तु हृदय में भगवान् के दर्शन होते ही सारी भौतिक इच्छाएँ भाग जाती हैं। मन भौतिक इच्छाओं से मुक्त होने पर भगवान् का निरन्तर चिन्तन कर सकता है और वह भगवान् के चरणकमलों पर पूरी तरह से आश्रित हो जाता

है। चैतन्य महाप्रभु प्रार्थना करते हैं—

अयि नन्द तनुजकिङ्करं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।

कृपया तव पादपङ्कजस्थितधूलीसदृशं विचिन्तय॥

"हे भगवान्! मैं आपका शाश्वत दास हूँ, किन्तु न जाने कैसे इस भवसागर में गिर गया हूँ। कृपया मुझे निकालकर अपने चरणकमलों की धूलि में लगा लीजिए।" (*शिक्षाष्टक* ५) इसी प्रकार नरोत्तम दास ठाकुर प्रार्थना करते हैं—

हा हा प्रभु नन्दसुत, वृषभानुसुतायुत,

करुण करह एइ-बार।

नरोत्तमदास कय, न ठेलिह राङ्गा-पाय,

तोमा विने के आछे आमार॥

"हे भगवान्, अब आप राजा वृषभानु की पुत्री श्रीमती राधारानी समेत उपस्थित हैं। अब आप दोनों मेरे ऊपर कृपालु हों। मुझे दूर न भगाएँ क्योंकि आपके अतिरिक्त मेरा अन्य कोई आश्रय नहीं है।"

इस प्रकार भगवान् अपने भक्तों पर आश्रित हो जाते हैं। यद्यपि भगवान् अजेय हैं, किन्तु अपने भक्तों द्वारा जीत लिये जाते हैं। वे अपने भक्त पर आश्रित होकर उसी प्रकार प्रसन्नता का अनुभव करते हैं जिस प्रकार श्रीकृष्ण माता यशोदा की कृपा पर आश्रित रह कर करते थे। वे अपने को भक्तों के वश में सोचकर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। राजा कभी-कभी विदूषक रख लेता है और परिहास में कभी-कभी राजा का अपमान भी हो जाता है, किन्तु तो भी राजा इन कार्यों से आनन्दित होता है। प्रत्येक व्यक्ति अत्यन्त सम्मानपूर्वक भगवान् की पूजा करता है, अतः कभी-कभी भगवान् अपने भक्तों की प्रताड़ना का भी आनन्द लेना चाहते हैं। इस प्रकार भगवान् तथा उनके भक्तों का शाश्वत सम्बन्ध स्थिर हो जाता है, जिस प्रकार सिर के ऊपर का आकाश।

न भजति कुमनीषिणां स इज्यां
हरिरधनात्मधनप्रियो रसज्ञः ।
श्रुतधनकुलकर्मणां मदैर्ये

विदधति पापमकिञ्चनेषु सत्सु ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; भजति—स्वीकार करता है; कु-मनीषिणाम्—मलिन हृदय वाले पुरुषों का; सः—वह; इज्याम्—अर्पित; हरिः—भगवान्; अधन—निर्धन; आत्म-धन—केवल भगवान् पर आश्रित रहने वाले; प्रियः—प्रिय; रस-ज्ञः—जीवन के रस को स्वीकार करने वाला, रसिक; श्रुत—शिक्षा; धन—सम्पत्ति; कुल—वंश; कर्मणाम्—तथा कर्मों का; मदैः—गर्व से; ये—जो; विदधति—सम्पन्न करता है; पापम्—तिरस्कार; अकिञ्चनेषु—निर्धन; सत्सु—भक्तों का।

भगवान् उन भक्तों को अत्यन्य प्रिय होते हैं जिनके पास कोई भौतिक सम्पत्ति नहीं है, किन्तु जो भगवद्भक्ति को ही अपना धन मानकर प्रसन्न रहते हैं। दरअसल, भगवान् ऐसे भक्तों के भक्ति-कार्यों का आनन्द लेते हैं। जो लोग अपनी शिक्षा, सम्पत्ति, कुलीनता और सकाम कर्म इत्यादि भौतिक वस्तुओं के मद से फूले रहते हैं, वे कभी-कभी भक्तों का उपहास करते हैं। ऐसे लोग यदि भगवान् की पूजा करते भी हैं, तो वे उसे कभी स्वीकार नहीं करते।

तात्पर्य : भगवान् अपने शुद्ध भक्तों पर आश्रित हैं। वे अभक्तों की भेंटें तक स्वीकार नहीं करते। शुद्ध भक्त वह है, जो अनुभव करता है कि उसके पास कोई भौतिक वस्तु नहीं है। भक्त सदैव भगवान् के भक्ति रूपी धन से प्रसन्न रहता है। भक्त कभी कभी भौतिक दृष्टि से निर्धन प्रतीत होते हैं, किन्तु आध्यात्मिक रूप से उन्नत तथा सम्पन्न होने के कारण भगवान् को अत्यन्त प्रिय होते हैं। ऐसे भक्त परिवार, समाज, मित्रता, सन्तान इत्यादि के प्रति आसक्ति से मुक्त होते हैं। वे इन समस्त भौतिक वस्तुओं के प्रेम को त्याग कर भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर सदैव प्रसन्न रहते हैं। भगवान् भी अपने भक्त की स्थिति को समझते हैं। यदि कोई शुद्ध भक्त का उपहास करता है, तो वह भगवान् द्वारा कभी अपनाया नहीं जाता। दूसरे शब्दों में, यदि कोई शुद्ध भक्त का अपमान करता है, तो भगवान् उसे क्षमा नहीं करते। इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। महान् योगी दुर्वासा मुनि ने परम भक्त अम्बरीष महाराज का अपमान किया था। भगवान् ने अपने सुदर्शन चक्र से दुर्वासा को दण्ड दिया। यद्यपि वह परम योगी सीधा भगवान् के पास गया, किन्तु उसे क्षमा नहीं मिली। जो लोग मोक्ष के पथ पर हैं उन्हें सावधान रहना चाहिए कि शुद्ध भक्त का कभी अपमान न करें।

श्रियमनुचरतीं तदर्थिनश्च
द्विपदपतीन्विबुधांश्च यत्स्वपूर्णः ।
न भजति निजभृत्यवर्गतन्त्रः
कथममुमुद्विसृजेत्पुमान्कृतज्ञः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

श्रियम्—लक्ष्मी जी को; अनुचरतीम्—अनुसरण करने वाली; तत्—उसका; अर्थिनः—कृपाकांक्षी; च—तथा; द्विपद-पतीन्—मनुष्यों के स्वामी को; विबुधान्—देवताओं को; च—भी; यत्—क्योंकि; स्व-पूर्णः—आत्मनिर्भर; न—कभी नहीं; भजति—परवाह करता है; निज—अपना; भृत्य-वर्ग—भक्तों पर; तन्त्रः—आश्रित; कथम्—कैसे; अमुम्—उसको; उद्विसृजेत्—छोड़ सकता है; पुमान्—व्यक्ति; कृत-ज्ञः—आभारी, कृतज्ञ।.

यद्यपि श्रीभगवान् आत्मनिर्भर हैं, किन्तु वे भक्तों पर आश्रित हो जाते हैं। वे न तो लक्ष्मी जी की परवाह करते हैं और न उन राजाओं तथा देवताओं की जो लक्ष्मी जी के कृपाभाजन बनना चाहते हैं। ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो वास्तव में कृतज्ञ होते हुए भगवान् की पूजा न करे?

तात्पर्य : ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी की पूजा सभी भौतिकतावादी व्यक्ति करते हैं, जिनमें बड़े बड़े राजा-महाराजा तथा स्वर्ग के देवता भी सम्मिलित हैं। किन्तु लक्ष्मी जी सदैव भगवान् के पीछे-पीछे लगी रहती हैं, यद्यपि भगवान् को उनकी सेवा की आवश्यकता नहीं रहती। *ब्रह्म-संहिता* का कथन है कि भगवान् की पूजा हजारों लक्ष्मियाँ करती हैं, किन्तु भगवान् को उनकी सेवा की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि यदि उनकी इच्छा हो तो वे अपनी ह्लादिनी शक्ति से लाखों लक्ष्मियाँ उत्पन्न कर सकते हैं। किन्तु वही भगवान् अहैतुकी कृपावश अपने भक्तों के आश्रित बन जाते हैं। तो वह भक्त कितना भाग्यशाली है, जिस पर भगवान् की ऐसी कृपा हो? ऐसा कौन कृतघ्न भक्त होगा जो भगवान् की पूजा और भक्ति नहीं करने लगेगा? वास्तव में भक्त क्षण भर के लिए भी भगवान् के प्रति अपनी कृतज्ञता को भूल नहीं सकता। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि भगवान् तथा उनका भक्त दोनों ही रसज्ञ होते हैं। भगवान् तथा भक्त के पारस्परिक सम्बन्ध को कभी भी भौतिक नहीं समझना चाहिए। यह दिव्य होता है। दिव्य अनुभूतियाँ (भाव, अनुभाव, स्थायी भाव इत्यादि) आठ प्रकार की हैं जिनकी व्याख्या *भक्तिरसामृतसिंधु* पुस्तक में की गई है। जो लोग कृष्ण भगवान् तथा जीव की स्थिति से अनजान हैं, वे भक्त तथा भगवान् की पारस्परिक आसक्ति को भौतिक शक्ति द्वारा उत्पन्न मानते हैं। वास्तव में यह आसक्ति भगवान् और उनके भक्त दोनों के लिए प्राकृतिक है, इसे भौतिक नहीं माना जा सकता।

मैत्रेय उवाच

इति प्रचेतसो राजन्नन्याश्च भगवत्कथाः ।
श्रावयित्वा ब्रह्मलोकं ययौ स्वायम्भुवो मुनिः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; प्रचेतसः—प्रचेतागण; राजन्—हे राजन्; अन्याः—अन्य लोग; च—भी; भगवत्-कथाः—भगवान् विषयक कथाएँ; श्रावयित्वा—निर्देश देकर; ब्रह्म-लोकम्—ब्रह्मलोक को; ययौ—चला गया; स्वायम्भुवः—ब्रह्मा का पुत्र; मुनिः—परम साधु।

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा : हे विदुर, इस प्रकार ब्रह्मा के पुत्र नारद मुनि ने प्रचेताओं से भगवान् के साथ इन सम्बन्धों का वर्णन किया। तत्पश्चात् वे ब्रह्मलोक को चले गये।

तात्पर्य : मनुष्य को भगवान् के विषय में शुद्ध भक्त से सुनना होता है। प्रचेताओं को यह अवसर महर्षि नारद से प्राप्त हुआ जिन्होंने भगवान् तथा उनके भक्तों के कार्यों का उनसे वर्णन किया।

तेऽपि तन्मुखनिर्यातं यशो लोकमलापहम् ।
हरेर्निशम्य तत्पादं ध्यायन्तस्तद्गतिं ययुः ॥ २४॥

शब्दार्थ

ते—प्रचेतागण; अपि—भी; तत्—नारद के; मुख—मुख से; निर्यातम्—निकला; यशः—महिमागान; लोक—संसार का; मल—पाप; अपहम्—नष्ट करते हुए; हरेः—हरि का; निशम्य—सुनकर; तत्—भगवान् के; पादम्—पाँव; ध्यायन्तः—ध्यान करते हुए; तत्-गतिम्—उनके धाम को; ययुः—चले गये।

नारद के मुख से संसार के समस्त दुर्भाग्य को दूर करने वाली भगवान् की महिमा को सुन कर प्रचेता गण भी भगवान् के प्रति आसक्त हो उठे। वे भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करते हुए चरम गन्तव्य को चले गये।

तात्पर्य : यहाँ यह देखा गया है कि एक स्वरूपसिद्ध भक्त के मुख से भगवान् की महिमा सुनकर प्रचेताओं ने सरलता से भगवान् के प्रति प्रबल आसक्ति प्राप्त कर ली। फिर अपने जीवन के अन्त में भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करते हुए वे परम धाम, विष्णुलोक को चले गये। यह निश्चित है कि जो कोई भगवान् की महिमा का श्रवण करता है और उनके चरणकमलों का चिन्तन करता है, वह उस परम धाम को प्राप्त करेगा। *भगवद्गीता* (१८.६५) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

''सदैव मेरा चिन्तन करो और मेरे भक्त बनो। मेरी पूजा करो और मुझे ही नमस्कार करो। इस प्रकार तुम निश्चित रूप से मेरे पास आओगे। मैं तुम्हें यह वचन देता हूँ क्योंकि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय मित्र हो।''

एतत्तेऽभिहितं क्षत्तर्यन्मां त्वं परिपृष्टवान् ।
प्रचेतसां नारदस्य संवादं हरिकीर्तनम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; ते—तुमसे; अभिहितम्—कहा गया; क्षत्तः—हे विदुर; यत्—जो भी; माम्—मुझसे; त्वम्—तुमने; परिपृष्टवान्—पूछा; प्रचेतसाम्—प्रचेताओं की; नारदस्य—नारद की; संवादम्—वार्ता; हरि-कीर्तनम्—भगवान् की महिमा का वर्णन करते हुए।

हे विदुर, मैंने तुम्हें वह सब कुछ सुना दिया है, जो तुम नारद तथा प्रचेताओं के भगवत्कथा सम्बन्धी वार्तालाप के विषय में जानना चाह रहे थे। जहाँ तक सम्भव था मैंने तुम्हें बता दिया है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में भगवान् तथा भक्तों की महिमा का वर्णन है। चूँकि समग्र विषय ही भगवान् की महिमा है, अत: उसमें उनके भक्तों की महिमा स्वत: आ जाती है।

श्रीशुक उवाच
य एष उत्तानपदो मानवस्यानुवर्णितः ।
वंशः प्रियव्रतस्यापि निबोध नृपसत्तम ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; यः—जो; एषः—इस वंश; उत्तानपदः—राजा उत्तानपाद का; मानवस्य—स्वयंभुव मनु का पुत्र; अनुवर्णितः—पूर्व आचार्यों के पदचिह्नों पर चलते हुए वर्णित; वंशः—वंश, कुल; प्रियव्रतस्य—राजा प्रियव्रत का; अपि—भी; निबोध—समझने का प्रयास करो; नृप-सत्तम—हे राजाओं में श्रेष्ठ।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : हे श्रेष्ठ राजन् (राजा परीक्षित), यहाँ तक मैंने स्वायम्भुव मनु के प्रथम पुत्र उत्तानपाद के वंश का वर्णन किया है। अब मैं स्वायंभुव मनु के द्वितीय पुत्र प्रियव्रत के वंशजों के कार्यकलापों का वर्णन करने का प्रयास करूँगा। कृपया ध्यानपूर्वक सुनें।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज राजा उत्तानपाद के पुत्र थे और जहाँ तक ध्रुव महाराज या राजा उत्तानपाद के वंशजों का सम्बन्ध है उनके कार्यकलापों का वर्णन प्रचेताओं तक किया जा चुका है। अब श्रीशुकदेव गोस्वामी स्वायंभुव मनु के द्वितीय पुत्र महाराज प्रियव्रत के वंशजों का वर्णन करना चाहते हैं।

यो नारदादात्मविद्यामधिगम्य पुनर्महीम् ।
भुक्त्वा विभज्य पुत्रेभ्य ऐश्वरं समगात्पदम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; नारदात्—नारद मुनि से; आत्म-विद्याम्—आध्यात्मिक ज्ञान को; अधिगम्य—सीख कर; पुनः—फिर; महीम्—पृथ्वी को; भुक्त्वा—भोग कर; विभज्य—बाँट कर; पुत्रेभ्यः—पुत्रों को; ऐश्वरम्—दिव्य; समगात्—प्राप्त किया; पदम्—पद को।

यद्यपि महाराज प्रियव्रत ने नारद मुनि से उपदेश प्राप्त किया था, तो भी वे पृथ्वी पर राज्य करने में संलग्न हुए। भौतिक सम्पत्ति का पूर्ण भोग कर चुकने के बाद उन्होंने उसे अपने पुत्रों में बाँट दिया। तब उन्हें वह पद प्राप्त हुआ जिससे वे भगवद्धाम को लौट सके।

इमां तु कौषारविणोपवर्णितां
क्षत्ता निशम्याजितवादसत्कथाम् ।
प्रवृद्धभावोऽश्रुकलाकुलो मुने-
र्दधार मूर्ध्ना चरणं हृदा हरेः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

इमाम्—यह सब; तु—तब; कौषारविणा—मैत्रेय द्वारा; उपवर्णिताम्—वर्णित; क्षत्ता—विदुर; निशम्य—सुनकर; अजित-वाद—भगवान् की महिमा का वर्णन; सत्-कथाम्—दिव्य कथा; प्रवृद्ध—बढ़ी हुई; भावः—हर्षातिरेक; अश्रु—आँसुओं के; कला—बिन्दुओं से; आकुलः—विभोर; मुनेः—मुनि का; दधार—पकड़ लिया; मूर्ध्ना—सिर से; चरणम्—चरणकमल; हृदा—हृदय से; हरेः—भगवान् के।

हे राजन्, इस प्रकार मैत्रेय मुनि से भगवान् तथा उनके भक्तों की दिव्य कथाएँ सुनकर विदुर भावविभोर हो उठे। आँखों में आँसू भर कर वे तुरन्त अपने गुरु के चरणकमलों पर गिर पड़े। तब उन्होंने अपने अन्तःकरण में भगवान् को स्थिर कर लिया।

तात्पर्य : यह महान् भक्तों की संगति का लक्षण है। भक्त किसी मुक्तात्मा से आदेश ग्रहण करता है और दिव्य आनन्द में विभोर हो जाता है। जैसाकि प्रह्लाद महाराज कहते हैं (*भागवत* ७.५.३२)—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं

स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।

महीयसां पादरजोऽभिषेकं

निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥

महान् भक्त के चरणकमलों का स्पर्श किये बिना कोई पूर्ण भक्त नहीं बन सकता। जिसको इस भौतिक जगत से कुछ लेना-देना नहीं रहता, वह निष्किञ्चन कहलाता है। आत्म-साक्षात्कार तथा भगवद्धाम वापस जाने का अर्थ है प्रमाणित गुरु की शरण में जाना और अपने सिर पर उनकी चरणरज को धारण करना। इस प्रकार मनुष्य दिव्य साक्षात्कार के पथ पर आगे बढ़ जाता है। विदुर का मैत्रेय से ऐसा ही सम्बन्ध था, फलतः उसे वांछित फल मिला।

विदुर उवाच
सोऽयमद्य महायोगिन्भवता करुणात्मना ।
दर्शितस्तमसः पारो यत्राकिञ्चनगो हरिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; सः—वह; अयम्—यह; अद्य—आज; महा-योगिन्—हे महान् योगी; भवता—आपके द्वारा; करुण-आत्मना—अत्यन्त करुणामय; दर्शितः—मुझे दिखाया गया है; तमसः—अंधकार का; पारः—दूसरा छोर; यत्र—जहाँ; अकिञ्चन-गः—भौतिक रूप से मुक्त व्यक्ति के द्वारा पहुँचने योग्य; हरिः—भगवान्।

श्रीविदुर ने कहा : हे परम योगी, हे भक्तों में महान्, आपने अहैतुकी कृपा से मुझे इस अंधकार रूपी संसार से मोक्ष का पथ प्रदर्शित किया है। इस भौतिक संसार से मुक्त पुरुष इस पथ पर चल कर इस संसार से भगवान् के धाम को वापस जा सकता है।

तात्पर्य : यह भौतिक संसार *तमः* या अंधकार कहलाता है और आध्यात्मिक जगत प्रकाश कहलाता है। वेदों का आदेश है कि प्रत्येक व्यक्ति को अंधकार से निकल कर प्रकाश के साम्राज्य में जाने का प्रयास करना चाहिए। उस प्रकाश के साम्राज्य की जानकारी स्वरूपसिद्ध व्यक्ति की कृपा से प्राप्त की जा सकती है। मनुष्य को भौतिक इच्छाओं का परित्याग भी करना होता है। इन इच्छाओं से छुटकारा पाते ही तथा मुक्त पुरुष की संगति पाने से भगवद्धाम जाने का मार्ग साफ हो जाता है।

श्रीशुक उवाच
इत्यानम्य तमामन्त्र्य विदुरो गजसाह्वयम् ।
स्वानां दिदृक्षुः प्रययौ ज्ञातीनां निर्वृताशयः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; आनम्य—नमस्कार करके; तम्—मैत्रेय को; आमन्त्र्य—अनुमति लेकर; विदुरः—विदुर; गज-साह्वयम्—हस्तिनापुर नगरी को; स्वानाम्—अपनी; दिदृक्षुः—देखने के लिए इच्छुक; प्रययौ—वहाँ से चला गया; ज्ञातीनाम्—अपने परिजनों का; निर्वृत-आशयः—भौतिक इच्छाओं से मुक्त।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार मैत्रेय मुनि को नमस्कार करके और उनसे अनुमति लेकर भौतिक इच्छाओं से रहित विदुर ने अपने परिजनों से मिलने के लिए हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान किया।

तात्पर्य : जब सन्त पुरुष अपने परिजनों से मिलना चाहते हैं, तो उनके मन में मिलने की भौतिक इच्छा नहीं रहती। वे उन्हें केवल ऐसे उपदेश देना चाहते हैं जिससे वे लोग लाभान्वित हो सकें। विदुर का सम्बन्ध कौरवों के राजघराने से था। यद्यपि वे जानते थे कि परिवार के सारे लोग कुरुक्षेत्र में मारे

जा चुके हैं, तो भी वे अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र से यह देखने के लिए मिलना चाहते रहे थे कि उनका माया के चंगुल से उद्धार हो पाया है अथवा नहीं। जब विदुर जैसा सन्त पुरुष अपने परिजनों से मिलना चाहता है, तो उसकी एकमात्र अभिलाषा उन सबको माया के चंगुल से उद्धार कराना होता है। इस प्रकार विदुर ने अपने गुरु को सादर नमस्कार किया और कौरवों के राज्य में स्थित हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान किया।

एतद्यः शृणुयाद्राजन्राज्ञां हर्यर्पितात्मनाम् ।
आयुर्धनं यशः स्वस्ति गतिमैश्वर्यमाप्नुयात् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; यः—जो; शृणुयात्—सुनता है; राजन्—हे राजा परीक्षित; राज्ञाम्—राजाओं का; हरि—श्रीभगवान् को; अर्पित-आत्मनाम्—जीवन तथा आत्मा को अर्पित करने वाले; आयुः—उम्र; धनम्—धन; यशः—ख्याति; स्वस्ति—क्षेम; गतिम्—जीवन का चरम लक्ष्य, सद्गति; ऐश्वर्यम्—भौतिक ऐश्वर्य; आप्नुयात्—प्राप्त करता है।

हे राजन्, जो लोग श्रीभगवान् के प्रति पूर्णतः समर्पित राजाओं से सम्बन्धित इन कथाओं को सुनते हैं, वे बिना कठिनाई के दीर्घायु, सम्पत्ति, ख्याति, सौभाग्य (क्षेम) तथा अन्त में भगवद्धाम जाने का अवसर प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कंध के अन्तर्गत "प्रचेताओं को नारद का उपदेश" नामक इकतीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

PRELIMINARY PAGES FOR BH 4.1 STARTS FROM HERE

PRELIMINARY PAGE 1

श्री श्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

कृष्णद्वैपायन व्यास

कृत

श्रीमद्भागवतम्

ब्राह्मणा ऊचुः

त्वं क्रतुस्त्वं हविस्त्वं हुताश: स्वयं

त्वं हि मन्त्र: समिद्दर्भपात्राणि च

त्वं सदस्यर्त्विजो दम्पती देवता

अग्निहोत्रं स्वधा सोम आज्यं पशु:

(श्रीमद्भागवत ४.७.४५)

PRELIMINARY PAGE 3

श्रीमद्भागवतम्

(भगवत्-सन्देश)

चतुर्थ स्कन्ध

''चतुर्थ आश्रम की उत्पत्ति''

(भाग एकअध्याय १-१९)

मूल संस्कृत पाठ, शब्दार्थ, अनुवाद

तथा विस्तृत तात्पर्य सहित

द्वारा

कृष्णकृपामूर्ति

श्री श्रीमद् अभयचरणारविन्द भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

संस्थापकाचार्य : अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

PRELIMINARY PAGE 5

विषय-सूची

आमुख

प्रस्तावना

अध्याय एक

मनु की पुत्रियों की वंशावली

स्वायंभुव मनु की तीन पुत्रियाँ

आकूति को यज्ञ की प्राप्ति

यज्ञ तथा दक्षिणा से बारह पुत्रों का जन्म

पूर्णिमा के वंशधरों का वर्णन

अत्रि तथा अनसूया द्वारा कठिन तपस्या

ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव का अत्रि मुनि के पास जाना

तीनों देवों द्वारा अत्रि को वरदान

परम योगी दत्तात्रेय का जन्म

वसिष्ठ को सात विशुद्ध ऋषियों की प्राप्ति

कर्दम के वंशजों द्वारा ब्रह्माण्ड का बसाया जाना

नर–नारायण का सुखद आविर्भाव

उञ्चास अग्नि–देवों की उत्पत्ति

अध्याय दो

दक्ष द्वारा शिवजी को शाप

विश्व के आध्यात्मिक स्वामी श्रीशिव

शिवजी द्वारा दक्ष का अपमान

दक्ष का शिवजी के विपक्ष में बोलना

दक्ष द्वारा शिवजी को शाप

नन्दीश्वर द्वारा दक्ष को शाप

भृगु द्वारा शिवजी के अनुयायियों का शापित होना

शिवजी द्वारा यज्ञ–स्थल का परित्याग

देवताओं का अपने–अपने धामों को प्रस्थान

अध्याय तीन

श्रीशिव तथा सती का संवाद

दक्ष द्वारा यज्ञ का आयोजन

यज्ञ में जाने की सती की इच्छा

भौतिक स्नेह के लिए दीवानी स्त्रियाँ

शिव द्वारा दक्ष के द्वेषपूर्ण वचनों का स्मरण

भौतिक ऐश्वर्य का घमंडी दक्ष

शिवजी का उच्च स्थान दक्ष को असहनीय

शिवजी द्वारा वासुदेव का विशुद्ध चिन्तन

शिवजी का सती को उपदेश

अध्याय चार

सती द्वारा शरीर-त्याग

सती का अस्थिर चित्त

अपने पति के पास से सती का प्रस्थान

दक्ष की चुप्पी से सती असन्तुष्ट

सती द्वारा पिता को धिक्कारा जाना

शिव का निरादर नहीं करना चाहिए

शिव के अशिव गुण

सती द्वारा निज देह का तिरस्कार

सिद्ध आत्माओं का ऐश्वर्य

सती का योग में लीन होना

प्रज्ज्वलित अग्नि में सती द्वारा शरीर का त्याग

दक्ष ब्राह्मण होने के लिए अयोग्य

भृगु मुनि द्वारा ऋभु देवताओं की उत्पत्ति

अध्याय पाँच

दक्ष के यज्ञ का विध्वंस

शिव का क्रुद्ध होना

भयावने श्याम असुर की उत्पत्ति

शिव के सैनिकों द्वारा इस भयानक व्यक्ति का अनुसरण

शिव का ताण्डव नृत्य

यज्ञ-स्थल का विध्वंस

वीरभद्र द्वारा दक्ष का शिरच्छेद

अध्याय छह

ब्रह्मा का शिवजी को मनाना

पुरोहितों तथा देवताओं का ब्रह्माजी के पास जाना

कैलास धाम

सरोवर, जिसमें सती स्नान करती थीं

पवित्र नदियों में अप्सराओं द्वारा आनन्द

स्वर्ग के वासियों के विमान

सन्त पुरुषों से घिरे शिवजी

समस्त चिन्तकों के अगुवा शिवजी

शिव से ब्रह्माजी की वार्ता

उपद्रवियों को घोर नरक

विधाता द्वारा द्वेषी व्यक्तियों का वध

वैष्णव कभी भी माया से मोहित नहीं होते

इस युग के लिए संस्तुत यज्ञ

अध्याय सात

दक्ष द्वारा यज्ञ की समाप्ति

ब्रह्मा के वचनों से शिवजी का शान्त होना

दक्ष को बकरे का सिर प्रदान किया जाना

दक्ष का हृदय निर्मल हुआ

भगवन् शिव से दक्ष की प्रार्थना

ब्राह्मणों द्वारा आहुति की व्यवस्था

भगवान् नारायण का प्राकट्य

भगवान् विष्णु—सबों के आराध्य

दक्ष द्वारा भगवान् की स्तुति

संसार रूपी विचित्र दुर्ग

माया का दुर्लंघ्य जादू

मन तथा नेत्रों को अच्छा लगने वाला विष्णु का स्वरूप

हाथी से मन की तुलना

सत्व गुण के आगार विष्णु

देवताओं का अपनी रक्षा के लिए विष्णु पर निर्भर रहना

मनुष्य जीवन का मूल्य

भगवान् विष्णु ही सर्वस्व

भगवान् के पवित्र नाम का जप

आत्मनिर्भर साक्षी परमात्मा

ब्रह्म को जानने वाला

धर्म पथ पर आसीन दक्ष

अध्याय आठ

ध्रुव महाराज का गृहत्याग और वनगमन

अधर्म भी ब्रह्मा के पुत्र रूप में

स्वायंभुव मनु की सन्तानें

ध्रुव महाराज का अपमान

ध्रुव द्वारा राजमहल का परित्याग

ध्रुव की माता का उपदेश

भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करना

नारद मुनि का आश्चर्यचकित होना

पूर्वकर्मों द्वारा जीवात्माओं को वश में रखना

अज्ञानता के अंधकार को पार करना

ध्रुव में ब्राह्मण विनयशीलता का अभाव

नारद मुनि का उपयुक्त उपदेश

मधुवन

ध्यान का लक्ष्य श्रीभगवान् की प्राप्ति

भगवान् पुरुष हैं

सिद्ध पुरुषों का आकाश-गमन

तुलसीदल श्रीकृष्ण को अत्यन्त प्रिय

भगवान् की पूजा की सामग्री

ध्रुव महाराज का मधुवन प्रवेश

नारद मुनि द्वारा राजा को उपदेश

गुरु के आदेशों का पालन

ध्रुव महाराज का परमेश्वर को वश में करना

भगवान् द्वारा देवताओं को आश्वासन

अध्याय नौ

ध्रुव महाराज का घर लौटना

ध्रुव के समक्ष भगवान् का प्रकट होना

ध्रुव द्वारा भगवान् की स्तुति

कल्पवृक्ष के समान भगवान्

जीवात्माओं की विभिन्न योनियाँ

भगवान् विष्णु द्वारा यज्ञफल का भोग

भगवान् द्वारा ध्रुव को बधाई

ध्रुव को ध्रुव-नक्षत्र प्रदान किया जाना

भगवान् विष्णु का अपने धाम को जाना

भौतिक कामनाओं के लिए ध्रुव का लज्जित होना

भगवान् के चरणकमल की शरण

राजा उत्तानपाद द्वारा अपने को अधम समझा जाना

ध्रुव का अपने पिता से मिलन

सुनीति—परम वीर की माता

राजधानी का वर्णन

ध्रुव का राजगद्दी पर बैठना

अध्याय दस

यक्षों के साथ ध्रुव महाराज का युद्ध

यक्ष के द्वारा ध्रुव महाराज के भाई का वध

यक्षों द्वारा वीरता प्रदर्शन

ध्रुव द्वारा अनवरत बाणवर्षा

असुरों की मायावी चालें

अध्याय ग्यारह

युद्ध बन्द करने के लिए ध्रुव को स्वायंभुव मनु की सलाह

ध्रुव के बाणों से शत्रु सैनिकों में त्राहि-त्राहि

स्वायंभुव मनु द्वारा सदुपदेश

भौतिक जगत की सृष्टि

शाश्वत काल के रूप में भगवान्

परमेश्वर द्वारा जन्म तथा मृत्यु की उत्पत्ति

क्रोध आत्म–साक्षात्कार का शत्रु

अध्याय बारह

ध्रुव महाराज का भगवान् के पास जाना

ध्रुव महाराज से कुबेर की बात

कुबेर द्वारा ध्रुव को वरदान

ध्रुव महाराज ने अनेक यज्ञ सम्पन्न

ध्रुव—नागरिकों के साक्षात् पिता

ध्रुव महाराज द्वारा वन में विश्राम

ध्रुव के समक्ष विष्णु के पार्षदों का आगमन

नन्द तथा सुनन्द द्वारा ध्रुव को सम्बोधन

ध्रुव द्वारा अपनी माता का स्मरण

नारद द्वारा ध्रुव का यश–गान

भक्तों द्वारा ध्रुव के विषय में कथा–श्रवण

ध्रुव महाराज का आख्यान दिव्य ज्ञान है

अध्याय तेरह

ध्रुव महाराज के वंशजों का वर्णन

प्रचेताओं के विषय में विदुर की जिज्ञासा

ध्रुव के पुत्र उत्कल की सिंहासन के प्रति अनिच्छा

वत्सर का राजसिंहासन पर आसीन होना

मुनियों द्वारा राजा वेन को शाप

राजा अंग द्वारा यज्ञ सम्पन्न

राजा अंग द्वारा विष्णु को आहुति देना

साक्षात् मृत्यु के नाती के रूप में वेन

राजा अंग का गृह–परित्याग

अध्याय चौदह

राजा वेन की कथा

वेन का सिंहासनारूढ़ होना

राजा वेन द्वारा धार्मिक अनुष्ठानों पर रोक

ऋषियों की राजा वेन से वार्ता

पवित्र राजा के गुण

राजा वेन का ब्राह्मणों को उत्तर

मुनियों द्वारा राजा वेन की भर्त्सना

सुनीथा द्वारा वेन के शव का संरक्षण

वेन की जाँघ से बाहुक का जन्म

अध्याय पंद्रह

राजा पृथु की उत्पत्ति और अभिषेक

वेन की बाहुओं से नर तथा नारी का जन्म

ऐश्वर्य की देवी का अर्चि रूप में अवतार

राजा पृथु का सिंहासन पर बैठना

राजा पृथु ने कहा

अध्याय सोलह

बन्दीजनों द्वारा राजा पृथु की स्तुति

गायकों द्वारा राजा का यश-गान

अधर्मियों को दण्ड देने वाले राजा पृथु

विश्व-रक्षक के रूप में राजा पृथु

अग्नि के समान राजा पृथु का न्यायी होना

राजा द्वारा समस्त स्त्रियों का सम्मान

राजा द्वारा एक सौ यज्ञ सम्पन्न होंगे

अध्याय सत्रह

महाराज पृथु का पृथ्वी पर कुपित होना

प्रजा का भूखों मरना

पृथ्वी का राजा पृथु से दूर भगना

राजा से गो रूप पृथ्वी की विनती

राजा पृथु द्वारा पृथ्वीलोक को उत्तर

पृथु महाराज का यम जैसा बनना

पृथ्वीलोक द्वारा सम्बोधन

आदि वराह के रूप में भगवान्

अध्याय अठारह

पृथु महाराज द्वारा पृथ्वी का दोहन

पृथ्वी द्वारा राजा को आश्वासन

अभक्तों द्वारा अन्न का उपभोग

पृथ्वी द्वारा राजा की इच्छा-पूर्ति

देवताओं द्वारा पृथ्वी से रक्त-दोहन

असुरों द्वारा पृथ्वी से रक्त-दोहन

पृथ्वी द्वारा सबों को भोजन का दान

अध्याय उन्नीस

राजा पृथु के सौ अश्वमेध यज्ञ

राजा पृथु के यज्ञों में विष्णु की उपस्थिति

राजा पृथु को अनेकों उपहार प्रदान किये गये

इन्द्र द्वारा यज्ञ-अश्व का चुराया जाना

इन्द्र का छल वेश परित्याग

इन्द्र द्वारा संन्यास ग्रहण करना

भगवान् ब्रह्मा द्वारा यज्ञ की समाप्ति

देवताओं में भी अवांछित कामनाएँ

राजा पृथु द्वारा इन्द्र के साथ सन्धि

परिशिष्ट

लेखक परिचय

PRELIMINARY PAGEs

विषय-सूची

आमुख

प्रस्तावना

अध्याय बीस

महाराज पृथु के यज्ञस्थल में भगवान् विष्णु का प्राकट्य

भगवान् विष्णु का प्रकट होना

बुद्धिमान शरीर के प्रति आसक्त नहीं होते

भक्त का मन विशाल तथा पारदर्शी हो जाता है

भगवान् विष्णु का राजा पृथु को उपदेश देना

भगवान् विष्णु का पृथु के चरित्र से प्रसन्न होना

राजा पृथु द्वारा भगवान् के चरणकमलों की पूजा करना

महाराज पृथु द्वारा प्रार्थना

शुद्ध भक्तके मुख से श्रवण

ब्रह्माण्ड की जननी लक्ष्मी जी

वेदों के मधुर स्वरों से बद्ध लोग

भगवान् द्वारा पृथु महाराज को आशीष

भगवान् का अपने धाम जाना

अध्याय इक्कीस

महाराज पृथु द्वारा उपदेश

राजा की नगरी का सुन्दर ढंग से सजाया जाना

सभी नागरिकों द्वारा राजा का स्वागत

देवताओं द्वारा पृथु के चरणचिह्नों का अनुगमन

राजा पृथु द्वारा महान् यज्ञ का शुभारम्भ करना

महाराज पृथु का सुन्दर भाषण

अपवित्र राजा की दशा

परम अधिकारी का अस्तित्व होना

धर्म पथ पर निन्दनीय व्यक्तियों का मोहग्रस्त होना

भक्त द्वारा त्याग दिखलाना

भगवान् द्वारा विविध प्रकार के यज्ञों का स्वीकार किया जाना

राजकुल से अधिक शक्तिशाली वैष्णव

ब्राह्मणों तथा वैष्णवों की नियमित सेवा

भक्तों के मुखों में से भेंटें स्वीकार करना

वैष्णव के चरणकमलों की धूलि

साधु पुरुषों द्वारा राजा पृथु को बधाई

अध्याय बाईस

चारों कुमारों से पृथु महाराज की भेंट

चारों कुमारों का आगमन

राजा द्वारा चारों कुमारों की पूजा

राजा पृथु का अत्यन्त संयम के साथ बोलना

चारों कुमारों का शिशुवत् व्यवहार करना

सनत्कुमार का बोलना

जीवन का परम उद्देश्य

भगवान् की महिमा का अमृतपान

भक्त सादा जीवन बिताएँ

भक्ति-अनुशीलन में वृद्धि करना

आत्मा का उपाधिमय होना

स्वार्थ का प्रबलतम विरोध

मोक्ष पर अत्यन्त गम्भीरता से विचार करना होता है

परमात्मा: शाश्वत एवं दिव्य

अज्ञान-सागर को पार करना कठिन

पृथु महाराज द्वारा कुमारों को सर्वस्व दान की भेटं

कुमारों द्वारा राजा के शील की प्रशंसा करना

पृथु महाराज का एकमात्र उद्देश्य भगवान् को प्रसन्न करना

महाराज पृथु को पाँच पुत्रों का लाभ

महाराज पृथु द्वारा सबों को प्रसन्न किया जाना

पृथु महाराज के यश की सर्वत्र घोषणा

अध्याय तेईस

महाराज पृथु का भगवद्धाम लौटना

महाराज पृथु का वन गमन

पृथु महाराज द्वारा कठिन तपस्या का किया जाना

पृथु महाराज का भक्ति में पूर्णत:लीन रहना

महाराज पृथु द्वारा भौतिक शरीर का त्याग

पृथु महाराज का समस्त उपाधियों से मुक्त होना

महारानी अर्चि द्वारा वन में राजा का अनुगमन

महारानी अर्चि द्वारा चिता तैयार किया जाना

देवताओं की पत्नियों द्वारा महारानी अर्चि का यशोगान

महारानी अर्चि का अपने पतिलोक में पहुँचना

महाराज पृथु का आख्यान सुनने का माहात्म्य

शुद्ध भक्त द्वारा भी पृथु महाराज के विषय में श्रवण किया जाना

अध्याय चौबीस

भगवान् शिव द्वारा की गई स्तुति का गान

विजिताश्व का सम्राट बनना

महाराज अन्तर्धान के तीन पुत्र

महाराज बर्हिषत् का विवाह

प्राचीनबर्हि के पुत्रों की भगवान् शिव से भेंट

अपनी संहारक शक्तियों से युक्त शिवजी

प्रचेताओं द्वारा विशाल जलाशय का दर्शन

प्रचेताओं से शिवजी की वार्ता

भक्तगण शिवजी को परम प्रिय

शिवजी द्वारा स्तुति

शिवजी द्वारा भगवान् अनिरुद्ध की स्तुति किया जाना

भगवान् द्वारा अपनी दिव्य वाणी(शब्द) का विस्तार करना

भगवान् सबसे प्राचीन एवं परम भोक्ता

भगवान् समस्त सौंदर्य के समष्टि (सार सर्वस्व) हैं

भगवान् के कन्धे सिंह के कन्धों के समान हैं

भगवान् के चरणकमलों का सौंदर्य

भक्तों द्वारा सहज प्राप्य भगवान्

भक्तों के पास काल नहीं पहुँचता

भगवान् सर्वत्र व्याप्त हैं

विराट रूप

भौतिक सृष्टि का तथाकथित सुख

काल प्रत्येक वस्तु को छिन्न-भिन्न करता है

ब्रह्माजी भी भगवान् की स्तुति करते हैं

पवित्र नाम जप की योग पद्धति

ज्ञान की प्राप्ति उच्चतम सिद्धि है

शिवजी की स्तुति का महत्त्व

अध्याय पच्चीस

राजा पुरञ्जन के गुणों का वर्णन

राजा प्राचीन बर्हिषत् पर नारद द्वारा दया-प्रदर्शन

तथाकथित सुन्दर जीवन में रुचि रखने वाले

नारद द्वारा राजा पुरञ्जन के इतिहास का वर्णन किया जाना

राजा पुरञ्जन की अनन्त भौतिक लालसाएँ

नौ द्वारों वाली नगरी का वर्णन

राजा पुरञ्जन की एक सुन्दर स्त्री से भेंट

राजा पुरञ्जन का स्त्री को सम्बोधित करना

पुरञ्जन द्वारा महान् वीर के रूप में आत्म-परिचय दिया जाना

स्त्री का राजा से बात करना

गृहस्थ जीवन के सुख

राजा तथा स्त्री का नगरी में प्रवेश करना

नव द्वारों का वर्णन

राजा द्वारा अपनी रानी की समस्त इच्छाओं की पूर्ति

राजा का पूर्णरुपेण ठगा जाना

अध्याय छब्बीस

राजा पुरञ्जन का आखेट के लिए वन को जाना और रानी का क्रुद्ध होना

राजा का जंगल के लिए प्रस्थान

राजा द्वारा अनेक निर्दोष पशुओं का वध

मनमाना कार्य करने वाले व्यक्ति का पतन होना

आखेट के बाद राजा का थक जाना

राजा का कामदेव द्वारा मोहित होना

सद्पत्नी सद्बुद्धि की दात्री है

राजा द्वारा अपनी पत्नी के सौंदर्य की प्रशंसा करना

अध्याय सत्ताईस

राजा पुरञ्जन की नगरी पर चण्डवेग का

धावा और कालकन्या का चरित्र

राजा पुरञ्जन का अपनी पत्नी के साथ सुखभोग

राजा के विवेक का विचलित होना

राजा द्वारा अपनी पत्नी से ६,६००पुत्रों को उत्पन्न किया जाना

राजा द्वारा अपने पुत्रों तथा पुत्रियों का ब्याह सम्पन्न किया जाना

राजा पुरञ्जन द्वारा देवताओं की पूजा

चण्डवेग नामक राजा

राजा तथा उसके मित्रों का चिन्तित होना

कालकन्या द्वारा नारद को शाप

यवनराज द्वारा कालकन्या को सम्बोधित करना

अध्याय अट्ठाईस

अगले जन्म में पुरञ्जन को स्त्रीयोनि की प्राप्ति

घातक सैनिकों द्वारा पुरञ्जन की नगरी पर आक्रमण

राजा के समस्त सौंदर्य तथा ऐश्वर्य की हानि

कालकन्या द्वारा राजा की नगरी का विध्वंस

सर्प द्वारा नगरी त्यागने की इच्छा व्यक्त करना

राजा को अपने परिजनों की चिन्ता

राजा को बन्दी बनाने के लिए यवनराज का आना

राजा परमात्मा को स्मरण करने में असमर्थ

पुरञ्जन का राजकन्या के रूप में जन्म लेना

राजा मलयध्वज की संतानें

मलयध्वज का एकान्तवास

राजा मलयध्वज द्वारा समस्त द्वन्द्वों को जीतना

राजा मलयध्वज को पूर्णज्ञान की प्राप्ति

रानी विदर्भी का अपने पति की सेवा में लगे रहना

रानी द्वारा अपने पति की मृत्यु पर शोक व्यक्त करना

एक ब्राह्मण द्वारा रानी को शान्त किया जाना

परमात्मा: परम अन्तरंग सखा

आत्मा का शरीर रूपी नगरी में छिपे होना

आत्मा तथा परमात्मा की वास्तविक स्थिति

अध्याय उन्तीस

नारद तथा राजा प्राचीनबर्हि के मध्य बातचीत

जीवात्मा का देहान्तर

इन्द्रियों का वर्णन

नेत्रों का स्वरूपों के दर्शन में व्यस्त रहना

प्रकृति के गुणों द्वारा मन का प्रभावित होना

शरीर की आयु का क्रमश: घटना

जीव द्वारा विभिन्न शरीरों की प्राप्ति

जीव कुत्ते के समान है

समस्त समस्याओं का अन्तिम समाधान

कृष्ण-चेतना (भक्ति) का अनुशीलन

देवों की पूजा से भगवान् को नहीं समझा जा सकता

वैदिक अनुष्ठान जीवन के लक्ष्य नहीं

भगवान् को प्रसन्न करने का एकमात्र उपाय: भक्ति

गुरु का कृष्ण से अभिन्न होना

गृहस्थ जीवन की शोचनीय स्थिति

जीवन उद्देश्य के प्रति ऋषियों का भी मोहग्रस्त होना

सूक्ष्म शरीर सदैव रहता है

जीव अपने मनोरथ को पूरा करता है

मन: भूत तथा भावी शरीरों का सूचक

भक्त का भगवान् के ही समान ब्रह्माण्ड को देखना

आत्मा का देहान्तर

बद्धजीव के रूप में प्राणी का बन्दी होना

राजा प्राचीनबर्हि का गृहत्याग

भौतिक जगत को पवित्र करने वाला यह आख्यान

अध्याय तीस

प्रचेताओं के कार्यकलाप

प्रचेताओं द्वारा भगवान् विष्णु को प्रसन्न किया जाना

भगवान् के शरीर का वर्णन

भगवान् द्वारा प्रचेताओं को सम्बोधन किया जाना

प्रम्लोचा तथा कण्डु से उत्पन्न हुई कन्या

प्रचेताओं को प्रदत्त विशेष सुविधाएँ

भगवान् का अस्तित्व पूर्णतया स्वतंत्र

भक्तों द्वारा अपने कार्यों में ताजा और नवीन अनुभव किया जाना

प्रचेताओं द्वारा की गई स्तुति

भगवान् का अस्तित्व पूर्णतया स्वतंत्र

भगवान् समस्त कार्यों के साक्षी

भगवान् का अर्चाविग्रह विस्तार

भगवान् की अनन्त नाम से ख्याति

शुद्ध भक्तों की संगति

भक्त तीर्थस्थानों को पवित्र करते हैं

भगवान् की वासुदेव रूप में ख्याति

प्रचेताओं द्वारा पृथ्वी को वृक्षरहित बनाए जाने की इच्छा

दक्ष का जन्म

अध्याय इकतीस

प्रचेताओं को नारद का उपदेश

प्रचेताओं द्वारा गृहत्याग

नारद का प्रचेताओं को देखने आना

प्रचेताओं को नारद का उपदेश

तीन प्रकार के मनुष्य जन्म

समस्त शुभ कर्मों का उद्देश्य

परमेश्वर से सारी वस्तुएँ उद्भूत हैं

परमेश्वर समस्त प्राणियों के परमात्मा हैं

भगवान् द्वारा भक्तों के कार्यों का रसास्वाद

प्रचेताओं का भगवद्धाम को वापस जाना

परिशिष्ट

लेखक परिचय

Chapter एक

महाराज प्रियव्रत का चरित्र

इस अध्याय में बताया गया है कि राजा प्रियव्रत किस प्रकार से राजसी ऐश्वर्य तथा वैभव भोग कर पुन: पूर्ण ज्ञान को परावृत हुए। राजा प्रियव्रत पहले सांसारिक ऐश्वर्य से विरक्त थे और बाद में अपने राज्य के प्रति आसक्त हो गए, किन्तु अन्त में वे पुन: भौतिक सुख से विरक्त हो गये और इस प्रकार से उन्होंने मुक्ति प्राप्त की। जब राजा परीक्षित ने यह सुना, तो वे आश्चर्य से स्तब्ध रह गये, किन्तु साथ ही वे कुछ मोहग्रस्त भी हुए कि भौतिक सुख (भुक्ति) से विरक्त रहने वाला एक भक्त किस प्रकार बाद में इसमें आसक्त हो गया। इस प्रकार विस्मित होकर उन्होंने शुकदेव गोस्वामी से इसके विषय में प्रश्न किया।

राजा के पूछने पर शुकदेव गोस्वामी ने कहा कि भक्तियोग दिव्य होने के कारण किसी भौतिक प्रभाव से विचलित नहीं हो सकता। प्रियव्रत को यह दिव्य ज्ञान नारद के उपदेशों से प्राप्त हुआ था, अत: वे राज्य का सुखोपभोग करने के लिए, भौतिक जीवन में प्रवेश करने के इच्छुक नहीं थे। किन्तु ब्रह्माजी तथा स्वर्ग के राजा इन्द्र जैसे उच्च देवताओं की प्रार्थना पर उन्होंने राज-पाट स्वीकार कर लिया।

प्रत्येक वस्तु परम नियन्ता भगवान् के वश में है, अत: प्रत्येक प्राणी को उनके अनुसार कार्य करना चाहिए। जिस प्रकार से बैल को नथ से बंधी रस्सी द्वारा वश में रखा जाता है वैसे ही समस्त बद्ध जीवात्माएँ प्रकृति-गुणों के अधीन कार्य करने के लिए वशीभूत हैं। अत: सभ्य मनुष्य वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कार्य करता है। यहाँ तक कि किसी को भौतिक जीवन में भी कर्म करने की स्वतंत्रता नहीं है। प्रत्येक प्राणी को परमेश्वर द्वारा प्रदत्त एक विशिष्ट प्रकार की देह ग्रहण करनी पड़ती है और उसी के अनुसार उसे नाना प्रकार के सुख-दुख उठाने पड़ते हैं। अत: यदि कोई बनावटी ढंग से भी गृह-त्याग करके वन चला जाता है, तो वह पुन: भौतिक जीवन में लिप्त हो जाता है। इन्द्रियों को वश करने के लिए गृहस्थजीवन एक दुर्ग के समान है। इन्द्रियों को वश में कर लेने के बाद चाहे कोई घर में रहे या वन में, कोई अन्तर नहीं पड़ता।

जब महाराज प्रियव्रत ने ब्रह्माजी के उपदेश का पालन करते हुए राज-सिंहासन स्वीकार कर लिया, तो उनके पिता मनु गृह-त्याग कर वन चले गये। उसके पश्चात् प्रियव्रत ने विश्वकर्मा की पुत्री बर्हिष्मती से विवाह किया। बर्हिष्मती के गर्भ से उनके दस पुत्र हुए जिनके नाम थे—आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, महावीर, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, सवन, मेधातिथि, वीतिहोत्र तथा कवि। उनसे एक कन्या भी जन्मी जिसका नाम ऊर्जस्वती था। महाराज प्रियव्रत अपनी पत्नी तथा परिवार के साथ कई हजार वर्षों तक जीवित रहे। महाराज प्रियव्रत के रथ के पहियों की खाँच से सात समुद्र तथा सात द्वीप उत्पन्न हुए। प्रियव्रत के दस पुत्रों में से तीन ने संन्यास ग्रहण कर लिया। इनके नाम थे—कवि, महावीर तथा सवन। शेष सात पुत्र सात द्वीपों के राजा हुए। महाराज प्रियव्रत के दूसरी पत्नी भी थी जिससे उत्तम, रैवत तथा तामस नामक तीन पुत्र उत्पन्न हुए। इन सबों ने मनु की पदवी प्राप्त की। इस प्रकार शुकदेव गोस्वामी ने बताया कि महाराज प्रियव्रत ने किस प्रकार मुक्ति प्राप्त की।

राजोवाच
प्रियव्रतो भागवत आत्मारामः कथं मुने ।
गृहेऽरमत यन्मूलः कर्मबन्धः पराभवः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा परीक्षित ने कहा; प्रिय-व्रतः—राजा प्रियव्रत; भागवतः—परमभक्त; आत्म-आरामः—आत्म-साक्षात्कार में रुचि रखनेवाला; कथम्—क्यों; मुने—हे मुनि; गृहे—घर पर; अरमत—भोग किया; यत्-मूलः—जिसे मूल कारण मानते हुए; कर्म-बन्धः—सकाम कर्मों का बन्धन; पराभवः—उद्देश्य की पराजय।

राजा परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा—हे मुनिवर, परम आत्मदर्शी भगवद्भक्त राजा प्रियव्रत ने ऐसे गृहस्थ जीवन में रहना क्यों पसन्द किया, जो कर्म-बन्धन (सकाम कर्म) का मूल कारण तथा मानव जीवन के उद्देश्य को पराजित करने वाला है?

तात्पर्य : *भागवत* के चतुर्थ स्कंध में श्रील शुकदेव गोस्वामी ने बताया है कि नारद मुनि ने प्रियव्रत को मानव जीवन के उद्देश्य के विषय में पूर्णतया उपदिष्ट किया था। मानव जीवन का उद्देश्य आत्म-साक्षात्कार करने के पश्चात् क्रमशः भगवान् के धाम को वापस जाना है। जब नारद मुनि राजा को इस सम्बन्ध में पूर्णतया उपदेश दे चुके थे, तो फिर उन्होंने भवबन्धन के मूल कारण गृहस्थजीवन में पुनः प्रवेश क्यों किया? महाराज परीक्षित अत्यन्त विस्मित थे कि आत्म-साक्षात्कार करने वाले तथा भगवान् के प्रथम कोटि के भक्त राजा प्रियव्रत गृहस्थजीवन में कैसे रहे। भक्त को गृहस्थजीवन के लिए वस्तुतः

कोई आकर्षण नहीं होता, किन्तु आश्चर्य है कि राजा प्रियव्रत ने गृहस्थजीवन का बहुत अधिक भोग किया। कोई यह तर्क कर सकता है कि गृहस्थजीवन का भोग क्यों अनुचित है? इसका उत्तर यह है कि गृहस्थजीवन में प्राणी सकाम कर्म के फल से बँध जाता है। गृहस्थजीवन का सार इन्द्रिय-सुख है और जब तक मनुष्य इन्द्रिय-सुख प्राप्त करने की दिशा में मन को लगाता रहता है, तब तक वह कर्म-फल से बँधा रहता है। आत्म-साक्षात्कार के प्रति ऐसी अनभिज्ञता ही मानव जीवन की सबसे बड़ी पराजय है। यह मनुष्य जीवन विशेषरूप से कर्मबन्धन से बाहर निकलने के लिए प्राप्त होता है, किन्तु जब तक मनुष्य जीवन के उद्देश्य को विस्मृत करता हुआ सामान्य पशु की तरह आचरण अर्थात् आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन—करता है तब तक वह बद्ध जीवन में फंसा रहता है। ऐसा जीवन *स्वरूप-विस्मृति* अर्थात् अपनी वास्तविक वैधानिक स्थिति को भूलना कहलाता है। इसीलिए वैदिक सभ्यता में जीवन का शुभारम्भ ब्रह्मचारी के रूप में होता था। ब्रह्मचारी का परम कर्तव्य होता था कि वह संयम का पालन करे और संभोग से विरत रहे। अत: यदि कोई ब्रह्मचर्य के नियमों में पूर्णत: प्रशिक्षित होता है, तो फिर वह गृहस्थजीवन में प्रवेश नहीं करता। तब वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाता है, जिसका अर्थ है पूर्ण ब्रह्मचर्य। इस प्रकार राजा परीक्षित आश्चर्यचकित थे कि नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के नियमों में प्रशिक्षित होकर भी महाराज प्रियव्रत ने गृहस्थ आश्रम में क्यों प्रवेश किया?

इस श्लोक में *भागवत आत्माराम:* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। यदि कोई भगवान् के ही समान आत्मतुष्ट होता है, तो उसे *भागवत आत्माराम:* कहा जाता है। तुष्टि कई प्रकार की होती है। कर्मीजन अपने सकाम कर्मों से, ज्ञानीजन ब्रह्मज्योति में मिल जाने तथा भक्तजन भगवान् की सेवा में तत्पर रहने से तुष्ट रहते हैं। भगवान् आत्मतुष्ट रहते हैं, क्योंकि वे परम ऐश्वर्यवान् हैं और जो उनकी सेवा करने से संतुष्ट होता है, वह *भागवत आत्माराम:* कहलाता है। *मनुष्याणां सहस्रेषु*—हजारों पुरुषों में से कोई एक पुरुष मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है और हजारों ऐसे प्रयत्न करने वाले पुरुषों में किसी एक को इस संसार की चिन्ताओं से मुक्ति मिल पाती है तथा वह आत्मतुष्ट हो पाता है। किन्तु यह तुष्टि भी अनन्तिम तुष्टि नहीं होती। ज्ञानी तथा कर्मी सकाम होते हैं और योगी भी, किन्तु भक्त निष्काम होते हैं। भगवान् की सेवा में जो तुष्टि होती है उसे *अकाम* कहते हैं और यही परम तुष्टि है। इसीलिए महाराज परीक्षित ने जिज्ञासा की कि जो परम पद पर रह कर पूर्ण तुष्ट रहा हो वह गृहस्थजीवन से कैसे तुष्ट हो सकता

था ?

इस श्लोक में आगत *पराभव* शब्द भी उल्लेखनीय है। जब कोई पुरुष गृहस्थजीवन में तुष्ट रहता है, तो वह अभागा होता है। क्योंकि ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को भूल चुका होता है। प्रह्लाद महाराज ने बताया है कि गृहस्थजीवन के कार्य-कलापों में मनुष्य किस प्रकार उलझता जाता है। *आत्मपातं गृहं अन्धकूपम्*—गृहस्थ जीवन अंधकूप के समान है। यदि कोई इस कूप में गिर जाता है, तो उसकी आत्मिक मृत्यु अवश्यम्भावी है। अगले श्लोक में यह बताया गया है कि गृहस्थजीवन बिताते हुए भी महाराज प्रियव्रत किस प्रकार मुक्त परमहंस बने रहे।

न नूनं मुक्तसङ्गानां तादृशानां द्विजर्षभ ।
गृहेष्वभिनिवेशोऽयं पुंसां भवितुमर्हति ॥ २ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; नूनम्—निश्चय ही; मुक्त-सङ्गानाम्—विरक्त; तादृशानाम्—ऐसे; द्विज-ऋषभ—हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ, विप्रवर; गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; अभिनिवेशः—अत्यधिक अनुरक्ति; अयम्—यह; पुंसाम्—मनुष्यों का; भवितुम्—होना; अर्हति—सम्भव है।

भक्त-जन निश्चय ही मुक्त पुरुष होते हैं। अतः हे विप्रवर, वे सम्भवतः गृहकार्यों में दत्तचित्त नहीं रह सकते।

तात्पर्य : *भक्तिरसामृतसिंधु* ग्रन्थ में कहा गया है कि मनुष्य ईश्वर की भक्ति करने से जीवात्मा की दिव्य स्थिति को तथा भगवान् को जान सकता है। भगवान् को जानने का एकमात्र उपाय भक्ति है। *श्रीमद्भागवत* (११.१४.२१) में इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् करते हैं। *भक्त्याहम् एकया ग्राह्यः*—भक्ति के द्वारा ही मुझे जाना जा सकता है। इसी प्रकार *भगवद्गीता* (१८.) में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—*भक्त्या मामभिजानाति*—केवल भक्ति द्वारा मुझे समझा जा सकता है। अतः गृहस्थजीवन में लिप्त होना भक्त के लिए असम्भव है क्योंकि भक्त तथा उसके साथी मुक्त होते हैं। प्रत्येक प्राणी आनन्द की खोज में रहता है, किन्तु इस भौतिक जगत में कभी भी आनन्द नहीं मिल सकता। इसकी प्राप्ति केवल भक्ति में सम्भव है। पारिवारिक कार्यों में अनुरक्ति तथा भक्ति में कोई मेल नहीं है। अतः महाराज परीक्षित को यह सुनकर कुछ आश्चर्य हुआ कि महाराज प्रियव्रत भक्ति के साथ-साथ गृहस्थजीवन में भी अनुरक्त थे।

महतां खलु विप्रर्षे उत्तमश्लोकपादयोः ।
छायानिर्वृतचित्तानां न कुटुम्बे स्पृहामतिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

महताम्—परम भक्तों की; खलु—निश्चय ही; विप्र-ऋषे—हे विप्रों में ऋषि; उत्तम-श्लोक-पादयोः—भगवान् के चरणकमलों की; छाया—छाया से; निर्वृत—तृप्त; चित्तानाम्—जिनकी चेतना; न—नहीं; कुटुम्बे—पारिवारिक सदस्यों पर; स्पृहा-मतिः—आसक्ति सहित चेतना।

जिन सिद्ध महात्माओं ने भगवान् के चरणकमलों की शरण ली है वे उन चरणकमलों की छाया से पूर्णतया तृप्त हैं। उनकी चेतना कभी भी कुटुम्बीजनों में आसक्त नहीं हो सकती।

तात्पर्य : श्रील नरोत्तमदास ठाकुर ने गाया है—*निताइ पद-कमल, कोटिचन्द्र सुशीतल, ये छायाय जगत जुड़ाय।* उन्होंने भगवान् नित्यानन्द के चरणकमलों की छाया को इतना शीतल तथा सुन्दर बताया है कि भौतिक कार्यों की अग्नि से सदैव संतप्त रहने वाले समस्त भौतिक वादी उन चरणकमलों की छाया में आकर पूरी-पूरी राहत पाते हैं और तृप्त हो जाते हैं। गृहस्थजीवन तथा आध्यात्मिक जीवन का अन्तर वही समझ सकता है, जिसने परिवार में रहकर कष्ट भोगे हैं। अतः जो एक बार भगवान् के चरणकमलों की शरण में पहुँच जाता है, वह फिर गृहस्थ जीवन के कार्यकलापों के प्रति आकृष्ट नहीं होता। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.९) में कहा गया है— *परं दृष्ट्वा निवर्तते*—अच्छा स्वाद चखने के पश्चात् मनुष्य निम्न कार्यों का त्याग कर देता है। इस प्रकार भगवान् के चरणकमलों की शरण में आते ही मनुष्य गृहस्थ जीवन से विरक्त हो जाता है।

संशयोऽयं महान्ब्रह्मन्दारागारसुतादिषु ।
सक्तस्य यत्सिद्धिरभूत्कृष्णे च मतिरच्युता ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

संशयः—सन्देह; अयम्—यह; महान्—महान्; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; दार—स्त्री; आगार—घर; सुत—बच्चे; आदिषु—इत्यादि के प्रति; सक्तस्य—अनुरक्त पुरुष का; यत्—क्योंकि; सिद्धिः—सिद्धि; अभूत्—हो गया; कृष्णे—श्रीकृष्ण में; च—भी; मतिः—आसक्ति; अच्युता—अविचल।

राजा ने आगे पूछा, हे विप्रवर, मेरा सबसे बड़ा सन्देह यही है कि राजा प्रियव्रत जैसे व्यक्ति के लिए, जो अपनी पत्नी, सन्तान तथा घर के प्रति इतने आसक्त थे, कृष्ण-भक्ति में सर्वोच्च अविचल सिद्धि प्राप्त कर पाना कैसे सम्भव हो सका?

तात्पर्य : राजा परीक्षित को आश्चर्य हुआ कि जो व्यक्ति पत्नी, बच्चों तथा घर के प्रति इतना अनुरक्त हो वह किस प्रकार परम कृष्णभक्त हो सकता है। प्रह्लाद महाराज ने कहा है—*मतिर्न कृष्णे*

परत: स्वतो वा मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्। एक *गृहव्रत* अर्थात् जिसने गृहकार्यों के पालन का व्रत ले रखा हो कभी कृष्णभक्त नहीं हो सकता, क्योंकि अधिकांश गृहव्रत इन्द्रियतुष्टि में लगे रहते हैं, अत: वे भौतिक जगत के अन्धतम स्थानों में गिर जाते हैं (*अदान्त-गोभिर्विशतां तमिस्रम्*)। भला ऐसे व्यक्ति कृष्णभक्ति में किस प्रकार पूर्णता प्राप्त कर सकते हैं? महाराज परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से इस सन्देह को दूर करने की प्रार्थना की।

श्रीशुक उवाच
बाढमुक्तं भगवत उत्तमश्लोकस्य श्रीमच्चरणारविन्दमकरन्दरस आवेशितचेतसो भागवत
रमहंसदयितकथां किञ्चिदन्तरायविहतां स्वां शिवतमां पदवीं न प्रायेण हिन्वन्ति. ॥ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी बोले; बाढम्—ठीक; उक्तम्—आपने जो कहा; भगवत:—भगवान् का; उत्तम-श्लोकस्य—जिनकी प्रशंसा उत्तम श्लोकों से की जाती है; श्रीमत्-चरण-अरविन्द—अत्यन्त सुन्दर सुरभित कमल पुष्पों के समान चरणों का; मकरन्द—मधु; रसे—अमृत में; आवेशित—डुबोया हुआ, सराबोर; चेतस:—जिनके हृदय; भागवत—भक्तों की; परमहंस—मुक्त पुरुष; दयित—रुचिकर, मनोहारी; कथाम्—यशोगान; किञ्चित्—कभी-कभी; अन्तराय—अवरोधों से; विहताम्—अवरुद्ध; स्वाम्—अपने; शिव-तमाम्—अत्यन्त शुभ; पदवीम्—पद को; न—नहीं; प्रायेण—प्राय:; हिन्वन्ति—त्यागते हैं।.

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—तुम्हारा कथन सही है। ब्रह्मा के समान सिद्ध पुरुषों के द्वारा दिव्य श्लोकों से प्रशंसित भगवान् की कीर्ति परम भक्तों तथा मुक्त पुरुषों के लिए अत्यन्त मनोहारी है। जो भगवान् के चरणकमलों के अमृततुल्य मधु में अनुरक्त है तथा जिसका मन सदैव उनकी कीर्ति में लीन रहता है, वह भले ही कभी कभी किसी बाधा से रुक जाये, किन्तु जिस परम पद को उसने प्राप्त किया है उसे वह कभी नहीं छोड़ता।

तात्पर्य : श्रील शुकदेव गोस्वामी ने राजा के दोनों कथनों को स्वीकार किया—पहला तो यह कि जो व्यक्ति कृष्णभक्ति को प्राप्त है, वह पुन: भौतिक जीवन स्वीकार नहीं कर सकता और दूसरा यह कि जिसने एक बार भौतिक जीवन स्वीकार कर लिया है, वह कभी भी अपने जीवन में कृष्णभक्ति ग्रहण नहीं कर सकता—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने इस दोनों कथनों को स्वीकार तो कर लिया, किन्तु साथ ही यह स्पष्टीकरण दिया कि जिस व्यक्ति ने पहले भगवान् की कीर्ति मन से स्वीकार की है, वह कभी-कभी बाधाओं से प्रभावित हो सकता है, किन्तु तो भी वह अपनी उच्च भक्ति के पद को नहीं छोड़ पाता।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भक्ति के मार्ग में दो प्रकार की बाधाएँ आती हैं। प्रथम, वैष्णव के चरणकमलों पर अपराध करना जिसे *वैष्णव अपराध* कहते हैं श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने भक्तों को वैष्णव अपराध से बचने के लिए सतर्क किया है और इसकी तुलना प्रमत्त हाथी द्वारा किये गये अपराध से की है। जब कोई प्रमत्त हाथी किसी सुन्दर उद्यान में घुस जाता है, तो वह प्रत्येक वस्तु को विनष्ट करके खेत को उजाड़ देता है। इसी प्रकार वैष्णव-अपराध की शक्ति इतनी प्रबल है कि बड़ा से बड़ा भक्त भी अपराध करने पर अपनी आध्यात्मिक सम्पत्ति को खो देता हैं। चूँकि कृष्णभक्ति शाश्वत है, अत: इसे पूर्णतया विनष्ट नहीं किया जा सकता, किन्तु इसकी प्रगति को कुछ काल के लिए रोका तो जा ही सकता है। इस प्रकार वैष्णव-अपराध भक्ति के मार्ग में पहली बाधा है। किन्तु कभी-कभी भगवान् या उनके भक्त अपनी किसी की भक्ति को जानबूझ कर अवरुद्ध करना चाहते हैं। उदाहरणार्थ, हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष पूर्वजन्म में जय-विजय नामक वैकुण्ठ के द्वारपाल थे, किन्तु भगवदिच्छा से वे तीन जन्मों तक उनके शत्रु बने रहे। इस प्रकार भगवदिच्छा दूसरे प्रकार की बाधा है। किन्तु दोनों ही दशाओं में एक बार कृष्णभक्ति प्राप्त कर लेने के बाद विशुद्ध भक्त विनष्ट नहीं होता। अपने गुरुजनों (स्वायंभुव तथा ब्रह्मा) के आदेश से प्रियव्रत ने गृहस्थजीवन स्वीकार किया था, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भक्तियोग के पद से उसको हाथ धोना पड़ा। कृष्णभक्ति तो पूर्ण एवं शाश्वत है, अत: किसी भी दशा में वह नष्ट नहीं हो सकती। चूँकि इस जगत में कृष्णभक्ति के पथ पर अनेक भौतिक बाधाएँ आती हैं, अत: कभी-कभी अनेक अवरोध प्रकट होते दिख सकते हैं। तो भी *भगवद्गीता* (९.३१) में भगवान् श्रीकृष्ण घोषित करते हैं—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति*—''एक बार मेरे चरणकमलों में शरण लेने पर उसका विनाश नहीं होता।''

इस श्लोक में *शिवतमाम्* शब्द अत्यन्त सार्थक है। इसका अर्थ है ''अत्यन्त शुभ।'' भक्ति का मार्ग इतना शुभ होता है कि भक्त का कभी नाश नहीं हो सकता। *श्रीमद्भगवद्गीता* (६.४०) में श्रीकृष्ण ने स्वयं इसका वर्णन किया है—*पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते*—''हे अर्जुन! भक्त का न तो इस जन्म में, न ही अगले जन्म में विनाश होता है।'' अन्यत्र (६.४३) भगवान् श्रीकृष्ण ने स्पष्ट बताया है कि यह कैसे होता है—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।

यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥

कभी-कभी भगवान् के आदेश से कोई परम भक्त इस भौतिक जगत में सामान्य मनुष्य की भाँति जन्म लेता है। ऐसा भक्त पूर्वाभ्यास के कारण अकारण ही भक्ति में संलग्न हो जाता है। अपने चारों ओर की परिस्थितियों के कारण सभी प्रकार की बाधाओं के आने पर भी वह स्वतः अपनी भक्ति में तब तक तत्पर रहता है, जब तक कि वह फिर से सिद्ध नहीं हो जाता। बिल्वमंगल ठाकुर पूर्वजन्म में महान् भक्त थे, किन्तु अगले जन्म में उनका पतन हुआ और वे एक वेश्या से अनुरक्त हो गये। किन्तु जिस वेश्या के प्रति वे इतने आकृष्ट हुए थे उसी के वचनों से अचानक उनकी जीवन-धारा बदल गई और वे एक महान् भक्त बन गये। सिद्ध भक्तों के जीवन में ऐसे अनेक उदाहरण आते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि एक बार भगवान् के चरणकमलों की शरण ले लेने पर मनुष्य का विनाश नहीं हो सकता (*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*)।

तो भी वास्तविकता यही है कि पापमय जीवन के फलों से पूर्णतया मुक्त होने पर ही कोई भक्त बनता है। *भगवद्गीता* (७.२८) में श्रीकृष्ण कहते हैं—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

''जिन पुरुषों ने पिछले जन्मों में तथा इस जीवन में पुण्य कर्मों का आचरण किया है और जिनके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये हैं, वे द्वन्द्व रूप मोह से मुक्त हुए पुरुष निष्ठापूर्वक मेरी सेवा करते हैं।'' दूसरी ओर जैसाकि महाराज प्रह्लाद ने कहा है—

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा

मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।

जो व्यक्ति सांसारिक गृहस्थ जीवन—घर, कुटुम्ब, स्त्री, संतान इत्यादि—में अत्यधिक आसक्त है, वह कृष्णभक्ति विकसित नहीं कर सकता।

इन बाह्यरूपी विरोधाभासों का समाधान एक भक्त के जीवन में भगवान् के अनुग्रह से मिलता है, अतः भक्त को कभी मुक्ति के पथ से भ्रष्ट नहीं होना पड़ता, जिसका वर्णन इस श्लोक में *शिवतमां पदवीम्* के रूप में किया गया है।

यर्हि वाव ह राजन्स राजपुत्रः प्रियव्रतः परमभागवतो नारदस्य चरणोपसेवयाञ्जसावगतपरमार्थसतत्त्वो ब्रह्मसत्रेण दीक्षिष्यमाणोऽवनितलपरिपालनायाम्नातप्रवरगुणगणैकान्तभाजनतया स्वपित्रोपामन्त्रितो भगवति वासुदेव एवाव्यवधानसमाधियोगेन समावेशितसकलकारकक्रियाकलापो नैवाभ्यनन्दद्यद्यपि तदप्रत्याम्नातव्यं तदधिकरण आत्मनोऽन्यस्मादसतोऽपि पराभवमन्वीक्षमाणः. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यर्हि—चूँकि, क्योंकि; वाव ह—निस्संदेह; राजन्—हे राजन्; सः—वह; राज-पुत्रः—राजकुमार; प्रियव्रतः—प्रियव्रत; परम—महान; भागवतः—भक्त; नारदस्य—नारद के; चरण—चरणकमल की; उपसेवया—सेवा से; अञ्जसा—शीघ्र; अवगत—परिचित हो गया; परम-अर्थ—दिव्य विषय; स-तत्त्वः—समस्त ज्ञेय तथ्यों सहित; ब्रह्म-सत्रेण—ब्रह्म की निरन्तर चर्चा से; दीक्षिष्यमाणः—पूर्ण समर्पण की कामना से; अवनि-तल—भूतल पर; परिपालनाय—राज्य करने के लिए; आम्नात—शास्त्रों में निर्दिष्ट; प्रवर—सर्वोच्च; गुण—गुणों के; गण—समूह से; एकान्त—विचलित हुए बिना, अविचल; भाजनतया—पात्रता के कारण; स्व-पित्रा—अपने पिता के द्वारा; उपामन्त्रितः—आज्ञा दिये जाने पर; भगवति—भगवान् में; वासुदेवे—सर्वव्यापी ईश्वर में; एव—निश्चय ही; अव्यवधान—बिना विराम के; समाधि-योगेन—मग्न होकर योग साधने से; समावेशित—अत्यन्त समर्पित; सकल—समस्त; कारक—इन्द्रियाँ; क्रिया-कलापः—जिनके समस्त कार्य; न—नहीं; एव—इस प्रकार; अभ्यनन्दत्—अभिनन्दित; यद्यपि—यद्यपि; तत्—वह; अप्रत्याम्नातव्यम्—किसी प्रकार उल्लंघन न करने योग्य; तत्-अधिकरणे—उस पद को ग्रहण करने में; आत्मनः—अपने आपको; अन्यस्मात्—अन्य कार्यों से; असतः—भौतिक; अपि—निश्चय ही; पराभवम्—ह्रास; अन्वीक्षमाणः—दूरदर्शिता से।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे राजन्, राजकुमार प्रियव्रत महान् भक्त थे क्योंकि उन्होंने अपने गुरु नारद के चरणकमलों को प्राप्त कर दिव्य ज्ञान में उच्चतम सिद्धि प्राप्त की। परम ज्ञान के कारण वे आत्म-विषयों की चर्चा में सदैव संलग्न रहे और उन्होंने अपना ध्यान किसी ओर नहीं मोड़ा। इसके बाद राजकुमार के पिता ने आदेश दिया कि वह संसार पर राज्य करने का भार ग्रहण करे। उन्होंने प्रियव्रत को आश्वस्त करना चाहा कि शास्त्रों के अनुसार यह उसका कर्तव्य है, किन्तु प्रियव्रत ने तो निरन्तर भक्तियोग की साधना में रत रह कर भगवान् का स्मरण करते हुए समस्त इन्द्रियों को ईश्वर की सेवा में अर्पित कर रखा था। अतः पिता की आज्ञा अनुलंघ्य होने पर भी राजकुमार ने उसका स्वागत नहीं किया। इस प्रकार उन्होंने अपने अन्तःकरण में यह प्रश्न किया कि संसार पर राज्य करने के उत्तरदायित्व को स्वीकार करके कहीं वे अपनी भक्ति से पराङ्मुख तो नहीं हो जायेंगे?

तात्पर्य : श्रील नरोत्तमदास ठाकुर ने गाया है—*छाडिया वैष्णव-सेवा निस्तार पायेछे केबा*—"विशुद्ध वैष्णव या गुरु के चरणकमलों की सेवा किये बिना भवसागर से निस्तार नहीं है।" राजकुमार प्रियव्रत नारद के चरणकमलों की नियमित सेवा करते थे और इस प्रकार उन्हें दिव्य-तत्त्वों का सही ज्ञान (*सतत्त्वतः*) हो गया था। *स-तत्त्वतः* का अर्थ है कि प्रियव्रत को आत्मा, भगवान् तथा आत्मा

एवं भगवान् के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान था। वे इस भौतिक जगत के विषय में तथा ईश्वर से इसके सम्बन्ध के विषय में भी सब कुछ जानते थे। अत: राजकुमार ने ईश्वर की भक्ति में अपने को लगाये रखने का निश्चय किया।

जब प्रियव्रत के पिता स्वायंभुव मनु ने उनसे संसार पर राज्य करने के दायित्व को स्वीकार करने के लिए प्रार्थना की तो उन्होंने उनके इस प्रस्ताव का स्वागत नहीं किया। यह महान् मुक्त भक्त का लक्षण है। सांसारिक व्यापारों में लीन होते हुए भी वह उनमें रुचि नहीं दिखाता, वरन् भगवान् की सेवा में तल्लीन रहता है। इस प्रकार ईश्वर की सेवा करते हुए भी वह सांसारिक व्यापारों को उनसे प्रभावित हुए बिना ऊपर-ऊपर से करता रहता है। उदाहरणार्थ, बच्चों के प्रति आकर्षण न होते हुए भी वह उनकी चिन्ता करता है और उन्हें भक्त बनने की शिक्षा देता है। इसी प्रकार वह अपनी पत्नी से प्रिय वचन बोलता है, किन्तु वह उससे आसक्त नहीं रहता। भक्ति भक्त के द्वारा परमात्मा के समस्त गुण ग्रहण कर लेता है। श्रीकृष्ण के एक से एक परम सुन्दरी सोलह हजार पत्नियाँ थीं और वे प्रत्येक से प्रिय पति की तरह आचरण करते थे, किन्तु वे किसी के प्रति आकृष्ट या आसक्त नहीं हुए। इसी प्रकार भक्त भले ही गृहस्थ जीवन में प्रवेश करके अपनी पत्नी तथा पुत्रों से अत्यन्त प्यार जताता रहे, किन्तु इन कार्यों में वह कभी आसक्त नहीं होता।

यह श्लोक बताता है कि अपने गुरु के चरणकमलों की सेवा करने से प्रियव्रत को शीघ्र ही कृष्णभक्ति की सिद्ध-अवस्था प्राप्त हो गई। आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होने की यही एकमात्र विधि है। वेदों में कहा गया है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्था: प्रकाशन्ते महात्मन: ॥

"यदि किसी को भगवान् तथा गुरु में अविचल श्रद्धा हो, तो मनुष्य को वैदिक ज्ञान का सार प्राप्त हो जाता है।" (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.२३) भक्त निरन्तर ईश्वर का चिन्तन करता रहता है। "हरे कृष्ण मंत्र" का कीर्तन करते हुए उसे 'कृष्ण' तथा 'हरे' शब्दों से तुरन्त ही ईश्वर की समस्त लीलाओं का स्मरण हो आता है। चूँकि भक्त का समग्र जीवन ईश्वर की भक्ति में समर्पित रहता है, अत: वह एक क्षण के लिए भी ईश्वर को नहीं भुला पाता। जिस प्रकार एक सामान्य पुरुष अपने मन को भौतिक

गतिविधियों में लगाता है उसी प्रकार एक भक्त अपने मन को आध्यात्मिक कार्यों में लगाता है। इसे *ब्रह्म-सत्र* अथवा सदैव भगवान् का चिन्तन कहते हैं। श्रीनारद ने राजकुमार प्रियव्रत को इस साधना में पूर्णतया दीक्षित कर दिया था।

अथ ह भगवानादिदेव एतस्य गुणविसर्गस्य परिबृंहणानुध्यानव्यवसितसकलजगदभिप्राय आत्मयोनिरखिलनिगमनिजगणपरिवेष्टितः स्वभवनादवततार. ॥ ७॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; ह—निस्संदेह; भगवान्—सर्वशक्तिमान; आदि-देवः—प्रथम देवता; एतस्य—इस ब्रह्माण्ड के; गुण-विसर्गस्य—तीनों गुणों की उत्पत्ति; परिबृंहण—कल्याण; अनुध्यान—सदैव ध्यानमग्न; व्यवसित—ज्ञात; सकल—सम्पूर्ण; जगत्—ब्रह्माण्ड का; अभिप्रायः—परम उद्देश्य; आत्म—परम-आत्मा; योनिः—जिसके जन्म का स्रोत; अखिल—सम्पूर्ण; निगम—वेदों के द्वारा; निज-गण—अपने गणों (सहयोगियों) से; परिवेष्टितः—घिरे हुए; स्व-भवनात्—अपने धाम से; अवततार—नीचे आये।.

श्रीशुकदेव गोस्वामी आगे बोलेः इस ब्रह्माण्ड के आदि जीव एवं सर्वशक्तिमान देवता ब्रह्माजी हैं, जो इस सृष्टि की समस्त गतिविधियों के विकास के लिए उत्तरदायी हैं। भगवान् से प्रत्यक्ष जन्म लेकर वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के हित को ध्यान में रखते हुए कार्य करते हैं, क्योंकि वे सृष्टि का उद्देश्य जानते हैं। ऐसे परम शक्तिशाली देवता ब्रह्माजी अपने पार्षदों तथा मूर्तिमान वेदों सहित अपने सर्वोच्च लोक से उस स्थान पर उतरे जहाँ राजकुमार प्रियव्रत ध्यान कर रहे थे।

तात्पर्य : जैसाकि *वेदान्त सूत्र* में व्याख्या की गई है, भगवान् विष्णु प्रत्येक वस्तु के कारण है—*जन्माद्यस्य यतः।* चूँकि ब्रह्मा का जन्म सीधे भगवान् विष्णु से हुआ था, अतः वे *आत्मयोनि* कहलाते हैं। उन्हें *भगवान्* भी कहा जाता है, यद्यपि सामान्य रूप से भगवान् से विष्णु या श्रीकृष्ण का बोध होता है। कभी-कभी ब्रह्मा, नारद या शिव जैसी महान् विभूतियों को भी भगवान् कहकर सम्बोधित किया जाता है क्योंकि वे भगवान् का कार्य करते हैं। ब्रह्मा को इसलिए भगवान् कहा जाता है, क्योंकि वे इस ब्रह्माण्ड के गौण स्रष्टा हैं। वे सदैव इस विचार में रहते हैं कि इस भौतिक जगत में भोग हेतु आई बद्ध-जीवात्माओं को किस प्रकार उन्नत किया जाये। इसीलिए वे ब्रह्माण्ड भर में प्रत्येक प्राणी के मार्गदर्शन हेतु वैदिक ज्ञान को प्रसारित करते रहते हैं।

वैदिक ज्ञान के दो विभाग किये गये हैं—प्रवृत्ति मार्ग तथा निवृत्ति मार्ग। निवृत्ति मार्ग इन्द्रिय सुख के बहिष्कार का मार्ग है, जबकि प्रवृत्ति मार्ग वह मार्ग है, जिससे जीवात्माएँ सुखोपभोग का अवसर

दिये जाने के साथ ही इस प्रकार निर्देशित की जाती हैं कि वे भगवान् के धाम को वापस जा सकें। चूँकि ब्रह्माण्ड पर राज्य करना एक महान् उत्तरदायित्व है, अत: विभिन्न युगों में ब्रह्मा अनेक मनुओं को सृष्टि भार उठाने के लिए बाध्य करते रहते हैं। प्रत्येक मनु के अधीन अनेक राजा रहते हैं, जो ब्रह्मा के कार्य को सम्पादित करते रहते हैं। पिछले विवरण से यह समझा जा सकता है कि ध्रुव महाराज के पिता उत्तानपाद ने विश्व का शासन इसलिए सँभाला क्योंकि उनके बड़े भाई प्रियव्रत जीवन के प्रारम्भ से ही तप कर रहे थे। इस प्रकार प्रचेताओं तक ब्रह्माण्ड के राजा उत्तानपाद के वंशज ही रहे। चूँकि प्रचेताओं के पश्चात् कोई उपयुक्त राजा नहीं हुआ, अत: स्वायंभुव मनु गन्धमादन पर्वत से अपने ज्येष्ठ पुत्र प्रियव्रत को वापस लाने पहुँचे, जहाँ वे ध्यान कर रहे थे। उन्होंने प्रियव्रत से विश्व का शासन सँभालने के लिए प्रार्थना की। किन्तु जब उन्होंने मना कर दिया, तो प्रियव्रत को मनाने के लिए सत्यलोक से ब्रह्माजी नीचे उतरे। ब्रह्माजी अकेले नहीं, आए थे उनके साथ मरीचि, आत्रेय तथा वसिष्ठ जैसे अन्य मुनि भी थे। वे अपने साथ अपने स्थायी साथी साक्षात् वेदों को भी लेते आये जिससे प्रियव्रत को विश्वास हो सके कि वैदिक आज्ञा का पालन करना तथा विश्व-शासन का भार सँभालना उनके लिए अनिवार्य था।

इस श्लोक में *स्व-भवनात्* शब्द महत्त्वपूर्ण है, जिससे यह सूचित होता है कि ब्रह्माजी अपने धाम से उतरे। प्रत्येक देवता का अपना धाम है। देवताओं के राजा इन्द्र, चन्द्र लोक के स्वामी चन्द्र तथा सूर्य ग्रह के प्रमुख श्रीविग्रह सूर्य के अपने-अपने धाम हैं। देवताओं की संख्या कई लाख है और विभिन्न नक्षत्र तथा ग्रह उनके धामस्वरूप हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में मिलती है—*यान्ति देवव्रता देवान्*—"जो देवताओं की उपासना करते हैं, वे उनके लोकों को जाते हैं।" भगवान् ब्रह्मा का धाम सर्वोच्च लोक, सत्यलोक अथवा कभी-कभी ब्रह्मलोक कहलाता है। सामान्य रूप से ब्रह्मलोक वैकुण्ठ जगत का सूचक है और ब्रह्मा का धाम सत्यलोक है, किन्तु वहाँ पर ब्रह्मा के निवास करने के कारण कभी-कभी इसे ब्रह्मलोक भी कहा जाता है।

स तत्र तत्र गगनतल उडुपतिरिव विमानावलिभिरनुपथममरपरिवृढैरभिपूज्यमान: पथि पथि च वरूथश:
सिद्धगन्धर्वसाध्यचारणमुनिगणैरुपगीयमानो गन्धमादनद्रोणीमवभासयन्नुपससर्प. ॥८॥

शब्दार्थ

सः—वह (भगवान् ब्रह्मा); तत्र तत्र—यहाँ वहाँ; गगन-तले—आकाश मंडप के नीचे; उडु-पतिः—चन्द्रमा; इव—सदृश; विमान-आवलिभिः—अपने-अपने विमानों में; अनुपथम्—पथ में; अमर—देवताओं के; परिवृढैः—नायकों द्वारा; अभिपूज्यमानः—पूजित होकर; पथि पथि—एक के बाद एक पथ पर; च—भी; वरूथशः—समूहों में; सिद्ध—सिद्धलोक के वासियों द्वारा; गन्धर्व—गन्धर्वलोक के वासियों द्वारा; साध्य—साध्यलोक के वासियों द्वारा; चारण—चारणलोक के वासियों द्वारा; मुनि-गणैः—तथा मुनियों के द्वारा; उपगीयमानः—पूजित होकर; गन्ध-मादन—उस लोक का जहाँ गंधमादन पर्वत है; द्रोणीम्—घाटी या किनारे को; अवभासयन्—प्रकाशित करते हुए; उपससर्प—पहुँचा।.

ज्योंही भगवान् ब्रह्मा अपने वाहन हंस पर आरूढ होकर नीचे उतरे, तो सिद्धलोक, गंधर्वलोक, साध्यलोक तथा चारणलोक के समस्त वासी तथा मुनि एवं अपने-अपने विमानों में उड़ते हुए देवताओं ने आकाशमण्डल के नीचे एकत्र होकर उनका स्वागत किया और पूजा की। विभिन्न लोकों के वासियों से आदर तथा स्तवन पाकर भगवान् ब्रह्मा ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों प्रकाशमान नक्षत्रों से घिरा हुआ पूर्ण चन्द्रमा हो। तब ब्रह्माजी का विशाल हंस गंधमादन की घाटी में प्रियव्रत के पास पहुँचा जहाँ वे बैठे हुए थे।

तात्पर्य : इस वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि देवताओं के लोकों के बीच नियमित अन्तर्ग्रहीय यात्रा होती है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह भी प्रकट होती है कि एक ऐसा लोक भी है, जो पर्वतों से अधिकतर आच्छादित है, जिनमें से गन्धमादन पर्वत एक है। इस पर्वत पर प्रियव्रत, नारद तथा स्वायंभुव मनु—ये तीन महापुरुष आसीन थे। *ब्रह्म-संहिता* के अनुसार प्रत्येक ब्रह्माण्ड विभिन्न लोकों से पूरित है और प्रत्येक लोक का अपना अद्वितीय ऐश्वर्य है। उदाहरणार्थ, सिद्धलोक के सभी वासी योगशक्तियों में अत्यधिक सिद्ध हैं। वे विमानों या अन्य उड़ने वाले यानों के बिना ही एक ग्रह से दूसरे तक उड़ान भर सकते हैं। इसी तरह गन्धर्वलोक के वासी गायन विद्या में कुशल हैं और साध्यलोक के वासी महान् साधु हैं। निस्सन्देह, अन्तर्ग्रहीय व्यवस्था का अस्तित्व है तथा एक ग्रह के वासी दूसरे ग्रह को जाते रहते हैं। लेकिन पृथ्वी पर अभी तक कोई ऐसी मशीन आविष्कृत नहीं हो पायी जो एक ग्रह से दूसरे को जा सके, यद्यपि चन्द्रमा तक सीधे जाने का असफल प्रयास किया गया है।

तत्र ह वा एनं देवर्षिर्हंसयानेन पितरं भगवन्तं हिरण्यगर्भमुपलभमानः सहसैवोत्थायार्हणेन सह पितापुत्राभ्यामवहिताञ्जलिरुपतस्थे. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; ह वा—निश्चय ही; एनम्—उसको; देव-ऋषिः—देवर्षि नारद; हंस-यानेन—अपने वाहन हंस द्वारा; पितरम्—अपने पिता; भगवन्तम्—सर्वशक्तिमान; हिरण्य-गर्भम्—भगवान् ब्रह्मा को; उपलभमानः—समझकर; सहसा एव—तुरन्त; उत्थाय—उठ कर; अर्हणेन—पूजन-सामग्री; सह—सहित; पिता-पुत्राभ्याम्—प्रियव्रत तथा उनके पिता स्वायंभुव मनु; अवहित-अञ्जलिः—आदरपूर्वक हाथ जोड़कर; उपतस्थे—अर्चना की।.

नारद मुनि के पिता भगवान् ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड के सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं। नारद ने ज्योंही विशाल हंस को देखा, वे तुरन्त समझ गये कि ब्रह्माजी आए हैं, अतः वे स्वायंभुव मनु तथा अपने द्वारा उपदेश दिये जाने वाले उनके पुत्र प्रियव्रत सहित अविलम्ब खड़े हो गये। तब उन्होंने हाथ जोड़कर आदरपूर्वक भगवान् की आराधना प्रारम्भ की।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोक में आया है, ब्रह्माजी के साथ अन्य देवता भी थे, किन्तु उनका विशेष विशिष्ट विशाल हंस था। अत: जैसे ही नारद मुनि ने हंस को देखा, वे समझ गये कि उनके पिता ब्रह्माजी, जिन्हें हिरण्यगर्भ भी कहा जाता है, आ रहे हैं। वे ब्रह्माजी का स्वागत करने तथा उनका सम्मान करने के लिए तुरन्त स्वायंभुव मनु तथा उनके पुत्र प्रियव्रत सहित उठ खड़े हुए।

भगवानपि भारत तदुपनीतार्हणः सूक्तवाकेनातितरामुदितगुणगणावतारसुजयः प्रियव्रतमादिपुरुषस्तं सदयहासावलोक इति होवाच. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् ब्रह्मा; अपि—भी; भारत—हे राजा परीक्षित; तत्—उनके द्वारा; उपनीत—आगे लायी गयी; अर्हणः—पूजन-सामग्री; सूक्त—वैदिक शिष्टाचार के अनुसार; वाकेन—वाणी से; अतितराम्—अत्यधिक; उदित—प्रशंसित; गुण-गण—गुणसमूह; अवतार—नीचे उतरने के कारण; सु-जयः—जिसकी कीर्ति; प्रियव्रतम्—प्रियव्रत को; आदि-पुरुषः—आदि पुरुष; तम्—उनको; स-दय—दयापूर्वक; हास—हँसते हुए; अवलोकः—जिनकी दृष्टि; इति—इस प्रकार; ह—निश्चय ही; उवाच—कहा।.

हे राजा परीक्षित, चूँकि ब्रह्माजी सत्यलोक से भूलोक में उतर चुके थे, अतः नारद मुनि, राजकुमार प्रियव्रत तथा स्वायंभुव मनु ने आगे बढ़कर पूजन सामग्री अर्पित की और वैदिक विधि के अनुसार अत्यन्त शिष्ट वाणी से उनकी प्रशंसा की। तब इस ब्रह्माण्ड के प्रथम पुरुष ब्रह्मा प्रियव्रत पर सदय मन्द मुस्कान-युक्त दृष्टि डालते हुए उनसे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : प्रियव्रत से भेंट करने के लिए ब्रह्माजी सत्यलोक से नीचे उतरे जिससे यह सूचित होता है कि मामला अत्यन्त गंभीर था। नारद मुनि प्रियव्रत को आध्यात्मिक जीवन, ज्ञान, त्याग तथा भक्ति के मूल्य का उपदेश देने के लिए पधारे थे और ब्रह्मा यह जानते थे कि नारद के उपेदश अत्यन्त प्रभावशाली होते हैं। अत: ब्रह्माजी जानते थे कि जब तक वे स्वयं प्रियव्रत को मनाने के लिए गंधमादन पर्वत नहीं जाते, प्रियव्रत अपने पिता की आज्ञा मानने वाले नहीं। ब्रह्माजी का उद्देश्य प्रियव्रत के संकल्प को भंग करना था। अत: उन्होंने पहले प्रियव्रत को सदय दृष्टि से देखा। उनके मन्द हास तथा दयापूर्ण

भंगिमा से यह भी सूचित हो रहा था कि यद्यपि ब्रह्माजी प्रियव्रत से गृहस्थ जीवन स्वीकार करने का अनुरोध करेंगे, किन्तु प्रियव्रत का भक्तियोग से सम्पर्क टूटेगा नहीं। वैष्णव के आशीर्वाद से सब कुछ सम्भव है। *भक्तिरसामृतसिंधु* में इसे *कृपा-सिद्धि* अथवा गुरुजन के आशीर्वाद मात्र से सिद्धि की प्राप्ति कहा गया है। यदि शास्त्रों में उल्लिखित अनुष्ठानों का पालन किया जाये, तो प्राणी प्राय: मुक्त और सिद्ध बन जाता है। फिर भी अनेक पुरुष अपने गुरु या गुरुजन के आशीर्वाद मात्र से सिद्धि को प्राप्त हुए हैं।

प्रियव्रत भगवान् ब्रह्मा के पौत्र थे और जैसाकि कभी-कभी पौत्र तथा पितामह में हँसी-हँसी में स्पर्धा होती है, इस प्रसंग में भी प्रियव्रत ध्यान में स्थित के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थे, जबकि ब्रह्माजी उन्हें ब्रह्माण्ड का शासक बनाने पर तुल गये थे। अत: ब्रह्मा की सदय मुस्कान तथा दृष्टि का अभिप्राय था, "हे प्रियव्रत! तुमने संकल्प लिया है कि गृहस्थ जीवन स्वीकार नहीं करोगे, किन्तु मैं तुम्हे विश्वास दिलाने पर तुल गया हूँ कि तुम्हें इसे स्वीकार करना होगा।" वास्तव में ब्रह्माजी प्रियव्रत के त्याग, तप, संयम तथा अनुरक्ति के उच्च आदर्श की प्रशंसा करने के लिए पधारे थे, जिससे वह गृहस्थ जीवन को स्वीकार कर लेने पर भी भक्ति के मार्ग से विचलित न हो।

इस श्लोक में *सूक्त-वाकेन* एक महत्त्वपूर्ण शब्द है। वेदों में ब्रह्मा की यह स्तुति है—*हिरण्यगर्भ: समवर्तताग्रे भूतस्य जात: पतिरेक आसीत्।* ब्रह्मा का स्वागत उचित वैदिक स्तुतियों से किया गया, इसलिए वे अत्यधिक प्रसन्न थे।

श्रीभगवानुवाच
निबोध तातेदमृतं ब्रवीमि
मासूयितुं देवमर्हस्यप्रमेयम् ।
वयं भवस्ते तत एष महर्षि-
र्वहाम सर्वे विवशा यस्य दिष्टम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—परम पुरुष ब्रह्मा ने कहा; निबोध—ध्यानपूर्वक सुनो; तात—मेरे प्रिय पुत्र; इदम्—यह; ऋतम्—सत्य; ब्रवीमि—बोल रहा हूँ; मा—मत; असूयितुम्—ईर्ष्यालु; देवम्—भगवान्; अर्हसि—तुम्हें चाहिए; अप्रमेयम्—जो हमारे प्रयोगात्मक ज्ञान से परे है; वयम्—हम; भव:—शिवजी; ते—तुम्हारा; तत:—पिता; एष:—यह; महा-ऋषि:—नारद; वहाम:—पालन करते हैं; सर्वे—सभी; विवशा:—विचलित होने में अशक्त; यस्य—जिसकी; दिष्टम्—आज्ञा।

इस ब्रह्माण्ड के परम पुरुष भगवान् ब्रह्मा ने कहा—हे प्रियव्रत, मैं जो कुछ कहूँ उसे ध्यान

से सुनो। परमेश्वर से ईर्ष्या न करो क्योंकि वे हमारे प्रयोगात्मक परिमापों से परे हैं। हम सबों को, जिसमें शिवजी, तुम्हारे पिता तथा महर्षि नारद भी सम्मिलित हैं, परमेश्वर की आज्ञा का पालन करना पड़ता है। हम उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते।

तात्पर्य : बारह भक्त महाजनों में से चार—स्वयं ब्रह्मा, उनके पुत्र नारद, स्वायंभुव मनु तथा शिवजी—प्रियव्रत के सम्मुख उपस्थित थे। उनके साथ अनेक अधिकृत साधुजन भी थे। ब्रह्माजी प्रियव्रत को सर्वप्रथम यह बताना चाहते थे कि यद्यपि ये सभी महापुरुष *अधिकारी* हैं, किन्तु वे इस श्लोक में वर्णित *देव* अर्थात् *सदैव कीर्तिमय* भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते। भगवान् की शक्ति, कीर्ति तथा शौर्य कभी न घटने वाले हैं। *ईशोपनिषद्* में ईश्वर को *अपापविद्ध* कहा गया है, जिससे यह सूचित होता है कि वे भौतिक पापों से कभी प्रभावित नहीं होते। *श्रीमद्भागवत* में भी वर्णित किया गया है कि भगवान् इतने शक्तिशाली हैं कि उन पर हमारे विचार में समझे जानेवाला कोई भी कुत्सित कृत्य असर नहीं कर सकता है। परमेश्वर के पद की व्याख्या करने के लिए कभी-कभी सूर्य का उदाहरण दिया जाता है, जो मिट्टी में से मूत्र को उड़ा देता है, किन्तु स्वयं कलुषित नहीं होता। भगवान् पर यह दोषारोपण नहीं किया जा सकता कि वे कोई गलत काम करते हैं।

ब्रह्माजी प्रियव्रत को ब्रह्माण्ड के शासन का भार स्वीकार करने के लिए प्रेरित करने गये, तो वे किसी सनकवश नहीं गये। वे तो भगवान् की आज्ञा का ही पालन कर रहे थे। दरअसल, ब्रह्मा तथा अन्य प्रमाणित अधिकारी उन भगवान् की आज्ञा के बिना कुछ भी नहीं करते, जो प्रत्येक प्राणी के हृदय में विराजमान हैं। *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है—*तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये*—ईश्वर ने ब्रह्मा को उनके हृदय के भीतर से वैदिक ज्ञान की शिक्षा दी। जीवात्मा भक्ति से जितना ही पवित्र होता जाता है, वह भगवान् के उतने ही निकट सम्पर्क में आता है, जैसाकि *श्रीमद्भगवद्गीता* (१०.१०) में पुष्टि की गई है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

''जो मेरी सतत भक्ति से और प्रीतिपूर्वक पूजा करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ, जिससे वे मेरे पास आ सकें।'' अत: ब्रह्माजी अपनी सनक से प्रियव्रत के पास नहीं आये थे अपितु यही समझना

चाहिए कि भगवान् ने उन्हें प्रियव्रत को मनाने की आज्ञा दी थी। चूँकि उन्हें भौतिक इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता इसीलिए उन्हें यहाँ *अप्रमेय* कहा गया है। इसीलिए भगवान् ब्रह्मा ने प्रियव्रत को पहले यह समझाया कि वे उनके शब्दों को ध्यानपूर्वक और ईर्ष्यारहित होकर सुनें।

यहाँ पर संकेत दिया गया है कि अन्य कुछ कार्य करना चाहते हुए भी मनुष्य को कुछ विशिष्ट कार्य क्यों करने पड़ते हैं। कोई भी प्राणी, चाहे वह शिवजी, ब्रह्माजी, मनु या महर्षि नारद के समान शक्तिशाली क्यों न हो, परमेश्वर की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। ये सभी महाजन निश्चय ही अत्यन्त शक्तिमान हैं, किन्तु उनमें भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करने की तनिक भी शक्ति नहीं है। चूँकि ब्रह्माजी भगवान् की आज्ञानुसार प्रियव्रत के पास आये थे, अत: सर्वप्रथम उन्होंने प्रियव्रत के मन से इस भ्रान्ति को दूर करना चाहा कि वे उसके शत्रु जैसा कार्य कर रहे हैं। ब्रह्माजी परमेश्वर की आज्ञा का पालन कर रहे थे अतएव प्रियव्रत को ब्रह्माजी के आदेश को जो भगवान् की इच्छा के अनुसार था, स्वीकार करना श्रेयस्कर था।

न तस्य कश्चित्तपसा विद्यया वा
न योगवीर्येण मनीषया वा ।
नैवार्थधर्मै: परत: स्वतो वा
कृतं विहन्तुं तनुभृद्विभूयात् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; तस्य—उसका; कश्चित्—कोई भी; तपसा—तप से; विद्यया—विद्या से; वा—अथवा; न—कभी नहीं; योग—योगबल से; वीर्येण—शारीरिक बल से; मनीषया—बुद्धि से; वा—अथवा; न—कभी नहीं; एव—निश्चय ही; अर्थ—भौतिक ऐश्वर्य से; धर्मै:—धर्म से; परत:—किसी बाह्य शक्ति से; स्वत:—अपने प्रयास से; वा—अथवा; कृतम्—आज्ञा; विहन्तुम्—टालने में; तनु-भृत्—भौतिक देह स्वीकार करने वाला जीवात्मा; विभूयात्—समर्थ है।.

भगवान् की आज्ञा को कोई न तो तपोबल, वैदिक शिक्षा, योगबल, शारीरिक बल या बुद्धिबल से टाल सकता है, न ही कोई अपने धर्म की शक्ति या भौतिक ऐश्वर्य से अथवा किसी अन्य उपाय से, न स्वयं या न पराई सहायता से परमात्मा के आदेशों को चुनौती दे सकता है। ब्रह्मा से लेकर एक चींटी तक, किसी भी जीवात्मा के लिए ऐसा कर पाना सम्भव नहीं है।

तात्पर्य : *गर्ग उपनिषद्* में गर्गमुनि अपनी पत्नी से कहते हैं—*एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गर्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत:*—''हे गर्गी! प्रत्येक वस्तु भगवान् के वश में है। यहाँ तक कि सूर्य-चन्द्र तथा अन्य नियन्ता एवं देवतागण, यथा ब्रह्मा तथा इन्द्र, सभी उनके वश में हैं।'' चाहे सामान्य मनुष्य

हो या पशु, जिस किसी ने भौतिक देह धारण की है, वह भगवान् की नियंत्रण-सीमा से बाहर नहीं रह सकता। भौतिक देह में इन्द्रियाँ सम्मिलित हैं, किन्तु तथाकथित वैज्ञानिकों की इन्द्रिय-गतिविधियाँ निरर्थक लगती हैं क्योंकि वे ईश्वर के नियम अथवा प्रकृति के नियमों से विमुक्त होना चाहते हैं। *भगवद्गीता* से (७.१४) भी इसकी पुष्टि होती है। *मम माया दुरत्यया*—प्रकृति के नियंत्रण को पार कर पाना दुस्तर है, क्योंकि इसके पीछे भगवान् का हाथ रहता है। कभी-कभी हम अपने तप, त्याग तथा योगबल पर गर्व करते हैं, किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् के नियमों तथा आदेशों का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। चाहे योग शक्ति से हो, वैज्ञानिक शिक्षा से हो अथवा तपोबल से हो। यह असम्भव है।

यहाँ *मनीषया* (बुद्धि से) शब्द का विशेष महत्त्व है। प्रियव्रत तर्क कर सकते थे कि ब्रह्मा उनसे गृहस्थ जीवन तथा राजपाट स्वीकार करने का अनुरोध कर रहे हैं, जबकि नारद मुनि ने उनसे गृहस्थ जीवन में न प्रवेश करने तथा भौतिक मामलों में न उलझनें का उपदेश दिया था। इनमें से किसे स्वीकार किया जाये? यह प्रियव्रत के समक्ष उलझन थी, क्योंकि ब्रह्माजी तथा नारद मुनि दोनों ही प्रामाणिक महाजन हैं। इन परिस्थितियों के अन्तर्गत *मनीषया* शब्द का प्रयोग अत्यन्त उपयुक्त है क्योंकि इससे सूचित होता है कि नारद मुनि तथा ब्रह्मा दोनों ही उपदेश देने के लिए अधिकृत थे, अत: प्रियव्रत इनमें से किसी की उपेक्षा नहीं कर सकते थे, किन्तु उन्हें दोनों का उपदेश पालन करने के लिए अपनी बुद्धि का उपयोग करना था। ऐसी दुविधाओं को हल करने के लिए श्रील रूप गोस्वामी ने बुद्धि का अत्यन्त स्पष्ट स्वरूप प्रस्तुत किया है। उनका कथन है—

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हम् उपयुञ्जत:।

निर्बन्ध: कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमच्युते॥

विषयान् अर्थात् भौतिक व्यापारों को बिना आसक्ति के स्वीकार करना चाहिए और प्रत्येक वस्तु ईश्वर की सेवा से जोड़ दी जानी चाहिए। यही वास्तविक बुद्धि (मनीषा) है। यदि कोई कृष्ण की सेवा के लिए प्रत्येक वस्तु को स्वीकार करता है, तो भौतिक जगत में गृहस्थ होना या राजा होना हानिकर नहीं है। इसके लिए विमल बुद्धि की आवश्यकता है। मायावादी दार्शनिक कहते हैं—*ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या*—यह संसार मिथ्या है और केवल परब्रह्म ही सत्य है। किन्तु ब्रह्मा तथा महामुनि नारद की

परम्परा का अर्थात् ब्रह्मसम्प्रदाय का बुद्धिमान भक्त इस जगत को मिथ्या नहीं मानता। जिसकी भगवान् ने सृष्टि की वह मिथ्या कैसे हो सकती है, किन्तु सुख के लिए उसका उपयोग अवश्य ही मिथ्या है। जैसाकि *भगवद्गीता* (.२९) में कहा गया है कि प्रत्येक वस् तु भगवान् के भोग के निमित्त है। *भोक्तारंयज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्*—भगवान् सम्पूर्ण यज्ञ तथा तप के परम भोक्ता हैं, अत: उनके भोग तथा सेवा के निमित्त ही प्रत्येक वस्तु होनी चाहिए। अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों का ध्यान न रखते हुए प्रत्येक वस्तु का उपभोग परमेश्वर की सेवा के लिए करना चाहिए। अपनी बुद्धि का यही उचित उपयोग है।

भवाय नाशाय च कर्म कर्तुं
शोकाय मोहाय सदा भयाय ।
सुखाय दु:खाय च देहयोग-
मव्यक्तदिष्टं जनताङ्ग धत्ते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

भवाय—जन्म के निमित्त; नाशाय—मृत्यु के लिए; च—भी; कर्म—कार्य; कर्तुम्—करने के लिए; शोकाय—शोक के लिए; मोहाय—मोह के लिए; सदा—सदैव; भयाय—भय के लिए; सुखाय—सुख हेतु; दु:खाय—दुख हेतु; च—भी; देह-योगम्—भौतिक देह से सम्बन्ध; अव्यक्त—भगवान् द्वारा; दिष्टम्—निर्देशित; जनता—जीवात्माएँ; अङ्ग—हे प्रियव्रत; धत्ते—धारण करती हैं।.

हे प्रियव्रत, भगवान् की आज्ञा से ही सभी जीवात्माएँ जन्म, मृत्यु, कर्म, शोक, मोह, भविष्य के संकटों के प्रति भय, सुख तथा दुख के हेतु विभिन्न प्रकार के शरीर धारण करती हैं।

तात्पर्य : जितनी भी जीवात्माएँ इस संसार में आई हैं, वे सुखोपभोग के प्रयोजन से आई हैं, किन्तु अपने कर्म के अनुसार उन्हें भगवान् की आज्ञा से प्रकृति द्वारा प्रदत्त एक न एक शरीर धारण करना पड़ता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (३.२७) में कहा गया है—*प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश:*—भगवान् के आदेशानुसार प्रकृति सारे कार्य करती है। आधुनिक विज्ञानी यह नहीं जानते कि चौरासी लाख प्रकार के शरीर क्यों हैं। तथ्य यह है कि सभी शरीरों को उनकी इच्छानुसार कार्य करने की भगवान् छूट देते हैं, किन्तु इसके साथ ही उन्हें अपने कर्मों के फल के अनुसार शरीर स्वीकार करना पड़ता है। इस प्रकार अनेक प्रकार के शरीर हैं। कुछ जीव अल्पजीवी हैं, तो कुछ दीर्घकाल तक जीवित रहते हैं। किन्तु इनमें से प्रत्येक जीव, ब्रह्मा से लेकर चींटी तक, भगवान् के आदेशानुसार कार्य करता है, क्योंकि वे प्रत्येक हृदय में स्थित हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१.१) में इस प्रकार हुई

है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो

मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

"मैं सभी प्राणियों के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति होती है।" किन्तु यह सच नहीं है कि कुछ जीवात्माओं को भगवान् एक प्रकार का और अन्यों को अन्य प्रकार का आदेश देते हैं। वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक जीवात्मा की कुछ-न-कुछ इच्छा होती है और परमेश्वर उसकी पूर्ति के लिए उसे अवसर प्रदान करते हैं। इसलिए सर्वोत्तम मार्ग यही है कि भगवान् को आत्मसमर्पण करके उनकी इच्छानुसार कार्य किया जाये। जो ऐसा करता है, वह मुक्त हो जाता है।

यद्वाचि तन्त्यां गुणकर्मदामभिः
सुदुस्तरैर्वत्स वयं सुयोजिताः ।
सर्वे वहामो बलिमीश्वराय
प्रोता नसीव द्विपदे चतुष्पदः ॥ १४॥

शब्दार्थ

यत्—जिसका; वाचि—वैदिक आदेश के रूप में; तन्त्याम्—लम्बी रस्सी से; गुण—गुण; कर्म—(तथा) कर्म की; दामभिः—रस्सियों से; सु-दुस्तरैः—टाल पाना अत्यन्त कठिन है; वत्स—हे बालक; वयम्—हम; सु-योजिताः—लगे हुए हैं; सर्वे—सभी; वहामः—पालन करते हैं; बलिम्—ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए उनकी आज्ञाओं को; ईश्वराय—भगवान् को; प्रोताः—बद्ध होकर; नसि—नाक में; इव—सदृश; द्वि-पदे—दो पैर वाले (हाँकने वाले) को; चतुः-पदः—चौपाया (बैल)।

हे बालक, हम सभी अपने गुण तथा कर्म के अनुसार वैदिक आज्ञा द्वारा वर्णाश्रम विभागों में बँधे हुए हैं। इन विभागों से बच पाना कठिन है, क्योंकि ये वैज्ञानिक विधि से व्यवस्थित हैं। अतः हमें वर्णाश्रम धर्म के कर्तव्यों का पालन उन बैलों के समान करना चाहिए जो नाक में बँधी नकेल खींचने वाले चालक के आदेश पर चलने के लिए बाध्य हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *तन्त्यां गुणकर्मदामभिः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। हमें प्रकृति के गुणों के साथ अपने संसर्ग के अनुसार शरीर प्राप्त होता है और तदनुसार हम कर्म करते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है गुण तथा कर्म के अनुसार सामाजिक प्रणाली के चार विभाग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—व्यवस्थित हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में कुछ मतभेद हैं, क्योंकि कुछ का कहना है कि जब पूर्वजन्म के गुण तथा कर्म के अनुसार देह प्राप्त होती है, तो जन्म के अनुसार व्यक्ति की सामाजिक पदवी निर्धारित होनी चाहिए। किन्तु अन्यों का कथन है कि पूर्वजन्म के गुण तथा कर्म के अनुसार जन्म ही

महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं क्योंकि इस जीवन में भी गुण तथा कर्म बदल सकते हैं। इस प्रकार उनका कहना है कि इसी जीवन के गुण तथा कर्म के अनुसार वर्णाश्रम के चार विभाग—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—किये जाने चाहिए। नारद मुनि ने *श्रीमद्भागवत* में इस मत की पुष्टि की है। महाराज युधिष्ठिर को गुण तथा कर्म के लक्षणों का उपदेश देते हुए नारद मुनि ने बताया कि इन लक्षणों से समाज-विभाजन को नियंत्रित होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, यदि कोई व्यक्ति ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर शूद्र के लक्षणों वाला हो, तो उसे शूद्र कहलाना चाहिए और इसी प्रकार यदि शूद्र में, ब्राह्मण के गुण हों, तो उसे ब्राह्मण कहलाना चाहिए।

वर्णाश्रम प्रणाली वैज्ञानिक है, अतः यदि हम वर्ण तथा आश्रम के विभागों को वैदिक निर्देशों के अनुसार स्वीकार कर लें, तो हमारा जीवन सफल हो सकेगा। जब तक मानव समाज इस प्रकार से विभाजित और व्यवस्थित नहीं हो जाता, वह कभी भी पूर्ण नहीं हो सकता। *विष्णुपुराण* (३.८.९) में कहा गया है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।

विष्णुराराध्यते पंथा नान्यत् तत्तोषकारणम्॥

''भगवान् विष्णु की आराधना वर्णाश्रम प्रणाली में निर्देशित कर्तव्यों के समुचित पालन से की जाती है। भगवान् को प्रसन्न करने का कोई अन्य साधन नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि वह वर्णाश्रम धर्म में स्थित रहे।'' पूरा मनुष्य-समाज भगवान् विष्णु की आराधना के निमित्त है। किन्तु इस समय मानव-समाज को यह पता नहीं है कि जीवन का यही परम ध्येय या सिद्धि है। इसलिए मनुष्यों को भगवान् विष्णु की पूजा न करके पदार्थ की पूजा करने की शिक्षा दी जाने लगी है। आधुनिक समाज के निर्देशानुसार मनुष्य सोचते हैं कि वे पदार्थ को गगनचुम्बी इमारतें, बड़ी-बड़ी सड़कें, स्वयंचालित वाहन इत्यादि में परिणत करके सभ्यता को प्रगति के पथ पर ले जा सकते हैं। ऐसी सभ्यता निश्चय ही भौतिकतावादी है, क्योंकि इस सभ्यता के लोगों को जीवन-लक्ष्य का पता नहीं है। जीवन का लक्ष्य तो विष्णु को प्राप्त करना है। किन्तु लोग विष्णु तक न पहुँच कर भौतिक शक्ति के बाह्य रूप से मोहित हो जाते हैं। अतः भौतिक प्रगति अंधी होती है और इसके जननायक भी अंधे होते हैं। वे अपने अनुयायियों को उल्टी दिशा में ले जा रहे हैं।

अत: सबसे अच्छा यही है कि वेदों की आज्ञा मानी जाये जिसका उल्लेख इस श्लोक में *यद्-वाचि* के रूप में हुआ है। इस आज्ञा के अनुसार हर व्यक्ति को चाहिए कि वह यह जाने कि वह ब्राह्मण है अथवा क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र और इसी के अनुसार उसे शिक्षा मिलनी चाहिए तभी उसका जीवन कृतार्थ है अन्यथा सारे मानव समाज में दुर्व्यवस्था फैल जायेगी। यदि मानव समाज वर्ण तथा आश्रम के अनुसार वैज्ञानिक दृष्टि से विभाजित हो जाये और वैदिक आज्ञा का पालन किया जाये, तो मनुष्य का जीवन, चाहे वह जिस पद पर हो, सफल (कृतार्थ) हो सकेगा। ऐसा नहीं है कि केवल ब्राह्मणों को दिव्य पद प्राप्त होगा, शूद्रों को नहीं। यदि वैदिक आज्ञा का पालन किया जाये, तो सभी वर्ण, चाहे वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र हो, दिव्य पद तक पहुँच जाएंगे। वेदों की आज्ञाएँ भगवान् के प्रत्यक्ष आदेश हैं। इस श्लोक में रस्सी से नाथे हुए बैल का दृष्टान्त दिया गया है, जो हाँकने वाले के निर्देशानुसार चारों ओर घूमता है। इसी प्रकार यदि हम वेदों के निर्देशानुसार चलें, तो हमारा जीवन-पथ सुस्थिर हो। अन्यथा अपनी सनक के अनुसार कार्य करते रहने से हमारा जीवन निराशापूर्ण बन जाएगा। चूँकि इस समय लोग वेदों के निर्देशानुसार नहीं चल रहे इसलिए इतनी अव्यवस्था है। अत: हमें चाहिए कि हम ब्रह्माजी द्वारा प्रियव्रत को दिये गये निर्देश को वास्तविक वैज्ञानिक निर्देश मान कर अपने जीवन को फलीभूत करें। *भगवद्गीता* (१६.२३) में भी इसकी पुष्टि हुई है—

य: शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारत:।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

यदि हम शास्त्रों अर्थात् वेदों के निर्देश के अनुसार नहीं चलते, तो हमें जीवन में कभी भी सफलता प्राप्त नहीं हो सकती, सुख अथवा उच्च पद प्राप्त करने की बात तो दूर रही।

ईशाभिसृष्टं ह्यवरुन्ध्महेऽङ्ग
दु:खं सुखं वा गुणकर्मसङ्गात् ।
आस्थाय तत्तद्यदयुङ्क्त नाथश्
चक्षुष्मतान्धा इव नीयमाना: ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ईश-अभिसृष्टम्—ईश्वर द्वारा उत्पन्न या प्रदत्त; हि—निश्चय ही; अवरुन्ध्महे—हमें स्वीकार करना होता है; अङ्ग—हे प्रियव्रत; दु:खम्—दुख; सुखम्—सुख; वा—अथवा; गुण-कर्म—गुण तथा कार्य की; सङ्गात्—संगति से; आस्थाय—स्थित होकर; तत् तत्—स्थिति; यत्—जो शरीर; अयुङ्क्त—उसने प्रदान किया; नाथ:—परमेश्वर; चक्षुष्मता—नेत्रयुक्त पुरुष के द्वारा; अन्धा:—अंधे पुरुष; इव—सदृश; नीयमाना:—ले जाया जाकर।

हे प्रियव्रत, भगवान् विभिन्न गुणों के साथ हमारे संसर्ग के अनुसार हमें विशिष्ट शरीर प्रदान करते हैं और हम सुख तथा दुख प्राप्त करते हैं। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह जिस रूप में है वैसे ही रहे और भगवान् द्वारा उसी प्रकार मार्गदर्शन प्राप्त करे जिस प्रकार एक अंधा व्यक्ति आँख वाले व्यक्ति से प्राप्त करता है।

तात्पर्य : कोई भी व्यक्ति भौतिक साधनों के द्वारा अपने विशिष्ट शारीरिक सुख तथा दुख से बच नहीं सकता। कुल मिलाकर चौरासी लाख योनियाँ हैं जिनमें से प्रत्येक में कुछ न कुछ सुख तथा दुख भोगना होता है। इसे हम बदल नहीं सकते क्योंकि सुख तथा दुख उन भगवान् के द्वारा निर्धारित हैं जिनके निर्णय के अनुसार ही हमें अपना शरीर मिला है। चूँकि हम भगवान् के विधान से बच नहीं सकते, अतः हमें चाहिए कि जिस प्रकार अंधा व्यक्ति किसी आँख वाले व्यक्ति के द्वारा पथ पर ले जाया जाता है उसी प्रकार हम ईश्वर के द्वारा संचालित हों। यदि हम परिस्थिति कैसी भी क्यों न हो, भगवान् ने जिस स्थिति में हमें डाल दिया है उसी में रहें और उनके आदेशों का पालन करते रहें, तो हम सिद्ध (पूर्ण) हो सकते हैं। जीवन का मुख्य लक्ष्य भगवान् के आदेशों का पालन है। ऐसे ही निर्देश हमारे धर्म या कर्तव्य के अंग हैं।

इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (१८.६६) में कहा है—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—अन्य समस्त व्यापारों को त्याग कर मेरे समक्ष आत्मसमर्पण करके मेरा अनुगमन करो। भगवान् के निर्देशों का पालन करते हुए आत्मसमर्पण की यह विधि किसी जाति विशेष के लिए नहीं है। एक ब्राह्मण भी समर्पण कर सकता है और एक क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र भी। सभी इस विधि को अपना सकते हैं। जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है—*चक्षुष्मतान्धा इव नीयमानाः*—मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् का उसी प्रकार अनुगमन करे जिस प्रकार एक अंधा व्यक्ति किसी आँख वाले व्यक्ति का करता है। यदि हम वेदों तथा *भगवद्गीता* में दिये गये भगवान् के निर्देशों का पालन करते हैं, तो मारा जीवन कृतार्थ हो जाएगा। अतः श्रीकृष्ण कहते हैं (*गीता* १८.६)—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

''निरन्तर मेरे विषय में सोचो, मेरे भक्त बनो तथा मेरा पूजन करो और मुझे ही प्रणाम करो। इस

प्रकार तुम निश्चय ही मेरे धाम को प्राप्त होगे। यह मैं तुमसे प्रतिज्ञा करता हूँ क्योंकि तुम मेरे अतिशय प्रिय सखा हो।" यह निर्देश सभी लोगों के लिए है—चाहे वह ब्राह्मण हो अथवा क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र। यदि कोई, चाहे वह किसी भी जाति का क्यों न हो, भगवान् को आत्मसमर्पण करता है और उनके निर्देशों का पालन करता है, तो उसका जीवन कृतार्थ होगा।

पिछले श्लोक में बैलगाड़ी को हाँकने वाले के निर्देश पर घूमने वाले बैलों की उपमा दी गई है। बैल हाँकनेवाले के प्रति पूर्णतया समर्पित रहते हैं जिसके कारण वह उन्हें जहाँ चाहता है ले जाता है और जैसा चाहता है खाने को देता है। इसी प्रकार भगवान् के प्रति पूर्णत: समर्पित होकर हमें सुख अथवा दुख के लिए ग्लानि नहीं करनी चाहिए; हमें ईश्वर द्वारा निर्धारित पद से संतुष्ट रहना चाहिए। हमें भक्ति-मार्ग का पालन करना चाहिए और ईश्वर द्वारा प्रदत्त सुख तथा दुख से असतुंष्ट नहीं होना चाहिए। सामान्य रूप से रजो तथा तमो गुणों के वशीभूत होकर लोग चौरासी लाख योनियों में घूमने वाली भगवान् की व्यवस्था को नहीं समझ पाते, किन्तु मनुष्य योनि को यह विशेष सुविधा प्राप्त है कि वह इस व्यवस्था को समझे, भक्ति करे और ईश्वर के निर्देशों का अनुगमन करते हुए उच्च पद प्राप्त करे। सम्पूर्ण जगत गुणों के, विशेष रूप से रजो तथा तमों गुणों के, अधीन कार्यशील है, किन्तु यदि लोग परमेश्वर के यश के श्रवण तथा कीर्तन में संलग्न रहें, तो उनका जीवन सफल हो सकता है और वे परम सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। अत: *बृहन्नरदीय पुराण* में कहा गया है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

इस कलियुग में आध्यात्मिक पूर्णता हेतु पावन हरि नाम के अलावा अन्य कोई मार्ग नहीं है, नहीं है, नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् का पवित्र नाम सुनने का अवसर प्राप्त होना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार से वह अपनी वास्तविक स्थिति को समझेगा और सतोगुण से ऊपर दिव्य पद को प्राप्त हो सकेगा। इस प्रकार उसके उन्नति-पथ के सभी अवरोध छिन्न-छिन्न हो जाएँगे। अत: हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भगवान् ने हमें जिस स्थिति में रख दिया है उसी से हम सन्तुष्ट रहें और हम उनकी भक्ति में संलग्न रहने का प्रयास करें। तभी हमारा जीवन सफल हो सकेगा।

मुक्तोऽपि तावद्बिभृयात्स्वदेह-
मारब्धमश्नन्नभिमानशून्यः ।
यथानुभूतं प्रतियातनिद्रः
किं त्वन्यदेहाय गुणान्न वृङ्क्ते ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

मुक्तः—मुक्त पुरुष; अपि—ही; तावत्—तब तक; बिभृयात्—धारण करना चाहिए; स्व-देहम्—अपना शरीर; आरब्धम्—पूर्व कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त; अश्नन्—स्वीकार करते हुए; अभिमान-शून्यः—अभिमान रहित; यथा—जिस प्रकार; अनुभूतम्—जैसा अनुभव किया गया हो; प्रतियात-निद्रः—निद्रा से जगा हुआ; किम् तु—लेकिन; अन्य-देहाय—दूसरी देह के लिए; गुणान्—गुणों को; न—नहीं; वृङ्क्ते—भोगता है।.

मुक्त होते हुए भी मनुष्य पूर्व कर्मों के अनुसार प्राप्त देह को स्वीकार करता है। किन्तु वह भ्रान्तिरहित होकर कर्म-वश प्राप्त सुख तथा दुख को उसी प्रकार मानता है, जिस प्रकार जाग्रत मनुष्य सुप्तावस्था में देखे गये स्वप्न को। इस तरह वह दृढ़प्रतिज्ञ रहता है और भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के वशीभूत होकर दूसरा शरीर पाने के लिए कभी कार्य नहीं करता।

तात्पर्य : बद्ध तथा मुक्तजीव में यही अन्तर है कि बद्धजीव देहात्मबुद्धि से प्रभावित रहता है, किन्तु मुक्तजीव जानता है कि वह देह नहीं वरन् देह से भिन्न आत्मा है। प्रियव्रत ने यह विचार किया होगा कि जो आध्यात्मिक ज्ञान में इतने उन्नत हैं बद्धजीव प्रकृति के नियमानुसार कर्म करने के लिए बाध्य है, तो फिर वे जो आध्यात्मिक ज्ञान में इतने बढ़े चढ़े हैं आध्यात्मिक उन्नति में उसी प्रकार से बन्धन तथा बाधाओं को क्यों स्वीकार करें? इस सन्देह को दूर करने के लिए ही ब्रह्माजी ने उन्हें बताया कि मुक्तजन भी पूर्वकर्मों के फल को इस जीवन में स्वीकार करने में आपत्ति नहीं करते। सोते समय स्वप्न में अनेक मिथ्या वस्तुएँ दिखती हैं, किन्तु जागने पर मनुष्य इसकी परवाह नहीं करता और वास्तविक जीवन में आगे बढ़ता रहता है। इसी प्रकार, एक मुक्त व्यक्ति—जो भली भाँति जानता है कि वह शरीर नहीं वरन् आत्मा है—अज्ञानवश किये गये विगत कर्मों की परवाह नहीं करता और अपने वर्तमान सामाजिक कार्यों को इस प्रकार से करता है कि उनका कोई प्रतिफल (बन्धन) नहीं होता। इसका उल्लेख *भगवद्गीता* (३.९) में हुआ है—*यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*—यदि कोई यज्ञपुरुष भगवान् को प्रसन्न करने के लिए कर्म करता है, तो उस कर्म का बन्धन नहीं होता, किन्तु कर्मीजन, जो अपने लिए कर्म करते हैं अपने कर्म फलों से बँधे रहते हैं। अत: मुक्त पुरुष अतीत में अज्ञानतावश जो कुछ कर चुका है उसके सम्बन्ध में सोच-विचार नहीं करता, उल्टे वह इस प्रकार से कर्म करता है कि सकाम कर्मों के फलस्वरूप दूसरा शरीर न धारण करना पड़े। जैसाकि *भगवद्गीता*

(१४.२६) में स्पष्ट किया गया है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

सं गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो पूर्णरूप से मेरी भक्ति करता है, जो किसी स्थिति में उससे च्युत नहीं होता वह अविलम्ब तीनों गुणों को पार करके ब्रह्मपद को प्राप्त होता है।" चाहे पूर्वजन्मों में जो भी कर्म किये गए हों, यदि इस जीवन में हम ईश्वर की शुद्ध भक्ति करते हैं, तो हम सदैव ब्रह्मभूत (मुक्त)अवस्था को प्राप्त होंगे और हमें दूसरा शरीर नहीं धारण करना पड़ेगा। *त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन* (*भगवद्गीता* ४.९)। जो मनुष्य इस प्रकार कर्म करता है, उसे शरीर त्यागने के बाद दूसरा शरीर ग्रहण नहीं करना पड़ता, वरन् वह भगवान् के धाम को वापस जाता है।

भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्याद्
यतः स आस्ते सहषट्सपत्नः ।
जितेन्द्रियस्यात्मरतेर्बुधस्य
गृहाश्रमः किं नु करोत्यवद्यम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

भयम्—भय; प्रमत्तस्य—मोहग्रस्त का; वनेषु—वनों में; अपि—भी; स्यात्—होना चाहिए; यतः—क्योंकि; सः—वह (जिसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं); आस्ते—रहता है; सह—साथ; षट्-सपत्नः—छह सपत्नियाँ; जित-इन्द्रियस्य—इन्द्रियों को जीतने वाले का; आत्म-रतेः—आत्मतुष्ट; बुधस्य—ऐसे विद्वान का; गृह-आश्रमः—गृहस्थ जीवन; किम्—क्या; नु—निस्सन्देह; करोति—कर सकता है; अवद्यम्—क्षति।

जो मनुष्य इन्द्रियों के वशीभूत है, भले ही वह वन-वन विचरण करता रहे, तो भी उसे बन्धन का भय बना रहता है क्योंकि वह मन तथा ज्ञानेन्द्रियाँ—इन छः सपत्नियों के साथ रह रहा होता है। किन्तु आत्मतुष्ट विद्वान जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया हो, उसे गृहस्थ जीवन कोई क्षति नहीं पहुँचा पाता।

तात्पर्य : श्रील नरोत्तम दास ठाकुर का गीत है—*गृहे वा वनेते थाके, 'हा गौरांग' बले डाके*—चाहे कोई वन में रहे या घर में, यदि वह श्री चैतन्य की भक्ति में लगा हुआ है, तो वह मुक्त पुरुष है। यहाँ भी इसी को दुहराया गया है। यदि इन्द्रियों को वश में नहीं किया गया, तो योगी बनने के लिए वन में जाना निरर्थक है। चूँकि अनियंत्रित मन तथा इन्द्रियाँ उसके साथ जा रही होती हैं इसलिए गृहस्थ जीवन त्याग कर वन में रहने पर भी उसे कुछ लाभ नहीं होगा। प्राचीन काल में भारत के ऊपरी भागों के

वणिकजन बंगाल जाया करते थे, अत: एक परिचित कहावत है, ''यदि आप बंगाल जाते हैं, तो भाग्य आपका पीछा करता है।'' अत: हमारा पहला कर्तव्य है कि हम इन्द्रियों को वश में रखें, किन्तु वे बिना भगवद्भक्ति के वशीभूत नहीं होतीं, अत: हमारा परम कर्तव्य है कि अपनी इन्द्रियों को भक्ति में लगाएँ। *हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते*—भक्ति का अर्थ है ईश्वर की सेवा में विशुद्ध इन्द्रियों का लगना।

यहाँ पर ब्रह्माजी यह इंगित करते हैं कि इन्द्रियों को वश में किये बिना वन में जाने की अपेक्षा श्रेयस्कर होगा कि उन्हें ईश्वर की सेवा में संलग्न किया जाय। गृहस्थाश्रम ऐसे आत्मजयी पुरुष को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सकता; उसे सांसारिक बन्धन में नहीं डाल सकता। श्रील रूप गोस्वामी ने इस स्थिति को आगे स्पष्ट किया है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्त: स उच्यते॥

''यदि कोई मनसा वाचा कर्मणा ईश्वर की भक्ति में लगा रहता है, तो उसकी परिस्थितियों कुछ भी हों, उसे मुक्त पुरुष मानना चाहिए।'' श्रील भक्तिविनोद ठाकुर एक निष्ठावान अधिकारी तथा गृहस्थ थे फिर भी भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के सन्देश को दूर-दूर तक फैला कर उन्होंने जो सेवा की वह अद्वितीय है। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती ठाकुर का कथन है—*दुर्दान्तेन्द्रिय-काल-सर्प-पटली प्रोत्खात-दंष्ट्रायते।* हमारी इन्द्रियाँ निश्चिय ही हमारी परम शत्रु हैं अत: उनकी तुलना विषधर सर्पों से की गई है। किन्तु यदि विषैले सर्प के विषदन्त निकाल लिये जाँय, तो वह डरावना नहीं रह जाता। इसी प्रकार यदि इन्द्रियाँ ईश्वर की सेवा में लगी हों, तो उनके कार्यों से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में तो भक्त इसी जगत् में भ्रमण करते हैं, किन्तु चूंकि उनकी इन्द्रियाँ ईश्वर की सेवा में लगी रहती हैं इसलिए वे इस जगत से सदा विलग रहते हैं। वे सदैव दिव्य अवस्था में रहते हैं।

य: षट्सपत्नान्विजिगीषमाणो
गृहेषु निर्विश्य यतेत पूर्वम् ।
अत्येति दुर्गाश्रित ऊर्जितारीन्

क्षीणेषु कामं विचरेद्विपश्चित् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; षट्—छः; सपत्नान्—प्रतिपक्षी (शत्रु); विजिगीषमाणः—जीतने की आकांक्षा रखने वाले; गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; निर्विश्य—प्रवेश करके; यतेत—प्रयत्न करना चाहिए; पूर्वम्—प्रथम; अत्येति—जीत लेता है; दुर्ग-आश्रितः—सुरक्षित स्थान (दुर्ग) में रहते हुए; ऊर्जित-अरीन्—अत्यन्त प्रबल शत्रुओं को; क्षीणेषु—क्षीण; कामम्—विषयवासना; विचरेत्—विचरण कर सकता है; विपश्चित्—अत्यन्त अनुभवी, विद्वान।

गृहस्थाश्रम में रह कर जो मनुष्य अपने मन तथा पाँचों इन्द्रियों को विधिपूर्वख जीत लेता है, वह उस राजा के समान है, जो अपने किले (दुर्ग) में रहकर अपने बलशाली शत्रुओं को पराजित करता है। गृहस्थाश्रम में प्रशिक्षित हो जाने पर तथा कामेच्छाओं को क्षीण करके मनुष्य बिना किसी भय के कहीं भी घूम सकता है।

तात्पर्य : चार वर्णों तथा चार आश्रमों की वैदिक प्रणाली अत्यन्त वैज्ञानिक है और इसका एकमात्र उद्देश्य इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पूर्व विद्यार्थी को जितेन्द्रिय बनने की पूरी शिक्षा दी जाती है। ऐसे वयस्क विद्यार्थी को ही गृहस्थ बनने की अनुमति प्रदान की जाती है और चूँकि इसके पूर्व उसे इन्द्रियों को जीतने की शिक्षा दी जा चुकी होती है इसलिए ज्योंही तरुणावस्था की प्रबल तरंगें समाप्त हो जाती हैं और वह पचास वर्ष या इससे अधिक आयु प्राप्त कर लेता है, तो वह गृहस्थ जीवन त्याग कर वानप्रस्थी बन जाता है। इसके पश्चात् और आगे शिक्षित होकर वह संन्यास ग्रहण करता है। तब वह पूर्ण विद्वान तथा विरक्त पुरुष होता है और भौतिक इच्छाओं से आकृष्ट होने के भय के बिना वह कहीं भी घूम सकता है। इन्द्रियों को प्रबल शत्रु माना जाता है। जिस प्रकार से सुदृढ़ दुर्ग में स्थित राजा प्रबल शत्रुओं को जीत सकता है उसी प्रकार से गृहस्थाश्रम में रहकर एक गृहस्थ अपनी युवावस्था की विषय-वासनाओं को जीत सकता है और वानप्रस्थ तथा संन्यास ग्रहण करने पर अत्यन्त निर्भय, नि:शंक रहता है।

त्वं त्वब्जनाभाङ्घ्रिसरोजकोश-
दुर्गाश्रितो निर्जितषट्सपत्नः ।
भुङ्क्ष्वेह भोगान्पुरुषातिदिष्टान्
विमुक्तसङ्गः प्रकृतिं भजस्व ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम स्वयं; तु—तब; अब्ज-नाभ—जिनकी नाभि कमल-पुष्प के सदृश है, ऐसे भगवान्; अङ्घ्रि—चरण; सरोज—कमल; कोश—मुँह, सम्पुट; दुर्ग—किला; आश्रितः—शरणागत; निर्जित—विजित; षट्-सपत्नः—छ:शत्रु (मन तथा अन्य

पाँच इन्द्रियाँ); भुङ्क्ष्व—भोग करो; इह—जगत में; भोगान्—भोग्य वस्तुएँ; पुरुष—परम पुरुष द्वारा; अतिदिष्टान्—विशेषतया आदेशित; विमुक्त—मुक्त हुआ; सङ्गः—भौतिक लगाव से; प्रकृतिम्—स्वाभाविक स्थिति; भजस्व—भोग करो।

ब्रह्माजी ने आगे कहा—हे प्रियव्रत, कमलनाभ ईश्वर के चरणकमल के कोश में शरण लेकर छहों ज्ञान इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करो। तुम भौतिक सुख-भोग स्वीकार करो, क्योंकि भगवान् ने तुम्हें विशेष रूप से ऐसा करने के लिए आज्ञा दी है। इस तरह तुम भौतिक संसर्ग से मुक्त हो सकोगे और अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहते हुए भगवान् की आज्ञाएँ पूरी कर सकोगे।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में तीन प्रकार के प्राणी हैं—वे जो अत्यधिक इन्द्रिय-भोग करने का प्रयास करते हैं, कर्मी कहलाते हैं; इनसे ऊपर ज्ञानी हैं, जो इन्द्रियों की वासनाओं को रोकने का यत्न करते हैं और इनसे भी ऊपर योगी हैं जिन्होंने पहले ही इन्द्रियों को जीत लिया है। किन्तु इनमें से कोई भी दिव्य स्थिति को प्राप्त नहीं हैं। केवल भक्त, जो ऊपर उद्धृत तीन में से किसी प्रकार के नहीं है, दिव्य होते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.२६) में व्याख्या की गई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो पूर्णरूप में मेरी भक्ति में लगा है और किसी भी स्थिति में गिरता नहीं वह अविलम्ब त्रिगुणमयी माया को पार करके ब्रह्म स्तर पर पहुँच जाता है।" यहाँ ब्रह्माजी प्रियव्रत को गृहस्थ जीवन नहीं, अपितु भगवान् के चरणकमल के दुर्ग के भीतर (*अब्ज-नाभांघ्रि-सरोज*) शरण लेने का उपदेश देते हैं। जब भौंरा कमल की कली के छेद में घुसकर मधुपान करता है, तो वह कमल की पंखड़ियों से भलीभाँति रक्षित होता है। उसे सूर्यप्रकाश तथा अन्य बाहरी कारण प्रभावित नहीं कर पाते। इसी प्रकार भगवान् के चरणकमलों में शरण लेने वाले को भय नहीं सताते। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* (१०.१४.८) में कहा गया है—

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं

महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः।

भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं

पदं पदं यद्विपदां न तेषाम्॥

"जिसने भगवान् के चरणकमलों में शरण ग्रहण की है उसके लिए प्रत्येक वस्तु सरल हो जाती

है—यहाँ तक कि इस भवसागर (*भवाम्बुधि*) का संतरण गोखुर (*वत्स-पदम्*) के समान सरल हो जाता है। ऐसे भक्त के लिए उस स्थान में, जहाँ प्रति पद पर बाधा हो, रहने का प्रश्न ही नहीं उठता है।''

हमारा वास्तविक कर्तव्य भगवान् की आज्ञा का पालन करना है। यदि हम अपने संकल्प में दृढ़ हैं, तो हम चाहे स्वर्ग में रहें या नरक में, सर्वत्र सुरक्षित हैं। यहाँ पर *प्रकृतिं भजस्व*—ये शब्द अत्यन्त सार्थक हैं। *प्रकृतिम्* का अर्थ है किसी की स्वाभाविक स्थिति। प्रत्येक जीवात्मा की स्वाभाविक स्थिति है कि वह भगवान् का चिरन्तन दास है। इसीलिए ब्रह्माजी ने प्रियव्रत को उपदेश दिया, ''अपनी मूल स्थिति में भगवान् के चिरन्तन दास के रूप में बने रहो। यदि तुम उनकी आज्ञा का पालन करते हो, तो भौतिक भोग (भुक्ति) के बीच रहते हुए भी नीचे नहीं गिरोगे।'' कर्मफलों से प्राप्त होने वाली भुक्ति भगवान् द्वारा प्रदत्त भुक्ति से भिन्न होती है। कभी-कभी भक्त परम ऐश्वर्यवान होता है किन्तु भगवान् की आज्ञा का पालन करने के लिए ही वह ऐसे किसी पद स्वीकार करता है। अत: भक्त भुक्ति से प्रभावित नहीं होता। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के भक्तजन श्री चैतन्य महाप्रभु की आज्ञा के अनुसार संसार भर में उपदेश दे रहे हैं। उनकी अनेक कर्मियों सें भेंट होती रहती है, किन्तु श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुग्रह से वे विषय-तरंगों से कभी प्रभावित नहीं होते। भक्तों को उनका आशीर्वाद प्राप्त है जैसाकि *चैतन्य चरितामृत* (मध्य ७.१२९) में कहा गया है—

कभु ना बाधिबे तोमार विषय-तरंग।

पुनरपि एइ ठाञि पाबे मोर संगे॥

ऐसा एकनिष्ठ भक्त जो श्री चैतन्य महाप्रभु के सम्प्रदाय का विश्व भर में उपदेश देता है उसे विषय-तरंगें नहीं सतातीं। उल्टे, वह कालक्रम के साथ श्री चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों की शरण में वापस जाता है और इस प्रकार उनसे उसकी शाश्वत संगति बनी रहती है।

श्रीशुक उवाच

इति समभिहितो महाभागवतो भगवतस्त्रिभुवनगुरोरनुशासनमात्मनो लघुतयावनतशिरोधरो बाढमिति सबहुमानमुवाह. ॥ २०॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; समभिहितः—पूर्णतया उपदिष्ट; महा-भागवतः—परम भक्त; भगवतः—अति शक्तिमान ब्रह्माजी का; त्रि-भुवन—तीनों लोकों के; गुरोः—गुरु की; अनुशासनम्—आज्ञा, आदेश; आत्मनः—स्वयं का; लघुतया—लघुता के कारण; अवनत—झुका हुआ; शिरोधरः—उसका शिर; बाढम्—जो आज्ञा; इति—इस प्रकार; स-बहु-मानम्—अत्यन्त आदर समेत; उवाह—पालन किया।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—इस प्रकार तीनों लोकों के गुरु ब्रह्माजी द्वारा भलीभाँति उपदेश दिये जाने पर अपना पद छोटा होने के कारण प्रियव्रत ने नमस्कार करते हुए उनका आदेश शिरोधार्य किया और अत्यन्त आदरपूर्वक उसका पालन किया।

तात्पर्य : श्री प्रियव्रत ब्रह्माजी के पौत्र थे, अतः सामाजिक शिष्टाचार के नाते उनका पद छोटा था और छोटों का यह धर्म है कि वे अपने गुरुजनों के आदेश का पालन करें। इसीलिए प्रियव्रत ने तुरन्त कहा, "जो आज्ञा मै आपके आदेश का पालन करूँगा।" प्रियव्रत को महाभागवत अर्थात् महान् भक्त कहा गया है। महान् भक्त का यह कर्तव्य है कि वह अपने गुरु अथवा गुरु के भी गुरु की आज्ञा का परम्परानुसार पालन करे। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.२) में कथित है—*एवं परम्परा प्राप्तम्*—मनुष्य को गुरु परम्परा से भगवान् के आदेश प्राप्त करने होते हैं। भगवान् का भक्त अपने को भगवान् के दासों का भी दास मानता है।

भगवानपि मनुना यथावदुपकल्पितापचितिः
प्रियव्रतनारदयोरविषममभिसमीक्षमाणयोरात्मसमवस्थानमवाङ्मनसं क्षयमव्यवहृतं प्रवर्तयन्नगमत्. ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—परम शक्तिमान ब्रह्माजी; अपि—भी; मनुना—मनु द्वारा; यथावत्—अभीष्ट रूप से; उपकल्पित-अपचितिः—आराधित होकर; प्रियव्रत-नारदयोः—प्रियव्रत तथा नारद की उपस्थिति में; अविषमम्—बिना द्वेष के; अभिसमीक्षमाणयोः—दृष्टिपात करते हुए; आत्मसम्—अपने पद के अनुकूल; अवस्थानम्—अपने धाम को; अवाक्-मनसम्—मन तथा वाणी के वर्णन से परे; क्षयम्—ग्रह, लोक; अव्यवहृतम्—अपूर्व स्थित; प्रवर्तयन्—विदा लेते हुए; अगमत्—वापस चले गये।

इसके पश्चात् मनु ने ब्रह्माजी को संतुष्ट करते हुए विधिवत् पूजा की। प्रियव्रत तथा नारद ने भी किसी प्रकार का विरोध दिखाये बिना ब्रह्माजी की ओर देखा। प्रियव्रत से उसके पिता की मनौती स्वीकार कराकर ब्रह्माजी अपने धाम सत्यलोक को चले गये, जिसका वर्णन भौतिक मन तथा वाणी के परे है।

तात्पर्य : मनु को अत्यधिक सन्तोष हुआ कि ब्रह्माजी ने उसके पुत्र प्रियव्रत को जगत के शासन का भार सँभालने के लिए राजी कर लिया था। प्रियव्रत तथा नारद भी संतुष्ट थे। यद्यपि ब्रह्मा ने प्रियव्रत

को सांसारिकता स्वीकार करने के लिए बाध्य करके उनके ब्रह्मचारी बने रहने तथा भगवद्भक्ति में पूर्णतया लीन रहने के व्रत को खण्डित कर दिया था, तो भी नारद तथा प्रियव्रत ने ब्रह्माजी पर रोष प्रकट नहीं किया। नारद को इसका किंचित दुख नहीं था कि प्रियव्रत को अपना शिष्य बनाकर उन्हें हताशा हुई है। प्रियव्रत तथा नारद समान रूप से महात्मा थे, जो ब्रह्मा का सम्मान करना जानते थे। अत: ब्रह्माजी पर किसी प्रकार का रोष न प्रकट करते हुए उन्हें भावुक होकर सम्मान प्रकट किया। इसके पश्चात् ब्रह्माजी अपने स्वर्गीय धाम, सत्यलोक, चले गये जिसे यहाँ पर अवर्णनातीत और अगम्य कहा गया है।

इस श्लोक में बताया गया है कि ब्रह्माजी अपने धाम को वापस चले गये जो उनके व्यक्तित्व के ही समान महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड के सृजन कर्ता और उसके यहाँ के सर्वाधिक वरेण्य विभूति हैं। *भगवद्गीता* (८.१७) में उनकी जीवन-अवधि का वर्णन है—*सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः*—चारों युग की कुल अवधि ४३,००,००० वर्ष है। यदि इसे १००० से गुणा किया जाये, तो जो कालावधि प्राप्त होगी वह ब्रह्मा के जीवन के बारह घण्टे के तुल्य है। अत: किसी के लिए ब्रह्मा के बारह घण्टों का सही अनुमान लगा पाना भी कठिन है। फिर भला उनके सौ वर्ष के पूरे जीवन का अनुमान तो दूर रहा। तो हम उनके धाम को कैसे समझ सकते हैं? तो वैदिक साहित्य बताता है कि सत्यलोक में जन्म, मृत्यु, जरा या व्याधि नहीं होते। दूसरे शब्दों में, सत्यलोक ब्रह्मलोक से आगे स्थित है, अत: यह वैकुण्ठ लोक के ही तुल्य हुआ। ब्रह्मा के धाम का वर्णन हमारे वर्तमान पद से परे है, इसलिए उसे *अवाङ्-मनसा-गोचर* कहा गया है—अर्थात् वाणी तथा मन के वर्णन से परे। वैदिक साहित्य में ब्रह्मा के धाम का वर्णन इस प्रकार हुआ है—*यद् वै परार्ध्यं तद् उपारमेष्ठ्यं न यत्र शोको न जरा न मृत्युर्नीर्तिर्न चोद्वेगः*—"सत्यलोक में, जो लाखों-करोड़ों वर्ष की दूरी पर स्थित है वहाँ न शोक है, न जरा, मृत्यु, चिन्ता या शत्रुओं का प्रभाव।"

मनुरपि परेणैवं प्रतिसन्धितमनोरथः सुरर्षिवरानुमतेनात्मजमखिलधरामण्डलस्थितिगुप्तय आस्थाप्य स्वयमतिविषमविषयविषजलाशयाशाया उपरराम. ॥ २२॥

शब्दार्थ

मनुः—स्वायंभुव मनु; **अपि**—भी; **परेण**—ब्रह्मा द्वारा; **एवम्**—इस प्रकार; **प्रतिसन्धित**—पूर्ण हुआ; **मनः-रथः**—अपना मनोरथ; **सुर-ऋषि-वर**—महर्षि नारद की; **अनुमतेन**—अनुमति से; **आत्म-जम्**—अपने पुत्र को; **अखिल**—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का; **धरा-**

मण्डल—लोकों का; स्थिति—पालन; गुप्तये—रक्षा हेतु; आस्थाप्य—स्थापित करके; स्वयम्—स्वयं; अति-विषम—अत्यन्त भयावने; विषय—सांसारिक प्रपंच; विष—विष का; जल-आशय—समुद्र; आशायाः—कामनाओं से; उपरराम—निवृत्ति प्राप्त की।.

इस प्रकार ब्रह्माजी की सहायता से स्वायंभुव मनु का मनोरथ पूर्ण हुआ। उन्होंने महर्षि नारद की अनुमति से अपने पुत्र को समस्त भूमण्डल के पालन का भार सौंप दिया और इस तरह स्वयं भौतिक कामनाओं के अति दुस्तर तथा विषमय सागर से निवृत्ति प्राप्त कर ली।

तात्पर्य : स्वायंभुव मनु एक प्रकार से निराश ही थे क्योंकि नारद जैसी विभूति ने उनके पुत्र प्रियव्रत को गृहस्थाश्रम न स्वीकार करने का उपदेश दे रखा था। अब वे अत्यधिक प्रसन्न थे, क्योंकि ब्रह्माजी ने बीच में पड़कर उनके पुत्र प्रियव्रत को राज्यभार सँभालने के लिए राजी कर लिया था। *भगवद्गीता* से हमें यह जानकारी मिलती है कि वैवस्वत मनु सूर्यदेव के पुत्र थे और उनके पुत्र महाराज इक्ष्वाकु ने इस पृथ्वीलोक पर शासन किया। किन्तु ऐसा लगता है कि स्वायंभुव मनु पर समस्त ब्रह्माण्ड के पालन और रक्षा करने का भार था। *धरामण्डल* का अर्थ ''लोक'' है। उदाहरणार्थ, यह पृथ्वी धरा-मंडल कहलाती है। किन्तु *अखिल* का अर्थ सम्पूर्ण अथवा विश्वव्यापी है। अत: यह समझ पाना कठिन है कि महाराज प्रियव्रत कहाँ स्थित थे, किन्तु इस वर्णन से यह निश्चित रूप से प्रकट है कि उनका पद वैवस्वत मनु से बड़ा था, क्योंकि उनपर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के समस्त लोकों का भार सौंपा गया था।

एक दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि स्वायंभुव मनु को ब्रह्माण्ड के सभी लोकों के राज्यभार से निवृत्ति मिलने पर अत्यधिक संतोष हुआ। आजकल राजनीतिक व्यक्ति राष्ट्रपति या ऐसे उच्च पद को प्राप्त करने की आकांक्षा से जनमत प्राप्त करने हेतु अपने-अपने आदमी नियुक्त करने के लिए उत्सुक होते हैं, जो द्वार-द्वार जाकर उनका प्रचार करें। इसके विपरीत यहाँ हम पाते हैं कि समस्त संसार का राज्य भार सँभालने के लिए प्रियव्रत को ब्रह्मा द्वारा मनाया जाना पड़ा। इसी प्रकार उनके पिता स्वायंभुव मनु ने विश्व का राज्य अपने पुत्र को सौंपते हुए अत्यन्त शान्ति महसूस की। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में राजा तथा उनके राज्य-अधिकारी इन्द्रिय-भोग के लिए इन पदों को स्वीकार नहीं करते थे। ऐसे महान् राजा राजर्षि कहलाते थे और प्रजा की भलाई के लिए राज्य का पालन और संरक्षण करने के लिए शासन करते थे। प्रियव्रत तथा स्वायंभुव मनु का इतिहास बताता है कि किस प्रकार आदर्श राजा नि:स्वार्थ भाव से राज्य का संचालन करते थे और अपने को भौतिक आसक्ति से

कलुषित होने से दूर रखते थे।

यहाँ पर विषयों की तुलना विष-सागर से की गई है। श्रील नरोत्तमदास ठाकुर ने भी अपने एक गीत में इन्हें ऐसा ही बताया है—

संसार विषानले, दिवा-निशि हिया ज्वले,

जुडाइते ना कैनु उपाय

"मेरा हृदय संसार की अग्नि में सदा जलता रहता है और उससे उबरने का मेरे पास कोई उपाय नहीं है।"

गोलोकेर प्रेम-धन, हरि-नाम-संकीर्तन

रति ना जन्मिल केने ताय

"इसकी एकमात्र औषधि हरिनाम संकीर्तन अर्थात् 'हरे कृष्ण महामंत्र' का जप है, जो गोलोक वृन्दावन से लाया गया है। मैं कितना अभागा हूँ कि उसके लिए मुझमें तनिक भी आकर्षण नहीं है।" मनु ने ईश्वर के चरणकमल की शरण चाही थी, इसलिए उनके पुत्र प्रियव्रत के राज्य संभाल लेने पर वे अत्यन्त शान्त हुए। यही वैदिक-सभ्यता की परम्परा है। जीवन के अन्तिम समय प्रत्येक व्यक्ति को विषयों से मुक्त होकर भगवान् की भक्ति में पूर्णतया लगना चाहिए।

सुरर्षि-वर अनुमतेन शब्द भी सार्थक हैं। मनु ने महर्षि नारद की अनुमति से अपने पुत्र को राज्य दे दिया। इसका विशेष उल्लेख यहाँ इसलिए हुआ है क्योंकि नारद चाहते थे कि प्रियव्रत समस्त विषयों से मुक्त रहें, किन्तु जब ब्रह्माजी तथा मनु की प्रार्थना पर प्रियव्रत ने ब्रह्माण्ड का राज्य-भार स्वीकार कर लिया, तो नारद भी अत्यन्त प्रसन्न हुए।

इति ह वाव स जगतीपतिरीश्वरेच्छयाधिनिवेशितकर्माधिकारोऽखिलजगद्बन्धध्वंसनपरानुभावस्य भगवत आदिपुरुषस्याङ्घ्रियुगलानवरतध्यानानुभावेन परिरन्धितकषायाशयोऽवदातोऽपि मानवर्धनो महतां महीतलमनुशशास. ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ह वाव—निस्सन्देह; सः—वह; जगती-पतिः—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का राजा; ईश्वर-इच्छया—भगवान् के आदेश से; अधिनिवेशित—पूर्णतया संलग्न; कर्म-अधिकारः—भौतिक कार्यों में; अखिल-जगत्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का; बन्ध—बन्धन; ध्वंसन—विनष्ट करते हुए; पर—दिव्य; अनुभावस्य—जिसका प्रभाव; भगवतः—भगवान् के; आदि-पुरुषस्य—आदि पुरुष के; अङ्घ्रि—चरणकमल में; युगल—दो; अनवरत—अहर्निश; ध्यान-अनुभावेन—ध्यान द्वारा;

परिरन्धित—विनष्ट; कषाय—समस्त मल; आशयः—अपने हृदय में; अवदातः—नितान्त शुद्ध; अपि—यद्यपि; मान-वर्धनः—केवल सम्मान देने के लिए; महताम्—बड़ों को; महीतलम्—भौतिक संसार पर; अनुशशास—राज्य किया।

भगवान् की आज्ञा का पालन करते हुए महाराज प्रियव्रत सांसारिक कार्यों में अनुरक्त रहने लगे, किन्तु उन्हें सदैव भगवान् के उन चरणकमलों का ध्यान बना रहा जो समस्त भौतिक आसक्ति से मुक्ति दिलाने वाले हैं। यद्यपि महाराज प्रियव्रत समस्त भौतिक कल्मषों से विमुक्त थे, किन्तु अपने बड़ों का मान रखने के लिए ही वे इस संसार पर शासन करने लगे।

तात्पर्य : *मानवर्धनो महताम्* ("अपने से श्रेष्ठजनों के प्रति सम्मान प्रकट करना") शब्दसमूह अत्यन्त सार्थक है। यद्यपि महाराज प्रियव्रत पहले से ही मुक्त पुरुष थे और भौतिक वस्तुओं के प्रति उनका कोई आकर्षण नहीं था, किन्तु ब्रह्माजी का मान रखने के लिए ही उन्होंने शासन-भार सँभालने में पूरा ध्यान दिया। अर्जुन ने भी ऐसा ही किया था। अर्जुन को राजनैतिक कार्यों में भाग लेने अथवा कुरुक्षेत्र में युद्ध करने में कोई अभिरुचि नहीं थी, किन्तु जब श्रीकृष्ण ने उन्हें वैसा करने का आदेश दिया, तो उन्होंने बड़े ही अच्छे ढंग से अपने कर्तव्य का पालन किया। जो नित्य ही भगवान् के चरणकमलों का ध्यान धरता है, वह इस संसार के समस्त कल्मषों से ऊपर रहता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (६.४७) में कहा गया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

"समस्त योगियों में भी जो योगी श्रद्धाभाव से मेरे परायण होकर प्रेममय भक्तियोग के द्वारा मेरी दिव्य सेवा करता है, वह मुझसे परम अतरंग रूप में जुड़ा हुआ है और सबसे श्रेष्ठ है।" इसलिए महाराज प्रियव्रत मुक्त पुरुष एवं परम योगियों में से थे, फिर भी ब्रह्मा के आदेशानुसार वे बाह्य रूप से ब्रह्माण्ड के शासक बने। इस प्रकार अपने गुरुजनों के प्रति सम्मान का प्रदर्शन उनका एक और असाधारण गुण था। *श्रीमद्भागवत* (६.१७.२८) में कहा गया है—

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।

स्वर्गापवर्गनर्केष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः॥

यदि भगवान् की आज्ञापालन का अवसर आता है, तो वास्तविक रूप से बढ़ा-चढ़ा भक्त किसी प्रकार भयभीत नहीं होता। मुक्त पुरुष होते हुए भी प्रियव्रत द्वारा सांसारिक कार्यों में निरत होने का यही

कारण है। इसी सिद्धान्त के कारण एक महाभागवत, जिसका इस संसार से कोई सरोकार नहीं होता, भक्ति के द्वितीय स्तर पर उतर कर विश्व भर में भगवान् की महिमा का उपदेश देता है।

अथ च दुहितरं प्रजापतेर्विश्वकर्मण उपयेमे बर्हिष्मतीं नाम तस्यामु ह वाव आत्मजानात्मसमानशीलगुणकर्मरूपवीर्योदारान्दश भावयाम्बभूव कन्यां च यवीयसीमूर्जस्वतीं नाम. ॥ २४॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; च—भी; दुहितरम्—पुत्री को; प्रजापतेः—प्रजापतियों में से एक की; विश्वकर्मणः—विश्वकर्मा नामक; उपयेमे—ब्याह लिया; बर्हिष्मतीम्—बर्हिष्मती को; नाम—नाम; तस्याम्—उसमें; उ ह—जैसाकि प्रसिद्ध है; वाव—आश्चर्यजनक; आत्म-जान्—पुत्रों को; आत्म-समान—अपने ही सदृश्य; शील—चरित्र; गुण—गुण; कर्म—कार्य; रूप—सुन्दरता; वीर्य—बल; उदारान्—जिसकी उदारता; दश—दस; भावयाम् बभूव—उसके उत्पन्न हुई; कन्याम्—कन्या; च—भी; यवीयसीम्—सबसे छोटी; ऊर्जस्वतीम्—ऊर्जस्वती; नाम—नाम की।

तदनन्तर महाराज प्रियव्रत ने प्रजापति विश्वकर्मा की कन्या बर्हिष्मती से विवाह किया। उससे उन्हें दस पुत्र प्राप्त हुए जो सुन्दरता, चरित्र, उदारता तथा अन्य गुणों में उन्हीं के समान थे। उनके एक पुत्री भी हुई जो सबसे छोटी थी। उसका नाम ऊर्जस्वती था।

तात्पर्य : महाराज प्रियव्रत ने ब्रह्मा का आदेश पालन करके के लिए न केवल राज्यभार स्वीकार किया, वरन् प्रजापतियों में से एक, प्रजापति विश्वकर्मा की पुत्री से विवाह भी किया। चूँकि महाराज प्रियव्रत दिव्य ज्ञान में निष्णात् थे, अत: वे चाहते तो घर लौटकर ब्रह्मचारी रहते हुए शासन-भार सँभालते, किन्तु गृहस्थाश्रम में आकर उन्होंने पत्नी भी स्वीकार की। नियम यह है कि जो गृहस्थ बन जाता है उसे उस आश्रम में पूर्णरूप से रहना चाहिए जिसका अर्थ है कि वह अपनी पत्नी तथा बच्चों के साथ शान्तिपूर्वक रहे। जब चैतन्य महाप्रभु की प्रथम पत्नी का देहान्त हो गया, तो उनकी माँ ने दूसरा ब्याह करने का अनुरोध किया। उस समय उनकी आयु बीस वर्ष की थी और चौबीस वर्ष की आयु में वे संन्यास ग्रहण करने जा रहे थे, तो भी अपनी माँ के अनुरोध पर उन्होंने विवाह कर लिया। उन्होंने अपनी माँ से कहा, ''जब तक मैं गृहस्थाश्रम में हूँ, मेरी पत्नी होनी चाहिए, क्योंकि गृहस्थ जीवन का अर्थ घर में ही बने रहना नहीं होता। वास्तविक गृहस्थ जीवन का अर्थ है पत्नी के साथ घर में रहना।''

इस श्लोक के तीन शब्द—*उ ह वाव*—महत्त्व के हैं। इनका प्रयोग आश्चर्य प्रकट करने के लिए हुआ है। प्रियव्रत महाराज ने संन्यास का व्रत ले रखा था, किन्तु पत्नी स्वीकार करके पुत्र उत्पन्न करने से संन्यास-मार्ग का कोई सम्बन्ध नहीं है—ये कार्य तो भोग मार्ग को बताते हैं। अत: यह विस्मय की

बात थी कि संन्यास मार्ग के अनुगामी प्रियव्रत महाराज ने अब भोग-मार्ग को स्वीकार कर लिया।

कभी-कभी मेरी आलोचना इसलिए की जाती है, क्योंकि संन्यासी होते हुए भी मैं अपने शिष्यों के विवाहोत्सवों में सम्मिलित हुआ हूँ। यहाँ पर बता दिया जाये कि चूँकि हमने कृष्णभावनामृत संघ प्रारम्भ किया है और मानव समाज में आदर्श विवाह सम्पन्न होने चाहिए, इसलिए आदर्श समाज की स्थापना के लिए हमें इसके कुछ सदस्यों के विवाह में भाग लेना ही चाहिए, भले ही हमने संन्यास क्यों न स्वीकार कर रखा हो। यह उन व्यक्तियों को आश्चर्यजनक प्रतीत हो सकता है जिनकी रुचि चारों सामाजिक आश्रमों तथा चारों आध्यात्मिक आश्रमों की दिव्य प्रणाली, जिसे *दैव-वर्णाश्रम* कहते हैं, स्थापित करने में नहीं है। तो भी श्रील भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने दैव-वर्णाश्रम की पुनर्स्थापना करनी चाही थी। दैव-वर्णाश्रम में 'जन्म से' सामाजिक स्तर नहीं स्वीकार किया जाता, क्योंकि *भगवद्गीता* में कहा गया है कि इसके निर्धारक तत्त्व *गुण* तथा *कर्म* हैं। कृष्णभावनामृत के लिए उपयुक्त समाज को बनाये रखने के उद्देश्य से इसी दैव-वर्णाश्रम की सारे विश्व में पुनर्स्थापना की जानी चाहिए। मूर्ख आलोचकों के लिए यह आश्चर्यजनक हो सकता है, किन्तु कृष्णभावनामृत संघ के कार्यों में से यह एक है।

आग्नीध्रेध्मजिह्वयज्ञबाहुमहावीरहिरण्यरेतोघृतपृष्ठसवनमेधातिथिवीतिहोत्रकवय इति सर्व एवाग्निनामानः. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

आग्नीध्र—आग्नीध्र; इध्म-जिह्व—इध्मजिह्व; यज्ञ-बाहु—यज्ञबाहु; महा-वीर—महावीर; हिरण्य-रेतः—हिरण्यरेता; घृतपृष्ठ—घृतपृष्ठ; सवन—सवन; मेधा-तिथि—मेधातिथि; वीतिहोत्र—वीतिहोत्र; कवयः—(तथा) कवि; इति—इस प्रकार; सर्वे—ये सभी; एव—निश्चय ही; अग्नि—अग्नि देवता के; नामानः—नाम।.

महाराज प्रियव्रत के दस पुत्रों के नाम थे—आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, महावीर, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, सवन, मेधातिथि, वीतिहोत्र तथा कवि। ये अग्निदेव के भी नाम हैं।

एतेषां कविर्महावीरः सवन इति त्रय आसन्नूर्ध्वरेतसस्त आत्मविद्यायामर्भभावादारभ्य कृतपरिचयाः पारमहंस्यमेवाश्रममभजन्. ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एतेषाम्—इनमें से; कविः—कवि; महावीरः—महावीर; सवनः—सवन; इति—इस प्रकार; त्रयः—तीन; आसन्—थे; ऊर्ध्व-रेतसः—परम (नैष्ठिक) ब्रह्मचारी; ते—वे; आत्म-विद्यायाम्—दिव्य ज्ञान में; अर्भ-भावात्—बचपन से; आरभ्य—प्रारम्भ

करके; कृत-परिचयाः—अत्यधिक परिचित; पारमहंस्यम्—मानव जीवन की उच्चतम सिद्धि का; एव—निश्चय ही; आश्रमम्—आश्रम; अभजन्—पालन किया।.

इन दस पुत्रों में से तीन—कवि, महावीर तथा सवन—पूर्ण ब्रह्मचारी रहे। इस प्रकार बालपन से ब्रह्मचर्य जीवन की शिक्षा प्राप्त करने के कारण वे सर्वोच्च सिद्धि अर्थात् परमहंस आश्रम से पूर्णतया परिचित थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में आगत *ऊर्ध्व-रेतस:* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे ऐसे पुरुष का बोध होता है, जो विषयी जीवन पर विजय प्राप्त करके अपने वीर्य को स्खलित नहीं होने देता वरन् इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वस्तु को शरीर में संचित करके अपने मस्तिष्क को उर्वर बनाता है। जो पुरुष विषयी जीवन पर पूर्ण विजय प्राप्त कर सकता है, वह अपने मस्तिष्क से आश्चर्यजनक काम ले सकता है, विशेषकर उसकी स्मरण शक्ति अपूर्व हो जाती है। इस प्रकार से विद्यार्थी अपने गुरु से वैदिक उपदेशों को एक बार सुनकर उन्हें अक्षरश: स्मरण रख सकते थे।

अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द *अर्भ-भावात्* है, जिसका अर्थ है ''बालपन से ही।'' इसका दूसरा भी अर्थ है—''बच्चों को अत्यधिक प्रिय होने के कारण।'' दूसरे शब्दों में, परमहंस का जीवन दूसरों के लाभ के लिए समर्पित रहता है। जिस प्रकार से पिता अपने पुत्र प्रेम के कारण अनेक वस्तुओं का त्याग करता है उसी प्रकार से साधु पुरुष समाज-हित के लिए समस्त शारीरिक सुखों का परित्याग कर देते हैं। इस प्रसंग में छ: गोस्वामियों से सम्बन्धित एक श्लोक है—

त्यक्त्या तूर्णमशेष-मंडल-पति-श्रेणीं सदा तुच्छवत्।

भूत्वा दीन-गणेशकौ करुणया कौपीन-कंठाश्रितौ॥

दीन पतित आत्माओं के प्रति दयाभाव के कारण छ: गोस्वामियों ने अपने मंत्रिपद को त्याग कर याचक बनने का व्रत लिया। उन्होंने अपनी आवश्यकताओं को यथासम्भव करके एक कौपीन तथा एक कमंडलु धारण किया। इस प्रकार वे वैष्णव साहित्य का संग्रह और प्रकाशन करके श्री चैतन्य महाप्रभु के आदेशों का पालन करते हुए वृन्दावन में रहे।

तस्मिन्नु ह वा उपशमशीला: परमर्षय: सकलजीवनिकायावासस्य भगवतो वासुदेवस्य भीतानां शरणभूतस्य श्रीमच्चरणारविन्दाविरतस्मरणाविगलितपरमभक्तियोगानुभावेन परिभावितान्तर्हृदयाधिगते भगवति सर्वेषां भूतानामात्मभूते प्रत्यगात्मन्येवात्मनस्तादात्म्यमविशेषेण समीयु:. ॥ २७॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस परमहंस आश्रम में; उ—निश्चय ही; ह—इतना प्रसिद्ध; वा—निश्चय ही; उपशम-शीलाः—संन्यास आश्रम में; परम-ऋषयः—महान् ऋषि; सकल—समस्त; जीव—जीवात्माओं का; निकाय—समूह; आवासस्य—निवास का; भगवतः—भगवान्; वासुदेवस्य—भगवान् वासुदेव का; भीतानाम्—जो भौतिक अस्तित्व के कारण भयभीत हैं, उनका; शरण-भूतस्य—जो एकमात्र शरण है; श्रीमत्—भगवान् का; चरण-अरविन्द—चरणकमल; अविरत—निरन्तर; स्मरण—स्मरण; अविगलित—निष्कलुषित; परम—परम; भक्ति-योग—भक्ति का; अनुभावेन—बल से; परिभावित—शुद्धीकृत, विमल; अन्तः—भीतरी; हृदय—हृदय; अधिगते—देखा हुआ; भगवति—भगवान्; सर्वेषाम्—सब; भूतानाम्—भूतात्माओं में से; आत्म-भूते—शरीर के भीतर स्थित; प्रत्यक्—प्रत्यक्ष; आत्मनि—परम-आत्मा में; एव—निश्चय ही; आत्मनः—अपना; तादात्म्यम्—गुण में एक समान; अविशेषेण—बिना अन्तर के; समीयुः—साक्षात्कार किया।

जीवन प्रारम्भ से ही संन्यास आश्रम में रहकर ये तीनों अपनी इन्द्रियों को पूर्णतया वश में करते हुए महान सन्त हो गये। उन्होंने अपने मन को उन भगवान् के चरणकमलों में सदैव केन्द्रित रखा, जो समस्त जीवात्माओं के विश्रामस्थल (आश्रय) हैं और वासुदेव नाम से विख्यात हैं। जो भव-स्थिति से भयभीत हैं उनके लिए भगवान् वासुदेव ही एकमात्र शरण हैं। भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर ध्यान धारण करने के कारण महाराज प्रियव्रत के ये तीनों पुत्र शुद्ध भक्ति से सिद्ध बन गये। वे अपनी भक्ति के बल से परमात्मा के रूप में प्रत्येक के हृदय में निवास करने वाले भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन कर सके और इसका अनुभव कर सके कि उनमें तथा भगवान् में, गुण के अनुसार, कोई अन्तर नहीं है।

तात्पर्य : संन्यासी जीवन में *परमहंस* अवस्था सर्वोच्च है। संन्यास की चार अवस्थाएँ होती हैं—*कुटीचक, बहूदक, परिव्राजकाचार्य* तथा *परमहंस*। वैदिक प्रणाली के अनुसार संन्यास आश्रम स्वीकार कर लेने पर गाँव के बाहर कुटी में रहना होता है और भोजन आदि आवश्यक वस्तुएँ घर से भेजी जाती हैं। यह *कुटीचक* अवस्था है। जब संन्यासी और आगे बढ़ता है, तो वह घर की कोई वस्तु स्वीकार नहीं करता, वरन् वह अपना भोजन आदि आवश्यक पदार्थ कई स्थानों से एकत्र करता है। यह प्रणाली *माधुकरी* कहलाती है, जिसका शाब्दिक अर्थ है "भौंरों की वृत्ति।" जिस प्रकार भौंरे थोड़ा-थोड़ा करके अनेक पुष्पों से मधु संचित करते हैं उसी प्रकार से संन्यासी को द्वार-द्वार जाकर भिक्षा माँगनी चाहिए और प्रत्येक घर से थोड़ा ही ग्रहण करना चाहिए। यह *बहूदक* अवस्था कहलाती है। अधिक अनुभवी होने पर संन्यासी भगवान् वासुदेव की महिमा का उपदेश देने के लिए विश्वभर का भ्रमण करता है। तब वह *परिव्राजकाचार्य* कहलाता है। संन्यासी को *परमहंस* अवस्था तब प्राप्त होती है, जब वह अपना उपदेश-कार्य समाप्त करके अध्यात्म जीवन बिताने के उद्देश्य से एक स्थान पर

टिक जाता है। सच्चा परमहंस वह है, जो अपनी इन्द्रियों को पूर्णतया वश में रखता है और ईश्वर की शुद्ध सेवा में लगा रहता है। अत: प्रियव्रत के ये तीनों पुत्र प्रारम्भ से ही परमहंस अवस्था को प्राप्त थे। ईश्वर की सेवा में तल्लीन रहने के कारण उनकी इन्द्रियाँ उन्हें विचलित नहीं कर सकती थीं। इसीलिए तीनों भाइयों को इस श्लोक में *उपशमशीला:* कहा गया है। *उपशम* का अर्थ है ''पूर्णत: दमित।'' चूँकि उन्होंने अपनी इन्द्रियों को पूर्णत: दमित कर लिया था इसलिए वे महान् साधु तथा ऋषि माने जाते हैं।

इन्द्रियों को दमित करने के अनन्तर तीनों भाइयों ने अपना मन वासुदेव श्रीकृष्ण के चरणकमलों में लगा दिया। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है—*वासुदेव: सर्वम् इति*—अर्थात् वासुदेव के चरणकमल ही सर्वस्व हैं। भगवान् वासुदेव समस्त जीवात्माओं के आगार हैं। जब इस विराट जगत का लय हो जाता है, तो समस्त जीवात्मनाएँ गर्भोदकशायी विष्णु की परम देह में प्रविष्ट होती हैं, जो महाविष्णु में लीन हो जाते हैं। ये दोनों विष्णुतत्त्व वासुदेव तत्त्व ही हैं; इसीलिए कवि, महावीर तथा सवन—ये तीनों भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण के चरणारविन्द में सदैव ध्यानस्थ रहे। इस प्रकार वे वह समझ सके कि हृदय में स्थित परम आत्मा भगवान् ही है और वे अपने स्वरूप को उनमें पा सके। इसका आशय यह है कि केवल शुद्ध भक्ति से पूर्ण आत्म-साक्षात्कार किया जा सकता है। इस श्लोक में वर्णित *परम-भक्ति-योग* का यह भावार्थ है कि अमिश्रित (अनन्य) भक्ति के बल पर जीवात्मा के लिए ईश्वर की सेवा के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं रहता, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*वासुदेव: सर्वम् इति*)। *परम-भक्ति-योग* से मनुष्य स्वत: देहात्मबुद्धि से उबर सकता है और भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकता है। इसकी पुष्टि *ब्रह्मसंहिता* में हुई है—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन
सन्त: सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

सिद्ध योगी, जिसे *सत्* या साधु कहते हैं सदा अपने हृदय में भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकता है। श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण स्वयं को स्वांशों द्वारा विस्तार देते हैं और इस तरह भक्त अपने हृदय में निरन्तर उनका दर्शन पा सकता है।

अन्यस्यामपि जायायां त्रयः पुत्रा आसन्नुत्तमस्तामसो रैवत इति मन्वन्तराधिपतयः. ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अन्यस्याम्—अन्य; अपि—भी; जायायाम्—स्त्री से; त्रयः—तीन; पुत्राः—पुत्र; आसन्—थे; उत्तमः तामसः रैवतः—उत्तम, तामस तथा रैवत; इति—इस प्रकार; मनु-अन्तर—मन्वन्तर कल्प के; अधिपतयः—शासक।.

महाराज प्रियव्रत की दूसरी पत्नी से तीन पुत्र उत्पन्न हुए जिनके नाम उत्तम, तामस तथा रैवत थे। बाद में इन्होंने मनवन्तर कल्पों का भार सँभाला।

तात्पर्य : ब्रह्मा के एक दिन में १४ मन्वन्तर होते हैं। एक मनु का जीवन काल अर्थात् एक मन्वन्तर की अवधि ७१ युग है और प्रत्येक युग में ४३,२०,००० वर्ष होते हैं। इन मन्वन्तरों पर शासन करने वाले प्राय: समस्त मनु महाराज प्रियव्रत के वंशज ही रहे। इनमें से तीन—उत्तम, तामस तथा रैवत—का विशेष उल्लेख हुआ है।

एवमुपशमायनेषु स्वतनयेष्वथ जगतीपतिर्जगतीमर्बुदान्येकादश परिवत्सराणामव्याहताखिलपुरुषकारसारसम्भृतदोर्दण्डयुगलापीडितमौर्वीगुणस्तनितविरमितधर्मप्रतिपक्षो बर्हिष्मत्याश्चानुदिनमेधमानप्रमोदप्रसरणयौषिण्यव्रीडाप्रमुषितहासावलोकरुचिरक्ष्वेल्यादिभिः पराभूयमानविवेक इवानवबुध्यमान इव महामना बुभुजे. ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; उपशम-अयनेषु—सभी सुयोग्य; स्व-तनयेषु—अपने पुत्रों में से; अथ—तत्पश्चात्; जगती-पतिः—ब्रह्माण्ड के स्वामी; जगतीम्—ब्रह्माण्ड को; अर्बुदानि—अर्बुद (१०,००,००,००० की संख्या); एकादश—ग्यारह; परिवत्सराणाम्—वर्षों का; अव्याहत—बिना रोकटोक के; अखिल—विश्वव्यापी; पुरुष-कार—शौर्य; सार—शक्ति; सम्भृत—प्रदत्त; दोः-दण्डः—बलिष्ठ भुजाओं वाले; युगल—दो; आपीडित—खींची गई; मौर्वी-गुण—धनुष की डोरी; स्तनित—टंकार से; विरमित—पराजित; धर्म—धार्मिक नियम; प्रतिपक्षः—विपक्षी; बर्हिष्मत्याः—अपनी पत्नी बर्हिष्मती का; च—तथा; अनुदिनम्—प्रतिदिन; एधमान—वर्धमान; प्रमोद—मनोरंजन; प्रसरण—सुशीलता, सौजन्य; यौषिण्य—स्त्रियोचित व्यवहार; व्रीडा—लज्जा से; प्रमुषित—संकुचित; हास—हँसी, हास्य; अवलोक—चितवन; रुचिर—मनोहर; क्ष्वेलि-आदिभिः—विनोद इत्यादि; पराभूयमान—पराजित होकर; विवेकः—अपने वास्तविक ज्ञान; इव—सदृश; अनवबुध्यमानः—विवेकहीन व्यक्ति; इव—सदृश; महा-मनाः—महान् आत्मा; बुभुजे—राज्य किया, भोगा।.

इस प्रकार से कवि, महावीर तथा सवन के परमहंस अवस्था में भलीभाँति प्रशिक्षित हो जाने पर महाराज प्रियव्रत ने ग्यारह अर्बुद वर्षों तक ब्रह्माण्ड पर शासन किया। जिस समय वे अपनी बलशाली भुजाओं से धनुष की डोरी खींच कर तीर चढ़ा लेते थे उस समय धार्मिक जीवन के नियमों को न मानने वाले उनके विपक्षी विश्वपर शासन करने के उनके अद्वितीय शौर्य से डर कर न जाने कहाँ भाग जाते थे। वे अपनी पत्नी बर्हिष्मती को अगाध प्यार करते थे और समय बीतने के साथ ही उनका प्रणय भी बढ़ता गया। अपनी स्त्रियोचित वेशभूषा, उठने-बैठने, हँसी तथा

चितवन से महारानी बर्हिष्मती उन्हें शक्ति प्रदान करती थी। इस प्रकार महात्मा होते हुए भी वे अपनी पत्नी के स्त्री-उचित व्यवहार में खो गये। वे उसके साथ सामान्य पुरुष-सा आचरण करते, किन्तु वे वास्तव में महान् आत्मा थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *धर्म-प्रतिपक्ष:* धार्मिक सिद्धान्तों के विरोधी से किसी विशेष धर्म का नहीं वरन् वर्णाश्रम धर्म का संकेत मिलता है। सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने एवं नागरिकों को जीवन-लक्ष्य अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान की ओर क्रमश: अग्रसर होने के लिए आवश्यक है कि वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन किया जाये। इस श्लोक से प्रतीत होता है कि वर्णाश्रम धर्म के पालन में महाराज प्रियव्रत इतने कठोर थे कि इसकी उपेक्षा करने वाले युद्ध के लिए ललकारे जाने या दंडित किये जाने की चेतावनी पर राजा से दूर भागते फिरते थे। दरअसल महाराज प्रियव्रत को अपने दृढ़ संकल्प के कारण लड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ी; उनके विपक्षी वर्णाश्रम धर्म के नियमों का उल्लंघन करने का दुस्साहस नहीं कर सकते थे। कहा गया है जो मानव समाज वर्णाश्रम धर्म द्वारा चालित नहीं है, वह बिल्लियों तथा कुत्तों के पशु-समाज से बढ़कर नहीं है। अत: महाराज प्रियव्रत ने अपने असाधारण तथा अद्वितीय शौर्य से वर्णाश्रम धर्म को दृढ़ बनाये रखा।

इस प्रकार का कठोर जागरूक जीवन बनाये रखने के लिए मनुष्य को अपनी पत्नी से प्रोत्साहन की आवश्यकता पड़ती है। वर्णाश्रम धर्म प्रणाली में, ब्राह्मण तथा संन्यासियों को स्त्रियों से किसी प्रकार के प्रोत्साहन की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु क्षत्रियों तथा गृहस्थों को अपने कर्तव्य-पालन के लिए अपनी पत्नियों से प्रोत्साहन लेने की आवश्यकता रहती है। वास्तविकता तो यह है कि कोई गृहस्थ या क्षत्रिय अपनी पत्नी के सहयोग के बिना अपना दायित्व अच्छी तरह से निभा ही नहीं सकता। श्री चैतन्य महाप्रभु ने स्वयं यह स्वीकार किया था कि गृहस्थ को अपनी पत्नी के साथ रहना चाहिए। क्षत्रियों को राज-काज चलाने में प्रोस्ताहित किए जाने के लिए कई पत्नियाँ रखने की छूट थी। कर्म तथा राजनैतिक कार्य के जीवन में योग्य पत्नी का साहचर्य अनिवार्य है। अत: सुचारु रूप से कर्तव्य पालने के लिए महाराज प्रियव्रत ने अपनी सुन्दर पत्नी बर्हिष्मती का लाभ उठाया, क्योंकि वह स्त्रियोचित वेशभूषा, मुस्कान तथा अपने नारी सुलभ शारीरिक हाव-भावों से अपने महान् पति को प्रसन्न रखने में दक्ष थी। वह महाराज प्रियव्रत को प्रोत्साहित करती रहती जिससे वे उचित रीति से

शासन करते थे। इस श्लोक में *इव* शब्द का दो बार प्रयोग यह बताने के लिए किया गया है कि महाराज प्रियव्रत स्त्री-दास के रूप में आचरण करते हुए ऐसे प्रतीत होते थे जैसे कि वे मानवोचित विवेक खो बैठे हों। किन्तु वास्तव में वे अपने महात्मा पद के प्रति भिज्ञ थे, यद्यपि ऊपर से वे कर्मी पति का-सा आचरण कर रहे थे। इसप्रकार महाराज प्रियव्रत ने ग्यारह अर्बुद वर्षों तक राज्य किया। एक अर्बुद दस करोड़ (१०,००,००,०००) वर्ष के तुल्य होता है।

यावदवभासयति सुरगिरिमनुपरिक्रामन्भगवानादित्यो वसुधातलमर्धेनैव प्रतपत्यर्धेनावच्छादयति तदा हि भगवदुपासनोपचितातिपुरुषप्रभावस्तदनभिनन्दन्समजवेन रथेन ज्योतिर्मयेन रजनीमपि दिनं करिष्यामीति सप्तकृत्वस्तरणिमनुपर्यक्रामद्द्वितीय इव पतङ्गः. ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; अवभासयति—प्रकाश देता है; सुर-गिरिम्—सुमेरु पर्वत की; अनुपरिक्रामन्—परिक्रमा करते हुए; भगवान्—परम शक्तिमान; आदित्यः—सूर्यदेव; वसुधा-तलम्—अधोलोक पर; अर्धेन—आधे से; एव—निश्चय ही; प्रतपति—तप्त करता है; अर्धेन—आधे से; अवच्छादयति—अँधेरे से ढके रहता है, अँधेरा करता है; तदा—उस समय; हि—निश्चय ही; भगवत्-उपासना—भगवान् की उपासना द्वारा; उपचित—उन्हें पूरी तरह प्रसन्न करके; अति-पुरुष—परम पुरुष; प्रभावः—प्रभाव; तत्—वह; अनभिनन्दन्—बिना प्रशंसा किये; समजवेन—समान बलशाली के द्वारा; रथेन—रथ पर; ज्योतिः-मयेन—ज्योतिर्मय, प्रकाशवान्; रजनीम्—रात्रि को; अपि—भी; दिनम्—दिन; करिष्यामि—बना दूँगा; इति—इस प्रकार; सप्त-कृत्—सात बार; वस्तरणिम्—सूर्य की कक्ष्या का अनुगमन करते हुए; अनुपर्यक्रामत्—परिक्रमा करते हुए; द्वितीयः—दूसरा; इव—सदृश; पतङ्गः—सूर्य।.

इस प्रकार सुचारु रूप से राज्य करते हुए राजा प्रियव्रत एक बार परम बलशाली सूर्यदेव की परिक्रमा से असन्तुष्ट हो गये। सूर्यदेव अपने रथ पर आरूढ़ होकर सुमेरु पर्वत की परिक्रमा करते हुए समस्त लोकों को प्रकाशित करते हैं, किन्तु जब सूर्य उत्तर दिशा में रहता है, तो दक्षिण भाग को कम प्रकाश मिलता है और जब सूर्य दक्षिण दिशा में रहता है, तो उत्तर भाग को कम प्रकाश मिलता है। राजा प्रियव्रत को यह स्थिति नहीं भायी इसलिए उन्होंने संकल्प किया कि ब्रह्माण्ड के उस भाग में जहाँ रात्रि है, वहाँ वे दिन कर देंगे। उन्होंने एक प्रकाशमान रथ पर चढ़कर सूर्यदेव की कक्ष्या का पीछा करके अपनी इच्छा पूर्ण की। वे ऐसे विस्मयजनक कार्यकलाप इसीलिए कर पाये, क्योंकि उन्होंने भगवान् की उपासना के द्वारा शौर्य अर्जित किया था।

तात्पर्य : बँगला में एक कहावत है कि वह इतना बलवान है कि चाहे, तो रात को दिन और दिन को रात कर दे। यह कहावत प्रियव्रत के शौर्य के कारण ही प्रचलित है। उनके कार्यों से यह पता चलता है कि भगवान् की उपासना से वे कितने शक्तिशाली हो गये थे। भगवान् कृष्ण को योगेश्वर कहा

गया है *भगवद्गीता* (१८.७८) में कहा गया है कि जहाँ जहाँ योगेश्वर रहते हैं वहाँ वहाँ विजय, धन तथा ऐश्वर्य रहते हैं (*यत्र योगेश्वर: कृष्ण:*)। भक्ति इतनी बलशाली होती है। जब भक्त की मनोकामना पूर्ण होती है, तो वह उसकी निजी शक्ति से नहीं, वरन् शक्ति के स्वामी (योगेश्वर कृष्ण) के अनुग्रह से होती है। उनके अनुग्रह से भक्त को ऐसी आश्चर्यजनक वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं जिनकी बड़े से बड़े वैज्ञानिक कल्पना तक नहीं कर सकते।

इस श्लोक के वर्णन से ऐसा लगता है कि सूर्य घूमता है। आधुनिक ज्योतिर्विदों के अनुसार सूर्य एक स्थान पर स्थिर है और सौर मण्डल से घिरा हुआ है, किन्तु यहाँ हम पाते हैं कि सूर्य स्थिर नहीं हैं, वह अपनी नियत कक्ष्या में चक्कर लगा रहा है। इस कथन की पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (.२) से होती है—*यस्याज्ञया भ्रमति संभृत-काल-चक्र:*—सूर्य भगवान् की आज्ञा के अनुसार स्थिर कक्ष्या में घूमता है। वैदिक साहित्य के नक्षत्र-विज्ञान अथवा ज्योतिर्वेद के अनुसार सूर्य छ: मास तक सुमेरु पर्वत के उत्तर में और छ: मास दक्षिण में घूमता रहता है। इस ग्रह (पृथ्वी) में यह हमारा व्यावहारिक अनुभव है कि जब उत्तर में ग्रीष्म ऋतु होती है, तो दक्षिण में शीत ऋतु रहती है। इसी प्रकार इसके विपरीत भी होता है। कभी-कभी आधुनिक विज्ञानी दावा करते हैं कि उन्होंने सूर्य के सारे अवयवों का पता लगा लिया है, किन्तु फिर भी वे प्रियव्रत के समान दूसरा सूर्य प्रदान नहीं कर सकते।

यद्यपि प्रियव्रत महाराजने सूर्य के समान एक तेजस्वी रथ का आविष्कार कर लिया था, किन्तु उनकी इच्छा सूर्यदेव से प्रतिस्पर्धा करने की नहीं थी क्योंकि एक वैष्णव दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न नहीं करता। उनका उद्देश्य अधिकाधिक भौतिक लाभ प्रदान करना था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टिप्पणी है कि महाराज प्रियव्रत के तेजस्वी सूर्य की किरणें अप्रैल तथा मई के महीनों में चन्द्रमा के समान सुहावनी थीं जबकि अक्टूबर तथा नवम्बर में प्रात: तथा सायंकाल इस सूर्य से सूर्यप्रकाश की अपेक्षा अधिक ताप प्राप्त होता था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि महाराज प्रियव्रत अत्यन्त बलशाली थे और उनके कार्यों (चरित्र) से उनका शौर्य चातुर्दिक फैल गया था।

ये वा उ ह तद्रथचरणनेमिकृतपरिखातास्ते सप्त सिन्धव आसन्यत एव कृता: सप्त भुवो द्वीपा:. ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

ये—वे; वा उ ह—निश्चय ही; तत्-रथ—उस रथ के; चरण—पहियों की; नेमि—परिधि से; कृत—बने हुए; परिखाताः—खाइयाँ (गड्ढे); ते—वे; सप्त—सात; सिन्धवः—सागर; आसन्—हो गये; यतः—जिसके कारण; एव—निश्चय ही; कृताः—बने हुये; सप्त—सात; भुवः—भूमण्डल के; द्वीपाः—द्वीप।

जब प्रियव्रत ने अपना रथ सूर्य के पीछे हाँका, तो उनके रथ के पहियों की परिधि से जो चिह्न बन गये वे ही बाद में सात समुद्र हो गये और भूमण्डल सात द्वीपों में विभाजित हो गया।

तात्पर्य : कभी-कभी अन्तरिक्ष लोकों को द्वीप कहा जाता है। हम सागरों में विभिन्न प्रकार के द्वीपों से परिचित हैं। इसी प्रकार से चौदह लोक भी आकाश रूपी सागर के द्वीप हैं। सूर्य के पीछे रथ हाँकते हुए प्रियव्रत ने सात विभिन्न सागरों तथा लोकों की सृष्टि की जिन्हें मिलाकर भूमण्डल या भूलोक कहा जाता है। गायत्री मंत्र में हम ॐ *भूर् भुवः स्वः तत् सवितुर् वरेण्यम्*—जप करते हैं। भूलोक के ऊपर भुवर्लोक है और उससे भी ऊपर स्वर्गलोक है। इन सबों का नियंत्रण सविता (सूर्यदेव) द्वारा किया जाता है। प्रातःकाल उठने के पश्चात् गायत्री मंत्र का जाप करने से सूर्यदेव की आराधना की जाती है।

जम्बूप्लक्षशाल्मलिकुशक्रौञ्चशाकपुष्करसंज्ञास्तेषां परिमाणं पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तर उत्तरो यथासङ्ख्यं द्विगुणमानेन बहिः समन्तत उपक्लिप्ताः. ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

जम्बू—जम्बू; प्लक्ष—प्लक्ष; शाल्मलि—शाल्मलि; कुश—कुश; क्रौञ्च—क्रौंच; शाक—शाक; पुष्कर—पुष्कर; संज्ञाः—जाने जाते हैं; तेषाम्—उनमें से; परिमाणम्—परिमाप; पूर्वस्मात् पूर्वस्मात्—अपने से पूर्व वाले से; उत्तरः उत्तरः—बाद वाले; यथा—क्रमानुसार; सङ्ख्यम्—संख्या; द्वि-गुण—दो गुना; मानेन—माप से; बहिः—बाहर; समन्ततः—चारों ओर; उपक्लिप्ताः—उत्पन्न किया।

(सात) द्वीपों के नाम हैं—जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौंच, शाक तथा पुष्कर। प्रत्येक द्वीप अपने से पहले वाले द्वीप से आकार में दुगुना है और एक तरल पदार्थ से घिरा है, जिसके आगे दूसरा द्वीप है।

तात्पर्य : प्रत्येक लोक के सागर का तरल पदार्थ भिन्न प्रकार का है। वे किस प्रकार स्थित हैं इसका विस्तृत विवरण अगले श्लोक में हुआ है।

क्षारोदेक्षुरसोदसुरोदघृतोदक्षीरोददधिमण्डोदशुद्धोदाः सप्त जलधयः सप्त द्वीपपरिखा इवाभ्यन्तरद्वीपसमाना एकैकश्येन यथानुपूर्वं सप्तस्वपि बहिर्द्वीपेषु पृथक्परित उपकल्पितास्तेषु जम्ब्वादिषु

बर्हिष्मतीपतिरनुव्रतानात्मजानाग्नीध्रेध्मजिह्वयज्ञबाहुहिरण्यरेतोघृतपृष्ठमेधातिथिवीतिहोत्रसंज्ञान्यथासङ्ख्येनैकैकस्मिन्नेकमेवाधिपतिं विदधे. ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

क्षार—लवण, खारे; उद—जल; इक्षु-रस—गन्ने का रस; उद—जल; सुरा—मदिरा; उद—जल; घृत—घी; उद—जल; क्षीर—दुग्ध; उद—जल; दधि-मण्ड—मट्ठा; उद—जल; शुद्ध-उदाः—तथा पेय जल; सप्त—सात; जल-धयः—सागर; सप्त—सात; द्वीप—द्वीप; परिखाः—खाइयाँ; इव—सदृश्य; अभ्यन्तर—भीतरी; द्वीप—द्वीप; समानाः—के तुल्य; एक-एकश्येन—एक के बाद दूसरा; यथा-अनुपूर्वम्—क्रमानुसार; सप्तसु—सात; अपि—यद्यपि; बहिः—बाह्य; द्वीपेषु—द्वीपों में; पृथक्—अलग; परितः—चारों ओर; उपकल्पिताः—स्थित; तेषु—उनमें से; जम्बू-आदिषु—जम्बूद्वीप तथा अन्य द्वीप; बर्हिष्मती—बर्हिष्मती का; पतिः—पति; अनुव्रतान्—जो पिता के नियमों का पालन करने वाले थे; आत्म-जान्—पुत्रों को; आग्नीध्र-इध्मजिह्व-यज्ञबाहु-हिरण्यरेतः-घृतपृष्ठ-मेधातिथि-वीतिहोत्र-संज्ञान्—आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, मेधातिथि, वीतिहोत्र नाम वाले; यथा-सङ्ख्येन—क्रमानुसार; एक-एकस्मिन्—प्रत्येक द्वीप में; एकम्—एक; एव—निश्चय ही; अधि-पतिम्—राजा; विदधे—बना दिया।

ये सातों समुद्र क्रमशः खारे जल, ईख के रस, सुरा, घृत, दुग्ध, मट्ठा तथा मीठे पेय जल से पूर्ण हैं। सभी द्वीप इन सागरों से पूर्णतया घिरे हैं और प्रत्येक समुद्र घिरे हुए द्वीप के समान चौड़ा है। रानी बर्हिष्मती के पति महाराज प्रियव्रत ने इन द्वीपों का एकक्षत्र राज्य अपने पुत्रों को दे दिया जिनके नाम क्रमशः आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, मेधातिथि तथा वीतिहोत्र थे। इस प्रकार अपने पिता के आदेश से ये सभी राजा बन गये।

तात्पर्य : यहाँ यह समझने की बात है कि प्रत्येक द्वीप भिन्न प्रकार के सागर से घिरा है और यहाँ कहा गया है कि प्रत्येक सागर की चौड़ाई उस द्वीप के समान है, जिसे वह घेरता है। किन्तु सागरों की लम्बाई द्वीपों की लम्बाई के तुल्य नहीं हो सकती। वीर राघव आचार्य के अनुसार प्रथम द्वीप की चौड़ाई एक लाख योजन है। एक योजन आठ मील के बराबर होता है, अतः प्रथम द्वीप की चौड़ाई आठ लाख मील हुई। इस द्वीप को घेरने वाले जल की चौड़ाई भले ही इतनी ही हो, किन्तु उसकी लम्बाई को भिन्न होना चाहिए।

दुहितरं चोर्जस्वतीं नामोशनसे प्रायच्छद्यस्यामासीद्देवयानी नाम काव्यसुता. ॥ ३४॥

शब्दार्थ

दुहितरम्—पुत्री; च—भी; ऊर्जस्वतीम्—ऊर्जस्वती; नाम—नामक; उशनसे—महर्षि उशना (शुक्राचार्य) को; प्रायच्छत्—दे दिया; यस्याम्—जिससे; आसीत्—थी (उत्पन्न हुई); देवयानी—देवयानी; नाम—नामक; काव्य-सुता—शुक्राचार्य की पुत्री।

उसके बाद राजा प्रियव्रत ने अपनी पुत्र ऊर्जस्वती का विवाह शुक्राचार्य से कर दिया, जिसके गर्भ से देवयानी नामक पुत्री उत्पन्न हुई।

नैवंविधः पुरुषकार उरुक्रमस्य
पुंसां तदङ्घ्रिरजसा जितषड्गुणानाम् ।
चित्रं विदूरविगतः सकृदाददीत
यन्नामधेयमधुना स जहाति बन्धम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एवम्-विधः—इस प्रकार; पुरुष-कारः—अपना प्रभाव; उरु-क्रमस्य—भगवान् का; पुंसाम्—भक्तों का; तत्-अङ्घ्रि—उनके चरणारविन्द की; रजसा—धूलि से; जित-षट्-गुणानाम्—जिन्होंने छः प्रकार के विकारों को जीत लिया है; चित्रम्—विस्मयजनक; विदूर-विगतः—अस्पृश्य, पंचम वर्ण का व्यक्ति; सकृत्—एक बार; आददीत—यदि उच्चारण करे तो; यत्—जिसका; नामधेयम्—पवित्र नाम; अधुना—तुरन्त; सः—वह; जहाति—त्याग देता है; बन्धम्—भौतिक बन्धन।

हे राजन्, जिस भक्त ने भगवान् के चरणारविन्दों की धूलि में शरण ली है, वह षड् विकारों अर्थात् भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु के प्रभाव तथा मन समेत छहों इन्द्रियों को जीत सकता है। किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त के लिए यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं क्योंकि चारों वर्णों से बाहर का व्यक्ति अर्थात् अस्पृश्य व्यक्ति भी भगवान् के नाम का एक बार उचार कर लेने मात्र से भौतिक बन्धनों से तुरन्त छूट जाता है।

तात्पर्य : शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित से राजा प्रियव्रत के चरित्र का उल्लेख कर रहे थे और चूँकि राजा को इन आश्चर्यजनक असाधारण कार्यकलापों के प्रति सन्देह हुआ होगा इसलिए उन्होंने यह कह कर उन्हें फिर विश्वास दिलाया कि हे राजन्! प्रियव्रत के चरित्र पर सन्देह मत करो। भगवान् के भक्त के लिए सब कुछ सम्भव है, क्योंकि ईश्वर को "उरुक्रम" भी कहा गया है। उरुक्रम वामनदेव का नाम है, जिन्होंने अपने तीन पगों से सारी पृथ्वी नाप कर एक अद्भुत कार्य किया था। उन्होंने महाराज बलि से तीन पग भूमि माँगी और जब वे ऐसा करने के लिए राजी हो गये, तो उन्होंने सम्पूर्ण जगत को अपने दो पगों में नाप लिया और तीसरा पग महाराज बलि के सिर पर रख दिया। श्री जयदेव गोस्वामी कहते हैं—

छलयसि विक्रमणे बलिम् अद्भुत-वामन
पद-नख-नीर-जनित-जन-पावन
केशव धृत-वामन-रूप जय जगदीश हरे।

"भगवान् केशव की जय हो, जिन्होंने वामन रूप धारण किया। हे ब्रह्माण्ड के स्वामी! आप भक्तों के अमंगल को हर लेते हैं? हे अद्भुत वामनदेव! आपने अपने पगों से महान् असुर बलि महाराज को छला। जब आपने अपने चरणकमल भूमण्डल में गड़ा दिये, तो उस समय आपके नखों में जो जल

लग गया वह गंगा नदी के रूप में समस्त जीवात्माओं को पवित्र करता है।''

चूँकि भगवान् सर्वशक्तिमान हैं, अत: वे ऐसे कार्य कर सकते हैं, जो सामान्य व्यक्ति को अद्‌भुत लगे। इसी प्रकार से भगवान् के चरणारविन्द की शरण लेने वाला भक्त चरण-रज के प्रभाव से एक से एक अद्‌भुत कार्य कर सकता है, जो सामान्य मनुष्य के लिए अकल्पनीय है। इसलिए श्री चैतन्य महाप्रभु हमें भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने का उपदेश देते हैं—

अयि नन्द-तनुज किंकरं

पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।

कृपया तव पाद-पंकज-

स्थित-धूली-सदृशं विचिन्तय॥

''हे नन्द महाराज के पुत्र! मैं आपका चिरन्तन दास हूँ फिर भी मैं न जाने किस तरह इस जन्म-मरण के सागर में गिर गया हूँ। कृपया मुझे इस सागर से उठाकर अपने चरणकमल की धूलि (कण) बना लें।'' भगवान् चैतन्य हमें भगवान् के चरणकमलों की धूलि के सम्पर्क में आने की शिक्षा देते हैं क्योंकि तब हमें निस्सन्देह सभी प्रकार की सफलता मिल जायेगी।

भौतिक देह के कारण प्रत्येक जीवात्मा इस जगत में भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु इन षड् विकारों से सदैव विक्षुब्ध रहता है। अन्य षड् विकार हैं—मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। पवित्र भक्त का क्या कहना अस्पृश्य चण्डाल तक ईश्वर का एक बार भी स्मरण करने पर भव-बन्धन से तुरन्त मुक्त हो जाता है। कभी-कभी ब्राह्मण जाति के लोग यह तर्क करते हैं कि जब तक देह न बदल जाये कोई किस प्रकार ब्राह्मण हो सकता है, क्योंकि यह देह पूर्वकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त हुई है, अत: जो पूर्वजन्म में ब्राह्मण का आचरण कर चुका है, वही ब्राह्मण परिवार में देह धारण कर सकता है। अत: उनका अभिमत है कि बिना ब्राह्मण देह के किसी को ब्राह्मण नहीं स्वीकार किया जा सकता। किन्तु यहाँ पर यह कहा गया है कि *विदूरविगत* भी, जो पंचम अस्पृश्य जाति का चण्डाल होता है, भगवान् का एक बार भी पवित्र नाम लेने पर मुक्त हो जाता है। मुक्त होने का अर्थ है तुरन्त ही उसका शरीर बदल जाता है। इसकी पुष्टि सनातन गोस्वामी ने की है—

यथा कांचनतां याति कांस्यं रसविधानत:।

तथा दीक्षाविधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम् ॥

जब कोई व्यक्ति, भले ही वह चांडाल ही क्यों न हो, शुद्ध भक्त द्वारा भगवान् के पवित्र नाम का जप करने की दीक्षा पाता है, तो उसका शरीर बदल जाता है, क्योंकि वह अपने गुरु के उपदेशों का पालन करता है। यद्यपि कोई यह नहीं देख पाता कि शरीर किस प्रकार बदला है, किन्तु हमें शास्त्रों के वचनों को प्रामाणिक मानकर ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिए। ऐसा बिना तर्क किये समझना चाहिए। इस श्लोक में स्पष्ट कथन है—*स जहाति बन्धम्*—वह अपने भौतिक बन्धन त्याग देता है। यह देह मनुष्य के कर्म के अनुसार भौतिक बन्धन का प्रतीक है। यद्यपि हमें कभी-कभी स्थूल देह बदलती हुई नहीं दिखती, किन्तु परमेश्वर के नाम-जप से सूक्ष्म शरीर तुरन्त बदल जाता है और चूँकि सूक्ष्म शरीर बदलता है इसलिए जीवात्मा तुरन्त बदल जाता है और चूँकि सूक्ष्म शरीर बदलता है इसलिए जीवात्मा तुरन्त भौतिक बन्धन से मुक्त हो जाता है। अन्ततः स्थूल देह में होने वाले परिवर्तन सूक्ष्म देह द्वारा ही संचालित होते हैं। इस स्थूल शरीर के विनष्ट हो जाने पर सूक्ष्म देह जीवात्मा को एक दूसरे स्थूल देह में ले जाती है। सूक्ष्म शरीर में मन प्रधान होता है, अतः यदि किसी का मन ईश्वर के चरणारविन्द में अथवा कार्यों के स्मरण में सदा आसक्त रहता है, तो यह समझना चाहिए कि उसने अपने वर्तमान देह को पहले ही बदल दिया है और वह पवित्र हो चुका है। अतः यह अकाट्य है कि प्रामाणिक दीक्षा के द्वारा चाण्डाल भी ब्राह्मण बन सकता है।

स एवमपरिमितबलपराक्रम एकदा तु देवर्षिचरणानुशयनानुपतितगुणविसर्गसंसर्गेणानिर्वृतमिवात्मानं मन्यमान आत्मनिर्वेद इदमाह. ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (महाराज प्रियव्रत); एवम्—इस प्रकार; अपरिमित—अद्वितीय; बल—शक्ति; पराक्रमः—जिसका प्रभाव; एकदा—एक बार; तु—तब; देव-ऋषि—महामुनि नारद के; चरण-अनुशयन—चरणकमलों में समर्पण; अनु—तत्पश्चात्; पतित—गिरा हुआ; गुण-विसर्ग—विषयों के (तीन गुणों से उत्पन्न); संसर्गेण—सम्पर्क होने से; अनिर्वृतम्—असंतुष्ट; इव—सदृश; आत्मानम्—अपने आपको; मन्यमानः—इस प्रकार सोचते हुए; आत्म—स्वयं; निर्वेदः—त्यागमय; इदम्—यह; आह—कहा।

इस प्रकार अपने पूर्ण पराक्रम तथा प्रभाव से भौतिक ऐश्वर्य का भोग करते हुए महाराज प्रियव्रत एक बार यह सोचने लगे कि यद्यपि मैं महामुनि नारद के समक्ष आत्मसमर्पण कर चुका था और वास्तव में कृष्णभावनामृत के मार्ग पर था, किन्तु मैं अब न जाने क्यों फिर से भौतिक कार्यों के बन्धन में फँस गया हूँ। इस प्रकार उनका मन अशान्त हो उठा। वे विरक्त होकर बोलने

लगे।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* (१..१७) में कहा गया है—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-

र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।

यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं

को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मत: ॥

"जिसने ईश्वर की सेवा करने के लिए अपना भौतिक कर्म छोड़ दिया है, वह अपरिपक्व अवस्था में रहने पर कभी-कभी गिर सकता है, किन्तु तो भी उसके असफल होने का कोई डर नहीं रहता। दूसरी ओर यदि कोई अभक्त अपने वृत्तिपरक कर्तव्यों में पूरी तरह संलग्न रहे, तो भी उसे कुछ नहीं प्राप्त होता।" यदि कोई किसी भी तरह किसी महान् वैष्णव की शरण में जाता है और भावनावश या बोध होने के कारण कृष्णभावनामृत स्वीकार करता है, किन्तु कालान्तर में अपरिपक्व बोध के कारण यदि वह नीचे गिर जाता है, तो वह वास्तव में गिरा हुआ नहीं कहा जाता, क्योंकि कृष्णभावनामृत में लगे रहना एक प्रकार से स्थायी सम्पत्ति है। अत: यदि कोई नीचे गिरता है भी तो कुछ काल के लिए उसकी उन्नति रुक सकती है, किन्तु उपयुक्त अवसर आने पर वह फिर अवश्य दिखाई पड़ेगी। यद्यपि महाराज प्रियव्रत नारद मुनि के उपदेशों के अनुसार भगवान् के धाम वापस जाने के लिए सेवा कर रहे थे, किन्तु अपने पिता की प्रार्थना पर वे भौतिक विषयों में पुन: लौट आये। कालान्तर में उनमें अपने गुरु नारद के अनुग्रह से श्रीकृष्ण की सेवा करने की भावना पुन: जगी।

जैसाकि *भगवद्गीता* (६.४१) में कहा गया है—*शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते*— भक्तियोग से च्युत पुरुष को पुन: देवताओं का ऐश्वर्य प्राप्त होता है और उसका उपभोग कर लेने के पश्चात् उसे शुद्ध ब्राह्मण अथवा धनी परिवार में जन्म लेने का अवसर प्रदान किया जाता है, जिससे वह अपनी कृष्णभक्ति को पुन: जाग्रत कर सके। प्रियव्रत के जीवन में ऐसा ही हुआ। इस सत्य के वे ज्वलन्त उदाहरण हैं। कालक्रम से जब उन्हें अपनी सम्पत्ति, पत्नी, राज्य तथा पुत्रों के भोग की कामना नहीं रह गई, तो उन्होंने सबको त्याग देना चाहा। अत: इस श्लोक में शुकदेव गोस्वामी महाराज प्रियव्रत के ऐश्वर्य का वर्णन कर चुकने के बाद उनकी विराग-प्रवृत्ति का वर्णन करते हैं।

देवर्षि-चरणानुशयन शब्दों से यह सूचित होता है कि महाराज प्रियव्रत पूर्णतया देवर्षि नारद की शरण में जाकर उनके निर्देश से भक्ति की समस्त क्रियाओं तथा अनुष्ठानों का कठोरता से पालन कर रहे थे। जहाँ तक अनुष्ठानों के दृढ़तापूर्वक पालन का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का कथन है—*दण्डवत्-प्रणामास्तान् अनुपतितः*—गुरु को तुरन्त दण्डवत् प्रणाम करने तथा उसके आदेशों का पालन करने से विद्यार्थी उन्नति करता है। महाराज प्रियव्रत ये सारे कार्य नियमित रूप से कर रहे थे।

जब तक मनुष्य इस संसार में है, वह प्रकृति के तीन गुणों (*गुण-विसर्ग*) के वशीभूत रहता है। ऐसा नहीं है कि ऐश्वर्यवान होने के कारण प्रियव्रत भौतिक प्रभाव से मुक्त थे। इस संसार में अत्यन्त निर्धन पुरुष तथा अत्यन्त धनी पुरुष, दोनों ही, भौतिकता के वश में रहते हैं क्योंकि वैभव तथा दरिद्रता दोनों ही प्रकृति के भौतिक गुणों से उद्भूत हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (३.२७) में कहा गया है—*प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैकर्माणि सर्वशः*—हमारे द्वारा अपनाए गए प्रकृति के गुणों के अनुसार प्रकृति हमें भौतिक भोग की सुविधा प्रदान करती है।

अहो असाध्वनुष्ठितं यदभिनिवेशितोऽहमिन्द्रियैरविद्यारचितविषमविषयान्धकूपे तदलमलममुष्या वनिताया विनोदमृगं मां धिग्धिगिति गर्हयां चकार. ॥ ३७॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; असाधु—अच्छा नहीं; अनुष्ठितम्—हुआ; यत्—क्योंकि; अभिनिवेशितः—पूर्णतया निमग्न; अहम्—मैं; इन्द्रियैः—इन्द्रिय-भोग के लिए; अविद्या—अज्ञान से; रचित—बनाया हुआ; विषम—दुखदायी; विषय—इन्द्रियभोग; अन्ध-कूपे—अँधेरे कुएँ में; तत्—वह; अलम्—तुच्छ; अलम्—महत्त्वहीन या अधम का; अमुष्याः—उस; वनितायाः—पत्नी का; विनोद-मृगम्—नाचते हुए बन्दर की तरह; माम्—मुझको; धिक्—धिक्कार है; धिक्—धिक्कार है; इति—इस प्रकार; गर्हयाम्—आलोचना; चकार—की।.

राजा ने अपनी भर्त्सना इस प्रकार की—ओह! इन्द्रिय-भोग के कारण मैं कितना धिक्कारा जाने योग्य हो गया हूँ। मैं अब भौतिक सुख के अंधकूप में गिर गया हूँ। बहुत हुआ! अब मुझे और भोग नहीं चाहिए। तनिक मेरी ओर देखो—मैं कैसे अपनी पत्नी के हाथों में नाचने वाला बन्दर बन गया हूँ। इसलिए मुझे धिक्कार है।

तात्पर्य : महाराज प्रियव्रत के आचरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भौतिक ज्ञान की उन्नति कितनी निन्दनीय है। उन्होंने एक दूसरा सूर्य उत्पन्न करने जैसा अद्भुत कार्य किया जो रात के

समय प्रकाशमान था। उन्होंने ऐसा विशाल रथ तैयार कराया था जिसके पहियों की रगड़ से विशाल समुद्र बन गये थे। ये कार्य इतने महान् हैं कि आज का वैज्ञानिक यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि ऐसे कार्य किस प्रकार सम्पन्न हो सकते हैं। महाराज प्रियव्रत ने भौतिक क्षेत्र में अत्यन्त अद्भुत कार्य किये, किन्तु चूँकि वह इन्द्रियभोग अर्थात् राज्य के शासन तथा सुन्दर पत्नी के इशारों पर नाच रहे थे, इसलिए इन्होंने अपने आपको धिक्कारा। जब हम महाराज प्रियव्रत के इस उदाहरण पर विचार करते हैं, तो हमें पता चलता है कि भौतिक प्रगति की आधुनिक सभ्यता कितनी पतित है। आधुनिक तथाकथित वैज्ञानिक तथा अन्य भौतिकतावादी यह सोच कर अत्यधिक संतुष्ट हैं कि वे बड़े-बड़े पुल, सड़कें तथा मशीनें बना सकते हैं, किन्तु महाराज प्रियव्रत की तुलना में ये सारे कार्य नगण्य हैं। यदि इतने अद्भुत कार्यों के बावजूद महाराज प्रियव्रत अपने को धिक्कार सकते थे, तो हम भौतिक सभ्यता की तथाकथित प्रगति में कितने अधम और निन्दनीय हैं! इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इस भौतिक जगत में फँसी हुई जीवात्माओं की समस्याओं को ऐसी उन्नति से कोई सरोकार नहीं है। दुर्भाग्यवश आज का मनुष्य अपने बंधन और निन्दनीय स्थिति को नहीं समझ सकता है और उसे यह भी पता नहीं है कि अगले जन्म में उसे किस प्रकार का शरीर धारण करना होगा। महान् राज्य, सुन्दर पत्नी तथा अद्भुत भौतिक कार्यकलाप—ये सभी आत्मसिद्धि में बाधक हैं। महाराज प्रियव्रत ने अत्यन्त निष्ठा के साथ महामुनि नारद की सेवा की थी, अत: भौतिक ऐश्वर्य स्वीकार कर लेने पर भी वे कर्म से विचलित नहीं हुए। वे पुन: कृष्णभक्त बन गये। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४०) में पुष्टि की गई है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

''कृष्णभावनामृत के लिए जो कुछ भी साधन किया जाता है, उसका न तो कभी नाश होता है और न ह्रास। इस पथ में की गई थोड़ी भी सेवा भी बड़े से बड़े संकट से बचाने के लिए पर्याप्त है।'' महाराज प्रियव्रत के जैसा संन्यास श्रीभगवान् के अनुग्रह से ही सम्भव है। सामान्य रूप से जब मनुष्य शक्तिमान होते हैं या उनके सुन्दर पत्नी, सुन्दर घर तथा भौतिक ऐश्वर्य होते हैं, तो वे अधिकाधिक फँसते जाते हैं। किन्तु महाराज प्रियव्रत ने देवर्षि नारद से शिक्षा प्राप्त की थी इसलिए तमाम बाधाओं के होते हुए भी वे अपने भीतर कृष्णभावनामृत को पुनरुज्जीवित कर सके।

परदेवताप्रसादाधिगतात्मप्रत्यवमर्शेनानुप्रवृत्तेभ्य: पुत्रेभ्य इमां यथादायं विभज्य भुक्तभोगां च महिषीं मृतकमिव सह महाविभूतिमपहाय स्वयं निहितनिर्वेदो हृदि गृहीतहरिविहारानुभावो भगवतो नारदस्य पदवीं पुनरेवानुससार. ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

पर-देवता—भगवान् के; प्रसाद—अनुग्रह से; अधिगत—प्राप्त किया; आत्म-प्रत्यवमर्शेन—आत्म-साक्षात्कार से; अनुप्रवृत्तेभ्य:—जो उसके पथ का सही सही अनुसरण करता है; पुत्रेभ्य:—अपने पुत्रों को; इमाम्—यह पृथ्वी; यथा-दायम्—उत्तराधिकार के अनुसार; विभज्य—बाँटकर; भुक्त-भोगाम्—जिसका भोग अनेक प्रकार से किया; च—भी; महिषीम्—रानी; मृतकम् इव—मृत शरीर की भाँति; सह—सहित; महा-विभूतिम्—परम ऐश्वर्य; अपहाय—त्याग कर; स्वयम्—स्वयं; निहित—पूर्णतया ग्रहण किया हुआ; निर्वेद:—त्याग; हृदि—हृदय में; गृहीत—स्वीकार किया; हरि—भगवान् की; विहार—लीलाएँ; अनुभाव:—ऐसे भाव में; भगवत:—परम साधु पुरुष का; नारदस्य—नारद मुनि का; पदवीम्—पद; पुन:—फिर; एव—निश्चय ही; अनुससार—अनुसरण करने लगा।

भगवान् के अनुग्रह से महाराज प्रियव्रत का विवेक पुन: जाग्रत हो उठा। उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति अपने आज्ञाकारी पुत्रों में बाँट दी। अपनी पत्नी को जिसके साथ उन्होंने इन्द्रियसुख भोगा था और प्रभूत ऐश्वर्यशाली राज्य सहित सब कुछ त्याग कर वे सभी प्रकार की आसक्ति से रहित हो गये। विमल हो जाने से उनका हृदय भगवान् की लीलाओं का स्थल बन गया। इस प्रकार वे कृष्णभावनामृत के पथ पर पुन: लौट आये और महामुनि नारद के अनुग्रह से जिस पद को प्राप्त किया था उसको फिर से धारण किया।

तात्पर्य : अपने *शिक्षाष्टक* में श्री चैतन्य महाप्रभु ने बताया है कि—*चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं*—हृदय के स्वच्छ होते ही संसार की प्रज्ज्वलित अग्नि तुरन्त शमित हो जाती है। हमारे हृदय भगवान् की लीलाओं के लिए हैं। इसका तात्पर्य यह कि जैसा भगवान् ने स्वयं उपदेश दिया है (*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु*) मनुष्य को चाहिए कि वह श्रीकृष्ण का चिन्तन करे। यही हमारा कर्तव्य होना चाहिए। जिस पुरुष का हृदय स्वच्छ नहीं होता वह भगवान् की दिव्य लीलाओं के सम्बध में सोच भी नहीं पाता, किन्तु यदि वह भगवान् का फिर से ध्यान धरे, तो सांसारिक आसक्ति से सरलतापूर्वक विरक्त हो सकता है। मायावादी दार्शनिक, योगी तथा ज्ञानी इस भौतिक संसार को केवल यह कह कर कि *ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या*—अर्थात् यह संसार असत्य है, वृथा है, अत: हमें ब्रह्म को ग्रहण करना चाहिए—इस संसार को त्यागने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार का कोरा सिद्धान्त लाभप्रद नहीं होगा। यदि हमें यह विश्वास हो कि ब्रह्म ही वास्तविक सत्य है, तो हमें अपने हृदयों में श्रीकृष्ण के चरणकमलों को धारण करना चाहिए जैसाकि महाराज अम्बरीष ने किया

(*स वै मन: कृष्णपदारविन्दयो:*)। मनुष्य को अपने हृदय में ईश्वर के चरणारविन्द धारण करने होते हैं; तभी उसे सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने की शक्ति प्राप्त होती है।

महाराज प्रियव्रत ने अपना ऐश्वर्यशाली साम्राज्य तथा अपनी सुन्दर पत्नी की संगति को उसे मृतक तुल्य मान कर छोड़ दिया। किसी की पत्नी कितनी ही सुन्दर तथा आकर्षक क्यों न हो, किन्तु मृत होने पर उसके प्रति कोई मोह नहीं रह जाता। हम सुन्दर स्त्री की प्रशंसा उसके शरीर के कारण करते हैं, किन्तु आत्मा के निकल जाने पर वह शरीर किसी कामी पुरुष को आकर्षक नहीं लगता। महाराज प्रियव्रत भगवत्-अनुग्रह से इतने बलवान थे कि उन्होंने अपनी जीवित पत्नी को मृतक तुल्य मान कर उसकी संगति को छोड़ दिया। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है :-

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।

मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

''हे सर्वशक्तिमान! न तो मुझे धन संग्रह करने की कामना है, न सुन्दर स्त्रियों की, न ही मुझे अनुयायियों की आवश्यकता है। मैं तो जन्म-जन्मांतर आपकी अहैतुकी भक्ति की कामना करता हूँ।'' जो आत्म-जीवन में अग्रसर होना चाहता है उसके मार्ग में ऐश्वर्य तथा सुन्दर पत्नी के प्रति आसक्ति—ये दो बड़ी बाधाएँ हैं। इन आसक्तियों की भर्त्सना आत्महत्या से भी अधिक करनी चाहिए। अत: भौतिक अज्ञान को पार करने के इच्छुक व्यक्ति को नारी और धन की आसक्ति को छोड़ देना चाहिए। इन आसक्तियों से विमुक्त होने के बाद ही महाराज प्रियव्रत महामुनि नारद द्वारा उपदिष्ट नियमों का पालन कर सके।

तस्य ह वा एते श्लोकाः—
प्रियव्रतकृतं कर्म को नु कुर्याद्विनेश्वरम् ।
यो नेमिनिम्नैरकरोच्छायां घ्नन्सप्त वारिधीन् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; ह वा—निश्चय ही; एते—ये सब; श्लोकाः—श्लोक; प्रियव्रत—राजा प्रियव्रत द्वारा; कृतम्—किये हुए; कर्म—कर्म; कः—कौन; नु—तब; कुर्यात्—कर सकता है; विना—बिना; ईश्वरम्—श्रीभगवान्; यः—जिसने; नेमि—अपने रथ के पहियों की परिधि के; निम्नैः—पहियों के दाब से; अकरोत्—कर दिया; छायाम्—अंधकार; घ्नन्—दूर करते हुए; सप्त—सात; वारिधीन्—समुद्रों को।

महाराज प्रियव्रत के कर्मों से सम्बन्धित अनेक श्लोक प्रसिद्ध हैं—''जो कुछ महाराज

प्रियव्रत ने किया उसे भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता था। उन्होंने रात्रि के अंधकार को दूर किया और अपने रथ के पहियों की नेमी से सात समुद्र बना दिये।''

तात्पर्य : महाराज प्रियव्रत के कार्यों के सम्बन्ध में संसार भर में अनेक उत्तम श्लोक प्रचलित हैं। वे इतने विख्यात हैं कि उनके कार्यों की तुलना भगवान् के कार्यों से की जाती है। कभी-कभी ईश्वर का परमनिष्ठ दास तथा भक्त भी भगवान् कहलाता है। श्रीनारद को भगवान् कहा जाता है और कभी-कभी शिव तथा व्यासदेव भी भगवान् कहे जाते हैं। कभी-कभी ईश्वर के अनुग्रह से शुद्ध भक्त को भी भगवान् की पदवी प्रदान की जाती है, जिससे वह अत्यन्त सम्मानित हो सके। महाराज प्रियव्रत ऐसे ही भक्त थे।

भूसंस्थानं कृतं येन सरिद्गिरिवनादिभिः ।
सीमा च भूतनिर्वृत्यै द्वीपे द्वीपे विभागशः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

भू-संस्थानम्—पृथ्वी की स्थिति; कृतम्—बनी; येन—जिसके द्वारा; सरित्—नदियों से; गिरि—पर्वतों से; वन-आदिभिः—वन आदि से; सीमा—सीमा रेखाएँ; च—भी; भूत—विभिन्न राष्ट्रों का; निर्वृत्यै—लड़ाई रोकने के लिए; द्वीपे द्वीपे—विभिन्न द्वीपों में; विभागशः—पृथक्-पृथक्।

''विभिन्न लोगों में पारस्परिक झगड़ों को रोकने के लिए महाराज प्रियव्रत ने नदियों, पर्वतों के किनारों तथा वनों के द्वारा राज्यों की सीमाएँ निर्धारित कीं, जिससे कोई एक दूसरे की सम्पत्ति में घुस न सके।''

तात्पर्य : महाराज प्रियव्रत ने विभिन्न राज्यों की सीमाएँ अंकित करने का जो उदाहरण प्रस्तुत किया, वह आज भी पाला जाता है। जैसाकि यहाँ इंगित किया गया है, विभिन्न जातियों के लोग विभिन्न भागों में रहते हैं, अत: उन भागों की, जिन्हें यहाँ द्वीप कहा गया है, सीमाएँ विभिन्न नदियों, वनों तथा पर्वतों द्वारा सुनिश्चित कर दी जानी चाहिए। महाराज पृथु के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कहा गया है। वे महामुनियों की योजनाओं से अपने पिता के मृत शरीर से उत्पन्न हुए थे। महाराज पृथु का पिता अत्यन्त पापी था। इसलिए उसके मृत शरीर से सर्वप्रथम निषाद नामक एक श्याम पुरुष उत्पन्न हुआ। निषाद जाति को वन में रहने के लिए स्थान मिला, क्योंकि वे जन्म से चोर तथा उचक्के होते हैं। जिस प्रकार पशुओं को विभिन्न जंगलों तथा पहाड़ियों में रखा जाता है उसी प्रकार से जो भी मनुष्य पशु की भाँति होते हैं उन्हें भी वहीं रहना होता है। जब तक कृष्णभावना नहीं जगती, कोई भी मनुष्य सभ्य जीवन

नहीं बिता सकता, क्योंकि वह अपने कर्म तथा प्रकृतिक गुणों के प्रभाव के कारण किसी विशेष अवस्था में रहने के लिए बाध्य है। यदि मनुष्य मेल-मिलाप तथा शांति से रहना चाहते हैं, तो उन्हें कृष्णभावनामृत ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि देहात्मबुद्धि से वे उच्चतम मानदण्ड को कभी भी नहीं प्राप्त हो सकते। महाराज प्रियव्रत ने इस भूमण्डल को अनेक द्वीपों में इसलिए विभाजित कर दिया जिससे प्रत्येक वर्ग के लोग शान्तिपूर्वक रह सकें और एक दूसरे से तकरार न हो। राष्ट्रवाद की आधुनिक संकल्पना महाराज प्रियव्रत द्वारा किये गये विभागों से ही धीरे-धीरे विकसित हुई है।

भौमं दिव्यं मानुषं च महित्वं कर्मयोगजम् ।
यश्चक्रे निरयौपम्यं पुरुषानुजनप्रियः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

भौमम्—अधोलोक के; दिव्यम्—स्वर्ग के; मानुषम्—मनुष्यों के; च—भी; महित्वम्—समस्त ऐश्वर्य; कर्म—कर्म द्वारा; योग—योग द्वारा; जम्—उत्पन्न; यः—जिसने; चक्रे—किया; निरय—नरक से; औपम्यम्—उपमा अथवा समानता; पुरुष—भगवान् के; अनुजन—भक्त को; प्रियः—अत्यन्त प्यारा।

''नारद मुनि के महान् अनुयायी तथा भक्त महाराज प्रियव्रत ने अपने सकाम कर्मों तथा योग से प्राप्त किये गये समस्त ऐश्वर्य को, चाहे वह स्वर्गलोग, अधोलोक अथवा मानव समाज का हो, नरक तुल्य समझा।''

तात्पर्य : श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है कि भक्त का पद इतना श्रेष्ठतम होता है कि उसे किसी भौतिक ऐश्वर्य की इच्छा नहीं रह जाती। पृथ्वी, स्वर्गलोक तथा पाताल लोक में नाना प्राकर के ऐश्वर्य हैं, किन्तु भक्त यह जानता है कि ये सभी भौतिक हैं, अतः उनमें उसकी कोई रुचि नहीं होती है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*परं दृष्ट्वा निवर्तते।* कभी-कभी योगी तथा ज्ञानी स्वेच्छा से मुक्ति के लिए तप करने तथा दिव्य आनन्द का स्वाद चखने के लिए अपनी सम्पत्ति का त्याग करते हैं। तो भी वे प्रायः नीचे आ गिरते हैं, क्योंकि यह भौतिक सम्पत्ति का कृत्रिम त्याग है। मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन के प्रति उत्तम रुचि होनी चाहिए, तभी वह भौतिक सम्पत्ति को छोड़ पाता है। महाराज प्रियव्रत को आध्यात्मिक आनन्द का पूर्व अनुभव था, इसलिए उन्हें स्वर्गलोक, मर्त्यलोक या पाताललोक में प्राप्त किसी प्रकार के भौतिक सुख के प्रति कोई रुचि नहीं थी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''महाराज प्रियव्रत का चरित्र'' नामक पहले अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दो

महाराज आग्नीध्र का चरित्र

इस अध्याय में महाराज आग्नीध्र के चरित्र का वर्णन किया गया है। जब महाराज प्रियव्रत आत्म-साक्षात्कार के हेतु चले गये, तो उनका पुत्र आग्नीध्र उनकी आज्ञानुसार जम्बूद्वीप का शासक बना जिसने इसके निवासियों का पिता की भाँति स्नेह के साथ पालन किया। एक बार महाराज आग्नीध्र को पुत्र प्राप्त करने की इच्छा हुई; अत: वे मन्दराचल की गुफा में तप करने के लिए प्रविष्ट हुए। उनकी इच्छा जानकर भगवान् ब्रह्मा ने आग्नीध्र की कुटी में पूर्वचित्ति नामक स्वर्ग की एक कन्या भेजी। वह अत्यन्त आकर्षक वेष बनाकर विविध प्रकार के स्त्रियोचित हाव-भावों के साथ उनके समक्ष आई। आग्नीध्र स्वभावत: उससे आकर्षित हो उठे। उस कन्या की गति, हावभाव, मुस्कान, मृदु वचन तथा चंचल चितवन उन्हें सम्मोहक लगी। आग्नीध्र चापलूसी में पटु थे अत: उन्होंने उस स्वर्ग-कन्या को मोह लिया और वह भी उनके मृदु वचनों में आकर उन्हें पति रूप में स्वीकार करने को तैयार हो गई। स्वर्ग में अपने लोक लौटने से पूर्व उसने अनेक वर्षों तक आग्नीध्र सहित राज-सुख भोगा। उसके गर्भ से आग्नीध्र के नौ पुत्र हुए जिनके नाम नाभि, किंपुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व तथा केतुमाल थे। उन्होंने उन्हें उनके नामवाले क्रमश: नौ द्वीप प्रदान किये। किन्तु आग्नीध्र की इन्द्रियाँ तुष्ट नहीं हुई थीं, अत: वे,जा अपनी नैसर्गिक पत्नी के विषय में सोचते रहते थे। इसलिए अगले जन्म में वे उसी के लोक में उत्पन्न हुए। आग्नीध्र की मृत्यु के पश्चात् उसके नवों पुत्रों ने मेरु की नौ पुत्रियों से विवाह कर लिया जिनके नाम मेरुदेवी, प्रतिरूपा, उग्रदंष्ट्री, लता, रम्या, श्यामा, नारी, भद्रा तथा देववीति थे।

श्रीशुक उवाच

एवं पितरि सम्प्रवृत्ते तदनुशासने वर्तमान आग्नीध्रो जम्बूद्वीपौकस: प्रजा औरसवद्धर्मावेक्षमाण: पर्यगोपायत्. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक:—श्रीशुकदेव गोस्वामी; उवाच—बोले; एवम्—इस प्रकार; पितरि—जब उसके पिता ने; सम्प्रवृत्ते—मुक्ति मार्ग ग्रहण किया; तत्-अनुशासने—उसकी आज्ञानुसार; वर्तमान:—वर्तमान,उपस्थित; आग्नीध्र:—राजा आग्नीध्र; जम्बू-द्वीप-

ओकसः—जम्बूद्वीप के वासी; प्रजाः—नागरिक; औरस-वत्—अपने पुत्रों के समान; धर्म—धार्मिक नियम; अवेक्षमाणः—कठोरता से पालन करते हुए; पर्यगोपायत्—पूर्णतया सुरक्षित।.

श्री शुकदेव गोस्वामी आगे बोले—अपने पिता महाराज प्रियव्रत के इस प्रकार आध्यात्मिक जीवन पथ अपनाने के लिए तपस्या में संलग्न हो जाने पर राजा आग्नीध्र ने उनकी आज्ञा का पूरी तरह पालन किया और धार्मिक नियमों के अनुसार उन्होंने जम्बूद्वीप के वासियों को अपने ही पुत्रों के समान सुरक्षा प्रदान की।

तात्पर्य : महाराज आग्नीध्र ने अपने पिता महाराज प्रियव्रत की आज्ञानुसार धार्मिक नियमों का पालन करते हुए जम्बूद्वीप के वासियों पर राज्य किया। वर्तमान अश्रद्धा के युग में ये नियम पूर्णतया विरोधी हैं। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि राजा नागरिकों की वैसी ही देख-रेख करता था जिस प्रकार पिता अपने ही पुत्रों की करता है। यहाँ यह भी बताया गया है कि उसने नागरिकों पर किस प्रकार—*धर्मावेक्षमाण:* अर्थात् धार्मिक नियमों का दृढ़ता से पालन करते हुए राज्य किया। किसी शासक के लिए यह आवश्यक है कि वह देखे कि उसकी प्रजा धार्मिक नियमों का कठोर पालन करती है। वैदिक धर्म के नियम वर्णाश्रम धर्म से प्रारम्भ होते हैं। धर्म से तात्पर्य भगवान् द्वारा प्रदत्त नियमों से है। धर्म का पहला नियम है भगवान् द्वारा निर्दिष्ट चारों आश्रमों के कर्तव्यों का पालन। व्यक्तियों के गुणों तथा कर्मों के अनुसार समाज को पहले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में और फिर ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी में विभाजित किया जाता है। ये धार्मिक नियम हैं और राज्य के मुखिया (राजा) का यह कर्तव्य है कि वह देखे कि उसके नागरिक इनका दृढ़ता से पालन करते हैं। उसे कोरे अधिकारी के रूप में कर्तव्य नहीं करना चाहिए, वरन् उसे पिता के तुल्य होना चाहिए जो अपने पुत्रों का सदैव हितैषी होता है। ऐसा पिता इसका पूरा ध्यान रखता है कि उसके पुत्र अपना कर्तव्यपालन कर रहे हैं और कभी-कभी वह उन्हें दंड भी देता है।

उपर्युक्त नियमों के विपरीत, कलियुग में राष्ट्रपति तथा प्रधान शासकगण केवल कर-संग्रह करने वाले हैं, जिन्हें इसकी तनिक भी परवाह नहीं रहती कि धार्मिक नियमों का पालन हो रहा है अथवा नहीं। सच तो यह है कि आज के प्रधान शासकगण सभी प्रकार के पापमय कार्यों का, विशेष रूप से व्यभिचार, मादक द्रव्य सेवन, पशुवध तथा द्यूत क्रीड़ा का सूत्रपात करते हैं। आजकल भारत में ये पापकर्म स्पष्ट देखे जा सकते हैं। यद्यपि एक शताब्दी पूर्व ये चार दुर्गुण भारतीय परिवारों में पूर्णतया

वर्जित थे, किन्तु अब प्रत्येक भारतीय परिवार में इनकी पैठ हो चुकी है, अत: वे धार्मिक नियमों का पालन नहीं कर पाते। प्राचीन राजाओं के नियम के विपरीत आधुनिक राज्य कर वसूलने के विज्ञापन में अधिक और नागरिकों के धार्मिक कल्याण के प्रति कम ध्यान देता है। अब राज्य धार्मिक नियमों के प्रति उदासीन है। *श्रीमद्भागवत* की भविष्यवाणी है कि कलियुग में शासन द्वारा दस्यु धर्म चलाया जाएगा, जिसका अर्थ होता है चोरों और उचक्कों द्वारा शासन। आधुनिक राज्यों के कर्णधार चोर और उचक्के ही हैं, जो नागरिकों की रक्षा करने के बजाय उनको लूटते हैं। यद्यपि चोर तथा उचक्के कानून की अवहेलना करके लूटपाट करते हैं, किन्तु इस कलियुग में कानून बनाने वाले स्वयं नागरिकों को लूटते हैं—ऐसा *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है। एक दूसरी भविष्यवाणी जिसे पूरा होना है, वह यह है कि नागरिकों तथा शासन के पापकर्मों से वर्षा दुर्लभ हो जायेगी, धीरे-धीरे पूर्ण अनावृष्टि के कारण अन्न नहीं उत्पन्न होगा। लोगों को मांस तथा बीज खाना पड़ेगा और अनेक सद्वृत्ति वाले मनुष्य अपने-अपने गृहों का त्याग कर देंगे, क्योंकि अकाल, कर तथा अनावृष्टि से वे अत्यधिक तंग हो उठेंगे। संसार को ऐसे विनाश से बचाने के लिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन ही एकमात्र आशा है। यह समस्त मानव समाज के वास्तविक कल्याण हेतु अत्यन्त वैज्ञानिक तथा प्रामाणिक आन्दोलन है।

स च कदाचित्पितृलोककामः सुरवरवनिताक्रीडाचलद्रोण्यां भगवन्तं विश्वसृजां
पतिमाभृतपरिचर्योपकरण आत्मैकाछ्येण तपस्व्याराधयां बभूव. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (राजा आग्नीध्र); च—भी; कदाचित्—एक बार; पितृलोक—पितृलोक की; कामः—इच्छा करते हुए; सुर-वर—श्रेष्ठ देवताओं में से; वनिता—स्त्री जाति; आक्रीडा—विहार-स्थली; अचल-द्रोण्याम्—मन्दराचल की एक घाटी में; भगवन्तम्—सर्व शक्तिमान (भगवान् ब्रह्मा) को; विश्व-सृजाम्—जिन विभूतियों ने इस ब्रह्माण्ड की रचना की; पतिम्—स्वामी को; आभृत—संग्रह करके; परिचर्या-उपकरणः—पूजा की सामग्री; आत्म—मन का; एक-अछ्येण—पूरे मनोयोग से; तपस्वी—तप करने वाला; आराधयाम् बभूव—आराधना में लग गया।

एक बार महाराज आग्नीध्र ने सुयोग्य पुत्र प्राप्त करने तथा पितृलोक का वासी बनने की कामना से भौतिक सृष्टि के स्वामी भगवान् ब्रह्मा की आराधना की। वे मंदराचल की घाटी में गये जहाँ स्वर्गलोक की सुन्दरियाँ विहार करने आती हैं। वहाँ उन्होंने वाटिका से फूल तथा अन्य आवश्यक सामग्री एकत्र की और फिर कठिन तप तथा उपासना में लग गये।

तात्पर्य : राजा *पितृलोककाम* अर्थात् पितृलोक में जाने का इच्छुक हो गया। पितृलोक का उल्लेख

भगवद्गीता में हुआ है (*यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः*)। इस लोक में जाने के लिए उत्तम पुत्र होने चाहिए जो भगवान् विष्णु को भेंट चढ़ाने के पश्चात् जो कुछ बचे उसे अपने पितरों (पूर्वजों) को चढ़ाएँ। श्राद्ध संस्कार का उद्देश्य भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना है, जिससे उनके प्रसन्न होने के बाद जो प्रसाद बचे उसे अपने पितरों को दिया जा सके जिससे वे प्रसन्न हों। पितृलोक के वासी प्रायः कर्मकाण्डी होते हैं और अपने पुण्यकर्मों के कारण वहाँ भेजे गये होते हैं। वे वहाँ तब तक रहते हैं जब तक उनके वंशज उन्हें विष्णु-प्रसाद भेंट करते रहते हैं। किन्तु पितृलोक के प्रत्येक प्राणी को पुण्यकर्मों के फलों से क्षय होने पर इस पृथ्वी में वापस आना पड़ता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२१) में पुष्टि की गई है—*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*—जो पुरुष पुण्यकर्म करते हैं, वे स्वर्ग भेजे जाते हैं, किन्तु जब उनके पुण्यकर्मों का प्रभाव समाप्त हो जाता है, तो वे पुनः पृथ्वी पर वापस भेज दिये जाते हैं।

चूँकि महाराज प्रियव्रत परम भक्त थे अतः उनसे ऐसा पुत्र किस प्रकार उत्पन्न हुआ होगा जो पितृलोक भेजे जाने का कामी हो? भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—*पितॄन् यान्ति पितृव्रताः*—जो व्यक्ति पितृलोक जाना चाहते हैं उन्हें वहाँ भेज दिया जाता है। इसी प्रकार *यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्*—जो पुरुष वैकुण्ठ लोक जाना चाहते हैं, वे भी वहाँ जा सकते हैं। चूँकि महाराज आग्नीध्र एक वैष्णव-पुत्र थे, अतः उन्होंने वैकुण्ठ लोक जाने की कामना की होगी। तो फिर वे पितृलोक में क्यों जाना चाहते थे? इसके उत्तर में *भागवत* के एक टीकाकार गोस्वामी गिरिधर की टिप्पणी है कि आग्नीध्र उस समय उत्पन्न हुए थे जब महाराज प्रियव्रत अत्यन्त कामासक्त थे। इसे तथ्य के रूप में ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि गर्भावस्था के समय जैसी मनोवृत्ति होती है उसी के अनुकूल पुत्र उत्पन्न होते हैं। अतः वैदिक प्रणाली के अनुसार पुत्रोत्पत्ति के पूर्व *गर्भाधान संस्कार* किया जाता है। इस संस्कार से पिता की मनोवृत्ति ऐसी हो जाती है कि जब वह अपनी पत्नी के गर्भ में वीर्य स्थापित करता है, तो उससे ऐसा पुत्र उत्पन्न होता है, जिसका मन भक्ति से ओतप्रोत हो। किन्तु सम्प्रति ऐसा गर्भाधान-संस्कार नहीं है, अतः जब पुरुषों में कामवासना रहती है तभी सन्तान उत्पन्न होती है। विशेष रूप से इस कलियुग में कोई गर्भाधान संस्कार नहीं रह गया प्रत्येक व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ कुत्तों तथा बिल्लियों जैसा संभोग करता है। अतः वैदिक आदेशों के अनुसार इस युग के सभी व्यक्ति प्रायः शूद्र कोटि के हैं।

निस्सन्देह, पितृलोक में भेजे जाने की कामना के पीछे महाराज आग्नीध्र की मनोवृत्ति शूद्र की सी नहीं थी; वे क्षत्रिय थे।

महाराज आग्नीध्र की इच्छा थी कि वे पितृलोक जाँए, इसलिए उन्हें पत्नी की आवश्यकता हुई, क्योंकि पितृलोक के इच्छुक पुरुष को अपने पीछे उत्तम पुत्र छोड़ जाना चाहिए जो प्रतिवर्ष भगवान् विष्णु से प्रसाद या पिण्ड उसे प्रदान करता रहे। उत्तम पुत्र पाने के लिए ही महाराज आग्नीध्र ने देवकुल की पत्नी चाही थी। अत: वे ब्रह्मा के आराधन हेतु मन्दराचल गये जहाँ सामान्य रूप से देवों की स्त्रियाँ आती हैं। *भगवद्गीता* (४.१२) में कहा गया है—*कांक्षन्त: कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवता:*—जो भौतिकतावादी इस संसार में शीघ्र फल चाहते हैं, वे देवताओं की पूजा करते हैं। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* से भी होती है—*श्रीऐश्वर्य-प्रजेप्सव:*—जो पुरुष सुन्दर पत्नी, प्रचुर धन तथा अनेक पुत्रों की कामना करते हैं, वे देवताओं को पूजते हैं। किन्तु बुद्धिमान भक्त तो इन सबकी कामना नहीं करता। वह भगवान् के धाम को तुरन्त वापस जाना चाहता है। इस प्रकार वह भगवान् विष्णु की उपासना करता है।

तदुपलभ्य भगवानादिपुरुष: सदसि गायन्तीं पूर्वचित्तिं नामाप्सरसमभियापयामास. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; उपलभ्य—समझकर; भगवान्—सर्वशक्तिमान; आदि-पुरुष:—इस ब्रह्माण्ड में उत्पन्न पहले जीव; सदसि—सभा में; गायन्तीम्—नर्तकी; पूर्वचित्तिम्—पूर्वचित्ति; नाम—नामक; अप्सरसम्—स्वर्ग की नर्तकी, अप्सरा को; अभियापयाम् आस—नीचे भेजा।

इस ब्रह्माण्ड के सर्वशक्तिमान तथा आदि पुरुष भगवान् ब्रह्मा ने राजा आग्नीध्र की अभिलाषा जानकर अपनी सभा की श्रेष्ठ अप्सरा को, जिसका नाम पूर्वचित्ति था, चुनकर राजा के पास भेजा।

तात्पर्य : इस श्लोक में *भगवान् आदि-पुरुष:* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ही आदि-पुरुष हैं—*गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।* भगवान् श्रीकृष्ण आदि पुरुष हैं। *भगवद्गीता* में अर्जुन ने उन्हें *पुरुषं आद्यं* कह कर सम्बोधित किया है। वे भगवान् कहे जाते हैं। किन्तु इस श्लोक में ब्रह्मा को *भगवान् आदि-पुरुष:* कहा गया है। भगवान् कहने का कारण यह है कि वे भगवान् का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं और इस ब्रह्माण्ड के प्रथम जीव हैं। भगवान् ब्रह्मा महाराज आग्नीध्र की

अभिलाषा जान गये, क्योंकि वे भगवान् विष्णु के समान ही शक्तिमान हैं। जिस प्रकार परमात्मा पद पर स्थित भगवान् विष्णु जीवात्मा की अभिलाषा को जान लेते हैं उसी प्रकार से भगवान् ब्रह्मा भी जान लेते हैं, क्योंकि विष्णु उन्हें सूचित करने के माध्यम हैं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.१.१) में कहा गया है—*तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये*—भगवान् विष्णु अपने मन की प्रत्येक बात ब्रह्मा को बता देते हैं। चूँकि महाराज आग्नीध्र ने भगवान् ब्रह्मा की विशेष आराधना की, अतः वे उन पर परम प्रसन्न हुए और उनको संतुष्ट करने के लिए उन्होंने पूर्वचित्ति अप्सरा भेज दी।

सा च तदाश्रमोपवनमतिरमणीयं
विविधनिबिडविटपिविटपनिकरसंश्लिष्टपुरटलतारूढस्थलविहङ्गममिथुनैः प्रोच्यमानश्रुतिभिः
प्रतिबोध्यमानसलिलकुक्कुटकारण्डवकलहंसादिभिर्विचित्रमुपकूजितामलजलाशयकमलाकरमुपबभ्राम.
॥ ४॥

शब्दार्थ

सा—वह (पूर्वचित्ति); च—भी; तत्—महाराज आग्नीध्र को; आश्रम—ध्यान-स्थल के; उपवनम्—छोटा उद्यान, पार्क; अति—अत्यन्त; रमणीयम्—सुन्दर; विविध—अनेक प्रकार के; निबिड—घना; विटपि—वृक्ष; विटप—डालों के; निकर—समूह; संश्लिष्ट—संलग्न; पुरट—स्वर्णिम; लता—लताओं सहित; आरूढ—ऊपर चढ़ी हुई; स्थल-विहङ्गम—स्थल के पक्षियों के; मिथुनैः—जोड़ों सहित; प्रोच्यमान—कूजन करते हुए; श्रुतिभिः—सुहावने शब्दों से; प्रतिबोध्यमान—प्रतिध्वनित; सलिल-कुक्कुट—जल-कुक्कुट; कारण्डव—बत्तख; कल-हंस—अनेक प्रकार के हंसों; आदिभिः—इत्यादि, सहित; विचित्रम्—नाना प्रकार के; उपकूजित—शब्द से प्रतिध्वनित; अमल—निर्मल; जल-आशय—सरोवर या झील में; कमल-आकरम्—कमल पुष्पों की खान; उपबभ्राम—में चलने लगी।

श्री ब्रह्मा द्वारा भेजी गई अप्सरा उस उपवन के निकट विचरने लगी जहाँ राजा ध्यान में लगकर आराधना कर रहा था। वह उपवन सघन वृक्षों तथा स्वर्णिम लताओं के कारण अत्यन्त रमणीय था। वहाँ स्थल पर मयूर जैसे अनेक पक्षियों के जोड़े और सरोवर में बत्तख तथा हंस सुमधुर कूजन कर रहे थे। इस प्रकार वह उपवन वृक्षों, निर्मल जल, कमल पुष्प तथा सुमधुर कूजन करते विविध पक्षियों के कारण अत्यन्त सुन्दर लग रहा था।

तस्याः सुललितगमनपदविन्यासगतिविलासायाश्चानुपदं खणखणायमानरुचिरचरणाभरणस्वनमुपाकर्ण्य
नरदेवकुमारः समाधियोगेनामीलितनयननलिनमुकुलयुगलमीषद्विकचय्य व्यचष्ट. ॥ ॥

शब्दार्थ

तस्याः—उस (पूर्वचित्ति) के; सुललित—अत्यन्त सुन्दर; गमन—चाल; पद-विन्यास—चलने की शैली से; गति—आगे आगे; विलासायाः—जिनकी लीला; च—भी; अनुपदम्—प्रत्येक पग से; खण-खणायमान—झंकार करते हुए; रुचिर—अत्यन्त मनोहर; चरण-आभरण—चरणों के आभूषण; स्वनम्—ध्वनि को; उपाकर्ण्य—सुनकर; नरदेव-कुमारः—राजकुमार ने;

समाधि—समाधि दशा; योगेन—इन्द्रियों को नियंत्रित करके; आमीलित—अधखुले; नयन—नेत्र; नलिन—कमल की; मुकुल—कलियाँ; युगलम्—एक जोड़े के समान; ईषत्—कुछ-कुछ; विकचय्य—खोलकर; व्यचष्ट—देखा।

ज्योंही अत्यन्त मनोहर गति तथा हावभाव से युक्त पूर्वचित्ति उस पथ से निकली त्योंही प्रत्येक पग पर उसके चरण-नूपुरों की झंकार निकलने लगी। यद्यपि राजकुमार आग्नीध्र अधखुले नेत्रों से योग साध कर इन्द्रियों को वश में कर रहे थे, किन्तु अपने कमल सदृश नेत्रों से वे उसे देख सकते थे। तभी उन्हें उसके कंगनों की मधुर झंकार सुनाई दी। उन्होंने अपने नेत्रों को कुछ और खोला, तो देखा कि वह उनके बिल्कुल निकट थी।

तात्पर्य : ऐसा कहा जाता है कि योगीजन सदैव भगवान् का ध्यान अपने हृदय में करते रहते हैं। *ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिन:* (*भागवत* १२.१३.१)। विषमयी इन्द्रियों को वश में करने वाले योगी भगवान् का नित्य दर्शन करते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, योगियों को *सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रम्*—अर्थात् अधखुले नेत्रों से साधना करनी चाहिए। यदि नेत्र पूर्णरूप से बन्द रहेंगे, तो नींद आ सकती है। किन्तु कुछ नामधारी योगी अपने नेत्रों को बन्द करके ध्यान धारण करते हैं। यह योग की''फैशनपरस्त विधि'' है, किन्तु हमने ऐसे योगियों को ध्यान के समय सोते तथा खर्राटे लेते सुना है। यह योग की विधि नहीं है। वास्तविक योग साधने के लिए नेत्रों को अधखुला रखते हुए नासिका के अगले भाग को देखना चाहिए।

यद्यपि प्रियव्रत के पुत्र आग्नीध्र योगाभ्यास कर रहे थे और प्रयास कर रहे थे अपनी इन्द्रियों को वश में करने के लिए, किन्तु पूर्वचित्ति के नूपुरों की झंकार से उनका ध्यान टूट गया। *योग इन्द्रियसंयम:*—वास्तविक योग का अर्थ है इन्द्रियों का नियंत्रण। मनुष्य को इन्द्रियों को वश में करने के लिए योगाभ्यास करना चाहिए, किन्तु भक्त अपनी शुद्ध इन्द्रियों से ईश्वर की सेवा में तत्पर रहता है, अत: उसका ध्यान भंग नहीं हो सकता (*हृषीकेण हृषीकेश-सेवनम्*)। अत: श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती ने कहा है—*दुर्दान्तेन्द्रिय-काल-सर्पपटली प्रोत्खात-दंष्ट्रायते* (*चैतन्य-चन्द्रामृत*)। निस्सन्देह योग्याभ्यास उपयोगी है, क्योंकि इससे विषधर तुल्य इन्द्रियाँ वशीभूत होती हैं। किन्तु जब कोई अपनी समस्त इन्द्रियों को ईश्वर की सेवा में लगाकर भक्ति करता है, तो इन्द्रियों का विषैलापन दूर हो जाता है। यह व्याख्या की जाती है कि सर्प से उसके विषदंतों के कारण डरा जाता है, किन्तु यदि उसके दाँतों को तोड़ दिया जाये तो सर्प भले ही डरावना लगे, किन्तु घातक नहीं होता। अत: भक्तों के समक्ष भले

ही हावभाव तथा सुललित भाव-भंगिमा करने वाली सैकड़ों-हजारों सुन्दरियाँ क्यों न उपस्थित हो जाँए, वे मोहित नहीं होते जबकि सामान्य योगी ऐसी सुन्दरियों से विपथ हो जाते हैं। यहाँ तक कि सिद्ध योगी विश्वामित्र ने मेनका से संभोग करने के लिए अपना योग भंग किया और उससे शकुन्तला उत्पन्न हुई। अत: योग का अभ्यास इन्द्रियों को वश में करने में पूर्ण समर्थ नहीं है। दूसरा उदाहरण आग्नीध्र का है जिनका ध्यान पूर्वचित्ति नामक अप्सरा के नुपूरों की मधुर झंकार से उसी तरह टूट गया जिस तरह विश्वामित्र का ध्यान मेनका की चूड़ियों की खनक से टूट गया था। राजकुमार स्वयं अत्यन्त सुन्दर था। जैसा यहाँ वर्णित है उसके नेत्र कमल की कली के समान थे और उसकी सुन्दर गति को देखने के लिए उस ने तुरन्त अपनी आँखें खोल ली। ज्योंही उसने अपने कमल-नेत्र खोले, तो देखा कि अप्सरा उसके पास ही उपस्थित है।

तामेवाविदूरे मधुकरीमिव सुमनस उपजिघ्रन्तीं
दिविजमनुजमनोनयनाह्लाददुघैर्गतिविहारव्रीडाविनयावलोकसुस्वराक्षरावयवैर्मनसि नृणां कुसुमायुधस्य
विदधतीं विवरं निजमुखविगलितामृतासवसहासभाषणामोदमदान्धमधुकरनिकरोपरोधेन द्रुतपदविन्यासेन
वल्गुस्पन्दनस्तनकलशकबरभाररशनां देवीं तदवलोकनेन विवृतावसरस्य भगवतो मकरध्वजस्य
वशमुपनीतो जडवदिति होवाच. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उसको; एव—निस्संदेह; अविदूरे—निकट ही; मधुकरीम् इव—मधुमक्खी के समान; सुमनसः—सुन्दर फूल; उपजिघ्रन्तीम्—सूँघती हुई; दिवि-ज—स्वर्गलोक में उत्पन्न होने वालों का; मनु-ज—मर्त्यलोक में जन्म लेने वालों का; मनः—मन; नयन—नेत्रों के लिए; आह्लाद—प्रसन्नता; दुघैः—उत्पन्न करती हुई; गति—अपनी चाल से; विहार—आमोद-प्रमोद से; व्रीडा—लज्जा से; विनय—विनयशीलता से; अवलोक—चितवन से; सु-स्वर-अक्षर—अपनी मधुर वाणी से; अवयवैः—शरीर के अंगों से; मनसि—मन में; नृणाम्—मनुष्यों के; कुसुम-आयुधस्य—हाथ में पुष्प-धनुष धारण करने वाले कामदेव का; विदधतीम्—करती हुई; विवरम्—कर्णगत; निज-मुख—अपने मुँह से; विगलित—उड़ेलती हुई; अमृत-आसव—मधु सदृश अमृत; स-हास—अपने हँसी में; भाषण—तथा बोलने में; आमोद—प्रसन्नता से; मद-अन्ध—नशे में अन्धा हुआ; मधुकर—मधुमक्खियों का; निकर—समूह; उपरोधेन—उसके चारों ओर से घिरे होने से; द्रुत—शीघ्रगामी; पद—पाँव का; विन्यासेन—भावपूर्ण पद चाप से; वल्गु—कुछ; स्पन्दन—गति; स्तन—उरोज; कलश—जल पात्र सदृश; कबर—बालों की चोटी; भार—भार; रशनाम्—करधनी; देवीम्—देवी को; तत्-अवलोकनेन—उसकी दृष्टि मात्र से; विवृत-अवसरस्य—अवसर पाकर; भगवतः—सर्वशक्तिमान का; मकर-ध्वजस्य—कामदेव का; वशम्—वश में; उपनीतः—लाया जाकर; जड-वत्—जड़ के समान; इति—इस प्रकार; ह—निश्चय ही; उवाच—वह बोला।.

वह अप्सरा सुन्दर तथा आकर्षक फूलों को मधुमक्खी के समान सूँघ रही थी। वह अपनी चपल गति, लज्जा, विनय, चितवन तथा मुख से निकलने वाली मधुर ध्वनि और अपने अंगों की गति से मनुष्यों तथा देवताओं के मन तथा ध्यान को आकर्षित करने वाली थी। इन सब गुणों के कारण उसने मनुष्यों के मनों में कुसुम धनुषधारी कामदेव के स्वागतार्थ कानों के मार्ग खोल

दिये थे। जब वह बोलती, तो उसके मुख से अमृत झरता था। उसके श्वास लेने पर श्वास का स्वाद लेने के लिए भौंरे मदान्ध होकर उसके कमलवत् नेत्रों के चारों ओर मँडराने लगते। इन भौंरों से विचलित होकर वह जल्दी-जल्दी चलने का प्रयत्न करने लगी, किन्तु जल्दी चलने के लिए पैर उठाते ही उसके केश, उसकी करधनी तथा उसके जलकलश तुल्य स्तन इस प्रकार गति कर रहे थे, जिससे वह अत्यन्त मनोहर एवं आकर्षक लग रही थी। दरअसल ऐसा प्रतीत होता था मानो वह अत्यन्त बलशाली कामदेव के लिए प्रवेश-मार्ग बना रही हो। अतः राजकुमार उसे देखकर पूर्णतया वशीभूत हो गया और उससे इस प्रकार बोला।

तात्पर्य : इस श्लोक में अत्यन्त सुन्दर ढंग से यह वर्णन किया गया है कि किसी सुन्दर स्त्री की गति तथा हावभाव, उसके केश तथा उसके स्तनों, नितम्बों और अन्य अंगों की रचना न केवल पुरुषों के मन को वरन् देवताओं के मन को भी मोह लेती है। *दिविज* तथा *मनुज* शब्द विशेष रूप से यह पुष्टि करते हैं कि स्त्रियों के संकेतों का आकर्षण न केवल इस लोक के प्राणियों को वरन् स्वर्गलोक के प्राणियों को भी मोहने वाला है। कहा जाता है कि स्वर्गलोक के प्राणियों का जीवन-स्तर मर्त्यलोक के जीवन-स्तर से कई हजार गुना उच्च है। अतः वहाँ की सुन्दर स्त्रियों का शरीर पृथ्वी पर रहने वाली स्त्रियों के शरीर से हजारों गुना अधिक लुभावना होगा। सृष्टिकर्ता ने स्त्रियों को इस प्रकार निर्मित किया है कि उनकी मधुर ध्वनि, चाल तथा उनके नितम्बों, उरोजों और अन्य अंगों का मनोहर रूप न केवल पृथ्वी पर के वरन् स्वर्ग तक के पुरुषों को आकर्षित करता है और उनमें काम-भाव जागरित हो उठते हैं। जब कोई पुरुष कामदेव अथवा स्त्री सौंदर्य के वशीभूत होता है, तो वह पत्थर के तुल्य जड़ हो जाता है। स्त्रियों के अंग-चालन से मोहित होकर पुरुष इसी भौतिक संसार में रहना चाहता है। इस प्रकार स्त्री के सुन्दर दर्शन तथा गति मात्र से वह वैकुंठ लोक नहीं जा पाता है। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने समस्त भक्तों को सुन्दरियों के आकर्षण एवं भौतिकतावादी सभ्यता से दूर रहने के लिए सचेत किया है। उन्होंने प्रतापरुद्र महाराज को देखने से भी इनकार कर दिया था, क्योंकि इस संसार में वह अत्यन्त ऐश्वर्यवान व्यक्ति था। इस सम्बन्ध में श्री चैतन्य महाप्रभु का कहना है—*निष्किञ्चनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य*—''जो ईश्वर की भक्ति में रत हैं और भगवान् के धाम वापस जाना चाहते हैं उन्हें स्त्रियों के सुन्दर हावभाव से तथा अत्यन्त धनी पुरुषों के दर्शन से दूर रहना चाहिए।''

निष्किञ्चनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य

पारं परं जिगमिषोर्भवसागरस्य।

सन्दर्शनं विषयिणाम् अथ योषितां च

हा हन्त हन्त विषभक्षणतोऽप्यसाधु॥

"अहो! जो इस संसार-सागर को तरना चाहता है और भगवान् की निष्काम तथा दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा हुआ है उसके लिए इन्द्रियभोग में लिप्त भौतिकतावादी पुरुष या स्त्री का दर्शन स्वेच्छा से विषपान करने से भी जघन्य है।"(*चैतन्य-चरितामृत* मध्य ११.८)। अत: जो भगवान् के धाम को वापस जाना चाहता है उसे चाहिए कि वह स्त्री के आकर्षक अंगों तथा धनी पुरुषों की सम्पत्ति के विषय में तनिक भी न सोचे। ऐसा सोचने से आध्यात्मिक जीवन की प्रगति रुक जाती है। किन्तु यदि भक्त एक बार कृष्णभावनामृत में स्थिर हो गया, तो ये आकर्षण उसके मन को क्षुब्ध नहीं करते।

का त्वं चिकीर्षसि च किं मुनिवर्य शैले
मायासि कापि भगवत्परदेवताया: ।
विज्ये बिभर्षि धनुषी सुहृदात्मनोऽर्थे
किं वा मृगान्मृगयसे विपिने प्रमत्तान् ॥ ७॥

शब्दार्थ

का—कौन; त्वम्—तुम हो; चिकीर्षसि—क्या करना चाहते हो; च—भी; किम्—क्या; मुनि-वर्य—हे मुनिश्रेष्ठ; शैले—इस पर्वत पर; माया—माया; असि—हो; कापि—कुछ; भगवत्—भगवान्; पर-देवताया:—दिव्य ईश्वर का; विज्ये—बिना डोरी के; बिभर्षि—धारण किये हुए; धनुषी—दो धनुष; सुहृत्—मित्र का; आत्मन:—अपने; अर्थे—हेतु; किम् वा—अथवा; मृगान्—जंगली पशु; मृगयसे—आखेट करने का प्रयत्न कर रहे हो; विपिने—इस वन में; प्रमत्तान्—धन से मतवालों का।.

राजकुमार ने भूल से अप्सरा को सम्बोधित किया—हे मुनिवर्य, तुम कौन हो? इस पर्वत पर क्यों आये हो और क्या करना चाहते हो? क्या तुम भगवान् की कोई माया हो? तुम बिना डोरी वाले इन दो धनुषों को क्यों धारण किये हो? क्या इनसे कोई तुम्हारा प्रयोजन है या अपने मित्र के लिए इन्हें धारण किये हुए हो? सम्भवत: तुम इन्हें इस वन के मतवाले (पागल) पशुओं को मारने के लिए धारण किये हो।

तात्पर्य : वन में कठिन तपस्या करते हुए आग्नीध्र ब्रह्मा द्वारा भेजी गई पूर्वचित्ति की भंगिमाओं से मोहित हो गये। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना:*—कामी पुरुष अपनी बुद्धि गँवा बैठता है। अत: बुद्धि खोने के पश्चात् आग्नीध्र स्त्री तथा पुरुष में अन्तर नहीं कर पाये। उन्होंने उसे

मुनि-पुत्र समझा इसलिए उसे *मुनिवर्य* कह कर सम्बोधित किया। किन्तु उसकी सुन्दरता के कारण उन्हें विश्वास नहीं हो पाया कि वह किशोर है, अत: उन्होंने उसके अंगों को ध्यान से देखना प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम उन्हें उसकी दो भौंहें दिखाई पड़ीं जिनको देख कर उन्हें भ्रम हुआ कि कहीं वह भगवान् की माया तो नहीं है। इसके लिए *भगवत्-पर-देवताया:* शब्दों का प्रयोग हुआ है। *देवता* अर्थात् देवतागण इस भौतिक जगत से सम्बन्धित हैं, किन्तु भगवान् इस भौतिक लोक से परे रहते हैं, अत: *पर-देवता* कहलाते हैं। यह भौतिक जगत माया के द्वारा सृजित है, किन्तु *पर-देवता* भगवान् के आदेश के अनुसार इसका सृजन होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है (*मयाध्यक्षेण प्रकृति: सूयते सचराचरम्*), इस संसार की सृष्टि का परम नियन्ता माया नहीं है। माया श्रीकृष्ण की ओर से कर्म करती है।

पूर्वचित्ति की भौंहें इतनी सुन्दर थीं कि आग्नीध्र ने उनकी तुलना डोरी विहीन धनुषों से की। इसलिए उन्होंने पूछा कि वे उसके अपने प्रयोजन के लिए थे, अथवा किसी अन्य के लिए थे। उसकी भौंहें वन के पशुओं को मारने के लिए प्रयुक्त धनुषों जैसी थीं। यह संसार वन के तुल्य है और उसके निवासी वन के पशुओं यथा हिरन तथा बाघ जैसे हैं जिनका शिकार किया जाता है। सुन्दर स्त्री की भौंहें ही उन्हें मारने वाली हैं। स्त्री की सुन्दरता से मोहित होकर संसार के सभी मनुष्य बिना डोरी वाले धनुष से मार दिये जाते हैं, किन्तु कोई यह नहीं देख पाता कि माया उन्हें किस प्रकार मारती है। पर यथार्थ में वे मारे जाते हैं (*भूत्वा भूत्वा प्रलीयते*)। अपनी तपस्या से आग्नीध्र जान सके कि भगवान् के आदेश से माया किस प्रकार कार्य करती है।

प्रमत्तान् शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। *प्रमत्त* का अर्थ है ऐसा व्यक्ति जो अपनी इन्द्रियों को अपने वश में नहीं कर पाता। समस्त संसार ऐसे ही प्रमत्त या विमूढ़ व्यक्तियों द्वारा शोषित हो रहा है। अत: प्रह्लाद महाराज ने कहा है (*भागवत* ७.९.४३)—

शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ-

मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान्।

"वे क्षणिक सुख के लिए विषयों में सड़ते रहते हैं और इन्द्रिय भोग के लिए ही दिन-रात श्रम करते हुए जीवन नष्ट कर रहे हैं, उन्हें ईश्वर से किसी प्रकार का लगाव नहीं रहता। मैं उन्हीं के लिए

शोचमग्न हूँ और उन्हें माया के चंगुल से मुक्त करने की विभिन्न युक्तियाँ सोच रहा हूँ।'' शास्त्रों में इन्द्रियतुष्टि के लिए कर्म करने वाले कर्मियों को प्रमत्त, विमुख तथा विमूढ़ कहा गया है। ये माया के द्वारा मारे जाते हैं। किन्तु जो अप्रमत्त अथवा धीर हैं, वे भली भाँति जानते रहते हैं कि मनुष्य का मुख्य कर्तव्य परम पुरुष की सेवा करना है। जो माया के अदृश्य धनुष तथा बाण से प्रमत्त हैं उन्हें वह मारने के लिए सदा तत्पर रहती है। आग्नीध्र ने पूर्वचित्रि से इस सबके बारे में पूछा।

बाणाविमौ भगवतः शतपत्रपत्रौ
शान्तावपुङ्खरुचिरावतितिग्मदन्तौ ।
कस्मै युयुङ्क्षसि वने विचरन्न विद्मः
क्षेमाय नो जडधियां तव विक्रमोऽस्तु ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

बाणौ—दो बाण; इमौ—ये; भगवतः—आपके, सर्वशक्तिमान के; शत-पत्र-पत्रौ—कमल की पंखुडियों जैसे पंखों वाले; शान्तौ—शान्त; अपुङ्ख—पंखरहित; रुचिरौ—अत्यन्त सुन्दर; अति-तिग्म-दन्तौ—अत्यन्त तीक्ष्ण नोक वाले; कस्मै—किसको; युयुङ्क्षसि—बेध देना चाहते हो; वने—वन में; विचरन्—इधर-उधर घूमते हुए; न विद्मः—हम समझ नहीं सकते; क्षेमाय—कल्याण के लिए; नः—हमारे; जड-धियाम्—जड़-बुद्धि वालों को; तव—तुम्हारा; विक्रमः—शौर्य; अस्तु—हो।

तब आग्नीध्र ने पूर्वचित्ति के बाँके नेत्रों को देखा और कहा—हे मित्र, तुम्हारे बाँके नेत्र दो अत्यन्त शक्तिशाली बाण हैं। इन बाणों में कमल पुष्प की पंखुड़ियों जैसे पंख हैं। मूठरहित होने पर भी वे अत्यन्त सुन्दर हैं और उनके सिरे नुकीले तथा भेदने वाले हैं। वे अत्यन्त शान्त लगते हैं जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे किसी पर नहीं छोड़े जाएँगे। तुम इस वन में किसी न किसी को इन बाणों से बेधने के लिए विचरण कर रहे होगे, किन्तु किसे? यह मैं नहीं जानता। मेरी बुद्धि भी मन्द पड़ गई है और मैं तुम्हारा सामना नहीं कर सकता। दरअसल, पराक्रम में कोई भी तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकता; इसीलिए मेरी प्रार्थना है कि तुम्हारा पराक्रम मेरे लिए कल्याणकारी हो।

तात्पर्य : आग्नीध्र पूर्वचित्ति के कटाक्ष की प्रशंसा करने लगे। उन्होंने उसके बाँके नेत्रों की तुलना तीक्ष्ण तीरों से की। यद्यपि उसके नेत्र कमल सदृश सुन्दर थे, किन्तु साथ ही वे मूठहीन तीरों के समान थे इसलिए आग्नीध्र उनसे भयभीत हो गया। उन्हें आशा थी कि उसके कटाक्ष उनके अनुकूल होंगे क्योंकि वे पहले से मोहित थे और जितना ही अधिक मोहित होते उनके लिए उसके बिना रह पाना उतना ही कठिन होगा। इसीलिए आग्नीध्र ने पूर्वचित्ति से प्रार्थना की कि उसके कटाक्ष उनके लिए

कल्याणकारी हों। दूसरे शब्दों में, उन्होंने प्रार्थना की कि वह उनकी पत्नी बन जाये।

शिष्या इमे भगवतः परितः पठन्ति
गायन्ति साम सरहस्यमजस्रमीशम् ।
युष्मच्छिखाविलुलिताः सुमनोऽभिवृष्टीः
सर्वे भजन्त्यृषिगणा इव वेदशाखाः ॥ ९॥

शब्दार्थ

शिष्याः—शिष्य; इमे—ये; भगवतः—पूज्य के; परितः—चारों ओर से घेरे हुए; पठन्ति—सुना रहे हैं; गायन्ति—गायन कर रहे हैं; साम—सामवेद; स-रहस्यम्—रहस्ययुक्त; अजस्रम्—निरन्तर; ईशम्—ईश्वर को; युष्मत्—तुम्हारी; शिखा—चोटी से; विलुलिताः—गिरे हुए; सुमनः—पुष्पों की; अभिवृष्टीः—वृष्टि; सर्वे—समस्त; भजन्ति—भोगते हैं; ऋषि-गणाः—ऋषि, मुनि; इव—सदृश; वेद-शाखाः—वैदिक शास्त्रों की शाखाएँ।

पूर्वचित्ति का अनुगमन करने वाले भौरों को देखकर महाराज आग्नीध्र बोले—भगवन्, ऐसा प्रतीत होता है मानो तुम्हारे शरीर को घेरे हुए ये भौंरे अपने पूज्य गुरु को घेरे हुए शिष्य हैं। वे सामवेद तथा उपनिषद् के मंत्रों का निरन्तर गायन कर रहे हैं और इस प्रकार तुम्हारी स्तुति कर रहे हैं। जैसे ऋषिगण वैदिक शास्त्रों की शाखाओं का अनुसरण करते हैं, ये भौंरें तुम्हारी चोटी से झड़ने वाले पुष्पों का आनन्द ले रहे हैं।

वाचं परं चरणपञ्जरतित्तिरीणां
ब्रह्मन्नरूपमुखरां शृणवाम तुभ्यम् ।
लब्धा कदम्बरुचिरङ्कविटङ्कबिम्बे
यस्यामलातपरिधिः क्व च वल्कलं ते ॥ १०॥

शब्दार्थ

वाचम्—गुंजरित ध्वनि; परम्—एकमात्र; चरण-पञ्जर—नूपुरों की; तित्तिरीणाम्—तीतरों की; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; अरूप—बिना रूप के; मुखराम्—स्पष्ट सुनाई पड़ने वाला; शृणवाम—मैं सुनता हूँ; तुभ्यम्—तुम्हारा; लब्धा—प्राप्त; कदम्ब—कदम्ब पुष्प सदृश; रुचिः—मनोहर रंग; अङ्क-विटङ्क-बिम्बे—सुन्दर गोल नितम्बों पर; यस्याम्—जिस पर; अलात-परिधिः—ज्वलित अंगारों का घेरा; क्व—कहाँ; च—भी; वल्कलम्—ढकने के लिए वस्त्र; ते—तुम्हारा।

हे ब्राह्मण, मुझे तो तुम्हारे नूपुरों की झंकार ही सुनाई पड़ती है। ऐसा लगता है उनके भीतर तीतर पक्षी चहक रहे हैं। मैं उनके रूपों को नहीं देख रहा, किन्तु मैं सुन रहा हूँ कि वे किस प्रकार चहक रहे हैं। जब मैं तुम्हारे सुन्दर गोल नितम्बों को देखता हूँ, तो मुझे लगता है कि मानो वे कदम्ब के पुष्पों का सुन्दर रंग लिए हों। तुम्हारी कमर में जाज्वल्यमान अंगारों की मेखला पड़ी हुई है। दरअसल, ऐसा लगता है कि तुम वस्त्र धारण करना भूल गये हो।

तात्पर्य : पूर्वचित्ति को कामुक भाव से देखते हुए आग्नीध्र ने उस तरुणी के आकर्षक नितम्बों

तथा कटि भाग पर दृष्टि फेरी। जब मनुष्य किसी स्त्री को इस प्रकार कामेच्छा से देखता है, तो वह उसके मुख, स्तन तथा कटि पर मोहित हो जाता है, क्योंकि पुरुष को अपनी वासना तृप्त करने के लिए स्त्री पहले पहल अपनी सुन्दर मुखाकृति, अपने उरोजों के उभार और कटिभाग से आकर्षित करती है। पूर्वचित्ति ने सुन्दर पीला रेशमी वस्त्र पहन रखा था, अत: उसके नितम्ब कदम्ब पुष्प के समान लग रहे थे। करधनी के कारण उसकी कमर जाज्वल्यमान अंगारों से घिरी प्रतीत हुई। यद्यपि वह वस्त्रों से पूर्णत: सज्जित थी, किन्तु आग्नीध्र इतना काममोहित हो गया था कि उसे पूछना पड़ा "तुम वस्त्ररहित होकर क्यों आई हो?"

किं सम्भृतं रुचिरयोर्द्विज शृङ्गयोस्ते
मध्ये कृशो वहसि यत्र दृशि: श्रिता मे ।
पङ्कोऽरुण: सुरभीरात्मविषाण ईदृग्
येनाश्रमं सुभग मे सुरभीकरोषि ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; सम्भृतम्—भरा हुआ; रुचिरयो:—अत्यन्त सुन्दर; द्विज—हे ब्राह्मण; शृङ्गयो:—दो सींगों के भीतर; ते—तुम्हारा; मध्ये—बीच में; कृश:—पतली; वहसि—धारण करते हो; यत्र—जिसमें; दृशि:—आँखें; श्रिता—टिकी हुई; मे—मेरी; पङ्क:—चूर्ण; अरुण:—लाल; सुरभि:—सुगंधित; आत्म-विषाणे—दो सींगों पर; ईदृक्—ऐसा; येन—जिसके द्वारा; आश्रमम्—आश्रम; सु-भग—हे भाग्यवान्; मे—मेरा; सुरभी-करोषि—सुगन्धित बना रहे हो।

तब आग्नीध्र ने पूर्वचित्ति के उभरे हुए उरोजों की प्रशंसा की। उन्होंने कहा—हे ब्राह्मण, तुम्हारी कमर अत्यन्त पतली है, किन्तु फिर भी तुम कष्ट सह कर इन दो सींगों को धारण कर रहे हो जिन पर मेरे नेत्र अटक गये हैं। इन दोनों सुन्दर सीगों के भीतर क्या भरा है? तुमने इनके ऊपर सुगन्धित लाल-लाल चूर्ण छिड़क रखा है मानो अरुणोदय का सूर्य हो। हे भाग्यवान्, क्या मैं पूछ सकता हूँ कि तुम्हें ऐसा सुगन्धित चूर्ण कहाँ से मिला जो मेरे आश्रम को सुरभित कर रहा है?

तात्पर्य : आग्नीध्र ने पूर्णचित्ति के उन्नत उरोजों की प्रशंसा की। उसके उरोजों को देखकर वह लगभग प्रमत्त हो उठा। तो भी वह नहीं पहचान पाया कि पूर्वचित्ति किशोर था या कोई किशोरी; इसीलिए उसने उसे *द्विज* (हे ब्राह्मण!) कहकर सम्बोधित किया। किन्तु द्विज अर्थात् ब्राह्मण बालक के वक्षस्थल पर सींग क्यों हों? क्योंकि बालक की कमर पतली थी, आग्नीध्र ने सोचा कि वह अत्यन्त कठिनाई से इनका भार ढो रहा है, अत: इनके भीतर अवश्य ही कुछ मूल्यवान वस्तु भरी होगी।

अन्यथा वह उनको क्यों वहन कर रहा है? जब किसी स्त्री की कटि पतली और उरोज उठे हुए होते हैं, तो वह अत्यन्त आकर्षक लगती है। आग्नीध्र ने मोहित नेत्रों से कृश शरीर वाली लड़की के लाल स्तनों का चिन्तन किया और कल्पना की कि उसके नितम्ब इसको कैसे वहन करते होंगे। आग्नीध्र ने कल्पना की कि उसके उन्नत उरोज उसके दो सींग हैं, जिन्हें उसने वस्त्र से इसलिए ढक रखा था, जिससे उनके भीतर के बहुमूल्य पदार्थ को कोई देख न सके। किन्तु आग्नीध्र उनको देखने के लिए अत्यन्त व्यग्र था, अत: उसने प्रार्थना की "कृपया इनसे आवरण हटा दो जिससे मैं देख सकूँ कि इनके भीतर क्या भरा है। विश्वास रखो कि मैं उन्हें ले नहीं भागूँगा। यदि तुम्हें कुछ असुविधा हो तो क्या मैं स्वयं खोलकर देख सकता हूँ कि इन उन्नत सींगों के भीतर क्या है?" वे उसके स्तनों के ऊपर फैले हुए सुरभित कुंकुम के लाल चूर्ण से चकित थे। इतने पर भी उसने पूर्वचित्ति को बालक समझ कर उसे *सुभग* अर्थात् भाग्यशाली मुनि कह कर सम्बोधित किया। यह बालक भाग्यशाली रहा होगा, अन्यथा इसके वहाँ खड़े होने से आग्नीध्र का पूरा आश्रम कैसे महक सकता था?

लोकं प्रदर्शय सुहृत्तम तावकं मे
यत्रत्य इत्थमुरसावयवावपूर्वौ ।
अस्मद्विधस्य मनउन्नयनौ बिभर्ति
बह्वद्भुतं सरसराससुधादि वक्त्रे ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

लोकम्—आवास स्थान, देश; प्रदर्शय—दिखा दो; सुहृत्-तम—हे श्रेष्ठ मित्र, मित्रवर; तावकम्—इस प्रकार; मे—मुझको; यत्रत्य:—जिसमें उत्पन्न पुरुष; इत्थम्—इस तरह; उरसा—वक्षस्थल से; अवयवौ—दो अंग (उरोज); अपूर्वौ—अपूर्व; अस्मत्-विधस्य—मुझ जैसे व्यक्ति को; मन:-उन्नयनौ—चित्त को क्षुब्ध करने वाला; बिभर्ति—बना हुआ है; बहु—अनेक; अद्भुतम्—अद्भुत; सरस—मृदुवचन; रास—मुस्कान जैसा हावभाव; सुधा-आदि—अमृत के तुल्य; वक्त्रे—मुख में।

मित्रवर, क्या तुम मुझे अपना निवास स्थान दिखा सकते हो? मैं कल्पना भी नहीं कर सकता कि उस स्थान के वासियों को तुम्हारे उन्नत उरोजों के समान अद्भुत् शारीरिक अंग किस तरह प्राप्त हुए हैं, जो मुझ जैसे देखने वाले के मन तथा नेत्रों को उद्वेलित कर रहे हैं। उनकी मधुर वाणी तथा मृदु मुस्कान से इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि उनके मुख में अमृत बसता होगा।

तात्पर्य : प्रमत्त आग्नीध्र ने उस स्थान को भी जानना चाहा जहाँ से वह ब्राह्मण-बालक आया था और जहाँ के मनुष्यों के वक्षस्थल इस प्रकार उठे हुए थे। उन्होंने सोचा कि सम्भवत: ऐसे आकर्षक अंग उनकी कठिन तपस्या के फलस्वरूप हों। आग्नीध्र ने इस बालिका को *सुहृत्तम* कहकर सम्बोधित

किया जिससे वह उसे वहाँ ले जाने से कहीं अस्वीकार न कर दे। आग्नीध्र न केवल उस बालिका के उन्नत उरोजों से मोहित थे, वरन् उसकी मधुरवाणी से भी आकृष्ट थे। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानो उसके मुख से अमृत निकल रहा हो। इसलिए वे अत्यन्त आश्चर्य में पड़ गये।

का वात्मवृत्तिरदनाद्धविरङ्ग वाति
विष्णोः कलास्यनिमिषोन्मकरौ च कर्णौ ।
उद्विग्नमीनयुगलं द्विजपङ्क्ति शोचि-
रासन्नभृङ्गनिकरं सर इन्मुखं ते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

का—क्या; वा—तथा; आत्म-वृत्तिः—शरीर के पालन हेतु भोजन; अदनात्—पान के चबाने से; हविः—यज्ञ की हवन सामग्री; अङ्ग—मेरे प्रिय मित्र; वाति—फैल रही है; विष्णोः—भगवान् विष्णु के; कला—शरीर का अंश; असि—हो; अनिमिष—अपलक; उन्मकरौ—दो उज्ज्वल मगर; च—भी; कर्णौ—दो कान; उद्विग्न—परेशान, अस्थिर; मीन-युगलम्—दो मछलियों सहित; द्विज-पङ्क्ति—दाँतों की पाँत; शोचिः—सुन्दरता; आसन्न—सन्निकट; भृङ्ग-निकरम्—भौंरों का समूह; सरः इत्—सरोवर के सदृश; मुखम्—मुँह; ते—तुम्हारा।

मित्रवर, शरीर पालने के लिए तुम क्या खाते हो? ताम्बूल चबाने से तुम्हारे मुख से सुगन्ध फैल रही है। इससे यह सिद्ध होता है कि तुम सदैव विष्णु का प्रसाद खाते हो। निश्चय ही तुम भगवान् विष्णु के अंश स्वरूप हो। तुम्हारा मुख मनोहर सरोवर के समान सुन्दर है। तुम्हारे रत्नजटित कुंडल उन दो उज्ज्वल मकरों के तुल्य हैं जिनके नेत्र विष्णु के समान अपलक रहने वाले हैं। तुम्हारे दोनों नेत्र दो चंचल मछलियों के सदृश हैं। इस प्रकार तुम्हारे मुख-सरोवर में दो मकर तथा दो चंचल मछलियाँ एक साथ तैर रही हैं। इनके अतिरिक्त तुम्हारे दाँतों की धवल पंक्ति जल में श्वेत हंसों की पंक्ति के सदृश प्रतीत होती है और तुम्हारे बिखरे बाल तुम्हारे मुख की शोभा का पीछा करने वाले भौंरों के झुंड के समान हैं।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु के भक्त उन्हीं के अंश भी हैं और *विभिन्नांश* कहलाते हैं। भगवान् विष्णु को सभी प्रकार की हवियाँ भेंट की जाती हैं और भक्तगण उनका बचा हुआ भोजन, अर्थात् प्रसाद खाते हैं, अत: हवि की सुगन्धि न केवल विष्णु से निकलती है, वरन् प्रसाद पाने वाले भक्तों के शरीरों से भी निकलती है। आग्नीध्र पूर्वचित्ति को उसके शरीर से निर्गत सुगन्धि के कारण भगवान् विष्णु का अंश मान रहे थे। इसके साथ ही साथ उसके मकराकार रत्नजटित कुंडलों, उसकी शरीर की सुगंध के पीछे मत्त होकर दौड़ने वाले भौंरों के समान काले बालों तथा हंसों के समान श्वेत दंतपंक्ति के कारण

आग्नीध्र ने उसके मुख की उपमा कमल पुष्पों, मछलियों, हंसों तथा भौंरों से अलंकृत सुन्दर सरोवर से दी।

योऽसौ त्वया करसरोजहतः पतङ्गो
दिक्षु भ्रमन्भ्रमत एजयतेऽक्षिणी मे ।
मुक्तं न ते स्मरसि वक्रजटावरूथं
कष्टोऽनिलो हरति लम्पट एष नीवीम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

यः—जो; असौ—वह; त्वया—तुम्हारे द्वारा; कर-सरोज—कमल के समान हथेली वाला; हतः—आहत; पतङ्गः—गेंद; दिक्षु—समस्त दिशाओं में; भ्रमन्—घूमते हुए; भ्रमतः—चल, अस्थिर; एजयते—विक्षुब्ध करता है; अक्षिणी—नेत्रों को; मे—मेरे; मुक्तम्—बिखरे हुए; न—नहीं; ते—तुम्हारा; स्मरसि—क्या तुम्हें सुधि है; वक्र—घुँघराले; जटा—बालों का; वरूथम्—समूह, लटें; कष्टः—कष्टदायी; अनिलः—वायु; हरति—बहा ले जाता है; लम्पटः—धूर्त, परस्त्री पर आसक्त सदृश; एषः—यह; नीवीम्—अधोवस्त्र।

मेरा मन पहले ही से चंचल है और तुम इस गेंद को अपनी कमल सदृश हथेली से इधर-उधर फेंक कर मेरे नेत्रों को विक्षुब्ध कर रहे हो। तुम्हारे घुँघराले केश अब बिखरे हुए हैं, किन्तु तुम्हें उनको सँभालने की सुधि नहीं है। तुम इन्हें सँभाल क्यों नहीं लेते? यह धूर्त वायु स्त्रियों में आसक्त लम्पट पुरुष के समान तुम्हारे अधोवस्त्र को उठाने का प्रयत्न कर रहा है। क्या तुम्हें इसकी खबर नहीं है?

तात्पर्य : पूर्वचित्ति अपने हाथों में गेंद लिए हुए खेल रही थी जो उसकी कमलवृत् हथेली में पकड़े एक अन्य कमल पुष्प सा लग रहा था। इधर-उधर गति करने से उसके केश शिथिल हो गये थे और उसका नीवीबन्धन खुल रहा था। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो धूर्त वायु उसे नंगा करना चाह रहा हो। फिर भी उसने अपने बाल सँवारने या अपना वस्त्र सँभालने की कोई परवाह नहीं की। आग्नीध्र इस बाला की अनावृत्त सुन्दरता का दर्शन करना चाहता था, अतः उसके हाव-भाव से उसके नेत्र चंचल हो उठे।

रूपं तपोधन तपश्चरतां तपोघ्नं
ह्येतत्तु केन तपसा भवतोपलब्धम् ।
चर्तुं तपोऽर्हसि मया सह मित्र मह्यं
किं वा प्रसीदति स वै भवभावनो मे ॥ १ ॥

शब्दार्थ

रूपम्—सुन्दरता; तपः-धन—हे श्रेष्ठ तपस्वी; तपः चरताम्—तपस्या में संलग्न पुरुषों का; तपः-घ्नम्—तपों को विनष्ट करने वाला; हि—निश्चय ही; एतत्—यह; तु—निस्सन्देह; केन—किस; तपसा—तपस्या के द्वारा; भवता—तुम्हारे द्वारा; उपलब्धम्—प्राप्त किया; चर्तुम्—करने के लिए; तपः—तप; अर्हसि—तुम्हें चाहिए; मया सह—मेरे साथ; मित्र—हे मित्र; मह्यम्—मुझको; किम् वा—अथवा सम्भव है; प्रसीदति—प्रसन्न होता है; सः—वह; वै—निश्चय ही; भव-भावनः—इस ब्रह्माण्ड का सृजनकर्ता; मे—मेरे साथ।

हे श्रेष्ठ तपस्वी, तुम्हें दूसरों की तपस्या को भंग करने वाला यह अद्भुत् रूप कहाँ से प्राप्त हुआ? तुमने यह कला कहाँ से सीखी? हे मित्र, तुमने इस सुन्दरता को प्राप्त करने के लिए कौन सा तप किया है? मेरी इच्छा है कि तुम मेरे साथ तपस्या में सम्मिलित हो जाओ, क्योंकि हो सकता है कि इस ब्रह्माण्ड के स्त्रष्टा भगवान् ब्रह्मा ने मुझ पर प्रसन्न होकर तुम्हें मेरी पत्नी बनने के लिए भेजा हो।

तात्पर्य : आग्नीध्र ने पूर्वचित्ति के अपूर्व सौंदर्य की प्रशंसा की। दरअसल, उसे ऐसा अद्वितीय सौंदर्य देखकर आश्चर्य हुआ जो पूर्व तपस्या का फल हो सकता है; इसीलिए उसने उस बालिका से प्रश्न किया कि उसने यह रूप कहीं अन्यों की तपस्या को भंग करने के लिए तो नहीं प्राप्त किया। उसने विचार किया कि हो न हो, ब्रह्माण्ड के सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी ने उस पर प्रसन्न होकर ही उसे उसकी पत्नी बनने के उद्देश्य से भेजा है। उसने पूर्वचित्ति से पत्नी बनने की प्रार्थना की जिससे वे दोनों मिलकर तपस्या कर सकें। दूसरे शब्दों में, यदि पति तथा पत्नी आत्म-ज्ञान के एक ही धरातल पर हों, तो उपयुक्त पत्नी गृहस्थ जीवन में तपस्या करने में अपने पति की सहयोगी होती है। आत्म-ज्ञान के बिना पति तथा पत्नी समान पद पर स्थित नहीं हो पाते। भगवान् ब्रह्मा की यही इच्छा रहती है कि अच्छी संतति जन्मे, अतः जब तक वे प्रसन्न नहीं होते किसी को अनुकूल पत्नी नहीं मिल सकती। वास्तव में विवाहोत्सव में ब्रह्मा की उपासना की जाती है। आज भी भारत में विवाह के निमंत्रण पत्रों के ऊपर भगवान् ब्रह्मा का चित्र बना रहता है।

न त्वां त्यजामि दयितं द्विजदेवदत्तं
यस्मिन्मनो दृगपि नो न वियाति लग्नम् ।
मां चारुशृङ्ग्यर्हसि नेतुमनुव्रतं ते
चित्तं यतः प्रतिसरन्तु शिवाः सचिव्यः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; त्वाम्—तुमको; त्यजामि—छोड़ूँगा; दयितम्—अत्यन्त प्रिय; द्विज-देव—ब्राह्मणों के उपास्य देवता, भगवान् ब्रह्मा से; दत्तम्—दिया हुआ; यस्मिन्—जिसको; मनः—मन; दृक्—आँखें; अपि—भी; नः—मेरा; न वियाति—दूर नहीं जाता है;

लग्नम्—दृढ़तापूर्वक लगा हुआ; माम्—मुझको; चारु-शृङ्गि—हे सुन्दर उन्नत उरोजों वाली स्त्री; अर्हसि—तुम्हे चाहिए; नेतुम्—पथ प्रदर्शन करना; अनुव्रतम्—अनुयायी; ते—तुम्हारा; चित्तम्—आकांक्षा; यतः—जहाँ कहीं भी; प्रतिसरन्तु—साथ चलें; शिवाः—अनुकूल; सचिव्यः—मित्रगण, सखियाँ।.

ब्राह्मणों के द्वारा पूजित भगवान् ब्रह्मा ने मुझपर अत्यन्त अनुग्रह करके तुमको मुझे दिया है; इसलिए मैं तुमसे मिल पाया हूँ। मैं तुम्हारा साथ नहीं छोड़ना चाहता, क्योंकि मेरे मन तथा नेत्र तुम्हीं पर टिके हुए हैं और वे किसी तरह दूर नहीं किये जा सकते। हे सुन्दर उन्नत उरोजों वाली बाला, मैं तुम्हारा अनुचर हूँ। तुम मुझे जहाँ भी चाहे ले जा सकती हो और तुम्हारी सखियाँ भी मेरे साथ चल सकती हैं।

तात्पर्य : अब आग्नीध्र अपनी दुर्बलता को बिना झिझक के स्वीकार करता है। वह पूर्वचित्ति पर मोहित था, अतः इसके पूर्व कि वह यह कहे कि मुझे तुमसे क्या प्रयोजन, वह उसके साथ विवाह करने की इच्छा व्यक्त करता है। वह इतना मोहित था कि उसके साथ कहीं भी जाने को तैयार था, चाहे वह स्वर्ग हो या नरक। जब कोई कामासक्त हो उठता है, तो वह बिना किसी शर्त के स्त्री के समक्ष आत्म-समर्पण कर देता है। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य का कथन है कि जब कोई सनकी व्यक्ति की तरह हँसी-मजाक करने लगता है, तो वह कुछ भी कह सकता है, किन्तु उसके शब्द निरर्थक होते हैं।

श्रीशुक उवाच
इति ललनानुनयातिविशारदो ग्राम्यवैदग्ध्यया परिभाषया तां विबुधवधूं विबुधमतिरधिसभाजयामास. ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रील शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; ललना—स्त्रियाँ; अनुनय—जीतने में; अति-विशारदः—अत्यन्त पटु; ग्राम्य-वैदग्ध्यया—अपनी इच्छाओं को पूरा करने में पटु; परिभाषया—चुने शब्दों से; ताम्—उस; विबुध-वधूम्—देव-कन्या को; विबुध-मतिः—देवताओं के तुल्य बुद्धि वाले आग्नीध्र ने; अधिसभाजयाम् आस—प्रसन्न कर लिया।.

श्रील शुकदेव गोस्वामी आगे बोले—महाराज आग्नीध्र देवताओं के समान बुद्धिमान और स्त्रियों को रिझा करके अपने पक्ष में कर लेने की कला में अत्यन्त निपुण थे। अतः उन्होंने उस स्वर्गकन्या को अपनी कामपूर्ण वाणी से प्रसन्न करके उसको अपने पक्ष में कर लिया।

तात्पर्य : चूँकि राजा आग्नीध्र भक्त था, अतः वास्तव में भौतिक सुख की उसे तनिक भी इच्छा नहीं थी, किन्तु अपना वंश चलाने के लिए उसे पत्नी की आवश्यकता थी और भगवान् ब्रह्मा ने

पूर्वचित्ति को इसी प्रयोजन के लिए भेजा था, अत: उसने अपनी मीठी वाणी से उसे रिझा लिया। स्त्रियाँ मनुष्यों की मीठी वाणी से आकृष्ट हो जाती हैं। जो इस कला में दक्ष होता है उसे *विदग्ध* कहते हैं।

सा च ततस्तस्य वीरयूथपतेर्बुद्धिशीलरूपवय:श्रियौदार्येण पराक्षिप्तमनास्तेन
सहायुतायुतपरिवत्सरोपलक्षणं कालं जम्बूद्वीपपतिना भौमस्वर्गभोगान्बुभुजे. ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सा—वह स्त्री; च—भी; तत:—तत्पश्चात्; तस्य—उस; वीर-यूथ-पते:—वीरों के स्वामी की; बुद्धि—बुद्धि; शील—आचरण; रूप—सुन्दरता; वय:—अवस्था (तरुण); श्रिया—ऐश्वर्य; औदार्येण—(तथा) उदारता से; पराक्षिप्त—आकर्षित; मना:—मन वाली; तेन सह—उसके साथ; अयुत—दस हजार; अयुत—दस हजार; परिवत्सर—वर्ष; उपलक्षणम्—विस्तृत; कालम्—काल, समय; जम्बूद्वीप-पतिना—जम्बूद्वीप के राजा के साथ; भौम—पृथ्वी का; स्वर्ग—स्वर्गिक; भोगान्—सुख, भोग; बुभुजे—भोग किया।

आग्नीध्र की बुद्धि, तरुणाई, सौन्दर्य, आचरण, ऐश्वर्य तथा उदारता से आकर्षित होकर पूर्वचित्ति जम्बूद्वीप के राजा तथा समस्त वीरों के स्वामी आग्नीध्र के साथ कई हजार वर्षों तक रही और उसने भौतिक तथा स्वर्गिक दोनों प्रकार के सुखों का भरपूर भोग किया।

तात्पर्य : ब्रह्माजी की कृपा से राजा आग्नीध्र तथा स्वर्ग-कन्या पूर्वचित्ति की युति अत्यन्त अनुकूल सिद्ध हुई। इस प्रकार उन्होंने कई हजार वर्षों तक भौतिक तथा स्वर्गिक सुखों का भोग किया।

तस्यामु ह वा आत्मजान्स राजवर आग्नीध्रो
नाभिकिम्पुरुषहरिवर्षेलावृतरम्यकहिरण्मयकुरुभद्राश्वकेतुमालसंज्ञान्नव पुत्रानजनयत्. ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उससे; उ ह वा—निश्चय ही; आत्म-जान्—पुत्र; स:—उसने; राज-वर:—राजाओं में श्रेष्ठ; आग्नीध्र:—आग्नीध्र ने; नाभि—नाभि; किंपुरुष—किम्पुरुष; हरि-वर्ष—हरिवर्ष; इलावृत—इलावृत; रम्यक—रम्यक; हिरण्मय—हिरण्यमय; कुरु—कुरु; भद्राश्व—भद्राश्व; केतु-माल—केतुमाल; संज्ञान्—नामक; नव—नौ; पुत्रान्—पुत्रों को; अजनयत्—उत्पन्न किया।

राजाओं में श्रेष्ठ महाराज आग्नीध्र को पूर्वचित्ति के गर्भ से नौ पुत्र प्राप्त हुए जिनके नाम नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व तथा केतुमाल थे।

सा सूत्वाथ सुतान्नवानुवत्सरं गृह एवापहाय पूर्वचित्तिर्भूय एवाजं देवमुपतस्थे. ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सा—वह; सूत्वा—जन्म देकर; अथ—तत्पश्चात्; सुतान्—पुत्रों को; नव—नौ; अनुवत्सरम्—प्रति वर्ष; गृहे—घर पर; एव—निश्चय ही; अपहाय—छोड़कर; पूर्वचित्ति:—पूर्वचित्ति; भूय:—पुन:; एव—निश्चय ही; अजम्—भगवान् ब्रह्मा के; देवम्—देवता; उपतस्थे—पास गई, उपस्थित हुई।

पूर्वचित्ति ने प्रति वर्ष एक-एक करके इन नौ पुत्रों को जन्म दिया, किन्तु जब वे बड़े हो

गये, तो वह उन्हें घर पर छोड़कर ब्रह्मा की उपासना करने के लिए उनके पास उपस्थित हुई।

तात्पर्य : ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जब अप्सराएँ ब्रह्मा या इन्द्र जैसे श्रेष्ठ देवता की आज्ञा से इस पृथ्वी पर अवतरित हुईं, उनकी आज्ञानुसार विवाह किया और सन्तान उत्पन्न करने के बाद अपनी-अपनी पुरियों को पुनः लौट गईं। उदाहरणार्थ, स्वर्गसुन्दरी मेनका, जो विश्वामित्र मुनि को छलने के लिए आई थी, शकुन्तला को जन्म देने के पश्चात् अपने पति तथा अपनी पुत्री दोनों को छोड़कर स्वर्गलोक वापस चली गई। पूर्वचित्ति भी महाराज आग्नीध्र के संग स्थायी रूप से नहीं रही। अपने पति के गृहकार्यों में सहायता करने के पश्चात् वह महाराज आग्नीध्र तथा अपने नौ पुत्रों को त्याग कर ब्रह्मा की आराधना करने के लिए उनके पास लौट गई।

आग्नीध्रसुतास्ते मातुरनुग्रहादौत्पत्तिकेनैव संहननबलोपेताः पित्रा विभक्ता आत्मतुल्यनामानि यथाभागं जम्बूद्वीपवर्षाणि बुभुजुः. ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

आग्नीध्र-सुताः—महाराज आग्नीध्र के सब पुत्र; ते—वे; मातुः—माता के; अनुग्रहात्—अनुग्रह से अथवा माँ का दूध पीकर; औत्पत्तिकेन—सहज; एव—ही; संहनन—सुगठित शरीर; बल—शक्ति; उपेताः—प्राप्त; पित्रा—पिता द्वारा; विभक्ताः—विभाजित; आत्म-तुल्य—अपने ही समान; नामानि—नाम वाले; यथा-भागम्—ठीक से विभक्त; जम्बूद्वीप-वर्षाणि—जम्बूद्वीप के विभिन्न भागों (सम्भवतः एशिया तथा यूरोप दोनों); बुभुजुः—राज्य किया।

अपनी माँ का दूध पीने के कारण आग्नीध्र के नवों पुत्र अत्यन्त बलिष्ठ एवं सुगठित शरीर वाले हुए। उनके पिता ने प्रत्येक को जम्बूद्वीप का एक-एक भाग दे दिया। इन राज्यों के नाम पुत्रों के नामों के अनुसार पड़े। इस प्रकार आग्नीध्र के सभी पुत्र पिता से प्राप्त राज्यों पर राज्य करने लगे।

तात्पर्य : आचार्यों ने इस श्लोक के *मातुः अनुग्रहात्* शब्दों का विशेष उल्लेख करते हुए इनका अर्थ "उनकी माँ का स्तन-दुग्ध" किया है। भारतवर्ष में यह आम विश्वास है कि यदि माँ अपने बच्चे को छह मास तक अपने स्तनों का दूध पिलाती है, तो बच्चे का शरीर अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट रहता है। इसके अतिरिक्त इस श्लोक में यह भी इंगित है कि आग्नीध्र के सभी पुत्रों की प्रकृति अपनी माँ के समान थी। *भगवद्गीता* की भी (१.४०) घोषणा है—*स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः*—दूषित स्त्री से वर्णसंकर (अयोग्य) पुत्र उत्पन्न होते हैं और जब वर्णसंकर जनसंख्या बढ़ती है, तो यह संसार नरक बन जाता है। अतः *मनुसंहिता* के अनुसार स्त्री को पवित्र तथा साध्वी रहने के लिए काफी संरक्षण की

आवश्यकता होती है, जिससे उसकी सन्तान मानव समाज के कल्याण में तत्पर हो सके।

आग्नीध्रो राजातृप्तः कामानामप्सरसमेवानुदिनमधिमन्यमानस्तस्याः सलोकतां श्रुतिभिरवारुन्ध यत्र पितरो मादयन्ते. ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

आग्नीध्रः—आग्नीध्र; राजा—राजा; अतृप्तः—असन्तुष्ट; कामानाम्—इन्द्रियभोग से; अप्सरसम्—स्वर्ग सुन्दरी (पूर्वचित्ति) के विषय में; एव—निश्चय ही; अनुदिनम्—दिनोंदिन; अधि—अत्यधिक; मन्यमानः—सोचते हुए; तस्याः—उसका; स-लोकताम्—उसी लोक को; श्रुतिभिः—वेदों से; अवारुन्ध—प्राप्त किया; यत्र—जहाँ; पितरः—पूर्वज, पितृगण; मादयन्ते—आनन्द लेते हैं।

पूर्वचित्ति के चले जाने पर, अतृप्त वासना के कारण राजा आग्नीध्र उसी के विषय में सोचते रहते। अतः वैदिक आज्ञाओं के अनुसार राजा मृत्यु के पश्चात् उसी लोक में गये जहाँ उनकी पत्नी थी। यह लोक पितृलोक कहलाता है जहाँ कि पितरगण अत्यन्त आनन्द से रहते हैं।

तात्पर्य : यदि कोई किसी के विषय में निरन्तर सोचता है, तो मृत्यु के उपरान्त उसे वैसा ही शरीर प्राप्त होता है। महाराज आग्नीध्र सदा पितृलोक के विषय में सोच रहे थे, जहाँ उनकी पत्नी पहुँची थी, इसलिए मृत्यु के बाद उन्हें वह लोक मिला, जिससे वे उसके साथ पुनः रह सकें। *भगवद्गीता* का (८.६) भी कथन है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

"जीव अपना शरीर त्यागते समय जिस किसी भाव (दशा) का स्मरण करता है, वह उसे निश्चय ही प्राप्त करता है।" अतः हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि हम निरन्तर श्रीकृष्ण का स्मरण करें, अथवा पूर्णतः कृष्णभावनाभावित हो जाँय, तो हमें गोलोक वृन्दावन प्राप्त हो सकता है जहाँ श्रीकृष्ण निरन्तर वास करते हैं।

सम्परेते पितरि नव भ्रातरो मेरुदुहितृर्मेरुदेवीं प्रतिरूपामुग्रदंष्ट्रीं लतां रम्यां श्यामां नारीं भद्रां देववीतिमिति संज्ञा नवोदवहन्. ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सम्परेते पितरि—अपने पिता के प्रयाण के पश्चात्; नव—नौ; भ्रातरः—भाई; मेरु-दुहितृः—मेरु की पुत्रियाँ; मेरुदेवीम्—मेरुदेवी; प्रति-रूपाम्—प्रतिरूपा; उग्र-दंष्ट्रीम्—उग्रदंष्ट्री; लताम्—लता; रम्याम्—रम्या; श्यामाम्—श्यामा; नारीम्—नारी; भद्राम्—भद्रा; देव-वीतिम्—देववीति को; इति—इस प्रकार; संज्ञाः—नाम; नव—नौ; उदवहन्—विवाह कर लिया।

अपने पिता के प्रयाण के पश्चात् नवों भाइयों ने मेरु की नौ पुत्रियों के साथ विवाह कर लिया, जिनके नाम मेरुदेवी, प्रतिरूपा, उग्रदंष्ट्री, लता, रम्या, श्यामा, नारी, भद्रा तथा देववीति थे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''महाराज आग्नीध्र का चरित्र'' नामक दूसरे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तीन

राजा नाभि की पत्नी मेरुदेवी के गर्भ से ऋषभदेव का जन्म

इस अध्याय में आग्नीध्र के ज्येष्ठतम पुत्र राजा नाभि के निर्मल चरित्र का वर्णन किया गया है। पुत्रेच्छा से महाराज नाभि ने कठोर तपस्या की। उन्होंने अपनी पत्नी सहित अनेक यज्ञ किये और यज्ञों के स्वामी भगवान् विष्णु की आराधना की। भक्तों पर दयालु होने के कारण भगवान् महाराज नाभि की तपस्या से परम प्रसन्न हुए। वे साक्षात् चतुर्भुज रूप में राजा के समक्ष प्रकट हुए। यज्ञ करने वाले पुरोहित उन्हें देखकर उनकी स्तुति करने लगे। उन्होंने भगवान् से अपने ही समान पुत्र के लिए प्रार्थना की और भगवान् विष्णु ने राजा नाभि की पत्नी मेरुदेवी के गर्भ से राजा ऋषभदेव के अवतार के रूप में जन्म लेना स्वीकार कर लिया।

श्रीशुक उवाच
नाभिरपत्यकामोऽप्रजया मेरुदेव्या भगवन्तं यज्ञपुरुषमवहितात्मायजत. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी बोले; नाभिः—महाराज आग्नीध्र के पुत्र ने; अपत्य-कामः—पुत्रेच्छा से; अप्रजया—जिसे कोई सन्तान उत्पन्न नहीं हुई थी; मेरुदेव्या—मेरुदेवी से; भगवन्तम्—भगवान्; यज्ञ-पुरुषम्—समस्त यज्ञों के भोक्ता तथा स्वामी, भगवान् विष्णु को; अवहित-आत्मा—अत्यन्त ध्यानपूर्वक; अयजत—स्तुति और आराधना की।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—आग्नीध्र के पुत्र महाराज नाभि ने सन्तान की इच्छा की, इसलिए उन्होंने समस्त यज्ञों के भोक्ता एवं स्वामी भगवान् विष्णु की अत्यन्त मनोयोग से स्तुति एवं आराधना प्रारम्भ की। उस समय तक महाराज नाभि की पत्नी मेरुदेवी ने किसी सन्तान को जन्म नहीं दिया था, अतः वह भी अपने पति के साथ भगवान् विष्णु की आराधना करने लगी।

तस्य ह वाव श्रद्धया विशुद्धभावेन यजतः प्रवर्ग्येषु प्रचरत्सु द्रव्यदेशकालमन्त्रर्त्विग्दक्षिणाविधानयोगोपपत्त्या दुरधिगमोऽपि भगवान्भागवतवात्सल्यतया सुप्रतीक आत्मानमपराजितं निजजनाभिप्रेतार्थविधित्सया गृहीतहृदयो हृदयङ्गमं मनोनयनानन्दनावयवाभिराममाविश्चकार. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तस्य—जब वह (नाभि); ह वाव—निश्चय ही; श्रद्धया—अत्यन्त श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक; विशुद्ध-भावेन—शुद्ध, निष्कलुष मन से; यजतः—आराधना कर रहा था; प्रवर्ग्येषु—जबकि प्रवर्ग्य नामक कर्म; प्रचरत्सु—पालन किये जा रहे थे; द्रव्य—सामग्री; देश—स्थान; काल—समय; मन्त्र—स्तुति, मंत्र; ऋत्विक्—पुरोहित; दक्षिणा—पुरोहितों को मिलने वाली भेंटें; विधान—विधि; योग—तथा साधनों का; उपपत्त्या—करने से; दुरधिगमः—अप्राप्य; अपि—यद्यपि; भगवान्—भगवान्; भागवत-वात्सल्यतया—भक्त पर वत्सलता के कारण; सु-प्रतीकः—अत्यन्त सुन्दर रूप धारण किये; आत्मानम्—अपने आपको; अपराजितम्—दुर्जेय; निज-जन—भक्त की; अभिप्रेत-अर्थ—कामना; विधित्सया—पूर्ण करने; गृहीत-हृदयः—जिनका मन आकृष्ट हो गया हो; हृदयङ्गमम्—मोहक; मनः-नयन-आनन्दन—मन तथा नेत्रों को आनन्द प्रदान करने वाले; अवयव—अंगों से; अभिरामम्—सुन्दर; आविश्चकार—प्रकट किया।

यज्ञ में भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करने के सात दिव्य साधन हैं—(१) बहुमूल्य सामग्रियों या खाद्य पदार्थों का अर्पण (द्रव्य); (२) देश-अनुरूप कार्य करना, (३) काल-अनुरूप कार्य करना, (४) स्तुति अर्पण (मंत्र) ( ) पुरोहित लगाना (ऋ त्विक), (६) पुरोहितों को दान देना (दक्षिणा) तथा (७) विधि-नियमों का पालन करना। किन्तु सदैव ही इन सामग्रियों से भगवान् को प्राप्त नहीं किया जा सकता। तो भी ईश्वर अपने भक्त पर वत्सल रहते हैं। अतः जब भक्त महाराज नाभि ने शुद्ध मन से अत्यन्त श्रद्धा तथा भक्ति सहित प्रवर्ग्य यज्ञ करते हुए ईश्वर की आराधना और प्रार्थना की तो अपने भक्तों पर वत्सलता के कारण परम कृपालु भगवान् राजा नाभि के समक्ष अपने दुर्जेय तथा चतुर्भुजी आकर्षक रूप में प्रकट हुए। इस प्रकार से भगवान् ने अपने भक्त की मनोकामना पूर्ण करने के लिए अपने भक्त के समक्ष अपना मनोहर रूप प्रकट किया। यह रूप भक्तों के मन तथा नेत्रों को प्रमुदित करने वाला है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१८.) में स्पष्ट कहा गया है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

“भक्तियोग के द्वारा ही मुझ परम पुरुष को यथारूप में जाना जा सकता है। इस प्रकार भक्तियोग द्वारा मुझे पूर्ण रूप से जानने वाला तुरन्त वैकुण्ठ जगत में प्रवेश कर सकता है।”

भगवान् को समझने और देखने का एकमात्र उपाय है भक्ति करना। यद्यपि महाराज नाभि ने निर्दिष्ट कर्तव्यों तथा यज्ञों का पालन किया, किन्तु तो भी यही समझना चाहिए कि ईश्वर उनके यज्ञों के

कारण नहीं, अपितु उनकी भक्ति के कारण उनके समक्ष प्रकट हुए। इसी हेतु ईश्वर उनके समक्ष अपने सुन्दर रूप में प्रकट होने के लिए राजी हुए। *ब्रह्म-संहिता* (.३०) में बताया गया है कि भगवान् अपने आदि रूप में परम सुन्दर हैं—*वेणुं क्वणन्तमरविन्ददलायताक्षं बर्हावतंसमसिताम्बुदसुन्दराङ्गम्*—यद्यपि भगवान् श्याम रंग के हैं किन्तु वे अत्यधिक सुन्दर हैं।

अथ ह तमाविष्कृतभुजयुगलद्वयं हिरण्मयं पुरुषविशेषं कपिशकौशेयाम्बरधरमुरसि विलसच्छ्रीवत्सललामं दरवरवनरुहवनमालाच्छूर्यमृतमणिगदादिभिरुपलक्षितं स्फुटकिरणप्रवरमुकुटकुण्डलकटककटिसूत्रहारकेयूरनूपुराद्यङ्गभूषणविभूषितमृत्विक्सदस्यगृहपतयोऽधना इवोत्तमधनमुपलभ्य सबहुमानमर्हणेनावनतशीर्षाण उपतस्थुः. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; ह—निश्चय ही; तम्—उसको; आविष्कृत-भुज-युगल-द्वयम्—जो चतुर्भुज रूप में प्रकट हुए; हिरण्मयम्—अत्यन्त चमकीला; पुरुष-विशेषम्—समस्त जीवों में सर्वश्रेष्ठ, पुरुषोत्तम; कपिश-कौशेय-अम्बर-धरम्—रेशमी पीताम्बर धारण किये; उरसि—वक्षस्थल पर; विलसत्—सुन्दर; श्रीवत्स—श्रीवत्स नामक; ललामम्—चिह्नयुक्त; दर-वर—शंख से; वन-रुह—कमल पुष्प; वन-माला—वन पुष्पों की माला; अच्छूरि—चक्र; अमृत-मणि—कौस्तुभ मणि; गदा-आदिभिः—गदा तथा अन्य चिह्नों से; उपलक्षितम्—लक्षणों से युक्त होकर; स्फुट-किरण—तेजस्वी, किरण-मण्डित; प्रवर—श्रेष्ठ; मुकुट—मुकुट, किरीट; कुण्डल—कर्णाभूषण, बालियाँ; कटक—कंकण; कटि-सूत्र—करधनी; हार—हार; केयूर—बाजूबंद; नूपुर—पाँवों में पहना जाने वाला आभूषण, पायल; आदि—इत्यादि; अङ्ग—शरीर के; भूषण—आभूषणों से; विभूषितम्—अलंकृत; ऋत्विक्—पुरोहितगण; सदस्य—पार्षद; गृह-पतयः—(तथा) राजा नाभि; अधनाः—निर्धन व्यक्ति; इव—सदृश; उत्तम-धनम्—प्रचुर धनराशि; उपलभ्य—पाकर; स-बहु-मानम्—अत्यन्त सत्कार सहित; अर्हणेन—पूजा सामग्री से; अवनत—झुका कर; शीर्षाणः—अपने शिर (मस्तकों); उपतस्थुः—स्तुति की।

भगवान् विष्णु राजा नाभि के समक्ष चतुर्भुज रूप में प्रकट हुए। वे अत्यन्त तेजोमय थे और समस्त महापुरुषों में सर्वोत्तम प्रतीत होते थे। वे अधोभाग में रेशमी पीताम्बर धारण किये हुए थे; उनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिह्न था, जो सदैव शोभा देता है। उनके चारों हाथों में शंख, कमल, चक्र तथा गदा थे उनके गले में वनपुष्पों की माला तथा कौस्तुभमणि थी। वे मुकुट, कुण्डल, कंकण, करधनी, मुक्ताहार, बाजूबंद, नूपुर तथा अन्य रत्नजटित आभूषणों से शोभित थे। भगवान् को अपने समक्ष देखकर राजा नाभि, उनके पुरोहित तथा पार्षद वैसा ही अनुभव कर रहे थे जिस प्रकार किसी निर्धन को सहसा अथाह धनराशि प्राप्त हुई हो जाए। उन्होंने भगवान् का स्वागत किया, आदरपूर्वक प्रणाम किया तथा स्तुति करके वस्तुएँ भेंट कीं।

तात्पर्य : यहाँ पर स्पष्ट बताया गया है कि भगवान् सामान्य मनुष्य की तरह नहीं प्रकट हुए। वे राजा नाभि तथा उनके पार्षदों के समक्ष सर्वश्रेष्ठ पुरुष (पुरुषोत्तम) के रूप में प्रकट हुए। जैसाकि वेदों में कहा गया है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।* भगवान् भी जीवित प्राणी हैं, किन्तु वे परम पुरुष हैं।

भगवद्गीता (७.७) में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—*मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय*—हे धनंजय, कोई भी सत्य मुझसे श्रेष्ठ नहीं।'' भगवान् श्रीकृष्ण से बढ़कर आकर्षक या प्रामाणिक अन्य कोई नहीं। ईश्वर तथा सामान्य प्राणी में यही अन्तर है। भगवान् विष्णु की दिव्य देह के इस विवरण द्वारा भगवान् विष्णु में तथा अन्य प्राणियों से सरलता से विभेद किया जा सकता है। फलतः महाराज नाभि ने अपने पुरोहितों तथा पार्षदों समेत भगवान् को नमस्कार किया और अनेक सामग्रियों से उनकी पूजा की। जैसाकि *भगवद्गीता* (६.२२) में कहा गया है—*यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः*—''इसे प्राप्त करके मनुष्य सोचता है कि इससे बड़ा अन्य लाभ नहीं है।'' जब कोई भगवान् का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है, तो उसे यही लगता है कि उसने सर्वश्रेष्ठ वस्तु प्राप्त कर ली है। *रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते*—जब उच्चतर स्वाद मिलने लगता है, तो उसकी चेतना स्थिर हो जाती है। भगवान् का दर्शन कर लेने के बाद किसी भौतिक वस्तु के प्रति आकर्षण नहीं रह जाता। तब मनुष्य भगवान् की उपासना में स्थिर हो जाता है।

ऋत्विज ऊचुः

अर्हसि मुहुरर्हत्तमार्हणमस्माकमनुपथानां नमो नम इत्येतावत्सदुपशिक्षितं कोऽर्हति
पुमान्प्रकृतिगुणव्यतिकरमतिरनीश ईश्वरस्य परस्य प्रकृतिपुरुषयोरर्वाक्तनाभिर्नामरूपाकृतिभी
रूपनिरूपणम्; सकलजननिकायवृजिननिरसनशिवतमप्रवरगुणगणैकदेशकथनादृते. ॥ ४॥

शब्दार्थ

ऋत्विजः ऊचुः—ऋत्विजों ने कहा; अर्हसि—(स्वीकार) करें; मुहुः—पुनः पुनः; अर्हत्-तम—हे श्रेष्ठ पूज्य पुरुष; अर्हणम्—पूजा; अस्माकम्—हम सब की; अनुपथानाम्—जो आपके दास हैं; नमः—नमस्कार है; नमः—नमस्कार; इति—इस प्रकार; एतावत्—यहाँ तक; सत्—श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा; उपशिक्षितम्—सिखाये गये; कः—कौन; अर्हति—समर्थ है; पुमान्—मनुष्य; प्रकृति—भौतिक प्रकृति के; गुण—गुणों के; व्यतिकर—रूपान्तरों में; मतिः—जिसका मन (मग्न है); अनीशः—असमर्थ; ईश्वरस्य—भगवान् के; परस्य—परम; प्रकृति-पुरुषयोः—तीनों गुणों के अन्तर्गत; अर्वाक्तनाभिः—जो वहाँ तक नहीं पहुँचते अथवा जो इसी संसार के हैं; नाम-रूप-आकृतिभिः—नामों, रूपों तथा गुणों से; रूप—आपकी प्रकृति या स्थिति का; निरूपणम्—निश्चय करना; सकल—समस्त; जन-निकाय—मानव जाति का; वृजिन—पाप कर्म; निरसन—मिटाने वाले; शिवतम—अत्यन्त मंगलमय; प्रवर—श्रेष्ठतम; गुण-गण—दिव्य गुणों का; एक-देश—एक अंश; कथनात्—कथन से; ऋते—केवल।

ऋत्विजगण इस प्रकार ईश्वर की स्तुति करने लगे—हे परम पूज्य, हम आपके दास मात्र हैं। यद्यपि आप पूर्ण हैं, किन्तु अहैतुकी कृपावश ही सही, हम दासों की यत्किंचित सेवा स्वीकार करें। हम आपके दिव्य रूप से परिचित नहीं हैं, किन्तु जैसा वेदों तथा प्रामाणिक आचार्यों ने हमें शिक्षा दी है, उसके अनुसार हम आपको बारम्बार नमस्कार करते हैं। जीवात्माएँ प्रकृति के गुणों

के प्रति अत्यधिक आकर्षित होती हैं, अतः वे कभी भी पूर्ण नहीं हैं, किन्तु आप समस्त भौतिक अवधारणाओं से परे हैं। आपके नाम, रूप तथा गुण सभी दिव्य हैं और व्यावहारिक बुद्धि की कल्पना के परे हैं। भला आपकी कल्पना कौन कर सकता है? इस भौतिक जगत में हम केवल नाम तथा गुण देख पाते हैं। हम आपको अपना नमस्कार तथा स्तुति अर्पित करने के अतिरिक्त और कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं। आपके शुभ दिव्य गुणों के कीर्तन से समस्त मानव जाति के पाप धुल जाते हैं। यही हमारा परम कर्तव्य है और इस प्रकार हम आपकी अलौकिक स्थिति को अंशमात्र ही जान सकते हैं।

तात्पर्य : भगवान् को भौतिक अनुभूति से कुछ भी सरोकार नहीं। यहाँ तक कि अद्वैतवादी शंकराचार्य भी यही कहते हैं—*नारायण: परोऽव्यक्तात्*—"भगवान्, नारायण, भौतिक अनुभूति से परे (अव्यक्त) हैं।" हम भगवान् के रूप तथा लक्षणों को मन से गढ़ नहीं सकते। हमें वैदिक शास्त्रों में दिये गये उनके रूप तथा कर्म को मात्र स्वीकार कर लेना चाहिए। *ब्रह्म-संहिता* (.२९) में कहा गया है—

चिन्तामणि-प्रकर-सद्मसु कल्प-वृक्ष-

लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्।

लक्ष्मी-सहस्र-शत-सम्भ्रम-सेव्यमानं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि पुरुष गोविन्द की उपासना करता हूँ जो गायों को पालने वाले हैं। ये गाएँ सभी कामनाओं को पूर्ण करनेवाली हैं, ये करोड़ों कल्पतरुओं से घिरी दिव्य मणियों से बने घरों में रहती हैं। उनकी सेवा सैकड़ों-हजारों लक्ष्मियाँ अत्यन्त आदर सहित करती हैं।" हमें उनके स्वरूप एवं लक्षणों का कुछ-कुछ अनुभव वैदिक साहित्य में प्राय: उल्लेखों एवं ब्रह्मा, नारद, शुकदेव गोस्वामी जैसे सत्पुरुषों द्वारा दिये गये प्रामाणिक कथनों से प्राप्त होता है। श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं—*अत: श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यम् इन्द्रियै:*—"हम अपनी भौतिक इन्द्रियों से श्रीकृष्ण के नाम, रूप तथा गुण के विषय में अनुमान नहीं कर पाते।" इसीलिए ईश्वर के अन्य नाम भी हैं—*अधोक्षज* तथा *अप्राकृत,* जिनसे सूचित होता है कि वे सभी भौतिक इन्द्रियों से परे हैं। भगवान् अपने भक्तों पर

अहैतुकी कृपावश ही महाराज नाभि के समक्ष प्रकट हुए। इसी प्रकार जब हम भगवान् की भक्ति में रत रहते हैं, तो वे स्वयं दर्शन देते हैं—*सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयम् एव स्फुरत्यद:।* भगवान् को समझने की केवल यही विधि है। जैसाकि *भगवद्गीता* में इनकी पुष्टि हुई है—*भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत:*—''भक्ति के द्वारा ही भगवान् को जाना जा सकता है।'' इसके लिए कोई अन्य उपाय नहीं है। हमें प्रामाणिक विद्वानों तथा शास्त्रों के वचनों को ही मानकर भगवान् के सम्बन्ध में चिन्तन करना चाहिए। हम ईश्वर के रूपों तथा लक्षणों की मनगढ़ंत कल्पना नहीं कर सकते।

परिजनानुरागविरचितशबलसंशब्दसलिलसितकिसलयतुलसिकादूर्वाङ्कुरैरपि सम्भृतया सपर्यया किल परम परितुष्यसि. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

परिजन—आपके सेवकों द्वारा; अनुराग—अत्यन्त आह्लाद से; विरचित—की गई; शबल—गद्गद् वाणी से; संशब्द—स्तुति से; सलिल—जल; सित-किसलय—नव कोपलों से युक्त वृंत्त (पल्लव); तुलसिका—तुलसीदल; दूर्वा-अङ्कुरै:—(तथा) नई उगी दूब से; अपि—भी; सम्भृतया—किया गया; सपर्यया—पूजा द्वारा; किल—निस्सन्देह; परम—हे परमेश्वर; परितुष्यसि—संतुष्ट हो जाते हो।.

हे परमेश्वर, आप सभी प्रकार से पूर्ण हैं। जब आपके भक्त गद्गद् वाणी से आपकी स्तुति करते हैं तथा आह्लादवश तुलसीदल, जल, पल्लव तथा दूब के अंकुर चढ़ाते हैं, तो आप निश्चय ही परम सन्तुष्ट होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् को प्रसन्न करने के लिए न तो प्रचुर धन की आवश्यकता है, न शिक्षा या ऐश्वर्य की। यदि कोई प्रेम तथा आह्लादपूर्वक उनमें पूर्णतया मग्न रहे तो केवल कुछ पुष्प तथा जल चढ़ाने की आवश्यकता पड़ती है। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२६) में कहा गया है—*पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति*—''यदि कोई प्रेम तथा भक्तिवश मुझको पत्ती, फूल, फल या जल अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।''

भगवान् को केवल भक्ति से प्रसन्न किया जा सकता है इसीलिए यहाँ यह कहा गया है कि ईश्वर केवल अनुराग (भक्ति) से प्रसन्न होते हैं। *हरि भक्ति विलास* में *गौतमीय तंत्र* का निम्नलिखित उद्धरण आया है—

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन वा।
विक्रीणीते स्वम् आत्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सल:॥

"श्रीकृष्ण केवल तुलसीदल तथा अंजुली भर जल चढ़ाने वाले भक्त के हाथों बिक जाते हैं, क्योंकि वे अपने भक्तों के प्रति परम वत्सल हैं।" भगवान् की अपने भक्तों पर अहैतुकी कृपा रहती है, अत: निर्धन से निर्धन व्यक्ति जो भक्तिवश थोड़ा सा जल तथा एक पुष्प भी उन पर चढ़ाता है उससे वे प्रसन्न हो जाते हैं। अपने भक्तों के प्रति उनकी वत्सलता के कारण ही ऐसा होता है।

अथानयापि न भवत इज्ज्ययोरुभारभरया समुचितमर्थमिहोपलभामहे. ॥ ७॥

शब्दार्थ

अथ—अन्यथा; अनया—यह; अपि—भी; न—नहीं; भवतः—आपका; इज्ज्यया—यज्ञ द्वारा; उरुभार-भरया—तमाम सामग्री के भार से बोझिल; समुचितम्—वांछित, आवश्यक; अर्थम्—उपयोग; इह—यहाँ; उपलभामहे—हम देखते हैं।

हमने आपकी पूजा में आपको अनेक वस्तुएँ अर्पित की हैं और आपके लिए अनेक यज्ञ किये हैं, किन्तु हम सोचते हैं कि आपको प्रसन्न करने के लिए इतने सारे आयोजनों की कोई आवश्यकता नहीं है।

तात्पर्य : श्रील रूप गोस्वामी का कहना है कि यदि बिना भूख के किसी के सामने ढेर सारा भोजन रख दिया जाये तो उसका कोई महत्त्व नहीं होता। बड़े-बड़े याज्ञिक अनुष्ठानों में भगवान् को तुष्ट करने के लिए अनेक वस्तुएँ एकत्र की जाती हैं, किन्तु यदि ईश्वर के प्रति लगाव या प्रेम नहीं है, तो यह सारा आयोजन निरर्थक है। ईश्वर स्वयं में पूर्ण हैं और उनको हमसे कुछ नहीं चाहिए किन्तु यदि हम उन्हें थोड़ा जल, एक फूल तथा एक तुलसीदल भेंट कर दें तो वे इन्हें स्वीकार कर लेंगे। भगवान् को प्रसन्न करने का एकमात्र साधन भक्ति है। बड़े-बड़े यज्ञों के आयोजन की कोई आवश्यकता नहीं होती। पुरोहितों को यह सोच कर विषाद हो रहा था कि वे भक्ति के पथ पर नहीं हैं और ईश्वर उनके यज्ञ से प्रसन्न नहीं हैं।

आत्मन एवानुसवनमञ्जसाव्यतिरेकेण बोभूयमानाशेषपुरुषार्थस्वरूपस्य किन्तु नाथाशिष आशासानानामेतदभिसंराधनमात्रं भवितुमर्हति. ॥ ८॥

शब्दार्थ

आत्मनः—अपने आप; एव—निश्चय ही; अनुसवनम्—प्रत्येक क्षण; अञ्जसा—प्रत्यक्ष; अव्यतिरेकेण—बिना व्यवधान के; बोभूयमान—वर्धमान; अशेष—असीम; पुरुष-अर्थ—जीवन-लक्ष्य; स्व-रूपस्य—आपका वास्तविक रूप; किन्तु—लेकिन; नाथ—हे ईश्वर; आशिषः—भौतिक सुख हेतु आशीर्वाद; आशासानानाम्—हम सबका जिन्हें सदैव कामना रहती है; एतत्—यह; अभिसंराधन—आपका अनुग्रह प्राप्त करने के लिए; मात्रम्—केवल; भवितुम् अर्हति—हो सकता है।

आप में प्रतिक्षण प्रत्यक्षतया, स्वयमेव, निरन्तर एवं असीमतः जीवन के समस्त लक्ष्यों एवं

ऐश्वर्यों की वृद्धि हो रही है। दरअसल, आप स्वयं ही असीम सुख तथा आनन्द से युक्त हैं। हे ईश्वर, हम तो सदा ही भौतिक सुखों के फेर में रहते हैं। आपको इन समस्त याज्ञिक आयोजनों की आवश्यकता नहीं है। ये तो हमारे लिए हैं जिससे हम आपका आशीर्वाद पा सकें। ये सारे यज्ञ हमारे अपने कर्म-फल के लिए किये जाते हैं और वास्तव में आपको इनकी कोई अवश्यकता ही नहीं है।

तात्पर्य : आत्म-निर्भर (सम्पूर्ण) होने के कारण परमेश्वर को बड़े-बड़े यज्ञों की आवश्यकता नहीं है। जो अपने स्वार्थ के लिए भौतिक ऐश्वर्य की कामना करते हैं उनके लिए सकाम कर्म की आवश्यकता है। *यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म-बन्धनः*—यदि हम परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए कर्म नहीं करते तो हम माया के कार्यों में लग जाते हैं। हम किसी विशाल मन्दिर का निर्माण करके हजारों डालर व्यय कर सकते हैं किन्तु ईश्वर को ऐसे मन्दिर की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर के पास अपने निवास के लिए ऐसे लाखों मन्दिर हैं, उन्हें हमारे प्रयास की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्हें ऐश्वर्य के कार्य कदापि नहीं चाहिए। ऐसा कार्य तो हमारे आत्म-लाभ के लिए होता है। क्योंकि यदि हम अपने धन को विशाल मन्दिर-निर्माणकार्य में लगा देते हैं, तो हम अपने प्रयास के बन्धन से मुक्त रहते हैं। यह हमारे कल्याण के लिए है। साथ ही, यदि हम भगवान् के लिए कुछ अच्छा कार्य करते हैं, तो वे प्रसन्न होकर हमें आशीर्वाद देते हैं। निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि ऐसे विशाल आयोजन ईश्वर के लिए नहीं, अपितु हमारे अपने लिए होते हैं। यदि हम किसी प्रकार से ईश्वर का आशीर्वाद प्राप्त कर सकें, तो हमारा अन्तःकरण पवित्र हो सकता है और हम भगवान् के धाम वापस जाने के भागी बन सकते हैं।

**तद्यथा बालिशानां स्वयमात्मनः श्रेयः परमविदुषां परमपरमपुरुष प्रकर्षकरुणया स्वमहिमानं
चापवर्गाख्यमुपकल्पयिष्यन्स्वयं नापचित एवेतरवदिहोपलक्षितः. ॥ ९ ॥**

शब्दार्थ

तत्—वह; यथा—जिस प्रकार; बालिशानाम्—मूर्खों का; स्वयम्—स्वयं; आत्मनः—अपना; श्रेयः—कल्याण; परम्—परम; अविदुषाम्—अज्ञानियों का; परम-परम-पुरुष—हे ईश्वरों के भी ईश, इशाधीश; प्रकर्ष-करुणया—प्रभूत अहैतुक करुणावश; स्व-महिमानम्—अपनी व्यक्तिगत महिमा; च—तथा; अपवर्ग-आख्यम्—अपवर्ग (मुक्ति) कहलाने वाली; उपकल्पयिष्यन्—देने की इच्छा से; स्वयम्—स्वयं; न अपचितः—समुचित रीति से पूजा न होने से; एव—यद्यपि; इतर-वत्—सामान्य पुरुष की भाँति; इह—यहाँ; उपलक्षितः—(आप) हैं और (हमारे द्वारा) देखे जा रहे हैं।.

हे ईशाधश, हम धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष से पूर्णतया अनजान हैं क्योंकि हमें जीवन-लक्ष्य का ठीक से पता नहीं है। आप यहाँ हमारे समक्ष साक्षात् इस प्रकार प्रकट हुए हैं जिस प्रकार कोई व्यक्ति जानबूझ कर अपनी पूजा कराने के लिए आया हो। किन्तु ऐसा नहीं है, आप तो इसलिए प्रकट हुए हैं जिससे हम आपके दर्शन कर सकें। आप अपनी अगाध तथा अहैतुकी करुणावश हमारा उद्देश्य पूरा करने, हमारा हित करने तथा अपवर्ग का लाभ प्रदान करने हेतु प्रकट हुए हैं। हम अपनी अज्ञानता के कारण आपकी ठीक से उपासना भी नहीं कर पा रहे हैं, तो भी आप पधारे हैं।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु स्वयं यज्ञ-स्थल पर उपस्थित हुए, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनका कोई निजी स्वार्थ था। इसी प्रकार मन्दिर में अर्चा-विग्रह रहता है। मात्र अपनी अहैतुकी करुणा से भगवान् उपस्थित होते हैं जिससे हम उनका दर्शन पा सकें। हम, दिव्य दृष्टि न होने के कारण ईश्वर के सत्-चित्-आनन्द विग्रह को नहीं देख सकते। हमें पत्थर तथा लकड़ी के समान स्थूल पदार्थ दिखाई पड़ते हैं इसीलिए वे मन्दिरों में पत्थर तथा लकड़ी का रूप धारण करके हमारी सेवा स्वीकारते हैं। यह ईश्वर की अहैतुकी कृपा का प्रदर्शन है। यद्यपि उनकी ऐसी वस्तुओं के प्रति कोई रुचि नहीं है, किन्तु हमारी प्रेमाभक्ति प्राप्त करने के लिए वे ऐसा करते हैं। वास्तव में हम भगवान् की पूजा के लिए उपयुक्त सामग्रियों की भेंट चढ़ा भी नहीं सकते क्योंकि हमें कोई ज्ञान नहीं है। मात्र अहैतुकी कृपावश ही महाराज नाभि के यज्ञ-स्थल में परमेश्वर प्रकट हुए।

अथायमेव वरो ह्यर्हत्तम यर्हि बर्हिषि राजर्षेर्वरदर्षभो भवान्निजपुरुषेक्षणविषय आसीत्. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; अयम्—यह; एव—निश्चय ही; वरः—आशीर्वाद; हि—निस्सन्देह; अर्हत्-तम—पूज्यतम; यर्हि—क्योंकि; बर्हिषि—यज्ञ में; राज-ऋषेः—राजा नाभि का; वरद-ऋषभः—वरदायकों में श्रेष्ठ; भवान्—आप; निज-पुरुष—अपने भक्तों के; ईक्षण-विषयः—देखने योग्य वस्तु; आसीत्—हो गई है।

हे पूज्यतम, आप समस्त वरदायकों में श्रेष्ठ हैं और राजर्षि नाभि की यज्ञशाला में आपका प्राकट्य हमें आशीर्वाद देने के लिए हुआ है। चूँकि हम आपको देख पाये हैं इसलिए आपने हमें सर्वाधिक मूल्यवान वर प्रदान किया है।

तात्पर्य : *निज-पुरुष-ईक्षण-विषय—भगवद्गीता* (९.२९) में श्रीकृष्ण कहते हैं, *समोऽहं*

सर्वभूतेषु—"मैं किसी से द्वेष नहीं करता और न किसी का पक्षपात करता हूँ; जीवमात्र में मेरा समभाव है। परन्तु जो प्राणी भक्तिभाव से मेरी सेवा करते हैं, वे मेरे प्रिय मित्र हैं और मुझमें ही स्थित हैं और मैं भी उनका प्रिय हूँ, उनमें हूँ।"

भगवान् सबके लिए समान हैं। इस अर्थ में न तो उनका कोई शत्रु है, न कोई मित्र। प्रत्येक प्राणी अपने कर्मों का फल भोगता है और ईश्वर सबों के हृदय में स्थित होकर सबों को देखते तथा उन्हें वांछित फल देते हैं। जिस प्रकार भक्तगण ईश्वर को सर्वभावेन संतुष्ट देखना चाहते हैं उसी प्रकार से ईश्वर अपने भक्तों के समक्ष अपने को उपस्थित करने के लिए इच्छुक रहते हैं। श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (४.८) में कहा है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

"भक्तजनों का उद्धार, दुष्टों का विनाश तथा धर्म की फिर से स्थापना के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ।"

इस प्रकार श्रीकृष्ण का आविर्भाव अपने भक्तों को भवबंधन से छुटकारा दिलाने तथा संतोष देने के लिए होता है। वे केवल दुष्टों को मारने के लिए अवतार नहीं लेते क्योंकि इस कार्य को तो उनके दूत भी कर सकते हैं। महाराज नाभि के यज्ञस्थल में भगवान् विष्णु का प्रकट होना राजा तथा उनके अनुचरों को प्रसन्न करने के अतिरिक्त और कुछ न था, अन्यथा वहाँ उनके उपस्थित होने का कोई प्रयोजन नहीं था।

असङ्गनिशितज्ञानानलविधूताशेषमलानां भवत्स्वभावानामात्मारामाणां मुनीनामनवरतपरिगुणितगुणगण परममङ्गलायनगुणगणकथनोऽसि. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

असङ्ग—वैराग्य से; निशित—दृढ़ किया है; ज्ञान—ज्ञान की; अनल—अग्नि से; विधूत—हटाया गया; अशेष—असीम; मलानाम्—जिनकी मलिन वस्तुएँ; भवत्-स्वभावानाम्—जिन्होंने आपके गुण प्राप्त कर लिए हैं; आत्म-आरामाणाम्—जो आत्म-तुष्ट है, आत्माराम; मुनीनाम्—मुनियों का; अनवरत—लगातार, निरन्तर; परिगुणित—स्मरण करते; गुण-गण—जिसके सद्गुण समूह; परम-मङ्गल—परम-आनन्द; आयन—उत्पन्न करता है; गुण-गण-कथनः—जिसके लक्षणों का जप; असि—तुम हो।

हे ईश्वर, समस्त विचारवान मुनि तथा साधु पुरुष निरन्तर आपके दिव्य गुणों का गान करते

रहते हैं। इन मुनियों ने अपनी ज्ञान-अग्नि से अपार मलराशि को पहले ही दग्ध कर दिया है और इस संसार से अपने वैराग्य को सुदृढ़ किया है। इस प्रकार वे आपके गुणों को ग्रहण कर आत्म-तुष्ट हैं। तो भी जिन्हें आपके गुणों के गान में परम-आनन्द आता है उनके लिए भी आपका दर्शन दुर्लभ है।

तात्पर्य : महाराज नाभि के यज्ञस्थल में समवेत पुरोहितों ने भगवान् विष्णु के द्वारा साक्षात् दर्शन दिये जाने की भूरि-भूरि प्रशंसा की और अपने को परम धन्य माना। ईश्वर का दर्शन उन महान् सन्तों के लिए भी, जिन्होंने भौतिक संसार से वैराग्य ले लिया है और जिनके हृदय ईश्वर की महिमा का निरन्तर जप करने के कारण विमल हैं, दुर्लभ है। ऐसे मनुष्य ईश्वर के दिव्य गुणों का जप करके संतुष्ट रहते हैं। उन्हें ईश्वर के प्राकट्य की आवश्यकता नहीं रहती। ऋषिगण यह इंगित करना चाहते हैं कि ईश्वर का साक्षात्कार महान् साधुओं के लिए भी दुर्लभ है, किन्तु वे उन पर इतने प्रसन्न हुए कि वे साक्षात् प्रकट हो गये। इसलिए *समस्त* याजक अत्यधिक कृतकृत्य हुए।

अथ कथञ्चित्स्खलनक्षुत्पतनजृम्भणदुरवस्थानादिषु विवशानां नः स्मरणाय ज्वरमरणदशायामपि सकलकश्मलनिरसनानि तव गुणकृतनामधेयानि वचनगोचराणि भवन्तु. ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अथ—अब भी; कथञ्चित्—किसी प्रकार से; स्खलन—ठोकर खाने; क्षुत्—भूख; पतन—गिरने; जृम्भण—जम्हाई लेने; दुरवस्थान—प्रतिकूल स्थिति में रहने के कारण; आदिषु—इत्यादि; विवशानाम्—असमर्थ; नः—हम सबका; स्मरणाय—याद रखने; ज्वर-मरण-दशायाम्—मृत्यु के समय तेज ज्वर की दशा में; अपि—भी; सकल—समस्त; कश्मल—पाप; निरसनानि—दूर करने वाले; तव—तुम्हारे; गुण—गुण; कृत—कर्म; नामधेयानि—नाम; वचन-गोचराणि—उच्चरित हो सकने वाले; भवन्तु—हो सकें।

हे ईश्वर, सम्भव है कि हम कँपकँपाने, भूखे रहने, गिरने, जम्हाई लेने या ज्वर के कारण मृत्यु के समय शोचनीय रुग्ण अवस्था में रहने के कारण आपके नाम का स्मरण न कर पाएँ। अतः हे ईश्वर, हम आपकी स्तुति करते हैं क्योंकि आप भक्तों पर वत्सल रहते हैं। आप हमें अपने पवित्र नाम, गुण तथा कर्म को स्मरण कराने में सहायक हों जिससे हमारे पापी जीवन के सभी पाप दूर हो जाँय।

तात्पर्य : जीवन की वास्तविक सफलता है *अन्ते नारायण-स्मृति* अर्थात् मृत्यु के समय ईश्वर के पवित्र, नाम, गुण तथा रूप का स्मरण। भले ही हम मन्दिरों में ईश्वर की पूजा में लगे रहें, किन्तु भौतिक

परिस्थितियाँ इतनी कठिन तथा दुस्तर हैं कि मृत्यु के समय रुग्ण अवस्था या मानसिक विक्षिप्तता के कारण हम ईश्वर को स्मरण करना भूल सकते हैं। इसीलिए हमें ईश्वर से यही प्रार्थना करनी चाहिए कि हमें मृत्यु के समय अपने चरणकमल का स्मरण करने के योग्य अवश्य रखें, क्योंकि उस समय हमारी स्थिति दयनीय होगी। इस प्रसंग के लिए हमें *श्रीमद्भागवत* (६-२.९-१० तथा १४-१) देखना चाहिए।

किञ्चायं राजर्षिरपत्यकामः प्रजां भवादृशीमाशासान ईश्वरमाशिषां स्वर्गापवर्गयोरपि भवन्तमुपधावति प्रजायामर्थप्रत्ययो धनदमिवाधनः फलीकरणम्. ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

किञ्च—इसके अतिरिक्त; अयम्—यह; राज-ऋषिः—पवित्र राजा (नाभि); अपत्य-कामः—सन्तान का इच्छुक; प्रजाम्—एक पुत्र; भवादृशीम्—आपके ही सदृश; आशासानः—आशा युक्त; ईश्वरम्—परम नियन्ता; आशिषाम्—आशीर्वादों का; स्वर्ग-अपवर्गयोः—स्वर्ग लोक तथा मुक्ति का; अपि—यद्यपि; भवन्तम्—आपको; उपधावति—उपासना करता है; प्रजायाम्—लड़के-बच्चे, सन्तान; अर्थ-प्रत्ययः—जीवन का परम लक्ष्य मानते हुए; धन-दम्—दानी को; इव—सदृश; अधनः—निर्धन पुरुष; फलीकरणम्—थोड़ी सी भूसी।

हे ईश्वर, आपके समक्ष ये महाराज नाभि, हैं जिनके जीवन का परम लक्ष्य आपके ही समान पुत्र प्राप्त करना है। हे भगवन्, उसकी स्थिति उस व्यक्ति जैसी है, जो एक अत्यन्त धनवान पुरुष के पास थोड़ा सा अन्न माँगने के लिए जाता है। पुत्रेच्छा से ही वे आपकी उपासना कर रहे हैं यद्यपि आप उन्हें कोई भी उच्चस्थ पद प्रदान कर सकने में समर्थ हैं—चाहे वह स्वर्ग हो या भगवद्धाम का मुक्ति-लाभ।

तात्पर्य : पुरोहित कुछ-कुछ झेंपकरने लगे थे कि राजा नाभि ईश्वर से पुत्र का वर प्राप्त करने के लिए इतना बड़ा यज्ञ कर रहे हैं। ईश्वर उन्हें स्वर्ग या वैकुण्ठलोक भेज सकते थे। श्री चैतन्य महाप्रभु ने हमें शिक्षा दी है कि भगवान् तक कैसे पहुँचा जाये और कैसे श्रेष्ठ वर माँगा जाये। वे कहते हैं—*न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।* वे भगवान् से कोई भौतिक वस्तु नहीं माँगना चाहते। भौतिक ऐश्वर्य का अर्थ है धन, उत्तम कुल, सुन्दर पत्नी तथा अनेक अनुचर, किन्तु बुद्धिमान-भक्त ईश्वर से ऐसी वस्तुओं की याचना नहीं करता। बस उसकी तो प्रार्थना है—*मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि।* वे ईश्वर की प्रिय सेवा में निरन्तर लगे रहना चाहते हैं। वे न तो स्वर्ग चाहते हैं, न भवबन्धन से मुक्ति। यदि ऐसा होता, तो श्री चैतन्य महाप्रभु ने कदापि यह न कहा होता—*मम*

जन्मनि जन्मनि। जब तक कोई भक्त भक्त बना रहता है, उसके लिए इसका कोई महत्त्व नहीं रहता कि वह जन्म-जन्मांतर जन्म लेता रहेगा अथवा नहीं। शाश्वत स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ है भगवान् के धाम को वापस जाना। भक्त को भौतिक वस्तुओं से कोई सरोकार नहीं रहता। यद्यपि नाभि महाराज विष्णु जैसा पुत्र चाहते थे, किन्तु ईश्वर के समान पुत्रेच्छा भी इन्द्रिय-तृप्ति का एक रूप है। शुद्ध भक्त तो ईश्वर की प्रेमाभक्ति में लिप्त रहना चाहता है।

को वा इह तेऽपराजितोऽपराजितया
माययानवसितपदव्यानावृतमतिर्विषयविषरयानावृतप्रकृतिरनुपासितमहच्चरणः. ॥ १४॥

शब्दार्थ

कः वा—ऐसा कौन पुरुष है; इह—संसार में; ते—तुम्हारा (श्रीभगवान् का); अपराजितः—न पराजित हो सकने वाला; अपराजितया—अपराजित द्वारा; मायया—माया के द्वारा; अनवसित-पदव्य—जिसका पथ निर्दिष्ट न किया जा सके; अनावृत-मतिः—जिसकी बुद्धि मोहग्रस्त नहीं है; विषय-विष—विष तुल्य भौतिक सुख का; रय—पथ से होकर; अनावृत—खुला हुआ; प्रकृतिः—जिसका स्वभाव; अनुपासित—विना उपासना किये; महत्-चरणः—परम भक्तों के चरणकमल।

हे ईश्वर, जब तक मनुष्य परम भक्तों के चरणकमलों की उपासना नहीं करता, तब तक उसे माया परास्त करती रहेगी और उसकी बुद्धि मोहग्रस्त बनी रहेगी। दरअसल, ऐसा कौन है जो विष तुल्य भौतिक सुख की तरंगों में न बहा हो! आपकी माया दुर्जेय है। न तो इस माया के पथ को कोई देख सकता है, न इसकी कार्य-प्रणाली को ही कोई बता सकता है।

तात्पर्य : महाराज नाभि पुत्र-प्राप्ति के लिए महान् यज्ञ करने पर तुले थे। हो सकता है कि उनका पुत्र भगवान् के ही समान उत्तम हो, किन्तु ऐसी इच्छा चाहे छोटी हो या बड़ी, माया के प्रभाव से ही मन में आती है। भक्त कभी भी अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए किसी वस्तु की कामना नहीं करता। इसीलिए भक्ति को निष्काम (*अन्याभिलाषिता-शून्य*) कहा गया है। प्रत्येक प्राणी माया से प्रभावित है और सभी प्रकार की भौतिक कामनाओं में उलझा हुआ है। महाराज नाभि भी इसके अपवाद न थे। माया के प्रभाव से बचने का एकमात्र उपाय है कि बड़े-बड़े भक्तों की सेवा की जाये (*महच्चरण-सेवा*)। महान् भक्त के चरणकमलों की उपासना किये बिना माया के प्रभाव से मुक्त नहीं हुआ जा सकता। इसीलिए श्रील नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं—*छाडिया वैष्णव-सेवा निस्तार पायेछे केबा*—"ऐसा कौन है, जो वैष्णव के चरणकमलों की सेवा किये बिना माया के चंगुल से बच सका हो।" माया अपराजित है और उसका प्रभाव भी अपराजित है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१४) में भी हुई

है— *दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यताया*—"मेरी त्रिगुणमयी दैवी शक्ति अपराजेय है।"

माया के इतने बड़े प्रभाव को भक्त ही लाँघ सकता है। यह महाराज नाभि का दोष न था कि उन्होंने पुत्र की इच्छा व्यक्त की। वे ऐसा पुत्र चाहते थे, जो भगवान् के ही सदृश सर्वश्रेष्ठ हो। ईश्वर के भक्त की संगति से भौतिक ऐश्वर्य की इच्छा नहीं रह जाती। इसकी पुष्टि *चैतन्य चरितामृत* (मध्य २२.४) में की गई है—

'साधु संग,' 'साधु संग' सर्व-शास्त्रे कय।

लव-मात्र साधु-संगे सर्व-सिद्धि हय॥

तथा (मध्य २२.१)—

महत्-कृपा बिना कोन कर्मे 'भक्ति' नय।

कृष्ण-भक्ति दूरे रहु, संसार नहे क्षय॥

यदि कोई माया के प्रभाव से बचना चाहता है और घर को लौटने अर्थात् भगवान् के धाम जाने का इच्छुक है, तो उसे साधु (भक्त) की संगति करनी चाहिए। सभी शास्त्रों का यही मत है। भक्त के रंचमात्र सत्संग से माया के चंगुल से छूटा जा सकता है। शुद्ध भक्त की कृपा के बिना कोई किसी भी प्रकार से माया से नहीं बच सकता। निश्चित ही, ईश्वर की प्रेमाभक्ति पाने के लिए शुद्ध भक्त की संगति आवश्यक है। साधु संग के बिना माया के चंगुल से छूटना कठिन है। *श्रीमद्भागवत* (७..३२) में प्रह्लाद महाराज कहते हैं—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं

स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।

महीयसां पादरजोऽभिषेकं

निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्॥

जब तक कोई सिर पर महान् पुरुष (साधु) की धूलि को धारण नहीं करता, तब तक वह ईश्वर का भक्त नहीं बन सकता (*पादरजोऽभिषेकं*)। शुद्ध भक्त निष्किंचन होता है—अर्थात् उसे इस संसार के भोग की कोई इच्छा नहीं होती। मनुष्य को चाहिए कि ऐसे भक्त के गुणों को प्राप्त करने के लिए उसकी शरण में जाये। शुद्ध भक्त माया के चंगुल से तथा उसके प्रभाव से सदैव मुक्त रहने वाला है।

यदु ह वाव तव पुनरदभ्रकर्तरिह समाहूतस्तत्रार्थधियां मन्दानां नस्तद्यद्देवहेलनं देवदेवार्हसि साम्येन सर्वान्प्रतिवोढुमविदुषाम्. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

यत्—क्योंकि; उ ह वाव—निस्संदेह; तव—तुम्हारा; पुनः—फिर; अदभ्र-कर्तः—हे ईश्वर, जो अनेक कर्म करता है; इह—यहाँ, इस-स्थल में; समाहूतः—आमंत्रित; तत्र—अतः; अर्थ-धियाम्—भौतिक कामनाओं को पूरा करने के लिए इच्छुक; मन्दानाम्—कम बुद्धि वाले, मूढ़; नः—हम सबका; तत्—वह; यत्—जो; देव-हेलनम्—भगवान् की अवहेलना; देव-देव—परम देव; अर्हसि—जो पसन्द आए; साम्येन—समभाव के कारण; सर्वान्—सब कुछ; प्रतिवोढुम्—सहने करते हैं; अविदुषाम्—हम अल्प ज्ञानियों का।

हे ईश्वर, आप अनेक अद्भुत कार्य कर सकने में समर्थ हैं। इस यज्ञ के करने का हमारा एकमात्र लक्ष्य पुत्र प्राप्त करना था, अतः हमारी बुद्धि अधिक प्रखर नहीं है। हमें जीवन-लक्ष्य निर्धारित करने का कोई अनुभव नहीं है। निसन्देह भौतिक लक्ष्य की प्राप्ति हेतु किये गये इस तुच्छ यज्ञ में आपको आमंत्रित करके हमने आपके चरण कमलों में महान् पाप किया है। अतः हे सर्वेश, आप अपनी अहैतुकी कृपा तथा समदृष्टि के कारण हमें क्षमा करें।

तात्पर्य : ऋत्विजगण निश्चित रूप से अप्रसन्न थे क्योंकि उन्होंने एक तुच्छ कार्य के लिए परमेश्वर को वैकुण्ठ से बुलाया था। शुद्ध भक्त नहीं चाहता कि वृथा ही ईश्वर दर्शन दें। ईश्वर विविध कार्यों में संलग्न रहते हैं और शुद्ध भक्त यह कभी नहीं चाहता कि अपनी इन्द्रिय-तुष्टि के लिए ऐसे ही उनका दर्शन करे। वह तो केवल उनके अनुग्रह पर आश्रित रहता है और जब ईश्वर प्रसन्न होते हैं, तो भक्त उन्हें प्रत्यक्ष देख सकता है। वैसे परमेश्वर ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवताओं द्वारा भी अलक्षित रहते हैं। भगवान् का आवाहन करके महाराज नाभि के ऋत्विजों ने अपने को अज्ञानी सिद्ध कर दिया था, तो भी परमेश्वर अपनी अहैतुकी कृपा से प्रकट हुए। इसीलिए सबों ने भगवान् से क्षमा-याचना की।

विद्वानों ने भौतिक लाभ के लिए भगवान् की उपासना की अनुमति नहीं दी है। *भगवद्गीता* (७.१६) में कहा गया है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

"हे अर्जुन! विपदाग्रस्त, धन की इच्छा करने वाले, जिज्ञासु तथा ज्ञानी—ये चार प्रकार के पुण्यात्मा मेरी भक्ति करते हैं।"

भक्ति की दीक्षा उसी समय प्रारम्भ होती है जब कोई विपदाग्रस्त होता है, धन चाहता है अथवा परम सत्य को जानना चाहता है। किन्तु इस प्रकार ईश्वर के पास जाने वाले लोग वास्तविक भक्त नहीं हैं। उन्हें पवित्र (सुकृतिना) मान लिया जाता है क्योंकि वे परम सत्य के बारे में जिज्ञासा करते हैं। वे ईश्वर के विविध कार्यों को न जानते हुए, भौतिक लाभ के लिए उन्हें वृथा ही तंग करते हैं। किन्तु भगवान् इतने दयालु हैं कि तंग किये जाने पर भी ऐसे याचकों की मनोकामना पूर्ण करते हैं। शुद्ध भक्त तो *अन्याभिलाषिता-शून्य* होता है, उसकी उपासना के पीछे कोई उद्देश्य नहीं रहता। वह कर्म या ज्ञान के रूप में माया के प्रभाव द्वारा प्रेरित नहीं होता। शुद्ध भक्त अपनी परवाह किये बिना ईश्वर की आज्ञा-पालन करने के लिए सन्नद्ध रहता है। ऋत्विजगण कर्म तथा भक्ति के अन्तर से पूर्णतः परिचित थे, अतः अपने को सकाम कर्माधीन मानकर उन्होंने ईश्वर से क्षमा-याचना की। उन्हें यह ज्ञात था कि अत्यन्त क्षुद्र कार्य के लिए परमेश्वर को बुलाया गया है।

श्रीशुक उवाच

इति निगदेनाभिष्टूयमानो भगवाननिमिषर्षभो वर्षधराभिवादिताभिवन्दितचरणः सदयमिदमाह. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; निगदेन—गद्य स्तुति द्वारा; अभिष्टूयमानः—आराधित होकर; भगवान्—भगवान्; अनिमिष-ऋषभः—समस्त देवताओं में प्रमुख; वर्ष-धर—भारतवर्ष के सम्राट् राजा नाभिद्वारा; अभिवादित—पूजित होकर; अभिवन्दित—झुककर; चरणः—जिनके पाँव; सदयम्—कृपापूर्वक; इदम्—यह; आह—कहा।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—भारतवर्ष के सम्राट, राजा नाभि द्वारा पूजित ऋत्विजों ने गद्य में (सामान्यतः पद्य में) ईश्वर की स्तुति की और वे सभी उनके चरणकमलों पर झुक गये। देवताओं के अधिपति, परमेश्वर उनसे अत्यन्त प्रसन्न हुए और वे इस प्रकार बोले।

श्रीभगवानुवाच

अहो बताहमृषयो भवद्भिरवितथगीर्भिर्वरमसुलभमभियाचितो यदमुष्यात्मजो मया सदृशो भूयादिति ममाहमेवाभिरूपः कैवल्यादथापि ब्रह्मवादो न मृषा भवितुमर्हति ममैव हि मुखं यद्द्विजदेवकुलम्. ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अहो—ओह; बत—सचमुच प्रसन्न हूँ; अहम्—मैं; ऋषयः—हे ऋषियो; भवद्भिः—आप लोगों के द्वारा; अवितथ-गीर्भिः—जिनके वचन सत्य हैं; वरम्—वर पाने के लिए; असुलभम्—प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है; अभियाचितः—याचना किया हुआ; यत्—वह; अमुष्य—राजा नाभि का; आत्म-जः—पुत्र; मया सदृशः—मेरे समान; भूयात्—हो; इति—इस प्रकार; मम—मेरा; अहम्—मैं; एव—केवल; अभिरूपः—समान; कैवल्यात्—अद्वितीय; अथापि—

तो भी; ब्रह्म-वादः—ब्राह्मणों के वचन; न—नहीं; मृषा—झूठे; भवितुम्—होना; अर्हति—चाहिए; मम—मेरा; एव—निश्चय ही; हि—चूँकि; मुखम्—मुख; यत्—वह; द्विज-देव-कुलम्—शुद्ध ब्राह्मणों का कुल।.

भगवान् बोले—हे ऋषियो, मैं आपकी स्तुतियों से परम प्रसन्न हुआ हूँ। आप सभी सत्यवादी हैं। आप लोगों ने राजा नाभि के लिए मेरे समान पुत्र की प्राप्ति के लिए स्तुति की है, किन्तु ऐसा पाना अति दुर्लभ है। चूँकि मैं अद्वितीय परम पुरुष हूँ और मेरे समान अन्य कोई नहीं है, अतः मुझ जैसा पुरुष पाना सम्भव नहीं है। तो भी आप सभी सयोग्य ब्राह्मण हैं, आपका वचन मिथ्या सिद्ध नहीं होना चाहिए। मैं सुयोग्य ब्राह्मणों को अपने मुख के समान उत्तम मानता हूँ।

तात्पर्य : *अवितथ-गीर्भिः* का अर्थ है ''वे जिनके वचन मिथ्या नहीं हो सकते।'' शास्त्रों के अनुसार ब्राह्मणों (द्विज) को परमेश्वर के समान शक्तिमान होने का अवसर दिया जाता हैं। ब्राह्मण जो कुछ भी कहे वह न तो असत्य हो सकता है, न बदला जा सकता है। वैदिक आदेशों के अनुसार ब्राह्मण तो भगवान् का मुख है। इसीलिए समस्त संस्कारों में ब्राह्मण को भोजन दिया जाता है, क्योंकि ऐसा माना जाता है कि जब ब्राह्मण भोजन करता है, तो भगवान् स्वयं भोजन करते हैं। इसी प्रकार, ब्राह्मण जो भी कहता है उसे बदला नहीं जा सकता। महाराज नाभि के यज्ञ में सम्मिलित होने वाले पुरोहित (ऋत्विज) न केवल ब्राह्मण थे, वरन् इतने योग्य थे कि वे देवों अथवा स्वयं ईश्वर के तुल्य थे। यदि ऐसा न होता, तो भला वे भगवान् विष्णु को यज्ञ-स्थल पर किस प्रकार बुला पाते? ईश्वर एक है। उसका किसी धर्म विशेष से सम्बद्ध नहीं है। कलियुग में विभिन्न सम्प्रदाय वाले अपने ईश्वर को दूसरों के ईश्वर से भिन्न मानते हैं, किन्तु यह असम्भव है। ईश्वर एक है और दृष्टिभेद की अवधारणाओं के अनुसार समझा जाता है। इस श्लोक के *कैवल्यात्* शब्द का अर्थ है कि ईश्वर का कोई प्रतियोगी नहीं है। ईश्वर केवल एक है। *श्वेताश्वतर उपनिषद* (६.८) में कहा गया है—*न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते*—''उसके तुल्य या उससे बड़ा कोई नहीं दिखता।'' ईश्वर की यही परिभाषा है।

तत आग्नीध्रीयेऽंशकलयावतरिष्याम्यात्मतुल्यमनुपलभमानः. ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ततः—अतः; आग्नीध्रीये—आग्नीध्र के पुत्र नाभि की स्त्री में; अंश-कलया—अपने रूप के एक अंश द्वारा; अवतरिष्यामि—मैं स्वयं अवतार लूँगा; आत्म-तुल्यम्—अपने ही समान; अनुपलभमानः—न पाकर।.

चूँकि मुझे अपने तुल्य और कोई नहीं मिल पा रहा, इसलिए मैं स्वयं ही अंश रूप में आग्नीध्र के पुत्र महाराज नाभि की पत्नी मेरुदेवी के गर्भ से अवतार लूँगा।

तात्पर्य : भगवान् के सर्वशक्तिमान होने का एक यह उदाहरण है। यद्यपि वे अद्वितीय हैं, किन्तु कभी वे *स्वांश* द्वारा अपना विस्तार करते हैं, तो कभी *विभिन्नांश* द्वारा। यहाँ पर विष्णु अपने स्वांश को आग्नीध्र के पुत्र महाराज नाभि की स्त्री मेरुदेवी के पुत्र के रूप में भेजने को तत्पर हो जाते हैं। ऋत्विज जानते थे कि भगवान् एक हैं, तो भी उन्होंने परमेश्वर से महाराज नाभि का पुत्र बनने के लिए स्तुति की जिससे संसार जान सके कि भगवान् एक हैं, उनके समान कोई अन्य नहीं। जब वे अवतरित होते हैं, तो वे विभिन्न शक्तियों के रूप में अपना विस्तार करते हैं।

श्रीशुक उवाच
इति निशामयन्त्या मेरुदेव्याः पतिमभिधायान्तर्दधे भगवान्. ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; निशामयन्त्याः—सुनते हुए; मेरुदेव्याः—मेरुदेवी के समक्ष; पतिम्—उसके पति को; अभिधाय—कहकर; अन्तर्दधे—अन्तर्धान हो गये; भगवान्—भगवान्।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—ऐसा कहकर भगवान् अदृश्य हो गये। राजा नाभि की पत्नी मेरुदेवी अपने पति के पास में ही बैठी थीं, फलस्वरूप परमेश्वर ने जो कुछ कहा था उसे वे सुन रही थीं।

तात्पर्य : वैदिक आदेशों के अनुसार पति को अपनी पत्नी के साथ यज्ञ करना चाहिए। *सपत्नीको धर्मम् आचरेत्*—धार्मिक कृत्यों को अपनी पत्नी के साथ साथ करना चाहिए। इसलिए महाराज नाभि ने इस महान् यज्ञ को अपनी पत्नी सहित सम्पन्न किया।

बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान्परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावततार. ॥ २० ॥

शब्दार्थ

बर्हिषि—यज्ञ स्थल में; तस्मिन्—उस; एव—इस प्रकार; विष्णु-दत्त—हे महाराज परीक्षित; भगवान्—भगवान्; परम-ऋषिभिः—महर्षियों द्वारा; प्रसादितः—प्रसन्न किये जाने पर; नाभेः प्रिय-चिकीर्षया—राजा नाभि को प्रसन्न करने के लिए; तत्-अवरोधायने—अपनी पत्नी में; मेरुदेव्याम्—मेरुदेवी में; धर्मान्—धार्मिक नियम; दर्शयितु-कामः—यह दिखाने के लिए कि किस प्रकार करना चाहिए; वात-रशनानाम्—संन्यासियों का (जो वस्त्र नहीं धारण करते); श्रमणानाम्—वानप्रस्थियों का; ऋषीणाम्—ऋषियों का; ऊर्ध्व-मन्थिनाम्—ब्रह्मचारियों का; शुक्लया तनुवा—उनके आद्य सत् स्वरूप में, जो गुणों के परे है; अवततार—अवतार लिया।

हे विष्णुदत्त परीक्षित महाराज, उस यज्ञ के ऋषियों से भगवान् अत्यन्त प्रसन्न हुए। फलस्वरूप उन्होंने स्वयं धर्माचरण करके दिखलाने (जैसा कि ब्रह्मचारी, संन्यासी, वानप्रस्थ

तथा गृहस्थ करते हैं) और महाराज नाभि की मनोकामना को पूरा करने का निश्चय किया। अतः वे अपने गुणातीत आद्य सत्व रूप में मेरुदेवी के पुत्र के रूप में प्रकट हुए।

तात्पर्य : भगवान् जब इस संसार में प्रकट होते हैं या अवतरित होते हैं, तो वे तीन गुणों (सतो, रजो तथा तमो गुण) से युक्त शरीर नहीं स्वीकार करते। मायावादी दार्शनिकों का कहना है कि निर्गुण ब्रह्म सत्त्व गुणमय देह स्वीकार करके इस संसार में प्रकट होते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि *शुक्ल* शब्द का भावार्थ *शुद्ध सत्त्व* वाला है। भगवान् विष्णु अपने शुद्ध-सत्त्व रूप में अवतरित होते हैं। शुद्ध सत्त्व से उस सत्त्वगुण का बोध होता है, जो कभी मलिन (दूषित) नहीं होता। इस भौतिक संसार में सत्त्वगुण भी रजोगुण तथा तमोगुण से दूषित हो जाता है। सत्त्वगुण के इन गुणों से कभी न दूषित होने पर ही वह शुद्धसत्त्व कहलाता है। *सत्त्वं विशुद्धं वसुदेव-शब्दितम्* (*भागवत* ४.३.२३)। यही वसुदेव पद है, जिससे भगवान् वासुदेव का अनुभव किया जा सकता है। *भगवद्गीता* (४.७) में श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

"हे भारत! जब कभी और जहाँ-कहीं धर्म की हानि तथा अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं अवतार लेता हूँ।"

सामान्य जीवात्माओं की तरह भगवान् अवतार लेने के लिए प्रकृति के गुणों द्वारा बाध्य नहीं होते; वे *धर्मान् दर्शयितु-काम*—अर्थात् मनुष्यों को कार्य करके दिखाने के लिए प्रकट होते हैं। *धर्म* शब्द का व्यवहार मनुष्यों के प्रसंग में किया जाता है। इसका व्यवहार मनुष्यों से निकृष्ट जीवों यथा पशुओं के लिए नहीं किया जाता है। दुर्भाग्यवश मनुष्य कभी-कभी ईश्वर से निर्देशित हुए बिना मनमाने धर्म को गढ़ लेते हैं। वास्तव में धर्म मनुष्य द्वारा नहीं बनाया जा सकता। *धर्मं तु साक्षाद् भगवत्-प्रणीतम्* (*भागवत* ६.३.१९)—धर्म तो भगवान् की देन है, जिस प्रकार विधि (कानून) राज्य की देन होता है। मानव-निर्मित धर्म निरर्थक है। *श्रीमद्भागवत* में मानव निर्मित धर्म को *कैतव-धर्म* (धोखाधड़ी) कहा गया है। मानव समाज को धार्मिक नियमों का आचरण सिखाने के लिए भगवान् अवतरित होते हैं। ये धार्मिक नियम भक्तिमार्ग हैं। भगवान् स्वयं *भगवद्गीता* में कहते हैं—*सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं*

व्रज। महाराज नाभि के पुत्र ऋषभदेव धर्म-नियमों का उपदेश देने के लिए इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए। इसकी व्याख्या पाँचवें अध्याय में की जाएगी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''महाराज नाभि की पत्नी मेरुदेवी के गर्भ से ऋषभदेव का जन्म'' नामक तीसरे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चार

भगवान् ऋषभदेव के लक्षण

इस अध्याय में महाराज नाभि के पुत्र ऋषभदेव के एक सौ पुत्रों की उत्पत्ति का वर्णन है जिनके शासन काल में संसार सभी प्रकार से सुखी रहा। जब ऋषभदेव महाराज नाभि के पुत्र रूप में प्रकट हुए, तो लोगों ने उन्हें अपने काल का महानतम एवं सुन्दरतम पुरुष माना। उनमें अंगसौष्ठव, प्रभाव, बल, उत्साह, कान्ति तथा अन्य दिव्य गुण अद्वितीय थे। ऋषभ शब्द श्रेष्ठ या परम का सूचक है। महाराज नाभि ने अपने पुत्र के अद्वितीय गुणों के कारण ही उसका नाम ऋषभ अथवा ''सर्वश्रेष्ठ'' रखा। उनका प्रभाव अनुपम था। यद्यपि तब वर्षा का अभाव हो गया था, किन्तु ऋषभदेव ने वर्षा के स्वामी, स्वर्ग के राजा इन्द्र की परवाह नहीं की। अपने ही सामर्थ्य से उन्होंने प्रचुर वर्षा से अजनाभ को ढक दिया। ऋषभदेव को पुत्र रूप में पाकर राजा नाभि बड़ी ही सावधानी से उसका पालन करने लगे। तत्पश्चात् उन्हें राज्य-भार सौंपकर वे गृहस्थ जीवन से विरक्त हो गये और बदरिकाश्रम में रहकर पूरी तरह से भगवान् वासुदेव की उपासना में लग गये। सामाजिक परिपाटी का पालन करने के लिए भगवान् ऋषभदेव कुछ काल तक गुरुकुल में विद्यार्थी के रूप में रहे और वहाँ से लौटने पर अपने गुरु की आज्ञा से जयन्ती को अपनी पत्नी रूप में स्वीकार किया जो स्वर्ग के राजा इन्द्र द्वारा उन्हें प्रदत्त की गई थी। जयन्ती से उनके सौ पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें से सबसे ज्येष्ठ पुत्र का नाम भरत था। महाराज भरत के शासनकाल से यह लोक भारतवर्ष कहलाया। ऋषभदेव के शेष पुत्रों में कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ तथा कीकट प्रमुख थे। अन्य पुत्रों के नाम कवि, हवि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस तथा करभाजन थे। ये नौ पुत्र राज-काज न करके भागवत के धार्मिक आदेशों का पालन करते हुए कृष्णभावनामृत के साधु-प्रचारक बन गये। इन सबके लक्षणों

तथा कार्यों का वर्णन *श्रीमद्भागवत* के ग्यारहवें स्कन्ध में कुरुक्षेत्र में वसुदेव और नारद के वार्तालाप के समय हुआ है। जनता को शिक्षा देने के लिए राजा ऋषभदेव ने अनेक यज्ञ किये और अपने पुत्रों को जनता पर शासन करना सिखाया।

श्रीशुक उवाच

अथ ह तमुत्पत्त्यैवाभिव्यज्यमानभगवल्लक्षणं साम्योपशमवैराग्यैश्वर्यमहाविभूतिभिरनुदिनमेधमानानुभावं प्रकृतयः प्रजा ब्राह्मणा देवताश्चावनितलसमवनायातितरां जगृधुः. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ ह—इस प्रकार (भगवान् के प्रकट होने के अनन्तर); तम्—उसको; उत्पत्त्या—आविर्भाव काल से; एव—ही; अभिव्यज्यमान—प्रकट रूप में; भगवत्-लक्षणम्—भगवान् जैसे लक्षणों से युक्त; साम्य—समभाव वाला; उपशम—इन्द्रियों तथा मन को वश में करते समय पूर्णतया शान्त; वैराग्य—गृहत्याग; ऐश्वर्य—ऐश्वर्य; महा-विभूतिभिः—महान् गुणों के कारण; अनुदिनम्—दिन-प्रतिदिन; एधमान—बढ़ता हुआ; अनुभावम्—उसकी शक्ति; प्रकृतयः—मंत्रीगण; प्रजाः—प्रजा, नागरिक; ब्राह्मणाः—ब्रह्म को जानने वाले विद्वान; देवताः—देवतागण; च—तथा; अवनि-तल—पृथ्वी पर; समवनाय—शासन करने के लिए; अतितराम्—उत्कट; जगृधुः—अभिलाषा होने लगी।.

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—जन्म से ही महाराज नाभि के पुत्र में भगवान् के लक्षण प्रकट थे, यथा चरणतल के चिह्न (ध्वज, वज्र इत्यादि)। यह पुत्र सबों के साथ समभाव रखनेवाला और अत्यन्त शान्त स्वभाव का था। यह अपनी इन्द्रियों तथा मन को वश में कर सकता था और परम ऐश्वर्यवान होने के कारण उसे भौतिक सुख की लिप्सा नहीं थी। इन समस्त गुणों से सम्पन्न होने के कारण महाराज नाभि का पुत्र दिनोंदिन शक्तिशाली बनता गया। फलतः समस्त नागरिकों, विद्वान ब्राह्मणों, देवताओं तथा मंत्रियों ने चाहा कि ऋषभदेव पृथ्वी के शासक बनें।

तात्पर्य : आजकल सस्ते अवतार होने लगे हैं, अतः अवतार में प्राप्य शारीरिक लक्षणों को ध्यान से देखना रोचक होगा। यह देखा गया था कि ऋषभदेव के पैरों में जन्म से ही दिव्य चिह्न (ध्वजा, वज्र, कमल इत्यादि) अंकित थे। इसके अतिरिक्त ज्यों-ज्यों वह बढ़ने लगा, उसकी ख्याति फैलने लगी। वह समभाव रखने वाला था। उसने न तो किसी एक का पक्ष लिया और न दूसरे की उपेक्षा ही की। ईश्वर के अवतार को छः ऐश्वर्यों से युक्त होना चाहिए। ये हैं—धन, बल, ज्ञान, सौन्दर्य, यश तथा त्याग। कहा जाता है कि ऋषभदेव सभी ऐश्वर्यों से युक्त होकर भी भौतिक सुख से परम विरक्त थे। वह आत्म-संयमी था, इसलिए सभी उन्हें चाहते थे। उनके अपूर्व गुणों के कारण सभी चाहते थे कि पृथ्वी

पर वही राज्य करें। ईश्वर के अवतार को अनुभवी लोग शास्त्रों में वर्णित लक्षणों द्वारा स्वीकार करते हैं। कभी भी मूर्ख लोगों की चाटुकारी से अवतार स्वीकार नहीं हो पाता।

तस्य ह वा इत्थं वर्ष्मणा वरीयसा बृहच्छ्लोकेन चौजसा बलेन श्रिया यशसा वीर्यशौर्याभ्यां च पिता ऋषभ इतीदं नाम चकार. ॥ २॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके; ह वा—निश्चय ही; इत्थम्—इस प्रकार; वर्ष्मणा—रंग-रूप से; वरीयसा—श्रेष्ठ; बृहत्-श्लोकेन—कवियों द्वारा वर्णित समस्त उत्तम गुणों से अलंकृत; च—भी; ओजसा—शौर्य से; बलेन—बल से; श्रिया—सुन्दरता से; यशसा—यश से; वीर्य-शौर्याभ्याम्—प्रभाव तथा वीरता से; च—तथा; पिता—महाराज नाभि ने; ऋषभः—श्रेष्ठ; इति—इस प्रकार; इदम्—यह; नाम—नाम; चकार—रखा।

जब महाराज नाभि का पुत्र प्रकट हुआ, तो उसमें महाकवियों द्वारा वर्णित समस्त उत्तम गुण दिखाई पड़े यथा ईश्वर के लक्षणों से युक्त सुगठित शरीर, शौर्य, बल, सुन्दरता, नाम, यश, प्रभाव तथा उत्साह। जब उसके पिता महाराज नाभि ने इन समस्त गुणों को देखा, तो उसे मनुष्यों में श्रेष्ठतम अथवा सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति मान कर उसका नाम ऋषभ रख दिया।

तात्पर्य : किसी को ईश्वर या उसका अवतार मानने के पूर्व उसके शरीर में ईश्वर के लक्षण देखने चाहिए। महाराज नाभि के असाधारण रूप से शक्तिशाली पुत्र में समस्त लक्षण पाये गये थे। उसका शरीर सुगठित था और वह समस्त दिव्य गुणों से सम्पन्न था। वह प्रभावशाली था और अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में करने वाला था। फलस्वरूप उसका नाम ऋषभ रख दिया गया जिससे यह सूचित होता है कि वह सर्वश्रेष्ठ मनुष्य था।

यस्य हीन्द्रः स्पर्धमानो भगवान्वर्षे न ववर्ष तदवधार्य भगवानृषभदेवो योगेश्वरः प्रहस्यात्मयोगमायया स्ववर्षमजनाभं नामाभ्यवर्षत्. ॥ ३॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; हि—निस्संदेह; इन्द्रः—स्वर्ग का राजा इन्द्र; स्पर्धमानः—ईर्ष्या के कारण; भगवान्—परम ऐश्वर्यवान; वर्षे—भारतवर्ष में; न ववर्ष—वर्षा नहीं की; तत्—वह; अवधार्य—जानते हुए; भगवान्—भगवान; ऋषभदेवः—ऋषभदेव; योग-ईश्वरः—समस्त योग के स्वामी; प्रहस्य—हँसते हुए; आत्म-योग-मायया—अपने आत्मबल से; स्व-वर्षम्—अपने देश पर; अजनाभम्—अजनाभ; नाम—नामक; अभ्यवर्षत्—जल की वर्षा की।

भौतिक रूप से महान् ऐश्वर्यशाली स्वर्ग का राजा इन्द्र राजा ऋषभदेव से ईर्ष्या करने लगा। अतः उसने भारतवर्ष नामक लोक पर जल बरसाना बन्द कर दिया। उस समय समस्त योगों के स्वामी भगवान् ऋषभदेव इन्द्र का प्रयोजन समझ गये और थोड़ा मुस्काये। तब उन्होंने अपने

शौर्य तथा योगमाया से अजनाभ नाम से विख्यात अपने देश में अत्यधिक वर्षा की।

तात्पर्य : इस श्लोक में *भगवान्* शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है। इन्द्र तथा भगवान् के अवतार ऋषभदेव—इन दोनों को *भगवान्* कहा गया है। कभी-कभी नारद तथा ब्रह्मा भी भगवान् कहकर सम्बोधित किये जाते हैं। भगवान् का शाब्दिक अर्थ है ब्रह्मा, शिव, नारद अथवा इन्द्र के समान अत्यन्त ऐश्वर्यवान एवं शक्तिशाली व्यक्ति। अपने अद्वितीय वैभव के कारण ये सभी भगवान् कहे जाते हैं। राजा ऋषभदेव भगवान् के अवतार थे, अतः वे आदि भगवान् थे। फलस्वरूप उन्हें यहाँ योगेश्वर कहा गया है, जिसका अर्थ यह है कि उनमें अत्यन्त दिव्य-शक्ति थी। वे वर्षा के लिए इन्द्र पर आश्रित न थे। वे स्वयं जल की पूर्ति कर सकते थे और उन्होंने ऐसा किया भी। *भगवद्गीता* में उल्लेख हुआ है कि *यज्ञाद्भवति पर्जन्यः*—यज्ञ करने से आकाश में वर्षा के मेघ दिखाई पड़ते हैं। यद्यपि मेघ तथा वर्षा स्वर्ग के राजा इन्द्र के अधीन हैं, किन्तु यदि वह वर्षा नहीं करता है, तो यज्ञ अथवा यज्ञपति कहलाने वाले भगवान् यह कार्य अपने हाथों में ले लेते हैं। इसलिए अजनाभ देश में प्रचुर वर्षा हुई। यदि यज्ञपति चाहे, तो अपने किसी अधीनस्थ की सहायता के बिना भी कोई कार्य कर सकता है। इसीलिए भगवान् सर्वशक्तिमान कहलाते हैं। इस कलियुग में अन्ततः अनावृष्टि (वर्षा का अभाव) होगी, क्योंकि सामान्य जनता अपनी अविद्या तथा याज्ञिक सामग्री के अभाव के कारण यज्ञ की उपेक्षा करेगी। अतः *श्रीमद्भागवत* का उपदेश है—*यज्ञै संकीर्तन-प्रायै यजन्ति हि सुमेधसः।* वास्तव में, यज्ञ का प्रयोजन भगवान् को प्रसन्न करना है यद्यपि इस कलियुग में अभाव तथा अज्ञानता का बोलबाला है, किन्तु तो भी मनुष्य *संकीर्तन-यज्ञ* तो कर ही सकता है। प्रत्येक परिवार को चाहिए कि प्रति संध्या समय संकीर्तन-यज्ञ करे। इस प्रकार से वर्षा का अभाव नहीं रहेगा। भौतिक रूप से सुखी तथा मानसिक रूप से उन्नत होने के लिए अनिवार्य है कि इस युग में संकीर्तन-यज्ञ किया जाये।

नाभिस्तु यथाभिलषितं सुप्रजस्त्वमवरुध्यातिप्रमोदभरविह्वलो गद्गदाक्षरया गिरा स्वैरं
गृहीतनरलोकसधर्मं भगवन्तं पुराणपुरुषं मायाविलसितमतिर्वत्स तातेति सानुरागमुपलालयन्परां
निर्वृतिमुपगतः. ॥४॥

शब्दार्थ

नाभिः—राजा नाभि; तु—निश्चय ही; यथा-अभिलषितम्—इच्छानुसार; सु-प्रजस्त्वम्—अत्यन्त सुन्दर पुत्र; अवरुध्य—पाकर; अति-प्रमोद—अत्यधिक प्रसन्नता; भर—की अति से; विह्वलः—विभोर होकर; गद्गद-अक्षरया—आह्लाद में शब्द न निकलने से; गिरा—वाणी से; स्वैरम्—स्वेच्छा से; गृहीत—स्वीकार किया; नर-लोक-सधर्मम्—मनुष्य की भाँति आचरण करके;

भगवन्तम्—श्रीभगवान् को; पुराण-पुरुषम्—जीवों में सर्वाधिक वय वाले; माया—योगमाया से; विलसित—मोहग्रस्त; मतिः—उसकी मति; वत्स—प्रिय पुत्र; तात—मेरे प्रिय; इति—इस प्रकार; स-अनुरागम्—अत्यन्त प्यार सहित; उपलालयन्—लालन-पालन करते हुए; पराम्—दिव्य; निर्वृतिम्—आनन्द; उपगतः—प्राप्त किया।

अपनी इच्छानुसार श्रेष्ठ पुत्र पाकर राजा नाभि दिव्य आनन्द के कारण विह्वल और पुत्र के प्रति अत्यन्त वत्सल हो उठे। उन्होंने गद्‌गद् वाणी से उसे "मेरे प्रिय पुत्र! मेरे प्यारे!" शब्दों से सम्बोधित किया। ऐसी बुद्धि योगमाया से उत्पन्न हुई जिसके कारण उन्होंने परम पिता भगवान् को अपने पुत्र रूप में स्वीकार किया। ईश्वर भी अपनी परमेच्छा के कारण उनके पुत्र बने और सबों के साथ ऐसा व्यवहार किया जैसे वे कोई सामान्य मनुष्य हो। इस प्रकार वे अपने दिव्य पुत्र का बड़े ही लाड़-प्यार से लालन-पालन करने लगे और वे दिव्य आनन्द, हर्ष तथा भक्ति से भावविभोर हो गये।

तात्पर्य : यहाँ *माया* शब्द का प्रयोग मोह के अर्थ में हुआ है। भगवान् को अपने पुत्र रूप में पाकर, महाराज नाभि सचमुच मोहग्रस्त थे, किन्तु यह दिव्य मोह था। यह मोह आवश्यक है क्योंकि बिना इसके कोई क्यों परम पिता को अपना पुत्र स्वीकार करने लगा? भगवान् अपने एक भक्त के पुत्र रूप में वैसे ही प्रकट होते हैं जिस प्रकार श्रीकृष्ण नन्द महाराज और यशोदा के पुत्र रूप में प्रकट हुए थे। ये भक्त अपने पुत्र को भगवान् रूप में कभी भी नहीं सोच सकते, क्योंकि ऐसा करने से पितृ-प्रेम में बाधा उत्पन्न होती है।

विदितानुरागमापौरप्रकृति जनपदो राजा नाभिरात्मजं समयसेतुरक्षायामभिषिच्य ब्राह्मणेषूपनिधाय सह मेरुदेव्या विशालायां प्रसन्ननिपुणेन तपसा समाधियोगेन नरनारायणाख्यं भगवन्तं वासुदेवमुपासीनः कालेन तन्महिमानमवाप. ॥ ॥

शब्दार्थ

विदित—भलीभाँति ज्ञात; अनुरागम्—लोकप्रियता; आपौर-प्रकृति—समस्त नागरिकों तथा प्रशासकों के बीच; जन-पदः—सामान्य जनों की सेवा की इच्छा से; राजा—राजा; नाभिः—नाभि; आत्मजम्—अपने पुत्र को; समय-सेतु-रक्षायाम्—धार्मिक जीवन के वैदिक नियमों के अनुसार जनता की रक्षा करते हुए; अभिषिच्य—राज्याभिषेक करके; ब्राह्मणेषु—ब्राह्मणों को; उपनिधाय—सौंप कर; सह—साथ; मेरुदेव्या—अपनी पत्नी मेरुदेवी के साथ. मेरुदेवी; विशालायाम्—बदरिकाश्रम में; प्रसन्न-निपुणेन—अत्यन्त संतोष एवं निपुणता के साथ रहते हुए; तपसा—तपस्या से; समाधि-योगेन—पूर्ण समाधि से; नर-नारायण-आख्यम्—नर-नारायण नामक; भगवन्तम्—भगवान्; वासुदेवम्—श्रीकृष्ण को; उपासीनः—उपासना करते हुए; कालेन—कालक्रम से; तत्-महिमानम्—महिमामय धाम, वैकुण्ठ लोक को; अवाप—प्राप्त किया।

राजा नाभि ने समझ लिया था कि उनका पुत्र ऋषभदेव नागरिकों, प्रशासकों तथा मंत्रियों में अत्यन्त लोकप्रिय है। अतः उन्होंने वैदिक धर्म-पद्धति अनुसार जनता की रक्षा के उद्देश्य से अपने

पुत्र को संसार के सम्राट के रूप में अभिषिक्त कर दिया और उसे विद्वान ब्राह्मणों के हाथों में सौप दिया जो शासन चलाने में उसका मार्ग-दर्शन कर सकें। फिर महाराज नाभि अपनी पत्नी मेरुदेवी के साथ हिमालय पर्वत स्थित बदरिकाश्रम में गये और वहाँ पर अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक एवं निपुणता के साथ तपस्या में लग गये। पूर्ण समाधि में उन्होंने कृष्ण के ही अंश रूप भगवान् नर-नारायण की उपासना की, अतः कालक्रम में महाराज नाभि को वैकुण्ठ प्राप्त हुआ।

तात्पर्य : जब महाराज नाभि ने देखा कि जनता तथा राज्य अधिकारियों के बीच उनका पुत्र ऋषभदेव अत्यन्त लोकप्रिय हो गया है, तो उन्होंने उसे राज्य-सिंहासन पर आसीन करने का निश्चय किया। साथ ही, वे अपने पुत्र को बुद्धिमान ब्राह्मणों के हाथों में सौंपना चाहते थे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि राजा को बुद्धिमान ब्राह्मणों की देखरेख में वैदिक नियमों के अनुसार राज्य करना होता था जिससे वे *मनुस्मृति* तथा इसी प्रकार के वैदिक शास्त्रों के अनुसार सलाह दे सकें। राजा का यह कर्तव्य है कि वह वैदिक नियमों के अनुसार शासन चलाए। वैदिक नियमों के अनुसार समाज चार वर्गों में विभाजित है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।* समाज को इस प्रकार विभाजित करने के बाद यह राजा का कर्तव्य है कि वह यह देखे कि प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्ण (जाति) के अनुसार वैदिक नियमों का पालन करे। ब्राह्मण को चाहिए कि वह जनता को ठगे बिना ब्राह्मण का कर्तव्य निभाए। बिना योग्यता के किसी को ब्राह्मण कहलाने का अधिकार नहीं है। यह राजा का कर्तव्य है कि वह देखे कि प्रत्येक व्यक्ति वैदिक नियमानुसार अपना व्यावसायिक कर्तव्य निबाहे। साथ ही, जीवन के अन्त समय में वैराग्य अनिवार्य है। महाराज नाभि, राजा रहते हुए भी, गृहस्थ जीवन से विरक्त हो गये और अपनी पत्नी के साथ हिमालय बदरिकाश्रम चले गये जहाँ नर-नारायण विग्रह की उपासना की जाती है। *प्रसन्न-निपुणेन तपसा* शब्दों से सूचित होता है कि राजा ने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक तथा पटुता के साथ सभी प्रकार की तपस्याएँ की। सम्राट् होते हुए भी अपने सुविधामय जीवन का परित्याग करने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई। बदरिकाश्रम में कठिन तपस्या करते हुए भी वे परम प्रसन्न थे और सारा कार्य दक्षतापूर्वक करते रहे। इस प्रकार कृष्णभावनामृत (समाधि योग) में पूर्ण निमग्न रहकर और सतत वासुदेव कृष्ण का ध्यान करते हुए महाराज नाभि ने जीवन के अन्तिम काल में सफलता प्राप्त की और वैकुण्ठलोक को भेज दिए गये।

यही वैदिक जीवन पद्धति है। मनुष्य को जन्म-मृत्यु के चक्र से छूटकर घर लौटजाना चाहिए अर्थात् वापस चला-जाना चाहिए भगवान् के धाम जाना है। इस प्रसंग में *तन्महिमानम् अवाप* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। श्रील श्रीधर स्वामी का कहना है कि *महिमा* का अर्थ जीवन से मुक्ति है। अत: हमें इस जीवन में ऐसे कर्म करने चाहिए कि इस शरीर को त्यागने के बाद हम जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो सकें। यही *जीवन्मुक्ति* कहलाती है। श्रील वीर राघव आचार्य लिखते हैं कि *छान्दोग्य उपनिषद् में जीवन्-मुक्त* अर्थात् इस शरीर में ही जो मुक्त को चुका है उसके आठ लक्षण बताए गये हैं। पहला लक्षण है, *अपहत पाप*—अर्थात् वह समस्त पापकर्मों से मुक्त रहता है। जब तक मनुष्य माया के चंगुल में रहता है, वह पाप-कर्म में लगा रहता है। *भगवद्गीता* में ऐसे मनुष्यों को *दुष्कृतिन:* कहा गया है, जिसका अर्थ है कि वे सदैव पापकर्म में रत रहते हैं। जो जीवन्मुक्त है, वह कभी पाप नहीं करता। व्यभिचार, मद्यपान, मांसाहार तथा द्यूत क्रीड़ा—ये ही पापकर्म हैं। जीवन्मुक्त मनुष्य का दूसरा लक्षण है, *विजर*—अर्थात् उसे वृद्धावस्था के कष्ट नहीं भोगने पड़ते। तृतीय लक्षण है, *विमृत्यु*—अर्थात् वह मनुष्य जो अपने आप को इस प्रकार तैयार करता है कि वह आगे और कोई शरीर धारण नहीं करता, क्योंकि इनकी मृत्यु होनी ही है। दूसरे शब्दों में, वह जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है। चतुर्थ लक्षण है, *विशोक*—अर्थात् वह भौतिक शोक तथा हर्ष के प्रति उदासीन रहता है। पंचम लक्षण, *विजिघत्स* है, जिसका अर्थ है कि उसे भौतिक सुख की कामना नहीं रहती। षष्ठम लक्षण है, *अपिपाता*—अर्थात् वह अपने परम प्रिय ईश्वर श्रीकृष्ण की भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना चाहता। सप्तम लक्षण है, *सत्य-काम*—जिसका अर्थ है कि उसकी समस्त आकांक्षाएँ परम सत्य श्रीकृष्ण की ओर उन्मुख होती हैं। वह *सत्य-संकल्प* होता है। उसकी समस्त कामनाओं को पूरा करने वाले श्रीकृष्ण हैं। प्रथम तो भौतिक लाभ के लिए वह कोई इच्छा ही नहीं करता और यदि करता भी है, तो वह ईश्वर की सेवा मात्र करना चाहता है। इसीलिए उसे *सत्य-संकल्प* कहते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि *महिमा* का अर्थ वैकुण्ठलोक को—भगवद्धाम को वापस जाना है। श्रील शुकदेव का कथन है कि *महिमा* का अर्थ है कि भक्त भगवान् के गुणों को प्राप्त कर लेता है। इसे *सधर्म* अर्थात् सम-गुण कहते हैं। जिस प्रकार कृष्ण न तो जन्मते हैं और न मरते हैं उसी प्रकार उनके जो भक्त भगवान् के धाम पहुँच जाते हैं, वे फिर इस संसार के जन्म-मरण चक्र में नहीं पड़ते।

यस्य ह पाण्डवेय श्लोकावुदाहरन्ति—
को नु तत्कर्म राजर्षेर्नाभेरन्वाचरेत्पुमान् ।
अपत्यतामगाद्यस्य हरिः शुद्धेन कर्मणा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; ह—निस्सन्देह; पाण्डवेय—वह महाराज परीक्षित; श्लोकौ—दो श्लोक; उदाहरन्ति—सुनाते हैं; कः—कौन; नु—तब; तत्—वह; कर्म—कार्य; राज-ऋषेः—पवित्र राजा; नाभेः—नाभि का; अनु—अनुगमन करते हुए; आचरेत्—आचरण कर सकता था; पुमान्—मनुष्य; अपत्यताम्—पुत्रत्व, पुत्र बनना; अगात्—स्वीकार किया; यस्य—जिसका; हरिः—भगवान् ने; शुद्धेन—पवित्र; कर्मणा—कर्म से।

हे महाराज परीक्षित, महाराज नाभि के यशोगान में प्राचीन मुनियों ने दो श्लोक रचे। उनमें से एक यह है, ''महाराज नाभि जैसी सिद्धि अन्य कौन प्राप्त कर सकता है? उनके कर्मों तक कौन पहुँच सकता है? उनकी भक्ति के कारण भगवान् ने उनका पुत्र बनना स्वीकार किया।''

तात्पर्य : इस श्लोक में *शुद्धेन कर्मणा* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। यदि कोई कार्य भक्ति से नहीं किया जाता तो वह भौतिक प्रकृति के गुणों से दूषित हो जाता है। *भगवद्गीता* में इसकी व्याख्या *यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः* के रूप में की गई है। जो कर्म भगवान् को प्रसन्न करने के लिए किये जाते हैं, वे ही शुद्ध हैं और वे ही प्रकृति के गुणों से कलुषित नहीं होते। अन्य सभी कर्म सतो रजो तथा तमोगुणों के द्वारा दूषित हो जाते हैं। इन्द्रियों की तुष्टि के लिए किए जाने वाले समस्त भौतिक कर्म संदूषित होते हैं, किन्तु महाराज नाभि ने ऐसा कोई दूषित कर्म नहीं किया। यहाँ तक कि यज्ञ के समय भी उन्होंने दिव्य कर्म ही किए थे। इसलिए उन्हें पुत्र रूप में भगवान् की प्राप्ति हुई।

ब्रह्मण्योऽन्यः कुतो नाभेर्विप्रा मङ्गलपूजिताः ।
यस्य बर्हिषि यज्ञेशं दर्शयामासुरोजसा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मण्यः—ब्राह्मण-भक्त; अन्यः—कोई दूसरा; कुतः—कहाँ है; नाभेः—महाराज नाभि के अतिरिक्त; विप्राः—ब्राह्मण समुदाय; मङ्गल-पूजिताः—भली भाँति उपासित एवं तुष्ट; यस्य—जिसका; बर्हिषि—यज्ञ-स्थल में; यज्ञ-ईशम्—समस्त यज्ञों के भोक्ता, श्रीभगवान्; दर्शयाम् आसुः—दर्शन कराया; ओजसा—अपनी ब्राह्म शक्ति से।

[दूसरी स्तुति इस प्रकार है] ''महाराज नाभि से बढ़कर ब्राह्मणों का उपासक (भक्त) कौन हो सकता है? चूँकि राजा ने योग्य ब्राह्मणों को पूजा से पूर्णतया सन्तुष्ट कर दिया था, इसलिए अपने ब्राह्म-तेज से उन्होंने महाराज नाभि को भगवान् नारायण का साक्षात् दर्शन करा दिया।''

तात्पर्य : यज्ञोत्सव के कार्य में लगे हुए पुरोहित सामान्य ब्राह्मण न थे। वे इतने शक्तिशाली थे कि

अपनी स्तुति से भगवान् का प्राकट्य करा सकते थे। इस प्रकार से महाराज नाभि को ईश्वर के साक्षात् दर्शन हो सके। जब तक कोई वैष्णव न हो, वह भगवान् को बुला नहीं सकता। ईश्वर किसी प्रकार का आमंत्रण स्वीकार नहीं करते। इसलिए *पद्म पुराण* में कहा गया है—

षट्कर्मनिपुणो विप्रो मन्त्रतन्त्रविशारदः।

अवैष्णवो गुरुर्न स्याद् वैष्णवः श्वपचो गुरुः॥

"भले ही कोई ब्राह्मण वैदिक ज्ञान के समस्त विषयों में कितना ही निपुण क्यों न हो, किन्तु यदि वैष्णव नहीं है, तो वह गुरु नहीं हो सकता, किन्तु यदि श्वपच (चांडाल) भी वैष्णव है, तो वह गुरु बन सकता है।" ये ब्राह्मण निश्चय ही वैदिक मंत्रों के उच्चारण में अत्यन्त पटु थे। वे वैदिक अनुष्ठान कराने में भी दक्ष थे और सबसे बड़ी विशेषता तो यह थी कि वे सभी वैष्णव थे। अतः अपने आत्मबल से वे भगवान् का आवाहन करके अपने शिष्य महाराज नाभि को साक्षात् दर्शन दिला सके। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *ओजसा* शब्द की टीका "भक्ति के बल से" की है।

अथ ह भगवानृषभदेवः स्ववर्षं कर्मक्षेत्रमनुमन्यमानः प्रदर्शितगुरुकुलवासो लब्धवरैर्गुरुभिरनुज्ञातो गृहमेधिनां धर्माननुशिक्षमाणो जयन्त्यामिन्द्रदत्तायामुभयलक्षणं कर्म समाम्नायाम्नातमभियुञ्जन्नात्मजानामात्मसमानानां शतं जनयामास. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात् (अपने पिता के प्रयाण के पश्चात्); ह—निस्संदेह; भगवान्—भगवान्; ऋषभ-देवः—ऋषभदेव; स्व—अपना; वर्षम्—राज्य; कर्म-क्षेत्रम्—कार्य-क्षेत्र; अनुमन्यमानः—के रूप में स्वीकार करते हुए; प्रदर्शित—उदाहरणस्वरूप दिखाया गया; गुरु-कुल-वासः—गुरुकुल में रहते हुए; लब्ध—प्राप्त करके; वरैः—वरदान; गुरुभिः—गुरुओं से; अनुज्ञातः—आदेशित होकर; गृह-मेधिनाम्—गृहस्थों के; धर्मान्—कर्तव्य; अनुशिक्षमाणः—उदाहरण द्वारा शिक्षा प्रदत्त; जयन्त्याम्—अपनी पत्नी जयन्ती से; इन्द्र-दत्तायाम्—भगवान् इन्द्र द्वारा प्रदत्त; उभय-लक्षणम्—दोनों प्रकार के; कर्म—कर्म; समाम्नायाम्नातम्—शास्त्रों में वर्णित; अभियुञ्जन्—करते हुए; आत्मजानाम्—पुत्रों को; आत्म-समानानाम्—अपने ही समान; शतम्—एक सौ; जनयाम् आस—उत्पन्न किया।

महाराज नाभि के बदरिकाश्रम प्रस्थान के पश्चात् परम ईश ऋषभदेव ने अपने राज्य को ही अपना कर्मक्षेत्र समझा। अतः उन्होंने सर्वप्रथम गुरुओं के निर्देश में ब्रह्मचर्य स्वीकार करके अपना दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए गृहस्थ के कर्तव्यों की शिक्षा दी। वे गुरुकुल में वास करने भी गये। शिक्षा पूरी होने पर उन्होंने गुरु-दक्षिणा दी और तब गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए। उन्होंने जयन्ती नामक पत्नी ग्रहण की और उससे एक सौ पुत्र उत्पन्न किये जो उनके ही समान बलवान तथा योग्य थे। उनकी पत्नी जयन्ती स्वर्ग के राजा इन्द्र द्वारा उन्हें भेंट में दी गई थी। ऋषभदेव

तथा जयन्ती ने श्रुति तथा स्मृति शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट अनुष्ठानों का पालन करते हुए गृहस्थ जीवन का आदर्श प्रस्तुत किया।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का अवतार होने से ऋषभदेव को सांसारिक कार्यों से कोई सरोकार नहीं था। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*—अवतार का उद्देश्य भक्तों की रक्षा तथा अभक्तों के आसुरी कार्यों को रोकना है। ईश्वर के अवतार लेने के यही दो प्रयोजन होते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि उपदेश देने के पूर्व मनुष्य को चाहिए कि वह व्यावहारिक जीवन बिताकर लोगों को दिखाये कि कार्य किस प्रकार करना चाहिए। *आपनि आचरि' भक्ति शिखाइमु सबारे*—जब तक कोई उसी रूप से आचरण नहीं करता, तब तक वह अन्यों को शिक्षा नहीं दे सकता। ऋषभदेव आदर्श राजा थे और उन्होंने गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त की, यद्यपि वे पहले से ही शिक्षित थे क्योंकि भगवान् सर्वज्ञ होते हैं। यद्यपि गुरुकुल में उनके सीखने के योग्य कुछ भी नहीं था, किन्तु वे लोगों को यह शिक्षा देने के लिए वहाँ गये कि वैदिक गुरुओं से किस प्रकार शिक्षा प्राप्त की जाती है। इसके बाद वे गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए और श्रुति-स्मृति-सम्मत वैदिक विधि से जीवन बिताने लगे। श्रील रूप गोस्वामी *भक्तिरसामृतसिन्धु* (१.२.१०) में *स्कन्द पुराण* का निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

श्रुतिस्मृतिपुराणादि पंचरात्रविधिं विना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते।

मानव समाज को वैदिक साहित्य जैसे श्रुति तथा स्मृति से प्राप्त उपदेशों का पालन करना चाहिए। *पाञ्चरात्रिक विधि* के अनुसार व्यावहारिक जीवन में भगवान् की यही उपासना है। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह दिव्य जीवन बिता कर अन्त में भगवद्धाम जाये। महाराज ऋषभदेव ने इन समस्त नियमों का कठोरता से पालन किया। वे आदर्श गृहस्थ बने रहे और उन्होंने अपने पुत्रों को आध्यात्मिक-जीवन में पूर्णता प्राप्त करने की शिक्षा दी। उन्होंने जिस प्रकार पृथ्वी पर शासन किया और अवतार के रूप में अपना उद्देश्य पूरा किया उसके ये कुछेक उदाहरण हैं।

येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

येषाम्—जिनमें से; खलु—निश्चय ही; महा-योगी—ईश्वर का महान् भक्त; भरतः—भरत; ज्येष्ठः—सब से बड़ा; श्रेष्ठ-गुणः—उत्तम गुणों से सम्पन्न; आसीत्—था; येन—जिसके द्वारा; इदम्—यह; वर्षम्—लोक, देश; भारतम्—भारत; इति—इस प्रकार; व्यपदिशन्ति—लोग कहते हैं।.

ऋषभदेव के सौ पुत्रों में से सबसे बड़े पुत्र का नाम भरत था, जो श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न महान् भक्त था। उसी के सम्मान में इस लोक को भारतवर्ष कहते हैं।

तात्पर्य : भारतवर्ष नामक यह लोक *पुण्य भूमि* भी कहलाता है। आजके समय में भारत-भूमि या भारतवर्ष हिमालय पर्वत से लेकर कुमारी अन्तरीप तक फैला हुआ एक लघु भूखण्ड है। कभी-कभी इस प्रायद्वीप को *पुण्य-भूमि* कहा जाता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने इस भूमि के वासियों को विशेष महत्ता प्रदान की है (*चैतन्यचरितामृत,* आदि ९.४१)—

भारत-भूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार।
जन्म सार्थक करि' कर पर-उपकार॥

"जिसने भी भारतवर्ष में मनुष्य रूप में जन्म लिया है उसे परोपकार द्वारा अपना जीवन सार्थक बना लेना चाहिए।" इस भूभाग के वासी अत्यन्त भाग्यशाली हैं। वे कृष्णभावनामृत आन्दोलन को स्वीकार करके अपने जन्म को पवित्र बना सकते हैं और भारतभूमि के बाहर जाकर सारे विश्व के कल्याण हेतु इसका उपदेश दे सकते हैं।

तमनु कुशावर्त इलावर्तो ब्रह्मावर्तो मलयः केतुर्भद्रसेन इन्द्रस्पृग्विदर्भः कीकट इति नव नवति प्रधानाः. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; अनु—अनुसरण करते हुए; कुशावर्त—कुशावर्त; इलावर्तः—इलावर्त; ब्रह्मावर्तः—ब्रह्मावर्त; मलयः—मलय; केतुः—केतु; भद्र-सेनः—भद्रसेन; इन्द्र-स्पृक्—इन्द्रस्पृक; विदर्भः—विदर्भ; कीकटः—कीकट; इति—इस प्रकार; नव—नौ; नवति—नब्बे; प्रधानाः—से बड़े।.

भरत के अतिरिक्त उनके निन्यानवे पुत्र और भी थे। इनमें से नौ बड़े पुत्रों के नाम कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ तथा कीकट थे।

कविर्हविरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः ।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः ॥ ११ ॥

इति भागवतधर्मदर्शना नव महाभागवतास्तेषां सुचरितं भगवन्महिमोपबृंहितं वसुदेवनारदसंवादमुपशमायनमुपरिष्टाद्वर्णयिष्यामः. ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

कविः—कवि; हविः—हवि; अन्तरिक्षः—अन्तरिक्ष; प्रबुद्धः—प्रबुद्ध; पिप्पलायनः—पिप्पलायन; आविर्होत्रः—आविर्होत्र; अथ—भी; द्रुमिलः—द्रुमिल; चमसः—चमस; करभाजनः—करभाजन; इति—इस प्रकार; भागवत-धर्म-दर्शनाः—श्रीमद्भागवत के प्रामाणिक उपदेशक; नव—नौ; महा-भागवताः—परम भक्त; तेषाम्—उनमें से; सुचरितम्—अच्छे लक्षण; भगवत्-महिमा-उपबृंहितम्—भगवान् की महिमा से युक्त; वसुदेव-नारद-संवादम्—वसुदेव तथा नारद की वार्ता के अन्तर्गत; उपशमायनम्—मन को परम सन्तोष देने वाली; उपरिष्टात्—इसके बाद के, परवर्ती (ग्यारहवें स्कंध में); वर्णयिष्यामः—मैं विस्तार से व्याख्या करूँगा।.

इन पुत्रों के अतिरिक्त कवि, हवि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस तथा करभाजन भी हुए। ये सभी परम भक्त एवं *श्रीमद्भागवत* के प्रामाणिक उपदेशक थे। ये भक्त भगवान् वासुदेव के प्रति अपनी उत्कट भक्ति के कारण महिमा-मण्डित थे। मन की पूर्ण तुष्टि के लिए मैं (शुकदेव गोस्वामी) इन नौ भक्तों के चरित्रों का वर्णन आगे चलकर नारद-वसुदेव संवाद प्रसंग के अन्तर्गत करूँगा।

यवीयांस एकाशीतिर्जायन्तेयाः पितुरादेशकरा महाशालीना महाश्रोत्रिया यज्ञशीलाः कर्मविशुद्धा ब्राह्मणा बभूवुः. ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यवीयांसः—इनसे छोटे; एकाशीतिः—इक्यासी; जायन्तेयाः—ऋषभदेव की पत्नी जयन्ती के पुत्र; पितुः—अपने पिता के; आदेशकराः—आदेशानुसार; महा-शालीनाः—परम विनीत; महा-श्रोत्रियाः—वैदिक ज्ञान में पारंगत; यज्ञ-शीलाः—अनुष्ठानों को करने में निपुण; कर्म-विशुद्धाः—अत्यन्त शुद्ध कर्मों वाले; ब्राह्मणाः—योग्य ब्राह्मण; बभूवुः—हुए।.

उपर्युक्त उन्नीस पुत्रों के अतिरिक्त ऋषभदेव तथा जयन्ती से इक्यासी पुत्र और थे। ये अपने पिता की आज्ञानुसार अति सुसंस्कृत, शालीन, उज्ज्वल कर्मों वाले तथा वैदिक ज्ञान तथा अनुष्ठानिक कार्यों में निपुण हुए। इस प्रकार ये सभी पूर्ण रूप से योग्य ब्राह्मण बन गये।

तात्पर्य : इस श्लोक से एक अच्छी जानकारी प्राप्त होती है कि गुण तथा कार्य के अनुसार जातियाँ की अर्हताएँ कैसे बनती हैं। ऋषभदेव राजा थे, अत: निश्चय ही वे क्षत्रिय थे। उनके एक सौ पुत्र थे जिनमें से दस क्षत्रिय कर्म में लगे हुए थे और पृथ्वी पर राज्य कर रहे थे। उनके नौ पुत्र *श्रीमद्भागवत* के श्रेष्ठ उपदेशक (महाभागवत) हुए, जिसका अर्थ है कि वे ब्राह्मणों के पद से उच्च थे। शेष इक्यासी पुत्र योग्य ब्राह्मण हुए। ये कुछ ऐसे ज्वलंत उदाहरण हैं, जो यह बताते हैं कि कोई जन्म से नहीं वरन् अपने गुणों के कारण किसी कार्य के लिए योग्य (पात्र) बनता है। महाराज ऋषभदेव के

सभी पुत्र जन्म से क्षत्रिय थे, किन्तु अपने गुणों के कारण उनमें से कुछ क्षत्रिय बने, तो कुछ ब्राह्मण। उनमें से नौ पुत्र *श्रीमद्भागवत* के उपदेशक (*भागवत-धर्म-दर्शनाः*) थे जिसका तात्पर्य यह है कि वे क्षत्रिय तथा ब्राह्मण वर्गों से ऊपर उठ गये।

भगवानृषभसंज्ञ आत्मतन्त्रः स्वयं नित्यनिवृत्तानर्थपरम्परः केवलानन्दानुभव ईश्वर एव
विपरीतवत्कर्माण्यारभमाणः कालेनानुगतं धर्ममाचरणेनोपशिक्षयन्नतद्विदां सम उपशान्तो मैत्रः
कारुणिको धर्मार्थयशःप्रजानन्दामृतावरोधेन गृहेषु लोकं नियमयत्. ॥ १४॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; ऋषभ—ऋषभ; संज्ञः—नाम वाले; आत्म-तन्त्रः—पूर्णतया स्वतंत्र; स्वयम्—स्वयं; नित्य—शाश्वत; निवृत्त—विरक्त, मुक्त; अनर्थ—अनिच्छित वस्तुओं (जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि) की; परम्परः—परम्परा; केवल—केवल; आनन्द-अनुभवः—दिव्य आनन्द से परिपूरित; ईश्वरः—परमेश्वर, नियन्ता; एव—निस्सन्देह; विपरीत-वत्—विरुद्ध जैसे; कर्माणि—कर्मों को; आरभमाणः—करते हुए; कालेन—कालक्रम से; अनुगतम्—उपेक्षित; धर्मम्—वर्णाश्रम धर्म; आचरणेन—करने से; उपशिक्षयन्—उपदेश देकर; अ-तत्-विदाम्—अज्ञानी पुरुष; समः—समान; उपशान्तः—इन्द्रियों द्वारा अविचलित; मैत्रः—प्रत्येक व्यक्ति से मैत्री भाव; कारुणिकः—सबों पर सदय; धर्म—धार्मिक नियम; अर्थ—आर्थिक उन्नति; यशः—यश, कीर्ति; प्रजा—पुत्र तथा पुत्रियाँ; आनन्द—भौतिक सुख; अमृत—अमर जीवन; अवरोधेन—प्राप्त करने के लिए; गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; लोकम्—सामान्य लोगों को; नियमयत्—नियमित किया।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अवतार होने से भगवान् ऋषभदेव पूर्ण स्वतंत्र थे क्योंकि उनका यह स्वरूप शाश्वत तथा दिव्य आनन्दमय था। उन्हें भौतिक तापों के चार नियमों (जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि) से कोई सरोकार न था, न ही वे भौतिक दृष्टि से आसक्त थे। वे समानदर्शी थे। अन्यों को दुखी देखकर दुखी होते थे। वे समस्त जीवात्माओं के शुभचिन्तक थे। यद्यपि वे महान् पुरुष, परमेश्वर तथा सर्व-नियन्ता थे, तो भी वे ऐसा आचरण कर रहे थे, मानो कोई सामान्य बद्धजीव हो। अतः उन्होंने दृढ़तापूर्वक वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए तदनुसार कर्म किया। कालान्तर में वर्णाश्रम धर्म के नियम उपेक्षित हो चुके थे, फलतः अपने निजी गुणों तथा आचरण से उन्होंने अज्ञानी जनता को वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत कर्तव्य करना सिखाया। इस प्रकार उन्होंने सामान्य लोगों को गृहस्थाश्रम में प्रशिक्षित किया जिससे वे धार्मिक तथा आर्थिक उत्थान कर सकें और यश, सन्तान, आनन्द तथा अन्त में शाश्वत जीवन प्राप्त कर सकें। अपने उपदेशों से उन्होंने लोगों को गृहस्थाश्रम में रहते हुए वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन करते हुए परिपूर्ण बनने की शिक्षा दी।

तात्पर्य : वर्णाश्रम धर्म तो अपूर्ण बद्ध आत्माओं के लिए है। इससे उन्हें आध्यात्मिक उन्नति करके

घर वापस जाने अर्थात् भगवान् के धाम जाने की शिक्षा मिलती है। जिस सभ्यता में जीवन का परम लक्ष्य ज्ञात न हो वह पशु समाज के तुल्य है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है—*न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुम्।* मानव समाज का उद्देश्य आध्यात्मिक ज्ञान को बढ़ाकर समस्त मनुष्यों को जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के चंगुल से मुक्त कराना है। वर्णाश्रम धर्म मानव समाज को इतना समर्थ बनाता है कि वह माया के चंगुल से बाहर निकल कर तथा उसके नियमों का पालन करके सफल हो सके। इस सम्बन्ध में *भगवद्गीता* (३.२१-२४) देखनी चाहिए।

यद्यच्छीर्षण्याचरितं तत्तदनुवर्तते लोकः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

यत् यत्—जो भी; **शीर्षण्य**—शीर्षस्थ महापुरुषों द्वारा; **आचरितम्**—आचरण किया जाता है; **तत् तत्**—वही; **अनुवर्तते**—अनुकरण करते हैं; **लोकः**—सामान्य जन।

महापुरुष जैसा जैसा आचरण करते हैं, सामान्यजन उसी का अनुकरण करते हैं।

तात्पर्य : ऐसा ही श्लोक *भगवद्गीता* (३.२१) में भी है। समाज में मनुष्यों के एक वर्ग को वैदिक आदेशों के अनुसार ब्राह्मणों के रूप में प्रशिक्षित होना चाहिए। इनसे नीचे के लोगों—शासकों, वणिकों तथा सेवकों—को इन बुद्धिजीवी लोगों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य परम दिव्य पद को प्राप्त हो सकता है और भौतिक आसक्ति से छूट सकता है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने इस भौतिक जगत को *दुःखालयमशाश्वतं* अर्थात् दुखों का अस्थायी स्थान कहा है। यदि कोई दुखों से समझौता भी कर ले, तो भी वह बच नहीं सकता। उसे इस शरीर का परित्याग करके दूसरा शरीर धारण करना ही होता है और हो सकता है कि यह मनुष्य-शरीर न हो। शरीर प्राप्त करते ही मनुष्य *देह-भृत्* अथवा *देही* हो जाता है अर्थात् उसे समस्त भौतिक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। समाज के उन्नायकों को ऐसा आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए जिससे उनका अनुकरण करके कोई भी मनुष्य संसार के बन्धन से छूट सके।

यद्यपि स्वविदितं सकलधर्मं ब्राह्मं गुह्यं ब्राह्मणैर्दर्शितमार्गेण सामादिभिरुपायैर्जनतामनुशशास. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यद्यपि—यद्यपि; स्व-विदितम्—स्वतः ज्ञात; सकल-धर्मम्—विभिन्न प्रकार के कर्म; ब्राह्मम्—वैदिक उपदेश; गुह्यम्—अत्यन्त गोपनीय; ब्राह्मणैः—ब्राह्मणों के द्वारा; दर्शित-मार्गेण—दिखलाये गये मार्ग द्वारा; साम-आदिभिः—साम, दम, तितिक्षा इत्यादि; उपायैः—साधनों से; जनताम्—सामान्य जन पर; अनुशशास—राज्य किया।.

यद्यपि भगवान् ऋषभदेव समस्त गुह्य वैदिक ज्ञान से परिचित थे, जिसमें सभी करणीय कर्मों से सम्बन्धित जानकारी सम्मिलित है, तो भी वे अपने को क्षत्रिय मान कर ब्राह्मणों के उन उपदेशों का अनुकरण करते थे, जिनका सम्बन्ध साम (मन पर नियंत्रण), दम (इन्द्रियों पर नियंत्रण), तितिक्षा (सहनशीलता) इत्यादि से था। इस प्रकार उन्होंने वर्णाश्रम-धर्म पद्धति से जनता पर शासन किया। इसके अनुसार ब्राह्मण क्षत्रियों को शिक्षा देता है और क्षत्रिय वैश्यों तथा शूद्रों के माध्यम से राज्य चलाता है।

तात्पर्य : यद्यपि ऋषभदेव समस्त वैदिक उपदेशों से भली भाँति अवगत थे तो भी सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए वे ब्राह्मणों के उपदेशों का पालन करते रहे। ब्राह्मण शास्त्रों के अनुसार उपदेश देते थे और अन्य समस्त जातियाँ उसका पालन करती थीं। *ब्रह्म* शब्द का अर्थ है ''समस्त कार्यों का पूर्ण ज्ञान'' और यह ज्ञान वैदिक साहित्य में गुह्य रूप से वर्णित है। ब्राह्मणों के रूप में शिक्षा-प्राप्त मनुष्यों को समस्त वैदिक साहित्य का ज्ञान होना चाहिए और इस ज्ञान का लाभ जनसाधारण को मिलना चाहिए। जनता का कर्तव्य है कि वह पूर्ण *ब्राह्मण* का अनुगमन करे। इस प्रकार कोई भी मन तथा इन्द्रियों को वश में करना सीख सकता है और धीरे-धीरे आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

द्रव्यदेशकालवयःश्रद्धर्त्विग्विविधोद्देशोपचितैः सर्वैरपि क्रतुभिर्यथोपदेशं शतकृत्व इयाज. ॥ १७॥

शब्दार्थ

द्रव्य—यज्ञ की सामग्री; देश—विशिष्ट स्थान, तीर्थ या मन्दिर; काल—उपयुक्त समय, यथा वसन्त; वयः—आयु, विशेषतया युवावस्था; श्रद्धा—अच्छाई में विश्वास; ऋत्विक्—पुरोहितगण; विविध-उद्देश—विभिन्न प्रयोजनों से विभिन्न देवताओं की पूजा करके; उपचितैः—समृद्ध होकर; सर्वैः—सभी प्रकार के; अपि—निश्चय ही; क्रतुभिः—याज्ञिक अनुष्ठानों द्वारा; यथा-उपदेशम्—उपदेश के अनुसार; शत-कृत्वः—एक सौ बार; इयाज—आराधना की।.

भगवान् ऋषभदेव ने शास्त्रों के अनुसार सभी यज्ञों को सौ सौ बार सम्पन्न किया और इस प्रकार से भगवान् विष्णु को सभी प्रकार से तुष्ट किया। सभी अनुष्ठान उत्तम कोटि की सामग्री से तथा उचित समय में और पवित्र स्थानों पर युवा तथा श्रद्धालु पुरोहितों द्वारा सम्पन्न हुए। इस प्रकार भगवान् विष्णु की पूजा की गई और समस्त देवताओं को प्रसाद वितरित किया गया।

सारे अनुष्ठान तथा उत्सव सफल हुए।

तात्पर्य : कहा गया है कि—*कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह* (*भागवत* ७.६.१)। अनुष्ठानों की सफलता के लिए इन्हें युवकों, हो सके तो बालकों द्वारा सम्पन्न कराया जाना चाहिए। मनुष्यों को बचपन से ही वैदिक संस्कृति की और विशेष रूप से भक्तिमय सेवा की, शिक्षा दी जानी चाहिए। इस प्रकार कोई भी अपना जीवन सफल (पूर्ण) बना सकता है। वैष्णव कभी भी देवताओं का अनादर नहीं करता, किन्तु वह इतना मूर्ख नहीं होता कि प्रत्येक देवता को परमेश्वर मान ले। परमेश्वर समस्त देवताओं के स्वामी हैं, अत: सारे देवता उनके सेवक हुए। वैष्णव उन्हें परमेश्वर के दास मानता है और सीधे उन्हीं की उपासना करता है। *ब्रह्म-संहिता* में मुख्य देवताओं की उपासना *गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि* शब्दों द्वारा की जाती है। मुख्य देवताओं में शिव, ब्रह्मा तथा भगवान् कृष्ण के अवतार तथा विस्तार जैसे गर्भोदकशायी विष्णु, महाविष्णु तथा अन्य समस्त विष्णुतत्त्व के साथ ही दुर्गादेवी जैसे शक्तितत्त्व उल्लेखनीय हैं। वैष्णव दैवताओं की उपासना गोविन्द के संदर्भ में करता है, स्वतंत्र रूप से नहीं। वैष्णव इतना मूर्ख नहीं होता कि वह देवताओं को भगवान् से स्वतंत्र माने। इसकी पुष्टि *चैतन्यचरितामृत* में—*एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य*—से हुई है, जिसका अर्थ है—श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं और अन्य सभी उनके सेवक हैं।

भगवतर्षभेण परिरक्ष्यमाण एतस्मिन्वर्षे न कश्चन पुरुषो वाञ्छत्यविद्यमानमिवात्मनोऽन्यस्मात्कथञ्चन किमपि कर्हिचिदवेक्षते भर्तर्यनुसवनं विजृम्भितस्नेहातिशयमन्तरेण. ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

भगवता—भगवान्; ऋषभेण—ऋषभदेव द्वारा; परिरक्ष्यमाणे—परिरक्षित होकर; एतस्मिन्—इस; वर्षे—भूखण्ड (लोक) में; न—नहीं; कश्चन—कोई भी; पुरुषः—सामान्यजन; वाञ्छति—आकांक्षा करता है; अविद्यमानम्—उपस्थित न रहकर; इव—के समान; आत्मनः—अपने लिए; अन्यस्मात्—अन्य किसी से; कथञ्चन—किसी प्रकार से; किमपि—कुछ भी; कर्हिचित्—किसी समय; अवेक्षते—देखने का साहस करता है; भर्तरि—स्वामी के प्रति; अनुसवनम्—सदैव; विजृम्भित—बढ़ने वाले; स्नेह-अतिशयम्—अत्यन्त स्नेह; अन्तरेण—अपनी आत्मा में।

कोई भी व्यक्ति 'आकाश-कुसुम' जैसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा नहीं करता क्योंकि उसे पता रहता है कि ऐसी वस्तुएँ विद्यमान नहीं हैं। जब भगवान् ऋषभदेव इस भारतवर्ष-भूमि में राज्य कर रहे थे तो सामान्य जनता को भी किसी समय या किसी प्रकार से किसी वस्तु की इच्छा नहीं रह गई थी। कोई भी 'आकाश कुसुम' नहीं चाहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि

सभी लोग पूर्णतया सन्तुष्ट थे, अत: किसी को किसी भी प्रकार की वस्तु माँगने की आवश्यकता नहीं थी। सभी लोग राजा के अतीव स्नेह में मग्न थे। चूँकि यह स्नेह निरन्तर बढ़ता गया इसलिए वे किसी भी वस्तु की याचना करने के इच्छुक नहीं थे।

तात्पर्य : बंगाल में *घोड़ा-डिम्ब* शब्द प्रचलित है, जिसका अर्थ है "घोड़े का अंडा।" चूँकि घोड़ा कभी अंडे नहीं देता इसलिए इस शब्द का कोई अर्थ नहीं होता। संस्कृत में एक शब्द है *ख-पुष्प*—जिसका अर्थ है "आकाश कुसुम।" आकाश में कोई पुष्प नहीं खिलता इसलिए *ख-पुष्प* या *घोड़ा-डिम्ब* जैसी वस्तुओं की कभी याचना नहीं की जाती। महाराज ऋषभदेव के राज्य में मनुष्य सभी प्रकार से सम्पन्न थे, अत: उन्हें किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं थी। राजा ऋषभदेव के सु-शासन में दैनिक जीवन की सभी वस्तुएँ प्रभूत मात्रा में उपलब्ध थीं। फलत: प्रत्येक व्यक्ति पूर्णत: संतुष्ट था और उसे किसी तरह की आवश्यकता नहीं थी। यह सरकार (शासन) की पूर्णता का परिचायक है। यदि कुशासन के कारण प्रजा दुखी रहती है, तो राज्य-अधिकारी निन्दा के पात्र बनते हैं। प्रजातंत्र के इस युग में लोगों को राजतंत्र पसन्द नहीं है, किन्तु यहाँ पर ऐसा उदाहरण प्राप्त होता है, जिसमें पूरे विश्व का सम्राट वैदिक नियमों का पालन करते हुए अपनी प्रजा की समस्त आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ है। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव महाराज के राज्य में सभी लोग सुखी थे।

स कदाचिदटमानो भगवानृषभो ब्रह्मावर्तगतो ब्रह्मर्षिप्रवरसभायां प्रजानां
निशामयन्तीनामात्मजानवहितात्मन: प्रश्रयप्रणयभरसुयन्त्रितानप्युपशिक्षयन्निति होवाच. ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

स:—वह; कदाचित्—एक बार; अटमान:—घूमते-घूमते; भगवान्—भगवान्; ऋषभ:—ऋषभदेव; ब्रह्मावर्त-गत:—जब वे ब्रह्मावर्त नामक देश में [जिसे कुछ लोग बर्मा (ब्रह्मा) देश और कुछ कानपुर के निकट (बिठूर) कहते हैं] पहुँचे; ब्रह्म-ऋषि-प्रवर-सभायाम्—उच्चकोटि के ब्राह्मणों की सभा में; प्रजानाम्—जबकि नागरिक; निशामयन्तीनाम्—सुन रहे थे; आत्मजान्—अपने पुत्रों; अवहित-आत्मन:—सावधान; प्रश्रय—अच्छे आचरण वाले; प्रणय—भक्ति वाले; भर—अधिकता से; सु-यन्त्रितान्—सुनियंत्रित; अपि—यद्यपि; उपशिक्षयन्—शिक्षा देकर; इति—इस प्रकार; ह—ही; उवाच—कहा।

एक बार भगवान् ऋषभदेव घूमते-घूमते ब्रह्मावर्त नामक देश में पहुँचे। वहाँ पर विद्वान ब्राह्मणों की एक बड़ी सभा हो रही थी और राजा के सभी पुत्र बड़े ही मनोयोग से ब्राह्मणों का उपेदश सुन रहे थे। उस सभा में, समस्त नागरिकों के समक्ष ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को शिक्षा दी, यद्यपि वे पहले से ही अच्छे आचरण वाले, भक्त और योग्य थे। उन्होंने इसलिए शिक्षा दी,

जिससे वे भविष्य में अच्छी तरह संसार का शासन चला सकें। वे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : यदि कोई दुखों से पूर्ण इस संसार में शान्तिपूर्वक रहना चाहता है, तो उसके लिए भगवान् ऋषभदेव द्वारा अपने पुत्रों को दी गई शिक्षाएँ अत्यन्त मूल्यवान हैं। अगले अध्याय में उनकी शिक्षाएँ दी गई हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत "भगवान् ऋषभदेव के लक्षण" नामक चौथे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पाँच

भगवान् ऋषभदेव द्वारा अपने पुत्रों को उपदेश

इस अध्याय में *भागवत-धर्म* का वर्णन किया गया है, जो भौतिक संताप से मुक्ति दिलानेवाले धार्मिक आदेशों से भी परे हैं। इसमें यह बताया गया है कि मनुष्य को इन्द्रियतृप्ति के लिए कुकरों तथा शूकरों की तरह अत्यधिक श्रम नहीं करना चाहिए। यह मनुष्य-जीवन परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्धों को पुनर्जागरित करने के लिए मिला है, जिसके लिए सभी प्रकार की तपस्याएँ की जानी चाहिए। तापसिक कर्म द्वारा हृदय के भौतिक कल्मष को दूर किया जा सकता है और फिर आध्यात्मिक पद प्राप्त किया जा सकता है। इस सिद्धि को पाने के लिए भक्त की शरण लेकर उसकी सेवा करनी पड़ती है। तभी मुक्ति के द्वार खुलेंगे। जो कामिनी तथा इन्द्रियतृप्ति में आसक्त रहते हैं, वे धीरे-धीरे भौतिक चेतना में उलझ जाते हैं और जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के दुखों को भोगते हैं। जो सबों के कल्याण में लगे रहते हैं और सन्तान तथा परिवार में लिप्त नहीं रहते वे *महात्मा* कहलाते हैं। इन्द्रियतृप्ति में लगे हुए, पवित्र या अपवित्र कर्म करने वाले व्यक्ति आत्मा के प्रयोजन को नहीं समझ पाते। अत: उन्हें चाहिए कि वे किसी महान् भक्त के पास जाकर उसको गुरु के रूप में स्वीकार करें। उसकी संगति से जीवन का लक्ष्य समझ में आ जायेगा। ऐसे गुरु के उपदेश से ईश्वर की भक्ति, भौतिक वस्तुओं से विरक्ति तथा भौतिक दुख तथा शोक को सहने की क्षमता प्राप्त की जा सकती है। तब सभी जीवात्माएँ समान दिखेंगी और दिव्य विषयों को जानने के लिए उत्सुकता बढ़ेगी। श्रीकृष्ण को लगातार प्रसन्न

करने का प्रयास करते रहने पर पत्नी, संतान तथा घरबार से वैराग उत्पन्न हो जाता है। तब मनुष्य समय गँवाना नहीं चाहता। इस प्रकार वह स्वरूप-सिद्ध बन जाता है। आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नत ऐसा व्यक्ति किसी दूसरे को भौतिक कार्यों में नहीं लगाता। जो व्यक्ति अपने भक्ति-उपदेश के द्वारा दूसरे व्यक्ति का उद्धार नहीं कर सकता वह गुरु, पिता, माता, देवता या पति होने का भागी नहीं है। ऋषभदेव ने अपने एक सौ पुत्रों को उपदेश देते हुए उन्हें अपने ज्येष्ठ भ्राता भरत को अपना पथ-प्रदर्शक तथा स्वामी स्वीकार करने की सलाह दी। समस्त जीवात्माओं में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं और ब्राह्मणों से वैष्णव श्रेष्ठतर हैं। वैष्णव की सेवा का अर्थ है श्रीभगवान् की सेवा। इस प्रकार शुकदेव गोस्वामी भरत महाराज के चरित्र तथा भगवान् ऋषभदेव द्वारा किये गये याज्ञिक अनुष्ठानों का सामान्य जनता के हित के लिए वर्णन करते हैं।

ऋषभ उवाच

नायं देहो देहभाजां नृलोके
कष्टान्कामानर्हते विड्भुजां ये ।
तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं
शुद्ध्येद्यस्माद्ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ऋषभः उवाच—भगवान् ऋषभ ने कहा; न—नहीं; अयम्—यह; देहः—शरीर; देह-भाजाम्—समस्त देहधारियों का; नृ-लोके—इस संसार में; कष्टान्—कष्टकारक; कामान्—इन्द्रियतृप्ति, विषय; अर्हते—चाहिए; विट्-भुजाम्—विष्ठा खाने वालों का; ये—जो; तपः—तपस्या; दिव्यम्—दिव्य; पुत्रकाः—हे पुत्रो; येन—जिसके द्वारा; सत्त्वम्—हृदय; शुद्ध्येत्—पवित्र होता है; यस्मात्—जिससे; ब्रह्म-सौख्यम्—आध्यात्मिक आनन्द; तु—निश्चय ही; अनन्तम्—अनन्त।

भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों से कहा—हे पुत्रो, इस संसार के समस्त देहधारियों में जिसे मनुष्य देह प्राप्त हुई है उसे इन्द्रियतृप्ति के लिए ही दिन-रात कठिन श्रम नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा तो मल खाने वाले कूकर-सूकर भी कर लेते हैं। मनुष्य को चाहिए कि भक्ति का दिव्य पद प्राप्त करने के लिए वह अपने को तपस्या में लगाये। ऐसा करने से उसका हृदय शुद्ध हो जाता है और जब वह इस पद को प्राप्त कर लेता है, तो उसे शाश्वत जीवन का आनन्द मिलता है, जो भौतिक आनंद से परे है और अनवरत चलने वाला है।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् ऋषभदेव अपने पुत्रों को मनुष्य जीवन की महत्ता बताते हैं। *देह-भाक्* शब्द से "भौतिक देह धारण करने वाले" का बोध होता है, किन्तु जिस जीवात्मा को मनुष्य देह

प्राप्त होती है उसे पशुओं से भिन्न आचरण करना चाहिए। कूकर तथा शूकर मल खाकर इन्द्रियतृप्ति कर लेते हैं। दिन भर अथक परिश्रम करने के बाद मनुष्य रात्रि के समय खा-पीकर संभोग और शयन द्वारा आनंद उठाना चाहते हैं। किन्तु इसके साथ ही उन्हें अपनी रक्षा भी करनी होती है। किन्तु यह कोई मानव सभ्यता नहीं। मनुष्य जीवन का अर्थ है आध्यात्मिक जीवन की उन्नति के लिए स्वेच्छा से कष्ट सहना। निस्सन्देह, पशुओं तथा वृक्षों को भी अपने विगत दुष्कर्मों के कारण कष्ट भोगने पड़ते हैं। किन्तु मनुष्य को दिव्य जीवन की प्राप्ति के लिए तपस्या के रूप में कष्टों को स्वेच्छा से अंगीकार करना चाहिए। दिव्य जीवन प्राप्त करने के अनन्तर उसे शाश्वत आनन्द प्राप्त हो सकता है। मुख्य बात तो यह है कि प्रत्येक जीवात्मा सुखोपभोग चाहता है, किन्तु जब तक वह इस देह में बन्दी है उसे विभिन्न प्रकार के कष्ट झेलने होते हैं। मनुष्य में उच्चतर बुद्धि पायी जाती है। हमें चाहिए कि हम गुरुजनों के उपदेश के अनुसार कार्य करें जिसमें शाश्वत सुख प्राप्त हो और हम भगवान् के धाम लौट सकें।

इस श्लोक में यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि सरकार तथा विधिक संरक्षक पिता को चाहिए कि अपने अधीनस्थों को शिक्षित करके कृष्णभावनामृत तक पहुँचाएँ। कृष्णभावनामृत के बिना प्रत्येक जीव जन्म तथा मृत्यु के चक्कर में सदा के लिए फँसा रहता है। इस बन्धन से छुड़ाने के लिए तथा उन्हें प्रसन्न तथा आनन्दित बनाने के लिए भक्तियोग की शिक्षा दी जानी चाहिए। विमूढ सभ्यता ही अपने नागरिकों को भक्तियोग तक पहुँचाने वाली शिक्षा से वंचित रखती है। कृष्णभक्ति के बिना मनुष्य कूकर-सूकर तुल्य है। ऋषभदेव के उपदेश वर्तमान समय में अत्यन्त अनिवार्य हैं। मनुष्यों को इन्द्रियतृप्ति के लिए घोर श्रम करने की शिक्षा दी जाती है और जीवन में उनका कोई महदुद्देश्य नहीं रहता। मनुष्य जीविकोपार्जन के लिए भोर होते ही अपने घर से निकलता है और ठसाठस भरी हुई लोकल रेलगाड़ी पकड़ता है। उसे अपने कार्यालय तक पहुँचने में एक या दो घंटे तक खड़े रहना पड़ता है। फिर वह बस पकड़के अपने कार्यालय पहुँचता है, कार्यालय में नौ से पाँच बजे तक मेहनत से काम करता है और घर लौटने में उसे फिर से दो-तीन घंटे लग जाते हैं। भोजनोपरान्त संभोग करके निद्रा में लीन हो जाता है। इन समस्त कष्टों का एकमात्र लाभ थोड़ा सा मैथुन-सुख है। *यन् मैथुनादि-गृहमेधि सुखं हि तुच्छम् ।* ऋषभदेव स्पष्ट कहते हैं कि मनुष्य जीवन इस प्रकार जीने के लिए नहीं मिला, क्योंकि ऐसा भोग तो कूकर-सूकर भी करते हैं। दरअसल, कूकर-सूकर को मैथुन के लिए इतना श्रम भी नहीं

करना पड़ता। मनुष्य को चाहिए कि वह कूकर-शूकर का अनुकरण न करके भिन्न प्रकार का जीवन जिए। अत: वहाँ इसके विकल्प का उल्लेख किया गया है। मनुष्य जीवन तपस्या के लिए है। तपस्या के द्वारा वह भव-बन्धन से छूट सकता है। कृष्णभावनामृत में रहकर मनुष्य को शाश्वत सुख की गारंटी मिल जाती है। भक्तियोग के द्वारा यह जीवन निर्मल हो जाता है। जन्म-जन्मांतर तक जीवात्मा सुख की खोज करता है, किन्तु इस अकेले भक्तियोग से वह अपनी सभी समस्याओं का हल पा सकता है। फिर वह अविलम्ब भगवद्धाम जाने का भागी हो जाता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.९) में की गई है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! मेरे जन्म तथा कर्म दिव्य हैं, जो मनुष्य यह जान लेता है, वह देह को त्याग कर संसार में फिर जन्म नहीं लेता वरन् मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।"

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्ते-
स्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम् ।
महान्तस्ते समचित्ता: प्रशान्ता
विमन्यव: सुहृद: साधवो ये ॥ २॥

शब्दार्थ

महत्-सेवाम्—आध्यात्मिक रूप से उन्नत व्यक्ति जिन्हें महात्मा कहा जाता है, उन की सेवा; द्वारम्—मार्ग; आहु:—कहते हैं; विमुक्ते:—मुक्ति का; तम:-द्वारम्—नारकीय अंधकारमय जीवन का मार्ग; योषिताम्—स्त्रियों की; सङ्गि—साथियों की; सङ्गम्—संगति, साथ; महान्त:—महात्मा; ते—वे; सम-चित्ता:—सब प्राणियों को समभाव से देखने वाले; प्रशान्ता:—अत्यन्त शान्त, ब्रह्म या भगवान् में लीन; विमन्यव:—क्रोधहीन; सुहृद:—प्रत्येक प्राणी के शुभचिन्तक; साधव:—अनिंद्य आचरण वाले योग्य भक्त; ये—जो।

आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत महापुरुषों की सेवा करके ही मनुष्य भव-बन्धन से मुक्ति का मार्ग प्राप्त कर सकता है। ये महापुरुष निर्विशेषवादी तथा भक्त होते हैं। ईश्वर से तदाकार होने अथवा भगवान् का संग प्राप्त करने के इच्छुक प्रत्येक मनुष्य को महात्माओं की सेवा करनी चाहिए। ऐसे कर्मों में रुचि न रखने वाले लोग, जो स्त्री तथा मैथुन प्रेमी व्यक्तियों की संगति करते हैं उनके लिए नरक का द्वार खुला रहता है। महात्मा समभाव वाले होते हैं। वे एक जीवात्मा तथा दूसरे में कोई अन्तर नहीं देखते। वे अत्यन्त शान्त होते हैं और भक्ति में पूर्णतया लीन रहते हैं। वे क्रोधरहित होते हैं और सभी के कल्याण के लिए कार्य करते हैं। वे कोई निंद्य आचरण नहीं

करते। ऐसे व्यक्ति महात्मा कहलाते हैं।

तात्पर्य : मानव शरीर चौराहे के समान है। चाहे तो कोई मुक्ति का मार्ग ग्रहण करे या नरक जाने वाले मार्ग का अनुसरण करे। यहाँ यह बताया गया है कि कोई किस प्रकार इस मार्गों को ग्रहण करे। मुक्तिमार्ग में *महात्माओं* की संगति मिलती है तथा बन्धनमार्ग में इन्द्रियतृप्ति तथा कामासक्त व्यक्तियों का संग प्राप्त होता है। *महात्मा* दो प्रकार के होते हैं—निर्विशेषवादी तथा भक्त। यद्यपि उनका परम लक्ष्य भिन्न-भिन्न रहता है, किन्तु उद्धार की विधि एक सी है। दोनों ही शाश्वत सुख ही कामना करते हैं। एक निराकार ब्रह्म में सुख खोजता है और दूसरा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की संगति में रहकर। प्रथम श्लोक में *ब्रह्म-सौख्यम्* शब्द आया है। ब्रह्म का अर्थ शाश्वत है। निर्विशेषवादी तथा भक्त दोनों ही जीवन के शाश्वत आनन्द की खोज करते हैं। प्रत्येक दशा में पूर्ण बनने का उपदेश है। *चैतन्यचरितामृत* (मध्य २२.८७) के शब्दों में—

असत्-संग-त्याग,—एइ वैष्णव-आचार।
स्त्री-संगी'—एक असाधु, 'कृष्णाभक्त' आर।

प्रकृति के गुणों से विरक्त रहने के लिए असत् अर्थात् भौतिकतावादी लोगों की संगति से बचना चाहिए। दो प्रकार के भौतिकतावादी (असत्) हैं—एक तो स्त्री तथा इन्द्रियतृप्ति में आसक्त हैं, दूसरे मात्र अभक्त हैं। सही दिशा है महात्माओं की संगति और उल्टी दिशा है अभक्तों तथा कामियों (स्त्रीसंगियों) से दूर रहना।

ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था
जनेषु देहम्भरवार्तिकेषु ।
गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु
न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके ॥ ३॥

शब्दार्थ

ये—जो; वा—अथवा; मयि—मुझ; ईशे—भगवान् में; कृत-सौहृद-अर्थाः—प्रेम बढ़ाने के लिए उत्सुक (दास्य, सख्य, वात्सल्य या माधुर्य भाव में); जनेषु—व्यक्तियों में; देहम्भर-वार्तिकेषु—जो शरीर का केवल निर्वाह करना चाहते हैं, जिन्हें मोक्ष की कामना नहीं है; गृहेषु—घर में; जाया—पत्नी; आत्म-ज—बच्चे, सन्तान; राति—धन या मित्र; मत्सु—से युक्त; न—नहीं; प्रीति-युक्ताः—अत्यन्त आसक्त; यावत्-अर्थाः—जितना आवश्यक है उतना ही धन संग्रह करके रहने वाले; च—तथा; लोके—इस भौतिक जगत में।

ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था

जनेषु देहम्भरवार्तिकेषु ।
गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु
न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके ॥ ३॥

शब्दार्थ

ये—; वा—; मयि—; ईशे—; कृत-सौहृद-अर्थाः—; जनेषु—; देहम्भर-वार्तिकेषु—; गृहेषु—; जाया—; आत्म-ज—; राति—; मत्सु—; न—; प्रीति-युक्ताः—; यावत्-अर्थाः—; च—; लोके—.

ये—जो; वा—अथवा; मयि—मुझ; ईशे—भगवान् में; कृत-सौहृद-अर्थाः—प्रेम बढ़ाने के लिए उत्सुक (दास्य, सख्य, वात्सल्य या माधुर्य भाव में); जनेषु—व्यक्तियों में; देहम्भर-वार्तिकेषु—जो शरीर का केवल निर्वाह करना चाहते हैं, जिन्हें मोक्ष की कामना नहीं है; गृहेषु—घर में; जाया—पत्नी; आत्म-ज—बच्चे, सन्तान; राति—धन या मित्र; मत्सु—से युक्त; न—नहीं; प्रीति-युक्ताः—अत्यन्त आसक्त; यावत्-अर्थाः—जितना आवश्यक है उतना ही धन संग्रह करके रहने वाले; च—तथा; लोके—इस भौतिक जगत में।

जो लोग कृष्णाचेतना को पुनरुज्जीवित करने तथा अपना ईश्वर-प्रेम बढ़ाने के इच्छुक हैं, वे ऐसा कुछ नहीं करना चाहते जो श्रीकृष्ण से सम्बन्धित न हो। वे उन लोगों से मेलजोल नहीं बढ़ाते जो अपने शरीर-पालन, भोजन, शयन, मैथुन तथा स्वरक्षा में व्यस्त रहते हैं। वे गृहस्थ होते हुए भी अपने घरबार के प्रति आसक्त नहीं होते। वे पत्नी, सन्तान, मित्र अथवा धन में भी आसक्त नहीं होते, किन्तु उसके साथ ही वे अपने कर्तव्यों के प्रति अन्यमनस्क नहीं रहते। ऐसे पुरुष अपने जीवन-निर्वाह के लिए जितना धन चाहिए उतना ही संग्रह करते हैं।

तात्पर्य : चाहे निर्विशेषवादी हो या भक्त, यदि वह वास्तव में आत्मतत्त्व में उन्नति करने में रुचि रखता है, तो उसे चाहिए कि उन लोगों से मेल-जोल न रखे जो तथाकथित सभ्यता के विकास द्वारा अपने शरीर-पालन में ही रुचि दिखाते हैं। न ही उसे पत्नी, सन्तान, मित्र इत्यादि के संग गृहस्थ-सुख भोगने के लिए लालायित रहना चाहिए। यदि कोई गृहस्थ हो और उसे जीविकोपार्जन करना हो, तो निर्वाह के लिए जितने धन की आवश्यकता हो उतना ही संग्रह करना चाहिए। न तो इससे अधिक और न इससे कम। जैसाकि इस श्लोक में बताया गया है गृहस्थ को चाहिए कि भक्तियोग—*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम्*—पालन के लिए धन कमाने का यत्न करे। गृहस्थ को चाहिए वह ऐसा जीवन बिताए जिससे कि श्रवण तथा कीर्तन के लिए पूरा-पूरा अवसर मिल सके। उसे चाहिए कि घर पर अर्चाविग्रह की पूजा करे, त्यौहार मनाए, मित्रों को आमंत्रित करे और उन्हें प्रसाद दे। गृहस्थ को इन्हीं कार्यों के लिए धन अर्जित करना चाहिए, इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं।

नूनं प्रमत्त: कुरुते विकर्म
यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति ।
न साधु मन्ये यत आत्मनोऽय-
मसन्नपि क्लेशद आस देह: ॥ ४॥

शब्दार्थ

नूनम्—निस्संदेह; प्रमत्त:—मदान्ध; कुरुते—करता है; विकर्म—शास्त्रों में वर्जित पापकर्म; यत्—जब; इन्द्रिय-प्रीतये—इन्द्रियतृप्ति के लिए; आपृणोति—प्रवृत्त होता है; न—नहीं; साधु—अच्छा, उपयुक्त; मन्ये—मानता हूँ; यत:—जिससे; आत्मन:—आत्मा का; अयम्—यह; असन्—क्षण-भंगुर; अपि—यद्यपि; क्लेश-द:—कष्टदायक; आस—सम्भव हो सका; देह:—शरीर।

जब मनुष्य इन्द्रियतृप्ति को ही जीवन का लक्ष्य मान बैठता है, तो वह भौतिक रहन-सहन के पीछे प्रमत्त होकर सभी प्रकार के पापकर्मों में प्रवृत्त होता है। वह नहीं जानता कि अपने विगत पापकर्मों के ही कारण उसे यह क्षणभंगुर शरीर प्राप्त हुआ है, जो दुखों की खान है। वास्तव में जीवात्मा को भौतिक देह नहीं मिलनी चाहिए थी, किन्तु इन्द्रियतृप्ति के लिए ऐसा हुआ है। अत: मैं मानता हूँ कि बुद्धिमान प्राणी के लिए यह शोभा नहीं देता कि वह पुन: इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में प्रवृत्त हो, जिससे एक के बाद दूसरा शरीर उसे प्राप्त होता रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में इन्द्रियतृप्ति के निमित्त माँगना, उधार लेना तथा चोरी करना निन्दनीय कहा गया है क्योंकि ऐसी भावना से घोर अंधकारमय नरक प्राप्त होता है। व्यभिचार, मांसाहार, मद्यपान तथा द्यूत क्रीड़ा—ये चार प्रकार के पाप-कर्म हैं। ये ऐसे साधन हैं जिनसे दूसरी भौतिक देह धारण करके घोर कष्ट उठाने पड़ते हैं। वेदों का कथन है—*असंगो ह्ययं पुरुष: ।* जीवात्मा वास्तव में इस भौतिक संसार से किसी प्रकार जुड़ा हुआ नहीं है, किन्तु इन्द्रिय-सुख उठाने की प्रवृत्ति रखने के कारण उसे ऐसी भौतिक अवस्था में पड़ना होता है। मनुष्य को चाहिए कि भक्तों की संगति करके अपने जीवन को पूर्ण बनाये। उसे और आगे भौतिक देह के फेर में नहीं पड़ना चाहिए।

पराभवस्तावदबोधजातो
यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम् ।
यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै
कर्मात्मकं येन शरीरबन्ध: ॥ ॥

शब्दार्थ

पराभवः—हार, कष्ट; तावत्—तब तक; अबोध-जातः—अज्ञान से उत्पन्न; यावत्—जब तक; न—नहीं; जिज्ञासते—जिज्ञासा करता है; आत्म-तत्त्वम्—आत्मा विषयक सत्य; यावत्—जब तक; क्रियाः—कर्म; तावत्—तब तक; इदम्—यह; मनः—मन; वै—निस्सन्देह; कर्म-आत्मकम्—कर्मों में व्यस्त; येन—जिसके द्वारा; शरीर-बन्धः—भौतिक शरीर का बन्धन, देह बन्धन।

जब तक जीव को आत्म-तत्त्व की जिज्ञासा नहीं होती तब तक उसे अज्ञानजन्य कष्ट भोगने पड़ते हैं और उसकी पराजय होती रहती है। कर्म का फल पाप अथवा पुण्य कुछ भी हो सकता है। यदि मनुष्य किसी कर्म में व्यस्त रहता है, तो उसका मन सकाम कर्म में रँगा हुआ कहा जाता है। जब तक मन अशुद्ध रहता है, चेतना अस्पष्ट रहती है और जब तक मनुष्य सकाम कर्मों में लगा रहता है, तब तक उसे देह धारण करनी पड़ती है।

तात्पर्य : सामान्य रूप से लोग सोचते हैं कि कष्ट से छुटकारा पाने के लिए पुण्यकार्य करना चाहिए, किन्तु यह सत्य नहीं है। भले ही मनुष्य पवित्र कर्म करे और चिन्तन-मनन करे, तो भी उसकी पराजय होती है। उसका एकमात्र लक्ष्य माया तथा समस्त कर्मों के चंगुल से छुटकारा होना चाहिए। जीवन की समस्याएँ कोरे ज्ञान, चिन्तन तथा पुण्य-कर्म करने से नहीं सुलझतीं। मनुष्य को अपने आध्यात्मिक-पद को समझने के लिए जिज्ञासा होनी चाहिए। *भगवद्गीता* (४.३७) में कहा गया है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

"जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, उसी भाँति हे अर्जुन! ज्ञानरूपी अग्नि प्राकृत क्रियाओं के सम्पूर्ण बन्धनों को जला डालती है।"

जब तक मनुष्य आत्मा को तथा इसके कार्यों को नहीं समझ लेता, तब तक वह भौतिक बन्धन में ही माना जायेगा। *श्रीमद्भागवत* (१०.२.३२) में भी कहा गया है—*येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।* जिस मनुष्य को भक्ति का ज्ञान नहीं होता वह अपने को मुक्त हुआ मान लेता है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। *आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदंघ्रयः*—ऐसे पुरुषों को भले ही निराकार ब्रह्मज्योति प्राप्त हो जाये, किन्तु भक्ति का ज्ञान न होने के कारण उन्हें पुनः भौतिक सुख भोगने के लिए नीचे आना पड़ता है। जब तक मनुष्य कर्म तथा ज्ञान में रुचि दिखाता है, तब तक वह भौतिक जीवन के कष्टों—जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि—को सहता रहता है। कर्मियों को निश्चय ही एक के बाद एक देह धारण करनी पड़ती है। जहाँ तक ज्ञानियों का प्रश्न है, जब तक वे ज्ञान की पराकाष्ठा तक नहीं पहुँच जाते उन्हें इस संसार में पुनः पुनः

लौटना पड़ता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में व्याख्या की गई है—*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।* मुख्य बात है श्रीकृष्ण वासुदेव को ही सर्वस्व मानना और उन्हीं के प्रति समर्पित होना। कर्मी इसे नहीं जानता, किन्तु ईश्वर की भक्ति में लगा हुआ भक्त सम्यक् रीति से कर्म तथा ज्ञान को जानता है, अत: शुद्ध भक्त कर्म या ज्ञान में तनिक भी रुचि नहीं रखता। *अन्याभिलाषिता-शून्यं ज्ञान-कर्माद्यनावृतम्।* वास्तविक भक्त को कर्म तथा ज्ञान रंचमात्र भी छू नहीं पाते। उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य ईश्वर की सेवा करना है।

एवं मनः कर्मवशं प्रयुङ्क्ते
अविद्ययात्मन्युपधीयमाने ।
प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे
न मुच्यते देहयोगेन तावत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; मनः—मन; कर्म-वशम्—कर्म के वशीभूत; प्रयुङ्क्ते—कार्य करता है; अविद्यया—अविद्या अथवा अज्ञान से; आत्मनि—जब जीवात्मा; उपधीयमाने—ढका रहता है; प्रीतिः—प्रेम; न—नहीं; यावत्—जब तक; मयि—मुझ; वासुदेवे—वासुदेव अथवा कृष्ण में; न—नहीं; मुच्यते—छुटकारा पाता है; देह-योगेन—देह के सम्पर्क से; तावत्—तब तक।

जब जीवात्मा तमोगुण से आच्छादित रहता है, तो वह न तो आत्मा को और न परम-आत्मा को समझता है और उसका मन सकाम कर्म के वशीभूत रहता है। अत: जब तक उसकी मुझ वासुदेव में प्रीति नहीं होती, तब तक उसे देह-बन्धन को स्वीकार करने से छुटकारा नहीं मिल पाता।

तात्पर्य : जब मन सकाम कर्म से दूषित हुआ रहता है, तो जीवात्मा एक स्थिति से दूसरी में उन्नति चाहता है। सामान्य रूप से प्रत्येक व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए दिन-रात कठोर कर्म में संलग्न रहता है। वैदिक अनुष्ठानों को जानते हुए भी मनुष्य स्वर्गलोक पहुँचने का इच्छुक रहता है। वह यह भूल जाता है कि उसका वास्तविक हित भगवद्धाम को लौटने में है। सकाम कर्म करता हुआ मनुष्य विभिन्न योनियों में ब्रह्माण्ड भर में घूमता रहता है। किन्तु जब तक वह गुरु के सम्पर्क में नहीं आता वह भगवान् वासुदेव की सेवा में प्रवृत्त नहीं होता। वासुदेव को समझने के लिए कई जन्म लेने पड़ते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में पुष्टि हुई है—*वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ:।* अनेक जन्मों तक कष्ट भोगकर वासुदेव के चरणकमल में शरण मिलती है। जब ऐसा हो जाता है, तो

मनुष्य वास्तव में बुद्धिमान बनकर ईश्वर के प्रति समर्पित हो जाता है। जन्म-मृत्यु की पुनरावृत्ति को रोकने का यही एकमात्र उपाय है। इसकी पुष्टि दशाश्वमेध घाट में श्रील रूप गोस्वामी को श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा दिए गए उपदेश से होती है (*चैतन्यचरितामृत,* मध्य १९.११)—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज॥

जीवात्मा विभिन्न रूपों तथा देहों में अनेक लोकों में भ्रमण करता रहता है और यदि दैवयोग से वह प्रामाणिक गुरु के सम्पर्क में आता है, तो गुरु के अनुग्रह से उसे श्रीकृष्ण की शरण प्राप्त होती है और उसका भक्तिपूर्ण जीवन प्रारम्भ हो जाता है।

यदा न पश्यत्ययथा गुणेहां
स्वार्थे प्रमत्तः सहसा विपश्चित् ।
गतस्मृतिर्विन्दति तत्र तापान्
आसाद्य मैथुन्यमगारमज्ञः ॥ ७॥

शब्दार्थ

यदा—जब; न—नहीं; पश्यति—देखता है; अयथा—अनावश्यक; गुण-ईहाम्—इन्द्रियतुष्टि की चेष्टा; स्व-अर्थे—आत्म-हित में; प्रमत्तः—पागल; सहसा—शीघ्र ही; विपश्चित्—ज्ञानी भी; गत-स्मृतिः—स्मृति खोकर; विन्दति—पाता है; तत्र—वहाँ; तापान्—क्लेश; आसाद्य—पाकर; मैथुन्यम्—मैथुन आश्रित; अगारम्—घर; अज्ञः—अज्ञानवश।

भले कोई कितना ही विद्वान तथा चतुर क्यों न हो, यदि वह यह नहीं समझ पाता कि इन्द्रियतृप्ति के लिए की जाने वाली चेष्टाएँ व्यर्थ ही समय की बरबादी है, तो वह पागल है। वह आत्म-हित को भूलकर इस संसार में विषयवासना-प्रधान तथा समस्त भौतिक क्लेशों के आगार अपने घर में आसक्त रहकर प्रसन्न रहना चाहता है। इस प्रकार मनुष्य मूर्ख पशु के ही तुल्य होता है।

तात्पर्य : भक्ति की निम्नतम (अधम) अवस्था में मनुष्य शुद्ध भक्त नहीं होता। *अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञान-कर्माद्यनावृतम्*—शुद्ध भक्त होने के लिए मनुष्य को समस्त भौतिक कामनाओं से मुक्त होना चाहिए तथा उसे कर्म एवं शुष्क ज्ञान छूना तक नहीं चाहिए। निम्न अवस्था में कभी-कभी दार्शनिक चिन्तन में रुचि हो सकती है, जिस पर भक्ति का रंग चढ़ा हो। किन्तु इस अवस्था में भी मनुष्य इन्द्रियतृप्ति चाहता है और प्रकृति के गुणों से दूषित रहता है। माया का इतना जबरदस्त प्रभाव रहता है

कि ज्ञानी पुरुष भी वास्तव में यह भूल जाता है कि वह श्रीकृष्ण का चिरन्तन दास है। इसलिए वह विषयभोग के चारों ओर केन्द्रित गृहस्थ जीवन में ही आसक्त सन्तुष्ट रहता है। वह विषयी जीवन के समक्ष नत होकर समस्त प्रकार के भौतिक क्लेशों को सहन करता है। अज्ञानवश वह इस प्रकार भौतिक नियमों की साँकल से बँध जाता है।

पुंसः स्त्रिया मिथुनीभावमेतं
तयोर्मिथो हृदयग्रन्थिमाहुः ।
अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तैर्
जनस्य मोहोऽयमहं ममेति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

पुंसः—पुरुष (नर) का; स्त्रियाः—स्त्री का; मिथुनी-भावम्—कामभोग वासनापूर्ण-जीवन के लिए आकर्षण; एतम्—यह; तयोः—उन दोनों का; मिथः—परस्पर; हृदय-ग्रन्थिम्—हृदयों की गाँठ; आहुः—कहते हैं; अतः—तत्पश्चात्; गृह—घर; क्षेत्र—खेत; सुत—पुत्र; आप्त—सम्बन्धी, स्वजन; वित्तैः—(तथा) धन से; जनस्य—जीवात्मा का; मोहः—मोह; अयम्—यह; अहम्—मैं; मम—मेरा; इति—इस प्रकार।

स्त्री तथा पुरुष के मध्य का आकर्षण भौतिक अस्तित्व का मूल नियम है। इस भ्रांत धारणा के कारण स्त्री तथा पुरुष के हृदय परस्पर जुड़े रहते हैं। इसी के फलस्वरूप मनुष्य अपने शरीर, घर, सन्तान, स्वजन तथा धन के प्रति आकृष्ट होता है। इस प्रकार वह जीवन के मोहों को बढ़ाता है और ''मैं तथा मेरा'' के रूप में सोचता है।

तात्पर्य : स्त्री तथा पुरुष के बीच सहज आकर्षण का प्रमुख कारण विषयभोग है और विवाहित होने पर यह आकर्षण और भी दृढ़ हो जाता है। स्त्री तथा पुरुष के इस ग्रंथिल सम्बन्ध के कारण मोह उत्पन्न होता है, जिससे यह सोचना पड़ता है कि, ''अमुक पुरुष मेरा पति है'' या ''अमुक स्त्री मेरी पत्नी है।'' यह *हृदय ग्रंथि* कहलाती है। इस ग्रंथि को खोल पाना कठिन है भले ही स्त्री तथा पुरुष वर्णाश्रम के नियमों के अनुसार या तलाक देने के कारण विलग क्यों न हो लें। प्रत्येक दशा में स्त्री पुरुष के बारे में और पुरुष स्त्री के बारे में सोचता रहता है। इस प्रकार व्यक्ति परिवार, धन तथा सन्तान के प्रति भौतिक रूप से आसक्त हो जाता है, भले ही ये सब क्षणिक क्यों न हों। ऐसा व्यक्ति दुर्भाग्यवश अपने आपको अपनी सम्पत्ति और धन से जोड़ लेता और उसे अपनी पहचान बना होता है। कभी-कभी संन्यास लेने के बाद भी कोई-कोई किसी मन्दिर में या अपनी कतिपय वस्तुओं में आसक्त हो जाते हैं, जिन्हें वह अपनी सम्पत्ति समझाने लगता है किन्तु ऐसी आसक्ति गृहस्थी के प्रति आकर्षण के

समान बलवती नहीं होती। परिवार की आसक्ति सबसे प्रबल मोह है। *सत्य-संहिता* में कहा गया है—

ब्रह्माद्या याज्ञवल्काद्या मुच्यन्ते स्त्री-सहायिनः।

बोध्यन्ते केचनैतेषां विशेषं च विदो विदुः॥

कभी कभी यह देखा जाता है कि ब्रह्मा जैसे महापुरुषों के लिए स्त्री तथा पुत्र बन्धन के कारण नहीं बनते। उल्टे, पत्नी आध्यात्मिक जीवन तथा मुक्ति में सहायक बनती है। तो भी अधिकांश व्यक्ति दाम्पत्य भाव की ग्रन्थि से बँधे रहते हैं, फलतः वे कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाते हैं।

यदा मनोहृदयग्रन्थिरस्य
कर्मानुबद्धो दृढ आश्लथेत ।
तदा जनः सम्परिवर्ततेऽस्माद्
मुक्तः परं यात्यतिहाय हेतुम् ॥ ९॥

शब्दार्थ

यदा—जब; मनः—मन; हृदय-ग्रन्थिः—हृदय की गाँठ; अस्य—इस व्यक्ति का; कर्म-अनुबद्धः—पूर्व कर्मों के फलों से आबद्ध; दृढः—अत्यन्त प्रबल; आश्लथेत—ढीली पड़ती है; तदा—उस समय; जनः—बद्धजीव; सम्परिवर्तते—विमुख हो जाता है; अस्मात्—विषयी जीवन के प्रति आसक्ति से; मुक्तः—मुक्त; परम्—दिव्य लोक को; याति—जाता है; अतिहाय—त्याग कर; हेतुम्—मूल कारण।

जब पूर्व कर्म-फलों के कारण भौतिक जीवन में फँसे हुए व्यक्ति के हृदय की मजबूत गाँठ ढीली पड़ जाती है, तो वह घर, स्त्री तथा सन्तान के प्रति अपनी आसक्ति से विमुख होने लगता है। इस तरह उसका मोह (मैं तथा मेरा) टूट जाता है, वह मुक्त हो जाता है और उसे दिव्य लोक की प्राप्ति होती है।

तात्पर्य : साधुओं की संगति तथा भक्ति से जब मनुष्य धीरे धीरे ज्ञान, अभ्यास तथा अनासक्ति के फलस्वरुप सांसारिक बुद्धि से मुक्त हो जाता है, तो हृदय की आसक्ति-ग्रन्थि ढीली पड़ती है। इस प्रकार वह बद्ध जीवन से मुक्त होकर भगवान् के धाम वापस जाने के लिए पात्र बन जाता है।

हंसे गुरौ मयि भक्त्यानुवृत्या
वितृष्णया द्वन्द्वतितिक्षया च ।
सर्वत्र जन्तोर्व्यसनावगत्या
जिज्ञासया तपसेहानिवृत्त्या ॥ १०॥
मत्कर्मभिर्मत्कथया च नित्यं
मद्देवसङ्गाद्गुणकीर्तनान्मे ।

निर्वैरसाम्योपशमेन पुत्रा
    जिहासया देहगेहात्मबुद्धेः ॥ ११ ॥
अध्यात्मयोगेन विविक्तसेवया
    प्राणेन्द्रियात्माभिजयेन सध्र्यक् ।
सच्छ्रद्धया ब्रह्मचर्येण शश्वद्
    असम्प्रमादेन यमेन वाचाम् ॥ १२ ॥
सर्वत्र मद्भावविचक्षणेन
    ज्ञानेन विज्ञानविराजितेन ।
योगेन धृत्युद्यमसत्त्वयुक्तो
    लिङ्गं व्यपोहेत्कुशलोऽहमाख्यम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

हंसे—परमहंस अथवा अध्यात्म में उन्नत; गुरौ—गुरु में; मयि—मुझ भगवान् में; भक्त्या—भक्ति के द्वारा; अनुवृत्या—पालन करके; वितृष्णाया—इन्द्रियतृप्ति से विरक्ति द्वारा; द्वन्द्व—संसार की द्वैतता का; तितिक्षया—सहिष्णुता से; च—भी; सर्वत्र—सभी जगह; जन्तोः—जीवात्मा का; व्यसन—जीवन की क्लेशमय दशा; अवगत्या—समझ कर; जिज्ञासया—सत्य के सम्बन्ध में पूछताछ द्वारा; तपसा—तपस्या से; ईहा-निवृत्त्या—इन्द्रियतृप्ति के प्रयास को त्यागने से; मत्-कर्मभिः—मेरे लिए कार्य करने से; मत्-कथया—मेरी कथा सुनकर; च—भी; नित्यम्—सदैव; मत्-देव-सङ्गात्—मेरे भक्तों की संगति से; गुण-कीर्तनात् मे—मेरे दिव्य गुणों के कीर्तन तथा महिमागान से; निर्वैर—शत्रुतारहित; साम्य—आत्मज्ञान के कारण सबों को समान देखते हुए; उपशमेन—क्रोध, शोक इत्यादि को जीत कर; पुत्राः—हे पुत्रो; जिहासया—त्याग करने की इच्छा से; देह—देह से साथ; गेह—घर के साथ; आत्म-बुद्धेः—आत्मबोध; अध्यात्म-योगेन—शास्त्रों के अध्ययन से; विविक्त-सेवया—एकान्त वास द्वारा; प्राण—श्वास; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आत्म—मन; अभिजयेन—नियंत्रण द्वारा; सध्र्यक्—पूर्णतया; सत्-श्रद्धया—धार्मिक ग्रन्थों में श्रद्धा उत्पन्न करके; ब्रह्मचर्येण—ब्रह्मचर्य पालन द्वारा; शश्वत्—सदैव; असम्प्रमादेन—किंकर्तव्यमूढ़ न होकर; यमेन—संयम से; वाचाम्—शब्दों का; सर्वत्र—सभी जगह; मत्-भाव—मेरा है, यह भाव; विचक्षणेन—अवलोकन द्वारा; ज्ञानेन—ज्ञान बढ़ा कर; विज्ञान—ज्ञान के सम्प्रयोग द्वारा; विराजितेन—प्रकाशित; योगेन—भक्तियोग के अभ्यास से; धृति—धैर्य; उद्यम—उत्साह; सत्त्व—विवेक; युक्तः—युक्त; लिङ्गम्—भौतिक बन्धन का कारण; व्यपोहेत्—त्यागा जा सकता है; कुशलः—पूर्ण कुशलता में; अहम्-आख्यम्—झूठा अहंकार, भौतिक संसार के साथ झूठी पहचान।

हे पुत्रो, तुम्हें सिद्ध गुरु अर्थात् परमहंस को ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार तुम मुझ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् पर अपनी श्रद्धा तथा प्रेम रखो। तुम्हें इन्द्रियतृप्ति से घृणा करनी चाहिए तथा ग्रीष्म एवं शीत ऋतु के समान आनन्द तथा पीड़ा की द्वैतता को सहना चाहिए। उन जीवात्माओं की कष्टमय दशा को समझने का प्रयास करो, जो स्वर्ग में भी दुखी रहती हैं। सत्य का दार्शनिक तौर पर अन्वेषण करो। फिर भक्ति के निमित्त समस्त प्रकार की तपस्या करो। इन्द्रिय-सुख के लिए प्रयत्नों का परित्याग करके ईश्वर की सेवा में लगो। भगवान् की कथा का श्रवण करो और सदैव भक्तों की संगति करो। ईश्वर का कीर्तन और गुणगान करो और सबों को आध्यात्मिक स्तर पर समभाव से देखो। शत्रुता त्याग कर क्रोध तथा शोक का दमन करो। स्वयं को देह तथा घर के साथ न जोड़ते हुए शास्त्रों का अध्ययन करो। एकान्त वास करो और प्राणवायु (श्वास), मन तथा इन्द्रियों को पूर्णतया वश में करने का अभ्यास करो। वैदिक साहित्य अर्थात् शास्त्रों पर पूर्ण

श्रद्धा रखो और सदैव ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करो। अपने कर्तव्यों को करते हुए व्यर्थ की बातें करने से बचो। सदैव भगवान् का चिन्तन करते हुए सही स्रोत से ज्ञान प्राप्त करो। इस प्रकार उत्साह एवं धैर्यपूर्वक भक्तियोग का अभ्यास करते रहने से तुम्हारा ज्ञान बढ़ेगा और अहंकार जाता रहेगा।

तात्पर्य : इन चार श्लोकों में ऋषभदेव अपने पुत्रों को बताते हैं कि वे किस प्रकार अहंकार तथा सांसारिक बद्ध जीवन से उत्पन्न झूठी पहचान से मुक्त हो सकते हैं। उपर्युक्त विधि से अभ्यास करने पर धीरे धीरे मुक्त हुआ जा सकता है। इन निर्दिष्ट विधियों से भौतिक शरीर (*लिङ्गं व्यपोहेत्*) का परित्याग करके अपने मूल आत्म-देह में स्थित हुआ जा सकता है। किन्तु सर्वप्रथम कोई प्रामाणिक गुरु बनाना पड़ता है। श्रील रूप गोस्वामी ने अपनी कृति *भक्तिरसामृतसिंधु* में इसकी सम्मति दी है—*श्री-गुरु पादाश्रय:।* भौतिक संसार के बंधनों से मुक्त होने के लिए गुरु के पास जाना होता है। *तद्-विज्ञानार्थं स गुरुम् एवाभिगच्छेत्।* गुरु से प्रश्न करके तथा सेवा करके आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर हुआ जा सकता है। जब कोई भक्ति में लग जाता है, तो व्यक्तिगत सुविधा—खाने, सोने तथा पहनने—का आकर्षण सहज ही कम होता जाता है। भक्त की संगति करने से आध्यात्मिक स्तर बना रहता है। *मद्-देव सङ्गात्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसे अनेक तथाकथित धर्म हैं जिनमें विभिन्न देवताओं की पूजा की जाती है, किन्तु यहाँ *सङ्गात्* का अर्थ ऐसी संगति है, जो श्रीकृष्ण को ही उपास्य अर्चाविग्रह रूप में स्वीकारती है।

द्वंद्व-तितिक्षा शब्द भी महत्त्वपूर्ण हैं। जब तक प्राणी इस संसार में रहता है, तब तक इस देह से आनन्द तथा कष्ट मिलता रहता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण उपदेश देते हैं—*तांस्तितिक्षस्व भारत।* मनुष्य को इस संसार में सुख तथा दुख को सहना सीखना होता है। उसे चाहिए कि वह अपने परिवार से विरक्त होकर ब्रह्मचर्य पालन करे। शास्त्रों के अभिमत के अनुसार अपनी पत्नी के साथ संभोग करना भी ब्रह्मचर्य माना जाता है, किन्तु व्यभिचार वर्जित है, क्योंकि यह धार्मिक नियमों के विपरीत है और इससे आध्यात्मिक चेतना जाती रहती है। *विज्ञानविराजित* भी ऐसा ही महत्त्वपूर्ण शब्द है। प्रत्येक कार्य वैज्ञानिक विधि से तथा विवेकपूर्ण रीति से किया जाना चाहिए। मनुष्य को सिद्ध जीव होना चाहिए। इस प्रकार वह भौतिक बन्धन से छूट सकता है।

जैसाकि श्रीमध्वाचार्य इंगित करते हैं इन चारों श्लोकों का सार-समाहार यह है कि इन्द्रियतृप्ति की आकांक्षा न रखकर कार्य करते हुए ईश्वर की प्रेममय सेवा में सदैव संलग्न रहना चाहिए। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि मुक्ति का स्वीकृत मार्ग भक्तियोग है। श्रील मध्वाचार्य *अध्यात्म* से उद्धरण देते हैं—

आत्मनोऽविहितं कर्म वर्जयित्वान्यकर्मण:।

कामस्य च परित्यागो निरीहेत्याहुरुत्तमा:॥

मनुष्य को चाहिए कि आत्मा के लाभ हेतु ही सारे कार्य करे और अन्य कार्यों का परित्याग कर दे। जब मनुष्य इस स्थिति को प्राप्त होता है, तो उसे निस्पृह कहते हैं। वास्तव में जीवात्मा कभी भी पूर्णतया निस्पृह नहीं हो सकता, किन्तु जब वह आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी के हित का चिन्तन नहीं करता तो निस्पृह कहलाता है।

आध्यात्मिक ज्ञान *ज्ञान-विज्ञान-समन्वितम्* है। ज्ञान तथा विज्ञान से पूर्णतया सज्जित होने पर मनुष्य पूर्ण होता है। ज्ञान का अर्थ है भगवान् विष्णु को ही परम पुरुष समझना। विज्ञान का अर्थ है भौतिक जीवन की अविद्या से छुटकारा दिलाने वाले कार्य। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (२.९.३१) में कहा गया है—*ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितम्।* भगवान् का ज्ञान परम गुह्य है और जिस परम ज्ञान से उस भगवान् को कोई समझता है उससे सभी जीवों की मुक्ति को बढ़ावा मिलता है। ऐसा ही ज्ञान विज्ञान है। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि (४.९) इस प्रकार हुई है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

''हे अर्जुन! मेरा आविर्भाव और मेरे कर्म दिव्य हैं, इस प्रकार जो मनुष्य जान लेता है, वह देह को त्याग कर फिर इस भौतिक जगत में जन्म नहीं लेता, वरन् मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।''

कर्माशयं हृदयग्रन्थिबन्ध-
मविद्ययासादितमप्रमत्त: ।
अनेन योगेन यथोपदेशं
सम्यग्व्यपोह्योपरमेत योगात् ॥ १४॥

शब्दार्थ

कर्म-आशयम्—कर्म की आकांक्षा; हृदय-ग्रन्थि—हृदय में स्थित गाँठ; बन्धम्—बन्धन; अविद्यया—अविद्या के कारण; आसादितम्—लाई गई; अप्रमत्तः—अत्यन्त सावधान, जो मोहग्रस्त न हो; अनेन—इस; योगेन—योग-अभ्यास से; यथा-उपदेशम्—जैसा उपदेश दिया गया; सम्यक्—पूर्णतया; व्यपोह्य—मुक्त होकर; उपरमेत—विरत होना चाहिए; योगात्—मुक्ति के साधन योगाभ्यास से।

हे पुत्रो, तुम्हें मेरे उपदेश के अनुसार आचरण करना चाहिए। अत्यन्त सावधान रहना। इन विधियों से तुम लोग सकर्म-अभिलाषा की अविद्या से छूट सकोगे और तुम्हारे हृदय में स्थित बन्धनरूपी ग्रंथि पूर्णतया कट जाएगी। तदनन्तर और अधिक उन्नति के लिए तुम्हें साधनों का परित्याग कर देना चाहिए, अर्थात् तुम्हें मुक्ति-क्रिया में ही आसक्त नहीं हो जाना चाहिए।

तात्पर्य : मुक्ति की क्रिया *ब्रह्म-जिज्ञासा* है। सामान्यतः इसे *नेति नेति* कहते हैं जिसका अर्थ है, वह क्रिया जिससे परम सत्य की खोज करने के लिए अस्त्वित्व का विश्लेषण किया जाता है। यह विधि तब तक जारी रहती है जब तक मनुष्य आध्यात्मिक जीवन को प्राप्त नहीं होता। यह आध्यात्मिक जीवन ब्रह्मभूत अर्थात् आत्म-अनुभूति की स्थिति है। *भगवद्गीता* (१८.४) के शब्दों में—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

''ब्रह्मभूत पुरुष को तत्काल परब्रह्म की अनुभूति होती है और वह पूर्णरुपेण प्रसन्न रहता है। वह न शोक करता है और न किसी वस्तु को पाने की इच्छा ही करता है, वह सब प्राणियों में समभाव रखता है। इस अवस्था में उसे मेरी शुद्ध भक्ति प्राप्त होती है।''

इसका उद्देश्य परा भक्ति अर्थात् परमेश्वर की दिव्य सेवा में प्रवेश करना है। इसे प्राप्त करने के लिए मनुष्य अपने अस्तित्व का विश्लेषण करता है, किन्तु भक्ति में संलग्न रहने पर ज्ञान की खोज करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। अविचलित भाव से मात्र भक्ति में संलग्न रहने से मनुष्य सदा मुक्त अवस्था में रहेगा (देखें *भगवद्गीता* १४.२६)—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

अविचल भाव से भक्ति करना स्वयं ही *ब्रह्मभूत* है। इसकी दूसरी विशेषता है *अनेन योगेन यथोपदेशं*—गुरु से प्राप्त उपदेशों का तुरन्त पालन होना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि वह गुरु के

उपदेशों से तनिक भी विपथ न हो, न ही उनका उल्लंघन करे। उसे चाहिए कि ग्रन्थों के अवलोकन में ही न लगा रहे वरन् साथ ही साथ गुरु की आज्ञा को कार्य रूप में परिणत करे (*यथोपदेशं*)। भौतिक अनुभूति का परित्याग हो सके इसके लिए योगाभ्यास करना चाहिए, किन्तु यदि मनुष्य भक्ति योग में सलग्न हो जाता है, तो इसकी आवश्यकता नहीं रह जाती। सच बात तो यह है कि योग्याभ्यास को छोड़ा जा सकता है किन्तु भक्ति को नहीं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.७.१०) में कहा गया है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।

कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

जो *आत्माराम* (मुक्त) हैं उन्हें भी सदैव भक्ति में लगे रहना चाहिए। स्वरूप-सिद्ध होने पर योगाभ्यास छोड़ा जा सकता है, किन्तु भक्ति को किसी भी अवस्था में नहीं छोड़ा जा सकता। योग तथा दार्शनिक चिन्तन समेत आत्म-साक्षात्कार के अन्य कर्म त्यागे जा सकते हैं, किन्तु भक्ति को तो सदैव बनाये रखना चाहिए।

पुत्रांश्च शिष्यांश्च नृपो गुरुर्वा
मल्लोककामो मदनुग्रहार्थः ।
इत्थं विमन्युरनुशिष्यादतज्ज्ञान्
न योजयेत्कर्मसु कर्ममूढान् ।
कं योजयन्मनुजोऽर्थं लभेत
निपातयन्नष्टदृशं हि गर्ते ॥ १ ॥

शब्दार्थ

पुत्रान्—पुत्रों को; च—तथा; शिष्यान्—शिष्यों को; च—तथा; नृपः—राजा; गुरुः—गुरु; वा—अथवा; मत्-लोक-कामः—मेरे धाम के इच्छुक; मत्-अनुग्रह-अर्थः—मेरे अनुग्रह को जीवन लक्ष्य मानने वाले; इत्थम्—इस प्रकार से; विमन्युः—क्रोधरहित; अनुशिष्यात्—शिक्षा देनी चाहिए; अ-तत्-ज्ञान्—आत्मज्ञान से विहीन; न—नहीं; योजयेत्—लगाना चाहिए; कर्मसु—कर्म में; कर्म-मूढान्—केवल पुण्य या पाप कर्म में रत रहने वालों को; कम्—क्या; योजयन्—प्रवृत्त करते हुए; मनु-जः—मनुष्य; अर्थम्—लाभ; लभेत—प्राप्त कर सकता है; निपातयन्—धकेल कर; नष्ट-दृशम्—दिव्य ज्योति से विहीन; हि—निस्संदेह; गर्ते—गड्ढे में।.

यदि किसी मनुष्य को घर लौटने अर्थात् ईश्वर के धाम वापस जाने की अभिलाषा हो, तो उसे चाहिए कि वह भगवान् के अनुग्रह को जीवन का परम लक्ष्य माने। यदि वह पिता है, तो अपने पुत्रों को, यदि गुरु है, तो अपने शिष्यों को और यदि राजा है, तो अपनी प्रजा को, इसी प्रकार शिक्षा दे जैसा कि मैंने उपदेश दिया है। उसे चाहिए कि क्रोधरहित होकर इन्हें शिक्षा देते रहें, भले ही शिष्य, पुत्र अथवा प्रजा उनकी आज्ञा का पालन करने में कभी-कभी असमर्थ क्यों

न रहें। कर्म-मूढों को जो पाप एवं पुण्य कर्मों में लगे रहते हैं, चाहिए कि वे सभी प्रकार से भक्ति में लगें। उन्हें सकाम कर्म से सदैव बचना चाहिए। यदि शिष्य, पुत्र या प्रजा, जो दिव्य दृष्टि से रहित हो, उसे कर्म के बन्धन में डाला जाये तो भला वह कैसे लाभान्वित होगा? यह अंधे मनुष्य को अंधेरे कुएं तक ले जाने और उसे गिरने देने जैसा है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (३.२६) में कहा गया है—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।

जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥

''ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि सकाम कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम उत्पन्न न करे अर्थात् उन्हें कर्म से विमुख न करे; वरन् अपने आचरण से उन्हें भक्तिभाव के साथ कर्म करने में ही लगाये।''

लोकः स्वयं श्रेयसि नष्टदृष्टि-
र्योऽर्थान्समीहेत निकामकामः ।
अन्योन्यवैरः सुखलेशहेतो-
रनन्तदुःखं च न वेद मूढः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

लोकः—लोग; स्वयम्—स्वयं; श्रेयसि—कल्याण-मार्ग का; नष्ट-दृष्टिः—जिनकी दृष्टि नष्ट हो चुकी है; यः—जो; अर्थान्—विषय-भोग की वस्तुएँ; समीहेत—आकांक्षा करते हैं; निकाम-कामः—इन्द्रियसुख के लिए अनेक कामेच्छाओं वाला, कामी; अन्योन्य-वैरः—परस्पर ईर्ष्यालु होकर; सुख-लेश-हेतोः—केवल क्षणिक सुख के लिए; अनन्त-दुःखम्—अपार कष्ट; च—भी; न—नहीं; वेद—जानते हैं; मूढः—मूढ़ लोग, मूर्ख।.

अज्ञानवश भौतिकतावादी व्यक्ति अपना सच्चा हित नहीं समझ पाता जो जीवन का कल्याणकारी मार्ग है। वह भौतिक सुख की कामेच्छाओं से बँधा रहता है और उसकी सारी योजनाएँ इसी एक कार्य के लिए तैयार की जाती हैं। ऐसा व्यक्ति क्षणिक सुख के लिए वैरपूर्ण समाज की सृष्टि करता है और अपनी मानसिकता के कारण वह दुख के सागर में कूद पड़ता है। ऐसे मूर्ख व्यक्ति को इसका ज्ञान भी नहीं होता।

तात्पर्य : *नष्टदृष्टिः* शब्द का अर्थ है, ''जो भविष्य को नहीं देख पाता'' और यह शब्द इस श्लोक में अत्यन्त सार्थक है। प्राण तो एक शरीर से दूसरे में चलते रहते हैं और इस जीवन में किये गये कर्मों का अच्छा या बुरा फल इसी जन्म में अन्यथा अगले जन्म में मिलता रहता है। जो अल्पज्ञ है और

भविष्य को नहीं देख सकता वह इन्द्रियतृप्ति के लिए अन्यों से दुश्मनी मोल लेता है और लड़ता-भिड़ता रहता है। इसके फलस्वरूप उसे अगले जीवन में कष्ट उठाना पड़ता है। किन्तु वह अन्धे व्यक्ति की भाँति कार्य करता है, जिससे उसे निरन्तर कष्ट झेलने पड़ते हैं। ऐसा व्यक्ति मूढ़ है, क्योंकि वह मात्र अपना समय गँवाता है और ईश्वर की भक्ति को नहीं समझ पाता। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.२) में कहा गया है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

''मैं मूढ़ तथा अल्पज्ञ मनुष्यों के समक्ष कभी प्रकट नहीं होता। उनके लिए मैं अपनी योगमाया में छिपा रहता हूँ। इस प्रकार मोहित हुआ संसार मुझ अजन्मे तथा अच्युत को नहीं जान पाता।''

कठोपनिषद् में भी कहा गया है—*अविद्यामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।* अब भी कुछ अज्ञानी लोग दूसरे अन्धे लोगों के पास नेतृत्व प्राप्त करने के लिए जाते हैं, फलस्वरूप इन दोनों को कष्ट उठाना पड़ता है। एक अन्धा दूसरे अन्धे को खड्डे में ले जाने वाला होता है।

कस्तं स्वयं तदभिज्ञो विपश्चिद्
अविद्यायामन्तरे वर्तमानम् ।
दृष्ट्वा पुनस्तं सघृणः कुबुद्धिं
प्रयोजयेदुत्पथगं यथान्धम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

कः—ऐसा कौन व्यक्ति है; तम्—उसको; स्वयम्—स्वयं; तत्-अभिज्ञः—तत्त्व-ज्ञान जानते हुए; विपश्चित्—विद्वान; अविद्यायाम् अन्तरे—अज्ञानवश; वर्तमानम्—वर्तमान रहते हुए; दृष्ट्वा—देख कर; पुनः—फिर; तम्—उसको; स-घृणः—अत्यन्त दयालु; कु-बुद्धिम्—संसार मार्ग में लिप्त; प्रयोजयेत्—लगायेगा; उत्पथ-गम्—उल्टे मार्ग पर अग्रसर होने वाला; यथा—सदृश; अन्धम्—अंधा पुरुष।

यदि कोई अज्ञानी है और संसार-पथ में लिप्त है, तो भला उसे कोई विद्वान, दयालु तथा आत्मज्ञानी पुरुष सकाम कर्म करने तथा भौतिक संसार में और अधिक फँसने के लिए क्योंकर प्रवृत्त करेगा? यदि कोई अन्धा व्यक्ति उल्टी राह पर जा रहा हो, तो ऐसा कौन-सा सज्जन पुरुष होगा, जो उसे संकट के पथ पर और आगे जाने देगा? वह इस विधि को क्यों सही मानने लगा? कोई भी बुद्धिमान अथवा दयालु व्यक्ति ऐसा नहीं होने देगा।

गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात् ।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्या-
न्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

गुरुः—गुरु; न—नहीं; सः—वह; स्यात्—हो; स्व-जनः—कुटुम्बी; न—नहीं; सः—ऐसा व्यक्ति; स्यात्—हो; पिता—पिता; न—नहीं; सः—वह; स्यात्—हो; जननी—माता; न—नहीं; सा—वह; स्यात्—होवे; दैवम्—अर्चाविग्रह; न—नहीं; तत्—वह; स्यात्—हो; न—नहीं; पतिः—पति; च—भी; सः—वह; स्यात्—होय; न—नहीं; मोचयेत्—उबार सकता है; यः—जो; समुपेत-मृत्युम्—बारम्बार जन्म-मृत्यु के मार्ग पर अग्रसर होनेवाले को।

''जो अपने आश्रित को बारम्बार के जन्म-मृत्यु के पथ से न उबार सके उसे कभी भी गुरु, पिता, पति, माँ या आराध्य देव नहीं बनना चाहिए।''

तात्पर्य : गुरु कई प्रकार के होते हैं किन्तु ऋषभदेव का उपदेश है कि जो गुरु अपने शिष्य को जन्म-मरण के पथ से उबार सकने में असमर्थ हो उसे गुरु नहीं बनना चाहिए। श्रीकृष्ण का शुद्ध भक्त हुए बिना कोई व्यक्ति बारम्बार जन्म तथा मृत्यु के पथ से अपने को बचा नहीं पाता। *त्यक्तां देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।* केवल भगवान् के धाम वापस पहुँच कर ही मनुष्य जन्म-मृत्यु के बन्धन से छूट सकता है। लेकिन जब तक मनुष्य सचमुच ही परमेश्वर को नहीं समझता, तब तक वह परम धाम वापस कैसे जा सकता है? *जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।*

इतिहास में ऋषभदेव के उपदेशों का दृष्टान्त प्रस्तुत करने वाली कई घटनाएँ हैं। बलि महाराज ने शुक्राचार्य का इसलिए परित्याग किया, क्योंकि वे उन्हें जन्म-मरण के मार्ग से बचाने में असमर्थ रहे। शुक्राचार्य शुद्ध भक्त नहीं थे, वे न्यूनधिक सकाम कर्म में प्रवृत्त थे और जब बलि महाराज ने भगवान् विष्णु को अपना सर्वस्व देना चाहा तो शुक्राचार्य ने उन्हें रोका। वास्तव में, मनुष्य से आशा की जाती है कि वह अपना सर्वस्व ईश्वर को अर्पित कर दे क्योंकि सब कुछ उन्हीं का है। फलस्वरूप परमेश्वर ने *भगवद्गीता* (९.२७) में उपदेश दिया है कि—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

''हे कुन्तीपुत्र! तू जो भी कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ यज्ञ करता है या जो भी दान देता है और तपस्या करता है, वह सब मुझे अर्पित कर।'' यह भक्ति है। बिना भक्त बने कोई मनुष्य परमेश्वर को सर्वस्व अर्पित नहीं कर सकता और जब तक वह ऐसा नहीं करता, तब तक वह गुरु, पति,

पिता या माता नहीं बन सकता। इसी प्रकार यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों की पत्नियों ने अपने पतियों को त्याग दिया जिससे वे श्रीकृष्ण को सन्तुष्ट कर सकें। यह ऐसा उदाहरण है, जिसमें एक पत्नी अपने पति का परित्याग इसलिए करती है, क्योंकि वह जन्म-मरण के आसन्न संकटों से उसे नहीं उबार सकता। इसी प्रकार प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता तथा भरत महाराज ने अपनी माता का परित्याग किया (*जननी न सा स्यात्*)। *दैवम्* शब्द देवता या अपने अधीन की अर्चना स्वीकार करने वाले का द्योतक है। सामान्य रूप से गुरु, पति, पिता, माता या गुरु-परिजन अपने से कनिष्ठ परिजन की आराधना स्वीकार कर लेते हैं; किन्तु यहाँ पर ऋषभदेव इसके लिए मना करते हैं। पहले तो पिता, गुरु वा पति को इतना सक्षम होना चाहिए कि अपने आश्रित को बारम्बार जन्म तथा मृत्यु से उबार सके। यदि वे ऐसा नहीं कर पाते तो वे अपने अवैधिक कर्मों के कारण भर्त्सना के सागर में डूबते हैं। प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि अपने आश्रित का वैसा ही ध्यान रखे जैसे कि गुरु अपने शिष्य का या कि पिता अपने पुत्र का रखता है। ये सारे उत्तरदायित्व ठीक प्रकार से एकसाथ तब तक नहीं निभाये जा सकते जब तक अपने आश्रित को जन्म-मरण के चक्कर से उबारा न जा सके।

इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं
सत्त्वं हि मे हृदयं यत्र धर्मः ।
पृष्ठे कृतो मे यदधर्म आराद्
अतो हि मामृषभं प्राहुरार्याः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; शरीरम्—दिव्य देह अथवा सच्चिदानन्द विग्रह; मम—मेरा; दुर्विभाव्यम्—अकल्पनीय; सत्त्वम्—भौतिक गुणरहित; हि—निस्संदेह; मे—मेरा; हृदयम्—हृदय; यत्र—जहाँ पर; धर्मः—धर्म का वास्तविक पद अथवा भक्तियोग; पृष्ठे—पीठ पर; कृतः—बनाया हुआ; मे—मेरे द्वारा; यत्—क्योंकि; अधर्मः—अधर्म; आरात्—अत्यन्त दूर; अतः—इसलिए; हि—निस्संदेह; माम्—मुझको; ऋषभम्—जीवों में श्रेष्ठ; प्राहुः—पुकारते हैं; आर्याः—श्रेष्ठ जन, सत्पुरुष।

मेरा दिव्य शरीर (*सच्चिदाननन्द विग्रह*) मानव सदृश दिखता है, किन्तु यह भौतिक मनुष्य-शरीर नहीं है। यह अकल्पनीय है। मुझे प्रकृति द्वारा बाध्य होकर किसी विशेष प्रकार का शरीर नहीं धारण करना पड़ता, मैं अपनी इच्छानुकूल शरीर धारण करता हूँ। मेरा हृदय भी दिव्य है और मैं सदैव अपने भक्तों का कल्याण चाहता रहता हूँ। इसलिए मेरे हृदय में भक्ति पूरित है, जो भक्तों के लिए है। मैंने अधर्म को हृदय से बहुत दूर भगा दिया है। मुझे अभक्ति के कार्य बिल्कुल अच्छे नहीं लगते। इन दिव्य गुणों के कारण सामान्य रूप से लोग मेरी उपासना भगवान्

ऋषभदेव के रूप में करते हैं, जो भी जीवात्माओं में श्रेष्ठ है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यम्* शब्द उल्लेखनीय हैं। सामान्य रूप से हम दो प्रकार की शक्तियों का अनुभव करते हैं—भौतिक शक्ति (माया) तथा आध्यात्मिक शक्ति। हमें भौतिक शक्ति (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, बुद्धि, अहं) का कुछ-कुछ अनुभव है, क्योंकि भौतिक जगत में सबों का शरीर इन्हीं तत्त्वों से बना होता है। भौतिक शरीर के भीतर आत्मा होती है, किन्तु उसे हम भौतिक आँखों से नहीं देख सकते। जब हम आध्यात्मिक शक्ति से पूर्ण शरीर देखते हैं, तो हमारे लिए यह समझ पाना कठिन हो जाता है कि आध्यात्मिक शक्ति को शरीर कैसे प्राप्त हो सकता है। कहा जाता है कि ऋषभदेव का शरीर पूर्णतया दिव्य है, अत: संसारी पुरुष के लिए उसको समझ पाना कठिन है। उसके लिए पूर्णतया आध्यात्मिक शरीर अकल्पनीय है। जब हमें व्यावहारिक बुद्धि से कोई विषय समझ में नहीं आता तो हमें वेदों की दृष्टि ग्रहण करनी चाहिए। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—*ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्दविग्रह: ।* परमेश्वर का शरीर स्वरूप युक्त होता है, किन्तु यह भौतिक तत्त्वों का बना हुआ नहीं रहता। यह आध्यात्मिक आनन्द, शाश्वतता तथा चेतना से बना होता है। भगवान् की अकल्पनीय शक्ति से ईश्वर अपने आदि-दिव्य शरीर में प्रकट हो सकता है, किन्तु ऐसे शरीर का कोई अनुभव न होने से हम कभी कभी मोहग्रस्त हो जाते हैं और ईश्वर के रूप को भौतिक समझ बैठते हैं। मायावादी दार्शनिक ईश्वर की दिव्य देह की कल्पना करने में सर्वथा अक्षम हैं। उनका कथन है कि आत्मा सदैव निराकार है, अत: जब भी वे किसी साकार वस्तु को देखते हैं, तो उसे भौतिक मान बैठते हैं। *भगवद्गीता* (९.११) में कहा गया है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

''जब मैं मनुष्य रूप में अवतरित होता हूँ तो मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। वे मुझ परमेश्वर के दिव्य स्वभाव तथा मेरे परम साम्राज्य को नहीं जानते।''

अज्ञानी लोग सोचते हैं कि परमेश्वर भौतिक शक्ति से बने शरीर को धारण करते हैं। भौतिक शरीर सरलता से हमारी समझ में आ जाता है, किन्तु आध्यात्मिक शरीर नहीं। अत: ऋषभदेव कहते हैं—*इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यम्*—वैकुण्ठ जगत में प्रत्येक का शरीर आध्यात्मिक होता है। यहाँ भौतिक अस्तित्व

की कोई संकल्पना नहीं है। वैकुण्ठ जगत में केवल सेवा है और सेवा की प्राप्ति। यहाँ सेव्य, सेवा तथा सेवक ये तीन ही हैं। ये तीनों पूर्णतया आध्यात्मिक हैं अत: वैकुण्ठ जगत परम है। इसमें भौतिक कलुष छू तक नहीं गया। भौतिक संकल्पना से नितान्त परे होने से भगवान् ऋषभदेव कहते हैं कि उनका हृदय धर्म से बना है। *भगवद्गीता* (१८.६६) में *धर्म* की व्याख्या इस प्रकार की गई है—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।* वैकुण्ठ जगत में प्रत्येक जीवात्मा परमेश्वर को समर्पित है और पूर्णतया आध्यात्मिक पद पर आसीन है। यद्यपि सेवक, सेव्य तथा सेवा सभी हैं, किन्तु सभी आध्यात्मिक हैं और चित्र-विचित्र। इस समय हमारी भौतिक कल्पना के कारण प्रत्येक वस्तु अकल्पनीय—*दुर्विभाव्य*—है। सर्वश्रेष्ठ होने के कारण ईश्वर ऋषभदेव कहलाते हैं। वैदिक पदावली में कहना चाहें तो कहेंगे—*नित्यो नित्यानाम्।* हम भी आध्यात्मिक हैं, किन्तु आश्रित हैं। अत: श्रीकृष्ण, जो परमेश्वर हैं आदि व्यक्ति हैं। ऋषभ शब्द का अर्थ है प्रमुख अथवा सर्वश्रेष्ठ और यह परम पुरुष या साक्षात् ईश्वर का सूचक है।

तस्माद्भवन्तो हृदयेन जाता:
सर्वे महीयांसममुं सनाभम् ।
अक्लिष्टबुद्ध्या भरतं भजध्वं
शुश्रूषणं तद्भरणं प्रजानाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अत: (क्योंकि मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूँ); भवन्त:—तुम लोग; हृदयेन—मेरे हृदय से; जाता:—उत्पन्न; सर्वे—सभी; महीयांसम्—सर्वश्रेष्ठ; अमुम्—वह; स-नाभम्—भ्राता; अक्लिष्ट-बुद्ध्या—भौतिक कलुषहीन आपकी बुद्धि से; भरतम्—भरत की; भजध्वम्—सेवा करने का यत्न मात्र करो; शुश्रूषणम्—सेवा; तत्—वह; भरणम् प्रजानाम्—नागरिकों (प्रजा) पर शासन।

मेरे प्रिय पुत्रो, तुम सभी मेरे हृदय से उत्पन्न हो जो समस्त दिव्य गुणों का केन्द्र है। अत: तुम्हें संसारी तथा ईर्ष्यालु मनुष्यों के समान नहीं होना है। तुम अपने सबसे बड़े भाई भरत को मानो, क्योंकि वह भक्ति में श्रेष्ठ है। यदि तुम लोग भरत की सेवा करोगे तो उसकी सेवा में मेरी सेवा सम्मिलित होगी और तुम स्वयमेव प्रजा पर शासन करोगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *हृदय* शब्द हृदय के अतिरिक्त *उर:* अर्थात् वक्षस्थल का भी सूचक है। हृदय वक्ष:स्थल में स्थित है। यद्यपि पुत्र तांत्रिक रूप से जननांग से उत्पन्न होता है, किन्तु वास्तव में वह हृदय से ही उत्पन्न माना जाता है। हृदय की स्थिति के अनुसार ही वीर्य शरीर का रूप धारण करता है।

अत: जब किसी के पुत्र उत्पन्न होता है, तो वैदिक प्रथा के अनुसार उसके हृदय को गर्भाधान संस्कार द्वारा शुद्ध किया जाना चाहिए। ऋषभदेव का हृदय सदा निष्कलुष एवं आध्यात्मिक था, अत: उनके हृदय से उत्पन्न सभी पुत्र आध्यात्मिक प्रवृत्ति के थे। फिर भी ऋषभदेव ने सुझाया कि उनका सबसे ज्येष्ठ पुत्र प्रवर है इसलिए अन्यों को उसकी सेवा करनी चाहिए। भरत महाराज के सभी भाइयों को ऋषभदेव द्वारा भरत की सेवा में संलग्न रहने की सलाह दी गई। यहाँ यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि मनुष्य को परिवार के सदस्यों में क्यों आसक्त होना चाहिए जबकि प्रारम्भ में उपदेश दिया गया है कि मनुष्य को घर तथा परिवार में लिप्त नहीं होना चाहिए? किन्तु साथ ही यह भी उपदेश है—*महीयसां पादरजोऽभिषेक*—मनुष्य को महीयान अर्थात् दिव्य दृष्टि से महान् की सेवा करनी चाहिए। *महत् सेवां द्वारम् आहुर्विमुक्ते:*—महत् अर्थात् महान् भक्त की सेवा करने से मुक्ति का द्वार खुल जाता है। ऋषभदेव का परिवार कोई सामान्य परिवार न था। ऋषभदेव का ज्येष्ठ पुत्र भरत विशेष रूप से महान् था। इसीलिए अन्य पुत्रों को उनकी सेवा करने का उपदेश दिया गया। यही उनका कर्तव्य था।

परमेश्वर महाराज भरत को इस लोक का प्रमुख शासक बनाने का उपदेश दे रहे थे। यही परमेश्वर की असली योजना थी। कुरुक्षेत्र के युद्ध में श्रीकृष्ण महाराज युधिष्ठिर को इस लोक का चक्रवर्ती राजा बनाना चाहते थे। वे कभी नहीं चाहते थे कि यह पद दुर्योधन को मिले। जैसाकि पिछले श्लोक में कहा जा चुका है कि भगवान् ऋषभदेव का हृदय *हृदयं यत्र धर्म:* था। *भगवद्गीता* में धर्म का लक्षण बताया गया है—भगवान् को समर्पण करो। धर्म की रक्षा हेतु (*परित्राणाय साधूनाम्*) ईश्वर सदा अपने भक्त को पृथ्वी का शासक बनाना चाहते हैं। तभी सबों का कल्याण सम्भव है। ज्योंही असुर पृथ्वी का शासन सँभालता है अव्यवस्था फैल जाती है। इस समय यह जगत प्रजातांत्रिक प्रणाली के प्रति उन्मुख है, किन्तु सामान्य लोग रजो तथा तमो गुणों से कलुषित हैं। फलत: वे शासन चलाने के लिए उचित व्यक्ति नहीं चुन सकते। राष्ट्रपति का चुनाव मूर्ख शूद्रों के मतदान से होता है, अत: एक और शूद्र चुन लिया जाता है और फिर सारी सरकार दूषित हो जाती है। यदि जनता *भगवद्गीता* के नियमों का कठोरता से पालन करे तो सदैव ईश्वर का भक्त ही चुना जाएगा। फिर तो स्वत: उत्तम शासन होगा। इसलिए ऋषभदेव ने महाराज भरत को इस लोक का सम्राट बनाए जाने को कहा। भक्त की सेवा का अर्थ है परमेश्वर की सेवा, क्योंकि भक्त सदा ईश्वर का प्रतिनिधि होता है। जब भक्त यह भार लेता है,

तो सरकार सदैव मैत्रीपूर्ण तथा सर्व कल्याणमय होती है।

भूतेषु वीरुद्भ्य उदुत्तमा ये
सरीसृपास्तेषु सबोधनिष्ठाः ।
ततो मनुष्याः प्रमथास्ततोऽपि
गन्धर्वसिद्धा विबुधानुगा ये ॥ २१ ॥
देवासुरेभ्यो मघवत्प्रधाना
दक्षादयो ब्रह्मसुतास्तु तेषाम् ।
भवः परः सोऽथ विरिञ्चवीर्यः
स मत्परोऽहं द्विजदेवदेवः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

भूतेषु—समस्त उत्पन्न जीवों में (चाहे चर हों या अचर); वीरुद्भ्यः—पौधों से; उदुत्तमाः—कहीं अधिक श्रेष्ठ; ये—जो; सरीसृपाः—रेंगने वाले प्राणी, यथा सर्प; तेषु—उनमें से; स-बोध-निष्ठाः—वे, जिन्होंने बुद्धि विकसित कर ली है; ततः—उनमें से; मनुष्याः—मनुष्य; प्रमथाः—भूत; ततः अपि—उनसे भी श्रेष्ठ; गन्धर्व—गंधर्वलोक के वासी (देव लोक में गायक के रूप में नियुक्त); सिद्धाः—सिद्ध लोक के वासी, जिनमें योग शक्ति रहती है; विबुध-अनुगाः—किन्नरगण; ये—जो; देव—देवता; असुरेभ्यः—असुरों की अपेक्षा; मघवत्-प्रधानाः—इन्द्र आदि; दक्ष-आदयः—दक्ष आदि; ब्रह्म-सुताः—ब्रह्मा के पुत्र; तु—तब; तेषाम्—उनमें से; भवः—भगवान् शिव; परः—श्रेष्ठ; सः—वह (शिव); अथ—आगे, और; विरिञ्च-वीर्यः—भगवान् ब्रह्मा से उत्पन्न होने से; सः—वह (ब्रह्मा); मत्-परः—मेरा भक्त; अहम्—मैं; द्विज-देव-देवः—ब्राह्मणों का उपासक अथवा ब्राह्मणों का भगवान्।.

दो प्रकार की प्रकट शक्तियों (आत्मा तथा जड़ पदार्थ) में से जीव-शक्ति (वनस्पति, घास, वृक्ष तथा पौधे) जड़ पदार्थ (पत्थर, पृथ्वी इत्यादि) से श्रेष्ठ है। इन अचर पौधों तथा वनस्पतियों की तुलना में रेंगने वाले कीट तथा सरीसृप श्रेष्ठ हैं। कीटों तथा सरीसृपों से पशु श्रेष्ठ हैं क्योंकि उनमें बुद्धि है। पशुओं से मनुष्य श्रेष्ठ हैं और मनुष्यों से भूत-प्रेत क्योंकि उनके कोई भौतिक शरीर नहीं होता। भूत-प्रेतों से गंधर्व और गंधर्वों से सिद्ध श्रेष्ठ होते हैं। सिद्धों से किन्नर और किन्नरों से असुर श्रेष्ठ हैं। असुरों से देवता और देवताओं में स्वर्ग का राजा इन्द्र श्रेष्ठ है। इन्द्र से भी श्रेष्ठ ब्रह्मा के पुत्र, जैसे कि राजा दक्ष और ब्रह्मा के इन पुत्रों में भगवान् शिव सर्वश्रेष्ठ हैं। शिव ब्रह्मा के पुत्र हैं इसलिए ब्रह्मा श्रेष्ठ माने जाते हैं किन्तु वे मुझ भगवान् के अधीन हैं। चूँकि मैं ब्राह्मणों को पूज्य मानता हूँ इसलिए ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में ब्राह्मणों का पद ईश्वर से भी बढ़कर बताया गया है। भाव यह है कि शासन का संचालन ब्राह्मणों की देखरेख में होना चाहिए। यद्यपि ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठतम पुत्र भरत को पृथ्वी का राजा बनाने की संस्तुति की तो भी उसे संसार पर अच्छा शासन करने के लिए ब्राह्मणों

की राय लेनी पड़ती थी। ईश्वर की उपासना *'ब्रह्मण्यदेव'* के रूप में होती है। ईश्वर ब्राह्मणों अर्थात् भक्तों के अत्यन्त प्रेमी हैं। यहाँ ब्राह्मण, जाति का नहीं, वरन् यह योग्य ब्राह्मण का सूचक है। ब्राह्मण में आठ गुण होने चाहिए जिनका उल्लेख श्लोक २४ में हुआ है। ये हैं साम, दम, सत्य, तितिक्षा इत्यादि। ब्राह्मणों की सदैव पूजा की जानी चाहिए और उन्हीं के निर्देशन में राजा को शासन करना चाहिए। दुर्भाग्यवश इस कलियुग में प्रजातंत्र प्रणाली में न तो कार्यकारी अधिकारी का चुनाव बुद्धिमान लोगों के द्वारा होता है न वह योग्य ब्राह्मणों द्वारा निर्देशित होता है। फलस्वरूप अव्यवस्था उत्पन्न होती है। जन-समूह को कृष्णभावनामृत की शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे वे भरत महाराज जैसे सर्वोत्कृष्ट भक्त को राज्य का शासक चुन सकें। यदि राज्य का प्रमुख योग्य ब्राह्मण हो तो सब कुछ ठीक रहता है।

इस श्लोक में विकासवाद का अप्रत्यक्ष रूप से उल्लेख है। पदार्थ से जीवन के विकास के आधुनिक सिद्धान्त का इससे कुछ हद तक समर्थन होता है, क्योंकि इसमें *भूतेषु वीरुद्भ्य:* का उल्लेख है अर्थात् जीवों का विकास वनस्पतियों, घास, पौधों तथा वृक्षों से हुआ जो जड़ पदार्थों से श्रेष्ठ हैं। दूसरे शब्दों में, पदार्थ में शक्ति होती है कि वह वनस्पतियों के जीव-रूप में प्रकट हो। इस तरह जीवन पदार्थ से प्रकट होता है और पदार्थ जीवन से। जैसाकि श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (१०.८) में कहा है—*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्त: सर्वं प्रवर्तते*—"मैं समस्त वैकुण्ठ तथा मर्त्यलोकों का कारण हूँ। मुझसे ही प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है।"

शक्तियाँ दो प्रकार की हैं—भौतिक तथा आध्यात्मिक—और ये दोनों मूलत: श्रीकृष्ण से उद्भूत हैं। श्रीकृष्ण परम आत्मा हैं यद्यपि यह कहा जा सकता है कि भौतिक जगत में जीवित शक्ति (सजीव) पदार्थ से उत्पन्न है, किन्तु यह स्वीकार करना चाहिए कि पदार्थ मूलत: परम व्यक्ति (आत्मा) से उत्पन्न हुआ। *नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।* निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्येक वस्तु, चाहे लौकिक हो या अलौकिक, परमेश्वर से उत्पन्न है। विकासवादी दृष्टि से जीवात्मा पूर्णता को तब प्राप्त करता है जब वह ब्राह्मण पद तक पहुँच जाता है। ब्राह्मण परब्रह्म का उपासक है और परब्रह्म ब्राह्मण की उपासना करता है। दूसरे शब्दों में, भक्त परमेश्वर के अधीन है और ईश्वर अपने भक्त को संतुष्ट रखना चाहता है। ब्राह्मण को *द्विजदेव* कहा जाता है और ईश्वर *द्विज-देव-देव* अर्थात् ब्राह्मणों के देवता हैं।

चैतन्यचरितामृत (मध्य, अध्याय १९) में भी विकासवाद की व्याख्या है। उसमें कहा गया है कि

दो प्रकार के जीव हैं—जड़ तथा चेतन। चेतन जीवों में पक्षी, पशु, जलचर, मनुष्य इत्यादि परिगणित हैं। इनमें से मनुष्यों को सर्वोत्कृष्ट माना गया है किन्तु इनकी संख्या अल्प है। इन थोड़े से मनुष्यों में निम्न श्रेणी के मनुष्य कई हैं—यथा म्लेच्छ, पुलिंद, बौद्ध तथा शबर। मनुष्यों में वैदिक नियमों को मानने वाला श्रेष्ठ है। इनमें से वर्णाश्रम धर्म (वैदिक नियम) को मानने वाले कम ही हैं। इनमें से अधिकांश सकाम कर्म करते हैं या उच्च पद प्राप्त करने के लिए पवित्र कर्म करते हैं। *मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये*—अनेक सकाम कर्मियों में से कोई एक ज्ञानी होता है। *यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वत:*—अनेक ज्ञानियों में से कोई एक भौतिक बन्धन से मुक्त हो पाता है और ऐसे लाखों मुक्त ज्ञानियों में कोई एक कृष्णभक्त होता है।

न ब्राह्मणैस्तुलये भूतमन्यत्
पश्यामि विप्रा: किमत: परं तु ।
यस्मिन्नृभि: प्रहुतं श्रद्धयाह-
मश्नामि कामं न तथाग्निहोत्रे ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ब्राह्मणै:—ब्राह्मणों के; तुलये—मैं समान मानता हूँ; भूतम्—जीव; अन्यत्—अन्य; पश्यामि—मैं देखता हूँ; विप्रा:—हे समागत ब्राह्मणो; किम्—कुछ भी; अत:—ब्राह्मणों से; परम्—श्रेष्ठ; तु—निश्चय ही; यस्मिन्—जिनमें से; नृभि:—मनुष्यों के द्वारा; प्रहुतम्—यज्ञों के विधिवत् सम्पन्न होने पर दान किया गया भोजन; श्रद्धया—श्रद्धा तथा प्रेमपूर्वक; अहम्—मैं; अश्नामि—खाता हूँ; कामम्—परम प्रसन्नतापूर्वक; न—नहीं; तथा—उस प्रकार; अग्नि-होत्रे—अग्नियज्ञ में।

हे पूज्य ब्राह्मणो, जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, इस संसार में ब्राह्मणों के तुल्य या उनसे श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं है। मैं उनके तुलना योग्य किसी को नहीं पाता। वैदिक नियमों के अनुसार यज्ञ करने के पीछे जो मेरा उद्देश्य है, उसे जब लोग समझ लेते हैं, तो वे मेरे निमित्त अर्पित भोग अत्यन्त श्रद्धा तथा प्रेमपूर्वक ब्राह्मण-मुख के द्वारा मुझे प्रदान करते हैं। इस प्रकार प्रदत्त भोजन को मैं अत्यन्त प्रसन्न होकर ग्रहण करता हूँ। निस्संदेह इस प्रकार से प्रदत्त भोजन को मैं अग्निहोत्र में होम किये भोजन की अपेक्षा अधिक प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करता हूँ।

तात्पर्य : वैदिक पद्धति के अनुसार यज्ञ समाप्ति के पश्चात् ब्राह्मणों को आमंत्रित करके उच्छिष्ट भोजन खिलाया जाता है। जब ब्राह्मण इस भोजन को खाते हैं, तो यह माना जाता है कि परमेश्वर स्वयं इसे ग्रहण कर रहे हैं। अत: योग्य ब्राह्मणों की तुलना किसी से नहीं की जा सकती। विकास की चरम सिद्धि ब्राह्मण पद पर है। ऐसी सभ्यता जो ब्राह्मण-संस्कृति पर आधारित नहीं है या जिसका मार्गदर्शन

ब्राह्मण नहीं करते वह निश्चय ही निन्दनीय है। आजकल मानवीय सभ्यता इन्द्रियतृप्ति पर आधारित है, अत: अधिक से अधिक लोग विभिन्न वस्तुओं के आदी हो रहे हैं। ब्राह्मण-संस्कृति का आदर कोई भी नहीं करता। दानवी सभ्यता उग्रकर्म के प्रति आसक्त है और अगाध काम-वासनाओं की तृप्ति के लिए बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना की जाती है। फलस्वरूप जनता सरकारी करों के कारण पीड़ित रहती है, लोग अधार्मिक हैं और वे *भगवद्गीता* में बताये गये यज्ञों को सम्पन्न नहीं करते। *यज्ञाद् भवति पर्जन्य:*—यज्ञ करने से बादल बनते हैं और पानी बरसता है और प्रचुर वर्षा के कारण प्रभूत अन्न उत्पन्न होता है। यदि राज्य का संचालन ब्राह्मण करें तो समाज भी *भगवद्गीता* के नियमों का पालन करे। तभी लोग सुखी होंगे। *अन्नाद् भवन्ति भूतानि*—जब पशु तथा मनुष्य प्रचुर अन्न खाते हैं, तो वे बलिष्ठ होते हैं और उनके हृदय तथा मस्तिष्क शान्त रहते हैं। तब वे आध्यात्मिक जीवन बिता सकते हैं, जो जीवन का परम लक्ष्य है।

धृता तनूरुशती मे पुराणी
येनेह सत्त्वं परमं पवित्रम् ।
शमो दमः सत्यमनुग्रहश्च
तपस्तितिक्षानुभवश्च यत्र ॥ २४॥

शब्दार्थ

धृता—दिव्य शिक्षा द्वारा धारण किया गया; तनू:—शरीर; उशती—भौतिक कलुष से मुक्त; मे—मेरा; पुराणी—शाश्वत; येन—जिससे; इह—इस संसार में; सत्त्वम्—सतोगुण; परमम्—परम, सर्वश्रेष्ठ; पवित्रम्—पवित्र; शम:—मन का नियंत्रण; दम:—इन्द्रियों का नियंत्रण; सत्यम्—सत्य; अनुग्रह:—अनुग्रह, कृपा; च—तथा; तप:—तपस्या; तितिक्षा—सहनशीलता; अनुभव:—ईश्वर तथा जीवात्मा का बोध; च—तथा; यत्र—जिसमें।

वेद मेरे शाश्वत दिव्य शब्दावतार हैं, इसलिए वे शब्द-ब्रह्म हैं। इस जगत में ब्राह्मण समस्त वेदों का सम्यक् अध्ययन करते हैं और उनको आत्मसात् कर लेते हैं, इसलिए उन्हें साक्षात् मूर्तरूप वेद माना जाता है। ब्राह्मण सतोगुणी होते हैं फलस्वरूप उनमें शम, दम एवं सत्य के गुण पाये जाते हैं। वे वेदों का मूल अर्थ वर्णन करते हैं और अनुग्रहवश समस्त बद्धजीवों को वेदों के उद्देश्य का उपदेश देते हैं। वे तपस्या तथा तितिक्षा का अभ्यास करते हैं और जीवात्मा तथा परम ईश्वर के पदों का अनुभव करते हैं। ये ही ब्राह्मणों के आठ गुण (सत्त्व, शम, दम, सत्य, अनुग्रह, तपस्या, तितिक्षा यथा अनुभव) हैं। अत: समस्त जीवों में ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं।

तात्पर्य : यह ब्राह्मण का सही वर्णन है। ब्राह्मण वह है, जिसने मन तथा इन्द्रियों को वश में करके

वैदिक निष्कर्षों को आत्मसात् कर लिया हो। वह वेदों का सही-सही कथन करता है। इसी की पुष्टि *भगवद्गीता* (१.१) में हुई है— *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।* वेदों के अध्ययन से श्रीकृष्ण की दिव्य स्थिति का पता चलेगा। जो वेदों के सार को आत्मसात् कर ले वही सत्य का उपदेश कर सकता है। भगवान् बद्धजीवों पर सदय हैं, क्योंकि वे कृष्णभक्ति से परिचित न होने के कारण संसार के तीन प्रकार के तापों को भोगते हैं। ब्राह्मण का परमधर्म है कि वह व्यक्तियों पर करुणा करे और उन्हें ऊपर उठाने के लिए कृष्णभक्ति का उपदेश दे। श्रीकृष्ण स्वयं बद्धजीवों को आध्यात्मिक जीवन के मूल्यों का उपदेश देने के लिए वैकुण्ठ से इस ब्रह्माण्ड में आते हैं। वे उन्हें श्रीकृष्ण में समर्पण के लिए प्रेरित करते हैं। इसी प्रकार से ब्राह्मण भी यही कार्य करते हैं। वैदिक आदेशों को आत्मसात् करके बद्धजीवों को उबारने में वे परमेश्वर के सहायक बनते हैं। अपने उच्च सत्त्व-गुण के कारण ब्राह्मण परमेश्वर को परम प्रिय हैं। वे इस भौतिक जगत में जीव के परोपकार हेतु कार्य करते हैं।

मत्तोऽप्यनन्तात्परतः परस्मात्
स्वर्गापवर्गाधिपतेर्न किञ्चित् ।
येषां किमु स्यादितरेण तेषा-
मकिञ्चनानां मयि भक्तिभाजाम् ॥ २॥

शब्दार्थ

मत्तः—मुझसे; अपि—भी; अनन्तात्—बल तथा ऐश्वर्य में असीम; परतः परस्मात्—सर्वोच्च से ऊँचा; स्वर्ग-अपवर्ग-अधिपतेः—स्वर्ग में प्राप्य सुख को मुक्ति द्वारा अथवा भौतिक सुखोपभोग द्वारा और फिर मुक्ति द्वारा प्रदान करने में समर्थ; न—नहीं; किञ्चित्—कुछ भी; येषाम्—जिसका; किम्—क्या प्रयोजन; उ—ओह; स्यात्—क्या हो सकता है; इतरेण—जिन्हें किसी वस्तु की अन्य किसी से; तेषाम्—उनका; अकिञ्चनानाम्—आवश्यकता नहीं है अथवा जिन्हें सम्पत्ति की इच्छा नहीं; मयि—मुझमें; भक्ति-भाजाम्—भक्ति करने वाले।

मैं ब्रह्मा तथा स्वर्ग के राजा इन्द्र से भी अधिक ऐश्वर्यवान, सर्वशक्तिमान तथा श्रेष्ठ हूँ। मैं स्वर्गलोक में प्राप्त होने वाले समस्त सुखों को तथा मोक्ष को देने वाला हूँ। तो भी ब्राह्मण मुझसे भौतिक सुख की कामना नहीं करते। वे अत्यन्त पवित्र तथा निस्पृह हैं। वे एकमात्र मेरी भक्ति में लगे रहते हैं। भला उन्हें अन्य किसी से भौतिक लाभों के लिए याचना करने की क्या आवश्यकता है?

तात्पर्य : यहाँ पर ब्राह्मण की सम्पूर्ण योग्यता का उल्लेख है—*अकिंचनानां मयि भक्तिभाजाम्।* ब्राह्मण सदैव ईश्वर की भक्ति में लगे रहते हैं, फलतः न उन्हें भौतिक वस्तुओं की चाह होती है, न ही

उनके पास सम्पत्ति होती है। *चैतन्यचरितामृत* (मध्य ११.८) में चैतन्य महाप्रभु ने उन शुद्ध वैष्णवों की स्थिति की व्याख्या की है, जो भगवान् के धाम वापस जाने के इच्छुक रहते हैं—*निष्किञ्चनस्य भगवद्-भजनोन्मुखस्य।* जो भगवान् के धाम वास्तव में वापस जाना चाहते हैं, वे निष्किंचन हैं—अर्थात् भौतिक सुख की उन्हें कामना नहीं रहती। श्री चैतन्य महाप्रभु का उपदेश है—*सन्दर्शनं विषयिणाम् अथ योषितां च हा हन्त हन्त विषभक्षणतोऽप्यसाधु*—ऐश्वर्य तथा स्त्री-संसर्ग द्वारा इन्द्रियतृप्ति विष से भी अधिक घातक हैं। ब्राह्मण शुद्ध वैष्णव होने के कारण सदैव ईश्वर की सेवा में लगे रहते हैं और भौतिक लाभ की उनमें रंच भी इच्छा नहीं रहती। भौतिक सुख-प्राप्ति के लिए वे ब्रह्मा, इन्द्र या शिव जैसे देवताओं की पूजा नहीं करते। यहाँ तक कि परमेश्वर से भी वे भौतिक लाभ के लिए याचना नहीं करते, अत: यह निष्कर्ष निकलता है कि इस संसार में ब्राह्मण श्रेष्ठ जीव हैं। *श्रीमद्भागवत* (३.२९.३३) में श्रीकपिलदेव भी इसकी पुष्टि करते हैं—

तस्मान्मय्यर्पिताशेषक्रियार्थात्मा निरन्तर:।
मय्यर्पितात्मन: पुंसो मयि संन्यस्तकर्मण:।
न पश्यामि परं भूतमकर्तु: समदर्शनात्॥

ब्राह्मण मनसा वाचा कर्मणा ईश्वर की सेवा में समर्पित रहने वाले हैं। ब्राह्मण से बढ़कर ऐसा अन्य कोई नहीं है, जो अपने आप को ईश्वर में लगाता है और समर्पित हो जाता है।

सर्वाणि मद्धिष्ण्यतया भवद्भि-
श्चराणि भूतानि सुता ध्रुवाणि ।
सम्भावितव्यानि पदे पदे वो
विविक्तदृग्भिस्तदु हार्हणं मे ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सर्वाणि—समस्त; मत्-धिष्ण्यतया—मेरा आसन होने के कारण; भवद्भि:—तुम्हारे द्वारा; चराणि—चर; भूतानि—जीवात्माएँ; सुता:—हे पुत्रो; ध्रुवाणि—अचर; सम्भावितव्यानि—आदरणीय; पदे पदे—पग पग पर, प्रतिक्षण; व:—तुम लोगों के द्वारा; विविक्त-दृग्भि:—स्पष्ट दृष्टि तथा ज्ञान से युक्त (परमात्मा रूप में भगवान् सर्वव्यापी हैं); तत् उ—अप्रत्यक्षत: जो; ह—निश्चय ही; अर्हणम्—आदर देते हुए; मे—मुझे।

हे पुत्रो, तुम्हें चराचर किसी जीवात्मा से ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए। यह जानते हुए कि मैं उनमें स्थित हूँ, प्रत्येक क्षण उनका समादर करना चाहिए। इस प्रकार तुम मेरा आदर करो।

तात्पर्य : इस श्लोक में *विविक्त-दृग्भि:* अर्थात् ईर्ष्यारहित शब्द का प्रयोग हुआ है। सभी

जीवात्माओं में भगवान् का वास परमात्मा रूप में होता है। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में पुष्टि की गई है—*अण्डान्तरस्थं परमाणुचयान्तरस्थम्।* इस ब्रह्माण्ड में भगवान् गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में स्थित हैं। वे प्रत्येक परमाणु में व्याप्त हैं। वेदों का कथन है—*ईशावास्यमिदं सर्वम्।* परमेश्वर सर्वत्र स्थित हैं और जहाँ कहीं भी वे स्थित हैं वह उनका मन्दिर है। हम दूर से भी मन्दिर को प्रणाम करते हैं। इसी प्रकार से समस्त जीवों को प्रणाम किया जाना चाहिए। यह उस विश्वदेवतावाद के सिद्धान्त से भिन्न है, जो प्रत्येक वस्तु को ईश्वर मानता है। ईश्वर से प्रत्येक वस्तु का सम्बन्ध है क्योंकि वे सर्वव्यापक हैं। हमें दरिद्र-नारायण के मूर्ख उपासकों की भाँति ऊँच-नीच में भेदभाव नहीं बरतना चाहिए। नारायण तो धनी तथा निर्धन दोनों में विद्यमान हैं। किसी को यह नहीं समझना चाहिए कि नारायण केवल दरिद्रों (निर्धनों) में वास करते हैं। वे सर्वत्र हैं। परम भक्त प्रत्येक प्राणी को, चाहे वह कुत्ता या बिल्ली ही क्यों न हो, सम्मान प्रदान करता है। *भगवद्गीता* (.१८) में कथन है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैव श्वपाके च पंडिता: समदर्शिन:॥

''यथार्थ से विनीत साधु विद्या तथा विनय युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल (कुत्ता-भक्षक) को समान दृष्टि से देखता है।'' इस *सम-दर्शिन:* शब्द से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि जीव तथा ईश्वर एक समान हैं। वे सदैव पृथक्-पृथक् हैं। प्रत्येक मनुष्य परमेश्वर से भिन्न है। अत: *विविक्त दृक्, सम-दृक्* के आधार पर दोनों को एक समान समझना भूल होगी। भगवान् भले ही सर्वत्र रहना स्वीकार करें, किन्तु उनका पद बड़ा है। श्रील मध्वाचार्य *पद्म-पुराण* से उद्धरण देते हुए कहते हैं—*विविक्त-दृष्टि-जीवानां धिष्ण्यतया परमेश्वरस्य भेद-दृष्टि:*—''जिसकी दृष्टि विमल है और जो ईर्ष्यारहित है उसे ईश्वर प्रत्येक जीवात्मा में स्थित रह कर भी समस्त जीवात्माओं से पृथक् दिखता है।'' वे *पद्म पुराण* से और आगे भी से उद्धरण देते हैं—

उपपादयेत परात्मानं जीवेभ्यो य: पदे पदे।

भेदेनैव न चैतस्मात् प्रियो विष्णोस्तु कश्चन॥

''जो जीवात्मा तथा परमेश्वर को पृथक्-पृथक् देखता है, वह उसे परम प्रिय होता है।'' *पद्मपुराण* में ही कहा गया है—*यो हरेश्चैव जीवानां भेदवक्ता हरे: प्रिय:*—''जो यह उपदेश देता है कि जीवात्मा

परमेश्वर से पृथक् है, वह भगवान् विष्णु को परम प्रिय होता है।''

मनोवचोदृक्करणेहितस्य
साक्षात्कृतं मे परिबर्हणं हि ।
विना पुमान्येन महाविमोहात्
कृतान्तपाशान्न विमोक्तुमीशेत् ॥ २७॥

शब्दार्थ

मनः—मन; वचः—शब्द; दृक्—दृष्टि; करण—इन्द्रियों का; ईहितस्य—समस्त कर्मों (शरीर, समाज, मैत्री इत्यादि बनाये रखने के लिए) का; साक्षात्-कृतम्—प्रत्यक्षतः प्रदत्त; मे—मुझको; परिबर्हणम्—पूजा; हि—क्योंकि; विना—बिना; पुमान्—कोई व्यक्ति; येन—जो; महा-विमोहात्—परम मोह से; कृतान्त-पाशात्—यमराज के पाश से; न—नहीं; विमोक्तुम्—मुक्त होने के लिए; ईशेत्—समर्थ होता है।

मन, दृष्टि, वचन तथा समस्त ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय इन्द्रियों का वास्तविक कार्य मेरी सेवा में लगे रहना है। जब तक जीवात्मा की इन्द्रियाँ इस प्रकार सेवारत नहीं रहतीं, तब तक जीवात्मा को यमराज के पाश सदृश सांसारिक बन्धन से निकल पाना दुष्कर है।

तात्पर्य : *नारद-पंचरात्र* में कहा गया है—

सर्वोपाधिदविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।

हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥

भक्ति का यही सार है। भगवान् ऋषभदेव लगातार भक्ति पर बल दे रहे थे और अब अन्त में यह कहते हैं कि इन्द्रियों को ईश्वर की सेवा में प्रवृत्त करना चाहिए। पाँच इन्द्रियों से हम ज्ञान अर्जित करते हैं और इतनी ही इन्द्रियों से कार्य करते हैं। ये दस इन्द्रियों तथा मन को पूर्णतया भगवान् की सेवा में लगाना चाहिए। ऐसा किये बिना माया के चंगुल से छुटकारा नहीं हो सकता।

श्रीशुक उवाच
एवमनुशास्यात्मजान्स्वयमनुशिष्टानपि लोकानुशासनार्थं महानुभावः परमसुहृद्भगवानृषभापदेश उपशमशीलानामुपरतकर्मणां महामुनीनां भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षणं पारमहंस्यधर्ममुपशिक्षमाणः स्वतनयशतज्येष्ठं परमभागवतं भगवज्जनपरायणं भरतं धरणिपालनायाभिषिच्य स्वयं भवन एवोर्वरितशरीरमात्रपरिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात्प्रवव्राज. ॥ २८॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; अनुशास्य—उपदेश दे चुकने पर; आत्म-जान्—अपने पुत्रों को; स्वयम्—स्वयं; अनुशिष्टान्—सुशिक्षित; अपि—यद्यपि; लोक-अनुशासन-अर्थम्—लोगों को शिक्षा देने के लिए; महा-अनुभावः—महान् पुरुष; परम-सुहृत्—हर एक का शुभ चिन्तक; भगवान्—भगवान्; ऋषभ-अपदेशः—जो ऋषभदेव के

नाम से विख्यात हैं; उपशम-शीलानाम्—निस्पृह व्यक्तियों का; उपरत-कर्मणाम्—सकाम कर्मों से विरक्त; महा-मुनीनाम्—संन्यासी; भक्ति—भक्ति; ज्ञान—पूर्ण ज्ञान; वैराग्य—विरक्ति; लक्षणम्—लक्षण; पारमहंस्य—श्रेष्ठ मनुष्यों का; धर्मम्—कर्तव्य; उपशिक्षमाणः—उपदेश देते हुए; स्व-तनय—अपने पुत्रों का; शत—सौ; ज्येष्ठम्—जेष्ठ; परम-भागवतम्—ईश्वर का परम भक्त; भगवत्-जन-परायणम्—ईश्वर के भक्तों (ब्राह्मणों तथा वैष्णवों) का अनुगमन करने वाला; भरतम्—भरत महाराज को; धरणि-पालनाय—संसार पर राज्य करने की दृष्टि से; अभिषिच्य—अभिषेक करके, सिंहासन पर बैठाकर; स्वयम्—स्वयं; भवने—घर पर; एव—यद्यपि; उर्वरित—रहते हुए; शरीर-मात्र—केवल शरीर; परिग्रहः—स्वीकार करते हुए; उन्मत्तः—पागल; इव—सदृश; गगन-परिधानः—आकाश को अपना वस्त्र बनाते हुए, दिगम्बर; प्रकीर्ण-केशः—बिखरे बालों वाला; आत्मनि—अपने में; आरोपित—आरोप करके; आहवनीयः—वैदिक अग्नि, अग्निहोत्र; ब्रह्मावर्तात्—ब्रह्मावर्त देश से; प्रवव्राज—सम्पूर्ण संसार में घूमने लगे।.

शुकदेव गोस्वामी ने कहा—इस प्रकार सबके हितैषी परमेश्वर ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को उपदेश दिया। यह आदर्श प्रस्तुत करने के लिए कि गृहस्थ जीवन से विरक्त होने के पूर्व पिता अपने पुत्रों को किस प्रकार शिक्षा दे, उन्होंने उन्हें शिक्षा दी, यद्यपि वे सभी पूर्णतया शिक्षित तथा शिष्ट थे। इन उपदेशों से सकाम कर्मों से न बँधने वाले तथा अपनी भौतिक कामनाओं को नष्ट करने के बाद भक्ति में लीन रहने वाले संन्यासी भी लाभ उठाते हैं। ऋषभदेव ने अपने एक सौ पुत्रों को शिक्षा दी जिनमें से सबसे बड़ा भरत था, जो परम भक्त तथा वैष्णवों का अनुयायी था। भगवान् ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को सिंहासन पर इसलिए बिठाया कि वह सारे संसार पर शासन करे। इसके पश्चात् घर में रहते हुए भी भगवान् ऋषभदेव पागल के सदृश नंगे तथा बाल बिखेरे रहने लगे। तब यज्ञ-अग्नि को अपने में लीन करके विश्व का भ्रमण करने के लिए उन्होंने ब्रह्मावर्त को छोड़ दिया।

तात्पर्य : भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को जो उपदेश दिये वे वास्तव में उनके लिए न थे, क्योंकि वे पहले से ही शिक्षित तथा उच्चतम ज्ञानी थे। वास्तव में ये उपदेश उन संन्यासियों के लिए हैं, जो महान् भक्त बनना चाहते हैं। भक्ति पथ पर अग्रसर होने वाले संन्यासियों को चाहिए कि भगवान् ऋषभदेव के उपदेशों का पालन करें। अपने परिवार में रहते हुए भी उन्होंने गृहस्थ जीवन का परित्याग कर दिया था और एक नग्न पागल की भाँति रहते थे।

जडान्धमूकबधिरपिशाचोन्मादकवदवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीतमौनव्रतस्तूष्णीं बभूव. ॥ २९॥

शब्दार्थ

जड—अचर, स्थिर; अन्ध—अंधा; मूक—गूँगा; बधिर—बहरा; पिशाच—भूत; उन्मादक—पागल; वत्—सदृश; अवधूत-वेषः—अवधूत के समान रहते हुए (संसार से विमुख); अभिभाष्यमाणः—इस प्रकार (बहरा, गूँगा तथा अंधा) संबोधित

होकर; अपि—यद्यपि; जनानाम्—लोगों द्वारा; गृहीत—ग्रहण कर लिया; मौन—न बोलने का; व्रतः—व्रत, संकल्प; तूष्णीम् बभूव—चुप रहने लगा।.

अवधूत रूप धारण करके भगवान् ऋषभदेव अंधे, बहरे तथा गूँगे, जड़, भूत अथवा पागल के समान मनुष्य-समाज में घूमने लगे। यद्यपि लोग उन्हें इन नामों से पुकारते, किन्तु वे मूक बने रहते और किसी से कुछ नहीं बोलते थे।

तात्पर्य : *अवधूत* से ऐसे व्यक्ति का बोध होता है, जो सामाजिक नियमों, विशेष रूप से वर्णाश्रम धर्म की परवाह नहीं करता। किन्तु ऐसा व्यक्ति अपने आप में लीन रह कर भगवान् का चिन्तन करता हुआ भगवान् से परम प्रसन्न रहता है। दूसरे शब्दों में जिसने वर्णाश्रम धर्म के नियमों का अतिक्रमण कर दिया हो वह अवधूत कहलाता है। ऐसा व्यक्ति माया के बन्धन से पहले ही पार हो चुका होता है और नितान्त विलग तथा स्वतंत्र रहने वाला होता है।

तत्र तत्र पुरग्रामाकरखेटवाटखर्वटशिबिरव्रजघोषसार्थगिरिवनाश्रमादिष्वनुपथमवनिचरापसदैः
परिभूयमानो मक्षिकाभिरिव
वनगजस्तर्जनताडनावमेहनष्ठीवनग्रावशकृद्रजःप्रक्षेपपूतिवातदुरुक्तैस्तदविगणयन्नेवासत्संस्थान
एतस्मिन्देहोपलक्षणे सदपदेश उभयानुभवस्वरूपेण
स्वमहिमावस्थानेनासमारोपिताहंममाभिमानत्वादविखण्डितमनाः पृथिवीमेकचरः परिबभ्राम. ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तत्र तत्र—यहाँ वहाँ; पुर—नगरों; ग्राम—गाँवों; आकर—खानों; खेट—खेतों; वाट—बगीचों; खर्वट—घाटी में स्थित गाँवों (पहाड़ी गाँवों); शिबिर—सेना की छावनियों; व्रज—गोशालाओं; घोष—अहीरों की बस्तियों; सार्थ—यात्रियों के विश्रामालयों; गिरि—पर्वतों; वन—जंगलों; आश्रम—मुनियों के वासस्थानों; आदिषु—इत्यादि में; अनुपथम्—मार्ग से जाते हुए; अवनिचर-अपसदैः—अवांछित तत्त्वों द्वारा, दुष्ट पुरुषों के द्वारा; परिभूयमानः—घिरकर; मक्षिकाभिः—मक्खियों से; इव—सदृश्य; वन-गजः—जंगली हाथी; तर्जन—चिंग्घाड़ से; ताडन—प्रताड़ित होकर; अवमेहन—शरीर पर पेशाब करते हुए; ष्ठीवन—शरीर पर थूकते हुए; ग्राव-शकृत्—पत्थर और मल; रजः—धूलि; प्रक्षेप—फेंकते हुए; पूति-वात—शरीर पर अधोवायु छोड़ते हुए; दुरुक्तैः—(तथा) गालियों से; तत्—वह; अविगणयन्—बिना परवाह किये; एव—इस प्रकार; असत्-संस्थाने—भद्र पुरुष के अयोग्य स्थान; एतस्मिन्—इसमें; देह-उपलक्षणे—देह के रूप में; सत्-अपदेशे—सत्य कहलाने वाला; उभय-अनुभव-स्वरूपेण—देह तथा आत्मा की वास्तविक स्थिति समझने से; स्व-महिम—अपनी महिमा में; अवस्थानेन—स्थिर हो करके; असमारोपित-अहम्-मम-अभिमानत्वात्—'मैं तथा मेरी' ममता को अस्वीकार करने से; अविखण्डित-मनाः—अविचलित मन से; पृथिवीम्—सारे संसार में; एक-चरः—अकेले; परिबभ्राम—घूमता था।.

ऋषभदेव नगरों, गाँवों, खानों, किसानों की बस्तियों, घाटियों, बागों, सैनिक छावनियों, गोशालाओं, अहीरों की बस्तियों, यात्रियों के विश्रामालयों, पर्वतों, जंगलों तथा आश्रमों के बीच घूमने लगे। जहाँ भी वे जाते, उन्हें दुष्ट जन उसी प्रकार घेर लेते जिस प्रकार जंगली हाथी को मक्खियाँ घेर लेती हैं। उन्हें डराया धमकाया और मारा जाता, उन पर पेशाब किया जाता और थूका जाता। यहाँ तक कि कभी-कभी उन पर पत्थर, विष्ठा और धूल फेंकी जाती और

कभी-कभी तो लोग उनके समक्ष अपानवायु निकालते। इस प्रकार लोग उन्हें भला-बुरा कहते और अत्यधिक यातना देते, किन्तु उन्होंने कभी भी इसकी परवाह नहीं की, क्योंकि वे यह समझते थे कि इस शरीर का यही अन्त है। वे आत्म-पद पर स्थित थे और सिद्ध होने से ऐसे भौतिक तिरस्कारों की तनिक भी परवाह नहीं करते थे। अर्थात् उन्हें इसका पूर्ण ज्ञान हो चुका था कि पदार्थ (देह) तथा आत्मा पृथक्-पृथक् हैं। उनमें देहात्म-बुद्धि न थी। अतः वे किसी पर क्रुद्ध हुए बिना सारे संसार में अकेले ही घूमने लगे।

तात्पर्य : नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं—*देह स्मृति नाहि यार, संसार-बन्धन काहाँ तार।* जब मनुष्य को यह पूरी तरह अनुभव होने लगता है कि यह देह तथा संसार क्षणिक हैं, तो उसे शारीरिक दुख तथा सुख की परवाह नहीं रहती। जैसाकि श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (२.१४) में में उपदेश देते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

"हे कुन्तीपुत्र! इन्द्रिय और विषयों के संयोग से होने वाले सुख-दुख की प्राप्ति सर्दी-गर्मी के मौसम के आने-जाने के समान ही अनित्य और क्षणभगुंर है। इसलिए हे भारत! बिना विचलित हुए उन्हें सहने का अभ्यास करो।"

जहाँ तक ऋषभदेव की बात है, यह पहले ही बताया जा चुका है कि *इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यम्।* उनका देह भूतमय नहीं था इसलिए समाज के दुश्चरित्रों ने उन्हें जो यातनाएँ दीं उन्हें उन्होंने सकृत किया। इसलिए अपने ऊपर मल फेंके जाने तथा प्रताड़ना को वे सह सके। उनका शरीर दिव्य था, अत: उन्हें पीड़ा नहीं होती थी। वे सदैव दिव्य आनन्द में मग्न रहते थे। *भगवद्गीता* (१८.६१) में कहा गया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

"हे अर्जुन! परमेश्वर प्राणीमात्र के हृदय में स्थित हैं। वही देहरूपी यंत्र में आरूढ़ रह कर सब जीवों को अपनी माया शक्ति से घुमाता रहता है।"

चूँकि ईश्वर सबके हृदय में स्थित है, अतः वह शूकर तथा कूकर के हृदय में भी स्थित है। यदि

शूकर तथा कूकर गन्दे स्थान में रहते हैं, तो यह नहीं समझना चाहिए कि ईश्वर भी अपने परमात्मा रूप में गन्दे स्थान में रहते हैं। यद्यपि संसार के दुर्जन ऋषभदेव को यातना दे रहे थे, किन्तु इनका उन पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। अत: यहाँ यह कहा गया है—*स्व महिमा-अवस्थानेन*—वे अपनी महिमा में स्थित थे। यहाँ जिस प्रकार उन्हें यातना दिये जाने का वर्णन है, उससे वे कभी दुखी नहीं हुए।

अतिसुकुमारकरचरणोर:स्थलविपुलबाह्वंसगलवदनाद्यवयवविन्यास: प्रकृतिसुन्दरस्वभावहाससुमुखो नवनलिनदलायमानशिशिरताराारुणायतनयनरुचिर: सदृशसुभगकपोलकर्णकण्ठनासो विगूढस्मितवदनमहोत्सवेन पुरवनितानां मनसि कुसुमशरासनमुपदधान: परागवलम्बमानकुटिलजटिलकपिशकेशभूरिभारोऽवधूतमलिननिजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत. ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

अति-सु-कुमार—अत्यन्त कोमल; कर—हाथ; चरण—पाँव; उर:-स्थल—वक्षस्थल, छाती; विपुल—दीर्घ, लम्बे; बाहु—भुजाएँ; अंस—कंधे; गल—गला; वदन—मुख; आदि—इत्यादि; अवयव—अंग; विन्यास:—सुगठित; प्रकृति—स्वभाव से; सुन्दर—आकर्षक; स्व-भाव—स्वाभाविक; हास—मन्द मुस्कान; सु-मुख:—सुन्दर मुख; नव-नलिन-दलायमान—नव विकसित कमल पुष्प की पंखड़ियों के समान दिखने वाला; शिशिर—सब दुखों को हरने वाले; तार—नेत्र गोलक; अरुण—लाली लिए हुए; आयत—फैले हुए, विशाल; नयन—नेत्रों से; रुचिर:—मोहक; सदृश—समान; सुभग—सुन्दर; कपोल—गाल; कर्ण—कान; कण्ठ—गर्दन; नास:—नासिका, नाक; विगूढ-स्मित—अस्फुट हास; वदन—मुख से; महा-उत्सवेन—उत्सव सदृश लगने वाला; पुर-वनितानाम्—पुर-नारियों के; मनसि—मन में; कुसुम-शरासनम्—कामदेव; उपदधान:—जागरित करते हुए; पराक्—चारों ओर; अवलम्बमान—खुली,फैली; कुटिल—घुँघराले; जटिल—जटायुक्त; कपिश—भूरे; केश—बालों की; भूरि-भार:—अधिकता; अवधूत—उपेक्षित; मलिन—गंदा, धूल-धूसरित; निज-शरीरेण—अपने शरीर से; ग्रह-गृहीत:—भूतग्रस्त; इव—मानो; अदृश्यत—दिखाई पड़ता था।.

भगवान् ऋषभदेव के हाथ, पाँव तथा वक्षस्थल अत्यन्त दीर्घ थे। उनके कंधे, मुख तथा अंग-प्रत्यंग अत्यन्त सुगठित तथा सुकोमल थे। उनका मुख उनकी सहज मुस्कान से मंडित था और उनके खुले हुए लाल-लाल नेत्र ऐसे प्रतीत होते थे मानो प्रात:कालीन ओस कणों से युक्त नव विकसितकमल पुष्प की पंखड़ियाँ हों। इस कारण वे और भी अधिक सुन्दर दिखते थे उनकी पुतलियाँ इतनी मनोहर थीं कि देखने वालों का सारा सन्ताप हर लेती थीं। उनके कपोल, कान, गर्दन, नाक तथा अन्य अंग अतीव सुन्दर थे। उनके मन्द हास से उनका मुख इतना आकर्षक प्रतीत होता था कि विवाहित नारियों का भी मन खिंच जाता था। ऐसा प्रतीत होता था मानो कामदेव ने अपने बाणों से उन्हें बींध दिया हो। उनके सिर के चारों ओर घुँघराली भूरी जटाएँ थीं। उनके सिर के बाल छितरे थे क्योंकि उनका शरीर गंदा और उपेक्षित था। ऐसा प्रतीत होता था मानो उन्हें किसी भूत ने सता रखा हो।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् ऋषभदेव का शरीर उपेक्षित था, किन्तु उनके दिव्य अंग-प्रत्यंग इतने आकर्षक थे कि विवाहित स्त्रियाँ तक आकृष्ट हो जाती थीं। उनकी सुन्दरता तथा मलिनता के मिल जाने से उनका सुन्दर शरीर ऐसा लगता था मानो किसी भूत ने उनका पीछा कर रखा हो।

यर्हि वाव स भगवान्लोकमिमं योगस्याद्धा प्रतीपमिवाचक्षाणस्तत्प्रतिक्रियाकर्म बीभत्सितमिति व्रतमाजगरमास्थितः शयान एवाश्नाति पिबति खादत्यवमेहति हदति स्म चेष्टमान उच्चरित आदिग्धोद्देशः. ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यर्हि वाव—जब; सः—उस; भगवान्—भगवान् ने; लोकम्—जनता को; इमम्—इस; योगस्य—योग का; अद्धा—प्रत्यक्ष; प्रतीपम्—विरुद्ध; इव—सदृश्य; आचक्षाणः—देखते हुए; तत्—उसकी; प्रतिक्रिया—विरोध में; कर्म—क्रिया; बीभत्सितम्—बीभत्स, घृणित; इति—इस प्रकार; व्रतम्—आचरण, वृत्ति; आजगरम्—अजगर का (एक स्थान पर पड़े रहने का); आस्थितः—स्वीकार करके; शयानः—लेटे रहना; एव—निस्सन्देह; अश्नाति—भोजन करता है; पिबति—पीता है; खादति—खाता (चबाता) है; अवमेहति—पेशाब करता है; हदति—मल-त्याग करता है; स्म—इस प्रकार; चेष्टमानः—लुढ़कते हुए; उच्चरिते—मल तथा मूत्र में; आदिग्ध-उद्देशः—इस प्रकार उसका शरीर लथपथ हो गया।.

जब भगवान् ऋषभदेव ने देखा कि जनता उनकी योग-साधना में विघ्न रूप है, तो उन्होंने इसकी प्रतिक्रिया में अजगर का सा आचरण (वृत्ति) ग्रहण कर लिया। वे एक ही स्थान पर लेटे रहने लगे। वे लेटे ही लेटे खाते, पीते, पेशाब तथा मल त्याग करते और उसी पर लोट-पोट करते। यहाँ तक कि वे अपने सारे शरीर को अपने ही मल-मूत्र से सान लेते जिससे उनके विरोधी उन्हें विचलित न करें।

तात्पर्य : अपने प्रारब्ध के अनुसार एक ही स्थान पर रहकर भी मनुष्य सुख तथा दुख उठाता है। यह शास्त्रों का आदेश है। जब वह सिद्ध हो जाता है, तो वह एक ही स्थान पर रह सकता है और परम नियन्ता उसकी समस्त आवश्यकताओं को पूरा करता है। जब तक वह उपदेशक न हो, उसे संसार भर में घूमने की कोई आवश्यकता नहीं है। एक स्थान पर रहते हुए मनुष्य काल तथा स्थिति के अनुसार भक्ति कर सकता है। जब ऋषभदेव ने देखा कि संसार भर में घूमते रहने से उनको बाधा पहुँचती है, तो उन्होंने अजगर तुल्य एक ही स्थान पर लेटे रहने का निश्चय किया। इस तरह वे लेटे-लेटे खाते-पीते, मल-मूत्र त्यागते और अपने शरीर को उसी में साने रहते जिससे लोग उन्हें सताएँ नहीं।

तस्य ह यः पुरीषसुरभिसौगन्ध्यवायुस्तं देशं दशयोजनं समन्तात्सुरभिं चकार. ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसकी; ह—निस्संदेह; यः—जो; पुरीष—मल की; सुरभि—सुगन्धि से; सौगन्ध्य—सुरभित होकर; वायुः—वायु; तम्—उस; देशम्—देश को; दश योजनम्—दस योजन तक (एक योजन आठ मील के तुल्य); समन्तात्—चारों ओर; सुरभिम्—सुगन्धित; चकार—कर दिया।

इस अवस्था में रहने के कारण जनता ने ऋषभदेव को परेशान नहीं किया। परंतु उनके मल-मूत्र से दुर्गन्धि नहीं निकली। उल्टे, उनका मल-मूत्र इतना सुगन्धित था कि अस्सी मील तक का प्रदेश इसकी सुगन्ध से भर गया।

तात्पर्य : इस वर्णन से हम यह कल्पना कर सकते हैं कि ऋषभदेव को दिव्य आनन्द प्राप्त था। उनका मल-मूल सामान्य प्राणी के मलमूत्र से सर्वथा भिन्न था, वह सुगन्धित था। इस भौतिक लोक में भी गाय के गोबर को पवित्र और कृमिनाशक माना जाता है। एक स्थान पर गोबर का कितना बड़ा ढेर क्यों न लगा दिया जाये उससे दुर्गन्ध नहीं आएगी। हम इसे पक्का मान लें कि वैकुण्ठ-जगत में मल-मूत्र भी सुगन्धित होते हैं। वस्तुतः ऋषभदेव के मल-मूत्र से सारा वायुमण्डल अत्यन्त सुगन्धित हो गया था।

एवं गोमृगकाकचर्यया व्रजंस्तिष्ठन्नासीनः शयानः काकमृगगोचरितः पिबति खादत्यवमेहति स्म. ॥ ३४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; गो—गायों; मृग—हिरन; काक—कौवे की; चर्यया—चर्या (क्रिया) द्वारा; व्रजन्—घूमते हुए; तिष्ठन्—खड़े-खड़े; आसीनः—बैठे हुए; शयानः—लेटे हुए; काक-मृग-गो-चरितः—कौवों, हिरणों तथा गायों की भाँति आचरण करते हुए; पिबति—पीता है; खादति—खाता है; अवमेहति—पेशाब करता है; स्म—उसने ऐसा किया।

इस प्रकार ऋषभदेव ने गायों, हिरणों तथा कौवों की वृत्ति का अनुगमन किया। कभी वे इधर-इधर चलते तो कभी एक स्थान पर बैठे रहते। कभी वे लेट जाते। इस प्रकार वे गाय, हिरण तथा कौवे के समान ही आचरण करते। उन्हीं के समान वे खाते-पीते तथा मल-मूत्र का त्याग करते। इस प्रकार वे लोगों को धोखे में रखे रहे।

तात्पर्य : भगवान् होने के कारण ऋषभदेव को दिव्य देह प्राप्त थी। चूँकि सामान्य लोग उनकी वृत्ति तथा योगसाधना को नहीं समझ पाये इसलिए वे उनको तंग करने लगे। अत: उन्हें ही धोखा देने के लिए उन्होंने गाय, हरिण तथा कौवे का सा आचरण प्रारम्भ किया।

इति नानायोगचर्याचरणो भगवान्कैवल्यपतिरृषभोऽविरतपरममहानन्दानुभव आत्मनि सर्वेषां भूतानामात्मभूते भगवति वासुदेव आत्मनोऽव्यवधानानन्तरोदरभावेन सिद्धसमस्तार्थपरिपूर्णो योगैश्वर्याणि

वैहायसमनोजवान्तर्धानपरकायप्रवेशदूरग्रहणादीनि यदृच्छयोपगतानि नाञ्जसा नृप हृदयेनाभ्यनन्दत्. ॥ ३॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; नाना—अनेक; योग—योग की; चर्या—क्रियाएँ; आचरणः—अभ्यास करते हुए; भगवान्—भगवान्; कैवल्य-पतिः—कैवल्य के स्वामी अथवा सायुज्य मुक्ति के दाता; ऋषभः—ऋषभदेव; अविरत—निरन्तर; परम—परम; महा—अत्यधिक; आनन्द-अनुभवः—आनन्द के अनुभव द्वारा; आत्मनि—परम-आत्मा में; सर्वेषाम्—सब; भूतानाम्—जीवात्माओं के; आत्म-भूते—हृदय में स्थित होकर; भगवति—भगवान्; वासुदेवे—वसुदेव के पुत्र, श्रीकृष्ण में; आत्मनः—स्वयं का; अव्यवधान—विधान में अन्तर न आने से; अनन्त—असीम; रोदर—यथा रोदन, हास तथा सिहरन; भावेन—प्रेम के लक्षणों से; सिद्ध—सिद्ध, पूर्ण; समस्त—सब; अर्थ—वांछित धन; परिपूर्णः—पूरित; योग-ऐश्वर्याणि—योग-शक्तियाँ; वैहायस—आकाश में उड़ना; मनः-जव—मन की गति से दौड़ना; अन्तर्धान—अदृश्य होने की शक्ति; परकाय-प्रवेश—दूसरे के शरीर में प्रवेश करने की क्षमता; दूर-ग्रहण—दूर की वस्तुओं को देखने की शक्ति, दूर-दृष्टि; आदीनि—इत्यादि; यदृच्छया—स्वतः, बिना किसी बाधा के; उपगतानि—प्राप्त किया; न—नहीं; अञ्जसा—प्रत्यक्षतः; नृप—हे राजा परीक्षित; हृदयेन—हृदय से; अभ्यनन्दत्—स्वीकार कर लिया।

हे राजा परीक्षित, श्रीकृष्ण के अंश भगवान् ऋषभदेव ने समस्त योगियों को योगसाधना प्रदर्शित करने के उद्देश्य से अनेक विचित्र कार्य किये। वे मुक्ति के स्वामी थे और दिव्य आनन्द में सतत लीन रहते थे। जो हजारों गुणा बढ़ गया था। वसुदेव के पुत्ररुप वासुदेव कृष्ण उनके आदि कारण हैं। उनके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं; फलतः भगवान् ऋषभदेव रोने, हँसने तथा थरथराने के प्रिय लक्षण प्रकट करने लगे। वे दिव्य प्रेम में सदैव निमग्न रहते। फलस्वरूप सभी योग शक्तियाँ अपने आप उनके पास पहुँचती—यथा मन की गति से आकाश-गमन, प्रकट और अदृश्य होना, अन्यों के शरीर में प्रवेश कर जाना तथा दूरस्थ वस्तुओं को देख पाना। यद्यपि वे इन सबको कर सकने में समर्थ थे, किन्तु उन्होंने इन शक्तियों का प्रयोग नहीं किया।

तात्पर्य : *चैतन्यचरितामृत* (मध्य १९.१४९) में कहा गया है—

कृष्ण भक्त—निष्काम, अतएव 'शान्त'।

भुक्ति-मुक्ति-सिद्धि-कामी—सकलि 'अशान्त'॥

शान्त शब्द का अर्थ है पूर्णतः शान्ति-युक्त। जब तक मनुष्य की समस्त कामनाएँ पूर्ण नहीं हो जातीं, वह शान्त नहीं हो सकता। प्रत्येक मनुष्य अपनी आकांक्षाओं तथा कामनाओं की पूर्ति चाहता है चाहे वे भौतिक हों या आध्यात्मिक। जगत में रहने वाले लोग अशान्त हैं क्योंकि उनकी आकाक्षाएँ अगणित है। किन्तु शुद्ध भक्त निष्काम होता है। *अन्याभिलाषिता-शून्य*—शुद्ध भक्त सभी प्रकार की भौतिक कामनाओं से मुक्त होता है। इसके विपरीत सारे कर्मी कामनाओं से युक्त होते हैं, क्योंकि वे इन्द्रियतृप्ति का सुख उठाना चाहते हैं। वे न तो इस जीवन में शान्त हैं, न ही अगले जीवन में होंगे। न

ही भूत काल में थे, न वर्तमान और भविष्य में। इसी प्रकार ज्ञानी लोग सदैव मुक्ति-कामी होते हैं और परमात्मा के साथ तादात्म्य चाहते हैं। योगीजन अनेक सिद्धियों के पीछे रहते हैं जैसे अनिमा, लगिमा प्राप्ति इत्यादि। किन्तु भक्त को इन वस्तुओं में कोई रुचि नहीं होती, क्योंकि वह श्रीकृष्ण के अनुग्रह पर पूरी तरह आश्रित रहता है। कृष्ण योगेश्वर हैं, समस्त योग (सिद्धियों) के स्वामी हैं। वे आत्माराम अर्थात् स्वयं-संतुष्ट हैं। इस श्लोक में योगसिद्धियों का वर्णन हुआ है। इनसे मनुष्य बिना किसी यंत्र के अन्तरिक्ष में उड़ सकता है और मन की गति से यात्रा कर सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जब कभी योगी को इस ब्रह्माण्ड के अन्दर या बाहर कहीं जाने की इच्छा होती है, तो वह तुरन्त वहाँ पहुँच जाता है। मन की गति को निर्धारित करना कठिन है, क्योंकि एक क्षण में मन लाखों मील चला जाता है। कभी-कभी सिद्ध योगी परकाय-प्रवेश करके अपनी इच्छानुसार कार्य करते हैं। वृद्ध होने पर कभी-कभी सिद्ध योगी तरुण तथा बलवान शरीर प्राप्त कर सकता है। अपने वृद्ध शरीर को त्याग कर वह तरुण शरीर में प्रवेश कर सकता है और इच्छानुसार कार्य कर सकता है। भगवान् वासुदेव के अंश होने के कारण ऋषभदेव में ये समस्त योगशक्तियाँ थीं, किन्तु वे श्रीकृष्ण की भक्ति से ही सन्तुष्ट थे जिसका प्रत्यक्षीकरण उनके हँसने, रोने या कंपन से होता था।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कंध के अन्तर्गत ''भगवान् ऋषभदेव द्वारा अपने पुत्रों को उपदेश'' नामक पाँचवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छः

भगवान् ऋषभदेव के कार्यकलाप

इस अध्याय में भगवान् ऋषभदेव के देह-त्याग का वर्णन है। जब उनका शरीर दावाग्नि में जल रहा था, तब भी वे अपने शरीर से आसक्त न थे। जब कर्म-बीज को ज्ञान की अग्नि से जलाया जाता है, तो दिव्यगुण तथा योगशक्तियाँ स्वत: प्रकट होती हैं, किन्तु तो भी इन योगशक्तियों का भक्तियोग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सामान्य योगी योगशक्तियों से मोहित हो जाता है और उसकी उन्नति रुक जाती है, अत: सिद्ध योगी इनको अच्छा नहीं समझता। मन अस्थिर (चंचल) तथा अविश्वसनीय है, अत: इसे सदैव नियंत्रण (वश) में रखना चाहिए। यहाँ तक कि सौभरि जैसे सिद्ध योगी का मन इतना चंचल

हो गया कि उसकी समस्त योगशक्तियाँ जाती रहीं। मन के चंचल होने से परम सिद्ध योगी भी च्युत हो सकता है। मन इतना चंचल है कि सिद्ध योगी को भी यह इन्द्रियों द्वारा वशीभूत होने पर विवश कर देता है। फलत: समस्त योगियों को उपदेश देने के लिए ही भगवान् ऋषभदेव ने देह-त्याग की क्रिया प्रदर्शित की। दक्षिण भारत में कर्नाट, कोंक, वेंक तथा कुटक प्रदेशों का भ्रमण करते हुए वे कुटकाचल के निकट पहुँचे। अचानक वहाँ जंगल में आग लग गई जिसमें वह जंगल और ऋषभदेव का शरीर जल कर राख बन गया। मुक्त जीव के रूप में ऋषभदेव की लीलाओं का पता कोंक, वेंक तथा कुटक के राजा को था। इस राजा का नाम अर्हत् था। बाद में वह माया के वशीभूत हो गया और इस स्थिति में जैनवाद का प्रवर्तक बना। ऋषभदेव ने ऐसे धर्म नियमों की स्थापना की जिनसे मनुष्य भौतिक बन्धन से मुक्त हो सके। उन्होंने सब प्रकार के नास्तिक कार्यों का अन्त कर दिया। इस धरा में भारतवर्ष नामक स्थान (देश) अत्यन्त पवित्र है, क्योंकि जब-जब परमेश्वर को अवतरित होने की इच्छा हुई, तब वे इसी भूमि में अवतरित हुए।

ऋषभदेव ने उन सभी योगशक्तियों की उपेक्षा की जिनके पीछे तथाकथित योगी फिरते रहते हैं। भक्ति की भव्यता के कारण भक्तगण तथाकथित योगशक्ति में बिल्कुल रुचि नहीं रखते। योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्त को ओर से सभी शक्तियों का प्रदर्शन करने वाले हैं। भक्ति योगशक्ति से कहीं अधिक मूल्यवान है। कभी कभी भक्त दिग्भ्रमित कर दिए जाते हैं और वे मुक्ति तथा योगशक्तियों की आकांक्षा करने लगते हैं। परमेश्वर इन भक्तों की समस्त इच्छाओं को पूरा करने वाले हैं। भक्ति तो उन्हीं को मिलती है, जो मुक्ति तथा योग की कामना नहीं करते हैं।

राजोवाच

न नूनं भगव आत्मारामाणां योगसमीरितज्ञानावभर्जितकर्मबीजानामैश्वर्याणि पुन: क्लेशदानि भवितुमर्हन्ति यदृच्छयोपगतानि. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा परीक्षित ने पूछा; न—नहीं; नूनम्—निस्सन्देह; भगव:—हे सर्वशक्तिमान शुकदेव गोस्वामी; आत्मारामाणाम्—भक्ति में रत विशुद्ध भक्तों का; योग-समीरित—योग साधना से प्राप्त; ज्ञान—ज्ञान से; अवभर्जित—दग्ध; कर्म-बीजानाम्—कर्मरूपी बीजों का; ऐश्वर्याणि—योग शक्तियों से; पुन:—फिर; क्लेशदानि—क्लेश के कारण; भवितुम्—होने में; अर्हन्ति—समर्थ हैं; यदृच्छया—स्वत:, स्वयं ही; उपगतानि—प्राप्त हो जाती हैं।

राजा परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा—हे भगवन्, जो पूर्णरूपेण विमल हृदय हैं उन्हें

भक्तियोग से ज्ञान प्राप्त होता है और सकाम कर्म के प्रति आसक्ति जलकर राख हो जाती है। ऐसे व्यक्तियों में योग शक्तियाँ स्वतः उत्पन्न होती हैं। इनसे किसी प्रकार का क्लेश नहीं पहुँचता, तो फिर ऋषभदेव ने उनकी उपेक्षा क्यों की?

तात्पर्य : शुद्ध भक्त भगवान् की निरन्तर सेवा करता है। भक्ति करने के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है वे उसे स्वतः प्राप्त होती रहती हैं, यद्यपि इसे योगशक्ति के फलस्वरूप माना जा सकता है। कभी-कभी योगी सोना बना कर अपनी तुच्छ योगशक्ति का परिचय देते हैं। थोड़े से सोने से मूर्ख जनता मोहित हो जाती है और योगी के अनेक अनुयायी बन जाते हैं, जो जान-बूझ कर ऐसे तुच्छ मनुष्य को भगवान् मान बैठते हैं। ऐसा योगी अपने को भगवान् कह कर विज्ञापित करता है। किन्तु भक्त को ऐसी जादूगरी करने की आवश्यकता नहीं होती। बिना योग-साधना के ही उसे विश्व भर का इससे भी अधिक ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है। ऐसी दशा में ऋषभदेव ने अपनी योग-सिद्धियों को प्रकट करने से इनकार किया। इसीलिए महाराज परीक्षित ने प्रश्न किया कि ऋषभदेव ने भक्त के लिए बाधक न होने वाली इन सिद्धियों को स्वीकार क्यों नहीं किया? भक्त ये ऐश्वर्य से न तो घबड़ाता है, न प्रसन्न होता है। उसका एकमात्र लक्ष्य होता है कि भगवान् को किस प्रकार प्रसन्न रखा जाये। यदि भगवान् के अनुग्रह से भक्त को अभूतपूर्व ऐश्वर्य प्राप्त होता है, तो वह उसका उपयोग ईश्वर की सेवा में करता है। वह ऐश्वर्य से विचलित नहीं होता।

ऋषिरुवाच
सत्यमुक्तं किन्त्विह वा एके न मनसोऽद्धा विश्रम्भमनवस्थानस्य शठकिरात इव सङ्गच्छन्ते. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ऋषिः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सत्यम्—सत्य वचन; उक्तम्—कहा गया; किन्तु—लेकिन; इह—इस संसार में; वा—अथवा; एके—कुछ; न—नहीं; मनसः—मन का; अद्धा—प्रत्यक्ष, साक्षात्; विश्रम्भम्—विश्वासपात्र; अनवस्थानस्य—अस्थिर होकर; शठ—अत्यन्त चालाक; किरातः—बहेलिया; इव—सदृश; सङ्गच्छन्ते—हो जाते हैं।.

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया—हे राजन्, तुमने बिल्कुल सत्य कहा है। किन्तु जिस प्रकार चालाक बहेलिया पशुओं को पकड़ने के बाद उन पर विश्वास नहीं करता, क्योंकि वे भाग सकते हैं। उसी प्रकार महापुरुष अपने मन पर भरोसा नहीं करते। दरअसल, वे सदा जागरूक रहते हुए मन की गति पर नजर रखे रहते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१८.) में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

यज्ञदानतप:कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

"यज्ञ, तप और दान रूपी कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए, इन्हें अवश्य करना चाहिए (ये कर्तव्य हैं)। वस्तुत:, यज्ञ, दान और तप इत्यादि महात्माओं को भी शुद्ध करने वाले हैं।"

जो संसार से विरक्त होकर संन्यासी हो गये हैं उन्हें "हरे कृष्ण महामंत्र" के कीर्तन का परित्याग नहीं करना चाहिए। संन्यास का अर्थ यह नहीं है कि संकीर्तन यज्ञ को भी त्यागा जाये। इसी प्रकार दान या तपस्या का भी परित्याग नहीं करना चाहिए। मन तथा इन्द्रियों के नियमन की योग-पद्धति का दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिए। ऋषभदेव ने यह दिखला दिया है कि किस प्रकार से कठिन से कठिन तपस्या की जाती है। उन्होंने अन्य सभी के लिए आदर्श उपस्थित किया है।

तथा चोक्तम्—

न कुर्यात्कर्हिचित्सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते ।
यद्विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तथा—इस प्रकार; च—और; उक्तम्—कहा गया है; न—कदापि नहीं; कुर्यात्—करना चाहिए; कर्हिचित्—किसी समय या किसी से; सख्यम्—मित्रता; मनसि—मन से; हि—निश्चय ही; अनवस्थिते—चंचल; यत्—जिसमें; विश्रम्भात्—अत्यधिक विश्वास करने से; चिरात्—दीर्घ काल तक; चीर्णम्—अभ्यास की गई; चस्कन्द—विचलित हो गयी; तप:—तपस्या; ऐश्वरम्—शिव तथा सौभरि जैसे महापुरुषों की।.

सभी विद्वानों ने अपने-अपने मत व्यक्त किये हैं। मन स्वभाव से अत्यन्त चंचल है। मनुष्य को चाहिए कि वे इससे मित्रता न करे। यदि हम मन पर पूर्ण विश्वास करते हैं, तो यह किसी क्षण धोखा दे सकता है। यहाँ तक कि शिवजी श्रीकृष्ण के मोहिनी रूप को देखकर उत्तेजित हो उठे और सौभरि मुनि भी योग की सिद्धावस्था से च्युत हो गये।

तात्पर्य : जो आत्म-जीवन में आगे बढ़ना चाहता है उसका पहला कार्य होगा कि अपने मन तथा इन्द्रियों पर संयम रखे। जैसाकि *भगवद्गीता* (१.७) में श्रीकृष्ण । कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन।

मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

यद्यपि जीवात्माएँ परमेश्वर के अंशरूप होने के कारण दिव्य स्थिति को प्राप्त हैं, किन्तु इस जगत में वे अपने मन तथा इन्द्रियों के कारण दुख उठा रही हैं। इन दुखों से उबरने के लिए आवश्यक है कि

मन तथा इन्द्रियों को वश में किया जाये और भौतिक स्थितियों से विरक्त हुआ जाये। मनुष्य को चाहिए कि तप करना न छोड़े। भगवान् ऋषभदेव ने साक्षात् प्रदर्शित किया कि किस प्रकार यह करना चाहिए। *श्रीमद्भागवत* (९.१९.१७) में इसका विशेष रूप से उल्लेख हुआ है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत्।

बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी तथा ब्रह्मचारी को स्त्री-संगति से सावधान रहना चाहिए। यहाँ तक कि अपनी माँ, बहन या लड़की के साथ एकान्त में बैठना वर्जित है। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन के समाज में, विशेष रूप से पश्चिमी देशों में, स्त्रियों से विलग रह पाना कठिन है। इसीलिए कभी-कभी हमारी आलोचना भी की जाती है, किन्तु हम प्रत्येक प्राणी को "हरे कृष्ण महामंत्र" जपने का समान अधिकार प्रदान कर रहे हैं और इस प्रकार उन्हें आध्यात्मिक मार्ग में अग्रसर बना रहे हैं। यदि हम निष्पाप भाव से हरे कृष्ण महामंत्र का जाप करते रहें तो श्रील हरिदास ठाकुर के अनुग्रह से हम स्त्रियों के आकर्षण से बच सकते हैं। किन्तु यदि हम हरे कृष्ण महामंत्र के जाप में तनिक भी ढिलाई बरतेंगे तो हम किसी भी समय स्त्रियों के शिकंजे में आ सकते हैं।

नित्यं ददाति कामस्य च्छिद्रं तमनु येऽरयः ।
योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली ॥ ४॥

शब्दार्थ

नित्यम्—सदा; ददाति—देता है; कामस्य—विषय की; छिद्रम्—सुविधा; तम्—वह (विषय); अनु—पीछा करता हुआ; ये—जो; अरयः—शत्रुजन; योगिनः—आध्यत्मिक जिवन में प्रगति की इच्छा करनेवाला अथवा योगियों का; कृत-मैत्रस्य—मन में विश्वास करके; पत्युः—पति का; जाया इव—पत्नी के समान; पुंश्चली—व्यभिचारिणी, जार पुरुषों के बहकावे में आने वाली स्त्री।

व्यभिचारिणी स्त्री जार पुरुषों के बहकावे में आसानी से आकर कभी कभी अपने पति का उनसे बध करवा देती है। यदि योगी अपने मन के ऊपर संयम नहीं रखता और उसे अवसर (छूट) प्रदान करता है, तो उसका मन एक प्रकार से काम, क्रोध तथा लोभ जैसे शत्रुओं को प्रश्रय देगा है, जो निश्चय ही योगी को मार डालेंगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *पुंश्चली* शब्द ऐसी स्त्री के लिए प्रयुक्त है जो पुरुषों के बहकावे में सुगमता से आ जाती है। ऐसी स्त्री का कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। दुर्भाग्यवश, इस युग में स्त्रियों को

नियंत्रित नहीं किया जाता। शास्त्रों के निर्देशानुसार स्त्रियों को स्वतंत्र नहीं करना चाहिए। जब स्त्री कन्या रहती है, तो पिता को चाहिए कि उस पर नियंत्रण रखे। जब वह युवती हो जाये तो उसके पति को और वृद्ध होने पर उसके सयाने पुत्रों को उस पर नियंत्रण रखना चाहिए। यदि उसे स्वतंत्रता दी जाती है और पुरुषों के साथ बे रोक टोक उठने-बैठने दिया जाता है, तो वह बिगड़ (भ्रष्ट) जाएगी। ऐसी भ्रष्ट (व्यभिचारिणी) स्त्री, जार पुरुषों के बहकावे में आकर अपने पति का भी वध कर सकती है। यहाँ पर यह उद्धरण इसलिए प्रस्तुत किया गया है, जिससे सांसारिकता से मुक्त होने का इच्छुक योगी सदा ही अपने मन को संयमित रखे। श्रील भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहा करते थे कि प्रात: काल उठते ही मन को सौ-सौ जूते लगाना चाहिए और सोने के पूर्व मन को झाड़ू से सौ बार पीटना चाहिए। इस प्रकार से मनुष्य का मन संयमित रहता है। असंयमित मन तथा व्यभिचारिणी स्त्री की दशा एक समान है। जिस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्री किसी भी समय अपने पति का वध कर सकती है उसी प्रकार असंयमित मन काम, क्रोध, लोभ, प्रमत्तता, ईर्ष्या तथा मोहवश योगी का वध कर देता है। जब योगी मन द्वारा संचालित होता है, तो वह संसारी स्थिति को प्राप्त होता है। मनुष्य को चाहिए कि वह मन से उसी प्रकार सतर्क रहे जिस प्रकार व्यभिचारिणी पत्नी से पति को रहना चाहिए।

कामो मन्युर्मदो लोभ: शोकमोहभयादय: ।
कर्मबन्धश्च यन्मूल: स्वीकुर्यात्को नु तद्बुध: ॥ ॥

शब्दार्थ

काम:—विषय; मन्यु:—क्रोध; मद:—घमंड; लोभ:—लालच; शोक—पश्चात्ताप; मोह—मोह; भय—डर; आदय:—ये सभी; कर्म-बन्ध:—सकाम कर्म के लिए बन्धन स्वरूप; च—तथा; यत्-मूल:—जिसका कारण; स्वीकुर्यात्—स्वीकार करेगा; क:—कौन; नु—निस्संदेह; तत्—वह मन; बुध:—यदि बुद्धिमान है।.

काम, क्रोध, मद, लोभ, पश्चाताप, मोह तथा भय का मूल कारण तो मन ही है। ये सारे मिल कर कर्म-बन्धन की रचना करते हैं। भला कौन बुद्धिमान मन पर विश्वास कर सकेगा?

तात्पर्य : भौतिक बन्धन का मूल कारण मन है। इसका पीछा करने वाले अनेक शत्रु हैं यथा क्रोध, मद, लालच, शोक, मोह तथा भय। मन को वश में करने का सरल उपाय यह है कि उसे कृष्णभावनामृत में संलग्न रखा जाये (*स वै मन: कृष्ण-पदार-विन्दयो:*)। चूँकि मन का पीछा करने वाले तत्त्व भव-बन्धन लाने वाले हैं, अत: हमें मन पर कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिए।

अथैवमखिललोकपाललललामोऽपि विलक्षणैर्जडवदवधूतवेषभाषाचरितैरविलक्षितभगवत्प्रभावो योगिनां साम्परायविधिमनुशिक्षयन्स्वकलेवरं जिहासुरात्मन्यात्मानमसंव्यवहितमनर्थान्तरभावेनान्वीक्षमाण उपरतानुवृत्तिरुपरराम. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; एवम्—इस प्रकार से; अखिल-लोक-पाल-ललामः—इस ब्रह्माण्ड के समस्त राजाओं के प्रमुख; अपि—यद्यपि; विलक्षणैः—विभिन्न; जड-वत्—जड़-सदृश (मूढ़ के समान); अवधूत-वेष-भाषा-चरितैः—अवधूत के वेष, उसकी भाषा तथा आचरण से; अविलक्षित-भगवत्-प्रभावः—भगवान् के ऐश्वर्य को छिपाते हुए (अपने को सामान्य पुरुष की तरह रखते हुए); योगिनाम्—योगियों का; साम्पराय-विधिम्—इस देह के त्याग की विधि; अनुशिक्षयन्—सिखाते हुए; स्व-कलेवरम्—अपने शरीर को जो किंचित्मात्र भौतिक नहीं था; जिहासुः—सामान्य मनुष्य की भाँति त्यागने की इच्छा से; आत्मनि—आदिपुरुष वासुदेव में; आत्मानम्—अपने आप, भगवान् विष्णु के ''आवेश-अवतार'' होने से ऋषभदेव स्वयं को; असंव्यवहितम्—माया के व्यवधान के बिना; अनर्थ-अन्तर-भावेन—विष्णुपद में स्वयं; अन्वीक्षमाणः—सदैव देखते हुए; उपरत-अनुवृत्तिः—ऐसा दिखा रहे थे मानो अपना भौतिक शरीर त्याग रहे हों; उपरराम—राजा के रूप में इस लोक की लीलाएँ छोड़ दीं।

भगवान् ऋषभदेव इस ब्रह्माण्ड के समस्त राजाओं में प्रमुख थे, किन्तु अवधूत का भेष तथा उसकी भाषा स्वीकार करके वे इस प्रकार आचरण कर रहे थे मानो जड़ तथा बद्ध जीव हों। फलतः कोई उनके ईश्वरीय ऐश्वर्य को नहीं देख सका। उन्होंने योगियों को देह त्यागने की विधि सिखाने के लिए ही ऐसा आचरण किया; तो भी वे वासुदेव कृष्ण के अंश रूप बने रहे। इस दशा में रहते हुए उन्होंने इस संसार में भगवान् ऋषभदेव के रूप में की गई लीलाओं को त्याग दिया। यदि कोई ऋषभदेव के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए इस सूक्ष्म देह को त्याग सकता है, तो उसे पुनः भौतिक देह नहीं धारण करनी पड़ती।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (४.९) में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

''हे अर्जुन! मेरा आविर्भाव और कर्म दिव्य हैं—इस प्रकार जो मनुष्य जान लेता है, वह देह को त्याग कर संसार में फिर जन्म नहीं लेता, वरन् मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।''

यह तभी सम्भव है जब कोई परमेश्वर का शाश्वत दास बन जाये। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी तथा साथ ही साथ परमेश्वर दोनों की स्वाभाविक स्थिति को समझे। दोनों का एक ही आध्यात्मिक-रूप है। इस संसार में परमेश्वर का शाश्वत दास बन कर ही पुनर्जन्म से बचा सकता है। यदि मनुष्य अपने को आध्यात्मिक रूप से ठीक रखे और अपने को परमेश्वर का शाश्वत दास मानता रहे तो इस भौतिक शरीर का त्याग करते समय उसे सफलता मिलेगी।

तस्य ह वा एवं मुक्तलिङ्गस्य भगवत ऋषभस्य योगमायावासनया देह इमां जगतीमभिमानाभासेन सङ्क्रममाणः कोङ्कवेङ्ककुटकान्दक्षिणकर्णाटकान्देशान्यदृच्छयोपगतः कुटकाचलोपवन आस्य कृताश्मकवल उन्माद इव मुक्तमूर्धजोऽसंवीत एव विचचार. ॥ ७॥

शब्दार्थ

तस्य—उस (भगवान् ऋषभदेव) का; ह वा—मानो; एवम्—इस प्रकार; मुक्त-लिङ्गस्य—जिसका स्थूल व सूक्ष्म शरीरों के साथ तादात्म्य नहीं है; भगवतः—भगवान का; ऋषभस्य—ऋषभदेव का; योग-माया-वासनया—भगवान् की लीलाओं हेतु योगमाया की प्राप्ति से; देहः—देह; इमाम्—यह; जगतीम्—पृथ्वी; अभिमान-आभासेन—यह देह भौतिक तत्त्वों से निर्मित है, इस प्रकार के आभास से; सङ्क्रममाणः—भ्रमण करते हुए; कोङ्क-वेङ्क-कुटकान्—कोंक, वेंक तथा कुटक; दक्षिण—दक्षिण भारत में; कर्णाटकान्—कर्नाट राज्य में; देशान्—समस्त देशों; यदृच्छया—अपनी इच्छा से; उपगतः—पहुँचे; कुटकाचल-उपवने—कुटकाचल के निकटस्थ जंगल में; आस्य—मुँह के भीतर; कृत-अश्म-कवलः—मुँह में पत्थर भर कर; उन्मादः इव—पागल के समान; मुक्त-मूर्धजः—मुक्त (बिखरे) केशों से युक्त; असंवीतः—नग्न; एव—ही; विचचार—भ्रमण करने लगे।

वास्तव में भगवान् ऋषभदेव के कोई भौतिक शरीर न था, किन्तु योगमाया से वे अपने शरीर को भौतिक मान रहे थे। अतः सामान्य मनुष्य की भाँति आचरण करके उन्होंने वैसी मानसिकता का त्याग किया। वे संसार भर में घूमने लगे। घूमते-घूमते वे दक्षिण भारत के कर्णाट प्रदेश में पहुँचे जहाँ के रास्ते में कोंक, वेंक तथा कुटक पड़े। इस दिशा में घूमने की उनकी कोई योजना न थी, किन्तु कुटकाचल के निकट उन्होंने एक जंगल मे प्रवेश किया। उन्होंने अपने मुँह में पत्थर के टुकड़े भर लिए और जंगल में नग्न तथा बाल बिखेरे पागल की भाँति घूमने लगे।

अथ समीरवेगविधूतवेणुविकर्षणजातोग्रदावानलस्तद्वनमालेलिहानः सह तेन ददाह. ॥ ८॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; समीर-वेग—वायु के झोंके से; विधूत—झकझोरे हुए; वेणु—बाँसों की; विकर्षण—रगड़ से; जात—उत्पन्न हुई; उग्र—प्रबल; दाव-अनलः—दावाग्नि; तत्—उस; वनम्—कुटकाचल के निकट के जंगल को; आलेलिहानः—चारों ओर से भक्षण करती; सह—संग; तेन—वह शरीर; ददाह—जल कर राख हो गया।

जब वे भटक रहे थे तो प्रबल दावाग्नि लग गई। यह अग्नि वायु से झकझोरे गये बाँसों की रगड़ से उत्पन्न हुई थी। इस अग्नि में कुटकाचल का पूरा जंगल तथा ऋषभदेव का शरीर भस्मसात् हो गए।

तात्पर्य : ऐसी दावाग्नि पशुओं के शरीरों को जला सकती है, किन्तु भगवान् ऋषभदेव नहीं जले, यद्यपि बाह्य रूप से ऐसा लगा कि वे जल गये। भगवान् ऋषभदेव जगंल के समस्त जीवों की परम आत्मा हैं और उनकी आत्मा अग्नि में कदापि नहीं जल सकती। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया

है—*अदाह्योऽयं*—आत्मा अग्नि में नहीं जलती। भगवान् ऋषभदेव की उपस्थिति के कारण जंगल के सभी पशु इस भौतिक बन्धन से मुक्त हो गये।

यस्य किलानुचरितमुपाकर्ण्य कोङ्कवेङ्ककुटकानां राजार्हन्नामोपशिक्ष्य कलावधर्म उत्कृष्यमाणे भवितव्येन विमोहितः स्वधर्मपथमकुतोभयमपहाय कुपथपाखण्डमसमञ्जसं निजमनीषया मन्दः सम्प्रवर्तयिष्यते. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिस (भगवान् ऋषभदेव) का; किल अनुचरितम्—परमहंस के रूप में लीलाएँ, वर्णाश्रम सिद्धान्त के नियमों से परे; उपाकर्ण्य—सुन कर; कोङ्क-वेङ्क-कुटकानाम्—कोंक, वेंक तथा कुटक का; राजा—राजा; अर्हत्-नाम—जिसका नाम अर्हत् (अब जैन कहलाता है) था; उपशिक्ष्य—परमहंस रूप में भगवान् ऋषभदेव के कार्यों का अनुकरण करके; कलौ—इस कलियुग में; अधर्मे उत्कृष्यमाणे—अधर्म की वृद्धि के कारण; भवितव्येन—भावी द्वारा; विमोहितः—मोहित; स्व-धर्म-पथम्—धर्म-पथ; अकुतः-भयम्—समस्त प्रकार के भयों से मुक्त; अपहाय—त्याग कर (यथा स्वच्छता, सत्यभाषण, इन्द्रियनिग्रह, सादगी, धर्माचरण, ज्ञान का सद्प्रयोग); कु-पथ-पाखण्डम्—नास्तिकता का बुरा (उल्टा) मार्ग; असमञ्जसम्—वेदविरुद्ध, अनुचित; निज-मनीषया—अपने मस्तिष्क से; मन्दः—मूढ़; सम्प्रवर्तयिष्यते—प्रचार करेगा, चलायेगा।.

शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को आगे बताया कि हे राजन्, कोंक, वेंक तथा कुटक के राजा ने, जिसका नाम अर्हत् था, ऋषभदेव के कार्य-कलापों के विषय में सुना और उसने ऋषभदेव के नियमों का अनुकरण करते हुए एक नवीन धर्म-पद्धति चला दी। पापमय कर्मों के इस युग, कलियुग, का लाभ उठाकर मोहवश राजा अर्हत ने बाधारहित वैदिक नियमों को छोड़ दिया और वेदविरुद्ध एक नवीन धर्म-पद्धति गढ़ ली। यही जैन धर्म का शुभारम्भ था। अन्य अनेक तथाकथित धर्मों ने इस नास्तिकवाद को ग्रहण किया।

तात्पर्य : जब इस लोक में श्रीकृष्ण विद्यमान थे तो पौण्ड्रक नामक एक व्यक्ति ने नारायण के चतुर्भुज रूप का अनुकरण करते हुए अपने आपको भगवान् घोषित कर दिया। वह श्रीकृष्ण की बराबरी करना चाहता था। इसी प्रकार ऋषभदेव के काल में कोंक तथा वेंक के राजा ने परमहंस का आचरण करते हुए भगवान् ऋषभदेव का अनुकरण किया। उसने एक धर्म चलाया और इस कलियुग में जनता की अधोगति का लाभ उठाया। वैदिक साहित्य में कथित है कि इस कलियुग में लोग किसी को भी परमेश्वर मान कर वेदविरुद्ध किसी भी धर्म-पद्धति को स्वीकार करेंगे। इस युग के व्यक्तियों को *मन्दाः सुमन्द-मतयः* कहा गया है। सामान्यतः उनकी कोई आध्यात्मिक संस्कृति नहीं होती और वे अत्यन्त अधम होते हैं। इसी कारण से वे कोई भी धर्म स्वीकार करेंगे। दुर्भाग्यवश वे वैदिक नियमों को विस्मृत करते हैं। इस युग में अवैदिक नियमों का पालन करते हुए वे अपने को परमेश्वर समझते हैं

और निरीश्वरवादी सम्प्रदाय को विश्व भर में फैलाते हैं।

येन ह वाव कलौ मनुजापसदा देवमायामोहिताः स्वविधिनियोगशौचचारित्रविहीना देवहेलनान्यपव्रतानि निजनिजेच्छया गृह्णाना अस्नानानाचमनाशौचकेशोल्लुञ्चनादीनि कलिनाधर्मबहुलेनोपहतधियो ब्रह्मब्राह्मणयज्ञपुरुषलोकविदूषकाः प्रायेण भविष्यन्ति. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

येन—जिस छद्म धार्मिक प्रकृति से; ह वाव—निश्चय ही; कलौ—इस कलियुग में; मनुज-अपसदाः—अत्यन्त नीच व्यक्ति; देव-माया-मोहिताः—भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा मोहग्रस्त, शक्ति या माया से मोहित; स्व-विधि-नियोग-शौच-चारित्र-विहीनाः—अपने कर्तव्यों के अनुसार निर्मित विधानों, स्वच्छता तथा चरित्र से विहीन (शास्त्र विहित आचारों तथा शौच से रहित); देव-हेलनानि—भगवान् के प्रति तिरस्कार; अपव्रतानि—अपवित्र व्रत, पाखंड; निज-निज-इच्छया—अपनी अपनी रुचि के अनुसार; गृह्णानाः—स्वीकार करते हुए; अस्नान-अनाचमन-अशौच-केश-उल्लुञ्चन-आदीनि—गढ़े हुए धार्मिक नियम यथा अस्नान (न नहाना), मुख न धोना, अशुद्ध रहना तथा केश नुचवाना; कलिना—कलियुग के प्रभाव से; अधर्म-बहुलेन—अधर्म की बहुलता वाले; उपहत-धियः—जिसका अन्तःकरण विनष्ट हो गया है, बुद्धिहीन; ब्रह्म-ब्राह्मण-यज्ञ-पुरुष-लोक-विदूषकाः—वेद, ब्राह्मण, यज्ञ, भगवान् तथा भक्तों की निन्दा करने वाले; प्रायेण—प्रायः; भविष्यन्ति—होंगे।

अधम तथा परमेश्वर की माया से मोहित व्यक्ति मूल वर्णाश्रम धर्म तथा उसके नियमों का परित्याग कर देंगे। वे नित्य तीन बार स्नान करना और ईश्वर की आराधना करना छोड़ देंगे। वे शौच तथा परमेश्वर को त्याग कर अटपटे नियमों को ग्रहण करेंगे। नियमित स्नान न करने अथवा अपना मुख न धोने से वे सदा गंदे रहेंगे और अपने केश नुचवाएँगे। ढोंग धर्म का अनुसरण करते हुए वे फूलेंगे, फलेंगे। इस कलिकाल में लोग अधार्मिक पद्धतियों की ओर अधिक उन्मुख होंगे। फलस्वरूप वे वेद, वेदों के अनुयायी ब्राह्मणों, भगवान् तथा अनेक भक्तों का उपहास करेंगे।

तात्पर्य : आजकल पाश्चात्य देशों के हिप्पी इस वर्णन के अनुरूप हैं। वे गैर-जिम्मेदार तथा असंयमी होते हैं। वे स्नान नहीं करते और वैदिक ज्ञान का मजाक उड़ाते हैं। वे नवीन जीवन-शैलियों एवं धर्मों को गढ़ते रहते हैं। इस समय हिप्पियों के अनेक समूह हैं, किन्तु इनका मूल स्रोत राजा अर्हत् था जिसने परमहंस अवस्था को प्राप्त भगवान् ऋषभदेव के कार्यकलापों का अनुकरण किया। अर्हत् को इस बात का ध्यान नहीं हुआ कि यद्यपि ऋषभदेव पागल जैसा आचरण कर रहे थे, किन्तु उनके मल तथा पुरीष सुगन्धित थे जिससे मीलों दूर के प्रान्त सुवासित रहते थे। राजा अर्हत् के अनुयायी जैन कहलाये और बाद में अनेक लोगों ने उनका अनुसरण किया विशेष रूप से हिप्पी उल्लेखनीय हैं, जो मायावाद दर्शन की शाखा से सम्बद्ध हैं, क्योंकि वे अपने को भगवान् मानते हैं। ऐसे लोग वैदिक

नियमों के असली अनुयायी आदर्श ब्राह्मणों का आदर नहीं करते और न उनमें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अर्थात् परब्रह्म के प्रति आदर-भाव रहता है। इस कलियुग के प्रभाव से वे तरह-तरह के झूठे धर्म गढ़ते रहते हैं।

ते च ह्यर्वाक्तनया निजलोकयात्रयान्धपरम्परयाश्वस्तास्तमस्यन्धे स्वयमेव प्रपतिष्यन्ति. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ते—वे लोग जो वेदों का अनुसरण नहीं करते; **च**—तथा; **हि**—निश्चय ही; **अर्वाक्तनया**—वैदिक धर्म के शाश्वत नियमों से विचलित होकर; **निज-लोक-यात्रया**—स्वेच्छाकृत प्रवृत्ति से; **अन्ध-परम्परया**—अन्धे अज्ञानी पुरुषों की परम्परा से; **आश्वस्ताः**—प्रोत्साहित होकर; **तमसि**—अज्ञान के अंधकार में; **अन्धे**—अंधापन; **स्वयम् एव**—अपने आप; **प्रपतिष्यन्ति**—गिरेंगे।.

अधम लोग अपने अज्ञानवश वैदिक नियमों से हटकर चलने वाली धार्मिक प्रणाली का सूत्रपात करते हैं। वे अपने मानसिक ढोंगों के कारण स्वयं ही घोर अंधकार में गिरते हैं।

तात्पर्य : इस प्रसंग में *भगवद्गीता* के सोलहवें अध्याय को देखना चाहिए जहाँ असुरों के पतन का वर्णन है (१६.१६ तथा १६.२३)।

अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थः. ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अयम् अवतारः—यह अवतार (भगवान् ऋषभदेव); **रजसा**—रजोगुण से; **उपप्लुत**—भरा हुआ; **कैवल्य-उपशिक्षण-अर्थः**—लोगों को मुक्ति मार्ग की शिक्षा देने के उद्देश्य से।.

इस कलियुग में लोग रजो तथा तमो गुणों से भरे हुए हैं। भगवान् ऋषभदेव ने इन लोगों को माया के चंगुल से छुड़ाने के लिए ही अवतार लिया था।

तात्पर्य : कलियुग के लक्षणों की भविष्यवाणी *श्रीमद्भागवत* में बारहवें स्कंध में तृतीय अध्याय के अन्तर्गत की गई है। *लावण्यं केश-धारणम्।* यह भविष्यवाणी की गई है कि पतित जीव कैसा आचरण करेगा। वे लम्बे-लम्बे बाल रखकर अपने को अति सुन्दर मानेंगे या फिर जैनियों की भाँति केशों को नुँच वाएँगे। वे गंदे रहेंगे और अपना मुँह नहीं धोएंगे। जैनी भगवान् ऋषभदेव को अपना प्रवर्तक मानते हैं। यदि ऐसे लोग वास्तव में उनके अनुयायी हैं, तो उन्हें उनकी शिक्षाओं का दृढ़ता से पालन करना चाहिए। इसी स्कंध के पाँचवें अध्याय में ऋषभदेव ने अपने सौ पुत्रों को माया के चंगुल से बचने का उपदेश दिया है। यदि सचमुच कोई उनके उपदेशों का पालन करे तो वह माया के चंगुल

से छूटकर परम धाम पहुँच सकता है। यदि कोई पंचम अध्याय में दिये गये ऋषभदेव के उपदेशों का पालन करे तो वह निश्चय ही मुक्त हो सकता है। ऋषभदेव ने विशेष रूप से इन पतित आत्माओं को मोक्ष दिलाने के लिए ही अवतार लिया था।

तस्यानुगुणाञ्श्लोकान्गायन्ति—
अहो भुवः सप्तसमुद्रवत्या
द्वीपेषु वर्षेष्वधिपुण्यमेतत् ।
गायन्ति यत्रत्यजना मुरारेः
कर्माणि भद्राण्यवतारवन्ति ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके (ऋषभदेव के); अनुगुणान्—मुक्ति के उपदेशों के अनुसार; श्लोकान्—श्लोक; गायन्ति—गाते हैं, जप करते हैं; अहो—ओह; भुवः—इस पृथ्वी लोक का; सप्त-समुद्र-वत्याः—सात समुद्रों वाले; द्वीपेषु—द्वीपों में से; वर्षेषु—भूभागों में से; अधिपुण्यम्—अन्य किसी द्वीप से अधिक पवित्र; एतत्—यह (भारत-वर्ष); गायन्ति—गायन करते हैं; यत्रत्य-जनाः—इस भूभाग के लोग; मुरारेः—भगवान् मुरारी के; कर्माणि—कार्यों का; भद्राणि—शुभ; अवतारवन्ति—अनेक अवतारों में, यथा ऋषभदेव।

विद्वानजन भगवान् ऋषभदेव के दिव्य गुणों का जाप इस प्रकार करते हैं—"ओह! इस पृथ्वीलोक में सात समुद्र तथा अनेक द्वीप और वर्ष हैं जिनमें से भारतवर्ष सबसे अधिक पवित्र है। भारतवर्ष के लोग भगवान् के कार्यकलापों का, ऋषभदेव तथा अन्य अनेक अवतारों के रूप में, गुणगान करने के अभ्यस्त हैं। ये सारे कार्य मानवता के कल्याण हेतु अत्यन्त शुभ हैं।"

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

भारत-भूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार।
जन्म सार्थक करि' कर पर-उपकार॥

जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है, भारतवर्ष अत्यन्त पवित्र भूमि है। वेदों के अनुयायी भगवान् के विभिन्न अवतारों द्वारा उनसे परिचित हैं और वे वैदिक साहित्य के आदेशों का पालन करते हुए ईश्वर की महिमा का गान करते रहते हैं। मानव-जीवन की कीर्ति (महिमा) का अनुभव हो जाने पर ऐसे पुरुषों को विश्व भर में मानव जीवन के महत्त्व का उपदेश देना चाहिए। यही चैतन्य महाप्रभु का सन्देश है। *अधिपुण्यम्* शब्द यह सूचित करता है कि संसार में और भी पवित्र प्राणी हैं, किन्तु भारतवर्ष के लोग अधिक पवित्र हैं। फलतः वे मानव जाति के हितार्थ कृष्णभावनामृत को सारे विश्व में फैलाने के लिए उपयुक्त हैं। श्रील मध्वाचार्य ने भी भारत भूमि को महत्ता प्रदान की है—*विशेषाद्भारते पुण्यम्।*

सारे विश्व में कहीं भी भगवद्भक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु भारतवर्ष के लोग ईश्वर की भक्ति आसानी से समझ सकते हैं। अत: भारतवर्ष का प्रत्येक वासी भगवद्भक्ति द्वारा अपने जीवन को पूर्ण बना सकता है और विश्वभर के प्रत्येक प्राणी के लाभार्थ इस भक्ति (सम्प्रदाय) का प्रचार कर सकता है।

अहो नु वंशो यशसावदातः
प्रैयव्रतो यत्र पुमान्पुराणः ।
कृतावतारः पुरुषः स आद्य-
श्चचार धर्मं यदकर्महेतुम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; नु—निस्संदेह; वंशः—वंश; यशसा—चतुर्दिक ख्याति से; अवदातः—अत्यन्त विमल; प्रैयव्रतः—राजा प्रियव्रत का; यत्र—जिसमें; पुमान्—परम पुरुष; पुराणः—आदि; कृत-अवतारः—अवतार लेकर; पुरुषः—भगवान्; सः—उसने; आद्यः—आदि-पुरुष; चचार—आचरण किया; धर्मम्—धार्मिक नियम; यत्—जिससे; अकर्म-हेतुम्—कर्मों के अन्त का कारण।

"ओह! भला मैं प्रियव्रत के वंश के सम्बन्ध में क्या कहूँ जो इतना विमल तथा अत्यन्त विख्यात है। इसी वंश में परम पुरुष भगवान् ने अवतार लिया और कर्मफलों से मुक्त करने वाले धार्मिक नियमों का आचरण किया।"

तात्पर्य : मानव समाज में ऐसे अनेक वंश हैं जिसमें परमेश्वर अवतरित होते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने यदुवंश में तथा भगवान् रामचन्द्र ने इक्ष्वाकु अथवा रघुवंश में अवतार लिया। इसी प्रकार ऋषभदेव राजा प्रियव्रत के वंश में प्रकट हुए। ये सभी वंश अत्यन्त विख्यात हैं और इनमें प्रियव्रत का वंश अत्यन्त प्रसिद्ध है।

को न्वस्य काष्ठामपरोऽनुगच्छे-
न्मनोरथेनाप्यभवस्य योगी ।
यो योगमायाः स्पृहयत्युदस्ता
ह्यसत्तया येन कृतप्रयत्नाः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन; नु—निस्संदेह; अस्य—भगवान् ऋषभदेव का; काष्ठाम्—आदर्श; अपरः—अन्य; अनुगच्छेत्—अनुगमन कर सकता है; मनः-रथेन—मन से; अपि—भी; अभवस्य—अजन्मा का; योगी—योगी; यः—जो; योग-मायाः—योग सिद्धि; स्पृहयति—स्पृहा करता है, कामना करता है; उदस्ताः—ऋषभदेव द्वारा परित्यक्त; हि—ही; असत्तया—अपूर्ण होने से, असत् से; येन—जिसके द्वारा (ऋषभदेव द्वारा); कृत-प्रयत्नाः—यद्यपि सेवा करने के लिए इच्छुक।

"भला ऐसा कौन योगी है जो अपने मन से भी भगवान् ऋषभदेव के आदर्शों का पालन

कर सके? उन्होंने उन समस्त योग-सिद्धियों का तिरस्कार कर दिया था जिसके लिए अन्य योगी लालायित रहते हैं। भला ऐसा कौन योगी है जो भगवान् ऋषभदेव की समता कर सके?''

तात्पर्य : सामान्य रूप से योगी अष्ट सिद्धियों की कामना करते हैं। ये हैं—अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राकाम्य, प्राप्ति, ईशित्व, वशित्व तथा कामावसायिता। किन्तु भगवान् ऋषभदेव ने इन भौतिक उपादानों की कभी कामना नहीं की। ऐसी सिद्धियाँ भगवान् की माया द्वारा प्रस्तुत की जाती हैं। योगसाधना का मुख्य उद्देश्य भगवान् का अनुग्रह और उनकी शरण प्राप्त करना है। किन्तु योगमाया के कारण यह उद्देश्य प्रच्छन्न हो जाता है। फलस्वरूप तथाकथित योगी ऊपरी सिद्धियों के प्रति आकृष्ट होते हैं, अत: वे भगवान् ऋषभदेव की समता नहीं कर सकते।

इति ह स्म सकलवेदलोकदेवब्राह्मणगवां परमगुरोर्भगवत ऋषभाख्यस्य विशुद्धाचरितमीरितं पुंसां समस्तदुश्चरिताभिहरणं परममहामङ्गलायनमिदमनुश्रद्धयोपचितयानुशृणोत्याश्रावयति वावहितो भगवति तस्मिन्वासुदेव एकान्ततो भक्तिरनयोरपि समनुवर्तते. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ह स्म—निस्संदेह; सकल—सम्पूर्ण; वेद—ज्ञान का; लोक—जनता का; देव—देवताओं का; ब्राह्मण—समस्त ब्राह्मणों का; गवाम्—गायों का; परम—परम; गुरोः—गुरु, स्वामी; भगवतः—भगवान् का; ऋषभ-आख्यस्य—जिसका नाम ऋषभ था; विशुद्ध—शुद्ध; आचरितम्—कार्यकलाप; ईरितम्—अब व्याख्या किया गया; पुंसाम्—प्रत्येक जीवात्मा का; समस्त—सम्पूर्ण; दुश्चरित—पाप कर्म; अभिहरणम्—विनाश करते हुए; परम—अग्रणी; महा—महान्; मङ्गल—कल्याण का; अयनम्—वास, शरण, घर; इदम्—यह; अनुश्रद्धया—श्रद्धा से; उपचितया—बढ़ती हुई; अनुशृणोति—अधिकारी से सुनता है; आश्रावयति—दूसरे से कहता है; वा—अथवा; अवहितः—सावधान होकर; भगवति—भगवान् में; तस्मिन्—उस; वासुदेवे—वासुदेव, श्रीकृष्ण में; एक-अन्ततः—एकान्त भाव से; भक्तिः—भक्ति; अनयोः—श्रोता तथा वक्ता दोनों समूहों का; अपि—निश्चय ही; समनुवर्तते—वास्तव में प्रारम्भ होती है।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा, ''ऋषभदेव समस्त वैदिक ज्ञान, मनुष्यों, देवताओं, गायों तथा ब्राह्मणों के स्वामी हैं। मैं पहले ही उनके विशुद्ध, दिव्य कार्य-कलापों का विस्तार से वर्णन कर चुका हूँ जिनसे समस्त जीवात्माओं के पापकर्म मिट जाएँगे। भगवान् ऋषभदेव की लीलाओं का यह वर्णन समस्त मंगल वस्तुओं का आगार है। जो भी आचार्यों का अनुसरण करते हुए इन्हें ध्यान से सुनता या कहता है उसे निश्चय ही भगवान् वासुदेव के चरणकमलों की शुद्ध भक्ति प्राप्त होगी।''

तात्पर्य : भगवान् ऋषभदेव के उपदेश सभी युगों के मनुष्यों के लिए हैं—चाहे सत्ययुग हो अथवा त्रेता, द्वापर या विशेषतया कलियुग। ये उपदेश इतने प्रभावशाली हैं कि इस कलियुग में भी केवल

इनकी व्याख्या करने, आचार्यों का अनुगमन करने या ध्यानपूर्वक सुनने से सिद्धि प्राप्त हो सकती है। जो ऐसा करता है उसे भगवान् वासुदेव की शुद्ध भक्ति का पद प्राप्त हो सकता है। भगवान् तथा उनके भक्तों की लीलाओं का संग्रह *श्रीमद्भागवत* में इस उद्देश्य से किया गया है कि इन्हें सुनने तथा सुनाने वाले शुद्ध हो सकें। *नित्यं भागवत-सेवया।* भक्तों को नियमानुसार, हो सके तो प्रतिदिन चौबीसों घंटे *श्रीमद्भागवत* का पठन, कथन तथा श्रवण करना चाहिए। यह श्री चैतन्य महाप्रभु की सलाह है— *कीर्तनीयः सदा हरिः।* मनुष्य को चाहिए कि या तो वह हरे कृष्ण महामंत्र का जाप करे या *श्रीमद्भागवत* का पाठ करे और इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव, कपिल तथा कृष्ण रूप में प्रकट होने वाले भगवान् के चरित्र तथा उपदेशों को समझे। इस प्रकार भगवान् की दिव्य प्रकृति से परिचित हुआ जा सकता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जो भगवान् के जन्म तथा कर्म के दिव्य स्वभाव को जान लेता है उसे भव-बन्धन से मुक्ति मिल जाती है और वह परम धाम वापस जाता है।

यस्यामेव कवय आत्मानमविरतं विविधवृजिनसंसारपरितापोपतप्यमानमनुसवनं स्नापयन्तस्तयैव परया निर्वृत्या ह्यपवर्गमात्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नो एवाद्रियन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः. ॥ १७॥

शब्दार्थ

यस्याम् एव—जिसमें (कृष्णभावनामृत अथवा भक्ति के अमृत में); कवयः—पण्डित जन, आध्यात्मिक जीवन का दार्शनिक; आत्मानम्—आत्म, स्वयं; अविरतम्—निरन्तर; विविध—अनेक; वृजिन—पापपूर्ण; संसार—भौतिक संसार में; परिताप—दुखों से; उपतप्यमानम्—तपे हुए, दुखी; अनुसवनम्—निरन्तर; स्नापयन्तः—स्नान करते हुए; तया—उससे; एव—निश्चय ही; परया—महान्; निर्वृत्या—प्रसन्नतापूर्वक; हि—ही; अपवर्गम्—मुक्ति; आत्यन्तिकम्—बिना अवरोध के, निरन्तर; परम-पुरुष-अर्थम्—मानवी सफलताओं में सर्वश्रेष्ठ; अपि—यद्यपि; स्वयम्—स्वयं; आसादितम्—प्राप्त; नो—नहीं; एव—निश्चय ही; आद्रियन्ते—प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं; भगवदीयत्वेन एव—भगवान् से सम्बन्ध होने के कारण; परिसमाप्त-सर्व-अर्थाः—जिनकी समस्त भौतिक कामनाओं का अन्त हो चुका है।.

भक्त जन भौतिक संसार के विभिन्न संकटों से मुक्त होने के लिए निरन्तर भक्ति-सरिता में स्नान करते रहते हैं। इससे उन्हें परम आनन्द प्राप्त होता है और साक्षात् मुक्ति उनकी सेवा करने आती है। तो भी वे उस सेवा को स्वीकार नहीं करते, भले ही भगवान् स्वयं क्यों न सेवा के लिए तत्पर हों। भक्तों के लिए मुक्ति महत्त्वहीन है, क्योंकि ईश्वर की दिव्य प्रेमाभक्ति प्राप्त हो जाने पर उनकी प्रत्येक आकांक्षा पूरी हो गई होती है और वे समस्त भौतिक कामनाओं से ऊपर उठ चुके होते हैं।

तात्पर्य : इस संसार के संकटों से मुक्ति चाहने वाले के लिए ईश्वर की भक्ति प्राप्त होना सबसे

बड़ी उपलब्धि होती है। जैसाकि *भगवद्गीता* (६.२२) में कहा गया है—*यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः*—इसे प्राप्त कर लेने के बाद मनुष्य सोचता है कि इससे बड़ा कोई अन्य लाभ नहीं। ईश्वर की भक्ति प्राप्त होना ईश्वर से अभिन्न नहीं है, अतः उसके बाद और कोई कामना नहीं रह जाती। *मुक्ति* का अभिप्राय है संसार से छुटकारा। बिल्वमंगल ठाकुर कहते हैं—*मुक्तिः मुकुलितांजलिः सेवतेऽस्मान्।* भक्त के लिए मुक्ति बहुत बड़ी उपलब्धि नहीं है। मुक्ति का अर्थ है अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त करना। प्रत्येक जीवात्मा की स्वाभाविक स्थिति ईश्वर के दास की है, अतः जब कोई जीव ईश्वर की प्रेमा-भक्ति में लगा रहता है, तो उसे पहले से मुक्ति प्राप्त हुई रहती है। फलतः भक्त कभी मुक्ति की स्पृहा नहीं करता, भले ही ईश्वर स्वयं क्यों न प्रदान करें।

राजन्पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः ।
अस्त्वेवमङ्ग भगवान्भजतां मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

राजन्—हे राजन्; पतिः—पालक; गुरुः—गुरु; अलम्—निश्चय ही; भवताम्—आपका; यदूनाम्—यदुवंश का; दैवम्—आराध्य श्रीविग्रह; प्रियः—अत्यन्त प्रिय मित्र; कुल-पतिः—वंश का स्वामी; क्व च—यहाँ तक कि कभी-कभी; किङ्करः—सेवक; वः—तुम सबका (पांडवों का); अस्तु—हो; एवम्—इस प्रकार; अङ्ग—हे राजा; भगवान्—भगवान्; भजताम्—सेवा में रत भक्तों का; मुकुन्दः—भगवान्; मुक्तिम्—मुक्ति; ददाति—देता है; कर्हिचित्—किसी भी समय; स्म—निस्सन्देह; न—नहीं; भक्ति-योगम्—प्रेमाभक्ति।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे राजन्, परम पुरुष मुकुन्द सभी पांडवों तथा यदुवंशियों के वास्तविक पालक हैं। वे तुम्हारे गुरु, आराध्य अर्चाविग्रह, मित्र तथा तुम्हारे कर्मों के निदेशक हैं। यही नहीं, वे कभी-कभी दूत या सेवक के रूप में भी तुम्हारे परिवार की सेवा करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वे सामान्य सेवकों की तरह कार्य करते हैं। जो ईश्वर की सेवा में लगे रहकर प्रिय पात्र बनना चाहते हैं उन्हें मुक्ति सरलता से मिल जाती है, किन्तु वे अपनी प्रत्यक्ष सेवा करने का अवसर बहुत उनसे कम ही प्रदान करते हैं।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित को उपदेश देते हुए शुकदेव गोस्वामी ने राजा को प्रोत्साहित करना उचित समझा, क्योंकि हो सकता है वे अपने मन में विविध राज-वंशों के यशस्वी *स्तर* के सम्बन्ध में सोच रहे हों। विशेष रूप से यशस्वी वंश प्रियव्रत का है, जिसमें भगवान् ऋषभदेव अवतरित हुए। इसी

प्रकार महाराज ध्रुव के पिता उत्तानपाद का वंश भी यशस्वी था, क्योंकि उसमें राजा पृथु ने जन्म लिया था। महाराज रघु का वंश भी स्तुत्य है, क्योंकि उसमें भगवान् रामचन्द्र प्रकट हुए। जहाँ तक कुरु तथा यदुवंशों का प्रश्न है ये एक ही समय में विद्यमान थे, किन्तु इन दोनों में यदुवंश अधिक यशस्वी था, क्योंकि इसमें भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हुए। हो सकता है कि महाराज परीक्षित यह सोच रहे हों कि कुरु वंश अन्य वंशों के समान भाग्यशाली नहीं था, क्योंकि इसमें न तो कृष्ण, राम या ऋषभदेव उत्पन्न हुए, न ही महाराज पृथु। इसलिए इस श्लोक में महाराज परीक्षित को शुकदेव गोस्वामी ने विशेष रूप से प्रोत्साहित किया।

कुरुवंश को अधिक यशस्वी माना जा सकता है क्योंकि इसमें पाँच पांडव हुए जिन्होंने शुद्ध भक्ति की। यद्यपि श्रीकृष्ण कुरुवंश में उत्पन्न नहीं हुए थे, किन्तु वे पांडवों की भक्ति से इतने प्रसन्न थे कि उन्होंने पांडवों के परिवार के पालक तथा गुरु के समान आचरण किया। यदुवंश में जन्म लेकर भी श्रीकृष्ण पांडवों के प्रति अधिक स्नेहिल थे। अपने कार्यों से उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि वे यदुवंश की अपेक्षा कुरुवंश को अधिक चाहते थे। वे पांडवों की भक्ति के इतने ऋणी थे कि कभी वे उनके दूत बने तो कभी उन्हें भयानक परिस्थितियों से उबारा। इसलिए महाराज परीक्षित को तनिक भी दुखी नहीं होना चाहिए कि श्रीकृष्ण उनके वंश में नहीं उत्पन्न हुए। भगवान् का अपने शुद्ध भक्तों के प्रति सदैव अधिक झुकाव रहता है और इस क्रिया से स्पष्ट हो जाता है कि भक्तों के लिए मुक्ति अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होती। श्रीकृष्ण किसी को मुक्ति भले ही दे दें, किन्तु सबको अपना भक्त बनने का अवसर आसानी से नहीं प्रदान करते। *मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्ति-योगम्।* प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से यह सिद्ध हो जाता है कि परमेश्वर से परम सम्बन्ध स्थापित करने का आधार भक्तियोग ही है। यह मुक्ति से कहीं श्रेयस्कर है। ईश्वर के शुद्ध भक्त को मुक्ति स्वत: मिल जाती है।

नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्ततृष्ण:
श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्तबुद्धे: ।
लोकस्य य: करुणयाभयमात्मलोकम्
आख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

नित्य-अनुभूत—अपने वास्तविक रूप के प्रति सदैव जागरूक होने के कारण; निज-लाभ-निवृत्त-तृष्ण:—अपने में पूर्ण होने के कारण, कामनारहित; श्रेयसि—जीवन के वास्तविक कल्याण में; अ-तत्-रचनया—देह को आत्मा मानकर भौतिक क्षेत्र में

कर्मों का प्रसार करके; चिर—दीर्घकाल तक; सुप्त—सोया हुआ; बुद्धेः—जिसकी बुद्धि; लोकस्य—लोगों का; यः—जो (भगवान् ऋषभदेव); करुणया—अहैतुकी कृपा से; अभयम्—निर्भय; आत्म-लोकम्—आत्म-स्वरूप; आख्यात्—उपदेश दिया; नमः—नमस्कार है; भगवते—भगवान्; ऋषभाय—ऋषभदेव को; तस्मै—उस।

भगवान् ऋषभदेव को अपने वास्तविक स्वरूप का बोध था, अतः वे आत्म-तुष्ट थे और उन्हें किसी बाह्य तुष्टि की आकांक्षा नहीं रह गई थी। अपने में पूर्ण होने के कारण उन्हें किसी सफलता की स्पृहा नहीं थी। जो वृथा ही देहात्मबुद्धि में लगे रहते हैं और भौतिकता का परिवेश तैयार करते हैं, वे अपने वास्तविक हित को नहीं पहचानते। भगवान् ऋषभदेव ने अहैतुकी कृपावश वास्तविक आत्मबुद्धि तथा जीवन लक्ष्य की शिक्षा दी। अतः हम उन भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : यह इस अध्याय का सारांश है, जिसमें ऋषभदेव के कार्यों का वर्णन है। भगवान् होने के कारण वे स्वयं में पूर्ण हैं। ईश्वर के अंश रूप हम सबों को भगवान् ऋषभदेव के उपदेशों का पालन करना चाहिए और आत्मनिर्भर बनना चाहिए। देहात्मबुद्धि के कारण हमें वृथा की आवश्यकताएँ नहीं बढ़ानी चाहिए। आत्म-सिद्ध होने पर मनुष्य परम तुष्ट रहता है। क्योंकि वह अपने भौतिक दिव्य पद पर स्थित होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.४) में पुष्टि की गई है— *ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।* समस्त जीवात्माओं का यही लक्ष्य है। इस संसार में स्थित रह कर भी मनुष्य परम सन्तुष्ट हो सकता है और लालसा तथा शोक से रहित हो सकता है यदि *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* में दिये गये भगवान् के उपदेशों का वह पालन करे। आत्म-साक्षात्कार के माध्यम से प्राप्त संतोष *स्वरूपानन्द* कहलाता है। बद्धजीव शाश्वत अंधकार में सुप्त रहकर कभी भी अपना हित नहीं समझ पाता। वह भौतिक जोड़-तोड़ द्वारा सुखी बनना चाहता है, किन्तु यह असम्भव है। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है—*न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुम्*—अज्ञान के कारण बद्धजीव यह नहीं जानता कि उसका वास्तविक हित भगवान् विष्णु के चरणकमलों में शरण प्राप्त करना है। भौतिक वातावरण के जोड़-तोड़ द्वारा सुखी बनने का प्रयास व्यर्थ है। भगवान् ऋषभदेव ने अपने आचरण तथा उपदेशों के द्वारा बद्धजीवों को प्रकाश दिखाया और यह भी बताया कि अपनी आध्यात्मिक पहचान से किस प्रकार आत्मनिर्भर बनना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत "भगवान् ऋषभदेव के कार्यकलाप" नामक छठे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सात

राजा भरत कार्यकलाप

इस अध्याय में सम्पूर्ण संसार के सम्राट राजा भरत महाराज के कार्यों का वर्णन हुआ है। भरत महाराज ने अनेक वैदिक यज्ञ किये और अनेक प्रकार की पूजा द्वारा परमेश्वर को प्रसन्न किया। कालान्तर में गृहत्याग करके वे हरद्वार में रहने लगे और भक्ति कार्यों में अपना समय बिताने लगे। अपने पिता ऋषभदेव की आज्ञा से भरत महाराज ने विश्वरूप की पुत्री पंचजनी से विवाह किया। तत्पश्चात् उन्होंने शान्तिपूर्वक सारे विश्व पर राज्य किया। पहले यह लोक अजनाभ कहलाता था, किन्तु भरत महाराज के शासन के बाद इसका नाम भारतवर्ष पड़ा। भरत महाराज को पंचजनी के गर्भ से पाँच पुत्ररत्नों की प्राप्ति हुई जिनके नाम सुमति, राष्ट्रभृत्, सुदर्शन, आवरण तथा धूम्रकेतु रखे गये। भरत महाराज धर्म के पालन तथा अपने पिता के पद-चिह्नों का अनुसरण करने में अत्यन्त कठोर थे, फलत: उन्होंने अपनी प्रजा पर सुचारु रूप से शासन किया। परमेश्वर को तुष्ट करने के लिए अनेक यज्ञ सम्पन्न करने के कारण वे स्वयं अति संतुष्ट थे। अविचलित मन से वे भगवान् वासुदेव की भक्ति बढ़ाते गये। वे नारद जैसे ऋषियों के सिद्धान्तों को समझने में दक्ष थे और उनके पदचिह्नों का अनुसरण करते थे। वे भगवान् वासुदेव को निरन्तर हृदय में धारण करते थे। राजकार्य कर चुकने के बाद उन्होंने अपने साम्राज्य को पाँचों पुत्रों में बाँट दिया। फिर घर छोड़ कर पुलहाश्रम गये। वहाँ वे जंगली वनस्पतियाँ तथा फल खाकर भगवान् वासुदेव का पूजन प्रत्येक उपलब्ध वस्तु से करते रहे। वासुदेव के प्रति भक्ति बढ़ जाने से वे अपने दिव्य आनन्दमय जीवन का अनुभव स्वत: करने लगे। सिद्धावस्था के कारण कभी-कभी उन्हें अपने शरीर में अष्ट-सात्त्विक विकार यथा प्रेम-रुदन, वपु-कम्पन दृष्टिगोचर होते थे, जो भगवत्प्रेम के सूचक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे ऋग्वेद में वर्णित मंत्रों से, जिन्हें गायत्री मंत्र कहते हैं और जिनका लक्ष्य सूर्य के भीतर स्थित परम नारायण है, परमेश्वर की आराधना करते थे।

श्रीशुक उवाच

भरतस्तु महाभागवतो यदा भगवतावनितलपरिपालनाय सञ्चिन्तितस्तदनुशासनपरः पञ्चजनीं विश्वरूपदुहितरमुपयेमे. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; भरतः—महाराज भरत; तु—लेकिन; महा-भागवतः—ईश्वर का महान् भक्त; यदा—जब; भगवता—अपने पिता भगवान् ऋषभदेव की आज्ञा से; अवनि-तल—पृथ्वी पर; परिपालनाय—शासन करने के लिए; सञ्चिन्तितः—दृढ़-निश्चय; तत्-अनुशासन-परः—पृथ्वी पर शासन करने में रत; पञ्चजनीम्—पंचजनी; विश्वरूप-दुहितरम्—विश्वरूप की पुत्री को; उपयेमे—विवाह कर लिया।

शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को और आगे बताया—हे राजन्, भरत महाराज सर्वोच्च भक्त थे। अपने पिता की आज्ञा का पालन करते हुए जिन्होंने उन्हें सिंहासन पर बैठाने का निर्णय पहले ही ले रखा था। वे तदनुसार पृथ्वी पर राज्य करने लगे। समस्त संसार पर राज्य करते हुए वे अपने पिता के आदेशों का पालन करने लगे और उन्होंने विश्वरूप की कन्या पंचजनी से विवाह कर लिया।

तस्यामु ह वा आत्मजान्कात्स्र्न्येनानुरूपानात्मनः पञ्च जनयामास भूतादिरिव भूतसूक्ष्माणि सुमतिं राष्ट्रभृतं सुदर्शनमावरणं धूम्रकेतुमिति. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उसके गर्भ में; उ ह वा—निस्संदेह; आत्म-जान्—पुत्रों को; कात्स्र्न्येन—पूर्णतः; अनुरूपान्—अनुरूप, समान; आत्मनः—अपने; पञ्च—पाँच; जनयाम् आस—उत्पन्न किया; भूत-आदिः इव—अहंकार के सदृश; भूत-सूक्ष्माणि—पाँच भूत, तन्मात्र; सु-मतिम्—सुमति; राष्ट्र-भृतम्—राष्ट्रभृत; सु-दर्शनम्—सुदर्शन; आवरणम्—आवरण; धूम्र-केतुम्—धूमकेतु; इति—इस प्रकार।

जिस प्रकार मिथ्या अहंकार से भूत-तन्मात्र (सूक्ष्म-इन्द्रिय विषय) उत्पन्न होते हैं वैसे ही महाराज भरत को अपनी पत्नी पंचजनी के गर्भ से पाँच पुत्र प्राप्त हुए। इन पुत्रों के नाम थे—सुमति, राष्ट्रभृत, सुदर्शन, आवरण तथा धूम्रकेतु।

अजनाभं नामैतद्वर्षं भारतमिति यत आरभ्य व्यपदिशन्ति. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अजनाभम्—अजनाभ; नाम—नाम से; एतत्—यह; वर्षम्—द्वीप; भारतम्—भारत; इति—इस प्रकार; यतः—जिससे; आरभ्य—प्रारम्भ करके; व्यपदिशन्ति—कहते हैं, पुकारते हैं।

पहले इस देश का नाम अजनाभवर्ष था, किन्तु महाराज भरत के शासन काल से इसका नाम भारतवर्ष पड़ा।

तात्पर्य : यह देश पहले राजा नाभि के शासन के कारण अजनाभ कहलाता था। भरत महाराज के शासन काल के बाद यह भारतवर्ष कहलाया।

स बहुविन्महीपतिः पितृपितामहवदुरुवत्सलतया स्वे स्वे कर्मणि वर्तमानाः प्रजाः स्वधर्ममनुवर्तमानः पर्यपालयत्. ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

सः—वह राजा (महाराज भरत); बहु-वित्—महान् ज्ञानी; मही-पतिः—पृथ्वी का शासक, राजा; पितृ—पिता; पितामह—बाबा; वत्—सदृश; उरु-वत्सलतया—नागरिकों (प्रजा) पर अत्यधिक वत्सल (स्नेहिल) होने के कारण; स्वे स्वे—अपने अपने; कर्मणि—कर्तव्य में; वर्तमानाः—रहकर; प्रजाः—प्रजा; स्व-धर्मम् अनुवर्तमानः—अपने कर्तव्य में लगे रहकर; पर्यपालयत्—शासन किया।

भरत महाराज इस पृथ्वी पर अत्यन्त ज्ञानी तथा अनुभवी राजा थे। वे स्वयं अपने कार्यों में संलग्न रह कर प्रजा पर अच्छी प्रकार से राज्य करते थे। वे अपनी प्रजा के प्रति उतने ही वत्सल थे जितने उनके पिता तथा पितामह रह चुके थे। उन्होंने प्रजा को अपने अपने कर्तव्यों में व्यस्त रख कर इस पृथ्वी पर शासन किया।

तात्पर्य : यह अत्यन्त आवश्यक है कि मुख्य कार्यकारी प्रजा को अपने अपने कार्यों में निरत रख कर शासन करे। प्रजा में से कुछ ब्राह्मण थे, कुछ क्षत्रिय और कुछ वैश्य तथा शूद्र। यह देखना शासन का कर्तव्य है कि नागरिक इन विभागों के अनुसार अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिए कार्य करें। किसी भी नागरिक को बिना काम के नहीं रहना चाहिए। उसे भौतिक पथ पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र की तरह और आध्यात्मिक धरातल पर ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी के रूप में आचरण करना चाहिए। यद्यपि पूर्वकाल में शासन प्रणाली राजकीय प्रणाली थी और निरंकुश शासन होता था, किन्तु सभी राजा प्रजा के प्रति अत्यधिक वत्सल होते थे और वे प्रजा को अपने अपने कर्तव्यों में व्यस्त रखते थे। इसलिए समाज का संचालन सहजता से होता था।

ईजे च भगवन्तं यज्ञक्रतुरूपं क्रतुभिरुच्चावचैः श्रद्धयाहृताग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यपशुसोमानां प्रकृतिविकृतिभिरनुसवनं चातुर्होत्रविधिना. ॥ ॥

शब्दार्थ

ईजे—आराधना की; च—भी; भगवन्तम्—भगवान् की; यज्ञ-क्रतु-रूपम्—पशु सहित तथा पशु रहित यज्ञों वाले; क्रतुभिः—ऐसे यज्ञों से; उच्चावचैः—अत्यन्त बड़े तथा अत्यन्त छोटे; श्रद्धया—श्रद्धा समेत; आहृत—किया गया; अग्नि-होत्र—अग्नि होत्र यज्ञ का; दर्श—दर्श यज्ञ का; पूर्णमास—पूर्णमास यज्ञ का; चातुर्मास्य—चातुर्मास्य यज्ञ का; पशु-सोमानाम्—पशु तथा सोम रस से सम्पन्न यज्ञों का; प्रकृति—पूर्ण अनुष्ठानों द्वारा; विकृतिभिः—तथा आंशिक अनुष्ठानों द्वारा; अनुसवनम्—प्रायः; चातुः-होत्र-विधिना—चार प्रकार के पुरोहितों (ऋत्विजों) द्वारा निर्देशित यज्ञ विधि-विधानों के द्वारा।

राजा भरत ने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक अनेक प्रकार के यज्ञ किये। इनके नाम हैं अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु-यज्ञ (जिसमें अश्व की बलि दी जाती थी) तथा सोम-यज्ञ (जिसमें

सोमरस प्रयुक्त होता था) भेंट किया जाता था । कभी ये यज्ञ पूर्ण रूप से तो कभी आंशिक रूप में सम्पन्न किये जाते थे। प्रत्येक दशा में समस्त यज्ञों में चातुर्होत्र नियमों का दृढ़ता से पालन किया जाता था। इस प्रकार भरत महाराज भगवान् की उपासना करते थे।

तात्पर्य : यज्ञ की पूर्ण सम्पन्नता की परीक्षा के लिए ही *सूकरों* तथा गायों की बलि दी जाती थी; अन्यथा पशुओं की बलि चढ़ाने का कोई प्रयोजन न था। वास्तव में यज्ञ-अग्नि में पशु बलि पुन: तरुण-जीवन प्राप्त करने के लिए की जाती थी। सामान्यत: बूढ़े पशु की बलि दी जाती थी जो तरुण शरीर लेकर पुन: प्रकट हो जाता था। किन्तु कुछ अनुष्ठानों में पशु बलि की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। वर्तमान युग में पशुओं की बलि पर प्रतिबन्ध है। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है (*चैतन्य चरितामृत* आदि १७.१६४)—

अश्वमेधं गवालम्भं संन्यासं पल-पैतृकम्।

देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पंच विवर्जयेत्॥

''इस कलियुग में पाँच प्रकार के कार्य वर्जित हैं—यज्ञ में अश्व की बलि, यज्ञ में गोबलि, संन्यास धारण करना, पितरों को मांस-अर्पण करना तथा भाई की पत्नी से सन्तानोत्पत्ति।''

कलियुग में ऐसे यज्ञ असम्भव हैं, क्योंकि ऐसे पटु ब्राह्मणों या ऋत्विजों का अभाव है जो इस उत्तरदायित्व को ग्रहण कर सकें। इन यज्ञों के अभाव में संकीर्तन यज्ञ की संस्तुति की जाती है। *यज्ञै: संकीर्तनप्रायै र्यजन्ति हि सुमेधस:* (*भागवत* ११..३२)। कुल मिलाकर यज्ञों का उद्देश्य भगवान् को प्रसन्न करना है। *यज्ञार्थकर्म*—ऐसे कार्य भगवान् की प्रसन्नता के लिए किये जाने चाहिए। इस कलिकाल में भगवान् के अवतार श्री चैतन्य महाप्रभु की उनके पार्षदों सहित उपासना संकीर्तन यज्ञ द्वारा की जानी चाहिए जिसमें ''हरे कृष्ण मंत्र'' का सामूहिक जप किया जाता है। यह विधि बुद्धिमान व्यक्तियों द्वारा स्वीकार की जाती है। *यज्ञै: संकीर्तनप्रायै र्यजन्ति हि सुमेधस:। सुमेधस:* शब्द उन बुद्धिमान लोगों के लिए प्रयुक्त है जिनका मस्तिष्क उच्च कोटि का होता है।

सम्प्रचरत्सु नानायागेषु विरचिताङ्गक्रियेष्वपूर्वं यत्तत्क्रियाफलं धर्माख्यं परे ब्रह्मणि यज्ञपुरुषे सर्वदेवतालिङ्गानां मन्त्राणामर्थनियामकतया साक्षात्कर्तरि परदेवतायां भगवति वासुदेव एव भावयमान

आत्मनैपुण्यमृदितकषायो हविःष्वध्वर्युभिर्गृह्यमाणेषु स यजमानो यज्ञभाजो देवांस्तान्पुरुषावयवेष्वभ्यध्यायत्. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सम्प्रचरत्सु—अनुष्ठान प्रारम्भ करते समय; नाना-यागेषु—अनेक प्रकार के यज्ञ; विरचित-अङ्ग-क्रियेषु—जिसमें गौण कृत्य किये जाते थे; अपूर्वम्—सुदूर; यत्—जो भी; तत्—वह; क्रिया-फलम्—यज्ञ का फल; धर्म-आख्यम्—धर्म के नाम से; परे—दिव्य; ब्रह्मणि—परब्रह्म में; यज्ञ-पुरुषे—समस्त यज्ञों का भोक्ता; सर्व-देवता-लिङ्गानाम्—देवताओं को प्रकट करने वाले; मन्त्राणाम्—मंत्रों का, वैदिक स्तुतियों का; अर्थ-नियाम-कतया—पदार्थों का नियन्ता होने से; साक्षात्-कर्तरि—साक्षात् करने वाला; पर-देवतायाम्—समस्त देवाताओं के कारण; भगवति—भगवान्; वासुदेवे—श्रीकृष्ण में; एव—निश्चय ही; भावयमानः—सदैव चिन्तन करते हुए; आत्म-नैपुण्य-मृदित-कषायः—समस्त काम तथा क्रोध से रहित; हविःषु—यज्ञ में डाली जाने वाली सामग्री, हवि; अध्वर्युभिः—जब अथर्ववेद में वर्णित यज्ञों में दक्ष पुरोहित; गृह्यमाणेषु—लेते हुए; सः—महाराज भरत ने; यजमानः—यज्ञ करने वाला; यज्ञ-भाजः—यज्ञ-फल को पाने वाले; देवान्—समस्त देवताओं को; तान्—उन; पुरुष-अवयवेषु—भगवान् गोविन्द के शरीर के अंग प्रत्यंगों में; अभ्यध्यायत्—सोचा।

विभिन्न यज्ञों के प्रारम्भिक कार्यों को कर लेने के बाद महाराज भरत यज्ञफलों को धर्म के नाम पर भगवान् वासुदेव को अर्पण कर देते थे। अर्थात्, वे भगवान् वासुदेव कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए समस्त यज्ञ करते थे। महाराज भरत सोचते थे कि सभी देवता भगवान् वासुदेव के शरीर के अंगस्वरूप हैं और वैदिक मंत्रों में जो भी वर्णित है वे उसके नियन्ता हैं। इस प्रकार से चिन्तन के फलस्वरूप महाराज भरत आसक्ति, काम तथा लोभ जैसे भौतिक कल्मष से मुक्त थे। जब पुरोहितगण अग्नि में हवि अर्पित करने वाले होते तो महाराज भरत को यह ज्ञात हो जाता था कि विभिन्न देवताओं को दी जाने वाली यह हवि ईश्वर के विभिन्न अवयवों (अंगों) के निमित्त है। उदाहरणार्थ, इन्द्र भगवान् के बाहु स्वरूप और सूर्य उनके नेत्र हैं। इस प्रकार महाराज भरत ने विचार किया कि विभिन्न देवताओं को दी जाने वाली आहुतियाँ वास्तव में भगवान् वासुदेव के अंग-प्रत्यंग के निमित्त हैं।

तात्पर्य : भगवान् का कथन है कि जब तक *श्रवणं कीर्तनं* वाली शुद्ध भक्ति का विकास न हो तब तक मनुष्य को अपने कर्तव्य करते रहना चाहिए। चूँकि भरत महाराज महान् भक्त थे, अतः कोई पूछ सकता है कि वे इतने सारे यज्ञ क्यों करते थे, जो वास्तव में कर्मियों के लिये हैं। तथ्य यह है कि वे वासुदेव के आदेशों का पालन मात्र कर रहे थे। *भगवद्गीता* (१८.६६) में श्रीकृष्ण ने कहा है—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—सभी धर्मों का परित्याग करके मेरी शरण में आओ। चाहे हम जो भी करें हमें वासुदेव का स्मरण करते रहना चाहिए। लोग सामान्य रूप से विभिन्न देवताओं को नमस्कार करने के आदी हैं, किन्तु महाराज भरत तो केवल वासुदेव को प्रसन्न करना चाहते थे। जैसाकि

भगवद्‌गीता (.२९) में कहा गया है— *भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।* यज्ञ चाहे जिस विशेष देवता को प्रसन्न करने के लिए किया जाये, किन्तु जब कोई यज्ञ उस *यज्ञ-पुरुष* नारायण को समर्पित होता है, तो सभी देवता प्रसन्न होते हैं। विभिन्न यज्ञों का उद्देश्य परमेश्वर को प्रसन्न करना है चाहे कोई विभिन्न देवताओं के नाम पर करे या सीधे नारायण के लिए। यदि हम सीधे भगवान् को आहुति देते हैं, तो सभी देवता स्वतः प्रसन्न हो जाते हैं। यदि हम पौधे की जड़ को सींचते हैं, तो उसकी शाखाएँ, फल, फूल स्वतः तुष्ट हो जाते हैं। जब कोई विभिन्न देवताओं के लिए यज्ञ करता है, तो उसे स्मरण रखना चाहिए कि ये देवता परमेश्वर के शरीर के विभिन्न अंग मात्र हैं। यदि हम किसी के हाथ की पूजा करते हैं, तो हमारा मन्तव्य उस व्यक्ति को प्रसन्न करने से होता है। यदि हम किसी व्यक्ति के पैर दबाते हैं, तो हम वास्तव में केवल पाँवों की नहीं वरन् पाँव वाले व्यक्ति की सेवा करते हैं। जितने भी देवता हैं, वे भगवान् के विभिन्न अंश हैं और जब हम उनकी सेवा करते हैं, तो वास्तव में हम स्वयं भगवान् की सेवा करते हैं। *ब्रह्म-संहिता* में देवताओं की पूजा का वर्णन है, किन्तु सभी श्लोक भगवान् गोविन्द की उपासना का समर्थन करते हैं। उदाहरणार्थ *ब्रह्म-संहिता* (.४४) में देवी दुर्गा की पूजा—ब्रह्म संहिता में इसप्रकार वर्णित है :

सृष्टिस्थितिप्रलयसाधनशक्तिरेका
छायेव यस्य भुवनानि विभर्ति दुर्गा।
इच्छानुरूपम् अपि यस्य च चेष्टते सा
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

श्रीकृष्ण के आदेश से ही देवी दुर्गा सृष्टि, पालन और संहार करती हैं। श्रीकृष्ण ने भी इस कथन की पुष्टि *भगवद्‌गीता* (९.१०) में इस प्रकार की है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*—"हे कौन्तेय! यह प्रकृति मेरे आदेश के अनुसार कार्य करती है और समस्त चर तथा अचर प्राणियों का सृजन करती है।"

हमें इसी भावना से देवताओं की पूजा करनी चाहिए। चूँकि देवी दुर्गा श्रीकृष्ण को प्रसन्न रखती हैं, इसलिए हमें देवी दुर्गा का आदर करना चाहिए। भगवान् शिव भी श्रीकृष्ण के अंश रूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, इसलिए हमें शिव का आदर करना चाहिए। इसी प्रकार हमें ब्रह्मा, अग्नि तथा सूर्य

का आदर करना चाहिए। विभिन्न देवताओं को भिन्न-भिन्न प्रकार की भेंटें की जाती हैं, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि वे सब भगवान् को ही प्रसन्न करने के लिए हैं। भरत महाराज को देवताओं से किसी प्रकार का वर प्राप्त करने की इच्छा न थी। उनका उद्देश्य परमेश्वर को प्रसन्न करना था। *महाभारत* में विष्णु के सहस्र नामों में *यज्ञ-भुग् यज्ञ-कृद् यज्ञः* भी आया है। परमेश्वर यज्ञों का भोक्ता, यज्ञों का कर्ता तथा साक्षात् यज्ञ है। परमेश्वर प्रत्येक वस्तु का कर्ता है, किन्तु अज्ञानवश जीवात्मा अपने को ही कर्ता मान बैठता है। जब तक हम अपने को कर्ता मानते हैं तब तक हम कर्म-बन्धन पैदा करते हैं। यदि हम यज्ञ अर्थात् श्रीकृष्ण के लिए कर्म करते हैं, तो कर्मबन्धन नहीं रह जाता। *भगवद्गीता* (३.९) में कहा गया है—*यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*—" विष्णु के यज्ञ के रूप में कर्म करना है होता है; यदि विष्णु के लिए यज्ञ नहीं किया जाता तो कर्म इस भौतिक जगत से बाँध लेता है।"

भरत महाराज की शिक्षाओं का पालन करते हुए हमें चाहिए कि अपनी तुष्टि के लिए नहीं, अपितु भगवान् की तुष्टि के लिए कार्य करें। *भगवद्गीता* (१७.२८) में यह भी कहा गया है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

परब्रह्म में श्रद्धा के बिना जो कुछ यज्ञ, दान, तप इत्यादि कर्म किये जाते हैं, वे सब असत् हैं। अतः उनका न तो इस जन्म में, न ही अगले जन्म में कोई लाभ है।

महाराज अम्बरीष जैसे राजाओं तथा अन्य राजर्षियों ने अपना सारा समय भगवद्भक्ति में लगाया, क्योंकि वे शुद्ध भक्त थे। जब कोई शुद्ध भक्त किसी अन्य व्यक्ति के माध्यम से कोई सेवा कार्य करता है, तो उसकी आलोचना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उसका यह कार्य ईश्वर को प्रसन्न करने के निमित्त है। हो सकता है कि भक्त कर्मकाण्ड कराने के लिए किसी ऐसे पुरोहित को रखे जो वैष्णव न हो, किन्तु चूँकि भक्त भगवान् को प्रसन्न करना चाहता है इसलिए उसकी आलोचना नहीं होनी चाहिए। यहाँ *अपूर्व* शब्द अत्यन्त सार्थक है। *अपूर्व* का अर्थ है *कर्म-फल*। जब हम कोई पाप या पुण्य करते हैं, तो उसका फल तुरन्त नहीं मिलता। अतः हम फल की प्रतीक्षा करते हैं जिसे *अपूर्व* कहते हैं। ये फल भविष्य में प्रकट होते हैं। यहाँ तक कि स्मार्त भी अपूर्व को मानते हैं। शुद्ध भक्त भगवान् की प्रसन्नता के लिए ही कर्म करते हैं, फलतः उनके कर्मफल दिव्य अथवा स्थायी होते हैं। वे कर्मियों के

फल के समान अस्थायी नहीं होते। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.२३) में की गई है—

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतस:।

यज्ञायाचरत: कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

"जो पुरुष प्रकृति के गुणों में आसक्त नहीं है और तत्त्वज्ञान में स्थित है, उसके सम्पूर्ण कर्म अध्यात्म में विलीन हो जाते हैं।"

भक्त भौतिक कलुष से मुक्त रहता है। वह सदैव ज्ञान में स्थित रहता है, अत: उसके सारे यज्ञ भगवान् को प्रसन्न करने के लिए होते हैं।

एवं कर्मविशुद्ध्या विशुद्धसत्त्वस्यान्तर्हृदयाकाशशरीरे ब्रह्मणि भगवति वासुदेवे महापुरुषरूपोपलक्षणे श्रीवत्सकौस्तुभवनमालारिदरगदादिभिरुपलक्षिते निजपुरुषहृल्लिखितेनात्मनि पुरुषरूपेण विरोचमान उच्चैस्तरां भक्तिरनुदिनमेधमानरयाजायत. ॥ ७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कर्म-विशुद्ध्या—श्रीभगवान् को प्रत्येक वस्तु अर्पित करते हुए अपने पुण्यकर्मों के फल की अभिलाषा न करते हुए, कर्म शुद्धि से; विशुद्ध-सत्त्वस्य—भरत महाराज का, जिनका जीवन पूर्णत: शुद्ध था; अन्त:-हृदय-आकाश-शरीरे—योगियों द्वारा ध्यान किये जाने वाले अन्तर्यामी परमात्मा; ब्रह्मणि—निराकार ब्रह्म में, जिसकी आराधना निर्गुण ज्ञानी करते हैं; भगवति—श्रीभगवान् में; वासुदेवे—वासुदेव श्रीकृष्ण में; महा-पुरुष—परम पुरुष का; रूप—स्वरूप, आकार; उपलक्षणे—लक्षणों वाला; श्रीवत्स—भगवान् के वक्षस्थल का चिह्न, श्रीवत्स; कौस्तुभ—कौस्तुभ मणि; वन-माला—पुष्पों का हार; अरि-दर—चक्र तथा शंख; गदा-आदिभि:—(तथा) गदा इत्यादि अन्य लक्षणों से; उपलक्षिते—पहचाना जाकर; निज-पुरुष-हृत्-लिखितेन—जो अपने भक्तों के हृदय में चित्र की भाँति स्थित हैं; आत्मनि—अपने मन में; पुरुष-रूपेण—अपने स्वरूप से; विरोचमाने—चमकता; उच्चैस्तराम्—अति उच्च स्तर पर; भक्ति:—भक्ति; अनुदिनम्—दिन प्रति दिन; एधमान—बढ़ता हुआ; रया—बलशाली; अजायत—प्रकट हुआ।

इस प्रकार यज्ञों से परिष्कृत महाराज भरत का हृदय सर्वथा कल्मषहीन हो गया। दिन प्रति दिन वासुदेव श्रीकृष्ण के प्रति उनकी भक्ति बढ़ती रही। वसुदेव पुत्र श्रीकृष्ण आदि भगवान् हैं, जो परमात्मा रूप में तथा निर्गुण ब्रह्म के रूप में प्रकट होते हैं। योगी लोग अपने हृदय में स्थित परमात्मा का ध्यान धरते हैं, ज्ञानी परम सत्य निर्गुण ब्रह्म के रूप में उपासना करते हैं और भक्त जन शास्त्रों में वर्णित दिव्य देहधारी भगवान् वासुदेव की आराधना करते हैं। उनका शरीर श्रीवत्स, कौस्तुभ मणि तथा पुष्पहार से सुशोभित है और वे हाथों में शंख, चक्र, गदा तथा कमल धारण किये हुए हैं। नारद जैसे भक्त अपने अन्त:करण में उनका सदा ध्यान धरते हैं।

तात्पर्य : भगवान् वासुदेव अर्थात् श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। वे योगियों के हृदय में परमात्मा रूप में प्रकट होते हैं और ज्ञानी लोग निर्गुण ब्रह्म के रूप में उनकी उपासना करते हैं। शास्त्रों

में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन किया गया है, जिसमें वे चतुर्भुज रूप में शंख, चक्र, गदा तथा कमल धारण किये हुए रहते हैं। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* (२.२.८) में भी हुई है—

केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।

चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशंखगदाधरं धारणया स्मरन्ति॥

परमात्मा सभी जीवों के हृदयों में स्थित हैं। उनके चार हाथ होते हैं जिनमें वे आयुध धारण किये रहते हैं। ऐसे सभी भक्त जो परमात्मा का ध्यान धरते हैं मन्दिर के अर्चाविग्रह के रूप से श्रीभगवान् की पूजा करते हैं। वे ईश्वर के निर्गुण स्वरूप तथा उनके ब्रह्मतेज से भी परिचित होते हैं।

एवं वर्षायुतसहस्रपर्यन्तावसितकर्मनिर्वाणावसरोऽधिभुज्यमानं स्वतनयेभ्यो रिक्थं पितृपैतामहं यथादायं विभज्य स्वयं सकलसम्पन्निकेतात्स्वनिकेतात्पुलहाश्रमं प्रवव्राज. ॥ ८॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार सदैव कार्यरत रहकर; वर्ष-अयुत-सहस्र—दस हजार वर्षों के एक हजार गुने वर्ष अर्थात् एक करोड़ वर्ष; पर्यन्त—बीतने तक; अवसित-कर्म-निर्वाण-अवसरः—राज्य-ऐश्वर्य का अन्त समझ कर महाराज भरत; अधिभुज्यमानम्—उस काल तक इस प्रकार भोगी जाकर; स्व-तनयेभ्यः—अपने पुत्रों को; रिक्थम्—सम्पत्ति; पितृ-पैतामहम्—अपने पिता तथा पूर्वजों से प्राप्त; यथा-दायम्—मनु के दाय-भाक् नियम के अनुसार (यथायोग्य); विभज्य—बाँट कर; स्वयम्—स्वयं, आप; सकल-सम्पत्—सभी प्रकार के ऐश्वर्यों का; निकेतात्—घर से; स्व-निकेतात्—अपने पैतृक घर से; पुलह-आश्रमम् प्रवव्राज—हरद्वार में पुलह आश्रम चला गया (जहाँ शालग्राम शिलाएँ प्राप्त होती हैं)।

प्रारब्ध ने महाराज भरत के लिए भौतिक ऐश्वर्य-भोग की अवधि एक करोड़ वर्ष नियत कर दी थी। जब यह अवधि समाप्त हुई तो उन्होंने गृहस्थ जीवन त्याग दिया और अपने पूर्वजों से प्राप्त सम्पत्ति को अपने पुत्रों में बाँट दिया, उन्होंने समस्त ऐश्वर्य के आगार अपने पैतृकगृह को छोड़ दिया और वे पुलहाश्रम के लिए चल पड़े जो हरद्वार में स्थित है। वहाँ शालग्राम शिलाएँ प्राप्त होती हैं।

तात्पर्य : *दाय-भाक्* नियम के अनुसार जब किसी को कोई सम्पति मिल जाती है, तो उसे अगली पीढ़ी को हस्तान्तरित करना होता है। महाराज भरत ने इसे सुचारु रूप से सम्पन्न किया। पहले तो पैतृक सम्पत्ति का उन्होंने स्वयं एक करोड़ वर्षों तक उपभोग किया और विरक्त होते समय इस सम्पत्ति को अपने पुत्रों में बाँट दिया और वे स्वयं पुलह-आश्रम चले गये।

यत्र ह वाव भगवान्हरिरद्यापि तत्रत्यानां निजजनानां वात्सल्येन सन्निधाप्यत इच्छारूपेण. ॥ ९॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; ह वाव—निश्चय ही; भगवान्—श्रीभगवान; हरिः—ईश्वर; अद्य-अपि—आज भी; तत्रत्यानाम्—उस स्थान में रहते हुए; निज-जनानाम्—अपने भक्तों के; वात्सल्येन—अपने दिव्य स्नेह से; सन्निधाप्यते—दृश्य होता है; इच्छा-रूपेण—भक्त की इच्छानुसार।

पुलह आश्रम में भगवान् हरि अपने भक्तों के दिव्य वात्सल्य-वश होकर दृश्य होते रहते हैं और उन सबकी मनोकामनाएँ पूर्ण करते हैं।

तात्पर्य : ईश्वर अनेक दिव्य रूपों में विद्यमान रहते हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (.३९) में कहा गया है—

रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्

नानावतारमकरोद् भुवनेषु किन्तु।

कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

ईश्वर साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में स्थित रहते हैं और उनके साथ भगवान् राम, बलदेव, संकर्षण, नारायण, महा-विष्णु इत्यादि उनके अंश भी रहते हैं। भक्त अपनी रुचि के अनुसार इन रूपों की पूजा करते हैं और ईश्वर वात्सल्य-वश अर्चाविग्रह के रूप में उपस्थित होते हैं। कभी-कभी वे भक्त के समक्ष प्रेम के आदान-प्रदान के कारण साक्षात् उपस्थित होते हैं। भक्त ईश्वर की सेवा में पूर्णतया समर्पित रहता है और ईश्वर भक्त की इच्छानुसार दर्शन देते रहते हैं। वह भगवान् राम, कृष्ण, नृसिंहदेव इत्यादि के रूप में उपस्थित हो सकते हैं। भगवान् तथा भक्त के बीच ऐसा ही पारस्परिक आदान-प्रदान चलता रहता है।

यत्राश्रमपदान्युभयतो नाभिभिर्दृषच्चक्रैश्चक्रनदी नाम सरित्प्रवरा सर्वतः पवित्रीकरोति. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; आश्रम-पदानि—सभी आश्रम; उभयतः—ऊपर तथा नीचे, दोनों ओर; नाभिभिः—नाभि चिह्न सदृश; दृषत्—दृश्य; चक्रैः—चक्रों से; चक्र-नदी—चक्र नदी (जिसे गंडकी कहते हैं); नाम—नामक; सरित्-प्रवरा—नदियों में श्रेष्ठ; सर्वतः—सर्वत्र; पवित्री-करोति—पवित्र करती है।

पुलह आश्रम में गण्डकी नदी है जो समस्त नदियों में श्रेष्ठ है। यहाँ इन समस्त स्थलों को पवित्र करने वाली शालग्राम शिलाएँ (संगमरमर की बटियाँ) हैं। इनमें ऊपर तथा नीचे दोनों ओर नाभि जैसे चक्र दृष्टिगोचर होते हैं।

तात्पर्य : *शालग्राम शिला* शब्द उन प्रस्तर बटियों (गोलियों) के लिए प्रयुक्त है जिनके ऊपर-नीचे वृत्त बने रहते हैं। ये गंडकी नदी में मिलते हैं। यह नदी जहाँ-जहाँ से होकर बहती है, वे स्थान तुरन्त पवित्र हो जाते हैं।

तस्मिन्वाव किल स एकलः पुलहाश्रमोपवने विविधकुसुमकिसलयतुलसिकाम्बुभिः कन्दमूलफलोपहारैश्च समीहमानो भगवत आराधनं विविक्त उपरतविषयाभिलाष उपभृतोपशमः परां निर्वृतिमवाप. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस आश्रम में; वाव किल—निस्सन्देह; सः—भरत महाराज; एकलः—अकेले, एकान्त; पुलह-आश्रम-उपवने—पुलह आश्रम के उद्यानों में; विविध-कुसुम-किसलय-तुलसिका-अम्बुभिः—अनेक पुष्प, किसलय तथा तुलसीदल के साथ-साथ जल से; कन्द-मूल-फल-उपहारैः—मूल, कन्द तथा फलों की भेंट से; च—तथा; समीहमानः—करते हुए; भगवतः—भगवान् की; आराधनम्—आराधना, अर्चना; विविक्तः—विशुद्ध; उपरत—मुक्त होकर; विषय-अभिलाषः—भौतिक इन्द्रिय-सुख की कामना; उपभृत—बढ़ी हुई; उपशमः—शान्ति; पराम्—दिव्य; निर्वृतिम्—सन्तोष, प्रसन्नता; अवाप—प्राप्त किया।

पुलह आश्रम के उपवन में महाराज भरत अकेले रहकर अनेक प्रकार के फूल, किसलय तथा तुलसीदल एकत्र करने लगे। वे गंडकी नदी का जल तथा विभिन्न प्रकार के मूल, फल तथा कन्द भी एकत्र करते। वे इन सबसे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव को भोजन अर्पित करते और उनकी आराधना करते हुए सन्तुष्ट रहने लगे। इस प्रकार उनका हृदय अत्यन्त निष्कलुष हो गया और उन्हें भौतिक सुख के लिए लेशमात्र भी इच्छा न रही। उनकी समस्त भौतिक कामनाएँ दूर हो गईं। इस स्थिर दशा में उन्हें परम सन्तोष हुआ और वे भक्ति में बने रहे।

तात्पर्य : प्रत्येक प्राणी को मन:शान्ति चाहिए। यह तभी प्राप्त होती है जब मनुष्य भौतिक इन्द्रियतृप्ति की आकांक्षा से पूर्णतया मुक्त रहे और ईश्वर की भक्तिमय सेवा में निरत रहे। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२६) में कहा गया है—*पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।* ईश्वर की आराधना तनिक भी खर्चीली नहीं है। मनुष्य चाहे तो उन्हें एक पत्री, पुष्प, फल तथा जल की भेंट चढ़ा सकता है। यदि श्रद्धा तथा प्रेम से ये वस्तुएँ अर्पित की जाती हैं, तो परमेश्वर इन्हें स्वीकार कर लेता हैं। इस प्रकार मनुष्य भौतिक कामनाओं से मुक्त हो सकता है। जब तक भौतिक कामनाएँ बनी रहेंगी, तब तक वह सुखी नहीं रह सकता। ज्योंही मनुष्य ईश्वर की भक्ति में लग जाता है उसका मन समस्त भौतिक कामनाओं से विशुद्ध हो जाता है। तब वह पूर्णतः सन्तुष्ट हो जाता है। *श्रीमद्भागवत* (१.२.६-७) में कहा गया है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥

वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित:।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥

''समस्त मानवता का परम धर्म वह है, जिससे मनुष्य दिव्य ईश्वर की प्रेमाभक्ति प्राप्त कर सकते हैं। आत्मतुष्टि के लिए आवश्यक है कि ऐसी भक्ति अहैतुकी और अविरत हो। भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति द्वारा मनुष्य तुरन्त ही अहैतुक ज्ञान तथा संसार से विरक्ति को प्राप्त होता है।''

ये उपदेश सर्वोच्च वैदिक साहित्य *श्रीमद्भागवत* में दिये गये हैं। भले ही कोई पुलह-आश्रम न जा सके, किन्तु जो विधि बताई गई है उससे किसी भी स्थान में रहते हुए प्रसन्नतापूर्वक भक्ति की जा सकती है।

**तयेत्थमविरतपुरुषपरिचर्यया भगवति प्रवर्धमानानुरागभरद्रुतहृदयशैथिल्य:
प्रहर्षवेगेनात्मन्युद्भिद्यमानरोमपुलककुलक औत्कण्ठ्यप्रवृत्तप्रणयबाष्पनिरुद्धावलोकनयन एवं
निजरमणारुणचरणारविन्दानुध्यानपरिचितभक्तियोगेन
परिप्लुतपरमाह्लादगम्भीरहृदयह्रदावगाढधिषणस्तामपि क्रियमाणां भगवत्सपर्यां न सस्मार. ॥ १२॥**

शब्दार्थ

तया—उसके द्वारा; इत्थम्—इस प्रकार; अविरत—निरन्तर; पुरुष—परमेश्वर की; परिचर्यया—सेवा द्वारा; भगवति—श्रीभगवान् में; प्रवर्धमान—निरन्तर बढ़ती हुई; अनुराग—आसक्ति का; भर—भार से; द्रुत—द्रवित; हृदय—हृदय; शैथिल्य:—शिथिलता; प्रहर्ष-वेगेन—दिव्य हर्ष के वेग से; आत्मनि—अपने शरीर में; उद्भिद्यमान-रोम-पुलक-कुलक:—रोमांच, रोमों का खड़ा होना; औत्कण्ठ्य—उत्कंठा के कारण; प्रवृत्त—उत्पन्न; प्रणय-बाष्प-निरुद्ध-अवलोक-नयन:—प्रेमाश्रु प्रकट होने से दृष्टि में अवरोध; एवम्—इस प्रकार; निज-रमण-अरुण-चरण-अरविन्द—ईश्वर के लाल लाल चरणकमलों पर; अनुध्यान—ध्यान करने से; परिचित—बढ़ा हुआ; भक्ति-योगेन—भक्ति के कारण; परिप्लुत—सर्वत्र फैलकर; परम—सर्वोच्च; आह्लाद—आनन्द का; गम्भीर—अत्यन्त गहरा; हृदय-ह्रद—हृदय रूपी सरोवर; अवगाढ—डूबा हुआ; धिषण:—जिसकी बुद्धि; ताम्—वह; अपि—यद्यपि; क्रियमाणाम्—करते हुए; भगवत्—श्रीभगवान् का; सपर्याम्—आराधना; न—नहीं; सस्मार—स्मरण रहा।

इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ भक्त महाराज भरत ईश्वर की भक्ति में निरन्तर लगे रहे। स्वाभाविक रूप से वासुदेव श्रीकृष्ण के प्रति उनका प्रेम बढ़ता गया और अन्तत: उनका हृदय द्रवित हो उठा। फलत: धीरे-धीरे समस्त विधि-विधानों के प्रति उनकी आसक्ति जाती रही। उन्हें रोमांच होने लगा और आह्लाद के सभी शारीरिक लक्षण (भाव) प्रकट होने लगे। उनके नेत्रों से अश्रुओं की अविरल धारा बहने लगी जिससे वे कुछ भी देखने में असमर्थ हो गये। इस प्रकार वे निरन्तर ईश्वर के अरुण चरणारविन्द पर ध्यान लगाये रहते। उस समय उनका सरोवर के सदृश हृदय आनन्द-

जल से पूरित हो गया। जब उनका मन इस सरोवर में निमग्न हो गया तो वे नियमपूर्वक सम्पन्न की जाने वाली भगवद् पूजा भी भूल गये।

तात्पर्य : जब कोई श्रीकृष्ण के प्रेम में विभोर हो उठता है, तो शरीर में आठ दिव्य आनन्दमय लक्षण (भाव) प्रकट होते हैं। ये सिद्धि के लक्षण हैं, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की प्रेमाभक्ति से उठते हैं। चूँकि महाराज भरत निरन्तर भक्ति में लीन रहते थे इसलिए ये हर्षातिरेक के लक्षण उनमें प्रकट हुए।

इत्थं धृतभगवद्व्रत ऐणेयाजिनवाससानुसवनाभिषेकार्द्रकपिशकुटिलजटाकलापेन च विरोचमानः सूर्यर्चा भगवन्तं हिरण्मयं पुरुषमुज्जिहाने सूर्यमण्डलेऽभ्युपतिष्ठन्नेतदु होवाच. ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; धृत-भगवत्-व्रतः—भगवान् की सेवा का व्रत स्वीकार करके; ऐणेय-अजिन-वासस—मृगचर्म वस्त्र धारण किये; अनुसवन—प्रति दिन तीन बार; अभिषेक—स्नान द्वारा; अर्द्र—गीला; कपिश—भूरा; कुटिल-जटा—घुँघराले केशों की जटा; कलापेन—समूह से; च—तथा; विरोचमानः—अत्यन्त सुन्दर ढंग से सजाई गई; सूर्यर्चा—सूर्य में स्थित भगवान् नारायण के अंश-विस्तार की वैदिक ऋचाओं द्वारा पूजा; भगवन्तम्—भगवान् को; हिरण्मयम्—स्वर्णकान्ति वाले भगवान्; पुरुषम्—भगवान्; उज्जिहाने—उदय होते हुए; सूर्य-मण्डले—सूर्यमंडल में; अभ्युपतिष्ठन्—पूजा करते हुए; एतत्—यह; उ ह—निश्चय ही; उवाच—कहा।.

महाराज भरत अत्यन्त सुन्दर लग रहे थे। उनके शीश पर घुँघराले बालों की राशि थी जो दिन में तीन बार स्नान करने से गीली थी। वे मृगचर्म धारण करते और स्वर्णिम तेजोमय शरीर तथा सूर्य के भीतर वास करने वाले श्रीनारायण की पूजा करते। वे ऋग्वेद की ऋचाओं का जप करते हुए भगवान् नारायण की उपासना करते और सूर्योदय होते ही निम्नलिखित श्लोक का पाठ करते।

तात्पर्य : सूर्य में प्रमुख देवता हिरण्मय यानी भगवान् नारायण हैं। उनकी आराधना गायत्री मंत्र से की जाती है जो इस प्रकार है—*ॐ भूर्भुवः स्वः तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।* उनकी अर्चना ऋग्वेद में दी गई अन्य ऋचाओं से भी की जाती है, यथा—*ध्येयः सदा सवितृ-मंडल-मध्य-वर्ती।* सूर्य के भीतर भगवान् नारायण का वास है और उनका रंग सुनहरा है।

परोरजः सवितुर्जातवेदो
देवस्य भर्गो मनसेदं जजान ।
सुरेतसादः पुनराविश्य चष्टे
हंसं गृध्राणं नृषद्रिङ्गिरामिमः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

परः-रजः—रजोगुण से परे (सतोगुण में स्थित); सवितुः—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को आलोकित करने वाले का; जात-वेदः—जिससे भक्तों की कामनाएँ पूरी होती है; देवस्य—भगवान् का; भर्गः—आत्म-तेज; मनसा—मात्र चिन्तन से; इदम्—यह; जजान—उत्पन्न किया; सु-रेतसा—दिव्य-शक्ति से; अदः—यह सृष्टि; पुनः—फिर; आविश्य—प्रवेश करके; चष्टे—देखता या पालन करता है; हंसम्—जीव को; गृध्राणम्—भौतिक सुख की कामना करते हुए; नृषत्—बुद्धि के लिए; रिङ्गिराम्—गति प्रदान करने वाले; इमः—नमस्कार है।.

''पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् शुद्ध सत्त्व में स्थित हैं। वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को आलोकित करते हैं और अपने भक्तों को सभी वर देते हैं। ईश्वर ने अपने दिव्य तेज से इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि की है। वे अपनी ही इच्छा से इस ब्रह्माण्ड में परमात्मा के रूप में प्रविष्ट हुए और अपनी विभिन्न शक्तियों से भौतिक सुख की इच्छा रखने वाले समस्त जीवों का पालन करते हैं। ऐसे बुद्धिदायक भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ।''

तात्पर्य : सूर्य का प्रधान अधिष्ठातृ देवता नारायण का ही अन्य अंश है, जो समस्त ब्रह्माण्ड को अलोकित करता है। ईश्वर समस्त जीवात्माओं के हृदय में परमात्मा के रूप में प्रवेश करता है और उन्हें बुद्धि प्रदान करते हैं तथा उनकी कामनाओं को पूरा करते हैं। *भगवद्गीता* से (१.१) भी इसकी पुष्टि होती है—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः*—मैं सबके हृदय में आसीन रहता हूँ।

ईश्वर परमात्मा के रूप में सब प्राणियों के हृदय में प्रवेश करते हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (.३) में कथित है—*अण्डान्तर-स्थ-परमाणु-चयान्तर-स्थम्*—''वह ब्रह्माण्ड तथा अणु में समान भाव से प्रवेश करता है।'' ऋग्वेद में सूर्य के प्रमुख अधिष्ठातृ देवता की अर्चना इस मंत्र से की गई है—*ध्येयः सदा सवितृ-मंडल-मध्यवर्ती नारायणः सरसिजासन-सन्निविष्टः।* सूर्य के भीतर नारायण अपने कमल पुष्प पर आसीन हैं। इस मंत्र का उच्चारण करते हुए सूर्योदय के समय प्रत्येक जीव को नारायण की शरण ग्रहण करनी चाहिए। आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार यह संसार सूर्य के तेज पर निर्भर है। सूर्य प्रकाश से ही सभी ग्रह घूमते हैं और वनस्पतियाँ उगती हैं। हमें यह भी ज्ञात है कि चन्द्रमा की चाँदनी वनस्पतियों तथा जड़ी-बूटियों के उगने में सहायता करती है। वास्तव में नारायण सूर्य के भीतर स्थित होकर सारे ब्रह्माण्ड का पालन करते हैं अतः नारायण की उपासना गायत्री मंत्र ऋग् मंत्र से करनी चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''राजा भरत के कार्यकलाप'' नामक सातवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter आठ

भरत महाराज के चरित्र का वर्णन

यद्यपि भरत महाराज परम सिद्ध थे, किन्तु एक नन्हे मृगशावक के प्रति आसक्त होने से उनका पतन हुआ। एक दिन सदा की भाँति गण्डकी नदी में स्नान करके भरत महाराज मंत्र का जाप कर रहे थे तो उन्होंने देखा कि एक गर्भिणी मृगी नदी में पानी पीने आई। सहसा किसी सिंह की दहाड़ सुनाई पड़ी और मृगी इतनी भयभीत हो गई कि उसने तुरन्त अपने शिशु को जन्म दे दिया। मृगी ने किसी तरह नदी पार तो कर ली, किन्तु तत्पश्चात् उसकी तुरन्त मृत्यु हो गई। महाराज भरत को माताविहीन मृगशावक पर तरस आया, उन्होंने उसे जल से निकाला और अपने आश्रम में लाकर अत्यन्त लाड से उसे पाला। धीरे-धीरे वे इस नन्हे मृग पर इतने आसक्त हो गये कि सदैव उसी के सम्बन्ध में स्नेहवत् सोचते रहते। जैसे-जैसे वह बढ़ता गया वह महाराज का स्थायी संगी बनता गया और वे सदैव उसी का ध्यान करते। अन्तत: वे इसके ध्यान में इतने खो गये कि उनका मन विह्वल हो उठता। ज्यों-ज्यों मृग के प्रति उनकी आसक्ति बढ़ती गई उनकी भक्ति शिथिल पड़ती गई। यद्यपि उन्होंने अपने ऐश्वर्यमय साम्राज्य का परित्याग कर दिया था, किन्तु वे इस मृग से बँध गये। इस प्रकार योगाभ्यास से उनका पतन हो गया। एक बार मृग वहाँ से गायब था तो वे इतने विचलित हुए कि वे उसकी खोज में चल पड़े। खोजते समय विलाप करते रहने से वे गिर पड़े और मर गये। चूँकि उनका मन मृग की सोच-विचार में पूर्णत: मग्न रहता था; इसलिए अगले जन्म में वे मृगी की कोख से उत्पन्न हुए। लेकिन सिद्ध होने के कारण मृग का शरीर प्राप्त होने पर भी वे अपने पूर्वकर्मों को विस्मृत नहीं कर पाये; उन्हें ज्ञान था कि वे उच्च पद से किस प्रकार नीचे गिरे थे, अत: अपनी मृगी-माँ को छोड़कर वे पुन: पुलह-आश्रम चले आये। उन्होंने अपने सकाम कर्मों का अन्त मृग रूप में किया और जब उनकी मृत्यु हुई वे मृग-शरीर से मुक्त हो गये।

श्रीशुक उवाच

एकदा तु महानद्यां कृताभिषेकनैयमिकावश्यको ब्रह्माक्षरमभिगृणानो मुहूर्तत्रयमुदकान्त उपविवेश. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एकदा—एक बार; तु—लेकिन; महा-नद्याम्—गण्डकी नामक महानदी में; कृत-अभिषेक-नैयमिक-अवश्यकः—नित्य नैमित्तिक तथा शौचादि कार्यों से निवृत्त होकर, स्नान करके; ब्रह्म-अक्षरम्—प्रणव मंत्र (ॐ) का; अभिगृणानः—जप करते हुए; मुहूर्त-त्रयम्—तीन मुहूर्त तक; उदक-अन्ते—नदी के तट पर; उपविवेश—बैठ गये।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे राजन्! एक दिन प्रातःकालीन नित्य-नैमित्तिक शौचादि कृत्यों से निवृत्त होकर महाराज भरत कुछ क्षणों के लिए गण्डकी नदी के तट पर बैठ कर ओंकार से प्रारम्भ होनेवाले अपने मंत्र का जप करने लगे।

तत्र तदा राजन्हरिणी पिपासया जलाशयाभ्याशमेकैवोपजगाम. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तत्र—नदी के तट पर; तदा—उस समय; राजन्—हे राजा; हरिणी—मृगी; पिपासया—प्यास के कारण; जलाशय-अभ्याशम्—नदी के निकट; एक—एक; एव—निश्चय ही; उपजगाम—आई।

हे राजन्, जब महाराज भरत उस नदी के तट पर बैठे हुए थे उसी समय एक प्यासी हिरनी पानी पीने आई।

तया पेपीयमान उदके तावदेवाविदूरेण नदतो मृगपतेरुन्नादो लोकभयङ्कर उदपतत्. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तया—उस मृगी द्वारा; पेपीयमाने—अत्यन्त तृप्ति के साथ पिया गया; उदके—जल; तावत् एव—ठीक उसी समय; अविदूरेण—अत्यन्त निकट; नदतः—गरजता हुआ; मृग-पतेः—सिंह की; उन्नादः—दहाड़; लोक-भयम्-कर—समस्त जीवों के लिए अत्यन्त डरावनी; उदपतत्—उठी।

जब वह हिरनी अगाध तृप्ति के साथ जल पी रही थी तो पास ही एक सिंह ने घोर गर्जना की। यह समस्त जीवों के लिए डरावनी थी और इसे उस मृगी ने भी सुना।

तमुपश्रुत्य सा मृगवधूः प्रकृतिविक्लवा चकितनिरीक्षणा सुतरामपि हरिभयाभिनिवेशव्यग्रहृदया
पारिप्लवदृष्टिरगततृषा भयात्सहसैवोच्चक्राम. ॥ ४॥

शब्दार्थ

तम् उपश्रुत्य—उस दहाड़ को सुनकर; सा—वह; मृग-वधूः—मृगी; प्रकृति-विक्लवा—स्वभाव से अन्यों द्वारा मारे जाने से भयभीत; चकित-निरीक्षणा—चकित नेत्रों वाली; सुतराम् अपि—तुरन्त ही; हरि—सिंह के; भय—डर; अभिनिवेश—आने से; व्यग्र-हृदया—व्यग्र-चित्त वाली; पारिप्लव-दृष्टिः—चौकन्ने नेत्रों वाली; अगत-तृषा—अपनी प्यास बुझाये बिना; भयात्—डर से; सहसा—अचानक; एव—ही; उच्चक्राम—नदी पार करने लगी।

मृगी स्वभाव से अन्यों द्वारा वध किये जाने से डर रही थी और लगातार शंकित दृष्टि से देख रही थी। जब उसने सिंह की दहाड़ सुनी तो वह अत्यन्त उद्विग्न हो उठी। चौकन्नी दृष्टि से इधर-

उधर देख कर वह मृगी अभी जल पीकर पूर्णतया तृप्त भी नहीं हुई थी कि सहसा उसने नदी पार करने के लिए छलाँग लगा दी।

तस्या उत्पतन्त्या अन्तर्वत्न्या उरुभयावगलितो योनिनिर्गतो गर्भः स्रोतसि निपपात. ॥ ॥

शब्दार्थ

तस्याः—उसके; उत्पतन्त्याः—बलपूर्वक कूदने से; अन्तर्वत्न्याः—गर्भ होने से; उरु-भय—अत्यन्त डर के कारण; अवगलितः—छिटक कर; योनि-निर्गतः—गर्भ से बाहर आकर; गर्भः—गर्भस्थ शिशु; स्रोतसि—बहते जल में; निपपात—गिर गया।

मृगी गर्भिणी थी, अतः जब डर के मारे वह कूद पड़ी तो शिशु मृग उसके गर्भ से निकल कर नदी के बहते जल में गिर गया।

तात्पर्य : यदि स्त्री डर जाती है या अत्यन्त भावुक हो जाती है, तो गर्भपात की आशंका रहती है। अतः गर्भिणी स्त्रियों को ऐसे बाह्य प्रभावों से दूर रखना चाहिए।

तत्प्रसवोत्सर्पणभयखेदातुरा स्वगणेन वियुज्यमाना कस्याञ्चिद्दर्यां कृष्णसारसती निपपाताथ च ममार. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तत्-प्रसव—उसके (मृग शावक) असामयिक गिर जाने से; उत्सर्पण—नदी में छलांग लगाने से; भय—(तथा) भय से; खेद—निर्बलता से; आतुरा—पीड़ित; स्व-गणेन—मृग-झुंड से; वियुज्यमाना—विलग हुई; कस्याञ्चित्—किसी; दर्याम्—पर्वत की गुफा में; कृष्ण-सारसती—कृष्ण मृग की पत्नी (मृगी); निपपात—गिर गई; अथ—अतः; च—तथा; ममार—मर गई।

अपने झुंड से विलग होने तथा गर्भपात से त्रस्त्र हो जाने से वह कृष्णा-मृगी नदी को पार करके अत्यन्त भयभीत हुई। अतः एक गुफा में गिर कर वह तुरन्त मर गई।

तं त्वेणकुणकं कृपणं स्रोतसानूह्यमानमभिवीक्ष्यापविद्धं बन्धुरिवानुकम्पया राजर्षिर्भरत आदाय मृतमातरमित्याश्रमपदमनयत्. ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; तु—लेकिन; एण-कुणकम्—मृग शावक (हरिणी का बच्चा) को; कृपणम्—बेचारे; स्रोतसा—लहरों के द्वारा; अनूह्यमानम्—तैरता हुआ; अभिवीक्ष्य—देख कर; अपविद्धम्—आत्म-जन से विलग (वियुक्त); बन्धुः इव—मित्र की भाँति; अनुकम्पया—दयावश; राज-ऋषिः भरतः—परम सन्त तुल्य राजा भरत; आदाय—लाकर; मृत-मातरम्—मातृविहीन; इति—ऐसा सोचते हुए; आश्रम-पदम्—आश्रम में; अनयत्—ले गया।

नदी के तीर पर बैठे हुए महान् राजा भरत ने अपनी माँ से बिछुड़े बच्चे को नदी में उतराते देखा। यह देख कर उन्हें बड़ी दया आई। उन्होंने विश्वासपात्र मित्र की भाँति उस नन्हेशावक को लहरों से निकाल लिया और मातृहीन जान कर वे उसे अपने आश्रम में ले आये।

तात्पर्य : प्रकृति के नियम जिस सूक्ष्मता से लागू होते हैं उसका हमें ज्ञान नहीं होता है। महाराज भरत उन्नत भक्त और महान् राजा थे। वे परमेश्वर की प्रेमाभक्ति को प्राप्त करने ही वाले थे, किन्तु उस पद से भी भौतिक स्तर पर वे नीचे गिर गये। इसलिए *भगवद्गीता* (२.१) में यह चेतावनी दी गई है—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।

समदु:खसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

"हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन! जो सुख-दुख को समान समझ कर इन दोनों से व्याकुल नहीं होता, वह धीर पुरुष निश्चित रूप से मुक्ति के योग्य है।"

भौतिक बन्धन से मोक्ष तथा मुक्ति के प्रति अग्रसर होने में अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए, क्योंकि थोड़ी सी त्रुटि रह जाने से पुन: संसार में गिरना पड़ता है। महाराज भरत के चरित्र का अध्ययन करके हम सभी प्रकार की भौतिक आसक्ति से मुक्त होने की कला सीख सकते हैं। जैसाकि आगे के श्लोकों से पता चलेगा, भरत महाराज को मृग शरीर धारण करना पड़ा, क्योंकि मृगशावक पर उनका अत्यन्त ममत्व हो गया था। हमें चाहिए कि हम मनुष्य को भौतिक स्थिति से दिव्य स्थिति तक उठाने में दयालु बनें, क्योंकि पता नहीं कब हमारी यह सिद्धि नष्ट हो जाये और हमें नीचे गिरना पड़े। महाराज भरत का मृग के प्रति दया भौतिक जगत् में उनके पतन की शुरुआत थी।

तस्य ह वा एणकुणक
उच्चैरेतस्मिन्कृतनिजाभिमानस्याहरहस्तत्पोषणपालनलालनप्रीणनानुध्यानेनात्मनियमा: सहयमा: पुरुषपरिचर्यादय एकैकश: कतिपयेनाहर्गणेन वियुज्यमाना: किल सर्व एवोदवसन्. ॥८॥

शब्दार्थ

तस्य—राजा का; ह वा—निसन्देह; एण-कुणके—मृग शावक में; उच्चै:—अत्यधिक; एतस्मिन्—इसमें; कृत-निज-अभिमानस्य—जिसने मृगशावक को पुत्रवत् स्वीकार किया; अह:-अह:—प्रतिदिन; तत्-पोषण—उस छौने को पाल कर बड़ा करना; पालन—संकटों से रक्षा; लालन—लाड़-प्यार; प्रीणन—पुचकारना; अनुध्यानेन—ऐसी आसक्ति से; आत्म-नियमा:—अपने शरीर की रक्षा हेतु किये गये कृत्य; सह-यमा:—यम अर्थात् अहिंसा, सहनशीलता तथा सरलता से युक्त; पुरुष-परिचर्या-आदय:—भगवान् की आराधना तथा अन्य कृत्य; एक-एकश:—एक-एक करके; कतिपयेन—कुछ ही; अह:-गणेन—दिनों में; वियुज्यमाना:—त्यागे जाकर; किल—निस्सन्देह; सर्वे—समस्त; एव—ही; उदवसन्—नष्ट हो गये।

धीरे-धीरे महाराज भरत उस मृग के प्रति अत्यन्त वत्सल होते गये। वे घास खिला-खिलाकर उसका पालन करने लगे। वे बाघ तथा अन्य हिंस्र पशुओं के आक्रमण से उसकी सुरक्षा के प्रति

सदैव सतर्क रहते थे। जब उसे खुजली होती तो वे सहलाते और उसे आरामदेह स्थिति में रखने का प्रयत्न करते। कभी-कभी प्रेमवश उसे चूमते भी थे। इस प्रकार मृग के पालन पोषण में आसक्त हो जाने से महाराज भरत आध्यात्मिक जीवन के यम-नियम भूलते गये, यहाँ तक कि धीरे-धीरे भगवान् की आराधना भी भूल गये। कुछ दिनों के बाद वे अपनी आध्यात्मिक उन्नति के विषय में सब कुछ भूल गये।

तात्पर्य : इससे हम यह समझ सकते हैं कि हमें अपने कर्तव्यों के प्रति कितना सतर्क रहना चाहिए और यम-नियमों का पालन करते हुए नियमित रूप से हरे कृष्ण महामंत्र का जप करते रहना चाहिए। यदि हम इसे करने में लापरवाही बरतते हैं, तो अन्त में हमें नीचे गिरना पड़ेगा। हमें चाहिए कि प्रात: उठ कर स्नान करें और मंगल आरती में सम्मिलित हों, अर्चा-विग्रहों की आराधना करें, ''हरे कृष्ण मंत्र'' का जप करें, वैदिक साहित्य का अध्ययन करें और आचार्यों तथा गुरुओं के द्वारा बताये गये यम-नियमों का पालन करें। यदि हम ऐसा नहीं करते तो चाहे हम जितने उच्च पद पर क्यों न आसीन हों नीचे आ गिरेंगे। *भगवद्गीता* (१८.) में कहा गया है—

यज्ञदानतप:कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

''यज्ञ, तप और दान रूप कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए वरन् इन्हें अवश्य करते रहना चाहिए। वस्तुत: यज्ञ, दान और तप महात्माओं को भी शुद्ध करने वाले हैं।'' यहाँ तक कि संन्यासी को भी इन विधि-विधानों का परित्याग नहीं करना चाहिए। उसे अर्चाविग्रह की आराधना करनी चाहिए और समय तथा जीवन को श्रीकृष्ण की सेवा में लगाना चाहिए। उसे तप भी करते रहना चाहिए। इन सबका त्याग नहीं हो सकता। मनुष्य को यह समझकर कि उसने संन्यास धारण कर लिया है अपने को सिद्ध नहीं मान लेना चाहिए। अपनी आध्यात्मिक-उन्नति के लिए भरत महाराज के कार्य-कलापों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिए।

अहो बतायं हरिणकुणक: कृपण ईश्वररथचरणपरिभ्रमणरयेण स्वगणसुहृद्बन्धुभ्य: परिवर्जित: शरणं च मोपसादितो मामेव मातापितरौ भ्रातृज्ञातीन्यौथिकांश्चैवोपेयाय नान्यं कञ्चन वेद मय्यतिविस्रब्धश्चात एव मया मत्परायणस्य पोषणपालनप्रीणनलालनमनसूयुनानुष्ठेयं शरण्योपेक्षादोषविदुषा. ॥ ९॥

शब्दार्थ

अहो बत—ओह; अयम्—यह; हरिण-कुणकः—मृग शावक; कृपणः—असहाय; ईश्वर-रथ-चरण-परिभ्रमण-रयेण—भगवान् के काल-चक्र के वेग से; स्व-गण—अपने झुंड; सुहृत्—तथा मित्रों; बन्धुभ्यः—स्वजनों से; परिवर्जितः—वियुक्त; शरणम्—शरण; च—तथा; मा—मेरी; उपसादितः—प्राप्त करके; माम्—मुझको; एव—ही; माता-पितरौ—माता-पिता; भ्रातृ-ज्ञातीन्—बन्धुओं तथा सम्बंधियों; यौथिकान्—झुंड से सम्बद्ध; च—भी; एव—निश्चय ही; उपेयाय—भूलकर, बिछुड़ कर; न—नहीं; अन्यम्—अन्य कोई; कञ्चन—कोई व्यक्ति; वेद—यह जानता है; मयि—मुझमें; अति—अत्यधिक; विस्रब्धः—श्रद्धा रखने वाला; च—तथा; अतः एव—इसलिए; मया—मेरे द्वारा; मत्-परायणस्य—इस प्रकार मेरे आश्रित का; पोषण-पालन-प्रीणन-लालनम्—पोषण, पालन, संतुष्ट करना तथा दुलारना; अनसूयुना—अनसूया (द्वेष) रहित मैं; अनुष्ठेयम्—किया जाने वाला; शरण्य—शरणागत; उपेक्षा—उपेक्षा; दोष-विदुषा—जो दोष जानता है।

महान् राजा भरत सोचने लगे—अहो! बेचारा यह मृगशावक भगवान् के प्रतिनिधि काल-चक्र के वेग से अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों से विलग हो गया है और मेरी शरण में आया है। यह अन्य किसी को न जानकर केवल मुझे अपना पिता, माता, भाई तथा स्वजन मानने लगा है। मेरे ही ऊपर इसकी निष्ठा है। यह मेरे अतिरिक्त और किसी को नहीं जानता, अतः मुझे ईर्ष्यावश यह नहीं सोचना चाहिए कि इस मृग के कारण मेरा अकल्याण होगा। मेरा कर्तव्य है कि मैं इसका लालन, पालन, रक्षण करूँ तथा इसे दुलारूँ-पुचकारूँ। जब इसने मेरी शरण ग्रहण कर ली है, तो भला इसे मैं कैसे दुत्कारूँ? यद्यपि इस मृग से मेरे आध्यात्मिक जीवन में व्यतिक्रम हो रहा है, किन्तु मैं अनुभव करता हूँ कि इस प्रकार से कोई असहाय व्यक्ति यदि शरणागत हो तो उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। तब तो यह बड़ा भारी दोष होगा।

तात्पर्य : जब कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत में अत्यधिक उठ जाता है, तो संसार के समस्त दुखी प्राणियों के प्रति वह सहज ही दयालु हो उठता है। वह सामान्य मनुष्यों के कष्टों को ही ध्यान में रखता है, किन्तु यदि कोई पतित जीवों के कष्टों को नहीं जानता और शारीरिक सुख देने के उद्देश्य से दयालु हो उठता है जैसाकि भरत महाराज ने किया, तो ऐसी दया या ममता उसके स्वयं के पतन का कारण बनती है। यदि वास्तव में पतित तथा दुखी मानवता के प्रति दयाभाव है, तो मनुष्य को चाहिए कि उन्हें आध्यात्मिक चेतना (भावना) तक ऊपर उठाये। जहाँ तक मृग की बात है भरत महाराज अत्यन्त दयालु हो गये, किन्तु वे यह भूल गये कि इस मृग को आध्यात्मिक भावना तक ऊपर उठा पाना दुष्कर है क्योंकि आखिर मृग पशु ही ठहरा। मात्र पशु की रखवाली के लिए अपने विधि-विधानों का परित्याग महाराज भरत के लिए घातक सिद्ध हुआ। *भगवद्गीता* में प्रतिपाद्य नियमों का पालन होना चाहिए। *यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।* जहाँ तक इस भौतिक देह का प्रश्न है कोई किसी के

लिए कुछ नहीं कर सकता। किन्तु श्रीकृष्ण के अनुग्रह से हम स्वयं विधि-विधानों का पालन करते रहें तो किसी भी व्यक्ति को आध्यात्मिक भावना प्रदान कर सकते हैं। किन्तु यदि हम अपनी आध्यात्मिक वृत्तियों को त्याग कर दूसरे के शारीरिक सुखों के प्रति चिन्तित रहें तो हम स्वयं संकटपूर्ण स्थिति को प्राप्त होंगे।

नूनं ह्यार्याः साधव उपशमशीलाः कृपणसुहृद एवंविधार्थे स्वार्थानपि गुरुतरानुपेक्षन्ते. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निस्संदेह; हि—निश्चय ही; आर्याः—परम सभ्य; साधवः—साधुजन; उपशम-शीलाः—संन्यास लेने पर भी; कृपण-सुहृदः—असहायों के मित्र; एवं-विध-अर्थे—ऐसे नियमों का पालन करने के लिए; स्व-अर्थान् अपि—अपने स्वार्थों तक का; गुरु-तरान्—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण; उपेक्षन्ते—उपेक्षा करते हैं।.

भले ही कोई संन्यास ले चुका हो, किन्तु जो महान् है, वह निश्चित रूप से दुखी जीवात्मा के प्रति दया का अनुभव करता है। मनुष्य को चाहिए कि शरणागत की रक्षा के हेतु अपने बड़े से बड़े स्वार्थ की परवाह न करे।

तात्पर्य : माया अत्यन्त प्रबल है। परोपकार, साम्यवाद तथा परमार्थ के वशीभूत होकर विश्व में दुखी मानवता के प्रति लोग दया का अनुभव करते हैं। परोपकारी यह नहीं सोच पाते कि मनुष्यों की भौतिक स्थितियों को सुधार पाना असम्भव है। भौतिक स्थितियाँ तो अपने कर्म के अनुसार उच्च शासन (दैव) द्वारा पहले से नियत हैं, उन्हें बदला नहीं जा सकता। दुखी प्राणियों को हम इतना ही लाभ पहुँचा सकते हैं कि उनमें आध्यात्मिक चेतना जगा दें। भौतिक सुपास बढ़ाये घटाये नहीं जा सकते। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* (१..१८) में कहा गया है— *तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखम्*—"जहाँ तक भौतिक सुख का प्रश्न है, वह बिना प्रयास प्राप्त होता है, जिस प्रकार कि दुख बिना प्रयास के आते हैं।" भौतिक सुख तथा कष्ट बिना प्रयास के ही प्राप्त होते हैं। मनुष्य को चाहिए कि भौतिक कर्म की परवाह न करे। यदि कोई किसी के प्रति दयालु है या किसी की भलाई कर सकता है, तो उसे चाहिए कि उस व्यक्ति को कृष्णभावनामृत तक ऊपर उठाए। इस प्रकार भगवत् कृपा से प्रत्येक प्राणी ऊपर उठेगा। भरत महाराज ने हमें उपदेश देने के लिए ऐसा ही किया। किन्तु हमें कभी भी तथाकथित शारीरिक कल्याणकारी कार्यकलापों में बहना नहीं चाहिए। हमें किसी भी मूल्य पर भगवान् विष्णु का अनुग्रह प्राप्त करने में अरुचि नहीं दिखानी चाहिए। सामान्य रूप से लोग या तो इसे जानते नहीं या

फिर वे भूल जाते हैं। फलस्वरूप वे अपने मूल उद्देश्य विष्णु के अनुग्रह की प्राप्ति को भूल कर शारीरिक सुविधा दिलाने के लिए परोपकारी कार्यों में लग जाते हैं।

इति कृतानुषङ्ग आसनशयनाटनस्नानाशनादिषु सह मृगजहुना स्नेहानुबद्धहृदय आसीत्. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; कृत-अनुषङ्गः—आसक्ति बढ़ने से; आसन—बैठना; शयन—सोना (नींद); अटन—टहलना; स्नान—नहाना; आशन-आदिषु—खाने आदि में; सह मृग-जहुना—मृगछौने के साथ-साथ; स्नेह-अनुबद्ध—स्नेह से बँधा हुआ; हृदयः—हृदय वाला; आसीत्—हो गया।

मृग के प्रति आसक्ति बढ़ जाने से महाराज भरत उसी मृग के साथ लेटते, टहलते, स्नान करते, यहाँ तक कि उसी के साथ खाना भी खाते। इस प्रकार उनका हृदय मृग के स्नेह में बँध गया।

कुशकुसुमसमित्पलाशफलमूलोदकान्याहरिष्यमाणो वृकसालावृकादिभ्यो भयमाशंसमानो यदा सह हरिणकुणकेन वनं समाविशति. ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

कुश—अनुष्ठानों में प्रयुक्त एक प्रकार की घास, कुश; कुसुम—फूल; समित्—समिधा, जलाने की लकड़ी; पलाश—पत्ते; फल-मूल—फल तथा कन्द; उदकानि—(तथा) जल; आहरिष्यमाणः—एकत्र करने की इच्छा होने पर; वृकसाला-वृक—भेड़ियों तथा कुत्तों से; आदिभ्यः—तथा अन्य पशु यथा बाघ आदि से; भयम्—भय, डर; आशंसमानः—आशंकित; यदा—जब; सह—साथ; हरिण-कुणकेन—मृग-छौना के; वनम्—जंगल में; समाविशति—प्रवेश करता है।

जब महाराज भरत को कुश, फूल, लकड़ी, पत्ते, फल, कन्द तथा जल लाने के लिए जंगल में जाना होता तो उन्हें भय बना रहता कि कुत्ते, सियार, बाघ तथा अन्य हिंस्त्र पशु आकर मृग को मार न डालें। अतः वे जंगल में जाते समय उसे अपने साथ-ले जाते।

तात्पर्य : यहाँ पर यह बताया गया है कि महाराज भरत ने मृग के प्रति अपने स्नेह को किस प्रकार बढ़ा लिया था। भरत महाराज जैसे महान् पुरुष को, जिन्हें भगवान् का स्नेह प्राप्त था, एक पशु से स्नेह के कारण अपने पद से नीचे आना पड़ा। फलतः जैसाकि हम आगे देखेंगे, उन्हें अगले जन्म में मृग का शरीर अपनाना पड़ा। जब महाराज भरत का यह हाल हुआ तो भला जो आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़े हुए नहीं हैं, किन्तु बिल्लियों तथा कुत्तों में आसक्त हैं उनका क्या होगा? जब ऐसे लोग भगवान् के प्रति अपने स्नेह तथा प्यार को बढ़ाते नहीं, तब तक कुत्तों तथा बिल्लियों के प्रति स्नेह के कारण उन्हें अगले जन्म में वैसे ही शरीर धारण करने पड़ेंगे। जब तक हम परमेश्वर के प्रति अपनी श्रद्धा नहीं

बढ़ाते, तब तक हम अनेक वस्तुओं के प्रति आकर्षित होते रहेंगे भौतिक बन्धन का यही कारण है।

पथिषु च मुग्धभावेन तत्र तत्र विषक्तमतिप्रणयभरहृदयः कार्पण्यात्स्कन्धेनोद्वहति एवमुत्सङ्ग उरसि चाधायोपलालयन्मुदं परमामवाप. ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

पथिषु—वन मार्ग में; च—भी; मुग्ध-भावेन—मृग के बचकाने आचरण से; तत्र तत्र—वहाँ वहाँ; विषक्त-मति—अत्यधिक आकृष्ट मन वाला; प्रणय—प्रेम से; भर—पूरित; हृदयः—जिसका हृदय; कार्पण्यात्—स्नेह तथा प्रेम के कारण; स्कन्धेन—कंधे से; उद्वहति—ले जाता है; एवम्—इस प्रकार; उत्सङ्गे—कभी-कभी गोद में; उरसि—सोते समय वक्षस्थल के ऊपर; च—भी; आधाय—ले कर; उपलालयन्—दुलारते हुए; मुदम्—सुख; परमाम्—अत्यधिक; अवाप—अनुभव किया।

जंगल के मार्ग में वह मृग अपने चपल स्वभाव के कारण महाराज भरत को अत्यन्त आकर्षक लगता। महाराज भरत उसे अपने कंधों में भी चढ़ा कर स्नेहवश दूर तक ले जाते। उनका हृदय मृग-प्रेम से इतना पूरित था कि वे कभी उसे अपनी गोद में ले लेते, तो कभी सोते समय उसे अपनी छाती पर चढ़ाए रखते। इस प्रकार उस पशु को दुलारते हुए उन्हें अत्यधिक सुख का अनुभव होता था।

तात्पर्य : वन में जाकर आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ने के उद्देश्य से महाराज भरत ने अपना घर, पत्नी, सन्तान, राज्य तथा अन्य सभी कुछ छोड़ दिया था, किन्तु एक तुच्छ पालतू मृग के स्नेह-पाश में बँध कर वे पुनः भौतिक आसक्ति के शिकार बन गये। तो भला उन्हें परिवार-त्याग से क्या लाभ हुआ? जो व्यक्ति अपने आध्यात्मिक जीवन को उन्नत करना चाहता है उसे श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्यत्र आसक्त होने से सावधान रहना चाहिए। कभी-कभी मात्र उपदेश देने के लिए हमें अनेक भौतिक कार्य करने पड़ते हैं, किन्तु हमें स्मरण रखना होगा कि ये सब कार्य श्रीकृष्ण के निमित्त हैं। यदि हम इसे स्मरण रखेंगे तो फिर हम भौतिक कर्मों के शिकार नहीं बनेंगे।

क्रियायां निर्वर्त्यमानायामन्तरालेऽप्युत्थायोत्थाय यदैनमभिचक्षीत तर्हि वाव स वर्षपतिः प्रकृतिस्थेन मनसा तस्मा आशिष आशास्ते स्वस्ति स्ताद्वत्स ते सर्वत इति. ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

क्रियायाम्—ईश्वर की पूजा करने या नित्य-नैमित्तिक क्रियाएँ करने में; निर्वर्त्यमानायाम्—बिना समाप्त किये ही; अन्तराले—बीच-बीच में; अपि—यद्यपि; उत्थाय उत्थाय—उठ उठ कर; यदा—जब; एनम्—मृगछौना को; अभिचक्षीत—देख लिया करते; तर्हि वाव—उस समय; सः—वह; वर्ष-पतिः—महाराज भरत; प्रकृति-स्थेन—प्रसन्न; मनसा—अपने मन में; तस्मै—उसको; आशिषः आशास्ते—आशीर्वाद देते; स्वस्ति—कल्याण; स्तात्—हो; वत्स—हे मेरे मृग-शावक; ते—तुम्हारा; सर्वतः—सभी प्रकार से; इति—इस प्रकार।

जब महाराज भरत ईश्वर की आराधना में या अन्य अनुष्ठान में व्यस्त रहते तो अनुष्ठानों को समाप्त किए बिना बीच-बीच में ही वे उठ उठ जाते और देखने लगते कि मृग कहाँ है। इस प्रकार जब वे यह देख लेते कि वह मृग सुखपूर्वक है, तब कहीं उनके मन तथा हृदय को सन्तोष होता और तब वे उस मृग को यह कह कर आशीष देते, ''हे वत्स, तुम सभी प्रकार से सुखी रहो।''

तात्पर्य : मृग के लिए अत्यधिक आकर्षण होने के कारण महाराज भरत न तो ईश्वर में ठीक से ध्यान लगा पाते, न अपने नैत्यिक अनुष्ठान ही पूरा कर पाते थे। यद्यपि वे अर्चाविग्रह की पूजा करते होते थे, किन्तु अत्यधिक स्नेह के कारण उनका चित्त अशान्त रहता। जब वे ध्यान के लिए बैठते तो केवल मृग ही उन्हें सूझता और उनको यह भय लगा रहता कि वह कहाँ चला गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि किसी का मन पूजा में नहीं लगता तो पूजा का दिखावा करने से कोई लाभ नहीं होता। मृग को देखने के लिए भरत महाराज को बीच-बीच में उठना पड़ता था, जो इस तथ्य का सूचक है कि वे आध्यात्मिक पद से नीचे आ चुके थे।

अन्यदा भृशमुद्विग्नमना नष्टद्रविण इव कृपणः सकरुणमतितर्षेण
हरिणकुणकविरहविह्वलहृदयसन्तापस्तमेवानुशोचन्किल कश्मलं महदभिरम्भित इति होवाच. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

अन्यदा—कभी कभी (मृग छौने को न देखकर); भृशम्—अत्यधिक; उद्विग्न-मनाः—चिन्ताओं से युक्त मन; नष्ट-द्रविणः—जिसका धन लुट गया हो; इव—सदृश; कृपणः—कंजूस व्यक्ति; स-करुणम्—करुणापूर्वक; अति-तर्षेण—अत्यन्त चिन्ता से; हरिण-कुणक—मृग छौने के; विरह—वियोग से; विह्वल—व्याकुल; हृदय—मन या हृदय में; सन्तापः—शोक; तम्—उन छौने को; एव—केवल; अनुशोचन्—निरन्तर ध्यान करते; किल—निश्चय ही; कश्मलम्—मोह; महत्—अत्यधिक; अभिरम्भितः—प्राप्त किया; इति—इस प्रकार; ह—निश्चय ही; उवाच—कहा।.

कभी कभी भरत महाराज यदि उस मृग को न देखते तो उनका मन अत्यन्त व्याकुल हो उठता। उनकी स्थिति उस कंजूस व्यक्ति के समान हो जाती जिसे कुछ धन प्राप्त हुआ हो, किन्तु उसके खो जाने से वह अत्यन्त दुखी हो गया हो। जब मृग चला जाता, तो उन्हें चिन्ता हो जाती और वियोग के कारण वे विलाप करने लगते। इस प्रकार मोहग्रस्त होने पर वे निम्नलिखित प्रकार से कहते।

तात्पर्य : यदि किसी निर्धन व्यक्ति का कुछ धन या सोना खो जाता है, तो वह अत्यन्त उद्विग्न हो

जाता है। इसी प्रकार महाराज भरत का मन मृग को न देखने पर उद्विग्न हो उठता। यह उदाहरण बताता है कि किस प्रकार हमारी आसक्ति बदल सकती है। यदि हमारी आसक्ति ईश्वर की सेवा में लग जाये तो हम प्रगति करते हैं। श्रील रूप गोस्वामी ने ईश्वर से प्रार्थना की कि मैं भगवान् की सेवा के प्रति उसी प्रकार आकृष्ट होऊँ जिस प्रकार तरुण तथा तरुणियाँ परस्पर आकृष्ट होते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने समुद्र में कूदकर या रात्रि भर वियोगवश रो-रो कर ईश्वर के प्रति ऐसी आसक्ति प्रदर्शित की। किन्तु यदि हमारी आसक्ति ईश्वर से मुड़कर भौतिक पदार्थों के प्रति हो जाये तो हम आध्यात्मिक पद से नीचे गिर जाएँगे।

अपि बत स वै कृपण एणबालको मृतहरिणीसुतोऽहो ममानार्यस्य शठकिरातमतेरकृतसुकृतस्य कृतविस्त्रम्भ आत्मप्रत्ययेन तदविगणयन्सुजन इवागमिष्यति. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अपि—निस्सन्देह; बत—अहो; सः—वह छौना; वै—निश्चय ही; कृपणः—दीन; एण-बालकः—मृगशावक; मृत-हरिणी-सुतः—मृत हरिणी का बच्चा; अहो—ओह; मम—मेरा; अनार्यस्य—अनार्य का, असभ्य आदिवासी; शठ—धोखेबाज का; किरात—अथवा असभ्य आदिवासी का; मतेः—मन वाले; अकृत-सुकृतस्य—पुण्यहीन; कृत-विस्त्रम्भः—विश्वास करते हुए; आत्म-प्रत्ययेन—मुझे अपने ही समान समझते हुए; तत् अविगणयन्—इन सब बातों को सोचे बिना; सु-जनः इव—भद्र पुरुष की भाँति; अगमिष्यति—क्या वह फिर से लौटेगा ?.

भरत महाराज सोचते—ओह! यह मृग अब असहाय है। मैं अत्यन्त अभागा हूँ और मेरा मन चतुर शिकारी की भाँति है क्योंकि यह सदैव छल तथा निष्ठुरता से पूर्ण रहता है। इस मृग ने मुझ पर उसी प्रकार विश्वास किया है, जिस प्रकार एक भद्र पुरुष धूर्त मित्र के दुराचार को भूलकर उस पर विश्वास प्रकट करता है। यद्यपि मैं अविश्वासी सिद्ध हो चुका हूँ, किन्तु क्या यह मृग मुझ पर विश्वास करके पुनः लौट आएगा ?

तात्पर्य : भरत महाराज अत्यन्त नेक और महान् थे, अत: जब मृग उनसे दूर रहता तो वे शरणागत की रक्षा करने में स्वयं को अयोग्य समझने लगते। पशु के प्रति आसक्ति के कारण वे सोचते कि यह पशु भी उन्हीं के समान नेक तथा महान् है। *आत्मवत् मन्यते जगत्*—इस तर्क के अनुसार प्रत्येक प्राणी को चाहिए कि अन्य प्राणियों को अपने समान समझे। अत: महाराज भरत को ऐसा लगा कि उस मृग ने उनकी उपेक्षा के कारण उनका साथ छोड़ा है और अपने नेक हृदय के कारण वह पुनः लौट आएगा।

अपि क्षेमेणास्मिन्नाश्रमोपवने शष्पाणि चरन्तं देवगुप्तं द्रक्ष्यामि. ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

अपि—हो सकता है कि; क्षेमेण—हिंस्र पशुओं के अभाव के कारण निर्भय होने से; अस्मिन्—इस; आश्रम-उपवने—आश्रम के उद्यान में; शष्पाणि चरन्तम्—मुलायम घास चरते हुए; देव-गुप्तम्—देवताओं द्वारा रक्षित; द्रक्ष्यामि—क्या मैं देखूँगा ?.

ओह! क्या ऐसा हो सकता है कि मैं इस पशु को देवताओं से रक्षित तथा हिंस्र पशुओं से निर्भय रूप में फिर देखूँ? क्या मैं उसे पुनः उद्यान में मुलायम घास चरते हुए देख सकूँगा?

तात्पर्य : महाराज भरत ने सोचा कि मृग उनके संरक्षण से निराश होकर उन्हें छोड़कर किसी देवता की शरण में चला गया है। फिर भी वे उस पशु को मुलायम घास चरते हुए तथा हिंस्र पशुओं से निर्भय होकर अपने आश्रम में देखने के अत्यधिक इच्छुक थे। उन्हें केवल मृग का ध्यान रहता था तथा सभी प्रकार के पशुओं से उसकी रक्षा करने की चिन्ता रहती थी। भौतिक दृष्टि से ऐसे विचार अत्यन्त प्रशंसनीय कहे जायँगे, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से राजा अपने आध्यात्मिक पद से नीचे गिर रहे थे और वृथा ही एक पशु पर इतने आसक्त होते जा रहे थे। अपने को इस प्रकार पतित बना देने पर उन्हें पशु-शरीर ग्रहण करना पड़ा।

अपि च न वृकः सालावृकोऽन्यतमो वा नैकचर एकचरो वा भक्षयति. ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अपि च—अथवा; न—नहीं; वृकः—भेड़िया; साला-वृकः—कुत्ता; अन्यतमः—अनेक में से कोई एक; वा—अथवा; न-एक-चरः—झुंड के झुंड विचरने वाले शूकर; एक-चरः—अकेला घूमने वाला व्याघ्र; वा—अथवा; भक्षयति—(बेचारे पशु को) खा रहा है।.

मुझे पता नहीं, किन्तु हो सकता है कि भेड़िये या कुत्ते अथवा झुंडों में रहने वाले सुअर या फिर अकेले घूमने वाले बाघ ने उस मृग को खा लिया हो।

तात्पर्य : बाघ कभी भी जंगल में झुंड में नहीं घूमते। प्रत्येक बाघ अकेला घूमता है, किन्तु जंगली सुअर एकसाथ रहते हैं। इसी प्रकार भेड़िये, कुत्ते आदि भी एकसाथ रहते हैं। इस प्रकार महाराज भरत ने सोचा कि हो न हो बेचारा हिरन इनमें से किसी हिंस्र पशु द्वारा मार डाला गया होगा।

निम्लोचति ह भगवान्सकलजगत्क्षेमोदयस्त्रय्यात्माद्यापि मम न मृगवधून्यास आगच्छति. ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

निम्लोचति—डूब रहा है; ह—ओह; भगवान्—सूर्य के रूप में भगवान्; सकल-जगत्—समस्त ब्रह्माण्ड का; क्षेम-उदयः—कल्याण करने वाला; त्रयी-आत्मा—तीन वेदों से युक्त; अद्य अपि—अब भी; मम—मेरा; न—नहीं; मृग-वधू-न्यासः—मृगी की धरोहर; आगच्छति—वापस आया है।.

ओह! सूर्य के उदय होते ही सभी शुभ कार्य होने लगते हैं। दुर्भाग्यवश, मेरे लिए ऐसा नहीं

हो रहा है। सूर्यदेव साक्षात् वेद हैं, किन्तु मैं समस्त वैदिक नियमों से शून्य हूँ। वे सूर्यदेव अब अस्त हो रहे हैं, तो भी वह बेचारा पशु, जिसने अपनी माता की मृत्यु होने पर मुझपर विश्वास किया था, अभी तक नहीं लौटा है।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* (.२) में सूर्य को भगवान् का नेत्र कहा गया है—

यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणाम्

राजा समस्तसुरमूर्तिरशेषतेजा: ।

यस्याज्ञया भ्रमति संभृतकालचक्रो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

सूर्योदय होते ही मनुष्य को गायत्री मंत्र से आरम्भ करके वैदिक मंत्र का उच्चारण करना चाहिए। सूर्य परमेश्वर के नेत्रों का प्रतीक है। महाराज भरत को पश्चात्ताप हो रहा था कि यद्यपि सूर्य अस्त होने को है, किन्तु बेचारे मृग की अनुपस्थिति के कारण उन्हें कुछ भी शुभ नहीं लग रहा था। इसलिए भरत महाराज ने अपने को सर्वाधिक अभागा माना, क्योंकि सूर्य की उपस्थिति में उनके लिए कुछ भी शुभ नहीं लग रहा था।

अपि स्विदकृतसुकृतमागत्य मां सुखयिष्यति हरिणराजकुमारो
विविधरुचिरदर्शनीयनिजमृगदारकविनोदैरसन्तोषं स्वानामपनुदन्. ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अपि स्वित्—क्या वह करेगा; अकृत-सुकृतम्—जिसने कभी कोई पुण्य कार्य नहीं किया; आगत्य—वापस आकर; माम्—मुझको; सुखयिष्यति—आनन्दित करेगा; हरिण-राज-कुमारः—हिरण, जिसका पालन राजकुमार के समान हुआ; विविध—अनेक; रुचिर—मनोहर; दर्शनीय—देखने योग्य; निज—अपना; मृग-दारक—मृगशावक के उपयुक्त; विनोदैः—क्रीड़ाओं से; असन्तोषम्—असन्तोष; स्वानाम्—स्वजनों का; अपनुदन्—दूर करते हुए।

वह मृग राजकुमार के तुल्य है। वह कब लौटेगा? वह कब फिर अपनी मनोहर क्रीड़ाएँ दिखायेगा? वह कब मेरे आहत-हृदय को पुनः शान्त करेगा? अवश्य ही मेरे पुण्य शेष नहीं हैं, अन्यथा अब तक वह मृग अवश्य लौट आया होता।

तात्पर्य : अपने प्रबल स्नेह के कारण राजा छोटे से हिरण को राजकुमार मान बैठा। यह मोह कहलाता है। मृग की अनुपस्थिति के कारण चिन्तावश राजा ने पशु को इस प्रकार सम्बोधित किया मानो वह उसका पुत्र हो। स्नेह के वशीभूत होने पर किसी को कुछ भी कह कर पुकारा जा सकता है।

क्ष्वेलिकायां मां मृषासमाधिनामीलितदृशं प्रेमसंरम्भेण चकितचकित आगत्य पृषदपरुषविषाणाग्रेण लुठति. ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

क्ष्वेलिकायाम्—खेल में; माम्—मुझको; मृषा—झूठ मूठ; समाधिना—समाधि से; आमीलित-दृशम्—बन्द आँखों से; प्रेम-संरम्भेण—प्रेम के कारण उत्पन्न क्रोध से; चकित-चकितः—डर से; आगत्य—आकर; पृषत्—जल बिन्दुओं के समान; अपरुष—अत्यन्त नम्र; विषाण—सींगों के; अग्रेण—अग्रभाग से, नोक से; लुठति—मेरा शरीर छूता है।

ओह! जब यह छोटा-सा हिरण, मेरे साथ खेलते हुए और मुझे आँखें बन्द करके झूठ-मूठ ध्यान करते देख कर, प्रेम से उत्पन्न क्रोध के कारण मेरे चारों ओर चक्कर लगाता और डरते हुए अपने मुलायम सींगों की नोकों से मुझे छूता, जो मुझे जल बिन्दुओं के समान प्रतीत होते।

तात्पर्य : अब महाराज भरत को अपना ध्यान झूठा लगा। ध्यान करते समय वे वास्तव में मृग के विषय में सोचते रहते और जब वह आकर अपने पैने सींगों से कुरेदता तो उन्हें अत्यधिक प्रसन्नता होती। ध्यान का बहाना करते हुए राजा वास्तव में इसी मृग के विषय में सोचते रहते और यही उनके पतन का संकेत था।

आसादितहविषि बर्हिषि दूषिते मयोपालब्धो भीतभीतः सपद्युपरतरास ऋषिकुमारवदवहितकरणकलाप आस्ते. ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

आसादित—रख देता; हविषि—यज्ञ की सामग्री, हवि; बर्हिषि—कुश के ऊपर; दूषिते—अपवित्र होने पर; मया उपालब्धः—मेरे द्वारा डाँटे जाने पर; भीत-भीतः—अत्यन्त डर से; सपदि—शीघ्र, तुरन्त; उपरत-रासः—अपना खेल बन्द करता हुआ; ऋषि-कुमारवत्—ऋषि के पुत्र या शिष्य के समान; अवहित—पूर्णतया रोका जाकर; करण-कलापः—समस्त इन्द्रियाँ; आस्ते—बैठ जाता।

जब मैं यज्ञ की समस्त सामग्री को कुश पर रखता तो यह मृग खेल-खेल में कुश को अपने दाँतों से छूकर अपवित्र कर देता। जब मैं मृग को दूर हटा कर डाँटता-डपटता तो वह तुरन्त डर जाता और बिना हिले डुले बैठ जाता मानो ऋषि का पुत्र हो। तब वह अपना खेल (क्रीड़ा) बन्द कर देता।

तात्पर्य : महाराज भरत मृग के क्रिया-कलापों का निरन्तर चिन्तन करते रहे और यह भूल गये कि ऐसे ध्यान से तथा चित्त के हटने से उनकी आध्यात्मिक उन्नति नष्ट हो रही है।

किं वा अरे आचरितं तपस्तपस्विन्यानया यदियमवनिः
सविनयकृष्णसारतनयतनुतरसुभगशिवतमाखरखुरपदपङ्क्तिभिर्द्रविणविधुरातुरस्य कृपणस्य मम
द्रविणपदवीं सूचयन्त्यात्मानं च सर्वतः कृतकौतुकं द्विजानां स्वर्गापवर्गकामानां देवयजनं करोति. ॥
२३॥

शब्दार्थ

किम् वा—क्या; अरे—ओह; आचरितम्—साधते हुए; तपः—तपस्या; तपस्विन्या—अत्यन्त भाग्यशाली के द्वारा; अनया—इस भूलोक पर; यत्—चूँकि; इयम्—यह; अवनिः—पृथ्वी; स-विनय—विनयपूर्वक; कृष्ण-सार-तनय—कृष्ण-मृग के शावक का; तनुतर—छोटे-छोटे; सुभग—सुन्दर; शिव-तम—अन्यन्त मंगलकारी; अखर—मुलायम; खुर—खुरों के; पद-पङ्क्तिभिः—पदचिह्नों की पंक्तियों से; द्रविण-विधुर-आतुरस्य—धन की हानि से अत्यन्त दुखी व्यक्ति का; कृपणस्य—अत्यन्त दुखी प्राणी का; मम—मेरे लिए; द्रविण-पदवीम्—उस धन को प्राप्त करने का मार्ग; सूचयन्ति—सूचित करते हुए; आत्मानम्—अपना शरीर; च—तथा; सर्वतः—चारों दिशाओं में; कृत-कौतुकम्—अलंकृत; द्विजानाम्—ब्राह्मणों का; स्वर्ग-अपवर्ग-कामानाम्—स्वर्ग या मुक्ति की आकांक्षा करने वाले; देव-यजनम्—देवताओं के लिए किया जाने वाला यज्ञ-स्थल; करोति—करता है।

इस प्रकार एक पागल की भाँति बोलते हुए महाराज भरत उठे और बाहर निकल गए। धरती पर मृग के पदचिह्नों को देखकर उनकी प्रशंसा में अत्यन्त प्रेम से कहा, ''अरे अभागे भरत! इस पृथ्वी के तप की तुलना में तुम्हारे तप तुच्छ हैं, क्योंकि पृथ्वी की कठोर तपस्या से ही उस पर इस मृग के छोटे-छोटे, सुन्दर अत्यन्त कल्याणकारी तथा मुलायम पदचिह्न बने हुए हैं। पदचिह्नों की यह श्रेणी मृग-विछोह से दुखी मुझ जैसे व्यक्ति को दिखा रही है कि वह पशु इस जंगल से होकर किस प्रकार आगे गया है और मैं उस खोई हुई सम्पत्ति को किस तरह पुनः प्राप्त कर सकता हूँ। इन पदचिह्नों के कारण यह भूमि स्वर्ग या मुक्ति की इच्छा से देवताओं के हेतु यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों के लिए उत्तम स्थान बन गई है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि जब कोई पुरुष प्रेम-व्यापार में अत्यधिक फँस जाता है, तो वह स्वयं को तथा दूसरों को तो भूलता है ही, वह कर्म करना और बात करना तक भूलने लगता है। ऐसी किम्वदन्ती है कि एक मनुष्य के जन्मान्ध पुत्र हुआ, किन्तु पिता ने पुत्र के प्रति अत्यधिक स्नेह के कारण उसका नाम पद्मलोचन रख दिया। अन्ध-प्रेम की ऐसी की दशा है। भरत महाराज मृग के भौतिक प्रेम में फँस कर धीरे-धीरे ऐसी ही दशा को प्राप्त हुए। *स्मृति-शास्त्र* का वचन है—*यस्मिन् देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन् धर्मान्निवोधत*—''जिस भूभाग में श्याम मृग के पदचिह्न दिखें उसे धार्मिक कृत्यों के लिए उपयुक्त स्थान समझना चाहिए।''

अपि स्विदसौ भगवानुडुपतिरेनं मृगपतिभयान्मृतमातरं मृगबालकं स्वाश्रमपरिभ्रष्टमनुकम्पया
कृपणजनवत्सलः परिपाति. ॥ २४॥

शब्दार्थ

अपि स्वित्—कहीं ऐसा तो नहीं है; असौ—वह; भगवान्—सर्वशक्तिमान; उडु-पतिः—चन्द्रमा; एनम्—इस; मृग-पति-भयात्—सिंह के भय से; मृत-मातरम्—मातृविहीन; मृग-बालकम्—मृग शावक की; स्व-आश्रम-परिभ्रष्टम्—अपने आश्रम से बिछुड़ कर; अनुकम्पया—दयावश; कृपण-जन-वत्सलः—(चन्द्रमा) जो दुखी प्राणियों पर अत्यन्त सदय है; परिपाति—सुरक्षा कर रहा है।.

भरत महाराज उन्मत्त पुरुष की भाँति बोलते रहे। अपने सिर के ऊपर उदित चन्द्रमा में मृग के सदृश काले धब्बों को देखकर उन्होंने कहा—कहीं दुखी मनुष्य पर दया करने वाले इस चन्द्रमा ने यह जानते हुए कि मेरा मृग अपने घर से बिछुड़ गया है और मातृविहीन हो गया है, उस पर भी दया की हो? इस चन्द्रमा ने सिंह के अचानक आक्रमण से बचाने के लिए ही मृग को अपने निकट शरण दे दी हो।

किं वात्मजविश्लेषज्वरदवदहनशिखाभिरुपतप्यमानहृदयस्थलनलिनीकं मामुपसृतमृगीतनयं
शिशिरशान्तानुरागगुणितनिजवदनसलिलामृतमयगभस्तिभिः स्वधयतीति च. ॥ २॥

शब्दार्थ

किम् वा—अथवा ऐसा हो कि; आत्म-ज—पुत्र से; विश्लेष—वियोग के कारण; ज्वर—ताप; दव-दहन—दावाग्नि की; शिखाभिः—लपटों से; उपतप्यमान—ज्वलित; हृदय—हृदय; स्थल-नलिनीकम्—लाल कमल पुष्प के सदृश; माम्—मुझको; उपसृत-मृगी-तनयम्—जिससे मृगछौना अत्यन्त हिला-मिला हुआ था; शिशिर-शान्त—अत्यन्त शीतल एवं शान्त; अनुराग—प्रेमवश; गुणित—प्रवहमान; निज-वदन-सलिल—अपने मुख का जल; अमृत-मय—अमृत के सदृश उत्तम; गभस्तिभिः—चन्द्रमा की किरणों से; स्वधयति—मुझे आनन्द दे रहा है; इति—इस प्रकार; च—तथा।.

चाँदनी को देखकर महाराज भरत उन्मत्त पुरुष की भाँति बोलते रहे। उन्होंने कहा—यह मृगछौना इतना विनम्र घुलमिल गया था और मुझे इतना प्रिय था कि इसके वियोग से मुझे अपने पुत्र जैसा वियोग हो रहा है। इसके वियोग-ताप से मुझे दावाग्नि से जल जाने जैसा कष्ट हो रहा है। मेरा हृदय-स्थल कुमुदिनी जैसा जल रहा है। मुझे इतना दुखी देखकर चन्द्रमा मेरे ऊपर चमकते हुए अमृत जैसी वर्षा कर रहा है मानो प्रखर ज्वर से पीड़ित व्यक्ति पर उसका मित्र जल छिड़क रहा हो। इस प्रकार यह चन्द्रमा मुझे सुख देने वाला है।

तात्पर्य : आयुर्वेदिक चिकित्सा के अनुसार जिस व्यक्ति को तेज ज्वर हो उस पर मुख के कुल्ले से जल का छिड़काव करना चाहिए। इससे ज्वर घट जाता है। भरत महाराज अपने पुत्रवत् मृग के वियोग से अत्यन्त दुखी थे, अत: वे सोच रहे थे कि यह चन्द्रमा अपने मुख में जल भर कर उन पर कुल्ले से छिड़क रहा है, जिससे उनका तेज ज्वर शमित हो जाये जो उस मृगछौने के विरह के कारण था।

एवमघटमाननमनोरथाकुलहृदयो मृगदारकाभासेन स्वारब्धकर्मणा योगारम्भणतो विभ्रंशितः स योगतापसो भगवदाराधनलक्षणाच्च कथमितरथा जात्यन्तर एणकुणक आसङ्गः साक्षान्निःश्रेयसप्रतिपक्षतया प्राक्परित्यक्तदुस्त्यजहृदयाभिजातस्य तस्यैवमन्तरायविहतयोगारम्भणस्य राजर्षेर्भरतस्य तावन्मृगार्भकपोषणपालनप्रीणनलालनानुषङ्गेणाविगणयत आत्मानमहिरिवाखुबिलं दुरतिक्रमः कालः करालरभस आपद्यत. ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; अघटमान—दुर्लभ; मनः-रथ—इच्छाओं से जो मन के रथ के तुल्य हैं; आकुल—दुखी; हृदयः—जिसका हृदय; मृग-दारक-आभासेन—मृग छौने के समान; स्व-आरब्ध-कर्मणा—अपने प्रारब्ध के बुरे कर्म-फलों से; योग-आरम्भणतः—योगानुष्ठान से; विभ्रंशितः—च्युत; सः—वह (महाराज भरत); योग-तापसः—योग तथा तपस्या करता हुआ; भगवत्-आराधन-लक्षणात्—श्रीभगवान् की भक्ति सम्बन्धी क्रियाओं से; च—तथा; कथम्—किस प्रकार; इतरथा—अन्य; जाति-अन्तरे—अन्य जातियोनि वाले; एण-कुणके—मृग छौने के शरीर के प्रति; आसङ्गः—अत्यधिक आसक्ति; साक्षात्—प्रत्यक्ष; निःश्रेयस—चरम जीवन-लक्ष्य प्राप्त करने के लिए; प्रतिपक्षतया—प्रतिरोध; प्राक्—पहले; परित्यक्त—छोड़ा हुआ; दुस्त्यज—यद्यपि त्याग करने में अत्यन्त कठिन; हृदय-अभिजातस्य—अपने हृदय से उत्पन्न अपने पुत्रों; तस्य—उसका; एवम्—इस प्रकार; अन्तराय—उस प्रतिरोध (विघ्न) से; विहत—रोका जाकर; योग-आरम्भणस्य—जिसकी योग-साधना का पथ; राज-ऋषेः—राजर्षि; भरतस्य—महाराज भरत का; तावत्—तब तक; मृग-अर्भक—मृगछौना; पोषण—भरण में (दूध पिलाने में); पालन—सुरक्षा में; प्रीणन—प्रसन्न रखने में; लालन—दुलारने में; अनुषङ्गेण—निरन्तर ध्यान करते रहने से; अविगणयतः—उपेक्षा करते हुए; आत्मानम्—अपनी आत्मा की; अहिः इव—सर्प के तुल्य; आखु-बिलम्—चूहे का बिल; दुरतिक्रमः—दुर्लंघ्य; कालः—मृत्यु; कराल—भयानक; रभसः—गतिमान; आपद्यत—आ गया।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा, हे राजन्, इस प्रकार महाराज भरत दुर्दमनीय आकांक्षा से अभिभूत हो गये जो मृग के रूप में प्रकट हुई। अपने पूर्वकर्मों के फल के कारण वे योग, तप तथा भगवान् की आराधना से च्युत हो गये। यदि यह पूर्वकर्मों के कारण नहीं हुआ तो वे क्योंकर अपने पुत्र तथा परिवार को अपने आध्यात्मिक जीवन के पथ पर अवरोध समझ कर त्याग देने के बाद भी मृग से इतना आकृष्ट होते? वे मृग के लिए इतना दुर्दम्य स्नेह क्यों प्रकट करते? यह निश्चय ही उनके पूर्वकर्म का फल था। राजा मृग को सहलाने तथा उसके लालन-पालन में इतने व्यस्त रहते कि वे अपने आध्यात्मिक वृत्तियों से नीचे गिर गये। कालान्तर में, दुर्लंघ्य मृत्यु उनके समक्ष उपस्थित हो गई जिस प्रकार कोई विषधर सर्प चूहे के द्वारा निर्मित छिद्र में चुपके से घुस जाता है।

तात्पर्य : अगले श्लोकों में देखने में आएगा कि मृत्यु के समय महाराज भरत को मृग से आकर्षण के कारण बाध्य होकर मृग का शरीर धारण करना पड़ा। इस सम्बन्ध में एक प्रश्न पूछा जा सकता है कि भक्त के पूर्व-दुष्कर्मों तथा पापों का उस पर किस प्रकार प्रभाव पड़ सकता है? *ब्रह्म-संहिता* (.४) में कहा गया है— *कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजाम्*—"जो भक्ति-भजन में लगे रहते हैं उनके पूर्वकर्मों के फल की क्षतिपूर्ति हो जाती है।" इसके अनुसार भरत महाराज को उनके पूर्वकर्मों के

लिए दण्डित नहीं किया जा सकता था। इसका निष्कर्ष यह होगा कि वे जानबूझ कर मृग के प्रति अत्यधिक लिप्त हो गये और उन्होंने अपनी उन्नति की उपेक्षा की। उनकी इस त्रुटि को तुरन्त सुधारने के लिए उन्हें अल्प काल के लिए मृग का शरीर प्रदान किया गया। यह उनकी भक्ति को सुदृढ़ करने के लिए किया गया था। यद्यपि उन्हें पशु शरीर दिया गया, किन्तु वे यह नहीं भूल पाये कि जानबूझ कर की गई उनकी त्रुटि के कारण ही ऐसा हुआ। वे इस मृग शरीर से उद्धार पाने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे जिससे सूचित होता है वे भक्ति के प्रति अधिकाधिक स्नेहिल हो उठे थे जिससे अगले जन्म में उन्हें ब्राह्मण का शरीर प्राप्त हो सका जिससे वे अपने लक्ष्य में सिद्धि पा सके। इसी दृढ़ विश्वास के साथ ही हम अपनी पत्रिका *बैक टु गाडहेड* में यह घोषित करते हैं कि वृन्दावन में रहने वाले कुछ गोस्वामी भक्त, जो जानबूझ कर पाप करते हैं, वे उस पवित्र भूमि में कुत्ते, बन्दर तथा कछुवे का शरीर धारण करते हैं। इस प्रकार वे कुछ काल तक निम्न योनि में रहते हैं और अपना ऐसा पशु-शरीर त्यागने के बाद वे पुनः वैकुंठलोक जाते हैं। ऐसा अल्पकालिक दंड विगत कर्मों का फल नहीं होता। भले ही यह विगत कर्म के कारण प्रतीत हो, किन्तु यह दण्ड भक्त को अपनी भूल सुधारने और भक्ति में अग्रसर होने के लिए दिया जाता है।

तदानीमपि पार्श्ववर्तिनमात्मजमिवानुशोचन्तमभिवीक्षमाणो मृग एवाभिनिवेशितमना विसृज्य लोकमिमं सह मृगेण कलेवरं मृतमनु न मृतजन्मानुस्मृतिरितरवन्मृगशरीरमवाप. ॥ २७॥

शब्दार्थ

तदानीम्—उस समय; अपि—निस्संदेह; पार्श्व-वर्तिनम्—अपनी मृत्युशय्या के निकट; आत्म-जम्—अपने पुत्र; इव—सदृश; अनुशोचन्तम्—शोकातुर; अभिवीक्षमाणः—देखते हुए; मृगे—मृग में; एव—निश्चय ही; अभिनिवेशित-मनाः—उसका मन उसी में लगा हुआ; विसृज्य—त्याग कर; लोकम्—संसार को; इमम्—इस; सह—साथ; मृगेण—मृग के; कलेवरम्—उसका शरीर; मृतम्—मरा हुआ; अनु—तत्पश्चात्; न—नहीं; मृत—विनष्ट; जन्म-अनुस्मृतिः—मृत्यु के पूर्व की घटना की याद; इतर-वत्—अन्यों की तरह; मृग-शरीरम्—मृग का शरीर; अवाप—प्राप्त किया।

राजा ने देखा कि उनकी मृत्यु के समय वह मृग उनके पास बैठा था मानो उनका पुत्र हो और वह उनकी मृत्यु से शोकातुर था। वास्तव में राजा का चित्त मृग के शरीर में रमा हुआ था, फलतः कृष्णभावनामृत से रहित मनुष्यों की भाँति उन्होंने यह संसार, मृग तथा अपना भौतिक शरीर त्याग दिया और मृग का शरीर प्राप्त किया। किन्तु इससे एक लाभ हुआ। यद्यपि उन्होंने मानव शरीर त्याग कर मृग का शरीर प्राप्त किया था, किन्तु उन्हें अपने पूर्व जीवन की घटनाएँ भूल

नहीं पाईं थीं।

तात्पर्य : महाराज भरत द्वारा मृग शरीर ग्रहण करने तथा मृत्यु के समय अन्य व्यक्तियों की मानसिक दशा के अनुसार जो विभिन्न शरीर प्राप्त होते हैं उन्हें ग्रहण करने में अन्तर है। अन्य लोग मृत्यु के बाद भूल जाते हैं कि उनके पूर्व जीवनों में क्या-क्या घटनाएँ हुई थीं, किन्तु महाराज भरत कुछ भी नहीं भूले थे। *भगवद्गीता* के अनुसार (८.६)—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित:॥

''जिस जिस भाव का स्मरण करते हुए जीव देह त्यागता है, वह निस्सन्देह उसको ही प्राप्त होता है।''

शरीर त्यागने के बाद मनुष्य की मृत्यु के समय जैसी मानसिक स्थिति होती है, वह उसी के अनुसार अन्य शरीर प्राप्त करता है। मृत्यु के समय कोई भी मनुष्य सदैव उसी विषय को सोचता रहता है, जिसमें वह आजीवन उलझा रहता है। इस नियम के अनुसार चूँकि भरत महाराज भगवद्भक्ति भूलकर निरन्तर मृग के चिन्तन में डूबे रहते थे, इसलिए उन्हें मृग का शरीर प्राप्त हुआ। किन्तु भक्ति का चरम स्तर प्राप्त होने के कारण उन्हें पूर्व जीवन की घटनाएँ विस्मृत नहीं हुई थीं। इस विशेष वरदान ने उन्हें आगे की अधोगति से बचा लिया। भक्ति सम्बन्धी पूर्वकर्मों के कारण वे मृग शरीर धारण करके भी अपनी भक्ति को पूरा करने में दृढ़संकल्प रहे। इसलिए इस श्लोक में कहा गया है, यद्यपि वे *मृतम्* अर्थात् मर चुके थे, किन्तु *अनु,* तत्पश्चात्, *न मृत-जन्मानुस्मृतिर् इतरवत्*—वह अन्यों की तरह पूर्वजन्म की घटनाओं को भूले नहीं। जैसाकि *ब्रह्मसंहिता* (.४) में कहा गया है— *कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्ति-भाजाम्।* इससे यहाँ यह सिद्ध हो जाता है कि श्रीभगवान् के अनुग्रह से भक्त कभी विनष्ट नहीं होता। जानबूझ कर भक्ति की उपेक्षा के लिए भक्त को कुछ काल के लिए दण्डित किया जा सकता है, किन्तु उसे पुन: भक्ति प्राप्त होती है और वह भगवद्धाम को वापस चला जाता है।

तत्रापि ह वा आत्मनो मृगत्वकारणं भगवदाराधनसमीहानुभावेनानुस्मृत्य भृशमनुतप्यमान आह. ॥ २८॥

शब्दार्थ

तत्र अपि—उस जन्म में; ह वा—निस्संदेह; आत्मनः—स्वयं का; मृगत्व-कारणम्—मृग शरीर स्वीकार करने का कारण; भगवत्-आराधन-समीहा—भक्ति में पूर्व कर्मों के; अनुभावेन—परिणामस्वरूप; अनुस्मृत्य—स्मरण करके; भृशम्—सर्वदा; अनुतप्य-मानः—पश्चात्ताप करते हुए; आह—कहा।

मृग शरीर प्राप्त करने पर भी भरत महाराज अपने पूर्वजन्म की दृढ़ भक्ति के कारण उस शरीर को धारण करने का कारण जान गये थे। अपने विगत तथा वर्तमान शरीर पर विचार करते हुए वे अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप करते हुए इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : भक्त के लिए यह विशेष छूट है। यदि उसे अ-मानव शरीर प्राप्त होता भी है, तो भी श्रीभगवान् के अनुग्रह से उसे अपनी भक्ति को आगे बढ़ाने का अवसर अपने गत जीवन का स्मरण करके या अन्य प्राकृतिक कारणों से प्राप्त होता है। जनसामान्य के लिए गत जीवन के कार्यों को स्मरण रखना कोई सरल काम नहीं, किन्तु भरत महाराज को अपने यज्ञों तथा भक्ति के कारण अपने पूर्वकर्मों की स्मृति बनी रही।

अहो कष्टं भ्रष्टोऽहमात्मवतामनुपथाद्यद्विमुक्तसमस्तसङ्गस्य विविक्तपुण्यारण्यशरणस्यात्मवत आत्मनि सर्वेषामात्मनां भगवति वासुदेवे तदनुश्रवणमननसङ्कीर्तनाराधनानुस्मरणाभियोगेनाशून्यसकलयामेन कालेन समावेशितं समाहितं कात्स्न्र्येन मनस्तत्तु पुनर्ममाबुधस्यारान्मृगसुतमनु परिसुस्राव. ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अहो कष्टम्—ओह, कितना कष्टमय जीवन है; भ्रष्टः—पतित; अहम्—मैं (हूँ); आत्म-वताम्—सिद्धिप्राप्त महान् भक्तों की; अनुपथात्—जीवन शैली से; यत्—जिससे; विमुक्त-समस्त-सङ्गस्य—यद्यपि अपने सगे पुत्रों तथा घर का साथ त्यागे हुए; विविक्त—एकान्त; पुण्य-अरण्य—पवित्र वन की; शरणस्य—शरण लिए हुए के; आत्म-वतः—दिव्य पद को प्राप्त; आत्मनि—परमात्मा में; सर्वेषाम्—समस्त; आत्मनाम्—जीवात्माओं के; भगवति—श्रीभगवान् में; वासुदेवे—भगवान् वासुदेव में; तत्—उसका; अनुश्रवण—निरन्तर सुनना; मनन—चिन्तन; सङ्कीर्तन—जप; आराधन—पूजा, उपासना; अनुस्मरण—निरन्तर स्मरण करना; अभियोगेन—लीन रह कर; अशून्य—पूरित; सकल-यामेन—जिसमें सारे समय; कालेन—काल से; समावेशितम्—पूर्णतया प्रतिष्ठित; समाहितम्—स्थिर; कात्स्न्र्येन—पूर्णतया; मनः—चित्त; तत्—वह मन; तु—लेकिन; पुनः—फिर; मम—मुझ; अबुधस्य—अज्ञानी का; आरात्—दूरी से; मृग-सुतम्—मृगछौना; अनु—के पीछे, के वश में; परिसुस्राव—च्युत हो गया।

मृग के शरीर में भरत महाराज पश्चात्ताप करने लगे—कैसा दुर्भाग्य है कि मैं स्वरूपसिद्धों के पथ से गिर गया हूँ! आध्यात्मिक जीवन बिताने के लिए मैंने अपने पुत्रों, पत्नी तथा घर का परित्याग किया और वन के एकान्त पवित्र स्थान में आश्रय लिया। मैं आत्मसंयमी तथा स्वरूप-सिद्ध बना और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव की भक्ति, श्रवण, चिन्तन, कीर्तन, पूजन तथा स्मरण में निरन्तर लगा रहा। मैं अपने प्रयत्न में सफल रहा, यहां तक कि मेरा मन सर्वदा भक्ति में डूबा रहता था। किन्तु, अपनी मूर्खता के कारण मेरा मन पुनः आसक्त हो गया—इस बार मृग

में। अब मुझे मृग शरीर प्राप्त हुआ है और मैं अपनी भक्ति-साधना से बहुत नीचे गिर चुका हूँ।

तात्पर्य : अपनी कठोर भक्ति-साधना के कारण महाराज भरत को अपने विगत जन्म के कर्मों का और इसका कि वे किस प्रकार आध्यात्मिक स्तर पर पहुंचे थे, स्मरण था। अपनी ही मूर्खता से वे एक साधारण से मृग पर आसक्त होकर च्युत हुए जिससे उन्हें मृग का शरीर धारण करना पड़ा। यह प्रत्येक भक्त के लिए अत्यन्त महत्त्व की बात है। यदि हम अपने पद का दुरुपयोग करते हैं और सोचते हैं कि हम तो भक्ति में पूर्णतया समर्पित हैं, अत: चाहे जैसा भी आचरण करें, तो हमें भरत महाराज की भाँति दुख भोगना पड़ेगा और जिस प्रकार के शरीर से भक्ति को बाधा पहुँचती है, वही शरीर धारण करना पड़ेगा। केवल मनुष्य रूप में भक्ति की जा सकती है, किन्तु यदि हम जानबूझ कर इन्द्रियतृप्ति के कारण भक्ति का परित्याग करते हैं, तो हमें निश्चय ही दण्ड मिलेगा। यह दण्ड सामान्य भौतिकतावादी पुरुष का सा नहीं होता। परमेश्वर भक्त को इस प्रकार दण्डित करते हैं कि श्रीवासुदेव के चरणकमलों के प्रति उसकी उत्सुकता बढ़ती है और इस उत्कट इच्छा के कारण वह अगले जन्म में अपने घर वापस चला जाता है। यहाँ भक्ति का सम्यक वर्णन इस प्रकार किया गया है—*तद्-अनुश्रवण-मनन-संकीर्तनाराधनानुस्मरणाभियोगेन*। *भगवद्गीता* में ईश्वर के यश का निरन्तर श्रवण तथा कीर्तन करने की संस्तुति की गई है—*सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रता:।* जिन्होंने कृष्णभावनामृत अंगीकार किया है उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि एक भी क्षण वृथा न जाने दें और कोई भी क्षण श्रीभगवान् के संकीर्तन- तथा उनके कार्यकलापों के स्मरण के बिना न बीतने पाए। श्रीकृष्ण अपने स्वयं के कार्यों से तथा अपने भक्तों के कार्यों से हमें शिक्षा देते हैं कि भक्ति में किस प्रकार सतर्क रहा जाये। भरत महाराज के माध्यम से श्रीकृष्ण हमें शिक्षा देते हैं कि हम भक्ति करने में सावधान रहें। यदि हम चाहते हैं कि हमारे मन तनिक भी विचलित न हों तो हमें चाहिए कि हम उन्हें पूरे समय भक्ति में लगाये रखें। जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ के सदस्यों का प्रश्न है उन्होंने कृष्णभावनामृत आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिये सब कुछ त्याग दिया है। तो भी उन्हें भरत महाराज के जीवन से शिक्षा लेनी चाहिए कि उन्हें एक भी क्षण अनर्गल बात, निद्रा या अधिक खाने में नहीं गँवाना है। भोजन करना मना नहीं है, किन्तु अधिक खाने से अधिक नींद आयेगी। इससे इन्द्रियतृप्ति की अभिलाषा होगी और हमें निम्न योनि में जाना पड़ेगा। इस प्रकार हमारी प्रगति रुक जाएगी, भले ही कुछ काल के लिए क्यों न

हो। अत: सबसे उत्तम मार्ग है कि हम श्रील रूप गोस्वामी का उपदेश ग्रहण करें—*अव्यर्थ-कालत्वम्।* हमें ध्यान रहे कि हमारा प्रत्येक क्षण भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में न लगे। भगवद्धाम वापस जाने के इच्छुक भक्तों के लिए यह सर्वश्रेष्ठ साधन है।

इत्येवं निगूढनिर्वेदो विसृज्य मृगीं मातरं पुनर्भगवत्क्षेत्रमुपशमशीलमुनिगणदयितं शालग्रामं पुलस्त्यपुलहाश्रमं कालञ्जरात्प्रत्याजगाम. ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; एवम्—इस विधि से; निगूढ—छिपी; निर्वेद:—वैराग्य भावना; विसृज्य—त्याग कर; मृगीम्—मृगी को; मातरम्—अपनी माता; पुन:—फिर; भगवत्-क्षेत्रम्—वह क्षेत्र जहाँ परमेश्वर पूजित हैं; उपशम-शील—सांसारिक आसक्तियों से सर्वथा विरक्त; मुनि-गण-दयितम्—जो मुनियों को अत्यधिक प्रिय है; शालग्रामम्—शालग्राम नामक ग्राम; पुलस्त्य-पुलह-आश्रमम्—पुलस्त्य तथा पुलह जैसे ऋषियों के आश्रम को; कालञ्जरात्—कालंजर पर्वत से, जहाँ उसने मृगी के गर्भ से जन्म लिया था; प्रत्याजगाम—चला आया।.

यद्यपि भरत महाराज को मृग शरीर प्राप्त हुआ था, किन्तु निरन्तर पश्चात्ताप करते रहने से वे सांसारिक वस्तुओं से पूर्णत: विरक्त हो गये थे। उन्होंने ये बातें किसी को प्रकट नहीं होने दीं। उन्होंने अपनी मृगी माता को अपने जन्मस्थान कालंजर पर्वत पर ही छोड़ दिया और स्वयं शालग्राम के बन में पुलस्त्य तथा पुलह के आश्रम में पुन: चले आये।

तात्पर्य : महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वासुदेव के अनुग्रह से महाराज भरत को अपना पूर्व जीवन स्मरण रहा। उन्होंने एक क्षण भी नष्ट नहीं किया। वे पुलह-आश्रम में, उस गांव में, जिसे शालग्राम कहते हैं, लौट आये। संगति अत्यन्त सार्थक होती है, इसीलिए इस संघ में प्रविष्ट करने वाले प्रत्येक सदस्य को *इस्कान* पूर्ण बनाना चाहता है। इस संघ के सदस्यों को सदैव स्मरण रखना चाहिए कि संघ एक मुफ्त का भोजनालय नहीं है। इस संघ के सभी सदस्यों को अपने आध्यात्मिक कर्तव्यों का सावधानी के साथ पालन करना चाहिए जिससे नवागत सदस्य स्वत: भक्त बनकर इसी जीवन में ही परम धाम को प्राप्त हो। यद्यपि भरत महाराज को मृग का शरीर प्राप्त हुआ था, किन्तु उन्होंने अपने घर, कालंजर पर्वत का फिर परित्याग कर दिया। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी जन्मस्थान तथा परिवार से बँधा न रहे; उसे चाहिए कि भक्तों की संगति प्राप्त कर कृष्णभावनामृत का अनुशीलन करे।

तस्मिन्नपि कालं प्रतीक्षमाण: सङ्गाच्च भृशमुद्विग्न आत्मसहचर: शुष्कपर्णतृणवीरुधा वर्तमानो मृगत्वनिमित्तावसानमेव गणयन्मृगशरीरं तीर्थोदकक्लिन्नमुत्ससर्ज. ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन् अपि—उस आश्रम (पुलह आश्रम) में; कालम्—मृग शरीर में जीवन का अन्त; प्रतीक्षमाण:—सदैव प्रतीक्षा में रत; सङ्गात्—संगति से; च—तथा; भृशम्—लगातार; उद्विग्नः—चिन्तापूर्ण; आत्म-सहचरः—परमात्मा को ही एकमात्र संगी मानकर (किसी को अकेले नहीं समझना चाहिए); शुष्क-पर्ण-तृण-वीरुधा—केवल सूखी पत्तियाँ तथा बूटियाँ खाकर; वर्तमानः—(जीवित) रहते हुए; मृगत्व-निमित्त—मृग शरीर धारण करने के कारण; अवसानम्—अन्त; एव—केवल; गणयन्—विचार करते हुए; मृग-शरीरम्—मृग के शरीर को; तीर्थ-उदक-क्लिन्नम्—उस तीर्थ स्थान के जल में स्नान करते हुए; उत्ससर्ज—त्याग दिया।.

उस आश्रम में रहते हुए महाराज भरत अब कुसंगति का शिकार न होने के प्रति सतर्क रहने लगे। किसी को भी अपना विगत जीवन बताये बिना वे उस आश्रम में मात्र सूखी पत्तियाँ खाकर रहते थे। वास्तव में वे अकेले न थे क्योंकि उनके साथ परमात्मा जो थे। इस प्रकार वे इस मृग शरीर के अन्त की प्रतीक्षा करते रहे। अन्त में उस तीर्थस्थल में स्नान करते हुए उन्होंने वह शरीर छोड़ दिया।

तात्पर्य : वृन्दावन, हरद्वार, प्रयाग तथा जगन्नाथ पुरी जैसे तीर्थस्थान विशेष रूप से भक्ति-साधना के निमित्त हैं, विशेषत: वृन्दावन श्रीकृष्ण के उन वैष्णव भक्तों के लिए जो वैकुंठ लोक को वापस प्राप्त करना चाहते हैं अत्युत्तम तीर्थस्थान है। वृन्दावन में ऐसे अनेक भक्त हैं, जो नित्य यमुना में स्नान करते हैं जिससे उनके सारे भौतिक कल्मष धुल जाते हैं। परमेश्वर के पवित्र नामों तथा लीलाओं का निरन्तर संकीर्तन तथा श्रवण करने से मनुष्य शुद्ध हो जाता है और मुक्ति का पात्र बन जाता है। किन्तु यदि कोई जानबूझ कर इन्द्रियतृप्ति का शिकार होता है, तो उसे कम से कम एक बार महाराज भरत की भाँति दण्ड भोगना ही पड़ता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत "भरत महाराज के चरित्र का वर्णन" नामक आठवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter नौ

जड़ भरत का सर्वोत्कृष्ट चरित्र

इस अध्याय में भरत महाराज द्वारा ब्राह्मण शरीर धारण करने का वर्णन किया गया है। वे इस शरीर में जड़, मूक तथा बधिर की भाँति बने रहे, यहाँ तक कि जब उन्हें देवी काली के समक्ष बलि चढ़ाने के लिए प्रस्तुत किया गया तो उन्होंने कोई विरोध नहीं किया और शान्त बने रहे। मृग शरीर त्यागने के बाद उन्होंने एक ब्राह्मण की सबसे छोटी पत्नी के गर्भ से जन्म लिया। इस जन्म में भी उन्हें अपने

पूर्वजन्म की गतिविधियों का स्मरण बना रहा और समाज के प्रभाव से बचने के उद्देश्य से वे गूँगे तथा बहरे बन गये। इस बार वे पथच्युत होने से सतर्क रहे। उन्होंने किसी अभक्त के साथ मेल-जोल नहीं रखा। प्रत्येक भक्त को इस विधि का पालन करना चाहिए। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने उपदेश किया है—*असत्संग-त्याग—एइ वैष्णव-आचार।* मनुष्य को चाहिए कि अभक्तों के संग से बिल्कुल दूर रहे, चाहे वे अपने स्वजन ही क्यों न हों। जब भरत महाराज ब्राह्मण शरीर में थे तो उनके पड़ोस के लोग उन्हें विक्षिप्त, जड़ व्यक्ति समझते थे, किन्तु वे अपने अन्त:करण में भगवान् वासुदेव का निरन्तर जप तथा स्मरण करते रहते थे। यद्यपि उनके पिता उन्हें शिक्षा देकर तथा उनका उपनयन संस्कार करके पवित्र बनाना चाहते थे, किन्तु वे इस प्रकार बने रहे कि उनके माता-पिता उन्हें विक्षिप्त समझें और सुधारने के किसी कार्य में रुचि न लें। इतने पर भी वे किसी प्रकार का अनुष्ठान किये बिना कृष्ण के भक्त बने रहे। उनके मूक रहने से कुछ पशुतुल्य मनुष्यों ने उन्हें अनेक प्रकार से तंग करना प्रारम्भ कर दिया, किन्तु वे सब कुछ सहते रहे। माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् उनकी विमाता तथा सौतेले भाई उनके साथ दुर्व्यवहार करने लगे। वे उन्हें सबसे निकृष्ट भोजन देते, किन्तु वे इसकी तनिक भी परवाह न करते। वे कृष्णभावनामृत में डूबे रहते। एक रात को उनके सौतले भाइयों और माता ने उन्हें धान के खेत की रखवाली करने का कार्य सौंपा। उस समय डाकुओं के एक दल ने उनका अपहरण कर लिया और भद्रकाली पर उनकी बलि देनी चाही। किन्तु जब डाकुओं ने देवी काली के समक्ष भरत महाराज को मारने के लिए कटार उठाई तो देवी काली अपने भक्त के प्रति इस दुर्व्यवहार से चौंक उठीं। वे मूर्ति में से प्रकट हुईं और अपने हाथों में कटार लेकर उन सभी डाकुओं का वध कर दिया। इस प्रकार भगवान् का शुद्ध भक्त अभक्तों के दुर्व्यवहार के प्रति मूक बना रह सकता है। जो चोर तथा उचक्के भक्तों के साथ दुर्व्यवहार करते हैं उन्हें अन्तत: भगवान् दण्ड देते हैं।

श्रीशुक उवाच

अथ कस्यचिद्द्विजवरस्याङ्गिर:प्रवरस्य
शमदमतप:स्वाध्यायाध्ययनत्यागसन्तोषतितिक्षाप्रश्रयविद्यानसूयात्मज्ञानानन्दयुक्तस्यात्मसद्दशश्रुतशीलाचाररूपौदार्यगुणा नव सोदर्या अङ्गजा बभूवुर्मिथुनं च यवीयस्यां भार्यायाम्यस्तु तत्र पुमांस्तं परमभागवतं राजर्षिप्रवरं भरतमुत्सृष्टमृगशरीरं चरमशरीरेण विप्रत्वं गतमाहु:. ॥ १२॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा; अथ—तत्पश्चात्; कस्यचित्—किसी; द्विज-वरस्य—ब्राह्मण के; अङ्गिरः-प्रवरस्य—आंगिरा गोत्र के; शम—मन का नियंत्रण; दम—इन्द्रियों का नियंत्रण (दमन); तपः—तपस्या; स्वाध्याय—वैदिक साहित्य का पठन; अध्ययन—अध्ययन; त्याग—त्याग; सन्तोष—सन्तोष; तितिक्षा—सहिष्णुता; प्रश्रय—विनय; विद्या—ज्ञान; अनसूय—ईर्ष्यारहित; आत्म-ज्ञान-आनन्द—आत्म-साक्षात्कार में प्रसन्न; युक्तस्य—गुणसम्पन्न; आत्म-सदृश—तथा अपने ही समान; श्रुत—विद्या में; शील—चरित्र में; आचार—आचरण में; रूप—सुन्दरता में; औदार्य—उदारता में; गुणाः—समस्त गुणोंवाला; नव स-उदर्याः—एकही गर्भ से उत्पन्न नौ भ्राता, नौ सहोदर; अङ्ग-जाः—पुत्र; बभूवुः—उत्पन्न हुए; मिथुनम्—जुड़वाँ भाई तथा बहन; च—तथा; यवीयस्याम्—सबसे छोटी; भार्यायाम्—स्त्री से; यः—जो; तु—लेकिन; तत्र—वहाँ; पुमान्—पुरुष (लड़का); तम्—उसको; परम-भागवतम्—परम भक्त; राज-ऋषि—राजर्षि; प्रवरम्—अत्यन्त सम्मानित; भरतम्—महाराज भरत को; उत्सृष्ट—त्याग कर; मृग-शरीरम्—मृग का शरीर; चरम-शरीरेण—अन्तिम शरीर से; विप्रत्वम्—ब्राह्मणत्व; गतम्—प्राप्त किया; आहुः—उनका कथन है।.

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा, हे राजन्, मृग शरीर त्याग कर भरत महाराज ने एक विशुद्ध ब्राह्मण के कुल में जन्म लिया। वह ब्राह्मण अंगिरा गोत्र से सम्बन्धित था और ब्राह्मण के समस्त गुणों से सम्पन्न था। वह अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में करने वाला तथा वैदिक एवं अन्य पूरक साहित्यों का ज्ञाता था। वह दानी, संतुष्ट, सहनशील, विनम्र, पंडित तथा किसी से न ईर्ष्या करने वाला था। वह स्वरूपसिद्ध एवं ईश्वर की सेवा में तत्पर रहने वाला था। वह सदैव समाधि में रहता था। उसकी पहली पत्नी से उसी के समान योग्य नौ पुत्र हुए और दूसरी पत्नी से जुड़वाँ भाई-बहन पैदा हुए जिनमें से लड़का सर्वोच्च भक्त तथा राजर्षियों में अग्रणी भरत महाराज के नाम से विख्यात हुआ। तो यह कथा है उसके मृग शरीर को त्याग कर पुनः जन्म लेने की।

तात्पर्य : भरत महाराज महान् भक्त थे, किन्तु उन्हें एक जन्म में सफलता नहीं प्राप्त हुई। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जो भक्त एक जन्म में भक्ति-कार्य पूरे नहीं कर पाता उसे किसी योग्य ब्राह्मण कुल में या सम्पन्न क्षत्रिय अथवा वैश्य कुल में जन्म लेने का सुअवसर प्रदान किया जाता है—*शुचीनां श्रीमतां गेहे*—(भगवद्गीता ६.४१)। भरत महाराज अपने प्रथम जन्म में क्षत्रिय कुल में महाराज ऋषभ के जेष्ठ पुत्र थे, किन्तु अपने आध्यात्मिक कार्यों की उपेक्षा करने तथा तुच्छ हिरण में अत्यधिक आसक्ति के कारण उन्हें मृग के पुत्र-रूप में जन्म लेना पड़ा। किन्तु भक्त होने की प्रबल स्थिति के कारण उन्हें पूर्वजन्म की स्मृति बनी रही। पश्चात्ताप के कारण वे एकान्त जंगल में रह कर सदैव श्रीकृष्ण का ध्यान धरते रहे। तब उन्हें एक उत्तम ब्राह्मण कुल में जन्म धारण करने का अवसर मिला।

तत्रापि स्वजनसङ्गाच्च भृशमुद्विजमानो भगवतः
कर्मबन्धविध्वंसनश्रवणस्मरणगुणविवरणचरणारविन्दयुगलं मनसा विदधदात्मनः प्रतिघातमाशङ्कमानो
भगवदनुग्रहेणानुस्मृतस्वपूर्वजन्मावलिरात्मानमुन्मत्तजडान्धबधिरस्वरूपेण दर्शयामास लोकस्य. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्र अपि—उस ब्राह्मण जन्म में भी; स्व-जन-सङ्गात्—अपने मित्रों तथा परिजनों की संगति से; च—तथा; भृशम्—अत्यधिक; उद्विजमानः—सदैव भयभीत रहते हुए कि कहीं पुनः भ्रष्ट न हो जाये; भगवतः—श्रीभगवान् का; कर्म-बन्ध—कर्म-फलों का बन्धन; विध्वंसन—विनष्ट करने वाले; श्रवण—सुनना; स्मरण—याद करना; गुण-विवरण—भगवान् के गुणों का वर्णन सुनना; चरण-अरविन्द—चरणकमल; युगलम्—दोनों; मनसा—मन से; विदधत्—सदैव ध्यान धरते हुए; आत्मनः—अपनी आत्मा का; प्रतिघातम्—भक्ति मार्ग में बाधा; आशङ्कमानः—सदैव सशंकित; भगवत्-अनुग्रहेण—श्रीभगवान् के अनुग्रह से; अनुस्मृत—स्मरण करते हुए; स्व-पूर्व—अपने पहिले; जन्म-आवलिः—जन्मों की शृंखला; आत्मानम्—स्वयं; उन्मत्त—पागल; जड—कुन्द, पत्थर तुल्य; अन्ध—अंधा; बधिर—बहरा; स्वरूपेण—स्वरूप के कारण; दर्शयाम् आस—प्रदर्शित किया, प्रकट किया; लोकस्य—सामान्य जनता को।

भगवत्कृपा से भरत महाराज को अपने पूर्वजन्म की घटनाएँ स्मरण थीं। यद्यपि उन्हें ब्राह्मण का शरीर प्राप्त हुआ था, किन्तु वे अपने स्वजनों तथा मित्रों से, जो भक्त नहीं थे, अत्यन्त भयभीत थे। वे ऐसी संगति से सदैव सतर्क रहते, क्योंकि उन्हें भय था कि कहीं पुनः पथच्युत न हो जाँय। फलतः वे जनता के समक्ष उन्मत्त (पागल), जड़, अंधे तथा बहरे के रूप में प्रकट होते रहे जिससे दूसरे लोग उनसे बात करने की चेष्टा न करें। इस प्रकार उन्होंने कुसंगति से अपने को बचाए रखा। वे अपने अन्तःकरण में सदा भगवान् के चरणकमल का ध्यान धरते और उनके गुणों का जप करते रहते जो मनुष्य को कर्म-बन्धन से बचाने वाला है। इस प्रकार उन्होंने अपने को अभक्त संगियों के आक्रमण से बचाए रखा।

तात्पर्य : प्रकृति के गुणों के संसर्ग से प्रत्येक जीव विभिन्न कर्मों से बँधा हुआ है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१३.२२) में कथन है—*कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु*—“यह प्रकृति के संग के कारण है। इस तरह वह विभिन्न योनियों में उत्तम-अधम योनियाँ प्राप्त करता है।”

हम अपने कर्मों के अनुसार चौरासी लाख योनियों में से विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त करते हैं। *कर्मणा-दैव-नेत्रेण*—हम तीन गुणों से दूषित प्रकृति के वश में रह कर कार्य करते हैं और इस प्रकार से हमें ईश्वर की आज्ञा से एक विशेष प्रकार का शरीर प्राप्त होता है। यही *कर्म-बन्ध* कहलाता है। इस कर्म-बन्ध से बाहर निकलने के लिए भक्ति में संलग्न होने की आवश्यकता होती है। तब मनुष्य पर प्रकृति के गुणों का प्रभाव नहीं पड़ता। *भगवद्गीता* के अनुसार (१४.२६)—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो पूर्णरूप से भक्तियोग के परायण है, जो किसी भी स्थिति में उससे डिगता नहीं वह अविलम्ब त्रिगुणमयी माया का लंघन करके ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।" भौतिक गुणों के प्रति निश्चेष्ट बनने का उपाय है अपने को भक्ति में लगाना—*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः।* यही जीवन की सिद्धि है। महाराज भरत ब्राह्मण रूप में जन्म लेकर ब्राह्मण कर्तव्यों में रुचि नहीं दिखाते थे, परन्तु वे भीतर ही भीतर शुद्ध वैष्णव रहकर ईश्वर के चरणकमल का निरन्तर चिन्तन करते रहे। *भगवद्गीता* का उपदेश है—*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।* यही एकमात्र विधि है, जिसके द्वारा बारम्बार जन्म-मरण के भय से बचा जा सकता है।

तस्यापि ह वा आत्मजस्य विप्रः पुत्रस्नेहानुबद्धमना आसमावर्तनात्संस्कारान्यथोपदेशं विदधान उपनीतस्य च पुनः शौचाचमनादीन्कर्मनियमाननभिप्रेतानपि समशिक्षयदनुशिष्टेन हि भाव्यं पितुः पुत्रेणेति. ॥ ४॥

शब्दार्थ

तस्य—उस; अपि ह वा—निश्चय ही; आत्म-जस्य—अपने पुत्र का; विप्रः—जड़ भरत के ब्राह्मण पिता (विक्षिप्त भरत); पुत्र-स्नेह-अनुबद्ध-मनाः—पुत्र प्रेम के कारण मन बँध जाने से; आ-सम-आवर्तनात्—ब्रह्मचर्य आश्रम के समाप्त होने तक; संस्कारान्—संस्कारों को; यथा-उपदेशम्—शास्त्रों में वर्णित विधि के अनुसार; विदधानः—करते हुए; उपनीतस्य—जिसका उपनयन संस्कार हो, उसका; च—तथा; पुनः—फिर; शौच-आचमन-आदीन्—स्वच्छता-मुख, हाथ, पाँव धोने इत्यादि का अभ्यास.; कर्म-नियमान्—कर्म के विधि-विधान; अनभिप्रेतान् अपि—जड़ भरत के न चाहने पर भी; समशिक्षयत्—शिक्षा दी; अनुशिष्टेन—विधि-विधानों का पालन करना सिखाया; हि—निश्चय ही; भाव्यम्—हो; पितुः—पिता से; पुत्रेण—पुत्र; इति—इस प्रकार।

ब्राह्मण पिता का मन अपने पुत्र जड़ भरत (भरत महाराज) के प्रति सदैव स्नेह से पूरित रहता था। उससे सदा अनुरक्त रहते थे। क्योंकि जड़ भरत गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए अयोग्य थे, अतः ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति तक ही उनके संस्कार पूरे हुए। यद्यपि जड़ भरत अपने पिता की शिक्षाओं को मानने में आनाकानी करते तो भी उस ब्राह्मण ने यह सोचकर कि पिता का कर्तव्य है कि अपने पुत्र को शिक्षा दे, जड़ भरत को स्वच्छ रहने तथा प्रक्षालन करने की शिक्षा दी।

तात्पर्य : जड़ भरत ब्राह्मण शरीर में महाराज भरत थे। वे ऊपर ऊपर ऐसा आचरण कर रहे थे मानो जड़, बहरे, गूँगे तथा अन्धे हों। किन्तु वास्तव में भीतर से वे अत्यन्त जागरूक थे। उन्हें कर्मफल तथा भक्तिफल का पूर्ण ज्ञान था। ब्राह्मण शरीर में महाराज भरत अन्त:करण से भक्ति में पूरी तरह डूबे

रहते, फलतः उन्हें सकामकर्म के विधि-विधानों के करने की कोई आवश्यकता नहीं थी जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.२.१३) में पुष्टि की गई है—*स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्।* मनुष्य को भगवान् हरि को प्रसन्न करना चाहिए। सकाम कर्म की यही सिद्धि है। इसके अतिरिक्त *श्रीमद्भागवत* (१.२.८) में यह भी कहा गया है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विश्वक्सेनकथासु यः।

नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

"वृत्ति का विचार किये बिना मनुष्यों द्वारा किया धर्म वृथा श्रम ही है यदि उससे परमेश्वर के संदेश के प्रति आकर्षण उत्पन्न नहीं होता।" इन कर्मकाण्डों की तभी तक आवश्यकता पड़ती है जब तक कृष्णभक्ति जागृत नहीं होती। यदि कृष्णभक्ति विकसित हो जाये तो फिर इन कर्मकाण्डों को पहले करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। श्रील माधवेन्द्र पुरी ने कहा है, "हे कर्मकाण्ड के विधि-विधान! मुझे क्षमा करो। मैं इनका पालन नहीं कर सकता, क्योंकि मैं भक्ति में पूर्णतः संलग्न हूँ।" वे चाहते थे कि किसी वृक्ष के नीचे बैठकर "हरे कृष्ण महामंत्र" का जप करते रहें। फलतः वे कोई विधि-विधान नहीं करते थे। इसी प्रकार हरिदास ठाकुर एक मुसलमान परिवार में उत्पन्न होने के कारण कर्म-काण्ड पद्धति की शिक्षा शुरू से ही प्राप्त नहीं कर पाये थे, किन्तु वे ईश्वर के पवित्र नाम का निरन्तर जप करते थे। इसलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने उन्हें *नामाचार्य* अर्थात् पवित्र नाम के कीर्तन में निपुण आचार्य के नाम से स्वीकार किया। जड़ भरत के रूप में महाराज भरत अपने मन में निरन्तर भक्ति में तल्लीन रहते थे। चूँकि पूर्व के तीन जन्मों में उन्होंने विधि-विधानों का पालन किया था, अतः अब वे उन्हें करने में कोई रुचि नहीं दिखाते थे, यद्यपि उनके ब्राह्मण पिता उनसे ऐसा किये जाने की आशा करते थे।

स चापि तदु ह पितृसन्निधावेवासध्रीचीनमिव स्म करोति छन्दांस्यध्यापयिष्यन्सह व्याहृतिभिः सप्रणवशिरस्त्रिपदीं सावित्रीं ग्रैष्मवासन्तिकान्मासानधीयानमप्यसमवेतरूपं ग्राहयामास. ॥ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (जड़ भरत); च—भी; अपि—निस्संदेह; तत् उ ह—जो कुछ उसका पिता शिक्षा देता; पितृ-सन्निधौ—अपने पिता की उपस्थिति में, पिता के सामने; एव—ही; असध्रीचीनम् इव—मानो उसने कुछ नहीं समझा, असत्य; स्म करोति—करता था; छन्दांसि अध्यापयिष्यन्—चातुर्मास में अथवा श्रावण मास से शुरू करके वेद मंत्रों की शिक्षा देने का इच्छुक; सह—साथ-साथ; व्याहृतिभिः—स्वर्गलोक (भूः भुवः स्वः) के नामों का उच्चारण; स-प्रणव-शिरः—ओंकार से प्रारम्भ करके; त्रि-पदीम्—तीन

पदों वाले; सावित्रीम्—गायत्री मंत्र; ग्रैष्म-वासन्तिकान् मासान्—चैत्र से (१ मई से) प्रार म्भ होने वाले चार मास; अधीयानम् अपि—अध्ययन करते रहने पर भी; असमवेत-रूपम्—अपूर्ण रूप में; ग्राहयाम् आस—जो सिखला दिया, अभ्यास करा दिया।.

अपने पिता द्वारा वैदिक ज्ञान की समुचित शिक्षा दिये जाने पर भी जड़ भरत उनके समक्ष मूर्ख (जड़) की भाँति आचरण करते। वे ऐसा आचरण इसलिए करते जिससे उनके पिता यह समझें कि वे शिक्षा के अयोग्य हैं और इस प्रकार उसे आगे शिक्षा देना बन्द कर दें। वे सर्वथा विपरीत आचरण करते। यद्यपि शौच के बाद हाथ धोने को कहा जाता, किन्तु वे उन्हें उसके पहले ही धो लेते। तो भी उनके पिता उन्हें बसन्त तथा ग्रीष्म काल में वैदिक शिक्षा देना चाहते थे। उन्होंने उसे ओंकार तथा व्याहृति के साथ-साथ गायत्री मंत्र सिखाने का यत्न किया, किन्तु चार मास बीत जाने पर भी वे उसे सिखाने में सफल न हो सके।

एवं स्वतनुज आत्मन्यनुरागावेशितचित्तः
शौचाध्ययनव्रतनियमगुर्वनलशुश्रूषणाद्यौपकुर्वाणककर्माण्यनभियुक्तान्यपि समनुशिष्टेन
भाव्यमित्यसदाग्रहः पुत्रमनुशास्य स्वयं तावदनधिगतमनोरथः कालेनाप्रमत्तेन स्वयं गृह एव प्रमत्त
उपसंहृतः. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; स्व—निज; तनु-जे—पुत्र जड़ भरत में; आत्मनि—जिसे वे आत्मवत् मानते थे; अनुराग-आवेशित-चित्तः—अपने पुत्र के प्रेम में अनुरक्त ब्राह्मण; शौच—पवित्रता, स्वच्छता; अध्ययन—वैदिक साहित्य का अध्ययन; व्रत—समस्त व्रतों का पालन; नियम—विधि-विधान; गुरु—गुरु का; अनल—अग्नि का; शुश्रूषण-आदि—सेवा इत्यादि.; औपकुर्वाणक—ब्रह्मचर्य आश्रम के; कर्माणि—समस्त कर्म; अनभियुक्तानि अपि—पुत्र के न चाहने पर भी; समनुशिष्टेन—पूर्णतया शिक्षित होकर; भाव्यम्—हो; इति—इस प्रकार; असत्-आग्रहः—अग्राह्य मूर्खता वाले; पुत्रम्—पुत्र को; अनुशास्य—शिक्षा देकर; स्वयम्—स्वयं; तावत्—उस तरह; अनधिगत-मनोरथः—अपनी आकांक्षाएँ पूरी न होने से; कालेन—काल के प्रभाव से; अप्रमत्तेन—जो भुलक्कड़ नहीं है; स्वयम्—साक्षात्; गृहे—अपने घर में; एव—निश्चय ही; प्रमत्तः—बुरी तरह से आसक्त; उपसंहृतः—मृत्यु हो गई, मर गया।.

जड़ भरत का ब्राह्मण पिता अपने पुत्र को अपनी आत्मा तथा हृदय के समान मानता, अतः वह उससे अत्यधिक अनुरक्त था। उसने अपने पुत्र को सुशिक्षित बनाना चाहा और अपने इस असफल प्रयास में उसने अपने पुत्र को ब्रह्मचर्य के विधि-विधान सिखाने प्रारम्भ किये, जिनमें वैदिक अनुष्ठान, शौच, वेदाध्ययन, कर्मकाण्ड, गुरु की सेवा, अग्नि यज्ञ करने की विधि सम्मिलित थे। उसने इस प्रकार से अपने पुत्र को शिक्षा देने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु वह असफल रहा। उसने अपने अन्तःकरण में यह आशा बाँध रखी थी कि उसका पुत्र विद्वान होगा, किन्तु उसके सारे प्रयत्न निष्फल रहे। प्रत्येक प्राणी की भाँति यह ब्राह्मण भी अपने घर के प्रति आसक्त था और वह यह भूल ही गया था कि एक दिन उसे मरना है। किन्तु मृत्यु कभी भूलती

नहीं। वह उचित समय पर प्रकट हुई और उसे उठा ले गई।

तात्पर्य : जो लोग गृहस्थ जीवन में अत्यधिक आसक्त होते हैं और यह भूल जाते हैं कि भविष्य में मृत्यु आकर उन्हें उठा ले जाएगी वे मानव जीवन का कर्तव्य पूरा नहीं कर पाते। मनुष्य का कर्तव्य है कि जीवन की समस्त समस्याओं को सुलझाए, किन्तु मनुष्य पारिवारिक झमेलों तथा कार्यों में अत्यधिक व्यस्त हुए रहते हैं। वे भले ही मृत्यु को भूले रहें, किन्तु मृत्यु उन्हें नहीं भूलती। वह एकाएक उन्हें शान्त पारिवारिक जीवन से बाहर कर देती है। कोई यह भले भूल जाये कि उसे मरना है, किन्तु मृत्यु को तो यह स्मरण रहता है। मृत्यु अपने समय पर उपस्थित होती है। जड़ भरत का ब्राह्मण पिता पुत्र को ब्रह्मचर्य की विधि बताना चाहता था, किन्तु उसका पुत्र वैदिक प्रगति की प्रक्रिया के लिए तैयार न होने के कारण, पिता सफल न हो सका। जड़ भरत तो *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* के द्वारा भक्ति करते हुए परम धाम लौटने के लिए ही आकुल रहते। उसे अपने पिता के वैदिक उपदेशों की कोई परवाह न थी। जब कोई व्यक्ति ईश्वर की सेवा में पूर्णतया अनुरक्त रहना चाहता है, तो वेदवर्णित सभी विधि-विधानों के पालन में उसकी अभिरुचि नहीं रह जाती। निस्सन्देह, सामान्य व्यक्ति के लिए वैदिक नियम अनिवार्य हैं। कोई उनकी उपेक्षा नहीं कर पाता। किन्तु जिसे भक्ति में सिद्धि प्राप्त हो जाती है, तो उसके लिए वैदिक-नियमों का अनुपालन अनिवार्य नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यह उपदेश दिया कि वह वैदिक नियमों से ऊपर दिव्य स्थिति अर्थात् *निस्त्रैगुण्य* पद तक उठे। *भगवद्गीता* (२.४) में यह प्रसंग इस प्रकार है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

"वेद मुख्यतः प्रकृति के तीन गुणों की व्याख्या करते हैं। हे अर्जुन! तू इन गुणों का उल्लंघन करके इनसे ऊपर उठ। सम्पूर्ण द्वन्द्वों तथा योगक्षेम की चिन्ता से मुक्त होकर स्वरूपनिष्ठ बन।"

अथ यवीयसी द्विजसती स्वगर्भजातं मिथुनं सपत्न्या उपन्यस्य स्वयमनुसंस्थया पतिलोकमगात्. ॥७॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; यवीयसी—सबसे छोटी; द्विज-सती—ब्राह्मण की पत्नी; स्व-गर्भ-जातम्—अपने गर्भ से उत्पन्न; मिथुनम्—जुड़वाँ बच्चे; सपत्न्यै—अपनी सौत को; उपन्यस्य—सौंप कर; स्वयम्—स्वयं; अनुसंस्थया—अपने पति का अनुगमन करती हुई; पति-लोकम्—पतिलोक को; अगात्—चली गई।

तत्पश्चात् ब्राह्मण की छोटी पत्नी अपने जुड़वाँ बच्चों—एक लड़का तथा एक लड़की—को अपनी बड़ी सौत को सौंप कर अपनी इच्छा से अपने पति के साथ मर कर पतिलोक चली गई।

पितर्युपरते भ्रातर एनमतत्प्रभावविदस्त्रय्यां विद्यायामेव पर्यवसितमतयो न परविद्यायां जडमतिरिति भ्रातुरनुशासननिर्बन्धान्न्यवृत्सन्त. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

पितरि उपरते—पिता की मृत्यु के पश्चात्; भ्रातरः—सौतेले भाइयों ने; एनम्—इस जड़ भरत को; अ-तत्-प्रभाव-विदः—उसकी महानता को समझे बिना; त्रय्याम्—तीनों वेदों के; विद्यायाम्—कर्मकाण्ड सम्बन्धी ज्ञान में; एव—निस्सन्देह; पर्यवसित—स्थिर; मतयः—जिनके मन; न—नहीं; पर-विद्यायाम्—भक्ति के दिव्य ज्ञान में; जड-मतिः—अत्यन्त मन्द बुद्धि; इति—इस प्रकार; भ्रातुः—अपने भाई (जड़ भरत) को; अनुशासन-निर्बन्धात्—पढ़ाने का प्रयत्न; न्यवृत्सन्त—छोड़ दिया।

पिता की मृत्यु के बाद जड़ भरत के नौ सौतेले भाइयों ने उसे जड़ तथा बुद्धि-हीन समझकर उसको पूर्ण शिक्षा प्रदान करने के उनके पिता का प्रयत्न छोड़ दिया। जड़ भरत के ये भाई तीनों वेदों—ऋग्, साम यथा यजुर्वेद में पारंगत थे, जो सकाम कर्म को अत्यधिक प्रोत्साहन देते हैं। किन्तु वे नवों भाई ईश्वर की भक्तिमयसेवा से तनिक भी परिचित न थे। फलस्वरूप वे जड़ भरत की सिद्ध अवस्था को नहीं समझ सके।

स च प्राकृतैर्द्विपदपशुभिरुन्मत्तजडबधिरमूकेत्यभिभाष्यमाणो यदा तदनुरूपाणि प्रभाषते कर्माणि च कार्यमाणः परेच्छया करोति विष्टितो वेतनतो वा याच्ञया यदृच्छया वोपसादितमल्पं बहु मृष्टं कदन्नं वाभ्यवहरति परं नेन्द्रियप्रीतिनिमित्तम्. नित्यनिवृत्तनिमित्तस्वसिद्धविशुद्धानुभवानन्दस्वात्मलाभाधिगमः सुखदुःखयोर्द्वन्द्वनिमित्तयोरसम्भावितदेहाभिमानः. शीतोष्णवातवर्षेषु वृष इवानावृताङ्गः पीनः संहननाङ्गः स्थण्डिलसंवेशनानुन्मर्दनामज्जनरजसा महामणिरिवानभिव्यक्तब्रह्मवर्चसः कुपटावृतकटिरुपवीतेनोरुमषिणा द्विजातिरिति ब्रह्मबन्धुरिति संज्ञयातज्ज्ञजनावमतो विचचार. ॥ ९-१० ॥

शब्दार्थ

सः च—वह भी; प्राकृतैः—सामान्य जनों द्वारा जिनकी पहुँच आत्मतत्त्व तक नहीं है; द्वि-पद-पशुभिः—जो दो पैरों वाले पशुओं से कम नहीं है; उन्मत्त—पागल; जड—मन्द; बधिर—बहरा; मूक—गूँगा; इति—इस प्रकार; अभिभाष्यमाणः—सम्बोधित किये जाने पर; यदा—जब; तत्-अनुरूपाणि—उनका उत्तर देने के लिए उपयुक्त शब्द; प्रभाषते—बोलता था; कर्माणि—कर्म; च—भी; कार्यमाणः—कराते हुए; पर-इच्छया—अन्यों की आज्ञा से; करोति—किया करता था; विष्टितः—बल प्रयोग से, बेगार; वेतनतः—अथवा मजदूरी से; वा—अथवा; याच्ञया—भीख माँगने से; यदृच्छया—अपनी इच्छानुसार; वा—अथवा; उपसादितम्—प्राप्त; अल्पम्—अत्यल्प मात्रा; बहु—बहुत सा; मृष्टम्—सुस्वादु; कत्-अन्नम्—बासी, स्वादहीन भोजन; वा—अथवा; अभ्यवहरति—खा लेता था; परम्—केवल; न—नहीं; इन्द्रिय-प्रीति-निमित्तम्—इन्द्रियों की तृप्ति हेतु; नित्य—शाश्वत; निवृत्त—त्याग दिया; निमित्त—सकाम कर्म; स्व-सिद्ध—स्वतः सिद्ध; विशुद्ध—दिव्य; अनुभव-आनन्द—आनन्दपूर्ण अनुभव; स्व-आत्म-लाभ-अधिगमः—जिसे आत्मज्ञान प्राप्त हो गया हो; सुख-दुःखयोः—सुख तथा दुख दोनों में; द्वन्द्व-निमित्तयोः—द्वैत के कारणों में; असम्भावित-देह-अभिमानः—देह से भिन्न; शीत—जाड़े में; उष्ण—ग्रीष्म में; वात—हवा में; वर्षेषु—वर्षा में; वृषः—साँड़; इव—सदृश; अनावृत-अङ्गः—नंगी देह; पीनः—हृष्ट-पुष्ट; संहनन-अङ्गः—गठित अंग; स्थण्डिल-संवेशन—पृथ्वी पर पड़े रहने से; अनुन्मर्दन—बिना मालिश के; अमज्जन—बिना नहाये; रजसा—धूलि से; महा-मणिः—बहुमूल्य मणि; इव—सदृश; अनभिव्यक्त—अप्रकट; ब्रह्म-वर्चसः—ब्रह्म-तेज; कु-पट-आवृत—गन्दे वस्त्र से ढका; कटिः—जिसकी कमर;

उपवीतेन—यज्ञोपवीत से; उरु-मषिणा—धूल के कारण अत्यन्त मलिन (काला); द्वि-जातिः—ब्राह्मण कुल में उत्पन्न; इति—इस प्रकार, (घृणा के कारण कहते हुए); ब्रह्म-बन्धुः—ब्रह्म बन्धु; इति—इस प्रकार; संज्ञया—ऐसे नामों से; अ-तत्-ज्ञ-जन—उन व्यक्तियों द्वारा जो उसकी स्थिति से अपरिचित थे; अवमतः—अनादृत होकर; विचचार—विचरण करता था।

नीच पुरुष पशुओं के तुल्य होते हैं। अन्तर इतना ही है कि पशुओं के चार पैर होते हैं और ऐसे मनुष्यों के केवल दो। ऐसे दो पैर वाले पाशविक पुरुष जड़ भरत को पागल, मन्द बुद्धि, बहरा तथा गूँगा कहते थे। वे उसके साथ दुर्व्यवहार करते और जड़ भरत बहरे, अंधे या जड़ पागल की भाँति आचरण करता। न तो वह कभी प्रतिवाद करता, न ही उन्हें आश्वस्त करने का प्रयत्न करता कि वह ऐसा नहीं है। यदि कोई उससे कुछ कराना चाहता तो वह उनकी इच्छा के अनुसार कार्य करता। उसे भिक्षा या मजदूरी से अथवा अपने आप जो भी भोजन मिलता—चाहे वह थोड़ा हो, स्वादु, बासी या अस्वादु—उसे ग्रहण करता और खाता। वह इन्द्रिय-तृप्ति के लिए कभी कुछ नहीं खाता था, क्योंकि वह पहले से उस देहात्म-बुद्धि से मुक्त हो गया था, जिसके वशीभूत होकर स्वादिष्ट या बेस्वाद भोजन किया जाता है। वह भक्ति की दिव्य भावना से पूर्ण था, फलतः देहात्म-बुद्धि से उठने वाले द्वन्द्वों से सर्वथा अप्रभावित रहता था। वास्तव में उसका शरीर साँड़ के समान बलिष्ठ था और उसके अंग-प्रत्यंग हृष्ट-पुष्ट थे। उसे न तो सर्दी-गर्मी या बयार-वर्षा की परवाह थी और न ही कभी वह अपने शरीर को ढकता था। वह जमीन पर लेटा रहता। वह अपने शरीर में न तो कभी तेल लगाता, न ही कभी स्नान करता था। शरीर मलिन होने के कारण उसका ब्रह्मतेज तथा ज्ञान उसी प्रकार ढके हुए थे जिस प्रकार धूल जमने से किसी मूल्यवान मणि का तेज छिप जाता है। उसने केवल एक गन्दा कौपीन और एक यज्ञोपवीत पहन रखा था जो काला पड़ गया था। यह जानते हुए भी कि वह ब्राह्मण कुल में उत्पन्न है, लोग उसे ब्रह्मबन्धु तथा अन्य नामों से पुकारते थे। इस प्रकार भौतिकतावादी लोगों द्वारा अपमानित एवं उपेक्षित होकर वह इधर-उधर घूमता रहता था।

तात्पर्य : श्रील नरोत्तमदास ठाकुर का गीत है—*देह-स्मृति नाहि यार, संसारबंधन काहाँ तार।* जिसे अपने शरीर-पालन की इच्छा न रहे, अथवा जो अपने शरीर को ढंग से रखने का इच्छुक न हो और जो किसी भी परिस्थिति में संतुष्ट रहे वह या तो पागल होगा या फिर मुक्त। वास्तव में जड़भरत के रूप में जन्म लेकर भरत महाराज भौतिक द्वंद्वों से सर्वथा मुक्त थे। वे परमहंस थे, अतः उन्हें शारीरिक सुख की

चिन्ता न थी।

यदा तु परत आहारं कर्मवेतनत ईहमानः स्वभ्रातृभिरपि केदारकर्मणि निरूपितस्तदपि करोति किन्तु न समं विषमं न्यूनमधिकमिति वेद कणपिण्याकफलीकरणकुल्माषस्थालीपुरीषादीन्यप्यमृतवदभ्यवहरति. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; तु—लेकिन; परतः—अन्यों से; आहारम्—भोजन; कर्म-वेतनतः—काम करने के बदले मजदूरी; ईहमानः—पालते देखकर; स्व-भ्रातृभिः अपि—अपने सौतेले भाइयों तक से; केदार-कर्मणि—खेत में काम करने तथा कृषिकार्य देखने में; निरूपितः—लगा हुआ; तत् अपि—उस समय भी; करोति—वह करता था; किन्तु—लेकिन; न—नहीं; समम्—समतल; विषमम्—विषम, ऊबड़-खाबड़; न्यूनम्—कम; अधिकम्—अधिक उठी हुई; इति—इस प्रकार; वेद—जानता था; कण—धान के टूटे दाने, कना; पिण्याक—खली; फली-करण—धान की भूसी; कुल्माष—घुन-लगा अन्न; स्थाली-पुरीष-आदीनि—बर्तन में लगा जला चावल आदि; अपि—भी; अमृत-वत्—अमृत के समान; अभ्यवहरति—खा लेता था।.

जड़ भरत केवल भोजन के लिए काम करता था। उसके सौतेले भाइयों ने इसका लाभ उठाकर उसे कुछ भोजन के बदले खेत में काम करने में लगा दिया, किन्तु उसे खेत में ठीक से काम करने की विधि ज्ञात न थी। उसे यह ज्ञात न था कि कहाँ मिट्टी डाली जाये अथवा कहाँ भूमि को समतल या ऊँचा-नीचा रखा जाये। उसके भाई उसे टूटे चावल (कना), खली, धान की भूसी, घुना अनाज तथा रसोई के बर्तनों की जली हुई खुरचन दिया करते थे, किन्तु वह इन सबको प्रसन्नतापूर्वक अमृत के समान स्वीकार कर लेता था। उसे किसी प्रकार की शिकायत न रहती और वह इन सब चीजों को प्रसन्नतापूर्वक खा लेता था।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (२.१) में *परमहंस* पद का वर्णन इस प्रकार हुआ है—*समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्त्वाय कल्पते।* जब किसी मनुष्य को इस संसार के सुख-दुख नहीं व्यापते तो वह *अमृतत्त्व* अर्थात् शाश्वत जीवन के योग्य होता है। भरत महाराज इस संसार में अपने कार्य को समाप्त करने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ थे, अतः उन्होंने संसार के द्वैत की तनिक भी परवाह नहीं की। वे कृष्णभावनामृत में पूर्ण थे और अच्छे-बुरे तथा सुख-दुख के प्रति विरक्त थे। जैसाकि *चैतन्यचरितामृत* (अन्त्य ४.१७६) में कहा गया है—

'द्वैते' भद्राभद्र-ज्ञान सब-'मनोधर्म'।

एइ भाल, एइ मन्द, '—सब 'भ्रम'।

''इस संसार में अच्छे तथा बुरे का विचार मानसिक कल्पना है। अतः यह कहना कि 'यह अच्छा

है और यह बुरा है', सारी की सारी एक भूल है।'' मनुष्य को यह समझना चाहिए कि इस द्वैत-भाव के संसार में यह सोचना कि यह अच्छा है, अथवा यह बुरा है मात्र मनगढ़ंत कल्पना है। फिर भी किसी को इस भावना का अनुकरण न करके समभाव की स्थिति प्राप्त करनी चाहिए।

अथ कदाचित्कश्चिद्वृषलपतिर्भद्रकाल्यै पुरुषपशुमालभतापत्यकामः. ॥ १२॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; कदाचित्—किसी समय; कश्चित्—कोई; वृषल-पतिः—अन्यों की सम्पत्ति लूटने वाले शूद्रों का सरदार; भद्र-काल्यै—भद्रकाली नामक देवी को; पुरुष-पशुम्—मनुष्य के रूप में पशु की; आलभत—बलि देने लगा; अपत्य-कामः—पुत्र का इच्छुक।

इसी समय, पुत्र की कामना से, डाकुओं का एक सरदार जो शूद्र कुल का था, किसी पशु-तुल्य जड़ मनुष्य की भद्रकाली पर बलि चढ़ाकर उपासना करना चाहता था।

तात्पर्य : निम्न श्रेणी के लोग, यथा शूद्र, अपनी भौतिक कामनाओं की पूर्ति के लिए देवी काली या भद्रकाली जैसी देवियों की उपासना करते हैं। इस उद्देश्य से वे कभी-कभी मूर्ति (अर्चाविग्रह) के समक्ष मनुष्य का वध करते हैं। वे सामान्य रूप से ऐसा व्यक्ति चुनते हैं, जो मन्द बुद्धि हो अर्थात् मनुष्य के रूप में पशु हो।

तस्य ह दैवमुक्तस्य पशोः पदवीं तदनुचराः परिधावन्तो निशि निशीथसमये तमसावृतायामनधिगतपशव आकस्मिकेन विधिना केदारान्वीरासनेन मृगवराहादिभ्यः संरक्षमाणमङ्गिरःप्रवरसुतमपश्यन्. ॥ १३॥

शब्दार्थ

तस्य—उस सरदार का; ह—निश्चय ही; दैव-मुक्तस्य—संयोग्यवश बच जाने से; पशोः—नर-पशु का; पदवीम्—मार्ग; तत्-अनुचराः—उसके अनुयायी; परिधावन्तः—इधर-उधर ढूँढने के लिए दौड़ते हुए; निशि—रात्रि में; निशीथ-समये—अर्द्धरात्रि में; तमसा आवृतायाम्—अंधेरे से ढका हुआ; अनधिगत-पशवः—नर-पशु न पकड़ सकने से; आकस्मिकेन विधिना—दैवयोग से अकस्मात्; केदारान्—खेतों में; वीर-आसनेन—ऊँचे स्थान पर बने आसन से; मृग-वराह-आदिभ्यः—मृग, जंगली सुअर आदि से; संरक्षमाणम्—रक्षा करता हुआ; अङ्गिरः-प्रवर-सुतम्—अंगिरा गोत्र वाले ब्राह्मण पुत्र को; अपश्यन्—देखा।

डाकुओं के सरदार ने बलि के लिए एक नर-पशु पकड़ा, किन्तु वह बचकर निकल भागा और सरदार ने अपने सेवकों को उसे ढूँढने के लिए आज्ञा दी। वे विभिन्न दिशाओं में दोड़ै किन्तु उसे ढूंढ न सके। अर्द्धरात्रि के गहन अंधकार में इधर-उधर घूमते हुए, वे एक धान के खेत में पहुँचे जहाँ उन्होंने अंगिरा वंश के एक ब्राह्मणकुमार (जड़भरत) को देखा जो एक ऊँचे स्थान पर बैठ कर मृग तथा जंगली सुअरों से खेत की रखवाली कर रहा था।

अथ त एनमनवद्यलक्षणमवमृश्य भर्तृकर्मनिष्पत्तिं मन्यमाना बद्ध्वा रशनया चण्डिकागृहमुपनिन्युर्मुदा विकसितवदना:. ॥ १४॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; ते—वे (सरदार के सेवक); एनम्—इस (जड़ भरत); अनवद्य-लक्षणम्—मन्द पशु के से लक्षणों वाला क्योंकि उसका शरीर साँड़ जैसा मोटा था और वह बहरा तथा गूँगा था; अवमृश्य—पहचान कर; भर्तृ-कर्म-निष्पत्तिम्—अपने स्वामी के कार्य की सिद्धि; मन्यमाना:—मानते हुए, समझकर; बद्ध्वा—बाँधकर; रशनया—रस्सियों से; चण्डिका-गृहम्—देवी काली के मन्दिर में; उपनिन्यु:—ले आये; मुदा—परम प्रसन्नतापूर्वक; विकसित-वदना:—प्रसन्नमुख।

डाकू सरदार के सेवकों तथा अनुचरों ने नर-पशु के लक्षणों से युक्त जड़ भरत को अत्यन्त उपयुक्त समझ कर उसे बलि के लिए अत्युत्तम पाया। अत: प्रसन्नता के मारे उनके मुख चमकने लगे, उन्होंने उसे रस्सियों से बाँध लिया और देवी काली के मन्दिर में ले आये।

तात्पर्य : भारत के कुछ भागों में आज भी देवी काली के समक्ष पशु-तुल्य मनुष्यों की बलि चढ़ाई जाती है। तो भी ऐसी बलि केवल शूद्रों तथा डाकुओं द्वारा चढ़ाई जाती है। उनका कार्य धनी व्यक्ति को लूटना है और इसमें सफल होने के लिए वे देवी काली के समक्ष नर-पशु की बलि देते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि वे देवी पर कभी भी किसी बुद्धिमान मनुष्य की बलि नहीं देते। ब्राह्मण शरीर में भरत महाराज गूँगे तथा बहरे प्रतीत होते थे, किन्तु तो भी वे संसार के सर्वाधिक बुद्धिमान पुरुष थे। इतने पर भी, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति सर्वथा समर्पित होने के कारण वे उसी स्थिति में बने रहे और वध के लिए लाये जाने पर उन्होंने किसी प्रकार का विरोध नहीं किया। जैसाकि पिछले श्लोकों से हमें ज्ञात है, वे इतने बली थे कि चाहते तो रस्सियों से बाँधे जाने से अपने को आसानी से बचा लेते, किन्तु उन्होंने कुछ भी नहीं किया। वे अपनी रक्षा के लिए भगवान् पर पूरी तरह आश्रित थे। श्रील भक्ति विनोद ठाकुर परमेश्वर के प्रति समर्पण का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

मारबि राखबि—यो इच्छा तोहारा

नित्य-दास-प्रति तुया अधिकारा

“हे ईश्वर! मैंने आपको आत्मसमर्पण कर दिया है। मैं आपका शाश्वत सेवक हूँ और यदि आप चाहें तो मुझे मारें या मेरी रक्षा करें। प्रत्येक दशा में मुझ पर आपका अधिकार है।”

अथ पणयस्तं स्वविधिनाभिषिच्याहतेन वाससाच्छाद्य भूषणालेपस्त्रक्तिलकादिभिरुपस्कृतं भुक्तवन्तं धूपदीपमाल्यलाजकिसलयाङ्कुरफलोपहारोपेतया वैशससंस्थया महता गीतस्तुतिमृदङ्गपणवघोषेण च पुरुषपशुं भद्रकाल्या: पुरत उपवेशयामासु:. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

अथ—तदनन्तर; पणयः—डाकू के समस्त अनुचरों ने; तम्—उसको (जड़ भरत को); स्व-विधिना—अपने विधि-विधानों के अनुसार; अभिषिच्य—नहलाकर; अहतेन—नये; वाससा—वस्त्र से; आच्छाद्य—ढक कर; भूषण—गहने; आलेप—चन्दन से लेपकर; स्रक्—पुष्प माला; तिलक-आदिभिः—तिलक आदि से; उपस्कृतम्—पूर्णतया सजाकर; भुक्तवन्तम्—भोजन करा कर; धूप—सुंगधित द्रव्य; दीप—दीपक; माल्य—माला; लाज—लावा; किसलय-अङ्कुर—नये पत्ते तथा अंकुर; फल—फल; उपहार—अन्य सामग्री; उपेतया—पूर्णतया सज्जित; वैशस-संस्थया—बलि के लिए पूरी तैयारी; महता—अत्यधिक; गीत-स्तुति—गाना तथा प्रार्थना का; मृदङ्ग—मृदंग; पणव—तुरही की; घोषेण—ध्वनि से; च—भी; पुरुष-पशुम्—नर-पशु को; भद्र-काल्याः—देवी काली के; पुरतः—ठीक सामने; उपवेशयाम् आसुः—बैठा दिया।

इसके पश्चात् चोरों ने नर-पशु बलि की काल्पनिक पद्धति के अनुसार जड़ भरत को नहलाया, नये वस्त्र पहनाए, पशु के अनुकूल आभूषणों से अलंकृत किया, उसके शरीर पर सुगन्धित लेप किया तथा तिलक, चन्दन एवं हार से सुसज्जित किया। उसे अच्छी तरह भोजन कराने के बाद वे उसे देवी काली के समक्ष ले आये और देवी को धूप, दीप, माला, खील, पत्ते, अंकुर, फल तथा फूल की भेंट चढ़ाई। इस प्रकार उन्होंने नर-पशु का वध करने के पूर्व गीत, स्तुति द्वारा एवं मृदंग तथा तुरही आदि बजाकर देवी की पूजा की। इसके पश्चात् जड़ भरत को मूर्ति के समक्ष बैठा दिया।

तात्पर्य : इस श्लोक में *स्वविधिना* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वैदिक शास्त्रों के अनुसार कोई भी कृत्य विधि-विधानों के अनुसार किया जाता है, किन्तु यहाँ पर यह कहा गया है कि चोरों तथा उचक्कों ने नर-पशु को मारने की अपनी विधि निकाली थी। तामसी शास्त्रों में देवी काली के समक्ष बकरे या भैंसे की बलि देने का विधान है, किन्तु उसमें मनुष्य की बलि का, चाहे वह कितना ही मूर्ख क्यों न हो, कोई उल्लेख नहीं है। यह विधान डाकुओं द्वारा स्वयं कल्पित किया गया था, इसलिए *स्व-विधिना* शब्द प्रयुक्त हुआ है। आज भी अनेक यज्ञ वैदिक शास्त्रों का उल्लेख किये बिना किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, हाल ही में कलकत्ता में एक बूचड़खाने का विज्ञापन देवी काली के मन्दिर के रूप में किया गया। मांस खाने वाले लोग मूर्खता से ऐसी दूकानों से यह सोच कर माँस खरीदते हैं कि यह सामान्य मांस से भिन्न है और देवी काली का प्रसाद है। देवी काली के समक्ष बकरे या इसी प्रकार के पशु की बलि का उल्लेख शास्त्रों में इस दृष्टि से हुआ है कि लोग बूचड़खानों से मांस न खरीदें और इस प्रकार पशुओं के वध के लिए उत्तरदायी न हों। बद्धजीवों में मांस खाने तथा संभोग करने की सहज प्रवृत्ति होती है, फलत: शास्त्र उन्हें कुछ छूट देते हैं। वास्तव में शास्त्रों का उद्देश्य ऐसी जघन्य प्रवृत्तियों को रोकना है, किन्तु साथ ही वे उनके लिए कुछ विधि-विधान भी प्रदान करते हैं। जिससे

मांसाहारी तथा यौनाचारी क्रमश: सुधर जायें।

अथ वृषलराजपणि: पुरुषपशोरसृगासवेन देवीं भद्रकालीं यक्ष्यमाणस्तदभिमन्त्रितमसिमतिकरालनिशितमुपाददे. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अथ—तदनन्तर; वृषल-राज-पणिः—डाकुओं के सरदार का पुरोहित; पुरुष-पशोः—बलि के लिए लाये गये पशु तुल्य नर (जड़ भरत) का; असृक्-आसवेन—रक्त के आसव से; देवीम्—अर्चाविग्रह को; भद्र-कालीम्—देवी काली; यक्ष्यमाणः—बलि देने का इच्छुक; तत्-अभिमन्त्रितम्—भद्रकाली के मंत्र से पवित्र की गयी; असिम्—तलवार, खड्ग; अति-कराल—अत्यन्त भयानक; निशितम्—अत्यन्त पैनी; उपाददे—हाथ में ली।.

उस समय, पुरोहित के रूप में कार्य कर रहा एक चोर भद्रकाली को पीने के लिए नर-पशु जड़-भरत का रक्त-आसव चढ़ाने के लिए तत्पर था। अत: उसने अत्यन्त भयावनी तथा पैनी तलवार निकाली और भद्रकाली के मंत्र से अभि मंत्रित करके जड़ भरत को मारने के लिए उसे उठाया।

इति तेषां वृषलानां रजस्तम:प्रकृतीनां धनमदरजउत्सिक्तमनसां भगवत्कलावीरकुलं कदर्थीकृत्योत्पथेन स्वैरं विहरतां हिंसाविहाराणां कर्मातिदारुणं यद्ब्रह्मभूतस्य साक्षाद्ब्रह्मर्षिसुतस्य निर्वैरस्य सर्वभूतसुहृद: सूनायामप्यननुमतमालम्भनं तदुपलभ्य ब्रह्मतेजसातिदुर्विषहेण दन्दह्यमानेन वपुषा सहसोच्चचाट सैव देवी भद्रकाली. ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; तेषाम्—उन; वृषलानाम्—शूद्रों का जिनसे समस्त धार्मिक नियम नष्ट होते हैं; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; प्रकृतीनाम्—गुणों वाले; धन-मद—सम्पत्ति के कारण उत्पन्न गर्व; रजः—काम द्वारा; उत्सिक्त—फूला हुआ, उन्मत्त; मनसाम्—जिनके मन; भगवत्-कला—श्रीभगवान् के अंश का विस्तार, अंशस्वरूप; वीर-कुलम्—महान् पुरुषों (ब्राह्मणों) का कुल (समूह); कत्-अर्थी-कृत्य—अनादर करके; उत्पथेन—कुमार्ग से; स्वैरम्—स्वेच्छा से; विहरताम्—आगे बढ़ रहे; हिंसा-विहाराणाम्—जिनका कार्य अन्यों पर हिंसा करना है; कर्म—कर्म, कार्य; अति-दारुणम्—अत्यन्त भयावह; यत्—जो; ब्रह्म-भूतस्य—ब्राह्मण कुल में उत्पन्न स्वरूपसिद्ध व्यक्ति; साक्षात्—प्रत्यक्ष; ब्रह्म-ऋषि-सुतस्य—ब्रह्म-ऋषि के पुत्र का; निर्वैरस्य—वैरविहीन का; सर्व-भूत-सुहृदः—सबों का शुभचिन्तक; सूनायाम्—अन्तिम क्षण में; अपि—यद्यपि; अननुमतम्—अविहित; आलम्भनम्—ईश्वर की इच्छा के विपरीत; तत्—वह; उपलभ्य—देखकर; ब्रह्म-तेजसा—दिव्य आनन्द के तेज से; अति-दुर्विषहेण—अत्यन्त प्रखर अत: असह्य; दन्दह्यमानेन—ज्वलित; वपुषा—शरीर से; सहसा—एकाएक; उच्चचाट—मूर्ति को विदीर्ण करके; सा—वह (देवी); एव—निस्संदेह; देवी—देवी; भद्र-काली—भद्रकाली।.

जिन चोर-उचक्कों ने देवी काली के पूजन का प्रबन्ध कर रखा था वे अत्यन्त नीच थे और रजो तथा तमो गुणों से आबद्ध थे। वे धनवान बनने की कामना से ओतप्रोत थे, अत: उन्होंने वेदों के आदेशों का तिरस्कार किया। यहाँ तक कि वे ब्राह्मण कुल में उत्पन्न स्वरूपसिद्ध जीवात्मा जड़ भरत का वध करने के लिए उद्यत थे। द्वेषवश वे उन्हें देवी काली के समक्ष बलि चढ़ाने के लिए लाये थे। ऐसे व्यक्ति सदैव ईर्ष्यालु कार्यों में रत रहते हैं, इसीलिए वे जड़ भरत

को मारने का दुस्साहस कर सके। जड़ भरत समस्त जीवों के परम मित्र थे। वे किसी के भी शत्रु न थे और सदैव पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के ध्यान में मग्न रहते थे। उनका जन्म उत्तम ब्राह्मण कुल में हुआ था, अतः यदि वे किसी के शत्रु होते अथवा आक्रामक होते तो भी उनका वध वर्जित था। किसी भी दशा में जड़ भरत को वध किये जाने का कोई औचित्य न था, अतः यह भद्रकाली से सहन नहीं हो सका। वे तुरन्त समझ गईं कि ये पापी डाकू ईश्वर के एक परम भक्त का वध करने वाले हैं। अतः सहसा मूर्ति का शरीर विदीर्ण हो गया और साक्षात् देवी काली प्रकट हुईं। उनका शरीर प्रखर एवं असह्य तेज से जल रहा था।

तात्पर्य : वैदिक आदेशानुसार केवल आक्रामक का वध किया जा सकता है। यदि कोई मारने के उद्देश्य से आए तो आत्मरक्षा हेतु उसका तुरन्त वध किया जा सकता है। यह भी कहा गया है कि यदि कोई घर में आग लगाने या किसी की स्त्री को अपवित्र करने या हरने के उद्देश्य से आए तो उसका वध किया जा सकता है। भगवान् रामचन्द्र ने रावण के समस्त परिवार का वध कर दिया, क्योंकि रावण ने उनकी पत्नी सीता देवी का अपहरण किया था। किन्तु शास्त्रों में अन्य किसी कार्य के लिए वध की आज्ञा नहीं है। देवताओं पर जो भगवान् के विस्तार हैं, पशुओं की बलि की अनुमति उन लोगों को है जो मांस खाते हैं। मांसाहार पर यह एक प्रकार का प्रतिबन्ध है। दूसरे शब्दों में, वेदों में कुछ नियमों के द्वारा पशुओं के वध पर भी प्रतिबन्ध है। इन बातों पर विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि उच्च ब्राह्मण कुल में उत्पन्न जड़ भरत को मारने का कोई औचित्य नहीं था। वे स्वरूपसिद्ध थे और सभी जीवों के शुभचिन्तक थे। वेदों के अनुसार चोर-उचक्कों द्वारा जड़ भरत के वध किये जाने की स्वीकृति नहीं प्राप्त होती। फलतः देवी भद्रकाली ईश्वर के भक्त की रक्षा हेतु मूर्ति में से प्रकट हुईं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि जड़ भरत का ब्रह्म तेज ऐसा था कि मूर्ति विदीर्ण हो गई। रजो तथा तमोगुणी चोर-उचक्के तथा ऐश्वर्य से प्रमत्त व्यक्ति ही देवी काली के समक्ष मनुष्य की बलि करते हैं। वेदों द्वारा इसकी अनुमति नहीं है। इस समय पूरे विश्व में हजारों कसाईघर हैं, जो ऐश्वर्य के पीछे दीवाने लोगों द्वारा संचालित किये जाते हैं। भागवत सम्प्रदाय द्वारा ऐसे कृत्यों का कभी भी अनुमोदन नहीं होता।

भृशममर्षरोषावेशरभसविलसितभ्रुकुटिविटपकुटिलदंष्ट्रारुणेक्षणाटोपातिभयानकवदना हन्तुकामेवेदं महाट्टहासमतिसंरम्भेण विमुञ्चन्ती तत उत्पत्य पापीयसां दुष्टानां तेनैवासिना विवृक्णशीर्ष्णां गलात्स्रवन्तमसृगासवमत्युष्णं सह गणेन निपीयातिपानमदविह्वलोच्चैस्तरां स्वपार्षदैः सह जगौ ननर्त च विजहार च शिरःकन्दुकलीलया. ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

भृशम्—अत्यधिक; अमर्ष—पापों के कारण अत्यन्त असहनशीलता; रोष—क्रोध; आवेश—डूबे रहने से; रभस-विलसित—चढ़ी हुई; भ्रु-कुटि—भौंहें; विटप—शाखाएँ; कुटिल—टेढ़ी; दंष्ट्र—बड़े दाँत (दाढ़ें); अरुण-ईक्षण—लाल लाल नेत्र; आटोप—विक्षोभ से; अति—अत्यधिक; भयानक—डरावना; वदना—मुख वाली; हन्तु-कामा—संहार करने की इच्छुक; इव—मानो; इदम्—यह ब्रह्माण्ड; महा-अट्ट-हासम्—अत्यन्त डरावनी हँसी; अति—अत्यधिक; संरम्भेण—क्रोध के कारण; विमुञ्चन्ती—छोड़ती हुई; ततः—उस बलि वेदी से; उत्पत्य—उछल कर; पापीयसाम्—समस्त पापी; दुष्टानाम्—दुष्टों का; तेन एव असिना—उसी तलवार से; विवृक्ण—छिन्न; शीर्ष्णाम्—सिर; गलात्—गर्दन से; स्त्रवन्तम्—बहते हुए; असृक्-आसवम्—रक्त रूपी मादक द्रव (आसव); अति-उष्णम्—अत्यन्त गरम; सह—समेत; गणेन—अपने गणों के; निपीय—पीते हुए; अति-पान—अत्यधिक पीने से; मद—नशे के; विह्वला—वश में आये हुए; उच्चैः-तराम्—अत्यन्त उच्च स्वर से; स्व-पार्षदैः—अपने गणों के; सह—साथ; जगौ—गाया; ननर्त—नाचा; च—भी; विजहार—खेल किया; च—भी; शिरः-कन्दुक—सिरों को गेंद के समान प्रयुक्त करते हुए; लीलया—खेल में।

किए गये अत्याचारों को न सहन कर सकने के कारण क्रुद्ध देवी काली ने अपनी आँखें चमकायी और उनके कराल वक्र दाँत (दाढ़ें) दिखाए। उनकी लाल-लाल आँखें दहकने लगीं और उनकी आकृति डरावनी हो गई। उन्होंने अत्यन्त भयावना रूप धारण कर लिया मानो समस्त सृष्टि का संहार करने को उद्यत हों। वे बलिवेदी से तेजी से कूदीं और तुरन्त ही उन चोर-उचक्कों के सिर उसी तलवार से काट लिये जिससे वे जड़ भरत का वध करने जा रहे थे। फिर छिन्न सिरों वाले उन उच्चकों-चोरों के गले से निकलने वाले तप्त रक्त को पीने लगीं मानो मदिरा (आसव) पान कर रही हों। दरअसल उन्होंने अपने गणों के सहित, जिनमें डाइनें तथा चुड़ैलें थीं, उस आसव का पान किया और फिर प्रमत्त होकर वे सब उच्च स्वर से गाने तथा नाचने लगीं मानो समस्त ब्रह्माण्ड का संहार कर डालेंगी। उसी समय वे उनके सिरों को गेंद के समान उछाल-उछाल कर खेलने लगीं।

तात्पर्य : इस श्लोक से स्पष्ट है कि देवी काली अपने सभी भक्तों का पक्ष नहीं लेतीं। देवी काली का कार्य ही असुरों को दण्ड देना और उनका वध करना है। देवी काली (दुर्गा) अनेक असुरों, डाकुओं तथा समाज के बुरे तत्त्वों का शिरोच्छेद करने में लगी रहती हैं। मूर्ख लोग कृष्णभावनामृत की उपेक्षा करके देवी को प्रसन्न करने के लिए निकृष्ट वस्तुएँ भेंट चढ़ाते हैं, किन्तु अन्त में पूजा में थोड़ी सी भी त्रुटि रह जाने पर वे इन उपासकों के प्राण लेकर उन्हें दण्डित करती हैं। आसुरी लोग भौतिक लाभ के लिए देवी काली की उपासना करते तो हैं, किन्तु पूजा के नाम पर किये गये पापों के लिए

उन्हें क्षमा नहीं किया जाता। मूर्ति पर मनुष्य या पशु की बलि विशेष रूप से वर्जित है।

एवमेव खलु महदभिचारातिक्रमः कात्स्न्र्येनात्मने फलति. ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

एवम् एव—इस प्रकार; खलु—निस्संदेह; महत्—महापुरुषों के साथ; अभिचार—ईर्ष्या के रूप में; अति-क्रमः—अपराध की सीमा; कात्स्न्र्येन—सदैव; आत्मने—अपने ही ऊपर; फलति—प्रतिफलित होता है, पड़ता है।.

जब कोई ईर्ष्यालु व्यक्ति किसी महापुरुष के समक्ष कोई अपराध करता है, तो उसे सदैव उपर्युक्त विधि से दंडित होना पड़ता है।

**न वा एतद्विष्णुदत्त महदद्भुतं यदसम्भ्रमः स्वशिरश्छेदन आपतितेऽपि
विमुक्तदेहाद्यात्मभावसुदृढहृदयग्रन्थीनां सर्वसत्त्वसुहृदात्मनां निर्वैराणां
साक्षाद्भगवतानिमिषारिवरायुधेनाप्रमत्तेन तैस्तैर्भावैः परिरक्ष्यमाणानां तत्पादमूलमकुतश्चिद्भयमुपसृतानां
भागवतपरमहंसानाम्. ॥ २० ॥**

शब्दार्थ

न—नहीं; वा—अथवा; एतत्—यह; विष्णु-दत्त—हे भगवान् विष्णु द्वारा रक्षित, महाराज परीक्षित; महत्—महान; अद्भुतम्—आश्चर्य; यत्—जो; असम्भ्रमः—व्याकुलता का अभाव; स्व-शिरः-छेदने—अपना सिर काटे जाते समय; आपतिते—आ पड़ने पर; अपि—यद्यपि; विमुक्त—पूर्णतया मुक्त; देह-आदि-आत्म-भाव—जीवन का मिथ्या देहात्म भाव; सु-दृढ—सुदृढ़; हृदय-ग्रन्थीनाम्—हृदय-ग्रन्थि वालों का; सर्व-सत्त्व-सुहृत्-आत्मनाम्—अपने मन में सबों का कल्याण चाहने वाले व्यक्तियों का; निर्वैराणाम्—जिनके एक भी शत्रु नहीं हैं, उनका; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवता—श्रीभगवान् द्वारा; अनिमिष—तत्काल; अरि-वर—शस्त्रों में श्रेष्ठ सुदर्शन चक्र; आयुधेन—आयुधधारी द्वारा; अप्रमत्तेन—कभी क्षुब्ध न होने वाला; तैः तैः—उन उन; भावैः—श्रीभगवान् के रूपों से; परिरक्ष्यमाणानाम्—रक्षित पुरुषों का; तत्-पाद-मूलम्—श्रीभगवान् के चरणकमल में; अकुतश्चित्—कहीं से भी नहीं; भयम्—डर, भय; उपसृतानाम्—शरणागतों का; भागवत—ईश्वर के भक्तों का; परम-हंसानाम्—परमहंसों का, मुक्त पुरुषों का।.

तब शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित से कहा—हे विष्णुदत्त, आत्मा को शरीर से पृथक् मानने वाले, अजेय हृदय-ग्रंथि से मुक्त, समस्त जीवों के कल्याण कार्य में निरन्तर अनुरक्त तथा दूसरों का अहित न सोचने वाले व्यक्ति चक्रधारी तथा असुरों के लिए परम काल एवं भक्तों के रक्षक श्रीभगवान् द्वारा सदैव संरक्षित होते हैं। भक्त सदैव भगवान् के चरणकमल की शरण ग्रहण करते हैं। फलतः सिर कटने का अवसर आने पर भी वे सदैव अक्षुब्ध रहते हैं। यह उनके लिए तनिक भी विस्मयकारी नहीं होता है।

तात्पर्य : भगवान् के शुद्ध भक्त के ये कुछ महान् गुण हैं। पहले तो भक्त अपनी आध्यात्मिक पहचान के प्रति आश्वस्त होता है। वह अपने को शरीर नहीं मानता, उसे दृढ़ विश्वास हो जाता है कि उसकी आत्मा देह से भिन्न है। फलतः उसे किसी का भय नहीं रह जाता। यहाँ तक कि जीवन का

संकट उत्पन्न होने पर भी वह भयभीत नहीं होता। वह शत्रु को भी शत्रु नहीं मानता। भक्तों के ऐसे-ऐसे गुण हैं। वे श्रीभगवान् पर सभी प्रकार से आश्रित रहते हैं और भगवान् भी समस्त परिस्थितियों में उनकी रक्षा करने के लिए उत्सुक रहते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''जड़ भरत का सर्वोत्कृष्ट चरित्र'' नामक नौवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दस

जड़ भरत तथा महाराज रहूगण की वार्ता

इस अध्याय में भरत महाराज अर्थात् जड़ भरत को सिंधु तथा सौवीर राज्यों के शासक राजा रहूगण ने अंगीकार कर लिया। उस राजा ने जड़ भरत को अपनी पालकी ढोने के लिए विवश किया और पालकी को ठीक से न उठाने के कारण उसको फटकार लगायी। राजा रहूगण को पालकी ढोने वाले (कहार) की आवश्यकता थी जिसके लिए पालकी ढोनेवालों के मुखिया ने जड़ भरत को अत्यन्त उपयुक्त पाया। अत: उसे पालकी ढोने के लिए बाध्य किया गया। जड़ भरत ने इस आज्ञा का प्रतिवाद नहीं किया, उल्टे वे इसे विनम्रता पूर्वक स्वीकार करके पालकी ढोने लगे। जब वे पालकी उठाये रहते तो वे सतर्क होकर देखते चलते कि उनके पाँव के नीचे एक चींटी तक न आये और जब कोई चींटी दिखती तो वे उसके निकल जाने तक रुके रहते। फलत: वे अन्य कहारों के साथ कदम मिलाकर नहीं चल पाये। इससे पालकी में बैठा राजा अत्यन्त विचलित हुआ और उसने जड़ भरत को भद्दी गाली दी, किन्तु जड़ भरत ने कोई प्रतिवाद नहीं किया, क्योंकि वे देहात्म-बुद्धि से सर्वथा मुक्त थे। वे पालकी उठाये चलते रहे। जब उन्होंने फिर वैसा ही किया, तो राजा ने उसे दण्डित करने की धमकी दी। प्रतिक्रियास्वरूप जड़ भरत बोलने लगे। उन्होंने राजा द्वारा प्रयुक्त गन्दी भाषा का प्रतिवाद किया। जड़ भरत के उपदेश सुनकर राजा को आत्मज्ञान हुआ। ज्ञान आने पर उसने समझा कि उसने एक महान् तथा साधु पुरुष का अपमान किया है। उस समय उसने विनीत भाव से आदरपूर्वक जड़ भरत की प्रार्थना की। तब उसे जड़ भरत द्वारा प्रयुक्त गूढ़ शब्दों के अर्थ जानने की इच्छा हुई और उसने सच्चे दिल से क्षमा-याचना की। उसने स्वीकार किया कि यदि कोई शुद्ध भक्त के चरणकमल की

उपेक्षा करता है, तो वह भगवान् शिव के त्रिशूल द्वारा दण्डित होता है।

श्रीशुक उवाच

अथ सिन्धुसौवीरपते रहूगणस्य व्रजत इक्षुमत्यास्तटे तत्कुलपतिना शिबिकावाहपुरुषान्वेषणसमये दैवेनोपसादितः स द्विजवर उपलब्ध एष पीवा युवा संहननाङ्गो गोखरवद्धुरं वोढुमलमिति पूर्वविष्टिगृहीतैः सह गृहीतः प्रसभमतदर्ह उवाह शिबिकां स महानुभावः. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी बोले; अथ—इस प्रकार; सिन्धु-सौवीर-पतेः—सिंधु तथा सौवीर राज्यों के शासक के; रहू-गणस्य—रहूगण नामक राजा के; व्रजतः—(कपिल के आश्रम) जाते हुए; इक्षु-मत्याः तटे—इक्षुमती के तट पर; तत्-कुल-पतिना—पालकी ढोने वालों के सरदार द्वारा; शिबिका-वाह—पालकीवाहक बनने के लिए; पुरुष-अन्वेषण-समये—आदमी की खोज करते हुए; दैवेन—भाग्य से; उपसादितः—पास गये हुए; सः—वह; द्विज-वरः—ब्राह्मण पुत्र, जड़ भरत; उपलब्धः—प्राप्त; एषः—यह पुरुष; पीवा—अत्यधिक बलिष्ठ; युवा—तरुण; संहनन-अङ्गः—सुगठित अंगों वाला; गो-खर-वत्—बैल या गधे के समान; धुरम्—भार, बोझा; वोढुम्—ले जाने के लिए; अलम्—समर्थ; इति—इस प्रकार सोचते हुए; पूर्व-विष्टि-गृहीतैः—बलपूर्वक काम कराये जाने वाले, बेगारी में पकड़े गये; सह—साथ; गृहीतः—पकड़ा जाकर; प्रसभम्—बलपूर्वक; अ-तत्-अर्हः—पालकी ढोने के अयोग्य होते हुए भी; उवाह—ढोता था; शिबिकाम्—पालकी; सः—वह; महा-अनुभावः—महापुरुष।

शुकदेव गोस्वामी आगे बोले, हे राजन्, इसके बाद सिंधु तथा सौवीर प्रदेशों का शासक रहूगण कपिलाश्रम जा रहा था। जब राजा के मुख्य कहार (पालकीवाहक) इक्षुमती के तट पर पहुँचे तो उन्हें एक और कहार की आवश्यकता हुई। अतः वे किसी ऐसे व्यक्ति की खोज करने लगे और दैववश उन्हें जड़ भरत मिल गया। उन्होंने सोचा कि यह तरुण और बलिष्ठ है और इसके अंग-प्रत्यंग सुदृढ़ हैं। यह बैलों तथा गधों के तुल्य बोझा ढोने के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। ऐसा सोचते हुए यद्यपि महात्मा जड़ भरत ऐसे कार्य के लिए सर्वथा अनुपयुक्त थे तो भी कहारों ने बिना झिझक के पालकी ढोने के लिए उन्हें बाध्य कर दिया।

यदा हि द्विजवरस्येषुमात्रावलोकानुगतेर्न समाहिता पुरुषगतिस्तदा विषमगतां स्वशिबिकां रहूगण उपधार्य पुरुषानधिवहत आह हे वोढारः साध्वतिक्रमत किमिति विषममुह्यते यानमिति. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; हि—निश्चय ही; द्विज-वरस्य—जड़ भरत का; इषु-मात्र—एक बाण आगे तक (३ फुट); अवलोक-अनुगतेः—देखकर ही चलने से; न समाहिता—मेल न खाता हुआ; पुरुष-गतिः—कहारों की चाल; तदा—उस समय; विषम-गताम्—असन्तुलित होने पर; स्व-शिबिकाम्—अपनी पालकी को; रहूगणः—राजा रहूगण ने; उपधार्य—समझ कर; पुरुषान्—पुरुषों से; अधिवहतः—पालकी ले जाने वाले; आह—कहा; हे—अरे; वोढारः—कहारो; साधु अतिक्रमत—एक बराबर चलो जिससे उछाल न हो; किम् इति—किस कारण; विषमम्—असंतुलित, ऊँची-नीची; उह्यते—ले जाई जा रही है; यानम्—पालकी; इति—इस प्रकार।

किन्तु अपने अहिंसक भाव के कारण जड़ भरत पालकी को ठीक से नहीं ले जा रहे थे।

जैसे ही वे आगे बढ़ते, हर तीन फुट पहले वे यह देखने के लिए रुक जाते कि कहीं कोई चींटी पर पांव तो नहीं पड़ रहा है। फलतः वे अन्य कहारों से ताल-मेल नहीं बैठा पा रहे थे। इसके कारण पालकी हिल रही थी। अतः राजा रहूगण ने तुरन्त कहारों से पूछा, ''तुम लोग इस पालकी को ऊँची-नीची करके क्यों लिए जा रहे हो? अच्छा हो, यदि उसे ठीक से ले चलो।''

तात्पर्य : यद्यपि जड़ भरत को पालकी ढोने के लिए बाध्य किया गया था, किन्तु उनके मन में मार्ग पर चलने वाली चींटियों के प्रति दयाभाव बना हुआ था। ईश्वर का भक्त अत्यन्त कष्टदायक परिस्थितियों में रहने पर भी भक्ति तथा अन्य उपयुक्त कार्यों को नहीं भूलता। यद्यपि जड़ भरत आध्यात्मिक ज्ञान में बढ़े चढ़े योग्य ब्राह्मण थे, किन्तु उनसे पालकी ढोने का कार्य लिया जा रहा था। उन्हें इसकी परवाह नहीं थी। फिर भी मार्ग पर चलते हुए उन्हें अपना यह कर्तव्य नहीं भूला था कि एक भी चींटी नहीं मरनी चाहिए। वैष्णव न तो ईर्ष्या करता है, न ही वृथा उग्र बनता है। मार्ग में अनेक चींटियाँ थीं, किन्तु जड़ भरत तीन फुट पहले ही इनके प्रति सचेत हो जाते। जब चींटियाँ निकल जातीं तभी वे आगे कदम रखते। वैष्णव समस्त जीवों के प्रति अत्यन्त दयालु होता है। भगवान् कपिलदेव *सांख्य योग* में बताते हैं—*सुहृदः सर्वदेहिनाम्।* जीव विभिन्न रूप धारण करते हैं। जो अ-वैष्णव हैं, वे मात्र मनुष्य समाज को अपनी दया के योग्य समझते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण अपने को समस्त प्राणियों का पिता कहते हैं। फलतः वैष्णव किसी भी प्राणी को असमय या वृथा ही विनष्ट नहीं होने देता। समस्त जीवों को विशेष भौतिक देह रूप में बँधकर कुछ अवधि पूरी करनी होती है। उन्हें स्वयं ही अन्य देह धारण करने के पूर्व इस शरीर के लिए निर्दिष्ट अवधि को पूरा करना होता है। इस प्रकार किसी पशु या अन्य जीव का वध उसे उस देह-अवधि को पूरा करने में बाधक बनता है। अतः किसी को भी अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के हेतु प्राणियों का वध नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे वह पापकर्म में फँस जाएगा।

अथ त ईश्वरवचः सोपालम्भमुपाकर्ण्योपायतुरीयाच्छङ्कितमनसस्तं विज्ञापयां बभूवुः. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; ते—वे (कहार); ईश्वर-वचः—अपने स्वामी राजा रहूगण के शब्द; स-उपालम्भम्—उलाहनापूर्वक; उपाकर्ण्य—सुनकर; उपाय—साधन; तुरीयात्—चौथे से; शङ्कित-मनसः—सशंकित मन वाले; तम्—उसको (राजा को); विज्ञापयाम् बभूवुः—सूचित किया।

जब कहारों ने महाराजा रहूगण की धमकी सुनी तो वे उसके दण्ड से अत्यन्त भयभीत हो

गये और उनसे इस प्रकार कहने लगे।

तात्पर्य : राजनीति शास्त्र के अनुसार राजा अपने अधीनस्थ लोगों को कभी समझाता है, कभी डराता है, कभी फटकारता है और कभी पुरस्कृत करता है। इस प्रकार वह उन पर शासन करता है। कहार समझ गये कि राजा क्रुद्ध है, अत: वह उन्हें दण्डित करेगा।

न वयं नरदेव प्रमत्ता भवन्नियमानुपथाः साध्वेव वहामः. अयमधुनैव नियुक्तोऽपि न द्रुतं व्रजति नानेन सह वोढुमु ह वयं पारयाम इति. ॥ ४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वयम्—हम सब; नर-देव—हे मनुष्यों में ईश्वर तुल्य (राजा को देव अर्थात् श्रीभगवान् का प्रतिनिधि माना जाता है); प्रमत्ताः—कार्य के प्रति असावधान; भवत्-नियम-अनुपथाः—सदैव आपके आज्ञाकारी हैं; साधु—ठीक से; एव—निश्चय ही; वहामः—ले जा रहे हैं; अयम्—यह मनुष्य; अधुना—नया; एव—निस्संदेह; नियुक्तः—लगाया गया; अपि—यद्यपि; न—नहीं; द्रुतम्—शीघ्रता से; व्रजति—चलता है, काम करता है; न—नहीं; अनेन—इसके; सह—साथ; वोढुम्—ढोने में; उ ह—ओह; वयम्—हम सभी; पारयामः—समर्थ हैं; इति—इस प्रकार।

हे स्वामी, कृपया ध्यान दें कि हम अपना कार्य करने में तनिक भी असावधान नहीं हैं। हम इस पालकी को आपकी इच्छानुसार निष्ठा से ले जा रहे हैं, किन्तु यह व्यक्ति, जिसे हाल ही में काम में लगाया गया है, तेजी से नहीं चल पा रहा। अत: हम उसके साथ पालकी ले जाने में असमर्थ हैं।

तात्पर्य : पालकी के अन्य वाहक शूद्र थे, जबकि जड़ भरत न केवल उच्चकुलीन ब्राह्मण थे, वरन् परम भक्त भी थे। शूद्रों को किसी अन्य जीव पर दया नहीं आती, किन्तु वैष्णव कभी शूद्र के समान आचरण नहीं करता। अत: जब भी शूद्रों एवं ब्राह्मण वैष्णवों को एकसाथ मिलाया जाता है, तो कर्तव्यपालन में असंतुलन अवश्य आता है। शूद्र धरती पर चल रही चींटियों की परवाह किये बिना पालकी ले जा रहे थे, जब कि जड़ भरत शूद्रों के समान व्यवहार नहीं कर सकते थे; इसीलिए यह कठिनाई उत्पन्न हुई।

सांसर्गिको दोष एव नूनमेकस्यापि सर्वेषां सांसर्गिकाणां भवितुमर्हतीति निश्चित्य निशम्य कृपणवचो राजा रहूगण उपासितवृद्धोऽपि निसर्गेण बलात्कृत ईषदुत्थितमन्युरविस्पष्टब्रह्मतेजसं जातवेदसमिव रजसावृतमतिराह. ॥ ॥

शब्दार्थ

सांसर्गिकः—संसर्ग से उत्पन्न; दोषः—अवगुण, त्रुटि; एव—निस्संदेह; नूनम्—निश्चय ही; एकस्य—एक व्यक्ति का; अपि—यद्यपि; सर्वेषाम्—अन्य सभी; सांसर्गिकाणाम्—उसके संसर्ग में आने वाले व्यक्तियों का; भवितुम्—होना; अर्हति—सम्भव है; इति—इस प्रकार; निश्चित्य—निश्चय करके; निशम्य—सुनकर; कृपण-वचः—दण्ड-भय से भयभीत दीन सेवकों के वचन; राजा—राजा; रहूगणः—रहूगण ने; उपासित-वृद्धः—अनेक महापुरुषों का उपदेश सुना तथा उनकी सेवा किया हुआ; अपि—तो भी; निसर्गेण—अपने स्वभाव से, जो क्षत्रिय का था; बलात्—बलपूर्वक; कृतः—किया हुआ; ईषत्—कुछ-कुछ; उत्थित—जागृत; मन्युः—क्रोध; अविस्पष्ट—ठीक से दृष्टिगोचर न होने वाला, अस्पष्ट; ब्रह्म-तेजसम्—उस (जड़ भरत) का ब्रह्म तेज; जात-वेदसम्—वैदिक अनुष्ठानों में भस्म से ढकी हुई अग्नि; इव—के समान; रजसा आवृत—रजोगुण से ढकी हुई; मतिः—जिसकी बुद्धि; आह—कहा।.

राजा रहूगण दण्ड से भयभीत कहारों के वचन का अभिप्राय समझ रहा था। उसकी समझ में यह भी आ गया कि मात्र एक व्यक्ति के दोष के कारण पालकी ठीक से नहीं चल रही। यह सब अच्छी प्रकार जानते हुए तथा उनकी विनती सुनकर वह कुछ-कुछ क्रुद्ध हुआ, यद्यपि वह राजनीति में निपुण एवं अत्यन्त अनुभवी था। उसका यह क्रोध राजा के जन्मजात स्वभाव से उत्पन्न हुआ था। वस्तुतः राजा रहूगण का मन रजोगुण से आवृत था, अतः वह जड़ भरत से, जिनका ब्रह्मतेज राख से ढकी अग्नि के समान सुस्पष्ट नहीं था, इस प्रकार बोला।

तात्पर्य : इस श्लोक में रजोगुण तथा सत्त्वगुण का अन्तर बताया गया है। यद्यपि राजा राजनीति और राज्य संचालन में निपुण था, तो भी रजोगुणी होने के कारण थोड़ा विचलित होने पर क्रुद्ध हो गया। अपने गूँगे तथा बहरे बनावे के कारण हो रहा अन्याय जड़ भरत को सहना पड़ा था, तो भी वे अपने आत्मज्ञान के कारण शान्त बने रहे। इतने पर भी उनका ब्रह्मतेज उनके शरीर से अस्पष्ट रूप से झलक रहा था।

अहो कष्टं भ्रातर्व्यक्तमुरुपरिश्रान्तो दीर्घमध्वानमेक एव ऊहिवान्सुचिरं नातिपीवा न संहननाङ्गो जरसा चोपद्रुतो भवान्सखे नो एवापर एते सङ्घट्टिन इति बहुविप्रलब्धोऽप्यविद्यया रचितद्रव्यगुणकर्माशयस्वचरमकलेवरेऽवस्तुनि संस्थानविशेषेऽहं ममेत्यनध्यारोपितमिथ्याप्रत्ययो ब्रह्मभूतस्तूष्णीं शिबिकां पूर्ववदुवाह. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; कष्टम्—कितना कष्टप्रद है यह; भ्रातः—मेरे भाई; व्यक्तम्—स्पष्ट; उरु—अत्यन्त; परिश्रान्तः—थके हुए; दीर्घम्—लम्बा; अध्वानम्—मार्ग; एकः—अकेले; एव—ही; ऊहिवान्—ढोते हुए; सु-चिरम्—दीर्घ काल तक; न—नहीं; अति-पीवा—अत्यन्त हट्टा कट्टा; न—नहीं; संहनन-अङ्गः—सुगठित शरीर; जरसा—बुढ़ापे से; च—भी; उपद्रुतः—विचलित, दबाया हुया; भवान्—आप; सखे—मेरे मित्र; नो एव—निश्चय ही नहीं; अपरे—दूसरे; एते—ये सब; सङ्घट्टिनः—सह-कर्मी; इति—इस प्रकार; बहु—अत्यधिक; विप्रलब्धः—ताना मारे जाने पर; अपि—यद्यपि; अविद्यया—अज्ञान से; रचित—रचा हुआ; द्रव्य-गुण-कर्म-आशय—भौतिक तत्त्वों, गुणों तथा कर्मफल एवं आकांक्षाओं के मिश्रण में; स्व-चरम-कलेवरे—शरीर में, जो सूक्ष्म तत्त्वों (मन, बुद्धि तथा अहं) से चालित है; अवस्तुनि—ऐसी भौतिक वस्तुओं में; संस्थान-विशेषे—विशेष मनोवृत्ति वाला; अहम् मम—मैं तथा मेरा; इति—इस प्रकार; अनध्यारोपित—ऊपर से थोपा नहीं; मिथ्या—झूठा; प्रत्ययः—विश्वास;

ब्रह्म-भूतः—स्वरूप-सिद्ध, ब्रह्म पद को प्राप्त; तूष्णीम्—चुप रहकर; शिबिकाम्—पालकी; पूर्व-वत्—पहले की तरह; उवाह—ले गया।

राजा रहूगण ने जड़ भरत से कहा : मेरे भाई, यह कितना कष्टप्रद है! तुम निश्चित ही अत्यन्त थके लग रहे हो, क्योंकि तुम बहुत समय से और लम्बी दूरी से किसी की सहायता के बिना अकेले ही पालकी ला रहे हो। इसके अतिरिक्त, बुढ़ापे के कारण तुम अत्यधिक परेशान हो। हे मित्र, मैं देख रहा हूँ कि तुम न तो मोटे-ताजे हो, न ही हट्टे-कट्टे हो। क्या तुम्हारे साथ के कहार तुम्हें सहयोग नहीं दे रहे?

इस प्रकार राजा ने जड़ भरत को ताना मारा, किन्तु इतने पर भी जड़ भरत को शरीर की सुधि नहीं थी। उसे ज्ञान था कि वह शरीर नहीं है, क्योंकि वह स्वरूपसिद्ध हो चुका था। वह न तो मोटा था, न पतला, न ही उसे पंच स्थूल भूतों तथा तीन सूक्ष्म तत्त्वों के इस स्थूल पदार्थ से कुछ लेना-देना था। उसे भौतिक शरीर तथा इसके दो हाथों तथा दो पैरों से कोई सरोकार न था। दूसरे शब्दों में, कहना चाहें तो कह सकते हैं कि वह 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् ब्रह्म रूप को प्राप्त हो चुका था। अतः राजा की व्यंग्य पूर्ण आलोचना का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह बिना कुछ कहे पूर्ववत् पालकी को उठाये चलता रहा।

तात्पर्य : जड़ भरत पूर्णतया मुक्त थे। जब डाकुओं ने उनके शरीर की बलि देनी चाही थी तब भी उन्हें कोई परवाह नहीं थी, क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि वे शरीर नहीं हैं। यदि उनका शरीर नष्ट भी कर दिया जाता तो भी वे परवाह नहीं करते, क्योंकि उन्हें *भगवद्गीता* की इस उक्ति (२.२०)—*न हन्यते हन्यमाने शरीरे*—पर पूर्ण विश्वास था। उन्हें पता था कि शरीर के मारे जाने पर भी उन्हें नहीं मारा जा सकता। यद्यपि उन्होंने कोई प्रतिवाद नहीं किया, किन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अपने भक्त के प्रति डाकुओं के इस अन्याय को नहीं सहन कर सके, अतः डाकू मारे गये और श्रीकृष्ण के अनुग्रह से वे बच गये। इस घटना में पालकी ढोते समय भी उन्हें पता था कि वे शरीर नहीं हैं। उनका शरीर पालकी ले जाने में पूर्ण सक्षम था, क्योंकि वह हृष्ट-पुष्ट तथा सुगठित था। देहात्म-बोध से मुक्त होने के कारण राजा के व्यंग्य एक विशेष प्रकार के वचनों का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। शरीर की उत्पत्ति कर्म के अनुसार होती है और प्रकृति एक विशेष प्रकार के शरीर के विकास के लिए सारी सामग्री जुटाती है। शरीर के भीतर का आत्मा शरीर की रचना से पृथक् है, अतः शरीर के प्रति किया गया कोई

उपकार या अपकार आत्मा को प्रभावित नहीं करता। वैदिक आदेश है—*असंगो ह्ययं पुरुषः*—आत्मा कभी भी भौतिक विधानों से प्रभावित नहीं होता।

अथ पुनः स्वशिबिकायां विषमगतायां प्रकुपित उवाच रहूगणः किमिदमरे त्वं जीवन्मृतो मां कदर्थीकृत्य भर्तृशासनमतिचरसि प्रमत्तस्य च ते करोमि चिकित्सां दण्डपाणिरिव जनताया यथा प्रकृतिं स्वां भजिष्यस इति. ॥ ७॥

शब्दार्थ

अथ—तदनन्तर; पुनः—फिर से; स्व-शिबिकायाम्—अपनी पालकी में; विषम-गतायाम्—जड़ भरत के ठीक से न चलने के कारण ऊँची-नीची होने से; प्रकुपितः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; उवाच—कहा; रहूगणः—राजा रहूगण ने; किम् इदम्—यह क्या हो रहा है; अरे—हे मूर्ख; त्वम्—तुम (तू); जीवत्—जिन्दा; मृतः—मरा हुआ; माम्—मुझको; कत्-अर्थी-कृत्य—उपेक्षा करके; भर्तृ-शासनम्—स्वामी का निरादर; अतिचरसि—उल्लंघन कर रहे हो; प्रमत्तस्य—पागल का; च—भी; ते—तुम; करोमि—करूँगा; चिकित्साम्—समुचित उपचार; दण्ड-पाणिः इव—यमराज के समान; जनतायाः—सामान्य लोगों की; यथा—जिससे; प्रकृतिम्—स्वाभाविक स्थिति; स्वाम्—स्वतः; भजिष्यसे—ग्रहण करोगे; इति—इस प्रकार।

तत्पश्चात्, जब राजा ने देखा कि उसकी पालकी अब भी पूर्ववत् हिल रही थी, तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और कहने लगा—अरे दुष्ट ! तू क्या कर रहा है? क्या तू जीवित ही मर गया है? क्या तू नहीं जानता कि मैं तेरा स्वामी हूँ? तू मेरा अनादर कर रहा है और मेरी आज्ञा का उल्लंघन भी। इस अवज्ञा के लिए मैं अब तुझे मृत्यु के अधीक्षक यमराज के ही समान दण्ड दूँगा। मैं तेरा सही उपचार किये देता हूँ, जिससे तू होश में आ जाएगा और ठीक से काम करेगा।

एवं बह्वबद्धमपि भाषमाणं नरदेवाभिमानं रजसा तमसानुविद्धेन मदेन तिरस्कृताशेषभगवत्प्रियनिकेतं पण्डितमानिनं स भगवान्ब्राह्मणो ब्रह्मभूतसर्वभूतसुहृदात्मा योगेश्वरचर्यायां नातिव्युत्पन्नमतिं स्मयमान इव विगतस्मय इदमाह. ॥ ८॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; बहु—अधिक; अबद्धम्—अनाप-शनाप; अपि—यद्यपि; भाषमाणम्—बोलता हुआ; नर-देव-अभिमानम्—राजा रहूगण, जो अपने को शासक मानता था; रजसा—रजोगुण से; तमसा—तथा तमोगुण से; अनुविद्धेन—बढ़ते हुए; मदेन—दम्भ (पागलपन) से; तिरस्कृत—डाँटा जाकर; अशेष—असंख्य; भगवत्-प्रिय-निकेतम्—ईश्वर के भक्त; पण्डित-मानिनम्—अपने को अत्यन्त पंडित मानते हुए; सः—वह; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान (जड़ भरत); ब्राह्मणः—परम योग्य ब्राह्मण; ब्रह्म-भूत—स्वरूपसिद्ध; सर्व-भूत-सुहृत्-आत्मा—जो समस्त प्राणियों का मित्र है; योग-ईश्वर—सिद्ध योगियों के; चर्यायाम्—आचरण में; न अति-व्युत्पन्न-मतिम्—राजा रहूगण को, जो वस्तुतः अनुभवी न था; स्मयमानः—कुछ-कुछ मुस्काते हुए; इव—सदृश; विगत-स्मयः—समस्त मिथ्या अभिमान से रहित; इदम्—यह; आह—कहा।

राजा रहूगण अपने को राजा समझने के कारण देहात्मबुद्धि से ग्रस्त था और भौतिक प्रकृति के रजो तथा तमो गुणों से प्रभावित था। दम्भ के कारण उसने जड़ भरत को अशोभनीय वचनों से दुत्कारा। जड़ भरत महान् भक्त और श्रीभगवान् के प्रिय धाम थे। यद्यपि राजा अपने आपको

बड़ा विद्वान मानता था, किन्तु वह न तो महान् भक्त की स्थिति से और न उसके गुणों से परिचित था। जड़ भरत तो साक्षात् भगवान् के परम धाम थे और अपने हृदय में ईश्वर के स्वरूप को धारण करते थे। वे समस्त प्राणियों के प्रिय मित्र थे और किसी प्रकार की देहात्म-बुद्धि को नहीं मानते थे। अत: वे मुस्काये और इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : इस श्लोक में देहात्मबुद्धिमय तथा देहात्मबुद्धि से परे (दिव्य) व्यक्ति का अन्तर बताया गया है। देहात्मबुद्धि के कारण राजा रहूगण अपने को राजा मानता था और अनेक अवांछनीय शब्दों में जड़ भरत को फटकार रहा था। किन्तु जड़ भरत दिव्य पद प्राप्त होने के कारण तनिक भी क्रुद्ध नहीं हुए, बल्कि वे मुस्कराये और राजा रहूगण को उपदेश देने लगे। परम वैष्णव सभी प्राणियों का सखा होता है, अत: वह अपने शत्रुओं का भी मित्र रहता है। वास्तव में वह किसी को शत्रु नहीं समझता—*सुहृद: सर्वदेहिनाम्।* कभी-कभी वैष्णव ऊपर से अभक्त पर रोष प्रकट करता है, किन्तु यह अभक्त के लिए लाभप्रद होता है। वैदिक साहित्य ऐसे अनेक उदाहरणों से भरा पड़ा है। एक बार नारद कुबेर के दो पुत्रों नलकूवर तथा मणिग्रीव पर क्रुद्ध हो गये तो उन्हें वृक्ष बना दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि बाद में श्रीकृष्ण ने उनका उद्धार किया। भक्त तो परम पद पर आसीन रहता है, अत: चाहे वह प्रसन्न हो या क्रुद्ध इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि प्रत्येक दशा में वह अपना आशीर्वाद देता है।

ब्राह्मण उवाच
त्वयोदितं व्यक्तमविप्रलब्धं
भर्तुः स मे स्याद्यदि वीर भारः ।
गन्तुर्यदि स्यादधिगम्यमध्वा
पीवेति राशौ न विदां प्रवादः ॥ ९॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणः उवाच—योग्य ब्राह्मण (जड़ भरत) बोला; त्वया—तुम्हारे द्वारा; उदितम्—कहा गया; व्यक्तम्—अत्यन्त स्पष्ट; अविप्रलब्धम्—विरोधाभास रहित; भर्तुः—ढोने वाले का, शरीर; सः—वह; मे—मेरा; स्यात्—ऐसा होता; यदि—यदि; वीर—हे वीर पुरुष (महाराज रहूगण); भारः—भार, बोझा; गन्तुः—चलने वाले का, अथवा शरीर; यदि—अगर; स्यात्—होना था; अधिगम्यम्—लक्ष्य; अध्वा—पथ; पीवा—अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट; इति—इस प्रकार; राशौ—शरीर में; न—नहीं; विदाम्—स्वरूपसिद्ध पुरुषों का; प्रवादः—वाद-विवाद का विषय।

महान् ब्राह्मण जड़ भरत ने कहा—हे राजन् तथा वीर, आपने जो कुछ व्यंग्य में कहा है, वह सचमुच ठीक है। ये मात्र उलाहनापूर्ण शब्द नहीं हैं, क्योंकि शरीर तो वाहक (ढोने वाला) है। शरीर द्वारा ढोया जाने वाला भार मेरा नहीं है, क्योंकि मैं तो आत्मा हूँ। आपके कथनों में तनिक

भी विरोधाभास नहीं है, क्योंकि मैं शरीर से भिन्न हूँ। मैं पालकी का ढोने वाला नहीं हूँ, वह तो शरीर है। निस्सन्देह, जैसा आपने संकेत किया है, पालकी ढोने में मैंने कोई श्रम नहीं किया है, क्योंकि मैं तो शरीर से पृथक् हूँ। आपने कहा कि मैं हृष्ट-पुष्ट नहीं हूँ। ये शब्द उस व्यक्ति के सर्वथा अनुरूप हैं, जो शरीर तथा आत्मा का अन्तर नहीं जानता। शरीर मोटा या दुबला हो सकता है, किन्तु कोई भी बुद्धिमान यह बात आत्मा के लिए नहीं कहेगा। जहाँ तक आत्मा का प्रश्न है मैं न तो मोटा हूँ न दुबला। अतः जब आप कहते हैं कि मैं हृष्ट-पुष्ट नहीं हूँ तो आप सही हैं और यदि इस यात्रा का बोझ तथा वहाँ तक जाने का मार्ग मेरे अपने होते तो मेरे लिए अनेक कठिनाइयाँ होतीं, किन्तु इनका सम्बन्ध मुझसे नहीं मेरे शरीर से है, अतः मुझे कोई कष्ट नहीं है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि आत्मज्ञानी कभी शरीर के सुख तथा दुख से विचलित नहीं होता। यह भौतिक शरीर आत्मा से सर्वथा पृथक् है और शरीर के सुख तथा दुख व्यर्थ हैं। तप-साधना का उद्देश्य शरीर तथा आत्मा के अन्तर एवं शरीर के सुख-दुख से आत्मा जिस तरह अप्रभावित रहता है, उसे पहचानना तथा समझना है। जड़ भरत वास्तव में आत्म-साक्षात्कार के धरातल पर स्थित थे। वे देहात्मबुद्धि से सर्वथा परे थे, अतः उन्होंने राजा को विश्वास दिलाया कि उनके शरीर के सम्बन्ध में कही गईं उसकी विरोधी बातें आत्मस्वरूप उन पर लागू नहीं होती हैं।

स्थौल्यं कार्श्यं व्याधय आधयश्च
क्षुत्तृड्भयं कलिरिच्छा जरा च ।
निद्रा रतिर्मन्युरहं मदः शुचो
देहेन जातस्य हि मे न सन्ति ॥ १० ॥

शब्दार्थ

स्थौल्यम्—स्थूलता, मोटापा; कार्श्यम्—कृशता, दुबलापन; व्याधयः—शरीर के कष्ट यथा रोग; आधयः—मानसिक कष्ट; च—तथा; क्षुत् तृट् भयम्—भूख, प्यास तथा भय; कलिः—कलह, दो व्यक्तियों के बीच झगड़ा; इच्छा—कामनाएँ; जरा—वृद्धावस्था; च—तथा; निद्रा—नींद; रतिः—इन्द्रियतृप्ति के लिए आसक्ति; मन्युः—क्रोध; अहम्—झूठी पहचान (देहात्म बोध); मदः—मोह; शुचः—शोक; देहेन—इस शरीर से; जातस्य—उत्पन्न हुए का; हि—निश्चय ही; मे—मुझमें; न—नहीं; सन्ति—हैं।

मोटापा, दुबलापन शारीरिक तथा मानसिक कष्ट, भूख, प्यास, भय, कलह, भौतिक सुख की कामना, बुढ़ापा, निद्रा, भौतिक पदार्थों में आसक्ति, क्रोध, शोक, मोह तथा देहाभिमान—ये सभी आत्मा के भौतिक आवरण के रूपान्तर हैं। जो व्यक्ति देहात्मबुद्धि में लीन रहता है, वही

इनसे प्रभावित होता है, किन्तु मैं तो समस्त प्रकार की देहात्मबुद्धि से मुक्त हूँ। फलत: मैं न तो मोटा हूँ, न पतला, न ही वह सब जो आपने मेरे सम्बन्ध में कहा है।

तात्पर्य : श्रील नरोत्तम दास ठाकुर ने गाया है—*देह-स्मृति नाहि यार, संसार-बन्धन काहाँ तार।* जो आध्यात्मिक रूप से उन्नत है उसका इस शरीर से या शरीर के कर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। जब मनुष्य यह समझ जाता है कि वह शरीर नहीं है, अत: वह न तो मोटा है, न पतला तो उसे उच्च स्तर का आत्म-साक्षात्कार होता है। किन्तु जब वह स्वरूपसिद्ध नहीं होता तो देहात्मबुद्धि उसे संसार में उलझा देती है। इस समय समूचा मानव समाज देहात्मबुद्धि के अधीन कार्यशील है, अत: शास्त्रों में इस युग के व्यक्तियों को *द्विपद पशु* कहा गया है। जो सभ्यता ऐसे पशुओं द्वारा संचालित हो उसमें भला कोई कैसे सुखी रह सकता है? हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन पतित समाज को आत्मज्ञान के धरातल तक उठाने के लिए प्रयत्नशील है। प्रत्येक प्राणी के लिए जड़ भरत की ही तरह तुरन्त स्वरूपसिद्ध हो सकना सम्भव नहीं है। फिर भी *श्रीमद्भागवत* (१.२.१८) में :

नष्टप्रायेष्वऽभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥

जितना ही हम देहात्मबुद्धि से दूर रहेंगे उतना ही हम भक्ति में स्थिर होंगे और उतना ही अधिक शान्त एवं सुखी हो सकेंगे। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य का कथन है कि जो भौतिकता से जितना अधिक प्रभावित होते हैं उनमें उतनी ही अधिक देहात्मबुद्धि होती है। ऐसे व्यक्ति विभिन्न शारीरिक लक्षणों के प्रति चिन्तित रहते हैं, किन्तु जो इनसे मुक्त होता है, वह भौतिकता में भी शरीर के बिना जीवित रहता है।

जीवन्मृतत्वं नियमेन राजन्
आद्यन्तवद्यद्विकृतस्य दृष्टम् ।
स्वस्वाम्यभावो ध्रुव ईड्य यत्र
तर्ह्युच्यतेऽसौ विधिकृत्ययोगः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

जीवत्-मृतत्वम्—जीवित रहकर भी मृत होने का गुण; नियमेन—प्रकृति के नियमों द्वारा; राजन्—हे राजा; आदि-अन्त-वत्—प्रत्येक पदार्थ का आदि और अन्त होता है; यत्—क्योंकि; विकृतस्य—विकारी वस्तु का, यथा शरीर का; दृष्टम्—देखी जाती है; स्व-स्वाम्य-भाव:—सेवक तथा स्वामी का भाव; ध्रुव:—अपरिवर्तनीय, स्थिर; ईड्य—हे पूज्य; यत्र—जहाँ; तर्हि—तभी; उच्यते—यह कहा जाता है; असौ—वह; विधि-कृत्य-योग:—आज्ञा तथा कर्तव्य का संयोग।

हे राजन्, आपने वृथा ही मुझ पर जीवित होने पर भी मृततुल्य होने का आरोप लगाया है। इस भौतिक सम्बन्ध में मैं इतना ही कहना चाहूँगा कि ऐसा सर्वत्र है, क्योंकि प्रत्येक भौतिक वस्तु का अपना आदि तथा अन्त होता है। आपका यह सोचना कि, "मैं राजा तथा स्वामी हूँ" और इस प्रकार आप द्वारा मुझे आज्ञा दिया जाना भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि ये पद अस्थायी हैं। आज आप राजा हैं और मैं आपका दास हूँ, किन्तु कल स्थिति बदल सकती है और आप मेरे दास हो सकते हैं, मैं आपका स्वामी। ये नियति द्वारा उत्पन्न अस्थायी परिस्थितियाँ हैं।

तात्पर्य : इस संसार में देहात्मबुद्धि ही सारे कष्टों का मूल कारण है। विशेष रूप से कलियुग में लोग इतने अशिक्षित हैं कि उनकी समझ में यह भी नहीं आता कि यह शरीर प्रत्येक क्षण बदल रहा है और अनन्तिम परिवर्तन ही मृत्यु कहलाता है। जो इस जन्म में राजा है, वही कर्मवश अगले जीवन में कुत्ता बन सकता है। आत्मा तो प्रकृति की शक्ति से उत्पन्न गहरी निद्रा में मग्न रहता है। वह एक प्रकार की अवस्था से दूसरे प्रकार की अवस्था में रख दिया जाता है। बिना आत्म-साक्षात्कार तथा ज्ञान के, बद्ध जीवन चलता रहता है और मनुष्य अपने को झूठे ही राजा, दास, कुत्ता या बिल्ली कहलाने का दावा करता है। ये परम व्यवस्था द्वारा लाये जाने वाले विभिन्न रूपान्तर हैं। मनुष्य को इन अस्थायी देहात्मबुद्धि की कल्पनाओं से भ्रमित नहीं होना चाहिए। वस्तुत: इस संसार में कोई भी स्वामी नहीं है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी प्रकृति के नियंत्रण में है और स्वयं प्रकृति पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अधीन हैं। अत: भगवान् श्रीकृष्ण ही परम स्वामी हैं। जैसाकि *चैतन्यचरितामृत* में कहा गया है—*एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य*—एकमात्र स्वामी तो श्रीकृष्ण हैं तथा अन्य सब उनके दास हैं। परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को भूलने के कारण ही संसार के सारे कष्ट उत्पन्न होते हैं।

विशेषबुद्धेर्विवरं मनाक्च
पश्याम यन्न व्यवहारतोऽन्यत् ।
क ईश्वरस्तत्र किमीशितव्यं
तथापि राजन्करवाम किं ते ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

विशेष-बुद्धेः—स्वामी तथा सेवक के भेद की बुद्धि का; विवरम्—क्षेत्र, प्रसार; मनाक्—किंचित; च—भी; पश्यामः—मैं देखता हूँ; यत्—जो; न—नहीं; व्यवहारतः—व्यवहार के सिवा; अन्यत्—अन्य; कः—कौन; ईश्वरः—स्वामी; तत्र—इसमें;

किम्—कौन; ईशितव्यम्—वश में किया जाये; तथापि—तो भी; राजन्—हे राजा; करवाम—मैं करूँ; किम्—क्या; ते—तुम्हारे लिए।

हे राजन्, यदि आप अब भी यह सोचते हैं कि आप राजा हैं और मैं आपका दास, तो आप आज्ञा दें और मुझे आपकी आज्ञा का पालन करना होगा। तो मैं यह कह सकता हूँ कि यह अन्तर क्षणिक है और व्यवहार या परम्परावश प्राप्त होता है। मुझे इसका अन्य कारण नहीं दिखाई पड़ता। उस दशा में कौन स्वामी है और कौन दास? प्रत्येक प्राणी प्रकृति के नियमों द्वारा प्रेरित होता है। अतः न तो कोई स्वामी है, न कोई दास। इतने पर भी यदि आप सोचते हैं कि मैं आपका दास हूँ और आप मेरे स्वामी हैं, तो मैं इसे स्वीकार कर लूँगा। कृपया आज्ञा दें। मैं आपकी क्या सेवा करूँ?

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है—*अहं मामेति*—"मैं यह शरीर हूँ और इस शारीरिक सम्बन्ध से ही वह मेरा स्वामी है, मेरा दास है, मेरी पत्नी है या मेरा पुत्र है।" ये सारे भाव शरीर के अनिवार्य परिवर्तन तथा प्रकृति की व्यवस्था के कारण अस्थिर हैं। हम समुद्र की तरंगों में तिरने वाले तिनकों के समान एकत्र हुए हैं, किन्तु सारे तिनके लहरों के नियमों के द्वारा अवश्य एक दूसरे से पृथक् होंगे। इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति संसार-सागर की लहरों में उतरा रहा है। भक्ति विनोद ठाकुर ने ठीक ही कहा है—

(मिछे) मायार वशे, याच्छ भेसे'।

खाच्छा हाबुडुबु, भाइ॥

(जीव) कृष्ण-दास, ए विश्वास,।

कर्ले त'आर दुःख नाइ॥

"सभी स्त्री तथा पुरुष प्रकृति की तरंगों में तिनकों के समान तैर रहे हैं। यदि वे समझ लें कि वे श्रीकृष्ण के शाश्वत सेवक हैं, तो उनका तैरना बन्द हो जाये।" जैसाकि *भगवद्गीता* (३.३७) में कहा गया है—*काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।* रजोगुण के कारण हमें अनेक वस्तुओं की इच्छा होती है और हमारी इच्छा या चिन्ता तथा परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार प्रकृति कोई एक शरीर प्रदान करती है। कुछ काल तक हम पात्रों की भाँति रंगमंच में किसी अन्य के नियंत्रण में स्वामी या सेवक की तरह कार्य (अभिनय) करते हैं। हमें चाहिए कि मनुष्य के रूप में इस प्रकार का अभिनय करना बन्द कर

दें। हमें चाहिए कि हम अपनी मूल स्वाभाविक स्थिति, कृष्णभावनामृत को प्राप्त करें। इस समय हमारा वास्तविक स्वामी तो प्रकृति है। *दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया* (*भगवद्गीता* ७.१४)। प्रकृति के सम्मोहन से हम सेवक तथा स्वामी बन रहे हैं, किन्तु यदि हम श्रीभगवान् तथा उनके शाश्वत सेवकों द्वारा अनुशासित होना स्वीकार कर लें तो यह क्षणिक अवस्था समाप्त हो जाये।

उन्मत्तमत्तजडवत्स्वसंस्थां
गतस्य मे वीर चिकित्सितेन ।
अर्थ: कियान्भवता शिक्षितेन
स्तब्धप्रमत्तस्य च पिष्टपेष: ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

उन्मत्त—पागलपन; मत्त—शराबी; जड-वत्—जड़ की भाँति; स्व-संस्थाम्—मेरी मूल स्वाभाविक स्थिति; गतस्य—प्राप्त किया हुआ; मे—मुझको; वीर—हे राजा; चिकित्सितेन—अपनी भर्त्सना से; अर्थ:—प्रयोजन; कियान्—कौन सा; भवता—आपके द्वारा; शिक्षितेन—शिक्षा दिये गए; स्तब्ध—जड़; प्रमत्तस्य—पागल मनुष्य का; च—भी; पिष्ट-पेष:—आटा पीसने जैसा।.

हे राजन्, आपने कहा "रे दुष्ट, जड़ तथा पागल! मैं तुम्हारी चिकित्सा करने जा रहा हूँ और तब तुम होश में आ जाओगे।" इस सम्बन्ध में मुझे कहना है कि यद्यपि मैं जड़, गूँगे तथा बहरे मनुष्य की भाँति रहता हूँ, किन्तु मैं सचमुच एक स्वरूप-सिद्ध व्यक्ति हूँ। आप मुझे दण्डित करके क्या पाएँगे? यदि आपका अनुमान ठीक है और मैं पागल हूँ तो आपका यह दंड एक मरे हुए घोड़े को पीटने जैसा होगा। उससे कोई लाभ नहीं होगा। जब पागल को दंडित किया जाता है, तो उसका पागलपन ठीक नहीं होता है।

तात्पर्य : इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति भौतिक अवस्था में अर्जित झूठे विशेष प्रभावों के अन्तर्गत पागल के समान आचरण करता है। उदाहरणार्थ, चोर यह जानता है कि चोरी अच्छा काम नहीं है और यह कि इसके बाद राजा या ईश्वर से दण्ड मिलता है तथा चोर पकड़े जाते हैं और पुलिस उन्हें दण्ड देती है, तो भी वह बारम्बार चोरी करता है। उसके मन में यह विचार घर किये रहता है कि चोरी करने से वह सुखी हो जाएगा। यह तो पागलपन का लक्षण है। बारम्बार दण्डित होकर भी चोर अपनी चोरी करने की आदत नहीं छोड़ पाता, अत: दण्ड वृथा है।

श्रीशुक उवाच

एतावदनुवादपरिभाषया प्रत्युदीर्य मुनिवर उपशमशील उपरतानात्म्यनिमित्त उपभोगेन कर्मारब्धं व्यपनयन्राजयानमपि तथोवाह. ॥ १४॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी आगे बोले; एतावत्—इतना; अनुवाद-परिभाषया—राजा द्वारा कहे गये शब्दों के दोहराने से; प्रत्युदीर्य—एक के बाद एक उत्तर देते हुए; मुनि-वरः—मुनिश्रेष्ठ जड़ भरत; उपशम-शीलः—परम शान्त; उपरत—चुप हो गये; अनात्म्य—आत्मा से सम्बन्ध न रखने वाली वस्तुएँ; निमित्तः—जिसका कारण (अज्ञान) जो आत्मा से सम्बन्धित नहीं है उससे अपनी पहचान स्थापित करना; उपभोगेन—कर्मफल को अंगीकार करने से; कर्म-आरब्धम्—इस समय मिलने वाला कर्मफल; व्यपनयन्—पूरा करते हुए; राज-यानम्—राजा की पालकी; अपि—पुनः; तथा—पूर्ववत्; उवाह—लेकर चलने लगे।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे महाराज परीक्षित, जब राजा रहूगण ने परम भक्त जड़ भरत को अपने कटु वचनों से मर्माहत किया, तो उस शान्त मुनिवर ने सब कुछ सहन कर लिया और समुचित उत्तर दिया। अज्ञानता का कारण देहात्मबुद्धि है, किन्तु जड़ भरत उससे प्रभावित नहीं थे। अपनी स्वाभाविक विनम्रता के कारण उन्होंने अपने को कभी भी महान् भक्त नहीं माना और अपने पूर्व कर्मफल को भोगना स्वीकार किया। सामान्य मनुष्य की भाँति उन्होंने सोचा कि वे पालकी ढोकर अपने पूर्व अपकृत्यों के फल को विनष्ट कर रहे हैं। ऐसा सोचकर वे पूर्ववत् पालकी लेकर चलने लगे।

तात्पर्य : ईश्वर का उच्च भक्त कभी यह नहीं सोचता कि वह परमहंस अथवा मुक्त पुरुष है। वह तो सदैव ईश्वर का विनीत दास बना रहता है। विपरीत परिस्थितियों में भी वह अपने पूर्वजन्म के कर्म-फलों को भोगना स्वीकार करता है। वह ईश्वर पर कभी दोषारोपण नहीं करता है कि उनके कारण उसे कष्ट उठाने पड़ रहे हैं। ये परम भक्त के लक्षण हैं—*तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्ष्यमाणः।* जब परिस्थितियाँ पलट जाती हैं, तो भक्त यही सोचता है कि पलटी हुई ये परिस्थितियां तो ईश्वर द्वारा प्रदत्त रियायतें हैं। वह कभी अपने स्वामी पर क्रुद्ध नहीं होता और उसका स्वामी उसे जो भी स्थिति प्रदान करता है उससे वह सदैव सन्तुष्ट रहता है। प्रत्येक दशा में वह अपनी भक्ति चालू रखता है। ऐसे पुरुष को निश्चित रूप से परम धाम लौटने की स्थिति प्राप्त होती है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१०.१४.८) में कहा गया है—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो

भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।

हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते

जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

“हे ईश्वर! जो आपकी अहैतुकी कृपा प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रतीक्षा करता है और आपको हृदय से सादर नमस्कार करता हुआ पूर्व-दुष्कर्मों के फलों को भोगता रहता है, वह अवश्य ही मुक्ति का भागी है क्योंकि यह उसका अधिकार बन जाता है।”

स चापि पाण्डवेय सिन्धुसौवीरपतिस्तत्त्वजिज्ञासायां सम्यक्श्रद्धयाधिकृताधिकारस्तद्धृदयग्रन्थिमोचनं द्विजवच आश्रुत्य बहुयोगग्रन्थसम्मतं त्वरयावरुह्य शिरसा पादमूलमुपसृतः क्षमापयन्विगतनृपदेवस्मय उवाच. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (महाराज रहूगण); च—भी; अपि—निस्संदेह; पाण्डवेय—हे पांडुवंश के श्रेष्ठ (महाराज परीक्षित); सिन्धु-सौवीर-पतिः—सिंधु तथा सौवीर नामक राज्यों का राजा; तत्त्व-जिज्ञासायाम्—परम सत्य के सम्बन्ध में जानने की इच्छा के बारे में; सम्यक्-श्रद्धया—इन्द्रियों तथा मन पर पूर्ण नियंत्रण रखने वाली श्रद्धा से; अधिकृत-अधिकारः—समुचित योग्यताप्राप्त; तत्—उस; हृदय-ग्रन्थि—हृदय के भीतर झूठे विचारों की गाँठ; मोचनम्—खोलने वाले; द्विज-वचः—ब्राह्मण (जड़ भरत) के शब्द; आश्रुत्य—सुनकर; बहु-योग-ग्रन्थ-सम्मतम्—समस्त योग तथा उनके ग्रन्थों द्वारा सम्मत (समर्थित); त्वरया—शीघ्रतापूर्वक; अवरुह्य—उतर कर (पालकी से); शिरसा—अपने सिर से; पाद-मूलम्—चरणकमल पर; उपसृतः—दण्डप्रणाम करके; क्षमापयन्—अपने अपराध के लिए क्षमा प्राप्त करके; विगत-नृप-देव-स्मयः—राजा होने का झूठा अभिमान तथा पूज्यभाव त्याग कर; उवाच—कहा।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे श्रेष्ठ पाण्डुवंशी (महाराज परीक्षित), सिंधु तथा सौवीर के राजा (रहूगण) की परम सत्य की चर्चाओं में श्रद्धा थी। इस प्रकार सुयोग्य होने के कारण, उसने जड़ भरत से वह दार्शनिक उपदेश सुना जिसकी संस्तुति सभी योग साधना के ग्रन्थ करते हैं और जिससे हृदय में पड़ी गाँठ ढीली पड़ती है। इस प्रकार उसका राज-मद नष्ट हो गया। वह तुरन्त पालकी से नीचे उतर आया और जड़ भरत के चरण-कमलों में अपना सिर रखकर पृथ्वी पर दण्डवत् गिर गया जिससे वह इस ब्राह्मण-श्रेष्ठ को कहे गये अपमानपूर्ण शब्दों के लिए क्षमा प्राप्त कर सके। तब उसने इस प्रकार प्रार्थना की।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (४.२) में भगवान् श्रीकृष्ण का कथन है—

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।

स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥

“इस प्रकार यह परम विज्ञान गुरु-परम्परा द्वारा प्राप्त किया गया और राजर्षियों ने इसे इसी विधि से जाना। किन्तु कालक्रम से वह परम्परा टूट गई जिससे यह विज्ञान लुप्तप्राय हो गया प्रतीत होता है।”

गुरु-परम्परा से राजा भी ऋषियों के तुल्य थे। पूर्वकाल में राजर्षि जीवन-दर्शन समझते थे और नागरिकों को उसी स्तर तक ऊपर उठने की शिक्षा प्रदान करना जानते थे। अर्थात् वे नागरिकों को जन्म तथा मृत्यु के बन्धन से छुटकारा दिलाना जानते थे। जब महाराज दशरथ अयोध्या में राज कर रहे थे तो एक बार महर्षि विश्वामित्र असुरों के वध के लिए उनसे रामचन्द्र तथा लक्ष्मण को जंगल ले जाने के लिए माँगने आये। जब विश्वामित्र मुनि महाराज दशरथ के दरबार में आये तो उनका स्वागत करने के लिए उन्होंने उनसे पूछा—*ऐहिष्टं यत् तत् पुनर्जन्मजयाय*—अर्थात् जन्म तथा मृत्यु के चक्र को जीतने के उनके प्रयत्न ठीक से चल रहे हैं न? वैदिक सभ्यता की सम्पूर्ण प्रक्रिया इसी तथ्य पर आधारित है। हमें ज्ञात होना चाहिए कि जन्म-मृत्यु के चक्र को किस प्रकार जीता जा सकता है। महाराज रहूगण को भी जीवन का लक्ष्य ज्ञात था, अत: जब जड़ भरत ने उनके समक्ष जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया, तो उन्होंने इसकी तत्काल प्रशंसा की। वैदिक समाज की यही आधार-शिला है। विद्वान, ब्राह्मण, सन्त तथा ऋषि वैदिक प्रयोजन से परिचित थे, अत: वे राजाओं को आम जनसमूह के कल्याण के लिए उपदेश देते थे। इस प्रकार उनके सहयोग से जनसमूह को लाभ पहुँचता था। इसलिए प्रत्येक वस्तु में सफलता प्राप्त होती थी। महाराज रहूगण को मनुष्य जीवन की महत्ता पूर्णरूपेण ज्ञात थी, अत: उन्हें अपने द्वारा जड़ भरत को कहे गये अपशब्दों का खेद था। वे तुरन्त पालकी से उतर कर जड़ भरत के पाँवों पर गिर पड़े, क्षमा माँगी और जीवन के महत्त्व के विषय में, जिसे ब्रह्म-जिज्ञासा कहते हैं, अधिक जानने की प्रार्थना की। इस समय के उच्च राज्याधिकारी जीवन-मूल्यों के विषय में सर्वथा अनजान हैं, अत: जब साधु-सन्त लोग वैदिक ज्ञान का प्रसार करना चाहते हैं, तो वे उनको नमस्कार तक नहीं करते हैं और आध्यात्मिक ज्ञान के प्रचार में अवरोध उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन राज-शासन स्वर्ग तुल्य था और वर्तमान शासन नरक तुल्य है।

कस्त्वं निगूढश्चरसि द्विजानां
बिभर्षि सूत्रं कतमोऽवधूतः ।
कस्यासि कुत्रत्य इहापि कस्मात्
क्षेमाय नश्चेदसि नोत शुक्लः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

कः त्वम्—आप कौन हैं; निगूढः—प्रच्छन्न; चरसि—इस संसार में विचरण कर रहे हैं; द्विजानाम्—ब्राह्मणों अथवा साधु पुरुषों में; बिभर्षि—आपने धारण कर रखा है; सूत्रम्—उपवीत, ब्राह्मणों द्वारा धारण किया जाने वाला जनेऊ; कतमः—कौन से;

अवधूतः—अत्यन्त महान् पुरुष; कस्य असि—आप किसके हैं (किसके पुत्र या शिष्य हैं); कुत्रत्यः—कहाँ से; इह अपि—यहाँ इस स्थान पर; कस्मात्—किस लिए; क्षेमाय—लाभार्थ; नः—हम सबों के; चेत्—यदि; असि—आप हैं; न उत—अथवा नहीं; शुक्लः—विशुद्ध-सत्त्व-स्वरूप (कपिल देव)।

राजा रहूगण बोले, हे ब्राह्मण, आप इस जगत में अत्यन्त प्रच्छन्न भाव से तथा अज्ञात रूप से विचरण करते प्रतीत हो रहे हैं। आप कौन हैं? क्या आप विद्वान ब्राह्मण तथा साधु पुरुष हैं? आपने जनेउ धारण कर रखा है। कहीं आप दत्तात्रेय आदि अवधूतों में से कोई विद्वान तो नहीं हैं? क्या मैं पूछ सकता हूँ कि आप किसके शिष्य हैं? आप कहाँ रहते हैं? आप इस स्थान पर क्यों आये हैं? कहीं आप हमारे कल्याण के लिए तो यहां नहीं आये? कृपया बतायें कि आप कौन हैं?

तात्पर्य : राजा रहूगण को जब पता चल गया कि जड़ भरत गुरु-परम्परा से अथवा जन्म से ब्राह्मण कुल के हैं, तो वह अधिक वैदिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए आतुर हो उठा। जैसाकि वेदों में उद्धृत है—*तद् विज्ञानार्थं स गुरुम् एवाभिगच्छेत्।* रहूगण जड़ भरत को अपना गुरु स्वीकार कर रहा था, किन्तु गुरु को चाहिए कि वह अपने पद को यज्ञोपवीत धारण करने से नहीं, वरन् अपने ब्रह्मज्ञान से सिद्ध करे। यह भी महत्त्वपूर्ण बात है कि रहूगण ने जड़ भरत से उनके कुल के सम्बन्ध में पूछा। कुल भी दो प्रकार के होते हैं—एक तो वंश परम्परा से प्राप्त तथा दूसरा गुरु-परम्परा से प्राप्त। इन दोनों ही प्रकारों से ज्ञान की प्राप्ति होती है। *शुक्लः* शब्द सात्विक गुण का सूचक है। किसी को आत्मज्ञान प्राप्त करना है, तो उसे प्रामाणिक ब्राह्मण-गुरु के पास जाना चाहिए, चाहे वह गुरु-परम्परा से हो अथवा विद्वान ब्राह्मणों के कुल से सम्बद्ध हो।

नाहं विशङ्के सुरराजवज्रा-
न्न त्र्यक्षशूलान्न यमस्य दण्डात् ।
नाग्न्यर्कसोमानिलवित्तपास्त्राच्
छङ्के भृशं ब्रह्मकुलावमानात् ॥ १७॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; विशङ्के—भयभीत हूँ; सुर-राज-वज्रात्—स्वर्ग के राजा इन्द्र के वज्र से; न—न तो; त्र्यक्ष-शूलात्—भगवान् शिव के त्रिशूल से; न—न तो; यमस्य—मृत्यु के अधीक्षक यमराज के; दण्डात्—दण्ड से; न—न तो; अग्नि—अग्नि के; अर्क—सूर्य के असह्य ताप के; सोम—चन्द्रमा के; अनिल—वायु के; वित्त-प—धन के स्वामी कुबेर के; अस्त्रात्—अस्त्रों से; शङ्के—भयभीत हूँ; भृशम्—अत्यधिक; ब्रह्म-कुल—ब्राह्मण-वृन्द के; अवमानात्—अपमान से।

महानुभाव, न तो मुझे इन्द्र के वज्र का भय है, न नागदंश का, न भगवान् शिव के त्रिशूल

का। मुझे न तो मृत्यु के अधीक्षक यमराज के दण्ड की परवाह है, न ही मैं अग्नि, तप्त सूर्य, चन्द्रमा, वायु अथवा कुबेर के अस्त्रों से भयभीत हूँ। परन्तु मैं ब्राह्मण के अपमान से डरता हूँ। मुझे इससे बहुत भय लगता है।

तात्पर्य : जब श्री चैतन्य महाप्रभु प्रयाग में दशाश्वमेध घाट पर रूप गोस्वामी को शिक्षा दे रहे थे तो उन्होंने वैष्णव-अपराध की गम्भीरता का स्पष्ट संकेत किया था। उन्होंने वैष्णव-अपराध की तुलना *हाती माता*—मत्त हाथी—से की थी। जब मत्त हाथी उद्यान में घुसता है, तो वह सारे फल-फूल उजाड़ देता है। इसी प्रकार से यदि कोई वैष्णव का अपमान करता है, तो वह अपनी आध्यात्मिक सम्पत्ति को नष्ट करता है। ब्राह्मण का अपमान अत्यन्त घातक होता है और यह महाराज रहूगण जानते थे। अत: उन्होंने अपने अपराध को स्पष्ट रूप से स्वीकार लिया। यद्यपि अनेक दारुण वस्तुएँ हैं—यथा वज्र, अग्नि, यमराज का दण्ड, भगवान् शिव का त्रिशूल आदि—किन्तु इनमें से एक भी जड़ भरत जैसे ब्राह्मण के प्रति अपराध के तुल्य दारुण नहीं है। अत: महाराज रहूगण तुरन्त ही पालकी से नीचे उतरे और ब्राह्मण जड़ भरत से क्षमा-याचना के लिए उनके चरणकमलों पर गिर गये।

तद्ब्रूह्यसङ्गो जडवन्निगूढ-
विज्ञानवीर्यो विचरस्यपार: ।
वचांसि योगग्रथितानि साधो
न न: क्षमन्ते मनसापि भेत्तुम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तत्—अत:; ब्रूहि—कृपया बतलाइये; असङ्ग:—संसार के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क न रखने वाला; जड-वत्—मूक तथा गूँगे मनुष्य की तरह लगने वाला; निगूढ—पूर्णतया प्रच्छन्न; विज्ञान-वीर्य:—आत्मतत्त्व के ज्ञान से पूर्ण तथा शक्तिशाली; विचरसि—घूम रहे हो; अपार:—अनन्त दिव्य महिमा वाला; वचांसि—उच्चरित शब्द; योग-ग्रथितानि—योग का समग्र अर्थ वहन करने वाला; साधो—हे साधु; न—नहीं; न:—हम सब; क्षमन्ते—समर्थ हैं; मनसा अपि—यहाँ तक कि मन से भी; भेत्तुम्—विश्लेषणात्मक विधि से समझना।

महाशय, ऐसा प्रतीत होता है कि आपका महत् आध्यात्मिक ज्ञान प्रच्छन्न है। आप समस्त भौतिक संसर्ग से रहित हैं और परमात्मा के विचार में पूर्णतया तल्लीन हैं। इसलिए आपका आध्यात्मिक ज्ञान अनन्त है। कृपया बलताने का कष्ट करें कि आप जड़वत् सर्वत्र क्यों घूम रहे हैं? हे साधु, आपने योगसम्मत शब्द कहे हैं, किन्तु हमारे लिए उनको समझ पाना सम्भव नहीं है। अत: कृपा करके विस्तार से कहें।

तात्पर्य : जड़ भरत जैसे साधु पुरुष सामान्य शब्द नहीं बोलते। वे जो कुछ भी कहते हैं वह योगियों तथा सिद्धों द्वारा स्वीकृत हुआ होता है। सामान्य व्यक्ति तथा साधु पुरुष के बीच यही अन्तर होता है। श्रोता को भी जड़ भरत जैसे सिद्ध पुरुष के वचन समझने के लिए प्रबुद्ध होना चाहिए। *भगवद्गीता* अर्जुन को ही सुनाई गई, अन्यों को नहीं। श्रीकृष्ण ने जान-बूझ कर आत्म-ज्ञान की शिक्षा के लिए अर्जुन को चुना, क्योंकि अर्जुन परम भक्त और विश्वासपात्र मित्र था। इसी प्रकार महापुरुष शूद्रों, वैश्यों, स्त्रियों या अज्ञानियों को उपेदश न देकर ज्ञानियों को ही देते हैं। कभी-कभी सामान्य व्यक्तियों को दर्शन का उपदेश देना घातक भी होता है, किन्तु श्री चैतन्य महाप्रभु ने कलियुग के पतित जीवों के लाभ हेतु हमें अमोघ साधन—हरे कृष्ण मंत्र का जप—प्रदान किया है। सामान्य जनसमूह यद्यपि शूद्र तथा इससे भी निम्न क्यों न ही, किन्तु हरे कृष्ण मंत्र के जप से वह शुद्ध हो सकता है। तब सभी व्यक्ति *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के दार्शनिक वचनों को समझ सकते हैं। इसीलिए हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन ने सामान्य जनसमूह के लिए हरे कृष्ण महामंत्र जप स्वीकार किया है। जब क्रमशः लोग शुद्ध हो जाते हैं, तो उन्हें *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के उपदेश की शिक्षा दी जाती है। स्त्री, शूद्र तथा द्विज-बन्धु जैसे भौतिकतावादी प्राणी आत्मोन्नति को नहीं समझ पाते तो भी उन्हें वैष्णव की शरण में जाना चाहिए, क्योंकि वह शूद्रों को भी भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवतम् का उच्च ज्ञान प्रदान करने की कला जानता है।

अहं च योगेश्वरमात्मतत्त्व-
विदां मुनीनां परमं गुरुं वै ।
प्रष्टुं प्रवृत्तः किमिहारणं तत्
साक्षाद्धरिं ज्ञानकलावतीर्णम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; च—तथा; योग-ईश्वरम्—योग के स्वामी; आत्म-तत्त्व-विदाम्—आत्मतत्त्वं के विज्ञान् से परिचित विद्वान; मुनीनाम्—मुनियों का; परमम्—श्रेष्ठ; गुरुम्—गुरु, उपदेशक; वै—निस्संदेह; प्रष्टुम्—पूछने हेतु; प्रवृत्तः—कार्यलग्न; किम्—क्या; इह—इस संसार में; अरणम्—सुरक्षित शरण; तत्—वह जो; साक्षात् हरिम्—प्रत्यक्ष श्रीभगवान्; ज्ञान-कला-अवतीर्णम्—जो सम्पूर्ण ज्ञान के अवतार के रूप में अंशधारी कपिल के रूप में अवतरित हुए हैं।

मैं आपको योग शक्ति का प्रतिष्ठित स्वामी मानता हूँ। आप आत्मज्ञान से भली भाँति परिचित हैं। आप साधुओं में परम पूज्य हैं और आप समस्त मानव समाज के कल्याण के लिए अवतरित हुए हैं। आप आत्मज्ञान प्रदान करने आये हैं और ईश्वर के अवतार तथा ज्ञान के अंश कपिलदेव

के साक्षात् प्रतिनिधि हैं। अतः मैं आपसे पूछ रहा हूँ,"हे गुरु, इस संसार में सर्वाधिक सुरक्षित आश्रय कौन सा है?"

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (६.४७) में श्रीकृष्ण ने पुष्टि की है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

"सब योगियों में भी जो योगी श्रद्धाभाव से मेरे परायण होकर दिव्य प्रेममय भक्तियोग के द्वारा मेरी सेवा करता है, वह मुझसे परम अंतरंग रूप में युक्त हैं और परम श्रेष्ठ है।"

जड़ भरत पूर्ण योगी थे। पूर्वजन्म में वे सम्राट भरत महाराज थे और अब वही साधुओं में महापुरुष और समस्त योग शक्तियों के स्वामी थे। यद्यपि जड़ भरत सामान्य जीव थे, किन्तु श्रीभगवान् कपिल देव से समस्त ज्ञान उन्हें विरासत में मिला था। अतः उन्हें साक्षात् श्रीभगवान् माना जा सकता था। इसकी पुष्टि श्रील विश्वनाथ चक्रवती ठाकुर ने गुरु की प्रार्थना में लिखे इस पद्य में की है—*साक्षाद्-धरित्वेन समस्त-शास्त्रैः।* जड़ भरत जैसा महापुरुष भगवान् के ही तुल्य है, क्योंकि अन्यों को ज्ञान प्रदान करने के कारण वह ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है। यहाँ पर जड़ भरत को भगवान् का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि माना गया है, क्योंकि वे परमेश्वर की ओर से ज्ञान प्रदान कर रहे थे। इसलिए महाराज रहूगण ने यह निश्चित किया कि उन्हीं से आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में क्यों न पूछा जाये—*तद् विज्ञानार्थं स गुरुम् एवाभिगच्छेत्*—यहाँ इस वैदिक आज्ञा की भी पुष्टि हो जाती है। यदि कोई ब्रह्म-जिज्ञासा (आत्मतत्त्व) जानने का इच्छुक है, तो उसे जड़ भरत जैसे गुरु के पास जाना चाहिए।

स वै भवाँल्लोकनिरीक्षणार्थ-
मव्यक्तलिङ्गो विचरत्यपि स्वित् ।
योगेश्वराणां गतिमन्धबुद्धिः
कथं विचक्षीत गृहानुबन्धः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सः—वह भगवान् या उनका अवतार श्रीकपिल देव; वै—निस्संदेह; भवान्—आप; लोक-निरीक्षण-अर्थम्—इस संसार के लोगों के चरित्रों का अध्ययन करने के लिए ही; अव्यक्त-लिङ्गः—अपनी वास्तविक पहचान प्रकट किए बिना; विचरति—इस संसार में भ्रमण कर रहे हैं; अपि स्वित्—क्या; योग-ईश्वराणाम्—समस्त योगियों का; गतिम्—वास्तविक आचरण, चरित्र; अन्ध-बुद्धिः—मोहग्रस्त होने से आत्मज्ञान के प्रति अन्धे; कथम्—किस प्रकार; विचक्षीत—जान सकता है; गृह-अनुबन्धः—गृहस्थ जीवन या सांसारिकता में आसक्त रहने वाला, मैं।

क्या यह सच नहीं कि आप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अवतार कपिल देव के साक्षात् प्रतिनिधि हैं? मनुष्यों की परीक्षा लेने और यह देखने के लिए कि वास्तव में कौन मनुष्य है और कौन नहीं, आपने अपने आपको गूँगे तथा बहरे मनुष्य की भाँति प्रस्तुत किया है। क्या आप संसार भर में इसलिए नहीं इस रूप में घूम रहे? मैं तो गृहस्थ जीवन तथा सांसारिक कार्यों में अत्यधिक आसक्त हूँ और आत्मज्ञान से रहित हूँ। इतने पर भी अब मैं आपसे प्रकाश पाने के लिए आपके समक्ष उपस्थित हूँ। आप बताएँ कि मैं किस प्रकार आत्मजीवन में प्रगति कर सकता हूँ?

तात्पर्य : यद्यपि महाराज रहूगण राजा की भूमिका निभा रहे थे, किन्तु जड़ भरत ने उन्हें बता दिया था कि वे न तो राजा थे, न ही जड़ भरत कोई गूँगा-बहरा पुरुष था। ऐसी उपाधियां आत्मा के आवरण मात्र हैं। सबको इस ज्ञान तक पहुँचना है। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.१३) में पुष्टि की गई है—*देहिनोऽस्मिन् यथा देहे,* प्रत्येक प्राणी शरीर के भीतर बन्द है। चूँकि शरीर कभी आत्मा के समरूप नहीं हो सकता, अत: शारीरिक कार्य मात्र मोहजनित हैं। जड़ भरत जैसे साधु की संगति से महाराज रहूगण को यह बोध हो सका कि राजा के रूप में उनके सारे कार्य मोहजनित हैं। इसलिए उसने जड़ भरत से ज्ञान प्राप्त करना स्वीकार किया और यही उसकी सिद्धि का शुभारम्भ था। *तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।* पुरुष को महाराज रहूगण की ही भाँति जड़ भरत के समान महापुरुष का सान्निध्य प्राप्त करके आत्मतत्त्व जानना चाहिए। *तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्* (*भागवत* ११.३.२१)। मनुष्य को चाहिए कि वह जड़ भरत जैसे गुरु के पास पहुँच कर मानव जीवन के उद्देश्य के सम्बन्ध में जिज्ञासा करे।

दृष्टः श्रमः कर्मत आत्मनो वै
भर्तुर्गन्तुर्भवतश्चानुमन्ये ।
यथासतोदानयनाद्यभावात्
समूल इष्टो व्यवहारमार्गः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

दृष्टः—प्रत्येक प्राणी का अनुभव है; श्रमः—श्रम, थकान; कर्मतः—कोई भी काम करने से; आत्मनः—आत्मा का; वै—निस्संदेह; भर्तुः—पालकी वाहक या कहार का; गन्तुः—चलने वाले का; भवतः—आपका; च—तथा; अनुमन्ये—मेरा अनुमान

है; यथा—जितना; असता—असत से, जो तथ्य नहीं हैं, उससे; उद—जल का; आनयन-आदि—लाने इत्यादि का कार्य; अभावात्—अभाव से; स-मूलः—साध्य पर आधारित; इष्टः—पूज्य; व्यवहार-मार्गः—प्रत्यक्ष ज्ञान-विषयक।

आपने कहा कि, "मैं श्रम करने में थकता नहीं हूँ" यद्यपि आत्मा देह से पृथक् है, किन्तु शारीरिक श्रम करने से थकान लगती है और ऐसा लगता है कि यह आत्मा की थकान है। जब आप पालकी ले जा रहे होते हैं, तो निश्चय ही आत्मा को भी कुछ श्रम करना पड़ता होगा। ऐसा मेरा अनुमान है। आपने यह भी कहा है कि स्वामी तथा सेवक का बाह्य आचरण वास्तविक नहीं है, किन्तु प्रत्यक्ष जगत में यह वास्तविकता भले न हो तो भी प्रत्यक्ष जगत पदार्थों से वस्तुएँ प्रभावित तो हो ही सकती हैं। ऐसा दृश्य तथा अनुभवगम्य है। अतः भले ही भौतिक कार्यकलाप अस्थायी हों, किन्तु उन्हें असत्य नहीं कहा जा सकता।

तात्पर्य : यह निर्विशेष मायावाद दर्शन तथा व्यावहारिक वैष्णव दर्शन की विवेचना है। मायावाद दर्शन इस प्रत्यक्ष जगत को असत्य मानता है, किन्तु वैष्णव दर्शनशास्त्री इसे स्वीकार नहीं करते। वे यह जानते हैं कि प्रत्यक्ष जगत क्षणिक है, किन्तु असत्य नहीं। रात्रि में दिखाई पड़ने वाला स्वप्न निश्चय ही असत्य होता है, किन्तु कभी-कभी स्वप्नद्रष्टा भयानक स्वप्न से अत्यधिक प्रभावित होता है। आत्मा की थकान सत्य नहीं, किन्तु जब तक मनुष्य मोहग्रस्त बना रहता है, तब तक वह ऐसे झूठे स्वप्नों से प्रभावित होता है। स्वप्न देखते समय वास्तविक तथ्यों से बचा नहीं जा सकता और बद्धजीव को अपने स्वप्न के कारण कष्ट भोगना पड़ता है। जल का घड़ा मिट्टी का बना होने से क्षणिक (नाशवान) है। वास्तव में जल का घड़ा (जल पात्र) नहीं होता, वह तो मात्र मिट्टी रहता है। किन्तु जब तक उसमें जल भरा जा सकता है, तब तक उसका सदुपयोग उस काम के लिए किया जा सकता है। इसे सरासर झूठ नहीं कह सकते।

स्थाल्यग्नितापात्पयसोऽभितापस्
तत्तापतस्तण्डुलगर्भरन्धिः ।
देहेन्द्रियास्वाशयसन्निकर्षात्
तत्संसृतिः पुरुषस्यानुरोधात् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

स्थालि—पकाने का पात्र; अग्नि-तापात्—अग्नि के ताप से; पयसः—पात्र में भरा दूध; अभितापः—तप्त हो जाता है; तत्-तापतः—उसके ताप से, दूध के गर्म होने से; तण्डुल-गर्भ-रन्धिः—दूध में रहने से चावल का भीतरी भाग पक जाता है; देह-

इन्द्रिय-अस्वाशय—इन्द्रियाँ; सन्निकर्षात्—से सम्बन्ध होने से; तत्-संसृतिः—श्रम तथा अन्य कष्टों का अनुभव; पुरुषस्य—आत्मा का; अनुरोधात्—शरीर, इन्द्रियाँ और मन से अत्यधिक आसक्ति के कारण अनुरोध से।.

राजा रहूगण आगे बोला—महाशय, आपने बताया कि शारीरिक स्थूलता तथा कृशता जैसी उपाधियाँ आत्मा के लक्षण नहीं हैं। यह सही नहीं है, क्योंकि सुख तथा दुख जैसी उपाधियों का अनुभव आत्मा को अवश्य होता है। आप दूध तथा चावल को एक पात्र में भर कर अग्नि के ऊपर रखें तो दूध तथा चावल क्रम से स्वतः तप्त होते हैं। इसी प्रकार शारीरिक सुखों तथा दुखों से हमारी इन्द्रियाँ, मन तथा आत्मा प्रभावित होते हैं। आत्मा को इस परिवेश से सर्वथा बाहर नहीं रखा जा सकता।

तात्पर्य : महाराज रहूगण ने जो तर्क प्रस्तुत किया वह व्यावहारिक दृष्टि से ठीक है, किन्तु यह देहात्मबुद्धि के प्रति आसक्ति से उत्पन्न होता है। यह कहा जा सकता है कि मोटरकार में बैठा व्यक्ति मोटरकार से सर्वथा पृथक् है, किन्तु यदि मोटरकार को कोई क्षति पहुँचती है, तो उसके स्वामी को अत्यधिक अपनेपन के कारण कष्ट पहुँचता है। वस्तुतः मोटरकार की क्षति का उसके स्वामी से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, किन्तु चूँकि इस स्वामी ने मोटरकार के साथ तादात्म्य बनाकर रखा है, अतः उसे सुख-दुख होता है। इस बद्धावस्था से बचने का उपाय है मोटरकार के प्रति अपनी आसक्ति को हटा लेना। तब उसके स्वामी को कार के क्षतिग्रस्त होने अथवा न होने से किसी प्रकार के शोक या हर्ष का अनुभव नहीं होगा। इसी प्रकार आत्मा का शरीर तथा इन्द्रियों से कोई प्रयोजन नहीं रहता, किन्तु अविद्या के कारण वह अपने को देह से अभिन्न मानकर शरीर के हर्ष-शोक से वैसा ही अनुभव करने लगता है।

शास्ताभिगोप्ता नृपतिः प्रजानां
यः किङ्करो वै न पिनष्टि पिष्टम् ।
स्वधर्ममाराधनमच्युतस्य
यदीहमानो विजहात्यघौघम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

शास्ता—शासक; अभिगोप्ता—नागरिकों का शुभचिन्तक; नृ-पतिः—राजा; प्रजानाम्—नागरिकों का; यः—जो; किङ्करः—आज्ञा पालने वाला; वै—निस्सन्देह; न—नहीं; पिनष्टि पिष्टम्—पहले से पिसे हुए को पीसता है; स्व-धर्मम्—अपना कर्तव्य; आराधनम्—उपासना; अच्युतस्य—श्रीभगवान् की; यत्—जो; ईहमानः—करते हुए; विजहाति—मुक्त कर दिये जाते हैं; अघ-ओघम्—सभी प्रकार के पाप तथा दोषपूर्ण कर्म से।.

महाशय, आपने बताया कि राजा तथा प्रजा अथवा स्वामी और सेवक के सम्बन्ध शाश्वत

नहीं होते। यद्यपि ऐसे सम्बन्ध अस्थायी हैं, तो भी जब कोई व्यक्ति राजा बनता है, तो उसका कर्तव्य नागरिकों पर शासन करना और नियमों की अवज्ञा करने वालों को दण्डित करना है। उनको दण्डित करके वह नागरिकों को राज्य के नियमों का पालन करने की शिक्षा देता है। पुनः आपने कहा है कि मूक तथा बधिर को दण्ड देना चर्वित को चर्वण करना या पिसी लुगदी को फिर से पीसना है, जिसका अभिप्राय यह हुआ कि इससे कोई लाभ नहीं होता। किन्तु यदि कोई परमेश्वर द्वारा आदिष्ट अपने कर्तव्यों के पालन में लगा रहता है, तो उसके पापकर्म निश्चय ही घट जाते हैं। अतः यदि किसी को बलपूर्वक उसके कर्तव्यों में लगा दिया जाये तो उसे लाभ पहुँचता है, क्योंकि इस प्रकार उसके समस्त पाप दूर हो सकते हैं।

तात्पर्य : महाराज रहूगण द्वारा प्रस्तुत किया गया यह तर्क अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। श्रील रूप गोस्वामी अपने ग्रन्थ *भक्तिरसामृतसिंधु* (१.२.४) में कहते हैं कि—*तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्*—जैसे भी हो सके, मनुष्य को कृष्णभावनामृत में लगना चाहिए। वस्तुतः प्रत्येक प्राणी श्रीकृष्ण का शाश्वत सेवक है, किन्तु विस्मृति के कारण वह माया का शाश्वत दास बन जाता है। जब तक वह माया की सेवा में लगा रहता है, उसे सुख नहीं मिल सकता। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन का उद्देश्य लोगों को कृष्णभक्ति में लगातार रखना है। इससे वे समस्त प्रकार के भौतिक कल्मषों एवं पापकर्मों से मुक्त हो सकेंगे। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.१०) में इस प्रकार की गई है—*वीत-राग-भय-क्रोधाः।* भौतिक कार्यों से विरक्त होने पर हमें भय तथा क्रोध से छुटकारा मिलेगा। तपस्या से मनुष्य शुद्ध होकर परम धाम वापस जाने का अधिकारी बन जाता है। राजा का कर्तव्य है कि अपनी प्रजा पर इस प्रकार शासन करे कि वह कृष्णचेतनायुक्त हो सके। यह सबों के लिए लाभप्रद होगा। दुर्भाग्यवश राजा या राष्ट्रपति जनता को ईश्वर की सेवा के बजाय इन्द्रियतृप्ति के लिए प्रेरित करते हैं। किन्तु यह किसी के लिए भी लाभप्रद नहीं। महाराज रहूगण ने अपनी पालकी ढोने के लिए जड़ भरत को लगाया था, जो राजा के लिए एक प्रकार की इन्द्रियतृप्ति ही था। किन्तु यदि कोई भगवान् की सेवा में पालकी उठाने वाला कहार बनता है, तो वह निश्चित रूप से लाभप्रद है। यदि नास्तिक सभ्यता में कोई राष्ट्रपति अपनी जनता को किसी प्रकार से भक्ति या कृष्णभावनामृत जगाने के प्रति उन्मुख कर सके तो वह नागरिकों की सर्वश्रेष्ठ सेवा करता है।

तन्मे भवान्नरदेवाभिमान-
मदेन तुच्छीकृतसत्तमस्य ।
कृषीष्ट मैत्रीदृशमार्तबन्धो
यथा तरे सदवध्यानमंहः ॥ २४॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; मे—मुझ पर; भवान्—आप; नर-देव-अभिमान-मदेन—राजा की देह पाने के अभिमान से उन्मत्त; तुच्छीकृत—अवज्ञा करने वाले; सत्-तमस्य—मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ आपका; कृषीष्ट—कृपया प्रदर्शित करें; मैत्री-दृशम्—मित्र के समान मुझ पर अपनी अहैतुकी कृपा; आर्त-बन्धो—दीनों का साथी; यथा—जिस प्रकार; तरे—मुक्त हो सकूँ; सत्-अवध्यानम्—आप जैसे महापुरुष की उपेक्षा करने के; अंहः—पाप से।

आपने जो भी कहा है उसमें मुझे विरोधाभास लगता है। हे दीनबन्धु, मैंने आपको अपमानित करके बहुत बड़ा अपराध किया है। राजा का शरीर धारण करने के कारण मैं झूठी प्रतिष्ठा से फूला हुआ था, अतः इसके लिए मैं अवश्य ही अपराधी हूँ। अब मेरी प्रार्थना है कि मुझ पर अहैतुक अनुग्रह की दृष्टि डालें। यदि आप ऐसा करें तो आपका अपमान करके मैंने जो पापकर्म किया है उससे मुक्त हो सकूँगा।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि वैष्णव के प्रति अपराध करने वाले के समस्त परमार्थिक कार्य नष्ट हो जाते हैं। वैष्णव-अपराध प्रमत्त हाथी द्वारा किये गये अपराध के तुल्य है। प्रमत्त हाथी अत्यन्त श्रम से तैयार किये गये सारे उद्यान को विनष्ट कर सकता है। मनुष्य को भक्ति का कितना ही उच्च पद क्यों न प्राप्त हो, किन्तु यदि वह किसी प्रकार वैष्णव की अवमानना करता है, तो सारी व्यवस्था बिखर जाती है। राजा रहूगण ने अनजाने जड़ भरत की अवमानना की, किन्तु जब उसे ज्ञान हुआ तो उसने क्षमा-याचना कर ली। यही वह विधि है, जिसके द्वारा वैष्णव-अपराध से छूटा जा सकता है। कृष्ण अत्यन्त सरल एवं स्वभाव से कृपालु हैं। यदि कोई किसी वैष्णव के चरणकमलों पर अपराध करता है, तो मनुष्य को तुरन्त उससे क्षमा माँग लेनी चाहिए जिससे आत्म-प्रगति न रुके।

न विक्रिया विश्वसुहृत्सखस्य
साम्येन वीताभिमतेस्तवापि ।
महद्विमानात्स्वकृताद्धि मादृङ्
नङ्क्ष्यत्यदूरादपि शूलपाणिः ॥ २॥

शब्दार्थ

न—नहीं; विक्रिया—भौतिक परिवर्तन; विश्व-सुहृत्—प्रत्येक प्राणी के मित्र, श्रीभगवान् का; सखस्य—मित्र (आप) का; साम्येन—आपके मानसिक सन्तुलन के कारण; वीत-अभिमतेः—जिसने जीवन के देहात्मबोध को सर्वथा त्याग दिया है; तव—तुम्हारा; अपि—निस्सन्देह; महत्-विमानात्—महान् भक्त का अपराध करने से; स्व-कृतात्—मेरे अपने कार्य से; हि—निश्चित रूप से; मादृक्—मुझ जैसा व्यक्ति; नङ्क्ष्यति—विनष्ट हो जाएगा; अदूरात्—शीघ्र ही; अपि—निश्चय ही; शूल-पाणिः—भगवान् शिव (शूलपाणि) के समान शक्तिशाली होकर भी।

हे स्वामी, आप समस्त जीवात्माओं के मित्र पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के सखा हैं। अतः आप सबों के लिए समान हैं और देहात्म-बुद्धि से सर्वथा मुक्त हैं। यद्यपि मैंने आपकी अवमानना करके अपराध किया है, किन्तु मैं जानता हूँ कि मेरे इस तिरस्कार से आपको कोई हानि या लाभ नहीं होने वाला है। आप दृढ़संकल्प हैं जबकि मैं अपराधी हूँ। इसलिए भले ही मैं भगवान् शिव के समान बलवान् क्यों न होऊँ, किन्तु एक वैष्णव के चरणकमल पर अपराध करने के कारण मैं तुरन्त ही नष्ट हो जाऊँगा।

तात्पर्य : महाराज रहूगण अत्यन्त बुद्धिमान थे और वैष्णव के प्रति किये गये अपराध के अशुभ फलों से भली-भाँति परिचित थे। अतः वे जड़ भरत द्वारा क्षमा किये जाने के लिए अत्यन्त व्यग्र थे। प्रत्येक मनुष्य को चाहिए महाराज रहूगण के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए वैष्णव के चरणकमल पर अपराध न करे। श्रील वृन्दावन दास ठाकुर *चैतन्यभागवत* (मध्य १३) में कहते हैं—

शूलपाणि-सम यदि भक्त-निन्दा करे।

भागवत प्रमाण—तथापि शीघ्र मरे॥

हेन वैष्णवेरे निन्दे सर्वज्ञ हइ।

से जनेर अधः-पात सर्व-शास्त्रे कइ॥

"यदि कोई वैष्णव की निन्दा करता है, तो वह त्रिशूलधारी भगवान् शिव के समान शक्तिशाली होने पर भी अपने आत्म-पद से गिर जायेगा। यह समस्त वैदिक शास्त्रों का निर्णय है।" उन्होंने *चैतन्यभागवत* (मध्य २२) में यह भी कहा है—

वैष्णवेर निन्दा करिबेक यार गण।

तार रक्षा सामर्थ्य नाहिक कोन जन॥

शूलपाणि-सम यदि वैष्णवेरे निन्दे।

तथापिह नाश याय—कहे शास्त्र-वृन्दे॥

इहा ना मानिया ये सुजन निन्दा करे।

जन्मे जन्मे से पापिष्ठ दैव-दोषे मरे॥

''जो वैष्णव की निन्दा करता है उसे कोई नहीं बचा सकता। चाहे वह भगवान् शिव के समान बलशाली क्यों न हो, यदि वह वैष्णव की निन्दा करता है, तो उसका विनाश होना ही है। यही समस्त शास्त्रों का निर्णय है। यदि कोई शास्त्रों के निर्णय की अवहेलना करके वैष्णव की निन्दा करता है, तो उसका विनाश निश्चित है। यही समस्त शास्त्रों का निर्णय है। यदि कोई शास्त्रों के निर्णय की अवहेलना करके वैष्णव की निन्दा करता है, तो इसके कारण वह जन्म-जन्मांतर तक कष्ट भोगता है।''

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के पंचम स्कंध के अन्तर्गत ''जड़ भरत तथा महाराज रहूगण की वार्ता'' नामक दसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter ग्यारह

जड़ भरत द्वारा राजा रहूगण को शिक्षा

इस अध्याय में ब्राह्मण जड़ भरत द्वारा रहूगण को दी गई शिक्षाएँ विस्तार से दी गई हैं। वे राजा से कहते हैं, ''आप अधिक अनुभवी नहीं हैं, तो भी आप विद्वान होने का दिखावा कर रहे हैं क्योंकि आप अपने ज्ञान से अतिगर्वित हैं। वास्तव में जो व्यक्ति दिव्य पद पर स्थित होता है, वह उस सामाजिक व्यवहार की परवाह नहीं करता जिससे आध्यात्मिक प्रगति में बाधा पहुँचती है। सामाजिक व्यवहार का क्षेत्र कर्मकाण्ड अर्थात् भौतिक लाभ है। ऐसे कार्यों से कोई आत्म-उन्नति नहीं कर सकता। बद्धजीव सदैव ही प्रकृति के गुणों से पराजित होता रहता है, जिसके फलस्वरूप से उसका सरोकार भौतिक लाभों, शुभ तथा अशुभ वस्तुओं से ही रहता है। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि इन्द्रियों का राजा मन जन्म-जन्मांतर भौतिक कार्यों में ही व्यस्त रहता है। अत: वह लगातार विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त करता है और दुखदायक भौतिक स्थितियों से कष्ट उठाता है। इसी मानसिक कूट-रचना के आधार पर सामाजिक व्यवहार को सूत्रबद्ध किया गया है। यदि मनुष्य का मन इन कार्यों में लिप्त रहता है, तो वह निश्चित रूप में इसी संसार में बँधा रहता है। विभिन्न मतों के अनुसार ग्यारह या बारह प्रकार की मानसिक गति-विधियाँ होती हैं, जो सैकड़ों हजारों रूपों में रूपान्तरित की जा सकती हैं। जो व्यक्ति कृष्णभावनाभावित नहीं है, वह इन मानसिक कूट रचनाओं के वशीभूत होता है और अन्त में

माया द्वारा नियंत्रित होने लगता है। जो जीव मानसिक कूट-रचनाओं से मुक्त है, वह भौतिक कल्मष से रहित शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है। जीव दो प्रकार के होते हैं—जीवात्मा तथा परमात्मा। जो परम-आत्मा है, वही भगवान् वासुदेव कृष्ण हैं। वही सबों के हृदयों में प्रविष्ट होकर उनके विभिन्न कार्यों को नियंत्रित करता है। इसीलिए वह समस्त जीवात्माओं का परम आश्रय है। मनुष्य को परम आत्मा तथा उसके साथ अपने पारस्परिक सम्बन्ध का तभी बोध होता है जब वह सामान्य व्यक्तियों की अवांछित संगति से पूर्णतया विमुक्त हो जाता है। इस प्रकार से वह अविद्या के सागर को पार करने के लिए पात्र बन सकता है। बहिरंगा शक्ति के प्रति आसक्ति ही बन्धन का मूल कारण है। मनुष्य को चाहिए कि मानसिक कूट-रचनाओं पर विजय प्राप्त करे, क्योंकि जब तक ऐसा नहीं किया जाता, तब तक वह भौतिक चिन्ताओं से मुक्त नहीं हो सकता। यद्यपि मानसिक कूट-रचनाओं का कोई महत्त्व नहीं है, तो भी उनका प्रभाव विलक्षण होता है। मन पर नियंत्रण रखने में ढील नहीं बरतनी चाहिए। यदि ढील बरती जाती है, तो मन इतना प्रबल हो जाता है कि मनुष्य अपनी सही स्थिति तुरन्त भूल जाता है। वह यह भूल जाता है कि वह कृष्ण का शाश्वत दास है और उसका एकमात्र कर्तव्य कृष्ण-भक्ति (कृष्णभावनामृत) है। माया के वश में होकर वह इन्द्रिय-सुखों का ही सेवन करने लगता है। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् तथा उसके भक्त की सेवा रूपी खड्ग से मानसिक कूट-रचनाओं का अन्त कर दे (*गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज*)।

ब्राह्मण उवाच

अकोविदः कोविदवादवादान्
वदस्यथो नातिविदां वरिष्ठः ।
न सूरयो हि व्यवहारमेनं
तत्त्वावमर्शेन सहामनन्ति ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणः उवाच—ब्राह्मण ने कहा; अकोविदः—अनुभवहीन; कोविद-वाद-वादान्—अनुभवी व्यक्तियों के द्वारा प्रयुक्त शब्द; वदसि—तुम बोल रहे हो; अथो—अतः; न—नहीं; अति-विदाम्—अत्यन्त अनुभवी व्यक्तियों का; वरिष्ठः—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण; न—नहीं; सूरयः—ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति; हि—निस्सन्देह; व्यवहारम्—सांसारिक तथा सामाजिक आचरण (कर्म); एनम्—यह; तत्त्व—सत्य का; अवमर्शेन—बुद्धि द्वारा उत्तम न्याय के; सह—साथ; आमनन्ति—विवेचना करते हैं।

ब्राह्मण जड़ भरत ने कहा—“हे राजन्, यद्यपि तुम थोड़ा भी अनुभवी नहीं हो तो भी तुम अत्यन्त अनुभवी व्यक्ति के समान बोलने का प्रयत्न कर रहे हो। अतः तुम्हें अनुभवी व्यक्ति नहीं

माना जा सकता। अनुभवी व्यक्ति कभी भी तुम्हारे समान स्वामी तथा सेवक अथवा भौतिक सुखों और दुखों के सम्बन्ध में इस प्रकार से नहीं बोलता। ये तो मात्र बाह्य कार्य हैं। कोई भी महान् अनुभवी व्यक्ति परम सत्य को जानते हुए इस प्रकार बातें नहीं करता।''

तात्पर्य : कृष्ण ने भी अर्जुन को इसी प्रकार प्रताड़ित किया था। *अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे*—''पांडित्यपूर्ण वचन बोलता हुआ भी तू उनके लिए शोक कर रहा है जो शोक के योग्य नहीं हैं'' (*भगवद्गीता* २.११)। इसी प्रकार सामान्य रूप से ९९.९ प्रतिशत लोग अत्यन्त अनुभवी परामर्शदाताओं की भाँति बातें करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वे वास्तव में आत्मज्ञान में शून्य होते हैं, अत: बच्चों के समान उट-पटाँग बोलते हैं। फलत: उनके वचनों को महत्ता नहीं प्रदान की जा सकती। मनुष्य को श्रीकृष्ण या उसके भक्त से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। यदि कोई इस अनुभव अर्थात् आत्मज्ञान के आधार पर बोलता है, तो उसके शब्द मूल्यवान होते हैं। इस समय सम्पूर्ण जगत मूर्खों से भरा पड़ा है। *भगवद्गीता* में ऐसे व्यक्तियों को *मूढ* कहा गया है। वे मानव समाज पर आधिपत्य जमाये रहने का प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु वे आत्मज्ञान से रहित हैं, अत: समूचा संसार अस्त-व्यस्त दशा में है। इन दयनीय परिस्थितियों से उबरने के लिए उन्हें कृष्णभावनाभावित होना चाहिए और जड़ भरत, भगवान् कृष्ण तथा कपिल देव जैसे महापुरुषों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। भौतिक जीवन की समस्याओं को हल करने का यही एकमात्र उपाय है।

तथैव राजन्नुरुगार्हमेध-
वितानविद्योरुविजृम्भितेषु ।
न वेदवादेषु हि तत्त्ववाद:
प्रायेण शुद्धो नु चकास्ति साधु: ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तथा—अत:; एव—निस्संदेह; राजन्—हे राजन्; उरु-गार्ह-मेध—गृहस्थ जीवन से संबद्ध अनुष्ठान; वितान-विद्या—विस्तारशील ज्ञान; उरु—अत्यधिक; विजृम्भितेषु—रुचि रखने वालों में; न—नहीं; वेद-वादेषु—वेद वाक्य बोलने वाले; हि—निस्सन्देह; तत्त्व-वाद:—आत्म-तत्त्व; प्रायेण—प्राय:; शुद्ध:—समस्त कल्मषों से रहित, विशुद्ध; नु—निस्संदेह; चकास्ति—प्रतीत होते हैं; साधु:—भक्ति को प्राप्त पुरुष।

हे राजन्, स्वामी तथा सेवक, राजा तथा प्रजा इत्यादि के प्रसंग तो भौतिक विषय हैं। वेदों में प्रतिपादित भौतिक विषयों में रुचि रखने वाले व्यक्ति यज्ञों को करके तथा भौतिक विषयों के प्रति श्रद्धालु बने रहने पर तुले रहते हैं। ऐसे लोगों को कभी आत्म-तत्त्व प्रकट नहीं हो पाता।

तात्पर्य : इस श्लोक में दो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं—*वेद-वाद* तथा *तत्त्व-वाद*। *भगवद्गीता* अनुसार (२.४२-४३), जो लोग वेदों में ही आसक्त हैं और वेदों या वेदान्तसूत्र का उद्देश्य नहीं समझते वे *वेदवादरता:* हैं।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चित:।

वेदवादरता: पार्थ नान्यदस्तीति वादिन:॥

कामात्मान: स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥

''अल्पबुद्धि मनुष्य वेद के उन अलंकारिक वचनों में बहुत आसक्त रहते हैं जिनमें स्वर्ग, उच्चकुल, सत्ता और भोगों को देने वाले नाना प्रकार के सकाम कर्मों की संस्तुति है। भोग और ऐश्वर्य की अभिलाषा के कारण ही वे ऐसा कहते हैं कि इससे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है।''

वेदवाद अनुयायी सामान्य रूप से कर्मकाण्ड के प्रति रुचि रखते हैं। इससे उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होती है। वे प्राय: चातुर्मास्य पद्धति का अभ्यास करते हैं। *अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य-याजिन: सुकृतं भवति*—जो चातुर्मास्य-यज्ञ करता है, वह पवित्र हो जाता है और पवित्र होने पर वह स्वर्ग को जा सकता है (*ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्व-स्था:।* वेदों के कुछ अनुयायी कर्मकाण्ड का पालन करते हैं जिससे वे जीवन के उच्चतर स्तर को प्राप्त हों। किन्तु अन्यों का तर्क है कि वेदों का उद्देश्य यह नहीं है। *तद् यथैवेह कर्म-जित: लोक: क्षीयते एवम् एवम् उत्र पुण्य-जित: लोक: क्षीयते।* इस संसार में उच्च कुल, उच्च शिक्षा, रूप अथवा धन के कारण कोई भी पुरुष उच्च बन सकता है। ये पूर्वजन्म में किये गये पुण्यों के उपहार हैं; किन्तु जब पुण्यकर्मों का भण्डार समाप्त हो जाता है, तब ये भी समाप्त हो जाते हैं। यदि हम पुण्यकर्मों में आसक्त रहें तो अगले जीवन में हमें ये सारी सुविधाएँ मिल सकती हैं और हम स्वर्ग लोक में जन्म ले सकते हैं। किन्तु इन सबका अन्त होना है—*क्षीणे पुण्ये मर्त्य-लोकं विशन्ति* (*भगवद्गीता* ९.२१)—पुण्यकर्मों के क्षीण होने पर पुन: मर्त्यलोक में प्रवेश करना पड़ता है। वैदिक आदेशों के अनुसार वेदों का मुख्य उद्देश्य पुण्यकर्म करना नहीं है। वेदों का मुख्य उद्देश्य तो *भगवद्गीता* में विवेचित है। *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य::*—वेदों का मुख्य उद्देश्य तो भगवान् श्रीकृष्ण को जानना है। जो वेदवादी हैं, वे वस्तुत: परम ज्ञानी नहीं हैं और ज्ञान-काण्ड (ब्रह्मवादी) के अनुयायी भी पूर्ण नहीं हैं।

किन्तु जब कोई उपासना के धरातल पर पहुँचकर भगवान् की उपासना अंगीकार कर लेता है, तो वह पूर्ण हो जाता है (*आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्*)। वेदों में विभिन्न देवताओं की उपासना तथा यज्ञों के अनुष्ठान का उल्लेख तो है, किन्तु ऐसी उपासना निम्नकोटि की है क्योंकि उपासकों को ज्ञात नहीं है कि परम लक्ष्य तो विष्णु हैं (*न ते विदुः स्वार्थ-गतिं हि विष्णुम्*)। जब कोई विष्णु-आराधना अथवा भक्तियोग के धरातल पर आता है, तो उसे सिद्धि प्राप्त होती है। अन्यथा, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, वह तत्त्ववादी न होकर वेदवादी (वेदों का अन्धा अनुयायी) होता है। वेदवादी तब तक भौतिक कल्मष से शुद्ध नहीं हो पाता जब तक वह तत्त्ववादी नहीं बन जाता, अर्थात् तत्त्व यानी परम सत्य को नहीं जान लेता। तत्त्व भी तीन प्रकार से अनुभव किया जाता है—*ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते।* तत्त्व का ज्ञान होने पर भी भगवान्, विष्णु और उनके अंशों की उपासना करते रहना चाहिए अन्यथा मनुष्य इतने पर भी अपूर्ण रहेगा। *बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते*—अनेक जन्मों के पश्चात् वास्तविक ज्ञानी कृष्ण की शरण में जाता है। निष्कर्ष यह निकला कि अल्पज्ञानी मनुष्य भगवान्, ब्रह्म या परमात्मा को नहीं समझ सकता, किन्तु वेदों का अध्ययन कर लेने के बाद तथा परम सत्य श्रीभगवान् का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर मनुष्य पूर्णज्ञान के पद पर माना जाता है।

न तस्य तत्त्वग्रहणाय साक्षाद्
वरीयसीरपि वाचः समासन् ।
स्वप्ने निरुक्त्या गृहमेधिसौख्यं
न यस्य हेयानुमितं स्वयं स्यात् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तस्य—उसका (वेदपाठी का); तत्त्व-ग्रहणाय—वैदिक ज्ञान के वास्तविक प्रयोजन को स्वीकारने के लिए; साक्षात्—प्रत्यक्ष; वरीयसीः—परम आदरणीय; अपि—यद्यपि; वाचः—वेद वाक्य; समासन्—अत्यधिक हो गया; स्वप्ने—स्वप्न में; निरुक्त्या—उदाहरण से; गृह-मेधि-सौख्यम्—इस जगत के भीतर सुख; न—नहीं; यस्य—जिसका; हेय-अनुमितम्—तुच्छ जान पड़ने से; स्वयम्—स्वतः; स्यात्—होवे।

स्वप्न मनुष्य को स्वतः झूठा और व्यर्थ लगने लगता है। इसी प्रकार उसे इस लोक में अथवा स्वर्ग में, इसी जीवन में अथवा अगले जन्म में, भौतिक सुख की कामना तुच्छ प्रतीत होने लगती है। जब उसे इसका बोध हो जाता है, तो श्रेष्ठ साधन होने पर भी वेद सत्य का प्रत्यक्ष ज्ञान कराने में अपर्याप्त लगने लगते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (२.४) में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया कि वह प्रकृति के तीन गुणों

से प्रेरित भौतिक कार्यकलापों के प्रति अतीत (दिव्य) बने (*त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन*)। वैदिक अध्ययन का उद्देश्य प्रकृति के तीन गुणों के विषयों (कार्यों) का लंघन कर जाना है। निस्संदेह, इस संसार में सात्त्विक गुण को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है और सत्त्व गुण पद प्राप्त होने पर मनुष्य स्वर्ग को जा सकता है। किन्तु यह कोई सिद्धि नहीं है। मनुष्य को तो यह निष्कर्ष तक पहुँच जाना चाहिए कि सत्त्वगुण पद भी उत्तम नहीं है। स्वप्न में भले ही कोई यह देखे कि वह राजा बन गया है, उसके स्त्री, संतान इत्यादि हैं, किन्तु स्वप्न के अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि यह सब मिथ्या है। इसी प्रकार आत्ममोक्ष चाहने वाले पुरुष के लिए समस्त भौतिक सुख अवांछनीय हैं। जब तक मनुष्य इस निष्कर्ष तक नहीं पहुँच जाता कि किसी भी भौतिक सुख से उसे कुछ सरोकार नहीं, तब तक उसे तत्त्व-ज्ञान नहीं हो सकता। सभी कर्मी, ज्ञानी तथा योगी एक न एक भौतिक उन्नति चाहते हैं। कर्मी शारीरिक सुविधा के लिए अहर्निश कार्य करते हैं, जबकि ज्ञानी लोग यही चिन्तन करते रहते हैं कि कर्म के बन्धन से वे किस प्रकार छूटकर ब्रह्मतेज में मिल जाएं। योगीजन भौतिक सिद्धि और जादुई शक्ति प्राप्त करने के पीछे पड़े रहते हैं। ये सभी लोग भौतिक दृष्टि से पूर्ण बनने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु भक्त अत्यन्त सरलतापूर्वक भक्ति के निर्गुण पद को प्राप्त होता है; फलतः भक्त के लिए कर्म, ज्ञान तथा योग के फल तुच्छ हैं। इसलिए केवल भक्त ही तत्त्व-ज्ञान को प्राप्त होता है, अन्य कोई नहीं। निस्संदेह, ज्ञानी का पद कर्मी से श्रेष्ठ है, किन्तु यह पद भी अपर्याप्त है। ज्ञानी को वास्तव में मुक्त होना चाहिए और मुक्ति के बाद ही वह भक्ति कर सकता है (*मद्भक्तिं लभते पराम्*)।

यावन्मनो रजसा पूरुषस्य
सत्त्वेन वा तमसा वानुरुद्धम् ।
चेतोभिराकूतिभिरातनोति
निरङ्कुशं कुशलं चेतरं वा ॥ ४॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; मनः—मन; रजसा—रजोगुण से; पूरुषस्य—जीवात्मा का; सत्त्वेन—सतोगुण से; वा—अथवा; तमसा—तमोगुण से; वा—अथवा; अनुरुद्धम्—नियंत्रित; चेतोभिः—ज्ञानेन्द्रियों से; आकूतिभिः—कर्मेन्द्रियों से; आतनोति—फैलाता है; निरङ्कुशम्—हाथी के समान स्वच्छन्द (जिसको अंकुश से वश में लिया जाता है); कुशलम्—कुशलता, कल्याण; च—भी; इतरम्—कुशलता के अतिरिक्त अर्थात् पापकर्म; वा—अथवा।

जब तक जीवात्मा का मन तीन गुणों (सतो, रजो तथा तमोगुणों) से दूषित रहता है, तब तक वह स्वच्छन्द, अनियंत्रित हाथी के समान रहता है। वह इन्द्रियों का उपयोग करके शुभ तथा

अशुभ कर्मों के क्षेत्र को केवल बृहत्तर बनाता है। परिणाम यह निकलता है कि जीवात्मा इस संसार में भौतिक कर्मों के कारण मात्र सुख तथा दुख का अनुभव करता है।

तात्पर्य : *चैतन्यचरितामृत* में बतलाया गया है कि शुभ तथा अशुभ कर्म दोनों ही भक्ति के सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं। भक्ति का अर्थ है मुक्ति—भौतिक बन्धन से छुटकारा, किन्तु शुभ तथा अशुभ कर्मों से इस भौतिक संसार में उलझे रहना पड़ता है। यदि वेदों में वर्णित शुभाशुभ कर्मों के प्रति मन आकृष्ट हो जाता है, तो मनुष्य सदैव अंधकार में रहता है; उसे परम पद कभी नहीं प्राप्त हो पाता। चेतना को तमो से रजो अथवा रजो को सतो में बदलते रहने से समस्या का समाधान नहीं होता। जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.२६) में कहा गया है—*स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते।* मनुष्य को दिव्य पद पर पहुँचना है अन्यथा जीवन का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता।

स वासनात्मा विषयोपरक्तो
गुणप्रवाहो विकृतः षोडशात्मा ।
बिभ्रत्पृथङ्नामभि रूपभेद-
मन्तर्बहिष्ट्वं च पुरैस्तनोति ॥ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वासना—अनेक कामनाओं से युक्त; आत्मा—मन; विषय-उपरक्तः—भौतिक सुख में आसक्त इन्द्रियतृप्ति; गुण-प्रवाहः—सत्व, रजो अथवा तमोगुण की शक्ति से प्रेरित; विकृतः—काम आदि से विरूपित; षोडश-आत्मा—प्रमुख सोलह तत्त्वों (पाँच स्थूल तत्त्व तथा दस ज्ञानेन्द्रियाँ एवं मन) का प्रधान तत्त्व; बिभ्रत्—घूमते हुए; पृथक्-नामभिः—विभिन्न नामों से; रूप-भेदम्—विभिन्न रूप धारण करते हुए; अन्तः-बहिष्ट्वम्—प्रथम कोटि या निम्न कोटि का गुण, उत्तमता या अधमता; च—तथा; पुरैः—विभिन्न शारीरिक रूपों से; तनोति—प्रकट करता है।.

शुभ तथा अशुभ कर्मों की आकांक्षाओं में लीन रहने के कारण मन स्वभावतः काम तथा क्रोध के विकारों से ग्रस्त होता रहता है। इस प्रकार वह भौतिक इन्द्रिय-सुख के प्रति आकृष्ट होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मन सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण से संचालित होता है। ग्यारह इन्द्रियों तथा पाँच तत्त्वों—इन सब सोलह कलाओं में से मन प्रधान है। अतः मन के ही कारण विभिन्न देवताओं, मनुष्यों, पशुओं तथा पक्षियों के शरीरों में जन्म लेना पड़ता है। उच्च या निम्न पद पर स्थित होने के अनुसार ही मन उच्च या निम्न भौतिक देह अंगीकार करता है।

तात्पर्य : चौरासी लाख योनियों में देहान्तरण का कारण विशेष भौतिक गुणों से मन का दूषित होना है। मन के ही कारण आत्मा को शुभ तथा अशुभ कर्म करने पड़ते हैं। इस संसार में बने रहना

भौतिक प्रकृति की तरंगों के समान है। इस सम्बन्ध में श्रील भक्तिविनोद ठाकुर का कहना है—*मायार वशे याच्छ भेसे', खाच्छ हाबुडुबु भाइ*—''मेरे भाई, आत्मा माया के अधीन है और तुम उसकी तरंगों में बह रहे हो।'' *भगवद्गीता* (३.२७) में भी इस की पुष्टि हुई है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वशः।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

''सम्पूर्ण कर्म वास्तव में प्रकृति के गुणों से सम्पन्न होते हैं परन्तु गुणों से उत्पन्न अहंकार द्वारा मोहित जीवात्मा अपने को कर्ता मान बैठता है।''

भौतिक अस्तित्व (संसार) का अर्थ है भौतिक प्रकृति द्वारा पूर्ण नियंत्रण। प्रकृति के आदेशों को अंगीकार करने वाला केन्द्र मन ही है। इस प्रकार जीवात्मा कल्प-कल्पान्तर तक विभिन्न देह धारण करता रहता है।

कृष्ण भुलि' सेइ जीव अनादि-बहिर्मुख।

अतएव माया तारे देय संसार-दुःख॥

(*चैतन्य चरितामृत मध्य* २०.११७)

जीवात्मा द्वारा श्रीकृष्ण के विस्मरण से ही वह प्रकृति के नियमों से बँध जाता है।

दुःखं सुखं व्यतिरिक्तं च तीव्रं
कालोपपन्नं फलमाव्यनक्ति ।
आलिङ्ग्य मायारचितान्तरात्मा
स्वदेहिनं संसृतिचक्रकूटः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

दुःखम्—अशुभ कर्मों के कारण दुख; सुखम्—शुभ कर्म से उत्पन्न सुख; व्यतिरिक्तम्—मोह; च—तथा; तीव्रम्—अत्यन्त कठिन; काल-उपपन्नम्—काल-क्रम में प्राप्त; फलम्—फल; आव्यनक्ति—उत्पन्न करता है; आलिङ्ग्य—आलिंगन करते हुए; माया-रचित—प्रकृति द्वारा उत्पन्न; अन्तः-आत्मा—मन; स्व-देहिनम्—स्वयं जीव; संसृति—संसार की प्रतिक्रियाओं का; चक्र-कूटः—जो जीव को चक्कर में डाल देता है।

सांसारिक मन जीव की आत्मा को आच्छादित करके उसे विभिन्न योनियों में ले जाता है। इसे संसृति कहते हैं। मन के ही कारण जीवात्मा को भौतिक दुख तथा सुख का बोध होता है। इस प्रकार से मोहग्रस्त यह शुभ तथा अशुभ विषयों तथा उनके कर्म को उत्पन्न करता है। इस प्रकार आत्मा बद्ध हो जाता है।

तात्पर्य : इस संसार में प्रकृति के वशीभूत होकर मानसिक विषयों से सुख तथा दुख उत्पन्न होते हैं। जीवात्मा मोहग्रस्त होकर विभिन्न उपाधियों के अन्तर्गत अनवरत बद्ध जीवन बिताता रहता है। ऐसी जीवात्माएँ *नित्य बद्ध* कही जाती हैं। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मन ही बद्ध जीवन के लिए उत्तरदायी होता है, इसीलिए समस्त योगक्रियाएँ मन तथा इन्द्रियों को नियंत्रित करने के लिए होती हैं। यदि मन वश में हो जाता है, तो इन्द्रियाँ स्वयमेव नियंत्रित रहती हैं और इस तरह आत्मा शुभ तथा अशुभ कर्मों के फल से बच जाता है। यदि मन श्रीकृष्ण के चरणकमलों में अनुरक्त रहे (*स वै मन: कृष्ण-पदारविन्दयो:*) तो इन्द्रियाँ स्वत: ईश्वर की सेवा में लग जाती हैं। जब मन तथा इन्द्रियाँ भक्ति में लग जाती हैं, तो जीवात्मा सहज ही कृष्ण-भक्त बन जाता है। जब कोई मनुष्य निरन्तर कृष्ण का ध्यान धरता है, तो वह परम योगी बन जाता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में की गई है (*योगिनाम् अपि सर्वेषां मदगतेनान्तरात्मना*)। यह *अन्तरात्मा* ही मन है जो प्रकृति के द्वारा बँधा हुआ है। जैसाकि यहाँ कहा गया है—*मायारचितान्तरात्मा स्वदेहिनं संसृतिचक्रकूट:*—मन परम शक्तिमान होने के कारण जीवात्मा को ढका-ओढ़ा करके उसे भवसागर की तरंगों में ला पटकता है।

तावानयं व्यवहार: सदावि:
क्षेत्रज्ञसाक्ष्यो भवति स्थूलसूक्ष्म: ।
तस्मान्मनो लिङ्गमदो वदन्ति
गुणागुणत्वस्य परावरस्य ॥ ७॥

शब्दार्थ

तावान्—उस समय तक; अयम्—यह; व्यवहार:—कृत्रिम उपाधियाँ (मोटा, दुबला देव या मानवीय); सदा—सदैव; आवि:—प्रकट करते हुए; क्षेत्र-ज्ञ—जीवात्मा का; साक्ष्य:—प्रमाण; भवति—है; स्थूल-सूक्ष्म:—मोटा तथा दुबला; तस्मात्—अत:; मन:—मन; लिङ्गम्—कारण; अद:—यह; वदन्ति—कहते हैं; गुण-अगुणत्वस्य—गुणों अथवा अगुणों का; पर-अवरस्य—तथा जीवन की उच्च और निम्न दशाएँ।

मन जीवात्मा को इस संसार में विभिन्न योनियों में फिरता रहता है, जिससे जीवात्मा को मनुष्यों, देवताओं, स्थूल-कृश मनुष्यों इत्यादि विविध रूपों का लौकिक अनुभव होता है। विद्वानों का कथन है कि देह का रूपायन बन्धन तथा मुक्ति का कारण मन ही है।

तात्पर्य : जिस प्रकार मन बन्धन का कारणस्वरूप बनता है उसी प्रकार मुक्ति का भी कारणस्वरूप यही बन सकता है। मन को यहाँ *पर-अवर* कहा गया है। *पर* का अर्थ "दिव्य" तथा *अवर* का अर्थ "भौतिक" है। जब मन ईश्वर की सेवा में अनुरक्त रहता है (*स वै मन: कृष्ण-पदारविन्दयो:*) तो इसे

पर अर्थात् दिव्य कहते हैं। किन्तु जब यह इन्द्रियतृप्ति में व्यस्त रहता है, तो इसे *अवर* या भौतिक कहते हैं। इस समय बद्ध अवस्था में हमारा मन पूर्णतया इन्द्रियतृप्ति में लगा हुआ है, किन्तु भक्ति के द्वारा उसे शुद्ध करके आदि कृष्णभावनामृत में लाया जा सकता है। हमने प्राय: अम्बरीष महाराज का दृष्टान्त दिया है। *स वै मन: कृष्ण-पदारविन्दयो: वचांसि वैकुण्ठ-गुणानुवर्णने।* कृष्णभावनामृत में मन पर नियंत्रण आवश्यक है। जीभ का उपयोग कृष्ण के संदेश को प्रसारित करने और ईश्वर का गुणगान करने अथवा कृष्ण का "प्रसाद" प्राप्त करने में किया जा सकता है। *सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ*—जब मनुष्य जीभ का उपयोग ईश्वर की सेवा में करता है, तो अन्य इन्द्रियाँ शुद्ध हो सकती हैं। जैसाकि *नारदपंचरात्र* में कहा गया है—*सर्वोपाधि-विनिर्मुक्तं तत्-परत्वेन निर्मलम्*—मन तथा इन्द्रियों के शुद्ध हो जाने पर मनुष्य का सम्पूर्ण अस्तित्व शुद्ध हो जाता है तथा उसकी सारी उपाधियाँ शुद्ध हो जाती हैं। तब मनुष्य अपने को मनुष्य, देवता, कुत्ता, बिल्ली, हिन्दू, मुसलमान इत्यादि कुछ भी नहीं मानता। मन तथा इन्द्रियों के शुद्ध होने और कृष्ण की सेवा में पूर्णतया अर्पित होने पर मुक्ति मिल सकती है और मनुष्य भगवान् के धाम को वापस जा सकता है।

गुणानुरक्तं व्यसनाय जन्तोः
क्षेमाय नैर्गुण्यमथो मनः स्यात् ।
यथा प्रदीपो घृतवर्तिमश्नन्
शिखाः सधूमा भजति ह्यन्यदा स्वम् ।
पदं तथा गुणकर्मानुबद्धं
वृत्तीर्मनः श्रयतेऽन्यत्र तत्त्वम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

गुण-अनुरक्तम्—गुणों के प्रति आसक्त होकर; व्यसनाय—संसार में बद्ध होने के लिए; जन्तोः—जीवात्मा के; क्षेमाय—परम कल्याण के लिए; नैर्गुण्यम्—गुणों से अप्रभावित रहकर; अथो—इस प्रकार; मनः—मन; स्यात्—हो जाता है; यथा—जिस प्रकार (जितना कि); प्रदीपः—दीपक; घृत-वर्तिम्—घी के भीतर रखी बत्ती; अश्नन्—जलकर; शिखाः—ज्वाला, लौ; सधूमाः—धुँआ से युक्त; भजति—भोगती है; हि—निश्चय ही; अन्यदा—अन्यथा; स्वम्—अपने आप; पदम्—पद; तथा—उसी तरह; गुण-कर्म-अनुबद्धम्—गुणों तथा कर्मों से बद्ध; वृत्तीः—नाना प्रकार के कार्य; मनः—मन; श्रयते—शरण लेता है; अन्यत्र—अन्यथा; तत्त्वम्—अपनी मूल स्थिति की।

जब जीवात्मा का मन सांसारिक इन्द्रिय-तृप्ति में लीन हो जाता है, तो जीवन-बंधन तथा सांसारिक कष्ट प्राप्त होते हैं। किन्तु जब वह उनसे अनासक्त हो जाता है, तो वही मुक्ति का कारण बनता है। जब दीपक की बत्ती से ठीक-ठीक लौ नहीं उठती तो दीपक पर कालिख लग जाती है। किन्तु घी से भरा होने पर यह ठीक से जलता है और तीव्र प्रकाश निकलता है। इसी

प्रकार जब मन इन्द्रिय-तृप्ति में संलग्न रहता है, तो इससे कष्ट प्राप्त होते हैं और जब यह उनसे विरक्त हो जाता है, तो कृष्णभावनामृत का आदि प्रकाश निकलने लगता है।

तात्पर्य : अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि मन ही इस जीवन तथा मुक्ति का कारण-स्वरूप है। मन के ही कारण प्रत्येक प्राणी कष्ट उठा रहा है, अतः यह आवश्यक है कि मन को ठीक से प्रशिक्षित किया जाय या भौतिक आसक्ति से इसे विमल करके ईश्वर की सेवा में लगाया जाये। इसे ही आत्म-वृत्ति कहते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.२६) में इस प्रकार हुई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो पूर्ण रूप से मेरी भक्ति करता है और किसी भी स्थिति में उससे गिरता नहीं वह अविलम्ब त्रिगुणमयी माया का लंघन करके ब्रह्म-स्तर पर पहुँच जाता है।"

हमें अपने मन को पूर्णतया कृष्णभावनाभावित कार्यों में लगाना चाहिए। तब यह हमारी अपने घर लौटने के लिए मुक्ति और परम धाम वापस जाने का कारण बन जायेगा। किन्तु यदि हम सांसारिक विषयों में इसे इन्द्रियतृप्ति के लिए लगाये रखेंगे तो यह अविरत बन्धन का कारण बनेगा और हम इसी संसार में विविध देह धारण करते रहेंगे और अपने विभिन्न कार्यों के फल भोगते रहेंगे।

एकादशासन्मनसो हि वृत्तय
आकूतयः पञ्च धियोऽभिमानः ।
मात्राणि कर्माणि पुरं च तासां
वदन्ति हैकादश वीर भूमीः ॥ ९॥

शब्दार्थ

एकादश—ग्यारह; आसन्—हैं; मनसः—मन की; हि—निश्चय ही; वृत्तयः—वृत्तियाँ; आकूतयः—कर्मेन्द्रियाँ; पञ्च—पाँच; धियः—ज्ञानेन्द्रियाँ; अभिमानः—अहंकार; मात्राणि—विभिन्न विषय; कर्माणि—विभिन्न कर्म; पुरम् च—तथा शरीर, समाज, राष्ट्र, परिवार या जन्मभूमि; तासाम्—इन कार्यों का; वदन्ति—कहते हैं; ह—ओह; एकादश—ग्यारह; वीर—हे वीर पुरुष; भूमीः—कार्य-क्षेत्र, कर्मक्षेत्र।

पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। इनके साथ ही अहंकार भी है। इस प्रकार मन की ग्यारह प्रकार की वृत्तियाँ हैं। हे वीर, इन्द्रियों के विषय (यथा शब्द और स्पर्श), कायिक कर्म (यथा मलत्याग) तथा विभिन्न प्रकार के देह, समाज, मैत्री तथा व्यक्तित्व—इन सबको पण्डित लोग मन के कार्य के अन्तर्गत मानते हैं।

तात्पर्य : मन पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियों का नियामक है। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना कार्यक्षेत्र (विषय) होता है। प्रत्येक दशा में मन ही स्वामी या नियामक है। अहंकारवश मनुष्य अपने को शरीर मानने लगता है और "यह मेरा शरीर, मेरा घर, मेरा परिवार, मेरा समाज, मेरा राष्ट्र इत्यादि" के रूप में सोचता रहता है। ये झूठी उपाधियाँ अहंकार के विस्तार के कारण हैं। इस तरह मनुष्य अपने को यह या वह सोचता है और यह जीवात्मा संसार में उलझ जाता है।

गन्धाकृतिस्पर्शरसश्रवांसि
विसर्गरत्यर्त्यभिजल्पशिल्पाः ।
एकादशं स्वीकरणं ममेति
शय्यामहं द्वादशमेक आहुः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

गन्ध—गन्ध, महक; आकृति—रूप; स्पर्श—छूने का बोध; रस—स्वाद; श्रवांसि—तथा शब्द; विसर्ग—मलत्याग; रति—संभोग; अर्ति—गति, संचलन; अभिजल्प—भाषण; शिल्पाः—पकड़ना या छोड़ना, लेना-देना; एकादशम्—ग्यारह; स्वीकरणम्—स्वीकार करते हुए; मम—मेरा; इति—इस प्रकार; शय्याम्—यह शरीर; अहम्—मैं; द्वादशम्—बारहवाँ; एके—कुछ लोगों ने; आहुः—कहा है।

शब्द, स्पर्श, रूप, स्वाद (रस) तथा गन्ध—ये पांच ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार हैं। भाषण, स्पर्श, संचलन, मलत्याग तथा संभोग—ये कर्मेन्द्रियों के कार्य हैं। इसके अतिरिक्त एक अन्य धारणा है, जिसके अन्तर्गत मनुष्य सोचता है कि, "यह मेरा शरीर है, यह मेरा समाज है, यह मेरा परिवार हैं, यह मेरा राष्ट्र है।" यह ग्यारहवाँ व्यापार मन का है और मिथ्या अहंकार कहलाता है। कुछ दार्शनिकों के अनुसार यह बारहवाँ व्यापार है और इसका कार्यक्षेत्र शरीर है।

तात्पर्य : ग्यारह विषयों के लिए (व्यापार) भिन्न-भिन्न उत्पादन हैं। नाक से हम सूँघते हैं, आखों से देखते हैं, कानों से सुनते हैं और इस प्रकार हम ज्ञान संचित करते हैं। इसी तरह हाथ, पाँव, लिंग, गुदा, मुख आदि कर्मेन्द्रियाँ हैं। जब मिथ्या अहंकार का विस्तार होता है, तो मनुष्य सोचता है, "यह मेरा शरीर, परिवार, समाज, देश है।"

द्रव्यस्वभावाशयकर्मकालै-
रेकादशामी मनसो विकाराः ।
सहस्रशः शतशः कोटिशश्च
क्षेत्रज्ञतो न मिथो न स्वतः स्युः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

द्रव्य—भौतिक पदार्थों (विषयों) से; स्व-भाव—स्वभाव से; आशय—संस्कृति (संस्कार) से; कर्म—पूर्व निर्धारित कर्मफल से; कालैः—समय से; एकादश—ग्यारह; अमी—ये सब; मनसः—मन के; विकाराः—रूपान्तर (भेद); सहस्रशः—हजारों में; शतशः—सैकड़ों में; कोटिशः च—तथा करोड़ों में; क्षेत्र-ज्ञतः—आदि भगवान् से; न—नहीं; मिथः—परस्पर; न—न तो; स्वतः—अपने आप से; स्युः—हैं।

भौतिक तत्त्व (द्रव्य या विषय), प्रकृति (स्वभाव), मूल कारण, संस्कार, भाग्य तथा समय (काल)—ये सब भौतिक कारण हैं। इन भौतिक कारणों से विक्षुब्ध होकर ग्यारह वृत्तियाँ पहले सैकड़ों, फिर हजारों और तब करोड़ों भेदों में रूपान्तरित हो जाती हैं। किन्तु ये सभी भेद स्वतः परस्पर मिश्रण के द्वारा घटित नहीं होते वरन् वे श्रीभगवान् के आदेशानुसार होते हैं।

तात्पर्य : किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि भौतिक तत्वों की समस्त अन्त:क्रियाएँ, चाहे वे स्थूल हों या सूक्ष्म, जिनसे मन तथा चेतना में परिवर्तन होता है स्वतंत्र रूप से कार्य कर रही हैं। वे सब श्रीभगवान् के निर्देशन में घटित होती हैं। *भगवद्गीता* (१.१) में श्रीकृष्ण कहते हैं कि ईश्वर सबों के हृदय में स्थित हैं (*सर्वस्य चाहं हृदि संन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*)। जैसाकि यहाँ पर उद्धृत है परमात्मा (क्षेत्रज्ञ) सबको आदेशित कर रहा है। जीवात्मा भी क्षेत्रज्ञ है, किन्तु परम क्षेत्रज्ञ तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही है। वह साक्षी और आज्ञा देने वाला है। उसी के निर्देशन में सब कुछ घटित होता है। जीवात्मा की विभिन्न वृत्तियाँ उसके अपने स्वभाव से अथवा आशाओं से उत्पन्न होती हैं और वह प्रकृति या माया के माध्यम से भगवान् द्वारा प्रशिक्षित किया जाता है। शरीर, प्रकृति तथा तत्त्व भगवान् के आदेशाधीन हैं। स्वतः कार्य नहीं करते। प्रकृति (माया) न तो स्वतंत्र है न स्वतः क्रियाशील। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.१०) में पुष्टि हुई है, प्रकृति के पीछे श्रीभगवान् हैं—

मयाध्यक्षेन प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

"हे कुन्तीपुत्र! यह प्रकृति (माया) मेरी अध्यक्षता में कार्य करती हुई सम्पूर्ण चराचर प्राणियों को रचती है। इस कारण इस जगत का बारम्बार सृजन और संहार होता है।"

क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूती-
जींवस्य मायारचितस्य नित्याः ।

आविर्हिताः क्वापि तिरोहिताश्च
शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्धकर्तुः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

क्षेत्र-ज्ञः—जीव; एताः—ये सब; मनसः—मन के; विभूतीः—विभिन्न वृत्तियाँ; जीवस्य—जीवात्मा की; माया-रचितस्य—माया द्वारा उत्पन्न; नित्याः—अनादि-काल से; आविर्हिताः—कभी-कभी प्रकट; क्वापि—कहीं; तिरोहिताः च—तथा अप्रकट; शुद्धः—शुद्ध; विचष्टे—इसे देखता है; हि—निश्चय ही; अविशुद्ध—अशुद्ध; कर्तुः—कर्ता का।

कृष्णचेतना से रहित जीव के मन में माया द्वारा उत्पन्न अनेक विचार तथा वृत्तियाँ होती हैं। वे अनन्त काल से विद्यमान रही हैं। कभी-कभी वे जाग्रत तथा स्वप्न अवस्था में प्रकट होती हैं, किन्तु सुषुप्तावस्था या समाधि में वे लुप्त हो जाती हैं। जो व्यक्ति इस जन्म में ही मुक्त हो चुका है, (जीवन्मुक्त) इन सब व्यापारों को स्पष्ट देख सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (१३.३) में कहा गया है—*क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।* क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवों के दो भेद हैं—एक तो सामान्य जीव और दूसरे परम पुरुष (परमात्मा)। सामान्य जीव अपने शरीर के विषय में कुछ हद तक ही जानता है, किन्तु परमात्मा समस्त देहियों के विषय में जानता है। सामान्य जीव स्थान-सापेक्ष हैं, किन्तु परमात्मा सर्वव्यापी हैं। इस श्लोक में *क्षेत्रज्ञ* सामान्य जीव के लिए प्रयुक्त है परम पुरुष के लिए नहीं। यह सामान्य जीव दो प्रकार का होता है—नित्य-बद्ध तथा नित्य-मुक्त। इनमें से पहला शाश्वत बद्ध रहने वाला है और दूसरा शाश्वत मुक्त रहता है। शाश्वत मुक्त जीव वैकुण्ठ जगत में रहता है और वह इस भौतिक जगत में कभी नहीं आता। जो भौतिक जगत में रहते हैं, वे नित्य बद्ध हैं। ये जीव मन को नियंत्रित करके मुक्त हो सकते हैं, क्योंकि बद्ध जीवन का कारण मन है। जब मन को प्रशिक्षित कर लिया जाता है और आत्मा उसके वश में नहीं रहता तो इसी भौतिक जगत में आत्मा मुक्त हो सकता है। मुक्त होने पर वह *जीवन्मुक्त* कहा जाता है। जीवन्मुक्त को पता होता है कि वह किस प्रकार बद्ध हुआ, अतः वह अपने को शुद्ध करने और भगवान् के धाम को वापस जाने का प्रयत्न करता है। नित्य बद्ध जीवात्मा नित्य बद्ध होता है क्योंकि वह मन से नियंत्रित होता है। बद्ध तथा मुक्त अवस्थाओं की तुलना सुप्त तथा जाग्रत अवस्थाओं से की जाती है। जो बेखबर होकर सोते हैं, वे नित्य-बद्ध हैं और जो जाग्रत हैं, वे अपने को भगवान् श्रीकृष्ण का नित्य अंश मानते हैं। अतः वे इस भौतिक जगत में भी श्रीकृष्ण की सेवा में तत्पर रहते हैं। जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने पुष्टि की है—*ईहा यस्य हरेर्दास्ये।* श्रीकृष्ण की सेवा करने वाला मुक्त हो जाता है, भले

ही वह इस संसार में बद्ध जीवात्मा प्रतीत हो। *जीवन्मुक्तः स उच्यते*—प्रत्येक दशा में कोई तभी मुक्त माना जा सकता है जब उसका एकमात्र कार्य श्रीकृष्ण की सेवा करना हो।

क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः पुराणः
साक्षात्स्वयं ज्योतिरजः परेशः ।
नारायणो भगवान्वासुदेवः
स्वमाययात्मन्यवधीयमानः ॥ १३ ॥
यथानिलः स्थावरजङ्गमानाम्
आत्मस्वरूपेण निविष्ट ईशेत् ।
एवं परो भगवान्वासुदेवः
क्षेत्रज्ञ आत्मेदमनुप्रविष्टः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

क्षेत्र-ज्ञः—श्रीभगवान् (श्लोक १२ में सामान्य जीव); आत्मा—सर्वव्यापी; पुरुषः—असीम शक्ति वाला नियन्ता; पुराणः—आदि; साक्षात्—प्रत्यक्ष अनुभव तथा अधिकारियों से श्रवण करके; स्वयम्—व्यक्तिगत; ज्योतिः—ब्रह्मतेज प्रकट करने वाला; अजः—अजन्मा; परेशः—श्रीभगवान्; नारायणः—समस्त जीवों का आश्रय; भगवान्—छः पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त श्रीभगवान्; वासुदेवः—प्रकट तथा अप्रकट, सबों का आश्रय; स्व-मायया—अपनी शक्ति से; आत्मनि—अपने आप में अथवा सामान्य जीवों में; अवधीयमानः—नियन्ता के रूप में रह कर; यथा—जिस प्रकार; अनिलः—वायु; स्थावर—जड़, न चलने वाले जीव; जङ्गमानाम्—तथा जंगमों (सचल) का; आत्म-स्वरूपेण—परमात्मा रूप के द्वारा; निविष्टः—निहित; ईशेत्—नियंत्रण करता है; एवम्—इस प्रकार; परः—दिव्य; भगवान्—श्रीभगवान्; वासुदेवः—प्रत्येक पदार्थ के आश्रय; क्षेत्र-ज्ञः—क्षेत्रज्ञ नाम से अभिहित; आत्मा—प्राण शक्ति; इदम्—यह जगत के; अनुप्रविष्टः—भीतर प्रविष्ट।

क्षेत्रज्ञ दो प्रकार के हैं—जीवात्मा तथा श्रीभगवान्। (जीवात्मा का वर्णन पीछे किया जा चुका है, यहाँ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की विवेचना की जा रही है) श्रीभगवान् सृष्टि का सर्वव्यापक कारण है। वह अपने में पूर्ण है और अन्यों पर आश्रित नहीं है। वह सुनकर तथा प्रत्यक्ष अनुभव (दर्शन) से देखा जाता है। वह आत्मतेजस्वी है और उसे जन्म, मृत्यु, जरा अथवा व्याधि कुछ भी नहीं सताते। वह ब्रह्मादि समस्त देवताओं का नियन्ता है। उसका नाम नारायण है और वह संसार के प्रलय के पश्चात् समस्त जीवात्माओं का आश्रय है। वह परम ऐश्वर्यवान है और समस्त भौतिक वस्तुओं का आश्रय है। अतः वह वासुदेव अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के नाम से जाना जाता है। अपनी शक्ति से ही वह समस्त जीवात्माओं के हृदयों में स्थित है, जिस प्रकार समस्त चराचर प्राणियों में वायु या जीवनीशक्ति (प्राण) रहती है। इस प्रकार वह शरीर को वश में रखता है। अपने अंश रूप में श्रीभगवान् समस्त देहों में प्रवेश करके उनको नियंत्रित करता रहता है।

तात्पर्य : इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१.१) में की गई है— *सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।* प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित परमात्मा के द्वारा प्रत्येक जीव शासित होता है। वह इस संसार को उत्पन्न करने वाला पुरुष—पुरुष-अवतार—है। प्रथम पुरुष-अवतार महाविष्णु हैं और वह महाविष्णु भगवान् श्रीकृष्ण के अंश के अंश मात्र हैं। श्रीकृष्ण के प्रथम विस्तार (प्रकाश) बलदेव हैं और वासुदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध तथा प्रद्युम्न अन्य विस्तार हैं। वासुदेव ही *ब्रह्मज्योति* के मूल कारण हैं और यह ब्रह्मज्योति वासुदेव के शरीर की किरणों का विस्तार (प्रकाश) है।

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-
कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्।
तद् ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं आदि ईश्वर गोविन्द की पूजा करता हूँ जो परम शक्ति से समन्वित हैं। उनके दिव्य रूप का तेज निर्गुण ब्रह्म है जो परम, पूर्ण तथा अनन्त हैं और जो करोड़ों ब्रह्माण्डों में असंख्य लोकों को उनके ऐश्वर्यों सहित प्रदर्शित करता है।" (*ब्रह्म-संहिता* .४०)। *भगवद्गीता* (९.४) में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का वर्णन इस प्रकार हुआ है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

"मेरे अव्यक्त रूप द्वारा यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त है। सम्पूर्ण चराचर प्राणी मुझमें स्थित हैं, परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।"

श्रीकृष्ण के अंश रूप सर्वव्यापी वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध की यह स्थिति है।

न यावदेतां तनुभृन्नरेन्द्र
विधूय मायां वयुनोदयेन ।
विमुक्तसङ्गो जितषट्सपत्नो
वेदात्मतत्त्वं भ्रमतीह तावत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यावत्—जब तक; एताम्—यह; तनु-भृत्—जिसने शरीर अंगीकार किया है, मनुष्य; नरेन्द्र—हे राजन्; विधूय मायाम्—संसार से उत्पन्न कल्मष को धोते हुए; वयुना उदयेन—वैदिक साहित्य तथा सत्संगति से दिव्य ज्ञान जगने के कारण;

विमुक्त-सङ्गः—समस्त संगति से मुक्त; जित-षट्-सपत्नः—छः शत्रुओं (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन) को जीत कर; वेद—जानता है; आत्म-तत्त्वम्—आत्मतत्त्व को; भ्रमति—घूमता है; इह—इस संसार में; तावत्—तब तक।

हे राजा रहूगण, जब तक बद्ध-आत्मा भौतिक देह को स्वीकार करता है और भौतिक सुख के कल्मष से मुक्त नहीं हो जाता तथा जब तक अपने छः शत्रुओं को जीत कर आत्मज्ञान को जागृत करके आत्म-साक्षात्कार के पद को प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक उसे इस जगत में विभिन्न स्थानों तथा नाना योनियों में घूमना पड़ता है।

तात्पर्य : जब किसी मनुष्य का मन देहात्मबुद्धि में लिप्त रहता है, तो वह अपने को किसी एक राष्ट्र, परिवार, देश या जाति से सम्बद्ध मानता है। इन्हें उपाधियाँ कहते हैं। मनुष्य को इनसे मुक्त होना होता है (*सर्वोपाधि विनिर्मुक्तम्*)। जब तक मनुष्य इनसे मुक्त नहीं होता उसे इस संसार में बद्ध जीवन बिताते रहना पड़ता है। मनुष्य जीवन का लक्ष्य इन भ्रान्तियों को दूर करना है। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है और सभी भौतिक स्थितियों को भोगना पड़ता है।

न यावदेतन्मन आत्मलिङ्गं
संसारतापावपनं जनस्य ।
यच्छोकमोहामयरागलोभ-
वैरानुबन्धं ममतां विधत्ते ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यावत्—जब तक; एतत्—यह; मनः—मन; आत्म-लिङ्गम्—आत्मा की झूठी उपाधि के रूप में; संसार-ताप—इस जगत के कष्टों का; आवपनम्—खेत; जनस्य—जीव का; यत्—जो; शोक—शोक का; मोह—मोह का; आमय—रोग का; राग—आसक्ति का; लोभ—लालच का; वैर—शत्रुता का; अनुबन्धम्—परिणाम; ममताम्—ममता; विधत्ते—देता है।

इस संसार में आत्मा की उपाधि, यह मन, समस्त दुखों का मूल है। जब तक बद्ध जीवात्मा इस तथ्य को नहीं जानता, तब तक उसे देह की दयनीय दशा को स्वीकार करके इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न योनियों में घूमना पड़ता है। चूँकि यह मन रोग, शोक, मोह, राग, लोभ तथा वैर से ग्रस्त रहता है इस कारण से इस भौतिक संसार में बन्धन तथा झूठी ममता उत्पन्न होती है।

तात्पर्य : मन भौतिक बन्धन तथा मुक्ति दोनों का कारण है। अशुद्ध मन सोचता है कि मैं ही देह हूँ, किन्तु शुद्ध मन जानता है कि वह भौतिक देह नहीं हैं अत: मन को समस्त भौतिक उपाधियों का मूल माना जाता है। जब तक जीवात्मा संसार के सम्पर्क तथा उसके कल्मषों से दूर नहीं रहता, तब तक यह जन्म, मृत्यु, रोग, मोह, लोभ तथा वैर में तल्लीन रहता है। इस प्रकार जीवात्मा बँध जाता है

और भौतिक कष्टों को भोगता रहता है।

भ्रातृव्यमेनं तददभ्रवीर्य-
मुपेक्षयाध्येधितमप्रमत्तः ।
गुरोर्हरेश्चरणोपासनास्त्रो
जहि व्यलीकं स्वयमात्ममोषम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

भ्रातृव्यम्—बलवान शत्रु को; एनम्—इस मन; तत्—वह; अदभ्र-वीर्यम्—अत्यधिक शक्तिमान; उपेक्षया—उपेक्षा से; अध्येधितम्—वृथा ही शक्ति में बढ़ा हुआ; अप्रमत्तः—मोहरहित; गुरोः—गुरु के; हरेः—श्रीभगवान् के; चरण—चरण कमलों का; उपासना-अस्त्रः—उपासना रूपी अस्त्र; जहि—जीत लो; व्यलीकम्—झूठा, मिथ्या; स्वयम्—अपने आप; आत्म-मोषम्—जीवात्मा की स्वाभाविक स्थिति को प्रच्छन्न करने वाला।.

यह अनियंत्रित मन जीवात्मा का सबसे बड़ा शत्रु है। यदि इसकी उपेक्षा की जाती है या इसे अवसर प्रदान किया जाता हैं, तो यह प्रबल से प्रबलतर होकर विजयी बन सकता है। यद्यपि यह यथार्थ नहीं है, किन्तु यह अत्यधिक प्रबल होता है। यह आत्मा की स्वाभाविक स्थिति को आच्छादित कर देता है। हे राजन्, इस मन को गुरु के चरणारविन्द तथा भगवान् की सेवा रूपी अस्त्र से जीतने का प्रयत्न कीजिये। इसे अत्यन्त सतर्कता से करें।

तात्पर्य : जिस एक अस्त्र से मन को जीता जा सकता है, वह है उपेक्षा। मन सदैव हमें इसे अथवा उसे कर लेने के लिए कहता रहता है; अत: हमें मन के आदेशों की उपेक्षा करने में पटु बनना चाहिए। मन को क्रमश: आत्मा के आदेश मानने के लिए प्रशिक्षित करना चाहिए। मनुष्य को मन के आदेशों का पालन नहीं करना है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहा करते थे कि जगने के बाद तथा सोने के पूर्व नित्य ही मन को कई बार जूतों से पीटना चाहिए। इस प्रकार से मन को वश में किया जा सकता है। समस्त शास्त्रों का भी यही आदेश है। यदि मनुष्य ऐसा नहीं करता तो वह मन के आदेशों का पालन करने के लिए बाध्य है। दूसरी प्रामाणिक विधि है गुरु की आज्ञाओं का कठोरता से पालन करना और ईश्वर की सेवा में लगे रहना। इससे मन स्वत: वश में आ जाएगा। श्री चैतन्य महाप्रभु ने श्रील रूप गोस्वामी को उपदेश दिया है कि—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज॥

जब गुरु तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के अनुग्रह से भक्ति-बीज प्राप्त होता है, तो मनुष्य का

असली जीवन प्रारम्भ होता है। यदि वह गुरु की आज्ञा का पालन करता है, तो कृष्ण के अनुग्रह से वह मन की दासता (सेवा भाव) से मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''जड़ भरत द्वारा राजा रहूगण को शिक्षा'' नामक ग्यारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बारह

महाराज रहूगण तथा जड़ भरत की वार्ता

महाराज रहूगण इतने पर भी अपने प्रकाश-प्राप्त होने के सम्बन्ध में सन्देहशील थे, इसलिए उन्होंने ब्राह्मण जड़ भरत से अपने उपदेशों को तथा उसकी समझ में न आने वाले विचारों को दोहराने के लिए कहा। इस अध्याय में महाराज रहूगण उन जड़ भरत को नमस्कार करता है जिन्होंने अपने वास्तविक रूप को छिपा रखा था। राजा उनके उपदेश से समझ गया कि वे आत्मज्ञान में कितने श्रेष्ठ तथा उन्नत हैं। उसने उनका जिस प्रकार अनादर किया था उसके लिए क्षमा माँगी। अविद्या के सर्प से डसे गये महाराज रहूगण को मानो जड़ भरत के अमृत रूपी शब्दों ने जिला लिया। जिन विषयों पर वार्ता हो चुकी थी उनके सम्बन्ध में शंका रह जाने के कारण उसने बाद में एक-एक करके अनेक प्रश्न पूछे। सर्वप्रथम जड़ भरत के चरणकमलों के प्रति किये गये पूर्व अपराध से वे मुक्त हो लेना चाहते थे।

महाराज रहूगण जड़ भरत के सारगर्भित उपदेशों को, जिन्हें एक भौतिक जीव नहीं समझ सकता, ठीक से न समझ पाने के कारण कुछ-कुछ असन्तुष्ट थे, अतः जड़ भरत ने अपने उपदेशों को और अधिक स्पष्ट करते हुए दुहराया। उन्होंने कहा कि संसार की सभी जीवात्माएँ, चाहे चर हों या अचर, विभिन्न प्रकारों से पृथ्वी के ही रूपान्तर (विकार) हैं। राजा को अपने राज-देह का अत्यन्त गर्व था, किन्तु वह पृथ्वी का ही एक रूपान्तर था। झूठी प्रतिष्ठा के कारण राजा पालकी के कहार के प्रति स्वामी-सेवक जैसा व्यवहार कर रहा था और अन्य जीवात्माओं के प्रति भी निष्ठुर था। फलतः वह जनता को सुरक्षा प्रदान करने में अक्षम था और अज्ञानी होने के कारण उसकी गणना साधु पुरुषों में नहीं की जा सकती थी। यद्यपि विभिन्न वस्तुएँ अपने-अपने रूपान्तरों के कारण विभिन्न नाम (उपाधियाँ) धारण करती हैं, किन्तु इस जगत की प्रत्येक वस्तु पृथ्वी का रूपान्तर है। वस्तुतः ये सभी

किस्में एक ही हैं और अन्त में परमाणुओं में विलीन हो जाती हैं। इस संसार में कुछ भी स्थायी नहीं है। अनेक किस्म की वस्तुएँ तथा उनकी उपाधियाँ हमारी मानसिक कूट रचनाएँ हैं। परम सत्य तो मोह से परे है और तीन रूपों—निर्गुणब्रह्म, अर्न्तयामी परमात्मा तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्—में प्रकट होता है। अनन्तिम सत्य के परम साक्षात्कार तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही हैं, जो भक्तों द्वारा वासुदेव कहे जाते हैं। जब तक भक्तों के चरण की धूलि को मस्तक पर धारण नहीं किया जाता, तब तक कोई भगवान् का भक्त नहीं बन सकता।

जड़ भरत ने राजा को अपने पूर्वजन्म के सम्बन्ध में भी बताया और कहा कि ईश्वर की कृपा से उन्हें विगत जन्म की सारी घटनाएँ स्मरण हैं। अपने पूर्वजन्म के कर्मों के कारण जड़ भरत अत्यन्त सतर्क थे। संसारी पुरुषों से मिलने-जुलने से बचने के लिए उन्होंने गूँगे तथा बहरे जैसे व्यक्ति के आचरण अपना रखे थे। त्रिगुणों की संगति बड़ी प्रबल होती है। भौतिकतावादी पुरुषों की कुसंगति से बचने का एकमात्र उपाय है भक्तों की संगति। उनकी संगति से नौ प्रकार की भक्तियाँ की जा सकती हैं—*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद-सेवनम् अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यम् आत्म-निवेदनम्।* इस प्रकार भक्तों की संगति से भौतिक संगति से छुटकारा पाया जा सकता है मूढ़ता के पारावार को पार करते हुए श्रीभगवान् के धाम को प्राप्त हुआ जा सकता है।

रहूगण उवाच
नमो नमः कारणविग्रहाय
स्वरूपतुच्छीकृतविग्रहाय ।
नमोऽवधूत द्विजबन्धुलिङ्ग-
निगूढनित्यानुभवाय तुभ्यम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

रहूगणः उवाच—राजा रहूगण ने कहा; नमः—मेरा नमस्कार है; नमः—नमस्कार; कारण-विग्रहाय—समस्त कारणों के कारण, परमात्मा से प्रकट होने वाले को; स्वरूप-तुच्छीकृत-विग्रहाय—अपने सत्य रूप को प्रकट करके शास्त्रों के विरोधों को दूर करनेवाले; नमः—नमस्कार; अवधूत—हे योगेश्वर; द्विज-बन्धु-लिङ्ग—ब्राह्मण कुल में उत्पन्न पुरुष के लक्षणों के द्वारा (भले ही ब्राह्मण का कर्म न करता हो); निगूढ—प्रच्छन्न; नित्य-अनुभवाय—उसे जिसका शाश्वत आत्म-साक्षात्कार होता हो; तुभ्यम्—तुम्हें।

राजा रहूगण ने कहा—हे महात्मन्, आप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से अभिन्न हैं। आपके प्रभाव से शास्त्रों के समस्त विरोधभास दूर हो गये हैं। आप *ब्रह्म-बन्धु* के वेश में अपने दिव्य आनन्दमय स्वरूप को छिपाए हुए हैं। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* से ज्ञात होता है कि श्रीभगवान् समस्त कारणों के कारण (*सर्व- कारण-कारणम्*) हैं। ऋषभदेव सर्व-कारण स्वरूप श्रीभगवान् के साक्षात् अवतार थे। उनके पुत्र भरत महाराज को, जो अब ब्राह्मण जड़ भरत की भूमिका निभा रहे थे, उनका शरीर उन्हीं सर्वकारणों के कारण से प्राप्त हुआ था; इसलिए उन्हें *कारण-विग्रहाय* कहा गया है।

ज्वरामयार्तस्य यथागदं सत्
निदाघदग्धस्य यथा हिमाम्भः ।
कुदेहमानाहिविदष्टदृष्टेः
ब्रह्मन्वचस्तेऽमृतमौषधं मे ॥ २॥

शब्दार्थ

ज्वर—ज्वर, या ताप के; आमय—रोग से; आर्तस्य—पीड़ित पुरुष की; यथा—जिस प्रकार; अगदम्—औषधि दवा; सत्—सही; निदाघ-दग्धस्य—लू लगने पर; यथा—जैसे; हिम-अम्भः—अति शीतल जल; कु-देह—इस शरीर में, जो मल-मूत्र जैसा गंदी वस्तुओं से पूरित है; मान—गर्व रूपी; अहि—सर्प से; विदष्ट—दंशित, काटा गया; दृष्टेः—दृष्टि वाले का; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ; वचः—शब्द, वाणी; ते—तुम्हारी; अमृतम्—अमृत; औषधम्—दवा; मे—मेरे लिए।.

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, मेरा शरीर मल से पूर्ण और मेरी दृष्टि गर्व रूपी सर्प द्वारा दंशित है। अपनी भौतिक बुद्धि के कारण मैं रुग्ण हूँ। इस प्रकार के ज्वर से पीड़ित व्यक्ति के लिए आपके अमृतमय उपदेश वैसे ही हैं जैसे कि धूप (लू) से झुलसे हुए व्यक्ति के लिए शीतल जल होता है।

तात्पर्य : बद्धजीव का शरीर गन्दी वस्तुओं—अस्थि, रक्त, मूत्र, मल इत्यादि—से भरा रहता है। तो भी इस संसार के बुद्धिमान मनुष्य सोचते हैं कि वे रक्त, अस्थि, रक्त, मूत्र तथा मल के योग से बने हैं। यदि ऐसा है, तो फिर इन सर्वसुलभ पदार्थों से अन्य बुद्धिमान व्यक्ति क्यों नहीं बनाये जा सकते? सम्पूर्ण संसार देहात्मबुद्धि से अभिभूत है और भले मनुष्य के रहने के लिए नारकीय परिस्थितियाँ उत्पन्न हो रही हैं। जड़ भरत ने राजा रहूगण को जो उपदेश दिये हैं, वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। वे सर्पदंश की औषधि तुल्य हैं। वैदिक उपदेश झुलसती गर्मी से पीड़ित व्यक्ति के लिए अमृत एवं शीतल जल के समान हैं।

तस्माद्भवन्तं मम संशयार्थं
प्रक्ष्यामि पश्चादधुना सुबोधम् ।
अध्यात्मयोगग्रथितं तवोक्त-

माख्याहि कौतूहलचेतसो मे ॥ ३॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतः; भवन्तम्—आपको; मम—मुझको; संशय-अर्थम्—वे विषय जिसका अर्थ मुझे ज्ञात नहीं; प्रक्ष्यामि—कहूँगा; पश्चात्—बाद में; अधुना—इस समय; सु-बोधम्—सरलता से समझ में आ जाने वाला, बोधगम्य; अध्यात्म-योग—आत्म-साक्षात्कार हेतु योग शिक्षा का; ग्रथितम्—रचित; तव—तुम्हारी; उक्तम्—वाणी, वचन; आख्याहि—पुनः विस्तार से समझाइये; कौतूहल-चेतसः—ऐसे उत्कण्ठा से पूर्ण कथनों के मर्म को समझने के लिए जिसका मन अत्यन्त उत्सुक है; मे—मुझको।

यदि किसी विशेष विषय पर मेरी शंकाएँ रह गई हैं, तो मैं उनके सम्बन्ध में आपसे बाद में पूछूँगा। किन्तु इस समय आपने आत्म-साक्षात्कार के लिए जो गूढ़ योग के उपदेश दिये हैं उनको समझ पाना कठिन है। कृपया उन्हें सरल रीति से पुनः कहें जिससे मैं उन्हे समझ सकूँ। मेरा मन अत्यन्त उत्सुक है और मैं इसे भलीभाँति समझ लेना चाहता हूँ।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य का उपेदश है—*तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।* बुद्धिमान व्यक्ति को दिव्य विज्ञान (तत्त्व) अच्छी प्रकार जानने के लिए परम उत्सुक (जिज्ञासु) होना चाहिए। इसके लिए उसे गुरु के निकट जाना चाहिए। यद्यपि जड़ भरत ने महाराज रहूगण को प्रत्येक वस्तु विस्तार से समझा दी थी, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी बुद्धि उसे समझने में पूर्ण समर्थ न थी। अतः उसने आगे विवेचना के लिए प्रार्थना की। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.३४) में कहा गया है—*तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।* विद्यार्थी को चाहिए कि गुरु के निकट पहुँच कर पूर्ण समर्पण कर दे (*प्रणिपातेन*)। उसे चाहिए कि उसके उपदेश समझने के लिए वह प्रश्न भी पूछे (*परिप्रश्नेन*)। उसे चाहिए कि गुरु को न केवल समर्पण करे, वरन् उनकी प्रेमपूर्ण सेवा करे (*सेवया*) जिससे गुरु प्रसन्न होकर उसे दिव्य विषय को ठीक से समझा दे। यदि कोई वैदिक उपदेशों को गम्भीरता से सीखना चाहता है, तो गुरु से स्पर्द्धा नहीं रखनी चाहिए।

यदाह योगेश्वर दृश्यमानं
क्रियाफलं सद्व्यवहारमूलम् ।
न ह्यञ्जसा तत्त्वविमर्शनाय
भवानमुष्मिन्भ्रमते मनो मे ॥ ४॥

शब्दार्थ

यत्—जो; आह—आपने कहा है; योग-ईश्वर—हे योग शक्ति के स्वामी; दृश्यमानम्—भली-भाँति दिखते हुए; क्रिया-फलम्—शरीर को इधर-उधर हिलाने डुलाने का फल यथा थकान; सत्—विद्यमान; व्यवहार-मूलम्—जिसका आधार केवल शिष्टता है; न—नहीं; हि—निश्चय ही; अञ्जसा—वस्तुतः-वास्तव में; तत्त्व-विमर्शनाय—विमर्श द्वारा सत्य को समझने के लिए; भवान्—आप; अमुष्मिन्—उस कथन में; भ्रमते—चक्कर काट रहा है; मनः—मन; मे—मेरा।

हे योगेश्वर, आपने कहा है कि शरीर को इधर-उधर हिलाने-डुलाने से उत्पन्न थकान प्रत्यक्ष

अनुभवगम्य है, किन्तु वास्तव में कोई थकान नहीं रहती। वह तो कहने के लिए होती है। ऐसे प्रश्नोत्तरों से परम सत्य के विषय में कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। आपके इस कथन से मेरा मन कुछ-कुछ विचलित है।

तात्पर्य : देहात्म-बुद्धि के सम्बन्ध में औपचारिक प्रश्नोत्तर से परम सत्य का ज्ञान नहीं होता। शारीरिक सुखों तथा दुखों की औपचारिक समझ परम सत्य के ज्ञान से भिन्न है। *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण अर्जुन को बताते हैं कि शरीर द्वारा सुख-दुख का अनुभव क्षणिक है; वे तो आत-जाते रहते हैं। मनुष्य को चाहिए कि इनसे विचलित न हो, वरन् इन्हें सहन करके आत्मतत्त्व प्राप्त करने में लगा रहे।

ब्राह्मण उवाच

अयं जनो नाम चलन्पृथिव्यां
यः पार्थिवः पार्थिव कस्य हेतोः ।
तस्यापि चाङ्घ्र्योरधि गुल्फजङ्घा-
जानूरुमध्योरशिरोधरांसाः ॥ ॥
अंसेऽधि दार्वी शिबिका च यस्यां
सौवीरराजेत्यपदेश आस्ते ।
यस्मिन्भवान्रूढनिजाभिमानो
राजास्मि सिन्धुष्विति दुर्मदान्धः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणः उवाच—ब्राह्मण ने कहा; अयम्—यह; जनः—पुरुष; नाम—पदवी; चलन्—चलते हुए; पृथिव्याम्—पृथ्वी पर; यः—जो; पार्थिवः—पृथ्वी का रूप; पार्थिव—हे राजा, जिसका शरीर पार्थिव है; कस्य—किस; हेतोः—कारण; तस्य अपि—उसका भी; च—तथा; अङ्घ्र्योः—पाँव; अधि—ऊपर; गुल्फ—टखने; जङ्घा—पिंडली; जानु—घुटने; उरु—जघन, जाँघ; मध्योर—कटि, कमर; शिरः-धर—गर्दन; अंसाः—कंधे; अंसे—कंधा; अधि—ऊपर; दार्वी—लकड़ी की बनी हुई; शिबिका—पालकी; च—तथा; यस्याम्—जिस पर; सौवीर-राजा—सौवीर का राजा; इति—इस प्रकार; अपदेशः—विख्यात; आस्ते—है; यस्मिन्—जिसमें; भवान्—आप; रूढ—आसीन; निज-अभिमानः—मिथ्या प्रतिष्ठा का भाव; राजा अस्मि—राजा हूँ; सिन्धुषु—सिन्धु राज्य में; इति—इस प्रकार; दुर्मद-अन्धः—अहंकार के वशीभूत, मद से अंधे।

स्वरूपसिद्ध ब्राह्मण जड़ भरत ने कहा—अनेक भौतिक संयोगों में विविध रूप तथा पार्थिव रूपान्तर विद्यमान हैं। कुछ कारणवश ये पृथ्वी पर हिलते-डुलते हैं और पालकीवाहक (कहार) कहलाते हैं। इनमें से वे रूपान्तर जो गति नहीं करते वे पत्थर जैसे स्थूल पदार्थ हैं। प्रत्येक दशा में यह भौतिक देह पाँव, टखना, पिंडली, घुटना, जाँघ, कमर, गर्दन तथा सिर के रूप में मिट्टी तथा पत्थर से बनी हैं। इसके कंधों के ऊपर काठ की पालकी रखी है और उसके भीतर सौवीर का

राजा बैठा है। राजा का शरीर मिट्टी का अन्य रूपान्तर मात्र है, किन्तु उस शरीर के भीतर आप स्थिर हैं और अहंकारवश अपने को सौवीर राज्य का राजा मान रहे हैं।

तात्पर्य : पालकीवाहक तथा पालकी के यात्री के शरीरों का विश्लेषण करते हुए जड़ भरत इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वास्तविक प्राणशक्ति तो जीवात्मा है। जीवात्मा भगवान् विष्णु का ही अंश रूप है, अत: इस संसार में समस्त चर तथा अचर वस्तुओं में मुख्य तत्त्व तो भगवान् विष्णु हैं। उनकी उपस्थिति के कारण ही प्रत्येक वस्तु कार्यशील है और कर्म तथा फल होते हैं। जो यह जानता है कि प्रत्येक वस्तु का मूल कारण भगवान् विष्णु हैं उसे तत्त्वज्ञानी समझना चाहिए। यद्यपि राजा रहूगण को राजा होने का अहंकार था, किन्तु वह तत्त्वज्ञानी नहीं था। इसीलिए वह कहारों को, जिनमें स्वरूपसिद्ध ब्राह्मण जड़ भरत भी थे, डाँट रहा था। जड़ भरत द्वारा राजा पर यह पहला आरोप था, जो प्रत्येक वस्तु को पदार्थ मान कर अविद्या के कारण आत्मसिद्ध ब्राह्मण से बोलने का दुस्साहस कर रहा था। राजा रहूगण का तर्क था कि जीवात्मा तो शरीर के भीतर है; अत: जब शरीर थकता है, तो उसके भीतर का जीवात्मा अवश्य कष्ट भोगता होगा। लेकिन अगले श्लोकों में यह भली-भाँति समझाया गया है कि शरीर की थकान से जीवात्मा को कष्ट नहीं होता। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती आभूषणों से लदे एक बच्चे का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि बच्चे का शरीर अत्यन्त सुकुमार होता है, किन्तु न तो उसे थकान का अनुभव होता है और न उसके अभिभावक ही आभूषणों को उतारने के लिए व्यग्र होते हैं। जीवात्मा को शारीरिक सुख-दुख से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता। ये तो मानसिक कूट रचनाएँ हैं। जो बुद्धिमान व्यक्ति होगा वह हर चीज का कारण ढूँढ निकालेगा। लौकिक व्यवहार में भौतिक संयोगों तथा परिवर्तन क्रम को तथ्य कहा जा सकता है, किन्तु जीवन-शक्ति, आत्मा, को इनसे कोई सरोकार नहीं रहता। जो भौतिक दृष्टि से असंतुलित हैं, वे शरीर की परवाह करते हैं और ''दरिद्र नारायण'' की सृष्टि करते हैं। किन्तु यह सच नहीं है कि शरीर के दरिद्र (निर्धन) होने से आत्मा या परमात्मा भी दरिद्र हो जाता है। ऐसा तो अज्ञानी ही कहता है। आत्मा तथा परमात्मा शारीरिक सुख-दुख से सर्वथा पृथक् हैं।

शोच्यानिमांस्त्वमधिकष्टदीनान्

विष्ट्या निगृह्णन्निरनुग्रहोऽसि ।
जनस्य गोप्तास्मि विकत्थमानो
न शोभसे वृद्धसभासु धृष्टः ॥ ७॥

शब्दार्थ

शोच्यान्—शोचनीय है; इमान्—ये सब; त्वम्—तुम; अधि-कष्ट-दीनान्—अपनी दरिद्रता के कारण बेचारे लोग और अधिक कष्ट उठा रहे हैं; विष्ट्या—बलपूर्वक; निगृह्णन्—पकड़े हुए; निरनुग्रहः असि—तुम अत्यन्त दया से हीन हो; जनस्य—सामान्य लोगों का; गोप्ता अस्मि—मैं रक्षक (राजा) हूँ; विकत्थमानः—डींग मारते हुए; न शोभसे—तुम्हें शोभा नहीं देता; वृद्ध-सभासु—विद्वानों की सभा में; धृष्टः—बढ़-चढ़कर बातें करने वाला, उद्धत।

किन्तु यह सच है कि बेगारी में तुम्हारी पालकी ले जाने वाले ये निर्दोष व्यक्ति इस अन्याय के कारण कष्ट उठा रहे हैं। उनकी दशा अत्यन्त शोचनीय है, क्योंकि तुमने अपनी पालकी ले जाने के लिए जबरन उन्हें लगा रखा है। इससे सिद्ध होता है कि तुम क्रूर तथा निर्दय हो। तो भी अहंकारवश तुम यह सोच रहे थे कि तुम प्रजा के रक्षक हो। यह हास्यास्पद है। तुम जैसे मूर्ख को ज्ञानी पुरुषों की सभा में भला कौन महान् पुरुष मान सकता है?

तात्पर्य : राजा रहूगण को अपने राजा होने का अभिमान था और वह सोचता था कि उसे अपनी प्रजा पर अपनी इच्छानुसार नियंत्रण रखने का उसे अधिकार था जबकि वह बेगारी में लोगों से पालकी ढुलवा कर अकारण ही उन्हें पीड़ित कर रहा था। इतने पर भी वह अपने को प्रजा का रक्षक मानता था। वस्तुत: राजा को श्रीभगवान् का प्रतिनिधि होना चाहिए। इसीलिए वह नरदेवता—अर्थात् मनुष्यों में राजा—कहलाता है किन्तु यदि राजा अपने को राज्य का प्रमुख समझकर प्रजा का उपयोग अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए करता है, तो वह गलती करता है। विद्वान ऐसी प्रवृत्ति की प्रशंसा नहीं करते। वैदिक नियमों के अनुसार राजा को विद्वान साधुओं, ब्राह्मणों तथा विद्वानों से सलाह लेनी चाहिए जो कि धर्मशास्त्र में दिये गये आदेशों के अनुसार सलाह देते हैं। राजा का धर्म है कि वह इन आदेशों को माने। विद्वानजन राजा द्वारा प्रजा का उपयोग कभी पसन्द नहीं करते। उसे चाहिए कि वह प्रजा को संरक्षण प्रदान करे। राजा को ऐसा दुष्ट नहीं सिद्ध होना चाहिए कि वह अपने स्वार्थ हेतु प्रजा का शोषण करे।

श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि कलियुग में राज्य के शासक डाकू तथा चोर होंगे। ये डाकू तथा चोर जनता के धन तथा उनकी सम्पत्ति को छल से या बलपूर्वक ले लेते हैं। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है—*राजन्यैर्निर्घृणैर्दस्यु-धर्मभिः ।* ज्यों-ज्यों कलियुग पास आ रहा है, ये लक्षण पहले से ही

दृष्टिगोचर होने लगे हैं। हम सोच सकते हैं कि कलियुग के अन्त तक मानवीय सभ्यता किस अधोगति को प्राप्त होगी। निस्संदेह, कोई ऐसा ज्ञानी पुरुष नहीं बचेगा जो ईश्वर को तथा उसके साथ हमारे सम्बन्धों को समझ सके। दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि सभी मनुष्य पशु तुल्य हो जाएँगे। उस समय समाज को सुधारने के लिए श्रीकृष्ण कल्कि अवतार के रूप में प्रकट होंगे। उनका कार्य होगा अन्ततः नास्तिकों का वध, क्योंकि अन्ततः विष्णु या कृष्ण ही वास्तविक त्राता हैं।

जब तथाकथित राजा तथा राज्य के आमात्य कुव्यवस्था फैलाते हैं, तो ईश्वर अवतार लेते हैं और व्यवस्था लाते हैं। श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* में कहते हैं—*यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।* निस्संदेह, इसमें अनेक वर्ष लगते हैं, किन्तु नियम यही है कि जब राजा या आमात्य उचित नियमों का पालन नहीं करते तो प्रकृति युद्ध, अकाल इत्यादि के रूप में दण्ड देती है। अतः यदि वे जीवन के परम उद्देश्य से परिचित नहीं हैं, तो उन्हें प्रजा पर शासन करने का भार नहीं लेना चाहिए। वस्तुतः प्रत्येक वस्तु के परम स्वामी तो भगवान् विष्णु हैं। वह सबों का पालक हैं। राजा, पिता तथा अभिभावक ये तो भगवान् विष्णु के प्रतिनिधिमात्र होते हैं जिनके ऊपर व्यवस्था की रखवाली तथा व्यवस्था को बनाये रखने का उत्तरदायित्व सौंपा गया है। अतः राजा का यह कर्तव्य है कि प्रजा को इस प्रकार रखे कि उसे अन्ततः जीवन-उद्देश्य का ज्ञान हो सके। *न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुम्।* दुर्भाग्यवश न तो राजा, न ही जनता यह जानती है कि जीवन का परम उद्देश्य भगवान् विष्णु को जानना और उन तक पहुँचना है। इस ज्ञान के अभाव में प्रत्येक व्यक्ति अज्ञान में रहता है और सारे समाज में वंचकों और वंचितों की भरमार हो जाती है।

यदा क्षितावेव चराचरस्य
विदाम निष्ठां प्रभवं च नित्यम् ।
तन्नामतोऽन्यद्व्यवहारमूलं
निरूप्यतां सत्क्रिययानुमेयम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यदा—अतः; क्षितौ—पृथ्वी पर; एव—निश्चय ही; चर-अचरस्य—चर तथा अचर का; विदाम—हम जानते हैं; निष्ठाम्—प्रलय, संहार; प्रभवम्—सृष्टि; च—तथा; नित्यम्—प्रकृति के नियमों से नियमित रूप से; तत्—वह; नामतः—केवल नाम से; अन्यत्—अन्य; व्यवहार-मूलम्—भौतिक कार्यों का कारण; निरूप्यताम्—निश्चित किया गया; सत्-क्रियया—वास्तविक कार्य से; अनुमेयम्—निष्कर्ष निकालना चाहिए।

हम इस पृथ्वी के ऊपर विभिन्न रूपों में जीवात्माएँ हैं। हममें से कुछ गतिशील हैं, तो कुछ

गति नहीं करते। हम सभी उत्पन्न होते हैं, कुछ समय तक रहते हैं और नष्ट हो जाने पर पृथ्वी में पुनः मिल जाते हैं। हम सभी पृथ्वी के विभिन्न रूपान्तर (पार्थिव) हैं; विभिन्न शरीर तथा उपाधियाँ पृथ्वी के रूपान्तर मात्र हैं और नाम के लिए ही विद्यमान रहती हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु पृथ्वी से निकलती है और जब सब कुछ विनष्ट हो जाता है, तो वह फिर पृथ्वी में मिल जाती है। दूसरे शब्दों में, हम केवल धूल हैं और धूल ही रहेंगे। सबों को इस पर विचार करना चाहिए।

तात्पर्य : *ब्रह्मसूत्र* (२.१.१४) में कहा गया है कि— *तद्-अनन्यत्वम् आरभम्भण-शब्दादिभ्यः।* यह विराट जगत पदार्थ तथा आत्मा का मिश्रण है किन्तु इसका कारण तो परब्रह्म श्रीभगवान् हैं। अत: *श्रीमद्भागवत* (१..२०) में कहा गया है कि— *इदं हि विश्वं भगवानिवेतरः।* यह सम्पूर्ण विराट् जगत श्रीभगवान् की शक्ति का रूपान्तर मात्र है, किन्तु मोहवश किसी की समझ में यह नहीं आता कि ईश्वर इस भौतिक जगत से अभिन्न है। वस्तुत: वह भिन्न नहीं है। यह भौतिक जगत उसकी विभिन्न शक्तियों का केवल रूपान्तर है— *परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।* वेदों में इसके अन्य रूप भी हैं— *सर्वं खल्विदं ब्रह्म।* द्रव्य तथा आत्मा भगवान् से अभिन्न हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.४) में इसकी पुष्टि की है— *मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।* माया श्रीकृष्ण की शक्ति है, किन्तु वह उनसे पृथक् है। आत्म-शक्ति भी उन्हीं की शक्ति है, किन्तु यह उनसे अभिन्न है। जब यह माया परमात्मा की सेवा में तत्पर होती है, तो वह तथाकथित भौतिक शक्ति भी आत्मशक्ति में बदल जाती है, जिस प्रकार आग में रखने पर लोहा भी आग हो जाता है। जब हम विश्लेषण द्वारा यह समझ सकेंगे कि श्रीभगवान् कारणस्वरूप हैं, तो हमारा ज्ञान पूर्ण होगा। विभिन्न शक्तियों के रूपान्तर मात्र को समझ लेना अर्धज्ञान है। हमें परम कारण तक पहुँचना है। *न ते विदुः स्वार्थ गतिं हि विष्णुम्।* जो लोग समस्त स्रोतों के मूल कारण को जानने में रुचि नहीं रखते उनका ज्ञान कभी पूर्ण नहीं होता। इस प्रत्यक्ष संसार में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो श्रीभगवान् की परम शक्ति से उत्पन्न न हो सके। पृथ्वी से प्राप्त सुगन्धियाँ पृथ्वी से ही उद्भूत हैं, भले ही हम उन्हें नाना प्रकार से व्यवहार में लाएं किन्तु इनका मूल कारण पृथ्वी ही है और कुछ नहीं। मिट्टी के बने जलपात्र का उपयोग भले ही हम कुछ काल तक जल भरने के लिए करें, किन्तु वह पात्र मिट्टी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अत: पात्र में और उसके मूल अवयव के अर्थात् मिट्टी में कोई अन्तर नहीं है। यह मात्रशक्ति का विभिन्न परिवर्तन है। मूल कारण या मूल अवयव तो श्रीभगवान् हैं और

उसकी विभिन्न किस्में आनुषंगिक फल हैं। *छान्दोग्य उपनिषद्* में कहा गया है—*यथा सौम्यकेन मृतपिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भनां विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।* पृथ्वी का अध्ययन करने वाले को स्वभावत: पृथ्वी के आनुषंगिक फलों का भी ज्ञान हो जाता है। इसीलिए वेद कहते हैं—*यस्मिन् विज्ञाते सर्वम् एवं विज्ञातं भवति*—यदि कोई आदि कारण कृष्ण को, जो समस्त कारणों के भी कारण हैं, जान लेता है, तो उसे प्रत्येक वस्तु का ज्ञान हो जाता है, भले ही वह विभिन्न किस्मों (प्रकारों) में प्रस्तुत क्यों न हो। इन विभिन्न किस्मों (प्रकारों) के मूल कारण को समझने पर प्रत्येक वस्तु का ज्ञान हो जाता है। यदि हम प्रत्येक वस्तु के मूल कारण श्रीकृष्ण को समझ सकें तो हमें उसकी गौण किस्मों (प्रकारों) को पृथक् से जानने की आवश्यकता नहीं रह जाएगी। अत: प्रारम्भ से ही कहा गया है—*सत्यं परं धीमहि।* मनुष्य को परम सत्य श्रीकृष्ण या वासुदेव पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। वासुदेव शब्द पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का सूचक है, जो समस्त कारणों के कारण हैं। *मत्-स्थानि सर्व-भूतानि न चाहं तेष्ववस्थित:।* यह प्रत्यक्ष तथा सात्विक दर्शन का सार है। व्यवहार-संसार तात्विक संसार पर आश्रित है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ परमेश्वर की शक्ति के कारण विद्यमान है यद्यपि हमारी अविद्या के कारण परमेश्वर प्रत्येक पदार्थ में दिखाई नहीं पड़ता।

एवं निरुक्तं क्षितिशब्दवृत्त-
मसन्निधानात्परमाणवो ये ।
अविद्यया मनसा कल्पितास्ते
येषां समूहेन कृतो विशेषः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; निरुक्तम्—मिथ्या वर्णन किया गया; क्षिति-शब्द—क्षिति अर्थात् ''पृथ्वी'' शब्द; वृत्तम्—उपस्थिति; असत्—असत्य; निधानात्—विलीन होने से; परम-अणवः—अत्यन्त सूक्ष्म कण; ये—जो सब; अविद्यया—अविद्या अर्थात् अज्ञान से; मनसा—मन से; कल्पिताः—कल्पना किये हुए; ते—वे; येषाम्—जिनका; समूहेन—समूह के द्वारा; कृतः—बनाया हुआ; विशेषः—विशेष।

कोई यह कह सकता है कि विविधता तो स्वयं पृथ्वी से उत्पन्न होती है। तथापि यह ब्रह्माण्ड भले ही थोड़े समय तक सत्य प्रतीत हो पर वास्तव में इसका कोई अस्तित्व नहीं है। यह पृथ्वी मूलत: सूक्ष्म कणों के संयोग से उत्पन्न हुई थी, किन्तु ये कण अस्थायी हैं। वास्तव में परमाणु ब्रह्माण्ड का कारण नहीं, यद्यपि कुछ दार्शनिक ऐसा सोचते हैं। यह सत्य नहीं है कि इस संसार में पाई जाने वाली विविधता (किस्में) परमाणुओं के उलट-पुलट या विविध संयोगों का

प्रतिफल है।

तात्पर्य : जो परमाणुवाद के समर्थक हैं उनका विचार है कि परमाणुओं के प्रोटान तथा इलेक्ट्रान मिलकर विभिन्न वस्तुओं की उत्पत्ति करते हैं। किन्तु वैज्ञानिकगण परमाणु के ही अस्तित्व का कारण खोजने में असमर्थ हैं। ऐसी दशा में हम यह नहीं कह सकते कि परमाणु ही ब्रह्माण्ड का कारणस्वरूप है। ऐसे सिद्धान्त अज्ञानी लोग प्रस्तुत करते हैं। वास्तविक बुद्धि के अनुसार इस विराट् जगत का असली कारण परमेश्वर है। *जन्माद्यस्य यतः*—वह समस्त सृष्टि का मूल कारण है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.८) में कहा गया है—*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते*—कृष्ण ही मूल कारण हैं। *सर्व कारण-कारणं*—वह समस्त कारणों के कारण हैं। कृष्ण ही परमाणु अथवा भौतिक ऊर्जा (शक्ति) के कारण हैं (*भगवद्गीता* ७.४)—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

परम कारण भगवान् हैं और केवल अज्ञानी व्यक्ति ही विभिन्न सिद्धान्तों के द्वारा अन्य कारणों की खोज का प्रयत्न करते हैं।

एवं कृशं स्थूलमणुर्बृहद्यद्
असच्च सज्जीवमजीवमन्यत् ।
द्रव्यस्वभावाशयकालकर्म-
नाम्नाजयावेहि कृतं द्वितीयम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कृशम्—दुर्बल या छोटा; स्थूलम्—मोटा; अणुः—लघु; बृहत्—बड़ा; यत्—जो; असत्—अस्थायी; च—तथा; सत्—अस्तित्वमान्; जीवम्—जीवात्मा; अजीवम्—जड़, जीवरहित पदार्थ; अन्यत्—अन्य कारण; द्रव्य—घटना; स्व-भाव—प्रकृति, आचरण; आशय—मन्तव्य; काल—समय; कर्म—कार्य, वृत्ति; नाम्ना—नामों से; अजया—प्रकृति द्वारा; अवेहि—तुम्हें समझना चाहिए; कृतम्—किया गया; द्वितीयम्—द्वैत।

चूँकि इस ब्रह्माण्ड का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है, अतः इसके भीतर की वस्तुएँ—यथा लघुता, अन्तर, स्थूलता, कृशता, सूक्ष्मता, विशालता, परिणाम, कारण, कार्य, चेतना तथा द्रव्य—ये सब काल्पनिक हैं। ये एक ही वस्तु-मिट्टी के बने पात्र हैं, किन्तु इनके नाम भिन्न-भिन्न हैं। ये अन्तर पदार्थ, प्रकृति, आशय, काल तथा क्रिया (कर्म) द्वारा जाने जाते हैं। तुम्हें जानना चाहिए कि ये प्रकृति द्वारा उत्पन्न यांत्रिक अभिव्यक्तियाँ हैं।

तात्पर्य : इस जगत में क्षणिक अभिव्यक्तियाँ तथा विविधताएँ विभिन्न परिस्थितियों के अन्तर्गत भौतिक प्रकृति की सृष्टियाँ हैं—*प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।* कभी-कभी प्रकृति द्वारा सम्पन्न कर्म तथा फल को हम वैज्ञानिक आविष्कार मान बैठते हैं और इस प्रकार ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करके वाहवाही लूटते हैं। इसका उल्लेख *भगवद्गीता* (३.२७) में हुआ है—*अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते*—बहिरंगा शक्ति के द्वारा प्रच्छन्न होने से जीवात्मा इस जगत की विभिन्न सृष्टियों का यश लूटना चाहता है। वस्तुतः ये सभी भगवान् की शक्ति से गतिमान होकर स्वतः उत्पन्न होती हैं। अतः चरम कारण तो परम पुरुष है। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

वह समस्त कारणों का कारण—परम कारण है। इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य का कहना है—*एवं सर्वं तथा प्रकृत्वयै कल्पितं विष्णोरन्यत्। एवं प्रकृत्याधारः स्वयं अनन्याधारो विष्णुरेव। अतः सर्व-शब्दाश्च तस्मिन्नेव।* वस्तुतः विष्णु ही मूल कारण हैं, किन्तु अज्ञानवश मनुष्य सोचता है कि पदार्थ ही प्रत्येक वस्तु का कारण है।

राजा गोप्ताश्रयो भूमिः शरणं चेति लौकिकः।
व्यवहारो न तत् सत्यं तयोर्ब्रह्माश्रयो विभुः॥

ये बातें ऊपर-ऊपर सोची जाती हैं, किन्तु सत्य यह नहीं है। प्रत्येक प्राणी का वास्तविक रक्षक तथा आश्रय परब्रह्म होता है, राजा नहीं।

गोप्त्री च तस्य प्रकृतिस्तस्या विष्णुः स्वयं प्रभुः।
तव गोप्त्री तु पृथ्वी न त्वं गोप्ता क्षितेः स्मृतः॥
अतः सर्वाश्रयैश्चैव गोप्ता च हरिरीश्वरः।
सर्वशब्दाभिधेयश्च शब्दवृत्तेहि कारणम्॥
सर्वान्तरः सर्वबहिरेक एव जनार्दनः॥

वास्तविक रक्षक तो प्रकृति है, किन्तु विष्णु उसका भी स्वामी है। वह प्रत्येक वस्तु का स्वामी है। भगवान् जनार्दन अन्तः तथा बाह्य दोनों रूप में अधीक्षक हैं। वे वाणी तथा शब्दों से जो भी व्यक्त होता

है उसके कारण हैं।

शिरसोधारता यद्वद् ग्रीवायास्तद्वदेव तु।

आश्रयत्वं च गोप्तृत्वम् अन्येषाम् उपचारत: ॥

भगवान् विष्णु सम्पूर्ण सृष्टि के विश्राम-स्थल–हैं *ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्* (*भगवद्गीता* १४.२७)। ब्रह्म पर ही सब कुछ टिका है। सभी ब्रह्माण्ड *ब्रह्मज्योति* पर टिके हैं और सभी लोक (ग्रह) वायुमण्डल में टिके हैं। प्रत्येक लोक में समुद्र, पर्वत, राज्य, साम्राज्य हैं और प्रत्येक लोक में न जाने कितनी जीवात्माएँ आश्रय पाती हैं। ये जीवात्माएँ पैरों, जाँघों, कटि, कंधों की पृथ्वी पर खड़ी हैं, किन्तु वस्तुत: प्रत्येक वस्तु श्रीभगवान् की शक्तियों पर टिकी है। इसलिए अन्ततोगत्वा वह *सर्व-कारण-कारणम्* कहे जाते हैं।

ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेक-
मनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम् ।
प्रत्यक्प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं
यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ज्ञानम्—परम ज्ञान; विशुद्धम्—कल्मषहीन, शुद्ध; परम-अर्थम्—जीवन का परम उद्देश्य प्रदान करने वाला; एकम्—एक; अनन्तरम्—अन्तरविहीन; तु—भी; अबहि:—बाह्यरहित; ब्रह्म—ब्रह्म, परम; सत्यम्—परम सत्य; प्रत्यक्—आन्तरिक, आभ्यन्तर; प्रशान्तम्—शान्त परमेश्वर, जिसकी उपासना योगी करते हैं; भगवत्-शब्द-संज्ञम्—भगवान् शब्द से ज्ञात अथवा सम्पूर्ण ऐश्वर्य से पूर्ण; यत्—उस; वासुदेवम्—श्रीकृष्ण, वसुदेव के पुत्र को; कवय:—बुद्धिमान अथवा विद्वान; वदन्ति—कहते हैं।.

तो फिर परम सत्य क्या है? उत्तर है अद्वैत ज्ञान जो भौतिक गुणों के कल्मष से रहित है। वह मुक्तिप्रदायक है। वह अद्वितीय, सर्वव्यापी तथा कल्पनातीत है। उस ज्ञान की प्रथम प्रतीति ब्रह्म है। फिर योगियों द्वारा अनुभव किया जाने वाला परमात्मा है। जो बिना किसी कष्ट के उसे देखने का प्रयास करते है यह प्रतीति की दूसरी अवस्था है। अन्त में परम पुरुष में ही उसी परम ज्ञान की पूर्ण प्रतीति की जाती है। सभी विद्वान परम पुरुष को वासुदेव के रूप में वर्णन करते हैं, जो ब्रह्म, परमात्मा आदि का कारण है।

तात्पर्य : *चैतन्य चरितामृत* में कहा गया है— *यद् अद्वैतं ब्रह्मोपनिषदि तदप्यस्य तनुभा।* परम सत्य का निर्गुण-ब्रह्मतेज पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की दैहिक किरणों का बना होता है। *य आत्मान्तरयामी पुरुष*

इति सोऽस्यांश-विभवः। आत्मा तथा अन्तर्यामी अथवा परमात्मा श्रीभगवान् का ही विस्तार है। *षड्-ऐश्वर्यैः पूर्णो य इह भगवान् स स्वयं अयम्।* जिसे श्रीभगवान् कहा गया है और जो छः ऐश्वर्यों से ओतप्रोत है वह वासुदेव है और श्री चैतन्य महाप्रभु उससे अभिन्न हैं। बड़े-बड़े विद्वान तथा दार्शनिक अनेक जन्मों के बाद इसे स्वीकार करते हैं। *वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः* (*भगवद्गीता* ७.१९)। बुद्धिमान मनुष्य जान सकते हैं कि अन्ततः वासुदेव कृष्ण ही ब्रह्म तथा परमात्मा के कारण हैं। इस प्रकार वासुदेव *सर्वकारण-कारणम्* है। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* (१.२.११) में की गई है।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

वास्तविक तत्त्व अर्थात् परम सत्य तो भगवान् हैं, किन्तु परम सत्य की अपूर्ण प्रतीति से कभी कभी लोग उसी विष्णु को निर्गुण ब्रह्म या अन्तर्यामी परमात्मा कहते हैं।

श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में ही कहा गया है—*सत्यं परं धीमहि*—हम परम सत्य का ध्यान करते हैं। यहाँ पर परम सत्य को *ज्ञानं विशुद्धं सत्यम्* के रूप में बताया गया है। परम सत्य कल्मषरहित एवं दिव्य होता है। इससे सभी आत्म-सिद्धियाँ एवं भौतिक जगत से मुक्ति प्राप्त होती है। परम सत्य तो वासुदेव कृष्ण हैं। कृष्ण के बाह्य तथा अन्तः में कोई अन्तर नहीं है। वे पूर्ण हैं। उनके शरीर तथा आत्मा में हमारे-जैसा अन्तर नहीं है। कभी-कभी तथाकथित विद्वान कृष्ण की वास्तविक स्थिति से परिचित न होने के कारण लोगों को यह कह कर गुमराह करते रहते हैं कि अन्तःकरण में स्थित कृष्ण बाह्य रूप में स्थित कृष्ण से भिन्न हैं। *मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु*—कृष्ण के इस कथन के अनुसार कुछ तथाकथित विद्वान पाठकों (श्रोताओं) को यह उपदेश देते हैं कि हमें व्यक्ति-कृष्ण को समर्पण न करके आन्तरिक कृष्ण को करना चाहिए। ये तथाकथित मायावादी विद्वान अपने अल्पज्ञान से कृष्ण को कभी नहीं समझ पाएँगे। अतः मनुष्य को किसी प्रामाणिक व्यक्ति के पास जाना चाहिए जिससे वे कृष्ण को समझ सकेंगे। सद्गुरु कृष्ण को वास्तव में सदा देखे रहता है, अतः वही उसका सही-सही वर्णन कर सकता है। तभी तो *भगवद्गीता* (४.३४) में कहा गया है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

बिना अधिकारी विद्वान के पास गये कृष्ण को नहीं समझा जा सकता।

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा ।
न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

रहूगण—हे राजा रहूगण; एतत्—यह ज्ञान; तपसा—कठिन तपस्या द्वारा; न याति—नहीं आता; न—नहीं; च—भी; इज्यया—श्रीविग्रह की पूजा के लिए महत् आयोजन से; निर्वपणात्—अथवा समस्त सांसारिक कर्तव्यों को पूरा करने और संन्यास ग्रहण करने से; गृहात्—आदर्श गृहस्थ जीवन से; वा—अथवा; न—न तो; छन्दसा—ब्रह्मचर्य धारण करने या वेदों के अध्ययन से; न एव—न तो; जल-अग्नि-सूर्यैः—जल, तपती धूप या जलती अग्नि में रह कर कठिन तपस्या करने से; विना—रहित; महत्—परम भक्तों की; पाद-रजः—चरण धूलि में; अभिषेकम्—शरीर मार्जन, स्नान।

हे राजा रहूगण, महापुरुषों के चरणकमलों की धूलि से सम्पूर्ण शरीर को मलने के लिए बिना परम सत्य की प्रतीति नहीं हो सकती। ब्रह्मचर्य धारण करने, गृहस्थ जीवन के विधि-विधानों के अनुपालन, वानप्रस्थ के रूप में गृहत्याग अथवा संन्यास ग्रहण करने या शीत ऋतु में जल में घुस कर घोर तपस्या करने, या ग्रीष्म में अग्नि से घिर रहने झुलसती धूप में पड़े रहने जैसी कठिन तपस्याओं से परम सत्य की प्रतीति नहीं हो सकती। परम सत्य को जानने के और भी अनेक साधन हैं, किन्तु परम सत्य उसे ही प्राप्त होता है, जिसे किसी महान् भक्त का अनुग्रह प्राप्त हो।

तात्पर्य : केवल विशुद्ध भक्त ही किसी को दिव्य आनन्द का वास्तविक ज्ञान प्रदान कर सकता है। *वेदेषु दुर्लभम् अदुर्लभम् आत्म-भक्तौ।* केवल वेदों के आदेशों के पालन से आत्मसिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। मनुष्य को विशुद्ध भक्त के पास पहुँचना होता है—*अन्याभिलाषिता-शून्यं ज्ञान-कर्माद्यनावृत्तम्।* ऐसे भक्त के अनुग्रह से परम सत्य कृष्ण और उनसे अपने सम्बन्ध को समझा जा सकता है। भौतिकवादी व्यक्ति कभी-कभी सोच बैठता है कि पुण्यकर्म करके तथा घर पर ही रह करके ही परम सत्य को समझा जा सकता है। इस श्लोक में इसको अस्वीकार किया गया है। न ही कोई ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करके परम सत्य को जान सकता है। मनुष्य को केवल शुद्ध भक्त की सेवा करनी होती है। इससे परम सत्य समझ में आ जाएगा।

यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः
प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः ।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षो-
र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जिस स्थान में (भक्तों के समक्ष); उत्तम-श्लोक-गुण-अनुवादः—श्रीभगवान् की लीलाओं तथा गुणों की चर्चा; प्रस्तूयते—प्रस्तुत की जाती है; ग्राम्य-कथा-विघातः—जिसके कारण लौकिक विषयों की चर्चा के लिए अवसर नहीं मिलता; निषेव्यमाणः—अत्यन्त मनोयोग से सुनी जाकर; अनुदिनम्—नित्यप्रति; मुमुक्षोः—भौतिक बंधन से निकलने के लिए इच्छुक व्यक्ति का; मतिम्—ध्यान; सतीम्—शुद्ध तथा सरल; यच्छति—लगा देती है; वासुदेवे—भगवान् वासुदेव के चरमकमलों में।.

यहां वर्णित वे शुद्ध भक्त कौन हैं? शुद्ध भक्तों की सभा में राजनीति या समाजशास्त्र जैसे सांसारिक विषयों पर चर्चा चलाने का प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की लीलाओं, स्वरूप एवं गुणों की ही चर्चा होती है। उनकी प्रशंसा तथा उपासना पूर्ण मनोयोग से की जाती है। यहाँ तक कि विशुद्ध भक्तों की संगति से, ऐसे विषयों को लगातार आदर पूर्वक सुनने से ऐसा पुरुष जो परम सत्य में तदाकार होना चाहता है, वह भी अपने इस विचार को त्याग कर क्रमशः वासुदेव की सेवा में आसक्त हो जाता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में शुद्ध भक्तों के लक्षण बताये गये हैं। शुद्ध भक्त कभी भी सांसारिक विषयों में रुचि नहीं रखता। श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने भक्तों को सांसारिक विषयों के सम्बन्ध में चर्चा करने के लिए वर्जित किया है। *ग्राम्य-वार्ता ना कहिबे*—मनुष्य को चाहिए कि भौतिक जगत के समाचारों के विषय में वृथा चर्चा करने में संलग्न न हो। मनुष्य को इस प्रकार से समय नहीं गँवाना चाहिए। भक्त के जीवन का यह महत्त्वपूर्ण लक्षण है। भक्त के समक्ष श्रीकृष्ण की सेवा के अतिरिक्त कोई अन्य ध्येय नहीं होता। कृष्णभावनामृत आन्दोलन को इसलिए चलाया गया था जिससे लोगों को भगवान् की सेवा में निरन्तर व्यस्त रखा जा सके। इस संस्था के विद्यार्थी प्रातः पाँच बजे से लेकर रात्रि के दस बजे तक कृष्णभक्ति का अनुशीलन करते हैं। उन्हें राजनीति, समाजशास्त्र तथा सामयिक विषयों की वृथा चर्चा में समय गँवाने का अवसर ही नहीं मिल पाता। यह सब तो चलता ही रहेगा। भक्त को सकारात्मक और गम्भीर रूप से कृष्ण की भक्ति से सरोकार होता है।

अहं पुरा भरतो नाम राजा
विमुक्तदृष्टश्रुतसङ्गबन्धः ।
आराधनं भगवत ईहमानो

मृगोऽभवं मृगसङ्गाद्धतार्थः ॥ १४॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; पुरा—पहले (पूर्व जन्म में); भरतः नाम राजा—भरत नाम का राजा; विमुक्त—मुक्त; दृष्ट-श्रुत—प्रत्यक्ष अनुभव से अथवा वेदों से ज्ञान प्राप्त करके; सङ्ग-बन्धः—संगति का बन्धन; आराधनम्—पूजा; भगवतः—भगवान् की; ईहमानः—सदैव करते हुए; मृगः अभवम्—मैं मृग बन गया; मृग-सङ्गात्—मृग के साथ घनिष्ठ मैत्री से; हत-अर्थः—भक्ति के विधि-विधानों की उपेक्षा करके।

मैं पूर्वजन्म में महाराज भरत के नाम से विख्यात था। मैंने प्रत्यक्ष अनुभव तथा वेद-ज्ञान से प्राप्त अप्रत्यक्ष अनुभव द्वारा सांसारिक कार्यों से पूर्णतया विरक्त होकर सिद्धि प्राप्त की। मैं पूर्णतया भगवान् की सेवा में तत्पर रहता था, किन्तु दुर्भाग्यवश मैं एक छोटे से मृग के प्रति इतना आसक्त हो उठा कि मैंने सारे आध्यात्मिक कर्तव्यों की उपेक्षा कर दी। मृग के प्रति प्रगाढ़ स्नेह के कारण अगले जन्म में मुझे मृग का शरीर अंगीकार करना पड़ा।

तात्पर्य : यहाँ पर वर्णित घटना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है—*विना महत्-पाद-रजोऽभिषेकम्*—महापुरुष के चरणकमल की धूलि को सिर पर धारण किये बिना सिद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती। यदि सद्गुरु के आदेशों का निरन्तर पालन किया जाये तो गिरने का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु ज्योंही अज्ञानी शिष्य महत्त्वाकांक्षा के कारण अपने गुरु का स्थान बलात् लेने का प्रयास करता है त्योंही उसका पतन हो जाता है। *यस्य प्रसादाद् भगवत्-प्रसादो यस्याप्रसादान्न गतिः कुतोऽपि।* यदि शिष्य गुरु को सामान्य व्यक्ति मानता है, तो उसकी प्रगति रुक जाती है। भक्ति करते हुए भी भरत महाराज ने मृग के प्रति अत्यधिक आसक्त होने पर किसी गुरु से सलाह नहीं ली। फलतः वे मृग से अत्यधिक आसक्त हो गये और अपने नैतिक कर्म भूल जाने से नीचे गिर गये।

सा मां स्मृतिर्मृगदेहेऽपि वीर
कृष्णार्चनप्रभवा नो जहाति ।
अथो अहं जनसङ्गादसङ्गो
विशङ्कमानोऽविवृतश्चरामि ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; माम्—मुझको; स्मृतिः—पूर्वजन्म के कर्मों की याद; मृग-देहे—मृग के शरीर में; अपि—यद्यपि; वीर—हे वीर; कृष्ण-अर्चन-प्रभवा—श्रीकृष्ण की एकनिष्ठ सेवा के प्रभाव से प्रकट; नो जहाति—नहीं छोड़ पाई; अथो—अतः; अहम्—मैं; जन-सङ्गात्—सामान्य पुरुषों के संसर्ग से; असङ्गः—पूर्णतया विरक्त; विशङ्कमानः—भयभीत होकर; अविवृतः—दूसरों से अलक्षित, गुप्त; चरामि—इधर-उधर घूमता हूँ।

हे वीर राजा, अपनी पूर्व अनन्य भगवत्-भक्ति के फलस्वरूप मृग शरीर में रहकर भी मुझे

पूर्वजन्म की प्रत्येक वस्तु स्मरण रही। चूँकि मैं अपने पूर्वजन्म के पतन से परिचित हूँ, अतः मैं सामान्य व्यक्तियों के संसर्ग से अपने को दूर रखता हूँ। उनकी कुसंगति से डरकर मैं अलक्षित (गुप्त) होकर अकेला घूमता फिरता हूँ।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (२.४०) में कहा गया है—*स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य।* सचमुच ही मनुष्य जीवन से पशु जीवन में पहुँचना महान् पतन है किन्तु भगवद्भक्ति कभी वृथा नहीं जाती जैसाकि जड़ भरत या अन्य भक्तों के प्रसंग में देखा जाता है। *भगवद्गीता* का (८.६) कथन है—*यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।* प्राकृतिक नियम के अनुसार मृत्यु के समय मन विशेष प्रकार के ध्यान में तल्लीन रहता है। इससे पशु जीवन मिल सकता है, किन्तु भक्त के लिए इससे कोई हानि नहीं पहुँचती। भरत महाराज को मृग शरीर प्राप्त होने पर भी अपनी पूर्वस्थिति स्मरण रही, फलतः मृग शरीर में भी उन्हें अपने पतन का कारण भली-भाँति स्मरण रहा। इसके कारण ही उनका जन्म अत्यन्त पवित्र ब्राह्मणकुल में हुआ। इस तरह उनकी भगवत्-सेवा वृथा नहीं गई।

तस्मान्नरोऽसङ्गसुसङ्गजात-
ज्ञानासिनेहैव विवृक्णमोहः ।
हरिं तदीहाकथनश्रुताभ्यां
लब्धस्मृतिर्यात्यतिपारमध्वनः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इस कारण से; नरः—प्रत्येक व्यक्ति; असङ्ग—सांसारिक पुरुषों के संसर्ग से विरक्त होकर; सु-सङ्ग—भक्तों की संगति से; जात—उत्पन्न; ज्ञान-असिना—ज्ञान रूपी तलवार से; इह—इस भौतिक जगत में; एव—यहाँ तक कि; विवृक्ण-मोहः—मोह छिन्न-छिन्न हो जाता है; हरिम्—श्रीभगवान्; तद्-ईहा—उनके कार्यों का; कथन-श्रुताभ्याम्—श्रवण तथा कीर्तन इन दो विधियों से; लब्ध-स्मृतिः—खोई चेतना प्राप्त हो जाती है; याति—प्राप्त करता है; अतिपारम्—परम अन्त; अध्वनः—परम धाम का।.

उन्नत भक्तों की संगति मात्र से पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और फिर ज्ञान की तलवार से सांसारिक मोहों को छिन्न-भिन्न किया जा सकता है। भक्तों की संगति से ही श्रवण तथा कीर्तन (श्रवणं कीर्तनम्) द्वारा भगवान् की सेवा में अनुरक्त हुआ जा सकता है। इस प्रकार से अपने सुप्त कृष्णभावनामृत को जागृत किया जा सकता है और कृष्णभावनामृत के अनुशीलन द्वारा इसी जीवन में परमधाम को वापस जाया जा सकता है।

तात्पर्य : भव-बंधन से मुक्त होने के लिए सांसारिक व्यक्तियों की संगति त्याग करके भक्तों की

संगति करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में सकारात्मक तथा नकारात्मक विधियाँ बताई गई हैं। भक्तों की संगति से सुप्त कृष्णभावनामृत जागृत होती है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन सबों के लिए यह अवसर प्रदान कर रहा है। जो भी कृष्णभक्ति में आगे बढ़ना चाहता है उसे हम आश्रय देते हैं। हम उनके रहने तथा भोजन की व्यवस्था करते हैं जिससे वे शान्तिपूर्वक कृष्णभावनामृत का अनुशीलन करके इसी जीवन में परम धाम को प्राप्त हो सकें।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''महाराज रहूगण तथा जड़ भरत की वार्ता'' नामक बारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तेरह

राजा रहूगण तथा जड़ भरत के बीच और आगे वार्ता

ब्राह्मण जड़ भरत राजा रहूगण पर अत्यन्त दयालु हो उठे और उसे इस जगत से छुड़ाने के लिए उन्होंने संसार रूपी जंगल (भवाटवी) का अलंकारिक वर्णन किया। उन्होंने बताया कि यह संसार एक विशाल जंगल के समान है, जिसमें भौतिक जीवन के संसर्ग के कारण मनुष्य उलझ जाता है। इस जंगल में लुटेरे (छः इन्द्रियाँ) तथा सियार, भेड़िये तथा सिंह जैसे हिंस्र पशु (पत्नी, संतान तथा परिजन) रहते हैं, जो परिवार के मुखिया का रक्तपान करने को सदैव आतुर रहते हैं। ये सब मिलकर इस भौतिक जगत में मनुष्य की शक्ति का शोषण करना चाहते हैं। इसी जंगल में घास से ढका हुआ एक काला छेद (श्याम विवर) भी है, जिसमें कोई भी गिर सकता है। जंगल में आकर और अनेक भौतिक आकर्षणों से आसक्त होकर मनुष्य अपने को इस संसार, समाज, मित्रता, प्रेम तथा परिवार से पहचानने लगता है। रास्ता भूल जाने पर और यह न जानते हुए कि किधर जाना है, पशु-पक्षियों द्वारा सताये जाने के साथ ही वह अनेक कामनाओं का शिकार हो जाता है। इस प्रकार इस जंगल में वह परिश्रम करता हुआ इधर-उधर भटकता रहता है। वह क्षणिक सुख से प्रसन्न होता है और तथाकथित दुख से दुखी होता है। वस्तुतः इस जंगल में तथाकथित सुख-दुख के कारण वह कष्ट उठाता रहता है। कभी उस पर साँप (निद्रा) प्रहार करता है और वह सर्पदंश से हतचेतन हो जाता है। किंकर्तव्यविमूढ़ होने से वह यह नहीं समझ पाता कि क्या करे। कभी-कभी वह अपनी पत्नी को छोड़कर दूसरी स्त्री के

प्रति आकृष्ट होकर उसके साथ प्रेम का आनन्द ले कर अपने आप को सुखी समझता है। उसे अनेक रोग, शोक तथा ग्रीष्म एवं शीत प्रताड़ित करते रहते हैं। इस प्रकार इस संसार रूपी जगत में भौतिक कष्ट उठाता है। सुखी बनने के उद्देश्य से जीवात्मा एक स्थान छोड़कर दूसरे स्थान को जाता है, किन्तु भौतिकतावादी (विषयी) पुरुष इस संसार में कभी सुखी नहीं रहता। भौतिक कार्यकलापों में लिप्त रहने के कारण वह सदैव विक्षुब्ध रहता है। वह भूल जाता है कि एक दिन उसे मरना भी है। घोर कष्ट उठाने पर भी वह माया से मोहग्रस्त होकर भौतिक सुख के पीछे दीवाना रहता है। इस प्रकार वह भगवान् से अपने सम्बन्ध को पूर्णतः भूल जाता है।

जड़ भरत से यह सुनकर महाराज रहूगण की कृष्णभावना जागृत हो उठी और जड भरत की संगति से उसे लाभ पहुँचा। उसे ज्ञात हो सका कि उसका मोह भंग हो चुका है, अतः उसने अपने दुर्व्यवहार के लिए जड़ भरत से क्षमा माँगी। यह सब शुकदेव गोस्वामी ने राजा परीक्षित को कह सुनाया।

ब्राह्मण उवाच
दुरत्ययेऽध्वन्यजया निवेशितो
रजस्तमःसत्त्वविभक्तकर्मदृक् ।
स एष सार्थोऽर्थपरः परिभ्रमन्
भवाटवीं याति न शर्म विन्दति ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणः उवाच—ब्राह्मण जड़ भरत ने कहा; दुरत्यये—जिसको पार करना कठिन है, दुर्गम; अध्वनि—सकाम कर्मों के पथ पर (इस जन्म में कर्म करना, इन कर्मों के आधार पर अगले जन्म में शरीर ग्रहण करना और इस प्रकार जन्म-मरण के चक्र को स्वीकार करना); अजया—माया के द्वारा, श्रीभगवान् की बहिरंगा शक्ति; निवेशितः—सन्निविष्ट; रजः-तमः-सत्त्व-विभक्त-कर्म-दृक्—बद्ध आत्मा जो लाभप्रद कर्मों तथा उनके फलों को तुरन्त देख लेता है जो सतो, रजो तथा तमो गुणों द्वारा तीन समूहों में विभक्त है; सः—वह; एषः—यह; स-अर्थः—सकाम; अर्थ-परः—धन प्राप्ति में तुला हुआ; परिभ्रमन्—सर्वत्र घूमते हुए; भव-अटवीम्—भव नामक जंगल अर्थात् जन्म-मरण का चक्र; याति—प्रवेश करता है; न—नहीं; शर्म—सुख; विन्दति—प्राप्त करता है।

ब्रह्म-साक्षात्कार-प्राप्त जड़ भरत ने आगे कहा—हे राजा रहूगण, जीवात्मा इस संसार के दुर्लंघ्य पथ पर घूमता रहता है और बारम्बार जन्म तथा मृत्यु स्वीकार करता है। प्रकृति के तीन गुणों (सत्त्व, रज तथा तम) के प्रभाव से इस संसार के प्रति आकृष्ट होकर जीवात्मा प्रकृति के जादू से केवल तीन प्रकार के फल जो शुभ, अशुभ तथा शुभाशुभ होते हैं देख पाता है। इस प्रकार वह धर्म, आर्थिक विकास, इन्द्रियतृप्ति तथा मुक्ति की अद्वैत भावना (परमात्मा में

तादात्म्य) के प्रति आसक्त हो जाता है। वह उस वणिक के समान अहर्निश कठोर श्रम करता है जो कुछ सामग्री प्राप्त करने और उससे लाभ उठाने के उद्देश्य से जंगल में प्रवेश करता है। किन्तु उसे इस संसार में वास्तविक सुख उपलब्ध नहीं हो पाता।

तात्पर्य : यह सरलता से समझ में आता है कि इन्द्रियतृप्ति का मार्ग कितना कठिन तथा दुर्लंघ्य है। इस मार्ग को न जानने के कारण मनुष्य विभिन्न देहों में पुन: पुन: जन्म धारण करता है। इससे उसे इस संसार में कष्ट उठाना पड़ता है। इस जीवन में कोई यह सोचकर भले प्रसन्न होले कि वह अमरीकी, भारतीय, अंग्रेज या जर्मन है, किन्तु अगले जन्म में उसे चौरासी लाख योनियों में कोई दूसरा शरीर धारण करना होगा। अगला शरीर कर्म के अनुसार तुरन्त प्राप्त होगा। तब उसे वही शरीर स्वीकार करना होगा—किसी प्रकार के प्रतिकार से लाभ नहीं होगा। प्रकृति का यह कठोर नियम है। अविद्यावश जीवात्मा को अपना परम आनन्दमय जीवन ज्ञात नहीं रहता जिससे वह माया के प्रभाव से भौतिक विषयों के प्रति आकृष्ट होता है। इस संसार में उसे कभी भी सुख नहीं मिल पाता, किन्तु वह उसी के लिए अत्यधिक श्रम करता है। यही माया है।

यस्यामिमे षण्नरदेव दस्यव:
सार्थं विलुम्पन्ति कुनायकं बलात् ।
गोमायवो यत्र हरन्ति सार्थिकं
प्रमत्तमाविश्य यथोरणं वृका: ॥ २॥

शब्दार्थ

यस्याम्—जिसमें (भवाटवी में); इमे—ये; षट्—छ:; नर-देव—हे राजा; दस्यव:—लुटेरे; स-अर्थम्—मिथ्या विचारों में ग्रस्त बद्धजीव; विलुम्पन्ति—लूटते हैं सर्वस्व हर लेते हैं; कु-नायकम्—जो नामधारी गुरुओं द्वारा सदैव ही कुमार्ग में ले जाये जाते हैं; बलात्—बलपूर्वक; गोमायव:—लोमड़ियों की तरह; यत्र—जिस जंगल में; हरन्ति—लूट लेते हैं; स-अर्थिकम्—जीव जो अपने शरीर और आत्मा के पोषण के लिए धन की खोज करता रहता है; प्रमत्तम्—आत्महित न समझने वाला पागल व्यक्ति; आविश्य—भीतर प्रवेश करके; यथा—जिस प्रकार; उरणम्—सुरक्षित मेमने को; वृका:—भेड़िये।

हे राजा रहूगण, इस संसार रूपी जंगल (भवाटवी) में छह अत्यन्त प्रबल लुटेरे हैं। जब बद्धजीव कुछ भौतिक लाभ के हेतु इस जंगल में प्रवेश करता है, तो ये छहों लुटेरे उसे गुमराह कर देते हैं। इस प्रकार से बद्ध वणिक (व्यापारी) यह नहीं समझ पाता कि वह अपने धन को किस प्रकार खर्चे और यह धन इन लुटेरों द्वारा छीन लिया जाता है। जिस प्रकार चौकसी में पले मेमने को उठा ले जाने के लिए जंगल में भेड़िए, सियार तथा अन्य हिंस्त्र पशु रहते हैं उसी प्रकार

पत्नी तथा सन्तान उस वणिक के हृदय में प्रवेश करके अनेक प्रकार से लूटते रहते हैं।

तात्पर्य : जंगल में अनेक लुटेरे, डाकू, सियार तथा भेड़िये होते हैं। सियारों की तुलना मनुष्य की पत्नी तथा बच्चों से की गई है। जिस प्रकार से सियार *अर्धरात्रि में* किलकारी मारते हैं, उसी प्रकार इस संसार में पत्नी तथा बच्चे भी चिल्लाते हैं। बच्चे कहते हैं, ''पिता जी, हमें यह चाहिए, लाकर दो, हम आपके प्रिय बच्चे हैं,'' अथवा पत्नी कहती, ''मैं तुम्हारी पत्नी हूँ, मुझे इस चीज की आवश्यकता है; मुझे यह दो।'' इस प्रकार से मनुष्य जंगल में चोरों द्वारा लूट लिया जाता है। जीवन का उद्देश्य न जानने से मनुष्य गुमराह होता रहता है। जीवन का उद्देश्य तो विष्णु हैं (*न ते विदु: स्वार्थगतिम् हि विष्णुम्*)। प्रत्येक व्यक्ति धनार्जन के लिए अथक श्रम करता है, किन्तु उसे वह पता नहीं रहता कि उसके स्वार्थ की पूर्ति तो श्रीभगवान् की सेवा करने में है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन की उन्नति में अपना धन न लगाकर वह अपनी गाढ़ी कमाई क्लबों, वेश्यालयों, मद्यपान, बधिकगृहों आदि में खर्च कर देता है। पापकर्म के कारण वह देहान्तर क्रिया (आवागमन) में फँस जाता है और उसे एक के बाद एक शरीर धारण करना पड़ता है। इस प्रकार लगातार कष्ट भोगने से उसे सुख नहीं मिल पाता।

प्रभूतवीरुत्तृणगुल्मगह्वरे
कठोरदंशैर्मशकैरुपद्रुतः ।
क्वचित्तु गन्धर्वपुरं प्रपश्यति
क्वचित्क्वचिच्चाशुरयोल्मुकग्रहम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

प्रभूत—प्रचुर; वीरुत्—लताओं; तृण—घास के तिनकों; गुल्म—घने जंगलों के; गह्वरे—कुंजों में; कठोर—क्रूर; दंशैः—काटने से; मशकैः—मच्छरों के द्वारा; उपद्रुतः—विक्षुब्ध; क्वचित्—कभी-कभी; तु—लेकिन; गन्धर्व-पुरम्—गन्धर्वों द्वारा बनाया गया मिथ्या स्थान, कल्पित गन्धर्वपुरी; प्रपश्यति—देखता है; क्वचित्—(तथा) कभी-कभी; क्वचित्—कभी-कभी; च—तथा; आशु-रय—अत्यन्त तेजी से; उल्मुक—उल्का के तुल्य; ग्रहम्—भूतप्रेत, पिशाच।

इस जंगल में झाड़ियों, घास तथा लताओं के झाड़-झंखाड़ से बने सघन कुंजों में बुरी तरह से काटने वाले मच्छरों (ईर्ष्यालु पुरुषों) के होने से बद्धजीव निरन्तर परेशान रहता है। कभी कभी उसे जंगल में काल्पनिक महल (गन्धर्वपुर) दिखता है, तो कभी कभी वह आसमान से टूटते उल्का के समान प्रेत को देखकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है।

तात्पर्य : भौतिक घर वस्तुत: सकाम कर्म का छिद्र है। जीविकोपार्जन के लिए मनुष्य नाना प्रकार के उद्योगों एवं व्यापारों में अपने को लगाता है और स्वर्गलोक जाने के लिए कभी-कभी बड़े-बड़े यज्ञ

करता है। इस के साथ ही साथ प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी धंधे में लग कर अपनी जीविका कमाने में लगा रहता है। इन कार्यों में अनेक अवांछित लोगों से पाला पड़ता है जिनका आचरण मच्छरों के दंश के समान कहा जा सकता है। इससे विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी मनुष्य विशाल आवास बनाने और स्थायी रूप से जीवन बिताने की कल्पना करता रहता है, किन्तु यह सम्भव नहीं हो पाता। स्वर्ण की उपमा उस प्रेत से दी गई है जो आकाश में टूटे हुए उल्का की तरह दिखाई देता है। वह एक क्षण के लिए दृष्टिगोचर होकर छिप जाता है। सामान्यत: कर्मी स्वर्ण या सम्पत्ति से आकर्षित होते हैं यहाँ उनकी उपमा भूतप्रेत तथा पिशाचिनियों से दी गई है।

निवासतोयद्रविणात्मबुद्धि-
स्ततस्ततो धावति भो अटव्याम् ।
क्वचिच्च वात्योत्थितपांसुधूम्रा
दिशो न जानाति रजस्वलाक्षः ॥४॥

शब्दार्थ

निवास—आवास; तोय—जल; द्रविण—सम्पत्ति; आत्म-बुद्धि:—जो भौतिक वस्तुओं को आत्मा या स्वयं मानता है; ततः ततः—इधर-उधर; धावति—दौड़ता है; भोः—हे राजा; अटव्याम्—इस संसार रूपी जंगल-मार्ग पर; क्वचित् च—तथा कभी-कभी; वात्या—बवंडर से; उत्थित—ऊपर उठ कर; पांसु—धूलि से; धूम्राः—धुंएँ के रंग का प्रतीत होता है; दिशः—दिशाएँ; न—नहीं; जानाति—जानता है; रजः-वल-अक्षः—हवा की धूल से ढकी हुई आँखों वाला अथवा जो रजस्वला पत्नी के प्रति आकृष्ट है।.

हे राजन्, इस संसार रूपी जंगल के मार्ग में घर, सम्पत्ति, कुटुम्बी इत्यादि से भ्रमित बुद्धि वाला वणिक सफलता की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान को दौड़ता रहता है। कभी-कभी उसकी आँखें बवंडर की धूल से ढक जाती हैं, अर्थात् कामवश वह अपनी स्त्री की सुन्दरता के प्रति, उसे विशेष रूप से रजोकाल में, मुग्ध हो जाता है। इस प्रकार अन्धा होने से उसे यह नहीं दिखाई पड़ता कि उसे कहाँ जाना है, अथवा वह क्या कर रहा है।

तात्पर्य : कहा गया है कि गृहस्थ जीवन का सारा आकर्षण पत्नी में केन्द्रित होता है, क्योंकि संभोग ही गृहस्थ जीवन का केन्द्र-बिन्दु है—*यन्मैथुनादि-गृहमेधि-सुखं हि तुच्छम्।* भौतिकतावादी पुरुष स्त्री को केन्द्र बनाकर अहर्निश श्रम करता है। संभोग उसका एक-मात्र सुख है। इसीलिये कर्मी सदैव मित्र रूप में स्त्रियों के प्रति अथवा पत्नियों के प्रति आकृष्ट होते हैं। निस्सन्देह बिना संभोग के उनका काम नहीं चल पाता। ऐसी दशा में पत्नी की तुलना, विशेष रूप से जब वह रजस्वला होती है,

बवंडर से की जाती है। जो गृहस्थाश्रम का नियमानुसार पालन करते हैं, वे माह में एक बार, रजोकाल के बाद, संभोग करते हैं। मनुष्य जैसे-जैसे इस अवसर की ताक में रहता है, उसकी आँखें अपनी पत्नी की सुन्दरता से सम्मोहित होती रहती हैं। अत: यह कहा गया है कि बवंडर आँखों को धूल से ढक देता है। ऐसा कामी पुरुष यह नहीं जानता कि उसके सारे व्यापार विभिन्न देवताओं द्वारा, विशेष रूप से सूर्यदेव द्वारा, देखे जा रहे हैं और अगले जन्म के कर्मों के लिए उनका अंकन हो रहा है। ज्योतिष सम्बन्धी गणनाएँ ज्योतिशास्त्र कहलाती हैं। चूँकि इस जगत में ज्योति अथवा तेज विभिन्न नक्षत्रों तथा ग्रहों से प्राप्त होता है, इसलिए यह विज्ञान ज्योतिशास्त्र कहलाता है। ज्योति की गणनाओं से हमारे भविष्य का पता चल जाता है। दूसरे शब्दों में, समस्त ज्योतिपिंड—नक्षत्र, सूर्य तथा चन्द्रमा—हर एक बद्धजीव के व्यापारों को देखते रहते हैं। इसी के अनुसार उसे विशेष प्रकार का शरीर प्राप्त होता है। किन्तु कामी पुरुष की जिसकी आँखें भौतिक जगत के बवंडर की धूल से ढकी रहती हैं, यह कभी नहीं सोच पाता कि उसके समस्त व्यापारों का अवलोकन विभिन्न नक्षत्रों तथा ग्रहों द्वारा किया जा रहा है और उनका अंकन भी हो रहा है। यह न जानते हुए बद्धजीव अपनी कामेच्छाओं की तुष्टि के लिए सभी प्रकार के पापकर्म करता रहता है।

अदृश्यझिल्लीस्वनकर्णशूल
उलूकवाग्भिर्व्यथितान्तरात्मा ।
अपुण्यवृक्षान्श्रयते क्षुधार्दितो
मरीचितोयान्यभिधावति क्वचित् ॥ ॥

शब्दार्थ

अदृश्य—न दिखने वाले; झिल्ली—झींगुरों अथवा मधुमक्खियों के प्रकार का एक कीट; स्वन—शब्द से; कर्ण-शूल—कानों के लिए दुखदायी, कर्णकटु; उलूक—उल्लू की; वाग्भि:—बोली से; व्यथित—अत्यन्त विचलित; अन्त:-आत्मा—मन तथा हृदय; अपुण्य-वृक्षान्—अपवित्र वृक्ष, जिनमें फल-फूल नहीं लगते; श्रयते—शरण लेता है; क्षुध—भूख से; अर्दित:—सताया हुआ; मरीचि-तोयानि—मृगतृष्णा के लिए; अभिधावति—पीछे दौड़ता है; क्वचित्—कभी-कभी।

संसार रूपी जंगल में घूमते हुए बद्धजीव को कभी-कभी अदृश्य झींगुरों की तीक्ष्ण ध्वनि सुनाई पड़ती है जो उसके कानों को अत्यन्त दुखदायी लगती है। कभी-कभी उसका हृदय अपने शत्रुओं के कटु वचनों जैसी प्रतीत होने वाली उल्लुओं की ध्वनि से व्यथित (विचलित) हो उठता है। कभी वह बिना फल फूल वाले वृक्षों का आश्रय ग्रहण करता है क्योंकि वह भूखा होता है, किन्तु उसे कुछ न मिलने से कष्ट भोगना पड़ता है। उसे जल की इच्छा होती है किन्तु वह

केवल मृगतृष्णा से मोहित हो जाने के कारण उसके पीछे दौड़ता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में यह कहा गया है कि भागवत दर्शन उन लोगों के लिए है जो ईर्ष्या से पूर्णरूपेण रहित हैं (*परमो निर्मत्सराणाम्*)। यह संसार ईर्ष्यालु व्यक्तियों से परिपूर्ण है। यहाँ तक कि अन्तरंगी भी पीछे से छुरा भोंकने वाले होते हैं। इसीलिए इनकी तुलना जंगल में झींगुरों की झनकार से की गई है। मनुष्य को झींगुर नहीं दिखाई पड़ता, किन्तु उसकी ध्वनि उसको व्यथित करती रहती है। जब कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत स्वीकार करता है, तो उसे सदैव अपने सम्बन्धियों के कटु वचन सुनने पड़ते हैं। यह संसार का स्वभाव है। पीठ पीछे निन्दा करने वालों से जो मानसिक कष्ट होता है उससे बचा नहीं जा सकता। अत्यन्त व्यथित हो उठने पर कभी कभी वह किसी पापी व्यक्ति के पास सहायता के लिए जाता है, किन्तु बुद्धि न होने से वह उसकी सहायता नहीं कर पाता। इस प्रकार जीव निराश हो जाता है। यह मरुस्थल में जल की खोज के लिए मृगमरीचिका के पीछे दौड़ लगाने के समान है। ऐसे कर्मों से कोई ठोस लाभ नहीं होता। मायाशक्ति द्वारा निर्देशित होने से बद्धजीव को अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं।

क्वचिद्वितोयाः सरितोऽभियाति
परस्परं चालषते निरन्धः ।
आसाद्य दावं क्वचिदग्नितप्तो
निर्विद्यते क्व च यक्षैर्हृतासुः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; वितोयाः—जलहीन; सरितः—नदियाँ; अभियाति—नहाने जाता है अथवा भीतर कूदता है; परस्परम्—एक दूसरे से; च—तथा; आलषते—कामना करता है; निरन्धः—अन्नहीन होने पर; आसाद्य—अनुभव करके; दावम्—पारिवारिक जीवन में जंगल की आग, दावाग्नि; क्वचित्—कभी; अग्नि-तप्तः—आग से जलने के कारण; निर्विद्यते—निराश होता है; क्व—कहीं; च—तथा; यक्षैः—डाकुओं तथा उचक्कों जैसे राजाओं द्वारा; हृत—ले लिया जाने पर, छीने जाने पर; असुः—सम्पत्ति, जो प्राणों के समान प्रिय है।.

कभी-कभी बद्धजीव उथली नदी में कूद पड़ता है अथवा खाद्यान्न न होने पर ऐसे लोगों से अन्न माँगता है जो दानी नहीं हैं ही नहीं। कभी कभी वह गृहस्थ जीवन की अग्नि से जलने लगता है जो दावाग्नि जैसी होती है और कभी कभी वह उस सम्पत्ति के लिए दुखी हो उठता है जो उसे प्राणों से भी प्रिय है और जिसका अपहरण राजा लोग भारी आयकर के नाम पर करते हैं।

तात्पर्य : सूर्य की झुलसती धूप में रहने से गर्मी अनुभव करने के कारण मनुष्य कभी-कभी नदी

में कूद कर विश्रान्ति प्राप्त करना चाहता है। किन्तु यदि नदी शुष्कप्राय हो और पानी उथला हो तो कूदने वाला अपनी हड्डियाँ ही तुड़वाता है। इसी प्रकार से बद्धजीव निरन्तर कष्टों का अनुभव करता रहता है। कभी अपने मित्रों से सहायता प्राप्त करने के उसके प्रयास सूखी नदी में कूदने के समान ही सामने आते हैं। ऐसे प्रयासों से उसे कोई लाभ नहीं होता। केवल उसकी हड्डियाँ टूटती हैं। कभी-कभी अन्नाभाव के कारण मनुष्य को ऐसे व्यक्ति के पास जाना पड़ सकता है जो दान देने में असमर्थ है या फिर जान-बूझ कर देना नहीं चाहता। कभी-कभी मनुष्य गृहस्थ जीवन में ही बना रहता है, जिसकी उपमा दावाग्नि से दी गई है (*संसार-दावानल-लीढ -लोक*)। जब सरकार किसी पर भारी कर लगा देती है, तो मनुष्य दुखी हो जाता है। भारी कर के कारण उसे अपनी आय छिपानी पड़ती है, किन्तु सारे यत्नों के बावजूद भी कभी-कभी सरकारी एजेंट इतने सतर्क रहते हैं और इतने बलशाली होते हैं कि वे सारा धन छीन लेते हैं जिससे बद्धजीव अत्यधिक व्यथित हो जाता है।

इस प्रकार भौतिक संसार में रहकर लोग सुखी रहने का प्रयास करते हैं, किन्तु उनका यह प्रयास दावाग्नि से पीड़ित जंगल में सुखी रहने के प्रयास के तुल्य है। जंगल में जाकर कोई आग लगाता नहीं, वह स्वत: प्रकट होती है। इसी प्रकार गृहस्थ जीवन या सांसारिक जीवन में कोई दुखी नहीं रहना चाहता, किन्तु प्रकृति के सुख-दुख के नियम प्रत्येक व्यक्ति पर बरबस लादे जाते हैं। अपने भरण-पोषण के लिए किसी पर आश्रित होना कितना लज्जास्पद होता है, इसीलिए वैदिक पद्धति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को निराश्रित रहना चाहिए। केवल शूद्र ही स्वतंत्र रूप से रहने में असमर्थ हैं। उन्हें अपने भरण के लिए किसी-न किसी की सेवा करनी होती है। शास्त्रों में कहा गया है—*कलौ शूद्र-सम्भवा:।* इस कलियुग में प्रत्येक व्यक्ति अपने देह-भरण के लिए अन्य की कृपा पर आश्रित रहता है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को शूद्र कहा गया है। *श्रीमद्भागवत* के बारहवें स्कंध में कहा गया है कि कलियुग में सरकार कर तो लेगी, किन्तु उसके बदले में जनता का कल्याण नहीं देखेगी। *अनावृष्ट्या विनंक्ष्यन्ति दुर्भिक्ष:-कर-पीडिता:।* इस युग में वर्षा की न्यूनता भी होगी जिससे अन्नाभाव होगा और सरकार द्वारा लगाये गये करों से जनता अत्यधिक पीड़ित होगी। इस प्रकार जनता शान्तिपूर्ण जीवन नहीं बिता सकेगी अत: वह अपना घर-बार छोड़कर घोर निराशावश जंगलों में चली जाएगी।

शूरैर्हृतस्वः क्व च निर्विण्णचेताः
शोचन्विमुह्यन्नुपयाति कश्मलम् ।
क्वचिच्च गन्धर्वपुरं प्रविष्टः
प्रमोदते निर्वृतवन्मुहूर्तम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

शूरैः—प्रबल शत्रुओं द्वारा; हृत-स्वः—जिसका समस्त धन चुराया जा चुका है; क्व च—कभी-कभी; निर्विण्ण-चेताः—हृदय में अन्यन्त खिन्न एवं व्यथित; शोचन्—अत्यधिक पश्चात्ताप करते हुए; विमुह्यन्—किंकर्तव्यविमूढ़ होकर; उपयाति—हो जाता है; कश्मलम्—संज्ञाशून्य, अचेत; क्वचित्—कभी-कभी; च—भी; गन्धर्व-पुरम्—जंगल में स्थित कपोलकल्पित नगर में; प्रविष्टः—प्रवेश हुआ; प्रमोदते—आनन्द भोगता है; निर्वृत-वत्—सिद्ध पुरुष के समान; मुहूर्तम्—केवल क्षण भर के लिए।

कभी-कभी अपने से बड़े तथा बलवान व्यक्ति द्वारा पराजित होने अथवा लूटे जाने पर जीवात्मा की सारी सम्पत्ति चली जाती है। इससे वह दुखी हो जाता है, क्षति पर पश्चात्ताप करता है यहाँ तक कि कभी-कभी अचेत भी हो जाता है। कभी-कभी वह ऐसे विशाल प्रासाद की कल्पना करने लगता है, जिसमें वह अपने परिवार तथा अपने धन समेत सुखपूर्वक रह सके। यदि ऐसा हो सके तो वह अपने को अत्यन्त सन्तुष्ट समझता है, किन्तु ऐसा तथाकथित सुख क्षणिक होता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *गन्धर्व-पुरम्* अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्द है। कभी-कभी जंगल के बीच बहुत एक बड़ा किला दृष्टिगोचर होने लगता है, इसे ही "हवाई किला" कहा जाता है। वास्तव में इस किले का अस्तित्व मस्तिष्क के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं होता। इसे *गंधर्वपुर* कहा जाता है। इस संसार रूपी जंगल में बद्धजीव कभी-कभी बड़े-बड़े किले तथा गगनचुम्बी प्रासादों की कल्पना करने में अपनी शक्ति नष्ट करता है और इनमें अपने परिवार सहित सदा के लिए सुखपूर्वक रहने की आशा बाँधता है। किन्तु प्राकृतिक नियम ऐसा होने नहीं देते। जब वह ऐसे किलों में प्रवेश करता है, तो क्षण भर के लिए अपने को सुखी समझता है, किन्तु उसका यह सुख स्थायी नहीं होता। यह सुख कुछ ही वर्ष चल पाता है, क्योंकि मृत्यु के समय उसे यह किला छोड़ना पड़ता है। सांसारिक विनिमय का यही विधान है। विद्यापति ने ऐसे सुख को उस सुख के समान बताया है जो मरुस्थल में पानी की एक बूँद देखकर उत्पन्न होता है। मरुस्थल सूर्य के प्रखर ताप से गर्म हो जाता है, अतः यदि हम मरुस्थल के ताप को घटाना चाहें तो करोड़ों गैलन पानी की आवश्यकता पड़ेगी। भला ऐसे में पानी की एक बूँद का क्या प्रभाव हो सकता है? पानी का महत्त्व तो निश्चय ही है, किन्तु एक बूँद जल से मरुस्थल की तपन कम नहीं हो सकती। इस संसार का प्रत्येक व्यक्ति महत्त्वाकांक्षी है, किन्तु तपन अत्यन्त झुलसाने

वाली है। ऐसे में काल्पनिक दवाई किले से क्या काम चलेगा? इसलिए श्रील विद्यापति ने गाया है—*तातल सैकते, वारि-बिन्दु-सम, सुत-मित-रमणि-समाजे।* गृहस्थ जीवन, मित्रों तथा समाज के सुख की तुलना जलते हुए रेगिस्तान में पानी की बूँद से की गई है। यह समूचा संसार सुख प्राप्त करने के प्रयास में लगा है, क्योंकि सुख जीव का जन्मसिद्ध अधिकार है। दुर्भाग्यवश इस संसार के संपर्क में आकर जीवात्मा अपने अस्तित्व के लिए केवल संघर्ष करता है। यदि कुछ काल के लिए वह सुखी हो भी जाता है, तो उसका कोई प्रबल शत्रु उसका सर्वस्व लूट लेता है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें बड़े-बड़े व्यापारी सहसा दीवालिये बन जाते हैं। तो भी इस संसार की प्रकृति ऐसी है कि मूढ़ लोग इसके प्रति आकृष्ट होकर आत्म-साक्षात्कार के वास्तविक लक्ष्य को भूल जाते हैं।

चलन्क्वचित्कण्टकशर्कराङ्घ्रि-
र्नगारुरुक्षुर्विमना इवास्ते ।
पदे पदेऽभ्यन्तरवह्निनार्दितः
कौटुम्बिकः क्रुध्यति वै जनाय ॥ ८॥

शब्दार्थ

चलन्—चलते हुए; क्वचित्—कभी कभी; कण्टक-शर्कर—काँटे तथा कंकड़ों से छिद कर; अङ्घ्रिः—जिनके पाँव; नग—पर्वत; आरुरुक्षुः—चढ़ने का इच्छुक; विमनाः—उदास; इव—सदृश; आस्ते—हो जाता है; पदे पदे—प्रत्येक पग पर; अभ्यन्तर—भीतरी, पेट के भीतर; वह्निना—क्षुधा की प्रबल अग्नि से; अर्दितः—थक कर तथा दुखी होकर; कौटुम्बिकः—कुटुम्बियों के साथ रहने वाला व्यक्ति; क्रुध्यति—क्रोध करता है; वै—निश्चय ही; जनाय—अपने परिवार के सदस्यों पर।

कभी-कभी जंगल का व्यापारी पर्वतों तथा पहाड़ियों के ऊपर चढ़ना चाहता है, किन्तु अपर्याप्त पदत्राण के कारण उसके पैरों में कंकड़ तथा काँटे गड़ जाते हैं जिससे वह अत्यन्त उदास हो जाता है। कोई व्यक्ति जो अपने परिवार के प्रति आसक्त होता है, वह कभी कभी जब अत्यधिक भूख के मारे त्रस्त हो जाता है, तो वह अपनी दयनीय स्थिति के कारण अपने कुटुम्बियों पर विफर उठता है।

तात्पर्य : महत्त्वाकांक्षी बद्धजीव अपने परिवार सहित इस संसार में सुखी रहना चाहता है। उसकी तुलना जंगल के उस यात्री से की गई हो जो काँटों तथा कंकड़ों से भरी पहाड़ी पर चढ़ना चाहता है। जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, समाज, मैत्री तथा प्रेम से प्राप्त सुख मरुस्थल की झुलसती गर्मी में जल की बूँद के समान है। मनुष्य अपने समाज में महान् तथा शक्तिशाली बनने की सोच सकता है, किन्तु यह काँटों से भरीहुई पहाड़ी पर चढ़ने के समान है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने

परिवार की तुलना ऊँचे पर्वत से दी है। कुटुम्बियों के साथ सुख की कामना मानो भूखे पेट काँटों से भरे पर्वत पर चढ़ने का प्रयास हो। कुटुम्बियों को सन्तुष्ट रखने के लिए प्रयत्न करने के बावजूद लगभग ९९.९ प्रतिशत जनसंख्या का पारिवारिक जीवन दुखी है। पाश्चात्य देशों में तो पारिवारिक सदस्यों के असन्तोष के कारण पारिवारिक जीवन रहा ही नहीं। तलाक की अनेक घटनाएँ होती रहती हैं और बच्चे असन्तोष के कारण माता-पिता का संरक्षण छोड़ देते हैं। विशेष रूप से इस कलिकाल में पारिवारिक जीवन सिमटता जा रहा है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति आत्म-केन्द्रित होता जा रहा है। यदि किसी के पास परिवार चलाने के लिए पर्याप्त धन रहता भी है, तो भी परिवार में उससे कोई प्रसन्न नहीं रहता। फलस्वरूप वर्णाश्रम धर्म के अनुसार पारिवारिक जीवन बीच में ही त्यागना पड़ता है—*पंचाशोर्ध्वं वनं व्रजेत्*—मनुष्य को चाहिए पचास वर्ष की आयु में गृह त्याग कर वृन्दावन या जंगल में चला जाये। यह श्रील प्रह्लाद महाराज के द्वारा किया गया विधान है (भागवत ७..)—

तत् साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनां सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्।

हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत॥

''जंगल-जंगल घूमने में कोई हित नहीं। मनुष्य को चाहिए कि वह वृन्दावन जाकर गोविन्द की शरण ले। इससे वह सुखी बनेगा।'' अत: कृष्णभावनामृत संघ एक कृष्णबलराम का मन्दिर बनवा रहा है, जिसमें अपने सदस्यों तथा बाहरी लोगों को बुलाकर आध्यात्मिक वातावरण में शान्तिपूर्वक रहकर जीवन बिताने के लिए व्यवस्था होगी। इससे दिव्यलोक तक उठने और श्रीभगवान् के धाम को वापस जाने में सहायता मिलेगी। इस श्लोक में एक अन्य वाक्य भी महत्त्वपूर्ण है—*कौटुम्बिक: क्रुध्यति वै जनाय।* जब मनुष्य का मन अनेक प्रकार से विचलित रहता है, तो वह अपनी बेचारी पत्नी तथा बच्चों पर क्रोध जताकर अपने आपको तुष्ट करता है। पत्नी तथा बच्चे स्वभावत: पिता पर आश्रित रहते हैं, किन्तु पिता परिवार का ठीक से पालन न कर सकने के कारण मानसिक रूप से दुखी रहता है, अत: वह वृथा ही स्वजनों को डाँटता है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१२.२.९) में कहा गया है—*आच्छिन्नदारद्रविणा यास्यन्ति गिरिकाननम्।* पारिवारिक जीवन से त्रस्त होकर मनुष्य विवाह-विच्छेद द्वारा या अन्य साधनों से परिवार से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है। यदि विच्छेद करना है, तो हँसी-

खुशी से क्यों नहीं करते? नियमपूर्वक विच्छेद बलात् विच्छेद से अच्छा होता है। बलात् विच्छेद से कोई सुखी नहीं रह सकता, किन्तु पारस्परिक विचार-विमर्श या वैदिक व्यवस्था के अनुसार मनुष्य को चाहिए कि एक निश्चित आयु में वह पारिवारिक प्रपंचों से विलग हो ले और श्रीकृष्ण पर पूर्णत: आश्रित हो ले। इससे जीवन सार्थक बनता है।

क्वचिन्निगीर्णोऽजगराहिना जनो
नावैति किञ्चिद्विपिनेऽपविद्धः ।
दष्टः स्म शेते क्व च दन्दशूकैर्
अन्धोऽन्धकूपे पतितस्तमिस्रे ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; निगीर्णः—निगले जाने पर; अजगर-अहिना—अजगर नामक बड़े सर्प द्वारा; जनः—बद्धजीव; न—नहीं; अवैति—समझता है; किञ्चित्—कुछ भी; विपिने—जंगल में; अपविद्धः—कष्ट के तीरों से बेधा हुआ; दष्टः—दंश किया गया, काटे जाने पर; स्म—निस्संदेह; शेते—लेट जाता है; क्व च—कभी-कभी; दन्द-शूकैः—अन्य सर्पों द्वारा; अन्धः—अन्धा; अन्ध-कूपे—अंधे कुएँ में; पतितः—गिरा हुआ; तमिस्रे—नारकीय जीवन में।

कभी-कभी इस भौतिक जंगल में बद्धजीव को अजगर निगल लेते हैं या मरोड़ डालते हैं। ऐसी अवस्था में वह चेतना तथा ज्ञान शून्य होकर मृत व्यक्ति तुल्य जंगल में पड़ा रहता है। कभी-कभी अन्य विषैले सर्प भी आकर काट लेते हैं। अचेतन होने के कारण वह नारकीय जीवन के अन्धे कूप में गिर जाता है जहाँ से बचकर निकल पाने की कोई आशा नहीं रहती।

तात्पर्य : जब कोई व्यक्ति साँप के काटे जाने से बेहोश हो जाता है, तो उसे यह नहीं पता चलता कि बाहर क्या हो रहा है। यह बेहोशी की अवस्था गाढ़ निद्रा की अवस्था है। इसी प्रकार बद्धजीव वस्तुत: माया की गोद में सो रहा है। भक्तिविनोद ठाकुर का गीत—*कत निद्रा याओ माया-पिशाचीर कोले*—"हे जीवात्मा, तुम इस तरह माया की गोद में कब तक सोते रहोगे?" मनुष्यों को यह पता नहीं चल पाता कि वे इस संसार में वास्तव में सो रहे हैं और उन्हें आध्यात्मिक-जीवन का कोई ज्ञान नहीं रहता। अत: चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

एनेछि औषधि माया नाशिबार लागि'।

हरि-नाम-महा-मंत्र लओ तुमि मागि'॥

"मैं प्रत्येक जीव को चिर निद्रा से जगाने की औषधि लाया हूँ। आप ईश्वर का पवित्र नाम, हरे *कृष्ण महामंत्र,* को अंगीकार करें और जगें।" *कठोपनिषद्* (१.३.१४) का भी कथन है—*उत्तिष्ठ जाग्रत*

प्राप्य वरान्निबोधत—"हे जीवात्मा, तुम इस संसार में सो रहे हो। उठो और मनुष्य जीवन का लाभ उठाओ।" सुप्त दशा का अर्थ है ज्ञान की हानि। *भगवद्गीता* (२.६९) में भी कहा गया है—*या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी*—"जो सब जीवों के लिए रात्रि है, वही संयमी पुरुषों के जगने का समय है।" यहाँ तक कि स्वर्गलोक में भी प्रत्येक प्राणी माया के वश में है। कोई भी जीवन के वास्तविक मूल्यों में रुचि नहीं रखता। सुप्त अवस्था, जिसे *काल-सर्प* कहा गया है, बद्धजीव को अविद्या में रखती है, जिससे शुद्ध चेतना जाती रहती है। जंगल में अनेक अंधे (भूपट्ट) कुएँ होते हैं और यदि कोई इनमें से किसी एक में गिर जाये तो फिर उससे उबरने की कोई आशा नहीं रहती। सुप्तावस्था में कुछ पशु, विशेष रूप से सर्प, मनुष्य को निरन्तर काटते रहते हैं।

कर्हि स्म चित्क्षुद्ररसान्विचिन्वं-
स्तन्मक्षिकाभिर्व्यथितो विमानः ।
तत्रातिकृच्छ्रात्प्रतिलब्धमानो
बलाद्विलुम्पन्त्यथ तं ततोऽन्ये ॥ १० ॥

शब्दार्थ

कर्हि स्म चित्—कभी-कभी; क्षुद्र—अत्यन्त लघु; रसान्—रति सुख; विचिन्वन्—ढूँढने के लिए; तत्—उन स्त्रियों का; मक्षिकाभिः—मधुमक्खियों से अथवा पतियों या कुटुम्बियों से; व्यथितः—अत्यन्त दुखी; विमानः—अपमानित; तत्र—वहाँ पर; अति—अत्यन्त; कृच्छ्रात्—धन के व्यय के कारण कठिनाई से; प्रतिलब्धमानः—रति सुख प्राप्त करके; बलात्—बलपूर्वक; विलुम्पन्ति—अपहरण की गई; अथ—तत्पश्चात्; तम्—इन्द्रिय सुख की वस्तु (स्त्री); ततः—उससे; अन्ये—अन्य व्यभिचारी (कामी)।

कभी-कभी थोड़े से रति-सुख के लिए मनुष्य चरित्रहीन स्त्री की खोज करता रहता है। इस प्रयास में उस स्त्री के सम्बन्धियों द्वारा उसका अपमान एवं प्रताड़न होता है। यह वैसा ही है जैसा कि मधुमक्खी के छत्ते से शहद (मधु) निकालते समय मक्खियाँ आक्रमण कर दें। कभी-कभी प्रचुर धन व्यय करने पर उसे कुछ अतिरिक्त इन्द्रिय भोग के लिए दूसरी स्त्री प्राप्त हो सकती है। किन्तु दुर्भाग्यवश इन्द्रिय सुख की सामग्री रूप वह स्त्री चली जाती है, अथवा किसी अन्य कामी द्वारा अपहरण कर ली जाती है।

तात्पर्य : बड़े-बड़े जंगलों में मधुमक्खी के छत्ते बड़े महत्व के होते हैं। प्रायः लोग वहाँ जाकर छत्तों से मधु एकत्र करते हैं, कभी-कभी मक्खियाँ आक्रमण करके उन्हें दण्डित भी करती हैं। मनुष्य-समाज में जो लोग कृष्णभावनाभावित नहीं हैं, वे भौतिक जीवन के जंगल में विषयी जीवन के मधु के

लोभ के कारण रहते हैं। ऐसे कामी पुरुष कभी भी एक पत्नी से सन्तुष्ट नहीं होते। उन्हें अनेक स्त्रियाँ चाहिए। प्रतिदिन वे अत्यन्त कठिनाई से ऐसी स्त्रियाँ प्राप्त करने का प्रयास करते हैं और इस प्रकार का मधु चखने के प्रयास में उन पर कभी-कभी उस स्त्री के परिजनों का प्रहार भी हो जाता है और बड़ी ताड़ना पड़ती है। भले ही घूस देकर संभोग के लिए कोई अन्य स्त्री पा ले, किन्तु दूसरा कामी उसका अपहरण कर सकता है अथवा कुछ अधिक मूल्यवान और अच्छी वस्तु का प्रलोभन दे सकता है। भौतिक संसार रूपी जंगल में इस प्रकार का स्त्री-मृगया चलता रहता है, जो कभी वैध होता है, तो कभी अवैध। फलतः इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन में भक्तों के लिए अवैध स्त्री-पुरुष संग वर्जित है। इससे वे अनेक विपत्तियों से बचे रहते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी विवाहिता पत्नी से ही तुष्ट रहे। वह अपने विषयों की तृप्ति अपनी पत्नी से कर सकता है। इससे समाज में कुव्यवस्था भी नहीं उत्पन्न होगी और ऐसा करने के कारण उसे दण्डित भी नहीं होना पड़ेगा।

क्वचिच्च शीतातपवातवर्ष-
प्रतिक्रियां कर्तुमनीश आस्ते ।
क्वचिन्मिथो विपणन्यच्च किञ्चिद्
विद्वेषमृच्छत्युत वित्तशाठ्यात् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; च—भी; शीत-आतप-वात-वर्ष—ठंड, कड़ी गर्मी, तेज हवा तथा अधिक वर्षा की; प्रतिक्रियाम्—प्रतिक्रिया, जवाबी क्रिया; कर्तुम्—करना; अनीशः—असमर्थ; आस्ते—कष्ट में रहता है; क्वचित्—कभी-कभी; मिथः—परस्पर; विपणन्—बेच कर; यत् च—जो कुछ; किञ्चित्—थोड़ा भी; विद्वेषम्—पारस्परिक द्वेष (शत्रुता); ऋच्छति—प्राप्त करता है; उत—ऐसा कहते हैं; वित्त-शाठ्यात्—केवल धन के लिए एक दूसरे को ठगने के कारण।

कभी-कभी जीवात्मा बर्फीली ठंड, कड़ी गर्मी, तेज हवा, अति-वृष्टि इत्यादि प्राकृतिक उत्पातों का सामना करने में लगा रहता है। किन्तु जब वह ऐसा नहीं कर पाता तो अत्यन्त दुखी हो जाता है। कभी-कभी वह एक के बाद एक व्यावसायिक लेन-देन में ठगा जाता है। इस प्रकार ठगे जाने पर जीवात्माएँ एक दूसरे से शत्रुता ठान लेती हैं।

तात्पर्य : यह जीवन-संघर्ष का उदाहरण है, जिसमें भौतिक प्रकृति के घातों का सामना किया जाता है। इससे समाज में शत्रुता उत्पन्न होती है, फलस्वरूप समाज ईर्ष्यालु मनुष्यों से भर जाता है। एक व्यक्ति दूसरे से ईर्ष्या करता है। यही संसार की रीति है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन ईर्ष्यारहित वातावरण उत्पन्न करना चाहता है। निस्सन्देह, यह सबके लिए सम्भव नहीं कि वे कृष्णभावनाभावित

हो सकें, किन्तु कृष्णभावनामृत आन्दोलन ऐसे आदर्श समाज की सृष्टि कर सकता है जो द्वेषरहित हो।

क्वचित्क्वचित्क्षीणधनस्तु तस्मिन्
शय्यासनस्थानविहारहीनः ।
याचन्परादप्रतिलब्धकामः
पारक्यदृष्टिर्लभतेऽवमानम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

क्वचित् क्वचित्—कभी-कभी; क्षीण-धनः—धनहीन होने पर; तु—लेकिन; तस्मिन्—उस जंगल में; शय्या—लेटने का बिस्तर; आसन—बैठने का स्थान; स्थान—आवास; विहार—परिवार सहित सुखोपभोग; हीनः—विहीन होकर; याचन्—भीख माँग कर; परात्—अन्यों (मित्रों तथा सम्बधियों) से; अप्रतिलब्ध-कामः—कामना की पूर्ति न होने से; पारक्य-दृष्टिः—अन्यों की सम्पत्ति का लालची; लभते—प्राप्त करता है; अवमानम्—अनादर।

संसार के जंगली मार्ग में कभी-कभी व्यक्ति धनहीन हो जाता है, जिसके कारण उसके पास न समुचित घर न बिस्तर या बैठने का स्थान होता है, न ही समुचित पारिवारिक सुख ही उपलब्ध हो पाता है। अतः वह अन्यों से धन माँगता है, किन्तु जब माँगने पर भी उसकी इच्छाएँ अपूर्ण रहती हैं, तो वह या तो उधार लेना चाहता है या फिर अन्यों की सम्पत्ति चुराना चाहता है। इस तरह वह समाज में अपमानित होता है।

तात्पर्य : इस संसार में भीख माँगने, उधार लेने या चुराने के सिद्धान्त अत्यन्त उपयुक्त हैं। जब किसी को आवश्यकता पड़ती है, तो वह माँगता, उधार लेता या फिर चोरी करता है। यदि माँगने से काम नहीं चलता तो वह उधार लेता है। यदि उधार अदा नहीं कर पाता तो वह चोरी करता है और जब पकड़ा जाता है, तो अपमानित होता है। यह इस संसार का नियम है। कोई भी मनुष्य ईमानदारी से जीवित नहीं रह सकता, अतः मनुष्य छल करके, माँग करके, उधार ले करके या चोरी करके अपनी तृप्ति करना चाहता है। इस तरह इस संसार में कोई भी शान्तिपूर्वक नहीं रह रहा है।

अन्योन्यवित्तव्यतिषङ्गवृद्ध-
वैरानुबन्धो विवहन्मिथश्च ।
अध्वन्यमुष्मिन्नुरुकृच्छ्रवित्त-
बाधोपसर्गैर्विहरन्विपन्नः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अन्योन्य—एक दूसरे से; वित्त-व्यतिषङ्ग—धन के लेन-देन द्वारा; वृद्ध—बढ़ा हुआ; वैर-अनुबन्धः—वैर भाव; विवहन्—कभी-कभी ब्याह द्वारा; मिथः—परस्पर; च—तथा; अध्वनि—संसार-पथ पर; अमुष्मिन्—वह; उरु-कृच्छ्र—कठिनाइयों से; वित्त-बाध—धन की कमी से; उपसर्गैः—रोगों से; विहरन्—घूमते हुए; विपन्नः—अत्यन्त चिन्तित हो जाता है।

आर्थिक लेने-देन के कारण सम्बन्धों में कटुता उत्पन्न होती है, जिसका अन्त शत्रुता में होता है। कभी पति-पत्नी भौतिक उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होते हैं और अपने सम्बन्ध बनाये रखने के लिए वे कठोर श्रम करते हैं, तो कभी धनाभाव अथवा रुग्ण दशा के कारण वे अत्यधिक चिन्तित रहकर मरणासन्न हो जाते हैं।

तात्पर्य : इस संसार में मनुष्यों तथा समाजों, यहाँ तक कि राष्ट्रों के बीच अनेक प्रकार के पारस्परिक लेन-देन चलते हैं। किन्तु इनका अन्त दोनों पक्षों की शत्रुता में होता है। इसी प्रकार विवाह-सम्बन्ध में आर्थिक लेन-देन के कारण घातक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इससे मनुष्य या तो बीमार पड़ जाता है या आर्थिक रूप से चिन्तित रहने लगता है। आधुनिक युग में अधिकांश देशों का आर्थिक विकास हुआ है, किन्तु व्यापारिक लेन-देन के कारण सम्बन्धों में तनाव आया है। अन्त में राष्ट्रों के बीच युद्ध छिड़ जाता है। इस उथल-पुथल से समूचे विश्व का विनाश होता है और लोगों को अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ता है।

तांस्तान्विपन्नान्स हि तत्र तत्र
विहाय जातं परिगृह्य सार्थः ।
आवर्ततेऽद्यापि न कश्चिदत्र
वीराध्वनः पारमुपैति योगम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

तान् तान्—उन सबों को; विपन्नान्—विभिन्न प्रकार से व्यथित; सः—जीव; हि—निश्चय ही; तत्र तत्र—यहाँ-वहाँ; विहाय—छोड़कर; जातम्—नवजातों को, नये पैदा हुओं को; परिगृह्य—लेकर; स-अर्थः—अपने हित की खोज में जीव; आवर्तते—जंगल में घूमता रहता है; अद्य अपि—आज तक; न—नहीं; कश्चित्—कोई भी; अत्र—यहाँ इस जंगल में; वीर—हे वीर; अध्वनः—भौतिक जीवन का मार्ग; पारम्—अन्त; उपैति—पाता है; योगम्—श्रीभगवान् की भक्ति-साधना।

हे राजन्, भौतिक जीवन रूपी जंगल के मार्ग में मनुष्य पहले अपने पिता तथा माता को खोता है और उनकी मृत्यु के बाद वह नवजात बच्चों से आसक्त हो जाता है। इस तरह वह भौतिक प्रगति के मार्ग में घूमता रहता है और अन्त में अत्यन्त व्यथित हो जाता है। किसी को मृत्यु के क्षण तक यह पता नहीं चल पाता कि वह उससे किस प्रकार निकले।

तात्पर्य : इस संसार में गृहस्थ जीवन संभोग-संस्थान है। *यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखम्* (भागवत ७.९.४)। माता-पिता के संभोग से संतान उत्पन्न होती है , सन्तानों का ब्याह होता है और वे भी उसी विषयी-जीवन का पालन करते हैं, उनके भी संतानें होती हैं। इस प्रकार पीढ़ी-दर-पीढ़ी भौतिक जीवन

के कष्टों से मुक्ति के लिए यही क्रम चलता रहता है। इनमें से कोई भी उस ज्ञान तथा वैराग्य के मार्ग को अंगीकार नहीं करता जिसका अन्त भक्तियोग में होता है। वास्तव में मनुष्य जीवन तो ज्ञान और वैराग्य के लिए ही होता है। इन्हीं के माध्यम से भक्ति प्राप्त हो सकती है। दुर्भाग्यवश इस युग के लोग साधु-संग से कतराते हैं और पिटा-पिटाया गृहस्थ जीवन बिताते हैं। इस तरह वे धन तथा विषय-कर्मों के आदान-प्रदान से पीड़ित रहते हैं।

मनस्विनो निर्जितदिग्गजेन्द्रा
ममेति सर्वे भुवि बद्धवैराः ।
मृधे शयीरन्न तु तद्व्रजन्ति
यन्न्यस्तदण्डो गतवैरोऽभियाति ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मनस्विनः—बड़े-बड़े वीर पुरुष (विचारक); निर्जित-दिक्-गजेन्द्राः—जिन्होंने हाथियों के समान बलशाली वीरों को जीत लिया है; मम—मेरा (मेरा देश, मेरी भूमि, मेरा परिवार, मेरा धर्म); इति—इस प्रकार; सर्वे—समस्त (महान् राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक नेता); भुवि—इस संसार में; बद्ध-वैराः—परम्परा से वैरभाव उत्पन्न कर रखा है; मृधे—युद्ध में; शयीरन्—भूमि में मृत होकर गिरे हुए; न—नहीं; तु—लेकिन; तत्—श्रीभगवान् का धाम; व्रजन्ति—पहुँचते हैं; यत्—जो; न्यस्त-दण्डः—संन्यासी; गत-वैरः—जिसका विश्व भर में किसी से वैर-भाव नहीं है; अभियाति—उस सिद्धि को प्राप्त करता है।

ऐसे अनेक राजनैतिक तथा सामाजिक वीर पुरुष हैं और थे जिन्होंने सम-शक्ति वाले शत्रुओं पर विजय प्राप्त की है, तो भी वे अज्ञानवश यह विश्वास करके कि यह भूमि उनकी है परस्पर लड़ते हैं और युद्धभूमि में अपने प्राण गँवाते हैं। वे सन्यासियों के द्वारा स्वीकृत आध्यात्मिक पथ को ग्रहण कर सकने में अक्षम रहते हैं। वीर पुरुष तथा राजनैतिक नेता होते हुए भी वे आत्म-साक्षात्कार का पथ नहीं अपना सकते हैं।

तात्पर्य : बड़े-बड़े राजनीतिक नेता भले ही अपने समान शक्तिशाली राजनीतिक शत्रुओं को परास्त कर दें, किन्तु वे अहर्निश साथ रहने वाले प्रबल इन्द्रिय-रूपी शत्रुओं का दमन नहीं कर पाते। इन निकटस्थ शत्रुओं को न जीत सकने के कारण ही वे अन्य शत्रुओं को जीतने का प्रयास करते रहते हैं और अन्ततः जीवन-संघर्ष में मर जाते हैं। वे न तो आत्म-साक्षात्कार का पथ ग्रहण करते हैं और न संन्यासी ही बनते हैं। कभी-कभी ये महान् नेता संन्यासी का वेश धारण करके अपने आपको महात्मा कहलवाने लगते हैं, किन्तु उनका एकमात्र प्रयोजन अपने राजनीतिक शत्रुओं को परास्त करना रहता है। चूँकि वे अपने जीवन को "यह मेरा है" के मोह से भ्रष्ट कर चुके होते हैं, अतः न उनकी आत्म-

उन्नति हो पाती है और न वे माया के चंगुल से मुक्त हो पाते हैं।

प्रसज्जति क्वापि लताभुजाश्रय-
स्तदाश्रयाव्यक्तपदद्विजस्पृहः ।
क्वचित्कदाचिद्धरिचक्रतस्त्रसन्
सख्यं विधत्ते बककङ्कगृध्रैः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

प्रसज्जति—अधिकाधिक आसक्त होता है; क्वापि—कभी-कभी; लता-भुज-आश्रयः—जो पत्नी की लताओं जैसी कोमल बाहों में आश्रय लेते हैं; तत्-आश्रय—जो ऐसी लताओं द्वारा आश्रय प्रदान किये जाते हैं; अव्यक्त-पद—जो अस्पष्ट पद (गीत) गाते हैं; द्विज-स्पृहः—पक्षियों का गाना सुनने का इच्छुक; क्वचित्—कभी-कभी; कदाचित्—कहीं; हरि-चक्रतः त्रसन्—सिंह की दहाड़ से भयभीत; सख्यम्—मित्रता; विधत्ते—करता है; बक-कङ्क-गृध्रैः—बगुलों, सारसों तथा गीधों के साथ।

कभी-कभी जीवात्मा संसार रूपी जंगल में लताओं का आश्रय लेता है और उन लताओं में बैठें पक्षियों की चहचहाहट सुनना चाहता है। जंगल के सिंहों की दहाड़ से भयभीत होकर वह बगुलों, सारसों तथा गृद्धों से मैत्री स्थापित करता है।

तात्पर्य : इस संसार रूपी जंगल में अनेक प्रकार के पशु, पक्षी, वृक्ष तथा लताएँ होती हैं। कभी-कभी जीवात्मा लताओं का आश्रय लेना चाहता है, अर्थात् वह लताओं के समान भुजाओं वाली अपनी स्त्री का आलिंगन करके सुखी रहना चाहता है। इन लताओं में चहकने वाले अनेक पक्षी रहते हैं—इससे यह सूचित होता है कि वह अपनी पत्नी की मधुरवाणी सुनकर सन्तुष्ट होना चाहता है। किन्तु वृद्धावस्था में वह कभी कभी सन्निकट-मृत्यु से भयभीत हो उठता है, जिसकी तुलना दहाड़ते सिंह से की गई है। सिंह के आक्रमण से बचने के लिए वह किन्हीं धूर्त स्वामियों, योगियों, अवतारों, वंचकों की शरण में जाता है। इस प्रकार माया के द्वारा पथभ्रष्ट होकर वह अपना जीवन विनष्ट कर लेता है। कहा गया है—*हरिं विना मृतिं न तरन्ति*—श्रीभगवान् की शरण लिए बिना कोई भी मृत्यु के आसन्न भय से बच नहीं सकता। यहाँ *हरि* शब्द से सिंह तथा श्रीभगवान् दोनों का बोध होता है। हरि अर्थात् मृत्यु रूपी सिंह से बचने के लिए हरि (ईश्वर) की शरण लेनी होती है। किन्तु अल्पज्ञानी लोग मृत्यु के चंगुल से बचने के लिए अभक्त वंचकों की शरण में जाते हैं। इस संसार रूपी जंगल में जीवात्मा सबसे पहले अपनी पत्नी की भुजवल्लरियों की शरण में जाकर उसकी मधुरवाणी सुनना चाहता है। बाद में वह कभी कभी तथाकथित गुरुओं तथा साधुओं की शरण ग्रहण करता है जो बगुलों, सारसों तथा गीधों के समान हैं। इस प्रकार परमेश्वर की शरण में न जाने से वह दोनों ओर ठगा जाता है।

तैर्वञ्चितो हंसकुलं समाविश-
न्नरोचयन्शीलमुपैति वानरान् ।
तज्जातिरासेन सुनिर्वृतेन्द्रियः
परस्परोद्वीक्षणविस्मृतावधिः ॥ १७॥

शब्दार्थ

तैः—उनके द्वारा (वंचकों, तथाकथित योगियों, स्वामियों, अवतारों तथा गुरुओं द्वारा); वञ्चितः—ठगा जाकर; हंस-कुलम्—परमहंसों या भक्तों की संगति; समाविशन्—सम्पर्क करके; अरोचयन्—संतुष्ट न रहकर; शीलम्—शील, आचार; उपैति—पास जाता है; वानरान्—बंदरों को, जो दुश्चरित्र कामी पुरुष तुल्य हैं; तत्-जाति-रासेन—ऐसे कामी पुरुषों के संग में विषय-तृप्ति द्वारा; सुनिर्वृत-इन्द्रियः—इन्द्रिय-सुख प्राप्त होने से अत्यधिक संतुष्ट; परस्पर उद्वीक्षण—एक दूसरे का मुख देख-देख कर; विस्मृत—भूला हुआ; अवधिः—जीवन का अन्त।

संसार रूपी जंगल में तथाकथित योगियों, स्वामियों तथा अवतारों से ठगा जाकर जीवात्मा उनकी संगति छोड़कर असली भक्तों की संगति में आने का प्रयत्न करता है, किन्तु दुर्भाग्यवश वह सद्गुरु या परम भक्त के उपदेशों का पालन नहीं कर पाता, अतः वह उनकी संगति छोड़कर पुनः बन्दरों की संगति में वापस आ जाता है जो मात्र इन्द्रिय-तृप्ति तथा स्त्रियों में रुचि रखते हैं। वह इन विषयीजनों की संगति में रहकर तथा काम और मद्यपान में लगा रहकर तुष्ट हो लेता है। इस तरह वह काम और मद्यसेवन से अपना जीवन नष्ट कर देता है। वह अन्य विषयीजनों के मुखों को देख-देख कर भूला रहता है और मृत्यु निकट आ जाती है।

तात्पर्य : कभी-कभी मूढ़ व्यक्ति कुसंगति से ऊब कर भक्तों तथा ब्राह्मणों की संगति में आता है और गुरु से दीक्षा लेता है। वह गुरु के बताये विधि-विधानों का पालन करने का यत्न करता है, किन्तु दुर्भाग्यवश उनका पालन नहीं कर पाता। फलतः वह भक्तों का संग छोड़कर उन दुमकटे लोगों (बन्दरों) का साथ करता है जो संभोग तथा मद्यपान में ही रुचि रखते हैं। जो तथाकथित आत्मवादी हैं, उनकी तुलना बंदरों से की गई है। बाहर से बन्दर साधुओं से मिलते-जुलते हैं, क्योंकि वे जंगलों में नंगे रहते और फल खाते हैं, किन्तु उनकी एकमात्र आकांक्षा होती है अनेक पत्नियाँ बनाकर विषयी जीवन बिताना। कभी-कभी तथाकथित अध्यात्मवादी आध्यात्मिक जीवन की खोज के बहाने कृष्णभावनाभावित भक्तों का साथ करना चाहते हैं, किन्तु वे न तो विधि-विधानों का पालन कर पाते हैं, न आध्यात्मिक जीवन के पथ का ही अनुसरण करते हैं। फलतः वे भक्तों का साथ छोड़कर विषयी पुरुषों का साथ करते हैं, जिनकी तुलना बन्दरों से की गई है। वे पुनः विषय-भोग तथा मद्यपान चालू

कर देते हैं और एक दूसरे के मुख को देखते हुए सन्तुष्ट (प्रसन्न) रहते हैं। इस प्रकार से वे मृत्यु आने तक अपना जीवन यों ही बिताते रहते हैं।

द्रुमेषु रंस्यन्सुतदारवत्सलो
व्यवायदीनो विवशः स्वबन्धने ।
क्वचित्प्रमादाद्गिरिकन्दरे पतन्
वल्लीं गृहीत्वा गजभीत आस्थितः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

द्रुमेषु—वृक्षों में (अथवा वृक्षवत् घरों में जिनमें बन्दर एक डाली से दूसरी डाली पर कूदते रहते हैं); रंस्यन्—भोगता हुआ; सुत-दार-वत्सलः—बच्चों तथा पत्नी के प्रति अनुरक्त; व्यवाय-दीनः—विषय भोग के कारण दुर्बल हृदय वाला; विवशः—त्यागने में अक्षम; स्व-बन्धने—कर्मफल के बन्धन में; क्वचित्—कभी-कभी; प्रमादात्—आसन्न मृत्यु के भय से; गिरि-कन्दरे—पर्वत की गुफा में; पतन्—गिरकर; वल्लीम्—लताओं की शाखाएँ; गृहीत्वा—पकड़कर; गज-भीतः—मृत्यु रूपी हाथी से भयभीत; आस्थितः—उस स्थिति में रहा जाता है।

जब जीवात्मा एक शाखा से दूसरी शाखा पर कूदने वाले बन्दर के सदृश बन जाता है, तो गृहस्थ जीवन के वृक्ष में मात्र विषय सुख (संभोग) के लिए रहता है। इस प्रकार वह अपनी पत्नी से वैसे ही पाद-प्रहार पाता है जैसे कि गधा गधी से। मुक्ति का साधन न पाने के कारण वह असहाय बनकर उसी अवस्था में रहता है। कभी-कभी उसे असाध्य रोग हो जाता है जो पर्वत की गुफा में गिरने जैसा है। वह इस गुफा के पीछे रहने वाले मृत्यु रूपी हाथी से भयभीत हो उठता है और लताओं की टहनियाँ पकड़े रहकर लटका रहता है।

तात्पर्य : यहाँ पर गृहस्थ के जीवन की भयावह स्थिति का वर्णन है। गृहस्थ का जीवन कष्टों से परिपूर्ण है और उसका एकमात्र आकर्षण अपनी पत्नी से संभोग रहता है जो उस रति-क्रीड़ा के समय गधी के समान पाद-प्रहार करती है। निरन्तर विषयी जीवन बिताने से उसे अनेक असाध्य रोग हो जाते हैं। उस समय, हाथी रूपी मृत्यु से भयभीत होकर वह वृक्षों की शाखाएँ पकड़ कर बन्दर के समान लटका रहता है।

अतः कथञ्चित्स विमुक्त आपदः
पुनश्च सार्थं प्रविशत्यरिन्दम ।
अध्वन्यमुष्मिन्नजया निवेशितो
भ्रमञ्जनोऽद्यापि न वेद कश्चन ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अतः—इससे; कथञ्चित्—कुछ भी; सः—वह; विमुक्तः—मुक्त; आपदः—विपत्ति से; पुनः च—फिर से; स-अर्थम्—जीवन में रुचि लेता हुआ; प्रविशति—प्रवेश करता है, प्रारम्भ करता है; अरिम्-दम—शत्रुओं के हंता, हे राजन्; अध्वनि—भोग-पथ पर; अमुष्मिन्—उस; अजया—माया के प्रभाव से; निवेशितः—डूबा हुआ; भ्रमन्—घूमते हुए; जनः—बद्धजीव; अद्य अपि—मृत्यु तक; न वेद—नहीं जानता; कश्चन—कुछ भी।.

हे शत्रुओं के संहारक, महाराज रहूगण, यदि बद्धजीव किसी प्रकार से इस भयानक स्थिति से उबर आता है, तो वह पुनः विषयी जीवन बिताने के लिए अपने घर को लौट जाता है, क्योंकि वही आसक्ति का मार्ग है। इस प्रकार ईश्वर की माया से वशीभूत वह संसार रूपी जंगल में घूमता रहता है। मृत्यु के निकट पहुँच कर भी उसे अपने वास्तविक हित का पता नहीं चल पाता।

तात्पर्य : यही सांसारिक जीवन की रीति है। जब कोई विषयों के प्रति आकृष्ट होता है, तो वह अनेक प्रकार से बँध जाता है और अपने जीवन का सही लक्ष्य नहीं समझ पाता। अत: *श्रीमद्भागवत* का (७..३१) कथन है— *न ते विदु: स्वार्थगतिं हि विष्णुम्*—सामान्यत: लोग जीवन के चरम उद्देश्य को नहीं समझ पाते। जैसाकि वेदों में कहा गया है—*ॐ तद् विष्णो: परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय:*—जो आत्मज्ञानी हैं, वे केवल विष्णु के चरणकमलों को देखते हैं। किन्तु बद्धजीव विष्णु के साथ अपने सम्बन्ध को पुन:स्थापित करने में कोई रुचि न रखकर भौतिक विषयों में फँस जाता है और तथाकथित नेताओं द्वारा पथभ्रष्ट होकर अखण्ड बन्धन में रहता है।

रहूगण त्वमपि ह्यध्वनोऽस्य
सन्न्यस्तदण्डः कृतभूतमैत्रः ।
असज्जितात्मा हरिसेवया शितं
ज्ञानासिमादाय तरातिपारम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

रहूगण—हे राजा रहूगण; त्वम्—तुम; अपि—भी; हि—निश्चय ही; अध्वनः—संसार पथ का; अस्य—इस; सन्न्यस्त-दण्डः—अपराधियों को दण्ड देने वाले राज-दण्ड को त्याग कर; कृत-भूत-मैत्रः—प्रत्येक प्राणी के मित्र बन कर; असत्-जित-आत्मा—जिसका मन जीवन के भौतिक सुख के प्रति आकृष्ट नहीं होता; हरि-सेवया—परमेश्वर की प्रेममय सेवा के द्वारा; शितम्—पैनी; ज्ञान-असिम्—ज्ञान की तलवार; आदाय—हाथ में लेकर; तर—पार करो; अति-पारम्—उस अन्तिम छोर को (दूसरे पार)।.

हे राजा रहूगण, तुम भी भौतिक सुख के प्रति आकर्षण-मार्ग में स्थित होकर माया के शिकार हो। मैं तुम्हें राज पद तथा उस दण्ड का जिससे अपराधियों को दण्डित करते हो परित्याग करने की सलाह देता हूँ जिससे तुम समस्त जीवात्माओं के सुहृद (मित्र) बन सको। विषयभोगों को त्याग कर अपने हाथ में भक्ति के द्वारा धार लगायी गयी ज्ञान की तलवार को धारण करो।

तब तुम माया की कठिन ग्रंथि को काट सकोगे और अज्ञानता के सागर को पार करके दूसरे छोर पर जा सकोगे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१.३-४) में भगवान् कृष्ण ने इस संसा र की तुलना मोह के वृक्ष से की है, जिससे प्रत्येक प्राणी को छूटना है—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

''इस वृक्ष का असली रूप इस संसार में नहीं देखा जा सकता। इसके आदि, अन्त अथवा मूलाधार को कोई नहीं जान सकता। किन्तु इस संसार-वृक्ष को दृढ़ निश्चय के साथ वैराग्य रूपी शस्त्र से काट कर फिर उस परमपद को खोजना चाहिए जिसे प्राप्त करके इस संसार में फिर वापस नहीं आना पड़ता। इसके लिए उन्हीं आदि पुरुष पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के शरणागत हुआ जाये जिनसे अनादिकाल से प्रत्येक वस्तु का सूत्रपात तथा विस्तार होता आया है।''

राजोवाच
अहो नृजन्माखिलजन्मशोभनं
किं जन्मभिस्त्वपरैरप्यमुष्मिन् ।
न यद्धृषीकेशयशःकृतात्मनां
महात्मनां वः प्रचुरः समागमः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राज रहूगण ने कहा; अहो—ओह; नृ-जन्म—मनुष्य का जन्म लेने वाले तुम; अखिल-जन्म-शोभनम्—सर्व योनियों में श्रेष्ठ; किम्—क्या आवश्यकता; जन्मभिः—स्वर्ग लोकों के देवता जैसी उच्चयोनि में जन्म लेने से; तु—लेकिन; अपरैः—अन्यान्य, निकृष्ट; अपि—निस्संदेह; अमुष्मिन्—अगले जन्म में; न—नहीं; यत्—जो; हृषीकेश-यशः—समस्त इन्द्रियों के स्वामी श्रीभगवान् हृषीकेश के पवित्र यश से; कृत-आत्मनाम्—जिनके हृदय विमल हैं, शुद्ध अन्तःकरण वाले; महा-आत्मनाम्—महात्माओं की; वः—हम सबकी; प्रचुरः—अत्यधिक; समागमः—संगति।

राज रहूगण ने कहा—यह मनुष्य जन्म समस्त योनियों में श्रेष्ठ है। यहाँ तक कि स्वर्ग में देवताओं के बीच जन्म लेना उतना यशपूर्ण नहीं जितना कि इस पृथ्वी पर मनुष्य के रूप में जन्म लेना। तो फिर देवता जैसे उच्च पद का क्या लाभ? स्वर्गलोक में अथाह भोग-सामग्री के कारण देवताओं को भक्तों की संगति का अवसर ही नहीं मिलता।

तात्पर्य : आत्म-साक्षात्कार के लिए मनुष्य जन्म एक महान् सुअवसर होता है। चाहे कोई स्वर्गलोक में देवताओं के बीच जन्म क्यों न ले, किन्तु भौतिक सुविधाओं की प्रचुरता के कारण उसे भव-बन्धन से छुटकारा नहीं मिल पाता। इस पृथ्वी पर भी जो ऐश्वर्यवान हैं, वे कृष्ण-भक्ति की कोई परवाह नहीं करते। जो बुद्धिमान पुरुष वास्तव में भौतिकता के चंगुल से छूटना चाहता है उसे चाहिए कि वह शुद्ध भक्तों की संगति करे। इस संगति से वह क्रमश: धन तथा स्त्री के आकर्षण से विरक्त होता जाएगा। भौतिकता के मूलभूत तत्त्व धन तथा स्त्रियाँ हैं। अत: श्री चैतन्य महाप्रभु ने यह उपदेश दिया है कि जो श्रीभगवान् के धाम को वापस जाना चाहते हैं उन्हें धन तथा स्त्री का परित्याग कर देना चाहिए जिससे वे ईश्वर के साम्राज्य में प्रवेश करने के योग्य बन सकें। धन तथा स्त्रियों का पूर्ण उपभोग ईश्वर की सेवा में किया जा सकता है और जो ऐसा कर सकता है, वह भव-बन्धन से मुक्त हो सकता है। *सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायना: कथा:* (भागवत ३.२.२)। भक्तों की संगति में रह कर ही श्रीभगवान् के यश का आस्वादन सम्भव है। विशुद्ध भक्त की किंचित संगति से मनुष्य श्रीभगवान् के धाम जाने में सफल हो सकता है।

न ह्यद्भुतं त्वच्चरणाब्जरेणुभि-
र्हतांहसो भक्तिरधोक्षजेऽमला ।
मौहूर्तिकाद्यस्य समागमाच्च मे
दुस्तर्कमूलोऽपहतोऽविवेक: ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निश्चय ही; अद्भुतम्—अद्‌भुत; त्वत्-चरण-अब्ज-रेणुभि:—आपके चरणकमलों की धूलि से; हत-अंहस:—पाप के फल से मुक्त मैं; भक्ति:—प्रेम तथा भक्ति; अधोक्षजे—श्रीभगवान् में, जो व्यवहार-ज्ञान की पकड़ से परे है; अमला—सांसारिक कल्मषों से रहित, विमल; मौहूर्तिकात्—क्षणिक; यस्य—जिसके; समागमात्—आगमन तथा संगति से; च—भी; मे—मेरा; दुस्तर्क—झूठ तर्कों का, कुतर्कों का; मूल:—मूल, मूलकारण; अपहत:—पूर्णतया विनष्ट हो गया; अविवेक:—अज्ञान।

यह कोई विचित्र बात नहीं है कि केवल आपके चरण-कमलों की धूलि से धूसरित होने से मनुष्य तुरन्त विशुद्ध भक्ति के अधोक्षज पद को प्राप्त होता है जो ब्रह्मा जैसे महान् देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। आपके क्षणमात्र के समागम से अब मैं समस्त तर्कों, अहंकार तथा अविवेक से मुक्त हो गया हूँ जो इस भौतिक जगत में बंधन के मूल कारण हैं। मैं अब इन समस्त झंझटों से मुक्त हूँ।

तात्पर्य : शुद्ध भक्तों के समागम से भौतिक बंधनों से मुक्ति निश्चित है। यह जड़ भरत की संगति से राजा रहूगण के प्रसंग में पूर्णतः सत्य है। राजा रहूगण तुरन्त ही भौतिक संगति के दुष्परिणामों से मुक्त हो गये। शुद्ध भक्तों द्वारा अपने शिष्यों को दिये तर्क इतने विश्वसनीय होते हैं कि मूढ़ से मूढ़ शिष्य भी तुरन्त आध्यात्मिक ज्ञान का आलोक प्राप्त कर सकता है।

नमो महद्भ्योऽस्तु नमः शिशुभ्यो
नमो युवभ्यो नम आवटुभ्यः ।
ये ब्राह्मणा गामवधूतलिङ्गा-
श्चरन्ति तेभ्यः शिवमस्तु राज्ञाम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार है; महद्भ्यः—महापुरुषों को; अस्तु—हो; नमः—मेरा नमस्कार; शिशुभ्यः—जो महापुरुष शिशु रूप में हो, उनको; नमः—सादर नमस्कार; युवभ्यः—जो युवा (तरुण) हों, उन्हें; नमः—सादर नमस्कार; आ-वटुभ्यः—जो बालक के रूप में हों उन्हें; ये—जो सब; ब्राह्मणाः—दिव्य ज्ञान में सिद्ध; गाम्—पृथ्वी; अवधूत-लिङ्गाः—विभिन्न शारीरिक वेषों में छिपे रहने वाले; चरन्ति—घूमते रहते हैं; तेभ्यः—उनसे; शिवम् अस्तु—कल्याण हो; राज्ञाम्—राजाओं को (जो सदैव गर्वित रहते हैं)।

मैं उन महापुरुषों को नमस्कार करता हूँ जो इस धरातल पर शिशु, तरुण बालक, अवधूत या महान् ब्राह्मण के रूप में विचरण करते हैं। यदि वे विभिन्न वेशों में छिपे हुए हैं, तो भी मैं उन सबको नमस्कार करता हूँ। उनके अनुग्रह से उनका अपमान करने वाले राजवंशों का कल्याण हो।

तात्पर्य : राजा रहूगण को अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ, क्योंकि उसने जड़ भरत को अपनी पालकी ढोने के लिए बाध्य किया था। अतः उसने समस्त प्रकार के ब्राह्मणों तथा स्वरूपसिद्ध पुरुषों की वन्दना करनी प्रारम्भ की, चाहे वे शिशु रूप में खेल रहे हों या किसी भी वेश में छिपे हुए हों। चारों कुमार पाँचवर्षीय बालकों के रूप में सर्वत्र घूमते थे। इसी प्रकार अनेक ब्राह्मण बच्चे, तरुण या अवधूत रूप में विश्व का परिभ्रमण करते रहते हैं। सामान्यतः राजा लोग अहंकारवश इन महापुरुषों को अपमानित करते रहते हैं, अतः राजा रहूगण ने उनको ही सादर नमस्कार किया है, जिससे अहंकारी राजवंश नरक को न प्राप्त हो। यदि कोई महापुरुष का अपमान करता है, तो श्रीभगवान् उसे क्षमा नहीं करते, भले ही उन महापुरुषों को यह अपमान जैसा न लगता हो। दुर्वासा ने महाराज अम्बरीष का अपमान किया था, अतः जब वे भगवान् विष्णु के पास क्षमा के लिए पहुँचे तो उन्होंने क्षमा प्रदान नहीं की—उन्हें महाराज

अम्बरीष के चरणों पर गिरना पड़ा, यद्यपि वे क्षत्रिय गृहस्थ थे। मनुष्य को चाहिए कि वह वैष्णव तथा ब्राह्मण के चरणकमलों का अपमान न करे।

श्रीशुक उवाच

इत्येवमुत्तरामातः स वै ब्रह्मर्षिसुतः सिन्धुपतय आत्मसतत्त्वं विगणयतः परानुभावः परमकारुणिकतयोपदिश्य रहूगणेन सकरुणमभिवन्दितचरण आपूर्णार्णव इव निभृतकरणोर्म्याशयो धरणिमिमां विचचार. ॥ २४॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति एवम्—इस प्रकार; उत्तरा-मातः—हे माता उत्तरा के पुत्र, महाराज परीक्षित; सः—वह ब्राह्मण; वै—निस्संदेह; ब्रह्म-ऋषि-सुतः—अत्यन्त शिक्षित ब्राह्मण का पुत्र, जड़ भरत; सिन्धु-पतये—सिंधु राज्य के राजा को; आत्म-स-तत्त्वम्—आत्मा की वास्तविक स्वाभाविक स्थिति; विगणयतः—जड़ भरत का अपमान करने पर भी; पर-अनुभावः—परम आत्मज्ञानी; परम-कारुणिकतया—पतित-आत्माओं के प्रति अत्यन्त दयालु होने के कारण; उपदिश्य—उपदेश देकर; रहूगणेन—राजा रहूगण के द्वारा; स-करुणम्—दीनभाव से; अभिवन्दित-चरणः—जिसके चरणकमलों की वन्दना की गई; आपूर्ण-अर्णवः इव—परिपूर्ण सागर के समान; निभृत—पूर्णतया शान्त; करण—इन्द्रियों की; ऊर्मि—लहरें; आशयः—अन्तःकरण में; धरणिम्—पृथ्वी पर; इमाम्—इस; विचचार—घूमने लगे।

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा, हे राजन्, हे उत्तरा-पुत्र, राजा रहूगण द्वारा अपनी पालकी ढोये जाने के लिए बाध्य किये जाने से अपमानित होकर जड़ भरत के मन में असंतोष की कुछकुछ लहरें थीं, किन्तु उन्होंने इनकी उपेक्षा की और उनका हृदय पुनः सागर के समान शान्त हो गया। यद्यपि राजा रहूगण ने उनका अपमान किया, किन्तु वे महान् परमहंस थे। वैष्णव होने के नाते वे परम दयालु थे, अतः उन्होंने राजा को आत्मा की वास्तविक स्वाभाविक स्थिति बतलाई। तब उन्हें अपमान भूल गया, क्योंकि राजा रहूगण ने विनीत भाव से उनके चरणकमलों पर क्षमा माँग ली थी। इसके बाद वे पुनः पूर्ववत् सारे विश्व का भ्रमण करने लगे।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* (३.२.२१) में कपिलदेव ने महापु रुषों के लक्षण बतलाये हैं—*तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।* साधु भक्त अन्यन्त सहिष्णु होता है। वह सभी जीवों का मित्र होता है और संसार में वैर नहीं पालता। शुद्ध भक्त में साधु के समस्त गुण पाये जाते हैं। जड़ भरत इसके उदाहरण हैं। भौतिक शरीर होने से जब राजा रहूगण द्वारा उनका अपमान हुआ तो वे विक्षुब्ध अवश्य हुए थे, किन्तु बाद में राजा के अनुनय-विनय से जड़ भरत ने उसे क्षमा कर दिया। जो कोई भी श्रीभगवान् के धाम को वापस जाना चाहता है उसका परम कर्तव्य है कि वह राजा रहूगण के समान विनीत हो और जिस वैष्णव का अपमान किया हो उससे क्षमा माँगे। वैष्णव सामान्य रूप से परम

दयालु होते हैं, अत: जब कोई उनके चरणों में तुरन्त समर्पण कर देता है, तो वे उनके पापकर्म के फल को क्षमा कर देते हैं। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो पापकर्म के फल बने रहते हैं और फल अच्छा नहीं निकलता।

सौवीरपतिरपि सुजनसमवगतपरमात्मसतत्त्व आत्मन्यविद्याध्यारोपितां च देहात्ममतिं विससर्ज; एवं हि नृप भगवदाश्रिताश्रितानुभाव:. ॥ २॥

शब्दार्थ

सौवीर-पति:—सौवीर राज्य का राजा; अपि—निश्चय ही; सु-जन—महापुरुष से; समवगत—भली-भाँति अवगत होकर, जानकर; परमात्म-स-तत्त्व:—आत्मा तथा परमात्मा की स्वाभाविक स्थिति की सत्यता; आत्मनि—अपने आप में; अविद्या—अज्ञान से; अध्यारोपिताम्—भूल से आरोपित; च—तथा; देह—शरीर में; आत्म-मतिम्—स्व-बोध; विससर्ज—पूर्णतया त्याग दिया; एवम्—इस प्रकार; हि—निश्चय ही; नृप—हे राजन्; भगवत्-आश्रित-आश्रित-अनुभाव:—परम्परानुसार सद्गुरु की शरण में आये हुए भक्त की शरण में (जो निश्चित रूप से अविद्या रूपी देहात्म-बुद्धि को निकाल पाने में समर्थ है)।

परम भक्त जड़ भरत से उपदेश ग्रहण करने के पश्चात् सौवीर का राजा रहूगण आत्मा की स्वाभाविक स्थिति से पूर्णतया परिचित हो गया। उसने देहात्मबुद्धि का सर्वश: परित्याग कर दिया। हे राजन्, जो भी ईश्वर के भक्त के दास की शरण ग्रहण करता है, वह धन्य है, क्योंकि वह बिना कठिनाई के देहात्मबुद्धि त्याग सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि *चैतन्य चरितामृत* (मध्य २२.४) में कहा गया है—

''साधु संग,'' ''साधु संग''—सर्वशास्त्रे कय।
लवमात्र साधु-संगे सर्व-सिद्धि हय॥

यह सच है कि चाहे क्षण भर की ही संगति क्यों न हो, यदि कोई शुद्ध भक्त की शरण में जाता है, तो उसे पूर्ण सिद्धि प्राप्त होती है। साधु भगवान् का शुद्ध भक्त होता है। यह हमारा स्वयं का अनुभव है कि हम गुरु के प्रथम उपदेश से ही कृष्णभावनामृत से अभिभूत हो उठे जिससे आज हम कृष्णभावनामृत के पथ पर हैं और कृष्ण-दर्शन को समझ सकते हैं। परिणाम यह हुआ कि आज अनेक भक्त कृष्णभावनामृत आन्दोलन में संलग्न हैं। यह समूचा संसार देहात्मबुद्धि के वशीभूत होकर चक्कर लगा रहा है। इसलिए संसार भर में लोगों को ज्ञान प्रदान करने और कृष्णभक्ति में लगाने के लिए भक्तों पूरी तरह से जुट जाना चाहिए।

राजोवाच

योह वा इह बहुविदा महाभागवत त्वयाभिहितः परोक्षेण वचसा जीवलोकभवाध्वा स ह्यार्यमनीषया कल्पितविषयो नाञ्जसाव्युत्पन्नलोकसमधिगमः; अथ तदेवैतद्दुरवगमं समवेतानुकल्पेन निर्दिश्यतामिति. ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा परीक्षित ने कहा; यः—जो; ह—निश्चय ही; वा—अथवा; इह—इस वर्णन में; बहु-विदा—दिव्य ज्ञान की अनेक घटनाओं को जानने वाले; महा-भागवत—हे परम भक्त साधु; त्वया—आपके द्वारा; अभिहितः—वर्णित; परोक्षेण—अलंकारिक रीति से; वचसा—शब्दों से; जीव-लोक-भव-अध्वा—बद्धजीव का संसार रूप मार्ग; सः—वह; हि—निस्संदेह; आर्य-मनीषया—सिद्ध भक्तों की बुद्धि से; कल्पित-विषयः—कल्पना किया गया विषय; न—नहीं; अञ्जसा—प्रत्यक्ष; अव्युत्पन्न-लोक—अल्प बुद्धि वाले पुरुष; समधिगमः—पूर्ण ज्ञान; अथ—अतः; तत् एव—उसके कारण; एतत्—यह विषय; दुरवगमम्—दुर्बोध, समझने में कठिन; समवेत-अनुकल्पेन—ऐसी घटनाओं (रूपक) का स्पष्टीकरण करने वाले; निर्दिश्यताम्—वर्णन करें; इति—इस प्रकार।

तब राजा परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से कहा—हे स्वामी, हे परम भक्त साधु, आप सर्वज्ञाता हैं। आपने जंगल के वणिक के रूप में बद्धजीव की स्थिति का अत्यन्त मनोहर वर्णन किया है। इन उपदेशों से कोई भी बुद्धिमान मनुष्य समझ सकता है कि देहात्मबुद्धि वाले पुरुष की इन्द्रियाँ उस जंगल में चोर-उचक्कों सी हैं और उसकी पत्नी तथा बच्चे सियार तथा अन्य हिंस्र पशुओं के तुल्य हैं। किन्तु अल्पज्ञानियों के लिए इस आख्यान को समझ पाना सरल नहीं है क्योंकि इस रूपक का सही-सही अर्थ निकाल पाना कठिन है। अतः मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि इसका अर्थ स्पष्ट करके बताएँ।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में ऐसे अनेक आख्यान तथा घटनाएँ हैं, जिनका वर्णन रूपक के माध्यम से किया गया है। ऐसे रूपकों का अर्थ अल्पज्ञों की समझ में नहीं आता, अतः ज्ञान-पिपासु छात्र का यह परम कर्तव्य है कि वह स्पष्ट व्याख्या के लिए प्रामाणिक गुरु के पास जाये।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कंध के अन्तर्गत ''राजा रहूगण तथा जड़ भरत के बीच और आगे वार्ता'' नामक तेरहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौदह

भौतिक संसार भोग का एक विकट वन

इस अध्याय में भवाटवी (भौतिक जगत रूपी वन) का अर्थ स्पष्ट किया गया है। कभी-कभी वणिकजन अनेक दुर्लभ वस्तुओं का संग्रह करने और उन्हें लाभ सहित नगर में बेचने के लिए वन (अटवी) में प्रवेश करते हैं, किन्तु वन मार्ग सदैव ही संकटों से घिरे रहते है। जब शुद्ध जीव प्रभु की

सेवा त्याग कर भौतिक जगत का भोग करना चाहता है, तो श्रीकृष्ण उसे उस भौतिक जगत में प्रवेश करने का अवसर अवश्य प्रदान करते हैं। *प्रेम विवर्त* में कहा गया है—*कृष्ण बहिर्मुख हञा भोग वांछा करे।* इसी कारण शुद्ध जीवात्मा भौतिक जगत में गिर जाता है। प्रकृति के तीनों गुणों के प्रभाव में आकर जीवात्मा विभिन्न योनियों में देह धारण करता है। कभी वह स्वर्गलोक में देवता बनता है, तो कभी मर्त्यलोकों में नगण्य प्राणी का रूप धारण करता है। इस सम्बन्ध में श्रील नरोत्तम दास ठाकुर कहते हैं—*नाना योनि सदा फिरे*—जीवात्मा अनेक योनियों में भ्रमण करता है। *कदर्य भक्षण करे*—उसे घृणित वस्तुएँ खानी और भोगनी पड़ती हैं। तारे जन्म अध: पाते याय इस प्रकार उसका सारा जीवन नष्ट हो जाता हैं। सर्व-दयामय वैष्णव की शरण के बिना बद्धजीव माया के चंगुल से नहीं छूट पाता। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*मन:षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति*) जीवात्मा अपने मन तथा पंच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा भौतिक जीवन प्रारम्भ करता है और इन्हीं के बल पर वह अपने अस्तित्व के लिए इस भौतिक जगत में संघर्ष करता है। इन इन्द्रियों की तुलना वन में रहने वाले धूर्तों तथा ठगों से की गई है। वे मनुष्य का आत्म-ज्ञान हर कर उसे अज्ञानता के जाल में डाल देती हैं। इस तरह इन्द्रियाँ धूर्तों तथा ठगों के तुल्य हैं, जो उसके आत्म ज्ञान को लूट लेती हैं और इन के अतिरिक्त सारे कुटुम्बी, पत्नी तथा सन्तानें वन के खूँखार पशुओं के तुल्य हैं। इन भयानक पशुओं का काम है मनुष्यों का मांस भक्षण करना। जीवात्मा इन श‍ृगालों तथा लोमड़ियों (पत्नी तथा सन्तान स्वरूप) को अपने ऊपर आक्रमण करने देता है और इस प्रकार उसका वास्तविक आध्यात्मिक जीवन समाप्त हो जाता है। भौतिक जीवन रूपी वन में प्रत्येक प्राणी मच्छरों की भाँति विद्वेषी है और मूषक तो निरन्तर उत्पात ही मचाते रहते हैं। इस भौतिक जगत में प्रत्येक प्राणी अनेक अप्रिय परिस्थितियों में जा पहुँचता है और ईर्ष्यालु व्यक्तियों तथा उत्पाती पशुओं से घिरा रहता है। फलस्वरूप जीवात्मा इनसे सतत लूटा जाता है और अन्य जीवात्माओं द्वारा दंशित होता रहता है। इतने व्यवधानों के बाद भी वह गृहस्थाश्रम को नहीं छोड़ना चाहता और भविष्य में सुखी रहने के प्रयास में सकाम कर्म करता रहता है। इस प्रकार वह कर्मफलों में अधिकाधिक फँसता जाता है और कुकृत्य करने के लिए बाध्य हो जाता है। उसके प्रत्यक्ष साक्षी होते हैं—दिन में सूर्य तथा रात्रि में चन्द्रमा। देवतागण भी देखते रहते हैं, किन्तु बद्धजीव सोचता है कि इन्द्रियतृप्ति के उसके सारे प्रयासों को कोई नहीं देख रहा है। अत: जब भी वह पकड़ा जाता है,

तो कुछ काल के लिए वह सब कुछ परित्याग कर देता है, किन्तु देह से अत्यधिक आसक्ति रहने के कारण सिद्धि प्राप्त करने के पूर्व ही उसका यह त्याग समाप्त हो जाता है।

इस भौतिक जगत में अनेक ईर्ष्यालु व्यक्ति हैं। कर लगाने वाले शासन की तुलना उलूक से की जा सकती है। अप्रिय झंकार करते अदृश्य झींगुर भी विद्यमान हैं। ये तब प्रकृति के दूत बनकर बद्धजीव को सताते हैं, किन्तु उसकी बुद्धि कुसंग के कारण भ्रष्ट हो जाती है। भौतिक अस्तित्व की बाधाओं से मुक्ति पाने के प्रयास में बद्धजीव नामधारी योगियों, साधुओं तथा अवतारियों के चंगुल में पड़ जाता है। जो जादू तो दिखा सकते हैं, किन्तु भक्ति को नहीं समझा पाते। कभी-कभी बद्धजीव अपना सारा धन खो देने के कारण अपने कुटुम्बीजनों से रुष्ट हो जाता है। इस भौतिक जगत में बद्धजीव को रंचमात्र भी सुख नहीं है, किन्तु वह जन्म-जन्मातर इसी की कामना करता है। राज्य-कर्मचारी नरभक्षी असुरों की तरह हैं, जो राज्य के संरक्षण के लिए प्रचुर कर लगाते हैं। कठोर श्रम करने वाला बद्धजीव इन भारी करों से अत्यन्त दुखी रहता है।

सकाम कर्मों का मार्ग दुर्लंघ्य पर्वतों की ओर ले जाता है। बद्धजीव कभी-कभी इन पर्वतों को लाँघना तो चाहता है, किन्तु वह कभी सफल नहीं हो पाता। फलत: वह अधिक संतप्त एवं निराश हो उठता है। भौतिक रूप से तथा आर्थिक रूप से संत्रस्त होकर बद्धजीव वृथा ही अपने परिवार को प्रताड़ित करता रहता है। भौतिक दृष्टि से चार प्रमुख आवश्यकताएँ होती हैं, जिनमें से नींद की तुलना अजगर से की गई है। नींद आने पर बद्धजीव अपने मूल अस्तित्व को पूरी तरह भूल जाता है और भौतिक जीवन की यातनाओं का अनुभव नहीं कर पाता। कभी-कभी धन की आवश्यकता होने पर बद्धजीव चोरी और ठगी करता है, भले ही वह आध्यात्मिक उन्नति के लिए ऊपर-ऊपर भक्तों की संगति क्यों न करे। उसका एकमात्र व्यापार माया के चंगुल से छूटना होना चाहिए। किन्तु सही निर्देश के अभाव में वह भौतिक कार्यों में अधिकाधिक उलझता जाता है। यह भौतिक जगत मात्र उलझन है और सुख, दुख, राग, द्वेष तथा शत्रुता जैसी यातनाओं से बना हुआ है। तात्पर्य है कि यह जगत यातना एवं दुख से परिपूर्ण है। जब व्यक्ति पत्नी में आसक्ति और कामाचार में लिप्त रहने के कारण ज्ञान खो देता है, तो उसकी समग्र चेतना दूषित हो जाती है। वह केवल स्त्री-संग की बातें सोचता रहता है। काल तो सर्प के समान प्रत्येक प्राणी का प्राण लेता है चाहे वह ब्रह्मा हों या एक नन्हीं चींटी। कभी-

कभी बद्धजीव काल से बचना चाहता है, तो वह किसी नकली मुक्तिदाता की शरण लेता है जो दुर्दैववश स्वयं की रक्षा नहीं कर सकता। तो फिर वह दूसरों की रक्षा कैसे कर सकता है? ऐसे नकली मुक्तिदाता योग्य ब्राह्मणों तथा वैदिक साधनों से प्राप्त प्रामाणिक ज्ञान की परवाह नहीं करते। वे व्यभिचार में लिप्त रहते हैं और विधवाओं तक को संभोग करने की छूट देने की संस्तुति करते हैं। इस प्रकार वे वन के वानरों के तुल्य हैं। श्रील शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित को विस्तारपूर्वक भौतिक वन (भवाटवी) तथा इसके दुर्गम पथ के विषय में समझाते हैं।

स होवाच
स एष देहात्ममानिनां
सत्त्वादिगुणविशेषविकल्पितकुशलाकुशलसमवहारविनिर्मितविविधदेहावलिभिर्वियोगसंयोगाद्यनादिसंसारानुभवस्य द्वारभूतेन षडिन्द्रियवर्गेण तस्मिन्दुर्गाध्ववदसुगमेऽध्वन्यापतित ईश्वरस्य भगवतो विष्णोर्वशवर्तिन्या मायया जीवलोकोऽयं यथा वणिक्सार्थोऽर्थपरः स्वदेहनिष्पादितकर्मानुभवः श्मशानवदशिवतमायां संसाराटव्यां गतो नाद्यापि विफलबहुप्रतियोगेहस्तत्तापोपशमनीं हरिगुरुचरणारविन्दमधुकरानुपदवीमवरुन्धे. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सः—स्वरूपसिद्ध भक्त (श्रीशुकदेव गोस्वामी) ने; ह—निस्संदेह; उवाच—कहा; सः—वह (बद्ध-आत्मा); एषः—यह; देह-आत्म-मानिनाम्—अज्ञानवश देह को अपना मानने वाले व्यक्तियों का; सत्त्व-आदि—सत्त्व, रज तथा तम के; गुण—गुणों के द्वारा; विशेष—विशेष; विकल्पित—अज्ञानवश कल्पित; कुशल—कभी-कभी अनुकूल कर्मों द्वारा; अकुशल—कभी-कभी प्रतिकूल कर्मों के द्वारा; समवहार—दोनों के मिश्रण द्वारा, समवहार से; विनिर्मित—प्राप्त; विविध—नाना प्रकार के; देह-आवलिभिः—देहों की शृंखला के द्वारा; वियोग-संयोग-आदि—एक प्रकार के देह का त्याग (वियोग) तथा अन्य की स्वीकृति (संयोग) द्वारा; अनादि-संसार-अनुभवस्य—देहान्तर की अनादि प्रक्रिया की प्रतीति का; द्वार-भूतेन—द्वारों के रूप में विद्यमान होकर; षट्-इन्द्रिय-वर्गेण—इन छः इन्द्रियों (मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों आँख, कान, जीभ, नाक तथा त्वचा) द्वारा; तस्मिन्—उस पर; दुर्ग-अध्व-वत्—दुर्लंघ्य पथ की भाँति; असुगमे—पार करने में सुगम न होने से; अध्वनि—वन के पथ पर; आपतितः—पड़ कर; ईश्वरस्य—नियन्ता का; भगवतः—श्रीभगवान्; विष्णोः—भगवान् विष्णु के; वश-वर्तिन्या—वश में रहकर कर्म करते हुए; मायया—माया द्वारा; जीव-लोकः—बद्ध जीवात्मा; अयम्—यह; यथा—जैसे; वणिक्—व्यापारी, बनिया; स-अर्थः—उद्देश्य सहित, सोद्देश्य; अर्थ-परः—धन में आसक्त; स्व-देह-निष्पादित—अपने देह से किया गया; कर्म—कार्यों का फल; अनुभवः—जो अनुभव करता है; श्मशान-वत् अशिवतमायाम्—अशुभ श्मशान भूमि के सदृश; संसार-अटव्याम्—भौतिक जीवन के वन में; गतः—प्रवेश करने पर; न—नहीं; अद्य अपि—अब तक; विफल—असफल; बहु-प्रतियोग—अनेक विघ्नों तथा दुखों से पूर्ण; ईहः—इस भौतिक जगत में जिनके कार्य; तत्-ताप-उपश-मनीम्—भौतिक जीवन रूपी वन के दुखों को शान्त करने वाला; हरि-गुरु-चरण-अरविन्द—प्रभु तथा भक्तों के चरणारविन्द में; मधुकर-अनुपदवीम्—भ्रमर सदृश अनुरक्त भक्तों के अनुगमन का पथ; अवरुन्धे—प्राप्त।

राजा परीक्षित् ने जब श्रीशुकदेव गोस्वामी से भौतिक वन का अर्थ स्पष्ट करने के लिए कहा तो उन्होंने इस प्रकार उत्तर दिया—हे राजन्, वणिक की रुचि सदैव धन उपार्जन के प्रति रहती है। कभी-कभी वह लकड़ी तथा मिट्टी जैसी कुछ अल्पमूल्य की वस्तुएँ प्राप्त करने और उन्हें ले जाकर नगर में अच्छे मूल्य में विक्रय करने की आकांक्षा से वन में प्रवेश करता है। इसी प्रकार

बद्धजीव लोभवश कुछ भौतिक सुख-लाभ करने की इच्छा से इस भौतिक जगत में प्रवेश करता है। धीरे-धीरे वह वन के सघन भाग में प्रवेश करता है तथा वह यह नहीं जानता कि बाहर कैसे निकले। इस भौतिक जगत में प्रवेश करके शुद्ध जीव सांसारिकता में बँध जाता है, जो भगवान् विष्णु के नियंत्रण में उनकी बहिरंगा शक्ति (माया) उत्पन्न करती है। इस प्रकार जीवात्मा बहिरंगा शक्ति दैवी माया के वशीभूत हो जाता है। स्वतंत्र होने तथा वन में भटकने के कारण वह भगवान् की सेवा में सदैव तत्पर रहने वाले भक्तों का संग प्राप्त नहीं कर पाता। एक बार देहात्मबुद्धि के कारण वह माया के वशीभूत होकर और भौतिक गुणों (सत्त्व, रज् तथा तम्) के द्वारा प्रेरित होकर एक के पश्चात् एक अनेक प्रकार के शरीर धारण करता है। इस प्रकार बद्धजीव कभी स्वर्गलोक तो कभी भूलोक और कभी पाताललोक तथा निम्न योनियों में प्रवेश करता है। इस प्रकार अनेक देहों के कारण वह निरन्तर कष्ट सहन करता है। ये कष्ट तथा पीड़ाएँ कभी-कभी मिश्रित रहती हैं। कभी तो ये असह्य होती हैं, तो कभी नहीं। ये शारीरिक दशाएँ बद्धजीव को मनोकल्पना के कारण प्राप्त होती हैं। वह अपने मन तथा पंचेन्द्रियों का उपयोग ज्ञान-प्राप्ति के लिए करता है और इन्हीं से विभिन्न देहें तथा विभिन्न दशाएँ प्राप्त होती हैं। बहिरंगा शक्ति माया के नियंत्रण में इन इन्द्रियों का उपभोग करके जीव को दुख उठाना पड़ता है। वह वास्तव में छुटकारा पाने की खोज में रहता है, किन्तु सामान्य रूप से वह भटकता है, यद्यपि कभी-कभी अत्यन्त कठिनाई के पश्चात् उसे छुटकारा मिल जाता है। इस प्रकार अस्तित्त्व के लिए संघर्षशील रहने के कारण उसे भगवान् विष्णु के चरणारविन्दों में भ्रमरों के समान अनुरक्त भक्तों की शरण नहीं मिल पाती है।

तात्पर्य : इस श्लोक में सबसे महत्त्वपूर्ण सूचना है, *हरि-गुरु-चरण-अरविन्द-मधुकर-अनुपदवीम्*—इस भौतिक जगत में बद्धजीव स्व-कर्मवश भटकता रहता है और कभी-कभी अत्यन्त कठिनाई के पश्चात् इससे छूट पाता है। तात्पर्य यह है कि जीव कभी सुखी नहीं रहता। वह अपने अस्तित्व के लिए मात्र संघर्ष करता है। वास्तव में उसका एकमात्र प्रयोजन गुरु को स्वीकार करना और उनकी शरण में जाकर उन्हीं के माध्यम से श्रीभगवान् के चरणारविन्द को स्वीकार करना है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—*गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज।* इस भौतिक

जगत रूपी वन या नगर में अस्तित्त्व के लिए संघर्ष करने वाले प्राणी वास्तव में सुखी नहीं हैं। वे मात्र विविध पीड़ाओं एवं इच्छाओं का भोग कर रहे हैं—सामान्यत: ऐसी पीड़ाएँ जो अशुभ हैं। वे इन दुखों से मुक्ति पाना चाहते हैं, किन्तु अज्ञानवश वे ऐसा नहीं कर पाते। उनके लिए तो वेदों में कहा गया है—*तद् विज्ञानार्थं स गुरुम् एवाभिगच्छेत्।* जब अस्तित्त्व के लिए संघर्ष में इस भौतिक जगत रूपी वन में जीव भटक जाता है, तो उसका प्रथम कार्य होता है ऐसा प्रामाणिक गुरु खोज निकालना जो भगवान् विष्णु के चरणकमलों में निरन्तर अनुरक्त रहता हो। तात्पर्य यह कि यदि वह अस्तित्व के लिए संघर्ष से छुटकारे का इच्छुक होता है, तो उसे चाहिए कि वह प्रामाणिक गुरु खोजे और उसके चरणकमल में रहकर शिक्षा प्राप्त करे। इस प्रकार वह उस संघर्ष से बाहर निकल सकता है।

चूँकि भौतिक जगत की तुलना वन से की गयी है। अत: यह तर्क किया जा सकता है कि कलियुग में आधुनिक सभ्यता मुख्यत: नगरों में ही स्थित है। किन्तु एक बड़ा नगर विशाल वन के तुल्य है। सच तो यह है कि नगर का जीवन वन में रहने की अपेक्षा अधिक घातक है। यदि कोई व्यक्ति बिना किसी मित्र और आश्रय के किसी नगर में प्रवेश करता है, तो उसके लिए उस नगर में निवास करना वन में रहने से भी अधिक कठिन है। इस पृथ्वी पर अनेक बड़े-बड़े नगर हैं और जहाँ भी दृष्टि जाती है अहर्निश जीवन-संघर्ष छिड़ा दिखता है। लोग ७०-८० मील की गति से मोटरकारों में इधर-उधर दौड़ते रहते हैं, जो जीवन-संघर्ष का दृश्य उपस्थित करता है। उन्हें भोर में शीघ्र उठकर मोटर में द्रुतगति से यात्रा करनी होती है। इससे सतत दुर्घटना का भय बना रहता है और काफी सावधानी बरतनी पड़ती है। अपने वाहन में भी मनुष्य अनेकानेक दुश्चिन्ताओं से घिरा रहता है तथा उसका संघर्ष कदापि मंगलकारी नहीं होता। मनुष्य के अतिरिक्त बिल्लियों तथा कुत्तों जैसी योनियाँ भी अपने अस्तित्त्व के लिए अहर्निश कठिन संघर्ष करती हैं; इस प्रकार जीवन-संघर्ष चलता रहता है और यह बद्धजीव एक स्थिति से दूसरी स्थिति को प्राप्त होता है। अल्पकाल के लिए वह शिशु रहता है, तत्पश्चात् वह बालक में बदल जाता है; बालक से युवा और युवा से पुरुष और फिर वृद्धावस्था को प्राप्त होता है। अन्त में जब यह शरीर कार्य करने में अक्षम हो जाता है, तो इसे अन्य योनियों में स्वीकार करना पड़ता हैं। एक शरीर का त्याग करना मृत्यु कहलाती है और दूसरे शरीर को ग्रहण करना जन्म है। मानव शरीर धारण करने का यही लाभ है कि वह प्रामाणिक गुरु की शरण ले करके उनके

माध्यम से श्रीभगवान् को प्राप्त करे। यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन मानव समाज के सदस्यों को, जो मूर्ख प्रचारकों द्वारा मार्ग से भ्रमित किये जाते हैं, उनको अवसर प्रदान करने के लिए चलाया गया है। कोई भी प्राणी अस्तित्त्व के इस जीवन-संघर्ष से, जो कष्टों से परिपूर्ण है, तब तक छुटकारा नहीं पा सकता जब तक कि वह श्रीभगवान् के शुद्ध भक्त की शरण न ले। भौतिक प्रयास तो एक स्थिति से दूसरी में बदलते हैं, किन्तु वास्तव में किसी को इस जीवन-संघर्ष से छुटकारा नहीं मिल पाता। इसका एकमात्र उपाय प्रामाणिक गुरु के चरणकमल और उनके द्वारा श्रीभगवान् के चरणकमलों की शरण है।

यस्यामु ह वा एते षडिन्द्रियनामानः कर्मणा दस्यव एव ते; तद्यथा पुरुषस्य धनं यत्किञ्चिद्धर्मौपयिकं बहुकृच्छ्राधिगतं साक्षात्परमपुरुषाराधनलक्षणो योऽसौ धर्मस्तं तु साम्पराय उदाहरन्ति; तद्धर्म्यं धनं दर्शनस्पर्शनश्रवणास्वादनावघ्राणसङ्कल्पव्यवसायगृहग्राम्योपभोगेन कुनाथस्याजितात्मनो यथा सार्थस्य विलुम्पन्ति. ॥ २॥

शब्दार्थ

यस्याम्—जिसमें; उ ह—निश्चय ही; वा—अथवा; एते—ये सब; षट्-इन्द्रिय-नामानः—जो छः इन्द्रियाँ (मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) कहलाती हैं; कर्मणा—अपने कर्म के द्वारा; दस्यवः—दस्यु (लुटेरे); एव—निश्चय ही; ते—वे; तत्—वह; यथा—जिस प्रकार; पुरुषस्य—व्यक्ति का; धनम्—धन; यत्—जो भी; किञ्चित्—थोड़ा; धर्म-औपयिकम्—धार्मिक सिद्धान्तों का साधन; बहु-कृच्छ्र-अधिगतम्—अतीव श्रम से उपार्जित; साक्षात्—प्रत्यक्ष; परम-पुरुष-आराधन-लक्षणः—यज्ञ इत्यादि के द्वारा भगवान् की पूजा करना जिनके लक्षण हैं; यः—जो; असौ—वह; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त (मर्यादा); तम्—उसको; तु—किन्तु; साम्पराये—मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा के लाभार्थ; उदाहरन्ति—बुद्धिमान घोषित करते हैं; तत्-धर्म्यम्—धार्मिक (वर्णाश्रम धर्म के पालन से सम्बधित); धनम्—धन; दर्शन—दर्शन द्वारा; स्पर्शन—स्पर्श द्वारा; श्रवण—श्रवण द्वारा; आस्वादन—स्वाद के द्वारा; अवघ्राण—सूँघकर; सङ्कल्प—निश्चय द्वारा; व्यवसाय—निष्कर्ष रूप में; गृह—घर में; ग्राम्य-उपभोगेन—भौतिक उपभोग द्वारा; कुनाथस्य—भ्रमित बद्ध जीवात्मा का; अजित-आत्मनः—जिसने अपने पर विजय प्राप्त नहीं की; यथा—जैसे; सार्थस्य—इन्द्रियों की तृप्ति में रुचि रखने वाले जीवात्मा का; विलुम्पन्ति—लूट लेते हैं।

संसार रूपी वन में अनियंत्रित इन्द्रियाँ दस्युओं के समान हैं। बद्धजीव श्रीकृष्णभावनामृत के विकास के लिए कुछ धन अर्जित कर सकता है, किन्तु दुर्भाग्यवश अनियंत्रित इन्द्रियाँ अपनी तुष्टि द्वारा इस धन को लूट लेती हैं; इन्द्रियाँ दस्यु हैं, क्योंकि वे जीव को दर्शन, घ्राण, आस्वाद, स्पर्श, श्रवण, संकल्प-विकल्प तथा कामना में अपना धन व्यर्थ व्यय करने के लिए बाध्य करती हैं। इस प्रकार बद्धजीव अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करने के लिए बाध्य हो जाता है, जिससे उसका सारा धन व्यय हो जाता है। यद्यपि यह धन यथार्थतः धार्मिक कृत्यों के सम्पादन हेतु अर्जित हुआ होता है, किन्तु दस्यु-इन्द्रियाँ इसका हरण कर लेती हैं।

तात्पर्य : *पूर्वजन्मार्जिता विद्या पूर्वजन्मार्जितं धनं अग्रे धावति धावति।* वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन करने पर मनुष्य को भौतिक जगत में उच्चतर पद प्राप्त होता है। वह धनी, विद्वान, सुन्दर या

उच्चकुलीन हो सकता है। जिस किसी व्यक्ति के पास ये सभी सम्पत्तियाँ होती हैं उसे यह समझना चाहिए कि ये कृष्णभावनामृत के विकास के निमित्त हैं। दुर्भाग्यवश मार्ग से भ्रमित व्यक्ति अपने उच्च पद का उपयोग इन्द्रियतृप्ति के लिए करता है। फलत: अनियंत्रित इन्द्रियों को लुटेरों की संज्ञा दी जाती है। धार्मिक कृत्यों को करने से मनुष्य को जो उच्च स्थान प्राप्त होता है, वह लुटेरी इन्द्रियों द्वारा विनष्ट कर दिया जाता है। वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत धार्मिक सिद्धान्तों का पालन करते हुए मनुष्य को सुविधाजनक पद प्राप्त होता है। वह अपनी सम्पत्ति का उपयोग सरलतापूर्वक कृष्णभावनामृत के विकास में कर सकता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि इस भौतिक जगत में जो धन तथा अवसर प्राप्त होता है उसे इन्द्रियतृप्ति में नष्ट न किया जाये। वे कृष्णभावनामृत की उन्नति के लिए हैं। यह कृष्णभावनामृत अभियान एक सुनिश्चित विधि के द्वारा व्यक्तियों को मन तथा पांच ज्ञानेन्द्रियों पर संयम करना सिखाता है। मनुष्य को चाहिए कि वह थोड़ी तत्पस्या करे और भक्ति के नियमित जीवन के अतिरिक्त अन्य किसी बात पर धन को व्यय न करे। इन्द्रियाँ चाहती हैं कि सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ देखी जाँए, फलत: मन्दिर में श्री-विग्रह की सज्जा पर धन व्यय किया जाये। इसी प्रकार जिह्वा (जीभ) केवल अच्छे भोजन का आस्वादन करना चाहता है जो खरीद कर जिसे श्रीमूर्ति को समर्पित किया गया हो। नाक का उपयोग श्री-विग्रह को समर्पित पुष्पों को सूँघने में तथा कानों का उपयोग हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन सुनने में किया जा सकता है। इस विधि से इन्द्रियों का नियमन एवं सदुपयोग कृष्णभावनामृत के विकास में किया जा सकता है। इस प्रकार अपने उत्तम पद को सांसारिक इन्द्रिय-तृप्ति—यथा अवैध यौन सम्बन्ध, मांस भक्षण, मादक द्रव्यों के सेवन तथा जुआ—के लिए विनष्ट नहीं होने दिया जाएगा। इस भौतिक जगत में मोटरकार चलाकर, रात्रि-क्लबों में समय नष्ट कर या जलपान गृहों में घृणित भोजन का स्वाद लेकर मनुष्य अपने वैभवशाली पद को खो देता है। इस प्रकार लुटेरी इन्द्रियाँ बद्धजीव द्वारा अत्यन्त श्रम से संचित सम्पत्ति को लूट लेती हैं।

अथ च यत्र कौटुम्बिका दारापत्यादयो नाम्ना कर्मणा वृकसृगाला एवानिच्छतोऽपि कदर्यस्य कुटुम्बिन उरणकवत्संरक्ष्यमाणं मिषतोऽपि हरन्ति. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; च—भी; यत्र—जिसमें; कौटुम्बिका:—कुटुम्बी जन; दार-अपत्य-आदय:—स्त्री तथा सन्तान इत्यादि; नाम्ना—केवल नाम के द्वारा; कर्मणा—अपने आचरण के द्वारा; वृक-सृगाला:—भेड़िया तथा शृगाल; एव—निश्चित रूप से;

अनिच्छतः—ऐसा मनुष्य जो अपने धन को व्यय करने का अनिच्छुक है; अपि—निश्चय ही; कदर्यस्य—अत्यन्त कृपण प्राणी, कंजूस का; कुटुम्बिनः—परिवार के प्राणियों से घिरा हुआ; उरणक-वत्—मेमने की भाँति; संरक्ष्यमाणम्—यद्यपि सुरक्षित है; मिषतः—जो देख रहा है; अपि—भी, ही; हरन्ति—बलपूर्वक छीन लेते हैं।

हे राजन्, इस भौतिक जगत में स्त्री-पुत्रादि नाम से पुकारे जाने वाले कुटुम्बीजन वास्तव में भेड़ियों तथा शृगालों की भाँति व्यवहार करते हैं। चरवाहा अपनी भेड़ों की रक्षा यथाशक्ति करना चाहता है, किन्तु भेड़िये तथा लोमड़ियाँ उन्हें बलपूर्वक उठा ले जाते हैं। इसी प्रकार यद्यपि कंजूस पुरुष सतर्कतापूर्वक अपने धन की चौकसी रखना चाहता है, किन्तु उसके पारिवारिक प्राणी उसकी समस्त सम्पत्तियों को उसके जागरूक रहते हुए भी बलपूर्वक छीन लेते हैं।

तात्पर्य : हिन्दी के किसी कवि ने कहा है—*दिन को डाकिनी रात को बाघिनी पलक पलक लहु चूसे।* पत्नी दिन में जादूगरिनी के तुल्य और रात्रि में बाघिनी की तरह होती है। उसका एकमात्र कार्य होता है दिन-रात अपने पति के खून को चूसना। दिन भर पति द्वारा खून-पसीना एक करके अर्जित धन गृहस्थी के खर्चों में चला जाता है। रात्रि में यौन सुख के कारण, पति वीर्य रूप में अपना रक्तपात करता है। इस प्रकार उसका रक्त अपनी पत्नी द्वारा अहर्निश चूसा जाता है, किन्तु वह इतना पगलाया रहता है कि वह उसका बहुत अच्छी तरह भरण-भोषण करता है। इसी प्रकार बच्चे भी भेड़िये, शृगाल तथा लोमड़ियों के तुल्य हैं। जिस प्रकार भेड़िये, शृगाल व लोमड़ियाँ चरवाहे के सतर्क रहने पर भी मेमनों को उठा ले जाती हैं, उसी प्रकार बच्चे भी पिता का धन ले लेते हैं, यद्यपि इस धन की देख-रेख पिता स्वयं करता है। इस प्रकार कुटुम्बीजन भले ही पत्नी तथा सन्तान कहलाते हों, किन्तु वास्तव में वे हैं लुटेरे ही।

यथा ह्यनुवत्सरं कृष्यमाणमप्यदग्धबीजं क्षेत्रं पुनरेवावपनकाले गुल्मतृणवीरुद्भिर्गह्वरमिव भवत्येवमेव गृहाश्रमः कर्मक्षेत्रं यस्मिन्न हि कर्माण्युत्सीदन्ति यदयं कामकरण्ड एष आवसथः. ॥ ४॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; हि—निश्चय ही; अनुवत्सरम्—प्रत्येक वर्ष; कृष्यमाणम्—जोती जाने पर; अपि—यद्यपि; अदग्ध-बीजम्—बिना जले हुए बीज; क्षेत्रम्—खेत; पुनः—फिर; एव—निश्चय ही; आवपन-काले—बीजों को बोते समय; गुल्म—झाड़ियों से; तृण—घास-फूस से; वीरुद्भिः—लताओं से; गह्वरम् इव—कुंज तुल्य; भवति—हो जाता है; एवम्—इस प्रकार; एव—निश्चय ही; गृह-आश्रमः—पारिवारिक जीवन, गृहस्थाश्रम; कर्म-क्षेत्रम्—कार्य रूप खेत, कर्मभूमि; यस्मिन्—जिसमें; न—नहीं; हि—निश्चय ही; कर्माणि उत्सीदन्ति—सकाम कर्म विलुप्त हो जाते हैं; यत्—अतः; अयम्—यह; काम-करण्डः—फलवती इच्छाएँ; एषः—यह; आवसथः—आवास, निकेतन।

कृषक प्रतिवर्ष अपने अनाज के खेत को जोतकर सारा घास-फूस निकालता रहता है, तो

भी उनके बीज उसमें पड़े रहते हैं और पूरी तरह न जल पाने के कारण खेत में बोये गये पौधों के साथ पुन: उग आते हैं। घास-फूस को जोतकर पलट देने पर भी वे सघन रूप से उगकर निकल आते हैं। इसी प्रकार गृहस्थाश्रम एक कर्मक्षेत्र है। जब तक गृहस्थाश्रम भोगने की कामना पूरी तरह भस्म नहीं कर दी जाती, तब तक वह पुन: पुन: उदय होती रहती है। पात्र में बन्द कपूर को हटा लेने पर भी पात्र से सुगन्ध नहीं जाती। उसी तरह जब तक कामनाओं के बीज विनष्ट नहीं कर दिये जाते, तब तक सकाम कर्म का नाश नहीं होता।

तात्पर्य : जब तक प्राणीमात्र की कामनाएँ श्रीभगवान् की सेवा में पूर्णत: समर्पित नहीं कर दी जातीं, तब तक संन्यास लेने के बाद भी गृहस्थाश्रम की इच्छा बनी रहती है। कभी-कभी कोई- व्यक्ति हमारे समाज *इस्कान* में भावावेश में आकर संन्यास ग्रहण करता है, किन्तु उसकी कामना पूर्णतया विनष्ट नहीं हुई रहती है, अत: अपनी प्रतिष्ठा तथा अपने नाम को लज्जित करके भी वह पुन: गृहस्थाश्रम में चला आता है। ये उत्कट कामनाएँ तभी पूर्णतया जलकर राख हो सकती हैं जब कोई प्रभु की सेवाभक्ति में पूर्णत: संलग्न हो जाता है।

तत्र गतो दंशमशकसमापसदैर्मनुजैः शलभशकुन्ततस्करमूषकादिभिरुपरुध्यमानबहिःप्राणः क्वचित्परिवर्तमानोऽस्मिन्नध्वन्यविद्याकामकर्मभिरुपरक्तमनसानुपपन्नार्थं नरलोकं गन्धर्वनगरमुपपन्नमिति मिथ्यादृष्टिरनुपश्यति. ॥ ॥

शब्दार्थ

तत्र—उस गृहस्थ जीवन तक; गतः—जाकर; दंश—डाँस; मशक—मच्छर; सम—तुल्य; अपसदैः—निम्न वर्ग के; मनु-जैः—मनुष्यों द्वारा; शलभ—पतंगा, टिड्डी; शकुन्त—एक बड़ा शिकारी पक्षी; तस्कर—चोर; मूषक-आदिभिः—चूहों इत्यादि के द्वारा; उपरुध्यमान—सताया जाकर; बहिः-प्राणः—बाह्य प्राणवायु, जो धन आदि के रूप में होती है; क्वचित्—कभी; परिवर्तमानः—भ्रमण करते हुए; अस्मिन्—इसमें; अध्वनि—भौतिक जगत का मार्ग; अविद्या-काम—अज्ञान तथा लोभ से; कर्मभिः—एवं सकाम कर्मों के द्वारा; उपरक्त-मनसा—मन के प्रभावित हो जाने के कारण; अनुपपन्न-अर्थम्—जिसमें वांछित फल कभी प्राप्त नहीं हो पाते; नर-लोकम्—यह भौतिक जगत; गन्धर्व-नगरम्—गंधर्वों की पुरी, हवाई महल; उपपन्नम्—विद्यमान; इति—ऐसा मानते हुए; मिथ्या-दृष्टिः—जिसको दृष्टि दोष हो; अनुपश्यति—देखता है।

सांसारिक सम्पत्ति एवं वैभव में आसक्त गृहस्थाश्रम में बद्धजीव को कभी डाँस तथा मच्छर, तो कभी टिड्डी, शिकारी पक्षी व चूहे सताते हैं। फिर भी वह भौतिक जगत के पथ पर चलता रहता है। अविद्या के कारण वह लोभी बन जाता है और सकाम कर्म में लग जाता है। चूँकि उसका मन इन कार्यकलापों में रमा रहता है इसलिए उसे यह भौतिक जगत नित्य लगता है, यद्यपि यह गंधर्वनगर (हवाई महल) की भाँति अनित्य है।

तात्पर्य : नरोत्तम दास ठाकुर का गीत है—

अहंकारे मत्त हञा, निताइ-पद पासरिया

असत्येरे सत्य करि मानि

नित्यानन्द प्रभु के चरणारविन्दों को विस्मरण करने और सांसारिक धन-वैभव के कारण फूले रहने से मनुष्य इस झूठे क्षणिक भौतिक जगत को वास्तविक मान बैठता है। यही भव रोग है। यह जीवात्मा चिरन्तन और आनन्दपूर्ण है, किन्तु दुखी भौतिक अवस्थाओं के बावजूद वह अज्ञानवश इस भौतिक जगत को ही वास्तविक मान बैठता है।

तत्र च क्वचिदातपोदकनिभान्विषयानुपधावति पानभोजनव्यवायादिव्यसनलोलुपः. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ (इस गंधर्व नगर में); च—भी; क्वचित्—कभी-कभी; आतप-उदक-निभान्—मरुस्थल में मृगतृष्णा-जल के समान; विषयान्—इन्द्रिय सुख की वस्तुओं के; उपधावति—पीछे दौड़ता है; पान—पीने के लिए; भोजन—खाने के लिए; व्यवाय—विषयी जीवन के लिए; आदि—इत्यादि; व्यसन—लत से; लोलुपः—विषयी।

बद्धजीव कभी-कभी इस गंधर्वपुरी में खाता, पीता और स्त्री-प्रसंग करता है। अत्यधिक लगाव के कारण इन्द्रियसुखों के पीछे वह उसी प्रकार दौड़ता है जैसे मरुस्थल में मृगमरीचिका के पीछे हिरण।

तात्पर्य : जगत दो प्रकार के हैं—वैकुंठ जगत और भौतिक जगत। भौतिक जगत मृग-मरीचिका के तुल्य असत्य है। मरुस्थल में पशु यह सोचते हैं कि उन्हें जल दिखाई पड़ रहा है, किन्तु वह वास्तव में जल नहीं होता। इसी प्रकार जो पशुवृत्ति वाले हैं, वे भौतिक जीवन के मरुस्थल के भीतर ही शान्ति ढूँढने का प्रयास करते हैं। विभिन्न शास्त्रों में यह बारम्बार कहा गया है कि इस भौतिक संसार में कोई इन्द्रियसुख नहीं है। और यदि हम सुख के बिना रहना स्वीकार कर लें तो भी हमें ऐसा नहीं करने दिया जाता। *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण का वचन है कि यह भौतिक संसार न केवल दुखों से पूर्ण (*दुःखालयम्*) है, वरन् क्षणिक (*अशाश्वतम्*) भी है। यदि हम दुखों के बीच रहना भी चाहें तो प्रकृति हमें ऐसा नहीं करने देगी। यह हमें अपने शरीर को बदलकर अन्य दुखमय स्थिति में प्रविष्ट करने के लिए बाध्य कर देगी।

क्वचिच्चाशेषदोषनिषदनं पुरीषविशेषं तद्वर्णगुणनिर्मितमतिः सुवर्णमुपादित्सत्यग्निकामकातर इवोल्मुकपिशाचम्. ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; **च**—भी; **अशेष**—अनन्त, सीमाहीन; **दोष**—दुर्गुणों का; **निषदनम्**—स्रोत; **पुरीष**—मल का; **विशेषम्**—विशिष्ट प्रकार के; **तत्-वर्ण-गुण**—रजोगुण के से रंगवाला (अरुण); **निर्मित-मतिः**—जिसका मन उसी में रमा रहता है; **सुवर्णम्**—स्वर्ण; **उपादित्सति**—पाने की इच्छा करते हुए; **अग्नि-काम**—अग्नि की इच्छा से; **कातरः**—दुखी; **इव**—सदृश; **उल्मुक-पिशाचम्**—स्फुरदीप्ति (कच्छ प्रकाश) जिसे कभी भूत (अगिया बेताल) मान लिया जाता है।

कभी-कभी जीवात्मा स्वर्ण के नाम से पहचाने जाने वाले पीले मल की वांछा करके उसको पाने के लिए दौड़ता है। यह स्वर्ण भौतिक वैभव एवं ईर्ष्या का साधन है और इसके कारण जीवात्मा अवैध यौन-सम्बन्ध, द्यूत, मांसाहार तथा मादक द्रव्यों के सेवन में तत्पर होने में समर्थ होता है। रजोगुणी व्यक्ति स्वर्ण के रंग से उसी प्रकार आकृष्ट होते हैं जिस प्रकार वन में जाड़े से ठिठुरता मनुष्य दलदल में दिखने वाले प्रकाश को अग्नि समझ बैठता है।

तात्पर्य : परीक्षित् महाराज ने कलि से उनका राज्य छोड़कर तुरन्त चले जाने तथा चार स्थानों—वेश्यालय, मदिरालय, वधशाला तथा द्यूतगृह—में जाकर रहने के लिए कहा। किन्तु कलियुग ने किसी एक ऐसे स्थान दिए जाने के लिए प्रार्थना की जिसमें ये चारों सम्मिलित हों। तब महाराज परीक्षित् ने ऐसा स्थान दिया जहाँ स्वर्ण संचित होता है। स्वर्ण में पाप के चारों तत्त्व पाये जाते हैं, फलतः परमार्थ जीवन में जहाँ तक सम्भव हो स्वर्ण से बचना चाहिए। जहाँ स्वर्ण रहेगा वहाँ अवैध यौनाचार, मांसाहार, द्यूतक्रीड़ा तथा मादक द्रव्य सेवन—ये चारों रहेंगे। चूँकि पश्चिमी जगत के लोगों के पास प्रचुर स्वर्ण है, अतः वे इन चारों पापों के शिकार होते हैं। स्वर्ण का रंग अत्यन्त चमकीला होने से सांसारिक प्राणी इसके पीले रंग से अत्यधिक आकर्षित होते हैं। किन्तु यह स्वर्ण वास्तव में एक प्रकार का मल ही है। जिस व्यक्ति का यकृत खराब हो जाता है उसका मल प्रायः पीला होता है। इस मल का रंग सांसारिक प्राणी को वैसा ही आकर्षक लगता है जैसे गर्मी चाहने वाले व्यक्ति को मायावी प्रकाश।

अथ कदाचिन्निवासपानीयद्रविणाद्यनेकात्मोपजीवनाभिनिवेश एतस्यां संसाराटव्यामितस्ततः परिधावति. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; **कदाचित्**—कभी-कभी; **निवास**—वासस्थान; **पानीय**—जल; **द्रविण**—धन; **आदि**—इत्यादि; **अनेक**—विविध प्रकार के; **आत्म-उपजीवन**—जो देह तथा आत्मा को एकसाथ रखने के लिए आवश्यक समझे जाते हैं; **अभिनिवेशः**—पूर्णतया लीन; **एतस्याम्**—इस; **संसार-अटव्याम्**—विशाल वन के सदृश इस भौतिक जगत में; **इतः ततः**—इधर-उधर; **परिधावति**—चारों ओर दौड़ धूप करता है।

कभी-कभी यह बद्धजीव रहने के लिए वासस्थान खोजने एवं अपने शरीर की रक्षा के लिए जल तथा धन प्राप्त करने में लगा रहता है। इन नाना प्रकार की आवश्यकताओं को जुटाने में संलग्न रहने के कारण वह सब कुछ भूल जाता है और भौतिक अस्तित्त्व के जंगल में निरन्तर इधर-उधर दौड़-धूप करता रहता है।

तात्पर्य : जैसाकि इसके पूर्व कहा जा चुका है निर्धन वणिक जंगल में इसलिए जाता है कि वहाँ उसे सस्ती वस्तुएँ मिल सकेंगी जिन्हें लाकर वह नगर में लाभ सहित बेचेगा। किन्तु वह अपनी देह तथा आत्मा को तुष्ट रखने में इतना लीन हो जाता है कि उसे कृष्ण से अपने पूर्व सम्बन्ध का स्मरण ही नहीं रह जाता और वह मात्र शारीरिक सुख-सुविधाओं की खोज करता है। इस प्रकार जीवात्मा की एकमात्र व्यस्तता भौतिक क्रियाकलापों में रहती है। जीवन के उद्देश्य को न जानते हुए भौतिकवादी निरन्तर भौतिकता के पीछे दौड़ता है। प्रचुर आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कर लेने पर भी जीवन के उद्देश्य को न समझने के कारण उसकी कृत्रिम आवश्यकताओं में वृद्धि होती जाती है और वह अधिकाधिक उलझता जाता है। वह ऐसी मानसिक स्थिति उत्पन्न कर देता है, जिसमें उसे अधिकाधिक सुविधाओं की जरूरत रहती है। भौतिकतावादी को प्रकृति के विधि-विधानों का मर्म ज्ञात नहीं होता। जैसा कि *भगवद्गीता* (३.२७) में पुष्टि की गई है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वशः।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

''सम्पूर्ण कर्म वास्तव में प्रकृति के गुणों द्वारा सम्पादित होते हैं, परन्तु गुणों से मोहित जीवात्मा अपने को इनका कर्ता मान बैठता है।'' कामेच्छा के कारण जीवात्मा अपने मन में यह धारणा बना लेता है कि इसका भोग करना चाहिए। इस प्रकार वह फँस कर विभिन्न देहों में प्रवेश करता है और कष्ट पाता है।

क्वचिच्च वात्यौपम्यया प्रमदयारोहमारोपितस्तत्कालरजसा रजनीभूत इवासाधुमर्यादो रजस्वलाक्षोऽपि दिग्देवता अतिरजस्वलमतिर्न विजानाति. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; च—भी; वात्या औपम्यया—बवण्डर के सदृश; प्रमदया—सुन्दर स्त्री, रमणी; आरोहम् आरोपितः—यौन सुख के लिए अंक में बिठाई गई; तत्-काल-रजसा—तत्क्षण भोगेच्छा से; रजनी-भूतः—रात्रि का अंधकार; इव—सदृश; असाधु-

मर्यादः—सत्पुरुषों के समुचित आदर से रहित; रजः-वल-अक्षः—आँखों में रजोगुण की धूल पड़ने से अंधी; अपि—भी; दिक्-देवताः—दिशाओं के देवता, यथा सूर्य तथा चन्द्र; अतिरजः-वल-मतिः—आसक्ति से पराजित बुद्धि; न विजानाति—नहीं जान पाता (कि चारों दिशाओं के देवता उसके अविवेकी यौनाचार को देखते हैं)।

कभी-कभी यह बद्ध आत्मा धूल के बवण्डर से अन्धे के समान स्त्री की सुन्दरता को देखता है जिसे प्रमाद कहा जाता है। इस प्रकार से अन्धा होकर वह सुन्दर स्त्री की गोद में जा बैठता है। उस समय उसके विवेक पर भोगेच्छा विजय पाती है। इस प्रकार वह वासना से प्रायः अन्धा हो जाता है और काम-जीवन के समस्त नियमों का उल्लघंन करने लगता है। उसे यह ज्ञान ही नहीं रह जाता कि उसके इस उल्लंघन को अनेक देवता देख रहे हैं। इस प्रकार वह भवितव्य दण्ड को देखे बिना अर्धरात्रि में अवैध यौन सुख का आनन्द लेता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.११) में कहा गया है—*धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।* यौनाचार की अनुमति केवल सन्तान उत्पन्न करने के लिए दी जाती है, विषय-सुख के लिए नहीं। वंश, समाज तथा विश्व के कल्याण हेतु उत्तम सन्तान उत्पन्न करने के लिए ही स्त्री-प्रसंग किया जा सकता है, अन्यथा यह धार्मिक जीवन के विधि-विधानों के विपरीत है। भौतिकतावादी मनुष्य को विश्वास नहीं होता है कि प्रकृति में प्रत्येक वस्तु नियमित है और वह यह नहीं समझ पाता कि यदि वह कोई त्रुटि करता है, तो विविध देवता उसके साक्षीस्वरूप रहते हैं। प्राणी अवैध यौनाचार का आनन्द लेता है और कामान्ध होने के कारण यह सोचता है कि उसे कोई देख नहीं रहा, किन्तु श्रीभगवान् के दूत इसे अच्छी तरह देखते रहते हैं। फलस्वरूप वह प्राणी अनेक प्रकार से दण्डित होता है। आजकल इस कलियुग में अवैध यौन-सम्पर्क के कारण अनेक गर्भ रह जाते हैं और कभी-कभी तो गर्भपात भी कराये जाते हैं। इन पापमय कर्मों के साक्षी हैं श्रीभगवान् के दूत। जो पुरुष तथा स्त्री ऐसी स्थिति उत्पन्न करते हैं, उन्हें भविष्य में प्रकृति के कठोर से कठोर नियमों के अनुसार दण्डित किया जाता है (*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया*)। अवैध कामाचार कभी भी क्षमा नहीं किया जा सकता और वे जो इस कुकृत्य में लिप्त रहते हैं, उन्हें जन्म-जन्मांतर दण्डित किया जाता है। *भगवद्गीता* (१६.२०) में इसकी पुष्टि हुई है—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

“हे अर्जुन! जन्म-जन्म आसुरी योनि को प्राप्त होकर वे मूढ़ मुझको कभी प्राप्त नहीं होते और

फिर सर्वाधिक अधम गति में जा गिरते हैं।''

श्रीभगवान् किसी को भी सांसारिक नियमों के विरुद्ध कर्म करने की अनुमति नहीं देते; फलत: अवैध कामाचार जन्म-जन्मांतर दण्डित है। अवैध यौनाचार से गर्भाधान होता है और इन अवांछित गर्भाधानों के फलस्वरूप गर्भपात कराया जाता है। जो इन पापों में लिप्त होता है, वह अगले जन्म में भी इसी प्रकार दण्डित होता है। इस तरह वे मनुष्य भी अगले जन्म में अपनी माता के गर्भ में प्रविष्ट होते हैं और उसी प्रकार से वध कर दिये जाते हैं। कृष्णभावनामृत के दिव्य पद पर रहकर इनसे बचा जा सकता है। इस तरह मनुष्य पापपूर्ण कर्म नहीं करता। कामुक इच्छाओं के कारण अवैध कामाचार सबसे बड़ा पाप है। जब कोई रजोगुण से युक्त होता है, तो उसे जन्म-जन्मांतर दुख भोगना पड़ता है।

क्वचित्सकृदवगतविषयवैतथ्यः स्वयं पराभिध्यानेन विभ्रंशितस्मृतिस्तयैव
मरीचितोयप्रायांस्तानेवाभिधावति. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; सकृत्—एक बार; अवगत-विषय-वैतथ्यः—इन्द्रियतृप्ति पाने की निरर्थकता से सचेष्ट रहकर; स्वयम्—स्वतः; पर-अभिध्यानेन—स्वयं की देहात्म बुद्धि से; विभ्रंशित—विनष्ट; स्मृतिः—जिसकी स्मृति; तया—उसके द्वारा; एव—निश्चय ही; मरीचि-तोय—मृगतृष्णा का जल; प्रायान्—के सदृश; तान्—उन इन्द्रियों को; एव—निश्चय ही; अभिधावति—के पीछे दौड़ता है।.

बद्धजीव कभी स्वत: सांसारिक विषयों का निरर्थकता स्वीकार कर लेता है, तो कभी वह भौतिक सुखों को दुखपूर्ण मानता है। फिर भी अपनी उत्कट देहात्म-बुद्धि के कारण उसकी स्मृति विनष्ट हो जाती है और वह पुन: पुन: भौतिक सुखों के पीछे वैसे ही दौड़ता फिरता है जैसे मरुस्थल में मृगमरीत्विका के पीछे मृग।

तात्पर्य : भौतिक जीवन का मुख्य रोग है देहात्म-बुद्धि। भौतिक कर्म में बारम्बार भ्रमित होकर बद्धजीव अल्प काल के लिए भौतिक सुखों को नश्वर मान लेता है, किन्तु पुन: वह वैसा ही करने लगता है। भक्तों की संगति से मनुष्य भौतिक नश्वरता के प्रति आश्वस्त हो जाता है, किन्तु वह अपने कार्यकलापों को त्यागता नहीं, यद्यपि वह भगवान् के धाम लौट जाने के लिए अत्यन्त इच्छुक रहता है। ऐसी परिस्थितियों में घट-घट वासी श्रीभगवान् ऐसे भक्त की समस्त भौतिक सम्पत्ति को दयापूर्वक ले लेते हैं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१०.८८.८) में। कहा गया है—*यस्याहम् अनुग्रह्णामि हरिष्ये तद् धनं शनै*। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिस भक्त पर उनकी विशेष कृपा होती है और वे देखते हैं कि वह

सांसारिक विषयों में अत्यधिक लिप्त है, तो वे उसका सर्वस्व ले लेते हैं। सब कुछ ले लिए जाने पर भक्त अपने को पराश्रित और समाज में मित्रता एवं प्यार से वंचित अनुभव करता है। वह अनुभव करता है कि उससे परिवार के सदस्य अब उसकी तनिक भी परवाह नहीं करते। अत: वह श्रीभगवान् के चरणकमलों में पूर्णरूपेण अर्पित हो जाता है। भगवान् द्वारा ऐसे भक्त पर जो उत्कट देहात्मबुद्धि के कारण अपने को पूरी तरह समर्पित नहीं कर पाता यह विशेष कृपा है । *चैतन्यचरितामृत* (मध्य २२.३९) में कहा गया है—*आमि—विज्ञ एइ मूर्खे 'विषय' केने दिब।* भगवान् अपने ऐसे भक्त को जान लेते हैं, जो श्रीभगवान् की सेवा में तत्पर होने में संकोच करता है और जिसे इसका ज्ञान नहीं रह पाता कि वह अपना सांसारिक जीवन फिर से प्रारम्भ करे या नहीं। बारम्बार प्रयास करने और विफल होने पर अन्त में वह भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण कर देता है। तब भगवान् उसका मार्गदर्शन करते हैं और वह सुख प्राप्त करते हुए अपनी समस्त भौतिक व्यस्तताओं को भूल जाता है।

क्वचिदुलूकझिल्लीस्वनवदतिपरुषरभसाटोपं प्रत्यक्षं परोक्षं वा
रिपुराजकुलनिर्भर्त्सितेनातिव्यथितकर्णमूलहृदय:. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; उलूक—उल्लू का; झिल्ली—झींगुर; स्वन-वत्—अप्रिय ध्वनियों की तरह; अति-परुष—अत्यन्त कर्णपटु; रभस—धैर्य से; आटोपम्—घर्षण; प्रत्यक्षम्—प्रत्यक्ष, प्रकटत:; परोक्षम्—अप्रत्यक्ष; वा—या; रिपु—शत्रुओं का; राज-कुल—शासक समुदाय का; निर्भर्त्सितेन—ताड़ना या दण्डदान से; अति-व्यथित—अत्यन्त दुखी; कर्ण-मूल-हृदय:—जिसके कान तथा हृदय।

कभी-कभी बद्धजीव अपने शत्रुओं तथा शासन-कर्मियों की प्रताड़ना से अत्यन्त व्यथित रहता है, जो प्रत्यक्ष रूप से कटु वचन कहते रहते हैं। उस समय उसके हृदय (मन) तथा कान अतीव व्यथित एवं विषादपूर्ण हो जाते हैं। ऐसी प्रताड़ना की तुलना उलूकों तथा झींगुरों की अप्रिय झंकार से की जा सकती है।

तात्पर्य : इस भौतिक संसार में कई प्रकार के शत्रु हैं। शासन ऐसे व्यक्तियों को, जो आयकर नहीं देते, प्रताड़ित करता है। इस प्रकार की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष आलोचना उसे दुखी बना देती है और कभी-कभी बद्धजीव ऐसी प्रताड़ना पर प्रतिक्रिया व्यक्त करना चाहता है, किन्तु दुर्भाग्यवश वह कुछ भी कर पाने की स्थिति में नहीं होता।

स यदा दुग्धपूर्वसुकृतस्तदा कारस्करकाकतुण्डाद्यपुण्यद्रुमलताविषोदपानवदुभयार्थशून्यद्रविणान्जीवन्मृतान्स्वयं जीवन्म्रियमाण उपधावति. ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह बद्ध आत्मा; यदा—जब; दुग्ध—थकित, रिक्त; पूर्व—पहले का; सुकृतः—अच्छे कर्म; तदा—उस समय; कारस्कर-काकतुण्ड-आदि—कारस्कर, काकतुण्ड आदि नामधारी.; अपुण्य-द्रुम-लता—अपवित्र वृक्ष तथा लताएँ; विष-उद-पान-वत्—विषैले जल से युक्त कुँए के समान; उभय-अर्थ-शून्य—जो न तो इस जन्म में न अगले जन्म में सुख दे सकता है; द्रविणान्—सम्पत्तिवान्; जीवत्-मृतान्—जीवित होकर भी जो मृतक तुल्य है; स्वयम्—वह स्वतः; जीवत्—सजीव; म्रियमाणः—मरा हुआ, मृत; उपधावति—सांसारिक लाभ के लिए निकट आता है।.

पूर्वजन्मों में पवित्र कर्मों के कारण बद्ध-आत्मा को इस जीवन में भौतिक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं, किन्तु इनके समाप्त हो जाने पर वह ऐसी सम्पदा तथा धन का सहारा लेता है, जो न तो इस जीवन में न ही अगले जीवन में उसके सहायक होते हैं। इसलिए वह जीवित मृत-तुल्य मनुष्यों का जिन के पास ये वस्तुएं होती है, सहारा लेना चाहता है। ऐसे लोग अपवित्र वृक्षों, लताओं और विषैले कुओं के सदृश हैं।

तात्पर्य : पूर्वजन्म के पुण्यकर्मों के द्वारा अर्जित धन तथा वैभव का दुरुपयोग इन्द्रिय-तृप्ति के लिए नहीं करना चाहिए। इन्द्रिय-तृप्ति के लिए उनका उपभोग विष-वृक्ष के फलों का आस्वाद जैसा होता है। ऐसे कर्मों से बद्धजीव न तो इस जन्म में, न ही अगले जन्म में किसी प्रकार लाभान्वित होता है। किन्तु, यदि कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में प्रभु के चरणों में अर्पित कर देता है, तो उसे इस जन्म में तथा अगले जन्म में सुख-लाभ होगा। यदि वह ऐसा नहीं करता है, तो वह "वर्जित सेब" का आस्वादन करता है, जिससे वह स्वर्ग से वंचित रह जाता है। इसीलिए श्रीकृष्ण ने उपदेश दिया है कि मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी सम्पत्ति उन्हें समर्पित कर दे—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

"हे कुन्तीपुत्र! तू जो भी कर्म करता है, जो कुछ भी स्वाहा करता है, जो कुछ हवन या दान करता है और जो तपस्या करता है, वह सब मेरे अर्पण कर" (*भगवद्गीता* ९.२७)। यदि व्यक्ति कृष्ण-भक्त है, तो पूर्व पुण्यकर्मों के द्वारा प्राप्त भौतिक सम्पत्ति तथा वैभव का सदुपयोग अपने इस जन्म तथा अगले जन्म को लाभ पहुँचाने के लिए कर सकता है। उसे अपनी न्यूनतम आवश्यकता से अधिक धन नहीं रखना चाहिए और यदि उसके पास आवश्यकता से अधिक धन हो तो उसे चाहिए

कि वह इस अतिरिक्त धन को भगवान् की सेवा में अर्पित कर दे। इससे बद्ध-जीवात्मा, यह संसार तथा श्रीकृष्ण प्रसन्न होंगे और यही इस जीवन का उद्देश्य है।

एकदासत्प्रसङ्गान्निकृतमतिर्व्युदकस्त्रोतःस्खलनवदुभयतोऽपि दुःखदं पाखण्डमभियाति. ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

एकदा—कभी-कभी; असत्-प्रसङ्गात्—अभक्तों के संसर्ग से जो वैदिक नियमों के विरुद्ध हैं और अनेक धार्मिक सम्प्रदायों को जन्म देते हैं; निकृत-मतिः—जिनकी बुद्धि इस निम्न स्तर तक पहुँच चुकी होती है कि भगवान् के अस्तित्त्व को नकारते हैं; व्युदक-स्त्रोतः—प्रचुर जल से रहित नदियों में; स्खलन-वत्—कूदने के समान; उभयतः—दोनों ओर से; अपि—यद्यपि; दुःख-दम्—दुखदायी; पाखण्डम्—निरीश्वरवादी मार्ग, पाखण्ड; अभियाति—अनुसरण करता है।

कभी-कभी इस संसार अटवी में अपने कष्टों से मुक्ति पाने के लिए बद्धजीव पाखण्डियों के सस्ते आशीर्वाद प्राप्त करता है। तब उनके सम्पर्क से उसकी मति भ्रष्ट हो जाती है। यह उथली नदी में कूदने के समान ही है। इसका परिणाम यही होता है कि उसका सिर फूटता है। इस प्रकार वह गर्मी से प्राप्त दुःखों को शान्त करने में समर्थ नहीं होता तथा दोनों ओर से उस की हानि होती है। यह दिग्भ्रमित बद्धजीव तथाकथित साधुओं एवं स्वामियों की भी शरण में जाता है जो वेदविरुद्ध उपदेश देते हैं। किन्तु इनसे उसे न तो वर्तमान में और न भविष्य में ही लाभ प्राप्त होता है।

तात्पर्य : आत्म-साक्षात्कार के लिए धोखेबाज अपने मार्ग बनाते रहते हैं। कुछ भौतिक लाभ के लिए इन कपटी संन्यासियों और योगियों से सस्ते आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए बद्धजीव उनकी शरण में जाता है, किन्तु उसे न तो आध्यात्मिक न ही भौतिक लाभ प्राप्त होता है। इस युग में ऐसे अनेक धूर्त हैं, जो जादू-तिलिस्म दिखा कर ठगते हैं। वे अपने अनुयायियों को चमत्कृत करने के लिए सोना तक बनाते हैं और उनके अनुयायी उन्हें देवता मान बैठते हैं। कलियुग में इस प्रकार की ठगी का बोलबाला है। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने सच्चे गुरु का वर्णन इस प्रकार किया है—

संसार-दावानल-लीढ -लोक-

त्राणाय कारुण्य-घनाघनत्वम्।

प्राप्तस्य कल्याण-गुणार्णवस्य

वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥

मनुष्य को चाहिए कि वह ऐसे गुरु की शरण में जाये जो इस भौतिक जगत की जलती अग्नि को

शमित कर सके। किन्तु मनुष्य चाहते हैं कि वे ठगे जायें, अतः वे जादू दिखाने वाले योगियों और स्वामियों के पास जाते हैं, किन्तु इससे भौतिक जीवन के कष्टों में कमी नहीं आती। यदि सोना बना सकना ही ईश्वर बनने का मानक हो, तो वे इस सम्पूर्ण विश्व के स्वामी श्रीकृष्ण की शरण में क्यों नहीं जाते जहाँ अनन्त स्वर्णराशि है? जैसाकि पहले कहा जा चुका है, सोने का रंग स्फुर-दीप्ति या पीत मल के तुल्य है, अतः सोना बनाने वाले गुरुओं के चंगुल में न आकर जड़ भरत जैसे भक्त की शरण में जाना चाहिए। जड़ भरत ने रहूगण महाराज को ऐसी शिक्षा दी कि वे देहात्मबुद्धि से मुक्त हो गये। झूठे गुरु की शरण में जाकर कोई कभी प्रसन्न नहीं रह सकता। *श्रीमद्भागवत* (११.३.२१) में जिस प्रकार के गुरु का वर्णन है, उसे ही स्वीकारना चाहिए। *तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्*—जीवन में सर्वोच्च लाभ की जिज्ञासा के लिए प्रामाणिक गुरु की शरण में जाना चाहिए। ऐसे गुरु का वर्णन इस प्रकार है—*शाब्दे परे च निष्णातम्।* ऐसा गुरु न तो सोना बनाता है, न ही बातें बनाता है। वह वैदिक ज्ञान से ओतप्रोत होता है (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*)। वह सांसारिक दोषों से सर्वथा मुक्त होता है और श्रीकृष्ण की सेवा में पूर्णतः समर्पित होता है। यदि ऐसे गुरु के चरणकमल की धूलि प्राप्त हो सके तो उसका जीवन सफल हो जाता है। अन्यथा वह इस जीवन में और अगले जीवन में भी भ्रमित होता रहता है।

यदा तु परबाधयान्ध आत्मने नोपनमति तदा हि पितृपुत्रबर्हिष्मतः पितृपुत्रान्वा स खलु भक्षयति. ॥१४॥

शब्दार्थ

यदा—जब; तु—किन्तु (दुर्भाग्यवश); पर-बाधया—अन्य सबों का शोषण करते हुए भी; अन्धः—अन्धा; आत्मने—अपने स्वयं के लिए; न उपनमति—हिस्से में नहीं आता; तदा—तब; हि—निश्चय रूप से; पितृ-पुत्र—पिता या पुत्रों का; बर्हिष्मतः—तृणवत् तुच्छ; पितृ-पुत्रान्—पिता अथवा पुत्रों को; वा—अथवा; सः—वह (बद्धजीव); खलु—निस्सन्देह; भक्षयति—कष्ट पहुँचाता है।.

बद्धजीव जब अन्यों का शोषण करते रहने पर भी इस भौतिक संसार में अपना निर्वाह नहीं कर पाता, तो वह अपने पिता या पुत्र का शोषण करने का प्रयास करता है और उसकी सम्पत्ति हर लेता है भले ही वे अति महत्वहीन ही क्यों न हों। यदि वह पिता, पुत्र या किसी अन्य सम्बन्धी की सम्पत्ति प्राप्त नहीं कर पाता तो यह उन्हें सभी प्रकार के कष्ट देने के लिए उद्यत हो उठता है।

तात्पर्य : एक बार हमने सचमुच एक दुखी मनुष्य को अपने निर्वाह हेतु अपनी पुत्री के आभूषण चुराते हुए देखा है। एक अँग्रेजी कहावत है, ''स्वार्थ अन्धा होता है।'' जब बद्धजीव को किसी वस्तु

की आवश्यकता होती है, तो वह अपने सम्बन्धियों के साथ अपने रिश्ते को भी भूल जाता है और अपने पिता अथवा पुत्र तक का शोषण करता है। *श्रीमद्‌भागवत* से हमें यह भी जानकारी प्राप्त होती है कि इस कलियुग में एक सम्बन्धी अपने दूसरे सम्बन्धी को एक कौड़ी के लिए मार डालेगा। बिना भक्ति के समस्त प्राणी नरक के गर्त की ओर बढ़ते जाएँगे और एक से एक घृणित कर्म करेंगे।

क्वचिदासाद्य गृहं दाववत्प्रियार्थविधुरमसुखोदर्कं शोकाग्निना दह्यमानो भृशं निर्वेदमुपगच्छति. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; आसाद्य—अनुभव करके; गृहम्—गृहस्थाश्रम को; दाव-वत्—दावाग्नि तुल्य; प्रिय-अर्थ-विधुरम्—किसी लाभप्रद प्रयोजन के बिना; असुख-उदर्कम्—अधिकाधिक दुख ही प्रतिफलित होता है; शोक-अग्निना—शोक की अग्नि से; दह्यमानः—सन्तप्त होकर; भृशम्—अत्यधिक; निर्वेदम्—निराशा; उपगच्छति—प्राप्त करता है।.

इस संसार में गृहस्थाश्रम दावाग्नि के तुल्य है। इसमें तनिक भी सुख नहीं है और मनुष्य क्रमशः अधिकाधिक दुख में उलझता जाता है। पारिवारिक जीवन में चिरन्तन सुख के लिए कुछ भी अनुकूल नहीं होता। गृहस्थाश्रम में रहने के कारण बद्धजीव पश्चात्ताप की अग्नि से संतप्त रहता है। कभी वह अपने को अभागा मानते हुए कोसता है, तो कभी वह कहता है कि पूर्व जीवन में शुभ कर्म न करने के कारण ही वह कष्ट का भागी बन रहा है।

तात्पर्य : *गुर्वष्टक* में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का गान है—

संसार-दावानल-लीढ -लोक-

त्राणाय कारुण्य-घनाघनत्वम्।

यह सांसारिक जीवन सही अर्थों में दावानल के सदृश है। जंगल की यह अग्नि किसी के लगाये बिना ही लगती है। इसी प्रकार इस संसार में सभी सुखी रहना चाहते हैं, किन्तु इससे भौतिक जीवन के कष्टों की वृद्धि ही होती है। जब कभी कोई मनुष्य इस भौतिक जगत की अग्नि में फँस जाता है, तो वह अपने को धिक्कारता है, किन्तु देहात्म-बुद्धि के कारण वह चंगुल से निकल नहीं पाता और इसप्रकार अधिकाधिक कष्ट भोगता है।

क्वचित्कालविषमितराजकुलरक्षसापहृतप्रियतमधनासुः प्रमृतक इव विगतजीवलक्षण आस्ते. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; काल-विष-मित—काल के द्वारा कुटिल बनाया गया; राज-कुल—शासक वर्ग; रक्षसा—राक्षसों द्वारा; अपहृत—हर लिये जाने पर; प्रिय-तम—सर्वाधिक प्रिय; धन—सम्पत्ति के रूप में; असुः—जिसकी प्राणवायु; प्रमृतकः—मृत; इव—सदृश, तुल्य; विगत-जीव-लक्षणः—जीवन के समस्त लक्षणों से शून्य; आस्ते—रह जाता है।

शासन-कर्मी सदैव नरभक्षी राक्षसों के सदृश होते हैं। ये शासन-कर्मी कभी-कभी बद्धजीव से रुष्ट हो जाते हैं और उसकी सारी संचित सम्पत्ति उठा ले जाते हैं। इस प्रकार अपने जीवन भर की संचित पूँजी को खोकर बद्धजीव हतोत्साहित हो जाता है। दरअसल, यह उसके लिए प्राणान्त के समान है।

तात्पर्य : *राज-कुल-रक्षसा* शब्द अत्यन्त सटीक है। *श्रीमद्भागवत* की रचना पाँच हजार वर्ष पूर्व हुई थी। फिर भी शासन-कर्मियों को नरभक्षक अथवा राक्षस की संज्ञा प्रदान की गई है। यदि शासन-कर्मी किसी व्यक्ति के विरुद्ध हो जाते हैं, तो जीवन भर की सपरिश्रम संचित पूँजी से उसे हाथ धोना पड़ता है। वास्तविकता तो यह है कि कोई भी व्यक्ति आय-कर नहीं देना चाहता—यहाँ तक कि शासन-कर्मी भी इसे देने से कतराते हैं—किन्तु प्रतिकूल समय उपस्थित होने पर आय-कर बलपूर्वक वसूल कर लिया जाता है और करदाता हाथ मलता रह जाता है।

कदाचिन्मनोरथोपगतपितृपितामहाद्यसत्सदिति स्वप्ननिर्वृतिलक्षणमनुभवति. ॥ १७॥

शब्दार्थ

कदाचित्—कभी-कभी; मनोरथ-उपगत—मन में कल्पना द्वारा प्राप्त; पितृ—पिता; पिता-मह-आदि—अथवा बाबा तथा अन्य; असत्—बहुत पूर्व मृत होने पर भी (और यह न जानते हुए कि जीव चला गया है); सत्—पिता या पितामह पुनः पधारते हैं; इति—ऐसा सोचकर; स्वप्न-निर्वृति-लक्षणम्—स्वप्न-सुख के समान; अनुभवति—(जीव) अनुभव करता है।

कभी-कभी बद्धजीव यह कल्पना करने लगता है कि उसके पिता या बाबा अपने पुत्र या पौत्र के रूप में इस संसार में पुनः आ गए। इस प्रकार उन्हें स्वप्न का सा सुख अनुभव होता है और कभी-कभी बद्धजीव को ऐसी मानसिक कल्पनाओं में सुख मिलता है।

तात्पर्य : परमेश्वर श्रीभगवान् के वास्तविक अस्तित्व से अनजान रहने के कारण बद्धजीव नाना प्रकार की कल्पनाएँ करता रहता है। सकाम कर्म के वशीभूत होकर वह अपने सम्बधियों, पिता, पुत्र तथा पितामह जनों की संगति में उसी प्रकार अनुभव करने लगता है, जिस प्रकार बहते भँवर में तिनके एकत्र हो जाते हैं। ये तिनके क्षण भर में बिखर जाते हैं और उनका पारस्परिक सम्पर्क टूट जाता है। जीवात्मा क्षणिक रूप से अनेक बद्धजीवों के साथ रहता है। ये जीव कुटुम्बियों के रूप में एकत्र होते हैं और इनमें इतनी उत्कट वत्सलता होती है कि पिता या पितामह के दिवगंत हो जाने पर भी उन्हें यह

सोचकर सुखानुभूति होती है कि वे रूप बदल कर परिवार में लौट आते हैं। कभी-कभी ऐसा हो भी सकता है, किन्तु बद्धजीव ऐसी कपोल-कल्पनाओं में सदैव सुख अनुभव करना चाहता है।

क्वचिद्गृहाश्रमकर्मचोदनातिभरगिरिमारुरुक्षमाणो लोकव्यसनकर्षितमनाः कण्टकशर्कराक्षेत्रं प्रविशन्निव सीदति. ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; गृह-आश्रम—गृहस्थ जीवन; कर्म-चोदन—सकाम कर्म का पालन; अति-भर-गिरिम्—ऊँची पहाड़ी; आरुरुक्षमाणः—चढ़ने की इच्छा लेकर; लोक—भौतिक (संसार); व्यसन—लत; कर्षित-मनाः—आकर्षित मन वाले; कण्टक-शर्करा-क्षेत्रम्—काँटे तथा कंकड़ों से आच्छादित खेत में; प्रविशन्—घुसते हुए; इव—सदृश; सीदति—पश्चात्ताप करता है।.

गृहस्थाश्रम में नाना प्रकार के यज्ञ तथा कर्मकाण्ड (विशेष रूप से पुत्र-पुत्रियों के लिए विवाह यज्ञ और यज्ञोपवीत संस्कार) करने होते हैं। ये सभी गृहस्थ के कर्तव्य हैं। ये अत्यन्त व्यापक होते हैं और इनको सम्पन्न करना कष्टदायक होता है। इनकी उपमा एक बड़ी पहाड़ी से दी जाती है, जिसे सांसारिक कर्मों में संलग्न होने पर लाँघना ही पड़ता है। जो व्यक्ति इन अनुष्ठानों पर विजय प्राप्त करना चाहता है उसे पहाड़ी में चढ़ते समय काँटों तथा कंकड़ों के चुभने से होने वाली पीड़ा का-सा अनुभव करना होता है। इस प्रकार बद्धजीव को अनन्त यातनाएँ सहनी पड़ती हैं।

तात्पर्य : समाज में अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए अनेक सामाजिक कृत्य करने पड़ते हैं। विभिन्न देशों तथा समाजों में नाना प्रकार के उत्सव तथा अनुष्ठान होते हैं। भारत देश में यह मान्यता है कि पिता अपनी संतानों का विवाह करे। ऐसा कर लेने पर परिवार के प्रति उसका उत्तरदायित्व पूरा हो जाता है। आजकल विवाह तय करना अत्यन्त कष्टसाध्य हो गया है। इस समय न तो कोई ठीक से यज्ञ अनुष्ठान कर सकता है, न ही कोई अपने पुत्र-पुत्रियों के विवाहोत्सवों का व्यय वहन कर सकता है। फलतः जब गृहस्थों को ये सामाजिक कृत्य करने होते हैं, तो वे अत्यन्त संतप्त होते हैं। ऐसा लगता है मानो उनके पांव में कांटे चुभ रहे हों, अथवा पत्थर कष्ट दे रहे हों किन्तु भौतिक लगाव इतना प्रगाढ़ होता है कि इतने कष्टों के बावजूद भी वह उन्हें छोड़ नहीं पाता। अतः प्रह्लाद महाराज का उपदेश है (*भागवत* ७..)—

हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं

वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत।

तथाकथित सुखमय पारिवारिक स्थिति की तुलना खेत के अन्धे कुँए से की गई है। यदि तृणाच्छादित अंधकूप में कोई गिर पड़े तो रक्षा के लिए चीत्कार करने पर भी उसे जीवन से हाथ धोना पड़ता है। इसीलिए पहुँचे हुए आत्मज्ञानी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की संस्तुति नहीं करते। अच्छा यही है कि ब्रह्मचर्य-आश्रम में संयम पालन करने का दृढ़ निश्चय करके आजीवन ब्रह्मचारी रह जाए जिससे गृहस्थाश्रम के भौतिक जीवन के कंटकों का अनुभव न हो सके। गृहस्थाश्रम में रहकर इष्ट मित्रों के निमंत्रण स्वीकार करने पड़ते हैं और अनुष्ठानों का पालन करना होता है। ऐसा करने से प्राणी इनका दास बन जाता है भले ही इन्हें करते रहने के लिए उसके पास पर्याप्त साधनों का अभाव ही क्यों न हो। गृहस्थाश्रम में जीवन शैली बनाये रखने के लिए धनार्जन हेतु अत्यधिक श्रम करना पड़ता है। इस प्रकार वह सांसारिक जीवन में फँस कर काँटों की चुभन जैसा अनुभव करता रहता है।

क्वचिच्च दुःसहेन कायाभ्यन्तरवह्निना गृहीतसारः स्वकुटुम्बाय क्रुध्यति. ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

क्वचित् च—और कभी-कभी; दुःसहेन—असह्य; काय-अभ्यन्तर-वह्निना—शरीर के अन्तर्गत क्षुधा तथा पिपासा की अग्नि के कारण; गृहीत-सारः—धैर्य चुकने पर; स्व-कुटुम्बाय—अपने ही कुटुम्बी जनों पर; क्रुध्यति—क्रुद्ध होता है, नाराज होता है।

कभी-कभी शारीरिक भूख और प्यास से त्रस्त बद्धजीव इतना विचलित हो जाता है कि उसका धैर्य टूट जाता है और वह अपने ही प्रिय पुत्रों, पुत्रियों तथा पत्नी पर रुष्ट हो जाता है। इस प्रकार निष्ठुर होने पर उसकी यातना और भी बढ़ जाती है।

तात्पर्य : श्रील विद्यापति ठाकुर का गीत है—

तातल सैकते, वारि-बिन्दु-सम

सुत-मित-रमणी-समाजे।

कुटुम्ब-जीवन के सुख की तुलना मरुस्थल में जल बिन्दु से की गई है। कोई भी प्राणी कुटुम्ब-जीवन में सुखी नहीं रह सकता। वैदिक सभ्यता के अनुसार कोई चाह कर भी कुटुम्ब-जीवन के उत्तरदायित्वों से छोड़ नहीं सकता, किन्तु आजकल प्रत्येक व्यक्ति तलाक के द्वारा पारिवारिक जीवन का परित्याग कर रहा है। इसका कारण परिवार की दयनीय व्यवस्था है। कभी-कभी कष्टमय स्थिति के कारण मनुष्य अपने प्यारे पुत्रों, पुत्रियों तथा पत्नी के प्रति अत्यन्त निष्ठुर बन जाता है। यह सांसारिक

जीवन की दावाग्नि का अंगस्वरूप है।

स एव पुनर्निद्राजगरगृहीतोऽन्धे तमसि मग्नः शून्यारण्य इव शेते नान्यत्किञ्चन वेद शव इवापविद्धः. ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सः—वह बद्धजीव; एव—निश्चय ही; पुनः—फिर से; निद्रा-अजगर—गहरी नींद रूपी अजगर द्वारा; गृहीतः—भक्षण किये जाने पर; अन्धे—घनान्धकार में; तमसि—अज्ञान में; मग्नः—लिप्त; शून्य-अरण्ये—वीरान वन में; इव—के समान; शेते—लेट जाता है; न—नहीं; अन्यत्—अन्य; किञ्चन—कुछ भी; वेद—जानता है; शवः—मृत शरीर; इव—सदृश; अपविद्धः—फेंका हुआ।.

शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित् से आगे कहते हैं—प्रिय राजन्, निद्रा अजगर के समान है। जो मनुष्य भौतिक जीवनरूप वन में विचरण करते रहते हैं उन्हें निद्रा-अजगर अवश्य ही निगल जाता है। इस अजगर द्वारा डसे जाने के कारण वे अज्ञान-अंधकार में खोये रहते हैं। वे सुदूर वन में मृत शरीर की भाँति फेंक दिये जाते हैं। इस प्रकार बद्धजीव समझ नहीं पाता कि जीवन में क्या हो रहा है।

तात्पर्य : सांसारिक जीवन का अर्थ है आहार, निद्रा, मैथुन तथा आत्मरक्षा (भय) में सतत तल्लीन रहना। इनमें से निद्रा सबसे भयानक है। सो जाने पर मनुष्य पूर्णतया भूल जाता है कि जीवन का लक्ष्य क्या है और उसे क्या करना है। आत्म-साक्षात्कार के लिए यह आवश्यक है कि यथासम्भव निद्रा से बचा जाये। वृन्दावन के गोस्वामी तनिक भी नहीं सोते थे। निस्सन्देह, वे थोड़ा सोते थे क्योंकि शरीर के लिए निद्रा आवश्यक है, किन्तु दो घंटे से अधिक नहीं सोते थे और कभी-कभी इतना भी नहीं सोते थे। वे सदैव आध्यात्मिक अनुशीलन में तत्पर रहते थे। *निद्राहार-विहारकादि-विजितौ।* गोस्वामियों के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए हमें भी निद्रा, आहार, मैथुन तथा आत्मरक्षा में कमी लानी चाहिए।

कदाचिद्भग्नमानदंष्ट्रो दुर्जनदन्दशूकैरलब्धनिद्राक्षणो व्यथितहृदयेनानुक्षीयमाणविज्ञानोऽन्धकूपेऽन्धवत्पतति. ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कदाचित्—कभी-कभी; भग्न-मान-दंष्ट्रः—गर्व रूपी दाँत टूटे हैं जिसके; दुर्जन-दन्द-शूकैः—सर्प तुल्य दुष्ट पुरुषों की ईर्ष्या के कारण; अलब्ध-निद्रा-क्षणः—जिसे सोने का सुअवसर प्राप्त नहीं हो पाता; व्यथित-हृदयेन—विक्षुब्ध मन से; अनुक्षीयमाण—क्रमशः ह्रास होते हुए; विज्ञानः—जिसका अन्तर्बोध; अन्ध-कूपे—अंध कुएँ में; अन्ध-वत्—छलावे की तरह; पतति—गिर पड़ता है।.

कभी-कभी भौतिक जगत रूपी वन में बद्धजीव सर्पों तथा अन्य जन्तुओं जैसे ईर्ष्यालु शत्रुओं के द्वारा दंशित होता रहता है। शत्रु के छलावे से बद्धजीव अपने प्रतिष्ठित पद से च्युत हो जाता है। चिन्ताकुल होने से उसे ठीक से नींद तक नहीं आती। इस प्रकार वह अधिकाधिक दुखी होता जाता है और क्रमशः अपना ज्ञान तथा चेतना खो बैठता है। उसकी दशा उस स्थायी अन्ध पुरुष के समान हो जाती है जो अज्ञान के अन्धकूप में गिर गया हो।

कर्हि स्म चित्काममधुलवान्विचिन्वन्यदा परदारपरद्रव्याण्यवरुन्धानो राज्ञा स्वामिभिर्वा निहतः पतत्यपारे निरये. ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

कर्हि स्म चित्—कभी-कभी; काम-मधु-लवान्—इन्द्रियसुख (विषय) के लघु मधुकणों के सदृश; विचिन्वन्—ढूँढते हुए; यदा—जब; पर-दार—परायी स्त्री; पर-द्रव्याणि—परायी सम्पत्ति; अवरुन्धानः—अपनी सम्पत्ति मानकर; राज्ञा—राजा के द्वारा; स्वामिभिः वा—अथवा स्त्री के पति वा सम्बन्धियों द्वारा; निहतः—बुरी तरह पिट कर; पतति—गिर पड़ता है; अपारे—अपार, अछोर; निरये—नारकीय जीवन (बलात्कार, अपहरण अथवा पराया धन चुराने जैसे कार्यों के लिए राजा द्वारा प्रदत्त कैद)।

कभी-कभी बद्धजीव इन्द्रिय-तृप्ति से प्राप्त होने वाले क्षणिक सुख की ओर आकर्षित होता है। फलस्वरूप वह अवैध यौन-सम्पर्क में रत होता है अथवा पराये धन को चुराता है। ऐसी अवस्था में वह राजा द्वारा बन्दी बना लिया जाता है। या फिर उस स्त्री का पति या उसका संरक्षक उसे दण्डित करता है। इस प्रकार किंचित् सांसारिक तुष्टि हेतु वह नारकीय स्थिति में जा पड़ता है और बलात्कार, अपहरण, चोरी तथा इसी प्रकार के कृत्यों के लिए कारागार में डाल दिया जाता है।

तात्पर्य : इस भौतिक जीवन में अवैध यौन-सम्पर्क, द्यूत, क्रीड़ा, मादकद्रव्य सेवन तथा मांसाहार में लिप्त होने पर बद्धजीव अत्यन्त विषम परिस्थितियों में फँस जाता है। मांसाहार तथा मादकद्रव्य सेवन से इन्द्रियाँ अधिकाधिक उत्तेजित होती रहती हैं और बद्धजीव कामिनी के चंगुल में पड़ जाता है। कामिनी को धन चाहिए और धन प्राप्त करने के लिए दूसरों से माँगता है, उधार लेता है या फिर उसे चोरी करनी पड़ती है। सचमुच ही उसे जघन्य कृत्य करने पड़ते हैं, जिससे उसे इस जन्म में तथा अगले जन्म में कष्ट भोगना पड़ता है। फलतः जो आत्म-साक्षात्कार के इच्छुक हैं, या उस पथ पर अग्रसर हैं उन्हें चाहिए कि वे अवैध यौन-सम्पर्क का परित्याग कर दें। अनेक भक्तजन अवैध यौन सम्पर्क से पतित हो जाते हैं। सम्भव है कि वे चोरी भी करने लगें और अत्यन्त सम्मानित संन्यास आश्रम से

विपथ हो जाँय। फिर जीविकोपार्जन के लिए उन्हें तुच्छ सेवाएँ करनी पड़ती हैं और वे भिक्षुक बन जाते हैं। इसलिए शास्त्रों का कथन है—*यन् मैथुनादि-गृहमेधि-सुखं हि तुच्छम्*—कि सांसारिकता यौनाचार पर आश्रित है चाहे वह वैध हो या अवैध। यौनाचार गृहस्थों के लिए भी संकटों से पूर्ण है। चाहे किसी के पास यौनाचार की वैधता हो अथवा नहीं, इसमें भारी कष्ट होते हैं। *बहु-दुःख-भाक्*—यौनाचार में लिप्त होने पर न जाने कितनी विपदाएँ उत्पन्न होती हैं। भौतिक जीवन में उसे दुख ही दुख मिलता है। जिस प्रकार कृपण पुरुष अपनी सम्पत्ति का समुचित उपभोग नहीं कर पाता उसी प्रकार भौतिकतावादी पुरुष मनुष्यरूप का दुरुपयोग करता है। उसे आत्मोन्नति के लिए उपयोग न करके वह इन्द्रियतृप्ति के लिए शरीर का उपयोग करता है। इसीलिए वह कृपण कहलाता है।

अथ च तस्मादुभयथापि हि कर्मास्मिन्नात्मनः संसारावपनमुदाहरन्ति. ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अथ—अब; च—और; तस्मात्—इस कारण; उभयथा अपि—इस जन्म में तथा अगले जन्म में; हि—निस्सन्देह; कर्म—सकाम कर्म; अस्मिन्—इन्द्रिय सुख के इस मार्ग पर; आत्मनः—जीवात्मा का; संसार—भौतिक जीवन का; आवपनम्—खेत अथवा स्त्रोत; उदाहरन्ति—वेदों का वचन है।.

इसीलिए विद्वत्जन तथा अध्यात्मवादीगण कर्म के भौतिक मार्ग (प्रवृत्ति) की भर्त्सना करते हैं, क्योंकि इस जन्म में तथा अगले जन्म में सांसारिक दुखों का आदि स्त्रोत तथा उसको पल्लवित करने की आधार भूमि वही है।

तात्पर्य : जीवन का मूल्य न समझने के कारण कर्मीजन ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर लेते हैं, जिनके कारण उन्हें इस जन्म में तथा अगले जन्म में दुख भोगना पड़ता है। दुर्भाग्यवश कर्मीजन विषय-वासनाओं में अत्यधिक लिप्त रहते हैं और वे इस जन्म में या अगले जन्म में भौतिक जीवन की दीन दशा का अनुमान नहीं लगा सकते। इसीलिए वेदों का आदेश है कि मनुष्य को चाहिए कि आत्म-चेतना को जाग्रत करे और अपने सम्पूर्ण कर्मों को श्रीभगवान् का अनुग्रह प्राप्त करने में लगाए। *भगवद्गीता* (९.२७) में श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

"इसलिए हे कुन्तीपुत्र! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है या हवन करता है, जो कुछ

दान करता है और जो तपस्या करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।''

अपने कर्मों के फलों का सदुपयोग विषयभोग के लिए न करके श्रीभगवान् के मिशन के लिए होना चाहिए। श्रीभगवान् ने जीवनोद्देश्य के सम्बन्ध की सारी बातें *भगवद्गीता* में कही हैं और उसके अन्त में अपनी शरण में आने को कहते हैं। लोग सामान्य रूप से इसे पसन्द नहीं करते, किन्तु जो अनेक जन्मों तक आध्यात्मिक जीवन का अनुशीलन करता है, वह अन्ततः श्रीभगवान् के चरणारविन्द में समर्पित हो जाता है—*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।*

मुक्तस्ततो यदि बन्धाद्देवदत्त उपाच्छिनत्ति तस्मादपि विष्णुमित्र इत्यनवस्थितिः. ॥ २४॥

शब्दार्थ

मुक्तः—मुक्तिप्राप्त; ततः—उससे; यदि—यदि; बन्धात्—राज्य कारावास से या स्त्री-रक्षक द्वारा प्रताड़ित होने पर; देव-दत्तः—देवदत्त नामक व्यक्ति; उपाच्छिनत्ति—उसका धन छीन लेता है; तस्मात्—देवदत्त से; अपि—पुनः; विष्णु-मित्रः—विष्णुमित्र नामक व्यक्ति; इति—इस प्रकार; अनवस्थितिः—धन एक स्थान पर न रहकर एक हाथ से दूसरे हाथ में चला जाता है।.

यह बद्धजीव पराये धन को चुराकर या ठगकर किसी तरह से उसे अपने पास रखता है और दण्ड से बच जाता है। तब देवदत्त नामक एक अन्य व्यक्ति इस धन को उससे ठग लेता है। इसी प्रकार विष्णुमित्र नामक एक तीसरा व्यक्ति यह धन देवदत्त से छीन लेता है। यह धन किसी भी दशा में एक स्थान पर टिकता नहीं है। यह एक हाथ से दूसरे हाथ में जाता रहता है। अन्त में इसका कोई उपभोग नहीं कर पाता और यह श्रीभगवान् की सम्पत्ति बन जाता है।

तात्पर्य : धन तो सौभाग्य की देवी लक्ष्मी से आता है और लक्ष्मीजी स्वयं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीनारायण की सम्पत्ति हैं। नारायण को छोड़कर लक्ष्मी कहीं भी स्थिर नहीं रहतीं। इसीलिए उनका एक नाम चंचला भी है। जब तक वे अपने पति नारायण के संग नहीं होतीं, वे शान्तिपूर्वक नहीं रह पातीं। उदाहरणार्थ, भौतिकतावादी रावण लक्ष्मी को हर ले गया। रावण ने भगवान् राम की पत्नी का अपहरण किया। परिणाम यह हुआ कि रावण का समस्त परिवार, वैभव तथा साम्राज्य विनष्ट हो गया और सौभाग्य की देवी सीताजी उसके चंगुल से मुक्त होकर भगवान् श्रीराम से पुनः मिल गईं। इस प्रकार समस्त धन, वैभव तथा ऐश्वर्य श्रीकृष्ण का है। *भगवद्गीता* (.२९) में कहा भी गया है—*भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्*—''पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् समस्त यज्ञों तथा तपों के भोक्ता हैं और सभी लोकों के सर्वोच्च स्वामी हैं।''

मूर्ख भौतिकतावादी मनुष्य धन संग्रह करते हैं और अन्य चोरों से चुराते हैं, किन्तु उसे अपने पास रख नहीं पाते। प्रत्येक दशा में उसको व्यय होना है। एक व्यक्ति दूसरे को ठगता है और दूसरा किसी अन्य को। अत: लक्ष्मी को वश में रखने की श्रेष्ठ विधि है कि उसे नारायण के निकट रहने दिया जाये। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का यही उद्देश्य है। हम नारायण (श्रीकृष्ण) सहित लक्ष्मी (राधारानी) की पूजा करते हैं। हम विभिन्न साधनों से धन संग्रह करते हैं, किन्तु वह धन किसी व्यक्ति का न होकर राधाजी तथा श्रीकृष्ण (लक्ष्मी-नारायण) का होता है। यदि यह धन लक्ष्मी-नारायण की सेवा में लगाया जाता है, तो भक्त स्वत: ही वैभवपूर्ण जीवन बिताता है। किन्तु यदि कोई लक्ष्मी का उपभोग रावण की तरह करना चाहता है, तो प्रकृति के नियमों के द्वारा वह पराजित होगा और जो कुछ उसके अधिकार में है, वह छीन लिया जायगा। अन्त में मृत्यु सब कुछ अपने साथ ले जायेगी और मृत्यु ही श्रीकृष्ण की प्रतिनिधिस्वरूपा है।

क्वचिच्च शीतवाताद्यनेकाधिदैविकभौतिकात्मीयानां दशानां प्रतिनिवारणेऽकल्पो दुरन्तचिन्तया विषण्ण आस्ते. ॥ २॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; च—भी; शीत-वात-आदि—ठंड तथा झंझा इत्यादि; अनेक—कई; अधिदैविक—देवों द्वारा उत्पन्न, दैविक; भौतिक—अधिभौतिक, अन्य जीवों द्वारा उत्पन्न; आत्मीयानाम्—अध्यात्मिक, देह तथा मन द्वारा उत्पन्न; दशानाम्—कष्टपूर्ण दशाओं के; प्रतिनिवारणे—निवारण करने में; अकल्प:—अशक्य; दुरन्त—अत्यन्त कठोर; चिन्तया—चिन्ता के कारण; विषण्ण:—दुखी; आस्ते—रहता है।.

भौतिक जगत के तापत्रय से अपनी रक्षा न कर सकने के कारण बद्धजीव अत्यन्त दुखी रहता है और शोकपूर्ण जीवन बिताता है। ये तीन प्रकार के संताप हैं—देवताओं द्वारा दिये जानेवाला मानसिक ताप, (यथा हिमानी हवा तथा चिलचिलाती धूप), अन्य जीवात्माओं द्वारा प्रदत्त ताप तथा मन एवं देह से उत्पन्न होने वाले ताप।

तात्पर्य : तथाकथित सुखी भौतिकतावादी व्यक्ति को निरन्तर तीन प्रकार के ताप सहने पड़ते हैं, जिन्हें अधिदैविक, आध्यात्मिक तथा अधिभौतिक कहते हैं। वास्तव में इन तीनों तापों का निवारण किसी के वश का नहीं है। ये तीनों एकसाथ किसी एक समय आक्रमण कर सकते हैं, अथवा यह भी हो सकता है कि इनमें से कोई एक ताप न सताये और अन्य उपस्थित रहें। इस प्रकार जीवात्मा निरन्तर चिन्ता से पूर्ण रहता है और उसे भय बना रहता है कि किसी न किसी ओर से ताप आ सकते हैं।

बद्धजीव इन तापों में से कम से कम एक से अवश्य विचलित होता रहता है। इनसे छुटकारा नहीं मिल पाता।

क्वचिन्मिथो व्यवहरन्यत्किञ्चिद्धनमन्येभ्यो वा काकिणिकामात्रमप्यपहरन्यत्किञ्चिद्वा विद्वेषमेति वित्तशाठ्यात्. ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; **मिथः**—परस्पर; **व्यवहरन्**—व्यवहार करते हुए; **यत् किञ्चित्**—जो कुछ भी थोड़ा सा; **धनम्**—धन; **अन्येभ्यः**—अन्यों से; **वा**—या; **काकिणिका-मात्रम्**—अत्यल्प धन (बीस कौड़ी); **अपि**—निश्चय ही; **अपहरन्**—ठग कर ले लेने पर; **यत् किञ्चित्**—जो कुछ भी अल्प मात्रा; **वा**—या; **विद्वेषम् एति**—वैर उत्पन्न करता है; **वित्त-शाठ्यात्**—ठगने के फलस्वरूप।.

जहाँ तक धन के लेन-देन का सम्बन्ध है, यदि कोई मनुष्य किसी दूसरे की एक कौड़ी या इससे भी कम धन ठग लेता है, तो वे परस्पर शत्रु बन जाते हैं।

तात्पर्य : इसे *संसार-दावानल* कहते हैं। दो व्यक्तियों के बीच सामान्य लेन-देन में भी सदैव ठगी होती है, क्योंकि बद्धजीव में चार प्रकार के दोष रहते हैं—वह भ्रम में होता है, वह त्रुटियाँ करता है, उसका ज्ञान अपूर्ण है और उसमें ठगने की प्रवृत्ति पाई जाती है। जब तक सांसारिक बन्धनों से छुटकारा नहीं होता, ये चारों दोष बने रहते हैं। फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति में ठगने की प्रवृत्ति होती है, जिसे वह व्यापार या रुपयों के लेन-देन में प्रयुक्त करता है। भले ही दो मित्र शान्तिपूर्वक एकसाथ रह रहे हों, किन्तु जब उनमें लेन-देन होता है, तो ठगी-प्रवृत्ति के कारण वे एक दूसरे के शत्रु बन जाते हैं। एक दार्शनिक किसी अर्थशास्त्री को और एक अर्थशास्त्री किसी दार्शनिक को, जब वह धन के सम्पर्क में आता है, वंचक (धोखेबाज, ठग) कह सकता है। कुछ भी हो, भौतिक जीवन की यही स्थिति है। कोई कितना भी दर्शन बघारे, किन्तु जब उसे धन की आवश्यकता होती है, तो वह ठग बन जाता है। इस भौतिक संसार में तथाकथित वैज्ञानिक, दार्शनिक तथा अर्थशास्त्री किसी न किसी रूप में ठग हैं। वैज्ञानिक इसलिए ठग कहे जा सकते हैं, क्योंकि विज्ञान के नाम पर वे अनेक मिथ्या बातें कहते रहते हैं। वे चन्द्रमा पर जाने की योजना बनाकर जनता से अपने प्रयोगों के लिए विशाल धनराशि ठग लेते हैं। वे कोई लाभप्रद कार्य नहीं कर सकते हैं। जब तक उपर्युक्त चार मूलभूत दोषों से मुक्त कोई दिव्य व्यक्ति न मिल जाये, तब तक किसी के परामर्श को नहीं मानना चाहिए। और भौतिक स्थिति का शिकार नहीं बनना चाहिए। सर्वोत्तम विधि तो यह है कि श्रीकृष्ण या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि से ही

उपदेश ग्रहण किया जाये। इस तरह इस जीवन में तथा आगे भी सुखी हुआ जा सकता है।

अध्वन्यमुष्मिन्निम उपसर्गास्तथा सुखदु:खरागद्वेषभयाभिमानप्रमादोन्मादशोकमोहलोभमात्सर्येर्ष्यावमानक्षुत्पिपासाधिव्याधिजन्मजरामरणादय:. ॥ २७॥

शब्दार्थ

अध्वनि—भौतिक जीवन के पथ पर; अमुष्मिन्—उस; इमे—ये सब; उपसर्गा:—शाश्वत कठिनाइयाँ; तथा—और; सुख—तथाकथित सुख; दु:ख—कष्ट; राग—आसक्ति; द्वेष—घृणा; भय—डर; अभिमान—झूठा गर्व; प्रमाद—भ्रम; उन्माद—पागलपन; शोक—शोक; मोह—मोह; लोभ—लालच; मात्सर्य—विद्वेष; ईर्ष्य—दुश्मनी, वैर; अवमान—अनादर; क्षुत्—क्षुधा; पिपासा—प्यास; आधि—आपदाएँ; व्याधि—रोग; जन्म—जीव धारण करना; जरा—बुढ़ापा; मरण—मृत्यु; आदय:—इत्यादि।

इस भौतिक जगत में अनेकानेक कठिनाइयाँ आती हैं और ये सभी दुर्लंघ्य हैं। इनके अतिरिक्त तथाकथित सुख, दुख, राग, द्वेष, भय, अभिमान, प्रमाद, उन्माद, शोक, मोह, लोभ, मत्सर, ईर्ष्या, अपमान, क्षुधा, पिपासा, आधि, व्याधि तथा जन्म, जरा, मरण से उत्पन्न होने वाली बाधाएँ आती हैं। ये सभी मिलकर संसारी बद्धजीव को दुख के अतिरिक्त और कुछ नहीं दे पातीं।

तात्पर्य : इस संसार में बद्धजीव इन सभी परिस्थितियों को मात्र इन्द्रियतृप्ति के लिए स्वीकार करता है। यद्यपि व्यक्ति अपने को महान् वैज्ञानिक, अर्थशास्त्री, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ तथा समाजशास्त्री घोषित करते रहते हैं, किन्तु वास्तव में हैं, वे शठ। इसीलिए *भगवद्गीता* (७.१) में उन्हें मूढ़ और नराधम वर्णित किया गया है—

न मां दुष्कृतिनो मूढा: प्रपद्यन्ते नराधमा:।

माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिता:॥

"माया द्वारा हरे हुए ज्ञान वाले, आसुरी स्वभाव को धारण किये हुए, मनुष्यों में अधम और पाप को करने वाले मूढ़ मेरी शरण नहीं लेते।"

भगवद्गीता में इन सभी सांसारिक प्राणियों को उनकी मूर्खता के कारण नराधम कहा गया है। उनको मनुष्य जीवन इसलिए प्राप्त हुआ है कि वे सांसारिक बन्धन से मुक्त हों, किन्तु वे ऐसा न करके दुखद परिस्थितियों में फँसे रहते हैं, इसीलिए वे मनुष्यों में नराधम हैं। प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या वैज्ञानिक, दार्शनिक, अर्थशास्त्री तथा गणितज्ञ भी नराधम हैं? भगवान् का उत्तर है कि वे नराधम हैं,

क्योंकि उन्हें वास्तविक ज्ञान नहीं है। वे मात्र अपनी झूठी प्रतिष्ठा और पद पर गर्व करते हैं। वास्तविकता तो यह है कि वे इस भौतिक अवस्था से उद्धार पाने, जीवन को उदात्त तथा ज्ञानमय बनाने की कोई विधि नहीं जानते। फलस्वरूप वे तथाकथित सुख की खोज में शक्ति तथा समय का अपव्यय करते हैं। ये असुरों के लक्षण हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जब किसी में ये आसुरी गुण रहते हैं, तो वह मूढ़ बन जाता है। इसके कारण वह भगवान् से द्वेष करने लगता है, फलत: वह असुरों के वंश में बारम्बार जन्म धारण करता है और एक आसुरी देह से दूसरी में देहान्तर करता है। इस प्रकार वह श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध को भूल कर जन्म-जन्मांतर नराधम बना रहता है।

क्वापि देवमायया स्त्रिया भुजलतोपगूढः प्रस्कन्नविवेकविज्ञानो
यद्विहारगृहारम्भाकुलहृदयस्तदाश्रयावसक्तसुतदुहितृकलत्रभाषितावलोकविचेष्टितापहृतहृदय
आत्मानमजितात्मापारेऽन्धे तमसि प्रहिणोति. ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

क्वापि—कहीं भी; देव-मायया—देवमाया के वश में होकर; स्त्रिया—सखी या पत्नी के रूप में; भुज-लता—वन की कोमल लताओं के सदृश सुन्दर बाहुओं के द्वारा; उपगूढः—अत्यधिक व्याकुल होकर; प्रस्कन्न—खोया हुआ; विवेक—सत् असत् का ज्ञान; विज्ञानः—विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान; यत्-विहार—पत्नी सुख के लिए; गृह-आरम्भ—घर की तलाश करने में; आकुल-हृदयः—व्याकुल चित्त होकर; तत्—उस घर की; आश्रय-अवसक्त—जो शरण में आये हुए हैं; सुत—पुत्रों का; दुहितृ—पुत्रियों का; कलत्र—पत्नी का; भाषित-अवलोक—उनके सम्भाषणों तथा बाँकी चितवनों से; विचेष्टित—कार्यों से, चेष्टाओं से; अपहृत-हृदयः—जिसका हृदय हर लिया गया है, संज्ञाशून्य; आत्मानम्—स्वयं; अजित—अवश; आत्मा—जिसका आत्मा; अपारे—अनन्त; अन्धे—घनान्धकार में; तमसि—नारकीय जीवन में; प्रहिणोति—गिरा देता है।

कभी-कभी बद्धजीव प्रमादवश मूर्तिमान माया (अपनी पत्नी या प्रेयसी) से आकर्षित होकर स्त्री द्वारा आलिंगन किये जाने के लिए व्याकुल हो उठता है। इस प्रकार वह अपनी बुद्धि तथा जीवन-उद्देश्य के ज्ञान को खो देता है। उस समय वह आध्यात्मिक अनुशीलन का प्रयास न करके अपनी पत्नी या प्रेयसी में अत्यधिक अनुरक्त हो जाता है और उसके लिए उपयुक्त गृह आदि उपलब्ध कराने का प्रयत्न करता है, फिर वह इस घरबार में अत्यधिक व्यस्त हो जाता है और अपनी पत्नी तथा बच्चों की बातों, चितवनों तथा कार्यकलापों में फँस जाता है। इस प्रकार वह कृष्णभावनामृत से वंचित होकर लौकिक अस्तित्व के गहन अंधकार में गिर जाता है।

तात्पर्य : जब बद्धजीव को अपनी प्राणोपम पत्नी का आलिंगन प्राप्त होता है, तो वह कृष्णभावनामृत के विषय में सब कुछ भूल जाता है। वह अपनी पत्नी से जितना ही अनुरक्त होता है, पारिवारिक जीवन में उतना ही उलझता जाता है। एक बंगाली कवि, श्रीबंकिम चन्द्र का कथन है कि

प्रेमी की दृष्टि में उसकी प्रेमिका अत्यन्त सुन्दर होती है, भले ही वह कुरूप क्यों न हो। यह आकर्षण ''देवमाया'' कहलाता है। पुरुष और स्त्री का यह आकर्षण दोनों के लिए बन्धन का कारण है। वास्तव में ये दोनों ''परा प्रकृति'' से सम्बन्धित हैं, परन्तु दोनों ही ''प्रकृति'' (स्त्री) हैं। किन्तु दोनों ही परस्पर आनन्द लेना चाहते हैं, इसलिए कभी-कभी वे पुरुष (नर) कहलाते हैं। सत्य तो यह है कि उनमें से कोई भी पुरुष नहीं है, किन्तु ऊपर-ऊपर से इन्हें पुरुष कहा जाता है। ज्योंही स्त्री तथा पुरुष का संयोग हो जाता है उनका लगाव घर-बार, खेत, मित्रता तथा धन से हो जाता है। इस तरह वे दोनों भौतिक जगत के जाल में पड़ जाते हैं। *भुजलता उपगूढ* शब्द का अर्थ है, ''लताओं के सदृश सुन्दर भुजाओं द्वारा आलिंगित होकर'' और यह बताता है कि किस प्रकार बद्धजीव इस भौतिक जगत द्वारा बँध जाता है। विवाहित जीवन के फलस्वरूप पुत्र-पुत्रियाँ उत्पन्न होते हैं—ये ही परिणाम हैं। भौतिक जगत की यही रीति है।

कदाचिदीश्वरस्य भगवतो विष्णोश्चक्रात्परमाण्वादिद्विपरार्धापवर्गकालोपलक्षणात्परिवर्तितेन वयसा रंहसा हरत आब्रह्मतृणस्तम्बादीनां भूतानामनिमिषतो मिषतां वित्रस्तहृदयस्तमेवेश्वरं कालचक्रनिजायुधं साक्षाद्भगवन्तं यज्ञपुरुषमनादृत्य पाखण्डदेवताः कङ्कगृध्रबकवटप्राया आर्यसमयपरिहृताः साङ्केत्येनाभिधत्ते. ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

कदाचित्—कभी-कभी; ईश्वरस्य—ईश्वर का; भगवतः—श्रीभगवान् के; विष्णोः—भगवान् विष्णु का; चक्रात्—चक्र से; परमाणु-आदि—सूक्ष्म परमाणुओं के काल से प्रारम्भ करके; द्वि-परार्ध—ब्रह्मा के जीवन की अवधि; अपवर्ग—अन्त; काल—समय का; उपलक्षणात्—लक्षणों से; परिवर्तितेन—चक्कर लगाता हुआ; वयसा—आयुओं के क्रमानुसार; रंहसा—तेजी से; हरतः—हरण करके; आ-ब्रह्म—ब्रह्माजी से लेकर; तृण-स्तम्ब-आदीनाम्—क्षुद्रातिक्षुद्र तृण पर्यन्त; भूतानाम्—समस्त जीवात्माओं का; अनिमिषतः—अपलक, निरन्तर; मिषताम्—जीवात्माओं की आँखों के सामने (फिर भी वे रोक नहीं सकते); वित्रस्त-हृदयः—मन में डर कर; तम्—उस (ईश्वर); एव—निश्चय ही; ईश्वरम्—श्रीभगवान् को; काल-चक्र-निज-आयुधम्—काल चक्र ही जिसका साक्षात् आयुध है; साक्षात्—प्रत्यक्षतः; भगवन्तम्—श्रीभगवान्; यज्ञ-पुरुषम्—जो सभी प्रकार के यज्ञों को स्वीकार करता है, यज्ञ पुरुष को; अनादृत्य—अनादर करके, परवाहकिये बिना; पाखण्ड-देवताः—ईश्वर के पाखण्डी अवतार (मानवकल्पित भगवान् या देवता); कङ्क—बाज; गृध्र—गीध; बक—बगुला; वट-प्रायाः—कौवों के सदृश; आर्य-समय-परिहृताः—आर्यों के द्वारा स्वीकृत प्रामाणिक वैदिक शास्त्रों से तिरस्कृत होकर; साङ्केत्येन—कपोलकल्पित अप्रामाणिक शास्त्रों द्वारा; अभिधत्ते—पूजा योग्य स्वीकार कर लेता है।

श्रीकृष्ण द्वारा प्रयुक्त निजी आयुध हरिचक्र कहलाता है। यह चक्र कालचक्र है। यह परमाणुओं से लेकर ब्रह्मा की मृत्युपर्यन्त फैला हुआ है और यह समस्त कर्मों को नियंत्रित करने वाला है। यह निरन्तर घूमता रहता है और ब्रह्माजी से लेकर क्षुद्रातिक्षुद्र तृण तक सभी जीवात्माओं का संहार करता है। इस प्रकार प्राणी बाल्यपन से यौवन तथा प्रौढ़ अवस्था को

प्राप्त करते हुए जीवन के अन्त तक पहुँच जाता है। काल के इस चक्र को रोक पाना असम्भव है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का निजी आयुध होने के कारण यह अत्यन्त कठोर है। कभी-कभी बद्धजीव मृत्यु को निकट आया जानकर ऐसे व्यक्ति की पूजा करने लगता है जो उसे आसन्न संकट से उबार सके। वह ऐसे श्रीभगवान् की परवाह नहीं करता जिनका आयुध अथक काल है। उल्टे वह अप्रामाणिक शास्त्रों में वर्णित मानवनिर्मित देवताओं की शरण में जाता है। ऐसे देवता बाज, गीध, बगुले तथा कौवे के तुल्य हैं। वैदिक शास्त्रों में इनका वर्णन नहीं मिलता। पास खड़ी मृत्यु शेर के आक्रमण की तरह है, जिससे न तो गीध, बाज, कौवे और न ही बगुले बच सकते हैं। जो पुरुष ऐसे अप्रामाणिक मानवनिर्मित देवताओं की शरण में जाता है उसे मृत्यु के चंगुल से नहीं छुड़ाया जा सकता।

तात्पर्य : कहा गया है—*हरिं बिना मृतिं न तरन्ति।* पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि की कृपा के बिना कोई भी मृत्यु के क्रूर हाथों से बच नहीं सकता। *भगवद्गीता* का कथन है—*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*—जो भी अपने को पूर्णतया श्रीकृष्ण को समर्पित कर देता है उसे वे भौतिक प्रकृति (दैवी शक्ति) के क्रूर चंगुल से बचा लेते हैं। किन्तु कभी-कभी बद्धजीव मानवकृत देवों, देवताओं, अवतारियों या कपटी स्वामियों अथवा योगियों की शरण में जाना चाहता है। ये सभी ठग अपने आपको धर्मों के नियमों का पालक बताते हैं और इस कलियुग में यह अत्यन्त प्रचलित है। ऐसे अनेक पाखण्डी होते हैं, जो शास्त्रों का आश्रय लिए बिना अपने को अवतार बताते हैं और मूर्ख लोग उनके अनुयायी बन जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अपने पीछे *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* नामक दो ग्रन्थ सुलभ कर गये हैं। धूर्त लोग इन प्रामाणिक ग्रन्थों का उल्लेख न करके मानवकृत ग्रन्थों की शरण लेते हैं और श्रीकृष्ण से स्पर्धा करते हैं। मानव समाज में आध्यात्मिक भावना को आगे बढ़ाते समय यही सबसे बड़ी कठिनाई सामने आती है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन मनुष्यों को शुद्ध कृष्णभावनामृत के पथ में लाने का भरसक प्रयत्न कर रहा है, किन्तु धोखेबाज़ पाखण्डियों तथा नास्तिकों की संख्या इतनी अधिक है कि कभी-कभी हमारी समझ में नहीं आता कि इस आन्दोलन को किस प्रकार आगे बढ़ाया जाये। हम किसी भी दशा में तथाकथित अवतारों, देवताओं, ठगों तथा वंचकों की अप्रामाणिक विधियों को स्वीकार नहीं कर सकते, जिन्हें यहाँ पर कौवों, गृद्धों, बाजों तथा बगुलों के रूप में बताया गया है।

यदा पाखण्डिभिरात्मवञ्चितैस्तैरुरु वञ्चितो ब्रह्मकुलं समावसंस्तेषां शीलमुपनयनादिश्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठानेन भगवतो यज्ञपुरुषस्याराधनमेव तदरोचयन्शूद्रकुलं भजते निगमाचारेऽशुद्धितो यस्य मिथुनीभावः कुटुम्बभरणं यथा वानरजातेः. ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; पाखण्डिभिः—पाखण्डियों (नास्तिकों) द्वारा; आत्म-वञ्चितैः—स्वयं को ठगने वाले; तैः—उनके द्वारा; उरु—अधिकाधिक; वञ्चितः—ठगे जाकर; ब्रह्म-कुलम्—वैदिक संस्कृति के पालक एकमात्र ब्राह्मणजन; समावसन्—आत्मिक उन्नति के लिए उनके बीच निवास करते हुए; तेषाम्—उनके (ब्राह्मणों के); शीलम्—शील, अच्छा आचरण; उपनयन-आदि—उपनयन संस्कार इत्यादि, अर्थात् बद्धजीव को ब्राह्मण बनने की शिक्षा देते हुए; श्रौत—वैदिक नियमों के अनुसार, वेद विधि से; स्मार्त—वेदों से प्राप्त प्रामाणिक उपदेशों के अनुसार; कर्म-अनुष्ठानेन—कर्मों के पालन द्वारा; भगवतः—श्रीभगवान् की; यज्ञ-पुरुषस्य—जो वैदिक यज्ञों द्वारा पूजित है; आराधनम्—उस ईश्वर की पूजा; एव—निश्चयपूर्वक; तत् अरोचयन्—चरित्रहीन व्यक्तियों द्वारा कठिनाई से सम्पन्न होने के कारण उसमें आनन्द प्राप्त न कर सकने से, अरुचिकर लगने के कारण; शूद्र-कुलम्—शूद्रों के कुल (समाज) की ओर; भजते—उन्मुख होता है; निगम-आचारे—वैदिक रीतियों के अनुसार आचरण करने में; अशुद्धितः—अशुद्ध; यस्य—जिसका; मिथुनी-भावः—मैथुन सुख अथवा सांसारिक जीवन; कुटुम्ब-भरणम्—परिवार का पालन-पोषण; यथा—सदृश; वानर-जातेः—वानर कुल के, वानर की सन्तानों के।

ऐसे छद्म-स्वामी, योगी तथा अवतारी जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् में विश्वास नहीं करते, पाषण्डी कहलाते हैं। वे स्वयं पतित होते हैं और ठगे जाते हैं, क्योंकि वे आध्यात्मिक उन्नति का वास्तविक मार्ग नहीं जानते, अतः उनके पास जो भी जाता है, वही ठगा जाता है। इस प्रकार से ठगे जाने पर वह कभी-कभी वैदिक नियमों के असली उपासकों (ब्राह्मणों अथवा कृष्णभावनामृत वालों) की शरण में जाता है, जो सबों को वेदोक्त आचार से श्रीभगवान् की उपासना करना सिखाते हैं। किन्तु इन रीतियों का पालन न कर सकने के कारण ये धूर्त पुनः पतित होते हैं और शूद्रों की शरण लेते हैं, जो विषयभोग में मग्न रहने में पटु हैं। वानर जैसे पशुओं में मैथुन अत्यन्त प्रकट रहता है और ऐसे मैथुन-प्रेमी व्यक्तियों को वानर की सन्तान कहा जा सकता है।

तात्पर्य : जलचर से पशु स्तर तक विकास की प्रक्रिया पूरी करके जीवात्मा अन्त में मनुष्य रूप को प्राप्त होता है। विकास प्रक्रिया में भौतिक प्रकृति के तीनों गुण कार्यशील रहते हैं। जो प्राणी सत्त्व-गुण के द्वारा मनुष्य रूप प्राप्त करते हैं, वे अपने पशुयोनि के पिछले पूर्वजन्म में गाय थे। जो रजोगुण के द्वारा मनुष्य रूप प्राप्त करते हैं, वे अन्तिम पूर्वजन्म में सिंह और जो तमोगुण के कारण मनुष्य रूप धारण करते हैं, वे पिछले पूर्वजन्म में बन्दर थे। इस युग में जो लोग बन्दर योनि से आते हैं, उन्हें डार्विन जैसे आधुनिक नृतत्वशास्त्री बन्दरों के वंशज मानते हैं। यहाँ हमें यह जानकारी प्राप्त होती है कि

जो केवल विषयभोग में रुचि रखते हैं, वे वास्तव में वानरों से अच्छे नहीं हैं। वानर इन्द्रियसुख भोगने में पटु होते हैं। कभी-कभी उनकी यौन-ग्रन्थियाँ निकालकर मनुष्यों में लगा दी जाती हैं जिससे वे बुढ़ापे में भी यौन-सुख प्राप्त कर सकें। इस प्रकार आधुनिक सभ्यता ने प्रगति की है। भारत से अनेक बन्दरों को पकड़ कर यूरोप भेजा गया ताकी उनकी यौन-ग्रंथियाँ निकालकर बूढ़े मनुष्यों में लगा दी जा सकें । वास्तविक रूप में जो वानर की सन्तान हैं, वे यौन-व्यापार द्वारा अपने विलासी परिवारों का विस्तार करते हैं। वेदों में भी कुछ ऐसे संस्कार हैं जिनके द्वारा यौन-उन्नति करके उच्च लोकों में पहुँचा जा सकता है जहाँ देवता इन्द्रियसुख में प्रवृत्त रहते हैं। देवताओं की भी मैथुन के प्रति अति प्रवृत्ति रहती है, क्योंकि सांसारिक सुख का मूल सिद्धान्त यही है।

सर्वप्रथम जब बद्धजीव सांसारिक कष्टों से मुक्ति पाने के उद्देश्य से नामधारी स्वामियों, योगियों तथा अवतारियों की शरण में जाता है, तो वह उनके द्वारा ठगा जाता है। किन्तु जब उनसे उसकी तुष्टि नहीं होती तो वह भक्तों तथा विशुद्ध ब्राह्मणों के पास जाता है जो सांसारिक बन्धनों से मुक्ति के लिए उसे ऊपर उठाने का प्रयास करते हैं। किन्तु अविवेकी बद्धजीव मैथुन, मादकद्रव्य-सेवन, द्यूत-क्रीड़ा तथा मांसाहार वर्जित करने वाले नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन नहीं कर पाता। इस प्रकार वह पतित हो जाता है और ऐसे मनुष्यों की शरण में जाता है जो वानरतुल्य हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में ऐसे वानर-शिष्य विधि-विधानों का दृढ़ता से पालन न कर सकने के कारण कभी कभी पतित हो जाते हैं और मैथुन-आश्रित समाज बनाने का प्रयास करते हैं। यह इसका प्रमाण है कि मनुष्य वानरों की सन्तान हैं जैसाकि डार्विन ने पुष्टि की है। इस श्लोक में इसीलिए स्पष्ट कथन है— *यथा वानरजातेः ।*

तत्रापि निरवरोधः स्वैरेण विहरन्नतिकृपणबुद्धिरन्योन्यमुखनिरीक्षणादिना ग्राम्यकर्मणैव विस्मृतकालावधिः. ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तत्र अपि—उस अवस्था में (वानरों की संतति मनुष्यों के समाज में); निरवरोधः—बिना रोकटोक के; स्वैरेण—स्वच्छन्दतापूर्वक, जीवन के लक्ष्य को ध्यान में न रखकर; विहरन्—वानरों की भाँति भोग करते हुए; अति-कृपण-बुद्धिः—ठीक से प्रयोग न करने के कारण मन्द-बुद्धि; अन्योन्य—परस्पर, एक दूसरे का; मुख-निरीक्षण-आदिना—मुखों को देखकर (जब पुरुष किसी स्त्री के सुन्दर मुख को देखता है अथवा कोई स्त्री किसी पुरुष के सुगढ़ शरीर को देखती है, तो वे एक दूसरे की लालसा करते हैं); ग्राम्य-कर्मणा—इन्द्रियतृष्टि के लिए कर्म करके; एव—एकमात्र; विस्मृत—भूला हुआ; काल-अवधिः—सीमित जीवन-काल (जिसके बाद उसका आवागमन, पतन या उत्कर्ष हो सकता है।).

इस प्रकार वानरों की सन्तानें एक दूसरे से घुलती-मिलती हैं और सामान्य रूप से शूद्र

कहलाती हैं। मुक्त भाव से वे जीवन का उद्देश्य समझे बिना स्वच्छन्द विहार करती हैं। वे एक दूसरे के मुख को देखकर ही मुग्ध होती रहती हैं, क्योंकि इससे इन्द्रिय-तुष्टि की स्मृति बनी रहती है। वे निरन्तर सांसारिक कर्म में लगी रहती हैं, जिसे ''ग्राम्य-कर्म'' कहते हैं और भौतिक लाभ के लिए कठिन श्रम करती हैं। इस प्रकार वे भूल जाती हैं कि एक दिन उनकी लघु जीवन-अवधि समाप्त हो जाएगी और वे आवागमन के चक्र में नीचे गिर जाएँगी।

तात्पर्य : भौतिकतावादी मनुष्यों को यदाकदा ''शूद्र'' या उनकी वानर जैसी बुद्धि के कारण वानरों की सन्तान कहा जाता है। उन्हें इसको जानने की तनिक भी चिन्ता नहीं रहती कि आवागमन चक्र किस प्रकार घटित होता है, न ही उन्हें यह जानने की कोई उत्सुकता रहती है कि उनके मनुष्य योनि के इस लघुजीवन के बाद क्या होगा। यह शूद्रों की प्रवृत्ति है। यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन, जो श्री चैतन्य महाप्रभु का ध्येय है, शूद्रों को ब्राह्मणों के पद तक ऊपर उठाने के लिए प्रयत्नशील है, जिससे वे जीवन के वास्तविक उद्देश्य को जान सकें। दुर्भाग्यवश इन्द्रियसुख में अत्यन्त लिप्त रहने के कारण भौतिकतावादी इस आन्दोलन की गम्भीरतापूर्वक सहायता नहीं कर रहे हैं। उलटे, उनमें से कुछ इसे कुचलने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार ब्राह्मणों के कर्मों में विघ्न पहुँचाना वानरों का ही कार्य है। ये वानरों की सन्तानें यह पूर्णरूपेण भूल जाती हैं कि उन्हें मरना है। उन्हें अपने वैज्ञानिक ज्ञान एवं भौतिक संस्कृति की प्रगति का अत्यधिक गर्व रहता है। *ग्राम्य-कर्मणा* शब्द केवल दैहिक सुखों की उन्नति के निमित्त सम्पन्न कार्यों के द्योतक हैं। इस समय समस्त मानव समाज आर्थिक दशाओं एवं दैहिक सुखों को बढ़ाने में संलग्न हैं। लोग यह जानने के तनिक भी इच्छुक नहीं हैं कि मृत्यु के पश्चात् क्या होगा और न ही वे आत्मा के देहान्तरण में ही विश्वास करते हैं। विकासवाद का विधिवत् अध्ययन करके ही यह जाना जा सकता है कि मानव जीवन ऐसा संधिस्थल है जहाँ उन्नति या अवनति का पथ ग्रहण किया जा सकता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२) में कहा गया है—

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

''देवताओं को पूजने वाले देवताओं के बीच जन्म लेते हैं, पितरों को पूजने वाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं।''

हमें इसी जीवन में अगले जन्म के लिए तैयारी करनी होती है। जो रजोगुणी हैं, वे प्राय: स्वर्गलोक जानने में रूचि रखते हैं। कुछ अनजाने ही निम्न पशु योनियों में गिरा दिये जाते हैं। जो सत्त्व-गुणी हैं, वे भक्ति में लग सकते हैं और इसके बाद में भगवद्धाम को वापस जा सकते हैं (*यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्*)। मनुष्य-जीवन का यह वास्तविक प्रयोजन है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन बुद्धिमान पुरुषों को भक्ति के मंच पर लाने का प्रयास कर रहा है। सांसारिक जीवन में श्रेष्ठतर स्थान प्राप्त करने के प्रयास में समय न गँवाकर मनुष्य को चाहिए कि वह केवल भगवान् के धाम में वापस पहुँचने के लिए प्रयास करे। इससे सभी समस्याएँ हल हो जाएँगी। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.२.१७) में कहा गया है—

शृण्वतां स्वकथा: कृष्ण: पुण्यश्रवणकीर्तन:।
हृद्यन्त:स्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥

"भगवान् श्रीकृष्ण, जो प्रत्येक के हृदय में विद्यमान परमात्मा हैं तथा अपने अनन्य-भक्तों के सुहृद हैं, वे उन भक्तों के हृदय से प्राकृत-सुख भोगों की वासनाओं को समाप्त कर देते हैं, जो उनके कथामृत का आस्वादन करते हैं। जब वे उनके नामों एवं कथाओं का उचित रीति से श्रवण एवं उच्चारण करते हैं, तो उनका जीवन पुण्यमय एवं पावन हो उठता है।"

इसके लिए मनुष्य को विधि-विधान का पालन करना, ब्राह्मण की तरह कर्म करना, हरे कृष्ण मंत्र का संकीर्तन करना और *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* का पाठ करना होता है। इस प्रकार वह तमो तथा रजो गुणों से अपने को शुद्ध कर लेता है और इन गुणों के मोह से छूटकर पूर्ण मानसिक शान्ति प्राप्त कर सकता है। इस तरह कोई भी श्रीभगवान् तथा उनके साथ अपने सम्बन्ध को समझ सकता है और उच्चतम सिद्धि को प्राप्त कर सकता है (*सिद्धिं परमां गता:*)।

क्वचिद्द्रुमवदैहिकार्थेषु गृहेषु रंस्यन्यथा वानर: सुतदारवत्सलो व्यवायक्षण:. ॥३२॥

शब्दार्थ

क्वचित्—यदा-कदा; **द्रुम-वत्**—वृक्ष के सदृश (जिस प्रकार वानर एक वृक्ष से दूसरे में कूदकर जाता है वैसे ही बद्धजीव एक से दूसरी देह में देहान्तर करता रहता है); **ऐहिक-अर्थेषु**—मात्र उत्तम सांसारिक सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए; **गृहेषु**—घरों (देहों) में; **रंस्यन्**—सुख अनुभव करते हुए (एक देह से दूसरे में, या तो पशु, मानव या दैव जीवन में); **यथा**—सदृश; **वानर:**—बन्दर के; **सुत-दार-वत्सल:**—सन्तान तथा पत्नी के लिए अत्यन्त प्रिय; **व्यवाय-क्षण:**—जिसका समय विषयसुख में बीतता है।

जिस प्रकार वानर एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर कूदता रहता हैं, उसी प्रकार बद्धजीव एक देह

से दूसरी में जाता रहता है। जब कोई शिकारी अन्ततोगत्वा वानर को बन्दी बना लेता है, तो वह छूटकर निकल नहीं पाता। उसी प्रकार यह बद्धजीव क्षणिक इन्द्रिय तृप्ति में फँसकर भिन्न-भिन्न प्रकार की देहों से आसक्त होकर गृहस्थ जीवन में बद्ध जाता है। गृहस्थ जीवन में बद्धजीव को क्षणिक इन्द्रियसुख का आनंद प्राप्त होता है और इस प्रकार वह सांसारिक चंगुल से निकलने में सर्वथा असमर्थ हो जाता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* (११.९.२९) में कहा गया है—*विषय: खलु सर्वत: स्यात्।* किसी भी जीवरूप में आहार, निद्रा, मैथुन तथा आत्मरक्षा—ये दैहिक आवश्यकताएँ प्राप्त हैं। यहाँ पर बताया गया है कि वानर मैथुन के प्रति अत्यधिक आकृष्ट होता है। प्रत्येक वानर की कम से कम दो दर्जन पत्नियाँ रहती हैं और वह बन्दरियों को पकड़ने के लिए एक वृक्ष से दूसरे पर कूदता रहता है और अविलम्ब संभोग में जुट जाता है। इस प्रकार वानर का व्यापार है एक वृक्ष से दूसरे में कूदकर अपनी पत्नियों के साथ यौनाचार का आनन्द लेना। बद्धजीव भी यही कर रहा है। वह एक देह से दूसरे में देहान्तर करके मैथुनरत रहता है। इस प्रकार वह यह भूल जाता है कि भौतिक बन्धन से किस प्रकार मुक्त हुआ जाये। कभी-कभी कोई शिकारी बन्दरों को पकड़ कर डाक्टरों को बेच देता है ताकि उनकी ग्रन्थियों को निकालकर दूसरे वानरों में लगा दिया जाए। यह सारा धन्धा आर्थिक विकास और विकसित यौन जीवन के नाम पर चलाया जा रहा है।

एवमध्वन्यवरुन्धानो मृत्युगजभयात्तमसि गिरिकन्दरप्राये. ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—**इस प्रकार**; अध्वनि—**इन्द्रियतुष्टि के पथ पर**; अवरुन्धान:—**अवरुद्ध होने पर (फँस जाने पर) वह जीवन के वास्तविक लक्ष्य को भूल जाता है**; मृत्यु-गज-भयात्—**मृत्यु रूपी हाथी के डर से**; तमसि—**अंधकार में**; गिरि-कन्दर-प्राये—**पर्वत की गहन गुफाओं के सदृश।**

बद्धजीव इस भौतिक जगत में भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को भूलकर तथा श्रीकृष्णभावनामृत की परवाह किये बिना अनेकानेक दुष्कर्मों एवं पापों में प्रवृत्त होने लगता है। तब उसे ताप-त्रय से पीड़ित होना पड़ता है और वह मृत्यु रूपी हाथी के भय से पर्वत की गुफा के घनान्धकार में जा गिरता है।

तात्पर्य : प्रत्येक प्राणी मृत्यु से भयभीत है और भौतिकवादी व्यक्ति चाहे जितना ही बलवान क्यों

न हो, उसे रोग तथा बुढ़ापा आने पर मृत्यु का संदेश स्वीकार करना पड़ता है। तब बद्धजीव अत्यन्त दुखी (खिन्न) होकर मृत्यु के संदेश को ग्रहण करता है। उसके इस भय की तुलना गहन पहाड़ी गुफा में प्रवेश करने से और मृत्यु की तुलना हाथी से की गई है।

क्वचिच्छीतवाताद्यनेकदैविकभौतिकात्मीयानां दु:खानां प्रतिनिवारणेऽकल्पो दुरन्तविषयविषण्ण आस्ते. ॥ ३४॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; शीत-वात-आदि—ठंड अथवा तेज हवा इत्यादि; अनेक—कई, अनेक प्रकार के; दैविक—देवताओं द्वारा अथवा हमारे वश से परे शक्तियों द्वारा दिए जाने वाले; भौतिक—अन्य जीवात्माओं द्वारा दिए जाने वाले; आत्मीयानाम्—बद्धजीव तथा मन द्वारा दिए जाने वाले; दु:खानाम्—अनेकानेक दुखों; प्रतिनिवारणे—निवृत्त करने में; अकल्प:—अशक्त; दुरन्त—दुर्लंघ्य; विषय—इन्द्रियतुष्टि, वासना; विषण्ण:—दुखी, खिन्न; आस्ते—रहता है।.

बद्धजीव को अनेक दैहिक कष्ट सहन करने पड़ते हैं यथा अत्यधिक ठंड तथा तेज हवा। वह अन्य जीवात्माओं के कार्यकलापों तथा प्राकृतिक प्रकोपों के कारण भी कष्ट उठाता है। जब वह उनका सामना करने में अक्षम होकर दयनीय अवस्था में रहता है, तो स्वभावत: वह अत्यन्त खिन्न हो उठता है, क्योंकि वह सांसारिक सुविधाओं का भोग करना चाहता है।

क्वचिन्मिथो व्यवहरन्यत्किञ्चिद्धनमुपयाति वित्तशाठ्येन. ॥ ३॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी या कहीं भी; मिथ: व्यवहरन्—परस्पर क्रय-विक्रय आदि व्यापार करने पर; यत्—जो भी; किञ्चित्—रंच भर; धनम्—सम्पत्ति; उपयाति—प्राप्त करता है; वित्त-शाठ्येन—किसी की सम्पत्ति को ठग करके।.

कभी-कभी बद्धजीव परस्पर आदान-प्रदान करते हैं, किन्तु कालान्तर में ठगी के कारण उनमें शत्रुता उत्पन्न हो जाती है। भले ही रंचमात्र लाभ हो, बद्धजीव परस्पर मित्र न रहकर एक दूसरे के शत्रु बन जाते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (..८) में कथित है—

पुंस: स्त्रिया मिथुनीभावमेतं तयोर्मिथो हृदयग्रन्थिमाहु:।

अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तैर्जनस्य मोहोऽयमहं ममेति॥

वानर-तुल्य बद्धजीव पहले मैथुन में आसक्त होता है और वास्तविक संभोग हो जाने पर वह और अधिक लिप्त हो जाता है। तब उसे कुछ भौतिक सुखों की आवश्यकता होती है—यथा निवासस्थान, भोजन, मित्र, सम्पत्ति इत्यादि। इन्हें प्राप्त करने के लिए उसे दूसरों को ठगना पड़ता है और इससे

घनिष्ठ मित्रों से भी उसकी शत्रुता हो जाती है। कभी-कभी बद्धजीव तथा उसके पिता या गुरु के बीच यह शत्रुता ठन जाती है। जब तक कोई विधि-विधान में दृढ़ नहीं रहता, भले ही वह कृष्णभावनामृत आन्दोलन का सदस्य क्यों न हो, वह धृष्टता करता रहता है। फलत: हम शिष्यों को विधि-नियमों के दृढ़ पालन का उपदेश देते हैं, अन्यथा शिष्यों में विरोध होने पर मानवता के उत्थान के लिए किया जाने वाला यह महत्त्वपूर्ण आन्दोलन अवरुद्ध हो जाएगा। अत: जो इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए इच्छुक हैं उन्हें इसे स्मरण रखना चाहिए और विधि-नियमों का कठोरता से पालन करना चाहिए, जिससे उनके मन विचलित न हों।

क्वचित्क्षीणधनः शय्यासनाशनाद्युपभोगविहीनो
यावदप्रतिलब्धमनोरथोपगतादानेऽवसितमतिस्ततस्ततोऽवमानादीनि जनादभिलभते. ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; क्षीण-धनः—पर्याप्त धन न होने पर; शय्या-आसन-अशन-आदि—सोने, बैठने अथवा भोजन के लिए स्थान; उपभोग—सांसारिक सुख का; विहीनः—वंचित होकर; यावत्—जब तक; अप्रतिलब्ध—उपलब्ध न होने पर; मनोरथ—अभिलाषा से; उपगत—प्राप्त; आदाने—अनैतिक साधनों से हड़पने में; अवसित-मतिः—संकल्प; ततः—उसके कारण; ततः—उससे; अवमान-आदीनि—अपमान तथा दंड; जनात्—सामान्यजन से; अभिलभते—प्राप्त करता है।

कभी-कभी धनाभाव के कारण बद्धजीव को पर्याप्त स्थान प्राप्त करने में कठिनाई होती है। कभी तो उसे बैठने तक के लिए स्थान नहीं मिल पाता, न ही उसे अन्य आवश्यक वस्तुएँ ही प्राप्त होती हैं। दूसरे शब्दों में, वह अभाव का अनुभव करता है और नैतिक साधनों से इन आवश्यकताओं को न प्राप्त कर पाने के कारण वह अनैतिक ढंग से दूसरों की सम्पत्ति का अपहरण करता है। जब उसे वांछित वस्तुएँ प्राप्त नहीं हो पातीं वह दूसरों से अपमान ही प्राप्त करता है, जिससे वह अत्यन्त खिन्न हो उठता है।

तात्पर्य : ऐसा कहा गया है कि आवश्यकता नियम नहीं पहचानती। जब बद्धजीव के जीवन-निर्वाह के लिए धन की आवश्यकता आ पड़ती है, तो वह कोई न कोई साधन अपनाता है—चाहे वह भीख माँगे, उधार ले अथवा चोरी करे, किन्तु ये वस्तुएँ प्राप्त नहीं होतीं, उल्टे उसका अपमान और उपहास किया जाता है। जब तक अच्छी तरह सुव्यवस्थित न रहा जाये, अनुचित साधनों से धन-संग्रह नहीं किया जा सकता। यदि वह धन-संग्रह कर भी ले तो भी वह राजा या जनता की प्रताड़ना तथा अपमान से नहीं बच सकता है। ऐसे अनेक प्रसंग हैं जब महत्त्वपूर्ण व्यक्ति गबन करते पकड़े गये हैं

और उन्हें जेल में रखा गया है। भले ही कोई जेल के दंड से बच जाये, किन्तु वह भगवान् द्वारा दंडित होने से नहीं बच सकता। क्योंकि वे भौतिक प्रकृति के माध्यम से कार्य करते हैं। इसका उल्लेख *भगवद्गीता* (७.१४) में हुआ है—*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।* प्रकृति अत्यन्त क्रूर है। वह किसी को भी क्षमा नहीं करती है। जब मनुष्य प्रकृति की अवहेलना करते हैं, तो वे सभी प्रकार के पापकर्म करते हैं, जिसके फलस्वरूप उन्हें कष्ट उठाना पड़ता है।

एवं वित्तव्यतिषङ्गविवृद्धवैरानुबन्धोऽपि पूर्ववासनया मिथ उद्वहत्यथापवहति. ॥ ३७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; वित्त-व्यतिषङ्ग—आर्थिक लेन-देन के कारण; विवृद्ध—बढ़ा हुआ; वैर-अनुबन्धः—वैर भाव; अपि—यद्यपि; पूर्व-वासनया—पूर्व अशुभ कर्मों के परिणामस्वरूप; मिथः—परस्पर; उद्वहति—पुत्रों तथा पुत्रियों के विवाह के कारण बँध जाते हैं; अथ—तत्पश्चात्; अपवहति—सम्बन्ध-विच्छेद कर देते हैं, अथवा तलाक दे देते हैं।

अपनी इच्छाओं की बारम्बार पूर्ति के लिए मनुष्य परस्पर शत्रु होने पर भी कभी-कभी विवाह सम्बध स्थापित कर लेते हैं। दुर्भाग्यवश ये विवाह दीर्घकाल तक नहीं चल पाते और ऐसे लोग तलाक या अन्य कारणों से पुनः विलग हो जाते हैं।

तात्पर्य : जैसा पहले कहा जा चुका है प्रत्येक बद्धजीव में छलने की प्रवृत्ति होती है, यहाँ तक कि विवाह सम्बन्धों में भी। इस भौतिक जगत में सर्वत्र ही एक बद्धजीव दूसरे से ईर्ष्या करता है। मनुष्य कुछ काल तक भले ही परस्पर मित्र बने रहें, किन्तु अन्ततः वे शत्रु बन जाते हैं और धन के लिए लड़ते हैं। कभी-कभी वे विवाह सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, किन्तु बाद में तलाक या अन्य साधनों से विलग हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि ऐसा ऐक्य कभी स्थायी नहीं रहता। छलने की प्रवृत्ति के कारण दोनों पक्ष सदैव ईर्ष्यालु बने रहते हैं। यहाँ तक कि कृष्णभावनामृत में भी भौतिक प्रवृत्तियों की प्रधानता के कारण पृथक्त्व और शत्रुता उत्पन्न हो जाती है।

एतस्मिन्संसाराध्वनि नानाक्लेशोपसर्गबाधित आपन्नविपन्नो यत्र यस्तमु ह वावेतरस्तत्र विसृज्य जातं जातमुपादाय शोचन्मुह्यन्बिभ्यद्विवदन्क्रन्दन्संहृष्यन्गायन्नह्यमानः साधुवर्जितो नैवावर्ततेऽद्यापि यत आरब्ध एष नरलोकसार्थो यमध्वनः पारमुपदिशन्ति. ॥ ३८॥

शब्दार्थ

एतस्मिन्—इस; संसार—दुखमय (संसार); अध्वनि—पथ पर; नाना—अनेक; क्लेश—कष्ट; उपसर्ग—भौतिक अस्तित्त्व की आपत्तियों द्वारा; बाधितः—क्षुब्ध; आपन्न—कभी-कभी प्राप्त करके; विपन्नः—कभी खोकर; यत्र—जिसमें; यः—कौन; तम्—उसको; उ ह वाव—अथवा; इतरः—अन्य कोई; तत्र—वहाँ; विसृज्य—छोड़ कर; जातम् जातम्—नवजात; उपादाय—

स्वीकार करके; शोचन्—शोक करते हुए; मुह्यन्—मोह ग्रस्त होकर; बिभ्यत्—डरते हुए; विवदन्—कभी-कभी तेज चीखते हुए; क्रन्दन्—कभी-कभी रोते हुए; संहृष्यन्—कभी-कभी प्रसन्न होते हुए; गायन्—गाते हुए; नह्यमानः—बाँधे जाकर; साधु-वर्जितः—सन्त पुरुषों से दूर रहकर; न—नहीं; एव—निश्चय ही; आवर्तते—प्राप्त करता है; अद्य अपि—अब भी; यतः—जिससे; आरब्धः—आरम्भ किया हुआ; एषः—इस; नर-लोक—भौतिक जगत का; स-अर्थः—आत्मकेन्द्रित (स्वार्थी) जीवात्माएँ; यम्—जिनको (श्रीभगवान्); अध्वनः—भौतिक अस्तित्त्व के पथ के; पारम्—उस पार; उपदिशन्ति—ज्ञानीजन इंगित करते हैं।.

इस भौतिक जगत का मार्ग क्लेशमय है और बद्धजीव को अनेक कष्ट विचलित करते रहते हैं। कभी वह हारता है, तो कभी जीतता है। प्रत्येक दशा में यह मार्ग विघ्नों से परिपूर्ण है। कभी बद्धजीव अपने पिता से मृत्यु होने या अन्य कारणों से विलग हो जाता है। वह उसे छोड़कर क्रमशः अन्यों से, यथा अपनी सन्तान से आसक्त हो जाता है। इस प्रकार बद्धजीव कभी-कभी भ्रमित और कभी भयके मारे जोर जोर से चीत्कार करता है। कभी वह अपने परिवार का भरण करते हुए प्रसन्न होता है, तो कभी अत्यधिक प्रसन्न हो जाता है और सुरीले गीत गाता है। इस तरह वह अनन्त काल से श्रीभगवान् के विछोह को भूलकर अपने में बँधता जाता है। उसे भौतिक जगत के भयानक पथ पर चलना तो पड़ता है, किन्तु वह इस पथ पर तनिक भी सुखी नहीं होता। स्वरूप-सिद्ध मनुष्य इस भयानक पथ से छूटने के निमित्त श्रीभगवान् की शरण ग्रहण करते हैं। भक्तिमार्ग को स्वीकार किये बिना भौतिक जगत के चंगुल से कोई नहीं निकल पाता। तात्पर्य यह है कि इस भौतिक जीवन में कोई भी प्रसन्न नहीं हो सकता है। उसे कृष्णाभावनामृत का आश्रय अवश्य ग्रहण करना चाहिए।

तात्पर्य : भौतिकतावादी जीवन-शैली का सम्यक् विश्लेषण करने पर कोई भी बुद्धिमान पुरुष समझ सकता है कि इस संसार में तनिक भी सुख नहीं है। किन्तु अनन्त काल से संकटपूर्ण मार्ग पर चलते रहने और सन्तजनों से अपने को विलग रखने के कारण बद्धजीव मोहवश इस भौतिक जगत का आनन्द लेना चाहता है। कभी-कभी बहिरंगा शक्ति तथाकथित सुख का अवसर प्रदान करती है, किन्तु भौतिक प्रकृति बद्धजीव को निरन्तर प्रताड़ित करती रहती है। इसीलिए कहा गया है *दण्ड्यजने राजा येन नदीते चुबाय* (*चैतन्यचरितामृत मध्य* २०.११८)। भौतिकतावादी जीवन का अर्थ है सतत दुख, किन्तु जब दो अन्तरालों के बीच सुख प्रकट होता है, तो हम उसे स्वीकार कर लेते हैं। कभी-कभी दोषी व्यक्ति को बार-बार पानी में डुबोया जाता है और फिर बाहर निकाला जाता है। वास्तव में यह सब दण्ड देने के उद्देश्य से किया जाता है, किन्तु जब उसे जल से बाहर निकाला जाता है, तो उसे कुछ

राहत का अनुभव होता है। बद्धजीव की ऐसी स्थिति है। अत: सभी शास्त्रों का उपदेश है कि भक्तों तथा साधुओं का सत्संग किया जाये।

'साधुसंग', 'साधुसंग'—सर्वशास्त्रे कय

लवमात्र साधुसंगे सर्वसिद्धि हय

(*चैतन्य चरितामृत, मध्य* २२.४)

भक्तों के लव-मात्र सत्संग से ही बद्धजीव इस दुखमय भौतिक जगत से उबर सकता है। यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन प्रत्येक व्यक्ति को सन्तजनों के साथ सत्संग का अवसर प्रदान करने का प्रयास करता है। इसलिए कृष्णभावनामृत समाज के सभी सदस्यों को पूर्ण साधु होना चाहिए जिससे पतित बद्धजीवों को अवसर मिल सके। यही सर्वश्रेष्ठ मानव-कल्याणकारी कार्य है।

यदिदं योगानुशासनं न वा एतदवरुन्धते यन्न्यस्तदण्डा मुनय उपशममशीला उपरतात्मानः समवगच्छन्ति. ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; इदम्—भगवान् का यह परम धाम; योग-अनुशासनम्—केवल भक्ति के द्वारा प्राप्तव्य; न—नहीं; वा—अथवा; एतत्—मुक्ति का यह पथ; अवरुन्धते—प्राप्त करते हैं; यत्—अतः; न्यस्त-दण्डाः—ऐसे पुरुष जिन्होंने दूसरों से ईर्ष्या करना छोड़ दिया है; मुनयः—मुनि अथवा सन्त जन; उपशम-शीलाः—जो इस समय अत्यन्त शान्तिमय अस्तित्व को प्राप्त हैं; उपरत-आत्मानः—जिन्होंने मन तथा इन्द्रियों को वश में कर लिया है; समवगच्छन्ति—सरलता से प्राप्त करते हैं।.

समस्त जीवात्माओं के मित्र मुनिजन संयतात्मा होते हैं। वे अपनी इन्द्रियों एवं मन को वश में कर चुके होते हैं और उन्हें मुक्तिपथ, जो श्रीभगवान् तक पहुँचने का मार्ग है, सरलतापूर्वक प्राप्त होता है। क्लेशमय भौतिक परिस्थितियों में संलग्न रहने तथा हतभाग्य होने के कारण भौतिकतावादी व्यक्ति मुनिजनों की संगति नहीं कर पाता।

तात्पर्य : महामुनि जड़भरत ने क्लेशमय दशा तथा उससे बचने के साधन—इन दोनों का वर्णन किया है। इससे बचने का एकमात्र उपाय है : भक्तों की संगति और यह संगति अत्यन्त सुगम है। यद्यपि भाग्यहीन व्यक्तियों को भी यह सुअवसर प्राप्त होता है, किन्तु दुर्भाग्यवश वे शुद्ध भक्तों की शरण में नहीं जा पाते; अत: वे लगातार कष्ट भोगते रहते हैं। फिर भी यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन इस बात पर बल देता है कि प्रत्येक प्राणी "हरे कृष्ण महामंत्र" का जप करके इस पथ का अनुसरण करे। कृष्णभावनामृत के उपदेशक द्वार-द्वार जाकर लोगों को यह बताते हैं कि भौतिक जीवन के कष्टों

से किस प्रकार छुटकारा पाया जा सकता है। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज*—श्रीकृष्ण तथा गुरु महाराज की कृपा से ही भक्ति का बीज प्राप्त हो सकता है। तनिक भी बुद्धिमान होने पर कृष्णभावनामृत का अनुशीलन किया जा सकता है और इस प्रकार भौतिक जीवन के दुखों से छुटकारा पाया जा सकता है।

यदपि दिग्गिभजयिनो यज्विनो ये वै राजर्षयः किं तु परं मृधे शयीरन्नस्यामेव ममेयमिति कृतवैरानुबन्धायां विसृज्य स्वयमुपसंहृताः. ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यत् अपि—यद्यपि; दिक्-इभ-जयिनः—जो सभी दिशाओं में विजयी होते हैं, चक्रवर्ती, दिग्विजयी; यज्विनः—बड़े-बड़े यज्ञों के करने में पटु; ये—जो सभी; वै—निस्सन्देह; राज-ऋषयः—अत्यन्त महान् सन्त राजा, राजर्षि; किम् तु—किन्तु; परम्—केवल यह पृथ्वी; मृधे—युद्ध में; शयीरन्—लेटे हुए; अस्याम्—इस (पृथ्वी) पर; एव—निश्चय ही; मम—मेरा; इयम्—यह; इति—उस प्रकार से विचार करने पर; कृत—जिस पर सृष्टि की जाती है; वैर-अनु-बन्धायाम्—अन्यों से शत्रुता का भाव; विसृज्य—त्याग कर; स्वयम्—अपना जीवन; उपसंहृताः—मारे हुए।

साधु प्रकृति वाले ऐसे अनेक महान् राजर्षि हो चुके हैं, जो यज्ञ अनुष्ठान में अत्यन्त प्रवीण तथा अन्य राज्यों को जीतने में परम कुशल थे, किन्तु इतनी शक्ति होने पर भी भगवान् की प्रेमाभक्ति नहीं कर पाये, क्योंकि वे महान् राजा, ''मैं देह-स्वरूप हूँ और यह मेरी सम्पत्ति है'' इस मिथ्या बोध को भी नहीं जीत पाये थे। इस प्रकार उन्होंने प्रतिद्वन्द्वी राजाओं से केवल शत्रुता मोल ली, उनसे युद्ध किया और वे जीवन के वास्तविक लक्ष्य को पूरा किये बिना दिवंगत हो गए।

तात्पर्य : बद्धजीव का वास्तविक जीवन-उद्देश्य भगवान् के साथ विस्मृत सम्बन्ध की पुनर्स्थापना तथा भक्ति में संलग्न होना है, जिससे वह देहत्याग के पश्चात् कृष्णभावनामृत को पुनरुज्जीवित करने में समर्थ हो सके। मनुष्य को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या अन्य किसी रूप में अपनी वृत्ति छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। किसी भी स्थिति में अपना नियत कर्तव्य करते हुए मात्र श्रीकृष्ण के प्रतिनिधि-स्वरूप भक्तों के सत्संग से ही कृष्णभावनामृत का विकास सम्भव है, क्योंकि वे ही इस विज्ञान की शिक्षा दे सकते हैं। दुख की बात है कि बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ एवं नेता इस भौतिक जगत में केवल शत्रुता उत्पन्न करते हैं और उनकी रुचि आध्यात्मिक उन्नति की ओर नहीं होती है। सामान्य व्यक्ति के लिए भौतिक उन्नति अत्यन्त मोहक होती है, किन्तु अन्ततः उसे परास्त होना पड़ता है, क्योंकि वह

स्वयं को भौतिक देह और इससे सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु को अपनी सम्पत्ति मान बैठता है। यही अविद्या है। वास्तव में उसका अपना कुछ भी नहीं होता, यहाँ तक कि यह देह भी नहीं। अपने कर्म के फलस्वरूप मनुष्य को कोई विशेष देह प्राप्त होती है। यदि वह इस देह का उपयोग भगवान् को प्रसन्न करने में नहीं करता तो उसके सारे कार्य निष्फल हो जाते हैं। जीवन के वास्तविक उद्देश्य का उल्लेख *श्रीमद्भागवत* (१.२.१३) में हुआ है—

अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः।

स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्॥

वस्तुतः इसका कोई महत्त्व नहीं है कि मनुष्य कौन-सा कार्य करता है। यदि वह श्रीभगवान् को केवल सन्तुष्ट कर सकता है, तो उसका जीवन सफल है।

कर्मवल्लीमवलम्ब्य तत आपदः कथञ्चिन्नरकाद्विमुक्तः पुनरप्येवं संसाराध्वनि वर्तमानो नरलोकसार्थमुपयाति एवमुपरि गतोऽपि. ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

कर्म-वल्लीम्—सकाम कर्मों की लता को; अवलम्ब्य—सहारा बनाकर; ततः—उससे; आपदः—घातक या क्लेशपूर्ण स्थिति; कथञ्चित्—किसी न किसी प्रकार से; नरकात्—जीवन की नारकीय दशा से; विमुक्तः—मुक्त होकर; पुनः अपि—फिर से; एवम्—इस प्रकार; संसार-अध्वनि—भौतिक जगत के मार्ग पर; वर्तमानः—वर्तमान, समुपस्थित; नर-लोक-स-अर्थम्—स्वार्थमय कर्मों का क्षेत्र; उपयाति—प्रवेश करता है; एवम्—इस प्रकार; उपरि—ऊपर (उच्चलोकों में); गतः अपि—(ऊपर) उठाये जाने पर भी।

सकाम कर्म रूपी लता की शरण स्वीकार कर लेने पर बद्धजीव अपने पवित्र कार्यों के फलस्वरूप स्वर्गलोक को प्राप्त हो सकता है और इस तरह नारकीय स्थिति से तो उसे मुक्ति मिल सकती है, किन्तु वह दुर्भाग्यवश वहाँ रह नहीं पाता। अपने पवित्र कार्यों का फल भोगने के बाद उसे निम्न लोकों में लौटना पड़ता है। इस प्रकार वह निरन्तर ऊपर और नीचे आता-जाता रहता है।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्री चैतन्य महाप्रभु का कथन है—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज॥

(*चैतन्यचरितामृत मध्य* १९.११)

सृष्टि से लेकर प्रलय पर्यन्त लाखों वर्षों तक भ्रमण करते रहने पर भी किसी को भौतिक जगत के पथ से तब तक छुटकारा नहीं मिल पाता जब तक उसे किसी विशुद्ध भक्त के चरणारविन्द में शरण नहीं प्राप्त हो जाती। जिस प्रकार एक वानर वट वृक्ष की एक शाखा का आश्रय पाकर आनन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार यह बद्धजीव अपने जीवन के असली ध्येय को जाने बिना सकाम कर्म रूपी *कर्मकाण्ड* का आश्रय लेता है। कभी-कभी वह इन कार्यों के द्वारा स्वर्ग तक पहुँच जाता है, तो कभी वह फिर से पृथ्वी पर नीचे आ जाता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने इसका वर्णन *ब्रह्माण्ड भ्रमिते* कह कर किया है। किन्तु यदि श्रीकृष्ण की कृपा से कोई भाग्यवान जीव गुरु की शरण प्राप्त करता है, तो उसे श्रीभगवान् की भक्ति करने की विधि का पता चल जाता है। इस प्रकार वह इस भौतिक जगत के सतत संघर्ष से छूटने की युक्ति जान लेता है। इसलिए वेदों का यह आदेश है कि मनुष्य को गुरु महाराज की शरण में जाना चाहिए। वेदों की घोषणा है—*तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्* (*मुंडकोपनिषद्* १.२.१२)। इसी प्रकार *भगवद्गीता* (४.३४) में श्रीभगवान् का उपदेश है—

तद्विद्धि प्राणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन:॥

"सद्गुरु के शरणागत होकर दण्डवत् प्रणाम्, विनम्र जिज्ञासा और निष्कपट भाव से उनकी सेवा करके उस तत्त्व को जान। वे तत्त्व को जानने वाले आत्मज्ञानी महापुरुष तेरे लिए ज्ञान का उपदेश करेंगे।"

श्रीमद्भागवत (११.३.२१) में इसी प्रकार का उपदेश है—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासु: श्रेय उत्तमम्।

शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥

"सच्चा सुख प्राप्त करने के आकांक्षी व्यक्ति को चाहिए कि वह प्रामाणिक गुरु की खोज करे और दीक्षा के द्वारा उसकी शरण प्राप्त करे। उसके गुरु में यह विशिष्टता होनी चाहिए कि उसने धर्मग्रन्थों के सार को सावधानीपूर्वक अनुभव कर लिया हो और वह अन्य लोगों को भी इसकी प्रतीति करा सके। ऐसे महान् पुरुष, जिन्होंने समस्त भौतिक विचारों को त्याग कर श्रीभगवान् की शरण प्राप्त कर ली है, प्रामाणिक गुरु माने जाने चाहिए।" इसी प्रकार महान् वैष्णव श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का उपदेश

है— *यस्य प्रसादाद् भगवत् प्रसादः*—"गुरु की कृपा से श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त होती है।" श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी यही उपदेश दिया है (*गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता बीज*)। यह आवश्यक है। मनुष्य को चाहिए कि वह कृष्णभावनामृत तक आये और शुद्ध भक्त की शरण में जाये। इस प्रकार से भवबन्धन से छुटकारा पाया जा सकता है।

तस्येदमुपगायन्ति—
आर्षभस्येह राजर्षेर्मनसापि महात्मनः ।
नानुवर्त्मार्हति नृपो मक्षिकेव गरुत्मतः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तस्य—जड़भरत का; इदम्—यह यश-गान; उपगायन्ति—गाते हैं; आर्षभस्य—ऋषभदेव के पुत्र का; इह—यहाँ; राज-ऋषेः—महान् ऋषितुल्य राजा का; मनसा अपि—मन से भी; महा-आत्मनः—महात्मा जड़भरत का; न—नहीं; अनुवर्त्म अर्हति—पथ का अनुसरण करने में समर्थ; नृपः—राजा; मक्षिका—मक्खी; इव—सदृश; गरुत्मतः—श्रीभगवान् के वाहन, गरुड़ का।

जड़भरत के उपदेशों का सार सुना चुकने के पश्चात् श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—प्रिय राजा परीक्षित्, जड़भरत द्वारा निर्दिष्ट पथ श्रीभगवान् के वाहन गरुड़ द्वारा अनुगमन किये गये पथ के तुल्य है और सामान्य राजागण मक्खियों के समान हैं। मक्खियाँ गरुड़ के पथ पर नहीं जा सकतीं। आज तक बड़े-बड़े राजाओं तथा विजयी नेताओं में से किसी ने भी भक्ति-पथ का अनुसरण नहीं किया मानसिक रूप से भी नहीं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.३) में श्रीकृष्ण कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

"सहस्रों मनुष्यों में से कोई एक संसिद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है और उन सिद्धि प्राप्त करने वालों में से कोई विरला मनुष्य ही मुझे तत्त्वतः जान पाता है।" भक्ति का मार्ग अनेक शत्रुओं पर विजय पाने वाले राजाओं के लिए भी अत्यन्त कठिन है। भले ही ये राजा युद्धभूमि में विजयी रहे हों, किन्तु वे देहात्मबुद्धि पर विजय प्राप्त नहीं कर सके। ऐसे अनेक नेता, स्वामी, योगी तथा नामधारी अवतारी पुरुष हैं, जो बौद्धिक चिन्तन में लगे रहते हैं और अपने को पूर्ण पुरुष के रूप में विज्ञापित करते रहते हैं, किन्तु अन्ततः वे सफल नहीं होते। निस्सन्देह, भक्ति मार्ग का अनुगमन अत्यन्त कठिन है, किन्तु यदि कोई महाजनों के पथ का अनुसरण करना चाहता है, तो वह अत्यन्त सरल हो जाता है।

इस युग में श्री चैतन्य महाप्रभु का पथ उपलब्ध है, जिनका आविर्भाव पतित आत्माओं के उद्धार के लिए हुआ। यह पथ इतना सरल एवं सुगम है कि कोई भी श्रीभगवान् का नाम-जप करके इसे ग्रहण कर सकता है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

हमें सन्तोष है कि कृष्णभावनामृत आन्दोलन द्वारा इस पथ का उद्घाटन किया जा रहा है, क्योंकि अनेक योरोपीय तथा अमरीकी युवा तथा युवतियाँ इस दर्शन को गम्भीरता से ग्रहण करके क्रमशः पूर्णता प्राप्त कर रहे हैं।

यो दुस्त्यजान्दारसुतान्सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः ।
जहौ युवैव मलवदुत्तमश्लोकलालसः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

यः—वही जड़भरत जो पहले महाराज ऋषभदेव के पुत्र महाराज भरत थे; दुस्त्यजान्—त्याग पाना अत्यन्त कठिन होता है; दार-सुतान्—पत्नी तथा सन्तान अथवा अत्यन्त वैभवपूर्ण गृहस्थ जीवन को; सुहृत्—मित्र तथा शुभ चिन्तक; राज्यम्—विश्वव्यापी साम्राज्य; हृदि-स्पृशः—अन्तरतम में स्थित; जहौ—परित्याग कर दिया; युवा एव—तरुण होते हुए; मल-वत्—विष्ठा के सदृश; उत्तम-श्लोक-लालसः—उत्तमश्लोक श्रीभगवान् की सेवा करने के लिए लालायित।

महाराज भरत ने अपनी युवावस्था में ही सब कुछ परित्याग कर दिया, क्योंकि वे उत्तमश्लोक श्रीभगवान् की सेवा करना चाहते थे। उन्होंने अपनी सुन्दर पत्नी, उत्तम सन्तान, प्रिय मित्र तथा अपने विशाल साम्राज्य का परित्याग कर दिया। यद्यपि इन वस्तुओं का त्याग कर पाना अत्यन्त कठिन होता है, किन्तु जड़भरत इतने उच्चस्थ थे कि उन्होंने इनको उस तरह से त्याग दिया जैसे मल त्याग के पश्चात् विष्ठा को त्याग दिया जाता है।

तात्पर्य : ईश्वर का नाम कृष्ण है, क्योंकि वे इतने आकर्षक हैं कि उनके लिए शुद्ध भक्त इस भौतिक जगत की प्रत्येक वस्तु का परित्याग कर सकता है। महाराज भरत एक आदर्श राजा, उपदेशक तथा चक्रवर्ती सम्राट थे। उनके पास समस्त सांसारिक वैभव था, किन्तु कृष्ण इतने आकर्षक हैं कि उन्होंने महाराज भरत से उनका भौतिक ऐश्वर्य त्याग करवा कर अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। तो भी न जाने किस प्रकार जड़भरत एक मृग के प्रति वत्सल हो उठे और अगले जन्म में उन्हें पदच्युत होकर मृग देह धारण करना पड़ा। किन्तु उन पर श्रीकृष्ण की महती कृपा थी, जिसके कारण वे अपने पद को

विस्मृत नहीं कर पाये और यह समझते रहे कि किस कारण उनका पतन हुआ है। फलत: अगले जन्म में अपनी शक्ति का अपव्यय न करने के लिए महाराज भरत जड़भरत अपने को एक बहरे तथा गूँगे व्यक्ति के रूप में दिखाते रहे। इस प्रकार से वे अपने मनको अपनी भक्ति में केन्द्रित कर सके। हमें महान् राजा भरत से यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि कृष्णभावनामृत अनुशीलन करने में किस प्रकार सतर्क रहा जाये। इस समय थोड़ी सी लापरवाही करने से हमारी भक्ति में बाधा पड़ सकती है। किन्तु भगवान् को समर्पित सेवा नष्ट नहीं होती—*स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्* (*गीता* २.४०)। श्रद्धापूर्वक समर्पित किंचित भक्ति शाश्वत धन है। *श्रीमद्भागवत* (१..१७) में उल्लेख है—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-

र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।

यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं

को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मत: ॥

यदि किसी तरह कोई व्यक्ति श्रीकृष्ण के प्रति आकृष्ट हो जाता है, तो भक्ति में वह जो कुछ भी करता है, वह शाश्वत सम्पत्ति होती है। यदि अपरिपक्वता अथवा कु:संग के कारण वह पतित होता भी है, तो उसकी भक्ति-सम्पदा नष्ट नहीं होती। इसके अनेक उदाहरण हैं, यथा अजामिल, महाराज भरत तथा अनेक अन्य। यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन प्रत्येक व्यक्ति को भक्ति में तत्पर होने का अवसर प्रदान करता है, भले ही वह अल्प समय के लिए क्यों न हो। इस प्रकार थोड़ी सी सेवा से आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहन मिलता है, जिससे जीवन को सफल बनाया जा सकता है।

इस श्लोक में श्रीभगवान् को उत्तमश्लोक कहा गया है। *उत्तम* का अर्थ है ''सर्वश्रेष्ठ'' तथा *श्लोक* का अर्थ है ''यश, ख्याति।'' श्रीकृष्ण छ: प्रकार के ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं, जिनमें यश भी एक है। *ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशस: श्रिय:।* श्रीकृष्ण के यश का अब भी विस्तार हो रहा है। हम इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन को आगे बढ़ाकर श्रीकृष्ण की कीर्ति को फैला रहे हैं। कुरुक्षेत्र युद्ध के पाँच सहस्त्र वर्ष बाद भी श्रीकृष्ण का यश विश्वभर में फैल रहा है। विश्व के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति ने कृष्णभावनामृत आन्दोलन के कारण इस समय तक श्रीकृष्ण का नाम अवश्य सुना होगा। ऐसे व्यक्ति जो हमें पसंद नहीं करते और इस आन्दोलन को दबा देना चाहते हैं, वे भी किसी न किसी रूप में

"हरे कृष्ण" का जप कर रहे हैं। उनका कहना कि हरे कृष्ण अनुयायियों को प्रताड़ित करना चाहिए। ऐसे मूर्ख इस आन्दोलन के वास्तविक महत्त्व को नहीं पहचानते। इसकी आलोचना करने की इच्छा मात्र से उन्हें हरे कृष्ण उच्चारण करने का अवसर प्राप्त होता है और यही इस आन्दोलन की विजय है।

यो दुस्त्यजान्क्षितिसुतस्वजनार्थदारान्
प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम् ।
नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्-
सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

यः—जो; दुस्त्यजान्—जिनका परित्याग कर पाना अत्यन्त कठिन है, दुस्त्यज; क्षिति—पृथ्वी; सुत—सन्तति, पुत्रादि; स्व-जन-अर्थ-दारान्—कुटुम्बी, धन तथा सुन्दर पत्नी को; प्रार्थ्याम्—लालायित; श्रियम्—लक्ष्मी को; सुर-वरैः—श्रेष्ठ देवताओं द्वारा; स-दय-अवलोकाम्—जिसकी दयादृष्टि; न—नहीं; ऐच्छत्—इच्छा की; नृपः—राजा ने; तत्-उचितम्—यह उनके लिए उचित है (था); महताम्—महात्माओं या महानुभावों का; मधु-द्विट्—मधु नामक असुर को मारने वाले, श्रीकृष्ण, मधुसूदन; सेवा-अनुरक्त—सेवा में अनुरक्त; मनसाम्—जिन मनस्वियों का; अभवः अपि—मोक्ष पद भी; फल्गुः—तुच्छ।

श्रीशुकदेव गोस्वामी आगे कहते हैं—हे राजन्, भरत महाराज के कार्य आश्चर्यजनक हैं। उन्होंने अपनी प्रत्येक वस्तु का परित्याग कर दिया जो अन्यों के लिए दुष्कर है। उन्होंने अपना साम्राज्य, पत्नी तथा परिवार त्याग दिया। उनका वैभव इतना प्रभूत था कि देवताओं को भी ईर्ष्या होती थी, किन्तु उसका भी उन्होंने परित्याग कर दिया। उनके समान महान् पुरुष के लिए महान् भक्त होना सर्वथा उपयुक्त था। वे प्रत्येक वस्तु का इसलिए परित्याग कर सके, क्योंकि वे भगवान् श्रीकृष्ण के सौन्दर्य, ऐश्वर्य, यश, ज्ञान, शक्ति तथा त्याग के प्रति अत्यन्त अनुरक्त थे। कृष्ण इतने आकर्षक हैं कि उनके लिए समस्त इष्ट वस्तुओं का परित्याग किया जा सकता है। जिनके चित्त भगवान् की सेवा के प्रति आकृष्ट हैं, वे मुक्ति को भी तुच्छ मानते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक से श्रीकृष्ण की सर्व-आकर्षकता की पुष्टि होती है। महाराज भरत श्रीकृष्ण के प्रति इतने आकर्षित थे कि उन्होंने अपना समस्त सांसारिक वैभव त्याग दिया, जबकि सामान्य भौतिकतावादी (संसारी) मनुष्य ऐसे वैभव के द्वारा आकर्षित होते हैं।

अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तैर्

जनस्य मोहोऽयमहं ममेति।

(*भागवत ..८*)

"हर प्राणी अपनी देह, घर, सम्पत्ति, सन्तान, सम्बन्धीजन तथा ऐश्वर्य के प्रति अनुरक्त होता है। इस प्रकार जीवन के प्रति मोह बढ़ता जाता है और वह "यह मैं हूँ और यह मेरा है" के रूप में सोचता है।" भौतिक वस्तुओं के प्रति आकर्षण मोहजनित है। भौतिक वस्तुओं के प्रति आकर्षित होने में कोई लाभ नहीं, क्योंकि इनसे बद्धजीव इधर-उधर भटकता है। उसी का जीवन सफल है जो श्रीकृष्ण की शक्ति, सुन्दरता एवं लीलाओं से आकर्षित होकर उन्हीं में मग्न हो जाता है जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के दशम स्कन्ध में उल्लेख है। मायावादी श्रीभगवान् के साथ तदाकार होना चाहते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण तदाकार होने की इच्छा से कहीं अधिक आकर्षक हैं। *अभव:* शब्द का अर्थ है इस भौतिक जगत में पुन: जन्म न लेना। भक्त को इसकी परवाह नहीं रहती कि उसका पुनर्जन्म होगा या नहीं। वह प्रत्येक दशा में श्रीभगवान् की सेवा मात्र से सन्तुष्ट रहता है। यही वास्तविक मुक्ति है।

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्त: स उच्यते॥

"जो मनसा वाचा कर्मणा श्रीकृष्ण की सेवा करता है, वह इस भौतिक संसार में रह कर भी जीवन्मुक्त है।" (*भक्तिरसामृतसिन्धु* १.२.१८७)। जो व्यक्ति श्रीकृष्ण की निरन्तर सेवा का इच्छुक है, वह अन्य व्यक्तियों को यह विश्वास दिलाने में रुचि रखता है कि भगवान् हैं और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। यही उसकी अभिलाषा है। उसे इसकी परवाह नहीं कि वह स्वर्ग में है या नर्क में। यही *उत्तमश्लोक लालसा* कहलाती है।

यज्ञाय धर्मपतये विधिनैपुणाय
योगाय साङ्ख्यशिरसे प्रकृतीश्वराय ।
नारायणाय हरये नम इत्युदारं
हास्यन्मृगत्वमपि यः समुदाजहार ॥ ४॥

शब्दार्थ

यज्ञाय—समस्त यज्ञों का फल भोगने वाले श्रीभगवान् को; धर्म-पतये—धार्मिक विधानों के स्वामी को; विधि-नैपुणाय—उसे जो निपुणता से विधि-विधान पालन करने के लिए भक्तों को ज्ञान प्रदान करता है; योगाय—साक्षात् योग को; साङ्ख्य-शिरसे—सांख्य दर्शन का उपदेश देने वाले; प्रकृति-ईश्वराय—ब्रह्माण्डके परम नियन्ता को; नारायणाय—असंख्य जीवात्माओं के आश्रय (नर, जीवात्माएँ तथा अयन, आश्रय, शरण) को; हरये—हरि स्वरूप श्रीभगवान् को; नमः—सादर नमस्कार; इति—इस प्रकार; उदारम्—उच्च स्वर से; हास्यन्—हँसते हुए; मृगत्वम् अपि—मृग की देह धारण किये रहने पर भी; यः—जो; समुदाजहार—जप करता रहा।.

मृग देह धारण करने पर भी महाराज भरत ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को विस्मृत नहीं

किया; अतः जब वे मृग देह छोड़ने लगे तो उच्च स्वर से इस प्रकार प्रार्थना की, ''पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् साक्षात् यज्ञ पुरुष हैं। वे अनुष्ठानों का फल देने वाले हैं। वे धर्म रक्षक, योगस्वरूप, सर्वज्ञानस्त्रोत (सांख्य के प्रतिपाद्य), सम्पूर्ण सृष्टि के नियामक तथा प्रत्येक जीवात्मा में स्थित परमात्मा हैं। वे सुन्दर तथा आकर्षक हैं। मैं उनको नमस्कार करके यह देह त्याग रहा हूँ और आशा करता हूँ कि उनकी दिव्य सेवा में अहर्निश संलग्न रहूँगा।'' यह कह कर महाराज भरत ने अपना शरीर त्याग दिया।

तात्पर्य : सारे वेद कर्म, ज्ञान तथा योग को—सकाम कर्म, मनोधर्मी ज्ञान तथा योग भली- भाँति समझने के लिए हैं। हम आत्मानुभूति के चाहे जिस स्वरूप को स्वीकार करें हमारा परम लक्ष्य तो श्रीभगवान् रहते हैं, जो नारायण हैं। सभी जीवात्माएँ भक्ति के द्वारा उनसे नित्य जुड़ी हुई हैं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है—*अन्ते नारायणस्मृतिः*—मृत्यु के समय नारायण का स्मरण ही जीवन की सिद्धि है। यद्यपि महाराज भरत को मृग-देह स्वीकार करनी पड़ी, किन्तु वे मृत्यु के समय नारायण का स्मरण कर सके। फलस्वरूप उनका जन्म एक ब्राह्मण परिवार में पूर्ण भक्त के रूप में हुआ। इससे *भगवद्गीता* (६.४१) के इस कथन—*शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते*—''जो आत्म-साक्षात्कार के पथ से नीचे आ जाता है, वह ब्राह्मणों अथवा सदाचारी धनवानों के घर में जन्म लेता है'' की पुष्टि होती है। यद्यपि महाराज भरत का जन्म राज-कुल में हुआ था, किन्तु असावधान रहने के कारण उन्हें मृग-रूप में जन्म लेना पड़ा। किन्तु मृग देह धारण करने पर वे अत्यन्त सचेष्ट रहे जिससे उनका जन्म एक ब्राह्मण परिवार में जड़भरत के रूप में हुआ। इस जन्म में वे आजीवन कृष्णभक्त रहे और प्रत्यक्ष रूप से श्रीकृष्ण भक्ति के सन्देश का पहला उपदेश महाराज रहूगण से प्रारम्भ किया। इस प्रसंग में *योगाय* शब्द अत्यन्त सार्थक है। जैसाकि श्रील मध्वाचार्य ने बताया है, *अष्टांग योग* का प्रयोजन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के साथ अपने को जोड़ना है। इसका लक्ष्य भौतिक सिद्धियों का प्रदर्शन नहीं है।

य इदं भागवतसभाजितावदातगुणकर्मणो राजर्षेर्भरतस्यानुचरितं स्वस्त्ययनमायुष्यं धन्यं यशस्यं स्वर्ग्यापवर्ग्यं वानुश्रृणोत्याख्यास्यत्यभिनन्दति च सर्वा एवाशिष आत्मन आशास्ते न काञ्चन परत इति. ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; इदम्—इस; भागवत—सामान्य भक्तों के द्वारा; सभाजित—अत्यधिक पूजित; अवदात—शुद्ध; गुण—जिसके गुण; कर्मणः—तथा कर्म; राज-ऋषेः—राजर्षि; भरतस्य—भरत महाराज का; अनुचरितम्—चरित्र, कथा को; स्वस्ति-अयनम्—कल्याण का धाम; आयुष्यम्—जीवन-अवधि (आयु) को बढ़ाने वाला; धन्यम्—धन को बढ़ाने वाला; यशस्यम्—यश प्रदान करने वाला; स्वर्ग्य—स्वर्ग लोक की प्राप्ति कराने वाला (जो कर्मियों का लक्ष्य है); अपवर्ग्यम्—इस भौतिक जगत से मुक्ति प्रदान करके ईश्वर में तदाकार होने में सहायक (जो ज्ञानियों का लक्ष्य है); वा—अथवा; अनुशृणोति—भक्तिमार्ग का अनुसरण करते हुए सदैव सुनता है; आख्यास्यति—परोपकारार्थ वर्णन करता है; अभिनन्दति—भक्तों तथा भगवान् के गुणों का गान करता है; च—तथा; सर्वाः—समस्त; एव—निश्चय ही; आशिषः—आशीर्वाद; आत्मनः—स्वयं के लिए; आशास्ते—प्राप्त करता है; न—नहीं; काञ्चन—कुछ भी; परतः—अन्य किसी से; इति—इस प्रकार।

श्रवण तथा कीर्तन के अनुरागी भक्त नियमित रूप से भरत महाराज के गुणों की विवेचना तथा उनके कर्मों की प्रशंसा करते हैं। यदि कोई विनीत भाव से सर्व कल्याणमय महाराज भरत के विषय में श्रवण तथा कीर्तन करता है, तो उसकी आयु तथा सांसारिक वैभव में वृद्धि होती है। वह अत्यन्त प्रसिद्ध हो सकता है और सरलता से स्वर्ग अथवा श्रीभगवान् में एकाकार होकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है। महाराज भरत के कर्मों के श्रवण, कीर्तन तथा स्तवन मात्र से मनोवांछित फल मिलता है। इस प्रकार मनुष्य की समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक आकांक्षाओं की पूर्ति होती है। इन वस्तुओं के लिए और किसी से माँगने की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि महाराज भरत के जीवन के अध्ययन मात्र से सभी वांछित वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं।

तात्पर्य : इस चौदहवें अध्याय में ''भवाटवी'' का सारांश दिया गया है। भवाटवी शब्द का अर्थ है भौतिक जगत का पथ। वणिक् वह प्राणी है जो इन्द्रियतृप्ति के लिए धन-उपार्जन के प्रयत्न में भौतिक जगत रूपी जंगल में आता है। आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा तथा मन ये छह इन्द्रियाँ छह लुटेरे हैं। अपवर्तित ज्ञान अधम नेता है। ज्ञान तो कृष्णभक्ति के निमित्त है, किन्तु भौतिक जगत के कारण हम अपना सारा ज्ञान भौतिक सुविधाएँ जुटाने में लगा देते हैं। प्रत्येक वस्तु भगवान् श्रीकृष्ण की है, किन्तु मन तथा इन्द्रियों के भ्रष्ट हो जाने से हम श्रीभगवान् की सम्पत्ति को लूट-लूट कर अपनी इन्द्रियों को तृप्त करते रहते हैं। जँगल के शृगाल तथा बाघ हमारे कुटुम्बीजन हैं और झाड़ियाँ तथा लताएँ हमारी भौतिक वासनाएँ हैं। गिरिगह्वर हमारा सुखमय आवास और सर्प तथा मच्छर हमारे शत्रु हैं। चूहे, जंगली पशु तथा गृद्ध विभिन्न प्रकार के चोर हैं, जो हमारे धन का अपहरण करते रहते हैं। हमारी देह तथा घर का मायाजाल ''गन्धर्वपुर'' है। स्वर्ण तथा उसकी चमक मायाजाल है। भौतिक आवास तथा सम्पत्ति हमारे भौतिक सुख के घटक हैं। स्त्री के लिए (प्रमद) आकर्षण ही बवण्डर और विषय-सुख ही अंधड़ है। देवता विभिन्न दिशाओं के नियामक हैं तथा हमारी अनुपस्थिति में शत्रु द्वारा उच्चरित कर्कश

शब्द ही मानों झींगुर हैं। हमारे मुँह पर बुराई करने वाला व्यक्ति उलूक है तथा अशुभ वृक्ष अशुभ लोग हैं। जलहीन नदी उन नास्तिकों की प्रतिनिधि है जो हमें इस लोक तथा परलोक में कष्ट देते हैं। मांसाहारी असुर राज्यकर्मचारी हैं और चुभने वाले काँटे भौतिक जीवन के बाधातुल्य हैं। व्यभिचार का अनुभूत स्वाद परस्त्री सम्भोग की लालसा है। मक्खियाँ स्त्रियों के संरक्षक हैं, जैसे पति, श्वसुर, सास इत्यादि। लता सामान्यत: प्रमदास्वरूप है। सिंह कालचक्र हैं। बगुले, कौवे तथा गिद्ध नामधारी देवता, छद्म स्वामी, योगी तथा अवतारी हैं। ये किसी को राहत दिलाने में असमर्थ हैं। हंस विशुद्ध ब्राह्मण हैं एवं वानर उन असंयत शूद्रों के तुल्य हैं, जो खाने, सोने, मैथुन तथा आत्मरक्षा में व्यस्त रहते हैं। हमारे घर वानरों के रहने वाले वृक्षों के तुल्य हैं तथा हाथी परम मृत्यु है। इस प्रकार इस अध्याय में भौतिक जगत के सभी घटकों का वर्णन मिलता है।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''भवाटवी का वर्णन'' नामक चौदहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पन्द्रह

राजा प्रियव्रत के वंशजों का यश-वर्णन

इस अध्याय में भरत महाराज तथा अन्य अनेक राजाओं के पूर्वजों का वर्णन किया गया है। महाराज भरत के पुत्र का नाम सुमति था। उसने ऋषभदेव द्वारा प्रदर्शित मुक्ति-पथ का अनुसरण किया। कुछ लोग गलती से सुमति को भगवान् बुद्ध का साक्षात् अवतार मानते थे। सुमति का पुत्र देवताजित् था और उसका पुत्र देवद्युम्न था जिसका पुत्र परमेष्ठी था और उसका पुत्र प्रतीह था। प्रतीह भगवान् विष्णु का परम भक्त था जिसके तीन पुत्र हुए, जिनके नाम थे—प्रतिहर्ता, प्रस्तोता तथा उद्‌गाता। प्रतिहर्ता के अज तथा भूमा दो पुत्र हुए। भूमा का पुत्र उद्‌गीथ तथा उद्‌गीथ का पुत्र प्रस्ताव था। प्रस्ताव का पुत्र विभु था और विभु का पुत्र पृथुषेण था जिसका पुत्र नक्त था। नक्त की पत्नी द्रुति से गय का जन्म हुआ जो अत्यन्त विख्यात एवं महात्मा राजा था। वास्तव में राजा गय गवान् विष्णु के अंश-अवतार थे और विष्णु के प्रति अपनी अगाध भक्ति के कारण उन्हें महापुरुष की उपाधि दी गई थी।

राजा गय के चित्ररथ, सुमति तथा अवरोधन नामक तीन पुत्र थे। चित्ररथ का पुत्र सम्राट नामक महान् राजा हुआ। उसका पुत्र मरीचि था जिसका पुत्र बिन्दु हुआ। बिन्दु का पुत्र मधु और मधु का पुत्र वीरव्रत था। वीरव्रत के दो पुत्र हुए—मंथु तथा प्रमंथु। मंथु का पुत्र भौवन था, भौवन का पुत्र त्वष्टा और त्वष्टा का पुत्र विरज था, जिसने पूरे वंश को उजागर किया। विरज के एक सौ पुत्र तथा एक पुत्री थी। पुत्रों में से शतजीत नाम का पुत्र अत्यन्त विख्यात हुआ।

श्रीशुक उवाच
भरतस्यात्मजः सुमतिर्नामाभिहितो यमु ह वाव केचित्पाखण्डिन ऋषभपदवीमनुवर्तमानं चानार्या अवेदसमाम्नातां देवतां स्वमनीषया पापीयस्या कलौ कल्पयिष्यन्ति. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा; भरतस्य—भरत महाराज का; आत्म-जः—पुत्र; सुमतिः नाम-अभिहितः—जिसका नाम सुमति था; यम्—जिसको; उ ह वाव—निस्सन्देह; केचित्—कोई; पाखण्डिनः—वैदिक ज्ञान-विहीन, पाखंडी जन; ऋषभ-पदवीम्—राजा ऋषभदेव के मार्ग का; अनुवर्तमानम्—अनुसरण करते हुए; च—तथा; अनार्याः—वैदिक नियमों का कठोरता से पालन न करने वाले अनार्य; अवेद-समाम्नाताम्—जिनका वेदों में उल्लेख नहीं है; देवताम्—भगवान्बुद्ध या बौद्ध विग्रह के समान; स्व-मनीषया—अपनी बौद्धिक कल्पना से; पापीयस्या—अत्यन्त पापमय; कलौ—इस कलियुग में; कल्पयिष्यन्ति—कल्पना करेंगे।

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—महाराज भरत के पुत्र सुमति ने ऋषभदेव के मार्ग का अनुसरण किया, किन्तु कुछ पाखंडी लोग उन्हें साक्षात् भगवान् बुद्ध मानने लगे। वस्तुतः इन पाखंडी नास्तिक और दुश्चरित्र लोगों ने वैदिक नियमों का पालन काल्पनिक तथा अप्रसिद्ध ढंग से अपने कर्मों की पुष्टि के लिए किया। इस प्रकार इन पापात्माओं ने सुमति को भगवान् बुद्धदेव के रूप में स्वीकार किया और इस मत का प्रवर्तन किया कि प्रत्येक व्यक्ति को सुमति के नियमों का पालन करना चाहिए। इस प्रकार अपनी कोरी कल्पना के कारण वे रास्ते से भटक गये।

तात्पर्य : जो आर्य हैं, वे वैदिक नियमों का कठोरता से पालन करते हैं, किन्तु इस कलियुग में *आर्य समाज* नामक एक संस्था का जन्म हुआ है जो परम्परा से चले आ रहे वेदों के मंतव्य से अनजान है। इसके नेता प्रामाणिक आचार्यों की निन्दा करके अपने आपको वैदिक नियमों का असली पालक मानते हैं। वैदिक नियमों का पालन न करने वाले ऐसे आचार्य इस समय आर्य-समाज या "जैन" कहलाते हैं। वे न केवल वैदिक नियमों का पालन ही नहीं करते, प्रत्युत भगवान् बुद्ध से भी उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। सुमति के आचरण का अनुकरण करने के कारण वे अपने को ऋषभदेव की

संततियाँ घोषित करते हैं। वैष्णवजन इनकी संगति से दूर रहते हैं, क्योंकि ये वेद-पथ से अनजान होते हैं। *भगवद्गीता* (१.१) में श्रीकृष्ण का वचन है— *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य*—"वेदों का वास्तविक प्रयोजन मुझे जान लेना है।" सम्पूर्ण वैदिक शास्त्रों का यही आदेश है। जो भगवान् श्रीकृष्ण की महानता से परिचित नहीं है उसे आर्य नहीं माना जा सकता। भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार भगवान् बुद्ध ने *भागवत धर्म* के दर्शन के प्रचार की विशिष्ट विधि अपनाई थी। वे प्राय: नितान्त पाखंडियों (नास्तिकों) को उपदेश देते थे। नास्तिकों को किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं, अत: भगवान् बुद्ध का कथन था कि ईश्वर नहीं है। उन्होंने अपने अनुयायियों के लाभ के लिए उपदेश देने की यह विधि अपनाई। उन्होंने छद्म रूप में उपदेश दिया कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। ऐसा होते हुए भी वे स्वयं ईश्वर के अवतार थे।

तस्माद्वृद्धसेनायां देवताजिन्नाम पुत्रोऽभवत् ॥ २॥

शब्दार्थ

तस्मात्—सुमति से; वृद्ध-सेनायाम्—उसकी पत्नी वृद्धसेना के गर्भ से; देवताजित्-नाम—देवताजित् नामक; पुत्र:—पुत्र; अभवत्—उत्पन्न हुआ।

सुमति की पत्नी वृद्धसेना के गर्भ से देवताजित् नामक पुत्र का जन्म हुआ।

अथासुर्यां तत्तनयो देवद्युम्नस्ततो धेनुमत्यां सुत: परमेष्ठी तस्य सुवर्चलायां प्रतीह उपजात:. ॥ ३॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; आसुर्याम्—उसकी पत्नी आसुरी के गर्भ से; तत्-तनय:—देवताजित् का एक पुत्र; देव-द्युम्न:—देवद्युम्न नाम का; तत:—देवद्युम्न से; धेनु-मत्याम्—देवद्युम्न की पत्नी धेनुमती के गर्भ से; सुत:—एक पुत्र; परमेष्ठी—परमेष्ठी नामक; तस्य—परमेष्ठी की; सुवर्चलायाम्—पत्नी सुवर्चला के गर्भ से; प्रतीह:—प्रतीह नाम का पुत्र; उपजात:—उत्पन्न हुआ।

तत्पश्चात् देवताजित् की पत्नी आसुरी के गर्भ से देवद्युम्न नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। देवद्युम्न की पत्नी धेनुमती के गर्भ से परमेष्ठी नामक पुत्र का और परमेष्ठी की पत्नी सुवर्चला के गर्भ से प्रतीह नाम के पुत्र का जन्म हुआ।

य आत्मविद्यामाख्याय स्वयं संशुद्धो महापुरुषमनुसस्मार. ॥ ४॥

शब्दार्थ

यः—जिसने (राजा प्रतीह ने); आत्म-विद्याम् आख्याय—आत्म-साक्षात्कार के सम्बन्ध में अनेक लोगों को शिक्षा देने के पश्चात्; स्वयम्—स्वतः; संशुद्धः—आत्म-साक्षात्कार में अतीव समुन्नत एवं परिशुद्ध; महा-पुरुषम्—भगवान् को; अनुसस्मार—भलीभाँति समझा और निरन्तर स्मरण किया।

राजा प्रतीह ने स्वयं आत्म-साक्षात्कार के सिद्धान्तों का प्रसार किया। इस प्रकार शुद्ध होकर वे परम पुरुष भगवान् विष्णु के महान् भक्त बन गये और प्रत्यक्षतः उनका साक्षात्कार किया।

तात्पर्य : *अनुसस्मार* शब्द अत्यन्त सार्थक है। भगवद्भावना न तो काल्पनिक है, न ही मनगढ़न्त। विशुद्ध एवं महान् भक्त भगवान् का यथानुरूप साक्षात्कार करता है। महाराज प्रतीह ने ऐसा ही किया। भगवान् विष्णु का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर लेने के बाद उन्होंने आत्म-साक्षात्कार का प्रचार किया और वे स्वयं उपदेशक बन गये। सच्चा उपदेशक कभी छल्ली नहीं होता; पहले उसे भगवान् विष्णु का उसी रूप में साक्षात्कार करना होता है। जिस रूप में *भगवद्गीता* (४.३४) में पुष्टि की गई है—*उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः*—"जिसने सत्य को देखा है, वही ज्ञान प्रदान कर सकता है।" *तत्त्वदर्शी* शब्द से ऐसे व्यक्ति का बोध होता है, जिसने सम्यक् रीति से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का साक्षात्कार प्राप्त किया हो। ऐसा पुरुष गुरु हो सकता है और सारे विश्व में वैष्णव दर्शन की स्थापना कर सकता है। राजा प्रतीह प्रामाणिक उपदेशकों एवं गुरु के आदर्श स्वरूप हैं।

प्रतीहात्सुवर्चलायां प्रतिहर्त्रादयस्त्रय आसन्निज्याकोविदाः सूनवः प्रतिहर्तुः
स्तुत्यामजभूमानावजनिषाताम्. ॥ ॥

शब्दार्थ

प्रतीहात्—राजा प्रतीह से; सुवर्चलायाम्—उसकी पत्नी सुवर्चला के गर्भ से; प्रतिहर्तृ-आदयः त्रयः—प्रतिहर्ता, प्रस्तोता तथा उद्गाता नाम के तीन पुत्र; आसन्—उत्पन्न हुए; इज्या-कोविदाः—वेदों के अनुष्ठानों में अत्यन्त दक्ष; सूनवः—तीनों पुत्र; प्रतिहर्तुः—प्रतिहर्ता से; स्तुत्याम्—उसकी पत्नी स्तुती के गर्भ से; अज-भूमानौ—अज तथा भूमा नाम के दो पुत्र; अजनिषाताम्—आविर्भूत हुए।

प्रतीह की पत्नी सुवर्चला के गर्भ से प्रतिहर्ता, प्रस्तोता तथा उद्गाता नाम के तीन पुत्र उत्पन्न हुए। ये तीनों पुत्र वैदिक अनुष्ठानों में अत्यन्त दक्ष थे। प्रतिहर्ता की भार्या स्तुती के गर्भ से अज तथा भूमा नामक दो पुत्रों का जन्म हुआ।

भूम्न ऋषिकुल्यायामुद्गीथस्ततः प्रस्तावो देवकुल्यायां प्रस्तावान्नियुत्सायां हृदयज आसीद्विभुर्विभो रत्यां च पृथुषेणस्तस्मान्नक्त आकूत्यां जज्ञे नक्ताद्द्रुतिपुत्रो गयो राजर्षिप्रवर उदारश्रवा अजायत साक्षाद्भगवतो विष्णोर्जगद्रिरक्षिषया गृहीतसत्त्वस्य कलात्मवत्त्वादिलक्षणेन महापुरुषतां प्राप्तः. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

भूम्नः—राजा भूमा से; ऋषि-कुल्यायाम्—उसकी पत्नी ऋषिकुल्या के गर्भ से; उद्गीथः—उद्गीथ नामक पुत्र; ततः—फिर राजा उद्गीथ से; प्रस्तावः—प्रस्ताव नामक पुत्र; देव-कुल्यायाम्—उसकी पत्नी देवकुल्या से; प्रस्तावात्—राजा प्रस्ताव से; नियुत्सायाम्—नियुत्सा नाम वाली उसकी पत्नी से; हृदय-जः—पुत्र; आसीत्—उत्पन्न हुआ; विभुः—विभु नामक; विभोः—राजा विभु से; रत्याम्—उसकी पत्नी रती से; च—भी; पृथु-षेणः—पृथुषेण नाम का; तस्मात्—उससे (पृथुषेण से); नक्तः—नक्त नामक पुत्र; आकूत्याम्—उसकी पत्नी आकूती से; जज्ञे—जन्म लिया; नक्तात्—नक्त राजा से; द्रुति-पुत्रः—द्रुति का पुत्र; गयः—गय नामक राजा; राज-ऋषि-प्रवरः—राजर्षियों में अत्यन्त सम्मान्य; उदार-श्रवाः—अत्यन्त पवित्र राजा के रूप में विख्यात; अजायत—उत्पन्न हुआ; साक्षात् भगवतः—साक्षात् भगवान्; विष्णोः—भगवान् विष्णु का; जगत्-रिरक्-षिषया—समस्त संसार की रक्षा के हेतु; गृहीत—गर्भ में वास किया; सत्त्वस्य—शुद्ध सत्त्व गुण का; कला-आत्म-वत्त्व-आदि—भगवान् के साक्षात् अवतार के रूप में; लक्षणेन—लक्षणों से; महा-पुरुषताम्—मानव समाज के नायक होने का मुख्य गुण (सम्पूर्ण जीवित प्राणियों के नायक भगवान् विष्णु के सदृश); प्राप्तः—प्राप्त किया।

राजा भूमा की पत्नी ऋषिकुल्या के गर्भ से उद्गीथ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उद्गीथ की पत्नी देवकुल्या से प्रस्ताव नामक पुत्र ने जन्म लिया और प्रस्ताव को अपनी पत्नी नियुत्सा से विभु नामक पुत्र की प्राप्ति हुई। विभु की पत्नी रती के गर्भ से पृथुषेण और पृथुषेण की पत्नी आकूती के गर्भ से नक्त नामक पुत्र ने जन्म लिया। नक्त की पत्नी द्रुति हुई, जिसके गर्भ से गय नामक महान् राजा उत्पन्न हुआ। गय अत्यन्त विख्यात एवं पवित्र था, वह राजर्षियों में सर्वश्रेष्ठ था। भगवान् विष्णु तथा उनके सभी अंश विश्व की रक्षा के लिए हैं और वे सदैव दिव्य सत्त्वगुण में, जिसे विशुद्ध सत्त्व कहते हैं, विद्यमान रहते हैं। भगवान् विष्णु के साक्षात् अंश होने के कारण राजा गय भी विशुद्ध-सत्त्व में आसीन थे। इस कारण महाराज गय दिव्य ज्ञान से युक्त थे और इसलिए वे महापुरुष कहलाए।

तात्पर्य : इस श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् के अनेक अवतार हैं। इनमें से कुछ तो भगवान् विष्णु के सीधे विस्तार के विभिन्न अंश हैं, तो कुछ सीधे विस्तार हैं। श्रीभगवान् का प्रत्यक्ष अवतार *अंश* या *स्वांश* कहलाता है जब कि *अंश* के अवतार को *कला* कहते हैं। कलाओं के अन्तर्गत *विभिन्नांश जीव* अथवा जीवात्माएँ होती हैं। इनकी गणना *जीव-तत्त्वों* में की जाती है। भगवान् विष्णु से प्रत्यक्ष प्राप्त होने वाली जीवात्माएँ *विष्णुतत्त्व* कहलाती हैं और कभी-कभी इन्हें महापुरुष कहा जाता है। श्रीकृष्ण का दूसरा नाम महापुरुष है और कभी-कभी भक्त को *महापौरुषिक* कहा जाता है।

स वै स्वधर्मेण प्रजापालनपोषणप्रीणनोपलालनानुशासनलक्षणेनेज्यादिना च भगवति महापुरुषे परावरे ब्रह्मणि सर्वात्मनार्पितपरमार्थलक्षणेन ब्रह्मविच्चरणानुसेवयापादितभगवद्भक्तियोगेन चाभीक्ष्णशः परिभावितातिशुद्धमतिरुपरतानात्म्य आत्मनि स्वयमुपलभ्यमानब्रह्मात्मानुभवोऽपि निरभिमान एवावनिमजूगुपत्. ॥ ७॥

शब्दार्थ

सः—वह राजा गय; वै—निश्चय ही; स्व-धर्मेण—अपने कर्तव्य के द्वारा; प्रजा-पालन—प्रजा का पालन करने; पोषण—प्रजा का भरण करने; प्रीणन—सभी तरह से उसे सुखी बनाने; उपलालन—उसे पुत्र की भाँति रखने; अनुशासन—कभी-कभी त्रुटियों के लिए दण्डित करने; लक्षणेन—राजा के लक्षणों से; इज्या-आदिना—वेदोक्त विधि से यज्ञ सम्पन्न करके; च—भी; भगवति—श्रीभगवान्, विष्णु; महा-पुरुषे—समस्त जीवात्माओं में प्रमुख; पर-अवरे—भगवान् ब्रह्मा से लेकर अकिंचन चींटी तक समस्त जीवात्माओं का स्रोत; ब्रह्मणि—परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव में; सर्व-आत्मना—सभी प्रकार से; अर्पित—समर्पित, शरणागत; परम-अर्थ-लक्षणेन—चिन्मय लक्षणों से; ब्रह्म-वित्—स्वरूप-सिद्ध सन्त भक्तों के; चरण-अनुसेवया—चरणारविन्दों की सेवा करके; आपादित—प्राप्त किया; भगवत्-भक्ति-योगेन—भगवान् की भक्ति के अभ्यास से; च—भी; अभीक्ष्णशः—अनवरत, सतत्; परिभावित—संतृप्त; अति-शुद्ध-मतिः—जिसकी विशुद्ध चेतना (ऐसी पूर्ण चेतना कि शरीर तथा मन आत्मा से पृथक् है); उपरत-अनात्म्ये—जिसमें भौतिक वस्तुओं की पहचान रुक जाती है; आत्मनि—अपने में; स्वयम्—स्वयं; उपलभ्यमान—साक्षात्कार होते हुए; ब्रह्म-आत्म-अनुभवः—अपनी स्थिति का परब्रह्म के रूप में दर्शन; अपि—यद्यपि; निरभिमानः—अभिमानरहित, झूठी बड़ाई के बिना; एव—इस प्रकार; अवनिम्—सम्पूर्ण संसार पर; अजूगुपत्—वैदिक विधियों के अनुसार दृढ़ता से शासन किया।.

राजा गय ने अपनी प्रजा को पूर्ण सुरक्षा प्रदान की जिससे अवांछित तत्त्वों के द्वारा उनकी निजी सम्पत्ति को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचे। उन्होंने इसका भी ध्यान रखा कि प्रजा को पर्याप्त भोजन प्राप्त हो (यही ''पोषण'' है)। कभी-कभी प्रजा को प्रसन्न रखने के लिए वे दान देते थे (यह ''प्रीणन'' कहलाता है)। कभी-कभी वे प्रजा की सभाएं बुलाते और मृदु वचनों से उन्हें तुष्टि प्रदान करते (यह ''उपलालन'' कहलाता है)। वे उन्हें उच्चकोटि के नागरिक बनने की शिक्षा देते (यह ''अनुशासन'' कहलाता है)। राजा गय में इस प्रकार की विलक्षणताएँ थीं। इन सबके साथ ही साथ राजा गय गृहस्थ थे और वे गृहस्थ जीवन के सभी नियमों का कड़ाई से पालन करते थे। वे यज्ञ करते थे तथा श्रीभगवान् के एकनिष्ठ भक्त थे। वे महापुरुष कहे जाते थे, क्योंकि राजा के रूप में उन्होंने नागरिकों को सभी सुविधाएं प्रदान कीं गृहस्थ के रूप में वे सभी कर्तव्यों का पालन करने वाले थे। फलस्वरूप वे अन्ततः भगवान् के परम भक्त हुए। भक्त के रूप में वे सभी भक्तों का आदर करने और भगवान् की सेवा करने को उद्यत रहते थे। यह भक्तियोग की प्रक्रिया है। इन दिव्य कर्मों के कारण राजा गय देहात्मबोध से सदैव मुक्त रहे। वे ब्रह्मसाक्षात्कार में लीन रहने के कारण सदैव प्रमुदित रहते थे। उन्हें भौतिक पश्चात्ताप का अनुभव नहीं करना पड़ा। सभी प्रकार से पूर्ण होने पर भी वे न तो गर्व करते थे, न ही राज्य करने लिए लालायित थे।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* में कहा है कि वे धरती पर दो प्रकार के प्रयोजनों से अवतरित होते हैं—साधु पुरुषों का उद्धार करने तथा असुरों का नाश करने (*परित्राणाय साधूनां*

विनाशाय च दुष्कृताम्)। राजा श्रीभगवान् का प्रतिनिधि होता है, इसीलिए उसे कभी-कभी *नरदेव* अर्थात् मनुष्यों का स्वामी कहते हैं। वैदिक आदेशों के अनुसार संसार में उसकी ईश्वर तुल्य पूजा की जाती है। श्रीभगवान् का प्रतिनिधि होने के नाते राजा का यह परम कर्तव्य होता था कि वह प्रजा की भलीभाँति रक्षा करे जिससे प्रजा को भोजन तथा सुरक्षा की चिन्ता न रहे और वह प्रसन्न चित्त रहे। राजा प्रजा को सभी कुछ देता था और इन सबके लिए वह उन पर कर लगाता था। यदि कोई राजा या राज सत्ता किसी और कारण से कर लगाता है, तो वह प्रजा के पापों का भागी होता है। कलियुग में (एकाधिकार) राजतंत्र समाप्त हो गया है क्योंकि राजाओं पर भी इस कलियुग का प्रभाव पड़ गया है। *रामायण* से पता चलता है कि विभीषण ने राजा रामचन्द्र के साथ मैत्री स्थापित हो जाने के बाद वचन दिया था कि यदि वह दैववश या इच्छा से उनके साथ मित्रता भंग करे तो कलियुग में वह *ब्राह्मण* या राजा बनेगा। जैसाकि विभीषण ने संकेत किया है, इस युग में ब्राह्मण तथा राजा दोनों ही दयनीय स्थिति को प्राप्त हैं। सच तो यह है कि इस युग में न तो कोई राजा है, न ब्राह्मण और उनके न होने से सम्पूर्ण विश्व अव्यवस्थित है और सदैव संकटग्रस्त बना हुआ है। वर्तमान मानदण्ड के अनुसार महाराज गय विष्णु के सच्चे प्रतिनिधि थे, इसीलिए वे महापुरुष कहलाए।

तस्येमां गाथां पाण्डवेय पुराविद उपगायन्ति. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तस्य—राजा गय के; **इमाम्**—ये; **गाथाम्**—स्तुतिपरक पद्य; **पाण्डवेय**—हे महाराज परीक्षित; **पुरा-विदः**—पुराणों की ऐतिहासिक घटनाओं के ज्ञाता, उपगायन्ति; **उपगायन्ति**—.

तस्य—राजा गय के; **इमाम्**—ये; **गाथाम्**—स्तुतिपरक पद्य; **पाण्डवेय**—हे महाराज परीक्षित; **पुरा-विदः**—पुराणों की ऐतिहासिक घटनाओं के ज्ञाता, उपगायन्ति—गाते हैं।

हे राजा परीक्षित्, पुराणों को जानने वाले विद्वान राजा गय की स्तुति और महिमागान निम्नलिखित श्लोकों से करते हैं।

तात्पर्य : वर्तमान शासकों के लिए महान् राजाओं के ऐतिहासिक प्रसंग आदर्श उपस्थित करने वाले हैं। वर्तमान काल में विश्व पर शासन करने वालों को चाहिए कि वे राजा गय, राजा युधिष्ठिर तथा राजा पृथु से शिक्षा ग्रहण करें और प्रजा पर इस प्रकार शासन करें जिससे वह सुखी रहे। आजकल की सरकारें किसी प्रकार का सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक सुधार किये बिना ही कर

उगाहे जा रही हैं। वेदों के अनुसार इसकी अनुमति नहीं है।

गयं नृप: क: प्रतियाति कर्मभि-
र्यज्वाभिमानी बहुविद्धर्मगोप्ता ।
समागतश्री: सदसस्पति: सतां
सत्सेवकोऽन्यो भगवत्कलामृते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

गयम्—गय; नृप:—राजा; क:—कौन; प्रतियाति—तुलनीय है; कर्मभि:—कर्मों के कारण; यज्वा—जिसने समस्त यज्ञ किये; अभिमानी—सारे विश्व में अत्यधिक सम्मानित; बहु-वित्—वैदिक शास्त्रों से भली-भाँति ज्ञात; धर्म-गोप्ता—प्रत्येक व्यक्ति के कार्यों का संरक्षक; समागत-श्री:—सभी प्रकार के वैभव से युक्त; सदस:-पति: सताम्—महान् व्यक्तियों की सभा का अध्यक्ष; सत्-सेवक:—भक्तों का सेवक; अन्य:—अन्य कोई; भगवत्-कलाम्—श्रीभगवान् की कला (अवतार); ऋते—के अतिरिक्त।

महान् राजा गय सभी प्रकार के वैदिक अनुष्ठान किया करते थे। वे अत्यन्त बुद्धिमान और सभी वैदिक शास्त्रों के अध्ययन में दक्ष थे। उन्होंने धार्मिक नियमों की रक्षा की और वे समस्त वैभव से युक्त थे। वे सज्जनों के नायक और भक्तों के सेवक थे। वे श्रीभगवान् के सच्चे अर्थों में सर्वथा समर्थ अंश (कला) थे। अत: महान् अनुष्ठानों (यज्ञ) को सम्पन्न करने में उनकी तुलना कौन कर सकता है?

यमभ्यषिञ्चन्परया मुदा सती:
सत्याशिषो दक्षकन्या: सरिद्भि: ।
यस्य प्रजानां दुदुहे धराशिषो
निराशिषो गुणवत्सस्नुतोधा: ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको; अभ्यषिञ्चन्—अभिषेक करती थीं; परया—अत्यन्त (परम); मुदा—सन्तोष से; सती:—अपने पतियों के प्रति भक्तिभाव रखने वाली तथा पतिव्रता स्त्रियाँ; सत्य—सच्चे; आशिष:—आशीर्वाद; दक्ष-कन्या:—राजा दक्ष की पुत्रियाँ; सरिद्भि:—पवित्र जल के द्वारा; यस्य—जिसकी; प्रजानाम्—प्रजा की; दुदुहे—पूरा किया; धरा—पृथ्वी ने; आशिष:—समस्त कामनाओं का; निराशिष:—यद्यपि स्वयं कामनारहित होकर; गुण-वत्स-स्नुत-उधा:—प्रजा पर राज्य करने वाले गय के गुणों को देखकर गो रूप पृथ्वी के थन से दुग्ध की धारा निकल आई।

महाराज दक्ष की श्रद्धा, मैत्री तथा दया जैसी पतिव्रता तथा सत्यनिष्ठ कन्याएँ जिनके आशीर्वाद सदा फलित होते थे, पवित्र जल से महाराज गय का अभिषेक करती थीं। असल में वे सभी महाराज गय से अत्यधिक सन्तुष्ट थीं। पृथ्वी स्वयं गौ रूप में प्रकट हुई और महाराज गय के उत्तम गुणों को देखकर दुग्ध स्रवण करने लगी, मानो गाय ने अपने वत्स को देखा हो। तात्पर्य यह है कि महाराज गय पृथ्वी के समस्त साधनों से लाभ उठा करके अपनी प्रजा की आकांक्षाओं

को पूरा करते थे। फिर भी वे निस्पृह थे।

तात्पर्य : महाराज गय द्वारा शासित पृथ्वी की तुलना गऊ से और जिन सद्गुणों के कारण वे प्रजा पर शासन करते थे उनकी तुलना बछड़े से की गई है। बछड़े की उपस्थिति में गाय दूध देती है, उसी प्रकार यह पृथ्वी अर्थात् गाय महाराज गय की आकांक्षाओं को पूर्ण करने वाली थी, क्योंकि वे अपनी प्रजा के लाभार्थ पृथ्वी के समस्त साधनों का उपयोग करने में समर्थ थे। ऐसा इसलिए सम्भव हो सका, क्योंकि दक्ष की सच्चरित्र कन्याओं ने पवित्र जल से उनका अभिषेक किया था। जब तक कोई राजा या शासक उच्चाधिकारियों द्वारा आशीर्वाद प्राप्त नहीं करता, तब तक वह सन्तोषजनक रीति से प्रजा पर शासन नहीं कर सकता है। शासक के सद्गुणों से ही प्रजा प्रसन्न होती है और योग्य बनती है।

छन्दांस्यकामस्य च यस्य कामान्
दुदूहुराजह्रुरथो बलिं नृपाः ।
प्रत्यञ्चिता युधि धर्मेण विप्रा
यदाशिषां षष्ठमंशं परेत्य ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

छन्दांसि—वेदों के समस्त अंग; अकामस्य—निष्काम; च—भी; यस्य—जिसकी; कामान्—समस्त इच्छाएँ; दुदूहुः—प्रदान किया; आजह्रुः—अर्पित किया; अथो—इस प्रकार; बलिम्—भेंट, बलि; नृपाः—सभी राजा; प्रत्यञ्चिताः—उसके विपक्ष में युद्ध करने से सन्तुष्ट होकर; युधि—युद्ध में; धर्मेण—धार्मिक नियमों से; विप्राः—समस्त ब्राह्मण; यदा—जब; आशिषाम्—आशीर्वादों का; षष्ठम् अंशम्—छठा अंश; परेत्य—अगले जन्म में।

यद्यपि महाराज गय में इन्द्रियतृप्ति के लिए किसी प्रकार की व्यक्तिगत इच्छा नहीं थी, किन्तु वैदिक अनुष्ठानों को पूरा करने के कारण उनकी सम्पूर्ण इच्छाओं की पूर्ति होती रहती थी। जिन राजाओं से महाराज गय को युद्ध करना पड़ता, वे धर्मयुद्ध करने के लिए विवश हो जाते। वे महाराज गय के युद्ध से अत्यन्त सन्तुष्ट होकर उन्हें सभी प्रकार की भेंटें प्रदान करते थे। इसी प्रकार से उनके राज्य के समस्त ब्राह्मण उनके मुक्त दान से अत्यन्त सन्तुष्ट रहते थे। फलस्वरूप ब्राह्मणों ने राजा गय को अगले जन्म में प्राप्त होने के लिए अपने पुण्यकर्मों का छठा अंश सहर्ष प्रदान किया था।

तात्पर्य : क्षत्रिय होने के नाते महाराज गय को अपना शासन स्थिर रखने के लिए कभी-कभी अधीनस्थ राजाओं से युद्ध करना पड़ता था। किन्तु अधीनस्थ राजा कभी भी उनसे असन्तुष्ट नहीं हुए, क्योंकि वे जानते थे कि महाराज गय धार्मिक नियमों के लिए लड़ते थे। फलतः वे उनकी अधीनता

स्वीकार करके उन्हें नाना प्रकार की भेंटें अर्पित करते रहते थे। इसी प्रकार वैदिक अनुष्ठानों में रत ब्राह्मणजन भी राजा से अत्यन्त सन्तुष्ट रहते थे, यहाँ तक कि वे सहर्ष अपने पुण्यकर्मों का छठा अंश उनके अगले जन्म के लाभार्थ प्रदान करने के लिए राजी हो गये। इस तरह ब्राह्मण तथा क्षत्रिय सभी महाराज गय से अत्यन्त सन्तुष्ट थे। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि महाराज गय ने क्षत्रिय राजाओं को अपने युद्ध से तथा ब्राह्मणों को अपने दान से सन्तुष्ट कर रखा था। वैश्य भी राजा के उदार वचनों तथा प्रेमपूर्ण व्यवहार से प्रसन्न रहते थे। शूद्र उनके सतत यज्ञों से प्रचुर भोजन तथा दान प्राप्त करके सन्तुष्ट थे। इस प्रकार महाराज गय अपनी समस्त प्रजा को अत्यधिक सन्तुष्ट रखते थे। जब ब्राह्मणों एवं साधुओं का सम्मान किया जाता है, तो वे सम्मान और सेवा करने वालों को अपने पुण्यकर्मों का एक अंश सहर्ष प्रदान कर देते हैं। अत: जैसाकि *भगवद्गीता* (४.३४) में कहा गया है—*तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया*—मनुष्य को चाहिए कि वह सद्गुरु के शरणागत होकर दण्डवत् प्रणाम, विनम्र जिज्ञासा और निष्कपट भाव से उसकी सेवा करे।

यस्याध्वरे भगवानध्वरात्मा
मघोनि माद्यत्युरुसोमपीथे ।
श्रद्धाविशुद्धाचलभक्तियोग
समर्पितेज्याफलमाजहार ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका (राजा गय का); अध्वरे—विभिन्न यज्ञों में; भगवान्—भगवान्; अध्वर-आत्मा—समस्त यज्ञों के परम भोक्ता, यज्ञ पुरुष; मघोनि—जब राजा इन्द्र; माद्यति—मदान्ध हो जाता है; उरु—अत्यधिक; सोम-पीथे—मादक सोमरस का पान करते हुए; श्रद्धा—भक्ति से; विशुद्ध—शुद्ध; अचल—तथा स्थिर; भक्ति-योग—भक्ति के द्वारा; समर्पित—चढ़ाया गया, अर्पित; इज्या—पूजन का; फलम्—फल, परिणाम्; आजहार—स्वयं स्वीकार किया।.

महाराज गय के यज्ञों में सोम नामक मादक द्रव्य का अत्यधिक प्रयोग होता था। इनमें राजा इन्द्र आया करते थे और प्रचुर मात्रा में सोमरस पीकर मदान्ध हो जाते थे। भगवान् श्रीविष्णु (यज्ञ पुरुष) भी आया करते थे और यज्ञ क्षेत्र में विशुद्ध भक्तिपूर्वक उनको समर्पित किये गये यज्ञफल को स्वयं स्वीकार करते थे।

तात्पर्य : महाराज गय इतने सिद्ध थे कि स्वर्ग के राजा इन्द्र के अधीन सभी देवता उनसे सन्तुष्ट रहते थे। भगवान् विष्णु स्वयं यज्ञ-क्षेत्र में हव्य ग्रहण करने के लिए आते थे। महाराज गय को अनिच्छित ही देवताओं तथा श्रीभगवान् के आशीर्वाद प्राप्त हुआ करते थे।

यत्प्रीणनाद्बर्हिषि देवतिर्यङ्-
मनुष्यवीरुत्तृणमाविरिञ्चात् ।
प्रीयेत सद्यः स ह विश्वजीवः
प्रीतः स्वयं प्रीतिमगाद्गयस्य ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यत्-प्रीणनात्—श्रीभगवान् के प्रसन्न होने से; बर्हिषि—यज्ञ क्षेत्र में; देव-तिर्यक्—देवता तथा निम्न पशु; मनुष्य—मानव समाज; वीरुत्—पादप तथा वृक्ष; तृणम्—घास; आ-विरिञ्चात्—भगवान् ब्रह्मा तक; प्रीयेत—सन्तुष्ट हो जाता है; सद्यः—तुरन्त; सः—श्रीभगवान्; ह—निश्चय ही; विश्व-जीवः—समस्त संसार के जीवात्माओं का पालन करने वाला; प्रीतः—यद्यपि सहज तुष्ट हैं; स्वयम्—साक्षात्; प्रीतिम्—सन्तोष के; अगात्—प्राप्त हुआ; गयस्य—महाराज गय के।

जब परमेश्वर किसी व्यक्ति के कर्मों से प्रसन्न होते हैं, तो ब्रह्मा से लेकर समस्त देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, लताएँ, तृण तथा अन्य समस्त जीवात्माएँ स्वतः प्रसन्न हो जाती हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सबों के परमात्मा हैं और वे स्वभाव से परम प्रसन्न रहते हैं। तो भी वे महाराज गय के यज्ञ क्षेत्र में आये और उन्होंने कहा, ''मैं पूर्णतया प्रसन्न हूँ।''

तात्पर्य : यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि केवल श्रीभगवान् को प्रसन्न कर लेने पर देवता तथा अन्य समस्त जीवात्माएँ बिना किसी भेदभाव के प्रसन्न हो जाती हैं। वृक्ष की जड़ों को सींचने से सभी शाखाएँ, पत्तियाँ तथा फूल हरे-भरे हो जाते हैं। यद्यपि श्रीभगवान् आत्म-तुष्ट रहने वाले हैं, किन्तु महाराज गय के आचरण से परम प्रसन्न होकर वे उनके यज्ञ क्षेत्र में स्वयं आये और उन्होंने कहा, ''मैं पूर्ण सन्तुष्ट हूँ।'' भला महाराज गय की समता कौन कर सकता है?

गयाद्गयन्त्यां चित्ररथः सुगतिरवरोधन इति त्रयः पुत्रा बभूवुश्चित्ररथादूर्णायां सम्राडजनिष्ट; तत उत्कलायां मरीचिर्मरीचेर्बिन्दुमत्यां बिन्दुमानुदपद्यत तस्मात्सरघायां मधुर्नामाभवन्मधोः सुमनसि वीरव्रतस्ततो भोजायां मन्थुप्रमन्थू जज्ञाते मन्थोः सत्यायां भौवनस्ततो दूषणायां त्वष्टाजनिष्ट त्वष्टुर्विरोचनायां विरजो विरजस्य शतजित्प्रवरं पुत्रशतं कन्या च विषूच्यां किल जातम् ॥ १४-१ ॥

शब्दार्थ

गयात्—महाराज गय से; गयन्त्याम्—उनकी पत्नी गयन्ती के; चित्र-रथः—चित्ररथ नामक; सुगतिः—सुगति नामक; अवरोधनः—अवरोधन नामक; इति—इस प्रकार; त्रयः—तीन; पुत्राः—पुत्र; बभूवुः—उत्पन्न हुए; चित्ररथात्—चित्ररथ से; ऊर्णायाम्—ऊर्णा के गर्भ से; सम्राट्—सम्राट नामक पुत्र; अजनिष्ट—उत्पन्न हुआ; ततः—उससे; उत्कलायाम्—उत्कला नामक पत्नी से; मरीचिः—मरीचि; मरीचेः—मरीचि से; बिन्दु-मत्याम्—उसकी पत्नी बिन्दुमती के गर्भ से; बिन्दुम्—बिन्दु नाम का पुत्र; आनुदपद्यत—उत्पन्न हुआ; तस्मात्—उससे; सरघायाम्—सरघा नाम की पत्नी के गर्भ से; मधुः—मधु; नाम—नामक; अभवत्—जन्म लिया; मधोः—मधु से; सुमनसि—उसकी पत्नी सुमना के गर्भ से; वीर-व्रतः—वीरव्रत नामक पुत्र; ततः—वीरव्रत से; भोजायाम्—उसकी पत्नी भोजा से; मन्थु-प्रमन्थू—मन्थु तथा प्रमन्थु नाम के दो पुत्र; जज्ञाते—उत्पन्न हुए; मन्थोः—मन्थु से; सत्यायाम्—उसकी पत्नी सत्या से; भौवनः—भौवन नामक पुत्र; ततः—उससे; दूषणायाम्—उसकी पत्नी दूषणा के गर्भ से; त्वष्टा—त्वष्टा नाम का एक पुत्र; अजनिष्ट—उत्पन्न हुआ; त्वष्टुः—त्वष्टा से; विरोचनायाम्—उसकी पत्नी विरोचना के;

विरजः—विरज नाम का एक पुत्र; विरजस्य—राजा विरज का; शतजित्-प्रवरम्—(जिनमें) शतजित सर्वोपरि था; पुत्र-शतम्—एक सौ पुत्र; कन्या—एक पुत्री; च—भी; विषूच्याम्—उसकी पत्नी विषूची के; किल—निश्चय ही; जातम्—जन्म लिया।

गयन्ती के गर्भ से महाराज गय के तीन पुत्र हुए जिनके नाम थे—चित्ररथ, सुगति तथा अवरोधन। चित्ररथ की पत्नी ऊर्णा से सम्राट नाम का पुत्र प्राप्त हुआ। सम्राट् की पत्नी का नाम उत्कला था जिसके गर्भ से सम्राट को मरीचि नामक पुत्र का लाभ हुआ। मरीचि की पत्नी बिन्दुमति से बिन्दु नामक पुत्र हुआ। बिन्दु की पत्नी सरघा के गर्भ से मधु नामक एक पुत्र ने जन्म लिया। मधु की पत्नी सुमना से वीरव्रत और वीरव्रत की पत्नी भोजा से मन्थु तथा प्रमन्थु नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए। मन्थु की पत्नी सत्या से भौवन नाम का पुत्र और भौवन की पत्नी दूषणा से त्वष्टा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। त्वष्टा की पत्नी विरोचना से विरज नाम का पुत्र हुआ और उसकी पत्नी विषूची के गर्भ से एक सौ पुत्र तथा एक पुत्री उत्पन्न हुई। इन सभी पुत्रों में शतजित् नाम का पुत्र सर्वोपरि था।

तत्रायं श्लोकः—

प्रैयव्रतं वंशमिमं विरजश्चरमोद्भवः ।
अकरोदत्यलं कीर्त्या विष्णुः सुरगणं यथा ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तत्र—उस प्रसंग में; अयम् श्लोकः—यह प्रसिद्ध श्लोक है; प्रैयव्रतम्—राजा प्रियव्रत से चलने वाला; वंशम्—वंश; इमम्—यह; विरजः—राजा विरज; चरम-उद्भवः—एक सौ पुत्रों (जिनमें शतजित् सर्वोपरि था) का स्रोत; अकरोत्—अलंकृत किया; अति-अलम्—अत्यधिक; कीर्त्या—अपनी कीर्ति से; विष्णुः—भगवान् विष्णु, श्रीभगवान्; सुर-गणम्—देवता गण; यथा—जिस प्रकार।

राजा विरज के सम्बन्ध में यह श्लोक प्रसिद्ध है (जिसका अर्थ है)—''अपने उच्च गुणों तथा व्यापक कीर्ति के कारण राजा विरज उसी प्रकार से प्रियव्रत राजा के वंश के मणि हो गए जिस प्रकार भगवान् विष्णु अपनी दिव्य शक्ति द्वारा देवताओं को विभूषित करते और उन्हें आशीष देते हैं।''

तात्पर्य : पुष्पित वृक्ष अपने सुगन्धित फूलों के कारण उद्यान में अच्छी ख्याति अर्जित करता है। इसी प्रकार यदि किसी वंश में कोई प्रसिद्ध व्यक्ति होता है, तो उसकी उपमा वन के सुगन्धित पुष्प से दी जाती है। उसके कारण पूरा वंश इतिहास-प्रसिद्ध हो सकता है। चूँकि श्रीकृष्ण ने यदु वंश में जन्म धारण किया, अत: यदु वंश तथा यादव लोग सर्वदा के लिए विख्यात रहे हैं। राजा विरज के प्रकट होने

से महाराज प्रियवत का वंश सदा से प्रसिद्ध रहा है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत "राजा प्रियव्रत के वंशजों का यश वर्णन" नामक पन्द्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सोलह

जम्बूद्वीप का वर्णन

महाराज प्रियव्रत तथा उनके पूर्वजों के चरित्र का वर्णन करते हुए शुकदेव गोस्वामी ने मेरु पर्वत तथा भूमण्डल नामक लोक का भी वर्णन किया। भूमण्डल कमल पुष्प के सदृश है और इसके सातों द्वीपों की तुलना कमल के कोश (आवर्त) से की जाती है। जम्बूद्वीप नामक स्थान इस कोश के मध्य में स्थित है। जम्बूद्वीप में सुमेरु नामक एक पर्वत है जो ठोस स्वर्ण से बना है। इस पर्वत की ऊँचाई ८४,००० योजन है, जिसमें से १६,००० योजन पृथ्वी के भीतर है। इसकी चौड़ाई शृंग पर ३२,००० योजन और गिरिपाद पर १६,००० योजन आँकी जाती है (एक योजन लगभग आठ मील के बराबर होता है)। पर्वतों का राजा सुमेरु पृथ्वी ग्रह का आधार है।

इलावृत्त-वर्ष के दक्षिण में हिमवान्, हेमकूट तथा निषध नामक पर्वत हैं और उत्तर में नील, श्वेत तथा शृंग पर्वत हैं। इसी प्रकार पूर्व तथा पश्चिम दिशा में माल्यवान् तथा गंधमादन नामक दो विशाल पर्वत हैं। सुमेरु पर्वत के परितः मंदर, मेरुमंदर, सुपार्श्व तथा कुमुद नामक चार पर्वत हैं। इनमें से प्रत्येक पर्वत १०,००० योजन लम्बा तथा १०,००० योजन ऊँचा है। इन चारों पर्वतों पर १,१०० योजन ऊँचे वृक्ष हैं। इनमें एक आम का, एक जामुन का, एक कदम्ब का और एक बरगद का वृक्ष है। इसमें अनेक सरोवर भी हैं, जो दुग्ध, मधु, इक्षुरस तथा शुद्ध जल से पूर्ण हैं। ये सरोवर समस्त मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं। साथ ही इसमें नंदन, चित्ररथ, वैभ्राजक तथा सर्वतोभद्र नामक उद्यान भी हैं। सुपार्श्व पर्वत के पार्श्व में एक कदम्ब वृक्ष है, जिसके कोटर से मधु की धारा प्रवाहित हो रही है। कुमुद पर्वत पर शतवल्श नामक एक वटवक्ष है, जिसके मूल से दूध, दही तथा अन्य वांछित पदार्थों की नदियाँ बहती हैं। कमल-नाल के सदृश सुमेरु पर्वत की बीस पर्वत श्रेणियाँ यथा कुरंग, कुरर, कुसुम्भ,

वैकंक तथा त्रिकूट घेरे हुए हैं। सुमेरु के पूर्व जठार तथा देवकूट, पश्चिम में पवन तथा पारियात्र, दक्षिण में कैलाश तथा करवीर और उत्तर में त्रिशृंग तथा मकर पर्वत स्थित हैं। ये आठों पर्वत लगभग १८,००० योजन लम्बे, २,००० योजन चौड़े तथा २,००० योजन ऊँचे हैं। सुमेरु पर्वत के शृंग पर ब्रह्मपुरी है जो ब्रह्माजी का आवास है। इसकी चारों भुजाओं में से हर एक १०,००० योजन लम्बी है। ब्रह्मपुरी को घेरे हुए राजा इन्द्र तथा सात अन्य देवताओं की पुरियाँ हैं। ये सब पुरियाँ ब्रह्मपुरी के चौथाई आकार की हैं।

राजोवाच
उक्तस्त्वया भूमण्डलायामविशेषो यावदादित्यस्तपति यत्र चासौ ज्योतिषां गणैश्चन्द्रमा वा सह दृश्यते. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—महाराज परीक्षित् बोले; उक्तः—पहले ही कहा जा चुका है; त्वया—आपके द्वारा; भू-मण्डल—भूमण्डल नामक लोक; आयाम-विशेषः—त्रिज्या की विशेष लम्बाई; यावत्—जब तक; आदित्यः—सूर्य; तपति—तपता है, दीप्तिमान है; यत्र—वहाँ भी; च—भी; असौ—वह; ज्योतिषाम्—ज्योतिपिंडों का; गणैः—समूह के साथ; चन्द्रमा—चन्द्रमा; वा—या; सह—साथ; दृश्यते—देखा जाता है।.

राजा परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से कहा—हे ब्राह्मण, आपने मुझे पहले ही बता दिया है कि भूमण्डल की त्रिज्या वहाँ तक विस्तृत है जहाँ तक सूर्य का प्रकाश और उष्मा पहुँचती है तथा चन्द्रमा और अन्य नक्षत्र दृष्टिगोचर होते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में इसका उल्लेख है कि भूमण्डल नामक लोक वहाँ तक विस्तीर्ण है जहाँ तक सूर्य का प्रकाश पहुँचता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार सूर्य का प्रकाश ९,३०,००,००० मील दूरी तय करके पृथ्वी तक पहुँचता है। यदि हम इस आधार पर गणना करें तो भूमण्डल की त्रिज्या ९,३०,००,००० मील हुई। गायत्री मंत्र में हम *ॐ भूर् भुवः स्वः* का जप करते हैं। इसमें *भूर्* शब्द भूमण्डल का द्योतक है। *तत् सवितुर् वरेण्यम्*—सूर्य का प्रकाश भूमण्डल में फैलता है। अतः सूर्य पूजनीय है। तारे, जिनको नक्षत्र कहा जाता है, अन्य प्रकार के सूर्य नहीं हैं, जैसाकि आधुनिक विज्ञानी मानते हैं। *भगवद्गीता* (१०.२१) से हमें विदित होता कि ये नक्षत्र चन्द्रमा के ही समान हैं (*नक्षत्राणां अहं शशी*)। चन्द्रमा की ही भाँति नक्षत्र भी सूर्य प्रकाश को परावर्तित करते हैं। ग्रहों की स्थिति के सम्बन्ध में आज जितना भी ज्ञान प्राप्त है उससे भी अधिक हमें *श्रीमद्भागवत* के सृजन के पहले ही

आकाश तथा विभिन्न ग्रहों के विषय में ज्ञात था। शुकदेव गोस्वामी ने ग्रहों की स्थिति के सम्बन्ध में जो व्याख्या की है उससे यही सूचित होता है कि उनसे भी पहले अत्यन्त दीर्घकाल से तत्सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त था। वैदिक काल के ऋषियों को विभिन्न लोकों की स्थिति अज्ञात न थी।

तत्रापि प्रियव्रतरथचरणपरिखातैः सप्तभिः सप्त सिन्धव उपक्लिप्ता यत एतस्याः सप्तद्वीपविशेषविकल्पस्त्वया भगवन्खलु सूचित एतदेवाखिलमहं मानतो लक्षणतश्च सर्वं विजिज्ञासामि. ॥ २॥

शब्दार्थ

तत्र अपि—उस भू-मण्डल में; प्रियव्रत-रथ-चरण-परिखातैः—सुमेरु पर्वत की परिक्रमा करते समय प्रियव्रत महाराज के रथ के पहियों से निर्मित गड्ढों के द्वारा; सप्तभिः—सात; सप्त सिन्धवः—सात समुद्र; उपक्लृप्ताः—प्रभूत; यतः—जिसके कारण; एतस्याः—इस भूमण्डल का; सप्त-द्वीप—सातों द्वीपों का; विशेष-विकल्पः—सरंचना शैली; त्वया—आपके द्वारा; भगवन्—हे महामुनि; खलु—निश्चय ही; सूचितः—वर्णित; एतत्—यह; एव—निस्सन्देह; अखिलम्—सम्पूर्ण प्रजा; अहम्—मैं; मानतः—माप की दृष्टि से; लक्षणतः—(तथा) लक्षणों से; च—भी; सर्वम्—प्रत्येक वस्तु; विजिज्ञासामि—जानने की इच्छा करता हूँ।

हे भगवन्, महाराज प्रियव्रत के रथ के चक्रायमाण पहियों से सात गड्ढे बने, जिससे सात समुद्रों की उत्पत्ति हुई। इन सात समुद्रों के ही कारण भूमण्डल सात द्वीपों में विभक्त है। आपने इनकी माप, नाम तथा विशिष्टताओं का अत्यन्त सामान्य वर्णन मात्र किया है। मुझे विस्तार से इनके सम्बध में जानने की इच्छा है। कृपया मेरी कामना पूर्ण करें।

भगवतो गुणमये स्थूलरूप आवेशितं मनो ह्यगुणेऽपि सूक्ष्मतम आत्मज्योतिषि परे ब्रह्मणि भगवति वासुदेवाख्ये क्षममावेशितुं तदु हैतद्गुरोऽर्हस्यनुवर्णयितुमिति. ॥ ३॥

शब्दार्थ

भगवतः—श्रीभगवान् का; गुण-मये—भौतिक प्रकृति के त्रिगुण युक्त बाह्यस्वरूपों में; स्थूल-रूपे—स्थूल रूप; आवेशितम्—प्रविष्ट; मनः—मन; हि—निश्चित रूप से; अगुणे—दिव्य इन्द्रियातीत; अपि—यद्यपि; सूक्ष्मतमे—हृद्देश से अपने लघुतर रूप में परमात्मा; आत्म-ज्योतिषि—जो ब्रह्म तेज से पूर्ण है; परे—परम; ब्रह्मणि—आत्मस्वरूप; भगवति—श्रीभगवान् में; वासुदेव-आख्ये—भगवान् वासुदेव के नाम से विख्यात; क्षमम्—उपयुक्त; आवेशितुम्—आत्मसात्; तत्—वह; उ ह—निस्सन्देह; एतत्—यह; गुरो—हे गुरुदेव; अर्हसि अनुवर्णयितुम्—कृपया विस्तारपूर्वक कहें; इति—इस प्रकार।

जब मन प्रकृति के गुणों से निर्मित पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के बाह्यरूप—स्थूल विश्व रूप—पर स्थिर हो जाता है, तो उसे शुद्ध सत्त्व की स्थिति प्राप्त होती है। उस दिव्य स्थिति में ही भगवान् वासुदेव को जाना जा सकता है जो अपने सूक्ष्मरूप में स्वतः प्रकाशित और गुणातीत हैं। हे प्रभो, विस्तार से वर्णन करें कि वह रूप जो सारे विश्व में व्याप्त है किस प्रकार देखा जाता है।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित को उनके गुरु शुकदेव गोस्वामी ने पहले ही यह उपदेश दे रखा था कि वे श्रीभगवान् के विराट रूप का मनन करें, अत: उन्होंने गुरु के उपदेश का पालन करते हुए उसी रूप का सतत चिन्तन किया। विराट रूप निश्चय ही सांसारिक है, किन्तु प्रत्येक वस्तु श्रीभगवान् का अंश है, अत: अन्तत: कुछ भी सांसारिक नहीं है। फलत: महाराज परीक्षित् का मन आत्मचेतना से संतृप्त था। श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है—

प्रापंचिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुन: ।

मुमुक्षुभि: परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते ॥

प्रत्येक वस्तु, यहाँ तक कि भौतिक वस्तु भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से सम्बन्धित है, फलत: प्रत्येक वस्तु को श्रीभगवान् की सेवा में समर्पित कर देना चाहिए। श्रील भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस श्लोक का अनुवाद वर्णन इस प्रकार किया है—

हरि-सेवाय याहा हय अनुकूल।

विषय बलिया ताहार त्यागे हय भुल॥

''मनुष्य को चाहिए कि श्रीभगवान् से सम्बद्ध किसी भी वस्तु को यह सोचकर न त्याग दे कि यह भौतिक है अथवा इन्द्रियसुख के हेतु है।'' यहाँ तक कि शुद्ध हो जाने पर इन्द्रियाँ भी आध्यात्मिक हो जाती हैं। जब महाराज परीक्षित श्रीभगवान् के विराट रूप का चिन्तन कर रहे थे तो उनका मन निश्चित रूप से दिव्य धरातल पर स्थित था। अत: वे ब्रह्माण्ड के विषय में विस्तृत जानकारी की इच्छा न रखने पर भी श्रीभगवान् की पृष्ठभूमि में उसका चिन्तन कर रहे थे। इसीलिए ऐसा भौगोलिक ज्ञान भौतिक न होकर दिव्य था। *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र(१..२०) नारद मुनि कहते हैं, *इदं हि विश्वं भगवान् इवेतर:*—यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही श्रीभगवान् है, भले ही यह उनसे भिन्न प्रतीत हो। अत: भले ही परीक्षित महाराज को इस ब्रह्माण्ड के भौगोलिक ज्ञान की आवश्यकता न रही हो, किन्तु वह ज्ञान आध्यात्मिक तथा दिव्य था, क्योंकि वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को श्रीभगवान् की शक्ति का विस्तार मान रहे थे।

हम भी अपने उपदेश कार्य के लिए प्रचुर धन एवं सम्पत्ति का उपयोग करते हैं और अनेकानेक पुस्तकों का क्रय-विक्रय करते हैं। किन्तु चूँकि ये व्यापार कृष्णभावनामृत आन्दोलन से सम्बन्धित होते

हैं, अत: इन्हें कभी भी भौतिक नहीं मानना चाहिए। यदि कोई ऐसे प्रबन्ध के विचार में व्यस्त रहता है, तो इसका यह अर्थ नहीं होगा कि वह कृष्णभक्ति से परे है। यदि कोई प्रतिदिन नियमित रूप से सोलह माला महामंत्र का जप करता है, तो कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रचार के लिए भौतिक जगत से उसका सम्पर्क कृष्णभावनामृत के आध्यात्मिक अनुशीलन से किसी प्रकार भिन्न नहीं कहा जा सकता।

ऋषिरुवाच

न वै महाराज भगवतो मायागुणविभूतेः काष्ठां मनसा वचसा वाधिगन्तुमलं विबुधायुषापि पुरुषस्तस्मात्प्राधान्येनैव भूगोलकविशेषं नामरूपमानलक्षणतो व्याख्यास्यामः. ॥ ४॥

शब्दार्थ

ऋषिः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; न—नहीं; वै—निस्सन्देह; महा-राज—हे महान् राजा; भगवतः—श्रीभगवान् का; माया-गुण-विभूतेः—माया के गुणों का रूपान्तर; काष्ठाम्—अन्त, इति; मनसा—मनसे; वचसा—वचन से; वा—अथवा; अधिगन्तुम्—भलीभाँति समझने के लिए; अलम्—समर्थ; विबुध-आयुषा—ब्रह्मा के समान आयु वाला; अपि—भी; पुरुषः—व्यक्ति; तस्मात्—अतः; प्राधान्येन—प्रमुख स्थानों के सामान्य विवरण से; एव—निश्चित रूप से; भू-गोलक-विशेषम्—भूलोक का विशिष्ट वर्णन; नाम-रूप—नाम तथा स्वरूप; मान—परिमाण, माप; लक्षणतः—लक्षणों के अनुसार; व्याख्यास्यामः—व्याख्या करने का प्रयत्न करूँगा।

ऋषिश्रेष्ठ शुकदेव गोस्वामी बोले, हे राजन्, श्रीभगवान् की माया के विस्तार की कोई सीमा नहीं है। यह भौतिक जगत सत्त्व, रज तथा तम् इन तीन गुणों का रूपान्तर है; फिर भी ब्रह्मा के समान दीर्घ आयु पाकर भी इसकी व्याख्या कर पाना सम्भव नहीं है। इस भौतिक जगत में कोई भी पूर्ण नहीं और अपूर्ण मनुष्य सतत चिन्तन के बाद भी इस भौतिक ब्रह्माण्ड का सही वर्णन नहीं कर सका। तो भी, हे राजन्, मैं भूगोलक (भूलोक) जैसे प्रमुख भूखण्डों की उनके नामों, रूपों, प्रमापों तथा विविध लक्षणों सहित व्याख्या करने का प्रयत्न करूँगा।

तात्पर्य : यह भौतिक जगत श्रीभगवान् की सृष्टि का चतुर्थांश ही है, किन्तु है अनन्त तथा किसी के लिए भी उसका वर्णन कर पाना या उसे जान पाना असम्भव है, भले ही उसे ब्रह्मा जैसी लाखों वर्ष की दीर्घायु क्यों न प्राप्त हो जाये। आधुनिक विज्ञानी जन तथा ज्योतिर्विद ब्रह्माण्ड की स्थिति और अन्तरिक्ष की विशालता की व्याख्या करने का प्रयत्न कर रहे हैं और उनमें से कुछ का विश्वास है कि सारे प्रकाशमान नक्षत्र विभिन्न सूर्य हैं। किन्तु *भगवद्गीता* से हमें यह पता चलता है कि ये समस्त नक्षत्र चन्द्रमा के तुल्य हैं, क्योंकि ये सूर्य प्रकाश को परावर्तित करते हैं। ये स्वयंप्रकाशित नहीं हैं। भूलोक बाह्य अन्तरिक्ष का वह भाग है, जिसमें से होकर सूर्य प्रकाश तथा उष्मा गति करते हैं। अत: यह

निष्कर्ष निकाला जाना स्वाभाविक है कि यह ब्रह्माण्ड जहाँ तक हमें दिखाई देता है, वहाँ तक अन्तरिक्ष में फैला है और प्रकाशयुक्त नक्षत्रों तक परिवृत है। श्रील शुकदेव गोस्वामी यह स्वीकार करते हैं कि इस ब्रह्माण्ड का पूर्ण वर्णन कर पाना असम्भव है, किन्तु फिर भी वे राजा परीक्षित को वह सब ज्ञान प्रदान करना चाह रहे थे, जो उन्हें परम्परा से प्राप्त हुआ था। अत: हम निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि यदि कोई श्रीभगवान् के भौतिक विस्तार को नहीं समझ पाता तो वह चिन्मय जगत की विराटता का अनुमान नहीं लगा सकता। *ब्रह्म-संहिता* (.३३) इसकी पुष्टि करती है—

अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्

आद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् गोविन्द के विस्तार की सीमाओं का अनुमान लगा पाना किसी के लिए भी असम्भव है, भले ही वह ब्रह्मा के समान पूर्ण मानव क्यों न हो। फिर भला तुच्छ विज्ञानिओं की क्या विसात, जिसकी इन्द्रियाँ तथा उपकरण सभी अपूर्ण हैं और जो इस एक ब्रह्माण्ड के विषय में भी पूरी जानकारी नहीं दे पाते! अत: हमें शुकदेव गोस्वामी जैसे प्रामाणिक पुरुषों द्वारा कथित वैदिक स्रोतों से उपलब्ध जानकारी से ही सन्तुष्ट होना चाहिए।

यो वायं द्वीप: कुवलयकमलकोशाभ्यन्तरकोशो नियुतयोजनविशाल: समवर्तुलो यथा पुष्करपत्रम्. ॥ ॥

शब्दार्थ

य:—जो; वा—अथवा; अयम्—यह; द्वीप:—द्वीप; कुवलय—भूलोक; कमल-कोश—कमल गुच्छ; अभ्यन्तर—भीतरी; कोश:—कोश; नियुत-योजन-विशाल:—दस लाख योजन (अस्सी लाख मील) चौड़ा; समवर्तुल:—समान रूप से गोल अथवा समान लम्बाई तथा चौड़ाई वाला; यथा—सदृश; पुष्कर-पत्रम्—कमल का पत्ता।.

भूमण्डल नाम से विख्यात ग्रह कमल पुष्प के अनुरूप है और इसके सातों द्वीप पुष्प-कोश के सदृश हैं। इस कोश के मध्य में स्थित जम्बूद्वीप की लम्बाई तथा चौड़ाई दस लाख योजन (अस्सी लाख मील) है। जम्बूद्वीप कमल-पत्र के समान गोल है।

यस्मिन्नव वर्षाणि नवयोजनसहस्रायामान्यष्टभिर्मर्यादागिरिभि: सुविभक्तानि भवन्ति. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—उस जम्बूद्वीप में; नव—नौ (संख्या); वर्षाणि—भूखण्ड अथवा वर्ष; नव-योजन-सहस्र—नौ हजार योजन अर्थात् ७२,००० मील लम्बा; आयामानि—माप वाला, आयाम का; अष्टभिः—आठ; मर्यादा—सीमा सूचक; गिरिभिः—पर्वतों के द्वारा; सुविभक्तानि—भली-भाँति विभाजित; भवन्ति—हैं।

जम्बूद्वीप में नौ वर्ष (खण्ड) हैं जिनमें से प्रत्येक की लम्बाई ९,००० योजन (७२,००० मील) है। इन खण्डों की सीमा अंकित करने वाले आठ पर्वत हैं, जो उन्हें भली भाँति विलग करते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *वायु पुराण* से निम्नलिखित उद्धरण दिया है, जिसमें हिमालय पर्वत से प्रारम्भ करके विभिन्न पर्वतों की स्थितियाँ दी गई हैं—

धनुर्वत संस्थिते ज्ञेये द्वे वर्षे दक्षिणोत्तरे। दीर्घाणि तत्र चत्वारि चतुरस्रम् इलावृतम् इति दक्षिणोत्तरे भारतोत्तरकुरुवर्षे चत्वारि किंपुरुषहरिवर्षरम्यकहिरण्मयानि वर्षाणि नीलनिषधयोस्तिरश्चिनीभूय समुद्रप्रविष्टयोः संलग्नत्वम् अंगीकृत्य भद्राश्वकेतुमालयोः अपि धनुराकृतित्वम्। अतस्तयोर् दैर्घ्यत एव मध्ये संकुचितत्वेन नवसहस्रायामत्वम्। इलावृतस्य तु मेरोः सकाशात् चतुर्दिक्षु नवसहस्रायामत्वं संभवेत् वस्तुतस् त्व् इलावृतभद्राश्वकेतुमालानां चतुस्त्रिंशत् सहस्रायामत्वं ज्ञेयम्।

एषां मध्ये इलावृतं नामाभ्यन्तरवर्षं यस्य नाभ्यामवस्थितः सर्वतः सौवर्णः कुलगिरिराजो मेरुर्द्वीपायामसमुन्नाहः कर्णिकाभूतः कुवलयकमलस्य मूर्धनि द्वात्रिंशत्सहस्रयोजनविततो मूले षोडशसहस्रं तावतान्तर्भूम्यां प्रविष्टः. ॥ ७॥

शब्दार्थ

एषाम्—जम्बूद्वीप के इन समस्त खंड़ों के; मध्ये—मध्य में; इलावृतम् नाम—इलावृत वर्ष नामक; अभ्यन्तर-वर्षम्—आन्तरिक खण्ड; यस्य—जिसके; नाभ्याम्—नाभि में; अवस्थितः—स्थित; सर्वतः—पूरी तरह, पूर्णरूपेण; सौवर्णः—स्वर्ण का बना हुआ; कुल-गिरि-राजः—प्रसिद्ध पर्वतों में सर्वश्रेष्ठ; मेरुः—मेरु पर्वत; द्वीप-आयाम-समुन्नाहः—जिसकी ऊँचाई जम्बूद्वीप की चौड़ाई के समान है; कर्णिका-भूतः—आवरण के रूप में विद्यमान; कुवलय—इस लोक के; कमलस्य—कमल पुष्प के सदृश; मूर्धनि—शीर्ष पर; द्वा-त्रिंशत्—बत्तीस; सहस्र—हजार; योजन—योजन (प्रत्येक ८ मील का); विततः—विस्तृत; मूले—आधार पर मूल भाग में; षोडश-सहस्रम्—सोलह हजार योजन; तावत्—तक; आन्तः-भूम्याम्—पृथ्वी के भीतर; प्रविष्टः—धँसा हुआ।

इन खण्डों (वर्षों) में से इलावृत नाम का एक वर्ष है जो कमल-कोश के मध्य में स्थित है। इलावृत्त वर्ष में ही सुवर्ण का बना हुआ सुमेरु पर्वत है। यह कमल जैसे भूमण्डल के बाह्य-आवरण की तरह है। इस पर्वत की चौड़ाई जम्बूद्वीप की चौड़ाई के तुल्य, अर्थात् एक लाख योजन या आठ लाख मील है, जिसमें से १६,००० योजन (१,२८,००० मील) पृथ्वी के भीतर है, जिससे पृथ्वी के ऊपर पर्वत की ऊँचाई केवल ८४,००० योजन (६,७२,००० मील) ही है।

शीर्ष पर इस पर्वत की चौड़ाई ३२,००० योजन (२,६,००० मील) और पाद भाग पर १६,००० योजन है।

उत्तरोत्तरेणेलावृतं नीलः श्वेतः शृङ्गवानिति त्रयो रम्यकहिरण्मयकुरूणां वर्षाणां मर्यादागिरयः प्रागायता उभयतः क्षारोदावधयो द्विसहस्रपृथव एकैकशः पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तर उत्तरो दशांशाधिकांशेन दैर्घ्य एव ह्रसन्ति. ॥८॥

शब्दार्थ

उत्तर-उत्तरेण इलावृतम्—इलावृत वर्ष के सुदूर उत्तर में; नीलः—नील; श्वेतः—श्वेत; शृङ्गवान्—शृंगवान्; इति—इस प्रकार; त्रयः—तीन पर्वत; रम्यक—रम्यक; हिरण्मय—हिरण्मय; कुरूणाम्—कुरु खण्ड के; वर्षाणाम्—वर्षों में; मर्यादा-गिरयः—सीमा बताने वाले पर्वत; प्राक्-आयताः—पूर्व दिशा में फैले; उभयतः—पूर्व तथा पश्चिम की ओर; क्षारोद—लवण सागर; अवधयः—तक फैले हुए; द्वि-सहस्र-पृथवः—जो दो हजार योजन चौड़ा हैं; एक-एकशः—एक के बाद एक, क्रमशः; पूर्वस्मात्—प्रथम की अपेक्षा; पूर्वस्मात्—प्रथम की अपेक्षा; उत्तरः—और भी उत्तर; उत्तरः—और भी उत्तर; दश-अंश-अधिक-अंशेन—पहले वाले का दशमांश; दैर्घ्यः—लम्बाई में; एव—निस्सन्देह; ह्रसन्ति—घटते (छोटे होते) जाते हैं।

इलावृत-वर्ष के सुदूर उत्तर में क्रमशः नील, श्वेत तथा शृंगवान् नामक तीन पर्वत हैं। ये तीनों रम्यक, हिरण्मय तथा कुरु इन तीन वर्षों की सीमा-रेखा बनाने वाले हैं और इनको एक दूसरे से विभक्त करते वाले हैं। इन पर्वतों की चौड़ाई २,००० योजन (१६,००० मील) है। लम्बाई में ये पूर्व से पश्चिम की ओर लवण सागर के तट तक विस्तृत हैं। दक्षिण से उत्तर की ओर बढ़ने पर प्रत्येक पर्वत की लम्बाई अपने पूर्ववर्ती पर्वत की दशमांश होती जाती है, किन्तु इन सबकी ऊँचाई एक सी रहती है।

तात्पर्य : इस सम्बन्ध में मध्वाचार्य ने *ब्रह्माण्ड पुराण* से निम्न लिखित श्लोक उद्धृत किये हैं।

यथा भागवते तूक्तं भौवनं कोश-लक्षणं।

तस्याविरोधतो योज्यम् अन्यग्रंथान्तरे स्थितम्॥

मण्डोदे पुराणं चैव व्यत्यासं क्षीरसागरे।

राहुसोमरवीणां च मण्डलाद्द्विगुणोक्तिताम्॥

विनैव सर्वम् उन्नेयं योजनाभेदतोऽत्र तु।

इन श्लोकों से ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य तथा चन्द्र के अतिरिक्त एक अन्य अदृश्य ग्रह भी है, जिसे राहु कहते हैं। राहु के गतिशील होने से सूर्य तथा चन्द्र ग्रहण लगते हैं। हमारा सुझाव है कि चन्द्रमा तक पहुँचने के लिए जो आधुनिक यात्राएँ की जा रही हैं, वे भूल से राहु तक जाती हैं।

एवं दक्षिणेनेलावृतं निषधो हेमकूटो हिमालय इति प्रागायता यथा नीलादयोऽयुतयोजनोत्सेधा हरिवर्षकिम्पुरुषभारतानां यथासङ्ख्यम्. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; दक्षिणेन—दक्षिण दिशा में; इलावृतम्—इलावृत वर्ष के; निषधः हेम-कूटः हिमालयः—निषध, हेमकूट तथा हिमालय ये तीन पर्वत; इति—इस प्रकार; प्राक्-आयताः—पूर्व दिशा तक विस्तारित; यथा—जिस प्रकार; नील-आदयः—नील इत्यादि पर्वत; अयुत-योजन-उत्सेधाः—दस हजार योजन ऊँचा; हरि-वर्ष—हरिवर्ष नामक खण्ड; किम्पुरुष—किंपुरुष नामक खण्ड; भारतानाम्—भारतवर्ष नामक खण्ड; यथा-सङ्ख्यम्—संख्यानुसार, क्रमशः।

इसी प्रकार, इलावृत-वर्ष के दक्षिण में तथा पूर्व से पश्चिम को फैले हुए तीन विशाल पर्वत हैं (उत्तर से दक्षिण को) जिनके नाम हैं—निषध, हेमकूट तथा हिमालय। इनमें से प्रत्येक १०,००० योजन (८०,००० मील) ऊँचा है। ये हरिवर्ष, किम्पुरुष-वर्ष तथा भारतवर्ष नामक तीन वर्षों की सीमाओं के सूचक हैं।

तथैवेलावृतमपरेण पूर्वेण च माल्यवद्गन्धमादनावानीलनिषधायतौ द्विसहस्रं पप्रथतुः केतुमालभद्राश्वयोः सीमानं विदधाते. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तथा एव—उसके ही समान; इलावृतम् अपरेण—इलावृत वर्ष के पश्चिम में; पूर्वेण च—और पूर्व दिशा में भी; माल्यवद्-गन्ध-मादनौ—पश्चिम में माल्यवान् तथा पूर्व में गन्धमादन सीमा बनाने वाले पर्वत; आ-नील-निषध-आयतौ—उत्तर दिशा में नीलपर्वत तक और दक्षिण दिशा में निषध पर्वत तक; द्वि-सहस्रम्—दो हजार योजन; पप्रथतुः—फैले हुए हैं; केतुमाल-भद्राश्वयोः—केतुमाल तथ भद्राश्व इन दो वर्षों की; सीमानम्—सीमा; विदधाते—स्थापना करते हैं।

इसी प्रकार से इलावृत-वर्ष के पूर्व तथा पश्चिम क्रमश माल्यवान् और गन्धमादन नामक दो विशाल पर्वत हैं। ये दोनों २,००० योजन (१६,००० मील) ऊँचे हैं और उत्तर में नीलपर्वत तक तथा दक्षिण में निषध तक फैले हैं। ये इलावृत-वर्ष की और केतुमाल तथा भद्राश्व नामक वर्षों की भी सीमाओं के सूचक हैं।

तात्पर्य : इस पृथ्वी ग्रह पर ही न जाने कितने पर्वत हैं जिनकी ठीक से माप नहीं हो पाई है। मेक्सिको से काराकास के मध्य पर्वतीय क्षेत्र के ऊपर से यात्रा करते हुए हमने इतने पर्वत देखे कि शायद ही उन सबों की ठीक-ठीक ऊँचाई, लम्बाई तथा चौड़ाई नापी गई हो। अत: जैसा श्रीशुकदेव गोस्वामी ने *श्रीमद्भागवत* में इंगित किया है, हमें मात्र अपनी गणना के द्वारा बड़े-बड़े पर्वतों को जानने का प्रयास नहीं करना चाहिए। उन्होंने यह पहले ही कह दिया है कि ब्रह्मा जैसी दीर्घायु पाकर भी इनकी गणना कर पाना सम्भव नहीं है। हमें शुकदेव गोस्वामी जैसे प्रामाणिक विद्वानों के कथन से

संतुष्ट हो जाना चाहिए और यह सोचना चाहिए कि श्रीभगवान् की माया से यह सारा ब्रह्माण्ड किस प्रकार सम्भव हो सका है। यहाँ पर जो प्रमाण दिये गये हैं—यथा १०,००० या १००,००० योजन उन्हें सही मानना चाहिए, क्योंकि वे श्रीशुकदेव गोस्वामी द्वारा दिए गये हैं। हमारे प्रयोगात्मक ज्ञान से *श्रीमद्भागवत* के कथनों की न तो पुष्टि हो सकती है न अपुष्टि। हमें विद्वानों के मुख से ऐसे कथनों का श्रवण मात्र करना चाहिए। यदि हम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की असीम शक्ति को समझ सकें तो इसमें हम लाभान्वित ही होंगे।

मन्दरो मेरुमन्दरः सुपार्श्वः कुमुद इत्ययुतयोजनविस्तारोन्नाहा मेरोश्चतुर्दिशमवष्टम्भगिरय उपक्लिप्ताः. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

मन्दरः—मन्दर नामक पर्वत; मेरु-मन्दरः—मेरु-मन्दर पर्वत; सुपार्श्वः—सुपार्श्व पर्वत; कुमुदः—कुमुद पर्वत; इति—इस प्रकार; अयुत-योजन-विस्तार-उन्नाहाः—जिनकी ऊँचाई तथा चौड़ाई दस हजार योजन है; मेरोः—सुमेरु की; चतुः-दिशम्—चारों दिशाएँ; अवष्टम्भ-गिरयः—पर्वत जो सुमेरु की मेखलाओं के सदृश हैं; उपक्लिप्ताः—स्थित हैं।

सुमेरु पर्वत की चारों दिशाओं में मन्दर, मेरुमन्दर, सुपार्श्व तथा कुमुद नामक चार पर्वत हैं, जो इसकी मेखलाओं के सदृश हैं। ये पर्वत १०,००० योजन (८०,००० मील) ऊँचे तथा इतने ही चौड़े हैं।

चतुर्ष्वेतेषु चूतजम्बूकदम्बन्यग्रोधाश्चत्वारः पादपप्रवराः पर्वतकेतव इवाधिसहस्रयोजनोन्नाहास्तावद्विटपविततयः शतयोजनपरिणाहाः. ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

चतुर्षु—चारों पर; एतेषु—मन्दर इत्यादि इन चारों पर; चूत-जम्बू-कदम्ब—आम, जामुन तथा कदम्ब जैसे वृक्ष; न्यग्रोधाः—(तथा) वट वृक्ष; चत्वारः—चार प्रकार के; पादप-प्रवराः—वृक्षों में श्रेष्ठ; पर्वत-केतवः—पर्वतों पर ध्वजाएँ; इव—सदृश; अधि—ऊपर; सहस्र-योजन-उन्नाहाः—एक हजार योजन ऊँचा; तावत्—इतना भी; विटप-विततयः—शाखाओं की लम्बाई; शत-योजन—एक सौ योजन; परिणाहाः—चौड़ी।

इन चारों पर्वतों की चोटियों पर ध्वजाओं के रूप में एक एक आम्र, जामुन, कदम्ब तथा वट वृक्ष हैं। इन वृक्षों का घेरा १०० योजन (८०० मील) तथा ऊँचाई १,१०० योजन (८,८०० मील) है। इनकी शाखाएँ १,१०० योजन की त्रिज्या में फैली हैं।

ह्रदाश्चत्वारः पयोमध्विक्षुरसमृष्टजला यदुपस्पर्शिन उपदेवगणा योगैश्वर्याणि स्वाभाविकानि भरतर्षभ धारयन्ति; देवोद्यानानि च भवन्ति चत्वारि नन्दनं चैत्ररथं वैभ्राजकं सर्वतोभद्रमिति. ॥ १३१४॥

शब्दार्थ

ह्रदाः—सरोवर; चत्वारः—चार; पयः—दुग्ध; मधु—शहद; इक्षु-रस—गन्ने का रस; मृष्ट-जलाः—विशुद्ध जल से पूरित; यत्—जिसका; उपस्पर्शिनः—तरल पदार्थों का प्रयोग करनेवाले; उपदेव-गणाः—देवतागण; योग-ऐश्वर्याणि—योग की समस्त सिद्धियाँ; स्वाभाविकानि—सरलता से; भरत-ऋषभ—हे भरतवंश में श्रेष्ठ; धारयन्ति—धारण करते हैं; देव-उद्यानानि—स्वर्गिक उद्यान; च—भी; भवन्ति—हैं; चत्वारि—चार; नन्दनम्—नन्दनवन; चैत्र-रथम्—चैत्ररथ उद्यान; वैभ्राजकम्—वैभ्राजक उद्यान; सर्वतः-भद्रम्—सर्वतोभद्र उद्यान; इति—इस प्रकार।

भरतवंश में श्रेष्ठ, हे महाराज परीक्षित, इन चारों पर्वतों के मध्य में चार विशाल सरोवर हैं। इनमें से पहले का जल दुग्ध की तरह, दूसरे का मधु के सदृश और तीसरे का इक्षुरस की भाँति स्वादिष्ट है। चौथा सरोवर विशुद्ध जल से परिपूर्ण है। इन चारों सरोवरों की सुविधा का उपभोग सिद्ध, चारण तथा गन्धर्व जैसे अपार्थिव प्राणी, जिन्हें देवता भी कहा जाता है, करते हैं। फलस्वरूप उन्हें योग की सहज सिद्धियाँ—यथा, सूक्ष्मतम से सूक्ष्मतर और से रूप धारण करने की शक्तियाँ—प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त चार देव-उद्यान भी हैं, जिनके नाम हैं—नन्दन, चैत्ररथ, वैभ्राजक तथा सर्वतोभद्र। दीर्घतर

येष्वमरपरिवृढाः सह सुरललनाललामयूथपतय उपदेवगणैरुपगीयमानमहिमानः किल विहरन्ति. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

येषु—जिनमें; अमर-परिवृढाः—सर्वश्रेष्ठ देवगण; सह—सहित; सुर-ललना—समस्त देवताओं तथा उपदेवताओं की पत्नियों के; ललाम—आभूषण सदृश उन स्त्रियों के; यूथ-पतयः—पतिगण; उपदेव-गणैः—उपदेवों (गन्धर्वों) के द्वारा; उपगीयमान—जिनकी स्तुति हो रही है; महिमानः—जिनका यश; किल—निश्चय ही; विहरन्ति—विहार करते हैं, क्रीड़ा करते हैं।

इन उद्यानों में श्रेष्ठतम देवगण अपनी-अपनी सुन्दर पत्नियों के सहित जो स्वर्गिक सौन्दर्य के आभूषणों जैसी हैं, एकत्र होकर आनन्द लेते हैं और गन्धर्व-जन उनके यश-गान करते हैं।

मन्दरोत्सङ्ग एकादशशतयोजनोत्तुङ्गदेवचूतशिरसो गिरिशिखरस्थूलानि फलान्यमृतकल्पानि पतन्ति. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

मन्दर-उत्सङ्गे—मन्दर पर्वत की निचली ढाल पर; एकादश-शत-योजन-उत्तुङ्ग—१,१०० योजन ऊँचा; देवचूत-शिरसः—देवचूत नामक आम्रवृक्ष की चोटी से; गिरि-शिखर-स्थूलानि—जो पर्वताशृंगों के समान स्थूल हैं; फलानि—फल; अमृत-कल्पानि—अमृत की भाँति मधुर; पतन्ति—गिरते हैं।

मन्दर पर्वत की निचली ढलान पर देवचूत नामक एक आम्रवृक्ष है, जिसकी ऊँचाई १,१०० योजन है। इस वृक्ष की चोटी से पर्वतशृंग जितने बड़े तथा अमृत तुल्य मधुर फल गिरते रहते हैं जिनका उपभोग दिव्य लोक के निवासी करते हैं।

तात्पर्य : विद्वान ऋषियों ने *वायु पुराण* में भी इस वृक्ष का उल्लेख किया है—

अरत्नीनां शतान्यष्टावेकषष्ट्यधिकानि च।

फलप्रमाणमाख्यातमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभि: ॥

तेषां विशीर्यमाणानामतिमधुरसुरभिसुगन्धिबहुलारुणरसोदेनारुणोदा नाम नदी मन्दरगिरिशिखरान्निपतन्ती पूर्वेणेलावृतमुपप्लावयति. ॥ १७॥

शब्दार्थ

तेषाम्—सभी आम्रफलों के; विशीर्यमाणानाम्—चोटी से गिरकर फट जाने के कारण; अति-मधुर—अत्यन्त मीठी; सुरभि—महकने वाली; सुगन्धि—सुगन्धयुक्त; बहुल—प्रभूत मात्रा; अरुण-रस-उदेन—लाल-लाल रस के द्वारा; अरुणोदा—अरुणोदा; नाम—नामक; नदी—सरिता; मन्दर-गिरि-शिखरात्—मन्दर पर्वत के शिखर से; निपतन्ती—गिरती हुई; पूर्वेण—पूर्व दिशा में; इलावृतम्—इलावृत-वर्ष से होकर; उपप्लावयति—बहती है।

इतनी ऊँचाई से गिरने के कारण वे सभी आम्रफल फट जाते हैं और उनका मधुर, सुगन्धित रस बाहर निकल आता है। यह रस अन्य सुगन्धियों से मिलकर अत्यधिक सुरभित हो जाता है। यही रस पर्वत से झरनों में जाता है और अरुणोदा नामक नदी का रूप धारण कर लेता है जो इलावृत की पूर्व दिशा से होकर बहती है।

यदुपजोषणाद्भवान्या अनुचरीणां पुण्यजनवधूनामवयवस्पर्शसुगन्धवातो दशयोजनं समन्तादनुवासयति. ॥ १८॥

शब्दार्थ

यत्—जिसका; उपजोषणात्—सुगन्धित जल का प्रयोग करने से; भवान्या:—भगवान् शिव की पत्नी भवानी की; अनुचरीणाम्—अनुचरियों का; पुण्य-जन-वधूनाम्—जो परम पवित्र यक्षों की पत्नियाँ हैं; अवयव—शरीर के अंगों के; स्पर्श—स्पर्श से; सुगन्ध-वात:—सुरभित वायु; दश-योजनम्—दस योजन (अस्सी मील) तक; समन्तात्—चारों ओर; अनुवासयति—सुवासित करती है।

यक्षों की पवित्र पत्नियाँ भगवान् शंकर की अर्द्धांगिनी भवानी की अनुचरी हैं। अरुणोदा नदी के जल का पान करने के कारण उनके शरीर सुगन्धित हो जाते हैं। वायु उनके शरीर का स्पर्श करके उस सुगन्धि से अस्सी मील तक चारों ओर के समस्त वायुमण्डल को सुरभित कर देती है।

एवं जम्बूफलानामत्युच्चनिपातविशीर्णानामनस्थिप्रायाणामिभकायनिभानां रसेन जम्बू नाम नदी मेरुमन्दरशिखरादयुतयोजनादवनितले निपतन्ती दक्षिणेनात्मानं यावदिलावृतमुपस्यन्दयति. ॥ १९॥

शब्दार्थ

एवम्—इसी प्रकार; जम्बू-फलानाम्—जामुन के फलों का; अति-उच्च-निपात—अत्यधिक ऊँचाई से गिरने के कारण; विशीर्णानाम्—खण्ड-खण्ड हो जाने से; अनस्थि-प्रायाणाम्—अत्यन्त लघु बीज होने के कारण; इभ-काय-निभानाम्—और जो हाथी के शरीर के सदृश विशाल हैं; रसेन—रस के द्वारा; जम्बू नाम नदी—जम्बू नामक नदी; मेरु-मन्दर-शिखरात्—मेरु मन्दर पर्वत के शिखर से; अयुत-योजनात्—दस हजार योजन ऊँची; अवनि-तले—पृथ्वी तल पर; निपतन्ती—गिरती हुई; दक्षिणेन—दक्षिण दिशा में; आत्मानम्—स्वयमेव; यावत्—सम्पूर्ण; इलावृतम्—इलावृतवर्ष से; उपस्यन्दयति—होकर बहती है।

इसी प्रकार रस से भरे और अत्यन्त छोटी गुठली वाले जामुन के फल अत्यधिक ऊँचाई से गिरकर खण्ड-खण्ड हो जाते हैं। ये फल हाथी जैसे आकार वाले होते हैं और इनका रस बहकर जम्बूनदी का रूप धारण कर लेता है। यह नदी इलावृत के दक्षिण में मेरुमन्दर की चोटी से दस हजार योजन नीचे गिरकर समस्त इलावृत भूखण्ड को रस से आप्लावित करती है।

तात्पर्य : हम यह अनुमान लगा सकते रहते हैं कि हाथी जैसे आकार वाले फल, जिसमें गुठली नाममात्र की हो, कितना अधिक रस होता होगा। अत: स्वाभाविक है कि जामुन के फलों के फटने से रस पहले झरनों के रूप में बहता है और फिर इलावृत के पूरे प्रदेश को आप्लावित कर देता है। इस रस से प्रभूत मात्रा में स्वर्ण उत्पन्न होता है, जैसाकि अगले श्लोकों में कहा गया है।

तावदुभयोरपि रोधसोर्या मृत्तिका तद्रसेनानुविध्यमाना वाय्वर्कसंयोगविपाकेन सदामरलोकाभरणं जाम्बूनदं नाम सुवर्णं भवति; यदु ह वाव विबुधादय: सह युवतिभिर्मुकुटकटककटिसूत्राद्याभरणरूपेण खलु धारयन्ति. ॥ २०२१ ॥

शब्दार्थ

तावत्—सर्वथा; उभयो: अपि—दोनों का; रोधसो:—तटों का; या—जो; मृत्तिका—कीचड़; तत्-रसेन—नदी में बहने वाले जम्बू फलों के रस से; अनुविध्यमाना—संपृक्त होकर; वायु-अर्क-संयोग-विपाकेन—वायु तथा धूप की रासायनिक क्रिया के फलस्वरूप; सदा—सदैव; अमर-लोक-आभरणम्—जो स्वर्गलोक में निवास करने वाले देवताओं के आभूषणों के लिए प्रयुक्त होता है; जाम्बू-नदम् नाम—जाम्बूनद नामक; सुवर्णम्—स्वर्ण; भवति—बन जाता है; यत्—जो; उ ह वाव—निस्सन्देह; विबुध-आदय:—देवता आदि; सह—साथ; युवतिभि:—अपनी युवा पत्नियों के; मुकुट—मुकुट; कटक—चूड़ियाँ; कटि-सूत्र—करधनी; आदि—इत्यादि; आभरण—सभी प्रकार के आभूषणों के; रूपेण—रूप में; खलु—निश्चय ही; धारयन्ति—धारण करती हैं।

जम्बू नदी के दोनों तटों का कीचड़ जामुनफल के बहते हुए रस से सिक्त होकर और फिर वायु तथा सूर्य प्रकाश के कारण सूख कर जाम्बू-नद नामक स्वर्ण की प्रचुर मात्रा उत्पन्न करता है। स्वर्ग के निवासी इस स्वर्ण का उपयोग विविध आभूषणों के लिए करते हैं। फलत: स्वर्गलोक के सभी निवासी एवं उनकी तरुण पत्नियाँ स्वर्ण के मुकुटों, चूड़ियों तथा करधनियों से आभूषित रहती हैं। इस प्रकार वे सब जीवन का आनन्द लेते हैं।

तात्पर्य : श्रीभगवान् की व्यवस्था के फलस्वरूप कुछ लोकों की नदियों के तटों पर स्वर्ण उत्पन्न

होता है। इस पृथ्वी के बेचारे निवासी अपने अल्पज्ञान के कारण "तथाकथित भगवान्" के वशीभूत हो जाते हैं, जो केवल मुट्ठी भर ही स्वर्ण बना पाते हैं। किन्तु ऐसा माना जाता है कि इस भौतिक जगत के उच्चतर लोकों में, जम्बू नदी के तटों का कीचड़ जामुन के रस के साथ मिलकर, सूर्यप्रकाश एवं वायु की प्रक्रिया के कारण प्रचुर मात्रा में स्वर्ण उत्पन्न करता है। इस प्रकार वहाँ के स्त्री-पुरुष विविध स्वर्णाभूषणों से अलकृंत होकर अत्यन्त मनोहर लगते हैं। दुर्भाग्यवश, पृथ्वी पर सोने की इतनी कमी है कि विश्व की सरकारें इसे अपने कोष में रखकर कागजी मुद्रा चलाती हैं। चूँकि यह मुद्रा स्वर्ण पर आश्रित नहीं रहती, इसलिए कागजी नोटों के रूप में वितरित धन व्यर्थ होता है। तो भी सांसारिक प्राणी भौतिक उन्नति पर इतना इतराते हैं। आज के युग में, कन्याएँ तथा स्त्रियाँ सोने के बजाय प्लास्टिक के आभूषण धारण करती हैं, सोने के पात्रों के बजाय प्लास्टिक के बने पात्र काम में लाये जाते हैं, किन्तु फिर भी मनुष्यों को अपनी सम्पत्ति पर अत्यधिक गर्व है। इसीलिए इस युग के मनुष्यों को *मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः* (*भागवत* में १.१.१०) कहा गया है। तात्पर्य यह है कि वे श्रीभगवान् के ऐश्वर्य को न समझ पाने के कारण अत्यन्त मन्द एवं नीच हैं। उन्हें *सुमन्दमतयः* कहा गया है, क्योंकि वे इतने मूर्ख हैं कि मुट्ठी भर सोना बनाने वाले धूर्त को ईश्वर मान बैठते हैं। पास में सोना न होने से वे अत्यन्त दरिद्र होते हैं, इसीलिए उन्हें अभागा माना जाता है।

कभी-कभी ये अभागे पुरुष भाग्यशाली स्थान प्राप्त करने के लिए स्वर्गलोक जाना चाहते हैं, जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है, किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्तों की रुचि ऐसे ऐश्वर्य के प्रति रंच भर भी नहीं होती। दरअसल कभी-कभी भक्तजन तो स्वर्ण के रंग की उपमा चमकीली सुनहली विष्ठा से देते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भक्तों को स्वर्ण आभूषणों एवं मनोहारी रूप से अलंकृत स्त्रियों के द्वारा आकृष्ट न होने का उपदेश दिया है। *न धनं न जनं न सुन्दरीम्*—भक्त को चाहिए कि वह न तो स्वर्ण से, न सुन्दर स्त्रियों से तथा न ही अनेक अनुगामियों के होने से आकृष्ट हो। अतः श्री चैतन्य महाप्रभु ने गुप्त रूप से प्रार्थना की—*मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि*—"मेरे प्रभो, मुझे अपनी अहैतुकी भक्ति प्रदान करें। मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए।" भक्त इस भौतिक जगत से छुटकारा पाने के लिए प्रार्थना कर सकता है। यही उसकी एकमात्र कामना है।

अयि नन्दतनुज किंकरं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।

कृपया तव पादपंकजस्थितधूलीसदृशं विचिन्तय॥

विनीत भक्त भगवान् से यही प्रार्थना करता है, ''कृपा करके अनेकानेक भौतिक ऐश्वर्यों से पूर्ण इस भौतिक जगत से मुझे उबार कर अपने चरणारविन्द की शरण में रख लें।''

श्रीनरोत्तमदास ठाकुर प्रार्थना करते हैं—

हा हा प्रभु नन्दसुत, वृषभानु-सुता-युत

करुणा करह एइ बार

नरोत्तमदास कय, ना ठेलिह रांगापाय,

तोमा विने के आछे आमार

''हे प्रभो, हे नन्द महाराज के पुत्र, आप मेरे समक्ष वृषभानु की पुत्री श्रीमती राधा-रानी सहित खड़े हैं। मुझे अपने चरणकमल की धूलि के रूप में स्वीकार करें। मुझे ठुकरावें नहीं, क्योंकि मेरा अन्य कोई आश्रय नहीं है।''

इसी प्रकार से प्रबोधानन्द सरस्वती बताते हैं कि स्वर्णमुकट तथा अन्य आभूषणों से अलंकृत देवताओं की स्थिति आकाशकुसुम से अधिक नहीं है (*त्रिदशपूर आकाश-पुष्पायते*)। भक्त कभी भी ऐसे ऐश्वर्य से लालायित नहीं होता। वह तो मात्र भगवान् के चरणकमल की धूलि बनने की आकांक्षा रखता है।

यस्तु महाकदम्बः सुपार्श्वनिरूढो यास्तस्य कोटरेभ्यो विनिःसृताः पञ्चायामपरिणाहाः पञ्च मधुधाराः सुपार्श्वशिखरात्पतन्त्योऽपरेणात्मानमिलावृतमनुमोदयन्ति. ॥ २२॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—किन्तु; महा-कदम्बः—महाकदम्ब नामक वृक्ष; सुपार्श्व-निरूढः—जो सुपार्श्व पर्वत की बगल में खड़ा हुआ है; याः—जो; तस्य—उसका; कोटरेभ्यः—कोटर से; विनिःसृताः—प्रवाहित; पञ्च—पाँच; आयाम—व्याम, आठ फुट की माप; परिणाहाः—जिसकी माप; पञ्च—पाँच; मधु-धाराः—मधु की धाराएँ; सुपार्श्व-शिखरात्—सुपार्श्व पर्वत की चोटी से; पतन्त्यः—गिर रही हैं; अपरेण—सुमेरु पर्वत की पश्चिम दिशा में; आत्मानम्—समग्र; इलावृतम्—इलावृत वर्ष को; अनुमोदयन्ति—सुरभित करती हैं।

सुपार्श्व पर्वत की बगल में महाकदम्ब नामक अत्यन्त प्रसिद्ध विशाल वृक्ष खड़ा है। इस वृक्ष के कोटर से मधु की पाँच नदियाँ निकलती हैं जिनमें से प्रत्येक लगभग पाँच ''व्याम'' चौड़ी है। यह प्रवहमान मधु सुपार्श्व पर्वत की चोटी से सतत नीचे गिरता रहता है और इलावृत-वर्ष की

पश्चिम दिशा से प्रारम्भ होकर उसके चारों ओर बहता रहता है। इस प्रकार सम्पूर्ण स्थल सुहावनी गंध से पूरित है।

तात्पर्य : दोनों भुजाओं के फैलाने पर एक हथेली से दूसरी के बीच की दूरी ''व्याम'' कहलाती है जो लगभग आठ फुट होती है। इस प्रकार प्रत्येक नदी की चौड़ाई लगभग चालीस फुट और कुल मिलाकर लगभग दो सौ फुट होगी।

या ह्युपयुञ्जानानां मुखनिर्वासितो वायु: समन्ताच्छतयोजनमनुवासयति. ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

याः—जो (वे मधु धाराएँ); हि—निस्सन्देह; उपयुञ्जानानाम्—पान करने वालों के; मुख-निर्वासितः वायुः—मुखों से निष्कासित वायु; समन्तात्—चतुर्दिक्; शत-योजनम्—एक सौ योजन तक (आठ सौ मील); अनुवासयति—सुगन्धित बना देती है।.

इस मधु को पीने वालों के मुख से निकली वायु चारों ओर सौ योजन तक के भूभाग को सुगन्धित बना देती है।

एवं कुमुदनिरूढो य: शतवल्शो नाम वटस्तस्य स्कन्धेभ्यो नीचीना:
पयोदधिमधुघृतगुडान्नाद्यम्बरशय्यासनाभरणादय: सर्व एव कामदुघा नदा:
कुमुदाग्रात्पतन्तस्तमुत्तरेणेलावृतमुपयोजयन्ति. ॥ २४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कुमुद-निरूढः—कुमुद पर्वत पर उगा हुआ; यः—वह; शत-वल्शः नाम—शतवल्श नामक वृक्ष (एक सौ तने होने के कारण); वटः—वट-वृक्ष; तस्य—उसके; स्कन्धेभ्यः—मोटी-मोटी शाखाओं से; नीचीनाः—नीचे गिरकर; पयः—दुग्ध; दधि—दही; मधु—शहद; घृत—घी; गुड—गुड़; अन्न—अनाज; आदि—इत्यादि; अम्बर—वस्त्र; शय्या—बिस्तर; आसन—बैठने का स्थान; आभरण-आदयः—आभूषणों आदि से युक्त; सर्वे—सब कुछ, प्रत्येक वस्तु; एव—निश्चय ही; काम-दुघाः—समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली; नदाः—बड़ी नदियाँ; कुमुद-अग्रात्—कुमुद पर्वत की चोटी से; पतन्तः—गिरकर, बहकर; तम्—उस तक; उत्तरेण—उत्तर दिशा में; इलावृतम्—इलावृत वर्ष में; उपयोजयन्ति—सुखी बनाती हैं।.

इसी प्रकार कुमुद पर्वत के ऊपर एक विशाल वट वृक्ष है, जो एक सौ प्रमुख शाखाओं के कारण शतवल्श कहलाता है। इन शाखाओं से अनेक जड़ें निकली हुई हैं, जिनमें से अनेक नदियाँ बहती हैं। ये नदियाँ इलावृत-वर्ष की उत्तर दिशा में स्थित पर्वत की चोटी से नीचे बहकर वहाँ के निवासियों को लाभ पहुँचाती हैं। इन नदियों के फलस्वरूप लोगों के पास दूध, दही, शहद, घी, राब, अन्न, वस्त्र, बिस्तर, आसन तथा आभूषण हैं। उनकी समृद्धि के लिए उन्हें जो भी पदार्थ चाहिए वे सब उपलब्ध हैं, जिससे वे सभी अत्यन्त सुखी हैं।

तात्पर्य : मानवीय समृद्धि ऐसी आसुरी सभ्यता पर आश्रित नहीं होती जिसमें केवल गगन-चुम्बी प्रासाद और राजमार्ग पर दौड़ने वाले बड़े-बड़े स्वचालित वाहन तो हों, किन्तु वह संस्कृति तथा ज्ञान से शून्य हो। प्राकृतिक पदार्थ ही इसके लिए पर्याप्त होते हैं। जहाँ दूध, दही, मधु, अन्न, घी, गुड़, धोती, साड़ी, बिस्तर, आसन तथा आभूषण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हों, वहाँ के वासी ही वास्तव में ऐश्वर्यवान् होते हैं। जब नदी अपने प्रभूत जल की बाढ़ से भूखण्ड को डुबो देती है, तो ये सारी वस्तुएँ उपजाई जा सकती हैं और इस तरह किसी प्रकार का अभाव नहीं दिखता। किन्तु, यह सब कुछ यज्ञ-अनुष्ठान पर निर्भर करता है, जैसाकि वैदिक शास्त्रों में कहा गया है—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

"सभी प्राणी अन्न पर निर्भर रहते हैं, जो वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा यज्ञ करने से होती है और यज्ञ की उत्पत्ति नियत कर्म से होती है।" *भगवद्गीता* (३.१४) में इन नियमों का उल्लेख है। यदि मनुष्य पूर्णरूप से कृष्णभावनामृत में इन नियमों का पालन करे तो मानव समाज सम्पन्न होगा और सभी मनुष्य इस लोक में तथा परलोक में सुखी रहेंगे।

यानुपजुषाणानां न कदाचिदपि प्रजानां वलीपलितक्लमस्वेददौर्गन्ध्यजरामयमृत्युशीतोष्णवैवर्ण्योपसर्गादयस्तापविशेषा भवन्ति यावज्जीवं सुखं निरतिशयमेव. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यान्—जो (उपर्युक्त नदियों से उत्पन्न होने वाले समस्त पदार्थ); उपजुषाणानाम्—पूर्णरूप से उपभोग करने वाले पुरुषों का; न—नहीं; कदाचित्—किसी भी समय; अपि—निश्चय ही; प्रजानाम्—प्रजा की; वली—झुर्रियाँ; पलित—पके केश; क्लम—थकान; स्वेद—पसीना; दौर्गन्ध्य—पसीने के कारण दुर्गंध; जरा—बुढ़ापा; आमय—रोग; मृत्यु—असामयिक मृत्यु; शीत—कड़ाके की सर्दी; उष्ण—दाहक, गर्मी; वैवर्ण्य—शरीर की कान्ति का धूमिल पड़ना, विवर्णता; उपसर्ग—क्लेश; आदयः—इत्यादि; ताप—दुखों का; विशेषाः—किस्में, प्रकार; भवन्ति—हैं; यावत्—जब तक; जीवम्—जीवन; सुखम्—सुख; निरतिशयम्—अपार, सीमाहीन; एव—केवल।

इस भौतिक जगत के वासी जो इन बहती नदियों से प्राप्त पदार्थों का सेवन करते हैं, उनके शरीर में न तो झुर्रियाँ पड़ती हैं और न उनके केश सफेद होते हैं। न तो उन्हें थकान का अनुभव होता है और न उसके पसीने से उनके शरीर से दुर्गन्ध ही आती है। उन्हें बुढ़ापा, रोग या आसामयिक मृत्यु नहीं सताती है न ही वे कड़ाके की सर्दी अथवा झुलसती गर्मी से दुखी होते हैं

और न ही उनके शरीर की कान्ति लुप्त होती है। वे सभी मृत्युपर्यन्त चिन्ताओं से मुक्त सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में इसी भौतिक जगत के भीतर मानव समाज की सम्पूर्णता का संकेत है। इस भौतिक जगत की दयनीय दशा को दुग्ध, दही, मधु, घी, गुड़, अन्न, आभूषण, बिस्तर, आसन इत्यादि की प्रचुर मात्रा में पूर्ति करके सुधारा जा सकता है। यही मानवीय सभ्यता है। कृषि कर्म द्वारा प्रचुर अन्न उत्पन्न किया जा सकता है और गो-संवर्धन द्वारा प्रचुर दूध, दही तथा घी की व्यवस्था की जा सकती है। वनों की सुरक्षा करके प्रचुर मधु प्राप्त कर सकते हैं। दुर्भाग्यवश आधुनिक सभ्यता के वशीभूत होकर मनुष्य गायों का वध कर रहे हैं, जो दूध, दही, घी की मूल स्रोत हैं। वे उन वृक्षों का विनाश कर रहे हैं, जो मधु देने वाले हैं। वे कृषिकर्म में संलग्न होने के बजाय कल-पुर्जों, स्वचलित वाहनों तथा मदिरा के कारखानें खोलते जा रहे हैं। तो भला मनुष्य किस प्रकार सुखी रह सकते हैं? उन्हें भौतिकता के समस्त कष्टों का भोग करना होगा। उनके शरीर में झुर्रियाँ पड़ जाती हैं और धीरे-धीरे उनका क्षय होता रहता है, जिससे वे बौने होने लगते हैं। नाना प्रकार की गर्हित वस्तुओं के खाने से उनके शरीर से पसीना निकलने से दुर्गन्ध निकलती है। यह मानवीय सभ्यता नहीं कहलाती है। यदि सचमुच ही मनुष्य इस जीवन में सुख भोगना चाहते हैं और चाहते हैं कि उनका भावी जीवन सुखमय बने तो उन्हें चाहिए कि वे वैदिक सभ्यता का अनुसरण करें। इस वैदिक सभ्यता में उपर्युक्त सभी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

**कुरङ्गकुररकुसुम्भवैकङ्कत्रिकूटशिशिरपतङ्गरुचकनिषधशिनीवासकपिलशङ्खवैदूर्यजारुधिहंसऋषभनागक
लञ्जरनारदादयो विंशतिगिरयो मेरोः कर्णिकाया इव केसरभूता मूलदेशे परित उपक्लिप्ताः. ॥ २६ ॥**

शब्दार्थ

कुरङ्ग—कुरंग; कुरर—कुरर; कुसुम्भ-वैकङ्क-त्रिकूट-शिशिर-पतङ्ग-रुचक-निषध-शिनीवास-कपिल-शङ्ख-वैदूर्य-जारुधि-हंस-ऋषभ-नाग-कालञ्जर-नारद—ये सभी पर्वतों के नाम हैं; आदयः—इत्यादि; विंशति-गिरयः—बीस पर्वत; मेरोः—सुमेरु पर्वत के; कर्णिकायाः—कमलकोश के; इव—सदृश; केसर-भूताः—केसर के समान; मूल-देशे—पाद पृष्ठ पर; परितः—चारों ओर; उपक्लृप्ताः—श्रीभगवान् के द्वारा आयोजित।

मेरु पर्वत के तलहटी के चारों ओर अन्य पर्वत इस सुन्दर ढंग से व्यवस्थित हैं मानों कमल पुष्प की कर्णिका के चारों ओर केसर हों। इन पर्वतों के नाम हैं—कुरंग, कुरर, कुसुम्भ, वैकंक, त्रिकूट, शिशिर, पतंग, रुचक, निषध, शिनीवास, कपिल, शंख, वैदूर्य, जारुधि, हंस,

ऋषभ, नाग, कालञ्जर तथा नारद।

जठरदेवकूटौ मेरुं पूर्वेणाष्टादशयोजनसहस्रमुदगायतौ द्विसहस्रं पृथुतुङ्गौ भवतः; एवमपरेण पवनपारियात्रौ दक्षिणेन कैलासकरवीरौ प्रागायतावेवमुत्तरतस्त्रिशृङ्गमकरावष्टभिरेतैः परिसृतोऽग्निरिव परितश्चकास्ति काञ्चनगिरिः. ॥ २७॥

शब्दार्थ

जठर-देवकूटौ—जठर तथा देवकूट नामक दो पर्वत; मेरुम्—सुमेरु पर्वत; पूर्वेण—पूर्व दिशा में; अष्टादश-योजन-सहस्रम्—अठारह हजार योजन; उदगायतौ—उत्तर से दक्षिण को फैला हुआ; द्वि-सहस्रम्—दो हजार योजन; पृथु-तुङ्गौ—चौड़ाई तथा ऊँचाई में; भवतः—हैं; एवम्—इसी तरह; अपरेण—पश्चिम दिशा में; पवन-पारियात्रौ—पवन तथा पारियात्र नामक दो पर्वत; दक्षिणेन—दक्षिण दिशा में; कैलास-करवीरौ—कैलास तथा करवीर नामक दो पर्वत; प्राक्-आयतौ—पूर्व तथा पश्चिम दिशा में विस्तृत; एवम्—इसी तरह; उत्तरतः—उत्तर दिशा में; त्रिशृङ्ग-मकरौ—त्रिशृंग तथा मकर ये दो पर्वत; अष्टभिः एतैः—इन आठ पर्वतों के द्वारा; परिसृतः—घिरा हुआ; अग्निः इव—अग्नि के सदृश; परितः—सर्वत्र; चकास्ति—तेजी से चमकता है; काञ्चन-गिरिः—सुमेरु या मेरु नामक सोने का पर्वत।

सुमेरु पर्वत के पूर्व में जठर तथा देवकूट नामक दो पर्वत हैं, जो उत्तर तथा दक्षिण की ओर १८,००० योजन (१,४४,००० मील) तक फैले हुए हैं। इसी प्रकार सुमेरु पर्वत की पश्चिम दिशा में पवन तथा पारियात्र नामक दो पर्वत हैं, जो उतनी ही दूरी तक उत्तर तथा दक्षिण में भी फैले हैं। सुमेरु के दक्षिण में कैलास तथा करवीर पर्वत हैं, जो पूर्व और पश्चिम में १८,००० योजन तक फैले हुए हैं और सुमेरु की उत्तरी दिशा में त्रिशृंग तथा मकर नामक दो पर्वत पूर्व और पश्चिम में इतनी ही दूरी में विस्तृत हैं। इन समस्त पर्वतों की चौड़ाई २,००० योजन (१६,००० मील) है। इन आठों पर्वतों से घिरा हुआ स्वर्णनिर्मित सुमेरु पर्वत अग्नि की तरह जाज्वल्यमान है।

मेरोर्मूर्धनि भगवत आत्मयोनेर्मध्यत उपक्लिप्तां पुरीमयुतयोजनसाहस्रीं समचतुरस्रां शातकौम्भीं वदन्ति. ॥ २८॥

शब्दार्थ

मेरोः—सुमेरु पर्वत की; मूर्धनि—चोटी पर; भगवतः—सर्वशक्तिमान प्राणी; आत्म-योनेः—भगवान् ब्रह्मा की; मध्यतः—मध्य में; उपक्लिप्ताम्—स्थित; पुरीम्—पुरी, विशाल नगरी; अयुत-योजन—दस हजार योजन; साहस्रीम्—एक हजार; सम-चतुरस्राम्—चारों ओर समान लम्बाई का; शात-कौम्भीम्—पूर्णतः सोने की बनी हुई; वदन्ति—मुनियों का कथन है।

मेरु की चोटी के मध्य भाग में ब्रह्माजी की पुरी स्थित है। इसके चारों कोने समान रूप से एक करोड़ योजन (आठ करोड़ मील) तक विस्तृत हैं। यह पूरे का पूरा स्वर्ण से निर्मित है, इसीलिए विद्वतजन तथा ऋषि-मुनि इसे शातकौम्भी नाम से पुकारते हैं।

तामनुपरितो लोकपालानामष्टानां यथादिशं यथारूपं तुरीयमानेन पुरोऽष्टावुपक्लिप्ताः. ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ताम्—ब्रह्मपुरी नामक इस पुरी को; अनुपरितः—घेरे हुए; लोक-पालानाम्—लोकों के शासक; अष्टानाम्—आठ; यथा-दिशम्—दिशाओं के अनुसार; यथा-रूपम्—ब्रह्मपुरी के ही समान; तुरीय-मानेन—माप में केवल एक चतुर्थांश; पुरः—पुरी; अष्टौ—आठ; उपक्लिप्ताः—स्थित हैं।

ब्रह्मपुरी के चारों और सभी दिशाओं में लोकों के आठ प्रमुख लोकपालों के निवास-स्थल हैं, जिनमें से पहला राजा इन्द्र का है। ये निवासस्थल ब्रह्मपुरी के ही समान हैं, किन्तु वे आकार में एक चौथाई हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस तथ्य की पुष्टि की है कि लोकों के आठ अधीनस्थ लोकपालों तथा ब्रह्मा की पुरियों का उल्लेख अन्य पुराणों में पाया जाता है—

मेरौ नवपूराणि स्युर्मनोवत्यमरावती

तेजोवती संयमनी तथा कृष्णांगना परा।

श्रद्धावती गन्धवती तथा चान्या महोदया

यशोवती च ब्रह्मेन्द्र बह्यादीनां यथाक्रमम् ॥

ब्रह्मा की पुरी मनोवती कहलाती है और उनके सहायक इन्द्र तथा अग्नि इत्यादि की पुरियाँ अमरावती, तेजोवती, संयमनी, कृष्णांगना, श्रद्धावती, गंधावती, महोदया तथा यशोवती कहलाती हैं। ब्रह्मपुरी मध्य में स्थित है और शेष आठों पुरियाँ इसके चारों ओर स्थित हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत "जम्बूद्वीप का वर्णन" नामक सोलहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सत्रह

गंगा-अवतरण

इस अध्याय में गंगा नदी के उद्गम तथा उसके इलावृत-वर्ष में और इसके चारों ओर बहने का वर्णन किया गया है। इसमें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के चतुर्भुज रूप के अंश संकर्षण के प्रति की गई शिव की वन्दना भी है। एक बार भगवान् विष्णु बलि महाराज के पास पहुँचे तो वे यज्ञ में तल्लीन थे।

भगवान् उनके समक्ष त्रिविक्रम अथवा वामन के रूप में प्रकट हुए और उनसे दानरूप में तीन पग भूमि की याचना की। भगवान् वामन ने दो ही पगों में तीनों लोकों को मापकर अपने बाएँ पैर के अँगूठे से ब्रह्माण्ड के आवरण को भेद डाला। इस छिद्र के कारण-समुद्र से जल की कुछ बूँदे बाहर निकल कर भगवान् शंकर के सिर पर पड़ीं जहाँ पर वे एक हजार युगों तक पड़ी रहीं। ये ही बूँदे पवित्र गंगा नदी हैं। यह पहले स्वर्ग लोक में बहती है जो भगवान् विष्णु के चरण तल में स्थित है। गंगा नदी भागीरथी तथा जाह्नवी आदि कई नामों से भी विख्यात है। यह ध्रुव लोक तथा सप्तर्षि लोकों को पवित्र करने वाली है, क्योंकि ध्रुव तथा सप्तर्षियों की एकमात्र अभिलाषा भगवान् के चरणकमलों की सेवा करना है।

भगवान् विष्णु के चरणकमल से निर्गत गंगा नदी स्वर्ग लोकों को, विशेष रूप से चन्द्रमा को, आप्लावित करती हुई मेरु पर्वत के ऊपर बसी ब्रह्मपुरी से होकर आगे बहती है। यहाँ पर यह चार धाराओं (सीता, अलकनन्दा, चक्षु तथा भद्रा) में विभाजित होकर लवण सागर की ओर बहती है। इनमें से सीता-नामक धारा शेखर पर्वत तथा गन्धमादन पर्वत से होकर बहती है और फिर भद्राश्व-वर्ष तक प्रवाहित होकर पश्चिम में लवण सागर से मिल जाती है। चक्षु धारा माल्यवान्-गिरि से होकर प्रवाहित होते हुए केतुमाल-वर्ष में पहुँचकर पश्चिम में लवण सागर में मिल जाती है। भद्रा कुरुदेश पहुँचने के पूर्व मेरु, कुमुद, नील, श्वेत तथा शृंगवान पर्वतों को पार करती है और तब उत्तर दिशा में लवण सागर में मिल जाती है। अलकनन्दा ब्रह्मालय से बहती हुई अनेक पर्वतों को, जिनमें हेमकूट तथा हिमकूट भी सम्मिलित हैं लाँघ करके भारतवर्ष में पहुँचती है जहाँ यह लवण सागर के दक्षिण की ओर बहती है। अनेक नदियाँ तथा उनकी शाखाएँ नौ वर्षों में से होकर बहती हैं।

भारतवर्ष नामक भूभाग कर्म क्षेत्र है तथा अन्य आठ वर्ष उन पुरुषों के निमित्त हैं, जो स्वर्गिक आनन्द उठाना चाहते हैं। इन आठों सुन्दर वर्षों में स्वर्गिक प्राणी विभिन्न स्तरों के भौतिक सुख और आनन्द का अनुभव करते हैं। श्रीभगवान् भिन्न अवतार लेकर जम्बूद्वीप के इन नौ वर्षों में अपनी दया का वितरण करते हैं।

इलावृत वर्ष में भगवान् शंकर ही एकमात्र पुरुष हैं। यहाँ वे अपनी पत्नी भवानी के साथ वास करते हैं और अनेक अनुचरियाँ भवानी देवी की सेवा करती हैं। यदि कोई अन्य पुरुष इस प्रदेश में

प्रवेश करता है, तो भवानी के श्राप से वह स्त्री बन जाता है। भगवान् शंकर संकर्षण भगवान् की पूजा अनेक प्रकार की प्रार्थनाओं द्वारा करते हैं। उन प्रार्थनाओं में से एक इस प्रकार है—"हे भगवन्! अपने समस्त भक्तों को इस भौतिक जीवन से उबारें और जो भक्त नहीं हैं उन्हें भौतिक जगत से बाँध कर रखें। आपकी कृपा के बिना कोई भी प्राणी भौतिक जगत के बन्धन से छुटकारा नहीं पा सकता।"

श्रीशुक उवाच

तत्र भगवतः साक्षाद्यज्ञलिङ्गस्य विष्णोर्विक्रमतो वामपादाङ्गुष्ठनखनिर्भिन्नोर्ध्वाण्डकटाहविवरेणान्तःप्रविष्टा या बाह्यजलधारा तच्चरणपङ्कजावनेजनारुणकिञ्जल्कोपरञ्जिताखिलजगदघमलापहोपस्पर्शनामला साक्षाद्भगवत्पदीत्यनुपलक्षितवचोऽभिधीयमानातिमहता कालेन युगसहस्रोपलक्षणेन दिवो मूर्धन्यवततार यत्तद्विष्णुपदमाहुः. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी बोले; तत्र—उस काल; भगवतः—श्रीभगवान् के अवतार का; साक्षात्—प्रत्यक्ष; यज्ञ-लिङ्गस्य—समस्त यज्ञों के फल का भोक्ता; विष्णोः—भगवान् विष्णु का; विक्रमतः—दूसरा पग भरते हुए; वाम-पाद—बाएँ पैर के; अङ्गुष्ठ—अँगूठे के; नख—नाखून द्वारा; निर्भिन्न—भेद कर; ऊर्ध्व—ऊपरी; अण्ड-कटाह—ब्रह्माण्ड का ऊपरी आवरण (इसमें पृथ्वी, जल, अग्नि इत्यादि सात आवरण हैं).); विवरेण—छिद्र से होकर; अन्तः-प्रविष्टा—ब्रह्माण्ड को भेद कर; या—जो; बाह्य-जल-धारा—ब्रह्माण्ड से बाहर कारण-समुद्र जल की धारा; तत्—उसका; चरण-पङ्कज—चरणकमल का; अवनेजन—धोकर; अरुण-किञ्जल्क—लाल चूर्ण के द्वारा; उपरञ्जिता—रंजित होकर; अखिल-जगत्—सम्पूर्ण संसार के; अघ-मल—पापकर्म; अपहा—विनष्ट करती है; उपस्पर्शन—जिसके स्पर्श से; अमला—नितान्त शुद्ध; साक्षात्—प्रत्यक्षतः; भगवत्-पदी—श्रीभगवान् के चरणकमल से निकलने वाली; इति—इस प्रकार; अनुपलक्षित—वर्णित; वचः—नाम से; अभिधीयमाना—पुकारी जाकर; अति-महता कालेन—दीर्घकाल के पश्चात्; युग-सहस्र-उपलक्षणेन—एक हजार युग; दिवः—आकाश के; मूर्धनि—शीश पर (ध्रुव लोक); अवततार—नीचे उतरी; यत्—जो; तत्—वह; विष्णु-पदम्—भगवान् विष्णु के चरणकमल; आहुः—पुकारते हैं।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे राजन्, सभी यज्ञों के भोक्ता भगवान् विष्णु महाराज बलि की यज्ञशाला में वामनदेव का रूप धारण करके प्रकट हुए। तब उन्होंने अपने वाम पाद को ब्रह्माण्ड के छोर तक फैला दिया और अपने पैर के अँगूठे से उसके आवरण में एक छिद्र बना दिया। इस छिद्र से निकले कारण-समुद्र के विशुद्ध जल ने गंगा नदी के रूप में इस ब्रह्माण्ड में प्रवेश किया। विष्णु के चरणकमलों को, जो केशर से लेपित थे, धोने से गंगा का जल अत्यन्त मनोहर गुलाबी रंग का हो गया। गंगा के दिव्य जल के स्पर्श से क्षण भर में प्राणियों के मन के भौतिक विकार शुद्ध हो जाते हैं, किन्तु इसका जल सदैव शुद्ध रहता है। चूँकि इस ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट होने के पूर्व गंगा प्रत्यक्ष रूप से विष्णुजी के चरणकमलों का स्पर्श करती है, इसलिए वह विष्णुपदी कहलाती है। बाद में उसके अन्य नाम पड़े यथा जाह्नवी तथा भागीरथी। एक हजार युगों के बाद गंगा का जल ध्रुवलोक में उतरा जो इस ब्रह्माण्ड का सर्वोपरि लोक है। इसीलिए

सभी सन्त तथा विद्वान ध्रुवलोक को विष्णुपद (अर्थात् भगवान् विष्णु चरणकमलों में स्थित) कहते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में शुकदेव गोस्वामी ने गंगा नदी की महिमा का वर्णन किया है। गंगा जल पतित–पावन कहलाता है, क्योंकि यह सभी पापियों का उद्धार करने वाला होता है। यह सर्वविदित है कि गंगा में नित्यप्रति स्नान करने से बाह्य तथा आन्तरिक शुद्धि होती है। बाह्यत: शरीर सभी प्रकार के रोगों का प्रतिरोध कर सकता है और आन्तरिक रूप से मनुष्य में क्रमश: श्रीभगवान् के प्रति भक्तिभाव उत्पन्न होता है। भारतभर के हजारों लोग, जो गंगा के तट पर वास करने वाले हैं, नियमित रूप से गंगाजल में स्नान करते हैं और निश्चित रूप से मन तथा तन से पवित्र होते रहते हैं। अनेक ऋषियों ने, जिनमें शंकराचार्य भी हैं, गंगा की प्रशंसा में स्तुतियाँ लिखी हैं और भारतवर्ष स्वयं भी गंगा, यमुना, गोदावरी, कावेरी, कृष्णा, नर्मदा जैसी नदियों के कारण धन्य हो गया है। स्वाभाविक है कि इन नदियों के तटवर्ती भूभाग का वासी आध्यात्मिक भावना में अग्रणी हो। श्रील माध्वाचार्य का कथन है—

वाराहे वामपादं तु तदन्येषु तु दक्षिणम्।

पादं कल्पेषु भगवानुज्जहार त्रिविक्रम: ॥

अपने दक्षिण पाद पर खड़े होकर तथा वामपाद को ब्रह्माण्ड के ऊपर रखकर भगवान् वामन त्रिविक्रम अर्थात् वह अवतार कहलाए जिन्होंने तीन वीरतापूर्ण कार्य किए।

यत्र ह वाव वीरव्रत औत्तानपादि: परमभागवतोऽस्मत्कुलदेवताचरणारविन्दोदकमिति यामनुसवनमुत्कृष्यमाणभगवद्भक्तियोगेन दृढं क्लिद्यमानान्तर्हृदय औत्कण्ठ्यविवशामीलितलोचनयुगलकुड्मलविगलितामलबाष्पकलयाभिव्यज्यमानरोमपुलककुलकोऽधुनापि परमादरेण शिरसा बिभर्ति. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यत्र ह वाव—ध्रुवलोक में; वीर-व्रत:—दृढ़प्रतिज्ञ; औत्तानपादि:—महाराज उत्तानपाद का विख्यात पुत्र; परम-भागवत:—परम भक्त; अस्मत्—हमारा; कुल-देवता—पारिवारिक देवता का; चरण-अरविन्द—चरणकमल; उदकम्—जल में; इति—इस प्रकार; याम्—जो; अनुसवनम्—सतत; उत्कृष्यमाण—वर्धमान; भगवत्-भक्ति-योगेन—भगवान् के प्रति भक्ति के द्वारा; दृढम्—अत्यन्त; क्लिद्यमान-अन्त:-हृदय:—अपने हृदय के अन्त: में मृदु होकर; औत्कण्ठ्य—अत्यन्त उत्कंठा (चिन्ता) से; विवश—तत्क्षण; अमीलित—कुछ कुछ खुले; लोचन—नेत्रों का; युगल—जोड़ा; कुड्मल—कली से; विगलित—विकीर्ण होकर; अमल—मलरहित; बाष्प-कलया—अश्रु-पूर्ण; अभिव्यज्यमान—प्रकट रूप में; रोम-पुलक-कुलक:—शरीर में प्रसन्नता के द्योतक लक्षण; अधुना अपि—आज भी; परम-आदरेण—अत्यन्त आदरपूर्वक; शिरसा—शिर पर; बिभर्ति—धारण करता है।

महाराज उत्तानपाद के ख्याति प्राप्त पुत्र ध्रुव महाराज परम-ईश्वर के सर्वश्रेष्ठ भक्त कहलाते हैं,

क्योंकि उनकी भक्ति-निष्ठा दृढ़ थी। यह जानते हुए कि गंगाजल भगवान् विष्णु के चरणकमल को पखारता है, वे उस जल को अपने लोक में ही रहते हुए आज तक अपने शिर पर भक्तिपूर्वक धारण करते हैं। चूँकि वे अपने अन्तस्थल (हृदय) में श्रीकृष्ण का निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं, फलतः वे अत्यन्त उत्कंठित रहते हैं, उनके अर्ध-निमीलित नेत्रों से अश्रु की धारा बहती है और उनका शरीर पुलकायमान रहता है।

तात्पर्य : जब कोई व्यक्ति श्रीभगवान् की भक्ति में स्थिर हो जाता है, तो उसे *वीरव्रत* अर्थात् दृढ़प्रतिज्ञ कहते हैं। ऐसा भक्त अपनी उत्कंठा को अधिकाधिक बढ़ाता रहता है। अतः जब वह भगवान् विष्णु का स्मरण करता है, तो उसके नेत्र अश्रु-पूरित हो उठते हैं। यह महाभागवत का लक्षण है। ध्रुव महाराज ऐसी ही भक्तिपूर्ण उत्कंठा में मग्न रहते थे और जगन्नाथ पुरी में रहते हुए चैतन्य महाप्रभु ने भी दिव्य उत्कंठा का व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत किया। *चैतन्यचरितामृत* में उनकी जीवनचर्या का सम्यक् वर्णन मिलता है।

ततः सप्त ऋषयस्तत्प्रभावाभिज्ञा यां ननु तपस आत्यन्तिकी सिद्धिरेतावती भगवति सर्वात्मनि
वासुदेवेऽनुपरतभक्तियोगलाभेनैवोपेक्षितान्यार्थात्मगतयो मुक्तिमिवागतां मुमुक्षव इव सबहुमानमद्यापि
जटाजूटैरुद्वहन्ति. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; सप्त ऋषयः—(मरीचि से लेकर); तत् प्रभाव-अभिज्ञाः—जो गंगा के प्रभाव से भलीभाँति परिचित थे; याम्—यह गंगा जल; ननु—निश्चय ही; तपसः—हमारे तपों का; आत्यन्तिकी—परम; सिद्धिः—सिद्धि; एतावती—इतनी; भगवति—श्रीभगवान्; सर्व-आत्मनि—सर्वव्यापी; वासुदेवे—श्रीकृष्ण में; अनुपरत—अविरत; भक्ति-योग—भक्ति योग का; लाभेन—इस पद को प्राप्त करके; एव—निश्चय ही; उपेक्षित—तिरस्कृत; अन्य—दूसरा; अर्थ-आत्म-गतयः—सिद्धि के अन्य सभी साधन (यथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष); मुक्तिम्—सांसारिक बन्धनों से छुटकारा; इव—सदृश; आगताम्—प्राप्त किया; मुमुक्षवः—मुक्ति की इच्छा करने वाला व्यक्ति; इव—सदृश; स-बहु-मानम्—अत्यन्त मानपूर्वक; अद्य अपि—आज भी; जटा-जूटैः—जूड़े के रूप में बँधी जटाओं से युक्त; उद्वहन्ति—धारण करते हैं।.

ध्रुवलोक के नीचे वाले लोकों में सप्तर्षियों (मरीचि, वसिष्ठ, अत्रि इत्यादि) का वास है। गंगा जल के प्रभाव से परिचित होने के कारण वे आज भी अपने शिर की जटाओं पर उसे धारण करते हैं। अन्ततः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यही परम धन, समस्त तपस्याओं की सिद्धि तथा दिव्य जीवन बिताने का सर्वश्रेष्ठ साधन है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की सतत भक्ति प्राप्त होने के कारण उन्होंने धर्म, अर्थ, काम, तथा परब्रह्म से तदाकार होने (अर्थात्) मोक्ष जैसे समस्त साधनों का परित्याग कर दिया है। जिस प्रकार ज्ञानीजन यह सोचते हैं कि भगवान् में

तदाकार होना ही परम सत्य है उसी प्रकार सप्तर्षि भी भक्ति को जीवन की परम सिद्धि मानते हैं।

तात्पर्य : अध्यात्मवादियों की दो प्राथमिक कोटियाँ हैं—निर्विशेषवादी तथा भक्त। निर्विशेषवादी जीवन के आध्यात्मिक रूपों को स्वीकार नहीं करते। वे श्रीभगवान् के ब्रह्मरूप (ब्रह्मज्योति) में तदाकार होना चाहते हैं। किन्तु भक्तजन श्रीभगवान् दिव्य कार्य-कलापों में सम्मिलित होने के लिए इच्छुक रहते हैं। ऊर्ध्वलोकों में सबसे ऊपर ध्रुवलोक है और इसके नीचे महर्षियों अर्थात् पहले मरीचि, वसिष्ठ और अत्रि द्वारा अधिवसित सात ग्रह हैं। ये सभी ऋषि भक्ति को जीवन की चरम सिद्धि मानने वाले हैं। फलत: ये पवित्र गंगाजल को अपने अपने शिर पर धारण करते हैं। इस श्लोक से यह सिद्ध होता है कि जिसने विशुद्ध भक्ति के पद को प्राप्त कर लिया है उसके लिए सभी कुछ, यहाँ तक कि तथाकथित मुक्ति (कैवल्य) भी, तुच्छ है। श्रील श्रीधर स्वामी का कहना है कि भगवान् की विशुद्ध भक्ति प्राप्त कर लेने पर अन्य समस्त कार्यों को तुच्छ समझकर छोड़ा जा सकता है। प्रबोधानन्द स्वामी इस कथन की पुष्टि इस प्रकार करते हैं—

कैवल्यं नरकायते त्रिदशपुर आकाशपुष्पायते
दुर्दान्तेन्द्रियकालसर्पपटली प्रोत्खातदंष्ट्रायते।
विश्वं पूर्णसुखायते विधिमहेन्द्रादिश्च कीटायते
यत् कारुण्यकटाक्षवैभववतां तं गौरम् एव स्तुमः॥

श्री चैतन्य महाप्रभु ने भक्तियोग की क्रिया का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया है। फलत: जो चैतन्य महाप्रभु के चरणकमल की शरण में जाता है, उसके लिए मायावादियों की परम सिद्धि (कैवल्य) नारकीय लगती है और कर्मियों की महत्त्वाकांक्षाओं का क्या कहना जो स्वर्गलोक पहुँचना चाहते हैं। भक्तगण ऐसे लक्ष्य को मायाजाल ही मानते हैं। योगी भी अपनी इन्द्रियों को वश में करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु भक्ति की अवस्था को प्राप्त हुए बिना उन्हें भी सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। इन्द्रियों की तुलना विषधर सर्पों से की गई है, किन्तु श्रीभगवान् की सेवा में संलग्न भक्तों की इन्द्रियाँ विषदंत विहीन सर्पों की तरह हैं। योगी अपनी इन्द्रियों का दमन करने का भरसक प्रयत्न करता है, किन्तु विश्वामित्र जैसे महान् योगी भी अपने प्रयास में असफल रहते हैं। अपनी तपस्या के समय विश्वामित्र अपनी इन्द्रियों द्वारा पराजित हो गए जब वे अपनी साधना में लीन रहते हुए मेनका द्वारा वशीभूत हो

गये। बाद में उससे शकुन्तला का जन्म हुआ। अत: इस संसार में भक्तियोगी सबसे बुद्धिमान है, जैसाकि *भगवद्गीता* (६.४७) में श्रीकृष्ण इसकी पुष्टि करते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मत: ॥

"सब योगियों में जो भी योगी श्रद्धाभाव से मेरे परायण होकर प्रेममय भक्ति योग के द्वारा मेरी सेवा करता है, वह मुझसे परम अन्तरंग रूप में जुड़ा है और सर्व श्रेष्ठ है।"

ततोऽनेकसहस्रकोटिविमानानीकसङ्कुलदेवयानेनावतरन्तीन्दु मण्डलमावार्य ब्रह्मसदने निपतति. ॥ ४॥

शब्दार्थ

ततः—सप्तर्षियों के सात लोकों को पवित्र करने पश्चात्; अनेक—कई; सहस्र—हजार; कोटि—करोड़ों; विमान-अनीक—विमान सेना सहित; सङ्कुल—समूहित; देव-यानेन—देवताओं के अन्तरिक्ष से होकर; अवतरन्ती—उतरते हुए; इन्दु-मण्डलम्—चन्द्र लोक को; आवार्य—आप्लावित करके; ब्रह्म-सदने—सुमेरु पर्वत के ऊपर ब्रह्मा के आवास तक; निपतति—गिरता है।

ध्रुवलोक के पड़ोसी सात लोकों को पावन करने के पश्चात् गंगा का जल करोड़ों देवताओं के विमानों द्वारा अन्तरिक्ष को ले जाया जाता है। तब यह चन्द्रलोक को आप्लावित करता हुआ अन्तत: मेरु पर्वत पर स्थित ब्रह्मा के आवास तक पहुँच जाता है।

तात्पर्य : हमें स्मरण रखना होगा कि गंगा नदी ब्रह्माण्ड के बाह्यावरण से भी परे कारण-समुद्र से निकली है। भगवान् वामन द्वारा बनाये गये छिद्र से निकलता हुआ कारण-समुद्र का जल स्रावित होकर पहले ध्रुवलोक में पहुँचता है और फिर उसके नीचे के सातों लोकों में पहुँचता है। फिर इसे असंख्य स्वर्गिक विमानों के द्वारा चन्द्रमा तक पहुँचाया जाता है और तब यह मेरु पर्वत की चोटी पर गिरता है। जिसे सुमेरु पर्वत कहते हैं। इस प्रकार गंगा का जल अन्त में अधोलोकों तथा हिमालयशृंगों में पहुँचता है जहाँ से बहकर यह हरद्वार पहुँचता है और फिर भारत के समूचे मैदानी भाग को पवित्र बनाता है। इस श्लोक में यह बताया गया है कि गंगा का जल ब्रह्माण्ड के ऊपर से विभिन्न लोकों तक किस प्रकार पहुँचता है। यही जल नैसर्गिक विमानों द्वारा ऋषि-लोकों से अन्य लोकों तक पहुँचता है। आज के तथाकथित समुन्नत विज्ञानी उच्चतर लोकों में पहुँचने का प्रयास कर रहे हैं, किन्तु इसके साथ साथ उन्हें इसका अनुभव हो रहा है कि पृथ्वी पर ऊर्जा का अभाव हो रहा है। यदि वे सचमुच समर्थ विज्ञानी होते तो वे स्वयं विमानों के द्वारा अन्य लोकों की यात्रा करते, किन्तु ऐसा कर पाने में वे असमर्थ हैं।

उन्होंने अब चन्द्रमा की यात्राएँ बन्द कर दी हैं और अब वे अन्य ग्रहों में जाने का प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिल पा रही।

तत्र चतुर्धा भिद्यमाना चतुर्भिर्नामभिश्चतुर्दिशमभिस्पन्दन्ती नदनदीपतिमेवाभिनिविशति सीतालकनन्दा चक्षुर्भद्रेति. ॥ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ (मेरु पर्वत पर); चतुर्धा—चार धाराओं में; भिद्यमाना—विभाजित होकर; चतुर्भिः—चार; नामभिः—नामों से; चतुः-दिशम्—चारों दिशाओं में (पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण); अभिस्पन्दन्ती—वेग से प्रवाहित होकर; नद-नदी-पतिम्—समस्त बृहद् नदियों का आगार (सागर); एव—निश्चय ही; अभिनिविशति—प्रविष्ट करती है; सीता-अलकनन्दा—सीता तथा अलकनन्दा; चक्षुः—चक्षु; भद्रा—भद्रा; इति—इन नामों से विख्यात।

मेरु पर्वत की चोटी पर गंगा नदी चार धाराओं में विभक्त हो जाती है और प्रत्येक धारा अलग-अलग दिशाओं की ओर (पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण) वेग से प्रवाहित होती है। ये धाराएँ सीता, अलकनन्दा, चक्षु तथा भद्रा नाम से विख्यात हैं और ये सब सागर की ओर बहती हैं।

सीता तु ब्रह्मसदनात्केसराचलादिगिरिशिखरेभ्योऽधोऽधः प्रस्रवन्ती गन्धमादनमूर्धसु पतित्वान्तरेण भद्राश्ववर्षं प्राच्यां दिशि क्षारसमुद्रमभिप्रविशति. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सीता—सीता नामक धारा; तु—निश्चय ही; ब्रह्म-सदनात्—ब्रह्मपुरी से; केसराचल-आदि—केसराचल तथा अन्य महान् पर्वतों के; गिरि—पर्वतों की; शिखरेभ्यः—चोटियों से; अधः अधः—नीचे की ओर; प्रस्रवन्ती—प्रवाहित; गन्धमादन—गंध-मादन पर्वत की; मूर्धसु—चोटी पर; पतित्वा—गिर कर; अन्तरेण—के अन्तर्गत; भद्राश्व-वर्षम्—भद्राश्व प्रदेश; प्राच्याम्—पूर्व; दिशि—दिशा में; क्षार-समुद्रम्—लवण सागर में; अभिप्रविशति—प्रवेश करती है।

गंगा नदी की सीता नामक धारा मेरु पर्वत की चोटी पर स्थित ब्रह्मपुरी से होकर बहती हुई पार्श्ववर्ती केसराचल पर्वतों के शृंगों पर पहुँचती है। जो मेरु पर्वत जितने ही ऊंचे है। ये पर्वत मेरु पर्वत के चारों ओर तन्तुगुच्छ जैसे हैं। केसराचल पर्वतों से चलकर गंगा नदी गंधमादन पर्वत की चोटी पर गिरती है और वहाँ से भद्राश्व-वर्ष की भूमि में बहती है। अन्त में यह पश्चिम में लवण सागर में पहुँच जाती है।

एवं माल्यवच्छिखरान्निष्पतन्ती ततोऽनुपरतवेगा केतुमालमभि चक्षुः प्रतीच्यां दिशि सरित्पतिं प्रविशति. ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; माल्यवत्-शिखरात्—माल्यवान् पर्वत की चोटी से; निष्पतन्ती—नीचे गिरकर; ततः—तत्पश्चात्; अनुपरत-वेगा—अप्रतिहत वेग से; केतुमालम् अभि—केतुमाल वर्ष में; चक्षुः—चक्षु नामक धारा; प्रतीच्याम्—पश्चिम; दिशि—दिशा में; सरित्-पतिम्—सागर में; प्रविशति—प्रवेश करती है।

गंगा नदी की चक्षु नामक धारा माल्यवान् पर्वत की चोटी पर गिरती है और वहाँ से प्रपात के रूप में गिरकर केतुमाल वर्ष में प्रवेश करती है। अविच्छिन्न रूप से केतुमाल वर्ष से बहकर गंगा नदी पश्चिम की ओर लवण सागर तक पहुँच जाती है।

भद्रा चोत्तरतो मेरुशिरसो निपतिता गिरिशिखराद्गिरिशिखरमतिहाय शृङ्गवतः शृङ्गादवस्यन्दमाना उत्तरांस्तु कुरूनभित उदीच्यां दिशि जलधिमभिप्रविशति. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

भद्रा—भद्रा नामक धारा; च—भी; उत्तरतः—उत्तर दिशा को; मेरु-शिरसः—मेरु पर्वत की चोटी से; निपतिता—गिर कर; गिरि-शिखरात्—कुमुद पर्वत की चोटी से; गिरि-शिखरम्—नील पर्वत की चोटी तक; अतिहाय—बिना स्पर्श किये पार करके; शृङ्गवतः—शृंगवान् पर्वत की; शृङ्गात्—चोटी से; अवस्यन्दमाना—प्रवाहित होकर; उत्तरान्—उत्तरी; तु—किन्तु; कुरून्—कुरु प्रदेश की; अभितः—चारों दिशाओं में; उदीच्याम्—उत्तरी; दिशि—दिशा में; जलधिम्—लवण सागर में; अभिप्रविशति—प्रवेश करती है।

गंगा की भद्रा नामक धारा मेरु पर्वत की उत्तरी दिशा से होकर बहती है। इसका जल क्रमशः कुमुद, नील, श्वेत तथा शृंगवान् पर्वतों की चोटियों पर गिरता है। फिर वह कुरु प्रदेश में से बहती हुई उत्तर में लवण सागर से मिल जाती है।

तथैवालकनन्दा दक्षिणेन ब्रह्मसदनाद्बहूनि गिरिकूटान्यतिक्रम्य हेमकूटाद्धैमकूटान्यतिरभसतररंहसा लुठयन्ती भारतमभिवर्षं दक्षिणस्यां दिशि जलधिमभिप्रविशति यस्यां स्नानार्थं चागच्छतः पुंसः पदे पदेऽश्वमेधराजसूयादीनां फलं न दुर्लभमिति. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तथा एव—इसी प्रकार; अलकनन्दा—अलकनन्दा नामक धारा; दक्षिणेन—दक्षिण दिशा से; ब्रह्म-सदनात्—ब्रह्मपुरी से; बहूनि—बहुत सी; गिरि-कूटानि—पर्वत चोटियों को; अतिक्रम्य—पार करके; हेमकूटात्—हेमकूट पर्वत से; हैमकूटानि—तथा हिमकूट; अति-रभसतर—अधिक भयावनी; रंहसा—अधिक वेग से; लुठयन्ती—अपहरण करती हुई; भारतम् अभिवर्षम्—भारतवर्ष के चारों ओर; दक्षिणस्याम्—दक्षिण; दिशि—दिशा में; जलधिम्—लवण सागर में; अभिप्रविशति—प्रवेश करती है; यस्याम्—जिसमें; स्नान-अर्थम्—स्नान हेतु; च—और; आगच्छतः—आये हुए; पुंसः—पुरुष; पदे पदे—प्रत्येक पग पर; अश्वमेध-राजसूय-आदीनाम्—अश्वमेध तथा राजसूय जैसे महान् यज्ञों का; फलम्—फल; न—नहीं; दुर्लभम्—प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है; इति—ऐसा।

इसी प्रकार अलकनन्दा ब्रह्मपुरी की दक्षिण दिशा से होकर बहती है। विभिन्न प्रदेशों में पर्वतों की चोटियों को पार करती हुई यह अत्यन्त वेग से हेमकूट तथा हिमकूट पर्वतों की चोटियों पर गिरती है। इन पर्वतों की चोटियों को आप्लावित करती हुई गंगा भारतवर्ष नामक भूभाग में गिरती है और उसे अपने जल से आपूरित करती चलती है। तत्पश्चात् यह दक्षिण दिशा

में लवण सागर में मिल जाती है। जो व्यक्ति इस नदी में स्नान करने आते हैं, वे भाग्यशाली हैं। उन्हें पग-पग पर राजसूय तथा अश्वमेध जैसे महान् यज्ञों के करने का फल प्राप्त करना दुष्कर नहीं है।

तात्पर्य : अब भी जहाँ बंगाल की खाड़ी के लवण जल में गंगा नदी मिलती है, वह स्थान गंगा सागर कहलाता है। जनवरी-फरवरी मास में मकर-संक्रान्ति के अवसर पर आज भी यहाँ हजारों लोग मुक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा से स्नान करने आते हैं और वास्तव में उनको मुक्ति प्राप्त होती है, जिसकी पुष्टि यहाँ की गई है। जो लोग किसी भी समय गंगा स्नान करते हैं उन्हें अश्वमेध तथा राजसूय जैसे महान् यज्ञों का फल प्राप्त होना कठिन नहीं होता है। आज भी भारत के अधिकांश लोग गंगा में स्नान करने के इच्छुक हैं और ऐसे अनेक स्थान हैं जहाँ वे स्नान कर सकते हैं। प्रयाग (इलाहाबाद) में प्रतिवर्ष जनवरी मास में गंगा तथा यमुना नदी के संगम पर स्नान करने के लिए लाखों लोग एकत्र होते हैं। इसके बाद वे बंगाल की खाड़ी तथा गंगा के संगम में स्नान करते हैं। भारत के लोगों के लिए यह विशेष सुविधा है कि वे अनेक तीर्थस्थानों पर गंगास्नान कर सकते हैं।

अन्ये च नदा नद्यश्च वर्षे वर्षे सन्ति बहुशो मेर्वादिगिरिदुहितरः शतशः. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अन्ये—अन्य अनेक; च—भी; नदाः—नदियाँ; नद्यः—छोटी नदियाँ; च—तथा; वर्षे वर्षे—प्रत्येक प्रदेश में; सन्ति—हैं; बहुशः—अनेक प्रकार की; मेरु-आदि-गिरि-दुहितरः—मेरु आदि पर्वतों की पुत्रियाँ; शतशः—सैकड़ों।

मेरु पर्वत की चोटी से अन्य अनेक छोटी तथा बड़ी नदियाँ निकलती हैं। ये नदियाँ पर्वत की पुत्रियों के तुल्य हैं और वे सैकड़ों धाराओं में विभिन्न भूप्रदेशों में बहती हैं।

तत्रापि भारतमेव वर्षं कर्मक्षेत्रमन्यान्यष्ट वर्षाणि स्वर्गिणां पुण्यशेषोपभोगस्थानानि भौमानि स्वर्गपदानि व्यपदिशन्ति. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तत्र अपि—इन सबों में से; भारतम्—भारतवर्ष नाम से विख्यात; एव—निश्चय ही; वर्षम्—भूखण्ड, प्रान्त; कर्म-क्षेत्रम्—कर्मक्षेत्र; अन्यानि—अन्य सभी; अष्ट वर्षाणि—आठ वर्ष (भूखण्ड); स्वर्गिणाम्—पवित्र कर्मों के फलस्वरूप स्वर्गलोक को प्राप्त जीवात्माओं के; पुण्य—पवित्र कर्मों के फल; शेष—बचे हुए; उपभोग-स्थानानि—भौतिक सुख के स्थान; भौमानि स्वर्ग-पदानि—पृथ्वी पर स्वर्गिक स्थानों के रूप में; व्यपदिशन्ति—कहलाते हैं।

नवों वर्षों में से भारतवर्ष नामक भूभाग कर्मक्षेत्र माना जाता है। विद्वान तथा सन्तजनों का कथन है कि अन्य आठ वर्ष अत्यन्त पुण्यात्माओं के निमित्त हैं। वे स्वर्गलोक से लौटकर इन

आठ भूप्रदेशों में अपने शेष पुण्यकर्मों का फल भोगते हैं।

तात्पर्य : स्वर्ग के भोगस्थानों को तीन श्रेणियो में विभाजित किया जाता है अपार्थिव स्वर्गलोक, भौम स्वर्गलोक, बिल स्वर्गलोक, जो निम्नतर भागों में पाये जाते हैं। इन तीनों श्रेणियों में से भौम स्वर्गलोक भारतवर्ष के अतिरिक्त आठ वर्षों के रूप में हैं। *भगवद्गीता* (९.२१) में श्रीकृष्ण कहते हैं—*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*—"पुण्यों के क्षय होने पर स्वर्ग में वास करने वाले व्यक्ति इस पृथ्वी पर लौट आते हैं।" इस प्रकार वे पहले स्वर्गलोक पहुँचते हैं और पुन: च्युत होकर पृथ्वी लोक पर आते हैं। यह क्रिया ब्रह्माण्ड-भ्रमण अर्थात् ब्रह्माण्ड भर में ऊपर-नीचे भ्रमण करना कहलाती है। जो बुद्धिमान हैं, वे ऊपर और नीचे के इस आवागमन में नहीं पड़ते। वे भगवान् की सेवा करते हुए अन्त में ब्रह्माण्ड के आवरण को भेदकर दिव्य लोक में प्रवेश करते हैं। फिर वे वैकुण्ठ लोक या इससे भी ऊपर स्थित कृष्णलोक (गोलोक वृन्दावन) में अवस्थित हो जाते हैं। भक्त कभी भी स्वर्गलोक तक उठने और फिर वहाँ से नीचे गिरने के बन्धन में नहीं पड़ते। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

एइ रूपे ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्तिलताबीज॥

ब्रह्माण्ड भर में चक्कर लगाने वाले समस्त जीवात्माओं में जो सर्वाधिक भाग्यवान् है, वही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रतिनिधि के सम्पर्क में आता है और सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त करता है। जो निष्ठा से श्रीकृष्ण की कृपा के लिए लालायित रहते हैं उन्हें ऐसा गुरु प्राप्त होता है जो श्रीकृष्ण का प्रामाणिक प्रतिनिधि होता है। मनोकल्पना करने वाले मायावादी तथा कर्मों के फल की इच्छा रखने वाले कर्मी गुरु नहीं बन सकते। गुरु को श्रीकृष्ण का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि होना चाहिए जो उनके निर्देशों को बिना किसी परिवर्तन के प्रसारित करे। इस प्रकार केवल भाग्यवान् व्यक्ति ही गुरु के सम्पर्क में आते हैं। जैसाकि वैदिक शास्त्रों से पुष्टि होती है—*तद्विज्ञानार्थं स गुरुम् एवाभिगच्छेत्*—आध्यात्मिक जगत के व्यापारों को समझने के लिए गुरु की खोज करनी होती है। *श्रीमद्भागवत* में भी इसकी पुष्टि की गई है—*तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासु: श्रेय उत्तमम्*—आध्यात्मिक जगत में कार्यों को जानने के इच्छुक व्यक्ति को गुरु की खोज अवश्य करनी चाहिए—ऐसा गुरु जो श्रीकृष्ण का प्रामाणिक प्रतिनिधि हो। अत: सभी दृष्टियों से गुरु शब्द का अर्थ श्रीकृष्ण का प्रामाणिक प्रतिनिधि होता है, अन्य कोई नहीं।

पद्मपुराण में कहा गया है—*अवैष्णवो गुरुर्न स्यात्*—जो वैष्णव नहीं हैं अर्थात् जो श्रीकृष्ण का प्रामाणिक प्रतिनिधि नहीं है, वह गुरु नहीं हो सकता। यहाँ तक कि योग्य ब्राह्मणों के छः शुभ लक्षण बताये गये हैं—वे अत्यन्त विद्वान (पठन) तथा अत्यन्त योग्य शिक्षक (पाठन) होते हैं, वे ईश्वर या देवताओं की पूजा (यजन) में दक्ष होते हैं, वे दूसरों को पूजाविधि सिखाते हैं (याजन), वे दूसरों से भिक्षा ग्रहण करने के सुपात्र होते हैं (प्रतिग्रह) और वे दान द्वारा धन का वितरण करते हैं (दान)। इन समस्त योग्यताओं के होने पर भी यदि कोई ब्राह्मण श्रीकृष्ण का प्रतिनिधि नहीं है, तो वह गुरु नहीं बन सकता (*गुरुर्न स्यात्*)। किन्तु *वैष्णवः श्वपचो गुरुः*—श्वपच अर्थात् कुकर-भक्षी परिवार का होकर भी भगवान् विष्णु का प्रामाणिक प्रतिनिधि वैष्णव गुरु बन सकता है। स्वर्गलोक की तीन श्रेणियों में से *भौम स्वर्ग* को कभी-कभी भारतवर्ष के एक भूभाग के रूप में स्वीकार किया जाता है जो कश्मीर के नाम से विख्यात है। इस भूभाग में निश्चय ही इन्द्रियसुख की अनेक सुविधाएँ प्राप्त हैं, किन्तु विशुद्ध इन्द्रियातीत जनों को इससे कोई सरोकार नहीं होता। रूप गोस्वामी ने विशुद्ध इन्द्रियातीत जनों के कार्य का निम्न प्रकार वर्णन किया है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

"मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् की दिव्य सेवा बिना किसी लाभ की आकांक्षा किये या सकाम कर्मों के द्वारा अथवा मीमांसा द्वारा करे। यही विशुद्ध सेवा कहलाती है।" जो श्रीकृष्ण को रिझाने के लिए उनकी सेवा में पूर्णतः लगे रहते हैं, वे स्वर्ग की तीन प्रकार की श्रेणियों *दिव्य स्वर्ग*, *भौम स्वर्ग* तथा *बिल स्वर्ग* में से किसी में भी रुचि नहीं रखते।

एषु पुरुषाणामयुतपुरुषायुर्वर्षाणां देवकल्पानां नागायुतप्राणानां वज्रसंहननबलवयोमोदप्रमुदितमहासौरतमिथुनव्यवायापवर्गवर्षधृतैकगर्भकलत्राणां तत्र तु त्रेतायुगसमः कालो वर्तते. ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

एषु—इन आठ वर्षों में; पुरुषाणाम्—समस्त पुरुषों में; अयुत—दस हजार; पुरुष—व्यक्ति, पुरुष; आयुः-वर्षाणाम्—वे जिनकी आयु; देव-कल्पानाम्—जो देवताओं के सदृश हैं; नाग-अयुत-प्राणानाम्—दस हजार हाथियों के बल वाले; वज्र-संहनन—वज्र के समान ठोस शरीर के द्वारा; बल—शारीरिक शक्ति; वयः—यौवन से; मोद—प्रचुर इन्द्रियभोग द्वारा; प्रमुदित—उत्तेजित होकर; महा-सौरत—अत्यधिक विषयभोग सम्बन्धी; मिथुन—पुरुष-स्त्री समागम, प्रसंग; व्यवाय-अपवर्ग—रतिजन्य सुख की अवधि के अन्त में; वर्ष—अन्तिम वर्ष में; धृत-एक-गर्भ—एक गर्भ धारण करने वाली; कलत्राणाम्—

पत्नियों के; तत्र—वहाँ; तु—लेकिन; त्रेता-युग-समः—त्रेता युग (जिसमें कोई ताप नहीं रहता) के ही समान; कालः—समय; वर्तते—रहता है।.

गणना के अनुसार इन आठ भूभागों में मानव प्राणी पृथ्वी लोक की गणना के अनुसार दस हजार वर्षों तक जीवित रहते हैं। इनके सभी निवासी प्रायः देवताओं के तुल्य हैं। उनमें दस हजार हाथियों का बल होता है। दरअसल, उनके शरीर वज्र की भाँति कठोर होते हैं। उनके जीवन का यौवनकाल अत्यन्त आनन्ददायक होता है और स्त्री तथा पुरुष दीर्घकाल तक आनन्द-पूर्वक यौन-समागम करते हैं। वर्षों तक इन्द्रियसुख भोगने के पश्चात् जब जीवन का एक वर्ष शेष रह जाता है, तो स्त्री गर्भवती होती है। इस प्रकार इन स्वर्गलोकों के वासी वैसा ही आनन्द उठाते हैं जैसा कि त्रेता युग के मानव प्राणी।

तात्पर्य : युग चार होते हैं—सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग तथा कलियुग। सत्ययुग में सभी मनुष्य अत्यन्त पवित्र होते थे। सारे व्यक्ति आत्मज्ञान तथा भगवत्-साक्षात्कार के लिए योगाभ्यास करते थे। समाधि में लीन रहने के कारण किसी की भी रुचि भौतिक इन्द्रियसुख में नहीं रहती थी। त्रेतायुग में प्राणी किसी प्रकार का कष्ट सहे बिना इन्द्रियसुख भोगते थे। द्वापरयुग में भौतिक तापों का प्रारम्भ हुआ, किन्तु वे अधिक कष्टप्रद न थे। वास्तव में कलियुग के आते ही कठिन भौतिक तापों का आरम्भ हुआ।

इस श्लोक में जो दूसरी बात कही गई है, वह यह है कि इन आठों दिव्य वर्षों में स्त्री तथा पुरुष द्वारा इन्द्रियसुख भोगते रहने पर भी गर्भाधान नहीं होता है। गर्भाधान तो निम्न योनियों में होता है। उदाहरणार्थ, कुतिया तथा सुअरी वर्ष में दो बार गर्भ धारण करती हैं और प्रत्येक बार कम से कम आधा दर्जन बच्चे उत्पन्न होते हैं। सर्प जैसी निम्नतर योनियों में भी एक बार में सैकड़ों बच्चे पैदा होते हैं। इस श्लोक से यह सूचित होता है कि हमारे उच्च योनियों में जीवनपर्यन्त केवल एक बार गर्भाधान होता है। पुरुष के संग संभोग करने पर भी स्त्री के गर्भाधान नहीं होता। दिव्यलोक के प्राणी कामेच्छा के प्रति अधिक आकर्षित नहीं होते जिसका कारण भक्ति की ओर उनकी उच्च मनोवृत्ति है। एक तरह से देखा जाये तो दिव्य लोक में कामेच्छा होती ही नहीं और यदि कभी हुई भी तो गर्भाधान नहीं होता। किन्तु पृथ्वी लोक में गर्भाधान होता है, भले ही लोग सन्तानों से कितना ही क्यों न बचना चाहें। इस पापी कलियुग में तो मनुष्य गर्भ में ही शिशु-हत्या करने लगे हैं। यह अत्यन्त नीच कर्म है, इससे कर्ता के भौतिक कष्टों में वृद्धि ही होती है।

**यत्र ह देवपतयः स्वैः स्वैर्गणनायकैर्विहितमहार्हणाः
सर्वर्तुकुसुमस्तबकफलकिसलयश्रियानम्यमानविटपलताविटपिभिरुपशुम्भमानरुचिरकाननाश्रमायतनव
र्षगिरिद्रोणीषु तथा चामलजलाशयेषु
विकचविविधनववनरुहामोदमुदितराजहंसजलकुक्कुटकारण्डवसारसचक्रवाकादिभिर्मधुकरनिकराकृति
भिरुपकूजितेषु जलक्रीडादिभिर्विचित्रविनोदैः सुललितसुरसुन्दरीणां
कामकलिलविलासहासलीलावलोकाकृष्टमनोदृष्टयः स्वैरं विहरन्ति. ॥ १३ ॥**

शब्दार्थ

यत्र ह—उन आठों भूखण्डों में; देव-पतयः—देवताओं के स्वामी, यथा इन्द्र; स्वैः स्वैः—अपने अपने; गण-नायकैः—सेवकों के नेताओं द्वारा; विहित—अलंकृत; महा-अर्हणाः—मूल्यवान भेंटें यथा चन्दन तथा मालाएँ; सर्व-ऋतु—समस्त ऋतुओं में; कुसुम-स्तबक—पुष्प गुच्छ, फूलों का गुच्छा; फल—फल का; किसलय-श्रिया—कोपलों की श्री (वैभव); आनम्यमान—नमित; विटप—जिसकी शाखाएँ; लता—तथा बेलें; विटपिभिः—अनेक वृक्षों से; उपशुम्भमान—पूर्णतया अलंकृत; रुचिर—सुन्दर; कानन—उद्यान; आश्रम-आयतन—और अनेक आश्रमों; वर्ष-गिरि-द्रोणीषु—भूखण्ड की सीमा के सूचक पर्वतों के बीच की घाटियाँ; तथा—और; च—भी; अमल-जल-आशयेषु—विमल जल वाले सरोवरों में; विकच—सद्यः विकसित; विविध—अनेक प्रकार के; नव-वनरुह-आमोद—कमल पुष्पों की सुरभि से; मुदित—प्रसन्न; राज-हंस—बड़े-बड़े हंस; जल-कुक्कुट—जल मुर्गी; कारण्डव—कारण्डव नामक जल पक्षी; सारस—सारस पक्षी; चक्रवाक-आदिभिः—चक्रवाक तथा अन्य पक्षी; मधुकर-निकर-आकृतिभिः—भौंरों के समूह द्वारा; उपकूजितेषु—प्रतिध्वनित; जल-क्रीडा-आदिभिः—जलक्रीड़ा आदि के द्वारा; विचित्र—विविध; विनोदैः—आमोद-प्रमोद से; सु-ललित—आकर्षक; सुर-सुन्दरीणाम्—देवताओं की पत्नियों की; काम—भोगेच्छा; कलिल—उत्पन्न; विलास—आमोद-प्रमोद; हास—मुस्कान; लीला-अवलोक—बाँकी चितवन द्वारा; आकृष्ट-मनः—जिनके मन आकृष्ट होते रहते हैं; दृष्टयः—तथा जिनकी दृष्टि आकृष्ट हो जाती है; स्वैरम्—स्वेच्छापूर्वक; विहरन्ति—विहार करते हैं।

इन भूखण्डों में से प्रत्येक में ऋतुओं के अनुसार फूलों तथा फलों से पूरित अनेक उद्यान एवं मनोहर ढंग से अलंकृत आश्रम हैं। इन भूखण्डों की सीमा बताने वाले विशाल पर्वतों के बीच निर्मल जल से पूरित विशाल सरोवर हैं जिनमें कमल के नए पुष्प खिले हुए हैं। इन कमल पुष्पों की सुगन्धि से हंस, बत्तख, जलमुर्गियाँ तथा सारस जैसे जल-पक्षी अत्यन्त उत्तेजित होते हैं और भौरों के मोहक गुंजन से वायु पूरित रहती है। इन भूखण्डों के निवासी देवताओं के प्रमुख नायक हैं। अपने सेवकों से सेवित ये लोग सरोवरों के तटवर्ती उद्यानों में जीवन का आनन्द उठाते हैं। ऐसे मोहक वातावरण में देवताओं की पत्नियाँ अपने पतियों से हास-परिहास करती हैं और उन्हें कामेच्छा से पूर्ण बाँकी चितवन से देखती हैं। सभी देवताओं एवं उनकी पत्नियों पर उनके सेवक सदैव चन्दन तथा पुष्पमालाएँ चढ़ाते रहते हैं। इस प्रकार आठों स्वर्गिक वर्षों के रहने वाले लोग स्त्रियों की क्रियाओं से आकृष्ट होकर जीवन का आनन्द भोगते रहते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर निम्नस्थ स्वर्गलोकों का वर्णन हुआ है। इन लोकों के वासी मोहक वातावरण में जीवन-उपभोग करते हैं जहाँ स्वच्छ सरोवर नए उगे कमल पुष्पों से और उद्यान नाना प्रकार के

फलफूलों, पक्षियों तथा गुंजार करते भौंरों से भरे रहते हैं। ऐसे वातावरण में वे अपनी अत्यन्त सुन्दर एवं कामासक्त पत्नियों के साथ आनन्दमग्न रहते हैं। तो भी वे सब भगवान् के भक्त होते हैं। जैसाकि अगले श्लोकों में बताया गया है। इस पृथ्वी के निवासी भी ऐसे स्वर्गिक सुखोपभोग की आकांक्षा करते हैं, किन्तु उन्हें जैसे तैसे कामसुख तथा नशा जैसे कृत्रिम आनन्दों की प्राप्ति हो जाती है, तो वे भगवान् की सेवा सर्वथा भूल जाते हैं। किन्तु स्वर्ग लोकों में उच्चस्तर के इन्द्रियसुख का भोग करते हुए भी वहाँ के वासी यह कभी नहीं भूलते कि वे परम-पुरुष के शाश्वत सेवक हैं।

नवस्वपि वर्षेषु भगवान्नारायणो महापुरुषः पुरुषाणां तदनुग्रहायात्मतत्त्वव्यूहेनात्मनाद्यापि सन्निधीयते. ॥ १४॥

शब्दार्थ

नवसु—नवों; अपि—निश्चय ही; वर्षेषु—वर्षों में; भगवान्—श्रीभगवान्; नारायणः—विष्णु; महा-पुरुषः—परम पुरुष; पुरुषाणाम्—विभिन्न भक्तों में; तत्-अनुग्रहाय—कृपा प्रदर्शित करने के लिए; आत्म-तत्त्व-व्यूहेन—अपने चतुर्गुण रूपों वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध में विस्तार करके; आत्मना—स्वयं; अद्य अपि—आज तक; सन्निधीयते—उनकी सेवा स्वीकार करने के लिए भक्तों के निकट हैं।.

इन सभी नौ वर्षों में अपने भक्तों पर कृपा करने के लिए पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, जिन्हें नारायण कहा जाता है, अपने चतुर्व्यूह रूपों—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध—में विस्तार करते हैं। इस प्रकार अपने भक्तों की सेवा स्वीकार करने के लिए वे उनके निकट रहते हैं।

तात्पर्य : इस प्रसंग में विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने बताया है कि सभी देवता परमेश्वर की उनके विविध श्रीविग्रह (अर्चा-विग्रह) रूपों में इसलिए पूजा करते हैं, क्योंकि दिव्य लोक के अतिरिक्त अन्यत्र साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की प्रत्यक्ष पूजा नहीं की जा सकती। भौतिक जगत में भगवान् की पूजा मन्दिर में अर्चा-विग्रह अथवा श्रीविग्रह के रूप में की जाती है। अर्चा-विग्रह तथा मूल पुरुष में कोई अन्तर नहीं होता, अत: जो लोग इस लोक में ऐश्वर्यपूर्ण मन्दिरों में श्रीविग्रह की पूजा करने में रत रहते है उन्हें निश्चित रूप से श्रीभगवान् के प्रत्यक्ष सम्पर्क में मानना चाहिए। शास्त्रों में जैसाकि कहा गया है—*अर्च्ये विष्णौ शिलाधीर्गुरुषु नरमतिः*—"न तो मन्दिर स्थित श्रीविग्रह को पत्थर या धातु मानना चाहिए और न ही गुरु को सामान्य व्यक्ति।" प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह इस शास्त्र के इस आदेश का पालन करके श्रीभगवान् के श्रीविग्रह की पूजा निरपराध भाव से करे। गुरु ईश्वर का साक्षात्

प्रतिनिधि होता है—कोई उसे सामान्य व्यक्ति न समझे। कोई भी व्यक्ति श्रीविग्रह तथा गुरु के प्रति अपराध से विरत रहकर अपने आध्यात्मिक जीवन को उन्नत कर सकता है अथवा कृष्णभावनाभावित हो सकता है।

इस सम्बन्ध में *लघुभागवतामृत* में प्राप्त निम्नलिखित उद्धरण द्रष्टव्य है—

पाद्मे तु परमव्योम्नः पूर्वाद्ये दिक्चतुष्टये।

वासुदेवादयो व्यूहश्चत्वारः कथिताः क्रमात्॥

तथा पादविभूतौ च निवसन्ति क्रमादि मे।

जलावृतिस्थवैकुण्ठस्थित वेदवतीपुरे॥

सत्योर्ध्वे वैष्णवे लोके नित्याख्ये द्वारकापुरे।

शुद्धोदादुत्तरे श्वेतद्वीपे चैरावतीपुरे॥

क्षीराम्बुधिस्थितान्ते क्रोडपर्यंकधामनि

सात्वतीये क्वचित् तन्त्रे नव व्यूहाः प्रकीर्तिताः।

चत्वारो वासुदेवाद्या नारायणनृसिंहकौ॥

हयग्रीवो महाक्रोडो ब्रह्मा चेति नवोदिताः।

तत्र ब्रह्मा तु विज्ञेयः पूर्वोक्तविधया हरिः॥

''पद्मपुराण में यह कहा गया है कि आध्यात्मिक लोक में भगवान् स्वतः समस्त दिशाओं में विस्तार करते हैं और वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध रूप में पूजित हैं। वे ही भगवान् इस भौतिक जगत में जो उनकी सृष्टि का चतुर्थांश हैं श्रीविग्रह रूप में प्रदर्शित किये जाते हैं। इस भौतिक जगत की चारों दिशाओं में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध भी उपस्थित रहते हैं। इस भौतिक जगत में जल के नीचे वैकुण्ठ लोक है, जिसमें वेदवती नामक स्थान है जहाँ वासुदेव स्थित है। एक अन्य लोक, जिसे विष्णुलोक कहते हैं, सत्यलोक के ऊपर स्थित है, जहाँ संकर्षण उपस्थित हैं। इसी प्रकार द्वारकापुरी में प्रद्युम्न का आधिपत्य है। श्वेतद्वीप में क्षीर सागर है। इसी सागर के मध्य में ऐरावती पुर नामक स्थान है जहाँ अनन्तशायी अनिरुद्ध हैं। कतिपय सात्वत तंत्रों में नौ वर्षों एवं उनमें पूजित प्रधान श्रीविग्रहों का वर्णन मिलता है। वे है—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण, नृसिंह,

हयग्रीव, महावराह तथा ब्रह्मा।'' इस प्रसंग में स्वयं ब्रह्मा ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। जब कोई जीव ब्रह्मा बनने के योग्य नहीं पाया जाता है, तो भगवान् स्वयं ब्रह्मा का स्थान ले लेते हैं। *तत्र ब्रह्मा तु विज्ञेय: पूर्वोक्तविधया हरि: ।* यहाँ पर वर्णित ब्रह्मा साक्षात् हरि हैं।

इलावृते तु भगवान्भव एक एव पुमान्न ह्यन्यस्तत्रापरो निर्विशति भवान्या: शापनिमित्तज्ञो यत्प्रवेक्ष्यत: स्त्रीभावस्तत्पश्चाद्वक्ष्यामि. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

इलावृते—इलावृत-वर्ष में; तु—लेकिन; भगवान्—सर्वशक्तिमान; भव:—भगवान् शिव; एक—एकमात्र; एव—निश्चय ही; पुमान्—पुरुष; न—नहीं; हि—अवश्य ही; अन्य:—दूसरा कोई; तत्र—वहाँ; अपर:—के अतिरिक्त; निर्विशति—प्रवेश करता है; भवान्या: शाप-निमित्त-ज्ञ:—शिव की पत्नी भवानी के शाप का कारण जानने वाला; यत्-प्रवेक्ष्यत:—बलपूर्वक उस प्रदेश में प्रवेश करने वाले का; स्त्री-भाव:—स्त्री में परिवर्तन; तत्—वह; पश्चात्—बाद में; वक्ष्यामि—मैं व्याख्या करूँगा।.

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—इलावृत वर्ष नामक भूखण्ड में भगवान् शिव ही एकमात्र पुरुष हैं जो देवताओं में सर्वाधिक शक्तिमान है। भगवान् शिव की पत्नी देवी दुर्गा नहीं चाहतीं कि उस प्रदेश में कोई भी पुरुष प्रवेश करे। यदि कोई मूर्ख पुरुष प्रवेश करने का दुस्साहस करता है, तो वे उसे तत्क्षण स्त्री में परिणत कर देती हैं। इसकी व्याख्या मै बाद में (नवम स्कन्ध में) करूँगा।

भवानीनाथै: स्त्रीगणार्बुदसहस्त्रैरवरुध्यमानो भगवतश्चतुर्मूर्तेर्महापुरुषस्य तुरीयां तामसीं मूर्तिं प्रकृतिमात्मन: सङ्कर्षणसंज्ञामात्मसमाधिरूपेण सन्निधाप्यैतदभिगृणन्भव उपधावति. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

भवानी-नाथै:—भवानी के संग से; स्त्री-गण—स्त्रियों का; अर्बुद-सहस्त्रै:—सौ अरब; अवरुध्यमान:—सदैव सेवित होकर; भगवत: चतु:-मूर्ते:—चतुर्गुण रूप में विस्तारित श्रीभगवान्; महा-पुरुषस्य—परम पुरुष का; तुरीयाम्—चतुर्थ विस्तार; तामसीम्—तमोगुण से सम्बद्ध; मूर्तिम्—रूप; प्रकृतिम्—स्त्रोत स्वरूपा; आत्मन:—स्वयं (भगवान् शिव) का; सङ्कर्षण-संज्ञाम्—संकर्षण नाम से विख्यात; आत्म-समाधि-रूपेण—समाधि में स्वयं के ध्यान के द्वारा; सन्निधाप्य—निकट लाकर; एतत्—यह; अभिगृणन्—स्पष्ट रूप से कीर्तन करके; भव:—भगवान् शिव; उपधावति—पूजा करता है।.

इलावृत्त वर्ष में भगवान् शंकर सदैव दुर्गा की सौ अरब दासियों से घिरे रहते है जो उनकी सेवा करती हैं। परमात्मा का चतुर्गुण विस्तार वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा संकर्षण में हुआ है। इनमें चतुर्थ विस्तार संकर्षण है जो निश्चित रूप से दिव्य है, किन्तु भौतिक जगत में उनका संहार-कार्य तमोगुणमय है, अत: वे तामसी अर्थात् तमोगुणी-ईश्वर कहलाते हैं। भगवान् शिव को ज्ञात है कि संकर्षण उनके अपने अस्तित्व के मूल कारण हैं, अत: वे समाधि में निम्नलिखित

मंत्र का जप करते हुए उनका ध्यान करते हैं।

तात्पर्य : कभी-कभी हम भगवान् शंकर का ध्यानावस्थित चित्र देखते हैं। इस श्लोक में बताया गया है कि शिवजी समाधि में सदा संकर्षण का ध्यान करते रहते हैं। शिव इस जगत के संहारक हैं। ब्रह्मा इस जगत की सृष्टि करते हैं तथा भगवान् विष्णु इसका पालन करते हैं और शिवजी इसका संहार करते हैं। चूँकि संहार तमोगुण है, अत: शिवजी तथा उनके उपास्य संकर्षण को तामसी कहा गया है। शिवजी तमोगुण के अवतार हैं। चूँकि शिवजी तथा संकर्षण दोनों प्रबुद्ध हैं और दिव्य पद पर स्थित हैं, अत: वे भौतिक गुणों—सतो, रजो तथा तमो—से कोई सरोकार नहीं रखते, किन्तु उनके कर्म उन्हें तमोगुणी बनाते हैं, अत: वे कभी-कभी तामसी कहलाते हैं।

श्रीभगवानुवाच
ॐ नमो भगवते महापुरुषाय सर्वगुणसङ्ख्यानायानन्तायाव्यक्ताय नम इति. ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् शंकर कहते हैं; ॐ नमो भगवते—भगवान् को मैं आदरपूर्वक प्रणाम करता हूँ; महा-पुरुषाय—आप महापुरुष है; सर्व-गुण-सङ्ख्यानाय—समस्त दिव्य गुणों के आगार; अनन्ताय—अपरिमित; अव्यक्ताय—भौतिक जगत में न प्रगट होने वाले; नमः—प्रणाम करता हूँ; इति—इस प्रकार।

परम शक्तिमान भगवान् शिव कहते हैं—हे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, मैं संकर्षण के रूप में आपको प्रणाम करता हूँ। आप समस्त दिव्य गुणों के आगार हैं। अनन्त होकर भी आप अभक्तों के लिए अप्रकट रहते हैं।

भजे भजन्यारणपादपङ्कजं
भगस्य कृत्स्नस्य परं परायणम् ।
भक्तेष्वलं भावितभूतभावनं
भवापहं त्वा भवभावमीश्वरम् ॥ १८॥

शब्दार्थ

भजे—मैं पूजा करता हूँ; भजन्य—हे आराध्य स्वामी; अरण-पाद-पङ्कजम्—जिसके चरणकमल भक्तों के सभी प्रकार के भयों से रक्षा करते हैं; भगस्य—ऐश्वर्य का; कृत्स्नस्य—विभिन्न प्रकार के (धन, यश, बल, ज्ञान, रूप तथा त्याग); परम्—श्रेष्ठ; परायणम्—परम शरण; भक्तेषु—भक्तों के लिए; अलम्—अनुमान से परे; भावित-भूत-भावनम्—भक्तों के परितोष के लिए अपने विभिन्न रूपों को प्रकट करने वाला; भव-अपहम्—भक्त के जन्म-मरण चक्र को रोकने वाले; त्वा—आपको; भव-भावम्—भौतिक सृष्टि का मूल; ईश्वरम्—भगवान् को।

हे प्रभो, आप ही एकमात्र आराध्य हैं, क्योंकि आप ही समस्त ऐश्वर्यों के आगार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। आपके चरण-कमल भक्तों के एकमात्र आश्रय हैं। आप भक्तों को अपने

नाना रूपों द्वारा सन्तुष्ट करने वाले हैं। हे प्रभो, आप अपने भक्तों को भौतिक संसार के चंगुल से छुड़ाने वाले हैं। आपकी इच्छा से ही अभक्त लोग इस भौतिक संसार में उलझे रहते हैं। कृपया मुझे अपने नित्य दास के रूप में स्वीकार करें।

न यस्य मायागुणचित्तवृत्तिभि-
र्निरीक्षतो ह्यण्वपि दृष्टिरज्यते ।
ईशे यथा नोऽजितमन्युरंहसां
कस्तं न मन्येत जिगीषुरात्मनः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; यस्य—जिसकी; माया—माया शक्ति, माया; गुण—गुणों में; चित्त—हृदय की; वृत्तिभिः—क्रियाओं के द्वारा (चिन्तन, अनुभव तथा इच्छा); निरीक्षतः—निरीक्षण करने वाले का; हि—निश्चय ही; अणु—कुछ-कुछ; अपि—भी; दृष्टिः—दृष्टि; अज्यते—प्रभावित होती है; ईशे—नियमन हेतु; यथा—जिस प्रकार; नः—हम लोगों का; अजित—जो जीता न जा सके; मन्यु—क्रोध के; रंहसाम्—वेग को; कः—कौन; तम्—उस (ईश्वर) को; न—नहीं; मन्येत—पूजा करेगा; जिगीषुः—जीतने की कामना करने वाला; आत्मनः—इन्द्रियों को।

हम अपने क्रोध के वेग को रोक नहीं पाते, अतः जब हम भौतिक वस्तुओं को देखते हैं तो उनसे आकर्षित या विकर्षित हुए बिना नहीं रह पाते। किन्तु परमेश्वर इस प्रकार कभी भी प्रभावित नहीं होते। यद्यपि इस भौतिक जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार के हेतु इस पर दृष्टिपात करते हैं, किन्तु इससे रंचमात्र भी प्रभावित नहीं होते। अतः वह जो अपनी इन्द्रियों के वेग पर विजय प्राप्त करना चाहता है, उसे श्रीभगवान् के चरमकमलों की शरण लेनी चाहिए। तभी वह विजयी होगा।

तात्पर्य : भगवान् सदा अचिन्त्य शक्तियों से युक्त रहते हैं। यद्यपि उनके द्वारा भौतिक शक्ति (माया) पर दृष्टिपात करते ही सृष्टि हो जाती है, किन्तु भौतिक प्रकृति के गुणों से वे अप्रभावित रहते है। जब भगवान् इस भौतिक जगत में प्रकट होते हैं, तो उनकी दिव्य स्थिति के कारण भौतिक प्रकृति के गुण उनमें व्याप्त नहीं होते। इसीलिए भगवान् दिव्य कहलाते हैं। फलतः जो भी भौतिक प्रकृति के गुणों के प्रभाव से बचना चाहता है उसे उनकी शरण ग्रहण करनी चाहिए।

असद्दृशो यः प्रतिभाति मायया
क्षीबेव मध्वासवताम्रलोचनः ।
न नागवध्वोऽर्हण ईशिरे ह्रिया

यत्पादयोः स्पर्शनधर्षितेन्द्रियाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

असत्-दृशः—कुत्सित दृष्टि वाले व्यक्ति के हेतु; यः—जो; प्रतिभाति—प्रतीत होता है; मायया—माया के वश में; क्षीबः—क्रुद्ध; इव—सदृश; मधु—शहद; आसव—तथा सुरा द्वारा; ताम्र-लोचनः—ताँबे के समान रक्तनेत्र वाला; न—नहीं; नाग-वध्वः—नागों की स्त्रियाँ; अर्हणे—पूजन; ईशिरे—करने में अशक्त; ह्रिया—लज्जावश; यत्-पादयोः—जिसके चरणकमल के; स्पर्शन—स्पर्श से; धर्षित—उत्तेजित; इन्द्रियाः—जिसकी इन्द्रियाँ।

कुत्सित दृष्टि वाले व्यक्तियों के लिए भगवान् के नेत्र मदिरा पीये हुए उन्मत्त पुरुष जैसे हैं। ऐसे अविवेकी पुरुष भगवान् पर रुष्ट होते हैं और अपने रोषवश उन्हें श्रीभगवान् अत्यन्त रुष्ट एवं भयावह लगते हैं। किन्तु यह माया है। जब भगवान् के चरणकमलों के स्पर्श से नाग-वधुएँ उत्तेजित हुईं तो वे लज्जावश उनकी और अधिक आराधना नहीं कर पाईं फिर भी भगवान् उनके स्पर्श से उत्तेजित नहीं हुए, क्योंकि समस्त परिस्थितियों में वे धीर बने रहते हैं। अतः ऐसा कौन होगा जो भगवान् की आराधना करना नहीं चाहेगा?

तात्पर्य : उत्तेजना का कारण रहते हुए भी जो उत्तेजित नहीं होता वह धीर कहलाता है। भगवान् सदैव दिव्य स्थिति में रहने के कारण कभी भी किसी प्रकार उत्तेजित नहीं होते। अतः यदि कोई धीर बनना चाहता है, तो उसे भगवान् के चरणकमलों की शरण में जाना चाहिए। *भगवद्गीता* (२.१३) में श्रीकृष्ण का कथन है, *धीरस्तत्र न मुह्यति*—ऐसा पुरुष जो सभी परिस्थितियों में धीर बना रहता है कभी किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं होता। प्रह्लाद महाराज धीर के ज्वलन्त उदाहरण हैं। जब नृसिंहदेव हिरण्यकशिपु का वध करने के लिए अपने विकराल रूप में प्रकट हुए तो प्रह्लाद तनिक भी उत्तेजित नहीं हुए। वे शान्त और स्थिर बने रहे, जबकि अन्य सभी, यहाँ तक कि ब्रह्माजी भी, भगवान् के रूप से भयभीत हो गए थे।

यमाहुरस्य स्थितिजन्मसंयमं
त्रिभिर्विहीनं यमनन्तमृषयः ।
न वेद सिद्धार्थमिव क्वचित्स्थितं
भूमण्डलं मूर्धसहस्रधामसु ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको; आहुः—उन्होंने कहा; अस्य—इस भौतिक जगत की; स्थिति—पोषण; जन्म—सृष्टि; संयमम्—संहार; त्रिभिः—इन तीनों; विहीनम्—से रहित; यम्—जो; अनन्तम्—अनन्त, असीम्; ऋषयः—समस्त महान् ऋषि; न—नहीं; वेद—अनुभव करते हैं; सिद्ध-अर्थम्—सरसों का बीज; इव—के समान; क्वचित्—जहाँ; स्थितम्—स्थित; भू-मण्डलम्—यह ब्रह्माण्ड; मूर्ध-सहस्र-धामसु—भगवान् के सैकड़ों हजारों फणों पर।

शिवजी कहते हैं—सभी महान् ऋषि भगवान् को सृजक, पालक और संहारक के रूप में स्वीकार करते हैं, यद्यपि वास्तव में उनका इन कार्यों से कोई सरोकार नहीं है। इसीलिए श्रीभगवान् को अनन्त कहा गया है। यद्यपि शेष अवतार के रूप में वे अपने फणों पर समस्त ब्रह्माण्डों को धारण करते हैं, किन्तु प्रत्येक ब्रह्माण्ड उन्हें सरसों के बीज से अधिक भारी नहीं लगता। अतः सिद्धि का इच्छुक ऐसा कौन पुरुष होगा जो ईश्वर की आराधना नहीं करेगा?

तात्पर्य : श्रीभगवान् के शेष या अनन्त अवतार में असीम शक्ति, यश, वैभव, ज्ञान, सौन्दर्य तथा त्याग भरा है। इस श्लोक में बताया गया है कि अनन्त अवतार में इतनी महान् शक्ति है कि उनके फणों पर असंख्य ब्रह्माण्ड टिके हैं। उनका शरीर हजार फणों वाले सर्प की भाँति है और अपार शक्ति होने के कारण फणों पर टिके सभी ब्रह्माण्ड सरसों के बीज से अधिक भारी नहीं प्रतीत होते। हम सहज कल्पना कर सकते हैं कि सर्प फण पर स्थित सरसों का बीज कितना नगण्य होता है। इस प्रसंग में पाठकों को चाहिए कि वे *चैतन्यचरितामृत आदिलीला* अध्याय श्लोक ११७-१२ पढ़ें। उसमें यह कहा गया है कि अनन्त शेषनाग के रूप में श्रीविष्णु का अवतार समस्त ब्रह्माण्डों को अपने फणों पर धारण किये है। हमारी गणना के अनुसार भले ही कोई ब्रह्माण्ड कितना ही भारी क्यों न हो, किन्तु अनन्त होने के कारण श्रीभगवान् को वह सरसों के बीज से अधिक भारी नहीं लगता।

यस्याद्य आसीद्गुणविग्रहो महान्
विज्ञानधिष्ण्यो भगवानजः किल ।
यत्सम्भवोऽहं त्रिवृता स्वतेजसा
वैकारिकं तामसमैन्द्रियं सृजे ॥ २२॥
एते वयं यस्य वशे महात्मनः
स्थिताः शकुन्ता इव सूत्रयन्त्रिताः ।
महानहं वैकृततामसेन्द्रियाः
सृजाम सर्वे यदनुग्रहादिदम् ॥ २३॥

शब्दार्थ

यस्य—जिससे; आद्यः—आरम्भ; आसीत्—था; गुण-विग्रहः—गुणों का अवतार; महान्—सम्पूर्ण माया; विज्ञान—सम्पूर्ण ज्ञान का; धिष्ण्यः—आगार; भगवान्—सर्व-शक्तिमान; अजः—भगवान् ब्रह्मा; किल—निश्चय ही; यत्—जिससे; सम्भवः—उत्पन्न, सम्भूत; अहम्—मैं; त्रि-वृता—तीन गुणों के अनुसार तीन प्रकार का; स्व-तेजसा—अपनी शक्ति से; वैकारिकम्—सभी देवता; तामसम्—भौतिक तत्त्व; ऐन्द्रियम्—इन्द्रियाँ; सृजे—उत्पन्न करता हूँ; एते—इन सबों को; वयम्—हम; यस्य—जिसके; वशे—वश में; महा-आत्मनः—महान् पुरुष; स्थिताः—स्थित; शकुन्ताः—गृद्ध; इव—सदृश; सूत्र-यन्त्रिताः—सूत्र (डोरी) के

द्वारा बद्ध; महान्—महत्तत्व; अहम्—मैं; वैकृत—देवतागण; तामस—पाँच तत्त्व; इन्द्रियाः—इन्द्रियाँ; सृजामः—हम सृष्टि करते हैं; सर्वे—हम सभी; यत्—जिसकी; अनुग्रहात्—कृपा से; इदम्—यह भौतिक जगत।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से ही ब्रह्माजी प्रकट होते हैं, जिनका शरीर महत् तत्त्व से निर्मित है और वह भौतिक प्रकृति के रजोगुण द्वारा प्रभावित बुद्धि का आगार है। ब्रह्माजी से मैं स्वयं मिथ्या अहंकार रूप में, जिसे रुद्र कहते हैं, उत्पन्न होता हूँ। मैं अपनी शक्ति से अन्य समस्त देवताओं, पंच तत्त्वों तथा इन्द्रियों को जन्म देता हूँ। अतः मैं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की आराधना करता हूँ। वे हम सबों से श्रेष्ठ हैं और सभी देवता, महत् तत्त्व तथा इन्द्रियाँ, यहाँ तक कि ब्रह्माजी और स्वयं मैं उनके वश में वैसे ही हैं जिस प्रकार कि डोरी से बँधे पक्षी। केवल उन्हीं के अनुग्रह से हम इस जगत का सृजन, पालन एवं संहार करते हैं। अतः मैं परमब्रह्म को सादर प्रणाम करता हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक में सृष्टि का सारांश दिया गया है। संकर्षण से महाविष्णु और महाविष्णु से गर्भोदकशायी विष्णु का विस्तार होता है। ब्रह्माजी का जन्म इन्हीं विष्णु से हुआ और ब्रह्माजी से शिवजी का जन्म हुआ जिनसे अन्य समस्त देवताओं का क्रम से विकास हुआ। ब्रह्माजी, शिवजी तथा श्रीविष्णु भिन्न-भिन्न गुणों से युक्त अवतार हैं। भगवान् विष्णु समस्त भौतिक गुणों से परे हैं, किन्तु वे सत्त्व गुण को वश में रखते हैं जिससे ब्रह्माण्ड का पोषण होता है। ब्रह्माजी की उत्पत्ति महत्तत्व से हुई। ब्रह्माजी ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के सृजन करने वाले हैं, श्रीविष्णु इसका पालन करने वाले और शिवजी इसका संहार करने वाले हैं। श्रीभगवान् समस्त प्रमुख देवताओं को—विशेषतः ब्रह्माजी तथा शिवजी को वैसे ही अपने वश में रखते हैं जिस प्रकार डोरी से बँधे कोई पक्षी का मालिक। कभी-कभी गृद्ध भी इसी तरह वशीभूत किये जाते हैं।

यन्निर्मितां कर्ह्यपि कर्मपर्वणीं
मायां जनोऽयं गुणसर्गमोहितः ।
न वेद निस्तारणयोगमञ्जसा
तस्मै नमस्ते विलयोदयात्मने ॥ २४॥

शब्दार्थ

यत्—जिससे; निर्मिताम्—निर्मित; कर्हि अपि—किसी भी समय; कर्म-पर्वणीम्—कर्मों की गाँठ को बाँधने वाली; मायाम्—माया को; जनः—व्यक्ति; अयम्—यह; गुण-सर्ग-मोहितः—तीन प्रकार के गुणों से मोहित; न—नहीं; वेद—जानता है;

निस्तारण-योगम्—सांसारिक बन्धन से छूटने की विधि; अञ्जसा—शीघ्र; तस्मै—उसको; नमः—नमस्कार है; ते—तुम्हें; विलय-उदय-आत्मने—जिसमें प्रत्येक वस्तु विलय होकर पुनः उसी से उत्पन्न होती है।

श्रीभगवान् की माया हम समस्त बद्ध जीवात्माओं को इस भौतिक जगत से बाँधती है, अतः उनकी कृपा के बिना हम जैसे तुच्छ प्राणी माया से छूटने की विधि नहीं समझ पाते। मैं उन श्रीभगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ, जो इस जगत की उत्पत्ति और लय के कारणस्वरूप हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.१४) में श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

"मेरी यह दैवीशक्ति अर्थात् त्रिगुणमयी माया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो मेरे शरणागत हो जाते हैं, वे सुगमतापूर्वक इससे तर जाते हैं।" भगवान् के मायावश होकर कार्य करनेवाली समस्त बद्ध जीवात्माएँ देह को ही स्वयं मानकर निरन्तर ब्रह्माण्ड में घूमती रहती हैं और विभिन्न योनियों में जन्म धारण करके नाना प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न करती रहती हैं। कभी-कभी वे इन समस्याओं से निराश होकर ऐसी विधि निकाल लेती हैं, जिससे वे इस बन्धन से निकल सकें। दुर्भाग्यवश ऐसे तथाकथित शोध करनेवाले श्रीभगवान् तथा उनकी माया से अपरिचित रहकर अंधकार में भटकते फिरते हैं और कभी बाहर निकल नहीं पाते। तथाकथित विज्ञानी और उन्नतिशील शोधकर्ता जीवन के कारण का पता लगाने का प्रयास कर रहे हैं। वे इसकी ओर ध्यान नहीं देते कि जीवन का सृजन पहले से हो रहा है। यदि वे जीवन का रासायनिक संघटन ज्ञात कर लेते हैं तो इसमें उनका क्या श्रेय है? उनके सभी रासायनिक पदार्थ आखिर पाँच तत्त्वों—क्षिति, जल, पावक, गगन तथा समीर—के विभिन्न रूपान्तर ही तो हैं। जैसा *भगवद्गीता* (२.२०) में कहा गया है जीवात्मा का कभी सृजन नहीं होता (*न जायते म्रियते वा कदाचिन्*)। वैसे पाँच स्थूल भौतिक तत्त्व, तीन सूक्ष्म भौतिक तत्त्व (मन, बुद्धि और अहं) तथा शाश्वत जीवात्माएँ हैं। जीवात्मा जब किसी विशेष प्रकार की देह की कामना करता है, तो श्रीभगवान् की आज्ञा से भौतिक प्रकृति से उस देह की उत्पत्ति होती है जो परम-ईश्वर द्वारा संचालित यंत्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भगवान् जीवात्मा को एक विशेष प्रकार की यांत्रिक देह प्रदान करता है और जीवात्मा को सकाम कर्मों के नियमानुसार इस देह के साथ कार्य करना होता है। कर्मों का विवरण इस श्लोक में दिया गया है—*कर्म-पर्वणी मायाम्।* जीवात्मा यंत्रारूढ़ है और श्रीभगवान् की

आज्ञानुसार वह उस यंत्र का संचालन करता है। आत्मा के एक देह से दूसरे में देहान्तरण का यही रहस्य है। इस प्रकार जीवात्मा इस भौतिक जगत में सकाम कर्मों में फँस जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१.७) में पुष्टि की गई है— *मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति*—"जीवात्मा मन समेत छहों इन्द्रियों के विरुद्ध संघर्ष कर रहा है।"

उत्पत्ति तथा लय की समस्त क्रियाओं में जीवात्मा अपने सकाम कर्मों में फँसा रहता है जो माया के द्वारा सम्पादित होते हैं। वह भगवान् द्वारा संचालित कम्प्यूटर के समान है। तथाकथित विज्ञानियों का कथन है कि प्रकृति मुक्त भाव से कार्य करती है, किन्तु वे प्रकृति की व्याख्या नहीं कर पाते। प्रकृति भगवान् द्वारा संचालित यंत्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। संचालनकर्ता को जान लेने पर मनुष्य-जीवन की समस्याएँ हल हो जाती हैं, जैसा श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ: ॥

"बहुत से जन्म-जन्मांतरों के अन्त में तत्त्वज्ञान को प्राप्त पुरुष मुझे सब कारणों का परम कारण और सर्वव्यापक जानकर मेरी शरण में आता है। ऐसा महात्मा बड़ा दुर्लभ है।" अत: बुद्धिमान व्यक्ति भगवान् की शरण में जाता है और इस प्रकार माया के फंदे से निकल जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत पंचम स्कंध के अन्तर्गत "गंगा-अवतरण" नामक सत्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अठारह

जम्बूद्वीप के निवासियों द्वारा भगवान् की स्तुति

इस अध्याय में शुकदेव गोस्वामी ने जम्बूद्वीप के विभिन्न वर्षों एवं प्रत्येक में पूजित भगवान् के अवतारों का वर्णन किया है। भद्राश्ववर्ष का प्रधान शासक भद्रश्रवा है। वह तथा उसके अनेक सेवक हयग्रीव नामक अवतार की सदैव पूजा करते हैं। प्रत्येक *कल्प* के अन्त में, जब अज्ञान नामक असुर वैदिक-ज्ञान को चुरा ले जाता है, तो भगवान् हयग्रीव प्रकट होकर उसको संरक्षित रखते हैं। फिर वे यह ज्ञान ब्रह्माजी को प्रदान करते हैं। हरिवर्ष नामक स्थल में परम भक्त प्रह्लाद महाराज नृसिंह भगवान्

की आराधना करते हैं। (नृसिंह भगवान् के प्राकट्य का वर्णन *श्रीमद्भागवतम्* के सातवें स्कन्ध में मिलता है)। प्रह्लाद महाराज का अनुसरण करते हुए हरिवर्ष के सभी निवासी नृसिंह भगवान् की पूजा करते हैं और उनकी प्रेमाभक्ति में तत्पर रहने का वर माँगते हैं। केतुमालवर्ष नामक भूभाग में श्रीभगवान् (भगवान् हृषीकेश) कामदेव के रूप में प्रकट होते हैं। ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मीजी तथा वहाँ रहने वाले देवता-गण अहर्निश उनकी सेवा में लगे रहते हैं। भगवान् हृषीकेश सोलह अंशों में प्रकट होते हैं और समस्त उत्साह, बल तथा प्रभाव के स्रोत हैं। यह जीवात्मा का सबसे बड़ा दोष है कि वह सदैव भयभीत रहता है किन्तु श्रीभगवान् की कृपामात्र से उसका सारा भय जाता रहता है। अत: भगवान् को ही ईश्वर के रूप में सम्बोधित किया जा सकता है। रम्यक वर्ष नामक स्थल में मनु तथा समस्त वासी आज भी मत्स्यदेव की आराधना करते हैं। मत्स्यदेव जिनका स्वरूप पूर्ण सतोगुणी है सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के शासक एवं नियामक हैं, अत: वे इन्द्र समेत समस्त देवताओं के भी निदेशक हैं। हिरण्यमय-वर्ष में भगवान् विष्णु ने कच्छप (कूर्म मूर्ति) रूप धारण कर रखा है और वहाँ वे (*अर्यमा*) तथा अन्य समस्त वासियों द्वारा पूजित हैं। इसी प्रकार उत्तरकुरुवर्ष नामक खण्ड में भगवान् श्रीहरि ने शूकर रूप धारण कर रखा है और इसी रूप में वे वहाँ के निवासियों की सेवाएँ ग्रहण करते हैं।

इस अध्याय की सारी सूचनाएँ वही मनुष्य ठीक से समझ सकता है जो भगवान् के भक्तों की संगति करता है। इसलिए शास्त्रों की संस्तुति है कि मनुष्य को चाहिए कि भक्तों की संगति करे। यह गंगा के तट पर बसने की अपेक्षा श्रेष्ठतर है। विशुद्ध भक्तों के हृदयों में समस्त सद्भाव एवं देवताओं के सभी श्रेष्ठ गुण वास करते हैं। किन्तु जो भक्त नहीं हैं उनके हृदयों में ऐसे गुण नहीं रह सकते क्योंकि भगवान् की माया से मोहित हैं। भक्तजनों का अनुसरण करके ही यह जाना जा सकता है कि श्रीभगवान् ही एकमात्र पूजनीय श्रीविग्रह हैं। प्रत्येक प्राणी को चाहिए कि इस विचार को स्वीकार करे और ईश्वर की आराधना करे। जैसाकि *भगवद्गीता* (१.१) में कहा गया है— *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:*—''समस्त वैदिक शास्त्रों के अध्ययन का उद्देश्य भगवान् श्रीकृष्ण की आराधना करना है।'' यदि समस्त वैदिक शास्त्र पढ़ लेने के बाद परब्रह्म के प्रति सुप्त भगवत्प्रेम जाग्रत नहीं होता तो मनुष्य को यह समझना चाहिए कि उसका सारा श्रम व्यर्थ रहा। उसने केवल अपना समय गँवाया। श्रीभगवान् के प्रति आसक्ति न होने से वह इस भौतिक जगत में आकर केवल पारिवारिक जीवन में व्यस्त रहता है।

अत: इस अध्याय की यही शिक्षा है कि मनुष्य को चाहिए कि वह पारिवारिक जीवन से निकल कर एकान्त भाव से भगवान् के चरणकमलों की शरण ले।

श्रीशुक उवाच

तथा च भद्रश्रवा नाम धर्मसुतस्तत्कुलपतयः पुरुषा भद्राश्ववर्षे साक्षाद्भगवतो वासुदेवस्य प्रियां तनुं धर्ममयीं हयशीर्षाभिधानां परमेण समाधिना सन्निधाप्येदमभिगृणन्त उपधावन्ति. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी बोले; तथा च—इसी प्रकार (जिस प्रकार इलावृत-वर्ष में शिवजी संकर्षण की पूजा करते हैं); भद्र-श्रवा—भद्रश्रवा; नाम—नामक; धर्म-सुतः—धर्मराज के पुत्र; तत्—उससे; कुल-पतयः—कुल के मुखिया; पुरुषाः—समस्त वासी; भद्राश्व-वर्षे—भद्राश्ववर्ष नामक भूखण्ड में; साक्षात्—प्रकट रूप में, स्वयं; भगवतः—श्रीभगवान्; वासुदेवस्य—वासुदेव का; प्रियाम् तनुम्—अत्यन्त प्रिय रूप; धर्म-मयीम्—समस्त धार्मिक नियमों का निदेशक; हयशीर्ष-अभिधानाम्—हयशीर्ष (हयग्रीव भी कहा जाता है) नामक भगवान् के अवतार; परमेण समाधिना—परम समाधि द्वारा; सन्निधाप्य—समीप आकर; इदम्—यह; अभिगृणन्तः—कीर्तन करते हुए; उपधावन्ति—पूजा करते हैं।

श्रीशुकदेव गोस्वामी बोले—धर्मराज के पुत्र भद्रश्रवा भद्राश्ववर्ष नामक भूखण्ड में राज्य करते हैं। जिस प्रकार इलावृतवर्ष में भगवान् शिव संकर्षण की पूजा करते हैं उसी प्रकार भद्रश्रवा अपने सेवकों तथा राज्य के समस्त वासियों समेत वासुदेव के स्वांश हयशीर्ष की पूजा करते हैं। हयशीर्ष भक्तों को अत्यन्त प्रिय हैं और वे समस्त धार्मिक विधानों के निदेशक हैं। गहन समाधि में स्थित भद्रश्रवा तथा उनके सेवक भगवान् को सादर नमस्कार करते हैं और सावधानी पूर्वक उच्चारण करते हुए निम्नलिखित स्तुतियों का कीर्तन करते हैं।

भद्रश्रवस ऊचुः

ॐ नमो भगवते धर्मायात्मविशोधनाय नम इति. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

भद्रश्रवसः ऊचुः—शासक भद्रश्रवा तथा उसके पार्षद बोले; ओम्—हे ईश्वर; नमः—सादर नमस्कार है; भगवते—श्रीभगवान् को; धर्माय—समस्त धार्मिक विधानों के स्रोत; आत्म-विशोधनाय—भौतिक दूषण से शुद्ध करने वाले को; नमः—नमस्कार करते हैं; इति—इस प्रकार।

राजा भद्रश्रवा तथा उसके घनिष्ठ सेवक इस प्रकार स्तुति करते हैं—इस भौतिक जगत में बद्धजीव के चित्त को शुद्ध करने वाले, समस्त धार्मिक विधानों के आगार भगवान् को हमारा नमस्कार है। हम उन्हें बारम्बार सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : मूढ़ संसारी व्यक्ति यह नहीं जान पाते कि वे प्रकृति के नियमों द्वारा किस प्रकार पग-पग पर नियंत्रित और दण्डित किये जा रहे हैं। वे बार-बार जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था तथा रोग के प्रयोजन को

जाने बिना यह मान बैठते हैं कि वे भौतिक जीवन की बद्धावस्था में परम सुखी हैं। फलतः *भगवद्गीता* (७.१) में भगवान् कृष्ण ने ऐसे सं सारी व्यक्तियों को मूढ़ कहा है—*न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।* ये मूढ़ यह नहीं जानते कि यदि वे पवित्र होना चाहते हैं, तो तप और संयम द्वारा भगवान् वासुदेव (कृष्ण) की पूजा करें। यही पवित्रता मानव जीवन का ध्येय है। यह जीवन अन्धाधुन्ध इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं मिला। मनुष्य-जीवन पाकर प्रत्येक प्राणी को अपने को पवित्र बनाने के लिए कृष्णभावनामृत में संलग्न करना चाहिए—*तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं शुद्ध्येत्।* यह अपने पुत्रों के प्रति राजा ऋषभदेव का उपदेश है। मनुष्य जन्म पाकर हर व्यक्ति को सभी प्रकार के तपों के द्वारा अपने को पवित्र बनाना चाहिए। *यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम्।* हम सभी सुख की खोज में रहते हैं, किन्तु अज्ञानवश हम यह नहीं जान पाते कि वास्तव में अबाध सुख क्या है। अबाध सुख ब्रह्म सौख्य कहलाता है। यद्यपि इस भौतिक जगत में हमें कुछ तथाकथित सुख प्राप्त हो सकता है, किन्तु यह क्षणिक होता है। मूर्ख भौतिकतावादी इसे नहीं समझ सकते। अतः प्रह्लाद महाराज निर्देश करते हैं—*माया-सुखाय भरमुद्वहतो विमूढान्*—क्षणिक भौतिक सुख के लिए ये मूढ़ बड़े-बड़े प्रबन्ध करते हैं और इस तरह जन्म-जन्मातर दिग्भ्रमित रहते हैं।

अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितं
घ्नन्तं जनोऽयं हि मिषन्न पश्यति ।
ध्यायन्नसद्यर्हि विकर्म सेवितुं
निर्हृत्य पुत्रं पितरं जिजीविषति ॥ ३॥

शब्दार्थ

अहो—अरे; विचित्रम्—आश्चर्यजनक; भगवत्-विचेष्टितम्—भगवान् की लीला; घ्नन्तम्—मृत्यु; जनः—व्यक्ति; अयम्—यह; हि—निश्चय ही; मिषन्—देखकर भी; न पश्यति—नहीं देखता; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; असत्—भौतिक सुख; यर्हि—क्योंकि; विकर्म—वर्जित कार्य; सेवितुम्—उपभोग करते हुए; निर्हृत्य—जलाकर; पुत्रम्—पुत्रों का; पितरम्—पिता को; जिजीविषति—दीर्घायु की इच्छा करता है।.

अहो! कितने आश्चर्य की बात है कि मूर्ख संसारी अपने सिर पर नाचती मृत्यु की ओर भी ध्यान नहीं देता। यह जानते हुए भी कि मृत्यु अटल है, वह उसके प्रति उदासीन एवं लापरवाह रहता है। चाहे उसके पिता की मृत्यु हो, अथवा पुत्र की मृत्यु क्यों न हो, वह उसकी सम्पत्ति का उपभोग करना चाहता है। प्रत्येक दशा में वह अर्जित धन से किसी की परवाह किये बिना सांसारिक सुख का उपभोग करने का प्रयत्न करता है।

तात्पर्य : भौतिक सुख का अर्थ है आहार, निद्रा, मैथुन तथा सुरक्षा की सुविधाएँ प्राप्त होना। इस संसार में भौतिकतावादी व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति के इन चार साधनों के लिए ही मृत्यु की भी परवाह न करके जीवित रहना चाहता है। पुत्र अपने पिता की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति का उपभोग इन्द्रियतृप्ति के लिए करता है। इसी प्रकार यदि किसी में पुत्र की मृत्यु होती है, तो पिता उसकी सम्पत्ति का उपभोग करता है। कभी-कभी वह पिता पुत्र की विधवा के साथ संभोग करता है। जितने भौतिकतावादी व्यक्ति हैं, वे ऐसा ही आचरण करते हैं। इसीलिए शुकदेव गोस्वामी का कथन है, ''श्रीभगवान् की इच्छा से घटने वाली भौतिक सुख की ये लीलाएँ कितनी विचित्र हैं!'' दूसरे शब्दों में, भौतिकतावादी व्यक्ति सभी प्रकार के दुष्कर्म करना चाहते हैं, किन्तु भगवान् की इच्छा के बिना कोई कुछ भी नहीं कर सकता। तो फिर भगवान् दुष्कर्म करने की अनुमति क्यों देते हैं? भगवान् नहीं चाहते कि कोई भी जीव पाप करे। उन्हें पाप से दूर रहने के लिए वे उसके अन्त:करण में प्रेरणा देते हैं। किन्तु जब कोई पाप करने पर उतारू हो जाता है, तो श्रीभगवान् उसे अपनी जिम्मेदारी पर वैसा करने की अनुमति भी दे देते हैं (*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*)। भगवान् की इच्छा के विरुद्ध कोई कुछ भी नहीं कर सकता, किन्तु वे इतने दयालु हैं कि जब बद्ध-आत्मा जिद करने लगता है तो उस आत्मा को उसके दायित्व पर वैसा करने के लिए अनुमति प्रदान कर देते हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार अन्य लोकों में तथा इस ब्रह्माण्ड के पृथ्वी के अन्य भागों में, विशेषत: स्वर्गलोक में, पुत्र सदैव पिता के बाद तक जीवित रहते हैं। किन्तु इस पृथ्वीलोक पर प्राय: पुत्र अपने पिता से पहले मरता है और उसका पिता उसकी सम्पत्ति का प्रसन्नतापूर्वक उपभोग करता है। पिता या पुत्र में से किसी को भी इस वास्तविकता के दर्शन नहीं होते कि दोनों की ही मृत्यु होनी है। किन्तु जब मृत्यु आ जाती है, तो उपभोग की सारी योजनाएँ धरी रह जाती हैं।

वदन्ति विश्वं कवयः स्म नश्वरं
पश्यन्ति चाध्यात्मविदो विपश्चितः ।
तथापि मुह्यन्ति तवाज मायया
सुविस्मितं कृत्यमजं नतोऽस्मि तम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

वदन्ति—वे साधिकार कहते हैं; विश्वम्—समस्त भौतिक सृष्टि को; कवयः—विद्वान सन्त; स्म—निश्चय ही; नश्वरम्—नश्वर, विनाशशील; पश्यन्ति—समाधि में देखते हैं; च—भी; अध्यात्म-विदः—आत्मज्ञानी; विपश्चितः—अत्यन्त ज्ञानीजन; तथा

अपि—तिस पर भी; मुह्यन्ति—मोहित हो जाते हैं; तव—आपके; अज—हे अजन्मा; मायया—माया के द्वारा; सु-विस्मितम्—अत्यन्त विचित्र; कृत्यम्—कार्य; अजम्—परम अजन्मा को; नतः अस्मि—मैं नमस्कार करता हूँ; तम्—उसको।.

हे अजन्मा, आत्मज्ञान में समुन्नत वेदविद् अन्य तार्किकों तथा दार्शनिकों की तरह यह भलीभाँति जानते हैं कि यह भौतिक जगत नश्वर है। वे समाधि की दशा में इस जगत की वास्तविक स्थिति का अनुभव करते हैं। वे सत्य का भी उपदेश देते हैं। किन्तु कभी-कभी वे भी आपकी माया से मोहित हो जाते हैं। यह आपकी अपनी ही विचित्र लीला है, अतः मैं समझ सकता हूँ कि आपकी माया अत्यन्त विचित्र है। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : श्रीभगवान् की माया इस भौतिक जगत में रहने वाले बद्ध-आत्मा पर ही अपना प्रभाव नहीं जमाती, वरन् कभी-कभी ऐसे परम विद्वज्जनों पर भी प्रभाव दिखाती है जो आत्म-साक्षात्कार द्वारा इस भौतिक जगत की वास्तविक स्थिति से अनजान हैं। ज्योंही कोई यह सोचता है कि मैं देहस्वरूप हूँ (*अहं ममेति*) और इस देह से सम्बन्धित सभी वस्तुएँ मेरी हैं, तो वह मोहग्रस्त हो जाता है। माया से उत्पन्न यह मोह विशेषतः बद्धजीवों पर प्रभाव दिखाता है, किन्तु कभी-कभी मुक्त जीव भी इसके वश में हो जाते हैं। मुक्त जीव वह व्यक्ति होता है, जिसे इस भौतिक जगत का यथेष्ठ ज्ञान रहता है, जिससे वह जीवन की देहात्मबुद्धि में लिप्त नहीं होता। किन्तु दीर्घकाल तक भौतिक प्रकृति के गुणों के संसर्ग से, मुक्त जीव भी कभी-कभी माया के द्वारा छले जाते हैं इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.१४) में कहा है, *मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*—''मेरी शरण में आने वाले ही माया के प्रभाव से बच सकते हैं।'' फलतः किसी को यह नहीं समझना चाहिए कि वह माया से अप्रभावित मुक्त जीव है। प्रत्येक प्राणी को चाहिए कि वह विधि-विधान का दृढ़ता से पालन करते हुए सतर्कतापूर्वक भक्ति करे। इस प्रकार वह भगवान् के चरणारविन्द पर स्थिर रह सकता है। अन्यथा थोड़ी सी भी असावधानी से तवाही मच जायेगी। महाराज भरत इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं—जैसा हम देख चुके हैं। वे निस्सन्देह एक महान् भक्त थे, किन्तु एक नन्हे मृग के प्रति अपना थोड़ा ध्यान बाँटने के कारण उन्हें और दो जन्म भोगने पड़े—एक तो मृग के रूप में और दूसरा जड़ भरत ब्राह्मण के रूप में। इसके बाद उनकी मुक्ति हुई और वे भगवान् के धाम पहुँच गए।

श्रीभगवान् अपने भक्त को क्षमा करने के लिए सदैव उद्यत रहते हैं। किन्तु यदि भक्त उनकी इस उदारता का लाभ उठा कर जान-बूझ कर बारम्बार त्रुटि करता है, तो वे निश्चय ही उसे माया के चंगुल

में गिरने देकर दंडित करते हैं। कहने का आशय यह है कि वेदों के अध्ययन से प्राप्त मात्र कोरे ज्ञान द्वारा माया के चंगुल से रक्षा नहीं की जा सकती। मनुष्य को चाहिए कि वह दृढ़ता से श्रीभगवान् के चरणारविन्द की भक्ति करे। तभी मनुष्य की स्थिति सुरक्षित है।

विश्वोद्भवस्थाननिरोधकर्म ते
ह्यकर्तुरङ्गीकृतमप्यपावृतः ।
युक्तं न चित्रं त्वयि कार्यकारणे
सर्वात्मनि व्यतिरिक्ते च वस्तुतः ॥ ॥

शब्दार्थ

विश्व—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की; उद्भव—उत्पत्ति का; स्थान—स्थिति या पालन का; निरोध—लय का; कर्म—ये कर्म; ते—आपके (हे ईश्वर); हि—ही; अकर्तुः—पृथक्, विलग; अङ्गीकृतम्—वैदिक शास्त्रों द्वारा अब भी मान्य; अपि—यद्यपि; अपावृतः—इन समस्त कर्मों से अछूता; युक्तम्—अनुकूल, योग्य; न—नहीं; चित्रम्—विचित्र; त्वयि—आप में; कार्य-कारणे—समस्त कार्यों का मूल कारण; सर्व-आत्मनि—सभी प्रकार से; व्यतिरिक्ते—विलग; च—भी; वस्तुतः—मूल वस्तु।

हे भगवन्, यद्यपि आप इस भौतिक जगत की उत्पत्ति, पालन तथा प्रलय से सर्वथा विरत हैं और इन कार्यों से आप प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं होते, तो भी वे आपके द्वारा किये गये माने जाते हैं। हमें इस पर विस्मय नहीं होता, क्योंकि सर्वात्मरूप होने से आप समस्त कारणों के कारण हैं। आप प्रत्येक वस्तु से विलग रहते हुए भी प्रत्येक वस्तु के सक्रिय तत्त्व हैं। इस प्रकार हम अनुभव करते हैं कि आपकी अचिन्त्य शक्ति के कारण ही प्रत्येक घटना घटती है।

वेदान्युगान्ते तमसा तिरस्कृतान्
रसातलाद्यो नृतुरङ्गविग्रहः ।
प्रत्याददे वै कवयेऽभियाचते
तस्मै नमस्तेऽवितथेहिताय इति ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

वेदान्—चारों वेदों को; युग-अन्ते—कल्प के अन्त में; तमसा—साक्षात् अज्ञानरूपी दैत्यों द्वारा; तिरस्कृतान्—चुराये जाकर; रसातलात्—रसातल (निम्नतम लोक) से; यः—जो (श्रीभगवान्); नृ-तुरङ्ग-विग्रहः—आधा घोड़ा तथा आधा मनुष्य का रूप धारण कर; प्रत्याददे—लौटा दिया; वै—निश्चय ही; कवये—परम कवि (भगवान् ब्रह्मा) को; अभिया-चते—उनके माँगने पर; तस्मै—उनको (हयग्रीव रूप); नमः—मेरा नमस्कार है; ते—आपको; अवितथ-ईहिताय—जिसका संकल्प विफल नहीं होता; इति—इस प्रकार।

कल्प के अन्त में साक्षात् अज्ञान एक दैत्य का रूप धारण कर सभी वेदों को चुरा कर उन्हें रसातल ले गया। किन्तु श्रीभगवान् ने हयग्रीव का रूप धारण करके वेदों को पुनः प्राप्त किया और ब्रह्माजी के विनय करने पर उन्हें लाकर दे दिया। हे सत्यसंकल्प पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, मैं

आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : यद्यपि वैदिक ज्ञान अनश्वर है, किन्तु इस भौतिक जगत में कभी वह प्रकट होता है, तो कभी लुप्त होता रहता है। जब इस भौतिक जगत के प्राणी अज्ञान में डूब जाते हैं, तो वैदिक ज्ञान लुप्त हो जाता है। किन्तु भगवान् हयग्रीव अथवा मत्स्य भगवान् वैदिक ज्ञान की सदैव रक्षा करते हैं और वह ज्ञान यथासमय ब्रह्माजी के माध्यम से पुन: वितरित होने लगता है। ब्रह्माजी ही श्रीभगवान् के विश्वासपात्र प्रतिनिधि हैं, अत: जब उन्होंने वैदिक ज्ञान-कोष की पुन: याचना की तो भगवान् ने उनकी इच्छा पूरी की।

हरिवर्षे चापि भगवान्नरहरिरूपेणास्ते; तद्रूपग्रहणनिमित्तमुत्तरत्राभिधास्ये; तद्दयितं रूपं
महापुरुषगुणभाजनो महाभागवतो दैत्यदानवकुलतीर्थीकरणशीलाचरित:
प्रह्लादोऽव्यवधानानन्यभक्तियोगेन सह तद्वर्षपुरुषैरुपास्ते इदं चोदाहरति. ॥७॥

शब्दार्थ

हरि-वर्षे—हरिवर्ष नामक भूभाग में; च—भी; अपि—निस्सन्देह; भगवान्—श्रीभगवान्; नर-हरि-रूपेण—नृसिंह देव के रूप में; आस्ते—अवस्थित है; तत्-रूप-ग्रहण-निमित्तम्—श्रीकृष्ण (केशव) ने नृसिंह रूप जिस कारण धारण किया; उत्तरत्र—अगले अध्यायों में; अभिधास्ये—मैं वर्णन करूँगा; तत्—वह; दयितम्—अत्यन्त प्रिय; रूपम्—रूप; महा-पुरुष-गुण-भाजन:—प्रह्लाद महाराज, जो महापुरुषोचित गुणों के आगार हैं; महा-भागवत:—सर्वश्रेष्ठ भक्त; दैत्य-दानव-कुल-तीर्थी-करण-शीला-चरित:—उनके कर्म तथा चरित्र इतने पवित्र थे कि अपने कुल में उत्पन्न समस्त दैत्यों का मोक्ष करा दिया; प्रह्लाद:—महाराज प्रह्लाद; अव्यवधान-अनन्य-भक्ति-योगेन—अविच्छिन्न एवं अनन्य भक्ति के द्वारा; सह—सहित; तत्-वर्ष-पुरुषै:—हरिवर्ष के निवासियों के; उपास्ते—नमस्कार एवं पूजन करता है; इदम्—यह; च—और; उदाहरति—जप करता है।

श्रीशुकदेव गोस्वामी आगे कहते हैं—हे राजन्, भगवान् नृसिंह हरिवर्ष नामक भूभाग में वास करते हैं। मैं *श्रीमद्भागवत* के सप्तम स्कंध में आपको बताऊँगा कि प्रह्लाद महाराज ने किस प्रकार श्रीभगवान् को नृसिंह देव रूप धारण करने के लिए बाध्य किया। प्रह्लाद महाराज भगवद्-भक्तों में शिरोमणि हैं और महापुरुषों के अनुरुप समस्त उत्तम गुणों के आगार हैं। उनके चरित्र और कर्म से उनके दैत्य वंश के समस्त पतित जनों का उद्धार हुआ है। उन्हें भगवान् नृसिंह देव परम प्रिय हैं। इस प्रकार प्रह्लाद महाराज अपने समस्त सेवकों तथा हरिवर्ष के समस्त वासियों सहित भगवान् नृसिंह देव की पूजा निम्नलिखित मंत्रोच्चार द्वारा करते हैं।

तात्पर्य : जयदेव गोस्वामी द्वारा रचित भगवान् श्रीकृष्ण (केशव) के दशावतारों की स्तुति के प्रत्येक पद्यांश में केशव नाम आता है। उदाहरणार्थ—*केशव धृत-नर-हरि-रूप जय जगदीश हरे, केशव धृत-मीन शरीर जय जगदीश हरे* तथा *केशव धृत-वामन-रूप जय जगदीश हरे। जगदीश* शब्द से

समस्त ब्रह्माण्डों के स्वामी का बोध होता है। उनका मूल रूप दो भुजाओं वाले श्रीकृष्ण हैं, जिसमें वे अपने हाथ में मुरली लिए खड़े हुए गायों के पालन में व्यस्त हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—

चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्ष-

लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्।

लक्ष्मीसहस्रशतसंभ्रमसेव्यमानं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"लाखों कल्पवृक्षों से आवृत चिन्तामणि कर-गठित गृहसमूह में सुरभि गौवों का पालन करने वाले तथा सैकड़ों-हजारों लक्ष्मी-देवियों से सेवित, मैं उन आदि पुरुष गोविन्द की आराधना करता हूँ।" इस श्लोक से हमें यह ज्ञात होता है कि गोविन्द या श्रीकृष्ण आदि-पुरुष हैं। जिस प्रकार बहती हुई नदी में असंख्य तरंगें होती हैं, उसी प्रकार भगवान् के असंख्य अवतार हैं, किन्तु भगवान् का मूल रूप श्रीकृष्ण या केशव ही है।

श्रीशुकदेव गोस्वामी नृसिंहदेव का उल्लेख प्रह्लाद महाराज के कारण करते हैं। प्रह्लाद महाराज को उनके पिता दैत्य हिरण्यकशिपु ने अत्यधिक कष्ट पहुँचाया था। उसके समक्ष अपने को असहाय मानकर ही उन्होंने भगवान् को पुकारा। भगवान् ने उस दैत्यराज को मारने के लिए आधा सिंह तथा आधा पुरुष वाला नृसिंहदेव का रूप धारण किया था। यद्यपि श्रीकृष्ण ही आदि-पुरुष हैं, जिसके समान कोई अन्य नहीं है, किन्तु वे अपने भक्तों को तुष्ट रखने अथवा कोई विशेष कार्य पूरा करने के उद्देश्य से नाना रूप धारण करते रहते हैं। इसलिए जयदेव गोस्वामी विभिन्न उद्देश्यों से धारण किए भगवान् के दशावतारों का वर्णन करते हुए अपनी स्तुति में केशव नाम का बारम्बार उल्लेख करते हैं।

ॐ नमो भगवते नरसिंहाय नमस्तेजस्तेजसे आविराविर्भव वज्रनख वज्रदंष्ट्र कर्माशयान्रन्धय रन्धय तमो ग्रस ग्रस ॐ स्वाहा; अभयमभयमात्मनि भूयिष्ठा ॐ क्ष्रौम्. ॥ ८॥

शब्दार्थ

ॐ—हे ईश्वर; नमः—सादर नमस्कार; भगवते—भगवान् को; नर-सिंहाय—नृसिंह नाम से विख्यात; नमः—नमस्कार है; तेजः-तेजसे—समस्त तेजों के तेज; आविः-आविर्भव—कृपया पूर्णरूप से प्रकट करें; वज्र-नख—वज्र के समान नखों वाले; वज्र-दंष्ट्र—वज्र के समान दाँतों वाले; कर्म-आशयान्—भौतिक कर्म के द्वारा सुखी रहने की आसुरी इच्छाएँ; रन्धय रन्धय—कृपया परास्त करें; तमः—अज्ञान; ग्रस—दूर करें; ग्रस—दूर करें; ॐ—हे ईश्वर; स्वाहा—सादर आहुति; अभयम्—निर्भीकता;

अभयम्—निर्भीकता; आत्मनि—मेरे मन में; भूयिष्ठाः—आप प्रकट हों; ॐ—हे ईश; क्ष्रौम्—भगवान् नृसिंह की स्तुतियों का बीज मंत्र।

समस्त तेज के स्रोत भगवान् नृसिंहदेव, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। हे वज्र के समान नख तथा दांतों वाले प्रभु! आप इस भौतिक जगत में हमारी आसुरी सकाम कर्म-वासनाओं को मिटा दें। हमारे हृदय में प्रकट होकर हमारे अज्ञान को भगा दें, जिससे इस भौतिक जगत में हम निडर होकर जीवन के लिए संघर्ष कर सकें।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* (४.२२.३९) में महाराज पृथु से सनत्-कुमार कहते हैं—

यत्पादपङ्कजपलाश विलासभक्त्या

कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।

तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-

स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥

"श्रीभगवान् के चरणारविन्द की सेवा में संलग्न भक्त कर्म-वासनाओं की ग्रन्थि से सरलता से मुक्त हो सकते हैं। किन्तु अभक्तों के लिए ऐसा कर पाना कठिन है क्योंकि ज्ञानी तथा योगी, जो भक्त नहीं हैं, प्रयास करने पर भी इन्द्रियतृप्ति की तरंगों को नहीं रोक पाते। अत: तुम्हें उपदेश दिया जाता है कि वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण की भक्ति में अपने को लगाओ।"

इस भौतिक जगत में रहने वाला प्रत्येक जीव हर पदार्थ का जी भर कर उपभोग करना चाहता है। इसके लिए बद्धजीव को एक के पश्चात् दूसरी देह धारण करनी पड़ती है और इस प्रकार उसकी प्रबल कामनाएँ वैसी की वैसी बनी रहती हैं। पूरी तरह कामना-रहित हुए बिना जन्म तथा मृत्यु के चक्र को रोका नहीं जा सकता। इसलिए श्रील रूप गोस्वामी ने शुद्ध भक्ति का वर्णन इस प्रकार किया है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

"मनुष्य को चाहिए कि सकाम कर्म अथवा दार्शनिक चिन्तन द्वारा भौतिक लाभ की कामना किए बिना श्रीकृष्ण की दिव्य प्रेमा-भक्ति करे। यही विशुद्ध भक्ति है।" जब तक मनुष्य उन समस्त भौतिक कामनाओं से, जो अज्ञान-तम से उत्पन्न होती हैं पूरी तरह मुक्त नहीं हो जाता, तब तक वह भगवान् की भक्ति में भली-भाँति संलग्न नहीं हो पाता। अत: हमें सदैव नृसिंहदेव की, जिन्होंने भौतिक कामना के

साक्षात् रूप हिरण्यकशिपु का वध किया, स्तुति करनी चाहिए। हिरण्य का अर्थ "स्वर्ण" और कशिपु का अर्थ "मुलायम शय्या" है। भौतिकतावादी व्यक्ति शरीर को सदा सुखी रखना चाहते हैं। इस प्रकार हिरण्यकशिपु भौतिकतावादी जीवन का सही प्रतिनिधि था; इसीलिए वह भक्तराज प्रह्लाद महाराज को तब तक कष्ट पहुँचाता रहा जब तक कि नृसिंहदेव ने उसका वध नहीं कर दिया। अत: जो भी व्यक्ति भौतिक इच्छाओं से मुक्त होने की अभिलाषा रखता है उसे चाहिए कि वह नृसिंहदेव की उसी प्रकार सादर स्तुति करे जिस प्रकार से इस श्लोक में प्रह्लाद महाराज ने की है।

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया ।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

स्वस्ति—कल्याण, मंगल; अस्तु—हो; विश्वस्य—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का; खलः—ईर्ष्यालु (लगभग सभी); प्रसीदताम्—प्रसन्न हों; ध्यायन्तु—विचार करें; भूतानि—सभी जीवात्माएँ; शिवम्—मंगल; मिथः—परस्पर; धिया—अपनी बुद्धि से; मनः—मन; च—और; भद्रम्—शान्ति; भजतात्—अनुभव होने दें; अधोक्षजे—मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों के द्वारा अगम्य भगवान् में; आवेश्यताम्—ध्यानमग्न हों; नः—हमारी; मतिः—बुद्धि; अपि—निस्सन्देह; अहैतुकी—बिना किसी हेतु के।

इस सम्पूर्ण विश्व का कल्याण हो और सभी इर्ष्यालु व्यक्ति शान्त हों, सभी जीवात्माएँ भक्तियोग का अभ्यास करके प्रशान्त हों, क्योंकि भक्ति करने पर वे एक दूसरे का कल्याण-चिन्तन कर सकेंगे। अतः हम सभी भगवान् श्रीकृष्ण की परम भक्ति में लगकर उन्हीं के विचार में मग्न रहें।

तात्पर्य : निम्नलिखित पद्य में वैष्णव का वर्णन किया गया है—

वांछाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिंधुभ्य एव च।

पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः॥

कल्पवृक्ष के समान वैष्णव उन सबों की कामनाओं को पूर्ण करने वाला है जो उसके चरणकमलों की शरण में आते हैं। प्रह्लाद महाराज एक विशिष्ट वैष्णव हैं। वे अपने लिए नहीं वरन् उन समस्त जीवात्माओं के लिए—चाहे वे साधु हों, ईर्ष्यालु हों या दुष्ट हों—प्रार्थना करते हैं। उन्होंने सदैव दुष्टों का, यथा अपने पिता हिरण्यकशिपु का भी, हितचिन्तन किया। उन्होंने अपने लिए कभी कुछ नहीं माँगा, अपितु भगवान् से अपने दैत्य पिता को क्षमा करने के लिए प्रार्थना की। यही वैष्णव का स्वभाव

है। वह निरन्तर समग्र विश्व के कल्याण का चिन्तन करता है।

श्रीमद्भागवत तथा भागवत-धर्म ऐसे व्यक्तियों के लिए हैं, जो ईर्ष्या से पूर्णत: रहित हों (*परम निर्मत्सराणाम्*)। इसलिए इस श्लोक में प्रह्लाद महाराज प्रार्थना करते हैं—*खल: प्रसीदताम्,* "सभी ईर्ष्यालु पुरुष शांत हों।" यह संसार ईर्ष्यालु पुरुषों से भरा हुआ है, किन्तु यदि कोई स्वयं को ईर्ष्या-मुक्त कर ले तो वह सामाजिक व्यवहार में उदार हो सकता है और परमार्थ के लिए सोच सकता है। जो कोई भी कृष्णभावनामृत ग्रहण करके श्रीभगवान् की सेवा में पूर्णरूपेण जुट जाता है उसका हृदय समस्त प्रकार के ईर्ष्यायुक्त विचारों से रहित हो जाता है (*मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे*)। अत: हमें चाहिए कि हम नृसिंहदेव से अपने हृदयों में विराजने के लिए विनय करें। हमें प्रार्थना करनी चाहिए—*बहिर् नृसिंहो हृदये नृसिंह:*—"भगवान् नृसिंहदेव, मेरी समस्त कुवृत्तियों का विनाश करते हुए मेरे अन्तस्थल में विराजमान हों; वे मेरे मन को विमल करें जिससे मैं शान्तिपूर्वक भगवान् की पूजा कर सकूँ और अखिल विश्व को शान्ति प्रदान कर सकूँ।"

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस सम्बन्ध में हमें उत्तम सीख दी है। जब कोई श्रीभगवान् से प्रार्थना करता है, तो वह सदा एक न एक वर माँगता है। यहाँ तक कि निष्काम भक्त भी कोई न कोई वर माँगता है, जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपनी कृति *शिक्षाष्टक* में शिक्षा दी है—

अयि नन्दतनुज किंकरं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।

कृपया तव पादपंकजस्थितिधूलीसदृशं विचिन्तय॥

"हे नन्दकुमार! मैं आपका चिर सेवक हूँ, किन्तु न जाने कैसे जन्म-मरण के सागर में गिर गया हूँ। कृपा करके मुझे मृत्युसागर से उबारकर अपने चरणकमल का रजकण बना लीजिए।" एक अन्य स्तुति में श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—*ममजन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि*—"मुझे जन्म-जन्मांतर आपके चरणकमलों में विशुद्ध प्रेम और भक्ति प्राप्त हो।" जब प्रह्लाद महाराज, *ॐ नमो भगवते नृसिंहाय* का जप करते हैं, तो वे ईश्वर से वर माँगते हैं, किन्तु परम वैष्णव होने के नाते वे अपनी इन्द्रिय-तुष्टि के लिए कुछ भी नहीं माँगते। इस स्तुति में उनकी प्रथम कामना है—*स्वस्त्यस्तु विश्वस्य*—"सारे विश्व का कल्याण हो।" इस प्रकार उन्होंने सबों पर, यहाँ तक कि सर्वाधिक ईर्ष्यालु व्यक्ति अपने पिता पर भी, दया दिखाने की प्रार्थना की। चाणक्य पण्डित के अनुसार ईष्यालु जीवात्माएँ

दो प्रकार की होती हैं—एक तो सर्प और दूसरी हिरण्यकशिपु जैसा व्यक्ति जो प्रत्येक व्यक्ति से, चाहे वह पिता हो या पुत्र, ईर्ष्या करता है। हिरण्यकशिपु अपने नन्हें से पुत्र प्रह्लाद से ईष्या करता था, किन्तु प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता के हितार्थ वर माँगा। हिरण्यकशिपु भक्तों से ईर्ष्या करता था, किन्तु प्रह्लाद चाहते थे कि उनका पिता तथा पिता के सदृश अन्य दैत्य भगवान् की कृपा से अपनी ईष्यालु प्रकृति त्याग कर भक्तों को सताना बन्द कर दें (*खल:प्रसीदताम्*)। किन्तु कठिनाई यह है कि खल (ईर्ष्यालु) कभी शान्त नहीं होते। सर्प, जो एक प्रकार का खल है, उसे तो केवल मंत्र बल से या विशेष औषधि से शान्त किया जा सकता है (*मन्त्रौषधिवश: सर्प: खलकेन निवार्यते*)। किन्तु खल (ईर्ष्यालु) पुरुष को किसी भी प्रकार शान्त नहीं किया जा सकता। इसीलिए प्रह्लाद महाराज विनती करते हैं कि सभी खलों के हृदयों का परिवर्तन हो और वे दूसरों की भलाई सोचें।

यदि कृष्णभावनामृत आन्दोलन समस्त संसार में फैल सके और भगवान् के अनुग्रह से सभी लोग इसे मानने लगें तो खल-जनों की विचारधारा में परिवर्तन आएगा। प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे का हित-चिन्तन करेगा। अत: प्रह्लाद महाराज प्रार्थना करते हैं—*शिवं मिथो धिया*—अपने-अपने कर्मों में प्रत्येक व्यक्ति अन्यों से ईर्ष्या करता है, किन्तु कृष्णभावनामृत में कोई किसी से ईष्या नहीं करता, प्रत्येक व्यक्ति दूसरे का कल्याण सोचता है। इसलिए प्रह्लाद महाराज विनती करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का मन श्रीकृष्ण के चरणारविन्द में स्थिर होकर उदार बने (*भजताद् अधोक्षजे*)। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र इंगित किया गया है *(स वै मन: कृष्णपदारविन्दयो:*) और भगवान् श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (१८.६) में उपदेश दिया है— *मन्मना भव मद्भक्त:*—मनुष्य को चाहिए कि वह सैदव श्रीकृष्ण के चरणारविन्द का चिन्तन करे। इससे उसका मन स्वच्छ होगा (*चेतो दर्पणमार्जनम्*)। भौतिकतावादी सदैव इन्द्रियतृप्ति का चिन्तन करते हैं, किन्तु प्रह्लाद महाराज की प्रार्थना है कि भगवान् की कृपा से उनके मन परिवर्तित हों और वे इन्द्रियतृप्ति का चिन्तन छोड़ दें। यदि वे निरन्तर श्रीकृष्ण का चिन्तन करें तो सब कुछ ठीक हो जाये। कुछ लोगों का तर्क है कि यदि प्रत्येक प्राणी इस प्रकार श्रीकृष्ण का चिन्तन करे तो यह समस्त विश्व रिक्त हो जाएगा, क्योंकि सभी भगवान् के धाम वापस चले जाएँगे। किन्तु श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का कथन है कि ऐसा असम्भव है, क्योंकि जीवात्माएँ असंख्य हैं। यदि कृष्णभावनामृत आन्दोलन से जीवात्माओं का एक समूह मुक्ति को प्राप्त हो जाता है, तो दूसरा

समूह सारे विश्व को भर देगा।

मागारदारात्मजवित्तबन्धुषु
सङ्गो यदि स्याद्भगवत्प्रियेषु नः ।
यः प्राणवृत्त्या परितुष्ट आत्मवान्
सिद्ध्यत्यदूरान्न तथेन्द्रियप्रियः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

मा—नहीं; अगार—घर; दार—पत्नी; आत्म-ज—सन्तान; वित्त—धन; बन्धुषु—मित्रों एवं सम्बंधियों के मध्य; सङ्गः—साथ, लगाव; यदि—यदि; स्यात्—होना चाहिए; भगवत्-प्रियेषु—श्रीभगवान् के अत्यन्त प्रिय व्यक्तियों में; नः—हम लोगों में से; यः—जो कोई; प्राण-वृत्त्या—जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं से; परितुष्टः—सन्तुष्ट; आत्म-वान्—जिसने अपने मन को वश में कर लिया है और अपने आपको जान लिया (आत्मज्ञान) है; सिद्ध्यति—सफल होता है; अदूरात्—शीघ्र ही; न—नहीं; तथा—तथा; इन्द्रिय-प्रियः—इन्द्रियतुष्टि में लीन व्यक्ति।

हे भगवन्, हमारी प्रार्थना है कि हम पारिवारिक जीवन के बन्धन जिसमें घर, स्त्री, सन्तान, मित्र, धन तथा सम्बन्धीजन इत्यादि सम्मिलित हैं, इसके प्रति कभी भी आकृष्ट न हों। यदि हम में किसी से किंचित आसक्ति हो भी तो वह भक्तों से हो जिनके लिए श्रीकृष्ण ही परम प्रिय हैं। जिस व्यक्ति को आत्म-साक्षात्कार हो चुका है और जिसने अपने मन को वश में कर लिया है, वह जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं से तुष्ट रहता है। वह अपनी इन्द्रियतुष्टि का प्रयास नहीं करता। ऐसा व्यक्ति जल्दी ही कृष्णभावनामृत की ओर अग्रसर होता है, किन्तु जो भौतिक वस्तुओं में अत्यधिक लिप्त रहते हैं, उनके लिए ऐसा कर पाना कठिन है।

तात्पर्य : जब श्री चैतन्य महाप्रभु से वैष्णव अथवा कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के कर्तव्य की व्याख्या करने के लिए अनुरोध किया गया तो उन्होंने तुरन्त कहा—*असत्संग-त्याग,—एइ वैष्णव-आचार।* वैष्णव का प्रथम कर्तव्य है कि वह ऐसे व्यक्ति की संगति तुरन्त त्याग दे जो श्रीकृष्ण का भक्त नहीं है और स्त्री, सन्तान, धन आदि भौतिक वस्तुओं में अत्यधिक लिप्त रहता है। प्रह्लाद महाराज भी श्रीभगवान् से यही प्रार्थना करते हैं कि वे उन्हें उन अभक्तों से दूर रहें जो भौतिक जीवन बिताते हैं। यदि उन्हें किसी से अनुरक्त होना भी पड़े तो मात्र भक्त से।

भक्त की रुचि इन्द्रियों की तृप्ति के लिए अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाने की ओर कभी भी नहीं होती। निस्सन्देह, जब तक कोई भी इस भौतिक जगत में रहता है, उसे भौतिक देह चाहिए और भक्ति करने के लिए इसका पोषण होना चाहिए। शरीर का पोषण श्रीकृष्ण-प्रसाद खाकर सरलता से किया

जा सकता है। जैसाकि श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (९.२६) में कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

"यदि मुझे कोई प्रेम एवं भक्ति से एक पत्री, पुष्प, फल या जल अर्पण करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।" जीभ की तुष्टि के लिए व्यंजनों की संख्या में अनावश्यक वृद्धि क्यों की जाये? भक्तों को चाहिए कि सादा से सादा भोजन करें। अन्यथा भौतिक वस्तुओं के प्रति लगाव बढ़ता जायेगा और इन्द्रियाँ प्रबल होने के कारण अधिकाधिक आनन्द चाहेंगी। इससे जीवन के असली कार्य अर्थात् कृष्णभावनामृत की उन्नति रुक जायेगी।

यत्सङ्गलब्धं निजवीर्यवैभवं
तीर्थं मुहुः संस्पृशतां हि मानसम् ।
हरत्यजोऽन्तः श्रुतिभिर्गतोऽङ्गजं
को वै न सेवेत मुकुन्दविक्रमम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिनके (भक्तों के); सङ्ग-लब्धम्—संग से उपलब्ध; निज-वीर्य-वैभवम्—जिसका प्रभाव असामान्य है; तीर्थम्—तीर्थस्थल, यथा गंगा नदी; मुहुः—बारम्बार; संस्पृशताम्—उन स्पर्शों का; हि—निश्चयपूर्वक; मानसम्—मन के मल; हरति—हर लेती है; अजः—अजन्मा; अन्तः—अन्तःकरण में; श्रुतिभिः—कानों से; गतः—प्रविष्ट; अङ्ग-जम्—शरीर के मल या संदूषण; कः—कौन; वै—निस्सन्देह; न—नहीं; सेवेत—सेवा करेगा; मुकुन्द-विक्रमम्—भगवान् मुकुन्द के यशस्वी कार्यों की।.

ऐसे व्यक्तियों की संगति करने से, जिनके लिए पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् मुकुन्द ही सब कुछ हैं, भगवान् के यशस्वी कार्यों को सुनकर शीघ्र ही समझ सकता है। मुकुन्द के यशस्वी कार्य इतने सक्षम हैं कि इनको सुनकर ही भगवान् की संगति प्राप्त की जा सकती है। निरन्तर उत्सुकतापूर्वक भगवान् के यशस्वी कार्यों का वर्णन सुनते रहने से परम सत्य श्रीभगवान् ध्वनि तरंगों के रूप में हृदय में प्रवेश करते हैं और समस्त कल्मष को दूर कर देते हैं। दूसरी ओर यद्यपि गंगास्नान से मल तथा संदूषण घटते हैं, किन्तु स्नान तथा पवित्र स्थानों के दर्शन से दीर्घकाल के अनन्तर ही हृदय स्वच्छ हो पाता है। अतः कौन ऐसा विज्ञपुरुष होगा जो जीवन की सिद्धि के लिए भक्तों की संगति नहीं करना चाहेगा?

तात्पर्य : निस्सन्देह, गंगास्नान से कई संक्रामक रोग दूर हो जाते हैं, किन्तु इससे भौतिकता से

आसक्त मनुष्य का मन स्वच्छ नहीं हो सकता, जिसके कारण भौतिक जीवन में सभी प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। किन्तु जो कोई भगवान् के कार्यों का श्रवण करके उनसे प्रत्यक्ष संगति करता है, वह मन की मलिनता को धोकर शीघ्र ही कृष्णभावनामृत को प्राप्त करता है। *श्रीमद्भागवत* (१.२.१७) में सूत गोस्वामी ने इसकी पुष्टि की है—

शृण्वतां स्वकथा: कृष्ण: पुण्यश्रवणकीर्तन: ।

हृद्यन्त:स्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥

जब कोई भगवान् के कार्यों का वर्णन सुनता है, तो प्रत्येक के हृदय में वास करने वाले परमात्मा अत्यन्त प्रसन्न होते हैं और वे स्वयं श्रोता के मनोमल को स्वच्छ कर देते हैं। *हृद्यन्त:स्थो ह्यभद्राणि विधुनोति*—वे मन के समस्त मल को धो डालते हैं। भौतिकता मन के भीतर दूषित वस्तुओं से उत्पन्न होती है, अपने मन को धो डालने पर मनुष्य कृष्णभावनामृत की अपनी मूल स्थिति में पहुँच जाता है और इस प्रकार उसका जीवन सफल हो जाता है। इसीलिए भक्तिमार्ग के सभी महान् सन्तजन श्रवण विधि की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने "हरे कृष्ण" मंत्र के सामूहिक कीर्तन का शुभारम्भ किया जिससे प्रत्येक व्यक्ति श्रीकृष्ण के पवित्र नाम का श्रवण कर सके, क्योंकि, "हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम हरे हरे" के श्रवण मात्र से वह पवित्र हो जाता है (*चेतोदर्पणमार्जनम्*)। इसीलिए हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन सारे संसार में मुख्यतया हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन कराने में लगा हुआ है।

जब "हरे कृष्ण" के कीर्तन से मन शुद्ध हो जाता है, तो मनुष्य क्रमश: कृष्णभावनामृत-स्थिति को प्राप्त होता है और वह *श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता, श्रीचैतन्यचरितामृत* तथा *भक्तिरसामृतसिंधु* जैसे ग्रन्थों को पढ़ता है। इस प्रकार वह भौतिक दूषण से अधिकाधिक पवित्र होता जाता है। *श्रीमद्भागवत* (१.२.१८) में कहा गया है—

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया ।

भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥

"निरन्तर *श्रीमद्भागवत* का श्रवण करने तथा निष्काम भक्त की सेवा से मन के सारे कष्ट दूर हो जाते हैं और यशस्वी भगवान् के प्रति सेवाभाव स्थायी रूप में स्थापित हो जाता है जिनकी प्रशंसा दिव्य

गीतों द्वारा की जाती है।'' इस प्रकार भगवान् के शक्तिशाली कार्यकलापों के श्रवण मात्र से भक्त का हृदय पूरी तरह शुद्ध हो जाता है और चिरन्तन दास के रूप में, जो भगवान् का भिन्नांश होता है, उसकी अपनी मूल स्थिति प्रकट हो जाती है। भक्त द्वारा भक्ति में संलग्न होने पर रजोगुण तथा तमोगुण क्रमश: पराभूत हो जाते हैं और वह सतोगुण में ही सारे कार्य करता है। उस समय वह प्रमुदित हो जाता है और शनै-शनै वह कृष्णभावनामृत की ओर अग्रसर होता है।

सभी बड़े-बड़े आचार्यों का मत है कि मनुष्यों को श्रीभगवान् के सम्बन्ध में सुनने का अवसर प्राप्त होना चाहिए। तब सफलता निश्चित है। जितना ही अधिक हम अपने हृदयों के भौतिक आसक्ति के मल को स्वच्छ करेंगे उतना ही अधिक श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण, वैशिष्ट्य और कार्यों के प्रति आकृष्ट होंगे। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का यही सार है।

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुरा: ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहि: ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसकी; अस्ति—है; भक्ति:—भक्ति; भगवति—श्रीभगवान् के प्रति; अकिञ्चना—निष्काम; सर्वै:—समस्त; गुणै:—उत्तम गुणों के द्वारा; तत्र—वहाँ (उस व्यक्ति में); समासते—निवास करते हैं; सुरा:—समस्त देवता; हरौ—भगवान् में; अभक्तस्य—अभक्त का; कुत:—कहाँ; महत्-गुणा:—उत्तम गुण; मनोरथेन—मानसिक चिन्तन द्वारा; असति—नश्वर भौतिक जगत में; धावत:—दौड़ता हुआ; बहि:—बाहर।

जो व्यक्ति पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव के प्रति शुद्ध भक्ति उत्पन्न कर लेता है उसके शरीर में सभी देवता तथा उनके महान् गुण यथा धर्म, ज्ञान तथा त्याग प्रकट होते हैं। इसके विपरीत जो व्यक्ति भक्ति से रहित है और भौतिक कर्मों में व्यस्त रहता है उसमें कोई सद्गुण नहीं आते। भले ही कोई व्यक्ति योगाभ्यास में दक्ष क्यों न हो और अपने परिवार और सम्बन्धियों का भलीभाँति भरण-पोषण करता हो वह अपनी मनोकल्पना द्वारा भगवान् की बहिरंगा-शक्ति की सेवा में तत्पर होता है। भला ऐसे पुरुष में सद्गुण कैसे आ सकते हैं?

तात्पर्य : जैसाकि अगले श्लोक में व्याख्या की गई है, श्रीकृष्ण समस्त जीवात्माओं के आदि स्रोत हैं। *भगवद्गीता* (१.७) में इसकी पुष्टि हुई है जहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन: ।

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

''इस बद्ध जगत में यह जीवात्माएँ मेरे ही शाश्वत भिन्नांश हैं। बद्ध दशा में होने के कारण वे मन और पाँच इन्द्रियों के साथ घोर संघर्ष कर रहे हैं।'' सभी जीवात्माएँ श्रीकृष्ण के भिन्नांश हैं, अतः जब वे मूल कृष्णभावना को पुनःप्राप्त कर लेती हैं, तो उनमें थोड़ी मात्रा में श्रीकृष्ण के महान् गुण आ जाते हैं। जब कोई नवधाभक्ति में रत होता है (*श्रवणं कर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम्*) तो उसका हृदय पवित्र हो जाता है और वह श्रीकृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को तुरन्त समझ जाता है। तब उसमें कृष्णभावनामृत के आदि गुण जागरित हो उठते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृत के अध्याय आठ में आदि लीला के अन्तर्गत भक्तों के कतिपय गुणों का वर्णन आता है। उदाहरणार्थ, श्रीपण्डित हरिदास को अत्यन्त शिष्ट, सहनशील, शान्त, विशाल हृदय तथा गम्भीर बताया गया है। इसके अतिरिक्त वह मृदुभाषी, धैर्यवान्, विनयशील, परोपकारी, द्वैत भाव से मुक्त मन वाला तथा कपटरहित था। मूलतः ये श्रीकृष्ण के गुण हैं और जब कोई भक्त बन जाता है, तो ये गुण स्वतः उसमें प्रकट हो जाते हैं। *श्रीचैतन्यचरितामृत* के लेखक श्रीकृष्णदास कविराज का कथन है कि वैष्णव के शरीर में समस्त गुण प्रकट होते हैं और इन्हीं सद्गुणों के आधार पर वैष्णव तथा अवैष्णव में अन्तर किया जा सकता है। उन्होंने वैष्णवों के छब्बीस गुणों की सूची प्रस्तुत की है जो इस प्रकार है—(१) वह सबों पर दयालु होता है। (२) उसका कोई शत्रु नहीं होता। (३) वह सत्यनिष्ठ होता है। (४) वह सब पर समभाव रखता है। ( ) उस में किसी प्रकार का अवगुण नहीं पाया जाता। (६) वह उदार होता है। (७) वह मृदु होता है। (८) वह सदैव स्वच्छ रहता है। (९) उसके सम्पत्ति नहीं होती। (१०) वह सभी के कल्याण के लिए कार्य करता है। (११) वह शान्त होता है। (१२) वह श्रीकृष्ण का शरणागत होता है। (१३) उसे कोई भौतिक कामना नहीं सताती। (१४) वह विनम्र होता है। (१) वह स्थिर-चित्त होता है। (१६) वह अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण रखता है। (१७) वह आवश्यकता से अधिक नहीं खाता। (१८) वह ईश्वर की माया से प्रभावित नहीं होता। (१९) वह सबों का आदर करता है। (२०) वह अपने सम्मान का भूखा नहीं रहता। (२१) वह अत्यन्त गम्भीर होता है। (२२) वह कृपालु होता है। (२३) वह सखा होता है। (२४) वह कवित्वपूर्ण होता है। (२) वह पटु होता है। (२६) वह मितभाषी होता है।

हरिर्हि साक्षाद्भगवान्शरीरिणाम्
आत्मा झषाणामिव तोयमीप्सितम् ।
हित्वा महांस्तं यदि सज्जते गृहे
तदा महत्त्वं वयसा दम्पतीनाम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

हरिः—भगवान्; हि—निश्चय ही; साक्षात्—प्रत्यक्ष रूप में; भगवान्—भगवान्; शरीरिणाम्—समस्त देहधारियों की; आत्मा—आत्मा; झषाणाम्—जलचरों के; इव—सदृश; तोयम्—जल; ईप्सितम्—कामना की जाती है; हित्वा—त्यागकर; महान्—महान् व्यक्ति; तम्—उसको; यदि—यदि; सज्जते—लिप्त हो जाता है; गृहे—गृहस्थ जीवन में; तदा—उस समय; महत्त्वम्—बड़प्पन; वयसा—आयु से; दम्-पतीनाम्—पति-पत्नी का।

जिस प्रकार जलचर प्राणी सदैव विशाल जलराशि में रहना चाहते हैं उसी प्रकार समस्त बद्धात्माएँ श्रीभगवान् के अपार अस्तित्त्व में रहने की कामना करती हैं। अतः यदि भौतिक गणना के आधार पर माना गया कोई श्रेष्ठ पुरुष किन्हीं कारणों से परमात्मा की शरण न ग्रहण कर गृहस्थ जीवन में लिप्त हो जाता है, तो उसकी श्रेष्ठता निम्न श्रेणी के तरुण दम्पत्ति जैसी होती है। भौतिक जीवन के प्रति अत्यधिक आसक्ति से समस्त आध्यात्मिक गुणों का लोप हो जाता है।

तात्पर्य : यद्यपि मकर अत्यन्त भयावना पशु है, किन्तु जल के बाहर आने पर वह अशक्त हो जाता है। जल के बाहर आने पर वह अपनी मूल-शक्ति नहीं दिखा सकता। इसी प्रकार सर्वव्यापी परमात्मा समस्त प्राणियों का स्रोत है और सभी प्राणी उसके विभिन्न अंश हैं। जब प्राणी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव के सम्पर्क में रहता है, तो वह अपनी आध्यात्मिक शक्ति को उसी प्रकार प्रकट करता रहता है, जिस प्रकार जल में मकर अपनी शक्ति प्रदर्शित करता है। तात्पर्य यह है कि जब जीवात्मा आध्यात्मिक जगत में रहता है और आध्यात्मिक कार्यों में संलग्न रहता है तभी उसकी महानता के दर्शन होते हैं। अनेक गृहस्थ वेदों में पारंगत होते हुए भी गृहस्थ जीवन में लिप्त रहते हैं। उनकी तुलना यहाँ जल के बाहर आये हुए मकर से की जाती है, क्योंकि वे समस्त आध्यात्मिक शक्ति से विहीन होते हैं। उनकी स्थिति उस तरुण पति-पत्नी युग्म से की जा सकती है जो अशिक्षित होते हुए भी पारस्परिक अस्थायी सुन्दरता के प्रति आकृष्ट होकर परस्पर प्रशंसा करते रहते हैं। इस प्रकार की महानता निम्न श्रेणी के व्यक्तियों द्वारा सरायी जाती है।

अतः प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह परमात्मा की शरण में जाये, जो समस्त जीवात्माओं का

मूल स्रोत है। किसी भी व्यक्ति को तथाकथित भौतिकतावादी गृहस्थ जीवन के सुख में वृथा समय नहीं गँवाना चाहिए। वैदिक सभ्यता में पचास वर्ष की आयु तक ही इस प्रकार का पंगु जीवन बिताने की अनुमति दी जाती है। फिर तो गृहस्थ जीवन त्याग कर वानप्रस्थ अथवा संन्यास आश्रम में प्रवेश करना होता है (जिसमें वह भगवान् का पूर्णाश्रय ग्रहण करता है)।

तस्माद्रजोरागविषादमन्यु
मानस्पृहाभयदैन्याधिमूलम् ।
हित्वा गृहं संसृतिचक्रवालं
नृसिंहपादं भजताकुतोभयमिति ॥ १४॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतः; रजः—रजोगुण का; राग—भौतिक वस्तुओं के प्रति लगाव; विषाद—तब निराशा; मन्यु—क्रोध; मान-स्पृहा—समाज में सम्मानित बनने की कामना; भय—भय; दैन्य—दीनता का; अधिमूलम्—मूल कारण; हित्वा—परित्याग करके; गृहम्—गृहस्थ जीवन; संसृति-चक्रवालम्—जन्म-मरण का चक्र; नृसिंह-पादम्—भगवान् नृसिंह देव के चरणारविन्द; भजत—पूजा करते हुए; अकुतः-भयम्—निर्भीकता की शरण; इति—इस प्रकार।

अतः, हे असुरगण, गृहस्थ जीवन के तथाकथित सुख का परित्याग करके भगवान् नृसिंह देव के चरणारविन्दों की शरण ग्रहण करो। वे ही निर्भीकता की वास्तविक शरण-स्थली हैं। सांसारिक अनुरक्ति, दुर्दमनीय कामनाएँ, विषाद, क्रोध, निराशा, भय, झूठी प्रतिष्ठा की भूख इन सबका मूल कारण गृहस्थ जीवन में आसक्ति है, जिसके कारण जीवन-मरण का चक्र चलता रहता है।

केतुमालेऽपि भगवान्कामदेवस्वरूपेण लक्ष्म्याः प्रियचिकीर्षया प्रजापतेर्दुहितॄणां पुत्राणां तद्वर्षपतीनां पुरुषायुषाहोरात्रपरिसङ्ख्यानानां यासां गर्भा महापुरुषमहास्त्रतेजसोद्वेजितमनसां विध्वस्ता व्यसवः संवत्सरान्ते विनिपतन्ति. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

केतुमाले—केतुमालवर्ष में; अपि—भी; भगवान्—श्रीभगवान्, विष्णु; कामदेव-स्वरूपेण—कामदेव के रूप में (प्रद्युम्न); लक्ष्म्याः—लक्ष्मी देवी की; प्रिय-चिकीर्षया—तुष्ट करने की कामना; प्रजापतेः—प्रजापति की; दुहितॄणाम्—पुत्रियों के; पुत्राणाम्—पुत्रों का; तत्-वर्ष-पतीनाम्—उस भूभाग (वर्ष) के राजा; पुरुष-आयुषा—मनुष्य के जीवनकाल में (लगभग १०० वर्ष); अहः-रात्र—दिन तथा रातें; परिसङ्ख्यानानाम्—समान संख्या वाले; यासाम्—जिनका (पुत्रियों के); गर्भाः—गर्भ; महा-पुरुष—श्रीभगवान् का; महा-अस्त्र—महास्त्र (चक्र); तेजसा—तेज या प्रभा के द्वारा; उद्वेजित-मनसाम्—उत्तेजित चित्त से; विध्वस्ताः—विध्वंस; व्यसवः—मृत; संवत्सर-अन्ते—वर्ष के अन्त में; विनिपतन्ति—गिर जाते हैं।

शुकदेव गोस्वामी आगे बोले—केतुमालवर्ष नामक भूभाग में भगवान् विष्णु अपने भक्तों के संतोष के लिए ही कामदेव के रूप में रहते हैं। इन भक्तों में लक्ष्मीजी, प्रजापति संवत्सर तथा

संवत्सर के समस्त पुत्र तथा पुत्रियाँ सम्मिलित हैं। प्रजापति की पुत्रियाँ रात के तथा उनके पुत्र दिन के नियामक देवता माने जाते हैं। प्रजापति की सन्तानों की संख्या ३६,००० है जो मनुष्य के जीवन काल के प्रत्येक दिन तथा रात की संख्या के तुल्य है। प्रत्येक वर्ष के अन्त में प्रजापति की पुत्रियाँ श्रीभगवान् के चक्र को देखकर अत्यन्त उद्वेलित हो उठती हैं जिससे उन सबों का गर्भपात हो जाता है।

तात्पर्य : कामदेव श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के रूप में प्रकट होते हैं और वे ही विष्णुतत्त्व हैं। ऐसा क्यों है, इसकी व्याख्या मध्वाचार्य ने *ब्रह्माण्ड पुराण* से उद्धरण देकर की है—*कामदेवस्थितं विष्णुं उपास्ते।* यद्यपि यह कामदेव विष्णुतत्त्व है, किन्तु उसका शरीर आध्यात्मिक न होकर भौतिक है। भगवान् विष्णु प्रद्युम्न या कामदेव के रूप में इस भौतिक शरीर को धारण करते हैं, किन्तु फिर भी वे आध्यात्मिक रूप में आचरण करते हैं। चाहे वे भौतिक रूप धारण करें या आध्यात्मिक, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। वे किसी भी दशा में रहकर आध्यात्मिक रूप में आचरण कर सकने वाले हैं। मायावादी दार्शनिक भगवान् श्रीकृष्ण के शरीर को भी भौतिक मानते हैं, किन्तु उनके मत से भगवान् की आध्यात्मिक क्रियाशीलता में कोई बाधा नहीं पहुँचती।

अतीव सुललितगतिविलासविलसितरुचिरहासलेशावलोकलीलया
किञ्चिदुत्तम्भितसुन्दरभ्रूमण्डलसुभगवदनारविन्दश्रिया रमां रमयन्निन्द्रियाणि रमयते. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अतीव—अत्यन्त; सु-ललित—सुन्दर; गति—चाल से; विलास—लीलाओं से; विलसित—प्रकट रूप; रुचिर—मनोहर; हास-लेश—मन्द मुसकान; अवलोक-लीलया—लीलापूर्ण चितवन से; किञ्चित्-उत्तम्भित—कुछ-कुछ ऊपर उठा; सुन्दर—सुन्दर; भ्रू-मण्डल—भौंहों से; सुभग—शुभ; वदन-अरविन्द-श्रिया—अपने कमल तुल्य मुख से; रमाम्—रमा अथवा लक्ष्मी देवी को; रमयन्—आनन्दित करते हुए; इन्द्रियाणि—समस्त इन्द्रियों को; रमयते—आनन्दित करते हैं।.

केतुमालवर्ष में भगवान् कामदेव (प्रद्युम्न) अत्यन्त लालित्य पूर्ण चाल से चलते हैं। उनकी मन्द मुसकान मनोहर है और जब वे अपनी भृकुटियों को किंचित ऊपर उठा कर लीलापूर्वक देखते हैं, तो उनके मुख की सुन्दरता बढ़ जाती हैं और वे लक्ष्मीजी को आनन्दित करते हैं। इस प्रकार वे अपनी दिव्य इन्द्रियों का आनन्द लेते हैं।

तद्भगवतो मायामयं रूपं परमसमाधियोगेन रमा देवी संवत्सरस्य रात्रिषु प्रजापतेर्दुहितृभिरुपेताहःसु च तद्भर्तृभिरुपास्ते इदं चोदाहरति. ॥ १७॥

शब्दार्थ

तत्—वह; भगवतः—श्रीभगवान् का; माया-मयम्—भक्तों के लिए स्नेह से पूरित; रूपम्—रूप; परम—सर्वोच्च; समाधि-योगेन—प्रभु की सेवा में मन तल्लीन होने से; रमा—लक्ष्मी; देवी—दिव्य नारी; संवत्सरस्य—संवत्सर नामक; रात्रिषु—रात्रि में; प्रजापतेः—प्रजापति की; दुहितृभिः—पुत्रियों के साथ; उपेत—मिलकर; अहःसु—दिन में; च—भी; तत्-भर्तृभिः—पतियों के साथ; उपास्ते—पूजा करती हैं; इदम्—यह; च—भी; उदाहरति—जप करती हैं।

लक्ष्मीजी संवत्सर की अवधि में दिन के समय प्रजापति के पुत्रों के साथ और रात्रि में उनकी पुत्रियों के साथ मिलकर परम दयालु कामदेव रूप में भगवान् की पूजा करती हैं। भक्ति में तल्लीन रहकर लक्ष्मीजी निम्नलिखित मंत्रों का जप करती हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में प्रयुक्त *मायामयम्* शब्द का अर्थ मायावादियों की विवेचना के अनुसार नहीं ग्रहण करना चाहिए। माया का अर्थ प्रेम तथा मोह (भ्रम) दोनों है। जब माता अपने बालक को प्यार करती है, तो वह मायामय कहलाती है। भगवान् विष्णु चाहे जिस रूप में प्रकट हों, वे अपने भक्तों पर सदैव स्नेहिल रहते हैं, अत: यहाँ *मायामयम्* शब्द का व्यवहार, "भक्तों के प्रति अत्यन्त स्नेहिल" अर्थ में हुआ है। श्रील जीव गोस्वामी लिखते हैं कि इस सम्बन्ध में मायामयम् का एक अर्थ *कृपा-प्रचुरम्* (अत्यधिक दयालु) भी हो सकता है। इसी प्रकार श्रील वीर राघव कहते हैं—*माया प्रचुरनात्मीयसंकल्पेन परिगृहीतम् इत्यर्थः ज्ञानपर्यायोऽत्र मायाशब्दः*—जब अन्तरंग सम्बन्धों के कारण कोई अत्यन्त स्नेहिल होता है, तो उसे मायामय कहा जाता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *मायामयम्* को *माया* तथा *आमयम्* शब्दों में विभक्त करके व्याख्या की है। वे इन शब्दों की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—चूंकि जीवात्मा मोह रोग से घिरा है, अत: भगवान् अपने भक्त को माया के चंगुल से छुड़ाने और माया के कारण उत्पन्न रोग से छुड़ाने के लिए सदैव उद्यत रहते हैं।

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ॐ नमो भगवते हृषीकेशाय सर्वगुणविशेषैर्विलक्षितात्मने आकूतीनां चित्तीनां चेतसां विशेषाणां चाधिपतये षोडशकलाय च्छन्दोमयायान्नमयायामृतमयाय सर्वमयाय सहसे ओजसे बलाय कान्ताय कामाय नमस्ते उभयत्र भूयात्. ॥ १८॥

शब्दार्थ

ओम्—हे ईश्वर; ह्राम् ह्रीम् ह्रूम्—सिद्धि के लिए जप करने जाने वाला बीज मंत्र; ओम्—हे ईश्वर; नमः—नमस्कार है; भगवते—श्रीभगवान् के चरणकमलों में; हृषीकेशाय—इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश को; सर्व-गुण—समस्त दिव्य गुणों सहित; विशेषैः—समस्त प्रकारों सहित; विलक्षित—विशेष रूप से द्रष्टव्य; आत्मने—समस्त जीवात्माओं में; आकूतीनाम्—समस्त प्रकार के कार्यों का; चित्तीनाम्—समस्त प्रकार के ज्ञानों का; चेतसाम्—मन के कार्यों, यथा संकल्प तथा मानसिक प्रयत्नों

का; विशेषाणाम्—अपने-अपने लक्ष्यों का; च—तथा; अधिपतये—अधिपति तक; षोडश-कलाय—उत्पत्ति की सोलह कलाएँ जिनके अंगस्वरूप (यथा पाँच इन्दियों के विषय तथा मन सहित ग्यारह इन्दियाँ); छन्दः-मयाय—समस्त अनुष्ठानों को; अन्न-मयाय—जो समस्त जीवात्माओं का भरण करता है; अमृत-मयाय—जो अमर रहता है; सर्व-मयाय—जो सर्वव्यापी है; सहसे—शक्तिमान; ओजसे—इन्द्रियों को बल प्रदान करने वाला; बलाय—शरीर को शक्ति प्रदान करने वाला; कान्ताय—समस्त जीवात्माओं के परम भर्ता या स्वामी; कामाय—भक्तों की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले को; नमः—विनीत नमस्कार; ते—आपको; उभयत्र—सदैव (दिन तथा रात्रि अथवा इस तथा अगले जीवन में); भूयात्—शुभ हो।.

मेरी समस्त इन्द्रियों के नियन्ता तथा समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति के स्तोत्र भगवान् हृषीकेश को मेरा नमस्कार है। वे समस्त दैहिक, मानसिक तथा बौद्धिक कर्मों के अधीश्वर और उनके फलों के एकमात्र भोक्ता हैं। पाँचों इन्द्रियों के विषय तथा मन समेत ग्यारह इन्द्रियाँ उनकी आंशिक अभिव्यक्तियाँ हैं। वे समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले हैं, जो उनकी शक्तिस्वरूपा होने के कारण उनसे अभिन्न हैं; वे प्रत्येक व्यक्ति की दैहिक और मानसिक शक्ति के कारण रूप हैं, जो उनसे अभिन्न हैं। दरअसल, वे समस्त जीवात्माओं की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले तथा उनके भर्ता हैं। समस्त वेदों का ध्येय उनकी उपासना है। अतः हम सभी उन्हें सविनय नमस्कार करते हैं। वे इस जन्म में तथा अगले जन्म में सदा हमारे अनुकूल रहें।

तात्पर्य : इस श्लोक में *मायामय* शब्द की और अधिक भी व्याख्या की गई है कि किस प्रकार भगवान् विभिन्न दिशाओं में अपनी दया का प्रसार करते हैं। *परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*—श्रीभगवान् की शक्तियाँ कई प्रकार से समझी जाती हैं। इस श्लोक में उन्हें प्रत्येक वस्तु का—यहाँ तक कि हमारे देह, मन, इन्द्रियों, कर्म, बल, शारीरिक शक्ति, मानसिक शक्ति तथा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संकल्प का भी—मूल स्रोत कहा गया है। वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक वस्तु में श्रीभगवान् की शक्ति के दर्शन किये जा सकते हैं। *भगवद्गीता* (७.८) में कहा गया है—*रसोऽहमप्सु कौन्तेय*—जल का स्वाद भी कृष्णमय है। हमारे भरण के लिए जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है उनमें क्रियाशील तत्त्व श्रीकृष्ण ही हैं।

इस श्लोक की रचना परमेश्वर की सादर स्तुति ऐश्वर्य की देवी रमा ने की है। यह चेतना शक्ति से ओत-प्रोत है। गुरुदेव के देखरेख में सबों को इस मंत्र का जाप करना चाहिए। इस तरह ईश्वर का पूर्ण भक्त बना जा सकता है। भौतिक बन्धन से पूर्ण छुटकारा पाने के लिए इस मंत्र का जप करना चाहिए और मुक्ति मिलने के पश्चात् भी वैकुण्ठलोक में श्रीभगवान् की पूजा करते हुए इसे जपते रहना चाहिए। निस्सन्देह, सभी मंत्र इस जन्म तथा अगले जन्म के लिए हैं, जैसाकि श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (९.१४)

में स्वंय पुष्टि की है—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रता: ।

नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

"ये महात्माजन नित्य-निरन्तर मेरा कीर्तन करते हुए, दृढ़ निश्चयपूर्वक चेष्टा करते हुए मुझे नमस्कार करते हुए, भक्तिभाव से निरन्तर मेरी उपासना करते हैं।" जो भक्त इस जीवन में तथा अगले जीवन में महामंत्र या किसी अन्य मंत्र का जप करता है, वह *नित्ययुक्तोपासक* कहलाता है।

स्त्रियो व्रतैस्त्वा हृषीकेश्वरं स्वतो
ह्याराध्य लोके पतिमाशासतेऽन्यम् ।
तासां न ते वै परिपान्त्यपत्यं
प्रियं धनायूंषि यतोऽस्वतन्त्रा: ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

स्त्रिय:—सभी स्त्रियाँ; व्रतै:—व्रत उपवास रखकर; त्वा—आप; हृषीकेश्वरम्—इन्द्रियों के स्वामी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को; स्वत:—स्वयमेव; हि—निश्चयपूर्वक; आराध्य—आराधना करके; लोके—इस जगत में; पतिम्—पति, स्वामी; आशासते—याचना करते हैं; अन्यम्—दूसरा; तासाम्—उन सभी स्त्रियों का; न—नहीं; ते—वे पति; वै—निस्सन्देह; परिपान्ति—रक्षा करने में समर्थ; अपत्यम्—सन्तानें; प्रियम्—अत्यन्त प्रिय; धन—सम्पत्ति; आयूंषि—अथवा जीवनकाल; यत:—क्योंकि; अस्व-तन्त्रा:—आश्रित।

हे प्रभो, आप निश्चित रूप से समस्त इन्द्रियों के पूर्ण रूप से स्वतंत्र स्वामी हैं। अत: समस्त स्त्रियाँ जो अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए पति को पाने की कामना से संकल्पों का दृढ़पालन करके आपकी उपासना करती हैं, वे अवश्य ही मोहग्रस्त हैं। वे यह नहीं जानती कि ऐसा पति न तो उनकी और न ही उनकी सन्तानों की रक्षा कर सकता है। वह स्वयं ही काल, कर्मफल तथा प्रकृति-गुणों के अधीन है जो सब आपके अधीनस्थ हैं, अत: वह न तो सम्पत्ति की रक्षा कर सकता है और न अपने सन्तानों की।

तात्पर्य : प्रस्तुत श्लोक में देवी लक्ष्मी उन स्त्रियों के प्रति दयाभाव प्रदर्शित कर रही हैं, जो सुयोग्य वर पाने के उद्देश्य से भगवान् की आराधना करती हैं। यद्यपि ऐसी स्त्रियाँ सन्तान, धन, दीर्घायु तथा अपनी प्रिय वस्तुओं को प्राप्त करने की कामना करके सुखी बनना चाहती हैं, किन्तु वे वैसा नहीं कर पातीं। भौतिक जगत में तथाकथित पति पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् पर आश्रित होता है। ऐसी स्त्रियों के अनेक उदाहरण प्राप्त हैं जिनके पति अपने कर्मफलों के आधार पर अपनी पत्नी, सन्तान, पत्नी के धन

तथा उसके जीवन का पालन नहीं कर पाते। अत: वास्तव में समस्त स्त्रियों के परम पति श्रीकृष्ण हैं। गोपियाँ मुक्त जीव होने के कारण इस तथ्य से परिचित थीं। इसीलिए उन्होंने अपने सांसारिक पतियों को त्याग कर श्रीकृष्ण को अपने वास्तविक पति के रूप में स्वीकार किया। श्रीकृष्ण न केवल गोपियों के, वरन् प्रत्येक जीवात्मा के वास्तविक स्वामी हैं। अत: सबों को यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि श्रीकृष्ण सभी जीवात्माओं के वास्तविक पति हैं। इसलिए *भगवद्गीता* में उन्हें प्रकृति (स्त्री) कहा गया है, पुरुष (नर) नहीं। *भगवद्गीता* (१०.१२) में केवल श्रीकृष्ण को ही पुरुष कहकर सम्बोधित किया गया है—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।

पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥

''अर्जुन ने कहा, हे प्रभो! आप परम ब्रह्म, परम धाम तथा पालनकर्ता परम-तत्त्व तथा सनातन दिव्य पुरुष हैं। आप ही चिन्मय आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी सौन्दर्य हैं।''

श्रीकृष्ण आदिपुरुष हैं और जीवात्माएँ प्रकृति स्वरूपा हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण भोक्ता हैं और सभी जीवात्माएँ उनके भोगार्थ हैं। अत: यदि कोई स्त्री अपनी रक्षा के लिए संसारी पति की चाह करती है या कोई पुरुष पति बनने के लिए पत्नी की कामना करता है, तो वह मोहग्रस्त है। पति बनने का अर्थ होता है धन तथा सुरक्षा द्वारा पत्नी और सन्तान का अच्छा पोषण। किन्तु सांसारिक पति ऐसा करने में समर्थ नहीं हो पाता, क्योंकि वह कर्माधीन होता है। *कर्मणा दैव-नेत्रेण*—उसकी परिस्थितियाँ उसके विगत कर्मों से निर्धारित होती हैं। अत: कोई यह गर्व करे कि वह अपनी पत्नी की रक्षा कर सकता है, तो वह मोहग्रस्त ही है। श्रीकृष्ण ही एकमात्र पति हैं, अत: इस भौतिक जगत में पति-पत्नी का सम्बन्ध कभी भी पूर्ण नहीं हो सकता। चूँकि हममें विवाह करने की आकांक्षा रहती है, इसलिए श्रीकृष्ण दयापूर्वक तथाकथित पति को पत्नी बनाने के लिए अनुमति देते हैं। और पारस्परिक सन्तोष के लिए स्त्री को पति बनाने की अनुमति देते हैं। *ईशोपनिषद्* में कहा गया है—*तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा*—ईश्वर सबों को उसका प्राप्य प्रदान करते हैं। तो भी वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक जीवात्मा प्रकृति है और श्रीकृष्ण ही एकमात्र (भर्ता) पति हैं।

एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य।

यारे यैछे नाचाय, से तैछे करे नृत्य ॥

(*चैतन्यचरितामृत आदि .१४२*)

श्रीकृष्ण प्रत्येक प्राणी के आद्यपति हैं और अन्य समस्त जीवात्माएँ पति या पत्नी के रूप में उन्हीं की इच्छा से नाच रही हैं। इन्द्रियतृप्ति के लिए तथाकथित पति अपनी पत्नी से भले ही संभोग करे, किन्तु उसकी इन्द्रियों का संचालन हृषीकेश द्वारा होता है जो वास्तविक पति हैं।

स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं
समन्ततः पाति भयातुरं जनम् ।
स एक एवेतरथा मिथो भयं
नैवात्मलाभादधि मन्यते परम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निस्संदेह; पतिः—पति; स्यात्—हो; अकुतः-भयः—जो किसी से भयभीत नहीं है, निर्भय; स्वयम्—आत्मनिर्भर; समन्ततः—पूर्णतया; पाति—भरण करता है; भय-आतुरम्—अत्यन्त भयभीत; जनम्—व्यक्ति को; सः—अतः वह; एकः—एक; एव—केवल; इतरथा—अन्यथा; मिथः—एक दूसरे से; भयम्—भय, डर; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; आत्म-लाभात्—आपकी प्राप्ति की अपेक्षा; अधि—महत्तर; मन्यते—मानी जाती है; परम्—अन्य वस्तु।

जो स्वयं निर्भय है तथा जो सभी भयभीत व्यक्तियों को शरण प्रदान करता है, केवल वही वास्तव में पति तथा रक्षक हो सकता है। अतः, हे प्रभो, आप ही एकमात्र पति हैं, कोई अन्य इस पद का भागी नहीं हो सकता। यदि आप एकमात्र पति न होते तो आप भी अन्यों से डरते। अतः वेदों के पारंगत व्यक्ति आपको ही प्रत्येक का स्वामी स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि आपसे बढ़कर कोई अन्य पति एवं रक्षक नहीं है।

तात्पर्य : यहाँ पर पति या संरक्षक की स्पष्ट व्याख्या की गई है। मनुष्य इस श्रेष्ठ पद का अर्थ समझे बिना पति, संरक्षक, शासक अथवा राजनीतिक नेता बनना चाहते हैं। इस ब्रह्माण्ड में न जाने कितने ऐसे व्यक्ति हैं, जो कुछ समय के लिए अपने को पति, संरक्षक, शासक अथवा राजनीतिक नेता मानने का दावा करते हैं, किन्तु कालान्तर में परमेश्वर उन्हें इन पदों से हटा देना चाहता है और तुरन्त ही उनके इन जीवन पदों का अन्त हो जाता है। अतः जो वास्तव में विद्वान हैं और दिव्य जीवन में अग्रणी हैं, वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी नेता, पति या भर्ता को स्वीकार नहीं करते।

भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं *भगवद्गीता* (१८.६६) में कहा है—*अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि*—"मैं सम्पूर्ण पापों से तेरा उद्धार कर दूँगा।" श्रीकृष्ण किसी से भी भयभीत नहीं होते,

अपितु प्रत्येक प्राणी उन्हीं से भयभीत है। अत: वे ही अपने अधीन जीवात्माओं को सुरक्षा प्रदान कर सकते हैं। चूँकि नामधारी नेता या तानाशाह भौतिक प्रकृति के पूर्णत: वशीभूत हैं, अत: वे किसी को पूर्ण सुरक्षा प्रदान नहीं कर सकते हैं, भले ही वे झूठी प्रतिष्ठा के कारण ऐसा दम भरते रहें। *न ते विदु: स्वार्थगतिं हि विष्णुम्*—लोग यह नहीं जानते कि जीवन का परम उत्कर्ष पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को अपना स्वामी मान लेने में है। समस्त राजनीतिक नेताओं, पतियों तथा संरक्षकों को चाहिए कि वे अपने आपको तथा अन्यों को सर्वशक्तिमान बताकर धोखा न देकर कृष्णाभावनामृत आन्दोलन का प्रसार करें जिससे प्रत्येक व्यक्ति यह सीख सके कि परम पति श्रीकृष्ण के समक्ष किस प्रकार आत्मसमर्पण किया जाये।

या तस्य ते पादसरोरुहार्हणं
निकामयेत्साखिलकामलम्पटा ।
तदेव रासीप्सितमीप्सितोऽर्चितो
यद्भग्नयाच्ञा भगवन्प्रतप्यते ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

या—जो स्त्री; तस्य—उसका; ते—आपका; पाद-सरोरुह—चरणकमलों का; अर्हणम्—पूजा; निकामयेत्—पूर्णतया कामना करती है; सा—ऐसी स्त्री; अखिल-काम-लम्पटा—समस्त प्रकार की लौकिक कामनाएँ करते हुए भी; तत्—वह; एव—केवल; रासि—आप प्रदान करते हैं; ईप्सितम्—कुछ अन्य वाञ्छा; ईप्सित:—वाञ्छित; अर्चित:—पूजित; यत्—जिससे; भग्न-याच्ञा—जो आपके चरणकमलों को छोड़कर अन्य वस्तुओं की कामना करती है और इस प्रकार भग्नचित्त हो जाती है; भगवन्—हे ईश्वर; प्रतप्यते—पीड़ा को प्राप्त होती है।

हे भगवन्, जो स्त्री आपके चरणकमल की आराधना विशुद्ध प्रेमवश करती है, आप उसकी समस्त कामनाओं को स्वत: ही पूरा करते हैं। यदि कोई स्त्री आपके चरणकमलों की पूजा किसी विशेष प्रयोजन के लिए करती है, तो भी आप उसकी कामनाओं को शीघ्र पूरा करते हैं, किन्तु अन्तत: वह टूटे हुए मन से पश्चात्ताप करती है। अत: किसी भौतिक लाभ के लिए आपके चरणकमलों की आराधना नहीं की जानी चाहिए।

तात्पर्य : श्रील रूप गोस्वामी ने विशुद्ध भक्ति का वर्णन इस प्रकार किया है—*अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञान कर्माद्यनावृतम्*—मनुष्यों को चाहिए कि वे भगवान् की आराधना किसी भौतिक कामना की पूर्ति के लिए न करें। भगवान् के चरणारविन्दों की सेवा करने का अर्थ है उन्हीं की इच्छानुकूल सेवा करना। अत: नव-दीक्षित भक्त को यह आदेश दिया जाता है कि गुरु तथा शास्त्रों के द्वारा बताये गये विधि-

नियमों के अनुसार ही भगवान् की पूजा करे। इस प्रकार से भक्ति करते हुए वह क्रमशः श्रीकृष्ण में आसक्त होता है और जब उसका भगवान् के लिए मौलिक सुप्त प्रेम जाग्रत हो जाता है, तो बिना किसी उद्देश्य के वह भगवान् की सेवा करने लगता है। ऐसी अवस्था भगवान् के साथ उसके सम्बन्ध की परमावस्था है। तब ईश्वर अयाचित ही अपने भक्त की सुख-सुविधा तथा संरक्षण का ध्यान रखते हैं। *भगवद्गीता* (९.२२) में श्रीकृष्ण यह वचन देते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

परमेश्वर अपनी भक्ति में पूर्णतः संलग्न रहने वालों का स्वतः ध्यान रखते हैं। भक्त के पास जो कुछ है, वे उसकी सभी प्रकार से रक्षा करते हैं और उसे जो कुछ चाहिए उसकी पूर्ति करते हैं। तो भला किसी भौतिक वस्तु के लिए भगवान् को क्यों परेशान किया? ऐसी प्रार्थनाएँ वृथा हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बताते हैं कि यदि कोई भक्त भगवान् से अपनी किसी इच्छा-पूर्ति की कामना करे, तो भी उसे सकाम-भक्त नहीं मानना चाहिए। *भगवद्गीता* (७.१६) में श्रीकृष्ण ने कहा है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतवर्षभ॥

''हे भरतश्रेष्ठ! विपदाग्रस्त, धन की इच्छा वाले, जिज्ञासु और ज्ञानी—ये चार प्रकार के पुण्यात्मा मेरी भक्ति करते हैं।'' जो आर्त तथा अर्थार्थी भगवान् के निकट दुख से छुटकारा पाने या कुछ धन प्राप्त करने के उद्देश्य से जाते हैं, वे सकाम-भक्त नहीं हैं। चाहे वे ऐसा प्रतीत होते हो। वे नौसिखिया भक्त होने के कारण अज्ञानी होते हैं। अन्यत्र श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* में कहते हैं—*उदाराः सर्व एवैते*—वे सभी उदार हैं। प्रारम्भ में भले ही किसी भक्त के मन में कोई कामना रहे, किन्तु कालान्तर में उसका लोप हो जाता है। अतः *श्रीमद्भागवत* का (२.३.१०) आदेश है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

''व्यापक बुद्धिवाला पुरुष चाहे वह सकाम हो या निष्काम अथवा मोक्ष चाहने वाला हो उसे सभी

प्रकार से श्रीभगवान् की आराधना करनी चाहिए।''

यदि किसी व्यक्ति को किसी प्रकार की भौतिक कामना हो तो उसे श्रीभगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी से प्रार्थना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वही उसको पूर्ण करते हैं। यदि वह अपनी कामनापूर्ति के लिए किसी देवता के पास जाता है, तो उसे नष्ट-बुद्धि मानना चाहिए। *भगवद्गीता* (७.२०) में श्रीकृष्ण का कथन है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना: प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता: ।

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियता: स्वया ॥

''कामनाओं ने जिनके ज्ञान को हर लिया है, वे ही अन्य देवताओं की शरण लेकर अपने स्वभाव के अनुरूप उपासना के विधि-विधानों का पालन करते हैं।''

लक्ष्मी देवी उन समस्त भक्तों को जो भगवान् के पास कोई भौतिक कामना लेकर जाते हैं अपने अनुभव के आधार पर यही उपदेश देती हैं कि श्रीभगवान् कामदेव हैं, अत: उनसे किसी भौतिक वस्तु की याचना न की जाये। वे कहती हैं कि प्रत्येक प्राणी को चाहिए कि बिना किसी कामना के भगवान् की सेवा करे। चूँकि श्रीभगवान् का प्रत्येक प्राणी के हृदय में वास है, अत: वे उन सबकी इच्छाओं को जानते हैं और समय आने पर वे उनकी समस्त आकांक्षाओं को पूरा भी करते हैं। अत: किसी प्रकार के वरदान प्राप्त करने की परवाह किये बिना हमें भगवान् की सेवा पर पूर्णरूपेण अवलंबित रहना चाहिए।

मत्प्राप्तयेऽजेशसुरासुरादय-
स्तप्यन्त उग्रं तप ऐन्द्रिये धिय: ।
ऋते भवत्पादपरायणान्न मां
विन्दन्त्यहं त्वद्धृदया यतोऽजित ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

मत्-प्राप्तये—मेरी दया प्राप्त करने के लिए; अज—ब्रह्माजी; ईश—शिवजी; सुर—अन्य देवता जिनके स्वामी इन्द्र, चन्द्र तथा वरुण हैं; असुर-आदय:—असुर भी; तप्यन्ते—तप करते हैं; उग्रम्—कठिन; तप:—तपस्या; ऐन्द्रिये धिय:—जिनके मस्तिष्क महत् इन्द्रियतृप्ति में लीन रहते हैं; ऋते—जब तक; भवत्-पाद-परायणात्—जो श्रीभगवान् के चरणारविन्द की सेवा में एकान्त भाव से तल्लीन रहते हैं; न—नहीं; माम्—मुझको; विन्दन्ति—प्राप्त करते हैं; अहम्—मैं; त्वत्—आप में; हृदया:—जिनके हृदय; यत:—अत:; अजित—हे दुर्जेय।

हे अजेय परमेश्वर, मेरा आशीर्वाद पाने के लिए इन्द्रियसुख के अभिलाषी ब्रह्माजी तथा शिवजी आदि समस्त सुर-असुरगण घोर तपस्या करते हैं, किन्तु आपके चरणारविन्द की सेवा में

संलग्न भक्त के अतिरिक्त अन्य पर मैं अनुग्रह नहीं करती, चाहे वह कितना भी महान् क्यों न हो। चूँकि मैं निरन्तर आपको अपने हृदय में बसाये रहती हूँ इसलिए मैं भक्त के अतिरिक्त अन्य किसी पर अनुग्रह नहीं करती।

तात्पर्य : इस श्लोक में सौभाग्य की देवी लक्ष्मीजी स्पष्ट बताती हैं कि वे किसी संसारी व्यक्ति पर अनुग्रह नहीं करतीं। भले ही कोई संसारी व्यक्ति दूसरे संसारी व्यक्ति की दृष्टि में कितना ही ऐश्वर्यवान् क्यों न बन जाये, ऐसे ऐश्वर्य की दात्री स्वयं लक्ष्मी देवी न होकर सौभाग्य की देवी अंशरूपा भगवती दुर्गा देवी होती हैं। जिन्हें धन-धान्य की कामना होती है वे दुर्गादेवी की आराधना इस मंत्र से करते हैं—*धनं देहि रूपं देहि रूपपतिभाजं देहि*—"हे माता दुर्गे! मुझे धन, बल, यश, पत्नी इत्यादि दें।" देवी दुर्गा को प्रसन्न करके ऐसे वर प्राप्त किये जा सकते हैं, किन्तु वे क्षणिक होने के कारण माया-सुख ही प्रदान करने वाले होते हैं। जैसाकि प्रह्लाद महाराज ने कहा है—*मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान्*—जो भौतिक लाभों के लिए अत्यन्त श्रम करते हैं, वे विमूढ़ हैं, क्योंकि ऐसा सुख स्थायी नहीं होता। दूसरी ओर प्रह्लाद तथा ध्रुव महाराज जैसे भक्त हैं, जिन्होंने अद्वितीय ऐश्वर्य प्राप्त किया। किन्तु वह माया-सुख नहीं था। जब किसी भक्त को अद्वितीय ऐश्वर्य प्राप्त होता है, तो यह नारायण के हृदय में वास करने वाली ऐश्वर्य की देवी का प्रत्यक्ष दान होता है।

देवी दुर्गा की स्तुति करके प्राप्त किया हुआ ऐश्वर्य क्षणिक होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.२३) में कहा गया है—*अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्*—अल्पबुद्धि प्राणी ही क्षणिक सुख की कामना करते हैं। हमें ज्ञात है कि भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के एक शिष्य ने अपने गुरु की सम्पत्ति का भोग करना चाहा तो दयालु गुरु ने सहर्ष उसे ऐसा करने की अनुमति तो दे दी, किन्तु विश्व भर में श्री चैतन्य महाप्रभु सम्प्रदाय के उपदेश देने की अपनी शक्ति नहीं दी। उपदेश देने की यह विशिष्ट शक्ति केवल उस भक्त को दी जाती है जो अपने गुरु से किसी संसारी वस्तु की कामना नहीं करता वरन् गुरु की सेवा ही करना चाहता है। दृष्टान्त के रूप में असुर रावण की कथा सटीक होगी। यद्यपि रावण ने ऐश्वर्य की देवी सीता देवी को भगवान् रामचन्द्र के अधिकार से हरण कर लेना चाहा, किन्तु वह ऐसा नहीं कर पाया। उसने जिस सीता देवी को बलपूर्वक हरण किया वह वास्तविक सीता देवी न होकर माया रूप अथवा दुर्गा देवी थी। फलस्वरूप ऐश्वर्य की देवी की कृपा प्राप्त करने के बजाय दुर्गा देवी

की शक्ति से रावण सपरिवार विनष्ट हो गया (*सृष्टिस्थितिप्रलयसाधनशक्तिरेका*)।

स त्वं ममाप्यच्युत शीर्ष्णि वन्दितं
कराम्बुजं यत्त्वदधायि सात्वताम् ।
बिभर्षि मां लक्ष्म वरेण्य मायया
क ईश्वरस्येहितमूहितुं विभुरिति ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; त्वम्—आप; मम—मेरे; अपि—भी; अच्युत—च्युत न होने वाले; शीर्ष्णि—शिर पर; वन्दितम्—पूजित; कर-अम्बुजम्—आपके कर-कमल; यत्—जो; त्वत्—आपके द्वारा; अधायि—रखे गये; सात्वताम्—भक्तों के ऊपर; बिभर्षि—आप पालन करते हैं; माम्—मुझको; लक्ष्म—आपके वक्षस्थल पर चिह्न; वरेण्य—हे पूज्य; मायया—माया से, भ्रम से; कः—कौन; ईश्वरस्य—ईश्वर का; ईहितम्—इच्छाएं; ऊहितुम्—तर्क द्वारा समझना; विभुः—समर्थ है; इति—इस प्रकार।

हे अच्युत, आपका कर-कमल सभी वरदानों का स्रोत है। अतः आपके शुद्ध भक्त उसकी पूजा करते हैं और आप अत्यन्त दयापूर्वक उनके शिरों पर अपना हाथ रखते हैं। मेरी भी यही कामना है कि आप मेरे मस्तक पर अपना हाथ रखें, यद्यपि आप पहले से ही अपने वक्षस्थल पर श्रीलक्ष्म रूप में मुझे धारण करते हैं, किन्तु इस सम्मान को मैं मिथ्या प्रतिष्ठा की तरह मानती हूँ। आप अपनी वास्तविक दया भक्तों पर ही दिखाते हैं, मुझ पर नहीं। निस्सन्देह, आप सर्वसमर्थ नियंता हैं, आपके प्रयोजन को भला कौन समझ सकता है?

तात्पर्य : शास्त्रों में कई स्थलों पर श्रीभगवान् को वक्षस्थल में सतत वास करने वाली अपनी पत्नी की अपेक्षा भक्तों के प्रति अधिक दयालु दिखाया गया है। *श्रीमद्भागवत* (११.१४.१) में कहा गया है—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः ।

न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥

यहाँ श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि उन्हें ब्रह्मा, शिव, संकर्षण, लक्ष्मी, यहाँ तक कि स्वयं की अपेक्षा उनके भक्त अधिक प्रिय हैं। *श्रीमद्भागवत* (१०.९.२०) में अन्यत्र शुकदेव गोस्वामी कहते हैं—

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।

प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात्॥

सबों के मोक्षदाता परमेश्वर ब्रह्माजी, शिवजी, यहाँ तक कि अपनी पत्नी और अपने शरीर में वास

करने वाली ऐश्वर्य की देवी की अपेक्षा गोपियों के प्रति अधिक दयालु दिखाई पड़ते है। इसी तरह *श्रीमद्‌भागवत* का यह भी कहना है (१०.४७.६०)—

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः

स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।

रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-

लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजसुन्दरीणाम्॥

"गोपियों को भगवान् से वे सभी वर प्राप्त हुए जो न तो लक्ष्मीजी को और न स्वर्ग की परम सुन्दरी नर्तकियों को प्राप्त हो सके। रास-नृत्य में भगवान् ने परम भाग्यशाली गोपियों के कंधों पर अपना हाथ रखकर और प्रत्येक के साथ नृत्य करके परम अनुकम्पा प्रदर्शित की। भगवान् की अहैतुकी कृपा प्राप्त करने वाली गोपियों की कोई बराबरी नहीं कर सकता।"

श्रीचैतन्यचरितामृत में कहा गया है कि गोपियों के चरणचिह्नों का अनुसरण किये बिना किसी को भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का वास्तविक अनुग्रह प्राप्त नहीं हो सकता। यहाँ तक कि ऐश्वर्य की देवी वर्षों तक कठिन तपस्या करके भी गोपियों का सा अनुग्रह नहीं पा सकीं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने इस बात की विवेचना व्यंकट भट्ट से *चैतन्यचरितामृत* (मध्य ९.१११-१३१) में की है—"चैतन्य महाप्रभु ने व्यंकट भट्ट से पूछा 'तुम्हारी आराध्य देवी लक्ष्मी सदैव नारायण के वक्षस्थल में विराजमान रहती हैं और निश्चित रूप से सृष्टि की सबसे पवित्र महिला हैं। किन्तु मेरे प्रभु श्रीकृष्ण एक गोप हैं, जो गायों को चराने में लगे रहते हैं। तो फिर वह कौन सा कारण है कि ऐसी पतिव्रता पत्नी मेरे प्रभु की संगिनी बनना चाहती है? मात्र श्रीकृष्ण का संग-लाभ उठाने के निमित्त लक्ष्मी देवी ने वैकुण्ठ का दिव्य सुख छोड़कर दीर्घकाल तक विधिविधानों तथा व्रतों का पालन करके असीम कठोर तप किया।'

व्यंकट भट्ट ने उत्तर दिया, 'भगवान् श्रीकृष्ण तथा भगवान् नारायण एक ही हैं, किन्तु श्रीकृष्ण की लीलाएँ क्रीड़ा रूप होने के कारण अधिक मधुर हैं। वे श्रीकृष्ण की शक्तियों के लिए अधिक मनमोहक हैं। चूँकि श्रीकृष्ण तथा नारायण दोनों एक ही पुरुष हैं, अतः कृष्ण के साथ लक्ष्मी का मिलन उनके पातिव्रत्य को नष्ट नहीं करता। यह अत्यन्त कुतूहलपूर्ण है कि लक्ष्मी ने जानबूझकर श्रीकृष्ण से मिलाप करना चाहा। ऐश्यर्व की देवी ने सोचा कि श्रीकृष्ण से सम्बन्ध स्थापित करने से उनका पतिव्रत भंग

नहीं होगा, वरन् उन्हें रास-नृत्य का लाभ प्राप्त हो सकेगा। यदि वे स्वयं श्रीकृष्ण के साथ भोग करना चाहती थी तो इसमें क्या दोष है? आप क्यों उपहास कर रहे हैं?'

"चैतन्य महाप्रभु ने उत्तर दिया, 'मैं यह समझता हूँ कि लक्ष्मीजी में कोई दोष नहीं है, किन्तु तो भी वे रास-नृत्य में प्रविष्ट नहीं हो पाईं। ऐसा शास्त्रों से प्रकट होता है। दण्डकारण्य में वेदों के ज्ञानी जन भगवान् श्रीरामचन्द्र से मिले और उनकी तपस्या के कारण उन्हें रास-नृत्य में प्रवेश करने की अनुमति मिल गई। किन्तु क्या तुम बता सकते हो कि ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मीजी को यह सुअवसर क्यों नहीं प्राप्त हो सका?'

"इस पर व्येंकट भट्ट का उत्तर था, "मैं एक तुच्छ प्राणी हूँ, अत: मैं इस घटना के रहस्य को नहीं बता सकता। मैं एक साधारण व्यक्ति हूँ मेरा ज्ञान सीमित है और मैं सदैव अशान्त रहता हूँ। भला मैं परमात्मा की लीलाओं को कैसे समझ सकता हूँ? उनकी लीलाएँ लाखों सागरों से भी अगाध हैं।'

"श्री चैतन्य महाप्रभु ने उत्तर दिया, 'श्रीकृष्ण में एक विशेष गुण हैं। वे अपने व्यक्तिगत माधुर्य प्रेम से सबके हृदयों को आकृष्ट कर लेते हैं। व्रजलोक अथवा गोलोक वृन्दावन के वासियों के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए श्रीकृष्ण के चरणकमलों का आश्रय प्राप्त हो सकता है। किन्तु उस लोक के वासी इस तथ्य से अपरिचित हैं कि श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं। फलत: नन्द महाराज, यशोदा देवी तथा गोपियाँ उन्हें अपने प्रिय पुत्र या प्रेमी के रूप में मानती हैं। माता यशोदा उन्हें पुत्रवत् मानती हैं और कभी-कभी उन्हें ऊखल से बाँध देती हैं। गोपजन उन्हें सामान्य बालक मानते हैं और वे उनके कन्धों पर चढ़ जाते हैं। गोलोक वृन्दावन में श्रीकृष्ण को प्रेम करने के अतिरिक्त कोई और कुछ भी नहीं चाहता।"

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि व्रजभूमि के निवासियों की कृपादृष्टि के बिना श्रीकृष्ण की संगति नहीं मिल सकती। अत: यदि कोई चाहता है कि श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष मोक्ष प्रदान करें तो उसे वृन्दावनवासियों की सेवा करनी चाहिए, क्योंकि वे भगवान् के विशुद्ध भक्त हैं।

रम्यके च भगवत: प्रियतमं मात्स्यमवताररूपं तद्वर्षपुरुषस्य मनो: प्राक्प्रदर्शितं स इदानीमपि महता भक्तियोगेनाराधयतीदं चोदाहरति. ॥ २४॥

शब्दार्थ

रम्यके च—रम्यकवर्ष में भी; भगवत:—श्रीभगवान् का; प्रिय-तमम्—अत्यन्त प्रिय; मात्स्यम्—मछली; अवतार-रूपम्—अवतार स्वरूप; तत्-वर्ष-पुरुषस्य—उस भूभाग के शासक; मनो:—मनु के; प्राक्—इसके पूर्व (चाक्षुष-मन्वन्तर के अन्त में);

प्रदर्शितम्—प्रदर्शित; सः—वह मनु; इदानीम् अपि—यहाँ तक कि आज भी; महता भक्ति-योगेन—महती भक्ति के द्वारा; आराधयति—श्रीभगवान् की आराधना करता है; इदम्—यह; च—तथा; उदाहरति—जप करता है।

शुकदेव गोस्वामी आगे कहते हैं—रम्यकवर्ष में पिछले मन्वन्तर (चाक्षुष) के अन्त में श्रीभगवान् मत्स्य रूप में प्रकट हुए, जहाँ के अधिपति वैवस्वत मनु हैं। वे आज भी मत्स्य भगवान् की शुद्ध भक्ति करते हैं और निम्नलिखित मंत्र का जप करते हैं।

ॐ नमो भगवते मुख्यतमाय नमः सत्त्वाय प्राणायौजसे सहसे बलाय महामत्स्याय नम इति. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ओम्—हे ईश्वर; नमः—नमस्कार है; भगवते—श्रीभगवान् को; मुख्य-तमाय—प्रथम अवतार को; नमः—मेरा नमस्कार है; सत्त्वाय—सत्त्व रूप को; प्राणाय—जीवन के मूलाधार को; ओजसे—इन्द्रियों के ओजस्वरूप; सहसे—समस्त बुद्धि बल के स्त्रोत; बलाय—शारीरिक शक्ति के उद्गम; महा-मत्स्याय—महा मत्स्यावतार को; नमः—नमस्कार है; इति—इस प्रकार।

मैं सत्त्व स्वरूप श्रीभगवान् को नमस्कार करता हूँ। वे प्राण, शारीरिक शक्ति, बौद्धिक शक्ति तथा ज्ञानेन्द्रिय शक्ति के मूल स्त्रोत हैं। समस्त अवतारों में प्रकट होने वाले वे महामत्स्यावतार हैं। मैं पुनः उनको नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : श्रील जयदेव गोस्वामी का गीत है—

प्रलयो पयोधि-जले धृतवान् असि वेदं

विहित-वहित्र-चरित्रम् अखेदम्

केशव धृत-मीन-शरीर जय जयदीश हरे।

सृष्टि-रचना के तुरन्त बाद यह सारा ब्रह्माण्ड जल में मग्न हो गया। उस समय वेदों की रक्षा के लिए भगवान् श्रीकृष्ण (केशव) ने महामत्स्य के रूप में अवतार लिया। इसीलिए मनु ने मत्स्य भगवान् को मुख्यतम् अर्थात् प्रथम अवतार ग्रहण करनेवाला कहा है। सामान्यत: मत्स्य को तमो तथा रजो गुणों से युक्त माना जाता है, किन्तु हमें यह समझना आवश्यक है कि श्रीभगवान् का प्रत्येक अवतार पूर्णत: दिव्य होता है। परमात्मा के मूल दिव्य गुण में किसी प्रकार की कमी नहीं होती। इसलिए *सत्त्वाय* शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है दिव्य धरातल पर विशुद्ध सत्त्व। भगवान् के अनेक अवतार हैं—वराहमूर्ति, कूर्ममूर्ति, हयग्रीवमूर्ति इत्यादि। किन्तु इन्हें भौतिक नहीं मानना चाहिए। वे शुद्ध सत्त्व पद पर सदैव अवस्थित रहते हैं।

अन्तर्बहिश्चाखिललोकपालकै-
रदृष्टरूपो विचरस्युरुस्वनः ।
स ईश्वरस्त्वं य इदं वशेऽनय-
न्नाम्ना यथा दारुमयीं नरः स्त्रियम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अन्तः—भीतर; बहिः—बाहर; च—भी; अखिल-लोक-पालकैः—विभिन्न लोकों, समाजों, राज्यों आदि के नायकों द्वारा; अदृष्ट-रूपः—अदृश्य; विचरसि—विचरण करते हो; उरु—अत्यन्त महान्; स्वनः—जिसकी ध्वनि (वैदिक मंत्र); सः—वह; ईश्वरः—परम नियन्ता; त्वम्—आपको; यः—जो; इदम्—वह; वशे—वश में; अनयत्—ले आया; नाम्ना—विभिन्न नामों से, जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र; यथा—ठीक वैसा ही; दारुमयीम्—काष्ठ की बनी; नरः—मनुष्य; स्त्रियम्—पुतली को।.

हे ईश्वर, जिस प्रकार एक नटकठ पुतलियों को तथा पति अपनी पत्नी को वश में रखता है, उसी प्रकार आप इस ब्रह्माण्ड की समस्त जीवात्माओं को, चाहे वे ब्राह्मण हों या क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र, अपने वश में रखने वाले हैं। यद्यपि आप जन-जन के हृदयों के भीतर परम साक्षी के रूप में और उनके बाहर भी निवास करते हैं, किन्तु समाज, जाति तथा देश के तथाकथित नेता आपको समझ नहीं पाते। केवल वैदिक मंत्रों की स्वरलहरियों को सुनने वाले आपको जान पाते हैं।

तात्पर्य : श्रीभगवान् *अन्तर्बहिः* अर्थात् सबों के भीतर और बाहर विद्यमान रहते हैं। भगवान् की माया से जनित भ्रम को जीतकर उनकी अन्तः तथा बहिः उपस्थिति अनुभव की जा सकती है। *श्रीमद्भागवत* (१.८.१९) में श्रीमती कुन्तीदेवी ने बताया है कि इस जगत में श्रीकृष्ण *नटो नाट्यधरो* यथा—नाटक के नट की भाँति—प्रकट होते हैं— *भगवद्गीता* (१८.६१) में श्रीकृष्ण कहते हैं—*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*—"हे अर्जुन, ईश्वर प्राणीमात्र के हृदय में स्थित हैं।" ईश्वर प्रत्येक के हृदय में और इसके बाहर भी वास करते हैं। हृदय के भीतर वे परमात्मा हैं, जो निदेशक तथा साक्षी तुल्य हैं। यद्यपि ईश्वर हमारे हृदयों में वास करते हैं, किन्तु फिर भी अज्ञानी कहते फिरते हैं कि मैं ईश्वर को नहीं देख सकता; मुझे उनके दर्शन कराओ।

प्रत्येक प्राणी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के वश में उसी प्रकार है, जिस प्रकार नाचने वाली कठ पुतलियाँ नट के वश में रहती हैं, अथवा जैसे पति के वश में पत्नी। स्त्री की उपमा पुतली (दारुमयी) से दी गई है, क्योंकि वह पराधीन है। मनुष्य उस पर सदैव शासन करता है। तो भी, झूठी प्रतिष्ठावश स्त्रियों का एक वर्ग स्वतंत्र रहना चाहता है। स्त्रियाँ तो स्त्रियाँ, समस्त जीवात्माएँ प्रकृति (स्त्री) हैं, अतः वे भगवान् पर आश्रित हैं, जैसाकि श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* में स्वयं कहा है (*अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं*

विद्धि मे परम्) जीवात्मा कभी भी स्वतंत्र नहीं है। सभी दशाओं में वह भगवान् की कृपा पर आश्रित है। भगवान् ने मानव समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन वर्णों में विभाजित किया और आदेश दिया कि अपने-अपने वर्ण के नियमों का पालन करें। इस प्रकार समाज के सभी सदस्य सदैव परम पुरुष के वश में रहते हैं। फिर भी कुछ मूर्ख लोग ईश्वर की सत्ता को नकारते हैं।

आत्म-साक्षात्कार का अर्थ है भगवान् की तुलना में अपनी अधीनस्त स्थिति को समझना। जब मनुष्य को यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तो वह श्रीभगवान् की शरण ग्रहण करता है और माया के चंगुल से छुटकारा पा लेता है। दूसरे शब्दों में, जब तक मनुष्य भगवान् के चरणकमलों में आत्मसमर्पण नहीं कर देता, तब तक माया उसे विभिन्न रूपों में वशीभूत करती रहेगी। इस भौतिक जगत में कोई इससे इनकार नहीं कर सकता कि वह वश में है। भगवान् नारायण इस भौतिक जगत से परे हैं और वही सबको वश में रखते हैं। इस वैदिक मंत्र से इसकी पुष्टि होती है—*एको ह वै नारायण आसीत्।* मूर्ख लोग नारायण को सामान्य भौतिक जगत के धरातल पर मानते हैं। वे जीवात्मा की प्राकृतिक स्वाभाविक स्थिति से परिचित नहीं हैं, इसलिए वे दरिद्रनारायण, स्वामीनारायण या मिथ्यानारायण जैसे शब्द गढ़ लेते हैं। किन्तु नारायण वास्तव में सबों के परम नियन्ता हैं। यही ज्ञान आत्म-साक्षात्कार है।

यं लोकपालाः किल मत्सरज्वरा
हित्वा यतन्तोऽपि पृथक्समेत्य च ।
पातुं न शेकुर्द्विपदश्चतुष्पदः
सरीसृपं स्थाणु यदत्र दृश्यते ॥ २७॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको (आपको); लोक-पालाः—इस ब्रह्माण्ड के महान् नेता, जिनमें ब्रह्मा प्रथम हैं; किल—अन्यों की क्या कहें; मत्सर-ज्वराः—जिन्हें ईर्ष्या का ज्वर चढ़ा हुआ है; हित्वा—परित्याग करके; यतन्तः—यत्न करते हुए; अपि—यद्यपि; पृथक्—अलग से; समेत्य—सम्मिलित; च—भी; पातुम्—रक्षा करने में; न—नहीं; शेकुः—समर्थ; द्वि-पदः—दो पैर वाले; चतुः-पदः—चार पाँव वाले; सरीसृपम्—रेंगने वाले; स्थाणु—जड़; यत्—जो भी; अत्र—इस भौतिक जगत के भीतर; दृश्यते—दीख पड़ता है।.

हे ईश्वर, इस ब्रह्माण्ड के बड़े से बड़े नेता, यथा ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं से लेकर इस संसार के राजनीतिक नेताओं तक, सभी आपकी सत्ता के प्रति ईर्ष्यालु हैं। किन्तु आपकी सहायता के बिना वे न तो पृथक्-पृथक्, न ही सम्मिलित रूप से इस ब्रह्माण्ड के असंख्य जीवों का पालन कर सकते हैं। आप समस्त मनुष्यों, पशुओं (यथा गाय, गधा) तथा समस्त

वनस्पतियों, रेंगने वाले जीवों, पक्षियों, पर्वतों तथा इस संसार में जो भी दिखाई पड़ता है उसके एकमात्र वास्तविक पालक हैं।

तात्पर्य : संसारी व्यक्तियों में ईश्वर की सत्ता से स्पर्धा करना फैशन बन चुका है। जब नामधारी विज्ञानी अपनी प्रयोगशालाओं में जीव की सृष्टि करने का प्रयास करते हैं, तो उनका एकमात्र उद्देश्य श्रीभगवान् की प्रतिभा एवं शक्ति को चुनौती देना होता है। यही माया कहलाती है। यह वैकुण्ठलोक में भी व्याप्त है जहाँ ब्रह्मा, शिव इत्यादि महान् देवता वास करते हैं। इस संसार में अपने समस्त प्रयासों के असफल होने पर भी प्रत्येक व्यक्ति झूठी प्रतिष्ठा से फूला रहता है। जब दिखावे के लिए गरीबों की सहायता करने वाले नामधारी परोपकारियों के पास कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्य जाते हैं, तो वे कहते हैं कि आप लोग वृथा ही अपना समय नष्ट करते हैं, हम लोग ही असंख्य भूखे जनसमूह का भरण करने वाले हैं। दुर्भाग्यवश उनके इने-गिने प्रयास, चाहे व्यष्टि रूप से हों या समष्टि रूप में, किसी समस्या का हल नहीं ढूँढ पाते।

कभी-कभी तथाकथित स्वामी लोग दरिद्रों को भोजन देने के अत्यन्त इच्छुक रहते हैं; वे उन्हें दरिद्रनारायण समझते हैं। वे मूल परम-नारायण की अपेक्षा कृत्रिम दरिद्रनारायण की सेवा को वरीयता प्रदान करते हैं। उनका कहना है कि भगवान् नारायण की सेवा को बढ़ावा देने की अपेक्षा संसार के भूखे मनुष्यों की सेवा करना श्रेष्ठ है। दुर्भाग्यवश ऐसे भौतिकतावादी, व्यष्टि रूप से या संयुक्त राष्ट्र के रूप में समष्टि रूप में अपनी योजनाएँ पूरी नहीं कर पाते। सत्य तो यह है कि करोड़ों मनुष्यों, पशुओं, पक्षियों तथा वृक्षों—यही नहीं सम्पूर्ण जीवात्माओं—का भरण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा अकेले ही किया जाता है। *एको बहूनां यो विदधाति कामान्*—एक ही श्रीभगवान् सभी जीवों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले हैं। भगवान् नारायण की सत्ता को चुनौती देना असुरों का कार्य है। किन्तु कभी-कभी माया के वशीभूत होकर सुर अथवा भक्तजन भी किंकर्तव्यविमूढ़ होकर अपने को सारे ब्रह्माण्ड का नियामक घोषित करने लगते हैं। ऐसी घटनाओं का उल्लेख *श्रीमद्भागवत* के दशम स्कन्ध में मिलता है जहाँ शुकदेव गोस्वामी बताते हैं कि किस प्रकार ब्रह्माजी और राजा इन्द्र को गर्व होता है और अन्त में वे श्रीकृष्ण द्वारा दण्डित होते हैं।

भवान्युगान्तार्णव ऊर्मिमालिनि
क्षोणीमिमामोषधिवीरुधां निधिम् ।
मया सहोरु क्रमतेऽज ओजसा
तस्मै जगत्प्राणगणात्मने नम इति ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

भवान्—आप; युग-अन्त-अर्णवे—प्रलयकालीन सागर में; ऊर्मि-मालिनि—उत्ताल तरंगों के स्वामी; क्षोणीम्—पृथ्वी को; इमाम्—इस; ओषधि-वीरुधाम्—समस्त प्रकार की औषधियों एवं लताओं को; निधिम्—आगार, संग्रह; मया—मेरे; सह—साथ; उरु—महान्; क्रमते—आप भ्रमण करते रहे; अज—हे अजन्मा; ओजसा—गतिपूर्वक; तस्मै—उसको; जगत्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का; प्राण-गण-आत्मने—जीवन का परम स्रोत; नमः—नमस्कार है; इति—इस प्रकार।

हे सर्वशक्तिमान ईश्वर, कल्पान्त में यह पृथ्वी, जो सभी प्रकार की जड़ी बूटियों तथा वृक्षों की आगार है, जल की बाढ़ से प्रलयकारी तरंगों के नीचे डूब गई। उस समय आपने पृथ्वी सहित मेरी रक्षा की और अत्यन्त वेग से आप समुद्र में भ्रमण करते रहे। हे अजन्मा, आप इस समग्र सृष्टि के वास्तविक पालनकर्ता हैं, इसलिए आप ही सभी जीवात्माओं के कारणस्वरूप हैं। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : ईर्ष्यालु व्यक्ति यह नहीं समझ पाते कि ईश्वर कितने आश्चर्यजनक ढंग से इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि, उसका पालन और फिर संहार करते हैं। किन्तु ईश्वर के भक्तजन इसे अच्छी तरह समझते हैं। वे यह देख पाने में समर्थ हैं कि इस भौतिक प्रकृति के अद्‌भुत कार्यों के पीछे कैसे ईश्वर का हाथ है।

भगवद्‌गीता (९.१०) में श्रीकृष्ण कहते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

"हे कुन्तीपुत्र! यह अपरा प्रकृति (माया) मेरी अध्यक्षता में कार्य करती हुई सम्पूर्ण चराचर प्राणियों को रचती है। इस के अनुसार इस जगत का बारम्बार सृजन और संहार होता है।" प्रकृति के समस्त विस्मयकारी परिवर्तन श्रीभगवान् के निरीक्षण में घटित होते हैं। ईर्ष्यालु व्यक्ति इसे नहीं देख पाते, किन्तु जो भक्त हैं, वे विनम्र तथा अशिक्षित होने पर भी प्रकृति की इन क्रियाओं के पीछे भगवान् के हाथ को देख पाते हैं।

हिरण्मयेऽपि भगवान्निवसति कूर्मतनुं बिभ्राणस्तस्य तत्प्रियतमां तनुमर्यमा सह वर्षपुरुषैः पितृगणाधिपतिरुपधावति मन्त्रमिमं चानुजपति. ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

हिरण्मये—हिरण्मयवर्ष में; अपि—निस्सन्देह; भगवान्—श्रीभगवान्; निवसति—निवास करते हैं; कूर्म-तनुम्—कछुए का शरीर; बिभ्राणः—प्रकट करते हुए; तस्य—श्रीभगवान् का; तत्—वह; प्रिय-तमाम्—सर्वाधिक प्रिय; तनुम्—शरीर; अर्यमा—हिरण्मय वर्ष का प्रमुख वासी अर्यमा के; सह—साथ; वर्ष-पुरुषैः—उस भूभाग के व्यक्ति; पितृ-गण-अधिपतिः—जो पितरों का प्रतिनिधि है; उपधावति—भक्तिपूर्वक पूजा करता है; मन्त्रम्—मंत्र को; इमम्—इस; च—भी; अनुजपति—जपता है।

शुकदेव गोस्वामी आगे बोले—हिरण्मयवर्ष में भगवान् विष्णु कच्छप रूप में निवास करते हैं। इस परम प्रिय एवं सुन्दर रूप की आराधना हिरण्मयवर्ष के प्रमुख निवासी अर्यमा तथा उस वर्ष के अन्य वासियों द्वारा सदैव की जाती है। वे निम्नलिखित स्तुति करते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *प्रियतम* (सर्वाधिक प्रिय) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्द है। प्रत्येक भक्त भगवान् के किसी विशेष रूप को ही अपना प्रिय समझता है। कुछ सौन्दर्यप्रेमी नास्तिक विचारधारा के कारण ऐसा सोचते हैं कि भगवान् के कूर्म, शूकर तथा मत्स्य अवतार अति सुन्दर नहीं हैं। वे यह नहीं समझ पाते कि भगवान् का प्रत्येक रूप अत्यन्त तेजवान है। चूँकि उनके ऐश्वर्यों में से अनन्त सौन्दर्य एक है, अत: भगवान् के समस्त अवतार अत्यन्त सुन्दर हैं और भक्त लोग उसकी सराहना करते हैं। किन्तु जो भगवान् के भक्त नहीं हैं, वे श्रीकृष्ण के अवतारों को सामान्य संसारी प्राणी मानते हैं, फलत: वे सुन्दर तथा असुन्दर में अन्तर पाते हैं। प्रत्येक भक्त भगवान् के किसी एक विशेष रूप को पूजता है, क्योंकि वह उसी रूप में उन्हें देखना चाहता है। *ब्रह्म-संहिता* (.३३) में कहा गया है—*अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपमाद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च।* भगवान् का परम सुन्दर रूप सदैव यौवनपूर्ण रहता है। विशिष्ट सम्प्रदाय के सेवक उसी रूप को परम सुन्दर मानकर निरन्तर भक्ति करते हैं।

ॐ नमो भगवते अकूपाराय सर्वसत्त्वगुणविशेषणायानुपलक्षितस्थानाय नमो वर्ष्मणे नमो भूम्ने नमो नमोऽवस्थानाय नमस्ते. ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

ओम्—हे ईश्वर; नमः—नमस्कार है; भगवते—श्रीभगवान् को; अकूपाराय—कूर्म के रूप में; सर्व-सत्त्व-गुण-विशेषणाय—जिसका रूप शुद्ध सत्त्वमय है; अनुपलक्षित-स्थानाय—आपको, जिनका स्थान अनिश्चित है; नमः—नमस्कार है; वर्ष्मणे—काल की मर्यादा के बाहर आपको; नमः—आदरपूर्वक नमस्कार; भूम्ने—उस महान् को जो सर्वत्र जा सकता हैं; नमः नमः—बारम्बार नमस्कार है; अवस्थानाय—सर्वाधार; नमः—नमस्कार है; ते—आपको।

हे प्रभो, कच्छप स्वरूप आपको मेरा सादर नमस्कार है। आप समस्त दिव्य गुणों के आगार हैं। आप भौतिकता से पूर्णतः रहित तथा परम सत्त्व में स्थित हैं। आप जल में विचरण करते रहते हैं, किन्तु कोई आपका पता नहीं लगा पाता, अत: मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ। अपनी

दिव्य स्थिति के कारण आप भूत, वर्तमान तथा भविष्य से बँधे नहीं रहते। आप सर्वत्र सर्वाधार रूप में उपस्थित रहते हैं, अत: मैं बारम्बार आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि *गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूत:*—आध्यात्मिक जगत में सबसे ऊपर के लोक गोलोक में भगवान् सदैव रहते हैं। इसके साथ ही साथ वे सर्वव्यापी हैं। ऐसा विरोधाभास केवल श्रीभगवान् पर ही लागू हो सकता है जो समस्त ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं। भगवान् की सर्वव्यापकता की पुष्टि *भगवद्गीता* से (१८.६१) होती है जहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं—*ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*—"हे अर्जुन! परमेश्वर प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित हैं।" *भगवद्गीता* में ही अन्यत्र (१.१) वे कहते हैं— *सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्त: स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—मैं सब प्राणियों के हृदय में बैठा हूँ और मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और विस्मृति होती है। अत: यद्यपि भगवान् सर्वत्र विद्यमान हैं, किन्तु वे सामान्य नेत्रों से नहीं देखे जा सकते। जैसाकि अर्यमा कहते हैं, श्रीभगवान् *अनुपलक्षितस्थान* हैं अर्थात् उनको कोई ढूँढ नहीं सकता। यही श्रीभगवान् की महानता है।

यद्रूपमेतन्निजमाययार्पित-
मर्थस्वरूपं बहुरूपरूपितम् ।
सङ्ख्या न यस्यास्त्ययथोपलम्भनात्-
तस्मै नमस्तेऽव्यपदेशरूपिणे ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसका; रूपम्—रूप; एतत्—यह; निज-मायया अर्पितम्—आपकी माया से प्रकट; अर्थ-स्वरूपम्—यह समस्त दृश्य सार्वभौम अभिव्यक्ति (प्रकाश); बहु-रूप-रूपितम्—अनेक रूपों में प्रकट; सङ्ख्या—गणना; न—नहीं; यस्य—जिसकी; अस्ति—है; अयथा—झूठे ही; उपलम्भनात्—देखने से; तस्मै—उसे (भगवान् को); नम:—मेरा नमस्कार; ते—आपको; अव्यपदेश—मानसिक चिन्ता द्वारा निश्चित न हो सकने वाला, अनिवर्चनीय; रूपिणे—जिसका सत्य रूप।

हे भगवन्, यह विराट दृश्य अभिव्यक्ति आपकी अपनी सृजनात्मक शक्ति का प्रदर्शन है। इसके अन्तर्गत अनन्त रूप आपकी बहिरंगा शक्ति (माया) का प्रदर्शन मात्र है, अत: यह विराट रूप आपका वास्तविक रूप नहीं है। आपके वास्तविक रूप का दर्शन तो केवल दिव्य भावना भावित भावित भक्तजन कर सकते हैं, अन्य कोई नहीं। इसलिए मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : मायावादी दार्शनिक भगवान् के विराट रूप को ही सत्य तथा उनके व्यक्तिगत स्वरूप को मायास्वरूप मानते हैं। उनकी त्रुटि एक सरल उदाहरण द्वारा समझी जा सकती है। अग्नि में तीन तत्त्व

होते हैं—शक्तिस्वरूप उष्मा, प्रकाश तथा स्वयं अग्नि। यह कोई भी समझ सकता है कि मूलत: अग्नि ही वास्तविक है और उष्मा तथा प्रकाश अग्नि की शक्ति मात्र हैं। वे अग्नि की स्वरूपहीन शक्तियाँ होने के कारण अवास्तविक रूप हैं। केवल अग्नि में रूप होता है, अत: यही उष्मा तथा प्रकाश का वास्तविक रूप है। *भगवद्‌गीता* (९.४) में श्रीकृष्ण कहते हैं—*मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना*—मेरी प्राकृत इन्द्रियों से अतीत अव्यक्त रूप द्वारा यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त है। इस प्रकार भगवान् का अव्यक्त रूप अग्नि की उष्मा तथा प्रकाश के प्रसार की भाँति है। *भगवद्‌गीता* में भगवान् का यह भी वचन है—*मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थित:*—यह सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि श्रीकृष्ण की शक्ति पर आश्रित है, चाहे वह भौतिक हो, आध्यात्मिक या तटस्था शक्ति हो। किन्तु उनका रूप उनकी शक्ति के विस्तार से रहित है, अत: वे व्यक्तिगत रूप में उपस्थित नहीं हैं। श्रीभगवान् की शक्ति का अकल्पनीय विस्तार अचिन्त्य शक्ति कहलाता है। अत: बिना भक्त बने कोई भी भगवान् के सत्य रूप को नहीं जान पाता।

जरायुजं स्वेदजमण्डजोद्भिदं
चराचरं देवर्षिपितृभूतमैन्द्रियम् ।
द्यौ: खं क्षिति: शैलसरित्समुद्र-
द्वीपग्रहर्क्षेत्यभिधेय एक: ॥ ३२॥

शब्दार्थ

जरायु-जम्—गर्भ से उत्पन्न; स्वेद-जम्—पसीने से उत्पन्न; अण्ड-ज—अंडे से उत्पन्न; उद्भिदम्—पृथ्वी से उत्पन्न; चर-अचरम्—चर तथा अचर (स्थावर तथा जंगम); देव—देवता; ऋषि—ऋषि; पितृ—पितृलोक के वासी; भूतम्—वायु, अग्नि जल तथा क्षिति नामक तत्त्व; ऐन्द्रियम्—सभी इन्द्रियाँ; द्यौ:—उच्चतर लोक; खम्—आकाश; क्षिति:—पृथ्वी; शैल—पर्वत; सरित्—नदियाँ; समुद्र—सागर; द्वीप—द्वीप; ग्रह-ऋक्ष—नक्षत्र तथा ग्रह; इति—इस प्रकार; अभिधेय:—विभिन्न नामों से अभिहित; एक:—एक।

हे प्रिय प्रभु, आप अपनी विविध शक्तियाँ अनगिनत रूपों में प्रदर्शित करते हैं—जैसे कि गर्भ से अंडे से तथा स्वेद से उत्पन्न होने वाले जीव; धरती से पौधों एवं वृक्षों के रूप में विकसित होने वाले जीव; देवता , विद्वान, ऋषि-मुनि तथा पितृओं सहित चर तथा अचर सारे जीव; बाह्यावकाश, स्वर्गलोक सहित उच्चतर ग्रहमंडल एवं पर्वत, नदियाँ, महासागरों तथा द्वीपों सहित पृथ्वी ग्रह इत्यादि।

तात्पर्य : यह श्लोक *ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या* के सिद्धान्त को पूर्णतया नकारता है, जिसके अनुसार ब्रह्म सत्य है, जबकि यह भौतिक जगत अपने महत्-पदार्थों समेत मिथ्या (असत्य) है। कुछ भी

मिथ्या नहीं है। एक वस्तु स्थायी हो सकती और दूसरी अस्थायी, किन्तु स्थायी तथा अस्थायी दोनों ही तथ्य हैं। उदाहरणार्थ, यदि कोई क्षण भर के लिए क्रुद्ध हो जाता है, तो कोई यह नहीं कहेगा कि उसका क्रोध असत्य है। यह केवल क्षणिक है। दैनिक जीवन में अनुभव की जाने वाली प्रत्येक वस्तु इसी प्रकार की है; यह क्षणिक होकर भी सत्य है।

इस श्लोक में विभिन्न स्रोतों से आगत नाना प्रकार के जीवात्माओं का सुस्पष्ट वर्णन मिलता है। इनमें से कुछ गर्भ से उत्पन्न होते हैं और कुछ जैसे कुछ कीट मनुष्य के पसीने से; अन्य अण्डे से और कुछ पृथ्वी से अंकुरित होते हैं। जीवात्मा अपने पूर्वकर्मों के अनुसार विभिन्न परिस्थितियों में जन्म लेता है। यद्यपि उसका शरीर भौतिक होता है, किन्तु यह कभी मिथ्या नहीं होता। यह किसी भी व्यक्ति को स्वीकार्य नहीं होगा कि मनुष्य का भौतिक शरीर मिथ्या है, इसलिए हत्या की कोई प्रतिक्रिया नहीं होगी। हमारे अस्थायी शरीर अपने कर्मों के अनुसार हमें प्राप्त होते हैं और इसी शरीर से हमें जीवन की वेदनाओं और आनन्दों को भोगना पड़ता है। हमारे शरीर मिथ्या नहीं कहे जा सकते; हाँ वे अस्थायी अवश्य हैं। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि भगवान् की शक्ति स्वयं भगवान् की भाँति स्थायी है, भले ही यह शक्ति कभी प्रकट रहे तो कभी अप्रकट रहे। जैसाकि वेदों में सार-रूप में कहा गया है—*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—प्रत्येक वस्तु ब्रह्म है।

यस्मिन्नसङ्ख्येयविशेषनाम-
रूपाकृतौ कविभिः कल्पितेयम् ।
सङ्ख्या यया तत्त्वदृशापनीयते
तस्मै नमः साङ्ख्यनिदर्शनाय ते इति ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें (श्रीभगवान् में); असङ्ख्येय—अगणित; विशेष—विशेष; नाम—नाम; रूप—रूप; आकृतौ—शारीरिक स्वरूप से युक्त; कविभिः—विद्वान व्यक्तियों के द्वारा; कल्पिता—कल्पित की गई; इयम्—यह; सङ्ख्या—गिनती; यया—जिसके द्वारा; तत्त्व—सत्य का; दृशा—ज्ञान से; अपनीयते—निकाल लेते हैं; तस्मै—उसे; नमः—नमस्कार; साङ्ख्य-निदर्शनाय—जो सांख्य दर्शन के उद्घाटक हैं; ते—आपको; इति—इस प्रकार।

हे प्रभो, आपका नाम, रूप तथा आकृति असंख्य रूपों में अभिव्यक्त होते हैं। निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि आप कितने रूपों में विद्यमान हैं, फिर भी आपके स्वयं के अवतार कपिलदेव जैसे मुनियों ने इस विराट जगत में चौबीस तत्त्व निश्चित किये हैं। अतः यदि कोई सांख्य दर्शन में रुचि रखता है, तो उसे चाहिए कि विभिन्न सत्यों को वह आपसे सुने।

दुर्भाग्यवश जो आपके भक्त नहीं हैं, वे केवल तत्त्वों की गणना कर पाते हैं, किन्तु आपके वास्तविक रूप से अनजान रहते हैं। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : लाखों-करोड़ों वर्षों से दार्शनिक तथा वैज्ञानिक सम्पूर्ण विश्व-स्थिति का भिन्न-भिन्न तरीकों से सिद्धान्त बनाने और करने का प्रयास करते रहे हैं, किन्तु नामधारी वैज्ञानिक या दार्शनिक की काल्पनिक शोध उसकी मृत्यु के साथ ही अवरुद्ध हो जाती है और प्रकृति के नियम उसके कार्य से प्रभावित हुए अबाध गति से चलते रहते हैं।

भौतिक सृष्टि में अरबों वर्षों तक परिवर्तन होते रहने के बाद सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विलीन हो जाता है और अप्रकट हो जाता है। प्रकृति में परिवर्तन तथा विनाश (*भूत्वा भूत्वा प्रलीयते*) अनवरत् रूप से चलते रहते हैं। तो भी संसारी विज्ञानीजन प्रकृति के मूलाधार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को जाने बिना प्राकृतिक नियमों का अध्ययन करना चाहते हैं। *भगवद्गीता* (९.१०) में श्रीकृष्ण कहते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

''हे कुन्तीपुत्र! यह अपरा प्रकृति (माया) मेरी अध्यक्षता में कार्य करती है और सम्पूर्ण चर और अचर प्राणियों को रचती है। इसी कारण इस जगत का बारम्बार सृजन और संहार होता है।''

सृष्टि की भौतिक अभिव्यक्ति हो जाने पर अन्ततः इसका संहार होगा और लाखों वर्षों तक सुसुप्त स्थिति रहने के पश्चात् पुनः सृष्टि होगी। यही प्रकृति का नियम है।

उत्तरेषु च कुरुषु भगवान्यज्ञपुरुषः कृतवराहरूप आस्ते तं तु देवी हैषा भूः सह कुरुभिरस्खलितभक्तियोगेनोपधावति इमां च परमामुपनिषदमावर्तयति. ॥ ३४॥

शब्दार्थ

उत्तरेषु—उत्तर दिशा में; च—भी; कुरुषु—कुरुवर्ष में; भगवान्—श्रीभगवान्; यज्ञ-पुरुषः—समस्त यज्ञों के फल को स्वीकार करने वाला; कृत-वराह-रूपः—शूकर (वराह) रूप को धारण करके; आस्ते—शाश्वत विद्यमान रहता है; तम्—उसको; तु—निश्चयपूर्वक; देवी—देवी; ह—निश्चय ही; एषा—यह; भूः—पृथ्वी लोक; सह—के साथ; कुरुभिः—कुरु-देश के वासी; अस्खलित—स्खलित न होने वाली; भक्ति-योगेन—भक्ति के द्वारा; उपधावति—पूजा करता है; इमाम्—इस; च—भी; परमाम् उपनिषदम्—श्रेष्ठतम उपनिषद् (भगवान् तक पहुँचने की विधि) को; आवर्तयति—अभ्यास हेतु बारम्बार जप करता है।.

शुकदेव गोस्वामी ने कहा, हे राजन्, सभी यज्ञाहुतियों को स्वीकार करने वाले श्रीभगवान् वराह रूप में जम्बूद्वीप के उत्तरी भाग में निवास करते हैं। वहाँ उत्तर-कुरुवर्ष में पृथ्वी माता तथा

अन्य सभी वासी निम्नलिखित उपनिषद् मंत्र का बारम्बार जप करते हुए उनकी आराधना करते हैं।

ॐ नमो भगवते मन्त्रतत्त्वलिङ्गाय यज्ञक्रतवे महाध्वरावयवाय महापुरुषाय नमः कर्मशुक्लाय त्रियुगाय नमस्ते. ॥ ३ ॥ ।

शब्दार्थ

ओम्—हे प्रभो; नमः—नमस्कार; भगवते—श्रीभगवान् को; मन्त्र-तत्त्व-लिङ्गाय—जो विभिन्न मंत्रों द्वारा समझे जाते हैं; यज्ञ—पशु-बलि के रूप में; क्रतवे—तथा पशुबलि; महा-ध्वर—बड़ी-बड़ी बलियाँ; अवयवाय—जिनके शरीर के अंग; महा-पुरुषाय—परमात्मा को; नमः—नमस्कार; कर्म-शुक्लाय—जो जीवात्माओं के कर्मों को पवित्र करने वाला है; त्रि-युगाय—तीन युगों में छः ऐश्वर्यों के साथ प्रकट होने वाले श्रीभगवान् (चतुर्थ युग में प्रच्छन्न रहने वाले) को; नमः—नमस्कार; ते—आपको।.

हे प्रभो, हम विराट पुरुष के रूप में आपको सादर नमस्कार करते हैं। केवल मंत्रोच्चार से हम आपको पूर्णतः समझ सकते हैं। आप यज्ञरूप हैं, आप क्रतु हैं। अतः यज्ञ के सभी अनुष्ठान आपके दिव्य शरीर के अंशरूप हैं और केवल आप ही समस्त यज्ञों के भोक्ता हैं। आपका स्वरूप दिव्य गुणों से युक्त है। आप 'त्रियुग ' कहलाते हैं, क्योंकि कलियुग में आपने प्रच्छन्न अवतार लिया है और आप छहों ऋद्धियों के स्वामी हैं।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु इस कलियुग के लिए अवतार हैं, जैसाकि पुराणों, महाभारत, *श्रीमद्भागवत* तथा अन्य *उपनिषदों* में अनेक स्थलों में पुष्टि हुई है। उनके आविर्भाव का विवरण *चैतन्यचरितामृत* (मध्यलीला ६.९९) में निम्न प्रकार मिलता है—

कलियुगे लीलावतार ना करे भगवान्।

अतएव 'त्रियुग' करि' कहि तार नाम॥

इस कलिकाल में श्रीभगवान् लीलावतार के रूप में, लीलाओं के प्रदर्शनार्थ प्रकट नहीं होते। इसलिए वे *त्रियुग* कहलाते हैं। अन्य अवतारों के विपरीत श्री चैतन्य महाप्रभु कलिकाल में श्रीभगवान् के भक्त के रूप में प्रकट होते हैं। इसीलिए उन्हें *छन्नावतार* कहा जाता है।

यस्य स्वरूपं कवयो विपश्चितो
गुणेषु दारुष्विव जातवेदसम् ।
मथ्नन्ति मथ्ना मनसा दिदृक्षवो
गूढं क्रियार्थैर्नम ईरितात्मने ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; स्व-रूपम्—स्वरूप; कवयः—महान् सन्त; विपश्चितः—परम सत्य को सुनिश्चित करने में पटु; गुणेषु—तीन गुणों से युक्त भौतिक जगत में; दारुषु—काष्ठ में; इव—सदृश; जात—प्रकट; वेदसम्—अग्नि; मथ्नन्ति—मथते हैं; मथ्ना—अरणी या मथानी से उत्पन्न अग्नि; मनसा—मन के द्वारा; दिदृक्षवः—उत्सुकजन; गूढम्—छिपे; क्रिया-अर्थैः—कर्मों तथा उनके फलों के द्वारा; नमः—नमस्कार है; ईरित-आत्मने—प्रकट होने वाले प्रभु को।

ऋषि तथा मुनि काठ में छिपी अग्नि को अरणी के द्वारा उत्पन्न कर सकने में समर्थ हैं। हे प्रभो, परम सत्य को समझने में दक्ष ऐसे व्यक्ति आपको प्रत्येक वस्तु में, यहाँ तक कि अपने शरीर में भी देखने का प्रयास करते हैं किन्तु आप फिर भी अप्रकट रहते हैं। मानसिक या भौतिक क्रियाओं जैसी अप्रत्यक्ष विधियों से आपको नहीं समझा जा सकता। आप स्वतः प्रकट होने वाले हैं, अतः जब आप देख लेते हैं कि कोई व्यक्ति सर्वभावेन आपकी खोज में संलग्न है तभी आप अपने को प्रकट करते हैं। अतः मैं आपको सादर प्रणाम करता हूँ।

तात्पर्य : *क्रियार्थैः* शब्द का अर्थ है, "देवताओं को प्रसन्न करने के निमित्त अनुष्ठानों द्वारा।" *विपश्चितः* शब्द की व्याख्या *तैत्तिरीय उपनिषद्* में इस प्रकार दी गई है—*सत्यं-ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुतेसर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।* जैसाकि श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (७.१९) में कहते हैं—*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते*—"बहुत जन्मांतरों के अन्त में तत्त्वज्ञान को प्राप्त पुरुष मुझे सब कारणों का कारण जानकर मेरी शरण में आता है।" जब मनुष्य को यह बोध हो जाता है कि भगवान् सबके हृदयों में विद्यमान हैं और जब वह भगवान् को वास्तव में कण-कण में उपस्थित देखता है, तो वह पूर्ण ज्ञानी होता है। *जातवेदः* शब्द का तात्पर्य है, "वह अग्नि जो काष्ठ के रगड़ने से उत्पन्न होती है।" वैदिक युग में ऋषियों द्वारा काष्ठ से अग्नि उत्पन्न की जाती थी। *जातवेदः* का अर्थ जठराग्नि भी होता है जो हमारे खाए हुए भोजन को पचाने वाली और भूख उत्पन्न करने वाली होती है। *गूढ* शब्द की विवेचना *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में की गई है। *एको देवः सर्वभूतेषु गूढः*—वैदिक मंत्रों के जाप से ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को जाना जा सकता है। *सर्वव्यापी सर्व-भूतान्तरात्मा*—वह सर्वव्यापी है और प्रत्येक जीवात्मा के हृदय में स्थित है। *कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः*—वह जीवात्मा के सभी व्यापारों का साक्षी है। *साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च*—परमात्मा साक्षी होने के साथ-साथ जीवनी शक्ति भी हैं, तो भी वह समस्त भौतिक गुणों से परे हैं।

द्रव्यक्रियाहेत्वयनेशकर्तृभि-
र्मायागुणैर्वस्तुनिरीक्षितात्मने ।
अन्वीक्षयाङ्गातिशयात्मबुद्धिभि-
र्निरस्तमायाकृतये नमो नमः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

द्रव्य—इन्द्रियसुख के पदार्थों द्वारा; क्रिया—इन्द्रियों का व्यापार; हेतु—इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता; अयन—शरीर; ईश—प्रबल काल; कर्तृभिः—झूठे अहंकार से; माया-गुणैः—भौतिक प्रकृति के गुणों द्वारा; वस्तु—तथ्य स्वरूप; निरीक्षित—निरीक्षण किया जाकर; आत्मने—परमात्मा को; अन्वीक्षया—अत्यन्त विचार करके; अङ्ग—योगसाधना के अंगों द्वारा; अतिशय-आत्म-बुद्धिभिः—जिनकी बुद्धि स्थिर हो चुकी है उनके द्वारा; निरस्त—पूर्णतया मुक्त; माया—माया; आकृतये—जिनकी आकृति (रूप); नमः—नमस्कार; नमः—नमस्कार है।

भौतिक सुख के साधन (शब्द, गन्ध, रूप, स्पर्श, स्वाद), ऐन्द्रिय कर्म, इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता, शरीर, अनन्त काल तथा अहंकार—ये सभी आपकी माया से उत्पन्न हैं। जिन्होंने योग के द्वारा अपनी बुद्धि को स्थिर कर लिया है वे यह देख सकते हैं कि ये सभी तत्त्व आपकी माया के ही परिणाम हैं। वे आपके दिव्य रूप को भी प्रत्येक वस्तु की पृष्ठ भूमि में परम आत्मा के रूप में देख सकते हैं। अतः मैं पुनः पुनः आपको नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : भौतिक सुख के साधन, मानसिक क्रियाएँ, इन्द्रियसुख के प्रति लगाव, शरीर, मिथ्या अहंकार इत्यादि सभी भगवान् की माया से उत्पन्न हैं। इन सब कार्यों का आधार जीवात्मा है और जीवात्माओं के संचालक हैं परमात्मा। जीव सर्वेसर्वा नहीं होता। वह परमात्मा द्वारा निर्देशित होता है। *भगवद्गीता* (१.१) में श्रीकृष्ण इस की पुष्टि करते हैं—*सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—"मैं सब प्राणियों के हृदय में स्थित हूँ और मुझ से ही स्मृति, ज्ञान और विस्मृति होती है।" जीव निर्देशों के लिए परमात्मा पर निर्भर करता है। आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त व्यक्ति अथवा योगक्रिया (यमनियमासनादि) में पटु व्यक्ति ही सत्त्व को परमात्मा या श्रीभगवान् के रूप में जान सकता है। परमेश्वर ही सभी प्राकृतिक घटनाओं के मूल कारण हैं। अतः उन्हें *सर्वकारण-कारणम्*—सभी कारणों का कारण—बताया गया है। हमें जो कुछ भी दिखाई पड़ता है उसका कुछ न कुछ कारण है और जो कोई समस्त कारणों के मूल कारण, श्रीकृष्ण, को देख सकता है, वही वास्तव में देख सकता है। सच्चिदानन्द विग्रह श्रीकृष्ण ही प्रत्येक वस्तु की पृष्ठभूमि में हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* (९.१०) में वे स्वयं इसकी पुष्टि करते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

"हे कुन्तीपुत्र! यह अपरा प्रकृति (माया) मेरी अध्यक्षता में कार्य करती है और यह सम्पूर्ण चराचर प्राणियों को रचती है। इसी कारण इस जगत का बारम्बार सृजन और संहार होता है।"

करोति विश्वस्थितिसंयमोदयं
यस्येप्सितं नेप्सितमीक्षितुर्गुणैः ।
माया यथायो भ्रमते तदाश्रयं
ग्राव्णो नमस्ते गुणकर्मसाक्षिणे ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

करोति—करता है; विश्व—ब्रह्मांड की; स्थिति—भरण; संयम—विलोप; उदयम्—सृष्टि; यस्य—जिसका; ईप्सितम्—वांछित; न—नहीं; ईप्सितम्—वांछित; ईक्षितुः—ऊपर से देखने वाले का; गुणैः—गुणों के द्वारा; माया—माया; यथा—जितना; अयः—लोहा; भ्रमते—भ्रमण करता है; तत्-आश्रयम्—उसके निकट स्थित; ग्राव्णः—चुम्बक पत्थर; नमः—नमस्कार; ते—आपको; गुण-कर्म-साक्षिणे—भौतिक प्रकृति की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के साक्षी।

हे प्रभो, आप इस भौतिक जगत की सृष्टि, पालन या संहार के इच्छुक नहीं हैं, किन्तु बद्धजीवों के लिए अपनी सृजनात्मक शक्ति के द्वारा इन क्रियाओं को निष्पादित करते हैं। जिस प्रकार चुम्बक-पत्थर के प्रभाव से लोहे का टुकड़ा घूमता है ठीक उसी प्रकार जब आप समस्त माया पर दृष्टि फेरते हैं, तो सारे जड़ पदार्थ गति करने लगते हैं।

तात्पर्य : कभी-कभी मन में यह प्रश्न उठता है कि भगवान् ने जीवों के लिए अनेक प्रकार के कष्टों से पूर्ण इस भौतिक जगत की सृष्टि क्यों की है। यहाँ यह उत्तर दिया गया है कि श्रीभगवान् जीवों को कष्ट भोगने मात्र के लिए भौतिक जगत की सृष्टि नहीं करना चाहते। परमेश्वर तो बद्धआत्माओं के सुख-भोग के लिए इसकी सृष्टि करते हैं।

प्रकृति के कार्यकलाप स्वतः नहीं चलते रहते। प्रकृति (माया) पर भगवान् की दृष्टि पड़ने से ही प्रकृति उसी प्रकार आश्चर्यजनक तरीके से कार्यशील हो जाती है, जिस प्रकार कि चुम्बक पत्थर के कारण लोहे के टुकड़े इधर-उधर घुमने लगते हैं। चूँकि भौतिकतावादी विज्ञानी तथा नामधारी सांख्य दार्शनिक ईश्वर में विश्वास नहीं करते, इसलिए वे प्रकृति को बिना किसी अधीक्षक के कार्यशील होती मानते हैं। किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। *चैतन्यचरितामृत* (आदि ६.१८-१९) में भौतिक जगत की उत्पत्ति की व्याख्या इस प्रकार दी गई है—

यद्यपि सांख्य माने, 'प्रधान'—कारण।

जड़ हइते कभु नहे जगत-सृजन॥

निज सृष्टिशक्ति प्रभु संचारे प्रधाने।

ईश्वरेर शक्त्ये तबे हये त' निर्माणे॥

''नास्तिक सांख्य दार्शनिक सोचते हैं कि समग्र भौतिक शक्ति से विराट जगत की सृष्टि होती है, किन्तु वे गलती पर हैं। जड़ पदार्थ में गति करने की शक्ति नहीं होती, अत: यह स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं कर सकता। भगवान् अपनी सृजन शक्ति का भौतिक अवयवों में संचार करते हैं। तब भगवान् की शक्ति से द्रव्य गति करता है और परस्पर क्रिया करता है।'' सागर की तरंगें वायु द्वारा गतिशील होती हैं, वायु का सृजन आकाश से होता है और प्रकृति के त्रिगुणों के विक्षोभ से आकाश की उत्पत्ति होती है तथा वे त्रिगुण समग्र भौतिक शक्ति (माया) पर भगवान् की कृपादृष्टि से परस्पर क्रिया करते हैं। अत: सभी प्राकृतिक घटनाओं के मूलाधार श्रीभगवान् ही हैं जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है (*मयाध्यक्षेणप्रकृति: सूयते सचराचरम्*)। इसकी व्याख्या *चैतन्यचरितामृत* (आदि .९-६१) में भी की गई है—

जगत्कारण नहे प्रकृति जड़रूपा।

शक्ति सञ्चारिया तारे कृष्ण करे कृपा॥

कृष्णशक्त्ये प्रकृति हय गौण कारण।

अग्निशक्तये लौह यैछे करये जारण॥

अतएव कृष्ण मूल-जगत्कारण।

प्रकृति—कारण यैछे अजागलस्तन॥

''चूँकि प्रकृति जड़ रूप है, अत: यह भौतिक जगत का वास्तविक कारण नहीं हो सकती। भगवान् श्रीकृष्ण जड़ प्रकृति में अपनी शक्ति का संचार करके अनुग्रह प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण की शक्ति से प्रकृति गौण कारणस्वरूप है, जिस प्रकार से लोहा अग्नि की शक्ति से लाल होता है। अत: श्रीकृष्ण इस विराट जगत के मूल कारण हैं। प्रकृति बकरी के उस गलस्तन के तुल्य है, जिसमें से दूध नहीं निकलता।'' इस तरह वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों की यह भारी भूल है कि वे पदार्थ (जड़) को स्वतंत्र रूप से गतिशील मानते हैं।

प्रमथ्य दैत्यं प्रतिवारणं मृधे
यो मां रसाया जगदादिसूकरः ।
कृत्वाग्रदंष्ट्रे निरगादुदन्वतः
क्रीडन्निवेभः प्रणतास्मि तं विभुमिति ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

प्रमथ्य—वध करके; दैत्यम्—असुर को; प्रतिवारणम्—अत्यन्त शक्तिशाली प्रतियोगी; मृधे—युद्ध में; यः—वह जो; माम्—मुझको (पृथ्वी); रसायाः—रसातल में पड़ी हुई; जगत्—इस भौतिक जगत में; आदि-सूकरः—आदिसूकर रूप; कृत्वा—धारण करके; अग्र-दंष्ट्रे—दाँतों के अग्रभाग में; निरगात्—जल के बाहर लाया; उदन्वतः—गर्भोदक सागर से; क्रीडन्—खेलते हुए; इव—समान, सदृश; इभः—हाथी; प्रणता अस्मि—मैं आपके समक्ष नतमस्तक हूँ; तम्—उसको; विभुम्—भगवान् को; इति—इस प्रकार।

हे प्रभो, इस ब्रह्माण्ड में आदि शूकर रूप में आपने हिरण्याक्ष दैत्य के साथ युद्ध करके उसका संहार किया। फिर आपने अपने दाढ़ो के अग्र भाग से मुझ पृथ्वी को गर्भोदक सागर से उसी प्रकार ऊपर उठा लिया जैसे क्रीड़ारत गज जल में से कमल-पुष्प तोड़ लेता है। मैं आपके समक्ष नतमस्तक हूँ।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत "जम्बूद्वीप के निवासियों द्वारा भगवान् की स्तुति" नामक अठारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter उन्नीस

जम्बूद्वीप का वर्णन

इस अध्याय में भारतवर्ष के यशोगान के साथ ही किम्पुरुष वर्ष नामक भूखण्ड में भगवान् रामचन्द्र की आराधना का वर्णन है। किम्पुरुष वर्ष के निवासी भाग्यशाली हैं, क्योंकि वे भगवान् रामचन्द्र की आराधना उनके आज्ञाकारी सेवक हनुमान सहित करते हैं। भगवान् रामचन्द्र एक ऐसे अवतार का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जो अपने भक्तों की रक्षा तथा दुष्टों के वध करने के उद्देश्य से अवतरित होते हैं—*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।* भगवान् रामचन्द परमेश्वर के अवतार के वास्तविक उद्देश्य को प्रस्तुत करते हैं और भक्तजन उनकी प्रेमपूर्वक दिव्य सेवा करने का सुयोग प्राप्त करते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह तथाकथित सुख, ऐश्वर्य तथा शिक्षा का परित्याग करके पूर्णतः भगवान् के समक्ष आत्मसमर्पण कर दे, क्योंकि ये सब भगवान् को प्रसन्न करने के लिए तनिक भी सहायक नहीं होते। भगवान् तो केवल आत्मसमर्पण की क्रिया से प्रसन्न होते हैं।

जब देवर्षि नारद सार्वणि मनु को उपदेश देने के लिए अवतरित हुए तो उन्होंने भारतवर्ष के ऐश्वर्य का वर्णन किया। सार्वर्णि मनु तथा भारतवर्ष के निवासी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की भक्ति में संलग्न रहते हैं, जो सृष्टि, पालन और संहार के मूलरूप हैं और आत्मज्ञानी जनों द्वारा सदैव वंदित हैं। भारतवर्ष में भी अन्य भूखण्डों की भाँति अनेक नदियाँ तथा पर्वत हैं, किन्तु भारतवर्ष का विशेष महत्त्व इसलिए है, क्योंकि यहाँ पर वेदसम्मत वर्णाश्रम-धर्म प्रचलित है जो समाज को चार वर्णों तथा चार आश्रमों में वर्गीकृत करता है। यही नहीं, नारदमुनि के अनुसार यदि वर्णाश्रम धर्म के पालन में कोई क्षणिक बाधा भी पहुँचती है, तो तुरन्त ही उसको पुनरुज्जीवित किया जा सकता है। वर्णाश्रम धर्म में दृढ़ रहने के कारण क्रम से परम पद की प्राप्ति और भौतिक बन्धन से छुटकारा मिलता है। वर्णाश्रम धर्म के नियमों के पालन से भक्तों की संगति का सुअवसर मिलता है, जिससे श्रीभगवान् के प्रति सेवाभाव की सुप्त प्रवृत्ति जागृत होती है और पापमय जीवन से छुटकारा मिल जाता है। तब मनुष्य को भगवान् वासुदेव की विशुद्ध भक्ति करने का अवसर प्राप्त होता है। भारतवासियों को ऐसा अवसर मिल सकने के कारण स्वर्ग में भी उनकी प्रशंसा की जाती है। यहाँ तक कि इस ब्रह्मांड के सर्वोच्च लोक, ब्रह्मलोक में भी भारतवर्ष के स्थान की चर्चा अत्यन्त रुचिपूर्वक की जाती है।

इस ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों में तथा विभिन्न योनियों में समस्त बद्धजीवों का विकास हो रहा है। इस प्रकार कोई भी जीव ब्रह्मलोक को प्राप्त कर सकता है, किन्तु उसे पुनः पृथ्वी पर उतरना होता है जैसाकि *श्रीमद्भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है (*आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन*)। यदि भारतवर्ष के वासी वर्णाश्रम धर्म का दृढ़ता से पालन करें और अपनी सुसुप्त कृष्णभावना को विकसित होने दें तो मृत्यु के पश्चात् उन्हें इस भौतिक जगत में लौटने की आवश्यकता नहीं रह जाती। जहाँ सिद्ध आत्माओं द्वारा श्रीभगवान् की चर्चा सुनने को नहीं होती, चाहे व ब्रह्मलोक ही क्यों न हो, जीवात्मा के लिए अनुकूल स्थान नहीं है। यदि किसी ने भारतवर्ष में मनुष्य का जन्म लेकर आध्यात्मिक उन्नति का लाभ नहीं उठाया तो सचमुच ही उसकी स्थिति शोचनीय है। यदि भारतवर्ष की भूमि में कोई "सर्वकाम" भक्त है अर्थात् वह किसी भौतिक कामना की पूर्ति करना चाहता है, तो वह भी भक्तों की संगति करने से समस्त कामनाओं से मुक्त होकर अंत में शुद्ध भक्त बन जाता है और बिना किसी कठिनाई के भगवान् के धाम वापस पहुँच जाता है।

इस अध्याय के अन्त में श्रीशुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित् से जम्बूद्वीप के अन्तर्गत आठ उपद्वीपों का वर्णन किया है।

श्रीशुक उवाच
किम्पुरुषे वर्षे भगवन्तमादिपुरुषं लक्ष्मणाग्रजं सीताभिरामं रामं तच्चरणसन्निकर्षाभिरतः परमभागवतो हनुमान्सह किम्पुरुषैरविरतभक्तिरुपास्ते. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी बोले; किम्पुरुषे वर्षे—किम्पुरुष नामक भूखण्ड में; भगवन्तम्—श्रीभगवान्; आदि-पुरुषम्—समस्त कारणों के मूल कारण; लक्ष्मण-अग्र-जम्—लक्ष्मण के अग्रज (बड़े भ्राता); सीता-अभिरामम्—सीता माता को अत्यन्त प्रिय अथवा सीतादेवी के पति; रामम्—भगवान् रामचन्द्र को; तत्-चरण-सन्निकर्ष-अभिरतः—भगवान् राम के चरणकमलों की सेवा में सदैव तत्पर; परम-भागवतः—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विख्यात महान् भक्त; हनुमान्—श्री हनुमानजी; सह—सहित; किम्पुरुषैः—किम्पुरुषवर्ष के निवासियों द्वारा; अविरत—निरन्तर; भक्तिः—भक्ति करने वाला; उपास्ते—पूजा करता है।.

श्रीशुकदेव गोस्वामी बोले—हे राजन्, किम्पुरुषवर्ष में महान् भक्त हनुमान वहाँ के निवासियों सहित लक्ष्मण के अग्रज तथा सीतादेवी के पति भगवान् रामचन्द्र की सेवा में सदैव तत्पर रहते हैं।

आर्ष्टिषेणेन सह गन्धर्वैरनुगीयमानां परमकल्याणीं भर्तृभगवत्कथां समुपशृणोति स्वयं चेदं गायति. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

आर्ष्टि-षेणेन—किम्पुरुष वर्ष का प्रधान पुरुष आर्ष्टिषेण; सह—साथ; गन्धर्वैः—गन्धर्वों के द्वारा; अनुगीयमानाम्—जपे जाकर; परम-कल्याणीम्—परम कल्याण प्रदान करने वाली; भर्तृ-भगवत्-कथाम्—अपने पति (श्रीभगवान्) का यशोगान; समुपशृणोति—अत्यन्त मनोयोग से श्रवण करता है; स्वयम् च—स्वयं भी; इदम्—यह; गायति—गायन करता है।.

गन्धर्वों का समूह सदा ही भगवान् रामचन्द्र के यशों का गान करता है। ऐसा गायन अत्यन्त मंगलकारी होता है। हनुमानजी तथा किम्पुरुषवर्ष के प्रधान पुरुष आर्ष्टिषेण अत्यन्त मनोयोग से इस यशोगान का निरन्तर श्रवण करते हैं। हनुमानजी निम्न मंत्रों का जप करते हैं।

तात्पर्य : पुराणों में भगवान् रामचन्द्र के सम्बन्ध में दो मत हैं। *लघुभागवतामृत* (.३४-३६) में मनु-अवतार वर्णन में इसकी पुष्टि हुई है।

वासुदेवादिरूपाणामवताराः प्रकीर्तिताः।

विष्णु-धर्मोत्तरे रामलक्ष्मणाद्याः क्रमादमी॥

पाद्मे तु रामो भगवान् नारायण इतीरितः।

शेषश्चक्रं च शंखश्च क्रमात् स्युर्लक्ष्मणादय: ॥

मध्यदेशस्थितायोध्यापुरेऽस्य वसति: स्मृता।

महावैकुठलोके च राघवेन्द्रस्य कीर्तिता॥

विष्णु-धर्मोत्तर में वर्णित है कि रामचन्द्रजी तथा उनके भ्राता लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न क्रमश: वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध के अवतार हैं। किन्तु *पद्म पुराण* का कथन है कि भगवान् रामचन्द्र नारायण के अवतार हैं और अन्य तीनों भाई शेष, चक्र तथा शंख के अवतार हैं। अत: श्रील बलदेव विद्याभूषण इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि *तदिदं कल्पभेदेनैव सम्भाव्यम्।* कहने का तात्पर्य यह कि ये मत विरोधाभासी नहीं हैं। किसी युग में अपने भाइयों सहित भगवान् रामचन्द्र वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के रूप में अवतरित होते हैं, तो अन्य युग में वे नारायण, शेष, चक्र तथा शंख का अवतार धारण करते रहते हैं। भगवान् रामचन्द्र का निवास स्थान इसी धरा पर स्थित अयोध्या मैं है। उत्तर प्रदेश के उत्तर में जिला फैजाबाद के अन्तर्गत अयोध्या नगर आज भी स्थित है।

ॐ नमो भगवते उत्तमश्लोकाय नम आर्यलक्षणशीलव्रताय नम उपशिक्षितात्मन उपासितलोकाय नम: साधुवादनिकषणाय नमो ब्रह्मण्यदेवाय महापुरुषाय महाराजाय नम इति. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ओम्—हे भगवान्; नम:—नमस्कार है; भगवते—श्रीभगवान् को; उत्तम-श्लोकाय—जिनकी अर्चना सदैव उत्तम श्लोकों से की जाती है; नम:—मेरा नमस्कार; आर्य-लक्षण-शील-व्रताय—जिसमें उत्तम पुरुषों के समस्त गुण विद्यमान हैं; नम:—मेरा नमस्कार; उपशिक्षित-आत्मने—आपको जिनकी इन्द्रियाँ वश में हैं; उपासित-लोकाय—जो समस्त श्रेणियों के लोगों द्वारा सदैव पूजित हैं; नम:—मेरा नमस्कार; साधु-वाद-निकषणाय—श्रीभगवान् को जो गुणों के परखने की कसौटी तुल्य हैं; नम:—मेरा नमस्कार; ब्रह्मण्य-देवाय—जो सुयोग्य ब्राह्मणों द्वारा पूजित हैं; महा-पुरुषाय—श्रीभगवान् को जो इस भौतिक सृष्टि का कारण होने की वज़ह से पुरुष-सूक्त द्वारा पूजित हैं; महा-राजाय—सभी राजाओं में श्रेष्ठ महाराज को; नम:—मेरा नमस्कार; इति—इस प्रकार।

हे प्रभो, मैं ॐ कार बीजमंत्र के जप से आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ। मैं उन श्रीभगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ जो उत्तम पुरुषों में सर्वाधिक हैं। आप आर्यजनों के समस्त उत्तम गुणों के भंडार हैं। आपके गुण तथा आचरण सदैव एकसमान रहने वाला है और आप अपनी इन्द्रियों तथा मन को सदैव अपने वश में रखने वाले हैं। सामान्य व्यक्ति की भाँति आप आदर्श चरित्र प्रस्तुत करके अन्यों को आचरण करना सिखाते हैं। कसौटी केवल स्वर्ण के गुण की परीक्षा करने में समर्थ है, किन्तु आप ऐसे स्पर्श-मणि हैं, जिससे समस्त उत्तम गुणों की परीक्षा

हो जाती है। आप भक्तों में अग्रणी ब्राह्मणों के द्वारा उपासित हैं। हे परम पुरुष, आप महाराजा हैं, अतः मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

यत्तद्विशुद्धानुभवमात्रमेकं
स्वतेजसा ध्वस्तगुणव्यवस्थम् ।
प्रत्यक्प्रशान्तं सुधियोपलम्भनं
ह्यनामरूपं निरहं प्रपद्ये ॥ ४॥

शब्दार्थ

यत्—जो; तत्—उस परम सत्य को; विशुद्ध—विशुद्ध, भौतिक प्रकृति के स्पर्श से दूर; अनुभव—अनुभव; मात्रम्—सच्चिदानन्द दिव्य देह; एकम्—एकमात्र; स्व-तेजसा—अपने तेज से; ध्वस्त—ध्वस्त; गुण-व्यवस्थम्—गुणों का प्रभाव; प्रत्यक्—दिव्य, भौतिक नेत्रों से अदृष्ट; प्रशान्तम्—धीर, विक्षोभरहित; सुधिया—कृष्णभावना से, जो भौतिक कामनाओं, कर्मों तथा कल्पनाओं से अप्रभावित है; उपलम्भनम्—उपलब्ध किया जा सकने वाला; हि—निस्सन्देह; अनाम-रूपम्—नाम तथा रूप रहित; निरहम्—अहंकाररहित; प्रपद्ये—मुझे नमस्कार करने दें।

भगवान् को, जिनका विशुद्ध रूप (सच्चिदानन्दविग्रह) भौतिक गुणों के द्वारा दूषित नहीं है, विशुद्ध चेतना के द्वारा ही देखा जा सकता है। वेदान्त में उसे अद्वितीय कहा गया है। अपने तेजवश वह भौतिक प्रकृति के कल्मष से अछूता है और भौतिक दृष्टि से पर है। अप्रभावित है, अतः वह दिव्य है। न तो वह कोई कर्म करता है, न उसका कोई भौतिक रूप अथवा नाम है। केवल श्रीकृष्णभावना में ही भगवान के दिव्य रूप के दर्शन किये जा सकते हैं। हमें चाहिए कि हम भगवान् रामचन्द के चरणकमलों में दृढ़तापूर्वक स्थित होकर उनको सादर नमन करें।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण अनेक रूपों में प्रकट होते हैं, जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (.३९) में कहा गया है—

रामादि मूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्
नानावतारमकरोद्भुवनेषु किन्तु।
कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् गोविन्द की आराधना करता हूँ जो राम, नृसिंह जैसे अवतारों तथा उप-अवतारों के रूप में सदैव विराजमान हैं, किन्तु जो मूल रूप में भगवान् श्रीकृष्ण हैं और स्वयं भी अवतरित होते हैं।" कृष्ण विष्णुतत्त्व हैं, जिन्होंने अपने को विष्णु के नाना रूपों में विस्तारित किया है

जिनमें से भगवान् रामचन्द्र एक हैं। यह ज्ञातव्य है कि विष्णुतत्त्व को पक्षिराज गरुड़ अपने ऊपर रहन करते हैं और उनके चारों हाथों में भिन्न-भिन्न आयुध रहते हैं। अत: हमें संशय हो सकता है कि क्या रामचन्द्रजी भी उसी कोटि में आते हैं, क्योंकि उनको गरुड़ ने नहीं, वरन् हनुमानजी ने धारण किया था और उनके न तो चार भुजाएँ थीं, न ही उन्होंने शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किया था। अत: इस श्लोक से यह स्पष्ट हो जाता है कि रामचन्द्र तथा श्रीकृष्ण में अन्तर नहीं है (*रामादिमूर्तिषु कला*)। यद्यपि श्रीकृष्ण मूल श्रीभगवान् हैं, किन्तु रामचन्द्रजी उनसे भिन्न नहीं हैं। भौतिक गुणों से अप्रभावित रहने के कारण भगवान् रामचन्द्र जी ''प्रशान्त'' हैं।

जब तक श्रीभगवान् के प्रति अगाध प्रेम नहीं होता, तब तक भगवान् रामचन्द्र की दिव्यता का महत्त्व समझ में नहीं आता। उन्हें भौतिक चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता। चूँकि रावण जैसे असुरों के दिव्य दृष्टि नहीं होती, अत: वे भगवान् रामचन्द्र को सामान्य क्षत्रिय राजा मानते हैं। इसलिए रावण ने उनकी नित्य अर्धांगिनी सीतादेवी का अपहरण करना चाहा। किन्तु रावण सीतादेवी को उनके वास्तविक रूप में नहीं ले जा सका। ज्योंही रावण ने उनका स्पर्श किया, उन्होंने भौतिक रूप तो उसे समर्पित कर दिया, किन्तु अपने मूल रूप को बनाये रखा जो उसकी बुद्धि के परे था। इसलिए इस श्लोक में आगत *प्रत्यक् प्रशान्तं* यह सूचित करता है कि भगवान् रामचन्द्र तथा उनकी तेजस्वरूपा अर्धांगिनी सीतादेवी भौतिक शक्ति के प्रभाव से अपने को विलग रखते हैं।

उपनिषदों में कहा गया है—*यं एवैष वृणुते तेन लभ्य:।* परमात्मा का दर्शन उन्हीं को होता है जो उनकी भक्ति से ओतप्रोत हैं। *ब्रह्म-संहिता* (.३८) में कहा गया है—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन

सन्त: सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन आदिपुरुष गोविन्द का भजन (पूजा) करता हूँ जो उन भक्तों द्वारा सदैव देखे जाते हैं जिनकी आँखों में प्रेम रूपी अंजन लगा होता है। वे भक्त के हृदय के भीतर अपने नित्य श्यामसुन्दर रूप में देखे जाते हैं।'' इसी प्रकार *छान्दोग्य उपनिषद्* में कहा गया है—*एतास्तिस्रो देवता अनेन जीवेन।*

यहाँ *अनेन* शब्द से आत्मा एवं परमात्मा का अन्तर बताया गया है। *तिस्रो देवता* से यह सूचित होता है कि जीव-देह तीन भौतिक तत्त्वों—अग्नि, पृथ्वी तथा जल—से बनी हुई है। यद्यपि परमात्मा जीवात्मा के हृदय में प्रवेश करता है, जो भौतिक शरीर कहलाता है किन्तु जीवात्मा की देह से कोई सरोकार नहीं रहता। इसलिए परमात्मा को *अनाम रूपं निरहम्* कहा गया है। परमात्मा की कोई भौतिक पहचान नहीं हैं, किन्तु जीवात्मा की होती है। जीवात्मा अपना परिचय भारतीय, अमरीकी या जर्मन कह कर दे सकता है, किन्तु परमात्मा का ऐसा कोई भौतिक नाम नहीं होता। जीवात्मा अपने नाम से भिन्न होता है, किन्तु परमात्मा ऐसा नहीं है। उसका नाम और वह स्वयं एक हैं। *निरहं* का यही तात्पर्य है। इसको तोड़ मरोड़ कर यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता है कि परमात्मा अंहकार रहित या स्वरूपविहीन हैं। उनका परम दिव्य स्वरूप है। श्रील जीव गोस्वामी ने यही व्याख्या दी है। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने एक दूसरा ही विवेचन किया है, जिसमें *निरहं* का अर्थ *निर्निश्चयेन अहं* है। *निरहं* का यह अर्थ नहीं कि भगवान् के कोई स्वरूप नहीं। वरन् *अहं* शब्द पर *बल* होने से यह सिद्ध होता है कि भगवान् का अपना स्वरूप है क्योंकि *निर्* का अर्थ केवल *नकारात्मक* न होकर पुष्टि करने वाला भी होता है।

मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं
रक्षोवधायैव न केवलं विभोः ।
कुतोऽन्यथा स्याद्रमतः स्व आत्मनः
सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य ॥ ॥

शब्दार्थ

मर्त्य—मनुष्य; अवतारः—जिसका अवतार; तु—तो भी; इह—इस लोक में; मर्त्य-शिक्षणम्—समस्त जीवों को, विशेष रूप से मनुष्य को शिक्षा देने के लिए; रक्षः-वधाय—रावण असुर को मारने के लिए; एव—निश्चय ही; न—नहीं; केवलम्—केवल, मात्र; विभोः—श्रीभगवान् का; कुतः—कहाँ से; अन्यथा—अन्यथा; स्यात्—होगा; रमतः—रमण करने वाले का; स्वे—अपने आप में; आत्मनः—ब्रह्माण्ड का आत्म-स्वरूप; सीता—भगवान् रामचन्द्र की पत्नी सीता का; कृतानि—वियोग के कारण उत्पन्न; व्यसनानि—समस्त दुख; ईश्वरस्य—श्रीभगवान् के।

राक्षसों के नायक रावण को यह वर प्राप्त था कि उसका वध मनुष्य ही कर सकता है, इसलिए पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र को मनुष्य रूप धारण करना पड़ा, किन्तु भगवान् रामचन्द्र का उद्देश्य मात्र रावण का वध करना ही नहीं था। वे तो मर्त्य-प्राणियों को यह शिक्षा देना चाहते थे कि भोग विलास अथवा पत्नी के चारों ओर केन्द्रित भौतिक सुख समस्त दुखों का कारण है। वे स्वयं में पूर्ण हैं और उन्हें किसी भी प्रकार का पश्चात्ताप नहीं है। अतः भला वे माता

सीता के अपहरण से क्या कष्ट भोगते?

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (४.९) में कहा गया है, इस जगत में श्रीभगवान् दो उद्देश्यों से मनुष्य रूप धारण करते हैं—*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*—असुरों का वध करने और अपने भक्तों की रक्षा करने के हेतु। भक्तों की रक्षा करने के लिए वे न केवल अपनी उपस्थिति से वरन् भक्ति पर दृढ़ रहने की शिक्षा देकर उन्हें तुष्ट करते हैं। भगवान् रामचन्द्र ने अपने भक्तों को यह शिक्षा दी कि वैवाहिक जीवन में प्रवेश न करना बेहतर है क्योंकि इसीसे ही सारे कष्ट झेलने पड़ते हैं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (७.९.४) में पुष्टि की गई है—

यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं
कण्डूयनेन करयोरिव दु:खदु:खम्।
तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदु:खभाज:
कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेतधीर: ॥

आत्मज्ञान में समुन्नत न होने वाले *कृपण,* जो ब्राह्मणों से सर्वथा विपरीत हैं, गृहस्थ जीवन स्वीकार करते हैं जिसमें संभोग की छूट है और वे पुन: पुन: इन्द्रियसुख भोगते हैं यद्यपि इस इन्द्रियसुख के पश्चात् उन्हें नाना प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं। भक्तों के लिए यह चेतावनी है। भक्तों को तथा सारे मानव समाज को यह शिक्षा देने के लिए ही श्रीरामचन्द्रजी ने श्रीभगवान् होते हुए भी नाना प्रकार के कष्टों को सहा, क्योंकि माता सीता को उन्होंने अर्द्धांगिनी के रूप में स्वीकार किया था। निस्सन्देह, उन्होंने सारे कष्ट इसलिए झेले कि हमें शिक्षा मिले; वास्तव में उनके द्वारा पश्चात्ताप करने का कोई प्रयोजन नहीं था।

भगवान् की शिक्षाओं का एक दूसरा पक्ष यह भी है कि एक बार पत्नी बना लेने के बाद मनुष्य को सत्यनिष्ठ होकर पत्नी की सब प्रकार से रक्षा करनी चाहिए। मानव समाज में दो प्रकार के मनुष्य पाये जाते हैं—वे जो धार्मिक नियमों का निष्ठा से पालन करते हैं तथा वे जो भक्त हैं। भगवान् रामचन्द्र अपने चरित्र से इन दोनों प्रकार के लोगों को यह बताना चाहते थे कि किस प्रकार धार्मिक नियमों का पालन करते हुए प्रिय तथा कर्तव्यनिष्ठ पति बना जा सकता है; अन्यथा भगवान् राम को इतने कष्ट उठाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। धार्मिक नियमों का पालन करने वालों को चाहिए कि वे अपनी पत्नी

की रक्षा करने में उपेक्षा न बरतें। हो सकता है कि ऐसा करने में कुछ कष्ट उठाने पड़ें, किन्तु पति को इन्हें सहना ही चाहिए। सत्यनिष्ठ पति का यही कर्तव्य है। अपने साक्षात् दृष्टान्त से भगवान् रामचन्द्रजी ने इस कर्तव्य का प्रदर्शन किया। भगवान् रामचन्द्र चाहते तो अपनी इच्छाशक्ति से हजारों सीताएँ उत्पन्न कर सकते थे, किन्तु सत्यनिष्ठ पति का कर्तव्य निभाने के लिए ही न केवल रावण से सीता की रक्षा की, वरन् रावण का पूरे परिवार के साथ संहार किया।

भगवान् रामचन्द्र की शिक्षाओं का एक पक्ष यह भी है कि भगवान् विष्णु तथा उनके भक्तों को भले ही ऊपर से सांसारिक यातनाएँ झेलनी पड़ें, किन्तु इन यातनाओं से उनका कोई सरोकार नहीं है। वे तो सभी परिस्थितियों में मुक्त पुरुष हैं। इसीलिए *श्रीचैतन्य भागवत* में कहा गया है—

यत देख वैष्णवेर व्यवहार दु:ख।

निश्चय जानिह ताहा परमानन्द-सुख॥

भक्ति में मग्न रहने के कारण वैष्णव सदैव दिव्य आनन्द का लाभ उठाता है। भले ही ऐसा लगे कि उसे भौतिक कष्ट है, किन्तु उसे दिव्य विरह अवस्था प्राप्त रहती है। प्रेमी तथा प्रेमिका को भले ही वियोग कष्टकर लगता हो, किन्तु वास्तव में यह होता है अत्यन्त आनन्ददायक। अत: सीतादेवी से भगवान् रामचन्द्र का वियोग तथा उसके बाद उनके द्वारा भोगी जाने वाली यातनाएँ एक प्रकार से उनके दिव्य-सुख को प्रकट करने वाली हैं। ऐसा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का अभिमत है।

न वै स आत्मात्मवतां सुहृत्तम:
सक्तस्त्रिलोक्यां भगवान्वासुदेव: ।
न स्त्रीकृतं कश्मलमश्नुवीत
न लक्ष्मणं चापि विहातुमर्हति ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वै—निस्सन्देह; स:—वह; आत्मा—परम-आत्मा; आत्मवताम्—स्वरूपसिद्धों का; सुहृत्-तम:—सर्वश्रेष्ठ मित्र; सक्त:—आसक्त; त्रि-लोक्याम्—तीनों लोकों के भीतर कोई भी; भगवान्—श्रीभगवान्; वासुदेव:—सर्वव्यापी भगवान्; न—नहीं; स्त्री-कृतम्—अपनी पत्नी के कारण प्राप्त; कश्मलम्—वियोग-दुख; अश्नुवीत—प्राप्त करेगा; न—नहीं; लक्ष्मणम्—रामचन्द्र के लघु भ्राता लक्ष्मण; च—भी; अपि—निश्चय ही; विहातुम्—परित्याग करना; अर्हति—समर्थ होता है।

चूँकि भगवान् रामचन्द्र पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान वासुदेव हैं अत: वे इस भौतिक जगत से किसी प्रकार लिप्त नहीं हैं। वे सभी स्वरूपसिद्ध आत्माओं के परम प्रिय परमात्मा और उनके घनिष्ठ मित्र हैं। वे परम ऐश्वर्यवान् हैं। अत: पत्नी-विछोह के कारण उन्होंने न तो अधिक कष्ट

उठाये होंगे, न ही उन्होंने अपनी पत्नी तथा अपने लघु भ्राता लक्ष्मण का परित्याग किया। उनके लिए इन दोनों में किसी एक का भी परित्याग सर्वथा असम्भव था।

तात्पर्य : श्रीभगवान् की परिभाषा देते हुए हम यह कहते हैं कि वे छहों *ऐश्वर्यों*—धन, यश, बल, प्रभाव, रूप तथा त्याग—से युक्त हैं। इस भौतिक जगत से किसी प्रकार का लगाव न होने के कारण वे परित्यागी कहलाते हैं उनका लगाव वैकुण्ठ जगत और वहाँ की जीवात्माओं से है। भौतिक जगत के समस्त कार्यकलाप दुर्गादेवी की अध्यक्षता में संचालित होते हैं (*सृष्टि-स्थिति-प्रलय-साधन-शक्तिरेका। छायेव यस्य भुवनानि बिभर्ति दुर्गा*)। दुर्गा के रूप में भौतिक शक्ति के कठोर नियमों के अन्तर्गत सब कुछ घटता है। फलत: भगवान् इस भौतिक जगत से पूर्णत: विरक्त रहते हैं और उन्हें इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं रहती। सीतादेवी का सम्बन्ध वैकुण्ठ जगत से है। इसी प्रकार लक्ष्मण संकर्षण के प्रकाश (स्वांश) रूप हैं और भगवान् रामचन्द्र स्वयं वासुदेव हैं।

चूंकि भगवान् सदा दिव्यता से युक्त हैं अत: उन का लगाव उन सेवकों से रहता है जो उनकी दिव्य सेवा करते हैं। वे ब्राह्मण-गुणों से नहीं, वरन् जीवन के सत्य से लगाव रखते हैं। निस्सन्देह उनका लगाव भौतिक गुणों से किसी प्रकार नहीं रहता। यद्यपि वे समस्त जीवात्माओं के परमात्मा हैं, किन्तु जो आत्मसिद्ध हैं उनके समक्ष वे प्रकट होते हैं और अपने दिव्य भक्तों के लिए परमप्रिय हैं। चूँकि भगवान् रामचन्द्र ने मानव समाज को यह शिक्षा देने के लिए कि राजा को कितना कर्तव्यनिष्ठ होना चाहिए, अवतार लिया था, अत: उन्होंने माता सीता तथा लक्ष्मण का बाह्यत: परित्याग किया, उन्होंने उनका वास्तविक परित्याग नहीं किया था। अत: हमें आत्मसिद्ध पुरुषों से भगवान् रामचन्द्र के कार्यों को सीखना चाहिए। तभी भगवान् के दिव्य कार्यों को समझा जा सकता है।

न जन्म नूनं महतो न सौभगं
न वाङ्न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतु: ।
तैर्यद्विसृष्टानपि नो वनौकस-
श्चकार सख्ये बत लक्ष्मणाग्रज: ॥ ७॥

शब्दार्थ

न—न; जन्म—उच्च कुल में जन्म; नूनम्—निस्सन्देह; महत:—श्रीभगवान् का; न—न तो; सौभगम्—सौभाग्य; न—न तो; वाक्—शिष्टाचारपूर्वक बात करना; न—न तो; बुद्धि:—तीक्ष्ण बुद्धि; न—नहीं; आकृति:—शरीर के अंग-प्रत्यंग; तोष-हेतु:—भगवान् के आनन्द का कारण; तै:—उक्त समस्त गुणों के द्वारा; यत्—क्योंकि; विसृष्टान्—अस्वीकृत; अपि—यद्यपि;

नः—हमको; वन-ओकसः—वनवासी; चकार—स्वीकार किया; सख्ये—मित्रता से; बत—हाय; लक्ष्मण-अग्र-जः—लक्ष्मण के बड़े भाई, भगवान् श्रीरामचन्द्र ने।.

उच्चकुल में जन्म धारण करने, शारीरिक सौन्दर्य, वाक्चातुरी, तीक्ष्ण बुद्धि या श्रेष्ठ जाति अथवा राष्ट्र जैसे भौतिक गुणों के कारण कोई चाह कर भी भगवान् रामचन्द्र से मैत्री स्थापित नहीं कर सकता। उनसे मित्रता स्थापित करने के लिए इन गुणों की आवश्यकता नहीं है, अन्यथा भला हम असभ्य वनवासियों को, बिना उच्च कुल में जन्म लिये तथा रूप-रंग न होते हुए और भद्र पुरुषों की भाँति बात कर सकने में सक्षम न होने पर भी अपने मित्रों के रूप में क्यों स्वीकार करते?

तात्पर्य : श्रीमती कुन्तीदेवी ने श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए उन्हें *अकिंचन-गोचर* कहा है। *अ* उपसर्ग का अर्थ है नहीं और *किंचन* का अर्थ होता है इस भौतिक जगत से सम्बन्धित। कोई अपने उच्च पद, सम्पत्ति, रूप, शिक्षा इत्यादि का कितना ही गर्व क्यों न करे, श्रीभगवान् के साथ मित्रता स्थापित करने में इनका कोई महत्त्व नहीं है, भले ही भौतिक आचार-विचार में इन गुणों को प्रधानता प्राप्त हो। जिनमें ये समस्त गुण होते हैं, उनसे भक्त बनने की आशा की जाती है और वैसा करने पर इन गुणों का सदुपयोग होता है। किन्तु जो उच्च जन्म, सम्पत्ति, शिक्षा तथा रूप से गर्वित हो उठते हैं (*जन्मैश्वर्य-श्रुत-श्री*) वे दुर्भाग्यवश न तो कृष्णभावनामृत की ओर उन्मुख होते हैं और न श्रीभगवान् को ही इन भौतिक गुणों की कोई परवाह है। श्रीभगवान् को तो भक्ति से प्राप्त किया जाता है (*भक्त्या मामभिजानाति*)। श्रीभगवान् की सेवा करने के लिए भक्ति तथा उत्कट कामना ही पर्याप्त हैं। रूप गोस्वामी ने भी यही कहा है कि भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए उत्कटता ही पर्याप्त है (*लौल्यं एकं मूल्यम्*)। *चैतन्यभागवत* में कहा गया है—

खोलावेचा सेवकेर देख भाग्यसीमा।

ब्रह्मा शिव काँदे यार देखिया महिमा॥

धने-जने-पांडित्ये कृष्ण नाहि पाइ।

केवल भक्तिर वश चैतन्य-गोसाञि॥

“जरा खोलावेचा भक्त के परम भाग्य को तो देखो! उसकी महानता को देखकर ब्रह्माजी तथा शिव अश्रुपात करते हैं। किसी के पास चाहे कितनी ही शिष्य-सम्पत्ति, धन या विद्या क्यों न हो, उसे

इनसे भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति नहीं हो सकती। श्री चैतन्य महाप्रभु तो केवल विशुद्ध भक्ति के वश में होते हैं।'' श्री चैतन्य महाप्रभु के परम आज्ञाकारी शिष्य का नाम खोलावेचा श्रीधर था, जिसका एकमात्र काम था केले की छाल के बने पात्र बेचना। उसे जितनी आमदनी होती उसका आधा वह गंगाजी की पूजा में व्यय कर देता था और शेष आधे से घर का काम चलाता था। कुल मिलाकर उस दरिद्र के पास एक झोपड़ी थी जिसकी छत टूटी थी और जिसमें अनेक छेद थे। वह पीतल के बर्तन नहीं खरीद सकता था, इसलिए वह लोहे के पात्र में जल पीता था। तो भी वह श्री चैतन्य महाप्रभु का परम भक्त था। वह एक ऐसा विशिष्ट उदाहरण है कि बिना किसी प्रकार के धन के भी कोई भगवान् का परम भक्त कैसे बन सकता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि कोई भाव भौतिक ऐश्वर्य के माध्यम से श्रीकृष्ण अथवा श्री चैतन्य गोसाईं के चरणकमल की शरण नहीं प्राप्त कर सकता; वह शरण तो केवल विशुद्ध भक्तिभाव से प्राप्त की जा सकती है।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

''मनुष्य को चाहिए कि वह बिना किसी भौतिक लाभ या सकाम कर्म या दार्शनिक चिन्तन के भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा दिव्य प्रेमाभक्ति से करे। यही विशुद्ध भक्ति है।''

सुरोऽसुरो वाप्यथ वानरो नरः
सर्वात्मना यः सुकृतज्ञमुत्तमम् ।
भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिं
य उत्तराननयत्कोसलान्दिवमिति ॥ ८॥

शब्दार्थ

सुरः—देवता; असुरः—असुर; वा अपि—अथवा; अथ—अतः; वा—अथवा; अनरः—मनुष्य के अतिरिक्त (पशु-पक्षी इत्यादि); नरः—मनुष्य; सर्व-आत्मना—सब प्रकार से, हृदय से; यः—जो; सु-कृतज्ञम्—सरलता से आज्ञाकारी बनाया गया; उत्तमम्—सर्वोत्कृष्ट; भजेत—पूजा करनी चाहिए; रामम्—श्रीरामचन्द्र को; मनुज-आकृतिम्—मनुष्य रूप में प्रकट होकर; हरिम्—श्रीभगवान् को; यः—जो; उत्तरान्—उत्तरी भारत के; अनयत्—वापस ले गये; कोसलान्—कोशल देश, अयोध्यावासियों को; दिवम्—आध्यात्मिक जगत या वैकुण्ठ लोक में; इति—इस प्रकार।

अतः चाहे सुर हो या असुर, मनुष्य हो या मनुष्येतर प्राणी जैसे पशु या पक्षी, प्रत्येक को उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र की पूजा करनी चाहिए जो इस पृथ्वी पर मनुष्य के रूप में प्रकट होते हैं। भगवान् की पूजा के लिए किसी कठोर तप या साधना की आवश्यकता नहीं है,

क्योंकि वे अपने भक्त की तुच्छ सेवा को भी स्वीकार करने वाले हैं। इस प्रकार से वे तुष्ट हो जाते हैं और उनके तुष्ट होते ही भक्त सफल हो जाता है। निस्सन्देह, श्रीरामचन्द्र अयोध्या के समस्त भक्तों को वैकुण्ठ धाम वापस ले गये।

तात्पर्य : भगवान् श्रीरामचन्द्र अपने भक्तों के प्रति इतने दयालु हैं कि वे किसी के द्वारा, चाहे मनुष्य हो या कुछ और, थोड़ी भी सेवा किये जाने पर सरलता से प्रसन्न हो जाते हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्र की पूजा करने का यही लाभ है। ऐसा ही लाभ श्री चैतन्य महाप्रभु की पूजा करने से होता है। श्रीकृष्ण तथा श्रीरामचन्द्र ने कभी कभी क्षत्रियों की भाँति असुरों का वध करके अपनी दया का प्रदर्शन किया, किन्तु भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने असुरों तक को सहज ही भगवत्प्रेम प्रदान किया। श्रीभगवान् के समस्त अवतारों ने विशेषत: श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण तथा बाद में भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने पूर्ववर्ती अनेक जीवात्माओं को मोक्ष प्रदान किया। अत: श्री चैतन्य महाप्रभु को *षड्भुज मूर्ति* के रूप में प्रदर्शित किया जाता है जो श्रीराम, श्रीकृष्ण तथा श्री चैतन्य महाप्रभु इन तीनों का सम्मिलित रूप है। मनुष्य जीवन का परम उद्देश्य भगवान् के इस षड्भुज-रूप श्री रामचन्द्र की दो भुजाएं, श्रीकृष्ण की दो और श्री चैतन्य महाप्रभु की दो भुजाएँ की आराधना से ही प्राप्त हो जाता है।

भारतेऽपि वर्षे भगवान्नरनारायणाख्य
आकल्पान्तमुपचितधर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपशमोपरमात्मोपलम्भनमनुग्रहायात्मवतामनुकम्पया
तपोऽव्यक्तगतिश्चरति. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

भारते—भारत; अपि—भी; वर्षे—भूभाग में; भगवान्—श्रीभगवान्; नर-नारायण-आख्य:—नर-नारायण के नाम से विख्यात; आ-कल्प-अन्तम्—कल्पान्त तक; उपचित—वर्धमान; धर्म—धर्म; ज्ञान—ज्ञान; वैराग्य—वैराग्य; ऐश्वर्य—सम्पदा; उपशम—इन्द्रिय-निग्रह; उपरम—अहंकार से मुक्ति; आत्म-उपलम्भनम्—आत्म-साक्षात्कार; अनुग्रहाय—अनुग्रह हेतु; आत्म-वताम्—आत्म-साक्षात्कार में रुचि रखने वाले व्यक्तियों को; अनुकम्पया—अहैतुकी दया से; तप:—तप; अव्यक्त-गति:—अकथनीय महिमामय; चरति—करता है।.

श्रीशुकदेव गोस्वामी आगे बोले—श्रीभगवान् की महिमा अकल्पनीय है। उन्होंने अपने भक्तों पर अनुग्रहवश उन्हें धर्म, ज्ञान, त्याग, अध्यात्म, इन्द्रिय-निग्रह तथा अहंकार से मुक्ति की शिक्षा प्रदान करने के लिए भारतवर्ष की भूमि में बदरिकाश्रम नामक स्थान पर अपने को नर-नारायण रूप में प्रकट किया है। वे आत्मज्ञान की सम्पदा से परिपूर्ण हैं और कल्पान्त तक तप में रत रहने वाले हैं। यही आत्म-साक्षात्कार की क्रिया है।

तात्पर्य : भारतवासी बदरिकाश्रम स्थित नर-नारायण के मन्दिर की यात्रा करके यह जान सकते हैं कि श्रीभगवान् किस प्रकार नर-नारायण के रूप में अवतरित हुए और जन-सामान्य को आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करने की विधि समझाई। मात्र चिन्तन तथा संसारी कार्यों में मग्न रह कर आत्मानुभूति कर पाना असम्भव है। आत्म-साक्षात्कार एवं तपस्या के विषय में गम्भीर रहने की आवश्यकता होती है। दुर्भाग्यवश इस कलियुग के लोग तपस्या का अर्थ भी नहीं जानते। फलतः भगवान् ने श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में पतित आत्माओं को आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करने की सरलतम विधि बताने के लिए अवतार लिया है, जिसे *चेतो-दर्पण मार्जनम्*—अर्थात् हृदय से मल को स्वच्छ करना कहा जा सकता है। यह विधि अत्यन्त सरल है। कोई भी श्रीकृष्ण-संकीर्तन—*हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*—का जप कर सकता है। इस युग में तथाकथित उच्च विज्ञान के अनेक रूप हैं—यथा नृविज्ञान, मार्क्सवाद, फ्रायडवाद, राष्ट्रवाद, उद्योगवाद, किन्तु यदि हम नर-नारायण द्वारा बताई गई सरल विधि का अनुसरण न करके इन वादों के निर्देशनानुसार अत्यधिक श्रम करेंगे तो हमारा अमूल्य मानव जीवन बेकार हो जायेगा। इस प्रकार हम ठगे जाएँगे और पथविमुख होंगे।

तं भगवान्नारदो वर्णाश्रमवतीभिर्भारतीभिः प्रजाभिर्भगवत्प्रोक्ताभ्यां साङ्ख्ययोगाभ्यां
भगवदनुभावोपवर्णनं सावर्णेरुपदेक्ष्यमाणः परमभक्तिभावेनोपसरति इदं चाभिगृणाति. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (नर-नारायण); भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली सन्त पुरुष; नारदः—नारद ऋषि; वर्ण-आश्रम-वतीभिः—चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के अनुयायियों द्वारा; भारतीभिः—भारतवर्ष नामक देश के; प्रजाभिः—वासियों द्वारा; भगवत्-प्रोक्ताभ्याम्—श्रीभगवान् द्वारा कथित; साङ्ख्य—सांख्य-योग द्वारा (भौतिक गुणों का विश्लेष्णात्मक अध्ययन); योगाभ्याम्—योग के अभ्यास द्वारा; भगवत्-अनुभाव-उपवर्णनम्—जो भगवत्-प्राप्ति की क्रिया को बताता है; सावर्णेः—सावर्णि मनु को; उपदेक्ष्यमाणः—उपदेश करते हुए; परम-भक्ति-भावेन—अत्यन्त भक्तिभाव से; उपसरति—भगवान् की सेवा करता है; इदम्—इसे; च—तथा; अभिगृणाति—जप करता है।

नारद पंचरात्र नामक अपने ग्रंथ में भगवान् नारद ने अत्यन्त विस्तारपूर्वक बताया है कि किस प्रकार ज्ञान तथा योगक्रिया के द्वारा जीवन के परम लक्ष्य—भक्ति—को प्राप्त करने के लिए कार्य करना चाहिए। उन्होंने श्रीभगवान् की महिमा का भी वर्णन किया है। महर्षि नारद ने इस दिव्य साहित्य का उपदेश सावर्णि मनु को दिया, जिससे वह भारतवर्ष के उन वासियों को भगवान् की भक्ति प्राप्त करने की शिक्षा दे सकें, जो दृढ़तापूर्वक वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन करते हैं। इस प्रकार नारद मुनि भारतवर्ष के अन्य निवासियों सहित नर-नारायण की सदा

सेवा करते हुए निम्नलिखित मंत्र का जप करते रहते हैं।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु ने स्पष्ट घोषणा की है—

भारत-भूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार।

जन्म सार्थक करि' कर पर-उपकार॥

भारतवर्ष में मनुष्य जीवन के उद्देश्य की पूर्ति अथवा वास्तविक सफलता सहज ही प्राप्त की जा सकती है, क्योंकि भारत वर्ष में जीवन-उद्देश्य तथा सफलता प्राप्ति की विधि सुस्पष्ट है। भारतवर्ष में प्राप्त होने वाले सुअवसर का लाभ लोगों को, विशेष रूप से उनको जो वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन करने वाले हैं, उठाना चाहिए। यदि हम वर्णाश्रम धर्म के नियमों को—चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) तथा चारों आश्रमों (ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) को—स्वीकार करते हुए पालन नहीं करते तो जीवन में सफलता नहीं मिल सकती। दुर्भाग्यवश कलियुग के प्रभाव से प्रत्येक वस्तु की हानि हो रही है। भारतवर्ष के वासी धीरे-धीरे पतित म्लेच्छ तथा यवन बनते जा रहे हैं। तो फिर वे दूसरों को कैसे शिक्षा दे सकते हैं? इसीलिए इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन को न केवल भारतवासियों के लिए, वरन् समस्त विश्व के मनुष्यों के लिए चलाया जा रहा है, जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने घोषित किया है। अब भी समय है और यदि भारतवासी इस आन्दोलन को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण करें तो सारा जगत अधोगति को प्राप्त होने से बच सकता है। यह आन्दोलन *पंचरात्रिक विधि* के साथ ही *भागवत* विधि का पालन करता है, जिससे मनुष्य इस आन्दोलन का लाभ उठाकर अपने जीवन को सफल बना सके।

ॐ नमो भगवते उपशमशीलायोपरतानात्म्याय नमोऽकिञ्चनवित्ताय ऋषिऋषभाय नरनारायणाय परमहंसपरमगुरवे आत्मारामाधिपतये नमो नम इति. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ओम्—हे परमेश्वर; नमः—मेरा सादर नमस्कार; भगवते—श्रीभगवान् को; उपशम-शीलाय—जिन्होंने इन्द्रियों को वश में कर लिया है; उपरत-अनात्म्याय—भौतिक जगत से विरक्त; नमः—नमस्कार; अकिञ्चन-वित्ताय—धनहीन व्यक्तियों के सम्पत्ति स्वरूप श्रीभगवान् को; ऋषि-ऋषभाय—ऋषियों में श्रेष्ठ को; नर-नारायणाय—नर नारायण को; परमहंस-परम-गुरवे—परमहंसों अर्थात् मुक्त पुरुषों के परम आदरणीय गुरु; आत्माराम-अधिपतये—आत्मारामों में श्रेष्ठ; नमः नमः—बारम्बार नमस्कार है; इति—इस प्रकार।

मैं समस्त सन्त पुरुषों में श्रेष्ठ श्रीभगवान् नर-नारायण को सादर नमस्कार करता हूँ। वे

अत्यन्त आत्मसंयमित तथा आत्माराम हैं, वे झूठी प्रतिष्ठा से परे हैं और निर्धनों की एकमात्र सम्पदा हैं। वे मनुष्यों में परम सम्माननीय समस्त परमहंसों के गुरु हैं और आत्मसिद्धों के स्वामी हैं। मैं उनके चरणकमलों को पुनः पुनः नमस्कार करता हूँ।

गायति चेदम्—
कर्तास्य सर्गादिषु यो न बध्यते
न हन्यते देहगतोऽपि दैहिकैः ।
द्रष्टुर्न दृग्यस्य गुणैर्विदूष्यते
तस्मै नमोऽसक्तविविक्तसाक्षिणे ॥ १२॥

शब्दार्थ

गायति—गाता है; च—तथा; इदम्—यह; कर्ता—करने वाला; अस्य—इस जगत का; सर्ग-आदिषु—सृष्टि, पालन तथा संहार का; यः—जो; न बध्यते—सृष्टिकर्ता या स्वामी के रूप में लिप्त नहीं है; न—नहीं; हन्यते—पीड़ित किया जाता है; देह-गतः अपि—मनुष्य के रूप में प्रकट होकर भी; दैहिकैः—भूख, प्यास, थकान जैसी शारीरिक यातनाओं के द्वारा; द्रष्टुः—सर्व द्रष्टा को; न—नहीं; दृक्—दृष्टि-शक्ति; यस्य—जिसकी; गुणैः—भौतिक गुणों के द्वारा; विदूष्यते—कलुषित हो जाता है; तस्मै—उसको; नमः—नमस्कार है; असक्त—अनासक्त श्रीभगवान् को; विविक्त—बिना प्यार के; साक्षिणे—सब का साक्षी।

परम शक्तिमान ऋषि नारद नर-नारायण की आराधना निम्नलिखित मंत्र का जप करके करते हैं—''पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् इस दृश्य जगत के सृष्टिकर्ता, पालक और संहारक हैं, तो भी वे मिथ्या अभिमान से पूर्णतया मुक्त हैं। यद्यपि मूढ़ों के लिए उन्होंने हमारे समान शरीर धारण करना स्वीकार किया प्रतीत होता है, किन्तु उन्हें भूख, प्यास तथा थकान जैसे शारीरिक कष्ट नहीं सताते। यद्यपि वे सर्वद्रष्टा हैं, किन्तु जिन वस्तुओं को वे देखते हैं उनसे उनकी इन्द्रियाँ दूषित नहीं होती। मैं ऐसे अनासक्त, जगत के साक्षी, परमात्मास्वरूप श्रीभगवान् को बारम्बार नमस्कार करता हूँ।''

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण को ''सच्चिदानन्द विग्रह'' के रूप में वर्णित किया गया है। इस श्लोक में उनका विशेष वर्णन मिलता है। श्रीकृष्ण इस सम्पूर्ण विराट जगत के कर्ता हैं, किन्तु वे इससे अनासक्त रहते हैं। यदि हम गगनचुम्बी भवन का निर्माण करें तो हम इसके प्रति अत्यधिक आसक्त होंगे, किन्तु श्रीकृष्ण इतने अनासक्त हैं कि सब कुछ उत्पन्न करके भी किसी वस्तु से लिप्त नहीं हैं (*न बध्यते*)। यही नहीं, श्रीकृष्ण का दिव्य रूप सच्चिदानन्द विग्रह है। उन्हें दैहिक आवश्यकताएँ नहीं सतातीं। उदाहरणार्थ, न तो उन्हें भूख लगती है, न प्यास, न थकावट (*न हन्यते देहगतोऽपि दैहिकै*)। सचमुच ही, चूँकि प्रत्येक वस्तु श्रीकृष्ण की है, वे सब कुछ देखते हैं और सर्वत्र विद्यमान हैं, किन्तु

दिव्य देह होने के कारण वे दृष्टि, दृष्टि की इन्द्रियों तथा दृष्टि प्रक्रिया से परे है। जब हम कोई सुन्दर वस्तु देखते हैं, तो उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। सुन्दर स्त्री को देखते ही पुरुष तुरन्त आकर्षित होता है और पुरुष को देखकर स्त्री आकृष्ट होती है। किन्तु श्रीकृष्ण इन समस्त दोषों से परे हैं। वे सर्वद्रष्टा हैं, उनकी दृष्टि दूषित नहीं होती (*न दृग् यस्य गुणैर्विदूष्यते*) अत: वे साक्षी हैं और कर्मों के मोह से पृथक् रहने वाले हैं। वे सदैव निर्लिप्त तथा पृथक् रहते हैं, वे मात्र साक्षी हैं।

इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं
हिरण्यगर्भो भगवाञ्जगाद यत् ।
यदन्तकाले त्वयि निर्गुणे मनो
भक्त्या दधीतोज्झितदुष्कलेवर: ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; हि—निश्चयपूर्वक; योग-ईश्वर—हे समस्त योगशक्ति के स्वामी; योग-नैपुणम्—योगिक नियमों की साधना में दक्ष; हिरण्य-गर्भ:—भगवान् ब्रह्मा; भगवान्—सर्वशक्तिमान; जगाद—कहा; यत्—जो; यत्—जो; अन्त-काले—मृत्यु के समय; त्वयि—तुममें (आप में); निर्गुणे—सत्त्व; मन:—मन (मस्तिष्क); भक्त्या—भक्तिपूर्वक; दधीत—रखना चाहिए; उज्झित-दुष्कलेवर:—भौतिक शरीर के साथ ही अपना स्वरूप त्याग करके।

हे योगेश्वर, आत्माराम भगवान् ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) ने योगक्रिया के विषय में जो कुछ कहा है यह उसकी व्याख्या है। मृत्यु के समय सभी योगी आपके चरण-कमलों में अपना मन स्थापित करके अपने भौतिक शरीर को त्यागते हैं। यह योग सिद्धि है।

तात्पर्य : श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—

यस्य सम्यग् भगवति ज्ञानं भक्तिस्तथैव च।

निश्चिन्तस्तस्य मोक्ष: स्यात् सर्वपापकृतोऽपि तु॥

"जो श्रीभगवान् की वास्तविक स्थिति समझने के उद्देश्य से अपने जीवनकाल में गम्भीरतापूर्वक भक्ति करता है उसकी इस जगत से मुक्ति निश्चित है, भले ही वह पापाचार क्यों न करता रहा हो।" *भगवद्गीता* (९.३०) में भी इसकी पुष्टि की गई—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।

साधुरेव स मन्तव्य: सम्यग्व्यवसितो हि स:॥

"यदि कोई अतिशय दुराचारी भी मेरी अनन्यभक्ति के परायण हो जाये, तो उसे साधु ही मानना चाहिए, क्योंकि वह मेरी एकान्त निष्ठा रूपी श्रेष्ठ निश्चय वाला है।" इस जीवन का एकमात्र उद्देश्य

श्रीकृष्ण के विचारों तथा उसके रूप, लीलाओं, कार्यों और गुणों में पूर्णत: मग्न रहना है। यदि कोई इस प्रकार श्रीकृष्ण के विषय में चौबीसों घंटे सोच सकता है, तो वह पहले से मुक्त है (*स्वरूपेण व्यवस्थिति:*)। जहाँ भौतिकतावादी लोग सांसारिक विचारों तथा कार्यों में मग्न रहते हैं वहां भक्तजन श्रीकृष्ण के विचारों एवं उनकी क्रियाओं में डूबे रहते हैं। अत: वे मोक्ष के पद को पहले ही प्राप्त कर चुके होते हैं। मृत्यु के समय मनुष्य को चाहिए कि पूर्णत: श्रीकृष्ण के विचार में मग्न रहे। तभी वह श्रीभगवान् के धाम को निश्चित रूप से लौट सकेगा।

यथैहिकामुष्मिककामलम्पट:
सुतेषु दारेषु धनेषु चिन्तयन् ।
शङ्केत विद्वान्कुकलेवरात्ययाद्
यस्तस्य यत्न: श्रम एव केवलम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; ऐहिक—इस जीवन में; अमुष्मिक—भावी जीवन में; काम-लम्पट:—कामवासनाओं में लिप्त रहने वाला पुरुष; सुतेषु—सन्तान; दारेषु—पत्नी; धनेषु—सम्पत्ति में; चिन्तयन्—सोचते हुए; शङ्केत—भयभीत रहता है; विद्वान्—आत्मज्ञानी पुरुष; कु-कलेवर—इस मलमूत्र से पूरित शरीर का; अत्ययात्—क्षति के कारण; य:—जो कोई; तस्य—उसका; यत्न:—प्रयास; श्रम:—समय एवं शक्ति का अपव्यय; एव—निश्चय ही; केवलम्—मात्र, केवल।

सामान्य रूप से भौतिकतावादी जन अपने वर्तमान तथा भावी शारीरिक सुखों में अत्यन्त लिप्त रहते हैं। अत: वे अपनी पत्नी, सन्तान तथा सम्पत्ति के विचारों में सदैव मग्न रहते हैं और इस मलमूत्र से भरे हुए शरीर को त्यागने से भयभीत रहते हैं। यदि कृष्णभक्ति में संलग्न व्यक्ति भी अपने शरीर-त्याग से भयभीत हों तो फिर शास्त्रों के अध्ययन में किये श्रम का क्या लाभ? यह केवल समय की बरबादी है।

तात्पर्य : मृत्यु के समय भौतिकतावादी व्यक्ति अपनी पत्नी तथा सन्तान के विषय में सोचता रहता है। वह इसी सोच में डूबता-उतराता रहता है कि उसकी मृत्यु के बाद उनकी देखभाल कौन करेगा और वे कैसे रहेंगे। अत: वह कभी भी शरीर नहीं छोड़ना चाहता, वरन् वह जीवित रहकर अपने समाज, परिवार, मित्र इत्यादि की सेवा करते रहना चाहता है। अत: उसे चाहिए कि योगाभ्यास द्वारा ऐहिक सम्बन्धों से विरक्त हो जाये। यदि भक्तियोग की साधना तथा वैदिक साहित्य के अध्ययन के पश्चात् भी मनुष्य इस कुदेह का जो मन के कष्टों की जड़ है परित्याग करने से भयभीत होता है, तो आध्यात्मिक जीवन में उन्नति का प्रयास करने से क्या लाभ? योग साधना का रहस्य शारीरिक लगाव से

मुक्त होना है। श्रील नरोत्तदास ठाकुर का कथन है कि *देह-स्मृति नाहि यार, संसार-बंधन काहाँ तार*—जिसके अभ्यास से दैहिक चिन्ताओं से मुक्ति मिल जाती है उसे अधिक काल तक बद्ध जीवन नहीं बिताना पड़ता। ऐसे व्यक्ति का बन्धन से छुटकारा हो जाता है। कृष्णभावनामृत में लगे व्यक्ति को बिना किसी भौतिक आसक्ति के पूर्णरूपेण अपना भक्तिकार्य संपन्न करना चाहिए। तभी उसकी मुक्ति निश्चित है।

तन्नः प्रभो त्वं कुकलेवरार्पितां
त्वन्माययाहंममतामधोक्षज ।
भिन्द्याम येनाशु वयं सुदुर्भिदां
विधेहि योगं त्वयि नः स्वभावमिति ॥ १ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; नः—हमारी; प्रभो—हे प्रभो; त्वम्—आप (तुम); कु-कलेवर-अर्पिताम्—मलमूत्र से पूरित इस बुरे शरीर में लगे हुए; त्वत्-मायया—आपकी माया से; अहम्-ममताम्—"मैं और मेरा" का विचार; अधोक्षज—हे सत्त्व; भिन्द्याम—त्याग सकता है; येन—जिससे; आशु—शीघ्र ही; वयम्—हम; सुदुर्भिदाम्—जिसको त्याग पाना दुष्कर है; विधेहि—कृपया प्रदान करें; योगम्—क्रिया; त्वयि—आपको; नः—हमारा; स्वभावम्—जो स्थिर मन के द्वारा जाना जाता है; इति—इस प्रकार।

अतः हे प्रभो, हे अधोक्षज, कृपा करके हमें भक्तियोग साधने की शक्ति प्रदान करें जिससे हम अपने अस्थिर मन को वश में करके आप में लगा सकें। हम सभी आपकी माया से प्रभावित हैं, अतः हम मलमूत्र से पूरित शरीर तथा इससे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु के प्रति अत्यधिक समर्पित हैं। इस आसक्ति को त्यागने का एकमात्र उपाय भक्ति है, अतः आप हमें यह वर दें।

तात्पर्य : *भवद्गीता* में श्रीकृष्ण का उपदेश है—*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।* सदैव श्रीकृष्ण का चिन्तन, भक्ति में व्यस्तता, सदैव श्रीकृष्ण की पूजा और उनको नमस्कार करना—ये पूर्ण योगक्रिया के अन्तर्गत आते हैं। इस योगक्रिया को किये बिना इस मल-मूत्र पूरित शरीर के प्रति मोह को त्याग पाना दुष्कर है। योग की सिद्धि इसी में हैं कि देह के प्रति जो भी मोह है उसे श्रीकृष्ण के प्रति आसक्ति में परिणत कर दिया जाये। हम सांसारिक सुख में अत्यधिक लिप्त हैं, किन्तु जब हम श्रीकृष्ण के प्रति वैसी आसक्ति उत्पन्न कर लेते हैं, तो हमारे उद्धार का मार्ग प्रशस्त होता है। मनुष्य को चाहिए कि इसी योग-प्रक्रिया का पालन करे।

भारतेऽप्यस्मिन्वर्षे सरिच्छैलाः सन्ति बहवो मलयो मङ्गलप्रस्थो मैनाकस्त्रिकूट ऋषभः कूटकः कोल्लकः सह्यो देवगिरिरृष्यमूकः श्रीशैलो वेङ्कटो महेन्द्रो वारिधारो विन्ध्यः शुक्तिमानृक्षगिरिः पारियात्रो द्रोणश्चित्रकूटो गोवर्धनो रैवतकः ककुभो नीलो गोकामुख इन्द्रकीलः कामगिरिरिति चान्ये च शतसहस्रशः शैलास्तेषां नितम्बप्रभवा नदा नद्यश्च सन्त्यसङ्ख्याताः. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

भारते—भारतवर्ष में; अपि—भी; अस्मिन्—इस; वर्षे—भूभाग में; सरित्—नदियाँ; शैलाः—पर्वत; सन्ति—हैं; बहवः—अनेक; मलयः—मलय; मङ्गल-प्रस्थः—मंगलप्रस्थ; मैनाकः—मैनाक पर्वत; त्रि-कूटः—त्रिकूट पर्वत; ऋषभः—ऋषभ; कूटकः—कूटक; कोल्लकः—कोल्लक; सह्यः—सह्य; देवगिरिः—देवगिरि; ऋष्य-मूकः—ऋष्यमूक; श्री-शैलः—श्रीशैल; वेङ्कटः—वेंकट; महेन्द्रः—महेन्द्र; वारि-धारः—वारिधार; विन्ध्यः—विन्ध्याचल; शुक्तिमान्—शुक्तिमान्; ऋक्ष-गिरिः—ऋक्षगिरि; पारियात्रः—पारियात्र; द्रोणः—द्रोण; चित्र-कूटः—चित्रकूट; गोवर्धनः—गोवर्धन; रैवतकः—रैवतक; ककुभः—ककुभ; नीलः—नील; गोकामुखः—गोकामुख; इन्द्रकीलः—इन्द्रकील; काम-गिरिः—कामगिरि; इति—इस प्रकार; च—तथा; अन्ये—अन्य; च—भी; शत-सहस्रशः—सैकड़ों तथा हजारों; शैलाः—पर्वत; तेषाम्—उनके; नितम्ब-प्रभवाः—ढालों से उत्पन्न; नदाः—बड़ी-बड़ी नदियाँ; नद्यः—छोटी नदियाँ; च—और; सन्ति—हैं; असङ्ख्याताः—असंख्य।

इलावृत-वर्ष की भाँति ऋक्ष गिरि, पारियात्र, द्रोण, चित्रकुट, गोवर्धन, ऐवतक, भारतवर्ष में भी अनेक पर्वत और नदियाँ हैं। कुछ पर्वत इस प्रकार हैं—मलय, मंगलप्रस्थ, मैनाक, त्रिकूट, ऋषभ, कूटक, कोल्लक, सह्य, देवगिरि, ऋष्यमूक, श्रीशैल, वेंकट, महेन्द्र, वारिधारा, विन्ध्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष गिरि, पारियात्र, द्रोण, चित्रकूट, गोवर्धन, ऐवतक, ककुभ, नील, गोकामुख, इन्द्रकील तथा कामगिरि। इनके अतिरिक्त अनेक पहाड़ियाँ हैं जिनकी ढालों से अनेक बड़ी तथा छोटी नदियाँ निकलती हैं।

एतासामपो भारत्यः प्रजा नामभिरेव पुनन्तीनामात्मना चोपस्पृशन्ति; चन्द्रवसा ताम्रपर्णी अवटोदा कृतमाला वैहायसी कावेरी वेणी पयस्विनी शर्करावर्ता तुङ्गभद्रा कृष्णावेण्या भीमरथी गोदावरी निर्विन्ध्या पयोष्णी तापी रेवा सुरसा नर्मदा चर्मण्वती सिन्धुरन्धः शोणश्च नदौ महानदी वेदस्मृतिरृषिकुल्या त्रिसामा कौशिकी मन्दाकिनी यमुना सरस्वती दृषद्वती गोमती सरयू रोधस्वती सप्तवती सुषोमा शतद्रूश्चन्द्रभागा मरुद्वृधा वितस्ता असिक्नी विश्वेति महानद्यः. ॥ १७१८ ॥

शब्दार्थ

एतासाम्—इन सबों का; अपः—जल; भारत्यः—भारतवर्ष के; प्रजाः—वासी; नामभिः—नामों से; एव—केवल; पुनन्तीनाम्—पवित्र बनाती हैं; आत्मना—मन; च—भी; उपस्पृशन्ति—स्पर्श करती हैं; चन्द्र-वसा—चन्द्रवसा; ताम्र-पर्णी—ताम्र-पर्णी; अवटोदा—अवटोदा; कृत-माला—कृतमाला; वैहायसी—वैहायसी; कावेरी—कावेरी; वेणी—वेणी; पयस्विनी—पयस्विनी; शर्करावर्ता—शर्करावर्ता; तुङ्ग-भद्रा—तुंगभद्रा; कृष्णा-वेण्या—कृष्णावेण्या; भीम-रथी—भीमरथी; गोदावरी—गोदावरी; निर्विन्ध्या—निर्विन्ध्या; पयोष्णी—पयोष्णी; तापी—तापी; रेवा—रेवा; सुरसा—सुरसा; नर्मदा—नर्मदा; चर्मण्वती—चर्मण्वती; सिन्धुः—सिन्धु; अन्धः—अन्ध; शोणः—शोण; च—तथा; नदौ—दो नदियाँ; महा-नदी—महानदी; वेद-स्मृतिः—वेदस्मृति; ऋषि-कुल्या—ऋषिकुल्या; त्रि-सामा—त्रिसामा; कौशिकी—कौशिकी; मन्दाकिनी—मन्दाकिनी; यमुना—यमुना; सरस्वती—सरस्वती; दृषद्वती—दृषद्वती; गोमती—गोमती; सरयू—सरयू; रोधस्वती—रोधस्वती; सप्तवती—सप्तवती; सुषोमा—सुषोमा; शत-द्रूः—शतद्रु; चन्द्रभागा—चन्द्रभागा; मरुद्वृधा—मरुद्वृधा; वितस्ता—वितस्ता; असिक्नी—असिक्नी; विश्वा—विश्वा; इति—इस प्रकार; महा-नद्यः—बड़ी नदियाँ।

नदियों में से दो नदियाँ—ब्रह्मपुत्र तथा शोण—नद अथवा महा नदियाँ कहलाती हैं। अन्य

प्रमुख बड़ी नदियाँ इस प्रकार हैं—चन्द्रवसा, ताम्रपर्णी, अवटोदा, कृतमाला, वैहायसी, कावेरी, वेणी, पयस्विनी, शर्करावर्ता, तुंगभद्रा, कृष्णावेण्या, भीमरथी, गोदावरी, ऋषिकुल्या, त्रिसामा, कौशिकी, मन्दाकिनी, यमुना, सरस्वती, दृषद्वती, गोमती, सरयू, रोधस्वती, सप्तवती, सुषोमा, शतद्रू, चन्द्रभागा, मरुद्वृधा, वितस्ता, असिक्नी तथा विश्वा। भारतवर्ष के वासी इन नदियों का स्मरण करने से पवित्र रहते हैं। कभी-कभी वे इन नदियों के नामों का मंत्रवत् जाप करते हैं और कभी-कभी जाकर इनका स्पर्श और इनमें स्नान भी करते हैं। इस तरह भारतवर्ष के निवासी पवित्र होते रहते हैं।

तात्पर्य : ये समस्त नदियाँ दिव्य हैं। अत: इनके स्मरण, स्पर्श या स्नान से पवित्र हुआ जा सकता है। आज भी यह प्रथा चालू है।

अस्मिन्नेव वर्षे पुरुषैर्लब्धजन्मभि: शुक्ललोहितकृष्णवर्णेन स्वारब्धेन कर्मणा दिव्यमानुषनारकगतयो बह्व्य आत्मन आनुपूर्व्येण सर्वा ह्येव सर्वेषां विधीयन्ते यथावर्णविधानमपवर्गश्चापि भवति. ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अस्मिन् एव वर्षे—इसी भूभाग (भारतवर्ष) में; पुरुषै:—पुरुषों के द्वारा; लब्ध-जन्मभि:—जन्म देने वालों के द्वारा; शुक्ल—सत्त्वगुण का; लोहित—रजोगुण का; कृष्ण—तमोगुण का; वर्णेन—वर्ण (विभाग) के अनुसार; स्व—स्वयं; आरब्धेन—प्रारम्भ किया हुआ; कर्मणा—कर्म के द्वारा; दिव्य—दिव्य, दैवी; मानुष—मानवीय; नारक—नारकीय; गतय:—गन्तव्य; बह्व्य:—अनेक; आत्मन:—स्वयं का; आनुपूर्व्येण—पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार; सर्वा:—समस्त; हि—निश्चय-पूर्वक; एव—निस्सन्देह; सर्वेषाम्—सबों का; विधीयन्ते—भाग्य में लिखा है; यथा-वर्ण-विधानम्—विभिन्न वर्णों के अनुसार; अपवर्ग:—मुक्ति का मार्ग; च—और; अपि—भी; भवति—सम्भव है।

इस भूभाग में जन्म लेने वाले व्यक्ति गुणों—सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण—के अनुसार विभाजित हैं। इनमें से कुछ अत्यन्त महान् व्यक्तियों के रूप में, कुछ सामान्य व्यक्तियों के रूप में और कुछ अत्यन्त निम्न व्यक्तियों के रूप में जन्म लेते हैं, क्योंकि भारतवर्ष में मनुष्य का विगत कर्म के अनुसार जन्म होता है। यदि प्रामाणिक गुरु के द्वारा किसी भी मनुष्य की स्थिति निश्चित की जाये और यदि उसे चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) तथा चार आश्रमों (ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) के अनुसार भगवान् विष्णु की सेवा में रत होने का सही-सही प्रशिक्षण दिया जाये तो उसका जीवन सफल हो सकता है।

तात्पर्य : अधिक जानकारी के लिए *भगवद्गीता* (१४.१८ तथा १८.४२-४) देखना चाहिए। श्रील रामानुजाचार्य ने अपनी पुस्तक *वेदान्त संग्रह* में लिखा है—

एवंविधपराभक्तिस्वरूपज्ञानविशेषस्योत्पादक: पूर्वोक्ताहरहरुपचीयमानज्ञानपूर्वककर्मानुगृहीतभक्तियोग एव; यथोक्तं भगवता पराशरेण—वर्णाश्रमेति। निखिलजगदुद्धारणायावनितलेऽवतीर्ण परमब्रह्मभूत: पुरुषोत्तम: स्वयमेतदुक्तवान्—''स्वकर्म-निरत: सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु'' ''यत: प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव: ॥''

महर्षि पराशर मुनि ने *विष्णु-पुराण* (३.८.९) से उद्धरण देते हुए संस्तुति की है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण पर: पुमान्।

विष्णुराराध्यते पंथा नान्यत्के तत्तोषकारणम्॥

''वर्णाश्रम प्रणाली में उल्लिखित कर्तव्यों के सही-सही पालन द्वारा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु की आराधना की जाती है। भगवान् को तुष्ट करने का इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।'' भारतवर्ष में वर्णाश्रम-धर्म का सरलता से पालन हो सकता है। इस समय भारतवर्ष के कुछ आसुरी वर्ण वर्णाश्रम-धर्म प्रणाली की उपेक्षा कर रहे हैं। चूँकि लोगों को यह शिक्षा देने के लिए कि किस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र बना जा सकता है या ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी कैसे बना जाता है कोई संस्था नहीं है, अत: ये असुर वर्गहीन समाज चाहते हैं। इससे अव्यवस्था उत्पन्न हो रही है। धर्मनिरपेक्ष सरकार के नाम पर अयोग्य व्यक्ति सर्वोच्च शासकीय पद हथिया रहे हैं। किसी को भी वर्णाश्रम-धर्म के नियमों के अनुसार कार्य करने की शिक्षा नहीं दी जा रही है, जिससे मनुष्य अत्यन्त पतित हो कर पशु-जीवन की दिशा में अग्रसर हो रहे हैं। जीवन का मुख्य उद्देश्य मुक्ति है, किन्तु दुर्भाग्यवश मनुष्यों को मुक्ति का अवसर नहीं दिया जाता जिससे उनका जीवन विनष्ट हो रहा है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन सम्पूर्ण विश्व में वर्णाश्रम-धर्म प्रणाली की पुन:-स्थापना करने और मानव समाज को नारकीय जीवन में गिरने से बचाने के लिए प्रवर्द्धित किया जा रहा है।

योऽसौ भगवति सर्वभूतात्मन्यनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने परमात्मनि वासुदेवेऽनन्यनिमित्तभक्तियोगलक्षणो नानागतिनिमित्ताविद्याग्रन्थिरन्धनद्वारेण यदा हि महापुरुषपुरुषप्रसङ्ग:. ॥ २० ॥

शब्दार्थ

य:—जो कोई; **असौ**—उस; **भगवति**—श्रीभगवान् में; **सर्व-भूत-आत्मनि**—समस्त जीवात्माओं के परम आत्मा; **अनात्म्ये**—लगाव रहित; **अनिरुक्ते**—मन तथा वाणी से परे; **अनिलयने**—अन्य किसी पर आश्रित नहीं; **परम-आत्मनि**—परमात्मा में;

वासुदेवे—भगवान् वासुदेव, वसुदेव के पुत्र; अनन्य—अद्वय; निमित्त—कारण; भक्ति-योग-लक्षण:—शुद्ध भक्ति के लक्षणों से युक्त; नाना-गति—विभिन्न गन्तव्यों का; निमित्त—कारण; अविद्या-ग्रन्थि—अज्ञानरूपी बन्धन; रन्धन—काटने का; द्वारेण—साधन द्वारा; यदा—जब; हि—निस्सन्देह; महा-पुरुष—श्रीभगवान् का; पुरुष—भक्त के साथ; प्रसङ्ग:—घनिष्ठ सम्बन्ध।

अनेकानेक जन्मों के पश्चात्, मनुष्य को अपने पुण्यकर्मों के फलित होने पर शुद्ध भक्तों की संगति का अवसर प्राप्त होता है। तभी उसके अज्ञानरूपी बन्धन की ग्रंथि, जो उसके नाना प्रकार के सकाम कर्मों के कारण जकडे रहती है, कट पाती है। भक्तों की संगति करने से धीरे-धीरे ऐसे भगवान् वासुदेव की सेवा में मन लगने लगता है, जो दिव्य हैं, भौतिक बन्धनों से मुक्त हैं, मन एवं वाणी से परे हैं तथा परम स्वतंत्र हैं। यही भक्तियोग अर्थात् भगवान् वासुदेव की भक्ति ही मुक्ति का वास्तविक मार्ग है।

तात्पर्य : ब्रह्म-साक्षात्कार मुक्ति का शुभारम्भ है तथा परमात्मा-साक्षात्कार मुक्ति की ओर एक पग और आगे है। किन्तु किसी को वास्तविक मुक्ति तभी मिलती है जब वह अपने आपको पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का शाश्वत दास मानने लगता है (*मुक्तिर्हित्वान्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थिति:*)। इस भौतिक जगत में देहात्मबुद्धि से प्रत्येक प्राणी उल्टी दिशा में कार्यशील रहता है। जब वह *ब्रह्मभूत* हो जाता है, तो उसे यह ज्ञान होता है कि वह देह नहीं है और जीवन का देहात्मबोध वृथा तथा उल्टी दिशा में ले जाने वाला है। तब उसकी भक्ति प्रारम्भ होती है। *भगवद्गीता* (१८.४) में श्रीकृष्ण कहते हैं—

ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
सम: सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

"ब्रह्मभूत पुरुष को तत्काल परब्रह्म की अनुभूति होती है और पूर्णतया आनन्दमय हो जाता है। वह न शोक करता है और न ही इच्छा ही करता है; वह सब प्राणियों में समभाव रखता है। इस अवस्था में उसे मेरी शुद्ध भक्ति प्राप्त होती है।" भक्ति ही वास्तविक मुक्ति है। जब मनुष्य श्रीभगवान् के सौन्दर्य से आकर्षित होता है और उसका मन उनके चरणकमलों में सदा लगा रहता है, तब उसे वे सारे विषय नहीं रुचते जिनसे आत्म-साक्षात्कार में बाधा पहुँचती हो। कहने का तात्पर्य यह है कि समस्त प्रकार के कार्यों के प्रति उसका आकर्षण जाता रहता है। *तैत्तिरीय उपनिषद्* (२.७) में कहा गया है—*एष ह्येवानन्दयति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्न दृश्येऽनात्म्ये अनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दतेऽथ सोऽभयं गतो भवति।* जब जीवात्मा यह समझ लेता है कि उसका सुख आत्म-साक्षात्कार पर निर्भर है

जो आनन्द का मूल तत्त्व है और जब वह निरन्तर सर्वोपरि भगवान् की सेवा में निरत रहता है। तो वह सिद्ध तथा आनन्दमय जीवन बिताने लगता है।

एतदेव हि देवा गायन्ति—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः ।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; एव—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही; देवाः—सभी देवता; गायन्ति—कीर्तन करते हैं; अहो—अरे; अमीषाम्—भारतवर्ष के इन वासियों का; किम्—क्या; अकारि—किया गया; शोभनम्—पवित्र सुन्दर कार्य; प्रसन्नः—प्रसन्न; एषाम्—उन पर; स्वित्—अथवा; उत—कहा गया; स्वयम्—स्वयं; हरिः—श्रीभगवान्; यैः—जिसके द्वारा; जन्म—जन्म; लब्धम्—प्राप्त किया; नृषु—मानव समाज में; भारत-अजिरे—भारतवर्ष के प्रांगण में; मुकुन्द—मुक्तिदाता श्रीभगवान्; सेवा-औपयिकम्—सेवा करने का माध्यम, स्वरूप; स्पृहा—इच्छा; हि—निस्सन्देह; नः—हमारी।

चूँकि आत्मसाक्षात्कार के लिए मनुष्य-जीवन ही परम पद है, अतः स्वर्ग के सभी देवता इस प्रकार कहते हैं—इन मनुष्यों के लिए भारतवर्ष में जन्म लेना कितना आश्चर्यजनक है। इन्होंने भूतकाल में अवश्य ही कोई तप किया होगा अथवा श्रीभगवान् स्वयं इन पर प्रसन्न हुए होंगे। अन्यथा वे इस प्रकार से भक्ति में संलग्न क्योंकर होते? हम देवतागण भक्ति करने के लिए भारतवर्ष में मनुष्य जन्म धारण करने की मात्र लालसा कर सकते हैं, किन्तु ये मनुष्य पहले से भक्ति में लगे हुए हैं।

तात्पर्य : *चैतन्यचरितामृत* (आदि ९.४१) में इन तथ्यों की विशद व्याख्या है—

भारत-भूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार।
जन्म सार्थक करि' कर पर-उपकार॥

"जिसने भारत देश में मनुष्य का जन्म लिया है उसे अपना जीवन सार्थक बनाना चाहिए और परोपकार करना चाहिए।"

भारतवर्ष में भक्ति करने की अनेक सुविधाएँ प्राप्त हैं। यहाँ के अनेक आचार्यों ने अपने अनुभवों का योगदान किया है और श्री चैतन्य महाप्रभु ने साक्षात् प्रकट होकर भारतवर्ष के वासियों को यह शिक्षा दी कि किस प्रकार परमार्थ जीवन में आगे बढ़ना और भगवान् की भक्ति में स्थिर होना चाहिए। सभी प्रकार से भारत देश विशिष्ट है, जहाँ भक्ति को सरलता में समझ कर अपने जीवन को सफल

बनाया जा सकता है। यदि कोई भक्ति में सफलता प्राप्त करके विश्व के अन्य भागों में भक्ति का उपदेश देता है, तो उससे विश्वभर के लोग लाभ उठा सकेंगे।

किं दुष्करैर्नः क्रतुभिस्तपोव्रतै-
र्दानादिभिर्वा द्युजयेन फल्गुना ।
न यत्र नारायणपादपङ्कज-
स्मृतिः प्रमुष्टातिशयेन्द्रियोत्सवात् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या लाभ है; दुष्करैः—अत्यन्त कठिन; नः—हमारा; क्रतुभिः—यज्ञों के करने से; तपः—तप से; व्रतैः—व्रत से; दान-आदिभिः—दान देने आदि से; वा—अथवा; द्युजयेन—स्वर्गलोक की प्राप्ति से; फल्गुना—तुच्छ; न—नहीं; यत्र—जहाँ; नारायण-पाद-पङ्कज—भगवान् नारायण के चरणकमल; स्मृतिः—स्मरण; प्रमुष्ट—खोया हुआ; अतिशय—अत्यधिक; इन्द्रिय-उत्सवात्—भौतिक इन्द्रियतृप्ति के कारण।

देवता आगे कहते हैं—वैदिक यज्ञों के करने, तप करने, व्रत रखने तथा दान देने जैसे दुष्कर कार्यों के करने के पश्चात् ही हमें स्वर्ग में निवास करने का यह पद प्राप्त हुआ है। किन्तु हमारी इस सफलता का क्या महत्त्व है? यहाँ हम निश्चय ही भौतिक इन्द्रियतृप्ति में व्यस्त रहकर भगवान् नारायण के चरणकमलों का स्मरण तक नहीं कर पाते। अत्यधिक इन्द्रिय तृप्ति के कारण हम उनके चरणकमलों को लगभग विस्मृत ही कर चुके हैं।

तात्पर्य : भारत देश की इतनी महिमा है कि यहाँ जन्म लेने वाले को न केवल स्वर्गलोक का लाभ होता है वरन् वे सीधे भगवान् के धाम को वापस पहुँचते हैं। *भगवद्गीता* (९.२) में श्रीकृष्ण कहते हैं—

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

"देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजने वाले पितरों को, भूतों को पूजने वाले भूतों को और जो मेरे भक्त हैं, वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।" भारतवर्ष के वासी सामान्य रूप से वैदिक नियमों का पालन करते हैं, जिससे वे महान् यज्ञों को करते हुए स्वर्गलोकों को प्राप्त हो सकते हैं। किन्तु इतनी बड़ी उपलब्धि का क्या लाभ? जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२१) में कहा गया है—*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*—यज्ञ, दान तथा अन्य पुण्यकर्मों के क्षीण होने पर मनुष्य को मर्त्यलोक में वापस आकर पुनः जन्म और मृत्यु के कष्टों का अनुभव करना होता है। किन्तु यदि कोई

कृष्णभावनाभावित हो जाता है, तो वह श्रीकृष्ण के पास वापस जा सकता है (*यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्*)। अत: देवताओं को भी इस बात का दुख है कि वृथा ही वे स्वर्गलोक के उच्च पद पर स्थित हैं। उन्हें इस बात का खेद है कि उनका जन्म भारतवर्ष में क्यों नहीं हुआ। इसके विपरीत वे उच्चस्तर इन्द्रियतृप्ति के लोभ में आकर मृत्यु के समय भगवान् नारायण के चरणकमलों को भूल जाते हैं। निष्कर्ष यह है कि जिसने भारतवर्ष में जन्म धारण लिया है उसे श्रीभगवान् द्वारा दिये गये आदेशों का पालन करना होगा। *यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम*—मनुष्य को चाहिए कि वह श्रीभगवान् के धाम अर्थात् वैकुण्ठलोक या फिर गोलोक वृन्दावन वापस पहुँचे जहाँ वह श्रीभगवान् के संग आनन्दपूर्वक शाश्वत जीवन बिता सके।

कल्पायुषां स्थानजयात्पुनर्भवात्
क्षणायुषां भारतभूजयो वरम् ।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः
सन्न्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

कल्प-आयुषाम्—जो ब्रह्मा के समान कई कल्पों तक जीवित रहते हैं; स्थान-जयात्—स्थान अथवा लोकप्राप्ति की अपेक्षा; पुनः-भवात्—जन्म, मृत्यु और जरा की सम्भावना से; क्षण-आयुषाम्—ऐसे पुरुषों का जिनकी आयु केवल एक सौ वर्ष है; भारत-भू-जयः—भारतवर्ष में जन्म; वरम्—श्रेष्ठ है; क्षणेन—क्षणिक जीवन के लिए; मर्त्येन—शरीर के द्वारा; कृतम्—किया हुआ कार्य; मनस्विनः—जीवन के सार को ठीक से समझने वाले; सन्न्यस्य—श्रीकृष्ण के चरणकमलों में आत्म-समर्पण करते हुए; संयान्ति—प्राप्त करते हैं; अभयम्—चिन्तारहित; पदम्—धाम; हरेः—श्रीभगवान् का।

ब्रह्मलोक में करोड़ों-अरबों वर्ष की आयु प्राप्त करने की अपेक्षा भारतवर्ष में अल्पायु प्राप्त करना श्रेयस्कर है, क्योंकि ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेने के बाद भी बारम्बार जन्म तथा मरण के चक्र में पड़ना होता है। यद्यपि मर्त्यलोक के अन्तर्गत भारतवर्ष में जीवन अत्यन्त अल्प है, किन्तु यहाँ का वासी पूर्ण कृष्णभक्ति तक पहुँच सकता है और भगवान् के चरणकमलों में अर्पित होकर इस लघु जीवन में भी परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार उसे वैकुण्ठलोक प्राप्त होता है जहाँ न तो चिन्ता है, न भौतिक शरीर युक्त पुनर्जन्म।

तात्पर्य : भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु से इस कथन की पुष्टि होती है—

भारत-भूमिते हैल मनुष्य जन्म यार।

जन्म सार्थक करि' कर पर-उपकार॥

भारतवर्ष में जन्म ग्रहण करने वाले को श्रीकृष्ण द्वारा *भगवद्गीता* में दिये गये सीधे उपदेशों का अध्ययन करने का पूरा-पूरा अवसर प्राप्त होता है और इस तरह वह इस मानव जीवन में जो कुछ करना है, उसके सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय ले सकता है। मनुष्य को चाहिए कि वह निश्चित रूप से समस्त विकल्पों को त्याग कर श्रीकृष्ण को आत्मसमर्पण कर दे। श्रीकृष्ण तुरन्त ही उसके सारे विगत पापों के फल को दूर कर देंगे (*अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः*)। अतः साक्षात् श्रीकृष्ण के वचनों को मानकर उनकी भक्ति करनी चाहिए। *मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु*—सदैव मेरा ही स्मरण करो, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो और मुझे ही नमस्कार करो। यह तो एक बालक के लिए भी अत्यन्त सुगम है। तो फिर इस पथ को क्यों न ग्रहण किया जाये? मनुष्य को चाहिए कि श्रीकृष्ण के उपेदशों का यथातथ्य पालन करे और इस प्रकार भगवद्धाम को प्राप्त करने की क्षमता ले (*त्यक्त्या देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन*)। मनुष्य को चाहिए कि श्रीकृष्ण के पास जाकर सीधे उनकी सेवा में लग जाये। भारतवर्ष के वासियों के लिए यह सर्वोत्तम अवसर है। जो ईश्वर के धाम लौटने के योग्य होता है उसे अच्छे या बुरे कर्म-फल नहीं भोगने पड़ते।

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा
न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः ।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः
सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यत्र—जहां; वैकुण्ठ-कथा-सुधा-आपगाः—समस्त चिन्ताओं को दूर करने वाले श्रीवैकुण्ठ अर्थात् श्रीभगवान् की अमृतमयी धारा के समान कथा; न—न तो; साधवः—भक्तजन; भागवताः—श्रीभगवान् की सेवा में निरन्तर तत्पर; तत्-आश्रयाः—श्रीभगवान् की शरण में गये; न—नहीं; यत्र—जहाँ; यज्ञ-ईश-मखाः—यज्ञों के स्वामी के प्रति की गई भक्ति; महा-उत्सवाः—जो वास्तविक उत्सव हैं; सुरेश-लोकः—स्वर्गवासियों का स्थान; अपि—यद्यपि; न—नहीं; वै—निश्चय ही; सः—उस; सेव्यताम्—सेवनीय।

जहाँ श्रीभगवान् की कथा रूपी विशुद्ध गंगा प्रवाहित नहीं होती और जहाँ पवित्रता की ऐसी नदी के तट पर सेवा में तल्लीन भक्तजन नहीं रहते, अथवा श्रीभगवान् को प्रसन्न करने के लिए जहाँ संकीर्तन-यज्ञ के उत्सव नहीं मनाये जाते, ऐसे स्थान में बुद्धिमान पुरुष के लिए रुचि नहीं होती। क्योंकि (इस युग में विशेषकर संकीर्तन-यज्ञ की संस्तुति की गई है)।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु का जन्म भारतवर्ष में, विशेष रूप से बंगाल के नदिया जिले में, हुआ

जहां नवद्वीप स्थित है। अत: श्रील भक्तिविनोद ठाकुर के अनुसार यह निष्कर्ष निकलता है कि इस ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत सर्वश्रेष्ठ लोक यह पृथ्वी है और इसी पर भारतवर्ष स्थित है; भारतवर्ष में ही बंगाल है जो इससे उत्तम है, बंगाल में नदिया जिला उससे भी उत्तम है और नदिया में नवद्वीप सर्वोत्तम है, क्योंकि यहीं श्री चैतन्य महाप्रभु का आविर्भाव हरे कृष्ण महामंत्र कीर्तन का शुभारम्भ करने के लिए हुआ। शास्त्रों का मत है—

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं सांगोपांगास्त्रपार्षदं।

यज्ञै संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधस: ॥

श्री चैतन्य महाप्रभु के साथ सदैव ही उनके पार्षद, यथा श्रीनित्यानंद, श्रीगदाधर तथा श्रीअद्वैत एवं श्रीवास जैसे अनेक भक्त रहते हैं। वे सदैव भगवन्नाम का कीर्तन और श्रीकृष्ण का गुण-गान करते हैं। इसीलिए भारतवर्ष विश्वभर में सर्वश्रेष्ठ स्थान है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन ने श्री चैतन्य महाप्रभु के जन्मस्थान मायापुर में अपना केन्द्र स्थापित कर रखा है, जिससे लोग वहाँ जायें और सतत चल रहे संकीर्तन-यज्ञ के उत्सव में भाग ले सकें जैसाकि महासंस्तुत है—यज्ञेष मखा महोत्सवा: तथा उन लाखों भूखे मनुष्यों को प्रसाद का वितरण कर सकें जो आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए लालायित हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का यही उद्देश्य है। इसकी पुष्टि *चैतन्यभागवत* में इस प्रकार की गई है— ''भले ही स्वर्ग क्यों न हो, यदि वहाँ श्रीभगवान् के यश प्रसार करने का प्रचार नहीं हो पाता, यदि भगवान् के शुद्ध भक्त वैष्णवों का वहाँ चिह्न नहीं मिलता और कृष्णभावनामृत को प्रचारित करने वाले उत्सव वहाँ नहीं मनाये जाते, तो मनुष्य को ऐसे स्थान की कामना नहीं करनी चाहिए। इससे अच्छा तो यही है कि सदा-सर्वदा माता के गर्भ में वास रहे, जहाँ कम से कम भगवान् के चरणकमलों का स्मरण तो हो सकता है। मेरी यही प्रार्थना है कि मुझे ऐसे अधम स्थान में जन्म न लेना पड़े।'' इसी प्रकार *चैतन्यचरितामृत* में कृष्णदास कविराज का कथन है कि चूँकि श्री चैतन्य महाप्रभु ही संकीर्तन आन्दोलन के प्रवर्तक हैं, अत: जो भी भगवान् को प्रसन्न करने के लिए संकीर्तन करता है, वह अत्यन्त भाग्यशाली है। ऐसा मनुष्य परम बुद्धिमान है, जबकि अन्य लोग भौतिक जीवन की अविद्या से ग्रस्त हैं। वैदिक साहित्य में जितने भी यज्ञों का उल्लेख है उनमें संकीर्तन यज्ञ सर्वश्रेष्ठ है। एक सौ अश्वमेघ यज्ञों की भी तुलना संकीर्तन यज्ञ से नहीं की जा सकती, *चैतन्यचरितामृत* के लेखक के अनुसार यदि

कोई संकीर्तन यज्ञ की तुलना अन्य यज्ञों से करता है, तो वह पाखण्डी है और यमराज द्वारा दण्डित होगा। अनेक मायावादी संकीर्तन यज्ञ को अश्वमेध-यज्ञ तथा अन्य शुभ-आयोजनों के समान पवित्र कार्य मानते हैं, किन्तु ऐसा मानना नाम-अपराध है। मायावादी भले ही ऐसा सोचें, किन्तु नारायण के पवित्र नाम का संकीर्तन तथा अन्य नामों का संकीर्तन कभी भी एकसमान नहीं है।

प्राप्ता नृजातिं त्विह ये च जन्तवो
ज्ञानक्रियाद्रव्यकलापसम्भृताम् ।
न वै यतेरन्नपुनर्भवाय ते
भूयो वनौका इव यान्ति बन्धनम् ॥ २॥

शब्दार्थ

प्राप्ताः—जिन्होंने प्राप्त कर लिया है; नृ-जातिम्—मनुष्य समाज में जन्म; तु—निश्चय ही; इह—इस भारत देश में; ये—वे जो; च—भी; जन्तवः—जीव; ज्ञान—ज्ञान से; क्रिया—कर्म से; द्रव्य—पदार्थों के; कलाप—समूह से; सम्भृताम्—पूर्ण; न—नहीं; वै—निश्चित रूप से; यतेरन्—प्रयत्न; अपुनः-भवाय—अमर-पद के लिए; ते—ऐसे व्यक्ति; भूयः—पुनः; वनौकाः—पक्षियों; इव—जैसा; यान्ति—जाते हैं; बन्धनम्—बन्धन को।

भक्ति के लिए भारतवर्ष में उपयुक्त क्षेत्र तथा परिस्थितियाँ उपलब्ध हैं, जिस भक्ति से ज्ञान तथा कर्म के फलों से मुक्त हुआ जा सकता है। यदि कोई भारतवर्ष में मनुष्य देह धारण करके संकीर्तन-यज्ञ नहीं करता तो वह उन जंगली पशुओं तथा पक्षियों की भाँति है जो मुक्त किये जाने पर भी असावधान रहते हैं और शिकारी द्वारा पुनः बन्दी बना लिए जाते हैं।

तात्पर्य : भारतवर्ष ऐसा देश है, जिसमें *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* वाले संकीर्तन यज्ञ को अथवा *स्मरणं अर्चनं दास्यं सख्यं* तथा *आत्मनिवेदनं* जैसी अन्य भक्ति-विधियों को सरलतापूर्वक सम्पन्न किया जा सकता है। भारतवर्ष में ही अनेक पवित्र स्थानों को देखने का अवसर प्राप्त है जिनमें श्री चैतन्य महाप्रभु का जन्म-स्थान नवद्वीप तथा भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म-स्थान वृन्दावन मुख्य हैं, जहाँ के अनेक शुद्ध भक्तों की एकमात्र अभिलाषा भक्ति है (*अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्*)। इस प्रकार से प्राणी भौतिक बन्धनों से छूट जाता है। अन्य मार्ग, यथा ज्ञान मार्ग तथा कर्म-मार्ग उतने लाभप्रद नहीं हैं। पुण्यकार्यों से स्वर्ग प्राप्त हो सकता है और ज्ञान-मीमांसा से ब्रह्मभूत हुआ जा सकता है, किन्तु यह वास्तविक लाभ नहीं, क्योंकि मनुष्य को पुनः नीचे आना पड़ता है। मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् के धाम वापस पहुँचने के लिए प्रयास करे (*यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्*) अन्यथा मनुष्य जीवन तथा जंगली पशु-पक्षियों के जीवन में कोई अन्तर नहीं है। पशु तथा पक्षी भी स्वतंत्र होते

हैं, किन्तु निम्न योनि में जन्मने के कारण वे स्वतंत्रता का उपभोग नहीं कर पाते। अत: भारतवर्ष में जन्म लेने वाले प्रत्येक मनुष्य को जो भी सुविधाएँ प्राप्त हैं, उनका उपयोग करते हुए उसे प्रबुद्ध भक्त बनकर भगवान् के धाम वापस जाना चाहिए। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का यही विषय है। भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्य सभी देशों के वासियों को भौतिक सुख-सुविधाएँ तो प्राप्त हैं, किन्तु उन्हें कृष्णभक्ति प्राप्त करने की वैसी ही सुविधा प्राप्त नहीं है। अत: श्री चैतन्य महाप्रभु का उपदेश है कि जिस किसी ने भारत भूमि में मनुष्य रूप में जन्म लिया है उसे अपने आपको श्रीकृष्ण का अंश मानना चाहिए और कृष्णभावनामृत प्राप्त कर लेने के पश्चात् समग्र विश्व में इस ज्ञान का वितरण करना चाहिए।

यैः श्रद्धया बर्हिषि भागशो हवि-
निरुप्तमिष्टं विधिमन्त्रवस्तुतः ।
एकः पृथङ्नामभिराहुतो मुदा
गृह्णाति पूर्णः स्वयमाशिषां प्रभुः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यैः—जिनके द्वारा (भारतवासी); श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; बर्हिषि—वैदिक यज्ञों के करने में; भागशः—विभाजन द्वारा; हविः—आहुति; निरुप्तम्—डाली गई; इष्टम्—इच्छित श्रीविग्रह को; विधि—विधिपूर्वक; मन्त्र—मंत्रोच्चार द्वारा; वस्तुतः—समुचित वस्तुओं सहित; एकः—एक श्रीभगवान्; पृथक्—भिन्न; नामभिः—नामों से; आहुतः—पुकारा हुआ; मुदा—अत्यधिक सुखपूर्वक; गृह्णाति—स्वीकार करता है; पूर्णः—परमेश्वर, जो स्वयं में पूर्ण है; स्वयम्—अपने आप में साक्षात्; आशिषाम्—समस्त आशीर्वादों का; प्रभुः—दाता।

भारतवर्ष में परमेश्वर द्वारा नियुक्त विभिन्न अधिकारी स्वरूप देवताओं—यथा इन्द्र, चन्द्र तथा सूर्य—के अनेक उपासक हैं, जिन सभी की पृथक्-पृथक् विधियों से पूजा की जाती हैं। उपासक इन देवताओं को पूर्ण ब्रह्म का अंश मानते हुए अपनी आहुतियाँ अर्पण करते हैं, फलत: श्रीभगवान् इन भेंटों को स्वीकार करते हैं और क्रमश: इन उपासकों की कामनाओं तथा आकांक्षाओं को पूरा करके उन्हें शुद्ध भक्ति पद तक ऊपर उठा देते हैं। चूँकि श्रीभगवान् पूर्ण हैं, अत: वे उनको मनवांछित वर देते हैं, चाहे उपासक उनके दिव्य शरीर के किसी एक अंश की पूजा क्यों न करते हों।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.१३) में श्रीकृष्ण कहते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवी प्रकृतिमाश्रिता:।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

"हे पार्थ! मोहमुक्त महात्माजन तो मेरी दिव्य प्रकृति के आश्रित होकर और मुझे अविनाशी आदिपुरुष जानकर अनन्य चित्त से मेरी भक्ति के ही परायण रहते हैं।" *महात्मा* केवल भगवान् की उपासना करते हैं। किन्तु अन्य भी, जिन्हें कभी-कभी *महात्मा* कहा जाता है, भगवान् की उपासना *एकत्वेन पृथक्त्वेन* रूप में करते हैं। तात्पर्य यह है कि वे देवताओं को श्रीकृष्ण के विभिन्न अंश मानकर नाना प्रकार के वरों के लिए उपासना करते हैं। यद्यपि देवताओं के भक्तों को इस तरह कृष्णद्वारा प्रदत्त वांछित फल मिलते हैं, किन्तु *भगवद्गीता* में इन्हें *हृत-ज्ञान* अर्थात् अत्यधिक ज्ञानी नहीं कहा गया। श्रीकृष्ण नहीं चाहते कि उनकी देह के विभिन्न अंशों द्वारा उनकी अप्रत्यक्ष उपासना की जाये, वे तो प्रत्यक्ष भक्ति-उपासना के इच्छुक हैं। अत: ऐसा भक्त जो श्रीकृष्ण की उपासना *श्रीमद्भागवत* में बताई गई कठिन भक्ति साधना से (*तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्*) करते हैं उन्हें वे शीघ्र ही दिव्य-पद प्रदान करते हैं। फिर भी जो भक्त भगवान् के अंश रूप देवताओं की उपासना करते हैं, उन्हें मनवांछित फल प्राप्त होते हैं, क्योंकि सभी वरों के आदि-स्वामी भगवान् ही हैं। यदि कोई विशेष वर माँगता है, तो श्रीभगवान् के लिए ऐसा वर देना कोई कठिन काम नहीं होता।

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां
नैवार्थदो यत्पुनरर्थिता यतः ।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छता-
मिच्छापिधानं निजपादपल्लवम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

सत्यम्—सचमुच; दिशति—देता है; अर्थितम्—अभीष्ट पदार्थ; अर्थित:—माँगने पर; नृणाम्—मनुष्यों के द्वारा; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; अर्थ-द:—वर देनेवाला; यत्—जो; पुन:—फिर; अर्थिता—वर की कामनाएँ; यत:—जिससे; स्वयम्—साक्षात्; विधत्ते—प्रदान करता है; भजताम्—भगवान् की सेवा में निरत लोगों को; अनिच्छताम्—निष्काम भाव से; इच्छा-पिधानम्—समस्त वांछित वस्तुएँ; निज-पाद-पल्लवम्—अपने चरणकमलों पर।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् उस भक्त की भौतिक कामनाओं की पूर्ति करते हैं, जो सकाम भाव से उनके पास जाता है, किन्तु वे भक्त को ऐसा वर नहीं देते जिससे वह अधिकाधिक वर माँगता रहे। फिर भी, भगवान् प्रसन्नतापूर्वक ऐसे भक्त को अपने चरणकमलों में शरण देते हैं, भले ही वह इसकी आकांक्षा न करे और शरणागत होने पर उसकी समस्त इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं। यह श्रीभगवान् की विशेष अनुकम्पा है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में वर्णित भक्तजन श्रीभगवान् के पास सकाम भाव से पहुँचते हैं। इस

श्लोक में यह बताया गया है कि वे किस प्रकार उन कामनाओं से अलग रखे जा सकते हैं। *श्रीमद्भागवत* का (२.३.१०) उपदेश है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

"चाहे भौतिक कामनाओं से मुक्त हो या उनसे पूर्ण अथवा परमात्मा से तदाकार होना (मोक्षकामी) चाहता हो, मनुष्य को चाहिए कि भक्ति करे।" इससे न केवल भक्त की इच्छाएँ पूरी होंगी, वरन् एक दिन ऐसा आएगा जब वह भगवान् के चरणकमलों की सेवा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहेगा। जो किसी उद्देश्य से भगवान् की सेवा करता है, वह *सकाम भक्त* कहलाता है और जो बिना किसी उद्देश्य के सेवा करता है, वह *अकाम भक्त* कहलाता है। श्रीकृष्ण इतने दयालु हैं कि वे *सकाम भक्त* को *अकाम भक्त* बना देते हैं। शुद्ध भक्त अथवा अकाम भक्त जिस में किसी प्रकार की कामना नहीं होती। वह तो भगवान् के चरणकमलों की सेवा करके ही सन्तुष्ट रहता है। *भगवद्गीता* (६.२२) में इसकी पुष्टि की गई है—*यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः*—श्रीभगवान् के चरणकमलों की सेवा में लगे रहने पर किसी अन्य वस्तु की इच्छा नहीं रह जाती। यह भक्ति की सर्वोच्च अवस्था है। भगवान् सकाम-भक्त पर भी इतने दयालु रहते हैं और उसकी इच्छाओं को इस प्रकार पूर्ण करते हैं कि वह एक दिन अकाम भक्त बन जाता है। उदाहरणार्थ, ध्रुव महाराज अपने पिता से भी बढ़कर उत्तम राज्य प्राप्त करने के लिए भक्त बने। किन्तु अन्त में *अकाम भक्त* होकर उन्होंने भगवान् से कहा—*स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे*—"हे स्वामी, मैं परम सन्तुष्ट हूँ, मैं केवल आपके चरणकमलों की सेवा करना चाहता हूँ। मुझे किसी सांसारिक लाभ की इच्छा नहीं है।" कभी-कभी छोटा बालक गन्दी वस्तु को खाने लगता है, तो उसके माता-पिता उसके मुँह से उस वस्तु को निकाल कर उसे *संदेश* या कोई दूसरी मिठाई खाने को देते हैं। वह भक्त जो भौतिक वर की इच्छा करता है ऐसे ही बालक के तुल्य है। भगवान् इतने दयालु हैं कि वे उसकी समस्त भौतिक कामनाओं को हर कर उसे सर्वोच्च वर प्रदान करते हैं। अतः भौतिक कामनाओं के लिए भी श्रीभगवान् के अतिरिक्त किसी अन्य की पूजा नहीं करनी चाहिए। मनुष्य को भगवान् की ही भक्ति करनी चाहिए जिससे उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हों और अन्त में वह श्रीभगवान् के धाम वापस पहुँच सके। इसकी व्याख्या

चैतन्यचरितामृत (मध्य २२.३७-३९,४१) में इस प्रकार की गई है।

अन्यकामी—हो सकता है कि भक्त भगवान् के चरणकमलों के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की कामना करे; *यदि करे कृष्णेर भजन*—किन्तु यदि वह श्रीकृष्ण की सेवा में अपने को लगाता है, *ना मागितेह कृष्ण तारे देन स्व-चरण*—उसके न चाहने पर भी श्रीकृष्ण उसे अपने चरणकमलों में शरण देते हैं। *कृष्ण कहे*—श्रीकृष्ण कहते हैं; *आमा भजे*—वह मेरी सेवा में रत है। *मागे विषय-सुख*—तो भी इन्द्रिय सुख चाहता है; *अमृत छाड़ि' विष मागे*—ऐसा भक्त उस पुरुष के तुल्य है जो अमृत छोड़कर विष की याचना करता है; *एइ बड़ मूर्ख*—यही उसकी नादानी है, *आमी—विज्ञ* 'किन्तु मैं अनुभवी हूँ'; *इए मूर्खे 'विषय' केने दिब*—मैं ऐसे मूर्ख को भला क्योंकर भौतिक सुख जैसी गन्दी वस्तु देने लगा। स्व-चरणामृत मेरे लिए अच्छा होगा यदि मैं उसे अपने चरणकमलों में शरण दूं' *'विषय' भुलाइब*—मैं ऐसा करूँगा कि वह समस्त भौतिक कामनाओं को भूल जाये। *काम लागि, कृष्ण भजे*—यदि कोई इन्द्रियतृप्ति के लिए भगवान् की सेवा में रत होता है। *पाय कृष्ण-रसे*—उसे अन्त में भगवान् के चरणकमलों की सेवा का स्वाद मिल जाता है; *काम छाड़ि 'दास' हैते हय अभिलाषे*—वह समस्त कामनाएँ छोड़कर भगवान् का चिरन्तन सेवक बनना चाहता है।

यद्यत्र नः स्वर्गसुखावशेषितं
स्विष्टस्य सूक्तस्य कृतस्य शोभनम् ।
तेनाजनाभे स्मृतिमज्जन्म नः स्याद्
वर्षे हरिर्यद्भजतां शं तनोति ॥ २८॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; अत्र—इस स्वर्गलोक में; नः—हमारा; स्वर्ग-सुख-अवशेषितम्—स्वर्गिक सुख भोगने के बाद जो कुछ भी शेष रहता है; सु-इष्टस्य—पूर्ण यज्ञ का; सु-उक्तस्य—वैदिक साहित्य के पठन का; कृतस्य—सुकर्म का; शोभनम्—शेष कार्य; तेन—ऐसे कार्य से; अजनाभे—भारतवर्ष में; स्मृति-मत् जन्म—भगवान् के चरणों को स्मरण करने वाला जन्म; नः—हमारा; स्यात्—हो; वर्षे—देश में; हरिः—श्रीभगवान्; यत्—जिसमें; भजताम्—भक्तों का; शम् तनोति—कल्याण का प्रसार करता है।

यज्ञ, पुण्य कर्म, अनुष्ठान तथा वेदाध्ययन करते रहने के कारणस्वरूप हम स्वर्ग-लोक में वास कर रहे हैं, किन्तु एक दिन ऐसा आएगा जब हमारा भी अन्त हो जाएगा। हमारी प्रार्थना है कि उस समय तक यदि हमारे एक भी पुण्य शेष रहें तो हम मनुष्य रूप में भगवान् के चरणकमलों का स्मरण करने के लिए भारतवर्ष में जन्म लें। श्रीभगवान् इतने दयालु हैं कि वे

स्वयं भारतवर्ष में आते हैं और यहाँ के वासियों को सौभाग्य प्रदान करते हैं।

तात्पर्य : निस्सन्देह, पुण्यकर्मों के फलस्वरूप ही स्वर्गलोक में मनुष्य जन्म लेता है, किन्तु वहाँ से उसे पुन: मर्त्यलोक में आना पड़ता है, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*)। यहाँ तक कि देवताओं को भी पुण्य क्षीण होने पर पृथ्वी पर लौट कर सामान्य व्यक्तियों की तरह कार्य करना होता है। तो भी, देवतागण भारतवर्ष की भूमि में आने की कामना करते रहते हैं। यदि उनके पुण्य कर्मों के फल का थोड़ा सा भाग भी बचा हो। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष में जन्म लेने के लिए देवताओं से भी अधिक पुण्य करने पड़ते हैं। भारतवर्ष में स्वाभाविक रूप से मनुष्य कृष्णभावनाभावित रहता है और यदि श्रीकृष्ण की कृपा से वह आगे भी कृष्णभक्ति का अनुशीलन करता रहता है, तो वह कृष्णभक्ति में पारंगत बन कर और भगवान् के धाम को सरलता से वापस जाकर अपने सौभाग्य का विस्तार करता है। वैदिक साहित्य में अन्य कई स्थानों में उल्लेख मिलता है कि देवता भी भारतवर्ष की भूमि में आने के इच्छुक रहते हैं। केवल मूर्ख व्यक्ति ही अपने पुण्यकर्मों के बदले में स्वर्गलोक की कामना करेगा, अन्यथा देवता भी भारतवर्ष में आकर देह धारण करना चाहते हैं, जिससे इसका उपयोग कृष्णभावनामृत के अनुशीलन में किया जा सके। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु बारम्बार कहते हैं—

भारत भूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार।

जन्म सार्थक करि' कर पर-उपकार॥

भारत भूमि में जन्म लेने वाले मनुष्य को कृष्णभक्ति अनुशीलन करने का विशेष अधिकार प्राप्त है। अत: जो पहले ही भारतवर्ष में जन्म ले चुके हैं, उनका कर्तव्य है कि वे शास्त्रों तथा गुरुओं से शिक्षा ग्रहण करें तथा कृष्णभावनामृत से पूर्णतया परिचित होने के लिए श्री चैतन्य महाप्रभु की अनुकम्पा का लाभ उठाएँ। इस तरह कृष्णभावनामृत का पूरा-पूरा लाभ उठाकर श्रीभगवान् के धाम को वापस जाया जा सकता है (*यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्*)। इसलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन विश्व भर में अनेक केन्द्रों की स्थापना करके मानव समाज को यह सुविधा प्रदान कर रहा है, जिससे जन-साधारण कृष्णभावनामृत आन्दोलन के शुद्ध भक्तों का संग कर सकें, कृष्णभावनामृत के विज्ञान को समझें, एवं अन्त में श्रीधाम को वापस जाँए।

श्रीशुक उवाच

जम्बूद्वीपस्य च राजन्नुपद्वीपानष्टौ हैक उपदिशन्ति सगरात्मजैरश्वान्वेषण इमां महीं परितो निखनद्भिरुपकल्पितान् ॥ २९ ॥ तद्यथा स्वर्णप्रस्थश्चन्द्रशुक्ल आवर्तनो रमणको मन्दरहरिण: पाञ्चजन्य: सिंहलो लङ्केति. ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी बोले; जम्बूद्वीपस्य—जम्बूद्वीप का; च—भी; राजन्—हे राजा; उपद्वीपान् अष्टौ—आठ उपद्वीप; ह—निश्चय ही; एके—कुछेक; उपदिशन्ति—विद्वान बताते हैं; सगर-आत्म-जै:—महाराज सगर के पुत्रों द्वारा; अश्व-अन्वेषणे—खोये हुए घोड़े को ढूँढते समय; इमाम्—इस; महीम्—भूभाग को; परित:—चारों ओर; निखनद्भि:—खोदते हुए; उपकल्पितान्—सृष्टि की; तत्—उस; यथा—निम्नलिखित प्रकार से; स्वर्ण-प्रस्थ:—स्वर्ण-प्रस्थ; चन्द्र-शुक्ल:—चन्द्रशुक्ल; आवर्तन:—आवर्तन; रमणक:—रमणक; मन्दर-हरिण:—मन्दरहरिण; पाञ्चजन्य:—पांचजन्य; सिंहल:—सिंहल; लङ्का—लंका; इति—इस प्रकार।

श्रीशुकदेव गोस्वामी बोले—हे राजन्, कुछ ज्ञानी पुरुषों के मत के अनुसार जम्बूद्वीप के चारों ओर आठ छोटे-छोटे द्वीप हैं। जब महाराज सगर के पुत्र अपने खोये हुए घोड़े की खोज सारे संसार में कर रहे थे, तो उन्होंने पृथ्वी को खोद डाला। इस प्रकार से निकटस्थ आठ द्वीप अस्तित्व में आए। इन द्वीपों के नाम हैं—स्वर्णप्रस्थ, चन्द्रशुक्ल, आवर्तन, रमणक, मन्दरहरिण, पांचजन्य, सिंहल तथा लंका।

तात्पर्य : *कूर्म पुराण* में देवताओं की इच्छाओं के सम्बन्ध में निम्नलिखित कथन मिलता है—

अनधिकारिणो देवा: स्वर्गस्था भारतोद्भवम्।

वांछन्त्य् आत्मविमोक्षार्थमुद्रेकार्थेऽधिकारिण: ॥

यद्यपि देवता स्वर्गलोक में उच्च पदों पर आसीन हैं फिर भी वे मर्त्यलोक में भारतवर्ष की भूमि पर उतरने के लिए उत्सुक रहते हैं। इससे संकेत मिलता है कि देवता भी भारतवर्ष में रहने के लिए योग्य नहीं हैं। अत: यदि भारतवर्ष में जन्म लेने वाला प्राणी कुत्ते-बिल्ली की तरह रहे और इस भूमि में जन्म प्राप्त करने का लाभ न उठाए तो वह सचमुच ही अभागा है।

एवं तव भारतोत्तम जम्बूद्वीपवर्षविभागो यथोपदेशमुपवर्णित इति. ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; तव—तुमसे; भारत-उत्तम—भरत के वंशजों में श्रेष्ठ; जम्बूद्वीप-वर्ष-विभाग:—इस जम्बूद्वीप का प्रखण्ड; यथा-उपदेशम्—अधिकारियों से मुझे जितना ज्ञान प्राप्त है; उपवर्णित:—मैंने व्याख्या की; इति—इस प्रकार।

भरत महाराज के वंशजों में श्रेष्ठ, हे राजा परीक्षित्, मैंने जितना ज्ञान प्राप्त किया है, उसी के

अनुसार मैंने भारतवर्ष तथा उसके निकटवर्ती द्वीपों का वर्णन किया है। ये ही जम्बूद्वीप के उपद्वीप हैं।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''जम्बूद्वीप का वर्णन'' नामक उन्नीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बीस

ब्रह्माण्ड रचना का विश्लेषण

इस अध्याय में प्लक्षद्वीप से प्रारम्भ करके विभिन्न द्वीपों तथा उनको घेरने वाले समुद्रों का वर्णन है। इसके अन्तर्गत लोकालोक नामक पर्वत की स्थिति और उसके आकार-प्रकार का भी वर्णन है। प्लक्षद्वीप विस्तार में जम्बूद्वीप से दुगुना है तथा लवण सागर से घिरा है। इस द्वीप का स्वामी इध्मजिह्व है जो महाराज प्रियव्रत के पुत्रों में से है। यह द्वीप सात विभागों में बँटा है और प्रत्येक में एक पर्वत तथा एक बड़ी नदी है।

दूसरा द्वीप शाल्मलिद्वीप कहलाता है। यह सुरा के समुद्र से घिरा है और ३,२००,००० मील चौड़ा अर्थात् प्लक्षद्वीप से दुगुना है। इस द्वीप का स्वामी महाराज प्रियव्रत के पुत्रों में से एक यज्ञबाहु है। प्लक्षद्वीप के ही समान यह भी सात भागों में बँटा है, जिनमें से प्रत्येक में एक पर्वत और एक बड़ी नदी है। इस द्वीप के वासी श्रीभगवान् की पूजा चन्द्रात्मा के रूप में करते हैं।

तीसरा द्वीप घृत के सागर से घिरा है और वह भी सात भागों में विभाजित है। यह कुशद्वीप कहलाता है। इसका स्वामी महाराज प्रियव्रत का अन्य पुत्र हिरण्यरेता है। इसके वासी अग्नि रूप में श्रीभगवान् की पूजा करते हैं। इस द्वीप की चौड़ाई ६,४००,००० मील अर्थात् शाल्मलिद्वीप से दुगुनी है।

चौथा द्वीप क्रौंचद्वीप है, जो दुग्ध सागर से घिरा है। इसकी चौड़ाई १,२८,००,००० मील है और यह भी अन्यों की तरह सात भागों में विभाजित है। इसके प्रत्येक भाग में एक पर्वत तथा एक बड़ी नदी है। इस द्वीप का स्वामी महाराज प्रियव्रत का ही एक पुत्र घृतपृष्ठ है। इस द्वीप के वासी जल के रूप में श्रीभगवान् की पूजा करते हैं।

पाँचवाँ द्वीप शाकद्वीप है जो २,६,००,००० मील चौड़ा और मट्ठे के समुद्र से घिरा है। इसका स्वामी मेधातिथि नामक महाराज प्रियव्रत का पुत्र है। यह द्वीप भी सात भागों में विभाजित है, जिसके प्रत्येक भाग में एक पर्वत तथा एक बड़ी नदी है। इसके वासी वायु रूप में श्रीभगवान् की पूजा करते हैं।

छठा द्वीप पुष्करद्वीप है जो पिछले वाले द्वीप से दुगुना चौड़ा है और निर्मल जल के समुद्र से घिरा हुआ है। इसका स्वामी वीतिहोत्र है जो महाराज प्रियव्रत का ही पुत्र है। यह द्वीप मानसोत्तर पर्वत द्वारा दो भागों में विभाजित है। इसके वासी श्रीभगवान् के ही अन्य रूप स्वयंभू ही पूजा करते हैं। इस द्वीप से भी आगे दो और द्वीप हैं जिनमें से एक सदैव सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित रहता है और दूसरा सदैव अंधकार से पूर्ण रहता है। इन दोनों द्वीपों के मध्य लोकालोक नामक पर्वत है जो ब्रह्माण्ड के सिरे से एक अरब मील दूर है। इस पर्वत पर भगवान् नारायण अपने ऐश्वर्य का विस्तार करते हुए निवास करते हैं। लोकालोक पर्वत से आगे का भाग अलोक वर्ष कहलाता है और इसके भी आगे मुक्ति से इच्छुक पुरुषों का निवासस्थान है।

सूर्य इस ब्रह्माण्ड के मध्य में, भूर्लोक तथा भुवलोक के बीचोंबीच अन्तरिक्ष में स्थित है। सूर्य तथा अण्डगोलक अर्थात् ब्रह्माण्ड गोलक के बीच की दूरी पच्चीस कोटि योजन (दो अरब मील) है। सूर्य को मार्तण्ड कहा जाता है, क्योंकि यह ब्रह्माण्ड में प्रवेश करके आकाश को विभाजित करता है और हिरण्यगर्भ, जो महत् तत्त्व का शरीर है, से उत्पन्न होने के कारण यह हिरण्यगर्भ भी कहलाता है।

श्रीशुक उवाच

अत: परं प्लक्षादीनां प्रमाणलक्षणसंस्थानतो वर्षविभाग उपवर्ण्यते. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी बोले; अत: परम्—इसके पश्चात्; प्लक्ष-आदीनाम्—प्लक्षद्वीप तथा अन्य द्वीप; प्रमाण-लक्षण-संस्थानत:—आकार-प्रकार, लक्षण तथा स्थिति की दृष्टि से; वर्ष-विभाग:—द्वीप का विभाजन; उपवर्ण्यते—वर्णन किया जा रहा है।.

महर्षि शुकदेव गोस्वामी बोले—इसके पश्चात् मैं प्लक्षादि अन्य छ: द्वीपों के आकार प्रकार, लक्षण तथा स्थिति का वर्णन करूँगा।

जम्बूद्वीपोऽयं यावत्प्रमाणविस्तारस्तावता क्षारोदधिना परिवेष्टितो यथा मेरुर्जम्ब्वाख्येन लवणोदधिरपि ततो द्विगुणविशालेन प्लक्षाख्येन परिक्षिप्तो यथा परिखा बाह्योपवनेन; प्लक्षो जम्बूप्रमाणो द्वीपाख्याकरो हिरण्मय उत्थितो यत्राग्निरुपास्ते सप्तजिह्वस्तस्याधिपतिः प्रियव्रतात्मज इध्मजिह्वः स्वं द्वीपं सप्तवर्षाणि विभज्य सप्तवर्षनामभ्य आत्मजेभ्य आकलय्य स्वयमात्मयोगेनोपरराम. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

जम्बू-द्वीपः—जम्बू नामक द्वीप, जम्बूद्वीप; अयम्—यह; यावत्-प्रमाण-विस्तारः—इसके विस्तार के तुल्य परिमाप अर्थात् १,००,००० योजन (एक योजन आठ मील के तुल्य है); तावता—इतना; क्षार-उदधिना—खारे सागर द्वारा; परिवेष्टितः—घिरा हुआ; यथा—जिस प्रकार; मेरुः—सुमेरु पर्वत; जम्बू-आख्येन—जम्बू नामक द्वीप से; लवण-उदधिः—लवण-सागर; अपि—निश्चय ही; ततः—तत्पश्चात्; द्वि-गुण-विशालेन—दुगुना विस्तृत; प्लक्ष-आख्येन—प्लक्ष नामक द्वीप से; परिक्षिप्तः—घिरा हुआ; यथा—सदृश; परिखा—खाई; बाह्य—बाहरी; उपवनेन—उद्यानवत् वन के द्वारा; प्लक्षः—प्लक्ष (पाकड़) वृक्ष; जम्बू-प्रमाणः—जम्बू वृक्ष जितना ऊँचा; द्वीप-आख्या-करः—द्वीप का नाम पड़ा; हिरण्मयः—अत्यन्त तेजमय; उत्थितः—ऊपर उठा हुआ; यत्र—जहाँ; अग्निः—अग्नि; उपास्ते—स्थित है; सप्त-जिह्वः—सात ज्वालाओं वाली; तस्य—उस द्वीप का; अधिपतिः—राजा अथवा स्वामी; प्रियव्रत-आत्मजः—राजा प्रियव्रत का पुत्र; इध्म-जिह्वः—इध्मजिह्व नामक; स्वम्—निजी; द्वीपम्—द्वीप; सप्त—सात; वर्षाणि—भूभागों में; विभज्य—विभाजित होकर; सप्त-वर्ष-नामभ्यः—जिन पर सातों भूभागों के नाम रखे गये; आत्मजेभ्यः—अपने पुत्रों को; आकलय्य—भेंट, अर्पण; स्वयम्—स्वतः; आत्म-योगेन—भगवान् की भक्ति द्वारा; उपरराम—समस्त भौतिक कार्यों से अवकाश ग्रहण कर लिया।.

जिस प्रकार सुमेरु पर्वत चारों ओर से जम्बूद्वीप द्वारा घिरा हुआ है, उसी प्रकार जम्बूद्वीप भी लवण के सागर से घिरा है। जम्बूद्वीप की चौड़ाई १,००,००० योजन (८,००,००० मील) है और लवण का सागर भी इतना ही चौड़ा है। जिस तरह कभी-कभी दुर्ग की खाई उपवन से घिरी रहती है उसी प्रकार जम्बूद्वीप को घेरने वाला लवण-सागर भी प्लक्षद्वीप से घिरा हुआ है। प्लक्षद्वीप की चौड़ाई लवण के सागर से दुगुनी अर्थात् २,००,००० योजन (१६,००,००० मील) है। प्लक्षद्वीप में स्वर्ण के समान चमकीला एक वृक्ष है जो जम्बूद्वीप स्थित जम्बूवृक्ष के बराबर ऊँचा है। इसके मूल भाग में सात ज्वालाओं वाली अग्नि है। यह वृक्ष प्लक्ष का है, अतः इस द्वीप का नाम प्लक्षद्वीप पड़ा। यह द्वीप महाराज प्रियव्रत के एक पुत्र इध्मजिह्व द्वारा शासित था। उन्होंने सातों द्वीपों के नाम अपने सात पुत्रों के नामों पर रखे और उन्हें अपने पुत्रों को देकर, सक्रिय जीवन से अवकाश प्राप्त कर वे स्वयं श्रीभगवान् की सेवा में लीन रहने लगे।

शिवं यवसं सुभद्रं शान्तं क्षेमममृतमभयमिति वर्षाणि तेषु गिरयो नद्यश्च सप्तैवाभिज्ञाताः; मणिकूटो वज्रकूट इन्द्रसेनो ज्योतिष्मान्सुपर्णो हिरण्यष्ठीवो मेघमाल इति सेतुशैलाः अरुणा नृम्णाङ्गिरसी सावित्री सुप्तभाता ऋतम्भरा सत्यम्भरा इति महानद्यः; यासां जलोपस्पर्शनविधूतरजस्तमसो हंसपतङ्गोर्ध्वायनसत्याङ्गसंज्ञाश्चत्वारो वर्णाः सहस्रायुषो विबुधोपमसन्दर्शनप्रजननाः स्वर्गद्वारं त्रय्या विद्यया भगवन्तं त्रयीमयं सूर्यमात्मानं यजन्ते. ॥ ३-४ ॥

शब्दार्थ

शिवम्—शिव; यवसम्—यवस; सुभद्रम्—सुभद्र; शान्तम्—शान्त; क्षेमम्—क्षेम; अमृतम्—अमृत; अभयम्—अभय; इति—इस प्रकार; वर्षाणि—सातों पुत्रों के नामों के अनुसार सात वर्ष; तेषु—उनमें; गिरयः—पर्वत; नद्यः च—और नदियाँ; सप्त—सात; एव—निस्संदेह; अभिज्ञाताः—जाने जाते हैं; मणि-कूटः—मणिकूट; वज्र-कूटः—वज्रकूट; इन्द्र-सेनः—इन्द्रसेन; ज्योतिष्मान्—ज्योतिष्मान्; सुपर्णः—सुपर्ण; हिरण्य-ष्ठीवः—हिरण्यष्ठीव; मेघ-मालः—मेघ-माल; इति—इस प्रकार; सेतु-शैलाः—वर्षों की सीमा बनाने वाली पर्वत श्रेणियाँ; अरुणा—अरुणा; नृम्णा—नृम्णा; आङ्गिरसी—आंगिरसी; सावित्री—सावित्री; सुप्त-भाता—सुप्तभाता; ऋतम्भरा—ऋतम्भरा; सत्यम्भरा—सत्यंभरा; इति—इस प्रकार; महा-नद्यः—बड़ी बड़ी नदियाँ; यासाम्—जिनकी; जल-उपस्पर्शन—जल स्पर्श मात्र से; विधूत—धुल जाते हैं; रजः-तमसः—जिनके रजो तथा तमो गुण; हंस—हंस; पतङ्ग—पतंग; ऊर्ध्वायन—ऊर्ध्वायन; सत्याङ्ग—सत्यांग; संज्ञाः—नाम वाले; चत्वारः—चारों; वर्णाः—जातियाँ; सहस्र-आयुषः—एक हजार वर्षों तक जीवित रहकर; विबुध-उपम—देवताओं के समान; सन्दर्शन—अत्यन्त सुन्दर रूप होने में; प्रजननाः—तथा संतति उत्पन्न करने में; स्वर्ग-द्वारम्—स्वर्गलोक जाने का द्वार; त्रय्या विद्यया—वैदिक नियमों के अनुसार अनुष्ठान करके; भगवन्तम्—श्रीभगवान्; त्रयी-मयम्—वेदों में स्थापित; सूर्यम् आत्मानम्—सूर्यदेव रूपी परमात्मा को; यजन्ते—पूजा करते हैं।

इन सात वर्षों के नाम उन सातों पुत्रों के अनुसार क्रमशः शिव, यवस, सुभद्र, शान्त, क्षेम, अमृत तथा अभय पड़े। इन सात वर्षों में सात पर्वत तथा सात नदियाँ हैं। पर्वतों के नाम हैं—मणिकूट, वज्रकूट, इन्द्रसेन, ज्योतिष्मान्, सुपर्ण, हिरण्यष्ठीव तथा मेघमाल और नदियों के नाम हैं—अरुणा, नृम्णा, आंगिरसी, सावित्री, सुप्रभाता, ऋतम्भरा तथा सत्यम्भरा। इन नदियों के स्पर्श करने या स्नान करने से भौतिक मल तुरन्त दूर हो जाते और प्लक्षद्वीप में रहने वाली हंस, पतंग, ऊर्ध्वायन तथा सत्यांग नामक चार जातियाँ अपने को इसी प्रकार पवित्र करती हैं। इस द्वीप के वासी एक हजार वर्ष तक जीवित रहते हैं। वे देवताओं के समान सुन्दर हैं और उनकी सन्तानें भी उन्हीं के अनुरूप हैं। वे वेदों में वर्णित अनुष्ठानों को पूरा करके तथा श्रीभगवान् के प्रतिनिधि स्वरूप सूर्यदेव की उपासना करके सूर्यलोक को प्राप्त होते हैं, जो स्वर्गलोक ही है।

तात्पर्य : सामान्य अनुभव के अनुसार मूलतः तीन देवता हैं—ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव, किन्तु अल्पज्ञानी भगवान् विष्णु को ब्रह्मा या शिव से श्रेष्ठतर नहीं मानते पर यह निष्कर्ष अप्रामाणिक है। वेदों में कहा गया है कि *इष्टापूर्तं बहुधा जायमानं विश्वं बिभर्ति भुवनस्य नाभिः तदेवाग्निस्तद् वायुस्तत् सूर्यस्तद् उ चन्द्रमाः अग्निः सर्वदैवतः।* इसका अर्थ यह हुआ कि जो परमात्मा वैदिक अनुष्ठानों (इष्टपूर्त) को स्वीकारता और उनकी फलों को भोगता है, सम्पूर्ण सृष्टि का पालन करता है, समस्त जीवात्माओं की आवश्यकताएँ पूरी करता है (*एको बहूनां यो विदधाति कामान्*) और समस्त सृष्टि का केन्द्रबिन्दु है, वह भगवान् विष्णु हैं। भगवान् विष्णु अग्नि, वायु, सूर्य और चन्द्र के रूप में विस्तारित होते हैं, जो उनके अंश रूप हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने *श्रीमद्भगवद्गीता* (९.२३) में कहा है—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

''जो सकाम भक्त श्रद्धासहित अन्य देवताओं की उपासना करते हैं, वे भी मेरी ही उपासना करते हैं, परन्तु उनकी आराधना विधिपूर्वक नहीं होती।'' कहने का तात्पर्य यह कि जो देवताओं एवं श्रीभगवान् के सम्बन्ध को समझे बिना देवताओं की उपासना करता है उसकी आराधना विधिपूर्वक नहीं होती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी *भगवद्गीता* (९.२४) में कहा है—*अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च*—''एकमात्र मैं ही सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता हूँ।''

यह तर्क दिया जा सकता है कि देवता भी विष्णु के समान महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि उनके नाम विष्णु के ही भिन्न-भिन्न नाम हैं। किन्तु यह निष्कर्ष सही नहीं है, क्योंकि वैदिक ग्रन्थों में इसका प्रतिवाद करते हुए कहा गया है—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत। श्रोत्रादयश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत। नारायणाद् ब्रह्मा, नारायणाद्रुद्रो जायते, नारायणात् प्रजापतिः जायते, नारायणादिन्द्रो जायते, नारायणादष्टौ वसवो जायन्ते, नारायणादेकादश रुद्रा जायन्ते।

''चन्द्रमा देवता नारायण के मन से और सूर्य देवता उनके नेत्रों से उत्पन्न हुए। श्रवण तथा प्राणवायु के नियामक देवता नारायण से उत्पन्न हुए और अग्नि देवता उनके मुख से निकले। प्रजापति भगवान् ब्रह्मा, इन्द्र, आठों वसु, भगवान् शिव के ग्यारहों विस्तार (रुद्र) तथा बारहों आदित्य भी नारायण से उत्पन्न हुए।'' *स्मृति* में भी कहा गया है—

ब्रह्मा शम्भुस्तथैवार्कश्चन्द्रमाश्च शतक्रतुः।

एवमाद्यास्तथैवान्ये युक्ता वैष्णवतेजसा॥

जगत्कार्यावसाने तु वियुज्यन्ते च तेजसा।

वितेजश्च ते सर्वे पंचत्वमुपयान्ति ते॥

''ब्रह्मा, शम्भु, सूर्य तथा इन्द्र सभी श्रीभगवान् की शक्ति के फल हैं। जिन अन्य देवताओं के नाम नहीं लिये गये, वे भी ऐसे हैं। इस जगत के विनाश होने पर नारायण की शक्ति के ये विभिन्न अंश नारायण में ही विलीन हो जाएँगे, अर्थात् ये सभी देवता मर जाएँगे। उनकी प्राणशक्ति वापस ले ली जाएगी और वे नारायण में विलीन हो जाएंगे।''

अतः यह निष्कर्ष निकला कि भगवान् विष्णु ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, ब्रह्मा या शिव नहीं। जिस प्रकार कभी-कभी एक राजकीय कर्मचारी को ही सरकार मान लिया जाता है, यद्यपि वह किसी एक विभाग के संचालक रूप में ही कार्य करता है, उसी प्रकार सारे देवता भगवान् विष्णु से न्यायवादी शक्ति प्राप्त करके उनके लिए कार्य करते हैं, किन्तु वे उनके समान शक्तिमान नहीं होते। सभी देवताओं को विष्णु के आदेशों का पालन करना होता है। इसीलिए कहा गया है कि *एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य*—श्रीकृष्ण अथवा विष्णु ही एकमात्र स्वामी हैं, शेष सभी उनकी आज्ञा का पालन करने वाले आज्ञाकारी सेवक हैं। भगवान् विष्णु तथा अन्य भक्तों के इस अन्तर का उल्लेख *भगवद्गीता* (९.२) में भी हुआ है—*यान्ति देवव्रता देवान् ...यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्*—"देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजने वाले पितरों को प्राप्त होते है, भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं और कृष्ण और विष्णु के भक्त वैकुण्ठ लोक को ही प्राप्त होते हैं।" ये स्मृति-वचन हैं। अतः यह मत कि विष्णु तथा अन्य देवताओं को एकसमान मानना शास्त्रों के विरुद्ध है। देवता सर्वोच्च नहीं हैं। उनकी श्रेष्ठता भगवान् नारायण (श्रीविष्णु या श्रीकृष्ण) की कृपा पर निर्भर है।

प्रत्नस्य विष्णो रूपं यत्सत्यस्यर्तस्य ब्रह्मणः ।
अमृतस्य च मृत्योश्च सूर्यमात्मानमीमहीति ॥ ॥

शब्दार्थ

प्रत्नस्य—प्राचीनतम पुरुष का; विष्णोः—भगवान् विष्णु का; रूपम्—रूप; यत्—जो; सत्यस्य—परम सत्य का; ऋतस्य—धर्म का; ब्रह्मणः—परब्रह्म का; अमृतस्य—शुभ फल का; च—तथा; मृत्योः—मृत्यु (अशुभ फल) का; च—तथा; सूर्यम्—सूर्य देवता; आत्मानम्—सभी आत्माओं के मूल परमात्मा की; ईमहि—शरण की याचना करते हैं; इति—इस प्रकार।

[इस मंत्र के द्वारा प्लक्षद्वीप के वासी परब्रह्म की उपासना करते हैं।] हम सूर्य देवता की शरण ग्रहण करें जो परम प्रकाशित, पुराणपुरुष श्रीभगवान् के प्रतिबिम्ब हैं। विष्णु ही एकमात्र आराध्य हैं। वही वेद हैं, वही धर्म हैं और वही शुभाशुभ फलों के स्रोत हैं।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु मृत्यु के भी परमेश्वर हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है (*मृत्युः सर्वहरश्चाहम्*)। शुभ तथा अशुभ इन दोनों प्रकार के कार्यों के नियन्ता भगवान् विष्णु हैं। ऐसा माना जाता है कि शुभ कार्य विष्णु के सम्मुख होते हैं और अशुभ कार्य उनकी पीठ के पीछे। शुभ तथा अशुभ कार्य सारे विश्व में एकसाथ पाये जाते हैं और भगवान् विष्णु इन दोनों के नियन्ता हैं। इस श्लोक के सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य का कथन है—

सूर्यसोमाग्निवारीशविधातृषु यथाक्रमम्।

प्लक्षादिद्वीपसंस्थासु स्थितं हरिमुपासते॥

सम्पूर्ण सृष्टि में अनेक भूभाग, खेत, पहाड़ तथा सागर पाये जाते हैं और सर्वत्र ही श्रीभगवान् विभिन्न नामों से पूजे जाते हैं।

श्रील वीरराघव आचार्य ने *श्रीमद्‌भागवत* के इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है—विराट जगत के मूल कारण अवश्य ही पुरातन पुरुष हैं और वे भौतिक रूपान्तर से परे होने चाहिए। वे ही समस्त शुभ कार्यों के भोक्ता हैं और इस बद्ध जीवन तथा मुक्ति के कारण भी वे ही हैं। सूर्यदेव की गणना परम शक्तिशाली जीव अथवा जीवात्मा के रूप में की गई है जो उनके शरीर के एक अंग का प्रतिनिधित्व करते हैं। हम स्वभावत: शक्तिशाली जीवों के वश में हैं, अत: हम विभिन्न देवताओं की उपासना ऐसे जीवों के रूप में कर सकते हैं, जो श्रीभगवान् के शक्तिशाली प्रतिनिधि हैं। यद्यपि इस मंत्र में सूर्यदेवता की उपासना के लिए कहा गया है, किन्तु उनकी उपासना श्रीभगवान् के रूप में नहीं वरन् उनके शक्तिशाली प्रतिनिधि रूप में की जाती है।

कठ उपनिषद् (१.३.१) में कहा गया है—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके

गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।

छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति

पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेता:॥

"हे नाचिकेता! सूक्ष्म जीवात्मा तथा परमात्मा के रूप में विष्णु के ये दोनों अंश इस शरीर की हृदय-गुहा में स्थित हैं। इस गुहा में प्रवेश करके जीवात्मा प्राणवायु पर आधारित रह कर कर्मों के फल का भोग करता है और परमात्मा साक्षी बनकर उसे भोग करने देता है। ब्रह्म-ज्ञानियों तथा वैदिक नियमों का पालन करने वाले गृहस्थों का कहना है कि इन दोनों में वैसा ही अन्तर है जैसाकि सूर्य तथा उसकी छाया में।"

श्वेताश्वतर उपनिषद् (६.१६) में कहा गया है—

स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनि:

ज्ञः कालाकारो गुणी सर्वविद् यः ।

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः

संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥

"इस जगत का सृष्टिकर्ता परमात्मा अपनी सृष्टि का कोना-कोना पहचानता है। यद्यपि वह इसका कारण है, किन्तु उसके प्रकट होने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह सर्वज्ञाता है। वह परमात्मा, समस्त दिव्य गुणों का स्वामी तथा इस जगत के बन्धन और मोक्ष का भी स्वामी है।"

इसी प्रकार *तैत्तिरीय उपनिषद्* (२.८) में कहा गया है—

भीषास्माद्वातः पवते

भीषोदेति सूर्यः ।

भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च

मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥

"परब्रह्म के भय से वायु बहती है, सूर्य उदय-अस्त होता है और अग्नि प्रज्ज्वलित होती है। उसी के भय से मृत्यु तथा स्वर्ग के राजा इन्द्र अपना-अपना कार्य करते हैं।"

जैसाकि इस अध्याय में वर्णित है, प्लक्षद्वीप इत्यादि पाँच द्वीपों के वासी क्रमशः सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु तथा ब्रह्मा की उपासना इत्यादि करते हैं। यद्यपि वे इन पाँचों देवताओं की उपासना करते हैं, किन्तु वास्तव में वे समस्त जीवों के परमात्मा श्रीभगवान् विष्णु को ही उपासते हैं, जैसाकि इस श्लोक के इन शब्दों से प्रकट है—*प्रत्नस्य विष्णो रूपम्।* विष्णु ब्रह्म हैं, अमृत हैं, मृत्यु हैं—वे परब्रह्म हैं और शुभ तथा अशुभ सभी वस्तुओं के मूल हैं। वे सबों के हृदय में स्थित हैं, जिनमें देवता भी सम्मिलित हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.२०) में कहा गया है—*कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः*—कामनाओं ने जिनके ज्ञान को हर लिया है, वे ही अन्य देवताओं की शरण ग्रहण करते हैं। जो महत्त्वाकांक्षाओं के कारण अंधे होते हैं, उन्हें अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए देवताओं की उपासना की सलाह दी जाती है, किन्तु देवता उनकी मनोकामनाओं को वास्तव में पूरा नहीं कर पाते। सभी देवता उतना की कर पाते हैं जितने की भगवान् विष्णु उन्हें आज्ञा देते हैं। जो अत्यधिक लालची होते हैं, वे विष्णु को न पूजकर अनेक देवताओं की पूजा करते हैं, किन्तु वास्तव में वे भगवान् विष्णु की ही उपासना करते हैं,

क्योंकि वे ही समस्त देवताओं के परमात्मा हैं।

प्लक्षादिषु पञ्चसु पुरुषाणामायुरिन्द्रियमोजः सहो बलं बुद्धिर्विक्रम इति च सर्वेषामौत्पत्तिकी सिद्धिरविशेषेण वर्तते. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

प्लक्ष-आदिषु—प्लक्ष आदि द्वीपों में; पञ्चसु—पाँच; पुरुषाणाम्—निवासियों का; आयुः—दीर्घ जीवनकाल; इन्द्रियम्—इन्द्रियों की पुष्टता; ओजः—शारीरिक बल; सहः—मनोबल; बलम्—शारीरिक शक्ति; बुद्धिः—बुद्धि; विक्रमः—शौर्य; इति—इस प्रकार; च—भी; सर्वेषाम्—सबों का; औत्पत्तिकी—अंतःभूत; सिद्धिः—सिद्धि; अविशेषेण—बिना किसी भेदभाव के; वर्तते—विद्यमान है।

हे राजन्, प्लक्ष आदि पाँच द्वीपों में सभी वासियों में जन्म से ही आयु, मनोबल, इन्द्रिय बल, शारीरिक बल, बुद्धि और शौर्य (पराक्रम) समान रूप में प्रकट रहते हैं।

प्लक्षः स्वसमानेनेक्षुरसोदेनावृतो यथा तथा द्वीपोऽपि शाल्मलो द्विगुणविशालः समानेन सुरोदेनावृतः परिवृङ्क्ते. ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

प्लक्षः—प्लक्षद्वीप; स्व-समानेन—विस्तार में समान; इक्षु-रस—गन्ने के रस के; उदेन—समुद्र से; आवृतः—घिरा हुआ; यथा—जिस प्रकार; तथा—उसी प्रकार; द्वीपः—अन्य द्वीप; अपि—भी; शाल्मलः—शाल्मल नामक; द्वि-गुण-विशालः—दुगुने विस्तार का; समानेन—विस्तार में समान; सुरा-उदेन—मदिरा के सागर से; आवृतः—घिरा हुआ; परिवृङ्क्ते—विद्यमान है।

प्लक्षद्वीप अपने ही समान चौड़ाई वाले इक्षुरस के समुद्र से घिरा हुआ है। इसी प्रकार उसके आगे उससे दुगुने परिमाण वाला शाल्मलीद्वीप है (४,००,००० योजन अथवा ३२,००,००० मील चौड़ा) जो उतने ही चौड़ाईवाले जल समूह अर्थात् सुरासागर से घिरा हुआ है।

यत्र ह वै शाल्मली प्लक्षायामा यस्यां वाव किल निलयमाहुर्भगवतश्छन्दःस्तुतः पतत्रिराजस्य सा द्वीपहूतये उपलक्ष्यते. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; ह वै—निश्चय ही; शाल्मली—शाल्मली वृक्ष; प्लक्ष-आयामा—प्लक्ष वृक्ष जितना बड़ा (१०० योजन चौड़ा तथा ११०० योजन ऊँचा); यस्याम्—जिसमें; वाव किल—निस्सन्देह; निलयम्—निवासस्थान; आहुः—ऐसा कहते हैं; भगवतः—सर्वशक्तिमान का; छन्दः-स्तुतः—जो वैदिक स्तुतियों द्वारा ईश्वर की उपासना करता है; पतत्रि-राजस्य—भगवान् विष्णु का वाहन पक्षिराज गरुड; सा—वह वृक्ष; द्वीप-हूतये—द्वीप के नाम हेतु; उपलक्ष्यते—प्रसिद्ध है।

शाल्मलीद्वीप में शाल्मली का एक वृक्ष है, जिससे इस द्वीप का यह नाम पड़ा। यह प्लक्ष वृक्ष के बराबर चौड़ा और ऊँचा है, अर्थात् १०० योजन ८०० मील चौड़ा तथा ११०० योजन ८८०० मील ऊँचा है। विद्वानों का कथन है कि यह विशाल वृक्ष पक्षियों के राजा तथा विष्णु के

वाहन गरुड़ का निवासस्थान है। यहाँ गरुड़ भगवान् विष्णु की वैदिक स्तुति करता है।

तद्द्वीपाधिपतिः प्रियव्रतात्मजो यज्ञबाहुः स्वसुतेभ्यः सप्तभ्यस्तन्नामानि सप्तवर्षाणि व्यभजत्सुरोचनं सौमनस्यं रमणकं देववर्षं पारिभद्रमाप्यायनमविज्ञातमिति. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तत्-द्वीप-अधिपतिः—उस द्वीप का स्वामी; प्रियव्रत-आत्मजः—महाराज प्रियव्रत का पुत्र; यज्ञ-बाहुः—यज्ञबाहु है; स्व-सुतेभ्यः—अपने पुत्रों के; सप्तभ्यः—सातों; तत्-नामानि—जिनके नाम उनके नामों के अनुसार; सप्त-वर्षाणि—सातों वर्षों (भूखण्डों) को; व्यभजत्—विभाजित; सुरोचनम्—सुरोचन; सौमनस्यम्—सौमनस्य; रमणकम्—रमणक; देव-वर्षम्—देववर्ष; पारिभद्रम्—पारिभद्र; आप्यायनम्—आप्यायन; अविज्ञातम्—अविज्ञात; इति—इस प्रकार।

शाल्मलीद्वीप के स्वामी महाराज प्रियव्रत के पुत्र यज्ञबाहु ने इस द्वीप को सात भागों में विभाजित करके उन्हें अपने पुत्रों को दे दिया। इन विभागों के नाम उनके पुत्रों के नामों पर हैं—सुरोचन, सौमनस्य, रमणक, देववर्ष, पारिभद्र, आप्यायन तथा अविज्ञात।

तेषु वर्षाद्रयो नद्यश्च सप्तैवाभिज्ञाताः स्वरसः शतशृङ्गो वामदेवः कुन्दो मुकुन्दः पुष्पवर्षः सहस्रश्रुतिरिति; अनुमतिः सिनीवाली सरस्वती कुहू रजनी नन्दा राकेति. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तेषु—इन भागों में; वर्ष-अद्रयः—पर्वत; नद्यः च—नदियाँ भी; सप्त एव—सात; अभिज्ञाताः—जाना गया; स्वरसः—स्वरस; शत-शृङ्गः—शतशृंग; वाम-देवः—वामदेव; कुन्दः—कुन्द; मुकुन्दः—मुकुन्द; पुष्प-वर्षः—पुष्पवर्ष; सहस्र-श्रुतिः—सहस्रश्रुति; इति—इस प्रकार; अनुमतिः—अनुमति; सिनीवाली—सिनीवाली; सरस्वती—सरस्वती; कुहू—कुहू; रजनी—रजनी; नन्दा—नन्दा; राका—राका; इति—इस प्रकार।

इन सातों विभागों में सात पर्वत हैं, जिनके नाम स्वरस, शतशृंग, वामदेव, कुन्द, मुकुन्द, पुष्पवर्ष तथा सहस्रश्रुति हैं। उनमें सात नदियाँ भी हैं जिनके नाम अनुमति, सिनीवाली, सरस्वती, कुहू, रजनी, नन्दा तथा राका हैं। ये आज भी विद्यमान हैं।

तद्वर्षपुरुषाः श्रुतधरवीर्यधरवसुन्धरेषन्धरसंज्ञा भगवन्तं वेदमयं सोममात्मानं वेदेन यजन्ते. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तत्-वर्ष-पुरुषाः—उन वर्षों के निवासी; श्रुतधर—श्रुतधर; वीर्यधर—वीर्यधर; वसुन्धर—वसुन्धर; इषन्धर—इषन्धर; संज्ञाः—के नाम से विख्यात; भगवन्तम्—श्रीभगवान्; वेद-मयम्—वैदिक ज्ञान से सुपरिचित; सोमम् आत्मानम्—सोम नामक जीवात्मा द्वारा प्रदर्शित; वेदेन—वैदिक नियमों के पालन से; यजन्ते—उपासना करते हैं।

इन द्वीपों के वासी श्रुतिधर, वीर्यधर, वसुन्धर तथा इषन्धर नामों से विख्यात हैं और वे वर्णाश्रम धर्म का कठोरता से पालन करते हुए श्रीभगवान् के सोम नामक अंश की, जो साक्षात् चन्द्रदेव हैं, उपासना करते हैं।

स्वगोभिः पितृदेवेभ्यो विभजन्कृष्णशुक्लयोः ।

प्रजानां सर्वासां राजान्धः सोमो न आस्त्विति ॥ १२॥

शब्दार्थ

स्व-गोभिः—अपनी प्रकाशमय किरणों के विस्तार से; पितृ-देवेभ्यः—अपने पितरों तथा देवता-गणों को; विभजन्—विभाजित करके; कृष्ण-शुक्लयोः—कृष्ण तथा शुक्ल पक्षों में; प्रजानाम्—निवासियों का; सर्वासाम्—सभी; राजा—राजा; अन्धः—अन्न; सोमः—चन्द्रदेव; नः—हम पर; आस्तु—अनुकूल रहे; इति—इस प्रकार।

[शाल्मलीद्वीप के वासी चन्द्रदेवता की आराधना निम्नलिखित शब्दों से करते हैं।] पितरों तथा देवताओं को अन्न देने के उद्देश्य से चन्द्रदेव ने अपने ही किरणों से मास को शुक्ल तथा कृष्ण नामक दो पक्षों में विभाजित किया है। चन्द्र देवता काल का विभाजन करने वाला और ब्रह्माण्ड के वासियों का अधिपति है। अतः हम यह प्रार्थना करते हैं कि वह हमारा अधिपति तथा पथप्रदर्शक बना रहे। हम उसे सादर नमस्कार करते हैं।

एवं सुरोदाद्बहिस्तद्द्विगुणः समानेनावृतो घृतोदेन यथापूर्वः कुशद्वीपो यस्मिन्कुशस्तम्बो देवकृतस्तद्द्वीपाख्याकरो ज्वलन इवापरः स्वशष्परोचिषा दिशो विराजयति. ॥ १३॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सुरोदात्—सुरासागर से; बहिः—बाहर; तत्-द्वि-गुणः—उसका दुगुना; समानेन—चौड़ाई में समान; आवृतः—घिरा हुआ; घृत-उदेन—घृत सागर के द्वारा; यथा-पूर्वः—शाल्मलीद्वीप के ही समान; कुश-द्वीप—कुशद्वीप; यस्मिन्—जिसमें; कुश-स्तम्बः—कुश नामक घास; देव-कृतः—श्रीभगवान् की परमेच्छा से उत्पन्न; तत्-द्वीप-आख्या-करः—द्वीप का नामकरण करके; ज्वलनः—अग्नि; इव—सदृश; अपरः—अन्य; स्व-शष्प-रोचिषा—अंकुरित दूब के ऐश्वर्य से; दिशः—समस्त दिशाएँ; विराजयति—प्रकाशित करता है।

सुरासागर के बाहर कुशद्वीप नामक एक अन्य द्वीप है जो सुरासागर से दूना अर्थात् ८,००,००० योजन (६४,००,००० मील) चौड़ा है। जिस प्रकार शाल्मली द्वीप सुरासागर से घिरा है उसी प्रकार कुशद्वीप अपने तुल्य विस्तार वाले घृतसागर से घिरा है। इस द्वीप में कुशघास के पौधे पाये जाते हैं, इसीलिए द्वीप का यह नाम पड़ा है। यह कुशघास परमेश्वर की इच्छा के अनुसार देवताओं द्वारा उत्पन्न की गई थी और द्वितीय अग्नि जैसी दृष्टिगोचर होती है, किन्तु इसकी ज्वालाएँ अत्यन्त मृदु तथा मनोहर हैं। इसके नव-अंकुर (शिखर) समस्त दिशाओं को प्रकाशित करते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में दिये गये विवरण से चन्द्रमा पर ज्वालाओं की प्रकृति के सम्बन्ध में बुद्धिपरक अनुमान लगाया जा सकता है। सूर्य के समान चन्द्रमा को भी ज्वालाओं से पूर्ण होना चाहिए,

क्योंकि ज्वालाओं के बिना प्रकाश सम्भव नहीं। किन्तु चन्द्रमा की ज्वालाएं सूर्य से भिन्न अतएव मृदु एवं मनोहारी होनी चाहिए। ऐसा हमारा मानना है। आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार चन्द्रमा धूल से भरा हुआ है जो *श्रीमद्भागवत* के श्लोकों में मान्य नहीं है। इस श्लोक के सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का कहना है—*सुशष्पाणि सुकोमलशिखास्तेषां रोचिषा*—कुश घास समस्त दिशाओं को प्रकाशित करती है, किन्तु इसकी ज्वालाएँ अत्यन्त मृदु एवं मनोहारी हैं। इससे चन्द्रमा में स्थित ज्वालाओं के सम्बन्ध में कुछ अनुमान प्राप्त होता है।

तद्द्वीपपतिः प्रैयव्रतो राजन्हिरण्यरेता नाम स्वं द्वीपं सप्तभ्यः स्वपुत्रेभ्यो यथाभागं विभज्य स्वयं तप आतिष्ठत वसुवसुदानदृढरुचिनाभिगुप्तस्तुत्यव्रतविविक्तवामदेवनामभ्यः. ॥ १४॥

शब्दार्थ

तत्-द्वीप-पतिः—उस द्वीप का स्वामी; प्रैयव्रतः—महाराज प्रियव्रत का पुत्र; राजन्—हे राजा; हिरण्यरेता—हिरण्यरेता; नाम—नामक; स्वम्—उसका अपना; द्वीपम्—द्वीप; सप्तभ्यः—सातों; स्व-पुत्रेभ्यः—अपने पुत्रों को; यथा-भागम्—हिस्से के अनुसार; विभज्य—विभाजित करके; स्वयम्—स्वयं; तपः आतिष्ठत—तप में लग गया; वसु—वसु को; वसुदान—वसुदान; दृढरुचि—दृढ़रुचि; नाभि-गुप्त—नाभिगुप्त; स्तुत्य-व्रत—स्तुत्यव्रत; विविक्त—विविक्त; वाम-देव—वामदेव; नामभ्यः—नामक।

हे राजन्, महाराज प्रियव्रत के दूसरे पुत्र हिरण्यरेता इस द्वीप के राजा थे। उन्होंने इसके सात विभाग किये और उसके एक-एक विभाग को उत्तराधिकारी के अनुसार अपने सातों पुत्रों वसु, वसुदान, दृढ़रुचि, नाभिगुप्त, स्तुत्यव्रत, विविक्त और वामदेव को दे दिये। राजा स्वयं गृहस्थ जीवन से विरक्त होकर तप करने लगे।

तेषां वर्षेषु सीमागिरयो नद्यश्चाभिज्ञाताः सप्त सप्तैव चक्रश्चतुःशृङ्गः कपिलश्चित्रकूटो देवानीक ऊर्ध्वरोमा द्रविण इति रसकुल्या मधुकुल्या मित्रविन्दा श्रुतविन्दा देवगर्भा घृतच्युता मन्त्रमालेति. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उन पुत्रों के; वर्षेषु—भूभागों (वर्षों) में; सीमा-गिरयः—सीमान्त पर्वत; नद्यः च—और नदियाँ भी; अभिज्ञाताः—ज्ञात; सप्त—सात; सप्त—सात; एव—निश्चय ही; चक्रः—चक्र; चतुः-शृङ्गः—चतुःशृंग; कपिलः—कपिल; चित्र-कूटः—चित्रकूट; देवानीकः—देवानीक; ऊर्ध्व-रोमा—ऊर्ध्वरोमा; द्रविणः—द्रविण; इति—इस प्रकार; रस-कुल्या—रमकुल्या; मधु-कुल्या—मधुकुल्या; मित्र-विन्दा—मित्रविन्दा; श्रुत-विन्दा—श्रुतविन्दा; देव-गर्भा—देवगर्भा; घृत-च्युता—घृतच्युता; मन्त्र-माला—मंत्रमाला; इति—इस प्रकार।

इन सातों द्वीपों में सात सीमान्त पर्वत हैं, जिनके नाम चक्र, चतुःशृंग, कपिल, चित्रकूट, देवानीक, ऊर्ध्वरोमा तथा द्रविण हैं। इसी प्रकार सात नदियाँ हैं जिनके नाम रमकुल्या, मधुकुल्या, मित्रविन्दा, श्रुतविन्दा, देवगर्भा, घृतच्युता तथा मंत्रमाला हैं।

यासां पयोभि: कुशद्वीपौकस: कुशलकोविदाभियुक्तकुलकसंज्ञा भगवन्तं जातवेदसरूपिणं कर्मकौशलेन यजन्ते. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यासाम्—जिनके; पयोभि:—जल से; कुश-द्वीप-ओकस:—कुशद्वीप के वासी; कुशल—कुशल; कोविद—कोविद; अभियुक्त—अभियुक्त; कुलक—कुलक; संज्ञा:—नामक; भगवन्तम्—श्रीभगवान् को; जातवेद—अग्नि देवता; स-रूपिणम्—स्वरूप को प्रकट करके; कर्म-कौशलेन—अनुष्ठानों में कुशलता के कारण; यजन्ते—आराधना करते हैं।

कुशद्वीप के वासी कुशल, कोविद, अभियुक्त तथा कुलक नामों से विख्यात हैं। वे क्रमश: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के सदृश हैं। उक्त नदियों के जल में स्नान करके ये सभी वासी पवित्र होते हैं। वे वैदिक शास्त्रों के अनुसार अनुष्ठानों को सम्पन्न करने में कुशल हैं। इस प्रकार वे अग्नि देवता के रूप में भगवान् की उपासना करते हैं।

परस्य ब्रह्मण: साक्षाज्जातवेदोऽसि हव्यवाट् ।
देवानां पुरुषाङ्गानां यज्ञेन पुरुषं यजेति ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

परस्य—परमेश्वर की; ब्रह्मण:—ब्रह्म का; साक्षात्—प्रकट रूप में, साक्षात्; जात-वेद:—हे अग्निदेव; असि—आप हैं; हव्यवाट्—अन्न तथा घृत की आहुति के वाहक; देवानाम्—समस्त देवताओं के; पुरुष-अङ्गानाम्—जो परम पुरुष के अंग हैं; यज्ञेन—यज्ञों के द्वारा; पुरुषम्—परम् पुरुष को; यज—यज्ञ करो; इति—इस प्रकार।

[यह वह मंत्र है, जिसके द्वारा कुशद्वीप के वासी अग्निदेव की पूजा करते हैं।] हे अग्निदेव, आप श्रीभगवान् हरि के अंश रूप हैं और उन तक समस्त हवियों को पहुँचाते हैं। अत: हम आपसे प्रार्थना करते कि हम देवताओं को जो भी यज्ञ-सामग्री अर्पण कर रहे हैं, उसे आप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को अर्पित करें, क्योंकि परमेश्वर ही असली भोक्ता हैं।

तात्पर्य : समस्त देवता श्रीभगवान् के सेवक हैं, जो उनकी सेवा में रत रहते हैं। अत: यदि कोई व्यक्ति देवताओं की उपासना करता है, तो वे देवता परमेश्वर के सेवकों की भाँति उन तक समस्त हवियों को पहुँचाते हैं, जिस प्रकार कर-संग्राहक नागरिकों से कर वसूल कर सरकारी कोष में पहुँचाते हैं। देवता इन हवियों को स्वीकार नहीं कर सकते; वे उन्हें श्रीभगवान् तक पहुँचाने का कार्य करते हैं। जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है—*यस्य प्रसादाद् भगवत्-प्रसाद:*—चूँकि गुरु श्रीभगवान् का प्रतिनिधि होता है, अत: उसे जो भी अर्पित किया जाता है उसे वह ईश्वर तक पहुँचाता है। इसी प्रकार से समस्त देवता श्रीभगवान् के आज्ञाकारी सेवकों की भाँति समस्त हवियों को उन तक

पहुँचाते हैं। यदि यह समझ कर देवताओं की उपासना की जाये तो इसमें कोई हानि नहीं है, किन्तु यदि कोई यह सोचे कि देवता श्रीभगवान् के तुल्य हैं और स्वतंत्र हैं तो उसे हम *हृतज्ञान* अर्थात् ज्ञान की हानि (*कामैस्तैस्तैर्हृज्ञाना:*) कहेंगे। अत: जो देवताओं को वास्तविक वर देनेवाला समझते हैं, वे त्रुटि करते हैं।

तथा घृतोदाद्बहि: क्रौञ्चद्वीपो द्विगुण: स्वमानेन क्षीरोदेन परित उपक्लिप्तो वृतो यथा कुशद्वीपो घृतोदेन यस्मिन्क्रौञ्चो नाम पर्वतराजो द्वीपनामनिर्वर्तक आस्ते. ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तथा—और उसी प्रकार; घृत-उदात्—घृत सागर से; बहि:—बाहर, परे; क्रौञ्च-द्वीप:—क्रौंच द्वीप नामक अन्य द्वीप; द्वि-गुण:—दुगुना बड़ा; स्व-मानेन—समान विस्तार का; क्षीर-उदेन—दुग्ध सगार से; परित:—चारों ओर; उपक्लृप्त:—घिरा हुआ; वृत:—घिरा; यथा—सदृश; कुश-द्वीप:—कुशद्वीप; घृत-उदेन—घृत सागर से; यस्मिन्—जिसमें; क्रौञ्च: नाम—क्रौंच नामक; पर्वत-राज:—पर्वतों का राजा; द्वीप-नाम—द्वीप का नाम; निर्वर्तक:—लिया जाता है; आस्ते—विद्यमान है।.

घृतसागर के बाहर क्रौंचद्वीप नाम का एक अन्य द्वीप है, जिसकी चौड़ाई घृतसागर से दुगुनी अर्थात् १६,००,००० योजन (१२,८००,००० मील) है। जिस प्रकार कुशद्वीप घृतसागर से घिरा हुआ है उसी प्रकार क्रौंचद्वीप अपने ही समान चौड़ाई वाले दुग्ध-सागर (क्षीरसागर) से घिरा हुआ है। क्रौंचद्वीप में क्रौंच नामक एक विशाल पर्वत है, जिसके कारण इस द्वीप का यह नाम पड़ा।

योऽसौ गुहप्रहरणोन्मथितनितम्बकुञ्जोऽपि क्षीरोदेनासिच्यमानो भगवता वरुणेनाभिगुप्तो विभयो बभूव. ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

य:—जो; असौ—वह (पर्वत); गुह-प्रहरण—भगवान् शिव के पुत्र कार्तिकेय के प्रहार द्वारा; उन्मथित—मथा हुआ; नितम्ब-कुञ्ज:—ढालों पर के वृक्ष तथा वनस्पतियाँ; अपि—यद्यपि; क्षीर-उदेन—क्षीर सागर से; आसिच्यमान:—सदैव सिंचित होकर; भगवता—सर्वशक्तिमान द्वारा; वरुणेन—वरुण नाम देवता के द्वारा; अभिगुप्त:—सुरक्षित; विभय: बभूव—निर्भय हो गया है।.

यद्यपि कार्त्तिक्ये के शस्त्र प्रहार से क्रौंच पर्वत के ढालों की वनस्पतियाँ विनष्ट हो गई थीं, किन्तु चारों ओर से क्षीरसागर द्वारा सदा सिंचित होने एवं वरुण देव के द्वारा संरक्षित होने से यह पर्वत पुन: निर्भीक हो गया है।

तस्मिन्नपि प्रैयव्रतो घृतपृष्ठो नामाधिपतिः स्वे द्वीपे वर्षाणि सप्त विभज्य तेषु पुत्रनामसु सप्त रिक्थादान्वर्षपान्निवेश्य स्वयं भगवान्भगवतः परमकल्याणयशस आत्मभूतस्य हरेश्चरणारविन्दमुपजगाम. ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस द्वीप में; अपि—भी; प्रैयव्रतः—महाराज प्रियव्रत का पुत्र; घृत-पृष्ठः—घृतपृष्ठ; नाम—नामक; अधिपतिः—स्वामी, राजा; स्वे—अपने; द्वीपे—द्वीप में; वर्षाणि—भूभाग; सप्त—सात; विभज्य—विभाजित करके; तेषु—उनमें से प्रत्येक में; पुत्र-नामसु—अपने पुत्रों के नाम वाले; सप्त—सात; रिक्था-दान्—पुत्र; वर्ष-पान्—वर्षों के स्वामी; निवेश्य—नियुक्त करके; स्वयम्—स्वयं; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; भगवतः—श्रीभगवान् का; परम-कल्याण-यशसः—जिसका यश परम कल्याणकारी है; आत्म-भूतस्य—समस्त आत्माओं की आत्मा; हरेः चरण-अरविन्दम्—हरि के चरणकमल में; उपजगाम—शरण ली।

इस द्वीप के अधिपति महाराज प्रियव्रत के अन्य पुत्र थे जिनका नाम घृतपृष्ठ था और जो अत्यन्त विद्वान थे। उन्होंने भी अपने देश को सात भागों में विभाजित करके उनके नाम अपने सातों पुत्रों के नामों के अनुसार रखे और स्वयं गृहस्थ जीवन से विरक्त होकर परम कल्याणकारी, समस्त आत्माओं की आत्मा श्रीभगवान् के पदारविन्दों में शरण ली। इस प्रकार वे सिद्धि को प्राप्त हुए।

आमो मधुरुहो मेघपृष्ठः सुधामा भ्राजिष्ठो लोहितार्णो वनस्पतिरिति घृतपृष्ठसुतास्तेषां वर्षगिरयः सप्त सप्तैव नद्यश्चाभिख्याताः शुक्लो वर्धमानो भोजन उपबर्हिणो नन्दो नन्दनः सर्वतोभद्र इति अभया अमृतौघा आर्यका तीर्थवती रूपवती पवित्रवती शुक्लेति. ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

आमः—आम; मधु-रुहः—मधुरुह; मेघ-पृष्ठः—मेघपृष्ठ; सुधामा—सुधामा; भ्राजिष्ठः—भ्राजिष्ठ; लोहितार्णः—लोहितार्ण; वनस्पतिः—वनस्पति; इति—इस प्रकार; घृतपृष्ठ-सुताः—घृतपृष्ठ के पुत्र; तेषाम्—इन पुत्रों के; वर्ष-गिरयः—देश की सीमा विभाजन करने वाले पर्वत; सप्त—सात; सप्त—सात; एव—भी; नद्यः—नदियाँ; च—तथा; अभिख्याताः—सुप्रसिद्ध; शुक्लः वर्धमानः—शुक्ल तथा वर्धमान; भोजनः—भोजन; उपबर्हिणः—उपबर्हिण; नन्दः—नन्द; नन्दनः—नदंन; सर्वतः-भद्रः—सर्वतोभद्र; इति—इस प्रकार; अभया—अभया; अमृतौघा—अमृतौघा; आर्यका—आर्यका; तीर्थवती—तीर्थवती; रूपवती—रूपवती; पवित्रवती—पवित्र-वती; शुक्ला—शुक्ला; इति—इस प्रकार।

महाराज घृतपृष्ठ के पुत्रों के नाम आम, मधुरुह, मेघपृष्ठ, सुधामा, भ्राजिष्ठ, लोहितार्ण तथा वनस्पति थे। उनके द्वीप में सात पर्वत थे, जो सात देशों की सीमाओं को सूचित करने वाले थे और सात नदियाँ भी थीं। पर्वतों के नाम हैं-शुक्ल, वर्धमान, भोजन, उपबर्हिण, नन्द, नन्दन तथा सर्वतोभद्र। नदियों के नाम अभया, अमृतौघा, आर्यका, तीर्थवती, रूपवती, पवित्रवती तथा शुक्ला हैं।

यासामम्भः पवित्रममलमुपयुञ्जानाः पुरुषऋषभद्रविणदेवकसंज्ञा वर्षपुरुषा आपोमयं देवमपां पूर्णेनाञ्जलिना यजन्ते. ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यासाम्—सभी नदियों का; अम्भः—जल; पवित्रम्—अत्यन्त पावन; अमलम्—अत्यन्त निर्मल; उपयुञ्जानाः—उपयोग करते हुए; पुरुष—पुरुष; ऋषभ—ऋषभ; द्रविण—द्रविण; देवक—देवक; संज्ञाः—नामों वाले; वर्ष-पुरुषाः—उन वर्षों के निवासी; आपः-मयम्—जल के स्वामी वरुण को; देवम्—उपास्य श्रीविग्रह के रूप में; अपाम्—जल को; पूर्णेन—पूर्ण; अञ्जलिना—अंजुली से; यजन्ते—आराधना करते हैं।

क्रौंच द्वीप के निवासी चार वर्णों में विभाजित हैं—पुरुष, ऋषभ, द्रविण तथा देवक। वे जल के स्वामी वरुण जिन का रूप जल के समान है के चरणारविन्दों पर इन पवित्र नदियों की जलांजलि अर्पित करके श्रीभगवान् की पूजा करते हैं।

तात्पर्य : विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*आपोमयः अश्मयम्*—क्रौंच द्वीप के विभिन्न वर्णों के लोग बद्ध अंजलि द्वारा पवित्र नदियों का जल प्रस्तर या लोहे के बने श्रीविग्रह पर अर्पित करते हैं।

आपः पुरुषवीर्याः स्थ पुनन्तीर्भूर्भुवःसुवः ।
ता नः पुनीतामीवघ्नीः स्पृशतामात्मना भुव इति ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

आपः—हे जल; पुरुष-वीर्याः—श्रीभगवान् की शक्ति से युक्त; स्थ—आप हैं; पुनन्तीः—पवित्र करने वाले; भूः—भूवः नामक लोक; भुवः—भूवः नामक लोक; सुवः—स्वःलोक; ताः—वह जल; नः—हम सबको; पुनीत—पवित्र करता है; अमीव-घ्नीः—पापों का नाश करने वाला; स्पृशताम्—स्पर्श करने वालों के; आत्मना—अपने स्वाभाविक पद के कारण; भुवः—देह; इति—इस प्रकार।

[क्रौंच द्वीप के निवासी इस मंत्र से उपासना करते हैं] हे नदियों के जल, आपको श्रीभगवान् से शक्ति प्राप्त है। अतः आप भूलोक, भुवर्लोक तथा स्वर्लोक को पवित्र करते हैं। अपने स्वाभाविक पद के कारण आप पापों को ग्रहण करते हैं, इसलिए हम आपका स्पर्श करते हैं। आप हमें पवित्र करते रहें।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.४) में श्रीकृष्ण का कथन है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

"पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—यह आठ प्रकार से विभाजित मेरी भिन्ना (अपरा) प्रकृति है।"

जिस प्रकार उष्मा तथा प्रकाश नामक सूर्य की शक्तियाँ इस ब्रह्माण्ड में क्रियाशील हैं और प्रत्येक

वस्तु को कार्य करने के लिए प्रेरित करती हैं, उसी प्रकार परमेश्वर की शक्ति सम्पूर्ण सृष्टि में क्रियाशील रहती है। शास्त्रों में वर्णित विशिष्ट नदियाँ भी श्रीभगवान् की शक्तियाँ हैं और जो व्यक्ति इनमें प्रतिदिन स्नान करते हैं, वे पवित्र होते रहते हैं। सचमुच अनेक लोग गंगा में स्नान करने मात्र से रोगमुक्त होते हैं। इसी प्रकार क्रौंच द्वीप के निवासी नदियों में स्नान करके पवित्र होते हैं।

एवं पुरस्तात्क्षीरोदात्परित उपवेशितः शाकद्वीपो द्वात्रिंशल्लक्षयोजनायामः समानेन च दधिमण्डोदेन परीतो यस्मिन्शाको नाम महीरुहः स्वक्षेत्रव्यपदेशको यस्य ह महासुरभिगन्धस्तं द्वीपमनुवासयति. ॥ २४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; पुरस्तात्—परे; क्षीर-उदात्—क्षीर सागर से; परितः—चारों ओर; उपवेशितः—स्थित; शाक-द्वीपः—शाकद्वीप नामक अन्य द्वीप; द्वा-त्रिंशत्—बत्तीस; लक्ष—लाख; योजन—योजन; आयामः—जिसकी माप; समानेन—समान लम्बाई वाला; च—और; दधि-मण्ड-उदेन—मट्ठे के समान जल वाले समुद्र द्वारा; परीतः—आवृत; यस्मिन्—जिसमें; शाकः—शाक; नाम—नामक; महीरुहः—अंजीर का वृक्ष; स्व-क्षेत्र-व्यपदेशकः—जिससे द्वीप का यह नाम पड़ा; यस्य—जिसका; ह—निस्सन्देह; महा-सुरभि—अत्यधिक भीनी; गन्धः—सुगन्ध; तम् द्वीपम्—उस द्वीप को; अनुवासयति—महकाती रहती है।

क्षीर समुद्र से बाहर शाकद्वीप है, जिसकी चौड़ाई ३२,००,००० योजन (२,६,००,००० मील) है। जिस प्रकार क्रौंचद्वीप अपने ही क्षीरसागर से घिरा है उसी प्रकार शाकद्वीप अपने ही समान चौड़ाई वाले मट्ठे के समुद्र से घिरा है। शाकद्वीप में एक विशाल शाक वृक्ष है, जिससे इस द्वीप का यह नाम पड़ा। यह वृक्ष अत्यन्त सुगन्धित है। इससे सारा द्वीप महकता रहता है।

तस्यापि प्रैयव्रत एवाधिपतिर्नाम्ना मेधातिथिः सोऽपि विभज्य सप्त वर्षाणि पुत्रनामानि तेषु स्वात्मजान्पुरोजवमनोजवपवमानधूम्रानीकचित्ररेफबहुरूपविश्वधारसंज्ञान्निधाप्याधिपतीन्स्वयं भगवत्यनन्त आवेशितमतिस्तपोवनं प्रविवेश. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तस्य अपि—इस द्वीप का भी; प्रैयव्रतः—महाराज प्रियव्रत का पुत्र; एव—निश्चय ही; अधिपतिः—राजा; नाम्ना—नामक; मेधा-तिथिः—मेधातिथि; सः अपि—वह भी; विभज्य—विभाजित करके; सप्त वर्षाणि—द्वीप के सात विभाग; पुत्र-नामानि—पुत्रों के नाम; तेषु—उनमें; स्व-आत्मजान्—अपने पुत्रों; पुरोजव—पुरोजव; मनोजव—मनोजव; पवमान—पवमान; धूम्रानीक—धूम्रानीक; चित्र-रेफ—चित्ररेफ; बहु-रूप—बहुरूप; विश्वधार—विश्वधार; संज्ञान्—नाम वाले; निधाप्य—प्रतिष्ठित करके; अधिपतीन्—शासक, राजा; स्वयम्—स्वयं; भगवति—श्रीभगवान् में; अनन्ते—अनन्त रूप में; आवेशित-मतिः—ध्यानमग्न; तपः-वनम्—तपोवन में; प्रविवेश—प्रवेश किया।

इस द्वीप के स्वामी प्रियव्रत के ही पुत्र मेधातिथि थे। उन्होंने भी अपने द्वीप को सात भागों में विभाजित करके उनका नाम अपने पुत्रों के नाम पर रखा और उन्हें उन द्वीपों का राजा बना दिया। उनके इन पुत्रों के नाम हैं—पुरोजव, मनोजव, पवमान, धूम्रानीक, चित्ररेफ, बहुरूप तथा

विश्वधार। इस द्वीप को विभाजित करके अपने पुत्रों को उनका राजा बनाकर मेधापति स्वयं विरक्त हो गये और उन्होंने अपने मन को श्रीभगवान् के चरणारविन्दों में लगाने के उद्देश्य से ध्यान-योग्य एक तपोवन में प्रवेश किया।

एतेषां वर्षमर्यादागिरयो नद्यश्च सप्त सप्तैव ईशान उरुशृङ्गो बलभद्रः शतकेसरः सहस्रस्रोतो देवपालो महानस इति अनघायुर्दा उभयस्पृष्टिरपराजिता पञ्चपदी सहस्रस्रुतिर्निजधृतिरिति. ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एतेषाम्—इन समस्त विभागों की; वर्ष-मर्यादा—सीमा रेखा के रूप में; गिरयः—बड़ी बड़ी पहाड़ियाँ; नद्यः च—तथा नदियाँ भी; सप्त—सात; एव—निस्सन्देह; ईशानः—ईशान; उरुशृङ्गः—उरुशृंग; बल-भद्रः—बलभद्र; शत-केसरः—शतकेसर; सहस्र-स्रोतः—सहस्रस्रोत; देव-पालः—देवपाल; महानसः—महानस; इति—इस प्रकार; अनघा—अनघा; आयुर्दा—आयुर्दा; उभयस्पृष्टिः—उभयस्पृष्टि; अपराजिता—अपराजिता; पञ्चपदी—पंचपदी; सहस्र-स्रुतिः—सहस्र-स्रुति; निज-धृतिः—निजधृति; इति—इस प्रकार।

इन द्वीपों में भी सात मर्यादा पर्वत तथा सात ही नदियाँ हैं। पर्वतों के नाम ईशान, उरुशृंग, बलभद्र, शतकेशर, सहस्र-स्रोत, देवपाल तथा महानस हैं तथा नदियाँ अनघा, आयुर्दा, उभयस्पृष्टि, अपराजिता, पंचपदी, सहस्रस्रुति तथा निजधृति हैं।

तद्वर्षपुरुषा ऋतव्रतसत्यव्रतदानव्रतानुव्रतनामानो भगवन्तं वाय्वात्मकं प्राणायामविधूतरजस्तमसः परमसमाधिना यजन्ते. ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

तत्-वर्ष-पुरुषाः—उस वर्ष के निवासी; ऋत-व्रत—ऋतव्रत; सत्य-व्रत—सत्यव्रत; दान-व्रत—दानव्रत; अनुव्रत—अनुव्रत; नामानः—इन (चार) नाम वाले; भगवन्तम्—श्रीभगवान्; वायु-आत्मकम्—वायु देवता के रूप में; प्राणायाम—प्राणायाम द्वारा; विधूत—निर्मल बनाया; रजः-तमसः—रजोगुण तथा तमोगुण; परम समाधिना—परम समाधि द्वारा; यजन्ते—उपासना करते हैं।

उन द्वीपों के वासी भी ऋतव्रत, सत्यव्रत, दानव्रत तथा अनुव्रत—इन चार वर्णों में विभक्त हैं, जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के समान हैं। वे प्राणायाम तथा योग साधते हैं और समाधि द्वारा वायु रूप में परमेश्वर भगवान् की उपासना करते हैं।

अन्तःप्रविश्य भूतानि यो बिभर्त्यात्मकेतुभिः ।
अन्तर्यामीश्वरः साक्षात्पातु नो यद्वशे स्फुटम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अन्तः-प्रविश्य—अन्तःकरण में प्रवेश करके; भूतानि—समस्त प्राणियों का; यः—जो; बिभर्ति—पालन करता है; आत्म-केतुभिः—अन्तः वायु की क्रियाओं (प्राण, अपान इत्यदि) द्वारा.); अन्तर्यामी—अन्तस्थ परमात्मा; ईश्वरः—परमेश्वर; साक्षात्—साक्षात्; पातु—पालन करे; नः—हमारा; यत्-वशे—जिसके वश में; स्फुटम्—विराट जगत।

[शाकद्वीप के निवासी वायु रूप में श्रीभगवान् की उपासना निम्नलिखित शब्दों से करते हैं] हे परम पुरुष, देह के भीतर परमात्मा रूप में स्थित आप विभिन्न वायुओं यथा प्राण की विभिन्न क्रियाओं का संचालन करने वाले तथा समस्त जीवात्माओं का पालन करने वाले हैं। हे ईश्वर, हे परमात्मा, हे विराट जगत के नियामक, आप सभी प्रकार के संकटों से हमारी रक्षा करें।

तात्पर्य : योगीजन प्राणायाम नामक योगक्रिया के बल से शरीर के भीतर वायु को रोक कर शरीर को स्वस्थ रखते हैं। इस प्रकार योगी समाधि दशा को प्राप्त होते हैं और अपने हृदय-प्रदेश में श्रीभगवान् को देखने का प्रयास करते हैं। अपने हृदय-प्रदेश में श्रीभगवान् को अन्तर्यामी रूप में देखकर उसमें तल्लीन रहने के लिए समाधि की अवस्था प्राप्त करना आवश्यक है जो प्राणायाम के माध्यम से सम्भव है।

एवमेव दधिमण्डोदात्परतः पुष्करद्वीपस्ततो द्विगुणायामः समन्तत उपकल्पितः समानेन स्वादूदकेन समुद्रेण बहिरावृतो यस्मिन्बृहत्पुष्करं ज्वलनशिखामलकनकपत्रायुतायुतं भगवतः कमलासनस्याध्यासनं परिकल्पितम्. ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

एवम् एव—इस प्रकार; दधि-मण्ड-उदात्—मट्ठे के सागर से; परतः—परे; पुष्कर-द्वीपः—पुष्कर द्वीप नामक अन्य द्वीप; ततः—उस (शाकद्वीप) की अपेक्षा; द्वि-गुण-आयामः—जिसका विस्तार दुगुना है; समन्ततः—चारों दिशाओं में; उपकल्पितः—घिरा हुआ; समानेन—समान विस्तार वाला; स्वादु-उदकेन—मधुर जल वाले; समुद्रेण—समुद्र से; बहिः—बाहर से; आवृतः—घिरा हुआ; यस्मिन्—जिसमें; बृहत्—विशाल; पुष्करम्—कमल पुष्प; ज्वलन-शिखा—प्रज्वलित अग्नि की ज्वालाओं सदृश; अमल—निर्मल; कनक—स्वर्ण; पत्र—पत्तियाँ; अयुत-अयुतम्—लाखों अथवा दस करोड़; भगवतः—अत्यन्त शक्तिमान; कमल आसनस्य—ब्रह्मा का, जिनका आसन कमल है; अध्यासनम्—आसन; परिकल्पितम्—माना जाता है।.

दधि के समुद्र से बाहर पुष्कर नाम का एक अन्य द्वीप है जो इस समुद्र से दुगनी चौड़ाई वाला अर्थात् ६४,००,००० योजन (२२,००,००० मील) है। यह द्वीप अपने ही समान चौड़ाई वाले मधुर जल के सागर से घिरा हुआ है। पुष्कर द्वीप में अग्नि की ज्वालाओं के समान देदीप्यमान दस करोड़ स्वर्णिम पंखुड़ियों वाला विशाल कमल का पुष्प है, जो सर्वशक्तिमान तथा इसी कारण कभी कभी भगवान् कहलाने वाले ब्रह्मा का आसन माना जाता है।

तद्द्वीपमध्ये मानसोत्तरनामैक एवार्वाचीनपराचीनवर्षयोर्मर्यादाचलोऽयुतयोजनोच्छ्रायायामो यत्र तु चतसृषु दिक्षु चत्वारि पुराणि लोकपालानामिन्द्रादीनां यदुपरिष्टात्सूर्यरथस्य मेरुं परिभ्रमतः संवत्सरात्मकं चक्रं देवानामहोरात्राभ्यां परिभ्रमति. ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तत्-द्वीप-मध्ये—उस द्वीप के मध्य में; मानसोत्तर—मानसोत्तर; नाम—नामक; एकः—एक; एव—निस्सन्देह; अर्वाचीन—इस ओर; पराचीन—उस ओर; वर्षयोः—वर्षों (भूभागों) के; मर्यादा—सीमा सूचक; अचलः—पर्वत; अयुत—दस हजार; योजन—आठ मील तुल्य दूरी; उच्छ्राय-आयामः—जिसकी ऊँचाई तथा चौड़ाई; यत्र—जहाँ; तु—लेकिन; चतसृषु—चारों; दिक्षु—दिशाओं में; चत्वारि—चार; पुराणि—नगर; लोक-पालानाम्—लोकों के पालकों का; इन्द्र-आदीनाम्—इंद्र आदि; यत्—जिसका; उपरिष्टात्—ऊपर; सूर्य-रथस्य—सूर्य देव के रथ का; मेरुम्—मेरु पर्वत; परिभ्रमतः—परिक्रमा करते हुए; संवत्सर-आत्मकम्—एक संवत्सर वाला; चक्रम्—चक्र; देवानाम्—देवताओं का; अहः-रात्राभ्याम्—दिन तथा रात्रि से; परिभ्रमति—चक्कर लगाता है।

उस द्वीप के बीचोंबीच, भीतरी तथा बाहरी ओर की सीमा बनाने वाला मानसोत्तर नाम का एक पर्वत है। यह दस हजार योजन (८०,००० मील) ऊँचा और इतना ही चौड़ा है इसके ऊपर चारों दिशाओं में इन्द्रादि लोकपालों की पुरियाँ हैं। सूर्यदेव अपने रथ में आरूढ़ होकर इस पर्वत के ऊपर संवस्तर नामक परिधि में, जो मेरु पर्वत का चक्कर लगाती है, यात्रा करते हैं। उत्तर दिशा में सूर्य का पथ उत्तरायण और दक्षिण दिशा में दक्षिणायन कहलाता है। देवताओं के लिए एक दिशा में दिन होता है, तो दूसरी में रात्रि।

तात्पर्य : सूर्य की गति की पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (.२) से भी होती है— *यस्याज्ञया भ्रमति सम्भृत-कालचक्रः।* सूर्य छः मास तक सुमेरु पर्वत की उत्तर दिशा में और छः मास तक दक्षिण दिशा में चक्कर लगाता है। स्वर्गलोक के देवताओं के दिन और रात्रि की यही अवधियाँ हैं।

तद्द्वीपस्याप्यधिपतिः प्रैयव्रतो वीतिहोत्रो नामैतस्यात्मजौ रमणकधातकिनामानौ वर्षपती नियुज्य स स्वयं पूर्वजवद्भगवत्कर्मशील एवास्ते. ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तत्-द्वीपस्य—उस द्वीप का; अपि—भी; अधिपतिः—राजा; प्रैयव्रतः—महाराज प्रियव्रत का पुत्र; वीतिहोत्रः नाम—वीतिहोत्र नामक; एतस्य—उसके; आत्म-जौ—अपने दो पुत्रों को; रमणक—रमणक; धातकि—तथा धातकि; नामानौ—नाम वाले; वर्ष-पती—दोनों वर्षों के स्वामी; नियुज्य—नियुक्त करके; सः स्वयम्—वह स्वयं; पूर्वज-वत्—अपने अन्य भाइयों के समान; भगवत्-कर्म-शीलः—श्रीभगवान् को प्रसन्न करने में लीन; एव—निस्सन्देह; आस्ते—लगा रहता है।

इस द्वीप का अधिपति महाराज प्रियव्रत का पुत्र वीतिहोत्र था जिसके रमणक तथा धातकी नामक दो पुत्र हुए। उसने इन दोनों पुत्रों को इस द्वीप के दोनों छोर दे दिये और स्वयं अपने अग्रज मेधातिथि के समान श्रीभगवान् की सेवा में तत्पर रहने लगा।

तद्वर्षपुरुषा भगवन्तं ब्रह्मरूपिणं सकर्मकेण कर्मणाराधयन्तीदं चोदाहरन्ति. ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तत्-वर्ष-पुरुषाः—उस द्वीप के वासी; भगवन्तम्—श्रीभगवान्; ब्रह्म-रूपिणम्—कमलासीन भगवान् ब्रह्मा के रूप में; स-कर्मकेण—भौतिक कामनाओं की पूर्ति हेतु; कर्मणा—वेदविहित अनुष्ठान करके; आराधयन्ति—आराधना करते हैं; इदम्—यह; च—तथा; उदाहरन्ति—जप करते हैं।

इस द्वीप के वासी अपनी भौतिक कामनाओं की पूर्ति के लिए ब्रह्मा के रूप में श्रीभगवान् की आराधना करते हैं। वे इस प्रकार उनकी स्तुति करते हैं।

यत्तत्कर्ममयं लिङ्गं ब्रह्मलिङ्गं जनोऽर्चयेत् ।
एकान्तमद्वयं शान्तं तस्मै भगवते नम इति ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; तत्—वह; कर्म-मयम्—वैदिक कृत्यों के द्वारा प्राप्य; लिङ्गम्—स्वरूप को; ब्रह्म-लिङ्गम्—जिससे परब्रह्म जाने जाते हैं; जनः—व्यक्ति; अर्चयेत्—अर्चना करनी चाहिए; एकान्तम्—एक परम ब्रह्म में पूर्ण आस्था रखने वाला; अद्वयम्—अभिन्न; शान्तम्—शान्त; तस्मै—उन; भगवते—सर्वशक्तिमान को; नमः—नमस्कार है; इति—इस प्रकार।

भगवान् ब्रह्मा कर्ममय कहलाते हैं, क्योंकि अनुष्ठानों को करके कोई भी उनका पद प्राप्त कर सकता है और उन्हीं से वैदिक अनुष्ठान-स्तुतियाँ प्रकट होती हैं। वे अविचल भाव से श्रीभगवान् की भक्ति करते हैं, अतः एक प्रकार से वे भगवान् से अभिन्न हैं। फिर भी उनकी उपासना एकान्तिक भाव से न करके द्वैत भाव से करनी चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि अपने को दास मानते हुए पर-ब्रह्म को ही परम आराध्य माने। अतः हम भगवान् ब्रह्मा को साक्षात् वेदज्ञान के रूप में नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में आगत *कर्म-मयम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। वेदों का वचन है—*स्वधर्म-निष्ठः शतजन्मभिः पुमान् विरिञ्चताम् एति*—जो एक सौ जन्मों तक वर्णाश्रम धर्म के नियमों का कठोरता से पालन करता है उसे ब्रह्मा-पद की प्राप्ति होती है। यद्यपि भगवान् ब्रह्मा अत्यन्त शक्तिमान हैं, किन्तु वे कभी भी अपने को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से अभिन्न नहीं मानते, क्योंकि उन्हें यह ज्ञात है कि वे ईश्वर के शाश्वत दास हैं। चूँकि आध्यात्मिक स्तर पर अभिन्न रूप से भगवान् तथा दास एक हैं, इसीलिए ब्रह्मा को यहाँ भगवान् कहा गया है। भगवान् तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण हैं, किन्तु यदि कोई भक्त परम आस्था से उनकी सेवा करता है, तो वैदिक साहित्य का उसे ज्ञान हो जाता है। इसीलिए ब्रह्मा को *ब्रह्मलिंग* कहा जाता है, जिससे यह बोध होता है कि उनका सम्पूर्ण स्वरूप वैदिक ज्ञानमय है।

ऋषिरुवाच

ततः परस्ताल्लोकालोकनामाचलो लोकालोकयोरन्तराले परित उपक्षिप्तः. ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

ततः—मधुर जल के सागर से; परस्तात्—परे, आगे; लोकालोक-नाम—लोकालोक नामक; अचलः—पर्वत; लोक-अलोकयोः अन्तराले—प्रकाश तथा अंधकार से पूर्ण देशों के मध्य में; परितः—चारों ओर; उपक्षिप्तः—विद्यमान है।.

इसके पश्चात् मृदुल जल वाले सागर के आगे तथा इसको पूरी तरह घेरने वाला लोकालोक नामक पर्वत है जो देशों को सूर्य से प्रकाशित तथा अप्रकाशित इन दो भागों में विभाजित कर देता है।

यावन्मानसोत्तरमेर्वोरन्तरं तावती भूमिः काञ्चन्यन्यादर्शतलोपमा यस्यां प्रहितः पदार्थो न कथञ्चित्पुनः प्रत्युपलभ्यते तस्मात्सर्वसत्त्वपरिहृतासीत्. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यावत्—जहाँ तक; मानसोत्तर-मेर्वोः अन्तरम्—मानसोत्तर तथा मेरु के बीच की भूमि (सुमेरु पर्वत के मध्य से प्रारम्भ); तावती—वहाँ तक; भूमिः—भूमि; काञ्चनी—स्वर्णनिर्मित; अन्या—अन्य; आदर्श-तल-उपमा—जिसका तल दर्पण की तरह है; यस्याम्—जिस पर; प्रहितः—गिराई हुई; पदार्थः—वस्तु; न—नहीं; कथञ्चित्—किसी प्रकार से; पुनः—फिर; प्रत्युपलभ्यते—पाई जाती है; तस्मात्—अतः; सर्व-सत्त्व—सारे जीवों द्वारा; परिहृता—परित्यक्त; आसीत्—थी।.

मृदुल जल के सागर से आगे सुमेरु पर्वत के मध्य से लेकर मानसोत्तर पर्वत की सीमा तक जितना अन्तर है उतनी भूमि है। उस भूभाग में अनेक प्राणी रहते हैं। उसके आगे लोकालोक पर्वत तक फैली हुई दूसरी भूमि है जो स्वर्णमय है। स्वर्णमय सतह के कारण यह दर्पण की तरह सूर्य प्रकाश को परावर्तित कर देती है, अतः इसमें गिरी हुई वस्तु पुनः नहीं दिखाई पड़ती। फलतः सभी प्राणियों ने इस स्वर्णमयी भूमि का परित्याग कर दिया है।

लोकालोक इति समाख्या यदनेनाचलेन लोकालोकस्यान्तर्वर्तिनावस्थाप्यते. ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

लोक—प्रकाश(अथवा वासियों) से; अलोकः—प्रकाशरहित (अथवा वासियों से विहीन); इति—इस प्रकार से; समाख्या—पद; यत्—जो; अनेन—इस; अचलेन—पर्वत से; लोक—जीवात्माओं के देश; अलोकस्य—बिना प्राणियों वाले देश का; अन्तर्वर्तिना—मध्य में स्थित; अवस्थाप्यते—स्थित है।.

जीवात्माओं से युक्त तथा बिना प्राणियों वाले देशों के मध्य में एक विशाल पर्वत है जो इन दोनों को पृथक् करता हैं, अतः लोकालोक नाम से विख्यात है।

स लोकत्रयान्ते परित ईश्वरेण विहितो यस्मात्सूर्यादीनां ध्रुवापवर्गाणां ज्योतिर्गणानां गभस्तयोऽर्वाचीनांस्त्रींल्लोकानावितन्वाना न कदाचित्पराचीना भवितुमुत्सहन्ते तावदुन्नहनायामः. ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

सः—वह पर्वत; लोक-त्रय-अन्ते—तीनों लोकों (भूर्लोक, भुवर्लोक तथा स्वर्लोक) के अन्त में; परितः—चारों ओर; ईश्वरेण—भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा; विहितः—सृष्टि की; यस्मात्—जिससे; सूर्य-आदीनाम्—सूर्यलोक का; ध्रुव-अपवर्गाणाम्—ध्रुव तथा अन्य निम्नतर नक्षत्रों तक; ज्योतिः-गणानाम्—समस्त नक्षत्रों का; गभस्तयः—किरणें; अर्वाचीनान्—इस दिशा में; त्रीन्—तीन; लोकान्—लोक; आवितन्वानाः—विस्तीर्ण; न—नहीं; कदाचित्—किसी समय; पराचीनाः—उस पर्वत की सीमा के परे; भवितुम्—होने के लिए; उत्सहन्ते—समर्थ हैं; तावत्—उतना; उन्नहन-आयामः—पर्वत की ऊँचाई की माप।

श्रीकृष्ण की परमेच्छा से लोकालोक नामक पर्वत तीनों लोकों—भूर्लोक, भूवर्लोक तथा स्वर्लोक—की बाहरी सीमा के रूप में स्थापित किया गया है, जिससे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सूर्य की किरणों का नियंत्रण किया जा सके। सूर्य से लेकर ध्रुवलोक एवं सारे नक्षत्र इन तीनों लोकों में इस पर्वत के द्वारा निर्मित सीमा के अन्तर्गत अपनी किरणें बिखेरते हैं। चूँकि यह पर्वत ध्रुवलोक से भी ऊँचा है, अतः यह नक्षत्रों की किरणों को अवरुद्ध कर लेता है, जिससे वे कभी भी इसके बाहर प्रसारित नहीं हो पातीं।

तात्पर्य : लोकत्रय से हमारा प्रयोजन उन तीन लोकों—भूः, भुवः तथा स्वः—से है जिनमें यह ब्रह्माण्ड विभक्त है। इन लोकों को घेरने वाली आठ दिशाएँ हैं, जिनके नाम हैं-पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, उत्तर-पूर्व, दक्षिण-पूर्व, उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम। लोकालोक पर्वत की स्थापना समस्त लोकों की बाह्य सीमा में इसलिए की गई, जिससे सूर्य तथा अन्य नक्षत्रों की किरणें समस्त ब्रह्माण्ड में समान रूप से वितरित हों।

सूर्य की किरणें ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों में जिस प्रकार वितरित होती हैं, इसका यह वर्णन अत्यन्त वैज्ञानिक है। शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को यह विश्वविवरण जैसा अपने पूर्वजों से सुना था कह सुनाया। उन्होंने इन तथ्यों को पाँच हजार वर्ष पूर्व कह सुनाया था, किन्तु यह ज्ञान बहुत काल पहले से उपलब्ध था और श्रीशुकदेव गोस्वामी ने इसे शिष्य परम्परा से प्राप्त किया। परम्परा से प्राप्त होने से यह ज्ञान पूर्ण है। इसके विपरीत आधुनिक विज्ञान का इतिहास कुछ सौ वर्षों से अधिक पुराना नहीं है। अतः यदि आधुनिक विज्ञानी *श्रीमद्भागवत* के अन्य तथ्यों को न भी स्वीकार करें तो भी वे दीर्घकाल से चली आने वाली नक्षत्रविज्ञान सम्बन्धी पूर्ण गणनाओं को कैसे अस्वीकार कर सकते हैं? *श्रीमद्भागवत* से अथाह सूचनाएँ प्राप्त की जा सकती है। किन्तु आधुनिक विज्ञानियों को अन्य लोकों के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं है और वास्तविकता तो यह है कि जिस लोक में हम रह रहे हैं उससे भी वे ठीक से परिचित नहीं हो पाये हैं।

एतावाँल्लोकविन्यासो मानलक्षणसंस्थाभिर्विचिन्तितः कविभिः स तु पञ्चाशत्कोटिगणितस्य भूगोलस्य तुरीयभागोऽयं लोकालोकाचलः. ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

एतावान्—इतना; लोक-विन्यासः—विभिन्न लोकों का वितरण; मान—परिमाप; लक्षण—लक्षण, चिह्न; संस्थाभिः—तथा उनकी विभिन्न स्थितियाँ; विचिन्तितः—वैज्ञानिक गणनाओं द्वारा निश्चित की गई; कविभिः—विद्वानों के द्वारा; सः—वह; तु—लेकिन; पञ्चाशत्-कोटि—पचास करोड़ योजन; गणितस्य—गणना करने पर; भू-गोलस्य—भूगोलक नामक लोक का; तुरीय-भागः—चतुर्थांश; अयम्—यह; लोकालोक-अचलः—लोकालोक नामक पर्वत।

त्रुटि, भ्रम तथा वंचना से मुक्त विद्वानों ने प्रमाण, लक्षण और स्थिति के अनुसार लोकों का इतना ही विस्तार बतलाया है। उन्होंने विचार-विमर्श के बाद यह स्थापना की है कि सुमेरु तथा लोकालोक पर्वत की दूरी ब्रह्माण्ड के व्यास की चतुर्थांश अर्थात् १२,०,००० (साढ़े बारह करोड़) योजन (एक अरब मील) है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने लोकालोक पर्वत की स्थिति, सूर्य गोलक की गतियों तथा सूर्य एवं ब्रह्माण्ड की परिधि के बीच की दूरी के सम्बन्ध में सही-सही ज्योतिषीय वैज्ञानिक जानकारी प्रस्तुत की है। किन्तु ज्योतिर्वेद द्वारा इन गणनाओं में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का अंग्रेजी में अनुवाद कर पाना कठिन है। अत: पाठकों को सन्तुष्ट करने के लिए हम श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर द्वारा संस्कृत में दिए गये कथन को यथावत् उद्धृत कर रहे हैं—

स तु लोकालोकस्तु भूगोलकस्य भूसम्बन्धाण्डगोलकस्येत्यर्थः। सूर्यस्य एव भुवोऽप्य-ण्डगोलकयोर्मध्यवर्तित्वात् खगोलमिव भूगोलमपि पंचाशत्कोटियोजनप्रमाणं तस्य तुरीयभागः सार्धद्वादशकोटियोजनविस्तारोच्छ्राय इत्यर्थः भूस्तु चतुस्त्रिंशल्लक्षोनपञ्चाशतकोटिप्रमाणा ज्ञेया। यथा मेरुमध्यान्मानसोत्तरमध्यपर्यन्तं सार्द्धसप्तपञ्चाशल्लक्षोत्तरकोटियोजनप्रमाणम्। मानसोत्तरमध्यात्स्वादूदकसमुद्रपर्यन्तं षण्णवतिलक्षयोजनप्रमाणं ततः काञ्चनीभूमिः सार्धसप्तपञ्चाशल्लक्षोत्तरकोटियोजनप्रमाणा एवमेकतो मेरुलोकालोकयोरन्तरालमेकादशशल्लक्षाधिकचतुष्कोटिपरिमितमन्यतोऽपि तथत्येतो लोकालोकाल्लोकपर्यन्तं स्थानं द्वाविंशतिलक्षोत्तराष्टकोटिपरिमितं लोकालोकाद्बहिरप्येकतः एतावदेव अन्यतोऽप्येतावदेव यद्वक्ष्यते, योऽन्तर्विस्तार एतेन ह्यलोकपरिमाणं च व्याख्यातं यद्बर्हिर्लोकालोकाचलादित्येकतो लोकालोकः सार्धद्वादशकोटियोजपरिमाणतः अन्यतोऽपि स तथेत्येवं

चतुस्त्रिंशल्लक्षोनपञ्चाशत्कोटिप्रमाणा भूः साब्धिद्वीपपर्वता ज्ञेया। अतएवाण्डगोलकात् सर्वतो दिक्षु सप्तदशलक्षयोजनावकाशे वर्तमाने सति पृथिव्याः शेषनागेन धारणं दिग्गजैश्च निश्चलीकरणं सार्थकं भवेदन्यथा तु व्याख्यान्तरे पञ्चाशतकोटिप्रमाणत्वाद् अण्डगोलकलग्नत्वे तत् तत् सर्वम् अकिंचित्करं स्यात् चाक्षुषे मन्वन्तरे चाकस्मात् मज्जनं श्रीवराहदेवेनोत्थापनं च दुर्घटं स्यादित्यधिकं विवेचनीयम्।

तदुपरिष्टाच्चतसृष्वाशास्वात्मयोनिनाखिलजगद्गुरुणाधिनिवेशिता ये द्विरदपतय ऋषभः पुष्करचूडो वामनोऽपराजित इति सकललोकस्थितिहेतवः. ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तत्-उपरिष्टात्—लोकालोक पर्वत की चोटी पर; चतसृषु आशासु—चारों दिशाओं में; आत्म-योनिना—भगवान् ब्रह्मा द्वारा; अखिल-जगत्-गुरुणा—समस्त ब्रह्माण्ड के गुरु; अधिनिवेशिताः—स्थापित; ये—वे सब; द्विरद-पतयः—हाथियों में श्रेष्ठ; ऋषभः—ऋषभ; पुष्कर-चूडः—पुष्करचूड; वामनः—वामन; अपराजितः—अपराजित; इति—इस प्रकार; सकल-लोक-स्थिति-हेतवः—विश्व के अन्तर्गत विभिन्न लोकों के पालन के कारण।

लोकालोक पर्वत के ऊपर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के परम-गुरु भगवान् ब्रह्मा के द्वारा स्थापित गजों में श्रेष्ठ चार गज-पति हैं। इन गजों के नाम हैं-ऋषभ, पुष्करचूड़, वामन तथा अपराजित। ये ब्रह्माण्ड के लोकों को धारण करते हैं।

तेषां स्वविभूतीनां लोकपालानां च विविधवीर्योपबृंहणाय भगवान्परममहापुरुषो महाविभूतिपतिरन्तर्याम्यात्मनो विशुद्धसत्त्वं धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याद्यष्टमहासिद्ध्युपलक्षणं विष्वक्सेनादिभिः स्वपार्षदप्रवरैः परिवारितो निजवरायुधोपशोभितैर्निजभुजदण्डैः सन्धारयमाणस्तस्मिन्गिरिवरे समन्तात्सकललोकस्वस्तय आस्ते. ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उनमें से; स्व-विभूतीनाम्—जो उनके व्यक्तिगत अंश-विस्तार तथा सेवक हैं; लोक-पालानाम्—जिन पर विश्व के कार्य व्यापारों की देख-रेख का भार है; च—तथा; विविध—नाना प्रकार; वीर्य-उपबृंहणाय—शक्तियों के प्रसार हेतु; भगवान्—श्रीभगवान्; परम-महा-पुरुषः—सभी प्रकार के ऐश्वर्य के आद्य स्वामी, श्रीभगवान्; महा-विभूति-पतिः—समस्त अकल्पनीय शक्तियों के स्वामी; अन्तर्यामी—परमात्मा; आत्मनः—अपना; विशुद्ध-सत्त्वम्—प्रकृति के गुणों से निष्कलुष अस्तित्त्व वाला; धर्म-ज्ञान-वैराग्य—धर्म, ज्ञान तथा वैराग्य का; ऐश्वर्य-आदि—समस्त प्रकार के ऐश्वर्य का; अष्ट—आठ; महा-सिद्धि—तथा महान् सिद्धियाँ; उपलक्षणम्—गुणमय; विष्वक्सेन-आदिभिः—विष्वक्सेन आदि अपने अंश-विस्तार द्वारा; स्व-पार्षद-प्रवरैः—अपने श्रेष्ठ सहायकों से; परिवारितः—घिरे हुए; निज—अपना; वर-आयुध—विभिन्न प्रकार के शस्त्र-अस्त्रों द्वारा; उपशोभितैः—सुशोभित; निज—निजी; भुज-दण्डैः—भुजदण्ड द्वारा; सन्धारयमाणः—इस रूप को प्रकट करके; तस्मिन्—उस समस्त लोकों के कल्याण हेतु; गिरि-वरे—महान् पर्वत; समन्तात्—चारों ओर; सकल-लोक-स्वस्तये—सारे लोकों के लाभ हेतु; आस्ते—है।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् समस्त दिव्य ऐश्वर्य तथा चिदाकाश के स्वामी हैं। वे परम पुरुष हैं अर्थात् भगवान् हैं, वे प्रत्येक प्राणी के परमात्मा हैं। स्वर्ग लोक के राजा इन्द्र के अधीन देवतागण इस भौतिक जगत के कार्यों का निरीक्षण करते हैं। विभिन्न लोकों के प्राणियों के लाभ हेतु तथा उन हाथियों तथा देवताओं की शक्ति को बढ़ाने के लिए भगवान् स्वयं उस पर्वत

की चोटी पर प्रकृति के गुणों से अदूषित दिव्य शरीर धारण करके प्रकट होते हैं। अपने निजी प्रकाश तथा विष्वक्सेन जैसे सहायकों से घिरे रह कर वे अपने पूर्ण ऐश्वर्य (यथा ज्ञान तथा धर्म) एवं अपनी शक्तियों (यथा अणिमा, लघिमा तथा महिमा) को प्रदर्शित करते हैं। वे सुअलंकृत हैं और अपनी चारों भुजाओं में विविध आयुध धारण किये हुए हैं।

आकल्पमेवं वेषं गत एष भगवानात्मयोगमायया विरचितविविधलोकयात्रागोपीयायेत्यर्थ:. ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

आ-कल्पम्—कल्प के अन्त तक; एवम्—इस प्रकार; वेषम्—वेश; गतः—स्वीकार किया; एषः—यह; भगवान्—श्रीभगवान्; आत्म-योग-मायया—अपनी योगमाया से; विरचित—सम्पन्न; विविध-लोक-यात्रा—विभिन्न लोकों का जीवनयापन; गोपीयाय—पालन करने भर को; इति—इस प्रकार; अर्थः—प्रयोजन।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विविध रूप, यथा नारायण तथा विष्णु, विभिन्न आयुधों से अलंकृत हैं। श्रीभगवान् अपनी योगमाया से उत्पन्न समस्त लोकों का पालन करने के लिए इन रूपों को प्रकट करते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (४.६) में भगवान् श्रीकृष्ण का वचन है—*सम्भवाम्यात्ममायया*—मैं अपनी आन्तरिक शक्ति से प्रकट होता हूँ। *आत्ममाया* शब्द से ईश्वर की अपनी शक्ति योगमाया का बोध होता है। अपनी योगमाया से भौतिक तथा वैकुण्ठ जगत दोनों की सृष्टि करने के पश्चात् वे विष्णु तथा देवताओं के विभिन्न रूपों में विस्तारित होकर इसका पालन करते हैं। वे भौतिक सृष्टि का आरम्भ से अन्त तक पालन करते हैं और दिव्य लोक का वे स्वयं पालन करते हैं।

योऽन्तर्विस्तार एतेन ह्यलोकपरिमाणं च व्याख्यातं यद्बहिर्लोकालोकाचलात्; ततः परस्ताद्योगेश्वरगतिं विशुद्धामुदाहरन्ति. ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

यः—वह जो; अन्तः-विस्तारः—लोकालोक पर्वत की आन्तरिक दूरी; एतेन—इससे; हि—ही; अलोक-परिमाणम्—अलोक वर्ष का विस्तार; च—तथा; व्याख्यातम्—वर्णित; यत्—जो; बहिः—बाहर की ओर; लोकालोक-अचलात्—लोकालोक पर्वत से आगे; ततः—वह; परस्तात्—परे, आगे; योगेश्वर-गतिम्—ब्रह्माण्ड के आवरणों को भेदने के लिए योगेश्वर (कृष्ण) का मार्ग; विशुद्धाम्—भौतिक कलुष से रहित; उदाहरन्ति—वे कहते हैं।

हे राजन्, लोकालोक पर्वत के बाहर अलोकवर्ष है जो पर्वत के भीतरी चौड़ाई के विस्तार के बराबर अर्थात् १२,०,००,००० (साढ़े बा रह करोड़) योजन (एक अरब मील) तक विस्तीर्ण है। अलोक वर्ष के परे भौतिक जगत से मुक्ति के इच्छुक व्यक्तियों का गन्तव्य है।

इसको प्रकृति के भौतिक गुण कलुषित नहीं कर पाते, अतः यह पूर्णतया विशुद्ध है। ब्राह्मण के पुत्रों को वापस लाते समय श्रीकृष्ण अर्जुन को इसी स्थान से होकर ले गये थे।

अण्डमध्यगतः सूर्यो द्यावाभूम्योर्यदन्तरम् ।
सूर्याण्डगोलयोर्मध्ये कोट्यः स्युः पञ्चविंशतिः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

अण्ड-मध्य-गतः—ब्रह्माण्ड के मध्य में स्थित; सूर्यः—सूर्य गोलक; द्याव्-आभूम्योः—भूर्लोक तथा भुवर्लोक नामक दो लोक; यत्—जो; अन्तरम्—के मध्य; सूर्य—सूर्य का; अण्ड-गोलयोः—तथा ब्रह्माण्ड के; मध्ये—बीच में; कोट्यः—एक करोड़ के समूह; स्युः—हैं; पञ्च-विंशतिः—पच्चीस।

सूर्य इस ब्रह्माण्ड के मध्य में, भूर्लोक तथा भुवर्लोक के मध्यवर्ती भाग में स्थित है, जिसे अन्तरिक्ष कहते हैं। सूर्य तथा ब्रह्माण्ड की परिधि के बीच की दूरी पच्चीस कोटि योजन (३ अरब मील) है।

तात्पर्य : कोटि शब्द का अर्थ करोड़ है तथा योजन आठ मील के बराबर होता है। इस ब्रह्माण्ड का व्यास पचास करोड़ योजन (चार अरब मील) है। चूँकि सूर्य मध्य में स्थित है, अतः सूर्य से ब्रह्माण्ड के सिरे तक की दूरी पच्चीस करोड़ योजन (दो अरब मील) आँकी गई है।

मृतेऽण्ड एष एतस्मिन्यदभूत्ततो मार्तण्ड इति व्यपदेशः ।
हिरण्यगर्भ इति यद्धिरण्याण्डसमुद्भवः. ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

मृते—मृत; अण्डे—गोलक में; एषः—यह; एतस्मिन्—इसमें; यत्—जो; अभूत्—सृष्टि के समय स्वयं प्रविष्ट हुआ; ततः—उससे; मार्तण्ड—मार्तण्ड; इति—इस प्रकार; व्यपदेशः—नाम; हिरण्य-गर्भः—हिरण्यगर्भ नाम से विख्यात; इति—इस प्रकार; यत्—क्योंकि; हिरण्य-अण्ड-समुद्भवः—उनकी देह हिरण्यगर्भ से उत्पन्न हुई।

सूर्यदेव वैराज अर्थात् समस्त जीवात्माओं के लिए सम्पूर्ण भौतिक शरीर भी कहलाते हैं। ब्रह्माण्ड की सृष्टि के समय ब्रह्माण्ड के अण्डे के भीतर प्रवेश करने के कारण वे मार्तण्ड भी कहलाते हैं। हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) से भौतिक शरीर प्राप्त करने के कारण वे हिरण्यगर्भ भी कहलाते हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा का पद परम पूर्णता प्राप्त तथा आध्यात्मिकता में उन्नत जीवों के लिए है। ऐसे जीवों के अभाव में विष्णु भगवान् अपना विस्तार ब्रह्मा के रूप में करते हैं, किन्तु ऐसा विरले ही होता है। फलतः ब्रह्मा दो प्रकार के हैं—कभी वे सामान्य जीवात्मा के रूप में रहते हैं, तो कभी श्रीभगवान्

के रूप में। यहाँ पर सामान्य ब्रह्मा का उल्लेख हुआ है। ब्रह्मा चाहे जिस रूप में हों वे वैराज ब्रह्मा तथा हिरण्यगर्भ ब्रह्मा कहे जाते हैं। इसीलिए सूर्यदेव को भी वैराज ब्रह्मा के रूप में माना गया है।

सूर्येण हि विभज्यन्ते दिशः खं द्यौर्मही भिदा ।
स्वर्गापवर्गौ नरका रसौकांसि च सर्वशः ॥ ४॥

शब्दार्थ

सूर्येण—सूर्यदेव द्वारा; हि—ही; विभज्यन्ते—विभाजित हैं; दिशः—दिशाएँ; खम्—आकाश; द्यौः—स्वर्गलोक; मही—पृथ्वीलोक; भिदा—अन्य वर्गीकरण; स्वर्ग—स्वर्गलोक; अपवर्गौ—मुक्ति के लिए स्थान; नरकाः—नरकलोक; रसौकांसि—यथा अतल; च—भी; सर्वशः—सभी।

हे राजन्, सूर्यदेव तथा सूर्यलोक ब्रह्माण्ड की समस्त दिशाओं को विभाजित करते हैं। सूर्य की उपस्थिति के ही कारण हम समझ पाते हैं कि आकाश, स्वर्गलोक, यह संसार तथा पाताललोक क्या हैं। सूर्य के ही कारण हम जान पाते हैं कि भोग या मोक्ष के स्थान कौन-कौन से हैं और कौन से नरक तथा अतल आदि लोक हैं।

देवतिर्यङ्मनुष्याणां सरीसृपसवीरुधाम् ।
सर्वजीवनिकायानां सूर्य आत्मा दृगीश्वरः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

देव—देवताओं; तिर्यक्—निम्न पशुओं; मनुष्याणाम्—तथा मनुष्यों का; सरीसृप—कीट तथा सर्प; स-वीरुधाम्—तथा पेड़-पौधे; सर्व-जीव-निकायानाम्—समस्त जीव समूहों का; सूर्यः—सूर्यदेव; आत्मा—प्राण तथा आत्मा; दृक्—नेत्र के; ईश्वरः—भगवान्।

सूर्यलोक से सूर्यदेव द्वारा प्रदान की जा रही उष्मा तथा प्रकाश पर ही समस्त जीवात्माएँ, जिनमें देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, रेंगनेवाले जीव, लताएँ तथा वृक्ष सम्मिलित हैं, निर्भर हैं। सूर्य की ही उपस्थिति में सभी प्राणी देख सकते हैं, इसीलिए वह दृग्-ईश्वर अर्थात् दृष्टि के ईश्वर कहलाते हैं।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का कथन है—*सूर्य आत्मा आत्मत्वेनोपास्यः।* इस ब्रह्माण्ड में सूर्य ही समस्त प्राणियों का जीवन और आत्मा है। इसीलिए वह उपास्य है। हम सूर्यदेव की उपासना गायत्री मंत्र के जप (*ॐ भुर्भुवः स्वः तत्सवितुवरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि*) द्वारा करते हैं। सूर्य इस ब्रह्माण्ड का उसी प्रकार जीवन और आत्मा है, जिस प्रकार श्रीभगवान् इस समस्त सृष्टि के हैं। ऐसे असंख्य ब्रह्माण्ड हैं जिन के लिए सूर्य देव जीवन और आत्मा

हैं। हमें ज्ञात है कि वैराज, हिरण्यगर्भ ने सूर्य नामक विशाल भौतिक गोलक में प्रवेश किया। अत: तथाकथित वैज्ञानिकों का यह कथन है कि वहाँ कोई नहीं वास करता, असत्य है। श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* में कहा है कि उन्होंने सर्वप्रथम सूर्यदेव को गीता का उपदेश दिया (*इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्*)। अत: सूर्य रिक्त नहीं है। इसमें जीवात्माएँ निवास करती हैं और इसका प्रधान श्रीविग्रह वैराज अथवा विवस्वान् है। पृथ्वी तथा सूर्य में यही अन्तर है कि सूर्य अग्निमय लोक है, किन्तु वहाँ के प्राणी अनुकूल शरीर धारण करके बिना कठिनाई के वहाँ निवास कर सकते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''ब्रह्माण्ड की रचना का विश्लेषण'' नामक बीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter इक्कीस

सूर्य की गतियों का वर्णन

इस अध्याय में सूर्य की गतियों का वर्णन हुआ है। सूर्य स्थिर नहीं है, यह भी अन्य ग्रहों की भाँति गतिमान है। सूर्य की गतियों से दिन और रात्रि की अवधि का निर्धारण होता है। जब सूर्य विषुवत् रेखा के उत्तर में यात्रा करता है, तो वह दिन में अत्यन्त मन्द तथा रात्रि में अत्यन्त तेजी से गति करता है, जिससे दिन बड़े और रातें छोटी होती हैं। इसी प्रकार जब सूर्य विषुवत् रेखा के दक्षिण में गति करता है, तो इसके विपरीत होता है—दिन छोटे तथा रातें लम्बी होती हैं। जब सूर्य कर्क राशि में प्रवेश करके सिंह राशि से होता हुआ धनु राशि में पहुँचता है, तो उसके पथ को दक्षिणायन कहा जाता है। इसी प्रकार जब सूर्य मकर राशि में प्रवेश करके कुम्भ राशि से होता हुआ मिथुन राशि में पहुँचता है, तो इस पथ को उत्तरायण कहते हैं। जब सूर्य मेष तथा तुला राशियों में रहता है, तो दिन और रात समान होते हैं।

मानसोत्तर पर्वत में चार देवताओं का निवास है। सुमेरु पर्वत के पूर्व स्थित देवधानी में राजा इन्द्र का तथा सुमेरु के दक्षिण स्थित संयमनी में मृत्यु के अधीक्षक यमराज का वास है। इसी प्रकार सुमेरु के पश्चिम निम्लोचनी में जल के स्वामी वरुण का आवास है। सुमेरु के उत्तर में विभावरी है जहाँ चन्द्र देवता निवास करता है। इन सभी स्थानों में सूर्य की गति के कारण प्रात:, मध्याह्न, सूर्यास्त तथा

अर्धरात्रि होती है। सूर्योदय के स्थान के ठीक सामने सूर्यास्त होता है। इसी प्रकार जहाँ मध्याह्न है उसके ठीक सामने की ओर के प्राणी अर्धरात्रि का अनुभव करते हैं। सूर्य अन्य समस्त ग्रहों समेत, जिनमें चन्द्रमा तथा अन्य नक्षत्र प्रमुख हैं, उदय और अस्त होता रहता है।

सम्पूर्ण कालचक्र सूर्यदेव के रथ के चक्र पर स्थापित है। यह चक्र संवत्सर कहलाता है। सूर्य के रथ को खींचने वाले सातों अश्व गायत्री, बृहती, उष्णिक्, जगती, त्रिष्टुप, अनुष्टुप तथा पंक्ति कहलाते हैं। वे अरुणदेव नामक देवता द्वारा ९,००,००० योजन चौड़े जुए में जोते जाते हैं। इस प्रकार यह रथ आदित्यदेव अथवा सूर्यदेव को ले जाता है। सूर्यदेव के समक्ष सदैव स्तुति करते हुए वालिखिल्य नामक साठ हजार ऋषि रहते हैं। प्रत्येक मास सूर्यदेव के माध्यम से विभिन्न नामों से श्रीभगवान् की आराधना करने वाले चौदह गंधर्व, अप्सराएँ तथा सात श्रेणियों में विभक्त अनेक देवता हैं। इस प्रकार सूर्यदेव १६,००४ मील प्रति क्षण की गति से इस ब्रह्माण्ड की ९,१,००,००० योजन (७६०,८००,००० मील) की प्रदक्षिणा करता है।

श्रीशुक उवाच
एतावानेव भूवलयस्य सन्निवेशः प्रमाणलक्षणतो व्याख्यातः. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एतावान्—इतना; एव—ही; भू-वलयस्य सन्निवेशः—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की योजना; प्रमाण-लक्षणतः—लक्षणों तथा माप के अनुसार (पचास करोड़ योजन या ४ अरब लम्बाई तथा चौड़ाई); व्याख्यातः—अनुमान किया गया।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे राजन्, मैंने यहाँ तक आपसे विद्वानों के अनुमानों के आधार पर ब्रह्माण्ड के व्यास (पचास करोड़ योजन या ४ अरबमील) तथा इसके सामान्य लक्षणों का वर्णन किया है।

एतेन हि दिवो मण्डलमानं तद्विद उपदिशन्ति यथा द्विदलयोर्निष्पावादीनां ते अन्तरेणान्तरिक्षं तदुभयसन्धितम्. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

एतेन—इस अनुमान के आधार पर; हि—निस्सन्देह; दिवः—स्वर्गलोक का; मण्डल-मानम्—गोलक का परिमाण(माप); तत्-विदः—इसको जानने वाले विद्वज्जन; उपदिशन्ति—उपदेश देते हैं; यथा—जिस प्रकार; द्वि-दलयोः—दो अर्द्धभागों में; निष्पाव-आदीनाम्—अन्न के दाने यथा गेहूँ के; ते—दो विभागों का; अन्तरेण—बीच के स्थान में; अन्तरिक्षम्—आकाश या बाह्य-आकाश; तत्—दोनों के द्वारा; उभय—दोनों ओर; सन्धितम्—जहाँ दोनों भाग जुड़े हैं।

जिस प्रकार गेहूँ के दाने को भागों में विभाजित कर देने पर निचले भाग के परिमाण

(आकार) का ज्ञान होने पर ऊपरी भाग का पता लगाया जाता है उसी प्रकार भूगोलवेत्ताओं का कहना है कि इस ब्रह्माण्ड के ऊपरी भाग की माप को तभी समझा जा सकता है, जब निचले भाग की माप ज्ञात हो। भूलोक तथा द्युलोक के बीच का आकाश अन्तरिक्ष अथवा बाह्य-आकाश कहलाता है। यह भूलोक की चोटी तथा द्युलोक के निचले भाग को जोड़ता है।

यन्मध्यगतो भगवांस्तपतां पतिस्तपन आतपेन त्रिलोकीं प्रतपत्यवभासयत्यात्मभासा स एष
उदगयनदक्षिणायनवैषुवतसंज्ञाभिर्मान्द्यशैघ्र्यसमानाभिर्गतिभिरारोहणावरोहणसमानस्थानेषु
यथासवनमभिपद्यमानो मकरादिषु राशिष्वहोरात्राणि दीर्घह्रस्वसमानानि विधत्ते. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिस (मध्यावकाश) का; मध्य-गतः—मध्य में स्थित होने से; भगवान्—सर्वशक्तिमान; तपताम् पतिः—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को तपाने वालों का स्वामी; तपनः—सूर्यः; आतपेन—ताप से; त्रि-लोकीम्—तीनों लोकों को; प्रतपति—तप्त करता है; अवभासयति—प्रकाशित करता है; आत्म-भासा—अपनी भास्कर किरणों से; सः—वह; एषः—सूर्यगोलक; उदगयन—विषुवत रेखा के उत्तर की ओर गमन का; दक्षिण-अयन—विषुवत रेखा के दक्षिण गमन का; वैषुवत—अथवा विषुवत रेखा पार करने का; संज्ञाभिः—विभिन्न नामों से; मान्द्य—मन्दता से; शैघ्र्य—शीघ्रता से; समानाभिः—तथा समानता से; गतिभिः—गति से; आरोहण—ऊपर जाने; अवरोहण—नीचे जाने की; समान—मध्य में स्थित रहने की; स्थानेषु—स्थितियों में; यथा-सवनम्—श्रीभगवान् की आज्ञानुसार; अभिपद्यमानः—गति करते हुए; मकर-आदिषु—मकर आदि; राशिषु—विभिन्न राशियों में; अहः-रात्राणि—दिन तथा रात्रियाँ; दीर्घ—लम्बे; ह्रस्व—छोटे; समानानि—समान; विधत्ते—करता है।

उस अन्तरिक्ष के मध्य में ताप उत्पन्न करने वाले समस्त ग्रहों का राजा परम तेजवान सूर्य है जो अपने प्रकाश से समस्त ब्रह्माण्ड को तप्त करता है और उसको वास्तविक स्वरूप प्रदान करता है। यह समस्त जीवात्माओं को प्रकाश प्रदान करता है, जिससे वे देख पाते हैं। श्रीभगवान् की आज्ञानुसार वह उत्तरायण, दक्षिणायन होकर या विषुवत रेखा को पार करते हुए मन्द, शीघ्र और मध्यम गतियों से घूमता हुआ समयानुसार मकरादि राशियों में ऊँचे-नीचे और समान स्थानों में जाकर दिन तथा रात को बड़ा, छोटा या समान बनाता है।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* (.२) में भगवान् ब्रह्मा की स्तुति है—

यच्चक्षुरेष सवितासकलग्रहाणां

राजा समस्तसुरमूर्तिरशेषतेजाः ।

यस्याज्ञया भ्रमति संवृतकालचक्रो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

"मैं उन आदिदेव पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् गोविन्द की आराधना करता हूँ, जिनके नियंत्रण में ईश्वर

के नेत्र माने जाने वाले सूर्य भी काल की स्थिर कक्ष्या में घूमते हैं। सूर्य समस्त लोकों का राजा है और उसमें असीम ताप तथा प्रकाश-शक्ति है।" यद्यपि सूर्य को भगवान् अर्थात् सर्वशक्तिमान कहा गया है और सचमुच ही यह इस ब्रह्माण्ड का सर्वशक्तिमान ग्रह है फिर भी इसे गोविन्द अर्थात् श्रीकृष्ण का आदेश-पालन करना होता है। सूर्यदेव अपनी निर्धारित परिधि से एक इंच भी विचलित नहीं हो सकते। इसलिए प्रत्येक क्षेत्र में श्रीभगवान् के परमादेश का पालन होता है। सम्पूर्ण भौतिक प्रकृति उनके आदेश का पालन करती है। किन्तु अज्ञानवश हम प्रकृति की क्रियाओं के पीछे भगवान् को तथा उनके परमादेश को नहीं समझ पाते। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है— *मयाध्यक्षेण प्रकृतिः* अर्थात् यह भौतिक प्रकृति ईश्वर के आदेशों का पालन करती है, जिससे सभी वस्तुओं का नियमन होता है।

यदा मेषतुलयोर्वर्तते तदाहोरात्राणि समानानि भवन्ति यदा वृषभादिषु पञ्चसु च राशिषु चरति तदाहान्येव वर्धन्ते ह्रसति च मासि मास्येकैका घटिका रात्रिषु. ॥ ४॥

शब्दार्थ

यदा—जब; मेष-तुलयोः—मेष तथा तुला राशियों में; वर्तते—सूर्य रहता है; तदा—उस समय; अहः-रात्राणि—दिन तथा रातें; समानानि—समान अवधि की; भवन्ति—होती हैं; यदा—जब; वृषभ-आदिषु—वृषभ, मिथुन आदि; पञ्चसु—पाँच; च—भी; राशिषु—राशियों में; चरति—घूमता है; तदा—उस समय; अहानि—दिन; एव—निश्चय ही; वर्धन्ते—बढ़ते हैं; ह्रसति—घटते हैं; च—भी; मासि मासि—प्रत्येक मास में; एक-एका—एक; घटिका—आधा घंटा; रात्रिषु—रातों में।.

जब सूर्य मेष या तुला राशि पर आता है, तो दिन और रात की अवधि समान हो जाती है। जब यह वृषभ इत्यादि पाँचों राशियों पर से गुजरता है, तो दिन (कर्क तक) बढ़ता जाता है और तब प्रति मास आधा घंटा घटता रहता है, जब तक दिन तथा रात्रि पुनः (तुला में) समान नहीं हो जाते।

यदा वृश्चिकादिषु पञ्चसु वर्तते तदाहोरात्राणि विपर्ययाणि भवन्ति. ॥ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; वृश्चिक-आदिषु—वृश्चिक इत्यादि; पञ्चसु—पाँच; वर्तते—रहता है; तदा—उस काल; अहः-रात्राणि—दिन तथा रात; विपर्ययाणि—इसके विपरीत (दिन घटता और रात बढ़ती है); भवन्ति—होते हैं।.

जब सूर्य वृश्चिक इत्यादि पाँच राशियों से होकर गुजरता है, तो दिन घटता है (जब तक यह मकर राशि पर नहीं आ जाता) और फिर क्रमशः मास प्रति मास बढ़ता जाता है जब तक दिन और रात समान (मेष पर) नहीं हो जाते।

यावद्दक्षिणायनमहानि वर्धन्ते यावदुदगयनं रात्रयः. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; दक्षिण-अयनम्—सूर्य दक्षिण को चला जाता है; अहानि—दिन; वर्धन्ते—बढ़ते हैं; यावत्—जब तक; उदगयनम्—सूर्य उत्तर को जाता है (उत्तरायण); रात्रयः—रातें।

सूर्य के दक्षिणायन होने तक दिन बढ़ते रहते हैं और उत्तरायण होने तक रातें लम्बी होती जाती हैं।

एवं नव कोटय एकपञ्चाशल्लक्षाणि योजनानां मानसोत्तरगिरिपरिवर्तनस्योपदिशन्ति तस्मिन्नैन्द्रीं पुरीं पूर्वस्मान्मेरोर्देवधानीं नाम दक्षिणतो याम्यां संयमनीं नाम पश्चाद्वारुणीं निम्लोचनीं नाम उत्तरतः सौम्यां विभावरीं नाम तासूदयमध्याह्नास्तमयनिशीथानीति भूतानां प्रवृत्तिनिवृत्तिनिमित्तानि समयविशेषेण मेरोश्चतुर्दिशम्. ॥ ७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; नव—नौ; कोटयः—करोड़; एक-पञ्चाशत्—इक्यावन; लक्षाणि—लाख; योजनानाम्—योजनों का; मानसोत्तर-गिरि—मानसोत्तर पर्वत की; परिवर्तनस्य—परिक्रमा का; उपदिशन्ति—वे (विद्वान) उपदेश देते हैं; तस्मिन्—उस पर्वत पर; ऐन्द्रीम्—इन्द्र की; पुरीम्—पुरी, नगर; पूर्वस्मात्—पूर्व दिशा में; मेरोः—सुमेरु पर्वत की; देवधानीम्—देवधानी; नाम—नामक; दक्षिणतः—दक्षिण दिशा में; याम्याम्—यमराज का; संयमनीम्—संयमनी; नाम—नामक; पश्चात्—पश्चिम दिशा में; वारुणीम्—वरुण का; निम्लोचनीम्—निम्लोचनी; नाम—नामक; उत्तरतः—उत्तर दिशा में; सौम्याम्—चन्द्रमा का; विभावरीम्—विभावरी; नाम—नामक; तासु—इन सबों में; उदय—सूर्योदय; मध्याह्न—दोपहर; अस्तमय—सूर्यास्त; निशीथानि—अर्धरात्रि; इति—इस प्रकार; भूतानाम्—जीवात्माओं की; प्रवृत्ति—क्रियाशीलता; निवृत्ति—क्रियाशीलता का अन्त; निमित्तानि—कारण; समय-विशेषेण—विशेष समय द्वारा; मेरोः—सुमेरु पर्वत की; चतुः-दिशम्—चारों दिशाएँ।

श्रीशुकदेव गोस्वामी आगे बोले—हे राजन्, जैसा पहले कह चुका हूँ पण्डितों का कहना है कि मानसोत्तर पर्वत के चारों ओर सूर्य का परिक्रमा-पथ ९,१,००,०० ० (नौ करोड़ इक्यावन लाख) योजन (७६ करोड़ आठ लाख मील) है। मानसोत्तर पर्वत पर मेरु के पूर्व की ओर इन्द्र की देवधानी, दक्षिण में यमराज की संयमनी, पश्चिम में वरुण की निम्लोचनी तथा उत्तर में चन्द्रमा की विभावरी नामक पुरियाँ स्थित हैं। इन सभी पुरियों में मेरु के चारों ओर विशिष्ट कालों के अनुसार सूर्योदय, मध्याह्न, सूर्यास्त तथा अर्धरात्रि होती रहती है और तदनुसार समस्त जीवात्माएँ अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त अथवा निवृत्त होती रहती हैं।

तत्रत्यानां दिवसमध्यङ्गत एव सदादित्यस्तपति सव्येनाचलं दक्षिणेन करोति; यत्रोदेति तस्य ह समानसूत्रनिपाते निम्लोचति यत्र क्वचन स्यन्देनाभितपति तस्य हैष समानसूत्रनिपाते प्रस्वापयति तत्र गतं न पश्यन्ति ये तं समनुपश्येरन्. ॥ ८९॥

शब्दार्थ

तत्रत्यानाम्—मेरु पर्वत पर रहने वाली जीवात्माओं के लिए; दिवस-मध्यङ्गतः—मध्याह्नकालीन; एव—ही; सदा—सदैव; आदित्यः—सूर्य; तपति—तपता है; सव्येन—वाम दिशा को; अचलम्—सुमेरु पर्वत; दक्षिणेन—दक्षिण को (दक्षिण को बहते पवन से प्रेरित होकर सूर्य दक्षिण को जाता है); करोति—चलता है; यत्र—जहाँ; उदेति—उदय होता है; तस्य—उस स्थान का;

ह—निश्चय ही; समान-सूत्र-निपाते—सर्वथा विपरीत दिशा वाले बिन्दु पर ठीक दूसरी ओर; निम्लोचति—सूर्यास्त होता है; यत्र—जहाँ; क्वचन—कहीं; स्यन्देन—पसीने से; अभितपति—तपता है (मध्याह्न में); तस्य—उसका; ह—ही; एषः—यह (सूर्य); समान-सूत्र-निपाते—एकदम विपरीत बिन्दु पर ठीक दूसरी ओर; प्रस्वापयति—सूर्य सुलाता है (अर्द्धरात्रि में); तत्र—वहाँ; गतम्—गया हुआ; न पश्यन्ति—नहीं देखते; ये—जो; तम्—सूर्यास्त; समनुपश्येरन्—देखते हुए।

सुमेरु पर्वत पर रहने वाले प्राणी मध्याह्न के समय सदा ही अत्यन्त तप्त होते हैं, क्योंकि सूर्यदेव सदैव उनके सिर के ऊपर रहता है। यद्यपि सूर्य घड़ी की विपरीत दिशा में सुमेरु पर्वत को अपने बाईं ओर छोड़ता हुआ जाता है, किन्तु यह घड़ी की दिशा में भी घूमता है, जिससे पर्वत उसके दाईं ओर रहता दिखता है, क्योंकि उस पर दक्षिणावर्त पवन का प्रभाव पड़ता है। जहाँ सर्वप्रथम उदय होता सूर्य दिखता है, उसके ठीक दूसरी ओर वह अस्त होता दिखता है। उससे होकर एक सीधी रेखा खींची जाये तो इस रेखा के दूसरे सिरे के प्राणी मध्यरात्रि का अनुभव कर रहे होंगे। इसी प्रकार यदि अस्ताचल के प्राणी अपनी ठीक दूसरी ओर स्थित देशों में जायें तो उन्हें सूर्य उसी स्थिति में नहीं मिलेगा।

यदा चैन्द्र्याः पुर्याः प्रचलते पञ्चदशघटिकाभिर्याम्यां सपादकोटिद्वयं योजनानां सार्धद्वादशलक्षाणि साधिकानि चोपयाति. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; च—तथा; ऐन्द्र्याः—इन्द्र की; पुर्याः—पुरी से; प्रचलते—चलता है, गति करता है; पञ्चदश—पन्द्रह; घटिकाभिः—आधे घंटे की अवधि (वस्तुतः चौबीस मिनट); याम्याम्—यमराज के आवास तक; सपाद-कोटि-द्वयम्—सवा दो करोड़ (२,२००,०००) ; योजनानाम्—योजनों का; सार्ध—तथा आधा; द्वादश-लक्षाणि—बारह लाख; साधिकानि—पचास हजार अधिक; च—तथा; उपयाति—ऊपर से जाता है।

सूर्य इन्द्र की पुरी देवधानी से यमराज की पुरी संयमनी तक पन्द्रह घड़ियों (छः घंटे) में कुल मिलाकर २,३७,७००० योजन (१९, ०२,००,०००) की यात्रा करता है।

तात्पर्य : *साधिकानि* शब्द से *पंचविंशति-सहस्राधिकानि* अथवा २००० योजन की दूरी का अर्थ निकलता है। इस प्रकार इन दोनों पुरियों की दूरी जिसकी सूर्य यात्रा करता है दो करोड़ पचास लाख और साड़े बारह लाख योजन है। यह दूरी २,३७, ७००० योजन अथवा १९,०२,००,००० मील है। सूर्य की पूरी परिक्रमा इस दूरी की चौगुनी अर्थात् ९,१,००,००० योजन (७६,०८,००,००० मील) है।

एवं ततो वारुणीं सौम्यामैन्द्रीं च पुनस्तथान्ये च ग्रहाः सोमादयो नक्षत्रैः सह ज्योतिश्चक्रे समभ्युद्यन्ति सह वा निम्लोचन्ति. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; ततः—वहाँ से; वारुणीम्—वरुण की पुरी तक; सौम्याम्—पुरी जहाँ चन्द्रमा निवास करता है; ऐन्द्रीं च—और वह पुरी जहाँ इन्द्र निवास करता है; पुनः—फिर; तथा—इस तरह; अन्ये—अन्य; च—भी; ग्रहाः—ग्रह; सोम-आदयः—चन्द्रमा इत्यादि; नक्षत्रैः—सभी नक्षत्रों के; सह—साथ; ज्योतिः-चक्रे—स्वर्गीय गोलक में; समभ्युद्यन्ति—उदय होते हैं; सह—के साथ; वा—अथवा; निम्लोचन्ति—अस्त होते हैं।

सूर्य यमराज की पुरी से वरुण की पुरी निम्लोचनी पहुँचता है और फिर वहाँ से चन्द्रदेव की पुरी विभावरी से होते हुए पुनः इन्द्रपुरी पहुँच जाता है। इसी प्रकार चन्द्रमा अन्यत्र नक्षत्रों तथा ग्रहों सहित ज्योतिश्चक्र में उदित और अस्त होता रहता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१०.२१) में श्रीकृष्ण कहते हैं—*नक्षत्राणां अहं शशी*—"मैं नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ।" इससे यह सूचित होता है कि चन्द्रमा अन्य नक्षत्रों के समान है। वैदिक साहित्य से विदित होता है कि इस ब्रह्माण्ड में एक ही सूर्य है जो गतिवान है। वैदिक साहित्य से इस पाश्चात्य सिद्धान्त की पुष्टि नहीं हो पाती कि आकाश के सभी ज्योतिपुंज विभिन्न सूर्य हैं। न ही हम यह मान सकते हैं कि ये नक्षत्र अन्य ब्रह्माण्डों के सूर्य हैं, क्योंकि प्रत्येक ब्रह्माण्ड के चारों ओर भौतिक तत्त्वों के अनेक स्तर होते हैं और इस प्रकार यद्यपि अनेक ब्रह्माण्ड संपुंजित हैं, किन्तु तो भी हम एक ब्रह्माण्ड से दूसरे को नहीं देख पाते। तात्पर्य यह है कि हम केवल इसी ब्रह्माण्ड के भीतर देख सकते हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्ड का एक ब्रह्मा होता है और अन्य ग्रहों पर भी देवता हैं, किन्तु सूर्य केवल एक है।

एवं मुहूर्तेन चतुस्त्रिंशल्लक्षयोजनान्यष्टशताधिकानि सौरो रथस्त्रयीमयोऽसौ चतसृषु परिवर्तते पुरीषु. ॥ १२॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; मुहूर्तेन—एक मुहूर्त(४८ मिनट) में; चतुः-त्रिंशत्—चौंतीस; लक्ष—लाख; योजनानि—योजन; अष्ट-शताधिकानि—आठ सौ और; सौरः रथः—सूर्यदेव का रथ; त्रयी-मयः—जो गायत्री मंत्र द्वारा पूजित है.); असौ—वह; चतसृषु—चारों से होकर; परिवर्तते—घूमता है; पुरीषु—पुरियों से होकर।

इस प्रकार त्रयीमय अर्थात् ॐ भूर्भुवः स्वः शब्दों द्वारा पूजित सूर्यदेव का रथ ऊपर वर्णित चारों पुरियों से होकर एक मुहूर्त में ३४,००,८०० योजन (२,७२,०६,४०० मील) की गति से घूमता रहता है।

यस्यैकं चक्रं द्वादशारं षण्नेमि त्रिणाभि संवत्सरात्मकं समामनन्ति तस्याक्षो मेरोर्मूर्धनि कृतो मानसोत्तरे कृतेतरभागो यत्र प्रोतं रविरथचक्रं तैलयन्त्रचक्रवद्भ्रमन्मानसोत्तरगिरौ परिभ्रमति. ॥ १३॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; एकम्—एक; चक्रम्—चक्र; द्वादश—बारह; अरम्—अरे, तीलियाँ; षट्—छ:; नेमि—नेमि (रिम); त्रि-णाभि—नाभि (हब) के तीन खंड (आँवन); संवत्सर-आत्मकम्—संवत्सर स्वरूप; समामनन्ति—पूर्णतया वर्णन करते हैं; तस्य—सूर्यदेव का रथ; अक्षः—धुरी (एक्सल); मेरोः—सुमेरु पर्वत की; मूर्धनि—चोटी पर; कृतः—स्थिर; मानसोत्तरे—मानसोत्तर पर्वत पर; कृत—जड़ा हुआ, लगा; इतर-भागः—दूसरा सिरा; यत्र—जहाँ; प्रोतम्—लगा हुआ; रवि-रथ-चक्रम्—सूर्यदेव के रथ का चक्र; तैल-यन्त्र-चक्र-वत्—कोल्हू के समान; भ्रमत्—घूमते हुए; मानसोत्तर-गिरौ—मानसोत्तर पर्वत पर; परिभ्रमति—घूमता है।.

सूर्यदेव के रथ में एक ही चक्र है, जिसे संवत्सर कहते हैं। बारहों महीने इसके बारह अरे, छह ऋतु, छः नेमियाँ (हाल) तथा तीन चार्तुमास इसके तीन भागों में विभाजित आँवने (नाभि) हैं। चक्र को धारण करने वाले धुरे का एक सिरा सुमेरु पर्वत की चोटी पर और दूसरा सिरा मानसोत्तर पर्वत पर टिका है। धुरे के बाहरी सिरे पर लगा यह पहिया कोल्हू के चक्र की भाँति निरन्तर मानसोत्तर पर्वत के चक्कर लगाता है।

तस्मिन्नक्षे कृतमूलो द्वितीयोऽक्षस्तुर्यमानेन सम्मितस्तैलयन्त्राक्षवद्ध्रुवे कृतोपरिभागः. ॥ १४॥

शब्दार्थ

तस्मिन् अक्षे—उस धुरे में; कृत-मूलः—जिसका मूल भाग लगा है; द्वितीयः—दूसरा; अक्षः—धुरा; तुर्यमानेन—चौथाई; सम्मितः—मापा गया; तैल-यन्त्र-अक्ष-वत्—कोल्हू के धुरे के समान; ध्रुवे—ध्रुव लोक तक; कृत—लगा हुआ; उपरि-भागः—ऊपरी भाग।.

कोल्हू के समान यह पहली धुरी एक दूसरी धुरी में लगी है जो इसकी चौथाई के बराबर लम्बी (३९,३७,०० योजन अथवा ३,१००,००० मील) है। इस द्वितीय धुरी का ऊपरी भाग वायु की रस्सी द्वारा ध्रुवलोक से जुड़ा है।

रथनीडस्तु षट्त्रिंशल्लक्षयोजनायतस्तत्तुरीयभागविशालस्तावान्रविरथयुगो यत्र हयाश्छन्दोनामानः सप्तारुणयोजिता वहन्ति देवमादित्यम्. ॥ १॥

शब्दार्थ

रथ-नीडः—रथ का भीतरी भाग; तु—लेकिन; षट्-त्रिंशत्-लक्ष-योजन-आयतः—३६,००,००० योजन लम्बा; तत्-तुरीय-भाग—इसका चौथाई भाग (९,००,००० योजन); विशालः—चौड़ाई वाला; तावान्—तथा इतना ही; रवि-रथ-युगः—घोड़े के लिए जुआँ; यत्र—जहाँ; हयाः—घोड़े; छन्दः-नामानः—वैदिक छन्दों के विभिन्न नाम वाले; सप्त—सात; अरुण-योजिताः—अरुणदेव द्वारा नाधे गये; वहन्ति—ले जाते हैं; देवम्—देवता; आदित्यम्—सूर्यदेव को।.

हे राजन्, रथ का भीतरी भाग ३६,००,००० योजन (२,८८,००,००० मील) लम्बा तथा इसका एक चौथाई चौड़ा ९,००,००० योजन तथा ७२,००,०००) है। रथ के घोड़ों के नाम गायत्री आदि वैदिक छन्दों पर रखे गये हैं और उन्हें अरुणदेव ऐसे जुएँ में जोतता है जो ९,००,००० योजन चौड़ा है। यह रथ लगातार सूर्यदेव को लिये रहता है।

तात्पर्य : *विष्णु पुराण* में कहा गया है—

गायत्री च बृहत्युष्णिग् जगती त्रिष्टुपेव च।

अनुष्टुप-पंक्तिरित्युक्ताश्छंदांसि हरयो रवे: ॥

सूर्यदेव के रथ में जुते सातों घोड़े गायत्री, बृहति, जगती, उष्णिक्, त्रिष्टुप, अनुष्टुप तथा पंक्ति कहलाते हैं। विभिन्न वैदिक छन्द सूर्य के रथ को खींचने वाले सातों अश्वों के परिचायक हैं।

पुरस्तात्सवितुररुणः पश्चाच्च नियुक्तः सौत्ये कर्मणि किलास्ते. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

पुरस्तात्—सम्मुख; सवितुः—सूर्यदेव के; अरुणः—अरुण नामक देवता; पश्चात्—पीछे देखता हुआ; च—तथा; नियुक्तः—संलग्न; सौत्ये—रथ के; कर्मणि—कार्य में; किल—निश्चय ही; आस्ते—रहता है।

यद्यपि अरुणदेव सूर्यदेव के सम्मुख बैठ कर रथ को हाँकते हैं तथा घोड़ों को वश में रखते हैं, तो भी वे पीछे की ओर सूर्यदेव को देखते रहते हैं।

तात्पर्य : *वायुपुराण* में घोड़ों की स्थिति का वर्णन हुआ है—

सप्ताश्वरूपच्छन्दांसि वहन्ते वामतो रविम्।

चक्रपक्षनिबद्धानि चक्रेवाक्ष: समाहित: ॥

यद्यपि अरुणदेव सबसे आगे के आसन पर आसीन होकर घोड़ों को वश में रखते हैं, किन्तु वे अपनी बाईं ओर से पीछे मुड़कर सूर्यदेव को देखते रहते हैं।

तथा वालिखिल्या ऋषयोऽङ्गुष्ठपर्वमात्राः षष्टिसहस्राणि पुरतः सूर्यं सूक्तवाकाय नियुक्ताः संस्तुवन्ति. ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तथा—वहाँ; वालिखिल्याः—वालखिल्य नामक; ऋषयः—ऋषिगण; अङ्गुष्ठ-पर्व-मात्राः—अंगूठे के आकार वाले; षष्टि-सहस्राणि—साठ हजार; पुरतः—सामने; सूर्यम्—सूर्यदेव; सु-उक्त-वाकाय—सुस्पष्ट बोलने के लिए; नियुक्ताः—नियुक्त किये गये; संस्तुवन्ति—स्तुति करते हैं।

अँगूठे के आकार वाले वालखिल्य नामक साठ हजार ऋषिगण सूर्य के आगे रहकर उनका स्वस्तिवाचन करते हैं।

तथान्ये च ऋषयो गन्धर्वाप्सरसो नागा ग्रामण्यो यातुधाना देवा इत्येकैकशो गणाः सप्त चतुर्दश मासि मासि भगवन्तं सूर्यमात्मानं नानानामानं पृथङ्नानानामानः पृथक्कर्मभिर्द्वन्द्वश उपासते. ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तथा—इसी प्रकार; अन्ये—अन्य; च—भी; ऋषयः—ऋषिगण; गन्धर्व-अप्सरसः—गन्धर्व तथा अप्सराएँ; नागाः—नाग(सर्प); ग्रामण्यः—यक्ष; यातुधानाः—राक्षसगण; देवाः—देवता; इति—इस प्रकार; एक-एकशः—एक एक करके; गणाः—समूह; सप्त—सात; चतुर्दश—चौदह; मासि मासि—प्रत्येक महीने; भगवन्तम्—सर्वशक्तिमान देवता; सूर्यम्—सूर्य को; आत्मानम्—ब्रह्माण्ड का प्राण; नाना—अनेक; नामानम्—नाम वाला; पृथक्—भिन्न; नाना-नामानः—विभिन्न नाम वाला; पृथक्—भिन्न; कर्मभिः—अनुष्ठानों द्वारा; द्वन्द्वशः—दो के समूहों में, जोड़ों में; उपासते—उपासना करते हैं।

इसी प्रकार अन्य मुनि, गन्धर्व, अप्सराएँ, नाग, यक्ष, राक्षस तथा देवतागण जो संख्या में चौदह हैं, किन्तु दो-दो के जोड़े में विभाजित हैं, प्रतिमास नया नाम धारण करके अनेक नामधारी, सर्वाधिक शक्तिमान देवता सूर्य के रूप में श्रीभगवान् की आराधना करने के लिए निरन्तर विभिन्न कर्मकाण्डों से उपासना करते रहते हैं।

तात्पर्य : विष्णु-पुराण में कहा गया है—

स्तुवन्ति मुनयः सूर्यं गन्धर्वैर्गीयते पुरः।

नृत्यन्तोऽप्सरसो यान्ति सूर्यस्यानु निशाचराः॥

वहन्ति पन्नगा यक्षैः क्रियतेऽभिषुसंग्रहः।

वालिखिल्यास्तथैवैनं परिवार्य समासते॥

सोऽयं सप्तगणः सूर्यमंडले मुनिसत्तम।

हिमोष्ण वारिवृष्टीणां हेतुत्वे समयं गतः॥

सर्वशक्तिमान सूर्यदेवता की आराधना करते समय गन्धर्व उनके समक्ष गाते हैं, अप्सराएँ रथ के समक्ष नाचती हैं, निशाचर रथ का पीछा करते हैं, पन्नग रथ को सजाते हैं, यक्ष रथ की रक्षा करते हैं और वालखिल्य नामक ऋषिगण सूर्यदेवता को घेर कर स्तुति करते हैं। चौदह सहयोगियों के सात जोड़े ब्रह्माण्ड भर में हिम, ताप तथा वर्षा का उचित समय निश्चित करते हैं।

लक्षोत्तरं सार्धनवकोटियोजनपरिमण्डलं भूवलयस्य क्षणेन सगव्यूत्युत्तरं द्विसहस्त्रयोजनानि स भुङ्क्ते. ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

लक्ष-उत्तरम्—१,००,००० अधिक; सार्ध—०,००,००० सहित ; नव-कोटि-योजन—९,००,००,००० योजन की; परिमण्डलम्—परिधि; भू-वलयस्य—पृथ्वी गोलक का भूमण्डल; क्षणेन—एक क्षण में; सगव्यूति-उत्तरम्—दो कोस (चार मील) अधिक; द्वि-सहस्त्र-योजनानि—२,००० योजन; सः—सूर्यदेव; भुङ्क्ते —तै करता है।

हे राजन्, भूमण्डल की परिक्रमा करते हुए सूर्यदेव एक क्षण में दो हजार योजन तथा दो कोस (१६,००४ मील) की गति से ९,१, ००,००० योजन (७६,०८८०,००० मील) की दूरी तय करता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''सूर्य की गतियों का वर्णन'' नामक इक्कीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बाईस

ग्रहों की कक्ष्याएँ

इस अध्याय में ग्रहों की कक्ष्याओं का वर्णन मिलता है। चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहों की गतियों के अनुसार इस ब्रह्माण्ड के सभी जीव शुभ तथा अशुभ स्थितियों में प्रवृत्त होते हैं। इसे नक्षत्रों का प्रभाव कहा जाता है।

सूर्यदेव सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के कार्य व्यापारों को, विशेष रूप से ताप, प्रकाश, ऋतु-परिवर्तन आदि को नियंत्रित करते हैं और नारायण के विस्तार (अंश) माने जाते हैं। वे ऋग्, यजुर तथा साम—इन तीन वेदों का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं, इसलिए त्रयीमय कहलाते हैं, जो भगवान् नारायण का ही रूप है। कभी-कभी सूर्यदेव को सूर्यनारायण भी कहा जाता हैं। सूर्यदेव ने स्वयं को बारह विभागों में विभाजित किया है और वे इस तरह छः ऋतुओं के परिवर्तन का नियंत्रण करते हुए शीत, ग्रीष्म तथा वर्षा आदि का कारण बनते हैं। वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए योगी तथा कर्मीजन अपने-अपने लाभ के लिए हठ या अष्टांग योग अथवा अग्निहोत्र यज्ञ द्वारा सूर्यनारायण की आराधना करते हैं। सूर्यदेव सदा श्रीभगवान् नारायण के सम्पर्क में रहते हैं। सूर्य ब्रह्माण्ड के भूलोक तथा भुवर्लोक के मध्य में स्थित अन्तरिक्ष में रहकर बारह राशियों के कालचक्र में घूमता हुआ राशि के अनुसार भिन्न-भिन्न नाम धारण करता है। चन्द्रमा के अनुसार मास दो पक्षों में विभाजित है। इसी प्रकार सौर गणनाओं के अनुसार सूर्य को एक राशि में जितना समय लगता है, वह मास है, दो मास मिलकर ऋतु बनाते हैं और बारह मासों का एक वर्ष होता है। आकाश का सम्पूर्ण क्षेत्रफल दो अर्धों में विभक्त हैं जिनमें से प्रत्येक अयन कहलाता है, जो सूर्य द्वारा छः मास में तय किये जाने वाला मार्ग है। सूर्य कभी तीव्र गति से

चलता है, कभी मन्द गति से और कभी मध्यम गति से। इस प्रकार वह स्वर्ग, मर्त्य तथा अन्तरिक्ष—इन तीन लोकों की यात्रा करता है। विद्वान लोग इन कक्ष्याओं को संवत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर, अनुवत्सर तथा वत्सर नामों से अभिहित करते हैं।

चन्द्रमा सूर्य की किरणों से १,००,००० योजन ऊपर स्थित है। स्वर्ग तथा पितृलोक में दिन तथा रात की गणना चन्द्रमा के घटने-बढ़ने के अनुसार की जाती है। चन्द्रमा से २,००,००० योजन की दूरी पर कुछ नक्षत्र स्थित हैं और इन नक्षत्रों के ऊपर शुक्रग्रह है जो ब्रह्माण्ड के समस्त वासियों के लिए कल्याणप्रद है। शुक्रग्रह से २,००,००० योजन ऊपर बुध ग्रह है जो कभी कल्याणप्रद होता है, तो कभी अशुभ। बुध ग्रह से २,००,००० योजन ऊपर अंगारक (मंगल) है, जिसका प्रभाव प्राय: प्रतिकूल होता है। अंगारक से भी २,००,००० योजन ऊपर बृहस्पति ग्रह है जो सुपात्र ब्राह्मणों के लिए सर्वदा अनुकूल होता है। बृहस्पति के ऊपर शनि नामक अत्यन्त अशुभ ग्रह है। इससे भी ऊपर विश्व का कल्याण मनाने वाले ऋषियों से युक्त सात नक्षत्रों का एक पुंज है। ये सातों नक्षत्र ध्रुवलोक की परिक्रमा करते हैं, जो इस ब्रह्माण्ड में भगवान् विष्णु का वास है।

राजोवाच

यदेतद्भगवत आदित्यस्य मेरुं ध्रुवं च प्रदक्षिणेन परिक्रामतो राशीनामभिमुखं प्रचलितं चाप्रदक्षिणं भगवतोपवर्णितममुष्य वयं कथमनुमिमीमहीति. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा (महाराज परीक्षित) ने पूछा; यत्—जो; एतत्—इस; भगवत:—सर्वशक्तिमान; आदित्यस्य—सूर्य (सूर्यनारायण) का; मेरुम्—सुमेरु पर्वत; ध्रुवम् च—तथा ध्रुवलोक; प्रदक्षिणेन—दाहिने रखकर; परिक्रामत:—परिक्रमा करते हुए; राशीनाम्—राशियों की; अभिमुखम्—ओर मुख करके; प्रचलितम्—गति करते हुए; च—तथा; अप्रदक्षिणम्—बाँये रख कर; भगवता—आपके द्वारा; उपवर्णितम्—वर्णित; अमुष्य—उसका; वयम्—हम (श्रोता); कथम्—किस प्रकार; अनुमिमीमहि—तर्क तथा निर्णय द्वारा स्वीकार करें; इति—इस प्रकार।

राजा परीक्षित ने श्रीशुकदेव गोस्वामी से पूछा—हे भगवान्, आपने पहले ही इस सत्य की पुष्टि की है कि परम शक्तिमान सूर्यदेव ध्रुवलोक तथा सुमेरु पर्वत को अपने दाएँ रखकर ध्रुवलोक की परिक्रमा करते हैं, तो भी वे राशियों की ओर मुख किये रहते हैं और सुमेरु तथा ध्रुवलोक को अपने बाएँ भी रखते हैं, अत: हम तर्क तथा निर्णय द्वारा किस प्रकार स्वीकार करें कि हर समय सूर्यदेव सुमेरु तथा ध्रुवलोक को दाएँ तथा बाएँ दोनों ओर रखते हुए चलते हैं?

स होवाच

यथा कुलालचक्रेण भ्रमता सह भ्रमतां तदाश्रयाणां पिपीलिकादीनां गतिरन्यैव प्रदेशान्तरेष्वप्युपलभ्यमानत्वादेवं नक्षत्रराशिभिरुपलक्षितेन कालचक्रेण ध्रुवं मेरुं च प्रदक्षिणेन परिधावता सह परिधावमानानां तदाश्रयाणां सूर्यादीनां ग्रहाणां गतिरन्यैव नक्षत्रान्तरे राश्यन्तरे चोपलभ्यमानत्वात्. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सः—शुकदेव गोस्वामी ने; ह—अत्यन्त स्पष्ट; उवाच—उत्तर दिया; यथा—जिस प्रकार; कुलाल-चक्रेण—कुम्हार के चाक के; भ्रमता—घूमते हुए; सह—साथ; भ्रमताम्—जो चारों ओर घूमते हुए, घूमने वाले; तत्-आश्रयाणाम्—उस (चक्र) में स्थित होकर; पिपीलिक-आदीनाम्—छोटी-छोटी चींटियों की; गतिः—गति; अन्या—दूसरी; एव—ही; प्रदेश-अन्तरेषु—विभिन्न स्थानों में; अपि—भी; उपलभ्यमानत्वात्—अनुभवगम्य होने के कारण; एवम्—इसी प्रकार; नक्षत्र-राशिभिः—नक्षत्रों तथा राशियों द्वारा; उपलक्षितेन—देखा जाकर; काल-चक्रेण—कालचक्र के साथ; ध्रुवम्—ध्रुवलोक नामक नक्षत्र; मेरुम्—सुमेरु पर्वत को; च—तथा; प्रदक्षिणेन—दाईं ओर; परिधावता—चारों ओर घूमते हुए; सह—साथ; परिधावमानानाम्—परिक्रमा करने वालों का; तत्-आश्रयाणाम्—जिनका आश्रय कालचक्र हैं; सूर्य-आदीनाम्—सूर्य आदि; ग्रहाणाम्—ग्रहों की; गतिः—गति; अन्या—अन्य; एव—निश्चय ही; नक्षत्र-अन्तरे—विभिन्न नक्षत्रों में; राशि-अन्तरे—विभिन्न राशियों में; च—तथा; उपलभ्यमानत्वात्—देखे जाने के कारण।

श्रीशुकदेव ने उत्तर दिया—जब कुम्हार के घूमते हुए चाक पर छोटी छोटी चींटियाँ बैठी रहती हैं, तो वे उसके साथ-साथ घूमती हैं, किन्तु उनकी गति चाक की गति से भिन्न होती हैं, क्योंकि कभी वे चाक के एक भाग में दिखती हैं, तो कभी दूसरे भाग पर। इसी प्रकार राशियाँ तथा नक्षत्र सुमेरु तथा ध्रुवलोक को अपने दाईं ओर रखकर कालचक्र के साथ घूमते हैं और सूर्य तथा अन्य ग्रह चींटी के तुल्य उनके साथ-साथ घूमते हैं। तो भी वे विभिन्न कालों में विभिन्न राशियों तथा नक्षत्रों में देखे जाते हैं। इससे सूचित होता है कि उनकी गति राशियों तथा कालचक्र से सर्वथा भिन्न है।

स एष भगवानादिपुरुष एव साक्षान्नारायणो लोकानां स्वस्तय आत्मानं त्रयीमयं कर्मविशुद्धिनिमित्तं कविभिरपि च वेदेन विजिज्ञास्यमानो द्वादशधा विभज्य षट्सु वसन्तादिष्वृतुषु यथोपजोषमृतुगुणान्विदधाति. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—यह; भगवान्—परम शक्तिमान; आदि-पुरुषः—आदि पुरुष; एव—ही; साक्षात्—प्रत्यक्षतः; नारायणः—श्रीभगवान् नारायण; लोकानाम्—अन्य लोकों के; स्वस्तये—लाभ हेतु; आत्मानम्—स्वयं; त्रयी-मयम्—तीन वेदों (साम, यजुर् तथा ऋग्) से युक्त; कर्म-विशुद्धि—कर्मों की शुद्धि; निमित्तम्—कारणरूप; कविभिः—महान् सन्तों द्वारा; अपि—भी; च—तथा; वेदेन—वैदिक ज्ञान से; विजिज्ञास्यमानः—पूछे जाने पर; द्वादश-धा—बारह विभागों में; विभज्य—विभाजित होकर; षट्सु—छः में; वसन्त-आदिषु—वसन्त आदि; ऋतुषु—ऋतुओं में; यथा-उपजोषम्—अपने पूर्व कर्मों के भोग के अनुसार; ऋतु-गुणान्—विभिन्न ऋतुओं के गुण; विदधाति—विधान करता है।

विराट जगत के आदि कारण भगवान् नारायण हैं। जब वैदिक ज्ञान से भली भाँति परिचित महान् साधुजनों ने परम पुरुष की स्तुति की तो वे समस्त लोकों का हित करने तथा कर्मों की

शुद्धि के लिए सूर्य के रूप में इस भौतिक जगत में अवतरित हुए। उन्होंने स्वयं को बारह भागों में विभाजित करके वसन्तादि ऋतुओं की सृष्टि की। इस प्रकार उन्होंने ताप, शीत इत्यादि ऋतु सम्बन्धी गुणों की सृष्टि की।

तमेतमिह पुरुषास्त्रय्या विद्यया वर्णाश्रमाचारानुपथा उच्चावचैः कर्मभिराम्नातैर्योगवितानैश्च श्रद्धया यजन्तोऽञ्जसा श्रेयः समधिगच्छन्ति. ॥ ४॥

शब्दार्थ

तम्—उस (श्रीभगवान्) को; एतम्—यह; इह—इस मर्त्यलोक में; पुरुषाः—सभी मनुष्य; त्रय्या—तीन विभागों वाले; विद्यया—वैदिक ज्ञान से; वर्ण-आश्रम-आचार—वर्णाश्रम धर्म; अनुपथाः—अनुसरण करते हुए; उच्च-अवचैः—वर्णाश्रम धर्म (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) में पद के अनुसार उच्च या निम्न; कर्मभिः—अपने कर्मों द्वारा; आम्नातैः—प्रदत्त; योग-वितानैः—ध्यान तथा अन्य योग-क्रियाओं से; च—तथा; श्रद्धया—अत्यन्त श्रद्धा सहित; यजन्तः—आराधना करते हुए; अञ्जसा—बिना कठिनाई के; श्रेयः—जीवन का परम लाभ; समधिगच्छन्ति—प्राप्त करते हैं।.

चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के लोग सामान्य रूप से सूर्यदेव के रूप में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् नारायण की उपासना करते हैं। वे अत्यन्त श्रद्धा के साथ वेदत्रयी द्वारा प्रतिपादित अग्निहोत्र जैसे छोटे-बड़े सकाम कर्मों के अनुसार तथा योग क्रिया द्वारा परमात्मास्वरूप श्रीभगवान् की आराधना करते हैं। इस प्रकार वे सुगमतापूर्वक जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करते हैं।

अथ स एष आत्मा लोकानां द्यावापृथिव्योरन्तरेण नभोवलयस्य कालचक्रगतो द्वादश मासान्भुङ्क्ते राशिसंज्ञान्संवत्सरावयवान्मासः पक्षद्वयं दिवा नक्तं चेति सपादर्क्षद्वयमुपदिशन्ति यावता षष्ठमंशं भुञ्जीत स वै ऋतुरित्युपदिश्यते संवत्सरावयवः. ॥ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; सः—वह; एषः—यह; आत्मा—प्राणशक्ति; लोकानाम्—तीनों लोकों का; द्याव्-आ-पृथिव्योः अन्तरेण—ब्रह्माण्ड के ऊपरी तथा निचले भागों के मध्य; नभः-वलयस्य—अन्तरिक्ष का; काल-चक्र-गतः—काल के चक्र में आसीन; द्वादश मासान्—बारह महीने; भुङ्क्ते —तय करता है; राशि-संज्ञान्—राशियों के नाम पर; संवत्सर-अवयवान्—पूरे वर्ष के अंग; मासः—एक मास; पक्ष-द्वयम्—दो पखवाड़े; दिवा—दिन; नक्तम् च—तथा रात्रि; इति—इस प्रकार; सपाद-ऋक्ष-द्वयम्—ज्योतिष गणना के अनुसार दो तथा चौथाई (सवा दो) नक्षत्र; उपदिशन्ति—उपदेश देते हैं; यावता—जितने समय से; षष्ठम् अंशम्—अपनी कक्ष्या का छठवाँ भाग; भुञ्जीत—तय करता है; सः—वह भाग; वै—निस्संदेह; ऋतुः—ऋतु; इति—इस प्रकार; उपदिश्यते—उपदेशित होता है; संवत्सर-अवयवः—वर्ष का भाग।.

सूर्यदेव जो नारायण अथवा विष्णु हैं और समस्त लोकों के आत्मा हैं, वे इस ब्रह्माण्ड के ऊपरी तथा निचले भागों (पृथ्वी तथा द्युलोक) के मध्य अन्तरिक्ष में स्थित हैं। कालचक्र में स्थित होकर बारह मासों को तय करते हुए सूर्य बारह राशियों के सम्पर्क में आकर उनके

अनुसार बारह भिन्न-भिन्न नाम धारण करते हैं। इन बारह मासों का योगफल संवत्सर अथवा एक पूर्ण वर्ष कहलाता है। चन्द्र गणना के अनुसार चन्द्रमा के घटने-बढ़ने के दो पक्ष मिल कर एक मास बनाते हैं। पितृलोक ग्रह पर यही काल एक दिन तथा रात के तुल्य है। ज्योतिष गणना के अनुसार एक मास सवा दो नक्षत्रों के बराबर होता है। जब सूर्य दो मास यात्रा कर लेता है, तो एक ऋतु बीतती है; इसलिए ऋतु के अनुसार होने वाले परिवर्तनों को वर्ष-देह का अंग माना जाता है।

अथ च यावतार्धेन नभोवीथ्यां प्रचरति तं कालमयनमाचक्षते. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अथ—अब; च—भी; यावता—जितने समय से; अर्धेन—आधा; नभः-वीथ्याम्—अन्तरिक्ष में; प्रचरति—सूर्य चलता है; तम्—उस; कालम्—समय को; अयनम्—अयन; आचक्षते—कहते हैं।

इस प्रकार आधे अन्तरिक्ष को पार करने में सूर्य को जितना समय लगता है, वह अयन कहलाता है [उत्तर या दक्षिण दिशा में]।

अथ च यावन्नभोमण्डलं सह द्यावापृथिव्योर्मण्डलाभ्यां कार्त्स्न्येन स ह भुञ्जीत तं कालं संवत्सरं परिवत्सरमिडावत्सरमनुवत्सरं वत्सरमिति भानोर्मान्द्यशैघ्र्यसमगतिभिः समामनन्ति. ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

अथ—अब; च—भी; यावत्—जब तक; नभः-मण्डलम्—उच्च तथा निम्न लोक के मध्य का अन्तरिक्ष; सह—के साथ; द्यौ—ऊपरी जगत का; आपृथिव्योः—निम्न जगत का; मण्डलाभ्याम्—गोलक; कार्त्स्न्येन—पूर्णतः; सः—वह; ह—निस्संदेह; भुञ्जीत—तय करता है; तम्—उस; कालम्—काल, समय को; संवत्सरम्—संवत्सर; परिवत्सरम्—परिवत्सर; इडावत्सरम्—इडावत्सर; अनुवत्सरम्—अनुवत्सर; वत्सरम्—वत्सर; इति—इस प्रकार; भानोः—सूर्य की; मान्द्य—धीमी, मन्द; शैघ्र्य—तीव्र; सम—समान; गतिभिः—गतियों के द्वारा; समामनन्ति—अनुभवी विद्वान वर्णन करते हैं।

सूर्यदेव की तीन प्रकार की गतियाँ हैं—मन्द, तीव्र और मध्यम। इन तीनों गतियों से स्वर्ग, पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष प्रक्षेत्रों के चारों ओर पूरी यात्रा करने में जितना समय लगता है उसे विद्वद्जन संवत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर, अनुवत्सर तथा वत्सर—इन पाँच नामों से वर्णन करते हैं। सौर पद्धति ज्योतिष गणनाओं के अनुसार प्रत्येक वर्ष कलैण्डर वर्ष से छः दिन आगे तक जाता है और चन्द्र पक्षीय वर्षों में बारह दिन का अन्तर होता है, जैसे-जैसे सम्वत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर, अनुवत्सर और वत्सर बीतते हैं, प्रत्येक पाँच वर्षों में दो अतिरिक्त मास जुड़ जाते हैं। इससे छठा सम्वत्सर बन जाता है, किन्तु अतिरिक्त सम्वत्सर होने के कारण सौर-पद्धति में

सम्वत्सरों की उपयुक्त पाँच नामों के अनुसार गणना की जाती है।

एवं चन्द्रमा अर्कगभस्तिभ्य उपरिष्टाल्लक्षयोजनत उपलभ्यमानोऽर्कस्य संवत्सरभुक्तिं पक्षाभ्यां मासभुक्तिं सपादर्क्षाभ्यां दिनेनैव पक्षभुक्तिमग्रचारी द्रुततरगमनो भुङ्क्ते. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; चन्द्रमा—चाँद; अर्क-गभस्तिभ्यः—सूर्य प्रकाश की किरणों से; उपरिष्टात्—ऊपर; लक्ष-योजनतः—१,००,००० योजन से; उपलभ्यमानः—स्थित रह कर; अर्कस्य—सूर्य का; संवत्सर-भुक्तिम्—भोग का व्यतीत हुआ एक वर्ष; पक्षाभ्याम्—दो पक्षों के द्वारा; मास-भुक्तिम्—व्यतीत एक मास; सपाद-ऋक्षाभ्याम्—सवा दो दिन से; दिनेन—एक दिन से; एव—केवल; पक्ष-भुक्तिम्—पक्ष की अवधि; अग्रचारी—आगे चलने वाला; द्रुत-तर-गमनः—अधिक तेजी से चलते हुए; भुङ्क्ते—तय करता है।

सूर्य-प्रकाश की किरणों से १,००,००० योजन (८,००,००० मील) ऊपर चन्द्रमा है जो सूर्य से अधिक तीव्र गति से यात्रा करता है। वह दो चन्द्र पक्षों में एक सौर संवत्सर के समान दूरी तय कर लेता है। अर्थात् सवा दो दिन में सूर्य के एक मास के तुल्य और एक दिन में सूर्य के एक पक्ष के बराबर दूरी तय कर लेता है।

तात्पर्य : जब हम इस तथ्य पर विचार करते हैं कि चन्द्रमा सूर्य की किरणों से १,००,००० योजन या ८,००,००० मील दूरी पर स्थित है, तो यह अत्यन्त विस्मयजनक लगता है कि चन्द्रमा तक आधुनिक यात्राएँ सम्भव हो सकीं। चूँकि चाँद इतनी दूर है इस कारण चन्द्रमा तक अन्तरिक्ष-यान कैसे पहुँच सके। यह संदेहास्पद रहस्य है। आधुनिक वैज्ञानिक गणनाएँ एक के बाद एक बदलती रहती हैं, अत: वे अनिश्चित हैं। हमें वैदिक साहित्य की गणनाओं को ही स्वीकार करना होगा। ये गणनाएँ स्थायी हैं। प्राचीन ज्योतिष-गणनाएँ वैदिक साहित्य में अंकित हैं और ये आज भी सही हैं। वैदिक अथवा आधुनिक गणनाओं में कौनसी अच्छी हैं, यह औरों के लिए रहस्यपूर्ण क्यों न हों, किन्तु हमारे विचार से वैदिक गणनाएँ ही सही हैं।

अथ चापूर्यमाणाभिश्च कलाभिरमराणां क्षीयमाणाभिश्च कलाभिः पितृणामहोरात्राणि पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यां वितन्वानः सर्वजीवनिवहप्राणो जीवश्चैकमेकं नक्षत्रं त्रिंशता मुहूर्तैर्भुङ्क्ते. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; च—भी; आपूर्यमाणाभिः—क्रमशः बढ़ते हुए; च—तथा; कलाभिः—चन्द्रमा की कलाओं; अमराणाम्—देवताओं का; क्षीयमाणाभिः—क्रमशः घटते रहने से; च—तथा; कलाभिः—चन्द्र कलाओं से; पितृणाम्—पितृलोक-वासियों का; अहः-रात्राणि—दिन तथा रात; पूर्व-पक्ष-अपर-पक्षाभ्याम्—कृष्ण तथा शुक्ल पक्ष से; वितन्वानः—वितरित करते हुए; सर्व-जीव-निवह—समस्त जीवात्माओं का; प्राणः—जीवन, प्राण; जीवः—जीव; च—भी; एकम् एकम्—एक के बाद एक; नक्षत्रम्—तारा-समूह; त्रिंशता—तीस; मुहूर्तैः—मुहूर्तों से; भुङ्क्ते—तय करता है।

जब चन्द्रमा बढ़ता है (शुक्ल पक्ष में) तो इसका प्रकाशमय अंश प्रतिदिन बढ़ता जाता है, जिससे देवताओं के लिए दिन और पितरों के लिए रात्रि उत्पन्न होती है। किन्तु जब चन्द्रमा घटता रहता है (कृष्ण पक्ष में) तो देवताओं के लिए रात्रि और पितरों के लिए दिन उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार तीस मुहूर्तों में (पूरे एक दिन में) चन्द्रमा प्रत्येक नक्षत्र से होकर गुजरता है। चन्द्रमा अमृतमयी शीतलता प्रदान करके अन्नों की वृद्धि को प्रभावित करता है, इसलिए चन्द्रदेव को समस्त जीवात्माओं का प्राण माना जाता है। फलस्वरूप उसे इस ब्रह्माण्ड में वास करने वाला मुख्य प्राणी, जीव, कहा गया है।

य एष षोडशकलः पुरुषो भगवान्मनोमयोऽन्नमयोऽमृतमयो देवपितृमनुष्यभूतपशुपक्षिसरीसृपवीरुधां प्राणाप्यायनशीलत्वात्सर्वमय इति वर्णयन्ति. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यः—जो; एषः—यह; षोडश-कलः—सोलह कलाओं वाला (पूर्ण चन्द्रमा); पुरुषः—पुरुष; भगवान्—श्रीभगवान् से प्राप्त महान् शक्ति वाला; मनः-मयः—मन का प्रधान श्रीविग्रह; अन्न-मयः—अन्नों का शक्ति स्रोत; अमृत-मयः—अमृतमय; देव—समस्त देवताओं का; पितृ—समस्त पितृलोकवासियों का; मनुष्य—समस्त मानवगण; भूत—समस्त जीवात्माएँ; पशु—समस्त जानवर; पक्षि—पक्षियों का; सरीसृप—रेंगने वाले जन्तुओं का; वीरुधाम्—समस्त लताओं तथा वृक्षों का; प्राण—प्राणवायु; अपि—निश्चय ही; आयन-शीलत्वात्—पोषण करने से; सर्व-मयः—सर्वव्यापी; इति—इस प्रकार; वर्णयन्ति—विद्वान लोग वर्णन करते हैं।.

समस्त शक्तियों से पूर्ण होने के कारण चन्द्रमा श्रीभगवान् के प्रभाव का सूचक है। प्रत्येक व्यक्ति के मन का प्रमुख श्रीविग्रह होने के कारण चन्द्रमा मनोमय कहलाता है। वह अन्नमय भी कहलाता है क्योंकि वह समस्त वनस्पतियों तथा पौधों को शक्ति प्रदान करता है। समस्त जीवात्माओं का प्राणाधार होने से वह अमृतमय भी कहा जाता है। चन्द्रमा समस्त देवताओं, पितरों, मनुष्यों, पशुओं, पक्षियों, सरीसृपों, वृक्षों, पौधों तथा अन्य सभी जीवात्माओं को प्रसन्न करने वाला हैं। सभी प्राणी चन्द्रमा की उपस्थिति से संतुष्ट रहते हैं; फलतः वह ''सर्वमय'' भी कहलाता है।

तत उपरिष्टाद्द्विलक्षयोजनतो नक्षत्राणि मेरुं दक्षिणेनैव कालायन ईश्वरयोजितानि सहाभिजिताष्टाविंशतिः. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ततः—चन्द्रमा के उस भाग से; उपरिष्टात्—ऊपर; द्वि-लक्ष-योजनतः—२,००,००० योजन; नक्षत्राणि—अनेक नक्षत्र; मेरुम्—सुमेरु पर्वत; दक्षिणेन एव—दाईं दिशा में; काल-अयने—कालचक्र में; ईश्वर-योजितानि—श्रीभगवान् द्वारा जोड़ा गया; सह—साथ; अभिजिता—अभिजित् नामक नक्षत्र; अष्टा-विंशतिः—अट्ठाइस।

चन्द्रमा से २,००,००० योजन (१६,००,०००) ऊपर कई नक्षत्र स्थित हैं। श्रीभगवान् ने उन्हें कालचक्र में संयुक्त कर रखा है, अतः ये सुमेरु पर्वत को दाईं ओर रखते हुए घूमते रहते हैं और इनकी गति सूर्य की गति से सर्वथा भिन्न होती है। अभिजित् सहित कुल अट्ठाइस नक्षत्र हैं।

तात्पर्य : यहाँ जिन नक्षत्रों का उल्लेख हुआ है वे सूर्य से १६,००,००० मील (२,००,००० योजन) ऊपर हैं। इस प्रकार वे पृथ्वी से ४०,००,००० मील ऊपर हुए।

तत उपरिष्टादुशना द्विलक्षयोजनत उपलभ्यते पुरतः पश्चात्सहैव वार्कस्य शैघ्यमान्द्यसाम्याभिर्गतिभिरर्कवच्चरति लोकानां नित्यदानुकूल एव प्रायेण वर्षयंश्चारेणानुमीयते स वृष्टिविष्टम्भग्रहोपशमनः. ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ततः—इन नक्षत्र पुञ्जों से; उपरिष्टात्—ऊपर; उशना—शुक्र; द्वि-लक्ष-योजनतः—२,००,००० योजन; उपलभ्यते—अनुभव किया जाता है; पुरतः—सामने; पश्चात्—पीछे; सह—साथ-साथ; एव—निस्सन्देह; वा—तथा; अर्कस्य—सूर्य का; शैघ्य—तीव्र; मान्द्य—मन्द; साम्याभिः—समान; गतिभिः—गतियों से; अर्कवत्—सूर्य के ही समान; चरति—घूमता है; लोकानाम्—इस ब्रह्माण्ड के समस्त लोकों का; नित्यदा—अनवरत; अनुकूलः—अनुकूल; एव—निस्सन्देह; प्रायेण—प्रायः; वर्षयन्—वर्षा करके; चारेण—बादल उठाकर; अनुमीयते—देखा जाता है; सः—वह (शुक्र); वृष्टि-विष्टम्भ—वर्षा के लिए बाधास्वरूप; ग्रह-उपशमनः—उपशमनकारी ग्रह।

इन नक्षत्रों से लगभग २,००,००० योजन (१६,००,००० मील) ऊपर शुक्र ग्रह है जो लगभग सूर्य की ही गति अर्थात् तीव्र, मन्द तथा मध्यम गतियों से घूमता है। वह कभी सूर्य के पीछे, कभी सामने और कभी उसी के साथ-साथ रहता है। वह वर्षा में विघ्न डालने वाले ग्रहों को शान्त करने वाला है, अतः इसकी उपस्थिति में वर्षा होती है और इसलिए यह इस ब्रह्माण्ड के समस्त जीवों के अनुकूल माना जाता है। इसे विद्वानों ने स्वीकार किया है।

उशनसा बुधो व्याख्यातस्तत उपरिष्टाद्द्विलक्षयोजनतो बुधः सोमसुत उपलभ्यमानः प्रायेण शुभकृद्यदार्काद्व्यतिरिच्येत तदातिवाताभ्रप्रायानावृष्ट्यादिभयमाशंसते. ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

उशनसा—शुक्र से; बुधः—बुध; व्याख्यातः—जिसकी व्याख्या हो गई हो; ततः—उस (शुक्र) से; उपरिष्टात्—ऊपर; द्वि-लक्ष-योजनतः—२,००,००० योजन अर्थात् १६,००,००० मील; बुधः—बुध ग्रह; सोम-सुतः—चन्द्रमा का पुत्र; उपलभ्यमानः—अवस्थित है; प्रायेण—प्रायः; शुभ-कृत्—ब्रह्माण्ड के वासियों के लिए शुभ; यदा—जब; अर्कात्—सूर्य से; व्यतिरिच्येत—पृथक् किया जाता है; तदा—उस समय; अतिवात—चक्रवात तथा अन्य विघ्न; अभ्र—बादल; प्राय—प्रायः; अनावृष्टि-आदि—अनावृष्टि इत्यादि; भयम्—भय; आशंसते—बढ़ाता है।

बुध को शुक्र के ही समान बताया है, क्योंकि यह कभी सूर्य के पीछे, कभी सामने और कभी-कभी इसके साथ-साथ घूमता है। यह शुक्र से १६,००,००० मील अथवा पृथ्वी से ७२,००,००० मील ऊपर स्थित है। यह चन्द्रमा का पुत्र होने से विश्व के वासियों का मंगल करने वाला है, किन्तु जब यह सूर्य के साथ नहीं घूमता होता तो यह चक्रवात, अंधड़, अनियमित वर्षा तथा जलरहित बादलों की जानकारी देता है। इस प्रकार अवर्षा या अतिवर्षा के कारण यह भयावह परिस्थिति उत्पन्न करता है।

अत ऊर्ध्वमङ्गारकोऽपि योजनलक्षद्वितय उपलभ्यमानस्त्रिभिस्त्रिभिः पक्षैरेकैकशो राशीन्द्वादशानुभुङ्क्ते यदि न वक्रेणाभिवर्तते प्रायेणाशुभग्रहोऽघशंसः. ॥ १४॥

शब्दार्थ

अतः—इससे; ऊर्ध्वम्—ऊपर; अङ्गारकः—मंगल; अपि—भी; योजन-लक्ष-द्वितये—२,००,००० योजन अर्थात् १६,००,००० मील की दूरी पर; उपलभ्यमानः—स्थित है; त्रिभिः त्रिभिः—तीन-तीन करके; पक्षैः—पक्ष; एक-एकशः—एक के पश्चात् एक; राशीन्—राशियाँ; द्वादश—बारह; अनुभुङ्क्ते —से पार करता है; यदि—यदि; न—नहीं; वक्रेण—वक्र सहित; अभिवर्तते—निकट पहुँचता है; प्रायेण—प्रायः; अशुभ-ग्रहः—प्रतिकूल, अमंगलकारी ग्रह; अघ-शंसः—कष्ट उत्पन्न करने वाला।

बुध से १६,००,००० मील ऊपर अथवा पृथ्वी से ८८,००,००० मील ऊपर मंगल ग्रह है। यदि यह वक्रगति से न चले तो एक-एक राशि को तीन-तीन पक्षों में पार करता हुआ क्रमशः बारहों राशियों में से यात्रा करता है। यह प्रायः सदैव वर्षा तथा अन्य प्रभावों के रूप में प्रतिकूल अवस्थाएँ उत्पन्न करता है।

तत उपरिष्टाद्द्विलक्षयोजनान्तरगता भगवान्बृहस्पतिरेकैकस्मिन्राशौ परिवत्सरं परिवत्सरं चरति यदि न वक्रः स्यात्प्रायेणानुकूलो ब्राह्मणकुलस्य. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ततः—वह (मंगल); उपरिष्टात्—ऊपर; द्वि-लक्ष-योजन-अन्तर-गताः—२,००,००० योजन अर्थात् १६,००,००० मील की दूरी पर स्थित; भगवान्—सर्वाधिक शक्तिमान ग्रह; बृहस्पतिः—बृहस्पति; एक-एकस्मिन्—एक के पश्चात् एक; राशौ—राशि में; परिवत्सरम् परिवत्सरम्—प्रति परिवत्सर तक; चरति—चलता है; यदि—यदि; न—नहीं; वक्रः—वक्र; स्यात्—हो जाता है; प्रायेण—प्रायः; अनुकूलः—शुभ; ब्राह्मण-कुलस्य—इस ब्रह्माण्ड के ब्राह्मणों के लिए।

मंगल से १,६००,००० योजन अथवा पृथ्वी से १०,४००,००० मील ऊपर बृहस्पति नामक ग्रह स्थित है जो एक परिवत्सर में एक राशि की यात्रा करता है। यदि यह वक्रगति से न चले तो यह ब्राह्मणों के लिए अत्यन्त अनुकूल रहता है।

तत उपरिष्टाद्योजनलक्षद्वयात्प्रतीयमानः शनैश्चर एकैकस्मिन्राशौ त्रिंशन्मासान्विलम्बमानः सर्वानेवानुपर्येति तावद्भिरनुवत्सरैः प्रायेण हि सर्वेषामशान्तिकरः. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ततः—वह (बृहस्पति); उपरिष्टात्—ऊपर; योजन-लक्ष-द्वयात्—२,००,००० योजन (१६,००,००० मील) की दूरी से; प्रतीयमानः—अवस्थित है; शनैश्चरः—शनिश्चर ग्रह; एक-एकस्मिन्—एक के पश्चात् एक; राशौ—राशि में; त्रिंशत् मासान्—तीस मास तक; विलम्-बमानः—विलम्ब करते हुए, रुकते हुए; सर्वान्—सभी बारह राशियाँ; एव—ही; अनुपर्येति—को पार करता है; तावद्भिः—उतने; अनुवत्सरैः—अनुवत्सरों से; प्रायेण—प्रायः; हि—निस्सन्देह; सर्वेषाम्—समस्त वासियों के लिए; अशान्तिकरः—अत्यधिक कष्टकारक।

बृहस्पति से २,००,००० योजन अर्थात् १६,००,००० मील और पृथ्वी से १,२०,००,००० मील ऊपर शनिग्रह स्थित है जो तीस-तीस मास में प्रत्येक राशि से होकर जाता है और तीस अनुवत्सरों में सम्पूर्ण राशिवृत्त पूरा करता है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के लिए अत्यन्त अशुभ है।

तत उत्तरस्माद्दषय एकादशलक्षयोजनान्तर उपलभ्यन्ते य एव लोकानां शमनुभावयन्तो भगवतो विष्णोर्यत्परमं पदं प्रदक्षिणं प्रक्रमन्ति. ॥ १७॥

शब्दार्थ

ततः—शनि ग्रह; उत्तरस्मात्—ऊपर; ऋषयः—ऋषिगण; एकादश-लक्ष-योजन-अन्तरे—११,००,००० योजन की दूरी पर; उपलभ्यन्ते—अवस्थित है; ये—सभी; एव—ही; लोकानाम्—ब्रह्माण्ड के समस्त निवासियों के लिए; शम्—शुभ; अनुभावयन्तः—सदैव सोचते हैं; भगवतः—श्रीभगवान्; विष्णोः—भगवान् विष्णु का; यत्—जो; परमम् पदम्—परम धाम; प्रदक्षिणम्—दायें रख कर; प्रक्रमन्ति—परिक्रमा करते हैं।

शनिग्रह से ११,००,००० योजन अर्थात् ८८,००,००० मील (अथवा पृथ्वी से २,०८,००,००० मील) ऊपर सप्तर्षि अवस्थित हैं, जो सदैव ब्रह्माण्ड के समस्त प्राणियों की मंगल-कामना करते रहते हैं। वे भगवान् विष्णु के परम धाम ध्रुवलोक की प्रदक्षिणा करते हैं।

तात्पर्य : श्रील मध्वाचार्य ने *ब्रह्माण्ड पुराण* से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

ज्ञानानन्दात्मनो विष्णुः शिशुमारवपुष्यथ।

ऊर्ध्वलोकेषु स व्याप्त आदित्याद्यास्तदाश्रिता॥

ज्ञान तथा दिव्य आनन्द के स्रोत भगवान् विष्णु ने ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च तल पर स्थित सातवें स्वर्ग में शिशुमार का रूप धारण किया। सूर्य आदि अन्य सभी ग्रह इस शिशुमार लोक के अधीन अवस्थित हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत "ग्रहों की कक्ष्याएँ" नामक बाईसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तेइस

शिशुमार ग्रह-मण्डल

इस अध्याय में बताया गया है कि किस प्रकार सभी ग्रह ध्रुवतारा अथवा ध्रुवलोक का आश्रय ग्रहण करते हैं। इसमें इसका भी वर्णन है कि ये सभी ग्रह मण्डल पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के बाह्यशरीर के अन्य विस्तार *शिशुमार* के रूप में हैं। इस ब्रह्माण्ड के भीतर भगवान् विष्णु का आवास ध्रुवलोक, सप्तनक्षत्रों से १३,००,००० योजन की दूरी पर स्थित है। ध्रुवलोक ग्रहमंडल में अग्नि, इन्द्र, प्रजापति, कश्यप तथा धर्म नामक नक्षत्र सम्मिलित हैं और ये सभी नक्षत्र ध्रुव्र तारा पर रहने वाले परम भक्त ध्रुव को आदर की दृष्टि से देखते हैं। सभी नक्षत्र काल द्वारा प्रेरित होकर ध्रुवलोक के चारों ओर इसी प्रकार चक्कर लगाते हैं, जिस प्रकार एक मध्यवर्ती धुरी में जुते हुए बैल। जो भगवान् के विश्वरूप अर्थात् *विराट पुरुष* की आराधना करते हैं, वे इस समग्र चक्कर लगाते हुए ग्रह मंडल को शिशुमार नामक जन्तु मानते हैं। यह काल्पनिक शिशुमार ईश्वर का अन्य रूप है। इसका शिर नीचे की ओर है और इसका शरीर कुण्डलीबद्ध सर्प की भाँति प्रतीत होता है। इसकी पूँछ के सिरे पर ध्रुवलोक, पूँछ के मध्य में प्रजापति, अग्नि, इन्द्र तथा धर्म और पूँछ के ऊपरी भाग में धाता तथा विधाता स्थित हैं। इसके कटि भाग में सात महर्षि हैं। शिशुमार का पूरा शरीर दाई ओर है और यह नक्षत्रों की कुण्डली के समान लगता है। इस कुण्डली के दाईं ओर अभिजित् से लेकर पुनर्वसु पर्यन्त चौदह प्रमुख नक्षत्र हैं। बाईं ओर भी पुष्य से उत्तराषाढ़ा पर्यन्त चौदह नक्षत्र हैं। पुनर्वसु तथा पुष्य नक्षत्र शिशुमार के दाहिने तथा बाएँ कूल्हे पर और आर्द्रा तथा अश्लेषा नक्षत्र दाहिने तथा बाएँ पैरों पर अवस्थित हैं। वैदिक ज्योतिर्विदों की गणनाओं के अनुसार अन्य नक्षत्र भी शिशुमार चक्र की विभिन्न दिशाओं में स्थित हैं। योगीजन ध्यानावस्थित होने के लिए शिशुमार की आराधना करते हैं। इसी को *कुंडलिनी चक्र* भी कहा जाता है।

श्रीशुक उवाच

अथ तस्मात्परतस्त्रयोदशलक्षयोजनान्तरतो यत्तद्विष्णोः परमं पदमभिवदन्ति यत्र ह महाभागवतो ध्रुव औत्तानपादिरग्निनेन्द्रेण प्रजापतिना कश्यपेन धर्मेण च समकालयुग्भिः सबहुमानं दक्षिणतः क्रियमाण इदानीमपि कल्पजीविनामाजीव्य उपास्ते तस्येहानुभाव उपवर्णितः. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुक देव गोस्वामी ने कहा; अथ—तदनन्तर; तस्मात्—सप्त नक्षत्रों के गोलक से; परतः—उससे परे; त्रयोदश-लक्ष-योजन-अन्तरतः—और १३,००,००० योजन; यत्—जो; तत्—वह; विष्णोः परमम् पदम्—भगवान् विष्णु का परम धाम, अथवा भगवान् विष्णु के चरणकमल; अभिवदन्ति—ऋग्वेद के मंत्र स्तुति करते हैं; यत्र—जिस पर; ह—निस्सन्देह; महा-भागवतः—परमभक्त; ध्रुवः—महाराज ध्रुव; औत्तानपादिः—महाराज उत्तानपाद के पुत्र; अग्निना—अग्निदेव द्वारा; इन्द्रेण—स्वर्गलोक के राजा इन्द्र द्वारा; प्रजापतिना—प्रजापति द्वारा; कश्यपेन—कश्यप द्वारा; धर्मेण—धर्मराज द्वारा; च—भी; समकाल-युग्भिः—एक ही समय संलग्न; स-बहु-मानम्—सदैव आदरपूर्वक; दक्षिणतः—दाहिनी ओर; क्रियमाणः—चक्कर लगाया जाकर; इदानीम्—इस समय; अपि—भी; कल्प-जीविनाम्—कल्पान्त तक विद्यमान जीवात्माओं का; आजीव्यः—आजीविका, प्राणाधार; उपास्ते—बना रहता है; तस्य—उसका; इह—यहाँ; अनुभावः—सेवा कार्य की महानता; उपवर्णितः—पहले ही वर्णित (श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में)।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे राजन्, सप्तर्षि-मण्डल से १३,००,००० योजन (१०,०४,००,०००) ऊपर भगवान् विष्णु का धाम कहा जाता है। वहाँ पर अब भी महाराज उत्तानपाद के पुत्र, परम भक्त महाराज ध्रुव वास करते हैं, जो इस सृष्टि के अन्त तक रहने वाले समस्त जीवात्माओं के प्राणाधार हैं। वहाँ पर इन्द्र, अग्नि, प्रजापति, कश्यप तथा धर्म सभी समवेत होकर उनका आदर करते हैं और नमस्कार करते हैं। वे उनके दाईं ओर रह कर उनकी प्रदक्षिणा करते हैं। मैं पहले ही महाराज ध्रुव के यशस्वी कार्यों का वर्णन (*श्रीमद्भागवत* के चतुर्थ स्कन्ध में) कर चूका हूँ।

स हि सर्वेषां ज्योतिर्गणानां ग्रहनक्षत्रादीनामनिमिषेणाव्यक्तरंहसा भगवता कालेन भ्राम्यमाणानां स्थाणुरिवावष्टम्भ ईश्वरेण विहितः शश्वदवभासते. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सः—ध्रुव महाराज का वह लोक; हि—निस्सन्देह; सर्वेषाम्—सभी; ज्योतिः-गणानाम्—ज्योतिर्गण; ग्रह-नक्षत्र-आदीनाम्—ग्रह नक्षत्र इत्यादि का; अनिमिषेण—न विश्राम लेने वाला; अव्यक्त—अवर्णनीय; रंहसा—जिसका बल; भगवता—सर्व शक्तिमान; कालेन—काल द्वारा; भ्राम्यमाणानाम्—घुमाया जाकर; स्थाणुः इव—ठूँठ की भाँति; अवष्टम्भः—आधार-स्तम्भ; ईश्वरेण—श्रीभगवान् की इच्छा से; विहितः—स्थापित; शश्वत्—अनवरत; अवभासते—प्रकाशित होता रहता है।

श्रीभगवान् की परम इच्छा से स्थापित ध्रुव्र महाराज का लोक ध्रुवलोक समस्त नक्षत्रों तथा ग्रहों के मध्यवर्ती-स्तम्भ के रूप में निरन्तर प्रकाशमान रहता है। सदा जागते रहने वाला अदृश्य सर्वशक्तिमान काल इन ज्योतिर्गणों को अहर्निश ध्रुवतारे के चारों ओर घुमाता रहता है।

तात्पर्य : यहाँ पर यह स्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ है कि सभी ज्योतिर्गण, नक्षत्र तथा ग्रह परम काल के प्रभाव से चक्कर लगाते रहते हैं। यह काल श्रीभगवान् की दूसरी विशेषता है। प्रत्येक प्राणी काल के

वशीभूत है, किन्तु श्रीभगवान् इतने सदय हैं और अपने भक्त महाराज ध्रुव को इतना चाहते हैं कि उन्होंने समस्त ज्योतिर्पिण्डों को ध्रुवलोक के अधीन कर रखा है और ऐसी व्यवस्था की है कि काल उनके अधीन अथवा उनके सहयोग से कार्य करता है। वास्तव में प्रत्येक कार्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की इच्छा और निर्देश से चालित है, किन्तु अपने भक्त ध्रुव को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्राणी बनाने के उद्देश्य से ही काल के कार्यकलापों को भी उनके अधीन कर रखा है।

यथा मेढीस्तम्भ आक्रमणपशवः संयोजितास्त्रिभिस्त्रिभिः सवनैर्यथास्थानं मण्डलानि चरन्त्येवं भगणा ग्रहादय एतस्मिन्नन्तर्बहिर्योगेन कालचक्र आयोजिता ध्रुवमेवावलम्ब्य वायुनोदीर्यमाणा आकल्पान्तं परिचङ्क्रमन्ति नभसि यथा मेघाः श्येनादयो वायुवशाः कर्मसारथयः परिवर्तन्ते एवं ज्योतिर्गणाः प्रकृतिपुरुषसंयोगानुगृहीताः कर्मनिर्मितगतयो भुवि न पतन्ति. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; मेढीस्तम्भे—मध्यवर्ती-स्तम्भ में; आक्रमण-पशवः—कोल्हू चलाने वाले बैल; संयोजिताः—जोते जाकर; त्रिभिः त्रिभिः—तीन तीन करके; सवनैः—गतियों के द्वारा; यथा-स्थानम्—अपने-अपने स्थानों पर; मण्डलानि—मंडल, चक्कर; चरन्ति—पार करते हैं; एवम्—उसी प्रकार; भ-गणाः—सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति इत्यादि ज्योतिर्गण; ग्रह-आदयः—विभिन्न ग्रह; एतस्मिन्—इसमें; अन्तः-बहिः-योगेन—भीतरी अथवा बाहरी चक्कर के साथ सम्बन्ध होने से; काल-चक्रे—अनन्त कालचक्र में; आयोजिताः—बँधा हुआ; ध्रुवम्—ध्रुवलोक; एव—निश्चय ही; अवलम्ब्य—आधार बनाकर; वायुना—वायु द्वारा; उदीर्यमाणाः—चक्राकार घुमाये जाकर; आ-कल्प-अन्तम्—कल्प के अन्त तक; परिचङ्क्रमन्ति—चारों ओर चक्कर लगाता है; नभसि—आकाश में; यथा—सदृश; मेघाः—घने बादल; श्येन-आदयः—बाज जैसे पक्षी; वायु-वशाः—वायु के द्वारा चालित; कर्म-सारथयः—अपने पूर्व कर्म रूपी सारथी; परिवर्तन्ते—चारों ओर घूमते हैं; एवम्—इस प्रकार; ज्योतिः-गणाः—आकाश के ग्रह, नक्षत्र ज्योति-पिण्ड; प्रकृति—प्राकृतिक; पुरुष—तथा परम-पुरुष, कृष्ण का; संयोग-अनुगृहीताः—संयुक्त प्रयत्नों के द्वारा ग्रहण किया हुआ; कर्म-निर्मित—कर्मों के द्वारा उत्पन्न; गतयः—जिसकी गतियाँ; भुवि—भूमि पर; न—नहीं; पतन्ति—गिरते हैं।.

यदि बैलों को एकसाथ नाधकर उन्हें एक मध्यवर्ती आधार-स्तम्भ से बाँधकर भूसे पर घुमाया जाता है, तो वे अपनी स्थिति से हटे बिना चक्कर लगाते रहते हैं—पहला बैल स्तम्भ के निकट रहता है, दूसरा बीच में और तीसरा बाहर की ओर। इसी प्रकार सभी ग्रह तथा सैकड़ों हजारों नक्षत्र भी ध्रुवतारे के चारों ओर ऊपर तथा नीचे स्थित अपनी-अपनी कक्ष्याओं में घूमते रहते हैं। वे अपने पूर्वकर्मों के अनुसार श्रीभगवान् द्वारा प्रकृति-यंत्र में बाँधे जाकर वायु द्वारा ध्रुवलोक के चारों ओर घुमाये जाते हैं और इस प्रकार कल्पान्त तक घूमते रहेंगे। ये ग्रह विशाल आकाश के भीतर वायु में वैसे ही तैरते रहते हैं, जिस प्रकार हजारों टन जल से लदे बादल वायु में तैरते रहते हैं, अथवा अपने पूर्वकर्मों के कारण बड़े-बड़े बाज आकाश में ऊँचाई तक उड़ते रहते हैं और भूमि पर कभी नहीं गिरते।

तात्पर्य : इस श्लोक के विवरण के अनुसार सैकड़ों हजारों नक्षत्र तथा सूर्य, चन्द्र, बुध, बृहस्पति, शुक्र जैसे बृहद् नक्षत्र न तो गुरुत्वाकर्षण के नियम द्वारा अथवा आधुनिक वैज्ञानिकों की अन्य किसी कल्पना द्वारा ही संपुंजित हैं। ये समस्त नक्षत्र एवं ग्रह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् गोविन्द अथवा कृष्ण के दासस्वरूप हैं और उनकी ही आज्ञा से अपने-अपने रथों में आरूढ़ होकर अपनी-अपनी कक्ष्याओं में घूमते रहते हैं। इन कक्ष्याओं की उपमा प्रकृति द्वारा नक्षत्र और लोकों के अधिपतियों को प्रदत्त यंत्रों से की गई है जो महाराज ध्रुव द्वारा शासित ध्रुवलोक के चारों ओर चक्कर लगा कर श्रीभगवान् के आदेशों का पालन करने वाले हैं। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (.२) में इस प्रकार की गई है—

यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणां

राजा समस्तसुरमूर्तिरशेषतेजा: ।

यस्याज्ञया भ्रमति सम्भृतकालचक्रो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

''मैं उन आदि पुरुष गोविन्द का भजन करता हूँ, जिनके आदेश से ईश्वर के चक्षु रूप सूर्य भी शाश्वत काल की स्थिर कक्ष्या में घूमता है। सूर्य समस्त नक्षत्रों का राजा है और उसमें उष्मा तथा प्रकाश की असीम शक्ति है।'' *ब्रह्म-संहिता* के इस श्लोक से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि सबसे बड़ा एवं सर्वशक्तिमान ग्रह सूर्य भी स्थिर कक्ष्या अथवा कालचक्र के अन्तर्गत श्रीभगवान् की आज्ञा से घूमता है। गुरुत्वाकर्षण या विज्ञानियों द्वारा बनाए गए अन्य काल्पनिक सिद्धान्तों से इसका कोई सरोकार नहीं है।

भौतिक विज्ञानी श्रीभगवान् के शासन से दूर रह कर नक्षत्रों की गति के लिए नाना प्रकार की कल्पनाएँ करते हैं। जिन के अन्तर्गत वे नक्षत्रों की गति को होना मानते हैं। किन्तु श्रीभगवान् का आदेश सर्वप्रमुख शर्त है। ग्रहों के प्रमुख देवता पुरुष हैं और भगवान् भी पुरुष (पूर्ण पुरुषोत्तम) हैं। श्रीभगवान् अपने अधीन विभिन्न नामधारी देवतोओं को आदेश देते हैं कि वे उनकी परम इच्छा का पालन करें। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* से (९.१०) हुई है, जिसमें श्रीकृष्ण का वचन है—

मयाध्यक्षेण प्रकृति सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

''हे कुन्तीपुत्र! यह प्रकृति (माया) मेरी अध्यक्षता में कार्य करती हुई सम्पूर्ण चराचर प्राणियों को

उत्पन्न करती है। इसी कारण इस दृश्य जगत का बारम्बार सृजन एवं संहार होता है।''

नक्षत्रों की कक्ष्याएँ उन शरीरों के समान हैं, जिनके भीतर जीवात्मा विद्यमान है क्योंकि दोनों ही श्रीभगवान् द्वारा संचालित यंत्र हैं। जैसाकि श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (१८.६१) में कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

''हे अर्जुन, परमेश्वर प्राणीमात्र के हृदय में स्थित है। वही भौतिक-शक्ति रूपी यंत्र में आरूढ़ होकर सब जीवों को अपनी माया-शक्ति के द्वारा घुमा रहा है।'' यह यंत्र, चाहे शरीर-यंत्र, कक्ष्यायंत्र अथवा कालचक्र हो, श्रीभगवान् के ही आदेशानुसार कार्य करता है। श्रीभगवान् तथा भौतिक प्रकृति दोनों ही मिलकर न केवल इस ब्रह्माण्ड का वरन् इससे परे लाखों ब्रह्माण्डों को बनाए रखते हैं।

इस श्लोक में इस प्रश्न का भी उत्तर मिल जाता है कि नक्षत्र तथा ग्रह किस प्रकार तैर रहे हैं। गुरुत्वाकर्षण का इसमें कोई हाथ नहीं है, वरन् नक्षत्र तथा ग्रह वायु के द्वारा तैर पाते हैं। इसी कारण आकाश में बड़े-बड़े बादल और बड़े-बड़े बाज पक्षी उड़ पाते हैं। आधुनिक वायुयान, यथा ७४७ जेटयान भी इसी प्रकार कार्य करते हैं—वे वायु को नियंत्रित करके, आकाश में ऊँचाई पर तैरते हैं और नीचे गिरते को रोकते हैं। इस प्रकार से वायु का नियंत्रण पुरुष और प्रकृति के सिद्धान्तों के सहयोग के द्वारा सम्भव हो पाता है। प्रकृति और पुरुष माने जाने वाले श्रीभगवान् के सहयोग से इस ब्रह्माण्ड के सारे कार्यकलाप सुचारु रूप से चलते रहते हैं। *ब्रह्म-संहिता* (.४४) में प्रकृति क ा वर्णन इस प्रकार हुआ है—

सृष्टिस्थितिप्रलयसाधनशक्तिरेका

छायेव यस्य भुवनानि बिभर्ति दुर्गा।

इच्छानुरूपमपि यस्य च चेष्टते सा

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''बहिरंगाशक्ति माया की, जो चित् शक्ति की छाया तुल्य है, सभी लोग दुर्गा के रूप में, जो संसार के सृजन, पालन तथा संहार करने वाली शक्ति है, आराधना करते हैं। मैं उन आदि पुरुष गोविन्द का भजन करता हूँ, जिनकी इच्छा से दुर्गा अपने सारे कार्य करती हैं।'' प्रकृति परमेश्वर की बहिरंगाशक्ति

दुर्गा अर्थात् नारी शक्ति के नाम से भी अभिहित है जो इस ब्रह्माण्ड रूपी दुर्ग की रक्षा करती है। दुर्गा शब्द का अर्थ दुर्ग भी है। यह ब्रह्माण्ड एक महान् दुर्ग के समान है, जिसमें बद्धजीव रखे गये हैं और वे तब तक इससे छुटकारा नहीं पा सकते जब तक श्रीभगवान् की दया-दृष्टि न हो। *भगवद्गीता* (४.९) में श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति ममेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो मनुष्य मेरा आविर्भाव और कर्म के दिव्य स्वभाव को जानता है, वह देह को त्याग कर संसार में फिर जन्म नहीं लेता, वरन् मेरे सनातन धाम को प्राप्त हो जाता है।" इस प्रकार केवल कृष्णभावनामृत के द्वारा भगवान् की कृपा से मुक्ति प्राप्त हो सकती है अर्थात् इस ब्रह्माण्ड रूपी दुर्ग से छुटकारा पाकर आध्यात्मिक जगत में जाया जा सकता है।

यह भी महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि बड़े से बड़े ग्रहों के प्रमुख अधिष्ठाता देवताओं को जो उच्च स्थान प्राप्त है, वह उनके पूर्वजन्मों में किये गये अत्यन्त मूल्यवान पुण्यकर्मों के फलस्वरूप है। इसका संकेत *कर्म-निर्मित-गतयः* शब्दों से मिलता है। उदाहरणार्थ, हम पहले यह बता चुके हैं कि चन्द्रमा जीव कहलाता है, क्योंकि वह हम जैसा जीवात्मा है, किन्तु अपने पुण्यकर्मों के कारण उसे चन्द्रदेव का पद प्रदान किया गया है। इसी प्रकार समस्त देवतागण जीवात्माएँ हैं, जिन्हें चन्द्र, पृथ्वी तथा शुक्र के अधिष्ठाता जैसे विभिन्न पदों पर महान सेवा तथा पूण्य कर्मों के कारण आरूढ़ किया गया है। इनमें से सर्वप्रमुख सूर्य के अधिष्ठाता देवता सूर्यनारायण को ही श्रीभगवान् का अवतार माना जाता है। ध्रुवलोक के प्रमुख देवता महाराज ध्रुव भी जीवात्मा हैं। इस प्रकार से आत्मा दो प्रकार के हैं—परमात्मा अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तथा सामान्य जीवात्मा या जीव (*नित्यो नित्यानां चेतेनश्चेतनानाम्*)। समस्त देवता ईश्वर की सेवा में संलग्न रहते हैं और केवल ऐसी व्यवस्था से ही ब्रह्माण्ड के सारे कार्य चलते हैं।

जहाँ तक इस श्लोक में वर्णित श्येनों (बाज पक्षियों) का प्रश्न है, यह माना जाता है कि ऐसे विशाल बाज हैं, जो बड़े हाथी का शिकार कर सकते हैं। वे इतनी ऊँचाई पर उड़ते हैं कि वे एक ग्रह से दूसरे ग्रह की यात्रा कर सकते हैं। वे एक ग्रह से उड़ना आरम्भ करके दूसरे तक पहुँचते हैं और

उड़ते समय अंडे देते हैं जिनसे अन्य पक्षी उत्पन्न होते हैं। जबकि अण्डे गिर रहे होते हैं। संस्कृत में ऐसे बाज पक्षियों को श्येन कहा जाता है। आधुनिक परिस्थितियों में इतने बड़े श्येन तो नहीं दिखते, किन्तु हमें ऐसे विशाल पक्षी ज्ञात हैं, जो बन्दरों को पकड़ कर नीचे गिरा देते हैं और उन्हें मार कर खा जाते है। इसी प्रकार ऐसे भी विशालकाय पक्षी ज्ञात हैं, जो हाथियों पर आक्रमण करके उन्हें मार डालते हैं और खा जाते हैं।

श्येन तथा बादलों के ये दो उदाहरण यह बताने के लिए पर्याप्त हैं कि वायु के द्वारा उड़ाना तथा तैरना कैसे सम्भव होता है। इसी प्रकार ग्रह भी तैरते हैं, क्योंकि भौतिक प्रकृति श्रीभगवान् के आदेशानुसार वायु को संचालित करती है। ऐसा सोचा जा सकता है कि ऐसा संयोजन गुरुत्वाकर्षण के कारण होता है, किन्तु प्रत्येक दशा में हमें यह स्वीकार करना होगा कि समस्त सिद्धान्तों के बनाने वाले श्रीभगवान् ही हैं। इन पर तथाकथित विज्ञानियों का किसी प्रकार नियंत्रण नहीं होता। विज्ञानी झूठे ही यह घोषणा कर सकते हैं कि ईश्वर नहीं हैं, किन्तु यह वास्तविकता नहीं है।

केचनैतज्ज्योतिरनीकं शिशुमारसंस्थानेन भगवतो वासुदेवस्य योगधारणायामनुवर्णयन्ति. ॥ ४॥

शब्दार्थ

केचन—कुछ योगी अथवा ज्योतिर्विद; एतत्—यह; ज्योतिः-अनीकम्—नक्षत्रों तथा ग्रहों का विशाल चक्र; शिशुमार-संस्थानेन—यह चक्र मानो शिशुमार (सूँस) हो; भगवतः—श्रीभगवान्; वासुदेवस्य—भगवान् वासुदेव, श्रीकृष्ण का; योग-धारणायाम्—ध्यानमग्न; अनुवर्णयन्ति—बताते हैं।.

नक्षत्रों तथा ग्रहों से युक्त यह विराट यंत्र जल में शिशुमार (सूँस मछली) के स्वरूप से समानता रखने वाला है। कभी-कभी इसे वासुदेव श्रीकृष्ण का अवतार माना जाता है। वास्तव में दृश्य होने के कारण बड़े-बड़े योगी वासुदेव के इस रूप का ध्यान करते हैं।

तात्पर्य : ऐसे योगी जिनके मन भगवान् के रूप को अपने में नहीं स्थान दे पाते वे किसी अत्यन्त विराटवस्तु की यथा *विराटपुरुष* की कल्पना करते हैं। इसलिए कुछ योगी इस काल्पनिक शिशुमार के आकाश में उसी तरह तैरते हुए रूप की कल्पना करते हैं जिस तरह जल में डॅल्फिन मछली तैरती है। ये इस पर परमेश्वर के विराट रूप की भाँति ध्यान करते हैं।

यस्य पुच्छाग्रेऽवाक्शिरसः कुण्डलीभूतदेहस्य ध्रुव उपकल्पितस्तस्य लाङ्गूले प्रजापतिरग्निरिन्द्रो धर्म इति पुच्छमूले धाता विधाता च कट्यां सप्तर्षयः; तस्य दक्षिणावर्तकुण्डलीभूतशरीरस्य यान्युदगयनानि

दक्षिणपार्श्वे तु नक्षत्राण्युपकल्पयन्ति दक्षिणायनानि तु सव्ये; यथा शिशुमारस्य कुण्डलाभोगसन्निवेशस्य पार्श्वयोरुभयोरप्यवयवाः समसङ्ख्या भवन्ति; पृष्ठे त्वजवीथी आकाशगङ्गा चोदरतः. ॥ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; पुच्छ-अग्रे—पूँछ के सिरे पर; अवाक्शिरसः—जिसका सिर नीचे की ओर है; कुण्डली-भूत-देहस्य—जिसका शरीर कुण्डलीबद्ध है; ध्रुवः—ध्रुव लोक के ध्रुव महाराज; उपकल्पितः—स्थित है; तस्य—उसकी; लाङ्गूले—पूँछ पर; प्रजापतिः—प्रजापति; अग्निः—अग्नि; इन्द्रः—इन्द्र; धर्मः—धर्म; इति—इस प्रकार; पुच्छ-मूले—पूँछ के मूल भाग पर; धाता विधाता—धाता तथा विधाता नामक देवतागण; च—भी; कट्याम्—कटि भाग पर; सप्त-ऋषयः—सप्तर्षिगण; तस्य—उसके; दक्षिण-आवर्त-कुण्डली-भूत-शरीरस्य—जिसका शरीर दक्षिण की ओर घूमती हुई कुण्डली के समान है; यानि—जो; उदगयनानि—उत्तरी पथ को बताने वाले; दक्षिण-पार्श्वे—दाहिनी ओर; तु—लेकिन; नक्षत्राणि—नक्षत्रगण; उपकल्पयन्ति—स्थित हैं; दक्षिण-आयनानि—पुष्या से लेकर उत्तराषाढ़ा तक के १४ नक्षत्र जो उत्तरापथ को बताते हैं; तु—लेकिन; सव्ये—बाईं ओर; यथा—जिस प्रकार; शिशुमारस्य—सूँस का; कुण्डला-भोग-सन्निवेशस्य—जिसका शरीर कुण्डली सदृश प्रतीत होता है; पार्श्वयोः—पार्श्वों में; उभयोः—दोनों; अपि—ही; अवयवाः—शरीर के अंग; समसङ्ख्याः—समान संख्या के (१४); भवन्ति—हैं; पृष्ठे—पीठ पर; तु—निस्सन्देह; अजवीथी—दक्षिण पथ को बताने वाले प्रथम तीन नक्षत्र (मूला, पूर्वाषाढ़ा तथा उत्तराषाढ़ा); आकाश-गङ्गा—आकाशगंगा; च—भी; उदरतः—पेट पर।

यह शिशुमार कुण्डली मारे हुए है और इसका सिर नीचे की ओर है। इसकी पूँछ के सिरे पर ध्रुव नामक लोक स्थित है। इसकी पूँछ के मध्य भाग में प्रजापति, अग्नि, इन्द्र तथा धर्म नामक देवताओं के लोक स्थित हैं और पूँछ के मूल भाग में धाता और विधाता नामक देवताओं के लोक हैं। उसके कटिप्रदेश में वसिष्ठ, अंगिरा इत्यादि सातों ऋषि हैं। कुण्डलीबद्ध शिशुमार का शरीर दाहिनी ओर मुड़ता है, जिसमें अभिजित् से लेकर पुनर्वसु पर्यन्त चौदह नक्षत्र स्थित हैं। इसकी बाईं ओर पुष्य से लेकर उत्तराषाढ़ा पर्यन्त चौदह नक्षत्र हैं। इस प्रकार दोनों ओर समान संख्या में नक्षत्र होने से इसका शरीर सन्तुलित है। शिशुमार के पृष्ठ भाग में अजवीथी नामक नक्षत्रों का समूह है और उदर में आकाश-गंगा है।

पुनर्वसुपुष्यौ दक्षिणवामयोः श्रोण्योरार्द्राश्लेषे च दक्षिणवामयोः पश्चिमयोः पादयोरभिजिदुत्तराषाढे दक्षिणवामयोर्नासिकयोर्यथासङ्ख्यं श्रवणपूर्वाषाढे दक्षिणवामयोर्लोचनयोर्धनिष्ठा मूलं च दक्षिणवामयोः कर्णयोर्मघादीन्यष्ट नक्षत्राणि दक्षिणायनानि वामपार्श्ववङ्क्रिषु युञ्जीत तथैव मृगशीर्षादीन्युदगयनानि दक्षिणपार्श्ववङ्क्रिषु प्रातिलोम्येन प्रयुञ्जीत शतभिषाज्येष्ठे स्कन्धयोर्दक्षिणवामयोर्न्यसेत्. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

पुनर्वसु—पुनर्वसु नामक नक्षत्र; पुष्यौ—तथा पुष्य नक्षत्र; दक्षिण-वामयोः—दाहिने तथा बाएँ; श्रोण्योः—कटि तट; आर्द्रा—आर्द्रा नामक नक्षत्र; अश्लेषे—अश्लेषा नक्षत्र; च—भी; दक्षिण-वामयोः—दाएँ तथा बाएँ; पश्चिमयोः—पीछे; पादयोः—पैर; अभिजित्-उत्तराषाढे—अभिजित् तथा उत्तराषाढ़ा नक्षत्र; दक्षिण-वामयोः—दाएँ तथा बाएँ; नासिकयोः—नथुने; यथा-सङ्ख्यम्—क्रमानुसार; श्रवण-पूर्वाषाढे—श्रवणा तथा पूर्वाषाढ़ा नामक नक्षत्र; दक्षिण-वामयोः—दाईं तथा बाईं ओर; लोचनयोः—आँखें; धनिष्ठा मूलम् च—तथा धनिष्ठा एवं मूला नक्षत्र; दक्षिण-वामयोः—दाएँ बाएँ; कर्णयोः—कान; मघा-आदीनि—मघा आदि नक्षत्र; अष्ट नक्षत्राणि—आठ नक्षत्र; दक्षिण-आयनानि—दक्षिण पथ को बताने वाले; वाम-पार्श्व—बाईं ओर; वङ्क्रिषु—पसलियों पर; युञ्जीत—रख सकते हैं; तथा एव—इसी प्रकार; मृग-शीर्षा-आदीनि—मृगशीर्ष आदि;

उदगयनानि—उत्तरी पथ को बताते हुए; दक्षिण-पार्श्व-वङ्क्रिषु—दाहिनी ओर; प्रातिलोम्येन—विपरीत क्रम में; प्रयुञ्जीत—रख सकते हैं; शतभिषा—शतभिषा; ज्येष्ठे—ज्येष्ठा; स्कन्धयोः—दोनों कन्धों पर; दक्षिण-वामयोः—दाएँ तथा बाएँ; न्यसेत्—रखना चाहिए।

शिशुमार चक्र के दाहिने तथा बाएँ कटि तटों पर पुनर्वसु तथा पुष्य नक्षत्र हैं। इसके दाएँ तथा बाएँ पैरों पर आर्द्रा एवं अश्लेषा; इसके दाएँ तथा बाएँ नथुनों पर क्रमशः अभिजित् तथा उत्तराषाढ़ा; इसके दाएँ तथा बाएँ नेत्रों पर श्रवणा तथा पूर्वषाढ़ा और इसके दाएँ तथा बाएँ कानों पर धनिष्ठा तथा मूला स्थित हैं। मघा से अनुराधा तक दक्षिणायन् के आठ नक्षत्र बाईं पसलियों पर और उत्तरायण के मृगशीर्ष से पूर्वभाद्र पर्यन्त आठ नक्षत्र दाईं ओर की पसलियों पर स्थित हैं। शतभिषा तथा ज्येष्ठा ये दो नक्षत्र क्रमशः दाहिने और बाएँ कन्धों पर स्थित हैं।

उत्तराहनावगस्तिरधराहनौ यमो मुखेषु चाङ्गारकः शनैश्चर उपस्थे बृहस्पतिः ककुदि वक्षस्यादित्यो हृदये नारायणो मनसि चन्द्रो नाभ्यामुशना स्तनयोरश्विनौ बुधः प्राणापानयो राहुर्गले केतवः सर्वाङ्गेषु रोमसु सर्वे तारागणाः. ॥ ७॥

शब्दार्थ

उत्तरा-हनौ—ऊपरी जबड़े पर; अगस्तिः—अगस्ति नामक नक्षत्र; अधरा-हनौ—निचले जबड़े पर; यमः—यमराज; मुखेषु—मुख पर; च—भी; अङ्गारकः—मंगल; शनैश्चरः—शनि; उपस्थे—लिंगप्रदेश में; बृहस्पतिः—बृहस्पति; ककुदि—गर्दन के पीछले भाग पर; वक्षसि—वक्ष (छाती) पर; आदित्यः—सूर्य; हृदये—हृदय में; नारायणः—भगवान् नारायण; मनसि—मन में; चन्द्रः—चन्द्रमा; नाभ्याम्—नाभि में; उशना—शुक्र; स्तनयोः—दोनों स्तनों पर; अश्विनौ—अश्विनद्वय (अश्विनी कुमार); बुधः—बुध; प्राणापानयोः—प्राण तथा अपान नामक श्वासों में; राहुः—राहु ग्रह; गले—गर्दन पर; केतवः—केतुगण; सर्व-अङ्गेषु—सम्पूर्ण शरीर पर; रोमसु—रोओं में; सर्वे—सभी; तारा-गणाः—असंख्य तारे।

शिशुमार की ऊपरी ठोड़ी पर अगस्ति, निचली ठोड़ी पर यमराज, मुँह में मंगल, उपस्थ में शनि, गर्दन (ककुद) पर बृहस्पति, छाती पर सूर्य, हृदय के छोर में नारायण, मन में चन्द्रमा, नाभि में शुक्र तथा स्तनों में अश्विनी कुमार स्थित हैं। प्राण और अपान नामक प्राण वायु में बुध, गले में राहु तथा समस्त शरीर पर केतु और रोमों में समस्त तारागण स्थित हैं।

एतदु हैव भगवतो विष्णोः सर्वदेवतामयं रूपमहरहः सन्ध्यायां प्रयतो वाग्यतो निरीक्षमाण उपतिष्ठेत नमो ज्योतिर्लोकाय कालायनायानिमिषां पतये महापुरुषायाभिधीमहीति. ॥ ८॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; उ ह—निस्सन्देह; एव—ही; भगवतः—श्रीभगवान्; विष्णोः—विष्णु का; सर्व-देवता-मयम्—समस्त देवताओं से युक्त; रूपम्—स्वरूप; अहः-अहः—सदैव; सन्ध्यायाम्—प्रातः, दोपहर तथा शाम को; प्रयतः—ध्यान धरते हुए; वाग्यतः—शब्दों (वाणी) पर नियंत्रण करते हुए; निरीक्षमाणः—निरीक्षण करते हुए; उपतिष्ठेत—उपासना करनी चाहिए; नमः—नमस्कार; ज्योतिः-लोकाय—समस्त ग्रहों के आधारस्वरूप को; कालायनाय—परम काल के रूप में; अनिमिषाम्—देवताओं के; पतये—स्वामी को; महा-पुरुषाय—परम-पुरुष को; अभिधीमहि—चिन्तन करें; इति—इस प्रकार।

हे राजन्, इस प्रकार से वर्णित शिशुमार के शरीर को भगवान् श्रीविष्णु का बाह्य रूप मानना चाहिए। प्रत्येक प्रातः, दोपहर तथा सायंकाल शिशुमार चक्र के रूप में भगवान् का दर्शन मौन होकर करना चाहिए और इस मंत्र से उपासना करनी चाहिए—"हे काल रूप धारण करने वाले भगवान्, हे विभिन्न कक्ष्याओं में घूमने वाले ग्रहों के आश्रय, हे समस्त देवों के स्वामी, हे परम पुरुष, मैं आपको नमस्कार करता हूँ और आपका ध्यान धरता हूँ।"

ग्रहर्क्षताराममयमाधिदैविकं
पापापहं मन्त्रकृतां त्रिकालम् ।
नमस्यतः स्मरतो वा त्रिकालं
नश्येत तत्कालजमाशु पापम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ग्रह-ऋक्ष-तारा-मयम्—समस्त नक्षत्रों तथा ग्रहों से युक्त; आधिदैविकम्—समस्त देवताओं के अधिपति; पाप-अपहम्—पापों का नाश करने वाले; मन्त्र-कृताम्—जो उपर्युक्त मंत्र का जप करते हैं; त्रि-कालम्—तीनों काल को; नमस्यतः—नमस्कार; स्मरतः—ध्यान करते हैं; वा—अथवा; त्रि-कालम्—तीन बार; नश्येत—नाश करता है; तत्-काल-जम्—उस समय उत्पन्न; आशु—शीघ्रता से; पापम्—समस्त पापों को।

शिशुमार चक्र रूपी परमेश्वर विष्णु का शरीर समस्त देवताओं, नक्षत्रों तथा ग्रहों का आश्रय है। जो व्यक्ति परम पुरुष की आराधना करने हेतु नित्य तीन बार प्रातः, दोपहर तथा सायंकाल इस मन्त्र का जप करता है, वह समस्त पापों के फल से अवश्य ही मुक्त हो जाता है। यदि कोई इस रूप में उनको केवल नमस्कार करे या इसे दिन में तीन बार स्मरण करे तो उसके हाल में किए हुए समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के ग्रहों के सम्पूर्ण विवरण का सार-समाहार करते हुए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि जो कोई इस *विराट रूप या विश्वरूप* का ध्यान करने में समर्थ है और दिन में उनका तीन बार स्मरण करता है, वह समस्त पाप-फलों से मुक्त हो जाता है। उनका अनुमान है कि ध्रुवलोक सूर्य से ३८,००,००० योजन ऊपर स्थित है। ध्रुवलोक से भी १,००,००,००० योजन ऊपर महर्लोक और इससे २,००,००,००० योजन ऊपर जनलोक, फिर इससे ८,००,००,००० योजन ऊपर तपोलोक और इससे भी १२,००,००,००० योजन ऊपर सत्यलोक स्थित है। इस प्रकार सूर्य से सत्यलोक की दूरी २३,३८,००,००० योजन अथवा १,८७,०४,००,००० मील है। सत्यलोक से २,६२,००,००० योजन ऊपर वैकुण्ठलोक प्रारम्भ होते हैं। *विष्णु पुराण* के अनुसार सूर्य से ब्रह्माण्ड का

आवरण २६,००,००,००० योजन (२,०८,००,००,००० मील) दूर है। सूर्य से पृथ्वी तक की दूरी १,००,००० योजन है और पृथ्वी के नीचे ७०,००० योजन दूरी पर सात निम्नलोक हैं, जिनके नाम हैं—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल तथा पाताल। इन लोकों से ३०,००० योजन नीचे गर्भोदक सागर में शेषनाग शयन कर रहे हैं। यह सागर २४,९८,००,००० योजन गहरा है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड का समग्र व्यास लगभग ०,००,००,००० योजन या ४,००,००,००,००० मील है।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत शिशुमार ग्रहमण्डल '' नामक तेईसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौबीस

नीचे के स्वर्गीय लोकों का वर्णन

इस अध्याय में सूर्य से नीचे १०,००० योजन (८०,००० मील) दूरी पर स्थित राहु ग्रह तथा अतल एवं अन्य निम्न लोकों का वर्णन किया गया है। राहु सूर्य तथा चन्द्रमा के नीचे स्थित है। यह इन दोनों ग्रहों (लोकों) एवं पृथ्वी के मध्य में है। जब राहु सूर्य अथवा चन्द्रमा को ढक लेता है, तो पूर्ण अथवा आंशिक ग्रहण लगते हैं, जो उसकी सीधी या वक्रगति पर निर्भर करता है।

राहु से भी १०,००,००० योजन नीचे सिद्धों, चारणों तथा विद्याधरों के लोक और इनसे भी नीचे यक्षलोक तथा राक्षसलोक स्थित हैं। इन सब ग्रहों के नीचे पृथ्वी है और इसके भी नीचे ७०,००० योजन पर निम्नतरलोक–अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल तथा पाताल लोक हैं। इन निम्नतर ग्रहों में असुर तथा राक्षसगण अपनी पत्नियों तथा संतानों समेत वास करते हैं और अगले जन्मों की परवाह किये बिना सदैव ही इन्द्रियभोग में लिप्त रहते हैं। इन लोकों में सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता। इन्हें सर्पों के फणों पर लगी मणियाँ प्रकाशित करती हैं जिससे वहाँ अंधकार नहीं रहता है। इन लोकों के वासी न तो वृद्ध होते हैं और न उन्हें रोग सताता है। वे किसी कारण से होने वाली मृत्यु से भयभीत नहीं हैं। यदि वे भयभीत हैं, तो केवल काल से जो श्रीभगवान् ही है।

अतललोक में अँगड़ाते एक असुर (दैत्य) से तीन प्रकार की स्त्रियाँ उत्पन्न हुईं—जिन्हें *स्वैरिणी*

(स्वतंत्र), *कामिनी* (कामोन्मत्त) तथा *पुंश्चली* (पुरुषों द्वारा आसानी से वशीभूत) कहते हैं। अतल से नीचे वितल ग्रह है जहाँ भगवान् शिव अपनी पत्नी गौरी के साथ निवास करते हैं। उनकी उपस्थिति से एक प्रकार का स्वर्ण उत्पन्न होता है जो *हाटक* कहलाता है। वितल के नीचे सुतल ग्रह में परम भाग्यशाली बलि महाराज का आवास है। भगवान् वामनदेव ने उनकी कठिन तपस्या से प्रसन्न होकर बलि महाराज पर कृपा की। वे उनके साथ यज्ञस्थल पर गये और तीन पग भूमि माँगकर उसी बहाने उनकी सारी सम्पत्ति ले ली। सर्वस्व देने के लिए बलि महाराज द्वारा तैयार हो जाने पर भगवान् परम प्रसन्न हुए; फलस्वरूप वे उनके द्वारपाल बन गये। बलि महाराज का वर्णन *श्रीमद्भागवत* के अष्टम स्कन्ध में हुआ है।

जब भगवान् किसी भक्त को भौतिक सुख प्रदान करते हैं, तो वह उनका वास्तविक वरदान नहीं होता। अपने ऐश्वर्य के गर्व में फूले हुए देवतागण ईश्वर से केवल भौतिक सुख के लिए प्रार्थना करते हैं। किन्तु प्रह्लाद महाराज जैसे भक्तगण भौतिक सुख की कामना नहीं करते। भौतिक सुख की क्या बात, वे भौतिक बन्धन से मुक्ति तक की कामना नहीं करते, यद्यपि पवित्र नाम के अशुद्ध उच्चारण से जप करने से भी मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

सुतललोक के नीचे तलातल है, जो मय-असुर का वास है। भगवान् शंकर के वरदान से यह असुर भौतिक दृष्टि से अत्यन्त सुखी है, किन्तु उसे कभी आत्मिक सुख प्राप्त नहीं हो पाता। तलातल से भी नीचे महातल है जहाँ सैकड़ों-हजारों फणों वाले अनेक सर्प हैं। महातल के नीचे रसातल और उससे भी नीचे पाताललोक है जहाँ नाग वासुकी अपने साथियों सहित वास करता है।

श्रीशुक उवाच

अधस्तात्सवितुर्योजनायुते स्वर्भानुर्नक्षत्रवच्चरतीत्येके योऽसावमरत्वं ग्रहत्वं चालभत भगवदनुकम्पया स्वयमसुरापसदः सैंहिकेयो ह्यतदर्हस्तस्य तात जन्म कर्माणि चोपरिष्टाद्वक्ष्यामः. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी बोले; अधस्तात्—नीचे; सवितुः—सूर्य गोलक; योजन—आठ मील के बराबर की दूरी; अयुते—दस हजार; स्वर्भानुः—राहु नामक ग्रह; नक्षत्र-वत्—नक्षत्र के समान; चरति—घूमता है; इति—इस प्रकार; एके—कुछ पुराणवेत्ता; यः—जो; असौ—वह; अमरत्वम्—देवताओं के सदृश जीवन; ग्रहत्वम्—किसी प्रमुख ग्रह की सी स्थिति; च—और; अलभत—प्राप्त की गई; भगवत्-अनुकम्पया—श्रीभगवान् की दया से; स्वयम्—स्वयं, साक्षात्; असुर-अपसदः—असुरों में निम्नतम; सैंहिकेयः—सिंहिका का पुत्र होने से; हि—निस्सन्देह; अ-तत्-अर्हः—उस पद के लिए सुयोग्य; तस्य—उसका; तात—हे राजन्; जन्म—जन्म; कर्माणि—क्रियाएँ; च—भी; उपरिष्टात्—बाद में; वक्ष्यामः—मैं कहूँगा।

श्रीशुकदेव गोस्वामी बोले—हे राजन्, कुछ पुराण-वाचकों का कथन है कि सूर्य से १०,००० (८०,००० मील) योजन नीचे राहु नामक ग्रह है जो नक्षत्रों की भाँति घूमता है। इस ग्रह का अधिष्ठाता देवता, जो सिंहिका का पुत्र है समस्त असुरों में घृणास्पद है और इस पद के लिए सर्वथा अयोग्य होने पर भी श्रीभगवान् की कृपा से उसे प्राप्त कर सका है। मैं उसके विषय में आगे कहूँगा।

यददस्तरणेर्मण्डलं प्रतपतस्तद्विस्तरतो योजनायुतमाचक्षते द्वादशसहस्रं सोमस्य त्रयोदशसहस्रं राहोर्यः पर्वणि तद्व्यवधानकृद्वैरानुबन्धः सूर्याचन्द्रमसावभिधावति. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; अदः—वह; तरणेः—सूर्य का; मण्डलम्—गोलक; प्रतपतः—जो सदैव उष्मा प्रदान करता है; तत्—वह; विस्तरतः—विस्तार में; योजन—आठ मील की दूरी; अयुतम्—दस हजार; आचक्षते—उनका अनुमान है; द्वादश-सहस्रम्—बीस हजार योजन; सोमस्य—चन्द्रमा का; त्रयोदश—तीस; सहस्रम्—हजार; राहोः—राहु नामक ग्रह का; यः—जो; पर्वणि—अवसर पर; तत्-व्यवधान-कृत्—जिसने अमृत वितरण के समय सूर्य तथा चन्द्रमा के लिए अवरोध उत्पन्न किया; वैर-अनुबन्धः—वैर भाव; सूर्या—सूर्य; चन्द्रमसौ—तथा चन्द्रमा; अभिधावति—पूर्णिमा तथा अमावस्या के समय उनका पीछा करता है।.

उष्मा के स्त्रोत सूर्य गोलक का विस्तार १०,००० योजन (८०,००० मील) है। चन्द्रमा का २०,००० योजन (१६०,००० मील) और राहु का ३०,००० योजन (२४०,००० मील) तक फैला हुआ है। अमृत वितरण के समय राहु ने सूर्य तथा चन्द्रमा के मध्य आसीन होकर उनके बीच विद्वेष उत्पन्न करना चाहा। राहु, सूर्य तथा चन्द्रमा दोनों के प्रति शत्रुभाव रखता है। इसलिए वह सदा अमावस्या तथा पूर्णिमा के दिन उनको ढकने का प्रयत्न करता रहता है।

तात्पर्य : जैसाकि यहाँ बताया गया है सूर्य १०,००० योजन तक और चन्द्रमा इससे दूना २०,००० योजन तक विस्तीर्ण है। यहाँ द्वादश शब्द का अर्थ दस का दो गुना अर्थात् बीस मानना चाहिए। विजयध्वज के मत से राहु को चन्द्रमा का दो गुना अर्थात् ४०,००० योजन तक विस्तीर्ण होना चाहिए। किन्तु *भागवत* के इस विरोधाभास से सहमत होने के लिए वे राहु के सम्बन्ध में निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—*राहुसोमरवीणां तु मण्डला द्विगुणोक्तिताम्*—जिसका अर्थ है कि राहु चन्द्रमा से दुगुना बड़ा है और चन्द्रमा सूर्य से दुगुना है। यह निष्कर्ष टीकाकार विजयध्वज का है।

तन्निशम्योभयत्रापि भगवता रक्षणाय प्रयुक्तं सुदर्शनं नाम भागवतं दयितमस्त्रं तत्तेजसा दुर्विषहं मुहुः परिवर्तमानमभ्यवस्थितो मुहूर्तमुद्विजमानश्चकितहृदय आरादेव निवर्तते तदुपरागमिति वदन्ति लोकाः. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह स्थिति; निशम्य—सुनकर; उभयत्र—सूर्य तथा चन्द्र दोनों के चारों ओर; अपि—निस्सन्देह; भगवता—श्रीभगवान् द्वारा; रक्षणाय—उनकी रक्षा हेतु; प्रयुक्तम्—संलग्न; सुदर्शनम्—श्रीकृष्ण का चक्र; नाम—नामक; भागवतम्—अत्यन्त विश्वासपात्र भक्त; दयितम्—अत्यन्त प्रिय; अस्त्रम्—आयुध; तत्—वह; तेजसा—अपने तेज से; दुर्विषहम्—असह्य गर्मी; मुहुः—बारम्बार; परिवर्तमानम्—सूर्य तथा चन्द्र की परिक्रमा करता हुआ; अभ्यवस्थितः—स्थित; मुहूर्तम्—एक मुहूर्त (४८मिनट) के लिए; उद्विजमानः—जिसका मन चिन्ताओं से पूर्ण है; चकित—चकित, डरा हुआ; हृदयः—हृदय; आरात्—सुदूर स्थान तक; एव—ही; निवर्तते—भागता है; तत्—वह स्थिति; उपरागम्—ग्रहण; इति—इस प्रकार; वदन्ति—कहते हैं; लोकाः—लोग।

सूर्य तथा चन्द्र देवताओं से राहु के आक्रमण को सुन कर उनकी रक्षा हेतु भगवान् विष्णु अपना सुदर्शन चक्र चलाते हैं। यह चक्र भगवान् का अत्यन्त प्रिय भक्त और प्रिय पात्र है। अवैष्णवों के वध हेतु इसका प्रचण्ड तेज राहु के लिए असह्य है, अतः वह डर कर भाग जाता है। जब राहु चन्द्र या सूर्य को सताता है, तो ग्रहण लगता है।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु अपने भक्तों के, जिन्हें देवता भी कहा जाता है, सदैव ही रक्षक हैं। प्रधान देवता विष्णु के अत्यन्त आज्ञाकारी होते हैं, यद्यपि उन्हें भी भौतिक इन्द्रिय-भोग चाहिए और इसीलिए वे देवता या ईश्वरतुल्य माने जाते हैं। राहु सूर्य तथा चन्द्र पर आक्रमण करने का प्रयास करता है, किन्तु वे भगवान् विष्णु द्वारा रक्षित हैं। भगवान् विष्णु के चक्र से भयभीत रहने के कारण राहु सूर्य या चन्द्र के समक्ष एक मुहूर्त (४८ मिनट) से अधिक समय तक नहीं ठहर पाता। जब राहु सूर्य या चन्द्रमा के प्रकाश को रोक लेता है, तो यह घटना ग्रहण कहलाती है। पृथ्वी के विज्ञानियों का चन्द्रमा तक जाने का प्रयास राहु के आक्रमण के समान आसुरी है। निस्सन्देह उनके प्रयत्न विफल होंगे, क्योंकि कोई भी सूर्य या चन्द्रमा में सरलता से प्रवेश नहीं कर सकता। राहु के आक्रमण के समान ही ऐसे प्रयास निष्फल सिद्ध होंगे।

ततोऽधस्तात्सिद्धचारणविद्याधराणां सदनानि तावन्मात्र एव. ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

ततः—राहु ग्रह से; अधस्तात्—नीचे; सिद्ध-चारण—सिद्धलोक तथा चारण लोक का; विद्याधराणाम्—तथा विद्याधरों के ग्रहों के; सदनानि—आवास; तावत् मात्र—केवल उतनी ही दूरी ८०,००० मील; एव—निस्सन्देह।

राहु से १०,००० योजन (८०,००० मील) नीचे सिद्धलोक, चारणलोक तथा

विद्याधरलोक हैं।

तात्पर्य : कहा जाता है कि सिद्धलोक के वासियों को योगियों की सिद्धियाँ प्राप्त हैं, जिससे वे वायुयान अथवा इसी प्रकार के यंत्रों का प्रयोग किये बिना ही एक लोक से दूसरे लोक की यात्रा कर सकते हैं।

ततोऽधस्ताद्यक्षरक्षःपिशाचप्रेतभूतगणानां विहाराजिरमन्तरिक्षं यावद्वायुः प्रवाति यावन्मेघा उपलभ्यन्ते. ॥ ॥

शब्दार्थ

ततः अधस्तात्—सिद्ध, चारण तथा विद्याधर लोकों से नीचे; यक्ष-रक्षः-पिशाच-प्रेत-भूत-गणानाम्—यक्ष, राक्षस, पिशाच भूत इत्यादि के; विहार-अजिरम्—भोग-विलास का स्थान; अन्तरिक्षम्—अन्तरिक्ष या आकाश में; यावत्—जहाँ तक; वायुः—वायु; प्रवाति—बहती है; यावत्—जहाँ तक; मेघाः—मेघ; उपलभ्यन्ते—देखे जाते हैं।.

अन्तरिक्ष में विद्याधरलोक, चारणलोक तथा सिद्धलोक के नीचे यक्षों, राक्षसों, पिशाचों, भूतों इत्यादि के भोगविलास के स्थान हैं। जहाँ तक वायु प्रवाहित होती है और आकाश में बादल तैरते हैं, वहाँ तक अन्तरिक्ष का विस्तार है। इसके ऊपर वायु नहीं है।

ततोऽधस्ताच्छतयोजनान्तर इयं पृथिवी यावद्धंसभासश्येनसुपर्णादयः पतत्त्रिप्रवरा उत्पतन्तीति. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ततः अधस्तात्—इससे भी नीचे; शत-योजन—एक सौ योजन; अन्तरे—दूरी पर; इयम्—यह; पृथिवी—पृथ्वी; यावत्—जितना ऊँचा; हंस—हंस पक्षी; भास—गिद्ध; श्येन—बाज; सुपर्ण-आदयः—तथा अन्य पक्षीगण; पतत्त्रि-प्रवराः—पक्षियों में श्रेष्ठ; उत्पतन्ति—उड़ सकते हैं; इति—इस प्रकार।.

यक्षों तथा राक्षसों के आवासों के नीचे १०० (८०० मील) योजन की दूरी पर पृथ्वी ग्रह है। इसकी ऊपरी सीमा उतनी ऊँचाई तक है जहाँ तक हंस, गिद्ध, बाज तथा अन्य बड़े पक्षी उड़ सकते हैं।

उपवर्णितं भूमेर्यथासन्निवेशावस्थानमवनेरप्यधस्तात्सप्त भूविवरा एकैकशो योजनायुतान्तरेणायामविस्तारेणोपक्लिप्ता अतलं वितलं सुतलं तलातलं महातलं रसातलं पातालमिति. ॥ ७॥

शब्दार्थ

उपवर्णितम्—पूर्वकथित; भूमेः—पृथ्वी का; यथा-सन्निवेश-अवस्थानम्—विभिन्न स्थानों की योजना के अनुसार; अवनेः—पृथ्वी के; अपि—निश्चय ही; अधस्तात्—नीचे; सप्त—सात; भू-विवराः—अन्य लोक; एक-एकशः—क्रम से, ब्रह्माण्ड की ऊपरी सीमा तक; योजन-अयुत-अन्तरेण—दस हजार योजन के अन्तर पर; आयाम-विस्तारेण—चौड़ाई तथा लम्बाई में;

उपक्लिप्ताः—स्थित; अतलम्—अतल; वितलम्—वितल; सुतलम्—सुतल; तलातलम्—तलातल; महातलम्—महातल; रसातलम्—रसातल; पातालम्—पाताल; इति—इस प्रकार।

हे राजन्, इस पृथ्वी के नीचे सात अन्य लोक हैं, जो अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल तथा पाताल कहलाते हैं। मैं पृथ्वीलोक की स्थिति पहले ही बता चुका हूँ। इन सात निम्नलोकों की चौड़ाई तथा लम्बाई पृथ्वी के बराबर ही परिगणित की गई है।

एतेषु हि बिलस्वर्गेषु स्वर्गादप्यधिककामभोगैश्वर्यानन्दभूतिविभूतिभिः सुसमृद्धभवनोद्यानाक्रीडविहारेषु दैत्यदानवकाद्रवेया नित्यप्रमुदितानुरक्तकलत्रापत्यबन्धुसुहृदनुचरा गृहपतय ईश्वरादप्यप्रतिहतकामा मायाविनोदा निवसन्ति. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

एतेषु—इसमें से; हि—निश्चय ही; बिल-स्वर्गेषु—अधः-स्वर्ग लोकों में; स्वर्गात्—स्वर्गलोकों की अपेक्षा; अपि—भी; अधिक—बढ़कर; काम-भोग—इन्द्रियभोग का सुख; ऐश्वर्य-आनन्द—ऐश्वर्यजन्य आनन्द; भूति—प्रभाव; विभूतिभिः—वस्तुओं तथा सम्पत्ति से; सु-समृद्ध—उन्नत; भवन—घर; उद्यान—उपवन, बगीचे; आक्रीड-विहारेषु—इन्द्रियतृप्ति के लिए नाना प्रकार के क्रीड़ा स्थलों में; दैत्य—दैत्य, असुर; दानव—भूत-प्रेत; काद्रवेयाः—सर्प; नित्य—शाश्वत; प्रमुदित—अत्यधिक प्रसन्न; अनुरक्त—लगाव के कारण; कलत्र—पत्नी को; अपत्य—बच्चे; बन्धु—सगे सम्बन्धी; सुहृत्—मित्र; अनुचराः—अनुचर; गृह-पतयः—गृहस्वामी, घर का मुखिया; ईश्वरात्—देवताओं के तुल्य अधिक सक्षम जनों की अपेक्षा; अपि—भी; अप्रतिहत-कामाः—जिनकी कामेच्छा रोके नहीं रुकती; माया—मायामय; विनोदाः—जो सुख का अनुभव करते हैं; निवसन्ति—निवास करते हैं।

बिल स्वर्ग (नीचे के स्वर्ग) कहलाने वाले इन सातों लोकों में अत्यन्त सुन्दर घर, उद्यान तथा क्रीड़ास्थलियाँ हैं, जो स्वर्गलोक से भी अधिक ऐश्वर्यशाली हैं, क्योंकि असुरों के विषय-भोग, सम्पत्ति तथा प्रभाव के मानक बहुत ऊँचे हैं। इन लोकों के वासी दैत्य, दानव तथा नाग कहलाते हैं और उनमें से बहुत से गृहस्थों की भाँति रहते हैं। उनकी पत्नियाँ, सन्तानें, मित्र तथा उनका समाज मायामय भौतिक सुख में पूरी तरह मग्न रहता है। भले ही देवताओं के ऐन्द्रिय-सुख में कभी-कभी बाधा आए, किन्तु इन लोकों के वासी अबाध जीवन व्यतीत करते हैं। इस प्रकार उन्हें मायामय सुख में अत्यधिक लिप्त माना जाता है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज के कथना नुसार भौतिक सुख *मायासुख* कहलाता है। वैष्णव सदैव ऐसे झूठे सुख से जीवों को मुक्ति दिलाने के लिए चिन्तित रहता है। प्रह्लाद महाराज कहते हैं—*मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान्*—ये मूर्ख (विमूढ़) क्षणिक भौतिक सुख में लिप्त रहते हैं। चाहे स्वर्गलोक हो या अधोलोक अथवा मर्त्यलोक, लोग सर्वत्र क्षणिक भौतिक सुख में लिप्त रहते हैं और यह भूल जाते हैं कि यथासमय उन्हें भौतिक नियमों के अनुसार अपना शरीर बदलना होगा और जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था

तथा रोग के आवागमन में पड़ना होगा। अगले जन्म की परवाह किये बिना नितान्त भौतिकतावादी अपने लघु जीवन-काल में आनन्द-भोग करने में मस्त रहना चाहते हैं। ऐसे विमूढ़ भौतिकतावादियों को आध्यात्मिक आनन्द का वास्तविक सुख प्रदान करने के लिए वैष्णव सदैव उत्सुक रहता है।

येषु महाराज मयेन मायाविना विनिर्मिताः पुरो नानामणिप्रवरप्रवेकविरचितविचित्रभवनप्राकारगोपुरसभाचैत्यचत्वरायतनादिभिर्नागासुरमिथुनपारावतशुकसारिकाकीर्णकृत्रिमभूमिभिर्विवरेश्वरगृहोत्तमैः समलङ्कृताश्चकासति. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

येषु—उन अधोलोकों में; महा-राज—हे राजन्; मयेन—मय दानव के द्वारा; माया-विना—वास्तुकला में दक्ष; विनिर्मिताः—निर्मित किया हुआ; पुरः—पुरियाँ; नाना-मणि-प्रवर—बहुमूल्य मणियों का; प्रवेक—श्रेष्ठतम; विरचित—निर्मित; विचित्र—आश्चर्यजनक; भवन—घर; प्राकार—भित्तियाँ; गोपुर—द्वार; सभा—सभागार; चैत्य—मन्दिर; चत्वर—पाठशालाएँ; आयतन-आदिभिः—होटलों या मनोरंजन-शालाओं आदि से युक्त; नाग—सर्प के सदृश शरीर वाले जीवों का; असुर—असुरों या अनीश्वरवादी व्यक्तियों का; मिथुन—युग्मों द्वारा; पारावत—कबूतर; शुक—तोता; सारिका—मैना; आकीर्ण—समूहित; कृत्रिम—बनावटी; भूमिभिः—भूमि से; विवर-ईश्वर—लोकों के अधिपतियों के; गृह-उत्तमैः—उत्तम घरों से; समलङ्कृताः—अलंकृत; चकासति—चमचमाते रहते हैं।

हे राजन्, कृत्रिम स्वर्ग में, जिन्हें बिल-स्वर्ग कहते हैं, मय नामक एक महादानव है जो अत्यन्त कुशल वास्तुशिल्पी है। उसने अनेक अलंकृत पुरियों का निर्माण किया है जहाँ अनेक विचित्र भवन, प्राचीर, द्वार, सभाभवन, मन्दिर, आँगन तथा मन्दिर-प्राचार एवं विदेशियों के रहने के होटल तथा आवास हैं। इन ग्रहों के अधिपतियों के भवनों को अत्यन्त मूल्यवान रत्नों से निर्मित किया गया है। ये भवन नागों तथा असुरों के अतिरिक्त अनेक कबूतरों, तोतों तथा अन्य पक्षियों से परिपूर्ण हैं। कुल मिलाकर ये कृत्रिम स्वर्गिक पुरियाँ अत्यन्त आकर्षक ढंग से अलंकृत की गई हैं।

उद्यानानि चातितरां मनइन्द्रियानन्दिभिः कुसुमफलस्तबकसुभगकिसलयावनतरुचिरविटपविटपिनां लताङ्गालिङ्गितानां श्रीभिः समिथुनविविधविहङ्गमजलाशयानाममलजलपूर्णानां झषकुलोल्लङ्घनक्षुभितनीरनीरजकुमुदकुवलयकह्लारनीलोत्पललोहितशतपत्रादिवनेषु कृतनिकेतनानामेकविहाराकुलमधुरविविधस्वनादिभिरिन्द्रियोत्सवैरमरलोकश्रियमतिशयितानि. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

उद्यानानि—बाग तथा पार्क; च—भी; अतितराम्—अत्यधिक; मनः—मन को; इन्द्रिय—तथा इन्द्रियों को; आनन्दिभिः—आनन्द प्रदान करने वाले; कुसुम—फूलों से; फल—फलों के; स्तबक—गुच्छे; सुभग—अत्यन्त सुन्दर; किसलय—नई टहनियाँ; अवनत—नीचे झुकी; रुचिर—आकर्षक; विटप—शाखाओं वाले; विटपिनाम्—वृक्षों के; लता-अङ्ग-आलिङ्गितानाम्—लताओं के अंगों द्वारा आलिंगित; श्रीभिः—सुन्दरता से; स-मिथुन—जोड़ों में; विविध—अनेक प्रकार के; विहङ्गम—पक्षियों द्वारा; जल-आशयानाम्—जलागारों के; अमल-जल-पूर्णानाम्—निर्मल जल से पूर्ण; झष-कुल-उल्लङ्घन—

विविध प्रकार की मछलियों के कूदने से; क्षुभित—विक्षुब्ध; नीर—जल में; नीरज—कमलपुष्पों के; कुमुद—कुमुदिनी; कुवलय—कुवलय नामक पुष्प; कह्लार—कह्लार नामक पुष्प; नील-उत्पल—नीले कमल; लोहित—लाल; शत-पत्र-आदि—सौ पंखुड़ियों वाले कमलपुष्प इत्यादि; वनेषु—वनों में; कृत-निकेतनानाम्—उन पक्षियों का जिन्होंने अपने घोंसले बना लिए हैं; एक-विहार-आकुल—बेरोक सुख से पूर्ण; मधुर—अत्यधिक मीठा; विविध—नाना प्रकार के; स्वन-आदिभिः—कम्पनों से; इन्द्रिय-उत्सवैः—इन्द्रिय सुख मनाने वाले; अमर-लोक-श्रियम्—देवताओं के लोकों की सुन्दरता; अतिशयितानि—मात करने वाले।.

कृत्रिम स्वर्गों के बाग-बगीचे स्वर्गलोक के उद्यानों की शोभा को मात करने वाले हैं। उन उद्यानों के वृक्ष लताओं से लिपटे जाकर फलों तथा फूलों से लदी शाखाओं के भार से झुके रहते हैं, जिसके कारण वे अतीव सुन्दर लगते हैं। यह सुन्दरता किसी को भी आकृष्ट करनेवाली और मन को भोगेच्छा से प्रफुल्लित कर देने वाली है। वहाँ अनेक जलाशय एवं झीलें हैं जिनका जल निर्मल, पारदर्शी है तथा मछलियों के कूदने से उद्वेलित होता रहता है और कुमुदिनी, कुवलय, कह्लार तथा नील एवं लाल कमल के पुष्पों से सुसज्जित रहता है। झीलों में चक्रवाक के जोड़े तथा अन्य अनेक जलपक्षी विहार करते हैं और प्रसन्न होकर कलरव करते हैं जिसे सुनकर मन और इन्द्रियों को अत्यन्त आह्लाद होता है।

यत्र ह वाव न भयमहोरात्रादिभिः कालविभागैरुपलक्ष्यते. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; ह वाव—निश्चय ही; न—नहीं; भयम्—भय, डर; अहः-रात्र-आदिभिः—दिन और रात के कारण; काल-विभागैः—काल के विभाग; उपलक्ष्यते—अनुभव किया जाता है।.

चूँकि उन अधःलोकों में सूर्य का प्रकाश नहीं जाता, अतः काल दिन तथा रात में विभाजित नहीं है, जिसके फलस्वरूप काल से उत्पन्न भय नहीं रहता।

यत्र हि महाहिप्रवरशिरोमणयः सर्वं तमः प्रबाधन्ते. ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; हि—निस्सन्देह; महा-अहि—बड़े-बड़े सर्पों के; प्रवर—सर्वश्रेष्ठ; शिरः-मणयः—फनों पर स्थित मणियाँ; सर्वम्—सभी; तमः—अंधकार; प्रबाधन्ते—दूर भगाती हैं।.

वहाँ अनेक बड़े-बड़े सर्प वास करते हैं जिनके फनों की मणियों के प्रकाश से अंधकार दूर भाग जाता है।

न वा एतेषु वसतां दिव्यौषधिरसरसायनान्नपानस्नानादिभिराधयो व्याधयो वलीपलितजरादयश्च देहवैवर्ण्यदौर्गन्ध्यस्वेदक्लमग्लानिरिति वयोऽवस्थाश्च भवन्ति. ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वा—या; एतेषु—इन लोकों में; वसताम्—बसने वालों का; दिव्य—विस्मयकारी; औषधि—जड़ी बूटियों का; रस—रस; रसायन—तथा अमृत; अन्न—खाने से; पान—पीने से; स्नान-आदिभिः—स्नान आदि करने से; आधयः—मानसिक क्लेश; व्याधयः—रोग, व्याधियाँ; वली—झुर्रियाँ; पलित—पके केश; जरा—वृद्धावस्था; आदयः—आदि; च—तथा; देह-वैवर्ण्य—शारीरिक कान्ति का म्लान पड़ना; दौर्गन्ध्य—दुर्गन्ध; स्वेद—पसीना; क्लम—थकान; ग्लानिः—शक्ति-क्षय; इति—इस प्रकार; वयः अवस्थाः—आयु के बढ़ने के कारण उत्पन्न शोचनीय दशाएँ; च—भी; भवन्ति—हैं।

चूँकि इन लोकों के निवासी जड़ी-बूटियों से बने रस तथा रसायन का पान करते हैं और उनमें स्नान करते हैं, अतः वे सभी प्रकार की चिन्ताओं और व्याधियों से मुक्त रहते हैं। न तो उनके केश सफेद होते हैं, न झुर्रियाँ पड़ती हैं, न वे अशक्य होते हैं। उनकी शारीरिक कान्ति कभी मलिन नहीं पड़ती, उनके पसीने से दुर्गन्ध नहीं आती और न तो उन्हें थकान, न ही शक्ति का अथवा वृद्धावस्थाजन्य उत्साह का अभाव सताता है।

न हि तेषां कल्याणानां प्रभवति कुतश्चन मृत्युर्विना भगवत्तेजसश्चक्रापदेशात्. ॥ १४॥

शब्दार्थ

न हि—नहीं; तेषाम्—उनका; कल्याणानाम्—जो स्वभाव से शुभ होते हैं; प्रभवति—प्रभाव डालने में सक्षम; कुतश्चन—कहीं से भी; मृत्युः—मृत्यु; विना—के सिवा; भगवत्-तेजसः—श्रीभगवान् की शक्ति का; चक्र-अपदेशात्—सुदर्शन चक्र से।

वे अत्यन्त कुशलपूर्वक रहते हैं और काल रूप श्रीभगवान् के सुदर्शन चक्र के अतिरिक्त अन्य किसी साधन द्वारा मृत्यु से भयभीत नहीं हैं।

तात्पर्य : भौतिक जगत का यही दोष है। अधोलोकों में प्रत्येक वस्तु सुचारु रीति से व्यवस्थित है। वहाँ सुन्दर आवास हैं, मोहक वायुमण्डल है और वहाँ शारीरिक क्लेश या मानसिक व्याधियाँ नहीं हैं। तो भी वहाँ जो रहते हैं उन्हें अपने कर्मों के अनुसार दूसरा जन्म ग्रहण करना होता है। मन्द बुद्धि वाले पुरुष सुखोन्मुखी भौतिकतावादी सभ्यता के इस दोष को नहीं समझ सकते। कोई कितना ही क्यों न अपनी इन्द्रियों को भाने वाली परिस्थितियाँ उत्पन्न कर ले, किन्तु, अन्ततः उसे मृत्यु का सामना करना ही पड़ता है। आसुरी सभ्यता के लोग अपनी परिस्थितियों को अत्यन्त सुखद बनाने का प्रयास करते हैं, किन्तु वे मृत्यु को नहीं रोक पाते। तथाकथित सुदर्शन चक्र के प्रभाव से उनका यह तथाकथित भौतिक सुख स्थायी नहीं रह सकता।

यस्मिन्प्रविष्टेऽसुरवधूनां प्रायः पुंसवनानि भयादेव स्रवन्ति पतन्ति च. ॥ १॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जहाँ; प्रविष्टे—प्रवेश करने पर; असुर-वधूनाम्—उन असुर वधुओं का; प्रायः—प्रायः; पुंसवनानि—गर्भ; भयात्—भयवश; एव—ही; स्रवन्ति—बाहर सरकते हैं; पतन्ति—गिर पड़ते हैं; च—तथा।

जब सुदर्शन चक्र उन प्रदेशों में पहुँचता है, तो उसके तेज के भय से असुरों की गर्भिणी स्त्रियों का गर्भपात हो जाता है।

अथातले मयपुत्रोऽसुरो बलो निवसति येन ह वा इह सृष्टाः षण्णवतिर्मायाः काश्चनाद्यापि मायाविनो धारयन्ति यस्य च जृम्भमाणस्य मुखतस्त्रयः स्त्रीगणा उदपद्यन्त स्वैरिण्यः कामिन्यः पुंश्चल्य इति या वै बिलायनं प्रविष्टं पुरुषं रसेन हाटकाख्येन साधयित्वा स्वविलासावलोकनानुरागस्मितसंलापोपगूहनादिभिः स्वैरं किल रमयन्ति यस्मिन्नुपयुक्ते पुरुष ईश्वरोऽहं सिद्धोऽहमित्ययुतमहागजबलमात्मानमभिमन्यमानः कत्थते मदान्ध इव. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अथ—अब; अतले—अतल नामक लोक पर; मय-पुत्रः असुरः—मय का असुर पुत्र; बलः—बल; निवसति—वास करता है; येन—जिसके द्वारा; ह वा—निस्सन्देह; इह—इसमें; सृष्टाः—रचना की; षट्-णवतिः—छियानबे; मायाः—माया के प्रकार; काश्चन—कोई; अद्य अपि—आज भी; माया-विनः—मायावी लोग (यथा सोना बनाने वाले); धारयन्ति—उपयोग करते हैं; यस्य—जिसका; च—भी; जृम्भमाणस्य—उवासी लेते हुए; मुखतः—मुख मार्ग से; त्रयः—तीन; स्त्री-गणाः—स्त्रियों के प्रकार; उदपद्यन्त—उत्पन्न हुए; स्वैरिण्यः—स्वैरिणी (जो अपनी ही जाति में ब्याह करती है); कामिन्यः—कामिनी (जो कामवश किसी भी जाति के पुरुष से ब्याह कर लेती है); पुंश्चल्यः—पुंश्चली (जो एक पति को छोड़कर दूसरा पति बनाना चाहती है); इति—इस प्रकार; याः—जो; वै—निश्चय ही; बिल-अयनम्—अधोलोक, बिल-स्वर्ग में; प्रविष्टम्—प्रवेश करके; पुरुषम्—नर; रसेन—रस द्वारा; हाटक-आख्येन—हाटक नामक मादक जड़ी से बना हुआ; साधयित्वा—विषयभोग के लिए सक्षम बनाकर; स्व-विलास—अपने इन्द्रियभोग के लिए; अवलोकन—चितवन से; अनुराग—कामी; स्मित—मन्द हास से; संलाप—बातचीत से; उपगूहन-आदिभिः—आलिंगन आदि से; स्वैरम्—अपनी इच्छानुसार; किल—निस्सन्देह; रमयन्ति—रमण करते हैं; यस्मिन्—जो; उपयुक्ते—उपभोग करने पर; पुरुषः—पुरुष; ईश्वरः अहम्—मैं सर्वशक्तिमान पुरुष हूँ; सिद्धः अहम्—मैं सिद्ध पुरुष हूँ; इति—इस प्रकार; अयुत—दस हजार; महा-गज—बड़े-बड़े हाथियों की; बलम्—शक्ति; आत्मानम्—अपने आप; अभिमन्यमानः—गर्व से पूर्ण होकर; कत्थते—कहते हैं; मद-अन्धः—मिथ्या अहंकार से अन्धा; इव—सदृश।

हे राजन्, अब मैं तुमसे अतललोक से प्रारम्भ करके एक एक करके समस्त अधोलोकों का वर्णन करूँगा। अतललोक में मय-दानव का पुत्र बल नामक असुर है, जिसने छियानबे प्रकार की माया रच रखी है। कुछ तथाकथित योगी तथा स्वामी आज भी लोगों को ठगने के लिए इस माया का प्रयोग करते हैं। बल असुर ने उवासी लेने से स्वैरिणी, कामिनी तथा पुंश्चली के नाम से तीन प्रकार की स्त्रियाँ उत्पन्न हुई हैं। स्वैरिणियाँ अपने ही समूह के पुरुष से ब्याह करना पसन्द करती हैं, कामिनियाँ किसी भी वर्ग के पुरुष से ब्याह कर लेती हैं और पुंश्चलियाँ अपना पति बदलती रहती हैं। यदि कोई पुरुष अतललोक में प्रवेश करता है, तो ये स्त्रियाँ तुरन्त ही उसे बन्दी बना कर हाटक नामक जड़ी से बनाये गये मादक पेय को पीने के लिए बाध्य कर देती हैं। इस पेय से मनुष्य में प्रचुर काम-शक्ति जाग्रत होती है, जिसका उपयोग वे स्त्रियाँ अपने सम्भोग हेतु करती हैं। स्त्रियाँ उसे अपनी मोहक चितवन, प्रेमालाप, मन्द मुस्कान तथा आलिंगन इत्यादि के

द्वारा मोह लेती हैं। इस प्रकार वे उन्हें अपने साथ संभोग के लिए फुसलाकर जी भर कर कामतृप्ति करती हैं। कामशक्ति बढ़ने के कारण मनुष्य अपने को दस हजार हाथियों से भी अधिक बलवान और सक्षम न मानने लगता है। दरअसल मदहोशी के कारण मोहग्रस्त होकर वह सर पर खड़ी मृत्यु की अनदेखी करके अपने आपको ईश्वर समझने लगता है।

ततोऽधस्ताद्वितले हरो भगवान्हाटकेश्वरः स्वपार्षदभूतगणावृतः प्रजापतिसर्गोपबृंहणाय भवो भवान्या सह
मिथुनीभूत आस्ते यतः प्रवृत्ता सरित्प्रवरा हाटकी नाम भवयोर्वीर्येण यत्र चित्रभानुर्मातरिश्वना
समिध्यमान ओजसा पिबति तन्निष्ठ्यूतं हाटकाख्यं सुवर्णं भूषणेनासुरेन्द्रावरोधेषु पुरुषाः सह
पुरुषीभिर्धारयन्ति. ॥ १७॥

शब्दार्थ

ततः—अतललोक के; अधस्तात्—नीचे; वितले—वितललोक में; हरः—भगवान् शिव; भगवान्—सर्वशक्तिमान; हाटकेश्वरः—स्वर्ण का स्वामी; स्व-पार्षद—अपने पार्षदों से; भूत-गण—जो भूत जैसे प्राणी हैं; आवृतः—घिर कर; प्रजापति-सर्ग—भगवान् ब्रह्मा की सृष्टि; उपबृंहणाय—जनसंख्या बढ़ाने के उद्देश्य से; भवः—भगवान् शिव; भवान्या सह—अपनी पत्नी भवानी सहित; मिथुनी-भूतः—कामक्रीड़ा में रत; आस्ते—रहते हैं; यतः—उस लोक (वितल) से; प्रवृत्ता—निकल कर; सरित्-प्रवरा—बड़ी नदी; हाटकी—हाटकी; नाम—नाम की; भवयोः वीर्येण—भगवान् शिव तथा भवानी के वीर्य एवं रज से; यत्र—जहाँ; चित्र-भानुः—अग्निदेवता; मातरिश्वना—वायु द्वारा; समिध्यमानः—तेजी से प्रज्वलित किये जाने पर; ओजसा—अत्यधिक शक्ति के साथ; पिबति—पीता है; तत्—वह; निष्ठ्यूतम्—फूत्कार करते हुए थूकना; हाटक-आख्यम्—हाटक नाम का; सुवर्णम्—सोना; भूषणेन—अनेक प्रकार के आभूषणों द्वारा; असुर-इन्द्र—महान् असुरों के; अवरोधेषु—घरों में; पुरुषाः—नर; सह—के साथ; पुरुषीभिः—अपनी पत्नियों तथा स्त्रियों के; धारयन्ति—धारण करते हैं।.

अतललोक के नीचे अगला ग्रह वितल है जहाँ स्वर्ण खानों के स्वामी भगवान् शिव अपने गणों, भूतों तथा ऐसे ही अन्य जीवों के साथ रहते हैं। पिता-रूप शिव माता-रूप भवानी के साथ विहार करते हैं और इनके वीर्य-रज के मिश्रण से हाटकी नामक नदी निकलती है। जब वायु द्वारा अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, तो वह नदी को पी जाती है और बाहर थूक देने पर हाटक नामक स्वर्ण उत्पन्न होता है। इस लोक के वासी असुर अपनी पत्नियों सहित उस स्वर्ण के बने आभूषणों से अपने को अलंकृत करते हैं और इस प्रकार से वे अत्यन्त सुखपूर्वक रहते हैं।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि भव तथा भवानी अर्थात् शिवजी तथा उनकी पत्नी के सम्भोग करने पर जो वीर्य निकलता है, उसमें जो रसायन होता है उसे अग्नि में तपाने पर सोना उत्पन्न किया जा सकता है। कहा जाता है कि मध्य युग के कीमयागर निम्न धातु से सोना बनाना जानते थे और श्रील सनातन गोस्वामी का भी कथन है काँसे को पारे से अभिकृत करने पर सोना बन सकता है। श्रील सनातन गोस्वामी का यह उल्लेख निम्न वर्ग के पुरुषों को ब्राह्मण बनाने के प्रसंग में हुआ है। उनका

कथन है—

यथा कांचनतां याति कांस्यं रसं विधानतः।

तथा दीक्षाविधानेन द्विजत्वम् जायते नृणाम्॥

"जिस प्रकार कांसे को पारे से अभिकृत करके उसे सोने में बदला जा सकता है उसी प्रकार निम्न कुल में उत्पन्न मनुष्य को वैष्णव कार्यों में लगाकर ब्राह्मण बनाया जा सकता है।" अन्तर्राष्ट्रीय *कृष्णभावनामृत* संघ द्वारा म्लेच्छों तथा यवनों को उचित ढंग से दीक्षा दे कर तथा उन्हें मांसाहार, मादक द्रव्य, व्यभिचार तथा द्यूत-क्रीड़ा से विरत करके ब्राह्मणों में परिणत करने का प्रयास किया जा रहा है। जो कोई इन चार पापकर्मों का परित्याग करके *हरे कृष्ण महामंत्र* का जप करता है, वह प्रामाणिक दीक्षा द्वारा शुद्ध ब्राह्मण बन सकता है। ऐसा श्रील सनातन गोस्वामी का प्रस्ताव है।

इसके अतिरिक्त, यदि कोई इस श्लोक से संकेत पाकर यह सीख ले कि कांसे के साथ पारे को कैसे मिलाते तथा गलाते हैं, तो वह सस्ते में सोना तैयार कर सकता है। यद्यपि मध्ययुग के कीमियागरों ने स्वर्ण बनाने का प्रयास किया, किन्तु वे असफल रहे, क्योंकि शायद उन्होंने सही निर्देशों का पालन नहीं किया।

ततोऽधस्तात्सुतले उदारश्रवाः पुण्यश्लोको विरोचनात्मजो बलिर्भगवता महेन्द्रस्य प्रियं चिकीर्षमाणेनादितेर्लब्धकायो भूत्वा वटुवामनरूपेण पराक्षिप्तलोकत्रयो भगवदनुकम्पयैव पुनः प्रवेशित इन्द्रादिष्वविद्यमानया सुसमृद्धया श्रियाभिजुष्टः स्वधर्मेणाराधयंस्तमेव भगवन्तमाराधनीयमपगतसाध्वस आस्तेऽधुनापि. ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ततः अधस्तात्—वितल लोक के नीचे; सुतले—सुतल लोक में; उदार-श्रवाः—अत्यन्त प्रसिद्ध; पुण्य-श्लोकः—अत्यन्त पवित्र एवं चिन्मय भावना में अग्रसर; विरोचन-आत्मजः—विरोचन का पुत्र; बलिः—बलि महाराज; भगवता—श्रीभगवान् के द्वारा; महा-इन्द्रस्य—स्वर्ग के राजा इन्द्र का; प्रियम्—कुशलता; चिकीर्षमाणेन—करने की कामना रखने वाला; आदितेः—अदिति से; लब्ध-कायः—अपना शरीर प्राप्त करके; भूत्वा—प्रकट होकर; वटु—ब्रह्मचारी; वामन-रूपेण—वामन के रूप में; पराक्षिप्त—ऐंठ लिया; लोक-त्रयः—तीनों लोक; भगवत्-अनुकम्पया—श्रीभगवान् की कृपा से; एव—ही; पुनः—फिर; प्रवेशितः—प्रवेश करने के लिए बाध्य किया; इन्द्र-आदिषु—स्वर्ग के राजा जैसे देवताओं के मध्य में; अविद्यमानया—अनुपस्थित रहकर; सुसमृद्धया—ऐसे ऐश्वर्य से अत्यन्त धनी बनकर; श्रिया—सौभाग्य से; अभिजुष्टः—आशीष प्राप्त करके; स्व-धर्मेण—भक्ति करके; आराधयन्—आराधना करके; तम्—उसे; एव—निश्चय ही; भगवन्तम्—श्रीभगवान् को; आराधनीयम्—अत्यन्त आराध्य; अपगत-साध्वसः—भयरहित; आस्ते—रहता है; अधुना अपि—आज भी।

वितल के नीचे सुतल नामक एक अन्य लोक है जहाँ महाराज विरोचन के पुत्र बलि महाराज रहते हैं, जो अत्यन्त पवित्र राजा के रूप में विख्यात हैं और वहाँ आज भी निवास करते हैं। स्वर्ग

के राजा इन्द्र के कल्याण हेतु भगवान् विष्णु अदिति के पुत्र वामन ब्रह्मचारी के रूप मेंप्रकट हुए और केवल तीन पग पृथ्वी माँग कर महाराज बलि को छल कर तीनों लोक प्राप्त कर लिए। सर्वस्व दान ले लेने पर बलि से प्रसन्न होकर भगवान् ने उन्हें उनका राज्य लौटा दिया और इन्द्र से भी ऐश्वर्यवान् बना दिया। आज भी सुतललोक में श्रीभगवान् की आराधना करते हुए बलि महाराज भक्ति करते हैं।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को उत्तमश्लोक कहा गया है, जिसका अर्थ है, ''जिसकी आराधना श्रेष्ठतम चुने हुए संस्कृत श्लोकों से की जाती है'' तथा बलि महाराज सरीखे उनके भक्तों की भी पुण्यश्लोक अर्थात् करुणा बढ़ाने वाले श्लोकों के रूप में आराधना की जाती है। बलि महाराज ने अपना सर्वस्व, अपनी सम्पत्ति, अपना राज्य यहाँ तक कि अपना शरीर भी भगवान् को अर्पित कर दिया (*सर्वात्म-निवेदने बलिः*)। भगवान् ब्राह्मण भिक्षुक के रूप में बलि महाराज के सम्मुख प्रकट हुए और बलि महाराज ने जो कुछ भी उनके पास था, वह सब कुछ दे डाला। फिर भी, वे दरिद्र नहीं हुए, वे श्रीभगवान् को अपना सर्वस्व अर्पित करके सफल भक्त बन गये और भगवान् के आशीष से उन्हें सब कुछ वापस मिल गया। इसी प्रकार जो लोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन के कार्यों को बढ़ावा देने के लिए और इसके उद्देश्यों को पूरा करने के लिए दान देते हैं, वे कभी घाटे में नहीं रहते, उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण के आशीर्वाद से सब कुछ वापस मिल जाएगा। दूसरी ओर जो अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ के लिए धन संग्रह करते हैं उन्हें चाहिए कि उसमें से भगवान् की दिव्य सेवा के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में एक पाई भी खर्च न करें।

नो एवैतत्साक्षात्कारो भूमिदानस्य यत्तद्भगवत्यशेषजीवनिकायानां जीवभूतात्मभूते परमात्मनि वासुदेवे तीर्थतमे पात्र उपपन्ने परया श्रद्धया परमादरसमाहितमनसा सम्प्रतिपादितस्य साक्षादपवर्गद्वारस्य यद्बिलनिलयैश्वर्यम्. ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

नो—न; एव—निश्चित ही; एतत्—यह; साक्षात्कारः—प्रत्यक्ष फल; भूमि-दानस्य—भूमि दान का; यत्—जो; तत्—वह; भगवति—श्रीभगवान् के प्रति; अशेष-जीव-निकायानाम्—असंख्य जीवात्माओं का; जीव-भूत-आत्म-भूते—जो जीवन एवं परम-आत्मा है; परम-आत्मनि—परम नियन्ता; वासुदेवे—भगवान् वासुदेव (श्रीकृष्ण) में; तीर्थ-तमे—तीर्थों में श्रेष्ठ; पात्रे—सबसे योग्य ग्राहक; उपपन्ने—पहुँचने के बाद; परया—परमश्रेष्ठ के द्वारा; श्रद्धया—श्रद्धा द्वारा; परम-आदर—अतीव सम्मान सहित; समाहित-मनसा—अत्यन्त मनोयोग से; सम्प्रतिपादितस्य—प्रदान किया गया; साक्षात्—प्रत्यक्षतः; अपवर्ग-द्वारस्य—मुक्ति का द्वार; यत्—जो; बिल-निलय—बिल स्वर्ग का, कृत्रिम स्वर्गलोकों का; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य।

हे राजन्, बलि महाराज ने श्रीभगवान् वामनदेव को अपना सर्वस्व दान कर दिया, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि अपने दान के कारण उन्हें बिल-स्वर्ग में इतना भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त हुआ। समस्त जीवात्माओं के जीवनमूल श्रीभगवान् प्रत्येक व्यक्ति के अन्तस्थल में मित्र परमात्मा के रूप में निवास करते हैं और उन्हीं के आदेश से इस भौतिक संसार में आनंद उठाते हैं या कष्ट भोगते हैं। भगवान् के दिव्य गुणों पर रीझ कर बलि महाराज ने अपना सर्वस्व उनके चरणकमलों में अर्पित कर दिया। किन्तु उनका लक्ष्य भौतिक लाभ प्राप्त करना नहीं था, वे तो शुद्ध भक्त बनना चाहते थे। शुद्ध भक्त के लिए मुक्ति के द्वार स्वतः खुले जाते हैं। किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि केवल अपने दान के कारण बलि महाराज को इतना ऐश्वर्य प्राप्त हो सका। जब कोई प्रेमवश शुद्ध भक्त बन जाता है, तो उसे भी भगवदिच्छा से अच्छा भौतिक स्थान प्राप्त होता है। किन्तु कभी गलती से यह नहीं समझना चाहिए कि भक्ति के परिणामस्वरूप किसी भक्त को सांसारिक ऐश्वर्य प्राप्त होता है। भक्ति का असली फल तो श्रीभगवान् के प्रति शुद्ध प्रेम जागृत होना है जो समस्त परिस्थितियों में बना रहता है।

यस्य ह वाव क्षुतपतनप्रस्खलनादिषु विवशः सकृन्नामाभिगृणन्पुरुषः कर्मबन्धनमञ्जसा विधुनोति यस्य
हैव प्रतिबाधनं मुमुक्षवोऽन्यथैवोपलभन्ते. ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; ह वाव—निस्सन्देह; क्षुत—भूखे होने पर; पतन—गिरना; प्रस्खलन-आदिषु—लड़खड़ाना आदि; विवशः—असहाय होकर; सकृत्—एक बार; नाम अभिगृणन्—भगवान् के पवित्र नाम का जप करते हुए; पुरुषः—व्यक्ति; कर्म-बन्धनम्—कर्मों का बन्धन; अञ्जसा—पूर्णतया; विधुनोति—धो देते हैं; यस्य—जिसका; ह—निश्चय ही; एव—इस प्रकार; प्रतिबाधनम्—विकर्षण; मुमुक्षवः—मुक्ति के इच्छुक प्राणी; अन्यथा—अन्यथा; एव—निश्चय ही; उपलभन्ते—अनुभव करने का प्रयत्न करते हैं।.

यदि भूख से व्याकुल होने, गिरने अथवा ठोकर खाने पर कोई इच्छा अथवा अनिच्छा से एक बार भी भगवान् का पवित्र नाम लेता है, तो वह सहसा अपने पूर्वकर्मों के प्रभावों से मुक्त हो जाता है। कर्मी लोग भौतिक कार्यों में फँस कर योग-साधना में अनेक कष्ट उठाते हैं और अन्य लोग भी वैसी ही स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

तात्पर्य : यह आवश्यक नहीं है कि श्रीभगवान् की भक्ति करने के पूर्व मनुष्य को अपनी सारी सम्पत्ति उन्हें अर्पित की जाये और बन्धनमुक्त हो लिया जाये। भक्त को किसी प्रकार के प्रयत्न के बिना

ही स्वतः मुक्ति प्राप्त होती है। बलि महाराज को उनकी सारी सम्पत्ति इसलिए नहीं वापस मिली कि उन्होंने श्रीभगवान् को दान दिया था। जो भी समस्त भौतिक कामनाओं एवं प्रयोजनों से मुक्त होकर प्रत्येक सुअवसर को चाहे वह भौतिक हो अथवा आध्यात्मिक भगवान् का वरदान समझता है उसकी भगवत्सेवा में कभी बाधा नहीं पहुँचती। मुक्ति तथा भुक्ति तो भक्ति के आनुषंगिक फल मात्र हैं। भक्त को मुक्ति के लिए अलग से कुछ नहीं करना होता। श्रील बिल्वमंगल ठाकुर का कथन है कि *मुक्तिः स्वयं मुकुलितांजलिः सेवतेऽस्मान्*—भगवान् के भक्त को मुक्ति के लिए अलग से प्रयत्न नहीं करना पड़ता, क्योंकि मुक्ति सदैव उनकी सेवा के लिए उद्यत रहती है।

इस प्रसंग में चैतन्य-चरितामृत (अन्त्य ३.१७७-१८८) में भगवन्नाम जप के प्रभाव की पुष्टि हरिदास ठाकुर द्वारा वर्णित है—

केह बले,—'नाम हैते हय पापक्षय'।

केह बले,—'नाम हैते जीवेर मोक्ष हय'॥

कुछ लोगों का कहना है कि भगवान् का पवित्र नाम लेने से पापमय जीवन के समस्त प्रभावों से मुक्त हुआ जा सकता है और कुछ का कहना है कि भगवन्नाम जप से भौतिक बन्धन से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

हरिदास कहेन,—''नामेर एइ दुइ फल नय।

नामेर फले कृष्णपदे प्रेम उपजय॥

किन्तु हरिदास ठाकुर ने कहा है कि भगवन्नाम जप का मनोवांछित फल भौतिक बन्धन से मुक्ति प्राप्त करना या पापमय जीवन के फलों से मुक्त होना नहीं है। भगवन्नाम के जप का वास्तविक परिणाम सुप्त कृष्णभावनामृत को जाग्रत करना है।

आनुषंगिक फल नामेर—'मुक्ति', 'पापनाश'।

ताहार दृष्टान्त यैछे सूर्येर प्रकाश॥

हरिदास ठाकुर ने कहा है कि पाप-कर्मों के फलों से मुक्ति तथा स्वतंत्रता तो भगवन्नाम जप के आनुषांगिक फल हैं। यदि कोई शुद्धभाव से भगवन्नाम जप करता है, तो उसे श्रीभगवान् की प्रिय सेवा का पद प्राप्त होता है। इस प्रसंग में हरिदास ने नाम-शक्ति की तुलना सूर्यप्रकाश से की है।

एइ श्लोकेर अर्थ कर पंडितेर गण।''

सबे कहे,—'तुमि कह अर्थ-विवरण'॥

उन्होंने समस्त विद्वानों के समक्ष एक श्लोक रखा, किन्तु उन सबों ने उन्हीं से उस श्लोक का भावार्थ पूछा—

हरिदास कहेन,—''यैछे सूर्येर उदय।

उदय ना हैते आरम्भे तमेर हय क्षय॥

हरिदास ने कहा ज्योंही सूर्य उदय होने लगता है त्योंही रात्रि का अंधकार सूर्य-प्रकाश दिखने के पहले ही भागने लगता है।

चौर-प्रेत-राक्षसादिर भय हय नाश।

उदय हैले धर्म-कर्म आदि परकाश॥

सूर्योदय के पहले ही प्रात:कालीन प्रकाश के भय से रात्रि के समय होने वाले संकल अर्थात् चोरों, भूतों तथा राक्षसों के उत्पात विनष्ट हो जाते हैं और जब वास्तव में धूप निकल आती है, तो मनुष्य अपने कार्यों में लग जाता है।

ऐछे नामोदयारम्भे पाप-आदिर क्षय।

उदय कैले कृष्णपदे हय प्रेमोदय॥

इसी प्रकार पवित्र नाम का शुद्ध रूप में जप करने के पूर्व ही मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है और शुद्ध रीति से जप करने पर वह श्रीकृष्ण का प्रेमी बन जाता है।

'मुक्ति' तुच्छ-फल हय नामाभास हैते।

येमुक्ति भक्त ना लय, से कृष्ण चाहे दिते॥''

यदि श्रीकृष्ण मुक्ति प्रदान करें तो भी भक्त उसे कभी स्वीकार नहीं करता। मुक्ति तो नामाभास अर्थात् पूर्ण प्रकाश दृष्टिगोचर होने के पूर्व ही पवित्र नाम के प्रकाश की झलक से प्राप्त हो सकती है।

नामाभास नाम अपराध अर्थात् अपराध करते हुए नाम जप करने तथा शुद्ध जप के मध्य की अवस्था है। भगवान् के नाम-जप की तीन अवस्थाएँ हैं। प्रथम अवस्था में नाम जप करते हुए प्राणी दस प्रकार के अपराध करता है। दूसरी अवस्था नामाभास है, जिसमें अपराध लगभग बन्द हो जाते हैं

और प्राणी विशुद्ध जप की दशा की ओर अग्रसर होता है। तृतीय अवस्था में जब प्राणी अपराध मुक्त होकर हरे कृष्ण मंत्र का जप करता है, तो कृष्ण के प्रति उसका सुप्त प्रेम तत्क्षण जाग्रत हो उठता है। यही सिद्धि है।

तद्भक्तानामात्मवतां सर्वेषामात्मन्यात्मद आत्मतयैव. ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; भक्तानाम्—भक्तों का; आत्म-वताम्—सनक तथा सनातन जैसे आत्मज्ञानी पुरुषों का; सर्वेषाम्—सबों का; आत्मनि—आत्मा रूप श्रीभगवान् तक; आत्म-दे—जो बिना हिचक के अपने आप को दे देता है; आत्मतया—जो परम आत्मा है, परमात्मा; एव—निस्सन्देह।.

प्रत्येक प्राणी के हृदय में परमात्मा के रूप में स्थित श्रीभगवान् नारदमुनि जैसे भक्तों के हाथों बिक जाते हैं। दूसरे शब्दों में, परमेश्वर ऐसे ही भक्तों को प्यार करते हैं और जो उन्हें शुद्ध भाव से प्यार करते हैं। वे उनके हाथों अपने आप को सौंप देते हैं। यहाँ तक कि महान् आत्म-साक्षात्कार करने वाले योगी, यथा चारों कुमार भी अपने अन्तर में परमात्मा का साक्षात्कार करके दिव्य आनन्द प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य : श्रीभगवान् बलि महाराज के द्वारपाल इसलिए नहीं बने कि उन्होंने अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया था, वरन् इसलिए कि वे प्रेमी के रूप में उच्चपद सिद्धि प्राप्त कर चुके थे।

न वै भगवान्नूनममुष्यानुजग्राह यदुत पुनरात्मानुस्मृतिमोषणं मायामयभोगैश्वर्यमेवातनुतेति. ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वै—निस्सन्देह; भगवान्—श्रीभगवान् ने; नूनम्—निश्चय ही; अमुष्य—बलि महाराज को; अनुजग्राह—अपना अनुग्रह दिखाया; यत्—क्योंकि; उत—निश्चय ही; पुनः—फिर; आत्म-अनुस्मृति—श्रीभगवान् के स्मरण का; मोषणम्—लूटने वाला; माया-मय—माया का एक गुण; भोग-ऐश्वर्यम्—भौतिक ऐश्वर्य; एव—निश्चय ही; आतनुत—विस्मृत; इति—इस प्रकार।.

श्रीभगवान् ने बलि महाराज को भौतिक सुख तथा ऐश्वर्य प्रदान करके अपना अनुग्रह प्रदर्शित नहीं किया क्योंकि इनसे ईश्वर की प्रेमाभक्ति भूल जाती है। भौतिक ऐश्वर्य का परिणाम यह होता है कि फिर भगवान् में मन नहीं लगता।

तात्पर्य : दो प्रकार के ऐश्वर्य होते हैं—एक वह जो कर्मों से जनित है और भौतिक है तथा जबकि दूसरा आध्यात्मिक है। शरणागत जीव जो श्रीभगवान् पर पूर्णतः आश्रित होता है इन्द्रियभोग के लिए भौतिक ऐश्वर्य की कामना नहीं करता। अतः यदि शुद्ध भक्त के पास विपुल ऐश्वर्य दिखे तो वह उसके

कर्म के कारण नहीं होता, वरन् उसकी भक्ति के कारण होता है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि उसे यह पद इसलिए दिया जाता है, क्योंकि भगवान् चाहते हैं कि वह सरलतापूर्वक एवं वैभवपूर्ण ढंग से उनकी सेवा कर सके। नवदीक्षित भक्त पर भगवान् विशेष दयालु रहते हैं, क्योंकि आर्थिक दृष्टि से वह निर्धन हो जाता है। यह भगवत्कृपा ही है, अन्यथा नवदीक्षित भक्त ऐश्वर्य प्राप्त करके भगवान् की सेवा भूल सकता है। किन्तु यदि भगवान् किसी महान् भक्त को ऐश्वर्य प्रदान करते हैं, तो यह भौतिक ऐश्वर्य नहीं है किन्तु इसे एक आध्यात्मिक अवसर ही मानना चाहिए। देवताओं को प्रदत्त भौतिक ऐश्वर्य से भक्त भगवान् को भूल जाता है, किन्तु बलि महाराज को भगवान् के प्रति भक्ति बनाये रखने के लिए ऐश्वर्य का वरदान मिला था। जिसे माया छू तक नहीं गई थी।

यत्तद्भगवतानधिगतान्योपायेन याच्ञाच्छलेनापहृतस्वशरीरावशेषितलोकत्रयो वरुणपाशैश्च सम्प्रतिमुक्तो गिरिदर्यां चापविद्ध इति होवाच. ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; तत्—वह; भगवता—श्रीभगवान् द्वारा; अनधिगत-अन्य-उपायेन—जिसे अन्य साधनों से नहीं देखा जा सकता; याच्ञा-छलेन—याचना (भिक्षा) के बहाने; अपहृत—ठगा गया; स्व-शरीर-अवशेषित—केवल अपना शरीर शेष रह जाने पर; लोक-त्रयः—तीनों लोक; वरुण-पाशैः—वरुण के पाश द्वारा; च—तथा; सम्प्रतिमुक्तः—पूर्णतया बँधा हुआ; गिरि-दर्याम्—पर्वत की गुफा में; च—तथा; अपविद्धः—रोका जाकर; इति—इस प्रकार; ह—निस्सन्देह; उवाच—कहा।.

जब श्रीभगवान् को बलि महाराज का सर्वस्व ले लेने की कोई युक्ति न सूझी तो उन्होंने भिक्षा माँगने के बहाने तीनों लोक माँग लिए। इस प्रकार उनका शरीरमात्र शेष बच रहा, किन्तु तो भी भगवान् सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने बलि महाराज को वरुण पाश से बन्दी बना लिया और एक पर्वत की गुफा में ले जाकर फेंक दिया। यद्यपि बलि महाराज का सर्वस्व ले लिया गया था और उन्हें बन्दी बना कर गुफा में डाल दिया गया था, तो भी महान् भक्त होने के कारण वे इस प्रकार बोले।

नूनं बतायं भगवानर्थेषु न निष्णातो योऽसाविन्द्रो यस्य सचिवो मन्त्राय वृत एकान्ततो बृहस्पतिस्तमतिहाय स्वयमुपेन्द्रेणात्मानमयाचतात्मनश्चाशिषो नो एव तद्दास्यमतिगम्भीरवयसः कालस्य मन्वन्तरपरिवृत्तं कियल्लोकत्रयमिदम्. ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निश्चय ही; बत—धिक्; अयम्—यह; भगवान्—अत्यन्त विद्वान; अर्थेषु—आत्महित के लिए; न—नहीं; निष्णातः—परम अनुभवी; यः—जो; असौ—स्वर्ग का राजा; इन्द्रः—इन्द्र; यस्य—जिसका; सचिवः—प्रधान मंत्री; मन्त्राय—मंत्रणा के

लिए, सलाह के लिए; वृतः—चुना हुआ; एकान्ततः—अकेला; बृहस्पतिः—बृहस्पति; तम्—उसको; अतिहाय—उपेक्षा करके; स्वयम्—स्वयं; उपेन्द्रेण—उपेन्द्र (भगवान् वामनदेव) की सहायता से; आत्मानम्—मुझसे; अयाचत—प्रार्थना की; आत्मनः—स्वयं; च—तथा; आशिषः—आशीर्वाद (तीनों लोक); नो—नहीं; एव—ही; तत्-दास्यम्—भगवान् की सप्रेम सेवा; अति—अत्यधिक; गम्भीर-वयसः—अपार अवधि वाला; कालस्य—काल का; मन्वन्तर-परिवृत्तम्—मनु के जीवन के अन्त होने पर परिवर्तित; कियत्—क्या लाभ; लोक-त्रयम्—तीनों लोक; इदम्—इन।

धिक्! स्वर्ग का राजा इन्द्र कितना दयनीय है कि अत्यन्त विद्वान और शक्तिमान होकर तथा बृहस्पति को परामर्श हेतु अपना प्रधान बना लेने पर भी आध्यात्मिक उन्नति के विषय में सर्वथा अज्ञानी है। बृहस्पति भी बुद्धिमान नहीं है, क्योंकि उसने अपने शिष्य इन्द्र को उचित शिक्षा नहीं दी। भगवान् वामनदेव इन्द्र के द्वार पर खड़े हुए थे, किन्तु उनसे इन्द्र ने दिव्य सेवा के लिए अवसर का वरदान न माँग कर उन्हें मेरे द्वार पर अपने इन्द्रिय-भोग के लिए तीन लोकों की प्राप्ति के लिए भिक्षा हेतु भेज दिया। तीनों लोकों की प्रभुता अत्यन्त महत्त्वहीन है, क्योंकि मनुष्य के पास चाहे कितना भी ऐश्वर्य क्यों न रहे वह एक मन्वन्तर तक ही चलता है, जो अनन्त काल का एक क्षुद्रांश मात्र है।

तात्पर्य : बलि महाराज इतने शक्तिशाली थे कि उन्होंने इन्द्र से युद्ध करके तीनों लोकों पर अपना आधिपत्य जमा लिया था। इन्द्र निश्चय ही अत्यन्त बुद्धिमान था, फिर भी उसने भगवान् वामनदेव से उनकी भक्ति में संलग्न होने की बात न कह कर अपने लिए ऐसे धन-धान्य की याचना की जो एक मन्वन्तर में समाप्त हो जाता है। मनु की आयु बहत्तर युग आँकी गई है। एक युग में ४३,००,००० वर्ष होते हैं, अत: मनु का जीवनकाल ३०,९६,००,००० वर्ष हुआ। देवताओं का भौतिक ऐश्वर्य एक मन्वन्तर तक ही रहता है। काल दुस्तर है! नियत काल, भले ही लाखों वर्ष क्यों न हो, तुरन्त बीत जाता है। देवताओं का ऐश्वर्य काल की सीमाओं के भीतर ही रहता है। अत: बलि महाराज को यह पछतावा रहा कि अत्यन्त विद्वान होते हुए भी इन्द्र अपनी बुद्धि का समुचित उपयोग नहीं कर पाया, क्योंकि वामनदेव से भगवान् की भक्ति न माँग कर इन्द्र ने उनका उपयोग भौतिक सम्पत्ति माँगने के लिए किया। यद्यपि इन्द्र बुद्धिमान था और उसका प्रधान मंत्री बृहस्पति भी बुद्धिमान था, किन्तु इनमें से किसी ने भी भगवान् वामनदेव की प्रेमा-भक्ति करने का वर नहीं माँगा। अत: बलि महाराज को इन्द्र पर पछतावा हुआ।

यस्यानुदास्यमेवास्मत्पितामहः किल वव्रे न तु स्वपित्र्यं यदुताकुतोभयं पदं दीयमानं भगवतः परमिति भगवतोपरते खलु स्वपितरि. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका (श्रीभगवान् का); अनुदास्यम्—सेवा; एव—निश्चय ही; अस्मत्—हमारा; पिता-महः—पितामह, बाबा; किल—निस्सन्देह; वव्रे—स्वीकृत; न—नहीं; तु—लेकिन; स्व—अपना; पित्र्यम्—पैतृकसम्पत्ति; यत्—जो; उत—निश्चय ही; अकुतः-भयम्—निर्भीकता; पदम्—पद, स्थान; दीयमानम्—प्रदान किये जाने पर; भगवतः—भगवान् की अपेक्षा; परम्—अन्य; इति—इस प्रकार; भगवता—श्रीभगवान् द्वारा; उपरते—बध किये जाने पर; खलु—निस्संदेह; स्व-पितरि—अपना पिता।

बलि महाराज ने कहा—मेरे पितामह प्रह्लाद महाराज ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने आत्महित पहचाना। उनके पिता हिरण्यकशिपु की मृत्यु के पश्चात् भगवान् नृसिंहदेव ने प्रह्लाद को उनके पिता का साम्राज्य प्रदान करने के साथ ही भौतिक बन्धनों से मुक्ति प्रदान करनी चाही, किन्तु प्रह्लाद ने इनमें से किसी को भी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने सोचा कि मुक्ति तथा भौतिक ऐश्वर्य भक्ति में बाधक हैं, अतः श्रीभगवान् से ऐसे वरदान प्राप्त कर लेना भगवान् का वास्तविक अनुग्रह नहीं है। फलस्वरूप कर्म तथा ज्ञान के फलों को न स्वीकार करते हुए प्रह्लाद महाराज ने भगवान् से केवल उनके दास की भक्ति में अनुरक्त रहने का वर माँगा।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु का उपदेश है कि शुद्ध भक्त अपने को परमेश्वर के दास का भी दास माने (*गोपीभर्तुः पादकमलयोर् दासदासानुदासः*)। वैष्णव दर्शन में किसी को प्रत्यक्ष दास नहीं बनना चाहिए। प्रह्लाद महाराज को इस संसार में ऐश्वर्यपूर्ण पद तथा ब्रह्म में तदाकार होने की स्वच्छन्दता जैसे आशीर्वाद प्राप्त थे, किन्तु उन्होंने इन्हें अस्वीकार कर दिया। उन्होंने भगवान् के दासों के भी दास की सेवा में रत रहना श्रेयस्कर समझा। इसलिए बलि महाराज ने कहा है कि चूँकि उनके पितामह प्रह्लाद महाराज ने भौतिक ऐश्वर्य तथा बन्धन से मुक्ति जैसे श्रीभगवान् के आशीर्वादों को नकार दिया था, इसलिए वे आत्महित को भलीभाँति समझते थे।

तस्य महानुभावस्यानुपथममृजितकषायः को वास्मद्विधः परिहीणभगवदनुग्रह उपजिगमिषतीति. ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तस्य—प्रह्लाद महाराज का; महा-अनुभावस्य—जो सिद्ध भक्त थे; अनुपथम्—पथ; अमृजित-कषायः—भौतिकता से दूषित पुरुष; कः—क्या; वा—अथवा; अस्मत्-विधः—हमारे तुल्य; परिहीण-भगवत्-अनुग्रहः—श्रीभगवान् के अनुग्रह बिना; उपजिगमिषति—अनुसरण करना चाहता है; इति—इस प्रकार।

बलि महाराज ने कहा—हमारे जैसे पुरुष, जो अब भी भौतिक सुखों में लिप्त हैं, जो भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों से दूषित हैं और जिन पर श्रीभगवान् के अनुग्रह का अभाव है, वे

भला ईश्वर के सिद्ध भक्त प्रह्लाद महाराज के सर्वोत्कृष्ट मार्ग का अनुसरण कैसे कर सकते हैं?

तात्पर्य : कहा जाता है कि आत्म-साक्षात्कार के लिए मनुष्य को भगवान् ब्रह्माजी, देवर्षि नारद, शिवजी तथा प्रह्लाद महाराज जैसे महापुरुषों का अनुसरण करना चाहिए। यदि पूर्ववर्ती आचार्यों तथा विद्वानों के पदचिह्नों पर चला जाये तो भक्ति का मार्ग बिल्कुल ही कठिन नहीं है, किन्तु जो प्रकृति के गुणों के द्वारा भौतिक दृष्टि से कलुषित हो चुके है उनके लिए उस मार्ग पर चल पाना कठिन है। यद्यपि बलि महाराज अपने पितामह के पदचिह्नों का अनुसरण कर रहे थे, किन्तु अपनी विनयशीलतावश सोच रहे थे कि वे ऐसा नहीं कर रहे हैं। भक्ति के नियमों का पालन करने वाले सिद्ध भक्तों की यह विशेषता है कि अपने को सामान्य व्यक्ति समझते हैं। यह विनयशीलता का कृत्रिम दिखावा नहीं है; एक वैष्णव वास्तव में इसी प्रकार सोचता है, और अपने को परम पद पर कभी नहीं मानता।

तस्यानुचरितमुपरिष्टाद्विस्तरिष्यते यस्य भगवान्स्वयमखिलजगद्गुरुर्नारायणो द्वारि गदापाणिरवतिष्ठते निजजनानुकम्पितहृदयो येनाङ्गुष्ठेन पदा दशकन्धरो योजनायुतायुतं दिग्विजय उच्चाटित:. ॥ २७॥

शब्दार्थ

तस्य—बलि महाराज का; अनुचरितम्—चरित्र, वर्णन; उपरिष्टात्—बाद के, परवर्ती (आठवें स्कंध में); विस्तरिष्यते—विस्तार से वर्णन किया जायेगा; यस्य—जिसका; भगवान्—श्रीभगवान्; स्वयम्—स्वयं; अखिल-जगत्-गुरुः—तीनों लोकों के गुरु; नारायणः—साक्षात् नारायण; द्वारि—द्वार पर; गदा-पाणिः—हाथ में गदा लिये हुए; अवतिष्ठते—खड़े रहते हैं; निज-जन-अनुकम्पित-हृदयः—जिनका हृदय अपने भक्तों के लिए सदैव दया से पूरित रहता है; येन—जिसके द्वारा; अङ्गुष्ठेन—बड़े अँगूठे से; पदा—अपने पाँव का; दश-कन्धरः—दश सिरों वाला, रावण; योजन-अयुत-अयुतम्—अस्सी हजार मील की दूरी; दिक्-विजये—बलि महाराज पर विजय प्राप्त करने हेतु; उच्चाटितः—फेंक दिया।.

शुकदेव गोस्वामी बोले—हे राजन्, भला मैं बलि महाराज के चरित्र का कैसे गुणगान कर सकता हूँ? तीनों लोकों के स्वामी श्रीभगवान्, जो अपने भक्त पर अत्यन्त दयालु हैं, महाराज बलि के द्वार पर गदा धारण किये खड़े रहते हैं। जब पराक्रमी असुर रावण बलि महाराज पर विजय पाने के लिए आया तो वामनदेव ने उसे अपने पैर के अँगूठे से अस्सी हजार मील दूरी पर फेंक दिया। मैं बलि महाराज के चरित्र तथा कार्यकलापों का विस्तृत वर्णन आगे (आठवें स्कंध में) करूँगा।

ततोऽधस्तात्तलातले मयो नाम दानवेन्द्रस्त्रिपुराधिपतिर्भगवता पुरारिणा त्रिलोकीशं चिकीर्षुणा निर्दग्धस्वपुरत्रयस्तत्प्रसादाल्लब्धपदो मायाविनामाचार्यो महादेवेन परिरक्षितो विगतसुदर्शनभयो महीयते. ॥ २८॥

शब्दार्थ

ततः—सुतल नामक लोक के; अधस्तात्—नीचे; तलातले—तलातल नामक लोक में; मयः—मय; नाम—नाम का; दानव-इन्द्रः—दानव, दानवों का राजा; त्रि-पुर-अधिपतिः—तीनों पुरियों का ईश्वर; भगवता—सर्वशक्तिमान द्वारा; पुरारिणा—भगवान् शिव द्वारा, जिन्हें त्रिपुरारी कहा जाता है; त्रि-लोकी—तीनों लोकों का; शम्—सौभाग्य; चिकीर्षुणा—कामना करने वाला; निर्दग्ध—जला दिया; स्व-पुर-त्रयः—जिसकी तीनों पुरियाँ; तत्-प्रसादात्—भगवान् शिव के अनुग्रह से; लब्ध—प्राप्त किया गया; पदः—राज्य; माया-विनाम् आचार्यः—समस्त मायावियों के स्वामी; महा-देवेन—भगवान् शिव के द्वारा; परिरक्षितः—सुरक्षित; विगत-सुदर्शन-भयः—जो श्रीभगवान् तथा उनके सुदर्शन चक्र से भयभीत नहीं है; महीयते—आराधित है।.

सुतल लोक के नीचे तलातल नामक एक और लोक है जो मय दानव द्वारा शासित है। मय इन्द्रजाल की शक्तियों से पूर्ण, समस्त मायावियों के आचार्य (स्वामी) रूप में विख्यात है। एक बार भगवान् शिव ने, जिन्हें त्रिपुरारी कहा जाता है, तीनों लोकों के लाभ के लिए मय के तीनों राज्यों को जला दिया, किन्तु बाद में उससे प्रसन्न होकर उसका राज्य लौटा दिया। तब से शिवजी मय दानव की रक्षा करते हैं, इसलिए वह गलती से सोचता है कि उसे श्रीभगवान् के सुदर्शन चक्र का भय नहीं करना चाहिए।

ततोऽधस्तान्महातले काद्रवेयाणां सर्पाणां नैकशिरसां क्रोधवशो नाम गणः
कुहकतक्षककालियसुषेणादिप्रधाना महाभोगवन्तः पतत्त्रिराजाधिपतेः पुरुषवाहादनवरतमुद्विजमानाः
स्वकलत्रापत्यसुहृत्कुटुम्बसङ्गेन क्वचित्प्रमत्ता विहरन्ति. ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ततः—तलातल लोक से; अधस्तात्—नीचे; महातले—महातल नामक लोक में; काद्रवेयाणाम्—कद्रू की सन्तानों का; सर्पाणाम्—जो सर्प है; न एक-शिरसाम्—जो अनेक फनों वाले हैं; क्रोध-वशः—सदैव क्रोध के वशीभूत; नाम—नामक; गणः—गण, समूह; कुहक—कुहक; तक्षक—तक्षक; कालिय—कालिय; सुषेण—सुषेण; आदि—इत्यादि; प्रधानाः—प्रमुख; महा-भोगवन्तः—समस्त प्रकार के भोगों में लिप्त; पतत्त्रि-राज-अधिपतेः—समस्त पक्षियों के अधिपति, गरुड़ से; पुरुष-वाहात्—श्रीभगवान् को ले जाने वाला; अनवरतम्—निरन्तर; उद्विजमानाः—भयभीत; स्व—अपने आप; कलत्र-अपत्य—स्त्रियों तथा सन्तानों; सुहृत्—मित्र; कुटुम्ब—कुटुम्बीजन; सङ्गेन—साथ में; क्वचित्—कभी-कभी; प्रमत्ताः—क्रुद्ध; विहरन्ति—विहार करते हैं, खेलते हैं।.

तलातल के नीचे का लोक महातल कहलाता है। यह सदैव क्रुद्ध रहने वाले अनेक फनों वाले कद्रू की सर्प-सन्तानों का आवास है। इन सर्पों में कुहक, तक्षक, कालिय तथा सुषेण प्रमुख हैं। महातल के सारे सर्प भगवान् विष्णु के वाहन गरुड़ के भय से सदैव आतंकित रहते हैं, किन्तु चिन्तातुर होते हुए भी उनमें से कुछ अपनी पत्नियों, सन्तानों, मित्रों तथा कुटुम्बियों के साथ-साथ क्रीड़ाएँ करते रहते हैं।

तात्पर्य : यहाँ यह बताया गया है कि महातल लोक के सर्प अत्यन्त शक्तिशाली तथा अनेक फनों वाले होते हैं। वे अपनी स्त्रियों तथा पुत्रों के साथ रहते हुए अपने को परम सुखी मानते हैं, यद्यपि उन्हें

गरुड़ का भय बना रहता है जो उनको नष्ट करने के लिए वहाँ आता है। यही भौतिक जीवन का विधान है। भले ही कोई कितनी कठिन परिस्थिति में क्यों न रहे, तो भी वह अपनी पत्नी, पुत्र, मित्र तथा कुटुम्बीजनों के मध्य अपने को सुखी मानता है।

ततोऽधस्ताद्रसातले दैतेया दानवाः पणयो नाम निवातकवचाः कालेया हिरण्यपुरवासिन इति विबुधप्रत्यनीका उत्पत्त्या महौजसो महासाहसिनो भगवतः सकललोकानुभावस्य हरेरेव तेजसा प्रतिहतबलावलेपा बिलेशया इव वसन्ति ये वै सरमयेन्द्रदूत्या वाग्भिर्मन्त्रवर्णाभिरिन्द्राद्बिभ्यति. ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

ततः अधस्तात्—महातल के भी नीचे; रसातले—रसातल में; दैतेयाः—दिति के पुत्र; दानवाः—दनु के पुत्र; पणयः नाम—पणि नामक; निवात-कवचाः—निवात कवच; कालेयाः—कालेय; हिरण्य-पुरवासिनः—हिरण्य-पुरवासी; इति—इस प्रकार; विबुध-प्रत्यनीकाः—देवताओं के शत्रु; उत्पत्त्याः—जन्म के; महा-ओजसः—अत्यन्त ओजस्वी; महा-साहसिनः—अत्यन्त क्रूर; भगवतः—भगवान् का; सकल-लोक-अनुभावस्य—जो समस्त लोकों के लिए मंगलकारी है; हरेः—श्रीभगवान् का; एव—निश्चय ही; तेजसा—सुदर्शन चक्र से; प्रतिहत—पराजित; बल—शक्ति; अवलेपाः—तथा गर्व (शारीरिक बल के कारण); बिल-ईशयाः—सर्प; इव—सदृश; वसन्ति—रहते हैं; ये—जो; वै—निस्सन्देह; सरमया—सरमा द्वारा; इन्द्र-दूत्या—इन्द्र की दूती; वाग्भिः—शब्दों से; मन्त्र-वर्णाभिः—मंत्रों के रूप में; इन्द्रात्—राजा इन्द्र से; बिभ्यति—डरते हैं।

महातल के नीचे रसातल नामक लोक है जो दिति तथा दनु के आसुरी पुत्रों का निवास है। ये पणि, निवात-कवच, कालेय तथा हिरण्य-पुरवासी कहलाते हैं। ये देवताओं के शत्रु हैं और सर्पों की भाँति बिलों में रहते हैं। ये जन्म से ही अत्यन्त शक्तिशाली एवं क्रूर हैं और अपनी शक्ति का गर्व होने पर भी वे समस्त लोकों के अधिपति श्रीभगवान् के सुदर्शन चक्र द्वारा सदैव पराजित होते हैं। जब इन्द्र की नारी रूप दूत सरमा विशेष एक विशिष्ट शाप देती है, तो महातल के असुर सर्प इन्द्र से अत्यन्त भयभीत हो उठते हैं।

तात्पर्य : कहा जाता है कि इन सर्पासुरों एवं इन्द्र के बीच घमासान युद्ध हुआ। सरमा नाम की इन्द्र की दूत से जब इन पराजित असुरों की भेंट हुई तो वह एक मंत्र का जप कर रही थी, अतः वे इससे डर गये; इसलिए तब से वे रसातल नामक लोक में निवास कर रहे हैं।

ततोऽधस्तात्पाताले नागलोकपतयो वासुकिप्रमुखाः शङ्खकुलिकमहाशङ्खश्वेतधनञ्जयधृतराष्ट्रशङ्खचूडकम्बलाश्वतरदेवदत्तादयो महाभोगिनो महामर्षा निवसन्ति येषामु ह वै पञ्चसप्तदशशतसहस्रशीर्षाणां फणासु विरचिता महामणयो रोचिष्णवः पातालविवरतिमिरनिकरं स्वरोचिषा विधमन्ति. ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

ततः अधस्तात्—रसातल के नीचे; पाताले—पाताल लोक में; नाग-लोक-पतयः—नागलोकों के स्वामी; वासुकि—वासुकि; प्रमुखाः—प्रमुख; शङ्ख—शंख; कुलिक—कुलिक; महा-शङ्ख—महाशंख; श्वेत—श्वेत; धनञ्जय—धनञ्जय; धृतराष्ट्र—धृतराष्ट्र; शङ्ख-चूड—शंखचूड़; कम्बल—कम्बल; अश्वतर—अश्वतर; देव-दत्त—देवदत्त; आदयः—इत्यादि; महा-भोगिनः—अत्यन्त भोगी; महा-अमर्षाः—प्रकृति से अत्यन्त ईर्षालु; निवसन्ति—रहते हैं; येषाम्—जिनका; उ ह—निश्चय ही; वै—निस्सन्देह; पञ्च—पाँच; सप्त—सात; दश—दस; शत—एक सौ; सहस्र—एक हजार; शीर्षाणाम्—फणों वालों का; फणासु—उन फणों पर; विरचिताः—जड़ित; महा-मणयः—अत्यन्त मूल्यवान मणि; रोचिष्णवः—तेज से पूर्ण; पाताल-विवर—पाताल लोक की गुफाएँ; तिमिर-निकरम्—अंधकार-राशि; स्व-रोचिषा—उनके फणों के तेज से; विधमन्ति—भागते हैं।

रसातल के नीचे पाताल अथवा नागलोक नामक एक अन्य लोक है जहाँ अनेक आसुरी सर्प तथा नागलोक के स्वामी रहते हैं, यथा शंख, कुलिक, महाशंख, श्वेत, धनञ्जय, धृतराष्ट्र, शंखचूड़, कम्बल, अश्वतर तथा देवदत्त। इसमें से वासुकि प्रमुख है। वे अत्यन्त क्रुद्ध रहते हैं और उनमें से कुछ के पाँच, कुछ के सात, कुछ के दस, कुछ के सौ और अन्यों के हजार फण होते हैं। इन फणों में बहुमूल्य मणियां सुशोभित हैं और इन मणियों से निकला प्रकाश बिल-स्वर्ग के सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत "नीचे के स्वर्गीय लोकों का वर्णन" नामक चौबीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पच्चीस

भगवान् अनन्त की महिमा

इस अध्याय में शुकदेव गोस्वामी भगवान् शिव के उत्स अनन्त का वर्णन किया है जिनका शरीर पूर्णतया आध्यात्मिक हैं। भगवान् अनन्त पाताल लोक के मूल में निवास करते हैं। वे भगवान् शिव के हृदय-देश में सदैव निवास करने वाले हैं और इस ब्रह्माण्ड का संहार करने में इनकी सहायता करते हैं। अनन्त बताते हैं कि इस विश्व का कैसे संहार हो इसलिए वे कभी-कभी तामसी अर्थात् तमोगुणी कहे जाते हैं। वे भौतिक चेतना के अधिष्ठाता देव हैं और चूँकि वे समस्त जीवों को आकृष्ट कर लेते हैं, इसलिए कभी-कभी वे संकर्षण भी कहलाते हैं। यह सम्पूर्ण भौतिक जगत भगवान् संकर्षण के फणों पर टिका है। वे अपने शिर के अग्रभाग से भगवान् शिव को इस भौतिक जगत के संहार हेतु शक्ति प्रदान करते हैं। चूँकि संकर्षण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के स्वांश हैं, इसलिए अनेक भक्तजन उनकी स्तुति करते हैं और पाताललोक के समस्त सुर, असुर, गंधर्व, विद्याधर तथा ऋषि-मुनि उनको सादर नमस्कार करते हैं। भगवान् उनसे मृदु वाणी बोलते हैं। उनका शरीर पूर्णतया चिन्मय एवं अत्यन्त

मनोहर है। जो कोई किसी प्रामाणिक गुरु से उनके सम्बन्ध में सुनता है, वह समस्त भवबन्धनों से छूट जाता है। सम्पूर्ण भौतिक शक्ति (माया) अनन्तदेव की योजना के अनुसार क्रियाशील है। अत: उन्हें इस भौतिक सृष्टि का मूल कारण मानना चाहिए। उनके बल का कोई अन्त नहीं है, न ही असंख्य मुखों से उनका कोई पूर्ण वर्णन ही कर सकता है। इसलिए वे अनन्त कहे जाते हैं। समस्त जीवों के प्रति दयालु होने के कारण उनका चिन्मय शरीर प्रकट हुआ। शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित् से अनन्तदेव के यश का वर्णन इस प्रकार करते हैं।

श्रीशुक उवाच

तस्य मूलदेशे त्रिंशद्योजनसहस्रान्तर आस्ते या वै कला भगवतस्तामसी समाख्यातानन्त इति सात्वतीया द्रष्टृदृश्ययोः सङ्कर्षणमहमित्यभिमानलक्षणं यं सङ्कर्षणमित्याचक्षते. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी बोले; तस्य—पाताललोक के; मूल-देशे—मूलभाग में; त्रिंशत्—तीस; योजन—आठ मील की दूरी की इकाई; सहस्र-अन्तरे—एक हजार (योजन) की दूरी पर; आस्ते—स्थित है; या—जो; वै—निश्चय ही; कला—अंश का अंश; भगवत:—श्रीभगवान् का; तामसी—अंधकार से सम्बन्धित; समाख्याता—कहलाने वाला; अनन्त:—अनन्त; इति—इस प्रकार; सात्वतीया:—भक्तगण; द्रष्टृ-दृश्ययो:—पदार्थ तथा आत्मा का; सङ्कर्षणम्—परस्पर आकर्षित करने वाला; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; अभिमान—आत्म-सम्मान; लक्षणम्—लक्षण; यम्—जिसको; सङ्कर्षणम्—संकर्षण; इति—इस प्रकार; आचक्षते—विद्वान कहते हैं।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित से कहा—हे राजन्, पाताल लोक से २,४०,००० मील नीचे श्रीभगवान् के एक अन्य अवतार निवास करते हैं। वे भगवान् अनन्त अथवा भगवान् संकर्षण कहलाते हैं और भगवान् विष्णु के अंश हैं। वे सदैव दिव्य पद पर आसीन हैं, किन्तु तमोगुणी देवता भगवान् शिव के आराध्य होने के कारण कभी-कभी तामसी कहलाते हैं। भगवान् अनन्त सभी बद्धजीवों के अहं तथा तमोगुण के प्रमुख देवता हैं। जब बद्धजीव यह सोचता है कि यह संसार भोग्य है और मैं उसका भोक्ता हूँ तो यह जीवन-दृष्टि संकर्षण द्वारा प्रेरित होती है। इस प्रकार संसारी बद्धजीव स्वयं को ही परमेश्वर मानने लगता है।

तात्पर्य : मायावादी दार्शनिकों की तरह ही मनुष्यों का एक वर्ग है जो *अहं ब्रह्मास्मि* तथा *सोऽहं* वैदिक मन्त्रों का अर्थ ''मैं ही परब्रह्म हूँ'' तथा ''मैं ईश्वर से अभिन्न हूँ'' लगाता है। इस प्रकार की झूठी विचारधारा एक प्रकार का मोह है। इसका वर्णन *श्रीमद्भागवत* (..८) में *जनस्य मोहोऽयमहं ममेति* के रूप में हुआ है। जैसाकि उपर्युक्त श्लोक में कहा गया है इस झूठी विचारधारा के प्रेरक

श्रीमूर्ति भगवान् संकर्षण हैं। श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (१.१) में इसकी पुष्टि की है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो

मत्तःस्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

"मैं सब प्राणियों के हृदय में स्थित हूँ और मुझसे ही स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होती है।" ईश्वर सबों के हृदयों में संकर्षण रूप में स्थित हैं और जब कोई असुर अपने आपको परमेश्वर से एकाकार मानता है, तो ईश्वर उसे उस अंधकार में रहने देते हैं। यद्यपि ऐसा आसुरी जीव परमेश्वर का एक नगण्य विभिन्नांश मात्र होता है, किन्तु जीव अपनी वास्तविक स्थिति को भूलकर अपने को परमेश्वर समझने लगता है। चूँकि ऐसी विस्मृति भगवान् संकर्षण द्वारा उत्पन्न की जाती है इसलिए कभी-कभी उन्हें *तामसी* कहा जाता है। तामसी शब्द से यह इंगित नहीं होता कि उनका भौतिक शरीर है। वे सदैव दिव्य है, किन्तु तामसी कार्यों के कर्ता भगवान् शिव की परम-आत्मा होने के कारण संकर्षण कभी-कभी तामसी कहलाते हैं।

यस्येदं क्षितिमण्डलं भगवतोऽनन्तमूर्तेः सहस्रशिरस एकस्मिन्नेव शीर्षणि ध्रियमाणं सिद्धार्थ इव लक्ष्यते. ॥ २॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; इदम्—यह; क्षिति-मण्डलम्—ब्रह्माण्ड; भगवतः—श्रीभगवान् का; अनन्त-मूर्तेः—अनन्त देव के रूप में; सहस्र-शिरसः—एक हजार फणों वाले; एकस्मिन्—एक; एव—केवल; शीर्षणि—फण में; ध्रियमाणम्—रखा हुआ; सिद्धार्थः इव—(तथा) श्वेत सरसों के दाने के तुल्य; लक्ष्यते—दिखाई पड़ता है।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—भगवान् अनन्त के सहस्र फणों में से एक फण के ऊपर रखा हुआ यह विशाल ब्रह्माण्ड श्वेत सरसों के दाने के समान प्रतीत होता है। भगवान् अनन्त के फण की तुलना में यह नगण्य है।

यस्य ह वा इदं कालेनोपसञ्जिहीर्षतोऽमर्षविरचितरुचिरभ्रमद्भ्रुवोरन्तरेण साङ्कर्षणो नाम रुद्र एकादशव्यूहस्त्र्यक्षस्त्रिशिखं शूलमुत्तम्भयन्नुदतिष्ठत्. ॥ ३॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; ह वा—निस्सन्देह; इदम्—यह (जगत); कालेन—कालक्रम से; उपसञ्जिहीर्षतः—संहार करने की कामना करते हुए; अमर्ष—क्रोध से; विरचित—निर्मित; रुचिर—अत्यन्त सुन्दर; भ्रमत्—घूमते हुए; भ्रुवोः—भृकुटियाँ के; अन्तरेण—भीतर से; साङ्कर्षणः नाम—सांकर्षण नामक; रुद्रः—भगवान् शिव के अवतार, रुद्र; एकादश-व्यूहः—ग्यारह विस्तारों वाला; त्रि-अक्षः—तीन नेत्र; त्रि-शिखम्—तीन नोकों वाले; शूलम्—त्रिशूल; उत्तम्भयन्—उठाते हुए; उदतिष्ठत्—उठा।

प्रलयकाल उपस्थित होने पर जब भगवान् अनन्तदेव सम्पूर्ण सृष्टि का संहार करना चाहते हैं, तो वे कुछ क्रुद्ध हो जाते हैं। तब उनकी दोनों भृकुटियों के बीच से त्रिशूल धारण किये हुए त्रिनेत्र रुद्र प्रकट होते हैं। यह रुद्र, जो संकर्षण कहलाते हैं, ग्यारह रुद्रों, अर्थात् भगवान् शिव के अवतारों का व्यूह होता है। वे सम्पूर्ण सृष्टि के संहार हेतु प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक सृष्टि में जीवात्माओं को अवसर प्रदान किया जाता है कि वे बद्ध जीवत्माओं के रूप में अपने कार्यकलाप समाप्त कर लें। जब वे इस अवसर का दुरुपयोग करती हैं और भगवान् के धाम को वापस नहीं जातीं तो भगवान् संकर्षण क्रोधित होते हैं। क्रोध के कारण भगवान् संकर्षण की भृकुटियों से भगवान् शिव के अंश रूप ग्यारह रुद्र प्रकट होते हैं और वे सब मिलकर सम्पूर्ण सृष्टि का संहार कर देते हैं।

यस्याङ्घ्रिकमलयुगलारुणविशदनखमणिषण्डमण्डलेष्वहिपतयः सह
सात्वतर्षभैरेकान्तभक्तियोगेनावनमन्तः स्ववदनानि
परिस्फुरत्कुण्डलप्रभामण्डितगण्डस्थलान्यतिमनोहराणि प्रमुदितमनसः खलु विलोकयन्ति. ॥ ४॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; अङ्घ्रि-कमल—चरणकमल; युगल—दोनों; अरुण-विशद—चटक गुलाबी; नख—नाखूनों का; मणि-षण्ड—मणियों के समान; मण्डलेषु—गोलाकार पृष्ठों पर; अहि-पतयः—सर्पों के स्वामी; सह—साथ; सात्वत-ऋषभैः—श्रेष्ठ भक्तों के; एकान्त-भक्ति-योगेन—शुद्ध भक्ति के साथ; अवनमन्तः—नमस्कार करते हुए; स्व-वदनानि—अपने-अपने मुखों; परिस्फुरत्—चमकते हुए; कुण्डल—कान की बालियों की; प्रभा—ज्योति से; मण्डित—अलंकृत; गण्ड-स्थलानि—जिनके गाल; अति-मनोहराणि—अत्यन्त मनोहर; प्रमुदित-मनसः—प्रसन्न मन से; खलु—निस्संदेह; विलोकयन्ति—देखते हैं।.

भगवान् संकर्षण के चरणकमलों के गुलाबी तथा पारदर्शी नाखून मानो दर्पण जैसे चमकाये गये बहुमूल्य मणि हैं। जब शुद्ध भक्त तथा नागों के अधिपति अत्यन्त भक्तिभाव से उन्हें नमस्कार करते हैं, तो उनके चरण-नखों में अपने सुन्दर मुखों की छाया देखकर अत्यन्त प्रमुदित हो उठते हैं। उनके गालों पर कान की देदीप्यमान् बालियाँ दमकती हैं और उनकी मुख-कान्ति अत्यन्त मोहक होती है।

यस्यैव हि नागराजकुमार्य आशिष
आशासानाश्चार्वङ्गवलयविलसितविशदविपुलधवलसुभगरुचिरभुजरजतस्तम्भेष्वगुरुचन्दनकुङ्कुमपङ्कानुलेपेनावलिम्पमानास्तदभिमर्शनोन्मथितहृदयमकरध्वजावेशरुचिरललितस्मितास्तदनुरागमदमुदितमदविघूर्णतारुणकरुणावलोकनयनवदनारविन्दं सव्रीडं किल विलोकयन्ति. ॥ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसकी; एव—ही; हि—निस्सन्देह; नाग-राज-कुमार्यः—नागराज की कुमारियाँ; आशिषः—आशीर्वाद; आशासानाः—आशावान होकर; चारु—सुन्दर; अङ्ग-वलय—शरीर मंडल पर; विलसित—शोभित; विशद—निष्कलंक; विपुल—दीर्घ; धवल—श्वेत; सुभग—सौभाग्यसूचक; रुचिर—सुन्दर; भुज—भुजाओं पर; रजत-स्तम्भेषु—चाँदी के ख भों के समान; अगुरु—सुगन्धित पदार्थ का; चन्दन—चन्दन का; कुङ्कुम—केशर का; पङ्क—चंदन से; अनुलेपेन—लेप से; अवलिम्पमानाः—लेपन करके; तत्-अभिमर्शन—अपने अंगों में स्पर्श द्वारा; उन्मथित—मथा हुआ; हृदय—हृदयों में; मकर-ध्वज—कामदेव का; आवेश—प्रवेश के कारण; रुचिर—अत्यन्त सुन्दर; ललित—नम्र; स्मिताः—मन्द-हास्य करती हुई; तत्—उसका; अनुराग—अनुराग; मद—गर्व से; मुदित—प्रसन्न; मद—दया के गर्व से; विघूर्णित—घूमती हुई; अरुण—गुलाबी; करुण-अवलोक—करुणा की दृष्टि से; नयन—नेत्र; वदन—(तथा) मुख; अरविन्दम्—कमलपुष्प के सदृश; स-व्रीडम्—सलज्ज; किल—निस्सन्देह; विलोकयन्ति—देखते हैं।

भगवान् अनन्त की आकर्षक दीर्घ भुजाएँ कंगनों से आकर्षक ढंग से अलंकृत हैं और पूर्णतया आध्यात्मिक हैं। श्वेत होने के कारण वे चाँदी के ख भों सी प्रतीत होती हैं। जब भगवान् के शुभाशीर्वाद की इच्छुक नागराजों की कुमारियाँ उनकी बाहों में अगुरु, चन्दन तथा कुमकुम का लेप लगाती हैं, तो उनके स्पर्श से उनके भीतर कामेच्छा जाग्रत हो उठती है। उनके मनोभावों को समझ कर भगवान् जब इन राजकुमारियों को कृपापूर्ण मुस्कान से देखते हैं, तो वे यह सोचकर लजा जाती हैं कि वे उनके मनोभावों को जानते हैं। तब वे मनोहर मुसकान सहित भगवान् के मुखकमल को देखतीं हैं, जो उनके भक्तों के प्यार से प्रमुदित तथा मद-विह्वल घूमती हुई लाल-लाल आँखों से सुशोभित रहता है।

तात्पर्य : जब स्त्री तथा पुरुष एक दूसरे के शरीर का स्पर्श करते हैं, तो सहज ही उनके मन में काम-भावना जाग्रत होती है। इस श्लोक से ऐसा सूचित होता है कि अलौकिक देहों में भी ऐसी ही अनुभूति होती है। भगवान् अनन्त तथा उन्हें सुख देने वाली नारियों दोनों ही के शरीर अलौकिक थे। इस प्रकार सभी अनूभूतियाँ मूलतः अलौकिक देह में विद्यमान रहती है। वेदान्त सूत्र से इसकी पुष्टि होती है—*जन्माद्यस्य यतः।* श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की इस सम्बन्ध में टीका है कि *आदि* शब्द का अर्थ है *आदिरस* जिसका उद्‌भव परमेश्वर से होता है। किन्तु आध्यात्मिक काम तथा प्राकृत काम में वैसा ही अन्तर है जैसाकि सोने तथा लोहे में। जो आत्म-साक्षात्कार में जितना ही अधिक सिद्ध होगा वह राधा एवं कृष्ण अथवा कृष्ण एवं व्रज की बालाओं के मध्य की कामभावनाओं को समझ सकता है। इसीलिए जब तक कोई अति अनुभवी तथा आत्मसिद्ध न हो उससे कृष्ण और गोपियों की कामभावनाओं की चर्चा करने के लिए निषेध किया जाता है। किन्तु यदि कोई शुद्ध एवं निष्ठावान् भक्त हो तो गोपी एवं कृष्ण की काम-अनुभूतियों की चर्चा करते समय उसका हृदय पूर्णतया कामरहित होता

है और वह आध्यात्मिक जीवन में तेजी से उन्नति करता है।

स एव भगवाननन्तोऽनन्तगुणार्णव आदिदेव उपसंहृतामर्षरोषवेगो लोकानां स्वस्तय आस्ते. ॥ ६॥

शब्दार्थ

सः—वह; एव—निश्चय ही; भगवान्—श्रीभगवान्; अनन्तः—अनन्तदेव; अनन्त-गुण-अर्णवः—असीम दिव्य गुणों के सागर; आदि-देवः—आदि ईश्वर अथवा आद्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से अभिन्न रूप; उपसंहृत—जिसने इन्द्रियनिग्रह किया है; अमर्ष—उसकी असहनशीलता का; रोष—(तथा) क्रोध; वेगः—वेग, शक्ति; लोकानाम्—सभी लोकों के मनुष्यों के; स्वस्तये—कल्याण हेतु; आस्ते—रहते हैं।

भगवान् संकर्षण अनन्त दिव्य गुणों के सागर हैं जिससे वे अनन्तदेव कहलाते हैं। वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से अभिन्न हैं। इस जगत के समस्त जीवों के कल्याण हेतु वे अपने क्रोध तथा अपनी असहनशीलता को रोके हुए अपने धाम में निवास करते हैं।

तात्पर्य : अनन्तदेव का मूल उद्देश्य इस भौतिक सृष्टि को विलय करना हैं, किन्तु वे अपने रोष तथा अमर्ष को रोके रहते हैं। इस जगत की सृष्टि बद्ध-जीवात्माओं को भगवान् के धाम जाने के लिए एक और अवसर प्रदान करने के लिए की जाती है, किन्तु अधिकांश जीव इस अवसर का लाभ नहीं उठाते। सृष्टि के बाद वे भौतिक जगत पर फिर से अपना प्रभुत्व जताना चाहते हैं। इन क्रियाओं से अनन्तदेव क्रुद्ध हो उठते हैं और सम्पूर्ण भौतिक जगत को विनष्ट कर देना चाहते हैं। किन्तु श्रीभगवान् होने के कारण वे हम पर दयालु हैं और अपने रोष तथा अमर्ष को रोक लेते हैं। कभी-कभी ही वे अपना रोष प्रकट करते हैं और भौतिक जगत का विनाश कर देते हैं।

ध्यायमानः सुरासुरोरगसिद्धगन्धर्वविद्याधरमुनिगणैरनवरतमदमुदितविकृतविह्वललोचनः सुललितमुखरिकामृतेनाप्यायमानः स्वपार्षदविबुधयूथपतीनपरिम्लानरागनवतुलसिकामोदमध्वासवेन माद्यन्मधुकरव्रातमधुरगीतश्रियं वैजयन्तीं स्वां वनमालां नीलवासा एककुण्डलो हलककुदि कृतसुभगसुन्दरभुजो भगवान्महेन्द्रो वारणेन्द्र इव काञ्चनीं कक्षामुदारलीलो बिभर्ति. ॥ ७॥

शब्दार्थ

ध्यायमानः—ध्यान किये जाते हुए; सुर—देवताओं को; असुर—असुर; उरग—सर्प; सिद्ध—सिद्धलोक के वासी; गन्धर्व—गंधर्वलोक के वासी; विद्याधर—विद्याधर; मुनि—मुनि; गणैः—समूहों द्वारा; अनवरत—लगातार; मद-मुदित—मद से प्रसन्न; विकृत—चञ्चल; विह्वल—इधर-उधर घूमते हुए; लोचनः—जिनके नेत्र; सु-ललित—सुललित; मुखरिक—वाणी के; अमृतेन—अमृत से; आप्यायमानः—अच्छे लगने वाले; स्व-पार्षद—अपने सहयोगी; विबुध-यूथ-पतीन्—देवताओं के विभिन्न समूहों के प्रमुख; अपरिम्लान—कभी न म्लान होने वाले; राग—जिसकी कांति; नव—नवीन; तुलसिका—तुलसी की मंजरियों की; आमोद—सुगंधि से; मधु-आसवेन—तथा मधु (शहद) से; माद्यन्—मद से युक्त होकर; मधुकर-व्रात—मधुमक्खियों का; मधुर-गीत—मीठे गानों से; श्रीयम्—अधिक सुन्दर बनकर; वैजयन्तीम्—वैजयन्ती नामक माला; स्वाम्—अपना; वनमालाम्—माला; नील-वासाः—नीले अम्बर से आवृत; एक-कुण्डलः—केवल एक कुण्डल धारण किये हुए; हल-ककुदि—हल की

मुठिया पर; कृत—रखा हुआ; सुभग—शुभ; सुन्दर—सुन्दर; भुजः—हाथ; भगवान्—श्रीभगवान्; महा-इन्द्रः—स्वर्ग के राजा; वारण-इन्द्रः—हाथी; इव—सदृश; काञ्चनीम्—स्वर्णिम; कक्षाम्—मेखला; उदार-लीलः—दिव्य लीलाओं में संलग्न; बिभर्ति—पहनते हैं।

शुकदेव गोस्वामी आगे बोले—देवता, असुर, उरग (सर्पदेव), सिद्ध, गंधर्व, विद्याधर तथा अनेक सिद्ध सन्तजन भगवान् की निरन्तर प्रार्थना करते रहते हैं। मद के कारण भगवान् विह्वल प्रतीत होते हैं और उनके नेत्रपूर्ण पुष्पित फूलों की भाँति इधर-उधर गति करते हैं। वे अपने मुख से निकली मधुर वाणी से अपने पार्षदों, देवताओं के प्रमुखों को प्रसन्न करते हैं। नीलाम्बर और कान में एक कुण्डल धारण किये हुए वे अपनी पीठ पर हल को अपने दो सुघड़ हाथों से पकड़े हुए हैं। वे इन्द्र के समान श्वेत लगते हैं, वे अपनी कटि में स्वर्णिम मेखला और गले में चिर नवीन तुलसी दलों की वैजयन्तीमाला धारण किये हैं। तुलसी दलों की मधु जैसी गन्ध से आकर्षित होकर मधुमक्खियाँ माला के चारों ओर मँडराती रहती हैं, जिससे माला और भी सुन्दर लगने लगती है। इस प्रकार भगवान् दिव्य लीलाओं में संलग्न रहते हैं।

य एष एवमनुश्रुतो ध्यायमानो मुमुक्षूणामनादिकालकर्मवासनाग्रथितमविद्यामयं हृदयग्रन्थिं
सत्त्वरजस्तमोमयमन्तर्हृदयं गत आशु निर्भिनत्ति तस्यानुभावान्भगवान्स्वायम्भुवो नारदः सह तुम्बुरुणा
सभायां ब्रह्मणः संश्लोकयामास. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; एषः—यही; एवम्—इस प्रकार; अनुश्रुतः—प्रामाणिक गुरु से सुना जाकर; ध्यायमानः—ध्यान किया गया; मुमुक्षूणाम्—बद्ध जीवन से मुक्ति के आकांक्षी मनुष्यों का; अनादि—अनन्त; काल—काल; कर्म-वासना—कर्मों की कामना द्वारा; ग्रथितम्—दृढ़ता से बँधा हुआ; अविद्या-मयम्—माया शक्ति से युक्त; हृदय-ग्रन्थिम्—हृदय के भीतर की गाँठ; सत्त्व-रजः-तमः-मयम्—प्रकृति के तीनों गुणों से युक्त; अन्तः-हृदयम्—हृदय के भीतर; गतः—स्थित; आशु—शीघ्र ही; निर्भिनत्ति—काटता है; तस्य—संकर्षण का; अनुभावान्—यश; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; स्वायम्भुवः—ब्रह्मा के पुत्र; नारदः—नारद मुनि; सह—साथ; तुम्बुरुणा—तारयुक्त वाद्य यंत्र, तँबूरा के; सभायाम्—सभा में; ब्रह्मणः—भगवान् ब्रह्मा का; संश्लोकयाम् आस—श्लोकों में वर्णित।

यदि भौतिक जीवन से मुक्ति पाने के इच्छुक पुरुष शिष्य परम्परा से प्राप्त गुरु के मुख से अनन्तदेव के यश को सुनते हैं और यदि वे संकर्षण का निरन्तर ध्यान धरते हैं, तो भगवान् उनके अन्तःकरण में प्रवेश करते हुए प्रकृति के तीनों गुणों के सारे कल्मष को दूर कर देते हैं और हृदय की उस कठोर ग्रंथि को काट देते हैं, जो सकाम कर्मों के द्वारा प्रकृति पर प्रभुत्व पाने की अभिलाषा के कारण अनन्त काल से दृढ़ता से बँधी हुई है। भगवान् ब्रह्मा के पुत्र नारद मुनि अपने पिता की सभा में अनन्तदेव के यश का सदैव गान करते हैं। वहाँ वे अपने द्वारा रचित शुभ

श्लोकों का गान अपने तम्बूरे के साथ करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् अनन्तदेव के इन वर्णनों में से कोई भी काल्पनिक नहीं हैं। वे सभी दिव्य आनन्द एवं ज्ञान से पूर्ण हैं। किन्तु जब तक कोई उन्हें परम्परागत प्रामाणिक गुरु से प्रत्यक्ष नहीं सुनता, उन्हें नहीं समझ पाता। इस ज्ञान को ब्रह्माजी ने नारद मुनि को दिया और महामुनि नारद अपने संगी तम्बूरे सहित इस ज्ञान को विश्व भर में वितरित करते हैं। कभी-कभी श्रीभगवान् को उत्तमश्लोक कहकर वर्णित किया जाता है। नारद मुनि भगवान् अनन्त की प्रशंसा में अनेक श्लोक बनाते हैं, इसलिए इस श्लोक में *संश्लोकयाम् आस* (चुने हुए श्लोकों से) शब्द का व्यवहार हुआ है।

गौड़ीय सम्प्रदाय के वैष्णव ब्रह्माजी से चली आने वाली शिष्य परम्परा से सम्बद्ध हैं। ब्रह्माजी नारद के गुरुदेव हैं, नारद व्यासदेव के गुरु हैं तथा व्यासदेव ने *श्रीमद्भागवत* की रचना *वेदान्त सूत्र* की टीका के रूप में की। फलतः गौड़ीय सम्प्रदाय के समस्त भक्तगण *श्रीमद्भागवत* में वर्णित भगवान् अनन्त की क्रियाओं को प्रामाणिक मानते हैं और इस प्रकार उन्हें भगवान् के धाम में वापस जाने का लाभ प्राप्त होता है। बद्धजीव के हृदय का कल्मष कूड़े के ढेर के समान है जो तीन प्रकार के गुणों द्वारा, विशेष रूप से रजो तथा तमोगुणों के द्वारा, उत्पन्न होता है। यह कल्मष कामेच्छा एवं धन की लालसा के रूप में प्रकट होता है। जैसाकि यहाँ पुष्टि की गई है, जब तक मनुष्य को परम्परागत दिव्य ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक उसके इस कल्मष से शुद्ध होने का कोई प्रश्न नहीं उठता।

उत्पत्तिस्थितिलयहेतवोऽस्य कल्पाः
सत्त्वाद्याः प्रकृतिगुणा यदीक्षयासन् ।
यद्रूपं ध्रुवमकृतं यदेकमात्मन्
नानाधात्कथमु ह वेद तस्य वर्त्म ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

उत्पत्ति—सृजन का; स्थिति—धारण या पालन; लय—(तथा) संहार या प्रलय; हेतवः—मूल कारण; अस्य—इस जगत के; कल्पाः—समर्थ होते हैं; सत्त्व-आद्याः—सत्त्वगुण इत्यादि; प्रकृति-गुणाः—भौतिक प्रकृति के गुण; यत्—जिसकी; ईक्षया—दृष्टि मात्र से; आसन्—हो गया; यत्-रूपम्—जिसका स्वरूप; ध्रुवम्—अपरिमित; अकृतम्—बिना उत्पत्ति हुए; यत्—जो; एकम्—एक; आत्मन्—स्वयं में; नाना—अनेक; अधात्—प्रकट हुआ; कथम्—कैसे; उ ह—निश्चय ही; वेद—जान सकता है; तस्य—उसका; वर्त्म—पथ, मार्ग।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की दृष्टि फेरने से ही जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के कारणस्वरूप भौतिक प्रकृति के गुणों को अपने-अपने कार्य में समर्थ कर देते हैं। परमात्मा

अनन्त तथा अनादि हैं और एक होते हुए भी अपने को नाना रूपों में प्रकट करते हैं। भला ऐसे परमेश्वर के कार्यों को मानव समाज कैसे जान सकता है?

तात्पर्य : वेदों से हमें ज्ञात होता है कि परमेश्वर भौतिक प्रकृति पर दृष्टि डालते (*स ऐक्षत*) हैं तो प्रकृति के तीन प्रकार के गुण प्रकट होते हैं और भौतिक जगत उत्पन्न होता है और भौतिक विविधता सृजित होती है। जब तक वे भौतिक शक्ति पर दृष्टिपात नहीं करते, तब तक इस भौतिक जगत की सृष्टि, पालन और लय की कोई सम्भावना नहीं रहती। ईश्वर सृष्टि के पहले से विद्यमान हैं फलत: वे सनातन और अपरिवर्तनशील हैं। अत: कोई कितना भी महान् विज्ञानी या दार्शनिक क्यों न हो, वह श्रीभगवान् के कार्यों की विधि को कैसे जान सकता है?

चैतन्यभागवत (आदि खण्ड १.४८-२ तथा १.८-६९) के नि म्नलिखित उद्धरण भगवान् अनन्त के यश को बताने वाले हैं—

कि ब्रह्मा, कि शिव, कि सनकादि 'कुमार'।

व्यास, शुक, नारदादि, 'भक्त' नाम याँर॥

''ब्रह्माजी, शिवजी, चारों कुमार (सनक, सनातन, सनन्दन तथा सनत्कुमार), व्यासदेव, शुकदेव गोस्वामी तथा नारद—ये सभी ईश्वर के शुद्ध भक्त अथवा सनातन दास हैं।

सबार पूजित श्री-अनन्त-महाशय।

सहस्र-वदन प्रभु—भक्ति-रसमय॥

''उपर्युक्त ये सभी विशुद्ध भक्तजन भगवान् श्री अनन्त की आराधना करते हैं। वे सहस्र फणों वाले तथा समस्त भक्ति के आगार हैं।

आदिदेव, महा-योगी, 'ईश्वर', 'वैष्णव'।

महिमार अन्त इँहा ना जानये सब॥

''भगवान् अनन्त आदिपुरुष तथा योग के महान् नियन्ता हैं। साथ ही वे भगवान् के दास या वैष्णव हैं। उनकी महिमा का कोई अन्त नहीं है, अत: उन्हें पूर्णतया नहीं समझा जा सकता।

सेवन शुनिला, एबे शुन ठाकुराल।

आत्म-तंत्रे येन-मते वैसेन पाताल॥

"ईश्वर के प्रति उनके सेवाभाव का मैं पहले ही वर्णन कर चुका हूँ, अब आप सुनें कि आत्मनिर्भर अनन्तदेव पाताललोक में किस प्रकार अवस्थित हैं।

श्री-नारद-गोसाञि 'तुम्बुरु' करि' संगे।

से यश गायेन ब्रह्मा-स्थाने श्लोक-वंधे॥

"महामुनि नारद अपने कंधे पर तुम्बुरु धारण किये हुए भगवान् अनन्त की महिमा का सदैव गायन करते रहते हैं। उन्होंने भगवान् की प्रशंसा में अनेक दिव्य श्लोकों की रचना की है।

सृष्टि, स्थिति, प्रलय, सत्त्वादि यत गुण।

याँर दृष्टि-पाते हय, याय पुनः पुनः॥

"भगवान् अनन्त की दृष्टिमात्र से प्रकृति के तीनों गुणों की अन्तःक्रिया होती है और सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय उत्पन्न होते हैं। ये गुण पुनः पुनः प्रकट होते रहते हैं।

अद्वितीय-रूप, सत्य अनादि महत्त्व।

तथापि 'अनन्त' हय, के बुझे से तत्त्व?

"भगवान् अद्वितीय तथा अनादि सत्य रूप हैं, अतः वे अनन्तदेव कहलाते हैं। भला उन्हें कौन समझ सकता है?

शुद्ध-सत्त्व-मूर्ति प्रभु धरेन करुणाय।

ये-विग्रहे सबार प्रकाश सुलीलाय॥

"उनका स्वरूप पूर्णतः आध्यात्मिक है और वे केवल अपनी करुणा से उसे प्रकट करते हैं। इस भौतिक जगत के सारे कार्यकलाप केवल उन्हीं के रूप के द्वारा संचालित हैं।

याँहारा तरंग शिखि' सिंह महावली।

निज-जन-मनो रञ्जे हञा कुतूहली॥

"वे अत्यन्त शक्तिशाली हैं और अपने पार्षदों तथा भक्तों को प्रसन्न करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं।

ये अनन्त-नामेर श्रवण-संकीर्तने।

ये-ते मते केने नाहि बोले ये-ते जने॥

अशेष-जन्मेर बंध छिण्डे सेइ-क्षणे।

अतएव वैष्णव ना छाड़े कभु ताने॥

"यदि हम भगवान् अनन्तदेव की महिमा का सामूहिक कीर्तन करने के प्रयास में लग जाँए तो जन्म-जन्मांतरों से एकत्र हमारे मन के कल्मष तुरन्त धुल जाँय। अत: वैष्णवजन अनन्तदेव की महिमागान का अवसर हाथ से नहीं जाने देते।

'शेष' ब-इ संसारेर गति नाहिं आर।

अनन्तेर नामे सर्व-जीवेर उद्धार॥

"भगवान् अनन्त शेष (अपरिमित अन्त) कहलाते हैं, क्योंकि वे इस भौतिक जगत से होकर जाने वाले हमारे मार्ग का अन्त करने वाले हैं। उनकी महिमा के कीर्तन मात्र से प्रत्येक प्राणी मुक्त हो सकता है।

अनन्त पृथिवी-गिरि समुद्र-सहिते।

ये-प्रभु धरेन गिरे पालन करिते॥

"अनन्तदेव अपने सिर पर विशाल सागर तथा पर्वतों से युक्त लाखों ग्रहों वाले सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को धारण करते हैं।

सहस्र फणार एक-फणे 'बिन्दु' येन।

अनन्त विक्रम, ना जानेन, 'आछे' हेन॥

"वे इतने विराट एवं शक्तिमान हैं कि यह ब्रह्माण्ड उनके एक फण पर जलबिन्दु के समान टिका हुआ है। वे नहीं जान पाते कि यह कहाँ पर हैं।

सहस्र-वदने कृष्ण-यश निरन्तर।

गाइते आछेन आदि-देव मही-धर॥

"श्रीअनन्तदेव अपने एक फण में ब्रह्माण्ड को धारण किये अपने सहस्त्रों मुखों से श्रीकृष्ण का यशोगान करते हैं।

गायेन अनन्त, श्री-यशेर नाहिं अन्त।

जय-भंग नाहि कारु, दोंहे—बलवन्त॥

"यद्यपि वे अनन्तकाल से भगवान् श्रीकृष्ण का यशोगान करते रहे हैं, किन्तु उसका कोई अन्त नहीं मिला है।

अद्यापिह 'शेष'-देव सहस्र-श्रीमुखे।

गायेन चैतन्य-यश अन्त नाहिं देखे॥

"आज भी भगवान् अनन्त श्री चैतन्य महाप्रभु के यश का गान कर रहे हैं और इसका कोई अन्त नहीं है।"

मूर्तिं नः पुरुकृपया बभार सत्त्वं
संशुद्धं सदसदिदं विभाति तत्र ।
यल्लीलां मृगपतिराददेऽनवद्या-
मादातुं स्वजनमनांस्युदारवीर्यः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

मूर्तिम्—श्रीभगवान् के विविध रूपों को; नः—हमको; पुरु-कृपया—अत्यन्त कृपाकरके; बभार—प्रदर्शित किया; सत्त्वम्—अस्तित्त्व; संशुद्धम्—नितान्त दिव्य; सत्-असत् इदम्—कार्य-कारण स्वरूप यह भौतिक जगत; विभाति—प्रकाशित होता है; तत्र—जिसमें; यत्-लीलाम्—जिनकी लीलाएँ; मृग-पतिः—सिंह के समान समस्त जीवों का स्वामी; आददे—शिक्षा दी; अनवद्याम्—कल्मषहीन; आदातुम्—जीतने के लिए; स्व-जन-मनांसि—अपने भक्तों के मन में; उदार-वीर्यः—जो अत्यन्त उदार एवं शक्तिमान है।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के भीतर स्थूल व सूक्ष्म जगत का अस्तित्व विद्यमान है। अपने भक्तों पर अहैतुकी कृपावश वे विभिन्न दिव्य रूपों को प्रदर्शित करते हैं। परमेश्वर अत्यन्त उदार हैं एवं उनमें समस्त योग शक्तियाँ हैं। अपने भक्तों के मन को जीतने तथा उनके हृदय को आनन्दित करने के लिए वे नानाविध अवतारों में प्रकट होते हैं और अनेक लीलाएँ करते हैं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने इस श्लोक का अनुवाद इस प्रकार किया है—"श्रीभगवान् समस्त कारणों के कारण स्वरूप हैं। उनकी इच्छा से ही स्थूल तथा सूक्ष्म अवयव परस्पर क्रिया करते हैं। वे अपने शुद्ध भक्तों के हृदयों को प्रमुदित करने के लिए ही विभिन्न रूपों में अवतरित होते हैं।" उदाहरणार्थ, अपने भक्त को प्रसन्न करने के लिए परमेश्वर पृथ्वी को गर्भोदक सागर से उठाने के लिए भगवान् वराह के दिव्य रूप में अवतरित हुए।

यन्नाम श्रुतमनुकीर्तयेदकस्मा-
दार्तो वा यदि पतितः प्रलम्भनाद्वा ।

हन्त्यंहः सपदि नृणामशेषमन्यं
कं शेषाद्भगवत आश्रयेन्मुमुक्षुः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिनका; नाम—पवित्र नाम; श्रुतम्—सुना हुआ; अनुकीर्तयेत्—जप सकता है; अकस्मात्—दैवयोग से; आर्तः—विपदाग्रस्त व्यक्ति; वा—अथवा; यदि—यदि; पतितः—पतित व्यक्ति; प्रलम्भनात्—हँसी से; वा—अथवा; हन्ति—नष्ट करता है; अंहः—पापी; सपदि—उस क्षण; नृणाम्—मानव समाज का; अशेषम्—अपरिमित; अन्यम्—दूसरे को; कम्—क्या; शेषात्—भगवान् शेष की अपेक्षा; भगवतः—श्रीभगवान् की; आश्रयेत्—शरण में जावे; मुमुक्षुः—मुक्तिकामी व्यक्ति।

यदि कोई आर्त अथवा पतित व्यक्ति भी प्रामाणिक गुरु से भगवान् का पवित्र नाम सुनकर उसका जप करता है, तो वह तुरन्त पवित्र हो जाता है। यदि वह हँसी में, अथवा अकस्मात् भी भगवन्नाम का जप करता है, तो वह तथा जो उसे सुनता है समस्त पापों से मुक्त हो जाते हैं। अतः भौतिक बन्धनों से छुटकारा चाहने वाला व्यक्ति भगवान् शेष के नाम-जप से कैसे कतरा सकता है? भला वह और किसकी शरण ग्रहण करे?

मूर्धन्यर्पितमणुवत्सहस्रमूर्ध्नो
भूगोलं सगिरिसरित्समुद्रसत्त्वम् ।
आनन्त्यादनिमितविक्रमस्य भूम्नः
को वीर्याण्यधि गणयेत्सहस्रजिह्वः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

मूर्धनि—शिर अथवा फण पर; अर्पितम्—स्थिर; अणु-वत्—अणु के समान; सहस्र-मूर्ध्नः—सहस्र फणों वाले अनन्त का; भू-गोलम्—यह ब्रह्माण्ड; स-गिरि-सरित्-समुद्र-सत्त्वम्—अनेक पर्वतों, वृक्षों, समुद्रों तथा जीवात्माओं सहित; आनन्त्यात्—अनन्त होने से; अनिमित-विक्रमस्य—अपरिमेय शक्ति; भूम्नः—परमेश्वर; कः—कौन; वीर्याणि—शक्तियाँ; अधि—निस्सन्देह; गणयेत्—गिन सकता है; सहस्र-जिह्वः—भले ही सहस्र जीभें क्यों न हों।

अपरिमित होने के कारण ईश्वर की शक्ति का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। अनेक विशाल पर्वतों, नदियों, सागरों, वृक्षों तथा जीवात्माओं से पूर्ण यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उनके सहस्रों फणों में से एक के ऊपर अणु के समान टिका हुआ है। भला, सहस्र जिह्वाओं से भी क्या कोई उनकी महिमा का वर्णन कर सकता है?

एवम्प्रभावो भगवाननन्तो
दुरन्तवीर्योरुगुणानुभावः ।
मूले रसायाः स्थित आत्मतन्त्रो
यो लीलया क्ष्मां स्थितये बिभर्ति ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

एवम्-प्रभावः—इतना शक्तिशाली; भगवान्—श्रीभगवान्; अनन्तः—अनन्त; दुरन्त-वीर्य—अपार शौर्य; उरु—महान्; गुण-अनुभावः—दिव्य गुणों तथा यशों से युक्त; मूले—पादभाग में; रसायाः—निम्नतर लोकों के; स्थितः—स्थित; आत्म-तन्त्रः—पूर्णतया आत्मनिर्भर; यः—जो; लीलया—सरलतापूर्वक; क्ष्माम्—ब्रह्माण्ड को; स्थितये—पालन हेतु; बिभर्ति—धारण करता है।

उन शक्तिमान भगवान् अनन्तदेव के महान् एवं यशस्वी गुणों का कोई पारावार नहीं है। वास्तव में उनका शौर्य अनन्त है। स्वयं आत्मनिर्भर होते हुए भी वे प्रत्येक वस्तु के आधार हैं। वे पाताललोक में वास करते हैं और इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को धारण किये रहते हैं।

एता ह्येवेह नृभिरुपगन्तव्या गतयो यथाकर्मविनिर्मिता यथोपदेशमनुवर्णिताः कामान्कामयमानैः. ॥ १४॥

शब्दार्थ

एताः—ये सब; हि—निस्सन्देह; एव—ही; इह—इस ब्रह्माण्ड में; नृभिः—समस्त जीवों द्वारा; उपगन्तव्याः—उपलब्ध करने योग्य; गतयः—गन्तव्य; यथा-कर्म—अपने-अपने पूर्व कर्मों के अनुसार; विनिर्मिताः—उत्पन्न किये गये; यथा-उपदेशम्—जैसा उपदेश दिया गया; अनुवर्णिताः—तदनुसार वर्णित; कामान्—भौतिक सुख; कामयमानैः—कामना करने वालों के द्वारा।

हे राजन्, मैंने अपने गुरु से जैसा सुना था, उसी रूप में मैंने बद्धजीवों के सकाम कर्मों एवं कामनाओं के अनुसार इस जगत की सृष्टि का पूर्ण वर्णन आपसे किया है। भौतिक कामनाओं से पूर्ण बद्धजीवों को विभिन्न लोकों में अनेक स्थान प्राप्त होते रहते हैं और इस प्रकार वे इसी भौतिक सृष्टि के भीतर रहते चले आते हैं।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्रील भक्तिविनोद ठाकुर का गीत है—

अनादिकरम-फले,

पडि' भवार्णव-जले, तरिबारे ना देखि उपाय।

"हे प्रभो, मैं यह नहीं जानता कि मेरा भौतिक जीवन कब प्रारम्भ हुआ, किन्तु मुझे इसका पूरा अनुभव होता है कि मैं अज्ञान के इस भवसागर में गिर गया हूँ। अब मैं यह भी देख सकता हूँ कि आपके चरणकमलों की शरण के अतिरिक्त उसमें से निकलने का कोई दूसरा उपाय नहीं हैं।" इसी प्रकार श्री चैतन्य महाप्रभु प्रार्थना करते हैं—

अयि नन्दतनुज किंकरं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।

कृपया तव पादपंकजस्थितधूलीसदृशं विचिन्तय॥

"हे भगवन्, नन्द महाराज के पुत्र! मैं आपका चिरन्तन दास हूँ। न जाने मैं कैसे अज्ञान के इस भवसागर में गिर गया हूँ। अतः कृपा करके भौतिक जीवन की विषम स्थिति से मेरा उद्धार कीजिए।"

एतावतीर्हि राजन्पुंसः प्रवृत्तिलक्षणस्य धर्मस्य विपाकगतय उच्चावचा विसदृशा यथाप्रश्नं व्याचख्ये किमन्यत्कथयाम इति. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

एतावतीः—इतने प्रकार की; हि—ही; राजन्—हे राजन्; पुंसः—मानव प्राणियों की; प्रवृत्ति-लक्षणस्य—प्रवृत्तियों द्वारा लक्षणीभूत; धर्मस्य—कार्य सम्पादन का; विपाक-गतयः—परिणामी गन्तव्य; उच्च-अवचाः—उच्च तथा निम्न; विसदृशाः—विभिन्न; यथा-प्रश्नम्—आपके प्रश्न के अनुसार; व्याचख्ये—मैंने वर्णन किया है; किम् अन्यत्—और क्या; कथयाम—कहूँ; इति—इस प्रकार।

हे राजन्, इस प्रकार मैंने आपको बताया है कि प्रायः मनुष्य किस प्रकार अपनी-अपनी इच्छाओं के अनुसार कार्य करते हैं और उसी के अनुसार उच्च या निम्न लोकों में भिन्न-भिन्न शरीर धारण करते हैं। आपने ये बातें मुझसे पूछीं थी और मैंने जो अधिकारियों से सुना है उसे आपसे बता दिया। अब आगे क्या सुनाऊँ?

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''भगवान् अनन्त की महिमा'' नामक पचीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छब्बीस

नारकीय लोकों का वर्णन

इस अध्याय में यह बताया गया है कि पापी मनुष्य किस प्रकार विभिन्न नरकों में जाता है जहाँ यमदूत विविध प्रकार से उसे दण्ड देते हैं। जैसाकि भगवद्‌गीता (३.२७) में कहा गया है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

''मोहग्रस्त जीवात्मा भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के वशीभूत होकर अपने को ही सारे कार्यों का कर्ता सोचता है जो कि वास्तव में प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं।'' मूर्ख व्यक्ति अपने आपको नियमों से मुक्त मानता है। वह सोचता है कि न तो ईश्वर है और न ही कोई नियामक सिद्धान्त हैं और वह जो चाहे कर सकता है। इस प्रकार वह अनेक पापकर्म करता है, जिसके कारण उसे जन्म-जन्मांतर विभिन्न नारकीय परिस्थितियों में रखा जाता है, जिससे प्रकृति के नियमानुसार उसे दण्डित किया जा सके। प्रकृति के नियमों के वश में रह कर भी वह अज्ञानतावश अपने को स्वतंत्र मानता है और उसकी

यातना का यही मूल सिद्धान्त है। ये नियम तीन गुणों के प्रभाव के अन्तर्गत कार्य करते हैं और इसीलिए प्रत्येक मनुष्य भी तीन प्रकार के प्रभावों के अन्तर्गत कार्य करता है। अपने कर्मों के अनुसार वह इस जीवन में या अगले जीवन में विभिन्न कर्मफलों की यातनाएँ भोगता है। धार्मिक पुरुष नास्तिकों से भिन्न रीति से कार्य करते हैं, अत: वे भिन्न प्रकार से कर्मफल भोगते हैं।

शुकदेव गोस्वामी ने निम्नलिखित अट्ठाईस प्रकार के नरकों का वर्णन किया है—तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, कालसूत्र, असिपत्रवन, शूकरमुख, अन्धकूप, कृमिभोजन, संन्दश, तप्तसूर्मि, वज्रकण्टक-शाल्मली, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचि, अय:पान, क्षारकर्दम, रक्षोगणभोजन, शूलप्रोत, दंशशूक, अवटनिरोधन, पर्यावर्तन तथा सूचीमुख।

यदि कोई व्यक्ति दूसरे का धन, पत्नी या सम्पत्ति चुराता है, तो उसे तामिस्र नामक नरक में डाला जाता है। यदि कोई ठग कर पराई स्त्री का उपभोग करता है, तो उसे अन्धतामिस्र नरक की कठिन यातना सहनी पड़ती है। उस मूढ़ पुरुष के जो शरीर में ही व्यस्त रह कर और इसी सिद्धान्त के आधार पर अन्य जीवात्माओं की हिंसा करके अपना तथा अपने परिवार का पालन करता है रौरव नामक नरक में डाला जाता है। वहाँ पर उसके द्वारा वध किये गये पशु रुरु नामक प्राणियों के रूप में जन्म लेकर उसे पीड़ित करते रहते हैं। जो विभिन्न पशुओं तथा पक्षियों को मारकर पकाते हैं उन्हें यमराज के दूत कुम्भीपाक नामक नरक में रखते हैं जहाँ उन्हें उबलते तेल में डाल दिया जाता है। ब्राह्मण का वध करने वाले को कालसूत्र नामक नरक में डाला जाता है जहाँ की भूमि समतल तथा ताम्र से बनी होती है और भट्ठी के समान गर्म रहती है। ब्राह्मणहन्ता उस प्रदेश में अनेक वर्षों तक जलता रहता है। धार्मिक नियमों का पालन न करने वाले तथा मनमानी करने वाले को या जो किसी दुष्ट का अनुयायी होता है, उसे असिपत्रवन नरक में रखा जाता है। जो अधिकारी न्याय करने में गलती करता है अथवा जो निर्दोष को दण्डित करता है उसे यमराज के दूत शूकरमुख नामक नरक में ले जाकर अत्यन्त क्रूरता से पीटते हैं।

भगवान् ने मनुष्य को उच्च कोटि की चेतना प्रदान की है, अत: वह अन्य प्राणियों के कष्टों तथा सुखों का अनुभव कर सकता है। विवेक से रहित मनुष्य की अन्य प्राणियों को कष्ट पहुँचाने की प्रवृत्ति

होती है। यमराज के दूत ऐसे पुरुष को अन्धकूप नामक नरक में ले जाते हैं जहाँ वह अपने पीड़ितों के द्वारा उचित दण्ड पाता है। जो व्यक्ति अतिथि का उचित सत्कार नहीं करता या उसे भोजन नहीं कराता, किन्तु स्वयं भोजन करता है उसे कृमिभोजन नरक प्राप्त होता है जहाँ उसे असंख्य कीड़े-मकोड़े लगातार काटते हैं।

चोर को संदंश नामक नरक की प्राप्ति होती है। अभोग्य स्त्री के साथ यौन सम्बन्ध बनाने वाले व्यक्ति को तप्तसूर्मि नामक नरक में भेजा जाता है। जो व्यक्ति पशुओं के साथ यौन-संसर्ग करता है उसे वजकण्टक-शाल्मली नामक नरक में डाला जाता है। उच्चकुल में जन्म लेकर तदनुकूल कार्य न करने वाले व्यक्ति को रक्त, पूय तथा मूत्र की वैतरणी नदी में रखा जाता है। पशु की भाँति रहने वाले व्यक्ति को पूयोद नरक में एवं वन के पशुओं का बिना स्वीकृति के क्रूरतापूर्वक वध करने वाले को प्राणरोध नरक में रखा जाता है। जो व्यक्ति धर्म के नाम पर पशु-हत्या करता है उसे विशसन नरक में और जो अपनी पत्नी को अपना वीर्य पीने के लिए बाध्य करता है उसे लालाभक्ष नरक में भेजा जाता है। जो किसी के घर में आग लगाता है या किसी को विष देता है उसे सारमेयादन नामक नरक में रखा जाता है। झूठी गवाही देकर जीविका चलाने वाले को अवीचि नरक भोगना पड़ता है।

मद्यपान करने वाले को अय:पान नरक में तथा जो बड़ों के प्रति आदरभाव नहीं प्रकट करता उसे क्षारकर्दम नरक में रखा जाता है। भैरव को नर-बलि देने वाले पुरुष को रक्षोगणभोजन नामक नरक में तथा पालतू पशुओं को मारने वाले को शूलप्रोत नरक में रखा जाता है। अन्यों को सताने वाले व्यक्ति को दंदशूक में तथा जीवित प्राणी को गुफा के भीतर बन्द रखने वाले व्यक्ति को अवट-निरोधन नामक नरक में रखा जाता है। जो व्यक्ति अपने घर में आए अतिथि पर अनावश्यक क्रोध करता है उसे पर्यावर्तन नरक में तथा धन से मदान्ध तथा और धन संचय का चिन्तन करने वाले व्यक्ति को सूचीमुख नरक में भेजा दिया जाता है।

इन नरकों के वर्णन के पश्चात् शुकदेव गोस्वामी बताते हैं कि पवित्र पुरुष किस प्रकार देवताओं के वास स्वर्गलोक को जाते हैं और पुण्यों के क्षीण होने पर किस प्रकार इस पृथ्वी पर पुन: आते हैं। अन्त में वे भगवान् के विराट रूप का वर्णन करते हैं और उनके कार्यों की महिमा बताते हैं।

राजोवाच
महर्ष एतद्वैचित्र्यं लोकस्य कथमिति. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा बोला; महर्षे—हे महर्षि (शुकदेव गोस्वामी); एतत्—यह; वैचित्र्यम्—विचित्रता; लोकस्य—जीवात्माओं की; कथम्—किस प्रकार; इति—इस प्रकार।

राजा परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा—हे महाशय, जीवात्माओं को विभिन्न भौतिक गतियाँ क्यों प्राप्त होती हैं? कृपा करके मुझसे कहें।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने विवेचना की है कि इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न नरक लोक गर्भोदक सागर से थोड़ा ऊपर स्थित हैं और वहीं स्थित रहते हैं। इस अध्याय में यह बताया गया है कि समस्त पापी लोग किस प्रकार इन नरक लोकों में जाते हैं और वहाँ पर यमराज के दूतों द्वारा प्रताड़ित किये जाते हैं। विभिन्न प्राणी अपने विगत कर्मों के अनुसार सुख या दुख भोगते हैं।

ऋषिरुवाच
त्रिगुणत्वात्कर्तुः श्रद्धया कर्मगतयः पृथग्विधाः सर्वा एव सर्वस्य तारतम्येन भवन्ति. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ऋषिः उवाच—महामुनि (शुकदेव गोस्वामी) बोले; त्रि-गुणत्वात्—तीन गुणों के कारण; कर्तुः—कर्ता का; श्रद्धया—श्रद्धा के कारण; कर्म-गतयः—कार्यों के कारण स्थितियाँ; पृथक्—भिन्न; विधाः—प्रकार; सर्वाः—सभी; एव—इस प्रकार; सर्वस्य—उन सबों का; तारतम्येन—विभिन्न मात्राओं में; भवन्ति—सम्भव होते हैं।

महामुनि शुकदेव बोले—हे राजन्, इस जगत में सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण में स्थित तीन प्रकार के कर्म होते हैं। चूँकि सभी मनुष्य इन तीन गुणों से प्रभावित होते हैं, अतः कर्मों के फल भी तीन प्रकार के होते हैं। जो सतोगुण के अनुसार कर्म करता है, वह धार्मिक एवं सुखी होता है, जो रजोगुण में कर्म करता है उसे कष्ट तथा सुख के मिश्रित रूप में प्राप्त होते हैं और जो तमोगुण के वश में कर्म करता है, वह सदैव दुखी रहता है और पशुतुल्य जीवन-बिताता है। विभिन्न गुणों से भिन्न-भिन्न मात्रा में प्रभावित होने के कारण जीवात्माओं को विभिन्न गतियाँ प्राप्त होती हैं।

अथेदानीं प्रतिषिद्धलक्षणस्याधर्मस्य तथैव कर्तुः श्रद्धाया वैसादृश्यात्कर्मफलं विसदृशं भवति या ह्यनाद्यविद्यया कृतकामानां तत्परिणामलक्षणाः सृतयः सहस्रशः प्रवृत्तास्तासां प्राचुर्येणानुवर्णयिष्यामः. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; इदानीम्—अब; प्रतिषिद्ध—निषिद्ध; लक्षणस्य—लक्षणों वाला; अधर्मस्य—अपवित्र कार्यों का; तथा—उसी तरह का; एव—निश्चय ही; कर्तुः—कर्ता का; श्रद्धायाः—श्रद्धा का; वैसादृश्यात्—अन्तर के कारण; कर्म-फलम्—कर्मों का फल; विसदृशम्—भिन्न; भवति—होता है; या—जो; हि—निस्संदेह; अनादि—अनन्त काल से; अविद्यया—अज्ञानता के कारण; कृत—किया हुआ; कामानाम्—कामी जनों का; तत्-परिणाम-लक्षणाः—ऐसी अपवित्र कामनाओं के फलों के लक्षण; सृतयः—जीवन की नारकीय दशाएँ; सहस्रशः—हजार प्रकार से; प्रवृत्ताः—फलित; तासाम्—उनका; प्राचुर्येण—विस्तार से; अनुवर्णयिष्यामः—वर्णन करूँगा।

जिस प्रकार पवित्र कर्म करने से स्वर्गिक जीवन में विभिन्न गतियाँ प्राप्त होती हैं उसी प्रकार दुष्कर्म करने से नारकीय जीवन में विभिन्न गतियाँ प्राप्त होती हैं। जो तमोगुण से प्रेरित होने वाले दुष्कर्मों में प्रवृत्त होते हैं अपनी अज्ञानता की कोटि के अनुसार नारकीय जीवन में विभिन्न कोटियों में रखे जाते हैं। यदि कोई पागलपन के कारण तमोगुण में कार्य करता है, तो उसे सबसे कम कष्ट भोगना पड़ता है। जो दुष्कर्म करता है, किन्तु पवित्र और अपवित्र कर्मों का अन्तर समझता है, उसे मध्यम कष्टकारक नरक में स्थान मिलता है। किन्तु जो नास्तिकतावश बिना समझे-बूझे दुष्कर्म करता है उसे निकृष्ट नारकीय जीवन बिताना पड़ता है। अनादिकाल से अज्ञानतावश प्रत्येक जीव अनेकानेक कामनाओं के कारण हजारों प्रकार के नरक लोकों में ले जाया जाता रहा है। मैं यथासम्भव उनका वर्णन करने का यत्न करूँगा।

राजोवाच

नरका नाम भगवन्किं देशविशेषा अथवा बहिस्त्रिलोक्या आहोस्विदन्तराल इति. ॥ ४॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने कहा; नरकाः—नारकीय प्रदेश; नाम—नामक; भगवन्—हे भगवान्; किम्—क्या; देश-विशेषाः—कोई विशेष देश; अथवा—या; बहिः—बाह्य; त्रि-लोक्याः—तीनों लोकों (ब्रह्माण्ड) के; आहोस्वित्—अथवा; अन्तराले—ब्रह्माण्ड के भीतर मध्यवर्ती स्थानों में; इति—इस प्रकार।

राजा परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा—भगवान्, क्या ये नरक ब्रह्माण्ड के बाहर, इसके भीतर या इसी लोक में भिन्न-भिन्न स्थानों पर हैं?

ऋषिरुवाच

अन्तराल एव त्रिजगत्यास्तु दिशि दक्षिणस्यामधस्ताद्भूमेरुपरिष्टाच्च जलाद्यस्यामग्निष्वात्तादयः पितृगणा दिशि स्वानां गोत्राणां परमेण समाधिना सत्या एवाशिष आशासाना निवसन्ति. ॥ ॥

शब्दार्थ

ऋषिः उवाच—ऋषि ने उत्तर दिया; अन्तराले—मध्यवर्ती स्थान में; एव—निश्चय ही; त्रि-जगत्याः—तीनों लोकों के; तु—लेकिन; दिशि—दिशा; दक्षिणस्याम्—दक्षिणी; अधस्तात्—नीचे; भूमेः—पृथ्वी पर; उपरिष्टात्—थोड़ा ऊपर; च—तथा; जलात्—गर्भोदक सागर से; यस्याम्—जिसमें; अग्निष्वात्ता-आदयः—अग्निष्वात्ता इत्यादि; पितृ-गणाः—पितर-गण; दिशि—

दिशा में; स्वानाम्—उनके अपने; गोत्राणाम्—परिवार के; परमेण—अत्यधिक; समाधिना—भगवान् के ध्यान में मग्न होकर; सत्या:—सत्य में; एव—निश्चय ही; आशिष:—आशीर्वाद; आशासाना:—कामना करने वाले; निवसन्ति—रहते हैं।

महर्षि शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया—सभी नरकलोक तीनों लोकों तथा गर्भोदक सागर के मध्य में स्थित हैं। वे ब्रह्माण्ड के दक्षिण की ओर भूमण्डल के नीचे तथा गर्भोदक सागर के जल से थोड़ा ऊपर स्थित हैं। पितृलोक भी इसी गर्भोदक सागर तथा अध:लोकों के मध्य के प्रदेश में स्थित है, जिसमें अग्निष्वात्ता आदि समस्त पितृलोक के वासी परम समाधि में लीन होकर भगवान् का ध्यान करते हैं और सदैव अपने गोत्र (परिवारों) की मंगल-कामना करते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि पहले बताया जा चुका है, हमारे लोक के नीचे सात अध:लोक हैं जिनमें सबसे नीचे के लोक को पाताललोक कहा जाता है। पाताललोक के नीचे अन्य लोक हैं, जिन्हें नरकलोक कहते हैं। ब्रह्माण्ड के नीचे गर्भोदक सागर फैला हुआ है, अत: पाताललोक तथा गर्भोदक सागर के मध्य ही नरकलोक हैं।

यत्र ह वाव भगवान्पितृराजो वैवस्वत: स्वविषयं प्रापितेषु स्वपुरुषैर्जन्तुषु सम्परेतेषु यथाकर्मावद्यं दोषमेवानुल्लङ्घितभगवच्छासन: सगणो दमं धारयति. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; ह वाव—निस्संदेह; भगवान्—सर्वशक्तिमान; पितृ-राज:—यमराज, पितरों के राजा; वैवस्वत:—सूर्यदेव के पुत्र; स्व-विषयम्—अपना राज्य; प्रापितेषु—पहुँच जाने पर; स्व-पुरुषै:—अपने दूतों द्वारा; जन्तुषु—मानव प्राणी; सम्परेतेषु—मृत; यथा-कर्म-अवद्यम्—बद्ध जीवन के नियमों तथा विधानों के उल्लंघन की मात्रा के अनुसार; दोषम्—दोष, त्रुटि; एव—निश्चय ही; अनुल्लङ्घित-भगवत्-शासन:—जो श्रीभगवान् के आदेश का कभी भी उल्लंघन नहीं करता; सगण:—अपने अनुचरों सहित; दमम्—दण्ड; धारयति—देता है।

पितरों के राजा यमराज हैं जो सूर्यदेव के अत्यन्त शक्तिशाली पुत्र हैं। वह अपने गणों सहित पितृलोक में रहते हैं और भगवान् द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करते हुए यमदूत समस्त पापियों को मृत्यु के पश्चात् उनके पास ले आते हैं। अपने कार्यक्षेत्र में लाए जाने के पश्चात् उनके विशेष पापकर्मों के अनुसार यमराज अपना निर्णय देकर उनको समुचित दंड हेतु अनेक नरकों में से किसी एक में भेज देते हैं।

तात्पर्य : यमराज कोई काल्पनिक या पौराणिक पात्र नहीं; वह अपने धाम पितृलोक का स्वामी है। नास्तिकतावादी भले ही नरक में विश्वास न करते हों, किन्तु शुकदेव गोस्वामी नरक-लोकों के अस्तित्व की पुष्टि करते हैं। ये नरक गर्भोदक सागर तथा पाताललोक के मध्य स्थित हैं। यमराज की

नियुक्ति श्रीभगवान् ने यह देखने के लिए की है कि मानव प्राणी उनके नियमों का उल्लंघन न करें। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.१७) में की गई है—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मण: ।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गति: ॥

''कर्म की गूढ़ताओं को समझ पाना कठिन है, अत: मनुष्य को चाहिए कि वह कर्म, विकर्म तथा अकर्म के स्वरूप को भली भाँति जाने।'' मनुष्य को चाहिए कि वह कर्म, विकर्म तथा अकर्म की प्रकृति को समझकर उसी के अनुसार कार्य करे। यही श्रीभगवान् का नियम है। जो बद्धजीव इस जगत में इन्द्रियभोग के उद्देश्य से आये हैं, उन्हें कतिपय विधि-विधानों के अन्तर्गत इन्द्रियभोग करने दिया जाता है। यदि वे इन विधानों का उल्लंधन करते हैं, तो इसकी परख की जाती है और उन्हें यमराज द्वारा दण्ड दिया जाता है। वह उन्हें नरकलोक में ले जाता है और कृष्णभावनामृत में पुन: ले आने के लिए उन्हें दण्डित करके अपराध मुक्त करता है। किन्तु माया के वशीभूत होकर बद्धजीव तमोगुण से पूर्ण रहते हैं। इस प्रकार यमराज द्वारा पुन: पुन: दण्डित होकर भी वे होश नहीं सँभाल पाते और बारम्बार पापकर्म करते हुए भौतिक स्थिति में रहते जाते हैं।

तत्र हैके नरकानेकविंशतिं गणयन्ति अथ तांस्ते राजन्नामरूपलक्षणतोऽनुक्रमिष्यामस्तामिस्त्रोऽन्धतामिस्त्रो रौरवो महारौरव: कुम्भीपाक: कालसूत्रमसिपत्रवनं सूकरमुखमन्धकूप: कृमिभोजन: सन्दंशस्तप्तसूर्मिर्वज्रकण्टकशाल्मली वैतरणी पूयोद: प्राणरोधो विशसनं लालाभक्ष: सारमेयादनमवीचिरय:पानमिति; किञ्च क्षारकर्दमो रक्षोगणभोजन: शूलप्रोतो दन्दशूकोऽवटनिरोधन: पर्यावर्तन: सूचीमुखमित्यष्टाविंशतिर्नरका विविधयातनाभूमय:. ॥ ७॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; ह—निश्चय ही; एके—कोई कोई; नरकान्—नरकों को; एक-विंशतिम्—इक्कीस; गणयन्ति—गिनते हैं; अथ—अत:; तान्—उनको; ते—तुमको; राजन्—हे राजन्; नाम-रूप-लक्षणत:—नामों, रूपों तथा लक्षणों के अनुसार; अनुक्रमिष्याम:—मैं क्रम से वर्णन करूँगा; तामिस्त्र:—तामिस्त्र; अन्ध-तामिस्त्र:—अन्धतामिस्त्र; रौरव:—रौरव; महा-रौरव:—महारौरव; कुम्भी-पाक:—कुम्भीपाक; काल-सूत्रम्—कालसूत्र; असि-पत्रवनम्—असिपत्रवन; सूकर-मुखम्—सूकरमुख; अन्ध-कूप:—अन्धकूप; कृमि-भोजन:—कृमिभोजन; सन्दंश:—सन्दंश; तप्त-सूर्मि:—तप्तसूर्मि; वज्र-कण्टक-शाल्मली—वज्रकंटक-शाल्मली; वैतरणी—वैतरणी; पूयोद:—पूयोद; प्राण-रोध:—प्राणरोध; विशसनम्—विशसन; लाला-भक्ष:—लालाभक्ष; सारमेयादनम्—सारेमेयादन; अवीचि:—अवीचि; अय:-पानम्—अय:पान; इति—इस प्रकार; किञ्च—कुछ और; क्षार-कर्दम:—क्षारकर्दम; रक्ष:-गण-भोजन:—रक्षोगणभोजन; शूल-प्रोत:—शूलप्रोत; दन्द-शूक:—न्दशूक; अवट-निरोधन:—अवटनिरोधन; पर्यावर्तन:—पर्यावर्तन; सूची-मुखम्—सूचीमुख; इति—इस तरह; अष्टा-विंशति:—अट्ठाईस; नरका:—नरकलोक; विविध—विभिन्न; यातना-भूमय:—नारकीय यातना वाले स्थल।

कुछ विद्वान नरक लोकों की कुल संख्या इक्कीस बताते हैं, तो कुछ अट्ठाईस। हे राजन्, मैं

क्रमशः उनके नाम, रूप तथा लक्षणों का वर्णन करूँगा। विभिन्न नरकों के नाम ये हैं—तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, कालसूत्र, असिपत्रवन, सूकरमुख, अन्धकूप, कृमिभोजन, सन्दंश, तप्तसूर्मि, वज्रकंटक-शाल्मली, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचि, अयःपान, क्षारकर्दम, रक्षोगणभोजन, शूलप्रोत, दन्दशूक, अवटनिरोधन, पर्यावर्तन तथा सूचीमुख। ये सभी लोक जीवात्माओं को दण्डित करने के लिए हैं।

तत्र यस्तु परवित्तापत्यकलत्राण्यपहरति स हि कालपाशबद्धो यमपुरुषैरतिभयानकैस्तामिस्रे नरके बलान्निपात्यते अनशनानुदपानदण्डताडनसन्तर्जनादिभिर्यातनाभिर्यात्यमानो जन्तुर्यत्र कश्मलमासादित एकदैव मूर्च्छामुपयाति तामिस्रप्राये. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तत्र—नरक लोकों में; यः—जो व्यक्ति; तु—लेकिन; पर-वित्त-अपत्य-कलत्राणि—पराया धन, पत्नी तथा सन्तान; अपहरति—अपहरण करता है; सः—वह व्यक्ति; हि—निश्चय ही; काल-पाश-बद्धः—काल अथवा यमराज के रस्सों द्वारा बाँधा जाकर; यम-पुरुषैः—यमराज के दूतों द्वारा; अति-भयानकैः—अत्यन्त भयानक; तामिस्रे नरके—तामिस्र नामक नरक में; बलात्—बलपूर्वक; निपात्यते—फेंक दिया जाता है; अनशन—भूखों मारना; अनुदपान—बिना जल के; दण्ड-ताडन—डंडे से प्रताड़ित; सन्तर्जन-आदिभिः—डाँट-फटकार इत्यादि; यातनाभिः—कठोर दण्ड द्वारा; यात्यमानः—दण्डित होकर; जन्तुः—जीवात्मा; यत्र—जहाँ; कश्मलम्—दैन्य; आसादितः—प्राप्त करके; एकदा—कभी-कभी; एव—ही; मूर्च्छाम्—मूर्च्छा; उपयाति—प्राप्त करता है; तामिस्र-प्राये—नितान्त अंधकार की स्थिति में।

हे राजन्, जो पुरुष दूसरों की वैध पत्नी, सन्तान या धन का अपहरण करता है, उसे मृत्यु के समय क्रूर यमदूत काल के रस्सों में बाँधकर बलपूर्वक तामिस्र नामक नरक में डाल देते हैं। इस अंधकारपूर्ण लोक में यमदूत पापी पुरुषों को डाँटते, मारते पीटते और प्रताड़ित करते हैं। उसे भूखा रखा जाता है और पीने को पानी भी नहीं दिया जाता है। इस प्रकार यमराज के क्रुद्ध दूत उसे कठोर यातना देते हैं और वह इस यातना से कभी-कभी मूर्च्छित हो जाता है।

एवमेवान्धतामिस्रे यस्तु वञ्चयित्वा पुरुषं दारादीनुपयुङ्क्ते यत्र शरीरी निपात्यमानो यातनास्थो वेदनया नष्टमतिर्नष्टदृष्टिश्च भवति यथा वनस्पतिर्वृश्च्यमानमूलस्तस्मादन्धतामिस्रं तमुपदिशन्ति. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; एव—ही; अन्धतामिस्रे—अन्धतामिस्र नरक में; यः—जो व्यक्ति; तु—लेकिन; वञ्चयित्वा—ठग कर; पुरुषम्—दूसरे व्यक्ति को; दार-आदीन्—पत्नी तथा सन्तान; उपयुङ्क्ते—भोग करता है; यत्र—जहाँ; शरीरी—शरीरधारी व्यक्ति; निपात्यमानः—बलपूर्वक फेंका जाकर; यातना-स्थः—अत्यन्त दयनीय स्थिति में रहकर; वेदनया—ऐसी वेदना से; नष्ट मतिः—जिनकी बुद्धि नष्ट हो गई है; नष्ट दृष्टिः—जिनकी दृष्टि क्षीण हो चुकी है; च—भी; भवति—हो जाता है; यथा—जितना कि;

वनस्पतिः—वृक्ष; वृश्च्यमान—काटे जाने पर; मूलः—जिनकी जड़; तस्मात्—इस कारण; अन्धतामिस्रम्—अन्धतामिस्र; तम्—उसको; उपदिशन्ति—कहते हैं।

जो व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को धोखा देकर उसकी पत्नी तथा सन्तान को भोगता है वह अन्धतामिस्र नामक नरक में स्थान पाता है। वहाँ पर उसकी स्थिति जड़ से काटे गए वृक्ष जैसी होती है। अंधतामिस्र में पहुँचने के पूर्व ही पापी जीव को अनेक कठिन यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। ये यातनाएँ इतनी कठोर होती हैं कि वह बुद्धि तथा दृष्टि दोनों को खो बैठता है। इसी कारण से बुद्धिमान जन इस नरक को अन्धतामिस्र कहते हैं।

यस्त्विह वा एतदहमिति ममेदमिति भूतद्रोहेण केवलं स्वकुटुम्बमेवानुदिनं प्रपुष्णाति स तदिह विहाय स्वयमेव तदशुभेन रौरवे निपतति. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वा—अथवा; एतत्—यह देह; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; मम—मेरा; इदम्—यह; इति—इस प्रकार; भूत-द्रोहेण—अन्य जीवात्माओं की ईर्ष्या से; केवलम्—अकेले; स्व-कुटुम्बम्—अपने कुटुम्बी जनों को; एव—केवल; अनुदिनम्—नित्य-प्रति; प्रपुष्णाति—निर्वाह करता है; सः—ऐसा व्यक्ति; तत्—वह; इह—यहाँ; विहाय—छोड़कर; स्वयम्—स्वयं; एव—ही; तत्—उसका; अशुभेन—पाप द्वारा; रौरवे—रौरव में; निपतति—गिर जाता है।

ऐसा व्यक्ति जो अपने शरीर को "स्व" मान लेता है अपने शरीर तथा अपनी पत्नी और पुत्रों के पालन के लिए धन कमाने के लिए अहर्निश कठोर श्रम करता है। ऐसा करने में वह अन्य जीवात्माओं के प्रति हिंसा कर सकता है। ऐसे पुरुष को मृत्यु के समय अपनी तथा अपने परिवार की देहों को त्यागना पड़ता है और अन्य प्राणियों के प्रति की गई ईर्ष्या का कर्मफल यह मिलता है कि उसे रौरव नामक नरक में फेंक दिया जाता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* (१०.८४.१३) में कहा गया है कि

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके

स्वधीः कलत्रादिषु भौमइज्यधीः।

यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचित्

जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥

"जो तीन तत्त्वों (पित्त, कफ तथा वायु) से भरे शरीर रूप थैले को "स्व" मान लेता है, जो अपनी पत्नी तथा पुत्रों से घनिष्ठतापूर्वक बँधा रहता है, जो अपनी भूमि को पूज्य मानता है, जो पवित्र तीर्थस्थानों के जल में स्नान करता है, किन्तु जो वास्तविक ज्ञानी पुरुषों से लाभ नहीं उठाता, वह गधे

या गाय के तुल्य है।'' दो प्रकार के पुरुष जीवन की भौतिकता में मग्न रहते हैं। प्रथम प्रकार के पुरुष अज्ञानतावश अपने शरीर को ''स्व'' मान लेते हैं अतः वे निश्चय ही पशुतुल्य हैं (*स एव गोखरः*)। किन्तु दूसरे प्रकार का पुरुष न केवल अपने भौतिक शरीर को ''स्व'' मान लेता है, वरन् अपने शरीर-पालन के लिए नाना प्रकार के पाप करता है। वह अपने परिवार के लिए और अपने लिए सबों को ठगता है और अन्यों से अकारण ईर्ष्या करता है। ऐसा व्यक्ति रौरव नरक में फेंक दिया जाता है। यदि कोई अपने शरीर को ही पशुओं की तरह स्वयं मानता है, तो वह अधिक पापी नहीं होता। किन्तु यदि अपने शरीर-पालन के लिए वृथा ही पापकर्म करता है, तो उसे रौरव नरक में रखा जाता है। ऐसा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का मत है। यद्यपि पशुओं में जीवन के प्रति देहात्मबुद्धि है, किन्तु वे अपने शरीर अपने जोड़ों या बच्चों के पालन के लिए कोई पाप नहीं करते। इसलिए पशुओं को नरक नहीं मिलता, किन्तु जब मनुष्य ईर्ष्या करता है और अपने शरीर-पालन के लिए अन्यों को ठगता है, तो उसे नारकीय अवस्था में रखा जाता है।

ये त्विह यथैवामुना विहिंसिता जन्तवः परत्र यमयातनामुपगतं त एव रुरवो भूत्वा तथा तमेव विहिंसन्ति तस्माद्रौरवमित्याहू रुरुरिति सर्पादतिक्रूरसत्त्वस्यापदेशः. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ये—वे जो; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; यथा—जितना कि; एव—ही; अमुना—उसके द्वारा; विहिंसिताः—पीड़ित किये गये; जन्तवः—जीवात्माएँ; परत्र—अगले जन्म में; यम-यातनाम् उपगतम्—यमराज द्वारा यातना पहुँचाये जाने पर; ते—वे जीवात्माएँ; एव—निस्संदेह; रुरवः—रुरु (एक ईर्ष्यालु पशु); भूत्वा—बनकर; तथा—उतना; तम्—उसको; एव—ही; विहिंसन्ति—पीड़ा पहुँचाते हैं; तस्मात्—इस कारण; रौरवम्—रौरव; इति—इस प्रकार; आहुः—विद्वानों का कथन है; रुरुः—रुरु नामक पशु; इति—इस प्रकार; सर्पात्—सर्प की अपेक्षा; अति-क्रूर—अत्यधिक निर्दय तथा ईर्ष्यालु; सत्त्वस्य—जीव का; अपदेशः—नाम।

इस जीवन में ईर्ष्यालु व्यक्ति अनेक जीवात्माओं के प्रति हिसंक कृत्य करता है। अतः मृत्यु के पश्चात् यमराज द्वारा नरक ले जाये जाने पर जो जीवात्माएँ उसके द्वारा पीड़ित की गई थीं वे रुरु नामक जानवर के रूप में प्रकट होकर उसे असह्य पीड़ा पहुँचाते हैं। विद्वान लोग इसे ही रौरव नरक कहते हैं। रुरु सर्प से भी अधिक ईर्ष्यालु होता है और प्रायः इस संसार में दिखाई नहीं पड़ता है।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी के अनुसार रुरु को भारशृंग (*अति-क्रूरस्य भारशृंगाख्य-सत्त्वस्य अपदेशः संज्ञा*) भी कहा जाता है। श्रील जीव गोस्वामी ने अपने ग्रन्थ *संदर्भ* में इसकी पुष्टि की है— *रुरु शब्दस्य*

स्वयं मुनिनैव टीका-विधानाल्लोकेष्वप्रसिद्ध एवायं जन्तु-विशेषः। इस प्रकार भले ही इस जगत में रुरु दिखाई न पड़ते हों, लेकिन शास्त्रों से इनके अस्तिव की पुष्टि होती है।

एवमेव महारौरवो यत्र निपतितं पुरुषं क्रव्यादा नाम रुरवस्तं क्रव्येण घातयन्ति यः केवलं देहम्भरः. ॥ १२॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; एव—ही; महा-रौरवः—महारौरव; यत्र—जहाँ; निपतितम्—फेंका जाकर; पुरुषम्—व्यक्ति को; क्रव्यादाः नाम—क्रव्याद नामक; रुरवः—रुरु पशु; तम्—उसको (दोषी पुरुष); क्रव्येण—उसके मांस-भक्षण हेतु; घातयन्ति—मारते हैं; यः—जो; केवलम्—केवल; देहम्भरः—अपने शरीर का पालन करने पर तुले रहते हैं।.

जो व्यक्ति अन्यों को पीड़ा पहुँचाकर अपने ही शरीर का पालन करता है उसे दण्डस्वरूप महारौरव नामक नरक दिये जाने को अनिवार्य कहा गया है। इस नरक में क्रव्याद नामक रुरु पशु उसको सताते और उसका मांस खाते हैं।

तात्पर्य : ऐसे पशुतुल्य व्यक्ति को जो केवल देहात्मबुद्धि में रहता है क्षमा नहीं किया जाता। उसे महारौरव नामक नरक में रखा जाता है जहाँ उस पर क्रव्याद नामक रुरु पशु आक्रमण करते हैं।

यस्त्विह वा उग्रः पशून्पक्षिणो वा प्राणत उपरन्धयति तमपकरुणं पुरुषादैरपि विगर्हितममुत्र यमानुचराः कुम्भीपाके तप्ततैले उपरन्धयन्ति. ॥ १३॥

शब्दार्थ

यः—वह व्यक्ति जो; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वा—अथवा; उग्रः—अत्यन्त क्रूर; पशून्—पशु को; पक्षिणः—पक्षियों को; वा—अथवा; प्राणतः—जीवित अवस्था में; उपरन्धयति—पकाता है; तम्—उसको; अपकरुणम्—अत्यन्त निष्ठुर; पुरुष-आदैः—जो पुरुष के मांस का भक्षण करते हैं, उनके द्वारा; अपि—यहाँ तक कि; विगर्हितम्—भर्त्सना की जाती है ; अमुत्र—अगले जन्म में; यम-अनुचराः—यमराज के दूत; कुम्भीपाके—कुम्भीपाक नरक में; तप्त-तैले—उबलते तेल में; उपरन्धयन्ति—पकाते हैं।.

क्रूर व्यक्ति अपने शरीर के पालन तथा अपनी जीभ की स्वाद पूर्ति के लिए निरीह जीवित पशुओं तथा पक्षियों को पका खाते हैं। ऐसे व्यक्तियों की मनुजाद (मनुष्य-भक्षक) भी भर्त्सना करते हैं। अगले जन्मों में वे यमदूतों के द्वारा कुम्भीपाक नरक में ले जाये जाते हैं, जहाँ उन्हें उबलते तेल में भून डाला जाता हैं।

यस्त्विह ब्रह्मध्रुक्स कालसूत्रसंज्ञके नरके अयुतयोजनपरिमण्डले ताम्रमये तप्तखले उपर्यधस्तादग्न्यर्काभ्यामतितप्यमानेऽभिनिवेशितः क्षुत्पिपासाभ्यां च दह्यमानान्तर्बहिःशरीर आस्ते शेते चेष्टतेऽवतिष्ठति परिधावति च यावन्ति पशुरोमाणि तावद्वर्षसहस्राणि. ॥ १४॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; ब्रह्म-ध्रुक्—ब्राह्मण की हत्या करने वाला; सः—ऐसा व्यक्ति; कालसूत्र-संज्ञके—कालसूत्र नामक; नरके—नरक में; अयुत-योजन-परिमण्डले—अस्सी हजार मील की परिधि वाले; ताम्र-मये—ताम्र से बने; तप्त—गरम किये हुए; खले—समतल स्थल में; उपरि-अधस्तात्—ऊपर तथा नीचे; अग्नि—अग्नि द्वारा; अर्काभ्याम्—(तथा) सूर्य द्वारा; अति-तप्यमाने—अत्यधिक गरम किये जाने पर; अभिनिवेशितः—प्रविष्ट कराये जाने पर; क्षुत्-पिपासाभ्याम्—भूख तथा प्यास से; च—तथा; दह्यमान—जलाया जाकर; अन्तः—भीतर से; बहिः—बाहर से; शरीरः—जिसका शरीर; आस्ते—रहता है; शेते—कभी लेटता है; चेष्टते—कभी अपने अंगों को हिलाता-डुलाता है; अवतिष्ठति—कभी खड़ा होता है; परिधावति—कभी इधर-उधर दौड़ता है; च—भी; यावन्ति—जितने; पशु-रोमाणि—पशु के शरीर के रोम; तावत्—उतने; वर्ष-सहस्राणि—हजारों वर्ष।

ब्राह्मण-हन्ता को कालसूत्र नामक नरक में रखा जाता है, जिसकी परिधि अस्सी हजार मील की है और जो पूरे का पूरा ताम्बे से बना है। इस लोक की ताम्र-सतह ऊपर से तपते सूर्य द्वारा और नीचे से अग्नि द्वारा तप्त होने से अत्यधिक गरम रहती है। इस प्रकार ब्राह्मण का वध करने वाला भीतर और बाहर से जलाया जाता है। भीतर-भीतर वह भूख-प्यास से और बाहर से झुलसा देने वाले सूर्य तथा ताम्र की सतह के नीचे की अग्नि से झुलसता रहता है। अतः वह कभी लेटता है, कभी बैठता है, कभी खड़ा होता है और कभी इधर-उधर दौड़ता है। इस प्रकार वह उतने हजार वर्षों तक यातना सहता रहता है जितने कि पशु-शरीर में रोमों की संख्या होती है।

यस्त्विह वै निजवेदपथादनापद्यपगतः पाखण्डं चोपगतस्तमसिपत्रवनं प्रवेश्य कशया प्रहरन्ति तत्र हासावितस्ततो धावमान उभयतो धारैस्तालवनासिपत्रैश्छिद्यमानसर्वाङ्गो हा हतोऽस्मीति परमया वेदनया मूर्च्छितः पदे पदे निपतति स्वधर्महा पाखण्डानुगतं फलं भुङ्क्ते ॥ १ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—निस्संदेह; निज-वेद-पथात्—वेदों द्वारा बताये गये अपने पथ से; अनापदि—बिना आपात काल के; अपगतः—दूर हटा हुआ; पाखण्डम्—पाखण्डवाद; च—तथा; उपगतः—पास पहुँचा हुआ; तम्—उसको; असि-पत्रवनम्—असिपत्रवन नामक नरक में; प्रवेश्य—प्रविष्ट कराकर; कशया—चाबुक से; प्रहरन्ति—पीटते हैं; तत्र—वहाँ; ह—ही; असौ—वह; इतः ततः—इधर-उधर; धावमानः—दौड़ते हुए; उभयतः—दोनों ओर; धारैः—तीक्ष्ण नौकों से; ताल-वन-असि-पत्रैः—ताड़ वृक्षों की तलवार जैसी पत्तियों से; छिद्यमान—छिदकर; सर्व-अङ्गः—जिसका सम्पूर्ण शरीर; हा—हाय; हतः—मर गया; अस्मि—हूँ; इति—इस प्रकार; परमया—असह्य; वेदनया—पीड़ा से; मूर्च्छितः—मूर्च्छित, संज्ञाशून्य; पदे पदे—प्रति पग पर; निपतति—गिर पड़ता है; स्व-धर्म-हा—अपने धर्म के नियमों का हन्ता; पाखण्ड-अनुगतम् फलम्—नास्तिक पथग्रहण करने का फल; भुङ्क्ते—भोगता है, सहता है।

यदि कोई व्यक्ति किसी प्रकार की विपत्ति न होने पर भी वैदिक पथ से हटता है, तो यमराज के दूत उसे असिपत्रवन नामक नरक में ले जाकर कोड़ों से पीटते हैं। जब वह अत्यधिक पीड़ा के कारण इधर-उधर दौड़ता है, तो उसे अपने चारों ओर तलवार के समान तीक्ष्ण ताड़ वृक्षों की पत्तियों के बीच छटपटाता है। इस प्रकार पूरा शरीर क्षत-विक्षत होने से वह प्रति पग-पग पर

मूर्च्छित होता रहता है और चीत्कार करता है, ''हाय! अब मैं क्या करूँ? मैं किस प्रकार से बचूँ!'' मान्य धार्मिक नियमों से विपथ होने का ऐसा ही दण्ड मिलता है।

तात्पर्य : वास्तव में धार्मिक नियम केवल एक है—*धर्मं तु साक्षाद् भवगत्प्रणीतम्।* श्रीभगवान् के आदेशों का पालन करना ही एकमात्र धार्मिक नियम है। दुर्भाग्यवश, इस कलियुग में विशेषत: प्रत्येक व्यक्ति नास्तिक है। मनुष्य ईश्वर में विश्वास तक नहीं करते, उनके वचनों का पालन तो दूर रहा। *निज-वेद-पथ* का यह अर्थ भी हो सकता है-''किसी के अपने धार्मिक नियमों का समुच्चय।'' प्रारम्भ में केवल एक वेद-पथ अर्थात् धार्मिक नियमों का समुच्चय था, अब अनेक हैं। कोई चाहे जिन धार्मिक नियमों का पालन करे, मात्र बन्धन यह है कि वह उनका कठोरता से पालन करे। नास्तिक वह है जो वेदों को नहीं मानता। किन्तु यदि कोई भिन्न धर्म-पथ का अनुसरण करता है, तो इस श्लोक के अनुसार उसे चाहिए कि वह उसका अनुसरण करे। कोई चाहे हिन्दू हो या मुसलमान अथवा ईसाई, उसे अपने ही धार्मिक नियमों का पालन करना चाहिए। किन्तु यदि कोई स्वत: अपने मन में अपना धर्म-पथ गढ़ लेता है या वह किसी भी धार्मिक नियम का पालन नहीं करता, तो उसे असिपत्रवन नामक नरक की यातना भोगनी पड़ती है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को किन्हीं धार्मिक नियमों का पालन करना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करता तो वह पशु से किसी भी प्रकार श्रेष्ठतर नहीं। ज्यों-ज्यों कलियुग आगे बढ़ रहा है, मनुष्य नास्तिक होते जा रहे हैं और तथाकथित धर्म-निरपेक्षता को ग्रहण कर रहे हैं। उन्हें इसका तनिक भी ज्ञान नहीं है कि असिपत्रवन में उन्हें दण्डित किया जाएगा जैसा कि इस श्लोक में वर्णित है।

यस्त्विह वै राजा राजपुरुषो वा अदण्ड्ये दण्डं प्रणयति ब्राह्मणे वा शरीरदण्डं स पापीयान्नरकेऽमुत्र सूकरमुखे निपतति तत्रातिबलैर्विनिष्पिष्यमाणावयवो यथैवेहेक्षुखण्ड आर्तस्वरेण स्वनयन्क्वचिन्मूर्च्छित: कश्मलमुपगतो यथैवेहादृष्टदोषा उपरुद्धा:. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

य:—जो कोई; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—निस्सन्देह; राजा—राजा; राज-पुरुष:—राजा का आदमी; वा—अथवा; अदण्ड्ये—अदण्डनीय को; दण्डम्—दण्ड; प्रणयति—देता है; ब्राह्मणे—ब्राह्मण को; वा—अथवा; शरीर-दण्डम्—शारीरिक दण्ड; स:—वह व्यक्ति, राजा अथवा राज्याधिकारी; पापीयान्—पापी मनुष्यों को; नरके—नरक में; अमुत्र—अगले जन्म में; सूकरमुखे—सूकरमुख नरक में; निपतति—गिरता है; तत्र—वहाँ; अति-बलै:—अत्यन्त बलशाली यमदूतों द्वारा; विनिष्पिष्यमाण—कुचला जाकर; अवयव:—शरीर के विभिन्न अंग; यथा—सदृश; एव—ही; इह—यहाँ; इक्षु-खण्ड:—गन्नों के टुकड़े; आर्त-स्वरेण—करुण स्वर से; स्वनयन्—चिल्लाते हुए; क्वचित्—कभी-कभी; मूर्च्छित:—मूर्च्छित होकर;

कश्मलम् उपगतः—मोहग्रस्त होकर; यथा—सदृश; एव—निस्सन्देह; इह—यहाँ; अदृष्ट-दोषाः—जो दोषी नहीं है; उपरुद्धाः—दण्ड हेतु बन्दी बनाया गया।

अगले जन्म में यमदूत निर्दोष पुरुष या ब्राह्मण को शारीरिक दण्ड देने वाले पापी राजा अथवा राज्याधिकारी को सूकरमुख नामक नरक में ले जाते हैं जहाँ उसे यमराज के दूत उसी प्रकार कुचलते हैं जिस प्रकार गन्ने को पेर कर रस निकाला जाता है। जिस प्रकार से निर्दोष व्यक्ति दण्डित होते समय अत्यन्त दण्डनीय ढंग से चिल्लाता है और मूर्च्छित होता है ठीक उसी तरह पापी जीवात्मा भी आर्तनाद करता एवं मूर्च्छित होता है। निर्दोष व्यक्ति को दण्ड देकर पीड़ित करने का यही फल है।

यस्त्विह वै भूतानामीश्वरोपकल्पितवृत्तीनामविविक्तपरव्यथानां स्वयं पुरुषोपकल्पितवृत्तिर्विविक्तपरव्यथो व्यथामाचरति स परत्रान्धकूपे तदभिद्रोहेण निपतति तत्र हासौ तैर्जन्तुभिः पशुमृगपक्षिसरीसृपैर्मशकयूकामत्कुणमक्षिकादिभिर्ये के चाभिद्रुग्धास्तैः सर्वतोऽभिद्रुह्यमाणस्तमसि विहतनिद्रानिर्वृतिरलब्धावस्थानः परिक्रामति यथा कुशरीरे जीवः. ॥ १७॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—निस्सन्देह; भूतानाम्—कुछ जीवात्माओं को; ईश्वर—परम नियन्ता द्वारा; उपकल्पित—बनाया गया; वृत्तीनाम्—जिनकी जीविका; अविविक्त—न जानते हुए; पर-व्यथानाम्—पर-पीड़ा; स्वयम्—अपने आप; पुरुष-उपकल्पित—श्रीभगवान् द्वारा निर्मित; वृत्तिः—जिनकी जीविका; विविक्त—जानते हुए; पर-व्यथः—पर पीड़ा; व्यथाम् आचरति—तो भी पीड़ा पहुँचाता है; सः—ऐसा व्यक्ति; परत्र—अगले जन्म में; अन्धकूपे—अन्धकूप नरक में; तत्—उनको; अभिद्रोहेण—द्रोह करने से; निपतति—गिरता है; तत्र—वहाँ; ह—निस्सन्देह; असौ—वह व्यक्ति; तैः जन्तुभिः—उन-उन जीवों द्वारा; पशु—पशु; मृग—जंगली जानवर; पक्षि—पक्षी; सरीसृपैः—सर्प; मशक—मच्छर; यूका—जूँ; मत्कुण—कीड़े; मक्षिक-आदिभिः—मक्खी आदि; ये के—अन्य जितने; च—और; अभिद्रुग्धाः—दण्डित; तैः—उनके द्वारा; सर्वतः—सर्वत्र; अभिद्रुह्यमाणः—पीड़ा पहुँचाये हुए; तमसि—अंधकार में; विहत—विक्षुब्ध; निद्रा-निर्वृतिः—जिनके वासस्थान; अलब्ध—प्राप्त न होने वाले; अवस्थानः—आवास; परिक्रामति—घूमता है; यथा—जिस प्रकार; कु-शरीरे—निम्न योनि के देह में; जीवः—जीव।

परमेश्वर की व्यवस्था से खटमल तथा मच्छर जैसे निम्न श्रेणी के जीव मनुष्यों तथा अन्य पशुओं का रक्त चूसते हैं। इन तुच्छ प्राणियों को इसका ज्ञान नहीं होता है कि उनके काटने से मनुष्यों को पीड़ा होती होगी। किन्तु उच्च श्रेणी के मुनष्यों—यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—में चेतना विकसित रूप में होती है, अतः वे जानते हैं कि किसी का प्राणघात करना कितना कष्टदायक है। यदि ज्ञानवान होते हुए भी मनुष्य विवेकहीन तुच्छ प्राणियों को मारता है या सताता है, तो वह निश्चय ही पाप करता है। श्रीभगवान् ऐसे मनुष्य को अन्धकूप में रखकर दण्डित करते हैं जहाँ उसे वे समस्त पक्षी तथा पशु, सर्प, मच्छर, जूँ, कीड़े, मक्खियाँ तथा अन्य प्राणी, जिनको उसने अपने जीवनकाल में सताया था, उस पर चारों ओर से आक्रमण करते हैं

और उसकी नींद हराम कर देते हैं। आराम न कर सकने के कारण वह अंधकार में घूमता रहता है। इस प्रकार अन्धकूप में उसे वैसी ही यातना मिलती है जैसी कि निम्न योनि के प्राणी को।

तात्पर्य : इस शिक्षाप्रद श्लोक से हमें पता चलता है कि निम्न प्राणी प्रकृति के नियमानुसार मनुष्यों को तंग करने के लिए उत्पन्न किये गये हैं, अत: वे दण्डनीय नहीं हैं। चूँकि मनुष्यों में चेतना विकसित है, अत: वे वर्णाश्रम धर्म के नियमों के विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकते, अन्यथा भर्त्सना के पात्र होंगे। श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (४.१३) में कहा है—*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागश:*—"प्रकृति के त्रिगुणों और नियत कर्म के अनुसार चारों वर्ण मेरे द्वारा रचे गये हैं।" अत: समस्त मनुष्यों को चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—में विभाजित करना चाहिए और उन्हें निर्दिष्ट नियमों के अनुसार कार्य करना चाहिए। वे उन नियमों से तनिक भी विपथ नहीं हो सकते। इन नियमों में से एक में बताया गया है उन्हें किसी पशु को, यहाँ तक कि जो मनुष्यों को सताते हैं उन्हें भी कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए। यद्यपि शेर किसी पशु पर आक्रमण करके उसे मार कर उसका मांस खाता है तथापि वह पापमय नहीं है, किन्तु यदि विकसित चेतना से पूर्ण मनुष्य भी ऐसा करे तो उसे दण्डित किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, वह मनुष्य जो अपनी विकसित चेतना का उपयोग नहीं करता, वरन् उल्टे पशुवत् व्यवहार करता है, वह अनेक नरकों में दण्ड पाता है।

यस्त्विह वा असंविभज्याश्नाति यत्किञ्चनोपनतमनिर्मितपञ्चयज्ञो वायससंस्तुत: स परत्र कृमिभोजने नरकाधमे निपतति तत्र शतसहस्रयोजने कृमिकुण्डे कृमिभूत: स्वयं कृमिभिरेव भक्ष्यमाण: कृमिभोजनो यावत्तदप्रत्ताप्रहूतादोऽनिर्वेशमात्मानं यातयते. ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

य:—कोई व्यक्ति जो; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वा—अथवा; असं-विभज्य—बिना बाँटे; अश्नाति—खाता है; यत् किञ्चन—जो भी; उपनतम्—श्रीकृष्ण की कृपा से प्राप्त; अनिर्मित—बिना किये हुए; पञ्च-यज्ञ:—पाँच प्रकार के यज्ञ; वायस—कौवे; संस्तुत:—सम रूप में वर्णित; स:—ऐसा पुरुष; परत्र—अगले जन्म में; कृमिभोजने—कृमिभोजन लोक में; नरक-अधमे—अत्यन्त निकृष्ट नरक में; निपतति—गिरता है; तत्र—वहाँ; शत-सहस्र-योजने—१,००,००० योजन वाले (८,००,००० मील वाले); कृमि-कुण्डे—कीड़ों के कुंड में; कृमि-भूत:—कीड़ों में से एक बनना; स्वयम्—स्वयं; कृमिभि:—अन्य कीड़ों के द्वारा; एव—निश्चय ही; भक्ष्यमाण:—भक्षित होकर; कृमि-भोजन:—खाद्य कीड़े; यावत्—जहाँ तक; तत्—वह कुंड चौड़ा है; अप्रत्त-अप्रहूत—बिना बाँटा और बिना दिया हुआ भोजन; अद:—जो खाता है; अनिर्वेशम्—जिसने परिशोध नहीं किया; आत्मानम्—अपने आपको; यातयते—पीड़ा पहुँचाता है।

जो मनुष्य कुछ भोजन प्राप्त होने पर उसे अतिथियों, वृद्ध पुरुषों तथा बच्चों को न बाँट कर स्वयं खा जाता है अथवा बिना पंचयज्ञ किये खाता है, उसे कौवे के समान मानना चाहिए। मृत्यु

के बाद वह सबसे निकृष्ट नरक कृमिभोजन में रखा जाता है। इस नरक में एक लाख योजन (८,००,००० मील वाले) विस्तृत वाला कीड़ों से परिपूर्ण एक कुंड है। वह इस कुंड में कीड़ा बनकर रहता है और दूसरों कीड़ों को खाता है और ये कीड़े उसे खाते हैं। जब तक वह पापी अपने पापों का प्रायश्चित नहीं कर लेता, तब तक वह कृमिभोजन के नारकीय कुंड में उतने वर्षों तक पड़ा रहता है, जितने योजन इस कुंड की चौड़ाई है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (३.१३) में कहा गया है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

"यज्ञ से बचे भोजन को करने वाले भगवद्भक्त सब पापों से मुक्त हो जाते हैं, किन्तु जो इन्द्रियतृप्ति के लिए भोजन बनाते हैं, वे तो पाप ही खाते हैं।" हमें सारा भोजन श्रीभगवान् से प्राप्त है। *एको बहूंना यो विदधाति कामान्*—भगवान् हर एक को जीवन की आवश्यकताएँ प्रदान करते हैं, अतः हमें चाहिए कि उनके अनुग्रह को यज्ञ द्वारा स्वीकार करें। यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। दरअसल, जीवन का एकमात्र उद्देश्य यज्ञ करना है। श्रीकृष्ण के अनुसार (*भगवद्गीता* ३.९)—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

"भगवान विष्णु के लिए यज्ञरूप में कर्म करना चाहिए, अन्यथा कर्म से इस भौतिक जगत में मनुष्य बँध जाता है। इसलिए हे कुन्तीपुत्र! विष्णु की प्रसन्नता के लिए निर्दिष्ट कर्म का आचरण कर। इस प्रकार करने से तू नित्य अनासक्त तथा बन्धनमुक्त रहेगा।" यदि हम यज्ञ नहीं करते है और दूसरों को प्रसाद वितरित नहीं करते तो हमारे जीवन को धिक्कार है। यज्ञ कर लेने तथा आश्रितों को अर्थात् बच्चों, ब्राह्मणों तथा वृद्धों को प्रसाद वितरित कर लेने के बाद ही मनुष्य को भोजन करना चाहिए। किन्तु यदि कोई केवल अपने लिए या अपने परिवार के लिए रसोई बनाता है, तो वह तथा उसे खाने वाले धिक्कारणीय हैं। मृत्यु के बाद उसे कृमिभोजन नामक नरक में डाल दिया जाता है।

यस्त्विह वै स्तेयेन बलाद्वा हिरण्यरत्नादीनि ब्राह्मणस्य वापहरत्यन्यस्य वानापदि पुरुषस्तममुत्र राजन्यमपुरुषा अयस्मयैरग्निपिण्डैः सन्दंशैस्त्वचि निष्कुषन्ति. ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यः—कोई व्यक्ति जो; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—निस्सन्देह; स्तेयेन—चोरी से; बलात्—बलपूर्वक; वा—अथवा; हिरण्य—सोना; रत्न—रत्न; आदीनि—इत्यादि; ब्राह्मणस्य—ब्राह्मण का; वा—अथवा; अपहरति—चुराता है; अन्यस्य—अन्यों का; वा—या; अनापदि—आपत्ति के समय नहीं; पुरुषः—व्यक्ति; तम्—उसको; अमुत्र—अगले जीवन में; राजन्—हे राजा; यम-पुरुषाः—यमराज के दूत; अयः-मयैः—लोहे से निर्मित; अग्नि-पिण्डैः—अग्नि में तप्त किये गये गोलों से; सन्दंशैः—संडसी से; त्वचि—चमड़ी पर; निष्कुषन्ति—टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं।

हे राजन्, जो पुरुष आपत्तिकाल न होने पर भी ब्राह्मण अथवा अन्य किसी के रत्न तथा सोना लूट लेता है, वह सन्दंश नामक नरक में रखा जाता है। वहाँ पर उसकी चमड़ी संडसी और लोहे के गरम पिंडों से उतारी जाती है। इस प्रकार उसका पूरा शरीर खण्ड-खण्ड कर दिया जाता है।

यस्त्विह वा अगम्यां स्त्रियमगम्यं वा पुरुषं योषिदभिगच्छति तावमुत्र कशया ताडयन्तस्तिग्मया सूर्म्या लोहमय्या पुरुषमालिङ्गयन्ति स्त्रियं च पुरुषरूपया सूर्म्या. ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वा—अथवा; अगम्याम्—अनुपयुक्त; स्त्रियम्—स्त्री को; अगम्यम्—अगम्य; वा—अथवा; पुरुषम्—पुरुष को; योषित्—स्त्री; अभिगच्छति—संभोग के लिए पास जाते हैं; तौ—वे दोनों; अमुत्र—अगले जीवन में; कशया—कोड़ों से; ताडयन्तः—पीटते हुए; तिग्मया—अत्यन्त तप्त; सूर्म्या—मूर्ति द्वारा; लोह-मय्या—लोह से निर्मित; पुरुषम्—पुरुष; आलिङ्गयन्ति—आलिंगन करते हैं; स्त्रियम्—स्त्री को; च—भी; पुरुष-रूपया—पुरुष के रूप में; सूर्म्या—मूर्ति द्वारा।

यदि कोई पुरुष या स्त्री विपरीत लिंग वाले अगम्य सदस्य के साथ संभोग करते हैं, तो मृत्यु के बाद यमराज के दूत उसे तप्तसूर्मि नामक नरक में दण्ड देते हैं। वहाँ पर ऐसे पुरुष तथा स्त्रियाँ कोड़े से पीटे जाते हैं। पुरुष को तप्तलोह की बनी स्त्री से और स्त्री को ऐसी ही पुरुष-प्रतिमा से आलिंगित कराया जाता है। व्यभिचार के लिए ऐसा ही दण्ड है।

तात्पर्य : सामान्यत: पुरुष को अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य किसी स्त्री के साथ संभोग नहीं करना चाहिए। वैदिक नियमों के अनुसार पराई स्त्री मातृ-तुल्य होती है और अपनी माँ, बहन तथा पुत्री के साथ संभोग करना एकदम वर्जित है। यदि कोई पराई स्त्री के साथ ऐसे अवैध सम्बन्ध रखता है, तो यह कार्य अपनी माँ के साथ प्रसंग करने के तुल्य माना जाता है। ऐसे कार्य अत्यन्त पापमय हैं। यही नियम स्त्री पर भी लागू होता है। यदि वह अपने पति को छोड़कर पर-पति से संभोग करती है, तो यह कार्य अपने पिता या पुत्र के साथ यौन-सम्बन्ध रखने के तुल्य है। अवैध स्त्री-पुरुष संभोग सदैव वर्जित

है और जो कोई ऐसा करता है उसे दण्ड भोगना पड़ता है जैसा कि इस श्लोक में वर्णित है।

यस्त्विह वै सर्वाभिगमस्तममुत्र निरये वर्तमानं वज्रकण्टकशाल्मलीमारोप्य निष्कर्षन्ति. ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—निस्सन्देह; सर्व-अभिगमः—विवेकहीन होकर पशुओं तथा मनुष्यों के साथ मैथुन करता है; तम्—उसको; अमुत्र—अगले जन्म में; निरये—नरक में; वर्तमानम्—विद्यमान; वज्रकण्टक-शाल्मलीम्—वज्र के समान काँटों वाला सेमल वृक्ष पर; आरोप्य—चढ़ाकर; निष्कर्षन्ति—नीचे की ओर खींचते हैं।

जो व्यक्ति विवेकहीन होकर—यहाँ तक कि पशुओं के साथ भी—व्यभिचार करता है उसे मृत्यु के बाद वज्रकंटकशाल्मली नामक नरक में ले जाया जाता है। इस नरक में वज्र के समान कठोर काँटों वाला सेमल का वृक्ष है। यमराज के दूत पापी पुरुष को इस वृक्ष से लटका देते हैं और घसीटकर नीचे की ओर खींचते हैं जिससे काँटों के द्वारा उसका शरीर बुरी तरह चिथड़ जाता है।

तात्पर्य : कामेच्छा इतनी प्रबल होती है कि कभी-कभी मनुष्य गाय के साथ मैथुन करता है या स्त्री कुत्ते के साथ संभोग करती है। ऐसे पुरुषों तथा स्त्रियों को वज्रकष्टकशाल्मली नामक नरक में डाला जाता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन अवैध यौन का निषेध करता है। इन श्लोकों में दिये गये विवरण से हम यह समझ सकते हैं कि अवैध यौन कितना पापमय कृत्य है। कभी-कभी लोगों को नरक के इन विवरणों पर विश्वास नहीं होता, किन्तु कोई माने या न माने, हर कार्य को प्रकृति के नियमों के अनुसार सम्पन्न होना है। उससे कोई बच नहीं सकता।

**ये त्विह वै राजन्या राजपुरुषा वा अपाखण्डा धर्मसेतून्भिन्दन्ति ते सम्परेत्य वैतरण्यां निपतन्ति
भिन्नमर्यादास्तस्यां निरयपरिखाभूतायां नद्यां यादोगणैरितस्ततो भक्ष्यमाणा आत्मना न
वियुज्यमानाश्चासुभिरुह्यमानाः स्वाघेन कर्मपाकमनुस्मरन्तो
विण्मूत्रपूयशोणितकेशनखास्थिमेदोमांसवसावाहिन्यामुपतप्यन्ते. ॥ २२ ॥**

शब्दार्थ

ये—जो पुरुष; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—निस्सन्देह; राजन्याः—राज परिवार के सदस्य अथवा क्षत्रिय; राज-पुरुषाः—राज्याधिकारी; वा—अथवा; अपाखण्डाः—यद्यपि श्रेष्ठ कुलों में जन्म लेता है; धर्म-सेतून्—निर्दिष्ट धार्मिक नियमों की मर्यादाएँ; भिन्दन्ति—उल्लंघन करते हैं; ते—वे; सम्परेत्य—मरने के पश्चात्; वैतरण्याम्—वैतरणी में; निपतन्ति—गिर पड़ते हैं; भिन्न-मर्यादाः—जिन्होंने विधि विधानों को तोड़ दिया है; तस्याम्—उसमें; निरय-परिखा-भूतायाम्—नरक को घेरने वाली खाई; नद्याम्—नदी में; यादः-गणैः—हिंस्र जल-जीवों द्वारा; इतः ततः—इधर-उधर; भक्ष्यमाणाः—खाया जाकर; आत्मना—शरीर से; न—नहीं; वियुज्यमानाः—विलग किया जाकर; च—तथा; असुभिः—प्राणवायु द्वारा; उह्यमानाः—ले जाया जाकर; स्व-अघेन—अपने ही पाप कर्मों के द्वारा; कर्म-पाकम्—कुकर्मों का फल; अनुस्मरन्तः—स्मरण करते हुए; विट्—मल; मूत्र—

मूत्र; पूय—पीब; शोणित—रक्त; केश—बाल; नख—नाखून; अस्थि—हड्डियाँ; मेदः—मज्जा; मांस—मांस; वसा—चर्बी; वाहिन्याम्—नदी में; उपतप्यन्ते—सन्तप्त होते रहते हैं।

जो मनुष्य श्रेष्ठ कुल—यथा क्षत्रिय, राज परिवार या अधिकारी वर्ग—में जन्म ले करके नियत नियमों के पालन की अवहेलना करता है और इस प्रकार से अधम बन जाता है, वह मृत्यु के समय वैतरणी नामक नरक की नदी में जा गिरता है। यह नदी नरक को घेरने वाली खाईं के समान है और अत्यन्त हिंस्त्र जलजीवों से पूर्ण है। जब पापी मनुष्य को वैतरणी नदी में फेंका जाता है, तो जल के जीव उसे तुरन्त खाने लगते हैं और पापमय शरीर होने के कारण वह अपने शरीर को त्याग नहीं पाता। वह निरन्तर अपने पापमय कर्मों को स्मरण करता है और मल, मूत्र, पीब, रक्त, केश, नख, हड्डी, मज्जा, मांस तथा चर्बी से भरी हुई उस नदी में अत्यधिक यातनाएँ पाता है।

ये त्विह वै वृषलीपतयो नष्टशौचाचारनियमास्त्यक्तलज्जाः पशुचर्यां चरन्ति ते चापि प्रेत्य पूयविण्मूत्रश्लेष्ममलापूर्णार्णवे निपतन्ति तदेवातिबीभत्सितमश्नन्ति. ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

ये—जो पुरुष; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—निस्सन्देह; वृषली-पतयः—शूद्रों के पति; नष्ट—नष्ट; शौच-आचार-नियमाः—सफाई, अच्छा आचरण और नियमित जीवन; त्यक्त-लज्जाः—लज्जारहित; पशु-चर्याम्—पशुओं का आचरण; चरन्ति—पालन करते हैं; ते—वे; च—भी; अपि—निस्सन्देह; प्रेत्य—मरकर; पूय—पीब; विट्—मल; मूत्र—मूत्र; श्लेष्म—श्लेष्मा; मला—लार; पूर्ण—भरा हुआ; अर्णवे—समुद्र में; निपतन्ति—गिरते हैं; तत्—वह; एव—एकमात्र; अतिबीभत्सितम्—अत्यन्त बीभत्स (घृणित); अश्नन्ति—भोजन करते हैं।

निम्नकुल में जन्मी शूद्र स्त्रियों के निर्लज्ज पति पशुओं की भाँति रहते हैं, अतः उनमें आचरण, शुचिता या नियमित जीवन का अभाव रहता है। ऐसे व्यक्ति मृत्यु के पश्चात् पूयोद नामक नरक में फेंक दिये जाते हैं जहाँ वे मल, पीब, श्लेष्मा, लार तथा ऐसी ही अन्य वस्तुओं से पूर्ण समुद्र में रखे जाते हैं। जो शूद्र अपने को नहीं सुधार पाते वे इस सागर में गिरकर इन घृणित वस्तुओं को खाने के लिए बाध्य किये जाते हैं।

तात्पर्य : श्रील नरोत्तमदास ठाकुर ने गाया है—

कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, केवल विषेर भाण्ड

अमृत बलिया येबा खाय

नाना योनि सदा फिरे, कदर्य भक्षण करे

तार जन्म अदः-पते याय

उनका कथन है कि कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड मार्गों का अनुसरण करने वाले मनुष्य मानव जन्म का अवसर खोते हैं और जन्म-मरण के चक्र में घूमते रहते हैं। अतः सदैव सम्भावना बनी रहती है कि उसे पूयोद नरक में रखा जाय जहाँ उसे मल, मूत्र, पीब, श्लेष्मा, लार तथा अन्य घृणित पदार्थों को खाने के लिए बाध्य किया जाता है। यह उल्लेखनीय है कि यह श्लोक विशेष रूप से शूद्रों के सम्बन्ध में कहा गया है। यदि कोई शूद्र रूप में जन्म लेता है, तो उसे निरन्तर पूयोद सागर में लौट कर अत्यन्त घृणित पदार्थ खाने पड़ते हैं। अतः जन्मजात शूद्र से यह आशा की जाती है कि वह ब्राह्मण बने, यही मानव जीवन का अभिप्राय है। प्रत्येक प्राणी को चाहिए कि वह ऊपर उठे। श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (४.१३) में कहा है—*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः*—''प्रकृति के त्रिगुणों और नियत कर्म के अनुसार चारों वर्ण मेरे द्वारा रचे गये हैं।'' यदि कोई मनुष्य गुणों से शूद्र है, तो उसे चाहिए कि वह अपनी स्थिति सुधार कर ब्राह्मण पद तक पहुँचने के लिए प्रयास करे। किसी को उसे रोकना नहीं चाहिए। चाहे उस की वर्तमान स्थिति कुछ भी हो वास्तव में हर एक को वैष्णव पद तक पहुँचना है। तब वह स्वतः ब्राह्मण हो जाता है। यह तभी सम्भव है जब कृष्णभावनामृत आन्दोलन का प्रसार हो, क्योंकि प्रत्येक प्राणी को हम वैष्णव पद तक लाना चाहते हैं। जैसाकि श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (१८.६६) में कहा है—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—अन्य समस्त कार्यों को त्याग दो और केवल मेरी शरण में आओ। मनुष्य को चाहिए कि शूद्र, क्षत्रिय या वैश्य के वृत्तिपरक कर्मों को त्याग कर वैष्णवों के कर्तव्यों को ग्रहण करे जिसमें ब्राह्मण के कार्यों का समावेश है। इसकी व्याख्या श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (९.३२) में इस प्रकार की है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

''हे पार्थ! मेरी शरण लेकर तो जो निम्नयोनि वाले स्त्री, वैश्य और शूद्र हैं वे भी परम गति पा सकते हैं।'' मानव जीवन का विशिष्ट उद्देश्य घर लौटना अर्थात् भगवान् के धाम को जाना है। यह सुविधा हर एक को मिलनी चाहिए, चाहे वह शूद्र हो या वैश्य, स्त्री हो या क्षत्रिय। *कृष्णभावनामृत* आन्दोलन का यही उद्देश्य है। किन्तु यदि कोई शूद्र बने रहने में सन्तुष्ट है, तो उसे इस श्लोक के

अनुसार यातना भोगनी होगी—*तद् एवातिबीभत्सितम् अश्नन्ति।*

ये त्विह वै श्वगर्दभपतयो ब्राह्मणादयो मृगया विहारा अतीर्थे च मृगान्निघ्नन्ति तानपि सम्परेताँल्लक्ष्यभूतान्यमपुरुषा इषुभिर्विध्यन्ति. ॥ २४॥

शब्दार्थ

ये—वे जो; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—या; श्व—कुत्तों; गर्दभ—तथा गधे के; पतयः—स्वामी; ब्राह्मण-आदयः—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य; मृगया विहाराः—वन में आखेट करने में रुचि दिखाने वाले; अतीर्थे—बताये हुए से इतर; च—भी; मृगान्—पशुओं को; निघ्नन्ति—मारते हैं; तान्—उनको; अपि—निस्सन्देह; सम्परेतान्—मर कर; लक्ष्य-भूतान्—लक्ष्य बनाकर; यम-पुरुषाः—यमराज के दूत; इषुभिः—तीरों द्वारा; विध्यन्ति—बींधते हैं।.

यदि इस जीवन में उच्च वर्ग का मनुष्य (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) कुत्ते, गधे तथा खच्चर पालता है और उन्हें जंगल में आखेट करने तथा वृथा ही पशुओं को मारने में अत्यधिक रुचि लेता है, तो मृत्यु के पश्चात् वह प्राणरोध नामक नरक में डाला जाता है। वहाँ पर यमराज के दूत उसे लक्ष्य बनाकर अपने तीरों से बेध डालते हैं।

तात्पर्य : विशेषकर पाश्चात्य देशों में, सामन्त लोग जंगल में पशुओं का शिकार करने के लिए कुत्ते तथा घोड़े पालते हैं। चाहे पूर्व हो या पश्चिम, कलियुग में सामन्तवादी व्यक्ति जंगल में जाकर वृथा ही पशु-वध करते हैं। उच्च वर्ग के पुरुषों (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) को ब्रह्मज्ञान का अनुशीलन करना चाहिए और शूद्रों को भी उस पद पर पहुँचने का अवसर देना चाहिए। यदि इसके बजाय वे आखेट में रत होते हैं, तो वे दण्डित होते हैं जैसाकि इस श्लोक में वर्णित है। वे यमदूतों के द्वारा न केवल बाणों से बिद्ध किये जाते हैं, वरन् पीब, मूत्र तथा मल के सागर में रखे जाते हैं।

ये त्विह वै दाम्भिका दम्भयज्ञेषु पशून्विशसन्ति तानमुष्मिंल्लोके वैशसे नरके पतितान्निरयपतयो यातयित्वा विशसन्ति. ॥ २॥

शब्दार्थ

ये—जो पुरुष; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—निस्सन्देह; दाम्भिकाः—सम्पत्ति तथा प्रतिष्ठा से गर्वित; दम्भ-यज्ञेषु—प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए किये गये यज्ञ में; पशून्—पशुओं को; विशसन्ति—मारते हैं; तान्—उनको; अमुष्मिन् लोके—अगले जगत में; वैशसे—वैशस या विशसन; नरके—नरक में; पतितान्—गिरे हुए; निरय-पतयः—यमराज के दूत; यातयित्वा—प्रचुर पीड़ा प्रदान करके; विशसन्ति—मार डालते हैं।.

जो व्यक्ति इस जन्म में अपने ऊँचे पद पर गर्व करता है और केवल भौतिक प्रतिष्ठा के लिए पशुओं की बलि चढ़ाता है, उसे मृत्यु के पश्चात् वैशसन नामक नरक में रखा जाता है। वहाँ यम के दूत उसे अपार कष्ट देकर अन्त में उसका वध कर देते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (६.४१) में श्रीकृष्ण कहते हैं—*शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते*—"योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यात्माओं के लोकों में अनेक वर्षों तक सुख भोगकर सदाचारी ब्राह्मणों अथवा धनवानों के प्रतिष्ठित कुल में जन्म लेता है।" ऐसा जन्म पाकर उसे चाहिए कि भक्तियोग को परिपूर्ण बनाये। किन्तु कुसंग के कारण वह प्राय: भूल जाता है कि श्रीभगवान् ने ही उसे यह प्रतिष्ठित पद प्रदान किया है। वह अनेक प्रकार के तथाकथित यज्ञ यथा कालीपूजा या दुर्गापूजा करके इसका दुरुपयोग करता है और निरीह पशुओं की बलि चढ़ाता है। ऐसे पुरुष को किस प्रकार दण्डित किया जाता है उसका वर्णन इस श्लोक में हुआ है। इस श्लोक का एक शब्द *दम्भयज्ञेषु* महत्त्वपूर्ण है। यदि यज्ञ करते समय वैदिक शिक्षाओं का पालन नहीं किया जाता और केवल दिखावे के लिए पशुओं की बलि की जाती है, तो वह मृत्यु के उपरान्त दण्ड का भागी है। कलकत्ते में ऐसे अनेक कसाईघर हैं, जहाँ ऐसा मांस बिकता है जो देवी काली पर बलि चढ़ा होता है। शास्त्रों का मत है कि मास में एक बार देवी काली को छोटे बकरे की बलि दी जा सकती है। यह कहीं नहीं उल्लिखित है कि मन्दिर-पूजा के बहाने कसाईघर चलाया जाये और वृथा ही पशुओं का वध किया जाये। जो ऐसा करते हैं उन्हें दण्ड भोगना पड़ता है। जैसा कि यहाँ पर वर्णित है।

यस्त्विह वै सवर्णां भार्यां द्विजो रेतः पाययति काममोहितस्तं पापकृतममुत्र रेतःकुल्यायां पातयित्वा रेतः सम्पाययन्ति. ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—निस्सन्देह; सवर्णाम्—उसी जाति की; भार्याम्—अपनी पत्नी को; द्विजः—उच्च जाति का व्यक्ति (यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य); रेतः—वीर्य; पाययति—पीने को बाध्य करता है; काम-मोहितः—काम से मोहित; तम्—उसको; पाप-कृतम्—पाप करते हुए; अमुत्र—अगले जन्म में; रेतः-कुल्यायाम्—वीर्य की नदी में; पातयित्वा—फेंककर; रेतः—वीर्य; सम्पाययन्ति—पीने को बाध्य करते हैं।

यदि कोई मूर्ख द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) भोगेच्छा से अपनी पत्नी को अपने वश में रखने के लिए उसे अपना वीर्य पीने को बाध्य करता है, तो मृत्यु के पश्चात् उसे लालाभक्ष नरक में रखा जाता है। वहाँ उसे वीर्य की नदी में डाल कर वीर्य पीने को विवश किया जाता है।

तात्पर्य : अपना वीर्य पत्नी को पीने के लिए बाध्य करना इन्द्रजाल है, जिसे अत्यन्त कामी पुरुष अपनाते हैं। उनका कहना है कि ऐसा घृणित कार्य करने से पत्नी सदैव आज्ञाकारी बनी रहती है। सामान्यत: निम्न वर्ग के पुरुष ही ऐसा करते हैं, किन्तु यदि उच्च वर्ग में जन्मा व्यक्ति ऐसा करता है, तो

उसे मृत्यु के पश्चात् लालाभक्ष नरक में ले जाया जाता है, जहाँ शुक्र नदी में डुबाकर उसे वीर्य पीने को बाध्य किया जाता है।

ये त्विह वै दस्यवोऽग्निदा गरदा ग्रामान्सार्थान्वा विलुम्पन्ति राजानो राजभटा वा तांश्चापि हि परेत्य यमदूता वज्रदंष्ट्राः श्वानः सप्तशतानि विंशतिश्च सरभसं खादन्ति. ॥ २७॥

शब्दार्थ

ये—जो व्यक्ति; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—निस्सन्देह; दस्यवः—चोर तथा डाकू; अग्नि-दाः—आग लगाने वाले; गरदाः—विष पिलाने वाले; ग्रामान्—गाँवों को; सार्थान्—वणिक वर्ग को; वा—अथवा; विलुम्पन्ति—लूटते हैं; राजानः—राजा; राज-भटाः—अधिकारी जन; वा—अथवा; तान्—उनको; च—भी; अपि—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही; परेत्य—मरने पर; यमदूताः—यमराज के दूतगण; वज्र-दंष्ट्राः—कठोर दाँतों वाले; श्वानः—कुत्ते; सप्त-शतानि—सात सौ; विंशतिः—बीस; च—और; सरभसम्—भूक्खड़तापूर्वक; खादन्ति—निगल जाते हैं।.

इस जगत में कुछ लोगों का व्यवसाय ही लूटपाट करना है जो दूसरों के घरों में आग लगाते हैं अथवा उन्हें विष देते हैं। यही नहीं, राज्य-अधिकारी कभी-कभी वणिक जनों को आयकर अदा करने पर विवश करके तथा अन्य विधियों से लूटते हैं। मृत्यु के पश्चात् ऐसे असुरों को सारमेयादन नामक नरक में रखा जाता है। उस नरक में सात सौ बीस कुत्ते हैं जिनके दाँत वज्र के समान कठोर हैं। ये कुत्ते यमराज के दूतों के आदेश पर ऐसे पापीजनों को भूके भेड़ियों की भाँति निगल जाते हैं।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के बारहवें स्कंध में यह कहा गया है कि इस कलिकाल में प्रत्येक व्यक्ति तीन प्रकार की विपत्तियों से पीड़ित रहेगा—वर्षा का अभाव, दुर्भिक्ष तथा राज्य द्वारा अधिक कर वसूली। चूँकि मनुष्य अधिकाधिक पापी होते जा रहे हैं, इसलिए वर्षा का अभाव होगा जिससे अन्न नहीं उपजेगा। दुर्मिक्ष के कारण उत्पन्न लोगों का कष्ट कम करने के बहाने सरकार व्यवसायी वर्ग पर विशेष रूप से भारी कर लगायेगी। इस श्लोक में कहा गया है कि ऐसी सरकार के अधिकारी दस्यु अथवा चोर होते हैं। इनका मुख्य काम होगा लोगों की सम्पत्ति लूटना। चाहे वह राजमार्ग का लुटेरा हो या राजकीय चोर, ऐसे व्यक्ति को अगले जीवन में सारमेयादन नामक नरक में गिराकर दण्डित किया जायेगा जहाँ उसे नृशंस कुत्ते काटेंगे।

यस्त्विह वा अनृतं वदति साक्ष्ये द्रव्यविनिमये दाने वा कथञ्चित्स वै प्रेत्य नरकेऽवीचिमत्यधःशिरा निरवकाशे योजनशतोच्छ्रायाद्गिरिमूर्ध्नः सम्पात्यते यत्र जलमिव स्थलमश्मपृष्ठमवभासते तदवीचिमत्तिलशो विशीर्यमाणशरीरो न म्रियमाणः पुनरारोपितो निपतति. ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वा—अथवा; अनृतम्—असत्य, झूठ; वदति—बोलता है; साक्ष्ये—साक्षी देने में; द्रव्य-विनिमये—वस्तुओं के आदान-प्रदान में; दाने—दान देने में; वा—अथवा; कथञ्चित्—किसी प्रकार; सः—वह व्यक्ति; वै—निस्संदेह; प्रेत्य—मरकर; नरके—नरक में; अवीचिमति—अवीचिमत् नामक (जिसमें जल नहीं है); अधः-शिराः—अधोमुख; निरवकाशे—आधारहीन; योजन-शत—आठ सौ मील की; उच्छ्रायात्—ऊँचाई वाला; गिरि—पर्वत की; मूर्ध्नः—चोटी से; सम्पात्यते—फेंक दिया जाता है; यत्र—जहाँ; जलम् इव—जल सदृश; स्थलम्—स्थल, भूमि; अश्म-पृष्ठम्—पथरीली सतह वाले; अवभासते—प्रतीत होता है; तत्—वह; अवीचिमत्—बिना जल या लहरों वाला; तिलशः—तिल के बीजों सदृश सूक्ष्म खंडों में; विशीर्यमाण—फाड़ा जा करके; शरीरः—देह; न म्रियमाणः—न मरने वाले; पुनः—फिर; आरोपितः—चोटी तक उठा हुआ; निपतति—नीचे गिरती है।

इस जीवन में जो व्यक्ति किसी की झूठी गवाही देने, व्यापार करते अथवा दान देते समय किसी भी तरह का झूठ बोलता है, वह मरने पर यमराज के दूतों द्वारा बुरी तरह से प्रताड़ित किया जाता है। ऐसा पापी व्यक्ति आठ सौ मील ऊँचे पर्वत की चोटी से मुँह के बल अवीचिमत् नामक नरक में नीचे फेंक दिया जाता है। इस नरक का कोई आधार नहीं होता और उस की पथरीली भूमि जल की लहरों के समान प्रतीत होती है, किन्तु इसमें जल नहीं है; इसलिए इसे अवीचिमत् (जलरहित) कहा गया है। वहाँ से बारम्बार गिराये जाने से उस पापी व्यक्ति के शरीर के छोटे छोटे टुकड़े हो जाने पर भी प्राण नहीं निकलते और उसे बारम्बार दण्ड सहना पड़ता है।

यस्त्विह वै विप्रो राजन्यो वैश्यो वा सोमपीथस्तत्कलत्रं वा सुरां व्रतस्थोऽपि वा पिबति प्रमादतस्तेषां निरयं नीतानामुरसि पदाक्रम्यास्ये वह्निना द्रवमाणं कार्ष्णायसं निषिञ्चन्ति. ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—निस्सन्देह; विप्रः—विद्वान ब्राह्मण; राजन्यः—क्षत्रिय; वैश्यः—वैश्य; वा—अथवा; सोम-पीथः—सोमरस पान करते हैं; तत्—उसकी; कलत्रम्—स्त्री; वा—अथवा; सुराम्—मदिरा; व्रत-स्थः—व्रत रखने वाला; अपि—निश्चय ही; वा—अथवा; पिबति—पीता है; प्रमादतः—मोहवश; तेषाम्—उन सबों को; निरयम्—नरक तक; नीतानाम्—लाया जाकर; उरसि—वक्षस्थल पर; पदा—पैर से; आक्रम्य—प्रहार कर; अस्ये—मुँह में; वह्निना—अग्नि से; द्रवमाणम्—पिघलाया; कार्ष्णायसम्—लोह; निषिञ्चन्ति—उड़ेलते हैं।

जो ब्राह्मणी या ब्राह्मण मद्यपान करता है उसे यमराज के दूत अयःपान नामक नरक में ले जाते हैं। यदि कोई क्षत्रिय, वैश्य अथवा व्रत धारण करने वाला मोहवश सोमपान करता है, तो वह भी इस नरक में स्थान पाता है। अयःपान नरक में यम के दूत उनकी छाती पर चढ़ कर उनके मुँह के भीतर तप्त पिघला लोहा उड़ेलते हैं।

तात्पर्य : मनुष्य को केवल नाम का ही ब्राह्मण नहीं होना चाहिए और न ही सभी प्रकार के

पापकर्म, विशेष रूप से मद्यपान करना चाहिए। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य जनों को चाहिए कि अपने वर्णानुसार आचरण करें। यदि वे पतित होकर मद्यपान के आदी अर्थात् शूद्र बन जाते हैं, तो उन्हें यहाँ वर्णित विधि से दण्डित किया जाएगा।

अथ च यस्त्विह वा आत्मसम्भावनेन स्वयमधमो जन्मतपोविद्याचारवर्णाश्रमवतो वरीयसो न बहु मन्येत स मृतक एव मृत्वा क्षारकर्दमे निरयेऽवाक्शिरा निपातितो दुरन्ता यातना ह्यश्नुते. ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अथ—आगे; च—भी; यः—जो; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वा—या; आत्म-सम्भावनेन—झूठी प्रतिष्ठा से; स्वयम्—स्वयं; अधमः—अत्यन्त नीच; जन्म—जन्म; तपः—तप; विद्या—ज्ञान; आचार—सद-आचरण; वर्ण-आश्रम-वतः—वर्णाश्रम के नियमों का कठोरता से पालन करते हुए; वरीयसः—अधिक आदरणीय का; न—नहीं; बहु—अधिक; मन्येत—आदर करता है; सः—वह; मृतकः—मृत शरीर; एव—मात्र; मृत्वा—मरने के बाद; क्षारकर्दमे—क्षारकर्दम नामक; निरये—नरक में; अवाक्-शिरा—अधोमुख; निपातितः—गिराया जाकर; दुरन्ताः यातनाः—अत्यन्त वेदनामयी स्थिति; हि—निस्सन्देह; अश्नुते—भोगता है।

जो निम्न जाति में उत्पन्न होकर घृणित होते हुए भी इस जीवन में यह सोच कर झूठा गर्व करता है कि "मैं महान् हूँ" और उच्च जन्म, तप, शिक्षा, आचार, जाति अथवा आश्रम में अपने से बड़ों का उचित आदर नहीं करता वह इसी जीवन में मृत-तुल्य है और मृत्यु के पश्चात् क्षारकर्दम नरक में सिर के बल नीचे गिराया जाता है। वहाँ उसे यमदूतों के हाथों से अत्यन्त कठिन यातनाएँ सहनी पड़ती हैं।

तात्पर्य : मनुष्य को चाहिए कि वह झूठा गर्व न करे। उसे चाहिए कि जन्म, शिक्षा, आचरण, जाति अथवा आश्रम में अपने से उच्चतर व्यक्ति के प्रति आदर-भाव दिखाए। यदि वह ऐसा नहीं करता और झूठा गर्व करता है, तो उसे क्षारकर्दम नरक में दण्ड सहना पड़ता है।

ये त्विह वै पुरुषाः पुरुषमेधेन यजन्ते याश्च स्त्रियो नृपशून्खादन्ति तांश्च ते पशव इव निहता यमसदने यातयन्तो रक्षोगणाः सौनिका इव स्वधितिनावदायासृक्पिबन्ति नृत्यन्ति च गायन्ति च हृष्यमाणा यथेह पुरुषादाः. ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

ये—जो व्यक्ति; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—निस्सन्देह; पुरुषाः—व्यक्ति; पुरुष-मेधेन—नरबलि द्वारा; यजन्ते—आराधना (देवी काली या भद्रकाली की) करते हैं; याः—जो; च—तथा; स्त्रियः—स्त्रियाँ; नृ-पशून्—बलि चढ़ाये जाने वाले मनुष्य; खादन्ति—खाते हैं; तान्—उनको; च—तथा; ते—वे; पशवः इव—पशुओं के सदृश; निहताः—मारे जाकर; यम-सदने—यमराज के धाम में; यातयन्तः—दण्ड देते हुए; रक्षः-गणाः—राक्षस होकर; सौनिकाः—मानने वाले; इव—इदृश; स्वधितिना—तलवार से; अवदाय—खण्ड-खण्ड करके; असृक्—रक्त; पिबन्ति—पीते हैं; नृत्यन्ति—नाचते हैं; च—तथा; गायन्ति—गाते हैं; च—भी; हृष्यमाणाः—प्रसन्न होकर; यथा—जिस प्रकार; इह—इस लोक में; पुरुष-अदाः—मनुष्य-भक्षी।

इस संसार में ऐसे भी पुरुष तथा स्त्रियाँ हैं, जो भैरव या भद्रकाली को नर-बलि चढ़ाकर अपने द्वारा बलि किए गये शिकार का मांस खाते हैं। ऐसे यज्ञ करने वालों को मृत्यु के पश्चात् यमलोक में ले जाया जाता है जहाँ उनके शिकार (मारे गये व्यक्ति) राक्षस का रूप धारण करके अपनी तेज तलवारों से उनके टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं। जिस प्रकार इस लोक में नर-भक्षकों ने नाचते गाते हुए अपने शिकार का रक्तपान किया था उसी तरह उनके शिकार अब अपने वध करने वालों का रक्तपान करके आनन्दित होते हैं।

ये त्विह वा अनागसोऽरण्ये ग्रामे वा वैश्रम्भकैरुपसृतानुपविश्रम्भय्य
जिजीविषूञ्शूलसूत्रादिषूपप्रोतान्क्रीडनकतया यातयन्ति तेऽपि च प्रेत्य यमयातनासु शूलादिषु प्रोतात्मानः
क्षुत्तृड्भ्यां चाभिहताः कङ्कवटादिभिश्चेतस्ततस्तिग्मतुण्डैराहन्यमाना आत्मशमलं स्मरन्ति. ॥ ३२॥

शब्दार्थ

ये—जो; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वा—अथवा; अनागसः—निर्दोष; अरण्ये—वन में; ग्रामे—गाँव में; वा—अथवा; वैश्रम्भकैः—श्रद्धा के द्वारा; उपसृतान्—पास लाये जाकर; उपविश्रम्भय्य—विश्वास के साथ प्रेरणा देकर; जिजीविषून्—जो रक्षित होना चाहते हैं; शूल-सूत्र-आदिषु—बर्छा, धागा आदि पर; उपप्रोतान्—लगा हुआ; क्रीडनकतया—गेंद के सदृश; यातयन्ति—पीड़ा पहुँचाते हैं; ते—वे पुरुष; अपि—निश्चय ही; च—तथा; प्रेत्य—मरने के पश्चात्; यम-यातनासु—यमराज की यातनाएँ; शूल-आदिषु—बर्छे आदि पर; प्रोत-आत्मानः—जिनके शरीर जड़ दिये गये हैं; क्षुत्-तृड्भ्याम्—भूख तथा प्यास से; च—भी; अभिहताः—अभिभूत; कङ्क-वट-आदिभिः—बगुला तथा गीध जैसे पक्षियों द्वारा; च—तथा; इतः ततः—इधर-उधर; तिग्म-तुण्डैः—तीखी चोंचों वाले; आहन्यमानाः—मारे जाकर; आत्म-शमलम्—अपने पापकर्मों को; स्मरन्ति—स्मरण करते हैं।.

इस जीवन में कुछ व्यक्ति गाँव या वन में रक्षा के लिए आये हुए पशुओं तथा पक्षियों को शरण देते हैं और उन्हें अपनी सुरक्षा का विश्वास हो जाने के बाद उन्हें बर्छे या डोरे में फाँस कर घोर पीड़ा पहुँचाकर उनसे खिलौने जैसा खेलते हैं। ऐसे व्यक्ति मृत्यु के पश्चात् यमराज के दूतों द्वारा शूलप्रोत नामक नरक में ले जाये जाते हैं जहाँ उनके शरीरों को तीक्ष्ण नुकीले भालों से छेदा जाता है। वे भूख तथा प्यास से तड़पते रहते हैं और उनके शरीरों को गीध तथा बगुले जैसे तीक्ष्ण चोंच वाले पक्षी चारों ओर से नोंचते हैं। इस प्रकार से यातना पाकर उन्हें पूर्वजन्म में किये गये पाप-कर्मों का स्मरण होता है।

ये त्विह वै भूतान्युद्वेजयन्ति नरा उल्बणस्वभावा यथा दन्दशूकास्तेऽपि प्रेत्य नरके दन्दशूकाख्ये निपतन्ति
यत्र नृप दन्दशूकाः पञ्चमुखाः सप्तमुखा उपसृत्य ग्रसन्ति यथा बिलेशयान्. ॥ ३३॥

शब्दार्थ

ये—जो; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—निस्सन्देह; भूतानि—जीवात्माओं को; उद्वेजयन्ति—वृथा ही पीड़ा पहुँचाते हैं; नराः—मनुष्य; उल्बण-स्वभावाः—स्वभाव से क्रोधी; यथा—जिस प्रकार; दन्दशूकाः—सर्प; ते—वे; अपि—भी; प्रेत्य—मरने के बाद; नरके—नरक में; दन्दशूक-आख्ये—दन्दशूक नामक; निपतन्ति—गिरते हैं; यत्र—जहाँ; नृप—हे राजन्; दन्दशूकाः—सर्प; पञ्च-मुखाः—पाँच फणों वाले; सप्त-मुखाः—सात फण वाले; उपसृत्य—ऊपर पहुँच कर; ग्रसन्ति—खा जाते हैं; यथा—जिस तरह; बिलेशयान्—चूहों को।

जो व्यक्ति इस जीवन में ईर्ष्यालु सर्पों के समान क्रोधी स्वभाव वाले अन्य जीवों को पीड़ा पहुँचाते हैं, वे मृत्यु के पश्चात् दन्दशूक नामक नरक में गिरते हैं। हे राजन्, इस नरक में पाँच या सात फण वाले सर्प हैं, जो इन पापात्माओं को उसी प्रकार खा जाते हैं जिस प्रकार चूहों को सर्प खाते हैं।

ये त्विह वा अन्धावटकुसूलगुहादिषु भूतानि निरुन्धन्ति तथामुत्र तेष्वेवोपवेश्य सगरेण वह्निना धूमेन निरुन्धन्ति. ॥ ३४॥

शब्दार्थ

ये—जो पुरुष; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वा—अथवा; अन्ध-अवट—अंधकूप; कुसूल—अन्न भण्डार, खत्ती; गुह-आदिषु—तथा गुफाओं आदि में; भूतानि—जीवात्माओं को; निरुन्धन्ति—रोके रखते हैं, बन्दी बनाए रखते हैं; तथा—उसी प्रकार; अमुत्र—अगले जीवन में; तेषु—उन-उन स्थानों में; एव—निश्चय ही; उपवेश्य—घुसाकर; सगरेण—विषाक्त धुएँ से; वह्निना—अग्नि से; धूमेन—धुआँ से; निरुन्धन्ति—बन्दी बनाए रखते हैं।

जो व्यक्ति इस जीवन में अन्य जीवों को अन्धे कुएँ, खत्ती या पर्वत की गुफाओं में बन्दी बनाकर रखते हैं, वे मृत्यु के पश्चात् अवट-निरोधन नामक नरक में रखे जाते हैं। वहाँ वे स्वयं अंधे कुओं में धकेल दिये जाते हैं, जहाँ विषैले धुएँ से उनका दम घुटता है और वे घोर यातनाएँ उठाते हैं।

यस्त्विह वा अतिथीनभ्यागतान्वा गृहपतिरसकृदुपगतमन्युर्दिधक्षुरिव पापेन चक्षुषा निरीक्षते तस्य चापि निरये पापदृष्टेरक्षिणी वज्रतुण्डा गृध्राः कङ्ककाकवटादयः प्रसह्योरुबलादुत्पाटयन्ति. ॥ ३॥

शब्दार्थ

यः—जो व्यक्ति; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वा—अथवा; अतिथीन्—अतिथियों को; अभ्यागतान्—अभ्यागतों (आने वालों) को; वा—अथवा; गृह-पतिः—गृहस्थ; असकृत्—अनेक बार; उपगत—प्राप्त करके; मन्युः—क्रोध; दिधक्षुः—जलाने का इच्छुक; इव—सदृश; पापेन—पापपूर्ण; चक्षुषा—नेत्रों द्वारा; निरीक्षते—दृष्टि डालता है; तस्य—उसका; च—तथा; अपि—निश्चय ही; निरये—नरक में; पाप-दृष्टेः—पापपूर्ण दृष्टि वाले की; अक्षिणी—आँखें, नेत्र; वज्र-तुण्डाः—वज्र के समान बलिष्ठ चोंच वाले; गृध्राः—गीध; कङ्क—कंक (बगुले); काक—कौवे; वट-आदयः—तथा अन्य पक्षी; प्रसह्य—आक्रामक रूप से; उरु-बलात्—अत्यन्त बलपूर्वक; उत्पाटयन्ति—बाहर निकाल लेते हैं।

जो गृहस्थ अपने घर आये अतिथियों अथवा अभ्यागतों को क्रोध भरी कुटिल दृष्टि से देखता है मानो उन्हें भस्म कर देगा, उसे पर्यावर्तन नामक नरक में ले जाकर रखा जाता है जहाँ उसे वज्र

जैसी चोंच वाले गीध, बगुले, कौवे तथा इसी प्रकार के अन्य पक्षी घूरते हैं और सहसा झपट कर तेजी से उनकी आँखें निकाल लेते हैं।

तात्पर्य : वैदिक शिष्टाचार के अनुसार, यदि गृहस्थ के घर उनका शत्रु भी पधारे तो उसे ऐसी विनम्रता से मिलना चाहिए कि वह भूल जाये कि वह अपने शत्रु के घर आया है। घर आये अतिथि का विनम्रतापूर्वक स्वागत करना चाहिए। यदि वह अवांछित है, तो गृहस्थ को चाहिए कि उसको घूरे नहीं, क्योंकि जो ऐसा करता है, वह मरने पर पर्यावर्तन नामक नरक में रखा जाता है, जहाँ गीध, कौवे जैसे अनेक भयानक पक्षी उस पर सहसा टूट पड़ेंगे और उसकी आँखें निकाल लेंगे।

यस्त्विह वा आढ्याभिमतिरहङ्कृतिस्तिर्यक्प्रेक्षणः सर्वतोऽभिविशङ्की अर्थव्ययनाशचिन्तया परिशुष्यमाणहृदयवदनो निर्वृतिमनवगतो ग्रह इवार्थमभिरक्षति स चापि प्रेत्य तदुत्पादनोत्कर्षणसंरक्षणशमलग्रहः सूचीमुखे नरके निपतति यत्र ह वित्तग्रहं पापपुरुषं धर्मराजपुरुषा वायका इव सर्वतोऽङ्गेषु सूत्रैः परिवयन्ति. ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो व्यक्ति; तु—लेकिन; इह—इस लोक में; वा—अथवा; आढ्य-अभिमतिः—सम्पत्ति के कारण गर्वीला; अहङ्कृतिः—अभिमानी; तिर्यक्-प्रेक्षणः—कुटिल दृष्टि वाला; सर्वतः अभिविशङ्की—सदैव अन्यों के द्वारा, यहाँ तक कि अपने से श्रेष्ठ जनों द्वारा भी, ठगे जाने से सशंकित; अर्थ-व्यय-नाश-चिन्तया—व्यय तथा क्षति के विचार के कारण; परिशुष्यमाण—सूख गया है जो; हृदय-वदनः—जिसका हृदय तथा मुख; निर्वृतिम्—प्रसन्नता; अनवगतः—न प्राप्त करके; ग्रहः—भूत; इव—सदृश; अर्थम्—सम्पत्ति; अभिरक्षति—रखवाली करता है; सः—वह; च—भी; अपि—निस्सन्देह; प्रेत्य—मरने के बाद; तत्—उस धन का; उत्पादन—आय का; उत्कर्षण—वृद्धि; संरक्षण—सुरक्षा; शमल-ग्रहः—पाप-कर्मों को स्वीकार करता हुआ; सूचीमुखे—सूचीमुख नामक; नरके—नरक में; निपतति—गिर जाता है; यत्र—जहाँ; ह—निस्संदेह; वित्त-ग्रहम्—धन हरने वाले भूत की तरह; पाप-पुरुषम्—अत्यन्त पापी मनुष्य को; धर्मराज-पुरुषाः—धर्मराज के दूत; वायकाः इव—चतुर दर्जियों की भाँति; सर्वतः—सर्वत्र; अङ्गेषु—शरीर के अंगों पर; सूत्रैः—धागे के द्वारा; परिवयन्ति—सिलते हैं।.

जो व्यक्ति इस लोक में अथवा इस जीवन में अपनी सम्पत्ति पर अभिमान करता है, वह सदैव सोचता रहता है कि वह कितना धनी है और कोई उसकी बराबरी कर सकता है क्या? उसकी नजर टेढ़ी हो जाती है और वह सदैव भयभीत रहता है कि कोई उसकी सम्पत्ति ले न ले। वह अपने से बड़े लोगों पर आशंका करता है। अपनी सम्पत्ति की हानि के विचार मात्र से उसका मुख तथा हृदय सूखने लगते हैं, अतः वह सदैव अति अभागे दुष्ट मनुष्य की तरह लगता है। उसे वास्तविक सुख-लाभ नहीं हो पाता और वह यह नहीं जानता कि चिन्तामुक्त जीवन कैसा होता है। धन अर्जित करने, उसको बढ़ाने तथा उसकी रक्षा के लिए वह जो पापकर्म करता है उसके कारण उसे सूचीमुख नामक नरक में रखा जाता है जहाँ यमराज के दूत उसके सारे शरीर को

दर्जियों की तरह धागे से सिल देते हैं।

तात्पर्य : जब किसी के पास आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति हो जाती है, तो वह निश्चय ही घमंडी बन जाता है। आधुनिक सभ्यता में मनुष्यों की यही स्थिति है। वैदिक संस्कृति के अनुसार ब्राह्मणों के पास कुछ भी नहीं होता, जबकि क्षत्रियों के पास काफी धनसम्पदा होती है किन्तु वह भी केवल शास्त्रों के आदेशानुसार यज्ञ तथा अन्य सत्कर्म करने के लिए होती है। वैश्य भी कृषि, गोपालन तथा व्यापार से ईमानदारी के साथ धन कमाता है। किन्तु यदि शूद्र को धन प्राप्त हो जाता है, तो वह उसका बिना सूझबूझ के अपव्यय करता है या फिर संचय करता है जो उसके काम नहीं आता। चूँकि इस युग में सुपात्र ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य नहीं हैं, अत: प्राय: प्रत्येक व्यक्ति शूद्र है (*कलौ शूद्र-सम्भव:*)। फलस्वरूप शूद्र-मानसिकता से आधुनिक सभ्यता को भारी क्षति पहुँच रही है। शूद्र यह नहीं जानता कि भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति के लिए धन का किस प्रकार उपयोग किया जाये। धन को लक्ष्मी भी कहते हैं और लक्ष्मी जी सदैव नारायण की सेवा में संलग्न रहती हैं। अत: जहाँ भी धन हो, उसे भगवान् नारायण की सेवा में लगाना चाहिए। प्रत्येक प्राणी को चाहिए कि वह धन का उपयोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रसार में करे। यदि वह धन का उपयोग इस कार्य के लिए नहीं करता और आवश्यकता से अधिक धन-संग्रह करता है, तो अवैध सम्पत्ति के कारण उसे गर्व हो जाता है। यह धन वास्तव में श्रीकृष्ण का है जैसाकि *भगवद्गीता* (.२९) में उन्होंने कहा है— *भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्*—"समस्त यज्ञों एवं तपों का वास्तविक भोक्ता मैं हूँ और मैं ही समस्त लोकों का स्वामी हूँ।" अत: सब कुछ श्रीकृष्ण का है। कुछ भी किसी और का नहीं है। जिसके पास आवश्यकता से अधिक धन है उसको श्रीकृष्ण के लिए खर्च करना चाहिए। मनुष्य यदि ऐसा नहीं करता तो वह अपनी झूठी सम्पत्ति के कारण गर्व से फूल उठेगा, अत: अगले जन्म में उसे दण्डित होना पड़ेगा।

एवंविधा नरका यमालये सन्ति शतश: सहस्रशस्तेषु सर्वेषु च सर्व एवाधर्मवर्तिनो ये केचिदिहोदिता अनुदिताश्चावनिपते पर्यायेण विशन्ति तथैव धर्मानुवर्तिन इतरत्र इह तु पुनर्भवे त उभयशेषाभ्यां निविशन्ति. ॥ ३७॥

शब्दार्थ

एवम्-विधा:—इस प्रकार के; नरका:—अनेक नरक; यम-आलये—यमराज के लोक में; सन्ति—हैं; शतश:—सैकड़ों; सहस्रश:—हजारों; तेषु—उन लोकों में; सर्वेषु—सबों में; च—भी; सर्वे—सभी; एव—निस्संदेह; अधर्म-वर्तिन:—पुरुष जो वैदिक नियमों या विधि-विधानों का पालन नहीं करते; ये केचित्—जो भी; इह—यहाँ; उदिता:—वर्णित; अनुदिता:—जिनका वर्णन नहीं हुआ है; च—तथा; अवनि-पते—हे राजन्; पर्यायेण—विभिन्न प्रकार पापकर्मों के अनुसार; विशन्ति—प्रवेश करते हैं; तथा एव—उसी प्रकार; धर्म-अनुवर्तिन:—जो पवित्र हैं और वैदिक आदेशों के अनुसार कार्य करते हैं; इतरत्र—अन्यत्र; इह—इस लोक में; तु—लेकिन; पुन:-भवे—दूसरे जन्म में; ते—वे सब; उभय-शेषाभ्याम्—पुण्यों अथवा पापों के फल के शेष भाग से; निविशन्ति—प्रवेश करते हैं।

हे राजन्, यमलोक में इसी प्रकार के सैकड़ों-हजारों नरक हैं। मैने जिन पापी मनुष्यों का वर्णन किया है—और जिनका वहाँपर उल्लेख नहीं हुआ—वे सब अपने पापों की कोटि के अनुसार इन विभिन्न नरकों में प्रवेश करेंगे। किन्तु जो पुण्यात्मा हैं, वे अन्य लोकों में, अर्थात् देवताओं के लोकों में जाते हैं। तो भी, अपने पुण्य-पाप के फलों के क्षय होने पर पुण्यात्मा तथा पापी दोनों ही पुन: पृथ्वी पर लौट आते हैं।

तात्पर्य : इसी वर्णन से *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण के उपदेश प्रारम्भ होते हैं—*तथा देहान्तर-प्राप्ति:*—इस भौतिक जगत में प्रत्येक प्राणी विभिन्न लोकों में एक देह से दूसरे में परिवर्तित होने के लिए आया है। ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था:—सतो गुणी उच्च लोकों की जाते हैं। *अधो गच्छन्ति तामसा:*—इसी प्रकार जो तामसी हैं, वे नरक लोकों में प्रवेश करते हैं। किन्तु ये दोनों प्रकार के प्राणी जन्म-मृत्यु के चक्कर में घूमते रहते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि पवित्रात्मा भी स्वर्गलोक में सुखोपभोग के पश्चात् पृथ्वी पर लौटते हैं (*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*)। अत: एक लोक से दूसरे में गमन करने से जीवन की समस्याओं का अन्त नहीं हो जाता। वे तो तभी हल हो सकती हैं जब हमें यह भौतिक देह फिर धारण न करनी पड़े। ऐसा तभी सम्भव है जब कोई कृष्णभावनाभावित हो जाये। जैसाकि स्वयं श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (४.९) में कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो मेरे आविर्भाव तथा कर्म की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह देह को त्याग कर संसार में फिर से जन्म नहीं लेता, वरन् मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।" यही जीवन की सिद्धि और जीवन की समस्याओं का सही हल है। हमें न तो उच्चलोकों में जाने के लिए उत्सुक होना चाहिए, न ही ऐसा कर्म करना चाहिए कि नरक में जाना पड़े। इस भौतिक जगत का पूर्ण उद्देश्य तभी प्राप्त होगा जब हम अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त करके भगवान् के धाम वापस जा सकें। ऐसा करने

का सरलतम उपाय पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा निर्दिष्ट किया गया है *सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।* मनुष्य को न तो पवित्र, न ही अपवित्र होना चाहिए। उसे भक्त होना चाहिए और श्रीकृष्ण के चरणकमलों में समर्पित होना चाहिए। समर्पण की विधि भी सरल ही है। इसे एक बालक भी कर सकता है—*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।* मनुष्य को चाहिए कि वह सदैव श्रीकृष्ण का ही चिन्तन "हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे" का कीर्तन करते हुए करे। मनुष्य को चाहिए कि वह श्रीकृष्ण का भक्त बने, उनकी आराधना करे और उन्हें नमस्कार करे। इस प्रकार उसे अपने जीवन के समस्त कार्यों को भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में अर्पित करना चाहिए।

निवृत्तिलक्षणमार्ग आदावेव व्याख्यातः; एतावानेवाण्डकोशो यश्चतुर्दशधा पुराणेषु विकल्पित उपगीयते यत्तद्भगवतो नारायणस्य साक्षान्महापुरुषस्य स्थविष्ठं रूपमात्ममायागुणमयमनुवर्णितमादृतः पठति शृणोति श्रावयति स उपगेयं भगवतः परमात्मनोऽग्राह्यमपि श्रद्धाभक्तिविशुद्धबुद्धिर्वेद. ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

निवृत्ति-लक्षण-मार्गः—त्याग अथवा मुक्ति का मार्ग; आदौ—प्रारम्भ में (द्वितीय तथा तृतीय स्कन्धों में); एव—निस्संदेह; व्याख्यातः—कहा जा चुका है; एतावान्—यह सब; एव—निश्चय ही; अण्ड-कोशः—यह ब्रह्माण्ड जो एक बृहद् अंडे के सदृश है; यः—जो; चतुर्दश-धा—चौदह खण्डों में; पुराणेषु—पुराणों में; विकल्पितः—विभक्त; उपगीयते—वर्णित; यत्—जो; तत्—वह; भगवतः—श्रीभगवान् का; नारायणस्य—नारायण का; साक्षात्—प्रत्यक्ष; महा-पुरुषस्य—परम पुरुष का; स्थविष्ठम्—स्थूल; रूपम्—रूप; आत्म-माया—अपनी शक्ति का; गुण—गुणों का; मयम्—युक्त; अनुवर्णितम्—वर्णित; आदृतः—आदरपूर्वक; पठति—पढ़ता है; शृणोति—अथवा सुनता है; श्रावयति—अथवा व्याख्या करता है; सः—वह पुरुष; उपगेयम्—गीत; भगवतः—श्रीभगवान् का; परमात्मनः—परमात्मा का; अग्राह्यम्—जिसका समझ पाना कठिन है; अपि—यद्यपि; श्रद्धा—श्रद्धा; भक्ति—तथा भक्ति से; विशुद्ध—शुद्ध; बुद्धिः—जिसकी बुद्धि; वेद—जानती है।

प्रारम्भ में (द्वितीय तथा तृतीय स्कंन्ध में) मैं यह बता चुका हूँ कि मुक्तिमार्ग पर किस प्रकार अग्रसर हुआ जा सकता है। पुराणों में चौदह खण्डों में विभक्त अंड सदृश विशाल ब्रह्माण्ड की स्थिति का वर्णन किया गया है। यह विराट रूप भगवान् का बाह्य शरीर माना जाता है, जिसकी उत्पत्ति उनकी शक्ति और गुणों से हुई है। इसे ही सामान्यतः विराट रूप कहते हैं। यदि कोई श्रद्धा सहित भगवान् के इस बाह्य रूप का वर्णन पढ़ता है, अथवा इसके विषय में सुनता या फिर अन्यों को भागवत धर्म अथवा कृष्णभावनामृत समझाता है, तो आत्म-चेतना अथवा कृष्णभावनामृत में उनकी श्रद्धा तथा भक्ति क्रमशः बढ़ती जाती है। यद्यपि इस भावना को विकसित कर पाना कठिन है, किन्तु इस विधि से मनुष्य अपने को शुद्ध कर सकता है और

धीरे-धीरे परम सत्य को जान सकता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत आन्दोलन द्वारा *श्रीमद्भागवतम्* का प्रकाशन विशेषत: आधुनिक सभ्य मानवों के लाभार्थ किया जा रहा है, जिससे वह मूल भावना को जाग्रत कर सके। इस चेतना के बिना मनुष्य पूर्ण अंधकार में भटकता है। मनुष्य चाहे स्वर्ग को जाये या नरक को, वह अपना समय नष्ट ही करता है। अत: उसे चाहिए कि *श्रीमद्भागवत* में वर्णित भगवान् के विराट रूप के विषय में सुने। इससे वह अपने आपको बद्ध जीवन से बचा सकेगा और धीरे-धीरे मुक्तिमार्ग की ओर उठते हुए भगवान् के धाम को वापस जा सकेगा।

श्रुत्वा स्थूलं तथा सूक्ष्मं रूपं भगवतो यतिः ।
स्थूले निर्जितमात्मानं शनैः सूक्ष्मं धिया नयेदिति ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर(गुरु-परम्परा से); स्थूलम्—स्थूल; तथा—और; सूक्ष्मम्—सूक्ष्म; रूपम्—रूप; भगवतः—श्रीभगवान् का; यतिः—संन्यासी या भक्त; स्थूले—स्थूल रूप; निर्जितम्—विजित; आत्मानम्—मन को; शनैः—धीरे-धीरे; सूक्ष्मम्—भगवान् के सूक्ष्म रूप में; धिया—बुद्धि से; नयेत्—ले जाना चाहिए; इति—इस प्रकार।

जो मुक्ति का इच्छुक है, मुक्ति के पथ को ग्रहण करता है तथा बद्ध जीवन के प्रति आकृष्ट नहीं होता, वह यती या भक्त कहलाता है। ऐसे पुरुष को पहले भगवान् के स्थूल विराट रूप का चिन्तन करते हुए मन को वश में करना चाहिए और तब धीरे-धीरे श्रीकृष्ण के दिव्य रूप (सत्-चित्-आनन्द-विग्रह) का चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार उसका मन समाधि में स्थिर हो जाता है। भक्ति के द्वारा भगवान् के सूक्ष्म रूप का साक्षात्कार किया जा सकता है और यही भक्तों का गन्तव्य है। इस प्रकार उसका जीवन सफल बन जाता है।

तात्पर्य : कहा गया है कि—*महत्सेवां द्वारं आहुर्विमुक्तेः*—यदि कोई मुक्तिमार्ग पर आगे बढ़ना चाहता है, तो उसे महात्माओं या मुक्त भक्तों की संगति करनी चाहिए, क्योंकि ऐसी संगति में श्रीभगवान् के नाम, रूप, गुण तथा साज-सामग्री के सम्बन्ध में श्रवण, वर्णन तथा कीर्तन का अवसर प्राप्त होता है जिन सबका वर्णन *श्रीमद्भागवत* में हुआ है। बन्धन पथ पर सदैव जन्म-मृत्यु का चक्कर लगा रहता है। जो इस बन्धन से मुक्ति चाहता है उसे अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ में सम्मिलित हो जाना चाहिए और भक्तों से *श्रीमद्भागवत* सुनने का लाभ उठाना चाहिए तथा कृष्णभावनामृत का प्रसार करने के लिए इसका वर्णन भी करना चाहिए।

भूद्वीपवर्षसरिदद्रिनभःसमुद्र-
पातालदिङ्नरकभागणलोकसंस्था ।
गीता मया तव नृपाद्भुतमीश्वरस्य
स्थूलं वपुः सकलजीवनिकायधाम ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

भू—पृथ्वीलोक; द्वीप—तथा अन्य लोक; वर्ष—भूभाग; सरित्—नदियाँ; अद्रि—पर्वत; नभः—आकाश; समुद्र—सागर; पाताल—नीचे के लोक; दिक्—दिशाएँ; नरक—समस्त नरक लोक; भागण-लोक—नक्षत्र तथा उच्चतर लोक; संस्था—स्थिति; गीता—वर्णित; मया—मेरे द्वारा; तव—तुम्हारे लिए; नृप—हे राजन्; अद्भुतम्—विचित्र; ईश्वरस्य—श्रीभगवान् का; स्थूलम्—स्थूल; वपुः—शरीर; सकल-जीव-निकाय—समस्त जीव समुदायों का; धाम—आवास।

हे राजन्, अभी मैंने तुमसे इस पृथ्वीलोक, अन्य लोक, उनके वर्ष, नदी एवं पर्वत का वर्णन किया है। मैंने आकाश, समुद्र, अधोलोक, दिशाएँ, नरक, ग्रह तथा नक्षत्रों का भी वर्णन किया है। ये भगवान् के विराट रूप के अवयव हैं, जिन पर समस्त जीवात्माएँ आश्रित हैं। इस प्रकार मैंने भगवान् के बाह्य शरीर के अद्भुत विस्तार की व्याख्या की है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत "नारकीय लोकों का वर्णन" नामक छब्बीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

—होनोलुलु के पंचतत्त्व मंदिर में दिनांक जून, १९७ को स म्पूर्ण हुआ।

गौड़ीय भाष्य में श्रीकृष्णकृपामूर्ति भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामीजी महाराज के द्वारा लिखी गई एक पूरक टिप्पणी है। उसका अनुवाद इस प्रकार है—

जिन विद्वानों को समस्त वैदिक शास्त्रों का ज्ञान है वे यह मानते हैं कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के असंख्य अवतार हैं। इन अवतारों की दो श्रेणियाँ की गई हैं—*प्राभव* तथा *वैभव।* शास्त्रों के अनुसार प्राभव अवतारों की भी दो श्रेणियाँ हैं—अनन्त तथा अवर्णित। *श्रीमद्भागवत* के पंचम स्कंध में तृतीय से लेकर षष्ठम अध्याय तक ऋषभदेव का वर्णन है, किन्तु उनके सत् रूप का विस्तृत वर्णन नहीं हुआ है। अतः उन्हें प्राभव अवतारों में दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत (अवर्णित) माना जाता है। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध, अध्याय तीन, श्लोक तेरह में कहा गया है—

अष्टमे मेरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः।
दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम्॥

''भगवान् विष्णु आठवें अवतार में महाराज नाभि (आग्निध्र के पुत्र) तथा उनकी पत्नी मेरुदेवी के पुत्र के रूप में प्रकट हुए। उन्होंने सिद्धि, जीवन की परमहंस अवस्था का मार्ग दिखलाया जिसकी उपासना वर्णाश्रम धर्म के सभी पालन करने वालों द्वारा की जाती है।'' ऋषभदेव श्रीभगवान् हैं और उनका शरीर दिव्य सच्चिदानन्दविग्रह है। अत: यह पूछा जा सकता है कि वे मल-मूत्र किस प्रकार विसर्जित करते होंगे? इस प्रश्न का उत्तर गौड़ीय वेदान्त आचार्य बलदेव विद्या-भूषण ने अपनी पुस्तक *सिद्धान्त-रत्न* (प्रथम भाग मूलपाठ ६-६८) में दिया है। जो पू र्ण ज्ञानी नहीं हैं, वे अभक्तों का ध्यान ऋषभदेव द्वारा मलमूत्र विसर्जित करने की ओर आकर्षित करते हैं, क्योंकि वे दिव्य शरीर के सत्-चित्-आनन्द-विग्रह को नहीं समझ पाते। *श्रीमद्भागवत* के पंचम स्कन्ध (.६.११) में इस युग के मोहग्रस्त तथा भ्रमित स्थिति वाले भौतिकतावादियों का पूरी तरह वर्णन हुआ है। पंचम स्कंध में ही अन्यत्र (..१९) में ऋषभदेव ने कहा है— *इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं,* ''मेरा यह शरीर भौतिकतावादियों के लिए अचिन्त्य है।'' भगवान् श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* में भी (१.११) इसकी पुष्टि की है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

''मेरे मानव रूप में अवतरित होने पर मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। वे मुझ परमेश्वर के दिव्य स्वभाव को तथा सब पर मेरे परम प्रभुत्व को नहीं जानते।'' पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के मानवीय रूप को समझ पाना अत्यन्त दुष्कर है और सामान्य व्यक्ति के लिए तो यह अचिन्त्य है। इसलिए ऋषभदेव ने स्वत: बताया है कि उनका शरीर आत्ममय (सत्-चित्-आनन्द-विग्रह) है। इसलिए वे मलमूत्र विसर्जित नहीं करते थे। यद्यपि वे ऊपर से मल-मूत्र विसर्जित करते प्रतीत होते थे, किन्तु वह भी दिव्य होने के कारण सामान्य मनुष्य द्वारा अनुकरणीय नहीं है। *श्रीमद्भागवत* में यह भी कहा है कि ऋषभदेव का मल-मूत्र दिव्य सुगन्धि से युक्त था। भले ही कोई ऋषभदेव का अनुकरण कर ले, किन्तु वह सुगन्धित मल विसर्जित नहीं कर सकता।

अत: ऋषभदेव के कार्यकलाप उनके तथाकथित एवं विज्ञापित अनुयायियों के, जिन्हें *अर्हत्* कहते हैं, कथनों की पुष्टि नहीं करते। वैदिक नियमों के प्रतिकूल कार्य करते हुए भला वे ऋषभदेव के

अनुयायी कैसे हो सकते हैं ? शुकदेव गोस्वामी ने बताया है कि भगवान् ऋषभदेव के लक्षणों को सुनने के बाद कोंक, वेंक तथा कुटक के राजा ने अर्हत नामक धार्मिक नियमों की प्रणाली का सूत्रपात किया। ये नियम वैदिक नियमों के अनुकूल नहीं थे, अत: इन्हें *पाखंड धर्म* कहा गया। अर्हत् सम्प्रदाय के सदस्य ऋषभदेव के कार्यों को भौतिक मानते थे। किन्तु ऋषभदेव तो श्रीभगवान् के अवतार हैं, अत: वे दिव्य पद पर हैं और उनकी समता कोई नहीं कर सकता।

स्वयं ऋषभदेव द्वारा श्रीभगवान् के कार्यों का प्राकट्य हुआ। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (.६.८) में कहा गया है—*दावानलस्तद्वनमालेलिहान: सह तेन ददाह*—ऋषभदेव की लीलाओं की समाप्ति पर एक दावानल में सम्पूर्ण वन तथा भगवान् का शरीर जलकर भस्म हो गया। इसी प्रकार ऋषभदेव ने लोगों की अविद्या को भस्म कर डाला। अपने पुत्रों को दिए गये उपदेशों में उन्होंने परमहंसों के लक्षणों का प्राकट्य किया। किन्तु अर्हत् सम्प्रदाय के नियमों का ऋषभदेव की शिक्षाओं से मेल नहीं खाता।

श्रील बलदेव विद्याभूषण की टिप्पणी है कि *श्रीमद्भागवत* के अष्टम स्कंध में ऋषभदेव का अन्य विवरण भी प्राप्त होता है, किन्तु वे ऋषभदेव इस स्कंध के ऋषभदेव से भिन्न हैं।

।।पञ्चम: स्कन्ध: समाप्त: ।।

preliminary page 3
श्रीमद्भागवतम्
(भगवत्–सन्देश)
पंचम स्कन्ध
''सृष्टि की प्रेरणा''
(अध्याय १–२६)
मूल संस्कृत पाठ, शब्दार्थ, (हिन्दी अनुवाद)
तथा विस्तृत तात्पर्य सहित

कृष्णकृपामूर्ति
श्री श्रीमद् अभयचरणारविन्द भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद
संस्थापकाचार्य: अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

preliminary page

विषय-सूची

आमुख
प्रस्तावना
अध्याय एक
महाराज प्रियव्रत का चरित्र
अध्याय का सारांश
गृहस्थ जीवन का बंधन
भगवान् के चरणारविन्द की छाया
प्रियव्रत द्वारा नारद के चरणारविन्द की खोज
प्रियव्रत को देखने के लिए ब्रह्मा का भूलोक आना
प्रियव्रत से ब्रह्मा की बातचीत
वर्णाश्रम विभागों की व्यवस्था वैज्ञानिक है
परमेश्वर द्वारा मनुष्य का मार्गदर्शन
आत्म-संयमी न होने वाले की छह सपत्नियाँ
प्रियव्रत द्वारा ब्रह्मा की आज्ञा अंगीकार किया जाना
प्रियव्रत के दस पुत्र
रानी बर्हिष्मती द्वारा प्रियव्रत की शक्ति का बढ़ाना
प्रियव्रत द्वारा रथ से सूर्य का पीछा करना
प्रियव्रत द्वारा वैराग्य के विषय में बोलना
प्रियव्रत के चरित्र के सम्बन्ध में श्लोक
अध्याय दो
महाराज आग्नीध्र का चरित्र
आग्नीध्र द्वारा ब्रह्मा की पूजा किया जाना
पूर्वचित्ति द्वारा आग्नीध्र का आकृष्ट किया जाना
पूर्वचित्ति की शक्तिशाली चितवन
आग्नीध्र द्वारा सुन्दरी के शरीर की प्रशंसा
आग्नीध्र के नौ पुत्र
आग्नीध्र का पितृलोक भेजा जाना
अध्याय तीन
राजा नाभि की पत्नी मेरुदेवी के गर्भ से ऋषभदेव का जन्म
नाभि तथा उनकी पत्नी द्वारा विष्णु की पूजा
नाभि के समक्ष विष्णु का प्रकट होना
फल की कामना से यज्ञों का सम्पन्न किया जाना
नाभि द्वारा भगवान् के ही समान पुत्र की कामना करना
ऋषियों की स्तुतियों से भगवान् का प्रसन्न होना
मेरुदेवी के पुत्र रूप में भगवान् का प्रकट होना

अध्याय चार
भगवान् ऋषभदेव के लक्षण
नाभि के पुत्र में समस्त गुणों का प्राकट्य
ऋषभदेव का चक्रवर्ती सम्राट् होना
ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत
वर्णाश्रम धर्म के अनुसार ऋषभदेव द्वारा शासन चलाना
अध्याय पाँच
भगवान् ऋषभदेव द्वारा अपने पुत्रों को उपदेश
मानव जीवन का उद्देश्य
भौतिक शरीर–दुखों का कारण
घर, पत्नी तथा सन्तान के प्रति आसक्ति
हृदय–ग्रंथि को छिन्न करना
ऋषभदेव, श्री भगवान् के रूप में
भगवान् का ब्राह्मणों के प्रति झुकाव
इन्द्रियों का असली कार्य
ऋषभदेव द्वारा अवधूत का वेष अंगीकार किया जाना
ऋषभदेव द्वारा गायों तथा हिरनों का–सा आचरण
अध्याय छह
भगवान् ऋषभदेव के कार्यकलाप
मन के साथ मित्रता न करना
जंगल की आग में ऋषभदेव के शरीर का भस्म होना
पतित आत्माओं के उद्धार हेतु ऋषभदेव का अवतार
ऋषभदेव की लीलाओं का श्रवण
अध्याय सात
राजा भरत के कार्यकलाप
भरत तथा पंचजनी के पाँच पुत्र
वासुदेव को प्रसन्न करने के लिए भरत द्वारा यज्ञों का अनुष्ठान
भरत द्वारा गृहस्थ जीवन का परित्याग
भरत द्वारा सूर्योदय में नारायण की पूजा
अध्याय आठ
भरत महाराज के चरित्र का वर्णन
मृग शावक पर भरत की सहानुभूति
मृग के स्नेह में भरत का बँध जाना
भरत द्वारा मृग को राजकुमार के रूप में अंगीकार करना
मृत्यु के बाद भरत को मृग शरीर की प्राप्ति
भरत का पश्चात्ताप

अध्याय नौ
जड़ भरत का महान् चरित्र
ब्राह्मण के परिवार में भरत का जन्म लेना
अपने पिता के समक्ष जड़ भरत का मूर्खवत् व्यवहार करना
जड़भरत का केवल भोजन के लिए कार्य करना
साक्षात् देवी काली द्वारा जड़ भरत की रक्षा करना
अध्याय दस
जड़ भरत तथा महाराज रहूगण की वार्ता
राजा की पालकी ढोने के लिए जड़ भरत को बाध्य किया जाना
राजा द्वारा जड़ भरत की आलोचना करना
राजा को जड़ भरत का उत्तर
जड़ भरत द्वारा पुन: पालकी ढोना
जड़ भरत से राजा की प्रार्थना
राजा द्वारा प्रश्नों का पूछा जाना
अध्याय ग्यारह
जड़ भरत द्वारा राजा रहूगण को शिक्षा
भौतिक सुख नगण्य हैं
बन्धन तथा मुक्ति मन के द्वारा उत्पन्न होते हैं
मुक्त आत्मा को वस्तुएँ स्पष्ट दिखती हैं
भक्ति द्वारा मन पर विजय पाना
अध्याय बारह
महाराज रहूगण तथा जड़ भरत की वार्ता
जड़ भरत के उपदेश ओषधि के समान हैं
ब्रह्माण्ड का वास्तविक अस्तित्व नहीं है
भक्त के अनुग्रह से परम सत्य का प्राकट्य होता है
महान् भक्तों की संगति
अध्याय तेरह
राजा रहूगण तथा जड़ भरत के बीच और आगे वार्ता
संसार रूपी जंगल में लुटेरे
गृहस्थ जीवन की तुलना जंगल की अग्नि से
जीवात्माएँ परस्पर शत्रुता उत्पन्न करती हैं
राजा बहिरंगा–शक्ति के शिकार के रूप में
जड़ भरत का राजा द्वारा किये गये अनादर को भूल जाना
अध्याय चौदह
भौतिक संसार भोग का एक महान् वन
भौतिक परिवेश द्वारा आत्मा का बद्ध होना

पारिवारिक सदस्य भेड़ियों तथा सियारों के तुल्य
स्वर्ण ऐश्वर्य तथा ईर्ष्या का कारण है
भौतिक सुख की मृगतृष्णा
तथाकथित साधुओं द्वारा वैदिक नियमों के विरुद्ध प्रचार करना
गृहस्थ जीवन दावाग्नि के समान है
निद्रारूपी अजगर द्वारा भौतिकतावादियों का निगला जाना
अध्यात्मवादियों द्वारा सकाम कर्म के पथ की भर्त्सना
बद्धजीव के कष्ट
अनधिकृत मानव-निर्मित भगवान्
गृहस्थ जीवन से क्षणिक इन्द्रिय-सुख का मिलना
भौतिक जीवन में कोई सुखी नहीं
सकाम कर्म की लता
भरत महाराज के विचित्र कार्यकलाप
महाराज भरत का जीवन मननीय है

अध्याय पन्द्रह

प्रियव्रत के वंशजों का यश-वर्णन
सुमति द्वारा ऋषभदेव के पथ का अनुगमन
प्रामाणिक उपदेशकों के आदर्श राजा प्रतीह
राजा गय के राज्यादेश के गुण
दक्ष की कन्याएँ राजा गय का अभिषेक करती हैं
प्रियव्रत का वंशमणि राजा विरज

अध्याय सोलह

जम्बूद्वीप का वर्णन
विश्व रूप का चिन्तन
जम्बूद्वीप स्थल के नौ विभाग
सुमेरु पर्वत के पार्श्ववर्ती चार पर्वत
आम्ररस से निर्मित अरुणोदा नदी
महाकदम्ब वृक्ष से मधु की नदियों का प्रवाह
सुमेरु पर्वत के पादवर्ती पर्वत
ब्रह्माजी की पुरी

अध्याय सत्रह

गंगा-अवतरण
गंगा नदी की उत्पत्ति
गंगा का अन्तरिक्ष पथ में से प्रवाह
सकाम कर्मों का क्षेत्र भारतवर्ष
नारायण का चतुर्व्यूह

शिव द्वारा संकर्षण की स्तुति
शेष द्वारा अपने फनों पर ब्रह्माण्डों को धारण करना
अध्याय अट्ठारह
जम्बूद्वीप के निवासियों द्वारा भगवान् की स्तुति
भद्रश्रवा द्वारा हयशीर्ष की पूजा
हयग्रीव द्वारा वेदों का उद्धार
प्रह्लाद द्वारा उच्चरित मंत्र
मुकुन्द के कार्यकलापों का श्रवण
कामदेव द्वारा अपनी दिव्य इन्द्रियों का आस्वाद
श्रीकृष्ण एकमात्र पति
वैवस्वत मनु द्वारा भगवान् मत्स्य की पूजा
अर्यमा द्वारा कच्छप रूप विष्णु की पूजा
कपिलदेव द्वारा दृश्य जगत का विश्लेषण
आदि शूकर रूप भगवान्
अध्याय उन्नीस
जम्बूद्वीप का वर्णन
रामचन्द्र के नित्य सेवक के रूप में हनुमान
भगवान् रामचन्द्र का सन्देश
अयोध्या के भक्तों का परम धाम वापस जाना
नर-नारायण की महिमा
भौतिकतावादी शरीरिक सुखों में आसक्त रहते हैं
भारतवर्ष की मुख्य नदियाँ
देवताओं द्वारा भारतवर्ष में मानव जन्म लेने की अभिलाषा
देवताओं की पूजा करने वालों को भगवान् द्वारा वरदान
जम्बूद्वीप को घेरने वाले आठ छोटे-छोटे द्वीप
अध्याय बीस
ब्रह्माण्ड-रचना का विश्लेषण
प्लक्षद्वीप के वासियों द्वारा सूर्य की प्राप्ति
सुरासागर से घिरा शाल्मलीद्वीप
कुशद्वीप में कुशों के झाड़
वरुणदेव द्वारा रक्षित क्रौंच पर्वत
मट्ठे के सागर से घिरा शाकद्वीप
पुष्करद्वीप का बृहत् कमल-पुष्प
स्वर्ण से निर्मित भूमि
लोकों को धारण करने के लिए भगवान् द्वारा अपने रूप प्रकट करना
अध्याय इक्कीस

सूर्य की गतियों का वर्णन
समस्त लोकों का स्वामी सूर्य
मानसोत्तर पर्वत के ऊपर से सूर्य की यात्रा
चन्द्रमा का दिखना और अदृश्य होना
सूर्यदेव का रथ
अध्याय बाईस
ग्रहों की कक्ष्याएँ
सूर्य तथा ग्रहों की गतियाँ
सूर्यदेव की तीन प्रकार की गतियाँ
चन्द्रमा भगवान् के प्रताप का प्रतिनिधि
बृहस्पति ब्राह्मणों के लिए अनुकूल है
अध्याय तेईस
शिशुमार ग्रह-मण्डल
समस्त नक्षत्रों तथा लोकों की धुरी स्वरूप ध्रुवतारा
शिशुमार का रूप
शिशुमार चक्र की पूजा का मंत्र
अध्याय चौबीस
नीचे के स्वर्गीय लोकों का वर्णन
सूर्य तथा चन्द्रमा का वैरी राहु
कृत्रिम स्वर्गों में सुन्दर नगरियाँ
बल असुर द्वारा की सृष्टि तीन प्रकार की स्त्रियाँ करना
बलि महाराज द्वारा वामनदेव को सर्वस्व दान
बलि महाराज की वाणी
अनेक फनों वाले सर्पों का स्थान महातल:-
अध्याय पच्चीस
भगवान् अनन्त की महिमा
भगवान् अनन्त का सौन्दर्य
अनन्तदेव द्वारा क्रोध तथा असहशीलता को वश में किया जाना
नारद मुनि द्वारा सदैव अनन्त का गुणगान
अनन्त द्वारा ब्रह्माण्ड का सुगमता से पालन
अध्याय छब्बीस
नारकीय लोकों का वर्णन
नरक लोकों की स्थिति
विभिन्न नरकों के नाम
रुरु नामक पशु
निर्दोष व्यक्ति को दण्ड देने की सजा

अवैध स्त्री–पुरुष–संभोग के लिए दण्ड
पशुओं की वृथा बलि के लिए दण्ड
ईर्ष्यालु सर्पों के तुल्य मनुष्यों को दण्ड
पुण्यात्मा तथा पापी दोनों पृथ्वी पर वापस आते हैं
परिशिष्ट
लेखक परिचय

Chapter एक

अजामिल के जीवन का इतिहास

पूरे *श्रीमद्भागवत* में दस विषयों के वर्णन मिलते हैं जिनमें सृष्टि, परवर्ती सृष्टि तथा लोक सम्मिलित हैं। *श्रीमद्भागवत* के वक्ता शुकदेव गोस्वामी पहले ही तृतीय, चतुर्थ तथा पंचम स्कन्धों में सृष्टि, परवर्ती सृष्टि तथा लोकप्रणालियों का वर्णन कर चुके हैं। अब इस छठे स्कन्ध में, जिसमें उन्नीस अध्याय हैं, वे *पोषण* अर्थात् भगवान् द्वारा संरक्षण का वर्णन करेंगे।

प्रथम अध्याय में अजामिल का इतिहास है, जो एक बहुत बड़ा पापी व्यक्ति माना जाता था, किन्तु जब विष्णु के चार दूत यमराज के दूतों से उसे छुड़ाने पहुँचे तो उसे मुक्ति मिल गई। इस अध्याय में इसका पूर्ण विवरण दिया गया है कि अपने पापमय जीवन के फलों से छुटकारा पाने के बाद वह किस तरह मुक्त हुआ। पापकर्म इस जीवन तथा अगले दोनों ही जीवनों में कष्टप्रद होते हैं। हमें यह निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि समस्त कष्टमय जीवन का कारण पापकर्म है। सकाम कर्म के मार्ग में मनुष्य पापकर्म अवश्य करता है और कर्मकाण्ड की विचारधारा के अनुसार विभिन्न प्रकार के प्रायश्चित्तों की संस्तुति की जाती है। किन्तु प्रायश्चित्त की ऐसी विधियाँ मनुष्य को उस अज्ञान से मुक्त नहीं करातीं जो पापमय जीवन का मूल है। फलस्वरूप प्रायश्चित्त के बाद भी वह पापकर्म करने के प्रति उसकी प्रवृत्ति बनी रहती है इसलिए यह प्रायश्चित्त शुद्धीकरण के लिए अपर्याप्त है। ज्ञान के मार्ग पर वस्तुओं को यथार्थ रूप में समझने से व्यक्ति पापमय जीवन से मुक्त हो जाता है। इसलिए ज्ञानार्जन को भी प्रायश्चित्त की एक विधि माना जाता है। सकाम कर्म सम्पन्न करते समय मनुष्य तपस्या, ब्रह्मचर्य, मन तथा इन्द्रिय के संयम, सत्यता तथा योगाभ्यास के द्वारा पापमय जीवन के कर्मों से मुक्त बन सकता है। ज्ञान को जाग्रत करके भी व्यक्ति पाप के फलों को निष्प्रभावित कर सकता है। किन्तु इनमें से कोई भी विधि उसे पापकर्म करने की प्रवृत्ति से मुक्त नहीं कर सकती।

भक्तियोग के द्वारा मनुष्य पापमय जीवन की प्रवृत्ति से पूरी तरह बच सकता हैं; अन्य विधियाँ अधिक उपयोगी नहीं हैं। इसलिए वैदिक साहित्य का निष्कर्ष है; कि *कर्मकाण्ड* तथा *ज्ञानकाण्ड* की विधियों की अपेक्षा *भक्ति* अधिक महत्त्वपूर्ण है। एकमात्र भक्तिमार्ग ही हर एक के लिए कल्याणकारी है। सकाम कर्म तथा चिन्तनपरक ज्ञान स्वतंत्ररूप से किसी को मुक्त नहीं कर सकते, किन्तु कर्म तथा ज्ञान से स्वतंत्र रहते हुए भक्ति इतनी शक्तिशाली होती है कि जो व्यक्ति कृष्ण के चरणकमलों पर अपने मन को स्थिर कर लेता है, उसके स्वप्न में भी यमदूत न आने की गारंटी रहती हैं।

भक्ति की शक्ति सिद्ध करने के लिए शुकदेव गोस्वामी ने अजामिल के इतिहास का वर्णन किया। अजामिल कान्यकुब्ज (वर्तमान कन्नौज) का निवासी था। उसके माता-पिता ने उसे वेदों का अध्ययन करके तथा विधि-विधानों का पालन करके पूर्ण ब्राह्मण बनने का प्रशिक्षण दिया था, किन्तु अपने विगत कर्मों के कारण यह युवक ब्राह्मण किसी तरह से एक वेश्या के प्रति आकृष्ट हो गया और उसकी संगति के फलस्वरूप वह अत्यधिक पतित बन गया और उसने सारे विधि विधानों को त्याग दिया। उसने उस वेश्या के गर्भ से दस पुत्र उत्पन्न किये, जिनमें से अन्तिम का नाम नारायण था। अजामिल की मृत्यु के समय, जब यमदूत उसे लेने आये, तो उसने भयवश जोर से नारायण का नाम पुकारा, क्योंकि वह अपने इस सबसे छोटे पुत्र में बहुत आसक्त था। इस तरह उसने आदि नारायण भगवान् विष्णु का स्मरण किया। यद्यपि उसने पूर्णतया निरपराध होकर नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण नहीं किया था, फिर भी उसका प्रभाव पड़ा। ज्योंही उसने नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण किया, त्योंही भगवान् विष्णु के दूत वहाँ पर प्रकट हुए। अत: भगवान् विष्णु के दूतों तथा यमराज के दूतों के बीच वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ और इस वार्तालाप को सुनकर अजामिल मुक्त हो गया। तब सकाम कर्मों का बुरा प्रभाव उसकी समझ में आया और वह यह भी समझ सका कि भक्ति-विधि कितनी उच्च है।

श्रीपरीक्षिदुवाच

निवृत्तिमार्गः कथित आदौ भगवता यथा ।
क्रमयोगोपलब्धेन ब्रह्मणा यदसंसृतिः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-परीक्षित् उवाच—महाराज परीक्षित ने कहा; निवृत्ति-मार्गः—मुक्ति का मार्ग; कथितः—वर्णन किया गया; आदौ—प्रारम्भ में; भगवता—आपके द्वारा; यथा—भलीभाँति; क्रम—क्रमशः; योग-उपलब्धेन—योग विधि द्वारा प्राप्त; ब्रह्मणा—ब्रह्मा के साथ (ब्रह्मलोक पहुँचने के बाद); यत्—जिस विधि से; असंसृतिः—जन्म तथा मृत्यु के चक्र का अन्त।

महाराज परीक्षित ने कहा : हे प्रभु! हे शुकदेव गोस्वामी, आप पहले ही (द्वितीय स्कन्ध में) मुक्ति-मार्ग (निवृत्ति मार्ग) का वर्णन कर चुके हैं। उस मार्ग का अनुसरण करने से मनुष्य निश्चित रूप से क्रमशः सर्वोच्च लोक अर्थात् ब्रह्मलोक तक ऊपर उठ जाता है, जहाँ से वह ब्रह्मा के साथ-साथ आध्यात्मिक जगत (वैकुण्ठ) जाता है। इस तरह भौतिक जगत में जन्म-मृत्यु का चक्र समाप्त हो जाता है।

तात्पर्य : चूँकि महाराज परीक्षित वैष्णव थे, अतः जब उन्होंने पाँचवें अध्याय के अन्त में जीवन की विभिन्न नारकीय दशाओं का वर्णन सुना तो उन्हें अत्यधिक चिन्ता हुई कि बद्धजीवों को किस तरह माया के पाश से मुक्त किया जाये और भगवद्धाम ले जाया जाये। अतएव उन्होंने अपने गुरु शुकदेव गोस्वामी को *निवृत्ति मार्ग* अर्थात् मुक्ति के मार्ग का स्मरण दिलाया, जिसे वे द्वितीय स्कन्ध में बता चुके थे। महाराज परीक्षित भाग्यशाली थे कि मृत्यु के समय उनकी भेंट शुकदेव गोस्वामी से हो गई थी, अतः उन्होंने उनसे इस संकट के काल में मुक्ति मार्ग के विषय में पूछा। शुकदेव गोस्वामी ने उनके इस प्रश्न की मूरि-मूरि प्रशंसा की तथा यह कहते हुए उन्हें बधाई दी—

वरीयान् एष ते प्रश्नः कृतो लोकहितं नृप।
आत्मवित्सम्मतः पुंसां श्रोतव्यादिषु यः परः॥

"हे राजन्! तुम्हारा प्रश्न श्रेष्ठ है, क्योंकि यह सभी तरह के लोगों के लिए अति कल्याणकारी है। इस प्रश्न का उत्तर श्रवण का मुख्य विषय है और समस्त योगियों द्वारा अनुमोदित हैं।" (*भागवत* २.१.१)।

परीक्षित महाराज आश्चर्यचकित थे कि बद्धावस्था में जीव इतनी नारकीय यातनाओं को भोगने के बजाय मुक्ति के मार्ग, भक्ति, को क्यों स्वीकार नहीं करते? यह एक वैष्णव का लक्षण है। *वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च*—वैष्णव करुणा का सागर होता है। *पर दु:खदु:खी*—वह अन्यों के दुख से दुखी रहता है। इसलिए नारकीय जीवन भोग रहे बद्धात्माओं के प्रति दयालु होने से परीक्षित महाराज ने सुझाव रखा कि शुकदेव गोस्वामी उस मुक्ति-मार्ग का वर्णन करते रहें, जिसे उन्होंने *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कन्ध के आरम्भ में बतलाया था। इस सम्बन्ध में *असंसृति* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। *संसृति* द्योतक है जन्म तथा मृत्यु के मार्ग पर बढ़ते जाने का। इसके विपरीत *असंसृति* द्योतक है *निवृत्ति-मार्ग* या मुक्ति के मार्ग का जिसके द्वारा मनुष्य के जन्म तथा मृत्यु बन्द हो जाते हैं और वह धीरे धीरे ब्रह्मलोक की ओर बढ़ता जाता है। जब तक कि कोई शुद्ध भक्त न हो, जो उच्चतर लोकों में जाने की परवाह नहीं करता, अत: वह भक्ति करने से अविलम्ब भगवद्धाम वापस चला जाता है (*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति*)। इसीलिए परीक्षित महाराज बद्धजीव के लिए निवृत्ति-मार्ग के विषय में शुकदेव गोस्वामी से सुनने के लिए उत्कण्ठित थे।

आचार्यों के मतानुसार *क्रमयोगोपलब्धेन* शब्द यह सूचित करता है कि सर्वप्रथम कर्मयोग तथा उसके बाद ज्ञानयोग सम्पन्न करने पर तथा अन्त में भक्तियोग के पद पर आकर मनुष्य मुक्त हो सकता है। किन्तु भक्तियोग स्वयं में इतना शक्तिशाली है कि यह कर्मयोग या ज्ञानयोग पर निर्भर नहीं रहता। भक्तियोग इतना शक्तिशाली है कि एक पापी व्यक्ति भी, जिसके पास कर्मयोग की कोई पूँजी नहीं होती या एक अशिक्षित व्यक्ति भी, जिसके पास ज्ञानयोग की पूँजी नहीं होती, वह निस्सन्देह आध्यात्मिक जगत को प्राप्त कर सकता है, यदि वह भक्तिमार्ग में अटल बना रहता है। *मामेवैष्यस्यसंशय:। भगवद्गीता* (८.७) में कृष्ण कहते हैं कि भक्तियोग की विधि से मनुष्य निस्सन्देह भगवान् के पास आध्यात्मिक जगत में जाता है। किन्तु योगीजन सीधे आध्यात्मिक जगत न जाकर कभी-कभी अन्य लोकों को देखना चाहते हैं, अतएव वे उस लोक में जाते हैं जहाँ ब्रह्मा रहते हैं, जैसाकि यहाँ *ब्रह्मणा* शब्द से सूचित होता है। प्रलय के समय ब्रह्माजी ब्रह्मलोक के

समस्त निवासियों सहित सीधे आध्यात्मिक लोक चले जाते हैं। इसकी पुष्टि वेदों में इस प्रकार हुई है—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।

परास्यान्ते कृतात्मान: प्रविशन्ति परं पदम्॥

"जो लोग प्रलय के समय ब्रह्मलोक में रहते हैं, वे अपने उच्च पद के कारण ब्रह्मा के साथ सीधे भगवद्धाम वापस चले जाते हैं।"

प्रवृत्तिलक्षणश्चैव त्रैगुण्यविषयो मुने ।
योऽसावलीनप्रकृतेर्गुणसर्ग: पुन: पुन: ॥ २॥

शब्दार्थ

प्रवृत्ति—झुकाव से; लक्षण:—लक्षित; च—भी; एव—निस्सन्देह; त्रै-गुण्य—प्रकृति के तीनों गुण; विषय:—विषयों के रूप में; मुने—हे मुनि; य:—जो; असौ—वह; अलीन-प्रकृते:—जो माया के पाश से मुक्त नहीं हो पाता उसका; गुण-सर्ग:—जिसमें भौतिक शरीरों की सृष्टि होती है; पुन: पुन:—बारम्बार।

हे मुनि शुकदेव गोस्वामी! जब तक जीव प्रकृति के भौतिक गुणों के संक्रमण से मुक्त नहीं हो लेता, वह विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त करता है जिनमें वह आनन्द या कष्ट पाता है और शरीर के अनुसार उसमें विविध अभिरुचियाँ होती हैं। इन अभिरुचियों का अनुसरण करने से वह प्रवृत्ति मार्ग से होकर गुजरता है, जिससे वह स्वर्गलोक तक ऊपर जा सकता है, जैसा कि आप पहले (तृतीय स्कन्ध में) वर्णन कर चुके हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२५) में भगवान् कृष्ण बतलाते हैं—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रता:।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

"जो लोग देवताओं की पूजा करते हैं, वे देवताओं के बीच जन्म लेंगे, जो लोग भूत-प्रेतों की पूजा करते हैं, वे उन्हीं के बीच जन्म लेंगे, जो लोग पितरों की पूजा करते हैं, वे पितरों के पास जाते हैं और जो लोग मेरी पूजा करते हैं, वे मेरे साथ निवास करते हैं।" प्रकृति के विभिन्न गुणों

के प्रभाव के कारण जीवों में नाना प्रकार की प्रवृत्तियाँ या लालसाएँ पाई जाती हैं, इसीलिए वे विविध गन्तव्यों को प्राप्त होने के योग्य होते हैं। जब तक मनुष्य भौतिक रूप से आसक्त रहता है तब तक वह भौतिक जगत के प्रति आकर्षण के फलस्वरूप स्वर्गलोक तक ऊपर उठना चाहता है। किन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् घोषणा करते हैं, ''जो लोग मेरी पूजा करते हैं, वे मेरे पास आते हैं।'' यदि किसी को परम भगवान् तथा उनके धाम के विषय में जानकारी नहीं होती तो वह केवल उच्च भौतिक स्थिति तक ऊपर उठना चाहता है, किन्तु जब वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इस जगत में बारम्बार जन्म-मृत्यु के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, तो वह भगवद्धाम वापस जाने की कोशिश करता है। यदि वह उस गन्तव्य को पा लेता है, तो फिर उसे इस भौतिक जगत में वापस आने की आवश्यकता नहीं रह जाती (*यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम*)। *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य १९.१५१) में श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।
गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज॥

''सारे जीव अपने अपने कर्मों के अनुसार सारे ब्रह्माण्ड में भ्रमण करते रहते हैं। उनमें से कुछ उच्चलोकों को जाते हैं, तो कुछ अधोलोकों को प्राप्त होते हैं। ऐसे करोड़ों भ्रमण कर रहे जीवों में से जो अति भाग्यशाली होता है उसे कृष्ण कृपा से प्रामाणिक गुरु की संगति करने का सुअवसर प्राप्त हो पाता है। ऐसा व्यक्ति कृष्ण तथा गुरु दोनों ही की कृपा से भक्ति रूपी लता का बीज प्राप्त करता है।'' सारे जीव ब्रह्माण्ड भर में भ्रमण कर रहे हैं, कभी वे उच्चतर लोकों को जाते हैं कभी निम्न लोकों को प्राप्त होते हैं। यह भवरोग है, जो *प्रवृत्ति-मार्ग* कहलाता है। जब मनुष्य बुद्धिमान बन जाता है, तो वह *निवृत्ति मार्ग* को ग्रहण करता है और तब वह इस भौतिक जगत में भ्रमण करने के बजाय भगवद्धाम को वापस जाता है। यह अनिवार्य है।

अधर्मलक्षणा नाना नरकाश्चानुवर्णिताः ।

मन्वन्तरश्च व्याख्यात आद्यः स्वायम्भुवो यतः ॥ ३॥

शब्दार्थ

अधर्म-लक्षणाः—अपवित्र कार्यों के लक्षणों से युक्त; नाना—विविध; नरकाः—नरक; च—भी; अनुवर्णिताः—वर्णित किये गये; मनु-अन्तरः—मनुओं का परिवर्तन (ब्रह्मा के एक दिन में १४ मनु होते हैं); च—भी; व्याख्यातः—वर्णन किये गये; आद्यः—आदि; स्वायम्भुवः—ब्रह्माजी के पुत्र; यतः—जिसमें।

आपने नारकीय जीवन की उन विविध योनियों का भी वर्णन (पंचम स्कन्ध के अन्त में) किया है, जो पाप कार्यों से फलित हैं और आपने प्रथम मन्वन्तर का वर्णन (चतुर्थ स्कन्ध में) किया है, जिसकी अध्यक्षता ब्रह्मा के पुत्र स्वायम्भुव मनु ने की थी।

प्रियव्रतोत्तानपदोर्वंशस्तच्चरितानि च ।
द्वीपवर्षसमुद्राद्रिनद्युद्यानवनस्पतीन् ॥ ४॥
धरामण्डलसंस्थानं भागलक्षणमानतः ।
ज्योतिषां विवराणां च यथेदमसृजद्विभुः ॥ ५॥

शब्दार्थ

प्रियव्रत—प्रियव्रत का; उत्तानपदोः—तथा उत्तानपाद का; वंशः—कुल; तत्-चरितानि—उनके गुण; च—भी; द्वीप—विभिन्न लोक; वर्ष—भूभाग; समुद्र—सागर; अद्रि—पर्वत; नदी—नदियाँ; उद्यान—बाग-बगीचे; वनस्पतीन्—तथा वृक्ष; धरा-मण्डल—पृथ्वी; संस्थानम्—स्थिति को; भाग—विभागों के अनुसार; लक्षण—विभिन्न लक्षण; मानतः—तथा मापें; ज्योतिषाम्—सूर्य तथा अन्य प्रकाशपिंडों का; विवराणाम्—निम्नलोकों का; च—तथा; यथा—जिस तरह; इदम्—यह; असृजत्—उत्पन्न किया; विभुः—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने।

हे प्रभु! आपने राजा प्रियव्रत तथा राजा उत्तानपाद के कुलों तथा गुणों का वर्णन किया है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने इस भौतिक जगत की रचना विविध ब्रह्माण्डों, लोकों, ग्रहों तथा नक्षत्रों, विविध भूभागों, समुद्रों, नदियों, उद्यानों तथा वृक्षों से की जिनके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। ये इस धरालोक, आकाश के प्रकाशपिंडों तथा अधोलोकों में विभाजित हैं। आपने इन लोकों का तथा इनमें रहने वाले जीवों का बहुत ही स्पष्ट वर्णन किया है।

तात्पर्य : यहाँ पर *यथेदम् असृजद् विभुः* शब्दों से यह स्पष्ट रूप से लक्षित होता है कि सर्वशक्तिमान भगवान् ने इस सम्पूर्ण भौतिक जगत की सृष्टि विविध प्रकार के लोकों, नक्षत्रों इत्यादि से की। नास्तिक लोग ईश्वर के हाथ को, जो प्रत्येक सृष्टि में उपस्थित रहता है, छिपाना चाहते हैं, किन्तु वे इसकी व्याख्या नहीं कर सकते कि ये सारी सृष्टियाँ बिना किसी दक्ष बुद्धि तथा

सर्वशक्तिमान-बल के कैसे उत्पन्न हुईं। केवल कल्पना करना या चिन्तन करना समय का अपव्यय है। *भगवद्गीता* (१०.८) में भगवान् कहते हैं—*अहं सर्वस्यप्रभव:*—मैं हर वस्तु का उद्गम हूँ। *मत्त:सर्वं प्रवर्तते*—सृष्टि में जो भी विद्यमान है, वह मुझसे उद्भूत है। *इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विता:*—जब मनुष्य पूरी तरह से यह समझ लेता है कि मैं अपनी सर्वशक्तिमत्ता से हर वस्तु को उत्पन्न करता हूँ तो वह भक्ति में दृढ़ हो जाता है और मेरे चरणकमलों में पूर्णतया समर्पण कर देता है।'' दुर्भाग्यवश अज्ञानी व्यक्ति कृष्ण की सर्वश्रेष्ठता को तुरन्त नहीं समझ पाते। फिर भी यदि वे भक्तों की संगति करते हैं और प्रामाणिक पुस्तकें पढ़ते हैं, तो वे धीरे-धीरे सही ज्ञान को प्राप्त होते हैं, यद्यपि इसमें अनेकानेक जन्म लग सकते हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* (७.१९) में कृष्ण कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।

वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ: ॥

''जो वास्तव में ज्ञानी होता है, वह अनेक जन्म-जन्मांतर के बाद मुझे समस्त कारणों का कारण जानकर मेरी शरण ग्रहण करता है। ऐसा महात्मा अति दुर्लभ है।'' वासुदेव, कृष्ण हर वस्तु के स्रष्टा हैं और उनकी शक्ति विविध प्रकारों से प्रदर्शित होती है। जैसा कि *भगवद्गीता* (७.४-५) में बतलाया गया है, जीव भौतिक शक्ति (*भूमिरापोऽनलो वायु:*) तथा आध्यात्मिक शक्ति का संयोग है और वह हर सृष्टि में पाया जाता है। अतएव एक ही सिद्धान्त—सर्वोच्च चेतन आत्मा तथा भौतिक तत्त्वों का संयोग—विराट जगत का कारण है।

अधुनेह महाभाग यथैव नरकान्नर: ।
नानोग्रयातनान्नेयात्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अधुना—सम्प्रति; इह—इस भौतिक जगत में; महा-भाग—हे महान् ऐश्वर्यवान् तथा भाग्यशाली शुकदेव गोस्वामी; यथा—जिससे; एव—निस्सन्देह; नरकान्—नारकीय स्थितियाँ जिनमें अधर्मियों को रखा जाता है; नर:—मनुष्य; नाना—

अनेक प्रकार के; उग्र—भयावह; यातनान्—यातनाओं या कष्टों को; न ईयात्—नहीं भोगें; तत्—वह; मे—मुझसे; व्याख्यातुम् अर्हसि—कृपा करके वर्णन करें।

हे परम भाग्यशाली तथा ऐश्वर्यवान् शुकदेव गोस्वामी! अब आप कृपा करके मुझे बतलायें कि मनुष्यों को किस तरह उन नारकीय स्थितियों में प्रवेश करने से बचाया जा सकता है जिनमें उन्हें भीषण यातनाएँ सहनी पड़ती हैं।

तात्पर्य : पंचम स्कन्ध के छब्बीसवें अध्याय में शुकदेव गोस्वामी ने बतलाया है कि जो लोग पापकर्म करते हैं, उन्हें नरक लोकों में प्रवेश करने के लिए तथा कष्ट उठाने के लिए बाध्य किया जाता है। चूँकि महाराज परीक्षित भक्त हैं, अत: अब उन्हें चिन्ता है कि इसे किस तरह रोका जा सकता है। वैष्णव *परदु:ख दु:खी* होता है। दूसरे शब्दों में, उसे निजी कष्ट नहीं होता, किन्तु अन्यों को दुखी देखकर वह दुखी होता है। प्रह्लाद महाराज ने कहा, "हे प्रभु! मेरी अपनी समस्याएँ नहीं हैं, क्योंकि मैंने आपके दिव्य गुणों का गुणगान करना सीख लिया है, अतएव मैं भाव-समाधि में प्रवेश कर सकता हूँ। किन्तु मेरी एक समस्या है, क्योंकि मैं इन धूर्तों तथा मूर्खों के विषय में सोचता रहता हूँ जो *माया-सुख* अर्थात् क्षणिक सुख में लगे हैं और जिन्हें आपकी भक्ति का कोई ज्ञान नहीं है।" वैष्णव के समक्ष यही समस्या रहती है। चूँकि वैष्णव पूर्णतया पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के शरणागत होता है, अतएव उसकी अपनी कोई समस्या नहीं रहती, किन्तु पतित बद्धात्माओं के प्रति दयालु होने से वह उनको इस जीवन में तथा अगले जीवन में नारकीय जीवन से बचाने की योजनाओं के विषय में सदैव सोचता रहता है। इसीलिए परीक्षित महाराज ने उत्सुकतापूर्वक शुकदेव गोस्वामी से यह जानना चाहा कि मानवता को किस तरह नरक में गिरने से बचाया जा सकता है? शुकदेव गोस्वामी पहले ही बता चुके थे कि लोग किस तरह नारकीय जीवन में प्रवेश करते हैं और वे यह भी बता सकते हैं कि उन्हें किस तरह से बचाया जा सकता है। बुद्धिमान लोगों को इन उपदेशों का लाभ उठाना चाहिए। किन्तु दुर्भाग्यवश सम्पूर्ण जगत में कृष्णभावनामृत का अभाव है, अत: लोग घोर अज्ञान से पीड़ित हैं और इस जीवन के बाद के जीवन में विश्वास तक नहीं करते। उनके अगले जीवन के विषय में आश्वस्त कर पाना बहुत कठिन

है, क्योंकि वे भौतिक भोग के पीछे भागने में मदान्धप्राय हो चुके हैं। फिर भी हमारा कर्तव्य है, सारे विज्ञ जनों का कर्तव्य है कि उनको बचाएँ। महाराज परीक्षित उनके प्रतिनिधि हैं, जो उन्हें बचा सकता है।

श्रीशुक उवाच

न चेदिहैवापचितिं यथांहसः
कृतस्य कुर्यान्मनउक्तपाणिभिः ।
ध्रुवं स वै प्रेत्य नरकानुपैति
ये कीर्तिता मे भवतस्तिग्मयातनाः ॥ ७॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रील शुकदेव गोस्वामी ने कहा; न—नहीं; चेत्—यदि; इह—इस जीवन में; एव—निश्चय ही; अपचितिम्—प्रतिकार, प्रायश्चित्त; यथा—भलीभाँति; अंहसः कृतस्य—जब मनुष्य पापकर्म कर चुका होता है; कुर्यात्—करता है; मनः—मन से; उक्त—शब्दों से; पाणिभिः—तथा इन्द्रियों से; ध्रुवम्—निश्चित रूप से; सः—वह व्यक्ति; वै—निस्सन्देह; प्रेत्य—मृत्यु के बाद; नरकान्—नाना प्रकार की नारकीय स्थितियाँ; उपैति—प्राप्त करता है; ये—जो; कीर्तिताः—पहले ही वर्णित की जा चुकी हैं; मे—मेरे द्वारा; भवतः—तुमसे; तिग्म-यातनाः—जिनमें अति भीषण कष्ट है।

शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया-हे राजन्! यदि मनुष्य अपनी अगली मृत्यु के पूर्व इस जन्म में अपने मन, वचन तथा शरीर से किये गये पाप कर्मों का मनुसंहिता तथा अन्य धर्मशास्त्रों के विवरण के अनुसार समुचित प्रायश्चित्त द्वारा निराकरण नहीं कर लेता है, तो वह मृत्यु के बाद अवश्य ही नरकलोकों में प्रविष्ट होगा और भीषण कष्ट उठायेगा, जैसा कि मैं आपसे पहले ही कह चुका हूँ।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर उल्लेख करते हैं कि यद्यपि महाराज परीक्षित शुद्ध भक्त थे फिर भी शुकदेव गोस्वामी ने तुरन्त ही भक्ति की शक्ति के विषय में उन्हें नहीं बतलाया। जैसा कि *भगवद्गीता* (१४.२६) में कहा गया है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

भक्ति इतनी प्रबल होती है कि यदि कोई पूरी तरह से कृष्ण की शरण ग्रहण कर ले और पूरी

तरह उनकी भक्ति करे तो उसके पापमय जीवन के सारे फल तुरन्त समाप्त हो जाते हैं।

गीता में अन्यत्र (१८.६६) भगवान् कृष्ण मनुष्य को प्रेरित करते हैं कि अन्य सारे कर्मों को त्यागकर उनकी शरण में आयें। और वे वचन देते हैं कि—*अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि*—मैं तुम्हें सारे पापों के फलों से मुक्त कर दूँगा और तुम्हें मोक्ष प्रदान करूँगा। इसलिए परीक्षित महाराज के प्रश्नों के उत्तर में उनके गुरु शुकदेव महाराज तुरन्त ही भक्तियोग की व्याख्या कर सकते थे, किन्तु परीक्षित महाराज की बुद्धि की परीक्षा लेने के लिए उन्होंने सर्वप्रथम कर्मकाण्ड के अनुसार प्रायश्चित्त की संस्तुति की। कर्मकाण्ड के लिए अस्सी प्रामाणिक शास्त्र हैं, यथा मनुसंहिता, जो धर्मशास्त्र कहलाते हैं। इन शास्त्रों में मनुष्य को अन्य प्रकार के सकाम कर्म करके पापकर्मों का निराकरण करने का परामर्श दिया गया है। शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को सर्वप्रथम इसी मार्ग की संस्तुति करने की सलाह दी है और यह तथ्य है कि जो व्यक्ति भक्ति स्वीकार नहीं करता उसे अपने अपवित्र कर्मों के निराकरण के लिए इन शास्त्रों के निर्णय को मान कर कार्य करना होता है। यही प्रायश्चित्त कहलाता है।

तस्मात्पुरैवाश्विह पापनिष्कृतौ
यतेत मृत्योरविपद्यतात्मना ।
दोषस्य दृष्ट्वा गुरुलाघवं यथा
भिषक्चिकित्सेत रुजां निदानवित् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; पुरा—पहले; एव—निस्सन्देह; आशु—तुरन्त; इह—इस जीवन में; पाप-निष्कृतौ—पापकर्मों के फल से मुक्त बनने के लिए; यतेत—प्रयत्न करे; मृत्योः—मृत्यु; अविपद्यत—रोग तथा वृद्धावस्था से सताया हुआ नहीं; आत्मना—शरीर से; दोषस्य—पापकर्मों का; दृष्ट्वा—अनुमान करके; गुरु-लाघवम्—भारीपन या हल्कापन; यथा—जिस तरह; भिषक्—वैद्य; चिकित्सेत—उपचार करेगा; रुजाम्—रोग का; निदान-वित्—निदान में निपुण।

अतः अगली मृत्यु आने के पूर्व, जब तक मनुष्य का शरीर पर्याप्त सशक्त है, उसे शास्त्रों के अनुसार प्रायश्चित्त की विधि तुरन्त अपनानी चाहिए; अन्यथा समय की क्षति होगी और उसके पापों का फल बढ़ता जायेगा। जिस तरह एक कुशल वैद्य रोग का निदान और उपचार

उसकी गम्भीरता के अनुसार करता है, उसी तरह मनुष्य को अपने पापों की गहनता के अनुसार प्रायश्चित्त करना चाहिए।

तात्पर्य : *मनुसंहिता* जैसे धार्मिक शास्त्रों में संस्तुति की गई है कि हत्या करने वाले व्यक्ति को फाँसी देनी चाहिए और प्रायश्चित्त में उसके जीवन की बलि दी जानी चाहिए। पहले सारे विश्व में यह पद्धति अपनाई जाती थी, किन्तु नास्तिक बनते जाने के कारण लोग इस प्राणदण्ड को बन्द कर रहे हैं। यह बुद्धिमानी नहीं है। यहाँ पर यह कहा गया है कि जो वैद्य रोग का निदान करना जानता है, वह उसी के अनुसार दवा की संस्तुति करता है। यदि रोग अति गम्भीर हो तो दवा को सशक्त होना चाहिए। हत्यारे के पाप का भार बहुत बड़ा होता है, अतएव *मनुसंहिता* के अनुसार हत्यारे का वध कर दिया जाना चाहिए। हत्यारे का वध करके सरकार उस पर कृपा करती है, क्योंकि यदि हत्यारे का इसी जीवन में वध नहीं कर दिया जाता तो अगले जन्मों में उसका अनेक बार वध किया जायेगा और उसे कष्ट भोगने के लिए बाध्य किया जायेगा। चूँकि लोग अगले जीवन तथा प्रकृति की जटिल कार्यशैली के विषय में नहीं जानते, अतएव वे अपने कानून बनाते हैं, किन्तु उन्हें चाहिए कि शास्त्रों द्वारा स्थापित आदेशों का उचित रीति से अवगाहन करें और उन्हीं के अनुसार कर्म करें। भारत में आज भी हिन्दू-समुदाय प्राय: इस विषय में कुशल पंडितों से विचार-विमर्श करता है कि पापकर्मों का निराकरण कैसे किया जाये। ईसाई धर्म में भी पाप कर्म को स्वीकार करने तथा उस का पश्चाताप करने की प्रक्रिया होती है, अतएव प्रायश्चित्त की आवश्यकता पड़ती है और मनुष्य के पापकर्मों की गम्भीरता के अनुसार ही प्रायश्चित्त करना चाहिए।

श्रीराजोवाच
दृष्टश्रुताभ्यां यत्पापं जानन्नप्यात्मनोऽहितम् ।
करोति भूयो विवशः प्रायश्चित्तमथो कथम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—परीक्षित महाराज ने उत्तर दिया; दृष्ट—देखने से; श्रुताभ्याम्—शास्त्रों या विधि ग्रन्थों से सुनने से भी; यत्—चूँकि; पापम्—पापपूर्ण, अपराध पूर्ण कार्य; जानन्—जानते हुए; अपि—यद्यपि; आत्मनः—स्वयं का; अहितम्—

हानिकर; करोति—करता है; भूयः—पुनः पुनः; विवशः—अपने को नियंत्रित करने में अक्षम; प्रायश्चित्तम्—प्रायश्चित्त; अथो—इसलिए; कथम्—क्या लाभ।.

महाराज परीक्षित ने कहा कि मनुष्य को जानना चाहिए कि पापकर्म उसके लिए हानिकर है, क्योंकि वह वस्तुतः यह देखता है कि अपराधी सरकार द्वारा दण्डित किया जाता है और सामान्य लोगों के द्वारा दुत्कारा जाता है। और वह शास्त्रों तथा विद्वान पंडितों से सुनता भी रहता है कि पापकर्म करने से मनुष्य अगले जीवन में नारकीय अवस्था में फेंक दिया जाता है। फिर भी ऐसा ज्ञान होते हुए मनुष्य को प्रायश्चित्त करने के बावजूद बारम्बार पाप करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। अतः ऐसे प्रायश्चित्त का क्या महत्त्व?

तात्पर्य : कुछ धार्मिक सम्प्रदायों में पापी व्यक्ति अपने पाप-कर्मों को कबूलने के लिए तथा जुर्माना देने के लिए पुरोहित के पास जाता है, किन्तु उसके बाद वह पुनः वही पाप करता है और उसे स्वीकारने के लिए पुनः आता है। यह पेशेवर पापी की आदत है। परीक्षित महाराज के कहने से सूचित होता है कि पाँच हजार वर्ष पूर्व भी अपराधियों में अपने अपराधों के लिए प्रायश्चित्त करने और पुनः उन्हीं अपराधों को करने की प्रथा थी, मानो उनसे ये कराये जा रहे हों, इसलिए अपने व्यावहारिक अनुभव के फलस्वरूप परीक्षित महाराज ने देखा कि बारम्बार पाप करने तथा प्रायश्चित्त करने की विधि व्यर्थ है। कोई कितनी ही बार दण्डित क्यों न किया जाये, यदि वह इन्द्रियभोग के प्रति आसक्त है, तो वह तब तक बारम्बार पापकर्म करेगा जब तक उसे अपनी इन्द्रियों का भोग करने से दूर रहने का प्रशिक्षण नहीं दिया जाता। यहाँ पर *विवश* शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो यह सूचित करता है कि जो पापकर्म नहीं करना चाहता उसे भी आदतवश पापकर्म करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। इसीलिए महाराज परीक्षित ने मनुष्य को उसके पापकर्मों से बचाने के लिए प्रायश्चित्त-विधि को बहुत ही अल्प महत्त्व का माना। अगले श्लोक में उनके द्वारा इस विधि के तिरस्कार किये जाने की व्याख्या की गई है।

क्वचिन्निवर्ततेऽभद्रात्क्वचिच्चरति तत्पुनः ।

प्रायश्चित्तमथोऽपार्थं मन्ये कुञ्जरशौचवत् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; निवर्तते—बन्द कर देता है; अभद्रात्—पापकर्मों से; क्वचित्—कभी; चरति—करता है; तत्—वह (पापकर्म); पुनः—फिर; प्रायश्चित्तम्—प्रायश्चित्त की विधि; अथो—इसलिए; अपार्थम्—व्यर्थ; मन्ये—मानता हूँ; कुञ्जर-शौचवत्—हाथी के स्नान की ही तरह।

कभी-कभी ऐसा व्यक्ति, जो पापकर्म न करने के प्रति अत्यधिक सतर्क रहता है पुनः पापमय जीवन के फेर में आ जाता है। इसलिए मैं बारम्बार पाप करने तथा प्रायश्चित्त करने की इस विधि को निरर्थक मानता हूँ। यह तो हाथी के स्नान करने जैसा है, क्योंकि हाथी पूर्ण स्नान करके अपने को स्वच्छ बनाता है, किन्तु स्थल पर वापस आते ही अपने सिर तथा शरीर पर धूल डाल लेता है।

तात्पर्य : जब परीक्षित महाराज ने पूछा कि मनुष्य किस तरह पापककर्मों से अपने को मुक्त कर सकता है, जिससे उसे मृत्यु के बाद नरकलोक में जाने के लिए बाध्य न होना पड़े तो शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया कि पापमय जीवन के निराकरण की विधि तो प्रायश्चित्त है। इस तरह से शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित की बुद्धि की परीक्षा ली और परीक्षित इस विधि को प्रामाणिक मानने से इनकार करके उस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। अब परीक्षित महाराज अपने गुरु शुकदेव गोस्वामी से दूसरे उत्तर की अपेक्षा कर रहे हैं।

श्रीबादरायणिरुवाच

कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते ।
अविद्वदधिकारित्वात्प्रायश्चित्तं विमर्शनम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—व्यासपुत्र शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया; कर्मणा—कर्म से; कर्म-निर्हारः—सकाम कर्मों का निराकरण; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; आत्यन्तिकः—अन्तिम; इष्यते—सम्भव होता है; अविद्वत्-अधिकारित्वात्—ज्ञान हुए बिना; प्रायश्चित्तम्—असली प्रायश्चित्त; विमर्शनम्—वेदान्त का पूर्ण ज्ञान।

वेदव्यास-पुत्र शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया : हे राजन्! चूँकि अपवित्र कर्मों को निष्प्रभावित करने के उद्देश्य से किये गये कर्म भी सकाम होते हैं, अतएव वे मनुष्य को सकाम कर्म करने की प्रवृत्ति से छुटकारा नहीं दिला सकते। जो व्यक्ति अपने को प्रायश्चित्त

के विधि-विधानों के अधीन बना लेते हैं, वे तनिक भी बुद्धिमान नहीं हैं। अपितु, वे सभी तमोगुण में होते हैं। जब तक मनुष्य तमोगुण से मुक्त नहीं हो जाता, तब तक एक कर्म का दूसरे से निराकरण करने का प्रयास करना निरर्थक है, क्योंकि इससे मनुष्य की इच्छाओं का उन्मूलन नहीं होगा। इस तरह ऊपर से पवित्र लगने वाला व्यक्ति निस्सन्देह पाप पूर्ण कर्म करने के लिए उन्मुख होगा। अतएव असली प्रायश्चित्त तो पूर्ण ज्ञान अर्थात् वेदान्त में प्रबुद्ध होना है, जिससे मनुष्य परम सत्य भगवान् को समझता है।

तात्पर्य : गुरु शुकदेव गोस्वामी ने परीक्षित महाराज की परीक्षा ले ली है और ऐसा लगता है कि राजा ने सकाम कर्म से युक्त प्रायश्चित्त विधि का खण्डन करके परीक्षा की एक अवस्था उत्तीर्ण कर ली है। अब शुकदेव गोस्वामी चिन्तनपरक ज्ञान के पद का सुझाव रख रहे हैं। *कर्मकाण्ड* से *ज्ञानकाण्ड* की ओर अग्रसर होते हुए वे *प्रायश्चित्तं विमर्शनम्*—असली प्रायश्चित्त तो पूर्ण ज्ञान है—का सुझाव रखते हैं। *विमर्शन* चिन्तनपरक ज्ञान के अनुशीलन का द्योतक है। *भगवद्गीता* में ज्ञान से विहीन कर्मियों की तुलना गधों से की गई है। *भगवद्गीता* (७.१५) में कृष्ण कहते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

"वे दुष्ट जो नितान्त मूर्ख हैं, मनुष्यों में अधम हैं, जिनका ज्ञान माया ने हर लिया है और जो असुरों के नास्तिकतावादी स्वभाव में भागीदार बनते हैं, वे मेरी शरण में नहीं आते।" इस तरह वे कर्मी जो पापकर्म में लिप्त रहते हैं और जीवन के असली लक्ष्य को नहीं जानते मूढ़ या गधे कहलाते हैं। किन्तु *विमर्शन* की व्याख्या *भगवद्गीता* में भी (१५.१५) हुई है जहाँ पर कृष्ण कहते हैं—वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः—वैदिक अध्ययन का उद्देश्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को समझना है। यदि कोई वेदान्त का अध्ययन करता है और चिन्तनपरक ज्ञान में ही प्रगति करता है परन्तु परमेश्वर को नहीं समझता तो वह मूढ़ का मूढ़ बना रहता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है—जब मनुष्य कृष्ण को समझता है और उनकी शरण में आ जाता है तभी उसे असली ज्ञान प्राप्त

होता है (*बहूनां जन्मनामन्तेज्ञानवान् मां प्रपद्यते*)। इसलिए विद्वान तथा भौतिक कल्मष से मुक्त बनने के लिए मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण को समझने का प्रयास करे, क्योंकि ऐसा करने से वह समस्त पवित्र तथा अपवित्र कर्मों (पाप-पुण्य) तथा उनके फलों से तुरन्त छूट जाता है।

नाश्नतः पथ्यमेवान्नं व्याधयोऽभिभवन्ति हि ।
एवं नियमकृद्राजन्शनैः क्षेमाय कल्पते ॥ १२॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अश्नतः—खाने वाला; पथ्यम्—उपयुक्त; एव—निस्सन्देह; अन्नम्—भोजन; व्याधयः—विभिन्न प्रकार के रोग; अभिभवन्ति—घेर लेते हैं; हि—निस्सन्देह; एवम्—इसी प्रकार; नियम-कृत्—नियमों का पालन करने वाला; राजन्—हे राजा; शनैः—धीरे-धीरे; क्षेमाय—कल्याण के हेतु; कल्पते—स्वस्थ हो जाता है।

हे राजन्! यदि रुग्ण व्यक्ति वैद्य द्वारा बताया गया शुद्ध अदूषित अन्न खाता है, तो वह धीरे-धीरे अच्छा हो जाता है और तब रोग का संक्रमण उसे छू तक नहीं पाता। इसी तरह यदि कोई ज्ञान के विधि-विधानों का पालन करता है, तो वह धीरे-धीरे भौतिक कल्मष से मोक्ष की ओर प्रगति करता है।

तात्पर्य : भले ही मनुष्य ज्ञान का अनुशीलन मानसिक चिन्तन द्वारा करता रहे, किन्तु यदि वह शास्त्रों द्वारा तथा अगले श्लोक में बताये गये विधि-विधानों का पालन करता है, तो वह धीरे-धीरे शुद्ध बन जाता है। इसलिए ज्ञान का पद-कर्म के पद से श्रेयस्कर है। कर्म के पद से नारकीय अवस्थाओं में गिरने की सम्भावना सदा रहती है, किन्तु ज्ञान के पद पर वह नारकीय जीवन से बच जाता है, यद्यपि वह छूत से पूरी तरह मुक्त नहीं हुआ होता। कठिनाई यह है कि ज्ञान के पद पर मनुष्य यह सोचता है कि वह मुक्त हो चुका है और नारायण या भगवान् बन चुका है। अज्ञान का यह दूसरा चरण है।

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन

स्त्वय्यस्तभावाद् अविशुद्धबुद्धयः।

आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः

पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥

(भागवत १०.२.३२)

अज्ञानवश मनुष्य अपने को भौतिक कल्मष से मुक्त सोचता है, जबकि वास्तव में वह ऐसा होता नहीं। इसलिए ब्रह्मज्ञान तक ऊपर उठ जाने पर भी मनुष्य नीचे गिर जाता है, क्योंकि वह कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं की होती। तो भी ज्ञानीजन कम से कम यह तो जानते हैं कि क्या पाप है और क्या पुण्य है और वे शास्त्रों के आदेशों के अनुसार अति सतर्कतापूर्वक कर्म करते हैं।

तपसा ब्रह्मचर्येण शमेन च दमेन च ।
त्यागेन सत्यशौचाभ्यां यमेन नियमेन वा ॥ १३ ॥

देहवाग्बुद्धिजं धीरा धर्मज्ञाः श्रद्धयान्विताः ।
क्षिपन्त्यघं महदपि वेणुगुल्ममिवानलः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

तपसा—तपस्या या भौतिक भोग का स्वेच्छा से तिरस्कार द्वारा; ब्रह्मचर्येण—ब्रह्मचर्य द्वारा; शमेन—मन को वश में करने से; च—तथा; दमेन—इन्द्रियों को पूरी तरह वश में करने से; च—भी; त्यागेन—स्वेच्छा से उत्तम कार्यों के लिए दान देने से; सत्य—सत्यता से; शौचाभ्याम्—तथा अपने आपको भीतर-बाहर से स्वच्छ रखने के विधानों का पालन करने से; यमेन—शाप देने तथा अहिंसा से बचने से; नियमेन—भगवान् के नाम का नियमित कीर्तन करने से; वा—तथा; देह-वाक्-बुद्धि-जम्—शरीर, वाणी तथा बुद्धि के द्वारा सम्पन्न; धीराः—धीर लोग; धर्म-ज्ञाः—धार्मिक सिद्धान्तों के ज्ञान से पूरित; श्रद्धया अन्विताः—श्रद्धा से युक्त; क्षिपन्ति—नष्ट करते हैं; अघम्—सभी प्रकार के पापकर्मों को; महत् अपि—यद्यपि अति महान् तथा निन्दनीय; वेणु-गुल्मम्—बाँस के वृक्ष के नीचे की सूखी लतर; इव—सदृश; अनलः—अग्नि।

मन को एकाग्र करने के लिए मनुष्य को ब्रह्मचर्य जीवन बिताना चाहिए और अधःपतित नहीं होना चाहिए। उसे इन्द्रिय-भोग को स्वेच्छा से त्यागने की तपस्या करनी चाहिए। तब उसे मन तथा इन्द्रियों को वश में करना चाहिए, दान देना चाहिए, सत्यव्रती, स्वच्छ तथा अहिंसक होना चाहिए, विधि-विधानों का पालन करना चाहिए और नियमपूर्वक भगवन्नाम का कीर्तन करना चाहिए। इस तरह धार्मिक सिद्धान्तों को जानने वाला धीर तथा श्रद्धावान् व्यक्ति अपने शरीर, वचन तथा मन से किये गये सारे पापों से अस्थायी रूप से शुद्ध हो जाता है। ये पाप बाँस के पेड़ के नीचे की लतरों की सूखी पत्तियों के समान हैं,

जिन्हें अग्नि द्वारा जलाया जा सकता है, यद्यपि उनकी जड़ें अवसर पाते ही फिर से उगने के लिए शेष बची रहती हैं।

तात्पर्य : *स्मृति शास्त्र* में *तप:* की व्याख्या इस प्रकार हुई है : *मनसश्चेन्द्रियाणाँ च एकाग्रं परमं तप:अवसर*—मन तथा इन्द्रियों का पूर्ण नियंत्रण तथा एक ही प्रकार के कार्य में उनकी पूर्ण एकाग्रता *तप:* कहलाती है। हमारा कृष्णभावनामृत-आन्दोलन लोगों को यह शिक्षा देता है कि मन को भक्ति पर किस तरह एकाग्र करना चाहिए। यह उच्चकोटि का *तप:* है। ब्रह्मचर्य के आठ पक्ष होते हैं—मनुष्य को न तो स्त्रियों के बारे में सोचना चाहिए, न यौन जीवन की चर्चा करनी चाहिए, न स्त्रियों के साथ क्रीडा करनी चाहिए, न स्त्रियों की ओर कामुक होकर देखना चाहिए, न उनसे घनिष्ठतापूर्वक बातें करनी चाहिए, न संभोग में रत होने का निर्णय लेना चाहिए, न ही यौन जीवन के लिए कभी प्रयास करना चाहिए। मनुष्य को स्त्रियों के बारे में सोचना या उनकी ओर ताकना तक नहीं चाहिए, बातें करना तो दूर रहा। इसे ही उच्चकोटि का ब्रह्मचर्य कहते हैं। यदि कोई ब्रह्मचारी या संन्यासी एकान्त में किसी स्त्री से बातें करता है तो स्वाभाविक है कि बिना किसी के जाने ही यौन जीवन की सम्भावना बनी रहती है। इसलिए पूर्ण ब्रह्मचारी इसके विपरीत अभ्यास करता है। यदि वह पूर्ण ब्रह्मचारी है, तो वह बहुत आसानी से मन तथा इन्द्रियों को वश में कर सकता है, दान दे सकता है, सत्य बोल सकता है, आदि आदि। किन्तु प्रारम्भ में उसे जीभ तथा खाने पर नियंत्रण करना होगा।

भक्तिमार्ग में मनुष्य को सर्वप्रथम जीभ को नियंत्रित करके दृढ़तापूर्वक विधि-विधानों का पालन करना चाहिए (*सेवान्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यद:*)। जीभ को वश में किया जा सकता है यदि मनुष्य हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करे, कृष्ण से सम्बद्ध विषयों के अतिरिक्त अन्य किसी विषय पर न बोले तथा ऐसी किसी वस्तु का आस्वादन न करे जो कृष्ण को अर्पित न की गई हो। यदि वह इस तरह जीभ को वश में कर सकता है, तो ब्रह्मचर्य तथा अन्य शुद्ध करने वाली प्रक्रियाएँ स्वत: ही पीछे-पीछे चलेंगी। अगले श्लोक में बतलाया जायेगा कि भक्ति का मार्ग परम

पूर्ण है, अतएव यह कर्ममार्ग तथा ज्ञानमार्ग से श्रेष्ठतर है। वेदों से उद्धरण देते हुए श्रील वीरराघव आचार्य बतलाते हैं कि जितनी पूर्णता से सम्भावित हो, व्रत रखना तपस्या में सम्मिलित हो जाता है (*तपसानाशकेन*)। श्रील रूप गोस्वामी ने भी *अत्याहार* अर्थात् अधिक भोजन करने को आध्यात्मिक जीवन की प्रगति में बाधक बतलाया है। यही नहीं, *भगवद्गीता* (६.१७) में कृष्ण कहते हैं—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दु:खहा॥

"जो खाने, सोने, मनोरंजन तथा काम करने की आदतों में नियमित रहता है, वह योगाभ्यास द्वारा समस्त भौतिक क्लेशों को कम कर सकता है।"

श्लोक १४ में *धीरा:* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है "जो सभी परिस्थितियों में अविचल रहते हैं।" *भगवद्गीता* (२.१४) में कृष्ण अर्जुन को बताते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्ण-सुखदु:खदा:।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

"हे कुन्तीपुत्र! सुख तथा दुख का क्षणिक उदय तथा कालक्रम में उनका अन्तर्धान होना सर्दी तथा गर्मी की ऋतुओं के आने-जाने के समान है। हे भरतवंशी! वे इन्द्रियबोध से उत्पन्न होते हैं और मनुष्य को चाहिए कि अविचल भाव से उनको सहन करना सीखे।" भौतिक जगत में अनेक उलझनें आती हैं (*अध्यात्मिक, अधिदैविक तथा अधिभौतिक*)। जिस व्यक्ति ने सभी परिस्थितियों में इन संकटों को सहन करना सीख लिया है, वह *धीर* कहलाता है।

केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणा: ।
अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्कर: ॥ १५॥

शब्दार्थ

केचित्—कुछ लोग; केवलया भक्त्या—शुद्ध भक्ति के द्वारा; वासुदेव—सर्वव्यापक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के प्रति; परायणाः—पूर्णतया आसक्त (तपस्या, ज्ञान के अनुशीलन या पुण्यकर्मों पर आश्रित रहे बिना ऐसी सेवा के प्रति); अघम्—सभी प्रकार के पापपूर्ण फल; धुन्वन्ति—विनष्ट करते हैं; कात्स्न्येन—पूर्णतया (इसकी) सम्भावना के बिना कि पापपूर्ण इच्छाएँ पुनर्जीवित होंगी; नीहारम्—कुहरा; इव—सदृश; भास्करः—सूर्य।

कोई विरला व्यक्ति ही, जिसने कृष्ण की पूर्ण शुद्ध भक्ति को स्वीकार कर लिया है, उन पापपूर्ण कार्यों के खरपतवार को समूल नष्ट कर सकता है जिनके पुनरुज्जीवित होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। वह भक्तियोग सम्पन्न करके इसे कर सकता है, जिस तरह सूर्य अपनी किरणों से कुहरे को तुरन्त उड़ा देता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में शुकदेव गोस्वामी ने यह उदाहरण दिया था कि बाँस के पेड़ के नीचे की लतरों की सूखी पत्तियाँ अग्नि द्वारा पूरी तरह से जलाकर राख कर दी जाती है, यद्यपि लतरें फिर से अंकुरित हो सकती है, क्योंकि उनकी जड़ें अब भी जमीन के भीतर हैं। इसी तरह चूँकि पापपूर्ण इच्छा रूपी जड़ उस मनुष्य के हृदय से विनष्ट नहीं हुई है, जो ज्ञान का तो अनुशीलन कर रहा है, किन्तु जिसमें भक्ति के प्रति रुचि नहीं है, अत: उसकी पापपूर्ण इच्छाएँ पुन: प्रकट होने की सम्भावना रहती है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१०.१४.४) में कहा गया है—

श्रेय:सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो

क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये॥

जो चिन्तक पाप तथा पुण्य कर्मों (शुभाशुभ) में अन्तर करते हुए भौतिक जगत का ठोस ज्ञान प्राप्त करने के लिए अत्यधिक श्रम करते हैं, किन्तु भक्ति को प्राप्त नहीं हैं वे भौतिक कार्यों के प्रति उन्मुख रहते हैं। वे नीचे गिर कर सकाम कर्मों में लिप्त हो सकते हैं। किन्तु यदि कोई व्यक्ति भक्ति के प्रति आसक्त होता है, तो भौतिक भोग की उसकी इच्छाएँ बिना किसी पृथक् प्रयास के स्वत: ही नष्ट हो जाती हैं। *भक्ति: परेशानुभवो विरक्तिन्यंत्र च*—यदि कोई कृष्णभावनामृत में उन्नत है, तो उसके लिए भौतिक कर्म, पाप तथा पुण्यकर्म दोनों ही, स्वत: स्वादहीन बन जाते हैं। यही कृष्णभावनामृत की परीक्षा है। पाप तथा पुण्यकर्म दोनों ही वास्तव में अज्ञान के कारण होते हैं, क्योंकि कृष्ण के नित्य दास के रूप में जीव को अपनी निजी इन्द्रियतृप्ति के लिए कुछ भी नहीं

करना होता। अतः ज्योंही वह भक्ति के पद को प्राप्त करता है, वह पाप तथा पुण्य कर्मों के प्रति अपनी आसक्ति का परित्याग कर देता है और केवल उसी में रुचि लेता है, जिसमें कृष्ण तुष्ट हों। भक्ति की यह विधि या कृष्ण की भक्ति (*वासुदेव-परायण*) मनुष्य को सारे कर्मफलों से छुटकारा दिलाती है।

चूँकि महाराज परीक्षित महान् भक्त थे, अतएव उनके गुरु शुकदेव गोस्वामी द्वारा *कर्मकाण्ड* तथा *ज्ञानकाण्ड* विषयक दिये गये उत्तर उन्हें तुष्ट नहीं कर सके। इसलिए शुकदेव गोस्वामी ने अपने शिष्य के हृदय की बात जानते हुए भक्ति के दिव्य आनन्द की व्याख्या की। *केचित्* शब्द का यहाँ पर अर्थ है ''कुछ लोग, सभी नहीं।'' हर व्यक्ति कृष्णभावनाभावित नहीं हो सकता। जैसाकि कृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.३) में बतलाया है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।

यतताम् अपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

''कई हजारों मनुष्यों में से कोई एक सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है और इस तरह सिद्धि प्राप्त करने वालों में से मुश्किल से कोई एक मुझे वास्तव में जान पाता है।'' व्यावहारिक रूप से: कोई भी व्यक्ति कृष्ण को यथारूप में नहीं जान सकता, क्योंकि कृष्ण को पुण्यकर्मों या सर्वोच्च ज्ञान की उपलब्धि द्वारा नहीं समझा जा सकता। वस्तुतः सर्वोच्च ज्ञान तो कृष्ण को समझना है। कृष्ण को न समझ पाने वाले अज्ञानी लोग यह सोचकर गर्व से फूले रहते हैं कि वे मुक्त हो गये हैं या कि वे कृष्ण या नारायण बन चुके हैं। यही अज्ञान है।

भक्ति की शुद्धता को सूचित करने के लिए श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृत सिन्धु* (१.१.११) में कहा है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

''मनुष्य को चाहिए कि परम भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति समर्पित होकर तथा भौतिक

लाभ या सकाम कर्मों अथवा दार्शनिक चिन्तन के द्वारा लाभ की इच्छा से रहित होकर करे। यही शुद्धभक्ति कहलाती है।'' श्रील रूप गोस्वामी आगे यह भी बतलाते हैं कि *भक्ति क्लेशघ्नी शुभदा* है अर्थात् जो व्यक्ति भक्ति अंगीकार करता है उसके सभी प्रकार के अनावश्यक श्रम तथा भौतिक क्लेश पूर्णतया समाप्त हो जाते हैं और उसे पूर्ण सौभाग्य प्राप्त होता है। भक्ति इतनी प्रबल है कि यह *मोक्षलघुताकृत* भी कही जाती है। दूसरे शब्दों में, यह मोक्ष की महत्ता को कम करती है।

अभक्तों को भौतिक कष्टों का सामना करना पड़ता है, क्योंकि उनमें सकाम पापकर्म करने की प्रवृत्ति होती है। उनके हृदय में पापकर्म करने की इच्छा अज्ञान के कारण बनी रहती है। ये पापकर्म तीन कोटियों में विभाजित किये जाते हैं—*पातक, महापातक* तथा *अतिपातक*। इसके दो विभाग भी किये जाते है—*प्रारब्ध* तथा *अप्रारब्ध*। प्रारब्ध उन पापफलों का द्योतक है जिन्हें वर्तमान समय में भोगा जा रहा होता है और *अप्रारब्ध* द्योतक है...सम्भाव्य कष्ट के स्रोतों का। जब भी पापों के *बीज* फलित नहीं होते तो ये फल *अप्रारब्ध* कहलाते है। पापकर्म के ये बीज अदृश्य होते हैं, किन्तु ये असीम होते हैं असीम और इसका कोई भी पता नहीं लगा पाता है कि सर्वप्रथम उन्हें कब बोया गया था। , वे पापफल जो अंकुरित हो चुके हैं और जो प्रारब्ध कहलाते हैं और उनके कारण मनुष्य को या तो निम्न कुल में जन्म लेते या अन्य कष्टों से पीड़ित होते देखा जाता है।

किन्तु जब मनुष्य भक्ति ग्रहण करता है, तो पापमय जीवन की सारी अवस्थाएँ, जिनमें *प्रारब्ध, अप्रारब्ध* तथा *बीज* सम्मिलित हैं, समाप्त हो जाती हैं। *भगवद्गीता* (११.१४.१९) में भगवान् कृष्ण उद्धव को बताते हैं—

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः॥

''हे उद्धव! मुझसे सम्बन्धित भक्ति उस प्रज्ज्वलित अग्नि के समान है, जो इसमें डाले गये पापकर्म रूपी सारे ईंधन को जलाकर भस्म कर डालती है।'' यह भक्ति जिस तरह से पापमय जीवन के फलों को समाप्त करती है, उसकी व्याख्या *श्रीमद्भागवत* (३.३३.६) में एक श्लोक में

हुई है, जो भगवान् कपिलदेव ने अपनी माता देवहूति को उपदेश देते समय कहा था। देवहूति ने कहा—

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्

यत्प्रह्वणाद् यत्स्मरणादपि क्वचित्।

श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते

कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात्॥

"हे प्रभु! यदि चांडालों के परिवार में उत्पन्न हुआ व्यक्ति भी आपके यश को सुनता और बारम्बार उसका कीर्तन करता है, आपको नमस्कार करता है और आपका स्मरण करता है, तो वह ब्राह्मण से बढ़कर है, अतएव यज्ञ करने का पात्र है। इसलिए जिसने आपका साक्षात् दर्शन किया हो उसके विषय में क्या कहा जाए?"

पद्मपुराण में एक उक्ति है कि जिन व्यक्तियों के हृदय भगवान् विष्णु की भक्ति के प्रति अनुरक्त हैं, वे जीवन के समस्त पापफलों से तुरन्त मुक्त कर दिये जाते हैं। ये फल सामान्यतया चार अवस्थाओं में रहते हैं। इनमें से कुछ तुरन्त फल देने वाले होते हैं, कुछ बीज रूप में रहते हैं कुछ अव्यक्त रहते हैं और कुछ वर्तमान से सम्बन्धित होते हैं। ऐसे सारे फल भक्ति द्वारा तुरन्त निरस्त हो जाते हैं। जब किसी के हृदय में भक्ति उपस्थित होती है, तो पापकर्म करने की इच्छाओं के लिए उसमें कोई स्थान नहीं रह पाता। पापमय जीवन अज्ञान के कारण होता है, जिसका अर्थ है ईश्वर के नित्य दास के रूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति को भूल जाना। किन्तु पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होने पर उसे अनुभूति होती है कि वह ईश्वर का नित्य दास है।

इस सन्दर्भ में श्रील गोस्वामी की टीका है कि भक्ति के दो विभाग किये जा सकते हैं (१) *सन्तता*—वह भक्ति जो श्रद्धा तथा प्रेम से निरन्तर चालू रहती है तथा (२) *कादाचित्की*—वह भक्ति जो निरन्तर चालू नहीं रहती, अपितु कभी-कभी जाग्रत होती है। सन्तता भक्ति को भी दो विभागों में बाँटा जा सकता है (१) *किञ्चित् आसक्ति सहित सम्पन्न सेवा (२) रागानुगा भक्ति।*

कादाचित्की भक्ति के तीन विभाग किये जा सकते हैं—(१) *रागाभासमयी*—वह भक्ति जिसमें मनुष्य अनुरक्तप्राय होता है (२) *रागाभासशून्य स्वरूपभूता*—भक्ति जिसमें रागानुग प्रेम नहीं होता, किन्तु मनुष्य सेवा करने की स्वाभाविक स्थिति को चाहता है तथा (३) *आभास रूपा*—भक्ति की किञ्चित् झलक। जहाँ तक प्रायश्चित्त की बात है, यदि किसी को भक्ति की किञ्चित् झलक प्राप्त हो जाती है, तो प्रायश्चित्त करने की सभी आवश्यकताएँ नहीं रह जातीं। अतएव जब मनुष्य को रागानुग प्रेम प्राप्त हो चुका हो और उसके साथ प्रेम से लगाव हो, जो कि कादाचित्की की प्रगति के लक्षण है, तो प्रायश्चित्त निश्चित्त रूप से अनावश्यक होता है। यहाँ तक कि *आभासरूपा भक्ति* अवस्था में पापमय जीवन के सारे पाप फलों का उन्मूलन एवं विनाश हो जाता है। श्रील जीव गोस्वामी का मत है कि *कात्स्नेंय* शब्द का अर्थ है कि पापकर्म करने की इच्छा होने पर भी उस इच्छा का उन्मूलन केवल *आभासरूपा भक्ति* से हो जाता है। *भास्कर* अर्थात् सूर्य का दृष्टान्त अत्यन्त उपयुक्त है। भक्ति के आभास रूप की उपमा उषाकाल से दी गई है और पापकर्मों के संचय की उपमा कुहरे से दी गई है। चूँकि कुहरा पूरे आकाश में नहीं छाया रहता, अत: सूर्य को अपनी प्रथम किरणें फैलाने के अतिरिक्त कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं रहती। इससे कुहरा तुरन्त दूर हो जाता है। इसी तरह यदि किसी का भक्ति से थोड़ा-सा भी सम्बन्ध होता है, तो उसके पापमय जीवन का समस्त कुहरा तुरन्त नष्ट हो जाता है।

न तथा ह्यघवान्राजन्पूयेत तपआदिभि: ।
यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पुरुषनिषेवया ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तथा—उसी तरह; हि—निश्चय ही; अघ-वान्—पापकर्मों से पूर्ण मनुष्य; राजन्—हे राजा; पूयेत—पवित्र हो सकता है; तप:-आदिभि:—तपस्या, ब्रह्मचर्य तथा अन्य संस्कारों को सम्पन्न करने से; यथा—जिस तरह; कृष्ण-अर्पित-प्राण:—भक्त जिसका जीवन कृष्णभावनाभावित हो; तत्-पुरुष-निषेवया—कृष्ण के प्रतिनिधि की सेवा में अपना जीवन लगाने से।

हे राजन्! यदि पापी व्यक्ति भगवान् के प्रामाणिक भक्त की सेवा में लग जाता है और इस तरह यह सीख लेता है कि अपना जीवन किस तरह कृष्ण के चरणकमलों में समर्पित

करना चाहिए तो वह पूर्णतया शुद्ध हो सकता है। तपस्या, ब्रह्मचर्य तथा मेरे द्वारा पहले वर्णित प्रायश्चित्त के अन्य साधनों को सम्पन्न करने मात्र से वह पापी शुद्ध नहीं बन सकता।

तात्पर्य : *तत्पुरुष* द्योतक है कृष्णभावनामृत के प्रचारक का, यथा गुरु का। श्रील नरोत्तमदास ठाकुर ने कहा है, *छाड़िया वैष्णव सेवा निस्तार पायेछे केबा*—प्रामाणिक गुरु अर्थात् आदर्श वैष्णव की सेवा किये बिना ऐसा कौन है, जिसका माया के पाश से उद्धार हो सके? यही भाव अन्य अनेक स्थानों पर भी व्यक्त हुआ है। *श्रीमद्‌भागवत* (५.५.२) में कहा गया है—*महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः*—यदि कोई व्यक्ति माया के पाश से मुक्ति चाहता है, तो उसे शुद्ध भक्त महात्मा की संगति करनी चाहिए। *महात्मा* वह है, जो चौबीसों घंटे भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगा रहता है। जैसा कि *भगवद्‌गीता* (९.१३) में कृष्ण कहते है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिं आश्रिताः।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

"हे पार्थ! मोहमुक्त महात्माजन दैवी प्रकृति के संरक्षण में रहते हैं। वे पूर्णतः भक्ति में निमग्न रहते हैं, क्योंकि वे मुझे आदि तथा अविनाशी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में जानते हैं।" इस तरह महात्मा का लक्षण यह है कि कृष्ण की सेवा के अतिरिक्त उसके पास कोई अन्य व्यस्तता नहीं रहती। पाप फलों से मुक्त होने, आदि कृष्णभावनामृत को जाग्रत करने तथा कृष्ण-प्रेम करने में प्रशिक्षित होने के लिए मनुष्य को वैष्णव की सेवा करनी चाहिए। यह *महात्मा-सेवा* का फल है। निस्सन्देह, यदि कोई शुद्ध भक्त की सेवा में लग जाता है, तो उसके पापमय जीवन के सारे फल स्वतः नष्ट हो जाते हैं। भक्ति की आवश्यकता पापों के तुच्छ ढेर को नष्ट करने हेतु ही नहीं, अपितु कृष्ण के प्रति हमारे सुप्त प्रेम को जाग्रत करने के लिए भी पड़ती है। जिस तरह सूर्यप्रकाश की पहली झलक पाते ही कुहरा दूर हो जाता है उसी तरह शुद्ध भक्त की सेवा प्रारम्भ करते ही उसके पापफल स्वतः नष्ट हो जाते हैं। किसी पृथक् प्रयास की आवश्यकता नहीं होती।

कृष्णार्पित-प्राणः शब्द उस भक्त का द्योतक है, जो अपना जीवन कृष्ण की सेवा करने में

अर्पित कर देता है, न कि अपने नारकीय जीवन के मार्ग से बचाये जाने के लिए। एक भक्त *नारायण-परायण* या *वासुदेव-परायण* होता है, जिसका अर्थ है, कि वासुदेव-मार्ग या भक्तिमार्ग ही भक्त का जीवन एवं प्राण है। *नारायणपरा: सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति* (*भागवत* ६.१७.२८)—ऐसा भक्त कहीं भी जाने से भयभीत नहीं होता। एक मोक्ष की ओर जाने उच्च लोकों का मार्ग है और दूसरा नरक लोकों में जाने का है, किन्तु *नारायण-परायण* भक्त को जहाँ भी भेजा जाये वह निडर रहता है। वह जहाँ भी रहे एकमात्र कृष्ण का स्मरण करना चाहता है। ऐसे भक्त को नरक तथा स्वर्ग की चिन्ता नहीं सताती। वह तो केवल कृष्ण की सेवा करने में लीन रहता है। जब भक्त को नारकीय दशा में डाल दिया जाता है, तो वह उसे कृष्ण की कृपा मानता है—*तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाण:* (*भागवत* १०.१४.८)। वह विरोध नहीं करता कि, ''ओह! मैं कृष्ण का इतना बड़ा भक्त हूँ। मुझे इस कष्ट में क्यों रखा गया?'' उल्टे वह सोचता है कि, ''यह कृष्ण की कृपा है।'' ऐसा मनोभाव उसी भक्त के लिए सम्भव है, जो कृष्ण के प्रतिनिधि की सेवा में अपने को लगाता है। सफलता का यही रहस्य है।

सध्रीचीनो ह्ययं लोके पन्था: क्षेमोऽकुतोभय: ।
सुशीला: साधवो यत्र नारायणपरायणा: ॥ १७॥

शब्दार्थ

सध्रीचीन:—उपयुक्त; हि—निश्चय ही; अयम्—यह; लोके—संसार में; पन्था:—मार्ग; क्षेम:—मंगलमय, शुभ; अकुत:-भय:—निर्भय; सु-शीला:—अच्छे आचरण वाले; साधव:—साधु पुरुष; यत्र—जहाँ; नारायण-परायणा:—जिन्होंने नारायण के मार्ग अर्थात् भक्ति को अपना सर्वस्व मान लिया है।

सुशील तथा सर्वोत्तम गुणों से युक्त शुद्ध भक्तों के द्वारा पालन किया जाने वाला मार्ग निश्चय ही इस भौतिक जगत का सबसे मंगलमय मार्ग है। यह भय से रहित है और शास्त्रों द्वारा प्रमाणित है।

तात्पर्य : किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि भक्ति अंगीकार करने वाला व्यक्ति वेदों के *कर्मकाण्ड* अनुभाग में संस्तुत अनुष्ठानों को सम्पन्न नहीं कर सकता या कि वह आध्यात्मिक विषयों

पर चिन्तन करने के लिए पर्याप्त शिक्षित नहीं है। मायावादी सामान्यतया यह आरोप लगाते हैं कि *भक्तिमार्ग* स्त्रियों तथा अशिक्षितों के लिए है। यह निराधार आरोप है। *भक्तिमार्ग* का अनुसरण अत्यन्त विद्वान पंडितों, यथा श्री चैतन्य महाप्रभु तथा रामानुजाचार्य जैसे गोस्वामियों, द्वारा किया गया है। *भक्तिमार्ग* के ये ही वास्तविक अनुगामी हैं। कोई चाहे शिक्षित या उच्चकुलीन हो या न हो, उसे इनके ही पदचिह्नों का अनुसरण करना चाहिए। *महाजनो येन गत: स पन्था:*—मनुष्य को महाजनों के मार्ग का पालन करना चाहिए। *महाजन* वे हैं जिन्होंने भक्ति के मार्ग को ग्रहण किया हैं (*सुशीला: साधवो यत्र नारायणपरायणा:*) क्योंकि ऐसे महापुरुष ही पूर्ण पुरुष होते हैं। *श्रीमद्भागवत* (५.१८.१२) में कहा गया है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना

सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुरा: ।

"जिसमें भगवान् के प्रति अविचल भक्ति होती है, उसमें देवताओं के समस्त सद्गुण पाये जाते हैं।" किन्तु जो अल्पज्ञ हैं वे भक्तिमार्ग का गलत अर्थ लगाते हैं, इसलिए वे यह आरोप लगाते हैं कि भक्ति उन लोगों के लिए है, जो अनुष्ठान नहीं सम्पन्न कर सकते या चिन्तन नहीं कर सकते। जैसाकि यहाँ पर *सध्रीचीन:* शब्द से पुष्टि हुई है भक्ति ही वह मार्ग है, जो उपयुक्त है, कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के मार्ग नहीं। मायावादी भले ही *सुशीला: साधव:* (अच्छे आचरण वाले साधु पुरुष) हों, किन्तु इसमें सन्देह ही है कि वास्तव में वे प्रगति कर रहे हैं, क्योंकि उन्होंने भक्तिमार्ग स्वीकार नहीं किया है। दूसरी ओर, जो लोग आचार्यों के मार्ग का अनुसरण करते हैं वे *सुशीला:* तथा *साधव:* हैं। किन्तु इतना ही नहीं, उनका मार्ग *अकुतोभय:* है अर्थात् वह भय से रहित हैं। मनुष्य को चाहिए कि निर्भय होकर बारह महाजनों तथा उनकी परम्परा का अनुगमन करे और माया के पाश से मुक्त हो ले।

प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् ।

न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

प्रायश्चित्तानि—प्रायश्चित्त की विधियाँ; चीर्णानि—अच्छे ढंग से सम्पन्न; नारायण-पराङ्मुखम्—अभक्त; न निष्पुनन्ति—पवित्र नहीं कर सकतीं; राजेन्द्र—हे राजन्; सुरा-कुम्भम्—शराब से भरा पात्र; इव—सदृश; आप-गाः—नदियों का जल।

हे राजन्! जिस तरह सुरा से सने हुए पात्र को अनेक नदियों के जल से धोने पर भी शुद्ध नहीं किया जा सकता, उसी तरह अभक्तों को प्रायश्चित्त की विधियों से शुद्ध नहीं बनाया जा सकता, भले ही वे उन्हें बहुत अच्छी तरह से सम्पन्न क्यों न करें।

तात्पर्य : प्रायश्चित्त की विधियों से लाभ उठाने के लिए मनुष्य को थोड़ा-बहुत निष्ठावान तो होना ही चाहिए, अन्यथा उसके शुद्ध होने की सम्भावना नहीं रहती। इस श्लोक में स्पष्ट है कि वे लोग जो कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड का लाभ उठाते हैं, किन्तु किञ्चित् भी भक्ति नहीं करते इन अन्य मार्गों का अनुसरण करने-मात्र से शुद्ध नहीं किये जा सकते। *प्रायश्चित्तानि* शब्द *कर्मकाण्ड* तथा *ज्ञानकाण्ड* दोनों को ही सूचित करने के लिए बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। इसीलिए नरोत्तम दास ठाकुर कहते हैं—*कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, केवल विषेर भाण्ड*। इस तरह वे कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के मार्गों की उपमा विष के पात्रों से देते हैं। सुरा तथा विष एक ही कोटि में आते हैं। *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक के अनुसार, जिस व्यक्ति ने भक्तिमार्ग के बारे में काफी सुन रखा है, किन्तु जो उसमें अनुरक्त नहीं है, जो कृष्णभावनाभावित नहीं है, वह सुरा के पात्र के तुल्य है। ऐसा व्यक्ति भक्ति के रंच मात्र स्पर्श के बिना शुद्ध नहीं किया जा सकता।

सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयोर्
निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह ।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान्
स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सकृत्—केवल एक बार; मनः—मन; कृष्ण-पद-अरविन्दयोः—कृष्ण के दो चरणकमलों के प्रति; निवेशितम्—पूर्ण शरणागत; तत्—कृष्ण का; गुण-रागि—जो गुण, नाम, यश तथा साज-सामग्री के प्रति कुछ-कुछ अनुरक्त रहता है; यैः—जिनके द्वारा; इह—इस जगत में; न—नहीं; ते—ऐसे पुरुष; यमम्—मृत्यु के अधिष्ठाता यमराज को; पाश-भृतः—

(पापी पुरुषों को पकड़ने के लिए) रस्सी (पाश) रखने वाले; च—तथा; तत्—उसके; भटान्—आदेश वाहकों या दूतों को; स्वप्ने अपि—स्वप्न में भी; पश्यन्ति—देखते हैं; हि—निस्सन्देह; चीर्ण-निष्कृताः—सही प्रायश्चित्त करने वाले।

यद्यपि जिन पुरुषों ने कृष्ण का पूर्ण साक्षात्कार नहीं किया है, तो भी यदि एक बार भी उनके चरणकमलों की पूर्णरूपेण शरण ग्रहण कर ली है और जो उनके नाम, रूप, गुणों तथा लीलाओं से आकृष्ट हो चुके हैं, वे सारे पापकर्मों से पूर्णतया मुक्त हो जाते हैं, क्योंकि इस तरह उन्होंने प्रायश्चित्त की सही विधि को स्वीकार किया है। ऐसे शरणागत व्यक्तियों को यमराज या उनके दूत, जो कि पापी को बाँधने के लिए रस्सियाँ लिए रहते हैं, स्वप्न में भी दिखाई नहीं पड़ते।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१८.६६) में कृष्ण कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

“समस्त प्रकार के धर्म का परित्याग करो और मेरी शरण में आओ। मैं समस्त पापों से तुम्हारा उद्धार कर दूँगा। डरो मत।” यहाँ पर इसी सिद्धान्त का वर्णन हुआ है (*सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयोः*)। यदि *भगवद्गीता* का अध्ययन करके कोई कृष्ण की शरण ग्रहण करने का निश्चय करता है, तो वह तुरन्त ही सारे पाप-फलों से मुक्त हो जाता है। यह भी महत्त्वपूर्ण है कि शुकदेव गोस्वामी *वासुदेव परायण* तथा *नारायणपरायण* शब्दों का कई बार प्रयोग करने के बाद अन्त में *कृष्णपदारविन्दयोः* कहते हैं। इस तरह वे इंगित करते हैं कि नारायण तथा वासुदेव दोनों ही के उद्गम कृष्ण हैं। यद्यपि नारायण तथा वासुदेव कृष्ण से भिन्न नहीं हैं, किन्तु एकमात्र कृष्ण की शरण में जाने से मनुष्य उनके सारे अंशों—यथा नारायण, वासुदेव तथा गोविन्द—को पूर्णतया समर्पित हो जाता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (७.७) में कृष्ण कहते हैं—*मत्तः परतरम् नान्यत्*—मुझसे बढ़कर कोई सत्य नहीं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अनेक नाम तथा रूप हैं, किन्तु कृष्ण परम रूप हैं (*कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*)। इसलिए कृष्ण नए भक्तों के लिए संस्तुति करते हैं कि वे एकमात्र उन्हीं की शरण में आयें (*माम् एकम्*)। चूँकि नए भक्त यह नहीं समझ सकते कि

नारायण, वासुदेव तथा गोविन्द रूप क्या हैं, इसलिए कृष्ण प्रत्यक्ष कहते हैं *मामेकम्*। यहाँ पर इसका समर्थन *कृष्णपदारविन्दयोः* शब्द से भी होता है। नारायण स्वयं नहीं बोलते, किन्तु कृष्ण या वासुदेव बोलते हैं—*भगवद्गीता* इसका उदाहरण है। अतएव *भगवद्गीता* के निर्देश का पालन करने का अर्थ है कृष्ण की शरण ग्रहण करना। और इस तरह से शरण ग्रहण करना ही भक्तियोग की सर्वोच्च सिद्धि है।

परीक्षित महाराज ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा था कि मनुष्य को नारकीय जीवन की विविध दशाओं में गिरने से किस तरह बचाया जा सकता है। इस श्लोक में शुकदेव गोस्वामी यह उत्तर देते हैं कि जिस आत्मा ने कृष्ण की शरण ग्रहण कर ली है, वह नरक नहीं जा सकता। वहाँ जाने की बात दूर, वह अपने स्वप्नों में भी न तो यमराज को, न ही उनके दूतों को, जो मनुष्य को ले जाने में समर्थ हैं, देखता है। दूसरे शब्दों में, यदि कोई नरक में गिरने से अपने को बचाना चाहता है, तो उसे पूरी तरह से कृष्ण की शरण में जाना चाहिए। *सकृत* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह सूचित करता है कि यदि कोई निष्ठापूर्वक एक बार भी कृष्ण की शरण ग्रहण करता है, तो वह बचा लिया जाता है, भले ही पापकर्म करने के कारण संयोगवश वह नीचे गिर रहा हो। इसीलिए *भगवद्गीता* (९.३०) में कृष्ण कहते हैं—

अपिचेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यमा।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

"यदि कोई जघन्यतम कर्म भी करता है, किन्तु यदि वह भक्ति में रत रहता है, तो उसे साधु मानना चाहिए, क्योंकि वह समुचित विधि से अवस्थित हो गया है।" यदि मनुष्य क्षण-भर के लिए भी कृष्ण को नहीं भूलता तो वह सुरक्षित है, चाहे वह पापकर्म करने से संयोगवश नीचे क्यों न गिर गया हो।

भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय (२.४०) में भगवान् यह भी कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

"इस प्रयास में न तो हानि होती है, न ही ह्रास, अपितु इस पथ पर की गई अल्प प्रगति भी महान् भय से रक्षा कर सकती है।"

गीता में अन्यत्र (६.४०) भगवान् कहते हैं—*न हि कल्याणकृत कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति*—जो व्यक्ति शुभकार्य करता है, वह कभी बुराई से परास्त नहीं होता। सर्वोच्च कल्याण (शुभ कार्य) तो कृष्ण की शरण में जाना है। नारकीय जीवन में गिरने से अपने को बचाने का यही एकमात्र मार्ग है। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती ने इसकी पुष्टि इस प्रकार से की है—

कैवल्यं नरकायते त्रिदशपूराकापुष्पायते

दुर्दान्तेन्द्रियकालसर्पपटली प्रोत्खात दंष्ट्रायते।

विश्वं पूर्णसुखायते विधिमहेन्द्रादिश्च कीटायते

यत्कारुण्यकटाक्षवैभववतां तं गौरमेव स्तुमः॥

जिस व्यक्ति ने कृष्ण की शरण ग्रहण कर ली है उसके पापकर्मों की उपमा उस सर्प से दी गई है, जिसके विषदन्त निकाल दिये गये हैं (*प्रोत्खात दंष्ट्रायते*)। ऐसे सर्प से आगे कोई डर नहीं रहता। वस्तुतः, मनुष्य को कृष्ण की शरण ग्रहण करने के बलबूते पर पापकर्म नहीं करने चाहिए। किन्तु यदि कृष्ण के शरणागत हुआ कोई व्यक्ति अपनी पुरानी आदतों के कारण कोई पापकर्म कर बैठता है, तो ऐसे पापकर्मों का कोई विनाशकारी प्रभाव नहीं होता। इसलिए मनुष्य को कृष्ण के चरणकमलों में दृढ़ता से लग जाना चाहिए और गुरुजनों के निर्देशन में उनकी सेवा करनी चाहिए। इस तरह वह सभी परिस्थितियों में *अकुतोभय* अर्थात् भय से रहित होगा।

अत्र चोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
दूतानां विष्णुयमयोः संवादस्तं निबोध मे ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अत्र—इस सम्बन्ध में; च—भी; उदाहरन्ति—उदाहरण देते हैं; इमम्—यह; इतिहासम्—(अजामिल का) इतिहास; पुरातनम्—अत्यन्त प्राचीन; दूतानाम्—दूतों का; विष्णु—भगवान् विष्णु के; यमयोः—तथा यमराज के; संवादः—बातचीत; तम्—उसको; निबोध—समझने का प्रयास करो; मे—मुझसे।.

इस सम्बन्ध में विद्वान जन तथा सन्त पुरुष एक अत्यन्त प्राचीन ऐतिहासिक घटना का वर्णन करते हैं जिसमें भगवान् विष्णु तथा यमराज के दूतों के बीच संवाद हआ था। कृपा करके इसे मुझसे सुनिये।

तात्पर्य : कभी-कभी उन मूर्खों द्वारा पुराणों या पुरातन इतिहास की उपेक्षा की जाती है, जो उनके विवरणों को काल्पनिक मानते हैं। वस्तुतः पुराण अथवा ब्रह्माण्ड के प्राचीन इतिहास कालक्रमानुसार न होते हुए भी तथ्यात्मक हैं। पुराण उन मुख्य घटनाओं को अंकित करते हैं, जो लाखों-करोड़ों वर्ष पूर्व न केवल इस लोक में, अपितु ब्रह्माण्ड के अन्य लोकों में घटित हुई हैं। इसलिए सारे विद्वान तथा अनुभवी वैदिक पंडित पुराणों की घटनाओं का सन्दर्भ देकर बात कहते हैं। श्रील रूप गोस्वामी पुराणों को वेदों के ही समान महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इसलिए *भक्तिरसामृत-सिन्धु* में वे *ब्रह्म यामल* का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करते हैं—

श्रुतिस्मृतिपुराणादिपञ्चरात्रविधिं विना।

ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते॥

“ऐसी भगवद्भक्ति जो उपनिषदों, पुराणों तथा नारद पञ्चरात्र जैसे प्रामाणिक वैदिक ग्रन्थों की अवज्ञा करती है, समाज में अनावश्यक उत्पात है।” कृष्णभक्त को न केवल वेदों का, अपितु पुराणों का भी सन्दर्भ देना चाहिए। पुराणों को मूर्खतावश काल्पनिक नहीं मानना चाहिए। यदि वे काल्पनिक होते तो शुकदेव गोस्वामी अजामिल के जीवन से सम्बद्ध प्राचीन ऐतिहासिक घटना को सुनाने का कष्ट न उठाते। अब यह इतिहास निम्नवत् प्रारम्भ होता है।

कान्यकुब्जे द्विजः कश्चिद्दासीपतिरजामिलः ।
नाम्ना नष्टसदाचारो दास्याः संसर्गदूषितः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कान्य-कुब्जे—कान्यकुब्ज नगर में (कानपुर के निकट का नगर कन्नौज); द्विजः—ब्राह्मण; कश्चित्—कोई; दासी-पतिः—निम्न श्रेणी की स्त्री या वेश्या का पति; अजामिलः—अजामिल; नाम्ना—नामक; नष्ट-सत्-आचारः—जो अपने सारे ब्राह्मण-गुणों को खो चुका था; दास्याः—दासी या वेश्या की; संसर्ग-दूषितः—संगति से दूषित।

कान्यकुब्ज नामक नगर में अजामिल नाम का एक ब्राह्मण था, जिसने एक वेश्या दासी से विवाह करके उस निम्न श्रेणी की स्त्री की संगति के कारण अपने सारे ब्राह्मण-गुण खो दिये।

तात्पर्य : स्त्रियों के साथ अवैध सम्बन्ध होने का दोष यह है कि इससे सारे ब्राह्मण-गुण जाते रहते हैं। भारत में अब भी दासों की एक श्रेणी है, जो शूद्र कहलाती है, जिनकी दासी पत्नियाँ शूद्राणियाँ कहलाती हैं। कभी-कभी ऐसे लोग, जो अत्यधिक कामुक होते हैं, ऐसी दासियों तथा झाड़ू देने वाली स्त्रियों से सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, क्योंकि समाज के उच्चतर तबकों में वे स्त्री-आखेट की आदत में लिप्त नहीं हो सकते, क्योंकि सामाजिक परम्परा के अनुसार इसका कड़ाई से निषेध है। अजामिल नामके एक सुयोग्य ब्राह्मण-युवा ने एक वेश्या की संगति के कारण अपने सारे ब्राह्मण-गुण गँवा दिये, किन्तु अन्ततोगत्वा उसे बचा लिया गया, क्योंकि उसने भक्तियोग की विधि शुरू कर दी थी। इसीलिए पिछले श्लोक में शुकदेव गोस्वामी ने ऐसे व्यक्ति के विषय में कहा है, जिसने केवल एक बार भगवान् के चरणकमलों में आत्मसमर्पण किया हो (*मनः कृष्णपदारविन्दयोः*) या जिसने भक्तियोग विधि अभी-अभी शुरू की हो। भक्तियोग की शुरूआत *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* से अर्थात् भगवान् विष्णु के नाम के श्रवण तथा कीर्तन से होती है जैसाकि महामंत्र—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे—में है। कीर्तन भक्तियोग की शुरुआत है। अतएव श्री चैतन्य महाप्रभु घोषित करते हैं—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

“कलह तथा पाखण्ड के इस युग में उद्धार का एकमात्र उपाय भगवन्नाम का कीर्तन है। इसके अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है। अन्य कोई उपाय नहीं है। अन्य कोई उपाय नहीं है।” भगवन्नाम

के कीर्तन की विधि सदैव अतीव प्रभावशाली है, किन्तु इस कलियुग में यह विशेष रूप से प्रभावशाली है। इसकी व्यावहारिक प्रभावशीलता की व्याख्या अब शुकदेव गोस्वामी द्वारा अजामिल के इतिहास के माध्यम से की जायेगी, जिसे यमदूतों के हाथों से इसीलिए छुड़ाया गया कि उसने नारायण के नाम का उच्चारण किया था। परीक्षित महाराज का मूल प्रश्न था कि नरक में गिरने से या यमदूतों के हाथों में गिरने से कैसे बचा जा सकता है। इसके उत्तर में शुकदेव गोस्वामी भक्तियोग की शक्ति के विषय में परीक्षित महाराज को आश्वस्त करने के लिए यह प्राचीन ऐतिहासिक उदाहरण दे रहे हैं, जिसकी शुरुआत केवल भगवन्नाम के उच्चारण करने से होती है। भक्तियोग के सारे बड़े बड़े अधिकारी कृष्णनाम के कीर्तन से प्रारम्भ होने वाली भक्ति विधि की संस्तुति करते हैं (*तन्नामग्रहणादिभिः*)।

बन्द्यक्षैः कैतवैश्चौर्यैर्गर्हितां वृत्तिमास्थितः ।
बिभ्रत्कुटुम्बमशुचिर्यातयामास देहिनः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

बन्दी-अक्षैः—व्यर्थ ही बन्दी बनाकर; कैतवैः—जुआ खेलने या पासा फेंकने में धोखा देकर; चौर्यैः—चोरी करके; गर्हिताम्—निन्दनीय; वृत्तिम्—पेशों में; आस्थितः—जिसने अपना रखा है (वेश्या की संगति के कारण); बिभ्रत्—पालन करते हुए; कुटुम्बम्—आश्रित पत्नी तथा बच्चों को; अशुचिः—अत्यन्त पापी होने से; यातयाम् आस—कष्ट पहुँचाता था; देहिनः—अन्य जीवों को।

यह पतित ब्राह्मण अजामिल अन्यों को बन्दी बनाकर उन्हें जुए में धोखा देकर या सीधे उन्हें लूट कर कष्ट पहुँचाता था। इस तरह से वह अपनी जीविका चलाता था और अपनी पत्नी तथा बच्चों का भरण-पोषण करता था।

तात्पर्य : यह श्लोक संकेत करता है कि वेश्या के साथ अवैध यौन में लिप्त रहने से ही मनुष्य कितना पतित हो जाता है। सती या उच्चकुलीन स्त्री के साथ अवैध यौन सम्भव नहीं, ऐसा केवल कुल्टा शुद्र स्त्रियों के साथ सम्भव है। समाज वेश्यावृत्ति तथा अवैध यौन की जितनी अधिक अनुमति देता है, उतना ही अधिक प्रोत्साहन ठगों, चोरों, लुटेरों, शराबियों तथा जुआ खेलने वालों

को मिलता है। इसलिए हम अपने कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में सारे शिष्यों को सर्वप्रथम अवैध यौन से बचने की सलाह देते हैं, क्योंकि यह घृणित जीवन की शुरुआत है, जिसके बाद मांसाहार, जुआ खेलना तथा नशा करना क्रमश: एक के बाद एक आते हैं। वस्तुत:, इन पर रोक बहुत कठिन है, किन्तु यदि पूर्णतया कृष्ण की शरण ग्रहण कर ली जाये तो यह सम्भव है, क्योंकि कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के लिए ये गर्हित आदतें धीरे-धीरे अरुचिकर बन जाती हैं। किन्तु यदि समाज में अवैध यौन के बढ़ाने की छूट दे दी जाये तो सारा समाज घृणास्पद बन जायेगा, क्योंकि तब यह धूर्तों, चोरों, ठगों इत्यादि से भर जायेगा।

एवं निवसतस्तस्य लालयानस्य तत्सुतान् ।
कालोऽत्यगान्महान्राजन्नष्टाशीत्यायुष: समा: ॥ २३॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह से; निवसत:—रहते हुए; तस्य—उस (अजामिल) के; लालयानस्य—पालन-पोषण का; तत्—उस (शूद्राणी) के; सुतान्—पुत्रों को; काल:—समय; अत्यगात्—बीत गया; महान्—पर्याप्त; राजन्—हे राजा; अष्टाशीत्या—अट्ठासी; आयुष:—आयु के; समा:—वर्ष।

हे राजन्! इस तरह अनेक पुत्रों वाले अपने परिवार के पालन-पोषण के लिए घृणास्पद पापपूर्ण कार्यों में अपना जीवन बिताते हुए उसके जीवन के अट्ठासी वर्ष बीत गये।

तस्य प्रवयस: पुत्रा दश तेषां तु योऽवम: ।
बालो नारायणो नाम्ना पित्रोश्च दयितो भृशम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

तस्य—उस (अजामिल) का; प्रवयस:—अत्यन्त वृद्ध; पुत्रा:—पुत्र; दश—दस; तेषाम्—उनमें से; तु—लेकिन; य:—एक जो; अवम:—सबसे छोटा; बाल:—बालक; नारायण:—नारायण; नाम्ना—नाम वाला; पित्रो:—माता-पिता का; च—तथा; दयित:—प्रिय; भृशम्—अत्यधिक।

उस वृद्ध अजामिल के दस पुत्र थे, जिनमें से सबसे छोटे का नाम नारायण था। चूँकि नारायण सबसे छोटा पुत्र था, अत: स्वाभाविक है कि वह अपने पिता तथा माता दोनों का ही अत्यन्त लाड़ला था।

तात्पर्य : *प्रवयस:* शब्द अजामिल के पापाचार का सूचक है, क्योंकि अट्ठासी वर्ष का होते

हुए भी उसके एक नन्हा सा पुत्र था। वैदिक संस्कृति के अनुसार ज्योंही मनुष्य पचास वर्ष की आयु प्राप्त कर ले उसे घर का त्याग कर देना चाहिए। उसे घर पर रहकर बच्चे पैदा नहीं करते रहना चाहिए। यौन जीवन की छूट पच्चीस-वर्षों तक अर्थात् पच्चीस से पैंतालीस या अधिक से अधिक पचास वर्ष की आयु के बीच, के लिए, है। इसके बाद यौन जीवन की आदत त्याग देनी चाहिए और तब *वानप्रस्थ* के रूप में घर छोड़कर उचित रीति से संन्यास ग्रहण करना चाहिए। किन्तु वेश्या की संगति के कारण अजामिल ने अपनी सारी ब्राह्मण-संस्कृति खो दी थी और वह अपने तथाकथित गृहस्थ जीवन में भी अत्यन्त पापी बन चुका था।

स बद्धहृदयस्तस्मिन्नर्भके कलभाषिणि ।
निरीक्षमाणस्तल्लीलां मुमुदे जरठो भृशम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; बद्ध-हृदयः—अत्यधिक लिप्त; तस्मिन्—उस; अर्भके—छोटे बच्चे के प्रति; कल-भाषिणि—तोतली भाषा में बोलने वाला; निरीक्षमाणः—देखते हुए; तत्—उसकी; लीलाम्—क्रीड़ाएँ (यथा चलना तथा पिता से बातें करना); मुमुदे—आनन्द लेता; जरठः—वृद्ध व्यक्ति; भृशम्—अत्यधिक।

बालक की तोतली भाषा तथा लड़खड़ाती चाल से वृद्ध अजामिल उसके प्रति अत्यधिक अनुरक्त था। वह उस बालक की देखरेख करता तथा उसकी क्रीड़ाओं का आनन्द लेता।

तात्पर्य : यहाँ पर स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि बालक नारायण इतना छोटा था कि वह न तो ठीक से बोल पाता था, न चल पाता था। चूँकि वह वृद्ध व्यक्ति उस बच्चे से अत्यधिक लिप्त था, अत: वह बच्चे की क्रीड़ाओं से आनन्दित होता था और चूँकि बालक का नाम नारायण था, अत: वह वृद्ध व्यक्ति सदैव नारायण के नाम का उच्चारण करता रहता था। यद्यपि वह आदि नारायण को नहीं, बल्कि उस छोटे बालक को पुकारता था, किन्तु नारायण नाम इतना शक्तिशाली है कि अपने बालक का नाम पुकारने पर भी वह शुद्ध बनता जा रहा था (*हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्*)। इसीलिए श्रील रूप गोस्वामी ने घोषणा की है कि यदि मन किसी तरह से भी कृष्ण के नाम के

प्रति आकृष्ट हो जाये (*तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्*), तो वह मुक्ति के मार्ग पर होता है। हिन्दू समाज में यह प्रथा है कि माता पिता अपने बच्चों के नाम कृष्णदास, गोविन्द दास, नारायण दास तथा वृन्दावन दास आदि रखते हैं। इस तरह वे कृष्ण, गोविन्द, नारायण तथा वृन्दावन के नामों का उच्चारण करते हैं और शुद्ध होने का अवसर प्राप्त करते हैं।

भुञ्जानः प्रपिबन्खादन्बालकं स्नेहयन्त्रितः ।
भोजयन्पाययन्मूढो न वेदागतमन्तकम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

भुञ्जानः—खाते समय; प्रपिबन्—पीते हुए; खादन्—चबाते हुए; बालकम्—बालक को; स्नेह-यन्त्रितः—स्नेह द्वारा बँधा हुआ; भोजयन्—खिलाते हुए; पाययन्—पीने के लिए कुछ देते हुए; मूढः—मूर्ख व्यक्ति; न—नहीं; वेद—जान पाया; आगतम्—आ गयी है; अन्तकम्—मृत्यु।

जब अजामिल भोजन करता तो वह बालक को खाने के लिए पुकारता और जब वह कुछ पीता तो उसे भी पीने के लिए बुलाता। उस बालक की देखरेख करने तथा उसका नाम पुकारने में सदा लगा रहकर अजामिल यह न समझ पाया कि उसका समय अब समाप्त हो चुका है और मृत्यु उसके सिर पर है।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् बद्धजीव पर दयालु रहते हैं। यद्यपि यह व्यक्ति नारायण को पूरी तरह भूल चुका था, किन्तु अपने बच्चे को यह कहकर पुकारता रहता, ''नारायण! आकर भोजन कर लो। नारायण! आकर यह दूध पी लो।'' इसलिए वह किसी न किसी रूप में नारायण के नाम से जुड़ा रहा था। यह *अज्ञात-सुकृति* कहलाता है। यद्यपि वह पुकारता अपने पुत्र को था, किन्तु अनजाने में वह नारायण का नाम लेता था और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का पवित्र नाम अलौकिक स्तर पर इतना शक्तिशाली है कि उसका वह पुकारना कीर्तन करना माना जा रहा था।

स एवं वर्तमानोऽज्ञो मृत्युकाल उपस्थिते ।
मतिं चकार तनये बाले नारायणाह्वये ॥ २७॥

शब्दार्थ

सः—वह अजामिल; एवम्—इस प्रकार; वर्तमानः—जीवित; अज्ञः—मूर्ख; मृत्यु-काले—जब मृत्यु का समय; उपस्थिते—आ गया; मतिम् चकार—अपना मन एकाग्र किया; तनये—अपने पुत्र पर; बाले—बालक; नारायण-आह्वये—जिसका नाम नारायण था।

जब मूर्ख अजामिल की मृत्यु का समय आ गया तो वह एकमात्र अपने पुत्र नारायण के विषय में सोचने लगा।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कन्ध (२.१.६) में शुकदेव गोस्वामी कहते हैं—

एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया।

जन्मलाभः परः पुंसाम् अन्ते नारायणस्मृतिः॥

"पदार्थ तथा आत्मा के पूर्ण ज्ञान, योग शक्ति की उपलब्धि या अपने वृत्तिपरक कर्तव्य की सम्पन्नता द्वारा प्राप्त, मानव जीवन की सर्वोच्च सिद्धि जीवन के अन्त समय भगवान् के नाम का स्मरण करना है।" जैसे भी हो, अजामिल ने जाने-अनजाने मृत्यु के समय नारायण नाम का उच्चारण किया (*अन्ते नारायण स्मृतिः*), अतः नारायण के नाम पर अपने मन को एकाग्र करने मात्र से वह परम पूर्ण बन गया।

इससे यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अजामिल, जोकि ब्राह्मण पुत्र था, अपनी युवावस्था में नारायण की पूजा करने का अभ्यस्त था, क्योंकि प्रत्येक ब्राह्मण के घर में *नारायण-शिला* की पूजा होती है। आज भी यह प्रथा भारत में विद्यमान है। कट्टर ब्राह्मण के घर में *नारायण-सेवा* की जाती है। यद्यपि दूषित अजामिल अपने पुत्र को पुकारता था, किन्तु नारायण के पवित्र नाम पर अपने मन को एकाग्र करने से वह उन नारायण का स्मरण करता जिनकी पूजा उसने युवावस्था में बड़ी ही श्रद्धापूर्वक की थी।

इस सन्दर्भ में श्रील श्रीधर स्वामी ने अपने निर्णय को इस प्रकार व्यक्त किया है—*एतच्च तदुपलालनादिश्रीनारायणनामोच्चारणमाहात्म्येन तद्भक्तिरेवाभूदिति सिद्धान्तोपयोगित्वेनापि द्रष्टव्यम्*—"भक्ति सिद्धान्त के अनुसार यह विश्लेषण किया जा सकता है कि चूँकि अजामिल अपने पुत्र नारायण के नाम का निरन्तर उच्चारण करता था, इसलिए वह भक्ति न जानते हुए भी

भक्ति पद को प्राप्त हुआ।'' इसी तरह श्रील वीरराघव आचार्य यह मत व्यक्त करते हैं—*एवं वर्तमान: स द्विज: मृत्युकाले उपस्थिते सत्यज्ञो नारायणाख्ये पुत्र एव मतिं चकार मतिम् आसक्ताम् अकरोदित्यर्थ:*—''यद्यपि मृत्यु के समय वह अपने पुत्र के नाम का उच्चारण कर रहा था फिर भी वह अपने मन को नारायण के पवित्र नाम पर एकाग्र किये हुए था।'' श्री विजयध्वज तीर्थ ने ऐसा ही मत व्यक्त किया है—*मृत्युकाले देहवियोगलक्षणकाले मृत्यो: सर्वदोषपापहरस्य हरेरनुग्रहात् काले दत्तज्ञानलक्षणे उपस्थिते हृदि प्रकाशिते तनये पूर्णज्ञाने बाले पञ्चवर्षकल्पे प्रादेशमात्रे नारायणाह्वये मूर्तिविशेषे मतिं स्मरणसमर्थं चित्तं चकार भक्तयास्मरदित्यर्थ:।*

वस्तुत: अजामिल ने मृत्यु के समय प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से नारायण का स्मरण किया (*अन्ते नारायणस्मृति:*)

स पाशहस्तांस्त्रीन्दृष्ट्वा पुरुषानतिदारुणान् ।
वक्रतुण्डानूर्ध्वरोम्ण आत्मानं नेतुमागतान् ॥ २८ ॥
दूरे क्रीडनकासक्तं पुत्रं नारायणाह्वयम् ।
प्लावितेन स्वरेणोच्चैराजुहावाकुलेन्द्रिय: ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

स:—वह व्यक्ति (अजामिल); पाश-हस्तान्—उनके हाथों में रस्सियाँ लिए; त्रीन्—तीन; दृष्ट्वा—देखकर; पुरुषान्—पुरुषों को; अति-दारुणान्—अत्यन्त भयावह सूरत वाले; वक्र-तुण्डान्—टेढ़े मुखों वाले; ऊर्ध्व-रोम्ण:—खड़े रोमों वाले; आत्मानम्—स्वयं को; नेतुम्—ले जाने के लिए; आगतान्—आये हुए; दूरे—थोड़ी दूरी पर; क्रीडनक-आसक्तम्—खेल में लगे; पुत्रम्—पुत्र को; नारायण-आह्वयम्—नारायण नाम के; प्लावितेन—अश्रुपूर्ण नेत्रों से; स्वरेण—वाणी से; उच्चै:—अत्यन्त ऊँची; आजुहाव—पुकारा; आकुल-इन्द्रिय:—चिन्ता से पूरित होकर।

तब अजामिल ने तीन भयावह व्यक्तियों को देखा जिनके शरीर वक्र, भयानक और मुख टेढ़े थे तथा शरीर पर रोम खड़े हुए थे। वे अपने हाथों में रस्सियाँ लिए हुए उसे यमराज के धाम ले जाने के लिए आये थे। जब उसने उन्हें देखा तो वह अत्यधिक विमोहित था और कुछ दूर पर खेल रहे अपने बच्चे के प्रति आसक्ति के कारण अजामिल उसका नाम लेकर जोर- जोर से पुकारने लगा। इस तरह अपनी आँखों में आँसू भरे हुए किसी तरह से उसने नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण किया।

तात्पर्य : जो व्यक्ति पापकर्म करता है, वह अपने शरीर, मन तथा वाणी से करता है। अतएव अजामिल को यमराज के धाम ले जाने के लिए यमराज के तीन दूत आये। सौभाग्यवश, यद्यपि अजामिल अपने पुत्र का नाम ले रहा था, किन्तु उसने *हरिनाम* नारायण के चार अक्षरों का उच्चारण किया, इसलिए नारायण के दूत, विष्णुदूत, भी तुरन्त वहाँ आ गये। चूँकि अजामिल यमराज की रस्सियों से अत्यधिक भयभीत था, अतएव उसने अश्रुपूरित नेत्रों से भगवान् के नाम का उच्चारण किया। किन्तु वास्तव में उसका मन्तव्य नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण करना न था। वह तो अपने पुत्र को पुकार रहा था।

निशम्य म्रियमाणस्य मुखतो हरिकीर्तनम् ।
भर्तुर्नाम महाराज पार्षदाः सहसापतन् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; म्रियमाणस्य—मरणासन्न व्यक्ति के; मुखतः—मुख से; हरि-कीर्तनम्—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन; भर्तुः नाम—अपने स्वामी का पवित्र नाम; महा-राज—हे राजा; पार्षदाः—विष्णु के दूत; सहसा—तुरन्त; आपतन्—आ गये।

हे राजन्! जब विष्णुदूतों ने मरणासन्न अजामिल के मुख से अपने स्वामी के पवित्र नाम को सुना, जिसने निश्चित ही पूर्ण उद्विग्नता में निरपराध भाव से उच्चारण किया था, तो वे तुरन्त वहाँ आ गये।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टिप्पणी है कि *हरिकीर्तनं निशम्यापतन्, कथम् भूतस्य भर्तुर्नाम ब्रुवतः*—विष्णु के दूत इसलिए आये, क्योंकि अजामिल ने नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण किया था। उन्होंने इस पर विचार नहीं किया कि वह क्यों उच्चारण कर रहा है। नारायण नाम का उच्चारण करते समय अजामिल वास्तव में अपने पुत्र के विषय में सोच रहा था, किन्तु विष्णुदूतों ने अजामिल को भगवन्नाम का कीर्तन करते सुना तो वे तुरन्त अजामिल की रक्षा हेतु आ गये। *हरिकीर्तन वस्तुतः* भगवान् के नाम, रूप, लीला तथा गुणों के गान के लिए होता है। किन्तु अजामिल ने भगवान् के रूप, गुण या साज-सामग्री का गुणगान नहीं किया था, उसने तो

पवित्र नाम का उच्चारण-मात्र किया था। फिर भी वह उच्चारण उसके सारे पापकर्मों को धो डालने के लिए पर्याप्त था। जैसे ही विष्णुदूतों ने अपने स्वामी के नाम का कीर्तन होते सुना, वे झट से आ गये। इस संदर्भ में श्रील विजयध्वज तीर्थ की टिप्पणी है—*अनेन पुत्रस्नेहम् अन्तरेण प्राचीनादृष्टबलाद् उद्भूतया भक्त्या भगवन्नामसङ्कीर्तन कृतम् इति ज्ञायते*—"अजामिल ने नारायण के पवित्र नाम का कीर्तन किया, क्योंकि वह अपने पुत्र के प्रति अत्यधिक आसक्त था। फिर भी अपने विगत सौभाग्य के कारण, क्योंकि उसने नारायण की भक्ति की थी, उसने पूर्ण भक्ति में तथा निरपराध भाव से पवित्र नाम का कीर्तन किया।"

विकर्षतोऽन्तर्हृदयाद्दासीपतिमजामिलम् ।
यमप्रेष्यान्विष्णुदूता वारयामासुरोजसा ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

विकर्षतः—छीनते हुए; **अन्तः हृदयात्**—हृदय के भीतर से; **दासी-पतिम्**—वेश्या के पति; **अजामिलम्**—अजामिल को; **यम-प्रेष्यान्**—यमराज के दूतों को; **विष्णु-दूताः**—विष्णु के दूतों ने; **वारयाम् आसुः**—मना किया; **ओजसा**—गूंजती वाणी में।.

यमराज के दूत वेश्यापति अजामिल के हृदय के भीतर से आत्मा को खींच रहे थे, किन्तु भगवान् विष्णु के दूतों ने गूंजती वाणी में उन्हें ऐसा करने से मना किया।

तात्पर्य : एक वैष्णव अर्थात् उस व्यक्ति की, जिसने भगवान् के चरणकमलों की शरण ले ली है, विष्णुदूतों के द्वारा सदैव रक्षा की जाती है। चूँकि अजामिल ने नारायण के नाम का उच्चारण किया था, अतएव विष्णुदूत न केवल उस स्थान पर तुरन्त आ गये, अपितु उन्होंने यमदूतों को तुरन्त आदेश दिया कि वे उसको छुएँ भी नहीं। गरजती वाणी में बोलते हुए विष्णुदूतों ने यमदूतों को यह धमकी दी कि यदि वे अजामिल की आत्मा को उसके हृदय से सींचना जारी रखा, तो वे दण्डित होंगे। यमराज के दूतों का कार्यक्षेत्र सभी पापी जीवों तक ही व्याप्त है, किन्तु विष्णुदूत किसी को भी दण्ड देने में सक्षम हैं, जिसमें यमराज भी सम्मिलित हैं, यदि वह किसी वैष्णव के साथ बुरा करें।

भौतिकतावादी विज्ञानी यह नहीं जानते कि वे अपने भौतिक यंत्रों के द्वारा शरीर के भीतर आत्मा की खोज कहाँ करें, किन्तु इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि आत्मा हृदय के भीतर होता है। यमदूत अजामिल की आत्मा हृदय के भीतर से निकाल रहे थे। इसी तरह हम यह जान पाते हैं कि परमात्मा विष्णु भी हृदय के भीतर स्थित हैं (*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*)। उपनिषदों में कहा गया है कि परमात्मा तथा आत्मा दोनों ही शरीर रूपी एक ही वृक्ष में दो मित्र पक्षियों के रूप में रहते हैं। परमात्मा मित्रवत् कहे जाते हैं, क्योंकि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् आदि आत्मा पर इतने दयालु हैं कि जब यह आदि आत्मा एक शरीर से दूसरे में देहान्तरण करता है, तो भगवान् उसके साथ-साथ जाते हैं। यही नहीं, व्यष्टि आत्मा की इच्छा तथा कर्म के अनुसार भगवान् माया के माध्यम से उसके लिए दूसरा शरीर उत्पन्न करते हैं।

शरीर का हृदय एक यांत्रिक व्यवस्था है। *भगवद्गीता* (१८.६१) में भगवान् कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

"हे अर्जुन! परमेश्वर प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हैं और वे भौतिक शक्ति से निर्मित यंत्र में सवार की भाँति बैठे समस्त जीवों को अपनी माया से घुमा (भरमा) रहे हैं।" *यन्त्र* का अर्थ है मशीन—यथा स्वतोचालित मशीन। शरीररूपी यंत्र का चालक व्यष्टि आत्मा है, जो इसका निर्देशक या स्वामी भी है, किन्तु परम स्वामी तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही हैं। मनुष्य का शरीर माया के माध्यम से उत्पन्न किया जाता है (*कर्मणा दैवनेत्रेण*) और इस जीवन के कर्मों के अनुसार दूसरा यंत्र उत्पन्न किया जाता है और वह भी दैवी माया के निरीक्षण में (*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया*)। उपयुक्त समय पर मनुष्य के अगले शरीर का तत्काल चुनाव किया जाता है और व्यष्टि आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही उस शरीर रूपी यंत्र में प्रवेश कर जाते हैं। यह देहान्तरण की विधि है। एक शरीर से दूसरे शरीर में स्थानन्तरण के समय यमराज के दूत आत्मा को निकाल कर उसे विशेष प्रकार के नारकीय जीवन में रखते हैं जिससे वह उस दशा में रहने का अभ्यस्त हो ले

जिसमें उसे अगले शरीर में रहना है।

ऊचुर्निषेधितास्तांस्ते वैवस्वतपुरःसराः ।
के यूयं प्रतिषेद्धारो धर्मराजस्य शासनम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

ऊचुः—उत्तर दिया; निषेधिताः—मना किये जाने पर; तान्—विष्णुदूतों को; ते—वे; वैवस्वत—यमराज के; पुरः-सराः—सहायक या दूत; के—कौन; यूयम्—तुम सब; प्रतिषेद्-धारः—कौन विरोध कर रहे हो; धर्म-राजस्य—धर्म के राजा, यमराज का; शासनम्—राज्य अधिकार क्षेत्र।

जब सूर्य के पुत्र यमराज के दूतों को इस प्रकार मना किया गया तो उन्होंने कहा, ''महाशय! आप कौन हैं जिन्होंने यमराज के अधिकार-क्षेत्र को ललकारने की धृष्टता की है?

तात्पर्य : अजामिल अपने पापकार्यों के अनुसार, यमराज के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत था, क्योंकि यमराज को समस्त जीवों के पापों पर विचार करने के लिए परम न्यायमूर्ति के रूप में नियुक्त किया गया है। जब अजामिल को स्पर्श करने से यमराज के दूतों को रोका गया तो उन्हें आश्चर्य हुआ, क्योंकि आज तक उन्हें तीनों लोकों में अपना कार्य करने में कभी किसी ने बाधा नहीं पहुँचाई थी।

कस्य वा कुत आयाताः कस्मादस्य निषेधथ ।
किं देवा उपदेवा या यूयं किं सिद्धसत्तमाः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

कस्य—किसके सेवक; वा—अथवा; कुतः—कहाँ से; आयाताः—तुम आये हो; कस्मात्—किस कारण से; अस्य—इस अजामिल का (ले जाना); निषेधथ—हम मना कर रहे हैं; किम्—क्या; देवाः—देवता; उपदेवाः—तथा उपदेवता; याः—जो; यूयम्—तुम सभी; किम्—क्या; सिद्ध-सत्-तमाः—सिद्धों या शुद्ध भक्तों में सर्वश्रेष्ठ।

महाशयो! तुम किसके सेवक हो, कहाँ से आये हो और अजामिल का शरीर छूने से हमें क्यों मना कर रहे हो? क्या तुम लोग स्वर्गलोक के देवता हो, उपदेवता हो या कि सर्वश्रेष्ठ भक्तों में से कोई हो?

तात्पर्य : इस श्लोक में प्रयुक्त सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द *सिद्ध-सत्तमाः* है, जिसका अर्थ है

"सिद्धों में सर्वश्रेष्ठ।" *भगवद्गीता* (७.३) में कहा गया है—*मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये:* लाखों पुरुषों में कोई एक सिद्ध—अथवा दूसरे शब्दों में स्वरूपसिद्ध बनने का प्रयास करता है। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति जानता है कि वह शरीर नहीं है, अपितु आध्यात्मिक आत्मा है (*अहं ब्रह्मास्मि*)। आजकल प्राय: सारे लोग इस तथ्य से अनजान हैं, किन्तु जो इसे समझता है, वह सिद्धि प्राप्त कर चुका होता है, अत: *सिद्ध* कहलाता है। जब मनुष्य समझता है कि वह सर्वश्रेष्ठ चेतन आत्मा का भिन्नांश है और तब सर्वश्रेष्ठ चेतन आत्मा की भक्ति में अपने को लगाता है, तो वह *सिद्ध-सत्तम* बन जाता है। तब वह वैकुण्ठलोक या कृष्णलोक में रहने का पात्र बन जाता है। इस प्रकार 'सिद्ध-सत्तम' शब्द मुक्त शुद्ध भक्त को वर्णित करता है।

चूँकि यमदूत यमराज के सेवक हैं, जो कि स्वयं *सिद्धसत्तमों* में से एक हैं, अत: वे जान गये कि *सिद्ध सत्तम* देवताओं तथा उपदेवताओं से ऊपर है और इतना ही नहीं, इस जगत के सारे जीवों से ऊपर है। अतएव यमदूतों ने विष्णुदूतों से पूछा कि वे लोग उस स्थान पर कैसे उपस्थित हैं जहाँ एक पापी मनुष्य मरने वाला है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि अजामिल अभी मरा नहीं था, क्योंकि यमदूत उसके हृदय से आत्मा निकालने का प्रयास कर रहे थे, व आत्मा को निकाल नहीं सके थे, अतएव अजामिल अभी मरा नहीं था। इसका उद्घाटन बाद के श्लोकों में होगा। जब यमदूतों तथा विष्णुदूतों के मध्य वाद-विवाद चल रहा था, तो अजामिल अचेतन अवस्था में था। वाद-विवाद से इस बात का निर्णय होना था कि अजामिल की आत्मा पर किसका दावा होगा।

सर्वे पद्मपलाशाक्षाः पीतकौशेयवाससः ।
किरीटिनः कुण्डलिनो लसत्पुष्करमालिनः ॥ ३४॥
सर्वे च नूत्नवयसः सर्वे चारुचतुर्भुजाः ।
धनुर्निषङ्गासिगदाशङ्खचक्राम्बुजश्रियः ॥ ३५॥
दिशो वितिमिरालोकाः कुर्वन्तः स्वेन तेजसा ।

किमर्थं धर्मपालस्य किङ्करान्नो निषेधथ ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—आप सभी; पद्म-पलाश-अक्षा:—कमल के फूल की पंखड़ियों जैसी आँखों वाले; पीत—पीला; कौशेय—रेशमी; वासस:—वस्त्र पहने हुए; किरीटिन:—मुकुट पहने; कुण्डलिन:—कान में कुंडल पहने; लसत्—चमचमाते; पुष्कर-मालिन:—कमल की माला पहने; सर्वे—आप सभी; च—भी; नूत्न-वयस:—अत्यन्त तरुण; सर्वे—आप सभी; चारु—अत्यन्त सुन्दर; चतु:-भुजा:—चार भुजाओं वाले; धनु:—धनुष; निषङ्ग—तरकस; असि—तलवार; गदा—गदा; शङ्ख—शंख; चक्र—चक्र; अम्बुज—कमल का फूल; श्रिय:—से सुशोभित; दिश:—सारी दिशाएँ; वितिमिर—अंधकाररहित; आलोका:—असामान्य प्रकाश; कुर्वन्त:—प्रकट करते हुए; स्वेन—अपने; तेजसा—तेज से; किम् अर्थम्—क्या प्रयोजन है; धर्म-पालस्य—धर्म के पालनकर्ता यमराज के; किङ्करान्—सेवकों को; न:—हम; निषेधथ—मना कर रहे हो।

यमदूतों ने कहा : आप सभी की आँखें कमल के फूल की पंखडियों के समान हैं। पीला रेशमी वस्त्र पहने, कमल की मालाओं से सुसज्जित तथा अपने सिरों में अत्यन्त आकर्षक मुकुट पहने एवं अपने कानों में कुंडल धारण किये तुम सभी नवयौवन से पूर्ण प्रतीत हो रहे हो। आप सभी की चार लम्बी भुजाएँ धनुष तथा तरकस, तलवार, गदा, शंख, चक्र तथा कमल के फूलों से अलंकृत हैं। आपके तेज ने इस स्थान के अंधकार को अपने असामान्य प्रकाश से भगा दिया है। तो महोदय आप हमें क्यों रोक रहे हैं?

तात्पर्य : कोई मनुष्य किसी बाहरी व्यक्ति से परिचित कराये जाने के पहले ही उसकी वेशभूषा, शारीरिक बनावट तथा स्वभाव से परिचित हो जाता है और इस तरह उसकी स्थिति को समझ सकता है। अत: जब यमदूतों ने पहले पहल विष्णुदूतों को देखा तो उन्हें आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा "अपनी शारीरिक बनावट से तुम लोग अतीव भद्र पुरुष प्रतीत होते हो और तुममें ऐसी स्वर्गिक शक्ति है कि तुमने अपने तेज से इस भौतिक जगत का अंधकार मिटा दिया है। तो फिर आप हमें अपना कार्य करने से रोकने का प्रयास क्यों कर रहे हो?" आगे यह बतलाया जायेगा कि यमदूतों ने गलती से अजामिल को पापी मान लिया था। उन्हें यह ज्ञात न था कि यद्यपि वह अपने सारे जीवन भर पापी रहा, किन्तु नारायण के पवित्र नाम का निरन्तर उच्चारण करते रहने से वह शुद्ध हो चुका था। दूसरे शब्दों में, जब तक कोई स्वयं वैष्णव न हो वह दूसरे वैष्णव के कार्यों को नहीं समझ सकता।

इन श्लोकों में वैकुण्ठलोक के निवासियों की वेशभूषा तथा शारीरिक बनावट का सही-सही

वर्णन हुआ है। वैकुण्ठ के निवासी मालाओं तथा पीले रेशमी वस्त्रों से सुसज्जित रहते हैं और उनकी चार भुजाएँ होती हैं जिनमें वे विभिन्न शस्त्र धारण किये रहते हैं। इस तरह वे भगवान् विष्णु से अत्यधिक सादृश्य रखते हैं। उनकी शारीरिक बनावट (स्वरूप) नारायण जैसी ही होती है, क्योंकि उन्हें सारूप्य मुक्ति प्राप्त हुई रहती है। किन्तु फिर भी वे सेवकों का कार्य करते हैं। वैकुण्ठलोक के सारे निवासी यह जानते हैं कि उनके स्वामी नारायण अथवा कृष्ण हैं और वे सब उन्हीं के सेवक हैं। वे सभी स्वरूपसिद्ध आत्माएँ हैं, जो कि नित्यमुक्त हैं। यद्यपि वे अपने को प्रामाणिक रूप से नारायण या विष्णु घोषित कर सकते हैं, किन्तु वे ऐसा नहीं करते हैं। वे सदैव कृष्णभावनाभावित रहते हैं और अतीव श्रद्धापूर्वक भगवान् की सेवा करते हैं। वैकुण्ठ लोक का वातावरण ऐसा है। इसी तरह जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत के माध्यम से भगवान् कृष्ण की श्रद्धापूर्ण सेवा करना सीख जाता है, वह सदैव वैकुण्ठलोक में रहता है। उसे भौतिक जगत से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता।

श्रीशुक उवाच

इत्युक्ते यमदूतैस्ते वासुदेवोक्तकारिणः ।
तान्प्रत्यूचुः प्रहस्येदं मेघनिर्ह्रादया गिरा ॥ ३७॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उक्ते—कहे जाने पर; यमदूतैः—यमदूतों के द्वारा; ते—वे; वासुदेव-उक्त-कारिणः—भगवान् वासुदेव के आदेशों को पूरा करने के लिए सदैव सन्नद्ध रहने वाले (भगवान् विष्णु के निजी संगी जिन्हें सालोक्य मुक्ति प्राप्त हो चुकी है); तान्—उनको; प्रत्यूचुः—उत्तर दिया; प्रहस्य—हँसकर; इदम्—यह; मेघ-निर्ह्रादया—गरजने वाले बादल के समान गूँजती; गिरा—वाणी से।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : यमराज के दूतों द्वारा इस प्रकार सम्बोधित किये जाने पर वासुदेव के सेवक मुसकाये और उन्होंने गर्जना करते हुए बादलों की ध्वनि जैसी गम्भीर वाणी में निम्नलिखित शब्द कहे।

तात्पर्य : यमदूतों को यह देखकर आश्चर्य हो रहा था कि विष्णुदूत शिष्ट होकर भी यमराज के शासन में बाधा पहुँचा रहे हैं। इसी तरह विष्णुदूत भी आश्चर्यचकित थे कि अपने को धर्म के परम

निर्णायक के सेवक होने का दावा करने वाले यमदूत धार्मिक कर्म के सिद्धान्तों से परिचित नहीं हैं। अत: यह सोचकर विष्णुदूत हँसने लगे, ''ये लोग यह क्या बकवास कर रहे हैं? यदि ये लोग सचमुच यमराज के सेवक हैं, तो इन्हें यह जानना चाहिए था कि अजामिल उनके द्वारा ले जाये जाने के लिए उपयुक्त पात्र नहीं है।''

श्रीविष्णुदूता ऊचुः

यूयं वै धर्मराजस्य यदि निर्देशकारिणः ।
ब्रूत धर्मस्य नस्तत्त्वं यच्चाधर्मस्य लक्षणम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

श्री-विष्णुदूताः ऊचुः—भगवान् विष्णु के अहोभाग्य दूतों ने कहा; यूयम्—तुम सभी; वै—निस्सन्देह; धर्म-राजस्य—धर्म के ज्ञाता यमराज के; यदि—यदि; निर्देश-कारिणः—आज्ञापालक; ब्रूत—तो कहो; धर्मस्य—धार्मिक सिद्धान्तों का; नः—हमसे; तत्त्वम्—सत्य; यत्—जो; च—भी; अधर्मस्य—अधार्मिक कार्यों का; लक्षणम्—लक्षण।

अहोभाग्य विष्णुदूतों ने कहा : यदि तुम लोग सचमुच ही यमराज के सेवक हो तो तुम्हें हमसे धार्मिक सिद्धान्तों के अर्थ तथा अधर्म के लक्षणों की व्याख्या करनी चाहिए।

तात्पर्य : यमदूतों से विष्णुदूतों की यह जिज्ञासा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सेवक को अपने स्वामी के आदेशों को जानना चाहिए। यमराज के सेवक यमराज के दूत होने का दावा कर रहे थे, अत: विष्णुदूतों ने बहुत ही बुद्धिमानी से उनसे धर्म तथा अधर्म के लक्षणों की व्याख्या करने के लिए कहा। एक वैष्णव इन सिद्धान्तों को पूर्णरूपेण जानता है, क्योंकि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के आदेशों से भलीभाँति अवगत होता है। परम भगवान् कहते हैं—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—अन्य सारे धर्मों को त्याग दो और मेरी शरण में आओ। इसलिए पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण में जाना ही धर्म का वास्तविक सिद्धान्त है। जिन लोगों ने कृष्ण की शरण ग्रहण करने के बजाय भौतिक प्रकृति के सिद्धान्तों की शरण ले रखी है वे सब अपवित्र हैं, चाहे उनका भौतिक पद कुछ भी हो। वे धर्म के सिद्धान्तों से अनजान रहकर कृष्ण की शरण में नहीं जाते, अतएव वे पापी धूर्त, मनुष्यों में अधम तथा समस्त ज्ञान से विहीन मूर्ख समझे जाते हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* (७.१५) में कृष्ण कहते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

"जो निपट मूर्ख हैं, जो मनुष्यों में अधम हैं, जिनका ज्ञान मोह द्वारा हर लिया गया है तथा जो असुरों की नास्तिक प्रकृति को धारण करने वाले हैं, ऐसे दुष्ट मेरी शरण ग्रहण नहीं करते।" जिसने कृष्ण की शरण ग्रहण नहीं की वह धर्म के असली सिद्धान्त को नहीं जानता, अन्यथा वह शरण ग्रहण कर चुका होता।

विष्णुदूतों द्वारा पूछा गया प्रश्न अति सटीक था। जो किसी अन्य व्यक्ति का प्रतिनिधित्व कर रहा हो उसे उस व्यक्ति के मन्तव्य (मिशन) को जानना चाहिए। इसलिए कृष्णभावनामृत के भक्तों को कृष्ण तथा श्री चैतन्य महाप्रभु के मिशन से पूर्णतया अवगत होना चाहिए, अन्यथा वे मूर्ख समझे जायेंगे। सारे भक्तों, विशेषतया प्रचारकों को कृष्णभावनामृत का दर्शन जानना चाहिए, जिससे प्रचार करते समय उन्हें उलझन तथा अपमान न सहना पड़े।

कथं स्विद्ध्रियते दण्डः किं वास्य स्थानमीप्सितम् ।
दण्ड्याः किं कारिणः सर्वे आहो स्वित्कतिचिन्नृणाम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

कथम् स्वित्—किस साधन से; ध्रियते—लगाया जाता है; दण्डः—दण्ड; किम्—क्या; वा—अथवा; अस्य—इसका; स्थानम्—स्थान; ईप्सितम्—वांछित; दण्ड्याः—दण्डनीय; किम्—क्या; कारिणः—सकाम कर्मी; सर्वे—समस्त; आहो स्वित्—अथवा कि; कतिचित्—कुछ; नृणाम्—मनुष्यों का।

दूसरों को दण्ड देने की विधि क्या है? दण्ड के वास्तविक पात्र कौन हैं? क्या सकाम कर्मों में लगे सारे कर्मी दण्डनीय हैं या उनमें से केवल कुछ ही हैं?

तात्पर्य : जिसके पास दूसरों को दण्ड देने का अधिकार हो उसे चाहिए कि हर किसी को दण्ड न दे। जीव तो असंख्य हैं जिनमें से अधिकांश आध्यात्मिक जगत में हैं और *नित्यमुक्त* हैं। इन मुक्त जीवों के विषय में निर्णय करने का प्रश्न ही नहीं उठता। थोड़े से ही, शायद एक चौथाई, जीव भौतिक जगत में रहते हैं और भौतिक जगत के जीवों का प्रमुख अंग—८४,००,०००

जीवयोनियों में से ८० लाख जीव योनियाँ—तो मनुष्यों से निम्न हैं। ये जीव योनियाँ दण्डनीय नहीं हैं, क्योंकि प्रकृति के नियमों के अन्तर्गत वे स्वत: विकास कर रही हैं। चेतना में उन्नत मनुष्य उत्तरदायी जीव हैं, किन्तु उनमें से सभी दण्डनीय नहीं हैं। जो लोग उच्च पवित्र कार्यों में लगे हैं, वे दण्ड से परे हैं। जो लोग पापकर्मों में लगे हुए हैं, वे ही दण्डनीय हैं। इसलिए विष्णुदूतों ने विशेष रूप से यह पूछा कि कौन दण्डनीय है और क्यों यमराज को यही भेदभाव करने के लिए नियुक्त किया गया है कि कौन दण्डनीय है और कौन नहीं है? किसी के विषय में किस तरह निर्णय किया जाये? अधिकार का मूल सिद्धान्त क्या है? विष्णुदूतों ने इन्हीं प्रश्नों को उठाया।

यमदूता ऊचु:
वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्यय: ।
वेदो नारायण: साक्षात्स्वयम्भूरिति शुश्रुम ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यमदूता: ऊचु:—यमदूतों ने कहा; वेद—चारों वेदों (साम, यजु, ऋग तथा अथर्व) से; प्रणिहित:—स्वीकृत, संस्तुत; धर्म:—धार्मिक सिद्धान्त; हि—निस्सन्देह; अधर्म:—अधार्मिक सिद्धान्त; तत्-विपर्यय:—उसके विपरीत (जो वैदिक आदेशों द्वारा समर्थित नहीं है); वेद:—ज्ञान के ग्रन्थ, वेद; नारायण: साक्षात्—प्रत्यक्ष पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् (नारायण के शब्द होने से); स्वयम्-भू:—स्वत: जन्मा, आत्मनिर्भर (नारायण की श्वास से प्रकट होने वाला तथा अन्य किसी से न सीखा हुआ); इति—इस प्रकार; शुश्रुम—हमने सुना है।.

यमदूतों ने उत्तर दिया: जो वेदों द्वारा संस्तुत है, वही धर्म है और इसका विलोम अधर्म है। वेद साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, नारायण हैं और स्वयं उत्पन्न हुए हैं। हमने यमराज से यह सुना है।

तात्पर्य : यमराज के सेवकों ने एकदम सही उत्तर दिया। उन्होंने धर्म या अधर्म के नियमों को गढ़ने की बजाए यमराज के मुख से जो सुना था उसे बतला दिया। *महाजनो येन गत: स पन्था:*। मनुष्य को चाहिए कि *महाजन* अर्थात् प्रामाणिक व्यक्ति का अनुसरण करे। यमराज बारह अधिकारियों (महाजनों) में से एक हैं। इसलिए यमराज के सेवकों अर्थात् यमदूतों ने पूर्ण स्पष्टता के साथ उत्तर दिया कि हमने सुना है (*शुश्रुम*)। आधुनिक सभ्यता के सदस्य मनगढ़ंत दोषपूर्ण धार्मिक सिद्धान्त गढ़ लेते हैं। यह धर्म नहीं है। वे यह जानते ही नहीं कि धर्म क्या है और अधर्म

क्या है। इसीलिए, जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है—*धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र*—वह धर्म जिसका समर्थन वेद नहीं करते *श्रीमद्भागवत धर्म* में अमान्य है। *भागवतधर्म* में उतना ही रहता है, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा प्रदत्त होता है। भागवतधर्म तो *सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज* है—मनुष्य को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की सत्ता स्वीकार करके उनकी शरण में जाना चाहिए और वे जो कुछ कहते है, मानना चाहिए। यही धर्म है। उदाहरणार्थ अर्जुन यह सोच कर कि हिंसा अधर्म है, युद्ध करने से इनकार कर रहा था, किन्तु कृष्ण ने उसे युद्ध करने के लिए प्रेरित किया। अर्जुन ने कृष्ण के आदेश का पालन किया, अतएव वह वास्तव में धर्मी है, क्योंकि कृष्ण का आदेश धर्म है। *भगवद्गीता* (१५.१५) में कृष्ण कहते हैं—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—वेद अर्थात् ज्ञान का असली उद्देश्य मुझे जानना है। जो कृष्ण को पूरी तरह जान लेता है, वह मुक्त है। जैसा कि *भगवद्गीता* (४.९) में कृष्ण कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो मेरे आविर्भाव तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह इस शरीर को छोड़ने पर इस संसार में पुनःजन्म नहीं लेता, अपितु मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।" जो कृष्ण को समझता है और उनके आदेश का पालन करता है, वह घर को लौटने अर्थात् भगवद्धाम वापस जाने का पात्र है। यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि धर्म उसका द्योतक है, जिसका वेदों में आदेश हुआ है और अधर्म वह है, जो वेदों द्वारा समर्थित नहीं है।

वस्तुतः धर्म नारायण द्वारा गढ़ा हुआ नहीं है। वेदों में कहा गया है—*अस्य महतो भूतस्य निश्वसितम् एतद् यद् ऋग्वेदः इति*—धर्म के आदेश परम पुरुष नारायण की श्वास से निकलते हैं। नारायण शाश्वत विद्यमान रहते हैं और शाश्वत श्वास लेते हैं, अतएव धर्म अर्थात् नारायण के आदेश भी शाश्वत विद्यमान रहते हैं। मध्व-गौड़िय-सम्प्रदाय के आदि आचार्य श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—

वेदानां प्रथमो वक्ता हरिरेव यतो विभुः।

अतो विष्ण्वात्मका वेदा इत्याहुर्वेदवादिन: ॥

वेदों के दिव्य शब्द पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के मुख से निकले हैं। अतएव वैदिक सिद्धान्तों को वैष्णव सिद्धान्त समझना चाहिए, क्योंकि वेदों के उद्‌गम विष्णु हैं। वेदों में विष्णु के आदेशों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है और जो वैदिक सिद्धान्तों का पालन करता है, वह वैष्णव है। वैष्णव इस जगत द्वारा गढ़े हुए जनसमुदाय का सदस्य नहीं होता। वैष्णव तो वेदों का असली ज्ञाता होता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्‌गीता* में हुई है (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:*)।

येन स्वधाम्न्यमी भावा रज:सत्त्वतमोमया: ।
गुणनामक्रियारूपैर्विभाव्यन्ते यथातथम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

येन—जिस (नारायण) के द्वारा; स्व-धाम्नि—यद्यपि अपने स्थान अर्थात् आध्यात्मिक जगत में; अमी—ये सब; भावा:—अभिव्यक्तियाँ; रज:-सत्त्व-तम:-मया:—भौतिक प्रकृति के तीन गुणों (सतो, रजो तथा तमो) द्वारा उत्पन्न; गुण—गुण; नाम—नाम; क्रिया—कार्यकलाप; रूपै:—तथा रूपों से; विभाव्यन्ते—विविध रूप में प्रकट हैं; यथा-तथम्—सही सही।

समस्त कारणों के परम कारण रूप नारायण आध्यात्मिक जगत में अपने धाम में स्थित हैं तथापि वे भौतिक प्रकृति के तीन गुणों—सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण—के अनुसार सम्पूर्ण विराट जगत का नियंत्रण करते हैं। इस तरह विभिन्न जीवों को भिन्न-भिन्न गुण, नाम (यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य), वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कार्य तथा रूप प्रदान किये जाते हैं। नारायण सम्पूर्ण विराट जगत के कारणस्वरूप है।

तात्पर्य : वेद हमें सूचित करते हैं—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते

न तत्समश्चाभ्याधिकश्च दृश्यते।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

(*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.८)

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् नारायण सर्वशक्तिमान हैं। उनकी शक्तियाँ विविध हैं, अतएव वे अपने धाम में बने रहने में समर्थ हैं और बिना प्रयत्न के वे तीन गुणों—सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण—की अन्योन्य क्रिया के माध्यम से सम्पूर्ण विराट जगत का अधीक्षण तथा संचालन कर सकते हैं। इन क्रियाओं से विभिन्न रूप, शरीर, कार्य तथा परिवर्तन उत्पन्न होते रहते हैं और वे भलीभाँति घटित होते हैं। चूँकि भगवान् पूर्ण हैं, इसलिए हर कार्य इस तरह चलता रहता है मानो वे प्रत्यक्ष रूप से निरीक्षण कर रहे हों तथा उसमें भाग ले रहे हों। किन्तु नास्तिक लोग तीन गुणों से प्रच्छन्न होने के कारण नारायण को समस्त कार्यों के परम कारण के रूप में नहीं देख सकते। जैसा कि *भगवद्गीता* (७.१३) में कृष्ण कहते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

''तीनों गुणों (सतो, रजो तथा तमो) के द्वारा मोहग्रस्त यह सारा संसार मुझ गुणातीत तथा अविनाशी को नहीं जानता।'' चूँकि मूर्ख संशयवादी *मोहित* हैं—तीनों गुणों द्वारा मोहग्रस्त हैं, अतएव वे यह नहीं समझ पाते कि नारायण या कृष्ण ही समस्त कार्यों के परम कारण हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.१) में कहा गया है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।

अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

''गोविन्द कहलाने वाले कृष्ण परम नियन्ता हैं। उनका शरीर नित्य, आनन्दमय तथा आध्यात्मिक है। वे सभी के उद्‌गम हैं। उनका कोई अन्य उद्‌गम नहीं, क्योंकि वे समस्त कारणों के परम कारण हैं।''

सूर्योऽग्निः खं मरुद्देवः सोमः सन्ध्याहनी दिशः ।
कं कुः स्वयं धर्म इति ह्येते दैह्यस्य साक्षिणः ॥ ४२॥

शब्दार्थ

सूर्यः—सूर्यदेव; अग्निः—अग्नि; खम्—आकाश; मरुत्—वायु; देवः—देवता; सोमः—चन्द्रमा; सन्ध्या—सायंकाल; अहनी—दिन तथा रात; दिशः—दिशाएँ; कम्—जल; कुः—पृथ्वी; स्वयम्—स्वयं; धर्मः—यमराज या परमात्मा; इति—इस प्रकार; हि—निस्सन्देह; एते—ये सभी; दैह्यस्य—जीव के भौतिक तत्त्वों के शरीर में; साक्षिणः—साक्षी, गवाह।

सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु, देवगण, चन्द्रमा, संध्या, दिन, रात, दिशाएँ, जल, स्थल तथा स्वयं परमात्मा—ये सभी जीव के कार्यों के साक्षी हैं।

तात्पर्य : कुछ धार्मिक सम्प्रदायों के सदस्य विशेष रूप से ईसाई कर्म के फलों में विश्वास नहीं करते। एक बार हमने एक विद्वान ईसाई प्रोफेसर से विचार-विमर्श किया, तो उसने यह तर्क दिया कि यद्यपि लोगों को उनके दुष्कर्मों के लिए तब दण्ड दिया जाता है जब साक्षियों से सबूत मिल जाते हैं, किन्तु ये साक्षी किसी के विगत कर्मों के फलों के लिए कष्ट पाने के लिए जिम्मेदार कहाँ हैं? ऐसे व्यक्ति के लिए यहाँ पर यमदूतों ने उत्तर दिया है। बद्धजीव यह सोचता है कि वह चोरी-चुपके कार्य कर रहा है और उसके पापकर्मों को कोई नहीं देख सकता, किन्तु शास्त्रों से हमें यह समझ लेना चाहिए कि साक्षी अनेक हैं यथा सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु, चन्द्रमा, देवता, संध्या, दिन, रात, दिशाएँ, जल, स्थल तथा स्वयं परमात्मा जो प्रत्येक हृदय में आत्मा के रूप में स्थित है। साक्षियों की कमी कहाँ है? साक्षी तथा परमेश्वर दोनों विद्यमान हैं, इसीलिए अनेक जीवों को या तो उच्च लोकों में लाया जाता है या नरक जैसे निम्नलोकों में नीचे गिरा दिया जाता है। इसमें कोई त्रुटि नहीं हो पाती, क्योंकि हर वस्तु की व्यवस्था परमेश्वर के प्रबन्ध द्वारा की जाती है (*स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च*)। इस श्लोक में जिन साक्षियों का उल्लेख हुआ है वे अन्य वैदिक ग्रन्थों में भी वर्णित हैं—

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च

द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च।

अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये

धर्मोऽपि जानाति नरस्य वृत्तम्॥

एतैरधर्मो विज्ञातः स्थानं दण्डस्य युज्यते ।
सर्वे कर्मानुरोधेन दण्डमर्हन्ति कारिणः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

एतैः—इन सबों (सूर्य इत्यादि साक्षियों) के द्वारा; अधर्मः—विधि विधानों से विचलन; विज्ञातः—ज्ञात है; स्थानम्—उचित स्थान; दण्डस्य—दंड का; युज्यते—के रूप में स्वीकार किया जाता है; सर्वे—समस्त; कर्म-अनुरोधेन—सम्पन्न कार्यों पर विचार करते हुए; दण्डम्—दण्ड; अर्हन्ति—योग्यता रखते हैं; कारिणः—पापकर्म करने वाले।

दण्ड के पात्र वे हैं जिसकी पुष्टि इन अनेक साक्षियों ने की है कि वे निर्दिष्ट नियमित कार्यों से विचलित हुए हैं। सकाम कर्मों में लगा हुआ प्रत्येक व्यक्ति अपने पापकर्मों के अनुसार दण्ड दिये जाने के लिए उपयुक्त होता है।

सम्भवन्ति हि भद्राणि विपरीतानि चानघाः ।
कारिणां गुणसङ्गोऽस्ति देहवान्न ह्यकर्मकृत् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

सम्भवन्ति—हैं; हि—निस्सन्देह; भद्राणि—शुभ, पवित्र कार्य; विपरीतानि—बिल्कुल उल्टे (अशुभ, पापकर्म); च—भी; अनघाः—हे पापरहित वैकुण्ठवासियों; कारिणाम्—सकाम कर्मियों का; गुण-सङ्गः—प्रकृति के तीन गुणों का कल्मष; अस्ति—है; देह-वान्—इस भौतिक शरीर को स्वीकार करने वाला, देहधारी; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अकर्म-कृत्—कर्म किये बिना।

हे वैकुण्ठवासियों! तुम लोग निष्पाप हो, किन्तु इस भौतिक जगत के भीतर रहने वाले सारे वासी कर्मी हैं, चाहे वे शुभ कर्म कर रहे हों या अशुभ। ये दोनों प्रकार के कर्म उनके लिए सम्भव हैं, क्योंकि वे प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा कलुषित रहते हैं और उन्हें तदनुसार कर्म करना पड़ता है। जिसने भी भौतिक शरीर अपनाया है, वह निष्क्रिय नहीं हो सकता और प्रकृति के तीन गुणों के अधीन कर्म करने वाले के लिए पापकर्म से बच पाना असम्भव है। इसलिए इस जगत के सारे जीव दण्डनीय हैं।

तात्पर्य : मनुष्यों तथा मनुष्येतर प्राणियों में यही अन्तर है कि मनुष्य से अपेक्षा की जाती है कि वह वेदों के आदेश के अनुसार कर्म करे। दुर्भाग्यवश मनुष्य वेदों की परवाह न करते हुए कर्म की अपनी शैली गढ़ लेते हैं। इसीलिए वे सभी लोग पापकर्म करते हैं और दण्डनीय हैं।

येन यावान्यथाधर्मो धर्मो वेह समीहितः ।
स एव तत्फलं भुङ्क्ते तथा तावदमुत्र वै ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

येन—जिस व्यक्ति द्वारा; यावान्—जिस हद तक; यथा—जिस रीति से; अधर्मः—अधार्मिक कार्य; धर्मः—धार्मिक कार्य; वा—अथवा; इह—इस जीवन में; समीहितः—सम्पन्न हुए; सः—वह व्यक्ति; एव—निस्सन्देह; तत्-फलम्—उसका विशेष फल; भुङ्क्ते—आनन्द लेता है या कष्ट उठाता है; तथा—उसी तरह से; तावत्—उसी हद तक; अमुत्र—अगले जीवन में; वै—निस्सन्देह।.

इस जीवन में अपने धार्मिक या अधार्मिक कार्यों की मात्रा के अनुपात में मनुष्य अपने अगले जीवन में अपने कर्म के अनुरूप फलों का भोग करता है या कष्ट उठाता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१४.१८) में कहा गया है कि—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

जो लोग सतोगुणी होते हैं, वे देवता बनने के लिए उच्चतर लोकों में भेज दिये जाते हैं, जो सामान्य रीति से कर्म करते हैं और अत्यधिक पापकर्म नहीं करते वे इस मध्यलोक में रहते हैं तथा जो अत्यन्त घ्रणित पाप कर्म करते हैं, उन्हें नारकीय जीवन में नीचे जाना पड़ता है।

यथेह देवप्रवरास्त्रैविध्यमुपलभ्यते ।
भूतेषु गुणवैचित्र्यात्तथान्यत्रानुमीयते ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; इह—इस जीवन में; देव-प्रवराः—हे देवताओं में श्रेष्ठ; त्रै-विध्यम्—तीन प्रकार के गुण; उपलभ्यते—प्राप्त किये जाते हैं; भूतेषु—सारे जीवों के मध्य; गुण-वैचित्र्यात्—तीन गुणों के द्वारा कल्मष की विविधता के कारण; तथा—उसी तरह; अन्यत्र—अन्य स्थानों में; अनुमीयते—अनुमान लगा लिया जाता है।.

हे देवश्रेष्ठो! हम विभिन्न प्रकार के तीन जीवन देखते हैं, जो प्रकृति के तीन गुणों के कल्मष के कारण हैं। इस तरह जीव शान्त, अशान्त तथा मूर्ख; सुखी, दु:खी या इन दोनों के बीच; तथा धार्मिक, अधार्मिक या अर्धधार्मिक जाने जाते हैं। हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अगले जीवन में ये तीन प्रकार की प्रकृतियाँ इसी प्रकार से कर्म करेंगी।

तात्पर्य : प्रकृति के तीन गुणों के कार्य तथा फल इसी जीवन में दृष्टिगोचर होते हैं।

उदाहरणार्थ, कुछ लोग अतीव सुखी हैं, कुछ अत्यधिक पीड़ित हैं और कुछ सुख तथा दुख की मिली जुली स्थिति में हैं। यह प्रकृति के गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुण—के साथ विगत संगति का परिणाम है। चूँकि ये विविधताएँ इस जीवन में दृष्टिगोचर होती हैं, अत: हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि सारे जीव प्रकृति के विभिन्न गुणों के संसर्ग के अनुसार अपने अगले जीवनों में भी सुखी, दुखी या इन दोनों के बीच में होंगे। इसलिए सबसे अच्छी नीति तो यह है कि अपने को प्रकृति के तीन गुणों से विलग कर लिया जाये और उनके कल्मष से सदैव परे रहा जाये। ऐसा तभी सम्भव है जब मनुष्य अपने को भगवान् की भक्ति में पूरी तरह लगा दे। जैसा कि *भगवद्गीता* (१४.२६) में कृष्ण पुष्टि करते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

''जो समस्त परिस्थितियों में एकान्तिक भाव से पूर्ण भक्ति में प्रवृत्त होता है, वह तुरन्त ही प्रकृति के गुणों को लाँघ जाता है और इस प्रकार ब्रह्म के पद तक पहुँच जाता है।'' भगवान् की सेवा में पूरी तरह से लीन हुए बिना मनुष्य प्रकृति के तीन गुणों के कल्मष से प्रभावित होता रहता है, अत: वह दुख या सुख तथा दुख के मिले-जुले रूप को भोगता है।

वर्तमानोऽन्ययो: कालो गुणाभिज्ञापको यथा ।
एवं जन्मान्ययोरेतद्धर्माधर्मनिदर्शनम् ॥ ४७॥

शब्दार्थ

वर्तमान:—वर्तमान; अन्ययो:—भूत तथा भविष्य का; काल:—समय; गुण-अभिज्ञापक:—गुणों को प्रकट कराते हुए; यथा—जिस तरह; एवम्—इस प्रकार; जन्म—जन्म; अन्ययो:—भूत तथा भावी जन्मों का; एतत्—यह; धर्म—धार्मिक सिद्धान्त; अधर्म—अधार्मिक सिद्धान्त; निदर्शनम्—सूचित करते हुए।

जिस तरह वर्तमान वसन्त काल भूत तथा भविष्य काल के वसन्त कालों को सूचित करता है, उसी तरह सुख, दु:ख या दोनों से मिश्रित यह जीवन मनुष्य के भूत तथा भावी जीवनों के धार्मिक तथा अधार्मिक कार्यों के विषय में साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

तात्पर्य : हमारे लिए भूत तथा भविष्य को समझ पाना बहुत कठिन नहीं है, क्योंकि काल प्रकृति के तीन गुणों के कल्मष के अधीन होता है। वसन्त ऋतु के आगमन के साथ ही विविध प्रकार के फल-फूल स्वत: प्रकट हो जाते हैं, अत: हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भूतकाल में वसन्त इसी तरह के फलों तथा फूलों से अलंकृत थी और भविष्य में भी रहेगी। हमारे जन्म-मृत्यु का चक्र काल के भीतर चल रहा है और प्रकृति के गुणों के प्रभाव के अनुसार हम विविध प्रकार के शरीर प्राप्त करते हैं और विविध स्थितियों के अनुकूल बनते हैं।

मनसैव पुरे देवः पूर्वरूपं विपश्यति ।
अनुमीमांसतेऽपूर्वं मनसा भगवानजः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

मनसा—मन से; एव—निस्सन्देह; पुरे—अपने धाम में या परमात्मा रूप में प्रत्येक के हृदय में; देवः—यमराज देव (दिव्यातीत देवः, जो सदैव तेजोमय तथा दीप्त रहे वह देवता कहलाता है); पूर्व-रूपम्—विगत धार्मिक या अधार्मिक स्थिति; विपश्यति—पूरी तरह देखते भालते हैं; अनुमीमांसते—वह विचार करता है; अपूर्वम्—भावी स्थिति; मनसा—अपने मन से; भगवान्—जो सर्वशक्तिमान है; अजः—ब्रह्मा के ही समान।

सर्वशक्तिमान यमराज ब्रह्माजी के ही समान हैं, क्योंकि जब वे अपने निजी धाम या परमात्मा की भांति हर एक के हृदय में स्थित होते हैं, वे मन के द्वारा जीव के विगत कार्यों का अवलोकन करते हैं और यह समझ जाते हैं कि जीव अगले जीवन में किस तरह कर्म करेगा।

तात्पर्य : यमराज को सामान्यजीव नहीं मानना होगा। वे ब्रह्माजी के ही समान हैं। उन्हें प्रत्येक हृदय में वास करने वाले परम भगवान् का पूर्ण सहयोग प्राप्त है, अत: वे परमात्मा की कृपा से जीव के भीतर से उसके भूत, वर्तमान तथा भविष्य को देख सकते हैं। *अनुमीमांसते* शब्द का अर्थ है कि वे परमात्मा से विचार-विमर्श करके निर्णय ले सकते हैं। *अनु* का अर्थ है "अनुसरण करते हुए।" जीवों के अगले जीवनों के विषय में वास्तविक निर्णय परमात्मा द्वारा लिये जाते हैं और यमराज द्वारा उनको पूरा किया जाता है।

यथाज्ञस्तमसा युक्त उपास्ते व्यक्तमेव हि ।
न वेद पूर्वमपरं नष्टजन्मस्मृतिस्तथा ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अज्ञः—मूर्ख जीव; तमसा—निद्रा में; युक्तः—लगा हुआ; उपास्ते—के अनुसार कार्य करता है; व्यक्तम्—स्वप्न में प्रकट शरीर; एव—निश्चय ही; हि—निस्सन्देह; न वेद—नहीं जानता; पूर्वम्—विगत शरीर; अपरम्—अगला शरीर; नष्ट—नष्ट; जन्म-स्मृतिः—जन्म लेने का स्मरण; तथा—उसी प्रकार।

जिस तरह सोया हुआ व्यक्ति अपने स्वप्न में प्रकट हुए शरीर के अनुसार कार्य करता है और उसे स्वयं मान लेता है उसी तरह मनुष्य अपने वर्तमान शरीर से अपनी पहचान बनाता है, जिसे उसने अपने विगत धार्मिक या अधार्मिक कार्यों के कारण प्राप्त किया है और वह अपने विगत या भावी जीवनों को जान पाने में असमर्थ रहता है।

तात्पर्य : मनुष्य पापकर्मों में इसलिए प्रवृत्त होता है, क्योंकि वह यह नहीं जानता कि उसने अपने वर्तमान बद्ध शरीर को प्राप्त करने के लिए विगत जीवन में क्या किया था, जो तीन प्रकार के कष्टों से प्रभावित होता रहता है। *श्रीमद्भागवत* (५.५.४) में ऋषभदेव कहते हैं—*नूनं प्रमत्तःकुरुते विकर्म*—इन्द्रिय-तृप्ति के पीछे पागल रहने वाला मनुष्य पाप करने में कोई संकोच नहीं करता। *यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति*—वह एकमात्र इन्द्रिय-तृप्ति के लिए पापकर्म करता है। *न साधु मन्ये*—यह अच्छी बात नहीं। *यत् आत्मनोऽयमसन्नपि क्लेशद् आस देहः*—ऐसे पापकर्मों के कारण मनुष्यों को दूसरा शरीर प्राप्त होता है, जिसमें उसे कष्ट भोगना होता है, जिस तरह अपने विगत पापकर्मों के कारण वह वर्तमान शरीर में कष्ट पाता है।

यह समझ लेना होगा कि जिस व्यक्ति को वैदिक ज्ञान नहीं है, वह अज्ञानवश इस बात को नहीं जानता कि उसने भूतकाल में क्या किया है, वर्तमान में क्या कर रहा है और भविष्य में वह किस तरह कष्ट उठायेगा। वह पूर्णतया अंधकार में रहता है। इसीलिए वैदिक आदेश है—*तमसि मा*—अंधकार में मत रहो। *ज्योतिर्गम*—प्रकाश में जाने का प्रयास करो। यह प्रकाश वैदिक ज्ञान है, जिसे वह या तो सतोगुण पद पर पहुँच कर समझ सकता है या जब वह गुरु तथा परमेश्वर की भक्ति में लगे रहने से सतोगुण को लाँघ जाता है। इसका वर्णन *श्वेताश्वत उपनिषद्* (६.२३) में हुआ

है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

"जिन महात्माओं को भगवान् तथा गुरु दोनों पर पूर्ण श्रद्धा होती है, उन्हें वैदिक ज्ञान के सारे आशय स्वतः प्रकट हो जाते हैं।" वेदों का आदेश है—*तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्*—मनुष्य को चाहिए कि वह गुरु के पास जाये जिसे वेदों का पूर्ण ज्ञान होता है और भगवद्भक्त बनने के लिए उससे श्रद्धापूर्वक निर्देशन प्राप्त करे। तब वेदों का ज्ञान प्रकट होगा। वैदिक ज्ञान प्रकट हो जाने पर भौतिक प्रकृति के अंधकार में रहने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

जीव को प्रकृति के गुणों—सतो, रजो तथा तमोगुणों—के साथ संसर्ग के अनुसार विशेष प्रकार का शरीर प्राप्त होता है। सतोगुण से संसर्ग करने वाले का उदाहरण एक योग्य ब्राह्मण है। ऐसा ब्राह्मण भूत, वर्तमान तथा भविष्य जानता है, क्योंकि वह वैदिक साहित्य कि सम्मति लेता है और शास्त्रों को आँखों से देखता है (*शास्त्र-चक्षुः*)। वह यह समझ सकता है कि उसका विगत जीवन क्या था, वह वर्तमान शरीर में क्यों है और वह दूसरा भौतिक शरीर न प्राप्त करते हुए माया के पाश से किस तरह मुक्ति प्राप्त कर सकता है और दूसरा भौतिक शरीर स्वीकार नहीं करता। ऐसा तभी सम्भव है जब वह सतोगुण को प्राप्त हो। किन्तु सामान्यतया सारे जीव रजो तथा तमो गुणों में उलझे रहते हैं।

प्रत्येक दशा में मनुष्य को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अर्थात् परमात्मा की इच्छा के अनुसार निम्न या श्रेष्ठ शरीर प्राप्त होता है। जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है—

मनसैव पुरे देवः पूर्वरूपं विपश्यति।

अनुमीमांसतेऽपूर्वम् मनसा भगवान् अजः॥

हर बात भगवान् अथवा *अजः* अर्थात् अजन्मा पर निर्भर करती है। अच्छा शरीर पाने के लिए कोई भगवान् को क्यों नहीं प्रसन्न करता? उत्तर है *अज्ञस्तमसा*—निपट अज्ञान के कारण। जो पूर्ण

अंधकार में रहता है, वह यह नहीं जानता कि उसका विगत जीवन क्या था या उसका अगला जीवन क्या होगा? वह तो अपने वर्तमान शरीर में ही रुचि लेता है। यद्यपि उसको मनुष्य का शरीर मिला रहता है, किन्तु जो मनुष्य तमोगुण में रहता है, वह पशु के समान है, जो अपने वर्तमान शरीर में ही रुचि रखता है, क्योंकि एक पशु अज्ञान से प्रच्छन्न होने के कारण यह सोचता है कि जीवन का चरम लक्ष्य तथा सुख यथासम्भव भोजन करना है। मनुष्य को शिक्षा दी जानी चाहिए कि वह अपने विगत जीवन को समझे तथा यह समझे कि भविष्य में अच्छे जीवन के लिए वह किस तरह प्रयास करे। *भृगुसंहिता* नामक एक ग्रन्थ भी है, जो मनुष्य के भूत, वर्तमान तथा भविष्य जीवन को ज्योतिष गणनाओं के अनुसार बतलाता है। जैसे भी हो, मनुष्य को अपने भूत, वर्तमान तथा भविष्य के विषय में प्रबुद्ध होना चाहिए। जो एकमात्र अपने वर्तमान शरीर में रुचि लेता है और जो अपनी इन्द्रियों का जी-भर कर भोग करना चाहता है, वह तमोगुण में उलझा समझा जाता है। उसका भविष्य अत्यन्त अंधकारमय होता है। निस्सन्देह, जो अज्ञान से बुरी तरह प्रच्छन्न रहता है उसके लिए भविष्य सदा अंधकारमय रहता है। विशेषतया इस युग में, मानव-समाज तमोगुण से प्रच्छन्न है इसलिए हर व्यक्ति, अपने भूत तथा भविष्य पर विचार किए बिना वर्तमान शरीर को सब कुछ मानता है।

पञ्चभिः कुरुते स्वार्थान्पञ्च वेदाथ पञ्चभिः ।
एकस्तु षोडशेन त्रीन्स्वयं सप्तदशोऽश्नुते ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

पञ्चभिः—पाँच कर्मेन्द्रियों (वाणी, बाहें, पांव, गुदा तथा जननांग) से; कुरुते—करता है; स्व-अर्थान्—अपनी इच्छित रुचियाँ; पञ्च—पाँच इन्द्रियविषय (ध्वनि, रूप, स्पर्श, गन्ध तथा स्वाद); वेद—जानता है; अथ—इस प्रकार; पञ्चभिः—पाँच ज्ञान की (सुनना, देखना, सूँघना, आस्वादन करना तथा अनुभव करना) इन्द्रियों के द्वारा; एकः—एक; तु—लेकिन; षोडशेन—इन पन्द्रहों तथा मन, सोलह के द्वारा; त्रीन्—अनुभव की तीन कोटियाँ (सुख, दुख तथा दोनों का मिश्रण); स्वयम्—वह, स्वयं जीव; सप्तदशः—सत्रहवीं वस्तु; अश्नुते—भोग करता है।

पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों तथा पाँच इन्द्रियविषयों के ऊपर मन होता है, जो सोलहवाँ तत्त्व है। मन के ऊपर सत्तरहवाँ तत्त्व आत्मा स्वयं जीव है, जो अन्य सोलह के

सहयोग से अकेले भौतिक जगत का भोग करता है। जीव तीन प्रकार की स्थितियों का भोग करता है, यथा सुख दु:ख तथा मिश्रित सुख-दु:ख।

तात्पर्य : हर व्यक्ति अपने हाथों, पाँवों तथा अन्य इन्द्रियों से काम में लगा रहता है, जिससे उसके मनोरथों के अनुसार निश्चित लक्ष्य प्राप्त हो सके। वह पाँच इन्द्रियविषयों का अर्थात् रूप, ध्वनि, स्वाद, गंध तथा स्पर्श का आनन्द बिना यह जाने लेना चाहता है कि जीवन का वास्तविक उद्देश्य क्या है, जो कि परमेश्वर को प्रसन्न करना है। परमेश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करने के कारण ही मनुष्य को भौतिक स्थितियों में रखा जाता है और तब वह मनमाने ढंग से अपनी स्थिति को सुधारना चाहता है, किन्तु वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के आदेशों का पालन करना नहीं चाहता। फिर भी परमेश्वर इतने दयालु हैं कि वे मोहग्रस्त जीव को यह उपदेश देने के लिए स्वयं आते हैं कि किस तरह आज्ञाकारी बनकर कर्म करना चाहिए और क्रमश: भगवद्धाम लौटना चाहिए, जहाँ वह आनन्द तथा ज्ञान का नित्य शान्तिमय जीवन प्राप्त कर सके। जीव के शरीर होता है, जो भौतिक तत्त्वों का अत्यन्त जटिल संयोग है और इस शरीर से वह अकेले संघर्ष करता है जैसाकि इस श्लोक में *एकस्तु* शब्दों द्वारा इंगित किया गया है। उदाहरणार्थ, यदि कोई समुद्र में संघर्ष कर रहा है, तो उसे अकेले ही तैर कर उसे पार करना होता है। यद्यपि अन्य अनेक मनुष्य तथा जलचर समुद्र में तैरते रहते हैं, किन्तु उन्हें अपनी देखभाल स्वयं करनी होती है, क्योंकि अन्य कोई उनकी सहायता नहीं करेगा। इसलिए यह श्लोक इंगित करता है कि सत्तरहवीं वस्तु आत्मा को अकेले ही कर्म करना होगा। यद्यपि वह समाज, मैत्री तथा प्रेम उत्पन्न करना चाहता है, किन्तु कृष्ण अर्थात् परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई उसकी सहायता नहीं कर सकेगा। अतएव उसकी एकमात्र चिन्ता यही होनी चाहिए कि कृष्ण को किस तरह तुष्ट किया जाये। कृष्ण भी यही चाहते हैं (*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*)। भौतिक स्थितियों से मोहग्रस्त लोग एक होना चाहते हैं और वे मनुष्यों तथा राष्ट्रों के बीच एकता के लिए प्रयास भी करते हैं, किन्तु उनके सारे प्रयास व्यर्थ हैं। हर व्यक्ति को प्रकृति के अनेक तत्त्वों के साथ अपने अस्तित्व के लिए अकेले ही संघर्ष

करना चाहिए। अतएव उसकी एकमात्र आशा कृष्ण की शरण ग्रहण करना है, जैसाकि कृष्ण मंत्रणा देते हैं, क्योंकि वे अज्ञान के सागर से मुक्त होने में सहायता कर सकते हैं। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने प्रार्थना की है—

अयि नन्दतनुज किंकरं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।

कृपया तव पादपंकजस्थितधूलीसदृशं विचिन्तय॥

"हे कृष्ण, हे नन्द महाराज के लाड़ले! मैं आपका नित्यदास हूँ, किन्तु न जाने कैसे इस अज्ञान के सागर में गिर गया हूँ। यद्यपि मैं अत्यधिक संघर्ष कर रहा हूँ, किन्तु अपने को बचाने का कोई उपाय नहीं है। यदि आप मुझे निकाल लें और अपने चरणकमलों में धूल के एक कण की तरह मुझे टिका लें तो उससे मेरी रक्षा हो जायेगी।"

इसी तरह भक्तिविनोद ठाकुर ने गाया है—

अनादि करम-फले, पड़ि' भवार्णव-जले,

तरिबारे ना देखि उपाय

"हे प्रभु! मुझे स्मरण नहीं है कि कब मैं इस अज्ञान के सागर में किसी तरह से गिर गया और अब अपनी रक्षा करने का मुझे कोई उपाय नहीं सूझ रहा।" हमें स्मरण रखना चाहिए कि हर व्यक्ति अपने जीवन के लिए जिम्मेदार है। यदि कोई व्यक्ति कृष्ण का शुद्ध भक्त बन जाता है तब तो वह अज्ञान के सागर से उबार लिया जाता है।

तदेतत्षोडशकलं लिङ्गं शक्तित्रयं महत् ।
धत्तेऽनुसंसृतिं पुंसि हर्षशोकभयार्तिदाम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; एतत्—यह; षोडश-कलम्—सोलह अंशों से बना (यथा दस इन्द्रियाँ, मन तथा पाँच इन्द्रिय-विषय); लिङ्गम्—सूक्ष्म शरीर; शक्ति-त्रयम्—प्रकृति के तीन गुणों का प्रभाव; महत्—दुर्लंघ्य; धत्ते—देता है; अनुसंसृतिम्—विभिन्न प्रकार के शरीरों में निरन्तर भ्रमण तथा देहान्तरण; पुंसि—जीव में; हर्ष—हर्ष; शोक—शोक; भय—भय; आर्ति—कष्ट; दाम्—देने वाला।

सूक्ष्म शरीर सोलह अंगों से समन्वित होता है—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच

इन्द्रियतृप्ति के विषय तथा मन। यह सूक्ष्म शरीर प्रकृति के तीन गुणों का प्रभाव है। यह दुर्लंघ्य प्रबल इच्छाओं से बना हुआ है, अतएव यह जीव को मनुष्य-जीवन, पशु-जीवन तथा देवता-जीवन में एक शरीर से दूसरे में देहान्तरण कराता है। जब जीव को देवता का शरीर प्राप्त होता है, तो वह निश्चित रूप से हर्षित होता है; जब उसे मनुष्य शरीर प्राप्त होता है, तो वह शोक करता है और जब उसे पशु-शरीर मिलता है, तो वह सदैव भयभीत रहता है। किन्तु सभी स्थितियों में वह वस्तुतः दुःखी रहता है। उसकी यह दुःखित अवस्था *संसृति* या भौतिक जीवन में देहान्तरण कहलाती है।

तात्पर्य : इस श्लोक में भौतिक बद्ध जीवन के सार की व्याख्या की गई है। जीव, जो सत्तरहवाँ तत्त्व है, जन्म-जन्मांतर अकेले ही संघर्षरत रहता है। यह संघर्ष *संसृति* या भौतिक बद्ध जीवन कहलाता है। *भगवद्गीता* में यह कहा गया है कि भौतिक प्रकृति की शक्ति दुर्लघंनीय रूप से प्रबल है (*दैवी ह्येषागुणमयी मम माया दुरत्यया*)। भौतिक प्रकृति जीव को विभिन्न शरीरों में कष्ट देती है, किन्तु यदि जीव पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण ग्रहण कर लेता है, तो वह इस झमेले से मुक्त हो जाता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है (*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*)। इस तरह उसका जीवन सफल हो जाता है।

देह्यज्ञोऽजितषड्वर्गो नेच्छन्कर्माणि कार्यते ।
कोशकार इवात्मानं कर्मणाच्छाद्य मुह्यति ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

देही—देहधारी आत्मा; अज्ञः—पूर्णज्ञान से रहित; अजित-षट्-वर्गः—जिसने अनुभवेन्द्रियों तथा मन को वश में नहीं किया; न इच्छन्—न चाहते हुए; कर्माणि—भौतिक लाभ के लिए कर्म; कार्यते—करवाया जाता है; कोशकारः—रेशम का कीड़ा; इव—सदृश; आत्मानम्—स्वयं; कर्मणा—सकाम कर्मों से; आच्छाद्य—आवृत करके; मुह्यति—मोहित हो जाता है।

अपनी इन्द्रियों तथा मन को वश में करने में अक्षम मूर्ख देहधारी जीव अपनी इच्छाओं के विरुद्ध प्रकृति के गुणों के प्रभाव के अनुसार कर्म करने के लिए बाध्य होता है। वह उस रेशम के कीड़े के समान है, जो अपनी लार का प्रयोग बाह्य कोश बनाने के लिए करता है

और फिर उसी में बँध जाता है, जिसमें से बाहर निकल पाने की कोई सम्भावना नहीं रहती। जीव अपने ही सकाम कर्मों के जाल में अपने को बन्दी कर लेता है और तब अपने को छुड़ाने का कोई उपाय नहीं ढूँढ़ पाता। इस तरह वह सदैव मोहग्रस्त रहता है और बारम्बार मरता रहता है।

तात्पर्य : जैसाकि पहले बताया जा चुका है प्रकृति के गुणों का प्रभाव अति प्रबल है। विभिन्न प्रकार के सकाम कर्मों में फँसा जीव बाह्य कोश में बन्दी रेशम के कीड़े के समान है। जब तक कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् उसकी सहायता नहीं करते, इससे मुक्त हो पाना अत्यन्त कठिन होता है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म गुणैः स्वाभाविकैर्बलात् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; कश्चित्—कोई; क्षणम् अपि—एक क्षण के लिए भी; जातु—किसी भी समय; तिष्ठति—रहता है; अकर्म-कृत्—कुछ भी न करते हुए; कार्यते—करवाया जाता है; हि—निस्सन्देह; अवशः—स्वतः; कर्म—सकाम कर्म; गुणैः—प्रकृति के गुणों द्वारा; स्वाभाविकैः—पिछले जन्मों में अपनी ही प्रवृत्तियों से उत्पन्न; बलात्—बलपूर्वक।

एक भी जीव बिना कार्य किये क्षणभर भी नहीं रह सकता। उसे प्रकृति के तीन गुणों के अनुसार अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा कर्म करना ही पड़ता है, क्योंकि यह स्वाभाविक प्रवृत्ति उसे एक विशेष ढंग से कार्य करने के लिए बाध्य करती है।

तात्पर्य : कर्म में स्वाभाविक अर्थात् मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति सबसे महत्त्वपूर्ण कारक है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति तो सेवा करने की है, क्योंकि जीव ईश्वर का नित्य दास होता है। जीव सेवा तो करना चाहता है, किन्तु परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाने के कारण वह भौतिक प्रकृति के विविध गुणों के अधीन सेवा करता है और विविध सेवा के रूप गढ़ता है यथा समाजवाद, मानवतावाद तथा उपकारवाद। किन्तु मनुष्य को *भगवद्गीता* के उपदेशों से ज्ञान ग्रहण करना चाहिए और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के इस आदेश को स्वीकार करना चाहिए कि मनुष्य विभिन्न नामों से भौतिक सेवा की सारी स्वाभाविक प्रवृत्तियों का परित्याग कर दे और भगवान् की

सेवा स्वीकार करे। मनुष्य की आदि स्वाभाविक प्रवृत्ति तो कृष्णभावनामृत के अन्तर्गत कर्म करने की है, क्योंकि मनुष्य का असली स्वभाव आध्यात्मिक है। मनुष्य का कर्तव्य है कि इसे समझे, क्योंकि वह मूलत: आत्मा है, अत: उसे आध्यात्मिक प्रवृत्ति का पालन करना चाहिए और भौतिक प्रवृत्तियों के द्वारा बहकना नहीं चाहिए। इसीलिए श्रील भक्ति विनोद ठाकुर ने गाया है—

(मिछे) मायार वशे; याच्छा भेसे'

खाच्छा हाबुडुबु, भाइ।

''मेरे भाइयों! तुम लोग भौतिक शक्ति की तरंगों द्वारा ले जाये जा रहे हो और अनेक दुखमय स्थितियों को भोग रहे हो। कभी तुम भौतिक प्रकृति की तरंगों में डूबते हो तो कभी समुद्र में संघर्ष कर रहे तैराक की तरह उछाल दिये जाते हो।'' भक्तिविनोद ठाकुर ने ठीक ही कहा है, माया की तरंगों द्वारा थपेड़े खाने की मनुष्य की यह प्रवृत्ति उनकी आदि स्वाभाविक प्रवृत्ति में जो आध्यात्मिक है, बदली जा सकती है , जब जीव यह समझ जाता है कि वह कृष्ण का नित्य दास (कृष्णदास) है।

(जीव) कृष्ण-दास, एइ विश्वास,

कर्ले त' आर दु:ख नाइ

विभिन्न नामों से माया की सेवा करने के बजाय यदि मनुष्य अपनी सेवा-प्रवृत्ति को परम भगवान् की ओर मोड़ता है, तो वह सुरक्षित रहता है और फिर कोई कठिनाई नहीं आती। यदि वैदिक वाङ्मय में कृष्ण द्वारा दिये गये पूर्ण ज्ञान को समझकर मनुष्य-जीवन में कोई अपनी आदि स्वाभाविक प्रवृत्ति में लौट आता है, तो उसका जीवन सफल है।

लब्ध्वा निमित्तमव्यक्तं व्यक्ताव्यक्तं भवत्युत ।
यथायोनि यथाबीजं स्वभावेन बलीयसा ॥५४॥

शब्दार्थ

लब्ध्वा—प्राप्त करके; निमित्तम्—कारण; अव्यक्तम्—अदृश्य, अथवा पुरुष को अज्ञात; व्यक्त-अव्यक्तम्—व्यक्त तथा अव्यक्त या स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म शरीर; भवति—उत्पन्न होता है; उत—निश्चय ही; यथा-योनि—माता के ही सदृश; यथा-बीजम्—पिता के ही सदृश; स्व-भावेन—स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा; बलीयसा—जो अत्यन्त शक्तिशाली है।.

सजीव प्राणी जो भी सकाम कर्म करता है, वे चाहे पवित्र हों या अपवित्र, वे उसकी इच्छाओं की पूर्ति के अदृश्य कारण होते हैं। यह अदृश्य कारण ही जीव के विभिन्न शरीरों की जड़ है। जीव अपनी उत्कट इच्छा के कारण किसी विशेष परिवार में जन्म लेता है और ऐसा शरीर प्राप्त करता है, जो या तो उसकी या उसके पिता माता जैसा होता है। स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर उसकी इच्छा के अनुसार उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर की उपज है। *भगवद्गीता* (८.६) में कहा गया है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित:॥

''हे कुन्तीपुत्र! शरीर त्यागते समय मनुष्य जिस-जिस भाव का स्मरण करता है, वह निश्चित रूप से उस-उस भाव को प्राप्त होता है।'' मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर का वातावरण स्थूल शरीर के कार्यों द्वारा उत्पन्न किया जाता है। इस तरह स्थूल शरीर आजीवन कर्म करता है और सूक्ष्म शरीर मृत्यु के समय कार्य करता है। सूक्ष्म शरीर, जिसे *लिंग* या इच्छा का शरीर कहते हैं, किसी विशेष प्रकार के स्थूल शरीर के विकास के लिए पृष्ठभूमि होती है, जो या तो किसी की माता के सदृश या उसके पिता के सदृश होता है। ऋग्वेद के अनुसार, यदि मैथुन के समय माता का स्राव पिता के स्राव से अधिक होता है, तो शिशु को लड़की का शरीर प्राप्त होता है और यदि पिता का स्राव माता के स्राव से अधिक होता है, तो लड़के का शरीर प्राप्त होता है। ये प्रकृति के सूक्ष्म नियम हैं, जो जीव की इच्छा के अनुसार क्रियाशील होते हैं। यदि मनुष्य को कृष्णभावनामृत का विकास करके उसके सूक्ष्म शरीर को बदलने की शिक्षा दी जाये तो मृत्यु के समय यह सूक्ष्म शरीर ऐसे स्थूल शरीर को जन्म देगा जिसमें वह कृष्ण का भक्त होगा या फिर यदि वह अधिक पूर्ण हुआ तो वह दूसरा भौतिक शरीर नहीं ग्रहण करेगा, अपितु तुरन्त आध्यात्मिक शरीर पाकर घर को अर्थात्

भगवद्धाम लौट जायेगा। आत्मा के देहान्तरण की यही विधि है। इसलिए इन्द्रियतृप्ति के लिए समझौतों द्वारा मानव-समाज को संयुक्त करने का प्रयास करने के बजाय, अच्छा यही होगा कि लोगों को यह शिक्षा दी जाये कि किस तरह कृष्णभावनाभावित होकर भगवद्धाम वापस जाया जाये। यह आज सत्य है और निस्सन्देह किसी भी समय सत्य रहेगा।

एष प्रकृतिसङ्गेन पुरुषस्य विपर्ययः ।
आसीत्स एव न चिरादीशसङ्गाद्विलीयते ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; प्रकृति-सङ्गेन—भौतिक प्रकृति के साथ संगति होने से; पुरुषस्य—जीव का; विपर्ययः—विस्मृति की स्थिति या विषम स्थिति; आसीत्—आ गई; सः—वह स्थिति; एव—निस्सन्देह; न—नहीं; चिरात्—दीर्घ काल तक; ईश-सङ्गात्—परम ईश्वर (परमेश्वर) की संगति से; विलीयते—समाप्त हो जाती है।

चूँकि जीव की संगति भौतिक प्रकृति से रहती है, अतएव वह बड़ी विषम स्थिति में होता है, किन्तु यदि उसे मनुष्य जीवन में यह शिक्षा दी जाती है कि किस तरह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् या उनके भक्त की संगति की जाये तो इस स्थिति पर काबू पाया जा सकता है।

तात्पर्य : *प्रकृति* का अर्थ है भौतिक प्रकृति तथा *पुरुष* भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को द्योतित करने वाला हो सकता है। यदि कोई व्यक्ति भगवान् की स्त्री-शक्ति *प्रकृति* के साथ अपना संसर्ग बनाये रखना चाहता है और इस भ्रम में रहकर कि वह प्रकृति का भोग कर सकेगा, अपने को कृष्ण से विलग कर ले तो उसे बद्ध जीवन में बने रहना पड़ेगा। किन्तु यदि वह अपनी चेतना बदल लेता है और परम आदि पुरुष (*पुरुषं शाश्वतम्*) से या उनके संगियों से संगति करता है, तो वह भौतिक प्रकृति के पाश से बाहर निकल सकता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (४.९) में पुष्टि हुई है *जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः* मनुष्य को परम पुरुष कृष्ण को उनके रूप, नाम, कार्य तथा लीलाओं के रूप में केवल समझना होता है। इससे वह सदा कृष्ण की संगति में बना रहेगा। *त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन* इस प्रकार अपने इस स्थूल शरीर को त्यागने के बाद मनुष्य दूसरा स्थूल शरीर नहीं ग्रहण करता, अपितु आध्यात्मिक शरीर ग्रहण करता है, जिससे

वह भगवद्धाम वापस जा सके। इस तरह भौतिक शक्ति की संगति से उत्पन्न उसके कष्ट का अन्त हो जाता है। संक्षेपत: जीव भगवान् का नित्य दास है, किन्तु वह भौतिक जगत में आता है और प्रभुत्व जताने की इच्छा के कारण वह भौतिक स्थितियों द्वारा बँध जाता है। मुक्ति का अर्थ है इस झूठी चेतना को त्यागकर ईश्वर के प्रति अपनी आदि सेवा को पुनरुज्जीवित करना। आदि जीवन में यह वापसी *मुक्ति* कहलाती है, जिसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* में हुई है (*मुक्तिर्हित्वान्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थिति:*)।

अयं हि श्रुतसम्पन्न: शीलवृत्तगुणालय: ।
धृतव्रतो मृदुर्दान्त: सत्यवाङ्मन्त्रविच्छुचि: ॥ ५६ ॥
गुर्वग्न्यतिथिवृद्धानां शुश्रूषुरनहङ्कृत: ।
सर्वभूतसुहृत्साधुर्मितवागनसूयक: ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

अयम्—यह व्यक्ति (अजामिल नामक); हि—निस्सन्देह; श्रुत-सम्पन्न:—वैदिक ज्ञान में सुशिक्षित; शील—अच्छे चरित्र; वृत्त—अच्छे चाल-चलन; गुण—तथा अच्छे गुण का; आलय:—आगार; धृत-व्रत:—वैदिक आदेशों को सम्पन्न करने में दृढ़; मृदु:—अत्यन्त विनीत; दान्त:—मन तथा इन्द्रियों को पूरी तरह वश में करने वाला; सत्य-वाक्—सदैव सत्यव्रती; मन्त्र-वित्—वैदिक मंत्रों के उच्चारण की विधि को जानने वाला; शुचि:—सदैव अत्यन्त स्वच्छ; गुरु—गुरु; अग्नि—अग्नि; अतिथि—अतिथि; वृद्धानाम्—तथा घर के बड़े बूढ़ों का; शुश्रूषु:—आदरपूर्वक सेवा में लगा रहने वाला; अनहङ्कृत:—गर्व या झूठी प्रतिष्ठा से रहित; सर्व-भूत-सुहृत्—सारे जीवों का मित्र; साधु:—अच्छे स्वभाव वाला (उसके चरित्र में कोई दोष नहीं निकाल सका); मित-वाक्—बात करते समय यह ध्यान रखने वाला कि व्यर्थ न बोला जाये; अनसूयक:—ईर्ष्यारहित।

प्रारम्भ में अजामिल नामक उस ब्राह्मण ने सारे वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन किया था। वह अच्छे चरित्र, अच्छे चाल-चलन तथा अच्छे गुणों का आगार था। वह सारे वैदिक आदेशों को सम्पन्न करने में दृढ़ था, वह अत्यन्त मृदु तथा सुशील था और अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में रखता था। यही नहीं, वह सदा सच बोलता था, वह जानता था कि वैदिक मंत्रों का उच्चारण करना होता है तथा वह अत्यन्त शुद्ध भी था। अजामिल अपने गुरु, अग्निदेव, अतिथियों तथा घर के वृद्धजनों का अतीव आदर करता था। निस्सन्देह वह झूठी प्रतिष्ठा से मुक्त था। वह सरल, सभी जीवों के प्रति उपकार करने वाला तथा शिष्ट था।

वह न तो व्यर्थ की बातें करता था, न किसी से ईर्ष्या करता था।

तात्पर्य : यमदूत पाप तथा पुण्य की वास्तविक स्थिति तथा इस जगत में जीव किस तरह फँसता है, इसकी व्याख्या कर रहे हैं। अजामिल के जीवन-इतिहास का वर्णन करते हुए यमदूत बताते हैं कि प्रारम्भ में वह वैदिक साहित्य का विद्वान था। वह अच्छे आचरण वाला, स्वच्छ तथा हर एक के प्रति अतीव दया करने वाला था। वस्तुत: उसमें सारे सद्गुण थे। दूसरे शब्दों में, वह एक पूर्ण ब्राह्मण के सदृश था। ब्राह्मण से आशा की जाती है कि वह पूर्णतया पवित्र हो, सभी विधि-विधानों का पालन करे और समस्त सद्गुणों से युक्त हो। इन श्लोकों में पुण्य के लक्षण बतलाये गये हैं। श्रील वीरराघव आचार्य टीका करते हैं कि *धृत-व्रत* का अर्थ है—*धृतं व्रतं स्त्री-संगराहित्यात्मक-ब्रह्मचर्य रूपम्*। दूसरे शब्दों में, अजामिल पूर्ण *ब्रह्मचारी* के रूप में *ब्रह्मचर्य* के विधि-विधानों का पालन करता था और वह अत्यन्त दयालु, सच्चा, स्वच्छ तथा शुद्ध था। इन गुणों के होते हुए भी वह कैसे पतित हुआ और यमराज द्वारा दण्ड दिये जाने के लिए धमकाया गया, इसका वर्णन अगले श्लोकों में किया जायेगा।

एकदासौ वनं यात: पितृसन्देशकृद्द्विज: ।
आदाय तत आवृत्त: फलपुष्पसमित्कुशान् ॥ ५८ ॥
ददर्श कामिनं कञ्चिच्छूद्रं सह भुजिष्यया ।
पीत्वा च मधु मैरेयं मदाघूर्णितनेत्रया ॥ ५९ ॥
मत्तया विश्लथन्नीव्या व्यपेतं निरपत्रपम् ।
क्रीडन्तमनुगायन्तं हसन्तमनयान्तिके ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; असौ—यह अजामिल; वनम् यात:—जंगल में गया; पितृ—अपने पिता का; सन्देश—आदेश; कृत्—पूरा करने के लिए; द्विज:—ब्राह्मण; आदाय—एकत्र करके; तत:—उस जंगल से; आवृत्त:—लौटते हुए; फल-पुष्प—फल फूल; समित्-कुशान्—समित तथा कुश नामक दो प्रकार के तृण; ददर्श—देखा; कामिनम्—अत्यन्त कामी; कञ्चित्—किसी; शूद्रम्—चतुर्थ वर्ण का व्यक्ति, शूद्र; सह—साथ; भुजिष्यया—सामान्य दासी या वेश्या के; पीत्वा—पीकर; च—भी; मधु—अमृत; मैरेयम्—सोम पुष्पों से बना; मद—नशे से; आघूर्णित—घुमाती हुई; नेत्रया—अपनी आँखें; मत्तया—मदमत्त; विश्लथत्-नीव्या—शिथिल वस्त्रों वाली; व्यपेतम्—सही आचरण से गिरी हुई; निरपत्रपम्—जनता के मत के भय से रहित; क्रीडन्तम्—भोग में लगी; अनुगायन्तम्—गाते हुए; हसन्तम्—हँसते हुए; अनया—उसके साथ; अन्तिके—पास ही।

एक बार यह ब्राह्मण अजामिल अपने पिता का आदेश पालन करते हुए जंगल से फल, फूल तथा समित् और कुश नामक दो प्रकार की घासें लाने जंगल गया। घर वापस आते समय उसे एक अत्यन्त कामुक, चतुर्थ वर्ण का व्यक्ति शूद्र मिला जो निर्लज्ज होकर एक वेश्या का आलिगंन तथा चुम्बन कर रहा था। यह शूद्र इस तरह हँसते, गाते हुए आनन्द ले रहा था मानो यही उचित आचरण हो। यह शूद्र तथा वेश्या दोनों ही सुरापान किये हुए थे। वेश्या की आँखें नशे से घूम रही थीं और उसके वस्त्र शिथिल पड़ गये थे। अजामिल ने उन्हें ऐसी दशा में देखा।

तात्पर्य : रास्ते में आते हुए अजामिल को एक चतुर्थ वर्ण का पुरुष तथा एक वेश्या मिली जिनका यहाँ पर स्पष्टता से वर्णन हुआ है। पुराने युगों में भी कभी-कभी मदोन्मत्तता प्रकट होती थी, किन्तु बहुत आम न थी। किन्तु इस कलियुग में ऐसा पाप सर्वत्र देखा जाता है, क्योंकि सारे संसार में लोग निर्लज्ज हो चुके हैं। बहुत काल पूर्व जब अजामिल ने उन्मत्त शूद्र तथा वेश्या का दृश्य देखा था, तो पूर्ण ब्रह्मचारी होते हुए भी वह प्रभावित हो गया। आजकल ऐसा पाप अनेक स्थानों में दृष्टिगोचर होता है और हमें उस ब्रह्मचारी छात्र की स्थिति पर विचार करना चाहिए जो ऐसे आचरण को देखता है। यदि वह यम-नियमों के पालन में अत्यन्त सुदृढ़ न हो तो ऐसे ब्रह्मचारी के लिए स्थिर रह पाना अत्यन्त कठिन है। फिर भी यदि कोई कृष्णभावनामृत को गम्भीरतापूर्वक अंगीकार करे तो वह पाप द्वारा उत्पन्न उत्तेजना का सामना कर सकता है। हम अपने कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में अवैध यौन, नशा, मांसाहार तथा जुआ खेलने पर प्रतिबन्ध लगाते हैं। कलियुग में एक शराब पी हुई अर्धनग्न स्त्री द्वारा किसी उन्मत्त पुरुष का आलिंगन करते हुए देखे जाना एक सामान्य दृश्य है, विशेषतया पाश्चात्य देशों में और ऐसा दृश्य देखने के बाद अपने को रोक पाना अति कठिन है। फिर भी यदि कृष्ण-कृपा से कोई व्यक्ति विधि-विधानों में दृढ़ रहता है और हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करता है, तो कृष्ण उसकी रक्षा निश्चित रूप से करेंगे। दरअसल, कृष्ण कहते हैं कि उनके भक्त का कभी नाश नहीं होता (*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त:*

प्रणश्यति)। अतएव कृष्णभावनामृत का अभ्यास करने वाले सारे शिष्यों को आज्ञापूर्वक विधि-विधानों का पालन करना चाहिए और भगवन्नाम का कीर्तन करने में स्थिर रहना चाहिए। तब डरने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। अन्यथा मनुष्य की स्थिति विशेषतया इस कलियुग में अत्यन्त भयावह है।

दृष्ट्वा तां कामलिप्तेन बाहुना परिरम्भिताम् ।
जगाम हृच्छयवशं सहसैव विमोहितः ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; ताम्—उस (वेश्या) को; काम-लिप्तेन—कामेच्छाओं को उद्दीप्त करने के लिए हल्दी लगाये हुए; बाहुना—बाँह से; परिरम्भिताम्—आलिंगित; जगाम—चला गया; हृत्-शय—हृदय के भीतर कामेच्छाओं का; वशम्—वशीभूत; सहसा—एकाएक; एव—निस्सन्देह; विमोहितः—मोहित हुआ।

यह शूद्र हल्दी के चूर्ण से अपनी बाहें चमकाए हुए था और उस वेश्या का आलिंगन कर रहा था। जब अजामिल ने उसे देखा तो उसके हृदय में सुप्त कामेच्छाएँ जाग्रत हो उठीं और वह सम्मोहित होकर उनके वश में हो लिया।

तात्पर्य : कहा जाता है कि यदि शरीर में हल्दी लगी हो तो यह विपरीत लिंग की कामेच्छाओं को आकृष्ट करता है। *कामलिप्तेन* शब्द सूचित करता है कि वह शूद्र अपना शरीर हल्दी के लेप से अलंकृत किए था।

स्तम्भयन्नात्मनात्मानं यावत्सत्त्वं यथाश्रुतम् ।
न शशाक समाधातुं मनो मदनवेपितम् ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

स्तम्भयन्—वश में करने का प्रयास करते हुए; आत्मना—बुद्धि से; आत्मानम्—मन को; यावत् सत्त्वम्—यथासम्भव उसके लिए; यथा-श्रुतम्—आदेश का (ब्रह्मचर्य का, स्त्री को देखने तक का) स्मरण करके; न—नहीं; शशाक—समर्थ था; समाधातुम्—रोक पाने के लिए; मनः—मन; मदन-वेपितम्—कामदेव या कामेच्छाओं द्वारा चलायमान।

उसने धैर्यपूर्वक स्त्री को न देखने के शास्त्रों के आदेश स्मरण करने का यथासम्भव प्रयास किया। इस ज्ञान तथा अपनी बुद्धि के बल पर उसने अपनी कामेच्छाओं को वश में करने का प्रयास किया, किन्तु अपने भीतर कामदेव का वेग होने से वह अपने मन को साध

न सका।

तात्पर्य : जब तक कोई ज्ञान, धैर्य तथा उचित शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक आचरण में अत्यन्त प्रबल न हो तब तक उसके लिए अपनी कामेच्छाओं को वश में कर पाना अतीव कठिन है। अत: किसी पुरुष द्वारा एक युवती का आलिंगन किया जाना तथा संभोग के लिए अपेक्षित प्रत्येक कार्य सम्पन्न होते देखकर, ऊपर वर्णित एक पूर्णयोग्य ब्राह्मण भी अपनी कामेच्छाओं को वश में नहीं कर सका और उनसे अपने को रोक नहीं पाया। भौतिकतावादी जीवन के वेग के कारण तब तक आत्मसंयम रख पाना दुष्कर है जब तक कोई व्यक्ति भक्ति के माध्यम से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के संरक्षण में न हो।

तन्निमित्तस्मरव्याजग्रहग्रस्तो विचेतन: ।
तामेव मनसा ध्यायन्स्वधर्माद्विरराम ह ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

तत्-निमित्त—उसे देखने से उत्पन्न; स्मर-व्याज—उसके विषय में लगातार सोचते रहने का लाभ उठाकर; ग्रह-ग्रस्त:—ग्रहण द्वारा पकड़ा हुआ; विचेतन:—अपनी असली स्थिति को पूरी तरह भूलकर; ताम्—उसको; एव—निश्चय ही; मनसा—मन से; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; स्व-धर्मात्—ब्राह्मण द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले अनुष्ठानों को; विरराम ह—उसने पूरी तरह बन्द कर दिया।.

जिस तरह सूर्य तथा चन्द्रमा एक क्षुद्र ग्रह द्वारा ग्रसित हो जाते हैं, उसी तरह उस ब्राह्मण ने अपना सारा उत्तम ज्ञान खो दिया। इस स्थिति का लाभ उठाकर वह सदैव उस वेश्या के विषय में सोचता रहता और थोड़े समय बाद ही उसने उसे अपने घर में नौकरानी के रूप में रख लिया तथा ब्राह्मण के सारे अनुष्ठानों का परित्याग कर दिया।

तात्पर्य : यह श्लोक कह कर शुकदेव गोस्वामी पाठक के मन पर यह प्रभाव छोड़ना चाहते हैं कि वेश्या की संगति से ब्राह्मण के रूप में अजामिल का उच्च पद समाप्त हो गया, यहाँ तक कि वह अपने सारे ब्राह्मण-कर्म भूल गया। तो भी जीवन के अन्त में नारायण नाम के चार अक्षरों का उच्चारण करने से वह पतित होने के गम्भीरतम खतरे से बचा लिया गया। *स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्* थोड़ी सी भी भक्ति मनुष्य को बड़े-से-बड़े खतरे से बचा सकती है।

भगवन्नाम का कीर्तन करने से प्रारम्भ होने वाली भक्ति इतनी बलशाली होती है कि यदि कोई यौन में लिप्त हो जाने के कारण ब्राह्मण के उच्च पद से नीचे गिरता भी है, तो वह सारी विपत्तियों से बचाया जा सकता है, यदि वह किसी तरह भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करे। भगवान् के पवित्र नाम की यह असाधारण शक्ति है। इसीलिए *भगवद्गीता* में परामर्श दिया गया है कि मनुष्य क्षण-भर के लिए भी पवित्र नाम का कीर्तन करना न भूले—*सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः*। इस भौतिक जगत में अनेकानेक खतरे हैं जिससे मनुष्य किसी भी समय उच्च पद से नीचे गिर सकता है। फिर भी यदि कोई हरे कृष्ण महामंत्र के कीर्तन द्वारा अपने को सदैव शुद्ध तथा स्थिर रखता है, तो वह निस्सन्देह सुरक्षित रहेगा।

तामेव तोषयामास पित्र्येणार्थेन यावता ।
ग्राम्यैर्मनोरमैः कामैः प्रसीदेत यथा तथा ॥ ६४॥

शब्दार्थ

ताम्—उसको (वेश्या को); एव—निस्सन्देह; तोषयाम् आस—उसने प्रसन्न करने का प्रयास किया; पित्र्येण—अपने पिता की गाढ़ी कमाई से प्राप्त; अर्थेन—धन से; यावता—यथासम्भव; ग्राम्यैः—भौतिक; मनः-रमैः—उसके मन को सुहावना लगने वाले; कामैः—इन्द्रिय भोग के लिए उपहारों द्वारा; प्रसीदेत—उसे तुष्ट करना होगा; यथा—जिससे; तथा—उस तरह से।.

इस तरह अजामिल अपने पिता से उत्तराधिकार में प्राप्त जो भी धन था उसे अपने विविध उपहारों द्वारा उस वेश्या को तुष्ट करने में खर्च करने लगा, जिससे वह उससे प्रसन्न बनी रहे। उसने उस वेश्या को तुष्ट करने के लिए अपने सारे ब्राह्मण-कर्म भी छोड़ दिये।

तात्पर्य : विश्व में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें एक शुद्ध व्यक्ति भी वेश्या द्वारा आकृष्ट हो जाने पर उत्तराधिकार में प्राप्त सारा धन खर्च कर देता है। वेश्या का संग इतना निन्दनीय है कि वेश्या के साथ सम्भोग की इच्छा से व्यक्ति अपना चरित्र नष्ट कर सकता है, अपना उच्च पद खो सकता है और अपना सारा धन गँवा सकता है। इसलिए अवैध यौन का पुरजोर निषेध किया गया है। मनुष्य को अपनी विवाहिता पत्नी से तुष्ट रहना चाहिए, क्योंकि थोड़े से विचलन से ही सर्वनाश हो सकता है। एक कृष्णभावनाभावित गृहस्थ को इसका सदैव स्मरण रहना चाहिए। उसे

एक पत्नी से सदैव तुष्ट रहना चाहिए और केवल हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करके शान्त रहना चाहिए। अन्यथा किसी भी क्षण वह अपने उत्तम पद से नीचे गिर सकता है, जिसका ज्वलन्त उदाहरण अजामिल है।

विप्रां स्वभार्यामप्रौढां कुले महति लम्भिताम् ।
विससर्जाचिरात्पापः स्वैरिण्यापाङ्गविद्धधीः ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

विप्राम्—ब्राह्मण की पुत्री; स्व-भार्याम्—अपनी पत्नी को; अप्रौढाम्—अधिक आयु वाली नहीं (युवती); कुले—परिवार से; महति—अतीव सम्माननीय; लम्भिताम्—विवाहिता; विससर्ज—त्याग दिया; अचिरात्—तुरन्त ही; पापः—पापी होने से; स्वैरिण्या—वेश्या की; अपाङ्ग-विद्ध-धीः—कामयुक्त चितवन से बिधी हुई उसकी बुद्धि।

चूँकि उसकी बुद्धि वेश्या की कामपूर्ण चितवन से बिंध चुकी थी, अतः शिकार हुआ ब्राह्मण अजामिल उसकी संगति में पापकर्म करने लगा। उसने अपनी अति सुन्दर तरुण पत्नी तक का साथ छोड़ दिया जो अति सम्मानित ब्राह्मण कुल से आई थी।

तात्पर्य : प्रथा के अनुसार हर व्यक्ति अपने पिता का उत्तराधिकार पाने का पात्र है और अजामिल ने भी अपने पिता का धन उत्तराधिकार में पाया। किन्तु उसने इस धन से क्या किया? उसने यह धन कृष्ण की सेवा में न लगाकर वेश्या की सेवा में लगा दिया। अतएव उसकी निन्दा हुई और वह यमराज द्वारा दण्डनीय हुआ। यह सब कैसे हुआ? वह एक वेश्या की घातक कामयुक्त चितवन का शिकार हो गया।

यतस्ततश्चोपनिन्ये न्यायतोऽन्यायतो धनम् ।
बभारास्याः कुटुम्बिन्याः कुटुम्बं मन्दधीरयम् ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

यतः ततः—जहाँ भी और जैसे भी सम्भव; च—तथा; उपनिन्ये—उसे मिला; न्यायतः—उचित रीति से; अन्यायतः—अनुचित रीति से; धनम्—धन; बभार—भरण-पोषण किया; अस्याः—उसके; कुटुम्-बिन्याः—अनेक पुत्रियों तथा पुत्रों वाला; कुटुम्बम्—परिवार; मन्द-धीः—समस्त बुद्धि से रहित; अयम्—इस व्यक्ति (अजामिल) ने।

यद्यपि वह ब्राह्मण कुल में उत्पन्न था, किन्तु वेश्या की संगति के कारण बुद्धि से विहीन उस धूर्त ने जैसे-तैसे करके धन कमाया चाहे वह उचित रीति से हो या अनुचित रीति से और

उसको वेश्या के पुत्रों तथा पुत्रियों के भरण-पोषण में लगाया।

यदसौ शास्त्रमुल्लङ्घ्य स्वैरचार्यतिगर्हितः ।
अवर्तत चिरं कालमघायुरशुचिर्मलात् ॥ ६७॥

शब्दार्थ

यत्—चूँकि; असौ—यह ब्राह्मण; शास्त्रम् उल्लङ्घ्य—शास्त्र के नियमों का उल्लंघन करके; स्वैर-चारी—मनमाने ढंग से कार्य करते हुए; अति-गर्हितः—अत्यधिक निन्दनीय; अवर्तत—बिताया; चिरम् कालम्—दीर्घकाल; अघ-आयुः—जिसका जीवन पापकर्मों से पूर्ण था; अशुचिः—अस्वच्छ; मलात्—गंदगी के कारण।

इस ब्राह्मण ने पवित्र शास्त्रों के विधि-विधानों का उल्लंघन करके, अपव्यय करने तथा वेश्या द्वारा बनाया भोजन करने में बड़े ही अनुत्तरदायित्व पूर्ण ढंग से अपनी दीर्घ आयु बिताई। इसीलिए वह पापों से पूर्ण है। वह अस्वच्छ है और निषिद्ध कर्मों में लिप्त रहता है।

तात्पर्य : किसी अस्वच्छ, पापी पुरुष या स्त्री के द्वारा, विशेषतया वेश्या द्वारा बनाया गया भोजन अत्यन्त संक्रामक होता है। अजामिल ने ऐसा ही भोजन किया, अतएव उसे यमराज द्वारा दण्डित होना पड़ा।

तत एनं दण्डपाणेः सकाशं कृतकिल्बिषम् ।
नेष्यामोऽकृतनिर्वेशं यत्र दण्डेन शुद्ध्यति ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

ततः—इसलिए; एनम्—उसको; दण्ड-पाणेः—यमराज के, जिसे दण्ड देने का अधिकार है; सकाशम्—समक्ष; कृत-किल्बिषम्—जिसने नियमित रूप से सारे पापकर्म किये हैं; नेष्यामः—हम ले जायेंगे; अकृत-निर्वेशम्—जिसने प्रायश्चित्त नहीं किया हो; यत्र—जहाँ; दण्डेन—दण्ड द्वारा; शुद्ध्यति—शुद्ध बना दिया जायेगा।

इस अजामिल ने कोई प्रायश्चित्त नहीं किया। अतः उसके पापी जीवन के कारण हम इसे दण्ड देने के लिए यमराज के समक्ष ले जायेंगे। वहाँ यह अपने पापकर्मों की मात्रा के अनुसार दण्डित होगा और इस तरह शुद्ध बनाया जायेगा।

तात्पर्य : विष्णुदूतों ने अजामिल को यमराज के पास ले जाने से यमदूतों को रोक दिया था, अतएव यमदूतों ने बताया कि ऐसे व्यक्ति को यमराज के पास ले जाना उचित है। चूँकि अजामिल ने अपने पापकर्मों के लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं किया था, अतः उसे शुद्ध बनाने के लिए यमराज के

पास ले जाया जाना था। जब कोई व्यक्ति हत्या करता है, तो वह पापी बन जाता है, अत: उसका भी वध कर दिया जाना चाहिए, अन्यथा मृत्यु के बाद उसे तमाम पापफल भोगने होंगे। इसी तरह अत्यधिक गर्हित पापी व्यक्तियों को यमराज द्वारा दण्ड दिया जाना शुद्धि की विधि है। अतएव यमदूतों ने विष्णुदूतों से अनुनय-विनय की कि वे अजामिल को यमराज के पास ले जाने से न रोकें।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध के अन्तर्गत ''अजामिल के जीवन का इतिहास'' नामक प्रथम अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दो

विष्णुदूतों द्वारा अजामिल का उद्धार

इस अध्याय में वैकुण्ठ के दूत यमदूतों को भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन की महिमा बतलाते हैं। विष्णुदूतों ने कहा, ''अब तो भक्तों की सभा में भी अपवित्र कर्म किये जाते हैं, क्योंकि जो व्यक्ति दण्डनीय नहीं है, वह यमराज की सभा में दण्डित होने जा रहा है। लोग असहाय हैं और वे अपनी सुरक्षा के लिए सरकार पर निर्भर रहते हैं, किन्तु यदि सरकार इसका लाभ उठाकर नागरिकों को हानि पहुँचाती है, तो फिर वे कहाँ जायेंगे? हम अच्छी तरह देख रहे हैं कि अजामिल को दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए, यद्यपि तुम लोग इसे दण्ड देने के लिए यमराज के पास लिए जाने का प्रयास कर रहे हो।''

अजामिल अपने द्वारा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के नाम की महिमा के गायन से ही अदण्डनीय हो गया था। विष्णुदूतों ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की: ''यह ब्राह्मण मात्र एक बार नारायण का नाम उच्चारण करने से पापी जीवन के फलों से मुक्त हो गया है। यह न केवल इस जन्म के पापों से मुक्त हो गया है, अपितु कई हजारों अन्य जीवनों के पापों से भी मुक्त हो गया है। उसने पहले ही अपने पाप-कर्मों का प्रायश्चित्त कर लिया है, जो कोई शास्त्रों के निर्देशानुसार प्रायश्चित्त करता है,

वह वस्तुत: पापकर्मों के फलों से मुक्त नहीं होता, किन्तु यदि वह भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करता है, तो ऐसे कीर्तन की एक परछाई मात्र से वह सारे पापों से तुरन्त मुक्त हो जाता है। भगवान् के नाम की महिमा का कीर्तन सारे सौभाग्य का उदय कराता है। अतएव इसमें संदेह नहीं है कि सारे पापकर्मों के फलों से पूर्णतया मुक्त होने के कारण अजामिल को यमराज द्वारा दण्ड नहीं मिलना चाहिए।''

जब वे यह कह रहे थे तो विष्णुदूतों ने अजामिल को यमदूतों के पाश से छुड़ा दिया और वे अपने धाम को चले गये। किन्तु ब्राह्मण अजामिल ने विष्णुदूतों को सादर नमस्कार किया। तब उसकी समझ में आया कि वह कितना भाग्यशाली था कि उसने अपने जीवन के अन्त में नारायण के नाम का उच्चारण किया। निस्सन्देह वह अपने सौभाग्य का पूर्ण महत्त्व अनुभव कर सका। यमदूतों तथा विष्णुदूतों के बीच हुए वाद-विवाद को भलीभाँति समझने के बाद वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का शुद्ध भक्त बन गया। उसने अत्यधिक पश्चात्ताप किया कि वह कितना बड़ा पापी था और बारम्बार अपने को कोसा।

अन्तत: विष्णुदूतों की संगति से अपनी मूल चेतना के जाग्रत हो जाने पर अजामिल ने सर्वस्व त्याग दिया और हरिद्वार चला गया जहाँ वह अविचल भाव से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का चिन्तन करते हुए भक्ति में लग गया। तब विष्णुदूत वहाँ पहुँचे और उन्होंने उसे सोने के सिंहासन पर बैठाया और फिर उसे वैकुण्ठलोक ले गये।

संक्षेप में, यद्यपि पापी अजामिल अपने पुत्र को पुकारता था, किन्तु नारायण का पवित्र नाम, प्रारम्भिक अवस्था (नामाभास) में उच्चारण किये जाने पर भी, उसे मुक्ति दिला सका। इसलिए जो व्यक्ति श्रद्धा तथा भक्ति से भगवान् के पवित्र नाम का उच्चारण करता है, वह निश्चित रूप से महान् है और उसकी रक्षा उसके भौतिक बद्ध जीवन में भी की जाती है।

श्रीबादरायणिरुवाच

एवं ते भगवद्दूता यमदूताभिभाषितम् ।
उपधार्याथ तान्राजन्प्रत्याहुर्नयकोविदाः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—व्यासदेव के पुत्र शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; ते—वे; भगवत्-दूताः—भगवान् विष्णु के सेवक; यमदूत—यमराज के सेवकों द्वारा; अभिभाषितम्—कहा गया; उपधार्य—सुनकर; अथ—तब; तान्—उनसे; राजन्—हे राजन्; प्रत्याहुः—ठीक से उत्तर दिया; नय-कोविदाः—उत्तम नीति में पटु होने से।.

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्! भगवान् विष्णु के दूत नीति तथा तर्कशास्त्र में अति पटु होते हैं। यमदूतों के कथनों को सुनने के बाद उन्होंने इस प्रकार उत्तर दिया।

श्रीविष्णुदूता ऊचुः
अहो कष्टं धर्मदृशामधर्मः स्पृशते सभाम् ।
यत्रादण्ड्येष्वपापेषु दण्डो यैर्ध्रियते वृथा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-विष्णुदूताः ऊचुः—विष्णुदूतों ने कहा; अहो—हाय; कष्टम्—कितना दुखदायी है; धर्म-दृशाम्—धर्मपालन करने में रुचि लेने वाले पुरुषों को; अधर्मः—अधर्म; स्पृशते—प्रभावित कर रहा है; सभाम्—सभा को; यत्र—जिसमें; अदण्ड्येषु—न दण्डित होने वाले पुरुषों पर; अपापेषु—पापरहित; दण्डः—दण्ड; यैः—जिनके द्वारा; ध्रियते—निर्धारित किया जाता है; वृथा—व्यर्थ ही।.

विष्णुदूतों ने कहा : हाय! यह कितना दुःखद है कि ऐसी सभा में जहाँ धर्म का पालन होना चाहिए, वहाँ अधर्म को लाया जा रहा है। दरअसल, धार्मिक सिद्धान्तों का पालन करने के अधिकारी जन एक निष्पाप एवं अदण्डनीय व्यक्ति को व्यर्थ ही दण्ड दे रहे हैं।

तात्पर्य : विष्णुदूतों ने यमदूतों पर आरोप लगाया कि वे दण्ड देने के लिए अजामिल को यमराज के पास घसीट कर ले जाने का प्रयास करके धार्मिक सिद्धान्तों का उल्लंघन कर रहे हैं। यमराज वह अधिकारी है, जिसे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने धार्मिक तथा अधार्मिक सिद्धान्तों का निर्णय करने तथा अधार्मिक लोगों को दण्ड देने के लिए नियुक्त किया है। किन्तु यदि पूर्णतया निष्पाप लोग दण्डित होते हैं, तो यमराज की पूरी सभा दूषित होती है। यह नियम न केवल यमराज की सभा पर लागू होता है, अपितु सम्पूर्ण मानव-समाज पर भी लागू होता है।

मानव-समाज में धार्मिक सिद्धान्तों का सही ढंग से पालन करना राजन् के दरबार का या सरकार का कर्तव्य है। दुर्भाग्यवश इस कलियुग में धार्मिक सिद्धान्तों में हस्तक्षेप किया जाता है

और सरकार यह ठीक से निर्णय नहीं ले पाती कि कौन दण्डनीय है और कौन नहीं। कहा जाता है कि कलियुग में यदि न्यायालय में धन नहीं व्यय किया जाये तो न्याय नहीं मिल पाता। निस्सन्देह न्यायालयों में प्राय: पाया जाता है कि अनुकूल निर्णयों के लिए मैजिस्ट्रेटों को रिश्वत दी जाती है। कभी-कभी कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का प्रचार करने वाले धार्मिक लोगों को बन्दी बनाकर पुलिस तथा न्यायालयों द्वारा सताया जाता है, जो सम्पूर्ण जनता के लाभार्थ कार्य करते हैं। विष्णुदूत, जो कि वैष्णव थे, इन्हीं शोचनीय तथ्यों के लिए शोक कर रहे थे। वैष्णवजन समस्त पतितात्माओं के प्रति अपनी आध्यात्मिक करुणा के कारण धार्मिक सिद्धान्तों की मानक विधि के अनुसार प्रचार करने बाहर जाते हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश, कलियुग के प्रभाव से जिन वैष्णवों ने भगवान् की महिमा का प्रचार करने के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया है वे कभी-कभी सताये जाते हैं और शान्ति भंग करने के झूठे आरोपों पर न्यायालयों द्वारा दण्डित किये जाते हैं।

प्रजानां पितरो ये च शास्तार: साधव: समा: ।
यदि स्यात्तेषु वैषम्यं कं यान्ति शरणं प्रजा: ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

प्रजानाम्—नागरिकों के; पितर:—रक्षक, अभिभावक (राजा या सरकारी नौकर); ये—जो; च—तथा; शास्तार:—कानून तथा व्यवस्था का आदेश देने वाले; साधव:—समस्त सद्गुणों से युक्त; समा:—हर एक के तुल्य; यदि—यदि; स्यात्—है; तेषु—उनमें से; वैषम्यम्—पक्षपात; कम्—किसकी; यान्ति—जायेंगे; शरणम्—शरण में; प्रजा:—नागरिक।

राजा या सरकारी शासक को इतना सुयोग्य होना चाहिए कि वह स्नेह और प्रेम के साथ नागरिकों के पिता, पालक तथा संरक्षक के रूप में कार्य कर सके। उसे मानक शास्त्रों के अनुसार नागरिकों को अच्छी सलाह तथा आदेश देने चाहिए और हर एक के प्रति समभाव रखना चाहिए। यमराज ऐसा करता है, क्योंकि वह न्याय का परम स्वामी है और उसके पदचिन्हों पर चलने वाले भी वैसा ही करते हैं, किन्तु यदि ऐसे लोग दूषित हो जायँ और निर्दोष तथा अबोध व्यक्ति को दण्डित करके पक्षपात प्रदर्शित करें तो फिर सारे नागरिक अपने भरण-पोषण तथा सुरक्षा के लिए शरण लेने हेतु कहाँ जायेंगे?

तात्पर्य : राजा अथवा आधुनिक काल में सरकार को चाहिए कि नागरिकों को जीवन के सही लक्ष्य की शिक्षा देकर उनके अभिभावक के रूप में कार्य करे। यह मनुष्य-जीवन विशेषतया स्वयं को तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध की अनुभूति के निमित्त है, क्योंकि पशु-जीवन में इसकी अनुभूति नहीं की जा सकती। इसलिए सरकार का कर्तव्य है कि वह सारे नागरिकों को प्रशिक्षण देने का भार अपने ऊपर इस तरह से ले कि धीरे-धीरे वे आध्यात्मिक पद तक उठ सकें और आत्मा तथा ईश्वर से अपने सम्बन्ध की अनुभूति कर सकें। इस सिद्धान्त का पालन महाराज युधिष्ठिर, महाराज परीक्षित, श्रीरामचन्द्र, महाराज अम्बरीष तथा प्रह्लाद महाराज ने किया। सरकार के नेताओं को अत्यन्त ईमानदार तथा धार्मिक होना चाहिए, अन्यथा राज्य के सारे कामकाज बाधित होंगे। दुर्भाग्यवश, प्रजातंत्र के नाम पर चोर-उचक्के अन्य चोर-उचक्कों को ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सरकारी पदों के लिए चुन रहे हैं। हाल ही में अमेरिका में यह सिद्ध हो चुका है जहाँ राष्ट्रपति को निन्दित होना पड़ा तथा नागरिकों द्वारा उसे अपने पद से नीचे उतार देना पड़ा। यह कोई अकेला मामला नहीं है, बल्कि ऐसे अनेक मामले हैं। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन की महत्ता के कारण लोगों को कृष्णभावनाभावित होना चाहिए और ऐसे किसी व्यक्ति को वोट नहीं देना चाहिए जो कृष्णभावनाभावित न हो। राज्य में तब वास्तविक शान्ति और समृद्धि होगी, जब कोई भी वैष्णव सरकार में कुव्यवस्था देखता है, तो उसके हृदय में अपार करुणा उमड़ती है और वह अपने बल पर हरे कृष्ण आन्दोलन का विस्तार करके स्थिति को शुद्ध बनाने का प्रयास करता है।

यद्यदाचरति श्रेयानितरस्तत्तदीहते ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ ४॥

शब्दार्थ

यत् यत्—जो जो; आचरति—सम्पन्न करता है; श्रेयान्—धार्मिक सिद्धान्तों की पूरी जानकारी से युक्त उच्चकोटि का व्यक्ति; इतरः—अधीन व्यक्ति; तत् तत्—वही वही; ईहते—करता है; सः—वह (महापुरुष); यत्—जो जो; प्रमाणम्—

प्रमाण या सही बात के रूप में; कुरुते—स्वीकार करती है; लोकः—आम जनता; तत्—वही; अनुवर्तते—अनुसरण करती है।.

आम जनता समाज में नेता के उदाहरण का अनुगमन और उसके आचरण का अनुसरण करती है। नेता जो भी मानता है उसे आप जनता प्रमाण रूप में स्वीकार करती है।

तात्पर्य : यद्यपि अजामिल दण्डनीय नहीं था, फिर भी यमदूत उसे दण्ड देने के लिए यमराज के पास ले जाने की जिद्द कर रहे थे। यह *अधर्म* था अर्थात् धार्मिक सिद्धान्तों के विपरीत था। विष्णुदूतों को भय था कि यदि ऐसे अधार्मिक कार्यों की अनुमति दी जाती है, तो मानव-समाज की व्यवस्था बिगड़ जायेगी। आधुनिक काल में, कृष्णभावनामृत-आन्दोलन मानव-समाज की व्यवस्था के सही सिद्धान्त को चालू कर रहा है, किन्तु दुर्भाग्य तो यह है कि कलियुग की सरकारें हरे कृष्ण आन्दोलन का समुचित रूप से समर्थन नहीं करतीं, क्योंकि वे इस आन्दोलन की मूल्यवान सेवाओं को समझ नहीं पा रहीं। हरे कृष्ण आन्दोलन मानव-समाज की पतित अवस्था को सुधारने के लिए सही आन्दोलन है, इसलिए सरकारों तथा विश्व के प्रत्येक भाग के जन-नेताओं को मानवता की पापपूर्ण स्थिति को पूरी तरह से संशोधित करने में अपना समर्थन देना चाहिए।

यस्याङ्के शिर आधाय लोकः स्वपिति निर्वृतः ।
स्वयं धर्ममधर्मं वा न हि वेद यथा पशुः ॥ ५ ॥

स कथं न्यर्पितात्मानं कृतमैत्रमचेतनम् ।
विस्रम्भणीयो भूतानां सघृणो दोग्धुमर्हति ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; अङ्के—गोद में; शिरः—सिर; आधाय—रखकर; लोकः—आम जनता; स्वपिति—सोती है; निर्वृतः—शान्ति से; स्वयम्—स्वयं; धर्मम्—धार्मिक सिद्धान्त या जीवन-लक्ष्य; अधर्मम्—अधार्मिक सिद्धान्त; वा—अथवा; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; वेद—जानते हैं; यथा—जिस तरह; पशुः—पशु; सः—ऐसा व्यक्ति; कथम्—कैसे; न्यर्पित-आत्मानम्—उस जीव के प्रति जिसने पूर्णतया आत्मसमर्पण कर दिया है; कृत-मैत्रम्—श्रद्धा तथा मैत्री से समन्वित; अचेतनम्—अविकसित चेतना वाला, मूर्ख; विस्रम्भणीयः—श्रद्धा का विषय बनने के योग्य; भूतानाम्—जीवों का; स-घृणः—सारे लोगों के कल्याण हेतु मृदु हृदय रखने वाला; दोग्धुम्—कष्ट देने के लिए; अर्हति—समर्थ है।.

सामान्य लोग ज्ञान में इतने उन्नत होते है कि धर्म तथा अधर्म में भेदभाव कर सकें।

अबोध, अप्रबुद्ध नागरिक उस अज्ञानी पशु की तरह है, जो अपने स्वामी की गोद में सिर रख कर शान्तिपूर्वक सोता रहता है और श्रद्धापूर्वक अपने स्वामी द्वारा अपने संरक्षण पर विश्वास करता है। यदि नेता वास्तव में दयालु हो तथा जीव की श्रद्धा का भाजन बनने योग्य हो तो वह किसी मूर्ख व्यक्ति को किस तरह दण्ड दे सकता है या जान से मार सकता है, जिसने श्रद्धा तथा मैत्री में पूर्णतया आत्मसमर्पण कर दिया हो?

तात्पर्य : श्रद्धा या विश्वास को तोड़ने वाले को संस्कृत में *विश्वस्त-घात* द्योतित करता है। जनसमूह को सदैव इसलिए सुरक्षित अनुभव करना चाहिए, क्योंकि उसे सरकारी सुरक्षा प्राप्त रहती है। अतएव कितना खेदजनक है यदि सरकार स्वयं विश्वासघात करे और नागरिकों को राजनीतिक कारणों से कठिनाई में डाल दे। हमने भारत के विभाजन के दिनों में वास्तव में देखा कि यद्यपि हिन्दू तथा मुसलमान शान्तिपूर्वक साथ-साथ रह रहे थे, किन्तु राजनीतिज्ञों के छलकपट से उनके बीच सहसा घृणा की भावना उत्पन्न हो गई और हिन्दुओं तथा मुसलमानों ने राजनीति के कारण एक दूसरे की हत्या कर दी। यह कलियुग का लक्षण है। इस युग में पशुओं को ठीक से आश्रय दिया जाता है और उन्हें पूर्ण विश्वास रहता है कि उनके मालिक उनकी रक्षा करेंगे, किन्तु दुर्भाग्यवश ज्योंही वे तगड़े (मोटे) हो जाते हैं, उन्हें तुरन्त वध के लिए कसाईखाने भेज दिया जाता है। विष्णुदूत जैसे वैष्णव ऐसी क्रूरता की निन्दा करते हैं। दरअसल, जिन नारकीय दशाओं का पहले वर्णन हो चुका है, वे ऐसी यातना देने वाले पापी मनुष्यों की प्रतीक्षा करती रहती हैं। जो मनुष्य किसी जीव के साथ चाहे यह जीव मनुष्य हो या पशु, विश्वासघात करता है, जिसने अच्छे भाव से उसकी शरण ले रखी है, वह अतीव पापी है। चूँकि अब ऐसे विश्वासघात सरकार द्वारा अदण्डित रहते हैं इसलिए पूरा मानव-समाज बुरी तरह से दूषित है। इसलिए इस युग के लोगों को *मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः।* ऐसी पापमयता के फलस्वरूप लोग निन्दित होते हैं (*मन्दाः*) उनकी बुद्धि विमल नहीं रहती (*सुमन्दमतयः*) वे अभागे होते हैं (*मन्दभाग्याः*), अतएव वे अनेक समस्याओं द्वारा सदैव उद्विग्न रहते हैं (*उपद्रुताः*)। यह तो इस जीवन में उनकी स्थिति है

और मृत्यु के बाद उन्हें नारकीय दण्ड दिया जाता है।

अयं हि कृतनिर्वेशो जन्मकोट्यंहसामपि ।
यद्व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः ॥ ७॥

शब्दार्थ

अयम्—यह व्यक्ति (अजामिल); हि—निस्सन्देह; कृत-निर्वेशः—सभी तरह के प्रायश्चित्त किये हैं; जन्म—जन्मों का; कोटि—करोड़ों; अंहसाम्—पापकर्मों के लिए; अपि—भी; यत्—क्योंकि; व्याजहार—उच्चारण किया है; विवशः—असहाय अवस्था में; नाम—पवित्र नाम; स्वस्ति-अयनम्—मोक्ष का साधन; हरेः—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के।

अजामिल पहले ही अपने सारे पापकर्मों के लिए प्रायश्चित्त कर चुका है। दरअसल, उसने न केवल एक जीवन में किये गये पापों का प्रायश्चित्त किया है, अपितु करोड़ों जीवनों में किये गये पापों के लिए किया है, क्योंकि उसने असहाय अवस्था में नारायण-नाम का उच्चारण किया है। यद्यपि उसने शुद्धरीति से यह उच्चारण नहीं किया, किन्तु उसने अपराधरहित उच्चारण किया है इसलिए अब वह पवित्र है और मोक्ष का पात्र है।

तात्पर्य : यमदूतों ने अजामिल की केवल बाह्य स्थिति पर ही विचार किया था। चूँकि वह आजीवन अत्यधिक पापी था, अत: उन्होंने सोचा कि उसे यमराज के पास ले चलना चाहिए। वे यह नहीं जानते थे कि वह अपने समस्त पापों के फलों से मुक्त हो चुका था। इसलिए विष्णुदूतों ने आदेश दिया कि चूँकि उसने मृत्यु के समय नारायण नाम के चार अक्षरों का उच्चारण किया था, अत: वह सारे पापफलों से मुक्त कर दिया गया था। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *स्मृति शास्त्र* से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं—

नाम्नो हि यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः।
तावत् कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी नरः॥

"हरि का एक पवित्र नाम लेने मात्र से पापी मनुष्य जितने पाप कर सकता है उससे अधिक पापों के फलों का निराकरण कर सकता है।" (*बृहद्विष्णु पुराण*)।

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः।

पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव ॥

"यदि कोई असहायअवस्था में या अनिच्छा से ही क्यों न हों भगवन्नाम का उच्चारण करे तो उसके पापमय जीवन के सारे फल उसी तरह मिट जाते हैं जिस तरह सिंह की दहाड़ से सारे छोटे-छोटे पशु डर कर भग जाते हैं।" (*गरूड़ पुराण*)

सकृदुच्चारितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।

बद्धपरिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥

"हरि के दो अक्षरों *ह* तथा *रि* के एक बार उच्चारण करने से मनुष्य का मोक्ष का मार्ग सुनिश्चित हो जाता है।"(*स्कन्द पुराण*)

ये कुछ कारण हैं जिससे विष्णुदूतों ने यमदूतों को अजामिल को यमराज के न्यायालय में ले जाने से मना किया।

एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम् ।
यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

एतेन—इस (कीर्तन) से; एव—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही; अघोनः—पापपूर्ण फलों वाला; अस्य—इस (अजामिल) का; कृतम्—किया हुआ; स्यात्—है; अघ—पापों का; निष्कृतम्—पूर्ण प्रायश्चित्त; यदा—जब; नारायण—हे नारायण (उसके पुत्र का नाम); आय—कृपया आइये; इति—इस प्रकार; जगाद—उच्चारण किया; चतुः-अक्षरम्—चार अक्षर (ना-रा-य-ण)।

विष्णुदूतों ने आगे कहा : यहाँ तक कि पहले भी, खाते समय तथा अन्य अवसरों पर यह अजामिल अपने पुत्र को यह कहकर पुकारा करता, "प्रिय नारायण! यहाँ तो आओ।" यद्यपि वह अपने पुत्र का नाम पुकारता था, फिर भी वह ना, रा, य तथा ण इन चार अक्षरों का उच्चारण करता था। इस प्रकार केवल नारायण नाम का उच्चारण करने से उसने लाखों जन्मों के पापपूर्ण फलों के लिए पर्याप्त प्रायश्चित्त कर लिए हैं।

तात्पर्य : पहले जब अजामिल अपने परिवार के पालन हेतु पापकर्मों में लगा रहता तो वह नारायण का नाम निरपराध होकर लेता था। केवल अपने पापकर्मों के निवारणार्थ भगवान् के पवित्र

नाम का कीर्तन करना या पवित्र नाम के कीर्तन के बल पर पापकर्म करना अपराधमय है (*नाम्नो बलादस्य हि पाप बुद्धिः*)। यद्यपि अजामिल पापकर्मों में लगा रहता था, किन्तु इनके निवारणार्थ उसने कभी नारायण के पवित्र नाम का कीर्तन नहीं किया। वह अपने पुत्र को बुलाने के लिए नारायण का नाम लिया करता था। इसलिए उसका कीर्तन प्रभावोत्पादक था। इस तरह से नारायण के पवित्र नाम का कीर्तन करने से वह अनेकानेक जीवनों के संचित पापमय फलों को पहले ही विनष्ट कर चुका था। प्रारम्भ में वह पवित्र था, किन्तु बाद में चाहे उसने अनेक पापकर्म किये; फिर भी वह अपराधरहित था, क्योंकि उसने उनके निवारणार्थ कभी नारायण के पवित्र नाम का कीर्तन नहीं किया था। जो व्यक्ति बिना अपराध के भगवन्नाम का सदैव कीर्तन करता है, वह सदैव पवित्र रहता है। जैसाकि इस श्लोक में पुष्टि हुई है अजामिल पहले से निष्पाप था और चूँकि वह नारायण के नाम का उच्चारण करता था, अतएव वह निष्पाप बना रहा। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ा कि वह अपने पुत्र को बुलाता था। नाम स्वयं में प्रभावकारी था।

स्तेनः सुरापो मित्रध्रुग्ब्रह्महा गुरुतल्पगः ।
स्त्रीराजपितृगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे ॥ ९ ॥
सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

स्तेनः—चुराने वाला; सुरा-पः—शराबी; मित्र-ध्रुक्—अपने मित्र या सम्बन्धी का विरोधी; ब्रह्म-हा—ब्राह्मण का वध करने वाला; गुरु-तल्प-गः—अपने गुरु की पत्नी के साथ संभोग करने वाला; स्त्री—स्त्रियाँ; राज—राजा; पितृ—पिता; गो—गौवों का; हन्ता—हत्यारा; ये—जो; च—भी; पातकिनः—पापकर्म किए; अपरे—अन्य सारे; सर्वेषाम्—उन सबका; अपि—भी; अघ-वताम्—अनेक पाप कर चुके व्यक्ति; इदम्—यह; एव—निश्चय ही; सु-निष्कृतम्—पूर्ण प्रायश्चित्त; नाम-व्याहरणम्—नाम का कीर्तन; विष्णोः—भगवान् विष्णु के; यतः—जिससे; तत्-विषया—पवित्र नाम का उच्चारण करने वाले पर; मतिः—उनका ध्यान।

भगवान् विष्णु के नाम का कीर्तन सोना या अन्य मूल्यवान वस्तुओं के चोर, शराबी, मित्र या सम्बन्धी के साथ विश्वासघात करने वाले, ब्राह्मण के हत्यारे अथवा अपने गुरु अथवा अन्य श्रेष्ठजन की पत्नी के साथ संभोग करने वाले के लिए प्रायश्चित्त की सर्वोत्तम

विधि है। स्त्रियों, राजा या अपने पिता के हत्यारे, गौवों का वध करने वाले तथा अन्य सारे पापी लोगों के लिए भी प्रायश्चित्त की यही सर्वोत्तम विधि है। भगवान् विष्णु के पवित्र नाम का केवल कीर्तन करने से ऐसे पापी व्यक्ति भगवान् का ध्यान आकृष्ट कर सकते हैं और वे इसीलिए विचार करते हैं कि, **"इस व्यक्ति ने मेरे नाम का उच्चारण किया है, इसलिए मेरा कर्तव्य है कि उसे सुरक्षा प्रदान करूँ।"**

न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मवादिभि-
स्तथा विशुद्ध्यत्यघवान्व्रतादिभिः ।
यथा हरेर्नामपदैरुदाहृतै-
स्तदुत्तमश्लोकगुणोपलम्भकम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; निष्कृतैः—प्रायश्चित्त की विधियों द्वारा; उदितैः—निर्धारित; ब्रह्म-वादिभिः—मनु जैसे विद्वान पंडितों द्वारा; तथा—उस सीमा तक; विशुद्ध्यति—शुद्ध हो जाता है; अघ-वान्—पापी व्यक्ति; व्रत-आदिभिः—व्रत तथा अन्य अनुष्ठानों का पालन करने से; यथा—जिस तरह; हरेः—भगवान् हरि का; नाम-पदैः—नाम के अक्षरों से; उदाहृतैः—उच्चरित; तत्—वह; उत्तमश्लोक—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के; गुण—दिव्य गुणों का; उपलम्भकम्—किसी को स्मरण दिलाते हुए।

वैदिक कर्मकाण्डों का पालन करने अथवा प्रायश्चित्त करने से पापी लोग उस तरह से शुद्ध नहीं हो पाते जिस तरह एक बार भगवान् हरि के पवित्र नाम का कीर्तन करने से शुद्ध बनते हैं। यद्यपि आनुष्ठानिक प्रायश्चित्त मनुष्य को पापफलों से मुक्त कर सकता है, किन्तु यह भक्ति को जाग्रत नहीं करता जिस तरह परम भगवान् के नाम का कीर्तन मनुष्य को भगवान् के यश, गुण, लक्षण, लीलाओं तथा साज-सामग्री का स्मरण कराता है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि भगवान् के कीर्तन का विशेष महत्त्व है, जो कठोर, कठोरतर या कठोरतम पापकर्मों के प्रायश्चित्त के वैदिक कर्मकाण्डों से इसे पृथक् करने वाला है। बीस प्रकार के धार्मिक वाङमय हैं, जो धर्मशास्त्र कहलाते हैं यथा *मनुसंहिता, पराशरसंहिता* इत्यादि, किन्तु यहाँ पर इस पर बल दिया गया है कि यद्यपि मनुष्य इन शास्त्रों के धार्मिक सिद्धान्तों का पालन करने से सर्वाधिक पापकर्मों के फलों से मुक्त हो सकता है, किन्तु

इनसे पापी व्यक्ति भगवान् की प्रेमाभक्ति की अवस्था तक नहीं पहुँच सकता। दूसरी ओर भगवन्नाम का एक बार भी कीर्तन करने से मनुष्य न केवल बड़े से बड़े पापों के फलों से तुरन्त मुक्त हो जाता है, अपितु यह कीर्तन उसे उत्तमश्लोक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की प्रेमाभक्ति करने के पद तक उठाता है। इस तरह मनुष्य भगवान् के स्वरूप, गुण तथा लीलाओं का स्मरण करके उनकी सेवा करता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि यह सब एकमात्र भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करने से सम्भव है, क्योंकि भगवान् सर्वशक्तिमान हैं। जिसे वैदिक कर्म-काण्डों को सम्पन्न करके प्राप्त नहीं किया जा सकता उसे भगवान् के पवित्र नाम के जप से सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। पवित्र नाम का कीर्तन करने और भावविभोर होकर नाचने की विधि इतनी सरल तथा भव्य है कि एकमात्र इसी का पालन करने से मनुष्य आध्यात्मिक जीवन के सारे लाभ प्राप्त कर सकता है। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु घोषित करते हैं—*परं विजयते श्रीकृष्णसङ्कीर्तनम्*—श्रीकृष्ण *सङ्कीर्तन* की जय हो! हमने जो संकीर्तन आन्दोलन चलाया है, वह समस्त पापफलों से शुद्ध होने तथा तुरन्त ही आध्यात्मिक जीवन के पद को प्राप्त करने की सर्वोत्तम विधि प्रदान करता है।

नैकान्तिकं तद्धि कृतेऽपि निष्कृते
मनः पुनर्धावति चेदसत्पथे ।
तत्कर्मनिर्हारमभीप्सतां हरे-
र्गुणानुवादः खलु सत्त्वभावनः ॥ १२॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ऐकान्तिकम्—पूरी तरह स्वच्छ किया हुआ; तत्—हृदय; हि—क्योंकि; कृते—अत्यन्त सुन्दर ढंग से सम्पन्न; अपि—यद्यपि; निष्कृते—प्रायश्चित्त; मनः—मन; पुनः—फिर; धावति—दौड़ता है; चेत्—यदि; असत्-पथे—भौतिक कार्यों के मार्ग पर; तत्—इसलिए; कर्म-निर्हारम्—भौतिक कर्मों के सकाम फलों का अन्त; अभीप्सताम्—उनके लिए जो गम्भीरतापूर्वक चाहते हैं; हरेः—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का; गुण-अनुवादः—महिमा का निरन्तर कीर्तन; खलु—निस्सन्देह; सत्त्व-भावनः—वास्तव में जीवन को शुद्ध करने वाला।

धार्मिक शास्त्रों में संस्तुत किये गये प्रायश्चित्त के कर्मकाण्ड हृदय को पूरी तरह स्वच्छ बनाने में अपर्याप्त होते हैं, क्योंकि प्रायश्चित्त के बाद मनुष्य का मन पुनः भौतिक कर्मों की

ओर दौड़ता है। फलस्वरूप, जो व्यक्ति भौतिक कार्यों के सकाम फलों से मुक्ति चाहता है, उसके लिए हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन या भगवान् के नाम, यश तथा लीलाओं की महिमा का गायन प्रायश्चित्त की सबसे पूर्ण विधि के रूप में संस्तुत किया जाता है, क्योंकि ऐसे कीर्तन से मनुष्य के हृदय में संचित धूल स्वच्छ हो जाती है।

तात्पर्य : इस श्लोक के कथनों की पुष्टि पहले ही *श्रीमद्भागवत* (१.२.१७) में हो चुकी है—

शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्य श्रवणकीर्तनः।

हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्।

"भगवान् कृष्ण, जो कि प्रत्येक के हृदय में परमात्मा हैं और सच्चे भक्त के उपकारी हैं उस भक्त के हृदय से भौतिक भोग की इच्छा को धो डालते हैं, जो उनके सन्देशों का आस्वादन करता है, जो ठीक से सुने जाने तथा कीर्तन किये जाने पर स्वयं में शुभ गुणों से अलंकृत (पवित्र) हैं।" यह तो परम भगवान् की विशेष कृपा होती है कि ज्योंही वे यह जान जाते हैं कि कोई उनके नाम, यश तथा गुणों का महिमागान कर रहा है, तो वे स्वयं उसके हृदय की धूल को हटाने में सहायता करते हैं। इसलिए मात्र ऐसे गुणानुवाद से मनुष्य न केवल शुद्ध बनता है, अपितु पुण्यकर्मों का फल भी प्राप्त करता है। (*पुण्यश्रवणकीर्तन*)। *पुण्यश्रवणणकीर्तन भक्ति* का द्योतक है। यदि कोई भगवान् के नाम, लीलाओं या गुणों को न भी समझता हो तो वह मात्र उनके श्रवण या कीर्तन से शुद्ध हो जाता है। ऐसी शुद्धि *सत्त्व-भावन* कहलाती है।

मनुष्य का मुख्य उद्देश्य अपने जीवन को शुद्ध बनाना तथा मुक्ति प्राप्त करना होना चाहिए। जब तक मनुष्य का भौतिक शरीर रहता है, वह अशुद्ध समझा जाता है। ऐसी अशुद्ध भौतिक दशा में मनुष्य वास्तविक आनन्दमय जीवन का भोग नहीं कर सकता, यद्यपि हर कोई उसकी खोज में है। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* (५.५.१) में कहा गया है—*तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं शुद्ध्येत*—मनुष्य को अपने जीवन को शुद्ध करने हेतु *तपस्या* करनी चाहिए ताकि वह आध्यात्मिक पद तक

आ सके। भगवान् के नाम, यश तथा गुणों के कीर्तन तथा गुणानुवाद की *तपस्या* अत्यन्त सरल शुद्धकारी विधि है, जिससे हर एक सुखी बन सकता है। अत: हर व्यक्ति को जो अपने हृदय को स्वच्छ बनाना चाहता है यह विधि ग्रहण करनी चाहिए। अन्य विधियाँ, यथा कर्म, ज्ञान तथा योग हृदय को पूरी तरह स्वच्छ नहीं बना सकतीं।

अथैनं मापनयत कृताशेषाघनिष्कृतम् ।
यदसौ भगवन्नाम म्रियमाण: समग्रहीत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अथ—इसलिए; एनम्—उसको (अजामिल को); मा—मत; अपनयत—ले जाने का प्रयास करो; कृत—पहले किया हुआ; अशेष—असीम; अघ-निष्कृतम्—उसके पापकर्मों के लिए प्रायश्चित्त; यत्—क्योंकि; असौ—उसने; भगवत्-नाम—भगवान् का पवित्र नाम; म्रियमाण:—मरते समय; समग्रहीत्—पूर्णरूपेण उच्चारण किया।

इस अजामिल ने मृत्यु के समय असहाय होकर तथा अत्यन्त जोर-जोर से भगवान् नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण किया है। एकमात्र उसी उच्चारण ने पूरे पापमय जीवन के फलों से उसे पहले ही मुक्त कर दिया है। इसलिए हे यमराज के सेवको! तुम उसे नारकीय दशाओं में दण्ड देने के लिए अपने स्वामी के पास ले जाने का प्रयास मत करो।

तात्पर्य : विष्णुदूतों ने श्रेष्ठ अधिकारी होने के नाते यमदूतों को आदेश दिया जो यह नहीं जानते थे कि अजामिल को अब उसके विगत पापों के लिए नारकीय जीवन में यातना नहीं दी जानी है। यद्यपि उसने अपने पुत्र के सम्बन्ध में नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण किया था, किन्तु पवित्र नाम दिव्य रूप से इतना शक्तिशाली है कि अजामिल स्वत: मुक्त कर दिया गया, क्योंकि उसने मरते समय पवित्र नाम का उच्चारण किया था। (अन्ते नारायण स्मृत:) *भगवद्गीता* (७.२८) में कृष्ण पुष्टि करते हैं—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रता: ॥

“जिन मनुष्यों ने पूर्वजन्मों में तथा इस जन्म में पुण्यकर्म किये हैं और जिनके पापकर्मों का

पूर्णतया उच्छेदन हो चुका है और जो मोह के द्वन्द्वों से मुक्त हो चुके हैं, तब वे संकल्पपूर्वक मेरी सेवा में तत्पर होते हैं।'' जब तक कोई सारे पापकर्मों से मुक्त नहीं हो जाता, वह भक्ति के पद तक नहीं उठ सकता। *भगवद्गीता* में अन्यत्र (८.५) कहा गया है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

यदि कोई मृत्यु के समय कृष्ण या नारायण का स्मरण करता है, तो वह निश्चित रूप से तुरन्त ही घर वापस जाने अर्थात् भगवद्धाम जाने का पात्र बन जाता है।

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥ १४॥

शब्दार्थ

साङ्केत्यम्—संकेत के रूप में; पारिहास्यम्—हँसी मजाक में; वा—अथवा; स्तोभम्—संगीतमय मनोरंजन में; हेलनम्—उपेक्षा भाव से; एव—निश्चय ही; वा—अथवा; वैकुण्ठ—भगवान् का; नाम-ग्रहणम्—पवित्रनाम का कीर्तन; अशेष—असीम; अघ-हरम्—पापमय जीवन के प्रभाव को दूर करने वाला; विदुः—उन्नत योगी जानते हैं।

जो व्यक्ति भगवन्नाम का कीर्तन करता है उसे तुरन्त अनगिनत पापों के फलों से मुक्त कर दिया जाता है। भले ही उसने यह कीर्तन अप्रत्यक्ष रूप में (कुछ अन्य संकेत करने के लिए), परिहास में, संगीतमय मनोरंजन के लिए अथवा उपेक्षा भाव से क्यों न किया हो। इसे शास्त्रों में पारंगत सभी विद्वान पंडित स्वीकार करते हैं।

पतितः स्खलितो भग्नः सन्दष्टस्तप्त आहतः ।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाः ॥ १५॥

शब्दार्थ

पतितः—गिरा हुआ; स्खलितः—फिसला हुआ; भग्नः—टूटी हड्डियों वाला; सन्दष्टः—काटा हुआ; तप्तः—ज्वर या ऐसी ही पीड़ादायक स्थिति से बुरी तरह आक्रान्त; आहतः—चोट खाया; हरिः—भगवान् कृष्ण; इति—इस प्रकार; अवशेन—अकस्मात्; आह—कीर्तन करता है; पुमान्—मनुष्य; न—नहीं; अर्हति—योग्य है; यातनाः—नारकीय दशाएँ।

यदि कोई हरिनाम का उच्चार करता है और तभी किसी आकस्मिक दुर्भाग्य से यथा छत से गिरने, फिसलने या सड़क पर यात्रा करते समय हड्डी टूट जाने, सर्प द्वारा काटे जाने,

पीड़ा तथा तेज ज्वर से आक्रान्त होने या हथियार से घायल होने से, मर जाता है, तो वह कितना ही पापी क्यों न हो नारकीय जीवन में प्रवेश करने से वह तुरन्त मुक्त कर दिया जाता है।

तात्पर्य : जैसा कि *भगवद्गीता* (८.६) में कहा गया है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित: ॥

"हे कुन्तीपुत्र! शरीर त्यागते समय मनुष्य जिस-जिस भाव का स्मरण करता है, वह उस-उस भाव को निश्चित रूप से प्राप्त होता है।" यदि कोई कृष्ण मंत्र के कीर्तन का अभ्यास करता है, तो जब वह किसी दुर्घटना से ग्रस्त होता है, तो स्वभावत: आशा की जाती है कि वह हरे कृष्ण कीर्तन करेगा। किन्तु ऐसे अभ्यास के बिना भी यदि दुर्घटनाग्रस्त होते समय या मरते समय कोई किसी भी रूप में भगवान् (हरे कृष्ण) का कीर्तन करता है, तो वह मृत्यु के बाद नारकीय जीवन से बचा लिया जाता है।

गुरूणां च लघूनां च गुरूणि च लघूनि च ।
प्रायश्चित्तानि पापानां ज्ञात्वोक्तानि महर्षिभि: ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

गुरूणाम्—भारी; च—तथा; लघूनाम्—हल्के; च—तथा; गुरूणि—भारी; च—तथा; लघूनि—हल्के; च—भी; प्रायश्चित्तानि—प्रायश्चित्त की विधियाँ; पापानाम्—पापकर्मों की; ज्ञात्वा—ठीक से जानकर; उक्तानि—नियत की गई है; महा-ऋषिभि:—बड़े-बड़े ऋषियों द्वारा।

प्राधिकृत विज्ञ पंण्डितों तथा महर्षियों ने बड़ी ही सावधानी के साथ यह पता लगाया है कि मनुष्य को भारी से भारी पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए प्रायश्चित की भारी विधि का तथा हल्के पापों के प्रायश्चित्त के लिए हल्की विधि का प्रयोग करना चाहिए। किन्तु हरे-कृष्ण-कीर्तन सारे पापकर्मों के प्रभावों को, चाहे वे भारी हों या हल्के, नष्ट कर देता है।

तात्पर्य : इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने एक घटना का वर्णन किया है, जो

तब घटी जब साम्ब को कौरवों के दण्ड से बचाया गया था। साम्ब दुर्योधन की पुत्री से प्रेम हो गया था और चूँकि क्षत्रिय प्रथा के अनुसार क्षत्रिय की कन्या किसी को तब तक नहीं प्रदान की जाती जब तक प्रेमी अपना शौर्य न दिखाए, अतः साम्ब ने उसका अपहरण कर लिया। फलस्वरूप वह कौरवों द्वारा बन्दी बना लिया गया। बाद में जब भगवान् बलराम उसे छुड़ाने आये तो साम्ब की रिहाई को लेकर वाद-विवाद हुआ। चूँकि कोई समझौता नहीं हो पाया, अतएव बलराम ने अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया जिससे सारा हस्तिनापुर डगमगाने लगा और ऐसा लगा कि किसी बहुत बड़े भूकम्प से वह विनष्ट हो जायेगा। तब सारा मामला तय हुआ और साम्ब का विवाह दुर्योधन की पुत्री से कर दिया गया। तात्पर्य यह है कि मनुष्य को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण-बलराम की शरण लेनी चाहिए जिसकी सुरक्षात्मक शक्ति इतनी महान् है कि इसकी तुलना इस जगत में किसी से नहीं की जा सकती। किसी के पापों के फल कितने ही प्रबल क्यों न हों यदि वह हरि, कृष्ण, बलराम या नारायण के नाम का कीर्तन करता है, तो ये पाप तुरन्त नष्ट हो जायेंगे।

तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानव्रतादिभिः ।
नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया ॥ १७॥

शब्दार्थ

तैः—उनके द्वारा; तानि—वे सब; अघानि—पापकर्म तथा उनके फल; पूयन्ते—विनष्ट हो जाते हैं; तपः—तपस्या; दान—दान; व्रत-आदिभिः—व्रतों तथा अन्य कार्यों के द्वारा; न—नहीं; अधर्म-जम्—अधार्मिक कार्यों से उत्पन्न; तत्—उसका; हृदयम्—हृदय; तत्—वह; अपि—भी; ईश-अङ्घ्रि—भगवान् के चरणकमलों की; सेवया—सेवा द्वारा।

यद्यपि तपस्या, दान, व्रत तथा अन्य विधियों से पापमय जीवन के फलों का निरसन किया जा सकता है, किन्तु ये पुण्यकर्म किसी के हृदय की भौतिक इच्छाओं का उन्मूलन नहीं कर सकते। किन्तु यदि वह भगवान् के चरणकमलों की सेवा करता है, तो वह तुरन्त ही ऐसे सारे कल्मषों से मुक्त कर दिया जाता है।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (११.२.४२) में कहा गया है—*भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र च*—भक्ति इतनी प्रबल होती है कि भक्ति करने वाला तुरन्त ही पापेच्छाओं से मुक्त हो

जाता है। भौतिक जगत में सारी इच्छाएँ पापपूर्ण हैं, क्योंकि भौतिक इच्छा का अर्थ ही है इन्द्रियतृप्ति, जिसमें ऐसा कर्म निहित होता है, जो न्यूनाधिक पापपूर्ण होता है। किन्तु शुद्धभक्ति तो *अन्याभिलाषिताशून्य* होती है। दूसरे शब्दों में, यह उन भौतिक इच्छाओं से मुक्त होती है, जो कर्म तथा ज्ञान से प्रतिफलित होती हैं। जो भक्तिपद को प्राप्त होता है उसमें भौतिक इच्छाएँ नहीं रहतीं, अतएव वह पापमय जीवन से परे होता है। भौतिक इच्छाओं को पूरी तरह से रोक देना चाहिए। अन्यथा, भले ही किसी की तपस्या तथा दान कुछ समय के लिए उसे पाप से मुक्त करा सकें, किन्तु उसकी इच्छाएँ पुन: प्रकट होंगी, क्योंकि उसका हृदय अशुद्ध रहता है। इस तरह वह पापकर्म करेगा और कष्ट उठायेगा।

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत् ।
सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानल: ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अज्ञानात्—अज्ञानवश; अथवा—या; ज्ञानात्—जानकर; उत्तमश्लोक—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का; नाम—पवित्रनाम; यत्—जो; सङ्कीर्तितम्—संकीर्तन किया गया; अघम्—पाप; पुंस:—मनुष्य का; दहेत्—जलाकर क्षार कर देता है; एध:—सूखी घास; यथा—जिस तरह; अनल:—अग्नि।

जिस तरह अग्नि सूखी घास को जला कर राख कर देती है, उसी तरह भगवन्नाम, चाहे वह जाने-अनजाने में उच्चारण किया गया हो, मनुष्य के पापकर्मों के सभी फलों को निश्चित रूप से जलाकर राख कर देता है।

तात्पर्य : आग अपना काम करती है चाहे उसे कोई अबोध बालक छुये या इसकी शक्ति से परिचित अन्य कोई। उदाहरणार्थ, यदि तिनकों वाले खेत में या सूखी घास में आग लगा दी जाये, चाहे वह किसी ऐसे वृद्ध व्यक्ति द्वारा लगाई जाये जो आग की शक्ति को जानता है या अज्ञानी बालक द्वारा, घास जलकर राख हो जाएगी। इसी तरह हरे कृष्ण मंत्र के कीर्तन की शक्ति को चाहे कोई जानता हो या न भी जानता हो, किन्तु यदि वह पवित्र नाम का कीर्तन करता है, तो समस्त पापफलों से मुक्त हो जायेगा।

यथागदं वीर्यतममुपयुक्तं यदृच्छया ।
अजानतोऽप्यात्मगुणं कुर्यान्मन्त्रोऽप्युदाहृतः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अगदम्—दवा; वीर्य-तमम्—अत्यन्त तेज; उपयुक्तम्—उचित रीति से ली गई; यदृच्छया—किसी-न-किसी तरह; अजानतः—ज्ञान से विहीन पुरुष द्वारा; अपि—भी; आत्म-गुणम्—अपनी शक्ति से; कुर्यात्—प्रकट करता है; मन्त्रः—हरे कृष्ण मंत्र; अपि—भी; उदाहृतः—उच्चारण किया गया।

यदि किसी दवा की प्रभावकारी शक्ति से अनजान व्यक्ति उस दवा को ग्रहण करता है या उसे बलपूर्वक खिलाई जाती है, तो वह दवा उस व्यक्ति के जाने बिना ही अपना कार्य करेगी, क्योंकि उसकी शक्ति रोगी के जानकारी पर निर्भर नहीं करती हैं। इसी तरह, भगवन्नाम के कीर्तन के महत्त्व को न जानते हुए भी यदि कोई व्यक्ति जाने या अनजाने में उसका कीर्तन करता है, तो वह कीर्तन अत्यन्त प्रभावकारी होगा।

तात्पर्य : पाश्चात्य देशों में, जहाँ हरे कृष्ण आन्दोलन विस्तार कर रहा है, विद्वान पंडित तथा अन्य विचारवान् व्यक्ति इसकी प्रभावोत्पादकता का अनुभव कर रहे हैं। उदाहरणार्थ, एक विद्वान पंडित डा. जे. स्टिलसन जुडाह इस आन्दोलन के प्रति अत्यधिक आकृष्ट हुए हैं, क्योंकि उन्होंने वस्तुतः यह देखा है कि नशीली दवाओं के व्यसनी हिप्पियों को यह शुद्ध वैष्णवों में बदल रहा है और वे स्वेच्छा से कृष्ण तथा मानवता के सेवक बन रहे हैं। यहाँ तक कि कुछ वर्ष पूर्व ऐसे हिप्पी जो हरे कृष्ण मंत्र को जानते तक न थे, अब उसका कीर्तन करके शुद्ध वैष्णव बन रहे हैं। इस तरह वे समस्त पापकर्मों—यथा अवैध मैथुन, नशा, मांसाहार तथा जुआ खेलने—से मुक्त हो रहे हैं। हरे कृष्ण आन्दोलन के प्रभावोत्पादकता का व्यावहारिक प्रमाण है, जिसका समर्थन इस श्लोक में हुआ है। कोई व्यक्ति हरे कृष्ण मंत्र के कीर्तन के महत्त्व को जाने या न जाने, किन्तु यदि वह किसी भी तरह से उसका कीर्तन करता है, तो वह तुरन्त शुद्ध हो जायेगा जिस तरह प्रभावकारी दवा खाने पर रोगी को उसका प्रभाव अनुभव हो जाएगा, चाहे वह उस दवा को जानकर ले या अजनाने ही।

श्रीशुक उवाच
त एवं सुविनिर्णीय धर्मं भागवतं नृप ।
तं याम्यपाशान्निर्मुच्य विप्रं मृत्योरमूमुचन् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; ते—वे (विष्णुदूत); एवम्—इस प्रकार; सु-विनिर्णीय—सुनिश्चित करके; धर्मम्—असली धर्म; भागवतम्—भक्ति के रूप में; नृप—हे राजा; तम्—उसको (अजामिल को); याम्य-पाशात्—यमदूतों के पाश से; निर्मुच्य—छुड़ाकर; विप्रम्—ब्राह्मण को; मृत्योः—मृत्यु से; अमूमुचन्—बचा लिया।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : हे राजन्! तर्क-वितर्कों द्वारा भक्ति के सिद्धान्तों का पूरी तरह से निर्णय कर चुकने के बाद विष्णु के दूतों ने अजामिल को यमदूतों के पाश से छुड़ा दिया और उसे आसन्न मृत्यु से बचा लिया।

इति प्रत्युदिता याम्या दूता यात्वा यमान्तिकम् ।
यमराज्ञे यथा सर्वमाचचक्षुररिन्दम ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; प्रत्युदिताः—(विष्णुदूतों द्वारा) उत्तर पाकर; याम्याः—यमराज के सेवक; दूताः—दूत; यात्वा—जाकर; यम-अन्तिकम्—यमराज के धाम; यम-राज्ञे—यमराज के पास; यथा—भलीभाँति; सर्वम्—सारी बातें; आचचक्षुः—विस्तार से सूचित किया; अरिन्दम—हे शत्रुओं के दमनकर्ता।

हे राजा परीक्षित! हे समस्त शत्रुओं के दमनकर्ता! जब यमराज के सेवकों ने विष्णुदूतों से उत्तर पा लिया, तो वे यमराज के पास गये और जो कुछ घटित हुआ था, सब कह सुनाया।

तात्पर्य : इस श्लोक में *प्रत्युदित:* शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। यमदूत इतने शक्तिशाली हैं कि उनके कार्य में कहीं भी कोई बाधा नहीं डाल सकता, किन्तु इस समय वे उस व्यक्ति को यमलोक ले जाने से रोक दिये गये, जिसे वे पापी समझते थे। अत: वे निराश होकर तुरन्त यमराज के पास लौट गये तथा उनको सारी घटना जो घटी थी, वर्णित कर दी।

द्विजः पाशाद्विनिर्मुक्तो गतभीः प्रकृतिं गतः ।
ववन्दे शिरसा विष्णोः किङ्करान्दर्शनोत्सवः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

द्विजः—ब्राह्मण (अजामिल); पाशात्—फंदे से; विनिर्मुक्तः—छोड़ दिये जाने पर; गत-भीः—भय से मुक्त; प्रकृतिम् गतः—होश में आया, चेत हुआ; ववन्दे—अपना सादर प्रणाम अर्पित किया; शिरसा—अपना सिर झुकाकर; विष्णोः—भगवान् विष्णु के; किङ्करान्—सेवकों को; दर्शन-उत्सवः—उन्हें देखकर अतीव प्रसन्न।

यमराज के सेवकों के फन्दे से छुड़ा दिये जाने पर ब्राह्मण अजामिल अब भय से मुक्त होकर होश में आया और तुरन्त ही उसने विष्णुदूतों के चरणकमलों पर शीश झुकाकर उन्हें नमस्कार किया। वह उनकी उपस्थिति से अत्यन्त प्रसन्न था, क्योंकि उसने यमराज के दूतों के हाथों से उन्हें अपना जीवन बचाते देखा था।

तात्पर्य : वैष्णव भी विष्णुदूत हैं, क्योंकि वे कृष्ण के आदेशों का पालन करते हैं। भगवान् कृष्ण उन समस्त बद्ध आत्माओं के लिए अत्यन्त उत्सुक रहते हैं कि जो इस भौतिक जगत में सड़ रहे हैं, वे उनकी शरण में आयें और इस जीवन के भौतिक कष्ट से तथा मृत्यु के बाद नारकीय स्थिति के दण्ड से बचाये जा सकें। इसीलिए एक वैष्णव बद्ध आत्माओं को उनके होश में लाने का प्रयास करता है। जो अजामिल की तरह भाग्यशाली होते हैं, वे या तो विष्णुदूतों द्वारा या वैष्णवों द्वारा बचा लिये जाते हैं और इस प्रकार वे भगवद्धाम वापस जाते हैं।

तं विवक्षुमभिप्रेत्य महापुरुषकिङ्कराः ।
सहसा पश्यतस्तस्य तत्रान्तर्दधिरेऽनघ ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (अजामिल को); विवक्षुम्—बोलने की इच्छा करते हुए; अभिप्रेत्य—समझ कर; महापुरुष-किङ्कराः—भगवान् विष्णु के दूत; सहसा—एकाएक; पश्यतः तस्य—उसके देखते-देखते; तत्र—वहाँ; अन्तर्दधिरे—अन्तर्धान हो गये; अनघ—हे निष्पाप महाराज परीक्षित।

हे निष्पाप महाराज परीक्षित! पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णुदूतों ने देखा कि अजामिल कुछ कहना चाह रहा था, अतः वे सहसा उसके समक्ष से अन्तर्धान हो गये।

तात्पर्य : शास्त्रों का कथन है—

पापिष्ठा ये दुराचारा देवब्राह्मणनिन्दकाः।

अपथ्यभोजनास्तेषां अकाले मरणं ध्रुवम्॥

“जो लोग *पापिष्ठ* अर्थात् अत्यन्त पापी तथा *दुराचार* या गन्दी आदतों वाले अथवा दुराचारी

होते हैं, जो ईश्वर के अस्तित्त्व के विरुद्ध हैं, जो वैष्णवों तथा ब्राह्मणों का अनादर करते हैं और सर्वभक्षी हैं उनकी असामयिक मृत्यु निश्चित है।'' कहा जाता है कि कलियुग में मनुष्य की अधिकतम आयु एक सौ वर्षों की होती है, किन्तु ज्यों-ज्यों लोग अधम होते जाते हैं, उनकी आयु घटती जाती है (*प्रायेणाल्पायुष:*)। चूँकि अब अजामिल सारे पापफलों से मुक्त था, इसलिए उसकी आयु बढ़ा दी गई थी, यद्यपि उसे तुरन्त मरना था। जब विष्णुदूतों ने देखा कि अजामिल उनसे कुछ कहना चाह रहा है, तो वे उसे परम भगवान् का गुणगान करने का अवसर देने के उद्देश्य से अन्तर्धान हो गये। चूँकि उसके सारे पापफल नष्ट हो चुके थे, अत: अब वह परम भगवान् की महिमा का गायन करने के लिए तत्पर था। दरअसल, जब तक कोई सारे पापकर्मों से पूरी तरह मुक्त नहीं हो जाता वह भगवान् का महिमागायन नहीं कर सकता। इसकी पुष्टि स्वयं कृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.२८) में की है :—

येषां त्वन्तगतं पापं ज्ञानानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रता:॥

''जिन मनुष्यों ने पूर्वजन्मों में तथा इस जन्म में पुण्यकर्म किये हैं और जिनके पापकर्मों का पूर्णतया उच्छेदन हो चुका होता है और जो मोह के द्वन्द्वों से मुक्त हो जाते हैं, वे संकल्पपूर्वक मेरी सेवा में तत्पर होते हैं।'' विष्णुदूतों ने अजामिल को भक्ति से अवगत कराया जिससे वह तुरन्त भगवद्धाम वापस जाने के योग्य बन सके। भगवान् का गुणगान करने के लिए उसकी उत्सुकता बढ़ाने के उद्देश्य से वे अन्तर्धान हो गये जिससे उनकी अनुपस्थिति में वह वियोग का अनुभव कर सके। वियोगावस्था में भगवान् का गुणगान अति तीव्र हो जाता है।

अजामिलोऽप्यथाकर्ण्य दूतानां यमकृष्णयो: ।
धर्मं भागवतं शुद्धं त्रैवेद्यं च गुणाश्रयम् ॥ २४॥
भक्तिमान्भगवत्याशु माहात्म्यश्रवणाद्धरे: ।
अनुतापो महानासीत्स्मरतोऽशुभमात्मन: ॥ २५॥

शब्दार्थ

अजामिलः—अजामिल ने; अपि—भी; अथ—तत्पश्चात्; आकर्ण्य—सुनकर; दूतानाम्—दूतों का; यम-कृष्णयोः—यमराज तथा भगवान् कृष्ण का; धर्मम्—वास्तविक धार्मिक सिद्धान्त; भागवतम्—जैसाकि श्रीमद्भागवत में वर्णित है अथवा जीव तथा पूर्ण पुरुषोत्त्म भगवान् के बीच सम्बन्ध विषयक; शुद्धम्—शुद्ध; त्रै-वेद्यम्—तीनों वेदों में उल्लिखित; च—भी; गुण-अश्रयम्—प्रकृति के गुणों के अधीन भौतिक धर्म; भक्ति-मान्—शुद्ध भक्त (भौतिक गुणों से शुद्ध किया हुआ); भगवति—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति; आशु—तुरन्त; माहात्म्य—नाम, यश आदि का गुणगान.; श्रवणात्—सुनने से; हरेः—भगवान् के; अनुतापः—खेद; महान्—अत्यधिक; आसीत्—था; स्मरतः—स्मरण करता हुआ; अशुभम्—समस्त अशुभ कर्म; आत्मनः—अपने द्वारा किये हुए।.

यमदूतों तथा विष्णुदूतों के बीच हुए वार्तालापों को सुनकर अजामिल उन धार्मिक सिद्धान्तों को समझ सका जो भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के अधीन कार्य करते हैं। ये सिद्धान्त तीन वेदों में उल्लिखित हैं। वह उन दिव्य धार्मिक सिद्धान्तों को भी समझ सका जो भौतिक प्रकृति के गुणों से ऊपर हैं और जो जीव तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के बीच के सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं। इतना ही नहीं, अजामिल ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के नाम, यश, गुणों तथा लीलाओं के गुणगान को सुना। इस तरह वह पूरी तरह शुद्ध भक्त बन गया। तब उसे अपने विगत पापकर्मों का स्मरण हुआ और उसे अत्यधिक पछतावा हुआ कि उसने ये पाप क्यों किये।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (२.४५) में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

"वेदों में मुख्यत: प्रकृति के तीन गुणों का वर्णन हुआ है। हे अर्जुन! इन तीनों गुणों से ऊपर उठो। समस्त द्वैतों, हानि-लाभ तथा सुरक्षा की सारी चिन्ताओं से मुक्त होकर आत्मपरायण बनो।" वैदिक सिद्धान्त निश्चय ही आध्यात्मिक पद तक ऊपर उठने के लिए क्रमिक विधि की संस्तुति करते हैं, किन्तु यदि कोई वैदिक सिद्धान्तों में ही आसक्त रहता है, तो पूरे आध्यात्मिक जीवन तक उठ पाने की कोई सम्भावना नहीं रहती। इसलिए कृष्ण अर्जुन को भक्ति करने की सलाह देते हैं, क्योंकि दिव्य धर्म की यही विधि है। भक्ति के दिव्य पद की पुष्टि *श्रीमद्भागवत* में भी (१.२.६) की गई है। *स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे। भक्ति परोधर्म:* अर्थात् दिव्य धर्म है। यह कोई

भौतिक धर्म नहीं है। सामान्यत: लोग यही सोचते हैं कि धर्म का पालन भौतिक लाभ के लिए करना चाहिए। यह उन लोगों के लिए उपयुक्त हो सकता है, जो भौतिक जीवन में रुचि रखते हैं, किन्तु जो आध्यात्मिक जीवन में रुचि रखता हो उसे *परोधर्म* अर्थात् उस धर्म के प्रति अनुरक्त होना चाहिए जिससे मनुष्य परम भगवान् का भक्त बनता है (*यतो भक्तिरधोक्षजे*)। भागवत धर्म यह शिक्षा देता है कि भगवान् तथा जीवों में नित्य सम्बन्ध है और जीव का कर्तव्य है कि वह भगवान् की शरण ग्रहण करे। जब कोई व्यक्ति भक्ति के पद पर स्थित होता है, तो वह सारे अवरोधों से मुक्त हो जाता है और पूर्ण तुष्ट हो जाता है (*अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति*)। उस पद तक ऊपर उठकर अजामिल अपने विगत भौतिकतावादी कार्यों के लिए पश्चात्ताप तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के नाम, यश, रूप तथा लीलाओं का गुणगान करने लगा।

अहो मे परमं कष्टमभूदविजितात्मनः ।
येन विप्लावितं ब्रह्म वृषल्यां जायतात्मना ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अहो—हाय; मे—मेरी; परमम्—अत्यधिक; कष्टम्—दुखी अवस्था; अभूत्—हो गई; अविजित-आत्मनः—क्योंकि मेरी इन्द्रियाँ अनियंत्रित थीं; येन—जिनके द्वारा; विप्लावितम्—विनष्ट; ब्रह्म—मेरे सारे ब्राह्मणगुण; वृषल्याम्—एक शूद्राणी या दासी से; जायता—उत्पन्न हुए; आत्मना—मेरे द्वारा।

अजामिल ने कहा : हाय! अपनी इन्द्रियों का दास बनकर मैं कितना अधम बन गया! मैं अपने सुयोग्य ब्राह्मण पद से नीचे गिर गया और मैंने एक वेश्या के गर्भ से बच्चे उत्पन्न किये।

तात्पर्य : उच्चजाति के लोग—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—निम्न जाति की स्त्रियों के गर्भ से सन्तानें उत्पन्न नहीं करते। अत: वैदिक समाज की यह रीति है कि विवाह के लिए लड़की तथा लड़के की कुण्डलियों की जाँच-पड़ताल यह देखने के लिए की जाती है कि उनका संयोग अनुकूल तो है। वैदिक ज्योतिष यह बताता है कि कोई व्यक्ति प्रकृति के तीन गुणों के अनुसार विप्र वर्ण में, क्षत्रिय वर्ण में, वैश्य वर्ण में या शूद्र वर्ण में उत्पन्न है। इसकी जाँच आवश्यक है,

क्योंकि विप्र वर्ण के बालक तथा शूद्रवर्ण की लड़की के साथ विवाह अनमेल होता है। इससे पति तथा पत्नी दोनों ही का विवाहित जीवन दुखमय हो जाता है। अत: लड़के को उसी वर्ण की लड़की के साथ विवाह करना चाहिए। वस्तुत:, यह *त्रैगुण्य* है—अर्थात् वेदों के अनुसार भौतिक गणना है। किन्तु यदि लड़का तथा लड़की दोनों ही भक्त हों, तो ऐसे विचारों की आवश्यकता नहीं रह जाती। भक्त दिव्य होता है, अतएव भक्तों के बीच विवाह होने से लड़के तथा लड़की का अत्यन्त सुखी मेल (संयोग) बनता है।

धिङ्मां विगर्हितं सद्भिर्दुष्कृतं कुलकज्जलम् ।
हित्वा बालां सतीं योऽहं सुरापीमसतीमगाम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

धिक् माम्—मुझे धिक्कार है; विगर्हितम्—निन्दनीय; सद्भिः—ईमानदार व्यक्तियों द्वारा; दुष्कृतम्—पापकर्म करने वाला; कुल-कज्जलम्—जिसने कुल की परम्परा को कलंकित किया हो; हित्वा—त्यागकर; बालाम्—युवा पत्नी को; सतीम्—सती-साध्वी; यः—जो; अहम्—मैंने; सुरापीम्—शराब पीने वाली स्त्री के साथ; असतीम्—असाध्वी; अगाम्—संभोग किया।.

हाय! मुझे धिक्कार है। मैंने इतना पापपूर्ण कार्य किया है कि अपनी मैने कुल-परम्परा को लज्जित किया है। दरअसल, मैंने शराब पीने वाली पतित वेश्या के साथ संभोग करने के लिए अपनी सती तथा सुन्दर युवा पत्नी को त्याग दिया है। धिक्कार है मुझे।

तात्पर्य : यह उसकी मानसिकता है, जो शुद्ध भक्त बन रहा हो। जब भगवान् तथा गुरु की कृपा से कोई भक्ति-पद को प्राप्त होता है, तो वह पहले अपने विगत पापकर्मों पर पश्चात्ताप करता है। इससे उसे आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ने में सहायता मिलती है। विष्णुदूतों ने अजामिल को शुद्ध भक्त बनने का अवसर प्रदान किया था और शुद्ध भक्त का कर्तव्य है कि वह अवैध यौन, नशा, मांसाहार तथा जुआ खेलने जैसे अपने विगत पापकर्मों के लिए पश्चात्ताप करे। उसे न केवल अपनी पुरानी गन्दी आदतें त्याग देनी चाहिए, अपितु अपने विगत पापकर्मों के लिए पश्चात्ताप करना चाहिए। शुद्धभक्ति का यही मानक है।

वृद्धावनाथौ पितरौ नान्यबन्धू तपस्विनौ ।
अहो मयाधुना त्यक्तावकृतज्ञेन नीचवत् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

वृद्धौ—वृद्ध; अनाथौ—जिनकी देखरेख करने वाला कोई न हो; पितरौ—अपने माता-पिता; न अन्य-बन्धू—जिनके कोई अन्य मित्र नहीं था; तपस्विनौ—जिन्होंने बड़े कष्ट सहे थे; अहो—हाय; मया—मेरे द्वारा; अधुना—सम्प्रति; त्यक्तौ—त्यागे हुए; अकृत-ज्ञेन—अकृतज्ञ द्वारा; नीच-वत्—सबसे निन्दनीय व्यक्ति की तरह।

मेरे माता-पिता वृद्ध थे और उनकी देखरेख करने वाला कोई अन्य पुत्र या मित्र न था। चूँकि मैंने उनकी देखभाल नहीं की, अतएव उन्हें बहुत ही कष्ट में रहना पड़ा। हाय! एक निन्दनीय निम्न जाति के पुरुष की तरह मैंने उस स्थिति में अकृतज्ञतापूर्वक उन्हें छोड़ दिया।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता के अनुसार हर व्यक्ति पर ब्राह्मणों, वृद्धों, स्त्रियों, बालकों तथा गौवों की देखरेख करने का उत्तरदायित्त्व होता है। यह हर एक का, विशेषतया उच्च जाति के मनुष्य का, कर्तव्य है। अजामिल ने वेश्या की संगति के कारण अपने सारे कर्तव्यों का परित्याग कर दिया। इस पर पश्चात्ताप करते हुए अब वह अपने को पूरी तरह पतित मान रहा था।

सोऽहं व्यक्तं पतिष्यामि नरके भृशदारुणे ।
धर्मघ्नाः कामिनो यत्र विन्दन्ति यमयातनाः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सः—ऐसा व्यक्ति; अहम्—मैं; व्यक्तम्—अब स्पष्ट है; पतिष्यामि—नीचे गिरूँगा; नरके—नरक में; भृश-दारुणे—अत्यन्त कष्टमय; धर्म-घ्नाः—धार्मिक सिद्धान्तों को तोड़ने वाले; कामिनः—अत्यधिक कामुक; यत्र—जहाँ; विन्दन्ति—सहते हैं; यम-यातनाः—यमराज द्वारा दी जाने वाली कष्टमय दशाएँ।

अब यह स्पष्ट है कि ऐसे कर्मों के फलस्वरूप मुझ जैसे पापी व्यक्ति को उस नारकीय अवस्था में फेंक दिया जाना चाहिए जो धार्मिक सिद्धान्तों को तोड़ने वाले लोगों के निमित्त होती है और मुझे वहाँ घोर कष्ट सहने चाहिए।

किमिदं स्वप्न आहो स्वित्साक्षाद्दृष्टमिहाद्भुतम् ।
क्व याता अद्य ते ये मां व्यकर्षन्पाशपाणयः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; इदम्—यह; स्वप्ने—स्वप्न में; आहो स्वित्—अथवा; साक्षात्—प्रत्यक्ष; दृष्टम्—देखा हुआ; इह—यहाँ; अद्भुतम्—आश्चर्यजनक; क्व—कहाँ; याताः—चले गये; अद्य—अभी; ते—वे सभी; ये—जो; माम्—मुझको; व्यकर्षन्—घसीट रहे थे; पाश-पाणयः—अपने हाथों में पाश लिये हुए।

क्या मैंने यह सपना देखा था या यह सच्चाई थी? मैंने भयावह पुरुषों को हाथ में रस्सी लिये मुझको बन्दी बनाने के लिए आते और मुझे दूर घसीटकर ले जाते हुए देखा। वे कहाँ चले गये हैं?

अथ ते क्व गताः सिद्धाश्चत्वारश्चारुदर्शनाः ।
व्यामोचयन्नीयमानं बद्ध्वा पाशैरधो भुवः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

अथ—इसलिए; ते—वे व्यक्ति; क्व—कहाँ; गताः—चले गये; सिद्धाः—मुक्त; चत्वारः—चारों व्यक्ति; चारु-दर्शनाः—देखने में अतीव सुन्दर; व्यामोचयन्—उन्होंने छोड़ दिया; नीयमानम्—ले जाये जा रहे मुझे; बद्ध्वा—बन्दी बनाकर; पाशैः—रस्सियों से; अधः भुवः—नीचे नरक क्षेत्र को।

और वे मुक्त तथा अति सुन्दर चार पुरुष कहाँ चले गये जिन्होंने मुझे बन्धन से मुक्त किया और मुझे नारकीय क्षेत्रों में घसीट कर ले जाये जाने से बचाया?

तात्पर्य : जैसाकि पाँचवें स्कन्ध के विवरणों से हम जान चुके हैं नरकलोक इस ब्रह्माण्ड के निचले हिस्सों में स्थित हैं। इसीलिए वे *अधो भुवः* कहलाते हैं। अजामिल समझ गया था कि यमदूत उसी हिस्से से आये थे।

अथापि मे दुर्भगस्य विबुधोत्तमदर्शने ।
भवितव्यं मङ्गलेन येनात्मा मे प्रसीदति ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अथ—इसलिए; अपि—यद्यपि; मे—मुझ; दुर्भगस्य—इतने अभागे का; विबुध-उत्तम—उच्च भक्तों का; दर्शने—दर्शन करने से; भवितव्यम्—होगा; मङ्गलेन—शुभ कार्य; येन—जिससे; आत्मा—आत्मा; मे—मेरी; प्रसीदति—वास्तव में सुखी होती है।

निश्चय ही मैं अति निन्दनीय तथा अभागा हूँ कि पापकर्मों के समुद्र में डूबा हुआ हूँ, किन्तु फिर भी अपने पूर्व आध्यात्मिक कर्मों के कारण मैं उन चार महापुरुषों का दर्शन कर सका जो मुझे बचाने आये थे। उनके आने से अब मैं अत्यधिक सुखी अनुभव करता हूँ।

तात्पर्य : जैसाकि *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य २२.५४) में कहा गया है—

'साधु-संग', 'साधु-संग'—सर्व-शास्त्रे कय।

लव-मात्र साधु-संगे सर्व-सिद्धि हय॥

''सभी शास्त्र भक्तों की संगति की संस्तुति करते हैं, क्योंकि एक क्षण की भी ऐसी संगति से सभी सिद्धियों के बीज प्राप्त हो सकते हैं।'' अजामिल अपने जीवन के प्रारम्भ में निश्चित रूप से शुद्ध था और वह भक्तों तथा ब्राह्मणों की संगति करता था। अपने उसी पुण्यकर्म के फलस्वरूप पतित होते हुए भी उसे अपने पुत्र का नाम नारायण रखने की प्रेरणा मिली थी। निश्चय ही यह उस नेक सलाह के कारण था, जो उसे अपने भीतर से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा दी गई थी। जैसा कि *भगवद्गीता* (१५.१५) में भगवान् कहते हैं—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—मैं हर व्यक्ति के हृदय के भीतर स्थित हूँ और मुझ से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होते हैं।'' प्रत्येक हृदय में स्थित भगवान् इतने दयालु हैं कि यदि किसी ने कभी उनकी सेवा कि हो, तो वे उसे भुलाते नहीं। इस तरह भगवान् ने अजामिल को भीतर से अवसर प्रदान किया कि वह अपने सबसे छोटे पुत्र का नाम नारायण रखे जिससे स्नेहवश वह उसे निरन्तर ''नारायण'' ''नारायण'' कहकर पुकारा करे और इस तरह अपनी मृत्यु के समय सबसे भयावह तथा घातक स्थिति से बच सके। कृष्ण की कृपा ऐसी ही होती है। *गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति लता-बीज*—गुरु तथा कृष्ण की कृपा से मनुष्य को भक्ति का बीज मिलता है। यह संगति भक्त को बड़े से बड़े भय से बचाती है। हम अपने कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में भक्त का नाम ऐसे रूप में बदल देते हैं, जो उसे विष्णु का स्मरण कराये। यदि भक्त अपनी मृत्यु के समय अपना ही नाम, यथा कृष्णदास या गोविन्ददास स्मरण कर सके, तो वह महानतम संकट से बच सकता है। इसीलिए दीक्षा के समय नाम-परिवर्तन अति आवश्यक है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन इतना सतर्क है कि यह किसी-न-किसी रूप में कृष्ण का स्मरण करने का सुअवसर प्रदान करता है।

अन्यथा म्रियमाणस्य नाशुचेर्वृषलीपतेः ।
वैकुण्ठनामग्रहणं जिह्वा वक्तुमिहार्हति ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अन्यथा—अन्यथा, नहीं तो; म्रियमाणस्य—मरणासन्न व्यक्ति का; न—नहीं; अशुचेः—अत्यन्त मलिन; वृषली-पतेः—वेश्यागामी; वैकुण्ठ—वैकुण्ठ के भगवान् का; नाम-ग्रहणम्—पवित्र नाम का कीर्तन; जिह्वा—जीभ; वक्तुम्—कहने में; इह—इस स्थिति में; अर्हति—समर्थ है।

यदि मैने विगत में भक्ति न की होती तो मुझ मलिन वेश्यागामी को, जो मरणासन्न था किस तरह वैकुण्ठपति के पवित्र नाम का उच्चारण करने का अवसर मिल पाता? निश्चय ही ऐसा सम्भव न हो पाता।

तात्पर्य : वैकुण्ठपति का अर्थ है "आध्यात्मिक लोक के स्वामी" जो वैकुण्ठ नाम से भिन्न नहीं है। अजामिल, जो अब स्वरूपसिद्ध आत्मा था यह समझ सका कि अपने विगत आध्यात्मिक भक्तिमय कार्यों के कारण ही वह मृत्यु के समय अपनी भयावह स्थिति में वैकुण्ठपति के नाम का उच्चारण करने का अवसर प्राप्त कर सका।

क्व चाहं कितवः पापो ब्रह्मघ्नो निरपत्रपः ।
क्व च नारायणेत्येतद्भगवन्नाम मङ्गलम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

क्व—कहाँ; च—भी; अहम्—मैं; कितवः—वंचक, ठग; पापः—मूर्त रूप में सारे पाप; ब्रह्म-घ्नः—ब्राह्मण संस्कृति का हत्यारा; निरपत्रपः—निर्लज्ज; क्व—कहाँ; च—भी; नारायण—नारायण; इति—इस प्रकार; एतत्—यह; भगवत्-नाम—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का पवित्र नाम; मङ्गलम्—सर्व मंगलप्रद।

अजामिल कहता रहा : मैं ऐसा निर्लज्ज ठग हूँ जिसने अपनी ब्राह्मण संस्कृति की हत्या कर दी है। निस्सन्देह, मैं साक्षात् पाप हूँ। भला मैं भगवान् नारायण के पवित्रनाम के सर्वमंगलकारी कीर्तन की बराबरी में कहाँ ठहर सकता हूँ?

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के माध्यम से नारायण या कृष्ण के पवित्र नाम का प्रसार करने वालों को यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि इसमें आने के पूर्व हमारी स्थिति क्या थी और अब वह क्या है। हम मांसाहारी, शराबी तथा स्त्री-आखेटकों के गर्हित जीवनों में जा गिरे थे जिनमें सभी प्रकार के पापकर्म हमने किए, किन्तु अब हमें हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करने का

सुअवसर प्रदान किया गया है। अतएव हमें इस सुअवसर की सदैव प्रशंसा करनी चाहिए। भगवत्कृपा से हम अनेक शाखाएँ खोल रहे हैं और हमें इस सौभाग्य का लाभ भगवन्नाम का कीर्तन करने तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा करने में उठाना चाहिए। हमें अपनी वर्तमान तथा विगत स्थितियों के बीच जो अन्तर है उसके प्रति सचेत रहना चाहिए और हमें अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए कि कहीं हम सर्वोच्च जीवन से नीचे न गिर जाँय।

सोऽहं तथा यतिष्यामि यतचित्तेन्द्रियानिलः ।
यथा न भूय आत्मानमन्धे तमसि मज्जये ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सः—ऐसा व्यक्ति; अहम्—मैं; तथा—इस तरह से; यतिष्यामि—मैं प्रयत्न करूँगा; यत-चित्त-इन्द्रिय—मन तथा इन्द्रियों को नियंत्रित करूँगा; अनिलः—तथा आन्तरिक वायु; यथा—जिससे; न—नहीं; भूयः—पुनः; आत्मानम्—मेरी आत्मा; अन्धे—अंधकार में; तमसि—अज्ञान में; मज्जये—मैं डूब रहा हूँ।

मैं ऐसा पापी व्यक्ति हूँ, किन्तु अब मुझे यह अवसर प्राप्त हुआ है, अतः मैं अपने मन, जीवन (प्राण) तथा इन्द्रियों को पूरी तरह से वश में करके भक्ति में अपने को लगाऊँगा जिससे मैं पुनः गहन अंधकार तथा भौतिक जीवन के अज्ञान में न गिरूँ।

तात्पर्य : हममें से प्रत्येक को यही संकल्प होना चाहिए। हम कृष्ण तथा गुरु की कृपा से इस उच्च पद तक ऊपर उठे हैं और यदि हम यह स्मरण रखें कि यह महान् अवसर है और कृष्ण से प्रार्थना करें कि हम पुनः नीचे न गिरें तो हमारे जीवन सफल हो जाएंगे।

विमुच्य तमिमं बन्धमविद्याकामकर्मजम् ।
सर्वभूतसुहृच्छान्तो मैत्रः करुण आत्मवान् ॥ ३६ ॥
मोचये ग्रस्तमात्मानं योषिन्मय्यात्ममायया ।
विक्रीडितो ययैवाहं क्रीडामृग इवाधमः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

विमुच्य—छूटकर; तम्—उससे; इमम्—यह; बन्धम्—बन्धन; अविद्या—अविद्या के कारण; काम—कामेच्छाओं के कारण; कर्म-जम्—कार्यों से उत्पन्न; सर्व-भूत—सारे जीवों का; सुहृत्—मित्र; शान्तः—अत्यन्त शान्त; मैत्रः—मैत्रीपूर्ण; करुणः—दयालु; आत्म-वान्—स्वरूपसिद्ध; मोचये—मैं पाशमुक्त करूँगा; ग्रस्तम्—कसा हुआ; आत्मानम्—मेरी

आत्मा; योषित्-मय्या—स्त्री रूप में; आत्म-मायया—भगवान् की मोहिनी शक्ति से; विक्रीडितः—खिलवाड़ करता; यया—जिससे; एव—निश्चय; अहम्—मैं; क्रीडा-मृगः—वशीभूत पशु; इव—सदृश; अधमः—इतना पतित।

शरीर से अपनी पहचान बनाने के कारण मनुष्य इन्द्रियतृप्ति के लिए इच्छाओं के अधीन होता है और इस तरह वह अपने को अनेक प्रकार के पवित्र तथा अपवित्र कार्यों में लगाता है। यही भौतिक बन्धन है। अब मैं अपने आपको उस भौतिक बन्धन से छुड़ाऊँगा जो स्त्री के रूप में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की मोहिनी शक्ति द्वारा उत्पन्न किया गया है। सर्वाधिक पतितात्मा होने से मैं माया का शिकार बना और उस नाचने वाले कुत्ते के समान बन गया जो स्त्री के हाथ के इशारे पर चलता है। अब मैं सारी कामेच्छाओं को त्याग दूँगा और इस मोह से अपने को मुक्त कर लूँगा। मैं दयालु एवं समस्त जीवों का शुभैषी मित्र बनूंगा तथा कृष्णभावनामृत में अपने को सदैव लीन रखूँगा।

तात्पर्य : समस्त कृष्णभावनाभावित व्यक्तियों के लिए संकल्प का यही मानदण्ड होना चाहिए। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को माया के पाश से अपने को छुड़ा लेना चाहिए और ऐसे पाशों से कष्ट पा रहे अन्य सारे लोगों के प्रति दयालु होना चाहिए। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के कार्यकलाप न केवल स्वयं के लिए हैं, अपितु अन्यों के लिए भी हैं। कृष्णभावनामृत की यही पूर्णता है। जो व्यक्ति अपने मोक्ष में ही रुचि रखता है, वह कृष्णभावनामृत में उतना उन्नत नहीं होता जितना कि अन्यों के प्रति दया अनुभव करने वाला तथा कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का प्रसार करने वाला होता है। ऐसा उन्नत भक्त कभी नीचे नहीं गिरेगा, क्योंकि कृष्ण उसे विशेष संरक्षण प्रदान करेंगे। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का यही सार है। हर व्यक्ति माया के हाथों के खिलौने जैसा है और वह उसे जिस तरह घुमाती है, कार्य करता है। मनुष्य को चाहिए कि अपने को तथा अन्यों को इससे छुड़ाने के लिए कृष्णभावनामृत को स्वीकार करे।

ममाहमिति देहादौ हित्वामिथ्यार्थधीर्मतिम् ।
धास्ये मनो भगवति शुद्धं तत्कीर्तनादिभिः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

मम—मेरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; देह-आदौ—शरीर तथा उससे सम्बद्ध वस्तुओं में; हित्वा—त्यागकर; अमिथ्या—मिथ्या नहीं; अर्थ—मूल्यों पर; धी:—अपनी चेतना से; मतिम्—प्रवृत्ति को; धास्ये—लगाऊँगा; मनः—मेरा मन; भगवति—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् में; शुद्धम्—शुद्ध; तत्—उनका नाम; कीर्तन-आदिभिः—कीर्तन , श्रवण इत्यादि के द्वारा।

चूँकि मैंने भक्तों की संगति में भगवान् के पवित्र नाम का केवल कीर्तन किया है, इसलिए मेरा हृदय अब शुद्ध बन रहा है। इसलिए मैं अब पुनः भौतिक इन्द्रियतृप्ति के झूठे आकर्षणों का शिकार नहीं बनूँगा। चूँकि अब मैं परम सत्य में स्थित हो चुका हूँ, अतः अब उसके बाद मैं शरीर के साथ अपनी पहचान नहीं करूँगा। ''मैं'' तथा ''मेरा'' के मिथ्या विचारों को त्यागकर मैं अपने मन को कृष्ण के चरणकमलों में स्थिर करूँगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में इसकी स्पष्ट व्याख्या की गई है कि मनुष्य किस तरह भव-बन्धन का शिकार हो जाता है। इसका शुभारम्भ आत्मा के रूप में शरीर की गलत पहचान से होता है। इसलिए *भगवद्गीता* का शुभारम्भ इस आध्यात्मिक शिक्षा से होता है कि व्यक्ति शरीर नहीं है, अपितु वह शरीर के भीतर है। यह चेतना तभी सम्भव है जब वह एकमात्र कृष्ण के नाम का, हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करे और अपने को सदैव भक्तों की संगति में रखे। यही सफलता का रहस्य है। इसीलिए हम बल देते हैं कि मनुष्य भगवन्नाम का कीर्तन करे और अपने को इस भौतिक जगत के कल्मषों से, विशेषतया अवैध मैथुन, मांसाहार, नशा तथा जुआ की कामेच्छाओं के कल्मषों से मुक्त रखे। मनुष्य को संकल्पपूर्वक इन सिद्धान्तों का पालन करने का व्रत लेना चाहिए और इस तरह संसार की कष्टमय दशा से बचना चाहिए। सबसे पहली आवश्यकता है कि देहात्मबुद्धि से मुक्त हुआ जाए।

इति जातसुनिर्वेदः क्षणसङ्गेन साधुषु ।
गङ्गाद्वारमुपेयाय मुक्तसर्वानुबन्धनः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; जात-सुनिर्वेदः—(अजामिल) जो भौतिक देहात्मबुद्धि से विरक्त हो चुका था; क्षण-सङ्गेन—क्षण भर की संगति से; साधुषु—भक्तों की; गङ्गा-द्वारम्—हरद्वार (हरिद्वार); उपेयाय—गया; मुक्त—मुक्त होकर; सर्व-अनुबन्धनः—सभी प्रकार के भौतिक बन्धनों से।

भक्तों (विष्णुदूतों) की क्षण-भर की संगति के कारण अजामिल ने अपने मन को संकल्पपूर्वक भौतिक देहात्मबुद्धि से विलग कर लिया। इस तरह समस्त भौतिक आकर्षण से मुक्त हुआ वह तुरन्त हरद्वार के लिए चल पड़ा।

तात्पर्य : *मुक्त-सर्वानुबन्धनः* शब्द संकेत करता है कि इस घटना के बाद अजामिल अपनी पत्नी तथा बच्चों की परवाह न करते हुए अपने आध्यात्मिक जीवन की अधिक उन्नति के लिए सीधे हरद्वार गया। अब हमारे कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के वृन्दावन तथा नवद्वीप में केन्द्र हैं जिससे वे लोग जो वानप्रस्थ जीवन बिताना चाहते हैं, चाहे वे भक्त हों या नहीं, वहाँ जा सकते हैं और संकल्पपूर्वक *देहात्मबुद्धि* का परित्याग कर सकते हैं। ऐसे लोगों का इन पवित्र स्थानों में स्वागत है कि वे भगवान् के नाम का कीर्तन करें तथा प्रसाद ग्रहण करने की अतीव सरल विधि से सर्वोच्च सफलता पाने के उद्देश्य से शेष जीवन वहीं पर रहें। इस तरह वे भगवद्धाम वापस जा सकते हैं। हरद्वार में हमारा कोई केन्द्र नहीं है, किन्तु भक्तों के लिए वृन्दावन तथा श्रीधाम मायापुर अन्य स्थानों की अपेक्षा अच्छे हैं। श्री चैतन्य चन्द्रोदय मन्दिर भक्तों की संगति करने का सुअवसर प्रदान करता है। आइये, हम सभी इस अवसर का लाभ उठायें।

स तस्मिन्देवसदन आसीनो योगमास्थितः ।
प्रत्याहृतेन्द्रियग्रामो युयोज मन आत्मनि ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

सः—उसने (अजामिल ने); तस्मिन्—उस स्थान (हरद्वार) में; देव-सदने—एक विष्णु मन्दिर में; आसीनः—स्थित होकर; योगम् आस्थितः—भक्तियोग सम्पन्न किया; प्रत्याहृत—इन्द्रिय तृप्ति के समस्त कार्यों से विलग; इन्द्रिय-ग्रामः—अपनी इन्द्रियाँ; युयोज—स्थिर किया; मनः—मन; आत्मनि—आत्मा, परमात्मा या पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् पर।

हरद्वार में अजामिल ने एक विष्णुमन्दिर में शरण ली जहाँ उसने भक्तियोग की विधि को सम्पन्न किया। उसने अपनी इन्द्रियों को वश में किया और अपने मन को पूरी तरह से भगवान् की सेवा में लगा दिया।

तात्पर्य : जो भक्त कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में सम्मिलित हो चुके हैं, वे हमारे अनेक मन्दिरों में सुविधापूर्वक रह सकते हैं और भगवान् की भक्ति में लग सकते हैं। इस तरह वे मन तथा इन्द्रियों को वश में कर सकते हैं और जीवन में सर्वोच्च सफलता पा सकते हैं। यह विधि अनन्त काल से चली आ रही है। हमें चाहिए कि अजामिल के जीवन से सीख लेकर इस पथ का अनुगमन करने के लिए जो भी आवश्यक हो उसे संकल्प के साथ करने का व्रत लें।

ततो गुणेभ्य आत्मानं वियुज्यात्मसमाधिना ।
युयुजे भगवद्धाम्नि ब्रह्मण्यनुभवात्मनि ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; गुणेभ्यः—प्रकृति के गुणों से; आत्मानम्—मन को; वियुज्य—विलग करके; आत्म-समाधिना—भक्ति में पूरी तरह; युयुजे—लगा दिया; भगवत्-धाम्नि—भगवान् के रूप में; ब्रह्मणि—जो परब्रह्म है (मूर्ति पूजा नहीं); अनुभव-आत्मनि—जिसके विषय में सदैव सोचा जाता है (चरणकमलों से शुरू करके धीरे-धीरे ऊपर की ओर बढ़ते हुए)।

अजामिल पूरी तरह से भक्ति में लग गया। इस तरह उसने इन्द्रियतृप्ति से अपने मन को विलग कर लिया और वह भगवान् के स्वरूप का चिन्तन करने में पूरी तरह लीन हो गया।

तात्पर्य : यदि कोई व्यक्ति मन्दिर में अर्चाविग्रह की पूजा करता है, तो उसका मन स्वाभाविक रूप से भगवान् तथा उनके स्वरूप के विचारों में लीन हो जायेगा। भगवान् के रूप तथा स्वयं भगवान् में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए योग की सबसे सरल प्रणाली भक्तियोग है। योगीजन अपने हृदय के भीतर स्थित परमात्मा अर्थात् विष्णु के स्वरूप पर अपने मन को एकाग्र करने का प्रयास करते हैं, किन्तु इसी उद्देश्य की पूर्ति सरलता से हो जाती है, यदि मनुष्य का मन मन्दिर में पूजे जाने वाले अर्चाविग्रह में लीन हो ले। हर मन्दिर में भगवान् का दिव्यरूप रहता है और मनुष्य आसानी से इसके विषय में चिन्तन कर सकता है। आरती के समय भगवान् का दर्शन करने, भोग चढ़ाने तथा अर्चाविग्रह के स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करने से मनुष्य उच्चकोटि का योगी बन जाता है। योग की सर्वोच्च विधि यही है, जिसकी पुष्टि स्वयं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने *भगवद्गीता* (६.४७) में की है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान् भजते यो मां समे युक्ततमो मत: ॥

"समस्त योगियों में से जो योगी अत्यन्त श्रद्धापूर्वक मेरे परायण है, अपने अन्त:करण में मेरे विषय में सोचता है और मेरी दिव्य प्रेमाभक्ति करता है, वह योग में मुझसे परम अन्तरंग रूप में जुड़ा रहता है और सबों में से सर्वोच्च है। यही मेरा मत है।" उच्चकोटि का योगी वह है, जो अपनी इन्द्रियों को वश में करता है और भगवान् के स्वरूप का सदैव चिन्तन करते हुए अपने आपको भौतिक कार्यों से विलग कर लेता है।

यर्ह्युपारतधीस्तस्मिन्नद्राक्षीत्पुरुषान्पुर: ।
उपलभ्योपलब्धान्प्राग्ववन्दे शिरसा द्विज: ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

यर्हि—जब; उपारत-धी:—उसका मन तथा बुद्धि स्थिर थे; तस्मिन्—उस समय; अद्राक्षीत्—देखा था; पुरुषान्—पुरुषों को (विष्णुदूतों को); पुर:—अपने समक्ष; उपलभ्य—पाकर; उपलब्धान्—जो पहले मिल चुके थे; प्राक्—पहले; ववन्दे—नमस्कार किया; शिरसा—सिर के बल; द्विज:—ब्राह्मण ने।

जब ब्राह्मण अजामिल की बुद्धि तथा मन भगवान् के स्वरूप पर स्थिर हो गये तो उसने पुन: उन चार दिव्य पुरुषों को अपने समक्ष देखा। वह समझ गया कि ये वही हैं, जिन्हें वह पहले देख चुका है, अत: उनके समक्ष उसने नतमस्तक होकर नमस्कार किया।

तात्पर्य : जब अजामिल का मन भगवान् के स्वरूप पर दृढ़तापूर्वक स्थिर हो गया तो जिन विष्णुदूतों ने उसे छुड़ाया था वे पुन: उसके समक्ष आये। विष्णुदूत कुछ काल के लिए दूर चले गये थे जिससे अजामिल को भगवान् के ध्यान में स्थिर होने का समय मिल जाये। चूँकि अब उसकी भक्ति परिपक्व हो चुकी थी, अत: वे उसे लेने के लिए लौटकर आये। यह जानकर कि वे ही विष्णुदूत लौटे हैं, अजामिल ने नतमस्तक होकर उन्हें नमस्कार किया।

हित्वा कलेवरं तीर्थे गङ्गायां दर्शनादनु ।
सद्य: स्वरूपं जगृहे भगवत्पार्श्ववर्तिनाम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

हित्वा—त्यागकर; कलेवरम्—भौतिक शरीर; तीर्थे—तीर्थस्थान में; गङ्गायाम्—गंगानदी के तट पर; दर्शनात् अनु—दर्शन करने के बाद; सद्यः—तुरन्त; स्व-रूपम्—अपना आदि आध्यात्मिक रूप; जगृहे—धारण कर लिया; भगवत्-पार्श्व-वर्तिनाम्—जो भगवान् के पार्षद के लिए उपयुक्त है।

विष्णुदूतों का दर्शन करने के बाद अजामिल ने गंगानदी के तट पर हरद्वार में अपना भौतिक शरीर त्याग दिया। उसे अपना आदि आध्यात्मिक शरीर पुनः मिल गया जो भगवान् के पार्षद के लिए उपयुक्त था।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (४.९) में भगवान् कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो मेरे आविर्भाव तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह इस शरीर को छोड़ने पर इस संसार में पुनःजन्म नहीं लेता, अपितु मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।"

कृष्णभावनामृत में पूर्णता का फल यह है कि मनुष्य अपने भौतिक शरीर को त्यागने के बाद तुरन्त ही अपने आदि आध्यात्मिक शरीर में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का पार्षद बनने के लिए आध्यात्मिक जगत में स्थानान्तरित कर दिया जाता है। कुछ भक्त वैकुण्ठलोक जाते हैं और कुछ कृष्ण के पार्षद बनने के लिए गोलोक वृन्दावन जाते हैं।

साकं विहायसा विप्रो महापुरुषकिङ्करैः ।
हैमं विमानमारुह्य ययौ यत्र श्रियः पतिः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

साकम्—साथ; विहायसा—आकाश मार्ग द्वारा; विप्रः—ब्राह्मण (अजामिल); महापुरुष-किङ्करैः—विष्णुदूतों के साथ; हैमम्—सोने का बना; विमानम्—विमान में; आरुह्य—सवार होकर; ययौ—गया; यत्र—जहाँ; श्रियः पतिः—लक्ष्मी-पति विष्णु।

भगवान् विष्णु के दूतों के साथ अजामिल सोने के बने हुए विमान पर सवार हुआ। वह आकाश मार्ग से जाते हुए सीधे लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु के धाम गया।

तात्पर्य : भौतिक विज्ञानी वर्षों तक चन्द्रमा तक जाने का प्रयास करते रहे हैं, किन्तु वे अब

भी वहाँ जाने में असमर्थ हैं। किन्तु आध्यात्मिक लोकों के आध्यात्मिक विमान मनुष्य को क्षण-भर में भगवद्धाम ले जा सकते हैं। ऐसे आध्यात्मिक विमान की गति की केवल कल्पना ही की जा सकती है। आत्मा मन से भी सूक्ष्म है और हर एक को इसका अनुभव है कि मन कितनी तेजी से एक स्थान से दूसरे स्थान तक यात्रा करता है। इसलिए मन की गति से तुलना करके आध्यात्मिक स्वरूप की तेजी (त्वरा) की कल्पना की जा सकती है। अपना भौतिक शरीर त्यागने के तुरन्त बाद पूर्णभक्त क्षण-भर से भी कम समय में भगवद्धाम लौट सकता है।

एवं स विप्लावितसर्वधर्मा
दास्याः पतिः पतितो गर्ह्यकर्मणा ।
निपात्यमानो निरये हतव्रतः
सद्यो विमुक्तो भगवन्नाम गृह्णन् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह से; सः—वह (अजामिल); विप्लावित-सर्व-धर्माः—जिसने सारे धर्मों को त्याग दिया था; दास्याः पतिः—वेश्या का पति; पतितः—पतित; गर्ह्य-कर्मणा—गर्हित कामों में लगे रहने से; निपात्यमानः—गिरते हुए; निरये—नरक में; हत-व्रतः—जिसने अपने सारे व्रतों को तोड़ रखा था; सद्यः—तुरन्त; विमुक्तः—मुक्त; भगवत्-नाम—भगवान् का पवित्र नाम; गृह्णन्—कीर्तन करते हुए।

अजामिल ब्राह्मण था जिसने कुसंगति के कारण सारी ब्राह्मण-संस्कृति तथा धार्मिक नियमों को त्याग दिया था। सर्वाधिक पतित होने से वह चोरी करता, शराब पीता तथा अन्य गर्हित कार्य करता था। उसने एक वेश्या भी रख ली थी। इस तरह उसका यमराज के दूतों द्वारा नरक ले जाया जाना सुनिश्चित था, किन्तु नारायण के पवित्र नाम का लेश मात्र उच्चारण करने से ही तुरन्त उसे बचा लिया गया।

नातः परं कर्मनिबन्धकृन्तनं
मुमुक्षतां तीर्थपदानुकीर्तनात् ।
न यत्पुनः कर्मसु सज्जते मनो
रजस्तमोभ्यां कलिलं ततोऽन्यथा ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अतः—इसलिए; परम्—श्रेष्ठतर साधन; कर्म-निबन्ध—सकाम कर्मों के फलस्वरूप कष्ट भोगने की बाध्यता; कृन्तनम्—जो पूरी तरह छिन्न कर दे; मुमुक्षताम्—भव-बन्धन के पाश से बाहर निकलने की इच्छा रखने वाले पुरुषों का; तीर्थ-पद—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विषय में, जिनके पाँवों पर सारे तीर्थस्थान स्थित हैं; अनुकीर्तनात्—प्रामाणिक गुरु के निर्देशानुसार कीर्तन करने की अपेक्षा; न—नहीं; यत्—क्योंकि; पुनः—फिर; कर्मसु—सकाम कर्मों में; सज्जते—लिप्त होता है; मनः—मन; रजः-तमोभ्याम्—रजो तथा तमो गुणों द्वारा; कलिलम्—दूषित; ततः—तत्पश्चात्; अन्यथा—किसी अन्य साधन से।.

अतः जो व्यक्ति भवबन्धन से मुक्त होना चाहता है, उसे चाहिए कि उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के नाम, यश, रूप तथा लीलाओं के कीर्तन तथा गुणगान की विधि को अपनाए, जिनके चरणों पर सारे तीर्थस्थान स्थित हैं। अन्य साधनों से, यथा पवित्र पश्चात्ताप, ज्ञान, यौगिक ध्यान से उसे उचित लाभ प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसी विधियों का पालन करने पर भी मनुष्य अपने मन को वश में न कर सकने के कारण पुनः सकाम कर्म करने लगता है, क्योंकि मन प्रकृति के निम्न गुणों से—यथा रजो तथा तमो गुणों से—संदूषित रहता है।

तात्पर्य : वस्तुतः यह देखा गया है कि तथाकथित सिद्धि प्राप्त कर लेने के बाद भी अनेक कर्मी, ज्ञानी तथा योगी पुनः भौतिक कर्मों में लिप्त हो जाते हैं। अनेक तथाकथित स्वामी तथा योगी भौतिक कर्मों को मिथ्या कहकर त्याग देते हैं (*जगन्मिथ्या*), किन्तु तो भी कुछ काल बाद वे पुनः अस्पताल तथा पाठशालाएँ खोलने या जनता के लाभ हेतु अन्य कार्य जैसे भौतिक कार्य करने लगते हैं। कभी-कभी वे राजनीति में भाग लेते हैं, यद्यपि वे मिथ्या ही अपने आपको संन्यासी घोषित करते हैं। किन्तु सम्यक् निष्कर्ष तो यह है कि यदि कोई वास्तव में भौतिक जगत से बाहर निकलने का इच्छुक है, तो उसे भक्ति ग्रहण करनी चाहिए जिसका शुभारम्भ *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* अर्थात् भगवान् की महिमा के कीर्तन तथा श्रवण से होता है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन ने वस्तुतः इसे सिद्ध कर दिया है। पाश्चात्य देशों में, जहाँ अनेक युवक नशीली दवाओं की लत में थे और जिनमें अनेक बुरी आदतें थीं, उन्होंने उन सारी लालसाओं को त्याग दिया और वे कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में सम्मिलित होते ही गम्भीरतापूर्वक भगवान् की महिमा का कीर्तन करने में जुट गये। दूसरे शब्दों में, रजो तथा तमो गुणों में सम्पन्न कर्मों के प्रायश्चित्त की यह पूर्ण विधि है।

श्रीमद्भागवत (१.२.१९) में कहा गया है—

तदा रजस्तमोभावा: कामलोभादयश्च ये।

चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति॥

रजो तथा तमो गुणों के फलस्वरूप मनुष्य अधिकाधिक कामी तथा लोभी बन जाता है, किन्तु जब वह कीर्तन तथा श्रवण विधि अपना लेता है, तो वह सतोगुण के पद को प्राप्त होता है और सुखी बन जाता है। ज्यों-ज्यों वह भक्ति में प्रगति करता है, उसके सारे संशय पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं (*भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशय:*)। इस तरह सकाम कर्मों के लिए उसकी इच्छा रूपी ग्रन्थि छिन्न-भिन्न हो जाती है।

य एतं परमं गुह्यमितिहासमघापहम् ।
शृणुयाच्छ्रद्धया युक्तो यश्च भक्त्यानुकीर्तयेत् ॥ ४७॥
न वै स नरकं याति नेक्षितो यमकिङ्करै: ।
यद्यप्यमङ्गलो मर्त्यो विष्णुलोके महीयते ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; एतम्—इस; परमम्—अत्यन्त; गुह्यम्—गोपनीय; इतिहासम्—ऐतिहासिक कथा को; अघ-अपहम्—पापों के सारे फलों से मुक्त करने वाली; शृणुयात्—सुनता है; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; युक्तः—से युक्त; यः—जो; च—भी; भक्त्या—महती भक्ति से; अनुकीर्तयेत्—दुहराता है; न—नहीं; वै—निस्सन्देह; सः—ऐसा व्यक्ति; नरकम्—नरक को; याति—जाता है; न—नहीं; ईक्षितः—देखा जाता है; यम-किङ्करैः—यमराज के दूतों द्वारा; यदि अपि—यद्यपि; अमङ्गलः—अशुभ; मर्त्यः—भौतिक शरीर में; विष्णु-लोके—वैकुण्ठलोक में; महीयते—सादर स्वागत किया जाता है।

चूँकि इस अतिगोपनीय ऐतिहासिक कथा में सारे पापफलों को नष्ट करने की शक्ति है, अत: जो भी इसे श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक सुनता है या सुनाता है, वह नरकभागी नहीं होता, चाहे उसे भौतिक शरीर मिला हो और चाहे वह कितना ही पापी क्यों न रहा हो। दरअसल, यमराज के आदेशों का पालन करने वाले यमदूत उसे आँख उठाकर देखने के लिए भी उसके पास नहीं जाते। अपना शरीर त्यागने के बाद वह भगवद्धाम लौट जाता है जहाँ उसका सादर स्वागत किया जाता है और पूजा की जाती है।

म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन्पुत्रोपचारितम् ।
अजामिलोऽप्यगाद्धाम किमुत श्रद्धया गृणन् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

म्रियमाणः—मृत्यु के समय; हरेः नाम—हरि का पवित्र नाम; गृणन्—उच्चारण करते हुए; पुत्र-उपचारितम्—अपने पुत्र की ओर इशारा करते; अजामिलः—अजामिल; अपि—तक; अगात्—गया; धाम—आध्यात्मिक जगत; किम् उत—क्या कहा जा सकता है; श्रद्धया—श्रद्धा तथा प्रेमपूर्वक; गृणन्—उच्चारण करते हुए।

अजामिल ने मृत्यु के समय कष्ट भोगते हुए भगवान् के पवित्र नाम का उच्चारण किया और यद्यपि उसका यह उच्चारण उसके पुत्र की ओर लक्षित था फिर भी वह भगवद्धाम वापस गया। इसलिए यदि कोई श्रद्धापूर्वक तथा निरपराध भाव से भगवन्नाम का उच्चारण करता है, तो वह भगवान् के पास लौटेगा इसमें सन्देह कहाँ है?

तात्पर्य : मृत्यु के समय मनुष्य निश्चित रूप से मोहग्रस्त हो जाता है, क्योंकि उसके शारीरिक कार्य अव्यवस्थित हो जाते हैं। उस समय, भले ही किसी ने अपने जीवन भर भगवन्नाम का कीर्तन करने का अभ्यास किया हो, किन्तु वह स्पष्ट रूप से हरे कृष्णमंत्र का उच्चारण न कर पाए। फिर भी ऐसे व्यक्ति को पवित्र नाम के कीर्तन का सारा लाभ मिलता है। इसलिए जब तक शरीर स्वस्थ है, क्यों न हम जोर-जोर से तथा स्पष्ट रूप से भगवन्नाम का कीर्तन करें? यदि कोई ऐसा करता है, तो यह सम्भव है कि मृत्यु के समय भी वह प्रेम तथा श्रद्धापूर्वक भगवन्नाम का ठीक से कीर्तन कर सके। निष्कर्ष के रूप में, जो व्यक्ति निरन्तर भगवन्नाम का कीर्तन करता है उसकी भगद्धाम-वापसी बिना किसी सन्देह के सुनिश्चित है।

————

इस अध्याय पर पूरक टिप्पणी

इस अध्याय के श्लोक ९ तथा १० की श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर द्वारा की गई टीका एक वार्तालाप के रूप में है कि किस तरह कोई भगवन्नाम का कीर्तन करने-मात्र से सारे पापफलों से मुक्त हो सकता है।

कोई कह सकता है, ''यह स्वीकार किया जा सकता है कि भगवन्नाम के कीर्तन से मनुष्य पापी जीवन के सारे फलों से मुक्त हो सकता है। किन्तु यदि कोई पूर्णचेतना में रहते हुए पापकर्म करता है, वह भी एक बार नहीं, अपितु अनेक बार, तो वह अपने को ऐसे पापों के फलों से मुक्त करने में अक्षम रहता है, चाहे उनके लिए उसने बारह या अधिक वर्षों तक प्रायश्चित्त क्यों न किया हो। तो फिर यह कैसे सम्भव है कि केवल एक बार भगवान् का नाम लेने से कोई तुरन्त ही ऐसे पापों के फलों से मुक्त हो जाता है ?''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इसका उत्तर इस अध्याय के श्लोक ९ तथा १० का उद्धरण देते हुए कहते हैं, ''भगवान् विष्णु के पवित्र नाम का कीर्तन सोने या अन्य कीमती वस्तु की चोरी करने वाले, शराबी, मित्र या सम्बन्धी के साथ विश्वासघात करने वाले, ब्राह्मण के हत्यारे या अपने गुरु या अन्य गुरुजनों की पत्नी के साथ संभोग करने वाले के लिए प्रायश्चित्त की सर्वोत्तम विधि है। स्त्रियों, राजा या अपने पिता की हत्या करने वाले, गौवों का वध करने वाले तथा अन्य सभी पापी लोगों के लिए भी यह प्रायश्चित्त की सर्वोत्तम विधि है। भगवान् विष्णु के नाम का मात्र कीर्तन करने से ऐसे पापी व्यक्ति परम भगवान् का ध्यान आकृष्ट कर सकते हैं। अत: भगवान् यह सोचते हैं कि, ''चूँकि इस व्यक्ति ने मेरे पवित्र नाम का कीर्तन किया है, अत: उसकी रक्षा करना मेरा कर्तव्य है।''

मनुष्य पापी जीवन के लिए प्रायश्चित्त कर सकता है और पवित्रनाम के कीर्तन से उसके सारे पापफल नष्ट हो सकते हैं, यद्यपि यह प्रायश्चित्त नहीं कहलाता। सामान्य प्रायश्चित्त पापी व्यक्ति को अस्थायी रूप से रक्षा प्रदान कर सकता है, किन्तु उसके हृदय में पापकर्म करने की जो जड़ें गहरे जमी हुई रहती हैं उनसे यह हृदय को स्वच्छ नहीं बना सकता। अतएव प्रायश्चित्त भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन जितना शक्तिशाली नहीं होता। शास्त्रों में कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति केवल एक बार पवित्र नाम का उच्चारण करता है और भगवान् के चरणकमलों में पूर्ण शरण ले लेता है, तो भगवान् उसे अपना *अविभावी* मान लेते हैं और उसे सुरक्षा प्रदान करने के लिए उन्मुख रहते

हैं। इसकी पुष्टि श्रीधर स्वामी ने की है। इसलिए जब अजामिल यमराज के दूतों द्वारा ले जाये जाने के महान् खतरे में था, तो भगवान् ने तुरन्त ही उसकी रक्षा करने के लिए अपने निजी दूतों को भेजा। चूँकि अजामिल सारे पापफलों से मुक्त कर दिया गया था, इसलिए विष्णुदूत उसके पक्ष से बोले।

अजामिल ने अपने पुत्र का नाम नारायण रखा था और चूँकि वह अपने पुत्र को अत्यधिक चाहता था, अत: वह उसे बारम्बार पुकारता था। यद्यपि वह अपने पुत्र को बुलाता था, किन्तु यह नाम स्वयं पर्याप्त शक्तिशाली था, क्योंकि नारायण नाम परम भगवान् नारायण से भिन्न नहीं है। अजामिल ने जब अपने पुत्र का नाम नारायण रखा तभी उसके पापी जीवन के सारे फल निरस्त हो गये थे और चूँकि वह अपने पुत्र को पुकारता रहता था जिससे वह नारायण के नाम का हजारों बार उच्चारण करता था, अत: अनजाने में वह कृष्णभावनामृत में प्रगति कर रहा था।

कोई यह तर्क कर सकता है, ''चूँकि वह निरन्तर नारायण नाम का उच्चारण कर रहा था, तो फिर उसके लिए एक वेश्या की संगति करना तथा शराब के विषय में सोचना कैसे सम्भव हुआ?'' अपने पापकर्मों के द्वारा वह बारम्बार अपने ऊपर कष्ट लादता जा रहा था, इसलिए यह कहा जा सकता है कि उसके मुक्त होने का कारण था उसके द्वारा नारायण का उच्चारण। किन्तु तब उसका उच्चारण करना *नाम अपराध* हुआ होता। *नामो बलाद् यस्य हि पापबुद्धि:*—जो व्यक्ति पापकर्म करता रहता है और भगवान् के पवित्र नाम का उच्चारण करके अपने पापों को निरस्त करना चाहता है, वह *नामापराधी* है। इसके प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि अजामिल द्वारा नाम लिया जाना निरपराध था, क्योंकि वह अपने पापों के निवारणार्थ नारायण नाम का उच्चारण नहीं करता था। वह यह नहीं जानता था कि वह पापकर्मों में लिप्त है, न ही वह यह जानता था कि नारायण का नाम लेने से वह पापों को निरस्त कर रहा है। इस तरह उसने नाम अपराध नहीं किया और अपने पुत्र को बुलाते समय उसके द्वारा नारायण नाम का बारम्बार लिया जाना शुद्ध कीर्तन (उच्चारण) ही कहा जा सकता है। इस शुद्ध उच्चारण के कारण अजामिल भक्ति के फलों

को अनजाने संचित करता रहा। दरअसल, उसके जीवन के सारे पापफलों को निरस्त करने के लिए उसके द्वारा पवित्र नाम का पहला उच्चारण ही पर्याप्त होता। यहाँ पर एक नीतिशास्त्र का उदाहरण उद्धृत किया जा सकता है। अंजीर के वृक्ष में तुरन्त फल नहीं लगते, किन्तु समय आने पर फल प्राप्त होते हैं। इसी तरह अजामिल की भक्ति रंच रंच करके बढ़ी, अत: अत्यन्त पापकर्म करने पर भी वे फल उसे प्रभावित नहीं कर सके। शास्त्रों में कहा गया है कि यदि कोई भगवान् के नाम का एक बार भी उच्चारण करता है, तो उसे भूत, वर्तमान या भावी पापमय जीवन के फल प्रभावित नहीं करते। एक अन्य उदाहरण दिया जा सकता है। यदि कोई सर्प के विषदन्त निकाल ले तो भविष्य में यह साँप जिसे शिकार बनायेगा उसे विष नहीं व्यापेगा, भले ही यह सर्प उसे बारंबार क्यों न काटे। इसी तरह यदि कोई भक्त निरपराध होकर एक बार भी पवित्रनाम का उच्चारण करता है, तो उससे उसकी शाश्वत रक्षा होती है। उसे उच्चारण करने के फल के यथासमय परिपक्व होने की केवल प्रतीक्षा करनी होती है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के षष्ठ स्कन्ध के अन्तर्गत ''विष्णुदूतों द्वारा अजामिल का उद्धार'' नामक द्वितीय अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य समाप्त हुए।

Chapter तीन

यमराज द्वारा अपने दूतों को आदेश

जैसाकि इस अध्याय में बतलाया गया है, यमदूत यमराज के पास पहुँचे तो यमराज ने विस्तार से भागवत धर्म अर्थात् भक्ति के धार्मिक नियमों की व्याख्या की। इस तरह यमराज ने उन यमदूतों को संतुष्ट किया जो अत्यधिक निराश हो गए थे। यमराज ने कहा, ''यद्यपि अजामिल अपने पुत्र को पुकार रहा था, किन्तु उसने भगवान् नारायण के नाम का उच्चारण किया और नामोच्चारण की झलक मात्र से उसे विष्णुदूतों की तुरन्त ही संगति मिल गई जिन्होंने उसे तुम्हारे द्वारा बन्दी बनाये जाने के प्रयास से बचा लिया। यह बिल्कुल ठीक है। यह तथ्य है कि दृढ़ पापी व्यक्ति भी यदि

भगवन्नाम का उच्चारण करता है, तो वह भले ही पूरी तरह अपराध से रहित न हो, दूसरा भौतिक जन्म नहीं लेता।''

भगवान् का नामोच्चार करने से अजामिल को विष्णु के चार दूत मिले। वे अति सुन्दर थे और तुरन्त ही उसे बचाने आये थे। अब यमराज उनका वर्णन करते हैं, ''ये सभी विष्णुदूत उन भगवान् के शुद्ध भक्त होते हैं, जो इस विराट जगत के सृजन, पालन तथा संहार से सम्बन्धित परम पुरुष हैं। उन परमेश्वर के कार्यकलापों को जो आत्मनिर्भर हैं और भौतिक इन्द्रियों की पहुँच के बाहर हैं न तो राजा इन्द्र, वरुण, शिव, ब्रह्मा, सप्तर्षि न ही मैं समझ सकता हूँ। भौतिक इन्द्रियों के द्वारा उनके विषय में किसी को ज्ञान नहीं मिल सकता। मायापति भगवान् में हर एक सौभाग्य के दिव्य गुण पाये जाते हैं और उस दृष्टि से उनके भक्त भी योग्य होते हैं। जो भक्त पतितात्माओं को इस जगत से बचाने के विषय में ही चिन्तित रहते हैं, वे बद्धात्माओं को बचाने के लिए विभिन्न स्थानों में जन्म लेते हैं। यदि कोई आध्यात्मिक जीवन में किंचित् रुचि रखता है, तो भगवद्‌भक्त कई तरह से उसकी रक्षा करते हैं।''

यमराज ने आगे कहा, ''सनातन धर्म का सार अतीव गुह्य है। भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई इस गुह्य धर्म प्रणाली को मानव-समाज को नहीं दे सकता। यह तो भगवान् की कृपा है कि उनके शुद्ध भक्त दिव्य धर्म-प्रणाली को समझ सकते हैं। इन भक्तों में विशेषतया बारह *महाजन* हैं—ब्रह्मा, नारद मुनि, शिव, चारों कुमार, कपिल, मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्म, बलि, शुकदेव गोस्वामी तथा मैं। जैमिनि के नेतृत्व अन्य विद्वान पंडित इत्यादि प्राय: माया द्वारा प्रच्छन्न रहते हैं इसलिए वे त्रयी कहे जाने वाले तीनों वेदों—ऋग, यजुर् तथा साम की अलंकारमयी भाषा के प्रति न्यूनाधिक आकृष्ट होते हैं। इन तीनों वेदों के अलंकारमय शब्दों द्वारा मोहित लोग शुद्ध भक्त बनने के बजाय वैदिक कर्मकाण्डों में रुचि दिखलाते हैं। वे भगवन्नाम-कीर्तन की महिमा को नहीं समझ सकते। किन्तु बुद्धिमान लोग भगवान् की भक्ति ग्रहण करते हैं। जब वे निरपराध भगवन्नाम का कीर्तन करते हैं, तो वे मेरे आदेशों के अधीन नहीं रहते। यदि संयोगवश वे कोई पापकर्म करते भी हैं, तो

वे भगवन्नाम के द्वारा रक्षित होते हैं, क्योंकि इसी में उनका स्वार्थ है। भगवान् के चारों अस्त्र, विशेषतया गदा तथा सुदर्शन चक्र, भक्तों की सदा रक्षा करते हैं। जो छल-कपट से रहित होकर भगवन्नाम का कीर्तन , श्रवण या स्मरण करता है, या जो भगवान् की स्तुति करता है, या उन्हें नमस्कार करता है, वह सिद्ध बन जाता है, जबकि भक्तिविहीन विद्वान व्यक्ति भी नरक में बुलाया जा सकता है।''

जब यमराज भगवान् तथा उनके भक्तों की महिमा का इस प्रकार वर्णन कर चुके तो शुकदेव गोस्वामी ने नाम-जप की शक्ति तथा प्रायश्चित्त के लिए वैदिक कर्मकाण्ड एवं पुण्यकर्म करने की व्यर्थता के विषय में आगे व्याख्या की।

श्रीराजोवाच

निशम्य देवः स्वभटोपवर्णितं
प्रत्याह किं तानपि धर्मराजः ।
एवं हताज्ञो विहतान्मुरारे-
र्नैदेशिकैर्यस्य वशे जनोऽयम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; निशम्य—सुनकर; देवः—यमराज; स्व-भट—अपने सेवकों का; उपवर्णितम्—कथन; प्रत्याह—उत्तर दिया; किम्—क्या; तान्—उनको; अपि—भी; धर्म-राजः—यमराज, जो मृत्यु के अधीक्षक तथा धार्मिक एवं अधार्मिक कार्यों के निर्णायक हैं; एवम्—इस प्रकार; हत-आज्ञः—जिनका आदेश व्यर्थ हो चुका था; विहतान्—जो पराजित किये गये थे; मुरारेः नैदेशिकैः—मुरारी अर्थात् कृष्ण के दूतों द्वारा; यस्य—जिसके; वशे—अधीन; जनः अयम्—संसार के सारे लोग।

राजा परीक्षित ने कहा : हे प्रभु, हे शुकदेव गोस्वामी! यमराज सारे जीवों के धार्मिक तथा अधार्मिक कार्यों के नियंत्रक हैं, लेकिन उनका आदेश व्यर्थ कर दिया गया है। जब उनके सेवकों अर्थात् यमदूतों ने उनसे विष्णुदूतों द्वारा अपनी पराजय की जानकारी दी जिन्होंने उन्हें अजामिल को बन्दी बनाने से रोका था, तो यमराज ने क्या उत्तर दिया?

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि यद्यपि यमदूतों के कथन वैदिक सिद्धान्तों के द्वारा पूर्णतया अनुमोदित थे, किन्तु विष्णुदूतों के कथन विजयी रहे। इसकी पुष्टि स्वयं

यमराज ने की।

यमस्य देवस्य न दण्डभङ्गः
कुतश्चनर्षे श्रुतपूर्व आसीत् ।
एतन्मुने वृश्चति लोकसंशयं
न हि त्वदन्य इति मे विनिश्चितम् ॥ २॥

शब्दार्थ

यमस्य—यमराज का; देवस्य—न्याय के अधिकारी देवता; न—नहीं; दण्ड-भङ्गः—आदेश का तोड़ा जाना; कुतश्चन—कहीं से भी; ऋषे—हे ऋषि; श्रुत-पूर्वः—पहले सुना हुआ; आसीत्—था; एतत्—यह; मुने—हे मुनि; वृश्चति—नष्ट कर सकता है; लोक-संशयम्—लोगों का सन्देह; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; त्वत्-अन्यः—आपके अतिरिक्त; इति—इस प्रकार; मे—मेरे द्वारा; विनिश्चितम्—निष्कर्ष को प्राप्त।

हे महर्षि! इसके पूर्व यह कहीं भी सुनाई नहीं पड़ा कि यमराज के आदेश का उल्लंघन हुआ हो। इसलिए मैं सोचता हूँ कि लोगों को इस पर सन्देह होगा जिसका उन्मूलन अन्य कोई नहीं, अपितु आप ही कर सकते हैं। चूँकि ऐसी मेरी दृढ़ धारणा है, इसलिए कृपा करके इन घटनाओं के कारणों की व्याख्या करें।

श्रीशुक उवाच
भगवत्पुरुषै राजन्याम्याः प्रतिहतोद्यमाः ।
पतिं विज्ञापयामासुर्यमं संयमनीपतिम् ॥ ३॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; भगवत्-पुरुषैः—भगवान् के आज्ञापालकों या विष्णुदूतों द्वारा; राजन्—हे राजन्; याम्याः—यमराज के दूत; प्रतिहत-उद्यमाः—जिनके प्रयास व्यर्थ हुए; पतिम्—अपने स्वामी; विज्ञापयाम् आसुः—सूचित किया; यमम्—यमराज को; संयमनी-पतिम्—संयमनी पुरी के स्वामी।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया: हे राजन्! जब यमराज के दूत विष्णुदूतों द्वारा चकरा दिये गये और पराजित कर दिये गये तो वे अपने स्वामी संयमनीपुरी के नियंत्रक तथा पापी पुरुषों के स्वामी यमराज के पास इस घटना को बताने पहुँचे।

यमदूता ऊचुः
कति सन्तीह शास्तारो जीवलोकस्य वै प्रभो ।

त्रैविध्यं कुर्वतः कर्म फलाभिव्यक्तिहेतवः ॥ ४॥

शब्दार्थ

यमदूताः ऊचुः—यमराज के दूतों ने कहा; कति—कितने; सन्ति—हैं; इह—इस जगत में; शास्तारः—नियंत्रक या शासक; जीव-लोकस्य—इस भौतिक जगत के; वै—निस्सन्देह; प्रभो—हे स्वामी; त्रै-विध्यम्—प्रकृति के तीन गुणों के अधीन; कुर्वतः—करते हुए; कर्म—कर्म; फल—फलों की; अभिव्यक्ति—अभिव्यक्ति के; हेतवः—कारण।

यमदूतों ने कहा : हे प्रभु! इस भौतिक जगत में कितने नियंत्रक या शासक हैं? प्रकृति के तीन गुणों (सतो, रजो तथा तमो गुणों) के अधीन सम्पन्न कर्मों के विविध फलों को प्रकट करने के लिए कितने कारण उत्तरदायी हैं?

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि वे यमदूत इतने निराश थे कि उन्होंने प्रायः क्रुद्ध होकर अपने स्वामी से पूछा कि क्या उनके अतिरिक्त और भी कई स्वामी हैं? यही नहीं, चूँकि यमदूत पराजित किये जा चुके थे और उनका स्वामी उनकी रक्षा नहीं कर सका था, अतः वे यह कहना चाह रहे थे कि उन्हें ऐसे स्वामी की सेवा करने की आवश्यकता नहीं है। यदि कोई सेवक बिना पराजित हुए अपने स्वामी के आदेशों को पूरा नहीं कर सकता तो ऐसे शक्तिहीन स्वामी की सेवा करने से क्या लाभ?

यदि स्युर्बहवो लोके शास्तारो दण्डधारिणः ।
कस्य स्यातां न वा कस्य मृत्युश्चामृतमेव वा ॥ ५॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; स्युः—हैं; बहवः—अनेक; लोके—इस जगत में; शास्तारः—शासक या नियंत्रक; दण्ड-धारिणः—पापी लोगों को दण्ड देने वाले; कस्य—किसका; स्याताम्—हो सकता है; न—नहीं; वा—अथवा; कस्य—किसका; मृत्युः—कष्ट या दुख; च—तथा; अमृतम्—सुख; एव—निश्चय ही; वा—अथवा।

यदि इस ब्रह्माण्ड में अनेक शासक तथा न्यायकर्ता हैं, जो दण्ड तथा पुरस्कार के विषय में मतभेद रखते हों, तो उनके विरोधी कार्य एक दूसरे को प्रभावहीन कर देंगे और न तो कोई दण्डित होगा न पुरस्कृत होगा। अन्यथा, यदि उनके विरोधी कार्य एक दूसरे को प्रभावहीन नहीं कर पाते तो हर एक को दण्ड तथा पुरस्कार दोनों ही देने होंगे।

तात्पर्य : चूँकि यमदूत यमराज के आदेश को पूरा करने में असफल रहे थे, अतः उन्होंने

संदेह व्यक्त किया कि यमराज में पापी को दण्ड देने की शक्ति है भी कि नहीं? यद्यपि वे यमराज के आदेशानुसार अजामिल को बन्दी बनाने गये थे, किन्तु उन्होंने किसी उच्चतर अधिकारी के आदेश के कारण अपने आपको असफल पाया। इसलिए वे इस बारे में अनिश्चित थे कि अधिकारी अनेक हैं या केवल एक। यदि कई अधिकारी हों जो विभिन्न निर्णय दें जो परस्पर विरोधी हों तो कोई व्यक्ति या तो गलत दण्ड या पुरस्कार पा सकता है या फिर वह न तो दण्डित होगा न पुरस्कृत। भौतिक जगत में हमारे अनुभव के अनुसार एक न्यायालय द्वारा दण्डित व्यक्ति दूसरे न्यायालय में याचिका दे सकता है। इस तरह वही व्यक्ति विभिन्न निर्णयों के अनुसार दण्डित या पुरस्कृत किया जा सकता हैं। किन्तु प्रकृति के कानून में या पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के न्यायालय में ऐसे परस्पर विरोधी निर्णय नहीं हो सकते। न्यायकर्ताओं तथा उनके निर्णयों को पूर्ण तथा विरोधों से मुक्त होना चाहिए। वस्तुत: अजामिल के मामले में यमराज की स्थिति अतीव विषम थी, क्योंकि अजामिल को बन्दी बनाने में यमदूत सही थे, किन्तु विष्णुदूतों ने उन्हें निष्फल कर दिया था। यद्यपि इन परिस्थितियों में यमराज पर विष्णुदूत तथा यमदूत दोनों ही दोषारोपण कर रहे थे, किन्तु न्याय करने में वे पूर्ण हैं, क्योंकि उन्हें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से शक्ति प्राप्त है। अतएव वे बतायेंगे कि उनकी सही स्थिति क्या है और हर व्यक्ति किस तरह परम नियन्ता पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा नियंत्रित किया जाता है।

किन्तु शास्तृबहुत्वे स्याद्बहूनामिह कर्मिणाम् ।
शास्तृत्वमुपचारो हि यथा मण्डलवर्तिनाम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

किन्तु—लेकिन; शास्तृ—राज्यपालकों या निर्णायकों का; बहुत्वे—विविधता में; स्यात्—हो सकता है; बहूनाम्—अनेकों का; इह—इस जगत में; कर्मिणाम्—कर्म करने वाले पुरुषों का; शास्तृत्वम्—विभागीय व्यवस्था; उपचार:—प्रशासन; हि—निस्सन्देह; यथा—जिस तरह; मण्डल-वर्तिनाम्—विभागीय अध्यक्षों का।.

यमदूतों ने आगे कहा : चूँकि कर्मी अनेक हैं, अतएव उनके न्याय करने वाले निर्णायक या शासक भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, किन्तु जिस तरह एक केन्द्रीय सम्राट विभिन्न विभागीय

शासकों को नियंत्रित करता है, उसी तरह सारे निर्णायकों के मार्गदर्शन हेतु एक परम नियन्ता होना चाहिए।

तात्पर्य : सरकारी व्यवस्था में विभिन्न लोगों को न्याय दिलाने के लिए विभागीय अधिकारी हो सकते हैं, किन्तु कानून तो एक होना चाहिए और उस केन्द्रीय नियम को चाहिए कि हर एक को नियंत्रित करे। यमदूत इसकी कल्पना नहीं कर सके कि दो निर्णायक एक ही मामले में दो भिन्न-भिन्न निर्णय दे सकते होंगे; इसलिए वे जानना चाहते थे कि केन्द्रीय निर्णायक कौन है? यमदूतों को विश्वास था कि अजामिल सबसे बड़ा पापी व्यक्ति है और यमराज उसे दण्ड देना चाहते थे, विष्णुदूतों ने उसे क्षमा कर दिया। यही उलझन थी जिसे यमदूत यमराज से स्पष्ट करा लेना चाहते थे।

अतस्त्वमेको भूतानां सेश्वराणामधीश्वरः ।
शास्ता दण्डधरो नृणां शुभाशुभविवेचनः ॥ ७॥

शब्दार्थ

अतः—अतः; त्वम्—तुम; एकः—एक; भूतानाम्—सारे जीवों के; स-ईश्वराणाम्—सारे देवताओं सहित; अधीश्वरः—परम स्वामी; शास्ता—परम शासक; दण्ड-धरः—दण्ड का परम प्रशासक; नृणाम्—मानव समाज का; शुभ-अशुभ-विवेचनः—जो शुभ तथा अशुभ में भेदभाव करता है।.

परम निर्णायक तो एक होना चाहिए, अनेक नहीं। हम तो यही समझते थे कि आप परम निर्णायक हैं और आपका देवताओं पर भी अधिकार है। हमारी यह धारणा थी कि आप सारे जीवों के स्वामी हैं, जो सारे मनुष्यों के शुभ तथा अशुभ कर्मों में भेदभाव करते हैं।

तस्य ते विहितो दण्डो न लोके वर्ततेऽधुना ।
चतुर्भिरद्भुतैः सिद्धैराज्ञा ते विप्रलम्भिता ॥ ८॥

शब्दार्थ

तस्य—प्रभाव का; ते—आपको; विहितः—नियत; दण्डः—दण्ड; न—नहीं; लोके—इस जगत में; वर्तते—विद्यमान है; अधुना—अब; चतुर्भिः—चार; अद्भुतैः—अतीव अद्भुत; सिद्धैः—सिद्ध पुरुषों द्वारा; आज्ञा—आदेश; ते—तुम्हारा; विप्रलम्भिता—उल्लंघन किया हुआ।.

किन्तु अब हम देखते हैं कि आपके अधिकार के अन्तर्गत नियत किया हुआ दण्ड

प्रभावी नहीं है, क्योंकि चार अद्भुत सिद्ध पुरुषों द्वारा आपके आदेश का उल्लंघन किया जा चुका है।

तात्पर्य : यमदूतों की धारणा थी कि यमराज ही न्याय करने वाले एकमात्र अधिकारी हैं। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि उनके निर्णयों का कोई प्रतिवाद नहीं कर सकता था, किन्तु अब उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि यमराज के आदेश का उल्लंघन सिद्धलोक के चार अद्भुत व्यक्तियों द्वारा हो चुका है।

नीयमानं तवादेशादस्माभिर्यातनागृहान् ।
व्यामोचयन्पातकिनं छित्त्वा पाशान्प्रसह्य ते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

नीयमानम्—लाया जा रहा; तव आदेशात्—आपके आदेश से; अस्माभि:—हमारे द्वारा; यातना-गृहान्—यातना के कक्षों या नरक लोकों को; व्यामोचयन्—छुड़ाते हुए; पातकिनम्—पापी अजामिल को; छित्त्वा—काटकर; पाशान्—रस्सियों को; प्रसह्य—बलपूर्वक; ते—वे।

हम आपके आदेशानुसार महान् पापी अजामिल को नरक की ओर ला रहे थे, तभी सिद्धलोक के उन सुन्दर पुरुषों ने बलपूर्वक उन रस्सियों की गाँठों को काट दिया जिनसे हम उसे बन्दी बनाये हुए थे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टिप्पणी है कि यमदूत विष्णुदूतों को यमराज के समक्ष लाना चाहते थे। यदि यमराज उन विष्णुदूतों को दण्ड द सकते तो यमदूतों को सन्तोष हुआ होता।

तांस्ते वेदितुमिच्छामो यदि नो मन्यसे क्षमम् ।
नारायणेत्यभिहिते मा भैरित्याययुर्द्रुतम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तान्—उनके विषय में; ते—आप से; वेदितुम्—जानने के लिए; इच्छाम:—हम चाहते हैं; यदि—यदि; न:—हमारे लिए; मन्यसे—आप सोचते हैं; क्षमम्—उपयुक्त; नारायण—नारायण; इति—इस प्रकार; अभिहिते—उच्चारण किया गया; मा—नहीं; भै:—डरो; इति—इस प्रकार; आययु:—वे आये; द्रुतम्—बहुत शीघ्र।

ज्योंही पापी अजामिल ने नारायण नाम का उच्चारण किया, ये चारों सुन्दर व्यक्ति तुरन्त

वहाँ आ गये और यह कहकर उसे पुनः आश्वस्त किया, ''डरो मत। मत डरो।'' हम आपसे उनके विषय में जानना चाहते हैं। यदि आप यह सोचते हैं कि हम उनके विषय में जान सकते हैं, तो कृपा करके बताइये कि वे कौन हैं।

तात्पर्य : यमराज के दूत चारों विष्णुदूतों से पराजित होने से अत्यधिक खिन्न थे और वे उन्हें यमराज के समक्ष लाना चाहते थे तथा यदि सम्भव हो तो उन्हें दण्ड देना चाहते थे। अन्यथा वे आत्महत्या करना चाह रहे थे। किन्तु इनमें से कोई रास्ता अपनाने के पूर्व वे यमराज से विष्णुदूतों के विषय में जान लेना चाहते थे, क्योंकि वे भी सर्वज्ञ हैं।

श्रीबादरायणिरुवाच
इति देवः स आपृष्टः प्रजासंयमनो यमः ।
प्रीतः स्वदूतान्प्रत्याह स्मरन्पादाम्बुजं हरेः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; देवः—देवता; सः—वह; आपृष्टः—पूछे जाने पर; प्रजा-संयमनः यमः—यमराज, जो जीवों पर नियंत्रण रखते हैं; प्रीतः—प्रसन्न होकर; स्व-दूतान्—अपने सेवकों को; प्रत्याह—उत्तर दिया; स्मरन्—स्मरण करते हुए; पाद-अम्बुजम्—चरणकमलों को; हरेः—भगवान् हरि के।.

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार पूछे जाने पर जीवों के परम नियन्ता यमराज अपने दूतों से नारायण का पवित्र नाम सुनकर उन पर परम प्रसन्न हुए। उन्होंने भगवान् के चरणकमलों का स्मरण किया और उत्तर देना शुरू किया।

तात्पर्य : जीवों के शुभ तथा अशुभ कर्मों के परम नियन्ता श्रील यमराज अपने सेवकों पर अत्यधिक प्रसन्न हुए, क्योंकि उन्होंने उनके राज्य में नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण किया था। यमराज को ऐसे लोगों से पाला पड़ता है, जो निरे पापी होते हैं और नारायण को नहीं समझ पाते हैं। फलस्वरूप जब दूतों ने नारायण का नाम लिया तो यमराज अत्यधिक प्रसन्न हुए, क्योंकि वे भी एक वैष्णव हैं।

यम उवाच

परो मदन्यो जगतस्तस्थुषश्च
ओतं प्रोतं पटवद्यत्र विश्वम् ।
यदंशतोऽस्य स्थितिजन्मनाशा
नस्योतवद्यस्य वशे च लोकः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यमः उवाच—यमराज ने उत्तर दिया; परः—श्रेष्ठ; मत्—मुझसे; अन्यः—दूसरा; जगतः—समस्त चर वस्तुओं का; तस्थुषः—अचर वस्तुओं का; च—तथा; ओतम्—चौड़ाई में, आर-पार; प्रोतम्—लम्बाई में; पटवत्—बुने हुए वस्त्र की भाँति; यत्र—जिसमें; विश्वम्—विराट जगत; यत्—जिसका; अंशतः—आंशिक विस्तार से; अस्य—इस ब्रह्माण्ड का; स्थिति—पालन; जन्म—सृजन; नाशाः—तथा संहार; नसि—नाक में; ओत-वत्—रस्सी की तरह; यस्य—जिसका; वशे—वश में; च—तथा; लोकः—सारी सृष्टि।

यमराज ने कहा : मेरे प्रिय सेवको! तुम लोगों ने मुझे सर्वोच्च स्वीकार किया है, किन्तु मैं वास्तव में हूँ नहीं। मेरे ऊपर तथा इन्द्र एवं चन्द्र समेत अन्य सारे देवताओं के ऊपर एक परम स्वामी तथा नियन्ता हैं। उनके आंशिक स्वरूप ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव हैं, जो ब्रह्माण्ड के सृष्टि पालन एवं संहार के भार को संभालते हैं। वे उन दो धागों के तुल्य हैं, जो बुने हुए वस्त्र की लम्बाई तथा चौड़ाई या ताने-बाने का निर्माण करते हैं। सम्पूर्ण जगत उनके द्वारा उसी तरह नियंत्रित होता है, जिस तरह एक बैल अपने नाक की रस्सी द्वारा नियंत्रित होता है।

तात्पर्य : यमराज के दूतों को सन्देह हुआ कि यमराज के भी ऊपर कोई शासक है। इसलिए उनका सन्देह मिटाने के लिए यमराज ने तुरन्त उत्तर दिया, "हाँ, सबों के ऊपर एक परम नियन्ता है।" यमराज कुछ चर जीवों के, यथा मनुष्यों का कार्यभार देखते हैं, किन्तु पशु जो कि चर हैं, उनके नियंत्रण में नहीं हैं। केवल मनुष्य को सही तथा गलत का भान है और इनमें से केवल वे ही मनुष्य, जो पापकर्म करते हैं, यमराज के अधीन होते हैं, इसलिए यद्यपि यमराज नियंत्रक हैं, किन्तु वे कुछ ही जीवों के विभागीय नियंत्रक हैं। अन्य देवता भी हैं, जो अन्य कई विभागों को सँभालते हैं, किन्तु इन सबों के ऊपर एक परम नियन्ता कृष्ण हैं। *ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः*—परम नियन्ता तो कृष्ण हैं। अन्य, जो ब्रह्माण्ड के मामलों के अपने-अपने विभाग सँभालते हैं, परम नियन्ता कृष्ण के आगे नगण्य हैं। *भगवद्गीता* (७.७) में कृष्ण कहते हैं—*मत्तः परतरं नान्यत्*

किञ्चिदस्ति धनञ्जय—हे धनंजय (अर्जुन)! कोई भी मुझसे श्रेष्ठ नहीं। अतएव यमराज ने तुरन्त ही अपने सहायक यमदूतों के सन्देह को इसकी पुष्टि करते हुए दूर कर दिया कि अन्य सबों के ऊपर एक परम नियन्ता है।

श्रील मध्वाचार्य व्याख्या करते हैं कि *ओतं प्रोतम्* शब्द समस्त कारणों के कारण का द्योतक है। परमेश्वर विराट जगत के लिए ताना तथा बाना दोनों ही हैं। *स्कन्द पुराण* के निम्नलिखित श्लोक से इसकी पुष्टि होती है

यथा कन्थापटा: सूत्र ओता: प्रोताश्च स स्थिता:।

एवं विष्णाविदं विश्वम् ओतं प्रोतं च संस्थितम्॥

रजाई के खड़े तथा पड़े दो धागों (ताना-बाना) के समान भगवान् विष्णु इस विराट जगत में ताने-बाने के रूप में स्थित हैं।

यो नामभिर्वाचि जनं निजायां
बध्नाति तन्त्र्यामिव दामभिर्गा: ।
यस्मै बलिं त इमे नामकर्म-
निबन्धबद्धाश्चकिता वहन्ति ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

य:—जो; नामभि:—विभिन्न नामों से; वाचि—वैदिक भाषा में; जनम्—सारे लोगों को; निजायाम्—जो स्वयं उनसे उद्भूत है; बध्नाति—बाँधता है; तन्त्र्याम्—रस्सी को; इव—सदृश; दामभि:—रस्सी से; गा:—बैल; यस्मै—जिसको; बलिम्—कर की छोटी सी भेंट; ते—वे सभी; इमे—इन; नाम-कर्म—नामों तथा विभिन्न कार्यों का; निबन्ध—कृतज्ञता से; बद्धा:—बँधा हुआ; चकिता:—भयभीत; वहन्ति—ढोते हैं।.

जिस तरह बैलगाड़ी का चालक अपने बैलों को वश में करने के लिए उनके नथुनों से निकालकर रस्सियाँ (नाथ) बाँध देता है उसी तरह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सारे व्यक्तियों को वेदों में कहे अपने वचनों रूपी रस्सियों (नाथ) के द्वारा बाँधते हैं, जो मानव समाज के विभिन्न वर्णों के नामों तथा कार्यों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) को निर्धारित करते हैं। इन वर्णों के लोग भयवश परम भगवान् की पूजा अपने-अपने कर्मों के अनुसार भेंटें अर्पित

करते हुए करते हैं।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में हर प्राणी, चाहे वह जो कुछ हो, बद्ध है। चाहे वह मनुष्य हो, देवता हो पशु, वृक्ष या पौधा हो, हर वस्तु प्रकृति के नियमों द्वारा नियंत्रित होता है और इस प्राकृतिक नियंत्रण के पीछे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् रहते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* द्वारा (९.१०) होती है, जिसमें कृष्ण कहते हैं *मयाध्यक्षेण प्रकृति: सूयते सचराचरम्*—भौतिक प्रकृति मेरे निर्देशन के अनुसार कार्य कर रही है और समस्त चर तथा अचर प्राणियों को उत्पन्न करती है। इस तरह कृष्ण उस प्राकृतिक यंत्र के पीछे रहते हैं, जो उनके नियंत्रण में कार्य करता है।

अन्य जीवों से पृथक्, मनुष्य शरीर के रूप में जो जीव है, वह वर्ण तथा आश्रम विभागों के रूप में वैदिक आदेशों द्वारा सुसम्बद्ध रूप से नियंत्रित होता है। मनुष्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह वर्ण तथा आश्रम के विधि-विधानों का पालन करेगा अन्यथा वह यमराज के दण्ड से बच कर नहीं निकल सकता। बात यह है कि हर मनुष्य से यही आशा की जाती है कि वह परम बुद्धिमान व्यक्ति, ब्राह्मण के पद तक स्वयं को ऊपर उठाये और तब उस पद के आगे निकल करके वैष्णव बने। यही जीवन सिद्धि है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र अपने अपने कर्मों के अनुसार भगवान् की पूजा द्वारा अपने को ऊपर उठा सकते हैं। (*स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर:*)। वर्ण तथा आश्रम का विभाजन हर एक के द्वारा कार्यों की सही-सही निष्पादन तथा शान्तिपूर्ण अस्तित्त्व को सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक है। किन्तु हर एक को निर्देश दिया जाता है कि वह सर्वव्यापी परमेश्वर की पूजा करे (*येन सर्वम् इदं ततम्*)। परमेश्वर ताने-बाने में (*ओतं प्रोतम्*) स्थित हैं, अतएव यदि कोई अपनी शक्ति के अनुसार परमेश्वर की पूजा करते हुए वैदिक आदेशों का पालन करता है, तो उसका जीवन परिपूर्ण होगा। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.२.१३) में कहा गया है—

अत: पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागश:।

स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्॥

"हे द्विजश्रेष्ठ! अतएव यह निष्कर्ष निकला कि मनुष्य जाति-भेद तथा आश्रम के अनुसार नियत कर्तव्यों (*धर्म*) को सम्पन्न करके जिस सर्वोच्च सिद्धि जो कि भगवान् हरि को प्रसन्न करना है, प्राप्त कर सकता है।" *वर्णाश्रम* संस्थान मनुष्य को भगवद्धाम वापस जाने का पात्र बनाने के लिए पूर्ण विधि उपलब्ध करता है, क्योंकि प्रत्येक वर्ण तथा आश्रम का उद्देश्य भगवान् को प्रसन्न करना है। मनुष्य प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में परम भगवान् को प्रसन्न कर सकता है और यदि वह ऐसा करता है, तो उसका जीवन पूर्ण है। परम भगवान् पूजनीय हैं और हर व्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से उनकी पूजा करता है। जो लोग उनकी प्रत्यक्ष पूजा करते हैं उन्हें मुक्ति-लाभ जल्दी हो जाता है, जबकि अप्रत्यक्ष रीति से सेवा करने वाले की मुक्ति विलम्बित होती है।

नामभिर्वाचि शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। वर्णाश्रम संस्थान में विभिन्न नाम हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी। *वाक्* अथवा वैदिक आदेश इन सारे विभागों के लिए निर्देश देते हैं। हर व्यक्ति से अपेक्षा की जाती है कि वह परमेश्वर को नमस्कार करे और वेदों में जिस तरह दर्शाया गया है, अपने कर्तव्य पूरे करे।

अहं महेन्द्रो निरृतिः प्रचेताः
सोमोऽग्निरीशः पवनो विरिञ्चिः ।
आदित्यविश्वे वसवोऽथ साध्या
मरुद्गणा रुद्रगणाः ससिद्धाः ॥ १४॥
अन्ये च ये विश्वसृजोऽमरेशा
भृग्वादयोऽस्पृष्टरजस्तमस्काः ।
यस्येहितं न विदुः स्पृष्टमायाः
सत्त्वप्रधाना अपि किं ततोऽन्ये ॥ १५॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं, यमराज; महेन्द्रः—इन्द्र, स्वर्ग का राजा; निरृतिः—निर्ऋति; प्रचेताः—जल का नियन्ता, वरुण; सोमः—चन्द्रमा; अग्निः—अग्नि; ईशः—शिव; पवनः—पवनदेव; विरिञ्चिः—ब्रह्मा; आदित्य—सूर्य; विश्वे—विश्वासु; वसवः—आठों वसु; अथ—भी; साध्याः—देवतागण; मरुत्-गणाः—वायु के स्वामी; रुद्र-गणाः—शिव के अंश; स-सिद्धाः—सिद्ध लोक के निवासियों सहित; अन्ये—अन्य; च—तथा; ये—जो; विश्व-सृजः—मरीचि तथा विश्व मामलों के अन्य स्रष्टा; अमर-ईशाः—बृहस्पति जैसे देवता; भृगु-आदयः—भृगु इत्यादि ऋषिगण; अस्पृष्ट—अकलुषित; रजः-तमस्काः—

प्रकृति के निम्नतर गुणों (रजोगुण तथा तमोगुण) द्वारा; यस्य—जिसका; ईहितम्—कार्य; न विदुः—नहीं जानते; स्पृष्ट-मायाः—माया द्वारा मोहित; सत्त्व-प्रधानाः—मुख्यरूप से सतोगुणी; अपि—यद्यपि; किम्—क्या कहा जाये; ततः—उनकी अपेक्षा; अन्ये—अन्य।

मैं यमराज, स्वर्ग का राजा इन्द्र, निर्ऋति, वरुण, चन्द्र, अग्नि, शिव, पवन, ब्रह्मा, सूर्य, विश्वासु, आठों वरुण, साध्यगण, मरुतगण, सिद्धगण; तथा मरीचि एवं अन्य ऋषिगण जो ब्रह्माण्ड के विभागीय कार्यकर्ताओं को चलाने में लगे रहते हैं, बृहस्पति इत्यादि सर्वोत्तम देवतागण तथा भृगु आदि मुनिगण—ये सभी प्रकृति के दो निम्न गुणों—रजो तथा तमोगुण के प्रभाव से निश्चित रूप से मुक्त होते हैं। फिर भी, यद्यपि हम सतोगुणी हैं, तो भी हम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के कार्यों को नहीं समझ सकते। तो फिर दूसरों के विषय में क्या कहा जाये जो मोह के अधीन होने से ईश्वर को जानने के लिए केवल मानसिक ऊहापोह करते हों?

तात्पर्य : इस विराट जगत के अन्तर्गत मनुष्य तथा अन्य जीव प्रकृति के तीन गुणों द्वारा नियंत्रित होते हैं। ऐसे जीव जो प्रकृति के निम्न गुणों—रजो तथा तमो गुणों—द्वारा नियंत्रित होते हैं उनमें ईश्वर को समझ पाने की कोई सम्भावना नहीं है। यहाँ तक कि जो सतोगुणी हैं, यथा अनेक देवता तथा महान् ऋषिगण, जिनका वर्णन इन श्लोकों में हुआ है, वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के कार्यों को नहीं समझ सकते। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है, जो व्यक्ति भगवान् की भक्ति को प्राप्त है, वह सारे भौतिक गुणों से परे होता है। अतएव भगवान् स्वयं कहते हैं कि उन्हें केवल वे ही भक्त समझ सकते हैं, जो समस्त भौतिक गुणों से परे हैं (*भक्त्या मामभिजानाति*) उनके अतिरिक्त कोई नहीं समझ सकता। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.९.१६) में भीष्मदेव ने महाराज युधिष्ठिर से कहा है—

न ह्यस्य कर्हिचिद् राजन् पुमान् वेद विधित्सितम्।

यद्विजिज्ञासया युक्ता मुह्यन्ति कवयोऽपि हि॥

"हे राजन्! कोई भी व्यक्ति भगवान् (श्रीकृष्ण) की योजना को नहीं जान सकता। यद्यपि बड़े

बड़े दार्शनिक विशद् रूप से जिज्ञासा करते हैं, किन्तु वे भी मोहग्रस्त हो जाते हैं।'' अत: कोई भी व्यक्ति ईश्वर को शुष्क दार्शनिक ज्ञान द्वारा नहीं समझ सकता। निस्सन्देह मानसिक ऊहापोह से मनुष्य मोहग्रस्त हो जायेगा (*मुह्यन्ति*)। इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (७.३) में की है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वत: ॥

हजारों पुरुषों में से कोई एक सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है और सिद्धों में भी, जो पहले सिद्ध हो चुके हैं, उनमें से केवल वह जो भक्तियोग अपनाता है, कृष्ण को समझ सकता है।

यं वै न गोभिर्मनसासुभिर्वा
हृदा गिरा वासुभृतो विचक्षते ।
आत्मानमन्तर्हृदि सन्तमात्मनां
चक्षुर्यथैवाकृतयस्तत: परम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको; वै—निस्सन्देह; न—नहीं; गोभि:—इन्द्रियों द्वारा; मनसा—मन से; असुभि:—प्राण वायु द्वारा; वा—अथवा; हृदा—विचारों से; गिरा—शब्दों से; वा—अथवा; असु-भृत:—जीव; विचक्षते—देखते या जानते हैं; आत्मानम्—परमात्मा को; अन्त:-हृदि—हृदय के भीतर; सन्तम्—विद्यमान; आत्मनाम्—जीवों के; चक्षु:—नेत्र; यथा—जिस तरह; एव—निस्सन्देह; आकृतय:—शरीर के विभिन्न अंग; तत:—उनकी तुलना में; परम्—उच्चतर।

जिस तरह शरीर के विभिन्न अंग आँखों को नहीं देख सकते, उसी तरह सारे जीव परमेश्वर को नहीं देख सकते जो हर एक के हृदय में परमात्मा के रूप में स्थित रहते हैं। न तो इन्द्रियों से, न मन से, न प्राणवायु से, न हृदय के अन्दर के विचारों से, न ही शब्दों की ध्वनि से जीवात्माएँ परमेश्वर की असली स्थिति को निश्चित कर सकते हैं।

तात्पर्य : शरीर के विभिन्न अंगों में आँख को देख सकने की शक्ति नहीं होती, किन्तु आँखें शरीर के विभिन्न भागों की गतियों का निर्देशन करती हैं। पाँव इसलिए आगे बढ़ते हैं, क्योंकि आँखें देखती हैं कि उनके सामने क्या है और हाथ स्पर्श करता है, क्योंकि आँखें स्पर्श करने योग्य

वस्तुओं को देखती हैं। इसी तरह प्रत्येक जीवात्मा उन परमात्मा के निर्देशानुसार कार्य करता है, जो हृदय के भीतर स्थित हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* (१५.१५) में स्वयं भगवान् पुष्टि करते हैं—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—मैं हर एक के हृदय में आसीन हूँ और स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति के लिए निर्देशन करता हूँ। *भगवद्गीता* में अन्यत्र कहा गया है—*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*—परमात्मा के रूप में परमेश्वर हृदय के भीतर स्थित रहते हैं। जीव परमात्मा की स्वीकृति के बिना कुछ भी नहीं कर सकता। परमात्मा प्रत्येक क्षण कर्म करता है, किन्तु जीव अपनी इन्द्रियों के संचालन द्वारा परमात्मा के रूप तथा कार्यों को नहीं समझ सकता। आँखों तथा शारीरिक अंगों का उदाहरण अति उपयुक्त है। यदि अंग देख सकते तो वे आँखों की सहायता के बिना ही आगे चल सकते, किन्तु यह असम्भव है। यद्यपि मनुष्य परमात्मा को अपने हृदय में ऐन्द्रिय कार्यों द्वारा नहीं देख सकता, किन्तु परमात्मा का निर्देशन आवश्यक है।

तस्यात्मतन्त्रस्य हरेरधीशितुः
परस्य मायाधिपतेर्महात्मनः ।
प्रायेण दूता इह वै मनोहरा-
श्चरन्ति तद्रूपगुणस्वभावाः ॥ १७॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; आत्म-तन्त्रस्य—आत्मनिर्भर, किसी अन्य व्यक्ति पर आश्रित नहीं; हरेः—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का; अधीशितुः—प्रत्येक वस्तु का स्वामी; परस्य—ब्रह्मा का; माया-अधिपतेः—माया के स्वामी; महा-आत्मनः—सर्वश्रेष्ठ चेतन आत्मा; प्रायेण—प्रायः; दूताः—दूत; इह—इस जगत में; वै—निस्सन्देह; मनोहराः—बर्ताव तथा शारीरिक स्वरूप में सुहावना; चरन्ति—चलते फिरते हैं; तत्—उसका; रूप—शारीरिक रूप वाला; गुण—दिव्य गुण; स्वभावाः—तथा स्वभाव।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् आत्म-निर्भर तथा पूरी तरह स्वतंत्र हैं। वे माया समेत हर एक के स्वामी हैं। वे रूप, गुण तथा स्वभाव से युक्त हैं और इसी तरह उनके आदेशपालक, अर्थात् वैष्णव, जो अत्यन्त सुन्दर होते हैं, उन्हीं जैसे ही शारीरिक स्वरूप दिव्य गुण तथा दिव्य स्वभाव से युक्त होते हैं। वे इस जगत में पूर्ण स्वतंत्रता के साथ सदैव विचरण करते हैं।

तात्पर्य : यमराज परम नियन्ता पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का वर्णन कर रहे थे, किन्तु यमराज के

दूत विष्णुदूतों के विषय में जानने के लिए अत्यधिक उत्सुक थे, जिन्होंने अजामिल से सम्बन्धित मुठभेड़ में उन्हें हरा दिया था। इसलिए यमराज ने कहा कि विष्णुदूत अपने शारीरिक रूप, दिव्य गुणों तथा स्वभाव में भगवान् के सदृश हैं। दूसरे शब्दों में, विष्णुदूत या वैष्णव प्राय: परम भगवान् जितने ही योग्य होते हैं। यमराज ने यमदूतों को सूचित किया कि विष्णुदूत भगवान् विष्णु से कम शक्तिशाली नहीं हैं। चूँकि विष्णु यमराज से ऊपर हैं, इसलिए विष्णुदूत यमदूतों के ऊपर हैं। अत: विष्णुदूतों द्वारा रक्षित व्यक्तियों को यमदूत छू तक नहीं सकते।

भूतानि विष्णोः सुरपूजितानि
दुर्दर्शलिङ्गानि महाद्भुतानि ।
रक्षन्ति तद्भक्तिमतः परेभ्यो
मत्तश्च मर्त्यानथ सर्वतश्च ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

भूतानि—जीव या सेवक; विष्णोः—विष्णु के; सुर-पूजितानि—देवताओं द्वारा पूजित; दुर्दर्श-लिङ्गानि—सरलता से न दिखने वाले रूपों वाले; महा-अद्भुतानि—अत्यन्त अद्‌भुत; रक्षन्ति—वे रक्षा करते हैं; तत्-भक्ति-मतः—भगवान् के भक्त; परेभ्यः—अन्यों से, जो शत्रुता रखते हैं; मत्तः—मुझ (यमराज) से तथा मेरे दूतों से; च—तथा; मर्त्यान्—मनुष्यों को; अथ—इस प्रकार; सर्वतः—हर वस्तु से; च—तथा।

भगवान् विष्णु के दूत, जिनकी पूजा देवता भी किया करते हैं, विष्णु जैसे ही अद्‌भुत शारीरिक लक्षणों से युक्त होते हैं और विरले ही दिखाई देते हैं। ये विष्णुदूत भगवद्‌भक्तों की रक्षा उनके शत्रुओं, ईर्ष्यालु व्यक्तियों और मेरे अधिकार क्षेत्र के साथ ही साथ प्राकृतिक उत्पातों से भी करते हैं।

तात्पर्य : यमराज ने विष्णुदूतों के गुणों का विशेष रूप से वर्णन अपने सेवकों को आश्वस्त करने के लिए किया है, जिससे वे उनसे ईर्ष्या न करें। यमराज ने यमदूतों को आगाह किया कि विष्णुदूतों की देवताओं द्वारा आदरपूर्वक पूजा की जाती है और वे भगवद्‌भक्तों को शत्रुओं के हाथों से, प्राकृतिक उत्पातों से तथा इस जगत में सारी संकटपूर्ण स्थितियों से बचाने के प्रति सदैव सतर्क रहते हैं। कभी-कभी कृष्णभावनामृत-संघ के सदस्य विश्वयुद्ध के आसन्न संकट से भयभीत

रहते हैं और पूछते हैं कि यदि युद्ध हुआ तो उनका क्या होगा। उन्हें सभी प्रकार के संकट में विष्णुदूतों द्वारा या पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा अपनी सुरक्षा के प्रति आश्वस्त रहना चाहिए जैसा कि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है (*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति*)। भौतिक संकट भक्तों के लिए नहीं होता। इसकी भी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* द्वारा होती है। *पदं पदं यद् विपदां न तेषाम्*—इस जगत में पग पग पर संकट हैं, किन्तु वे उन भक्तों के लिए नहीं होते जिन्होंने भगवान् के चरणकमलों में पूरी तरह आत्मसमर्पण कर दिया है। भगवान् विष्णु के शुद्ध भक्तों को भगवान् के संरक्षण पर पूरी तरह आश्वस्त हो जाना चाहिए और जब तक वे इस भौतिक जगत में हैं, उन्हें चाहिए कि श्री चैतन्य महाप्रभु तथा कृष्ण के सम्प्रदाय अर्थात् कृष्णभावनामृत के हरे कृष्ण आन्दोलन का प्रचार करके पूरी तरह भक्ति में लगे रहें।

धर्मं तु साक्षाद्भगवत्प्रणीतं
न वै विदुर्ऋषयो नापि देवाः ।
न सिद्धमुख्या असुरा मनुष्याः
कुतो नु विद्याधरचारणादयः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

धर्मम्—असली धार्मिक सिद्धान्त या धर्म के प्रामाणिक नियम; तु—लेकिन; साक्षात्—प्रत्यक्षतः; भगवत्—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा; प्रणीतम्—निर्मित; न—नहीं; वै—निस्सन्देह; विदुः—वे जानते हैं; ऋषयः—भृगु जैसे महान् ऋषि; न—नहीं; अपि—भी; देवाः—देवता; न—नहीं; सिद्ध-मुख्याः—सिद्धलोक के मुख्य नेता; असुराः—असुरगण; मनुष्याः—भूर्लोक के निवासी; कुतः—कहाँ; नु—निस्सन्देह; विद्याधर—विद्याधर नामक कनिष्ठ देवता; चारण—उन लोकों के निवासी जहाँ के लोग स्वभाव से महान् संगीतकार होते हैं; आदयः—इत्यादि।

असली धार्मिक सिद्धान्तों का निर्माण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा किया जाता है। पूर्णतया सतोगुणी महान् ऋषि तक भी, जो सर्वोच्च लोकों में स्थान पाये हुए हैं, वे भी असली धार्मिक सिद्धान्तों को सुनिश्चित नहीं कर सकते, न ही देवतागण, न सिद्धलोक के नामक ही कर सकते हैं, तो असुरों, सामान्य मनुष्यों, विद्याधरों तथा चारणों की कौन कहे?

तात्पर्य : जब विष्णुदूतों ने यमदूतों को धर्म के सिद्धान्तों का वर्णन करने के लिए ललकारा तो उन्होंने बतलाया—*वेद प्रणिहितो धर्म:*—धार्मिक सिद्धान्त वैदिक वाङ्मय में निर्मित सिद्धान्त हैं।

किन्तु उन्हें यह ज्ञात न था कि वैदिक वाङ्मय में कर्मकाण्ड हैं, जो दिव्य नहीं है, अपितु भौतिक जगत में भौतिकतावादी व्यक्तियों के बीच शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने के निमित्त हैं। असली धार्मिक सिद्धान्त तो *निस्त्रैगुण्य* हैं अर्थात् तीनों गुणों से परे या अलौकिक हैं। यमदूत इन अलौकिक धार्मिक सिद्धान्तों को नहीं जानते थे, अत: जब उन्हें अजामिल को बन्दी बनाने से रोका गया तो उन्हें आश्चर्य हुआ। ऐसे भौतिकतावादी लोगों का जो अपनी सारी श्रद्धा वैदिक *कर्मकाण्ड* में रखते हैं, वर्णन *भगवद्गीता* (२.४२) में किया गया है, जिसमें कृष्ण कहते हैं—*वेदवादरता: पार्थ नान्यदस्तीति वादिन:*—वेदों के समर्थक तथाकथित अनुयायी कहते हैं कि वैदिक अनुष्ठानों से बढ़कर कुछ भी नहीं है। निस्सन्देह, भारतवर्ष में लोगों का एक समुदाय ऐसा है, जो वैदिक कर्मकाण्ड का अतीव प्रेमी है, किन्तु वह इन कर्मकाण्डों का अर्थ नहीं समझता जो मनुष्य को क्रमश: कृष्ण को जानने के दिव्य पद तक ऊपर उठाने के लिए हैं (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:*)। जो लोग इस सिद्धान्त को नहीं जानते, किन्तु वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति श्रद्धालु बने रहते हैं, वे *वेदवादरता:* कहलाते हैं।

यहाँ पर कहा गया है कि असली धार्मिक सिद्धान्त तो वह है, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा प्रदत्त होता है। इस सिद्धान्त का कथन *भगवद्गीता* में हुआ है। *सर्वधर्मान्यरित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—मनुष्य को अन्य सारे कर्तव्यों को छोड़ देना चाहिए और कृष्ण के चरणकमलों में शरण लेनी चाहिए। यही असली धार्मिक सिद्धान्त है, जिसका पालन हर एक को करना चाहिए। वैदिक शास्त्रों का पालन करने वाला भी, हो सकता है, इस अलौकिक सिद्धान्त से परिचित न हो, क्योंकि उच्चलोक के देवतागण तक इससे अवगत नहीं हैं। इस दिव्य धार्मिक सिद्धान्त को सीधे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से या उनके विशेष प्रतिनिधि से समझना होगा, जैसाकि अगले श्लोकों में बतलाया गया है।

स्वयम्भूर्नारद: शम्भु: कुमार: कपिलो मनु: ।

प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम् ॥ २० ॥

द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः ।
गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वामृतमश्नुते ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

स्वयम्भूः—ब्रह्मा; नारदः—महान् सन्त नारद; शम्भुः—शिवजी; कुमारः—चार कुमार; कपिलः—कपिल; मनुः—स्वायम्भुव मनु; प्रह्लादः—प्रह्लाद महाराज; जनकः—जनक महाराज; भीष्मः—भीष्म पितामह; बलिः—बलि महाराज; वैयासकिः—व्यासदेव के पुत्र शुकदेव; वयम्—हम; द्वादश—बारह; एते—ये; विजानीमः—जानते हैं; धर्मम्—असली धार्मिक सिद्धान्तों को; भागवतम्—जो यह शिक्षा देता है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से किस तरह प्रेम किया जाये; भटाः—हे सेवको; गुह्यम्—अत्यन्त गोपनीय; विशुद्धम्—अलौकिक, भौतिक गुणों से दूषित नहीं; दुर्बोधम्—आसानी से समझ में न आने वाला; यम्—जिसको; ज्ञात्वा—जानकर; अमृतम्—शाश्वत जीवन; अश्नुते—भोग करता है।

ब्रह्माजी, भगवान् नारद, शिवजी, चार कुमार, भगवान् कपिल (देवहूति के पुत्र), स्वायंभुव मनु, प्रह्लाद महाराज, जनक महाराज, भीष्म पितामह, बलि महाराज, शुकदेव गोस्वामी तथा मैं असली धर्म के सिद्धान्त को जानने वाले हैं। हे सेवको! यह अलौकिक धार्मिक सिद्धान्त, जो भागवत धर्म या परम भगवान् की शरणागति तथा भगवत्प्रेम कहलाता है, प्रकृति के तीनों गुणों से अकलुषित है। यह अत्यन्त गोपनीय है और सामान्य मनुष्य के लिए दुर्बोध है, किन्तु संयोगवश यदि कोई भाग्यवान् इसे समझ लेता है, तो वह तुरन्त मुक्त हो जाता है और इस तरह भगवद्धाम लौट जाता है।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में भागवत धर्म को अत्यन्त गोपनीय धार्मिक सिद्धान्त कहा है (*सर्वगुह्यतमम् गुह्याद् गुह्यतरम्*)। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं, ''चूँकि तुम मेरे मित्र हो इसलिए मैं तुम्हें परम गोपनीय धर्म बतला रहा हूँ।'' *सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—अन्य सारे कर्तव्यों को त्याग दो और मेरी शरण में आओ। कोई यह पूछ सकता है, ''यदि यह सिद्धान्त विरले ही समझ सकते हैं, तो फिर इसका लाभ क्या है? इसके उत्तर में यहाँ पर यमराज कहते हैं कि यह धार्मिक सिद्धान्त तभी ज्ञेय है जब कोई ब्रह्मा, शिव, चार कुमारों तथा अन्य प्रामाणिक अधिकारियों की परम्परा का पालन करता है। शिष्य परम्पराएँ चार हैं—एक ब्रह्मा से, एक शिव से, एक लक्ष्मी से तथा एक कुमारों से चलने वाली। ब्रह्मा से चलने वाली शिष्य-परम्परा ब्रह्म सम्प्रदाय कहलाती है, शिव (शम्भु) से चलने वाली परम्परा रुद्र-सम्प्रदाय तथा देवी लक्ष्मी से

चलने वाली परम्परा श्रीसम्प्रदाय तथा कुमारों से चलने वाली कुमार-सम्प्रदाय कहलाती है। मनुष्य को अत्यन्त गोपनीय धार्मिक प्रणाली को समझने के लिए इन चार सम्प्रदायों में से किसी एक की शरण ग्रहण करनी होती है। *पद्मपुराण* में कहा गया है कि *सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते निष्फला मताः*—यदि कोई इन चार मान्यताप्राप्त शिष्य-परम्पराओं का पालन नहीं करता तो उसका मंत्र या उसकी दीक्षा निष्फल है। वर्तमान समय में कई *अप-सम्प्रदाय* हैं अर्थात् ऐसे सम्प्रदाय जो प्रामाणिक नहीं हैं और जिनका ब्रह्मा, शिव, कुमारगण या लक्ष्मी जैसे महाजनों से कोई सम्बन्ध नहीं है। लोग ऐसे सम्प्रदायों से भ्रमित होते हैं। शास्त्रों का कहना है कि ऐसे सम्प्रदाय में दीक्षित होना समय का अपव्यय है, क्योंकि इससे मनुष्य को असली धार्मिक सिद्धान्तों को समझने में मदद नहीं मिलेगी।

एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसां धर्मः परः स्मृतः ।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

एतावान्—इतना; एव—निस्सन्देह; लोके अस्मिन्—इस भौतिक जगत में; पुंसाम्—जीवों का; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त; परः—दिव्य; स्मृतः—मान्यता प्राप्त; भक्ति-योगः—भक्तियोग या भक्तिमय सेवा; भगवति—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति (देवताओं के प्रति नहीं); तत्—उसका; नाम—पवित्र नाम का; ग्रहण-आदिभिः—कीर्तन इत्यादि।

भगवान् के नाम के कीर्तन से प्रारम्भ होने वाली भक्ति ही मानव-समाज में जीव के लिए परम धार्मिक सिद्धान्त है।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है *धर्मं भागवतम्*—असली धार्मिक सिद्धान्त भागवत धर्म हैं, जिनका वर्णन *श्रीमद्भागवत* में या *भागवत* के प्रारम्भिक अध्ययन *भगवद्गीता* में हुआ है। ये सिद्धान्त क्या हैं? *भागवत* का कथन है *धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र*—*श्रीमद्भागवत* में ठगने वाली धार्मिक प्रणालियाँ नहीं हैं। *भागवत* की हर वस्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से सीधे सम्बन्धित है। *भागवत* में और भी कहा गया है—*स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे*—परमधर्म वह है, जो अपने अनुयायियों को यह सिखाता है कि उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से कैसे

प्रेम किया जाये जो व्यावहारिक ज्ञान की पहुँच से परे हैं। ऐसी धार्मिक प्रणाली *तन्नाम ग्रहण*—अर्थात् भगवन्नाम के कीर्तन से प्रारम्भ होती है (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्*)। भगवन्नाम् का कीर्तन करने तथा भावावेश में आकर नृत्य करने के बाद मनुष्य क्रमशः भगवान् के रूप, भगवान् की लीलाओं तथा भगवान् के दिव्य गुणों को देखता है। इस तरह से वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की स्थिति को पूरी तरह से समझ लेता है। भगवान् किस तरह भौतिक जगत में अवतरित होते हैं, किस तरह जन्म लेते हैं और क्या-क्या कार्य करते हैं, इनके विषय में मनुष्य जान तो सकता है, किन्तु तब जब वह भक्ति करे। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*भक्त्या मामभिजानाति*—एकमात्र भक्ति द्वारा मनुष्य परम भगवान् के विषय में सब कुछ समझ सकता है। यदि कोई सौभाग्यवश इस तरह से परम भगवान् को समझ लेता है, तो परिणाम निकलता है—*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति*—अपना शरीर त्यागने के बाद फिर उसे इस भौतिक जगत में जन्म नहीं लेना पड़ता प्रत्युत वह भगवद्धाम लौट जाता है। यही चरम सिद्धि है। इसीलिए *भगवद्गीता* (८.१५) में कृष्ण कहते हैं—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।

नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥

“मुझे प्राप्त करके महापुरुष, जो भक्तियोगी हैं, कभी भी दुखों से पूर्ण इस अनित्य जगत में नहीं लौटते, क्योंकि उन्हें परम सिद्धि प्राप्त हो चुकी होती है।”

नामोच्चारणमाहात्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः ।
अजामिलोऽपि येनैव मृत्युपाशादमुच्यत ॥ २३॥

शब्दार्थ

नाम—पवित्र नाम के; उच्चारण—उच्चारण का; माहात्म्यम्—उच्च स्थान; हरेः—परम ईश्वर का; पश्यत—जरा देखो; पुत्रकाः—हे मेरे पुत्रवत् सेवको; अजामिलः अपि—अजामिल (जो महापापी था) भी; येन—जिसके कीर्तन से; एव—निश्चय ही; मृत्यु-पाशात्—मृत्यु की रस्सियों से; अमुच्यत—छूट गया।

हे मेरे पुत्रवत् सेवको! जरा देखो न, भगवन्नाम का कीर्तन कितना महिमायुक्त है! परम

पापी अजामिल ने यह न जानते हुए कि वह भगवान् के पवित्र नाम का उच्चारण कर रहा है, केवल अपने पुत्र को पुकारने के लिए नारायण नाम का उच्चारण किया। फिर भी भगवान् के पवित्र नाम का उच्चारण करने से उसने नारायण का स्मरण किया और इस तरह से वह तुरन्त मृत्यु के पाश से बचा लिया गया।

तात्पर्य : हरे कृष्ण मंत्र के कीर्तन की महत्ता के विषय में शोध करने की आवश्यकता नहीं है। अजामिल का इतिहास भगवान् के नाम की शक्ति तथा पवित्र नाम का निरन्तर उच्चारण करने वाले व्यक्ति के उच्च पद का यथेष्ठ प्रमाण है। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने परामर्श दिया है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

इस कलियुग में मुक्त होने के लिए जितने कर्मकाण्डों की आवश्यकता है उन्हें कोई सम्पन्न नहीं कर सकता। ऐसा कर पाना अत्यन्त कठिन है। अत: सारे शास्त्रों तथा आचार्यों ने संस्तुति की है कि इस युग में मनुष्य पवित्र नाम का कीर्तन करे।

एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां
सङ्कीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम् ।
विक्रुश्य पुत्रमघवान्यदजामिलोऽपि
नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

एतावता—इतने से; अलम्—पर्याप्त; अघ-निर्हरणाय—पापकर्मों के फलों को दूर करने के लिए; पुंसाम्—मनुष्यों का; सङ्कीर्तनम्—सामूहिक कीर्तन; भगवतः—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के; गुण—अलौकिक गुणों का; कर्म-नाम्नाम्—तथा उनके कार्यों एवं लीलाओं के अनुसार उनके नामों का; विक्रुश्य—अपराधरहित, क्रन्दन; पुत्रम्—अपने पुत्र से; अघवान्—पापी; यत्—चूँकि; अजामिलः अपि—अजामिल तक ने; नारायण—भगवान् का नाम, नारायण; इति—इस प्रकार; म्रियमाणः—मरणासन्न; इयाय—प्राप्त की; मुक्तिम्—मुक्ति।

अतएव यह समझ लेना चाहिए कि मनुष्य भगवान् के पवित्र नाम का और उनके गुणों तथा कार्यों का कीर्तन करने से समस्त पाप फलों से सरलता से छुटकारा पा जाता है। पापफलों से छुटकारा पाने के लिए इसी एकमात्र विधि की संस्तुति की जाती है। यदि कोई

अशुद्ध उच्चारण द्वारा भी भगवान् के नाम का कीर्तन करता है, तो उसे भवबन्धन से छुटकारा मिल जायेगा, किन्तु यदि वह अपराधरहित होकर कीर्तन करे। उदहारणार्थ, अजामिल अत्यन्त पापी था, किन्तु मरते समय उसने पवित्र नाम का उच्चारण किया और यद्यपि वह अपने पुत्र को पुकार रहा था, किन्तु उसे पूर्ण मुक्ति प्राप्त हुई, क्योंकि उसने नारायण के नाम का स्मरण किया।

तात्पर्य : रघुनाथदास गोस्वामी के पिता की सभा में हरिदास ठाकुर ने पुष्टि की कि एकमात्र भगवन्नाम का उच्चारण करने से मनुष्य मुक्त हो जाता है भले ही उसने पूर्णतया निरपराध भाव से उच्चारण न किया हो। स्मार्त ब्राह्मण तथा मायावादी जन विश्वास नहीं करते कि मनुष्य इस तरह मुक्ति पा सकता है, किन्तु हरिदास ठाकुर के कथन की सच्चाई का समर्थन *श्रीमद्भागवत* के अनेक उद्धरणों द्वारा होता है।

उदाहरणार्थ, इस श्लोक की टीका करते हुए श्रीधर स्वामी ने निम्नलिखित उद्धरण दिया है—

सायं प्रातर्गृणन् भक्त्या दुःखग्रामाद् विमुच्यते

''यदि कोई अत्यन्त भक्तिपूर्वक संध्या तथा प्रातः भगवन्नाम का सदैव उच्चारण करता है, तो वह सारे भौतिक कष्टों से मुक्त हो सकता है।'' अन्य उद्धरण से इसकी पुष्टि होती है कि यदि कोई प्रतिदिन अतीव आदरपूर्वक भगवन्नाम का निरन्तर श्रवण करता है, तो वह मुक्ति प्राप्त कर सकता है (*अनुदिनम्-इदम् आदरेण शृण्वन्*)। अन्य उद्धरण कहता है—

श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः।

जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम्॥

''मनुष्य को चाहिए कि वह सदैव भगवान् के असामान्य रूप से अद्भुत कार्यों का सदैव कीर्तन तथा श्रवण करे, वह इन कार्यों का ध्यान करे तथा भगवान् को प्रसन्न करने का प्रयास करे'' (*भागवत* ११.३.२७)।

श्रीधर स्वामी पुराणों से भी उद्धरण देते हैं। *पापक्षयश्च भवति स्मरतां तमहर्निशिम्*—भगवान् के

चरणकमलों का दिन रात (*अहर्निशम्*) स्मरण करके मनुष्य सारे पापफलों से मुक्त हो सकता है। इसके आगे वे *भागवत* (६.३.३१) से उद्धरण देते हैं—

तस्मात् सङ्कीर्तनं विष्णोर्जगन्मंगलमंहसाम्।

महतामपि कौरव्य विद्ध्यैकान्तिक निष्कृतम्॥

ये सारे उद्धरण सिद्ध करते हैं कि जो व्यक्ति भगवान् के पवित्र कार्यों, नाम, यश तथा रूप के कीर्तन एवं श्रवण में निरन्तर लगा रहता है, वह मुक्त है। जैसाकि इस श्लोक में अद्‌भुत ढंग से कहा गया है—*एतावतालम् अघनिर्हरणाय पुंसाम्*—केवल भगवन्नाम का उच्चारण करने से मनुष्य सारे पापफलों से मुक्त हो जाता है।

इस श्लोक में प्रयुक्त *अलम्* शब्द सूचित करता है कि भगवन्नाम का उच्चारण करना ही पर्याप्त है। यह शब्द विभिन्न आशयों से प्रयुक्त किया जाता है। जैसाकि संस्कृत भाषा के सबसे प्रामाणिक कोश *अमरकोश* में कहा गया है—*अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्*—*अलम्* शब्द का प्रयोग "आभूषण" "पर्याप्त," "शक्ति" तथा "संयम" अर्थों में किया जाता है। यहाँ पर *अलम्* शब्द यह सूचित करने के लिए प्रयुक्त किया गया है कि किसी अन्य विधि की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भगवन्नाम का उच्चारण ही पर्याप्त है। यदि कोई गलत ढंग से भी उच्चारण करता है, तो वह उच्चारण करने से सारे पापफलों से मुक्त हो जाता है।

पवित्र नाम की इस उच्चारण-शक्ति का प्रमाण है अजामिल की मुक्ति। जब अजामिल ने नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण किया, तो उसे परमेश्वर का ठीक से स्मरण नहीं आया; बजाय इसके उसने अपने पुत्र का स्मरण किया। यह तो निश्चित है कि मृत्यु के समय अजामिल अत्यधिक शुद्ध नहीं था। वह तो महान् पापी के रूप में विख्यात था। इतना ही नहीं, मृत्यु के समय मनुष्य की शारीरिक दशा पूरी तरह अस्त-व्यस्त हो जाती है, अत: ऐसी विषम स्थिति में अजामिल के लिए स्पष्ट रूप से उच्चारण कर सकना अत्यन्त कठिन होता। तो भी, अजामिल ने एकमात्र भगवन्नाम के नाम का उच्चारण करने से मुक्ति प्राप्त की। अतएव, उन लोगों के विषय में क्या कहा जाये जो

अजामिल जितने पापी नहीं हैं? यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य को दृढ़व्रत होने के साथ ही भगवन्नाम का—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—कीर्तन करना चाहिए, क्योंकि इस तरह वह कृष्ण की कृपा से माया के पाश से निश्चित रूप से छूट जाएगा।

हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन ऐसे पुरुषों के लिए भी संस्तुत किया जाता है, जो अपराध करते हैं, क्योंकि कीर्तन करते रहने से वे क्रमशः निरपराध भाव से कीर्तन करने लगेंगे। निरपराध भाव से हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करने से मनुष्य कृष्ण के प्रति अपने प्रेम को बढ़ाता है। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*प्रेमा पुमर्थो महान्*—मनुष्य की मुख्य गन्तव्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति अपना लगाव तथा उनके प्रति अपने प्रेम को बढ़ाने की होनी चाहिए।

इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर *श्रीमद्भागवत* के निम्नलिखित श्लोक को (११.१९.२४) उद्धृत करते हैं—

एवं धर्मैर्मनुष्याणां उद्धावात्मनि वेदिनाम्।

मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते॥

"हे उद्धव! मानव समाज के लिए परम धार्मिक प्रणाली वह है, जिससे मनुष्य मेरे प्रति अपने सुप्त प्रेम को जागृत कर सके।" इस श्लोक की टीका करते हुए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर भक्ति शब्द का वर्णन *प्रेमैवोक्तः* से करते हैं। *कः अन्यः अर्थः अस्य*—भक्ति के समक्ष मुक्ति की क्या आवश्यकता है?

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर *पद्मपुराण* का निम्नलिखित श्लोक भी उद्धृत करते हैं—

नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्।

अविश्रान्तिप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि च॥

यदि कोई शुरू-शुरू में अपराधपूर्वक भी हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करता है, तो वह बारम्बार कीर्तन करने से ऐसे पापों से मुक्त हो जायेगा। *पापक्षयश्च भवति स्मरतां तमहर्निशम्*—यदि कोई श्री

चैतन्य महाप्रभु की संस्तुति का पालन करते हुए दिन रात कीर्तन करता है, तो वह सारे पापफलों से मुक्त हो जाता है। निम्नलिखित श्लोक को उद्धृत करने वाले श्री चैतन्य महाप्रभु ही थे—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

"कलह तथा पाखण्ड के इस युग में उद्धार का एकमात्र साधन भगवन्नाम का कीर्तन है। इसके अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं, कोई अन्य उपाय नहीं, कोई अन्य उपाय नहीं।" यदि कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्य श्री चैतन्य महाप्रभु की इस संस्तुति का दृढ़ता से पालन करें तो उनकी स्थिति सदैव सुरक्षित रहे।

प्रायेण वेद तदिदं न महाजनोऽयं
देव्या विमोहितमतिर्बत माययालम् ।
त्रय्यां जडीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां
वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

प्रायेण—लगभग सदा; वेद—जानो; तत्—वह; इदम्—यह; न—नहीं; महाजनः—स्वायंभुव मनु, शम्भु तथा इनके अतिरिक्त अन्य महापुरुष; अयम्—यह; देव्या—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शक्ति द्वारा; विमोहित-मतिः—जिसकी बुद्धि मोहग्रस्त है; बत—निस्सन्देह; मायया—माया द्वारा; अलम्—अत्यधिक; त्रय्याम्—तीन वेदों में; जडी-कृत-मतिः—जिसकी बुद्धि जड़ हो चुकी है; मधु-पुष्पितायाम्—कर्मकाण्ड के फलों का वर्णन करने वाली अलंकारमयी वैदिक भाषा में; वैतानिके—वेदवर्णित अनुष्ठानों में; महति—अति महान्; कर्मणि—सकाम कर्म में; युज्यमानः—लगे हुए।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की माया द्वारा मोहग्रस्त होने के कारण याज्ञवल्क्य, जैमिनि तथा अन्य शास्त्रप्रणेता भी बारह महाजनों की गुह्य धार्मिक प्रणाली को नहीं जान सकते। वे भक्ति करने या हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करने के दिव्य महत्त्व को नहीं समझ सकते। चूँकि उनके मन वेदों—विशेषतया यजुर्वेद, सामवेद तथा ऋग्वेद में उल्लिखित कर्मकाण्डों के प्रति आकृष्ट रहते हैं, इसलिए उनकी बुद्धि जड़ हो गई है। इस तरह वे उन कर्मकाण्डों के लिए सामग्री एकत्र करने में व्यस्त रहते हैं, जो केवल नश्वर लाभ देने वाले हैं—यथा भौतिक सुख के लिए स्वर्गलोक जाना। वे संकीर्तन आन्दोलन के प्रति आकृष्ट नहीं होते बल्कि वे

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में रुचि लेते हैं।

तात्पर्य : चूँकि मनुष्य भगवान् के कीर्तन द्वारा सरलता से सर्वोच्च सफलता प्राप्त कर सकता है इसलिए कोई प्रश्न कर सकता है कि क्यों इतने वैदिक कर्मकाण्ड हैं और लोग उनके प्रति आकृष्ट क्यों हैं? यह श्लोक इस प्रश्न का उत्तर देता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—वेदों के अध्ययन का असली उद्देश्य भगवान् कृष्ण के चरणकमलों तक पहुँचना है। दुर्भाग्यवश, मूर्खलोग वैदिक यज्ञों की भव्यता से मोहग्रस्त होकर धूमधाम से यज्ञों को सम्पन्न करना चाहते हैं। वे वैदिक मंत्रों का उच्चारण होते तथा ऐसे उत्सवों में विपुल धनराशि व्यय होते देखना चाहते हैं। कभी-कभी ऐसे मूर्ख लोगों को प्रसन्न करने के लिए हमें वैदिक कर्मकाण्ड करने पड़ते हैं। हाल ही में, जब हमने वृन्दावन में एक विशाल कृष्ण-बलराम मन्दिर की स्थापना की, तो हमें ब्राह्मणों द्वारा वैदिक अनुष्ठान कराने के लिए बाध्य होना पड़ा, क्योंकि वृन्दावन के निवासी, विशेषतया स्मार्त ब्राह्मण यूरोपियनों तथा अमेरिकनों को प्रामाणिक ब्राह्मण स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। अत: हमें खर्चीला यज्ञ सम्पन्न करने के लिए एक ब्राह्मण लगाना पड़ा। इन यज्ञों के बावजूद, हमारे संघ के सदस्यों ने मृदंग के साथ जोर-जोर से *सङ्कीर्तन* किया। मैने *सङ्कीर्तन* को वैदिक कर्मकाण्डों से अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। कर्मकाण्ड और संकीर्तन साथ-साथ चल रहे थे। कर्मकाण्ड उत्सव उन व्यक्तियों के लिए थे, जो स्वर्गलोक जाने के लिए वैदिक अनुष्ठानों में रुचि रखते थे—*जडीकृतमतिर्मधुपुष्पितायाम्* जबकि *सङ्कीर्तन* उन शुद्ध भक्तों के लिए था, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को प्रसन्न करने में रुचि रखते थे। हम तो केवल *सङ्कीर्तन* ही कराते, किन्तु तब वृन्दावन के निवासी स्थापना-उत्सव को गम्भीरता से न लेते। जैसाकि यहाँ पर बताया गया है, वैदिक *कर्मकाण्ड* तो उन लोगों के लिए हैं जिनकी बुद्धि वेदों की अलंकारमयी भाषा से मन्द बन चुकी है, जो उच्चलोक को ले जाने वाले सकाम कर्मों का वर्णन करते हैं।

विशेषतया इस कलियुग में अकेला *सङ्कीर्तन* पर्याप्त है। यदि विश्व के विभिन्न भागों में हमारे

मन्दिरों के सदस्य अर्चाविग्रह के समक्ष, विशेषतया श्री चैतन्य महाप्रभु के समक्ष, केवल *सङ्कीर्तन* करते रहें तो वे पूर्ण बने रहेंगे। अन्य किसी कृत्य की आवश्यकता नहीं है। फिर भी, अपनी आदतों को तथा मन को स्वच्छ रखने के लिए अर्चाविग्रह पूजा तथा अन्य विधि-विधानों की आवश्यकता पड़ती है। श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि यद्यपि जीवन की पूर्णता के लिए *सङ्कीर्तन* पर्याप्त है, किन्तु *अर्चना* अर्थात् मन्दिर में अर्चाविग्रह पूजा को करते रहना चाहिए जिससे भक्तगण स्वच्छ तथा शुद्ध रहें। इसलिए श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने दोनों ही विधियों को एकसाथ सम्पन्न किये जाने की संस्तुति की है। हम अर्चाविग्रह पूजा तथा *सङ्कीर्तन* को समानान्तर चलाने के सिद्धान्त का कठोरता से पालन करते हैं। इसे हमें करते रहना चाहिए।

एवं विमृश्य सुधियो भगवत्यनन्ते
सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगम् ।
ते मे न दण्डमर्हन्त्यथ यद्यमीषां
स्यात्पातकं तदपि हन्त्युरुगायवादः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विमृश्य—विचार करके; सु-धियः—वे जिनकी बुद्धि प्रखर है; भगवति—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् में; अनन्ते—असीम; सर्व-आत्मना—प्राणप्रण से; विदधते—ग्रहण करते हैं; खलु—निस्सन्देह; भाव-योगम्—भक्तिमय सेवा की विधि; ते—ऐसे लोग; मे—मेरा; न—नहीं; दण्डम्—दण्ड के; अर्हन्ति—योग्य हैं; अथ—इसलिए; यदि—यदि; अमीषाम्—उनका; स्यात्—है; पातकम्—कोई पाप कर्म; तत्—वह; अपि—भी; हन्ति—नष्ट करता है; उरुगाय-वादः—परमेश्वर के नाम का कीर्तन ।.

अतः इन सभी बातों पर विचार करते हुए बुद्धिमान लोग हर एक के हृदय में स्थित तथा समस्त शुभ गुणों की खान भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन की भक्ति को अपनाकर सारी समस्याओं को हल करने का निर्णय करते हैं। ऐसे लोग दण्ड देने के मेरे अधिकार क्षेत्र में नहीं आते। सामान्यतया वे कभी कोई पापकर्म नहीं करते, किन्तु यदि वे भूलवश या मोहवश कभी कोई पापकर्म करते भी हैं, तो वे पापफलों से बचा लिये जाते हैं, क्योंकि वे सदैव हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करते हैं।

तात्पर्य : इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करते हैं,

जो ब्रह्मा द्वारा की गई स्तुतियों में से है (*भागवत* १०.१४.२९)—

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय प्रसादलेशानुगृहीत एव हि।

जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य रूकोऽपि चिरंए विचिन्वन्॥

तात्पर्य यह है कि वैदिक शास्त्र का अत्यन्त प्रकाण्ड पंडित तक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अस्तित्त्व तथा उनके नाम, यश, गुण इत्यादि से पूरी तरह अनजान हो सकता है, जबकि कोई-कोई विद्वान न होते हुए भी भगवान् की स्थिति को समझ सकता है, यदि वह किसी तरह भक्ति में लगकर भगवान् का शुद्ध भक्त बन जाता है। इसीलिए यमराज द्वारा कहा गया यह श्लोक कहता है—*एवं विमृश्य सुधियो भगवति*—जो लोग भगवान् की प्रेमाभक्ति करते हैं, वे *सुधियः* अर्थात् बुद्धिमान बन जाते हैं, किन्तु वैदिक पंडित के साथ ऐसा नहीं होता, क्योंकि वह कृष्ण के नाम, यश तथा गुणों को नहीं समझता। शुद्ध भक्त वह है, जिसकी बुद्धि विमल होती है। वह सचमुच विचारवान् होता है, क्योंकि वह भगवान् की सेवा में किसी दिखावे के लिए नहीं, अपितु प्रेम से, मन, वचन तथा शरीर से लगा रहता है। अभक्तगण धर्म का दिखावा कर सकते हैं, किन्तु यह अधिक प्रभावशाली नहीं होता, क्योंकि वे दिखावे के लिए मन्दिर या गिरजाघर में जाते हैं, किन्तु सोचते कुछ और हैं। ऐसे व्यक्ति अपने धार्मिक कर्तव्य की उपेक्षा करते हैं और यमराज द्वारा दण्डनीय होते हैं। किन्तु यदि कोई भक्त अपनी पुरानी आदतों के कारण अनिच्छा से या संयोगवश पापकर्म करता है, तो उसे क्षमा कर दिया जाता है। *सङ्कीर्तन* आन्दोलन की यही महत्ता है।

ते देवसिद्धपरिगीतपवित्रगाथा
ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नाः ।
तान्नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान्
नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे ॥ २७॥

शब्दार्थ

ते—वे; देव—देवताओं; सिद्ध—तथा सिद्धलोक के वासियों द्वारा; परिगीत—गाई गयी; पवित्र-गाथाः—शुद्ध कथाएँ; ये—जो; साधवः—भक्तजन; समदृशः—समानदर्शी; भगवत्-प्रपन्नाः—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के शरणागत; तान्—उनको; न—नहीं; उपसीदत—पास जाना चाहिए; हरेः—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के; गदया—गदा से; अभिगुप्तान्—पूरी

तरह सुरक्षित; न—नहीं; एषाम्—इनका; वयम्—हम; न च—तथा नहीं; वयः—असीम काल; प्रभवाम—समर्थ हैं; दण्डे—दण्ड देने में।.

मेरे प्रिय सेवको! ऐसे भक्तों के पास मत जाना, क्योंकि वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के चरणकमलों में पूरी तरह शरणागत हो चुके होते हैं। वे समदर्शी होते हैं और उनकी गाथाएँ देवताओं तथा सिद्धलोक के निवासियों द्वारा गाई जाती हैं। तुम लोग उनके निकट भी मत जाना। वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की गदा द्वारा सदैव रक्षित रहते हैं, इसलिए ब्रह्मा तथा मैं और काल भी उन्हें दण्ड देने में समर्थ नहीं हैं।

तात्पर्य : वस्तुतः यमराज ने अपने सेवकों को आगाह किया, ''मेरे प्रिय सेवको! इसके पूर्व भक्तों को तंग करने के लिए तुम चाहे जो भी करते रहे हो, किन्तु अब उसे बन्द कर दो। जिन भक्तों ने भगवान् के चरणकमलों में शरण ले रखी है तथा जो भगवन्नाम का निरन्तर कीर्तन करते हैं उनकी प्रशंसा देवता तथा सिद्धलोक के वासी तक करते हैं। वे भक्त इतने सम्माननीय तथा उच्च हैं कि भगवान् विष्णु उनकी रक्षा स्वयं अपने हाथ में गदा लेकर करते हैं। अतः इस बार जो तुमने किया है उसकी उपेक्षा करते हुए आगे से कभी भी तुम ऐसे भक्त के पास मत जाना, अन्यथा तुम्हें भगवान् विष्णु की गदा द्वारा मार दिया जाएगा। अतएव यह मेरी चेतावनी है। भगवान् विष्णु अभक्तों को गदा तथा चक्र से दण्ड देते हैं। तुम लोग भक्तों के साथ छेड़छाड़ करके दण्ड का खतरा मत मोल लो। तुम्हीं नहीं, यदि ब्रह्मा को या मुझे भी उन्हें दण्ड देना हो तो भगवान् विष्णु हमें ही दण्ड देंगे। इसलिए अब इसके बाद भक्तों को कभी तंग मत करना।''

तानानयध्वमसतो विमुखान्मुकुन्द-
पादारविन्दमकरन्दरसादजस्रम् ।
निष्किञ्चनैः परमहंसकुलैरसङ्गै-
र्जुष्टाद्गृहे निरयवर्त्मनि बद्धतृष्णान् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; आनयध्वम्—मेरे सामने लाओ; असतः—अभक्त (जिन्होंने कृष्णभावनामृत नहीं स्वीकार किया); विमुखान्—जो विमुख हैं; मुकुन्द—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् मुकुन्द के; पाद-अरविन्द—चरणकमलों के; मकरन्द—मधु से; रसात्—स्वाद से; अजस्रम्—निरन्तर; निष्किञ्चनैः—भौतिक आसक्ति से पूर्णतया मुक्त पुरुषों द्वारा; परमहंस-कुलैः—

परम सम्मानित व्यक्ति परमहंसों द्वारा; असङ्गैः—भौतिक आसक्ति से रहित; जुष्टात्—जो भोगा जाता है, भोग्य; गृहे—गृहस्थ जीवन में; निरय-वर्त्मनि—नरक ले जाने का रास्ता; बद्ध-तृष्णान्—जिनकी इच्छाएँ बद्ध हैं।.

परमहंस सम्माननीय पुरुष होते हैं, जिन्हें भौतिक भोग में कोई रुचि नहीं है तथा जो भगवान् के चरणकमलों का मधु-पान करते हैं। मेरे सेवको! मेरे पास ऐसे व्यक्तियों को ही दण्डित किये जाने के लिए लाओ जो उस मधु के आस्वादन से विमुख हैं, जो परमहंसों की संगति नहीं करते तथा जो गृहस्थ जीवन एवं सांसारिक भोग में लिप्त हैं, क्योंकि ये नरक ले जाने वाले रास्ते हैं।

तात्पर्य : यमदूतों को यह चेतावनी देने के बाद कि वे भक्तों के पास नहीं जायें, अब यमराज यह बताते हैं कि किन लोगों को उनके समक्ष लाया जाये। वे यमदूतों को विशेषरूप से सलाह देते हैं कि वे ऐसे भौतिकतावादी व्यक्तियों को लायें जो मात्र संभोग के लिए गृहस्थ जीवन में लिप्त रहते हैं। जैसा *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है—*यन्मैथुनादिगृहमेधिसुखं हि तुच्छम्*—लोग केवल संभोग के लिए गृहस्थ जीवन में लिप्त रहते हैं। वे अपने भौतिक कार्यकलापों द्वारा अनेक प्रकार से सदैव सताये जाते हैं और उनका एकमात्र सुख सारे दिन कठिन श्रम करने, रात में सोने तथा संभोग करने में निहित रहता है। *निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वयः*—भौतिकतावादी गृहस्थ रात में या तो सोते हैं या संभोग में रत रहते हैं। *दिवा चार्थेहया राजन् कुटुम्बभरणेन वा*—दिन के समय वे धन की खोज में रहते हैं और यदि धन मिल गया तो उसे अपने परिवारों के भरण-पोषण में खर्च करते हैं। यमराज अपने सेवकों को विशेषरूप से मंत्रणा देते हैं, वे उन भक्तों को नहीं लाएँ जो सदैव भगवान् के चरणकमलों का मधुपान करते रहते हैं, जो समदर्शी हैं और सारे जीवों पर सहानुभूति के कारण कृष्णभावनामृत का प्रचार करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। भक्तगण यमराज द्वारा दण्डनीय नहीं हैं, किन्तु जिन लोगों को कृष्णभावनामृत की कोई जानकारी नहीं रहती उन्हें उनके तथाकथित पारिवारिक भोग के भौतिक जीवन से नहीं बचाया जा सकता। *श्रीमद्भागवत* (२.१.४) में कहा गया है—

देहापत्यकलत्रादिष्वात्मसैन्येष्वसत्स्वपि ।

तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति॥

आत्मतृप्ति के लिए ऐसे लोग विश्वास करते हैं कि उनके राष्ट्र, समुदाय या परिवार उन्हें बचा लेंगे। वे इस बात से अचेत रहते हैं कि ऐसी गलती करने वाले सैनिकों को कालक्रम में विनष्ट कर दिया जायेगा। निष्कर्षत: मनुष्य को चाहिए कि ऐसे लोगों की संगति करे जो चौबीसों घण्टे भक्ति में लगे रहते हैं।

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं
चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम् ।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि
तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

जिह्वा—जीभ; न—नहीं; वक्ति—कीर्तन करती है; भगवत्—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के; गुण—अलौकिक गुण; नाम—तथा पवित्र नाम का; धेयम्—प्रदान करते हुए; चेत:—हृदय; च—भी; न—नहीं; स्मरति—स्मरण करता है; तत्—उसके; चरण-अरविन्दम्—चरणकमलों को; कृष्णाय—भगवान् कृष्ण को, मन्दिर में उनके अर्चाविग्रह के माध्यम से; नो—नहीं; नमति—झुकता है; यत्—जिसका; शिर:—सिर; एकदा अपि—एक बार भी; तान्—उनको; आनयध्वम्—मेरे समक्ष ले आओ; असत:—अभक्तों को; अकृत—न करने वाले; विष्णु-कृत्यान्—भगवान् विष्णु के प्रति कर्तव्य।

हे मेरे प्यारे सेवको! तुम लोग केवल उन्हीं पापी पुरुषों को मेरे पास लाना जिनकी जीभ कृष्ण के नाम तथा गुणों का कीर्तन नहीं करती, जिनके हृदय कृष्ण के चरणकमलों का एक बार भी स्मरण नहीं करते तथा जिनके सिर एक बार भी कृष्ण के समक्ष नहीं झुकते। मेरे पास उन लोगों को भेजना जो विष्णु के प्रति अपने उन कर्तव्यों को पूरा नहीं करते जो मानव जीवन के एकमात्र कर्तव्य हैं। ऐसे सभी मूर्खों तथा धूर्तों को मेरे पास लाना।

तात्पर्य : इस श्लोक में *विष्णु-कृत्यान्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि मनुष्य जीवन का उद्देश्य भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना है। वर्णाश्रम धर्म भी इसी प्रयोजन के लिए है। जैसाकि *विष्णु पुराण* (३.८.९) में कहा गया है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण पर: पुमान्।

विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम्॥

मानव-समाज इसलिए है कि वह कठोरतापूर्वक उस वर्णाश्रम धर्म का पालन करे जो समाज को चार सामाजिक विभागों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) और चार आध्यात्मिक विभागों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) में विभक्त करता हैं। वर्णाश्रम धर्म मनुष्य को भगवान् विष्णु के निकटतर लाता है, जो कि मानव-समाज का एकमात्र असली लक्ष्य है। *न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुम्*—किन्तु दुर्भाग्यवश लोग यह नहीं जानते कि उनका स्वार्थ भगवद्धाम वापस जाने में या भगवान् विष्णु के पास पहुँचने में है। *दुराशया ये बहिरर्थमानिनः*—विपरीत इसके, वे केवल मोहग्रस्त रहते हैं। हर मनुष्य से आशा की जाती है कि भगवान् विष्णु के पास पहुँचने के लिए कर्तव्य करे। अतएव यमराज यमदूतों को परामर्श देते हैं कि वे उन्हीं लोगों को उनके पास लायें जिन्होंने भगवान् विष्णु के प्रति अपने कर्तव्य भुला दिये हैं (*अकृतविष्णुकृत्यान्*)। जो विष्णु (कृष्ण) के पवित्र नाम का कीर्तन नहीं करता, जो विष्णु के अर्चाविग्रह को शीश नहीं झुकाता तथा जो भगवान् विष्णु के चरणकमलों का स्मरण नहीं करता, वह यमराज द्वारा दण्डनीय है। संक्षेप में, सारे अवैष्णव यमराज द्वारा दण्डनीय हैं।

तत्क्षम्यतां स भगवान्पुरुषः पुराणो
नारायणः स्वपुरुषैर्यदसत्कृतं नः ।
स्वानामहो न विदुषां रचिताञ्जलीनां
क्षान्तिर्गरीयसि नमः पुरुषाय भूम्ने ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; क्षम्यताम्—क्षमा करने योग्य; सः—वह; भगवान्—परम पुरुषोत्तम भगवान्; पुरुषः—परम पुरुषोत्तम; पुराणः—सबसे प्राचीन; नारायणः—नारायण; स्व-पुरुषैः—अपने सेवकों द्वारा; यत्—जो; असत्—ढिठाई; कृतम्—सम्पन्न; नः—हमारा; स्वानाम्—हमारे ही लोगों का; अहो—हाय; न विदुषाम्—न जानते हुए; रचित-अञ्जलीनाम्—आपसे क्षमा माँगने के लिए हाथ जोड़े हुए; क्षान्तिः—क्षमाशीलता; गरीयसि—महिमामयी है; नमः—नमस्कार; पुरुषाय—पुरुष को; भूम्ने—परम तथा सर्वव्यापक।

[तब यमराज स्वयं को तथा अपने सेवकों को अपराधी मानते हुए, भगवान् से क्षमायाचना करते हुए इस प्रकार बोले] हे प्रभु! मेरे सेवकों ने निश्चित रूप से अजामिल जैसे वैष्णव को बन्दी बनाकर महान् अपराध किया है। हे नारायण, हे परम एवं पुरातन

पुरुषोत्तम! आप हमें क्षमा कर दें। अपने अज्ञान के कारण हम अजामिल को आपके सेवक के रूप में नहीं पहचान सके और इस तरह हमने निश्चित रूप से महान् अपराध किया है। अतएव हम हाथ जोड़ कर आपसे क्षमा माँगते हैं। हे प्रभु! आप अत्यन्त दयालु हैं और सद्गुणों से सदैव पूर्ण रहते हैं। कृपया हमें क्षमा कर दें। हम आपको सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : यमराज ने अपने सेवकों द्वारा किये गये अपराध का भार अपने ऊपर ले लिया। यदि किसी प्रतिष्ठान का कोई सेवक कोई गलती करता है, तो प्रतिष्ठान उसकी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेता है। यद्यपि यमराज अपराधों से ऊपर हैं, किन्तु व्यवहारत: उनकी अनुमति से ही उनके सेवक अजामिल को बन्दी बनाने गये थे, जो कि महान् अपराध था। न्यायशास्त्र पुष्टि करता है *भृत्यापराधे स्वामिनो दण्ड:*—यदि सेवक कोई गलती करता है, तो स्वामी दंडनीय होता है, क्योंकि अपराध के लिए वही उत्तरदायी होता है। इस बात को गम्भीरता से लेते हुए यमराज ने अपने सेवकों सहित हाथ जोड़कर परम पुरुषोत्तम भगवान् नारायण से क्षमा करने के लिए प्रार्थना की।

तस्मात्सङ्कीर्तनं विष्णोर्जगन्मङ्गलमंहसाम् ।
महतामपि कौरव्य विद्ध्यैकान्तिकनिष्कृतम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; सङ्कीर्तनम्—पवित्र नाम का सामूहिक कीर्तन; विष्णो:—भगवान् विष्णु के; जगत्-मङ्गलम्—इस भौतिक जगत के भीतर सर्वाधिक शुभ कार्य; अंहसाम्—पापकर्मों के लिए; महताम् अपि—महान् होते हुए भी; कौरव्य—हे कुरुवंश के वंशज; विद्धि—समझो; ऐकान्तिक—चरम; निष्कृतम्—प्रायश्चित्त।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्! भगवन्नाम का कीर्तन बड़े से बड़े पापों के फलों को भी उन्मूलित करने में सक्षम है। इसलिए *सङ्कीर्तन* आन्दोलन का कीर्तन सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सबसे शुभ कार्य है। कृपया इसे समझने का प्रयास करें जिससे अन्य लोग इसे गम्भीरतापूर्वक ग्रहण कर सकें।

तात्पर्य : हमें ध्यान देना चाहिए कि यद्यपि अजामिल ने नारायण के नाम का अधूरे रूप में

उच्चारण किया था, किन्तु सारे पापफलों से उसका उद्धार हो गया। पवित्रनाम का कीर्तन इतना मंगलप्रद है कि यह हर एक को पापकर्मों के फलों से मुक्त कर सकता हैं। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि कोई व्यक्ति पाप के फलों का निराकरण करने के लिए हरे कृष्ण कीर्तन करके पाप करता रह सकता है। प्रत्युत उसे समस्त पापों से रहित होने के लिए सावधान रहना चाहिए और हरे कृष्ण मंत्र के कीर्तन द्वारा पापकर्मों का निवारण हो जायेगा, यह कभी सोचना भी नहीं चाहिए, क्योंकि वह दूसरा अपराध है। यदि संयोगवश किसी भक्त से कोई पापकर्म हो जाता है, तो भगवान् उसे क्षमा कर देंगे, किन्तु मनुष्य को जानबूझकर पापकर्म नहीं करना चाहिए।

शृण्वतां गृणतां वीर्याण्युद्दामानि हरेर्मुहुः ।
यथा सुजातया भक्त्या शुद्ध्येन्नात्मा व्रतादिभिः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

शृण्वताम्—सुनने वालों; गृणताम्—तथा कीर्तन करने वालों के; वीर्याणि—अद्‌भुत कार्य; उद्दामानि—पाप का निवारण करने में सक्षम; हरेः—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के; मुहुः—सदैव; यथा—जिस प्रकार; सु-जातया—आसानी से समक्ष लाया गया; भक्त्या—भक्ति द्वारा; शुद्ध्येत्—शुद्ध किया जा सकता है; न—नहीं; आत्मा—हृदय तथा आत्मा; व्रत-आदिभिः—कर्मकाण्ड करने से।.

जो व्यक्ति भगवन्नाम का निरन्तर श्रवण तथा कीर्तन करता है और भगवान् के कार्यों का श्रवण तथा कीर्तन करता है, वह बहुत ही आसानी से शुद्ध भक्ति पद को प्राप्त कर सकता है, जो उसके हृदय के मैल को शुद्ध करने वाला है। केवल व्रत रखने तथा वैदिक कर्मकाण्ड करने से ऐसी शुद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती।

तात्पर्य : मनुष्य भगवन्नाम के कीर्तन तथा श्रवण का अभ्यास आसानी से कर सकता है और इस तरह आध्यात्मिक जीवन में भावविभोर बन सकता है। *पद्मपुराण* का कथन है—

नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्।
अविश्रान्तिप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि च॥

यदि कोई व्यक्ति हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन अपराध सहित भी करता है, तो वह अविचल

भाव से निरन्तर कीर्तन करते हुए अपराधों से बच सकता है। जो इसका अभ्यस्त हो जाता है, वह सदा शुद्ध दिव्य पद पर रहेगा जो पापफलों से अस्पृश्य है। शुकदेव गोस्वामी ने राजा परीक्षित से विशेष अनुरोध किया कि इस तथ्य को सावधानी से अंकित कर लें। किन्तु वैदिक कर्मकाण्डों को करने से कोई लाभ नहीं होता। ऐसे कार्य करने से मनुष्य उच्चतर लोकों को जा सकता है, किन्तु जैसा कि *भगवद्गीता* (९.२१) में कहा गया है—*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*—जब स्वर्गलोक में मनुष्य के भोग की अवधि समाप्त हो जाती है, क्योंकि उसके पुण्य कर्म सीमित होते हैं, तो उसे पृथ्वी पर लौटना होता है। इस तरह ब्रह्माण्ड में ऊपर-नीचे भ्रमण करते रहने का प्रयास करने से कोई लाभ नहीं है। इससे अच्छा तो भगवन्नाम का कीर्तन करना है, जिससे वह पूर्णतया शुद्ध हो सके और भगवद्धाम लौटने का पात्र बन सके। यही जीवन का उद्देश्य है और यही जीवन की सिद्धि है।

कृष्णाङ्घ्रिपद्ममधुलिण्न पुनर्विसृष्ट-
मायागुणेषु रमते वृजिनावहेषु ।
अन्यस्तु कामहत आत्मरजः प्रमार्ष्टु-
मीहेत कर्म यत एव रजः पुनः स्यात् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

कृष्ण-अङ्घ्रि-पद्म—कृष्ण के चरणकमलों का; मधु—शहद; लिट्—चाटने वाला; न—नहीं; पुनः—फिर; विसृष्ट—पहले से विरक्त; माया-गुणेषु—प्रकृति के भौतिक गुणों में; रमते—आनन्द लेना चाहता है; वृजिन-अवहेषु—दुखदायी; अन्यः—दूसरा; तु—फिर भी; काम-हतः—काम द्वारा विमोहित; आत्म-रजः—हृदय की पापपूर्ण छूत; प्रमार्ष्टुम्—स्वच्छ करने के लिए; ईहेत—सम्पन्न करता है; कर्म—कार्य; यतः—जिसके बाद; एव—निस्सन्देह; रजः—पापपूर्ण कर्म; पुनः—फिर; स्यात्—प्रकट होते हैं।.

जो भक्तगण भगवान् कृष्ण के चरणकमलों के मधु को जो भक्तगण सदैव चाटते रहते हैं, वे उन भौतिक कर्मों की तनिक भी चिन्ता नहीं करते जो प्रकृति के तीन गुणों के अधीन सम्पन्न किये जाते हैं और जो केवल दुःखदायी होते हैं। दरअसल, भौतिक कर्मों में वापस आने के लिए भक्तगण कभी भी कृष्ण के चरणकमलों को नहीं छोड़ते। किन्तु अन्य लोग, जो भगवान् के चरणकमलों की सेवा की उपेक्षा करने तथा कामेच्छाओं से विमोहित होने से

वैदिक कर्मकाण्डों में लिप्त रहते हैं, कभी-कभी प्रायश्चित्त के कर्म करते हैं। फिर भी अपूर्णरूप से शुद्ध होने से वे पुनः-पुनः पापकर्मों में लौट आते हैं।

तात्पर्य : भक्त का कर्तव्य है कि हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करे। वह कभी अपराध सहित और कभी अपराधरहित होकर कीर्तन कर सकता है, किन्तु यदि वह इस विधि को गम्भीरता के साथ अपनाता है, तो उसे वह सिद्धि प्राप्त होगी जो प्रायश्चित्त के वैदिक कर्मकाण्डों द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती। जो लोग वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति आसक्त हैं, किन्तु भक्ति में विश्वास नहीं करते, जो प्रायश्चित्त का परामर्श देते हैं, किन्तु भगवन्नाम के कीर्तन की प्रशंसा नहीं करते वे सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने से वञ्चित रहते हैं। इसलिए भक्तगण भौतिक भोग से पूर्णतया विरक्त रहकर कभी भी वैदिक कर्मकाण्ड के पक्ष में कृष्णभावनामृत का परित्याग नहीं करते। जो लोग कामवासनाओं के कारण वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति आसक्त रहते हैं उन्हें बारम्बार भौतिक जगत के कष्ट उठाने पड़ते हैं। महाराज परीक्षित ने उनके कर्मों की तुलना *कुञ्जर-शौच* अर्थात् हाथी के स्नान करने से की है।

इत्थं स्वभर्तृगदितं भगवन्महित्वं
संस्मृत्य विस्मितधियो यमकिङ्करास्ते ।
नैवाच्युताश्रयजनं प्रतिशङ्कमाना
द्रष्टुं च बिभ्यति ततः प्रभृति स्म राजन् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

इत्थम्—ऐसी शक्ति का; स्व-भर्तृ-गदितम्—अपने स्वामी (यमराज) द्वारा बतलाया गया; भगवत्-महित्वम्—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तथा उनके नाम, यश, रूप तथा गुणों की अद्वितीय महिमा; संस्मृत्य—स्मरण करके; विस्मित-धियः—जिनके मन विस्मित; यम-किङ्कराः—यमराज के सारे सेवक; ते—वे; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; अच्युत-आश्रय-जनम्—अच्युत अर्थात् कृष्ण के चरणकमलों पर शरण प्राप्त व्यक्ति; प्रतिशङ्कमानाः—सदैव भयभीत; द्रष्टुम्—देखने के लिए; च—तथा; बिभ्यति—भयभीत हैं; ततः प्रभृति—तब से प्रारम्भ करके; स्म—निस्सन्देह; राजन्—हे राजन्।.

अपने स्वामी के मुख से भगवान् की अद्वितीय महिमा तथा उनके नाम, यश तथा गुणों के विषय में सुनकर यमदूत आश्चर्यचकित रह गये। तब से, जैसे ही वे किसी भक्त को देखते हैं, तो वे उससे डरते हैं और उसकी ओर फिर से देखने का साहस नहीं करते।

तात्पर्य : इस घटना के बाद से यमदूतों ने भक्तों के पास जाने की विपत्ति-जनक आदत त्याग

दी है। यमदूतों के लिए भक्त विपत्ति-जनक होता है।

इतिहासमिमं गुह्यं भगवान्कुम्भसम्भवः ।
कथयामास मलय आसीनो हरिमर्चयन् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

इतिहासम्—इतिहास; इमम्—यह; गुह्यम्—अत्यन्त गोपनीय; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; कुम्भ-सम्भवः—अगस्त्य मुनि, कुम्भ के पुत्र; कथयाम् आस—बतलाया; मलये—मलय पर्वत में; आसीनः—निवास करते हुए; हरिम् अर्चयन्—भगवान् की पूजा करते हुए।.

जब कुम्भ के पुत्र अगस्त्य मुनि मलय पर्वत पर निवास कर रहे थे और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा कर रहे थे तो मैं उनके पास गया और उन्होंने मुझे यह गुह्य इतिहास बतलाया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध के अन्तर्गत ''यमराज द्वारा अपने दूतों को शिक्षा'' नामक तृतीय अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चार

प्रजापति दक्ष द्वारा भगवान् से की गई हंसगुह्य प्रार्थनाएँ

जब महाराज परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से याचना की कि इस ब्रह्माण्ड के जीवों की सृष्टि के विषय में और विस्तार से वर्णन करें तो शुकदेव गोस्वामी ने उन्हें बतलाया कि जब प्राचीन बर्हि के दसों पुत्र प्रचेता तप करने के लिए समुद्र में प्रविष्ट हो गये तो राजा के अभाव में पृथ्वीलोक उपेक्षित पड़ गया। स्वाभाविक था कि अनेक झाड़-झंखाड़ तथा व्यर्थ के वृक्ष उग आये और अन्न उत्पन्न नहीं हुआ। सारी भूमि जंगल जैसी बन गई। जब प्रचेताओं ने समुद्र से बाहर निकलकर देखा कि सम्पूर्ण संसार वृक्षों से भरा हुआ है, तो वे वृक्षों से अत्यधिक कुपित हुए और उन्होंने स्थिति को सुधारने के लिए वृक्षों को नष्ट करने का निश्चय किया। अतः प्रचेताओं ने वृक्षों को जलाकर राख कर देने के लिए वायु तथा अग्नि उत्पन्न की। किन्तु चन्द्रमा तथा समस्त वनस्पति के

राजा सोम ने प्रचेताओं को वृक्षों को नष्ट करने से मना किया, क्योंकि वृक्ष सारे जीवों के लिए फल तथा फूल के साधन हैं। प्रचेताओं को तुष्ट करने के लिए सोम ने उन्हें प्रम्लोचा अप्सरा से उत्पन्न एक सुन्दरी कन्या प्रदान की। इन सभी प्रचेताओं के वीर्य से इस सुन्दरी से दक्ष उत्पन्न हुए।

प्रारम्भ में दक्ष ने सारे देवताओं, असुरों तथा मनुष्यों को उत्पन्न किया, किन्तु जब उन्होंने देखा कि जनसंख्या सही ढंग से नहीं बढ़ रही तो उन्होंने संन्यास ले लिया और वे विन्ध्याचल चले गये जहाँ उन्होंने कठिन तपस्या की और भगवान् विष्णु की *हंसगुह्य* नामक प्रार्थना की। इससे भगवान् विष्णु उन पर अत्यधिक प्रसन्न हो गये। प्रार्थना इस प्रकार थी—

‘‘भगवान् हरि परमात्मा जीवों तथा भौतिक प्रकृति दोनों ही के नियन्ता हैं। वे आत्म-निर्भर तथा आत्म-प्रकाशित हैं। जिस तरह अनुभूति का विषय हमारी अनुभूति की इन्द्रियों का कारण नहीं होता उसी तरह जीव, यद्यपि अपने शरीर के भीतर रहता है, अपने नित्य मित्र परमात्मा को, जो कि सारी इन्द्रियों की सृष्टि का कारण है, उत्पन्न नहीं करता। जीव के अज्ञान के कारण उसकी इन्द्रियाँ भौतिक वस्तुओं में लगी रहती हैं। चूँकि जीव सजीव होता है, अत: वह इस भौतिक जगत के सृजन को कुछ हद तक समझ सकता है, किन्तु वह भगवान् को नहीं समझ सकता जो शरीर, मन तथा बुद्धि की धारणा के परे हैं। फिर भी सदा ध्यान में लगे रहने वाले मुनिगण अपने-अपने हृदयों में भगवान् के साकार रूप को देख सकते हैं।

चूँकि सामान्य जीव भौतिक रूप से दूषित होता है, अत: उसके शब्द तथा बुद्धि भी भौतिक होते हैं। अतएव वह अपनी भौतिक इन्द्रियों के द्वारा भगवान् को सुनिश्चित नहीं कर सकता। भौतिक इन्द्रियों द्वारा प्राप्त की गई ईश्वर की धारणा सही नहीं होती, क्योंकि भगवान् भौतिक इन्द्रियों से परे हैं, किन्तु जब कोई व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को भक्ति में लगाता है, तो आत्मा के स्तर पर नित्य भगवान् का उद्घाटन होता है। जब वे परम ईश्वर किसी के जीवन का लक्ष्य बन जाते हैं, तो यह कहा जाता है कि उसने आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर लिया है।

‘‘परब्रह्म समस्त कारणों के कारण हैं क्योंकि वे सृष्टि के पूर्व विद्यमान थे। वे भौतिक तथा

आध्यात्मिक हर वस्तु के आदि कारण हैं और उनका अस्तित्व स्वतंत्र होता है। किन्तु भगवान् की एक शक्ति है, जो अविद्या कहलाती है। यह मिथ्या तार्किक को यह सोचने के लिए प्रेरित करती है कि मैं पूर्ण हूँ और यह माया को बहलाती है कि बद्धात्मा को मोहग्रस्त करे। वह परब्रह्म अर्थात् परमात्मा अपने भक्तों के प्रति अतीव वत्सल हैं। उन पर कृपा करने के लिए वे अपने रूप, नाम, वैशिष्ट्य तथा गुणों को उद्घाटित करते हैं जिससे इस भौतिक जगत में उनकी पूजा की जा सके।

''किन्तु दुर्भाग्यवश जो लोग भौतिकता में लीन रहते हैं, वे विविध देवताओं की पूजा करते हैं। जिस तरह कमल के फूल से होकर बहने वाली वायु फूल की गन्ध अपने साथ ले जाती है या यही हवा कभी-कभी अपने साथ धूल ले जाने के कारण रंगीन प्रतीत होती है, उसी तरह भगवान् अपने विविध मूर्ख पूजकों की इच्छाओं के अनुसार विविध देवताओं के रूप में प्रकट होते हैं, किन्तु वे वास्तव में परम सत्य भगवान् विष्णु ही रहते हैं। वे अपने भक्तों की इच्छाओं को पूरा करने के लिए विविध अवतारों में प्रकट होते हैं, अतएव देवताओं को पूजने की कोई आवश्यकता नहीं है।''

दक्ष की प्रार्थना से अत्यन्त तुष्ट होकर भगवान् विष्णु अष्टभुजी रूप में उसके समक्ष प्रकट हुए। भगवान् पीताम्बर वस्त्र पहने थे और उनका वर्ण श्यामल था। यह जानकर कि दक्ष भोग-मार्ग का पालन करने के लिए अतीव उत्सुक है भगवान् ने उन्हें माया का भोग करने की शक्ति प्रदान की। भगवान् ने पञ्चजन की पुत्री असिक्नी उसे समर्पित की जो यौन सुख के लिए महाराज दक्ष के लिए उपयुक्त थी। दक्ष को यह नाम इसलिए प्राप्त हुआ, क्योंकि वह यौन जीवन में अतीव दक्ष था। यह वर देने के बाद भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये।

श्रीराजोवाच

देवासुरनृणां सर्गो नागानां मृगपक्षिणाम् ।
सामासिकस्त्वया प्रोक्तो यस्तु स्वायम्भुवेऽन्तरे ॥ १ ॥
तस्यैव व्यासमिच्छामि ज्ञातुं ते भगवन्यथा ।

अनुसर्गं यया शक्त्या ससर्ज भगवान्परः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; देव-असुर-नृणाम्—देवताओं तथा मनुष्यों की; सर्गः—सृष्टि; नागानाम्—नागों (सर्प जैसे जीव) के; मृग-पक्षिणाम्—पशुओं तथा पक्षियों के; सामासिकः—संक्षेप में; त्वया—तुम्हारे द्वारा; प्रोक्तः—वर्णित; यः—जो; तु—किन्तु; स्वायम्भुवे—स्वायम्भुव मनु की; अन्तरे—अवधि में; तस्य—उसके; एव—निस्सन्देह; व्यासम्—विस्तृत वर्णन; इच्छामि—चाहता हूँ; ज्ञातुम्—जानने के लिए; ते—तुमसे; भगवन्—हे प्रभु; यथा—साथ ही; अनुसर्गम्—गौण सृष्टि; यया—जिस; शक्त्या—शक्ति से; ससर्ज—उत्पन्न किया; भगवान्—भगवान् से; परः—दिव्य।

वर प्राप्त राजा ने शुकदेव गोस्वामी से कहा : हे प्रभु! देवता, असुर, मनुष्य, नाग, पशु तथा पक्षी स्वायम्भुव मनु के शासन काल में उत्पन्न किये गये थे। आपने इस सृष्टि के विषय में संक्षेप में (तृतीय स्कन्ध में) कहा है। अब मैं इसके विषय में विस्तार से जानना चाहता हूँ। मैं भगवान् की उस शक्ति के विषय में भी जानना चाहता हूँ जिससे उन्होंने गौण सृष्टि की।

श्रीसूत उवाच

इति सम्प्रश्नमाकर्ण्य राजर्षेर्बादरायणिः ।
प्रतिनन्द्य महायोगी जगाद मुनिसत्तमाः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; सम्प्रश्नम्—जिज्ञासा; आकर्ण्य—सुनकर; राजर्षेः—राजा परीक्षित की; बादरायणिः—शुकदेव गोस्वामी ने; प्रतिनन्द्य—प्रशंसा करके; महा-योगी—महान् योगी; जगाद—उत्तर दिया; मुनि-सत्तमाः—हे मुनियों में श्रेष्ठ।

सूत गोस्वामी ने कहा : हे (नैमिषारण्य में एकत्र) महामुनियो! जब महान् योगी शुकदेव गोस्वामी ने राजा परीक्षित की जिज्ञासा सुनी तो उन्होंने उसकी प्रशंसा की और इस प्रकार उत्तर दिया।

श्रीशुक उवाच

यदा प्रचेतसः पुत्रा दश प्राचीनबर्हिषः ।
अन्तःसमुद्रादुन्मग्ना ददृशुर्गां द्रुमैर्वृताम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; यदा—जब; प्रचेतसः—प्रचेताओं ने; पुत्राः—पुत्र; दश—दस; प्राचीनबर्हिषः—राजा प्राचीन बर्हि के; अन्तः-समुद्रात्—समुद्र के भीतर से; उन्मग्नाः—बाहर आये; ददृशुः—उन्होंने देखा; गाम्—सम्पूर्णलोक को; द्रुमैः वृताम्—वृक्षों से आवृत।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब प्राचीनबर्हि के दसों पुत्र उस जल से बाहर निकले

जिसमें वे तपस्या कर रहे थे तो उन्होंने देखा कि संसार की समूची सतह वृक्षों से ढक गई है।

तात्पर्य : जब राजा प्राचीनबर्हि वैदिक अनुष्ठान कर रहा था जिसमें पशुओं की हत्या की संस्तुति की गई थी तो नारद मुनि ने दयावश उसे सलाह दी कि इस अनुष्ठान को रोक दे। प्राचीनबर्हि नारद की बात भलीभाँति समझ गया, अत: वह राज्य छोड़कर तपस्या करने के लिए जंगल चला गया। किन्तु उसके दस पुत्र जल के भीतर तपस्या कर रहे थे, अतएव संसार की व्यवस्था देखने वाला कोई न था। जब दसों पुत्र, प्रचेतागण, जल से बाहर आये तो उन्होंने देखा कि पृथ्वी वृक्षों से ढक गई है।

जब सरकार कृषि की उपेक्षा करती है, जो अन्न उत्पादन के लिए आवश्यक है, वह भूमि व्यर्थ के वृक्षों से ढक जाती है। निस्सन्देह, अनेक वृक्ष उपयोगी होते हैं, क्योंकि वे फल-फूल उत्पन्न करते हैं, किन्तु दूसरे अनेक वृक्ष अनावश्यक होते हैं। उनका उपयोग ईंधन के लिए किया जा सकता है और भूमि को साफ करके उसमें खेती की जा सकती है। जब सरकार लापरवाही बरतती है, तो अन्नोत्पादन कम होता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (१८.४४) में कहा गया है—*कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्*—वैश्यों के स्वभाव के अनुसार उनका उचित कार्य खेती करना तथा गौवों की रक्षा करना है। सरकार तथा क्षत्रियों का कर्तव्य है कि वे यह देखें कि तृतीय वर्ण के सदस्य वैश्य जो न तो ब्राह्मण हैं, न क्षत्रिय, ठीक से काम में लगें। क्षत्रिय मनुष्यों की रक्षा करने के निमित्त होते हैं, जबकि वैश्य उपयोगी पशुओं, विशेषतया गायों, की रक्षा करने के निमित्त हैं।

द्रुमेभ्य: क्रुध्यमानास्ते तपोदीपितमन्यव: ।
मुखतो वायुमग्निं च ससृजुस्तद्दिधक्षया ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

द्रुमेभ्य:—वृक्षों से; क्रुध्यमाना:—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; ते—वे (प्राचीनबर्हि के दसों पुत्र); तप:-दीपित-मन्यव:—दीर्घ तपस्या के कारण जिनका क्रोध बढ़ गया था; मुखत:—मुख से; वायुम्—वायु; अग्निम्—आग; च—तथा; ससृजु:—उन्होंने उत्पन्न किया; तत्—उन जंगलों को; दिधक्षया—जला डालने की इच्छा से।

जल में दीर्घकाल तक तपस्या करने के कारण प्रचेतागण वृक्षों पर अत्यधिक क्रुद्ध थे। उन्हें जलाकर भस्म करने की इच्छा से उन्होंने अपने मुखों से वायु तथा अग्नि उत्पन्न की।

तात्पर्य : *तपोदीपितमन्यव:* शब्द सूचित करता है कि जो लोग कठिन तपस्या किये रहते हैं उनमें महान् योग शक्ति होती है, जैसाकि प्रचेताओं से पता लगता है जिन्होंने अपने मुखों से अग्नि तथा वायु उत्पन्न की। यद्यपि भक्तगण कठिन तपस्या करते हैं, किन्तु वे *विमन्वय:, साधव:* थे जिसका अर्थ है कि वे कभी क्रुद्ध नहीं होते। वे सदैव सद्गुणों से अलंकृत रहते हैं। *भागवत* (३.२५.२१) में कहा गया है—

तितिक्षव: कारुणिका: सुहृद: सर्वदेहिनाम्।

अजातशत्रव: शान्ता: साधव: साधुभूषणा:॥

साधु अर्थात् भक्त कभी क्रुद्ध नहीं होता। वस्तुत: उन भक्तों का जो तपस्या करते हैं, असली स्वभाव क्षमाशीलता है। यद्यपि वैष्णव को तपस्या से पर्याप्त शक्ति मिलती है, किन्तु विभिन्न कठिनाइयों में पड़ने पर वह कभी क्रुद्ध नहीं होता। यदि कोई तपस्या करता है, किन्तु वैष्णव नहीं बनता तो उसमें सद्गुण उत्पन्न नहीं होते। उदाहरणार्थ, हिरण्यकशिपु तथा रावण ने भी महान् तपस्याएँ की थीं, किन्तु उन्होंने अपनी आसुरी प्रवृत्तियों का प्रदर्शन करने के लिए ऐसा किया। वैष्णवों को भगवान् की महिमा का प्रचार करते समय अनेक विरोधियों का सामना करना पड़ता है, किन्तु श्री चैतन्य महाप्रभु की संस्तुति है कि वे प्रचार करते हुए क्रुद्ध न हों। श्री चैतन्य महाप्रभु ने यह सूत्र दिया है—*तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना। अमानिना मानदेन कीर्तनीय: सदा हरि:*—मनुष्य को चाहिए कि मन की विनीत अवस्था में, अपने को मार्ग में उगे हुए तिनके से भी निम्न समझते हुए भगवन्नाम का कीर्तन करे। उसे वृक्ष से भी अधिक सहनशील, मिथ्या प्रतिष्ठा के भाव से रहित तथा अन्यों को आदर देने के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए। ऐसी मनोदशा में मनुष्य भगवान्नाम का निरन्तर कीर्तन कर सकता है। जो लोग भगवान् की महिमा के प्रचारकार्य में लगे हुए हैं उन्हें घास (तृण) से भी अधिक विनीत एवं वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु होना चाहिए।

तब वे बिना कठिनाई के भगवान् की महिमा का प्रचार कर सकते हैं।

ताभ्यां निर्दह्यमानांस्तानुपलभ्य कुरूद्वह ।
राजोवाच महान्सोमो मन्युं प्रशमयन्निव ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ताभ्याम्—वायु तथा अग्नि द्वारा; निर्दह्यमानान्—जलाये गये; तान्—उन (वृक्षों) को; उपलभ्य—देखकर; कुरूद्वह—हे महाराज परीक्षित; राजा—जंगलों के राजा; उवाच—कहा; महान्—महान्; सोमः—चन्द्रमा का अधिष्ठाता देव, सोमदेव ने; मन्युम्—क्रोध को; प्रशमयन्—शान्त करते हुए; इव—सदृश।

हे राजा परीक्षित! जब वृक्षों के राजा तथा चन्द्रमा के अधिष्ठाता देव सोम ने अग्नि तथा वायु को समस्त वृक्षों को जलाकर राख करते देखा तो उसे अपार दया आई, क्योंकि वह समस्त वनस्पतियों तथा वृक्षों का पालनकर्ता है। प्रचेताओं के क्रोध को शान्त करने के लिए सोम इस प्रकार बोला।

तात्पर्य : इस श्लोक से पता चलता है कि चन्द्रमा का अधिष्ठाता देव (सोमदेव) ब्रह्माण्ड-भर के वृक्षों तथा पौधों का पालनकर्ता है। चाँदनी के कारण वृक्ष तथा पौधे तेजी से बढ़ते हैं। अतएव हम उन तथाकथित विज्ञानियों को किस प्रकार स्वीकार कर सकते हैं जिनकी चन्द्र-यात्राओं ने हमें जानकारी दी हैं कि चन्द्रमा पर कोई वृक्ष या वनस्पति नहीं है? श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*सोमो वृक्षाधिष्ठाता स एव वृक्षाणां राजा*—चन्द्रमा का अधिष्ठाता देव सोम सारी वनस्पतियों का राजा है। हम यह कैसे विश्वास कर सकते हैं कि वनस्पति के पालनकर्ता के ही लोक में वनस्पति नहीं है?

न द्रुमेभ्यो महाभागा दीनेभ्यो द्रोग्धुमर्हथ ।
विवर्धयिषवो यूयं प्रजानां पतयः स्मृताः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; द्रुमेभ्यः—वृक्षों को; महा-भागाः—हे परम भाग्यशाली; दीनेभ्यः—अत्यन्त गरीबों; द्रोग्धुम्—जलाकर भस्म करने के लिए; अर्हथ—तुम्हें चाहिए; विवर्धयिषवः—वृद्धि लाने के लिए इच्छुक; यूयम्—तुम सब; प्रजानाम्—सारे जीवों का, जिन्होंने तुम्हारी शरण ले रखी है; पतयः—स्वामी या रक्षक; स्मृताः—के रूप में ज्ञात।

हे भाग्यवान् महाशयों! तुम लोगों को चाहिए कि इन बेचारे वृक्षों को जलाकर भस्म न

करो। तुम लोगों का कर्तव्य नागरिकों (प्रजा) के लिए समस्त समृद्धि की कामना करना तथा उनके रक्षकों के रूप में कार्य करना है।

तात्पर्य : यहाँ यह संकेत हुआ है कि सरकार या राजा का कर्तव्य है कि वह न केवल मनुष्य की रक्षा करे, अपितु अन्य सारे जीवों की भी रक्षा करे जिनमें पशु वृक्ष तथा वनस्पतियाँ सभी सम्मिलित हैं। किसी भी जीव को व्यर्थ में मारा न जाये।

अहो प्रजापतिपतिर्भगवान्हरिरव्ययः ।
वनस्पतीनोषधीश्च ससर्जोर्जमिषं विभुः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अहो—हाय; प्रजापति-पतिः—जीवों के स्वामियों का स्वामी; भगवान् हरिः—भगवान् हरि; अव्ययः—अविनाशी; वनस्पतीन्—वृक्षों को; ओषधीः—जड़ी बूटियों को; च—तथा; ससर्ज—उत्पन्न किया; ऊर्जम्—स्फूर्तिदायी; इषम्—भोजन; विभुः—परम पुरुष ने।

भगवान् श्री हरि सारे जीवों के स्वामी हैं जिनमें ब्रह्मा जैसे सारे प्रजापति सम्मिलित हैं। चूँकि वे सर्वव्यापक तथा अविनाशी प्रभु हैं, अतः उन्होंने अन्य जीवों के लिए खाद्य वस्तुओं के रूप में इन सारे वृक्षों तथा शाकों को उत्पन्न किया है।

तात्पर्य : चन्द्रमा के अधिष्ठाता देव सोम ने प्रचेताओं को स्मरण दिलाया कि प्रजापतियों के भी पति भगवान् ने इस वनस्पति को हर एक को भोजन प्रदान करने के लिए उत्पन्न किया है। यदि प्रचेतागण इन्हें नष्ट कर डालने का प्रयत्न करेंगे तो उनकी अपनी प्रजा भी कष्ट भोगेगी, क्योंकि भोजन के लिए वृक्षों की भी आवश्यकता पड़ती है।

अन्नं चराणामचरा ह्यपदः पादचारिणाम् ।
अहस्ता हस्तयुक्तानां द्विपदां च चतुष्पदः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अन्नम्—भोजन; चराणाम्—चलने वालों या पंखों वालों का; अचराः—न चलने वालों (फलों-फूलों) का; हि—निस्सन्देह; अपदः—बिना पैर वाले जीव यथा घास; पाद-चारिणाम्—पैरों पर चलने वाले पशुओं, यथा गौवों तथा भैंसों के; अहस्ताः—बिना हाथ वाले पशु; हस्त-युक्तानाम्—हाथों से युक्त पशुओं यथा बाघ आदि का; द्वि-पदाम्—दो पैरों वाले मनुष्यों का; च—तथा; चतुः-पदः—चार पैरों वाले हिरण जैसे पशु।

प्रकृति की व्यवस्था के द्वारा फलों तथा फूलों को कीड़ों तथा पक्षियों का भोजन माना जाता है; घास तथा अन्य बिना पैर वाले जीव गायों तथा भैसों जैसे चौपायों के भोजन के लिए हैं। वे पशु, जो अपने अगले पैरों को हाथों की तरह काम में नहीं ला सकते पंजों वाले बाघों जैसे पशुओं के भोजन हैं तथा हिरन एवं बकरे जैसे चौपाये जानवर तथा खाद्यान्न भी मनुष्यों के भोजन के निमित्त होते हैं।

तात्पर्य : प्रकृति के नियम द्वारा या भगवान् की व्यवस्था से एक प्रकार का जीव दूसरे जीवों का भक्ष्य है। जैसाकि यहाँ पर उल्लेख किया गया है—*द्विपादां च चतुष्पदः*—चौपाये जानवर (*चतुष्पदः*) तथा खाद्यान्न मनुष्यों (द्विपदाम्) के भक्ष्य हैं। ये चौपाये जानवर हिरन तथा बकरियों जैसे पशु हैं, इनमें गौएँ नहीं आतीं, जिनकी रक्षा की जानी चाहिए। सामान्यतया समाज की उच्चतर श्रेणियाँ—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य जातियाँ—मांस नहीं खातीं। कभी-कभी क्षत्रिय जंगल में हिरन जैसे पशुओं का शिकार करने जाते हैं, क्योंकि उन्हें वध करने की कला सीखनी होती है और कभी कभी वे पशुओं को खाते भी हैं। शूद्र भी बकरे जैसे पशुओं को खाते हैं। किन्तु गौएँ मनुष्यों द्वारा वध किये जाने या खाने के लिए नहीं हैं। प्रत्येक शास्त्र में गो-वध की प्रबल रूप से निन्दा की गई है। वस्तुत: जो गो वध करता है उसे उतने वर्षों तक कष्ट भोगना पड़ता है जितने कि गाय के शरीर में बाल होते हैं। *मनुसंहिता* का कथन है—*प्रवृत्तिरेषाभूतानां निवृत्तिस्तु महाफला*—इस भौतिक जगत में हममें अनेक प्रवृत्तियाँ होती हैं, किन्तु मनुष्य जीवन इसलिए मिला है कि उन प्रवृत्तियों को मोड़ना सीखें। जो लोग मांस खाना चाहते हैं, वे अपनी जीभ की जरूरत निम्नतर पशुओं को खाकर पूरी कर सकते हैं, किन्तु उन्हें गौओं का वध नहीं करना चाहिए, क्योंकि दूध की पूर्ति करने के कारण गौओं को मानव समाज की माताएँ स्वीकार किया गया है। शास्त्रों की विशेषरूप से संस्तुति है—*कृषिगोरक्ष्य*—मानव समाज के वैश्य वर्ग को कृषि कार्यों द्वारा सारे समाज के भोजन का प्रबन्ध करना चाहिए और गौओं को पूर्ण सुरक्षा प्रदान करनी चाहिए, क्योंकि वे सर्वाधिक लाभदायक पशु हैं और मानव-समाज को दूध देती हैं।

यूयं च पित्रान्वादिष्टा देवदेवेन चानघाः ।
प्रजासर्गाय हि कथं वृक्षान्निर्दग्धुमर्हथ ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यूयम्—तुम सब; च—भी; पित्रा—अपने पिता द्वारा; अन्वादिष्टाः—आदेश दिये गये; देव-देवेन—स्वामियों के भी स्वामी भगवान् द्वारा; च—भी; अनघाः—हे निष्पाप; प्रजा-सर्गाय—सन्तान उत्पन्न करने के लिए; हि—निस्सन्देह; कथम्—कैसे; वृक्षान्—वृक्षों को; निर्दग्धुम्—जलाकर भस्म करने के लिए; अर्हथ—समर्थ हैं।

हे शुद्ध हृदयवाले! तुम्हारे पिता प्राचीनबर्हि तथा भगवान् ने तुम सबों को प्रजा उत्पन्न करने का आदेश दिया है। अतः तुम लोग इन वृक्षों तथा वनस्पतियों को किस तरह जलाकर भस्म कर सकते हो जिनकी आवश्यकता तुम्हारी प्रजा तथा तुम्हारे वंशजों के पालन के लिए पड़ेगी?

आतिष्ठत सतां मार्गं कोपं यच्छत दीपितम् ।
पित्रा पितामहेनापि जुष्टं वः प्रपितामहैः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

आतिष्ठत—पालन करो; सताम् मार्गम्—महापुरुषों के मार्ग का; कोपम्—क्रोध; यच्छत—दमन करो; दीपितम्—जो अब जाग्रत है; पित्रा—पिता द्वारा; पितामहेन अपि—तथा पितामह द्वारा; जुष्टम्—सम्पन्न; वः—तुम्हारा; प्रपितामहैः—तुम्हारे परदादाओं द्वारा।

तुम्हारे पिता, पितामह तथा परदादाओं ने जिस अच्छाई के मार्ग का अनुसरण किया था, वह प्रजा के पालन करने का था जिसमें मनुष्य, पशु तथा वृक्ष सम्मिलित हैं। तुम लोगों को उसी मार्ग का पालन करना चाहिए। व्यर्थ का क्रोध तुम्हारे कर्तव्य के विरुद्ध है। अतएव मेरी प्रार्थना है कि तुम लोग अपने क्रोध को नियंत्रित करो।

तात्पर्य : यहाँ पर—*पित्रा पितामहेनापि जुष्टं वः प्रपितामहैः*—शब्द एक सत्यनिष्ठ राज-परिवार का चित्रण करते हैं—जिसमें राजा, उनके पिता, उनके पितामह तथा उनके प्रपितामह होते हैं। ऐसे राज-परिवार का एक प्रतिष्ठित पद होता है, क्योंकि यह *प्रजा* का, अर्थात् नागरिकों का, भरण-पोषण करता है। *प्रजा* शब्द उसका द्योतक है, जिसने सरकार के शासन-क्षेत्र के अन्तर्गत जन्म लिया हो। उच्च राजपरिवार वाले सचेष्ट रहते थे कि सारे जीवों को, चाहे वे मनुष्य हों, पशु या

पशुओं से निम्नतर अन्य जीव, संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए। आधुनिक प्रजातांत्रिक पद्धति इस प्रकार उन्नति नहीं कर सकती क्योंकि चुने गये नेता केवल अधिकार के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, उनमें उत्तरदायित्त्व का कोई भाव नहीं रहता। राजतंत्र में प्रतिष्ठा-प्राप्त राजा अपने पूर्वजों के महान् कार्यों का अनुकरण करता है। इस तरह चन्द्रमा का राजा सोम यहाँ पर प्रचेताओं को उनके पिता, पितामह तथा प्रपितामहों के यशों का स्मरण कराता है।

तोकानां पितरौ बन्धू दृशः पक्ष्म स्त्रियाः पतिः ।
पतिः प्रजानां भिक्षूणां गृह्यज्ञानां बुधः सुहृत् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तोकानाम्—बच्चों का; पितरौ—माता-पिता; बन्धू—मित्र; दृशः—आँख की; पक्ष्म—पलक; स्त्रियाः—स्त्रियों का; पतिः—पति; पतिः—रक्षक; प्रजानाम्—प्रजा का; भिक्षूणाम्—भिखारियों का; गृही—गृहस्थ का; अज्ञानाम्—अज्ञानियों का; बुधः—विद्वान; सु-हृत्—मित्र।

पिता तथा माता जिस तरह अपनी सन्तानों के मित्र और पालनकर्ता होते हैं, जिस तरह पलक आँख की रक्षा करती है, पति जिस तरह पत्नी का भर्त्ता तथा रक्षक होता है, जिस तरह गृहस्थ भिखारियों का अन्नदाता तथा रक्षक होता है तथा जिस तरह विद्वान अज्ञानी का मित्र होता है, उसी तरह राजा अपनी प्रजा का रक्षक तथा जीवनदाता होता है। वृक्ष भी राजा की प्रजा होते हैं, अतएव उन्हें भी संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए।

तात्पर्य : भगवान् की इच्छा से असहाय जीवों के नाना प्रकार के रक्षक तथा पालनकर्ता होते हैं। वृक्ष भी प्रजा माने जाते हैं, अतएव राजा का कर्तव्य है कि वह वृक्षों की भी रक्षा करे, अन्यों के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं। राजा अपने राज्य के जीवों की रक्षा करने के लिए कर्तव्यबद्ध होता है। इस तरह यद्यपि माता-पिता अपनी सन्तानों की सुरक्षा तथा भरण-पोषण के लिए सीधे जिम्मेदार होते हैं, किन्तु राजा का कर्तव्य यह देखना है कि सारे माता-पिता अपना कर्तव्य उचित रीति से निबाहें। इसी तरह राजा इस श्लोक में वर्णित अन्य रक्षकों की भी निगरानी करने के लिए जिम्मेदार होता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि जिन भिखारियों का भरण-पोषण गृहस्थों को

करना है वे पेशेवर भिखारी नहीं, अपितु संन्यासी तथा ब्राह्मण हों जिन्हें भोजन तथा वस्त्र प्रदान करना गृहस्थों का कर्तव्य है।

अन्तर्देहेषु भूतानामात्मास्ते हरिरीश्वरः ।
सर्वं तद्धिष्ण्यमीक्षध्वमेवं वस्तोषितो ह्यसौ ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अन्तः देहेषु—शरीरों (हृदयों) के भीतर; भूतानाम्—सारे जीवों के; आत्मा—परमात्मा; आस्ते—निवास करता है; हरिः—भगवान्; ईश्वरः—स्वामी या निदेशक; सर्वम्—समस्त; तत्-धिष्ण्यम्—उसका आवास स्थान; ईक्षध्वम्—देखने का प्रयास करते हैं; एवम्—इस प्रकार; वः—तुमसे; तोषितः—तुष्ट; हि—निस्सन्देह; असौ—भगवान्।

भगवान् सारे जीवों के हृदय में परमात्मा रूप में स्थित हैं, चाहे वे चर हों या अचर। इनमें मनुष्य, पक्षी, पशु, वृक्ष तथा सारे जीव सम्मिलित हैं। इसलिए तुम लोगों को प्रत्येक शरीर को भगवान् का वासस्थान या मन्दिर मानना चाहिए। इस दृष्टिकोण से तुम लोग भगवान् को तुष्ट कर सकोगे। तुम लोगों को क्रोध में आकर वृक्षों रूपों में स्थित इन जीवों का वध नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य : जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है और समस्त वैदिक शास्त्रों द्वारा पुष्टि की गई है—*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*—परमात्मा हर एक के हृदय में स्थित है। चूँकि हर एक का शरीर भगवान् का निवास है, अतएव व्यर्थ के द्वेष से शरीर का विनाश नहीं करना चाहिए। इससे परमात्मा असन्तुष्ट होगा। सोम ने प्रचेताओं को यह बतलाया, क्योंकि उन्होंने परमात्मा को तुष्ट करने का प्रयास किया था, किन्तु अब उन्हें चाहिए कि उसे असन्तुष्ट न करें।

यः समुत्पतितं देह आकाशान्मन्युमुल्बणम् ।
आत्मजिज्ञासया यच्छेत्स गुणानतिवर्तते ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; समुत्पतितम्—सहसा जाग्रत हुआ; देहे—शरीर में; आकाशात्—आकाश से; मन्युम्—क्रोध; उल्बणम्—शक्तिशाली; आत्म-जिज्ञासया—आध्यात्मिक या आत्म-साक्षात्कार के प्रति पूछताछ से; यच्छेत्—दमन करता है; सः—वह व्यक्ति; गुणान्—भौतिक प्रकृति के गुणों को; अतिवर्तते—लाँघ जाता है।

जो व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार की जिज्ञासा करता है और इस तरह अपने शक्तिशाली

क्रोध को—जो शरीर में सहसा जाग्रत हो जाता है, मानों आकाश से गिरा हो उसे दबाता है, वह भौतिक प्रकृति के गुणों को लाँघ जाता है।

तात्पर्य : जब कोई क्रुद्ध होता है, तो वह अपने आपको तथा अपनी स्थिति को भूल जाता है, किन्तु यदि वह अपनी स्थिति पर ज्ञान द्वारा विचार करता है, तो वह प्रकृति के गुणों को लाँघ जाता है। मनुष्य सदा से कामेच्छाओं, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या इत्यादि का दास रहा है, किन्तु यदि वह आध्यात्मिक प्रगति में पर्याप्त बल प्राप्त कर लेता है, तो वह उनको वश में कर सकता है। जो व्यक्ति ऐसा नियंत्रण कर लेता है, वह सदैव दिव्य पद पर स्थित रहेगा और भौतिक गुणों द्वारा अस्पृश्य रहेगा। ऐसा तभी सम्भव है जब वह पूरी तरह भगवान् की सेवा में लगा रहे। जैसा कि *भगवद्गीता* (१४.२६) में भगवान् कहते हैं—

मां चयोऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो समस्त परिस्थितियों में एकान्त भाव से पूर्ण भक्ति में प्रवृत्त होता है और नीचे नहीं गिरता है, वह तुरन्त ही प्रकृति के गुणों को लाँघ जाता है और इस प्रकार ब्रह्म के स्तर (पद) तक पहुँच जाता है।" मनुष्य को भक्ति में लगाकर कृष्णभावनामृत आन्दोलन उसे क्रोध, लोभ, काम, द्वेष इत्यादि से सदा परे रखता है। मनुष्य को भक्तिमय सेवा करनी चाहिए, अन्यथा वह प्रकृति के गुणों का शिकार बनता रहेगा।

अलं दग्धैर्द्रुमैर्दीनैः खिलानां शिवमस्तु वः ।
वार्क्षी ह्येषा वरा कन्या पत्नीत्वे प्रतिगृह्यताम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

अलम्—पर्याप्त; दग्धैः—जल रहे; द्रुमैः—वृक्षों द्वारा; दीनैः—बेचारे; खिलानाम्—शेष वृक्षों का; शिवम्—सर्व सौभाग्य; अस्तु—हो; वः—तुम लोगों का; वार्क्षी—वृक्षों से पालित; हि—निस्सन्देह; एषा—यह; वरा—रुचि; कन्या—कन्या, पुत्री; पत्नीत्वे—पत्नी के रूप में; प्रतिगृह्यताम्—स्वीकार करो।

अब इन बेचारे वृक्षों को जलाने की आवश्यकता नहीं है। जो वृक्ष शेष हैं उन्हें

सुखपूर्वक रहने दें। निस्सन्देह, तुम लोगों को भी सुखी रहना चाहिए। यहाँ पर एक सुयोग्य सुन्दर लड़की है, जिसका नाम मारिषा है और जिसका पालन-पोषण इन वृक्षों ने अपनी पुत्री के रूप में किया है। तुम लोग इस सुन्दर लड़की को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर सकते हो।

इत्यामन्त्र्य वरारोहां कन्यामाप्सरसीं नृप ।
सोमो राजा ययौ दत्त्वा ते धर्मेणोपयेमिरे ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; आमन्त्र्य—सम्बोधित करके; वर-आरोहाम्—उठे सुन्दर कूल्हों वाली; कन्याम्—कन्या को; आप्सरसीम्—अप्सरा से उत्पन्न; नृप—हे राजा; सोमः—चन्द्रमा का अधिष्ठाता सोम देव ने; राजा—राजा; ययौ—दे दिया; दत्त्वा—देकर; ते—वे; धर्मेण—धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार; उपयेमिरे—ब्याही गई।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : हे राजन्! प्रचेताओं को तुष्ट करने के बाद चन्द्रमा के राजा सोम ने प्रम्लोचा अप्सरा से उत्पन्न सुन्दर कन्या उन्हें प्रदान की। प्रचेताओं ने प्रम्लोचा की कन्या का स्वागत किया। उसके उठे हुए नितम्ब अतीव सुन्दर थे। उन्होंने धार्मिक पद्धति के अनुसार उसके साथ विवाह कर लिया।

तेभ्यस्तस्यां समभवद्दक्षः प्राचेतसः किल ।
यस्य प्रजाविसर्गेण लोका आपूरितास्त्रयः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तेभ्यः—सारे प्रचेताओं से; तस्याम्—उसमें; समभवत्—उत्पन्न हुआ; दक्षः—दक्ष, सन्तान उत्पन्न करने में दक्ष; प्राचेतसः—प्रचेताओं का पुत्र; किल—निस्सन्देह; यस्य—जिसका; प्रजा-विसर्गेण—जीवों की उत्पत्ति द्वारा; लोकाः—जगत; आपूरिताः—पूरित; त्रयः—तीनों।

उस लड़की के गर्भ से प्रचेताओं ने दक्ष नामक एक पुत्र उत्पन्न किया जिसने तीनों लोकों को जीवों से भर दिया।

तात्पर्य : दक्ष सर्वप्रथम स्वायंभुव मनु के शासनकाल में जन्मे थे, किन्तु शिवजी का अपमान करने के कारण उनके असली सिर के स्थान पर बकरे का सिर लगाकर उन्हें दण्ड दिया गया था। इस तरह अपमानित होकर उन्हें वह शरीर त्यागना पड़ा था और छठे मन्वन्तर में, जो चाक्षुष

मन्वन्तर कहलाता है, वे मारिषा के गर्भ से दक्ष के रूप में उत्पन्न हुए। इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

चाक्षुषे त्वन्तरे प्राप्ते प्राक्सर्गे कालविद्रुते।

यः ससर्ज प्रजा इष्टाः स दक्षो दैवचोदितः॥

"उसका पहले का शरीर नष्ट कर दिया गया था, किन्तु उसी दक्ष ने, परम इच्छा की प्रेरणा से चाक्षुष मन्वन्तर में सभी इच्छित जीवों को उत्पन्न किया।" (*भागवत* ४.३०.४९)। इस तरह दक्ष को अपना पहले का ऐश्वर्य प्राप्त हो गया और उसने करोड़ों सन्तानें उत्पन्न कीं जिनसे तीनों लोक पूरित हो गये।

यथा ससर्ज भूतानि दक्षो दुहितृवत्सलः ।
रेतसा मनसा चैव तन्ममावहितः शृणु ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; ससर्ज—उत्पन्न किया; भूतानि—जीवों को; दक्षः—दक्ष ने; दुहितृ-वत्सलः—अपनी पुत्रियों के प्रति अतीव स्नेहिल; रेतसा—वीर्य से; मनसा—मन से; च—भी; एव—निस्सन्देह; तत्—वह; मम—मुझसे; अवहितः—सावधान होकर; शृणु—सुनो।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : कृपया अत्यन्त ध्यानपूर्वक मुझसे सुनें कि किस तरह प्रजापति दक्ष ने, जो अपनी पुत्रियों के प्रति अति स्नेहिल थे, अपने वीर्य से तथा मन से विभिन्न प्रकार के जीवों को उत्पन्न किया।

तात्पर्य : *दुहितृ-वत्सलः* शब्द सूचित करता है कि सारी प्रजा दक्ष की पुत्रियों से उत्पन्न हुई। श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि इससे प्रतीत होता है कि दक्ष के कोई पुत्र न था।

मनसैवासृजत्पूर्वं प्रजापतिरिमाः प्रजाः ।
देवासुरमनुष्यादीन्नभःस्थलजलौकसः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

मनसा—मन से; एव—निस्सन्देह; असृजत्—उत्पन्न किया; पूर्वम्—प्रारम्भ में; प्रजापतिः—प्रजापति (दक्ष) ने; इमाः—इन; प्रजाः—जीवों; देव—देवताओं; असुर—असुरों; मनुष्य-आदीन्—मनुष्यों इत्यादि को; नभः—आकाश में; स्थल—भूमि पर; जल—अथवा जल के भीतर; ओकसः—जिनके निवास हैं।

प्रजापति दक्ष ने सर्वप्रथम अपने मन से सभी तरह के देवताओं, असुरों, मनुष्यों, पक्षियों, पशुओं, जलचरों इत्यादि को उत्पन्न किया।

तमबृंहितमालोक्य प्रजासर्गं प्रजापतिः ।
विन्ध्यपादानुपव्रज्य सोऽचरद्दुष्करं तपः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; अबृंहितम्—न बढ़ते हुए; आलोक्य—देखकर; प्रजा-सर्गम्—जीवों की सृष्टि; प्रजापतिः—जीवों के जनक दक्ष; विन्ध्य-पादान्—विन्ध्याचल पर्वत के निकट; उपव्रज्य—जाकर; सः—उसने; अचरत्—सम्पन्न किया; दुष्करम्—अत्यन्त कठिन; तपः—तपस्या।

किन्तु जब प्रजापति दक्ष ने देखा कि वे ठीक से सभी प्रकार के जीवों को उत्पन्न नहीं कर पा रहे हैं, तो वे विन्ध्याचल पर्वतश्रेणी के निकट एक पर्वत पर गये और वहाँ पर उन्होंने अत्यन्त कठिन तपस्या की।

तत्राघमर्षणं नाम तीर्थं पापहरं परम् ।
उपस्पृश्यानुसवनं तपसातोषयद्धरिम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ पर; अघमर्षणम्—अघमर्षण; नाम—नामक; तीर्थम्—पवित्र स्थान; पाप-हरम्—सारे पापफलों को विनष्ट करने के लिए उपयुक्त; परम्—सर्वश्रेष्ठ; उपस्पृश्य—आचमन तथा स्नान करके; अनुसवनम्—नियमित रूप से; तपसा—तपस्या द्वारा; अतोषयत्—प्रसन्न किया; हरिम्—भगवान् को।

उस पर्वत के निकट अघमर्षण नामक एक तीर्थस्थल था। वहाँ पर प्रजापति दक्ष ने सारे कर्मकाण्ड सम्पन्न किये और भगवान् हरि को प्रसन्न करने के लिए महान् तपस्या में संलग्न होकर उन्हें संतुष्ट किया।

अस्तौषीद्धंसगुह्येन भगवन्तमधोक्षजम् ।
तुभ्यं तदभिधास्यामि कस्यातुष्यद्यथा हरिः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अस्तौषीत्—तुष्ट किया; हंस-गुह्येन—हंसगुह्य नामक प्रसिद्ध स्तुतियों से; भगवन्तम्—भगवान्; अधोक्षजम्—इन्द्रियों की पहुँच से परे; तुभ्यम्—तुमको; तत्—वह; अभिधास्यामि—बतलाऊँगा; कस्य—प्रजापति दक्ष से; अतुष्यत्—तुष्ट हो गया; यथा—जिस तरह; हरिः—भगवान्।

हे राजन्! अब मैं आपसे हंसगुह्य नामक स्तुतियों की पूरी व्याख्या करूँगा जिन्हें दक्ष ने भगवान् को अर्पित किया और मैं बताऊँगा कि किस तरह उन स्तुतियों से भगवान् उन पर प्रसन्न हुए।

तात्पर्य : यह समझने की बात है कि हंसगुह्य स्तुतियों की रचना दक्ष द्वारा नहीं हुई थी, अपितु वे वैदिक वाङ्मय में पहले से विद्यमान थीं।

श्रीप्रजापतिरुवाच

नमः परायावितथानुभूतये
गुणत्रयाभासनिमित्तबन्धवे ।
अदृष्टधाम्ने गुणतत्त्वबुद्धिभि-
र्निवृत्तमानाय दधे स्वयम्भुवे ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

श्री-प्रजापतिः उवाच—प्रजापति दक्ष ने कहा; नमः—सादर नमस्कार; पराय—परब्रह्म को; अवितथ—सही; अनुभूतये—उसको, जिसकी आध्यात्मिक शक्ति उसकी अनुभूति कराती है; गुण-त्रय—प्रकृति के तीनों गुणों का; आभास—प्रकट होने वाले जीवों का; निमित्त—तथा भौतिक शक्ति का; बन्धवे—नियन्ता को; अदृष्ट-धाम्ने—जो अपने धाम में देखे नहीं जाते; गुण-तत्त्व-बुद्धिभिः—बद्धजीवों द्वारा जिनकी मन्द बुद्धि बताती है कि असली सत्य प्रकृति के तीन गुणों की अभिव्यक्ति में पाया जाता है; निवृत्त-मानाय—जो सारे भौतिक मापों तथा गणनाओं को पार कर चुका हो; दधे—अर्पित करता हूँ; स्वयम्भुवे—परमेश्वर, बिना कारण के प्रकट होने वाले भगवान् को।

प्रजापित दक्ष ने कहा : भगवान् माया तथा उससे उत्पन्न शारीरिक कोटियों से परे हैं। उनमें अचूक ज्ञान तथा परम इच्छा-शक्ति रहती है और वे जीवों तथा माया के नियन्ता हैं। जिन बद्धात्माओं ने इस भौतिक जगत को सर्वस्व समझ रखा है वे उन्हें नहीं देख सकते, क्योंकि वे व्यावहारिक ज्ञान के प्रमाण से परे हैं। वे स्वतः प्रकट तथा आत्म-तुष्ट हैं। वे किसी कारण द्वारा उत्पन्न नहीं किये जाते। मैं उन्हें सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् की दिव्य स्थिति की व्याख्या हुई है। वे उन बद्धात्माओं द्वारा नहीं देखे जा सकते जो भौतिक दृष्टिकोण के आदी हैं और जो यह नहीं समझ सकते कि भगवान् अपने

उस धाम में विद्यमान रहते हैं, जो उनकी दृष्टि से परे है। भले ही कोई भौतिकतावादी व्यक्ति ब्रह्माण्ड के सारे परमाणुओं की गिनती कर ले, किन्तु फिर भी वह भगवान् को समझ नहीं सकता। जैसी कि *ब्रह्म संहिता* (५.३४) में पुष्टि की गई है—

पन्थास्तु कोटिशतवत्सरसंप्रगम्यो

वायोरथापि मनसो मुनिपुंगवानाम्।

सोऽप्यस्ति यत्प्रपदसीम्न्यविचिन्त्यतत्त्वे

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

बद्धात्माएँ करोड़ों वर्षों तक अपनी मानसिक चिन्तनपरक विधियों (मीमांसा) से मन या वायु की गति से यात्रा करते हुए भगवान् को समझने का प्रयास क्यों न करें फिर भी परब्रह्म उनके लिए अचिन्त्य बने रहेंगे, क्योंकि भौतिकतावादी व्यक्ति भगवान् के असीम अस्तित्व की लम्बाई तथा चौड़ाई को नहीं माप सकता। यदि परब्रह्म माप से परे हैं, तो यह प्रश्न किया जा सकता है कि कोई उनकी अनुभूति किस तरह करे? इसका उत्तर यहाँ पर *स्वयम्भुवे* शब्द द्वारा दिया गया है, जिसका अर्थ है कि कोई उन्हें समझे या न समझे, फिर भी वे अपनी आध्यात्मिक शक्ति में विद्यमान रहते हैं।

न यस्य सख्यं पुरुषोऽवैति सख्युः
सखा वसन्संवसतः पुरेऽस्मिन् ।
गुणो यथा गुणिनो व्यक्तदृष्टे-
स्तस्मै महेशाय नमस्करोमि ॥ २४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यस्य—जिसका; सख्यम्—मैत्रीभाव; पुरुषः—जीव; अवैति—जानता है; सख्युः—परम मित्र का; सखा—मित्र; वसन्—रहते हुए; संवसतः—साथ रहने वाले के; पुरे—शरीर में; अस्मिन्—यह; गुणः—इन्द्रिय अनुभूति का विषय; यथा—जिस तरह; गुणिनः—उसी इन्द्रिय का; व्यक्त-दृष्टेः—जो भौतिक जगत का निरीक्षण करता है; तस्मै—उस; महा-ईशाय—परम नियन्ता को; नमस्करोमि—मैं नमस्कार करता हूँ।

जिस तरह इन्द्रियविषय (रूप, स्वाद, स्पर्श, गन्ध तथा ध्वनि) यह नहीं समझ सकते

कि इन्द्रियाँ उनकी अनुभूति किस तरह करती हैं, उसी तरह बद्ध-आत्मा यद्यपि अपने शरीर में परमात्मा के साथ-साथ निवास करता है, यह नहीं समझ सकता कि भौतिक सृष्टि के स्वामी परम आध्यात्मिक पुरुष किस तरह उसकी इन्द्रियों को निर्देश देते हैं। मैं उन परम पुरुष को सादर नमस्कार करता हूँ जो परम नियन्ता हैं।

तात्पर्य : व्यष्टि आत्मा तथा परमात्मा एकसाथ शरीर के भीतर निवास करते हैं। इसकी पुष्टि उपनिषदों में इस उपमा से की जाती है कि दो मित्र पक्षी एक ही वृक्ष में निवास करते हैं—एक पक्षी उस वृक्ष के फल को खा रहा है और दूसरा एकमात्र साक्षी है और उसका निर्देशन करता है। यद्यपि व्यष्टि जीव, जिसकी उपमा फल खा रहे पक्षी से दी गई है, अपने मित्र परमात्मा के साथ बैठा हुआ है, किन्तु व्यष्टि जीव उसे देख नहीं सकता। वस्तुत: परमात्मा इन्द्रियविषयों के भोग में उसकी इन्द्रियों के कामकाज में निर्देश देते रहते हैं, किन्तु जिस तरह ये इन्द्रिय-विषय इन्द्रियों को नहीं देख सकते उसी तरह बद्धात्मा उस निर्देशनकारी आत्मा को नहीं देख सकता। बद्धात्मा के कई इच्छाएँ होती हैं और परमात्मा उन्हें पूरी करता है, किन्तु बद्धात्मा उस परमात्मा को देख नहीं पाता। इस तरह दक्ष प्रजापति परमात्मा को नमस्कार करते हैं, यद्यपि वे उन्हें देख पाने में असमर्थ हैं। अन्य उदाहरण यह है कि यद्यपि सामान्य नागरिक सरकार के निर्देश के अन्तर्गत कार्य करते हैं, किन्तु वे यह नहीं समझ सकते कि वे किस तरह शासित हो रहे हैं या कि सरकार क्या है? इस प्रसंग में मध्वाचार्य *स्कन्द पुराण* का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करते हैं—

यथा राज्ञ: प्रियत्वं तु भृत्या वेदेन चात्मन: ।

तथा जीवो न यत्सख्यं वेत्ति तमै नमोऽस्तु ते॥

''जिस तरह किसी बृहद् संस्थान के विभिन्न विभागों के अनेकों सेवक उस सर्वोच्च प्रबन्ध-निर्देशक को नहीं देख पाते जिसके अधीन वे कार्य करते हैं, उसी तरह बद्धात्माएँ अपने शरीर के भीतर बैठे हुए परम मित्र को नहीं देख पातीं। इसलिए हम उस परम को सादर नमस्कार करते हैं, जो हमारी भौतिक आँखों से अदृश्य है।''

देहोऽसवोऽक्षा मनवो भूतमात्रा-
मात्मानमन्यं च विदुः परं यत् ।
सर्वं पुमान्वेद गुणांश्च तज्ज्ञो
न वेद सर्वज्ञमनन्तमीडे ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

देहः—यह शरीर; असवः—प्राण वायु; अक्षाः—विभिन्न इन्द्रियाँ; मनवः—मन, ज्ञान, बुद्धि तथा अहंकार; भूत-मात्राम्—पाँच स्थूल तत्त्व तथा पाँच इन्द्रिय-विषय (रूप, स्वाद, ध्वनि इत्यादि); आत्मानम्—अपने आप; अन्यम्—अन्य; च—तथा; विदुः—जानते हैं; परम्—परे; यत्—जो; सर्वम्—हर वस्तु; पुमान्—जीव; वेद—जानता है; गुणान्—प्रकृति के गुणों को; च—तथा; तत्-ज्ञः—उन वस्तुओं को जानने वाला; न—नहीं; वेद—जानता है; सर्व-ज्ञम्—सर्वज्ञ को; अनन्तम्—असीम; ईडे—मैं सादर नमस्कार करता हूँ।

केवल पदार्थ होने के कारण शरीर, प्राण वायु, बाह्य तथा आन्तरिक इन्द्रियाँ, पाँच स्थूल तत्त्व तथा सूक्ष्म इन्द्रियविषय (रूप, स्वाद, गन्ध, ध्वनि तथा स्पर्श) अपने स्वभाव को, अन्य इन्द्रियों के स्वभाव को या उनके नियन्ताओं के स्वभाव को नहीं जान पाते हैं। किन्तु जीव अपने आध्यात्मिक स्वभाव के कारण अपने शरीर, प्राणवायु, इन्द्रियों, तत्त्वों तथा इन्द्रियविषयों को जान सकता है और वह तीन गुणों को भी, जो उनके मूल में होते हैं, जान सकता है। इतने पर भी, यद्यपि जीव उनसे पूर्णतया भिन्न होता है, किन्तु वह परम पुरुष को, जो सर्वज्ञ तथा असीम है, देख पाने में अक्षम रहता है। इसलिए मैं उन्हें सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : यद्यपि भौतिक विज्ञानी भौतिक तत्त्वों, शरीर, इन्द्रियों, इन्द्रियविषयों तथा प्राणशक्ति को नियंत्रित करने वाली वायु तक का भी विश्लेषणात्मक अध्ययन कर सकते हैं, तो भी वे यह नहीं समझ पाते कि इन सबों के ऊपर एक असली आत्मा है। दूसरे शब्दों में, आत्मा होने के कारण जीव सारी भौतिक वस्तुओं को समझ सकता है या स्वरूपसिद्ध होने पर वह उन परमात्मा को समझ सकता है जिनका योगीजन ध्यान करते हैं। जीव चाहे कितना बढ़ा-चढ़ा क्यों न हो, परम पुरुष भगवान् को नहीं समझ सकता, क्योंकि वे छहों ऐश्वर्यों से युक्त अनन्त अर्थात् असीम हैं।

यदोपरामो मनसो नामरूप-
रूपस्य दृष्टस्मृतिसम्प्रमोषात् ।
य ईयते केवलया स्वसंस्थया
हंसाय तस्मै शुचिसद्मने नमः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब समाधि में; उपरामः—पूर्ण विराम; मनसः—मन का; नाम-रूप—भौतिक नाम तथा रूप; रूपस्य—उसका जिससे वे प्रकट होते हैं; दृष्ट—भौतिक दृष्टि का; स्मृति—तथा स्मरण का; सम्प्रमोषात्—विनाश के कारण; यः—जो (भगवान्); ईयते—अनुभव किया जाता है; केवलया—आध्यात्मिक; स्व-संस्थया—अपने आदि रूप से; हंसाय—परम विशुद्ध को; तस्मै—उस; शुचि-सद्मने—जो आध्यात्मिक अस्तित्व की शुद्ध अवस्था में ही अनुभव किया जाता है; नमः—मैं सादर नमस्कार करता हूँ।.

जब मनुष्य की चेतना स्थूल तथा सूक्ष्म भौतिक जगत के कल्मष से पूरी तरह शुद्ध हो जाती है और कार्य करने तथा स्वप्न देखने की अवस्थाओं से विचलित नहीं होती तथा जब मन सुषुप्ति अर्थात् गहरी नीद में लीन नहीं होता तो वह समाधि के पद को प्राप्त होता है। तब उसकी भौतिक दृष्टि तथा मन की स्मृतियाँ, जो नामों तथा रूपों को प्रकट करती हैं, विनष्ट हो जाती हैं। केवल ऐसी ही समाधि में भगवान् प्रकट होते हैं। अतः हम उन भगवान् को नमस्कार करते हैं, जो उस अकलुषित दिव्य अवस्था में देखे जाते हैं।

तात्पर्य : *ईश-साक्षात्कार* की दो अवस्थाएँ हैं। एक *सुज्ञेयम्* कहलाती है, अर्थात् जो आसानी से समझ में आ जाये (सामान्य तथा मानसिक चिन्तन से) तथा दूसरी *दुर्ज्ञेयम्* कहलाती है, जो कठिनाई से ही समझी जाती है। परमात्मा के साक्षात्कार तथा ब्रह्म के साक्षात्कार को *सुज्ञेयम्* माना जाता है, किन्तु भगवान् का साक्षात्कार *दुर्ज्ञेयम्* है। जैसाकि यहाँ पर वर्णन किया गया है जब मनुष्य मन के कार्यों को—सोचने, अनुभव करने तथा इच्छा करने को त्याग—देता है अथवा दूसरे शब्दों में, जब मानसिक चिन्तन रुक जाता है, तो उसे भगवान् का साक्षात्कार होता है। यह दिव्य साक्षात्कार या अनुभूति सुषुप्ति अर्थात् गहरी निद्रा से भी ऊपर है। हम अपनी स्थूल बद्धावस्था में वस्तुओं को भौतिक अनुभव तथा स्मृति के द्वारा इन्द्रियगोचर करते हैं और सूक्ष्म अवस्था में हम जगत की अनुभूति स्वप्न में करते हैं। देखने की विधि में स्मृति भी निहित रहती है और वह सूक्ष्म

रूप में भी विद्यमान रहती है। स्थूल अनुभव तथा स्वप्नों के ऊपर *सुषुप्ति* है और जब कोई सुषुप्ति को लाँघकर पूर्णतया आध्यात्मिक पद को प्राप्त होता है, तो उसे समाधि, *विशुद्ध सत्त्व* या *वसुदेव सत्त्व* प्राप्त होता है, जिसमें भगवान् के दर्शन होते हैं।

अत: *श्रीकृष्णनामादि न भवेद्ग्राह्यमिन्द्रियै:*—जब तक कोई द्विधा में, ऐन्द्रिय पद पर, जो स्थूल हो या सूक्ष्म, स्थित रहता है, तब तक आदि भगवान् का साक्षात्कार असम्भव है। *सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यद:*, किन्तु जब कोई अपनी इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाता है—विशेषतया जब वह अपनी जीभ को हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करने में लगाता है तथा वह सेवाभाव से केवल कृष्ण-प्रसाद का आस्वादन करने में लगा रहता है, तो भगवान् प्रकट होते हैं। इसका संकेत इस श्लोक में *शुचि सद्मने* शब्दों से होता है। *शुचि* का अर्थ है ''शुद्ध''। अपनी इन्द्रियों से सेवा करने के भाव से मनुष्य का सारा जीवन *शुचिसद्म* अर्थात् अकलुषित शुद्धि का पद बन जाता है। इसलिए दक्ष भगवान् को सादर नमस्कार करते हैं, जो *शुचिसद्म* के पद पर प्रकट होते हैं। इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर *श्रीमद्भागवत* (१०.१४.६) से ब्रह्मा की यह स्तुति उद्धृत करते हैं—*तथापि भूमन् महिमागुणस्य ते विबोद्धुमर्हत्यम-लान्तरात्मभि:*—हे प्रभो! जिसका हृदय पूर्णतया शुद्ध हो चुका है, वही आपके दिव्य गुणों का तथा आपके कार्यों की महानता को समझ सकता है।

मनीषिणोऽन्तर्हृदि सन्निवेशितं
स्वशक्तिभिर्नवभिश्च त्रिवृद्भि: ।
वह्निं यथा दारुणि पाञ्चदश्यं
मनीषया निष्कर्षन्ति गूढम् ॥ २७॥
स वै ममाशेषविशेषमाया
निषेधनिर्वाणसुखानुभूति: ।
स सर्वनामा स च विश्वरूप:
प्रसीदतामनिरुक्तात्मशक्ति: ॥ २८॥

शब्दार्थ

मनीषिणः—महान् विद्वान ब्राह्मण जो अनुष्ठानों तथा यज्ञों को सम्पन्न करे; अन्तः-हृदि—हृदय के भीतर; सन्निवेशितम्—स्थित होते हुए; स्व-शक्तिभिः—अपनी आध्यात्मिक शक्तियों से; नवभिः—नौ भिन्न-भिन्न भौतिक शक्तियों से भी (प्रकृति, पूर्ण भौतिक शक्ति, अहंकार, मन तथा पाँच इन्द्रिय विषय); च—और (पांच स्थूल भौतिक तत्त्वों तथा दस कार्येन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय); त्रिवृद्भिः—प्रकृति के तीनों भौतिक गुणों द्वारा; वह्निम्—अग्नि; यथा—जिस तरह; दारुणि—काष्ठ के भीतर; पाञ्चदश्यम्—सामिधेनि मंत्र नामक पन्द्रह मंत्रों के उच्चारण से उत्पन्न; मनीषया—शुद्ध बुद्धि द्वारा; निष्कर्षन्ति—निचोड़ते हैं; गूढम्—यद्यपि प्रकट न करते हुए; सः—भगवान्; वै—निस्सन्देह; मम—मेरे प्रति; अशेष—समस्त; विशेष—किस्में; माया—माया की; निषेध—निषेध विधि द्वारा; निर्वाण—मुक्ति का; सुख-अनुभूतिः—जो दिव्य आनन्द द्वारा अनुभव किया जाता है; सः—भगवान्; सर्व-नामा—सभी नामों का स्रोत; सः—वह, भगवान्; च—भी; विश्व-रूपः—ब्रह्माण्ड का विराट रूप; प्रसीदताम्—दयालु हो; अनिरुक्त—अचिन्त्य; आत्म-शक्तिः—समस्त आध्यात्मिक शक्तियों का आगार।

जिस तरह कर्मकाण्ड तथा यज्ञ करने में निपुण प्रकांड विद्वान ब्राह्मण पन्द्रह सामिधेनी मंत्रों का उच्चारण करके काष्ठ के भीतर सुप्त अग्नि को बाहर निकाल सकते हैं और इस तरह वैदिक मंत्रों की दक्षता को सिद्ध करते हैं, उसी तरह जो लोग कृष्णभावनामृत में वस्तुतः बढ़े-चढ़े होते हैं—दूसरे शब्दों में, जो कृष्णभावनाभावित होते हैं—वे परमात्मा को ढूँढ सकते हैं, जो अपनी आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा हृदय के भीतर स्थित रहते हैं। हृदय प्रकृति के तीनों गुणों से तथा नौ भौतिक तत्त्वों (प्रकृति, कुल भौतिक शक्ति, अहंकार, मन तथा इन्द्रिय तृप्ति के पाँचों विषय) एवं पाँच भौतिक तत्त्वों तथा दस इन्द्रियों द्वारा आच्छादित रहता है। ये सत्ताईस तत्त्व मिलकर भगवान् की बहिरंगा शक्ति का निर्माण करते हैं। बड़े बड़े योगी भगवान् का ध्यान करते हैं, जो परमात्मा रूप में हृदय के भीतर स्थित हैं। वह परमात्मा मुझ पर प्रसन्न हों। जब कोई भौतिक जीवन की असंख्य विविधताओं से मुक्ति के लिए उत्सुक होता है, तो परमात्मा का साक्षात्कार होता है। वस्तुतः उसे ऐसी मुक्ति तब मिलती है जब वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लग जाता है और अपनी सेवा प्रवृत्ति के कारण भगवान् का साक्षात्कार करता है। भगवान् को उन अनेक आध्यात्मिक नामों से सम्बोधित किया जा सकता है, जो भौतिक इन्द्रियों के लिए अकल्पनीय हैं। वे भगवान् मुझ पर कब प्रसन्न होंगे?

तात्पर्य : इस श्लोक की टीका करते हुए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर *दुर्विज्ञेयम्* शब्द का प्रयोग करते हैं जिसका अर्थ है "समझने में अति कठिन।" *भगवद्गीता* (७.२८) में जीवन की

शुद्ध अवस्था का वर्णन हुआ है, जिसमें कृष्ण कहते हैं—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

''जिन मनुष्यों ने पूर्वजन्मों में तथा इस जन्म में पुण्यकर्म किये हैं और जिनके पापकर्मों का पूर्णतया उच्छेदन हो चुका होता है, वे मोह के द्वन्द्वों से मुक्त हो जाते हैं और संकल्पपूर्वक मेरी सेवा में तत्पर होते हैं।''

भगवद्गीता में ही अन्यत्र (९.१४) भगवान् कहते हैं—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।

नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

''ये महात्मा मेरी महिमा का नित्य कीर्तन करते हुए, दृढ़ संकल्प के साथ प्रयास करके, मुझे नमस्कार करते हुए, भक्तिभाव से निरन्तर मेरी पूजा करते हैं।''

मनुष्य समस्त भौतिक अवरोधों को लाँघने के बाद भगवान् को समझ सकता है। इसलिए भगवान् कृष्ण ने *गीता* (७.३) में यह भी कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

''कई हजारों मनुष्यों में से कोई एक सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है और इस तरह सिद्धि प्राप्त करने वालों में से मुश्किल से कोई एक मुझे वास्तव में जान पाता है।''

भगवान् कृष्ण को समझ पाने के लिए मनुष्य को कठिन तपस्या करनी होती है, किन्तु भक्ति का मार्ग पूर्ण है, अतएव इस विधि का पालन करने से मनुष्य आसानी से आध्यात्मिक पद को प्राप्त करके भगवान् को समझ सकता है। इसकी भी पुष्टि *भगवद्गीता* (१८.५५) में हुई है जहाँ कृष्ण कहते हैं—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।

ततो मा तत्त्वतो ज्ञात्वा वशते तदनन्तरम्॥

''केवल भक्ति से मुझ भगवान् को यथारूप में जाना जा सकता है। और जब मनुष्य ऐसी भक्ति में पूर्णतया भावनाभावित हो जाता है, तो वह वैकुण्ठलोक में प्रवेश कर सकता है।''

इस तरह यद्यपि विषय *दुर्विज्ञेयम्* अर्थात् समझ पाने में अतीव मुश्किल है, किन्तु निर्धारित विधि का पालन करने से यह आसान बन जाता है। भगवान् का सम्पर्क शुद्ध भक्ति के माध्यम से ही सम्भव है, जिसकी शुरुआत *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* से होती है। इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर *श्रीमद्भागवत* का यह श्लोक (२.८.५) उद्धृत करते है—*प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।* श्रवण तथा कीर्तन की विधि हृदय के भीतर प्रवेश करती है और इस तरह मनुष्य शुद्ध भक्त बन जाता है। इस विधि को चालू रखने पर वह दिव्य प्रेम की अवस्था को प्राप्त होता है और तब वह भगवान् के दिव्य नाम, रूप, गुण तथा लीलाओं का प्रशंसक बन जाता है। दूसरे शब्दों में, भक्ति द्वारा शुद्ध भक्त भगवान् की विविध शक्तियों के रूप में अनेक भौतिक अवरोधों के आने पर भी भगवान् का दर्शन करने में समर्थ होता है। भक्त इन अवरोधों के बीच आसानी से गुजरता हुआ भगवान् के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आता है। आखिर, इन श्लोकों में वर्णित भौतिक अवरोध भगवान् की विविध शक्तियाँ ही तो होती हैं। जब भक्त भगवान् का दर्शन करने के लिए उत्सुक होता है, तो वह उनसे प्रार्थना करता है—

अपि नन्दतनुज किंकरं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।

कृपया तव पादपंकजस्थितधूलीसदृशं विचिन्तय॥

''हे महाराज नन्द के पुत्र (कृष्ण)! मैं आपका नित्य सेवक हूँ फिर भी न जाने कैसे मैं जन्म-मृत्यु के सागर में गिर गया हूँ! कृपया मुझे इस मृत्यु के सागर से निकालकर अपने चरणकमलों पर एक धूलि कण के रूप में रख लीजिये।'' भगवान् भक्त पर प्रसन्न होकर उसके सारे भौतिक अवरोधों को आध्यात्मिक सेवा में बदल देते हैं। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर *विष्णु पुराण* का यह श्लोक उद्धृत करते हैं—

ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित् त्वय्येका सर्वसंस्थितौ।

ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥

भौतिक जगत में भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति *तापकरी* अर्थात् ''कष्ट देने वाली'' के रूप में प्रकट होती है। हर कोई सुख के लिए लालायित रहता है, किन्तु सुख जो कि भगवान् की ह्लादिनी शक्ति से मूलत: उत्पन्न होता है, भौतिक जगत में भौतिक कार्यों के कारण भगवान् की यह ह्लादिनी शक्ति दुख का कारण (*ह्लादतापकरी*) बन जाती है। भौतिक जगत में मिथ्या सुख ही दुख का कारण है, किन्तु जब सुख के लिए किये गये प्रयत्न भगवान् की तुष्टि की दिशा में निर्देशित होते हैं, तो दुख का यह *तापकरी* तत्त्व समाप्त हो जाता है। इस सम्बन्ध में जो उदाहरण दिया जाता है, वह है कि काठ से अग्नि उत्पन्न करना अतीव कठिन है, किन्तु जब अग्नि उत्पन्न हो जाती है, तो वह काठ को भी भस्म कर देती है। दूसरे शब्दों में, जो लोग भक्ति से रहित हैं उनके लिए भगवान् की अनुभूति कर पाना अत्यन्त कठिन है, किन्तु भक्त के लिए हर काम सरल हो जाता है और इस तरह वह भगवान् से सरलता से मिल सकता है।

यहाँ पर ये स्तुतियाँ बतलाती हैं कि भगवान् का स्वरूप भौतिक स्वरूप की सीमा के परे है, अतएव वह अचिन्त्य है। किन्तु भक्त तो यह प्रार्थना करता है, ''हे प्रभु! आप मुझसे प्रसन्न हों जिससे मैं आपके दिव्य रूप तथा शक्ति का सरलता से दर्शन कर सकूँ।'' अभक्त गण *नेति नेति* के वादविवाद द्वारा परब्रह्म को समझने का प्रयास करते हैं। *निषेधनिर्वाणसुखानुभूति:*—किन्तु भक्त एकमात्र भगवन्नाम का कीर्तन करके ऐसे श्रमसाध्य चिन्तन से अपने को दूर रखता है और सरलता से भगवान् की अनुभूति करता है।

यद्यन्निरुक्तं वचसा निरूपितं
धियाक्षभिर्वा मनसोत यस्य ।
मा भूत्स्वरूपं गुणरूपं हि तत्तत्
स वै गुणापायविसर्गलक्षण: ॥ २९॥

शब्दार्थ

यत् यत्—जो भी; निरुक्तम्—कथित; वचसा—शब्दों से; निरूपितम्—सुनिश्चित; धिया—तथाकथित ध्यान या बुद्धि से; अक्षभिः—इन्द्रियों से; वा—अथवा; मनसा—मन से; उत—निश्चय ही; यस्य—जिसका; मा भूत्—नहीं हो सकता; स्व-रूपम्—भगवान् का वास्तविक रूप; गुण-रूपम्—तीनों गुणों से युक्त; हि—निस्सन्देह; तत् तत्—वह; सः—वह भगवान्; वै—निस्सन्देह; गुण-अपाय—तीन गुणों से बनी हुई हर वस्तु के संहार का कारण; विसर्ग—तथा सृष्टि; लक्षणः—के रूप में प्रकट।

भौतिक ध्वनियों द्वारा व्यक्त, भौतिक बुद्धि द्वारा सुनिश्चित तथा भौतिक इन्द्रियों द्वारा अनुभव की गई अथवा भौतिक मन के भीतर गढ़ी गई कोई भी वस्तु भौतिक प्रकृति के गुणों के प्रभाव के अतिरिक्त कुछ नहीं होती, इसलिए भगवान् के असली स्वभाव से उसका किसी तरह का सम्बन्ध नहीं होता। परमेश्वर इस भौतिक जगत की सृष्टि के परे हैं, क्योंकि वे भौतिक गुणों तथा सृष्टि के स्त्रोत हैं। सभी कारणों के कारण होते हुए, वे सृष्टि के पूर्व तथा सृष्टि के पश्चात् विद्यमान रहते हैं। मैं उन्हें सादर प्रणाम करना चाहता हूँ।

तात्पर्य : जो भगवान् से सम्बद्ध नामों, रूपों, गुणों या साज-सामग्री को गढ़ता है, वह उन्हें नहीं समझ सकता, क्योंकि वे सृष्टि से परे हैं। भगवान् हर वस्तु के स्त्रष्टा हैं जिसका अर्थ है कि वे सृष्टि के पूर्व उपस्थित थे। दूसरे शब्दों में, उनका नाम, रूप तथा गुण भौतिक रूप से उत्पन्न जीव नहीं हैं। वे सदैव दिव्य रहते हैं। अतएव अपने भौतिक मनोरथों, ध्वनियों तथा विचारों से हम भगवान् को सुनिश्चित नहीं कर सकते। इसकी व्याख्या *अतः श्रीकृष्णनामादिन भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः* श्लोक में हुई है।

यहाँ पर प्राचेतस दक्ष ब्रह्म की स्तुति कर रहे हैं—भौतिक सृष्टि के भीतर किसी व्यक्ति की नहीं। एकमात्र मूर्ख तथा धूर्त ईश्वर को भौतिक सृष्टि समझते हैं। इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.११) में की है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

''जब मैं मनुष्य रूप में अवतरित होता हूँ तो मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। वे मुझ परमेश्वर के दिव्य स्वभाव को नहीं जानते।'' इसलिए मनुष्य को चाहिए कि ऐसे पुरुष से ज्ञान प्राप्त करे

जिसके समक्ष भगवान् प्रकट हो चुके हों। भगवान् के लिए काल्पनिक नाम या रूप निर्मित करने का महत्त्व नहीं है। श्रीपाद शंकराचार्य निर्विशेषवादी थे, किन्तु तो भी उन्होंने कहा—*नारायण: परोऽव्यक्तात्*—नारायण या भगवान् इस भौतिक जगत के व्यक्ति नहीं हैं। हम नारायण को भौतिक उपाधि नहीं प्रदान कर सकते, जैसाकि मूर्ख लोग *दरिद्रनारायण* की बात करते समय प्रयास करते हैं। नारायण सदैव दिव्य हैं, इस भौतिक सृष्टि से परे। वे *दरिद्रनारायण* कैसे हो सकते हैं? दरिद्रता इस जगत में पाई जाती है, किन्तु आध्यात्मिक जगत में दरिद्रता जैसी कोई वस्तु नहीं है। अतएव दरिद्रनारायण का विचार कोरी मनोकल्पना है।

दक्ष बहुत ही सावधानी से इंगित करते हैं कि भौतिक उपाधियाँ पूज्य भगवान् के नाम नहीं हो सकतीं—*यद् यन्निरुक्तं वचसा निरूपितम्। निरुक्त* द्योतक है वैदिक कोश का। कोई व्यक्ति किसी शब्द-कोश की अभिव्यक्तियों को चुनने मात्र से भगवान् को ठीक से नहीं समझ सकता। भगवान् की स्तुति करते समय दक्ष अपनी पूजा के लिए भौतिक नामों तथा रूपों को विषयवस्तु नहीं बनाना चाहते, प्रत्युत वे भगवान् की पूजा करना चाहते हैं, जो भौतिक कोशों तथा नामों की सृष्टि के पहले विद्यमान थे। जैसा कि वेदों में पुष्टि की गई है—*यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह*—भगवान् के नाम, रूप, गुण तथा साज-सामग्री को भौतिक कोश द्वारा सुनिश्चित नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि कोई व्यक्ति भगवान् को समझने के दिव्य पद तक पहुँच जाता है, तो वह प्रत्येक वस्तु से, चाहे वह भौतिक हो अथवा आध्यात्मिक, भलीभाँति परिचित हो लेता है। इसकी पुष्टि एक दूसरे वैदिक मंत्र में हुई है—*तमेव विदित्वातिमृत्युमेति।* यदि कोई व्यक्ति भगवान् की कृपा से किसी तरह भगवान् की दिव्य स्थिति को समझ सकता है, तो वह शाश्वत बन जाता है। इसकी और आगे पुष्टि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (४.९) में की है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो मेरे आविर्भाव तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह इस शरीर को

छोड़ने पर इस संसार में पुन: जन्म नहीं लेता, अपितु मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।'' भगवान् को केवल समझ लेने से मनुष्य जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से परे चला जाता है। इसलिए श्रील शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को *श्रीमद्भागवत* (२.१.५) में सलाह दी है—

तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् ईश्वरो हरि:।

श्रोतव्य: कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभ्यम्॥

''हे राजा भरत के वंशज! जो व्यक्ति सारे कष्टों से मुक्त होना चाहता है उसे उन भगवान् का श्रवण, महिमा गायन तथा स्मरण भी करना चाहिए, जो परमात्मा, नियन्ता तथा समस्त कष्टों से बचाने वाले हैं।''

यस्मिन्यतो येन च यस्य यस्मै
यद्यो यथा कुरुते कार्यते च ।
परावरेषां परमं प्राक्प्रसिद्धं
तद्ब्रह्म तद्धेतुरनन्यदेकम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें (भगवान् या परम धाम में); यत:—जिससे (हर वस्तु उद्भूत है); येन—जिसके द्वारा (हर वस्तु निर्मित है); च—भी; यस्य—जिसकी (हर वस्तु है); यस्मै—जिसको (हर वस्तु अर्पित की जाती है); यत्—जो; य:—जो; यथा—जिस तरह; कुरुते—सम्पन्न करता है; कार्यते—कराया जाता है; च—भी; पर-अवरेषाम्—भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों जगतों में; परमम्—परम; प्राक्—उद्गम; प्रसिद्धम्—हर एक को भलीभाँति ज्ञात; तत्—वह; ब्रह्म—परब्रह्म; तत् हेतु:—समस्त कारणों के कारण; अनन्यत्—अन्य कारण न होते हुए; एकम्—अद्वितीय।

परब्रह्म कृष्ण प्रत्येक वस्तु के परम आश्रय तथा उद्गम हैं। हर कार्य उन्हीं के द्वारा किया जाता है, हर वस्तु उन्हीं की है और हर वस्तु उन्हीं को अर्पित की जाती है। वे ही परम लक्ष्य हैं और चाहे वे स्वयं कार्य करते हों या अन्यों से कराते हों, वे परम कर्ता हैं। वैसे उच्च तथा निम्न अनेक कारण हैं, किन्तु समस्त कारणों के कारण होने से वे परब्रह्म कहलाते हैं, जो समस्त कार्यकलापों के पहले से विद्यमान थे। वे अद्वितीय हैं और उनका कोई अन्य कारण नहीं है। मैं उनको सादर प्रणाम करता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण आदि कारण हैं जैसा कि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है (*अहं सर्वस्य प्रभव:*)। यहाँ तक कि यह भौतिक जगत, जो प्रकृति के गुणों के अधीन संचालित होता है, भगवान् द्वारा उत्पन्न किया जाता है; इसलिए भौतिक जगत से भी उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि भौतिक जगत उनके शरीर का अंश न होता तो परम कारण स्वरूप भगवान् अपूर्ण होते। इसलिए हम सुनते हैं—*वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ:*—यदि कोई जान लेता है कि वासुदेव ही समस्त कारणों के आदि कारण हैं, तो वह पूर्ण महात्मा बन जाता है।

ब्रह्म-संहिता (५.१) घोषित करती है—

ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्द विग्रह:।

अनादिरादिर्गोविन्द: सर्वकारणकारणम्॥

"गोविन्द कहे जाने वाले कृष्ण परम नियन्ता हैं। उनका शरीर नित्य, आनन्दमय तथा आध्यात्मिक है। वे सबों के उद्गम हैं। उनका कोई अन्य उद्गम नहीं, क्योंकि वे समस्त कारणों के आदि कारण हैं।" परब्रह्म (तद्ब्रह्म) समस्त कारणों के कारण हैं, किन्तु उनका कोई कारण नहीं है। *अनादिरादिर्गोविन्द: सर्वकराणकारणम्*—गोविन्द अर्थात् कृष्ण समस्त कारणों के कारण हैं, किन्तु गोविन्द रूप में उनके प्राकट्य का कोई कारण नहीं है। गोविन्द विविध रूपों में विस्तार करते हैं फिर भी वे सारे रूप एक हैं। जैसाकि मध्वाचार्य ने पुष्टि की है—*अनन्य: सद्दशाभावाद् एको रूपाद्यभेदत:*—कृष्ण का न तो कोई कारण है न कोई साद्दश्य। वे एक हैं, क्योंकि उनके विविध रूप—यथा *स्वांश* तथा *विभिन्नांश*—उनसे अभिन्न हैं।

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै
विवादसंवादभुवो भवन्ति ।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं
तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

यत्-शक्तयः—जिसकी नाना शक्तियाँ; वदताम्—विभिन्न दर्शनों को बताने वाली; वादिनाम्—वक्ताओं के; वै—निस्सन्देह; विवाद—तर्क का; संवाद—तथा रजामन्दी, विचार ऐक्य; भुवः—कारण; भवन्ति—हैं; कुर्वन्ति—उत्पन्न करते हैं; च—तथा; एषाम्—उनके (सिद्धान्तवादियों के); मुहुः—निरन्तर; आत्म-मोहम्—आत्मा के अस्तित्व के विषय में मोह; तस्मै—उसको; नमः—मेरा सादर नमस्कार; अनन्त—असीम; गुणाय—दिव्य गुणों वाले; भूम्ने—सर्वव्यापक प्रभु।.

मैं उन सर्वव्यापक भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ जो अनन्त दिव्य गुणों से युक्त हैं। वे विभिन्न मतों का प्रसार करने वाले समस्त दार्शनिकों के हृदय के भीतर से कार्य करते हुए उनसे उनकी ही आत्मा को भुलवाते हैं, कभी उनमें परस्पर मतैक्य कराते हैं, तो कभी मत भिन्नता कराते हैं। इस तरह वे इस भौतिक जगत में ऐसी स्थिति उत्पन्न करते हैं जिसमें वे किसी भी दार्शनिक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते। मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : अनादि काल से अथवा विराट जगत की सृष्टि काल से बद्धात्माओं ने दार्शनिक चिन्तन के विविध वर्ग बना रखे हैं, किन्तु भक्तों के साथ ऐसा नहीं है। अभक्तों में सृष्टि, पालन तथा संहार के विषय में भिन्न-भिन्न विचार हैं, अतएव वे *वादी* तथा *प्रतिवादी* कहलाते हैं। *महाभारत* के कथन से ज्ञात होता है कि *मुनि* या चिन्तक अनेक हैं—

तर्कोऽप्रतिष्ठ: श्रुतयो विभिन्ना नासावृषिर्यस्य मतं न भिन्नम्॥

सारे चिन्तकों में मतभेद होना आवश्यक हैं अन्यथा परम कारण को सुनिश्चित करने वाले इतने विरोधी वर्ग क्यों होते ?

दर्शन का अर्थ है परम कारण की खोज। *वेदान्त सूत्र* ने अत्यन्त तार्किक बात कही है *अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा*—मानव जीवन परम कारण को समझने के लिए मिला है। भक्तजन स्वीकार करते हैं कि परम कारण कृष्ण हैं, क्योंकि इस निष्कर्ष का समर्थन समस्त वैदिक वाङ्मय द्वारा तथा स्वयं कृष्ण द्वारा भी किया गया है, जो यह कहते हैं—*अहं सर्वस्य प्रभव:*—मैं हर वस्तु का स्रोत हूँ। भक्तों को हर वस्तु के चरम कारण को समझने में कोई समस्या नहीं उठती, किन्तु अभक्तों को अनेक विरोधी तत्त्वों का सामना करना पड़ता है, क्योंकि जो भी प्रमुख दार्शनिक बनना चाहता है, वह अपना मार्ग खोजता है। भारत में दार्शनिकों के अनेक वर्ग हैं यथा द्वैतवादी, अद्वैतवादी, वैशेषिक, मीमांसक, मायावादी तथा स्वभाववादी। इनमें से हर एक अन्यों का विरोध करता है।

इसी तरह पाश्चात्य देशों में भी अनेक दार्शनिक हैं, जो सृष्टि, जीवन, पालन तथा संहार के विषय में विभिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। अत: यह असंदिग्ध तथ्य है कि सारे विश्व में असंख्य दार्शनिक हैं जिनमें से हर एक दूसरे का खण्डन करता है।

अब कोई यह पूछ सकता है कि जब दर्शन का लक्ष्य एक है, तो फिर इतने सारे दार्शनिक क्यों हैं? निस्सन्देह, परम कारण तो एक ही है—परब्रह्म। जैसा कि *भगवद्गीता* (१०.१२) में अर्जुन ने कृष्ण से कहा—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।

पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥

"आप परम भगवान्, परम धाम, परम पवित्र, परम सत्य हैं। आप नित्य दिव्य, आदि पुरुष, अजन्मा तथा सर्वव्यापी सौन्दर्य हैं।" किन्तु अभक्त चिन्तक एक परम कारण को (*सर्वकारणकारणम्*) को स्वीकार नहीं करते। चूँकि वे आत्मा तथा उसके कार्यों से अनजान हैं तथा विमोहित रहते हैं, यद्यपि उनमें से कुछ को आत्मा विषयक अस्पष्ट विचार होता है, किन्तु अनेक विवाद उठ खड़े होते हैं और दार्शनिक चिन्तक (मीमांसक) कभी एक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। ये सारे चिन्तक भगवान् से ईर्ष्या करते हैं और जैसा कि *भगवद्गीता* (१६.१९-२०) में कृष्ण कहते हैं—

तानहं द्विषत: क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्रमशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

"जो लोग ईर्ष्यालु तथा अनिष्ट कारक हैं और नराधम हैं, उन्हें मैं निरन्तर भवसागर में विभिन्न आसुरी योनियों में डालता रहता हूँ। हे कुन्तीपुत्र! ऐसे व्यक्ति आसुरी योनि में बारम्बार जन्म ग्रहण करते हुए कभी भी मुझ तक पहुँच नहीं पाते। वे धीरे धीरे अधमतम गति में डूब जाते हैं।"

भगवान् के प्रति ईष्या करने से अभक्तगण जन्म-जन्मांतर आसुरी परिवारों में उत्पन्न होते हैं। वे महान् अपराधी हैं और उनके अपराधों के ही कारण भगवान् उन्हें सदा मोहग्रस्त बनाये रखते हैं। *कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहम्*—भगवान् उन्हें जानकर अंधकार में (*आत्ममोहम्*) रखते हैं।

व्यासदेव के पिता परम विद्वान पराशर ने भगवान् की व्याख्या इस प्रकार की है।

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ।

भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥

आसुरी चिन्तक भगवान् के दिव्य गुणों, रूप, लीलाओं, बल, ज्ञान तथा ऐश्वर्य को नहीं समझ सकते, क्योंकि ये सभी भौतिक कल्मष से रहित हैं (*विना हेयैर्गुणादिभिः*)। ये चिन्तक भगवान् के अस्तित्व से ईर्ष्या करते हैं। *जगदाहुरनीश्वरम्*—उनका निष्कर्ष यह है कि सम्पूर्ण विराट जगत का कोई नियन्ता नहीं है बल्कि यह स्वाभाविक रूप से कार्यशील है। इस तरह वे जन्म-जन्मांतर निरन्तर अंधकार में रखे जाते हैं और वे सभी कारणों के असली कारण को नहीं समझ सकते। दार्शनिक चिन्तन के अनेक पंथों के होने का यही कारण है।

अस्तीति नास्तीति च वस्तुनिष्ठयो-
रकस्थयोर्भिन्नविरुद्धधर्मणोः ।
अवेक्षितं किञ्चन योगसाङ्ख्ययोः
समं परं ह्यनुकूलं बृहत्तत् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अस्ति—है; इति—इस प्रकार; न—नहीं; अस्ति—है; इति—इस प्रकार; च—तथा; वस्तु-निष्ठयोः—परम कारण के ज्ञान का अनुयायी; एक-स्थयोः—एक ही विषय, ब्रह्म को स्थापित करने से युक्त; भिन्न—अलग दिखाते हुए; विरुद्ध-धर्मणोः—तथा विरोधी; अवेक्षितम्—अनुभूत किया; किञ्चन—वह जो कुछ; योग-साङ्ख्ययोः—योग तथा सांख्य-दर्शन का; समम्—समान; परम्—दिव्य; हि—निस्सन्देह; अनुकूलम्—निवास स्थान; बृहत् तत्—वह परम कारण।

संसार मे दो वर्ग हैं—आस्तिक तथा नास्तिक। परमात्मा को मानने वाला आस्तिक सम्पूर्ण योग में आध्यात्मिक कारण को पाता है। किन्तु भौतिक तत्त्वों का मात्र विश्लेषण करने वाला सांख्यधर्मी निर्विशेषवाद के निष्कर्ष को प्राप्त होता है और परम कारण को,

चाहे वह भगवान् हो, परमात्मा हो या ब्रह्म ही क्यों न हो, स्वीकार नहीं करता। उल्टे, वह भौतिक प्रकृति के व्यर्थ बाह्य कार्यों में व्यस्त रहता है। किन्तु अन्ततोगत्वा दोनों वर्ग एक परम सत्य की स्थापना करते हैं, क्योंकि विरोधी कथन करते हुए भी उनका लक्ष्य एक ही परम कारण होता है। वे दोनों ही जिस एक परब्रह्म के पास पहुँचते हैं उन्हें मैं सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : वस्तुत: इस तर्क के दो पक्ष हैं। कुछ कहते हैं ब्रह्म के कोई आकार नहीं होता (*निराकार*) और अन्य कहते हैं कि ब्रह्म के आकार है (*साकार*)। अत: ''आकार'' शब्द उभयनिष्ठ है यद्यपि कुछ इसे स्वीकार करते हैं (*अस्ति* या *आस्तिक*) जबकि अन्य लोग इसका निषेध करने का प्रयास करते हैं। (*नास्ति* अथवा *नास्तिक*)। चूँकि भक्त *आकार* को मानता है, जो दोनों के लिए उभयनिष्ठ है, अत: वह आकार को सादर नमस्कार करता है, भले ही अन्य लोग तर्क-वितर्क करते रहें कि ब्रह्म के आकार है या नहीं।

इस श्लोक में *योगसांख्ययो:* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। योग का अर्थ भक्तियोग है, क्योंकि योगीजन सर्वव्यापक परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और उन्हें अपने हृदयों के भीतर देखने का प्रयास करते हैं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१२.१३.१) में कहा गया है— *ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिन:।* भक्त भगवान् के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आना चाहता है, जबकि योगी ध्यान द्वारा परमात्मा को अपने हृदय में ढूँढने का प्रयास करता है। इस तरह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दोनों ही तरह से योग का अर्थ भक्तियोग है। किन्तु सांख्य का अर्थ है चिन्तनपरक ज्ञान के माध्यम से विराट जगत का भौतिक अध्ययन। यह सामान्यतया ज्ञानशास्त्र कहलाता है। सांख्यवादी निर्विशेष ब्रह्म से जुड़े होते हैं, किन्तु परम सत्य को तीन प्रकार से जाना जाता है। *ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते*—परम सत्य तो एक है, किन्तु कुछ लोग उसे निर्विशेष ब्रह्म के रूप में, कुछ सर्वत्र विद्यमान परमात्मा के रूप में तथा कुछ लोग भगवान् के रूप में स्वीकार करते हैं। केन्द्र बिन्दु तो परम सत्य है।

यद्यपि निर्विशेषवादी तथा सगुणवादी एक दूसरे से भिड़ते हैं, किन्तु वे उसी परब्रह्म, उसी परम सत्य पर केन्द्रित होते हैं। योगशास्त्र में कृष्ण का वर्णन इस प्रकार हुआ है—*कृष्णं पिशंगाम्बरम् अम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शंखगदाद्युदायुधम्।* इस तरह से भगवान् के आनन्द दायक शारीरिक स्वरूप, उनके अंगों तथा उनके वेश, का वर्णन किया जाता है। किन्तु *सांख्य-शास्त्र* भगवान् के दिव्य रूप के अस्तित्व को नहीं मानता। *सांख्य-शास्त्र* कहता है कि परब्रह्म के न तो हाथ हैं, न पाँव और न नाम—*ह्यनामरूपगुणपाणिपादमचक्षुरश्रोत्रमेकभद्वितीयमपि नामरूपाधिकं नास्ति।* वैदिक मंत्रों में *अपाणिपादो जवनोग्रहीत* कहा गया है अर्थात् परमेश्वर के पाँव तथा हाथ नहीं हैं, किन्तु जो कुछ भी उन्हें अर्पित किया जाता है उसे वे स्वीकार कर सकते हैं। वस्तुत: ऐसे कथन यह स्वीकार करते हैं कि ब्रह्म के हाथ पाँव हैं, किन्तु वे इस बात से इनकार करते हैं कि उनके भौतिक हाथ पाँव हैं। इसीलिए ब्रह्म को *अप्राकृत* कहा गया है। भगवान् कृष्ण के *सच्चिदानन्दविग्रह* है—ऐसा रूप जो नित्यता, ज्ञान तथा आनन्द रूप है, भौतिक रूप नहीं है। सांख्यवादी या ज्ञानी भौतिक रूप को नहीं मानते और भक्तगण भी भलीभाँति जानते हैं कि परम सत्य भगवान् के कोई भौतिक रूप नहीं है।

ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्दविग्रह:।

अनादिरादिर्गोविन्द: सर्वकारणकारणम्॥

''गोविन्द कहलाने वाले कृष्ण परम नियन्ता हैं। उनका शरीर नित्य, आनन्दमय तथा आध्यात्मिक है। वे सबों के उद्‌गम हैं। उनका कोई अन्य उद्‌गम नहीं हैं, क्योंकि वे समस्त कारणों के आदि कारण हैं।'' बिना हाथ पाँव वाले ब्रह्म की धारणा तथा हाथ पांव युक्त ब्रह्म की धारणा स्पष्टत: परस्पर विरोधी हैं, किन्तु दोनों ही परम ब्रह्म पुरुष के विषय में एक ही सत्य पर जाकर मिल जाती हैं। इसलिए यहाँ पर प्रयुक्त *वस्तु निष्ठयो:* शब्द यह सूचित करता है कि योगी तथा सांख्यवादी दोनों ही सत्यता पर विश्वास करते हैं, किन्तु वे भौतिक तथा आध्यात्मिक पहचानों के विभिन्न दृष्टिकोणों से उसके विषय में वादविवाद करते हैं। परब्रह्म या *बृहत्* उभयनिष्ठ बिन्दु है। सांख्यवादी तथा योगी दोनों ही उसी एक ब्रह्म पर स्थित हैं, किन्तु अपने भिन्न दृष्टिकोणों के कारण

उनमें भेद है।

भक्तिशास्त्र में दिये गये निर्देश सही दिशा को इंगित करते हैं, क्योंकि *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं *भक्त्या मामभिजानाति*—एकमात्र भक्ति द्वारा मैं जाना जा सकता हूँ। भक्तगण जानते हैं कि परम पुरुष के कोई भौतिक रूप नहीं है, जबकि ज्ञानी भौतिक रूप का केवल निषेध करते हैं। अतएव मनुष्य को भक्तिमार्ग की शरण लेनी चाहिए। तभी हर बात स्पष्ट हो सकेगी। ज्ञानी लोग विराट रूप पर मन को एकाग्र करते हैं। जो लोग नितान्त भौतिकतावादी हैं उनके लिए प्रारम्भ में यह अच्छी प्रणाली है, किन्तु लगातार विराट रूप के विषय में सोचने की आवश्यकता नहीं है। जब अर्जुन को कृष्ण का विराट रूप दिखाया गया तो उसने उसे देखा, किन्तु वह उसे निरन्तर देखना नहीं चाहता था। अतएव उसने भगवान् से प्रार्थना की कि वे अपने आदि द्विभुजी कृष्ण का रूप धारण कर लें। निष्कर्ष यह है कि विद्वानों को भगवान् के आध्यात्मिक रूप पर भक्तों की मन-एकाग्रता में कोई विरोधाभास नहीं दिखता (*ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः*। इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य कहते हैं कि अल्पज्ञ अभक्तजन सोचते हैं कि उनका निष्कर्ष अन्तिम है, किन्तु पूर्णतया विद्वान होने से भक्तगण यह समझ सकते हैं कि भगवान् चरम लक्ष्य हैं।

योऽनुग्रहार्थं भजतां पादमूल-
मनामरूपो भगवाननन्तः ।
नामानि रूपाणि च जन्मकर्मभि-
र्भेजे स मह्यं परमः प्रसीदतु ॥ ३३॥

शब्दार्थ

यः—जो (भगवान्); अनुग्रह-अर्थम्—अपनी अहैतुकी कृपा दिखाने के लिए; भजताम्—उन भक्तों को जो सदैव भक्ति करते हैं; पाद-मूलम्—उनके दिव्य चरणकमलों को; अनाम—किसी भौतिक नाम के बिना; रूपः—या भौतिक रूप; भगवान्—भगवान्; अनन्तः—असीम, सर्वव्यापक तथा नित्य विद्यमान; नामानि—दिव्य नाम; रूपाणि—दिव्य रुप; च—भी; जन्म-कर्मभिः—दिव्य जन्म तथा कार्यों के साथ; भेजे—प्रकट करता है; सः—वह; मह्यम्—मुझ पर; परमः—परम; प्रसीदतु—कृपालु हों।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् जो कि अचिन्त्य रूप से ऐश्वर्यवान् हैं, जो सारे भौतिक नामों, रूपों तथा लीलाओं से रहित हैं तथा जो सर्वव्यापक हैं, उन भक्तों पर विशेषरूप से कृपालु

रहते हैं, जो उनके चरणकमलों की पूजा करते हैं। इस तरह वे विभिन्न लीलाओं सहित दिव्य रूपों तथा नामों को प्रकट करते हैं। ऐसे भगवान्, जो सच्चिदानन्द विग्रह हैं, मुझ पर कृपालु हों।

तात्पर्य : महत्त्वपूर्ण शब्द *अनामरूपः* के विषय में श्रीयुत श्रीधर स्वामी कहते हैं— *प्राकृतनामरूप रहितोऽपि*। *अनाम* शब्द का अर्थ "बिना नाम का" यह सूचित करता है कि भगवान् का कोई भौतिक नाम नहीं है। अपने पुत्र को पुकारने के लिए नारायण नाम का उच्चारण करने मात्र से अजामिल को मोक्ष मिल गया। इसका अर्थ है कि नारायण कोई सामान्य संसारी नाम नहीं। यह अभौतिक है। इसलिए *अनाम* शब्द सूचित करता है कि भगवान् के नाम भौतिक जगत से सम्बन्धित नहीं होते। हरे कृष्ण महामंत्र की ध्वनि भौतिक ध्वनि नहीं। इसी तरह भगवान् का रूप, उनका प्राकट्य तथा कार्य सभी अभौतिक हैं। भक्तों तथा अभक्तों के प्रति अपनी अहैतुकी कृपा प्रदर्शित करने के लिए भगवान् कृष्ण इस भौतिक जगत में नाम, रूप तथा लीलाओं के साथ प्रकट होते हैं, जो सारे के सारे दिव्य हैं। इसे न समझ पाने वाले बुद्धिहीन व्यक्ति इन नामों, रूपों तथा लीलाओं को भौतिक समझते हैं और इसीलिए वे उनके नाम या रूप को स्वीकार करने से इनकार करते हैं।

अभक्त जो यह कहते हैं कि ईश्वर का कोई नाम नहीं है और भक्त जो यह जानते हैं कि उनका नाम भौतिक नहीं है—उन दोनों के निष्कर्ष जाँच करने पर व्यवहारतः एक जैसे हैं। भगवान् के कोई भौतिक नाम, रूप, जन्म, आविर्भाव या तिरोभाव नहीं होता, किन्तु फिर भी वे जन्म लेते हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* (४.६) में कहा गया है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

यद्यपि भगवान् अजन्मा (*अज*) हैं और उनके शरीर में भौतिक परिवर्तन नहीं होते, फिर भी वे अवतार के रूप में प्रकट होते हैं और अपने को सदैव दिव्य पद पर (*शुद्ध सत्त्व*) पर बनाये रखते

हैं। इस प्रकार वे अपने दिव्य रूप, नाम तथा कार्य प्रदर्शित करते हैं। यह अपने भक्तों के प्रति उनकी विशेष कृपा है। अन्य लोग इस बात को तर्क करते रहें कि परब्रह्म के रूप है कि नहीं, किन्तु जब भक्त भगवान् को साक्षात् देखता है, तो वह आध्यात्मिक रूप से भावमय हो जाता है।

अज्ञानी लोग कहते हैं कि भगवान् कुछ नहीं करते। वस्तुतः उनके पास करने के लिए कुछ भी नहीं है, फिर भी उन्हें सब कुछ करना होता है, क्योंकि उनकी स्वीकृति के बिना कोई कुछ नहीं कर सकता। किन्तु अज्ञानी यह नहीं देख सकता कि वे किस तरह कार्य करते हैं और किस तरह समूची प्रकृति उनके निर्देशन में कार्य करती है। उनकी विभिन्न शक्तियाँ पूर्णरूपेण कार्य करती हैं।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते

न तत्समश्चाभ्याधिकश्च दृश्यते।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

(*श्वेताश्वर उपनिषद्* ६.८)

उन्हें स्वयं कुछ भी नहीं करना पड़ता, क्योंकि उनकी शक्तियाँ पूर्ण हैं, अतः हर काम उनकी इच्छा से तुरन्त पूरा हो जाता है। जिन लोगों को भगवान् की अनुभूति नहीं हुई है, वे यह नहीं देख सकते कि वे किस तरह कार्य करते हैं, अतएव वे यह सोचते हैं कि यदि ईश्वर हो भी तो उसे न तो कुछ करना पड़ता है न ही उसका कोई विशेष नाम है।

वस्तुतः भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के कारण उनका नाम पहले से विद्यमान है। भगवान् कभी-कभी *गुणकर्मनाम* कहलाते हैं, क्योंकि उनका नाम उनके दिव्य कार्यों के अनुसार रखा जाता है। उदाहरणार्थ, कृष्ण का अर्थ है ''सर्व आकर्षक।'' यह भगवान् का नाम है, क्योंकि उनके दिव्य गुण उन्हें अति आकर्षक बनाते हैं। छोटे बालक के रूप में उन्होंने गोवर्धन पर्वत उठाया और अपने बालपन में उन्होंने कई असुरों को मारा। ऐसे कार्य अति आकर्षक हैं, इसीलिए वे कभी-कभी

गिरिधारी, मधुसूदन, अघनिषूदन इत्यादि कहलाते हैं। चूँकि उन्होंने नन्द महाराज के पुत्र की भूमिका निभाई इसलिए वे नन्द-तनुज कहलाते हैं। ये नाम पहले से हैं, किन्तु बात यह है कि अभक्तगण भगवान् के नामों को समझ नहीं पाते, अतएव वे कभी-कभी *अनाम* अर्थात् बिना नाम के कहलाते हैं। इसका अर्थ हुआ कि उनके कोई भौतिक नाम नहीं हैं। उनके सारे कार्यकलाप आध्यात्मिक हैं, इसलिए उनके नाम आध्यात्मिक हैं।

सामान्यतया अल्पज्ञ लोग इस भाव में रहते हैं कि भगवान् के कोई रूप या आकार नहीं होता। इसलिए वे अपने आदि कृष्ण, सच्चिदानन्दविग्रह रूप में कुरुक्षेत्र युद्ध में भाग लेने के अपने लक्ष्य को तथा भक्तों की रक्षा करने और असुरों के विनाश की लीलाओं को पूरा करने के लिए प्रकट होते हैं (*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*)। यह तो उनकी कृपा है। जो लोग यह सोचते हैं कि भगवान् के कोई रूप नहीं है और करने के लिए उनके पास कोई काम नहीं है, उन्हें यह दिखाने के लिए कृष्ण आते हैं कि सचमुच वे काम करते हैं। वे इतने यशस्वी ढंग से कार्य करते हैं कि कोई अन्य व्यक्ति ऐसे असामान्य कार्य नहीं कर सकता। यद्यपि वे मनुष्य रूप में प्रकट हुए थे, किन्तु उन्होंने १६१०८ पत्नियों के साथ विवाह किया था, जो सामान्य व्यक्ति के बूते की बात नहीं है। भगवान् ऐसे कार्य लोगों को यह दिखाने के लिए करते हैं कि वे कितने महान् हैं, कितने वत्सल हैं और कितने दयालु हैं। यद्यपि उनका आदिनाम कृष्ण है (*कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*) किन्तु वे असंख्य तरीकों से कार्य करते हैं इसलिए उनके कार्यों के अनुसार उनके हजारों नाम हैं।

यः प्राकृतैर्ज्ञानपथैर्जनानां
यथाशयं देहगतो विभाति ।
यथानिलः पार्थिवमाश्रितो गुणं
स ईश्वरो मे कुरुतां मनोरथम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

यः—जो; प्राकृतैः—निम्न श्रेणी के; ज्ञान-पथैः—पूजा के मार्गों द्वारा; जनानाम्—जीवों के; यथा-आशयम्—इच्छा के अनुसार; देह-गतः—हृदय के भीतर स्थित; विभाति—प्रकट होता है; यथा—जिस तरह; अनिलः—वायु; पार्थिवम्—

पृथ्वी का; आश्रितः—प्राप्त करते हुए; गुणम्—गुण (गंध तथा रंग इत्यादि); सः—वह; ईश्वरः—भगवान्; मे—मेरा; कुरुताम्—पूरा करे; मनोरथम्—(भक्ति के लिए) इच्छा।

जिस तरह वायु भौतिक तत्त्वों के विविध गुण यथा फूल की गंध या वायु में धूल के मिश्रण से उत्पन्न विभिन्न रंग अपने साथ ले जाती है, उसी तरह भगवान् मनुष्य की इच्छाओं के अनुसार पूजा की निम्नतर प्रणालियों के माध्यम से प्रकट होते हैं, यद्यपि वे देवताओं के रूप में प्रकट होते हैं, अपने आदि रूप में नहीं। तो इन अन्य रूपों का क्या लाभ है? ऐसे आदि भगवान् मेरी इच्छाएँ परिपूर्ण करें।

तात्पर्य : निर्विशेषवादी कल्पना करते हैं कि विभिन्न देवता भगवान् के रूप हैं। उदाहरणार्थ, मायावादी पाँच देवताओं (*पञ्चोपासना*) की पूजा करते हैं। वे वास्तव में भगवान् के रूप में विश्वास नहीं करते, किन्तु पूजा के निमित्त वे किसी रूप को ईश्वर मान लेते हैं। सामान्यतया वे विष्णु का रूप, शिव का रूप, गणेश, सूर्यदेव तथा दुर्गा के रूपों की कल्पना करते हैं। यही *पञ्चोपासना* कहलाती हैं। किन्तु दक्ष किसी काल्पनिक रूप की नहीं, अपितु भगवान् कृष्ण के परम रूप की पूजा करना चाहते थे।

इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर भगवान् तथा एक सामान्य जीव के अन्तर का वर्णन करते हैं। जैसाकि पिछले किसी श्लोक में इंगित किया जा चुका है—*सर्वं पुमान् वेद गुणांश्च तज्ज्ञो न वेद सर्वज्ञमनन्तमीडे*—सर्वशक्तिमान भगवान् हर बात जानते हैं, किन्तु जीव वास्तव में भगवान् को नहीं जानता। जैसाकि कृष्ण ने *भगवद्गीता* में कहा है "मैं सब कुछ जानता हूँ, किन्तु कोई भी मुझे नहीं जानता।" भगवान् तथा सामान्य जीव में यही अन्तर है। *श्रीमद्भागवत* में एक स्तुति में महारानी कुन्ती कहती हैं—"हे प्रभु! आप भीतर तथा बाहर विद्यमान हैं, फिर भी कोई आपको देख नहीं सकता।"

बद्धात्मा ज्ञान अथवा कल्पना से भगवान् को नहीं समझ सकता। इसलिए मनुष्य को भगवत्कृपा से भगवान् को जानना चाहिए। वे अपने को प्रकट करते हैं, किन्तु वे कल्पना द्वारा नहीं समझे जा सकते। *श्रीमद्भागवत* (१०.१४.२९) में कहा गया है—

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय प्रसादलेशानुगृहीत एव हि।

जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥

''हे प्रभु! यदि किसी को आपके चरणकमलों की कृपा का लेशांश भी प्राप्त हो जाये तो वह आपकी महानता को समझ सकता है। पर जो लोग भगवान् को समझने के लिए कल्पना करते हैं, वे आपको नहीं जान पाते, भले ही वे अनेक वर्षों तक वेदों का अध्ययन क्यों न करते रहें।''

यह शास्त्र का निर्णय है। एक सामान्य व्यक्ति बहुत बड़ा दार्शनिक हो सकता है और यह कल्पना कर सकता है कि परम सत्य क्या है, उसका रूप क्या है और वह कहाँ पर विद्यमान है, किन्तु वह इन सत्यों को समझ नहीं सकता। *सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः।* केवल भक्ति के द्वारा मनुष्य भगवान् को समझ सकता है। इसकी व्याख्यां स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (१८.५५) में की है। *भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः*—एकमात्र भक्ति से भगवान् को यथारूप में जाना जा सकता है। अज्ञानी लोग भगवान् के रूप के विषय में कल्पना करना या उनके रूप को गढ़ना चाहते हैं, किन्तु भक्तगण वास्तविक भगवान् की पूजा करना चाहते हैं। इसलिए दक्ष स्तुति करते हैं ''कोई चाहे आपको साकार, निर्विशेष या काल्पनिक सोचे, किन्तु मैं आपसे प्रार्थना करना चाहता हूँ कि वास्तव में आप जिस रूप में हैं उसी रूप में दर्शन पाने की मेरी इच्छा पूरी करें।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर टीका करते हैं कि यह श्लोक विशेषतया उन निर्विशेषवादियों के लिए हैं, जो यह सोचते हैं कि वे स्वयं ब्रह्म हैं, क्योंकि जीव तथा ईश्वर में कोई भेद नहीं है। मायावादी दार्शनिक सोचता है कि केवल एक परम सत्य है और वह भी वही परम सत्य है। वस्तुतः यह ज्ञान नहीं, अपितु मूर्खता है और यह श्लोक विशेषरूप से ऐसे मूर्ख लोगों के निमित्त है जिनके ज्ञान को माया ने हर लिया है (*माययापहृत ज्ञानाः*)। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि ऐसे *ज्ञानीमानिनः* लोग अपने को बहुत बढ़ा-चढ़ा मानते हैं, लेकिन वास्तव में वे अज्ञानी होते हैं।

इस श्लोक के विषय में श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—

स्वदेहस्थं हरिं प्राहुरधमा जीवमेव तु।

मध्यमाश्चाप्यनिर्णीतं जीवाद् भिन्नं जनार्दनम्॥

मनुष्य तीन तरह के होते हैं—*अधम, मध्यम* तथा *उत्तम*। अधम सोचते हैं कि ईश्वर तथा जीव में कोई अन्तर नहीं है, सिवाय इसके कि जीव उपाधियों के अधीन है, जबकि परब्रह्म के कोई उपाधि नहीं होती। उनके मत से ज्योंही भौतिक शरीर की उपाधियाँ विलीन हो जाती हैं जीव ब्रह्म से मिल जाता है। वे *घटाकाश-पटाकाश* का तर्क देते हैं जिसमें शरीर की उपमा उस घट (बर्तन) से दी जाती है, जिसके भीतर तथा बाहर आकाश है। जब यह घट टूटता है, तो भीतर का आकाश बाहरी आकाश से एकाकार हो जाता है, अत: निर्विशेषवादी कहते हैं कि जीव ब्रह्म से एकाकार हो जाता है। यह उनका तर्क है, किन्तु श्रील मध्वाचार्य कहते हैं कि ऐसा तर्क अधम लोग प्रस्तुत करते हैं। दूसरी श्रेणी (मध्यम) के लोग यह निश्चित नहीं कर पाते कि ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप क्या है, किन्तु वे यह मानते हैं कि ऐसा ब्रह्म है, जो सामान्य जीव के कार्यों का नियंत्रण करता है। ऐसे दार्शनिक सामान्य माने जाते हैं। किन्तु सर्वश्रेष्ठ वे हैं, जो परमेश्वर को समझते हैं (*सच्चिदानन्दविग्रह*)। *पूर्णानन्दादिगुणकं सर्वजीव विलक्षणम्*—उनका स्वरूप पूर्णरूपेण आध्यात्मिक, आनन्द से पूर्ण तथा बद्धात्मा या किसी अन्य जीव से सर्वथा भिन्न है। *उत्तमास्तु हरिं प्राहुस्तारतम्येन तेषुच*—ऐसे दार्शनिक सर्वश्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि भगवान् विभिन्न भौतिक गुणों वाले पूजकों के समक्ष भिन्न-भिन्न रूपों में अपने को प्रकट करते हैं। वे जानते हैं कि तीन करोड़ तीस लाख देवता बद्धात्मा को यह आश्वस्त करने के लिए कि एक परम शक्ति है और वे उसे इनमें से किसी एक को देवता को पूजने के लिए प्रेरित करने के लिए हैं, जिससे वह भक्तों की संगति से यह समझ सके कि कृष्ण भगवान् हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*मत्त: परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय*—मुझसे श्रेष्ठ कोई सत्य नहीं। *अहं आदिर्हि देवानाम्*—मैं सारे देवताओं का उद्‌गम हूँ। *अहं सर्वस्य प्रभव:*—मैं सबों से, यहाँ तक कि ब्रह्मा, शिव तथा

अन्य देवताओं से भी श्रेष्ठ हूँ। ये सब शास्त्र के निष्कर्ष हैं और जो व्यक्ति इन निष्कर्षों को स्वीकार करता है उसे उच्चकोटि का दार्शनिक माना जाना चाहिए। ऐसा दार्शनिक जानता है कि भगवान् देवताओं के स्वामी हैं (*देवदेवेश्वरं सूत्रमानन्दं प्राणवेदिन:*)।

श्रीशुक उवाच

इति स्तुत: संस्तुवत: स तस्मिन्नघमर्षणे ।
प्रादुरासीत्कुरुश्रेष्ठ भगवान्भक्तवत्सल: ॥ ३५ ॥

कृतपाद: सुपर्णांसे प्रलम्बाष्टमहाभुज: ।
चक्रशङ्खासिचर्मेषुधनु:पाशगदाधर: ॥ ३६ ॥

पीतवासा घनश्याम: प्रसन्नवदनेक्षण: ।
वनमालानिवीताङ्गो लसच्छ्रीवत्सकौस्तुभ: ॥ ३७ ॥

महाकिरीटकटक: स्फुरन्मकरकुण्डल: ।
काञ्च्यङ्गुलीयवलयनूपुराङ्गदभूषित: ॥ ३८ ॥

त्रैलोक्यमोहनं रूपं बिभ्रत्त्रिभुवनेश्वर: ।
वृतो नारदनन्दाद्यै: पार्षदै: सुरयूथपै: ।
स्तूयमानोऽनुगायद्भि: सिद्धगन्धर्वचारणै: ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; स्तुत:—प्रशंसित होकर; संस्तुवत:—स्तुति कर रहे दक्ष का; स:—वह भगवान्; तस्मिन्—उस; अघमर्षणे—अघमर्षण नामक पवित्र स्थान पर; प्रादुरासीत्—प्रकट हुआ; कुरु-श्रेष्ठ—हे कुरुवंश में सर्वश्रेष्ठ; भगवान्—भगवान्; भक्त-वत्सल:—अपने भक्तों के प्रति अत्यन्त दयालु; कृत-पाद:—जिसके चरणकमल रखे थे; सुपर्ण-अंसे—उनके वाहन गरुड़ के कंधे पर; प्रलम्ब—अत्यन्त लम्बे; अष्ट-महा-भुज:—आठ बलशाली भुजाओं वाले; चक्र—चक्र; शङ्ख—शंख; असि—तलवार; चर्म—ढाल; इषु—बाण; धनु:—धनुष; पाश—रस्सी; गदा—गदा; धर:—धारण किये; पीत-वासा:—पीताम्बर सहित; घन-श्याम:—जिनेक शरीर का वर्ण गहरे नीले-काले रंग का था; प्रसन्न—अत्यन्त प्रसन्न; वदन—जिसका मुख; ईक्षण:—तथा चितवन; वन-माला—जंगली फूलों की माला से; निवीत-अङ्ग:—जिसका शरीर गले से पाँव तक सजा हुआ था; लसत्—चमकता हुआ; श्रीवत्स-कौस्तुभ:—कौस्तुभ मणि तथा श्रीवत्स चिह्न; महा-किरीट—विशाल मुकुट का; कटक:—वृत्त, मंडल; स्फुरत्—चमकता हुआ; मकर-कुण्डल:—मकर की आकृति के कान के कुण्डल; काञ्ची—पेटी सहित; अङ्गुलीय—अंगूठी; वलय—कंगन; नूपुर—पायल; अङ्गद—बिजावट; भूषित:—सुसज्जित; त्रै-लोक्य-मोहनम्—तीनों लोकों को मोहित करने वाला; रूपम्—उनका शारीरिक स्वरूप; बिभ्रत्—चमकता हुआ; त्रि-भुवन—तीनों लोकों का; ईश्वर:—परमेश्वर; वृत:—घिरा हुआ; नारद—नारद इत्यादि बड़े बड़े भक्तों से; नन्द-आद्यै:—तथा नन्द इत्यादि; पार्षदै:—नित्य संगियों से; सुर-यूथपै:—तथा देवताओं के प्रधानों द्वारा; स्तूयमान:—स्तुति किये जाने पर; अनुगायद्भि:—उनके पीछे पीछे गाते हुए; सिद्ध-गन्धर्व-चारणै:—सिद्धों, गन्धर्वों तथा चारणों द्वारा।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : अपने भक्तों के प्रति अत्यधिक स्नेहिल भगवान् हरि दक्ष द्वारा की गई स्तुतियों से अत्यधिक प्रसन्न हुए, अत: वे अघमर्षण नामक पवित्र स्थान पर

प्रकट हुए। हे श्रेष्ठ कुरुवंशी महाराज परीक्षित! भगवान् के चरणकमल उनके वाहन गरुड़ के कंधों पर रखे थे और वे अपनी आठ लम्बी बलिष्ठ अतीव सुन्दर भुजाओं सहित प्रकट हुए। अपने हाथों में वे चक्र, शंख, तलवार, ढाल, बाण, धनुष, रस्सी तथा गदा धारण किये थे—प्रत्येक हाथ में अलग-अलग हथियार थे और सबके सब चमचमा रहे थे। उनके वस्त्र पीले थे और उनके शरीर का रंग गहरा नीला था। उनकी आँखें तथा मुख अतीव मनोहर थे और उनके गले से लेकर पाँवों तक फूलों की लम्बी माला लटक रही थी। उनका वक्षस्थल कौस्तुभ मणि तथा श्रीवत्स चिह्न से सुशोभित था। उनके सिर पर विशाल गोल मुकुट था और उनके कान मछलियों के सदृश कुण्डलों से सुशोभित थे। ये सारे आभूषण असाधारण रूप से सुन्दर थे। भगवान् अपनी कमर में सोने की पेटी, बाहों में बिजावट, अंगुलियों में अँगूठियाँ तथा पाँवों में पायल पहने थे। इस तरह विविध आभूषणों से सुशोभित भगवान् हरि, जो तीनों लोकों के जीवों को आकर्षित करने वाले हैं, पुरुषोत्तम कहलाते हैं। उनके साथ नारद, नन्द जैसे महान् भक्त तथा स्वर्ग के राजा इन्द्र इत्यादि प्रमुख देवता एवं उच्चतर लोकों यथा सिद्धलोक, गन्धर्वलोक तथा चारणलोक के निवासी थे। भगवान् के दोनों ओर तथा उनके पीछे भी स्थित ये भक्त निरन्तर उनकी स्तुतियाँ कर रहे थे।

रूपं तन्महदाश्चर्यं विचक्ष्यागतसाध्वसः ।
ननाम दण्डवद्भूमौ प्रहृष्टात्मा प्रजापतिः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

रूपम्—दिव्य रूप; तत्—वह; महत्-आश्चर्यम्—अत्यधिक आश्चर्यजनक; विचक्ष्य—देखकर; आगत-साध्वसः—प्रारम्भ में भयभीत हुआ; ननाम—नमस्कार किया; दण्ड-वत्—डण्डे की तरह; भूमौ—भूमि पर; प्रहृष्ट-आत्मा—शरीर, मन तथा आत्मा से प्रसन्न होकर; प्रजापतिः—दक्ष नामक प्रजापति ने।

भगवान् के उस अद्भुत तथा तेजवान स्वरूप को देखकर प्रजापति दक्ष पहले तो कुछ भयभीत हुए, किन्तु बाद में भगवान् को देखकर अतीव प्रसन्न हुए और उन्हें नमस्कार करने के लिए भूमि पर दण्डवत् गिर पड़े।

न किञ्चनोदीरयितुमशकत्तीव्रया मुदा ।
आपूरितमनोद्वारैर्ह्रदिन्य इव निर्झरैः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; किञ्चन—कोई वस्तु; उदीरयितुम्—कहने के लिए; अशकत्—समर्थ था; तीव्रया—अत्यधिक; मुदा—सुख; आपूरित—भरा हुआ; मनः-द्वारैः—इन्द्रियों के द्वारा; ह्रदिन्यः—नदियों; इव—सदृश; निर्झरैः—पर्वत से मूसलाधार वर्षा द्वारा।.

जिस तरह पर्वत से प्रवाहित होने वाले जल से नदियाँ भर जाती हैं उसी तरह दक्ष की सारी इन्द्रियाँ प्रसन्नता से पूरित हो गईं। अत्यधिक सुख के कारण दक्ष कुछ भी नहीं कह सके, अपितु भूमि पर पड़े रहे।

तात्पर्य : जब कोई व्यक्ति वास्तव में भगवान् की अनुभूति करता है या दर्शन करता है, तो वह पूर्ण सुख से पूरित हो जाता है। उदाहरणार्थ, जब ध्रुव महाराज ने भगवान् को अपने समक्ष देखा तो उन्होंने कहा *स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे*—हे प्रभु! मुझे आपसे कुछ भी नहीं माँगना है। अब मैं पूर्णतया तुष्ट हूँ। इसी तरह जब दक्ष प्रजापति ने अपने समक्ष भगवान् को देखा तो वे भूमि पर दण्ड के समान लेट गये और किसी वस्तु के लिए कहने या माँगने में असमर्थ हो गये।

तं तथावनतं भक्तं प्रजाकामं प्रजापतिम् ।
चित्तज्ञः सर्वभूतानामिदमाह जनार्दनः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस (प्रजापति दक्ष); तथा—उस तरह से; अवनतम्—अपने सामने नमित; भक्तम्—महान् भक्त को; प्रजा-कामम्—जनसंख्या बढ़ाने का इच्छुक; प्रजापतिम्—प्रजापति (दक्ष) को; चित्त-ज्ञः—हृदय की बात समझने वाला; सर्व-भूतानाम्—सारे जीवों के; इदम्—यह; आह—कहा; जनार्दनः—भगवान् ने, जो हर एक की इच्छाओं को पूरा कर सकते हैं।.

यद्यपि प्रजापति दक्ष कुछ भी नहीं कह सके, किन्तु हर एक के हृदय की बात जानने वाले भगवान् ने जब अपने भक्त को इस प्रकार से नमित तथा जनसंख्या बढ़ाने की इच्छा से युक्त देखा तो उन्होंने उसे इस प्रकार से सम्बोधित किया।

श्रीभगवानुवाच
प्राचेतस महाभाग संसिद्धस्तपसा भवान् ।
यच्छ्रद्धया मत्परया मयि भावं परं गतः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; प्राचेतस—हे प्राचेतस; महा-भाग—हे परम भाग्यशाली; संसिद्धः—सिद्धिप्राप्त; तपसा—तुम्हारी तपस्या से; भवान्—आप; यत्—क्योंकि; श्रद्धया—अतीव श्रद्धा से; मत्-परया—जिसका लक्ष्य मैं हूँ; मयि—मुझमें; भावम्—भाव, आनन्द; परम्—परम; गतः—प्राप्त।

भगवान् ने कहा : हे परम भाग्यशाली प्राचेतस! तुमने मुझ पर अपनी महती श्रद्धा के कारण परम भक्तिमय भाव को प्राप्त किया है। निस्सन्देह, तुम्हारी महती भक्ति के साथ-साथ तुम्हारी तपस्या के कारण तुम्हारा जीवन अब सफल है। तुमने पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर ली है।

तात्पर्य : जैसा कि *भगवद्गीता* (८.१५) में स्वयं भगवान् ने पुष्टि की है, जब किसी को भगवान् की अनुभूति करने का सौभाग्य प्राप्त होता है, तो वह सर्वोच्च सिद्धि तक पहुँचता है।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।

नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥

"मुझे प्राप्त करके महापुरुष, जो भक्तियोगी हैं, दुखों से पूर्ण इस अनित्य जगत में कभी नहीं लौटते, क्योंकि उन्हें परम सिद्धि प्राप्त हो चुकी होती है।" इसलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन मनुष्य को केवल भक्ति सम्पन्न करके सर्वोच्च सिद्धि की ओर जाने वाले मार्ग का अनुसरण करने की शिक्षा देता है।

प्रीतोऽहं ते प्रजानाथ यत्तेऽस्योद्बृंहणं तपः ।
ममैष कामो भूतानां यद्भूयासुर्विभूतयः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

प्रीतः—अत्यधिक प्रसन्न; अहम्—मैं; ते—तुमसे; प्रजा-नाथ—हे प्रजापति; यत्—क्योंकि; ते—तुम्हारा; अस्य—इस भौतिक जगत का; उद्बृंहणम्—वृद्धि करते हुए; तपः—तपस्या; मम—मेरी; एषः—यह; कामः—इच्छा; भूतानाम्—जीवों का; यत्—जो; भूयासुः—हो; विभूतयः—सभी प्रकार से उन्नति।

हे प्रजापति दक्ष! तुमने संसार के कल्याण तथा वृद्धि के लिए घोर तपस्या की है। मेरी

भी यही इच्छा है कि इस जगत में हरेक प्राणी सुखी हो। इसलिए मैं तुमसे अत्यधिक प्रसन्न हूँ, क्योंकि तुम सम्पूर्ण जगत के कल्याण की मेरी इच्छा को पूरी करने का प्रयत्न कर रहे हो।

तात्पर्य : भौतिक ब्रह्माण्ड के प्रत्येक प्रलय के बाद सारे जीव कारणोदकशायी विष्णु के शरीर में शरण लेते हैं और जब पुनः सृष्टि होती है, तो वे अपनी विविध योनियों में अपने-अपने कार्य पुनः चालू करने के लिए उनके शरीर से बाहर निकल आते हैं। आखिर यह सृष्टि की रचना इस तरह क्यों होती है कि सारे जीवों को भौतिक प्रकृति द्वारा उन पर लादे गये तीन प्रकार के कष्टों को भोगने के लिए बद्ध जीवन में रखा जाता है? यहाँ पर भगवान् दक्ष से कहते हैं, "तुम सारे जीवों को लाभ पहुँचाना चाहते हो और मेरी भी यही इच्छा है।" भौतिक जगत के सम्पर्क में आने वाले जीव सुधारे जाने के लिए होते हैं। इस जगत के सारे जीवों ने भगवान् की सेवा के विरुद्ध विद्रोह किया है, अतएव वे इस भौतिक जगत में बारम्बार जन्म लेने के लिए *नित्यबद्ध* के रूप में रहते हैं। हाँ, उनके मुक्त होने का अवसर प्राप्त है, किन्तु फिर भी बद्धजीव इस अवसर का लाभ नहीं उठाते और वे इन्द्रियभोग का जीवन बिताते रहते हैं और इस प्रकार पुनः पुनः जन्म-मृत्यु से दण्डित होते रहते हैं। यह प्रकृति का नियम है। *भगवद्गीता* (७.१४) में भगवान् कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

"प्रकृति के तीन गुणों वाली मेरी इस दैवी शक्ति को पार कर पाना कठिन है। किन्तु जो मेरे शरणागत हो जाते हैं, वे सरलता से इसे पार कर जाते हैं।" *भगवद्गीता* में ही अन्यत्र (१५.७) भगवान् कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

"इस बद्धजगत में सारे जीव विलग हुए मेरे शाश्वत अंश हैं। बद्ध जीवन के कारण वे मन

समेत छहों इन्द्रियों से घोर संघर्ष कर रहे हैं।'' इस भौतिक जगत के अन्तर्गत जीव द्वारा जीवन-संघर्ष उसके विद्रोहात्मक स्वभाव के कारण है। जब तक जीव कृष्ण की शरण ग्रहण नहीं करता, वह इस संघर्षमय जीवन को चालू रखता है।

कृष्णभावनामृत आन्दोलन कोई सनक नहीं। यह एक प्रामाणिक आन्दोलन है, जिसका गन्तव्य हर बद्धजीव को कृष्णभावनामृत के पद तक उठाने का प्रयास करते हुए उनके कल्याण को बढ़ावा देना है। यदि कोई इस पद को प्राप्त नहीं होता तो वह निरन्तर भौतिक जगत में, कभी ऊपरी लोकों में तो कभी निम्नतर लोकों में, जाता रहता है। जैसाकि *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य २०.११८) में पुष्टि हुई है—*कभु स्वर्गे उठाय, कभु नरके डुबाय*—कभी बद्धजीव अविद्या में उतर जाता है और कभी उससे अपेक्षाकृत छूटकर कुछ राहत पाता है। यह है बद्धजीव का जीवन।

प्रजापित दक्ष बद्धजीवों को उत्पन्न करके उन्हें मुक्ति के लिए अवसर प्रदान करने का लाभ प्रदान कराना चाहते हैं। मुक्ति का अर्थ है कृष्ण की शरण ग्रहण करना। यदि कोई कृष्ण की शरण में जाने का प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से सन्तानोत्पत्ति करता है, तो उसका पितृत्व बहुत उत्तम है। इसी तरह जब गुरु बद्धजीवों को कृष्णभावनाभावित होने का प्रशिक्षण देता है, तो उसका गुरुत्व सफल होता है। यदि कोई व्यक्ति बद्धजीवों को कृष्णभावनाभावित बनने का अवसर प्रदान करता है, तो उसके सारे कार्यों का समर्थन भगवान् करते हैं, जो अत्यधिक प्रसन्न होते हैं जैसाकि यहाँ पर कहा गया है (*प्रीतोऽहम्*)। पूर्ववर्ती आचार्यों के उदाहरणों का पालन करते हुए कृष्णभावनामृत आन्दोलन के समस्त सदस्यों को चाहिए कि बद्धजीवों को कृष्णभावनाभावित होने के लिए प्रेरित करें तथा उन्हें ऐसा करने की सारी सुविधाएँ प्रदान करके उन्हें लाभ पहुँचाने का प्रयास करें। ऐसे कार्य ही असली कल्याण-कार्य हैं। ऐसे कार्यों के द्वारा प्रचारक या कृष्णभावानामृत का प्रसार करने वाला कोई भी व्यक्ति भगवान् द्वारा मान्य होता है। जैसाकि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (१८.६८-६९) में पुष्टि की है—

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।

भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यतसंशयः ॥

न च तस्मान्मुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।

भविता न च मे तस्माद् अन्यः प्रियतरो भुवि ॥

"जो व्यक्ति भक्तों को यह परम रहस्य बताता है, वह शुद्धभक्ति को निश्चय ही प्राप्त करेगा और अन्त में वह मेरे पास वापस आएगा। इस संसार में उसकी अपेक्षा कोई अन्य सेवक न तो मुझे अधिक प्रिय है और न कभी होगा।"

ब्रह्मा भवो भवन्तश्च मनवो विबुधेश्वराः ।
विभूतयो मम ह्येता भूतानां भूतिहेतवः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा—ब्रह्मा; भवः—शिव; भवन्तः—तुम सारे प्रजापति; च—तथा; मनवः—सारे मनु; विबुध-ईश्वराः—विभिन्न देवता (यथा सूर्य, चन्द्र, शुक्र, मगंल तथा बृहस्पति जो संसार के कल्याण हेतु विभिन्न कार्यों का भार सँभालते हैं); विभूतयः—शक्ति का विस्तार; मम—मेरा; हि—निस्सन्देह; एताः—ये, इन सब; भूतानाम्—सारे जीवों का; भूति—कल्याण के; हेतवः—कारण।

ब्रह्मा, शिव, मनुगण, उच्च लोकों के अन्य सारे देवता तथा जनसंख्या बढ़ाने वाले तुम सारे प्रजापति सारे जीवों के लाभार्थ कार्य कर रहे हो। इस तरह मेरी तटस्था शक्ति के अंश रूप तुम सभी मेरे विभिन्न गुणों के अवतार हो।

तात्पर्य : भगवान् के नाना प्रकार के अवतार या अंश हैं। उनके स्वयं के या *विष्णुतत्त्व* के अंश *स्वांश* कहलाते हैं, जबकि सारे जीव जो विष्णुतत्त्व नहीं, अपितु *जीव-तत्त्व* हैं *विभिन्नांश* कहलाते हैं। यद्यपि दक्ष प्रजापति ब्रह्मा तथा शिव के समान स्तर पर नहीं हैं, किन्तु उनकी तुलना उनसे की जाती है, क्योंकि वे भगवान् की सेवा में लगे हैं। भगवान् की सेवा में ऐसा नहीं होता कि ब्रह्मा को अत्यधिक बड़ा माना जाये जबकि भगवान् की महिमा का प्रचार करने वाले सामान्य मनुष्य को अत्यन्त निम्न माना जाये। ऐसे अन्तर नहीं होते। कोई भौतिक दृष्टि से चाहे उच्च हो या निम्न, जो कोई भी भगवान् की सेवा में लगा हुआ है, वह उन्हें आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यन्त प्रिय है। इस सन्दर्भ में श्रील मध्वाचर्य *तन्त्रनिर्णय* से यह उद्धरण देते हैं—

विशेषव्यक्तिपात्रत्वाद् ब्रह्माद्यास्तु विभूतयः ।

तदन्तर्यामिणश्चैव मत्स्याद्या विभवाःस्मृताः ॥

ब्रह्मा से लेकर सारे जीव, जो भगवान् की सेवा में लगे हैं, असाधारण हैं और *विभूति* कहलाते हैं। जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* (१०.४१) में कहा है—

यद्यद्विभूतिमत् सत्त्व श्रीमदूर्जितमेव वा।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥

"तुम जान लो कि सारा ऐश्वर्य, सौन्दर्य तथा तेजस्वी सृष्टियाँ मेरे तेज की एक चिनगारी मात्र से उद्भूत हैं।" भगवान् की ओर से कार्य करने के लिए विशेष रूप से शक्तिप्रदत्त जीव *विभूति* कहलाता है, जबकि भगवान् के विष्णु-तत्त्व अवतार, यथा मत्स्य अवतार, *विभव* कहलाते हैं (*केशव धृतमीनशरीर जय जगदीश हरे*)।

तपो मे हृदयं ब्रह्मंस्तनुर्विद्या क्रियाकृतिः ।
अङ्गानि क्रतवो जाता धर्म आत्मासवः सुराः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

तपः—मन का नियंत्रण, योग तथा ध्यान जैसी तपस्याएँ; मे—मेरा; हृदयम्—हृदय; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; तनुः—शरीर; विद्या—वैदिक शास्त्रों से प्राप्त ज्ञान; क्रिया—आध्यात्मिक कार्य; आकृतिः—स्वरूप; अङ्गानि—शरीर के अंग; क्रतवः—वैदिक वाङ्मय में उल्लिखित कर्मकाण्ड तथा यज्ञ; जाताः—पूर्ण किये गये; धर्मः—कर्मकाण्ड सम्पन्न करने के लिए धार्मिक सिद्धान्त; आत्मा—मेरी आत्मा; असवः—प्राणवायु; सुराः—देवता जो भौतिक जगत के विभिन्न विभागों में मेरे आदेशों को लागू करते हैं।

हे ब्राह्मण! ध्यान रूप में तपस्या ही मेरा हृदय है, स्तुतियों तथा मंत्रों के रूप में वैदिक ज्ञान ही मेरा शरीर है और आध्यात्मिक कार्य तथा आनन्दानुभूतियां ही मेरा वास्तविक स्वरूप है। उचित रीति से सम्पन्न हुए कर्मकाण्ड तथा यज्ञ मेरे शरीर के विविध अंग हैं; पुण्य या आध्यात्मिक कार्यों से उत्पन्न अदृश्य सौभाग्य मेरा मन है और विविध विभागों में मेरे आदेशों को लागू करने वाले देवता मेरे जीवन तथा आत्मा हैं।

तात्पर्य : कभी-कभी नास्तिक लोग तर्क करते हैं कि ईश्वर हमें आँखों से नहीं दिखते,

इसलिए वे ईश्वर में विश्वास नहीं करते। उनके लिए भगवान् यहाँ पर ऐसी विधि बता रहे हैं जिससे वे ईश्वर को उनके निराकार रूप में देख सकते हैं। बुद्धिमान लोग ईश्वर को साकार रूप में देख सकते हैं जैसा कि शास्त्रों में बतलाया गया है, किन्तु यदि कोई व्यक्ति ईश्वर का दर्शन करने के लिए आतुर है, वह उन्हें आमने-सामने देखना चाहता है, तो वह इस वर्णन के माध्यम में भगवान् को देख सकता है, जिसमें उनके शरीर के विविध आन्तरिक तथा बाह्य अंगों का चित्रण हुआ है।

आध्यात्मिक जीवन का पहला सिद्धान्त है तपस्या में लगना अर्थात् भौतिक कार्यकलापों से मुख मोड़ना। इसके बाद आध्यात्मिक कार्य आते हैं यथा वैदिक यज्ञ करना, वैदिक ज्ञान का अध्ययन, भगवान् का ध्यान तथा हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन । मनुष्य को चाहिए कि देवताओं का भी सम्मान करे और यह समझे कि वे किस तरह स्थित हैं, किस तरह कार्य करते हैं तथा इस भौतिक जगत के विभिन्न विभागों के कार्यों का किस तरह प्रबन्ध करते हैं। इस तरह मनुष्य देख सकता है कि ईश्वर किस तरह विद्यमान है और भगवान् की उपस्थिति के फलस्वरूप किस तरह हर वस्तु की समुचित व्यवस्था होती है। जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.१०) में कहा है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

"हे कुन्तीपुत्र! यह भौतिक प्रकृति मेरी अध्यक्षता में कार्य करती है, जिससे सारे चर तथा अचर प्राणी उत्पन्न होते हैं। उसके शासन के द्वारा यह जगत बारम्बार सृजित और विनष्ट होता रहता है।" यदि कोई व्यक्ति भगवान् को देखने में अक्षम है, यद्यपि वे अपने विभिन्न अवतारों में कृष्ण रूप में वर्तमान हैं, तो वह भौतिक प्रकृति के कार्यकलापों को देखकर वेदों में दिये गये निर्देशों के अनुसार भगवान् के निर्विशेष रूप को देख सकता है।

वैदिक आदेशों के अन्तर्गत किया गया कोई भी कार्य धर्म कहलाता है जैसाकि यमदूतों ने वर्णन किया है (*भागवत* ६.१.४०)—

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।

वेदो नारायण: साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम ॥

"जो वेदों में निर्धारित हुआ है, वह धर्म है और इसका उल्टा अधर्म है। वेद प्रत्यक्ष भगवान् नारायण हैं तथा स्वत: उत्पन्न हैं। ऐसा हमने यमराज से सुना है।"

इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य की टिप्पणी है—

तपोऽभिमानी रुद्रस्तु विष्णोर्हृदयमाश्रित:।

विद्या रूपा तथैवोमा विष्णोस्तनुमुपाश्रिता ॥

शृंगाराद्याकृतिगत: क्रियात्मा पाकशासन:।

अंगेषु क्रतव: सर्वे मध्यदेहे च धर्मराट्।

प्राणो वायुश्चित्तगतो ब्रह्माद्या: स्वेषु देवता: ॥

विभिन्न देवता पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के संरक्षण में कार्य करते हैं और अपने विविध कार्यों के अनुसार उनके भिन्न-भिन्न नाम पड़े हैं।

अहमेवासमेवाग्रे नान्यत्किञ्चान्तरं बहि: ।
संज्ञानमात्रमव्यक्तं प्रसुप्तमिव विश्वत: ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं, भगवान्; एव—एकमात्र; आसम्—था; एव—निश्चय ही; अग्रे—प्रारम्भ में, सृष्टि से पूर्व; न—नहीं; अन्यत्—अन्य; किञ्च—कुछ भी; अन्तरम्—मेरे अतिरिक्त; बहि:—बाहरी (चूँकि विराट जगत आध्यात्मिक जगत से बाहर है इसलिए जब भौतिक जगत न था, तो आध्यात्मिक जगत विद्यमान था); संज्ञान-मात्रम्—केवल जीव की चेतना; अव्यक्तम्—अप्रकट; प्रसुप्तम्—सुप्त; इव—सदृश; विश्वत:—सर्वत्र।

इस विराट जगत की सृष्टि के पूर्व अकेला मैं अपनी विशिष्ट आध्यात्मिक शक्तियों के साथ विद्यमान था। तब चेतना प्रकट नहीं हुई थी, जिस तरह नींद के समय मनुष्य की चेतना अप्रकट रहती है।

तात्पर्य : *अहम्* शब्द किसी व्यक्ति का सूचक है। जैसा कि वेदों में बतलाया गया है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*—भगवान् असंख्य नित्यों में परम नित्य तथा असंख्य जीवों में सर्वोपरि व्यक्ति हैं। भगवान् ऐसे पुरुष हैं जिसका निर्विशेष रूप भी है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.२.११)

में कहा गया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते॥

"विद्वान अध्यात्मवादी जो परम सत्य को जानते हैं इस अद्वैत वस्तु को ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् कहकर पुकारते हैं।" परमात्मा तथा निर्विशेष ब्रह्म का विचार सृष्टि के बाद उत्पन्न हुआ। सृष्टि के पूर्व एकमात्र भगवान् विद्यमान थे। जैसा कि *भगवद्गीता* (१८.५५) में दृढ़तापूर्वक घोषणा की गई है—भगवान् को एकमात्र भक्तियोग द्वारा समझा जा सकता है। परम कारण अर्थात् सृष्टि के परम कारण भगवान् हैं, जिन्हें केवल भक्तियोग से समझा जा सकता है। उन्हें चिन्तनपरक दार्शनिक मीमांसा या ध्यान द्वारा नहीं समझा जा सकता, क्योंकि ये सारी विधियाँ भौतिक जगत की सृष्टि के बाद अस्तित्व में आईं। भगवान् की निर्विशेष तथा अन्तर्यामी धारणा भौतिक रूप से कुछ न कुछ दूषित रहती है। इसलिए असली आध्यात्मिक विधि भक्तियोग है। जैसाकि भगवान् ने कहा है— *भक्त्या मामभिजानाति*—केवल भक्ति द्वारा मुझे जाना जा सकता है। सृष्टि के पूर्व भगवान् पुरुष के रूप में विद्यमान थे, जैसाकि *अहम्* शब्द से सूचित होता है। जब प्रजापति दक्ष ने उन्हें ऐसे पुरुष के रूप में देखा जो सुन्दर वस्त्रों तथा आभूषणों से सुसज्जित थे तो वस्तुत: उसे भक्ति के द्वारा उस *अहम्* शब्द के अर्थ का अनुभव हुआ।

हर व्यक्ति शाश्वत है। चूँकि भगवान् कहते हैं कि वे सृष्टि के पूर्व (*अग्रे*) पुरुष रूप में विद्यमान थे और प्रलय के बाद भी विद्यमान रहेंगे इसलिए भगवान् शाश्वत पुरुष हैं। इसलिए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *श्रीमद्भागवत* (१०.९.१३-१४) से निम्नलिखित श्लोकों को उद्धृत किया है—

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।

पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च य:॥

तं मत्वात्मजम व्यक्तंमर्त्यलिंगमधोक्षजम्।

गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा॥

वृन्दावन में भगवान् माता यशोदा के पुत्र के रूप में प्रकट हुए, जिन्होंने भगवान् को रस्सी से इस प्रकार बाँध दिया जिस तरह सामान्य माता अपने भौतिक बालक को बाँधती है। वस्तुत: भगवान् के रूप के बाहरी तथा भीतरी विभाग नहीं हैं (*सच्चिदानन्दविग्रह*), किन्तु जब वे अपने रूप में प्रकट होते हैं, तो अज्ञानी लोग उन्हें सामान्य व्यक्ति समझते हैं। *अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्*—यद्यपि वे अपने निजी शरीर में आते हैं, जो कभी नहीं बदलता, किन्तु *मूढ* अर्थात् अज्ञानी लोग सोचते हैं कि निर्विशेष ब्रह्म ने पुरुष रूप में आने के लिए भौतिक शरीर धारण कर लिया है। साधारण जीव भौतिक शरीर धारण करते हैं किन्तु भगवान् ऐसा नहीं करते। चूँकि भगवान् परम चेतना हैं, इसलिए यहाँ पर कहा गया है कि *सज्ज्ञानमात्रम्* अर्थात् आदि चेतना, या कृष्णभावनामृत सृष्टि के पूर्व अप्रकट था, यद्यपि भगवान् की चेतना सबों का उद्गम है। *भगवद्गीता* (२.१२) में भगवान् कहते हैं, ''ऐसा कोई समय नहीं था जब मैं या तुम न थे, या ये सारे राजा न थे, न ही भविष्य में हममें से कोई नहीं होगा। इस तरह भगवान् भूत, वर्तमान तथा भविष्य में परम सत्य हैं।

इस सन्दर्भ में मध्वाचार्य ने *मत्स्य पुराण* से दो श्लोक उद्धृत किये हैं—

नानावर्णो हरिस्त्वेको बहुशीर्षभुजो रूपात्।

आसील्लये तदन्यत्तु सूक्ष्मरूपं श्रियं विना॥

असुप्त: सुप्त इव च मीलिताक्षोऽभवद्धरि:।

अन्यत्रानादराद्विष्णौ श्रीश्च लीनेव कथ्यते।

सूक्ष्मत्वेन हरौ स्थानाल्लीनमन्यदपीष्यते॥

हर वस्तु का संहार हो जाने के बाद भगवान् अपने सच्चिदानन्द विग्रह के कारण अपने आदि रूप में रहते हैं, किन्तु अन्य जीवों के शरीर भौतिक होते हैं, अत: पदार्थ पदार्थ में लीन हो जाता है और आत्मा का सूक्ष्म रूप भगवान् के शरीर के भीतर बना रहता है। भगवान् सोते नहीं, किन्तु

सामान्य जीव अगली सृष्टि के होने तक सोये रहते हैं। अज्ञानी या मूढ़ व्यक्ति सोचता है कि प्रलय के बाद भगवान् का ऐश्वर्य विद्यमान नहीं रहता, किन्तु यह तथ्य नहीं है। भगवान् का ऐश्वर्य उसी तरह रहता है, जिस तरह वह आध्यात्मिक जगत में रहता है, केवल भौतिक जगत में हर वस्तु विलीन होती है। *ब्रह्मलीन* अर्थात् परब्रह्म में लीन होना वास्तविक *लीन* या प्रलय नहीं है, क्योंकि ब्रह्मज्योति में शेष बचा सूक्ष्म रूप भौतिक सृष्टि होने पर पुन: भौतिक जगत में लौट आयेगा और पुन: भौतिक रूप धारण करेगा। इसका वर्णन *भूत्वा भूत्वा प्रलीयते* के रूप में किया गया है। जब भौतिक शरीर का संहार हो जाता है, तो आत्मा अपने सूक्ष्म रूप में बना रहता है और यही बाद में अन्य भौतिक शरीर धारण कर लेता है। यह बद्धजीवों पर लागू होता है, किन्तु भगवान् तो अपनी आदि *चेतना* तथा आध्यात्मिक शरीर में शाश्वत रूप से रहते जाते हैं।

मय्यनन्तगुणेऽनन्ते गुणतो गुणविग्रहः ।
यदासीत्तत एवाद्यः स्वयम्भूः समभूदजः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

मयि—मुझमें; अनन्त-गुणे—असीम शक्ति से युक्त; अनन्ते—असीम; गुणतः—माया नामक मेरी शक्ति से; गुण-विग्रहः—ब्रह्माण्ड जो कि प्रकृति के गुणों का परिणाम है; यदा—जब; आसीत्—जगत में आया; ततः—उसमें; एव—निस्सन्देह; आद्यः—प्रथम जीव; स्वयम्भूः—ब्रह्मा; समभूत्—उत्पन्न हुआ; अजः—यद्यपि भौतिक माता से नहीं।

मैं असीम शक्ति का आगार हूँ, इसलिए मैं अनन्त या सर्वव्यापक के नाम से प्रसिद्ध हूँ। मेरी भौतिक शक्ति से मेरे भीतर विराट जगत प्रकट हुआ और इस विराट जगत में मुख्य जीव ब्रह्मा प्रकट हुए जो तुम लोगों के स्त्रोत हैं और वे किसी भौतिक माता से नहीं जन्मे हैं।

तात्पर्य : यह विश्व-सृष्टि के इतिहास का विवरण है। प्रथम कारण तो स्वयं परम पुरुष भगवान् हैं। उनसे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मा ब्रह्माण्ड के मामलों का कार्यभार सँभालते हैं। भौतिक सृष्टि के विश्व सम्बधी मामले भगवान् की भौतिक शक्ति पर निर्भर करते हैं, जो कि भौतिक सृष्टि के कारण हैं। सम्पूर्ण विराट जगत को यहाँ पर *गुणविग्रहः* अर्थात् भगवान् के गुणों का स्वरूप कहा गया है। विराट जगत से पहली सृष्टि ब्रह्मा की होती है, जो सारे जीवों के कारण

हैं। इस सन्दर्भ में श्रील मध्वाचार्य भगवान् के अनन्त गुणों का वर्णन करते हैं—

प्रत्येकशो गुणानां तु निःसीमत्वमुदीर्यते।

तदाननत्यं तु गुणतस्ते चानन्ता हि संख्यया।

अतोऽनन्तगुणो विष्णुर्गुणतोऽनन्त एव च॥

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते—भगवान् की असंख्य शक्तियाँ हैं और वे सभी असीम हैं। इसलिए स्वयं भगवान् तथा उनके सारे गुण, रूप, लीलाएँ तथा साज-सामग्री भी असीम हैं। चूँकि भगवान् विष्णु में अनन्त गुण हैं, इसलिए वे अनन्त कहलाते हैं।

स वै यदा महादेवो मम वीर्योपबृंहितः ।
मेने खिलमिवात्मानमुद्यतः स्वर्गकर्मणि ॥ ४९ ॥
अथ मेऽभिहितो देवस्तपोऽतप्यत दारुणम् ।
नव विश्वसृजो युष्मान्येनादावसृजद्विभुः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

सः—वह (ब्रह्मा); वै—निस्सन्देह; यदा—जब; महा-देवः—समस्त देवताओं के प्रधान; मम—मेरा; वीर्य-उपबृंहितः—शक्ति से वर्धित हुआ; मेने—सोचा; खिलम्—अशक्त; इव—मानो; आत्मानम्—स्वयं; उद्यतः—प्रयत्नशील; स्वर्ग-कर्मणि—विश्व-प्रपंचों की सृष्टि में; अथ—उस समय; मे—मेरे द्वारा; अभिहितः—सलाह दिया गया; देवः—उस ब्रह्मा ने; तपः—तपस्या; अतप्यत—सम्पन्न की; दारुणम्—अत्यन्त कठिन; नव—नौ; विश्व-सृजः—ब्रह्माण्ड की रचना करने के लिए महत्त्वपूर्ण व्यक्ति; युष्मान्—तुम सभी; येन—जिसके द्वारा; आदौ—प्रारम्भ में; असृजत्—उत्पन्न किया; विभुः—महान्।

जब ब्रह्माण्ड के मुख्य देवता ब्रह्मा (स्वयंभू) मेरी शक्ति के द्वारा प्रेरणा पाकर सृजन करने का प्रयास कर रहे थे तो उन्होंने अपने को असमर्थ पाया। इसलिए मैंने उन्हें सलाह दी और मेरे आदेशों के अनुसार उन्होंने कठिन तपस्या की। इस तपस्या के कारण सृजन के कार्यों में अपनी सहायता के लिए उन्होंने तुम समेत नौ महापुरुषों को उत्पन्न किया।

तात्पर्य : तपस्या के बिना कुछ भी सम्भव नहीं है। किन्तु ब्रह्मा को उनकी तपस्या के कारण इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सृजन करने के लिए शक्ति प्रदान की गई थी। हम जितनी ही तपस्या करते हैं, भगवत्कृपा से हम उतने ही अधिक शक्तिमान बनते हैं, इसलिए ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को

सलाह दी—*तपोदिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं शुद्ध्येद्*—"भक्ति के दैवी पद को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को तपस्या में संलग्न होना चाहिए। ऐसे कार्य से उसका हृदय शुद्ध होता है।" (*भागवत* ५.५.१)। हम अपने भौतिक जगत में अशुद्ध हैं, अतएव हम कोई आश्चर्यजनक कार्य नहीं कर सकते, किन्तु यदि हम अपने जीवन को तपस्या द्वारा शुद्ध कर लें तो भगवत्कृपा से हम आश्चर्यजनक कार्य कर सकते हैं। इसलिए तपस्या बहुत महत्त्वपूर्ण है जैसाकि इस श्लोक में बल दिया गया है।

एषा पञ्चजनस्याङ्ग दुहिता वै प्रजापतेः ।
असिक्नी नाम पत्नीत्वे प्रजेश प्रतिगृह्यताम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

एषा—यह; पञ्चजनस्य—पञ्चजन की; अङ्ग—हे पुत्र; दुहिता—पुत्री; वै—निस्सन्देह; प्रजापतेः—अन्य प्रजापति; असिक्नी नाम—असिक्नी नामक; पत्नीत्वे—अपनी पत्नी के रूप में; प्रजेश—हे प्रजापति; प्रतिगृह्यताम्—स्वीकार करो।

हे पुत्र दक्ष! प्रजापति पञ्चजन के असिक्नी नामक पुत्री है, जिसे मैं तुम्हें प्रदान करता हूँ जिससे तुम उसे अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर सको।

मिथुनव्यवायधर्मस्त्वं प्रजासर्गमिमं पुनः ।
मिथुनव्यवायधर्मिण्यां भूरिशो भावयिष्यसि ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

मिथुन—पुरुष तथा स्त्री का; व्यवाय—संभोग; धर्मः—जो धार्मिक कृत्य द्वारा स्वीकार करता है; त्वम्—तुम; प्रजा-सर्गम्—जीवों की सृष्टि; इमम्—यह; पुनः—फिर; मिथुन—स्त्री तथा पुरुष के संयोग का; व्यवाय-धर्मिण्याम्—संभोग के धार्मिक कृत्य के अनुसार; भूरिशः—अनेक बार; भावयिष्यसि—तुम उत्पन्न करोगे।

अब पुरुष तथा स्त्री रूप में यौन जीवन में संयुक्त हो जाओ और इस तरह संभोग द्वारा तुम इस कन्या के गर्भ से जनसंख्या की वृद्धि करने के लिए सैकड़ों सन्तानें उत्पन्न कर सकोगे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.११) में भगवान् कहते हैं—*धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि*—मैं काम हूँ जो धार्मिक सिद्धान्तों के विरुद्ध नहीं है। भगवान् द्वारा प्रदत्त संभोग धर्म है, किन्तु इन्द्रियभोग के

लिए अभीप्सित नहीं है। संभोग द्वारा इन्द्रियभोग में लिप्त रहने की अनुमति वैदिक सिद्धान्त नहीं देते। केवल सन्तान उत्पन्न करने के लिए कोई भी यौन जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्ति का पालन कर सकता है। इसलिए इस श्लोक में भगवान् ने दक्ष से कहा ''यह कन्या तुम्हें केवल सन्तानें उत्पन्न करने के लिए यौन जीवन हेतु दी जा रही है, किन्हीं अन्य कार्यों के लिए नहीं। यह अत्यन्त उर्वर है, अतएव तुम जितनी भी सन्तानें उत्पन्न करना चाहोगे, जन्म दे सकोगे।''

इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर टिप्णी करते हैं कि दक्ष को असीमित संभोग की सुविधा प्रदान की गई थी। दक्ष अपने पूर्व जीवन में भी दक्ष के ही नाम से विख्यात था, किन्तु यज्ञ सम्पन्न करते समय उसने शिवजी का अपमान किया था, अतएव उसके सिर के स्थान पर बकरे का सिर लगा दिया गया था। तब दक्ष ने अपनी इस पतितावस्था के कारण अपना शरीर त्याग दिया, किन्तु उसमें वही असीम यौन इच्छा बनी रही इसलिए उसने तपस्या की जिससे उसने भगवान् को तुष्ट कर लिया जिन्होंने उसे संभोग के लिए असीम शक्ति प्रदान की।

यह ध्यान देना होगा कि यद्यपि संभोग की ऐसी सुविधा भगवान् की कृपा से प्राप्त की जाती है, किन्तु यह सुविधा बढ़े-चढ़े भक्तों को, जो भौतिक इच्छाओं से मुक्त रहते हैं (*अन्याभिलाषिता शून्यम्*), नहीं प्रदान की जाती। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देना चाहिए कि यदि कृष्णभावनामृत आन्दोलन में लगे अमरीकी लड़के तथा लड़कियाँ भगवान् की प्रेमाभक्ति के परम लाभ को पाने के लिए कृष्णभावनामृत में प्रगति करना चाहते हैं, तो उन्हें यौन जीवन की इस सुविधा में लिप्त होने से बचना चाहिए। अत: हम सलाह देते हैं कि मनुष्य को कम से कम अवैध संभोग से तो दूर रहना चाहिए इसलिए यदि यौन जीवन के लिए अवसर आयें भी तो मनुष्य को चाहिए कि एकमात्र संतान के लिए संभोग करने की परिसीमा को स्वेच्छा से स्वीकार करे, अन्य किसी कार्य के लिए नहीं। कर्दम मुनि को भी यौन जीवन की सुविधा प्रदान की गई थी, किन्तु उन्हें इसकी रंचमात्र ही इच्छा थी। अतएव देवहूति के गर्भ से सन्तानें उत्पन्न करने के बाद कर्दम मुनि पूर्णतया विरक्त हो गये। तात्पर्य यह है कि यदि कोई भगवद्धाम वापस जाना चाहता है, तो उसे स्वेच्छा से यौन जीवन

से बचना चाहिए। यौन को आवश्यकतानुसार ही स्वीकार करना चाहिए, असीमित रूप में नहीं।

किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि दक्ष ने असीमित यौन की सुविधा पाकर भगवान् की कृपा प्राप्त की। अगले श्लोकों से पता चलेगा कि दक्ष ने पुनः अपराध किया, इस बार यह नारद के चरणकमलों पर था। इसलिए यद्यपि यौन जीवन भौतिक जगत का सर्वोच्च भोग है और यद्यपि भगवत्कृपा से मनुष्य को यौन सुख का अवसर प्राप्त हो सकता है, किन्तु इसमें अपराध करने का खतरा बना रहता है। दक्ष ऐसे अपराधों के लिए उन्मुख था, इसलिए सच सच कहा जाये तो उस पर भगवान् की कृपा नहीं थी। मनुष्य को यौन जीवन के लिए असीम शक्ति पाने के लिए भगवान् से कृपा की याचना नहीं करनी चाहिए।

त्वत्तोऽधस्तात्प्रजाः सर्वा मिथुनीभूय मायया ।
मदीयया भविष्यन्ति हरिष्यन्ति च मे बलिम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

त्वत्तः—तुम; अधस्तात्—बाद में; प्रजाः—जीव; सर्वाः—सारे; मिथुनी-भूय—यौन जीवन वाले; मायया—माया द्वारा दी गई सुविधाओं या प्रभाव के कारण; मदीयया—मेरा; भविष्यन्ति—हो जायेंगे; हरिष्यन्ति—वे प्रदान करेंगे; च—भी; मे—मेरे प्रति; बलिम्—भेंटें।

जब तुम हजारों सन्तानों को जन्म दे चुकोगे, तो वे भी मेरी माया द्वारा मोहित की जाती रहेंगी और तुम्हारी ही तरह संभोग में संलग्न होंगी। किन्तु तुम पर और उन पर मेरी कृपा के कारण, वे भी मुझे भक्ति की भेंटें प्रदान कर सकेंगे।

श्रीशुक उवाच
इत्युक्त्वा मिषतस्तस्य भगवान्विश्वभावनः ।
स्वप्नोपलब्धार्थ इव तत्रैवान्तर्दधे हरिः ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी कहने लगे; इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; मिषतः तस्य—जब वह (दक्ष) स्वयं देख रहा था; भगवान्—भगवान्; विश्व-भावनः—विश्व के मामलों को उत्पन्न करने वाले; स्वप्न-उपलब्ध-अर्थः—स्वप्न में प्राप्त वस्तु; इव—सदृश; तत्र—वहाँ; एव—निश्चय ही; अन्तर्दधे—अन्तर्धान हो गए; हरिः—भगवान् हरि।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : जब सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्त्रष्टा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्

हरि प्रजापति दक्ष के सामने इस तरह बोल चुके तो वे तुरन्त अन्तर्धान हो गये, मानो वे स्वप्न में अनुभव की गई कोई वस्तु रहे हों।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के षष्ठ स्कन्ध के अन्तर्गत ''प्रजापति दक्ष द्वारा भगवान् से की गई हंसगुह्य प्रार्थनाएँ'' नामक चतुर्थ अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पाँच

प्रजापति दक्ष द्वारा नारद मुनि को शाप

इस अध्याय में यह बताया गया है कि किस तरह नारद की सलाह मानने से दक्ष के सारे पुत्रों का माया के पाश से उद्धार हो सका जिसके लिए नारद को दक्ष द्वारा शाप दे दिया गया था।

भगवान् विष्णु की माया के प्रभाव से प्रजापति दक्ष ने अपनी पत्नी पाञ्चजनी के गर्भ से दस हजार पुत्र उत्पन्न किये। ये पुत्र एक जैसे चरित्र तथा मनोवृत्ति के होने के कारण हर्यश्व कहलाते थे। अपने पिता द्वारा अधिकाधिक सन्तानें उत्पन्न करने का आदेश दिये जाने पर हर्यश्वगण पश्चिम दिशा में उस स्थान पर गये जहाँ सिन्धु नदी अरब सागर से मिलती है। उन दिनों वहाँ पर एक पवित्र झील थी जो नारायण सरस नाम से प्रसिद्ध थी, जहाँ अनेक सन्त पुरुष थे। हर्यश्वगण तपस्या तथा ध्यान करने लगे जो अत्यन्त सम्मानित संन्यास आश्रम के कार्य हैं। किन्तु जब श्रील नारद मुनि ने इन बालकों को मात्र भौतिक सृष्टि के लिए ऐसी प्रशंसनीय तपस्या में रत देखा तो उन्होंने उन सबों को इस प्रवृत्ति से छुड़ाने का विचार किया। नारद मुनि ने इन बालकों को उनके जीवन के परम लक्ष्य के विषय में बतलाया और उन्हें सलाह दी कि वे सन्तानें उत्पन्न करने के लिए सामान्य कर्मी न बनें। इस तरह दक्ष के सारे पुत्र प्रबुद्ध हो गये और वापस न लौटने के विचार से उन्होंने उस स्थान का त्याग कर दिया।

पुत्रों की हानि पर प्रजापति दक्ष अत्यन्त दुखी थे और उन्होंने अपनी पत्नी पाञ्चजनी के गर्भ से एक हजार पुत्र और उत्पन्न किये और उन्हें सन्तानें बढ़ाने के लिए आदेश दिया। इन पुत्रों का नाम

सवलाश्व रखा गया जो सन्तानें उत्पन्न करने के लिए भगवान् विष्णु की पूजा करने में लग गये, किन्तु नारद ने उन्हें सन्तानें न उत्पन्न करने तथा साधु बनने के लिए आश्वस्त किया। दो बार जनसंख्या बढ़ाने के अपने प्रयासों को विफल होते देखकर प्रजापति दक्ष नारद मुनि पर अतीव क्रुद्ध हुए और उन्हें यह कहते हुए शाप दिया कि भविष्य में वे किसी भी स्थान में ठहर सकने में समर्थ न हों। चूँकि पूर्ण योग्य होने से नारदमुनि सहिष्णु थे, अतएव उन्होंने दक्ष का शाप स्वीकार कर लिया।

श्रीशुक उवाच

तस्यां स पाञ्चजन्यां वै विष्णुमायोपबृंहितः ।
हर्यश्वसंज्ञानयुतं पुत्रानजनयद्विभुः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; तस्याम्—उस; सः—प्रजापति दक्ष; पाञ्चजन्याम्—पाञ्चजनी नामक अपनी पत्नी; वै—निश्चितही; विष्णु-माया-उपबृंहितः—भगवान् विष्णु की माया द्वारा सक्षम बनाया गया; हर्यश्व-संज्ञान्—हर्यश्व नामक; अयुतम्—दस हजार; पुत्रान्—पुत्रों को; अजनयत्—जन्म दिया; विभुः—शक्तिशाली होने से।

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् विष्णु की माया से प्रेरित होकर प्रजापति दक्ष ने पाञ्चजनी (असिक्नी) के गर्भ से दस हजार पुत्र उत्पन्न किये। हे राजन्! ये पुत्र हर्यश्व कहलाये।

अपृथग्धर्मशीलास्ते सर्वे दाक्षायणा नृप ।
पित्रा प्रोक्ताः प्रजासर्गे प्रतीचीं प्रययुर्दिशम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

अपृथक्—एकसमान; धर्म-शीलाः—अच्छा चरित्र तथा स्वभाव; ते—वे; सर्वे—सभी; दाक्षायणाः—दक्ष के पुत्र; नृप—हे राजन्; पित्रा—पिता द्वारा; प्रोक्ताः—आदेश दिये गये; प्रजा-सर्गे—जनसंख्या बढ़ाने के लिए; प्रतीचीम्—पश्चिमी; प्रययुः—वे गये; दिशम्—दिशा में।

हे राजन्! प्रजापति दक्ष के सारे पुत्र समान रूप से अत्यन्त विनम्र तथा अपने पिता के आदेशों के प्रति आज्ञाकारी थे। जब उनके पिता ने सन्तानें उत्पन्न करने के लिए उन्हें आदेश दिया तो वे सभी पश्चिमी दिशा की ओर चले गये।

तत्र नारायणसरस्तीर्थं सिन्धुसमुद्रयोः ।
सङ्गमो यत्र सुमहन्मुनिसिद्धनिषेवितम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्र—उस दिशा में; नारायण-सरः—नारायण सरस नामक झील; तीर्थम्—अत्यन्त पवित्र स्थान; सिन्धु-समुद्रयोः—सिन्धु नदी तथा समुद्र का; सङ्गमः—संगम; यत्र—जहाँ; सु-महत्—अत्यन्त महान्; मुनि—मुनियों; सिद्ध—तथा सिद्ध मनुष्यों द्वारा; निषेवितम्—रहते हुए।

पश्चिम में, जहाँ सिन्धु नदी सागर से मिलती है, नारायण सरस नामक एक महान् तीर्थस्थान है। वहाँ पर अनेक मुनि तथा आध्यात्मिक चेतना में उन्नत अन्य लोग रहते हैं।

तदुपस्पर्शनादेव विनिर्धूतमलाशयाः ।
धर्मे पारमहंस्ये च प्रोत्पन्नमतयोऽप्युत ॥ ४ ॥
तेपिरे तप एवोग्रं पित्रादेशेन यन्त्रिताः ।
प्रजाविवृद्धये यत्तान्देवर्षिस्तान्ददर्श ह ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस तीर्थस्थान का; उपस्पर्शनात्—उस जल में स्नान करने से या इसे छूने से; एव—केवल; विनिर्धूत—पूर्णतया धुल गये; मल-आशयाः—जिनकी अशुद्ध इच्छाएँ; धर्मे—अभ्यासों को; पारमहंस्ये—सर्वोच्च संन्यासियों द्वारा सम्पन्न; च—भी; प्रोत्पन्न—अत्यधिक उन्मुख; मतयः—जिनके मन; अपि उत—यद्यपि; तेपिरे—उन्होंने किया; तपः—तपस्या; एव—निश्चय ही; उग्रम्—कठिन; पितृ-आदेशेन—अपने पिता के आदेश से; यन्त्रिताः—लगाये गये; प्रजा-विवृद्धये—जनसंख्या बढ़ाने के उद्देश्य से; यत्तान्—तैयार; देवर्षिः—नारद ऋषि; तान्—उनको; ददर्श—देखा; ह—निस्सन्देह।

उस तीर्थस्थान में हर्यश्वगण नियमित रूप से नदी का जल स्पर्श करने और उसमें स्नान करने लगे। धीरे धीरे अत्यधिक शुद्ध हो जाने पर वे परमहंसों के कार्यों के प्रति उन्मुख हो गये। फिर भी चूँकि उनके पिता ने उन्हें जनसंख्या बढ़ाने का आदेश दिया था, अतः पिता की इच्छापूर्ति के लिए उन्होंने कठिन तपस्या की। एक दिन जब महर्षि नारद ने इन बालकों को जनसंख्या बढ़ाने के लिए ऐसी उत्तम तपस्या करते देखा तो वे उनके निकट आये।

उवाच चाथ हर्यश्वाः कथं स्रक्ष्यथ वै प्रजाः ।
अदृष्ट्वान्तं भुवो यूयं बालिशा बत पालकाः ॥ ६ ॥
तथैकपुरुषं राष्ट्रं बिलं चादृष्टनिर्गमम् ।

बहुरूपां स्त्रियं चापि पुमांसं पुंश्चलीपतिम् ॥ ७॥
नदीमुभयतो वाहां पञ्चपञ्चाद्भुतं गृहम् ।
क्वचिद्धंसं चित्रकथं क्षौरपव्यं स्वयं भ्रमि ॥ ८॥

शब्दार्थ

उवाच—उसने कहा; च—भी; अथ—इस प्रकार; हर्यश्वाः—हे हर्यश्वो, प्रजापति दक्ष के पुत्रो; कथम्—क्यों; स्रक्ष्यथ—उत्पन्न करोगे; वै—निस्सन्देह; प्रजाः—सन्तानें; अदृष्ट्वा—बिना देखे; अन्तम्—अन्त; भुवः—इस पृथ्वी का; यूयम्—तुम सभी; बालिशाः—अनुभवहीन; बत—हाय; पालकाः—यद्यपि शासन चलाने वाले राजकुमार; तथा—उसी तरह भी; एक—एक; पुरुषम्—मनुष्य; राष्ट्रम्—राज्य; बिलम्—छेद; च—भी; अदृष्ट-निर्गमम्—जिससे कोई बाहर नहीं आ रहा; बहु-रूपाम्—अनेक रूप धारण करते हुए; स्त्रियम्—स्त्री को; च—तथा; अपि—भी; पुमांसम्—मनुष्य को; पुंश्चली-पतिम्—वेश्या का पति; नदीम्—नदी को; उभयतः—दोनों ओर से; वाहाम्—बहती है; पञ्च-पञ्च—पाँच गुणित पाँच (पच्चीस); अद्भुतम्—आश्चर्य; गृहम्—घर; क्वचित्—कहीं पर; हंसम्—हंस; चित्र-कथम्—जिसकी कथा विचित्र है; क्षौर-पव्यम्—तेज छूरों तथा बज्रों से बना; स्वयम्—स्वयं; भ्रमि—घूमने वाला।

महामुनि नारद ने कहा : हे हर्यश्वो! तुमने पृथ्वी के छोरों को नहीं देखा है। एक ऐसा राज्य है, जिसमें केवल एक व्यक्ति रहता है और उसमें जहाँ पर एक छेद है, उसमें से भीतर घुसने वाला कभी निकल कर बाहर नहीं आता। वहाँ पर एक स्त्री है, जो अत्यन्त कुमार्गिनी (असाध्वी) है और वह नाना प्रकार के आकर्षक वस्त्रों से अपने को सुसज्जित करती है और वहाँ जो पुरुष रहता है, वह उसका पति है। उस राज्य में एक नदी है, जो दोनों दिशाओं में बहती है, पच्चीस पदार्थों से बना हुआ एक अद्‌भुत घर है, एक हंस है, जो नाना प्रकार की ध्वनियाँ करता है और एक स्वतः घूमने वाली वस्तु है, जो तेज छूरों तथा वज्रों से बनी है। तुम लोगों ने इन सबों को नहीं देखा इसलिए तुम लोग उच्च ज्ञान से रहित अनुभवहीन बालक हो। तो फिर तुम किस तरह सन्तान उत्पन्न करोगे?

तात्पर्य : नारद मुनि ने देखा कि हर्यश्व नामक बालक पहले से शुद्ध हो चुके थे, क्योंकि वे तीर्थस्थान में रह रहे थे और वे एक तरह से मुक्ति पाने ही वाले थे। तो फिर उन्हें उस गृहस्थ जीवन में बँधने के लिए क्यों प्रोत्साहित किया जाये जो इतना अंधकारमय है कि एक बार प्रवेश करने पर इसे छोड़ा नहीं जा सकता? इस रूपक के माध्यम से नारद मुनि ने उन्हें इस पर विचार करने के लिए कहा कि गृहस्थ-जीवन में बँधने के लिए उन्हें अपने पिता के आदेश का पालन क्यों करना चाहिए। परोक्ष में नारद मुनि ने उनसे अपने हृदयों के भीतर परमात्मा या भगवान् विष्णु की

स्थिति ढूँढ़ने के लिए कहा, क्योंकि तभी वे सही अर्थ में अनुभवी होंगे। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति इस भौतिक परिवेश में बुरी तरह लिप्त है और अपने हृदय के भीतर नहीं झाँकता वह अधिकाधिक माया में बद्ध होता है। नारद मुनि का उद्देश्य प्रजापति दक्ष के पुत्रों का ध्यान सामान्य किन्तु प्रजनन के जटिल मामलों में न उलझाकर आध्यात्मिक साक्षात्कार की ओर मोड़ना था। ऐसी ही सलाह प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता को दी थी (*भागवत* ७.५.५)—

तत्साधु मन्येऽसुरवर्यदेहिनां सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्।

हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत॥

गृहस्थ-जीवन के अंधकारपूर्ण कुएँ में मनुष्य सदैव चिन्ताओं से भरा रहता है, क्योंकि वह नश्वर शरीर धारण किये रहता है। यदि मनुष्य अपने को इस चिन्ता से मुक्त करना चाहता है, तो उसे तुरन्त गृहस्थ जीवन त्याग कर वृन्दावन में भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए। नारदमुनि ने हर्यश्वों को गृहस्थ-जीवन में प्रवेश न करने की सलाह दी। चूँकि वे पहले से आध्यात्मिक ज्ञान में बढ़े-चढ़े थे तो फिर वे इस तरह क्यों बद्ध हो?

कथं स्वपितुरादेशमविद्वांसो विपश्चितः ।
अनुरूपमविज्ञाय अहो सर्गं करिष्यथ ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

कथम्—किस तरह; स्व-पितुः—अपने पिता का; आदेशम्—आदेश; अविद्वांसः—अज्ञान; विपश्चितः—प्रत्येक बात जानने वाला; अनुरूपम्—तुम्हारे अनुरूप; अविज्ञाय—बिना जाने; अहो—हाय; सर्गम्—सृष्टि; करिष्यथ—तुम करोगे।

हाय! तुम्हारा पिता तो सर्वज्ञ है, किन्तु तुम उनके असली आदेश को नहीं जानते। अपने पिता के असली उद्देश्य को जाने बिना तुम किस तरह सन्तान उत्पन्न करोगे?

श्रीशुक उवाच
तन्निशम्याथ हर्यश्वा औत्पत्तिकमनीषया ।
वाचः कूटं तु देवर्षेः स्वयं विममृशुर्धिया ॥ १० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; तत्—वह; निशम्य—सुनकर; अथ—इसके बाद; हर्यश्वाः—प्रजापति दक्ष के सारे पुत्र; औत्पत्तिक—स्वभावतः जाग्रत; मनीषया—विचार करने की शक्ति होने से; वाचः—वाणी का; कूटम्—आसानी से समझ में न आने वाली बात; तु—लेकिन; देवर्षेः—नारद मुनि की; स्वयम्—स्वयं; विममृशुः—विचार किया; धिया—पूरी बुद्धि से।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : नारदमुनि के गूढ़ शब्दों को सुनकर हर्यश्वों ने अपनी स्वाभाविक बुद्धि से दूसरों से सहायता लिये बिना विचार किया।

भूः क्षेत्रं जीवसंज्ञं यदनादि निजबन्धनम् ।
अदृष्ट्वा तस्य निर्वाणं किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

भूः—पृथ्वी; क्षेत्रम्—कार्यक्षेत्र; जीव-संज्ञम्—कर्म के विभिन्न फलों से बँधने की आध्यात्मिक जीव की उपाधि; यत्—जो; अनादि—अनादि काल से विद्यमान; निज-बन्धनम्—अपना ही बन्धन उत्पन्न करके; अदृष्ट्वा—देखे बिना; तस्य—इसका; निर्वाणम्—अन्त; किम्—क्या लाभ; असत्-कर्मभिः—क्षणिक सकाम कर्मों से; भवेत्—हो सकता है।

[हर्यश्वों ने नारद के शब्दों का अर्थ इस प्रकार समझा] *भूः* शब्द कर्मक्षेत्र का द्योतक है। यह भौतिक शरीर जो मनुष्य के कर्मों का फल होता है, उसका कर्मक्षेत्र है और यह उसे झूठी उपाधियाँ देता है। अनादि काल से मनुष्य को विविध प्रकार के भौतिक शरीर प्राप्त होते रहे हैं, जो भौतिक जगत से बन्धन के मूल हैं। यदि कोई मनुष्य मूर्खतावश क्षणिक सकाम कर्मों में अपने को लगाता है और इस बन्धन को समाप्त करने की ओर नहीं देखता तो उसको कर्मों का क्या लाभ मिलेगा?

तात्पर्य : नारद मुनि ने प्रजापति दक्ष के पुत्र हर्यश्वों से रूपक शैली में दस विषयों की चर्चा की—राजा, राज्य, नदी, घर, भौतिक तत्त्व इत्यादि। इन सबों पर स्वयं विचार करने के बाद हर्यश्व यह समझ सके कि जीव अपने शरीर में बन्दी बनकर सुख ढूँढता है, किन्तु वह इसमें रुचि नहीं लेता कि इस बन्धन से किस तरह मुक्त हुआ जाये? यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण श्लोक हैं, क्योंकि भौतिक जगत में सारे जीव विशेष प्रकार का शरीर प्राप्त करने से अत्यन्त सक्रिय हैं। मनुष्य इन्द्रिय-तृप्ति के लिए रात दिन काम करता है और शूकर तथा कूकर जैसे पशु भी इन्द्रियतृप्ति हेतु दिनरात कार्य करते हैं। पक्षी, पशु तथा अन्य सारे बद्धजीव शरीर के भीतर बन्दी आत्मा को जाने

बिना विविध कार्यों में लगे रहते हैं। विशेषतया मनुष्य शरीर पाकर उसका कर्तव्य हो जाता है कि वह इस तरह कर्म करे कि वह अपने को इस बन्धन से छुड़ा सके। किन्तु नारद या उनकी परम्परा के उनके प्रतिनिधि के उपदेशों के बिना लोग मायासुख भोगने के लिए अन्धाधुन्ध शारीरिक कार्यों में लगे रहते हैं। वे यह नहीं जानते कि अपने भौतिक बन्धन से किस तरह मुक्त हुआ जाये। इसलिए ऋषभदेव ने कहा कि ऐसा कर्म तनिक भी उत्तम नहीं, क्योंकि यह आत्मा को बारम्बार शरीर के बन्धन में डालता है, जो तीन प्रकार के तापों के अधीन है।

प्रजापति दक्ष के पुत्र हर्यश्व तुरन्त ही नारद के उपदेशों का तात्पर्य समझ गये। हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन विशेषतया ऐसे ही प्रबोधन के लिए है। हम लोग मानवता को प्रबुद्ध बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं जिससे लोगों को यह ज्ञान हो कि उन्हें आत्म-साक्षात्कार तथा एक शरीर से दूसरे शरीर में जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के निरन्तर बन्धन से मुक्ति के लिए तपस्या करनी चाहिए। किन्तु माया अत्यन्त प्रबल है, वह इस ज्ञान के मार्ग में रोड़े अटकाने में दक्ष है। इसलिए कभी-कभी मनुष्य कृष्णभावनामृत आन्दोलन में जुड़ जाता है, किन्तु इस आन्दोलन के महत्त्व को न समझने से वह पुनः माया के चंगुल में फँस जाता है।

एक एवेश्वरस्तुर्यो भगवान्स्वाश्रयः परः ।
तमदृष्ट्वाभवं पुंसः किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

एकः—एक; एव—निस्सन्देह; ईश्वरः—परम नियन्ता; तुर्यः—चतुर्थ दिव्य अवस्था, तुरीय; भगवान्—भगवान्; स्व-आश्रयः—स्वतंत्र, अपना ही आश्रय होने से; परः—इस भौतिक सृष्टि के परे; तम्—उसको; अदृष्ट्वा—बिना देखे; अभवम्—जो उत्पन्न नहीं हुआ; पुंसः—मनुष्य का; किम्—क्या लाभ; असत्-कर्मभिः—क्षणिक सकाम कर्मों से; भवेत्—हो सकता है।

[नारद मुनि ने कहा था कि एक ऐसा राज्य है जहाँ केवल एक नर है। हर्यश्वों को इस कथन के आशय की अनुभूति हुई] एकमात्र भोक्ता भगवान् हैं, जो हर वस्तु को हर जगह देखते हैं। वे षड्ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं और अन्य सबों से पूर्णतया स्वतंत्र हैं। वे कभी भी भौतिक प्रकृति के तीन गुणों से प्रभावित नहीं होते, क्योंकि वे सदा से इस भौतिक सृष्टि से परे रहे

हैं। यदि मानव-समाज के सदस्य ज्ञान तथा कर्मों की प्रगति के माध्यम से उन परम पुरुष को नहीं समझते बल्कि क्षणिक सुख के लिए रात-दिन कुत्ते-बिल्लियों की तरह अत्यधिक कठोर श्रम करते हैं, तो उनके कार्यों से क्या लाभ?

तात्पर्य : नारद मुनि ने ऐसे राज्य का उल्लेख किया था जहाँ केवल एक राजा है, जिसका प्रतियोगी कोई नहीं है। सम्पूर्ण आध्यात्मिक जगत में तथा विराट जगत में विशेषरुप से केवल एक स्वामी या भोक्ता—भगवान् है, जो इस भौतिक जगत से परे है। इसलिए भगवान् को *तुर्य* अर्थात् चतुर्थ अवस्था में स्थित कहा गया है। उन्हें *अभव* भी कहा गया है। *भव* शब्द *भू* से निकला है, जिसका अर्थ "जन्म" होता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (८.१९) में कहा गया है—*भूत्वा भूत्वा प्रलीयते*—इस भौतिक जगत में जीवों को बारम्बार जन्म लेना और विनष्ट होना पड़ता है। किन्तु भगवान् न तो *भूत्वा* हैं न *प्रलीयते*। वे शाश्वत हैं। दूसरे शब्दों में, वे उन मनुष्यों या पशुओं की तरह जन्म लेने के लिए बाध्य नहीं हैं, जो आत्मा को न जानने के कारण बारम्बार जन्म लेते तथा मरते हैं। भगवान् कृष्ण में ऐसे शरीर-परिवर्तन नहीं होते और जो अन्यथा सोचता है, वह मूर्ख माना जाता है (*अवजानन्ति मां मानुषीं मूढा तनुमाश्रितम्*)। नारद मुनि यह सलाह देते हैं कि मनुष्य बिल्लियों तथा बन्दरों की तरह उछल-कूद में असली लाभ के बिना अपना समय व्यर्थ न गँवाये। मनुष्य का कर्तव्य है कि भगवान् को समझे।

पुमान्नैवैति यद्गत्वा बिलस्वर्गं गतो यथा ।
प्रत्यग्धामाविद इह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

पुमान्—मनुष्य; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; एति—वापस आता है; यत्—जिस तक; गत्वा—जाकर; बिल-स्वर्गम्—पाताल तक; गतः—गया हुआ; यथा—जिस तरह; प्रत्यक्-धाम—तेजोमय आध्यात्मिक जगत; अविदः—अज्ञानी मनुष्य का; इह—इस भौतिक जगत में; किम्—क्या लाभ; असत्-कर्मभिः—नश्वर सकाम कर्म से; भवेत्—हो सकता है।

[नारद मुनि ने कहा था कि एक बिल या छेद है, जिसमें प्रवेश करने के बाद कोई लौटता नहीं। हर्यश्व इस रूपक का अर्थ समझ गये।] एक बार जो व्यक्ति पाताल नामक

निम्नतर लोकों में प्रवेश करता है, वह मुश्किल से लौटता देखा जाता है। इसी तरह यदि कोई वैकुण्ठ धाम (प्रत्यग् धाम) में प्रवेश करता है, तो वह इस भौतिक जगत में लौटकर नहीं आता। यदि कोई ऐसा स्थान है जहाँ जाकर मनुष्य इस दुखमय भौतिक जीवन में नहीं लौटता तो फिर नश्वर भौतिक जगत में बन्दरों की तरह उछलने-कूदने एवं उस स्थान को न देखने या समझने से क्या लाभ? इससे क्या लाभ होगा?

तात्पर्य : जैसा कि *भगवद्गीता* (१५.६) में कहा गया है—*यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम*—एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ जाकर कोई इस भौतिक जगत में वापस नहीं आता। इस क्षेत्र का बारम्बार वर्णन हुआ है। *भगवद्गीता* में अन्यत्र (४.९) कृष्ण कहते हैं—

जन्मकर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अुर्जन! जो मेरे आविर्भाव तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह इस शरीर को छोड़ने पर इस संसार में पुन: जन्म नहीं लेता, अपितु मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।"

यदि कोई व्यक्ति कृष्ण को, जिनका परमेश्वर के रूप में वर्णन किया जा चुका है, ठीक से समझ जाता है, तो वह अपना भौतिक शरीर त्यागने के बाद लौटकर यहाँ नहीं आता। इसी तथ्य को *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक में बतलाया गया है। *पुमान् नैवैति यद् गत्वा*—वह इस भौतिक जगत में लौटकर नहीं आता, अपितु ज्ञान का शाश्वत आनन्दमय जीवन बिताने के लिए भगवद्धाम लौट जाता है। लोग इसकी परवाह क्यों नहीं करते? इस भौतिक जगत में कभी मनुष्य के रूप में, कभी देवता के रूप में और कभी कुत्ते या बिल्ली के रूप में पुन: जन्म लेने से क्या लाभ मिलेगा? इस तरह से समय व्यर्थ गँवाने से क्या लाभ? कृष्ण ने *भगवद्गीता* (८.१५) में अत्यन्त बलपूर्वक कहा है—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दु:खालयमशाश्वतम्।

नाप्नुवन्ति महात्मान: संसिद्धिं परमां गता:॥

"मुझे प्राप्त करके महापुरुष, जो भक्तियोगी हैं, कभी भी दुखों से पूर्ण इस अनित्य जगत में नहीं लौटते, क्योंकि उन्हें परम सिद्धि प्राप्त हो चुकी होती है।" मनुष्य को असली चिन्ता अपने को जन्म-मृत्यु के पिष्टपेषण से मुक्त करने तथा आध्यात्मिक जगत में परमेश्वर के साथ रहकर जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने की होनी चाहिए। इन श्लोकों में दक्ष के पुत्र बारम्बार कहते हैं—*किम् असत्कर्मभिर्भवेत्*—अस्थायी सकाम कर्मों का क्या लाभ है"

नानारूपात्मनो बुद्धिः स्वैरिणीव गुणान्विता ।
तन्निष्ठामगतस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १४॥

शब्दार्थ

नाना—विविध; रूपा—रूप या वेश वाले; आत्मनः—जीव की; बुद्धिः—बुद्धि; स्वैरिणी—वेश्या जो स्वतंत्र रूप से नाना प्रकार के वस्त्रों तथा गहनों से अपने को सजाती है; इव—सदृश; गुण-अन्विता—रजोगुण इत्यादि से समन्वित; तत्-निष्ठाम्—उसका अन्त; अगतस्य—जिसने नहीं प्राप्त किया है उसका; इह—इस भौतिक जगत में; किम् असत्-कर्मभिः भवेत्—नश्वर सकाम कर्म करने से क्या लाभ।

[नारद मुनि ने एक स्त्री का वर्णन किया था, जो पेशेवर वेश्या है। हर्यश्वों को इस स्त्री की पहचान समझ में आ गई] रजोगुण से मिश्रित हुई प्रत्येक जीव की अस्थिर बुद्धि उस वेश्या के समान है, जो किसी के ध्यान को आकृष्ट करने के लिए अपने वस्त्र बदलती रहती है। यदि कोई मनुष्य यह जाने बिना कि यह किस तरह हो रहा है, पूरी तरह क्षणभंगुर सकाम कर्मों में लगा रहता है, तो उसे वास्तव में क्या लाभ मिलता है?

तात्पर्य : जिस स्त्री का पति नहीं होता वह अपने को स्वतंत्र घोषित कर देती है, जिसका अर्थ है कि वह वेश्या बन जाती है। वेश्या सामान्यतया अपने शरीर के अधोभाग के प्रति मनुष्य का ध्यान आकृष्ट करने के उद्देश्य से नाना प्रकार के वस्त्र धारण करती है। आजकल स्त्री के लिए नग्नप्राय घूमने, अपने शरीर के अधोभाग को किञ्चित् ही ढकने का अत्यधिक विज्ञापित फैशन इसलिए चल पड़ा है, जिससे मनुष्य का ध्यान यौन सुख के लिए उसके गुप्त अंगों की ओर खिंचे। अपने शरीर के अधोभाग की ओर मनुष्य को आकृष्ट करने में लगाई जाने वाली बुद्धि एक पेशेवर वेश्या की बुद्धि होती है। इसी तरह जो व्यक्ति कृष्ण के या कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रति

अपना ध्यान नहीं मोड़ता, उस जीव की बुद्धि वेश्या की ही तरह केवल वस्त्र बदलती है। ऐसी मूर्खतापूर्ण बुद्धि से क्या लाभ? मनुष्य को बुद्धिपूर्वक इस तरह से सचेत होना चाहिए कि उसे एक शरीर से दूसरे शरीर में बदलाव न करना पड़े।

कर्मीजन किसी भी क्षण अपने पेशे बदल देते हैं, किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति अपना पेशा नहीं बदलता, क्योंकि उसका एकमात्र पेशा हरे कृष्ण मंत्र के कीर्तन द्वारा कृष्ण का ध्यान आकृष्ट करना तथा नित्य फैशन न बदलकर अत्यन्त सादा जीवन बिताना है। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में फैशनपरस्त लोगों को एक ही फैशन—सिर मुड़ाये तथा तिलक धारण किये वैष्णव वेश—अपनाने की शिक्षा दी जाती है। उन्हें मन, वस्त्र तथा भोजन में सदैव स्वच्छ रहने की शिक्षा दी जाती है, जिससे वे कृष्णभावनामृत में स्थिर हो सकें। अपने वस्त्र को बदलते रहने से, कभी लम्बे बाल तथा लम्बी दाढ़ी रखने से, तो कभी अन्य प्रकार से वेश धारण करने से क्या लाभ? यह अच्छी बात नहीं है। मनुष्य को ऐसे फालतू कार्यों में समय नहीं गँवाना चाहिए। उसे सदैव कृष्णभावनामृत में स्थिर रहना चाहिए तथा दृढ़संकल्प के साथ भक्ति-रूप उपचार का सेवन करना चाहिए।

तत्सङ्गभ्रंशितैश्वर्यं संसरन्तं कुभार्यवत् ।
तद्‌गतीरबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तत्-सङ्ग—बुद्धिरूपी वेश्या की संगति से; भ्रंशित—हरी गई; ऐश्वर्यम्—स्वतंत्रता का ऐश्वर्य; संसरन्तम्—भौतिक जीवन-शैली बिताते हुए; कु-भार्य-वत्—उस व्यक्ति की तरह जिसकी पत्नी दूषित है; तत्-गती:—दूषित बुद्धि की हरकतें; अबुधस्य—न जानने वाले की; इह—इस जगत में; किम् असत्-कर्मभिः भवेत्—क्षणिक सकाम कर्मों के करने से क्या लाभ हो सकता है?.

[नारद मुनि ने एक ऐसे मनुष्य की भी बात कही थी जो वेश्या का पति है। हर्यश्वों ने इसे इस प्रकार समझा] यदि कोई पुरुष किसी वेश्या का पति बनता है, तो वह अपनी सारी स्वतंत्रता खो देता है। इसी तरह यदि जीव की बुद्धि दूषित है, तो वह अपने भौतिकतावादी जीवन को बढ़ा लेता है। भौतिक प्रकृति से निराश होकर उसे बुद्धि की गतियों का अनुसरण

करना पड़ता है, जो सुख तथा दुख की विविध स्थितियों को लाती हैं। यदि कोई ऐसी स्थितियों में सकाम कर्म करता है, तो इससे क्या लाभ होगा?

तात्पर्य : दूषित बुद्धि की उपमा वेश्या से दी गई है। जिसने अपनी बुद्धि को शुद्ध नहीं बनाया है, वह उस वेश्या के द्वारा नियंत्रित कहा जाता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (२.४१) में कहा गया है—*व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन*—जो लोग वास्तव में गम्भीर हैं, वे एक प्रकार की बुद्धि द्वारा चालित होते हैं और वह है कृष्णभावनामृत की बुद्धि। *बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्*—जो उचित बुद्धि में स्थिर नहीं है, वह जीवन के अनेक गुणों की खोज कर लेता है। इस तरह भौतिक कार्यों में लगा होने से वह प्रकृति के विभिन्न गुणों के सम्पर्क में आता है और तरह-तरह के तथाकथित सुख तथा दुख पाता है। यदि कोई पुरुष किसी वेश्या का पति बनता है, तो वह सुखी नहीं हो सकता। इसी तरह जो व्यक्ति भौतिक बुद्धि तथा भौतिक चेतना के आदेशों का पालन करता है, वह कभी भी सुखी नहीं होगा।

मनुष्य को सही ढंग से प्रकृति के कार्यों को समझना चाहिए। जैसा कि *भगवद्गीता* (३.२७) में कहा गया है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

''जीवात्मा भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के अन्तर्गत अहंकार के प्रभाव से मोहग्रस्त होकर अपने आपको समस्त कार्यों का कर्त्ता मान बैठता है, जबकि वास्तव में वे प्रकृति के तीनों गुणों के द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं।'' यद्यपि मनुष्य प्रकृति के आदेशों का पालन करता होता है, किन्तु वह प्रसन्नतापूर्वक अपने को प्रकृति का स्वामी या पति मानता है। उदाहरणार्थ, विज्ञानीजन जन्म-जन्मांतर भौतिक प्रकृति का स्वामी बनने का प्रयास करते हैं और उस परम पुरुष को समझने की परवाह नहीं करते जिनके निर्देशानुसार इस भौतिक जगत की सारी वस्तुएँ गतिशील हैं। भौतिक प्रकृति के स्वामी बनने के प्रयास में वे नकली देवताओं की तरह हैं, जो जनता में यह घोषित करते

हैं कि एक दिन वैज्ञानिक प्रगति ईश्वर के तथाकथित नियंत्रण को रोकने में समर्थ हो जायेगी। किन्तु वास्तव में जीव ईश्वर के विधानों को नियंत्रित करने में असमर्थ रहता है और वह दूषित बुद्धि रूपी वेश्या की संगति करने तथा विविध भौतिक शरीर स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जाता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (१३.२२) में कहा गया है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।

कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

"इस प्रकार जीव प्रकृति के तीनों गुणों का भोग करता हुआ प्रकृति का ही अनुसरण करता है। यह उस प्रकृति के साथ उसकी संगति के कारण है। इस तरह उसे विभिन्न योनियों में अच्छे तथा बुरे का सामना करता पड़ता है।" यदि कोई व्यक्ति क्षणिक सकाम कर्मों में पूरी तरह लगा रहता है और इस असली समस्या को हल नहीं करता तो उसे क्या लाभ मिलेगा?

सृष्ट्यप्ययकरीं मायां वेलाकूलान्तवेगिताम् ।
मत्तस्य तामविज्ञस्य किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सृष्टि—सृष्टि; अप्यय—प्रलय; करीम्—करने वाली; मायाम्—मोहिनी शक्ति; वेला-कूल-अन्त—किनारे के निकट; वेगिताम्—अत्यन्त तेज होने से; मत्तस्य—उन्मत्त का; ताम्—उस भौतिक प्रकृति को; अविज्ञस्य—न जानने वाला; किम् असत्-कर्मभिः भवेत्—क्षणिक सकाम कर्म करने से क्या लाभ हो सकता है।.

[नारद मुनि ने कहा था कि एक नदी है, जो दोनों दिशाओं में बहती है। हर्यश्वों ने इस कथन का तात्पर्य समझा] भौतिक प्रकृति दो प्रकार से कार्य करती है—सृजन द्वारा तथा संहार द्वारा। इस तरह भौतिक प्रकृति-रूपी नदी दोनों दिशाओं में बहती है। जो जीव अनजाने में इस नदी में गिर जाता है, वह इसकी लहरों में डूबता-उतराता जाता है और चूँकि नदी के किनारों के निकट धारा अधिक तेज रहती है, इसलिए वह बाहर निकल पाने में असमर्थ रहता है। माया-रूपी उस नदी में सकाम कर्म करने से क्या लाभ होगा?

तात्पर्य : मनुष्य माया-रूपी नदी की लहरों में डूबता-उतराता रह सकता है, किन्तु वह ज्ञान

तथा तपस्या के तटों पर आकर इन लहरों से बाहर भी निकल सकता है। किन्तु इन किनारों के निकट लहरें बड़ी प्रबल रहती हैं, अत: यदि वह यह नहीं समझता है कि वह लहरों द्वारा कैसे इधर उधर फैंका जा रहा है और वह क्षणिक सकाम कर्मों में लगा रहे तो उसे क्या लाभ मिलेगा?

ब्रह्म-संहिता (५.४४) में एक कथन है—

सृष्टि स्थिति प्रलयसाधनशक्तिरेका

छायेव यस्य भुवनानि बिभर्ति दुर्गा।

माया शक्ति, दुर्गा, *सृष्टि-स्थिति-प्रलय* का कार्यभार सँभालती है और वह भगवान् के निर्देशन में कार्य करती है (*मयाध्यक्षेण प्रकृति: सूयते सचराचरम्*)। जब मनुष्य अविद्या की नदी में गिर जाता है, तो वह लहरों द्वारा इधर-उधर उछाला जाता है, किन्तु वही माया उसे बचा भी सकती है, यदि वह कृष्ण की शरण में जाता है या कृष्णभावनाभावित बन जाता है। कृष्णभावनामृत ज्ञान तथा तपस्या है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति वैदिक वाङ्मय से ज्ञान ग्रहण करता है, किन्तु साथ ही साथ उसे तपस्या करनी चाहिए।

भौतिक जीवन से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को कृष्णभावनामृत ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा, यदि वह तथाकथित विज्ञान की प्रगति में बुरी तरह लगा रहेगा तो उसे कौन सा लाभ प्राप्त होगा? यदि वह प्रकृति की लहरों द्वारा बहा ले जाया जाता है, तो महान् विज्ञानी या दार्शनिक होने का क्या अर्थ? संसारी विज्ञान तथा दर्शन भी भौतिक सृष्टियाँ हैं। मनुष्य को समझना चाहिए कि माया किस तरह कार्य करती है और मनुष्य किस तरह अविद्या-रूपी नदी की उफनती लहरों से छुड़ाया जा सकता है। यह उसका प्रथम कर्तव्य है।

पञ्चविंशतितत्त्वानां पुरुषोऽद्भुतदर्पण: ।
अध्यात्ममबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १७॥

शब्दार्थ

पञ्च-विंशति—पच्चीस; तत्त्वानाम्—तत्त्वों में से; पुरुषः—भगवान्; अद्भुत-दर्पणः—अद्भुत का प्रकट कर्ता; अध्यात्मम्—समस्त कार्यों तथा कारणों का द्रष्टा; अबुधस्य—न जानने वाले का; इह—इस संसार में; किम् असत्-कर्मभिः भवेत्—क्षणभंगुर सकाम कार्यों में लगे रहने से क्या लाभ हो सकता है?.

[नारद मुनि ने कहा था कि पच्चीस तत्त्वों से बना हुआ एक घर है। हर्यश्वों को यह रूपक समझ में आ गया] भगवान् पच्चीस तत्त्वों के आगार हैं और परम पुरुष होने के कारण कार्य-कारण के संचालक रूप में वे उनकी अभिव्यक्ति करते हैं। यदि कोई व्यक्ति क्षणभंगुर सकाम कर्मों में अपने को लगाता है और उस परम पुरुष को नहीं जानता तो उसे क्या लाभ प्राप्त होगा?

तात्पर्य : दार्शनिक तथा विज्ञानी आदि कारण खोजने के लिए पांडित्यपूर्ण शोध करते हैं, किन्तु उन्हें वैज्ञानिक ढंग से ऐसा करना चाहिए, किसी सनक में आकर नहीं, न ही विचित्र सिद्धान्तों के माध्यम से ऐसा करना चाहिए। आदि कारण के विज्ञान की व्याख्या विविध वैदिक ग्रन्थों में ही हुई है। *अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। जन्माद्यस्य यतः।* *वेदान्त सूत्र* बताता है कि मनुष्य को परमात्मा विषयक पूछताछ करनी चाहिए। ब्रह्म विषयक ऐसी पूछताछ *ब्रह्म जिज्ञासा* कहलाती है। *श्रीमद्भागवत* (१.२.११) में परम सत्य या *तत्त्व* की व्याख्या की गई है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते॥

"परम सत्य को जानने वाले विद्वान अध्यात्मवादी इस अद्वैत तत्त्व को ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् कहकर पुकारते हैं।" नवदीक्षितों को परम सत्य निर्विशेष ब्रह्म के रूप में प्रतीत होते हैं और बढ़े-चढ़े योगियों को परमात्मा रूप में। किन्तु भक्तजन जो कि उनसे भी बढ़े-चढ़े होते हैं परमात्मा को भगवान् विष्णु के रूप में समझते हैं।

यह भौतिक विराट जगत भगवान् कृष्ण या विष्णु की शक्ति का विस्तार है।

एकदेश स्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा।

परस्य ब्रह्मण: शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्॥

''इस जगत में हम जो भी देखते हैं वह उन भगवान् की विविध शक्तियों का केवल विस्तार है, जो उस अग्नि की तरह हैं, जो एक स्थान में स्थित होते हुए भी दूर-दूर तक अपना प्रकाश फैलाती है।'' (*विष्णु पुराण*)। सम्पूर्ण विराट जगत भगवान् का विस्तार है। इसलिए यदि परम कारण को खोजने के लिए कोई व्यक्ति शोधकार्य न करके ओछे नश्वर कार्यों में झूठे ही अपने को लगाता है, तो फिर महत्त्वपूर्ण विज्ञानी या दार्शनिक के रूप में मान्यता की माँग करने से क्या लाभ? यदि वह परम कारण को नहीं जानता तो उसके वैज्ञानिक तथा दार्शनिक शोध से क्या लाभ?

पुरुष अर्थात् आदि पुरुष—भगवान् विष्णु—को एकमात्र भक्ति द्वारा समझा जा सकता है। *भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वत:*—एकमात्र भक्ति द्वारा उन परम पुरुष को समझा जा सकता है, जो सभी वस्तुओं के पीछे हैं। मनुष्य को यह समझने का प्रयास करना चाहिए कि भौतिक तत्त्व भगवान् की भिन्न कनिष्ठा शक्ति हैं और जीव भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति है। हम पदार्थ तथा आत्मा सहित जो भी अनुभव करते हैं वह भगवान् विष्णु की दो शक्तियों, कनिष्ठा (अपरा) शक्ति तथा श्रेष्ठ (परा) शक्ति, का संयोग है। मनुष्य को चाहिए कि सृष्टि, पालन तथा संहार विषयक तथ्यों का तथा उस स्थायी स्थान का, जहाँ से फिर लौटने की आवश्यकता नहीं पड़ती, (*यद्गत्वा न निवर्तन्ते*) गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करे। मानव समाज को इसका अध्ययन करना चाहिए, किन्तु लोग ऐसे ज्ञान का अनुशीलन न करके क्षणिक सुख तथा इन्द्रियतृप्ति के प्रति आकृष्ट होते हैं जिनका अन्त पादहीन शीर्षहीन (बिना सिरपैर वाली) कामवासना में होता है। ऐसे कार्यों से कोई लाभ नहीं है। मनुष्य को कृष्णभावनामृत आन्दोलन में अपने को लगाना चाहिए।

ऐश्वरं शास्त्रमुत्सृज्य बन्धमोक्षानुदर्शनम् ।
विविक्तपदमज्ञाय किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ऐश्वरम्—ईश्वर का ज्ञान या कृष्णभावनामृत लाना; शास्त्रम्—वैदिक साहित्य; उत्सृज्य—त्यागकर; बन्ध—बन्धन का; मोक्ष—तथा मोक्ष का; अनुदर्शनम्—विधियों की जानकारी देना; विविक्त-पदम्—आत्मा को पदार्थ से पृथक् करना; अज्ञाय—न जानते हुए; किम् असत्-कर्मभिः भवेत्—क्षणभंगुर सकाम कर्मों का क्या लाभ हो सकता है।.

[नारद मुनि ने हंस की बात की थी। इस श्लोक में हंस की व्याख्या की गई है]। वैदिक ग्रन्थ (शास्त्र) भलीभाँति यह बताते हैं, कि समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्ति के स्रोत भगवान् को किस तरह समझना चाहिए। दरअसल, वे इन दोनों शक्तियों की विस्तार से व्याख्या करते हैं। हंस वह है, जो पदार्थ तथा आत्मा में अन्तर करता है, जो हर वस्तु के सार को ग्रहण करता है और जो बन्धन के तथा मोक्ष के उपायों की व्याख्या करता है। शास्त्रों के शब्द विविध प्रकार की ध्वनियों के रूप में हैं। यदि कोई मूर्ख धूर्त व्यक्ति नश्वर कार्यों में लगने के लिए इन शास्त्रों के अध्ययन को ताक पर रख देता है, तो फिर परिणाम क्या होगा?

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत आन्दोलन वैदिक साहित्य को आधुनिक भाषाओं में, विशेषतया अंग्रेजी, फ्रांसीसी तथा जर्मन जैसी पाश्चात्य भाषाओं में, प्रस्तुत करने के लिए अति उत्सुक है। पाश्चात्य जगत के कर्णधार, अमरीकी तथा यूरोपियन, आधुनिक सभ्यता की *प्रतिमाएँ* बन चुके हैं, क्योंकि भौतिक सभ्यता की प्रगति के लिए पाश्चात्य लोग अस्थायी कार्यों में अत्यन्त कुशल हैं। किन्तु विवेकवान् व्यक्ति यह देख सकता है कि सारे भव्य कार्य, यद्यपि नश्वर जीवन के लिए कदाचित् अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु शाश्वत जीवन से उन्हें कुछ लेना-देना नहीं रहता। सारा जगत पश्चिम की भौतिकतावादी सभ्यता की नकल कर रहा है, अतएव कृष्णभावनामृत आन्दोलन मूल संस्कृत वैदिक ग्रन्थों का पाश्चात्य भाषाओं में अनुवाद करके पाश्चात्य लोगों को ज्ञान प्रदान करने में अत्यधिक रुचि रखता है।

विविक्त-पदम् शब्द द्योतक है जीवन के लक्ष्य से सम्बन्धित तार्किक प्रवचनों के मार्ग का। यदि जीवन में जो महत्त्वपूर्ण है, उसकी विवेचना नहीं की जाती तो मनुष्य अंधकार में जा गिरता है और जीवन के लिए उसे संघर्ष करना पड़ता है। तो फिर ज्ञान में प्रगति करने से उसे क्या लाभ?

पश्चिम के लोग अपने छात्रों को हिप्पी बनते देख रहे हैं, यद्यपि विश्वविद्यालयीन् शिक्षा के लिए वहाँ भव्य प्रबन्ध हैं। किन्तु कृष्णभावनामृत आन्दोलन इन गुमराह, नशीली दवाओं के अभ्यस्त छात्रों को कृष्ण की सेवा में लगाकर उन्हें मानव समाज के लिए कल्याण के कार्यों की ओर मोड़ने का प्रयास कर रहा है।

कालचक्रं भ्रमि तीक्ष्णं सर्वं निष्कर्षयज्जगत् ।
स्वतन्त्रमबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

काल-चक्रम्—नित्यकाल का चक्र; भ्रमि—स्वतः घूमता हुआ; तीक्ष्णम्—अत्यन्त तेज; सर्वम्—समस्त; निष्कर्षयत्—हाँकते हुए; जगत्—संसार; स्व-तन्त्रम्—स्वतंत्र तथाकथित विज्ञानियों तथा दार्शनिकों की परवाह न करते हुए; अबुधस्य—(काल के नियम को) न जानने वाले का; इह—इस भौतिक जगत में; किम् असत्-कर्मभिः भवेत्—क्षणिक सकाम कर्मों में लगने से क्या लाभ।

[नारद मुनि ने तेज छुरों तथा वज्रों से बनी एक भौतिक वस्तु की बात की थी। हर्यश्वों ने इस रूपक को इस प्रकार समझा] नित्य काल बहुत ही तीक्ष्णता से गति करता है, मानो छुरों तथा वज्रों से बना हुआ हो। यह काल अबाध रूप से तथा पूर्णतया स्वतंत्र होकर सारे जगत के कार्यों का संचालन करता है। यदि मनुष्य नित्य काल तत्त्व का अध्ययन करने का प्रयास नहीं करता तो वह क्षणिक भौतिक कार्यों को करने से क्या लाभ प्राप्त कर सकता है?

तात्पर्य : यह श्लोक *क्षौर-पव्यं स्वयं भ्रमि* शब्दों की व्याख्या करता है, जो नित्य काल की कक्ष्या का विशेष रूप से द्योतन करने वाले हैं। कहा जाता है कि काल तथा लहरें किसी मनुष्य की प्रतीक्षा नहीं करते। महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य पण्डित के नैतिक उपदेशों के अनुसार—

आयुषः क्षण एकोऽपि न लभ्य स्वर्णकोटिभिः ।
न चेन्निरर्थकं नीतिः का च हानिस्ततोऽधिका ॥

करोड़ों डालर देकर भी जीवन का एक क्षण वापस नहीं लिया जा सकता। इसलिए मनुष्य को यह सोचना चाहिए कि यदि वह अपने जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ में गँवा देता है, तो कितनी बड़ी क्षति होती है। जीवन के लक्ष्य को न समझते हुए पशु की तरह जीवन बिताते हुए मनुष्य

मूर्खतावश यह सोचता है कि शाश्वतता नाम की कोई वस्तु नहीं है और उसका पचास, साठ या हद से हद सौ वर्षों का जीवन ही सब कुछ है। यह सबसे बड़ी मूर्खता है। काल शाश्वत है और इस भौतिक जगत में मनुष्य अपने शाश्वत जीवन की विभिन्न अवस्थाओं से होकर गुजरता है। यहाँ पर काल की उपमा तेज छुरे से दी गई है। छुरा तो बाल मूंडने के लिए होता है, किन्तु यदि ठीक से नहीं चलाया जाता तो गजब ढा सकता है। मनुष्य को सलाह दी जाती है, कि अपनी आयु का दुरुपयोग करके विपत्ति न खड़ी करे। उसे अत्यन्त सावधान रहकर अपने जीवन की अवधि का उपयोग आध्यात्मिक साक्षात्कार या कृष्णभावनामृत के लिए करना चाहिए।

शास्त्रस्य पितुरादेशं यो न वेद निवर्तकम् ।
कथं तदनुरूपाय गुणविस्रम्भ्युपक्रमेत् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

शास्त्रस्य—शास्त्रों का; पितुः—पिता का; आदेशम्—आदेश; यः—जो कोई; न—नहीं; वेद—समझता है; निवर्तकम्—जो जीवन की भौतिक शैली का अन्त कर देता है; कथम्—कैसे; तत्-अनुरूपाय—शास्त्रों के आदेश का पालन करने के लिए; गुण-विस्रम्भी—प्रकृति के तीन गुणों में फँसा व्यक्ति; उपक्रमेत्—सन्तति उत्पन्न करने के काम में लग सकता है।.

[नारद मुनि ने पूछा था कि मनुष्य किस तरह अज्ञानवश अपने ही पिता की आज्ञा का उल्लंघन कर सकता है। हर्यश्वों ने इस प्रश्न का अर्थ समझ लिया था] मनुष्य को शास्त्र के मूल आदेशों को स्वीकार करना चाहिए। वैदिक सभ्यता के अनुसार मनुष्य को द्वितीय जन्म के चिह्नरूप में यज्ञोपवीत (जनेऊ) प्रदान किया जाता है। वह प्रामाणिक गुरु से शास्त्रों के आदेश प्राप्त कर चुकने के फलस्वरूप दूसरा जन्म पाता है। इसलिए शास्त्र असली पिता है। सारे शास्त्रों का आदेश है कि मनुष्य अपने जीवन की भौतिक शैली को समाप्त कर दे। यदि वह पिता अर्थात् शास्त्रों के आदेशों का उद्देश्य नहीं समझता तो वह अज्ञानी है। जो पिता अपने पुत्र को भौतिक कार्यों में लगाये रखने का प्रयत्न करता है, उसके वचन पिता के असली आदेश नहीं होते।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१६.७) का कथन हैं—*प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः—*

असुरगण जो मनुष्यों से निम्न हैं, किन्तु पशु नहीं कहलाते, *प्रवृत्ति* तथा *निवृत्ति* अर्थात् करणीय कार्य तथा अकरणीय कार्य का अर्थ नहीं समझते। भौतिक जगत में हर व्यक्ति भौतिक जगत पर यथाशक्य प्रभुत्त्व जताना चाहता है। यह *प्रवृत्ति मार्ग* कहलाता है। किन्तु सारे शास्त्र *निवृत्ति मार्ग* का उपदेश देते हैं अर्थात् भौतिकतावादी जीवन-शैली से छुटकारे की सलाह देते हैं। वैदिक सभ्यता दुनिया में सबसे पुरानी है, वैदिक शास्त्रों के अतिरिक्त अन्य शास्त्र भी इस बात पर सहमत हैं। उदाहरणार्थ, बौद्धशास्त्रों में भगवान् बुद्ध यह उपदेश देते हैं कि भौतिकतावादी जीवन-शैली त्याग कर मनुष्य *निर्वाण* प्राप्त कर सकता है। बाइबिल भी एक शास्त्र है, उसमें भी यही उपदेश मिलेगा कि मनुष्य भौतिकतावादी जीवन का अन्त कर दे और भगवद्धाम वापस जाये। हम किसी भी शास्त्र की परीक्षा करें, विशेषतया वैदिक शास्त्र की, तो यही उपदेश दिया जाता है कि मनुष्य अपने भौतिकतावादी जीवन का परित्याग करे और अपने आदि आध्यात्मिक जीवन में वापस आये। शंकराचार्य ने भी यही निष्कर्ष प्रतिपादित किया। *ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या*—यह भौतिक जगत या भौतिकतावादी जीवन केवल माया या भ्रम है, अतएव मनुष्य अपने मायामय या भ्रामक कार्यों को बन्द करके ब्रह्म-पद को प्राप्त करे।

शास्त्र शब्द विशेषतया वैदिक ज्ञान ग्रन्थों का द्योतक है। *साम, यजुर, ऋग् तथा अथर्व*—ये चारों वेद तथा इन वेदों से ज्ञान प्राप्त करने वाले अन्य ग्रन्थ वैदिक ग्रन्थ माने जाते हैं। *भगवद्गीता* समस्त वैदिक ज्ञान का सार है, अतएव यह ऐसा शास्त्र है, जिसके उपदेशों को विशेष रूप से मानना चाहिए। समस्त शास्त्रों के इस सार में कृष्ण स्वयं उपदेश देते हैं कि मनुष्य अन्य सारे कर्तव्यों को त्याग कर उनकी शरण ग्रहण करे (*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*)।

मनुष्य को शास्त्र के नियमों का पालन करने की दीक्षा दी जानी चाहिए। दीक्षा देते समय कृष्णभावनामृत आन्दोलन मनुष्य से शास्त्र के परम वक्ता कृष्ण से उपदेश लेते हुए, भौतिकतावादी जीवनशैली के सिद्धान्तों को भुलाकर शास्त्र के निर्णय को प्राप्त होना चाहिए, ऐसी माँग करता है। इसलिए हम जिन सिद्धान्तों की सलाह देते हैं, वे हैं—अवैध यौन, नशा, जुआ खेलना तथा

मांसाहार—इन सबका निषेध। इन चार प्रकार के निषिद्ध कार्यों के त्याग से बुद्धिमान व्यक्ति भौतिकतावादी जीवन से मुक्ति पा लेगा और भगवद्धाम वापस जा सकेगा।

पिता तथा माता के आदेशों के विषय में यह कहा जा सकता है कि सारे जीव, जिसमें बिल्लियाँ, कुत्ते तथा सर्प जैसे तुच्छ जीव सम्मिलित हैं, माता-पिता से जन्म पाते हैं। अत: भौतिक माता-पिता पा लेना कोई समस्या नहीं है। प्रत्येक योनि में, जन्म-जन्मांतर जीव को माता-पिता मिलते हैं। किन्तु मानव-समाज में यदि मनुष्य अपने भौतिक माता-पिता तथा उनके आदेशों से तुष्ट हो जाता है और गुरु बनाकर तथा शास्त्रों में शिक्षित होकर आगे उन्नति नहीं करता है, तो वह निश्चित रुप से अंधकार में बना रहता है। भौतिक माता-पिता का महत्त्व तभी है जब वे अपने पुत्र को मृत्यु के चंगुल से मुक्त बनने में शिक्षित कराने में रुचि लेते हों। जैसाकि ऋषभदेव ने (*भागवत* ५.५.१८) उपदेश दिया है—*पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्। न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्*। जो व्यक्ति अपने आश्रित पुत्र को मृत्यु के आसन्न संकट से न बचा सके, उसे पिता या माता बनने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। जो माता-पिता अपने पुत्र को बचाना नहीं जानते, उनका कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि ऐसे माता-पिता किसी भी योनि में, यहाँ तक कि कुत्तों, बिल्लियों आदि की योनि को भी, प्राप्त हो सकते हैं। केवल ऐसे माता-पिता जो अपने पुत्र को आध्यात्मिक पद तक उठा सकें प्रामाणिक माता-पिता हैं। इसलिए वैदिक-प्रणाली में कहा जाता है *जन्मना जायते शूद्रः*—भौतिक माता पिता से जन्म लेने वाला शूद्र के तुल्य होता है। किन्तु जीवन का उद्देश्य ब्राह्मण अर्थात् उच्चकोटि का मनुष्य बनना है।

उच्चकोटि का बुद्धिमान व्यक्ति ब्राह्मण कहलाता है, क्योंकि वह परब्रह्म अर्थात् परम सत्य को जानता है। वैदिक आदेशों के अनुसार *तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्*—इस विज्ञान को जानने के लिए मनुष्य को प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए, जो शिष्य को यज्ञोपवीत द्वारा दीक्षा देगा जिससे वह वैदिक ज्ञान समझ सके। *जन्मना जायते शूद्रः संस्कारद्धि भवेद् द्विजः।* प्रामाणिक गुरु के प्रयास से ब्राह्मण बनना *संस्कार* कहलाता है। दीक्षा के बाद मनुष्य शास्त्र-अध्ययन में लग जाता

है। शास्त्र विद्यार्थी को शिक्षा देता है कि भौतिकतावादी जीवन से किस तरह छुटकारा पाकर भगवद्धाम लौटा जाये।

कृष्णभावनामृत आन्दोलन भौतिकतावादी जीवन से विरक्त होकर भगवान् के पास लौटने के इस उच्चतर ज्ञान की शिक्षा देता है, किन्तु दुर्भाग्यवश बहुत से माता-पिता इस आन्दोलन से अधिक सन्तुष्ट नहीं हैं। हमारे छात्रों के माता-पिता के अतिरिक्त अनेक व्यापारी जन भी असन्तुष्ट हैं, क्योंकि हम अपने छात्रों को नशा, मांसाहार, अवैध मैथुन तथा जुआ खेलने की आदतों को छोड़ने की शिक्षा देते हैं। यदि कृष्णभावनामृत आन्दोलन का विस्तार होता है, तो तथाकथित व्यापारियों को अपने कसाईघर, शराब खाने तथा अपनी सिगरेट फैक्टरियाँ बन्द करनी पड़ेंगी। इसलिए वे भी अत्यधिक भयभीत हैं। किन्तु हमारे पास अपने शिष्यों को भौतिकतावादी जीवन से छुटकारा दिलाने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं है। हमें उन्हें भौतिक जीवन से विपरीत जीवन की शिक्षा देनी चाहिए जिससे हम उन्हें जन्म-मृत्यु के चक्कर से बचा सकें।

इसलिए नारद मुनि ने प्रजापति दक्ष के पुत्र हर्यश्वों को सलाह दी कि संतति उत्पन्न करने के बजाय अच्छा हो कि वे उसका परित्याग करें और शास्त्रों के आदेशानुसार आध्यात्मिक ज्ञान की सिद्धि प्राप्त करें। *भगवद्गीता* (१६.२३) में शास्त्रों की महत्ता का उल्लेख हुआ है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

"जो शास्त्रों के आदेशों की अवहेलना करता है और मनमाने ढंग से कार्य करता है उसे न तो सिद्धि, न सुख और न ही परम गति की प्राप्ति हो पाती है।"

इति व्यवसिता राजन्हर्यश्वा एकचेतसः ।
प्रययुस्तं परिक्रम्य पन्थानमनिवर्तनम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; व्यवसिताः—नारद मुनि के उपदेशों से पूर्णतया आश्वस्त हुए; राजन्—हे राजन्; हर्यश्वाः—प्रजापति दक्ष के पुत्र; एक-चेतसः—सभी एकमत होने से; प्रययुः—विदा ली; तम्—नारदमुनि को; परिक्रम्य—प्रदक्षिणा करके; पन्थानम्—पथ पर; अनिवर्तनम्—जिससे इस भौतिक जगत में फिर से कोई वापस नहीं आता।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : हे राजन्! नारद मुनि के उपदेशों को सुनने के बाद प्रजापति दक्ष के पुत्र हर्यश्वों को पूरी तरह से समझ में आ गया। उन सबों ने उनके उपदेशों में विश्वास किया और वे एक ही निष्कर्ष पर पहुँचे। उन्हें अपना गुरु स्वीकार कर लेने पर उन्होंने उस महामुनि की प्रदक्षिणा की और उस पथ का अनुसरण किया जिससे कोई इस जगत में फिर नहीं लौटता।

तात्पर्य : इस श्लोक से हम दीक्षा तथा गुरु-शिष्य के कर्तव्यों का अर्थ समझ सकते हैं। गुरु कभी भी अपने शिष्य को यह शिक्षा नहीं देता, "मुझसे मंत्र लो, मुझे कुछ धन दो और इस योग पद्धति का अभ्यास करके तुम भौतिकतावादी जीवन में दक्ष बन जाओगे।" यह गुरु का कर्तव्य नहीं है। प्रत्युत गुरु अपने शिष्य को शिक्षा देता है कि किस तरह भौतिकतावादी जीवन का परित्याग करना चाहिए और शिष्य का कर्तव्य है कि वह उसके उपदेशों को हृदयंगम करे और अन्ततः भगवद्धाम वापस जाने के मार्ग का अनुसरण करे, जहाँ से कोई भी इस भौतिक जगत में वापस नहीं आता।

नारद मुनि के उपदेशों को सुनने के बाद प्रजापति दक्ष के पुत्र हर्यश्वों ने सैकड़ों सन्तानें उत्पन्न करने तथा उनकी देखभाल करने की झंझट में पड़ने के बजाय भौतिकतावादी जीवन में न फँसने का निश्चय किया। यह व्यर्थ में फंसने की बात होती। हर्यश्वों ने पाप-पुण्य के कर्मों का विचार नहीं किया, उनके भौतिकतावादी पिता ने जनसंख्या बढ़ाने का उन्हें आदेश दिया था, किन्तु नारद मुनि के वचनों में आकर वे उस आदेश का पालन नहीं कर सके। नारद मुनि ने उनके गुरु के रूप में उन्हें ये शास्त्रीय उपेदश दिये कि उन्हें इस भौतिक जगत का परित्याग कर देना चाहिए और उन्होंने प्रामाणिक शिष्यों की तरह उनके आदेशों का पालन किया। मनुष्य को इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न लोकों में चक्कर लगाते रहने का प्रयास नहीं करना चाहिए, क्योंकि यदि कोई सर्वोच्च लोक,

ब्रह्मलोक, भी चला जाता है, तो भी उसे लौटना होगा (*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*)। कर्मियों के प्रयास समय का अपव्यय होते हैं। मनुष्य को भगवद्धाम वापस जाने का प्रयास करना चाहिए। यही जीवन की सिद्धि है। जैसा कि *भगवद्गीता* (८.१६) में भगवान् कहते हैं—

आब्रह्म भुवनाँल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

''इस जगत में सर्वोच्च लोक से लेकर निम्नतम तक सारे लोक दुखों के घर हैं जहाँ जन्म तथा मरण का चक्कर लगा रहता है। किन्तु हे कुन्तीपुत्र! जो मेरे धाम को प्राप्त कर लेता है, वह फिर कभी जन्म नहीं लेता।''

स्वरब्रह्मणि निर्भातहृषीकेशपदाम्बुजे ।
अखण्डं चित्तमावेश्य लोकाननुचरन्मुनिः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

स्वर-ब्रह्मणि—आध्यात्मिक ध्वनि में; निर्भात—मन के समक्ष स्पष्ट रूप से रखते हुए; हृषीकेश—भगवान् कृष्ण का, जो कि इन्द्रियों के स्वामी हैं; पदाम्बुजे—चरणकमलों पर; अखण्डम्—अटूट; चित्तम्—चेतना; आवेश्य—लगाकर; लोकान्—सारे लोकों; अनुचरत्—चारों ओर यात्रा की; मुनिः—नारदमुनि ने।

संगीत यंत्रों में सात स्वरों—ष, ऋ, गा, म, प, ध तथा नि का प्रयोग किया जाता है, किन्तु ये सातों स्वर मूलतः सामवेद से आये। महामुनि नारद भगवान् की लीलाओं का वर्णन करते हुए ध्वनियाँ करते हैं। ऐसी दिव्य ध्वनियों यथा हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे, से वे अपने मन को भगवान् के चरणकमलों पर स्थिर करते हैं। इस तरह वे इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं। हर्यश्वों का उद्धार करने के बाद नारद मुनि ने अपने मन को भगवान् के चरणकमलों में सदा स्थिर रखते हुए सारे लोकों में अपनी यात्रा जारी रखी।

तात्पर्य : यहाँ पर नारद मुनि की अच्छाई का वर्णन हुआ है। वे सदैव भगवान् की लीलाओं का कीर्तन करते हैं और पतितात्माओं का उद्धार करके भगवद्धाम वापस भेजते हैं। इस सम्बन्ध में

श्रील भक्तिविनोदठाकुर का गीत है,

नारद मुनि, बाजाय वीणा,

राधिका-रमण'-नामे ।

नाम अमनि, उदित हय,

भकत-गीत-सामे ॥

अमिय-धारा, वरिषे घन,

श्रवण-युगले गिया ।

भकत-जन, सघने नाचे,

भरिया आपन हिया ॥

माधुरी-पूर, आसब पशि',

माताय जगत्-जने।

केह वा कांदे केह वा नाचे,

केह माते मने मने॥

पञ्च-वदन, नारदे धरि'

प्रेमेर सघन रोल।

कमलासन, नाचिया बले'

'बोल बोल हरि बोल'॥

सहस्त्रानन, परम-सुखे,

'हरि हरि' बलि'' गाय।

नाम-प्रमावे, मातिल विश्व

नाम-रस सबे पाय॥

श्रीकृष्ण-नाम, रसने स्फुरि',

पुरा 'ल आमार आश।

श्री-रूप-पदे याचये इहा

भकति विनोद दास॥

इस गीत का तात्पर्य है कि महात्मा नारद मुनि *राधिकारमण* अर्थात् कृष्ण के दूसरे नाम की ध्वनि निकलाते हुए एक तारवाला यंत्र, वीणा, बजाते हैं। ज्योंही वे तार झंकारते हैं सारे भक्त अतीव सुन्दर ध्वनि करने लगते हैं। तारवाले यंत्र के साथ गायन अमृत की वर्षा जैसा प्रतीत होता है और सारे भक्त भाव-विभोर होकर जी-भर नाचते हैं। नाचते समय वे भाव में उन्मत्त हो जाते हैं मानो *माधुरीपूर* नामक शराब पी रहे हों। उनमें से कुछ चिल्लाते हैं, कुछ नाचते हैं और कुछ खुलकर न नाचने के कारण मन ही मन नाचते हैं। शिवजी नारद मुनि का आलिंगन करते हैं और उनसे भावविष्ट वाणी में बातें करने लगते हैं। शिवजी को नारद के साथ नाचते देखकर ब्रह्माजी भी यह कहते हुए सम्मिलित हो जाते हैं, ''सभी लोग उच्चारण करो—हरिबोल! हरिबोल!'' स्वर्ग के राजा इन्द्र भी क्रमश: प्रसन्नतापूर्वक उनके साथ हो लेते हैं और नाचने तथा हरिबोल! हरि बोल! का उच्चारण करने लगते हैं। इस तरह ईश्वर के पवित्र नाम की दिव्य ध्वनि के प्रभाव से सारा ब्रह्माण्ड भावमय हो जाता है। भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं ''जब ब्रह्माण्ड भावमय हो जाता है, तो मेरी इच्छा तुष्ट हो जाती है। अतएव मैं रूप गोस्वामी के चरणकमलों पर प्रार्थना करता हूँ कि हरे नाम का यह कीर्तन इसी तरह उत्तम ढंग से चलता रहे।''

ब्रह्माजी नारदमुनि के गुरु हैं और नारद मुनि व्यास देव के गुरु हैं तथा व्यासदेव मध्वाचार्य के गुरु हैं। इस तरह गौड़ीय-माध्व-सम्प्रदाय नारदमुनि की गुरु परम्परा में आता है। इस गुरु-परम्परा के सदस्यों, दूसरे शब्दों में, कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्यों को चाहिए कि हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे की दिव्य ध्वनि का कीर्तन करते हुए नारद मुनि के चरणचिह्नों का अनुसरण करें। उन्हें हरे कृष्ण मंत्र की ध्वनि तथा *भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत* एवं *चैतन्य चरितामृत* के उपदेशों द्वारा पतितात्माओं का उद्धार करने के लिए सर्वत्र

जाना चाहिए। इससे भगवान् प्रसन्न होंगे। यदि कोई वास्तव में नारदमुनि के उपदेशों का पालन करे तो वह आध्यात्मिक दृष्टि से प्रगति कर सकता है। यदि कोई नारद मुनि को प्रसन्न कर लेता है, तो भगवान् हृषीकेश भी प्रसन्न हो जाते हैं (*यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादः*)। वर्तमान (सन्निकट का) गुरु नारदमुनि का प्रतिनिधि होता है। नारदमुनि के उपदेशों तथा वर्तमान गुरु के उपदेशों में कोई अन्तर नहीं होता। नारद मुनि तथा वर्तमान गुरु दोनों ही कृष्ण की उन्हीं शिक्षाओं का प्रवचन करते हैं, जिन्हें कृष्ण *भगवद्गीता* में कहते हैं (१८.६५-६६)—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

"सदैव मेरा चिन्तन करो, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो और मुझे नमस्कार करो। इस प्रकार तुम निश्चित रूप से मेरे पास आओगे। मैं तुम्हें वचन देता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय मित्र हो। समस्त प्रकार के धर्म का परित्याग करो और मेरी शरण में आओ। मैं समस्त पापों के फल से तुम्हारा उद्धार कर दूँगा। शोक मत करो।"

नाशं निशम्य पुत्राणां नारदाच्छीलशालिनाम् ।
अन्वतप्यत कः शोचन्सुप्रजस्त्वं शुचां पदम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

नाशम्—हानि; निशम्य—सुनकर; पुत्राणाम्—अपने पुत्रों की; नारदात्—नारद से; शील-शालिनाम्—सुशील व्यक्तियों में सर्वश्रेष्ठ; अन्वतप्यत—सहन किया; कः—प्रजापति दक्ष; शोचन्—शोक करते हुए; सु-प्रजस्त्वम्—दस हजार सुशील पुत्रों वाला; शुचाम्—शोक का; पदम्—स्थान।

प्रजापति दक्ष के पुत्र हर्यश्व अत्यन्त सुशील, सुसंस्कृत पुत्र थे, किन्तु दुर्भाग्यवश नारद मुनि के उपदेशों से वे अपने पिता के आदेश से विपथ हो गये। जब दक्ष ने यह समाचार सुना, जिसे उन तक नारद मुनि लाये थे, तो वे पश्चाताप करने लगे। यद्यपि वे ऐसे उत्तम पुत्रों

के पिता थे, किन्तु वे सब उनके हाथ से निकल चुके थे। निश्चय ही यह शोचनीय था।

तात्पर्य : प्रजापति दक्ष के पुत्र हर्यश्व निश्चय ही सुशील, विद्वान तथा बढ़े-चढ़े थे और अपने पिता के आदेशानुसार वे सब अपने परिवार के लिए उत्तम पुत्र उत्पन्न करने के लिए तपस्या हेतु गये थे। किन्तु नारद मुनि ने उनके उत्तम स्वभाव तथा संस्कृति का लाभ उठाकर उन्हें समुचित निर्देश दिया कि वे इस भौतिक जगत में न फँसें, अपितु अपने ज्ञान तथा संस्कृति का उपयोग अपने भौतिक मामलों को समाप्त करने में करें। हर्यश्वों ने नारद मुनि के आदेश का पालन किया, किन्तु जब इसका समाचार प्रजापति दक्ष के पास लाया गया तो प्रजापति नारद मुनि के इन कार्यों से सुखी होने के बजाय अतीव दुखी हुए। इसी तरह हम अधिक से अधिक युवाओं को उनके परम लाभ हेतु कृष्णभावनामृत आन्दोलन में लाने का प्रयास कर रहे हैं, किन्तु इस आन्दोलन में शरीक होने वाले युवकों के माता-पिता अत्यधिक दुखी होने से शोक कर रहे हैं और इसके विरुद्ध प्रचार कर रहे हैं। निस्सन्देह, प्रजापति दक्ष ने नारद मुनि के विरुद्ध कोई प्रचार नहीं किया, लेकिन जैसाकि हम बाद में देखेंगे, दक्ष ने नारद मुनि को उनके उपकारी कार्यों के लिए शाप दिया। यह है भौतिकतावादी जीवन की शैली। भौतिकतावादी माता-पिता अपने पुत्रों को सन्तानें उत्पन्न करने में लगाये रखना, सुधरी आर्थिक स्थिति के लिए प्रयत्न करते रहना तथा भौतिकतावादी जीवन में सड़ते रहने देना चाहते हैं। जब उनकी सन्तानें बर्बाद हो जाती हैं, व्यर्थ के नागरिक बनती हैं, तो वे दुखी नहीं होते किन्तु वे तब शोक करते हैं, जब वे जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन में शरीक हो जाते हैं। माता-पिताओं तथा कृष्णभावनामृत आन्दोलन के बीच यह शत्रुता सनातन काल से चली आ रही है। यहाँ तक कि नारद मुनि की भी निन्दा की गई तो दूसरों के विषय में क्या कहा जाये? फिर भी नारद मुनि कभी अपने मिशन को नहीं त्यागते। यथासम्भव पतितात्माओं का उद्धार करने के लिए वे अपनी वीणा बजाते रहते हैं और हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे की दिव्य ध्वनि का उच्चारण करते रहते हैं।

स भूयः पाञ्चजन्यायामजेन परिसान्त्वितः ।
पुत्रानजनयद्दक्षः सवलाश्वान्सहस्रिणः ॥ २४॥

शब्दार्थ

सः—प्रजापति दक्षः; भूयः—पुनः; पाञ्चजन्यायाम्—अपनी पत्नी अस्किनी या पाञ्चजनी के गर्भ से; अजेन—ब्रह्मा द्वारा; परिसान्त्वितः—सान्त्वना दिये जाने पर; पुत्रान्—पुत्रों को; अजनयत्—उत्पन्न किया; दक्षः—प्रजापति दक्ष ने; सवलाश्वान्—सवलाश्वों के नामवाले; सहस्रिणः—एक हजार।

जब प्रजापति दक्ष अपने खोये हुए पुत्रों के लिए शोक कर रहे थे तो ब्रह्मा ने उपदेश देकर उन्हें सान्त्वना दी और उसके बाद दक्ष ने अपनी पत्नी पाञ्चजनी के गर्भ से एक हजार सन्तानें और उत्पन्न कीं। इस बार के उनके पुत्र सवलाश्व कहलाये।

तात्पर्य : प्रजापति दक्ष का यह नाम इसलिए पड़ा था, क्योंकि वे सन्तानें उत्पन्न करने में दक्ष थे। (दक्ष का अर्थ है ''पटु'')। पहले उन्होंने अपनी पत्नी के गर्भ से दस हजार सन्तानें उत्पन्न की और जब ये सन्तानें खो गईं—जब वे भगवद्धाम चली गईं तो उन्होंने सन्तानों की दूसरी टोली उत्पन्न की जो सवलाश्व कहलाई। प्रजापति दक्ष सन्तानें उत्पन्न करने में अत्यन्त दक्ष हैं और नारदमुनि समस्त बद्धजीवों का उद्धार करके उन्हें भगवद्धाम वापस भेजने में दक्ष हैं। अतएव भौतिकतावादी दक्ष आध्यात्मिक दक्ष नारद मुनि से सहमत नहीं होते, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि नारद मुनि हरे कृष्ण मंत्र के कीर्तन करने का अपना कार्य त्याग देंगे।

ते च पित्रा समादिष्टाः प्रजासर्गे धृतव्रताः ।
नारायणसरो जग्मुर्यत्र सिद्धाः स्वपूर्वजाः ॥ २५॥

शब्दार्थ

ते—ये पुत्र (सवलाश्व); च—तथा; पित्रा—अपने पिता द्वारा; समादिष्टाः—आदेश दिये गये; प्रजा-सर्गे—सन्तति या जनसंख्या बढ़ाने में; धृत-व्रताः—व्रत स्वीकार किया; नारायण-सरः—नारायण सरस नामक पवित्र झील; जग्मुः—गये; यत्र—जहाँ; सिद्धाः—पूरा किया; स्व-पूर्व-जाः—उनके बड़े भाई जो पहले वहाँ गये थे।

सन्तानें उत्पन्न करने के अपने पिता के आदेशानुसार पुत्रों की यह दूसरी टोली भी नारायण सरस नामक उस स्थान पर गई, जहाँ उनके भाइयों ने इसके पूर्व नारद के उपदेशों का पालन करते हुए सिद्धि प्राप्त की थी। तपस्या का महान् व्रत लेकर सवलाश्व उस पवित्र

स्थान पर रहने लगे।

तात्पर्य : प्रजापति दक्ष ने अपने पुत्रों की दूसरी टोली को उसी स्थान पर भेजा जहाँ उनके पहले पुत्रों ने सिद्धि प्राप्त की थी। अपने पुत्रों की दूसरी टोली को उसी स्थान पर भेजने में वे तनिक भी नहीं हिचकिचाये, यद्यपि ये भी नारद के उपदेशों के शिकार हो सकते थे। वैदिक संस्कृति के अनुसार सन्तान उत्पन्न करने के लिए मनुष्य को गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने से पूर्व ब्रह्मचारी के रूप में आध्यात्मिक ज्ञान के लिए प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। यह वैदिक प्रणाली है। अत: प्रजापति दक्ष ने अपने पुत्रों की दूसरी टोली को सांस्कृतिक प्रगति के लिए भेजा, यद्यपि वहाँ यह खतरा था कि नारद के उपदेशों से वे अपने बड़े भाइयों की तरह कहीं बुद्धिमान न बन जाँय। कर्तव्यनिष्ठ पिता के रूप में उन्होंने अपने पुत्रों को जीवन की पूर्णता विषयक सांस्कृतिक उपदेश प्राप्त करने की अनुमति देने में हिचकिचाहट नहीं की। वे उन पर निर्भर रहे कि वे भगवद्धाम वापस जाना चाहते हैं या भौतिक जगत में इसी विभिन्न योनियों में सड़ना चाहते हैं। सभी परिस्थितियों में पिता का कर्तव्य है कि अपने पुत्रों को सांस्कृतिक शिक्षा दे और बाद में वे यह निश्चय करें कि वे किस मार्ग पर जाना चाहते हैं। जिम्मेदार पिताओं को चाहिए वे अपने पुत्रों को, जो कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सान्निध्य में सांस्कृतिक उन्नति कर रहे हैं, न रोकें। यह पिता का कर्तव्य नहीं होता। पिता का कर्तव्य है कि वह अपने पुत्रों को पूर्ण स्वतंत्रता दे कि वे गुरु के उपदेशों का पालन करते हुए आध्यात्मिक रूप से उन्नत हो जाने पर अपने मन के अनुसार चुनाव करें।

तदुपस्पर्शनादेव विनिर्धूतमलाशयाः ।
जपन्तो ब्रह्म परमं तेपुस्तत्र महत्तपः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस तीर्थस्थान के; उपस्पर्शनात्—जल में नियमित स्नान करने से; एव—निस्सन्देह; विनिर्धूत—पूर्णतया शुद्ध हुए; मल-आशयाः—हृदय के भीतर की सारी धूल से; जपन्तः—कीर्तन करते या गुनगुनाते हुए; ब्रह्म—ॐ से शुरु होने वाले

मंत्र (यथा ॐ तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः); परमम्—चरम लक्ष्य; तेपुः—सम्पन्न किया; तत्र—वहाँ; महत्—महान्; तपः—तपस्या।.

नारायण सरस पर पुत्रों की दूसरी टोली ने पहली टोली की ही तरह तपस्या की। उन्होंने पवित्र जल में स्नान किया और इसके स्पर्श से उनके हृदयों की सारी मलिन भौतिक इच्छाएँ दूर हो गईं। उन्होंने ॐकार से प्रारम्भ होने वाले मंत्रों का मन में जप किया और कठिन तपस्याएं की।

तात्पर्य : प्रत्येक वैदिक मंत्र *ब्रह्म* कहलाता है, क्योंकि प्रत्येक मंत्र के प्रारम्भ में ॐ या *ॐकार ब्रह्माक्षर* होता है। उदाहरणार्थ, *ॐ नमो भगवते वासुदेवाय। भगवद्गीता* (७.८) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*प्रणवः सर्ववेदेषु*—सारे वैदिक मंत्रों में मेरा प्रतिनिधित्व प्रणव या ॐकार द्वारा होता है। इस तरह ॐकार से प्रारम्भ होने वाले वैदिक मंत्रों का उच्चारण कृष्ण के नाम का प्रत्यक्ष उच्चारण है। इसमें कोई अन्तर नहीं है। कोई चाहे *ॐकार* उच्चारण करे या भगवान् को कृष्ण कहकर सम्बोधित करे, अर्थ एकसा होता है, किन्तु चैतन्य महाप्रभु ने यह संस्तुति की है कि इस युग में हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन किया जाये (*हरेर्नामैव केवलम्*)। यद्यपि हरे कृष्ण तथा ॐकार से प्रारम्भ होने वाले वैदिक मंत्रों में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु इस युग के आध्यात्मिक आन्दोलन के नायक श्री चैतन्य महाप्रभु ने संस्तुति की है कि मनुष्य हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे का कीर्तन करें।

अब्भक्षाः कतिचिन्मासान्कतिचिद्वायुभोजनाः ।
आराधयन्मन्त्रमिममभ्यस्यन्त इडस्पतिम् ॥ २७॥
ॐ नमो नारायणाय पुरुषाय महात्मने ।
विशुद्धसत्त्वधिष्ण्याय महाहंसाय धीमहि ॥ २८॥

शब्दार्थ

अप्-भक्षाः—केवल जल पीते हुए; कतिचित् मासान्—कुछ महीनों तक; कतिचित्—कुछ; वायु-भोजनाः—वायु खाते हुए अथवा केवल श्वास लेते हुए; आराधयन्—पूजा की; मन्त्रम् इमम्—इस मंत्र का, जो नारायण से अभिन्न है; अभ्यस्यन्तः—अभ्यास करते हुए; इडः-पतिम्—सभी मंत्रों के स्वामी, भगवान् विष्णु को; ॐ—हे प्रभु; नमः—सादर नमस्कार; नारायणाय—नारायण को; पुरुषाय—परम पुरुष को; महा-आत्मने—उच्च परमात्मा; विशुद्ध-सत्त्व-

धिष्ण्याय—सदैव दिव्य धाम में स्थित रहने वाले; महा-हंसाय—महान् हंस के समान भगवान् को; धीमहि—हम सदैव अर्पित करते हैं।

प्रजापति दक्ष के पुत्रों ने कुछ महीनों तक केवल जल पिया और वायु खायी। इस तरह महान् तपस्या करते हुए उन्होंने इस मंत्र का जाप किया, ''हम उन भगवान् नारायण को नमस्कार करते हैं, जो सदैव अपने दिव्य धाम में स्थित रहते हैं। चूँकि वे परम पुरुष (परमहंस) हैं, अतएव हम उन्हें सादर नमस्कार करते हैं।''

तात्पर्य : इन श्लोकों से ऐसा लगता है कि महामंत्र या वैदिक मंत्रों के उच्चारण के साथ-साथ कठिन तपस्या भी करनी चाहिए। कलियुग के लोग यहाँ पर उल्लिखित कठिन तपस्या केवल जल पीते हुए तथा महीनों तक केवल वायु खाते हुए नहीं कर सकते। लोगों को ऐसी विधि की नकल नहीं करनी चाहिए। किन्तु उन्हें कम से कम चार अवांछित तत्त्वों अर्थात् अवैध मैथुन, मांसाहार, नशा तथा जुआ खेलने का परित्याग करके थोड़ी सी तपस्या करनी चाहिए। इस तपस्या को कोई भी कर सकता है और फिर हरे कृष्ण मंत्र का उच्चारण तुरन्त ही प्रभावशाली होगा। उसे तपस्या की विधि का परित्याग नहीं करना चाहिए। यदि सम्भव हो तो उसे गंगा या यमुना के जल में स्नान करना चाहिए या गंगा-यमुना की अनुपस्थिति में उसे समुद्र के जल में स्नान करना चाहिए। यह तपस्या का एक अंग है। इसलिए हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन ने दो अत्यन्त विशाल केन्द्रों की स्थापना की है—एक वृन्दावन में और दूसरा मायापुर नवद्वीप में। वहाँ पर मनुष्य गंगा में या यमुना में स्नान कर सकता है, हरे कृष्णमंत्र का कीर्तन कर सकता है और इस तरह सिद्ध बनकर भगवद्धाम वापस जा सकता है।

इति तानपि राजेन्द्र प्रजासर्गधियो मुनिः ।
उपेत्य नारदः प्राह वाचः कूटानि पूर्ववत् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; तान्—उनको (प्रजापति दक्ष के पुत्र सवलाश्वों को); अपि—भी; राजेन्द्र—हे राजा परीक्षित; प्रजा-सर्ग-धियः—जो इस विचार के थे कि सन्तान उत्पन्न करना सबसे महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है; मुनिः—महान् ऋषि; उपेत्य—पास जाकर; नारदः—नारद ने; प्राह—कहा; वाचः—शब्द; कूटानि—गूढ़ पहेली जैसे; पूर्व-वत्—पहले की ही तरह।

हे राजा परीक्षित! नारदमुनि प्रजापति दक्ष के उन पुत्रों के पास पहुँचे जो सन्तान उत्पन्न करने के लिए तपस्या में लगे हुए थे और उनसे उसी तरह के गूढ़ शब्द कहे जैसे उनके ज्येष्ठ भाइयों से कहे थे।

दाक्षायणाः संशृणुत गदतो निगमं मम ।
अन्विच्छतानुपदवीं भ्रातृणां भ्रातृवत्सलाः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

दाक्षायणाः—हे प्रजापित दक्ष के पुत्रो; संशृणुत—ध्यानपूर्वक सुनो; गदतः—जो मैं कह रहा हूँ; निगमम्—उपदेश; मम—मेरा; अन्विच्छत—अनुगमन करो; अनुपदवीम्—मार्ग; भ्रातृणाम्—अपने भाइयों का; भ्रातृ-वत्सलाः—हे अपने भाइयों के परम वत्सल।

हे दक्षपुत्रो! मेरे उपदेशरूपी वचनों को ध्यानपूर्वक सुनो। तुम सभी अपने ज्येष्ठ भाइयों, हर्यश्वों, के प्रति अति वत्सल हो। अतएव तुम्हें उनके मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

तात्पर्य : नारद मुनि ने प्रजापति दक्ष के पुत्रों की दूसरी टोली को उनके भाइयों के प्रति स्वाभाविक प्रेम को जाग्रत करके प्रोत्साहित किया। उन्होंने यह प्रेरणा दी कि वे अपने ज्येष्ठ भाइयों का अनुगमन करें यदि उन्हें उनसे तनिक भी प्रेम है। पारिवारिक स्नेह अतीव प्रबल होता है, अतएव नारद मुनि ने उन्हें हर्यश्वों के साथ पारिवारिक सन्बन्ध को स्मरण कराने की चाल चली। सामान्यतया *निगम* शब्द वेदों का द्योतक हैं, किन्तु यहाँ पर यह शब्द वेदों में निहित उपदेशों का द्योतक है। *श्रीमद्भागवत* का कथन है—*निगम कल्पतरोर्गलितं फलम्*—वैदिक उपदेश वृक्ष के समान हैं जिसका पका हुआ फल *श्रीमद्भागवत* है। नारद मुनि इस फल को बाँटने में लगे हैं, अतएव उन्होंने अज्ञानी मानव-समाज के लाभ हेतु व्यासदेव को इस महापुराण *श्रीमद्भागवत* की रचना करने के लिए आदेश दिया।

अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगमधोक्षजे।

लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम्॥

"जीव के भौतिक कष्ट, जिन्हें वह अनर्थ समझता है, भक्तियोग द्वारा सीधे कम किये जा

सकते हैं, किन्तु जन सामान्य इसे नहीं जानता, इसलिए विद्वान व्यासदेव ने इस वैदिक साहित्य का संकलन किया जिसका सम्बन्ध परम सत्य से है।'' *भागवत* १.७.६)। लोग अज्ञान के कारण दुख पा रहे हैं और सुख के लिए वे गलत मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं। यह अनर्थ कहलाता है। ये भौतिक कार्यकलाप उन्हें कभी सुखी नहीं बना सकेंगे, इसीलिए नारद ने व्यासदेव को *श्रीमद्भागवत* के उपदेशों को आंकित करने का आदेश दिया। व्यासदेव ने वस्तुत: नारद की आज्ञा का पालन किया और इसे सम्पन्न किया। *श्रीमद्भागवत* वेदों का परम उपदेश है। *गलितं फलम्*—*श्रीमद्भागवत* वेदों का पका हुआ फल है।

भ्रातृणां प्रायणं भ्राता योऽनुतिष्ठति धर्मवित् ।
स पुण्यबन्धुः पुरुषो मरुद्भिः सह मोदते ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

भ्रातृणाम्—ज्येष्ठ भाइयों का; प्रायणम्—मार्ग; भ्राता—आज्ञाकारी भाई; यः—जो; अनुतिष्ठति—अनुगमन करता है; धर्म-वित्—धार्मिक सिद्धान्तों का ज्ञाता; सः—वह; पुण्य-बन्धुः—अत्यधिक पवित्र; पुरुषः—पुरुष; मरुद्भिः—वायु के देवताओं के; सह—साथ; मोदते—जीवन का आनन्द भोगता हैं।

धर्म के नियमों से अवगत भाई अपने ज्येष्ठ भाइयों के पदचिन्हों का अनुगमन करता है। अत्यधिक बढ़े-चढ़े होने से ऐसा पवित्र भाई मरुत जैसे देवताओं की संगति करने तथा आनन्द भोगने का अवसर प्राप्त करता है, जो सभी प्रकार से अपने भाइयों के प्रति स्नेहिल है।

तात्पर्य : विभिन्न भौतिक सम्बन्धों में अपने-अपने विश्वास के अनुसार लोग विभिन्न लोकों में भेजे जाते हैं। यहाँ पर यह कहा गया है कि जो अपने भाइयों का अति आज्ञाकारी होता है उसे उनके ही जैसे मार्ग का अनुसरण करना चाहिए और मरुद्लोक पहुँचने का अवसर प्राप्त करना चाहिए। नारद मुनि ने प्रजापति दक्ष के पुत्रों की दूसरी टोली को उनके अपने बड़े भाइयों का अनुगमन करने तथा आध्यात्मिक जगत पहुँचने के लिए सलाह दी।

एतावदुक्त्वा प्रययौ नारदोऽमोघदर्शनः ।
तेऽपि चान्वगमन्मार्गं भ्रातॄणामेव मारिष ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

एतावत्—इतना; उक्त्वा—कहकर; प्रययौ—उस स्थान से चले गये; नारदः—नारद मुनि; अमोघ-दर्शनः—जिनकी चितवन सर्वमंगलमय है; ते—वे; अपि—भी; च—तथा; अन्वगमन्—अनुगमन किया; मार्गम्—मार्ग का; भ्रातॄणाम्—अपने पहले वाले भाइयों का; एव—निस्सन्देह; मारिष—हे महान् आर्य राजा।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : हे आर्यों में सर्व अग्रणी! नारदमुनि, जिनकी कृपादृष्टि कभी व्यर्थ नहीं जाती, प्रजापति दक्ष के पुत्रों से इतना कहकर अपनी योजना के अनुसार वहाँ से विदा हो गये। दक्ष के पुत्रों ने अपने बड़े भाइयों का अनुसरण किया। सन्तानें उत्पन्न करने का प्रयास न करके वे कृष्णभावनामृत में लग गये।

सध्रीचीनं प्रतीचीनं परस्यानुपथं गताः ।
नाद्यापि ते निवर्तन्ते पश्चिमा यामिनीरिव ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

सध्रीचीनम्—पूर्णतया सही; प्रतीचीनम्—सर्वोच्च लक्ष्य, भक्ति, की लक्षित जीवन शैली अपनाने से प्राप्य; परस्य—भगवान् का; अनुपथम्—मार्ग; गताः—ग्रहण करके; न—नहीं; अद्य अपि—आज तक भी; ते—वे (प्रजापति दक्ष के पुत्र); निवर्तन्ते—वापस आये हैं; पश्चिमाः—पश्चिमी (जो बीत चुके हैं); यामिनीः—रातें; इव—सदृश।

सवलाश्वों ने सही मार्ग अपनाया जो भक्ति को प्राप्त करने के निमित्त जीवन-शैली द्वारा प्राप्य है या भगवान् की कृपा से प्राप्य है। वे रात्रियों की तरह पश्चिम की ओर गये हैं, किन्तु अभी तक वापस नहीं आये हैं।

एतस्मिन्काल उत्पातान्बहून्पश्यन्प्रजापतिः ।
पूर्ववन्नारदकृतं पुत्रनाशमुपाशृणोत् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

एतस्मिन्—इस; काले—समय में; उत्पातान्—उत्पात; बहून्—अनेक; पश्यन्—देखकर; प्रजापतिः—प्रजापति दक्ष ने; पूर्व-वत्—पहले की तरह; नारद—नारद मुनि द्वारा; कृतम्—किया हुआ; पुत्र-नाशम्—अपने पुत्रों की क्षति; उपाशृणोत्—सुना।

इस समय प्रजापति दक्ष ने अनेक अपशकुन देखे और विविध स्त्रोतों से सुना कि उनके पुत्रों की दूसरी टोली, सवलाश्वों, ने नारद मुनि के उपदेशों के अनुसार अपने ज्येष्ठ भाइयों के

ही मार्ग का अनुसरण किया है।

चुक्रोध नारदायासौ पुत्रशोकविमूर्च्छितः ।
देवर्षिमुपलभ्याह रोषाद्विस्फुरिताधरः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

चुक्रोध—अत्यन्त क्रुद्ध हुआ; नारदाय—नारदमुनि पर; असौ—वह (दक्ष); पुत्र-शोक—अपने पुत्रों की क्षति के शोक के कारण; विमूर्च्छितः—प्रायः अचेत; देवर्षिम्—देवर्षि नारद को; उपलभ्य—देखकर; आह—कहा; रोषात्—महान् क्रोध वश; विस्फुरित—काँपते हुए; अधरः—होठों वाला।.

जब दक्ष ने सुना कि सवलाश्वों ने भी भक्ति में संलग्न होने के लिए इस जगत को छोड़ दिया है, तो वे नारद पर क्रुद्ध हुए और शोक के कारण वे अचेतप्राय हो गये। जब दक्ष की नारद से भेंट हुई तो क्रोध से दक्ष के होंठ काँपने लगे और वे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि नारदमुनि ने प्रियव्रत तथा उत्तानपाद से लेकर स्वायंभुव मनु के सारे परिवार का उद्धार किया था। उन्होंने उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव का उद्धार किया था और प्राचीनबर्हि तक का उद्धार किया जो सकाम कर्मों में लगा हुआ था। तो भी वे प्रजापति दक्ष का उद्धार नहीं कर पाये। प्रजापति दक्ष ने नारद को अपने समक्ष देखा, क्योंकि नारद स्वयं उसका उद्धार करने आये थे। नारद मुनि ने प्रजापति दक्ष के पास उनकी शोकाकुल दशा में मिलने का अवसर निकाला, क्योंकि शोकविह्वल दशा भक्तियोग को समझने के लिए उपयुक्त समय होता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (७.१६) में कहा गया है—चार प्रकार के लोग—*आर्त* (दुखी), *अर्थार्थी* (धन की आवश्यकता वाला), *जिज्ञासु* (जो पूछताछ करना चाहता है) तथा *ज्ञानी* (ज्ञानवान्)—भक्ति को समझने की कोशिश करते हैं। प्रजापति दक्ष अपने पुत्रों की क्षति होने के कारण अत्यन्त विषाद में था, अतएव नारद ने भौतिक बन्धन से मुक्ति के विषय में उसे उपदेश देने का अवसर ढूँढ निकाला।

श्रीदक्ष उवाच

अहो असाधो साधूनां साधुलिङ्गेन नस्त्वया ।

असाध्वकार्यर्भकाणां भिक्षोर्मार्गः प्रदर्शितः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

श्री-दक्षः उवाच—प्रजापति दक्ष ने कहा; अहो असाधो—हे अत्यन्त बेईमान अभक्त; साधूनाम्—भक्तों तथा महामुनियों के समाज का; साधु-लिङ्गेन—सन्त पुरुषों का वेश धारण किये; नः—हमको; त्वया—तुम्हारे द्वारा; असाधु—बेईमानी; अकारि—की गई है; अर्भकाणाम्—अनुभवहीन बेचारे बालकों को; भिक्षोः मार्गः—भिखारी या भिक्षुक संन्यासी का मार्ग; प्रदर्शितः—दिखाया गया।

प्रजापति दक्ष ने कहा : हाय नारदमुनि! तुम सन्त पुरुष का वेश धारण करते हो, किन्तु तुम वास्तव में सन्त हो नहीं। यद्यपि अब मैं गृहस्थ जीवन में हूँ, किन्तु मैं सन्तपुरुष हूँ। तुमने मेरे पुत्रों को संन्यास का मार्ग दिखाकर मेरे साथ निन्दनीय अन्याय किया है।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा—*संन्यासीर अल्प छिद्र सर्वलोके गाय* (*चैतन्य-चरितामृत* मध्य १२.५१)। समाज में अनेक संन्यासी, वानप्रस्थ, गृहस्थ तथा ब्रह्मचारी मिलेंगे, किन्तु यदि वे सब अपने कर्तव्यों के अनुसार उचित ढंग से रहें तो उन्हें साधु समझा जाता है। प्रजापति दक्ष निश्चय ही साधु थे, क्योंकि उन्होंने ऐसी महान् तपस्या की थी कि भगवान् विष्णु उनके समक्ष प्रकट हुए थे। तो भी उनमें त्रुटि निकालने की मनोवृत्ति थी उन्होंने अनुचित तौर पर सोचा कि नारद मुनि असाधु हैं, क्योंकि नारद ने उनके इरादों को ध्वस्त कर दिया था। दक्ष ने अपने पुत्रों को नारायण सरस के पास तपस्या करने के लिए इस अभिलाषा से भेजा था कि वे ज्ञान से युक्त पूर्णतया गृहस्थ बन सकें। किन्तु नारद मुनि ने तपस्या में उनकी अति उच्च स्थिति का लाभ उठाकर उन्हें संन्यास आश्रम में वैष्णव बनने का उपेदश दिया। यही नारद मुनि तथा उनके अनुयायियों का कर्तव्य है। उन्हें चाहिए कि वे सबों को इस जगत का परित्याग करने और भगवद्धाम लौटने का मार्ग दिखलाएँ। किन्तु प्रजापति दक्ष अपने पुत्रों के सम्बन्ध में नारद मुनि द्वारा किये गये कर्तव्यों की महानता को नहीं देख सके। नारद मुनि के आचरण को समझने में असमर्थ दक्ष ने नारद पर *असाधु* होने का दोषारोपण किया।

इस सन्दर्भ में *भिक्षोर्मार्ग* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। संन्यासी को त्रिदण्डीभिक्षु कहा जाता है, क्योंकि उसका कर्तव्य है कि वह गृहस्थों के घरों से भिक्षा माँगे और गृहस्थों को आध्यात्मिक

उपदेश दे। संन्यासी को द्वार द्वार जाकर भिक्षा माँगने की अनुमति है, किन्तु गृहस्थ ऐसा नहीं कर सकता। गृहस्थ चार आश्रमों के अनुसार अपनी जीविका चला सकता है, ब्राह्मण गृहस्थ विद्वान बनकर तथा सामान्य लोगों को भगवान् की पूजा करने की विधि बताकर जीविका अर्जित कर सकता है। वह स्वयं पूजा का कार्य कर सकता है। इसलिए यह कहा जाता है कि एकमात्र ब्राह्मण ही अर्चाविग्रह-पूजा में लगें और लोग अर्चाविग्रह पर जो भी प्रसाद भेंट करें उसे वे ग्रहण करें। यद्यपि कभी-कभी ब्राह्मण दान ले सकता है, किन्तु वह निजी भरण-पोषण के लिए नहीं, अपितु अर्चाविग्रह की पूजा करने के लिए होता है। इस तरह ब्राह्मण अपने भावी इस्तेमाल के लिए कुछ भी संग्रह नहीं करता। इसी तरह क्षत्रिय नागरिकों से कर वसूल सकते हैं और उन्हें नागरिकों की रक्षा भी करनी चाहिए, विधि-विधानों को लागू करना चाहिए और कानून तथा व्यवस्था बनाये रखना चाहिए। वैश्यों को कृषि तथा गो-रक्षा के द्वारा अपनी जीविका चलानी चाहिए तथा शूद्रों को तीनों उच्च वर्णों की सेवा करके अपनी जीविका चलानी चाहिए। ब्राह्मण बने बिना कोई संन्यास ग्रहण नहीं कर सकता। संन्यासी तथा ब्रह्मचारी द्वार-द्वार जाकर भीख माँग सकते हैं, किन्तु गृहस्थ नहीं।

प्रजापति दक्ष ने नारद मुनि की निन्दा की, क्योंकि द्वार-द्वार भिक्षा माँगने वाले ब्रह्मचारी नारद ने दक्ष के उन पुत्रों को संन्यासी बना दिया था, जो गृहस्थ बनने के लिए प्रशिक्षित किये जा रहे थे। दक्ष नारद पर अत्यधिक क्रुद्ध थे, क्योंकि उन्होंने सोचा कि नारद ने उनके साथ घोर अन्याय किया है। दक्ष के मतानुसार, नारद मुनि ने दक्ष के अनुभवहीन पुत्रों को गुमराह किया था (*असाध्वकार्यर्भकाणाम्*)। दक्ष अपने पुत्रों को अबोध बालक मानता था जिन्हें नारद ने संन्यास आश्रम दिखला कर गुमराह बनाया। इन सब बातों के कारण प्रजापति दक्ष ने नारदमुनि पर दोषारोपण किया कि वे असाधु थे और उन्हें साधु का वेश धारण नहीं करना चाहिए था।

कभी-कभी सन्तपुरुष को गृहस्थों द्वारा गलत समझ लिया जाता है, विशेषतया जब वह गृहस्थों के युवा पुत्रों को कृष्णभावनामृत स्वीकार करने का उपदेश देता है। सामान्यतया एक

गृहस्थ सोचता है कि गृहस्थ जीवन में प्रवेश किये बिना वह संन्यास आश्रम में ठीक से प्रवेश नहीं कर सकता। यदि कोई युवा व्यक्ति नारद के या उनकी गुरु-परम्परा के किसी सदस्य के उपदेशों के अनुसार संन्यास आश्रम का मार्ग अपनाता है, तो उसके माता-पिता अत्यधिक क्रुद्ध होते हैं। यही घटना हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में भी देखी जाती है, क्योंकि हम पाश्चात्य देशों के सारे युवा बालकों को संन्यास मार्ग अपनाने के लिए शिक्षा दे रहे हैं। हम गृहस्थ जीवन की अनुमति देते हैं, किन्तु गृहस्थ भी त्याग के मार्ग का पालन करता है। यहाँ तक कि गृहस्थ को अनेक बुरी आदतों को छोड़ना पड़ता है, जिससे उसके माता-पिता सोचते हैं कि उसका जीवन एक तरह से विनष्ट हो गया है। हम मांसहार, अवैध मैथुन, जुआ तथा नशा की अनुमति नहीं देते; फलस्वरूप माता-पिता आश्चर्य करते हैं कि किस तरह जीवन सकारात्मक हो सकता है, जबकि इतने निषेध लगे हुए हैं। विशेषतया पाश्चात्य देशों में ये चार निषिद्ध कार्य एक तरह से आधुनिक जनसमूह के प्राणाधार हैं। इसलिए माता-पिता कभी-कभी हमारे आन्दोलन को नापसन्द करते हैं, जिस तरह प्रजापति दक्ष को नारद के कार्य अच्छे नहीं लगे और उन्होंने नारद पर बेईमानी का दोषारोपण कर दिया। भले ही माता-पिता हम पर रुष्ट हों, किन्तु हमें बिना हिचक के अपना कर्तव्य निभाना है, क्योंकि हम नारदमुनि की शिष्य-परम्परा में हैं।

गृहस्थ जीवन में लिप्त रहने वाले लोग आश्चर्य करते हैं, कि किस तरह कृष्णभावनामृत में साधु बनने मात्र के लिए ही कोई गृहस्थ जीवन के भोग को त्याग सकता है, जो कि काम-भोग के लिए छूट है। वे यह नहीं जानते कि गृहस्थ को मिली यौन जीवन की छूट तब तक नियमित नहीं की जा सकती जब तक वह साधु का जीवन न बिताए। अत: वैदिक सभ्यता का आदेश है कि पचास वर्ष की आयु होते ही मनुष्य गृहस्थ जीवन का परित्याग कर दे। यह अनिवार्य है। किन्तु आधुनिक सभ्यता गुमराह हो चुकी है, अत: गृहस्थ लोग मृत्यु तक पारिवारिक जीवन में लगे रहना चाहते हैं, इसीलिए वे कष्ट उठाते हैं। ऐसे मामलों में नारद मुनि के शिष्य तरुण पीढ़ी के सभी सदस्यों को कृष्णभावनामृत आन्दोलन में तुरन्त शरीक होने की सलाह देते हैं। इसमें कोई बुराई

नहीं है।

ऋणैस्त्रिभिरमुक्तानाममीमांसितकर्मणाम् ।
विघातः श्रेयसः पाप लोकयोरुभयोः कृतः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

ऋणैः—कर्जे से; त्रिभिः—तीन; अमुक्तानाम्—ऐसे पुरुषों का जो मुक्त नहीं हैं; अमीमांसित—विचार न करते हुए; कर्मणाम्—कर्तव्य-पथ; विघातः—नष्ट कर देते हैं; श्रेयसः—सौभाग्य-पथ का; पाप—हे परम पापी (नारद मुनि); लोकयोः—लोकों का; उभयोः—दोनों; कृतः—किया हुआ।.

प्रजापति दक्ष ने कहा : मेरे पुत्र अपने तीन ऋणों से मुक्त भी नहीं हुए थे। दरअसल, उन्होंने ठीक से अपने कर्तव्यों पर विचार भी नहीं किया था। रे नारदमुनि! रे साक्षात् पापकर्म! तुमने इस जगत में उनके सौभाग्य की प्रगति में बाधा डाली है और दूसरी बात यह कि अभी भी वे सन्त पुरुषों, देवताओं तथा अपने पिता के ऋणी हैं।

तात्पर्य : ज्योंही ब्राह्मण जन्मता है उस पर तीन ऋण चढ़ जाते हैं—ऋषि-ऋण, देव-ऋण तथा पितृ-ऋण। सन्त पुरुषों के ऋण से उऋण होने के लिए ब्राह्मण के पुत्र को ब्रह्मचर्य पालन करना आवश्यक है। देवऋण से उऋण होने के लिए कर्मकाण्ड करना तथा पितृऋण से उऋण होने के लिए उसे सन्तान उत्पन्न करना आवश्यक है। प्रजापति दक्ष ने तर्क किया है कि यद्यपि मुक्ति के लिए संन्यास आश्रम की संस्तुति की जाती है, किन्तु जब तक वह देवताओं, सन्तों तथा अपने पिता के प्रति कर्तव्यों को पूरा नहीं कर लेता वह मुक्ति नहीं पा सकता। चूँकि दक्ष के पुत्र इन तीन ऋणों से मुक्त नहीं हो पाये थे, अतः नारद मुनि उन्हें संन्यास जीवन की ओर कैसे ले गये? स्पष्ट है कि प्रजापति दक्ष को शास्त्रों का अन्तिम निर्णय ज्ञात न था। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (११.५.४१) में कहा गया है—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

हर व्यक्ति देवताओं, सामान्य जीवों, अपने परिवार, पिता इत्यादि का ऋणी होता है, किन्तु

यदि कोई मुक्तिप्रदाता कृष्ण या मुकुन्द की शरण में पूरी तरह चला जाता है, तो यदि वह यज्ञ न भी करे तो भी सारे ऋणों से उऋण हो जाता है। यदि कोई उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के लिए भौतिक जगत का परित्याग कर देता है जिनके चरणकमल हर एक के आश्रय हैं, तो वह अपने ऋणों से उऋण हुए बिना ही मुक्त हो जाता है। यह शास्त्र का निर्णय है। अत: नारद मुनि प्रजापति दक्ष के पुत्रों को तुरन्त ही इस भौतिक जगत का परित्याग करने तथा भगवान् की शरण ग्रहण करने के लिए उपदेश देने में पूरी तरह से सही थे। दुर्भाग्यवश, हर्यश्वों तथा सवलाश्वों के पिता प्रजापति दक्ष नारदमुनि द्वारा की गई महती सेवा को समझ नहीं सके। अतएव दक्ष ने उन्हें *पाप* (साक्षात् पापकर्म) तथा *असाधु* (असन्त पुरुष) कहकर सम्बोधित किया। चूँकि नारद मुनि महान् सन्त तथा वैष्णव थे, अतएव उन्होंने प्रजापति दक्ष के ऐसे समस्त आरोपों को सहन कर लिया। उन्होंने प्रजापति दक्ष के सारे पुत्रों का उद्धार करके, उन्हें भगवद्धाम वापस जाने में समर्थ बनाकर वैष्णव के रूप में अपना कर्तव्य पूरा किया।

एवं त्वं निरनुक्रोशो बालानां मतिभिद्धरेः ।
पार्षदमध्ये चरसि यशोहा निरपत्रपः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; त्वम्—तुम (नारद); निरनुक्रोशः—दयाविहीन; बालानाम्—अबोध, अनुभवहीन बालकों का; मति-भित्—चेतना को दूषित करते हुए; हरेः—भगवान् के; पार्षद-मध्ये—निजी संगियों के बीच; चरसि—विचरण करते हुए; यशः-हा—भगवान् को बदनाम करने वाले; निरपत्रपः—निर्लज्ज (यद्यपि तुम नहीं जानते कि तुम क्या कर रहे हो, किन्तु तुम पापकर्म कर रहे हो)।

प्रजापति दक्ष ने आगे कहा : इस तरह अन्य जीवों के प्रति हिंसा करके भी अपने को भगवान् विष्णु का पार्षद कहते हुए तुम भगवान् को बदनाम कर रहे हो। तुमने व्यर्थ ही अबोध बालकों में संन्यास की प्रवृत्ति उत्पन्न की, इसलिए तुम निर्लज्ज निर्दयी हो। तुम भगवान् के निजी संगियों के साथ किस तरह विचरण कर सकते हो?

तात्पर्य : प्रजापति दक्ष की यह मनोवृत्ति आज भी बनी हुई है। जब युवागण कृष्णभावनामृत आन्दोलन में शरीक होते हैं, तो उनके पिता एवं तथाकथित अभिभावक कृष्णभावनामृत आन्दोलन

के संस्थापक पर अत्यधिक क्रुद्ध होते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि उनके पुत्रों को व्यर्थ ही प्रेरित करके उन्हें खाने, पीने तथा मौज उड़ाने के भौतिक भोगों से वंचित कर दिया गया है। कर्मी यह सोचते हैं कि इस भौतिक जगत में वर्तमान जीवन का पूरी तरह भोग किया जाना चाहिए और उच्चलोकों में जाने के लिए कुछ पुण्यकर्म भी कर लिये जाने चाहिए जिससे अगले जीवन में भी आनन्द-भोग हो सके। किन्तु योगी और वह भी भक्तियोगी, इस भौतिक जगत के मतों के प्रति क्रूर होता है। वह उन्नत भौतिकतावादी सभ्यता में दीर्घजीवन का भोग करने के लिए देवलोकों की यात्रा करने में रुचि नहीं रखता। जैसाकि प्रबोधानन्द सरस्वती ने कहा है—*कैवल्यं नरकायतेत्रिदश-पूर् आकाशपुष्पायते*—भक्त के लिए ब्रह्म में तादात्म्य नरक के तुल्य है और देवलोकों का जीवन मृगतृष्णा के समान है, जिसका कोई अस्तित्व ही नहीं होता। शुद्ध भक्त योगसिद्धि, उच्चलोकों की यात्रा या ब्रह्म से एकाकार होने में रुचि नहीं रखता। वह तो एकमात्र भगवान् की सेवा करने में रुचि रखता है। चूँकि प्रजापति दक्ष कर्मी थे, अत: वे नारद मुनि की उस महती सेवा नहीं सराह सके जो उन्होंने उनके ग्यारह हजार पुत्रों के प्रति की थी। उल्टे, उन्होंने नारदमुनि पर पापी होने का दोषारोपण किया और यह आरोप लगाया कि चूँकि नारद मुनि भगवान् के साथ रहते हैं इसलिए भगवान् भी बदनाम हो जायेंगे। इस तरह दक्ष ने निन्दा की कि नारद मुनि भगवान् के प्रति अपराधी हैं, यद्यपि वे भगवान् के पार्षद जाने जाते हैं।

ननु भागवता नित्यं भूतानुग्रहकातरा: ।
ऋते त्वां सौहृदघ्नं वै वैरङ्करमवैरिणाम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

ननु—अब; भागवता:—भगवद्भक्त; नित्यम्—शाश्वत रूप से; भूत-अनुग्रह-कातरा:—पतित बद्धजीवों को वर देने के लिए अतीव उत्सुक; ऋते—सिवाय; त्वाम्—तुम्हारे; सौहृद-घ्नम्—मैत्री तोड़ने वाले (अतएव भागवतों में गिनती किये जाने के अयोग्य); वै—निस्सन्देह; वैरम्-करम्—तुम शत्रुता उत्पन्न करते हो; अवैरिणाम्—जो शत्रु नहीं हैं ऐसे पुरुषों के प्रति।.

तुम्हें छोड़कर अन्य सारे भगवद्भक्त बद्धजीवों के प्रति अत्यन्त दयालु हैं और दूसरों को लाभ पहुँचाने के इच्छुक रहते हैं। यद्यपि तुम भक्त का वेश धारण करते हो, किन्तु तुम उन

लोगों के साथ शत्रुता उत्पन्न करते हो जो तुम्हारे शत्रु नहीं हैं, या तुम मित्रों के बीच मैत्री तोड़ते हो और शत्रुता उत्पन्न करते हो। क्या इन गर्हित कार्यों को करते हुए अपने को भक्त कहने से लज्जित नहीं होते?

तात्पर्य : नारद मुनि की शिष्य-परम्परा के सेवकों को ऐसी निन्दाओं को सहन करना पड़ेगा। हम कृष्णभावनामृत आन्दोलन के माध्यम से कठोर विधियों का पालन करते हुए युवाओं को भक्त बनने तथा भगवद्धाम वापस जाने के लिए प्रशिक्षित करने का प्रयास कर रहे हैं, किन्तु हमारी सेवा की प्रशंसा न तो भारत में की जाती है न ही पाश्चात्य देशों में, जहाँ हम इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन का विस्तार करने का प्रयास कर रहे हैं। भारत में ब्राह्मण जाति के लोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन के शत्रु बन चुके हैं, क्योंकि हम विदेशियों को, जो कि म्लेच्छ तथा यवन माने जाते हैं, ब्राह्मण-पद तक ऊपर उठाते हैं। हम उन्हें तपस्या का प्रशिक्षण देते हैं और उनका यज्ञोपवीत करके उन्हें ब्राह्मण के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं। इस तरह भारत के ब्राह्मण जाति के लोग पाश्चात्य जगत में हमारे कार्यकलापों से अत्यधिक अप्रसन्न हैं। पश्चिम में भी जो युवा इस आन्दोलन में शामिल होते हैं उनके माता-पिता भी हमारे शत्रु बन गये हैं। शत्रु बनाना हमारा कार्य नहीं, किन्तु विधि ही ऐसी है कि अभक्तगण हमारे प्रति सदैव शत्रुभाव रखेंगे। फिर भी जैसा कि शास्त्रों में कहा गया है भक्त को सहिष्णु तथा दयालु दोनों ही होना चाहिए। प्रचार-कार्य में रत भक्तगणों को अज्ञानी लोगों द्वारा आरोपित होने के लिए तैयार रहना चाहिए, फिर भी उन्हें पतित बद्धजीवों के प्रति अत्यन्त दयालु रहना चाहिए, यदि नारद मुनि की गुरु शिष्य परम्परा का कोई व्यक्ति अपना कर्तव्य पालन करता है, तो उसकी सेवा अवश्य ही मान्य होगी। जैसा कि *भगवद्गीता* (१८.६८-६९) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान् मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।

भविता न च मे तस्मादन्य: प्रियतरो भुवि॥

"जो व्यक्ति भक्तों को यह परम रहस्य बताता है, वह शुद्ध भक्ति को प्राप्त करता है और अन्त में वह मेरे पास वापस आता है। इस संसार में उसकी अपेक्षा कोई अन्य सेवक न तो मुझे अधिक प्रिय है और न कभी होगा।" हमें भगवान् कृष्ण के सन्देश का प्रचार करते रहना है और शत्रुओं से डरना नहीं है। हमारा एकमात्र कर्तव्य अपने इस प्रचार द्वारा, जो श्री चैतन्य तथा भगवान् कृष्ण द्वारा सेवा के रूप में स्वीकार किया जायेगा, भगवान् को तुष्ट करना है।

इस श्लोक में *सुहृद-घ्नम्* (मैत्री तोड़ने वाला) शब्द का प्रयोग हुआ है। चूँकि नारद मुनि तथा उनकी गुरु शिष्य परम्परा के सदस्य मैत्री तथा पारिवारिक जीवन को छिन्न-भिन्न करते हैं, अतएव कभी-कभी उन्हें *सुहृदघ्नम्,* अर्थात् सम्बन्धियों के बीच शत्रुता उत्पन्न करने वाला, कहा जाता है। वस्तुत: ऐसे भक्त हर जीव के मित्र हैं (*सुहृदं सर्वभूतानाम्*), किन्तु भ्रमवश उन्हें शत्रु समझा जाता है। प्रचार कार्य कठिन तथा अकृतज्ञ कार्य हो सकता है, किन्तु प्रचारक को भगवान् के आदेशों का पालन करना चाहिए और भौतिकतावादी व्यक्तियों से निडर रहना चाहिए।

नेत्थं पुंसां विराग: स्यात्त्वया केवलिना मृषा ।
मन्यसे यद्युपशमं स्नेहपाशनिकृन्तनम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; इत्थम्—इस तरह से; पुंसाम्—पुरुषों का; विरागः—वैराग्य; स्यात्—सम्भव है; त्वया—तुम्हारे द्वारा; केवलिना मृषा—मिथ्या ज्ञान वाला; मन्यसे—मैं सोचता हूँ; यदि—यदि; उपशमम्—भौतिक भोग का वैराग्य; स्नेह-पाश—स्नेह के बन्धन; निकृन्तनम्—काटते हुए।

प्रजापति दक्ष ने आगे कहा : यदि तुम यह सोचते हो कि वैराग्य की भावना जाग्रत कर देने से ही मनुष्य भौतिक जगत से विरक्त हो जायेगा तो मैं कहूँगा कि पूर्णज्ञान के जाग्रत हुए बिना तुम्हारी तरह केवल वेश बदलने से सम्भवतया वैराग्य नहीं उत्पन्न किया जा सकता।

तात्पर्य : प्रजापति दक्ष का यह कहना सही था कि मात्र वेश बदलने से कोई इस भौतिक जगत से विरक्त नहीं हो जाता। कलियुग के संन्यासी जो कि अपने श्वेत वस्त्रों को बदलकर गेरुवा

वस्त्र धारण करते हैं और तब सोचते हैं कि वे चाहे जो भी करें, तो वे भौतिकतावादी गृहस्थों से भी अधिक गर्हित हैं। इसकी संस्तुति कहीं नहीं की गई। प्रजापति दक्ष इस दोष को इंगित करने में बिल्कुल सही थे, किन्तु वे यह नहीं जानते थे कि नारद मुनि ने हर्यश्वों तथा सवलाश्वों में पूर्ण ज्ञान के माध्यम से वैराग्य की भावना जाग्रत की थी। ऐसा ही प्रबुद्ध वैराग्य वांछनीय है। मनुष्य को पूर्णज्ञान के साथ संन्यास आश्रम में प्रवेश करना चाहिए (*ज्ञान वैराग्य*), क्योंकि जीवन की सिद्धि तभी सम्भव है जब वह इस भौतिक जगत को इस तरह से छोड़े। उच्च पद तक सरलता से पहुँचा जा सकता है जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के कथनों (१.२.७) से समर्थित होता है—

वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित:।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥

"भगवान् कृष्ण की भक्ति करने से मनुष्य को तुरन्त अहैतुक ज्ञान तथा संसार से वैराग्य प्राप्त हो जाता है।" यदि कोई व्यक्ति गम्भीरतापूर्वक भगवान् वासुदेव की भक्ति में लगता है, तो उसमें ज्ञान तथा वैराग्य स्वत: प्रकट होते हैं। इसमें कोई संशय नहीं है। प्रजापति दक्ष का यह दोषारोपण कि नारद ने उनके पुत्रों को ज्ञान के पद तक ऊपर नहीं उठाया था, सच नहीं था। प्रजापति दक्ष के सारे पुत्रों को सर्वप्रथम ज्ञान के पद तक उठाया गया था और तब उन्होंने स्वत: इस संसार का परित्याग किया था। संक्षेपत:, जब तक मनुष्य का ज्ञान जाग्रत नहीं होता, वैराग्य नहीं आ सकता, क्योंकि उच्च ज्ञान के बिना मनुष्य भौतिक भोग के प्रति आसक्ति को त्याग नहीं सकता।

नानुभूय न जानाति पुमान्विषयतीक्ष्णताम् ।
निर्विद्यते स्वयं तस्मान्न तथा भिन्नधी: परै: ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अनुभूय—अनुभव करके; न—नहीं; जानाति—जानता है; पुमान्—पुरुष; विषय-तीक्ष्णताम्—भौतिक भोग की तीक्ष्णता; निर्विद्यते—कट जाता है; स्वयम्—स्वयं; तस्मात्—उससे; न तथा—उस तरह का नहीं; भिन्न-धी:—बदली हुई बुद्धि वाला; परै:—अन्यों द्वारा।

निस्सन्देह, भौतिक भोग ही सभी दुखों का कारण है, किन्तु कोई इसे तब तक नहीं

छोड़ पाता जब तक वह स्वयं यह अनुभव नहीं कर लेता कि यह कितना कष्टप्रद हैं। इसलिए मनुष्य को तथाकथित भौतिक भोग में रहने देना चाहिए, साथ ही साथ उसे इस मिथ्या भौतिक सुख के कष्ट का अनुभव करने के ज्ञान में प्रगति करते रहने देना चाहिए। तब अन्यों की सहायता के बिना ही वह भौतिक भोग को घृणित पायेगा। जिनके मन अन्यों द्वारा परिवर्तित किये जाते हैं, वे उतने विरक्त नहीं होते जितने कि निजी अनुभव वाले व्यक्ति।

तात्पर्य : यह कहा जाता है कि जब तक स्त्री गर्भवती नहीं होती वह शिशु को जन्म देने के कष्ट को नहीं समझ सकती। *बन्ध्या कि बुझिबे प्रसववेदना। बंध्या* शब्द का अर्थ है बाँझ औरत। ऐसी स्त्री शिशु को जन्म नहीं दे सकती तो भला वह प्रसवपीड़ा का कैसे अनुभव कर सकती है? प्रजापति दक्ष की विचारधारा के अनुसार स्त्री को पहले गर्भवती होना चाहिए और तब शिशु प्रसव की पीड़ा का अनुभव करना चाहिए। तब, यदि वह बुद्धिमती है, तो वह पुन: गर्भवती नहीं होना चाहेगी। किन्तु वास्तव में यह तथ्य नहीं है। यौन सुख इतना प्रबल होता है, कि स्त्री गर्भवती हो जाती है और शिशुजन्म के समय कष्ट पाती है, किन्तु अपने इस अनुभव के बावजूद वह पुन: गर्भवती होती है। प्रजापति दक्ष की विचारधारा के अनुसार मनुष्य को पहले भौतिक भोग में अपने को लिप्त करना चाहिए जिससे ऐसे भोग के कष्ट का अनुभव करने के बाद वह स्वत: विरक्त बन जायेगा। किन्तु भौतिक प्रकृति इतनी प्रबल है कि मनुष्य पग-पग पर कष्ट भोगने पर भी भोग करने के अपने प्रयासों को बन्द नहीं करेगा (*तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदु:खभाज:*)। ऐसी स्थिति में जब तक नारद मुनि जैसे भक्त की या गुरु-शिष्य परम्परा में उनके सेवक की सगंति प्राप्त नहीं होती, मनुष्य की सुप्त वैराग्य भावना को जाग्रत नहीं किया जा सकता। यह तथ्य नहीं है कि चूँकि भौतिक भोग में अनेक कष्टप्रद स्थितियाँ निहित होती हैं, इसलिए मनुष्य स्वत: विरक्त हो जायेगा। मनुष्य को नारद मुनि जैसे भक्त के आशीर्वाद की आवश्यकता होती है। तभी वह भौतिक जगत के प्रति अपनी आसक्ति से विरक्त हो सकता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के तरुण-तरुणियों ने भौतिक भोग की भावना का परित्याग किसी अभ्यास से नहीं किया, अपितु श्री चैतन्य महाप्रभु एवं

उनके सेवकों की कृपा से किया है।

यन्नस्त्वं कर्मसन्धानां साधूनां गृहमेधिनाम् ।
कृतवानसि दुर्मर्षं विप्रियं तव मर्षितम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; नः—हमारे लिए; त्वम्—तुम; कर्म-सन्धानाम्—जो वैदिक आदेशों के अनुसार सकाम कर्मकाण्डों का दृढ़ता से पालन करता है; साधूनाम्—जो ईमानदार हैं (क्योंकि हम उच्च सामाजिक स्तर तथा शारीरिक सुविधाओं की ईमानदरीपूर्वक खोज करते हैं); गृह-मेधिनाम्—यद्यपि पत्नी तथा बच्चों के साथ रह रहे; कृतवान् असि—उत्पन्न किया है; दुर्मर्षम्—असह्य; विप्रियम्—गलत; तव—तुम्हारा; मर्षितम्—क्षमा किया हुआ।

यद्यपि मैं अपनी पत्नी तथा बच्चों के साथ गृहस्थ जीवन में रहता हूँ, किन्तु मैं पापफलों से रहित जीवन का आनन्द भोगने के लिए सकाम कर्म में लगकर वैदिक आदेशों का ईमानदारी के साथ पालन करता हूँ। मैंने सभी प्रकार के यज्ञ सम्पन्न किये हैं जिनमें देवयज्ञ, ऋषियज्ञ, पितृयज्ञ तथा नृयज्ञ सम्मिलित हैं। चूँकि ये यज्ञ व्रत कहलाते हैं इसलिए मैं गृहव्रत कहलाता हूँ। दुर्भाग्यवश तुमने मेरे पुत्रों को अकारण ही वैराग्य के मार्ग में गुमराह करके मुझे अत्यधिक दुख पहुँचाया है। इसे एक बार तो सहन किया जा सकता है।

तात्पर्य : प्रजापति दक्ष यह सिद्ध करना चाहते थे कि वे अत्यन्त सहिष्णु बने रहे, क्योंकि उन्होंने नारदमुनि से तब कुछ नहीं कहा जब उन्होंने अकारण ही उनके दस हजार अबोध पुत्रों को वैराग्य मार्ग अपनाने के लिए फुसला लिया था। कभी-कभी गृहस्थों को *गृहमेधी* होने का दोषी ठहराया जाता है, क्योंकि गृहमेधी बिना आध्यात्मिक उन्नति के पारिवारिक जीवन से तुष्ट रहते हैं। किन्तु गृहस्थ तो इससे भिन्न होते हैं, क्योंकि वे अपनी पत्नियों तथा बच्चों के साथ गृहस्थ जीवन तो बिताते हैं, किन्तु आध्यात्मिक उन्नति के लिए उत्सुक रहते हैं। यह सिद्ध करना चाहते हुए कि वे नारद मुनि के प्रति उदार रहे हैं, प्रजापति दक्ष ने बलपूर्वक कहा कि जब नारद ने उनके पहले वाले पुत्रों को गुमराह किया, तो उन्होंने कोई कार्यवाही नहीं की थी; वे दयालु तथा सहिष्णु बने रहे। किन्तु वे दुखी थे, क्योंकि नारद मुनि ने दुबारा उनके पुत्रों को गुमराह किया। इसलिए वे यह सिद्ध करना चाहते थे, कि यद्यपि नारद साधु का-सा वेश बनाये रहते हैं, किन्तु वास्तव में वे साधु

नहीं है, बल्कि गृहस्थ होते हुए वे स्वयं नारद मुनि से बड़े साधु हैं।

तन्तुकृन्तन यन्नस्त्वमभद्रमचरः पुनः ।
तस्माल्लोकेषु ते मूढ न भवेद्भ्रमतः पदम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तन्तु-कृन्तन—हे शैतान, जिसने निर्दयतापूर्वक मेरे पुत्रों को मुझसे विलग कर दिया है; यत्—जो; नः—हमको; त्वम्—तुम; अभद्रम्—अशभु वस्तु; अचरः—किया है; पुनः—फिर से; तस्मात्—इसलिए; लोकेषु—ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत सभी लोकों में; ते—तुम्हारा; मूढ—रे धूर्त, जो यही नहीं जानता कि कैसे व्यवहार करना चाहिए; न—नहीं; भवेत्—हो सकता है; भ्रमतः—भ्रमण करने वाले; पदम्—धाम, घर।

तुमने मेरे पुत्रों को मुझसे एक बार विलग कराया और अब पुनः तुमने वही अशुभ कार्य किया है। अतः तुम धूर्त हो जो यह नहीं जानता कि अन्यों के साथ किस तरह व्यवहार करना चाहिए। भले ही तुम ब्रह्माण्ड भर में भ्रमण करते रहते हो, किन्तु मैं शाप देता हूँ कि तुम्हारा कहीं भी निवासस्थान न हो।

तात्पर्य : चूँकि प्रजापित ऐसे *गृहमेधी* थे, जो गृहस्थ जीवन में बने रहना चाहते थे, अतएव उन्होंने सोचा कि यदि नारद एक स्थान में न रहने पायें, अपितु सारे जगत में भ्रमण करते रहें तो उनके लिए यह बड़ा दण्ड होगा। किन्तु वस्तुतः प्रचारक के लिए ऐसा दण्ड वरदान बन जाता है। प्रचारक *परिव्राजकाचार्य* कहलाता है अर्थात् ऐसा *आचार्य* या शिक्षक जो मानव-समाज के लाभ हेतु सदैव विचरण करता रहता है। प्रजापति दक्ष ने यह कहते हुए नारद मुनि को शाप दिया कि यद्यपि उन्हें सारे ब्रह्माण्ड में भ्रमण करने की सुविधा है, किन्तु वे किसी एक स्थान में कभी ठहर नहीं सकेंगे। नारदमुनि की परम्परा में मैं भी शापित हुआ हूँ। यद्यपि ऐसे अनेक केन्द्र हैं, जो मेरे रहने के लिए उपयुक्त स्थान हो सकते हैं, किन्तु मैं कहीं भी ठहर नहीं पाता, क्योंकि मैं अपने तरुण शिष्यों के माता-पिताओं द्वारा शापित हूँ। जब से कृष्णभावनामृत आन्दोलन चालू किया गया है, मैंने वर्ष में दो-तीन बार सारे संसार की यात्रा की है और जहाँ-जहाँ मैं जाता हूँ वहाँ वहाँ मुझे आरामदेह स्थान ठहरने को दिये जाते हैं, किन्तु मैं कहीं भी तीन दिन या एक सप्ताह से अधिक रुक नहीं पाता हूँ। मैं अपने शिष्यों के माता-पिताओं के इस शाप की परवाह नहीं करता, किन्तु

अब यह आवश्यक है कि मैं किसी एक स्थान पर अन्य कार्य को—*श्रीमद्भागवत* के इस अनुवाद को—पूरा करने के लिए ठहरूँ। यदि मेरे तरुण शिष्य, विशेषरुप से वे जिन्होंने संन्यास ग्रहण किया है, सारे जगत में भ्रमण करने का कार्यभार ले सकें तो मेरे लिए यह संम्भव हो सकता है कि मैं माता-पिताओं का यह शाप इन तरुण प्रचारकों पर अन्तरित कर सकूँ। तब मैं सुविधापूर्वक एक स्थान पर अनुवाद का कार्य करने के लिए बैठ सकूँगा।

श्रीशुक उवाच

प्रतिजग्राह तद्बाढं नारदः साधुसम्मतः ।

एतावान्साधुवादो हि तितिक्षेतेश्वरः स्वयम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; प्रतिजग्राह—स्वीकार किया; तत्—वह; बाढम्—तथास्तु; नारदः—नारदमुनि; साधु-सम्मतः—जो माने हुए साधु हैं; एतावान्—इतना; साधु-वादः—साधु पुरुष के अनुकूल; हि—निस्सन्देह; तितिक्षेत—वह सहन कर सके; ईश्वरः—यद्यपि प्रजापति दक्ष को शाप देने में समर्थ; स्वयम्—स्वयं।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्! चूँकि नारद मुनि माने हुए साधु पुरुष हैं, अतः जब प्रजापति दक्ष ने उन्हें शाप दिया तो उन्होंने उत्तर दिया *तद् बाढम्*—"ठीक, तुमने जो भी कहा है उत्तम है। मैं इस शाप को स्वीकार करता हूँ।" वे चाहते तो उलट कर प्रजापति दक्ष को शाप दे सकते थे, किन्तु उन्होंने कोई कार्यवाही नहीं की, क्योंकि वे सहिष्णु तथा दयालु साधु हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (३.२५.२१) में कहा गया है—

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।

अजातशत्रव: शान्ताः साधवः साधुभूषणाः॥

"साधु के लक्षण हैं कि वह सहिष्णु, दयालु तथा सभी जीवों के प्रति मैत्रीपूर्ण होता है। उसका कोई शत्रु नहीं होता, वह शान्त होता है, वह शास्त्रों का पालन करता है और उसके सारे गुण उदात्त होते हैं।" चूँकि नारदमुनि सर्वाधिक उच्च साधु या भक्त हैं, अतः उन्होंने प्रजापति दक्ष का उद्धार करने हेतु उस शाप को मौन भाव से सह लिया। श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने सारे भक्तों

को इसी सिद्धान्त की शिक्षा दी है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।

अमानिना मानदेन कीर्तनीय: सदा हरि: ॥

''मनुष्य को चाहिए कि अपने को रास्ते के तिनके से भी तुच्छ समझकर मन में विनम्र भाव से भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करे। उसे वृक्ष से भी अधिक सहनशील होना चाहिए, मिथ्या प्रतिष्ठा के भाव से रहित होना चाहिए तथा दूसरों को आदर देने के लिए तैयार रहना चाहिए। ऐसी मनोदशा में वह भगवान् के पवित्र नाम का निरन्तर कीर्तन कर सकता है।'' जो व्यक्ति श्री चैतन्य महाप्रभु के आदेशों का पालन करते हुए संसार-भर में या सारे ब्रह्माण्ड में भगवान् की महिमा का प्रचार करता है उसे घास या तिनके से भी अधिक विनम्र तथा वृक्ष से भी अधिक सहनशील होना चाहिए, क्योंकि प्रचारक आरामदेह जीवन नहीं बिता सकता। निस्सन्देह, प्रचारक को अनेक अवरोधों का सामना करना पड़ता है। वह कभी-कभी न केवल शापित होता है, अपितु उसे शारीरिक चोटें भी सहनी पड़ती हैं। उदाहरणार्थ, जब नित्यानन्द प्रभु जगाइ तथा माधाइ नामक दो उचक्के भाइयों के पास कृष्णभावनामृत का प्रचार करने गये तो उन्होंने उन्हें चोट पहुँचाई जिससे उनके सिर से खून बहने लगा था। फिर भी उन्होंने सहिष्णुतापूर्वक उन दोनों उचक्कों का उद्धार किया जिससे वे पूर्ण वैष्णव बन गये। प्रचारक का यही कर्तव्य है। जीसस क्राइस्ट को तो शूली पर भी चढ़ना पड़ा था। अतएव नारदमुनि को दिया गया शाप अधिक आश्चर्यप्रद नहीं था और उन्होंने उसे सह लिया।

अब यह पूछा जा सकता है कि नारदमुनि प्रजापति दक्ष के सम्मुख क्यों रुके रहे और उनके सारे दोषारोपों तथा शापों को सहते रहे? क्या यह दक्ष के उद्धार के लिए था? उत्तर है—हाँ। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि प्रजापति दक्ष द्वारा अपमानित होने के बाद नारदमुनि को वहाँ से तुरन्त चले जाना चाहिए था, किन्तु वे जानबूझकर दक्ष के कटु शब्दों को सुनने के लिए रुके रहे जिससे दक्ष का क्रोध शान्त हो जाये। प्रजापति दक्ष कोई सामान्य व्यक्ति न थे। उन्होंने

अनेक पुण्यकर्मों के फल संचित कर रखे थे। इसलिए नारद मुनि को आशा थी कि शाप देने के बाद दक्ष तुष्ट होकर तथा क्रोध से मुक्त होकर अपने दुर्व्यवहार के लिए पश्चात्ताप करेंगे और इस तरह वैष्णव बनने का अवसर प्राप्त करेंगे तथा उनका उद्धार हो सकेगा। जब जगाइ तथा माधाइ ने नित्यानन्द का अपमान किया, तो नित्यानन्द सहनशील बनकर खड़े रहे, इसलिए दोनों भाई उनके चरणों पर गिर पड़े और उन्होंने पश्चात्ताप किया। फलस्वरूप बाद में वे पूर्ण वैष्णव बन गये।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के षष्ठ स्कन्ध के अन्तर्गत ''प्रजापति दक्ष द्वारा नारदमुनि को शाप'' नामक पाँचवें अध्याय के भक्ति वेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छह

दक्ष की कन्याओं का वंश

इस अध्याय में बताया गया है कि प्रजापति दक्ष की पत्नी असिक्नी के गर्भ से साठ पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं। जनसंख्या बढ़ाने के उद्देश्य से वे विभिन्न पुरुषों को दान दे दी गईं। नारद मुनि ने दक्ष की इन सन्तानों को स्त्री जाति होने के कारण वैराग्य-जीवन निर्वाह करने का उपदेश नहीं दिया। इस प्रकार इन पुत्रियों को नारदमुनि से बचा लिया गया। इन पुत्रियों में से दस धर्मराज के साथ ब्याह दी गईं, तेरह कश्यप मुनि को और सत्ताईस चन्द्रदेव को दे दी गईं। इस प्रकार पचास पुत्रियाँ बाँट दी गई। शेष दस पुत्रियों में से चार कश्यप को और दो-दो भूत, अंगिरा तथा कृशाश्व को प्रदान की गईं। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि विभिन्न महापुरुषों के साथ इन साठों कन्याओं के संयोग से ही यह समस्त ब्रह्माण्ड विभिन्न प्रकार की जीवात्माओं से परिपूर्ण हो सका, जिसमें मनुष्य, देवता, असुर, पशु, पक्षी तथा नाग सम्मिलित हैं।

श्रीशुक उवाच

ततः प्राचेतसोऽसिक्न्यामनुनीतः स्वयम्भुवा ।
षष्टिं सञ्जनयामास दुहितॄः पितृवत्सलाः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; ततः—इस घटना के बाद; प्राचेतसः—दक्ष; असिक्न्याम्—असिक्नी नामक पत्नी से; अनुनीतः—शान्त किये गये; स्वयम्भुवा—श्रीब्रह्मा के द्वारा; षष्टिम्—साठ; सञ्जनयाम् आस—उत्पन्न किया; दुहितॄः—कन्याएँ; पितृ-वत्सलाः—अपने पिता की परम प्यारी।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा, हे राजन्! तदनन्तर ब्रह्माजी की प्रार्थना पर प्रजापति दक्ष ने, जिन्हें प्राचेतस कहा जाता है, अपनी पत्नी असिक्नी के गर्भ से साठ कन्याएँ उत्पन्न कीं। सभी कन्याएँ अपने पिता को अत्यधिक स्नेह करती थीं।

तात्पर्य : अपने अनेक पुत्रों की हानि की घटनाओं के बाद दक्ष को नारद मुनि के प्रति की गई अज्ञता पर पश्चात्ताप हुआ। तब श्री ब्रह्मा दक्ष के पास गये और उनको फिर सन्तान उत्पन्न करने की सलाह दी। इस बार दक्ष सावधान थे, अत: उन्होंने पुत्रों के बजाय कन्याएँ ही उत्पन्न कीं जिससे नारद उन्हें संन्यास स्वीकार करने पर विवश करके विरक्त न बना सकें। स्त्रियों के लिए वैराग्य नहीं बना है, उन्हें तो अपने अच्छे पतियों की आज्ञा का पालन करना चाहिए, क्योंकि यदि पति मुक्ति का पात्र है, तो उसकी पत्नी को स्वयमेव मुक्ति प्राप्त हो जाती है। जैसा कि शास्त्रों का कथन है, पत्नी अपने पति के पवित्र कार्यों में हिस्सा बँटाने वाली होती है। अत: स्त्री को चाहिए कि वह अपने पति की पतिव्रता और आज्ञाकारिणी बने। तभी बिना किसी भिन्न प्रयास के वह अपने पति के लाभ में हिस्सा बँटा सकती है।

दश धर्माय कायादाद्द्विषट्त्रिणव चेन्दवे ।
भूताङ्गिरःकृशाश्वेभ्यो द्वे द्वे तार्क्ष्याय चापराः ॥ २॥

शब्दार्थ

दश—दस; धर्माय—राजा धर्म अर्थात् यमराज को; काय—कश्यप को; अदात्—दे दिया; द्वि-षट्—छह की दूनी तथा एक (तेरह); त्रि-नव—नौ का तिगुना (सत्ताईस); च—भी; इन्दवे—चन्द्रदेव को; भूत-अङ्गिरः-कृशाश्वेभ्यः—भूत, अंगिरा तथा कृशाश्व को; द्वे द्वे—दो दो; तार्क्ष्याय—पुन: कश्यप को; च—तथा; अपराः—शेष।

उन्होंने धर्मराज (यमराज) को दस, कश्यप को तेरह, चन्द्रमा को सत्ताईस तथा अंगिरा, कृशाश्व एवं भूत को दो-दो कन्याएँ दान स्वरूप दे दीं। शेष चार कन्याएँ कश्यप को दे दी गईं (इस प्रकार कश्यप को कुल सत्रह कन्याएँ प्राप्त हुईं)।

नामधेयान्यमूषां त्वं सापत्यानां च मे शृणु ।
यासां प्रसूतिप्रसवैर्लोका आपूरितास्त्रयः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

नामधेयानि—विभिन्न नाम; अमूषाम्—उनको; त्वम्—तुम; स-अपत्यानाम्—अपनी संतानों सहित; च—तथा; मे—मुझसे; शृणु—कृपया सुनिये; यासाम्—उन सबों के; प्रसूति-प्रसवैः—अनेक सन्तानों तथा वंशजों के द्वारा; लोकाः—समस्त लोक; आपूरिताः—बसे हुए हैं; त्रयः—तीन (ऊपरी, बीच के तथा निम्न लोक)।

अब मुझसे इन समस्त कन्याओं तथा उनके वंशजों के नाम सुनो, जिनसे ये तीनों लोक पूरित हैं।

भानुर्लम्बा ककुद्यामिर्विश्वा साध्या मरुत्वती ।
वसुर्मुहूर्ता सङ्कल्पा धर्मपत्न्यः सुताञ्शृणु ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

भानुः—भानु; लम्बा—लम्बा; ककुत्—ककुद; यामिः—यामि; विश्वा—विश्वा; साध्या—साध्या; मरुत्वती—मरुत्वती; वसुः—वसु; मुहूर्ता—मुहूर्ता; सङ्कल्पा—संकल्पा; धर्म-पत्न्यः—यमराज की पत्नियाँ; सुतान्—उनके पुत्र; शृणु—सुनो।

यमराज को प्रदत्त दस कन्याओं के नाम थे भानु, लम्बा, ककुद, यामि, विश्वा, साध्या, मरुत्वती, वसु, मुहूर्ता तथा संकल्पा। अब उनके पुत्रों के नाम सुनो।

भानोस्तु देवऋषभ इन्द्रसेनस्ततो नृप ।
विद्योत आसील्लम्बायास्ततश्च स्तनयित्नवः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

भानोः—भानु के गर्भ से; तु—निस्सन्देह; देव-ऋषभः—देव-ऋषभ; इन्द्रसेनः—इन्द्रसेन; ततः—उस (देवऋषभ) से; नृप—हे राजन्; विद्योतः—विद्योत; आसीत्—उत्पन्न हुआ; लम्बायाः—लम्बा के गर्भ से; ततः—उससे; च—तथा; स्तनयित्नवः—समस्त बादल।

हे राजन्! भानु के गर्भ से देव-ऋषभ नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसके इन्द्रसेन नाम का एक पुत्र हुआ। लम्बा के गर्भ से विद्योत नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसने समस्त बादलों को जन्म दिया।

ककुदः सङ्कटस्तस्य कीकटस्तनयो यतः ।

भुवो दुर्गाणि यामेयः स्वर्गो नन्दिस्ततोऽभवत् ॥ ६॥

शब्दार्थ

ककुदः—ककुद के गर्भ से; सङ्कटः—संकट; तस्य—उसके; कीकटः—कीकट; तनयः—पुत्र; यतः—जिससे; भुवः—पृथ्वी के; दुर्गाणि—अनेक देवता, इस ब्रह्माण्ड के रक्षक (जिनका नाम दुर्गा है); यामेयः—यमी के; स्वर्गः—स्वर्ग; नन्दिः—नन्दि; ततः—उस (स्वर्ग) से; अभवत्—उत्पन्न हुआ।

ककुद के गर्भ से संकट नाम का पुत्र हुआ जिसके पुत्र का नाम कीकट था। कीकट से दुर्गा नामक देवतागण हुए। यामी के पुत्र का नाम स्वर्ग था जिससे नन्दि नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ।

विश्वेदेवास्तु विश्वाया अप्रजांस्तान्प्रचक्षते ।
साध्योगणश्च साध्याया अर्थसिद्धिस्तु तत्सुतः ॥ ७॥

शब्दार्थ

विश्वे-देवाः—विश्वदेव नाम के देवता; तु—लेकिन; विश्वायाः—विश्वा से; अप्रजान्—पुत्ररहित; तान्—उनको; प्रचक्षते—कहा जाता है; साध्यः-गणः—साध्य नाम के देवतागण; च—तथा; साध्यायाः—साध्या के गर्भ से; अर्थसिद्धिः—अर्थ सिद्धि; तु—लेकिन; तत्-सुतः—साध्यों का पुत्र।

विश्वा के पुत्र विश्वदेव हुए, जिनके कोई सन्तान नहीं थी। साध्या के गर्भ से साध्यगण हुए जिनके पुत्र का नाम अर्थसिद्धि था।

मरुत्वांश्च जयन्तश्च मरुत्वत्या बभूवतुः ।
जयन्तो वासुदेवांश उपेन्द्र इति यं विदुः ॥ ८॥

शब्दार्थ

मरुत्वान्—मरुत्वान; च—भी; जयन्तः—जयन्त; च—तथा; मरुत्वत्याः—मरुत्वती से; बभूवतुः—जन्म लिया; जयन्तः—जयन्त; वासुदेव-अंशः—वासुदेव के अंश स्वरूप; उपेन्द्रः—उपेन्द्र; इति—इस प्रकार; यम्—जिसको; विदुः—जानते हैं।

मरुत्वती के गर्भ से मरुत्वान तथा जयन्त नामक दो पुत्रों ने जन्म लिया। जयन्त भगवान् वासुदेव के अंश हैं और उपेन्द्र कहे जाते हैं।

मौहूर्तिका देवगणा मुहूर्तायाश्च जज्ञिरे ।
ये वै फलं प्रयच्छन्ति भूतानां स्वस्वकालजम् ॥ ९॥

शब्दार्थ

मौहूर्तिकाः—मौहूर्तिक गण; देव-गणाः—देवता; मुहूर्तायाः—मुहूर्ता के गर्भ से; च—तथा; जज्ञिरे—जन्म ग्रहण किया; ये—जिन सबों ने; वै—निस्सन्देह; फलम्—फल, परिणाम; प्रयच्छन्ति—प्रदान करते हैं; भूतानाम्—समस्त जीवात्माओं का; स्व-स्व—अपना-अपना; काल-जम्—काल से उत्पन्न।

मुहूर्ता के गर्भ से मौहूर्तिकगण नामक देवताओं ने जन्म ग्रहण किया। ये देवता अपने-अपने कालों में जीवात्माओं को उनके कर्मों का फल प्रदान करने वाले हैं।

सङ्कल्पायास्तु सङ्कल्पः कामः सङ्कल्पजः स्मृतः ।
वसवोऽष्टौ वसोः पुत्रास्तेषां नामानि मे शृणु ॥ १० ॥
द्रोणः प्राणो ध्रुवोऽर्कोऽग्निर्दोषो वास्तुर्विभावसुः ।
द्रोणस्याभिमतेः पत्न्या हर्षशोकभयादयः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सङ्कल्पायाः—संकल्पा के गर्भ से; तु—लेकिन; सङ्कल्पः—संकल्प; कामः—काम; सङ्कल्प-जः—संकल्प का पुत्र; स्मृतः—विख्यात; वसवः अष्टौ—आठों वसु; वसोः—वसु के; पुत्राः—पुत्र; तेषाम्—उनके; नामानि—नाम; मे—मुझसे; शृणु—सुनो; द्रोणः—द्रोण; प्राणः—प्राण; ध्रुवः—ध्रुव; अर्कः—अर्क; अग्निः—अग्नि; दोषः—दोष; वास्तुः—वास्तु; विभावसुः—विभावसु; द्रोणस्य—द्रोण के; अभिमतेः—अभिमति से; पत्न्याः—पत्नी; हर्ष-शोक-भय-आदयः—हर्ष, शोक, भय आदि नाम वाले पुत्र।

संकल्पा का पुत्र संकल्प कहलाया जिससे काम की उत्पत्ति हुई। वसु के पुत्र अष्ट वसु कहलाये। उनके नाम सुनो—द्रोण, प्राण, ध्रुव, अर्क, अग्नि, दोष, वास्तु तथा विभावसु। द्रोण नामक वसु की पत्नी अभिमति से हर्ष, शोक, भय इत्यादि पुत्रों का जन्म हुआ।

प्राणस्योर्जस्वती भार्या सह आयुः पुरोजवः ।
ध्रुवस्य भार्या धरणिरसूत विविधाः पुरः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

प्राणस्य—प्राण की; ऊर्जस्वती—ऊर्जस्वती; भार्या—पत्नी; सहः—सह; आयुः—आयुस्; पुरोजवः—पुरोजव; ध्रुवस्य—ध्रुव की; भार्या—पत्नी; धरणिः—धरणि; असूत—उत्पन्न किया; विविधाः—अनेक; पुरः—नगर।

प्राण की पत्नी ऊर्जस्वती के गर्भ से सह, आयुस तथा पुरोजव नामक तीन पुत्र उत्पन्न हुए। ध्रुव की पत्नी का नाम धरणी था जिसके गर्भ से विभिन्न नगरों की उत्पत्ति हुई।

अर्कस्य वासना भार्या पुत्रास्तर्षादयः स्मृताः ।
अग्नेर्भार्या वसोर्धारा पुत्रा द्रविणकादयः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अर्कस्य—अर्क की; वासना—वासना; भार्या—पत्नी; पुत्राः—कई पुत्र; तर्ष-आदयः—तर्ष इत्यादि; स्मृताः—विख्यात; अग्नेः—अग्नि की; भार्या—पत्नी; वसोः—वसु की; धारा—धारा; पुत्राः—पुत्र; द्रविणक-आदयः—द्रविणक इत्यादि।

अर्क की पत्नी वासना के गर्भ से कई पुत्र उत्पन्न हुए जिनमें तर्ष प्रमुख था। अग्नि नामक वसु की पत्नी धारा से द्रविणक इत्यादि कई पुत्र उत्पन्न हुए।

स्कन्दश्च कृत्तिकापुत्रो ये विशाखादयस्ततः ।
दोषस्य शर्वरीपुत्रः शिशुमारो हरेः कला ॥ १४॥

शब्दार्थ

स्कन्दः—स्कन्द; च—भी; कृत्तिका-पुत्रः—कृत्तिका का पुत्र; ये—जो; विशाख-आदयः—विशाख इत्यादि; ततः—उस (स्कन्द) से; दोषस्य—दोष का; शर्वरी-पुत्रः—उसकी पत्नी शर्वरी का पुत्र; शिशुमारः—शिशुमार; हरेः कला—भगवान् का अंश।

अग्नि की दूसरी पत्नी कृत्तिका से स्कन्द (कार्तिकेय) नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ जिसके पुत्रों में विशाख प्रमुख था। दोष नामक वसु की पत्नी शर्वरी से शिशुमार नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ जो श्रीभगवान् का अंश था।

वास्तोराङ्गिरसीपुत्रो विश्वकर्माकृतीपतिः ।
ततो मनुश्चाक्षुषोऽभूद्विश्वे साध्या मनोः सुताः ॥ १५॥

शब्दार्थ

वास्तोः—वास्तु; आङ्गिरसी—आंगिरसी नामक पत्नी से; पुत्रः—पुत्र; विश्वकर्मा—विश्वकर्मा; आकृती-पतिः—आकृती का पति; ततः—उससे; मनुः चाक्षुषः—मनु जिनका नाम चाक्षुष है; अभूत्—उत्पन्न हुआ; विश्वे—विश्वदेवगण; साध्याः—साध्यगण; मनोः—मनु के; सुताः—पुत्र।

वास्तु नामक वसु की पत्नी आंगिरसी से महान् शिल्पी विश्वकर्मा का जन्म हुआ। विश्वकर्मा आकृती के पति बने जिनसे चाक्षुष मनु ने जन्म ग्रहण किया। मनु के पुत्र विश्वदेव तथा साध्यगण कहलाये।

विभावसोरसूतोषा व्युष्टं रोचिषमातपम् ।
पञ्चयामोऽथ भूतानि येन जाग्रति कर्मसु ॥ १६॥

शब्दार्थ

विभावसोः—विभावसु के; असूत—उत्पन्न हुए; ऊषा—उषा; व्युष्टम्—व्युष्ट; रोचिषम्—रोचिष; आतपम्—आतप; पञ्चयामः—पंचयाम; अथ—तत्पश्चात्; भूतानि—जीवात्माएँ; येन—जिसके द्वारा; जाग्रति—जाग्रित होते हैं; कर्मसु—भौतिक कार्यों में।

विभावसु की पत्नी ऊषा के तीन पुत्र उत्पन्न हुए—व्युष्ट, रोचिष तथा आतप। इनमें से आतप के पञ्चयाम (दिन) उत्पन्न हुआ जो समस्त जीवात्माओं को भौतिक कार्यों के लिए प्रेरित करता है।

सरूपासूत भूतस्य भार्या रुद्रांश्च कोटिशः ।
रैवतोऽजो भवो भीमो वाम उग्रो वृषाकपिः ॥ १७॥
अजैकपादहिर्ब्रध्नो बहुरूपो महानिति ।
रुद्रस्य पार्षदाश्चान्ये घोराः प्रेतविनायकाः ॥ १८॥

शब्दार्थ

सरूपा—सरूपा ने; असूत—उत्पन्न किया; भूतस्य—भूत की; भार्या—पत्नी; रुद्रान्—रुद्रों को; च—तथा; कोटिशः—एक करोड़; रैवतः—रैवत; अजः—अज; भवः—भव; भीमः—भीम; वामः—वाम; उग्रः—उग्र; वृषाकपिः—वृषाकपि; अजैकपात्—अजैकपात्; अहिर्ब्रध्नः—अहिर्ब्रध्न; बहुरूपः—बहुरूप; महान्—महान्; इति—इस प्रकार; रुद्रस्य—इन रुद्रों के; पार्षदाः—उनके पार्षद; च—तथा; अन्ये—अन्य; घोराः—अत्यन्त भयानक; प्रेत—भूत; विनायकाः—तथा विनायक।

भूत की पत्नी सरूपा ने एक करोड़ रुद्रों को जन्म दिया, जिनमें से प्रमुख ग्यारह रुद्र ये हैं—रैवत, अज, भव, भीम, वाम, उग्र, वृषाकपि, अजैकपात्, अहिर्ब्रध्न, बहुरूप तथा महान्। भूत की दूसरी पत्नी भूता से उनके साथी भयंकर भूतों तथा विनायकादि का जन्म हुआ।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका है कि भूत के दो पत्नियाँ थीं। इनमें से पहली पत्नी सरूपा ने ग्यारह रुद्रों को जन्म दिया और दूसरी पत्नी से रुद्र के पार्षदगण उत्पन्न हुए, जिन्हें भूत तथा विनायक कहा जाता है।

प्रजापतेरङ्गिरसः स्वधा पत्नी पितॄनथ ।
अथर्वाङ्गिरसं वेदं पुत्रत्वे चाकरोत्सती ॥ १९॥

शब्दार्थ

प्रजापतेः अङ्गिरसः—अंगिरा नामक अन्य प्रजापति को; स्वधा—स्वधा; पत्नी—पत्नी; पितृन्—पितरगण; अथ—तत्पश्चात्; अथर्व-आङ्गिरसम्—अथर्वांगिरस; वेदम्—साक्षात् वेद; पुत्रत्वे—पुत्र के रूप में; च—तथा; अकरोत्—स्वीकार किया; सती—सती ने।

प्रजापति अंगिरा के दो पत्नियाँ थीं—स्वधा तथा सती। स्वधा ने समस्त पितरों को पुत्र रूप में स्वीकार किया और सती ने अथर्वांगिरस वेद को ही पुत्र रूप में स्वीकार कर लिया।

कृशाश्वोऽर्चिषि भार्यायां धूमकेतुमजीजनत् ।
धिषणायां वेदशिरो देवलं वयुनं मनुम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

कृशाश्वः—कृशाश्व; अर्चिषि—अर्चिस; भार्यायाम्—अपनी पत्नी से; धूमकेतुम्—धूमकेतु को; अजीजनत्—जन्म दिया; धिषणायाम्—धिषणा नामक पत्नी से; वेदशिरः—वेदशिरा; देवलम्—देवल; वयुनम्—वयुन; मनुम्—मनु।

कृश्वाश्व के अर्चिस् तथा धिषणा नामक दो पत्नियाँ थीं। अर्चिस् से धूमकेतु और धिषणा से वेदशिरा, देवल, वयुन तथा मनु नामक चार पुत्र उत्पन्न हुए।

तार्क्ष्यस्य विनता कद्रूः पतङ्गी यामिनीति च ।
पतङ्ग्यसूत पतगान्यामिनी शलभानथ ॥ २१ ॥
सुपर्णासूत गरुडं साक्षाद्यज्ञेशवाहनम् ।
सूर्यसूतमनूरुं च कद्रूर्नागाननेकशः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तार्क्ष्यस्य—तार्क्ष्य अर्थात् कश्यप की; विनता—विनता; कद्रूः—कद्रू; पतङ्गी—पतंगी; यामिनी—यामिनी; इति—इस प्रकार; च—तथा; पतङ्गी—पतंगी ने; असूत—जन्म दिया; पतगान्—विभिन्न प्रकार के पक्षी; यामिनी—यामिनी ने; शलभान्—टिड्डियों को (जन्म दिया); अथ—तत्पश्चात्; सुपर्णा—विनता नामक पत्नी ने; असूत—जन्म दिया; गरुडम्—विख्यात पक्षिराज गरुड़ को; साक्षात्—प्रत्यक्ष; यज्ञेश-वाहनम्—भगवान् विष्णु का वाहन; सूर्य-सूतम्—सूर्यदेव का सारथी; अनूरुम्—अनुरु; च—तथा; कद्रूः—कद्रू ने; नागान्—सर्पों को; अनेकशः—अनेक प्रकार के।

कश्यप अर्थात् तार्क्ष्य की चार पत्नियाँ थीं—विनता (सुपर्णा), कद्रू, पतंगी तथा यामिनी। पतंगी ने नाना प्रकार के पक्षियों को जन्म दिया और यामिनी ने टिड्डियों को। विनता (सुपर्णा) ने भगवान् विष्णु के वाहन गरुड़ तथा सूर्यदेव के सारथी अनूरु अथवा अरुण को जन्म दिया। कद्रू के गर्भ से अनेक प्रकार के नाग उत्पन्न हुए।

कृत्तिकादीनि नक्षत्राणीन्दोः पत्न्यस्तु भारत ।
दक्षशापात्सोऽनपत्यस्तासु यक्ष्मग्रहार्दितः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

कृत्तिका-आदीनि—कृत्तिका इत्यादि; नक्षत्राणि—नक्षत्रगण; इन्दोः—चन्द्रदेव की; पत्न्यः—पत्नियाँ; तु—लेकिन; भारत—हे महाराज परीक्षित, भारत के वंशधर; दक्ष-शापात्—दक्ष के शाप से; सः—चन्द्रदेव; अनपत्यः—सन्तानरहित; तासु—अनेक पत्नियों में; यक्ष्म-ग्रह-अर्दितः—क्षय रोग से पीड़ित।

हे भारतश्रेष्ठ महाराज परीक्षित! कृत्तिका नामक राशियाँ चन्द्रदेव की पत्नियाँ थीं। चूँकि प्रजापति दक्ष ने चन्द्रदेव को शाप दिया था कि उसे क्षय रोग हो जाये, अतः किसी भी पत्नी से कोई सन्तान नहीं हुई।

तात्पर्य : चूँकि चन्द्रदेव रोहिणी पर विशेष अनुरक्त था, अतः वह अन्य पत्नियों की उपेक्षा करने लगा। अतः अपनी कन्याओं के इस शोक को देखकर प्रजापति दक्ष अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उसे शाप दे दिया।

पुनः प्रसाद्य तं सोमः कला लेभे क्षये दिताः ।
शृणु नामानि लोकानां मातॄणां शङ्कराणि च ॥ २४ ॥
अथ कश्यपपत्नीनां यत्प्रसूतमिदं जगत् ।
अदितिर्दितिर्दनुः काष्ठा अरिष्टा सुरसा इला ॥ २५ ॥
मुनिः क्रोधवशा ताम्रा सुरभिः सरमा तिमिः ।
तिमेर्यादोगणा आसन्श्वापदाः सरमासुताः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

पुनः—फिर; प्रसाद्य—प्रसन्न करके; तम्—उसको (प्रजापति दक्ष को); सोमः—चन्द्रदेव; कलाः—प्रकाश के अंश; लेभे—प्राप्त किया; क्षये—क्रमिक ह्रास में (कृष्ण पक्ष); दिताः—हटा दिया; शृणु—सुनो; नामानि—सभी नामों; लोकानाम्—लोकों के; मातॄणाम्—माताओं के; शङ्कराणि—मंगलकारी; च—तथा; अथ—अब; कश्यप-पत्नीनाम्—कश्यप की पत्नियों के; यत्-प्रसूतम्—जिनसे उत्पन्न; इदम्—यह; जगत्—सारा ब्रह्माण्ड; अदितिः—अदिति; दितिः—दिति; दनुः—दनु; काष्ठा—काष्ठा; अरिष्टा—अरिष्टा; सुरसा—सुरसा; इला—इला; मुनिः—मुनि; क्रोधवशा—क्रोधवशा; ताम्रा—ताम्रा; सुरभिः—सुरभि; सरमा—सरमा; तिमिः—तिमि; तिमेः—तिमि से; यादः-गणाः—जलचर; आसन्—प्रकट हुए; श्वापदाः—सिंह तथा बाघ जैसे हिंसक पशु; सरमा-सुताः—सरमा के पुत्र।

तत्पश्चात् चन्द्रदेव ने प्रजापति को विनीत वचनों के द्वारा प्रसन्न करके रुग्णावस्था में क्षीण हुए प्रकाश को फिर से प्राप्त कर लिया, किन्तु तो भी उनके कोई सन्तान नहीं हुई। चन्द्रमा कृष्णपक्ष में अपना प्रकाश खो देता है, किन्तु शुक्ल पक्ष में उसे पुनः प्राप्त कर लेता

है। हे राजा परीक्षित! अब मुझसे कश्यप की पत्नियों के नाम सुनो, जिनके गर्भ से इस समस्त ब्रह्माण्ड के प्राणी उत्पन्न हुए हैं। वे लगभग समस्त ब्रह्माण्ड के सचराचर की माताएँ हैं और उनके नामों को सुनना शुभ है। उनके नाम हैं—अदिति, दिति, दनु, काष्ठा, अरिष्टा, सुरसा, इला, मुनि, क्रोधवशा, ताम्रा, सुरभि, सरमा तथा तिमि। तिमि के गर्भ से समस्त जलचर उत्पन्न हुए और सरमा से सिंह तथा बाघ जैसे क्रूर पशु उत्पन्न हुए।

सुरभेर्महिषा गावो ये चान्ये द्विशफा नृप ।
ताम्रायाः श्येनगृध्राद्या मुनेरप्सरसां गणाः ॥ २७॥

शब्दार्थ

सुरभेः—सुरभि के गर्भ से; महिषाः—भैंस; गावः—गाएँ; ये—जो; च—तथा; अन्ये—अन्य; द्वि-शफाः—फटे खुरों वाले, खुरदार; नृप—हे राजा; ताम्रायाः—ताम्रा से; श्येन—बाज, चील्ह; गृध्र-आद्याः—गीध इत्यादि; मुनेः—मुनि से; अप्सरसाम्—अप्सराओं के; गणाः—समूह।

हे राजा परीक्षित! सुरभि के गर्भ से भैंस, गाय तथा अन्य फटे खुरों वाले पशु उत्पन्न हुए, जब कि ताम्रा के गर्भ से बाज, गीध तथा अन्य बड़े शिकारी पक्षियों ने जन्म लिया। मुनि से अप्सराएँ उत्पन्न हुईं।

दन्दशूकादयः सर्पा राजन्क्रोधवशात्मजाः ।
इलाया भूरुहाः सर्वे यातुधानाश्च सौरसाः ॥ २८॥

शब्दार्थ

दन्दशूक-आदयः—दंदशूक तथा अन्य सर्प; सर्पाः—रेंगने वाले प्राणी; राजन्—हे राजन्; क्रोधवशा-आत्म-जाः—क्रोधवशा से उत्पन्न; इलायाः—इला के गर्भ से; भूरुहाः—लताएँ तथा वृक्ष; सर्वे—समस्त; यातुधानाः—मानवभक्षी, राक्षस; च—भी; सौरसाः—सुरसा के गर्भ से।

क्रोधवशा से दंदशूक नामक सर्प, रेंगने वाले अन्य प्राणी तथा मच्छर उत्पन्न हुए। इला के गर्भ से समस्त लताएँ तथा वृक्ष उत्पन्न हुए। सुरसा के गर्भ से राक्षसों ने जन्म लिया।

अरिष्टायास्तु गन्धर्वाः काष्ठाया द्विशफेतराः ।
सुता दनोरेकषष्टिस्तेषां प्राधानिकाञ्शृणु ॥ २९॥

द्विमूर्धा शम्बरोऽरिष्टो हयग्रीवो विभावसु: ।
अयोमुख: शङ्कुशिरा: स्वर्भानु: कपिलोऽरुण: ॥ ३० ॥
पुलोमा वृषपर्वा च एकचक्रोऽनुतापन: ।
धूम्रकेशो विरूपाक्षो विप्रचित्तिश्च दुर्जय: ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

अरिष्टाया:—अरिष्टा के गर्भ से; तु—लेकिन; गन्धर्वा:—सारे गन्धर्व; काष्ठाया:—काष्ठा से; द्वि-शफ-इतरा:—दो खुरों वाले पशुओं से इतर पशु यथा घोड़े इत्यादि, जिनके खुर विभाजित नहीं हैं; सुता:—पुत्र; दनो:—दनु के गर्भ से; एक-षष्टि:—इकसठ; तेषाम्—उनके; प्राधानिकान्—प्रमुख प्रमुख; शृणु—सुनो; द्विमूर्धा—द्विमूर्धा; शम्बर:—शम्बर; अरिष्ट:—अरिष्ट; हयग्रीव:—हयग्रीव; विभावसु:—विभावसु; अयोमुख:—अयोमुख; शङ्कुशिरा:—शंकुशिरा; स्वर्भानु:—स्वर्भानु; कपिल:—कपिल; अरुण:—अरुण; पुलोमा—पुलोमा; वृषपर्वा—वृषपर्वा; च—भी; एकचक्र:—एकचक्र; अनुतापन:—अनुतापन; धूम्रकेश:—धूम्रकेश; विरूपाक्ष:—विरूपाक्ष; विप्रचित्ति:—विप्रचित्ति; च—तथा; दुर्जय:—दुर्जय।

अरिष्टा के गर्भ गन्धर्व उत्पन्न हुए और काष्ठा से घोड़े इत्यादि एक खुर वाले पशु। हे राजन्! दनु के इकसठ पुत्र उत्पन्न हुए जिनमें से अठारह प्रमुख हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—द्विमूर्धा, शम्बर, अरिष्ट, हयग्रीव, विभावसु, अयोमुख, शंकुशिरा, स्वर्भानु, कपिल, अरुण, पुलोमा, वृषपर्वा, एकचक्र, अनुतापन, धूम्रकेश, विरूपाक्ष, विप्रचित्ति तथा दुर्जय।

स्वर्भानो: सुप्रभां कन्यामुवाह नमुचि: किल ।
वृषपर्वणस्तु शर्मिष्ठां ययातिर्नाहुषो बली ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

स्वर्भानो:—स्वर्भानु की; सुप्रभाम्—सुप्रभा; कन्याम्—कन्या, पुत्री; उवाह—ब्याह किया; नमुचि:—नमुचि ने; किल—निस्सन्देह; वृषपर्वण:—वृषपर्व का; तु—लेकिन; शर्मिष्ठाम्—शर्मिष्ठा; ययाति:—राजा ययाति; नाहुष:—नहुष का पुत्र; बली—अत्यन्त बलवान्।

स्वर्भानु की कन्या सुप्रभा से नमुचि ने विवाह किया। वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा नहुष के पुत्र महाबली राजा ययाति को दी गई।

वैश्वानरसुता याश्च चतस्रश्चारुदर्शना: ।
उपदानवी हयशिरा पुलोमा कालका तथा ॥ ३३ ॥
उपदानवीं हिरण्याक्ष: क्रतुर्हयशिरां नृप ।
पुलोमां कालकां च द्वे वैश्वानरसुते तु क: ॥ ३४ ॥
उपयेमेऽथ भगवान्कश्यपो ब्रह्मचोदित: ।

पौलोमाः कालकेयाश्च दानवा युद्धशालिनः ॥ ३५॥
तयोः षष्टिसहस्राणि यज्ञघ्नांस्ते पितुः पिता ।
जघान स्वर्गतो राजन्नेक इन्द्रप्रियङ्करः ॥ ३६॥

शब्दार्थ

वैश्वानर-सुताः—वैश्वानर की पुत्रियाँ; याः—जो; च—तथा; चतस्रः—चार; चारु-दर्शनाः—अत्यन्त सुन्दरी; उपदानवी—उपदानवी; हयशिरा—हयशिरा; पुलोमा—पुलोमा; कालका—कालका; तथा—और; उपदानवीम्—उपदानवीसे; हिरण्याक्षः—असुर हिरण्याक्षने; क्रतुः—क्रतु ने; हयशिराम्—हयशिरा ने; नृप—हे राजन्; पुलोमाम् कालकाम् च—पुलोमा तथा कालका ने; द्वे—दोनों; वैश्वानर-सुते—वैश्वानर की कन्याएँ; तु—लेकिन; कः—प्रजापति ने; उपयेमे—ब्याह किया; अथ—तब; भगवान्—परम शक्तिमान; कश्यपः—कश्यप मुनि; ब्रह्म-चोदितः—ब्रह्मा के अनुनय-विनय से; पौलोमाः कालकेयाः च—पौलोम तथा कालकेय नामक; दानवाः—दानव; युद्ध-शालिनः—युद्धप्रिय, योद्धा; तयोः—उनमें से; षष्टि-सहस्राणि—साठ हजार; यज्ञ-घ्नान्—यज्ञ को विध्वंस करने वाले; ते—तुम्हारे; पितुः—पिता का; पिता—पिता; जघान—मार डाला; स्वः-गतः—स्वर्गलोक में; राजन्—हे राजन्; एकः—अकेले; इन्द्र-प्रियम्-करः—राजा इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए।

दनु के पुत्र वैश्वानर के चार सुन्दर कन्याएँ थीं जिनके नाम थे—उपदानवी, हयशिरा, पुलोमा तथा कालका। इनमें से उपदानवी के साथ हिरण्याक्ष का तथा हयशिरा के साथ क्रतु का विवाह हुआ। तत्पश्चात् श्रीब्रह्मा के अनुनय-विनय पर प्रजापति कश्यप ने वैश्वानर की अन्य दो कन्याओं, पुलोमा तथा कालका के साथ विवाह कर लिया। कश्यप की इन दोनों पत्नियों के गर्भ से साठ हजार पुत्र हुए जो पौलोम तथा कालकेय के नाम से विख्यात हुए, जिनमें से निवातकवच प्रमुख था। वे सब अत्यन्त वीर तथा युद्ध कुशल थे और उनका लक्ष्य मुनियों के द्वारा सम्पन्न यज्ञों में विघ्न डालना था। हे राजन्! जब तुम्हारे पितामह अर्जुन स्वर्ग लोक गये तो उन्होंने अकेले ही इन असुरों का वध किया था जिससे राजा इन्द्र उनका परम प्रिय बन गया।

विप्रचित्तिः सिंहिकायां शतं चैकमजीजनत् ।
राहुज्येष्ठं केतुशतं ग्रहत्वं य उपागताः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

विप्रचित्तिः—विप्रचित्तिने; सिंहिकायाम्—अपनी पत्नी सिंहिका के गर्भ से; शतम्—एक सौ; च—तथा; एकम्—एक; अजीजनत्—जन्म दिया; राहु-ज्येष्ठम्—जिनमें से राहु सबसे बड़ा है; केतु-शतम्—एक सौ केतु; ग्रहत्वम्—ग्रह होने का; ये—सबके सब; उपागताः—प्राप्त किया।

विप्रचित्ति को अपनी पत्नी सिंहिका से एक सौ एक पुत्र प्राप्त हुए जिनमें राहु सबसे

ज्येष्ठ था और अन्य एक सौ केतु थे। इन सबों को प्रभावशाली ग्रहों (लोकों) में स्थान प्राप्त हुआ।

अथातः श्रूयतां वंशो योऽदितेरनुपूर्वशः ।
यत्र नारायणो देवः स्वांशेनावातरद्विभुः ॥ ३८ ॥
विवस्वानर्यमा पूषा त्वष्टाथ सविता भगः ।
धाता विधाता वरुणो मित्रः शत्रु उरुक्रमः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; अतः—अब; श्रूयताम्—सुनो; वंशः—वंश; यः—जो; अदितेः—अदिति से; अनुपूर्वशः—तिथिवार क्रम में; यत्र—जिसमें; नारायणः—भगवान्; देवः—ईश्वर; स्व-अंशेन—अपने अंश से; अवातरत्—अवतार लिया; विभुः—परमेश्वर; विवस्वान्—विवस्वान्; अर्यमा—अर्यमा; पूषा—पूषा; त्वष्टा—त्वष्टा; अथ—तत्पश्चात्; सविता—सविता; भगः—भग; धाता—धाता; विधाता—विधाता; वरुणः—वरुण; मित्रः—मित्र; शत्रुः—शत्रु; उरुक्रमः—उरुक्रम।

अब सुनो, मैं अदिति की वंश-परम्परा का तिथि-क्रमानुसार वर्णन कर रहा हूँ। इस वंश में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् नारायण ने स्वांश रूप में अवतार लिया। अदिति के पुत्रों के नाम इस प्रकार हैं—विवस्वान्, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शत्रु तथा उरुक्रम।

विवस्वतः श्राद्धदेवं संज्ञासूयत वै मनुम्
मिथुनं च महाभागा यमं देवं यमीं तथा ।
सैव भूत्वाथ वडवा नासत्यौ सुषुवे भुवि ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

विवस्वतः—सूर्यदेव की; श्राद्धदेवम्—श्राद्धदेव नामक; संज्ञा—संज्ञा ने; असूयत—जन्म दिया; वै—निस्सन्देह; मनुम्—मनु को; मिथुनम्—युगल; च—तथा; महा-भागा—परमभाग्यवती संज्ञा; यमम्—यमराज को; देवम्—देवता; यमीम्—उनकी बहन यमी को; तथा—और; सा—वह; एव—भी; भूत्वा—होकर; अथ—तब; वडवा—घोड़ी; नासत्यौ—अश्विनी कुमारों को; सुषुवे—जन्म दिया; भुवि—पृथ्वी पर।

सूर्यदेव विवस्वान् की भाग्यवती पत्नी संज्ञा से श्राद्धदेव मनु तथा यमराज और यमुना नदी (यमी) का जोड़ा उत्पन्न हुआ। तब यमी ने घोड़ी का रूप धारण करके इस पृथ्वी पर विचरण करते हुए अश्विनी कुमारों को जन्म दिया।

छाया शनैश्चरं लेभे सावर्णिं च मनुं ततः ।
कन्यां च तपतीं या वै वव्रे संवरणं पतिम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

छाया—सूर्यदेव की अन्य पत्नी छाया ने; शनैश्चरम्—शनि को; लेभे—उत्पन्न किया; सावर्णिम्—सावर्णि; च—तथा; मनुम्—मनु को; ततः—उस (विवस्वान्) से; कन्याम्—एक पुत्री; च—भी; तपतीम्—तपती नाम की; या—जो; वै—निस्सन्देह; वव्रे—ब्याह किया; संवरणम्—संवरण को; पतिम्—पति।

सूर्य की अन्य पत्नी छाया से शनैश्चर तथा सावर्णि मनु नामक दो पुत्र तथा तपती नामक एक पुत्री उत्पन्न हुई जिसने संवरण के साथ विवाह कर लिया।

अर्यम्णो मातृका पत्नी तयोश्चर्षणयः सुताः ।
यत्र वै मानुषी जातिर्ब्रह्मणा चोपकल्पिता ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

अर्यम्णः—अर्यमा की; मातृका—मातृका; पत्नी—पत्नी; तयोः—उनके संयोग से; चर्षणयः सुताः—अनेक विद्वान पुत्र; यत्र—जिनमें; वै—निस्सन्देह; मानुषी—मनुष्य की; जातिः—जाति; ब्रह्मणा—श्रीब्रह्मा के द्वारा; च—तथा; उपकल्पिता—सृष्टि की गई।

अर्यमा की पत्नी मातृका की कुक्षि से कई विद्वान पुत्र उत्पन्न हुए। श्रीब्रह्मा ने उन्हीं में से मनुष्य की जातियों की सृष्टि की जो आत्म-निरीक्षण की प्रवृत्ति से सम्पन्न हैं।

पूषानपत्यः पिष्टादो भग्नदन्तोऽभवत्पुरा ।
योऽसौ दक्षाय कुपितं जहास विवृतद्विजः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

पूषा—पूषा; अनपत्यः—संतानरहित; पिष्ट-अदः—आटा खाकर निर्वाह करने वाला; भग्न-दन्तः—टूटे दाँतों वाला; अभवत्—हो गया; पुरा—प्राचीन काल में; यः—जो; असौ—वह; दक्षाय—दक्ष पर; कुपितम्—अत्यन्त क्रुद्ध; जहास—हँसा; विवृत-द्विजः—दाँत निकालकर।

पूषा के कोई सन्तान नहीं हुई। जब भगवान् शिव दक्ष पर क्रुद्ध हुए तो पूषा दाँत निकाल कर हँसा था। अतः उसके दाँत जाते रहे और तब से वह पिसा हुआ अन्न खाकर जीवन-निर्वाह करता रहा।

त्वष्टुर्दैत्यात्मजा भार्या रचना नाम कन्यका ।
सन्निवेशस्तयोर्जज्ञे विश्वरूपश्च वीर्यवान् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

त्वष्टुः—त्वष्टा की; दैत्य-आत्म-जा—असुर की कन्या; भार्या—पत्नी; रचना—रचना; नाम—नाम की; कन्यका—कुमारी; सन्निवेशः—सन्निवेश; तयोः—उन दोनों के; जज्ञे—उत्पन्न हुआ; विश्वरूपः—विश्वरूप; च—तथा; वीर्यवान्—अत्यन्त बलशाली।

दैत्यों की पुत्री रचना प्रजापति त्वष्टा की पत्नी बनी। उसके गर्भ से सन्निवेश तथा विश्वरूप नामक दो अत्यन्त पराक्रमी पुत्र हुए।

तं वव्रिरे सुरगणा स्वस्त्रीयं द्विषतामपि ।
विमतेन परित्यक्ता गुरुणाङ्गिरसेन यत् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस (विश्वरूप) को; वव्रिरे—पुरोहित के रूप में स्वीकार किया; सुर-गणाः—देवताओं ने; स्वस्त्रीयम्—पुत्री का पुत्र; द्विषताम्—शत्रु असुरों की; अपि—यद्यपि; विमतेन—अपमानित होकर; परित्यक्ताः—छोड़े हुए; गुरुणा—अपने गुरु; आङ्गिरसेन—बृहस्पति द्वारा; यत्—क्योंकि।

यद्यपि विश्वरूप देवताओं के कट्टर शत्रु असुरों की पुत्री का पुत्र था, किन्तु उन्होंने ब्रह्मा की आज्ञा से उसे अपना पुरोहित बनाना स्वीकार किया। देवताओं द्वारा अपमान किये जाने पर गुरु बृहस्पति ने इनका परित्याग कर दिया था, इसीलिए इन्हें पुरोहित की आवश्यकता पड़ी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध के अन्तर्गत, ''दक्ष की कन्याओं का वंश'' नामक नामक छठे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सात

इन्द्र द्वारा गुरु बृहस्पति का अपमान

इस अध्याय में बताया गया है, कि स्वर्ग के राजा इन्द्र ने अपने गुरु बृहस्पति के चरणकमलों के प्रति अपराध किया; फलतः बृहस्पति ने देवताओं का परित्याग कर दिया जिससे वे पुरोहितविहीन हो गये। किन्तु देवताओं के अनुनय-विनय पर ब्राह्मण त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप ने पुरोहित बनना स्वीकार कर लिया।

एक बार देवताओं के राजा इन्द्र अपनी पत्नी शचीदेवी के साथ विराजमान थे और सिद्ध, चारण तथा गंधर्व जैसे देवतागण उनकी प्रशंसा कर रहे थे, तभी देवताओं के गुरु बृहस्पति ने उस सभा में प्रवेश किया। अपने ऐश्वर्य के मद में चूर होने के कारण इन्द्र ने बृहस्पति का सत्कार नहीं किया, इससे बृहस्पति को इन्द्र के भौतिक ऐश्वर्य में मद में चूर होने का पता लग गया। अतः वे इन्द्र को पाठ पढ़ाने के लिए सभा से चुपके से निकल लिये। इन्द्र को पश्चात्ताप हुआ कि अपने ऐश्वर्य-मद के कारण वह अपने गुरु का आदर करना भूल गया। वह अपने गुरु से क्षमा माँगने के लिए अपने महल से चल पड़ा, किन्तु कहीं भी उसकी बृहस्पति से भेंट नहीं हुई।

अपने गुरु का निरादर करने के कारण इन्द्र का सारा ऐश्वर्य जाता रहा और असुरों ने एक बड़े युद्ध में देवताओं को परास्त करके इन्द्र के सिंहासन को हथिया लिया। तब इन्द्र देवताओं सहित ब्रह्माजी की शरण में आया। स्थिति से अवगत होने पर श्रीब्रह्मा ने गुरु के प्रति किये गये इस अपराध के लिए देवताओं की भर्त्सना की। ब्रह्माजी की आज्ञानुसार देवताओं ने विश्वरूप को, जो त्वष्टा का पुत्र एवं ब्राह्मण था, अपना पुरोहित बना लिया। तब उन्होंने विश्वरूप के पौरोहित्य में यज्ञ किये और असुरों पर विजय प्राप्त की।

श्रीराजोवाच
कस्य हेतोः परित्यक्ता आचार्येणात्मनः सुराः ।
एतदाचक्ष्व भगवञ्छिष्याणामक्रमं गुरौ ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने पूछा; कस्य हेतोः—किस कारण से; परित्यक्ताः—त्यागे गये; आचार्येण—अपने गुरु बृहस्पति द्वारा; आत्मनः—अपने ही; सुराः—समस्त देवता; एतत्—यह; आचक्ष्व—कृपया वर्णन करें; भगवन्—हे मुनि (शुकदेव गोस्वामी); शिष्याणाम्—शिष्यों का; अक्रमम्—अपराध; गुरौ—गुरु के प्रति।

महाराज परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा—हे महामुनि! देवताओं के गुरु बृहस्पति ने देवताओं का परित्याग क्यों किया जो उनके ही शिष्य थे। देवताओं ने अपने गुरु के साथ ऐसा कौन सा अपराध किया? कृपया मुझसे इस घटना का वर्णन करें।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है—

सप्तमे गुरुणा त्यक्तैर्देवैर्दैत्यपराजितैः।

विश्वरूपो गुरुत्वेन वृतो ब्रह्मोपदेशतः॥

"इस सातवें अध्याय में बताया गया है कि किस प्रकार देवताओं द्वारा बृहस्पति का तिरस्कार हुआ, किस प्रकार बृहस्पति ने उन्हें त्यागा और किस प्रकार असुरों से पराजित होकर देवताओं ने ब्रह्माजी के उपदेशानुसार अपना यज्ञ कराने के लिए विश्वरूप को पुरोहित रूप में स्वीकार किया।"

श्रीबादरायणिरुवाच

इन्द्रस्त्रिभुवनैश्वर्यमदोल्लङ्घितसत्पथः ।
मरुद्भिर्वसुभी रुद्रैरादित्यैरृभुभिर्नृप ॥ २॥

विश्वेदेवैश्च साध्यैश्च नासत्याभ्यां परिश्रितः ।
सिद्धचारणगन्धर्वैर्मुनिभिर्ब्रह्मवादिभिः ॥ ३॥

विद्याधराप्सरोभिश्च किन्नरैः पतगोरगैः ।
निषेव्यमाणो मघवान्स्तूयमानश्च भारत ॥ ४॥

उपगीयमानो ललितमास्थानाध्यासनाश्रितः ।
पाण्डुरेणातपत्रेण चन्द्रमण्डलचारुणा ॥ ५॥

युक्तश्चान्यैः पारमेष्ठ्यैश्चामरव्यजनादिभिः ।
विराजमानः पौलम्या सहार्धासनया भृशम् ॥ ६॥

स यदा परमाचार्यं देवानामात्मनश्च ह ।
नाभ्यनन्दत सम्प्राप्तं प्रत्युत्थानासनादिभिः ॥ ७॥

वाचस्पतिं मुनिवरं सुरासुरनमस्कृतम् ।
नोच्चचालासनादिन्द्रः पश्यन्नपि सभागतम् ॥ ८॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया; इन्द्रः—राजा इन्द्र; त्रि-भुवन-ऐश्वर्य—तीनों लोकों के ऐश्वर्य का स्वामी होने के कारण; मद—घमंड से; उल्लङ्घित—जिसने उल्लंघन किया; सत्-पथः—वैदिक सभ्यता का मार्ग; मरुद्भिः—वायु के देवताओं द्वारा, जो मरुत्गण कहलाते हैं; वसुभिः—आठ वसुओं द्वारा; रुद्रैः—ग्यारह रुद्रों के द्वारा; आदित्यैः—आदित्यों के द्वारा; ऋभुभिः—ऋभुओं के द्वारा; नृप—हे राजन्; विश्वेदेवैः च—तथा विश्वदेवों के द्वारा; साध्यैः—साध्यों के द्वारा; च—भी; नासत्याभ्याम्—दोनों अश्विनीकुमारों द्वारा; परिश्रितः—घिरे हुए; सिद्ध—सिद्धलोक के निवासियों द्वारा; चारण—सभी चारण; गन्धर्वैः—तथा गन्धर्वों से; मुनिभिः—बड़े बड़े साधुओं द्वारा; ब्रह्मवादिभिः—अत्यन्त विद्वान निर्गुणवादियों द्वारा; विद्याधर-अप्सरोभिः च—तथा विद्याधरों और अप्सराओं द्वारा; किन्नरैः—किन्नरों के द्वारा; पतग-उरगैः—पक्षियों तथा सर्पों के द्वारा; निषेव्यमाणः—सेवित होकर; मघवान्—राजा इन्द्र; स्तूयमानः च—तथा स्तुति किये जाने पर; भारत—हे महाराज परीक्षित; उपगीयमानः—कीर्ति का गान होने पर; ललितम्—अत्यन्त मधुर; आस्थान—अपनी सभा में; अध्यासन-आश्रितः—सिंहासन पर विराजमान; पाण्डुरेण—श्वेत; आतपत्रेण—सिर के ऊपर

छत्र सहित; चन्द्र-मण्डल-चारुणा—चन्द्रमा के मंडल के समान सुन्दर; युक्तः—से युक्त; च अन्यैः—तथा अन्य से; पारमेष्ठ्यैः—महाराजोचित; चामर—चँवर; व्यजन-आदिभिः—पंखे आदि सामग्रियों से; विराजमानः—चमकता हुआ; पौलम्या—अपनी पत्नी शची के; सह—साथ; अर्ध-आसनया—आधे सिंहासन पर स्थित; भृशम्—अत्यधिक; सः—वह (इन्द्र); यदा—जब; परम-आचार्यम्—परमादरणीय गुरु को; देवानाम्—समस्त देवताओं के; आत्मनः—स्वयं का; च—और; ह—निस्सन्देह; न—नहीं; अभ्यनन्दत—सत्कार किया; सम्प्राप्तम्—सभा में प्रकट होकर; प्रत्युत्थान—सिंहासन से उठकर; आसन-आदिभिः—तथा आसन इत्यादि से; वाचस्पतिम्—देवताओं के पुरोहित, बृहस्पति को; मुनि-वरम्—साधुओं में श्रेष्ठ; सुर-असुर-नमस्कृतम्—देवताओं तथा असुरों के द्वारा समान रूप से सम्मानित; न—नहीं; उच्चचाल—उठकर खड़ा हुआ; आसनात्—सिंहासन से; इन्द्रः—इन्द्र; पश्यन् अपि—देखकर भी; सभा-आगतम्—सभा में आते हुए।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे राजन्! एक बार तीनों लोकों के ऐश्वर्य से अत्यधिक गर्वित हो जाने के कारण स्वर्ग के राजा इन्द्र ने वैदिक आचार-संहिता का उल्लंघन कर दिया। वे सिंहासन पर आसीन थे और उनके चारों ओर मरुत, वसु, रुद्र, आदित्य, ऋभु, विश्वदेव, साध्य, अश्विनी-कुमार, सिद्ध, चारण, गंधर्व तथा सभी बड़े बड़े ऋषि मुनियों के अतिरिक्त विद्याधर, अप्सराएँ, किन्नर, पतग (पक्षी) तथा उरग (सर्प) भी बैठे थे। वे सभी इन्द्र की स्तुति और सेवा कर रहे थे और अप्सराएँ तथा गन्धर्व नृत्य कर रहे थे और अपने मधुर वाद्ययंत्रों के साथ गायन कर रहे थे। इन्द्र के सर पर पूर्ण चन्द्रमा के समान तेजवान् श्वेत छत्र तना था, चँवर झला जा रहा था और समस्त राजसी ठाठ-बाट सजा था। इन्द्र अपनी अर्धांगिनी शचीदेवी सहित सिंहासन पर बैठे थे तभी उस सभा में परम साधु बृहस्पति का प्रवेश हुआ। सर्वश्रेष्ठ साधु बृहस्पति इन्द्र समेत सभी देवताओं के गुरु थे और देवताओं तथा असुरों के द्वारा समान रूप से सम्मानित थे। तो भी अपने गुरु को समक्ष देखकर इन्द्र न तो अपने आसन से उठा, न अपने गुरु को बैठने के लिए आसन दिया और न उनका आदर पूर्वक सत्कार ही किया। तात्पर्य यह है कि इन्द्र ने सम्मानसूचक कोई भी कार्य नहीं किया।

ततो निर्गत्य सहसा कविराङ्गिरसः प्रभुः ।
आययौ स्वगृहं तूष्णीं विद्वाञ्श्रीमदविक्रियाम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; निर्गत्य—बाहर जाकर; सहसा—अचानक; कविः—परम विद्वान; आङ्गिरसः—बृहस्पति; प्रभुः—देवताओं के स्वामी; आययौ—लौटे; स्व-गृहम्—अपने घर को; तूष्णीम्—मौन; विद्वान्—ज्ञात करके; श्री-मद-विक्रियाम्—ऐश्वर्य के मद से विकार ग्रस्त।

बृहस्पति को सब कुछ ज्ञात था कि भविष्य में क्या होने वाला है। इन्द्र द्वारा सारे शिष्टाचार का उल्लंघन देखकर वे पूरी तरह समझ गये कि इन्द्र ऐश्वर्य के मद से फूल उठा है। वे चाहते तो इन्द्र को शाप दे सकते थे, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। वे उस सभा से निकलकर चुपचाप अपने घर चले आये।

तर्ह्येव प्रतिबुध्येन्द्रो गुरुहेलनमात्मनः ।
गर्हयामास सदसि स्वयमात्मानमात्मना ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तर्हि—तब तुरन्त; एव—निस्सन्देह; प्रतिबुध्य—समझकर; इन्द्रः—राजा इन्द्र; गुरु-हेलनम्—गुरु की अवहेलना; आत्मनः—अपने; गर्हयाम् आस—पश्चात्ताप करने लगा; सदसि—उस सभा में; स्वयम्—स्वयं; आत्मानम्—अपने आपको; आत्मना—अपने द्वारा।

स्वर्ग के राजा इन्द्र ने तुरन्त ही अपनी भूल समझ ली। यह जानते हुए कि उन्होंने अपने गुरु का निरादर किया है, उन्होंने उस सभा के समस्त सदस्यों के समक्ष स्वयं ही अपनी भर्त्सना की।

अहो बत मयासाधु कृतं वै दभ्रबुद्धिना ।
यन्मयैश्वर्यमत्तेन गुरुः सदसि कात्कृतः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; बत—निस्सन्देह; मया—मेरे द्वारा; असाधु—निरादरपूर्ण; कृतम्—कार्य; वै—निश्चय ही; दभ्र-बुद्धिना—मन्द बुद्धि होने से; यत्—क्योंकि; मया—मेरे द्वारा; ऐश्वर्य-मत्तेन—भौतिक ऐश्वर्य के नशे में चूर होने के कारण; गुरुः—गुरु; सदसि—इस सभा में; कात्-कृतः—दुर्व्यवहार किया गया।

ओह! अपनी अल्प बुद्धि के कारण तथा भौतिक ऐश्वर्य के मद-वश मैंने यह क्या कर लिया! जब मेरे गुरु इस सभा में प्रविष्ट हुए तो मैंने उनका सत्कार क्यों नहीं किया? सचमुच मैंने उनका अनादर किया है।

को गृध्येत्पण्डितो लक्ष्मीं त्रिपिष्टपपतेरपि ।
ययाहमासुरं भावं नीतोऽद्य विबुधेश्वरः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन; गृध्येत्—स्वीकार करेगा; पण्डितः—विद्वान मनुष्य; लक्ष्मीम्—ऐश्वर्य; त्रि-पिष्ट-प-पतेः अपि—यद्यपि मैं देवताओं का स्वामी हूँ; यया—जिससे; अहम्—मैं; आसुरम्—आसुरी; भावम्—विचार; नीतः—लाकर; अद्य—अब; विबुध—देवताओं के, जो सतोगुण युक्त हैं; ईश्वरः—राजा।

यद्यपि मैं सतोगुणी देवताओं का राजा हूँ, किन्तु थोड़े से ऐश्वर्य से गर्वित और अहंकार से दूषित था। भला ऐसी दशा में कौन इस ऐश्वर्य को स्वीकार करेगा जिससे उसका पतन हो? हाय! मेरे धन एवं ऐश्वर्य को धिक्कार है!

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु ने श्रीभगवान् से प्रार्थना की थी—*न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये*—"हे ईश्वर, मुझे न तो धन या भौतिक ऐश्वर्य की कामना है, न मैं चाहता हूँ कि मेरे अनेक अनुयायी हों जो मुझे अपना नायक मानें, न ही मुझे अपने आपको प्रसन्न रखने के लिए किसी सुन्दर स्त्री की आवश्यकता है।" *मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि*—"मुझे मुक्ति भी नहीं चाहिए। मैं तो यही चाहता हूँ कि जन्म-जन्मांतर आपका आज्ञाकारी दास बना रहूँ।" प्रकृति का नियम है कि जब कोई अत्यन्त ऐश्वर्यशाली हो जाता है, तो उसका पतन होने लगता है। यह व्यष्टि तथा समष्टि पर समान रूप से लागू होता है। सभी देवता सतोगुणी हैं, किन्तु कभी-कभी देवताओं के राजा इन्द्र के उच्च पद जैसी स्थिति पर अवस्थित राजा भी अपने ऐश्वर्य के कारण नीचे गिर जाते हैं। आजकल हम अमरीका में वास्तव में यही देख रहे हैं। समग्र अमरीकी राष्ट्र ने आदर्श मनुष्य उत्पन्न किये बिना भौतिक ऐश्वर्य में प्रगति करने का प्रयास किया है। इसका फल यह हुआ है कि सभी अमरीकी लोग अमरीकी समाज में अत्याचारों से आक्रान्त हैं और आश्चर्यचकित हैं कि अमरीका में इतना अनाचार कैसे व्याप्त है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (७.५.३१) में कहा गया है—*न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुम्*—जो प्रबुद्ध नहीं हैं, उनको जीवन का उद्देश्य, जो वास्तव में भगवान् के धाम को जाना है, ज्ञात नहीं है; अतः वे व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों ही प्रकार से तथाकथित भौतिक सुविधाओं को भोगना चाहते हैं और सुरा तथा सुन्दरी के आदी हो जाते हैं। ऐसे समाज का व्यक्ति चतुर्थ श्रेणी से भी निम्न होता है। वे अवांछित हैं और वर्णसंकर कहलाते हैं और जैसा कि *भगवद्गीता* में उल्लेख है, वर्णसंकर जनता की वृद्धि

से नारकीय समाज की सृष्टि होती है। आज अमरीकी लोग अपने आपको ऐसे ही समाज में पाते हैं।

किन्तु सौभाग्यवश अमरीका में हरे कृष्ण आन्दोलन का सूत्रपात हो चुका है और अनेक भाग्यशाली नवयुवक इस आन्दोलन के प्रति सचेष्ट हैं। इसके द्वारा लोग उच्च चरित्र वाले आदर्श व्यक्ति बन रहे हैं, जो मांसाहार, अवैध मैथुन, मद्यपान तथा द्यूत क्रीड़ा से अपने को सर्वथा दूर रखते हैं। यदि अमरीकी लोग अपने राष्ट्र के अवनत अपराधपूर्ण जीवन पर रोक लगाने के लिए उत्सुक हैं, तो उन्हें चाहिए कि वे कृष्णभावनामृत आन्दोलन को अंगीकार करें और ऐसे मानव-समाज का निर्माण करें जो *भगवद्गीता* में उल्लिखित है (*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागश:*)। उन्हें चाहिए कि समाज को प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ श्रेणी के व्यक्तियों में विभाजित कर लें। चूँकि उनमें अभी चतुर्थ श्रेणी से भी नीचे के लोग उत्पन्न हो रहे हैं, अत: अपराधी समाज के संकटों से कैसे बचा जा सकता है? बहुत काल बीता, श्रीइन्द्र को अपने गुरु बृहस्पति का अनादर करने पर पश्चात्ताप हुआ था। इसी प्रकार, यह सलाह दी जाती है कि अमरीकी लोग अपनी भ्रमपूर्ण उन्नत सभ्यता के लिए पश्चात्ताप करें। उन्हें चाहिए कि भगवान् कृष्ण के प्रतिनिधि गुरु से उपदेश ग्रहण करें। यदि वे ऐसा करेंगे तो सुखी होंगे और उनका राष्ट्र आदर्श राष्ट्र बनेगा जो सारे विश्व का पथप्रदर्शक बन सकेगा।

य: पारमेष्ठ्यं धिषणमधितिष्ठन्न कञ्चन ।
प्रत्युत्तिष्ठेदिति ब्रूयुर्धर्मं ते न परं विदु: ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

य:—जो भी; पारमेष्ठ्यम्—राजसी; धिषणम्—सिंहासन पर; अधितिष्ठन्—आसीन; न—नहीं; कञ्चन—कोई भी; प्रत्युत्तिष्ठेत्—पहले उठना चाहिए; इति—इस प्रकार; ब्रूयु:—जो ऐसा कहते हैं; धर्मम्—धर्मादेश; ते—वे; न—नहीं; परम्—अत्यधिक; विदु:—जानते हैं।

यदि कोई यह कहे कि राजा के उच्च सिंहासन पर आसीन व्यक्ति को दूसरे राजा या ब्राह्मण के सत्कार हेतु उठकर खड़ा नहीं होना चाहिए, तो यही समझना चाहिए कि वह श्रेष्ठ

धार्मिक नियमों को नहीं जानता।

तात्पर्य : इस प्रसंग के सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि जब कोई राजा या राष्ट्रपति अपने सिंहासन पर आसीन हो तो सभा में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति का सत्कार करना उसके लिए आवश्यक नहीं है, किन्तु उसे चाहिए कि अपने श्रेष्ठजनों, यथा गुरु, ब्राह्मण तथा वैष्णवों, का आदर करे। उसे कैसा व्यवहार करना चाहिए इसके अनेक उदाहरण हैं। जब भगवान् श्रीकृष्ण सिंहासन पर आसीन थे और सौभाग्यवश नारद ने उनकी सभा में प्रवेश किया, तो वे नारद को नमस्कार करने के लिए अपने पार्षदों सहित उठकर खड़े हो गये। नारद को ज्ञात था कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं और श्रीकृष्ण भी जानते थे कि नारद उनके भक्त हैं, किन्तु तो भी भगवान् श्रीकृष्ण ने धार्मिक शिष्टाचार का पालन किया। चूँकि नारद एक ब्रह्मचारी, ब्राह्मण तथा महान् भक्त थे, इसलिए राजा के पद पर होते हुए भी श्रीकृष्ण ने नारद को सादर नमस्कार किया। वैदिक सभ्यता में ऐसा आचरण देखा जाता है। जिस सभ्यता में लोग यह नहीं जानते कि नारद तथा कृष्ण के प्रतिनिधियों का किस प्रकार सत्कार किया जाये, किस प्रकार समाज का निर्माण हो और किस प्रकार कृष्णभावनामृत में अग्रसर हुआ जाये, भले ही वह सभ्यता प्रौद्योगिकी की दृष्टि से जिसका सम्बन्ध नई कारें बनाने और नए गगनचुम्बी भवन निर्माण करने और बाद में उन्हें तोड़ कर और नए बनाने में कितनी ही समुन्नत क्यों न हो, वह मानव सभ्यता नहीं है। मानव-सभ्यता तभी प्रगति करती है जब उसके लोग चातुर्वर्ण्य प्रणाली का पालन करते हों। प्रथम श्रेणी के लोगों को सलाहकार के रूप में, द्वितीय श्रेणी के लोगों को प्रशासक के रूप में, तृतीय श्रेणी के लोगों को अन्नोत्पादन तथा गोरक्षा के लिए और चतुर्थ श्रेणी के लोगों को समाज की तीनों उच्च श्रेणियों की आज्ञा का पालन करना चाहिए। जो आदर्श समाज की इस प्रणाली को नहीं मानता उसे पंचम श्रेणी का माना जाना चाहिए। वैदिक नियमों तथा विधानों से विहीन समाज मानवता के लिए तनिक भी सहायक नहीं हो सकता। जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है—*धर्मं ते न परं विदुः*—ऐसा समाज न तो जीवन के उद्देश्य से परिचित है और न श्रेष्ठ धार्मिक नियमों से।

तेषां कुपथदेष्टृणां पततां तमसि ह्यधः ।
ये श्रद्दध्युर्वचस्ते वै मज्जन्त्यश्मप्लवा इव ॥ १४॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उन (बुरे नेताओं) का; कु-पथ-देष्टृणाम्—कुमार्ग दिखाने वाले; पतताम्—स्वयं गिरकर; तमसि—अंधकार में; हि—निस्सन्देह; अधः—नीचे; ये—जो कोई; श्रद्दध्युः—श्रद्धा रखते हैं; वचः—शब्द; ते—वे; वै—निस्सन्देह; मज्जन्ति—डूब जाते हैं; अश्म-प्लवाः—पत्थर की नाव; इव—के समान।

जो नेता अज्ञानी हैं और लोगों को विनाश के कुमार्ग पर ले जाते हैं (जैसा कि पिछले श्लोक में कहा गया है) वे वास्तव में पत्थर की नाव पर सवार हैं और उनके पीछे अंधे होकर चलने वाले भी वैसे हैं। पत्थर की नाव पानी में नहीं तैर सकती। वह तो यात्रियों समेत पानी में डूब जायेगी। इसी प्रकार जो लोग मनुष्यों को कुमार्ग पर ले जाते हैं, वे अपने अनुयायियों समेत नरक को जाते हैं।

तात्पर्य : वैदिक ग्रन्थों (*भागवत* ११.२०.१७) में कहा गया है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्

हम सभी बद्धजीव अज्ञान के सागर में गिरे हुए हैं, किन्तु सौभाग्यवश हमारा मनुष्य-शरीर सागर को पार करने का सुअवसर प्रदान करता है, क्योंकि यह एक सुन्दर नाव के समान है। जब गुरु-रूपी कप्तान इस नाव का निर्देशन करता है, तो यह सरलतापूर्वक सागर को पार कर लेती है। यही नहीं, वैदिक उपदेश रूपी अनुकूल हवाओं के द्वारा नाव को पार करने में सहायता मिलती है। यदि कोई इस अज्ञानसागर को पार करने की समस्त सुविधाओं का लाभ नहीं उठाता तो वह निश्चय ही आत्मघात करता है।

जो पत्थर की बनी नाव में सवार होता है, समझो वह डूब गया। सिद्धावस्था प्राप्त करने के लिए मानवता को सबसे पहले उन छद्म-नेताओं का परित्याग करना होगा जो पत्थर की नाव सामने लाते हैं। समस्त मानव समाज ऐसी भयावह स्थिति में है कि इसे बचाने के लिए वेदों के आदर्श उपदेशों का पालन आवश्यक है। ऐसे उपदेशों का सार *भगवद्गीता* के रूप में उपलब्ध है। मनुष्य

को चाहिए कि वे अन्य उपदेशों को ग्रहण न करके गीता के ही उपदेशों का अनुसरण करे, क्योंकि उसमें जीव का उद्देश्य सुस्पष्ट मिलता है। इसीलिए श्रीकृष्ण कहते हैं—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—"अन्य समस्त धर्मों को छोड़कर एकमात्र मेरी शरण ग्रहण करो।" भले ही कोई श्रीकृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् न माने, किन्तु उनके उपदेश इतने उच्च तथा मानवता के लिए इतने उपयोगी हैं कि उनके पालन करने से मनुष्य बच सकता है। अन्यथा वह योग की व्यायाम सम्बन्धी विधियों तथा अनधिकारिक चिन्तन (ध्यान) के द्वारा ठगा जाता रहेगा। इस प्रकार वह पत्थर की नाव में सवार होता रहेगा जो समस्त यात्रियों सहित डूबती रहेगी। दुर्भाग्यवश, अमरीकी लोग भौतिक अव्यवस्था से उबरने के लिए उत्सुक तो दिखते हैं, किन्तु कभी-कभी वे पत्थर की नाव बनाने वालों का समर्थन करने लगते हैं। इससे उनको लाभ नहीं होने वाला। उन्हें चाहिए कि कृष्णभावनामृत आन्दोलन के रूप में श्रीकृष्ण द्वारा प्रदत्त उचित नाव को ग्रहण करें। तब वे सरलता से बच सकेंगे। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है—*अश्ममयः प्लवो येषां ते यथा मज्जन्तं प्लवम् अनुमज्जन्ति तथेति राजनित्युपदेष्टृषु स्वसभ्येषु कोपो व्यंजितः*। यदि यह समाज राजनीति के द्वारा निर्देशित होता रहेगा और एक राष्ट्र दूसरे के ऊपर हावी होता रहेगा तो यह अवश्य ही पत्थर की नाव के समान डूब जायेगा। इससे मानव समाज का उद्धार नहीं हो सकता। जीवन का उद्देश्य समझने, ईश्वर को जानने तथा मानव उद्देश्य को पूरा करने के लिए मनुष्यों को कृष्णभावनामृत की शरण लेनी चाहिए।

अथाहममराचार्यमगाधधिषणं द्विजम् ।
प्रसादयिष्ये निशठः शीर्ष्णा तच्चरणं स्पृशन् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; अहम्—मैं; अमर-आचार्यम्—देवताओं के गुरु को; अगाध-धिषणम्—अगाध आत्मज्ञान से युक्त; द्विजम्—पूर्ण ब्राह्मण को; प्रसादयिष्ये—मैं प्रसन्न करूँगा; निशठः—बिना कपट के; शीर्ष्णा—अपने शिर से; तत्-चरणम्—उनके चरणकमल का; स्पृशन्—स्पर्श करके।

राजा इन्द्र ने कहा—अतः अब मैं अत्यन्त खुले मन से तथा निष्कपट भाव से देवताओं

के गुरु बृहस्पति के चरणारविन्द में अपना शीश झुकाऊँगा। सात्त्विक होने के कारण वे समस्त ज्ञान से पूर्णतया अवगत हैं और ब्राह्मणों में श्रेष्ठ हैं। अब मैं उनके चरणारविन्द का स्पर्श करके उन्हें प्रसन्न करने के उद्देश्य से प्रणाम करूँगा।

तात्पर्य : चेत होने पर राजा इन्द्र की समझ में आया कि वह अपने गुरु बृहस्पति का निष्ठावान् शिष्य नहीं है। अत: उसने निश्चय किया कि अब वह *निशठ* अर्थात् निष्कपट बनेगा। *निशठ: शीर्ष्णा तच्चरणं स्पृशन्*—उसने अपने गुरु के चरणों को शिर से स्पर्श करने का निश्चय किया। इस उदाहरण से हमें विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर द्वारा व्यक्त नियम को सीखना चाहिए—

यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादो

यस्याप्रसादान्न गति: कुतोऽपि

''गुरु की कृपा से श्रीकृष्ण की कृपा का आशीर्वाद मिलता है। बिना गुरु के प्रसाद के मनुष्य किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता।'' शिष्य को कभी-भी अपने गुरु के प्रति दंभी और कृतघ्न नहीं होना चाहिए। श्रीमद्भागवत (११.१७.२७) में गुरु को आचार्य कहा गया हैं—*आचार्यं मां विजानीयान्*—श्रीभगवान् का कथन है कि मनुष्य को चाहिए कि गुरु को ही साक्षात् भगवान् मानकर उसका आदर करे। नावमन्येत कर्हिचित्—कभी भी आचार्य का अनादर न करे। न मर्त्य-बुध्यासूयेत्—आचार्य को कभी सामान्य जन नहीं समझना चाहिए। अधिक परिचय से अनादर होता है, किन्तु आचार्य के साथ व्यवहार करते समय सतर्क रहना चाहिए। *अगाध धिष्णां द्विजम्*—आचार्य पूर्ण ब्राह्मण होता है और वह अपने शिष्य के कर्मों के निर्देशन की अपार बुद्धि रखता है। इसीलिए श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (४.३४) में कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन: ॥

''गुरु के निकट जाकर सत्य को जानने का प्रयत्न करो। उनसे विनीत होकर प्रश्न करो और उनकी सेवा करो। वे सत्य को जानने वाले आत्मज्ञानी महापुरुष तुम्हें ज्ञान प्रदान करेंगे।'' मनुष्य

को गुरु की शरण में पूर्णरूपेण जाना चाहिए और सेवा द्वारा (*सेवया*) अधिक आत्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

एवं चिन्तयतस्तस्य मघोनो भगवान्गृहात् ।
बृहस्पतिर्गतोऽदृष्टां गतिमध्यात्ममायया ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; चिन्तयतः—गम्भीरतापूर्वक सोचते हुए; तस्य—वह; मघोनः—इन्द्र; भगवान्—परम शक्तिमान; गृहात्—अपने घर से; बृहस्पतिः—बृहस्पति; गतः—चले गये; अदृष्टाम्—अदृश्य; गतिम्—दशा को; अध्यात्म—आत्मचेतना में अत्यधिक उठा हुआ होने के कारण; मायया—अपनी शक्ति से।

जिस समय देवताओं के राजा इन्द्र इस प्रकार सोच रहे थे और अपनी ही सभा में पश्चात्ताप कर रहे थे, परम शक्तिमान गुरु बृहस्पति उनके भाव को जान गये। अतः अदृश्य होकर वे अपने घर से चले गये, क्योंकि राजा इन्द्र की अपेक्षा वे आत्मज्ञान में अत्यधिक आगे थे।

गुरोर्नाधिगतः संज्ञां परीक्षन्भगवान्स्वराट् ।
ध्यायन्धिया सुरैर्युक्तः शर्म नालभतात्मनः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

गुरोः—अपने गुरु का; न—नहीं; अधिगतः—पाकर; संज्ञाम्—चिह्न; परीक्षन्—चारों ओर खोजते हुए; भगवान्—महान् शक्तिशाली इन्द्र; स्वराट्—स्वतंत्र; ध्यायन्—ध्यान धरते हुए; धिया—बुद्धि से; सुरैः—देवताओं से; युक्तः—घिरे हुए; शर्म—शान्ति; न—नहीं; अलभत—प्राप्त किया; आत्मनः—मानसिक।

यद्यपि इन्द्र ने अन्य देवताओं की सहायता से गुरु बृहस्पति की काफी खोजबीन की, किन्तु वे उन्हें न पा सके। तब इन्द्र ने सोचा, "हाय! मेरे गुरु मुझसे अप्रसन्न हो गये हैं और अब सौभाग्य प्राप्त करने का मेरे पास कोई अन्य साधन नहीं रह गया है।" यद्यपि इन्द्र देवताओं से घिरे हुए थे, किन्तु उन्हें मानसिक शान्ति नहीं मिल सकी।

तच्छ्रुत्वैवासुराः सर्व आश्रित्यौशनसं मतम् ।
देवान्प्रत्युद्यमं चक्रुर्दुर्मदा आततायिनः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तत् श्रुत्वा—उस समाचार को सुनकर; एव—निस्सन्देह; असुराः—असुर; सर्वे—सभी; आश्रित्य—शरण जाकर; औशनसम्—शुक्राचार्य के; मतम्—आदेश; देवान्—देवता; प्रत्युद्यमम्—के विरुद्ध आक्रमण; चक्रुः—किया; दुर्मदाः—मूर्ख; आततायिनः—युद्ध के लिए शस्त्रास्त्रों से सज्जित।

इन्द्र की दयनीय दशा का समाचार पाकर असुरों ने अपने गुरु शुक्राचार्य के आदेश से अपने आपको हथियारों से सज्जित किया और देवताओं के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया।

तैर्विसृष्टेषुभिस्तीक्ष्णैर्निर्भिन्नाङ्गोरुबाहवः ।
ब्रह्माणं शरणं जग्मुः सहेन्द्रा नतकन्धराः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तैः—उनके (असुरों के) द्वारा; विसृष्ट—फेंके गये; इषुभिः—तीरों के द्वारा; तीक्ष्णैः—अत्यन्त नुकीले; निर्भिन्न—भेदकर; अङ्ग—शरीर; उरु—जंघा; बाहवः—तथा भुजाएँ; ब्रह्माणम्—ब्रह्माजी की; शरणम्—शरण में; जग्मुः—गये; सह-इन्द्राः—राजा इन्द्र के साथ; नत-कन्धराः—अपने शीश झुकाये हुए।

जब असुरों के तीक्ष्ण बाणों से देवताओं के शिर, जंघाएँ, बाँहें तथा शरीर के अन्य अंग क्षत-विक्षत हो गये तो इन्द्र समेत सभी देवता, कोई अन्य उपाय न देखकर नतमस्तक होकर तुरन्त श्रीब्रह्मा की शरण लेने तथा उचित आदेश प्राप्त करने के लिए पहुँचे।

तांस्तथाभ्यर्दितान्वीक्ष्य भगवानात्मभूरजः ।
कृपया परया देव उवाच परिसान्त्वयन् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तान्—उनको (देवताओं को); तथा—उस प्रकार; अभ्यर्दितान्—असुरों के हथियारों से चोट खाकर; वीक्ष्य—देखकर; भगवान्—परम शक्तिमान; आत्म-भूः—ब्रह्माजी; अजः—जो सामान्य जन की तरह जन्म नहीं लेता; कृपया—अहैतुकी कृपावश; परया—अधिक; देवः—श्री ब्रह्मा ने; उवाच—कहा; परिसान्त्वयन्—उन्हें सान्त्वना देकर।

जब सर्वाधिक शक्तिमान ब्रह्माजी ने असुरों के बाणों से शरीर बुरी तरह घायल हुए देवताओं को अपनी ओर आते देखा तो उन्होंने अपनी अहैतुकी कृपावश उन्हें ढाढ़स बँधाया और इस प्रकार बोले।

श्रीब्रह्मोवाच

अहो बत सुरश्रेष्ठा ह्यभद्रं वः कृतं महत् ।

ब्रह्मिष्ठं ब्राह्मणं दान्तमैश्वर्यान्नाभ्यनन्दत ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्रह्मा उवाच—श्रीब्रह्मा ने कहा; अहो—ओह; बत—बड़ा आश्चर्य है; सुर-श्रेष्ठाः—हे देवताओं में श्रेष्ठ; हि—निस्सन्देह; अभद्रम्—अन्याय; वः—तुम्हारे द्वारा; कृतम्—किया हुआ; महत्—महान्; ब्रह्मिष्ठम्—परब्रह्म के प्रति आज्ञाकारी पुरुष; ब्राह्मणम्—ब्राह्मण का; दान्तम्—मन तथा इन्द्रियों को वश में करने वाला; ऐश्वर्यात्—अपने भौतिक ऐश्वर्य से; न—नहीं; अभ्यनन्दत—उचित रीति से स्वागत किया।

श्रीब्रह्मा ने कहा, हे श्रेष्ठ देवताओ! तुम लोगों ने अपने ऐश्वर्य-मद के कारण सभा में आने पर बृहस्पति का सत्कार नहीं किया। वे परब्रह्म-ज्ञाता और इन्द्रियों को वश में रखने वाले हैं, अतः वे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ हैं। अतः यह अत्यन्त आश्चर्यजनक है कि तुम लोगों ने उनके साथ इस प्रकार दुर्व्यवहार किया है।

तात्पर्य : ब्रह्माजी ने बृहस्पति के ब्राह्मण-गुणों को पहचान लिया था, क्योंकि वे परब्रह्म के ज्ञाता होने के कारण देवताओं के गुरु थे। बृहस्पति ने अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में कर लिया था, अतः वे योग्यतम ब्राह्मण थे। ब्रह्माजी ने देवताओं की प्रताड़ना की, क्योंकि उन्होंने अपने गुरु का समुचित सत्कार नहीं किया था। श्रीब्रह्मा ने उन्हें यह बताना चाहा कि किसी भी दशा में गुरु का निरादर नहीं होना चाहिए था। जब बृहस्पति ने देवताओं की सभा में प्रवेश किया, तो देवताओं तथा उनके राजा इन्द्र ने समझा कि वे तो प्रत्येक दिन आते रहते हैं, अतः उनको विशेष सम्मान प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु जैसा कहा गया है, अधिक घनिष्ठता से घृणा उत्पन्न होती है। अत्यधिक क्रुद्ध होने के कारण बृहस्पति ने तुरन्त ही इन्द्र का महत्त्व छोड़ दिया। इस प्रकार इन्द्र सहित सभी देवता बृहस्पति के चरणारविन्द के प्रति अपराधी सिद्ध हुए। चूँकि ब्रह्माजी को इसका पता था, इसलिए उन्होंने इस उपेक्षा के लिए उन्हें धिक्कारा। नरोत्तम दास ठाकुर का एक गीत है, जिसे हम लोग नित्य ही गाते हैं। उसमें कहा गया है *चक्षु-दान दिल येई, जन्मे-जन्मे प्रभु सेइ* गुरु शिष्य को आध्यात्मिक चक्षु प्रदान करते हैं, अतः गुरु को जन्म-जन्मांतर स्वामी (प्रभु) समझना चाहिए। किसी भी दशा में गुरु का निरादर नहीं किया जाना चाहिए, किन्तु देवताओं ने अपने भौतिक ऐश्वर्यों से फूल कर अपने गुरु का अनादर किया। अतः *श्रीमद्भागवत*

(११.१७.२७) का उपदेश है *आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्। न मर्त्यबुद्ध्या सूयेत्*–आचार्य को सदैव नमस्कार करना चाहिए, आचार्य को सामान्य पुरुष मान कर उनसे द्वेष नहीं करना चाहिए।

तस्यायमनयस्यासीत्परेभ्यो वः पराभवः ।
प्रक्षीणेभ्यः स्ववैरिभ्यः समृद्धानां च यत्सुराः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उस; अयम्—यह; अनयस्य—तुम्हारी कृतघ्नता का; आसीत्—था; परेभ्यः—अन्यों के द्वारा; वः—तुम सबों की; पराभवः—पराजय; प्रक्षीणेभ्यः—निर्बल होते हुए भी; स्व-वैरिभ्यः—तुम्हारे अपने शत्रुओं द्वारा जो पहले तुम्हारे द्वारा पराजित हुए थे; समृद्धानाम्—तुम्हारे ऐश्वर्यशाली होने से; च—तथा; यत्—जो; सुराः—हे देवो।.

हे देवो! तुम लोग बृहस्पति के प्रति किये गये अपने दुराचरण के कारण असुरों के द्वारा पराजित हुए हो। अन्यथा असुर तो अत्यन्त निर्बल थे और तुम लोगों के द्वारा अनेक बार पराजित हो चुके थे। भला फिर ऐश्वर्य से इतना समृद्ध होते हुए तुम लोग उनसे कैसे हार सकते थे?

तात्पर्य : असुरों से निरन्तर लड़ते रहने के लिए देव विख्यात हैं। ऐसी लड़ाइयों में सदा असुर ही पराजित होते थे, किन्तु इस बार देवता पराजित हुए थे। क्यों? जैसाकि यहाँ बताया गया है, इसका कारण था कि उन्होंने अपने गुरु का अपमान किया था। गुरु के प्रति असम्मान का भाव ही असुरों से उनकी पराजय का कारण था। शास्त्रों का वचन है कि जो अपने सम्मानीय बड़े व्यक्ति का अनादर करता है उसकी आयु क्षीण होती है; उसके पुण्य कार्यों के फल का क्षय होता है और इस प्रकार उसकी अवनति होती है।

मघवन्द्विषतः पश्य प्रक्षीणान्गुर्वतिक्रमात्
सम्प्रत्युपचितान्भूयः काव्यमाराध्य भक्तितः ।
आददीरन्निलयनं ममापि भृगुदेवताः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

मघवन्—हे इन्द्र; द्विषतः—तुम्हारे शत्रु; पश्य—जरा देखो; प्रक्षीणान्—(पहले) अत्यन्त निर्बल होने से; गुरु-अतिक्रमात्—अपने गुरु शुक्राचार्य का अनादर करने से; सम्प्रति—इस समय; उपचितान्—शक्तिशाली; भूयः—पुनः; काव्यम्—अपने गुरु, शुक्राचार्य को; आराध्य—पूजा करके; भक्तितः—अत्यन्त भक्ति सहित; आददीरन्—ले सकते हैं; निलयनम्—धाम, सत्यलोक को; मम—मेरा; अपि—भी; भृगु-देवताः—भृगु के शिष्य शुक्राचार्य के प्रबल भक्त।

हे इन्द्र! तुम्हारे शत्रु असुरगण शुक्राचार्य के प्रति अनादर करने के कारण अत्यन्त निर्बल हो गये थे, किन्तु अब उन्होंने अत्यन्त भक्तिपूर्वक शुक्राचार्य की पूजा की है, अतः वे पुनः बलशाली बन गये हैं। अपनी भक्ति के द्वारा उन्होंने अपनी शक्ति इतनी बढ़ा ली है, कि वे अब मुझसे मेरा धाम (सत्यलोक) तक लेने में समर्थ हो चुके हैं।

तात्पर्य : ब्रह्माजी ने देवताओं को यह बतलाना चाहा कि कोई भी अपने गुरु के बल पर इस संसार में अत्यन्त शक्तिशाली बन सकता है और गुरु की अप्रसन्नता से सब कुछ खो भी सकता है। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के एक गीत से इसकी पुष्टि होती है।

यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादो

यस्याप्रसादान्न गतिः कुतोऽपि

''गुरु की कृपा से श्रीकृष्ण की कृपा का आशीर्वाद प्राप्त होता है। गुरु की कृपा के बिना उन्नति नहीं हो सकती।'' यद्यपि ब्रह्माजी के समक्ष सभी असुर तुच्छ हैं, किन्तु उन्होंने गुरु के बल से इतनी शक्ति प्राप्त कर ली थी कि ब्रह्माजी से उनके धाम ब्रह्मलोक को भी छीन सकते थे। अत: हम गुरु से प्रार्थना करते हैं

मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम्।

यत्कृपा तमहं वन्दे श्रीगुरुं दीनतारणम्॥

गुरु की कृपा से गूँगा भी महान् वक्ता बन सकता है और पंगु व्यक्ति पर्वत लाँघ सकता है। अत: जीवन में सफलता चाहने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह इस शास्त्र-वचन को स्मरण रखे, जिसका उपदेश श्रीब्रह्मा ने दिया।

त्रिपिष्टपं किं गणयन्त्यभेद्य-

मन्त्रा भृगूणामनुशिक्षितार्थाः ।
न विप्रगोविन्दगवीश्वराणां
भवन्त्यभद्राणि नरेश्वराणाम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

त्रि-पिष्ट-पम्—ब्रह्माजी सहित सभी देवतागण; किम्—क्या; गणयन्ति—परवाह करते हैं; अभेद्य-मन्त्राः—गुरु के आदेशों के पालन के लिए दृढ़प्रतिज्ञ; भृगूणाम्—भृगूमुनि के शिष्यों का, यथा शुक्राचार्य; अनुशिक्षित-अर्थाः—शिक्षाओं का पालन करने के हेतु; न—नहीं; विप्र—ब्राह्मण; गोविन्द—भगवान् श्रीकृष्ण; गो—गाएँ; ईश्वराणाम्—पूजनीय व्यक्तियों का; भवन्ति—हैं; अभद्राणि—दुर्भाग्य; नर-ईश्वराणाम्—अथवा उन राजाओं को जो इस नियम का पालन करते हैं।

शुक्राचार्य के शिष्य, असुरगण अपने गुरु की शिक्षाओं के पालन में दृढ़प्रतिज्ञ होने के कारण देवताओं की अब तनिक भी परवाह नहीं करते। सच तो यह है कि जो राजा अथवा अन्य व्यक्ति ब्राह्मणों, गायों तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण की कृपा में अटूट श्रद्धा रखते हैं और इन तीनों की सदैव पूजा करते हैं, वे अपनी स्थिति में सदैव बलशाली रहते हैं।

तात्पर्य : ब्रह्माजी की शिक्षाओं से यह पता चलता है कि हर एक व्यक्ति को ब्राह्मणों, गायों तथा भगवान् की श्रद्धा समेत पूजा करनी चाहिए। श्रीभगवान् *गोब्राह्मण हिताय च* अर्थात् वे गायों तथा ब्राह्मणों पर अत्यन्त कृपालु हैं। अत: जो व्यक्ति गोविन्द की पूजा करता है उसे गायों तथा ब्राह्मणों की पूजा करके उन्हें सन्तुष्ट करना चाहिए। यदि सरकार द्वारा ब्राह्मणों, गायों तथा गोविन्द (श्रीकृष्ण) की पूजा की जाती है, तो उसकी कहीं भी पराजय नहीं होती; अन्यथा उसकी सर्वत्र पराजय और भर्त्सना होती रहती है। वर्तमान समय में सारे संसार की सरकारें ब्राह्मणों, गायों तथा गोविन्द का सत्कार नहीं करतीं; फलस्वरूप सर्वत्र अराजकता व्याप्त है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि देवताओं ने एक ब्राह्मण गुरु बृहस्पति के प्रति अनादर प्रदर्शित किया था, अत: महान् ऐश्वर्यशाली होते हुए भी उन्हें असुरों से पराजित होना पड़ा।

तद्विश्वरूपं भजताशु विप्रं
तपस्विनं त्वाष्ट्रमथात्मवन्तम् ।
सभाजितोऽर्थान्स विधास्यते वो
यदि क्षमिष्यध्वमुतास्य कर्म ॥ २५॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; विश्वरूपम्—विश्वरूप; भजत—गुरु रूप में पूजा करो; आशु—शीघ्र ही; विप्रम्—पूर्ण ब्राह्मण; तपस्विनम्—तपस्वी; त्वाष्ट्रम्—त्वष्टा के पुत्र; अथ—तथा; आत्म-वन्तम्—अत्यन्त स्वतंत्र; सभाजितः—पूज्य; अर्थान्—स्वार्थ; सः—वह; विधास्यते—पूरा करेगा; वः—तुम सबों का; यदि—यदि; क्षमिष्यध्वम्—तुम सहन करो; उत—निस्सन्देह; अस्य—उसका; कर्म—कार्य (दैत्यों की सहायता का)।

हे देवो! मैं तुम्हें त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप के पास जाने का आदेश देता हूँ। तुम उन्हें अपना गुरु स्वीकार करो। वे अत्यन्त शुद्ध एवं शक्तिशाली तपस्वी ब्राह्मण हैं। तुम्हारी पूजा से प्रसन्न होकर वे तुम्हारी इच्छाओं को पूर्ण करेंगे, यदि तुम लोग उनके असुरों के प्रति झुकाव को सहन कर सको।

तात्पर्य : ब्रह्माजी ने देवताओं को सलाह दी कि वे त्वष्टा के पुत्र को अपना गुरु मान लें, यद्यपि वे सदैव असुरों के शुभेच्छु रहे हैं।

श्रीशुक उवाच
त एवमुदिता राजन्ब्रह्मणा विगतज्वराः ।
ऋषिं त्वाष्ट्रमुपव्रज्य परिष्वज्येदमब्रुवन् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; ते—सभी देवता; एवम्—इस प्रकार; उदिताः—शिक्षा पाकर; राजन्—हे राजा परीक्षित; ब्रह्मणा—श्रीब्रह्मा द्वारा; विगत-ज्वराः—असुरों द्वारा दिये जाने वाले कष्टों से मुक्त होकर; ऋषिम्—परम साधु; त्वाष्ट्रम्—त्वष्टा के पुत्र के पास; उपव्रज्य—जाकर; परिष्वज्य—हृदय से लगाकर; इदम्—यह; अब्रुवन्—बोले।

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा इस प्रकार श्रीब्रह्मा के द्वारा आदेशित एवं अपनी चिन्ता से मुक्त होकर सभी देवता त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप ऋषि के पास गये। हे राजन्! उन्होंने विश्वरूप को हृदय से लगा लिया और इस प्रकार बोले।

श्रीदेवा ऊचुः
वयं तेऽतिथयः प्राप्ता आश्रमं भद्रमस्तु ते ।
कामः सम्पाद्यतां तात पितृणां समयोचितः ॥ २७॥

शब्दार्थ

श्री-देवाः ऊचुः—देवताओं ने कहा; वयम्—हम सब; ते—तुम्हारे; अतिथयः—अतिथि, मेहमान; प्राप्ताः—आये हैं; आश्रमम्—तुम्हारे आवास; भद्रम्—कल्याण; अस्तु—हो; ते—तुम्हारा; कामः—कामना; सम्पाद्यताम्—पूरी हो; तात—हे प्रिय; पितृणाम्—तुम्हारे पिता के तुल्य हम सबों का; समयोचितः—इस समय के अनुकूल, सामयिक।

देवताओं ने कहा, हे विश्वरूप! तुम्हारा कल्याण हो। हम सभी देवता तुम्हारे अतिथि

होकर तुम्हारे आश्रम में आये हैं। चूँकि हम तुम्हारे पिता तुल्य हैं इसलिए समयानुसार हमारी इच्छाओं को पूरा करो।

पुत्राणां हि परो धर्मः पितृशुश्रूषणं सताम् ।
अपि पुत्रवतां ब्रह्मन्किमुत ब्रह्मचारिणाम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

पुत्राणाम्—पुत्रों का; हि—निस्सन्देह; परः—श्रेष्ठ; धर्मः—धर्म; पितृ-शुश्रूषणम्—पितरों की सेवा; सताम्—उत्तम; अपि—भी; पुत्र-वताम्—पुत्रवानों का; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; किम् उत—क्या कहना; ब्रह्मचारिणाम्—ब्रह्मचारियों का।

हे ब्राह्मण! पुत्र का परम धर्म है कि वह अपने माता-पिता की सेवा करे, भले ही उसके भी अपने पुत्र क्यों न हों और फिर उस पुत्र का क्या कहना जो ब्रह्मचारी हो?

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।
भ्राता मरुत्पतेर्मूर्तिर्माता साक्षात्क्षितेस्तनुः ॥ २९ ॥
दयाया भगिनी मूर्तिर्धर्मस्यात्मातिथिः स्वयम् ।
अग्नेरभ्यागतो मूर्तिः सर्वभूतानि चात्मनः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

आचार्यः—अपने आचरण द्वारा वैदिक ज्ञान प्रदान करने वाला शिक्षक या गुरु; ब्रह्मणः—समस्त वेदों की; मूर्तिः—साक्षात्; पिता—पिता; मूर्तिः—साक्षात्; प्रजापतेः—श्रीब्रह्मा की; भ्राता—भाई; मरुत्-पतेः मूर्तिः—साक्षात् इन्द्र; माता—माता; साक्षात्—साक्षात्; क्षितेः—पृथ्वी का; तनुः—शरीर; दयायाः—कृपा की; भगिनी—बहन; मूर्तिः—साक्षात्; धर्मस्य—धर्म का; आत्म—स्वयं; अतिथिः—अतिथि; स्वयम्—स्वयं; अग्नेः—अग्निदेव का; अभ्यागतः—आमंत्रित मेहमान; मूर्तिः—साक्षात्; सर्व-भूतानि—समस्त जीव; च—तथा; आत्मनः—परमेश्वर विष्णु का।

आचार्य अर्थात् गुरु, जो समस्त वैदिक ज्ञान की शिक्षा देता है और यज्ञोपवीत प्रदान करके दीक्षित करता है साक्षात् वेद है। इसी प्रकार पिता ब्रह्मा का रूप, भाई राजा इन्द्र का, माता पृथ्वीलोक तथा बहन कृपा की, अतिथि धर्म का, आमंत्रित मेहमान अग्निदेव का और समस्त जीव भगवान् विष्णु का साक्षात् रूप होते हैं।

तात्पर्य : चाणक्य पंडित की नीति *आत्मवत् सर्वभूतेषु* के अनुसार सभी जीवों को अपने समान देखना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ है कि किसी को तुच्छ मानकर उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। चूँकि परमात्मा प्रत्येक जीव के शरीर में स्थित हैं, अतः जीव का भगवान् के मन्दिर के

तुल्य आदर होना चाहिए। इस श्लोक में बताया गया है कि गुरु, पिता, भाई, बहन, अतिथि इत्यादि का किस प्रकार सम्मान किया जाना चाहिए।

तस्मात्पितॄणामार्तानामार्तिं परपराभवम् ।
तपसापनयंस्तात सन्देशं कर्तुमर्हसि ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अत:; पितॄणाम्—पितरों का; आर्तानाम्—जो संकटग्रस्त हैं; आर्तिम्—शोक; पर-पराभवम्—शत्रुओं द्वारा पराजित होकर; तपसा—तुम्हारे तपोबल से; अपनयन्—हटाकर; तात—हे पुत्र; सन्देशम्—हमारी इच्छा; कर्तुम् अर्हसि—पूरा करने में समर्थ हो।

हे पुत्र! हम अपने शत्रुओं से पराजित होने के कारण अत्यन्त शोकमग्न हैं। तुम अपने तपोबल से हमारे कष्टों को दूर करके हमारी इच्छाओं को पूरा करो। हमारी प्रार्थनाओं को पूरा करो।

वृणीमहे त्वोपाध्यायं ब्रह्मिष्ठं ब्राह्मणं गुरुम् ।
यथाञ्जसा विजेष्याम: सपत्नांस्तव तेजसा ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

वृणीमहे—हम चुनते हैं; त्वा—तुमको; उपाध्यायम्—शिक्षक तथा गुरु; ब्रह्मिष्ठम्—परब्रह्म को पूरी तरह जानने के कारण; ब्राह्मणम्—योग्य ब्राह्मण; गुरुम्—पूर्ण गुरु; यथा—जिससे; अञ्जसा—सरलता से; विजेष्याम:—हम पराजित कर सकें; सपत्नान्—अपने प्रतिद्वन्द्वी को; तव—तुम्हारे; तेजसा—तपोबल से।

चूँकि तुम परब्रह्म से पूर्णतया परिचित हो और पूर्ण ब्राह्मण हो, अत: तुम जीवन के सभी आश्रमों के गुरु हो। हम तुम्हें अपना गुरु तथा अध्यक्ष स्वीकार करते हैं जिससे तुम्हारे तपोबल से हम अपने उन शत्रुओं को, जिन्होंने हमें परास्त किया है, सरलता से जीत सकें।

तात्पर्य : मनुष्य को चाहिए कि किसी विशेष कार्य के लिए विशेष प्रकार के गुरु के पास जाये। अत: यद्यपि विश्वरूप देवताओं से निम्न स्तर पर थे, किन्तु असुरों को जीतने के लिए उन्होंने विश्वरूप को अपना गुरु बनाना स्वीकार किया।

न गर्हयन्ति ह्यर्थेषु यविष्ठाङ्‌घ्र्यभिवादनम् ।

छन्दोभ्योऽन्यत्र न ब्रह्मन्वयो ज्यैष्ठ्यस्य कारणम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; गर्हयन्ति—मना करते हैं; हि—निस्सन्देह; अर्थेषु—स्वार्थ के लिए; यविष्ठ-अङ्घ्रि—अपने से छोटे के चरणकमलों पर; अभिवादनम्—नमस्कार; छन्दोभ्यः—वैदिक मंत्रों से; अन्यत्र—छोड़कर; न—नहीं; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; वयः—आयु; ज्यैष्ठ्यस्य—गुरुता का; कारणम्—कारण।

देवताओं ने आगे कहा हमसे छोटे होने के कारण अपनी आलोचना से मत डरो। ऐसा शिष्टाचार वैदिक मंत्रों पर लागू नहीं होता। वैदिक मंत्रों को छोड़कर, सर्वत्र गुरुता आयु से निर्धारित होती है, किन्तु यदि कोई वैदिक मंत्रों के उच्चारण में बढ़ाचढ़ा हो तो ऐसे कम आयु वाले व्यक्ति को भी नमस्कार किया जा सकता है। अतः तुम भले ही सम्बन्ध में हमसे छोटे हो, किन्तु तुम बिना किसी हिचक के हमारे पुरोहित हो सकते हो।

तात्पर्य : कहा गया है *वृद्धत्वं वयसा विना* आयु में बड़ा न होकर भी मनुष्य वृद्ध (ज्येष्ठ) हो सकता है। यदि कोई ज्ञान में वरिष्ठ है, तो वृद्ध न होते हुए भी वह ज्येष्ठ हो जाता है। विश्वरूप देवताओं का भतीजा होने के कारण उनसे छोटा था, किन्तु वे उसे अपना पुरोहित बनाना चाहते थे, अत: उसे उनका नमस्कार स्वीकार करना पड़ेगा। देवताओं ने स्पष्ट किया कि इसमें उसे हिचकना नहीं चाहिए; वह उनका पुरोहित बन सकता है, क्योंकि वह वैदिक ज्ञान में आगे है। इसी प्रकार चाणक्य पंडित का भी उपदेश है *नीचादप्युत्तमं ज्ञानम्* मनुष्य समाज की नीची श्रेणी के व्यक्ति से भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है। सर्वोच्च वर्ण के सदस्य होने से ब्राह्मण शिक्षक होते हैं, किन्तु यदि किसी निम्न परिवार का व्यक्ति, यथा क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र के परिवार का व्यक्ति ज्ञानी है, तो उसे शिक्षक के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने रामानन्द राय (*श्रीचैतन्य-चरितामृत* मध्य ८.१२८) के समक्ष अपने विचार व्यक्त करते हुए स्वीकार किया है कि

किबा विप्र, किबा न्यासी, शूद्र केने नय।

येइ कृष्ण-तत्त्व-वेत्ता, सेइ 'गुरु' हय॥

चाहे कोई ब्राह्मण हो या शूद्र अथवा गृहस्थ या संन्यासी इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। ये तो सभी भौतिक उपाधियाँ हैं। आत्मज्ञानी पुरुष के लिए ये उपाधियाँ व्यर्थ हैं। अत: यदि कोई

कृष्णभावनामृत के विज्ञान में सिद्ध है, तो वह गुरु बन सकता है, चाहे मनुष्य-समाज में उसकी स्थिति कैसी भी क्यों न हो।

श्रीऋषिरुवाच
अभ्यर्थितः सुरगणैः पौरहित्ये महातपाः ।
स विश्वरूपस्तानाह प्रसन्नः श्लक्ष्णया गिरा ॥ ३४॥

शब्दार्थ

श्री-ऋषिः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अभ्यर्थितः—प्रार्थना किये जाने पर; सुर-गणैः—देवताओं द्वारा; पौरहित्ये—पुरोहिती स्वीकार करने के लिए; महा-तपाः—परम तपस्वी; सः—वह; विश्वरूपः—विश्वरूप; तान्—देवताओं से; आह—बोला; प्रसन्नः—प्रसन्न होकर; श्लक्ष्णया—मृदु; गिरा—वाणी से।.

शुकदेव गोस्वामी ने कहा जब सब देवताओं ने महान् विश्वरूप से पुरोहित बनने के लिए प्रार्थना की तो महातपस्वी विश्वरूप अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया।

श्रीविश्वरूप उवाच
विगर्हितं धर्मशीलैर्ब्रह्मवर्चउपव्ययम् ।
कथं नु मद्विधो नाथा लोकेशैरभियाचितम्
प्रत्याख्यास्यति तच्छिष्यः स एव स्वार्थ उच्यते ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

श्री-विश्वरूपः उवाच—श्री विश्वरूप ने कहा; विगर्हितम्—निन्दनीय; धर्म-शीलैः—धर्म में आस्था रखने वाले; ब्रह्म-वर्चः—ब्राह्मण के तेज का; उपव्ययम्—क्षीण करता है; कथम्—कैसे; नु—निस्सन्देह; मत्-विधः—मुझ जैसा पुरुष; नाथाः—हे स्वामीगण; लोक-ईशैः—विभिन्न लोकों के शासकों द्वारा; अभियाचितम्—विनय; प्रत्याख्यास्यति—मना करेगा; तत्-शिष्यः—उनका शिष्य; सः—वह; एव—निस्सन्देह; स्व-अर्थः—वास्तविक हित, स्वार्थ; उच्यते—कहलाता है।.

श्री विश्वरूप ने कहा, हे देवो! यद्यपि पुरोहिती स्वीकारने की निन्दा की जाती है, कि इसकी स्वीकृति से पूर्व-अर्जित ब्रह्मतेज घटता है, किन्तु मुझ जैसा व्यक्ति आपकी व्यक्तिगत प्रार्थना को कैसे ठुकरा सकता है? आप सभी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के महान् आदेशक हैं। मैं तो आपका शिष्य हूँ और मुझे तो आपसे अनेक शिक्षाएँ ग्रहण करनी चाहिए। अतः मैं आपको 'न' नहीं कर सकता। मैं अपने ही स्वार्थ के लिए इसे स्वीकार करता हूँ।

तात्पर्य : योग्य ब्राह्मण के कार्य हैं : पठन, पाठन, यजन, याजन, दान तथा प्रतिग्रह। यजन

तथा याजन शब्द यह बताते हैं कि ब्राह्मण को जनसमुदाय के उत्थान के लिए पुरोहित बनना होता है। जो कोई गुरु का पद स्वीकार कर लेता है, वह अपने यजमान के पापपूर्ण बन्धनों के फलों को निरस्त करता है। इस प्रकार पुरोहित या गुरु द्वारा किये गये पूर्व पुण्यकर्मों के फल का ह्रास होता है। इसीलिए विद्वान ब्राह्मण पुरोहिती स्वीकार नहीं करते। तो भी परम विद्वान ब्राह्मण विश्वरूप ने देवताओं के प्रति सम्मान रखने के कारण उनकी पुरोहिती स्वीकार की।

अकिञ्चनानां हि धनं शिलोञ्छनं
तेनेह निर्वर्तितसाधुसत्क्रियः ।
कथं विगर्ह्यं नु करोम्यधीश्वराः
पौरोधसं हृष्यति येन दुर्मतिः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

अकिञ्चनानाम्—उन पुरुषों का जिन्होंने संसार से विरक्त होने के लिए तपस्या करनी स्वीकार की है; हि—निश्चय ही; धनम्—सम्पत्ति; शिल—खेत में गिरे हुए अन्न का संग्रह; उञ्छनम्—थोक बाजार में गिरे हुए अन्न का संग्रह; तेन—उस उपाय के द्वारा; इह—यहाँ; निर्वर्तित—प्राप्त करके; साधु—महान् साधुओं के; सत्-क्रियः—समस्त पुण्य कर्म; कथम्—कैसे; विगर्ह्यम्—निन्दनीय; नु—निस्सन्देह; करोमि—करूँगा; अधीश्वराः—हे लोकों के महान् अधीक्षको; पौरोधसम्—पुरोहिती कर्म; हृष्यति—प्रसन्न होता है; येन—जिससे; दुर्मतिः—अल्पज्ञानी।

हे लोकपालो! सच्चा ब्राह्मण वह है, जिसके कोई भौतिक सम्पत्ति नहीं होती है, वह शिलोच्छन वृत्ति से ही अपना उदर-पोषण करता है। दूसरे शब्दों में, वह खेतों में गिरे हुए और बड़े-बड़े हाट-स्थलों पर गिरे हुए अन्न को बीनता है। इस प्रकार गृहस्थ ब्राह्मण जो वास्तव में तपस्या के सिद्धान्त का पालन करते हुए स्वयं का तथा अपने परिवार का भरण करता है और आवश्यक पुण्य कर्म करता रहता है। जो ब्राह्मण पुरोहिती कर्म द्वारा धन अर्जित करके सुखी बनना चाहता है, वह अत्यन्त तुच्छ मन वाला होता है। बताओ, मैं इस पुरोहिती को कैसे स्वीकार करूँ?

तात्पर्य : उच्च श्रेणी का ब्राह्मण अपने शिष्यों या यजमानों से कोई दक्षिणा नहीं लेता। वह तपस्या में संलग्न रहकर खेतों में जाकर किसानों द्वारा ब्राह्मणों के लिए छोड़े गये अन्न को एकत्र करना श्रेष्ठ समझता है। इसी प्रकार ऐसे ब्राह्मण हाटों में जाते हैं जहाँ व्यापारी अन्नों का थोक क्रय-

विक्रय करते हैं और इस प्रकार वहाँ व्यापारियों द्वारा छोड़ा हुआ बहुत-सा अन्न इकट्ठा करते हैं। इस तरह ऐसे उच्च ब्राह्मण अपना तथा अपने परिवार का भरण करते हैं। ऐसे पुरोहित अपने शिष्यों से कुछ भी नहीं माँगते। उन्हें क्षत्रियों या वैश्यों की तरह ऐश्वर्य में जीवन बिताने, नकल करने की इच्छा नहीं होती। तात्पर्य यह कि शुद्ध ब्राह्मण स्वेच्छा से गरीबी का जीवन स्वीकार करता है और भगवान् के अनुग्रह पर ही पूर्णत: निर्भर रहता है। बहुत समय नहीं बीता, नवद्वीप के निकट कृष्णनगर में एक ब्राह्मण रहता था जिसे स्थानीय जमींदार व्रज कृष्णचन्द्र ने आर्थिक सहायता पहुँचानी चाही। किन्तु ब्राह्मण ने इसे अस्वीकार कर दिया। उसने कहा कि वह अपने गृहस्थ जीवन में ही अधिक प्रसन्न है क्योंकि उसे अपने शिष्यों से चावल मिल जाता है और इमली की पत्तियों की वह सब्जी बना लेता है। उसे जमींदार से सहायता लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। निष्कर्ष यह निकला कि ब्राह्मण को भले ही अपने शिष्यों से प्रभूत धन प्राप्त हो, किन्तु उसे चाहिए कि पुरोहिती से प्राप्त इस धन को वह अपने व्यक्तिगत लाभ में न खर्चे, उसे वह परमेश्वर की सेवा में लगाये।

तथापि न प्रतिब्रूयां गुरुभि: प्रार्थितं कियत् ।
भवतां प्रार्थितं सर्वं प्राणैरर्थैश्च साधये ॥ ३७॥

शब्दार्थ

तथा अपि—तो भी; न—नहीं; प्रतिब्रूयाम्—मैं अस्वीकार कर सकता हूँ; गुरुभि:—अपने गुरु तुल्य व्यक्तियों के द्वारा; प्रार्थितम्—प्रार्थना; कियत्—तुच्छ; भवताम्—आप सबों की; प्रार्थितम्—इच्छा; सर्वम्—पूर्ण; प्राणै:—अपने जीवन से; अर्थै:—अपने धन से; च—भी; साधये—मैं पूरा करूँगा।

आप सभी मुझसे बड़े हैं। अत: भले ही पुरोहिती को स्वीकार करना निन्दनीय है, मैं आप लोगों की छोटी-से-छोटी प्रार्थना को नकार नहीं सकता। मैं आपका पुरोहित बनना स्वीकार करता हूँ। मैं अपना जीवन तथा धन अर्पित करके आपकी प्रार्थना पूरी करूँगा।

श्रीबादरायणिरुवाच
तेभ्य एवं प्रतिश्रुत्य विश्वरूपो महातपाः ।
पौरहित्यं वृतश्चक्रे परमेण समाधिना ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; तेभ्यः—उन (देवताओं) को; एवम्—इस प्रकार; प्रतिश्रुत्य—वचन देकर; विश्वरूपः—विश्वरूप; महा-तपाः—महापुरुष; पौरहित्यम्—पुरोहिती कार्य; वृतः—उनके द्वारा घिरा; चक्रे—करने लगे; परमेण—परम; समाधिना—मनोयोग से।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा, हे राजन्! देवताओं को यह वचन देकर, चारों ओर से देवताओं से घिरे हुए महान् विश्वरूप अत्यन्त उत्साह एवं मनोयोग से आवश्यक पुरोहिती कर्म करने लगा।

तात्पर्य : *समाधिना* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। समाधि का अर्थ है स्थिर मन से पूर्णतया तल्लीन होना। विश्वरूप अत्यन्त विद्वान ब्राह्मण था। उसने न केवल देवताओं की प्रार्थना स्वीकार की वरन् उनकी प्रार्थना को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण किया और अविचल चित्त से पुरोहिती कर्म करने लगा। तात्पर्य यह है कि उसने किसी आर्थिक लाभ की दृष्टि से नहीं वरन् देवताओं को लाभ पहुँचाने के लिए पुरोहिताई स्वीकार की। यही पुरोहित का कर्तव्य है। अतः पुरोहित शब्द का तात्पर्य है परिवार का हित करने वाला। *पुरः* शब्द का दूसरा अर्थ परिवार और *हित* का अर्थ कल्याण है। पुरः शब्द का अर्थ है—प्रथम। पुरोहित का प्रथम कर्तव्य है कि वह सभी प्रकार से अपने शिष्यों का आध्यात्मिक तथा आर्थिक लाभ सोचे। तभी वह संतुष्ट रहता है। पुरोहित को कभी भी अपने स्वार्थ के लिए वैदिक अनुष्ठान नहीं करना चाहिए।

सुरद्विषां श्रियं गुप्तामौशनस्यापि विद्यया ।
आच्छिद्यादान्महेन्द्राय वैष्णव्या विद्यया विभुः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सुर-द्विषाम्—देवों के शत्रु; श्रियम्—ऐश्वर्य; गुप्ताम्—सुरक्षित; औशनस्य—शुक्राचार्य की; अपि—यद्यपि; विद्यया—प्रतिभा से; आच्छिद्य—संग्रह करके; अदात्—दिया है; महा-इन्द्राय—राजा इन्द्र को; वैष्णव्या—भगवान् विष्णु की; विद्यया—प्रार्थना से; विभुः—अत्यन्त शक्तिमान विश्वरूप।

यद्यपि शुक्राचार्य ने अपनी प्रतिभा एवं नीति-बल से देवताओं के शत्रुओं के नाम से

विख्यात असुरों के ऐश्वर्य को सुरक्षित कर दिया था, किन्तु अत्यन्त शक्तिमान विश्वरूप ने नारायण कवच नामक एक सुरक्षात्मक स्तोत्र की रचना की। इस बुद्धिमत्तापूर्ण मंत्र से उन्होंने असुरों का ऐश्वर्य छीन कर स्वर्ग के राजा इन्द्र को दे दिया।

तात्पर्य : देवों तथा असुरों का अन्तर यही है कि देवता भगवान् विष्णु के भक्त हैं जबकि असुर शिवजी, देवी काली तथा देवी दुर्गा के भक्त हैं। कभी-कभी असुर ब्रह्मा के भी भक्त होते हैं। उदाहरणार्थ, हिरण्यकशिपु ब्रह्माजी का भक्त था, रावण शिवजी का तथा महिषासुर देवी दुर्गा का। देवतागण भगवान् विष्णु के भक्त होते हैं (*विष्णु भक्तः स्मृतो दैव*) जबकि असुर सदैव विष्णु भक्तों अर्थात् वैष्णवों के विरोधी होते हैं (*आसुरस्तद्विपर्ययः*)। वैष्णवों के विरोध हेतु असुरगण शिवजी, श्रीब्रह्मा, काली, दुर्गा इत्यादि के भक्त बन जाते हैं। पुराकाल में देवों तथा असुरों में शत्रुता थी जो अब भी चल रही है, क्योंकि शिवजी, देवी दुर्गा के भक्त भगवान् विष्णु के भक्त वैष्णवों से सदैव द्वेष रखते हैं। भगवान् विष्णु तथा शिवजी के भक्तों के बीच का यह तनाव सदा रहा है। स्वर्गलोक में असुरों तथा सुरों के बीच दीर्घकाल तक युद्ध चलता रहा है।

यहाँ हम देखते हैं कि विश्वरूप ने देवताओं के लिए एक सुरक्षा कवच तैयार किया जो विष्णुमंत्र से पूरित था। कभी-कभी विष्णुमंत्र को विष्णुज्वर और इसी प्रकार शिवमंत्र को शिवज्वर कहते हैं। हम शास्त्रों में असुरों तथा सुरों के बीच होने वाले युद्धों में कभी कभी शिवज्वर तथा विष्णुज्वर का प्रयोग होते पाते हैं।

इस श्लोक में आगत *सुर-द्विषाम्* शब्द का अर्थ 'देवताओं के शत्रुओं का' है, जिससे भी नास्तिकों का बोध होता है। *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र कहा गया है कि भगवान् बुद्ध का जन्म असुरों अथवा नास्तिकों को विमोहित करने के लिए हुआ। भगवान् अपने भक्तों को नित्य ही आशीर्वाद देते हैं। इसकी पुष्टि भगवान् स्वयं *भगवद्गीता* (९.३१) में करते हैं—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*—"हे कुन्तीपुत्र! मैं निर्भीकतापूर्वक घोषित करता हूँ कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता।"

यया गुप्तः सहस्राक्षो जिग्येऽसुरचमूर्विभुः ।
तां प्राह स महेन्द्राय विश्वरूप उदारधीः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यया—जिससे; गुप्तः—सुरक्षित; सहस्र-अक्षः—एक हजार नेत्रों वाले इन्द्र देवता ने; जिग्ये—जीता; असुर—असुरों की; चमूः—सैन्यशक्ति; विभुः—अत्यन्त शक्तिशाली होकर; ताम्—उससे; प्राह—बोला; सः महेन्द्राय—स्वर्ग के राजा महेन्द्र को; विश्वरूपः—विश्वरूप; उदार-धीः—अत्यन्त उदार चित्त वाला।

अत्यन्त उदारचित्त वाले विश्वरूप ने राजा इन्द्र (सहस्राक्ष) को वह गुप्त स्तोत्र बता दिया जिससे इन्द्र की रक्षा हो सकी और असुरों की सैन्यशक्ति जीत ली गई।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध के अन्तर्गत ''इन्द्र द्वारा गुरु बृहस्पति का अपमान'' नामक सातवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter आठ

नारायण-कवच

इस अध्याय में बताया गया है कि स्वर्ग के राजा इन्द्र ने किस प्रकार असुरों के सैनिकों पर विजय प्राप्त की। इसमें विष्णु-मंत्र कवच का भी वर्णन हुआ है।

इस कवच के द्वारा रक्षा प्राप्त करने के लिए पहले कुश को छूना चाहिए और आचमन-मंत्रों के द्वारा मुख धोना चाहिए। मौन धारण करते हुए आठ अक्षरों वाले विष्णु-मंत्र को शरीर के अंगों में और बारह अक्षरों वाले मंत्र को हाथों में धारण करना चाहिए। आठ अक्षर वाला मंत्र है—*ॐ नमो नारायणाय।* इस मंत्र को शरीर के अगले तथा पिछले सभी भागों में न्यस्त करना चाहिए। बारह अक्षरी मंत्र जो प्रणव ॐकार से प्रारम्भ होता है और इस प्रकार है—*ॐ नमो भगवते वासुदेवाय*। हर अँगुली में एक-एक अक्षर धारण करे और उसके के पहले प्रणव ॐकार धारण करे। तत्पश्चात् ॐ वैष्णाय नमः का उच्चारण करें जो छः अक्षरों वाला मंत्र है। फिर इस मंत्र के अक्षरों को क्रम से हृदय, सिर, दोनों भौंहों के बीच, शिखापर तथा आँखों के बीच धारण करे और

तब *मः अस्त्राय फट्* का जप करे और इस मंत्र से चारों ओर से अपनी रक्षा करे। *नादेवो देवम् अर्चयेत्*—अर्थात् जो देव पद तक ऊपर नहीं उठ पाया है, वह इस मंत्र का जप नहीं कर सकता। शास्त्र के इस आदेशानुसार मनुष्य को चाहिए कि वह गुण की दृष्टि से अपने को परमेश्वर से अभिन्न माने।

इस निवेदन के पश्चात् गरुड़देव पर आसीन अष्टभुजी भगवान् विष्णु की प्रार्थना करे। साथ ही मत्स्य, वामन, कूर्म, नृसिंह, वराह, परशुराम, रामचन्द्र (लक्ष्मण के अग्रज), नर-नारायण, दत्तात्रेय, कपिल, सनत्कुमार, हयग्रीव, नारददेव (भक्त के अवतार), धन्वन्तरि, ऋषभदेव, यज्ञ, बलराम, व्यासदेव, बुद्धदेव तथा केशव का ध्यान करे। वृन्दावन के स्वामी गोविन्द तथा चिदाकाश के स्वामी नारायण, मधुसूदन, त्रिधामा, माधव, हृषीकेश, पद्मनाभ, जनार्दन, दामोदर, विश्वेश्वर के साथ-साथ स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का भी ध्यान धरे। भगवान् के साक्षात् अंश, स्वांश तथा शक्त्यावेश अवतारों की स्तुति करने के बाद भगवान् नारायण के आयुधों, यथा सुदर्शन, गदा, शंख, खड्ग तथा तीर की भी स्तुति करे।

इस विधि को बताने के बाद शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को बताया कि वृत्रासुर के भाई विश्वरूप ने किस प्रकार नारायण-कवच की महिमा का वर्णन इन्द्र से किया।

श्रीराजोवाच

यया गुप्तः सहस्त्राक्षः सवाहान्रिपुसैनिकान् ।
क्रीडन्निव विनिर्जित्य त्रिलोक्या बुभुजे श्रियम् ॥ १ ॥
भगवंस्तन्ममाख्याहि वर्म नारायणात्मकम् ।
यथाततायिनः शत्रून्येन गुप्तोऽजयन्मृधे ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा परीक्षित ने कहा; यया—जिससे (आध्यात्मिक-कवच से); गुप्तः—सुरक्षित; सहस्त्र-अक्षः—एक हजार नेत्रों वाला राजा इन्द्र; स-वाहान्—अपने वाहनों सहित; रिपु-सैनिकान्—शत्रुओं के सिपाही तथा सेना-नायक; क्रीडन् इव—खेल के समान; विनिर्जित्य—जीतकर; त्रि-लोक्याः—तीनों लोकों (उच्च, मध्य तथा निम्नलोक) का; बुभुजे—भोग किया; श्रियम्—ऐश्वर्य; भगवन्—हे मुनि; तत्—वह; मम—मुझको; आख्याहि—कृपया बताइये; वर्म—

मंत्र से निर्मित कवच; नारायण-आत्मकम्—नारायण की कृपा से युक्त; यथा—जिस प्रकार; आततायिनः—जो उसे मारना चाह रहे थे; शत्रून्—शत्रु; येन—जिससे; गुप्तः—रक्षित होकर; अजयत्—जीत लिया; मृधे—युद्ध में।

राजा परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा—हे प्रभो! कृपा करके मुझे वह विष्णु-मंत्र-कवच बताएँ जिससे राजा इन्द्र की रक्षा हो सकी और वह अपने शत्रुओं को उनके वाहनों सहित परास्त करके तीनों लोकों के ऐश्वर्य का उपभोग कर सका। कृपया मुझे वह नारायण-कवच बताएँ जिसके द्वारा इन्द्र ने युद्ध में अपने उन शत्रुओं को हराकर सफलता प्राप्त की जो उसे मारने का प्रयत्न कर रहे थे।

श्रीबादरायणिरुवाच

वृतः पुरोहितस्त्वाष्ट्रो महेन्द्रायानुपृच्छते ।
नारायणाख्यं वर्माह तदिहैकमनाः शृणु ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; वृतः—चुना गया; पुरोहितः—पुरोहित; त्वाष्ट्रः—त्वष्टा का पुत्र; महेन्द्राय—राजा इन्द्र के लिए; अनुपृच्छते—इन्द्र द्वारा पूछे जाने पर; नारायण-आख्यम्—नारायण-कवच नामक; वर्म—मंत्र से निर्मित सुरक्षा कवच; आह—उसने कहा; तत्—वह; इह—यह; एक-मनाः—ध्यानपूर्वक; शृणु—मुझसे सुनो।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—देवताओं के राजा इन्द्र ने देवताओं के द्वारा पुरोहित के रूप में नियुक्त विश्वरूप से नारायण-कवच के सम्बन्ध में पूछा। विश्वरूप द्वारा दिये गये उत्तर को तुम ध्यानपूर्वक सुनो।

श्रीविश्वरूप उवाच

धौताङ्घ्रिपाणिराचम्य सपवित्र उदङ्मुखः ।
कृतस्वाङ्गकरन्यासो मन्त्राभ्यां वाग्यतः शुचिः ॥ ४ ॥
नारायणपरं वर्म सन्नह्येद्भय आगते ।
पादयोर्जानुनोरूर्वोरुदरे हृद्यथोरसि ॥ ५ ॥
मुखे शिरस्यानुपूर्व्यादोंकारादीनि विन्यसेत् ।
ॐ नमो नारायणायेति विपर्ययमथापि वा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-विश्वरूपः उवाच—श्रीविश्वरूप ने कहा; धौत—पूरी तरह धोया हुआ; अङ्घ्रि—पाँव; पाणिः—हाथ; आचम्य—आचमन करके (नियत मंत्र का जप करने के बाद तीन बार जल चूसना); स-पवित्रः—कुश की बनी पवित्री या पैती (जिन्हें प्रत्येक हाथ की अँगुलियों में पहना जाता है); उदक्-मुखः—उत्तर की ओर मुख; कृत—करके; स्व-अङ्ग-कर-

न्यासः—शरीर के आठ भाग तथा हाथों के बारह भागों का मानसिक समर्पण (न्यास); मन्त्राभ्याम्—दो मंत्रों (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय तथा ॐ नमो नारायणाय) के साथ; वाक्-यतः—मौन रहकर; शुचिः—पवित्र होकर; नारायण-परम्—भगवान् नारायणमय; वर्म—कवच; सन्नह्येत्—धारण करे; भये—जब डर; आगते—आया है; पादयोः—दोनों पैरों पर; जानुनोः—दोनों घुटनों पर; ऊर्वोः—दोनों जाँघों पर; उदरे—पेट पर; हृदि—हृदय पर; अथ—इस प्रकार; उरसि—छाती पर; मुखे—मुँह में; शिरसि—सिर पर; आनुपूर्व्यात्—एक के बाद एक, क्रमशः; ओंकार-आदीनि—ऊँकार से प्रारम्भ करके; विन्यसेत्—रखे; ॐ—प्रणव; नमः—नमस्कार; नारायणाय—भगवान् नारायण को; इति—इस प्रकार; विपर्ययम्—विपरीत क्रम-से, उलटकर; अथ अपि—और भी; वा—अथवा।

विश्वरूप ने कहा—किसी प्रकार के भय का अवसर उपस्थित होने पर मनुष्य को चाहिए कि पहले अपने हाथ-पाँव धोये और तब यह मंत्र—ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा / यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः / श्रीविष्णु श्रीविष्णु श्रीविष्णु—जप कर आचमन करे। तब उसे चाहिए कि कुश को छूकर शान्त भाव से उत्तर की ओर मुख करके बैठ जाये। पूर्णतया शुद्ध होने पर उसे चाहिए कि आठ शब्दों वाले मंत्र को अपने शरीर के दाहिनी ओर के आठ भागों में छुवाये और बारह शब्दों वाले मंत्र को हाथों में छुवाये। फिर नारायण-कवच से स्वयं को इस प्रकार बाँधे—पहले आठ शब्दों वाले मंत्र (ॐ नमो नारायणाय) का जप करते हुए, प्रथम शब्द ॐ या प्रणव से प्रारम्भ करके अपने हाथों से अपने शरीर के आठों अंगों का स्पर्श करे—पहले दोनों पाँव छुए फिर क्रमशः घुटने, जाँघ, पेट, हृदय, छाती, मुँह तथा सिर को छुये। इसके बाद उलटे क्रम से मंत्र का जप करे अर्थात् अन्तिम शब्द 'य' से प्रारम्भ करे और अपने शरीर के अंगों को भी उलटे क्रम से छुए। ये दोनों विधियाँ क्रमशः उत्पत्ति-न्यास तथा संहार-न्यास कहलाती हैं।

करन्यासं ततः कुर्याद्द्वादशाक्षरविद्यया ।
प्रणवादियकारान्तमङ्गुल्यङ्गुष्ठपर्वसु ॥ ७॥

शब्दार्थ

कर-न्यासम्—करन्यास नामक कर्मकाण्ड, जिसमें अँगुलियों के लिए मंत्र के अक्षर होते है; ततः—तत्पश्चात्; कुर्यात्—करे; द्वादश-अक्षर—बारह अक्षरों वाला; विद्यया—मंत्र से; प्रणव-आदि—ऊँकार से प्रारम्भ करके; य-कार-अन्तम्—य अक्षर में अन्त होने तक; अङ्गुलि—अंगुलियों पर, तर्जनी से प्रारम्भ करके; अङ्गुष्ठ-पर्वसु—अँगूठों के पोरों (गाँठों) तक।

तब उसे चाहिए कि बारह अक्षरों वाले मंत्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) का जप करे। इस मंत्र के बारह अक्षरों को दाहिने हाथ की तर्जनी से प्रारम्भ करके बाँये हाथ की तर्जनी

तक प्रत्येक अँगुली के छोर पर प्रत्येक अक्षर का उच्चारण करते हुए रखे। शेष चार अक्षरों को अँगूठों के पोरों पर रखे।

न्यसेद्धृदय ओंकारं विकारमनु मूर्धनि ।
षकारं तु भ्रुवोर्मध्ये णकारं शिखया न्यसेत् ॥ ८ ॥
वेकारं नेत्रयोर्युञ्ज्यान्नकारं सर्वसन्धिषु ।
मकारमस्त्रमुद्दिश्य मन्त्रमूर्तिर्भवेद्बुधः ॥ ९ ॥
सविसर्गं फडन्तं तत्सर्वदिक्षु विनिर्दिशेत् ।
ॐ विष्णवे नम इति ॥ १० ॥

शब्दार्थ

न्यसेत्—रखे; हृदये—हृदय पर; ओंकारम्—प्रणव, ॐकार; वि-कारम्—विष्णवे का 'वि' अक्षर; अनु—तत्पश्चात्; मूर्धनि—शिर के ऊपर; ष-कारम्—'ष' अक्षर; तु—तथा; भ्रुवोः मध्ये—दोनों भौंहों के बीच; ण-कारम्—'ण' अक्षर; शिखया—चोटी (शिखा) पर; न्यसेत्—रखे; वेकारम्—'वे' अक्षर; नेत्रयोः—दोनों नेत्रों के मध्य; युञ्ज्यात्—रखा जाये; न-कारम्—नमः शब्द का 'न' अक्षर; सर्व-सन्धिषु—सभी जोड़ों पर; म-कारम्—नमः शब्द का 'म' अक्षर; अस्त्रम्—हथियार; उद्दिश्य—ध्यान करते हुए; मन्त्र-मूर्तिः—मंत्र का स्वरूप; भवेत्—हो; बुधः—बुद्धिमान मनुष्य; स-विसर्गम्—विसर्ग (अः) सहित; फट्-अन्तम्—फट् ध्वनि से अन्त होने वाला; तत्—उस; सर्व-दिक्षु—सभी दिशाओं में; विनिर्दिशेत्—बाँध दे; ॐ—प्रणव; विष्णवे—भगवान् विष्णु को; नमः—नमस्कार; इति—इस प्रकार।

फिर उसे छः अक्षरों वाला मंत्र (ॐ विष्णवे नमः) जपना चाहिए। उसे ॐ को अपने हृदय पर, 'वि को शिरो भाग पर, 'ष' को भौहों के मध्य, 'ण' को चोटी पर तथा 'वे' को नेत्रों के मध्य रखना चाहिए। तब मंत्र जपकर्ता 'न' अक्षर को अपने शरीर के समस्त जोड़ों पर रखे और 'म' अक्षर को अस्त्र के रूप में ध्यान धरे। इस प्रकार वह साक्षात् मंत्र हो जायेगा। तत्पश्चात् उसे चाहिए कि अन्तिम शब्द 'म' में विसर्ग लगाकर 'मः अस्त्राय फट्' इस मंत्र का जप पूर्व दिशा से प्रारम्भ करके सभी दिशाओं में करे। इस तरह सभी दिशाएँ इस मंत्र के सुरक्षा-कवच से बँध जायेंगी।

आत्मानं परमं ध्यायेद्ध्येयं षट्शक्तिभिर्युतम् ।
विद्यातेजस्तपोमूर्तिमिमं मन्त्रमुदाहरेत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—स्वयं; परमम्—परम को; ध्यायेत्—ध्यान धरे; ध्येयम्—ध्यान धरने योग्य; षट्-शक्तिभिः—छहों ऐश्वर्य से; युतम्—युक्त; विद्या—विद्या; तेजः—प्रभाव; तपः—तपस्या; मूर्तिम्—साक्षात्; इमम्—यह; मन्त्रम्—मंत्र को; उदाहरेत्—जप करे।

इस प्रकार जप कर लेने के पश्चात् मनुष्य को चाहिए कि वह छः ऐश्वर्यों से युक्त तथा ध्यातव्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के साथ अपने आपको गुण की दृष्टि से तदाकार समझे। तब उसे चाहिए कि वह निम्नलिखित नारायण-कवच अर्थात् भगवान् नारायण की सुरक्षा स्तुति का जप करे।

ॐ हरिर्विदध्यान्मम सर्वरक्षां
न्यस्ताङ्घ्रिपद्मः पतगेन्द्रपृष्ठे ।
दरारिचर्मासिगदेषुचाप-
पाशान्दधानोऽष्टगुणोऽष्टबाहुः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ॐ—हे ईश्वर; हरिः—भगवान्; विदध्यात्—हमें प्रदान करें; मम—मेरा; सर्व-रक्षाम्—सभी ओर से सुरक्षा; न्यस्त—रखा हुआ; अङ्घ्रि-पद्मः—जिनके चरणकमल; पतगेन्द्र-पृष्ठे—समस्त पक्षियों के राजा गरुड़ की पीठ पर; दर—शंख; अरि—चक्र; चर्म—ढाल; असि—तलवार; गदा—गदा; इषु—तीर; चाप—धनुष; पाशान्—पाश, फंदा; दधानः—ग्रहण किये हुए; अष्ट—आठ; गुणः—सिद्धियों से युक्त; अष्ट—आठ; बाहुः—भुजाएँ।

परमेश्वर पक्षिराज गरुड़ की पीठ पर आसीन हैं और अपने चरण-कमल से उसका स्पर्श कर रहे हैं। वे अपने हाथों में शंख, चक्र, ढाल, तलवार, गदा, तीर, धनुष तथा पाश धारण किये हैं। ऐसे आठ भुजाओं वाले पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सभी समय मेरी रक्षा करें। वे सर्वशक्तिमान हैं, क्योंकि वे आठ योग-शक्तियों (अणिमा, लघिमा इत्यादि) से समन्वित हैं।

तात्पर्य : ईश्वर से तादात्म्य का चिन्तन *अहंग्रहोपासना* कहलाती है। इस उपासना से कोई ईश्वर नहीं बन जाता, किन्तु गुणों की दृष्टि से वह अपने आप को परमेश्वर के समान मानता है। यह मानकर कि जिस प्रकार नदी का जल समुद्र के जल के समान है उसी प्रकार व्यक्ति की आत्मा परमात्मा का धर्मा सम है, उसे इस श्लोक में बताई विधि से परमेश्वर का ध्यान करना चाहिए और उनकी शरण में जाना चाहिए। जीवात्माएँ सदैव परमेश्वर के अधीन हैं, फलतः उनका कर्तव्य है कि सभी परिस्थितियों में सुरक्षित रहने के लिए भगवान् से कृपा-याचना करें।

जलेषु मां रक्षतु मत्स्यमूर्ति-
यादोगणेभ्यो वरुणस्य पाशात् ।
स्थलेषु मायावटुवामनोऽव्यात्
त्रिविक्रमः खेऽवतु विश्वरूपः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

जलेषु—जल में; माम्—मुझको; रक्षतु—बचाएं; मत्स्य-मूर्तिः—मत्स्य रूप में परमेश्वर; यादः-गणेभ्यः—हिंस्र जलजन्तुओं से; वरुणस्य—वरुण नामक देवता के; पाशात्—बंदी बनाने वाले फंदे से; स्थलेषु—स्थल पर; माया-वटु—वामन के रूप में ईश्वर का कृपामय रूप; वामनः—वामनदेव; अव्यात्—रक्षा करें; त्रिविक्रमः—त्रिविक्रम, जिनके तीन चरणों ने बलि के तीनों लोक नाप लिए; खे—आकाश में; अवतु—ईश्वर रक्षा करें; विश्वरूपः—विराट ब्रह्माण्ड रूप।

जल के भीतर वरुण देवता के पार्षद हिंस्र पशुओं से मत्स्यरूप धारण करने वाले भगवान् मेरी रक्षा करें। उन्होंने अपनी माया का विस्तार करके वामन का रूप धारण किया। वामन-देव स्थल पर मेरी रक्षा करें। उनका विराट स्वरूप, विश्वरूप, तीनों लोकों, को जीतने वाला है, आकाश में मेरी रक्षा करे।

तात्पर्य : इस मंत्र के द्वारा भगवान् के मत्स्य, वामन तथा विश्वरूप अवतारों से जल, स्थल तथा आकाश में सुरक्षा के हेतु प्रार्थना की जाती है।

दुर्गेष्वटव्याजिमुखादिषु प्रभुः
पायान्नृसिंहोऽसुरयूथपारिः ।
विमुञ्चतो यस्य महाट्टहासं
दिशो विनेदुर्न्यपतंश्च गर्भाः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

दुर्गेषु—दुर्गम स्थानों में; अटवि—घने जंगल में; आजि-मुख-आदिषु—युद्धस्थल इत्यादि में; प्रभुः—परमेश्वर; पायात्—वे रक्षा करें; नृसिंहः—भगवान् नृसिंह देव; असुर-यूथप—असुरों के नायक, हिरण्यकशिपु का; अरिः—शत्रु; विमुञ्चतः—छोड़ा गया; यस्य—जिसका; महा-अट्ट-हासम्—महान् तथा भयानक अट्टहास; दिशः—समस्त दिशाएँ; विनेदुः—अनुगूँजित; न्यपतन्—गिर पड़े; च—तथा; गर्भाः—असुरों की पत्नियों के गर्भ।

हिरण्यकशिपु के शत्रु रूप में प्रकट होने वाले भगवान् नृसिंह देव समस्त दिशाओं में मेरी रक्षा करें। उनके घोर अट्टहास से समस्त दिशाएँ गूँज उठी थीं और असुरों की पत्नियों के गर्भपात हो गये थे। भगवान् जंगल तथा युद्धभूमि जैसे विकट स्थानों में कृपा करके मेरी

रक्षा करें।

रक्षत्वसौ माध्वनि यज्ञकल्पः
स्वदंष्ट्रयोन्नीतधरो वराहः ।
रामोऽद्रिकूटेष्वथ विप्रवासे
सलक्ष्मणोऽव्याद्भरताग्रजोऽस्मान् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

रक्षतु—ईश्वर रक्षा करें; असौ—वह; मा—मुझको; अध्वनि—मार्ग में; यज्ञ-कल्पः—जिनकी पुष्टि यज्ञों के द्वारा की जाती है, यज्ञमूर्ति; स्व-दंष्ट्रया—अपनी ही दाढ़ों से; उन्नीत—उठाया जाकर; धरः—पृथ्वी लोक; वराहः—भगवान् वराह; रामः—भगवान् राम; अद्रि-कूटेषु—पर्वतों की चोटियों पर; अथ—तब; विप्रवासे—विदेशों में; स-लक्ष्मणः—अपने भाई लक्ष्मण सहित; अव्यात्—रक्षा करें; भरत-अग्रजः—महाराज भरत के ज्येष्ठ भ्राता; अस्मान्—हमारी।

परम अविनाशी भगवान् को यज्ञों के द्वारा जाना जाता है, इसीलिए वे यज्ञेश्वर कहलाते हैं। भगवान् वराह के रूप में अवतार लेकर उन्होंने पृथ्वी लोक को ब्रह्माण्ड के गर्त से जल में से निकालकर अपनी नुकी दाढ़ों में धारण किया। ऐसे भगवान् मार्ग में दुष्टों से मेरी रक्षा करें। परशुराम मेरी पर्वत शिखरों पर रक्षा करें और भरत के अग्रज भगवान् रामचन्द्र अपने भाई लक्ष्मण सहित विदेशों में मेरी रक्षा करें।

तात्पर्य : राम तीन हैं। परशुराम (जामदाग्न्य), दूसरे भगवान् रामचन्द्र तथा तीसरे श्रीबलराम। इस श्लोक में आगत *रामोऽद्रिकूटेष्व अथ* में श्री परशुराम का संकेत है। महाराज भरत या लक्ष्मण के भाई भगवान् रामचन्द्र हैं।

मामुग्रधर्मादखिलात्प्रमादा
न्नारायणः पातु नरश्च हासात् ।
दत्तस्त्वयोगादथ योगनाथः
पायाद्गुणेशः कपिलः कर्मबन्धात् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; उग्र-धर्मात्—अनावश्यक धार्मिक नियमों से; अखिलात्—सभी प्रकार के कार्यों से; प्रमादात्—पागलपन में किये गये; नारायणः—भगवान् नारायण; पातु—रक्षा करें; नरः च—तथा नर; हासात्—वृथा गर्व से; दत्तः—दत्तात्रेय; तु—निस्सन्देह; अयोगात्—मिथ्या योग के मार्ग से; अथ—निस्सन्देह; योग-नाथः—समस्त योगशक्तियों के स्वामी,

योगेश्वर; पायात्—रक्षा करें; गुण-ईशः—समस्त आध्यात्मिक गुणों के स्वामी; कपिलः—श्रीकपिल; कर्म-बन्धात्—कर्मों के बन्धन से।

मिथ्या धर्मों के अनावश्यक पालन तथा प्रमादवश कर्तव्यच्युत होने से भगवान् नारायण मेरी रक्षा करें। नर-रूप में प्रकट भगवान् मुझे वृथा गर्व से बचाएँ। भक्तियोग के पालन से च्युत होने से योगेश्वर दत्तात्रेय मेरी रक्षा करें। समस्त श्रेष्ठ गुणों के स्वामी कपिल सकाम कर्म के भौतिक बन्धन से मेरी रक्षा करें।

सनत्कुमारोऽवतु कामदेवा-
द्धयशीर्षा मां पथि देवहेलनात् ।
देवर्षिवर्यः पुरुषार्चनान्तरात्
कूर्मो हरिर्मां निरयादशेषात् ॥ १७॥

शब्दार्थ

सनत्-कुमारः—परम ब्रह्मचारी सनत्कुमार; अवतु—रक्षा करें; काम-देवात्—कामदेव के चंगुल से अर्थात् कामवासनाओं से; हय-शीर्षा—हयग्रीव ईश्वर का अवतार जिसका मुख घोड़े के समान था; माम्—मुझको; पथि—मार्ग में; देव-हेलनात्—ब्राह्मणों, वैष्णवों तथा परमेश्वर को नमस्कार न करने से; देवर्षि-वर्यः—देवर्षियों में श्रेष्ठ, नारद; पुरुष-अर्चन-अन्तरात्—विग्रह के पूजन में हुए अपराधों से; कूर्मः—भगवान् कूर्म (कच्छप); हरिः—भगवान् हरि; माम्—मुझको; निरयात्—नरक से; अशेषात्—असीम।

सनत्कुमार कामवासनाओं से मेरी रक्षा करें। जैसे ही मैं कोई शुभकार्य शुरू करूँ, श्रीहयग्रीव मेरी रक्षा करें जिससे मैं परमेश्वर को नमस्कार न करने का अपराधी न बनूँ। श्रीविग्रह की अर्चना में कोई अपराध न हो इसके लिए देवर्षि नारद मेरी रक्षा करें। भगवान् कूर्म असीम नरकलोक में गिरने से मुझे बचाएँ।

तात्पर्य : प्रत्येक प्राणी में कामेच्छाएँ प्रबल होती हैं और भक्ति मार्ग में ये ही सबसे अधिक बाधक हैं। अतः जो कामेच्छाओं के वश में बुरी तरह फंसे हैं उन्हें चाहिए कि परम ब्रह्मचारी भक्त सनत्कुमार की शरण ग्रहण करें। नारद मुनि अर्चना के पथप्रदर्शक हैं और *नारद-पंचरात्र* के रचयिता हैं जिसमें श्रीविग्रह की अर्चना की विधियाँ दी हुई हैं। चाहे कोई घर में श्रीविग्रह की पूजा करे या मन्दिर में, अर्चना में होने वाले बत्तीस प्रकार के अपराधों से बचने के लिए देवर्षि नारद के अनुग्रह की आकांक्षा करनी चाहिए। श्रीविग्रह-अर्चा में होने वाले इन अपराधों का उल्लेख

भक्तिरसामृत-सिन्धु नामक पुस्तक में हुआ है।

धन्वन्तरिर्भगवान्पात्वपथ्याद्
द्वन्द्वाद्भयादृषभो निर्जितात्मा ।
यज्ञश्च लोकादवताज्जनान्ताद्
बलो गणात्क्रोधवशादहीन्द्रः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

धन्वन्तरिः—वैद्यराज धन्वन्तरि; भगवान्—श्रीभगवान्; पातु—मेरी रक्षा करें; अपथ्यात्—स्वास्थ्य के लिए हानिकर वस्तुओं, यथा मांस तथा मादक द्रव्यों से; द्वन्द्वात्—द्विधा से; भयात्—भय से; ऋषभः—श्रीऋषभदेव; निर्जित-आत्मा—मन तथा स्वयं को वश में रखने वाला; यज्ञः—यज्ञ; च—तथा; लोकात्—जनता के अपयश से; अवतात्—रक्षा करें; जन-अन्तात्—अन्य व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न भयानक परिस्थितियों से; बलः—भगवान् बलराम; गणात्—गणों से; क्रोध-वशात्—क्रुद्ध सर्पों से; अहीन्द्रः—शेष नाग के रूप में भगवान् बलराम।

श्रीभगवान् अपने धन्वन्तरि अवतार के रूप में मुझे अवांछित खाद्य पदार्थों से दूर रखें और शारीरिक रुग्णता से मेरी रक्षा करें। अपनी अन्तः तथा बाह्य इन्द्रियों को वश में करने वाले श्रीऋषभदेव सर्दी तथा गर्मी के द्वैत से उत्पन्न भय से मेरी रक्षा करें। भगवान् यज्ञ जनता से मिलने वाले अपयश तथा हानि से मेरी रक्षा करें और शेष-रूप भगवान् बलराम मुझे ईर्ष्यालु सर्पों से बचायें।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में रहने के लिए मनुष्य को अनेक विपत्तियों का सामना करना होता है, जिनका उल्लेख इस श्लोक में हुआ है। उदाहरणार्थ, अवांछित भोजन (कुपथ्य) से स्वास्थ्य को भय रहता है, अतः ऐसे भोजन का त्याग कर देना चाहिए। इस मामले में धन्वन्तरि हमारी रक्षा कर सकते हैं। चूँकि भगवान् विष्णु समस्त जीवात्माओं के परमात्मा हैं, अतः वे चाहें तो हमें अन्य जीवों के उपद्रवों, अर्थात् अधिभौतिक उपद्रवों से बचा सकते हैं। भगवान् बलराम शेष के अवतार हैं, अतः वे चाहें तो हमें क्रुद्ध सर्पों अथवा द्वेषपूर्ण व्यक्तियों से बचा सकते हैं, जो हमेशा घात लगाए बैठे रहते हैं।

द्वैपायनो भगवानप्रबोधाद्

बुद्धस्तु पाषण्डगणप्रमादात् ।
कल्किः कलेः कालमलात्प्रपातु
धर्मावनायोरुकृतावतारः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

द्वैपायनः—वैदिक ज्ञान के दाता श्रील व्यासदेव; भगवान्—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का सर्वशक्तिमान अवतार; अप्रबोधात्—शास्त्र के अज्ञान से; बुद्धः तु—तथा भगवान् बुद्ध; पाषण्ड-गण—अबोध व्यक्तियों में मायाजाल फैलाने वाले नास्तिकों का; प्रमादात्—पागलपन से; कल्किः—केशव के अवतार भगवान् कल्कि; कलेः—इस कलियुग के; काल-मलात्—इस युग के अंधकार से; प्रपातु—रक्षा करें; धर्म-अवनाय—धर्म की रक्षा हेतु; उरु—महान्; कृत-अवतारः—जो अवतरित हुए।.

वैदिक-ज्ञान से विहीन होने के कारण सभी प्रकार की अविद्या से श्रीभगवान् के अवतार व्यासदेव मेरी रक्षा करें। वेद विरुद्ध कर्मों से तथा आलस्य से, जिसके कारण प्रमादवश वेद ज्ञान तथा अनुष्ठान भूल जाते हैं, भगवान् बुद्धदेव मुझे बचाएँ। भगवान् कल्कि देव, जिनका अवतार धार्मिक नियमों की रक्षा के लिए हुआ, मुझे कलियुग की मलिनता से बचायें।

तात्पर्य : इस श्लोक में श्रीभगवान् के विभिन्न अवतारों का उल्लेख हुआ है, जो विभिन्न कार्यों के लिए प्रकट होते हैं। महामुनि श्रील व्यासदेव ने समस्त मानव समाज के कल्याण के लिए वेदों की रचना की। यदि कोई इस कलिकाल में भी अविद्या की प्रतिक्रिया से बचना चाहता है, तो उसे चाहिए कि श्रील व्यासदेव की रचनाएँ पढ़े। इनके नाम हैं—चारों वेद (*साम, यजुर, ऋग्* तथा *अथर्व*), १०८ उपनिषदें, *वेदान्त सूत्र* (ब्रह्मसूत्र), *महाभारत, श्रीमद्भागवत* महापुराण (ब्रह्मसूत्र पर व्यासदेव का भाष्य) तथा अन्य सत्रह *पुराण*। श्रील व्यासदेव की कृपा से ही हमारे पास दिव्य ज्ञान की इतनी कृतियाँ हैं जिनसे हम अपने को अविद्या के चंगुल से बचा सकते हैं।

जैसाकि श्रील जयदेव गोस्वामी ने अपने दशावतार स्तोत्र में बताया है, भगवान् बुद्ध ने वैदिक ज्ञान की निन्दा की।

निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातं

सदयहृदयदर्शितपशुघातम्

केशव धृतबुद्धशरीर जय जगदीश हरे॥

भगवान् बुद्ध का उद्देश्य जनता को पशु-बध के कुकृत्य से बचाना और विरीह पशुओं का बध होने से बचाना था। जब पाखंडी लोग वैदिक यज्ञों के बहाने पशुओं का बध कर रहे थे तो भगवान् बुद्ध ने कहा, ''यदि वेद पशु-वध की आज्ञा देते हैं, तो मैं वैदिक नियमों को नहीं मानता।'' इस प्रकार उन्होंने उन लोगों की रक्षा की जो वैदिक नियमों का पालन कर रहे थे। अतः मनुष्यों को चाहिए कि भगवान् बुद्ध की शरण में जाँय जिससे वे वैदिक आज्ञाओं का दुरुपयोग न करें।

कल्कि अवतार हिंस्र अवतार है, जो कलियुग में उत्पन्न नास्तिकों के विनाश के लिए है। अब कलियुग के इस प्रारम्भ काल में अनेक अधर्म व्याप्त हैं और ज्यों-ज्यों कलियुग आगे बढ़ेगा अनेकानेक छद्म धार्मिक सिद्धान्तों का प्रवेश होता जायेगा और लोग भगवान् कृष्ण द्वारा बताये गये उन असली धार्मिक नियमों को भूलते जायेंगे, जिन्हें उन्होंने कलियुग के प्रारम्भ होने के पूर्व ही कहा था। ये नियम थे भगवान् के चरणकमलों में आत्मसमर्पण। दुर्भाग्यवश कलियुग के कारण, मूर्ख व्यक्ति कृष्ण के चरणकमलों की शरण नहीं लेते हैं यहाँ तक कि अधिकांश ऐसे व्यक्ति भी जो अपने को वैदिक धर्म का पालन करने वाले बताते हैं, वास्तव में वैदिक नियमों के विरोधी हैं। आये दिन वे नये-नये धर्मों को गढ़ते रहते हैं और कहते रहते हैं कि मुक्ति का मार्ग यही है। नास्तिक मनुष्य प्रायः कहते हैं—*यत मत तत पथ*। इसके अनुसार मनुष्य समाज में सैकड़ों-हजारों मत-मतान्तर हैं जिनमें से प्रत्येक वैध है। दुष्टों की इस विचारधारा से वेदवर्णित धार्मिक नियमों की हत्या हो गई है और ज्यों-ज्यों कलियुग आगे बढ़ता जायेगा ऐसी विचारधाराएँ और बलवती होती जायेंगी। कलियुग के अन्तिम चरण में केशव का सबसे हिंस्र अवतार कल्किदेव के रूप में होगा जो समस्त नास्तिकों का वध करके केवल भगवान् के भक्तों की रक्षा करेगा।

मां केशवो गदया प्रातरव्याद्
गोविन्द आसङ्गवमात्तवेणुः ।
नारायणः प्राह्ण उदात्तशक्तिर्
मध्यन्दिने विष्णुररीन्द्रपाणिः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; केशवः—भगवान् केशव; गदया—अपनी गदा से; प्रातः—प्रातःकाल; अव्यात्—रक्षा करें; गोविन्दः—भगवान् गोविन्द; आसङ्गवम्—दिन के चढ़े; आत्त-वेणुः—अपनी बाँसुरी लेकर; नारायणः—चतुर्भुज भगवान् नारायण; प्राह्णः—दोपहर के पूर्व; उदात्त-शक्तिः—विभिन्न प्रकार की शक्तियों को वश में रखने वाले; मध्यम्-दिने—दोपहर को; विष्णुः—भगवान् विष्णु; अरीन्द्र-पाणिः—शत्रुओं को मारने के लिए हाथ में चक्र धारण किये।

भगवान् केशव दिन के पहले चरण में अपनी गदा से तथा दिन के दूसरे चरण में अपनी बाँसुरी से गोविन्द मेरी रक्षा करें। सर्व शक्तियों से सम्पन्न भगवान् नारायण दिन के तीसरे चरण में और शत्रुओं का वध करने के लिए हाथ में चक्र धारण करनेवाले भगवान् विष्णु दिन के चौथे चरण में मेरी रक्षा करें।

तात्पर्य : वैदिक ज्योतिर्विज्ञान के अनुसार दिन तथा रात को बारह-बारह घंटों में विभाजित न करके तीस घटिकाओं (प्रत्येक २४ मिनट की) में विभाजित किया जाता है। सामान्यतः प्रत्येक दिन तथा रात छः समान चरणों में बँटी होती है जिनमें से प्रत्येक भाग पाँच घटिका का होता है। दिन तथा रात के इन विभिन्न विभागों में से प्रत्येक में भगवान् को भिन्न-भिन्न नामों से रक्षा के लिए सम्बोधित किया जा सकता है। मथुरा नामक पवित्र स्थान के स्वामी भगवान् केशव दिन के प्रथम चरण के तथा वृन्दावन के अधीक्षक गोविन्द दिन के दूसरे चरण के स्वामी हैं।

देवोऽपराह्णे मधुहोग्रधन्वा
सायं त्रिधामावतु माधवो माम् ।
दोषे हृषीकेश उतार्धरात्रे
निशीथ एकोऽवतु पद्मनाभः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

देवः—भगवान्; अपराह्णे—दिन के पंचम चरण में; मधु-हा—मधुसूदन; उग्र-धन्वा—शार्ङ्ग नाम के प्रचण्ड धनुष को धारण करने वाले; सायम्—दिन के छठे चरण में, संध्या समय; त्रि-धामा—ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर त्रिमूर्ति; अवतु—रक्षा करें; माधवः—माधव; माम्—मुझको; दोषे—रात के प्रथम भाग में; हृषीकेशः—श्रीहृषीकेश; उत—भी; अर्ध-रात्रे—रात्रि के दूसरे भाग अथवा अर्ध रात्रि में; निशीथे—रात्रि के तीसरे चरण में; एकः—अकेले; अवतु—रक्षा करें; पद्मनाभः—भगवान् पद्मनाभ।

असुरों के लिए भयावना धनुष धारण करने वाले भगवान् मधुसूदन दिन के पंचम चरण में मेरी रक्षा करें। संध्या समय ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर त्रिमूर्ति के रूप में प्रकट होकर

भगवान् माधव और रात्रि प्रारम्भ होने पर भगवान् हृषीकेश मेरी रक्षा करें। अर्ध रात्रि में (रात्रि के दूसरे तथा तीसरे चरण में) केवल भगवान् पद्मनाभ मेरी रक्षा करें।

श्रीवत्सधामापररात्र ईशः
प्रत्यूष ईशोऽसिधरो जनार्दनः ।
दामोदरोऽव्यादनुसन्ध्यं प्रभाते
विश्वेश्वरो भगवान्कालमूर्तिः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

श्रीवत्स-धामा—श्रीवत्स चिह्न धारण करने वाले भगवान्; अपर-रात्रे—रात्रि के चतुर्थ भाग में; ईशः—परमेश्वर; प्रत्यूषे—रात्रि के अन्त में; ईशः—परमेश्वर; असि-धरः—हाथ में तलवार धारण करने वाले; जनार्दनः—भगवान् जनार्दन; दामोदरः—भगवान् दामोदर; अव्यात्—वे रक्षा करें; अनुसन्ध्यम्—प्रत्येक संध्या को; प्रभाते—प्रातःकाल (राति के छठे भाग); विश्व-ईश्वरः—समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी; भगवान्—श्रीभगवान्; काल-मूर्तिः—साक्षात् काल।

वक्ष पर श्रीवत्स धारण करने वाले पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अर्धरात्रि के पश्चात् से आकाश के गुलाबी होने तक मेरी रक्षा करें। खड्गधारी भगवान् जनार्दन रात्रि के समाप्त होने पर (रात्रि की अंतिम चार घटिकाओं में) मेरी रक्षा करें। भगवान् दामोदर बड़े भोर में तथा भगवान् विश्वेश्वर दिन तथा रात की संधियों के समय मेरी रक्षा करें।

चक्रं युगान्तानलतिग्मनेमि
भ्रमत्समन्ताद्भगवत्प्रयुक्तम् ।
दन्दग्धि दन्दग्ध्यरिसैन्यमाशु
कक्षं यथा वातसखो हुताशः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

चक्रम्—भगवान् का चक्र; युग-अन्त—युग के अन्त में; अनल—विध्वंसक अग्नि सदृश; तिग्म-नेमि—तीक्ष्ण किनारे; भ्रमत्—घूमते हुए; समन्तात्—चारों ओर; भगवत्-प्रयुक्तम्—भगवान् द्वारा लगाया गया; दन्दग्धि दन्दग्धि—पूरी तरह जला दें; अरि-सैन्यम्—हमारे शत्रुओं की सेना; आशु—शीघ्रता से; कक्षम्—सूखी घास; यथा—सदृश; वात-सखः—वायु का मित्र; हुताशः—धधकती आग।

श्रीभगवान् द्वारा चलाया जाने वाला तथा चारों दिशाओं में घूमने वाला तीखे किनारे वाला उनका चक्र युगान्त में प्रलय-अग्नि के समान विनाशकारी है। जिस प्रकार प्रातःकालीन मन्द पवन के सहयोग से धधकती अग्नि सूखी घास को भस्म कर देती है, उसी

प्रकार यह सदुर्शन चक्र हमारे शत्रुओं को जला कर भस्म कर दे।

गदेऽशनिस्पर्शनविस्फुलिङ्गे
निष्पिण्ढि निष्पिण्ढ्यजितप्रियासि ।
कुष्माण्डवैनायकयक्षरक्षो-
भूतग्रहांश्चूर्णय चूर्णयारीन् ॥ २४॥

शब्दार्थ

गदे—श्रीभगवान् के हाथों में स्थित हे गदा; अशनि—वज्र के समान; स्पर्शन—जिसका स्पर्श; विस्फुलिङ्गे—अग्नि की चिनगारियाँ छोड़ता हुआ; निष्पिण्ढि निष्पिण्ढि—कुचल दीजिये, कुचल दीजिये; अजित-प्रिया—श्रीभगवान् को अत्यन्त प्रिय; असि—हो; कुष्माण्ड—कुष्माण्ड नामक निशाचर; वैनायक—वैनायक नामक प्रेत; यक्ष—यक्ष नामक भूत प्रेत; रक्षः—राक्षस; भूत—भूत नामक प्रेत; ग्रहान्—तथा ग्रह नामक दुष्ट असुर; चूर्णय—चूर-चूर कर दो; चूर्णय—चूर-चूर कर दो; अरीन्—मेरे शत्रुओं को।

हे श्रीभगवान् के हाथ की गदे! तुम वज्र के समान शक्तिशाली अग्नि की चिनगारियाँ उत्पन्न करो, तुम भगवान् की अत्यन्त प्रिय हो। मैं भी उन्हीं का दास हूँ, अतः कुष्माण्ड, वैनायक, यक्ष, राक्षस, भूत तथा ग्रह-गणों को कुचल देने में मेरी सहायता करो। कृपापूर्वक उन्हें चूर चूर कर दो।

त्वं यातुधानप्रमथप्रेतमातृ-
पिशाचविप्रग्रहघोरदृष्टीन् ।
दरेन्द्र विद्रावय कृष्णपूरितो
भीमस्वनोऽरेर्हृदयानि कम्पयन् ॥ २५॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; यातुधान—राक्षस; प्रमथ—प्रमथगण; प्रेत—प्रेतगण; मातृ—माताएँ; पिशाच—पिशाच; विप्र-ग्रह—ब्रह्म राक्षस; घोर-दृष्टीन्—अत्यन्त भयानक नेत्रों वाले; दरेन्द्र—हे भगवान् के हाथों के शंख, पांचजन्य; विद्रावय—भगा दें; कृष्ण-पूरितः—कृष्ण द्वारा फूँके जाने पर; भीम-स्वनः—अत्यन्त डरावना शब्द करते हुए; अरेः—शत्रु के; हृदयानि—हृदयों को; कम्पयन्—हिलाते हुए।

भगवान् के हाथों में धारण किए हुए हे शंखश्रेष्ठ, हे पांचजन्य! तुम भगवान् श्रीकृष्ण की श्वास से सदैव पूरित हो, अतः तुम ऐसी डरावनी ध्वनि उत्पन्न करो जिससे राक्षस, प्रमथ भूत, प्रेत, माताएँ, पिशाच तथा ब्रह्म राक्षस जैसे शत्रुओं के हृदय काँपने लगें।

त्वं तिग्मधारासिवरारिसैन्य-
मीशप्रयुक्तो मम छिन्धि छिन्धि ।
चक्षूंषि चर्मञ्छतचन्द्र छादय
द्विषामघोनां हर पापचक्षुषाम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; तिग्म-धार-असि-वर—हे तीक्ष्ण धारवाली श्रेष्ठ तलवार; अरि-सैन्यम्—शत्रु के सैनिकों को; ईश-प्रयुक्तः—श्रीभगवान् द्वारा काम में लाई जाने वाली; मम—मेरा; छिन्धि छिन्धि—खण्ड-खण्ड कर दो, खण्ड-खण्ड कर दो; चक्षूंषि—आँखें; चर्मन्—हे ढाल; शत-चन्द्र—एक सौ चन्द्रमाओं के समान तेजवान् मण्डल; छादय—ढक दो; द्विषाम्—मुझसे विद्वेष करने वालों को; अघोनाम्—पूर्ण पापी; हर—निकाल लो; पाप-चक्षुषाम्—पापपूर्ण आँखों वाले।

हे तलवारों में श्रेष्ठ तीक्ष्ण धार वाली तलवार! तुम श्रीभगवान् द्वारा काम में लायी जाती हो। कृपा करके तुम मेरे शत्रुओं के सैनिकों को खण्ड-खण्ड कर दो; कृपया उन्हें खण्ड-खण्ड कर दो। हे सैकड़ों चन्द्रमण्डल के समान वृत्ताकारों से अंकित तेजमान ढाल! पापी दुश्मनों की आँखें ढक दो और उनकी पापी आँखों को निकाल लो।

यन्नो भयं ग्रहेभ्योऽभूत्केतुभ्यो नृभ्य एव च ।
सरीसृपेभ्यो दंष्ट्रिभ्यो भूतेभ्योंऽहोभ्य एव च ॥ २७ ॥
सर्वाण्येतानि भगवन्नामरूपानुकीर्तनात् ।
प्रयान्तु सङ्क्षयं सद्यो ये नः श्रेयःप्रतीपकाः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; नः—हमारे; भयम्—भय; ग्रहेभ्यः—ग्रह नामक असुर से; अभूत्—था; केतुभ्यः—गिरने वाले तारों से; नृभ्यः—विद्वेषी मनुष्यों से; एव च—भी; सरीसृपेभ्यः—साँपों या बिच्छुओं से; दंष्ट्रिभ्यः—बाघों, भेड़ियों तथा असुरों जैसे तीक्ष्ण दाँतों वाले पशुओं से; भूतेभ्यः—भूतों से अथवा भौतिक तत्त्वों (क्षिति, जल, अग्नि आदि) से.); अंहोभ्यः—पापकर्मों से; एव च—भी; सर्वाणि एतानि—ये सब; भगवत्-नाम-रूप-अनुकीर्तनात्—श्रीभगवान् के दिव्य रूप, नाम, लक्षण तथा वैशिष्ट्य के कीर्तन से; प्रयान्तु—प्राप्त होने दो; सङ्क्षयम्—पूर्ण विनाश को; सद्यः—तुरन्त; ये—जो; नः—हमारा; श्रेयः-प्रतीपकाः—कल्याण में बाधक।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के दिव्य नाम, रूप, गुण तथा साजसामग्री का कीर्तन हमें अशुभ नक्षत्रों, केतुओं, विद्वेषी मनुष्यों, सर्पों, बिच्छुओं तथा बाघों-भेड़ियों जैसे पशुओं के प्रभाव से बचाये। वह प्रेतों से तथा क्षिति, जल, पावक, वायु, जैसे भौतिक तत्त्वों और तड़ित से तथा पूर्व पापों से हमारी रक्षा करे। हम अपने शुभ जीवन में इन बाधाओं से सदैव भयभीत रहते हैं, अतः हरे कृष्ण महामंत्र के जप से इन सबका पूर्ण विनाश हो।

गरुडो भगवान्स्तोत्रस्तोभश्छन्दोमयः प्रभुः ।
रक्षत्वशेषकृच्छ्रेभ्यो विष्वक्सेनः स्वनामभिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

गरुडः—भगवान् विष्णु का वाहन, गरुड़; भगवान्—श्रीभगवान् के समान शक्तिशाली; स्तोत्र-स्तोभः—जिनकी स्तुति चुने हुए श्लोकों एवं गीतों से की जाती है; छन्दः-मयः—साक्षात् वेद; प्रभुः—भगवान्; रक्षतु—रक्षा करें; अशेष-कृच्छ्रेभ्यः—अनन्त दुखों से; विष्वक्सेनः—श्रीविष्वक्सेन; स्व-नामभिः—अपने पवित्र नाम से।

भगवान् विष्णु के वाहन श्रीगरुड़ श्रीभगवान् के समान शक्तिशाली होने के कारण सर्वपूज्य हैं। वे साक्षात् वेद हैं और चुने हुए श्लोकों से उनकी पूजा की जाती है। वे सभी भयानक स्थितियों में हमारी रक्षा करें। भगवान् विष्वक्सेन अपने पवित्र नामों के द्वारा हमें सभी संकटों से बचायें।

सर्वापद्भ्यो हरेर्नामरूपयानायुधानि नः ।
बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान्पान्तु पार्षदभूषणाः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सर्व-आपद्भ्यः—सभी प्रकार की विपत्तियों से; हरेः—श्रीभगवान् का; नाम—पवित्र नाम; रूप—दिव्य रूप; यान—वाहन; आयुधानि—तथा सभी शस्त्रास्त्र; नः—हमारी; बुद्धि—बुद्धि; इन्द्रिय—इन्द्रिय; मनः—मन; प्राणान्—प्राण वायु; पान्तु—रक्षा तथा पालन करें; पार्षद-भूषणाः—आभूषण तुल्य पार्षद गण।

श्रीभगवान् के पवित्र नाम, दिव्य रूप, वाहन तथा आयुध, जो उनके पार्षदों के समान उनकी शोभा बढ़ाने वाले हैं, हमारी बुद्धि, इन्द्रियों, मन तथा प्राण की सभी प्रकार के संकटों से रक्षा करें।

तात्पर्य : दिव्य रूप भगवान् के अनेक पार्षद हैं जिनमें उनके आयुध तथा वाहन भी सम्मिलित हैं। आध्यात्मिक जगत में कुछ भी भौतिक नहीं है। तलवार, धनुष, गदा, चक्र तथा भगवान् के शरीर को अलंकृत करने वाली प्रत्येक वस्तु आध्यात्मिक जीवनी शक्ति है। इसीलिए भगवान् को 'अद्वय-ज्ञान' कहा गया है, जिससे यह सूचित होता है कि उनमें तथा उनके नाम, रूप, गुण, आयुध इत्यादि में कोई अन्तर नहीं है। उनसे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु आध्यात्मिक अस्तित्त्व की श्रेणी में है। वे विभिन्न रूपों में भगवान् की सेवा में काम आती हैं।

यथा हि भगवानेव वस्तुतः सदसच्च यत् ।
सत्येनानेन नः सर्वे यान्तु नाशमुपद्रवाः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; हि—निस्सन्देह; भगवान्—श्रीभगवान्; एव—निश्चय ही; वस्तुतः—अन्तिम रूप से; सत्—प्रकट; असत्—अप्रकट; च—तथा; यत्—जो भी; सत्येन—सत्य से; अनेन—यह; नः—हमारे; सर्वे—सभी; यान्तु—चले जाँय, दूर हों; नाशम्—संहार को; उपद्रवाः—उपद्रव।

यह सूक्ष्म तथा स्थूल दृश्य जगत भौतिक है, तो भी यह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से अभिन्न है, क्योंकि वस्तुतः वे ही समस्त कारणों के कारण हैं। कारण तथा कार्य वास्तव में एक ही हैं, क्योंकि कार्य में कारण विद्यमान रहता है। अतः परम सत्य श्रीभगवान् हमारे समस्त संकटों को अपने किसी भी शक्तिशाली अंग से नष्ट कर सकते हैं।

यथैकात्म्यानुभावानां विकल्परहितः स्वयम् ।
भूषणायुधलिङ्गाख्या धत्ते शक्तीः स्वमायया ॥ ३२ ॥
तेनैव सत्यमानेन सर्वज्ञो भगवान्हरिः ।
पातु सर्वैः स्वरूपैर्नः सदा सर्वत्र सर्वगः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; ऐकात्म्य—विभिन्न रूपों में प्रकट एकरूपता; अनुभावानाम्—विचारकों के; विकल्प-रहितः—भेद रहित; स्वयम्—स्वयं; भूषण—अलंकरण; आयुध—शस्त्रास्त्र; लिङ्ग-आख्याः—गुण तथा विभिन्न नाम; धत्ते—धारण करता है; शक्तीः—ऐश्वर्य, प्रभाव, शक्ति, ज्ञान, सौंदर्य तथा त्याग जैसी शक्तियाँ; स्व-मायया—अपनी आत्मशक्ति के प्रसार से; तेन एव—उसके द्वारा; सत्य-मानेन—वास्तविक ज्ञान; सर्व-ज्ञः—सर्वज्ञाता; भगवान्—श्रीभगवान्; हरिः—जीवात्माओं के मोह को हरने वाले; पातु—रक्षा करें; सर्वैः—सभी; स्व-रूपैः—अपने रूपों से; नः—हमको; सदा—सदैव; सर्वत्र—सभी जगहों पर; सर्व-गः—सर्वव्यापी।

श्रीभगवान्, जीवात्माएँ, भौतिक शक्ति, आध्यात्मिक शक्ति तथा सम्पूर्ण सृष्टि—वे सभी व्यष्टियाँ हैं। अन्ततोगत्वा ये सब मिलकर परब्रह्म का निर्माण करती हैं। अतः जो आत्मज्ञानी हैं, वे भिन्नता में एकता देखते हैं। ऐसे बढ़ेचढ़े पुरुषों के लिए भगवान् के शारीरिक अलंकरण, उनके नाम, उनका यश, उनके लक्षण एवं रूप तथा आयुध उनकी शक्ति की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। उनके समुन्नत आध्यात्मिक ज्ञान के अनुसार विभिन्न रूपों में प्रकट होने वाले सर्वज्ञ भगवान् सर्वत्र विद्यमान हैं। वे सदैव सभी विपदाओं से सर्वत्र हमारी रक्षा करें।

तात्पर्य : आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नत पुरुष जानता है, कि एकमात्र श्रीभगवान् का ही अस्तित्त्व है। *भगवद्गीता* (९.४) में भी इसकी पुष्टि हुई है जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—*मया ततम् इदं सर्वम्*—इससे सूचित होता है कि प्रत्येक दिखने वाली वस्तु उनकी शक्ति का प्रसार है। *विष्णु पुराण* (१.२२.५२) में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—

एकदेश स्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा।

परस्य ब्रह्मण: शक्तिस्तथेदम् अखिलं जगत्॥

''जिस प्रकार अग्नि एक स्थान में रहकर अपने प्रकाश तथा ताप को सर्वत्र फैलाती है, उसी प्रकार सर्वशक्तिमान श्रीभगवान् यद्यपि वैकुण्ठ धाम में स्थित हैं, किन्तु उनका विस्तार भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत में विभिन्न शक्तियों के द्वारा होता है।'' चूँकि कार्य-कारण परमेश्वर ही हैं, अत: उनमें कोई अन्तर नहीं होता। फलत: श्रीभगवान् के अलंकरण तथा आयुध उनकी आत्म-शक्ति के प्रसार होने के कारण उनसे अभिन्न हैं। भगवान् तथा उनकी विविध रूप से प्रस्तुत शक्तियों में कोई अन्तर नहीं है। *पद्मपुराण* से भी इसकी पुष्टि होती है—

नाम चिन्तामणि: कृष्णश्चैतन्यरसविग्रह:।

पूर्ण: शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान् नामनामिनो:॥

भगवान् का पवित्र नाम पूर्णतया भगवान् के समरूप है। पूर्ण शब्द का अर्थ है 'पूरा'। जिस प्रकार भगवान् सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ हैं, उसी तरह भगवान् के नाम, रूप, गुण, साज-सामग्री तथा उनकी प्रत्येक वस्तु पूर्ण शुद्ध, नित्य तथा निष्कलुष है। भगवान् के आभूषणों एवं वाहनों की स्तुति मिथ्या नहीं है, क्योंकि वे भगवान् के ही समान उत्तम हैं। भगवान् सर्वव्यापी हैं, अत: वे घट-घट वासी हैं और प्रत्येक वस्तु उनमें स्थित है। अत: भगवान् के आयुधों या आभूषणों की पूजा में भी वही शक्ति है, जो भगवान् की पूजा में। मायावादी या तो भगवान् के रूप को अस्वीकार करते हैं या कहते हैं कि वह माया या छद्म है, किन्तु भली-भाँति विचार करने पर पता लगेगा कि यह कथन स्वीकार्य नहीं है। यद्यपि भगवान् का आदि रूप तथा उनका निराकार अंश

एक हैं, किन्तु भगवान् अपने रूप, गुण तथा धाम को शाश्वत रूप से बनाये रखते हैं। इसलिए इस स्तुति—*पातु सर्वैः स्वरूपैर्नः सदा सर्वत्र सर्वगः*—में कहा गया है कि विभिन्न रूपों में सर्वत्र व्याप्त भगवान् हमारी हर जगह रक्षा करें। भगवान् सदैव ही सर्वत्र अपने नाम, रूप, गुण, लक्षण तथा साज सामग्री से विद्यमान रहते हैं और इन सबों में भक्तों की रक्षा करने की समान शक्ति रहती है। श्रील मध्वाचार्य ने इस की व्याख्या इस प्रकार से की है—

एक एव परो विष्णुर्भूषाहेति ध्वजेष्वजः।

तत्तच्छक्तिप्रदत्वेन स्वयमेव व्यवस्थितः।

सत्येनानेन मां देवः पातु सर्वेश्वरो हरिः॥

विदिक्षु दिक्षूर्ध्वमधः समन्ता-
दन्तर्बहिर्भगवान्नारसिंहः ।
प्रहापयँल्लोकभयं स्वनेन
स्वतेजसा ग्रस्तसमस्ततेजाः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

विदिक्षु—सभी कोनों में; दिक्षु—समस्त दिशाओं में (पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण) में; ऊर्ध्वम्—ऊपर; अधः—नीचे; समन्तात्—चारों ओर; अन्तः—भीतर; बहिः—बाहर; भगवान्—श्रीभगवान्; नारसिंहः—नृसिंह(आधे सिंह तथा आधे मनुष्य) देव के रूप में; प्रहापयन्—पूर्णतया विनष्ट करते हुए; लोक-भयम्—पशु, विष, आयुध, जल, वायु, अग्नि इत्यादि से उत्पन्न भय; स्वनेन—अपनी गर्जना से अथवा अपने भक्त प्रह्लाद महाराज के स्वर से; स्व-तेजसा—अपने निजी तेज से; ग्रस्त—आच्छादित; समस्त—अन्य सभी; तेजाः—प्रभाव।

प्रह्लाद महाराज ने भगवान् नृसिंहदेव के पवित्र नाम का उच्चस्वर से जप किया। अपने भक्त प्रह्लाद महाराज के लिए गर्जना करने वाले श्रीनृसिंहदेव! आप उन संकटों के भय से हमारी रक्षा करें जो विष, आयुध, जल, अग्नि, वायु इत्यादि के द्वारा समस्त दिशाओं में महा-भटों के द्वारा फैलाया जा चुका है। हे भगवान्! आप अपने दिव्य प्रभाव से इनके प्रभाव को आच्छादित कर लें। नृसिंहदेव समस्त दिशि-दिशाओं में, ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर हमारी रक्षा करें।

मघवन्निदमाख्यातं वर्म नारायणात्मकम् ।
विजेष्यसेऽञ्जसा येन दंशितोऽसुरयूथपान् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

मघवन्—हे इन्द्र; इदम्—यह; आख्यातम्—कह सुनाया; वर्म—रहस्यमय कवच; नारायण-आत्मकम्—नारायण से सम्बन्धित; विजेष्यसे—तुम जीतोगे; अञ्जसा—सरलतापूर्वक; येन—जिससे; दंशित:—सुरक्षित होकर; असुर-यूथपान्—असुरों के मुखियों को।

विश्वरूप ने आगे कहा—हे इन्द्र! मैंने तुमसे नारायण के इस गुप्त कवच को कह सुनाया। तुम इस सुरक्षात्यक कवच को धारण करके असुरों के नायकों को जीतने में निश्चय ही समर्थ होगे।

एतद्धारयमाणस्तु यं यं पश्यति चक्षुषा ।
पदा वा संस्पृशेत्सद्य: साध्वसात्स विमुच्यते ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; धारयमाण:—धारण करने वाला व्यक्ति; तु—लेकिन; यम् यम्—जिस किसी को; पश्यति—देखता है; चक्षुषा—अपनी आँखों से; पदा—अपने पैरों से; वा—अथवा; संस्पृशेत्—छूता है; सद्य:—तुरन्त; साध्वसात्—समस्त भय से; स:—वह; विमुच्यते—मुक्त हो जाता है।

यदि कोई इस कवच को धारण करता है, तो वह जिस किसी को अपने नेत्रों से देखता है, अथवा पैरों से छू देता है, वह तुरन्त ही उपर्युक्त समस्त संकटों से विमुक्त हो जाता है।

न कुतश्चिद्भयं तस्य विद्यां धारयतो भवेत् ।
राजदस्युग्रहादिभ्यो व्याध्यादिभ्यश्च कर्हिचित् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; कुतश्चित्—कहीं से; भयम्—भय; तस्य—उसका; विद्याम्—यह रहस्यमय स्तोत्र; धारयत:—प्रयोग करते हुए; भवेत्—प्रकट हो; राज—सरकार से; दस्यु—चोर-उचक्कों से; ग्रह-आदिभ्य:—असुरों आदि से; व्याधि-आदिभ्य:—रोगों इत्यादि से; च—भी; कर्हिचित्—किसी समय।

नारायण-कवच नामक यह स्तोत्र नारायण के दिव्यरूप से सम्बद्ध सूक्ष्म ज्ञान से युक्त है। जो इस स्तोत्र का प्रयोग करता है, वह सरकार, लुटेरों, दुष्ट असुरों या किसी प्रकार के रोग द्वारा न तो विचलित किया जाता है न ही सताया जाता है।

इमां विद्यां पुरा कश्चित्कौशिको धारयन्द्विजः ।
योगधारणया स्वाङ्गं जहौ स मरुधन्वनि ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

इमाम्—यह; विद्याम्—स्तोत्र; पुरा—प्राचीन काल में; कश्चित्—कोई; कौशिकः—कौशिक; धारयन्—प्रयोग करके; द्विजः—ब्राह्मण; योग-धारणया—योग बल से; स्व-अङ्गम्—अपना शरीर; जहौ—त्याग दिया; सः—वह; मरु-धन्वनि—मरुस्थल में।

हे देवेन्द्र! प्राचीन काल में कौशिक नाम के एक ब्राह्मण ने इस कवच का प्रयोग किया और उसने अपने योगबल से मरुभूमि में जान बूझ कर अपना शरीर त्याग दिया।

तस्योपरि विमानेन गन्धर्वपतिरेकदा ।
ययौ चित्ररथः स्त्रीभिर्वृतो यत्र द्विजक्षयः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके मृतशरीर के; उपरि—ऊपर; विमानेन—विमान से; गन्धर्व-पतिः—गन्धर्व लोक के राजा चित्ररथ; एकदा—एक बार; ययौ—गया; चित्ररथः—चित्ररथ; स्त्रीभिः—अनेक सुन्दर स्त्रियों द्वारा; वृतः—घिरा हुआ; यत्र—जहाँ; द्विज-क्षयः—ब्राह्मण कौशिक मरा था।

एक बार अनेक सुन्दरियों से घिरा, गन्धर्वलोक का राजा चित्ररथ अपने विमान से उस स्थान के ऊपर से निकला, जहाँ वह ब्राह्मण मरा था और उसका मृत शरीर पड़ा हुआ था।

गगनान्न्यपतत्सद्यः सविमानो ह्यवाक्शिराः ।
स वालिखिल्यवचनादस्थीन्यादाय विस्मितः ।
प्रास्य प्राचीसरस्वत्यां स्नात्वा धाम स्वमन्वगात् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

गगनात्—आकाश से; न्यपतत्—गिरा; सद्यः—अचानक; स-विमानः—अपने विमान समेत; हि—निश्चय ही; अवाक्-शिराः—नीचे की ओर सिर किये; सः—वह; वालिखिल्य—वालिखिल्य नामक मुनियों के; वचनात्—उपदेश से; अस्थीनि—सभी अस्थियाँ; आदाय—लाकर; विस्मितः—आश्चर्यचकित; प्रास्य—फेंक कर; प्राची-सरस्वत्याम्—पूर्व की ओर बहने वाली सरस्वती नदी में; स्नात्वा—उस नदी में नहाकर; धाम—धाम को; स्वम्—अपने; अन्वगात्—लौट गया।

अचानक चित्ररथ सिर के बल अपने विमान सहित नीचे गिरने पर विवश कर दिया गया। उसे आश्चर्य हुआ। वालिखिल्य मुनियों ने उसे आदेश दिया कि उस ब्राह्मण की अस्थियाँ वह निकट ही स्थित सरस्वती नदी में प्रवाहित कर दे। उसे ऐसा ही करना पड़ा तथा अपने धाम लौटने के पूर्व नदी में स्नान करना पड़ा।

श्रीशुक उवाच

य इदं शृणुयात्काले यो धारयति चादृतः ।
तं नमस्यन्ति भूतानि मुच्यते सर्वतो भयात् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; यः—जो कोई; इदम्—यह; शृणुयात्—सुनेगा; काले—भय के समय; यः—जो कोई; धारयति—इस स्तोत्र का प्रयोग करता है; च—भी; आदृतः—श्रद्धा तथा आदर के साथ; तम्—उसको; नमस्यन्ति—नमस्कार करते हैं; भूतानि—सभी जीव; मुच्यते—छूट जाते हैं; सर्वतः—समस्त; भयात्—भयों से।

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने कहा, हे महाराज परीक्षित! जो कोई इस कवच का उपयोग करता है अथवा इसके विषय में श्रद्धा तथा सम्मानपूर्वक श्रवण करता है, वह भौतिक संसार की स्थितियों से उत्पन्न समस्त प्रकार के भयों से तुरन्त मुक्त हो जाता है और सभी जीवों द्वारा पूजा जाता है।

एतां विद्यामधिगतो विश्वरूपाच्छतक्रतुः ।
त्रैलोक्यलक्ष्मीं बुभुजे विनिर्जित्य मृधेऽसुरान् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

एताम्—यह; विद्याम्—स्तोत्र; अधिगतः—प्राप्त; विश्वरूपात्—विश्वरूप ब्राह्मण से; शत-क्रतुः—स्वर्ग के राजा इन्द्र ने; त्रैलोक्य-लक्ष्मीम्—तीनों लोकों का समस्त ऐश्वर्य; बुभुजे—भोग किया; विनिर्जित्य—जीतकर; मृधे—युद्ध में; असुरान्—सभी असुरों को।

एक सौ यज्ञों को करने वाले राजा इन्द्र ने इस रक्षा-स्तोत्र को विश्वरूप से प्राप्त किया। असुरों को जीत लेने के बाद उसने तीनों लोकों के सभी ऐश्वर्य का भोग किया।

तात्पर्य : विश्वरूप द्वारा स्वर्ग के राजा इन्द्र को प्रदत्त यह गुह्य मंत्रमय कवच इतना प्रभावशाली सिद्ध हुआ कि इन्द्र असुरों को जीत सका और अबाध रूप से तीनों लोकों का ऐश्वर्य भोग सका। इस प्रसंग में मध्वाचार्य का कहना है—

विद्याः कर्माणि च सदा गुरोः प्राप्ताः फलप्रदाः ।

अन्यथा नैव फलदाः प्रसन्नोक्ताः फलप्रदाः ॥

मनुष्य को चाहिए कि प्रामाणिक गुरु से ही सभी प्रकार के मंत्र ग्रहण करे; अन्यथा मंत्र सफल

नहीं होता। *भगवद्गीता* (४.३४) में भी ऐसा ही कहा गया है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन: ॥

''सद्गुरु के शरणागत होकर दण्डवत् प्रणाम्, विनम्र जिज्ञासा तथा निष्कपट भाव से उनकी सेवा करके उस तत्त्व को जाने। तत्त्व को जानने वाले आत्मज्ञानी महापुरुष तेरे लिए ज्ञान का उपदेश दे सकते हैं'' सभी प्रकार के मंत्रों को वैध गुरु से ग्रहण करना चाहिए और शिष्यों को चाहिए कि गुरु के चरणकमलों की शरण में जाकर उसे सभी प्रकार से प्रसन्न रखें। *पद्मपुराण* में यह भी कहा गया है—*सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते निष्फला मता: ।* शिष्य परम्पराएँ या सम्प्रदाय चार प्रकार के हैं—ब्रह्म सम्प्रदाय, रुद्र सम्प्रदाय, श्री सम्प्रदाय तथा कुमार सम्प्रदाय। यदि कोई आध्यात्मिक ज्ञान में अग्रसर होना चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह इन प्रामाणिक सम्प्रदायों में से किसी से मंत्र ग्रहण करे अन्यथा वह आध्यात्मिक जीवन में कभी अग्रसर नहीं हो सकेगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध के अन्तर्गत ''नारायण-कवच'' नामक नामक आठवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter नौ

वृत्रासुर राक्षस का आविर्भाव

इस अध्याय में बताया गया है कि स्वर्ग के राजा इन्द्र ने विश्वरूप का वध कर दिया, अत: विश्वरूप के पिता ने इन्द्र को मारने के लिए एक यज्ञ किया। जब उस यज्ञ से वृत्रासुर उत्पन्न हुआ तो देवता डर के मारे श्रीभगवान् की शरण में गये और उनका यशोगान करने लगे।

चूँकि विश्वरूप ने चुपके से स्नेहवश, असुरों को यज्ञ की हवि प्रदान की थी, अत: जब इन्द्र को यह पता लगा तो उसने विश्वरूप का सिर काट लिया। बाद में इन्द्र को विश्वरूप को मारने का पश्चात्ताप हुआ, क्योंकि विश्वरूप ब्राह्मण था। इन्द्र चाहता तो ब्रह्महत्या के पापपूर्ण कृत्य को

निष्प्रभावी बना सकता था, किन्तु उसने ऐसा नहीं किया। उलटे उसने हत्या का पाप स्वीकार कर लया। बाद में उसने पाप को स्थल, जल, वृक्ष तथा स्त्रियों में बाँट दिया। चूँकि पृथ्वी ने पाप का चतुर्थांश स्वीकार किया, इसलिए पृथ्वी का एक भाग मरुस्थल बन गया। वृक्षों ने भी उतना ही पाप स्वीकार किया, इसलिए उनसे रस चूसता है, जिसे पीना मना है। स्त्रियों ने पाप का चतुर्थांश ग्रहण किया था, इसलिए वे मासिक धर्म के समय अस्पृश्य होती हैं। चूँकि जल ने भी पाप स्वीकार किये थे, अतः बुलबुले उठने वाला जल किसी काम में नहीं लाया जा सकता है।

विश्वरूप के वध के पश्चात् उसके पिता त्वष्टा ने इन्द्र को मारने के लिए यज्ञ किया। दुर्भाग्यवश यदि मंत्रों का अनियमित उच्चारण हो तो वे विपरीत फल देते हैं। त्वष्टा के यज्ञ में ऐसा ही हुआ। जब वह इन्द्र के वध के लिए यज्ञ कर रहा था, तो उसने इन्द्र के शत्रुओं की वृद्धि के लिए एक मंत्र पढ़ा, किन्तु मंत्र के सही-सही न पढ़े जाने से इन्द्र का शत्रु वृत्रासुर नामक असुर उत्पन्न हो गया। उसके भयानक रूप से सारा संसार भयभीत हो उठा। उसके निजी तेज के समक्ष देवताओं की शक्ति भी घट गई। अपनी रक्षा का कोई उपाय न देखकर सभी देवता यज्ञ-फल के भोक्ता, समग्र ब्रह्माण्ड के सर्वश्रेष्ठ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा में जुट गये। सभी देवता उनकी पूजा इसलिए करने लगे, क्योंकि वे ही भय तथा संकट से जीवों की रक्षा कर सकते हैं। श्रीभगवान् की पूजा को छोड़कर किसी अन्य देवता की शरण ग्रहण करना मानो कुत्ते की पूँछ पकड़ कर समुद्र को पार करना है। कुत्ता तैर सकता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता कि उसकी पूँछ पकड़ कर समुद्र को पार किया जा सकता है।

देवताओं से प्रसन्न होकर श्रीभगवान् ने उन्हें सलाह दी कि वे दधीचि के पास जाकर उनकी अस्थियाँ माँगें। वे देवताओं की प्रार्थना मान लेंगे और उनकी अस्थियों के द्वारा वृत्रासुर मारा जा सकेगा।

श्रीशुक उवाच

तस्यासन्विश्वरूपस्य शिरांसि त्रीणि भारत ।
सोमपीथं सुरापीथमन्नादमिति शुश्रुम ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; तस्य—उसका; आसन्—थे; विश्वरूपस्य—देवताओं के पुरोहित विश्वरूप को; शिरांसि—शिर; त्रीणि—तीन; भारत—हे महाराज परीक्षित; सोम-पीथम्—सोम पान के लिए; सुरा-पीथम्—मदिरा पान के लिए; अन्न-अदम्—खाने के लिए; इति—इस प्रकार; शुश्रुम—परम्परा प्रणाली से मैंने सुन रखा है।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—देवताओं के पुरोहित विश्वरूप के तीन सिर थे। इनमें से एक से वह सोमपान करता था, तो दूसरे से मदिरा पान और तीसरे से भोजन ग्रहण करता था। हे राजा परीक्षित! ऐसा मैंने विद्वानों से सुना है।

तात्पर्य : कोई मनुष्य स्वर्ग के राज्य, इसके राजा तथा अन्य वासियों को प्रत्यक्ष नहीं देख सकता है और न उनके अन्य कार्य-कलापों को ही देख सकता है, क्योंकि वह स्वर्गलोक नहीं जा सकता। यद्यपि आधुनिक विज्ञानियों ने अनेक अन्तरिक्षयानों का आविष्कार कर लिया है, किन्तु वे अभी चन्द्रमा तक भी नहीं पहुँच पाये, अन्य लोकों की बात तो कोसों दूर है। कोई मनुष्य प्रत्यक्ष अनुभव से मानव-अनुभूति से अधिक नहीं सीख सकता। उसे विद्वानों से सुनना चाहिए। इसीलिए महात्मा शुकदेव गोस्वामी कहते हैं, "हे राजन्! मैं तुमको वही सुना रहा हूँ जो कुछ मैंने प्रामाणिक सूत्रों से सुना है।" यह वैदिक पद्धति है। वैदिक ज्ञान को श्रुति कहा जाता है, क्योंकि यह प्रामाणिक सूत्रों से सुनकर ग्रहण किया जाता है। यह हमारे झूठे प्रयोगात्मक ज्ञान के दायरे से परे है।

स वै बर्हिषि देवेभ्यो भागं प्रत्यक्षमुच्चकैः ।
अददद्यस्य पितरो देवाः सप्रश्रयं नृप ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (विश्वरूप); वै—निस्सन्देह; बर्हिषि—यज्ञ की अग्नि में; देवेभ्यः—विशिष्ट देवताओं के लिए; भागम्—उचित हिस्सा; प्रत्यक्षम्—आँखों के सामने; उच्चकैः—मंत्रों के तेज उच्चारण से; अददत्—दिया गया; यस्य—जिसके; पितरः—पितृगण; देवाः—देवता; स-प्रश्रयम्—विनीत स्वर से; नृप—हे राजा परीक्षित।

हे महाराज परीक्षित! देवतागण विश्वरूप के पितापक्ष से सम्बन्धित थे, अतः विश्वरूप

सबों के समक्ष अग्नि में घी की आहुति इन मंत्रों का उच्चारण करके दे रहा था—"इन्द्राय इदं स्वाहा" ("यह राजा इन्द्र के लिए है") तथा "इदम् अग्नये" (यह अग्नि देव के लिए है)। वह मंत्र का उच्चारण उच्च स्वर से कर रहा था और प्रत्येक देवता को उसका उचित भाग प्रदान करता जा रहा था।

स एव हि ददौ भागं परोक्षमसुरान्प्रति ।
यजमानोऽवहद्भागं मातृस्नेहवशानुगः ॥ ३॥

शब्दार्थ

सः—वह (विश्वरूप); एव—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही; ददौ—प्रदान किया; भागम्—हिस्सा; परोक्षम्—देवताओं से छिपाकर; असुरान्—असुरगण; प्रति—को; यजमानः—यज्ञ करते हुए; अवहत्—प्रदान किया; भागम्—हिस्सा; मातृ-स्नेह—अपनी माता के स्नेह वश; वश-अनुगः—बाध्य होकर।

वह यद्यपि देवताओं के नाम से यज्ञ की अग्नि में घी आहुति डाल रहा था, किन्तु देवताओं के बिना जताये वह असुरों के नाम की भी आहुति डालता जाता था, क्योंकि वे उसकी माता के पक्ष के सम्बंधी थे।

तात्पर्य : विश्वरूप का सम्बन्ध देवताओं तथा असुरों दोनों पक्षों से था, इसलिए वह दोनों वंशों की ओर से परमेश्वर को प्रसन्न कर रहा था। किन्तु जब वह असुरों की ओर से अग्नि में आहुति डालता तो देवताओं को बिना जताये चुपके से ऐसा करता था।

तद्देवहेलनं तस्य धर्मालीकं सुरेश्वरः ।
आलक्ष्य तरसा भीतस्तच्छीर्षाण्यच्छिनद्रुषा ॥ ४॥

शब्दार्थ

तत्—वह; देव-हेलनम्—देवताओं के प्रति अपराध; तस्य—उस (विश्वरूप) का; धर्म-अलीकम्—धर्म के नाम पर धोखा; सुर-ईश्वरः—देवताओं का राजा; आलक्ष्य—देखकर; तरसा—शीघ्र; भीतः—डरा हुआ (कि विश्वरूप के आशीर्वाद से असुर शक्ति प्राप्त कर लेंगे); तत्—उसका (विश्वरूप का); शीर्षाणि—सिर; अच्छिनत्—काट दिया; रुषा—क्रोध से।

किन्तु एक बार स्वर्ग के राजा इन्द्र को पता चल गया कि विश्वरूप देवताओं को धोखा देकर असुरों की आहुतियाँ दे रहा है। अतः वह असुरों द्वारा पराजित किये जाने से अत्यधिक

भयभीत हो उठा और अतीव क्रोध में उसने विश्वरूप के तीनों सिरों को उसके कंधों से अलग कर दिया।

सोमपीथं तु यत्तस्य शिर आसीत्कपिञ्जलः ।
कलविङ्कः सुरापीथमन्नादं यत्स तित्तिरिः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सोम-पीथम्—सोमरस पीने वाले; तु—लेकिन; यत्—जो; तस्य—उस (विश्वरूप) का; शिरः—सिर; आसीत्—हो गया; कपिञ्जलः—पपीहा; कलविङ्कः—गौरैया; सुरा-पीथम्—मदिरा पीने वाला; अन्न-अदम्—भोजन करने वाला; यत्—जो; सः—वह; तित्तिरिः—तीतर।

तत्पश्चात् सोमरस पीनेवाला सिर पपीहे में, सुरापान करने वाला सिर गौरैया में और भोजन करने वाला सिर तीतर में बदल गया।

ब्रह्महत्यामञ्जलिना जग्राह यदपीश्वरः ।
संवत्सरान्ते तदघं भूतानां स विशुद्धये ।
भूम्यम्बुद्रुमयोषिद्भ्यश्चतुर्धा व्यभजद्धरिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-हत्याम्—ब्राह्मण को मारने से लगने वाला पाप; अञ्जलिना—हाथ जोड़कर; जग्राह—स्वीकार कर लिया; यत् अपि—यद्यपि; ईश्वरः—अत्यन्त शक्तिमान; संवत्सर-अन्ते—एक वर्ष बाद; तत् अघम्—वह पाप; भूतानाम्—भौतिक तत्त्वों का; सः—वह; विशुद्धये—शुद्धि के लिए; भूमि—पृथ्वी के लिए; अम्बु—जल; द्रुम—वृक्ष; योषिद्भ्यः—तथा स्त्रियों के लिए; चतुर्धा—चार भागों में; व्यभजत्—बाँट दिया; हरिः—राजा इन्द्र ने।

इन्द्र इतना शक्तिशाली था कि यदि चाहता तो ब्रह्महत्या के पापफल को निरस्त कर सकता था, किन्तु उसने हाथ जोड़ कर पछताते हुए पाप-भार को स्वीकार कर लिया। उसने एक वर्ष तक यातना भोगी और तब अपनी शुद्धि के लिए हत्या के पाप को पृथ्वी, जल, वृक्ष तथा स्त्रियों में बाँट दिया।

भूमिस्तुरीयं जग्राह खातपूरवरेण वै ।
ईरिणं ब्रह्महत्याया रूपं भूमौ प्रदृश्यते ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

भूमिः—पृथ्वी; तुरीयम्—चतुर्थांश; जग्राह—स्वीकार कर लिया; खात-पूर—गड्ढों को भरने का; वरेण—आशीर्वाद के कारण; वै—निस्सन्देह; ईरिणम्—मरुस्थल; ब्रह्म-हत्यायाः—ब्राह्मण की हत्या से लगे पाप का; रूपम्—रूप; भूमौ—पृथ्वी पर; प्रदृश्यते—दिखाई पड़ता है।.

पृथ्वी ने, राजा इन्द्र से बदले में यह वरदान लेकर कि जहाँ कहीं भी गड्ढे होंगे वे समय पर अपने आप भर जायेंगे, ब्रह्महत्या के पापों का चतुर्थांश स्वीकार कर लिया। उन पापों के कारण ही हमें पृथ्वी पर अनेक मरुस्थल दिखाई पड़ते हैं।

तात्पर्य : चूँकि रेगिस्तान पृथ्वी की रूग्ण स्थिति के कारण प्रकट होता है, अतः कोई भी अनुष्ठान रेगिस्तान में नहीं सम्पन्न किया जा सकता। जिनके भाग्य में रेगिस्तान में रहना बदा है, उनके बारे में यह समझना चाहिए कि ब्रह्महत्या के पापफल के कारण वे वहाँ रह रहे हैं।

तुर्यं छेदविरोहेण वरेण जगृहुर्द्रुमाः ।
तेषां निर्यासरूपेण ब्रह्महत्या प्रदृश्यते ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तुर्यम्—चतुर्थांश; छेद—काटे जाने पर; विरोहेण—फिर से बढ़ने का; वरेण—आशीर्वाद से; जगृहुः—स्वीकार कर लिया; द्रुमाः—वृक्षों ने; तेषाम्—उनका; निर्यास-रूपेण—वृक्षों से निकलने वाले द्रव (गोंद) से; ब्रह्म-हत्या—ब्राह्मण को मारने का पाप; प्रदृश्यते—दिखाई पड़ता है।.

वृक्षों ने, इन्द्र से बदले में यह वरदान लिया कि काटे जाने पर भी उनकी शाखाएँ फिर से उग आयेंगी, ब्रह्महत्या के पापफल का चतुर्थांश ले लिया। ये पापफल वृक्षों से निकलने वाले रस के रूप में दिखाई पड़ते हैं (इसलिए इस रस को पीना वर्जित है)।

शश्वत्कामवरेणांहस्तुरीयं जगृहुः स्त्रियः ।
रजोरूपेण तास्वंहो मासि मासि प्रदृश्यते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

शश्वत्—निरन्तर; काम—कामेच्छा के; वरेण—वर से; अंहः—ब्रह्महत्या पाप; तुरीयम्—चुतर्थांश; जगृहुः—स्वीकार कर लिया; स्त्रियः—स्त्रियाँ; रजः-रूपेण—रजोकाल के रूप में; तासु—उनमें; अंहः—पाप बन्धन; मासि मासि—प्रत्येक महीने; प्रदृश्यते—दिखाई पड़ता है।.

स्त्रियों ने, इन्द्र से बदले में यह वरदान प्राप्त करके कि वे अपनी काम-वासनाओं को, जब तक वे भ्रूण के लिए हानिकर न हों, गर्भकाल में भी निरन्तर पूरी कर सकेंगी, पापफलों

का चतुर्थांश स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप स्त्रियों में प्रत्येक मास रजोदर्शन होता है।

तात्पर्य : स्त्रियों की जाति अत्यन्त कामी होती है और निरंतर बनी रहनेवाली उनकी कामवसाना कभी पूरी नहीं होती। जब इन्द्र ने यह वर दिया कि उनकी कामनाओं का कभी अन्त न हो तो स्त्रियों ने ब्रह्महत्या से लगने वाले पापफलों का चतुर्थांश अंगीकार कर लिया।

द्रव्यभूयोवरेणापस्तुरीयं जगृहुर्मलम् ।
तासु बुद्बुदफेनाभ्यां दृष्टं तद्धरति क्षिपन् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

द्रव्य—अन्य वस्तुएँ; भूयः—बढ़ने को; वरेण—वरण से; आपः—जल; तुरीयम्—चतुर्थांश; जगृहुः—स्वीकार कर लिया; मलम्—पाप; तासु—जल में; बुद्बुद-फेनाभ्याम्—बुलबुलों तथा फेन से; दृष्टम्—दृश्य; तत्—वह; हरति—भरता है; क्षिपन्—फेंककर, हटाकर।

जल ने इन्द्र से बदले में यह वर प्राप्त करके कि किसी अन्य वस्तु में जल मिलाने से उसका आयतन बढ़ जायेगा, पापफलों का चतुर्थांश स्वीकार कर लिया। इसीलिए जल में बुलबुले तथा फेन उठते हैं। मनुष्य को चाहिए कि इन्हें हटाकर के ही जल भरे।

तात्पर्य : जब दूध, फल के रस या अन्य ऐसे किसी पदार्थ के साथ जल मिलाया जाता है, तो आयतन बढ़ जाता है और लोग यह नहीं समझ पाते कि उनमें से किसकी वृद्धि हुई। इस आशीर्वाद के बदले में जल ने इन्द्र के पापों का चतुर्थांश अंगीकार कर लिया। ये पापकर्म फेन तथा बुलबुलों में दिखाई पड़ते हैं। अत: पीने के लिए जल भरते समय बुलबुले तथा फेन से बचना चाहिए।

हतपुत्रस्ततस्त्वष्टा जुहावेन्द्राय शत्रवे ।
इन्द्रशत्रो विवर्धस्व मा चिरं जहि विद्विषम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

हत-पुत्रः—जिसका पुत्र मर चुका है; ततः—तत्पश्चात्; त्वष्टा—त्वष्टा ने; जुहाव—यज्ञ किया; इन्द्राय—इन्द्र के लिए; शत्रवे—एक शत्रु उत्पन्न करने के लिए; इन्द्र-शत्रो—हे इन्द्र के शत्रु; विवर्धस्व—बढ़ो; मा—मत; चिरम्—दीर्घकाल के बाद; जहि—मारो; विद्विषम्—अपना शत्रु।

विश्वरूप के वध के पश्चात् उसके पिता त्वष्टा ने इन्द्र को मारने के लिए अनुष्ठान किये।

उसने अग्नि में यह उच्चारण करके आहुति डाली, ''हे इन्द्र के शत्रु! तुम्हारी अभिवृद्धि हो, तुम अविलम्ब अपने शत्रु का वध करो।''

तात्पर्य : त्वष्टा के द्वारा उच्चरित मंत्र में कुछ त्रुटि रह गई थी, क्योंकि उसने ह्रस्व के बजाय दीर्घ स्वर में उच्चारण किया जिससे मंत्र का अर्थ बदल गया था। त्वष्टा *इन्द्र शत्रो* शब्द का उच्चारण करना चाहता था जिसका अर्थ है ''हे इन्द्र के शत्रु।'' इस मंत्र में इन्द्र सम्बन्ध कारक (षष्ठी) में आया है और *इन्द्रशत्रो* में तत्पुरुष समास कहलाता है। दुर्भाग्यवश त्वष्टा ने इस मंत्र का थोड़े समय के बजाय देर तक उच्चारण किया जिससे उसका अर्थ ''इन्द्र के शत्रु'' से बदलकर, ''इन्द्र, जो शत्रु है'' हो गया। फलस्वरूप इन्द्र का शत्रु न प्रकट होकर वृत्रासुर का शरीर प्रकट हुआ, जिसका शत्रु इन्द्र था।

अथान्वाहार्यपचनादुत्थितो घोरदर्शनः ।
कृतान्त इव लोकानां युगान्तसमये यथा ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अथ—तदनन्तर; अन्वाहार्य-पचनात्—अन्वाहार्य नामक अग्नि से; उत्थितः—निकला; घोर-दर्शनः—अत्यन्त भयानक लगने वाला; कृतान्तः—साक्षात् प्रलय; इव—सदृश; लोकानाम्—समस्त लोकों का; युग-अन्त—कल्पान्त; समये—समय पर; यथा—जिस प्रकार।

तत्पश्चात् अन्वाहार्य नामक यज्ञ अग्नि के दक्षिणी कोने से एक भयावना व्यक्ति प्रकट हुआ जो युगान्त में समग्र ब्रह्माण्ड का विनाश करने वाले के समान प्रतीत हो रहा था।

विष्वग्विवर्धमानं तमिषुमात्रं दिने दिने ।
दग्धशैलप्रतीकाशं सन्ध्याभ्रानीकवर्चसम् ॥ १३ ॥
तप्तताम्रशिखाश्मश्रुं मध्याह्नार्कोग्रलोचनम् ॥ १४ ॥
देदीप्यमाने त्रिशिखे शूल आरोप्य रोदसी ।
नृत्यन्तमुन्नदन्तं च चालयन्तं पदा महीम् ॥ १५ ॥
दरीगम्भीरवक्त्रेण पिबता च नभस्तलम् ।
लिहता जिह्वयर्क्षाणि ग्रसता भुवनत्रयम् ॥ १६ ॥

महता रौद्रदंष्ट्रेण जृम्भमाणं मुहुर्मुहुः ।
वित्रस्ता दुद्रुवुर्लोका वीक्ष्य सर्वे दिशो दश ॥ १७॥

शब्दार्थ

विष्वक्—चारों ओर; विवर्धमानम्—बढ़ता हुआ; तम्—उसको; इषु-मात्रम्—बाण की उड़ान; दिने दिने—प्रतिदिन; दग्ध—जला हुआ; शैल—पर्वत; प्रतीकाशम्—सदृश; सन्ध्या—शाम को; अभ्र-अनीक—बादलों के समूह की तरह; वर्चसम्—तेजमय; तप्त—पिघला हुआ; ताम्र—ताँबे के समान; शिखा—बाल; श्मश्रुम्—मूछें तथा दाढ़ी; मध्याह्न—दोपहर; अर्क—सूर्य के समान; उग्र-लोचनम्—प्रचण्ड नेत्र वाला; देदीप्यमाने—प्रकाशमान; त्रि-शिखे—तीन नोंक वाले; शूले—अपने भाले में; आरोप्य—रखकर; रोदसी—पृथ्वी तथा स्वर्ग; नृत्यन्तम्—नाचते हुए; उन्नदन्तम्—उच्चस्वर करते हुए; च—तथा; चालयन्तम्—चलते हुए; पदा—अपने पाँव से; महीम्—पृथ्वी को; दरी-गम्भीर—गुफा के समान गहरी; वक्त्रेण—मुख से; पिबता—पीता हुआ; च—भी; नभस्तलम्—आकाश को; लिहता—चाटते हुए; जिह्वया—जीभ से; ऋक्षाणि—तारों को; ग्रसता—निगल कर; भुवन-त्रयम्—तीनों लोकों को; महता—महान्; रौद्र-दंष्ट्रेण—भयानक दाँतों से; जृम्भमाणम्—जम्हाई लेते हुए; मुहुः मुहुः—पुनः पुनः; वित्रस्ताः—भयानक; दुद्रुवुः—दौड़ा; लोकाः—लोग; वीक्ष्य—देखकर; सर्वे—समस्त; दिशः दश—दशों दिशाओं में।

उस असुर का शरीर चारों दिशाओं में छोड़े हुए बाण के समान प्रतिदिन बढ़ने लगा। वह लम्बा और काला था, मानो कोई जला हुआ पर्वत हो। वह संध्याकालीन बादलों के समूह की भाँति दीप्ति से युक्त था। असुर के शरीर के बाल तथा उसकी दाढ़ी-मूछें पिघले ताँबे के रंग की थीं। उसके नेत्र मध्यान्हकालीन सूर्य की भाँति भेदने वाले थे। वह दुर्जय था और ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो अपने प्रज्ज्वलित त्रिशूल पर तीनों लोकों को धारण किये हो। उच्चस्वर करके उसके नाचने और गाने से सारी पृथ्वी हिल उठी मानो भूकम्प आया हो। वह पुनः पुनः जम्हाई ले रहा था, मानो कन्दरा के समान अपने विशाल मुख में वह सारे आकाश को निगल जाना चाहत हो। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो वह आकाश के सभी तारों को अपनी जीभ से चाट रहा हो और अपने लम्बे पैने दाँतों से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को खाने जा रहा हो। उस विराट असुर को देखकर सभी व्यक्ति डर के मारे इधर-उधर चारों दिशाओं में भागने लगे।

येनावृता इमे लोकास्तपसा त्वाष्ट्रमूर्तिना ।
स वै वृत्र इति प्रोक्तः पापः परमदारुणः ॥ १८॥

शब्दार्थ

येन—जिसके द्वारा; आवृताः—प्रच्छन्न; इमे—ये सब; लोकाः—लोक; तपसा—तपस्या से; त्वाष्ट्र-मूर्तिना—त्वष्टा के पुत्र के रूप में; सः—वह; वै—निस्सन्देह; वृत्रः—वृत्र; इति—इस प्रकार; प्रोक्तः—कहलाया; पापः—साक्षात् पाप; परम-दारुणः—अत्यन्त भयानक।

उस अत्यन्त भयानक असुर ने, जो वास्तव में त्वष्टा का ही पुत्र था, अपने तप बल से सभी लोकों को आच्छादित कर लिया था। इसलिए वह वृत्र अर्थात् प्रत्येक वस्तु को आच्छादित करने वाला कहलाया।

तात्पर्य : वेदों में कहा गया है—*स इमाँल्लोकान आवृणोत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्*—चूँकि असुर ने समस्त लोकों को आच्छादित कर लिया था इसलिए उसका नाम वृत्रासुर पड़ा।

तं निजघ्नुरभिद्रुत्य सगणा विबुधर्षभाः ।
स्वैः स्वैर्दिव्यास्त्रशस्त्रौघैः सोऽग्रसत्तानि कृत्स्नशः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; निजघ्नुः—टूट पड़े; अभिद्रुत्य—दौड़कर; स-गणाः—सैनिकों सहित; विबुध-ऋषभाः—सभी बड़े-बड़े देवता; स्वैः स्वैः—अपने-अपने; दिव्य—दिव्य; अस्त्र—धनुष-बाण; शस्त्र-ओघैः—विभिन्न प्रकार के आयुध से युक्त; सः—वह (वृत्र); अग्रसत्—निगल गया; तानि—उन (आयुधों) को; कृत्स्नशः—एकसाथ।

इन्द्र इत्यादि सभी देवता अपने सैनिकों सहित उस असुर पर टूट पड़े। वे अपने दिव्य धनुष-बाणों तथा अन्य हथियारों से उसे मारने लगे, किन्तु वृत्रासुर उनके सभी हथियार निगलता गया।

ततस्ते विस्मिताः सर्वे विषण्णा ग्रस्ततेजसः ।
प्रत्यञ्चमादिपुरुषमुपतस्थुः समाहिताः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; ते—वे (देवता); विस्मिताः—आश्चर्यचकित; सर्वे—सभी; विषण्णाः—अत्यन्त दुखी; ग्रस्त-तेजसः—अपनी शक्ति खोकर; प्रत्यञ्चम्—परमात्मा को; आदि-पुरुषम्—आदि पुरुष की; उपतस्थुः—प्रार्थना की; समाहिताः—सभी एकत्र होकर।

उस असुर की शक्ति देखकर सभी देवता अत्यन्त आश्चर्यचकित तथा निराश हो गये और उनकी सारी शक्ति जाती रही। अतः वे सभी परमात्मा अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् नारायण की पूजा करके उन्हें प्रसन्न करने के निमित्त एकत्र हुए।

श्रीदेवा ऊचुः

वाय्वम्बराग्न्यप्क्षितयस्त्रिलोका
ब्रह्मादयो ये वयमुद्विजन्तः ।
हराम यस्मै बलिमन्तकोऽसौ
बिभेति यस्मादरणं ततो नः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री-देवाः ऊचुः—देवताओं ने कहा; वायु—वायु; अम्बर—आकाश; अग्नि—अग्नि; अप्—जल; क्षितयः—तथा पृथ्वी से निर्मित; त्रि-लोकाः—तीनों लोक; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा इत्यादि; ये—जो; वयम्—हम सब; उद्विजन्तः—अत्यन्त उद्विग्न; हराम—प्रदान करते हैं; यस्मै—जिसको; बलिम्—भेंट; अन्तकः—संहर्ता, मृत्यु; असौ—वह; बिभेति—डरता है; यस्मात्—जिससे; अरणम्—शरण; ततः—इसलिए; नः—हमारा।

देवताओं ने कहा—तीनों लोकों की सृष्टि पंचतत्त्वों—क्षिति, जल, पावक, गगन तथा समीर—से हुई हैं, जिनको ब्रह्मा आदि विभिन्न देवता अपने वश में रखते हैं। हम काल से अत्यन्त भयभीत है कि वह हमारे अस्तित्त्व का अन्त कर देगा, इसलिए वह जैसा चाहता है हम वैसा कार्य करके उसको अपनी भेंट चढ़ाते हैं। किन्तु काल श्रीभगवान् से स्वयं डरता है। अतः हम उसी एकमात्र परमेश्वर की आराधना करें जो हमारी पूरी तरह से रक्षा कर सकता है।

तात्पर्य : जब किसी को मारे जाने का भय हो तो उसे श्रीभगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए। ब्रह्मा से लेकर सभी देवता उनकी आराधना करते हैं, यद्यपि वे इस भौतिक जगत के विभिन्न तत्त्वों के स्वामी हैं। *बिभेति यस्मात्* शब्द बताते हैं कि सभी असुर, चाहे वे कितने महान् तथा शक्तिशाली क्यों न हों, श्रीभगवान् से भयभीत रहते हैं। देवतागण मृत्यु से डरकर भगवान् की शरण में गये और उनसे यह प्रार्थना की यद्यपि काल सबों के लिए भयकारी है, किन्तु काल स्वयं श्रीभगवान् से डरता है, क्योंकि भगवान् को अभय कहते हैं। श्रीभगवान् की शरण में जाने से वास्तविक निर्भीकता आती है, इसलिए सभी देवताओं ने भगवान् की शरण में जाने का निश्चय किया।

अविस्मितं तं परिपूर्णकामं
स्वेनैव लाभेन समं प्रशान्तम् ।
विनोपसर्पत्यपरं हि बालिशः
श्वलाङ्गुलेनातितितर्ति सिन्धुम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अविस्मितम्—जो कभी विस्मित नहीं होता; तम्—उस (ईश्वर) को; परिपूर्ण-कामम्—परम संतुष्ट; स्वेन—अपने आप से; एव—निस्सन्देह; लाभेन—लाभ; समम्—सम-दृष्टि; प्रशान्तम्—अत्यन्त स्थिर; विना—बिना; उपसर्पति—पास जाता है; अपरम्—अन्य; हि—निस्सन्देह; बालिशः—मूढ़; श्व—कुत्ते की; लाङ्गुलेन—पूँछ से; अतितितर्ति—पार करना चाहता है; सिन्धुम्—समुद्र को।

भगवान् समस्त सांसारिक कल्पना से रहित और सदैव विस्मयविहीन हैं, वे सदैव प्रसन्नचित्त एवं अपनी स्वरूप-सिद्धि से परम संतुष्ट रहने वाले हैं। उनकी कोई सांसारिक उपाधि नहीं होती, अतः वे स्थिर एवं विरक्त रहते हैं। वही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सबों के एकमात्र आश्रय हैं। अतः जो मनुष्य किसी अन्य से अपनी रक्षा की कामना करता है, वह अवश्य ही बड़ा मूर्ख है और कुत्ते की पूँछ पकड़ कर समुद्र को पार करना चाहता है।

तात्पर्य : कुत्ता पानी में तैरना जानता है, किन्तु यदि कुत्ता समुद्र में गोता लगाता हो और कोई उसकी पूँछ पकड़कर समुद्र पार करना चाहे तो वह निपट मूर्ख है। न तो कुत्ता समुद्र पार कर सकता है और न कोई मनुष्य ही उस कुत्ते की पूँछ पकड़ कर समुद्र पार कर सकता है। इसी प्रकार जो मनुष्य अज्ञान के समुद्र को पार करना चाहता है, उसे न तो किसी देवता की, न किसी अन्य की शरण ग्रहण करनी चाहिए। उसे तो एकमात्र श्रीभगवान् की शरण में जाना चाहिए। अतः *श्रीमद्भागवत* (१०.१४.५८) का कथन है—

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशोमुरारेः ।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं यद् विपदां न तेषाम् ॥

भगवान् के चरणकमल अविनश्वर नाव के तुल्य हैं और यदि कोई इस नाव का सहारा लेता है, तो वह अज्ञान-सागर को सरलता से पार कर लेता है। अतः पद-पद में संकटों से ग्रस्त इस भौतिक जगत में रहकर भक्त के लिए कोई भय नहीं रह जाता। मनुष्य को चाहिए कि अपने

बनावटी विचारों के बजाय परम शक्तिमान की शरण खोजे।

यस्योरुशृङ्गे जगतीं स्वनावं
मनुर्यथाबध्य ततार दुर्गम् ।
स एव नस्त्वाष्ट्रभयाद्दुरन्तात्
त्राताश्रितान्वारिचरोऽपि नूनम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; उरु—अत्यधिक बलवान् तथा ऊँचे; शृङ्गे—सींग पर; जगतीम्—संसार के रूप में; स्व-नावम्—अपनी नाव; मनुः—मनु, राजा सत्यव्रत; यथा—जिस प्रकार; आबध्य—बाँधकर; ततार—पार किया; दुर्गम्—दुर्लंघ्य; सः—वह (श्रीभगवान्); एव—निश्चय ही; नः—हमको; त्वाष्ट्र-भयात्—त्वष्टा के पुत्र के भय से; दुरन्तात्—अन्तहीन; त्राता—रक्षक; आश्रितान्—(हम जैसे) आश्रितों को; वारि-चरः अपि—यद्यपि मछली का रूप धारण करके; नूनम्—निस्सन्देह।

पहले राजा सत्यव्रत नामक मनु ने मत्स्य अवतार के सींग में समग्र ब्रह्माण्ड रूपी छोटी नौका को बाँधकर आत्मरक्षा की थी। उनकी कृपा से मनु ने बाढ़ के महान् संकट से अपने को बचाया था। वे ही मत्स्यावतार त्वष्टा के पुत्र से उत्पन्न इस गम्भीर संकट से हमारी रक्षा करें।

पुरा स्वयम्भूरपि संयमाम्भ-
स्युदीर्णवातोर्मिरवैः कराले ।
एकोऽरविन्दात्पतितस्ततार
तस्माद्भयाद्येन स नोऽस्तु पारः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

पुरा—पहले (सृष्टि के समय); स्वयम्भूः—ब्रह्माजी; अपि—भी; संयम-अम्भसि—बाढ़ के जल में; उदीर्ण—अत्युच्च; वात—वायु के; ऊर्मि—तथा लहरों के; रवैः—शोर से; कराले—अत्यन्त भयावना; एकः—अकेले; अरविन्दात्—कमल आसन से; पतितः—गिरा हुआ; ततार—बच गये; तस्मात्—उस; भयात्—भयानक स्थिति से; येन—जिसके (ईश्वर) द्वारा; सः—वह; नः—हम सबका; अस्तु—हो; पारः—मोक्ष, उद्धार।

सृष्टि के प्रारम्भ में प्रचण्ड वायु से बाढ़ के जल में भयानक लहरें उठने लगीं। इनसे ऐसा भयावना शोर हुआ कि ब्रह्माजी अपने कमल-आसन से प्रलय जल में प्रायः गिर ही पड़े, किन्तु भगवान् की सहायता से वे बच गये। उसी प्रकार हम भी भगवान् से इस भयावह स्थिति से अपनी रक्षा की आशा करते हैं।

य एक ईशो निजमायया नः
ससर्ज येनानुसृजाम विश्वम् ।
वयं न यस्यापि पुरः समीहतः
पश्याम लिङ्गं पृथगीशमानिनः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यः—वह जो; एकः—एक; ईशः—नियन्ता; निज-मायया—अपनी दिव्य शक्ति से; नः—हमको; ससर्ज—उत्पन्न किया; येन—जिसके द्वारा (जिनकी कृपा से); अनुसृजाम—हम भी सृष्टि करते हैं; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; वयम्—हम; न—नहीं; यस्य—जिसका; अपि—यद्यपि; पुरः—हमारे समक्ष; समीहतः—कार्य करने वाले को; पश्याम—देखते; लिङ्गम्—रूप; पृथक्—भिन्न; ईश—नियन्ता रूप में; मानिनः—अपने बारे में सोचते हुए।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् जिन्होंने अपनी बहिरंगा शक्ति से हमारी सृष्टि की और जिनकी कृपा से हम इस विश्व की सृष्टि का विस्तार करते हैं, वे निरन्तर हमारे समक्ष परमात्मा रूप में विद्यमान हैं, किन्तु हम उनके रूप को नहीं देख पाते। हम इसीलिए देखने में असमर्थ हैं, क्योंकि हम सभी अपने आपको पृथक् तथा स्वतंत्र ईश्वर के रूप में मानते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर यह बताया गया है कि बद्धजीव श्रीभगवान् का साक्षात् दर्शन क्यों नहीं कर पाता। यद्यपि भगवान् हमारे समक्ष भगवान् श्रीकृष्ण या भगवान् रामचन्द्र के रूप में प्रकट होते हैं और मानव-समाज में नायक या राजा के रूप में रहते भी हैं, किन्तु बद्धजीव उन्हें नहीं समझ पाता। *अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्*—मूढ़ लोग श्रीभगवान् को सामान्य पुरुष मानकर उनका उपहास करते हैं। अत्यन्त तुच्छ होकर भी हम अपने आपको ईश्वर मान बैठते हैं और सोचते हैं कि हम भी विश्व की रचना कर सकते हैं अथवा दूसरा ईश्वर उत्पन्न कर सकते हैं। यही कारण है कि हम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को न तो देख सकते हैं और न समझ सकते हैं। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य का कथन है—

लिङ्गमेव पश्यामःकदाचिदभिमानस्तु देवानामपि सन्निव।
प्रायः कालेषु नास्त्येव तारतम्येन सोऽपि तु॥

हम सभी विभिन्न कोटियों से बद्ध हुए होते हैं, किन्तु हम अपने को ईश्वर समझते हैं।

इसीलिए हम न तो समझ पाते हैं कि ईश्वर कौन है, न ही उनका आमने-सामने दर्शन कर पाते हैं।

यो नः सपत्नैर्भृशमर्द्यमानान्
देवर्षितिर्यङ्नृषु नित्य एव ।
कृतावतारस्तनुभिः स्वमायया
कृत्वात्मसात्पाति युगे युगे च ॥ २६ ॥
तमेव देवं वयमात्मदैवतं
परं प्रधानं पुरुषं विश्वमन्यम् ।
व्रजाम सर्वे शरणं शरण्यं
स्वानां स नो धास्यति शं महात्मा ॥ २७॥

शब्दार्थ

यः—जो; नः—हमको; सपत्नैः—हमारे शत्रुओं, असुरों से; भृशम्—प्रायः; अर्द्यमानान्—पीड़ित; देव—देवताओं के बीच; ऋषि—साधु पुरुष; तिर्यक्—पशु; नृषु—तथा मनुष्य; नित्यः—सदैव; एव—अवश्य; कृत-अवतारः—अवतार रुप में प्रकट होते हैं; तनुभिः—विभिन्न रुपों में; स्व-मायया—अपनी अन्तरंगा शक्ति से; कृत्वा आत्मसात्—अपने को उनका अत्यन्त प्रिय मानकर; पाति—रक्षा करता है; युगे युगे—प्रत्येक कल्प (युग) में; च—तथा; तम्—उसको; एव—निस्सन्देह; देवम्—परमेश्वर; वयम्—हम सभी; आत्म-दैवतम्—समस्त जीवात्माओं के स्वामी; परम्—दिव्य; प्रधानम्—सम्पूर्ण भौतिक शक्ति के मूल कारण; पुरुषम्—परम भोक्ता; विश्वम्—जिसकी शक्ति से यह ब्रह्माण्ड बना; अन्यम्—पृथक् स्थित; व्रजाम—हम चलें; सर्वे—सभी; शरणम्—शरण; शरण्यम्—शरण के उपुयक्त; स्वानाम्—अपने भक्तों को; सः—वह; नः—हमको; धास्यति—प्रदान करेगा; शम्—कल्याण; महात्मा—परमात्मा।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अपनी अचिन्त्य अन्तरंगा शक्ति से अनेक दिव्य शरीरों में विस्तार करते हैं, यथा देवताओं की शक्ति के अवतार वामनदेव, ऋषियों के अवतार परशुराम, पशुओं के अवतार नरसिंह देव एवं वराह और जलचरों के अवतार मत्स्य तथा कूर्म। वे सभी प्रकार की जीवात्माओं के बीच विभिन्न दिव्य देह धारण करते हैं और मनुष्यों के बीच विशेष रूप से भगवान् कृष्ण तथा राम के रुप में प्रकट होते हैं। अपनी अहैतुकी कृपा से वे असुरों द्वारा सदा सताये गये देवताओं की रक्षा करते हैं। वे समस्त जीवात्माओं के पूज्य श्रीविग्रह हैं। वे परम कारण हैं और स्त्री तथा पुरुष की सृजन शक्तियों के रूप में प्रकट होते हैं। यद्यपि वे इस ब्रह्माण्ड से पृथक् हैं, वे विराट रूप में विद्यमान रहते हैं। अतः अपनीइस भयभीत अवस्था में हमें चाहिए कि उनकी शरण ग्रहण करें क्योंकि हमें विश्वास है कि परमात्मा हमें अपना संरक्षण प्रदान करेंगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में श्रीभगवान् विष्णु को सृष्टि का आदि कारण माना गया है। श्रीधर स्वामी ने अपने भाष्य *भावार्थ दीपिका* में इसका उत्तर दिया है कि प्रकृति तथा पुरुष इस दृश्य जगत के कारण हैं। जैसाकि यहाँ पर कहा गया है—*परं प्रधानं पुरुषं विश्वमन्यम्*—"वे परम कारण हैं और स्त्री तथा पुरुष की सृजनात्मक शक्ति के रूप में प्रकट होते हैं। वे इस ब्रह्माण्ड से पृथक् रहकर अपने विराट रूप में विद्यमान हैं।" यहाँ पर प्रकृति शब्द से परमेश्वर की भौतिक शक्ति तथा पुरुष शब्द से भगवान् की श्रेष्ठ शक्ति अर्थात् जीव सूचित होती है। जैसा कि *भगवद्गीता* में उल्लेख है (*प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्*) अन्ततः प्रकृति तथा पुरुष परमेश्वर में प्रवेश करते हैं।

यद्यपि ऊपर से प्रकृति तथा पुरुष ही भौतिक जगत के कारण प्रतीत होते हैं, किन्तु ये दोनों परमेश्वर की विभिन्न शक्तियों के प्रकाश पुञ्ज हैं। अतः परमेश्वर इन दोनों के कारण हैं। वे ही आदि कारण (*सर्वकारणकारणम्*) हैं। *नारदीय पुराण* का कथन है—

अविकारोऽपि परमः प्रकृतिस्तु विकारिणी।

अनुप्रविश्य गोविन्दः प्रकृतिश्चाभिधीयते॥

प्रकृति तथा पुरुष दोनों भगवान् से उद्भूत निम्न तथा श्रेष्ठ शक्तियाँ हैं। जैसा *भगवद्गीता* में कहा गया है (*गाम् आविश्य*) भगवान् प्रकृति में प्रवेश करते हैं तभी प्रकृति विभिन्न जगतों की सृष्टि करती है। प्रकृति स्वतंत्र नहीं है, न ही उनकी शक्तियों के परे। भगवान् श्रीकृष्ण वासुदेव ही सभी वस्तुओं के मूल कारण हैं। इसलिए भगवान् ने *भगवद्गीता* (१०.८) में कहा है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

"मैं प्राकृत जगत और वैकुण्ठ, दोनों का कारण हूँ; मुझ से ही सब कुछ उत्पन्न होता है; इस प्रकार बुद्धिमान भक्तजन जो इस तत्त्व को भली भाँति समझते हैं श्रद्धा और भक्ति के साथ प्रेमपूरित हृदय से मेरा निरन्तर भजन करते हैं।" भगवान् ने *श्रीमद्भागवत* (२.९.३३) में भी कहा है—*अहमेवासमेवाग्रे* "सृष्टि के पूर्व मैं ही उपस्थित था।" *ब्रह्माण्ड पुराण* में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई

है—

स्मृतिरव्यवधानेन प्रकृतित्वमिति स्थितिः।

उभयात्मकसूतित्वाद्वासुदेवः परः पुमान्।

प्रकृतिः पुरुषश्चेति शब्दैरेकोऽभिधीयते॥

इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के लिए भगवान् परोक्ष में पुरुष और प्रत्यक्ष रूप में प्रकृति की भूमिका निभाते हैं। चूँकि दोनों ही शक्तियाँ सर्वव्यापी भगवान् वासुदेव से ही उद्‌भूत हैं इसलिए वे प्रकृति तथा पुरुष दोनों कहलाते हैं। यही कारण है कि वासुदेव प्रत्येक वस्तु के कारण हैं (*सर्वकारणकारणम्*)।

श्रीशुक उवाच

इति तेषां महाराज सुराणामुपतिष्ठताम् ।
प्रतीच्यां दिश्यभूदाविः शङ्खचक्रगदाधरः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; तेषाम्—उनका; महाराज—हे राजन्; सुराणाम्—देवताओं का; उपतिष्ठताम्—प्रार्थना करते हुए; प्रतीच्याम्—अन्तःकरण में; दिशि—दिशा में; अभूत्—हो गया; आविः—दृष्टिगोचर; शङ्ख-चक्र-गदा-धरः—दिव्यायुध.

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे राजन्! जब समस्त देवताओं ने उनकी प्रार्थना की तो श्रीभगवान् हरि शंख, चक्र तथा गदा धारण किये हुए पहले उनके अन्तःकरण में और तब उनके सम्मुख प्रकट हुए।

आत्मतुल्यैः षोडशभिर्विना श्रीवत्सकौस्तुभौ ।
पर्युपासितमुन्निद्रशरदम्बुरुहेक्षणम् ॥ २९ ॥
दृष्ट्वा तमवनौ सर्व ईक्षणाह्लादविक्लवाः ।
दण्डवत्पतिता राजञ्छनैरुत्थाय तुष्टुवुः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

आत्म-तुल्यैः—अपने समान; षोडशभिः—सोलहों (पार्षदों) से; विना—रहित; श्रीवत्स-कौस्तुभौ—श्रीवत्स चिह्न तथा कौस्तुभ-मणिः; पर्युपासितम्—सभी दिशाओं से सेवित; उन्निद्र—उनींदा; शरत्—शरद् ऋतु का; अम्बुरुह—कमल के समान; ईक्षणम्—नेत्र युक्त; दृष्ट्वा—देखकर; तम्—उस (परमेश्वर, नारायण) को; अवनौ—भूमि पर; सर्वे—वे सभी;

ईक्षण—देखने से; आह्लाद—प्रसन्नतापूर्वक; विक्लवाः—विकल होकर; दण्ड-वत्—डण्डे के समान; पतिताः—गिर पड़े; राजन्—हे राजा; शनैः—धीरे-धीरे; उत्थाय—उठ कर; तुष्टुवुः—प्रार्थना की।

श्रीभगवान् को घेरे हुए उनके सोलह पार्षद उनकी सेवा कर रहे थे। वे आभूषणों से अलंकृत थे और भगवान् के ही समान लग रहे थे, किन्तु श्रीवत्स चिन्ह तथा कौस्तुभमणि से रहित थे। हे राजन्! जब देवताओं ने उस मुद्रा में शरत्कालीन कमल की पंखड़ियों के समान नेत्रों वाले स्मित हास से युक्त श्रीभगवान् को देखा तो वे प्रसन्नता से अभिभूत हो गये और उन्होंने तुरन्त पृथ्वी पर गिर कर दण्डवत् प्रणाम किया। फिर वे धीरे-धीरे उठे और अपनी स्तुतियों द्वारा उन्होंने भगवान् को प्रसन्न किया।

तात्पर्य : वैकुण्ठलोक में श्रीभगवान् चार भुजाओं से युक्त तथा वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिह्न एवं कौस्तुभमणि धारण करते हैं। ये पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विशिष्ट चिह्न हैं। वैकुण्ठलोक में उनके पार्षद तथा भक्तों के भी उन्हीं के समान स्वरूप होते हैं। उनके केवल श्रीवत्स तथा कौस्तुभमणि नहीं होते।

श्रीदेवा ऊचुः

नमस्ते यज्ञवीर्याय वयसे उत ते नमः ।
नमस्ते ह्यस्तचक्राय नमः सुपुरुहूतये ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-देवाः ऊचुः—देवताओं ने कहा; नमः—नमस्कार; ते—आपको; यज्ञ-वीर्याय—यज्ञों के फलदाता श्रीभगवान् को; वयसे—काल, जो यज्ञों के फलों का अन्त करने वाला है; उत—यद्यपि; ते—आपको; नमः—नमस्कार; नमः—नमस्कार; ते—आपको; हि—निस्सन्देह; अस्त-चक्राय—जो अपना चक्र चलाता है; नमः—नमस्कार; सुपुरु-हूतये—अनेक प्रकार के दिव्य नामों से युक्त।

देवताओं ने कहा—हे भगवन्! आप यज्ञ फल को देने में समर्थ हैं। आप ही वह काल हैं, जो इन फलों को कालान्तर में नष्ट कर देता है। आप असुरों को मारने के लिए चक्र को चलाते हैं। हे अनेक नामधारण करनेवाले भगवान्! हम लोग आपको सादर नमस्कार करते हैं।

यत्ते गतीनां तिसृणामीशितुः परमं पदम् ।
नार्वाचीनो विसर्गस्य धातर्वेदितुमर्हति ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; ते—तुम्हारी; गतीनाम् तिसृणाम्—तीन प्रकार के गन्तव्य (स्वर्ग लोक, मर्त्य लोक तथा नरक); ईशितुः—नियामक; परमम् पदम्—परम धाम, वैकुण्ठलोक; न—नहीं; अर्वाचीनः—बाद में आने वाला पुरुष; विसर्गस्य—सृष्टि; धातः—हे परम नियामक; वेदितुम्—जानने हेतु; अर्हति—सक्षम है।

हे परम नियामक! आप तीनों गन्तव्यों [स्वर्ग लोक में पहुँचना, मनुष्य के रूप में जन्म तथा नरक में यातना] को वश में रखने वाले हैं, फिर भी आपका परम धाम वैकुण्ठलोक है। चूँकि आपके द्वारा इस दृश्य जगत की उत्पत्ति के बाद हम प्रकट हुए हैं, अतः हम आपके कार्यकलापों को समझने में असमर्थ हैं। अतः हमारे पास आपको अर्पित करने के लिए नमस्कार करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

तात्पर्य : अनुभवहीन व्यक्ति सामान्यतया यह नहीं जानता कि वह श्रीभगवान् से क्या माँगे। प्रत्येक मनुष्य इस भौतिक सृष्टि के अन्तर्गत है, इसलिए ईश्वर से प्रार्थना करते समय कौन-सा वर माँगा जाये कोई नहीं जानता। बहुत से लोग स्वर्गलोक पहुँचने के लिए प्रार्थना करते हैं क्योंकि वे वैकुण्ठलोक के विषय में कुछ जानते ही नहीं। श्रील मध्वाचार्य ने निम्न श्लोक उद्धृत किया है—

देव लोकात् पितृलोकात् निरयाच्चापि यत्परम्।

तिसृभ्यः परमं स्थानं वैष्णवं विदुषां गतिः॥

कई प्रकार के लोकमण्डल हैं यथा देवलोक, पितृलोक तथा निरय (नरक)। जब मनुष्य विभिन्न लोकों को पार करके वैकुण्ठलोक पहुँचता है, तो उसे वैष्णवों का परम आवास प्राप्त होता है। वैष्णवों को अन्य लोकों से कोई वास्ता नहीं है।

ॐ नमस्तेऽस्तु भगवन्नारायण वासुदेवादिपुरुष महापुरुष महानुभाव परममङ्गल परमकल्याण परमकारुणिक केवल जगदाधार लोकैकनाथ सर्वेश्वर लक्ष्मीनाथ परमहंसपरिव्राजकैः

।परमेणात्मयोगसमाधिना परिभावितपरिस्फुटपारमहंस्यधर्मेणोद्धाटिततमःकपाटद्वारे चित्तेऽपावृत आत्मलोके स्वयमुपलब्धनिजसुखानुभवो भवान्. ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ॐ—हे ईश्वर; नमः—नमस्कार; ते—आपको; अस्तु—हो; भगवन्—हे भगवन्; नारायण—समस्त जीवात्माओं के वास, नारायण; वासुदेव—भगवान् वासुदेव, श्रीकृष्ण; आदि-पुरुष—आदि पुरुष; महा-पुरुष—महा पुरुष; महा-अनुभाव—परम ऐश्वर्यवान्; परम-मङ्गल—परम शुभ; परम-कल्याण—परम आशीर्वाद; परम-कारुणिक—परम करुणामय (दयालु); केवल—परिवर्तनरहित; जगत्-आधार—दृश्य जगत के अवलम्बन्; लोक-एक-नाथ—समस्त लोकों के एकमात्र स्वामी; सर्व-ईश्वर—परम नियामक; लक्ष्मी-नाथ—भाग्य की देवी के पति; परमहंस-परिव्राजकैः—समस्त संसार में भ्रमण करने वाले सर्वोच्च संन्यासी के द्वारा; परमेण—अत्यन्त; आत्म-योग-समाधिना—भक्तियोग में मग्न; परिभावित—अत्यन्त शुद्ध; परिस्फुट—तथा पूर्ण प्रकट; पारमहंस्य-धर्मेण—भक्ति की दिव्य विधि को सम्पन्न करके; उद्धाटित—खोला हुआ; तमः—अज्ञान का; कपाट—जिसमें किवाड़; द्वारे—द्वार पर स्थित; चित्ते—मन में; अपावृते—कल्मषहीन; आत्म-लोके—आत्म जगत में; स्वयम्—अपने आप; उपलब्ध—अनुभव करके; निज—स्वयं के, अपने; सुख-अनुभवः—सुख का अनुभव; भवान्—आप।

हे भगवन्, हे नारायण, हे वासुदेव, हे आदि पुरुष, परम अनुभव, साक्षात् मंगल! हे परम वरदान स्वरूप अत्यन्त कृपालु तथा अपरिवर्तनीय! हे दृश्य जगत के आधार, हे समस्त लोकों तथा प्रत्येक पदार्थ के स्वामी तथा लक्ष्मी देवी के पति! आपका साक्षात्कार श्रेष्ठ संन्यासी ही कर पाते हैं, जो भक्तियोग में पूर्णतया समाधिमग्न होकर सारे विश्व में कृष्णभावनामृत का उपदेश देते हैं। वे अपने ध्यान को आप में ही केन्द्रीभूत रखते हैं, अतः अपने शुद्ध अन्तःकरण में आपके स्वरूप को ग्रहण करते हैं। जब उनके हृदयों का अंधकार पूर्णतया हट जाता है और आपका साक्षात्कार होता है तब उन्हें आपके दिव्य स्वरूप का दिव्य आनन्द प्राप्त होता है। ऐसे व्यक्तियों के सिवाय और कोई आप का अनुभव नहीं कर पाता, अतः हम आपको सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : विभिन्न कोटि के साक्षात्कार के अनुसार भक्तों तथा दिव्यज्ञानियों ने श्रीभगवान् को अपने-अपने अनेक दिव्य नाम प्रदान किये हैं। जब निराकार रूप में उनका अनुभव किया जाता है, तो वे परब्रह्म कहलाते हैं, जब परमात्मा के रूप में अनुभव किया जाता है, तो *अन्तर्यामी* कहलाते हैं और जब वे भौतिक सृष्टि के लिए विविध रूपों में विस्तार करते हैं, तो क्षीरोदकशायी विष्णु गर्भोदकशायी विष्णु तथा कारणोदकशायी विष्णु कहलाते हैं। जब उन्हें चतुर्व्यूह—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध—के रूप में, जो विष्णु के उक्त तीन रूपों से परे हैं, अनुभव किया

जाता है, तो वे वैकुण्ठ-नारायण कहलाते हैं। नारायण के अनुभव से ऊपर बलदेव का अनुभव है और उसके ऊपर कृष्ण का अनुभव है। ये सभी साक्षात्कार तभी सम्भव हैं जब कोई पूरी तरह से भक्ति में लगा रहे। तभी हृदय के बन्द कपाट खुलते हैं और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विविध रूपों को समझा जा सकता है।

दुरवबोध इव तवायं विहारयोगो यदशरणोऽशरीर इदमनवेक्षितास्मत्समवाय आत्मनैवाविक्रियमाणेन ।सगुणमगुणः सृजसि पासि हरसि. ॥ ३४॥

शब्दार्थ

दुरवबोधः—दुर्बोध; इव—अत्यन्त; तव—आपका; अयम्—यह; विहार-योगः—सृष्टि, पालन तथा संहार की लीलाओं में व्यस्तता; यत्—जो; अशरणः—किसी अन्य पर आश्रित न होना; अशरीरः—शरीररहित; इदम्—यह; अनवेक्षित—बिना प्रतीक्षा किये; अस्मत्—हम सबसे; समवायः—सहयोग; आत्मना—आपके द्वारा; एव—निस्सन्देह; अविक्रियमाणेन—बिना परिवर्तित हुए; स-गुणम्—प्रकृति के तीन गुण; अगुणः—ऐसे भौतिक गुणों से दिव्य; सृजसि—आप सृष्टि करते हैं; पासि—पालन करते हैं; हरसि—संहार करते हैं।

हे भगवन्! आपको किसी आश्रय की आवश्यकता नहीं है। भौतिक शरीर से रहित होने पर भी आपको हमारे सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती। चूँकि आप इस दृश्य जगत के कारण हैं और अपरिवर्तित रूप में ही इसके भौतिक अवयवों की पूर्ति करते हैं, अतः आप स्वतः इसकी सृष्टि, पालन तथा संहार करते हैं। तो भी भौतिक कार्यों में व्यस्त प्रतीत होते हुए भी आप समस्त भौतिक गुणों से परे हैं। अतः आपके दिव्य कार्य कलापों को समझ पाना कठिन है।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* (५.३७) में कहा गया है—*गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः*—भगवान् श्रीकृष्ण गोलोक वृन्दावन में सदैव निवास करते हैं। यह भी कहा गया है—*वृन्दावनं परित्यज्य पदमेकं न गच्छति*—श्रीकृष्ण वृन्दावन से एक पग भी दूर नहीं जाते। इतने पर भी, यद्यपि श्रीकृष्ण अपने धाम गोलोक वृन्दावन में रहते हैं, किन्तु साथ ही वे सर्वव्यापी होने से सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। बद्धजीव के लिए यह समझ पाना कठिन है किन्तु भक्त समझ सकते हैं कि श्रीकृष्ण किस प्रकार एकसाथ अपने धाम में रहते हुए सर्वव्यापी हैं। देवता भगवान् के शरीर के

विभिन्न अंगस्वरूप समझे जाते हैं, अत: परमेश्वर के देहरहित होते हुए भी उन्हें किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे सर्वत्र व्याप्त रहते हैं (*मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना*)। फिर भी वे अपने आध्यात्मिक रूप में सर्वत्र उपस्थित नहीं रहते। मायावादी दर्शन के अनुसार सर्वव्यापी होने के कारण परमेश्वर को किसी दिव्य रूप की आवश्यकता नहीं पड़ती। मायावादी यह मानते हैं कि ईश्वर का स्वरूप सर्वत्र फैला हुआ है, अत: उनका कोई रूप नहीं होता। यह असत्य है। भगवान् का दिव्य रूप होता है और उसी के साथ वे इस भौतिक सृष्टि के कोने-कोने में फैले हुए हैं।

अथ तत्र भवान्किं देवदत्तवदिह गुणविसर्गपतितः पारतन्त्र्येण स्वकृतकुशलाकुशलं
।फलमुपाददात्याहोस्विदात्माराम उपशमशीलः समञ्जसदर्शन उदास्त इति ह वाव न विदामः. ॥
३५॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; तत्र—उसमें; भवान्—आप; किम्—क्या; देव-दत्त-वत्—अपने कर्मफल से अधीन सामान्य मनुष्य की भाँति; इह—इस भौतिक जगत में; गुण-विसर्ग-पतितः—भौतिक प्रकृति के गुणों से बाध्य होकर भौतिक शरीर में गिरकर; पारतन्त्र्येण—काल, स्थान, कर्म तथा प्रकृति के आश्रित होने से; स्व-कृत—अपने से किया गया; कुशल—शुभ; अकुशलम्—अशुभ; फलम्—कर्मफल; उपाददाति—स्वीकार करता है; आहोस्वित्—अथवा; आत्मारामः—पूर्णतया आत्म-तृष्ट; उपशम-शीलः—आत्मसंयमी; समञ्जस-दर्शनः—पूर्ण आध्यात्मिक शक्तियों से विहीन न होकर; उदास्ते—साक्षी रूप में उदासीन रहता है; इति—इस प्रकार; ह वाव—निश्चय ही; न विदामः—हम समझ नहीं पाते।

ये ही हमारी जिज्ञासाएँ हैं। सामान्य बद्धजीव भौतिक नियमों के अधीन है और उसे अपने कर्मों का फल मिलता है। क्या आप भौतिक गुणों से उत्पन्न शरीर में सामान्य मनुष्यों की भाँति इस संसार में उपस्थित रहते हैं? क्या आप काल, पूर्व कर्म आदि के वशीभूत होकर अच्छे या बुरे कर्मों को भोगते हैं? अथवा, इसके विपरीत क्या आप ऐसे उदासीन साक्षी के रूप में यहाँ उपस्थित हैं, जो आत्मनिर्भर, समस्त भौतिक इच्छाओं से रहित तथा आध्यात्मिक शक्ति से सदैव परिपूर्ण रहता है? हम निश्चित रूप से आपकी वास्तविक स्थिति को नहीं समझ सकते।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे दो प्रकार के उद्देश्यों के लिए इस संसार में

अवतरित होते हैं—*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*—भक्तों की रक्षा करने तथा असुरों का विनाश करने। परम सत्य के लिए ये दोनों कार्य एक-से हैं। जब वे असुरों को दंड देने के लिए आते हैं, तो वे उन पर अनुग्रह करते हैं और इसी प्रकार जब वे अपने भक्तों का उद्धार करते हैं, तो उन पर भी अनुग्रह करते हैं। इस प्रकार वे बद्धजीवों पर समान भाव से अनुग्रह करते हैं। जब बद्धजीव अन्य किसी की रक्षा करता है, तो उसका कार्य पवित्र माना जाता है और जब वह दूसरों को कष्ट देता है, तो उसका कार्य अपवित्र होता है; किन्तु ईश्वर न तो पवित्र हैं और न अपवित्र। वे सदैव अपनी आध्यात्मिक शक्ति से परिपूर्ण रहते हैं। इसी शक्ति के द्वारा वे दंडनीय तथा रक्षणीय दोनों पर समान अनुग्रह करते हैं। वे *अपापविद्धम्* हैं। वे कभी भी पापकर्मों के फल से दूषित नहीं होते। जब श्रीकृष्ण इस पृथ्वी पर विद्यमान थे तो उन्होंने अनेक वैरी अभक्तों का वध किया, किन्तु उन सबों को सारूप्य प्राप्त हुआ अर्थात् वे अपने पूर्व दिव्य शरीर को प्राप्त कर सके। जो भगवान् की स्थिति से परिचित नहीं है, वह कहता है कि भगवान् उस पर अकृपालु हैं, किन्तु दूसरों पर दयालु हैं। वास्तव में भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.२९) में कहा है—*समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः*—"मैं सबों के लिए समान हूँ। न कोई मेरा शत्रु है, न मित्र।" किन्तु साथ ही वे यह भी कहते हैं—*ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्*—"यदि कोई मेरा भक्त हो जाता है और पूरी तरह मेरी शरण में आ जाता है, तो मैं उसका विशेष ध्यान रखता हूँ।"

न हि विरोध उभयं भगवत्यपरिमितगुणगण ईश्वरेऽनवगाह्यमाहात्म्येऽर्वाचीनविकल्पवितर्कविचारप्रमाणाभासकुतर्कशास्त्रकलिलान्तःकरणाश्रय दुरवग्रहवादिनां विवादानवसर उपरत ।समस्तमायामये केवल एवात्ममायामन्तर्धाय को न्वर्थो दुर्घट इव भवति स्वरूपद्वयाभावात्. ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निश्चय ही; विरोधः—विरोध; उभयम्—दोनों; भगवति—भगवान् में; अपरिमित—असीम; गुण-गणे—जिसके दिव्य गुण; ईश्वरे—परम नियन्ता में; अनवगाह्य—से युक्त; माहात्म्ये—अथाह शक्ति तथा महिमा; अर्वाचीन—आधुनिक; विकल्प—विकल्प; वितर्क—विरोधी तर्क; विचार—विचार; प्रमाण-आभास—अपूर्ण प्रमाण; कुतर्क—बेकार के तर्क; शास्त्र—अवैध धर्मग्रंथों के द्वारा; कलिल—विक्षुब्ध; अन्तःकरण—मन; आश्रय—जिसकी शरण; दुरवग्रह—दुराग्रहों से; वादिनाम्—सिद्धान्तवादियों का; विवाद—झगड़ों का; अनवसरे—सीमा से बाहर; उपरत—

हटाकर; समस्त—जिनसे सब; माया-मये—माया; केवले—अकेला, अद्वितीय; एव—निस्सन्देह; आत्म-मायाम्—माया, जो सब कुछ बना-बिगाड़ सकती है; अन्तर्धाय—बीच में रखकर; कः—क्या; नु—निस्सन्देह; अर्थः—अर्थ; दुर्घटः—असम्भव; इव—मानो; भवति—है; स्व-रूप—प्रकृतियाँ; द्वय—दो के; अभावात्—कमी से।

हे भगवन्! सभी विरोधों का आप में तिरोधान होता है। हे ईश्वर! चूँकि आप परम पुरुष, अनन्त दिव्य गुणों के आगार, परम नियन्ता हैं, अतः आपकी असीम महिमा बद्धजीवों की कल्पना के परे है। अनेक सिद्धान्तवादी बिना जाने कि वास्तव में सच क्या है, सत्य तथा मिथ्या के विषय में तर्क करते हैं। उनके तर्क झूठे होते हैं और फैसले अनिर्णीत, क्योंकि उनके पास आपको जानने का कोई वैध प्रमाण नहीं है। चूँकि उनके मन धर्म ग्रंथों के झूठे निष्कर्षों से विक्षुब्ध रहते हैं, अतः वे यह नहीं समझ पाते कि सत्य क्या है। यही नहीं, सही-सही निष्कर्ष प्राप्त करते समय उनकी उत्कण्ठा दूषित रहती है, जिससे उनके सिद्धान्त आपका वर्णन करने में असमर्थ रहते हैं, क्योंकि आप उनकी भौतिक बुद्धि से परे हैं। आप अद्वितीय हैं, अतः आप में करणीय तथा अकरणीय, सुख तथा दुख जैसे विरोध नहीं हैं। आपकी उस शक्ति के द्वारा आपके लिए क्या असम्भव है? आपकी स्वाभाविक स्थिति द्वैत से रहित है, अतः आप अपनी शक्ति के प्रभाव से सब कुछ कर सकते हैं।

तात्पर्य : आत्मनिर्भर होने के कारण श्रीभगवान् दिव्य आनन्द से ओत-प्रोत (आत्माराम) हैं। वे दो प्रकार से आनन्द उठाते हैं—जब वे प्रसन्न होते हैं और जब वे दुखी होते हैं। उनमें भेद तथा विरोध कर पाना कठिन है क्योंकि इनका उदय उन्हीं से होता है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् समस्त ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य तथा प्रभाव के आगार हैं। उनकी शक्तियों का वारपार नहीं है। वे समस्त दिव्य गुणों की खान हैं। इस संसार का कोई भी दुष्कृत्य उनमें रह नहीं सकता। वे दिव्य तथा चिन्मय हैं, अतः उन पर भौतिक सुख तथा दुख की अवधारणाएँ लागू नहीं होतीं।

यदि श्रीभगवान् में विरोधी बातें मिलें तो कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिए। वास्तव में उनमें कोई विरोध नहीं है। उनके सर्वोपरि होने का यही अर्थ है। सर्वशक्तिमान होने के कारण उनका अस्तित्व होने या अस्तित्व न होने के विषय में बद्धजीवों के तर्क लागू नहीं होते। वे अपने भक्तों

की रक्षा के लिए उनके शत्रुओं का प्रसन्नतापूर्वक वध करते हैं। उन्हें संहार तथा पालन दोनों में प्रसन्नता होती है।

ऐसी अद्वैतता न केवल भगवान् पर वरन् उनके भक्तों पर भी लागू होती है। वृन्दावन में व्रजभूमि की बालाएँ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के साहचर्य का दिव्य आनन्द प्राप्त करती हैं और जब कृष्ण तथा बलराम वृन्दावन छोड़कर मथुरा चले जाते हैं, तो उनके वियोग में भी वे वैसे ही दिव्य आनन्द का अनुभव करती हैं। भौतिक कष्ट या आनन्द का श्रीभगवान् अथवा उनके शुद्ध भक्तों के लिए कोई प्रश्न ही नहीं उठता, यद्यपि कभी-कभी ऊपर से यह कहा जाता है कि वे कष्ट में हैं या प्रसन्न हैं। जो *आत्माराम* है, वह दोनों स्थितियों में आनन्दमग्न रहता है।

जो अभक्त हैं, वे श्रीभगवान् के अथवा उनके भक्तों के इन विरोधों को नहीं समझ सकते। अत: *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं— *भक्त्या मामभिजानाति*—भक्ति से ही दिव्य लीलाएँ समझी जा सकती हैं; अभक्तों के लिए वे कल्पनीय हैं। *अचिन्त्या: खलु: ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्*—अभक्तों के लिए परमेश्वर तथा उनका रूप, नाम, लीलाएँ तथा साज सामग्री सभी अकल्पनीय हैं। मनुष्य को चाहिए कि तर्क के द्वारा वे ऐसे सत्यों को समझने का प्रयास न ही करें। तर्क से परम सत्य भगवान् के विषय में सही निष्कर्ष प्राप्त नहीं हो सकेगा।

समविषममतीनां मतमनुसरसि यथा रज्जुखण्डः सर्पादिधियाम्. ॥ ३७॥

शब्दार्थ

सम—समान या उचित; विषम—तथा असमान या अनुचित; मतीनाम्—बुद्धिमानों का; मतम्—निष्कर्ष; अनुसरसि—पालन करते हो; यथा—जिस प्रकार; रज्जु-खण्डः—रस्सी का टुकड़ा; सर्प-आदि—साँप इत्यादि.; धियाम्—देखने वालों का।.

मोहग्रस्त पुरुष रस्सी को सर्प मान बैठता है, अत: उसे रस्सी भय उत्पन्न करती है, किन्तु समुचित बुद्धि वाले मनुष्य में रस्सी ऐसा नहीं कर पाती क्योंकि वह इसे केवल रस्सी ही जानता है। इसी प्रकार सबों के हृदयों में उनकी बुद्धि के ही अनुसार परमात्मा-स्वरूप आप भय या निर्भीकता का भाव उत्पन्न करने वाले हैं, किन्तु आप स्वयं अद्वैत हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (४.११) में भगवान् कहते हैं—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*—"जो जिस भाव से मेरी शरण में आता है मैं उसी के अनुसार उसे फल देता हूँ।" श्रीभगवान् समस्त ज्ञान, सत्य तथा समस्त विरोधों के आगार हैं। यहाँ पर दिया गया उदाहरण अत्यन्त सार्थक है। रस्सी का होना एक सत्य है, किन्तु कुछ लोग भ्रम से इसे सर्प मानते हैं, तो दूसरे लोग इसे रस्सी ही समझते हैं। इसी प्रकार से भक्त जो लोग श्रीभगवान् को जानते हैं उनमें विरोधों को नहीं देखते, किन्तु जो अभक्त हैं, वे उन्हें सर्प की भाँति समस्त प्रकार के भय का स्रोत मानते हैं। उदाहरणार्थ, जब नृसिंहदेव प्रकट हुए तो प्रह्लाद महाराज ने उन्हें परमशान्ति के रूप में देखा जबकि उनके असुर पिता ने अपनी परम मृत्यु के रूप में। जैसा श्रीमद्भागवत (११.२.३) में कहा गया है: भयं द्वितीयामिति वे शत: स्थात् जब मुनष्य में द्वैत भाव रहता है तभी वह भय तथा आनन्द दोनों को जानता है। वही भगवान् भक्तों के लिए आनन्द का स्रोत है और ज्ञानविहीन अभक्तों के लिए भय का। ईश्वर एक है, किन्तु लोग उसे विभिन्न दृष्टियों से देखते हैं। अज्ञानी उसमें विरोध पाते हैं, किन्तु शान्त भक्तों को कोई विरोध नहीं दिखता।

स एव हि पुन: सर्ववस्तुनि वस्तुस्वरूप: सर्वेश्वर: सकलजगत्कारणकारणभूत:
सर्व ाप्रत्यगात्मत्वात्सर्वगुणाभासोपलक्षित एक एव पर्यवशेषित:. ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

स:—वे (श्रीभगवान्); एव—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही; पुन:—फिर; सर्व-वस्तुनि—भौतिक तथा आध्यात्मिक सभी वस्तुओं में; वस्तु-स्वरूप:—वस्तु; सर्व-ईश्वर:—सभी वस्तुओं के नियन्ता; सकल-जगत्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में; कारण—कारणों का; कारण-भूत:—कारण बनकर; सर्व-प्रत्यक्-आत्मत्वात्—प्रत्येक वस्तु का परमात्मा होने अथवा प्रत्येक वस्तु में, यहाँ तक कि परमाणु में भी उपस्थित होने के कारण; सर्व-गुण—प्रकृति के सभी गुणों के प्रभावों का (यथा बुद्धि तथा इन्द्रियाँ); आभास—प्रकाश से; उपलक्षित:—देखा गया; एक:—अकेला; एव—निस्सन्देह; पर्यवशेषित:—शेष छूटा हुआ।.

विचार-विमर्श से यह देखा जा सकता है कि परमात्मा यद्यपि विभिन्न प्रकार से प्रकट होते हैं, किन्तु प्रत्येक वस्तु के मूल तत्त्व वे ही हैं। सम्पूर्ण भौतिक शक्ति इस संसार का कारण है, किन्तु यह शक्ति उन्हीं से उद्भूत है, अत: वे ही समस्त कारणों के कारण हैं और बुद्धि तथा इन्द्रियों के प्रकाशक हैं। वे प्रत्येक वस्तु में परमात्मा रूप में देखे जाते हैं। उनके

बिना प्रत्येक वस्तु मृत हो जायेगी। परमात्मा रूप में आप परम नियन्ता ही एकमात्र शेष बचे हैं।

तात्पर्य : *सर्ववस्तूनि वस्तुस्वरूप:* शब्दों से सूचित होता है कि परमेश्वर प्रत्येक वस्तु के मूल सिद्धान्त हैं। *ब्रह्म-संहिता* (५.३५) में कहा गया है कि—

एकोऽप्यसौ रचयितुं जगदण्डकोटिं

यच्छक्तिरस्ति जगदण्डचया यदन्त:।

अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन श्रीभगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अपने अंशों के रूप में ब्रह्माण्ड तथा प्रत्येक परमाणु में प्रवेश करते हैं और समस्त भौतिक सृष्टि में अपनी अनन्त शक्ति को प्रकट करते हैं।'' भगवान् परमात्मा रूप अपने एक ही अंश *अन्तर्यामी* द्वारा अनन्त ब्रह्माण्डों में व्याप्त हैं। वे *प्रत्यक्* अर्थात् अन्तर्यामी हैं। *भगवद्गीता* (१३.३) में भगवान् कहते हैं—*क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत*—''हे भरतवंशी! तुम जानो कि मैं सभी देहों को जानने वाला(क्षेत्रज्ञ) भी हूँ।'' चूँकि भगवान् परमात्मा हैं, अत: वे प्रत्येक जीव के, यहाँ तक कि परमाणु के भी, मूल तत्त्व हैं (*अण्डान्तरस्थ परमाणुचयान्तरस्थम्*)। वे ही असली सत्य हैं। बुद्धि की विभिन्न अवस्थाओं से मनुष्य प्रत्येक वस्तु में परमेश्वर की उपस्थिति को उनकी शक्ति के प्राकट्य से जान पाता है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तीन गुणों से व्याप्त है और मनुष्य अपने भौतिक प्रकृति के गुण के अनुसार ही उनके अस्तित्व को समझ सकता है।

अथ ह वाव तव महिमामृतरससमुद्रविप्रुषा सकृदवलीढया स्वमनसि निष्यन्दमानानवरतसुखेन विस्मारितदृष्टश्रुतविषयसुखलेशाभासा: परमभागवता एकान्तिनो भगवति सर्वभूत ।प्रियसुहृदि सर्वात्मनि नितरां निरन्तरं निर्वृतमनस: कथमु ह वा एते मधुमथन पुन: स्वार्थकुशला ह्यात्मप्रियसुहृद: साधवस्त्वच्चरणाम्बुजानुसेवां विसृजन्ति न यत्र पुनरयं संसारपर्यावर्त:. ॥ ३९॥

शब्दार्थ

अथ ह—अतः; वाव—निस्सन्देह; तव—तुम्हारी; महिम—महिमा का; अमृत—अमृत का; रस—रस का; समुद्र—समुद्र की; विप्रुषा—एक बूँद से; सकृत्—केवल एक बार; अवलीढया—चखा जाकर; स्व-मनसि—अपने मन में; निष्यन्दमान—प्रवाहित; अनवरत—निरन्तर; सुखेन—दिव्य आनन्द से; विस्मारित—विस्मृत; दृष्ट—भौतिक दृष्टि से; श्रुत—तथा ध्वनि; विषय-सुख—भौतिक सुख का; लेश-आभासाः—झलक मात्र; परम-भागवताः—महान् भक्तगण; एकान्तिनः—एकनिष्ठ श्रद्धा रखने वाले; भगवति—श्रीभगवान् में; सर्व-भूत—समस्त जीवात्माओं को; प्रिय—अत्यन्त प्रिय; सुहृदि—मित्र; सर्व-आत्मनि—सबों का परमात्मा; नितराम्—पूर्णतः; निरन्तरम्—सतत; निर्वृत—सुख से; मनसः—जिनके मन; कथम्—किस प्रकार; उ ह—तब; वा—अथवा; एते—ये; मधु-मथन—हे मधु नामक असुर के मारने वाले; पुनः—फिर; स्व-अर्थ-कुशलाः—जो स्वार्थ में कुशल हैं; हि—निस्सन्देह; आत्म-प्रिय-सुहृदः—जिन्होंने आपको परमात्मा, परमप्रिय तथा मित्र रूप में अंगीकार किया है; साधवः—भक्तगण; त्वत्-चरण-अम्बुज-अनुसेवाम्—आपके चरणारविन्द की सेवा; विसृजन्ति—छोड़ सकते हैं; न—नहीं; यत्र—जिसमें; पुनः—फिर; अयम्—यह; संसार-पर्यावर्तः—इस संसार में जन्म-मरण का चक्कर।

अतः हे मधुसूदन! जिन्होंने आपकी महिमा के समुद्र की एक भी अमृतमयी बूँद को चख लिया है, उनके मन में निरन्तर आनन्द की धारा प्रवाहित होती रहती है। ऐसे महात्मा भक्त दृश्य तथा श्रवणेन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले तथाकथित भौतिक सुख की झलक को भूल जाते हैं। ऐसे भक्त समस्त इच्छाओं से मुक्त होकर सभी जीवात्माओं के वास्तविक मित्र होते हैं। वे अपने मन को आप में समर्पित करके दिव्य आनन्द उठाते हुए जीवन के असली उद्देश्य को प्राप्त करने में कुशल होते हैं। हे भगवन्! आप ऐसे भक्तों के, जिन्हें इस भौतिक जगत में कभी वापस नहीं आना पड़ता, प्रिय मित्र एवं आत्मा हैं। भला वे आपकी भक्ति को किस प्रकार त्याग सकते हैं?

तात्पर्य : यद्यपि अभक्त लोग अपने अल्पज्ञान तथा तर्क-वितर्क की आदत के कारण भगवान् की वास्तविक प्रकृति को नहीं समझ पाते, किन्तु एक भक्त, जिसने भगवान् के चरणारविन्द का अमृत एक बार भी पान किया है, जानता है कि भगवान् की भक्ति में कितना दिव्य आनन्द प्राप्त होता है। वह जानता है कि भगवान् की सेवा करके वह सबकी सेवा कर लेता है। अतः भक्तगण समस्त जीवात्माओं के असली मित्र हैं। केवल शुद्ध भक्त ही समस्त बद्धजीवों के कल्याण हेतु भगवान् की महिमा का उपदेश दे सकता है।

त्रिभुवनात्मभवन त्रिविक्रम त्रिनयन त्रिलोकमनोहरानुभाव तवैव विभूतयो दितिजदनुजादयश्चापि तेषामुपक्रमसमयोऽयमिति स्वात्ममायया सुरनरमृगमिश्रित ।जलचराकृतिभिर्यथापराधं दण्डं दण्डधर दधर्थ एवमेनमपि भगवञ्जहि त्वाष्ट्रमुत यदि मन्यसे. ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

त्रि-भुवन-आत्म-भवन—हे भगवान्, आप लोकों के आश्रय हैं क्योंकि आप तीनों लोकों के परमात्मा हैं; त्रि-विक्रम—हे वामनरूप धारी भगवान्, आपकी शक्ति तथा ऐश्वर्य तीनों लोकों में फैले हैं; त्रि-नयन—तीनों लोकों के पालक तथा द्रष्टा; त्रि-लोक-मनोहर-अनुभाव—हे तीन लोकों में परम सुन्दर दिखाई पड़ने वाले; तव—तुम्हारा; एव—निश्चय ही; विभूतयः—शक्ति के अंश; दिति-ज-दनु-ज-आदयः—दिति के असुर पुत्र तथा दानव, जो अन्य प्रकार के असुर हैं; च—तथा; अपि—(मनुष्य) भी; तेषाम्—उन सबों में से; उपक्रम-समयः—उन्नति का अवसर; अयम्—यह; इति—इस प्रकार; स्व-आत्म-मायया—आपकी स्वयं की शक्ति से; सुर-नर-मृग-मिश्रित-जलचर-आकृतिभिः—विभिन्न रूपों से यथा देवता, मनुष्य, पशु, मिश्रित तथा जलचर (वामन, भगवान् रामचन्द्र, कृष्ण, वराह, हयग्रीव, नृसिंह, मत्स्य तथा कूर्म अवतार); यथा-अपराधम्—अपने अपने अपराधों के अनुसार; दण्डम्—दंड, सजा; दण्ड-धर—हे परम दण्डदाता; दधर्थ—आपने फल दिया; एवम्—इस प्रकार; एनम्—यह एक (वृत्रासुर); अपि—भी; भगवन्—हे भगवन्; जहि—मार डालिये; त्वाष्ट्रम्—त्वष्टा के पुत्र; उत—निस्सन्देह; यदि मन्यसे—यदि उचित समझते हैं, तो।

हे भगवन्, हे साक्षात् त्रिलोकी, तीनों लोकों के जनक! हे वामन अवतार के रूप में तीनों लोकों के पराक्रम! हे नृसिंहदेव के त्रि-नेत्र रूप, हे तीनों लोकों में परम सुन्दर पुरुष! प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक प्राणी जिसमें मनुष्य तथा दैत्य और दानव भी सम्मिलित हैं, आपके ही शक्ति के अंश हैं। हे परम शक्तिमान! जब-जब असुर शक्तिशाली हुए हैं तब-तब आप उन्हें दण्ड देने के लिए विभिन्न अवतारों के रूप में प्रकट हुए हैं। आप भगवान् वामनदेव, राम और कृष्ण के रूप में प्रकट हुए हैं। कभी आप पशु के रूप में प्रकट होते हैं यथा भगवान् वराह, तो कभी मिश्रित अवतार के रूप में यथा भगवान् नृसिंहदेव तथा भगवान् हयग्रीव और कभी जलचर रूप में यथा भगवान् मस्त्य तथा भगवान् कूर्म। आपने ऐसे अनेक रूप धारण करके सदैव असुरों तथा दानवों को दण्ड दिया है। अतः हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप यदि आवश्यक समझें तो महा असुर वृत्रासुर को मारने के लिए आज किसी अन्य अवतार के रूप में प्रकट हों।

तात्पर्य : भक्त की दो कोटियाँ हैं—*सकाम* तथा *अकाम*। विशुद्ध भक्त अकाम होते हैं, किन्तु स्वर्गलोक के भक्त, यथा देवतागण सकाम कहलाते हैं क्योंकि वे अब भी भौतिक ऐश्वर्य भोगना चाहते हैं। अपने पुण्यकर्मों के कारण सकाम भक्तों को स्वर्ग भेज दिया जाता है, किन्तु तब भी

उनके हृदय में भौतिक स्रोतों पर प्रभुत्व जमाने की कामना बनी रहती है। ये सकाम भक्त कभी-कभी असुरों तथा राक्षसों द्वारा उत्पीड़ित होते हैं, किन्तु भगवान् इतने दयालु हैं कि विविध अवतार लेकर उनकी रक्षा करते हैं। भगवान् के अवतार इतने शक्तिशाली होते हैं कि भगवान् वामनदेव ने तो दो ही पगों में सारे ब्रह्माण्ड को नाप लिया था और तीसरा पग रखने के लिए उन्हें कहीं स्थान हीं नहीं मिला। भगवान् को त्रिविक्रम इसलिए कहा जाता हैं क्योंकि उन्होंने तीन पगों में ही सारे ब्रह्माण्ड को जीत कर अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया था।

सकाम तथा अकाम भक्तों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि सकाम भक्त, यथा देवतागण, संकट में पड़ने पर उद्धार के लिए भगवान् की शरण में पहुँचते हैं, किन्तु अकाम भक्त बड़ी से बड़ी विपदा में पड़ने पर भी स्वार्थ के लिए भगवान् को कभी कष्ट नहीं देते। यदि अकाम भक्त को कष्ट होता है, तो वह समझता है कि ऐसा उसके पूर्व दुष्कृत्यों का फल है, अत: फलों का भोग करता है। वह अपने को भगवान् को कष्ट नहीं देता। सकाम भक्त संकट आने पर तुरन्त भगवान् की प्रार्थना करता है, किन्तु वह पवित्र माना जाता है क्योंकि वह अपने को भगवान् की कृपा पर पूर्णतया निर्भर मानता है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१०.१४.८) में कहा गया है—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो

भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।

हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते

जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

कठिनाइयों से ग्रस्त होने पर भी भक्त अधिक उत्साह से प्रार्थना करते हैं और सेवा करते हैं। इस प्रकार वे भक्ति में स्थिर हो जाते हैं और भगवान् के धाम लौटने के पात्र बन जाते हैं। निस्सन्देह सकाम भक्त अपनी प्रार्थनाओं से भगवान् से मनवांछित फल प्राप्त करते हैं, किन्तु वे भगवान् के पास तुरन्त वापस जाने के योग्य नहीं हो पाते। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि भगवान् विष्णु अपने समस्त अवतारों में सदैव अपने भक्तों के रक्षक रहे हैं। श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—

विविधं भावपात्रत्वात् सर्वे विष्णोर्विभूतय:। श्रीकृष्ण ही आदि भगवान् हैं (*कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*)। अन्य सभी भगवान् विष्णु के अवतार हैं।

अस्माकं तावकानां ततत नतानां हरे तव चरणनलिनयुगलध्यानानुबद्धहृदयनिगडानां स्वलिङ्गविवरणेनात्मसात्कृतानामनुकम्पानुरञ्जितविशदरुचिरशिशिरस्मितावलोकेन विगलित ामधुरमुखरसामृतकलया चान्तस्तापमनघार्हसि शमयितुम्. ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

अस्माकम्—हमारा; तावकानाम्—जो आप पर पूर्णतया आश्रित हैं, निज जन; तत-तत—हे पिता के पिता अर्थात् पितामह; नतानाम्—जिन्होंने पूर्णतया आपको आत्मसमर्पण कर दिया है; हरे—हे हरि; तव—तुम्हारे; चरण—पाँवों पर; नलिन-युगल—दो नील कमलों के समान; ध्यान—मनन से; अनुबद्ध—बँधे हुए; हृदय—हृदय में; निगडानाम्—जिसकी जंजीरें (बंधन); स्व-लिङ्ग-विवरणेन—अपना रूप प्रकट करके; आत्मसात्-कृतानाम्—जिन्होंने आपको अपना लिया है; अनुकम्पा—दयाभाव से; अनुरञ्जित—रंजित होकर; विशद—चमकीला; रुचिर—अत्यन्त मनोहर; शिशिर—शीतल; स्मित—मंद हँसी से युक्त; अवलोकेन—अपनी चितवन से; विगलित—दयाभाव से पिघला हुआ; मधुर-मुख-रस—आपके मुख से अत्यन्त मीठे शब्द; अमृत-कलया—अमृत की बूँदों से; च—तथा; अन्त:—अन्त:करण में; तापम्—अधिक जलन; अनघ—हे परम पवित्र; अर्हसि—आपको चाहिए; शमयितुम्—शान्त करना।

हे परम रक्षक, हे पितामह, हे परम पवित्र, हे परमेश्वर! हम सभी आपके चरणकमलों पर समर्पित हैं। दरअसल, हमारे मन ध्यान में प्रेम-पाश द्वारा आपके चरणाविन्द से बँधे हुए हैं। अब आप अपना अवतार-रूप प्रकट कीजिये। हमें आप अपना शाश्वत दास तथा भक्त मानकर हम पर प्रसन्न हों और हमारे ऊपर दया करें। आप अपनी प्रेमपूर्ण चितवन, शीतल तथा दयापूर्ण मनमोहक हँसी तथा सुन्दर मुख से झरने वाले अमृत शब्दों से हम सबों की उस चिन्ता को दूर करें जो वृत्रासुर के कारण उत्पन्न हुई है और सदैव हमारे हृदयों को कष्ट देती है।

तात्पर्य : ब्रह्माजी को देवताओं का पिता कहा जाता है, किन्तु श्रीकृष्ण अथवा भगवान् विष्णु ब्रह्माजी के पिता हैं क्योंकि उनकी नाभि से निकले कमल से ब्रह्मा का जन्म हुआ।

अथ भगवंस्तवास्माभिरखिलजगदुत्पत्तिस्थितिलयनिमित्तायमानदिव्यमायाविनोदस्य सकलजीवनिकायानामन्तर्हृदयेषु बहिरपि च ब्रह्मप्रत्यगात्मस्वरूपेण प्रधानरूपेण च यथादेशकालदेहावस्थानविशेषं तदुपादानोपलम्भकतयानुभवत: सर्वप्रत्ययसाक्षिण

आकाश ाशरीरस्य साक्षात्परब्रह्मण: परमात्मन: कियानिह वार्थविशेषो विज्ञापनीय: स्याद्विस्फुलिङ्गादिभिरिव हिरण्यरेतस:. ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

अथ—अत:; भगवन्—हे भगवन्; तव—तुम्हारा; अस्माभि:—हम सबों के द्वारा; अखिल—सम्पूर्ण; जगत्—भौतिक संसार की; उत्पत्ति—उत्पत्ति का; स्थिति—पालन; लय—तथा संहार; निमित्तायमान—कारण होने से; दिव्य-माया—आध्यात्मिक शक्ति से; विनोदस्य—आपका, जो स्वयं ही विनोद करने वाले हैं; सकल—समस्त; जीव-निकायानाम्—जीवात्माओं के समूहों का; अन्त:-हृदयेषु—हृदयों के भीतर; बहि: अपि—बाहर से भी; च—तथा; ब्रह्म—निर्गुण ब्रह्म अथवा परम सत्य; प्रत्यक्-आत्म—परमात्मा का; स्व-रूपेण—अपने रूपों के द्वारा; प्रधान-रूपेण—बाह्य अवयवों के रूप में अपने स्वरूप द्वारा; च—तथा; यथा—के अनुसार; देश-काल-देह-अवस्थान—देश, काल, शरीर तथा अवस्था का; विशेषम्—विशेष; तत्—उन सबका; उपादान—भौतिक कारणों का; उपलम्भकतया—प्रकाशक के रूप में; अनुभवत:—साक्षी बनकर; सर्व-प्रत्यय-साक्षिण:—विभिन्न कार्यों का साक्षी; आकाश-शरीरस्य—समस्त ब्रह्माण्ड का परमात्मा; साक्षात्—प्रकट रूप में; पर-ब्रह्मण:—परब्रह्म, परम सत्य; परमात्मन:—परमात्मा; कियान्—किस हद तक; इह—यहाँ; वा—अथवा; अर्थ-विशेष:—विशेष आवश्यकता; विज्ञापनीय:—सूचित करने योग्य; स्यात्—हो सकता है; विस्फुलिङ्ग-आदिभि:—अग्नि की चिनगारियों के द्वारा; इव—सदृश; हिरण्य-रेतस:—आदि अग्नि को।

हे भगवान्! जिस प्रकार अग्नि की छोटी-छोटी चिनगारियाँ पूर्ण (आदि) अग्नि का कार्य करने में असमर्थ हैं, वैसे ही आपकी चिनगारी रूप हम सभी अपने जीवन की आवश्यकता बता पाने में अक्षम हैं। आप पूर्ण ब्रह्म हैं, अत: हमें आपको बताने की क्या आवश्यकता? आप सब कुछ जानने वाले हैं क्योंकि आप दृश्य जगत के आदि कारण, इसके पालक तथा सम्पूर्ण सृष्टि के संहर्ता हैं। आप अपनी दिव्य तथा भौतिक शक्तियों से लीलाएँ करते रहते हैं क्योंकि आप ही इन समस्त शक्तियों के नियामक हैं। आप इन विभिन्न शक्तियों के नियामक हैं। आप सभी जीवों के भीतर दृश्य सृष्टि में और उस से परे भी रहते हैं। आप अन्त:करणों में परब्रह्म के रुप में और बाह्यत: भौतिक सृष्टि के अवयवों के रूप में स्थित हैं। अत: यद्यपि आप विभिन्न अवस्थाओं, विभिन्न कालों तथा स्थानों और विभिन्न देहों में प्रकट होते रहते हैं, तो भी हे भगवन्! आप ही समस्त कारणों के आदि कारण हैं। वास्तव में आप ही मूल तत्त्व हैं। आप समस्त गतिविधियों के साक्षी हैं, किन्तु आकाश के समान महान् होने के कारण किसी के द्वारा स्पृश्य नहीं हैं। आप परब्रह्म तथा परमात्मा के रूप में प्रत्येक वस्तु के साक्षी हैं। हे भगवान्! आपसे कुछ भी छिपा नहीं है।

तात्पर्य : परम सत्य आध्यात्मिक ज्ञान की तीन अवस्थाओं में स्थित हैं—ब्रह्म, परमात्मा तथा

श्रीभगवान् (*ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते*)। भगवान् अर्थात्; पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही ब्रह्म तथा परमात्मा का कारण है। ब्रह्म अर्थात् निराकार परम सत्य सर्वव्यापक है और परमात्मा स्थानीय रूप में प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित है, किन्तु भगवान् जो भक्तों के द्वारा आराध्य है, समस्त कारणों का मूल कारण है। शुद्ध भक्त जानता है कि कुछ भी ऐसा नहीं जो श्रीभगवान् को ज्ञात न हो, अत: भक्त की सुविधाओं-असुविधाओं के लिए उनसे निवेदन करने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए जब देवताओं ने परमेश्वर से वृत्रासुर के आक्रमणों से होने वाले कष्टों का निवेदन किया, तो उन्होंने अपनी सुरक्षा के लिए की गई प्रार्थना के लिए क्षमा-याचना की। निस्सन्देह नवदीक्षित भक्त दुख या निर्धनता से छुटकारा पाने अथवा ज्ञान-प्राप्ति के लिए ईश्वर के पास जाता है। *भगवद्गीता* (७.१६) में ऐसे चार प्रकार के मनुष्यों का वर्णन है, जो ईश्वर की भक्ति करना प्रारम्भ करते हैं—आर्त (दुखी), अर्थार्थी(धन चाहने वाला), जिज्ञासु(जिज्ञासा रखने वाला) तथा ज्ञानी (जो परम सत्य की खोज करता है)। किन्तु शुद्ध भक्त जानता है कि ईश्वर सर्वव्यापी एवं सर्वज्ञाता हैं, अत: किसी व्यक्तिगत लाभ के लिए उनकी पूजा या प्रार्थना करना व्यर्थ है। शुद्ध भक्त किसी आकांक्षा के बिना भगवान् की सेवा करता है। ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है और अपने भक्तों की आवश्यकताओं को जानता है फलत: भौतिक लाभों के लिए याचना करके उन्हें कष्ट देने की आवश्यकता नहीं है।

अत एव स्वयं तदुपकल्पयास्माकं भगवत: परमगुरोस्तव चरणशतपलाशच्छायां
विविधवृजिन ।संसारपरिश्रमोपशमनीमुपसृतानां वयं यत्कामेनोपसादिता:. ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

अत एव—अत:; स्वयम्—अपने आप; तत्—वह; उपकल्पय—कृपया प्रबन्ध करें; अस्माकम्—हमारा; भगवत:—श्रीभगवान् का; परम-गुरो:—सबसे बड़ा गुरु; तव—तुम्हारा; चरण—पाँवों का; शत-पलाशत्—एक सौ पंखड़ियों वाले कमल पुष्प की भाँति; छायाम्—छाया; विविध—अनेक; वृजिन—घातक स्थितियों से; संसार—इस बद्ध जीवन का; परिश्रम—कष्ट; उपशमनीम्—छुटकारा दिला कर; उपसृतानाम्—आपके चरणकमलों में शरण लेने वाले भक्त; वयम्—हम; यत्—जिसके लिए; कामेन—इच्छाओं से; उपसादिता:—(आपके चरणकमलों की शरण में) आने को बाध्य।

हे भगवान्! आप सर्वज्ञाता हैं, अत: आप अच्छी तरह जानते हैं कि हम आपके

चरणकमलों की शरण में क्यों आये हैं, जिनकी छाया समस्त भौतिक अशान्तियों से छुटकारा दिलाने वाली है। चूँकि आप परम गुरु हैं और सब कुछ जानते हैं, अत: हमने आदेश प्राप्त करने के लिए आपके चरणकमलों का आश्रय लिया है। कृपया हमारे वर्तमान दुखों को दूर करके हमें शरण दीजिये। आपके चरणकमल ही पूर्ण समर्पित भक्त के एकमात्र आश्रय हैं और इस भौतिक जगत के संतापों को शमित करने के एकमात्र साधन हैं।

तात्पर्य : मनुष्य को भगवान् के चरणकमलों की छाया का ही आश्रय लेना चाहिए। तभी उसे विचलित करने वाले समस्त भौतिक संताप उसी प्रकार शमित हो सकेंगे जिस प्रकार विशाल वृक्ष की छाया में झुलसाने वाली धूप का ताप बिना माँगे तुरन्त शमित हो जाता है। अत: बद्धजीव का एकमात्र लक्ष्य ईश्वर के चरणकमलों की प्राप्ति होना चाहिए। ईश्वर के चरणकमलों की शरण पाकर बद्धजीव के समस्त सांसारिक संतापों का शमन हो सकता है।

अथो ईश जहि त्वाष्ट्रं ग्रसन्तं भुवनत्रयम् ।
ग्रस्तानि येन न: कृष्ण तेजांस्यस्त्रायुधानि च ॥ ४४॥

शब्दार्थ

अथो—अत:; ईश—हे परम नियन्ता; जहि—मारिये; त्वाष्ट्रम्—त्वष्टा के पुत्र, वृत्रासुर को; ग्रसन्तम्—जो निगले जा रहा है; भुवन-त्रयम्—तीनों लोक; ग्रस्तानि—निगले हुए; येन—जिसके द्वारा; नः—हमारा; कृष्ण—हे भगवान् श्रीकृष्ण; तेजांसि—समस्त शक्ति तथा तेज; अस्त्र—तीर; आयुधानि—तथा अन्य हथियार; च—भी।.

अत: हे परम नियन्ता, हे भगवान् श्रीकृष्ण! त्वष्टा के पुत्र इस घातक असुर वृत्रासुर का संहार कीजिये। जिसने हमारे समस्त शस्त्रास्त्र, युद्ध की सारी सामग्री तथा हमारे बल और तेज को निगल रखा है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.१५-१६) में भगवान् कहते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढा: प्रपद्यन्ते नराधमा: ।

माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिता: ॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जना: सुकृतिनोऽर्जुन।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

"माया द्वारा हरे हुए ज्ञान वाले, आसुरी स्वभाव को धारण किये हुए, मनुष्यों में अधम और पाप करने वाले मूढ़ मेरी शरण में नहीं आते। हे भारत (अर्जुन)! विपदाग्रस्त, धन की इच्छा रखने वाले, जिज्ञासु और ज्ञानी—ये चार प्रकार के पुण्यात्मा मेरी भक्ति करते हैं।"

ये चार प्रकार के नवदीक्षित भक्त जो भौतिक लाभों की दृष्टि से भगवान् की भक्ति करने के लिए भगवान् की शरण में जाते हैं वह शुद्ध भक्त नहीं हैं, किन्तु ऐसे सांसारिक भक्तों को यह लाभ है कि वे कभी-कभी भौतिक इच्छाओं को त्याग कर शुद्ध भक्त बन जाते हैं। जब देवता अपने को निरुपाय पाते हैं, तो दुख के कारण अश्रुपूर्ण होकर प्रार्थना करते हुए भगवान् के पास जाते हैं और इस प्रकार वे लगभग शुद्ध भक्त बन जाते हैं और भौतिक वासनाओं से मुक्त रहते हैं। वे यह स्वीकार करते हैं कि परम ऐश्वर्य के भौतिक अवसरों के कारण ही वे ईश्वर की शुद्ध भक्ति करना भूल गये थे, अत: वे ईश्वर को आत्मसमर्पण कर देते हैं। फिर ईश्वर चाहे तो उनका पालन करें या संहार करें। ऐसा आत्मसमर्पण आवश्यक है। भक्तिविनोद ठाकुर का गीत है—*मारिब राखबि—यो इच्छा तोहारा*—"हे भगवान्! मैं आपके चरणकमलों पर पूर्णतया समर्पित हूँ। अब आपकी जैसी इच्छा—चाहे मुझे बचाएँ या मारें। आपको दोनों का अधिकार है।"

हंसाय दह्रनिलयाय निरीक्षकाय
कृष्णाय मृष्टयशसे निरुपक्रमाय ।
सत्सङ्ग्रहाय भवपान्थनिजाश्रमाप्ता-
वन्ते परीष्टगतये हरये नमस्ते ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

हंसाय—महान् तथा शुद्ध को (पवित्रं परमम्, परम शुद्ध); दह्र—अन्त:स्थल में; निलयाय—जिसका धाम; निरीक्षकाय—प्रत्येक आत्मा की गतिविधियों का निरीक्षण करने के लिए; कृष्णाय—परमात्मा को, जो श्रीकृष्ण के अंश रूप हैं; मृष्ट-यशसे—जिनका यश अत्यन्त प्रकाशमान् है; निरुपक्रमाय—जिसका आदि नहीं है, अनादि; सत्-सङ्ग्रहाय—शुद्ध भक्तों द्वारा ज्ञेय; भव-पान्थ-निज-आश्रम-आप्तौ—इस भौतिक जगत में प्राणियों के लिए श्रीकृष्ण की शरण प्राप्त करके;

अन्ते—अन्त में; परीष्ट-गतये—जीवन की सबसे बड़ी सफलता, उन श्रीभगवान् को जो परम-लक्ष्य हैं; हरये—श्रीभगवान् को; नमः—सादर नमस्कार; ते—तुम्हें (आपको)।

हे भगवान्! हे परम शुद्ध! आप सबों के अन्तःस्थल में रहते हैं और बद्धजीवों की समस्त आकांक्षाओं तथा गतिविधियों का निरीक्षण करते हैं। श्रीकृष्ण के रूप में विख्यात हे भगवान्! आपका यश अत्यन्त प्रकाशमान है। आपका आदि नहीं है क्योंकि आप प्रत्येक वस्तु के उद्गम हैं। शुद्ध भक्त इससे परिचित हैं क्योंकि आप शुद्ध तथा सत्यनिष्ठ के लिए सुगम हैं। जब करोड़ों वर्षों तक भौतिक जगत में भटकने के बाद बद्धात्माएँ आपके चरणकमलों पर मुक्त होकर शरण पाती हैं, तो उन्हें जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त हो जाता है। अतः हे भगवान्! हम आपके चरणारविन्द को सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : देवतागण निश्चय ही भगवान् विष्णु से अपने कष्टों का मोचन चाहते थे, किन्तु अब वे सीधे भगवान् श्रीकृष्ण के ही पास पहुँचे। यद्यपि भगवान् विष्णु तथा भगवान् श्रीकृष्ण में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण अपने वासुदेव रूप में इस लोक में—*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*—अपने भक्तों को बचाने तथा दुष्टों का वध करने के लिए अवतरित होते हैं। असुर अथवा नास्तिक सदैव देवों या भक्तों को सताते रहते हैं, अतः नास्तिकों तथा असुरों को दंड देने और अपने भक्तों की इच्छा पूर्ति के लिए श्रीकृष्ण अवतरित होते हैं। श्रीकृष्ण प्रत्येक वस्तु का आदि कारण होने के फलस्वरुप विष्णु तथा नारायण से ऊपर परम पुरुष हैं, यद्यपि भगवान् के इन विभिन्न रूपों में कोई अन्तर नहीं हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.४६) में कहा गया है—

दीपार्चिरेव हि दशान्तरमभ्युपेत्य

दीपायते विवृतहेतुसमानधर्मा।

यस्तादृगेव हि च विष्णुतया विभाति

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

श्रीकृष्ण विष्णु के रूप में उसी प्रकार विस्तार करते हैं जिस प्रकार एक जलता दीप दूसरे को जलाता है। यद्यपि दोनों दीपकों की शक्ति में कोई अन्तर नहीं होता तथापि श्रीकृष्ण आदि-दीपक

के समान हैं।

यहाँ *मृष्ट-यशसे* शब्द महत्त्वपूर्ण है क्योंकि श्रीकृष्ण भक्तों को संकट से छुड़ाने के लिए सदैव प्रसिद्ध हैं। जो भक्त श्रीकृष्ण में पूर्णतया समर्पित होता है और जिसका एकमात्र उद्धारक श्रीकृष्ण रहता है, उसे *अकिञ्चन* कहते हैं।

महारानी कुन्ती ने अपनी स्तुति में भगवान् को *अकिञ्चन-वित्त* अर्थात् भक्त का धन कहा है। जो बद्ध जीवन के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं, वे वैकुण्ठ लोक को जाते हैं जहाँ उन्हें पाँच प्रकार की मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं—*सायुज्य, सालोक्य, सारूप्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य।* ये रस श्रीकृष्ण से उद्‌भूत हैं। जैसाकि विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है आदि रस माधुर्य प्रेम है। श्रीकृष्ण शुद्ध और आध्यात्मिक माधुर्य प्रेम के उद्‌गम हैं।

श्रीशुक उवाच

अथैवमीडितो राजन्सादरं त्रिदशैर्हरिः ।
स्वमुपस्थानमाकर्ण्य प्राह तानभिनन्दितः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—तत्पश्चात्; एवम्—इस प्रकार; ईडितः—पूजा तथा नमस्कार किये जाने पर; राजन्—हे राजन्; स-आदरम्—आदरपूर्वक; त्रि-दशैः—स्वर्ग के समस्त देवताओं के द्वारा; हरिः—श्रीभगवान्; स्वम् उपस्थानम्—अपना यशोगान; आकर्ण्य—सुनकर; प्राह—उत्तर दिया; तान्—उन (देवताओं) को; अभिनन्दितः—प्रसन्न होकर।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे राजा परीक्षित! जब देवताओं ने इस प्रकार से भगवान् की सच्ची स्तुति की तो उसे उन्होंने कृपापूर्वक सुना और प्रसन्न होकर देवताओं को उत्तर दिया।

श्रीभगवानुवाच

प्रीतोऽहं वः सुरश्रेष्ठा मदुपस्थानविद्यया ।
आत्मैश्वर्यस्मृतिः पुंसां भक्तिश्चैव यया मयि ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; प्रीतः—प्रसन्न; अहम्—मैं; वः—तुमसे; सुर-श्रेष्ठाः—हे देवताओं में श्रेष्ठ; मत्-उपस्थान-विद्यया—महान् ज्ञान तथा स्तुतियों से; आत्म-ऐश्वर्य-स्मृतिः—अपनी परम दिव्य स्थिति की स्मृति; पुंसाम्—मनुष्यों की; भक्तिः—भक्ति; च—तथा; एव—निश्चय ही; यया—जिससे; मयि—मुझको।

श्रीभगवान् ने कहा—हे प्यारे देवो! तुम लोगों ने अत्यन्त ज्ञानपूर्वक मेरी स्तुति की है, जिससे मैं तुम लोगों से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। मनुष्य ऐसे ज्ञान के कारण मुक्त हो जाता है और मेरे उच्च पद को स्मरण करता रहता है, जो भौतिक जीवन की स्थितियों के ऊपर है। ऐसा भक्त पूर्ण ज्ञान में रहकर स्तुति करने पर शुद्ध हो जाता है। मेरी भक्ति करने का यही स्त्रोत है।

तात्पर्य : श्रीभगवान् का अन्य नाम *उत्तमश्लोक* है, जिसका तात्पर्य है कि चुने हुए श्लोकों से उनकी स्तुति की जाती है। भक्ति का अर्थ है *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*—अर्थात् विष्णु का जप तथा उन्हीं का श्रवण। निर्गुणवादी कभी शुद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि वे श्रीभगवान् की साकार प्रार्थना नहीं करते। यदि कभी प्रार्थना करते भी हैं, तो वह श्रीभगवान् को अर्पित नहीं होती। कभी-कभी वे भगवान् को अनाम कह कर अपने अपूर्ण ज्ञान का परिचय देते हैं। वे अप्रत्यक्ष रूप से यह कह कर सदैव प्रार्थना करते हैं, ''आप यह हैं, आप वह हैं,'' किन्तु वे यह नहीं जानते कि किसकी प्रार्थना कर रहे हैं। किन्तु भक्त सदैव साकार की प्रार्थना करता है। भक्त कहता है—*गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि*—''मैं गोविन्द या श्रीकृष्ण को सादर नमस्कार करता हूँ।'' प्रार्थना करने की यही विधि है। यदि भक्त इस प्रकार साकार की प्रार्थनाएँ करता है, तो वह शुद्ध भक्त बनने तथा वापस भगवान् के धाम जाने का अधिकारी हो जाता है।

किं दुरापं मयि प्रीते तथापि विबुधर्षभाः ।
मय्येकान्तमतिर्नान्यन्मत्तो वाञ्छति तत्त्ववित् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; दुरापम्—दुर्लभ; मयि—जब मैं; प्रीते—प्रसन्न; तथापि—फिर भी; विबुध-ऋषभाः—हे बुद्धिमान देवताओं में श्रेष्ठ; मयि—मुझमें; एकान्त—अनन्य; मतिः—जिसका ध्यान; न अन्यत्—और कहीं नहीं; मत्तः—मेरी अपेक्षा; वाञ्छति—चाहता है; तत्त्व-वित्—जो सत्य को जानता है।

हे बुद्धिमान देवताओं में श्रेष्ठ! यद्यपि यह सत्य है कि मेरे प्रसन्न हो जाने पर किसी के लिए कुछ भी प्राप्त कर लेना कठिन नहीं है, तो भी शुद्ध भक्त, जिसका मन विशिष्ट भाव से

मुझ पर स्थिर है, वह मेरी भक्ति में निरत रहने के अवसर के अतिरिक्त मुझसे और कुछ भी नहीं माँगता।

तात्पर्य : देवतागण स्तुति करने के बाद अपने शत्रु वृत्रासुर के वध किये जाने की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करने लगे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि देवतागण शुद्ध भक्त नहीं हैं। यद्यपि भगवान् के प्रसन्न होने पर किसी के लिए कुछ भी प्राप्त कर लेना सहज है, किन्तु भगवान् को प्रसन्न करके देवता सदैव भौतिक लाभ की आकांक्षा करते हैं। भगवान् चाहते थे कि देवता उनसे अमिश्रित शुद्ध भक्ति के लिए प्रार्थना करते, किन्तु उन्होंने अपने शत्रु के संहार के अवसर मिलने के लिए प्रार्थना की। शुद्ध भक्त तथा भौतिक पद पर आसीन भक्त का यही अन्तर है। अप्रत्यक्ष रूप से भगवान् दुखी थे कि देवताओं ने शुद्ध भक्ति की याचना क्यों नहीं की।

न वेद कृपणः श्रेय आत्मनो गुणवस्तुदृक् ।
तस्य तानिच्छतो यच्छेद्यदि सोऽपि तथाविधः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वेद—जानता है; कृपणः—कंजूस जीवात्मा; श्रेयः—परम आवश्यकता, हित; आत्मनः—आत्मा की; गुण-वस्तु-दृक्—जो त्रिगुण की सृष्टि से मोहित है; तस्य—उसका; तान्—माया द्वारा उत्पन्न वस्तुएँ; इच्छतः—इच्छा करते हुए; यच्छेत्—प्रदान करता; यदि—यदि; सः अपि—वह भी; तथा-विधः—उसी प्रकार का (मूर्ख कृपण जो अपने असली हित को नहीं पहचानता)।.

जो लोग भौतिक सम्पत्ति को ही सब कुछ या जीवन का परम ध्येय मानते हैं, वे कृपण कहलाते हैं। वे आत्मा की परम आवश्यकता (हित) को नहीं जानते। यही नहीं, यदि कोई ऐसे मूर्खों की इच्छा की पूर्ति करता है, उसे भी मूर्ख समझना चाहिए।

तात्पर्य : मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—कृपण तथा ब्राह्मण। वह ब्राह्मण है, जो ब्रह्म या परम सत्य को जानता है और इस प्रकार अपने असली हित को पहचानता है, किन्तु कृपण वह है, जिसके भौतिक या देहात्मबुद्धि होती है। यह न जानते हुए कि मानव या दैव जीवन को किस प्रकार बिताया जाये, कृपण त्रिगुणजन्य वस्तुओं के प्रति आकर्षित होता है। इस तरह सदा भौतिक लाभों की कामना करने वाले कृपण मूर्ख होते हैं जबकि सदा आध्यात्मिक लाभ की कामना करने

वाले ब्राह्मण बुद्धिमान हैं। यदि कोई कृपण् अपना हित समझे बिना कुछ माँगता है और उसे यदि कोई वह वस्तु देता है, तो वह भी मूर्ख है। किन्तु श्रीकृष्ण मूर्ख नहीं हैं, वे परम बुद्धिमान हैं। जब कोई श्रीकृष्ण से भौतिक लाभ की कामना करता है, तो उसे वे वस्तुएँ न देकर बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वह भौतिक कामनाएँ त्याग कर उनके चरणकमलों में आसक्त हो जाये। ऐसी दशा में, यद्यपि कृपण भौतिक वस्तुओं के लिए भगवान् से प्रार्थना करता है, किन्तु भगवान् उसकी सारी सम्पत्ति लेकर उस कृपण को बदले में भक्त बनने की सद्बुद्धि प्रदान करते हैं। *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य २२.३९) में भगवान् का कथन है—

आमि—विज्ञ, एइ मूर्खे 'विषय' केने दिब ?

स्वचरणामृत दिया 'विषय' भुलाइ ॥

"चूँकि मैं अत्यन्त बुद्धिमान हूँ, अत: मैं इस मूर्ख को भौतिक सम्पत्ति क्यों दूँ? इसके बजाय मैं अपने चरणकमल की शरण के अमृत के लिए उसे प्रेरित करूँगा और उसके झूठे भौतिक सुख को भुलवा दूँगा।" यदि कोई भक्ति के बदले भौतिक सम्पत्ति के लिए सच्चे दिल से प्रार्थना करता है, तो भगवान् जो बुद्धिहीन भक्त की भाँति मूर्ख नहीं हैं उसकी भौतिक सम्पत्ति को लेकर बदले में बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वह क्रमश: उनके चरणकमलों की सेवा करके सन्तुष्ट होने लगता है। इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि यदि मूर्ख बालक अपनी माता से विष माँगे तो बुद्धिमान माता निश्चय ही उसे विष नहीं देगी, भले ही वह कितना ही अनुनय-विनय क्यों न करे। भौतिकवादी व्यक्ति को यह पता नहीं है कि भौतिक सम्पत्ति को स्वीकार करना विष अथवा जन्म-मृत्यु के चक्कर को स्वीकार करने के तुल्य है। बुद्धिमान ब्राह्मण भौतिक बन्धन से अपनी मुक्ति की आकांक्षा करता है। यही मुनष्य का असली कल्याण है।

स्वयं नि:श्रेयसं विद्वान्न वक्त्यज्ञाय कर्म हि ।
न राति रोगिणोऽपथ्यं वाञ्छतोऽपि भिषक्तम: ॥५०॥

शब्दार्थ

स्वयम्—स्वतः; निःश्रेयसम्—जीवन का परम लक्ष्य अर्थात् भगवान् का आह्लादकारी प्रेम प्राप्त करने के साधन; वित्-वान्—जिसने भक्ति में पूर्णता प्राप्त कर ली है; न—नहीं; वक्ति—शिक्षा देता है; अज्ञाय—मूर्ख को जो जीवन के चरम लक्ष्य से परिचित नहीं है; कर्म—सकाम कर्म; हि—निस्सन्देह; न—नहीं; राति—पिलाता है; रोगिणः—रोगी को; अपथ्यम्—अखाद्य; वाञ्छतः—इच्छुक; अपि—यद्यपि; भिषक्-तमः—अनुभवी वैद्य।

भक्तियोग में दक्ष शुद्ध भक्त कभी भी मूर्ख पुरुष को भौतिक सुख के लिए सकाम कर्म करने का उपदेश नहीं देगा, ऐसे कार्यों में सहायता करना तो दूर रहा। ऐसा भक्त उस अनुभवी वैद्य के समान है, जो रोगी के चाहने पर भी उसे ऐसा पथ्य ग्रहण करने के लिए प्रोत्साहित नहीं करता जो उसे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हो।

तात्पर्य : देवताओं द्वारा तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु द्वारा प्रदत्त वरों में यही अन्तर है। देवों के भक्त इन्द्रियतृप्ति के लिए वर माँगते हैं इसलिए *भगवद्गीता* (७.२०) में इन्हें बुद्धि से विहीन कहा गया है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥

"भौतिक इच्छाओं के द्वारा जिनके ज्ञान को हर लिया गया है, वे ही देवताओं की शरण लेकर अपने स्वभाव के अनुसार उपासना के विधि-विधानों का पालन करते हैं।"

बद्धजीव प्रायः बुद्धिविहीन होते हैं, क्योंकि उनमें इन्द्रियतृप्ति के लिए तीव्र इच्छा रहती है। वे यह नहीं जानते कि कौन-सा वर माँगा जाये। इसलिए शास्त्रों में उपदेश दिया गया है कि अभक्तजन भौतिक लाभों के लिए विभिन्न देवताओं की पूजा करें। उदाहरणार्थ, यदि कोई सुन्दर पत्नी चाहता है, तो उसे उमा या देवी दुर्गा की पूजा करने की सलाह दी जाती है। यदि कोई रोग से मुक्ति चाहता है, तो उसे सूर्यदेव की पूजा करने को कहा जाता है। किन्तु देवताओं से वर प्राप्त करने की समस्त प्रार्थनाएँ भौतिक कामवासना के कारण हैं। ये वर दृश्य जगत के अन्त होते ही वर देने वाले के साथ समाप्त हो जाते हैं। यदि कोई वर माँगने के लिए भगवान् विष्णु के पास जाता है, तो वे उसे ऐसा वर देते हैं जिससे वह भगवान् के धाम वापस जाने में सहायता करेगा। इसकी

पुष्टि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (१०.१०) में की है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

भगवान् विष्णु या भगवान् श्रीकृष्ण, उस भक्त को जो निरन्तर उनकी सेवा करता है, उपदेश देते हैं कि इस भौतिक देह की समाप्ति पर उन तक किस प्रकार पहुँचा जाये। भगवान् श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (४.९) में कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! मेरा आविर्भाव और कर्म दिव्य है; इस प्रकार जो मनुष्य दिव्य तत्त्व को जानता है, वह देह को त्याग कर संसार में फिर जन्म नहीं लेता, वरन् मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।" यह भगवान् विष्णु या कृष्ण का वर है। शरीर त्यागने के बाद भक्त भगवान् के धाम को जाता है।

भक्त मूर्खतावश भौतिक वर माँग सकता है, किन्तु भक्त की प्रार्थनाओं के बावजूद भगवान् श्रीकृष्ण ऐसा वर देते नहीं। इसलिए जो लोग भौतिक जीवन के प्रति अत्यधिक आसक्त हैं, वे सामान्यत: कृष्ण या विष्णु के भक्त नहीं बनते, अपितु वे देवताओं के भक्त बन जाते हैं (*कामैस्तैस्तैर्हृत ज्ञाना प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता:*)। किन्तु *भगवद्गीता* में देवताओं द्वारा दिये गये वरों की निन्दा की गई है—*अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्*—"अल्पज्ञ मनुष्य देवताओं की पूजा करते हैं, उनके फल सीमित तथा क्षणिक होते हैं।" अवैष्णव को जो भगवान् की सेवा में नहीं लगता अल्पबुद्धि वाला मूर्ख माना गया है।

मघवन्यात भद्रं वो दध्यञ्चमृषिसत्तमम् ।
विद्याव्रततप:सारं गात्रं याचत मा चिरम् ॥५१॥

शब्दार्थ

मघवन्—हे इन्द्र; यात—जाओ; भद्रम्—कल्याण; वः—तुम सबों का; दध्यञ्चम्—दध्यञ्च के पास; ऋषि-सत्-तमम्—सर्वश्रेष्ठ साधु पुरुष; विद्या—विद्या का; व्रत—व्रत; तपः—तथा तपस्या; सारम्—निष्कर्ष; गात्रम्—उसका शरीर; याचत—माँगो; मा चिरम्—बिना देरी किये।

हे मघवा (इन्द्र)! तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुम्हें महान् साधु दध्यञ्च (दधीचि) के पास जाने की राय देता हूँ। वे ज्ञान, व्रत तथा तपस्या में अत्यन्त सिद्ध हैं और उनका शरीर अत्यन्त सुदृढ़ है। अब देर न लगाओ। उनके पास जाकर उनका शरीर माँगो।

तात्पर्य : इस भौतिक संसार का प्रत्येक प्राणी, ब्रह्मा से लेकर चींटी तक अपने शरीर को सुखी रखना चाहता है। भक्त भी सुखपूर्वक रहना चाह सकता है, किन्तु उसे ऐसे वर की तनिक इच्छा नहीं रहती। चूँकि स्वर्ग का राजा इन्द्र भी सुख-सुविधा की कामना कर रहा था इसलिए भगवान् विष्णु ने सलाह दी वह दध्यञ्च मुनि के पास जाकर उनका शरीर माँग ले जो उनके ज्ञान, व्रत तथा तपस्या के कारण अत्यन्त पुष्ट था।

स वा अधिगतो दध्यङ्ङश्विभ्यां ब्रह्म निष्कलम् ।
यद्वा अश्वशिरो नाम तयोरमरतां व्यधात् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वा—निश्चय ही; अधिगतः—प्राप्त करके; दध्यङ्—दध्यञ्च; अश्विभ्याम्—दोनों अश्विनीकुमारों को; ब्रह्म—आध्यात्मिक ज्ञान; निष्कलम्—शुद्ध; यत् वा—जिससे; अश्वशिरः—अश्वशिर; नाम—नामक; तयोः—दोनों का; अमरताम्—जीवन से मुक्ति; व्यधात्—प्रदान किया।

ऋषि दध्यञ्च ने जो दधीचि के नाम से भी विख्यात हैं ब्रह्मज्ञान को आत्मसात् किया था और फिर उसे अश्विनीकुमारों को दिया। कहा जाता है कि दध्यञ्च ने उनको अश्वमुख (घोड़े के मुँह) से मंत्र दिये इसलिए वे मंत्र अश्वशिर कहलाते हैं। ऋषि दधीचि से ये मंत्र प्राप्त कर अश्विनीकुमार जीवनमुक्त हो गये।

तात्पर्य : अनेक आचार्यों ने अपनी-अपनी टीकाओं में निम्नलिखित कथा का वर्णन दिया है—

निशम्याथर्वणं दक्षं प्रवर्ग्यब्रह्मविद्ययोः दध्यञ्चं समुपागम्य तम् ऊचतुरथाश्विनौ। भगवान् देहि नौ

विद्यां इति श्रुत्वा स चाब्रवीत्। कर्मण्यवस्थितोऽध्याहं पश्चाद्वक्ष्यामि गच्छतम्। तयोर्निर्गतयोरेव शक्र आगत्य तं मुनिम्। उवाच भिषजोर्विद्यां मा वादीरश्विनोर्मुने। यदि मद्वाक्यम् उल्लंघ्य ब्रवीषि सहसैव ते। शिरश्छिन्द्यां न सन्देह इत्युक्त्वा स ययौ हरिः। इन्द्रे गते तथाभ्येत्य नासत्यावूचतुर्द्विजम्। तन्मुखाद् इन्द्रगदितं श्रुत्वा तावूचतुः पुनः। आवां तव शिरश्छित्वा पूर्वम् अश्वस्य मस्तकम्। संधास्यावस्ततो ब्रूहि तेन विद्यां च नौ द्विज। तस्मिन्न् इन्द्रेण सञ्छिन्ने पुनः सन्धाय मस्तकम्। निजं ते दक्षिणां दत्त्वा गमिष्यावो यथागतम्। एतच्छत्वा तदोवाच दध्याङ्ङः आथर्वणस्तयोः प्रवर्ग्यं ब्रह्मविद्यां च सत्कृतोऽसत्यशंकितः।

महामुनि दधीचि को सकाम कर्म करने के पूर्ण ज्ञान के साथ ही उच्च ब्रह्म (आध्यात्मिक) ज्ञान भी था। यह जानकर एक बार अश्विनीकुमार उनके पास गये और उनसे ब्रह्मविद्या का उपदेश देने के लिए प्रार्थना की। दधीचि मुनि ने उत्तर दिया, ''इस समय मैं सकाम कर्म के लिए यज्ञ की तैयारी में व्यस्त हूँ। फिर कभी आएँ।'' जब अश्विनीकुमार चले गये तो स्वर्ग का राजा इन्द्र उनके पास पहुँचा और कहा, ''हे मुनि! अश्विनीकुमार तो केवल वैद्य हैं, उन्हें ब्रह्मज्ञान का उपदेश न दें। यदि मेरे कहने पर भी आप उन्हें ब्रह्मविद्या देंगे तो मैं आपका सिर काट लूँगा।'' दधीचि को इस प्रकार आगाह करके इन्द्र स्वर्गलोग चला गया। अश्विनीकुमारों ने इन्द्र का मनोभाव ताड़ लिया अतः वे दधीचि के पास लौट आये और ब्रह्मविद्या प्रदान करने की प्रार्थना की। जब मुनि ने इन्द्र की प्रताड़ना के विषय में उन्हें सूचित किया, तो अश्विनीकुमारों ने कहा, ''हम पहले आपके इस सिर को काट कर घोड़े का सिर लगा देते हैं। आप अश्वमुख से ब्रह्मविद्या का उपदेश करें और जब इन्द्र आकर उस सिर को काट लेगा तो हम आपके असली सिर लगा देंगे।'' चूँकि दधीचि ने अश्विनीकुमारों को ब्रह्मविद्या देने का वचन दे रखा था, अतः उन्होंने उनका प्रस्ताव मान लिया। अश्वमुख से दधीचि द्वारा ब्रह्मविद्या का उपदेश दिये जाने से उसे अश्वशिर भी कहते हैं।

दध्यङ्ङाथर्वणस्त्वष्ट्रे वर्माभेद्यं मदात्मकम् ।

विश्वरूपाय यत्प्रादात्त्वष्टा यत्त्वमधास्ततः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

दध्यङ्—दध्यञ्च; आथर्वणः—अथर्वा का पुत्र; त्वष्ट्रे—त्वष्टा के लिए; वर्म—कवच, नारायण कवच; अभेद्यम्—जो भेदा न जा सके; मत्-आत्मकम्—मुझसे युक्त; विश्वरूपाय—विश्वरूप के लिए; यत्—जो; प्रादात्—प्रदत्त; त्वष्टा—त्वष्टा; यत्—जो; त्वम्—तुम; अधाः—प्राप्त; ततः—उससे।

दध्यञ्च का नारायण-कवच नामक अभेद्य कवच त्वष्टा को मिला जिसने इसे अपने पुत्र विश्वरूप को दिया और जिससे तुमने इसे प्राप्त किया है। इस नारायण-कवच के कारण दधीचि का शरीर अब अत्यन्त पुष्ट है। अतः तुम जाकर उनसे उनका शरीर माँग लो।

युष्मभ्यं याचितोऽश्विभ्यां धर्मज्ञोऽङ्गानि दास्यति ।
ततस्तैरायुधश्रेष्ठो विश्वकर्मविनिर्मितः ।
येन वृत्रशिरो हर्ता मत्तेजउपबृंहितः ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

युष्मभ्यम्—तुम सबों के लिए; याचितः—माँगा जाकर; अश्विभ्याम्—अश्विनीकुमारों द्वारा; धर्म-ज्ञः—धर्म के ज्ञाता, दधीचि; अङ्गानि—अपने अंग; दास्यति—देगा; ततः—तत्पश्चात्; तैः—उन हड्डियों से; आयुध—हथियारों का; श्रेष्ठः—अत्यन्त शक्तिशाली (वज्र); विश्वकर्म-विनिर्मितः—विश्वकर्मा द्वारा तैयार किया गया; येन—जिससे; वृत्र-शिरः—वृत्रासुर का सिर; हर्ता—काट लिया जाऐगा; मत्-तेजः—मेरे बल से; उपबृंहितः—बढ़े हुए।

जब तुम्हारी ओर से अश्विनीकुमार दधीचि का शरीर माँगेंगे, तो वे स्नेहवश अवश्य दे देंगे। इसमें सन्देह मत करो, क्योंकि दधीचि धर्म के ज्ञानी हैं। जब दधीचि तुम्हें अपना शरीर दे देंगे तो विश्वकर्मा उनकी हड्डियों (अस्थियों) से एक वज्र तैयार कर देगा। यह वज्र मेरी शक्ति से युक्त होने के कारण निश्चित रूप से वृत्रासुर का वध करेगा।

तस्मिन्विनिहते यूयं तेजोऽस्त्रायुधसम्पदः ।
भूयः प्राप्स्यथ भद्रं वो न हिंसन्ति च मत्परान् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—जब वह (वृत्रासुर); विनिहते—मारा जाता है; यूयम्—तुम सभी; तेजः—तेज; अस्त्र—तीर; आयुध—अन्य हथियार; सम्पदः—तथा ऐश्वर्य; भूयः—फिर; प्राप्स्यथ—प्राप्त करोगे; भद्रम्—समस्त कल्याण; वः—तुमको; न—नहीं; हिंसन्ति—पीड़ा पहुँचाएँगे; च—तथा; मत्-परान्—मेरे भक्त।

जब वृत्रासुर मेरे आत्मबल (ब्रह्मतेज) से मर जायेगा, तो तुम्हें पुनः अपना तेज आयुध तथा सम्पत्ति प्राप्त हो जायेगी। इस प्रकार तुम सबका कल्याण होगा। यद्यपि वृत्रासुर तीनों

लोकों को विनष्ट कर सकता हैं, किन्तु तुम मत डरो कि वह तुम्हें हानि पहुँचायेगा। वह भी भक्त है और तुमसे कभी भी विद्वेष नहीं करेगा।

तात्पर्य : भगवान् का भक्त किसी से द्वेष नहीं रखता, अन्य भक्तों की तो दूसरी ही बात है। जैसाकि बाद में पता चला, वृत्रासुर भी भक्त था। अत: उससे यह आशा नहीं की जाती थी कि वह देवताओं से द्वेष रखेगा। उल्टे, वह स्वत: देवताओं का हित करना चाहेगा। भक्त सत्कार्य के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा देता है। चाणक्य पंडित ने कहा है—*सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति*। अन्तत: मनुष्य की सारी सम्पत्ति, यहाँ तक कि शरीर भी नष्ट हो जायेगा। अत: यदि किसी सत्कार्य में इनका प्रयोग हो तो भक्त अपना शरीर भी देने से नहीं कतराता। चूँकि भगवान् विष्णु देवताओं की रक्षा करना चाहते थे, अत: वृत्रासुर, जो तीनों लोकों को निगल सकता था, देवताओं द्वारा मारे जाने के लिए उद्यत हो जायेगा। भक्त के लिए जीने तथा मरने में कोई अन्तर नहीं होता, क्योंकि जीने पर वह भगवान् की भक्ति करता है और देह त्यागने के बाद वैकुण्ठ में भी वही सेवा करता है। उसकी भक्ति निर्बाध चलती जाती है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के षष्ठ स्कन्ध के अन्तर्गत ''राक्षस वृत्रासुर का आविर्भाव'' नामक नवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दस

देवताओं तथा वृत्रासुर के मध्य युद्ध

इस अध्याय में बताया है कि इन्द्र द्वारा दधीचि का शरीर प्राप्त करने के पश्चात् दधीचि की अस्थियों से वज्र बनवाया गया और फिर देवताओं तथा वृत्रासुर के मध्य युद्ध छिड़ गया।

भगवान् की आज्ञानुसार देवतागण दधीचि मुनि के पास गये और उनसे उनका शरीर माँगा। दधीचि मुनि देवताओं के मुख से धर्म के विषय में सुनना चाहते थे, अत: उन्होंने हँसी में अपना शरीर त्यागने से इनकार कर दिया। किन्तु बाद में सत्कार्य को ध्यान में रखते हुए उन्होंने शरीर-

त्याग करना स्वीकार कर लिया, क्योंकि मृत्यु के पश्चात् इस शरीर को प्राय: कुत्ते तथा गीदड़ जैसे नीच पशु खा जाते हैं। दधीचि ने पंचतत्त्व निर्मित अपने स्थूल देह को पहले मूल पंचतत्त्वों में समाहित किया और अपनी आत्मा को श्रीभगवान् के चरणकमलों में स्थिर कर दिया। इस प्रकार उन्होंने स्थूल शरीर त्याग दिया। तब विश्वकर्मा की सहायता से देवताओं ने दधीचि की अस्थियों से वज्र तैयार करवाया। इस वज्र से सज्जित, वे हाथियों की पीठ पर सवार होकर लड़ने के लिए तैयार हो गये।

सत्ययुग के अन्त तथा त्रेतायुग के प्रारम्भ में देवों तथा असुरों में भीषण युद्ध हुआ। देवों का तेज न सह सकने के कारण असुर युद्ध भूमि से भाग गये, किन्तु उनका नायक वृत्रासुर अकेला रह गया। उसने असुरों को भागते देखकर युद्धभूमि में लड़ने और मरने की महत्ता पर उपदेश दिया। जो युद्ध में जीतता है उसे भौतिक सम्पत्ति प्राप्त होती है, किन्तु युद्धभूमि में प्राण गँवाने पर उसे स्वर्गीय लोकों में वास मिलता है। दोनों ही प्रकार से योद्धा लाभ में रहता है।

श्रीबादरायणिरुवाच

इन्द्रमेवं समादिश्य भगवान्विश्वभावन: ।
पश्यतामनिमेषाणां तत्रैवान्तर्दधे हरि: ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणि: उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इन्द्रम्—इन्द्र को; एवम्—इस प्रकार; समादिश्य—उपदेश देकर; भगवान्—श्रीभगवान्; विश्व-भावन:—समस्त विश्व का आदि कारण; पश्यताम् अनिमेषाणाम्—देवताओं द्वारा टकटकी लगाकर देखे जाने पर; तत्र—वहीं पर; एव—निस्सन्देह; अन्तर्दधे—अन्तर्धान हो गये; हरि:—भगवान्।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—इस प्रकार इन्द्र को आदेश देकर भगवान् हरि, जो दृश्य जगत के कारणस्वरूप हैं, देवताओं के देखते-देखते वहीं अन्तर्धान हो गये।

तथाभियाचितो देवैरृषिराथर्वणो महान् ।
मोदमान उवाचेदं प्रहसन्निव भारत ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तथा—इस प्रकार; अभियाचितः—माँगे जाने पर; देवैः—देवताओं के द्वारा; ऋषिः—परम साधु पुरुष; आथर्वणः—अथर्वा के पुत्र, दधीचि ने; महान्—महापुरुष; मोदमानः—प्रसन्न होकर; उवाच—कहा; इदम्—यह; प्रहसन्—हँसते हुए; इव—कुछ-कुछ; भारत—हे महाराज परीक्षित!.

हे राजा परीक्षित! भगवान् की आज्ञानुसार देवतागण अथर्वा के पुत्र दधीचि के पास पहुँचे। वे अत्यन्त उदार थे और जब देवताओं ने उनसे शरीर देने के लिए प्रार्थना की तो वे तुरन्त तैयार से हो गये। किन्तु उनसे धार्मिक उपदेश सुनने के उद्देश्य से वे हँसे और विनोद में इस प्रकार बोले।

अपि वृन्दारका यूयं न जानीथ शरीरिणाम् ।
संस्थायां यस्त्वभिद्रोहो दु:सहश्चेतनापहः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अपि—यद्यपि; वृन्दारकाः—देवताओ; यूयम्—तुम सब; न जानीथ—नहीं जानते; शरीरिणाम्—शरीरधारियों की; संस्थायाम्—मृत्यु के समय या शरीर त्यागते समय; यः—जो; तु—तब; अभिद्रोहः—तीक्ष्ण वेदना; दु:सहः—असह्य; चेतन—चेतना; अपहः—चली जाती है।.

हे देवताओ! मृत्यु के समय तीक्ष्ण असह्य वेदना के कारण समस्त देहधारी जीवात्माओं की चेतना जाती रहती है। क्या तुम्हें इस वेदना का पता नहीं है?

जिजीविषूणां जीवानामात्मा प्रेष्ठ इहेप्सितः ।
क उत्सहेत तं दातुं भिक्षमाणाय विष्णवे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

जिजीविषूणाम्—जीवित रहने के इच्छुक; जीवानाम्—समस्त जीवात्माओं का; आत्मा—शरीर; प्रेष्ठः—अत्यन्त प्रिय; इह—यहाँ; ईप्सितः—इच्छित; कः—कौन; उत्सहेत—सह सकता है; तम्—उस शरीर को; दातुम्—देने के लिए; भिक्षमाणाय—माँगने के लिए; विष्णवे—भगवान् विष्णु को भी।.

इस भौतिक जगत में प्रत्येक जीवात्मा को अपना शरीर अत्यन्त प्रिय है। अपने शरीर को अक्षुण्ण बनाये रखने के संघर्ष में वह सभी प्रकार से, यहाँ तक कि अपना सर्वस्व न्यौछावर करके, बचाये रखने का प्रयत्न करता है। अतः ऐसा कौन है, जो अपना शरीर किसी अन्य को दान देना चाहेगा, भले ही भगवान् विष्णु क्यों न माँगें?

तात्पर्य : कहा गया है—*आत्मानं सर्वतो रक्षेत् ततो धर्मं ततो धनम्*—मनुष्य को सब प्रकार से

अपने शरीर की रक्षा करनी चाहिए, तब वह धर्म और उनके बाद अपने धन की रक्षा करे। यही समस्त जीवात्माओं की कामना होती है। कोई भी अपना शरीर तब तक त्यागना नहीं चाहता जब तक कोई बलपूर्वक छीन न ले। यद्यपि देवताओं ने कहा कि वे भगवान् विष्णु के आदेशानुसार अपने लाभ के लिए दधीचि का शरीर माँग रहे हैं, किन्तु दधीचि ने अपना शरीर देने से ऊपरी मन से इनकार कर दिया।

श्रीदेवा ऊचुः

किं नु तद्दुस्त्यजं ब्रह्मन्पुंसां भूतानुकम्पिनाम् ।
भवद्विधानां महतां पुण्यश्लोकेड्यकर्मणाम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

श्री-देवाः ऊचुः—देवताओं ने कहा; किम्—क्या; नु—निस्सन्देह; तत्—वह; दुस्त्यजम्—छोड़ना कठिन; ब्रह्मन्—हे पूज्य ब्राह्मण; पुंसाम्—मनुष्यों का; भूत-अनुकम्पिनाम्—जीवात्माओं के दुखों के प्रति अत्यन्त सहानुभूत लोग; भवत्-विधानाम्—आप जैसे; महताम्—महान्; पुण्य-श्लोक-ईड्य-कर्मणाम्—जिनके पुण्यकार्यों की सभी विद्वान प्रशंसा करते हैं।

देवताओं ने उत्तर दिया—हे ब्रह्मन्! आप जैसे पवित्र तथा प्रशंसनीय कार्यों वाले पुरुष सभी व्यक्तियों पर परम दयालु एवं वत्सल होते हैं। ऐसी पवित्र आत्माएँ परोपकार के लिए क्या नहीं दे सकतीं? वे सब कुछ, यहाँ तक कि अपना शरीर भी, दे सकती हैं।

नूनं स्वार्थपरो लोको न वेद परसङ्कटम् ।
यदि वेद न याचेत नेति नाह यदीश्वरः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निश्चय ही; स्व-अर्थ-परः—इस अथवा अगले जीवन में मात्र इन्द्रिय तृप्ति में रुचि रखने वाला; लोकः—सामान्य भौतिकतावादी व्यक्ति; न—नहीं; वेद—जानते हैं; पर-सङ्कटम्—अन्यों का कष्ट; यदि—यदि; वेद—जानते हैं; न—नहीं; याचेत—माँगें; न—नहीं; इति—इस प्रकार; न आह—कहता नहीं; यत्—चूँकि; ईश्वरः—दान देने में समर्थ।

जो नितान्त स्वार्थी होते हैं, वे अन्यों की पीड़ा को सोचे बिना उनसे कुछ याचना करते हैं। किन्तु यदि याचक दाता की कठिनाई को जान ले तो वह कोई वस्तु न माँगे। इसी प्रकार जो दान दे सकता हैं वह याचक (भिखारी) की कठिनाई नहीं समझता अन्यथा जो कुछ भी वह माँगे वह उसे देने से इनकार नहीं करेगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में दो प्रकार के लोगों का वर्णन है—एक वे जो दान देते हैं और दूसरे वे जो माँगते हैं। भिक्षुक को चाहिए कि वह संकटग्रस्त मनुष्य से दान न माँगे। इसी प्रकार जो दान दे सकता है उसे चाहिए कि वह भिक्षुक को इनकार न करे। शास्त्र के यही नैतिक उपदेश हैं। चाणक्य पंडित का कहना है—*सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति*—इस संसार की प्रत्येक वस्तु नष्ट हो जायेगी, अत: प्रत्येक वस्तु का उपयोग सत्कार्य के लिए कर लेना चाहिए। यदि कोई ज्ञान में उन्नत है, तो उसे सत्कार्य के लिए कुछ भी न्यौछावर करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। इस समय सम्पूर्ण विश्व ईश्वरविहीन सभ्यता के दौर में रहने से भयानक परिस्थिति में है। कृष्णभावना-आन्दोलन को ऐसे अनेक विद्वान पुरुषों की आवश्यकता है, जो ईश्वर की चेतना (भक्ति) को सम्पूर्ण जगत में पुनरुज्जीवित करने के लिए आत्म-बलिदान कर सकें। अत: हम समस्त विद्वान पुरुषों तथा स्त्रियों को इस कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में सम्मिलित होने एवं मानव-समाज में भगवद्भावना को पुनरुज्जीवित करने हेतु आत्मबलिदान करने के लिए आह्वान करते हैं।

श्रीऋषिरुवाच
धर्मं वः श्रोतुकामेन यूयं मे प्रत्युदाहृताः ।
एष वः प्रियमात्मानं त्यजन्तं सन्त्यजाम्यहम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

श्री-ऋषिः उवाच—महर्षि दधीचि ने कहा; धर्मम्—धर्म की बातें; वः—तुमसे; श्रोतु-कामेन—सुनने की इच्छा से; यूयम्—तुम; मे—मुझसे; प्रत्युदाहृताः—विपरीत उत्तर पाकर; एषः—यह; वः—तुम्हारे लिए; प्रियम्—प्रिय; आत्मानम्—शरीर; त्यजन्तम्—आज या कल मुझे छोड़ कर; सन्त्यजामि—छोड़ता हूँ; अहम्—मैं।

परमसाधु दधीचि ने कहा—मैने तुम लोगों से धर्म की बातें सुनने के लिए ही तुम्हारे मांगने पर अपना शरीर देने से इनकार कर दिया है। अब, यद्यपि मुझे अपना शरीर अत्यन्त प्रिय है, तो भी तुम लोगों के कल्याण के लिए मैं इसको छोड़ दूँगा, क्योंकि मैं जानता हूँ कि यह आज नहीं तो कल अवश्य मुझे छोड़ देगा।

योऽध्रुवेणात्मना नाथा न धर्मं न यशः पुमान् ।

ईहेत भूतदयया स शोच्यः स्थावरैरपि ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; अध्रुवेण—अस्थायी; आत्मना—शरीर से; नाथाः—हे देवो; न—नहीं; धर्मम्—धार्मिक नियम; न—नहीं; यशः—कीर्ति; पुमान्—मनुष्य; ईहेत—के लिए प्रयत्न करता है; भूत-दयया—जीवों के लिए दया से; सः—वह मनुष्य; शोच्यः—शोचनीय; स्थावरैः—जड़ जीवों के द्वारा; अपि—भी।

हे देवो! जो न तो दुखी प्राणियों पर दया दिखाता है और न धार्मिक नियमों या अक्षुण्ण कीर्ति के महान् कार्यों के लिए अपने नश्वर शरीर की बलि कर सकता है, वह निश्चय ही जड़ प्राणियों तक के द्वारा धिक्कारा जाता है।

तात्पर्य : इस प्रसंग में भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु तथा वृन्दावन के छः गोस्वामियों ने एक आदर्श स्थापित किया है। जहाँ तक श्री चैतन्य महाप्रभु का सम्बन्ध है *श्रीमद्भागवत* (११.५.३४) में कहा गया है कि—

त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं

धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।

मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्

वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥

"हम भगवान् के उन चरणकमलों को नमस्कार करते हैं जिनका मनुष्य को सदैव स्मरण करना चाहिए। उन्होंने अपना गृहस्थ जीवन, यहाँ तक कि अपनी नित्य संगिनी को भी त्याग दिया जिनकी पूजा स्वर्ग के वासी तक करते हैं। वे भौतिक माया के द्वारा मोहग्रस्त पतित आत्माओं के उद्धार के लिए वन में चले गये।" संन्यास ग्रहण करने का अभिप्राय है नागरिक रूप से आत्महत्या, किन्तु संन्यास प्रत्येक ब्राह्मण अर्थात् प्रत्येक प्रथम कोटि के मनुष्य के लिए तो अनिवार्य है। श्री चैतन्य महाप्रभु की पत्नी अत्यन्त तरुणी एवं सुन्दरी थीं और उनकी माता अत्यन्त स्नेहमयी थीं। उनके परिवार के सदस्यों का व्यवहार इतना मधुर था कि देवता भी ऐसे घरेलू सुख की कल्पना नहीं कर सकते थे। फिर भी संसार की सभी पतित आत्माओं के उद्धार के लिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने चौबीस वर्ष की आयु में गृह त्याग कर संन्यास धारण कर लिया। उन्होंने कठोर

संन्यासी का जीवन बिताया और सभी शारीरिक सुखों का त्याग किया। इसी प्रकार उनके छः गोस्वामी समाज में अच्छे पदों पर मंत्री थे, किन्तु वे सब कुछ त्याग कर श्री चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन में सम्मिलित हो गये। श्रीनिवास आचार्य कहते हैं—

त्यक्त्वा तूर्णमशेषमण्डलपतिश्रेणीं सदा तुच्छवत्।

भूत्वा दीनगणेशकौ करुणया कौपीन कन्थाश्रितौ।

ये गोस्वामी अपने-अपने मंत्री, जमींदार तथा विद्वान पदों को त्याग कर श्री चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन में संसार की पतित-आत्माओं पर अनुग्रह करने के लिए सम्मिलित हो गये (*दीन-गणेशकौ करुणया*)। उन्होंने भिक्षुकों का जीवन स्वीकार किया, वे केवल लँगोटी तथा फटी गुदड़ी (कंथा) धारण करते हुए वृन्दावन में रहने लगे और श्री चैतन्य महाप्रभु की आज्ञा का पालन करते थे जिससे वृन्दावन की विगत कीर्ति पुनः खोद सकें।

इसी प्रकार जिन लोगों को सुख-सुविधा प्राप्त है, उन्हें चाहिए कि वे पतित आत्माओं के उद्धार हेतु कृष्णभावनामृत आन्दोलन में सम्मिलित हों। *भूतदयया, माया मृगं दयितयेप्सितम्* तथा *दीन गणेशकौ करुणया* इन सभी शब्दों से यही अर्थ निकलता है। ये शब्द उन लोगों के लिए, जो मानव समाज को उचित ज्ञान तक उठाना चाहते हैं, अत्यन्त सार्थक हैं। मनुष्यों को चाहिए कि श्री चैतन्य महाप्रभु, छः गोस्वामी तथा उनसे भी पूर्व महर्षि दधीचि के आदेशों का अनुकरण करते हुए कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में सम्मिलित हों। क्षणिक शारीरिक सुखों के लिए अपने जीवन को व्यर्थ न जाने देकर मनुष्यों को चाहिए कि उसे अच्छे कार्यों में लगाएँ। अन्ततः इस शरीर को नष्ट होना है, अतः मनुष्यों को चाहिए कि इसका उत्सर्ग सारे संसार में धर्म फैलाने के शुभ कार्य में करें।

एतावानव्ययो धर्मः पुण्यश्लोकैरुपासितः ।
यो भूतशोकहर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एतावान्—इतने; अव्ययः—अविनाशी; धर्मः—धार्मिक नियम; पुण्य-श्लोकैः—अत्यन्त पवित्र कहे जाने वाले प्रसिद्ध पुरुषों द्वारा; उपासितः—मान्य; यः—जो; भूत—जीवों का; शोक—दुख से; हर्षाभ्याम्—तथा सुखसे; आत्मा—मन; शोचति—पश्चात्ताप करता है; हृष्यति—प्रसन्न होता है।.

यदि कोई मनुष्य दूसरे जीवों के दुख से दुखी होता है और उनके सुख को देखकर प्रसन्न होता है, तो पवित्र तथा परोपकारी महापुरुषों द्वारा ऐसे पुरुष के धर्म को अविनाशी माना गया है।

तात्पर्य : प्राकृत गुणों से प्राप्त शरीर के अनुसार मनुष्य तरह-तरह के धर्मों का या व्यवसायों का पालन करता है। किन्तु इस श्लोक में असली धर्म की व्याख्या दी गई है। प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि दूसरे के दुख से दुखी और दूसरे के सुख से सुखी हो। *आत्मवत् सर्वभूतेषु*—दूसरों के सुख तथा दुख को अपना ही मानना चाहिए। इसी आधार पर बौद्धों का अहिंसा का धार्मिक सिद्धान्त स्थापित है—*अहिंसा परमधर्मः*। जब कोई हमें सताता है, तो हमें पीड़ा पहुँचती है, अतः हमें अन्य प्राणियों को नहीं सताना चाहिए। भगवान् बुद्ध का ध्येय वृथा पशु-हत्या को बन्द कराना था, इसलिए उन्होंने उपदेश दिया कि अहिंसा ही परम धर्म है।

एक ओर कोई पशुओं का वध करता रहे और दूसरी ओर धार्मिक कहलाए, ऐसा सम्भव नहीं। यह सबसे बड़ी धूर्तता है। जीजस क्राइस्ट ने कहा—"हिंसा मत करो," किन्तु धूर्त लोग अपने को ईसाई बताकर हजारों कसाईघर चला रहे हैं। इस श्लोक में ऐसी धूर्तता की निन्दा की गई है। मनुष्य को दूसरों को प्रसन्न देखकर प्रसन्न होना और उन्हें दुखी देखकर दुखी होना चाहिए। इसी नियम का पालन होना चाहिए। दुर्भाग्यवश इस समय तथाकथित परोपकारी तथा मानववादी लोग बेचारे पशुओं के प्राण लेकर सम्पूर्ण मानवता के सुख का समर्थन कर रहे हैं। इस श्लोक में इसकी संस्तुति नहीं की गई है। इस श्लोक में यह स्पष्ट कहा गया है, कि मनुष्य को सभी जीवों के प्रति दयालु होना चाहिए। चाहे मनुष्य हो, पशु या वृक्ष—ये सभी जीवात्माएँ श्रीभगवान् की सन्तानें हैं। *भगवद्गीता* (१४.४) में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रद: पिता॥

''हे कुन्तीपुत्र! यह समझ लेना चाहिए कि सभी प्रकार की योनियाँ इस भौतिक प्रकृति में जन्म लेने के कारण ही सम्भव हैं और मैं बीज-प्रदाता पिता हूँ।'' इन जीवात्माओं के विभिन्न रूप उनके बाह्य वेश-भूषाएँ हैं। प्रत्येक जीव वास्तव में आत्मा है, जो ईश्वर का अंश है। इसलिए किसी एक प्रकार के जीव का पक्ष नहीं लेना चाहिए। वैष्णव समस्त जीवों को ईश्वर का अंश मानता है। जैसाकि भगवान् *भगवद्गीता* (५.१८ तथा १८.५४) में कहते हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैव श्वपाके च पंडिता: समदर्शिन:॥

''यथार्थ ज्ञानी पुरूष विनम्र विद्या-विनय युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में समान दृष्टि से देखता है।''

ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

सम: सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

''दिव्यत्व-प्राप्त पुरुष को तत्काल परब्रह्म की अनुभूति होती है और वह पूर्णतया प्रसन्न हो जाता है। वह न तो शोक करता है और न किसी वस्तु की इच्छा करता है; वह सब प्राणियों में समभाव रखता है। इस अवस्था में वह मुझमें शुद्ध भक्ति प्राप्त करता है।'' अत: वैष्णव सचमुच पूर्ण मानव है, क्योंकि वह दूसरे को दुखी देखकर शोक करता है और अन्यों को प्रसन्न देखकर स्वयं प्रसन्न होता है। वैष्णव *'परदु:खदु:खी'* होता है, वह बद्धजीवों को भौतिकता से दुखी देखकर सदैव दुखी होता है। इसलिए वैष्णव सारे संसार में कृष्णभावनामृत का उपदेश देने में सदैव व्यस्त रहता है।

अहो दैन्यमहो कष्टं पारक्यै: क्षणभङ्गुरै: ।
यन्नोपकुर्यादस्वार्थैर्मर्त्य: स्वज्ञातिविग्रहै: ॥१०॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; दैन्यम्—दीन स्थिति; अहो—ओह; कष्टम्—कोरे कष्ट; पारक्यै:—जो मृत्यु के बाद कुत्ते तथा गीदड़ों के द्वारा भक्ष्य हैं; क्षण-भङ्गुरै:—किसी भी क्षण नष्ट होने वाला; यत्—क्योंकि; न—नहीं; उपकुर्यात्—काम आएगा; अ-स्व-अर्थै:—अपने हित के लिए नहीं; मर्त्य:—जीवात्मा जिसकी मृत्यु ध्रुव है; स्व—अपनी सम्पत्ति; ज्ञाति—परिजनों तथा मित्रों; विग्रहै:—तथा अपने शरीर से।

यह शरीर, जिसे मृत्यु के पश्चात् कुत्ते तथा गीदड़ खा जायेंगे, मेरे अपने किसी काम का नहीं है। यह कुछ काल तक ही काम आने वाला है और किसी भी क्षण नष्ट हो सकता है। यह शरीर तथा इसके सभी कुटुम्बी तथा सम्पत्ति परोपकार में लगने चाहिए, अन्यथा वे सब दुख एवं विपत्ति के कारण बनेंगे।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* (१०.२२.३५) में अन्यत्र ऐसा ही उपदेश दिया गया है—

एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु।

प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय आचरणं सदा॥

''यह प्रत्येक जीव का धर्म है कि अपने जीवन, धन, बुद्धि तथा वाणी से अन्यों के हित के लिए शुभ कार्य करे।'' यही जीवन का ध्येय है। अपना शरीर तथा अपने मित्रों एवं परिजनों के शरीर तथा अपनी सम्पत्ति एवं जो कुछ भी हो, वह सारा परोपकार में लगा देना चाहिए। श्री चैतन्य महाप्रभु का यही सन्देश है। *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (आदि ९.४१) में कहा गया है—

भारतभूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार।

जन्म सार्थक करि' कर पर-उपकार॥

''जिसने इस भारत भूमि में मनुष्य के रूप में जन्म लिया है, उसे चाहिए कि वह अपने जीवन को सफल बनाए और दूसरों के हित के लिए कार्य करे।''

उपकुर्यात् शब्द का अर्थ है पर-उपकार अर्थात् दूसरों की सहायता करना। निस्सन्देह, मानव समाज में ऐसी अनेक संस्थाएँ हैं, जो दूसरों की सहायता करती हैं, किन्तु परोपकारी समाजसेवी यह नहीं जानते कि अन्यों की सहायता किस प्रकार की जाये, अत: उनकी समाजसेवा की लालसा प्रभावशाली नहीं होती। वे जीवन के चरम उद्देश्य (*श्रेय आचरणम्*) को नहीं जानते, जो परमेश्वर

को प्रसन्न करना है। यदि समग्र समाजसेवी तथा मानवतावादी गतिविधियाँ जीवन के उद्देश्य को प्राप्त करने—श्रीभगवान् को प्रसन्न करने—की ओर निर्देशित हों तब वे पूर्ण होंगी। श्रीकृष्ण के बिना कोई भी मानवतावादी कार्य व्यर्थ है। श्रीकृष्ण को प्रत्येक गतिविधि का केन्द्र बनाना होगा, अन्यथा किसी भी गतिविधि का कोई मूल्य नहीं है।

श्रीबादरायणिरुवाच
एवं कृतव्यवसितो दध्यङ्ङाथर्वणस्तनुम् ।
परे भगवति ब्रह्मण्यात्मानं सन्नयञ्जहौ ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; कृत-व्यवसितः—निश्चय करके कि क्या करना है (देवों को शरीर देना है); दध्यङ्—दधीचि मुनि; आथर्वणः—अथर्वा का पुत्र; तनुम्—शरीर को; परे—परम; भगवति—भगवान् को; ब्रह्मणि—परब्रह्म को; आत्मानम्—स्वतः, आत्मा; सन्नयन्—भेंट करके; जहौ—त्याग दिया।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—इस प्रकार अर्थवा के पुत्र दधीचि मुनि ने देवताओं की सेवा के लिए अपना शरीर त्यागने का निश्चय किया। उन्होंने अपने आप (आत्मा) को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के चरणारविन्द में रख कर पंचभूत से निर्मित अपने स्थूल शरीर को त्याग दिया।

तात्पर्य : जैसाकि *परे भगवति ब्रह्मण्यात्मानं सन्नयन्* शब्दों से प्रकट है दधीचि ने अपने आत्मा को स्वयं श्रीभगवान् के चरणों पर चढ़ा दिया। इस प्रसंग में धृतराष्ट्र द्वारा अपना शरीर छोड़े जाने की घटना का उल्लेख किया जा सकता है, जिसका वर्णन *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध (१.१३.५५) में हुआ है। धृतराष्ट्र ने उन पंच तत्त्वों को जिससे उनका शरीर बना था, पृथक् करके उन्हें तत् तत् आगारों में बाँट दिया। दूसरे शब्दों में, उन्होंने उन पाँच तत्त्वों को आदि *महत् तत्त्व* में मिला दिया। अपनी भौतिक बुद्धि के द्वारा उन्होंने भौतिक सम्बन्धों से आत्मा को पृथक् कर लिया और अपने आप को श्रीभगवान् के चरणारविन्द में अर्पित कर दिया। इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त दिया जाता है—जब कोई मिट्टी का पात्र टूटता है, तो पात्र के भीतर का सूक्ष्म आकाश बाह्य बृहत् आकाश में मिल जाता है। मायावादी दार्शनिक *श्रीमद्भागवत* के इस विवरण को ठीक से नहीं

समझ पाते। इसलिए रामानुज स्वामी ने अपने ग्रन्थ *वेदान्त तत्त्व सार* में वर्णन किया है कि आत्मा के मिलन का अर्थ है कि आठ तत्त्वों—क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर, अहंकार, मन तथा बुद्धि—से निर्मित शरीर से अपने को पृथक् करके आत्मा अपने आपको सनातन रूप में श्रीभगवान् की सेवा में लगा लेता है (*ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्द विग्रह:। अनादिरादिर्गोविन्द: सर्वकारणकारणम्*)। भौतिक तत्त्वों का भौतिक कारण भौतिक शरीर को सोख लेता है और आत्मा अपने आदिस्वरूप को ग्रहण कर लेता है। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्यदास'*—जीवात्मा की स्वाभाविक स्थिति श्रीकृष्ण के शाश्वत दास की है। जब मनुष्य आत्मज्ञान के अनुशीलन से तथा भक्ति से इस भौतिक शरीर पर विजय प्राप्त कर लेता है, तो वह अपनी स्थिति को पुन: प्राप्त करके भगवान् की भक्ति में लग सकता है।

यताक्षासुमनोबुद्धिस्तत्त्वदृग्ध्वस्तबन्धन: ।
आस्थित: परमं योगं न देहं बुबुधे गतम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यत—वश में; अक्ष—इन्द्रियाँ; असु—प्राणवायु; मन:—मन; बुद्धि:—बुद्धि; तत्त्व-दृक्—तत्त्वों एवं भौतिक तथा आत्मशक्तियों का ज्ञाता; ध्वस्त-बन्धन:—बन्धन से मुक्त; आस्थित:—स्थित होकर; परमम्—परम; योगम्—ध्यान, समाधि को; न—नहीं; देहम्—भौतिक शरीर को; बुबुधे—देखा; गतम्—निकला हुआ।.

दधीचि मुनि ने अपनी इन्द्रियों, प्राण, मन तथा बुद्धि को संयमित किया और समाधि में लीन हो गये। इस प्रकार उनके समस्त भव-बन्धन छिन्न हो गये। वे यह नहीं देख सकते थे कि उनका भौतिक शरीर किस प्रकार आत्मा से पृथक् हो गया।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (८.५) में श्रीकृष्ण का कथन हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।

य: प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशय: ॥

''जो कोई अन्तकाल में मेरा स्मरण करता हुआ शरीर त्याग करता है, वह तत्काल मेरे स्वभाव को प्राप्त हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है'' वस्तुत: मृत्यु के पूर्व ही इसका अभ्यास करना

चाहिए, किन्तु पूर्ण योगी अर्थात् भक्त श्रीकृष्ण का ध्यान करते हुए समाधि में मरता है। उसे यह पता नहीं चल पाता कि उसका शरीर आत्मा से पृथक् हो रहा है। आत्मा तुरन्त वैकुण्ठलोक को चला जाता है। *त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति*—आत्मा पुन: संसारी माता के गर्भ में प्रवेश नहीं करता वरन् वह भगवान् के धाम चला जाता है। यह भक्तियोग ही सर्वोच्च योग विधि है, जैसाकि भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* (६.४७) में कहा है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मत: ॥

"समस्त योगियों में से जो योगी श्रद्धाभाव से मेरे परायण होकर प्रेममय भक्तियोग के द्वारा मेरी सेवा करता है, वह मुझसे परम अन्तरंग रूप में जुड़ा हुआ है और परम श्रेष्ठ है।" भक्तियोगी सदैव श्रीकृष्ण का चिन्तन करता है, अत: मृत्यु के समय वह अपने आपको, मृत्यु की वेदना सहे बिना, *कृष्णलोक* में स्थानान्तरित कर सकता है।

अथेन्द्रो वज्रमुद्यम्य निर्मितं विश्वकर्मणा ।
मुने: शक्तिभिरुत्सिक्तो भगवत्तेजसान्वित: ॥ १३ ॥
वृतो देवगणै: सर्वैर्गजेन्द्रोपर्यशोभत ।
स्तूयमानो मुनिगणैस्त्रैलोक्यं हर्षयन्निव ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; इन्द्र:—स्वर्ग का राजा; वज्रम्—वज्र को; उद्यम्य—दृढ़तापूर्वक लेकर; निर्मितम्—बनाया हुआ; विश्वकर्मणा—विश्वकर्मा द्वारा; मुने:—दधीचि मुनि की; शक्तिभि:—शक्ति से; उत्सिक्त:—सिक्त होकर; भगवत्—श्रीभगवान् की; तेजसा—आध्यात्मिक शक्ति से; अन्वित:—प्रदत्त; वृत:—घिरे हुए; देव-गणै:—अन्य देवताओं से; सर्वै:—समस्त; गजेन्द्र—अपने हाथी के; उपरि—पीठ पर; अशोभत—चमकने लगा; स्तूयमान:—स्तुति किया जाकर; मुनि-गणै:—मुनियों के द्वारा; त्रै-लोक्यम्—तीनों लोकों को; हर्षयन्—प्रसन्न करते हुए; इव—मानो।

तत्पश्चात् राजा इन्द्र ने विश्वकर्मा द्वारा दधीचि की अस्थियों से निर्मित वज्र को दृढ़तापूर्वक धारण किया। दधीचि मुनि की परम शक्ति से आविष्ट एवं श्रीभगवान् के तेज से प्रकाशित होकर इन्द्र अपने वाहन ऐरावत की पीठ पर सवार हुआ। उसे समस्त देवता घेरे हुए थे और सभी मुनिगण उसकी प्रशंसा कर रहे थे। इस तरह जब वह वृत्रासुर का वध करने के

लिए सवार होकर चला तो वह अत्यन्त सुशोभित हो रहा था और तीनों लोकों को भा रहा था।

वृत्रमभ्यद्रवच्छत्रुमसुरानीकयूथपैः ।
पर्यस्तमोजसा राजन्क्रुद्धो रुद्र इवान्तकम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

वृत्रम्—वृत्रासुर पर; अभ्यद्रवत्—आक्रमण किया; शत्रुम्—शत्रु; असुर-अनीक-यूथपैः—असुरों के सैनिकों के सेनापतियों द्वारा; पर्यस्तम्—घिरा हुआ; ओजसा—अत्यन्त वेग से; राजन्—हे राजन्; क्रुद्धः—क्रोधित होकर; रुद्रः—भगवान् शिव का अवतार; इव—सदृश; अन्तकम्—अन्तक अथवा यमराज।.

हे राजा परीक्षित! जिस प्रकार रूद्र अत्यन्त क्रुद्ध होकर पहले समय में अन्तक (यमराज) को मारने के लिए उसकी ओर दौड़े थे, उसी प्रकार इन्द्र ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर बड़े ही वेग से आसुरी सेना के नायकों से घिरे वृत्रासुर पर धावा बोल दिया।

ततः सुराणामसुरै रणः परमदारुणः ।
त्रेतामुखे नर्मदायामभवत्प्रथमे युगे ॥ १६॥

शब्दार्थ

ततः—तदनन्तर; सुराणाम्—देवताओं का; असुरैः—असुरों के साथ; रणः—महान् युद्ध; परम-दारुणः—अत्यन्त भयानक; त्रेता-मुखे—त्रेतायुग के प्रारम्भ में; नर्मदायाम्—नर्मदा नदी के तट पर; अभवत्—हुआ; प्रथमे—प्रथम; युगे—कल्प में।.

तत्पश्चात् सत्ययुग के अन्त तथा त्रेतायुग के प्रारम्भ में नर्मदा नदी के तट पर देवों तथा असुरों के मध्य घमासान युद्ध हुआ।

तात्पर्य : यहाँ पर नर्मदा का अभिप्राय भारत की नर्मदा से नहीं है। भारत में पाँच पवित्र नदियाँ हैं—गंगा, यमुना, नर्मदा, कावेरी तथा कृष्णा—ये सभी स्वर्गिक हैं, गंगा नदी की भाँति नर्मदा भी स्वर्ग में बहती है। असुरों तथा देवों का संग्राम स्वर्गलोक में ही हुआ।

प्रथमे युगे का अर्थ है, प्रथम कल्प (युग) के प्रारम्भ में, अर्थात् वैवस्वत मन्वन्तर के प्रारम्भ में। ब्रह्मा के एक-एक दिन में चौदह मनु होते हैं जिनमें से प्रत्येक इकहत्तर कल्प तक जीवित रहता है। चारों युग—सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलि—मिलकर एक कल्प बनाते हैं। आजकल हम

वैवस्वत मनु के मन्वन्तर में रह रहे हैं, जिसका उल्लेख *भगवद्गीता* में हुआ है (*इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् अहमव्ययम्। विवस्वान् मनवे प्राह*)। इस समय हम वैवस्वत मनु के अट्ठाइसवें कल्प में हैं, किन्तु यह युद्ध वैवस्वत मनु के प्रथम मन्वन्तर में हुआ। अत: ऐतिहासिक दृष्टि से गणना की जा सकती है कि युद्ध कब हुआ। चूँकि प्रत्येक कल्प तैंतालीस लाख वर्ष का होता हैं और अब हम अट्ठाईसवें कल्प में है, अत: लगभग १२ करोड़ ४ लाख वर्ष बीत चुके हैं, जब नर्मदा के तट पर यह युद्ध हुआ था।

रुद्रैर्वसुभिरादित्यैरश्विभ्यां पितृवह्निभि: ।
मरुद्भिर्ऋभुभि: साध्यैर्विश्वेदेवैर्मरुत्पतिम् ॥ १७॥
दृष्ट्वा वज्रधरं शक्रं रोचमानं स्वया श्रिया ।
नामृष्यन्नसुरा राजन्मृधे वृत्रपुर:सरा: ॥ १८॥

शब्दार्थ

रुद्रै:—रुद्रों के द्वारा; वसुभि:—वसुओं के द्वारा; आदित्यै:—आदित्यों के द्वारा; अश्विभ्याम्—अश्विनी कुमारों के द्वारा; पितृ—पितरों से; वह्निभि:—वह्नियों के द्वारा; मरुद्भि:—मरुतों के द्वारा; ऋभुभि:—ऋभुओं के द्वारा; साध्यै:—साध्यों के द्वारा; विश्वे-देवै:—विश्वदेवों के द्वारा; मरुत्-पतिम्—स्वर्ग के राजा इन्द्र को; दृष्ट्वा—देखकर; वज्र-धरम्—वज्र धारण किये; शक्रम्—इन्द्र का अन्य नाम; रोचमानम्—चमकते हुए; स्वया—अपने आप से; श्रिया—ऐश्वर्य; न—नहीं; अमृष्यन्—सह्य, सहनीय; असुरा:—सभी असुर; राजन्—हे राजा; मृधे—युद्ध में; वृत्र-पुर:सरा:—वृत्रासुर के नेतृत्व में।

हे राजन्! जब वृत्रासुर को आगे करके सभी असुर युद्धभूमि में आये तो उन्होंने देखा कि राजा इन्द्र वज्र धारण किये हुए है और रूद्रों, वसुओं, आदित्यों, अश्वनी-कुमारों, पितरों, वह्नियों, मरुतों, ऋभुओं, साध्यों तथा विश्वदेवों से घिरा हुआ है और इस प्रकार से देदीप्यमान है कि उसका तेज असुरों के लिए असह्य था।

नमुचि: शम्बरोऽनर्वा द्विमूर्धा ऋषभोऽसुर: ।
हयग्रीव: शङ्कुशिरा विप्रचित्तिरयोमुख: ॥ १९॥
पुलोमा वृषपर्वा च प्रहेतिर्हेतिरुत्कल: ।
दैतेया दानवा यक्षा रक्षांसि च सहस्रश: ॥ २०॥
सुमालिमालिप्रमुखा: कार्तस्वरपरिच्छदा: ।
प्रतिषिध्येन्द्रसेनाग्रं मृत्योरपि दुरासदम् ॥ २१॥

अभ्यर्दयन्नसम्भ्रान्ताः सिंहनादेन दुर्मदाः ।
गदाभिः परिघैर्बाणैः प्रासमुद्गरतोमरैः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

नमुचिः—नमुचि; शम्बरः—शम्बर; अनर्वा—अनर्वा; द्विमूर्धा—द्विमूर्धा; ऋषभः—ऋषभ; असुरः—असुर; हयग्रीवः—हयग्रीव; शङ्कु शिराः—शंकुशिरा; विप्रचित्तिः—विप्रचित्ति; अयोमुखः—अयोमुख; पुलोमा—पुलोमा; वृषपर्वा—वृषपर्वा; च—भी; प्रहेतिः—प्रहेति; हेतिः—हेति; उत्कलः—उत्कल; दैतेयाः—दैत्यगण; दानवाः—दानवगण; यक्षाः—यक्षगण; रक्षांसि—राक्षस; च—तथा; सहस्रशः—हजारों में; सुमालि-मालि-प्रमुखाः—सुमालि तथा मालि आदि अन्य; कार्तस्वर—सोने के; परिच्छदाः—आभूषणों से युक्त; प्रतिषिध्य—पीछे रहकर; इन्द्र-सेना-अग्रम्—इन्द्र की सेना के आगे; मृत्योः—मृत्यु के लिए; अपि—भी; दुरासदम्—पहुँचना कठिन; अभ्यर्दयन्—सताये हुए; असम्भ्रान्ताः—डर रहित; सिंह-नादेन—सिंह की सी गर्जना से; दुर्मदाः—भयानक; गदाभिः—गदा से; परिघैः—लौहगदा से; बाणैः—बाणों से; प्रास-मुद्गर-तोमरैः—कँटीले प्रक्षेपास्त्रों, मुगदर तथा भालों से।

सैकड़ों हजारों असुरों, यक्षों, राक्षसों (मनुष्य-भक्षकों) तथा सुमालि, मालि आदि अन्यों ने राजा इन्द्र की सेनाओं को रोका जिन्हें साक्षात् काल भी नहीं जीत सकता था। असुरों में नमुचि, शम्बर, अनर्वा, द्विमूर्धा, ऋषभ, असुर, हयग्रीव, शंकु-शिरा, विप्रचित्ति, अयोमुख, पुलोमा, वृषपर्वा, प्रहेति, हेति तथा उत्कल सम्मिलित थे। ये अजेय असुर स्वर्णाभूषणों से भूषित होकर सिंह के समान निर्भीक होकर घोर नाद कर रहे थे और गदा, परिघ, बाण, प्रास, मुद्गर तथा तोमर जैसे हथियारों से देवताओं को पीड़ा पहुँचा रहे थे।

शूलैः परश्वधैः खड्गैः शतघ्नीभिर्भुशुण्डिभिः ।
सर्वतोऽवाकिरन्शस्त्रैरस्त्रैश्च विबुधर्षभान् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

शूलैः—बर्छों से; परश्वधैः—फरसों से; खड्गैः—तलवारों से; शतघ्नीभिः—शतघ्नियों से; भुशुण्डिभिः—भुशुण्डियों से; सर्वतः—चारों ओर; अवाकिरन्—तितर-बितर करके; शस्त्रैः—शस्त्रों से; अस्त्रैः—बाणों से; च—तथा; विबुध-ऋषभान्—देवताओं के प्रमुख।

बर्छों, त्रिशूलों, फरसों, तलवारों तथा शतघ्नी एवं भुशुण्डी जैसे अन्य हथियारों से सुसज्जित होकर असुरों ने विभिन्न दिशाओं से आक्रमण कर दिया और देवताओं की सेना के समस्त नायकों को तितर-बितर कर दिया।

न तेऽदृश्यन्त सञ्छन्नाः शरजालैः समन्ततः ।
पुङ्खानुपुङ्खपतितैर्ज्योतींषीव नभोघनैः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ते—वे (देवता); अदृश्यन्त—देखे गये; सञ्छन्नाः—पूर्णतया आच्छादित; शर-जालैः—बाणों के जाल से; समन्ततः—चारों ओर; पुङ्ख-अनुपुङ्ख—एक के बाद एक तीर; पतितैः—गिरने से; ज्योतींषि इव—आकाश में तारों के समान; नभः-घनैः—घने बादलों के द्वारा।

जिस प्रकार घने बादलों के आकाश में छा जाने के बाद तारे नहीं दिखाई पड़ते उसी प्रकार एक के बाद एक गिरने वाले बाणों के जाल से पूर्णतया आच्छादित हो जाने से देवतागण दिखाई नहीं पड़ रहे थे।

न ते शस्त्रास्त्रवर्षौघा ह्यासेदुः सुरसैनिकान् ।
छिन्नाः सिद्धपथे देवैर्लघुहस्तैः सहस्रधा ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ते—वे; शस्त्र-अस्त्र-वर्ष-ओघाः—बाणों तथा अन्य हथियारों की वर्षा; हि—निस्सन्देह; आसेदुः—पहुँची; सुर-सैनिकान्—देवताओं की सेना; छिन्नाः—कटी हुई; सिद्ध-पथे—आकाश में; देवैः—देवताओं के द्वारा; लघु-हस्तैः—तेजी से चलते हाथों द्वारा, लाघव से; सहस्रधा—हजारों खण्डों में।

देवताओं की सेना को मारने के लिए हथियारों तथा बाणों के द्वारा की गई वर्षा उन तक नहीं पहुँच पाई, क्योंकि उन्होंने अपने हस्तलाघव से आकाश में इन हथियारों को काटकर खण्ड-खण्ड कर दिया।

अथ क्षीणास्त्रशस्त्रौघा गिरिशृङ्गद्रुमोपलैः ।
अभ्यवर्षन्सुरबलं चिच्छिदुस्तांश्च पूर्ववत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; क्षीण—अत्यन्त दुर्बल; अस्त्र—मंत्र द्वारा छोड़े गये बाणों का; शस्त्र—तथा हथियार; ओघाः—समूह; गिरि—पर्वत की; शृङ्ग—चोटी से; द्रुम—वृक्षों से; उपलैः—तथा पत्थरों से; अभ्यवर्षन्—वर्षा करते हुए; सुर-बलम्—देवताओं के सैनिक; चिच्छिदुः—खण्ड खण्ड कर दिया; तान्—उनको; च—तथा; पूर्व-वत्—पहले की तरह।

जब असुरों के हथियार तथा मंत्र चुक गये, तो उन्होंने देवताओं पर पर्वतों के शिखर, वृक्ष तथा पत्थर बरसाना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु देवता इतने प्रभावशाली तथा दक्ष थे कि उन्होंने पूर्ववत् इन सभी हथियारों को आकाश में खण्ड-खण्ड कर दिया।

तानक्षतान्स्वस्तिमतो निशाम्य

शस्त्रास्त्रपूगैरथ वृत्रनाथाः ।
द्रुमैर्दृषद्भिर्विविधाद्रिशृङ्गै
रविक्षतांस्तत्रसुरिन्द्रसैनिकान् ॥ २७॥

शब्दार्थ

तान्—उनको (देवों के सैनिकों को); अक्षतान्—बिना चोट के; स्वस्ति-मतः—अत्यन्त स्वस्थ; निशाम्य—देखकर; शस्त्र-अस्त्र-पूगैः—हथियारों तथा मंत्रों के समूहों द्वारा; अथ—तत्पश्चात्; वृत्र-नाथाः—वृत्रासुर के अधीन सैनिक; द्रुमैः—वृक्षों से; दृषद्भिः—पत्थरों से; विविध—अनेक; अद्रि—पर्वतों के; शृङ्गैः—शिखरों द्वारा; अविक्षतान्—बिना घायल; तत्रसुः—भयभीत हो गये; इन्द्र-सैनिकान्—राजा इन्द्र के सैनिक ।

जब वृत्रासुर द्वारा आदेशित असुर सैनिकों ने देखा कि इन्द्र के सैनिक अनेक शस्त्रास्त्रों के समूह से, यहाँ तक कि वृक्षों, पत्थरों तथा पर्वत-शृगों के द्वारा भी घायल नहीं हो सके हैं और अक्षत बने हुए हैं, तो असुरगण अत्यन्त भयभीत हुए।

सर्वे प्रयासा अभवन्विमोघाः
कृताः कृता देवगणेषु दैत्यैः ।
कृष्णानुकूलेषु यथा महत्सु
क्षुद्रैः प्रयुक्ता ऊषती रूक्षवाचः ॥ २८॥

शब्दार्थ

सर्वे—समस्त; प्रयासाः—प्रयत्न; अभवन्—हो गये; विमोघाः—निष्फल; कृताः—किया हुआ; कृताः—पुनः किया गया; देव-गणेषु—देवताओं में; दैत्यैः—असुरों द्वारा; कृष्ण-अनुकूलेषु—जो श्रीकृष्ण द्वारा सदैव रक्षित हैं; यथा—जिस प्रकार; महत्सु—वैष्णवों को; क्षुद्रैः—तुच्छ मनुष्यों द्वारा; प्रयुक्ताः—प्रयुक्त; ऊषतीः—प्रतिकूल; रूक्ष—कठोर; वाचः—शब्द ।

जब तुच्छ लोग सन्त पुरुषों पर झूठे, क्रुद्ध आरोप लगाने के लिए दुर्वचनों का व्यवहार करते हैं, तो निरर्थक वचनों से महापुरुष विचलित नहीं होते। इसी प्रकार श्रीकृष्ण द्वारा सुरक्षित देवताओं के विरुद्ध किये जाने वाले असुरों के सभी प्रयास निष्फल हो रहे थे।

तात्पर्य : बाँग्ला में कहावत है, कि गीध के शाप से गाय नहीं मरती। इसी प्रकार कृष्ण के भक्तों पर आसुरी व्यक्तियों द्वारा लगाये जाने वाले आरोपों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। देवता श्रीकृष्ण के भक्त थे, अतः असुरों के शाप निष्फल रहे।

ते स्वप्रयासं वितथं निरीक्ष्य
हरावभक्ता हतयुद्धदर्पाः ।

पलायनायाजिमुखे विसृज्य
पतिं मनस्ते दधुरात्तसाराः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ते—वे (असुर); स्व-प्रयासम्—अपने प्रयत्नों से; वितथम्—निष्फल; निरीक्ष्य—देखकर; हरौ अभक्ताः—जो श्रीभगवान् के भक्त नहीं हैं, असुर; हत—पराजित; युद्ध-दर्पाः—लड़ने में उनका घमंड; पलायनाय—युद्धभूमि से भगने के लिए; आजि-मुखे—युद्ध के प्रारम्भ में; विसृज्य—एक ओर छोड़कर; पतिम्—अपने सेनानायक, वृत्रासुर को; मनः—उनके मन; ते—वे सब; दधुः—दिया; आत्त-साराः—शौर्य-विहीन।

जब श्रीभगवान् कृष्ण के अभक्त असुरों ने देखा कि उनके सारे प्रयास निष्फल हो गये हैं, तो युद्ध करने का उनका सारा घमंड जाता रहा। उन्होंने अपने नायक को युद्ध शुरू होने के समय ही छोड़कर वहाँ से भागने का निश्चय कर लिया, क्योंकि उनके शत्रुओं ने उनका सारा शौर्य छीन लिया था।

वृत्रोऽसुरांस्ताननुगान्मनस्वी
प्रधावतः प्रेक्ष्य बभाष एतत् ।
पलायितं प्रेक्ष्य बलं च भग्नं
भयेन तीव्रेण विहस्य वीरः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

वृत्रः—वृत्रासुर, असुरों का सेनानायक; असुरान्—सभी असुरों को; तान्—उन; अनुगान्—उसके अनुयायियों को; मनस्वी—विशाल हृदय वाला; प्रधावतः—भागते हुए; प्रेक्ष्य—देखकर; बभाष—बोला; एतत्—यह; पलायितम्—भागते हुए; प्रेक्ष्य—देखकर; बलम्—सेना को; च—तथा; भग्नम्—टूटा हुआ; भयेन—भय से; तीव्रेण—तीव्र; विहस्य—हँसकर; वीरः—बहादुर।

अपनी सेना को क्षत-विक्षत तथा समस्त असुरों को, यहाँ तक कि जो परमवीर कहलाते थे, अत्यन्त भय के कारण युद्धभूमि से भागते देखकर सचमुच विशाल हृदय वाला बहादुर वृत्रासुर हँसा और इन शब्दों में बोला।

कालोपपन्नां रुचिरां मनस्विनां
जगाद वाचं पुरुषप्रवीरः ।
हे विप्रचित्ते नमुचे पुलोमन्
मयानर्वञ्छम्बर मे शृणुध्वम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

काल-उपपन्नाम्—काल तथा परिस्थिति के अनुकूल; रुचिराम्—अत्यन्त सुन्दर; मनस्विनाम्—महान्, विशाल हृदय वाले पुरुषों के; जगाद—बोला; वाचम्—शब्द; पुरुष-प्रवीरः—वीरों का वीर, वृत्रासुर; हे—अरे; विप्रचित्ते—विप्रचित्ति; नमुचे—हे नमुचि; पुलोमन्—हे पुलोमा; मय—हे मय; अनर्वन्—हे अनर्वा; शम्बर—हे शम्बर; मे—मुझसे; शृणुध्वम्—कृपया सुनो।.

अपनी स्थिति तथा काल और परिस्थितियों के अनुसार वीरशिरोमणि वृत्रासुर ने ऐसे वचन कहे जो विचारवान् पुरुषों द्वारा प्रशंसा के योग्य थे। उसने असुर-वीरों को बुलाया, ''हे विप्रचित्ति, हे नमुचि, हे पुलोमा, हे मय, हे अनर्वा तथा शम्बर! भागो नहीं, मेरी बात तो सुन लो।''

जातस्य मृत्युर्ध्रुव एव सर्वतः
प्रतिक्रिया यस्य न चेह क्लृप्ता ।
लोको यशश्चाथ ततो यदि ह्यमुं
को नाम मृत्युं न वृणीत युक्तम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

जातस्य—जिसने जन्म लिया है (समस्त जीव) उनकी; मृत्युः—मृत्युः; ध्रुवः—अनिवार्य; एव—निस्सन्देह; सर्वतः—संसार में सर्वत्र; प्रतिक्रिया—बचने का उपाय, काट; यस्य—जिसका; न—नहीं; च—भी; इह—इस संसार में; क्लृप्ता—बनाया गया; लोकः—स्वर्गलोक; यशः—कीर्ति; च—तथा; अथ—तब; ततः—उससे; यदि—यदि; हि—निस्सन्देह; अमुम्—वह; कः—कौन; नाम—निस्सन्देह; मृत्युम्—मृत्यु; न—नहीं; वृणीत—स्वीकार करेगा; युक्तम्—अनुकूल।.

वृत्रासुर ने कहा—इस संसार में जन्मे सभी जीवों को मरना है। निश्चित ही, इस संसार में कोई भी मृत्यु से बचने के किसी उपाय को नहीं ढूँढ सका है। विधाता तक ने इससे बचने का कोई उपाय नहीं बताया। ऐसी परिस्थितियों में जब कि मृत्यु अपरिहार्य है और यदि स्वर्गलोक की प्राप्ति हो रही हो और उपयुक्त मृत्यु के कारण सदैव यश तथा कीर्ति बनी रहे तो भला कौन पुरुष होगा जो ऐसी यशस्वी मृत्यु को स्वीकार नहीं करेगा?

तात्पर्य : यदि मरने से स्वर्गलोक की प्राप्ति हो रही हो और मृत्यु के बाद चिर यश बना रहे तो कौन ऐसा मूर्ख होगा जो ऐसी यशस्वी मृत्यु को ठुकरा देगा? ऐसा ही उपदेश श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया था—''हे अर्जुन! लड़ने से विमुख मत हो। यदि तुम विजयी हुए तो राज्य भोग करोगे और यदि मरते हो तो स्वर्गलोक को जाओगे।'' प्रत्येक मनुष्य को यशस्वी कार्य करते हुए मरने के

लिए उद्यत रहना चाहिए। यशस्वी पुरुष कुत्तों की मौत मरने के लिए नहीं होते।

द्वौ सम्मताविह मृत्यू दुरापौ
यद्ब्रह्मसन्धारणया जितासुः ।
कलेवरं योगरतो विजह्याद्
यदग्रणीर्वीरशयेऽनिवृत्तः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

द्वौ—दो; सम्मतौ—(शास्त्रों तथा महापुरुषों द्वारा) सम्मत; इह—इस संसार में; मृत्यू—मृत्युएँ; दुरापौ—अत्यन्त दुर्लभ; यत्—जो; ब्रह्म-सन्धारणया—ब्रह्म, परमात्मा या परब्रह्म कृष्ण में ध्यानमग्न होकर; जित-असुः—मन तथा इन्द्रयों को वश में करके; कलेवरम्—शरीर को; योग-रतः—योग-साधना में लीन; विजह्यात्—त्याग सकता है; यत्—जो; अग्रणीः—आगे चलकर, पथ-पदर्शक बनकर; वीर-शये—युद्धभूमि में; अनिवृत्तः—पीठ न दिखाकर।

यशस्वी मृत्यु को वरण करने के दो उपाय हैं और वे दोनों अत्यन्त दुर्लभ हैं। पहला है, योग-साधना, विशेष रूप से भक्तियोग के द्वारा मरना जिसमें मनुष्य मन तथा प्राण को वश में करके पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के चिन्तन में लीन होकर मृत्यु को प्राप्त होता है। दूसरा है युद्धभूमि में सेना का नेतृत्व करते हुए तथा कभी पीठ न दिखाते हुए मर जाना। शास्त्र में इन दो प्रकार की मृत्युओं को यशस्वी कहा गया है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कंन्ध के अन्तर्गत ''देवताओं तथा वृत्रासुर के मध्य युद्ध'' नामक दसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter ग्यारह

वृत्रासुर के दिव्य गुण

इस अध्याय में वृत्रासुर के सद्गुणों का वर्णन हुआ है। जब वृत्रासुर की सेना के प्रमुख सेनानायक वृत्रासुर के उपदेश को न सुनकर भाग गये तो उसने उन्हें कायर कह कर खूब धिक्कारा। वीरतापूर्वक बोलते हुए वह देवताओं का सामना करने के लिए अकेला अड़ा रहा। जब देवताओं ने वृत्रासुर के रुख को देखा तो वे इतने भयभीत हुए कि मूर्च्छित-से होने लगे और वृत्रासुर उन्हें रौंदने लगा। इन्द्र इसे सहन न कर सका, अतः उसने अपनी गदा वृत्रासुर पर चलाई लेकिन वृत्रासुर

इतना वीर था कि उसने अपने बाएँ हाथ से गदा पकड़ ली और उससे इन्द्र के हाथी को मारने लगा। वृत्रासुर के प्रहार से वह हाथी चौदह गज पीछे हट गया और पीठ पर बैठे इन्द्र समेत भूमि पर गिर पड़ा।

राजा इन्द्र ने पहले विश्वरूप को पुरोहित बनाया और बाद में उसका वध कर दिया था। वृत्रासुर ने इन्द्र को इस जघन्य कार्य की याद दिलाते हुए कहा, ''यदि कोई श्रीभगवान् विष्णु का भक्त होता है और हर प्रकार से भगवान् विष्णु पर निर्भर रहता है, तो उसे विजय, ऐश्वर्य तथा मानसिक शान्ति—ये अनिवार्य रूप से उपलब्ध हो जाते हैं। ऐसे मुनष्य को तीनों लोकों में किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं रह जाती। परमेश्वर इतने दयालु हैं कि वे जानबूझ कर ऐसे भक्त को ऐश्वर्य नहीं देते जिससे उसकी भक्ति में व्यवधान पड़े। अत: मैं भगवान् की सेवा करने के लिए सब कुछ त्याग देना चाहता हूँ। मैं सदा भगवान् का गुणगान करना चाहता हूं और उनकी सेवा में लगा रहना चाहता हूँ। मैं अपने सांसारिक परिवार से विरक्त होकर भगवान् के भक्तों की संगति करूँगा। मैं किसी उच्च लोक, यहाँ तक कि ध्रुवलोक या ब्रह्मलोक में भेजे जाने की कामना भी नहीं करता, न ही मैं इस जगत में अविजित स्थिति का भूखा हूँ। मुझे ऐसी वस्तुओं की आवश्यकता नहीं है।''

श्रीशुक उवाच

त एवं शंसतो धर्मं वचः पत्युरचेतसः ।
नैवागृह्णन्त सम्भ्रान्ताः पलायनपरा नृप ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; ते—वे; एवम्—इस प्रकार; शंसतः—प्रशंसा करते; धर्मम्—धर्म के नियम को; वचः—शब्द; पत्युः—अपने स्वामी के; अचेतसः—अत्यन्त विचलित मन से; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; अगृह्णन्त—स्वीकार किया; सम्भ्रान्ताः—भयभीत; पलायन-पराः—भागने को उद्यत; नृप—हे राजन्!.

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे राजन्! असुरों के प्रधान सेनानायक वृत्रासुर ने अपने सेनानायकों को धर्म के नियमों का उपदेश दिया, किन्तु वे कायर तथा भगोड़े सेनानायक भय से इतने विचलित हो चुके थे कि उन्होंने उसके वचनों को नहीं माना।

विशीर्यमाणां पृतनामासुरीमसुरर्षभः ।
कालानुकूलैस्त्रिदशैः काल्यमानामनाथवत् ॥ २॥
दृष्ट्वातप्यत सङ्क्रुद्ध इन्द्रशत्रुरमर्षितः ।
तान्निवार्यौजसा राजन्निर्भर्त्स्येदमुवाच ह ॥ ३॥

शब्दार्थ

विशीर्यमाणाम्—छिन्न-भिन्न; पृतनाम्—सेना को; आसुरीम्—असुरों की; असुर-ऋषभः—असुरों में श्रेष्ठ, वृत्रासुर; काल-अनुकूलैः—समय के अनुसार परिस्थितियों का पालन करते हुए; त्रिदशैः—देवताओं के द्वारा; काल्यमानाम्—पीछा किये गये; अनाथ-वत्—असुरक्षित की तरह; दृष्ट्वा—देखकर; अतप्यत—दुखी हुआ; सङ्क्रुद्धः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; इन्द्र-शत्रुः—इन्द्र का वैरी, वृत्रासुर; अमर्षितः—न सह सकने से; तान्—उन (देवताओं) को; निवार्य—रोक कर; ओजसा—अत्यन्त बलपूर्वक से; राजन्—हे राजा परीक्षित; निर्भर्त्स्य—डाँटकर; इदम्—यह; उवाच—कहा; ह—निस्सन्देह।

हे राजा परीक्षित! समय द्वारा प्रदत्त अनुकूल अवसर का लाभ उठाकर देवताओं ने असुरों की सेना पर पीछे से आक्रमण कर दिया और असुर सैनिकों को खदेड़कर इधर-उधर बिखेर दिया, मानो उनकी सेना में कोई नायक ही न हो। अपने सैनिकों की दयनीय दशा को देखकर असुरश्रेष्ठ वृत्रासुर जिसे इन्द्रशत्रु कहा जाता था, अत्यन्त दुखी हुआ। ऐसी पराजय न सह सकने के कारण उसने देवताओं को रोका और बलपूर्वक डाँटते हुए क्रुद्धभाव से इस प्रकार कहा।

किं व उच्चरितैर्मातुर्धावद्भिः पृष्ठतो हतैः ।
न हि भीतवधः श्लाघ्यो न स्वर्ग्यः शूरमानिनाम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

किम्—क्या लाभ; वः—तुम्हारे लिए; उच्चरितैः—मल-मूत्र के समान; मातुः—माता का; धावद्भिः—भागते हुए; पृष्ठतः—पीछे से; हतैः—मारा; न—नहीं; हि—निश्चय ही; भीत-वधः—भयभीत पुरुष का वध; श्लाघ्यः—प्रशंसनीय; न—न तो; स्वर्ग्यः—स्वर्गलोक की प्राप्ति; शूर-मानिनाम्—शूर वीरों का।

हे देवताओ! इन असुर सौनिकों का जन्म वृथा ही हुआ। निस्सन्देह, ये अपनी माताओं के शरीर से मलमूत्र के समान आये हैं। ऐसे शत्रुओं को, जो डर के मारे भाग रहे हैं, पीछे से मारने में क्या लाभ होगा? अपने को वीर कहलाने वाले को चाहिए कि वह अपनी मृत्यु से भयभीत शत्रु का वध न करे। ऐसा वध न तो प्रशंसनीय है, न ही इससे किसी को स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

तात्पर्य : वृत्रासुर ने देवों तथा असुरों दोनों को फटकारा, क्योंकि असुर अपने प्राणों के भय से भागे जा रहे थे और देवता उन्हें पीछे से मार रहे थे। इन दोनों के कार्य निन्दनीय थे। जब युद्ध होता है, तो विरोधी पक्ष को वीरों की तरह लड़ने के लिए तैयार रहना चाहिए। वीर कभी युद्धभूमि से भागता नहीं। वह विजय प्राप्ति के लिए अथवा युद्धभूमि में ही अपने प्राण गँवा देने के लिए सम्मुख होकर लड़ता है। यही वीरता है। पीछे से शत्रु का वध करना भी निन्दनीय है। जब शत्रु पीठ दिखाकर प्राणों के भय से भाग रहा हो तो उसे नहीं मारा जाना चाहिए। यह सैन्य विज्ञान की आचारसंहिता है।

वृत्रासुर ने असुर-सैनिकों की तुलना माताओं के मलमूत्र से करके उनका अपमान किया। माँ के उदर से कायर पुत्र तथा मलमूत्र दोनों ही निकलते हैं। वृत्रासुर ने कहा कि इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। ऐसी ही उपमा तुलसीदास ने दी है, जिसमें पुत्र तथा मूत्र को एक ही मार्ग से निर्गत बताया गया है। दूसरे शब्दों में, वीर्य तथा मूत्र दोनों ही जननेन्द्रियों से निकलते हैं, किन्तु वीर्य से पुत्र उत्पन्न होता है और मूत्र से कुछ नहीं बनता। अत: यदि पुत्र न तो वीर है और न भक्त तो ऐसा पुत्र पुत्र नहीं मूत्र ही है। इसी प्रकार चाणक्य पंडित का कथन है—

कोऽर्थ: पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् न धार्मिक:।

काणेन चक्षुषा किं वा चक्षु: पीडैव केवलम्॥

"ऐसे पुत्र से क्या लाभ, जो न तो विद्वान है और न भगवान् का भक्त? ऐसा पुत्र उस कानी आँख के समान है, जो केवल पीड़ा तो पहुँचाती है किन्तु देखने में सहायता नहीं कर सकती।"

यदि वः प्रधने श्रद्धा सारं वा क्षुल्लका हृदि ।
अग्रे तिष्ठत मात्रं मे न चेद्ग्राम्यसुखे स्पृहा ॥ ५॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; वः—तुम सबका; प्रधने—युद्ध में; श्रद्धा—विश्वास; सारम्—धैर्य; वा—अथवा; क्षुल्लकाः—हे नीचो; हृदि—हृदय में; अग्रे—सामने; तिष्ठत—जरा ठहरो; मात्रम्—एक क्षण के लिए; मे—मेरे; न—नहीं; चेत्—यदि; ग्राम्य-सुखे—इन्द्रियतृप्ति में; स्पृहा—आकांक्षा।

हे तुच्छ देवो! यदि तुम्हें अपनी वीरता में सचमुच विश्वास है, यदि तुम्हारे अन्तस्थल में धैर्य है और यदि तुम इन्द्रियतृप्ति के कामी नहीं हो, तो क्षण भर मेरे समक्ष ठहरो।

तात्पर्य : देवताओं को डाँटते हुए वृत्रासुर ने ललकारा, "अरे देवो! यदि तुम सचमुच वीर हो तो अब मेरे सामने ठहरो और अपना शौर्य दिखाओ। यदि तुम लड़ना नहीं चाहते, यदि तुम अपने प्राणों से भयभीत हो तो मैं तुम्हें मारूँगा नहीं, क्योंकि मैं तुम्हारी तरह दुष्ट प्रकृति का नहीं हूँ कि ऐसे पुरुषों का वध करूँ जो न तो वीर हैं और न लड़ना चाहते हैं। यदि तुम्हें अपनी शूरता में विश्वास है, तो मेरे समक्ष ठहरो।"

एवं सुरगणान्क्रुद्धो भीषयन्वपुषा रिपून् ।
व्यनदत्सुमहाप्राणो येन लोका विचेतसः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सुर-गणान्—देवतागण को; क्रुद्धः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; भीषयन्—डरावने; वपुषा—अपने शरीर से; रिपून्—अपने शत्रुओं को; व्यनदत्—गरजा; सु-महा-प्राणः—परम बलवान् वृत्रासुर; येन—जिससे; लोकाः—सभी लोग; विचेतसः—अचेत, बेहोश।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा—अति क्रुद्ध एवं अत्यन्त शक्तिशाली वीर वृत्रासुर देवताओं को अपने बलिष्ठ एवं गठित शरीर से भयभीत करने लगा। जब उसने जोर से गर्जना की तो लगभग सारे जीव अचेत हो गये।

तेन देवगणाः सर्वे वृत्रविस्फोटनेन वै ।
निपेतुर्मूर्च्छिता भूमौ यथैवाशनिना हताः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तेन—उससे; देव-गणाः—देवता; सर्वे—समस्त; वृत्र-विस्फोटनेन—वृत्रासुर की भयानक गर्जना से; वै—निस्सन्देह; निपेतुः—गिर पड़े; मूर्च्छिताः—मूर्च्छित होकर; भूमौ—पृथ्वी पर; यथा—जिस प्रकार; एव—निस्सन्देह; अशनिना—वज्र से; हताः—मारे गये।

जब समस्त देवताओं ने वृत्रासुर की सिंह जैसी भयानक गर्जना सुनी तो वे मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े, मानो उन पर वज्रपात हुआ हो।

ममर्द पद्‍भ्यां सुरसैन्यमातुरं
निमीलिताक्षं रणरङ्गदुर्मदः ।
गां कम्पयन्नुद्यतशूल ओजसा
नालं वनं यूथपतिर्यथोन्मदः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

ममर्द—कुचल दिया; पद्‍भ्याम्—अपने पैरों से; सुर-सैन्यम्—देवताओं की सेना को; आतुरम्—अत्यन्त भयभीत; निमीलित-अक्षम्—बन्द नेत्रों वाले; रण-रङ्ग-दुर्मदः—युद्धभूमि में अजेय; गाम्—पृथ्वी मंडल को; कम्पयन्—हिलाते हुए; उद्यत-शूलः—अपना त्रिशूल लेकर; ओजसा—अपने बल से; नालम्—नरकट के; वनम्—जंगल; यूथ-पतिः—हाथी; यथा—जिस प्रकार; उन्मदः—पगलाया।

ज्योंही देवताओं ने डर के मारे अपनी आँखें बन्द कर लीं, वृत्रासुर ने अपना त्रिशूल उठा करके और अपने बल से पृथ्वी को दहलाते हुए युद्धभूमि में देवताओं को अपने पैरों के तले उसी प्रकार रौंद डाला जिस प्रकार पागल हाथी नरकट के वन को रौंद डालता है।

विलोक्य तं वज्रधरोऽत्यमर्षितः
स्वशत्रवेऽभिद्रवते महागदाम् ।
चिक्षेप तामापततीं सुदुःसहां
जग्राह वामेन करेण लीलया ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

विलोक्य—देखकर; तम्—उस (वृत्रासुर) को; वज्र-धरः—वज्र धारण किये हुए (राजा इन्द्र) ने; अति—अत्यधिक; अमर्षितः—क्रुद्ध; स्व—अपने; शत्रवे—शत्रु के प्रति; अभिद्रवते—दौड़ते हुए; महा-गदाम्—अत्यन्त शक्तिशाली गदा; चिक्षेप—फेंका; ताम्—उस (गदा) को; आपततीम्—अपनी ओर आती; सु-दुःसहाम्—सामना करना कठिन; जग्राह—पकड़ लिया; वामेन—अपने बाएँ; करेण—हाथ से; लीलया—आसानी से।

वृत्रासुर की करतूत देखकर स्वर्ग का राजा इन्द्र अधीर हो उठा और उस पर अपनी एक गदा फेंकी, जिसको रोकपाना अत्यन्त दुष्कर था। फिर भी ज्योंही वह गदा उसकी ओर पहुँची, वृत्रासुर ने उसे अपने बाएँ हाथ से सरलतापूर्वक पकड़ लिया।

स इन्द्रशत्रुः कुपितो भृशं तया
महेन्द्रवाहं गदयोरुविक्रमः ।
जघान कुम्भस्थल उन्नदन्मृधे
तत्कर्म सर्वे समपूजयन्नृप ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सः—वह; इन्द्र-शत्रुः—वृत्रासुर; कुपितः—क्रुद्ध; भृशम्—अत्यधिक; तया—उससे; महेन्द्र-वाहम्—इन्द्र का वाहन जो हाथी है; गदया—गदा से; उरु-विक्रमः—अपने बल के लिए विख्यात; जघान—मारा; कुम्भ-स्थले—सिर पर; उन्नदन्—चिग्घाड़ करता हुआ; मृधे—युद्ध में; तत् कर्म—वह कार्य (इन्द्र के हाथी के सिर पर वार); सर्वे—सभी सैनिक (दोनों पक्षों के); समपूजयन्—प्रशंसा की; नृप—हे राजा परीक्षित!.

हे राजा परीक्षित! इन्द्र के शत्रु, पराक्रमी वृत्रासुर ने उस गदा से क्रोधपूर्वक इन्द्र के हाथी के सिर पर जोर से प्रहार किया जिससे वह युद्धभूमि में चिग्घाड़ने लगा। इस वीरता पूर्ण कार्य के लिए दोनों पक्षों के सैनिकों ने उसकी प्रशंसा की।

ऐरावतो वृत्रगदाभिमृष्टो
विघूर्णितोऽद्रिः कुलिशाहतो यथा ।
अपासरद्भिन्नमुखः सहेन्द्रो
मुञ्चन्नसृक्सप्तधनुर्भृशार्तः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ऐरावतः—राजा इन्द्र का हाथी, ऐरावत; वृत्र-गदा-अभिमृष्टः—वृत्रासुर की गदा के आघात से; विघूर्णितः—चकराकर; अद्रिः—पर्वत; कुलिश—वज्र से; आहतः—प्रताड़ित; यथा—जिस प्रकार; अपासरत्—पीछे हट गया; भिन्न-मुखः—मुँह टूट जाने से; सह-इन्द्रः—इन्द्र सहित; मुञ्चन्—उगलते हुए; असृक्—रक्त; सप्त-धनुः—सात बाणों के तुल्य दूरी (लगभग चौदह गज); भृश—अत्यधिक; आर्तः—व्याकुल।

वृत्रासुर की गदा के आघात से ऐरावत हाथी वज्र के द्वारा ताड़ित पर्वत के समान, तीव्र वेदना का अनुभव करता हुआ तथा अपने टूटे मुँह से रक्त उगलता हुआ चौदह गज पीछे छिटक गया। भारी वेदना के कारण वह पीठ पर बैठे इन्द्र के समेत भूमि पर गिर पड़ा।

न सन्नवाहाय विषण्णचेतसे
प्रायुङ्क्त भूयः स गदां महात्मा ।
इन्द्रोऽमृतस्यन्दिकराभिमर्श
वीतव्यथक्षतवाहोऽवतस्थे ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; सन्न—थकित; वाहाय—अपने वाहन के हेतु; विषण्ण-चेतसे—अपने चित्त में अत्यन्त खिन्न; प्रायुङ्क्त—चलाया; भूयः—पुनः; सः—उस (वृत्रासुर) ने; गदाम्—गदा; महा-आत्मा—वह महापुरुष (इन्द्र को खिन्न देखकर उस पर गदा न चलाने वाला); इन्द्रः—इन्द्र; अमृत-स्यन्दि-कर—अमृत उत्पन्न करने वाले अपने हाथ के; अभिमर्श—स्पर्श से; वीत—मुक्त; व्यथ—पीड़ा से; क्षत—तथा घाव; वाहः—जिसका वाहन हाथी; अवतस्थे—वहाँ आ खड़ा हुआ।

जब उसने देखा कि इन्द्र-वाहन हाथी थका हुआ एवं घायल है और उसे इस तरह आहत

हुआ देखकर इन्द्र स्वयं खिन्न है, तो वह महापुरुष वृत्रासुर धर्म के नियमों का पालन करते हुए इन्द्र पर अपनी गदा से पुनः प्रहार करने से हिचका। इस अवसर का लाभ उठाकर इन्द्र ने अपने अमृतवर्षी हाथ से हाथी को छू दिया जिससे उस पशु की पीड़ा जाती रही और उसके घाव ठीक हो गये। तब हाथी तथा इन्द्र दोनों चुपचाप खड़े हो गए।

स तं नृपेन्द्राहवकाम्यया रिपुं
वज्रायुधं भ्रातृहणं विलोक्य ।
स्मरंश्च तत्कर्म नृशंसमंहः
शोकेन मोहेन हसञ्जगाद ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (वृत्रासुर); तम्—उस (इन्द्र) को; नृप-इन्द्र—हे राजा परीक्षित; आहव-काम्यया—युद्ध की इच्छा से; रिपुम्—शत्रु को; वज्र-आयुधम्—जिसका हथियार वज्र (दधीचि की अस्थियों से निर्मित) था; भ्रातृ-हणम्—अपने भाई का वध करने वाले; विलोक्य—देखकर; स्मरन्—स्मरण करके; च—तथा; तत्-कर्म—उसके कार्य; नृ-शंसम्—क्रूर; अंहः—बड़ा पाप; शोकेन—शोक से; मोहेन—मोहवश; हसन्—हँसता हुआ; जगाद—कहने लगा।

हे राजन्! जब महा भट्ट वृत्रासुर ने अपने शत्रु तथा अपने भाई के हत्यारे इन्द्र को अपने समक्ष लड़ने के लिए हाथ में वज्र लिए हुए देखा तो उसे स्मरण हो आया कि इन्द्र ने किस क्रूरता के साथ उसके भाई का वध किया था। इन्द्र के पापकर्मों को सोचते हुए वह शोक तथा विस्मृति से पागल हो उठा। व्यंग्य से हँसते हुए उसने इस प्रकार कहा।

श्रीवृत्र उवाच
दिष्ट्या भवान्मे समवस्थितो रिपु-
र्यो ब्रह्महा गुरुहा भ्रातृहा च ।
दिष्ट्यानृणोऽद्याहमसत्तम त्वया
मच्छूलनिर्भिन्नदृषद्धृदाचिरात् ॥ १४॥

शब्दार्थ

श्री-वृत्रः उवाच—महान् वीर वृत्रासुर ने कहा; दिष्ट्या—सौभाग्य से; भवान्—आप; मे—मेरे; समवस्थितः—(समक्ष) स्थित; रिपुः—मेरा शत्रु; यः—जो; ब्रह्म-हा—ब्राह्मण का वध करने वाला; गुरु-हा—अपने गुरु का वध करने वाला; भ्रातृ-हा—मेरे भाई का वध करने वाला; च—भी; दिष्ट्या—सौभाग्य से; अनृणः—उऋण (भाई के); अद्य—आज; अहम्—मैं; असत्-तम—हे परम घृणित; त्वया—तुम्हारे द्वारा; मत्-शूल—मेरे त्रिशूल से; निर्भिन्न—भेदे जाकर; दृषत्—पत्थर की तरह; हृदा—जिसका हृदय; अचिरात्—तुरन्त।

श्रीवृत्रासुर ने कहा : वह जिसने ब्राह्मण की हत्या की है, वह जिसने अपने गुरु का वध किया है, वह जिसने मेरे भाई की हत्या की है, इस समय सौभाग्यवश मेरे शत्रु के रूप में मेरे सामने खड़ा हुआ है। अरे नीच! जब मैं तुम्हारे पत्थर-सदृश हृदय को अपने त्रिशूल से भेद डालूँगा तब मैं अपने भाई के ऋण से उऋण हो सकूँगा।

यो नोऽग्रजस्यात्मविदो द्विजाते-
गुर्रोरपापस्य च दीक्षितस्य ।
विश्रभ्य खड्गेन शिरांस्यवृश्चत्
पशोरिवाकरुणः स्वर्गकामः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; नः—हमारे; अग्र-जस्य—बड़े भाई का; आत्म-विदः—जिसे आत्म-साक्षात्कार हो चुका है, स्वरूपसिद्ध; द्वि-जातेः—सुपात्र ब्राह्मण; गुरोः—तुम्हारा गुरु; अपापस्य—समस्त पापकर्मों से मुक्त; च—भी; दीक्षितस्य—यज्ञ की दीक्षा देने वाले के रूप में नियुक्त; विश्रभ्य—विश्वासपूर्वक; खड्गेन—अपनी तलवार से; शिरांसि—सिर; अवृश्चत्—काट लिया; पशोः—पशु का; इव—सदृश; अकरुणः—निर्दय; स्वर्ग-कामः—स्वर्ग लोक की इच्छा करने वाले।

तुमने स्वर्ग में निवास करते रहने के उद्देश्य से मेरे बड़े भाई का, जो स्वरूपसिद्ध (आत्मवेत्ता), निष्पाप एवं सुपात्र ब्राह्मण था, जिसे तुमने अपना मुख्य पुरोहित नियुक्त किया था, वध कर दिया है। वह तुम्हारा गुरु था और यद्यपि तुमने अपना यज्ञ कराने का सारा भार उस पर छोड़ रखा था, किन्तु बाद में अत्यन्त क्रूरता के साथ उसके सिर को शरीर से उसी प्रकार छिन्न कर दिया जिस प्रकार कोई पशु की हत्या कर दे।

श्रीह्रीदयाकीर्तिभिरुज्झितं त्वां
स्वकर्मणा पुरुषादैश्च गर्ह्यम् ।
कृच्छ्रेण मच्छूलविभिन्नदेह-
मस्पृष्टवह्निं समदन्ति गृध्राः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री—ऐश्वर्य या सौन्दर्य; ह्री—लज्जा; दया—दया; कीर्तिभिः—तथा कीर्ति से; उज्झितम्—विहीन होकर; त्वाम्—तुम; स्व-कर्मणा—अपने कर्मों से; पुरुष-अदैः—राक्षसों (मनुष्य भक्षी) के द्वारा; च—तथा; गर्ह्यम्—निन्दनीय; कृच्छ्रेण—कठिनाई से; मत्-शूल—मेरे त्रिशूल से; विभिन्न—बिंध कर; देहम्—तुम्हारा शरीर; अस्पृष्ट-वह्निम्—अग्नि द्वारा न छुआ जाकर; समदन्ति—खा जायेंगे; गृध्राः—गीध।

अरे इन्द्र! तुम सभी प्रकार की लज्जा, दया, कीर्ति तथा ऐश्वर्य से विहीन हो। अपने सकाम कर्मों के फल से इन सद्गुणों से रहित होकर तुम राक्षसों के द्वारा भी निन्दनीय हो। अब मैं तुम्हारे शरीर को अपने त्रिशूल से बेध डालूँगा और जब तुम घोर कष्ट से मरोगे तो अग्नि भी तुम्हारा स्पर्श नहीं करेगी, केवल गीध तुम्हारे शरीर को खायेंगे।

अन्येऽनु ये त्वेह नृशंसमज्ञा
यदुद्यतास्त्राः प्रहरन्ति मह्यम् ।
तैर्भूतनाथान्सगणान्निशात
त्रिशूलनिर्भिन्नगलैर्यजामि ॥ १७॥

शब्दार्थ

अन्ये—अन्य लोग; अनु—अनुमान करते हैं; ये—जो; त्वा—तुम; इह—इस सम्बध में; नृ-शंसम्—अत्यन्त क्रूर; अज्ञाः—जो मेरे शौर्य से परिचित नहीं हैं; यत्—यदि; उद्यत-अस्त्राः—अपनी तलावारें उठाये हुए; प्रहरन्ति—आक्रमण करते हैं; मह्यम्—मुझको; तैः—उनसे; भूत-नाथान्—भूतों के स्वामियों को, यथा भैरव; स-गणान्—अपने गणों सहित; निशात—तेज किया हुआ; त्रि-शूल—त्रिशूल से; निर्भिन्न—बेधा हुआ या भिन्न किया हुआ; गलैः—गर्दनों वाले; यजामि—बलि दूँगा।

तुम स्वभाव से क्रूर हो। यदि अन्य देवता मेरे शौर्य से अपरिचित रह कर तुम्हारे अनुयायी बनकर अपने उठे हुए हथियारों से मुझ पर आक्रमण करते हैं, तो मैं अपने इस तीक्ष्ण त्रिशूल से उनके सिर काट लूँगा और उन सिरों को भैरव तथा उनके गणों सहित अन्य भूतों के नायकों को बलि चढ़ाऊँगा।

अथो हरे मे कुलिशेन वीर
हर्ता प्रमथ्यैव शिरो यदीह ।
तत्रानृणो भूतबलिं विधाय
मनस्विनां पादरजः प्रपत्स्ये ॥ १८॥

शब्दार्थ

अथो—अन्यथा; हरे—हे इन्द्र; मे—मेरे; कुलिशेन—अपने वज्र से; वीर—हे वीर; हर्ता—काट लो; प्रमथ्य—मेरी सेना को नष्ट करके; एव—निश्चय ही; शिरः—सिर; यदि—यदि; इह—इस युद्ध में; तत्र—उस दशा में; अनृणः—उऋण; भूत-बलिम्—समस्त जीवात्माओं के लिए भेंट; विधाय—व्यवस्था करके; मनस्विनाम्—नारद मुनि जैसे परम साधुओं की; पाद-रजः—चरणकमलों की धूलि; प्रपत्स्ये—प्राप्त करूँगा।

किन्तु यदि तुम इस युद्ध में अपने वज्र से मेरा सर काट लेते हो और मेरे सैनिकों को मार

डालते हो तो हे इन्द्र, हे महान् वीर! मैं अपने शरीर को अन्य जीवात्माओं (यथा सियारों तथा गीधों) को भेंट करने में अति प्रसन्न हूँगा। इस कारण मैं अपने कर्मबन्धन के फलों से छूट जाऊँगा और यह मेरा अहोभाग्य होगा कि मैं नारद मुनि जैसे परम भक्तों के चरणकमलों की धूलि प्राप्त करूँगा।

तात्पर्य : श्रीनरोत्तम दास ठाकुर गाते हैं—

एइ छय गोसाँइ यार, मुइ तार दास।

ताङ्' सबार पदरेणु मोर पञ्च-ग्रास॥

''मैं छह गोस्वामियों का दास हूँ और उनके चरणकमलों की धूलि मुझे पाँच प्रकार के भोजन देती है।'' वैष्णव सदैव पूर्व आचार्यों तथा वैष्णवों के चरणकमलों की धूलि की कामना करता है। वृत्रासुर को विश्वास था कि वह इन्द्र के साथ युद्ध करते हुए मारा जायेगा, क्योंकि यही भगवान् विष्णु की इच्छा थी। वह मृत्यु के लिए सन्नद्ध था, क्योंकि वह जानता था कि मृत्यु के बाद उसे भगवान् का धाम प्राप्त होगा। वही परम गन्तव्य है और वह वैष्णव के अनुग्रह से ही प्राप्त होता है। *छाडिया वैष्णव-सेवा निस्तार पायेछे केबा*—बिना वैष्णव की कृपा के कोई कभी भगवान् के धाम नहीं गया। अत: इस श्लोक में *मनस्विनां पाद-रज:प्रपत्स्ये*—''मुझे परम भक्तों के चरणकमलों की धूलि प्राप्त होगी,'' ये शब्द आये हैं। *मनस्विनाम्* शब्द का अर्थ है, महान् भक्त जो सदैव श्रीकृष्ण का चिन्तन करते हैं। वे सदैव शान्त रह कर कृष्ण का चिन्तन करते हैं, अत: वे धीर कहलाते हैं। ऐसे भक्तों के सबसे अच्छे उदाहरण नारद मुनि हैं। यदि किसी को मनस्वी के चरणकमल की धूलि प्राप्त हो जाये तो वह निश्चित रूप से भगवान् के धाम को जाता है।

सुरेश कस्मान्न हिनोषि वज्रं
पुर: स्थिते वैरिणि मय्यमोघम् ।
मा संशयिष्ठा न गदेव वज्र:
स्यान्निष्फल: कृपणार्थेव याच्ञा ॥ १९॥

शब्दार्थ

सुर-ईश—हे देवों के राजा; कस्मात्—क्यों; न—नहीं; हिनोषि—छोड़ते; वज्रम्—वज्र; पुरः स्थिते—तुम्हारे समक्ष खड़ा हुआ; वैरिणि—तुम्हारा शत्रु; मयि—मुझ पर; अमोघम्—न चूकने वाला (वज्र); मा—मत; संशयिष्ठाः—सन्देह करो; न—नहीं; गदा इव—गदा के समान; वज्रः—वज्र; स्यात्—हो सकता है; निष्फलः—बेकार; कृपण—कंजूस व्यक्ति से; अर्थो—धन के लिए; इव—सदृश; याच्ञा—याचना।

हे स्वर्ग के राजा इन्द्र! तुम अपने समक्ष खड़े अपने शत्रु मुझ पर अपना वज्र क्यों नहीं छोड़ते? यद्यपि गदा द्वारा मुझ पर किया गया तुम्हारा प्रहार निश्चय ही उसी प्रकार निष्फल हो गया था, जिस प्रकार कंजूस से धन की याचना निष्फल होती है, किन्तु तुम्हारे द्वारा धारण किया गया यह वज्र निष्फल नहीं होगा। तुम्हें इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य : जब इन्द्र ने अपनी गदा वृत्रासुर पर चलाई थी तो उसने अपने बाएँ हाथ से पकड़ कर उससे इन्द्र के हाथी के सिर पर दे मारा था। इस प्रकार इन्द्र का वह आक्रमण बुरी तरह निष्फल हो गया था। उससे इन्द्र का हाथी घायल हो गया था और चौदह गज पीछे धकेल दिया गया था। अत: इस बार यद्यपि इन्द्र वृत्रासुर पर वज्र छोड़ने जा रहा था, किन्तु उसे सन्देह था कि कहीं गदा के समान यह वज्र भी बेकार न जाये। किन्तु वृत्रासुर ने वैष्णव होने के नाते इन्द्र को यह विश्वास दिलाया कि यह वज्र निष्फल नहीं होगा, क्योंकि वृत्रासुर को ज्ञात था कि भगवान् विष्णु के आदेश से इसे निर्मित किया गया है। यद्यपि इन्द्र को सन्देह था, क्योंकि वह समझ न सका कि विष्णु की आज्ञा वृथा नहीं जाती, किन्तु वृत्रासुर भगवान् विष्णु के उद्देश्य से परिचित था। वृत्रासुर भगवान् विष्णु के आदेशानुसार निर्मित इस वज्र द्वारा मारे जाने के लिए उत्सुक था, क्योंकि उसे विश्वास था कि इस प्रकार वह भगवान् के धाम वापस जा सकेगा। वह तो केवल अवसर की प्रतीक्षा में था कि कब वज्र छूटे। परिणाम स्वरूप वृत्रासुर ने इन्द्र से कहा, ''यदि तुम मुझे अपना शत्रु समझ कर मारना चाहते हो तो इस अवसर का सदुपयोग करो और मुझे मार डालो। तुम्हें विजय मिलेगी और मैं भगवान् के धाम चला जाऊँगा। तुम्हारा कार्य हम दोनों के लिए लाभकर होगा, अत: इसे तुरन्त पूरा करो।''

नन्वेष वज्रस्तव शक्र तेजसा
हरेर्दधीचेस्तपसा च तेजितः ।
तेनैव शत्रुं जहि विष्णुयन्त्रितो
यतो हरिर्विजयः श्रीर्गुणास्ततः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

ननु—निश्चय ही; एषः—यह; वज्रः—वज्र; तव—तुम्हारा; शक्र—हे इन्द्र; तेजसा—तेज से; हरेः—भगवान् विष्णु के; दधीचेः—दधीचि की; तपसा—तपस्या से; च—तथा; तेजितः—शक्तिसम्पन्न; तेन—उससे; एव—निश्चय ही; शत्रुम्—अपने शत्रु को; जहि—मारो; विष्णु-यन्त्रितः—भगवान् विष्णु द्वारा आदेशित; यतः—जहाँ कहीं भी; हरिः—भगवान् विष्णु; विजयः—विजय; श्रीः—ऐश्वर्य; गुणाः—अन्य सद्गुण; ततः—वहाँ।.

हे स्वर्ग के राजा इन्द्र! तुमने जिस वज्र को मुझे मारने के लिए धारण किया है, वह भगवान् विष्णु के तेज तथा दधीचि की तपस्या-शक्ति से समन्वित है। चूँकि तुम यहाँ भगवान् विष्णु की आज्ञा से मुझे मारने आये हो अतः इसमें अब कोई सन्देह नहीं कि तुम्हारे वज्र के छूटने से मैं मारा जाऊँगा। भगवान् विष्णु तुम्हारा साथ दे रहे हैं, अतः विजय, ऐश्वर्य तथा समस्त सद्गुण निश्चय ही तुम्हारे साथ हैं।

तात्पर्य : वृत्रासुर ने इन्द्र को न केवल विश्वास दिलाया कि वज्र अजेय है, वरन् अपने प्रति जल्दी से जल्दी प्रयोग किये जाने के लिए भी प्रोत्साहित किया। वृत्रासुर उत्सुक था कि भगवान् विष्णु द्वारा प्रेषित वज्र के प्रहार से उसका वध हो जिससे वह भगवान् के धाम शीघ्र जा पहुँचे। इन्द्र को इस वज्र के चलाने से विजय मिलेगी और स्वर्गलोकों का भोग प्राप्त होगा, किन्तु वह जन्म-मरण के चक्र में फँसा रहेगा। इन्द्र वृत्रासुर पर विजय प्राप्त करके सुख भोगना चाहता था, किन्तु वह वास्तविक सुख नहीं होगा। स्वर्गलोक ब्रह्मलोक के ठीक नीचे स्थित है किन्तु जैसाकि श्रीकृष्ण ने कहा है, *आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन*। भले ही मनुष्य ब्रह्मलोक को पा ले, किन्तु वह पुनः पुनः निम्न लोकों में गिरता रहता है। किन्तु यदि कोई भगवान् के पास चला जाता है, तो वह इस संसार में कभी नहीं लौटता। वृत्रासुर को मारने से इन्द्र को वास्तव में कोई लाभ नहीं होगा, वह इसी संसार में बना रहेगा, किन्तु वृत्रासुर वैकुण्ठ लोक को चला जायेगा। अतः

विजय तो वृत्रासुर की होनी थी, इन्द्र की नहीं।

अहं समाधाय मनो यथाह नः
सङ्कर्षणस्तच्चरणारविन्दे ।
त्वद्वज्ररंहोलुलितग्राम्यपाशो
गतिं मुनेर्याम्यपविद्धलोकः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैंने; समाधाय—स्थिर करके; मनः—मन; यथा—जिस प्रकार; आह—कहा; नः—हमारा; सङ्कर्षणः—भगवान् संकर्षण; तत्-चरण-अरविन्दे—उनके चरण कमलों पर; त्वत्-वज्र—तुम्हारे वज्र को; रंहः—वेग से; लुलित—विच्छेदित; ग्राम्य—भौतिक आसक्ति; पाशः—फन्दा; गतिम्—गन्तव्य; मुनेः—नारद मुनि तथा अन्य भक्तों का; यामि—प्राप्त करूँगा; अपविद्ध—त्याग कर; लोकः—यह संसार जहाँ सभी प्रकार की नश्वर वस्तुओं की कामना की जाती है।

तुम्हारे वज्र के वेग से मैं भौतिक बन्धन से मुक्त हो जाऊँगा और यह शरीर तथा भौतिक कामनाओं वाला यह संसार त्याग दूँगा। मैं भगवान् संकर्षण के चरणकमलों पर अपने मन को स्थिर करके नारद मुनि जैसे महामुनियों के गन्तव्य को प्राप्त कर सकूँगा जैसा कि भगवान् संकर्षण ने कहा है।

तात्पर्य : *अहं समाधाय मनः* शब्दों से सूचित होता है कि मृत्यु के समय सबसे आवश्यक कर्तव्य है मन को केन्द्रित करना। यदि मनुष्य श्रीकृष्ण, विष्णु, संकर्षण या किसी विष्णु मूर्ति के चरणकमलों में अपना मन स्थिर (केन्द्रित) कर सकता है, तो उसका जीवन सफल हो जाएगा। वृत्रासुर ने इन्द्र से कहा कि जब वह अपने मन को संकर्षण के चरणारविन्द में स्थिर किये हो तो वह अपना वज्र छोड़े। भगवान् विष्णु द्वारा प्रदत्त वज्र से उसकी मृत्यु निश्चित थी। इसके निष्फल होने का कोई प्रश्न नहीं था। अतः वृत्रासुर ने इन्द्र से प्रार्थना कि की वह तुरन्त अपना वज्र छोड़े। वह अपने मन को भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्द में स्थिर करके तैयार हो गया। भक्त अपने इस भौतिक शरीर को त्यागने के लिए सदैव तैयार रहता है, जिसे यहाँ पर *ग्राम्य-पाश* अर्थात् भौतिक आसक्ति का फंदा कहा गया है। यह शरीर तनिक भी अच्छा नहीं, यह तो मात्र सांसारिक बन्धन का कारण है। दुर्भाग्यवश शरीर के नाशवान् होने पर भी मूर्ख तथा धूर्त पुरुष शरीर पर पूर्ण आस्था

रखते हैं और कभी भी भगवान् के धाम लौट जाने के इच्छुक नहीं रहते।

पुंसां किलैकान्तधियां स्वकानां
याः सम्पदो दिवि भूमौ रसायाम् ।
न राति यद्द्वेष उद्वेग आधि-
र्मदः कलिर्व्यसनं सम्प्रयासः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

पुंसाम्—मनुष्यों को; किल—निश्चय ही; एकान्त-धियाम्—आध्यात्मिक चेतना में उन्नत; स्वकानाम्—श्रीभगवान् के अपने; याः—जो; सम्पदः—ऐश्वर्य; दिवि—स्वर्गलोक में; भूमौ—मध्यलोक में; रसायाम्—तथा अधः लोकों में; न—नहीं; राति—प्रदान करता है; यत्—जिससे; द्वेषः—द्वेष, ईर्ष्या; उद्वेगः—चिन्ता; आधिः—मानसिक क्षोभ; मदः—घमंड; कलिः—कलह; व्यसनम्—हानि के कारण उत्पन्न दुख; सम्प्रयासः—महान् प्रयत्न।

श्रीभगवान् के चरणारविन्द में जो व्यक्ति पूर्णतया समर्पित होते हैं और निरन्तर उनके चरणारविन्द का चिन्तन करते हैं, उन्हें भगवान् अपने पार्षदों या सेवकों के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। भगवान् ऐसे सेवकों को उच्च, मध्य तथा निम्न लोकों का आकर्षक ऐश्वर्य प्रदान नहीं करते, क्योंकि जब उन्हें इन लोकों में से किसी एक की भी प्राप्ति हो जाती है, तो उससे शत्रुता, चिन्ता, मानसिक क्षोभ, अभिमान तथा कलह की वृद्धि होती है। इस प्रकार मनुष्य को अपनी सम्पत्ति को बढ़ाने और उसको बनाये रखने में काफी प्रयास करना पड़ता है और जब सम्पत्ति की क्षति हो जाती है, तो उसे भारी दुख होता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (४.११) में भगवान् का कथन है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

“जो जिस भाव से मेरी शरण लेते हैं, उसी के अनुरूप मैं उन्हें फल देता हूँ। हे पार्थ! प्रत्येक मनुष्य सब प्रकार से मेरे पथ का अनुगमन करता है।” इन्द्र तथा वृत्रासुर दोनों निश्चय ही भगवान् के भक्त थे, यद्यपि इन्द्र ने वृत्रासुर को मारने के लिए भगवान् विष्णु का आदेश ले रखा था। वास्तव में वृत्रासुर के प्रति भगवान् अत्यन्त कृपालु थे, क्योंकि इन्द्र के वज्र से वृत्रासुर के मारे जाने

पर वह भगवान् के धाम पहुँचेगा जबकि विजयी इन्द्र को इसी संसार में सड़ना पड़ेगा। चूँकि दोनों भक्त थे, अत: भगवान् ने उनकी इच्छानुसार उन्हें वरदान दिए। वृत्रासुर ने कभी भौतिक सम्पत्ति की कामना नहीं की, क्योंकि उसे इसकी नियति का पता था। सम्पत्ति एकत्र करने के लिए मनुष्य को काफी श्रम करना पड़ता है और उसके प्राप्त होने पर अनेक शत्रु उत्पन्न हो जाते हैं, क्योंकि यह संसार प्रतिद्वंद्विता से ओतप्रोत है। यदि कोई धनी हो जाता है, तो उसके मित्र तथा परिजन उससे ईर्ष्या करने लगते हैं। अत: *एकान्त भक्तों* को श्रीकृष्ण भौतिक सम्पत्ति प्रदान नहीं करते। कभी-कभी भक्त को उपदेश कार्य के लिए कुछ धन की आवश्यकता होती है, किन्तु प्रचारक की सम्पत्ति कर्मी के समान नहीं होती। कर्मी का धन कर्म के फलस्वरूप प्राप्त किया जाता है, किन्तु भक्तों के धन की श्रीभगवान् द्वारा व्यवस्था की जाती है, जिससे वे भक्ति के लिए कार्य कर सकें। चूँकि भक्त भगवान् की सेवा के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य के लिए भौतिक धन का प्रयोग नहीं करता, अत: भक्त के धन की तुलना कर्मी के धन से नहीं की जानी चाहिए।

त्रैवर्गिकायासविघातमस्मत्-
पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र ।
ततोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो
यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यैः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

त्रै-वर्गिक—तीन उद्देश्यों के लिए जो धर्म, अर्थ तथा काम हैं; आयास—प्रयत्न; विघातम्—विनाश; अस्मत्—हमारा; पतिः—भगवान्; विधत्ते—करता है; पुरुषस्य—भक्त का; शक्र—हे इन्द्र; ततः—जिससे; अनुमेयः—यह अनुभव लगाया जाता है; भगवत्-प्रसादः—श्रीभगवान् की विशेष कृपा; यः—जो; दुर्लभः—प्राप्त करना अत्यन्त कठिन; अकिञ्चन-गोचरः—शुद्ध भक्तों की पहुँच में; अन्यैः—दूसरों के द्वारा, जो भौतिक सुख चाहते हैं।

हमारे भगवान् अपने भक्तों को धर्म, अर्थ तथा काम (इन्द्रिय-तृप्ति) के लिए वृथा प्रयास करने के प्रति वर्जित करते हैं। हे इन्द्र! इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भगवान् कितने दयालु हैं। ऐसी कृपा केवल शुद्ध भक्तों को प्राप्य है, भौतिक लाभ चाहने वाले व्यक्तियों को नहीं।

तात्पर्य : मानव जीवन के चार उद्देश्य हैं—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। सभी मनुष्य सामान्यत: प्रथम तीन की कामना करते हैं, किन्तु भक्त को इस जीवन तथा अगले जीवन में श्रीभगवान् की सेवा करने के अतिरिक्त कोई भी इच्छा नहीं रहती। शुद्ध भक्तों पर भगवान् की विशिष्ट कृपा यही होती है कि वे उसे धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले वृथा श्रम से बचा लेते हैं। किन्तु यदि कोई इन लाभों को चाहता है, तो भगवान् उसे अवश्य प्रदान करते हैं। उदाहरणार्थ, इन्द्र भक्त होकर भी भौतिक बन्धन से उद्धार पाने का इच्छुक नहीं था, उल्टे वह इन्द्रिय-तृप्ति तथा स्वर्गलोक में उच्चस्तरीय भौतिक सुख चाहता था। किन्तु शुद्ध भक्त होने के कारण वृत्रासुर ने केवल भगवान् की सेवा करने की इच्छा की। अत: भगवान् ने इन्द्र द्वारा उसके शारीरिक बन्धन को विनष्ट करा कर अपने धाम पहुँचने की व्यवस्था कर दी। वृत्रासुर ने इन्द्र से प्रार्थना की कि जितनी जल्दी हो सके वह अपना वज्र चलाए जिससे इन्द्र तथा वह दोनों ही भक्ति की दिशा में अपनी अपनी प्रगति के अनुसार लाभ उठा सकें।

अहं हरे तव पादैकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूयः ।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक्कर्म करोतु कायः ॥ २४॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; हरे—हे भगवन्; तव—तुम्हारे (आपके); पाद-एक-मूल—जिसकी एकमात्र शरण भगवत-चरणकमल है; दास-अनुदासः—आपके दास का भी दास; भवितास्मि—होऊँगा; भूयः—पुनः; मनः—मेरा मन; स्मरेत—स्मरण करे; असु-पतेः—मेरे जीवन के स्वामी का; गुणान्—गुण समूह; ते—आपका; गृणीत—जप करें; वाक्—मेरे शब्द; कर्म—आपकी सेवा के लिए कार्य; करोतु—करे; कायः—मेरा शरीर।

हे भगवन्! क्या मैं पुन: आपका दासानुदास बन सकूँगा जो आपके ही चरमकमल की शरण लेते हैं? हे मेरे जीवनाधार! क्या मैं आपके दासों का दास बन सकूँगा जिससे मेरा मन सदैव आपके दिव्य गुणों को स्मरण करता रहे, मेरी वाणी नित्य आपके गुणों का गान करती रहे और मेरा शरीर आपकी प्रेम-भक्ति में निरन्तर लगा रहे?

तात्पर्य : इस श्लोक में भक्तिमय जीवन का सार दिया गया है। पहले मनुष्य को भगवान् के दास का भी दास (दासानुदास) बनना पड़ता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने यही उपदेश दिया और अपना उदाहरण प्रस्तुत करके दिखाया कि जीवात्मा को सदैव गोपियों के पालक श्रीकृष्ण के दास के दास बनने की आकांक्षा करनी चाहिए (*गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः*)। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य को चाहिए कि ऐसा गुरु स्वीकार करे जो गुरु-परम्परा से सम्बद्ध हो और भगवान् के दास का भी दास हो। उसी के निर्देश में वह अपनी तीनों सम्पत्तियां अर्थात् मन, वाणी तथा शरीर को लगाए। गुरु के आदेशानुसार शरीर को शारीरिक कार्यों में लगाए, मन कृष्ण के विषय में निरन्तर सोचे और अपनी वाणी को भगवान् के यश के प्रचार में लगाए। यदि मनुष्य इस प्रकार से भगवान् की प्रेमाभक्ति करता है, तो उसका जीवन सार्थक हो जाता है।

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥ २५॥

शब्दार्थ

न—नहीं; नाक-पृष्ठम्—स्वर्गलोक या ध्रुवलोक; न—न तो; च—भी; पारमेष्ठ्यम्—जिस लोक में ब्रह्मा रहते हैं; न—न तो; सार्व-भौमम्—समस्त पृथ्वी लोकों पर एकाधिपत्य; न—नहीं; रसा-आधिपत्यम्—अधोलोकों का स्वामित्व; न—नहीं; योग-सिद्धीः—आठ प्रकार की यौगिक शक्तियाँ (अणिमा, लघिमा, महिमा इत्यादि); अपुनः-भवम्—पुनर्जन्म से छुटकारा; वा—अथवा; समञ्जस—हे समस्त अवसरों के स्त्रोत; त्वा—तुम से; विरहय्य—से पृथक् किया हुआ; काङ्क्षे—कामना करता हूँ।.

हे समस्त सौभाग्य के स्त्रोत भगवान्! मुझे न तो ध्रुवलोक में, न स्वर्ग में अथवा ब्रह्मलोक में सुख भोगने की इच्छा है और न ही मैं समस्त भू-लोकों अथवा अधःलोकों का सर्वोच्च अधिपति बनना चाहता हूँ। मैं योग शक्तियों का स्वामी भी नहीं बनना चाहता, न ही आपके चरणकमलों को त्याग कर मोक्ष की कामना करता हूँ।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त कभी-भी भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा करके भौतिक सौभाग्य की इच्छा नहीं करता। वह तो भगवान् तथा उनके पार्षदों की निरन्तर संगति में रह कर भगवान् की

प्रेममयी सेवा में लगा रहना चाहता है, जैसाकि पिछले श्लोक में वर्णन हुआ है (*दासानुदासो भवितास्मि*)। इसकी पुष्टि नरोत्तमदास ठाकुर ने की है—

तांदेर चरण सेवि भक्तसने वास।

जनमे जनमे हय, एइ अभिलाष॥

शुद्ध भक्त की यही अभिलाषा रहती है कि वह भक्तों की संगति में रहकर भगवान् तथा उनके दासानुदासों की सेवा करता रहे।

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अजात-पक्षाः—जिनके अभी तक पंख नहीं उगे; इव—सदृश; मातरम्—माता; खगाः—छोटे पक्षी; स्तन्यम्—स्तन का दूध; यथा—जिस प्रकार; वत्सतराः—बछड़े; क्षुध्-आर्ताः—भूख से पीड़ित; प्रियम्—प्रिय या पति; प्रिया—पत्नी या प्रेमिका; इव—सदृश; व्युषितम्—प्रवासी, घर से दूर; विषण्णा—दुखी; मनः—मेरा मन; अरविन्द-अक्ष—हे कमल नेत्र वाले; दिदृक्षते—देखना चाहता है; त्वाम्—तुमको।.

हे कमलनयन भगवान्! जैसे पक्षियों के पंखविहीन बच्चे अपनी माँ के लौटने तथा खिलाये जाने की प्रतीक्षा करते रहते हैं, जैसे रस्सियों से बँधे छोटे-छोटे बछड़े गाय दुहे जाने की प्रतीक्षा करते रहते हैं जिससे उन्हें अपनी माताओं का दूध पीने को मिले या जैसे वियोगिनी पत्नी घर से दूर वसे अपने प्रवासी पति के लौटने तथा सभी प्रकार से तुष्ट किये जाने के लिए लालायित रहती है, उसी प्रकार मैं आपकी प्रत्यक्ष सेवा करने के अवसर पाने के लिए सदैव उत्कण्ठित रहता हूँ।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त की अभिलाषा रहती है कि वह स्वयं भगवान् के निकट पहुँचकर उनकी सेवा करे। यहाँ पर जो उदाहरण दिये गये हैं, वे सर्वथा उपयुक्त हैं। पक्षी के छोटे-छोटे बच्चे तब तक संतुष्ट नहीं होते जब तक उनकी माँ स्वयं आकर उन्हें दाना नहीं खिलाती, एक बछड़ा तब

तक प्रसन्न नहीं होता जब तक उसे अपनी माँ के थन का दूध पीने नहीं दिया जाता तथा पतिव्रता पत्नी, जिसका पति विदेश गया होता है, तब तक प्रसन्न नहीं होती जब तक अपने प्रिय पति से उसका मिलन नहीं हो जाता।

ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं
संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः ।
त्वन्माययात्मात्मजदारगेहेष्व्
आसक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥ २७॥

शब्दार्थ

मम—मेरा; उत्तम-श्लोक-जनेषु—भक्तों में से, जो श्रीभगवान् के प्रति आसक्त हैं; सख्यम्—मित्रता; संसार-चक्रे—जन्म-मरण के चक्कर में; भ्रमतः—घूमता हुआ; स्व-कर्मभिः—अपने ही कर्मों के फल से; त्वत्-मायया—आपकी माया से; आत्म—शरीर; आत्म-ज—सन्तान; दार—पत्नी; गेहेषु—तथा घर में; आसक्त—लिप्त; चित्तस्य—जिसका मन; न—नहीं; नाथ—हे भगवान्; भूयात्—हो।.

हे भगवान्, हे स्वामी! मैं अपने सकाम कर्मों के फलस्वरूप इस पूरे भौतिक जगत में घूम रहा हूँ और मैं आपके पवित्र तथा प्रबुद्ध भक्तों की संगति की ही खोज कर रहा हूँ। आपकी बहिरंगा शक्ति अर्थात् माया के प्रभाव से अपने शरीर, पत्नी, सन्तान तथा घर के प्रति मेरी आसक्ति बनी हुई है, किन्तु मैं अब और अधिक आसक्त नहीं बने रहना चाहता। मेरा मन, मेरी चेतना तथा मेरा सर्वस्व आपके ही प्रति आसक्त रहे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कंन्ध के अन्तर्गत ''वृत्रासुर के दिव्य गुण'' नामक ग्यारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बारह

वृत्रासुर की यशस्वी मृत्यु

इस अध्याय में बताया गया है कि किस प्रकार स्वर्ग के राजा इन्द्र ने बहुत अनिच्छापूर्वक वृत्रासुर का वध किया।

बातें कर चुकने के बाद वृत्रासुर ने अत्यन्त क्रोध के साथ इन्द्र पर अपना त्रिशूल चलाया,

किन्तु इन्द्र ने उसके त्रिशूल से कई गुना अपना शक्तिशाली वज्र चलाकर त्रिशूल को खण्ड-खण्ड कर दिया और वृत्रासुर की एक भुजा काट ली। फिर भी वृत्रासुर ने एक ही भुजा से इन्द्र पर अपने लोहे के परिघ से प्रहार किया जिससे इन्द्र के हाथ से वज्र छूट गया। इस पर इन्द्र अत्यधिक लज्जित हुआ और उसने भूमि से अपना वज्र नहीं उठाया, किन्तु वृत्रासुर ने इन्द्र को प्रोत्साहित किया कि वह वज्र उठाकर पुनः युद्ध करे। तब वृत्रासुर ने इन्द्र को उपदेश देते हुए इस प्रकार कहा—

''पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही विजय तथा पराजय के कारण हैं। मूर्ख तथा धूर्त यह नहीं जानते कि परमेश्वर ही समस्त कारणों के कारण हैं और इस प्रकार विजय या पराजय का श्रेय स्वंय लेना चाहते हैं, किन्तु वास्तव में प्रत्येक वस्तु परमेश्वर के ही अधीन है। उनके अतिरिक्त अन्य कोई स्वतंत्र नहीं है। पुरुष तथा प्रकृति भगवान् के ही अधीन हैं, क्योंकि उन्हीं के निरीक्षण में सुचारु रूप से सब कुछ घटित होता है। प्रत्येक कार्य में परमेश्वर का हाथ न दिखने से मूर्ख अपने को ही प्रत्येक वस्तु का शासक तथा नियामक मान बैठता है। किन्तु जब उसे ज्ञान होता है कि असली नियामक श्रीभगवान् हैं, तो वह समस्त दुख, सुख, भय तथा अपवित्रता की प्रासंगिकताओं से मुक्त हो जाता है।'' इस प्रकार इन्द्र तथा वृत्रासुर में लड़ाई ही नहीं हुई वरन् दार्शनिक वार्ताएँ भी हुईं। इसके बाद वे फिर से लड़ने लगे।

इस बार इन्द्र अधिक शक्तिशाली था और उसने वृत्रासुर की दूसरी भुजा भी काट दी। तब वृत्रासुर ने भीमकाय रूप धारण कर लिया और इन्द्र को निगल लिया, किन्तु वृत्रासुर के पेट में भी इन्द्र अपने आपको नारायण कवच नामक जन्तर से सुरक्षित रख सका। इस प्रकार वह वृत्रासुर के पेट से बाहर आया और अपने शक्तिशाली वज्र से उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। उसे असुर का सिर काटने में पूरा एक वर्ष लग गया।

श्रीऋषिरुवाच

एवं जिहासुर्नृप देहमाजौ
मृत्युं वरं विजयान्मन्यमानः ।
शूलं प्रगृह्याभ्यपतत्सुरेन्द्रं
यथा महापुरुषं कैटभोऽप्सु ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-ऋषिः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; जिहासुः—त्यागने के लिए उत्सुक; नृप—हे राजा परीक्षित; देहम्—शरीर; आजौ—युद्ध में; मृत्युम्—मृत्यु; वरम्—श्रेष्ठ; विजयात्—विजय से; मन्यमानः—सोचते हुए; शूलम्—त्रिशूल; प्रगृह्य—लेकर; अभ्यपतत्—आक्रमण कर दिया; सुर-इन्द्रम्—स्वर्ग के राजा इन्द्र पर; यथा—जिस प्रकार; महा-पुरुषम्—श्रीभगवान् पर; कैटभः—कैटभ नामक असुर ने; अप्सु—जब सारा ब्रह्माण्ड जलमग्न था।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा—अपना शरीर छोड़ने की इच्छा से वृत्रासुर ने विजय की अपेक्षा युद्ध में अपनी मृत्यु को श्रेयस्कर समझा। हे राजा परीक्षित! उसने अत्यन्त बलपूर्वक अपना त्रिशूल उठाया और बड़े वेग से स्वर्ग के राजा पर उसी प्रकार से आक्रमण किया जिस प्रकार ब्रह्माण्ड के जलमग्न होने पर कैटभ ने श्रीभगवान् पर बड़े ही बल से आक्रमण किया था।

तात्पर्य : यद्यपि वृत्रासुर ने इन्द्र को बारम्बार प्रेरित किया कि वह उसे अपने वज्र से मार डाले, किन्तु इन्द्र इतने बड़े भक्त को मारना नहीं चाहता था। इसलिए वज्र नहीं चला रहा था। अत: जब वृत्रासुर निराश हो गया कि उसके प्रेरित करने पर भी वह आनाकानी कर रहा है, तो उसने बड़े वेग से इन्द्र पर अपना त्रिशूल चलाया। वृत्रासुर को विजय में कोई रुचि नहीं थी; वह तो चाहता था कि वह मारा जाये जिससे तुरन्त भगवान् के धाम जा सके। जैसा कि *भगवद्गीता* (४.९) में पुष्टि की गई है—*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति*—इस शरीर को त्यागने के बाद भक्त तुरन्त भगवान् कृष्ण के धाम चला जाता है और दूसरा शरीर धारण करने के लिए कभीं नहीं लौटता। यही वृत्रासुर का अभिप्राय था।

ततो युगान्ताग्निकठोरजिह्व-
माविध्य शूलं तरसासुरेन्द्रः ।
क्षिप्त्वा महेन्द्राय विनद्य वीरो
हतोऽसि पापेति रुषा जगाद ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; युग-अन्त-अग्नि—प्रत्येक कल्पान्त की अग्नि के समान; कठोर—तीखी; जिह्वम्—नोकों वाली; आविध्य—घुमाकर; शूलम्—त्रिशूल को; तरसा—वेग से; असुर-इन्द्रः—असुरों में परम वीर, वृत्रासुर; क्षिप्त्वा—फेंककर; महा-इन्द्राय—राजा इन्द्र पर; विनद्य—गरजकर; वीरः—महान् वीर (वृत्रासुर); हतः—मरा हुआ; असि—तुम हो; पाप—हे पापी; इति—इस प्रकार; रुषा—अत्यन्त क्रोध से; जगाद—चिल्लाया।

तब असुरों में महान् वीर वृत्रासुर ने कल्पान्त (प्रलय) की धधकती अग्नि की लपटों के समान तीखी नोकों वाले त्रिशूल को अत्यन्त क्रोध एवं वेग से इन्द्र पर चला दिया। उसने गरजकर कहा, ''अरे पापी, मैं तेरा वध किये देता हूँ।''

ख आपतत्तद्विचलद्ग्रहोल्कव-
निरीक्ष्य दुष्प्रेक्ष्यमजातविक्लवः ।
वज्रेण वज्री शतपर्वणाच्छिनद्
भुजं च तस्योरगराजभोगम् ॥ ३॥

शब्दार्थ

खे—आकाश में; आपतत्—उसकी ओर उड़ कर; तत्—वह त्रिशूल; विचलत्—चक्कर लगाता हुआ; ग्रह-उल्क-वत्—गिरते तारे के समान; निरीक्ष्य—देखकर; दुष्प्रेक्ष्यम्—न देखा जा सकने वाला; अजात-विक्लवः—भयभीत न होकर; वज्रेण—वज्र से; वज्री—वज्र को धारण करने वाला इन्द्र; शत-पर्वणा—एक सौ गाँठों (जोड़ों) वाला; आच्छिनत्—काट लिया; भुजम्—बाँह; च—तथा; तस्य—उस (वृत्रासुर) का; उरग-राज—महान् सर्प वासुकि का; भोगम्—शरीर की तरह।

आकाश में उड़ता हुआ वृत्रासुर का त्रिशूल प्रकाशमान उल्का के समान था। यद्यपि इस प्रज्ज्वलित आयुध की ओर देख पाना कठिन था, किन्तु राजा इन्द्र ने निर्भीक होकर अपने वज्र से उसके खण्ड-खण्ड कर दिये। उसी समय उसने वृत्रासुर की एक भुजा काट ली, जो सर्पों के राजा वासुकि के शरीर के समान मोटी थी।

छिन्नैकबाहुः परिघेण वृत्रः
संरब्ध आसाद्य गृहीतवज्रम् ।
हनौ तताडेन्द्रमथामरेभं
वज्रं च हस्तान्न्यपतन्मघोनः ॥ ४॥

शब्दार्थ

छिन्न—कटा हुआ; एक—एक; बाहुः—जिसकी भुजा; परिघेण—लौह के बने बल्लम (परिघ) से; वृत्रः—वृत्रासुर; संरब्धः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; आसाद्य—पहुँचकर; गृहीत—पकड़ते हुए; वज्रम्—वज्र को; हनौ—ठोड़ी पर; तताड—

प्रहार किया; इन्द्रम्—इन्द्रदेव पर; अथ—भी; अमर-इभम्—उसका हाथी; वज्रम्—वज्र; च—तथा; हस्तात्—हाथ से; न्यपतत्—गिर पड़ा; मघोनः—राजा इन्द्र के।

शरीर से एक भुजा के कट जाने पर भी वृत्रासुर क्रोधपूर्वक राजा इन्द्र के निकट पहुँचा और लोहे के बल्लम (परिघ) से उसकी ठोड़ी पर प्रहार किया। उसने इन्द्र के हाथी पर भी प्रहार किया। इससे इन्द्र के हाथ से उसका वज्र गिर गया।

वृत्रस्य कर्मातिमहाद्भुतं तत्
सुरासुराश्चारणसिद्धसङ्घाः ।
अपूजयंस्तत्पुरुहूतसङ्कटं
निरीक्ष्य हा हेति विचुक्रुशुर्भृशम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

वृत्रस्य—वृत्रासुर का; कर्म—कार्य; अति—अत्यन्त; महा—महान्; अद्भुतम्—अद्‌भुत, विस्मयजनक; तत्—वह; सुर—देवता; असुराः—तथा सारे असुर; चारण—चारण; सिद्ध-सङ्घाः—तथा सिद्धों का समाज; अपूजयन्—प्रशंसा किया गया; तत्—वह; पुरुहूत-सङ्कटम्—इन्द्र की संकट-पूर्ण दशा; निरीक्ष्य—देखकर; हा हा—हाय हाय; इति—इस प्रकार; विचुक्रुशुः—विलाप करने लगे; भृशम्—अत्यधिक।

विभिन्न लोकों के वासी, यथा देवता, असुर, चारण तथा सिद्ध, वृत्रासुर के कार्य की प्रशंसा करने लगे, किन्तु जब उन्होंने देखा कि इन्द्र महान् संकट में है, तो वे 'हाय हाय' करके विलाप करने लगे।

इन्द्रो न वज्रं जगृहे विलज्जित-
श्च्युतं स्वहस्तादरिसन्निधौ पुनः ।
तमाह वृत्रो हर आत्तवज्रो
जहि स्वशत्रुं न विषादकालः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रः—राजा इन्द्र ने; न—नहीं; वज्रम्—वज्र; जगृहे—धारण किया; विलज्जितः—लज्जित होकर; च्युतम्—गिरा हुआ; स्व-हस्तात्—अपने हाथ से; अरि-सन्निधौ—अपने शत्रु के समक्ष; पुनः—फिर; तम्—उससे; आह—कहा; वृत्रः—वृत्रासुर ने; हरे—हे इन्द्र; आत्त-वज्रः—अपना वज्र उठाकर; जहि—मारो; स्व-शत्रुम्—अपने शत्रु को; न—नहीं; विषाद-कालः—विलाप करने का समय।

शत्रु की उपस्थिति में अपने हाथ से वज्र गिर जाने पर इन्द्र एक प्रकार से पराजित हो गया था और अत्यन्त लज्जित हुआ। उसने पुनः अपना आयुध उठाने का दुस्साहस नहीं

किया। किन्तु वृत्रासुर ने उसे यह कहते हुए प्रोत्साहित किया, ''अपना वज्र उठा लो और अपने शत्रु को मार दो। यह भाग्य को कोसने का अवसर नहीं है।''

युयुत्सतां कुत्रचिदाततायिनां
जयः सदैकत्र न वै परात्मनाम् ।
विनैकमुत्पत्तिलयस्थितीश्वरं
सर्वज्ञमाद्यं पुरुषं सनातनम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

युयुत्सताम्—जो युद्ध के लिए उत्सुक हैं; कुत्रचित्—कभी-कभी; आततायिनाम्—आयुधों से लैस; जयः—विजय; सदा—सदैव; एकत्र—एक स्थान में; न—नहीं; वै—निस्सन्देह; पर-आत्मनाम्—अधीन जीवात्माओं का, जो परमात्मा के निर्देश में कार्य करती हैं; विना—के अतिरिक्त; एकम्—एक; उत्पत्ति—सृष्टि; लय—संहार; स्थिति—तथा पालन का; ईश्वरम्—नियन्ता; सर्व-ज्ञम्—जो सब कुछ (भूत, वर्तमान, भविष्य) जानता है; आद्यम्—आदि; पुरुषम्—भोक्ता; सनातनम्—नित्य।

वृत्रासुर ने आगे कहा—हे इन्द्र! आदि भोक्ता पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अतिरिक्त किसी की सदैव विजय होना निश्चित नहीं है। वे ही उत्पत्ति, पालन और प्रलय के कारण हैं और सब कुछ जानने वाले हैं। अधीन होने तथा भौतिक देहों को धारण करने के लिए बाध्य होने के कारण युद्धप्रिय अधीनस्थ कभी विजयी होते हैं, तो कभी पराजित होते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१५.१५) में भगवान् कहते हैं—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

''मैं सबों के हृदयों में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न हैं।'' जब दो पक्ष लड़ते हैं, तो लड़ाई वास्तव में परमात्मास्वरूप श्रीभगवान् के निर्देशन में होती है। भगवान् ने *गीता* (३.२७) में अन्यत्र कहा है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

''सम्पूर्ण कर्म वास्तव में प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं, किन्तु भौतिक प्रकृति के तीन गुणों से उत्पन्न अहंकार से मोहित जीवात्मा अपने को इनका कर्ता मान बैठता है।'' जीवात्माएँ परमेश्वर के

निर्देशानुसार ही कार्य करती हैं। भगवान् भौतिक प्रकृति को आदेश देते हैं और वह जीवात्माओं के लिए सुविधाओं की व्यवस्था करती है। जीवात्माएँ स्वतंत्र नहीं होतीं, यद्यपि मूर्खतावश वे अपने को ही कर्ता समझ बैठती हैं।

विजय तो सदैव श्रीभगवान् के पक्ष की होती है। अधीनस्थ जीवात्माएँ तो श्रीभगवान् की व्यवस्था के अन्तर्गत लड़ती हैं। विजय या पराजय वस्तुत: उनकी नहीं होती, यह तो भौतिक प्रकृति के माध्यम से भगवान् की व्यवस्था के द्वारा होती है। विजय पर गर्व या हार पर शोक करना व्यर्थ है। मनुष्य को चाहिए कि वह श्रीभगवान् पर पूरी तरह से आश्रित रहे जो समस्त जीवात्माओं की विजय तथा पराजय के लिए उत्तरदायी हैं। भगवान् का उपदेश है—*नित्यं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मण:*—''तुम अपना नित्य कर्म करो, क्योंकि निष्कर्म से कर्म श्रेष्ठ है।'' जीवात्मा को अपनी स्थिति के अनुसार कर्म करने का आदेश मिलता है। जय या पराजय तो परमेश्वर पर निर्भर है। *कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्*—''तुम्हें निर्दिष्ट कर्म करने का अधिकार है, किन्तु तुम कर्मों के फल के अधिकारी नहीं हो।'' मनुष्य को चाहिए कि अपनी स्थिति के अनुसार निष्ठापूर्वक कर्म करे। विजय या पराजय तो भगवान् के हाथ में है।

वृत्रासुर ने इन्द्र को यह कह कर प्रोत्साहित किया, ''मेरी विजय से तुम दुखी मत हो। युद्ध बन्द करने की आवश्यकता नहीं है। इस के बजाय तुम अपना कर्तव्य करो। जब श्रीकृष्ण चाहेंगे तो तुम्हारी विजय अवश्य होगी।'' कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के कार्यकर्ताओं के लिए यह श्लोक अत्यन्त शिक्षाप्रद है। न तो विजय पर हमें प्रसन्न होना चाहिए, न हार पर दुखी। हमें श्रीकृष्ण या श्री चैतन्य महाप्रभु की इच्छा को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए निष्ठापूर्वक प्रयत्न करना चाहिए, हमें जीत अथवा हार की परवाह नहीं करनी चाहिए। हमारा एकमात्र कर्तव्य है निष्ठापूर्वक कर्म करना जिससे श्रीकृष्ण हमारे कार्यों को मान्यता दें।

लोका: सपाला यस्येमे श्वसन्ति विवशा वशे ।

द्विजा इव शिचा बद्धाः स काल इह कारणम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

लोकाः—विभिन्न लोक; स-पालाः—अपने प्रमुख लोकपाल या अधिपतियों सहित; यस्य—जिसका; इमे—ये सब; श्वसन्ति—जीते हैं; विवशाः—नितान्त आश्रित; वशे—वश में; द्विजाः—पक्षी; इव—सदृश; शिचा—जाल के द्वारा; बद्धाः—बँधे हुए; सः—वह; कालः—काल, समय; इह—इसमें; कारणम्—कारण।

समस्त लोकों के प्रमुख लोकपालों सहित, इस ब्रह्माण्ड के समस्त लोकों के समस्त जीव, पूर्णतः भगवान् के वश में हैं। वे जाल में पकड़े गये उन पक्षियों के समान कार्य करते हैं, जो स्वतंत्रतापूर्वक विचरण नहीं कर सकते।

तात्पर्य : सुरों तथा असुरों में यह अन्तर है कि सुर जानते हैं कि श्रीभगवान् की इच्छा के बिना कुछ भी घटित नहीं हो सकता, जबकि असुर भगवान् की परम इच्छा को नहीं समझ सकते हैं। इस युद्ध में वृत्रासुर वास्तव में सुर है और इद्र असुर। कोई भी स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं कर सकता; प्रत्येक प्राणी श्रीभगवान् के निर्देशानुसार कार्य करता है। अत: विजय तथा पराजय मनुष्य के कर्मफलों के अनुसार ही आती है। इसका निर्णय करने वाले परमेश्वर हैं (*कर्मणा दैवनेत्रेण*)। चूँकि हम अपने कर्मों के अनुसार भगवान् के निर्देशन के अन्तर्गत कार्य करते हैं अत: ब्रह्मा से लेकर एक तुच्छ चींटी तक कोई भी स्वतंत्र नहीं है। हम जीतें या हारें, किन्तु परमेश्वर तो सदैव विजयी रहता है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य उनके निर्देशन में कार्य करता हैं।

ओजः सहो बलं प्राणममृतं मृत्युमेव च ।
तमज्ञाय जनो हेतुमात्मानं मन्यते जडम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ओजः—इन्द्रियों का बल; सहः—मनोबल; बलम्—शरीर का बल; प्राणम्—जीवित अवस्था; अमृतम्—अमरत्व; मृत्युम्—मृत्यु; एव—निस्सन्देह; च—भी; तम्—उस (परमेश्वर) को; अज्ञाय—बिना जाने; जनः—मूर्ख पुरुष; हेतुम्—कारण; आत्मानम्—शरीर; मन्यते—मानता है; जडम्—यद्यपि पत्थर की तरह।

हमारी इन्द्रियों का शौर्य, मानसिक शक्ति, दैहिक बल, जीवन शक्ति, अमरत्व एवं मृत्यु सभी कुछ परम भगवान् की देखरेख के अधीन हैं। इससे अनवगत मूर्ख लोग अपने जड़ शरीर को ही अपने कार्यकलापों का कारण मानते हैं।

यथा दारुमयी नारी यथा पत्रमयो मृगः ।
एवं भूतानि मघवन्नीशतन्त्राणि विद्धि भोः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; दारु-मयी—लकड़ी की बनी; नारी—स्त्री; यथा—जिस प्रकार; पत्र-मयः—पत्तियों से बना; मृगः—पशु; एवम्—इस प्रकार; भूतानि—सभी वस्तुएँ; मघवन्—हे राजा इन्द्र; ईश—श्रीभगवान्; तन्त्राणि—आश्रित रह कर; विद्धि—कृपया जानें; भोः—हे महाशय।

हे देवराज इन्द्र! जिस प्रकार काठ की पुतली जो स्त्री के समान प्रतीत होती है अथवा घास-फूस का बना हुआ पशु न तो हिल-डुल सकता है और न अपने आप नाच सकता है, वरन् उसे हाथ से चलाने वाले व्यक्ति पर पूरी तरह निर्भर रहता है, उसी प्रकार हम सभी परम नियन्ता पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की इच्छानुसार नाचते हैं। कोई भी स्वतंत्र नहीं है।

तात्पर्य : इसकी पुष्टि *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (आदि ५.१४२) में की गई है—

एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य।
यारे यैछे नाचाय, से तैछे करे नृत्य॥

"केवल भगवान् श्रीकृष्म परम नियन्ता हैं और अन्य सभी उनके दास हैं। वे जिस प्रकार नचाते हैं सभी वैसा ही नाचते हैं।" हम सभी श्रीकृष्ण के दास हैं, हमारी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। हम सब श्रीभगवान् की इच्छानुसार नाच रहे हैं, किन्तु अज्ञान तथा मोह के कारण हम अपने को परम इच्छा से स्वतंत्र मानते हैं। इसलिए *ब्रह्म-संहिता* (५.१) में कहा गया है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

"श्रीकृष्ण, जिन्हें गोविन्द कहा जाता है, परम नियन्ता हैं। उनका शरीर सनातन, आनन्दमय तथा चिन्मय है। वे सबके उद्गम हैं। वे अनादि हैं, क्योंकि वे समस्त कारणों के मूल कारण हैं।"

पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमात्मा भूतेन्द्रियाशयाः ।
शक्नुवन्त्यस्य सर्गादौ न विना यदनुग्रहात् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

पुरुषः—समस्त भौतिक शक्ति का जनक; प्रकृतिः—भौतिक शक्ति या भौतिक प्रकृति; व्यक्तम्—अभिव्यक्ति के सिद्धान्त (महत् तत्त्व); आत्मा—मिथ्या अहंकार; भूत—पाँच भौतिक तत्त्व; इन्द्रिय—दस इन्द्रियाँ; आशयाः—मन, बुद्धि तथा चेतना; शक्नुवन्ति—समर्थ हैं; अस्य—इस ब्रह्माण्ड के; सर्ग-आदौ—सृष्टि इत्यादि में.; न—नहीं; विना—रहित; यत्—जिसकी; अनुग्रहात्—कृपा से।.

तीनों पुरुष—कारणोदकशायी विष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु—भौतिक प्रकृति, समग्र भौतिक शक्ति (महत् तत्त्व), मिथ्या अहंकार, पाँचों भौतिक तत्त्व, भौतिक इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा चेतना, ये सब भगवान् के आदेश के बिना भौतिक जगत की सृष्टि नहीं कर सकते।

तात्पर्य : जैसाकि विष्णु पुराण में पुष्टि की गई है—*परस्य ब्रह्मण: शक्तिस्तथेदम् अखिलं जगत्*—हम जितनी भी अभिव्यक्तियों का अनुभव करते हैं, वे भगवान् की शक्तियाँ के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। ये शक्तियाँ स्वतंत्र रूप से कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकतीं। इसकी पुष्टि भी स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.१०) में इस प्रकार की है—*मयाध्यक्षेण प्रकृति: सूयते सचराचरम्*—"हे कुन्तीपुत्र! यह भौतिक प्रकृति मेरे निर्देश से कार्यशील है और समस्त जड़-चेतन प्राणियों को उत्पन्न कर रही है।" केवल श्रीभगवान् की अध्यक्षता में प्रकृति, जो चौबीस तत्त्वों के रूप में प्रकट होती है, जीवात्मा के लिए विभिन्न स्थितियाँ उत्पन्न करती हैं। वेदों में भगवान् का कथन है—

मदीयं महिमानं च परब्रह्मेति शब्दितम्।
वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे सम्प्रश्नैर्विवृतं हृदि॥

"चूँकि प्रत्येक वस्तु मेरी शक्ति का प्राकट्य है, इसलिए मुझे परब्रह्म के रूप में जाना जाता है। इसलिए प्रत्येक प्राणी को मुझसे मेरे अपने महिमामय कार्यों के बारे में सुनना चाहिए।" *भगवद्गीता* (१०.२) में भी भगवान् ने कहा है—*अहं आदिर्हि देवानाम्*—"मैं समस्त देवताओं का मूल हूँ।" अत: श्रीभगवान् प्रत्येक वस्तु के मूल (आदि) हैं और कोई भी उनसे स्वतंत्र नहीं है। श्रील मध्वाचार्य भी कहते हैं—*अनीशजीव रूपेण*—जीवात्मा अनीश होता है, वह नियामक कभी नहीं होता, वह सदैव अधीनस्थ रहता है। अत: जब कोई जीवात्मा स्वतंत्र ईश्वर या भगवान्

होने का अभिमान दिखाता है, तो इसे उसकी मूर्खता समझनी चाहिए। ऐसी मूर्खता का वर्णन अगले श्लोक में हुआ है।

अविद्वानेवमात्मानं मन्यतेऽनीशमीश्वरम् ।
भूतैः सृजति भूतानि ग्रसते तानि तैः स्वयम् ॥ १२॥

शब्दार्थ

अविद्वान्—ज्ञानरहित, मूर्ख; एवम्—इस प्रकार; आत्मानम्—स्वयं; मन्यते—मानता है; अनीशम्—यद्यपि अन्यों पर पूर्णतः आश्रित; ईश्वरम्—परम नियन्ता के रूप में, स्वतंत्र; भूतैः—जीवात्माओं के द्वारा; सृजति—वह (भगवान्) उत्पन्न करता है; भूतानि—अन्य जीवों को; ग्रसते—लील लेता है; तानि—उनको; तैः—अन्य जीवों के द्वारा; स्वयम्—स्वयं।.

ज्ञानरहित मूर्ख व्यक्ति पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को नहीं समझ सकता। वह शाश्वत अधीन रहकर भी अपने आपको झूठे ही सर्वोच्च मानता है। यदि कोई यह सोचे कि अपने पूर्व सकाम कर्मों के अनुसार उसका भौतिक शरीर उसके माता-पिता द्वारा उत्पन्न किया गया है और उसी शरीर को दूसरा कोई विनष्ट कर देता है जैसे कि बाघ दूसरे पशु को निगल जाता है, तो यह सही ज्ञान नहीं है। श्रीभगवान् स्वयं सृष्टि करते हैं और अन्य जीवों के द्वारा जीवों को निगलते रहते हैं।

तात्पर्य : *कर्ममीमांसा* दर्शन के अनुसार, मनुष्य का कर्म या पूर्व सकाम कर्म ही प्रत्येक वस्तु का कारण है, अतः कार्य करने की आवश्यकता नहीं है। जो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, वे मूर्ख हैं। जब पिता बच्चे की सृष्टि करता है, तो वह स्वतंत्र रूप से ऐसा नहीं करता; वह ऐसा करने के लिए परमेश्वर द्वारा प्रेरित किया जाता है। जैसाकि भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा है—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—"मैं सबों के हृदयों में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होते हैं।" जब तक प्रत्येक हृदय में वास करने वाले भगवान् का आदेश प्राप्त नहीं होता, मनुष्य कोई भी वस्तु उत्पन्न करने के लिए प्रेरित नहीं होता। अतः माता-पिता जीवात्मा के सृष्टिकर्ता नहीं हैं। जीवात्मा के कर्मों अर्थात् सकाम कर्मों के अनुसार वह पिता के वीर्य में स्थित होकर माता के गर्भ में पहुँचाया जाता है। तब माता तथा पिता के शरीर

के अनुसार (*यथायोनि यथाबीजम्*) जीव शरीर ग्रहण करता है और सुख या दुख भोगने के लिए जन्मता है। अत: मनुष्य के जन्म का आदि कारण परमेश्वर है। इसी प्रकार से मनुष्य की मृत्यु का कारण भी वही है। कोई भी स्वतंत्र नहीं है; सभी परतंत्र हैं, आश्रित हैं। इसका सही निष्कर्ष यह निकला कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही एकमात्र स्वतंत्र पुरुष हैं।

आयु: श्री: कीर्तिरैश्वर्यमाशिष: पुरुषस्य या: ।
भवन्त्येव हि तत्काले यथानिच्छोर्विपर्यया: ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

आयु:—दीर्घजीविता; श्री:—ऐश्वर्य; कीर्ति:—यश; ऐश्वर्यम्—शक्ति; आशिष:—आशीर्वाद, वर; पुरुषस्य—जीवात्मा का; या:—जो; भवन्ति—होते हैं; एव—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही; तत्-काले—ठीक समय पर; यथा—जिस प्रकार; अनिच्छो:—न चाहने वाले का; विपर्यया:—विपरीत परिस्थितियाँ।

जिस प्रकार मरने की इच्छा न रखने पर भी मनुष्य को मृत्यु के समय अपनी आयु, ऐश्वर्य, यश तथा अन्य सब कुछ त्याग देना पड़ता है उसी प्रकार जब ईश्वर की कृपा होती है, तो विजय के नियत समय के अनुकूल होने पर ये सारी वस्तुएँ उसे मिल जाती हैं।

तात्पर्य : झूठे में फूले न समाना उचित नहीं, यदि कोई यह कहे कि वह अपने प्रयास से ऐश्वर्यवान, विद्वान, रूपवान् आदि बन सका है। ऐसा सौभाग्य ईश्वर की कृपा से ही प्राप्त होता है। एक अन्य दृष्टिकोण के अनुसार, न तो कोई मरना चाहता है, न कोई निर्धन या कुरूप होना चाहता है। तो फिर जीव को अपनी मर्जी के विरूद्ध ऐसे अनिच्छित कष्ट क्यों मिलते हैं? यह परमेश्वर की कृपा या ताड़ना का ही फल है कि मनुष्य को भौतिक लाभ या हानि होती है। कोई स्वतंत्र नहीं है, प्रत्येक व्यक्ति परमेश्वर की कृपा या ताड़ना के अधीन है। बँगला में एक सामान्य कहावत है कि भगवान् के दस हाथ होते हैं। इसका अर्थ यह है कि उनका सर्वत्र नियंत्रण है—आठों दिशाओं में तथा ऊपर और नीचे। यदि वे अपने दस हाथों से हमसे सब कुछ छीन लेना चाहते हैं, तो हम अपने दो हाथों से कुछ भी नहीं बचा सकते। इसी प्रकार यदि वे अपने दसों हाथों से हमें आशीष देना चाहें तो हम अपने दो हाथों से यह सब कुछ कैसे प्राप्त कर सकेंगे? दूसरें शब्दों में आशीष-

समूह हमारी इच्छाओं से बढ़कर है। यद्यपि हम अपनी सम्पत्ति से विलग नहीं होना चाहते, निष्कर्ष यह है कि कभी-कभी भगवान् उसे बलपूर्वक हमसे छीन लेते हैं और कभी वे हमको इतने वर देते है कि हम उन सबको ग्रहण नहीं कर सकते। अत: चाहे सुख हो या दुख, हम स्वतंत्र नहीं हैं; सब कुछ श्रीभगवान् की परम इच्छा पर निर्भर करता है।

तस्मादकीर्तियशसोर्जयापजययोरपि ।
समः स्यात्सुखदुःखाभ्यां मृत्युजीवितयोस्तथा ॥ १४॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अत: (श्रीभगवान् की इच्छा पर पूर्णतया निर्भर होने के कारण); अकीर्ति—अपयश का; यशसोः—तथा यश; जय—विजय का; अपजययोः—तथा पराजय; अपि—भी; समः—समान; स्यात्—हो; सुख-दुःखाभ्याम्—सुख तथा दुख से; मृत्यु—मृत्यु; जीवितयोः—अथवा जीवित का; तथा—और।

चूँकि प्रत्येक वस्तु भगवान् की परम इच्छा पर निर्भर है, अतः मनुष्य को यश-अपयश, हार-जीत तथा जीवन-मृत्यु में निश्चिन्त रह कर समभाव बनाये रखना चाहिए।

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः ।
तत्र साक्षिणमात्मानं यो वेद स न बध्यते ॥ १५॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतोगुण; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; इति—इस प्रकार; प्रकृतेः—भौतिक प्रकृति के; न—नहीं; आत्मनः—आत्मा के; गुणाः—गुण; तत्र—ऐसी स्थिति में; साक्षिणम्—गवाह, साक्षी; आत्मानम्—आत्मा; यः—जो कोई; वेद—जानता है; सः—वह; न—नहीं; बध्यते—बँधता है।

जो पुरुष यह जानता है कि सतो, रजो तथा तमो गुण—ये तीनों आत्मा के नहीं, वरन् भौतिक प्रकृति के गुण हैं और जो यह जानता है कि शुद्ध आत्मा इन गुणों के कर्मों तथा फलों का साक्षी मात्र है, उसे मुक्त पुरुष मानना चाहिए। वह इन गुणों से नहीं बंधता।

तात्पर्य : भगवान् ने *भगवद्गीता* (१८.५४) में व्याख्या की है—

ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

‘‘इन्द्रियातीत मनुष्य को तत्काल परब्रह्म की अनुभूति हो जाती है और वह पूर्णरूपेण प्रसन्न हो

जाता है। वह न शोक करता है और न कोई इच्छा ही करता है, वह सब प्राणियों में समभाव रखता है। उस अवस्था में उसे मेरे शुद्ध भक्तियोग की प्राप्ति होती है।" आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर लेने पर अर्थात् *ब्रह्मभूत* अवस्था में मनुष्य जानता है कि जीवन-काल में जो भी घटित होता है, वह भौतिक प्रकृति के गुणों के दूषण (कल्मष) से ही होता है। जीवात्मा, जो शुद्ध आत्मा है उसे इन गुणों से कुछ भी लेना-देना नहीं। भौतिक जगत के झंझावात में सब कुछ तेजी से बदल जाता है, किन्तु यदि कोई मौन रहकर झंझावात के कर्मों तथा फलों का निरीक्षण करता है, तो उसे मुक्त हुआ समझिये। मुक्त आत्मा का असली गुण यह है कि वह माया के कर्म तथा फल से अविचलित रहकर कृष्णभक्त बना रहता है। ऐसा मुक्त पुरुष सदैव प्रसन्न रहता है। उसे न तो शोक होता है, न किसी वस्तु की इच्छा होती है। चूँकि परमेश्वर प्रत्येक वस्तु को देने वाला है, अत: जीवात्मा को जो उन्हीं पर आश्रित है, अपनी इन्द्रियतृप्ति हेतु न तो विरोध करना चाहिए, न ही कोई वस्तु स्वीकार करनी चाहिए, अपितु प्रत्येक वस्तु को ईश्वर का अनुग्रह मानते हुए प्राप्त करना चाहिए और समस्त परिस्थितियों में स्थिर-चित्त बने रहना चाहिए।

पश्य मां निर्जितं शत्रु वृक्णायुधभुजं मृधे ।
घटमानं यथाशक्ति तव प्राणजिहीर्षया ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

पश्य—देखो; माम्—मुझको; निर्जितम्—पहले से पराजित; शत्रु—हे शत्रु; वृक्ण—काट डालो; आयुध—मेरा हथियार; भुजम्—तथा मेरी भुजा; मृधे—इस युद्ध में; घटमानम्—अब भी प्रयत्नशील; यथा-शक्ति—अपनी शक्ति के अनुसार; तव—तुम्हारा; प्राण—जीवन; जिहीर्षया—ले लेने की इच्छा से।

अरे मेरे शत्रु! जरा मेरी ओर देख। मैं पहले ही पराजित हो चुका हूँ, क्योंकि मेरा हथियार तथा मेरी भुजा पहले ही खंड-खंड हो चुके हैं। तुमने मुझे पहले ही परास्त कर दिया है, तो भी मैं तुम्हें मारने की प्रबल इच्छा के कारण तुमसे लड़ने का भरसक प्रयत्न कर रहा हूँ। ऐसी विषम परिस्थिति में भी मैं तनिक भी दुखी नहीं हूँ। अत: तुम उदासीनता त्याग करके युद्ध जारी रखो।

तात्पर्य : वृत्रासुर इतना महान् एवं बलशाली था कि वस्तुत: वह इन्द्र के गुरु की भूमिका निभा रहा था। वह यद्यपि हारने ही वाला था, किन्तु उस पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह जानता था कि वह इन्द्र से हराया जाने वाला है और उसने स्वेच्छा से इसे स्वीकार किया था, किन्तु इन्द्र का शत्रु होने के नाते उसने इन्द्र को मारने का भरसक प्रयत्न किया। इस प्रकार उसने अपना कर्तव्य निभाया। मनुष्य को चाहिए कि यह जानते हुए भी कि क्या परिणाम होगा, सभी परिस्थितियों में अपना कर्तव्य निभाए।

प्राणग्लहोऽयं समर इष्वक्षो वाहनासनः ।
अत्र न ज्ञायतेऽमुष्य जयोऽमुष्य पराजयः ॥ १७॥

शब्दार्थ

प्राण-ग्लहः—प्राणों की बाजी; अयम्—यह; समरः—युद्ध; इषु-अक्षः—तीर रूपी पाँसे; वाहन-आसनः—हाथी तथा घोड़े जैसे वाहन चौसर हैं; अत्र—यहाँ (इस जुएँ के खेल में); न—नहीं; ज्ञायते—ज्ञात है; अमुष्य—उस एक की; जयः—विजय; अमुष्य—अमुक की; पराजयः—हार।

अरे मेरे शत्रु! इस युद्ध को द्यूतक्रीड़ा का खेल मानो जिसमें हमारे प्राणों की बाजी लगी है, बाण पासे हैं और वाहक पशु चौसर हैं। कोई नहीं जानता कि कौन हारेगा और कौन जीतेगा। यह सब विधाता पर निर्भर है।

श्रीशुक उवाच
इन्द्रो वृत्रवचः श्रुत्वा गतालीकमपूजयत् ।
गृहीतवज्रः प्रहसंस्तमाह गतविस्मयः ॥ १८॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इन्द्रः—राजा इन्द्र ने; वृत्र-वचः—वृत्रासुर के वचन; श्रुत्वा—सुनकर; गत-अलीकम्—द्वैतभाव से रहित; अपूजयत्—पूजा की; गृहीत-वज्रः—वज्र धारण किये हुए; प्रहसन्—हँसते हुए; तम्—वृत्रासुर से; आह—कहा; गत-विस्मयः—आश्चर्यरहित होकर।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा—वृत्रासुर के निष्कपट तथा निर्देशात्मक

वचन सुनकर राजा इन्द्र ने उसकी प्रशंसा की और अपने वज्र को पुन: हाथ में धारण कर लिया। इसके बाद बिना मोह या द्वैत-भाव से वह हँसा और वृत्रासुर से इस प्रकार

बोला।

तात्पर्य : देवताओं में श्रेष्ठ राजा इन्द्र को अपने शत्रु वृत्रासुर का जो असुर माना जाता था उपदेश सुनकर आश्चर्य हुआ। वह चकित था कि असुर होकर भी कितने ज्ञान की बातें कर रहा है। तब उसे प्रह्लाद महाराज तथा बलि महाराज जैसे परम भक्तों की याद हो आई जो असुरों के ही कुल में उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार उसकी आँखें खुल गईं। कभी-कभी तथाकथित असुरों में श्रीभगवान् के प्रति अतीव भक्तिभाव रहता है। इसलिए इन्द्र विश्वासपूर्वक वृत्रासुर की बातों पर हँसा।

इन्द्र उवाच

अहो दानव सिद्धोऽसि यस्य ते मतिरीदृशी ।
भक्तः सर्वात्मनात्मानं सुहृदं जगदीश्वरम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रः उवाच—इन्द्र ने कहा; अहो—ओह; दानव—हे असुर; सिद्धः असि—तुम अब सिद्ध हो चुके हो; यस्य—जिसका; ते—तुम्हारी; मतिः—चेतना; ईदृशी—इस प्रकार की; भक्तः—परम भक्त; सर्व-आत्मना—विचलित हुए बिना; आत्मानम्—परमात्मा को; सुहृदम्—परम मित्र; जगत्-ईश्वरम्—श्रीभगवान् को।

इन्द्र ने कहा, हे असुरश्रेष्ठ! मैं देखता हूँ कि संकटमय स्थिति में होते हुए भी अपने विवेक तथा भक्तियोग में निष्ठा के कारण तुम श्रीभगवान् के पूर्ण भक्त तथा जन-जन के मित्र हो।

तात्पर्य : जैसा कि *भगवद्गीता* (६.२२) में कहा गया है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

"कृष्णभावनामृत में इस प्रकार निष्ठ व्यक्ति सत्य से कभी विमुथ नहीं होता और इस की प्राप्ति होने पर वह समझता है कि इससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं है। ऐसी स्थिति को प्राप्त पुरुष बड़े से बड़े दुख के बीच में भी विचलित नहीं होता।" शुद्ध भक्त किसी भी चुनौतीपूर्ण परिस्थिति में विचलित नहीं होता। इन्द्र को आश्चर्य हुआ कि वृत्रासुर अविचलित भाव से भगवान् के

भक्तियोग में स्थिर हो चुका है, क्योंकि ऐसी मानसिकता किसी असुर के लिए असम्भव है। किन्तु, भगवान् की कृपा से कोई भी महान् भक्त बन सकता है (*स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्*)। शुद्ध भक्त निश्चित रूप से भगवान् के धाम को लौट जाता है।

भवानतार्षीन्मायां वै वैष्णवीं जनमोहिनीम् ।
यद्विहायासुरं भावं महापुरुषतां गतः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

भवान्—आप; अतार्षीत्—पार कर चुके हो; मायाम्—माया को; वै—निस्सन्देह; वैष्णवीम्—भगवान् विष्णु की; जन-मोहिनीम्—जनसमूह को मोहने वाली; यत्—क्योंकि; विहाय—त्याग कर; आसुरम्—असुरों का; भावम्—मानसिकता, भाव; महा-पुरुषताम्—महान् भक्त का पद; गतः—प्राप्त कर चुके हो।

तुमने भगवान् विष्णु की माया को पार कर लिया है और इस मुक्ति के कारण तुमने आसुरी भाव का परित्याग करके महान् भक्त का पद प्राप्त कर लिया है।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु *महापुरुष* हैं, अतः जो कोई वैष्णव बन जाता है, वह *महा-पौरुष्य* का पद प्राप्त कर लेता है। महाराज परीक्षित ने यह पद प्राप्त किया था। *पद्मपुराण* में देवता तथा असुर का अन्तर बतलाते हुए कहा गया है कि देवता भगवान् विष्णु का भक्त होता है, किन्तु असुर उसका उल्टा होता है—*विष्णुभक्तः स्मृतो दैव आसुरस्तद्विपर्ययः*। वृत्रासुर को असुर माना गया है, किन्तु, वास्तव में वह भक्त अर्थात् *महापौरुष्य* से कहीं अधिक योग्य था। यदि कोई किसी प्रकार से भगवान् का भक्त हो जाता है, तो उसका पद कैसा भी हो वह सिद्ध पुरुष के पद पर लाया जा सकता है। यदि कोई अनन्य भक्त इस प्रकार से भगवान् की सेवा करने का प्रयास करे तो यह सम्भव है। अतः शुकदेव गोस्वामी ने *श्रीमद्भागवत* (२.४.१८) में कहा है—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कशा
आभीरशुम्भा यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥

“किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द पुल्कश, आभीर, शुम्भ, यवन तथा खस आदि जातियाँ तथा दूसरे पापी लोग भगवान् के भक्तों की शरण ग्रहण करने से पवित्र हो जाते हैं क्योंकि वे परम् शक्ति हैं। उन सर्वशक्तिमान भगवान् को मेरा सादर नमस्कार है।” चाहे जो कोई भी हो, यदि वह शुद्ध भक्त की शरण ग्रहण करता है और उसके निर्देशानुसार अपने आचरण को ढालता है, तो वह पवित्र हो सकता है। तभी, चाहे वह किरात हो, आन्ध्र, हो या पुलिन्द हो वह पवित्र होकर *महापौरुष्य* के पद तक उठ सकता है।

खल्विदं महदाश्चर्यं यद्रज:प्रकृतेस्तव ।
वासुदेवे भगवति सत्त्वात्मनि दृढा मति: ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

खलु—निस्सन्देह; इदम्—यह; महत् आश्चर्यम्—महान् आश्चर्य; यत्—जो; रज:—रजोगुण से प्रभावित; प्रकृते:—जिसका स्वभाव; तव—तुम्हारा; वासुदेवे—भगवान् श्रीकृष्ण में; भगवति—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्; सत्त्व-आत्मनि—शुद्ध सतोगुण में स्थित; दृढा—दृढ़; मति:—चेतना।

हे वृत्रासुर! असुर सामान्यत: रजोगुणी होते हैं, अत: यह कितना महान् आश्चर्य है। कहा जायेगा कि असुर होकर भी तुमने भक्त-भाव ग्रहण करके अपने मन को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव में स्थिर कर दिया है, जो सदैव शुद्ध सत्त्व में स्थित रहते हैं।

तात्पर्य : राजा इन्द्र को विस्मय हो रहा था कि वृत्रासुर किस तरह महान् भक्त के पद तक उठ सका। जहाँ तक प्रह्लाद महाराज की बात है, वे नारद मुनि द्वारा दीक्षित थे, अत: वे असुर वंश में जन्म लेकर भी परम भक्त हो सकते थे। किन्तु वृत्रासुर के विषय में इन्द्र को कोई ऐसा कारण दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इसलिए उसे आश्चर्य हुआ कि वृत्रासुर ऐसा उच्च भक्त था कि वह भगवान् श्रीकृष्ण वासुदेव के चरणकमलों में अपने मन को अविचलित भाव से स्थिर कर सका।

यस्य भक्तिर्भगवति हरौ नि:श्रेयसेश्वरे ।
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रै: खातकोदकै: ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसकी; भक्तिः—भक्ति; भगवति—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् में; हरौ—भगवान् हरि में; निःश्रेयस-ईश्वरे—परममुक्ति के नियामक; विक्रीडतः—तैरते या खेलते हुए; अमृत-अम्भोधौ—अमृत के समुद्र में; किम्—क्या लाभ है; क्षुद्रैः—छोटे; खातक-उदकैः—गड्ढों के जल से।

जो मनुष्य परम कल्याणकारी परमेश्वर हरि की भक्ति में स्थिर है, वह अमृत के समुद्र में तैरता है। उसके लिए छोटे-छोटे गड्ढों के जल से क्या प्रयोजन?

तात्पर्य : वृत्रासुर ने पहले (*भागवत* ६.११.२५) प्रार्थना की थी—*न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्* "मैं ब्रह्मलोक, स्वर्गलोक यहाँ तक कि ध्रुवलोक के भी सुख की सुविधाओं की कामना नहीं करता, इस पृथ्वी या अधःलोकों की तो बात ही नहीं। मैं तो भगवान् के धाम को वापस जाना चाहता हूँ।" यही शुद्ध भक्त का संकल्प है। शुद्ध भक्त इस भौतिक संसार के किसी उच्च पद के प्रति कभी आकृष्ट नहीं होता। वह तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की संगति में उसी प्रकार रहना चाहता है, जिस प्रकार वृन्दावन के वासी-श्रीमती राधारानी, गोपियाँ, कृष्ण के पिता तथा माता (नन्द महाराज तथा यशोदा), कृष्ण के सखा तथा उनके दास रहते थे। वह वृन्दावन की सुन्दरता के कृष्णमय वातावरण के साथ अपना सान्निध्य चाहता है। श्रीकृष्ण के भक्त की यही परम इच्छाएँ हैं। भगवान् विष्णु के भक्त भले ही अपने लिए वैकुण्ठलोक में किसी पद की कामना करते हों, किन्तु श्रीकृष्ण के भक्त कभी वैकुण्ठ लोकों की सुविधाओं तक की इच्छा नहीं रखते। वे तो गोलोक वृन्दावन वापस जाना चाहते हैं और श्रीकृष्ण की नित्य लीलाओं में संगति चाहते हैं। कोई भी सांसारिक सुख गड्ढे में भरे हुए जल के समान है, किन्तु वैकुण्ठलोक में जो आध्मात्मिक सुख नित्य प्राप्त होता है, वह अमृत के समुद्र के समान है, जिसमें भक्त तैरना चाहता है।

श्रीशुक उवाच

इति ब्रुवाणावन्योन्यं धर्मजिज्ञासया नृप ।
युयुधाते महावीर्याविन्द्रवृत्रौ युधाम्पती ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; ब्रुवाणौ—बोलते हुए; अन्योन्यम्—परस्पर; धर्म-जिज्ञासया—परम धार्मिक नियम (भक्तियोग) जानने की इच्छा से; नृप—हे राजन्; युयुधाते—युद्ध किया; महा-वीर्यौ—दोनों वीर; इन्द्र—राजा इन्द्र; वृत्रौ—तथा वृत्रासुर ने; युधाम् पती—दोनों महान् सेनानायक।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—वृत्रासुर तथा राजा इन्द्र ने युद्धभूमि में भी भक्तियोग के सम्बन्ध में बातें कीं और अपना कर्तव्य समझकर दोनों पुनः युद्ध में भिड़ गये। हे राजन्! दोनों ही बड़े योद्धा और समान रूप से शक्तिशाली थे।

आविध्य परिघं वृत्रः कार्ष्णायसमरिन्दमः ।
इन्द्राय प्राहिणोद्घोरं वामहस्तेन मारिष ॥ २४॥

शब्दार्थ

आविध्य—घुमाकर; परिघम्—परिघ को; वृत्रः—वृत्रासुर ने; कार्ष्ण-अयसम्—लोहे का बना; अरिम्-दमः—अपने शत्रु को जीतने में सक्षम, शत्रुसदन; इन्द्राय—इन्द्र पर; प्राहिणोत्—फेंका; घोरम्—अत्यन्त भयानक; वाम-हस्तेन—अपने बाएँ हाथ से; मारिष—हे राजाओं में श्रेष्ठ, महाराज परीक्षित।

हे महाराज परीक्षित! अपने शत्रु को वश में करने में पूर्ण सक्षम वृत्रासुर ने अपना लोहे का परिघ उठाकर चारों ओर घुमाया और इन्द्र को लक्ष्य बनाकर अपने बाएँ हाथ से उस पर फेंका।

स तु वृत्रस्य परिघं करं च करभोपमम् ।
चिच्छेद युगपद्देवो वज्रेण शतपर्वणा ॥ २५॥

शब्दार्थ

सः—उस (राजा इन्द्र) ने; तु—फिर भी; वृत्रस्य—वृत्रासुर का; परिघम्—लोहे का परिघ; करम्—उसका हाथ; च—तथा; करभ-उपमम्—हाथी के सूँड़ के समान बली; चिच्छेद—खण्ड खण्ड कर दिया; युगपत्—एकसाथ; देवः—श्रीइन्द्र; वज्रेण—वज्र से; शत-पर्वणा—एक सौ जोड़ों वाले।

इन्द्र ने अपने शतपर्वन नामक वज्र से वृत्रासुर के परिघ तथा उसके बचे हुए हाथ को एक साथ खण्ड-खण्ड कर डाला।

दोर्भ्यामुत्कृत्तमूलाभ्यां बभौ रक्तस्रवोऽसुरः ।
छिन्नपक्षो यथा गोत्रः खाद्भ्रष्टो वज्रिणा हतः ॥ २६॥

शब्दार्थ

दोर्भ्याम्—दोनों भुजाओं से; उत्कृत्त-मूलाभ्याम्—जड़ से कटी हुई; बभौ—था; रक्त-स्रवः—तेजी से रक्त की धार बहने; असुरः—वृत्रासुर; छिन्न-पक्षः—कटे पंखों वाला; यथा—जिस प्रकार; गोत्रः—पर्वत; खात्—आकाश से; भ्रष्टः—गिरकर; वज्रिणा—वज्रधारी इन्द्र के द्वारा; हतः—मारा हुआ।

जड़ से दोनों भुजाएँ कट जाने से तेजी से रक्त बहने के कारण वृत्रासुर उड़ते हुए पर्वत के समान सुन्दर लग रहा था जिसके पंखों को इन्द्र ने खण्ड-खण्ड कर दिया हो।

तात्पर्य : इस श्लोक से यह प्रतीत होता है कि किसी समय उड़ने वाले पर्वत हुआ करते थे और उनके पंख इन्द्र के वज्र द्वारा काट दिये गये। वृत्रासुर का विशाल शरीर एक पर्वत के समान था।

महाप्राणो महावीर्यो महासर्प इव द्विपम्
कृत्वाधरां हनुं भूमौ दैत्यो दिव्युत्तरां हनुम् ।
नभोगम्भीरवक्त्रेण लेलिहोल्बणजिह्वया ॥ २७ ॥
दंष्ट्राभिः कालकल्पाभिर्ग्रसन्निव जगत्त्रयम् ।
अतिमात्रमहाकाय आक्षिपंस्तरसा गिरीन् ॥ २८ ॥
गिरिराट्पादचारीव पद्भ्यां निर्जरयन्महीम् ।
जग्रास स समासाद्य वज्रिणं सहवाहनम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

महा-प्राणः—महान् शारीरिक शक्ति वाला; महा-वीर्यः—असामान्य शौर्य से सम्पन्न; महा-सर्पः—सबसे बड़ा साँप; इव—समान; द्विपम्—हाथी; कृत्वा—रखकर; अधराम्—निचले; हनुम्—जबड़ा; भूमौ—भूमि पर; दैत्यः—असुर; दिवि—आकाश में; उत्तराम् हनुम्—ऊपरी जबड़ा; नभः—आकाश के समान; गम्भीर—गहरा; वक्त्रेण—अपने मुख से; लेलिह—साँप की तरह; उल्बण—भयानक; जिह्वया—जीभ से; दंष्ट्राभिः—दाँतों से; काल-कल्पाभिः—काल अर्थात् मृत्यु के ही समान; ग्रसन्—लीलते हुए; इव—मानो; जगत्-त्रयम्—तीनों लोकों को; अति-मात्र—अत्युच्च; महा-कायः—जिसका विशाल शरीर; आक्षिपन्—हिलाते हुए; तरसा—वेग से; गिरीन्—पर्वतों को; गिरि-राट्—हिमालय पर्वत; पाद-चारी—पाँवों से चलते हुए; इव—मानो; पद्भ्याम्—अपने पाँवों से; निर्जरयन्—कुचलते हुए; महीम्—भूपृष्ठ को; जग्रास—निगल गया; सः—वह; समासाद्य—पहुँच कर; वज्रिणम्—वज्रधारी इन्द्र को; सह-वाहनम्—उसके वाहन हाथी समेत।

वृत्रासुर अत्यन्त शक्तिशाली तथा वीर्यवान् था। उसने अपने निचले जबड़े को भूमि पर और ऊपरी जबड़े को आकाश में गड़ा दिया। उसका मुख इतना गहरा हो गया मानो आकाश हो और उसकी जीभ बहुत बड़े सर्प के सदृश लग रही थी। अपने काल के समान कराल दाँतों से वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को निगलने का प्रयास करता प्रतीत हुआ। इस प्रकार विराट

शरीर धारण करके उस महान् असुर वृत्रासुर ने पर्वतों तक को हिला दिया और अपने पाँवों से पृथ्वी की सतह को इस प्रकार मर्दित करने लगा मानो वह चलता हुआ साक्षात् हिमालय पर्वत हो। वह इन्द्र के सामने आया और उसके वाहन ऐरावत समेत उसे इस प्रकार निगल गया मानो एक बड़े अजगर ने हाथी निगल लिया हो।

वृत्रग्रस्तं तमालोक्य सप्रजापतय: सुरा: ।
हा कष्टमिति निर्विण्णाश्चुक्रुशु: समहर्षय: ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

वृत्र-ग्रस्तम्—वृत्रासुर द्वारा निगला जाकर; तम्—उसको (इन्द्र को); आलोक्य—देखकर; स-प्रजापतय:—ब्रह्माजी समेत अन्य प्रजापतियों के साथ; सुरा:—सभी देवता; हा—हाय; कष्टम्—कितना कष्ट है; इति—इस प्रकार; निर्विण्णा:—अत्यन्त दुखी होकर; चुक्रुशु:—विलाप करने लगे; स-महा-ऋषय:—महान् ऋषियों समेत।

जब देवताओं, ब्रह्मा समेत अन्य प्रजापतियों तथा अन्य बड़े-बड़े साधु पुरुषों ने देखा कि असुर ने इन्द्र को निगल लिया है, तो वे अत्यन्त दुखी हुए और 'हाय हाय' 'कितनी बड़ी विपत्ति'! कह करके विलाप करने लगे।

निगीर्णोऽप्यसुरेन्द्रेण न ममारोदरं गत: ।
महापुरुषसन्नद्धो योगमायाबलेन च ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

निगीर्ण:—निगला जाकर; अपि—यद्यपि; असुर-इन्द्रेण—असुरों में श्रेष्ठ, वृत्रासुर द्वारा; न—नहीं; ममार—मरा; उदरम्—उदर में; गत:—जाकर; महा-पुरुष—परमेश्वर नारायण के कवच से; सन्नद्ध:—सुरक्षित रहकर; योग-माया-बलेन—इन्द्र की अपनी योगशक्ति से; च—भी।

इन्द्र के पास नारायण का जो सुरक्षा कवच था, वह स्वयं भगवान् नारायण से अभिन्न था। उस कवच के द्वारा तथा अपनी योगशक्ति से सुरक्षित होने पर राजा इन्द्र वृत्रासुर द्वारा निगले जाने पर भी उस असुर के उदर में मरा नहीं।

भित्त्वा वज्रेण तत्कुक्षिं निष्क्रम्य बलभिद्विभु: ।
उच्चकर्त शिर: शत्रोर्गिरिशृङ्गमिवौजसा ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

भित्त्वा—बेध कर; वज्रेण—वज्र से; तत्-कुक्षिम्—वृत्रासुर के उदर को; निष्क्रम्य—बाहर आकर; बल-भित्—बल असुर को मारने वाला; विभुः—शक्तिशाली इन्द्र ने; उच्चकर्त—काट लिया; शिरः—सिरः; शत्रोः—शत्रु का; गिरि-शृङ्गम्—पर्वत की चोटी; इव—सदृश; ओजसा—अत्यन्त वेग से।

अत्यन्त शक्तिशाली राजा इन्द्र ने अपने वज्र के द्वारा वृत्रासुर का पेट फाड़ डाला और बाहर निकल आया। बल असुर के मारने वाले इन्द्र ने उसके तुरन्त बाद वृत्रासुर के पर्वत-शृंग जैसे ऊँचे सिर को काट लिया।

वज्रस्तु तत्कन्धरमाशुवेगः
कृन्तन्समन्तात्परिवर्तमानः ।
न्यपातयत्तावदहर्गणेन
यो ज्योतिषामयने वार्त्रहत्ये ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

वज्रः—वज्र; तु—लेकिन; तत्-कन्धरम्—उसकी गर्दन को; आशु-वेगः—यद्यपि अत्यन्त तेज; कृन्तन्—काटते हुए; समन्तात्—चारों ओर; परिवर्तमानः—घूमते हुए; न्यपातयत्—गिरा दिया; तावत्—बहुत से; अहः-गणेन—दिनों से; यः—जो; ज्योतिषाम्—सूर्य, चन्द्र जैसे नक्षत्रों का; अयने—विषुवत् रेखा के दोनों ओर जाने में; वार्त्र-हत्ये—वृत्रासुर के वध के लिए उपयुक्त समय पर।

यद्यपि वज्र वृत्रासुर की गर्दन के चारों ओर अत्यन्त वेग से घूम रहा था, किन्तु उसके शरीर से सिर को विलग करने में पूरा एक वर्ष—३६० दिन—लग गया, जो सूर्य, चन्द्र तथा अन्य नक्षत्रों के उत्तरी तथा दक्षिणी यात्रा पूर्ण करने में लगने वाले समय के तुल्य है। तब वृत्रासुर के वध का उपयुक्त समय (योग) उपस्थित होने पर उसका सिर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

तदा च खे दुन्दुभयो विनेदु-
र्गन्धर्वसिद्धाः समहर्षिसङ्घाः ।
वार्त्रघ्नलिङ्गैस्तमभिष्टुवाना
मन्त्रैर्मुदा कुसुमैरभ्यवर्षन् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; च—भी; खे—आकाश के स्वर्गिक लोकों में; दुन्दुभयः—दुन्दुभी (नगाड़े); विनेदुः—बज उठे; गन्धर्व—गन्धर्व; सिद्धाः—तथा सिद्धगण; स-महर्षि-सङ्घाः—महर्षियों की सभा समेत; वार्त्र-घ्न-लिङ्गैः—वृत्रासुर का वध करने वाले के शौर्य का उत्सव मनाते हुए; तम्—उसको (इन्द्र को); अभिष्टुवानाः—अभिनन्दन करते हुए; मन्त्रैः—विविध मंत्रों से; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक; कुसुमैः—फूलों से; अभ्यवर्षन्—वर्षा की।

वृत्रासुर के मारे जाने पर, गन्धर्वों तथा सिद्धों ने हर्षित होकर स्वर्गलोक में दुन्दुभियाँ बजाईं। उन्होंने वृत्रासुर के संहर्ता इन्द्र के शौर्य का वेद-स्त्रोत्रों से अभिनन्दन किया और अत्यन्त प्रसन्न होकर उस पर फूलों की वर्षा की।

वृत्रस्य देहान्निष्क्रान्तमात्मज्योतिररिन्दम ।
पश्यतां सर्वदेवानामलोकं समपद्यत ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

वृत्रस्य—वृत्रासुर के; देहात्—शरीर से; निष्क्रान्तम्—निकली हुई; आत्म-ज्योतिः—आत्मा, जो ब्रह्म तेज के समान प्रकाशमान था; अरिम्-दम—शत्रुओं का दमन करने वाले हे राजा परीक्षित; पश्यताम्—देख रहे थे; सर्व-देवानाम्—जब सभी देवता; अलोकम्—ब्रह्मतेज से पूरित, परम धाम; समपद्यत—प्राप्त किया।

हे शत्रुओं का दमन करने वाले राजा परीक्षित! तब वृत्रासुर के शरीर से सजीव ज्योति निकल कर बाहर आई और भगवान् के परम धाम को लौट गई। सभी देवताओं के देखते-देखते वह भगवान् संकर्षण का संगी बनने के लिए दिव्य लोक में प्रविष्ट हुआ।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने व्याख्या की है कि वास्तव में वृत्रासुर नहीं, अपितु इन्द्र मारा गया था। वे लिखते हैं कि जब वृत्रासुर ने हाथी समेत इन्द्र को निगल लिया तो उसने सोचा कि मैंने तो इन्द्र को मार डाला, अत: अब लड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है, अब मुझे भगवान् के परम धाम जाना है। इस प्रकार सोचते हुए उसने सारे शरीरिक कार्य-कलाप बन्द कर दिये और समाधि धारण कर ली। वृत्रासुर के शरीर की मौनावस्था का लाभ उठाकर इन्द्र ने असुर का पेट फाड़ डाला और वृत्रासुर की समाधि के कारण बाहर निकल आया। चूँकि वृत्रासुर योग-समाधि में लीन था, अत: यद्यपि इन्द्र उसकी गर्दन काट लेना चाहता था, किन्तु वह इतनी कठोर हो चुकी थी कि उसे खण्ड-खण्ड करने में इन्द्र को पूरे ३६० दिन लग गये। वास्तव में इन्द्र ने वृत्रासुर के उस शरीर के खण्ड-खण्ड किये जिसको उसने स्वयं त्याग दिया था; स्वयं वृत्रासुर नहीं मारा गया। वृत्रासुर अपनी आदि (मूल) चेतना में ही भगवान् संकर्षण का संगी बनने के लिए भगवान् के परम धाम चला गया। यहाँ पर *अलोकम्* शब्द दिव्यलोक, वैकुण्ठलोक को बताता है,

जहाँ संकर्षण नित्य निवास करते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कंन्ध के अन्तर्गत ''वृत्रासुर की यशस्वी मृत्यु'' नामक बारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तेरह

ब्रह्महत्या से पीड़ित राजा इन्द्र

इस अध्याय में एक ब्राह्मण (वृत्रासुर) के वध से उत्पन्न इन्द्र का भय, उसका भागना तथा भगवान् विष्णु की कृपा द्वारा उसकी रक्षा का वर्णन किया गया है।

जब सब देवताओं ने मिलकर इन्द्र से वृत्रासुर का वध करने के लिए प्रार्थना की थी तो उसने इनकार कर दिया था, क्योंकि वृत्रासुर ब्राह्मण था। किन्तु देवताओं ने इन्द्र को यह कह कर प्रोत्साहित किया था कि वह उसे मारने से न डरें, क्योंकि उसकी रक्षा नारायण-कवच अथवा स्वयं भगवान् द्वारा हुई है। मनुष्य नारायण का नाम लेने मात्र से स्त्री, गाय या ब्राह्मण के वध से लगने वाले पाप-फल से मुक्त हो जाता है। देवताओं ने इन्द्र से अश्वमेघ यज्ञ करने के लिए कहा जिससे नारायण प्रसन्न हो सकें क्योंकि इस यज्ञ के करने से यदि कोई समूचे ब्रह्माण्ड का भी वध कर दे तो भी उसको हत्या के पाप का फल नहीं भोगना पड़ता।

देवताओं के इस उपदेश को सुनकर इन्द्र ने वृत्रासुर से युद्ध किया, किन्तु जब वृत्रासुर मारा गया तो इन्द्र को छोड़ कर सभी लोग संतुष्ट हुए क्योंकि इन्द्र वृत्रासुर की स्थिति से परिचित था। महान् पुरुष का स्वभाव ऐसा ही होता है। यदि कोई महान् पुरुष अवैध रीति से धन प्राप्त करता भी है, तो वह सदा लज्जित होता है तथा उसे पश्चाताप होता है। इन्द्र को यह निश्चय हो गया कि वह ब्राह्मण-हत्या जैसे पाप में फँस गया है। यही नहीं, यह ब्रह्महत्या प्रत्यक्ष रूप में उसका पीछा करने लगा, जिससे डर कर वह इधर-उधर भागता रहा और सोचता रहा कि इस पाप से किस तरह मुक्त हुआ जाये। वह मानस-सरोवर में गया और वहाँ पर धन की देवी (लक्ष्मी जी) के संरक्षण में

एक हजार वर्षों तक ध्यान करता रहा। इस अवधि में इन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में नहुष स्वर्गलोक पर शासन करता रहा। दुर्भाग्यवश वह इन्द्र की पत्नी शची देवी के सौन्दर्य से आकृष्ट हो उठा और उसे अपने इस पाप-विचार के कारण अगले जीवन में सर्प का शरीर धारण करना पड़ा। तत्पश्चात् इन्द्र ने उच्च ब्राह्मणों एवं मुनियों की सहायता से एक महान् यज्ञ किया। तब जाकर वह ब्रह्महत्या के पाप के फल से मुक्त हो सका।

श्रीशुक उवाच
वृत्रे हते त्रयो लोका विना शक्रेण भूरिद ।
सपाला ह्यभवन्सद्यो विज्वरा निर्वृतेन्द्रियाः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; वृत्रे हते—वृत्रासुर के मारे जाने पर; त्रयः लोकाः—तीनों लोक (उच्च, मध्य तथा अधःलोक); विना—के सिवा; शक्रेण—इन्द्र, जिसे शक्र भी कहते हैं; भूरि-द—हे अत्यन्त दानी महाराज परीक्षित; स-पालाः—विभिन्न लोकों के अधिपतियों सहित; हि—निस्सन्देह; अभवन्—हुआ; सद्यः—तुरन्त; विज्वराः—मृत्यु के भय से रहित; निर्वृत—अत्यधिक प्रसन्न; इन्द्रियाः—जिसकी इन्द्रियाँ।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे महादानी राजा परीक्षित! वृत्रासुर के वध से इन्द्र के अतिरिक्त तीनों लोकों के लोकपाल एवं समस्त निवासी तुरन्त ही प्रसन्न हुए और उनकी सब चिन्ताएँ जाती रहीं।

देवर्षिपितृभूतानि दैत्या देवानुगाः स्वयम् ।
प्रतिजग्मुः स्वधिष्ण्यानि ब्रह्मेशेन्द्रादयस्ततः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

देव—देवता; ऋषि—परम साधु पुरुष; पितृ—पितृलोक के वासी; भूतानि—तथा अन्य जीवात्माएँ; दैत्याः—असुर; देव-अनुगाः—देवताओं के नियमों का पालन करने वाले अन्य लोकों के वासी; स्वयम्—स्वतंत्र रूप से (इन्द्र की अनुमति मांगने के बिना); प्रतिजग्मुः—वापस चले गये; स्व-धिष्ण्यानि—अपने-अपने लोकों तथा आवासों को; ब्रह्म—श्रीब्रह्मा; ईश—श्रीशिव; इन्द्र-आदयः—तथा इन्द्र आदि देवता; ततः—तत्पश्चात्।

तत्पश्चात् सभी देवता, महान् साधु पुरुष, पितृलोक तथा भतूलोक के सभी वासी, असुर, देवताओं के अनुचर तथा ब्रह्मा, शिव तथा इन्द्र के अधीन देवगण अपने-अपने धामों को लौट गये। किन्तु विदा लेते समय वे इन्द्र से कुछ बोले नहीं।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की व्याख्या है—

ब्रह्मेशेन्द्रादय इति। इन्द्रस्य स्व-धिष्ण्यगमनं नोपपद्यते वृत्रवधक्षण एव ब्रह्महत्योपद्रव-प्राप्तेः। तस्मात् तत इत्यनेन मानससरोवरादागत्य प्रवर्तितादश्वमेधात् परत इति व्याख्येम्।

ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवगण अपने-अपने धामों को चले गये, किन्तु इन्द्र नहीं गया, क्योंकि वृत्रासुर का वध करने के कारण वह विचलित था। वृत्रासुर वास्तव में ब्राह्मण था। वृत्रासुर के वध के बाद इन्द्र ब्रह्महत्या के पाप-फल से मुक्त होने के लिए मानस-सरोवर गया। वहाँ से लौटने के बाद उसने अश्वमेध यज्ञ किया और तब वह अपने लोक गया।

श्रीराजोवाच
इन्द्रस्यानिर्वृतेर्हेतुं श्रोतुमिच्छामि भो मुने ।
येनासन्सुखिनो देवा हरेर्दुःखं कुतोऽभवत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा परीक्षित ने पूछा; इन्द्रस्य—इन्द्र का; अनिर्वृतेः—दुख का; हेतुम्—कारण; श्रोतुम्—सुनना; इच्छामि—चाहता हूँ; भोः—हे भगवान्; मुने—हे मुनि शुकदेव गोस्वामी; येन—जिससे; आसन्—थे; सुखिनः—अत्यन्त प्रसन्न; देवाः—समस्त देवता; हरेः—इन्द्र का; दुःखम्—दुख, अप्रसन्नता; कुतः—कहाँ से; अभवत्—था।

महाराज परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा—हे मुनि! इन्द्र की अप्रसन्नता का कारण क्या था? मैं इसके विषय में सुनना चाहता हूँ। जब उसने वृत्रासुर का वध कर दिया तो सभी देवता प्रसन्न हुए, तो फिर इन्द्र स्वयं क्यों अप्रसन्न था?

तात्पर्य : वास्तव में यह अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण प्रश्न है। जब कोई असुर मारा जाता है, तो निश्चित रूप से सभी देवता प्रसन्न होते हैं। यहाँ पर, वृत्रासुर के मारे जाने पर सभी देवता प्रसन्न थे, परन्तु इन्द्र अप्रसन्न था, क्योंकि उसे पता था कि उसने एक परम भक्त तथा ब्राह्मण का वध किया है। वृत्रासुर बाहर से असुर प्रतीत होता था, किन्तु भीतर से वह परम भक्त होने के कारण एक महान् ब्राह्मण था।

यहाँ पर यह स्पष्ट सूचित किया गया है कि जो व्यक्ति तनिक भी आसुरी वृत्ति का नहीं होता, जैसे प्रह्लाद महाराज या बलि महाराज, वह बाह्यतः असुर हो सकता है या असुरों के वंश में जन्मा

हो सकता है। अत: वास्तविक संस्कार कहता है कि मात्र जन्म के अनुसार किसी को असुर या देवता नहीं माना जाना चाहिए। इन्द्र से युद्ध करते समय वृत्रासुर ने अपने को भगवान् का परम भक्त सिद्ध कर दिया था। यही नहीं, इन्द्र से युद्ध बन्द करने के तुरन्त बाद वृत्रासुर वैकुण्ठवासी हो गया और संकर्षण का संगी बन गया। इन्द्र को यह ज्ञात था, अत: ऐसे असुर को, जो वास्तव में एक वैष्णव या ब्राह्मण था, मारने से वह अत्यन्त दुखी था।

वैष्णव पहले से ब्राह्मण होता है, ब्राह्मण भले ही वैष्णव न होता हो। *पद्मपुराण* का कथन है—

षट्कर्मनिपुणो विप्रो मन्त्रतन्त्रविशारद: ।

अवैष्णवो गुरुर्न स्याद् वैष्णव: श्वपचो गुरु: ॥

भले ही कोई अपने संस्कार तथा परिवार से ब्राह्मण हो और वैदिक ज्ञान (*मन्त्र-तन्त्र विशारद*) में दक्ष हो, किन्तु यदि वह वैष्णव नहीं है, तो गुरु नहीं हो सकता। इसका अभिप्राय यह है कि दक्ष ब्राह्मण वैष्णव नहीं भी हो सकता है, किन्तु एक वैष्णव पहले से ब्राह्मण होता है। एक लखपती के पास सैकड़ों-हजारों रुपये हैं किन्तु जिसके पास सैकड़ों-हजारों रुपए हों तो यह आवश्यक नहीं कि वह लखपती हो। वृत्रासुर परम वैष्णव था, अत: वह ब्राह्मण भी था।

श्रीशुक उवाच

वृत्रविक्रमसंविग्ना: सर्वे देवा: सहर्षिभि: ।
तद्वधायार्थयन्निन्द्रं नैच्छद्भीतो बृहद्वधात् ॥ ४॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; वृत्र—वृत्रासुर के; विक्रम—शौर्य से; संविग्ना:—चिन्तायुक्त होकर; सर्वे—सभी; देवा:—देवतागण; सह ऋषिभि:—महान् साधुओं समेत; तत्-वधाय—उसके वध के लिए; आर्थयन्—प्रार्थना की; इन्द्रम्—इन्द्र से; न ऐच्छत्—इनकार कर दिया; भीत:—डरकर; बृहत्-वधात्—ब्राह्मण वध के कारण।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया—जब समस्त ऋषि तथा देवता वृत्रासुर की असाधारण शक्ति से विचलित हो रहे थे तो उन्होंने एकत्र होकर इन्द्र से उसका वध करने के लिए याचना की थी। किन्तु इन्द्र ने ब्राह्मण-हत्या के भय से उनकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी

थी।

इन्द्र उवाच
स्त्रीभूद्रुमजलैरेनो विश्वरूपवधोद्भवम् ।
विभक्तमनुगृह्णद्भिर्वृत्रहत्यां क्व मार्ज्म्यहम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रः उवाच—राजा इन्द्र ने उत्तर दिया; स्त्री—स्त्री; भू—पृथ्वी; द्रुम—वृक्ष; जलैः—तथा जल के द्वारा; एनः—यह (पाप); विश्वरूप—विश्वरूप के; वध—वध से; उद्भवम्—उत्पन्न; विभक्तम्—बाँट लिया; अनुगृह्णद्भिः—अपने अपने अनुग्रह से; वृत्र-हत्याम्—वृत्र की हत्या से; क्व—कैसे; मार्ज्मि—मुक्त हो सकूँगा; अहम्—मैं।

राजा इन्द्र ने उत्तर दिया—जब मैंने विश्वरूप का वध किया, तो मुझे अत्यधिक पाप-बन्धन मिला था, किन्तु स्त्रियों, धरती, वृक्षों तथा जल ने मेरे ऊपर अनुग्रह किया था, जिससे मैं अपने पाप को उन सबों में बाँट सका। किन्तु यदि मैं अब एक अन्य ब्राह्मण, वृत्रासुर, का वध करूँ तो भला पाप-बन्धनों से मैं अपने को किस प्रकार मुक्त कर सकूँगा?

श्रीशुक उवाच
ऋषयस्तदुपाकर्ण्य महेन्द्रमिदमब्रुवन् ।
याजयिष्याम भद्रं ते हयमेधेन मा स्म भैः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; ऋषयः—परम साधुगण; तत्—वह; उपाकर्ण्य—सुनकर; महा-इन्द्रम्—राजा इन्द्र से; इदम्—यह; अब्रुवन्—कहा; याजयिष्यामः—हम महान् यज्ञ करेंगे; भद्रम्—कल्याण; ते—तुम्हारा; हयमेधेन—अश्वमेध यज्ञ से; मा स्म भैः—मत भयभीत हो।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—यह सुनकर ऋषियों ने इन्द्र को उत्तर दिया, "हे स्वर्ग के राजा! तुम्हारा कल्याण हो। तुम डरो नहीं। हम तुम्हें ब्राह्मण-हत्या से लगने वाले किसी भी पाप से मुक्ति के लिए एक अश्वमेघ यज्ञ करेंगे।"

हयमेधेन पुरुषं परमात्मानमीश्वरम् ।
इष्ट्वा नारायणं देवं मोक्ष्यसेऽपि जगद्वधात् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

हयमेधेन—अश्वमेध यज्ञ से; पुरुषम्—परम पुरुष; परमात्मानम्—परमात्मा को; ईश्वरम्—परम नियन्ता; इष्ट्वा—पूजा करके; नारायणम्—भगवान् नारायण को; देवम्—परमेश्वर; मोक्ष्यसे—तुम मुक्त हो जाओगे; अपि—भी; जगत्-वधात्—सारे संसार का वध करने के पाप से।

ऋषियों ने आगे कहा—हे राजा इन्द्र! अश्वमेध यज्ञ करके उसके द्वारा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को, जो परमात्मा, भगवान्, नारायण और परम नियन्ता हैं, प्रसन्न करके मनुष्य सारे संसार के वध के पाप-फलों से भी मुक्त हो सकता है, वृत्रासुर जैसे एक असुर के वध की तो बात ही क्या है?

ब्रह्महा पितृहा गोघ्नो मातृहाचार्यहाघवान् ।
श्वादः पुल्कसको वापि शुद्ध्येरन्यस्य कीर्तनात् ॥ ८ ॥

तमश्वमेधेन महामखेन
श्रद्धान्वितोऽस्माभिरनुष्ठितेन ।
हत्वापि सब्रह्मचराचरं त्वं
न लिप्यसे किं खलनिग्रहेण ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-हा—ब्राह्मण की हत्या करने वाला; पितृ-हा—पिता की हत्या करने वाला; गो-घ्नः—गोहत्या करने वाला; मातृ-हा—माता का वध करने वाला; आचार्य-हा—अपने गुरु की हत्या करने वाला; अघ-वान्—ऐसा पापी पुरुष; श्व-अदः—कुत्ता खाने वाला; पुल्कसकः—चाण्डाल, जो शूद्र से भी नीच होता है; वा—अथवा; अपि—भी; शुद्ध्येरन्—शुद्ध किया जा सकता है; यस्य—जिस (भगवान् नारायण) के; कीर्तनात्—नाम जप से; तम्—उसको; अश्वमेधेन—अश्वमेधयज्ञ के द्वारा; महा-मखेन—समस्त यज्ञों में सर्वश्रेष्ठ; श्रद्धा-अन्वितः—श्रद्धा युक्त; अस्माभिः—हमारे द्वारा; अनुष्ठितेन—किया गया; हत्वा—मार कर; अपि—भी; स-ब्रह्म-चर-अचरम्—ब्राह्मणों समेत सभी जीवात्माएँ; त्वम्—तुम; न—नहीं; लिप्यसे—कल्मषग्रस्त होते हो; किम्—तो फिर क्या; खल-निग्रहेण—एक दुष्ट असुर को मारने से।

भगवान् नारायण के पवित्र नाम के जप-मात्र से ब्राह्मण, गाय, पिता, माता, गुरू की हत्या करने वाला मनुष्य समस्त पाप-फलों से तुरन्त मुक्त किया जा सकता है। अन्य पापी मनुष्य भी, यथा कुत्ते को खाने वाले तथा चांडाल, जो शूद्रों से भी निम्न हैं, इसी प्रकार से मुक्त हो जाते हैं। फिर आप तो भक्त हैं और हम सभी महान् अश्वमेध यज्ञ करके आपकी सहायता करेंगे। यदि आप भी इस प्रकार भगवान् नारायण को प्रसन्न करें तो फिर आपको डर कैसा? तब आप मुक्त हो जायेंगे, भले ही आप ब्राह्मणों सहित सारे ब्रह्माण्ड की हत्या क्यों न कर दें। भला वृत्रासुर जैसे विघ्नकारी एक असुर की हत्या की क्या बात है?

तात्पर्य : *बृहद् विष्णु पुराण* में कहा गया है—

नाम्नो हि यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः।

तावत् कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी नरः॥

यही नहीं, जगदानन्द पंडित कृत *प्रेमविवर्त* में कहा गया है—

एक 'कृष्ण नामे' पापीर यत पाप-क्षय।

बहु जन्मे सेइ पापी करिते नारय॥

इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् के पवित्र नाम का एक बार जप करने से मनुष्य जितने पाप करने के बारे में सोच सकता है उनसे भी अधिक पापों के फलों से वह मुक्त हो सकता है। पवित्र नाम में इतनी आध्यात्मिक शक्ति होती है, कि केवल नाम-जप से समस्त पापकर्मों के फलों से मुक्त हुआ जा सकता है। तब उनके सम्बन्ध में क्या कहा जाये जो नियमपूर्वक पवित्र नाम का जप करते हैं, या श्रीविग्रह की पूजा करते हैं? ऐसे शुद्ध भक्तों के लिए पाप-फलों से मोक्ष निश्चित है। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं होता कि जानबूझकर पाप-कर्म करके पवित्र नाम का जप करने के कारण अपने को उसके फल से मुक्त समझ लिया जाये। ऐसी मानसिकता भगवान् के चरणकमलों पर घोर अपराध है। *नाम्नो बलात् यस्य हि पापबुद्धिः*—निस्सन्देह भगवान् के पवित्र नाम में समस्त पाप-कर्मों को निष्प्रभावित करने की शक्ति है, किन्तु यदि कोई नाम जप करते हुए जानबूझकर बारम्बार पाप करता है, तो वह निन्दनीय है।

इन श्लोकों में अनेक प्रकार के पापकर्म करने वालों के नाम गिनाये गये हैं। *मनु-संहिता* में निम्नलिखित नाम दिये गये हैं। ब्राह्मण पिता तथा शूद्र माता के गर्भ से उत्पन्न पुत्र *पारशव* या *निषाद* कहलाता है अर्थात् वह शिकारी जो चोरी करता है। शूद्र स्त्री के गर्भ से निषाद द्वारा उत्पन्न बालक *पुक्कस* कहलाता है। शूद्र की कन्या से क्षत्रिय द्वारा जन्म दिया गया पुत्र *उग्र* कहलाता है। शूद्र द्वारा क्षत्रिय की कन्या से उत्पन्न किया गया पुत्र *क्षत्ता* कहलाता है। निम्न वर्ण की स्त्री के गर्भ से क्षत्रिय द्वारा उत्पन्न किया गया पुत्र *श्वाद* अथवा कुत्ता खाने वाला कहलाता है। ऐसी सन्ततियाँ अत्यन्त पापी

मानी जाती हैं, किन्तु भगवान् का पवित्र नाम इतना प्रबल है कि केवल हरे कृष्ण मंत्र के जप से ये सभी पवित्र किए जा सकते हैं।

हरे कृष्ण-आन्दोलन जन्म या कुल का विचार किये बिना प्रत्येक व्यक्ति को पवित्र बनने का सुअवसर प्रदान करता है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (२.४.१८) में पुष्टि की गई है—

किरात हूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कशा

आभीर शुम्भा यवनाः खसादयः।

येऽन्येच पापा यदपाश्रयाश्रयाः

शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

"किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, शुम्भ, यवन तथा खस आदि नीच जातियाँ तथा दूसरे पापी भगवान् के भक्तों की शरण ग्रहण करने से पवित्र हो जाते हैं क्योंकि वे परम शक्ति हैं। उन सर्वशक्तिमान भगवान् को सादर नमस्कार है।" ऐसे पापी व्यक्ति भी निश्चित रूप से शुद्ध हो सकते हैं, यदि शुद्ध भक्त के निर्देशन में वे भगवान् के पवित्र नाम का जप करते हैं।

यहाँ पर ऋषिगण राजा इन्द्र को वृत्रासुर के वध के लिए प्रोत्साहित करते हैं, भले ही उसे ब्रह्म-हत्या क्यों न लगे और वे उसे अश्वमेध यज्ञ करके पाप से छुड़ाने का आश्वासन देते हैं। किन्तु इस प्रकार जानबूझ के किए पश्चाताप के फलों से पाप-कर्म करने वाले को छुटकारा नहीं मिल सकता। इसे अगले श्लोक में देखा जाएगा।

श्रीशुक उवाच

एवं सञ्चोदितो विप्रैर्मरुत्वानहनद्रिपुम् ।

ब्रह्महत्या हते तस्मिन्नासससाद वृषाकपिम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; सञ्चोदितः—प्रोत्साहित होकर; विप्रैः—ब्राह्मणों के द्वारा; मरुत्वान्—इन्द्र ने; अहनत्—वध कर दिया; रिपुम्—अपने शत्रु, वृत्रासुर को; ब्रह्म-हत्या—एक ब्राह्मण की हत्या का पाप; हते—मारे जाने पर; तस्मिन्—जब वह (वृत्रासुर); आससाद—पास गया; वृषाकपिम्—इन्द्र जिसको वृषाकपि भी कहते हैं।.

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—ऋषियों के वचनों से प्रोत्साहित होकर इन्द्र ने वृत्रासुर का वध कर दिया और जब वह मारा गया तो ब्रह्महत्या का पाप फल इन्द्र के पास पहुँचा।

तात्पर्य : वृत्रासुर को मारने के बाद इन्द्र ब्रह्महत्या से नहीं बच सका। पहले उसने परिस्थितिवश क्रोध में आकर विश्वरूप नामक एक ब्राह्मण की हत्या कर दी थी, किन्तु इस बार ऋषियों के उपदेश के अनुसार उसने जानबूझकर एक दूसरे ब्राह्मण का बध किया था। अतः पाप फल पहले से भी अधिक बड़ा था। इन्द्र को प्रायश्चित्त हेतु मात्र यज्ञ करके इस पाप से मुक्त नहीं किया जा सकता था। उसे अपने पापों के घोर फल भोगने पड़े और जब वह उनसे मुक्त हुआ तभी ब्राह्मणों ने उसे अश्वमेध करने दिया। भगवान् के नाम जप के बल पर जानबूझकर पापकर्म करने या फिर प्रायश्चित्त कर लेने से किसी को, यहाँ तक कि इन्द्र या नहुष को भी, छुटकारा नहीं मिल सकता। स्वर्ग में इन्द्र की अनुपस्थिति में नहुष स्थानापन्न था और इन्द्र अपने पापों से मुक्ति पाने के लिए इधर-उधर दौड़ रहा था।

तयेन्द्रः स्मासहत्तापं निर्वृतिर्नामुमाविशत् ।
ह्रीमन्तं वाच्यतां प्राप्तं सुखयन्त्यपि नो गुणाः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तया—उस कार्य से; इन्द्रः—राजा इन्द्र ने; स्म—निस्सन्देह; असहत्—सहन किया; तापम्—क्लेश या दुख; निर्वृतिः—प्रसन्नता; न—नहीं; अमुम्—उसको; आविशत्—प्रवेश किया; ह्रीमन्तम्—लज्जाशील; वाच्यताम्—अपयश; प्राप्तम्—प्राप्त करके; सुखयन्ति—प्रसन्नता प्रदान करते हैं; अपि—यद्यपि; नो—नहीं; गुणाः—उत्तम गुण यथा ऐश्वर्य आदि।

देवताओं की सलाह से इन्द्र ने वृत्रासुर का वध कर दिया और इस पापपूर्ण हत्या के कारण उसे कष्ट उठाना पड़ा। यद्यपि अन्य देवतागण प्रसन्न थे, किन्तु वृत्रासुर की हत्या से उसे तनिक भी प्रसन्नता नहीं हुई। इन्द्र के इस क्लेश में अन्य उत्तम गुण, यथा धैर्य तथा ऐश्वर्य, उसके सहायक नहीं बन सके।

तात्पर्य : मनुष्य के पास कितना ही भौतिक ऐश्वर्य क्यों न रहे, पापकर्म करके वह कभी प्रसन्न नहीं रह सकता। इन्द्र ने उसे सत्य पाया। लोग उसकी यह कहकर निन्दा करने लगे, ''इस व्यक्ति

ने स्वर्ग का भौतिक सुख भोगने के लिए ब्राह्मण की हत्या कर दी।'' यद्यपि इन्द्र स्वर्ग का राजा था और भौतिक ऐश्वर्य भोग रहा था, किन्तु जनता के दोषारोपणों के कारण वह निरन्तर दुखी था।

तां ददर्शानुधावन्तीं चाण्डालीमिव रूपिणीम् ।
जरया वेपमानाङ्गीं यक्ष्मग्रस्तामसृक्पटाम् ॥ १२ ॥
विकीर्य पलितान्केशांस्तिष्ठ तिष्ठेति भाषिणीम् ।
मीनगन्ध्यसुगन्धेन कुर्वतीं मार्गदूषणम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

ताम्—ब्रह्महत्या को; ददर्श—देखा; अनुधावन्तीम्—पीछा करते हुए; चाण्डालीम्—निम्न श्रेणी की स्त्री; इव—सदृश; रूपिणीम्—रूप धारण करके; जरया—बुढ़ापे के कारण; वेपमान-अङ्गीम्—काँपते हुए अंगों वाली; यक्ष्म-ग्रस्ताम्—यक्ष्मा रोग से ग्रस्त; असृक्-पटाम्—रक्त से सने वस्त्रों वाली; विकीर्य—बिखेरे हुए; पलितान्—श्वेत; केशान्—बाल; तिष्ठ तिष्ठ—ठहरो ठहरो; इति—इस प्रकार; भाषिणीम्—कहते हुए; मीन-गन्धि—मछली की गन्ध; असु—जिसकी श्वास; गन्धेन—गन्ध से; कुर्वतीम्—करती हुई; मार्ग-दूषणम्—सारे रास्ते का प्रदूषण।

इन्द्र ने साक्षात् ब्रह्महत्या के फल को एक चाण्डाल स्त्री के समान प्रकट होकर अपना पीछा करते देखा। वह अत्यन्त वृद्धा प्रतीत होती थी और उसके शरीर के सभी अंग काँप रहे थे। यक्ष्मा रोग से पीड़ित होने के कारण उसका सारा शरीर तथा वस्त्र रक्त से सने थे। उसकी श्वास से मछली की-सी असह्य दुगन्ध निकल रही थी जिससे सारा रास्ता दूषित हो रहा था। उसने इन्द्र को पुकारा, ''ठहरो! ठहरो!''

तात्पर्य : जब मनुष्य को यक्ष्मा रोग हो जाता है, तो प्राय: रक्त-वमन होता है, जिससे कपड़े रक्त से सन जाते हैं।

नभो गतो दिश: सर्वा: सहस्राक्षो विशाम्पते ।
प्रागुदीचीं दिशं तूर्णं प्रविष्टो नृप मानसम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

नभः—आकाश को; गतः—जाकर; दिशः—दिशाओं को; सर्वाः—समस्त; सहस्र-अक्षः—इन्द्र, जिसके एक हजार आँखें हैं; विशाम्पते—हे राजा; प्राक्-उदीचीम्—उत्तरपूर्व; दिशम्—दिशा में; तूर्णम्—अत्यन्त वेग से; प्रविष्टः—प्रवेश किया; नृप—हे राजा; मानसम्—मानस-सरोवर नामक झील में।

हे राजन्! इन्द्र पहले आकाश की ओर भागा, किन्तु उसने वहाँ भी उस ब्रह्महत्या रूपिणी

स्त्री को अपना पीछा करते देखा। जहाँ कहीं भी वह गया, यह डायन उसका पीछा करती रही। अन्त में वह तेजी से उत्तरपूर्व की ओर गया और मानस सरोवर में घुस गया।

स आवसत्पुष्करनालतन्तू-
नलब्धभोगो यदिहाग्निदूतः ।
वर्षाणि साहस्रमलक्षितोऽन्तः
सञ्चिन्तयन्ब्रह्मवधाद्विमोक्षम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (इन्द्र); आवसत्—रहता रहा; पुष्कर-नाल-तन्तून्—कमल नाल के तन्तुजाल में; अलब्ध-भोगः—किसी प्रकार की भौतिक सुविधा न पाते हुए; यत्—जो; इह—यहाँ; अग्नि-दूतः—अग्निदेव नामक दूत; वर्षाणि—स्वर्गीय वर्षों तक; साहस्रम्—एक हजार; अलक्षितः—अदृश्य; अन्तः—अपने हृदय में; सञ्चिन्तयन्—सदैव सोचते हुए; ब्रह्म-वधात्—ब्रह्म हत्या से; विमोक्षम्—मुक्ति।

सदैव यह सोचते हुए कि ब्रह्महत्या से किस प्रकार छुटकारा प्राप्त हो, राजा इन्द्र, सबों से अदृश्य रहकर सरोवर में कमलनाल के सूक्ष्म तन्तुओं के भीतर एक हजार वर्ष तक रहा। अग्निदेव उसे समस्त यज्ञों का उसका भाग लाकर देते, क्योंकि अग्निदेव जल में प्रवेश करने से भयभीत थे, अतः इन्द्र एक तरह से भूखों मर रहा था।

तावत्त्रिणाकं नहुषः शशास
विद्यातपोयोगबलानुभावः ।
स सम्पदैश्वर्यमदान्धबुद्धि-
र्नीतस्तिरश्चां गतिमिन्द्रपत्न्या ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब तक; त्रिणाकम्—स्वर्गलोक; नहुषः—नहुष; शशास—शासन करता रहा; विद्या—शिक्षा; तपः—तपस्या; योग—योग; बल—तथा शक्ति से; अनुभावः—से युक्त; सः—वह (नहुष); सम्पत्—प्रभूत सम्पत्ति का; ऐश्वर्य—तथा ऐश्वर्य; मद—घमंड से; अन्ध—अन्धा; बुद्धिः—उसकी बुद्धि; नीतः—ले जाया गया; तिरश्चाम्—सर्पों की; गतिम्—गन्तव्य को; इन्द्र-पत्न्या—इन्द्र की पत्नी शची देवी द्वारा।

जब तक राजा इन्द्र कमलनाल के भीतर जल में रहा, नहुष अपने ज्ञान, तप तथा योग के कारण स्वर्गलोक का शासन चलाने के लिए सक्षम बना दिया गया। किन्तु शक्ति तथा ऐश्वर्य के मद से अंधा होकर उसने इन्द्र की पत्नी के साथ रमण करने का अवांछित प्रस्ताव रखा।

इस प्रकार वह एक ब्राह्मण द्वारा शापित हुआ और बाद में सर्प बन गया।

ततो गतो ब्रह्मगिरोपहूत
ऋतम्भरध्याननिवारिताघः ।
पापस्तु दिग्देवतया हतौजा-
स्तं नाभ्यभूदवितं विष्णुपत्न्या ॥ १७॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; गतः—चले गये; ब्रह्म—ब्राह्मणों के; गिरा—शब्दों से; उपहूतः—आमंत्रित होकर; ऋतम्भर—सत्य का पोषण करने वाले परमेश्वर में; ध्यान—ध्यान द्वारा; निवारित—रोका जाकर; अघः—जिसका पाप; पापः—पाप-पूर्ण कर्म; तु—तब; दिक्-देवतया—रुद्रदेव द्वारा; हत-ओजाः—समस्त शौर्य के क्षीण होने पर; तम्—उस (इन्द्र) को; न अभ्यभूत्—परास्त नहीं कर सका; अवितम्—सुरक्षित होने से; विष्णु-पत्न्या—धन की देवी, भगवान् विष्णु की पत्नी द्वारा।

समस्त दिशाओं के देवता रुद्र के प्रताप से इन्द्र के पाप कम हो गये। चूँकि इन्द्र की रक्षा मानस-सरोवर के कमल कुंजों में निवास करने वाली धन की देवी भगवान् विष्णु की पत्नी द्वारा की जा रही थी, अतः इन्द्र के पापों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अन्त में भगवान् विष्णु की निष्ठा-पूर्वक पूजा करने से इन्द्र के सारे पाप छूट गये। तब ब्राह्मणों ने उसे पुनः स्वर्गलोक में बुलाकर उसके पूर्व पद पर स्थापित कर दिया।

तं च ब्रह्मर्षयोऽभ्येत्य हयमेधेन भारत ।
यथावद्दीक्षयां चक्रुः पुरुषाराधनेन ह ॥ १८॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (इन्द्र को); च—तथा; ब्रह्म-ऋषयः—सभी ऋषि तथा ब्राह्मण; अभ्येत्य—के पास जाकर; हयमेधेन—अश्वमेध यज्ञ के द्वारा; भारत—हे राजा परीक्षित; यथावत्—विधिपूर्वक; दीक्षयाम् चक्रुः—दीक्षा दी; पुरुष-आराधनेन—परम पुरुष हरि की आराधना द्वारा; ह—निस्सन्देह।

हे राजन्! जब इन्द्र स्वर्गलोक में पहुँच गया तो साधुवत् ब्राह्मण उसके पास गये और परमेश्वर को प्रसन्न करने के निमित्तअश्वमेध यज्ञ के लिए उसे समुचित रूप से दीक्षित किया।

अथेज्यमाने पुरुषे सर्वदेवमयात्मनि ।
अश्वमेधे महेन्द्रेण वितते ब्रह्मवादिभिः ॥ १९॥

स वै त्वाष्ट्रवधो भूयानपि पापचयो नृप ।
नीतस्तेनैव शून्याय नीहार इव भानुना ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; इज्यमाने—पूजित होकर; पुरुषे—श्रीभगवान्; सर्व—समस्त; देव-मय-आत्मनि—परमात्मा तथा देवताओं के पालक; अश्वमेधे—अश्वमेध यज्ञ के माध्यम से; महा-इन्द्रेण—राजा इन्द्र द्वारा; वितते—सम्पन्न कराया गया; ब्रह्म-वादिभिः—वैदिक ज्ञान में दक्ष ऋषियों तथा ब्राह्मणों द्वारा; सः—वह; वै—निस्सन्देह; त्वाष्ट्र-वधः—त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर का वध; भूयात्—हो; अपि—यद्यपि; पापचयः—पाप समूह; नृप—हे राजा; नीतः—लाया गया; तेन—उस (अश्वयज्ञ) के द्वारा; एव—निश्चय ही; शून्याय—शून्य, कुछ नहीं; नीहारः—कोहरा; इव—सदृश; भानुना—तेजमय सूर्य के द्वारा।

ऋषितुल्य ब्राह्मणों द्वारा सम्पन्न किये गये अश्वमेध यज्ञ ने इन्द्र को समस्त पाप-बन्धनों से मुक्त कर दिया, क्योंकि उस यज्ञ में उसने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा की थी। हे राजन्! यद्यपि उसने गम्भीर पापकृत्य किया था, किन्तु उस यज्ञ से वह पाप कृत्य तुरन्त उसी प्रकार विनष्ट हो गया, जिस प्रकार सूर्य के तेज प्रकाश से कोहरा छँट जाता है।

स वाजिमेधेन यथोदितेन
वितायमानेन मरीचिमिश्रैः ।
इष्ट्वाधियज्ञं पुरुषं पुराण-
मिन्द्रो महानास विधूतपापः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (इन्द्र); वाजिमेधेन—अश्वमेध यज्ञ से; यथा—जिस प्रकार; उदितेन—वर्णित; वितायमानेन—सम्पन्न होकर; मरीचि-मिश्रैः—मरीचि आदि पुरोहितों द्वारा; इष्ट्वा—पूजा करके; अधियज्ञम्—परम परमात्मा को; पुरुषम् पुराणम्—आदि भगवान्; इन्द्रः—राजा इन्द्र; महान्—पूज्य; आस—हो गया; विधूत-पापः—समस्त पापों के धुल जाने से।

मरिचि तथा अन्य महर्षियों ने राजा इन्द्र पर कृपा की और विधिपूर्वक आदि पुरुष, परमात्मा, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा कर के यज्ञ सम्पन्न किया। इस प्रकार इन्द्र ने अपनी उन्नत स्थिति पुनः प्राप्त कर ली तथा वह प्रत्येक के द्वारा फिर से सम्मानित हुआ।

इदं महाख्यानमशेषपाप्मनां
प्रक्षालनं तीर्थपदानुकीर्तनम् ।
भक्त्युच्छ्रयं भक्तजनानुवर्णनं
महेन्द्रमोक्षं विजयं मरुत्वतः ॥ २२ ॥

पठेयुराख्यानमिदं सदा बुधाः

श‍ृण्वन्त्यथो पर्वणि पर्वणीन्द्रियम् ।
धन्यं यशस्यं निखिलाघमोचनं
रिपुञ्जयं स्वस्त्ययनं तथायुषम् ॥ २३॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; महा-आख्यानम्—महान् ऐतिहासिक घटना; अशेष-पाप्मनाम्—अनन्त पापों की; प्रक्षालनम्—स्वच्छ करने के लिए; तीर्थपद-अनुकीर्तनम्—तीर्थपद कहे जाने वाले श्रीभगवान् का यशोगान करते हुए; भक्ति—भक्तियोग का; उच्छ्रयम्—बढ़ते हुए; भक्त-जन—भक्तगण; अनुवर्णनम्—वर्णन करते हुए; महा-इन्द्र-मोक्षम्—स्वर्ग के राजा की मुक्ति; विजयम्—विजय; मरुत्वतः—राजा इन्द्र की; पठेयुः—पढ़ना चाहिए; आख्यानम्—कथा; इदम्—यह; सदा—सदैव; बुधाः—विद्वान पुरुष; श‍ृण्वन्ति—सुनते रहते हैं; अथो—भी; पर्वणि पर्वणि—बड़े उत्सवों के अवसर पर; इन्द्रियम्—इन्द्रियों को तीक्ष्ण करने वाला; धन्यम्—धन लाता है; यशस्यम्—यश लाता है; निखिल—सभी; अघ-मोचनम्—पापों से मुक्त करते हुए; रिपुम्-जयम्—शत्रुओं के ऊपर विजयी बनाता है; स्वस्ति-अयनम्—सबों के लिए कल्याणकारी है; तथा—उसी प्रकार; आयुषम्—आयु।

इस महान् आख्यान में भगवान् नारायण की महिमा का वर्णन हुआ है, भक्तियोग की महानता के सम्बन्ध में कथन दिए गए हैं, इन्द्र तथा वृत्रासुर जैसे भक्तों के वर्णन आए हैं तथा पापी जीवन से इन्द्र के मोक्ष एवं असुरों के साथ लड़े गये युद्धों में उसकी विजय के सम्बन्ध में विवरण दिए गये हैं। इस आख्यान को समझ लेने पर सभी पाप-फलों से छुटकारा मिल जाता है। अत: विद्वानों को सदा सलाह दी जाती है कि इस आख्यान को पढ़ें। जो ऐसा करेगा उसकी इन्द्रियाँ अपने कार्य में निपुण होंगी, उसका ऐश्वर्य बढ़ेगा और यश चारों ओर फैलेगा। उसके समस्त पाप-फल मिट जायेंगे, उसे अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त होगी और उसकी आयु बढ़ेगी। चूँकि यह आख्यान सभी तरह से कल्याणकारी है, अत: विद्वान व्यक्ति इसको प्रत्येक शुभ उत्सव के अवसर पर नियमित रूप से सुनते और दोहराते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कंन्ध के अन्तर्गत ''ब्रह्महत्या के पापफल से पीड़ित राजा इन्द्र'' नामक तेरहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौदह

राजा चित्रकेतु का शोक

इस चौदहवें अध्याय में परीक्षित महाराज अपने गुरु शुकदेव गोस्वामी से पूछते हैं कि वृत्रासुर जैसा असुर परम भक्त कैसे बना। इस प्रसंग में वृत्रासुर के पूर्वजन्म का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसमें चित्रकेतु की कथा एवं उसके पुत्र की मृत्यु से उत्पन्न शोक का विवरण है।

लाखों जीवात्माओं में मनुष्यों की संख्या अत्यल्प है और इन मनुष्यों में से जो वास्तव में धर्मात्मा हैं कुछ ही भव-बंधन से मुक्त होने के लिए उत्सुक रहते हैं। छुटकारा चाहने वाले हजारों व्यक्तियों में से केवल एक को अवांछित व्यक्तियों की संगति अथवा भौतिक कल्मष से मुक्ति मिल पाती है। ऐसे लाखों मुक्त मनुष्यों में से कोई विरला ही भगवान् नारायण का भक्त बन पाता है। अत: ऐसे भक्त अत्यन्त दुर्लभ हैं। चूँकि भक्ति सामान्य नहीं होती, अत: परीक्षित महाराज आश्चर्यचकित थे कि एक असुर को क्योंकर भक्त का इतना उच्च पद प्राप्त हो सका? सन्देह होने के कारण उन्होंने अपने गुरु शुकदेव गोस्वामी से पूछा, जिन्होंने शूरसेन के राजा चित्रकेतु के रूप में वृत्रासुर के पूर्वजन्म का वृतान्त कह सुनाया।

चित्रकेतु नि:सन्तान था। सौभाग्य से उसकी भेंट महर्षि अंगिरा से हो गई। जब अंगिरा ने राजा से कुशल-क्षेम पूछा तो उसने अपनी चिन्ता अभिव्यक्त की, अत: उन महर्षि के अनुग्रह से राजा की प्रथम पत्नी कृतद्युति के गर्भ के एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो प्रसन्नता तथा शोक दोनों का कारण बना। इस पुत्र के जन्म से राजा तथा राजमहल के सभी निवासी अत्यन्त प्रसन्न थे, किन्तु कृतद्युति की सौतें ईर्ष्यालु थीं और बाद में उन्होंने उसे विष खिला दिया। अपने पुत्र की मृत्यु के शोक से चित्रकेतु अत्यधिक विचलित हो गया। तब नारद मुनि तथा अंगिरा उसे देखने गए।

श्रीपरीक्षिदुवाच

रजस्तम:स्वभावस्य ब्रह्मन्वृत्रस्य पाप्मन: ।
नारायणे भगवति कथमासीद्दृढा मति: ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-परीक्षित् उवाच—राजा परीक्षित ने पूछा; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; स्व-भावस्य—स्वभाव वाला; ब्रह्मन्—हे विद्वान ब्राह्मण; वृत्रस्य—वृत्रासुर का; पाप्मनः—जो पापी था; नारायणे—भगवान् नारायण में; भगवति—श्री भगवान्; कथम्—किस प्रकार; आसीत्—थी; दृढा—अत्यन्त दृढ़; मतिः—चेतना, भक्ति।

राजा परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा—हे विद्वान ब्राह्मण! रजो तथा तमो गुणों से आविष्ट होने के कारण असुर सामान्यतः पापी होते हैं। तो फिर वृत्रासुर भगवान् नारायण के प्रति इतना परम प्रेम किस प्रकार प्राप्त कर सका?

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में प्रत्येक प्राणी रजो तथा तमो गुणों से ग्रस्त रहता है। किन्तु जब तक कोई इन गुणों पर विजय प्राप्त करके सात्विकता के स्तर पर नहीं पहुँच जाता तब तक उसके शुद्ध भक्त बनने की संभावना नहीं है। इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.२८) में की है—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

''जिन मनुष्यों ने पूर्वजन्म में पुण्यकर्म किये हैं तथा इस जन्म में जिनके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये हैं तथा जो मोह के द्वन्द्व से मुक्त हो चुके हैं, वे निष्ठापूर्वक मेरी सेवा में तत्पर होते हैं।'' चूँकि वृत्रासुर असुर था, अतः महाराज परीक्षित को आश्चर्य हुआ कि वह परम भक्त का पद क्योंकर प्राप्त कर सका?

देवानां शुद्धसत्त्वानामृषीणां चामलात्मनाम् ।
भक्तिर्मुकुन्दचरणे न प्रायेणोपजायते ॥ २॥

शब्दार्थ

देवानाम्—देवताओं का; शुद्ध-सत्त्वानाम्—जिनके मन विमल हैं; ऋषीणाम्—महान् साधु पुरुषों के; च—तथा; अमल-आत्मनाम्—जिन्होंने अपने जन्म को पवित्र कर लिया है; भक्तिः—भक्ति; मुकुन्द-चरणे—मुक्तिदायक भगवान् मुकुन्द के चरण कमलों में; न—नहीं; प्रायेण—प्रायः; उपजायते—उपजती है, बढ़ती है।

प्रायः सत्त्वमय देवता तथा भौतिक सुख-रूपी रज से निष्कलंक ऋषि अत्यन्त कठिनाई से मुकुन्द के चरण-कमलों की शुद्ध भक्ति कर पाते हैं। [तो फिर वृत्रासुर इतना बड़ा भक्त किस प्रकार बन सका?]

रजोभिः समसङ्ख्याताः पार्थिवैरिह जन्तवः ।
तेषां ये केचनेहन्ते श्रेयो वै मनुजादयः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

रजोभिः—कणों से; सम-सङ्ख्याताः—समान संख्या में; पार्थिवैः—पृथ्वी के; इह—इस संसार में; जन्तवः—जीवात्माएँ; तेषाम्—उनकी; ये—जो; केचन—कुछ; ईहन्ते—कार्य करते हैं; श्रेयः—धार्मिक सिद्धान्तों के लिए; वै—निस्सन्देह; मनुज-आदयः—मनुष्य इत्यादि।

इस भौतिक जगत में जीवात्माओं की संख्या उतनी ही है जितने कि धूल कण। इन जीवात्माओं में से कुछ ही मनुष्य होते हैं और उनमें से कुछ ही धार्मिक नियमों के पालन में रुचि दिखलाते हैं।

प्रायो मुमुक्षवस्तेषां केचनैव द्विजोत्तम ।
मुमुक्षूणां सहस्रेषु कश्चिन्मुच्येत सिध्यति ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

प्रायः—प्रायः, लगभग सदा; मुमुक्षवः—मुक्ति के इच्छुक लोग; तेषाम्—उनका; केचन—कुछ; एव—निस्सन्देह; द्विज-उत्तम—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ; मुमुक्षूणाम्—मुक्ति पाने के इच्छुक लोगों का; सहस्रेषु—हजारों में से; कश्चित्—कोई एक; मुच्येत—वास्तव में मुक्ति लाभ करता है; सिध्यति—सिद्ध (पूर्ण) होता है।

ब्राह्मण-श्रेष्ठ हे शुकदेव गोस्वामी! धार्मिक नियमों का पालन करने वाले अनेक मनुष्यों में से कुछ ही भौतिक जगत से मुक्ति पाने के इच्छुक रहते हैं। मुक्ति चाहने वाले हजारों में से किसी एक को वास्तव में मुक्ति-लाभ होता है और वह समाज, मित्रता, प्यार, देश, घर, स्त्री तथा सन्तान के प्रति अपनी आसक्ति का परित्याग कर पाता है। ऐसे हजारों मुक्त पुरुषों में से मुक्ति का वास्तविक अर्थ जानने वाला कोई विरला ही होता है।

तात्पर्य : मनुष्यों की चार श्रेणियाँ हैं—*कर्मी, ज्ञानी, योगी* तथा *भक्त*। इस श्लोक में जो कुछ कहा गया है, वह विशेष रूप से कर्मियों तथा ज्ञानियों के लिए है। इस भौतिक संसार में कर्मी एक शरीर बदल कर दूसरे में प्रसन्न रहना चाहता है। उसका उद्देश्य, चाहे यह लोक हो या परलोक, शारीरिक सुख रहता है। किन्तु जब वही व्यक्ति ज्ञानी हो जाता है, तो वह भौतिक बन्धन से छूटना चाहता है। मुक्ति की आकांक्षा रखने वाले ऐसे अनेक व्यक्तियों में से वास्तव में एक ही इस जीवन

में मुक्ति पा सकता है। ऐसा व्यक्ति समाज, मित्रता, प्यार, देश, परिवार, पत्नी तथा सन्तान के प्रति अपनी आसक्ति का परित्याग कर देता हैं। ऐसे अनेक व्यक्तियों में जो वानप्रस्थ आश्रम के स्तर पर होते हैं, विरला कोई संन्यासी बनने के महत्त्व को समझ पाता है।

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः ।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

मुक्तानाम्—मुक्त पुरुषों में से; अपि—भी; सिद्धानाम्—सिद्ध पुरुषों में से; नारायण-परायणः—ऐसा मनुष्य जिसने यह निष्कर्ष निकाला है कि नारायण हैं; सु-दुर्लभः—अत्यन्त दुर्लभ है, कठिनाई से प्राप्त होता है; प्रशान्त—परम शान्त; आत्मा—जिसका मन; कोटिषु—करोड़ों में से; अपि—भी; महा-मुने—हे परम साधु!.

हे परम साधु! लाखों मुक्त तथा मुक्ति के ज्ञान में पूर्ण पुरुषों में से कोई एक भगवान् नारायण अथवा कृष्ण का भक्त हो सकता है। ऐसे भक्त, जो परम शान्त हों, अत्यन्त दुर्लभ हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक का तात्पर्य इस प्रकार से दिया है। केवल मुक्ति की इच्छा अपर्याप्त है, मनुष्य को यथार्थ में मुक्त होना चाहिए। जब मनुष्य जीवन की भौतिकता की निरर्थकता को समझ लेता है, तो उसे उच्च ज्ञान होता है और परिवार, स्त्री तथा सन्तान से विरक्त होकर वानप्रस्थ आश्रम में स्थित हो जाता है। मनुष्य को चाहिए कि वह अग्रसर होता हुआ संन्यास-पद को प्राप्त करे, जिससे भौतिक जीवन में फिर से गिर कर कष्ट न उठाना पड़े। यद्यपि मनुष्य मुक्त होने की आकांक्षा करता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह मुक्त हो गया। कोई विरला ही मुक्त हो पाता है। निस्सन्देह अनेक लोग मुक्त होने के उद्देश्य से संन्यास ग्रहण करते हैं, किन्तु अपूर्ण होने के कारण वे पुनः स्त्री, भौतिक कार्यकलापों, सामाजिक कार्य आदि के प्रति आसक्त हो जाते हैं।

भक्ति से रहित ज्ञानी, योगी तथा कर्मी अपराधी कहलाते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु का कथन है—*मायावादी कृष्णे अपराधी*—जो यह सोचने के स्थान पर कि प्रत्येक वस्तु श्रीकृष्ण है, यह

सोचता है कि माया ही सब कुछ है, वह अपराधी कहलाता है। यद्यपि मायावादी कृष्ण के चरणारविन्द के प्रति अपराधी हैं, किन्तु तो भी उनकी गणना सिद्धों में की जा सकती है, अर्थात् जिन्होंने आत्मा का अनुभव किया है। उन्हें आत्म-सिद्धि के निकटतर माना जा सकता है, क्योंकि उन्होंने कम से कम आत्मजीवन का साक्षात्कार किया है। यदि ऐसा व्यक्ति *नारायण-परायण* हो जाता है, तो वह *जीवन्मुक्त* मनुष्य से श्रेष्ठ है। इसके लिए उच्चतर बुद्धि की आवश्यकता होती है।

ज्ञानी दो प्रकार के होते हैं—एक वे जो भक्ति की ओर उन्मुख होते हैं और दूसरे निर्गुण अनुभूति की ओर। मायावादी सामान्यत: वृथा ही अथक प्रयास करते हैं, अत: यह कहा जाता है वे कि बिना दानों के धान को कूटने वाले हैं (*स्थूल-तुषावघातिन:*)। ज्ञानियों की दूसरी कोटि में भी, जिनमें ज्ञान तथा भक्ति का मिश्रण होता है, दो प्रकार हैं—वे जो श्रीभगवान् के तथाकथित मिथ्या रूप की सेवा करते हैं और वे जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को असली आध्यात्मिक सच्चिदानन्द विग्रह के रूप में जानते हैं। मायावादी भक्त नारायण या विष्णु की अर्चना इस भाव से करते हैं कि विष्णु ने मायारूप अंगीकार किया है और परम सत्य वस्तुत: निर्गुण है। किन्तु शुद्ध भक्त यह कभी भी नहीं सोचता कि विष्णु ने माया का शरीर स्वीकार किया है, वरन् उसे यह पता रहता है कि आदि परम सत्य ही परम पुरुष है। ऐसा भक्त वास्तव में ज्ञानी है। वह कभी भी ब्रह्म-तेज में तदाकार नहीं होता। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१०.२.३२) में कहा गया है—

येऽन्येरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धय:।

आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं तत: पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रय:॥

"हे ईश्वर! जो अपने आपको मुक्त समझते हैं, किन्तु भक्ति से रहित हैं, उनकी बुद्धि विमल नहीं है। भले ही वे तपस्या के द्वारा मुक्ति के परम स्तर को प्राप्त कर लें, किन्तु वे इस संसार में दुबारा अवश्य गिरेंगे क्योंकि वे आपके चरणकमलों की शरण में नहीं आते।" इसका प्रमाण *भगवद्गीता* में भी (९.११)दिया गया है, जहाँ भगवान् कहते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

''जब मैं मनुष्य रूप में अवतार लेता हूँ तो मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। वे मेरी दिव्य प्रकृति तथा सर्वत्र मेरे परम साम्राज्य को नहीं जानते।'' जब मूढ़ यह देखते हैं कि कृष्ण मनुष्य की ही तरह आचरण करते हैं, तो वे भगवान् के दिव्य रूप का उपहास करते हैं, क्योंकि वे *परम भावम्* अर्थात् उनके दिव्य रूप तथा कार्यों से परिचित नहीं होते। *भगवद्गीता* (९.१२) में ऐसे व्यक्तियों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचतेस:।

राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिता:॥

''जो इस प्रकार सम्मोहित हैं, वे आसुरी तथा अनीश्वरवादी विचारों से आकर्षित होते हैं। उस मोहमयी अवस्था में उनकी मुक्ति की आशा, उनके सकाम कर्म तथा उनके ज्ञान का अनुशीलन—ये सभी निष्फल हो जाते हैं।'' ऐसे मनुष्य यह नहीं जान पाते कि कृष्ण का शरीर भौतिक नहीं है। कृष्ण के शरीर और उनके आत्मा में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु अल्पज्ञ कृष्ण को मनुष्य मानकर उनका उपहास करते हैं। वे यह सोच नहीं पाते कि कृष्ण जैसा व्यक्ति समस्त वस्तुओं का उद्गम कैसे हो सकता है (*गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि*)। ऐसे व्यक्तियों को *मोघाशा:* अर्थात् निष्फल मनोरथ वाले कहा जाता है। वे भविष्य में जो भी चाहते हैं, वह निष्फल हो जाता है। यहाँ तक कि यदि वे ऊपर-ऊपर भक्ति में प्रवृत्त होते हैं, तो भी उन्हें *मोघाशा:* कहा जाता है क्योंकि वे अन्ततोगावा ब्रह्म-तेज में मिल जाना चाहते हैं।

जो लोग अपनी भक्ति से स्वर्गलोक पहुँचना चाहते हैं वे भी निराश हो जाएंगे क्योंकि यह भक्ति का परिणाम नहीं हैं। फिर भी उन्हेंभक्ति में प्रवृत्त होकर शुद्ध बनने का अवसर दिया जाता है। *श्रीमद्भागवत* (१.२.१७) में कहा गया है—

शृण्वतां स्वकथा: कृष्ण: पुण्यश्रवणकीर्तन:।

हृद्यन्त:स्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥

“भगवान् श्रीकृष्ण, जो प्रत्येक प्राणी के हृदय में परम आत्मा हैं और सच्चे भक्तों के कल्याणकर्ता हैं, उस भक्त के हृदय को भौतिक सुख की कामना से रहित कर देते हैं, जो उनके संदेशों का रसास्वाद करता है, जो ठीक से सुने तथा जपे जाने पर स्वयं में सद्गुणयुक्त हैं।”

जब तक हृदय के भीतरी छोर से मल नहीं निकल जाता, मनुष्य शुद्ध भक्त नहीं बन सकता। इसलिए इस श्लोक में *सुदुर्लभ* शब्द का प्रयोग किया गया है। सैकड़ों तथा हजारों नहीं बल्कि लाखों पूर्णतया मुक्त आत्माओं में से विरला कोई शुद्ध भक्त होता है। इसलिए यहाँ पर *कोटिष्व अपि* शब्द व्यवहृत हुए हैं। श्रील मध्वाचार्य ने *तंत्र भागवत* से निम्नलिखित उद्धरण दिए हैं—

नव कोट्यस्तु देवानामृषयः सप्तकोटयः।

नारायणायनाः सर्वे ये केचित् तत्परायणाः॥

“नौ करोड़ देवता तथा सात करोड़ ऋषि भगवान् नारायण के *भक्तनारायणायन* कहलाते हैं। इनमें से कुछ ही ‘*नारायण-परायण*’ कहलाते हैं।”

नारायणायना देवा ऋष्याद्यास्तत्परायणाः।

ब्रह्माद्याः केचनैव स्युः सिद्धो योग्यसुखं लभन्॥

सिद्धों तथा नारायण-परायणों में यही अन्तर है कि प्रत्यक्ष भक्त तो *नारायण-परायण* हैं, किन्तु जो विभिन्न प्रकार का योग साधते हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं।

वृत्रस्तु स कथं पापः सर्वलोकोपतापनः ।
इत्थं दृढमतिः कृष्ण आसीत्सङ्ग्राम उल्बणे ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

वृत्रः—वृत्रासुर; तु—लेकिन; सः—वह; कथम्—किस प्रकार; पापः—(आसुरी शरीर प्राप्त करने में) यद्यपि पापी; सर्व-लोक—तीनों लोकों का; उपतापनः—कष्ट का कारण; इत्थम्—ऐसा; दृढ-मतिः—दृढ़ बुद्धि; कृष्णे—कृष्ण में; आसीत्—था; सङ्ग्रामे उल्बणे—युद्ध की ज्वाला में।

वृत्रासुर युद्ध की धधकती ज्वाला में स्थित था और पापी असुर अन्यों को सदैव कष्ट तथा चिन्ता पहुँचाने के लिए कुख्यात था। ऐसा असुर किस प्रकार इतना बड़ा कृष्ण भक्त हो

सका?

तात्पर्य : यह बतलाया जा चुका है कि किस प्रकार लाखों तथा करोड़ों व्यक्तियों में से कोई एक विरला ही शुद्ध भक्त अर्थात् *नारायण-परायण* होता है। अत: परीक्षित महाराज को आश्चर्य हो रहा था कि वह वृत्रासुर, जिसका ध्येय अन्यों को कष्ट तथा चिंता पहुँचाना था, युद्धभूमि में भी ऐसे भक्तों में से एक था। वृत्रासुर की उन्नति का क्या कारण था?

अत्र नः संशयो भूयाञ्छ्रोतुं कौतूहलं प्रभो ।
यः पौरुषेण समरे सहस्राक्षमतोषयत् ॥ ७॥

शब्दार्थ

अत्र—इस सम्बन्ध में; नः—हमारा; संशयः—सन्देह; भूयान्—अत्यधिक; श्रोतुम्—सुनने के लिए; कौतूहलम्—उत्कंठा, कुतूहल; प्रभो—हे प्रभो; यः—जो; पौरुषेण—पराक्रम से; समरे—युद्ध में; सहस्र-अक्षम्—जिनके एक हजार नेत्र हैं, भगवान् इन्द्र को; अतोषयत्—सन्तुष्ट किया, प्रसन्न कर लिया।.

हे प्रभो, शुकदेव गोस्वामी! यद्यपि वृत्रासुर पापी असुर था, किन्तु उसने सर्वाधिक उन्नत क्षत्रिय का पराक्रम दिखाकर युद्ध में इन्द्र को प्रसन्न कर लिया। ऐसा असुर भगवान् कृष्ण का महान् भक्त क्योंकर हो सका? इन विरोधी बातों से मेरे मन में अत्यधिक सन्देह उत्पन्न हो गया है, अतः मैं इस सम्बन्ध में आपसे सुनने के लिए अत्यधिक उत्सुक हूँ।

श्रीसूत उवाच
परीक्षितोऽथ सम्प्रश्नं भगवान्बादरायणिः ।
निशम्य श्रद्दधानस्य प्रतिनन्द्य वचोऽब्रवीत् ॥ ८॥

शब्दार्थ

श्री-सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; परीक्षितः—महाराज परीक्षित का; अथ—इस प्रकार; सम्प्रश्नम्—श्रेष्ठ प्रश्न; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; बादरायणिः—व्यासदेव के पुत्र शुकदेव गोस्वामी; निशम्य—सुनकर; श्रद्दधानस्य—अपने श्रद्धालु शिष्य का; प्रतिनन्द्य—अभिनन्दन करते हुए; वचः—शब्द; अब्रवीत्—बोले।.

श्री सूत गोस्वामी ने कहा—महाराज परीक्षित के इस उत्तम प्रश्न को सुनकर परम शक्तिमान ऋषि शुकदेव गोस्वामी अपने शिष्य को अत्यन्त प्रेमपूर्वक उत्तर देने लगे।

श्रीशुक उवाच
शृणुष्वावहितो राजन्नितिहासमिमं यथा ।
श्रुतं द्वैपायनमुखान्नारदाद्देवलादपि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; शृणुष्व—सुनो; अवहितः—अत्यन्त ध्यान से; राजन्—हे राजा; इतिहासम्—इतिहास को; इमम्—इस; यथा—जिस प्रकार; श्रुतम्—सुना हुआ; द्वैपायन—व्यासदेव के; मुखात्—मुँह से; नारदात्—नारद से; देवलात्—देवल ऋषि से; अपि—भी।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे राजन्! मैं उस इतिहास को तुमसे कहूँगा जिसे मैंने व्यासदेव, नारद तथा देवल के मुखों से सुना है। इसे ध्यानपूर्वक सुनो।

आसीद्राजा सार्वभौमः शूरसेनेषु वै नृप ।
चित्रकेतुरिति ख्यातो यस्यासीत्कामधुङ्मही ॥ १० ॥

शब्दार्थ

आसीत्—था; राजा—एक राजा; सार्व-भौमः—चक्रवर्ती राजा; शूरसेनेषु—शूरसेन नामक देश में; वै—निस्सन्देह; नृप—हे राजन्; चित्रकेतुः—चित्रकेतु; इति—इस प्रकार; ख्यातः—विख्यात; यस्य—जिसकी; आसीत्—थी; काम-धुक्—समस्त आवश्यकताओं को प्रदान करने वाली; मही—पृथ्वी।

हे राजा परीक्षित! शूरसेन प्रदेश में चित्रकेतु नाम का एक चक्रवर्ती राजा था। उसके राज्य में पृथ्वी से जीवन की समस्त आवश्यक वस्तुएँ उत्पन्न होती थीं।

तात्पर्य : यहाँ पर सबसे महत्त्वपूर्ण कथन यह है कि राजा चित्रकेतु के राज्यकाल में पृथ्वी समस्त आवश्यक वस्तुएँ उत्पन्न करती थी। जैसाकि *ईशोपनिषद्* (मंत्र १) में कहा गया है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥

“इस ब्रह्माण्ड में स्थावर-जंगम जो कुछ भी है, वह भगवान् द्वारा नियंत्रित है और उन्हीं की सम्पत्ति है। अतएव अपने लिए उन्हीं आवश्यक वस्तुओं को ग्रहण करना चाहिए जो उसके हिस्से के रुप में अलग रखी गई हैं और ऐसा जानकर दूसरे की वस्तुओं को स्वीकार नहीं करना चाहिए।” परम नियन्ता कृष्ण ने इस भौतिक जगत की सृष्टि की, जिसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं है और जो हर प्रकार से पूर्ण है। भगवान् समस्त जीवात्माओं की आवश्यकताओं को पूरा

करते हैं। ये आवश्यकताएँ पृथ्वी से उत्पन्न होती हैं, अत: पृथ्वी ही पूर्ति का स्रोत हैं। जब शासक उत्तम होता है, तो इस स्रोत से जीवन की आवश्यकताएँ प्रचुरता से उत्पन्न होती हैं। किन्तु जब शासक योग्य नहीं रहता तो इनका अभाव रहता है। *कामधुक्* शब्द का यही महत्त्व है। *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र (१.१०.४) भी कहा गया है—*कामं ववर्ष पर्जन्य: सर्वकामदुघा मही*—"महाराज युधिष्ठिर के राज्य में बादल मनुष्य की आवश्यकतानुसार वर्षा करते थे और पृथ्वी मनुष्यों की आवश्यक वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में उत्पन्न करती थी।" हमें अनुभव है कि कुछ ऋतुओं में वर्षा प्रचुर उत्पादन करती है, तो कुछ में अभाव रहता है। पृथ्वी की उर्वरता पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है, क्योंकि उस पर श्रीभगवान् का पूर्ण नियंत्रण है। अपनी आज्ञा से ईश्वर पृथ्वी से कम या अधिक उत्पन्न करवा सकता है। यदि कोई पवित्र राजा शास्त्रों के आदेशों के अनुसार पृथ्वी पर शासन करता है, तो नियमित वर्षा होती रहती है, जिससे सभी मनुष्यों के लिए प्रचुर उत्पादन होगा। तब किसी प्रकार के शोषण का प्रश्न ही नहीं उठेगा, क्योंकि सबों के पास प्रचुर अन्न होगा। तब काला-बाजारी तथा अन्य अपराध स्वयमेव बन्द हो जाएँगे। जब तक शासक में आध्यात्मिक योग्यताएं नहीं होती, मात्र पृथ्वी पर शासन करने से मनुष्यों की समस्याएँ हल नहीं हो सकतीं। उसे महाराज युधिष्ठिर, परीक्षित महाराज या श्री रामचन्द्र के समान होना चाहिए। तभी देश के समस्त निवासी नितान्त सुखी होंगे।

तस्य भार्यासहस्राणां सहस्राणि दशाभवन् ।
सान्तानिकश्चापि नृपो न लेभे तासु सन्ततिम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसकी (चित्रकेतु की); भार्या—पत्नियों के; सहस्राणाम्—हजारों; सहस्राणि—हजार; दश—दस; अभवन्—थीं; सान्तानिक:—सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ; च—तथा; अपि—यद्यपि; नृप:—राजा; न—नहीं; लेभे—प्राप्त किया; तासु—उनसे; सन्ततिम्—पुत्र।

राजा चित्रकेतु के एक करोड़ पत्नियाँ थीं और यद्यपि वह सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ था, किन्तु उनसे उसे कोई सन्तान प्राप्त नहीं हुई। संयोगवश सभी पत्नियां बाँझ थीं।

रूपौदार्यवयोजन्मविद्यैश्वर्यश्रियादिभिः ।
सम्पन्नस्य गुणैः सर्वैश्चिन्ता बन्ध्यापतेरभूत् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

रूप—सुन्दरता; औदार्य—उदारता; वयः—युवावस्था; जन्म—उच्चकुल में जन्म; विद्या—विद्या; ऐश्वर्य—ऐश्वर्य; श्रिय-आदिभिः—सम्पत्ति आदि से; सम्पन्नस्य—युक्त; गुणैः—गुणों से; सर्वैः—समस्त; चिन्ता—चिन्ता; बन्ध्या-पतेः—अनेक बाँझ पत्नियों के पति चित्रकेतु की; अभूत्—थी।

इन करोड़ पत्नियों का पति चित्रकेतु अत्यन्त रूपवान उदार तथा तरुण था। वह उच्च कुल में उत्पन्न हुआ था, उसे पूर्ण शिक्षा प्राप्त हुई थी और वह सम्पत्तिवान् एवं ऐश्वर्यवान् था। फिर भी इन समस्त गुणों के होते हुए किन्तु कोई पुत्र न होने से वह अत्यन्त चिन्तायुक्त रहता था।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि राजा ने पहले एक विवाह किया। किन्तु उस से कोई सन्तान न हुई तब उसने दूसरा और फिर तीसरा, चौथा आदि कई विवाह किये, किन्तु किसी भी पत्नी से कोई पुत्र न हुआ। उच्चकुल में जन्म लेने एवं ऐश्वर्य, शिक्षा तथा रूप से सम्पन्न होते हुए भी वह अत्यन्त दुखी था क्योंकि इतनी सारी पत्नियां होने पर भी इसके कोई पुत्र नहीं थे। निश्चय ही उसका विषाद स्वाभाविक था। गृहस्थ जीवन का अभिप्राय यह नहीं है कि पत्नी तो हो किन्तु सन्तान न हो। चाणक्य पंडित का कथन है—*पुत्रहीनं गृहं शून्यम्*—यदि गृहस्थ पुरुष के पुत्र न हो तो घर मरुस्थल के समान होता है। राजा निश्चित रूप से अत्यन्त दुखी था, क्योंकि उसे कोई पुत्र नहीं हुआ और इसलिए उसने अनेक बार विवाह किये। क्षत्रियों को एक से अधिक पत्नी से विवाह करने की विशेष अनुमति है, इसलिए इस राजा ने ऐसा किया। इतने पर भी उसे कोई सन्तान न हुई।

न तस्य सम्पदः सर्वा महिष्यो वामलोचनाः ।
सार्वभौमस्य भूश्चेयमभवन्प्रीतिहेतवः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तस्य—उसकी (चित्रकेतु की); सम्पदः—अपार ऐश्वर्य; सर्वाः—सभी; महिष्यः—रानियाँ; वाम-लोचनाः—अत्यन्त आकर्षक नेत्रों वाली; सार्व-भौमस्य—महाराज की; भूः—पृथ्वी; च—भी; इयम्—यह; अभवन्—थे; प्रीति-हेतवः—प्रसन्नता के कारण।

उनकी सभी रानियाँ सुमुखी एवं आकर्षक नेत्रों वाली थीं, फिर भी न तो उसका ऐश्वर्य तथा सैकड़ों-हजारों रानियाँ, न वे प्रदेश, जिनका वह सर्वोच्च स्वामी था, उसे प्रसन्न कर सकते थे।

तस्यैकदा तु भवनमङ्गिरा भगवानृषिः ।
लोकाननुचरन्नेतानुपागच्छद्यदृच्छया ॥ १४॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके; एकदा—एक बार; तु—लेकिन; भवनम्—महल में; अङ्गिराः—अंगिरा; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; ऋषिः—साधु; लोकान्—लोकों में; अनुचरन्—चारों ओर घूमते हुए; एतान्—इन; उपागच्छत्—आये; यदृच्छया—अचानक।

एक बार समस्त ब्रह्माण्ड में विचरण करते हुए अंगिरा नामक शक्तिशाली ऋषि अकस्मात् अपनी शुभेच्छा से राजा चित्रकेतु के महल में पधारे।

तं पूजयित्वा विधिवत्प्रत्युत्थानार्हणादिभिः ।
कृतातिथ्यमुपासीदत्सुखासीनं समाहितः ॥ १५॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; पूजयित्वा—पूजा करके; विधि-वत्—उच्च अतिथियों के सत्कार के नियमों के अनुसार विधिपूर्वक; प्रत्युत्थान—सिंहासन से उठकर; अर्हण-आदिभिः—पूजा आदि के द्वारा; कृत-अतिथ्यम्—सत्कार किया जाकर; उपासीदत्—निकट आकर बैठ गया; सुख-आसीनम्—सुखपूर्वक विराजमान; समाहितः—मन तथा इन्द्रियों को वश में करते हुए।

चित्रकेतु तुरन्त ही अपने सिंहासन से उठकर खड़ा हो गया और उनकी अर्चना की। उसने जल तथा खाद्य सामग्री भेंट की और इस प्रकार अपने परम अतिथि के प्रति मेजवान का अपना कर्तव्य पूरा किया। जब अंगिरा ऋषि सुखपूर्वक आसन ग्रहण कर चुके तो राजा अपने मन तथा इन्द्रियों को संयमित करके ऋषि के चरणों के निकट भूमि पर बैठ गया।

महर्षिस्तमुपासीनं प्रश्रयावनतं क्षितौ ।

प्रतिपूज्य महाराज समाभाष्येदमब्रवीत् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

महा-ऋषिः—परम साधु; तम्—उस (राजा) के; उपासीनम्—निकट बैठकर; प्रश्रय-अवनतम्—विनयवश सिर झुकाकर; क्षितौ—पृथ्वी पर; प्रतिपूज्य—साधुवाद देते हुए; महाराज—हे राजा परीक्षित; समाभाष्य—सम्बोधित करके; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा।

हे राजा परीक्षित! जब चित्रकेतु विनीत भाव से नत होकर ऋषि के चरण-कमलों के निकट बैठ गया तो ऋषि ने उसकी विनयशीलता तथा उनके आतिथ्य के लिए साधुवाद दिया और उसे निम्नलिखित शब्दों से सम्बोधित किया।

अङ्गिरा उवाच

अपि तेऽनामयं स्वस्ति प्रकृतीनां तथात्मनः ।
यथा प्रकृतिभिर्गुप्तः पुमान्राजा च सप्तभिः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

अङ्गिराः उवाच—ऋषि अंगिरा ने कहा; अपि—क्या; ते—तुमको; अनामयम्—स्वास्थ्य; स्वस्ति—कुशलता; प्रकृतीनाम्—अपनी राज्य-सामग्री का (पार्षद तथा सामग्री); तथा—और; आत्मनः—अपने शरीर, मन तथा आत्मा का; यथा—सदृश; प्रकृतिभिः—प्रकृति के तत्त्वों से; गुप्तः—आरक्षित; पुमान्—जीवित प्राणी; राजा—राजा; च—भी; सप्तभिः—सातसे।

ऋषि अंगिरा ने कहा—हे राजन्! आशा है कि तुम अपने शरीर तथा मन और अपने राज्य-पार्षदों तथा सामग्री सहित कुशल से हो। जब प्रकृति के सातों गुण [सम्पूर्ण भौतिक शक्ति (माया), अहंकार तथा इन्द्रियतृप्ति के पाँचों पदार्थ] अपने-अपने क्रम में ठीक रहते हैं, तो भौतिक तत्त्वों के भीतर जीवात्मा सुखी रहता है। इन सात तत्त्वों के बिना कोई रह नहीं सकता। इसी प्रकार राजा सात तत्त्वों द्वारा सदा आरक्षित रहता है। ये तत्त्व हैं—उसका उपदेशक (स्वामी या गुरु), उसके मंत्री, उसका राज्य, उसका दुर्ग, उसका कोष, उसके राज्याधिकार तथा उसके मित्र।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी ने *भागवत* की अपनी टीका में यह श्लोक उद्धृत किया है—

स्वाम्यमात्यौ जनपदा दुर्गद्रविणसंचयाः ।

दंडो मित्रं च तस्यैताः सप्त-प्रकृतयो मताः ॥

राजा अकेला नहीं होता। उसका गुरु या परम निर्देशक सर्वोपरि है। फिर उसके मंत्री, राज्य, दुर्ग, कोष, शान्ति की व्यवस्था और मित्र अथवा सहयोगी होते हैं। यदि इन सातों को सही ढंग से रखा जाये तो राजा सुखी रहता है। इसी प्रकार *भगवद्गीता* में बताया गया है कि जीवात्मा या आत्मा महत् तत्त्व अहंकार तथा पंच-तन्मात्रा अर्थात् इन्द्रियतृप्ति के पाँच पदार्थों के भौतिक आवरण के भीतर रहता है। जब ये सातों ढंग से रहते हैं, तो जीवात्मा सुखी रहता है। सामान्यतः जब राजा के पार्षद शान्त एवं आज्ञाकारी होते हैं, तो राजा सुखी रहता है। अतः अंगिरा ऋषि ने राजा के निजी स्वास्थ्य तथा उसके सात पार्षदों की कुशलता के सम्बन्ध में पूछा। जब हम अपने मित्र से यह पूछते हैं कि कुशल तो है, तो हम केवल उसी के बारे में अर्थात् व्यक्तिगत स्वयं नहीं जानना चाहते हैं, वरन् उसके परिवार, आय के साधन, उसके सहायकों अथवा सेवकों आदि के विषय में भी जानना चाहते हैं। जब ये सब कुशल से रहते हैं, तभी मनुष्य सुखी हो सकता है।

आत्मानं प्रकृतिष्वद्धा निधाय श्रेय आप्नुयात् ।
राज्ञा तथा प्रकृतयो नरदेवाहिताधयः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—स्वयं; प्रकृतिषु—इन सात राजसी तत्त्वों के अन्तर्गत; अद्धा—प्रत्यक्षतः; निधाय—रखकर; श्रेयः—परम सुख; आप्नुयात्—प्राप्त कर सकता है; राज्ञा—राजा के द्वारा; तथा—उसी प्रकार, वैसे ही; प्रकृतयः—प्रकृतियाँ; नर-देव—हे राजन्; आहित-अधयः—सम्पत्ति तथा अन्य वस्तुएँ भेंट करके।

हे राजन्, हे मानवता के ईश! जब राजा अपने पार्षदों पर प्रत्यक्षतः आश्रित रहता है और उनके आदेशों का पालन करता है, तो वह सुखी रहता है। इसी प्रकार जब पार्षद राजा को भेंटें प्रदान करते हैं और उसकी आज्ञाओं का पालन करते हैं, तो वे भी सुखी रहते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में राजा तथा उसके आश्रितों के वास्तविक सुख का उल्लेख हुआ है। सर्वोपरि होने के कारण राजा को अपने आश्रितों को न केवल आज्ञाएँ देनी चाहिए, अपितु कभी-कभी उनके निर्देशों को भी मानना चाहिए। इसी प्रकार आश्रितों को चाहिए कि वे भी राजा पर निर्भर रहें। इस अन्योन्याश्रिता से प्रत्येक व्यक्ति सुखी होगा।

अपि दाराः प्रजामात्या भृत्याः श्रेण्योऽथ मन्त्रिणः ।
पौरा जानपदा भूपा आत्मजा वशवर्तिनः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अपि—क्या; दाराः—पत्नियाँ; प्रजा—नागरिक जन; अमात्याः—(तथा) सचिवगण; भृत्याः—सेवक; श्रेण्यः—व्यापारीजन; अथ—तथा; मन्त्रिणः—मन्त्री (सलाहकार); पौराः—महल के वासी; जानपदाः—राज्यपाल; भूपाः—भूमिधर; आत्म-जाः—पुत्र; वश-वर्तिनः—पूरी तरह तुम्हारे वश में।.

हे राजन्! तुम्हारी पत्नियाँ, नागरिक, सचिव तथा सेवक एवं मसाले तथा तेल के विक्रेता व्यापारी तुम्हारे वश में तो हैं? तुमने अपने मंत्रियों, महल के निवासियों (पुरवासियों), अपने राज्यपालों, अपने पुत्रों तथा अन्य आश्रितों को अपने नियंत्रण में तो कर रखा है?

तात्पर्य : स्वामी अथवा राजा एवं उसके आश्रितों को परस्पर निर्भर होना चाहिए। सहयोग से वे दोनों सुखी रह सकते हैं।

यस्यात्मानुवशश्चेत्स्यात्सर्वे तद्वशगा इमे ।
लोकाः सपाला यच्छन्ति सर्वे बलिमतन्द्रिताः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; आत्मा—मन; अनुवशः—वश में; चेत्—यदि; स्यात्—हो; सर्वे—समस्त; तत्-वश-गाः—उसके अधीन; इमे—ये; लोकाः—विभिन्न लोक; स-पालाः—पालकों या राज्यपालों सहित; यच्छन्ति—अर्पण करते हैं; सर्वे—समस्त; बलिम्—भेंट; अतन्द्रिताः—आलस्य से मुक्त।.

यदि राजा का मन अपने वश में रहता है, तो उसके समस्त पारिवारिक प्राणी एवं राज-अधिकारी उसके अधीन रहते हैं। उसके प्रान्तपालक (राज्यपाल) समय पर अवरोध-रहित कर प्रस्तुत करते हैं, छोटे-छोटे सेवकों की तो कोई बात ही नहीं है।

तात्पर्य : अंगिरा ऋषि ने राजा से पूछा कि उसका मन तो उसके वश में है? सुखी रहने के लिए यह नितान्त अनिवार्य है।

आत्मनः प्रीयते नात्मा परतः स्वत एव वा ।

लक्षयेऽलब्धकामं त्वां चिन्तया शबलं मुखम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

आत्मनः—तुम स्वयं; प्रीयते—सन्तुष्ट हो; न—नहीं; आत्मा—मन; परतः—अन्य कारणों से; स्वतः—अपने कारण; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा; लक्षये—मैं देख सकता हूँ; अलब्ध-कामम्—अपेक्षित लक्ष्य को न प्राप्त करके; त्वाम्—तुमको; चिन्तया—चिन्ता के कारण; शबलम्—पीला; मुखम्—मुख, चेहरा।

हे राजा चित्रकेतु! मैं देख रहा हूँ कि तुम्हारा मन सन्तुष्ट नहीं है। ऐसा लगता है तुम्हें वांच्छित लक्ष्य प्राप्त नहीं हो पाया है। यह स्वतः तुम्हारे अपने कारण अथवा अन्य किसी कारण से ऐसा हुआ है? तुम्हारे पीले मुख से तुम्हारी गहरी चिन्ता झलकती है।

एवं विकल्पितो राजन्विदुषा मुनिनापि सः ।
प्रश्रयावनतोऽभ्याह प्रजाकामस्ततो मुनिम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विकल्पितः—पूछे जाने पर; राजन्—हे राजा परीक्षित; विदुषा—परम विद्वान; मुनिना—मुनि (दार्शनिक) के द्वारा; अपि—यद्यपि; सः—उस (राजा चित्रकेतु) ने; प्रश्रय-अवनतः—विनयवश झुककर; अभ्याह—उत्तर दिया; प्रजा-कामः—पुत्र की इच्छा से; ततः—तत्पश्चात्; मुनिम्—मुनि को।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे राजा परीक्षित! यद्यपि महर्षि अंगिरा को सब कुछ ज्ञात था फिर भी उन्होंने राजा से इस प्रकार पूछा। अतः पुत्र के इच्छुक राजा चित्रकेतु अत्यन्त विनीत भाव से नीचे झुक गये और महर्षि से इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : चूँकि मुख मन का दर्पण है, अतः साधु पुरुष किसी भी व्यक्ति के मुख को देखकर ही मन की दशा जान लेते हैं। जब महर्षि अंगिरा ने राजा के पीले मुखमण्डल के सम्बन्ध में संकेत किया, तो राजा चित्रकेतु ने अपनी चिन्ता का कारण इस प्रकार कह सुनाया।

चित्रकेतुरुवाच
भगवन्किं न विदितं तपोज्ञानसमाधिभिः ।
योगिनां ध्वस्तपापानां बहिरन्तः शरीरिषु ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

चित्रकेतुः उवाच—राजा चित्रकेतु ने उत्तर दिया; भगवन्—हे परम शक्तिशाली साधु; किम्—क्या; न—नहीं; विदितम्—ज्ञात है; तपः—तपस्या; ज्ञान—ज्ञान; समाधिभिः—तथा समाधि से; योगिनाम्—महान् योगियों या भक्तों द्वारा; ध्वस्त-पापानाम्—समस्त पापकर्मों से पूर्णतया विमुक्त; बहिः—बाहर से; अन्तः—भीतर से; शरीरिषु—बद्धजीवों में, जिनके भौतिक देह हैं।

राजा चित्रकेतु ने कहा—हे महाप्रभु अंगिरा! तपस्या, ज्ञान तथा दिव्य समाधि से आप पापमय जीवन के समस्त बन्धनों से मुक्त हैं; अत: आप सिद्ध योगी के रूप में हम जैसे बद्धजीवों के अन्दर और बाहर की प्रत्येक बात को जान सकते हैं।

तथापि पृच्छतो ब्रूयां ब्रह्मन्नात्मनि चिन्तितम् ।
भवतो विदुषश्चापि चोदितस्त्वदनुज्ञया ॥ २४॥

शब्दार्थ

तथापि—तो भी; पृच्छत:—पूछने पर; ब्रूयाम्—बोलने की आज्ञा दें; ब्रह्मन्—हे परम ब्राह्मण; आत्मनि—मन में; चिन्तितम्—चिन्ता; भवत:—आपको; विदुष:—सब कुछ जानने वाले, सर्वज्ञ; च—तथा; अपि—यद्यपि; चोदित:—प्रेरित होकर; त्वत्—आपकी; अनुज्ञया—आज्ञा से।

हे परम आत्मन्! आप सब कुछ जानते हैं, तो भी आप मुझसे पूछ रहे हैं कि मैं चिन्ता से पूर्ण क्यों हूँ। अत: मैं आपकी आज्ञा के प्रत्युत्तर में कारण को प्रकट कर रहा हूँ।

लोकपालैरपि प्रार्थ्या: साम्राज्यैश्वर्यसम्पद: ।
न नन्दयन्त्यप्रजं मां क्षुत्तृट्काममिवापरे ॥ २५॥

शब्दार्थ

लोक-पालै:—बड़े-बड़े देवताओं द्वारा; अपि—भी; प्रार्थ्या:—लालायित; साम्राज्य—बृहद् राज्य; ऐश्वर्य—सांसारिक सम्पत्ति; सम्पद:—धन; न नन्दयन्ति—आनन्द नहीं प्रदान करते; अप्रजम्—पुत्र न होने से; माम्—मुझको; क्षुत्—भूख; तृट्—प्यास; कामम्—विषय; इव—सदृश; अपरे—अन्य भोग्य वस्तुएँ।

जिस प्रकार भूखा तथा प्यासा व्यक्ति फूल की मालाओं या चंदन-लेप जैसी बाह्य तृप्ति से संतुष्ट नहीं होता, उसी प्रकार पुत्र न होने से मैं अपने साम्राज्य, ऐश्वर्य या सम्पदा से, जिनके लिए बड़े-बड़े देवता भी लालायित रहते हैं, सन्तुष्ट नहीं हूँ।

तत: पाहि महाभाग पूर्वै: सह गतं तम: ।
यथा तरेम दुष्पारं प्रजया तद्विधेहि न: ॥ २६॥

शब्दार्थ

तत:—अत:, इस कारण से; पाहि—मेरी रक्षा कीजिये; महा-भाग—हे परम साधु; पूर्वै: सह—अपने पितरों समेत; गतम्—गया हुआ; तम:—अंधकार में; यथा—जिससे; तरेम—पार कर सकें; दुष्पारम्—पार करना अत्यन्त कठिन; प्रजया—पुत्र प्राप्ति करके; तत्—वह; विधेहि—कृपया करें; न:—हम सबों के लिए।

अत: हे परम साधु! मेरी तथा मेरे पितरों की रक्षा कीजिये (उबारिये), क्योंकि मेरे संतान न होने से वे नरक के अंधकार में धँसते जा रहे हैं। कृपया कुछ ऐसा करें जिससे मुझे पुत्र प्राप्त हो, जो हम सबों को नारकीय दशाओं से उबार सके।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता के अनुसार मनुष्य मात्र पुत्र-प्राप्ति के लिए ही विवाह करता है, जिससे वह अपने पितरों को पिंडदान कर सके। राजा चित्रकेतु के लिए पुत्र-प्राप्ति इसलिए आवश्यक थी जिससे वह स्वयं तथा उसके पितृगण नरक से उबर सकें। उसे एकमात्र इसी की चिन्ता थी कि वह स्वयं तथा उसके पूर्वज अगले जन्मों में किस प्रकार पिंड प्राप्त कर सकें। इसलिए उसने अंगिरा ऋषि से प्रार्थना की कि वे कुछ ऐसा करने की कृपा करें जिससे उसे पुत्र-प्राप्ति हो सके।

श्रीशुक उवाच

इत्यर्थित: स भगवान्कृपालुर्ब्रह्मण: सुत: ।
श्रपयित्वा चरुं त्वाष्ट्रं त्वष्टारमयजद्विभु: ॥ २७॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; अर्थित:—प्रार्थना किये जाने पर; स:—उस (अंगिरा) ने; भगवान्—परम शक्तिमान; कृपालु:—अत्यन्त दयालु; ब्रह्मण:—भगवान् ब्रह्मा का; सुत:—पुत्र (भगवान् ब्रह्मा के मन से उत्पन्न); श्रपयित्वा—पका कर; चरुम्—खीर का विशिष्ट पिण्ड, चरु; त्वाष्ट्रम्—त्वष्टा नामक देवता के लिए; त्वष्टारम्—त्वष्टा की; अयजत्—अर्चना की; विभु:—परम साधु।

महाराज चित्रकेतु द्वारा प्रार्थना किये जाने पर भगवान् ब्रह्मा के मन से उत्पन्न (मानसपुत्र) अंगिरा ऋषि राजा के प्रति अत्यन्त दयाद्र हो उठे। अपने अत्यन्त शक्तिशाली व्यक्तित्व के कारण ऋषि ने त्वष्टा नामक देवता को खीर का पिण्डदान करके यज्ञ सम्पन्न किया।

ज्येष्ठा श्रेष्ठा च या राज्ञो महिषीणां च भारत ।
नाम्ना कृतद्युतिस्तस्यै यज्ञोच्छिष्टमदाद्द्विज: ॥ २८॥

शब्दार्थ

ज्येष्ठा—ज्येष्ठ, सबसे बड़ी; श्रेष्ठा—परम गुणवती; च—तथा; या—जो; राज्ञः—राजा की; महिषीणाम्—समस्त रानियों में; च—भी; भारत—हे महाराज परीक्षित; नाम्ना—नामक; कृतद्युतिः—कृतद्युति; तस्यै—उसको; यज्ञ—यज्ञ का; उच्छिष्टम्—अवशेष प्रसाद; अदात्—प्रदान किया; द्विजः—महान् ऋषि (अंगिरा) ने।.

हे महाराज परीक्षित! अंगिरा ऋषि ने यज्ञ के अवशेष प्रसाद को चित्रकेतु की लाखों रानियों में सबसे बड़ी तथा परम गुणवती रानी को प्रदान किया, जिसका नाम कृतद्युति था।

अथाह नृपतिं राजन्भवितैकस्तवात्मजः ।
हर्षशोकप्रदस्तुभ्यमिति ब्रह्मसुतो ययौ ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; आह—कहा; नृपतिम्—राजा को; राजन्—हे राजा चित्रकेतु; भविता—होगा; एकः—एक; तव—तुम्हारे; आत्मजः—पुत्र; हर्ष-शोक—प्रसन्नता तथा दुख; प्रदः—प्रदान करने वाला; तुभ्यम्—तुमको; इति—इस प्रकार; ब्रह्म-सुतः—भगवान् ब्रह्मा के पुत्र, अंगिरा ऋषि; ययौ—चले गये।.

तत्पश्चात् ऋषि ने राजा से कहा—"हे राजन्! अब तुम्हारे एक पुत्र होगा जो हर्ष तथा शोक दोनों का कारण बनेगा।" ऐसा कहकर चित्रकेतु के उत्तर की प्रतीक्षा न करके ऋषि चले गये।

तात्पर्य : 'हर्ष' शब्द का अर्थ है प्रसन्नता और 'शोक' का अर्थ है दुख। जब राजा को ज्ञात हुआ कि उसके पुत्र उत्पन्न होगा तो वह अत्यधिक प्रसन्न हो गया। अत्यधिक प्रसन्नता के मारे वह अंगिरा ऋषि के कथन का वास्तविक अर्थ नहीं समझ पाया। उसने यह समझा कि भावी पुत्र के जन्म से निश्चय ही हर्ष होगा, किन्तु उसका एकमात्र पुत्र होने से सम्पत्ति और साम्राज्य के गर्व से फूल कर सम्भव है कि वह पिता का आज्ञाकारी न बने; इस तरह राजा यह सोच कर संतुष्ट हुआ कि पहले पुत्र तो उत्पन्न हो। इससे क्या अंतर पड़ता है यदि वह आज्ञाकारी नहीं होता है। बंगाल में कहावत है कि मामा न होने की अपेक्षा अंधा मामा ही भला है। राजा को यह तर्क भा गया कि पुत्र न होने की अपेक्षा अवज्ञाकारी पुत्र होना अच्छा है। परम साधु चाणक्य पंडित का कथन है—

कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न धार्मिकः ।
काणेन चक्षुषा किं वा चक्षुः पीडैव केवलम् ॥

"ऐसे पुत्र से क्या लाभ, जो न तो विद्वान है न भक्त? ऐसा पुत्र उस अंधी रोगग्रस्त आँख के

समान है, जो हमेशा दुख देती रहती है।'' इतने पर भी भौतिक जगत कितना कलुषित हो चुका कि मनुष्य पुत्र की कामना करता है, भले ही वह बेकार क्यों न हो। राजा चित्रकेतु की कथा इसी विचार-धारा का प्रतीक थी।

सापि तत्प्राशनादेव चित्रकेतोरधारयत् ।
गर्भं कृतद्युतिर्देवी कृत्तिकाग्नेरिवात्मजम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सा—वह (रानी); अपि—भी; तत्-प्राशनात्—यज्ञ के अवशेष प्रसाद को खाने से; एव—निस्सन्देह; चित्रकेतोः—चित्रकेतु से; अधारयत्—धारण किया; गर्भम्—गर्भ; कृतद्युतिः—रानी कृतद्युति ने; देवी—देवी; कृत्तिका—कृत्तिका; अग्नेः—अग्नि से; इव—के समान; आत्म-जम्—पुत्र।

अंगिरा द्वारा सम्पन्न यज्ञ के अवशेष को खाकर कृतद्युति ने चित्रकेतु के वीर्य से उस प्रकार गर्भ धारण किया जिस प्रकार कृत्तिकादेवी ने अग्नि से भगवान् शिव का वीर्य प्राप्त करके स्कन्द (कार्तिकेय) नामक पुत्र को गर्भ में धारण किया था।

तस्या अनुदिनं गर्भः शुक्लपक्ष इवोडुपः ।
ववृधे शूरसेनेशतेजसा शनकैर्नृप ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तस्याः—उसका; अनुदिनम्—दिनोंदिन; गर्भः—गर्भ; शुक्ल-पक्षे—शुक्लपक्ष में (चन्द्रमा बढ़ता जाता है); इव—सदृश; उडुपः—चन्द्रमा; ववृधे—क्रमशः बढ़ने लगा; शूरसेन-ईश—शूरसेन के राजा; तेजसा—वीर्य से; शनकैः—थोड़ा-थोड़ा करके, क्रमशः; नृप—हे राजा परीक्षित!.

हे राजा परीक्षित! शूरसेन के राजा महाराज चित्रकेतु के वीर्य से कृतद्युति का गर्भ उसी प्रकार क्रमशः बढ़ने लगा, जिस प्रकार शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा बढ़ता जाता है।

अथ काल उपावृत्ते कुमारः समजायत ।
जनयञ्शूरसेनानां शृण्वतां परमां मुदम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; काले उपावृत्ते—कालक्रम से, समय आने पर; कुमारः—पुत्र ने; समजायत—जन्म लिया; जनयन्—जन्म होने का; शूरसेनानाम्—शूरसेन देश के निवासियों का; शृण्वताम्—सुनकर; परमाम्—अत्यधिक; मुदम्—हर्ष आनन्द।

तदनन्तर समय आने पर राजा के पुत्र उत्पन्न हुआ। इस समाचार को सुनकर शूरसेन देश

के समस्त वासी अत्यधिक प्रसन्न हुए।

हृष्टो राजा कुमारस्य स्नातः शुचिरलङ्कृतः ।
वाचयित्वाशिषो विप्रैः कारयामास जातकम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

हृष्टः—अत्यधिक प्रसन्न; राजा—राजा चित्रकेतु; कुमारस्य—नवजात पुत्र का; स्नातः—नहाकर; शुचिः—पवित्र होकर; अलङ्कृतः—आभूषणों से सुसज्जित होकर; वाचयित्वा—स्वस्तिवाचन कराकर; आशिषः—आशीर्वाद के शब्द; विप्रैः—विद्वान ब्राह्मणों से; कारयाम् आस—सम्पन्न कराया; जातकम्—जातकर्म संस्कार.

राजा चित्रकेतु विशेष रूप से प्रसन्न थे। स्नान करके, पवित्र होकर तथा आभूषणों से सज्जित होकर उन्होंने विद्वान ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन और आशीर्वाद लेकर पुत्र का जातकर्म-संस्कार करवाया।

तेभ्यो हिरण्यं रजतं वासांस्याभरणानि च ।
ग्रामान्हयान्गजान्प्रादाद्धेनूनामर्बुदानि षट् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

तेभ्यः—उन (ब्राह्मणों) को; हिरण्यम्—सोना; रजतम्—चाँदी; वासांसि—वस्त्र; आभरणानि—गहने, आभूषण; च—तथा; ग्रामान्—अनेक गाँव; हयान्—घोड़े; गजान्—हाथी; प्रादात्—दान में दिया; धेनूनाम्—गायों का; अर्बुदानि—दस करोड़; षट्—छह।.

राजा ने इस अनुष्ठान में भाग लेने वाले समस्त ब्राह्मणों को दान में सोना, चाँदी, वस्त्र, आभूषण, गाँव, घोड़े, हाथी और साठ करोड़ गौएँ दीं।

ववर्ष कामानन्येषां पर्जन्य इव देहिनाम् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं कुमारस्य महामनाः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

ववर्ष—वर्षा की, दान में दिया; कामान्—मुँहमाँगी वस्तुएँ; अन्येषाम्—अन्यों की; पर्जन्यः—बादल; इव—सदृश; देहिनाम्—समस्त जीवात्माओं का; धन्यम्—ऐश्वर्य वृद्धि की आकांक्षा सहित; यशस्यम्—यश में वृद्धि; आयुष्यम्—तथा आयुवृद्धि; कुमारस्य—नवजात शिशु की; महा-मनाः—उदारचेता राजा चित्रकेतु ने।.

जिस प्रकार बादल बिना पक्षपात के पृथ्वी पर वर्षा करता है, उसी तरह उदारचेता राजा चित्रकेतु ने अपने पुत्र के यश, ऐश्वर्य तथा आयु की वृद्धि के लिए सबों को मुँहमाँगी वस्तुएँ

दीं।

कृच्छ्रलब्धेऽथ राजर्षेस्तनयेऽनुदिनं पितुः ।
यथा निःस्वस्य कृच्छ्राप्ते धने स्नेहोऽन्ववर्धत ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

कृच्छ्र—कठिनाई से; लब्धे—प्राप्त; अथ—तदनन्तर; राज-ऋषेः—पवित्र राजा चित्रकेतु का; तनये—पुत्र के लिए; अनुदिनम्—प्रतिदिन; पितुः—पिता का; यथा—जिस प्रकार; निःस्वस्य—निर्धन पुरुष का; कृच्छ्र-आप्ते—अत्यन्त कठिनाई से प्राप्त; धने—धन के लिए; स्नेहः—स्नेह, प्यार; अन्ववर्धत—बढ़ता गया।

जिस प्रकार किसी निर्धन व्यक्ति को बड़ी कठिनाई से कुछ धन मिलता है, तो उसमें प्रतिदिन उसकी आसक्ति बढ़ती जाती है, इसी प्रकार जब राजा चित्रकेतु को अत्यन्त कठिनाई से पुत्र की प्राप्ति हुई तो दिन प्रति दिन पुत्र के प्रति उसका स्नेह बढ़ता गया।

मातुस्त्वतितरां पुत्रे स्नेहो मोहसमुद्भवः ।
कृतद्युतेः सपत्नीनां प्रजाकामज्वरोऽभवत् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

मातुः—माता का; तु—भी; अतितराम्—अत्यधिक; पुत्रे—पुत्र के लिए; स्नेहः—वत्सलता; मोह—अविद्यावश; समुद्भवः—उत्पन्न; कृतद्युतेः—कृतद्युति की; सपत्नीनाम्—सौतों का; प्रजा-काम—पुत्रेच्छा का; ज्वरः—ताप, ज्वर; अभवत्—था।

पिता की ही भाँति माँ का भी आकर्षण एवं स्नेह पुत्र के प्रति बढ़ता गया। कृतद्युति के पुत्र को देख देख कर राजा की अन्य पत्नियाँ पुत्र की कामना से अत्यधिक क्षुब्ध रहने लगीं, मानो उन्हें उच्च ज्वर हो।

चित्रकेतोरतिप्रीतिर्यथा दारे प्रजावति ।
न तथान्येषु सञ्जज्ञे बालं लालयतोऽन्वहम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

चित्रकेतोः—राजा चित्रकेतु का; अतिप्रीतिः—अत्यधिक आकर्षण; यथा—जिस प्रकार; दारे—अपनी पत्नी में; प्रजा-वति—जिसने पुत्र को जन्म दिया हो, पुत्रवती; न—नहीं; तथा—उसी प्रकार; अन्येषु—अन्यों का; सञ्जज्ञे—उठा, उत्पन्न हुआ; बालम्—पुत्र को; लालयतः—लाड़-प्यार करते हुए; अन्वहम्—लगातार।

ज्यों-ज्यों राजा चित्रेकेतु अपने पुत्र का बड़ी सावधानी से लाड़-प्यार करने लगे त्यों-त्यों

रानी कृतद्युति के प्रति भी उनका प्रेम प्रगाढ़ होता गया और पुत्रहीन अन्य रानियों के प्रति उनका प्रेम क्रमशः घटने लगा।

ताः पर्यतप्यन्नात्मानं गर्हयन्त्योऽभ्यसूयया ।
आनपत्येन दुःखेन राज्ञश्चानादरेण च ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

ताः—वे (पुत्रहीन रानियाँ); पर्यतप्यन्—पश्चात्ताप करने लगीं; आत्मानम्—अपने आपको; गर्हयन्त्यः—धिक्कारती हुई; अभ्यसूयया—डाह से; आनपत्येन—पुत्रहीन होने के कारण; दुःखेन—दुख से; राज्ञः—राजा की; च—भी; अनादरेण—उपेक्षा के कारण; च—भी।

अन्य रानियाँ निपूती होने के कारण अत्यन्त अप्रसन्न थीं। अपने प्रति राजा की उपेक्षा से वे डाहवश अपने आपको धिक्कारने और पश्चात्ताप करने लगीं।

धिगप्रजां स्त्रियं पापां पत्युश्चागृहसम्मताम् ।
सुप्रजाभिः सपत्नीभिर्दासीमिव तिरस्कृताम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

धिक्—धिक्कार है; अप्रजाम्—पुत्रहीना; स्त्रियम्—स्त्री को; पापाम्—पाप कर्मों से पूर्ण; पत्युः—पति के द्वारा; च—भी; अ-गृह-सम्मताम्—जिसका घर में अनादर हो, अनादृत; सु-प्रजाभिः—पुत्रवती; सपत्नीभिः—सौतों के द्वारा; दासीम्—दासी, नौकरानी; इव—के समान; तिरस्कृताम्—तिरस्कृत, अनादृत।

जिस पत्नी के पुत्र नहीं होते वह घर में अपने पति द्वारा उपेक्षित रहती है और सौतों द्वारा दासी के समान अनादृत होती है। निश्चय ही ऐसी स्त्री अपने पापी जीवन के कारण सब तरह से धिक्कारी जाती है।

तात्पर्य : जैसाकि चाणक्य पंडित ने कहा है—

माता यस्य गृहे नास्ति भार्या चाप्रियवादिनी।

अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम्॥

''जिस मनुष्य के घर में माता न हो, जिसकी पत्नी मृदुभाषी न हो उसे चाहिए कि वह जंगल में चला जाये। ऐसे मनुष्य के लिए घर में रहना तथा जंगल में रहना एकसमान है।'' इसी प्रकार जिस स्त्री को पुत्र न हो और जिसका पति द्वार ध्यान न दिया जाता हो तथा जिसकी सौतें उसके

साथ नौकरानी जैसा बर्ताव करके उसकी उपेक्षा करती हों, उसके लिए घर में रहने की अपेक्षा जंगल में जाकर रहना श्रेयस्कर है।

दासीनां को नु सन्तापः स्वामिनः परिचर्यया ।
अभीक्ष्णं लब्धमानानां दास्या दासीव दुर्भगाः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

दासीनाम्—दासियों का; कः—क्या; नु—निस्सन्देह; सन्तापः—पश्चाताप, शोक; स्वामिनः—स्वामी की; परिचर्यया—सेवा करके; अभीक्ष्णम्—निरन्तर; लब्ध-मानानाम्—सम्मानित; दास्याः—दासी का; दासी इव—दासी के समान; दुर्भगाः—अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण, हतभाग्या।.

यहाँ तक कि जो दासियाँ अपने पति की निरन्तर सेवा करती हैं, वे भी अपने पति का सम्मान पाती रहती हैं, अतः उनको किसी बात के लिए पश्चाताप नहीं करना पड़ता। किन्तु हमारी स्थिति तो दासी की दासियों के समान है, अतः हम सर्वाधिक हतभाग्या हैं।

एवं सन्दह्यमानानां सपत्न्याः पुत्रसम्पदा ।
राज्ञोऽसम्मतवृत्तीनां विद्वेषो बलवानभूत् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सन्दह्यमानानाम्—शोक से निरन्तर जलती रहने वाली रानियों का; सपत्न्याः—कृतद्युति की सौतों का; पुत्र-सम्पदा—पुत्र रूपी सम्पत्ति के कारण; राज्ञः—राजा के द्वारा; असम्मत-वृत्तीनाम्—अधिक पक्षपात न किये जाने से; विद्वेषः—ईर्ष्या; बलवान्—प्रबल शक्तिशाली; अभूत्—हो गया।.

श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—अपने पति द्वारा उपेक्षित होने तथा कृतद्युति की गोद भरी हुई देखकर, सभी सौतें द्वेष से अधिकाधिक जलने लगीं।

विद्वेषनष्टमतयः स्त्रियो दारुणचेतसः ।
गरं ददुः कुमाराय दुर्मर्षा नृपतिं प्रति ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

विद्वेष-नष्ट-मतयः—द्वेष के कारण बुद्धि नष्ट हो जाने से; स्त्रियः—स्त्रियाँ; दारुण-चेतसः—कठोर हृदय वाली; गरम्—विष; ददुः—पिला दिया; कुमाराय—बालक को; दुर्मर्षाः—चिढ़कर; नृपतिम्—राजा के; प्रति—प्रति।.

द्वेष बढ़ जाने से रानियों की मति मारी गई। अत्यधिक कठोर हृदय होने तथा राजा की उपेक्षा को न सह सकने के कारण उन्होंने अन्त में बालक को विष खिला दिया।

कृतद्युतिरजानन्ती सपत्नीनामघं महत् ।
सुप्त एवेति सञ्चिन्त्य निरीक्ष्य व्यचरद्गृहे ॥ ४४॥

शब्दार्थ

कृतद्युतिः—रानी कृतद्युति; अजानन्ती—न जानती हुई; सपत्नीनाम्—अपनी सौतों के; अघम्—पाप-कृत्य; महत्—महान्, घोर; सुप्तः—सोया हुआ; एव—निस्सन्देह; इति—इस प्रकार; सञ्चिन्त्य—सोचकर; निरीक्ष्य—देखकर; व्यचरत्—घूमती रही; गृहे—घर में।

अपनी सौतों द्वारा विष दिये जाने की घटना को न जानती हुई रानी कृतद्युति यह सोचकर कि उसका पुत्र गहरी निद्रा में सो रहा है घर में इधर-उधर विचरती रही। उसे पता न चल पाया कि वह मर चुका है।

शयानं सुचिरं बालमुपधार्य मनीषिणी ।
पुत्रमानय मे भद्रे इति धात्रीमचोदयत् ॥ ४५॥

शब्दार्थ

शयानम्—सोता हुआ; सु-चिरम्—दीर्घकाल से; बालम्—पुत्र को; उपधार्य—सोचकर; मनीषिणी—अत्यन्त बुद्धिमान, बुद्धिमती; पुत्रम्—पुत्र; आनय—ले आओ; मे—मेरे पास; भद्रे—हे सखी या कल्याणी; इति—इस प्रकार; धात्रीम्—धाय को; अचोदयत्—आज्ञा दी।

यह सोचकर कि उसका पुत्र बड़ी देर से सो रहा है—उस अत्यन्त बुद्धिमान रानी कृतद्युति ने धाय को आज्ञा दी, "हे सखी! मेरे पुत्र को यहाँ ले आओ।"

सा शयानमुपव्रज्य दृष्ट्वा चोत्तारलोचनम् ।
प्राणेन्द्रियात्मभिस्त्यक्तं हतास्मीत्यपतद्भुवि ॥ ४६॥

शब्दार्थ

सा—वह (दासी); शयानम्—सोते हुए; उपव्रज्य—के पास जाकर; दृष्ट्वा—देखकर; च—भी; उत्तार-लोचनम्—ऊपर उलटी हुई आँखें (जैसे मृत शरीर की होती हैं); प्राण-इन्द्रिय-आत्मभिः—प्राण, इन्द्रियों तथा मन से; त्यक्तम्—छोड़ा हुआ; हता अस्मि—मैं मरी, मैं मारी गई; इति—इस प्रकार; अपतत्—गिर पड़ी; भुवि—पृथ्वी पर।

जब धाय उस सोते हुए बच्चे के पास पहुँची तो उसने देखा कि उसकी आँखें ऊपर की ओर उलट गई हैं, उसके शरीर में प्राण का कोई संचार नहीं है और उसकी समस्त इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो गई हैं। अतः वह समझ गई कि बालक मर चुका है। यह देखकर वह तुरन्त

चिल्ला उठी, 'हाय मैं मारी गई' और पृथ्वी पर गिर पड़ी।

तस्यास्तदाकर्ण्य भृशातुरं स्वरं
घ्नन्त्याः कराभ्यामुर उच्चकैरपि ।
प्रविश्य राज्ञी त्वरयात्मजान्तिकं
ददर्श बालं सहसा मृतं सुतम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

तस्याः—उस (दासी) का; तदा—उस समय; आकर्ण्य—सुनकर; भृश-आतुरम्—अत्यन्त कातर एवं क्षुब्ध; स्वरम्—स्वर, आवाज; घ्नन्त्याः—पीट पीटकर; कराभ्याम्—दोनों हाथों से; उरः—छाती; उच्चकैः—तेजी से, जोर जोर से; अपि—भी; प्रविश्य—घुस कर; राज्ञी—रानी; त्वरया—जल्दी जल्दी; आत्मज-अन्तिकम्—अपने पुत्र के निकट; ददर्श—देखा; बालम्—पुत्र को; सहसा—अकस्मात्; मृतम्—मृत, मरा हुआ; सुतम्—पुत्र को।.

अत्यन्त विक्षुब्ध होकर वह धाय अपने दोनों हाथों से अपनी छाती पीटने लगी और आर्तस्वर में जोर-जोर से चिल्लाने लगी। उसकी तेज आवाज सुनकर रानी तुरन्त आ गई और जब वह अपने पुत्र के पास पहुँची, तो देखा कि वह सहसा ही मर चुका है।

पपात भूमौ परिवृद्धया शुचा ।
मुमोह विभ्रष्टशिरोरुहाम्बरा ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

पपात—गिर पड़ी; भूमौ—पृथ्वी पर; परिवृद्धया—अत्यधिक; शुचा—शोक के कारण; मुमोह—मूर्च्छित हो गई; विभ्रष्ट—बिखरे हुए; शिरोरुह—बाल, केश; अम्बरा—तथा वस्त्र।.

अगाध शोक के कारण रानी मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर ऐसे गिर पड़ी कि उस के बाल तथा वस्त्र बिखर गये ।

ततो नृपान्तःपुरवर्तिनो जना
नराश्च नार्यश्च निशम्य रोदनम् ।
आगत्य तुल्यव्यसनाः सुदुःखितास्
ताश्च व्यलीकं रुरुदुः कृतागसः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; नृप—हे राजा; अन्तःपुर-वर्तिनः—रनिवास के सभी वासी; जनाः—सभी व्यक्ति; नराः—पुरुष; च—तथा; नार्यः—स्त्रियाँ; च—भी; निशम्य—सुनकर; रोदनम्—रोना; आगत्य—आकर; तुल्य-व्यसनाः—समान रूप से

संतप्त होकर; सु-दुःखिताः—अत्यधिक विलखती हुई; ताः—वे; च—तथा; व्यलीकम्—झूठमूठ, ढोंग करके; रुरुदुः—रोने लगीं; कृत-आगसः—अपराध करने (विष देने) वाली।

हे राजा परीक्षित! रानी का जोर-जोर से विलखना सुनकर, रनिवास के सभी स्त्री-पुरुष आ पहुँचे। समान रूप से संतप्त होने के कारण रोने लगे। जिन रानियों ने विष दिया था, अपने अपराध को भलीभाँति जानती हुई, वे भी झूठमूठ रोने का ढोंग करने लगीं।

श्रुत्वा मृतं पुत्रमलक्षितान्तकं
विनष्टदृष्टिः प्रपतन्स्खलन्पथि ।
स्नेहानुबन्धैधितया शुचा भृशं
विमूर्च्छितोऽनुप्रकृतिर्द्विजैर्वृतः ॥ ५० ॥
पपात बालस्य स पादमूले
मृतस्य विस्त्रस्तशिरोरुहाम्बरः ।
दीर्घं श्वसन्बाष्पकलोपरोधतो
निरुद्धकण्ठो न शशाक भाषितुम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर; मृतम्—मरा हुआ; पुत्रम्—पुत्र को; अलक्षित-अन्तकम्—मृत्यु का कारण न ज्ञात होने से; विनष्ट-दृष्टिः—ठीक से देख न सकने से; प्रपतन्—लगातार गिरते पड़ते; स्खलन्—लुढ़कते हुए; पथि—मार्ग पर; स्नेह-अनुबन्ध—स्नेह के कारण; एधितया—अत्यधिक बढ़े हुए; शुचा—शोक से; भृशम्—अत्यधिक; विमूर्च्छितः—मूर्च्छित होकर; अनुप्रकृतिः—अपने मंत्रियों तथा अन्य अधिकारियों के साथ; द्विजैः—विद्वान ब्राह्मणों से; वृतः—घिरे हुए; पपात—गिर पड़ा; बालस्य—लड़के के; सः—वह (राजा); पाद-मूले—पाँवों पर; मृतस्य—मृत शरीर के; विस्त्रस्त—बिखरे हुए; शिरोरुह—बाल; अम्बरः—(तथा) वस्त्र; दीर्घम्—लम्बी; श्वसन्—श्वास; बाष्प-कला-उपरोधतः—अश्रुपूरित होकर चिल्लाने से; निरुद्ध-कण्ठः—रुँधी हुई वाणी से; न—नहीं; शशाक—समर्थ था; भाषितुम्—बोलने में।

जब राजा चित्रकेतु ने सुना कि न जाने कैसे उसका पुत्र मर गया है, तो वह प्रायः अन्धासा हो गया। पुत्र के प्रति अगाध स्नेह के कारण उसका विलाप जलती हुई अग्नि के समान बढ़ता गया और रास्ते भर वह भूमि पर लगातार गिरता-पड़ता तथा लुढ़कता हुआ उस मृत बालक को देखने गया। अपने मंत्रियों तथा अन्य अधिकारियों एवं विद्वान ब्राह्मणों से घिरा हुआ वह राजा वहाँ पहुँचा और उस बालक के चरणों पर अचेत होकर गिर पड़ा। उसके बाल तथा वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये। जब दीर्घ श्वास लेते हुए राजा को होश आया तो उसके नेत्र आसुओं से भरे हुए थे और वह बोल नहीं पा रहा था।

पतिं निरीक्ष्योरुशुचार्पितं तदा
मृतं च बालं सुतमेकसन्ततिम् ।
जनस्य राज्ञी प्रकृतेश्च हृद्रुजं
सती दधाना विललाप चित्रधा ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

पतिम्—पति को; निरीक्ष्य—देखकर; उरु—अत्यधिक; शुच—शोक से; अर्पितम्—पीड़ित; तदा—उस समय; मृतम्—मृत; च—तथा; बालम्—बालक को; सुतम्—पुत्र; एक-सन्ततिम्—परिवार के एकलौते पुत्र को; जनस्य—वहाँ पर एकत्रित समस्त पुरुषों का; राज्ञी—रानी; प्रकृतेः च—तथा अधिकारियों और मंत्रियों का; हृत्-रुजम्—हृदय की पीड़ा; सती दधाना—बढ़ती हुई; विललाप—विलाप करने लगी; चित्रधा—अनेक प्रकार से।

जब रानी ने अपने पति राजा चित्रकेतु को अत्यधिक शोकाकुल और अपने एकलौते पुत्र को मरा हुआ देखा तो वह अनेत प्रकार से शोक प्रकट करने लगी। इससे रनिवास के समस्त वासियों, मंत्रियों तथा समस्त ब्राह्मणों के हृदय की व्यथा बढ़ गई।

स्तनद्वयं कुङ्कुमपङ्कमण्डितं
निषिञ्चती साञ्जनबाष्पबिन्दुभिः ।
विकीर्य केशान्विगलत्स्रजः सुतं
शुशोच चित्रं कुररीव सुस्वरम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

स्तन-द्वयम्—दोनों स्तन; कुङ्कुम—कुंकुम चूर्ण से (जिसे स्त्रियाँ अपने स्तनों पर मलती हैं); पङ्क—अंजन; मण्डितम्—सुशोभित; निषिञ्चती—भिगोती हुई; स-अञ्जन—आँख के काजल से मिलकर; बाष्प—आँसुओं के; बिन्दुभिः—बूँदों से; विकीर्य—बिखर कर; केशान्—बाल; विगलत्—गिर रहा था; स्त्रजः—जिस पर पुष्प हार; सुतम्—अपने पुत्र के लिए; शुशोच—विलाप करने लगी; चित्रम्—भाँति-भाँति से; कुररी इव—कुररी पक्षी की तरह; सु-स्वरम्—अत्यन्त मधुर स्वर में।

रानी के सिर को सुशोभित करने वाली फूलों की माला गिर पड़ी और उसके बाल बिखर गये। उसके आँसुओं से नेत्रों में लगा अंजन धुल गया और कुंकुम चूर्ण से लेपित उसके स्तन भीग गये। पुत्र की मृत्यु पर शोक करती हुई उस रानी का दारुण विलाप कुररी पक्षी के आर्त स्वर की तरह लग रहा था।

अहो विधातस्त्वमतीव बालिशो

यस्त्वात्मसृष्ट्यप्रतिरूपमीहसे ।
परे नु जीवत्यपरस्य या मृति-
र्विपर्ययश्चेत्त्वमसि ध्रुवः परः ॥ ५४॥

शब्दार्थ

अहो—ओह (शोक में); विधातः—हे विधाता, ईश्वर; त्वम्—तुम (तू); अतीव—अत्यन्त; बालिशः—मूर्ख; यः—जो; तु—निस्सन्देह; आत्म-सृष्टि—अपनी स्वयं बनाई हुई सृष्टि के; अप्रतिरूपम्—प्रतिकूल; ईहसे—कार्य करते तथा इच्छा करते हैं; परे—पिता या अन्य बड़ा; नु—निस्सन्देह; जीवति—जीवित रहता है; अपरस्य—बाद में जन्म लेने वाले का; या—जो; मृतिः—मृत्यु; विपर्ययः—विपरीत; चेत्—यदि; त्वम्—तुम; असि—हो; ध्रुवः—निस्सन्देह; परः—वैरी, शत्रु।

हे विधाता, हे सृष्टिकर्ता! तू निश्चय ही अपने सृष्टि-कार्य में अनुभव-हीन है क्योंकि पिता के रहते हुए तूने उसके पुत्र की मृत्यु होने दी और इस तरह से अपनी ही सृष्टि के नियमों के विपरीत कार्य किया है। यदि तू नियमभंग करने पर ही तुला है, तो तू निश्चय ही समस्त जीवात्माओं का शत्रु है और निर्दयी है।

तात्पर्य : जब बद्धजीव की पराजय होती है, तो वह इसी प्रकार से विधाता को धिक्कारता है। कभी वह श्रीभगवान् पर कुटिल होने का दोषारोपण करता है क्योंकि कुछ व्यक्ति सुखी हैं और कुछ नहीं। यहाँ पर रानी परमेश्वर को अपने पुत्र की मृत्यु के लिए दोष देती है। सृष्टि के नियमानुसार पिता को पहले मरना चाहिए, तब पुत्र को। यदि परमेश्वर अपनी सनक से इन नियमों को बदल देता है, तो उसे दयालु नहीं माना जा सकता, वरन् उसे मनुष्यों का शत्रु मानना चाहिये। वास्तव में विधाता नहीं, वरन् बद्धजीव ही अनुभवहीन (मूर्ख) है। उसे इसका ज्ञान नहीं है कि सकाम कर्म के सूक्ष्म नियम किस प्रकार कार्य करते हैं। वह इनको जाने बिना अज्ञानतावश पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की आलोचना करता है।

न हि क्रमश्चेदिह मृत्युजन्मनोः
शरीरिणामस्तु तदात्मकर्मभिः ।
यः स्नेहपाशो निजसर्गवृद्धये
स्वयं कृतस्ते तमिमं विवृश्चसि ॥ ५५॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; क्रमः—तिथिक्रम; चेत्—यदि; इह—इस भौतिक जगत में; मृत्यु—मृत्यु; जन्मनोः—तथा जन्म का; शरीरिणाम्—बद्धजावों का जिन्होंने देह धारण करना स्वीकार किया है; अस्तु—हो; तत्—वह; आत्म-कर्मभिः—

अपने अपने कर्मों के फलों के द्वारा; यः—जो; स्नेह-पाशः—स्नेह बन्धन; निज-सर्ग—अपनी सृष्टि; वृद्धये—बढ़ाने के लिए; स्वयम्—अपने आप; कृतः—बनाई हुई; ते—तुम्हारे द्वारा; तम्—उसे; इमम्—यह; विवृश्चसि—तुम काट रहे हो।

हे ईश्वर! आप यह कह सकते हैं कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि पुत्र के जीवनकाल में ही पिता की मृत्यु हो और पिता के जीवन काल में ही पुत्र उत्पन्न हो, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार जीता और मरता है। फिर भी, यदि कर्म इतना प्रबल है कि जन्म तथा मृत्यु उसी पर निर्भर करते हों तो फिर नियन्ता या ईश्वर की आवश्यकता नहीं है? पुनः यदि तू कहे कि नियन्ता की आवश्यकता इसलिए है, क्योंकि माया में कार्य करने की शक्ति नहीं होती, तो कोई यह भी तो कह सकता है कि यदि कर्म के द्वारा तेरे बनाये हुए स्नेह-बंधन टूटते हैं, तो कोई भी संतान को स्नेहपूर्वक नहीं पालेगा वरन् सभी लोग अपनी संतानों की निर्दयता से उपेक्षा करने लगेंगे। चूँकि तूने स्नेह के उन बंधनों को काटा है, जिसके वशीभूत होकर माता-पिता अपनी सन्तान का पालन-पोषण करने के लिए विवश हो जाते हैं, इसलिए तू अनुभवहीन एवं बुद्धिहीन प्रतीत होता है।

तात्पर्य : जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—*कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्ति-भाजाम्*—"जिसने कृष्ण-भक्ति ग्रहण कर रखी है, उसे कर्म फल प्रभावित नहीं कर पाते।" इस श्लोक में 'कर्म' पर अत्यधिक बल दिया गया है, जो कर्म-मीमांसा-दर्शन पर आधारित है। इस दर्शन के अनुसार मनुष्य को अपने कर्म के अनुसार कार्य करना चाहिए और परम नियंता कर्म का फल अवश्य देगा। परमेश्वर द्वारा नियंत्रित होने वाले कर्म के सूक्ष्म नियमों को सामान्य बद्धजीव नहीं समझ सकता। इसलिए कृष्ण का कथन है कि जो यह समझ सकता है कि वे किस प्रकार कार्य करते हैं और इन सूक्ष्म नियमों से प्रत्येक वस्तु पर नियंत्रण रखते हैं वह उनके अनुग्रह से तुरन्त मुक्त हो जाता है। यही *ब्रह्म-संहिता* का कथन है (*कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्ति-भाजाम्*)। मनुष्य को चाहिए कि बिना किसी हिचक के भक्ति करे और ईश्वर की परम इच्छा पर हर काम छोड़ दे। इससे वह इस जन्म में तथा अगले जन्म में सुखी रह सकेगा।

त्वं तात नार्हसि च मां कृपणामनाथां
त्यक्तुं विचक्ष्व पितरं तव शोकतप्तम् ।
अञ्जस्तरेम भवताप्रजदुस्तरं यद्
ध्वान्तं न याह्यकरुणेन यमेन दूरम् ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम्हें; तात—हे पुत्र; न—नहीं; अर्हसि—चाहिए; च—तथा; माम्—मुझ; कृपणाम्—अत्यन्त दीन को; अनाथाम्—रक्षकविहीन, अनाथ को; त्यक्तुम्—छोड़ना; विचक्ष्व—देखो; पितरम्—पिता को; तव—तुम्हारे; शोक-तप्तम्—शोक संतप्त; अञ्जः—सरलतापूर्वक; तरेम—हम पार कर सकते हैं; भवता—तुम्हारे द्वारा; अप्रज-दुस्तरम्—बिना पुत्र के पार करना दुष्कर; यत्—जो; ध्वान्तम्—अंधकार का राज्य; न याहि—दूर मत जाओ; अकरुणेन—निर्दय, क्रूर; यमेन—यमराज के साथ; दूरम्—दूर।

प्यारे बेटे! मैं असहाय एवं अत्यधिक शोकाकुल हूँ? तुम्हें मेरा साथ नहीं छोड़ना चाहिए। तुम अपने शोकाकुल पिता की ओर तो देखो। हम (दोनों) असहाय हैं क्योंकि पुत्र के बिना हमें घोर नरक में यातनाएँ सहनी पड़ेंगी। तुम्हीं एकमात्र सहारा हो जिसके बल पर हम इस अंधकारमय प्रदेश से उबर सकते हैं; अत: मेरी प्रार्थना है कि तुम निर्दयी यमराज के साथ और आगे न जाओ।

तात्पर्य : वैदिक आदेशानुसार मनुष्य को पत्नी स्वीकार करनी चाहिये जिससे वह पुत्र उत्पन्न करके अपने को यमराज के चंगुल से छुड़ा सके। जब तक पितरों को पिंडदान करने के लिए पुत्र नहीं होता, तब तक यमराज के लोक में यातना सहनी पड़ती है। राजा चित्रकेतु यह सोचकर अत्यन्त शोकाकुल था कि उनका पुत्र यमराज के साथ चला जा रहा है, अत: उन्हें पुन: यातना सहनी होगी। ये सूक्ष्म नियम कर्मियों पर लागू होते हैं। यदि मनुष्य भक्त बन जाता है, तो कर्म के नियम उस पर लागू नहीं होते।

उत्तिष्ठ तात त इमे शिशवो वयस्या-
स्त्वामाह्वयन्ति नृपनन्दन संविहर्तुम् ।
सुप्तश्चिरं ह्यशनया च भवान्परीतो
भुङ्क्ष्व स्तनं पिब शुचो हर न: स्वकानाम् ॥ ५७॥

शब्दार्थ

उत्तिष्ठ—उठो; तात—मेरे प्यारे बेटे; ते—वे; इमे—ये सब; शिशवः—बालक; वयस्याः—साथी, संगी; त्वाम्—तुमको; आह्वयन्ति—बुला रहे हैं; नृप-नन्दन—हे राजपुत्र; संविहर्तुम्—तुम्हारे साथ खेलने के लिए; सुप्तः—तुम सोये हुए हो; चिरम्—देर से; हि—निस्सन्देह; अशनया—भूख से; च—भी; भवान्—आप; परीतः—परास्त; भुङ्क्ष्व—खाओ; स्तनम्—(अपनी माँ के) स्तनों को; पिब—पियो; शुचः—शोक; हर—हरो, दूर करो; नः—हमारा; स्वकानाम्—सम्बन्धियों के।

प्यारे बेटे! तुम बहुत देर से सो रहे हो। अब उठ जाओ। तुम्हारे संगी तुम्हें खेलने के लिए बुला रहे हैं। चूँकि तुम्हें बहुत भूख लगी होगी इसलिए उठो, मेरे स्तनों से दूध पिओ और हमारा शोक दूर करो।

नाहं तनूज ददृशे हतमङ्गला ते
मुग्धस्मितं मुदितवीक्षणमाननाब्जम् ।
किं वा गतोऽस्यपुनरन्वयमन्यलोकं
नीतोऽघृणेन न शृणोमि कला गिरस्ते ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैंने; तनू-ज—(मेरे शरीर से उत्पन्न) मेरे प्यारे पुत्र; ददृशे—देखा; हत-मङ्गला—हतभाग्य होने से; ते—तुम्हारा; मुग्ध-स्मितम्—मनोहर हँसी से युक्त; मुदित-वीक्षणम्—बन्द नेत्रों से; आनन-अब्जम्—कमल तुल्य मुख; किं वा—अथवा; गतः—चले गये; असि—हो; अ-पुनः-अन्वयम्—जहां से फिर कोई नहीं लौटता; अन्य-लोकम्—अन्य लोक अथवा यमलोक को; नीतः—ले जाये जाकर; अघृणेन—क्रूर यमराज द्वारा; न—नहीं; शृणोमि—सुनती हूँ; कलाः—अत्यन्त मधुर; गिरः—तोतली बोली; ते—तुम्हारी।

प्रिय पुत्र! मैं सचमुच अभागिनी हूँ क्योंकि मैं अब तुम्हारे मुख पर मन्द हँसी नहीं देख सकती हूं। तुमने सदा के लिए आँखें बन्द कर ली हैं; अतः मैं इस निष्कर्ष पर पहुँची हूँ कि तुम इस लोक से दूसरे लोक में ले जाये गये हो जहाँ से तुम लौट नहीं पाओगे। बेटे! मैं तुम्हारी मनमोहक वाणी अब और आगे नहीं सुन सकती हूँ।

श्रीशुक उवाच
विलपन्त्या मृतं पुत्रमिति चित्रविलापनैः ।
चित्रकेतुर्भृशं तप्तो मुक्तकण्ठो रुरोद ह ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी बोले; विलपन्त्या—विलाप करती पत्नी के साथ; मृतम्—मृत; पुत्रम्—पुत्र के लिए; इति—इस प्रकार; चित्र-विलापनैः—अनेक प्रकार से विलाप करते हुए; चित्रकेतुः—राजा चित्रकेतु; भृशम्—अत्यधिक; तप्तः—व्याकुल; मुक्त-कण्ठः—फूट-फूट कर; रुरोद—रोने लगा; ह—निस्सन्देह।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—इस प्रकार अपने प्रिय पुत्र के लिए विलाप करती हुई अपनी पत्नी के साथ ही राजा चित्रकेतु भी अत्यन्त शोक से संतप्त होकर फूट-फूट कर रोने लगा।

तयोर्विलपतोः सर्वे दम्पत्योस्तदनुव्रताः ।
रुरुदुः स्म नरा नार्यः सर्वमासीदचेतनम् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

तयोः—उन दोनों के; विलपतोः—विलाप करते हुए; सर्वे—सभी; दम्-पत्योः—अपनी पत्नी सहित राजा; तत्-अनुव्रताः—उनके अनुयायी; रुरुदुः—जोर-जोर से रोने लगे; स्म—निस्सन्देह; नराः—पुरुष; नार्यः—नारियाँ, स्त्रियाँ; सर्वम्—समस्त राज्य; आसीत्—हो गया; अचेतनम्—अचेत सा।.

राजा तथा रानी को विलाप करते देखकर उनके समस्त अनुयायी स्त्री तथा पुरुष भी रोने लगे। इस आकस्मिक घटना से राज्य-भर के सभी नागरिक अचेत-से हो गये।

एवं कश्मलमापन्नं नष्टसंज्ञमनायकम् ।
ज्ञात्वाङ्गिरा नाम ऋषिराजगाम सनारदः ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कश्मलम्—वेदना; आपन्नम्—प्राप्त करके; नष्ट—गत, रहित; संज्ञम्—चेतना; अनायकम्—असहाय; ज्ञात्वा—जानकर; अङ्गिराः—अंगिरा; नाम—नामक; ऋषिः—साधु पुरुष; आजगाम—आ गये; स-नारदः—नारद मुनि के साथ।.

जब ऋषि अंगिरा ने समझ लिया कि राजा शोक-समुद्र में मृत-प्राय हो चुका है, तो वे नारद ऋषि के साथ वहाँ गये।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कंन्ध के अन्तर्गत "राजा चित्रकेतु का शोक" नामक चौदहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पन्द्रह

नारद तथा अंगिरा ऋषियों द्वारा राजा चित्रकेतु को उपदेश

इस अध्याय में अंगिरा ऋषि नारद सहित राजा चित्रकेतु को ढाँढस बँधाते हैं। वे दोनों राजा

को अत्यधिक शोक से विमुक्त करने और उसे जीवन के आध्यात्मिक महत्त्व के विषय में उपदेश देने के लिए आये थे।

अंगिरा मुनि तथा नारद मुनि ने बताया कि पिता तथा पुत्र का सम्बन्ध वास्तविक नहीं है; यह माया का प्रदर्शन मात्र है। यह सम्बन्ध न तो पहले था, न भविष्य में रहेगा। काल की व्यवस्था से इस सम्बन्ध का अस्तित्व वर्तमान काल में ही रहता है। मनुष्य को क्षणिक सम्बन्धों के लिए शोक नहीं करना चाहिए। सम्पूर्ण दृश्य जगत क्षणिक है; यद्यपि यह असत्य नहीं है, किन्तु फिर भी यह वास्तविक नहीं है। भगवान् के आदेश से इस संसार में उत्पन्न प्रत्येक वस्तु क्षणभंगुर है। अस्थायी व्यवस्था से पिता के पुत्र उत्पन्न होता है या जीवात्मा तथाकथित पिता का पुत्र बनता है। यह अस्थायी व्यवस्था परमेश्वर द्वारा की जाती है। न तो पिताका, न ही पुत्र का कोई स्वतंत्र अस्तित्व होता है।

जब राजा ने इन ऋषियों का उपदेश सुना तो उसे मिथ्या शोक से राहत मिली और तब उसने उनका परिचय जानना चाहा। उन ऋषियों ने अपना परिचय दिया और उपदेश दिया कि सारे कष्टों की जड़ यह देहात्मबुद्धि है। जब मनुष्य आध्यात्मिक बोध प्राप्त कर लेता है और अपने को परम पुरुष भगवान् को समर्पण कर देता है तब वह सचमुच सुखी हो जाता है। जब मनुष्य भौतिक पदार्थ में सुख की खोज करता है, वह निश्चय ही देह-धारी सम्बन्धों के लिए शोक करता है। आत्म-साक्षात्कार का अर्थ है कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध का आत्म-बोध; ऐसे बोध से मनुष्य के दुखी भौतिक जीवन का अन्त हो जाता है।

श्रीशुक उवाच

ऊचतुर्मृतकोपान्ते पतितं मृतकोपमम् ।
शोकाभिभूतं राजानं बोधयन्तौ सदुक्तिभिः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; ऊचतुः—वे बोले; मृतक—मृत शरीर; उपान्ते—निकट; पतितम्—गिरा हुआ; मृतक-उपमम्—शव के तुल्य; शोक-अभिभूतम्—शोक से अत्यधिक संतप्त; राजानम्—राजा को; बोधयन्तौ—उपदेश देकर; सत्-उक्तिभिः—उपदेशों से, जो क्षणिक नहीं वरन् वास्तविक हैं।.

श्री शुकदेव गोस्वामी बोले—जब राजा चित्रकेतु शोकग्रस्त होकर अपने पुत्र के शव के निकट पड़े मृतप्राय हुए थे तो नारद तथा अंगिरा नामक दो महर्षियों ने उन्हें आध्यात्मिक चेतना के सम्बन्ध में इस प्रकार उपदेश दिया।

कोऽयं स्यात्तव राजेन्द्र भवान्यमनुशोचति ।
त्वं चास्य कतमः सृष्टौ पुरेदानीमतः परम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन; अयम्—यह; स्यात्—है; तव—तुम्हारे लिए; राज-इन्द्र—राजाओं में श्रेष्ठ; भवान्—आप; यम्—जिसको; अनुशोचति—शोक कर रहे हो; त्वम्—तुम; च—और; अस्य—उसका (शव का); कतमः—कौन; सृष्टौ—जन्म में; पुरा—गत; इदानीम्—इस समय; अतः परम्—अतः.

हे राजन्! जिस शव के लिए तुम शोक कर रहे हो उसका तुमसे और तुम्हारा उसके साथ क्या सम्बन्ध है? तुम कह सकते हो कि इस समय तुम पिता हो और वह पुत्र है, किन्तु क्या तुम सोचते हो कि यह सम्बन्ध पहले भी था? क्या सचमुच अब भी यह सम्बन्ध है? क्या यह भविष्य में भी बना रहेगा?

तात्पर्य : नारद तथा अंगिरा मुनि ने जो उपदेश दिये वे मोहग्रस्त बद्धजीव के लिए वास्तविक आध्यात्मिक उपदेश हैं। यह संसार अस्थायी है, किन्तु अपने पूर्वकर्मों के कारण हम यहाँ आते हैं और शरीर धारण करते हैं और समाज, मैत्री, प्रेम, राष्ट्रीयता तथा जन-समूह के रूप में अस्थायी सम्बन्धों की सृष्टि करते हैं, जो मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाते हैं। ये अस्थायी सम्बन्ध न तो भूतकाल में थे और न भविष्य में रहेंगे। अतः वर्तमान समय में ये तथाकथित सम्बन्ध छलावा हैं।

यथा प्रयान्ति संयान्ति स्रोतोवेगेन बालुकाः ।
संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तथा कालेन देहिनः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; प्रयान्ति—विलग होते; संयान्ति—पास पास आते हैं; स्रोत:-वेगेन—लहरों के वेग से; बालुका:—बालू के सूक्ष्म कण; संयुज्यन्ते—परस्पर जुड़ते; वियुज्यन्ते—पृथक् होते हैं; तथा—उसी प्रकार; कालेन—काल के द्वारा; देहिन:—देहधारी जीवात्माएँ।

हे राजन्! जिस प्रकार बालू के छोटे-छोटे कण लहरों के वेग से कभी एक दूसरे के निकट आते हैं और कभी विलग हो जाते हैं, उसी प्रकार से देहधारी जीवात्माएँ काल के वेग से कभी मिलती हैं, तो कभी बिछुड़ जाती हैं।

तात्पर्य : बद्धजीव के अज्ञान का कारण उसकी देहात्मबुद्धि है। यह देह भौतिक है, किन्तु देह के भीतर आत्मा है। यही आत्म-ज्ञान है। दुर्भाग्यवश सांसारिक मोहवश जो व्यक्ति अज्ञान में रहता है, वह देह को ही आत्मा मान लेता है। उसे यह ज्ञात नहीं हो पाता कि देह पदार्थ-स्वरूप है। ये देहें बालू के छोटे-छोटे कणों के समान एक दूसरे के निकट आती और पुन: कालवेग से पृथक् हो जाती हैं। लोग झूठे ही संयोग या वियोग के लिए शोक करते हैं। जब तक वे इसे समझ नहीं लेते तब तक सुख का प्रश्न ही नहीं उठता। अत: *भगवद्गीता* (२.१३) में भगवान् श्रीकृष्ण का सर्वप्रथम उपदेश यही है—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

"जिस प्रकार बद्धजीव को इस देह में क्रम से बालपन, यौवन और वृद्धावस्था की प्राप्ति होती है, उसी तरह मृत्यु होने पर अन्य देह की प्राप्ति होती है। स्वरूपसिद्ध धीर पुरुष इस से मोहित नहीं होता।" हम देह नहीं हैं वरन् हम तो इस देह में बन्दी बने आध्यत्मिक जीव हैं। हमारी वास्तविक रुचि इस सामान्य तथ्य को जान लेने में है। तभी हम आगे आध्यात्मिक उन्नति कर सकते हैं। अन्यथा यदि हम देहात्म-बुद्धि में बने रहते हैं। तो हमारा दयनीय भौतिक अस्तित्व सदा-सर्वदा के लिए बना रहेगा। हम शान्ति तथा सुख के लिए कितना ही राजनीतिक तालमेल, सामाजिक कल्याणकार्य, चिकित्सा-सहायता तथा अन्य कार्यक्रम क्यों न बना लें, यह कभी नहीं चल सकता। हमें एक-एक करके भौतिक जीवन के सभी कष्ट उठाने ही होंगे। इसलिए भौतिक

जीवन को *दु:खालयं शाश्वतं* अर्थात् दुखों का आगार कहा गया है।

यथा धानासु वै धाना भवन्ति न भवन्ति च ।
एवं भूतानि भूतेषु चोदितानीशमायया ॥ ४॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; धानासु—धान के बीजों से; वै—निस्सन्देह; धाना:—अन्न; भवन्ति—उत्पन्न होते हैं; न—नहीं; भवन्ति—उत्पन्न होते हैं; च—भी; एवम्—इस प्रकार; भूतानि—जीवात्माएँ; भूतेषु—अन्य जीवों में; चोदितानि—बाध्य; ईश-मायया—श्रीभगवान् की शक्ति के द्वारा।

जब बीजों को धरती में बोया जाता है, तो वे कभी तो उगते हैं और कभी नहीं उगते। कभी धरती उपजाऊ नहीं रहती जिससे बीजों का बोना निरर्थक हो जाता है। इसी प्रकार परमात्मा की शक्ति से बाध्य होने पर भावी पिता को कभी सन्तान की प्राप्ति होती है, तो कभी गर्भ ही नहीं रहता। अत: मनुष्य को चाहिए कि वह माता-पिता जैसे बनावटी सम्बन्ध के लिए शोक न करे, क्योंकि अन्तत: इसका नियंत्रण परमेश्वर के हाथों में रहता है।

तात्पर्य : वास्तव में महाराज चित्रकेतु को पुत्र प्राप्त ही नहीं होना था। यद्यपि उसने सैकड़ों हजारों स्त्रियों से विवाह किया, किन्तु वे सभी बाँझ निकलीं और उनसे एक भी पुत्र उत्पन्न नहीं हो सका। जब अंगिरा ऋषि राजा से भेंट करने आये तो राजा ने विनय की कि उसे कम से कम एक पुत्र की प्राप्ति हो जाए। अंगिरा ऋषि के आशीर्वाद से, माया ने अनुग्रह करके एक पुत्र प्रदान किया, किन्तु इस बालक को अधिक काल तक जीवित नहीं रहना था। इसलिए अंगिरा ऋषि ने प्रारम्भ में ही राजा से यह कह दिया था कि उसे पुत्र मिलेगा किन्तु वह उसके हर्ष और शोक का कारण बनेगा।

परमात्मा या विधाता की इच्छा नहीं थी कि चित्रकेतु को कोई सन्तान हो। जिस प्रकार भुने हुए अन्न से अन्न नहीं उत्पन्न हो सकता, उसी प्रकार परमेश्वर की इच्छा से नपुंसक पुरुष के कोई सन्तान नहीं हो सकती। कभी कभी नपुंसक पिता और बाँझ माता से भी सन्तान उत्पन्न हो जाती है, तो कभी पुंसत्व को प्राप्त पिता तथा उर्वर माता से भी सन्तान उत्पन्न नहीं हो पाती। निस्सन्देह,

कभी-कभी गर्भनिरोधक विधियों का प्रयोग करने पर भी सन्तान उत्पन्न हो जाती है, जिससे माता-पिता उसे गर्भ में ही मार देते हैं। इस युग में तो भ्रूण-हत्या (गर्भ में ही सन्तान का वध) सर्वसामान्य बन चुकी है। ऐसा क्यों है? गर्भनिरोधक-विधियों के बावजूद भी ऐसा क्यों होता है? कभी-कभी सन्तान क्यों उत्पन्न होती है, जिस से माता पिता को गर्भ में ही उसका वध करना पड़ता है? इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि हमारी तथाकथित वैज्ञानिक ज्ञान की व्यवस्था यह निश्चित नहीं कर पाती कि क्या होने वाला है; जो कुछ भी होता है, वह तो वास्तव में परमेश्वर की इच्छा पर निर्भर करता है। ईश्वर की इच्छा मात्र से हम परिवार, समुदाय तथा व्यक्तित्व जैसी व्यवस्थाओं में स्थित हैं। ये सारी व्यवस्थाएँ माया के अधीन हमारी इच्छाओं के अनुसार ही परमेश्वर द्वारा सम्पन्न होती हैं। अत: भक्तिकाल में मनुष्य को निष्काम होना चाहिए, क्योंकि सब कुछ भगवान् पर ही निर्भर है। *भक्ति रसामृतसिन्धु* (१.१.११) में कहा गया है—

अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यिनावृतम्।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम् भक्तिरुत्तमा॥

"मनुष्य को चाहिये कि सकाम कर्म अथवा मानसिक ऊहापोह से जनित ज्ञान द्वारा भौतिक लाभ-प्राप्ति की इच्छा बिना, अनुकूल भाव से भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेममयी सेवा करे। यही शुद्ध भक्ति कहलाती है।" मनुष्य को चाहिए कि कृष्णभक्ति को बढ़ाने के लिए कर्म करे। अन्य बातों के लिए उसे पूरी तरह परम पुरुष पर निर्भर रहना चाहिए। हमें कभी भी ऐसी योजनाएँ नहीं बनानी चाहिए जिससे हमें अन्तत: उद्विग्न होना पड़े।

वयं च त्वं च ये चेमे तुल्यकालाश्चराचरा: ।
जन्ममृत्योर्यथा पश्चात्प्राङ्नैवमधुनापि भो: ॥५॥

शब्दार्थ

वयम्—हम (बड़े-बड़े साधु तथा मंत्री एवं राजा के अनुयायी); च—तथा; त्वम्—तुम; च—भी; ये—जो; च—भी; इमे—ये; तुल्य-काला:—समकालीन; चर-अचरा:—समस्त स्थावर तथा जंगम; जन्म—जन्म; मृत्यो:—(तथा) मृत्यु;

यथा—जिस प्रकार; पश्चात्—बाद में; प्राक्—पहले; न—नहीं; एवम्—इस प्रकार; अधुना—इस समय; अपि—यद्यपि; भोः—हे राजन्!.

हे राजन्! तुम तथा हम अर्थात् तुम्हारे परामर्शदाता, पत्नियाँ एवं मंत्री और समस्त सम्पूर्ण जगत में इस समय जितने भी स्थावर-जंगम प्राणी हैं, वे सभी क्षणभंगुर हैं। यह स्थिति न तो हमारे जन्म के पूर्व थी और न हमारी मृत्यु के पश्चात् रहेगी। अतः इस समय हमारी स्थिति क्षणिक (अस्थायी) है, यद्यपि वह मिथ्या नहीं है।

तात्पर्य : मायावादी दार्शनिकों का कहना है : *ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या*—ब्रह्म अर्थात् जीव तो सत्य है, किन्तु उसकी वर्तमान दैहिक स्थिति मिथ्या है। वैष्णव दर्शन के अनुसार वर्तमान स्थिति क्षणिक है, मिथ्या नहीं। यह स्वप्न-तुल्य है। मनुष्य के सो जाने से पूर्व स्वप्न का अस्तित्व नहीं होता न ही उसके जग जाने के पश्चात् रहता है। स्वप्न का अस्तित्व तो इन दोनों स्थितियों के मध्य में रहता है, अतः यह अस्थायी होने के कारण मिथ्या है। इसी प्रकार यह समस्त भौतिक सृष्टि जिसमें हमारी अपनी सृष्टि तथा दूसरों की सृष्टियाँ सम्मिलित हैं, अस्थायी हैं। स्वप्न की स्थिति के लिए न तो सोने के पूर्व और न जागने के पश्चात् ही हम शोक व्यक्त करते हैं। स्वप्न की स्थिति को अथवा स्वप्न जैसी स्थिति को हमें वास्तविक नहीं मान लेना चाहिए, न ही उसके लिए शोक करना चाहिए। यही वास्तविक ज्ञान हैं।

भूतैर्भूतानि भूतेशः सृजत्यवति हन्ति च ।
आत्मसृष्टैरस्वतन्त्रैरनपेक्षोऽपि बालवत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

भूतैः—कुछ जीवों से; भूतानि—अन्य जीवात्माओं को; भूत-ईशः—सबके स्वामी, श्रीभगवान्; सृजति—उत्पन्न करता है; अवति—पालन करता है; हन्ति—मारता है; च—भी; आत्म-सृष्टैः—अपने द्वारा उत्पन्न; अस्वतन्त्रैः—पराधीन; अनपेक्षः—(सृष्टि में) न रुचि रखने से; अपि—यद्यपि; बाल-वत्—बालक के समान।.

सबों के स्वामी तथा प्रत्येक वस्तु के मालिक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् निश्चय ही क्षणिक दृश्य जगत में तनिक भी रुचि नहीं रखते। तो भी जिस प्रकार समुद्र के किनारे पर बैठा हुआ बालक अनचाही किसी न किसी वस्तु (घरौंदा) को बनाता है उसी प्रकार से भगवान्

प्रत्येक वस्तु को अपने वश में रखते हुए सृजन, पालन तथा संहार का कार्य करते रहते हैं। वे पिता से पुत्र उत्पन्न कराकर सृष्टि करते हैं, प्रजा के कल्याण हेतु सरकार या राजा नियुक्त करके पालन करते हैं तथा सर्प जैसे माध्यमों से संहार करते हैं। सृजन, पालन तथा संहारकर्ता माध्यमों की कोई स्वतंत्र शक्ति नहीं होती, किन्तु माया के सम्मोहन से वे अपने को कर्त्ता, पालक तथा संहारक मान बैठते हैं।

तात्पर्य : किसी में यह सामर्थ्य नहीं कि वह वास्तव में स्वतंत्र रूप से सृजन, पालन तथा संहार कर सके। अत: *भगवद्गीता* (३.२७) का कथन है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

"प्रकृति के तीन गुणों से भ्रमित होकर मोहग्रस्त जीवात्मा अपने को ही कर्त्ता मान बैठता है, जब कि समस्त कर्म वास्तव में प्रकृति द्वारा सम्पादित होते हैं।" श्रीभगवान् के निर्देश से प्रकृति गुणों के अनुसार जीवात्माओं को सृजन, पालन तथा संहार के लिए प्रेरित करती है। किन्तु परमात्मा तथा उसकी प्रतिनिधि प्रकृति से अनजान रहकर जीवात्मा अपने को कर्त्ता मान बैठता है। वास्तव में वह कर्त्ता है ही नहीं। मनुष्य को परमकर्त्ता परमेश्वर के प्रतिनिधि के रूप में उसकी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। इस समय संसार में जो असन्तोष छाया हुआ है, उसका कारण नेताओं की अविद्या है, जो यह भूल जाते हैं कि श्रीभगवान् ने उन्हें कार्य करने के लिए भेजा है। चूँकि उन्हें ईश्वर ने नियुक्त किया है इसलिए उन्हें चाहिए कि उनसे परामर्श लेकर तदनुसार कार्य करें। परामर्श के लिए भगवद्गीता नामक ग्रन्थ है, जिस में परमेश्वर ने सारे निर्देश दे रखे हैं। अत: जिन्हें ईश्वर ने सृजन, पालन तथा संहार कार्यों के लिए नियुक्त कर रखा है, उन्हें चाहिए कि ईश्वर से परामर्श लेकर उसी के अनुसार कार्य करें। तब प्रत्येक व्यक्ति सन्तुष्ट रहेगा और कोई अव्यवस्था नहीं फैलेगी।

देहेन देहिनो राजन्देहाद्देहोऽभिजायते ।
बीजादेव यथा बीजं देह्यर्थ इव शाश्वतः ॥ ७॥

शब्दार्थ

देहेन—शरीर से; देहिनः—शरीर (माता के) में; राजन्—हे राजन्; देहात्—शरीर से (माता के); देहः—अन्य शरीर; अभिजायते—उत्पन्न होता है; बीजात्—एक बीज से; एव—निस्सन्देह; यथा—जिस प्रकार; बीजम्—अन्य बीज; देही—भौतिक शरीरधारी मनुष्य; अर्थः—भौतिक तत्त्व; इव—सदृश; शाश्वतः—शाश्वत.

हे राजन्! जिस प्रकार एक बीज से दूसरा बीज उत्पन्न होता है, उसी प्रकार एक शरीर (पिता के शरीर) द्वारा अन्य (माता के) शरीर के माध्यम से एक तीसरा (पुत्र का) शरीर उत्पन्न होता है। जैसे भौतिक शरीर के तत्त्व नित्य हैं, वैसे ही इन भौतिक तत्त्वों से प्रकट होने वाली जीवात्मा भी नित्य है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* से यह पता चलता है कि शक्तियाँ दो प्रकार की हैं—उत्कृष्ट (परा) शक्ति तथा निकृष्ट (अपरा) शक्ति। निकृष्ट शक्ति के अन्तर्गत पाँच स्थूल तथा तीन सूक्ष्म भौतिक तत्त्व आते हैं। जीवात्मा जो उत्कृष्ट शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है इन्हीं तत्त्वों के द्वारा भौतिक शक्ति की देख रेख में विभिन्न शरीरों में प्रकट होती है। वास्तव में भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियाँ—पदार्थ तथा आत्मा—नित्य रूप में श्रीभगवान् की शक्तियाँ हैं। शक्तिमय तत्त्व परम पुरुष हैं। चूँकि आध्यात्मिक शक्ति अर्थात् जीव परमात्मा का अंश है और इस भौतिक जगत का भोग करना चाहता है इसलिए ईश्वर उसे छूट देता है कि वह विभिन्न शरीर धारण करके विभिन्न अवस्थाओं में सुख या दुख का भोग करे। वास्तव में यह आध्यात्मिक शक्ति अर्थात् जीवात्मा, परमेश्वर की सृष्टि है। तथाकथित माता तथा पिता का जीव से कुछ लेना-देना नहीं रहता। जीव अपनी रुचि तथा कर्म के फलस्वरूप तथाकथित माता-पिता के माध्यम से विभिन्न शरीर धारण करता है।

देहदेहिविभागोऽयमविवेककृतः पुरा ।
जातिव्यक्तिविभागोऽयं यथा वस्तुनि कल्पितः ॥ ८॥

शब्दार्थ

देह—इस शरीर का; देहि—तथा शरीर धारण करनेवाला; विभागः—विभाजन; अयम्—यह; अविवेक—अविद्या से; कृतः—निर्मित; पुरा—अनादि काल से; जाति—वर्ण या जाति; व्यक्ति—तथा व्यक्ति का; विभागः—विभाजन; अयम्—यह; यथा—जिस प्रकार; वस्तुनि—आदि वस्तु में; कल्पितः—कल्पना किया हुआ।

राष्ट्रीयता तथा व्यक्तिगत सत्ता जैसे सामान्य तथा विशिष्ट विभाजन उन व्यक्तियों की कल्पनाएँ हैं, जो उन्नत ज्ञानी नहीं हैं।

तात्पर्य : वास्तव में दो प्रकार की शक्तियाँ हैं—भौतिक तथा आध्यात्मिक। वे दोनों नित्य हैं क्योंकि उनका उदय परमेश्वर अर्थात् परम सत्य से होता है। चूँकि व्यक्तिगत आत्मा अर्थात् जीवात्मा चिरकाल से अपनी मूल सत्ता को भूल कर विस्मृति में कार्य करना चाहता है, इसलिए वह विभिन्न शरीर धारण करता हुआ राष्ट्रीयता, समुदाय, समाज, प्रजाति आदि अनेक विभागों से जाना जाता है।

श्रीशुक उवाच

एवमाश्वासितो राजा चित्रकेतुर्द्विजोक्तिभिः ।
विमृज्य पाणिना वक्त्रमाधिम्लानमभाषत ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; आश्वासितः—आश्वासन दिये जाने पर, समझाने-बुझाने पर; राजा—राजा; चित्रकेतुः—चित्रकेतु ने; द्विज-उक्तिभिः—(नारद तथा अंगिरा जैसे) ब्राह्मणों के उपदेश से; विमृज्य—पोंछ कर; पाणिना—हाथ से; वक्त्रम्—मुख; आधि-म्लानम्—शोक के कारण मुरझाया; अभाषत—बुद्धिमानी के साथ कहा।

श्री शुकदेव गोस्वामी आगे बोले—नारद तथा अंगिरा द्वारा इस प्रकार समझाये-बुझाये जाने पर राजा चित्रकेतु को ज्ञान के कारण आशा बँधी। राजा अपने हाथ से अपना मुरझाया मुखमण्डल पोंछते हुए कहने लगा।

श्रीराजोवाच

कौ युवां ज्ञानसम्पन्नौ महिष्ठौ च महीयसाम् ।
अवधूतेन वेषेण गूढाविह समागतौ ॥ १० ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा चित्रकेतु बोला; कौ—कौन; युवाम्—तुम दोनों; ज्ञान-सम्पन्नौ—ज्ञान से पूर्ण; महिष्ठौ—सर्वश्रेष्ठ; च—भी; महीयसाम्—अन्य महापुरुषों में; अवधूतेन—अवधूत के; वेषेण—वेष में; गूढौ—छिपे हुए; इह—इस स्थान पर; समागतौ—आये हुए।

राजा चित्रकेतु ने कहा—आप दोनों अपनी पहचान को छुपाए हुए अवधूत वेश में यहाँ

आये हैं, किन्तु मैं देख रहा हूँ कि सभी पुरुषों में आप दोनों परम ज्ञानवान् हैं। आप सब कुछ जानते हैं, अतः समस्त महापुरुषों से भी आप महान् हैं।

चरन्ति ह्यवनौ कामं ब्राह्मणा भगवत्प्रियाः ।
मादृशां ग्राम्यबुद्धीनां बोधायोन्मत्तलिङ्गिनः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

चरन्ति—विचरण करते हैं; हि—निस्सन्देह; अवनौ—पृथ्वी पर; कामम्—इच्छानुसार; ब्राह्मणाः—ब्राह्मण; भगवत्-प्रियाः—श्रीभगवान् के अत्यन्त प्रिय, वैष्णव भी; मा-दृशाम्—मुझ जैसे; ग्राम्य-बुद्धीनाम्—क्षणिक भौतिक चेतना से ग्रस्त; बोधाय—उपदेश करने के लिए; उन्मत्त-लिङ्गिनः—प्रमत्त का-सा वेष बनाये हुए।

श्रीकृष्ण के सर्वाधिक प्रिय सेवक, ब्राह्मणजन, जो वैष्णव पद को प्राप्त हैं, कभी-कभी अवधूतों जैसा वेष बना लेते हैं और हम जैसे भौतिकतावादियों को, जो इन्द्रियतृप्ति में सदैव आसक्त रहते हैं, लाभ पहुँचाने एवं उनकी अविद्या दूर करने के लिए अपनी इच्छानुसार भूमण्डल पर विचरण करते रहते हैं।

कुमारो नारद ऋभुरङ्गिरा देवलोऽसितः ।
अपान्तरतमा व्यासो मार्कण्डेयोऽथ गौतमः ॥ १२ ॥
वसिष्ठो भगवान्रामः कपिलो बादरायणिः ।
दुर्वासा याज्ञवल्क्यश्च जातुकर्णस्तथारुणिः ॥ १३ ॥
रोमशश्च्यवनो दत्त आसुरिः सपतञ्जलिः ।
ऋषिर्वेदशिरा धौम्यो मुनिः पञ्चशिखस्तथा ॥ १४॥
हिरण्यनाभः कौशल्यः श्रुतदेव ऋतध्वजः ।
एते परे च सिद्धेशाश्चरन्ति ज्ञानहेतवः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

कुमारः—सनत्कुमार; नारदः—नारद मुनि; ऋभुः—ऋभु; अङ्गिराः—अंगिरा; देवलः—देवल; असितः—असित; अपान्तरतमाः—अपान्तरतमा, व्यास का पहिले का नाम; व्यासः—व्यास; मार्कण्डेयः—मार्कण्डेय; अथ—तथा; गौतमः—गौतम; वसिष्ठः—वसिष्ठ; भगवान् रामः—परशुराम; कपिलः—कपिल; बादरायणिः—शुकदेव गोस्वामी; दुर्वासाः—दुर्वासा; याज्ञवल्क्यः—याज्ञवाल्क्य; च—भी; जातुकर्णः—जातुकर्ण; तथा—और; अरुणिः—अरुणि; रोमशः—रोमश; च्यवनः—च्यवन; दत्तः—दत्तात्रेय; आसुरिः—आसुरि; स-पतञ्जलिः—पतंजलि ऋषि समेत; ऋषिः—ऋषि; वेद-शिराः—वेदों का प्रमुख; धौम्यः—धौम्य; मुनिः—मुनि; पञ्चशिखः—पंचशिख; तथा—और; हिरण्यनाभः—हिरण्यनाभ; कौशल्यः—कौशल्य; श्रुतदेवः—श्रुतदेव; ऋतध्वजः—ऋतध्वज; एते—ये सभी; परे—अन्य; च—तथा; सिद्ध-ईशाः—योगेश्वर; चरन्ति—विचरण करते हैं; ज्ञान-हेतवः—अत्यन्त विद्वान पुरुष जो सारे संसार में उपदेश देते हैं।

हे महात्माओ! मैंने सुना है कि अविद्या से ग्रस्त मनुष्यों को ज्ञान का उपदेश देने के लिए भूमण्डल-भर में जो महापुरुष विचरण करते रहते हैं उनमें सनत् कुमार, नारद, ऋभु, अंगिरा, देवल, असित, अपान्तरतमा (व्यासदेव), मार्कण्डेय, गौतम, वसिष्ठ, भगवान् परशुराम, कपिल, शुकदेव, दुर्वासा, याज्ञवल्क्य, जातुकर्ण तथा अरुणि हैं। अन्यों के नाम इस प्रकार हैं—रोमश, च्यवन, दत्तात्रेय, आसुरि, पतंजलि, वेदों के प्रधान परम साधु धौम्य, पंचशिख, हिरण्यनाभ, कौशल्य, श्रुतदेव तथा ऋतध्वज। आप अवश्य ही इनमें से हैं।

तात्पर्य : *ज्ञानहेतव:* शब्द अत्यन्त सार्थक है क्योंकि इन श्लोकों में जिन महापुरुषों की सूची दी गई है, वे भूमण्डल पर जनता को पथभ्रष्ट करने के उद्देश्य से नहीं, वरन् वास्तविक ज्ञान का वितरण करने के लिए विचरण करते हैं। ज्ञान के बिना मनुष्य-जीवन वृथा है। मनुष्य-जीवन का अभिप्राय श्रीकृष्ण या ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को जान लेना है। जिसमें इस ज्ञान का अभाव होता है, वह पशु-तुल्य है। श्रीकृष्ण ने स्वयं *भगवद्गीता* (७.१५) में कहा है—

न मां दुष्कृतिनो मूढा: प्रपद्यन्ते नराधमा:।

माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिता:॥

''मनुष्यों में अधम और निम्नतम मूढ़ जिनका ज्ञान मोह द्वारा हर लिया गया है और जो आसुरी स्वभाव धारण किये हुए हैं, ऐसे दुष्ट मेरी शरण नहीं लेते।''

अविद्या है जीवन की देहात्मबुद्धि (*यस्यात्मबुद्धि: कुणपे त्रिधातुके...स एव गोखर:*)। सामान्यत: इस ब्रह्माण्ड में और विशेष रूप से इस भूर्लोक में प्रत्येक मनुष्य सोचता है कि देह तथा आत्मा का अस्तित्व अभिन्न है, अत: आत्म-साक्षात्कार की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु यह सत्य नहीं है। इसलिए यहाँ जिन ब्राह्मणों की सूची दी गई है, वे भक्त होने के कारण विश्व-भर का विचरण करके ऐसे मूढ़ भौतिकतावादियों के हृदय में कृष्णभावना जगाते हैं।

इन श्लोकों में जिन आचार्यों के नाम गिनाये गये हैं, उनका उल्लेख *महाभारत* में हुआ है। पंचशिख शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। जो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय की

बुद्धि से मुक्त है और आत्मा के सूक्ष्म कोशों (आवरणों) से परिचित है, वह पंचशिख कहलाता है। *महाभारत* (शान्ति पर्व, अध्याय २१८.२१९) के अनुसार पंचशिख नामक आचार्य ने मिथिला के राजा महाराज जनक के कुल में जन्म लिया था। सांख्य दर्शनशास्त्री पंचशिखाचार्य को अपने में से एक आचार्य मानते हैं। वास्तविक ज्ञान शरीर के भीतर निवास करने वाले जीव के विषय में है। दुर्भाग्यवश, जीवात्मा अविद्या-वश अपने को शरीर मान लेता है, जिससे उसे हर्ष तथा कष्ट का अनुभव होता है।

तस्माद्युवां ग्राम्यपशोर्मम मूढधियः प्रभू ।
अन्धे तमसि मग्नस्य ज्ञानदीप उदीर्यताम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतः; युवाम्—आप दोनों; ग्राम्य-पशोः—शूकर या कूकर जैसे पशु का; मम—मुझे; मूढ-धियः—अत्यन्त मूर्ख; प्रभू—हे दोनों स्वामियो; अन्धे—गहरे; तमसि—अंधकार में; मग्नस्य—मग्न रहने वाले का; ज्ञान-दीपः—ज्ञान का प्रकाश; उदीर्यताम्—प्रकाशित कीजिये।

चूंकि आप दोनों महापुरुष हैं, अतः मुझे वास्तविक ज्ञान देने में समर्थ हैं। मैं अविद्या के अंधकार में डूबा रहने के कारण शूकर अथवा कूकर जैसे ग्राम्य पशु के समान मूढ़ हूँ। अतः मुझे उबारने के लिए ज्ञान का दीपक प्रज्ज्वलित करें।

तात्पर्य : ज्ञान प्राप्त करने की यही विधि है। मनुष्य को चाहिए कि ऐसे महापुरुषों के चरणारविन्द में समर्पित हो ले जो वास्तविक दिव्य ज्ञान प्रदान कर सकें। इसलिए कहा गया है—*तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्*—"जो जीवन के उच्चादर्श तथा महत्त्व को जानने का इच्छुक है, उसे चाहिए कि प्रामाणिक गुरु के पास पहुँचे और उनकी शरण ग्रहण करे।" जो सचमुच ही अविद्या के अंधकार को दूर करने के लिए ज्ञान अर्जित करना चाहता है, उसे ही गुरु के समीप जाना चाहिए, न तो भौतिक लाभ के लिए, न ही किसी रोग से मुक्ति या चमत्कार प्राप्ति के लिए गुरु के पास जाना चाहिये। गुरु के पास जाने का यह कोई ढंग नहीं है। *तद् विज्ञानार्थम्*—मनुष्य को चाहिए कि दिव्य ज्ञान की प्राप्ति हेतु ही गुरु के पास जाए। दुर्भाग्यवश इस कलि-काल

में ऐसे अनेक धूर्त गुरु हैं, जो अपने शिष्यों को जादू दिखाते हैं और ऐसे अनेक मूढ़ शिष्य हैं, जो भौतिक लाभ हेतु ऐसा जादू देखना पसन्द करते हैं। ऐसे शिष्य अविद्या के अंधकार से बचने के लिए आध्यात्मिक जीवन बिताने में कोई रुचि नहीं रखते। कहा गया है—

ॐ अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

"मैं अज्ञान के गहन अंधकार में उत्पन्न हुआ और मेरे गुरु ने ज्ञान के दीप से मेरी आँखें खोलीं। मैं उनको नमस्कार करता हूँ।" इससे गुरु की परिभाषा प्राप्त होती है। प्रत्येक व्यक्ति अविद्या के अंधकार में है, अतः हर एक को दिव्य ज्ञान से प्रकाशित होने की आवश्यकता है। सच्चा गुरु वही है, जो अपने शिष्य को प्रकाश प्रदान करके इस संसार के अविद्याजनित गहन अंधकार में सड़ने से उबार लेता है।

श्रीअङ्गिरा उवाच
अहं ते पुत्रकामस्य पुत्रदोऽस्म्यङ्गिरा नृप ।
एष ब्रह्मसुतः साक्षान्नारदो भगवानृषिः ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्री-अङ्गिराः उवाच—अंगिरा ऋषि बोले; अहम्—मैं; ते—तुमको; पुत्र-कामस्य—पुत्र की कामना करने वाले; पुत्र-दः—पुत्र देने वाला; अस्मि—हूँ; अङ्गिराः—अंगिरा ऋषि; नृप—हे राजन्; एषः—यह; ब्रह्म-सुतः—भगवान् ब्रह्मा का पुत्र; साक्षात्—प्रत्यक्ष; नारदः—नारद मुनि; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; ऋषिः—साधु।

अंगिरा ने कहा—हे राजन्! जब तुमने पुत्र की कामना की थी तो मैं तुम्हारे पास आया था। दरअसल वही अंगिरा ऋषि हूँ जिसने तुम्हें यह पुत्र दिया था। ये जो तुम्हारे पास हैं, भगवान् ब्रह्मा के प्रत्यक्ष पुत्र, महान् ऋषि नारद हैं।

इत्थं त्वां पुत्रशोकेन मग्नं तमसि दुस्तरे ।
अतदर्हमनुस्मृत्य महापुरुषगोचरम् ॥ १८॥
अनुग्रहाय भवतः प्राप्तावावामिह प्रभो ।
ब्रह्मण्यो भगवद्भक्तो नावासादितुमर्हसि ॥ १९॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; त्वाम्—तुमको; पुत्र-शोकेन—अपने पुत्र के शोक के कारण; मग्नम्—डूबे हुए; तमसि—अंधकार में; दुस्तरे—न पार कर सकने योग्य; अ-तत्-अर्हम्—तुम जैसे पुरुष के लिए उपयुक्त नहीं है; अनुस्मृत्य—स्मरण करने के; महा-पुरुष—श्रीभगवान्; गोचरम्—जो ज्ञानसम्पन्न हैं; अनुग्रहाय—अनुग्रह करने के लिए; भवतः—आपके ऊपर; प्राप्तौ—आये हैं; आवाम्—हम दोनों; इह—इस स्थान पर; प्रभो—हे राजन्; ब्रह्मण्यः—जो परम सत्य को प्राप्त हैं; भगवत्-भक्तः—श्रीभगवान् का उच्च भक्त; न—नहीं; अवासादितुम्—शोक करने के; अर्हसि—योग्य हो।

हे राजन्! तुम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के परम भक्त हो। किसी भौतिक वस्तु की हानि के लिए इस प्रकार शोक करना तुम्हारे लिए उपयुक्त नहीं है। अतः हम दोनों तुम्हें इस मिथ्या शोक से उबारने के लिए आये हैं, जो आप के अविद्या के अंधकार में डूबे रहने के कारण उत्पन्न है। जो आध्यात्मिक ज्ञान से सम्पन्न हैं उनके लिए इस प्रकार से भौतिक लाभ तथा हानि से प्रभावित होना बिल्कुल अवांछनीय है।

तात्पर्य : इस श्लोक में कई शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। *महापुरुष* का अर्थ सिद्ध भक्त तथा श्रीभगवान् दोनों है। *महा* का अर्थ 'परम' तथा *पुरुष* का अर्थ 'पुरुष' या व्यक्ति है। जो व्यक्ति श्रीभगवान् की निरन्तर सेवा करता है, वह *महा-पौरुषिक* कहलाता है। शुकदेव गोस्वामी तथा महाराज परीक्षित को कभी-कभी *महापौरुषिक* कहा गया है। उन्नत भक्त को चाहिए कि वह परम भक्तों की सेवा करते रहने की कामना करे। श्री नरोत्तमदास ठाकुर का गीत है—

तांदेर चरण सेवि भक्त-सने वास

जनमे जनमे हय, एइ अभिलाषा।

भक्त को चाहिए कि परम भक्त की संगति में रहने की सतत अभिलाषा करे और परम्परानुसार ईश्वर की सेवा में संलग्न रहे। मनुष्य को चाहिए कि वृन्दावन के परम गोस्वामियों के उपदेशों के माध्यम से श्री चैतन्य महाप्रभु के सन्देश का प्रसार करें। *यह तांदेर चरण सेवि* कहलाता है। गोस्वामियों के चरणकमलों की सेवा करते हुए भक्तों की संगति करनी चाहिए (*भक्त-सने वास*)। भक्त का यही कार्य है। भक्त को न तो लाभ की कामना करनी चाहिए, न हानि पर शोक करना चाहिए। जब अंगिरा ऋषि तथा नारद ने देखा कि परम भक्त महाराज चित्रकेतु अज्ञान के अंधकार में गिर गया है और अपने पुत्र के भौतिक शरीर के लिये शोक कर रहा है, तो वे अहैतुक अनुग्रह-

वश उसे उपदेश देने पधारे जिससे वह इस अविद्या से बच सके। एक अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द *ब्रह्मण्य* है। कभी-कभी भगवान् की प्रार्थना में *नमो ब्रह्मण्य-देवाय* के रूप में सम्बोधन किया जाता है, जिसका अर्थ है ईश्वर को नमस्कार क्योंकि भक्त लोग उसकी सेवा करते हैं। अत: यह श्लोक बताता है—*ब्रह्मण्यो भगवद्भक्तो नावासादतुम् अर्हसि।* यह परम भक्त का लक्षण है। *ब्रह्मभूत:प्रसन्नात्मा।* एक परम भक्त तथा स्वरूपसिद्ध भक्त को हर्ष या शोक करने का कोई कारण नहीं। वह तो सदैव बद्ध जीवन से परे है।

तदैव ते परं ज्ञानं ददामि गृहमागतः ।
ज्ञात्वान्याभिनिवेशं ते पुत्रमेव ददाम्यहम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तदा—तब; एव—निस्सन्देह; ते—तुमको; परम्—दिव्य; ज्ञानम्—ज्ञान; ददामि—दिया होता; गृहम्—तुम्हारे घर पर; आगतः—आया था; ज्ञात्वा—जानकर; अन्य-अभिनिवेशम्—अन्य बातों में उलझा हुआ; ते—तुम्हारा; पुत्रम्—पुत्र; एव—केवल; ददामि—दिया; अहम्—मैंने।

जिस समय पहले-पहल मैं तुम्हारे घर आया था, उसी समय मैं तुम्हें परम दिव्य ज्ञान देता, किन्तु जब मैंने देखा कि तुम्हारा मन भौतिक वस्तुओं में उलझा हुआ है, तो मैंने तुम्हें केवल एक पुत्र प्रदान किया जो तुम्हारे हर्ष और शोक का कारण बना।

अधुना पुत्रिणां तापो भवतैवानुभूयते ।
एवं दारा गृहा रायो विविधैश्वर्यसम्पदः ॥ २१ ॥
शब्दादयश्च विषयाश्चला राज्यविभूतयः ।
मही राज्यं बलं कोषो भृत्यामात्यसुहृज्जनाः ॥ २२ ॥
सर्वेऽपि शूरसेनेमे शोकमोहभयार्तिदाः ।
गन्धर्वनगरप्रख्याः स्वप्नमायामनोरथाः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अधुना—इस समय; पुत्रिणाम्—पुत्रवानों को; तापः—कष्ट; भवता—आपके द्वारा; एव—निस्सन्देह; अनुभूयते—अनुभव किया जाता है; एवम्—इस प्रकार; दाराः—सुपत्नी; गृहाः—घर; रायः—धन; विविध—नाना प्रकार के; ऐश्वर्य—ऐश्वर्य; सम्पदः—सम्पत्ति; शब्द-आदयः—शब्द इत्यादि; च—तथा; विषयाः—इन्द्रियतृप्ति की वस्तुएँ; चलाः—क्षणिक; राज्य—राज्य का; विभूतयः—ऐश्वर्य; मही—पृथ्वी; राज्यम्—राज्य; बलम्—बल; कोषः—खजाना; भृत्य—नौकर; अमात्य—मंत्री; सुहृत्-जनाः—मित्र; सर्वे—सभी; अपि—निस्सन्देह; शूरसेन—हे शूरसेन के राजा; इमे—ये; शोक—

शोक का; मोह—मोह का; भय—भय का; अर्ति—तथा दुख; दाः—देने वाले; गन्धर्व-नगर-प्रख्याः—गंधर्व नगर (जंगल के मध्य एक बड़ा महल) की माया-दृष्टि से प्रेरित; स्वप्न—स्वप्न; माया—माया; मनोरथाः—तथा कल्पनाएँ।.

हे राजन्! अब तुम्हें ऐसे व्यक्ति के कष्ट का वास्तविक अनुभव हो रहा है, जिसके पुत्र तथा पुत्रियाँ होती हैं। हे सूरसेन देश के राजा! पत्नी, घर, राज्य का ऐश्वर्य, अन्य सम्पत्ति तथा इन्द्रिय अनुभूति के विषय—ये सब इस बात में एक-से हैं, कि वे अनित्य हैं। राज्य, सैनिक, शक्ति, कोष, नौकर, मंत्री, मित्र तथा सम्बन्धी—ये सभी भय, मोह, शोक तथा दुख के कारण हैं। ये गंधर्व-नगर की भाँति हैं, जिसे जंगल के बीच स्थित समझा जाता है, किन्तु जिसका अस्तित्व नहीं होता। चूँकि ये सब वस्तुएँ अनित्य हैं, अतः ये मोह, स्वप्न तथा मनोरथों से श्रेष्ठ नहीं हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में संसार का बन्धन वर्णित है। इस संसार में जीवात्मा के पास अनेक वस्तुएँ होती हैं, यथा—देह, संतान, पत्नी इत्यादि (*देहापत्य कलत्रादिषु*) । मनुष्य ऐसा सोच सकता है कि ये उसे सुरक्षा प्रदान करेंगी किन्तु ऐसा असम्भव है। इतना सब होते हुए भी आत्मा को वर्तमान स्थिति का परित्याग करके दूसरी स्थिति ग्रहण करनी होती है। अगली स्थिति प्रतिकूल हो सकती है, किन्तु यदि अनुकूल भी रहे तो भी उसे इसका परित्याग करके दूसरा शरीर ग्रहण करना होगा। इस प्रकार इस जगत में दुखों का क्रम टूटता नहीं। किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति को यह भली-भाँति समझना चाहिए कि इन वस्तुओं से वह कभी सुखी नहीं रह सकता। मनुष्य को चाहिए कि अपने आध्यात्मिक स्वरूप में स्थित रहकर भक्त के रूप में श्रीभगवान् की सदा सर्वदा सेवा करे। अंगिरा ऋषि तथा नारद मुनि ने महाराज चित्रकेतु को यही उपदेश दिया।

दृश्यमाना विनार्थेन न दृश्यन्ते मनोभवाः ।
कर्मभिर्ध्यायतो नानाकर्माणि मनसोऽभवन् ॥ २४॥

शब्दार्थ

दृश्यमानाः—देखे जाकर; विना—रहित, बिना; अर्थेन—वस्तु या सच्चाई; न—नहीं; दृश्यन्ते—देखे जाते हैं; मनोभवाः—मनोरथ; कर्मभिः—सकाम कर्म के द्वारा; ध्यायतः—चिन्तन करते हुए; नाना—विविध, अनेक; कर्माणि—सकाम कर्म; मनसः—मन से; अभवन्—प्रकट होते हैं।.

स्त्री, संतान तथा सम्पत्ति जैसी दृश्य वस्तुएँ स्वप्न एवं मनोरथों के तुल्य हैं। वास्तव में हम जो कुछ देखते हैं उसका स्थायी अस्तित्व नहीं होता है। वे कभी दिखती हैं, तो कभी नहीं। अपने पूर्वकर्मों के अनुसार हम मनोरथ का सृजन करते हैं और इन्हीं के कारण हम आगे कार्य करते हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक भौतिक वस्तु मानसिक कल्पना (मनोरथ) है, क्योंकि वह कभी दिखती है और कभी नहीं। रात्रि में स्वप्न में हमें बाघ तथा सर्प दिखते हैं, वे सचमुच उपस्थित नहीं रहते, किन्तु हम स्वप्न में देखी उन वस्तुओं से भयभीत होते हैं क्योंकि उनसे हम प्रभावित होते हैं, हर भौतिक पदार्थ एक स्वप्न की भाँति है, क्योंकि वास्तव में उनका स्थायी अस्तित्व नहीं होता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अपने भाष्य में इसका अर्थ इस प्रकार लिखा है—अर्थेन व्याघ्र-सर्पादिना विनैव दृश्यमाना: स्वप्नादि-भंगे सति न दृश्यन्ते तद् एवं दारादयोऽवास्तव-वस्तु-भूता: स्वप्नादयोऽवस्तुभूताश्च सर्वे मनोभवा: मनोवासना जन्यत्वान् मनोभवा:। रात्रि में स्वप्न में बाघ तथा सर्प देखे जाते हैं, किन्तु ज्योंही स्वप्न भंग होता है, तो उनका अस्तित्व नहीं रह पाता। इसी प्रकार यह भौतिक जगत भी हमारे मनोरथों की सृष्टि है। हम इस जगत में भौतिक साधनों का उपभोग करने आये हैं और अपने मनोरथों के द्वारा हम भोग की अनेकानेक वस्तुएँ खोज लेते हैं क्योंकि हमारा मन इन भौतिक वस्तुओं में निरन्तर मग्न हो जाता है। यही कारण है कि हमें विविध शरीर धारण करने पड़ते हैं। अपने मनोरथों के अनुसार हम नाना प्रकार की सफलताओं की इच्छा करते हुए अनेक प्रकार से कार्य करते रहते हैं और भगवान् के आदेश तथा प्रकृति के द्वारा हमें मनवांछित फल प्राप्त होता है (कर्मणा दैव-नेत्रेण)। इस प्रकार हम अधिकाधिक भौतिक मनोरथों में उलझे रहते हैं। इस भौतिक जगत में हमारी विपदा का यही कारण है। एक प्रकार के कार्य से हम दूसरे कार्य पैदा करते हैं और ये सब हमारे मनोरथों के प्रतिफल हैं।

अयं हि देहिनो देहो द्रव्यज्ञानक्रियात्मक: ।

देहिनो विविधक्लेशसन्तापकृदुदाहृतः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

अयम्—यह; हि—निश्चय ही; देहिनः—जीवात्मा का; देहः—शरीर; द्रव्य-ज्ञान-क्रिया-आत्मकः—भौतिक तत्त्वों, ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों समेत; देहिनः—जीवात्मा का; विविध—नाना प्रकार का; क्लेश—कष्ट; सन्ताप—तथा पीड़ा का; कृत्—कारण; उदाहृतः—घोषित किया जाता है।

देहात्मबुद्धि के कारण जीवात्मा अपने शरीर में, जो भौतिक तत्त्वों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा मन समेत पाँच कर्मेन्द्रियों का संपुंज है, मग्न रहता है। मन के कारण जीवात्मा को तीन प्रकार के—अधिभौतिक, अधिदैविक तथा अध्यात्मिक-ताप सहने पड़ते हैं। अतः यह शरीर समस्त दुखों का मूल है।

तात्पर्य : पंचम स्कंध (५.५.४) में ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को उपदेश देते हुए कहा है—*असन्नपि क्लेशद आस देहः*—अनित्य होते हुए भी यह शरीर संसार के समस्त दुखों का कारण है। जैसाकि पिछले श्लोक में बताया जा चुका है, सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि मनोरथ पर आधारित है। मन कभी-कभी हमें सोचने के लिए प्रेरित करता है कि यदि हम एक वाहन (कार) खरीद लें तो हम भौतिक तत्त्वों का यथा पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्नि का लोहे, प्लास्टिक तथा पेट्रोल आदि के मिले जुले रूप से सुखोपभोग कर सकते हैं। पाँच भौतिक तत्त्वों (*पंच-भूत*) तथा आँख, कान और जिव्हा आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों व पाँच कर्मेन्द्रियों तथा हाथ और पांव के बल पर कार्य करने के कारण हम भौतिक स्थिति प्राप्त करने में उलझ जाते हैं। इस प्रकार हमें तापत्रय—*अध्यात्मिक, अधिदैविक तथा अधिभौतिक* सहने होते हैं। मन केन्द्र बिन्दु है क्योंकि उसी से सारी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। ज्योंही वह भौतिक वस्तु मिल जाती है, तो मन पर उसका प्रभाव पड़ता है और हम कष्ट पाते हैं। उदाहरणार्थ, पाँच तत्त्वों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियों के बल पर हम एक बहुत सुन्दर कार बनाते हैं, किन्तु जब किसी दुर्घटना में वह कार नष्ट हो जाती है, तो मन को पीड़ा पहुँचती है, जिसके माध्यम से जीवात्मा को कष्ट होता है।

तथ्य तो यह है कि जीवात्मा मन के साथ सांठ-गांठ करके भौतिक स्थिति उत्पन्न करता है। चूँकि पदार्थ विनाशशील है, अतः भौतिक स्थिति के कारण जीवात्मा कष्ट भोगता है। अन्यथा

जीवात्मा समस्त प्रकार से सभी भौतिक स्थितियों से विरक्त है। जब मनुष्य ब्रह्म पद को प्राप्त होता है, जो आध्यात्मिक जीवन का सत्य है, तो उसे अच्छी तरह पता रहता है कि वह आत्मा है (*अहं ब्रह्मास्मि*) अत: उसे शोक या गर्व प्रभावित नहीं करते। भगवान् ने *भगवद्गीता* (१८.५४) में कहा है—*ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति* ''जो इस प्रकार दिव्य पद पर स्थित होता है उसे तत्काल परब्रह्म की अनुभूति होती है और पूर्णरूपेण प्रसन्न हो जाता है। वह न शोक करता है, न किसी वस्तु की इच्छा रखता है।'' अन्यत्र उन्होंने *भगवद्गीता* (१५.७) में ही कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:।

मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

''इस बद्ध जगत में जीवात्माएँ मेरे ही शाश्वत भिन्न अंश हैं। बद्ध दशा के कारण वे मन समेत छह इन्द्रियों के साथ घोर संघर्ष कर रही हैं।'' जीवात्मा निस्सन्देह भगवान् का अंश रूप है और भौतिक स्थितियों से प्रभावित नहीं होता, किन्तु मन (*मन:*) प्रभावित होता है, अत: इन्द्रियाँ प्रभावित होती हैं और जीवात्मा इस जगत में अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करता रहता है।

तस्मात्स्वस्थेन मनसा विमृश्य गतिमात्मन: ।
द्वैते ध्रुवार्थविश्रम्भं त्यजोपशममाविश ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अत:; स्वस्थेन—स्वस्थ, सतर्क; मनसा—मन से; विमृश्य—विचार करके; गतिम्—वास्तविक स्थिति; आत्मन:—अपनी; द्वैते—द्वैत में; ध्रुव—स्थायी; अर्थ—वस्तु; विश्रम्भम्—विश्वास; त्यज—छोड़ दो; उपशमम्—शान्तिपूर्ण स्थिति; आविश—ग्रहण करो।

अत: हे चित्रकेतु! आत्मा की स्थिति पर ठीक से विचार करो अर्थात् यह समझने का प्रयत्न करो कि तुम कौन हो—शरीर, मन, या आत्मा? यह विचार करो कि तुम कहाँ से आये हो, यह शरीर छोड़कर कहाँ जाओगे और तुम भौतिक शोक के वश में क्यों हो? इस प्रकार तुम अपनी वास्तविक स्थिति जानने का यत्न करो, तभी तुम अनावश्यक आसक्ति से छुटकारा पा सकोगे। तब तुम इस विश्वास का भी परित्याग कर सकोगे कि यह भौतिक

जगत या अन्य कोई वस्तु जिसका श्रीकृष्ण की सेवा से सीधा सम्बन्ध नहीं है, शाश्वत है। इस तरह तुम्हें शान्ति प्राप्ति हो सकेगी।

तात्पर्य : वास्तव में कृष्णभावनामृत आन्दोलन मानव समाज को गम्भीर बनाने का यत्न कर रहा है। दिग्भ्रमित सभ्यता के कारण सभी मनुष्य भौतिकता में उसी प्रकार घुस रहे हैं जैसे कुत्ते तथा बिल्लियाँ। वे सभी प्रकार के कुत्सित एवं पापपूर्ण कर्म करके अधिकाधिक उलझते जाते हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में आत्म-साक्षात्कार सम्मिलित है क्योंकि इसमें सबसे पहले भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा निर्देशित होकर पहले यह समझना होता है कि वह शरीर नहीं वरन् शरीर का स्वामी है। जब यह सीधी सी बात समझ में आ जाती है, तो वह जीवन-लक्ष्य की ओर स्वत:अग्रसर हो सकता है। चूँकि मनुष्यों को जीवन-लक्ष्य प्राप्त करने की शिक्षा नहीं दी जाती इसलिए वे पागल मनुष्यों की तरह कार्य करते हैं और संसार में अधिकाधिक आसक्त होने लगते हैं। पथभ्रष्ट मनुष्य भौतिक स्थिति को नित्य मान बैठता है। उसे चाहिए कि वह भौतिक वस्तुओं के प्रति अपनी श्रद्धा तथा आसक्ति को छोड़ दे। तभी वह गम्भीर तथा शान्त बन सकेगा।

श्रीनारद उवाच

एतां मन्त्रोपनिषदं प्रतीच्छ प्रयतो मम ।
यां धारयन्सप्तरात्राद्द्रष्टा सङ्कर्षणं विभुम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; एताम्—यह; मन्त्र-उपनिषदम्—मंत्र के रूप में उपनिषद् जिससे जीवन का उच्चादर्श प्राप्त किया जा सकता है; प्रतीच्छ—स्वीकार करो; प्रयतः—सावधानीपूर्वक (मृत पुत्र का दाह संस्कार करने के पश्चात्); मम—मुझसे; याम्—जो; धारयन्—स्वीकार करके; सप्त-रात्रात्—सात रात्रियों के बाद; द्रष्टा—तुम देखोगे; सङ्कर्षणम्—संकर्षण, श्रीभगवान्; विभुम्—भगवान् को।

नारद मुनि ने आगे कहा—हे राजन्! तुम एकाग्रचित्त होकर मुझसे अत्यन्त शुभ मंत्र ग्रहण करो। इसे स्वीकार कर लेने के बाद सात रातों में ही तुम साक्षात् भगवान् का दर्शन कर सकोगे।

यत्पादमूलमुपसृत्य नरेन्द्र पूर्वे
शर्वादयो भ्रममिमं द्वितयं विसृज्य ।
सद्यस्तदीयमतुलानधिकं महित्वं
प्रापुर्भवानपि परं न चिरादुपैति ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

यत्-पाद-मूलम्—जिनके (भगवान् संकर्षण के) चरणकमल; उपसृत्य—शरण लेकर; नर-इन्द्र—हे राजन्; पूर्वे—प्राचीन काल में; शर्व-आदयः—भगवान् महादेव जैसे बड़े-बड़े देवता; भ्रमम्—मोह; इमम्—यह; द्वितयम्—द्वैत भाव; विसृज्य—त्याग कर; सद्यः—तुरन्त; तदीयम्—उसका; अतुल—अद्वितीय; अनधिकम्—अलंघ्य; महित्वम्—यश; प्रापुः—प्राप्त किया; भवान्—आप; अपि—भी; परम्—परम धाम; न—नहीं; चिरात्—बहुत काल बाद; उपैति—प्राप्त कर लोगे।.

हे राजन्! प्राचीनकाल में भगवान् शिव तथा अन्य देवताओं ने संकर्षण के चरणारविन्द की शरण ली थी। इस प्रकार वे द्वैत-मोह से तुरन्त मुक्त हो गये और उन्होंने आध्यात्मिक जीवन में अद्वितीय तथा अलंघ्य यश प्राप्त किया। तुम शीघ्र ठीक वैसा ही पद प्राप्त करोगे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध के अन्तर्गत "नारद तथा अंगिरा द्वारा राजा चित्रकेतु को उपदेश" नामक पन्द्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सोलह

राजा चित्रकेतु की परमेश्वर से भेंट

इस अध्याय में बताया गया है कि किस प्रकार चित्रकेतु अपने मृत पुत्र से बातें कर सका और उससे जीवन के सत्य के सम्बन्ध में बातें सुन सका। जब चित्रकेतु शान्त हुआ तो नारद मुनि ने उसे एक मंत्र दिया जिसके जप से वह संकर्षण के चरणारविन्द में शरण प्राप्त कर सका।

जीवात्मा नित्य है। न तो उसका जन्म होता है और न मृत्यु होती है (*न हन्यते हन्यमाने शरीरे*)। अपने कर्म-बन्धनों के फल के अनुसार मनुष्य विभिन्न योनियों यथा पक्षी, पशु, वृक्ष, मनुष्य, देवता इत्यादि के अन्तर्गत जन्म लेता है और विविध शरीरों में चक्कर लगाता रहता है। कुछ काल के लिए वह पुत्र या पिता जैसे झूठे नाते के लिए विशेष शरीर धारण करता है। इसी भौतिक जगत में मित्रों, सम्बन्धियों अथवा शत्रुओं के साथ हमारे जितने नाते हैं, वे द्वैतपूर्ण हैं जिनमें मोह

के कारण वह सुखा तथी दुखी होता रहता है। वास्तविक जीवात्मा तो आध्यात्मिक आत्मा है, जो ईश्वर का भिन्न-अंश है और द्वैत संसार से उसका कोई सरोकार नहीं होता। इसलिए नारद मुनि ने चित्रकेतु को उपदेश दिया कि वह अपने तथाकथित पुत्र की मृत्यु पर शोक न करे।

जब चित्रकेतु तथा उसकी पत्नी ने अपने मृत पुत्र से सारे उपदेश सुने तो उनकी समझ में आया कि इस संसार के सारे नाते ही दुख के कारण हैं। जिन रानियों ने कृतद्युति के पुत्र को विष दिया था वे अत्यन्त लज्जित हुईं। उन्होंने शिशु-हत्या का जो जघन्य अपराध किया था उसके लिए प्रायश्चित्त किया और पुत्र-प्राप्ति की अपनी-अपनी कामनाएँ त्याग दीं। तत्पश्चात् नारद मुनि ने नारायण की स्तुति की, जो चतुर्व्यूह रूप में विद्यमान हैं। उन्होंने चित्रकेतु को भौतिक प्रकृति के स्वामी तथा प्रत्येक वस्तु के कर्ता, पालक एवं संहारक परमेश्वर के सम्बन्ध में उपदेश दिया। राजा चित्रकेतु को उपदेश देने के बाद वे ब्रह्मलोक वापस चले गये। परम सत्य के सम्बन्ध में दिये गये ये उपदेश *महाविद्या* के नाम से प्रसिद्ध हैं। नारद मुनि से दीक्षा लेने के पश्चात् राजा चित्रकेतु ने *महाविद्या* का जप किया और एक सप्ताह के बाद चार कुमारों से घिरे हुए भगवान् संकर्षण ने उसे दर्शन दिया। भगवान् ने सुन्दर नीला वस्त्र धारण कर रखा था। वे मुकुट तथा स्वर्णाभूषणों से सुशोभित थे। उनका मुख-मण्डल अत्यन्त प्रसन्न प्रतीत हो रहा था। भगवान् संकर्षण को चित्रकेतु ने नमस्कार किया और फिर उनकी अर्चना की।

अपनी प्रार्थना में चित्रकेतु ने कहा कि संकर्षण के रोमों में करोड़ों ब्रह्माण्ड समाये हुए हैं; उनका न तो आदि है और न अन्त, वे अनन्त हैं। भगवान् के भक्त जानते हैं कि वे शाश्वत हैं। भगवान् की पूजा और देवताओं की पूजा में यह अन्तर है कि भगवान् का उपासक भी शाश्वत हो जाता है, किन्तु देवताओं से प्राप्त आशीर्वाद अनित्य होते हैं। बिना भक्त बने कोई पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को नहीं समझ पाता।

जब चित्रकेतु ने अपनी प्रार्थना समाप्त की तो अनन्त परमेश्वर ने चित्रकेतु को अपना ज्ञान प्रदान किया।

श्रीबादरायणिरुवाच

अथ देवऋषी राजन्सम्परेतं नृपात्मजम् ।
दर्शयित्वेति होवाच ज्ञातीनामनुशोचताम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—इस प्रकार; देव-ऋषिः—परम साधु नारद; राजन्—हे राजन्; सम्परेतम्—मृत; नृप-आत्मजम्—राजा के पुत्र को; दर्शयित्वा—दिखलाकर; इति—इस प्रकार; ह—निस्सन्देह; उवाच—बताया; ज्ञातीनाम्—समस्त सम्बन्धियों को; अनुशोचताम्—शोक करने वाले।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे राजा परीक्षित! नारद ऋषि ने अपनी योगशक्ति से शोकाकुल स्वजनों के समक्ष उस पुत्र को ला दिया और फिर वे इस प्रकार बोले।

श्रीनारद उवाच

जीवात्मन्पश्य भद्रं ते मातरं पितरं च ते ।
सुहृदो बान्धवास्तप्ताः शुचा त्वत्कृतया भृशम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; जीव-आत्मन्—हे जीवात्मा; पश्य—देखो; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारे; मातरम्—माता; पितरम्—पिता; च—तथा; ते—तुम्हारे; सुहृदः—मित्र; बान्धवाः—सम्बन्धी; तप्ताः—संतप्त, दुखी; शुचा—शोक से; त्वत्-कृतया—तुम्हारे कारण; भृशम्—अत्यधिक।

श्री नारद मुनि ने कहा—हे जीवात्मा! तुम्हारा कल्याण हो। जरा अपने माता-पिता को तो देखो। तुम्हारे चले जाने (मरने) से तुम्हारे समस्त मित्र तथा सम्बन्धी शोकाकुल हैं।

कलेवरं स्वमाविश्य शेषमायुः सुहृद्वृतः ।
भुङ्क्ष्व भोगान्पितृप्रत्तानधितिष्ठ नृपासनम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

कलेवरम्—शरीर में; स्वम्—अपना; आविश्य—प्रवेश करके; शेषम्—शेष, बाकी; आयुः—जीवन अवधि; सुहृत्-वृतः—अपने मित्र तथा सम्बन्धियों से घिरे हुए; भुङ्क्ष्व—भोग करो; भोगान्—समस्त भोग्य ऐश्वर्य; पितृ—अपने पिता द्वारा; प्रत्तान्—प्रदत्त; अधितिष्ठ—स्वीकार करो; नृप-आसनम्—राजसिंहासन को।

तुम असमय ही मरे थे इसलिए तुम्हारी आयु अब भी शेष है। अतः तुम अपने शरीर में पुनः प्रवेश करके अपने मित्रों तथा स्वजनों की संगति में शेष जीवन का भोग करो। अपने पिता द्वारा प्रदत्त यह समस्त ऐश्वर्य तथा राजसिंहासन स्वीकार करो।

जीव उवाच

कस्मिञ्जन्मन्यमी मह्यं पितरो मातरोऽभवन् ।
कर्मभिर्भ्राम्यमाणस्य देवतिर्यङ्नृयोनिषु ॥ ४॥

शब्दार्थ

जीवः उवाच—जीवात्मा ने कहा; कस्मिन्—किस; जन्मनि—जन्म में; अमी—ये सब; मह्यम्—मुझको; पितरः—पितृगण; मातरः—माताएँ; अभवन्—थे; कर्मभिः—कर्मफल से; भ्राम्यमाणस्य—भ्रमण करने वालों के; देव-तिर्यक्—देवताओं तथा निम्न पशुओं के; नृ—तथा मनुष्य जाति के; योनिषु—गर्भों में।

नारद मुनि की योगशक्ति से जीवात्मा थोड़े समय के लिए मृत शरीर में पुनः प्रविष्ट हुआ और नारद मुनि के अनुरोध पर इस प्रकार बोला, ''मैं (जीव) अपने कर्म-फलों के अनुसार एक शरीर से दूसरे शरीर में देहान्तर करता रहता हूँ; इस प्रकार कभी देवताओं की योनि में रहता हूँ तो कभी निम्न पशुओं, अथवा वनस्पतियों में और कभी मनुष्य योनि में रहता हूँ। अतः ये किस जन्म में मेरे माता तथा पिता थे? वास्तव में न तो कोई मेरी माता है और न कोई पिता। तो मैं इन दोनों व्यक्तियों को अपने माता-पिता के रूप में कैसे स्वीकार कर सकता हूँ?

तात्पर्य : यहाँ यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जीव भौतिक देह में प्रवेश करता है, जो कि एक यंत्र (मशीन) के तुल्य है, जिसकी रचना पाँच स्थूल तत्त्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि वायु तथा आकाश) तथा तीन सूक्ष्म तत्त्वों (मन, बुद्धि तथा अहंकार) से हुई है। जैसा कि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है, उत्तम तथा अधम-ये दो प्रकार की प्रकृतियाँ हैं और इन दोनों का सम्बन्ध श्रीभगवान् से है। जीवात्मा के कर्म-फल के अनुसार ही जीव विभिन्न प्रकार की भौतिक देहों में प्रवेश करने के लिए बाध्य है।

यहाँ पर वह जीवात्मा महाराज चित्रकेतु तथा रानी कृतद्युति का पुत्र ही माना गया था क्योंकि प्रकृति के नियमानुसार वह राजा तथा रानी द्वारा निर्मित शरीर में प्रविष्ट हुआ था। किन्तु वास्तव में वह उनका पुत्र नहीं था। जीवात्मा तो श्रीभगवान् का पुत्र है और चूँकि वह इस जगत का भोग करना चाहता है, अतः परमेश्वर उसे विभिन्न देहों में प्रविष्ट होने का अवसर प्रदान करते हैं।

जीवात्मा का उस भौतिक देह से कोई सच्चा सम्बन्ध नहीं होता जिसे वह अपने माता-पिता से प्राप्त करता है। वह तो परमात्मा का भिन्न अंश होता है किन्तु विभिन्न देहों में जाने के लिए उसे छूट मिली रहती है। तथाकथित माता-पिता द्वारा प्रदत्त शरीर का वास्तव में इसके तथाकथित सृष्टिकर्ताओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए जीवात्मा ने सीधे नकार दिया कि महाराज चित्रकेतु तथा उसकी पत्नी उसके माता-पिता थे।

बन्धुज्ञात्यरिमध्यस्थमित्रोदासीनविद्विषः ।
सर्व एव हि सर्वेषां भवन्ति क्रमशो मिथः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

बन्धु—दोस्त; ज्ञाति—कुटुम्बी; अरि—शत्रु; मध्यस्थ—बिचौलिए; मित्र—शुभचिन्तक; उदासीन—उदासीन; विद्विषः—अथवा द्वेषी; सर्वे—सभी; एव—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही; सर्वेषाम्—सबों का; भवन्ति—होते हैं; क्रमशः—धीरे-धीरे; मिथः—परस्पर।

यह भौतिक जगत नदी की भाँति प्रवहमान है, जो अपने जीवात्मा को लिये जा रही है और जिसमें सभी लोग समयानुसार मित्र, कुटुम्बी तथा शत्रु बनते रहते हैं। वे उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी तथा कई अन्य प्रकारों से कार्य करते हैं। इतने पर भी कोई किसी से स्थायी रूप से सम्बद्ध नहीं है।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में यह हमारा व्यवहारसिद्ध अनुभव है कि जो व्यक्ति आज किसी का मित्र है, वही कल उसका शत्रु बन जाता है। मित्र अथवा शत्रु, परिजन या बाहरी लोग जैसे सम्बन्ध वास्तव में हमारे भिन्न-भिन्न व्यवहारों से उत्पन्न हैं। चित्रकेतु महाराज अपने मृत पुत्र के लिए शोक कर रहे थे, किन्तु वे चाहते तो इस स्थिति को भिन्न रूप में सोच सकते थे। वे यह सोच सकते थे कि जीवात्मा पिछले जन्म में मेरा शत्रु था, जो अब मेरा पुत्र बनकर उत्पन्न हुआ और मुझे कष्ट पहुँचाने के लिए असमय प्रयाण कर रहा है। तो अपने मृत पुत्र को अपना शत्रु सोचकर वे शोक करने के बजाय अपने शत्रु की मृत्यु पर उल्लसित क्यों नहीं हुए? जैसा कि *भगवद्गीता* (३.२७) में कहा गया है—*प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः*—वास्तव में प्रकृति के गुणों

की संगति से ही सब कुछ घटित होता है। अत: सतोगुण की संगति से जो आज मेरा मित्र है, वही कल रजो तथा तमो गुणों की संगति से मेरा शत्रु बन सकता है। प्रकृति के इन गुणों के कार्यशील होने से ही हम मोहवश अन्यों को मित्र, शत्रु, पुत्र या पिता मान बैठते हैं।

यथा वस्तूनि पण्यानि हेमादीनि ततस्तत: ।
पर्यटन्ति नरेष्वेवं जीवो योनिषु कर्तृषु ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; वस्तूनि—वस्तुएँ; पण्यानि—क्रय-विक्रय के हेतु; हेम-आदीनि—यथा सोना; ततः ततः—यहाँ से वहाँ; पर्यटन्ति—घूमते रहते हैं; नरेषु—मनुष्यों के बीच; एवम्—इस प्रकार; जीवः—जीवात्मा; योनिषु—विभिन्न योनियों में; कर्तृषु—विभिन्न भौतिक पिता के रूपों में।.

जिस प्रकार सोना तथा अन्य व्यापारिक वस्तुएँ समय-समय पर क्रम-विक्रम के कारण लगातार एक स्थान से दूसरे स्थान को स्थानान्तरित होती रहती हैं उसी प्रकार जीवात्मा भी अपने कर्मों के कारण पूरे ब्रह्माण्ड में घूमता रहता है।

तात्पर्य : जैसाकि पहले कहा जा चुका है चित्रकेतु का पुत्र उसका शत्रु था और अब उसे दारुण दुख देने के लिए ही पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ था। निस्सन्देह, पुत्र के असामयिक निधन से पिता को गहरा शोक हुआ। चाहे तो कोई तर्क कर सकता है—"यदि पुत्र राजा का शत्रु था, तो फिर उसके लिए राजा के हृदय में इतना स्नेह क्यों?" इसका उत्तर यह है कि शत्रु के हाथ में किसी की सम्पत्ति चली जाती है, तो वह सम्पत्ति शत्रु की मित्र बन जाती है, वह उसे अपने कार्य के लिए उपयोग में ला सकता है। यही नहीं, यदि चाहे तो वह पहले स्वामी को उसके द्वारा हानि भी पहुँचा सकता है। अत: वह सम्पत्ति दो में से किसी की भी नहीं रहती। सम्पत्ति तो सदा सम्पत्ति रहती है, किन्तु विभिन्न अवस्थाओं में इसे मित्र या शत्रु के रूप में उपयोग में लाया जा सकता है।

जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है, जीवात्मा को जन्म देने वाला न तो कोई पिता है, न माता। जीवात्मा तथाकथित पिता-माता से पृथक् स्वरूप है। प्रकृति के नियमानुसार जीवात्मा पिता

के वीर्य में प्रविष्ट होकर माँ के गर्भ में अन्त: क्षेपण किया जाता है। उसे यह चुनने की छूट नहीं है कि कौन उसका पिता हो। *प्रकृते: क्रियमाणानि*—प्रकृति के नियम उसे बाध्य करके भिन्न-भिन्न माताओं तथा पिताओं के पास भेजते हैं मानो खरीदी तथा बेची जाने वाली कोई सामग्री हो। अत: पिता तथा पुत्र का तथाकथित सम्बन्ध प्रकृति की व्यवस्था है। इसका कोई अर्थ नहीं है, अत: यह मोह कहलाती है।

वही जीवात्मा कभी पशु रूपी माता-पिता की शरण ग्रहण करता है, तो कभी मानव माता-पिता की। कभी कभी वह पक्षियों के मध्य माता-पिता को स्वीकार करता हैं और कभी कभी वह किसी देवता को माता-पिता स्वीकार करता है। लोकों तथा योनियों में प्रकृति के नियमों से बारम्बार प्रताड़ित होकर जीवात्मा ब्रह्माण्ड भर में चक्कर लगाता है। यदि संयोगवश वह किसी भक्त के सम्पर्क में आता है, तो उसका जीवन सुधर जाता है। तब जीवात्मा परम धाम को वापस जाता है। इसलिए श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान जीव।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज॥

जनमे जनमे सबे पिता माता पाय।

कृष्ण गुरु नहिं मिले बज हरि एइ॥

विभिन्न देहों में आत्मा के देहान्तरण से प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक जीवन में, चाहे वह मनुष्य का हो या पशु, वृक्ष या देवता का हो, माता तथा पिता की प्राप्ति करता है। इतना मिलना कठिन नहीं। कठिन तो है परम गुरु तथा श्रीकृष्ण को पा लेना। अत: मनुष्य का कर्तव्य है कि वह कृष्ण के प्रतिनिधि अर्थात् गुरु के सम्पर्क में आने के अवसर को पकड़े। गुरु या आत्म-पिता के पथप्रदर्शन से परम धाम वापस जाना सहज है।

नित्यस्यार्थस्य सम्बन्धो ह्यनित्यो दृश्यते नृषु ।

यावद्यस्य हि सम्बन्धो ममत्वं तावदेव हि ॥ ७॥

शब्दार्थ

नित्यस्य—नित्य; अर्थस्य—वस्तु का; सम्बन्धः—सम्बन्ध; हि—निस्सन्देह; अनित्यः—अनित्य, क्षणिक; दृश्यते—दिखाई पड़ता है; नृषु—मानव समाज में; यावत्—जब तक; यस्य—जिसका; हि—निसन्देह; सम्बन्धः—सम्बन्धः; ममत्वम्—मालिकाना, ममता; तावत्—तब तक; एव—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही।.

कुछ ही जीवात्माएँ मनुष्य योनि में जन्म लेती हैं और शेष दूसरी पशु-योनि में जन्मती हैं। यद्यपि ये दोनों ही जीवात्माएँ हैं, किन्तु इनके सम्बन्ध अस्थायी हैं। कोई पशु किसी मनुष्य के अधिकार में कुछ काल तक रहकर किसी दूसरे के अधिकार में जा सकता है। जब पशु चला जाता है पहले वाले मालिक का स्वामित्व भी चला जाता है। जब तक वह पशु उसके अधिकार में रहता है, उसके प्रति उसका लगाव रहता है, किन्तु उसको बेचते ही सारा लगाव छूट जाता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में दिये गये उदाहरण से स्पष्ट है कि आत्मा का देहान्तरण एक शरीर से दूसरे में होने के साथ ही इस जीवन में भी जीवात्माओं के बीच के सम्बन्ध अस्थायी हैं। चित्रकेतु के पुत्र का नाम हर्षशोक अथवा हर्ष तथा शोक था। जीवात्मा निश्चय ही नित्य है, किन्तु शरीर रूपी अनित्य परिधान से आवृत होने से उसकी अनित्यता प्रकट नहीं होती। *देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा*—''इस शरीर के साथ लगा आत्मा निरन्तर बाल्यपन से तरुणावस्था और फिर बुढ़ापे में जाता रहता है।'' इस प्रकार यह शारीरिक परिधान अस्थायी है। किन्तु जीवात्मा स्थायी है। जिस प्रकार पशु एक स्वामी से दूसरे स्वामी के यहाँ चला जाता है। उसी प्रकार जीवात्मा, जो कुछ काल तक चित्रकेतु के पुत्र रूप में था वही जब अन्य शरीर में प्रविष्ट हो गया तो सारा स्नेह-सम्बन्ध टूट गया। जैसाकि पिछले श्लोक में दिए उदाहरण में कहा गया है, जब कोई व्यापारिक सामग्री किसी के हाथ में रहती है, तो उसकी होती है, किन्तु दूसरे के हाथ में पहुँचते ही वह पराई हो जाती है। तब न तो उसके साथ उसका कोई सम्बन्ध रह जाता है, न ही वह स्नेह और शोक करता है।

एवं योनिगतो जीवः स नित्यो निरहङ्कृतः ।

यावद्यत्रोपलभ्येत तावत्स्वत्वं हि तस्य तत् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; योनि-गतः—किसी विशेष योनि में जाकर; जीवः—जीवात्मा; सः—वह; नित्यः—नित्य, शाश्वत; निरहङ्कृतः—अहंकाररहित; यावत्—जब तक; यत्र—जहाँ; उपलभ्येत—वह पाया जा सकता है; तावत्—तब तक; स्वत्वम्—स्व का ज्ञान; हि—निस्सन्देह; तस्य—उसका; तत्—वह।

भले ही एक जीवात्मा मर्त्यदेहों के सम्बन्धों के कारण दूसरी जीवात्मा से सम्बद्ध जान पड़े, किन्तु जीवात्मा शाश्वत है। वास्तव में शरीर ही जन्मता है और नष्ट होता है, जीवात्मा नहीं। हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि जीवात्मा की उत्पत्ति या मृत्यु होती है। जीवात्मा का तथाकथित माता-पिता से कोई सम्बन्ध नहीं होता। जब तक जीवात्मा अपने पूर्व कर्म के फलस्वरूप किन्हीं माता-पिता का पुत्र बन कर प्रकट होता है तभी तक माता-पिता द्वारा प्रदत्त शरीर से उसका नाता रहता है। इस प्रकार वह अपने को मिथ्या ही उनका पुत्र मानकर अत्यन्त स्नेह जताता है। मरने के बाद यह सम्बन्ध नष्ट हो जाता है। ऐसी परिस्थितियों में मनुष्य को झूठे ही हर्ष तथा शोक में लीन नहीं होना चाहिए।

तात्पर्य : जब जीवात्मा शरीर के अन्दर रहता है, तो वह अपने को झूठे ही शरीर मान बैठता है यद्यपि वास्तव में ऐसा नहीं है। अपने शरीर एवं तथाकथित माता-पिता के साथ उसका सम्बन्ध झूठा रहता है, यह मोह-बुद्धि है। जब तक कोई जीवात्मा की वास्तविकता से अवगत नहीं हो लेता मनुष्य इसी मोह में पड़ा रहता है।

एष नित्योऽव्ययः सूक्ष्म एष सर्वाश्रयः स्वदृक् ।
आत्ममायागुणैर्विश्वमात्मानं सृजते प्रभुः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह जीवात्मा; नित्यः—नित्य, शाश्वत; अव्ययः—अविनाशी; सूक्ष्मः—सूक्ष्म (आँख से न दिखाई पड़ने वाला); एषः—यह जीवात्मा; सर्व-आश्रयः—विभिन्न प्रकार के देहों का कारण; स्व-दृक्—स्वयं-तेज; आत्म-माया-गुणैः—श्रीभगवान् की माया के गुणों द्वारा; विश्वम्—इस भौतिक जगत में; आत्मानम्—अपने आपको; सृजते—प्रकट कर देता है; प्रभुः—स्वामी।

जीवात्मा नित्य तथा अविनाशी है क्योंकि इसका आदि तथा अन्त नहीं है। न तो उसका जन्म होता है, न मृत्यु। वह समस्त प्रकार की देहों का मूल है, तो भी उसकी दैहिक वर्ग में

गिनती नहीं होती। जीवात्मा इतना उच्च है कि परमात्मा के ही समधर्मा है। तो भी, अत्यन्त सूक्ष्म होने से वह बहिरंगा शक्ति द्वारा मोहित होता रहता है और अपनी इच्छाओं के अनुसार अपने लिए विभिन्न देहें उत्पन्न करता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अचिन्त्य-भेदाभेद* दर्शन का वर्णन है। जीवात्मा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के ही समान नित्य है, अन्तर इतना ही है कि परमात्मा विराट है, उससे बड़ा कोई नहीं है न ही उसके समान कोई है, जबकि जीवात्मा सूक्ष्म है। शास्त्रों का कथन है कि जीवात्मा बाल के अग्रभाग के दस-हजारवें भाग के तुल्य है। परमात्मा सर्वव्यापी है (*अण्डान्तरस्थ-परमाणु-चयान्तरस्थम्*)। यदि सापेक्षतया जीवात्मा को सूक्ष्म (अति लघु) मान लिया जाता है, तो प्रश्न उठता है कि फिर सबसे बड़ा (विराट) कौन है? विराट तो श्रीभगवान् हैं और जीवात्मा अति लघु।

जीव की दूसरी विशेषता यह है कि वह माया से *आच्छन्न* हो जाता है। *आत्ममाया गुणैः*—वह श्रीभगवान् की माया से आवृत्त होने वाला है। जीवात्मा ही इस जगत में बद्ध-जीवन के लिए उत्तरदायी है इसीलिए उसे प्रभु (स्वामी) कहा जाता है। यदि वह चाहे तो इस जगत में आ सकता है और चाहे तो भगवान् के धाम को वापस जा सकता है। चूँकि वह भौतिक जगत का सुख उठाना चाहता है इसलिए श्रीभगवान् ने माया के माध्यम से उसे भौतिक शरीर प्रदान किया है। भगवान् कृष्ण ने स्वयं *भगवद्गीता* (१८.६१) में कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

"हे अर्जुन! परमेश्वर प्रत्येक प्राणी के हृदय में बैठा है। वही देहरूपी यंत्र में आरूढ़ सब जीवों को अपनी मायाशक्ति से घुमा रहा है।" परमात्मा जीवात्मा को अवसर प्रदान करता है कि वह अपनी इच्छानुसार इस जगत का सुखोपभोग कर ले, किन्तु साथ ही भगवान् अपनी इच्छा व्यक्त करते हैं कि जीवात्मा समस्त आकांक्षाओं को त्याग कर उनको समर्पण करके परम धाम को वापस

जाए।

जीवात्मा अत्यन्त लघु (सूक्ष्म) है। इस प्रसंग में जीव गोस्वामी का कथन है कि भौतिक वैज्ञानियों के लिए शरीर में जीवात्मा ढूँढ पाना अत्यन्त दुष्कर है यद्यपि हमें विद्वानों से यह ज्ञात है कि जीवात्मा शरीर के भीतर ही है। शरीर जीवात्मा से भिन्न है।

न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियः स्वः परोऽपि वा ।
एकः सर्वधियां द्रष्टा कर्तृणां गुणदोषयोः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

न—न तो; हि—निस्सन्देह; अस्य—जीवात्मा का; अस्ति—है; प्रियः—प्रिय; कश्चित्—कोई; न—न तो; अप्रियः—अप्रिय; स्वः—अपना; परः—पराया; अपि—भी; वा—अथवा; एकः—एक; सर्व-धियाम्—बुद्धि के विभिन्न प्रकारों का; द्रष्टा—देखने वाला; कर्तृणाम्—करने वालों का; गुण-दोषयोः—गुण तथा दोष का, उचित-अनुचित का।

इस जीवात्मा को न तो कोई प्रिय है, न कोई अप्रिय। यह अपने पराये में भेद-भाव नहीं रखता। यह अनन्य है, अर्थात् यह न तो मित्रों तथा शत्रुओं, न ही शुभचिन्तकों या दुराग्रह करने वालों से प्रभावित होता है। यह मनुष्यों के विभिन्न गुणों का मात्र दर्शक अथवा साक्षी है।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, जीवात्मा तथा श्रीभगवान् के गुण एक से हैं, किन्तु जीव सूक्ष्म होने के कारण इन्हें कम, मात्रा में रखता है, जबकि परमात्मा सर्वव्यापी तथा विराट हैं। परमात्मा के न तो मित्र हैं, न शत्रु या सम्बन्धी ही, क्योंकि वे बद्धजीवों की सभी प्रकार की अयोग्यताओं से वे परे हैं। दूसरी ओर वे अपने भक्तों पर अत्यन्त अनुकूल एवं दयालु रहते हैं। वे उन व्यक्तियों से तनिक भी प्रसन्न नहीं होते जो उनके भक्तों से ईर्ष्या करते हैं। *भगवद्गीता* (९.२९) में भगवान् ने स्वयं इसकी पुष्टि की है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽमस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

“मैं न तो किसी से द्वेष करता हूँ और न किसी का पक्षपात; मेरा तो जीवमात्र में सम-भाव

है। परन्तु जो प्राणी भक्तिभाव से मेरी सेवा करते हैं, वे मेरे मित्र हैं और मुझमें ही स्थित हैं और मैं भी उनका मित्र हूँ।'' परमेश्वर के न तो शत्रु हैं न मित्र, किन्तु वे उस भक्त के प्रति अनुकूल हैं, जो उनकी भक्ति में सदा लगा रहता है। इसी प्रकार भगवान् *गीता* (१६.१९) में अन्यत्र कहते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

''वे जो ईर्ष्यालु है और दुराग्रही है उन नराधमों को मैं भवसागर में निरन्तर आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ।'' ईश्वर उनके परम विरुद्ध रहते हैं, जो उनके भक्तों से द्वेष रखते हैं। अपने भक्तों की रक्षा के लिए कभी-कभी ईश्वर को उनके शत्रुओं का वध भी करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, प्रह्लाद महाराज की रक्षा के लिए उन्हें उनके शत्रु हिरण्यकशिपु का वध करना पड़ा यद्यपि उनके द्वारा मारे जाने से उसे मोक्ष मिल गया। चूँकि ईश्वर सबके कार्यों का साक्षी है, अतः वह अपने भक्तों के शत्रुओं के कार्यों को देखता रहता है और उनको दण्ड देने के लिए उद्यत रहता है। किन्तु अन्य जीवात्माओं के कार्यों का वह साक्षी भर रहता है और उन्हें पाप या पुण्य कर्मों के अनुसार फल देता है।

नादत्त आत्मा हि गुणं न दोषं न क्रियाफलम् ।
उदासीनवदासीनः परावरदृगीश्वरः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; आदत्ते—स्वीकार करता है; आत्मा—परमात्मा; हि—निश्चय ही; गुणम्—सुख; न—नहीं; दोषम्—दुख; न—न तो; क्रिया-फलम्—किसी कर्म का फल; उदासीन-वत्—उदासीन पुरुष की तरह; आसीनः—बैठे हुए (हृदय में); पर-अवर-दृक्—कार्य और कारण को देखते हुए; ईश्वरः—परमेश्वर।

कार्य और कारण का स्रष्टा यह आत्मा सकाम कर्मों से जनित सुख तथा दुख को स्वीकार नहीं करता। वह भौतिक देह स्वीकार करने या न करने के लिए परम स्वतंत्र है और भौतिक शरीर न होने के कारण वह सदैव उदासीन या तटस्थ रहता है। जीवात्मा ईश्वर का भिन्न अंश है और सूक्ष्म मात्रा में उनके गुणों को धारण किए रहता है। अतः मनुष्य को शोक

से प्रभावित नहीं होना चाहिए।

तात्पर्य : बद्धजीव के शत्रु तथा मित्र दोनों होते हैं। वह अपनी स्थिति के कारण गुण और दोषों से प्रभावित होता है। किन्तु परमेश्वर तो सदैव दिव्य है। ईश्वर होने से द्वैतता का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अत: यह कहा जा सकता है कि वह अच्छे या बुरे कर्मों के कारणों तथा फलों का साक्षीस्वरूप हृदयों में स्थित रहता है। हमें यह समझ लेना चाहिए कि उदासीन का अर्थ यह नहीं है कि वह क्रियाहीन रहता है। वरन् इसका अर्थ यह है कि वह स्वयं प्रभावित नहीं होता है। उदाहरणार्थ, जब न्यायाधीश के समक्ष दो विरोधी पक्ष उपस्थित होते हैं, तो वह निष्पक्ष (उदासीन) बना रहता है किन्तु वह फिर भी प्रसंगानुसार न्याय करता है। कर्मों के प्रति पूर्णतया उदासीन या निष्पक्ष रहने के लिए हमें परम उदासीन पुरुष के चरणारविन्द की शरण ग्रहण करनी चाहिए।

महाराज चित्रकेतु को यह उपदेश दिया गया कि पुत्र की मृत्यु जैसी दुखदायक घटना के उपस्थित होने पर उदासीन रह पाना असम्भव है। फिर भी चूँकि ईश्वर हर तरह से सन्तुलन करना जानते हैं, अत: सबसे सुगम मार्ग यही है कि उन्हीं पर आश्रित रहा जाये और उन्हीं की भक्ति की जाये। सभी परिस्थितियों में द्वैत-भाव से विचलित नहीं होना चाहिए। जैसा कि *भगवद्गीता* (२.४७) में कहा गया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्माणि॥

''तेरा अधिकार नियत कर्म करने में ही है, कर्मफल में नहीं। तू अपने को कर्मफल का हेतु भी न मान और कर्तव्य न करने में भी आसक्त न हो।'' मनुष्य को चाहिए कि वह भक्ति का उत्तरदायित्व निभाये और कर्मफल के लिए भगवान् पर आश्रित रहे।

श्रीबादरायणिरुवाच
इत्युदीर्य गतो जीवो ज्ञातयस्तस्य ते तदा ।
विस्मिता मुमुचुः शोकं छित्त्वात्मस्नेहशृङ्खलाम् ॥ १२॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उदीर्य—कहकर; गतः—चला गया; जीवः—जीवात्मा (जो महाराज चित्रकेतु के पुत्र रूप में प्रकट हुआ था); ज्ञातयः—सगे-सम्बन्धी; तस्य—उसके; ते—वे; तदा—उस समय; विस्मिताः—चकित; मुमुचुः—त्याग दिया; शोकम्—शोक; छित्त्वा—काट कर; आत्म-स्नेह—सम्बन्ध के कारण स्नेह की; शृङ्खलाम्—लोहे की जंजीर।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—जब महाराज चित्रकेतु के पुत्र रूप में वह बद्धजीव इस प्रकार बोलकर जब चला गया तो चित्रकेतु तथा मृत पुत्र के अन्य सम्बन्धी अत्यन्त विस्मित हुए। तब उन्होंने उसके साथ अपने सम्बन्ध से उत्पन्न स्नेह-बन्धन को काट दिया और शोक का परित्याग कर दिया।

निर्हृत्य ज्ञातयो ज्ञातेर्देहं कृत्वोचिताः क्रियाः ।
तत्यजुर्दुस्त्यजं स्नेहं शोकमोहभयार्तिदम् ॥ १३॥

शब्दार्थ

निर्हृत्य—हटा कर; ज्ञातयः—राजा चित्रकेतु तथा अन्य सम्बन्धी; ज्ञातेः—पुत्र का; देहम्—शरीर; कृत्वा—सम्पन्न करके; उचिताः—समुचित; क्रियाः—क्रियाएँ; तत्यजुः—त्याग दिया; दुस्त्यजम्—दुस्त्यज, छोड़ने में कठिन; स्नेहम्—स्नेह; शोक—शोक; मोह—मोह; भय—डर; अर्ति—तथा दुख; दम्—देने वाला।

मृत बालक के शरीर का दाह-संस्कार तथा यथोचित अनुष्ठान सम्पन्न करने के बाद सम्बन्धियों ने उस स्नेह को भी त्याग दिया जिसके कारण मोह, शोक, भय तथा दुख की प्राप्ति होती है। निस्सन्देह, ऐसे स्नेह को त्याग पाना कठिन है, किन्तु उन्होंने सरलता से परित्याग कर दिया।

बालघ्न्यो व्रीडितास्तत्र बालहत्याहतप्रभाः ।
बालहत्याव्रतं चेरुर्ब्राह्मणैर्यन्निरूपितम् ।
यमुनायां महाराज स्मरन्त्यो द्विजभाषितम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

बाल-घ्न्यः—बालक का वध करने वाली; व्रीडिताः—अत्यन्त लज्जित; तत्र—वहाँ; बाल-हत्या—बालक को मारने के कारण; हत—हीन; प्रभाः—समस्त शारीरिक द्युति; बाल-हत्या-व्रतम्—बालक की हत्या का प्रायश्चित्त्; चेरुः—क्रिया; ब्राह्मणैः—पुरोहितों के द्वारा; यत्—जो; निरूपितम्—कथित; यमुनायाम्—यमुना नदी के तट पर; महा-राज—हे राजा परीक्षित; स्मरन्त्यः—स्मरण करते हुए; द्विज-भाषितम्—ब्राह्मण के द्वारा दिये गये आदेश।

रानी कृतद्युति की सौतें, जिन्होंने बालक को विष दिया था, अत्यन्त लज्जित हुईं और

उनके शरीर कान्तिविहीन हो गये। हे राजन्! शोक करते हुए उन्हें ऋषि अंगिरा के उपदेश स्मरण हो आए और उन्होंने पुत्र उत्पन्न करने की कामना का परित्याग कर दिया। ब्राह्मणों के निर्देशानुसार वे यमुना के तट पर गईं, वहाँ पर स्नान किया और अपने पापकर्मों के लिए प्रायश्चित्त किया।

तात्पर्य : इस श्लोक में *बाल-हत्या-हत-प्रभा:* पद विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। बालहत्या की प्रथा दीर्घकाल से मानव समाज में चली आती रही है, किन्तु उस समय यह बिरले ही की जाती थी। किन्तु आजकल, कलि काल में गर्भपात—भ्रूणहत्या—एक सामान्य बात हो गई है। यहाँ तक कि कभी कभी जन्म के बाद भी बच्चे की हत्या कर दी जाती है। यदि कोई स्त्री ऐसा जघन्य कार्य करती है, वह धीरे धीरे अपने शरीर की कान्ति खो देती है।(*बाल-हत्या-हत-प्रभा:*)। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि जिन स्त्रियों ने बच्चे को विष देने का घोर पापकर्म किया था, वे अत्यधिक लज्जित थीं और उन्हें ब्राह्मणों के आदेशानुसार बालहत्या के लिए प्रायश्चित्त करना पड़ा। यदि किसी स्त्री ने कभी ऐसा दुष्कृत्य किया हो तो उसे प्रायश्चित्त करना होता है, किन्तु आजकल कोई ऐसा नहीं करता। ऐसी दशा में, जो स्त्री बालहत्या की अपराधी होती है उसे इस जीवन में तथा अगले जन्म में दुख भोगना पड़ेगा। इस घटना को सुनकर सत्यनिष्ठ आत्माओं को बालहत्या से विरत होना चाहिए और अपने दुष्कर्मों के लिए गम्भीरतापूर्वक श्रीकृष्ण की भक्ति करनी चाहिए। यदि कोई निरपराध भाव से हरे कृष्ण महामंत्र का जप करता है, तो तुरन्त ही उसके सभी पापकर्मों का प्रायश्चित्त हो जाता है, किन्तु मनुष्य को चाहिए कि ऐसे कर्म पुनःन करे, क्योंकि यह पाप है।

स इत्थं प्रतिबुद्धात्मा चित्रकेतुर्द्विजोक्तिभिः ।
गृहान्धकूपान्निष्क्रान्तः सरःपङ्कादिव द्विपः ॥ १५॥

शब्दार्थ

सः—वह; इत्थम्—इस प्रकार; प्रतिबुद्ध-आत्मा—आत्मज्ञान से भली-भाँति परिचित होकर; चित्रकेतुः—राजा चित्रकेतु; द्विज-उक्तिभिः—परम ब्राह्मणों (अंगिरा तथा नारद मुनि) के आदेश से; गृह-अन्ध-कूपात्—गृहस्थ जीवन के अन्धे कुएँ से; निष्क्रान्तः—बाहर निकल आया; सरः—झील या जलाशय के; पङ्कात्—कीचड़ से; इव—समान; द्विपः—हाथी के।

परम ब्राह्मण अंगिरा तथा नारद के उपदेशों से जाग्रत होकर राजा चित्रकेतु आत्मज्ञान से भलीभाँति अवगत हो गया। जिस प्रकार हाथी कीचड़-युक्त जलाशय से बाहर निकल आता है, वैसे ही राजा चित्रकेतु गृहस्थ जीवन के अंधकूप से बाहर निकल आया।

कालिन्द्यां विधिवत्स्नात्वा कृतपुण्यजलक्रियः ।
मौनेन संयतप्राणो ब्रह्मपुत्राववन्दत ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

कालिन्द्याम्—यमुना नदी में; विधि-वत्—विधिपूर्वक; स्नात्वा—नहा कर; कृत—पूरा करते हुए; पुण्य—पावन; जल-क्रियः—तर्पण, जल देने की क्रिया; मौनेन—गम्भीरतापूर्वक; संयत-प्राणः—मन तथा इन्द्रियों को संयमित करके; ब्रह्म-पुत्रौ—ब्रह्माजी के दोनों पुत्रों (अंगिरा तथा नारद) की; अवन्दत—वन्दना की।

राजा ने यमुना जल में स्नान किया और विधिपूर्वक अपने पितरों तथा देवताओं को जल का अर्घ्य दिया। फिर इन्द्रियों तथा मन को बड़े विकटता से संयमित करते हुए उन्होंने ब्रह्माजी के दोनों पुत्रों (अंगिरा तथा नारद) को नमस्कार किया।

अथ तस्मै प्रपन्नाय भक्ताय प्रयतात्मने ।
भगवान्नारदः प्रीतो विद्यामेतामुवाच ह ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

अथ—तदनन्तर; तस्मै—उस; प्रपन्नाय—शरणागत; भक्ताय—भक्त को; प्रयत-आत्मने—आत्म-संयमी; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; नारदः—नारद; प्रीतः—अत्यधिक प्रसन्न; विद्याम्—दिव्य ज्ञान; एताम्—यह; उवाच—बोले; ह—निस्सन्देह।

तत्पश्चात् आत्मसंयमी तथा शरणागत भक्त चित्रकेतु पर अत्यधिक प्रसन्न होकर सर्वाधिक शक्तिमान मुनि नारद ने निम्नानुस्तर दिव्य उपदेश दिया।

ॐ नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय धीमहि ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च ॥ १८ ॥
नमो विज्ञानमात्राय परमानन्दमूर्तये ।
आत्मारामाय शान्ताय निवृत्तद्वैतदृष्टये ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

ॐ—हे ईश्वर; नमः—नमस्कार है; तुभ्यम्—तुमको; भगवते—श्रीभगवान्; वासुदेवाय—वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण को; धीमहि—ध्यान करने दो; प्रद्युम्नाय—प्रद्युम्न को; अनिरुद्धाय—अनिरुद्ध को; नमः—नमस्कार है; सङ्कर्षणाय—भगवान् संकर्षण को; च—भी; नमः—नमस्कार है; विज्ञान-मात्राय—ज्ञान से पूर्ण रूप को; परम-आनन्द-मूर्तये—दिव्य आनन्द से पूर्ण; आत्म-आरामाय—आत्मनिर्भर (आत्माराम) भगवान् को; शान्ताय—तथा शान्त; निवृत्त-द्वैत-दृष्टये—जिसकी दृष्टि द्वैत से हट गई है, अथवा जो अद्वितीय है।.

[नारद ने चित्रकेतु को निम्नलिखित मंत्र प्रदान किया]। ॐकार (प्रणव) नाम से सम्बोधित किये जाने वाले हे ईश्वर, हे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्! मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ। हे भगवान् वासुदेव! मैं आपका ध्यान करता हूँ। हे भगवान् प्रद्युम्न, भगवान् अनिरुद्ध तथा भगवान् संकर्षण! मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ। हे दिव्य शक्ति के आगार, हे परमानन्द! मैं आत्मनिर्भर (आत्माराम) तथा परम शान्त आपको सादर नमस्कार करता हूँ। हे परम सत्य, अद्वितीय! आप ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् रूप में जाने जाते हैं, अतः आप समस्त ज्ञान के आगार हैं। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे *प्रणवः सर्ववेदेषु*—वैदिक मंत्रों में ॐ अक्षर हैं। दिव्य ज्ञान में भगवान् को प्रणव ॐकार के रूप में सम्बोधित किया जाता है, जो नाद रूप में ईश्वर का प्रतीकात्मक रूप है। *ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।* वासुदेव जो नारायण का अंश है अपने आपको प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा संकर्षण रूप में विस्तारित करते हैं। संकर्षण से नारायण का दूसरा विस्तार होता है और इस नारायण से वासुदेव, प्रद्युम्न, संकर्षण और अनिरुद्ध का विस्तार होता है। संकर्षण तीन पुरुषों के इस समूह के आदि कारण हैं। इनके नाम हैं कारणोदकशायी विष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु। क्षीरोदकशायी विष्णु प्रत्येक ब्रह्माण्ड में श्वेतद्वीप नामक विशेष लोक में अवस्थित हैं। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* में मिलती है—*अण्डान्तरस्थ। अण्ड* शब्द का अर्थ है यह ब्रह्माण्ड। इस ब्रह्माण्ड में श्वेतद्वीप नामक एक लोक है जहाँ क्षीरोदकशायी विष्णु अवस्थित हैं। उन्हीं से इस ब्रह्माण्ड के सारे अवतार उद्भूत हैं।

जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में पुष्टि की गई है श्रीभगवान् के ये समस्त रूप अद्वैत तथा अच्युत हैं—बद्धजीवों की भाँति वे नीचे नहीं गिरते। सामान्य जीवात्मा माया के चंगुल में गिर सकता है, किन्तु

परमात्मा अपने विभिन्न अवतारों तथा रूपों में अच्युत हैं। अत: उनका शरीर बद्धजीव के शरीर से भिन्न होता है।

मात्रा शब्द की व्याख्या *मेदिनीकोश* में इस प्रकार दी हुई है—*मात्रा कर्ण-विभूषायां वित्ते माने परिच्छदे*—अर्थात् मात्रा शब्द का अर्थ विभिन्न संदर्भो में कान का अलंकरण, सम्पत्ति, आदर तथा आवरण का स्वामित्व है। *भगवद्गीता* (२.१४) में कहा गया है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदु:खदा: ।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

"हे कुन्तीपुत्र! इन्द्रिय और विषयों के संयोग से होने वाली सुख-दुख की प्राप्ति सर्दी-गर्मी के आने-जाने के समान ही अनित्य तथा क्षणभंगुर हैं। वे इन्द्रियों की अनुभूति से होती है इसलिए हे अर्जुन! विचलित हुए बिना उसको सहने का अभ्यास कर।" इस बद्ध जीवन में, शरीर वस्त्र की भाँति काम में लाया जाता है। जिस प्रकार हमें गर्मी तथा सर्दी में भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्रों की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार हम बद्धजीव अपनी कामनाओं के ही अनुरूप अपना शरीर बदलते रहते हैं। किन्तु भगवान् का शरीर ज्ञान से पूर्ण होने के कारण इसे किसी प्रकार के आच्छादन (वस्त्र) की आवश्यकता नहीं होती। यह विचार कि श्रीकृष्ण का शरीर भी हमारी ही तरह है—अर्थात् उनके शरीर तथा आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, हमारी नासमझी है। श्रीकृष्ण में ऐसा अन्तर नहीं होता, क्योंकि उनका शरीर ज्ञानमय है। हमें तो भौतिक शरीर इसलिए प्राप्त होता है क्योंकि हममें ज्ञान का अभाव रहता है, किन्तु वासुदेव श्रीकृष्ण ज्ञान से पूरित हैं इसलिए उनके शरीर तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं होता। श्रीकृष्ण को आज से ४ करोड़ वर्ष पूर्व सूर्यदेव से कहे गये वचन याद हैं, किन्तु सामान्य मनुष्य को एक दिन पहले कही गयी बातें याद नहीं रहती हैं। हमारे शरीर तथा श्रीकृष्ण के शरीर में यही अन्तर है। इसलिए ईश्वर को *विज्ञान-मात्राय परमानन्दमूर्तये* कहा गया है।

चूँकि भगवान् का शरीर ज्ञानमय है, अत: वे सदैव दिव्य आनन्द का अनुभव करते रहते हैं।

दरअसल, उनका स्वरूप ही परमानन्द है। इसकी पुष्टि *वेदान्त सूत्र* में हुई है। *आनन्दमयोऽभ्यासात्*। ईश्वर सहज ही आनन्दमय है। जब भी हम श्रीकृष्ण का दर्शन करते हैं, वे सभी परिस्थितियों में आनन्दमय रहते हैं। उन्हें कोई खिन्न नहीं कर सकता। *आत्मारामाय*—उन्हें बाहरी सुख ढूँढने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे आत्म-निर्भर हैं। *शान्ताय*—उन्हें कोई चिन्ता नहीं रहती। जिसे अन्य साधनों से आनन्द खोजना होता है, वह सदैव चिन्ताग्रस्त रहता है। कर्मी, ज्ञानी तथा योगी चिन्ता से पूर्ण रहते हैं, क्योंकि उन्हें कुछ न कुछ चाहिए, किन्तु भक्त को किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं रहती। वह तो परम आनन्दमय भगवान् की सेवा करके ही संतुष्ट रहता है।

निवृत्त-द्वैत-दृष्टये—हमारे बद्ध जीवन में हमारे शरीर में विभिन्न अंग होते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण के विभिन्न अंगों का आभास तो होता है पर उनके शरीर का कोई भी अंग दूसरे अंग से भिन्न नहीं होता। श्रीकृष्ण अपने नेत्रों से देख सकते हैं और नेत्रों के बिना भी देख सकते हैं। अतः *श्वेताश्वतर उपनिषद्* का वचन है—*पश्यत्यचक्षुः*। वे अपने हाथों तथा पाँवों से देख सकते हैं। उन्हें किसी विशेष कार्य को करने के लिए शरीर का कोई विशेष अंग नहीं चाहिए *अंगानि यस्य सकलेन्द्रिय वृत्तिमन्ति*—वे अपने शरीर के किसी भी अंग से कोई भी इच्छित कार्य कर सकते हैं इसलिए वे सर्वशक्तिमान कहलाते हैं।

आत्मानन्दानुभूत्यैव न्यस्तशक्त्यूर्मये नमः ।
हृषीकेशाय महते नमस्तेऽनन्तमूर्तये ॥ २० ॥

शब्दार्थ

आत्म-आनन्द—आपके अपने आनन्द की; अनुभूत्या—अनुभूति से; एव—निश्चय ही; न्यस्त—परित्यक्त; शक्ति-ऊर्मये—भौतिक शक्ति (माया) की लहरें; नमः—नमस्कार; हृषीकेशाय—इन्द्रियों के परम नियामक को; महते—परमात्मा को; नमः—नमस्कार; ते—तुमको; अनन्त—असीम; मूर्तये—जिनका विस्तार (प्रकाश)।.

अपने व्यक्तिगत आनन्द का अनुभव करते हुए आप सदैव भौतिक प्रकृति की लहरों के परे हैं। अतः हे ईश्वर! मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ। आप इन्द्रियों के परम नियामक (प्रेरक) हैं और आपके रूप के प्रकाश (विस्तार) अनन्त हैं। आप परम महान् हैं, अतः मैं

आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक में जीवात्मा और परमात्मा में अन्तर बताया गया है। बद्धजीव तथा ईश्वर के रूपों में अन्तर है, क्योंकि ईश्वर सदा आनन्दमय है, किन्तु जीव सदैव भौतिक संसार के ताप-त्रय के अधीन रहता है। परमेश्वर तो सच्चिदानन्द विग्रह हैं। वे अपने आप से आनन्द प्राप्त करते हैं। उनका शरीर दिव्य सत्त्वमय है, किन्तु बद्धजीव को भौतिक शरीर के कारण अनेक शारीरिक तथा मानसिक व्याधियाँ सताती रहती हैं। बद्धजीव सदैव आसक्ति तथा विरक्ति से पीड़ित रहता है, जबकि ईश्वर इस द्वैतता से सदा मुक्त रहता है। ईश्वर समस्त इन्द्रियों का परम स्वामी है, जबकि बद्धजीव इन्द्रियों द्वारा संचालित होता है। ईश्वर विराट है, जबकि जीवात्मा सूक्ष्मतम है। जीवात्मा को माया की लहरें प्रभावित करती रहती हैं, किन्तु परमेश्वर समस्त कर्मों तथा उनके फलों से परे हैं। परमेश्वर के अनेकानेक विस्तार हैं (*अद्वैतम् अच्युतम् अनादिम् अनन्त-रूपम्*) किन्तु बद्ध जीवात्मा का केवल एक रूप होता है। इतिहास बताता है कि कभी-कभी जीवात्मा योगशक्ति से आठ रूपों में विस्तार कर सकता है, किन्तु ईश्वर के शारिरिक विस्तार अनन्त हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की देहों का कोई वार-पार नहीं है।

वचस्युपरतेऽप्राप्य य एको मनसा सह ।
अनामरूपश्चिन्मात्रः सोऽव्यान्नः सदसत्परः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

वचसि—जब शब्द (वाणी); उपरते—नहीं रहते; अप्राप्य—लक्ष्य न प्राप्त करके; यः—जो; एकः—एक; मनसा—मन के; सह—साथ; अनाम—बिना नाम का; रूपः—अथवा भौतिक रूप; चित्-मात्रः—पूर्णतया आध्यात्मिक; सः—वह; अव्यात्—रक्षा करे; नः—हमारी; सत्-असत्-परः—जो समस्त कारणों का कारण (परम कारण) है।

बद्धजीव की वाणी तथा मन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तक नहीं पहुँच पाते क्योंकि वे नितान्त आत्मस्वरूप, स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों की अवधारणाओं से परे हैं, अतः उन पर भौतिक नाम तथा रूप लागू नहीं होते। निर्गुण ब्रह्म उनके अन्य रूपों में से है। वे अपने आनन्द-स्वरुप से हमारी रक्षा करें।

तात्पर्य : इस श्लोक में निराकार ब्रह्म, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की ज्योति है, वर्णन हुआ है।

यस्मिन्निदं यतश्चेदं तिष्ठत्यप्येति जायते ।
मृण्मयेष्विव मृज्जातिस्तस्मै ते ब्रह्मणे नमः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; इदम्—यह (दृश्य जगत); यतः—जिससे; च—भी; इदम्—यह (दृश्य जगत); तिष्ठति—स्थित है; अप्येति—विलीन होता है; जायते—उत्पन्न होता है; मृत्-मयेषु—मिट्टी से बनी वस्तुओं में; इव—के जैसा; मृत्-जातिः—मिट्टी से जन्मा; तस्मै—उस (ईश्वर); ते—तुमको; ब्रह्मणे—परम कारण; नमः—नमस्कार।

जिस प्रकार मिट्टी के पात्र बनाये जाने के बाद पृथ्वी पर स्थित रहते हैं और तोड़ दिये जाने पर पुनः मिट्टी बन जाते हैं, उसी प्रकार से यह दृश्य जगत परम ब्रह्म द्वारा उत्पन्न किया जाता है, उन्हीं में स्थित रहता है और उन्हीं में विलीन हो जाता है। अतः ब्रह्म के कारण स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम को हमारा सादर नमस्कार है।

तात्पर्य : परमेश्वर इस दृश्य जगत के कारण हैं, वे ही सृष्टि के बाद इसके पालन करने वाले तथा प्रलय के बाद प्रत्येक वस्तु के आगार हैं।

यन्न स्पृशन्ति न विदुर्मनोबुद्धीन्द्रियासवः ।
अन्तर्बहिश्च विततं व्योमवत्तन्नतोऽस्म्यहम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसको; न—नहीं; स्पृशन्ति—छू सकता है; न—नहीं; विदुः—जान सकता है; मनः—मन; बुद्धि—बुद्धि; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; असवः—प्राण; अन्तः—भीतर; बहिः—बाहर; च—भी; विततम्—प्रसारित; व्योम-वत्—आकाश के समान; तत्—उसको; नतः—प्रणत; अस्मि—हूँ; अहम्—मैं।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से प्रादुर्भूत होकर परम ब्रह्म व्योम की तरह विस्तृत हो जाता है। यद्यपि इसको कोई भौतिक पदार्थ स्पर्श नहीं कर सकता, किन्तु यह भीतर तथा बाहर विद्यमान है। तो भी मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा प्राणशक्ति न तो उसका स्पर्श कर सकती हैं, न उसे जान सकती हैं। मैं उनको सादर नमस्कार करता हूँ।

देहेन्द्रियप्राणमनोधियोऽमी
यदंशविद्धाः प्रचरन्ति कर्मसु ।
नैवान्यदा लौहमिवाप्रतप्तं
स्थानेषु तद्द्रष्ट्रपदेशमेति ॥ २४॥

शब्दार्थ

देह—शरीर; इन्द्रिय—इन्द्रिय; प्राण—प्राणशक्ति; मनः—मन; धियः—तथा बुद्धि; अमी—ये सब; यत्-अंश-विद्धाः—ब्रह्म या परमेश्वर की किरणों से प्रभावित; प्रचरन्ति—फैलती हैं; कर्मसु—विभिन्न गतिविधियों में; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; अन्यदा—अन्य अवसरों पर; लौहम्—लोहा; इव—के समान; अप्रतप्तम्—(अग्नि से) अतप्त; स्थानेषु—उन स्थितियों में; तत्—वह; द्रष्टृ-अपदेशम्—किसी दृष्ट वस्तु का नाम; एति—प्राप्त करता है।

जिस प्रकार अग्नि के सम्पर्क से तप्त हुआ लोहा भस्म कर देने में समर्थ है उसी प्रकार शरीर, इन्द्रियाँ, प्राणशक्ति, मन तथा बुद्धि पदार्थ के पिण्ड मात्र होते हुए भी श्रीभगवान् द्वारा चेतना के कणमात्र से पूरित होने पर अपने-अपने कार्य करने लगते हैं। जिस प्रकार अग्नि में तप्त हुए बिना लोहा कुछ भी जला पाने में अशक्त रहता है उसी प्रकार ये शारीरिक इन्द्रियाँ परमेश्वर की कृपादृष्टि के बिना कार्य नहीं कर सकतीं।

तात्पर्य : तपाकर लाल किया गया लोहा जला सकता है, किन्तु वह मूल अग्नि को भस्म नहीं कर सकता। अत: ब्रह्म के सूक्ष्म कण की चेतना परब्रह्म की शक्ति पर पूर्णतया आश्रित है। *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण का कथन है—*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—बद्धजीव मुझी से स्मृति, *ज्ञान* तथा विस्मृति प्राप्त करता है। कार्य करने की शक्ति परमेश्वर से प्राप्त होती है और जब भगवान् शक्ति वापस ले लेते हैं, तो बद्धजीव की इन्द्रियों में कार्य करने की शक्ति नहीं रह जाती। शरीर में पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन के अतिरिक्त पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं, किन्तु वास्तव में ये पदार्थ के खण्डों के सदृश हैं। उदाहरणस्वरूप, मस्तिष्क पदार्थ के अतिरिक्त कुछ नहीं है, किन्तु जब वही श्रीभगवान् की शक्ति से विद्युन्मय हो जाता है, तो कार्य कर सकता है, जिस प्रकार अग्नि के सम्पर्क में आकर लाल होने पर लोहा जला सकने में समर्थ है। हमारे जगते रहने या स्वप्न देखते समय भी मस्तिष्क कार्य कर सकता है, किन्तु हमारे संज्ञाशून्य होने पर यह निष्क्रिय रहता है या प्रगाढ़ निद्रा के समय यह निष्क्रिय रहता है। चूंकि मस्तिष्क पदार्थ का एक पिण्ड है, इसमें कार्य

करने की स्वतंत्र सक्षमता नहीं होती है वह तभी कार्य कर सकता है जब उस पर ब्रह्म या परब्रह्म स्वरूप श्रीभगवान् की कृपादृष्टि होती है। यही वह विधि है, जिससे यह समझा जा सकता है कि परब्रह्म श्रीकृष्ण सर्वत्र व्याप्त हैं। जैसे सूर्य मण्डल में सूर्यदेव की उपस्थिति के कारण धूप दिखती है। परमेश्वर को हृषीकेश कहा जाता है। वे ही इन्द्रियों के एकमात्र संचालक हैं। जब तक उनकी शक्ति प्राप्त नहीं होती, हमारी इन्द्रियाँ कार्य नहीं कर सकतीं। दूसरे शब्दों में, ईश्वर ही एकमात्र द्रष्टा, कर्ता, श्रोता तथा नियन्ता है।

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय महाविभूतिपतये
सकलसात्वतपरिवृढनिकर ।करकमलकुड्मलोपलालितचरणारविन्दयुगल परमपरमेष्ठिन्नमस्ते. ॥
२५॥

शब्दार्थ

ॐ—हे भगवन्; नमः—नमस्कार; भगवते—छः ऐश्वर्यों से पूर्ण ब्रह्म आपको; महा-पुरुषाय—परम भोक्ता; महा-अनुभावाय—परम सिद्ध आत्मा या परमात्मा; महा-विभूति-पतये—समस्त योग-शक्तियों के स्वामी; सकल-सात्वत-परिवृढ—समस्त श्रेष्ठ भक्तों का; निकर—समूह; कर-कमल—कमल रूपी हाथों का; कुड्मल—कलियों का; उपलालित—सेवित; चरण-अरविन्द-युगल—जिनके दोनों चरणकमल; परम—सर्वोच्च; परमे-ष्ठिन्—वैकुण्ठलोक में स्थित; नमः ते—आपको नमस्कार है।.

हे वैकुण्ठलोक में आसीन दिव्य ईश्वर! आपके चरणकमल सदैव श्रेष्ठ-भक्तों के समुदाय के करकमलों के द्वारा चाँपे जाते हैं। आप छः ऐश्वर्यों से पूर्ण श्रीभगवान् हैं। आप पुरुषसूक्त की स्तुतियों में वर्णित परम पुरुष हैं। आप परम पूर्ण, समस्त योग-शक्तियों के स्वरूपसिद्ध स्वामी हैं। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : कहा जाता है परम सत्य तो एक है, किन्तु वह ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् जैसे विविध रूपों में प्रकट होता रहता है। पिछले श्लोकों में परम सत्य के ब्रह्म तथा परमात्मा रूपों का वर्णन हो चुका है। अब यह परम पुरुष के प्रति भक्तियोग में की गई स्तुति है। इस प्रसंग में *सकल-सात्वतपरिवृढ* शब्दों का प्रयोग हुआ है। *सात्वत* शब्द का अर्थ 'भक्तजन' है और *सकल* का अर्थ है "सब मिलकर।" भक्तों के भी चरणकमल होते हैं और वे अपने कर-कमलों से भगवान् के चरणकमलों की सेवा करते हैं। कभी-कभी भक्त भगवान् के चरणकमलों की सेवा में

सक्षम नहीं होते इसलिए भगवान् को *परम-परमेष्ठिन्* कहा गया है। परम पुरुष होते हुए भी वे भक्तों पर अत्यन्त दयालु रहते हैं। भगवान् की सेवा करने के लिए कोई भी योग्य (सक्षम) नहीं है, किन्तु फिर भी यदि भक्त उसके योग्य नहीं होता तो दयालु भगवान् उसके इस विनीत प्रयत्न को स्वीकार कर लेते हैं।

श्रीशुक उवाच
भक्तायैतां प्रपन्नाय विद्यामादिश्य नारदः ।
ययावङ्गिरसा साकं धाम स्वायम्भुवं प्रभो ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; भक्ताय—भक्त को; एताम्—यह; प्रपन्नाय—शरणागत को; विद्याम्—दिव्य ज्ञान; आदिश्य—उपदेश देकर; नारदः—परम साधु नारद; ययौ—चले गये; अङ्गिरसा—परम सन्त अंगिरा; साकम्—के साथ; धाम—सर्वोच्च लोक के लिए; स्वायम्भुवम्—ब्रह्माजी के; प्रभो—हे राजन्।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—चित्रकेतु के पूर्णतः शरणागत होने पर गुरु हो जाने के कारण नारद ने इस स्तुति के द्वारा उसे पूरा पूरा उपदेश दिया। हे राजा परीक्षित! तत्पश्चात् अंगिरा ऋषि सहित नारद मुनि ब्रह्मलोक नामक सर्वोच्च लोक के लिए चल पड़े।

तात्पर्य : जब अंगिरा राजा चित्रकेतु को सर्वप्रथम देखने आये थे तो अपने साथ नारद को नहीं लाये थे। किन्तु चित्रकेतु के पुत्र की मृत्यु के पश्चात् वे नारद को अपने साथ इसलिए ले आये जिससे वे चित्रकेतु को भक्तियोग के सम्बन्ध में उपदेश दे सकें। अन्तर यह था कि प्रारम्भ में चित्रकेतु में वैराग्य वृत्ति नहीं थी, किन्तु पुत्र की मृत्यु के पश्चात् अब वह शोक से अत्यन्त संतप्त था, तो जगत तथा भौतिक सम्पत्ति की असारता के विषय में उपदेश दिये जाने पर उसमें वैराग्य जागृत हुआ। यही अवस्था है, जिसमें भक्तियोग का उपदेश दिया जा सकता है। जब तक मनुष्य भौतिक सुखभोग में आसक्त रहता है तब तक भक्तियोग समझ में नहीं आता। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (२.४४) में की गई है—

भोगेश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

"जो मनुष्य विषयभोग तथा लौकिक ऐश्वर्य में गहरी आसक्ति के कारण इस प्रकार मोहित हो रहे हैं उनके चित्त में भगवद्भक्ति का दृढ़ निश्चय नहीं हो पाता।" जब तक मनुष्य विषयभोग के प्रति अत्यधिक आसक्त रहता है तब तक उसका मन भक्ति जैसे विषय पर केन्द्रित नहीं हो पाता।

इस समय पश्चिमी देशों में कृष्णभावनामृत आन्दोलन सफलतापूर्वक इसलिए अग्रसर हो रहा है क्योंकि पश्चिम के युवक वैराग्य की अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं। वे समस्त भौतिक सुख से एक प्रकार से ऊब चुके हैं, अतः समूचे पश्चिमी देशों में हिप्पियों की जनसंख्या हो गई है। अतः यदि ऐसे युवा व्यक्तियों को भक्तियोग अर्थात् कृष्णभावनामृत का उपदेश दिया जाता है, तो वह अवश्य ही प्रभावशाली होगा।

ज्योंही चित्रकेतु को वैराग्य विद्या का दर्शन समझ में आ गया त्योंही वह भक्तियोग की प्रक्रिया को समझ सका। इस सम्बन्ध में श्रील सार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा है—*वैराग्य-विद्या निजभक्तियोग।* वैराग्य विद्या तथा भक्तियोग समान्तर रेखाएँ हैं। एक को समझने के लिए दूसरा अनिवार्य है। यह भी कहा गया है—*भक्तिः परदेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र च* (*भागवत ११.२.४२*)। कृष्णभावनामृत अथवा भक्ति में उन्नति का लक्षण है भौतिक सुख से बढ़ती हुई विरक्ति। नारद मुनि भक्ति के जनक हैं, इसलिए चित्रकेतु पर अहैतुकी कृपा करने के कारण उसे उपदेश देने के लिए अंगिरा अपने साथ नारद मुनि को लेते आये। उनके इन उपदेशों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। जो कोई नारद मुनि के चरण-चिह्नों का अनुसरण करता है, वह निश्चय ही शुद्ध भक्त है।

चित्रकेतुस्तु तां विद्यां यथा नारदभाषिताम् ।
धारयामास सप्ताहमब्भक्षः सुसमाहितः ॥ २७॥

शब्दार्थ

चित्रकेतुः—राजा चित्रकेतु ने; तु—निस्सन्देह; ताम्—उस; विद्याम्—दिव्य ज्ञान को; यथा—जिस प्रकार; नारद-भाषिताम्—परम साधु नारद द्वारा उपदेश दिया गया; धारयाम् आस—जाप किया; सप्त-अहम्—लगातार एक सप्ताह तक; अप्-भक्षः—केवल जल पीकर; सु-समाहितः—अत्यन्त ध्यानपूर्वक।

केवल जल पीकर उपवास करते हुए राजा चित्रकेतु ने नारद मुनि द्वारा दिये गये मंत्र का

एक सप्ताह तक अत्यन्त ध्यानपूर्वक लगातार जप किया।

ततः स सप्तरात्रान्ते विद्यया धार्यमाणया ।
विद्याधराधिपत्यं च लेभेऽप्रतिहतं नृप ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

ततः—इससे; सः—वह; सप्त-रात्र-अन्ते—सात रातों के बाद; विद्यया—स्तुतियों से; धार्यमाणया—अत्यन्त सावधानी से अभ्यास करने से; विद्याधर-अधिपत्यम्—विद्याधरों का स्वामित्व (बीच के फल के रूप में); च—भी; लेभे—प्राप्त किया; अप्रतिहतम्—गुरु द्वारा दिये गये उपदेशों से विचलित न होते हुए; नृप—हे राजा परीक्षित।

हे राजा परीक्षित! अपने गुरु से प्राप्त मंत्र को केवल सात दिनों तक अभ्यास करने पर राजा चित्रकेतु को अन्तिम फल के रूप में आत्मज्ञान हो जाने से विद्याधर लोक का राज्य प्राप्त हुआ।

तात्पर्य : यदि दीक्षा प्राप्त कर लेने के बाद कोई भक्त अपने गुरु के उपदेशों का कठोरता से पालन करता है, तो उसे *विद्याधर-अधिपत्यम्* का भौतिक ऐश्वर्य एवं अन्य पद प्राप्त होते हैं। भक्त को सफलता प्राप्त करने के लिए योग, कर्म या ज्ञान की साधना नहीं करनी होती। अकेले भगवद्भक्ति से उसे समस्त भौतिक शक्ति प्राप्त हो जाती है। किन्तु शुद्ध भक्त कभी भी भौतिक शक्ति के प्रति आसक्त नहीं होता, यद्यपि वह उसे बिना प्रयास के सुगमता से ही प्राप्त होती है। चित्रकेतु को नारद के उपदेशों के अनुसार भक्ति में तत्परता से अग्रसर होने से यह अतिरिक्त लाभ हो सका।

ततः कतिपयाहोभिर्विद्ययेद्धमनोगतिः ।
जगाम देवदेवस्य शेषस्य चरणान्तिकम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ततः—तदनन्तर; कतिपय-अहोभिः—कुछ ही दिनों के भीतर; विद्यया—आध्यात्मिक मंत्र से; इद्ध-मनः-गतिः—मन के पथ के प्रकाशित होने से; जगाम—गया; देव-देवस्य—अन्य देवताओं के स्वामी; शेषस्य—भगवान् शेष के; चरण-अन्तिकम्—चरणकमल की शरण में।

तदनन्तर कुछ ही दिनों में चित्रकेतु द्वारा जपे गए मंत्र के प्रभाव से उस का मन आत्म-ज्ञान से अत्यधिक प्रकाशित हो गया और उन्होंने अनन्त देव के चरणारविन्द की शरण प्राप्त

की।

तात्पर्य : भक्त की चरम सिद्धि वैकुण्ठ के किसी एक लोक में ईश्वर के चरणारविन्द में शरण प्राप्त करना है। भक्ति के कठोर अनुष्ठान से यदि भक्त चाहता है, तो उसे सभी भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त हो जाते हैं, अन्यथा न तो भक्त को ऐश्वर्य की इच्छा रहती है और न परमेश्वर ही उसे प्रदान करते हैं। ईश्वर की भक्ति में संलग्न भक्त का वास्तविक ऐश्वर्य, भौतिक न होकर आध्यात्मिक होता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई भक्त एक सुन्दर तथा मूल्यवान मन्दिर के निर्माण में धन व्यय करता है, तो यह निर्माण-कार्य भौतिक न होकर आध्यात्मिक होता है (*निर्बन्धः कृष्ण-सम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते*)। भक्त का मन कभी भी मन्दिर के भौतिक पक्ष की ओर नहीं जाता। मन्दिर के निर्माण में लगने वाली ईंटें, पत्थर तथा लकड़ी सभी श्रीविग्रह (मूर्ति) के ही समान आध्यात्मिक हैं, जो पत्थर से निर्मित होने पर भी पत्थर न होकर स्वयं श्रीभगवान् होता है। ज्यों-ज्यों भक्त आध्यात्मिक-चेतना की ओर आगे बढ़ता है त्यों-त्यों उसे भक्ति के तत्त्व और अधिक स्पष्ट होते जाते हैं। भक्ति में कुछ भी भौतिक नहीं है; प्रत्येक वस्तु आध्यात्मिक है। फलतः भक्त को तथाकथित भौतिक ऐश्वर्य इसलिए प्रदान किया जाता है कि वह आत्मिक उन्नति करे। यह ऐश्वर्य भक्त को वैकुण्ठ धाम के निकट पहुँचने के लिए सहायता के रूप में होता है। इस प्रकार महाराज चित्रकेतु विद्याधर पति के रूप में भौतिक ऐश्वर्य में ही बने रहे। भक्ति साधना के द्वारा वे कुछ ही दिनों में सिद्ध होकर भगवान् के धाम जाकर भगवान् शेष अथवा अनन्त के चरणकमल की शरण को प्राप्त हुए।

एक कर्मी का भौतिक ऐश्वर्य तथा भक्त का ऐश्वर्य एकसमान नहीं होते, इस पर श्रील मध्वाचार्य की टीका इस प्रकार है—

अन्यान्तर्यामिणं विष्णुं उपास्यान्यसमीपगः ॥

भवेद् योग्यतया तस्य पदं वा प्राप्नुयान् नरः ॥

भगवान् विष्णु की आराधना से भक्त को मनवांछित फल प्राप्त हो सकता है, किन्तु शुद्ध भक्त

उनसे कभी लाभ की याचना नहीं करता। उल्टे वह निष्काम भाव से भगवान् विष्णु की सेवा करता है, जिससे अन्ततः उसे वैकुण्ठ धाम भेज दिया जाता है। इस सन्दर्भ में श्रील वीरराघव आचार्य की टीका है—*यथेष्ट-गतिरित्य अर्थः*—विष्णु की आराधना से भक्त को मनवांछित प्राप्ति होती है। महाराज चित्रकेतु भगवान् के धाम को ही वापस जाना चाहते थे, अतः उन्हें इसमें सफलता प्राप्त हुई।

मृणालगौरं शितिवाससं स्फुरत्-
किरीटकेयूरकटित्रकङ्कणम् ।
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनं वृतं
ददर्श सिद्धेश्वरमण्डलैः प्रभुम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

मृणाल-गौरम्—कमल के रेशों के समान श्वेत; शिति-वाससम्—नीले रेशम के वस्त्र धारण किये; स्फुरत्—चमकते हुए; किरीट—मुकुट; केयूर—बाजूबंद, बिजावट; कटित्र—करधनी; कङ्कणम्—जिनके कंगन; प्रसन्न-वक्त्र—स्मित मुख; अरुण-लोचनम्—लाल-लाल नेत्र वाला; वृतम्—घिरा हुआ; ददर्श—देखा; सिद्ध-ईश्वर-मण्डलैः—परम सिद्ध भक्तों के द्वारा; प्रभुम्—श्रीभगवान् को।

भगवान् शेष की शरण में पहुँचकर चित्रकेतु ने देखा कि वे कमल-पुष्प के श्वेत रेशों के समान ही श्वेत वर्ण के थे। उन्होंने नीला वस्त्र धारण कर रखा था और चमचमाते मुकुट, बाजूबंद, करधनी तथा कंगन से आभूषित थे। उनका मुख मन्द हँसी से युक्त था। उनके नेत्र रक्तिम थे। वे सनत्कुमार जैसे मुक्त पुरुषों से घिरे हुए थे।

तद्दर्शनध्वस्तसमस्तकिल्बिषः
स्वस्थामलान्तःकरणोऽभ्ययान्मुनिः ।
प्रवृद्धभक्त्या प्रणयाश्रुलोचनः
प्रहृष्टरोमानमदादिपुरुषम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तत्-दर्शन—श्रीभगवान् के दर्शन से; ध्वस्त—विनष्ट; समस्त-किल्बिषः—समस्त पाप; स्वस्थ—स्वस्थ; अमल—तथा शुद्ध; अन्तःकरणः—जिसके हृदय का अभ्यन्तर; अभ्ययात्—आमने-सामने पहुँच कर; मुनिः—राजा, जो मानसिक तुष्टि से शान्त था; प्रवृद्ध-भक्त्या—भक्ति बढ़ने की प्रवृत्ति के कारण; प्रणय-अश्रु-लोचनः—प्रेम के कारण अश्रुपूरित नेत्र; प्रहृष्ट-रोम—हर्ष के कारण रोमांचित; अनमत्—नमस्कार किया; आदि-पुरुषम्—आदि पुरुष को।

परमेश्वर का दर्शन पाते ही महाराज चित्रकेतु के समस्त भौतिक कल्मष धुल गये और वे पूर्णतः पवित्र हो जाने के कारण अपनी मूल कृष्णचेतना (भक्ति) में स्थित हो गये। वे पूर्णतः पवित्र हो जाने के कारण शान्त एवं गम्भीर हो गये, ईश्वर के प्रेमवश उनकी आँखों से अश्रु झरने लगे और अन्त में उन्हें रोमांच हो आया। उन्होंने अत्यन्त भक्ति तथा प्रेम-पूर्वक आदि भगवान् को सादर नमस्कार किया।

तात्पर्य : इस श्लोक में *तद्-दर्शन-ध्वस्त-समस्त-किल्बिष:* पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि कोई मन्दिर में भगवान् का नियमित दर्शन करता है, तो मात्र मन्दिर तथा मूर्ति को देखते रहने से वह समस्त भौतिक कामनाओं के संक्रामक रोग से मुक्त हो जाता है। जब मनुष्य समस्त पापकर्मों के फल से मुक्त हो जाता है, तो वह पवित्र बन जाता है। तभी स्वस्थचित्त तथा पूर्ण स्वच्छ होकर वह कृष्णभावनामृत (भक्ति) में अग्रसर होता है।

स उत्तमश्लोकपदाब्जविष्टरं
प्रेमाश्रुलेशैरुपमेहयन्मुहुः ।
प्रेमोपरुद्धाखिलवर्णनिर्गमो
नैवाशकत्तं प्रसमीडितुं चिरम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; उत्तमश्लोक—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का; पद-अब्ज—चरणकमल का; विष्टरम्—आसन (चौकी); प्रेम-अश्रु—शुद्ध प्रेम के आँसुओं के; लेशैः—बूँदों से; उपमेहयन्—सिक्त करके; मुहुः—पुनः पुनः; प्रेम-उपरुद्ध—प्रेम से गला रुँधकर; अखिल—समस्त; वर्ण—अक्षरों का; निर्गमः—बाहर निकलना; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; अशकत्—समर्थ; तम्—उसको; प्रसमीडितुम्—प्रार्थना करने में; चिरम्—दीर्घ काल तक।

चित्रकेतु के प्रेमाश्रुओं से भगवान् के चरणकमल का आसन (चौकी) बार बार भीग जाता था। आल्हाद के कारण वाणी अवरुद्ध हो जाने से वे लम्बे अन्तराल तक भगवान् की उचित स्तुति में एक भी शब्द का उच्चारण न कर पाये।

तात्पर्य : सभी अक्षर तथा अक्षरों से निर्मित शब्द भगवान् की स्तुति करने के निमित्त होते हैं। महाराज चित्रकेतु को अक्षरों से सुन्दर श्लोक तैयार करके भगवान् की स्तुति करने का सुअवसर

प्राप्त हुआ था, किन्तु आल्हाद के कारण वे बहुत समय तक उन शब्दों को स्तुति करने के लिए जोड़ ही नहीं पाये। *श्रीमद्भागवत* (१.५.२२) में कहा गया है—

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा

स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।

अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो

यदुत्तमश्लोकगुणामुवर्णनम् ॥

यदि किसी के पास वैज्ञानिक, दार्शनिक, राजनैतिक, आर्थिक अथवा कोई अन्य योग्यता है और ज्ञान-सिद्धि चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह श्रेष्ठ कविता बनाकर भगवान् की स्तुति करे अथवा अपनी प्रतिभा को ईश्वर की सेवा में लगाए। चित्रकेतु ऐसा ही करना चाह रहे थे, किन्तु प्रेमाभिभूत होने के कारण वे ऐसा करने में असमर्थ थे। अतः स्तुति करने के पूर्व उन्हें देर तक रुके रहना पड़ा।

ततः समाधाय मनो मनीषया
बभाष एतत्प्रतिलब्धवागसौ ।
नियम्य सर्वेन्द्रियबाह्यवर्तनं
जगद्गुरुं सात्वतशास्त्रविग्रहम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; समाधाय—संयमित करके; मनः—मन को; मनीषया—अपनी बुद्धि से; बभाष—बोला; एतत्—यह; प्रतिलब्ध—पुनः प्राप्त करके; वाक्—वाणी; असौ—वह (राजा चित्रकेतु); नियम्य—वश में करके; सर्व-इन्द्रिय—समस्त इन्द्रियों को; बाह्य—बाहरी; वर्तनम्—घूमने को; जगत्-गुरुम्—जो सबों का गुरु; सात्वत—भक्ति का; शास्त्र—शास्त्रों का; विग्रहम्—मूर्त रूप।

तत्पश्चात् अपनी बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके और अपनी इन्द्रियों को बाह्य विषयों से समेट कर वे अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द ढूँढ सके। इस प्रकार वे उन भगवान् की स्तुति करने लगे जो साक्षात् शास्त्रों (*ब्रह्म-संहिता* तथा नारद-पंचरात्र जैसी सात्वत संहिताओं) के स्वरूप हैं एवं सबों के गुरु हैं। उन्होंने निम्नवत् स्तुति

की।

तात्पर्य : सांसारिक शब्दों से भगवान् की स्तुति नहीं की जा सकती। मनुष्य को चाहिए कि वह पहले मन तथा इन्द्रियों को संयमित करके आध्यात्मिक उन्नति करे। तभी भगवान् की स्तुति के उपयुक्त शब्द मिल सकेंगे। श्रील सनातन गोस्वामी *पद्मपुराण* से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करते हुए कोई ऐसा गीत गाने के लिए मना करते हैं, जो किसी अधिकारी भक्त द्वारा न गाया गया हो—

अवैष्णव मुखोद्गीर्णं पूतं हरिकथामृतम्।

श्रवणं नैव कर्तव्यं सर्पोच्छिष्टं यथा पय: ॥

किसी व्यक्ति के वे शब्द या गीत जो वैष्णव-आचार में मान्य नहीं हैं अथवा हरे कृष्ण महामंत्र के जप के नियमों के अनुसार नहीं हैं उन्हें शुद्ध भक्तों द्वारा ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए। *सात्वत-शास्त्र विग्रहं* शब्द यह सूचित करते हैं कि भगवान् के सच्चिदानन्द शरीर को कभी भी माया से निर्मित नहीं माना जा सकता। भक्त कभी भी ईश्वर के कल्पित रूप की स्तुति नहीं करते। भगवान् के स्वरूप के अस्तित्व की पुष्टि समस्त वैदिक ग्रंथों के द्वारा होती है।

चित्रकेतुरुवाच

अजित जित: सममतिभि:
साधुभिर्भवान्जितात्मभिर्भवता ।
विजितास्तेऽपि च भजता-
मकामात्मनां य आत्मदोऽतिकरुण: ॥ ३४॥

शब्दार्थ

चित्रकेतु: उवाच—राजा त्रित्रकेतु ने कहा; अजित—हे दुर्जेय भगवान्; जित:—जीता गया; सम-मतिभि:—मन को वश में करने वाले पुरुषों द्वारा; साधुभि:—भक्तों के द्वारा; भवान्—आप; जित-आत्मभि:—जिन्होंने इन्द्रियों को पूरी तरह जीत लिया है; भवता—आपके द्वारा; विजिता:—जीता जाकर; ते—वे; अपि—भी; च—तथा; भजताम्—आपकी भक्ति में लगे रहने वालों को; अकाम-आत्मनाम्—भौतिक लाभ की कामना से रहित, निष्काम; य:—जो; आत्म-द:—अपने आप को देने वाले; अति-करुण:—अत्यन्त दयालु।

चित्रकेतु ने कहा—हे अजेय भगवान्! यद्यपि आप को कोई जीत नहीं सकता, किन्तु उन भक्तों के द्वारा अवश्य जीत लिये जाते हैं जिनका अपने मन तथा इन्द्रियों पर संयम है। वे

आपको इसलिए वश में रख पाते हैं क्योंकि आप उन भक्तों पर अकारण दयालु हैं, जो आपसे किसी प्रकार के लाभ की कामना नहीं करते। निस्सन्देह, आप उन्हें अपने आपको प्रदान कर देते हैं; इसलिए अपने भक्तों पर आपका भी पूरा नियंत्रण रहता है।

तात्पर्य : भगवान् तथा भक्त दोनों की जीत होती है। भगवान् भक्तों द्वारा और भक्त भगवान् द्वारा जीते जाते हैं। एक दूसरे से जीते जाने के कारण ही अपने इस सम्बन्ध से उन्हें दिव्य आनन्द की प्राप्ति होती है। इस पारस्परिक विजय की परम सिद्धि कृष्ण तथा गोपियों द्वारा प्रकट है। गोपियों ने कृष्ण को जीत लिया था और कृष्ण ने गोपियों को। इस प्रकार जब भी कृष्ण वंशीवादन करते वे गोपियों के मन को वश में कर लेते और गोपियों को देखे बिना चैन न पाते। अन्य अध्यात्मवादी यथा ज्ञानी तथा योगी भगवान् को नहीं जीत पाते, केवल शुद्ध भक्त ही ऐसा कर पाते हैं।

शुद्ध भक्तों को *सम-मति* कहा गया है, जिसका अर्थ यह है कि वे किसी भी परिस्थिति में अपनी भक्ति से विचलित नहीं होते। ऐसा नहीं है कि भक्त सुखी रहने पर ही भगवान् की आराधना करते हैं, वे दुख में भी उनकी उपासना करते हैं। सुख तथा दुख से भक्ति की प्रक्रिया पर कोई बाधा नहीं पहुँचती। इसलिए *श्रीमद्भागवत* का कथन है कि *भक्ति अहैतुक्यप्रतिहता* अर्थात् भक्ति निष्काम तथा अबाध है। जब भक्त बिना किसी अभिलाषा के भगवान् की भक्ति करता है (*अन्याभिलाषिता-शून्यम्*) तो उसकी भक्ति किसी भी भौतिक दशा में अवरुद्ध नहीं होती (*अप्रतिहता*)। अत: जो भक्त सभी परिस्थितियों में सेवा करता रहता है, वह श्रीभगवान् को जीत सकता है।

भक्तों तथा अन्य इन्द्रयातीतवादियों यथा ज्ञानियों तथा योगियों में एक विशेष अन्तर यह है कि ज्ञानी तथा योगी ईश्वर के साथ तादात्म्य के लिए कृत्रिम प्रयास करते हैं जबकि भक्त ऐसे असम्भव कार्य की कभी इच्छा नहीं करते। भक्त जानते हैं कि वे परमेश्वर के शाश्वत दास हैं, अत: वे तदाकार नहीं होना चाहते। इसलिए इन्हें *सम-मति* या जितात्मा कहा जाता है। उन्हें परमेश्वर से

तदाकार होने से घृणा है। उनके मन में इसके लिए कोई कामना नहीं है; वे तो भौतिक अहंकार से मुक्त होना चाहते हैं। इसलिए उन्हें *निष्काम* कहा जाता है। जीवात्मा कभी निष्काम नहीं हो सकता, किन्तु जिन इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती उन्हें वासनायुक्त *काम* कहते हैं—*कामैस्तैस्तैर्हृत ज्ञाना:*—कामेच्छाओं के कारण वे अपनी बुद्धि खो बैठते हैं। अत: वे ईश्वर को जीत नहीं पाते जबकि भक्त ऐसी तर्करहित इच्छाओं से मुक्त होने के कारण ईश्वर को जीत सकते हैं। ऐसे भक्तों को श्रीभगवान् भी जीत लेते हैं। वे शुद्ध तथा भौतिक इच्छाओं से मुक्त होने के कारण ईश्वर के शरणागत होते हैं, अत: ईश्वर उनको जीत लेता है। ऐसे भक्त कभी भी मुक्ति की कामना नहीं करते। उनकी एकमात्र इच्छा भगवान् के चरणकमलों की सेवा करने की होती है। चूँकि वे किसी प्रकार का पारिश्रमिक प्राप्त करने की भावना से ईश्वर की सेवा नहीं करते इसलिए वे ईश्वर के कृपापात्र बन जाते हैं। ईश्वर स्वभाव से ही परम दयालु हैं अत: जब वे देखते हैं कि उनका दास किसी लाभ की आकांक्षा के बिना ही सेवा कर रहा है, तो स्वभावत: वे जीते जाते हैं। भक्त सदैव सेवारत रहते हैं। *स वै मन: कृष्ण-पदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठ गुणानुवर्णने*—उनकी इन्द्रियों की समस्त गतिविधियाँ भगवान् की सेवा में नियुक्त रहती हैं ऐसी भक्ति के कारण भगवान् अपने आप को अपने भक्तों के हवाले कर देते हैं ताकि वे उन्हें मन-वान्छित कार्य के लिये उपयोग में ला सकें। जब भक्त निष्काम भाव से पूर्ण समर्पण कर देता है, तो भगवान् निश्चय ही उसे अपनी सेवा का अवसर प्रदान करते हैं। भक्तों द्वारा जीते जाने पर ईश्वर की भी यही दशा होती है।

तव विभवः खलु भगवन्
जगदुदयस्थितिलयादीनि ।
विश्वसृजस्तेऽंशांशास्
तत्र मृषा स्पर्धन्ति पृथगभिमत्या ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

तव—तुम्हारा; विभवः—ऐश्वर्य; खलु—निस्सन्देह; भगवन्—हे भगवान्; जगत्—दृश्य जगत का; उदय—सृष्टि; स्थिति—पालन; लय-आदीनि—संहार इत्यादि; विश्व-सृजः—दृश्य जगत के कर्ता; ते—वे; अंश-अंशाः—आपके अंश के भी अंशस्वरूप; तत्र—उसमें; मृषा—व्यर्थ; स्पर्धन्ति—स्पर्धा करते हैं; पृथक्—अलग; अभिमत्या—मिथ्या विचार से।

हे ईश्वर! यह दृश्य जगत तथा इसकी उत्पत्ति, पालन एवं संहार—ये सभी आपके ऐश्वर्य हैं। चूँकि ब्रह्मा तथा अन्य कर्ता (निर्माता) आपके अंश के भी क्षुद्र अंश हैं, अत: सृष्टि करने की उनकी आंशिक शक्ति उन्हें ईश्वर नहीं बना सकती। तो भी अपने को पृथक् ईश्वर मान बैठने की चेतना उनके अहंकार मात्र की द्योतक है। यह वैध नहीं है।

तात्पर्य : भगवान् के चरणकमलों की शरण में आया हुआ भक्त यह अच्छी तरह जानता है कि ब्रह्मा से लेकर छोटी से छोटी चींटी तक समस्त जीवात्माओं में सृजन शक्ति इसलिए है क्योंकि वे ईश्वर के भिन्न-अंश हैं। *भगवद्गीता* (१५.७) में श्रीकृष्ण कहते हैं—*ममैवांशो जीवलोके जीवभूत:सनातन:* ''इस बद्ध जगत में जीवात्माएँ मेरे ही शाश्वत भिन्न अंश हैं।'' जीवात्माएँ परमात्मा के लघु अंश रूप हैं मानो आग की चिनगारियाँ हों। परमात्मा के अंशमात्र होने से उनमें सृजन-शक्ति अत्यल्प रहती है।

आधुनिक जगत के तथाकथित वैज्ञानियों को गर्व है कि उन्होंने वायुयान जैसी आधुनिक सुविधाएँ उत्पन्न की हैं, किन्तु इसका श्रेय भगवान् को ही मिलना चाहिए न कि वैज्ञानिकों को जिन्होंने तथाकथित आश्चर्यजनक चीजें बनाई हैं। पहली विचारणीय बात है वैज्ञानियों की बुद्धि। मनुष्य को भगवान् के आदेश द्वारा ऊपर उठना होता है क्योंकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में उनका वचन है—*मत्त: स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—''मुझी से स्मृति ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न हैं।'' परमात्मा प्रत्येक जीवात्मा के हृदय में स्थित है, अत: जिस प्रेरणा (आदेश) से कोई मनुष्य वैज्ञानिक ज्ञान में या सृजन शक्तियों में आगे बढ़ता है, वह उन्हीं ईश्वर से प्राप्त होती है। यही नहीं, जिन अवयवों से वायुयान जैसे अद्‌भुत यंत्रों का निर्माण होता है वे ईश्वर की देन हैं, वैज्ञानिकों की नहीं। वायुयान बनने के पूर्व इसके सभी अवयवों की सामग्री पहले से श्रीभगवान् द्वारा उत्पन्न की जा चुकी थी। किन्तु जब वायुमान विनष्ट होता है, तो इसका मलवा (ध्वंसावशेष) तथाकथित सृष्टिकर्ताओं के लिए समस्या बन जाता है। एक अन्य उदाहरण है पाश्चात्य लोगों द्वारा स्वचालित वाहनों का निर्माण। इन मोटरकारों के सभी अवयव तथा इनकी सृष्टि के लिए आवश्यक बुद्धि ईश्वर द्वारा प्रदत्त

होती है। अन्त में जब ये कारें नष्ट हो जाती हैं, तो तथाकथित स्रष्टाओं के समक्ष समस्या उठ खड़ी होती है कि इन अवयवों का क्या किया जाए। इनका वास्तविक तथा आद्य सृजनकर्ता तो भगवान् है। बीच के कुछ काल के लिए ही ईश्वर द्वारा प्रदत्त बुद्धि से लोग कुछ वस्तुओं का सृजन करते हैं, बाद में यह वस्तु भार बन जाती है। अत: तथाकथित सृजनकर्ताओं को सृष्टि कार्य का श्रेय नहीं मिलना चाहिए; सारा श्रेय श्रीभगवान् को जाता है। इस श्लोक में यह उचित ही कहा गया है कि सृष्टि, पालन तथा संहार के सारे ऐश्वर्य का श्रेय ईश्वर का है, जीवात्मा का नहीं।

परमाणुपरममहतोस्
त्वमाद्यन्तान्तरवर्ती त्रयविधुरः ।
आदावन्तेऽपि च सत्त्वानां
यद्ध्रुवं तदेवान्तरालेऽपि ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

परम-अणु—सूक्ष्म कणों का; परम-महतोः—तथा सबसे बड़े (परमाणुओं के संयोग से बने) कणों का; त्वम्—तुम्हीं; आदि-अन्त—आदि तथा अन्त; अन्तर—तथा बीच में; वर्ती—स्थित; त्रय-विधुरः—आरम्भ, अन्त अथवा मध्य से विहीन; आदौ—प्रारम्भ में; अन्ते—अन्त में; अपि—भी; च—तथा; सत्त्वानाम्—समस्त अस्तित्वों का; यत्—जो; ध्रुवम्—अचल; तत्—वह; एव—निश्चय ही; अन्तराले—मध्य में; अपि—भी।

आप इस दृश्य जगत के नन्हें से नन्हें कण-परमाणु से लेकर विराट ब्रह्माण्डों तथा समस्त भौतिक शक्ति तक की प्रत्येक वस्तु के आदि, मध्य तथा अन्त में विद्यमान हैं। फिर भी आप नित्य हैं, जिसका न कोई आदि है, न अन्त या मध्य। आप इन तीनों स्थितियों में विद्यमान देखे जाते हैं; इस तरह आप अटल हैं। जब इस दृश्य जगत का अस्तित्व नहीं रहता तो आप आदि शक्ति के रूप में विद्यमान रहते हैं।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* (५.३३) का कथन है—

अद्वैतम् अच्युतम् अनादिम् अनन्तरूपम्

आद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च।

वेदेषु दुर्लभम् अदुर्लभम् आत्मभक्तौ

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन श्रीभगवान् गोविन्द की उपासना करता हूँ जो आदि पुरुष हैं, परम, अच्युत, अनादि, अनन्त रूपों में विस्तार करते हुए भी वही आदि पुरातन तथा नवयौवन से पूर्ण पुरुष हैं। ऐसे नित्य, आनन्दमय तथा सर्वज्ञ ईश्वर को सर्वोत्तम वेदज्ञानी भी नहीं जान पाते किन्तु शुद्ध भक्तों के समक्ष वे सदैव प्रकट होते हैं।'' श्रीभगवान् प्रत्येक वस्तु के कारण हैं, किन्तु उनका कोई कारण नहीं। वे कार्य-कारण से परे हैं। वे शाश्वत हैं। *ब्रह्म-संहिता* के एक अन्य श्लोक में कहा गया है—*अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थम्*—ईश्वर विराट ब्रह्माण्ड तथा परमाणु के भीतर स्थित हैं। इस विराट ब्रह्माण्ड तथा परमाणु के भीतर ईश्वर की उपस्थिति यह सूचित करती है कि उनके बिना किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता। विज्ञानियों का कहना है कि जल की उत्पत्ति हाइड्रोजन तथा आक्सिजन के संयोग से होती है, किन्तु जब वे सागर की अनन्त जलराशि देखते हैं, तो उनकी बुद्धि चकरा जाती है कि इतनी मात्रा में हाइड्रोजन और आक्सिजन कहाँ से आई। उनका विचार है सभी वस्तुएँ रसायनों से उद्भूत हुई, किन्तु फिर ये सारे रसायन कहाँ से आये? इसको वे नहीं जानते। चूँकि श्रीभगवान् समस्त कारणों के कारण हैं, अत: वे रासायनिक विकास के लिए प्रचुर मात्रा में रसायन उत्पन्न कर सकते हैं। हम यह देख रहे हैं कि जीवात्माओं से रसायन तैयार होते हैं। उदाहरणार्थ, संतरे के वृक्ष से कई टन सिट्रिक अम्ल उत्पन्न होता है। यह सिट्रिक अम्ल संतरे के वृक्ष का कारण नहीं अपितु वृक्ष इस अम्ल का कारण है। इसी प्रकार भगवान् प्रत्येक वस्तु के कारण हैं। वे सिट्रिक अम्ल को उत्पन्न करने वाले वृक्ष के कारण हैं (*बीजं मां सर्वभूतानाम्*)। भक्त देख सकते हैं कि दृश्य जगत के कारणस्वरूप आदिशक्तियाँ रसायनों में नहीं अपितु भगवान् में निहित हैं, क्योंकि वे ही रसायनों के कारण हैं।

प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति परमेश्वर की शक्ति से हुई है और जब प्रत्येक वस्तु का विलय हो जाता है, तो आदिशक्ति पुन: परमेश्वर के शरीर में प्रवेश करती है। इसलिए यह श्लोक कहता है—*आदावन्तेऽपि च सत्वानां यद् ध्रुवं तदेवान्तरालेऽपि। ध्रुवम्* का अर्थ है 'अविचल' या 'स्थायी'।

अविचल सत्य श्रीकृष्ण हैं, यह दृश्य जगत नहीं। *भगवद्गीता* में कहा गया है—*अहं आदिर्हि देवानाम् तथा मत्तः सर्वं प्रवर्तते*—श्रीकृष्ण प्रत्येक वस्तु के आदि कारण हैं। अर्जुन ने श्रीकृष्ण को आदि पुरुष के रूप में पहचाना (*पुरुषं शाश्वतं दिव्यं आदिदेवम् अजं विभुम्*) तथा *ब्रह्म-संहिता* भी उन्हें आदि पुरुष के रूप में वर्णन करती है (*गोविन्दम् आदि-पुरुषम्*)। वही समस्त कारणों के कारण हैं चाहे वह आदि में हो, अन्त में अथवा मध्य में।

क्षित्यादिभिरेष किलावृतः
सप्तभिर्दशगुणोत्तरैरण्डकोशः ।
यत्र पतत्यणुकल्पः
सहाण्डकोटिकोटिभिस्तदनन्तः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

क्षिति-आदिभिः—भौतिक जगत के अवयवों द्वारा, यथा पृथ्वी इत्यादि; एषः—यह; किल—निस्सन्देह; आवृतः—ढका हुआ; सप्तभिः—सात; दश-गुण-उत्तरैः—प्रत्येक अपने से पहले वाले से दस गुना; अण्ड-कोशः—अण्डाकार ब्रह्माण्ड; यत्र—जिसमें; पतति—गिरता है; अणु-कल्पः—सूक्ष्म कण की भाँति; सह—के साथ; अण्ड-कोटि-कोटिभिः—ऐसे करोड़ों ब्रह्माण्डों से; तत्—अतः; अनन्तः—(आप) अनन्त (कहलाते हैं)।

प्रत्येक ब्रह्माण्ड सात आवरणों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सकल भौतिक शक्ति तथा अहंकार—से घिरा है जिनमें से प्रत्येक अपने से पहले वाले से दस गुना बड़ा है। इस ब्रह्माण्ड के अतिरिक्त भी असंख्य ब्रह्माण्ड हैं, जो असीम और विशाल हैं और आपमें स्थित परमाणुओं की भाँति चक्कर लगाते रहते हैं। इसलिए आप अनन्त कहलाते हैं।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* (५.४८) का कथन है—

यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य

जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः ॥

विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

इस भौतिक सृष्टि के उद्गम महाविष्णु हैं, जो कारण-समुद्र में शयन करते हैं। इस समुद्र में

शयन करते हुए उनके निःश्वास से लाखों ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं और जब वे श्वास अन्दर लेते हैं, तो उन सबका संहार हो जाता है। यह महाविष्णु, विष्णु अथवा गोविन्द के अंश के भी अंश हैं (*यस्य कला विशेषः*)। *कला* शब्द अंश के भी अंश का द्योतन करता है। कृष्ण अथवा गोविन्द से बलराम, बलराम से संकर्षण, फिर इनसे नारायण, नारायण से द्वितीय संकर्षण जिनसे महाविष्णु, उनसे गर्भोदकशायी विष्णु और इनसे क्षीरोदकशायी विष्णु उत्पन्न हैं। क्षीरोदकशायी विष्णु प्रत्येक ब्रह्माण्ड को नियंत्रित करते हैं इससे अनन्त के अर्थ का अनुमान लग जाता है। तो फिर ईश्वर की अनन्त शक्ति तथा उनके अस्तित्व के सम्बन्ध में क्या कहना? इस श्लोक में ब्रह्माण्ड के आवरणों का वर्णन हुआ है (*सप्तभिर्दश-गुणोत्तरैरण्डकोशः*)। पहला आवरण पृथ्वी का है, दूसरा जल का, तीसरा अग्नि, चौथा वायु, पाँचवाँ आकाश, छठा सकल भौतिक शक्ति तथा सातवाँ अहंकार का। पृथ्वी के आवरण से प्रारम्भ करके प्रत्येक अगला आवरण दस गुना विस्तृत है। इस प्रकार हम केवल कल्पना कर सकते हैं कि प्रत्येक ब्रह्माण्ड कितना विशाल है। फिर ऐसे लाखों ब्रह्माण्ड हैं। *भगवद्गीता* (१०.४२) में ईश्वर ने स्वयं इसकी पुष्टि की है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

"हे अर्जुन! इस विस्तृत ज्ञान की क्या आवश्यकता है? मैं अपने एक अंशमात्र से इस सम्पूर्ण जगत में व्याप्त होकर इसे धारण किए हुए हूँ, यह समस्त जगत परमेश्वर की चतुर्थांश शक्ति को प्रकट करता है। इसलिए वह अनन्त कहलाता है।"

विषयतृषो नरपशवो
य उपासते विभूतीर्न परं त्वाम् ।
तेषामाशिष ईश
तदनु विनश्यन्ति यथा राजकुलम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

विषय-तृषः—इन्द्रिय-तृप्ति के उत्सुक; नर-पशवः—पशुतुल्य मनुष्य; ये—जो; उपासते—अत्यन्त भव्य आराधना करते हैं; विभूतीः—परमेश्वर के लघु कण (देवतागण); न—नहीं; परम्—परमात्मा; त्वाम्—तुम (आप) को; तेषाम्—उनका; आशिषः—आशीर्वाद; ईश—हे परम नियन्ता; तत्—उन (देवताओं) को; अनु—तत्पश्चात्; विनश्यन्ति—विनष्ट होंगे; यथा—जिस प्रकार; राज-कुलम्—सरकार (राज्य) द्वारा सहायता प्राप्त (सरकार के भंग होने पर)।

हे भगवन्, हे परमेश्वर! इन्द्रियतृप्ति के भूखे तथा विभिन्न देवताओं की उपासना करने वाले अज्ञानी पुरुष नर-वेश में पशुओं के समान हैं। वे पाशविक वृत्ति के कारण आपकी उपासना न करके नगण्य देवताओं को, जो आपके यश की लघु चिनगारी के समान हैं, पूजते हैं। समस्त ब्रह्माण्ड के संहार के साथ ये देवता तथा इनसे प्राप्त आशीर्वाद उसी प्रकार विनष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार राजा की सत्ता छिन जाने पर राजकीय अधिकारी।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.२०) का कथन है—*कामैस्तैस्तैर्हृत ज्ञाना:* प्रपद्यन्तेदेवता: ''जिनके मन भौतिक कामनाओं से विकृत हो चुके हैं, वे देवताओं की शरण में जाते हैं।'' इसी प्रकार इस श्लोक में भी देवताओं की उपासना की भर्त्सना की गयी है। हम देवताओं का आदर कर सकते हैं, किन्तु वे पूजनीय नहीं हैं। जो मनुष्य देवताओं की पूजा करते हैं उनकी बुद्धि मारी गयी होती है (*हृतज्ञाना:*) क्योंकि वे यह नहीं जानते कि जब इस भौतिक दृश्य जगत का संहार होगा तो ये सारे देवता भी, जो जगत के विभागाध्यक्ष हैं, नष्ट हो जाएँगे। और जब देवता नष्ट हो जाएंगे तो उन्होंने अज्ञानी मनुष्यों को जो वर दिये हैं, वे भी नष्ट हो जाएँगे। इसलिए भक्त को चाहिए कि देवताओं की पूजा करके भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त करने की इच्छा न करे वरन् ईश्वर की सेवा करे जो इनकी आकांक्षाओं को पूरा करने वाले हैं। *भागवत* (२.३.१०) का वचन है—

अकाम: सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी:।
तीणेव्र भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

''चाहे भौतिक कामनाओं से पूर्ण हो या उनसे मुक्त या मुक्ति का इच्छुक हो, व्यापक दृष्टि से बुद्धिमान मनुष्य को सभी प्रकार से परम पुरुष परमेश्वर की पूजा करनी चाहिए।'' यह सिद्ध मनुष्य का परम कर्तव्य है। जिसका रूप मनुष्य का और कर्म पशु जैसे होते हैं वह नर-पशु या द्विपद-पशु कहलाता है। जो मनुष्य कृष्णभावनामृत में रुचि नहीं रखता उसकी भर्त्सना यहाँ नर-पशु के रूप में

की गई है।

कामधियस्त्वयि रचिता
न परम रोहन्ति यथा करम्भबीजानि ।
ज्ञानात्मन्यगुणमये
गुणगणतोऽस्य द्वन्द्वजालानि ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

काम-धियः—इन्द्रिय-तृप्ति की आकांक्षाएँ; त्वयि—तुममें; रचिताः—सम्पन्न की गई; न—नहीं; परम—भगवान्; रोहन्ति—उगते हैं (अन्य शरीर उत्पन्न करते हैं); यथा—जिस प्रकार; करम्भ-बीजानि—भुने बीज; ज्ञान-आत्मनि—तुममें जो ज्ञान से पूर्ण हैं; अगुण-मये—जो भौतिक गुणों से अप्रभावित रहता है; गुण-गणतः—भौतिक गुणों में से; अस्य—व्यक्ति का; द्वन्द्व-जालानि—द्वैतता का जाल।

हे परमेश्वर! यदि ऐश्वर्य द्वारा इन्द्रियतृप्ति पाने के इच्छुक व्यक्ति भी समस्त ज्ञान के स्रोत तथा भौतिक गुणों से परे आपकी उपासना करते हैं, तो उनका पुनर्जन्म नहीं होता जिस प्रकार भुने बीज से पौधे नहीं उत्पन्न होते। जीवात्माओं को जन्म तथा मृत्यु का चक्र भोगना पड़ता है क्योंकि वे भौतिक प्रकृति द्वारा बद्ध हैं परन्तु आप दिव्य हैं, अतः जो आपसे संगति करता है, वह भौतिक प्रकृति के बन्धन से छूट जाता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (४.९) में कृष्ण द्वारा इसकी पुष्टि की गई है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवंयो वेत्ति तत्त्वतः।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

“हे अर्जुन! मेरा आविर्भाव तथा मेरे कर्म दिव्य हैं, इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्व को जानता है, वह देह त्यागने पर फिर इस भौतिक संसार में जन्म नहीं लेता वरन् मेरे सनातन धाम को प्राप्त हो जाता है।” यदि कोई श्रीकृष्ण को समझने के लिए अपने आपको कृष्णभावनामृत में लगाता है, तो उसे जन्म-मृत्यु का चक्कर नहीं सताता। जैसा कि *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है—*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति*—ऐसा व्यक्ति कृष्ण-भक्ति में अथवा श्रीभगवान् को जानने में संलग्न रहकर भगवान् के धाम वापस जाने के लिए योग्य बन जाता है। यहाँ तक कि भौतिक विषयवासनाओं से ग्रस्त

व्यक्ति भी श्रीभगवान् की भक्ति करता है, वह भले ही भौतिक कामनाओं से पूरित हो, किन्तु वह ईश्वर के पवित्र नाम का जप करते रहने से कृष्ण के चरणारविन्द के प्रति आकृष्ट होता जाता है। परमेश्वर तथा उनका पवित्र नाम एक ही हैं। इस प्रकार भौतिक सुख से उसे विरक्ति होने लगती है। जीवन की पूर्णता इसीमें है कि भौतिक सुख में विरक्ति हो और श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग हो। यदि कोई येन-केन-प्रकारेण कृष्ण-भक्ति करता है भले ही वह भौतिक लाभ के लिए क्यों न हो, तो उसको मुक्ति मिल जाती है। *कामाद् द्वैषाद् भयात् स्नेहात्।* चाहे कोई कामवश, द्वेषवश, भयवश या स्नेहवश अथवा किसी और कारणवश, कृष्ण के पास जाता है, तो उसका जीवन धन्य हो जाता है।

जितमजित तदा भवता
यदाह भागवतं धर्ममनवद्यम् ।
निष्किञ्चना ये मुनय
आत्मारामा यमुपासतेऽपवर्गाय ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

जितम्—जीत लिया; अजित—हे अजित, न जीते जा सकने योग्य; तदा—तब; भवता—आपके द्वारा; यदा—जब; आह—कहा; भागवतम्—जो भक्त को ईश्वर के पास पहुँचाने में सहायक होता है; धर्मम्—धर्म; अनवद्यम्—दोषरहित (निष्कलुष); निष्किञ्चनाः—जो ऐश्वर्य के द्वारा सुखी होने की इच्छा नहीं रखते; ये—जो; मुनयः—बड़े-बड़े विचारक तथा महान् साधु; आत्म-आरामाः—आत्म-तुष्ट, आत्माराम; यम्—जिसको; उपासते—पूजते हैं; अपवर्गाय—भौतिक बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने के लिए।

हे अजित! जब आपने भागवत-धर्म कह सुनाया जो आप के चरणकमलों में शरण लेने के लिए अकलुषित धार्मिक प्रणाली थी, तो वह आपकी विजय थी। आत्मतुष्ट (आत्माराम) चतु:सन के समान निष्काम व्यक्ति, भौतिक कल्मष से मुक्त होने के लिए आपकी उपासना करते हैं। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि वे आपके चरणारविन्द की शरण प्राप्त करने के लिए भागवतधर्म को ग्रहण करते हैं।

तात्पर्य : श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृत सिंन्धु* में इस प्रकार कहा है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

''मनुष्य को चाहिए कि भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति अनुकूल होकर तथा बिना किसी भौतिक लाभ, या सकाम कर्म करके या मानसिक चिन्तन के माध्यम से लाभ प्राप्त करने की इच्छा से करे। यह शुद्ध भक्ति कहलाती है।''

नारद पञ्चरात्र में भी कहा गया है—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्

हृषीकेण सेवनं भक्ति रुच्यते॥

''मनुष्य को समस्त उपाधियों तथा कल्मषों से रहित होना चाहिए। उसे चाहिए कि वह अपना शुद्ध स्वरूप प्राप्त करे जिसमें वह अपनी इन्द्रियों को उनके स्वामी की सेवा में लगाता है इसे भक्ति कहते हैं। यही *भागवत्-धर्म* कहलाता है। मनुष्य को चाहिए कि निष्काम भाव से श्रीकृष्ण की सेवा करे—यही *भगवद्गीता, नारद-पंचरात्र* तथा *श्रीमद्भागवत* का उपदेश है। भागवत-धर्म, धर्म की वह प्रक्रिया है, जिसे नारद, शुकदेव गोस्वामी तथा उनकी शिष्य-परम्परा के विनम्र भक्तों द्वारा, जो श्रीभगवान् के प्रत्यक्ष प्रतिनिधि हैं, व्याख्यायित है। भागवत धर्म को समझ कर मनुष्य तुरन्त ही भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है। जीवात्माएँ श्रीभगवान् के अंशरूप होकर सांसारिक दुखों के बीच विचर रही हैं। जब भगवान् उन्हें स्वयं *भागवत-धर्म* का उपदेश देते हैं और यह भगवान् की विजय है, क्योंकि तब वे इन आत्माओं को पुनः अपना लेते हैं। *भागवत-धर्म* का अनुयायी भक्त श्रीभगवान् का अत्यन्त कृतज्ञ रहता है। वह *भागवत-धर्म* से युक्त तथा उससे रहित जीवन के अन्तर को समझता है। श्रीकृष्ण की भक्ति ग्रहण करना और पतित आत्माओं को कृष्णभावनामृत में लगाना भगवान् कृष्ण की विजय है।

स वै पुंसा परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥

''समस्त मानवता का वही परम धर्म है, जिससे मनुष्य दिव्य परमेश्वर के प्रति प्रेमाभक्ति प्राप्त कर सके। आत्मतोष के निमित्त ऐसी भक्ति को अबाध तथा निरुद्देश्य होना चाहिए (*भागवत*

१.२.६)। अत: *श्रीमद्भागवत* ही धर्म की शुद्ध दिव्य प्रक्रिया है।

विषममतिर्न यत्र नृणां
त्वमहमिति मम तवेति च यदन्यत्र ।
विषमधिया रचितो य:
स ह्यविशुद्ध: क्षयिष्णुरधर्मबहुल: ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

विषम—असमान (तेरा धर्म, मेरा धर्म या तेरा विश्वास, मेरा विश्वास); मति:—चेतना; न—नहीं; यत्र—जिसमें; नृणाम्—मानव समाज का; त्वम्—तुम; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; मम—मेरा; तव—तेरा; इति—इस प्रकार; च—भी; यत्—जो; अन्यत्र—और कहीं (भागवत-धर्म के अतिरिक्त); विषम-धिया—इस विषम बुद्धि के कारण; रचित:—निर्मित; य:—जो; स:—वह धर्म-पद्धति; हि—निस्सन्देह; अविशुद्ध:—अशुद्ध; क्षयिष्णु:—क्षणिक, नाशवान्; अधर्म-बहुल:—अधर्म से पूर्ण।

भागवतधर्म को छोड़कर शेष सभी धर्म पारम्पारिक विरोधाभासों से पूर्ण हैं और कर्मफल की सकाम विचारधारा और 'तू और मैं' तथा 'तेरा और मेरा' जैसे भेदभावों से पूर्ण हैं। श्रीमद्भागवत के अनुयायियों में ऐसी चेतना नहीं रहती। वे कृष्णभावनामृत से पूरित रहते हैं और अपने को श्रीकृष्ण का और श्रीकृष्ण को अपना मानते हैं। कुछ निम्नकोटि की भी धार्मिक पद्धतियाँ हैं, जो शत्रुओं को मारने या योगशक्ति प्राप्त करने के लिए निर्मित हैं, किन्तु ये काम तथा द्वेष से पूर्ण होने के कारण अशुद्ध एवं नाशवान् हैं। द्वेषपूर्ण होने से वे अधर्म से पूर्ण हैं।

तात्पर्य : *भागवत-धर्म* विरोधाभासों से रहित है। इसमें 'तुम्हारा धर्म' या 'मेरा धर्म' जैसे विचार नहीं मिलते। *भागवत-धर्म* का अभिप्राय है भगवान् के आदेशों का पालन, जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—ईश्वर एक है और वह सबका है। अत: मनुष्य को चाहिए कि उन्हीं की शरण में जाए। धर्म का यही शुद्ध मत है। ईश्वर के आदेशों से ही धर्म बनता है—(*धर्मं तु साक्षाद् भगवत् प्रणीतम्*)। *भागवत्-धर्म* में 'तुम्हारा क्या विश्वास है' और 'मेरा क्या विश्वास है' इसका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। प्रत्येक व्यक्ति को परमेश्वर में विश्वास करना चाहिए और उनके आदेशों का पालन करना चाहिए। *आनुकूल्येन*

कृष्णानुशीलनम्—श्रीकृष्ण अर्थात् ईश्वर जो कुछ भी कहें उसको प्रत्यक्षत: सम्पन्न करना चाहिए। यही धर्म है।

यदि वास्तव में कोई कृष्णभावनाभावित है, तो उसका कोई शत्रु नहीं हो सकता। चूँकि इसका एकमात्र कार्य अन्यों को श्रीकृष्ण या ईश्वर के प्रति समर्पित होने के लिए प्रेरित करना है, तो उसके शत्रु कैसे होंगे? यदि कोई हिन्दू धर्म, मुस्लिम धर्म, ईसाई धर्म या अन्य किसी धर्म का पक्ष लेता है, तो संघर्ष हो सकता है। इतिहास बताता है कि ईश्वर की स्पष्ट संकल्पना के बिना चलने वाले विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय परस्पर लड़ते-भिड़ते रहे हैं। मानव इतिहास में ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं। किन्तु ऐसे धर्म जो परमेश्वर की सेवा पर ध्यान नहीं देते वे नश्वर होते हैं और द्वेष से पूर्ण होने के कारण दीर्घकाल तक नहीं चल पाते। ऐसी बहुत सी गतिविधियाँ हैं, जो ऐसी धर्म-पद्धतियों के विरूद्ध कार्य करती हैं। अत: मनुष्य को चाहिए कि वह 'मेरा विश्वास' या 'तेरा विश्वास' जैसे विचारों को त्याग दे। हर एक मनुष्य को ईश्वर में विश्वास करना चाहिए और उन्ही की शरण में जाना चाहिए। यही *भागवत-धर्म* है।

भागवत-धर्म कोई आडम्बर नहीं, इसमें तो कृष्ण से प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध का अनुशीलन किया जाता है (*ईशावस्यम् इदं सर्वम्*)। वैदिक आदर्शों के अनुसार—*सर्वं खल्व् इदं ब्रह्म*—सभी वस्तुओं में ब्रह्म विद्यमान है। *भागवत-धर्म* परमेश्वर की इसी उपस्थिति को ग्रहण करता है। वह इस संसार की प्रत्येक वस्तु को मिथ्या नहीं मानता। चूंकि प्रत्येक वस्तु परम से उद्‌भुत है। अत: प्रत्येक वस्तु का ईश्वर की सेवा में कुछ न कुछ उपयोग है। उदाहरणार्थ, इस समय हम माइक्रोफोन में बोल कर लिखा रहे हैं और उसका श्रुतिलेखन मशीन पर अंकन होता जा रहा है। इस प्रकार हमें ज्ञात हो रहा है कि मशीन भी किस प्रकार परब्रह्म से सम्बन्धित हो सकती है। चूँकि हम इसका उपयोग भगवान् की सेवा के लिए कर रहे हैं अत: यह ब्रह्म है। *सर्वं खल्व् इदं ब्रह्म*—का यही अर्थ है। प्रत्येक वस्तु इसलिए ब्रह्म है क्योंकि वह भगवान् की सेवा के कार्य में आ सकती है। कुछ भी मिथ्या नहीं, सभी कुछ सत्य है।

भागवत-धर्म को सब धर्मों में सर्वोत्कृष्ट कहा जाता है क्योंकि इसके अनुयायी किसी के प्रति द्वेषभाव नहीं रखते। शुद्ध भागवत अर्थात् शुद्ध भक्त किसी द्वेष के बिना सबों को कृष्णभावनामृत आन्दोलन में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित करते हैं। इस प्रकार भक्त ठीक श्रीभगवान् की तरह होता है। *सुहृदं-सर्वभूतानाम्*—वह समस्त जीवात्माओं का सखा है। इसलिए यह धर्म सभी धर्मों में श्रेष्ठ है। जबकि तथाकथित दूसरे धर्म किसी विशेष प्रकार के व्यक्ति के लिए होते हैं जो किसी एक विचारधारा को मानते हैं। ऐसी विचारधारा का *भागवत-धर्म* या कृष्ण-भक्ति में कोई स्थान नहीं है। यदि हम उन समस्त धर्मों की छानबीन करें जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को छोड़कर अन्य देवताओं या किसी और की उपासना करते हैं, तो हमें पता चलेगा कि वे द्वेषों से पूर्ण हैं अत: अशुद्ध हैं।

कः क्षेमो निजपरयोः
कियान्वार्थः स्वपरद्रुहा धर्मेण ।
स्वद्रोहात्तव कोपः
परसम्पीडया च तथाधर्मः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

कः—क्या; क्षेमः—लाभ; निज—अपना; परयोः—तथा पराया; कियान्—कितना; वा—अथवा; अर्थः—उद्देश्य; स्व-पर-द्रुहा—जो कर्ता तथा अन्यों के प्रति द्वेष करता है; धर्मेण—धर्म से; स्व-द्रोहात्—अपने आप द्वेष पूर्ण होने से; तव—तुम्हारा; कोपः—क्रोध; पर-सम्पीडया—अन्यों को कष्ट पहुँचा कर; च—भी; तथा—और; अधर्मः—अधर्म।

ऐसा धर्म जिससे अपने तथा परायों में द्वेष उत्पन्न होता है किस प्रकार लाभप्रद हो सकता है? ऐसे धर्म का पालन करने से कौन सा कल्याण हो सकता है? इससे आखिर क्या मिलेगा? आत्म द्वेष के द्वारा अपने आपको तथा अन्यों को कष्ट पहुँचा कर मनुष्य आपके (भगवान् के) क्रोध का भाजन होता है और अधर्म करता है।

तात्पर्य : भगवत-धर्म के अतिरिक्त कोई भी धर्म अपने तथा अन्यों के प्रति द्वेष का कारण बनता हैं। उदाहरणार्थ, ऐसे अनेक धर्म हैं जिनमें पशु-वध की संस्तुति की जाती है। कर्ता तथा पशु दोनों के लिए ऐसी पशुबलि अमंगलकारक है। यद्यपि कभी-कभी देवी काली के समक्ष पशु की

बलि चढ़ाकर देवी के ही समक्ष बूचड़ खाने से मांस खरीदकर खाने के बजाय उसी पशु का मांस खाने की आज्ञा दी जाती है, किन्तु देवी काली की उपस्थिति में मांस खाने की यह आज्ञा श्रीभगवान् की आज्ञा नहीं होती। यह तो उस बेचारे व्यक्ति को छुट देना है, जो मांस खाना नहीं त्याग पाता। यह तो अनाप-सनाप रूप से मांस खाते रहने पर अंकुश है। ऐसा धर्म निन्दनीय है। इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं *सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज*—अन्य सभी कर्मों (धर्मों) को त्याग कर मेरी शरण में आओ। धर्म में यही अन्तिम शब्द है।

कोई-कोई यह तर्क कर सकते हैं कि पशुबलि की संस्तुति वेदों में तो की गई है। किन्तु यह संस्तुति एक प्रकार से प्रतिबन्ध है। मांस की खरीद पर वेदों द्वारा प्रतिबन्ध न लगाये जाने से लोग बाजार से मांस खरीदेंगे और बाजारों में मांस की दुकानों में बढ़ोतरी होगी और कसाईघरों में वृद्धि होगी। इस पर प्रतिबन्ध के हेतु कभी-कभी वेदों में कहा गया है कि देवी काली के समक्ष बकरे जैसे किसी पशु का वध करके उसका मांस खाया जा सकता है। चाहे जो भी धर्म हो जिसमें पशु-यज्ञ की अनुमति दी जाती है, वह यज्ञकर्ता तथा पशु दोनों ही के लिए अशुभ है। *भगवद्गीता*(१६.१७) में ऐसे ईर्ष्यालु मनुष्यों की भर्त्सना की गई है, जो दिखावे के लिए पशु-यज्ञ करते हैं—

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।

यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥

''वे अपने को ही श्रेष्ठ मानते हुए, सदा अशिष्ट व्यवहार करने वाले, धन तथा झूठे मान के मद में अंधे कभी कभी शास्त्रविधि का पालन किये बिना ही नाम के लिए यज्ञ करते हैं।'' कभी-कभी देवी काली की पूजा के लिए भव्य आयोजन करके पशु-यज्ञ सम्पन्न किये जाते हैं, किन्तु ऐसे उत्सव भले ही यज्ञ कह कर किये जाँय, वास्तव में यज्ञ नहीं हैं, क्योंकि यज्ञ का अर्थ है श्रीभगवान् को प्रसन्न करना। इसलिए इस युग में विशेष रूप से *यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः*—जिनकी विमल बुद्धि है उन्हें यज्ञपुरुष विष्णु को हरे कृष्णमंत्र के जप से तुष्ट करना चाहिये। किन्तु

श्रीभगवान् द्वारा द्वेषपूर्ण व्यक्तियों की भर्त्सना निम्नवित् की जाती है, यथा (*भगवद्गीता* १६.१८-१९)—

अहंकारं बलं दर्पं क्रोधं च संश्रिता:।

मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयका:॥

तानहं द्विषत: क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

"असुर मिथ्या अहंकार, बल, घमंड, काम तथा क्रोध में मोहग्रस्त होकर उन श्रीभगवान् से द्वेष करता है, जो उसके अपने तथा अन्यों के शरीरों में स्थित हैं और इस प्रकार असली धर्म की निन्दा करता है। जो द्वेषपूर्ण तथा दुराचारी हैं और जो मनुष्यों में अधम हैं उन्हें मैं भवसागर में, निरन्तर आसुरी योनियों में डालता हूँ।" भगवान् ऐसे पुरुषों की भर्त्सना करते हैं, जैसाकि *तव कोप:* शब्दों से प्रकट है। हत्या करने वाला पुरुष अपने आप से तथा मारे गये व्यक्ति से ईर्ष्या करता है, क्योंकि हत्या करने का परिणाम यह होता है कि वह पकड़ा जाएगा और शूली पर चढ़ाया जाएगा। भले ही कोई मनुष्यनिर्मित राज्य के नियमों की अवज्ञा करके मृत्यु दंड से अपने को बचा ले, किन्तु वह ईश्वरीय नियमों से नहीं बच सकता। किसी भी पशु का हन्ता अगले जीवन में उसी पशु द्वारा मारा जायेगा। यही प्रकृति का नियम है। मनुष्य को भगवान् के आदेशों का पालन करना ही चाहिए। *सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—यदि कोई किसी अन्य तथाकथित धर्म का पालन करता है, तो श्रीभगवान् उसे अनेक प्रकार से दण्डित करते हैं। इस प्रकार यदि कोई कल्पित धर्म का पालन करता है, तो वह न केवल अन्यों के प्रति ईर्ष्या करता है, वरन् अपने आपसे भी करता है। अत: उसका धर्म निरर्थक है।

श्रीमद्भागवत (१.२.८) का कथन है—

धर्म:स्वनुष्ठित: पुंसां विष्वक्सेनकथासु य:।

नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

“यदि परमेश्वर के संदेश के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने में अक्षम रहें तो चाहे जिस वृत्ति के पुरुष द्वारा धर्म (कर्तव्य) किया जाये वे धर्म निरर्थक श्रम के सदृश हैं।” ऐसा धर्म, जो कृष्णभक्ति उत्पन्न न कर सके, समय तथा श्रम का अपव्यय मात्र है।

न व्यभिचरति तवेक्षा
यया ह्यभिहितो भागवतो धर्मः ।
स्थिरचरसत्त्वकदम्बेष्व्
अपृथग्धियो यमुपासते त्वार्याः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; व्यभिचरति—असफल होती है; तव—तुम्हारी; ईक्षा—दृष्टि; यया—जिससे; हि—निस्सन्देह; अभिहितः—कथित; भागवतः—आपके उपदेशों तथा गतिविधियों के अनुसार; धर्मः—धार्मिक नियम; स्थिर—अचल; चर—चल; सत्त्व-कदम्बेषु—जीवात्माओं में से; अपृथक्-धियः—जो भेदभाव नहीं विचारते; यम्—जिसको; उपासते—पालन करते हैं; तु—निश्चय ही; आर्याः—सभ्यता में अग्रणी लोग।

हे भगवन्! जीवन के महदुद्देश्य से विचलित न होने वाले आपके दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्य का वृत्तिपरक धर्म श्रीमद्भागवत तथा *भगवद्गीता* में उपदिष्ट होना है। जो मनुष्य आपके आदेशानुसार इस धर्म का पालन करते हैं, जड़ तथा चेतन समस्त जीवात्माओं को समान मानते हैं और किसी को उच्च तथा निम्न नहीं मानते हैं, वे आर्य कहलाते हैं। ऐसे आर्य आप की अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की उपासना करते हैं।

तात्पर्य : *भागवत-धर्म* तथा कृष्णकथा एक ही हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति गुरु बन कर *भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत,* अन्य *पुराणों, वेदान्त सूत्र* तथा इसी प्रकार के वैदिक ग्रथों से सर्वत्र श्रीकृष्ण के उपदेशों का प्रचार करे। सभ्यता में अग्रणी आर्य लोग *भागवत-धर्म* का पालन करते हैं। पाँच वर्ष का एक बालक होते हुए भी प्रह्लाद महाराज ने कहा (*भागवत* ७.६.१)—

कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्॥

प्रह्लाद महाराज अपने सहपाठियों को *भागवत-धर्म* का उपदेश उस समय देते जब कक्षा में अध्यापक के अनुपस्थित होने से उन्हें अवसर मिल जाता। उनका कथन है कि जीवन के आरम्भ होते ही बच्चों को पाँच वर्ष की आयु से ही *भागवत-धर्म* की शिक्षा दी जानी चाहिए, क्योंकि यह मनुष्य देह जो अत्यन्त दुर्लभ है इस विषय को समझने के लिए है।

भागवत-धर्म का अभिप्राय है श्रीभगवान् के आदेशानुसार जीवन बिताना। *भगवद्गीता* में हम देखते हैं कि परमेश्वर ने मानव-समाज को चार सामाजिक विभागों में नियोजित किया है। ये हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। पुन: पुराणों तथा अन्य वैदिक ग्रंथों में भी चार आश्रम वर्णित हैं, जो आध्यात्मिक जीवन के विभाग हैं। अत: *भागवत-धर्म* का अर्थ है चार प्रकार के सामाजिक तथा आध्यात्मिक विभागों का वर्णाश्रम धर्म।

मानव समाज के वे सभी सदस्य जो *भागवत-धर्म* का कठोरता से पालन करते हैं तथा श्रीभगवान् के उपदेशों के अनुसार जीवनयापन करते हैं, आर्य कहलाते हैं। ऐसे आर्यों की सभ्यता जो भगवान् के उपदेशों का कठोरता से पालन करते हैं और इन से कभी विचलित नहीं होते, पूर्ण हैं। ऐसे सभ्य मनुष्य वृक्षों, पशुओं मनुष्यों तथा अन्य जीवात्माओं में कोई भेदभाव नहीं रखते। *पंडिता: समदर्शिन:*—कृष्णभावनामृत में पूर्णत: सुशिक्षित होने से वे प्राणियों को समभाव से देखते हैं। आर्यजन एक छोटे से पौधे तक को वृथा नहीं काटते, बड़े-बड़े वृक्षों को इन्द्रियतृप्ति हेतु काटने की बात तो दूर रही। इस समय सम्पूर्ण विश्व में हत्या का बोलबाला है। मनुष्य इन्द्रियतृप्ति के हेतु वृक्षों की, पशुओं की, यहाँ तक कि मनुष्यों की भी हत्या करते हैं। किन्तु यह आर्य सभ्यता नहीं है। जैसाकि यहाँ कहा गया है—*स्थिरचरसत्त्वकदम्बेष्ववपृथग्धिय:*। *अपृथग्-धिय:* शब्द बताता है कि आर्य लोग जीव की उच्च तथा निम्न कोटियों में भेदभाव नहीं रखते हैं। समस्त प्रकार के जीवों की रक्षा होनी चाहिए। सभी जीवों को जीने का अधिकार है, चाहे वे पशु हों या पौधे। आर्य सभ्यता का यही मूल सिद्धान्त है। निम्न जीवों के अतिरिक्त जितने भी जीव मानवीय सभ्यता को प्राप्त हो चुके हैं उन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के समाज में विभाजित करना चाहिए।

ब्राह्मणों को चाहिए कि वे *भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक ग्रथों में वर्णित श्रीभगवान् के उपदेशों का पालन करें। जिसके लिए गुण तथा कर्म को आधार बनाना चाहिए। इसे यों भी कह सकते हैं कि मनुष्य को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के गुण अर्जित करके तदनुसार कर्म करना चाहिए। इसी सभ्यता को आर्यों ने ग्रहण किया है। उन्होंने ऐसा क्यों किया है? क्योंकि वे श्रीकृष्ण को प्रसन्न रखने के इच्छुक हैं। यही परिपूर्ण सभ्यता है।

आयजन न तो कृष्ण के उपदेशों से विपथ होते हैं और न उन्हें श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह है, किन्तु जो अनार्य तथा अन्य आसुरी लोग हैं, वे *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के उपदेशों का पालन नहीं करते। इसका कारण यही है कि उन्हें अन्य जीवात्माओं के बलिदान पर इन्द्रियतृप्ति करते रहने की शिक्षा दी गई है। *नूनं प्रमत्त: कुरुते विकर्म*—उनका एकमात्र कार्य इन्द्रियतृप्ति के हेतु सभी प्रकार की वर्जित गतिविधियाँ करना है। *यद् इन्द्रिय-प्रीतया-पृणोति*—अपनी इन्द्रियों की तृप्ति करने के इच्छुक होने से वे इस प्रकार विचलित होते हैं। उनके न तो कोई अन्य कार्य होता है न अभिलाषा रहती है। पिछले श्लोक में उनकी सभ्यता प्रणाली की भर्त्सना की गई है। *क: क्षेमो निजपरयो: कियान् वार्थ: स्वपरद्रुहा धर्मेण*—''ऐसी सभ्यता से क्या लाभ जो अपने आपकी तथा अन्यों की हत्या करती हो।''

अत: यह श्लोक प्रत्येक मनुष्य को आर्य सभ्यता का सदस्य बनने एवं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के उपदेशों को स्वीकार करने की सलाह देता है। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के उपदेशानुसार ही अपने सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक कार्य करे। श्रीकृष्ण द्वारा इच्छित समाज की स्थापना करने के प्रयास हेतु हम कृष्णभावनामृत आंदोलन का प्रसार कर रहे हैं। कृष्णभावनामृत का यही अभिप्राय है। इसलिए हम *भगवद्गीता* को यथारूप में प्रस्तुत कर रहे हैं और समस्त प्रकार के मनोरथों को पास नहीं फटकने देते। मूढ़ तथा उचक्के लोग *भगवद्गीता* की अपने ढंग से व्याख्या करते लगते हैं। जब श्रीकृष्ण कहते हैं—*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु*—अर्थात् सदैव मेरा स्मरण करो, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो और मुझे ही नमस्कार करो—तो उनकी टीका है

हमें जिनकी शरण में जाना है वे कृष्ण नहीं। इस प्रकार वे *भगवद्गीता* का काल्पनिक अर्थ लगाते हैं। किन्तु कृष्णभावनामृत आन्दोलन मानव समाज के पूर्ण कल्याण हेतु *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के उपदेशों का अर्थात् *भागवत-धर्म* का कठोरता से पालन करता है। जो *भगवद्गीता* को तोड़-मरोड़ कर अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के हेतु कोई अर्थ निकालता है, वह अनार्य है। अत: ऐसे व्यक्तियों द्वारा की गई *भगवद्गीता* की टीकाओं का बहिष्कार करना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि यथारूप में *भगवद्गीता* का पालन करे। श्रीकृष्ण भगवान् *भगवद्गीता* (१२.६-७) में कहते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परा:।

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।

भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

"जो अपने सम्पूर्ण कर्मों को मुझे अर्पित करके और अनन्य भक्ति के परायण होकर नित्य निरन्तर मेरा ही भजन-चिन्तन करते हैं, मुझमें एकान्तिक भाव से मन को अनुरक्त करते हैं, हे पार्थ! मैं उन भक्तों का जन्म-मृत्यु रूपी संसार-सागर से अतिशीघ्र उद्धार करता हूँ।"

न हि भगवन्नघटितमिदं
त्वद्दर्शनान्नृणामखिलपापक्षयः ।
यन्नाम सकृच्छ्रवणात्
पुक्कशोऽपि विमुच्यते संसारात् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; भगवन्—हे भगवान्; अघटितम्—जो कभी न हुआ हो; इदम्—यह; त्वत्—तुम्हारे; दर्शनात्—दर्शन से; नृणाम्—समस्त मनुष्यों का; अखिल—सम्पूर्ण; पाप—पापों का; क्षयः—संहार; यत्-नाम—जिसका नाम; सकृत्—केवल एक बार; श्रवणात्—सुनने से; पुक्कशः—निम्नतम जाति, चण्डाल; अपि—भी; विमुच्यते—छूट जाता है; संसारात्—इस संसार के बन्धन से।

हे भगवन्! आपके दर्शनमात्र से किसी के लिए भी समस्त भौतिक कल्मषों से तुरन्त

मुक्त हो जाना असम्भव नहीं है। आपको प्रत्यक्ष देखने की बात तो एक ओर रही; आपके पवित्र नाम को एक बार सुन लेने से ही चण्डाल तक समस्त भौतिक कल्मष से विमुक्त हो जाते हैं। ऐसी दशा में आपके दर्शनमात्र से ऐसा कौन है, जो भौतिक कल्मष से मुक्त नहीं हो पायेगा?

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (९५.१६) में कहा गया है—*यन्नाम श्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मल:*—ईश्वर का पवित्र नाम सुनने मात्र से ही मनुष्य तुरन्त शुद्ध हो जाता है। अत: इस कलियुग में, जबकि सभी मनुष्य कल्मषग्रस्त हैं, भगवन्नाम जप को सुधार का एकमात्र साधन संस्तुत किया गया है।

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

"कलह तथा छल-छद्म के इस युग में उद्धार का एकमात्र साधन भगवान् के पवित्र नाम का जप है। इसका कोई अन्य साधन नहीं है, कोई अन्य साधन नहीं, कोई अन्य साधन नहीं है।" (*बृहन्नारदीय पुराण*)। पाँच सौ वर्ष पूर्व चैतन्य महाप्रभु ने पवित्र नाम के इस जप का सूत्रपात किया और हम कृष्णभावनामृत आन्दोलन के माध्यम से अब यह देख रहे हैं कि निम्न श्रेणी के व्यक्ति भगवान् के पवित्र नाम को सुनने मात्र से ही समस्त पापकर्मों से छुटकारा पा रहे हैं। यह संसार पापकर्मों का परिणाम है। इस संसार का प्रत्येक व्यक्ति धिक्कारणीय है, तो भी जिस प्रकार कैदियों की भिन्न भिन्न श्रेणियाँ होती हैं उसी प्रकार मनुष्यों की भी विभिन्न श्रेणियाँ हैं। वे जीवन की समस्त अवस्थाओं में दुख भोग रहे हैं। सांसारिक दुखों को रोकने के लिए हरे कृष्ण *सङ्कीर्तन* आन्दोलन को या कृष्ण-भावनामृत के जीवन को अपनाना चाहिए।

यहाँ पर कहा गया है *यन्नाम सकृच्छ्रवणात्*—श्रीभगवान् का पवित्र नाम इतना शक्तिमान है कि अपराधरहित होकर एक बार भी सुनने पर नीच मनुष्य भी पवित्र हो सकते हैं (*किरात-हूणान्ध्र पुलिन्द पुल्कशा:*)। ऐसे मनुष्य जो चण्डाल कहलाते हैं, वे शूद्रों से भी नीच हैं, किन्तु वे भी

पवित्र नाम के श्रवणमात्र से पवित्र किये जा सकते हैं। हम अपनी वर्तमान स्थिति में भगवान् को मन्दिरों में श्रीविग्रह रूप में प्रत्यक्ष देख सकते हैं। भगवान् के साक्षात् दर्शन की तो बात ही क्या? भगवान् का श्रीविग्रह परमेश्वर से भिन्न नहीं। चूँकि भगवान् हमारे वर्तमान् मोहग्रस्त नेत्रों से नहीं दिखाई पड़ते इसलिए उन्होंने हमारे समक्ष ऐसे रूप में उपस्थित होना स्वीकार किया है, जिसे हम देख सकें। अत: मन्दिर में स्थित श्रीविग्रह को भौतिक नहीं समझना चाहिए। श्रीविग्रह को भोजन भेंट करके तथा उसे अलंकृत करके उसकी सेवा करने से मनुष्य को वही फल प्राप्त होता है, जो वैकुण्ठ में साक्षात् भगवान् की सेवा से प्राप्त होता है।

अथ भगवन्वयमधुना
त्वदवलोकपरिमृष्टाशयमलाः ।
सुरऋषिणा यत्कथितं
तावकेन कथमन्यथा भवति ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

अथ—अत:; भगवन्—हे भगवन्; वयम्—हम; अधुना—इस समय; त्वत्-अवलोक—आपके दर्शन से; परिमृष्ट—धुल जाती हैं; आशय-मला:—हृदय की दूषित कामनाएँ; सुर-ऋषिणा—देवताओं में ऋषि (नारद) द्वारा; यत्—जो; कथितम्—कहा गया; तावकेन—जो आपका भक्त है; कथम्—किस प्रकार; अन्यथा—और कुछ; भवति—हो सकता है।

अत: हे भगवन्! आपके दर्शन मात्र मेरे समस्त पापकर्मों के कल्मष एवं भौतिक आसक्ति तथा कामासक्त विषयों के फल, जिनसे मेरा मन तथा अन्त:स्थल पूरित था, सदा-सर्वदा के लिए धो दिये हैं। जो कुछ नारद मुनि ने भविष्यवाणी की है, वह अन्यथा नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में, नारद मुनि के द्वारा शिक्षित किये जाने के कारण ही मुझे आपका सान्निध्य प्राप्त हो सका है।

तात्पर्य : यही पूर्ण विधि की प्रक्रिया है। मनुष्य को चाहिए कि वह नारद, व्यास तथा असित जैसे विद्वानों से शिक्षा ग्रहण करे और उनके सिद्धान्तों का पालन करे। तभी उसे अपने ही नेत्रों से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के दर्शन हो सकेंगे। इसके लिए केवल अभ्यास चाहिए। अत:

श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यम् इन्द्रियैः। हम अपने कुंद नेत्रों तथा अन्य इन्द्रियों से श्रीभगवान् को नहीं देख सकते, किन्तु यदि विद्वानों के उपदेशों के अनुसार अपनी इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाते हैं, तो हम उनका दर्शन कर सकेंगे। श्रीभगवान् का दर्शन करते ही निश्चय रूप से अन्त:स्थल के समस्त पाप-फल कट जाते हैं।

विदितमनन्त समस्तं
तव जगदात्मनो जनैरिहाचरितम् ।
विज्ञाप्यं परमगुरोः
कियदिव सवितुरिव खद्योतैः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

विदितम्—ज्ञात; अनन्त—हे अनन्त; समस्तम्—सब कुछ; तव—तुम्हारा; जगत्-आत्मनः—समस्त जीवों का परमात्मा; जनैः—जनसमूह या जीवों द्वारा; इह—इस संसार में; आचरितम्—किया हुआ; विज्ञाप्यम्—सूचित किया गया; परम-गुरोः—परम स्वामी, परमेश्वर को; कियत्—कितना; इव—निश्चय ही; सवितुः—सूर्य को; इव—के समान; खद्योतैः—जुगनुओं के द्वारा।

हे अनन्त भगवान्! इस भौतिक जगत में जीवात्मा जो भी करता है, वह आपको भली-भाँति विदित रहता है क्योंकि आप परमात्मा हैं। सूर्य की उपस्थिति में जुगनुओं के प्रकाश से कुछ भी उद्दीप्त नहीं होता? इसी प्रकार, चूँकि आप सब कुछ जानने वाले हैं, अतः आपकी उपस्थिति में मेरे बताने के लिए कुछ भी नहीं है।

नमस्तुभ्यं भगवते
सकलजगत्स्थितिलयोदयेशाय ।
दुरवसितात्मगतये
कुयोगिनां भिदा परमहंसाय ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; तुभ्यम्—तुमको; भगवते—हे भगवान्; सकल—समस्त; जगत्—दृश्य जगत की; स्थिति—पालन; लय—संहार; उदय—तथा उत्पत्ति; ईशाय—ईश्वर को; दुरवसित—समझ पाना असम्भव; आत्म-गतये—जिसकी अपनी स्थिति; कु-योगिनाम्—ऐन्द्रिय पदार्थों में आसक्त रहने वालों का; भिदा—भेददृष्टि के मिथ्या ज्ञान के कारण; परम-हंसाय—परम पवित्र को।

हे भगवान्! आप ही इस दृश्य जगत के स्रष्टा, पालक तथा संहारक हैं, किन्तु घोर

संसारी तथा भेदवादी जनों के पास वे नेत्र ही नहीं होते जिनसे वे आपको देख सकें। वे आपकी वास्तविक स्थिति को न समझ पाने के कारण इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं कि यह दृश्य-जगत आपके ऐश्वर्य से स्वतंत्र है। हे भगवान्! आप परम विशुद्ध हैं और सभी छहों ऐश्वर्यों से ओतप्रोत हैं। अतः मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : नास्तिक लोग सोचते हैं कि दृश्य जगत पदार्थ के संयोग से अकस्मात् निर्मित हुआ, उसमें ईश्वर का कोई हाथ नहीं है। भौतिकतावादी तथाकथित रसायन विज्ञानी एवं नास्तिक विचारक इस दृश्य-जगत के सम्बन्ध में ईश्वर का नामोल्लेख भी करने से कतराते रहते हैं। उनके लिए ईश्वर की सृष्टि को समझ पाना असम्भव है क्योंकि वे घोर भौतिकतावादी होते हैं। श्रीभगवान् तो परमहंस हैं ? अर्थात् परम शुद्ध, जबकि इन्द्रिय-सुख में आसक्त तथा भौतिक कार्य-कलापों में गधों की तरह जुटे रहने वाले पापी व्यक्ति अत्यन्त नीच मनुष्य होते हैं। नास्तिक प्रवृत्ति होने के कारण उनका सारा तथाकथित वैज्ञानिक ज्ञान वृथा है। वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को नहीं समझ पाते।

यं वै श्वसन्तमनु विश्वसृजः श्वसन्ति
यं चेकितानमनु चित्तय उच्चकन्ति ।
भूमण्डलं सर्षपायति यस्य मूर्ध्नि
तस्मै नमो भगवतेऽस्तु सहस्त्रमूर्ध्ने ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको; वै—निस्सन्देह; श्वसन्तम्—चेष्टा से; अनु—पीछे-पीछे; विश्व-सृजः—दृश्य जगत के अधीक्षक; श्वसन्ति—चेष्टा करते हैं; यम्—जिसको; चेकितानम्—देखते हुए; अनु—पीछे; चित्तयः—समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ; उच्चकन्ति—देखती हैं; भू-मण्डलम्—विशाल ब्रह्माण्ड; सर्षपायति—सरसों के बीज सदृश बन जाता हैं; यस्य—जिसके; मूर्ध्नि—शीश पर; तस्मै—उनको; नमः—नमस्कार है; भगवते—छः ऐश्वर्यों से पूर्ण, श्रीभगवान्; अस्तु—हो; सहस्त्र-मूर्ध्ने—सहस्त्र फनों वाले।

हे भगवान्! आपकी चेष्टा से ही भगवान् ब्रह्मा, इन्द्र तथा दृश्य जगत के अन्य अधीक्षक अपने अपने कार्यों में निरत हो जाते हैं। हे ईश्वर! आपके द्वारा भौतिक शक्ति को देखे जाने पर ही इन्द्रियाँ देख पाती हैं। अनन्त भगवान् समस्त ब्रह्माण्डों को अपने सर पर सरसों के

बीजों के समान धारण किये रहते हैं। हे सहस्त्र-फण वाले परम पुरुष! मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

श्रीशुक उवाच

संस्तुतो भगवानेवमनन्तस्तमभाषत ।
विद्याधरपतिं प्रीतश्चित्रकेतुं कुरूद्वह ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; संस्तुतः—पूजित होकर; भगवान्—श्रीभगवान्; एवम्—इस प्रकार; अनन्तः—भगवान् अनन्त; तम्—उससे; अभाषत—बोले; विद्याधर-पतिम्—विद्याधरों के राजा; प्रीतः—प्रसन्न होकर; चित्रकेतुम्—चित्रकेतु; कुरु-उद्वह—हे कुरु वंश में श्रेष्ठ.

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे कुरुवंश में श्रेष्ठ, महाराज परीक्षित! विद्याधरों के राजा चित्रकेतु द्वारा की गई स्तुति से अत्यधिक प्रसन्न होकर भगवान् अनन्तदेव ने इस प्रकार उत्तर दिया।

श्रीभगवानुवाच

यन्नारदाङ्गिरोभ्यां ते व्याहृतं मेऽनुशासनम् ।
संसिद्धोऽसि तया राजन्विद्यया दर्शनाच्च मे ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् संकर्षण ने उत्तर दिया; यत्—जो; नारद-अङ्गिरोभ्याम्—नारद तथा अंगिरा द्वारा; ते—तुमसे; व्याहृतम्—कहे गये; मे—मेरी; अनुशासनम्—पूजा; संसिद्धः—परम सिद्धि प्राप्त; असि—हो; तया—उससे; राजन्—हे राजन्; विद्यया—मंत्र से; दर्शनात्—प्रत्यक्ष दर्शन से; च—भी; मे—मेरे।

भगवान् अनन्त देव ने इस प्रकार उत्तर दिया—हे राजन्! परम साधु नारद तथा अंगिरा द्वारा मेरे सम्बन्ध में दिये गये उपदेशों को अंगीकार करने के फलस्वरुप तुम दिव्य ज्ञान से भली-भाँति अवगत हो चुके हो। आध्यात्मिक ज्ञान में शिक्षित हो जाने के कारण अब तुमने मेरा साक्षात् दर्शन किया है, अतः तुम अब पूर्णतया सिद्ध हो चुके हो।

तात्पर्य : जीवन की सिद्धि इसी में है कि आध्यात्मिक शिक्षा द्वारा ईश्वर के अस्तित्व तथा ईश्वर द्वारा इस संसार के सृजन, पालन एवं संहार की क्रिया को समझा जाये। पूर्ण ज्ञान होने पर नारद तथा अंगिरा एवं उनकी शिष्य-परम्परा के सदस्यों की संगति द्वारा ईश्वर के प्रति प्रेम विकसित

किया जा सकता है। तब मनुष्य भगवान् अनन्त का साक्षात् दर्शन कर सकता हैं। यद्यपि ईश्वर अनन्त हैं, किन्तु अहैतुकी दयावश वे भक्त को दिखाई पड़ते हैं। अपने वर्तमान बद्ध जीवन के कारण न तो हम ईश्वर को देख सकते हैं, न जान सकते हैं।

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यम् इन्द्रियैः।

सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयम् एव स्फुरत्यदः॥

''अपनी सांसारिक कलुषित इन्द्रियों के द्वारा कोई भी श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण तथा लीलाओं के दिव्य स्वरूप को नहीं समझ सकता। जब वह ईश्वर की दिव्य सेवा से दिव्य रूप से संतृप्त हो जाता है तभी उसे इन सबकी अनुभूति है।'' (*भक्तिरसामृत सिन्धु* १.२.२३४। यदि कोई नारद मुनि अथवा उनके प्रतिनिधि के निर्देशन में आध्यात्मिक जीवन बिताता है और भगवान् की सेवा करता है, तो वह ईश्वर के साक्षात्कार के योग्य हो सकता है। *ब्रह्म-संहिता* (५.३८) का कथन है—

प्रेमांजनच्छुरितभक्तिविलोचनेन

सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं आदि ईश्वर गोविन्द की पूजा करता हूँ जो प्रेम-अंजन से आँजे हुए नेत्रों वाले भक्तों द्वारा सदैव देखे जाते हैं। वे भक्त के हृदय में स्थित अपने शाश्वत श्यामसुन्दर स्वरूप में देखे जाते हैं।'' मनुष्य को अपने गुरु के उपदेशों का पालन करना चाहिए। इस प्रकार योग्य बनकर वह श्रीभगवान् को देख पाता है जैसाकि महाराज चित्रकेतु के उदाहरण से स्पष्ट है।

अहं वै सर्वभूतानि भूतात्मा भूतभावनः ।
शब्दब्रह्म परं ब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू ॥५१॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; वै—निस्सन्देह; सर्व-भूतानि—जीवात्माओं के विभिन्न रूपों में विस्तार करके; भूत-आत्मा—समस्त जीवात्माओं की परम आत्मा (उनके परम निर्देशक तथा भोक्ता); भूत-भावनः—समस्त जीवात्माओं के दृष्टिगोचर होने के कारण; शब्द-ब्रह्म—दिव्य शब्द का स्पंदन (हरे कृष्ण मंत्र); परम् ब्रह्म—परम सत्य; मम—मेरा; उभे—दोनों, उभय (शब्द तथा रूप); शाश्वती—नित्य; तनू—दोनों शरीर।

समस्त चर तथा अचर जीवात्माएँ मेरे ही प्रकाश (विस्तार) हैं और मुझसे पृथक् हैं। मैं ही समस्त जीवों का परमात्मा हूँ; मेरे प्रकाशित करने के ही कारण उनका अस्तित्व है। मैं ही ऊँकार तथा हरे कृष्ण हरे राम मंत्र जैसे दिव्य शब्दों का रूप हूँ और मैं ही परम सत्य हूँ। ये दोनों रूप—दिव्य शब्द तथा श्रीविग्रह का शाश्वत आनन्दमय दिव्य रूप—मेरे शाश्वत रूप हैं, वे भौतिक नहीं हैं।

तात्पर्य : नारद तथा अंगिरा ने चित्रकेतु को भक्तियोग का उपदेश दिया है। चित्रकेतु को अपनी भक्ति के ही कारण भगवान् के दर्शन हुए। भक्ति के द्वारा क्रमशः अग्रसर होकर मनुष्य जब ईश्वर के प्रेम के पद पर पहुंच जाता है (*प्रेमा पुमार्थो महान्*) तो उसे प्रतिक्षण ईश्वर का दर्शन होता है। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है, जब कोई गुरु की बताई विधि से चौबीसों घंटे भक्ति में लगा रहता है (*तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्*) तो उसकी भक्ति अधिकाधिक आनन्दप्रद हो जाती है। तब प्रत्येक के हृदय में स्थित भगवान् भक्त से बातें करता है। (*ददामि बुद्धियोगं तं येन माम् उपयान्ति ते*)। चित्रकेतु को पहले उसके गुरुद्वय अंगिरा तथा नारद ने शिक्षा दी और उनके उपदेशों का पालन करते हुए वह इस योग्य बन सका कि ईश्वर का साक्षात् दर्शन कर सके। इसलिए अब भगवान् उसे ज्ञान का सार समझा रहे हैं।

ज्ञान का सार यह है कि वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं—एक तो सत्य और दूसरी क्षणिक या मिथ्या। मनुष्य को इन दोनों का अस्तित्व समझना होगा। वास्तविक तत्त्व या सत्य तो ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् हैं। *श्रीमद्भागवत* (१.२.११) में कहा गया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

"परम सत्य के ज्ञाता तत्त्वविद् इस अद्वैत वस्तु को ब्रह्म, परमात्मा अथवा भगवान् कहकर पुकारते हैं।" परम सत्य इन तीन रूपों में सदैव विद्यमान है, अत: ये तीनों मिलकर तत्त्व कहलाते हैं।

अतत्त्व से दो प्रकार के निसर्जन होते हैं—*कर्म* तथा *विकर्म*। *कर्म* से भौतिक दिन में सम्पन्न दैहिक कार्यों तथा रात्रि में स्वप्न के मानसिक कार्यों का बोध होता है। ये न्यूनाधिक ऐच्छिक कार्यकलाप हैं। किन्तु विकर्म से मिथ्या गतिविधियों का बोध होता है, जो मायाजाल के तुल्य हैं। ये ऐसे कर्म हैं जिनकी कोई सार्थकता नहीं है। उदाहरणार्थ, आधुनिक विज्ञानी यह कल्पना करते हैं कि रासायनिक संयोग से जीवन उत्पन्न किया जा सकता है और इसी को सिद्ध करने के लिए वे विश्व भर में अपनी-अपनी प्रयोगशालाओं में व्यस्त हैं यद्यपि पूरे इतिहास में आज तक कोई भौतिक संयोग के द्वारा जीवन उत्पन्न करने में सक्षम हुआ नहीं मिलता है। एसे कर्मों को विकर्म कहा गया है।

सभी भौतिक कार्य-कलाप वास्तव में छल हैं और इनमें प्रगति करना समय का अपव्यय मात्र है। इन्हें अकार्य कहते हैं। मनुष्य को भगवान् के उपदेशों से सीखना चाहिए। जैसा कि *भगवद्गीता* (४.१७) में कहा गया है—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मण:।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गति:॥

"कर्म का तत्त्व समझ पाना अत्यन्त गहन है, अत: कर्म, विकर्म तथा अकर्म को भलीभाँति जानना चाहिए।" मनुष्य को इन्हें भगवान् से सीधे ग्रहण करना चाहिए जो अनन्तदेव के रूप में राजा चित्रकेतु को उपदेश दे रहे हैं क्योंकि उसने नारद तथा अंगिरा के उपदेशों का पालन करते हुए भक्ति की समुन्नत अवस्था प्राप्त कर ली थी।

यहाँ पर यह कहा गया है—*अहं वै सर्वभूतानि*—ईश्वर सब कुछ (*सर्वभूतानि*) है। जिसमें जीवात्माएँ तथा भौतिक तत्त्व सम्मिलित हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* (७.४-५) में श्रीकृष्ण स्वयं

कहते हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

''पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और मिथ्या अहंकार—ऐसे आठ प्रकार से विभाजित ये मेरी अपरा भौतिक शक्तियाँ हैं। हे महाबाहु अर्जुन! इस अपरा (जड़) शक्ति के अतिरिक्त मेरी एक परा (चेतन) शक्ति भी है, जो भौतिक शक्ति से संघर्ष करते हुए जीवों से बनी है और जो ब्रह्माण्ड को धारण किए हुए हैं।'' जीवात्मा भौतिक तत्त्वों के ऊपर अपना आधिपत्य जताना चाहता है, किन्तु ये भौतिक तत्त्व तथा आध्यात्मिक स्फुलिंग श्रीभगवान् से निकलने वाली शक्तियाँ हैं। इसलिए ईश्वर का कथन है—*अहं वै सर्वभूतानि*—''मैं सब कुछ हूँ।'' जिस प्रकार अग्नि से उष्मा तथा प्रकाश दोनों ही निकलते हैं उसी प्रकार ये दोनों शक्तियाँ—भौतिक तत्त्व तथा जीवात्माएँ—परमात्मा से उद्भूत हैं। इसलिए ईश्वर का कथन है—*अहं वै सर्वभूतानि*—''मैं भौतिक तथा आध्यात्मिक श्रेणियों का विस्तार करता हूँ।''

पुनः, परमात्मा ही बद्धजीवों के मार्गदर्शक हैं, जो भौतिक वातावरण से आबद्ध हो जाते हैं। इसलिए वे *भूतात्मा भूतभावनः* कहलाते हैं। वे जीवात्मा को बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वह अपनी स्थिति सुधार कर परम धाम को वापस जा सकता है अथवा यदि वह परम धाम को वापस नहीं जाना चाहता तो उसे परमात्मा अपनी भौतिक स्थिति सुधारने के लिए बुद्धि प्रदान करते हैं। इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (१५.१५) में की है—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—मैं सबों के हृदय में स्थित हूँ और मुझ से ही स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न हैं।'' ईश्वर भीतर से ही जीव को बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वह कार्य कर सके। इसलिए पिछले श्लोक में यह कहा गया था कि ईश्वर की चेष्टा के बाद ही हम चेष्टा आरम्भ करते हैं। हम स्वतंत्र

रूप से चेष्टा करने का कोई कार्य कर सकने में असमर्थ हैं इसलिए ईश्वर भूतभावन हैं।

इस श्लोक में दिये गये ज्ञान की दूसरी विशेषता यह है कि *शब्द-ब्रह्म* भी परमेश्वर का एक रूप है। अर्जुन ने श्रीकृष्ण के नित्य, आनन्दमय स्वरूप को परम ब्रह्म रूप में स्वीकार किया है। बद्ध जीवात्मा मायावी वस्तु को सत्य मान बैठता है। यह माया या अविद्या कहलाती है। अत: वैदिक ज्ञान के अनुसार सर्वप्रथम भक्त बनना चाहिए और तब विद्या तथा अविद्या के भेद को समझना चाहिए जिसका विशद वर्णन *ईशोपनिषद्* में हुआ है। विद्या के स्तर पर वास्तविक रूप में होने पर मनुष्य स्वत: राम, कृष्ण तथा संकर्षण जैसे रूपों में श्रीभगवान् को समझ पाता है। वैदिक ज्ञान को भगवान् का श्वास कहते हैं। वैदिक ज्ञान के आधार पर ही सारे कार्यकलाप प्रारम्भ होते हैं। इसलिए भगवान् का कथन है कि जब मैं चेष्टा करता हूँ या साँस लेता हूँ तभी भौतिक ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति होती है और क्रमश: विभिन्न कार्य चालू होते हैं। *भगवद्गीता* में ईश्वर का कथन है प्रणव *सर्ववेदेषु*—''मैं समस्त मंत्रों में ॐ शब्द हूँ।'' वैदिक ज्ञान दिव्य शब्द ध्वनि प्रणव या ऊँकार से प्रारम्भ होती है। *हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे* भी वह दिव्य ध्वनि (शब्द) है। *अभिन्नत्वान् नामनामिनो:*—ईश्वर के पवित्र नाम तथा स्वयं ईश्वर में कोई अन्तर नहीं है।

लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि सन्ततम् ।
उभयं च मया व्याप्तं मयि चैवोभयं कृतम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

लोके—इस भौतिक जगत में; विततम्—विस्तीर्ण (भौतिक सुख के प्रसंग में); आत्मानम्—जीवात्मा; लोकम्—भौतिक जगत; च—भी; आत्मनि—जीवात्मा में; सन्ततम्—विस्तृत; उभयम्—दोनों (भौतिक जगत तथा जीवात्मा); च—तथा; मया—मेरे द्वारा; व्याप्तम्—व्याप्त; मयि—मुझमें; च—भी; एव—निस्सन्देह; उभयम्—दोनों ही; कृतम्—उत्पन्न।

बद्धजीव इस भौतिक जगत में, जिसे वह सुख के साधनों से भरा हुआ समझता है, यह सोचकर विस्तार करता है कि वही इस जगत का भोक्ता है। इसी प्रकार यह भौतिक जगत जीवात्मा के सुख के साधनस्वरूप विस्तार करता है। इस प्रकार दोनों ही विस्तार करते हैं,

किन्तु दोनों ही मेरी शक्तियाँ होने के कारण मुझसे युक्त हैं। परमेश्वर होने के कारण मैं इन फलों का कारण हूँ और मनुष्य को यह जानना चाहिए कि ये दोनों ही मुझमें व्याप्त हैं।

तात्पर्य : मायावादी दर्शन सभी वस्तुओं को गुण की दृष्टि से श्रीभगवान् या परब्रह्म के तुल्य मानता हैं, फलतः प्रत्येक वस्तु को पूजनीय समझता हैं। मायावाद को इस खतरनाक सिद्धान्त के कारण सामान्य लोग नास्तिकता की ओर प्रवृत्त हुए हैं। इस सिद्धान्त के बल पर व्यक्ति अपने को ईश्वर समझता है, जो सत्य नहीं है। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना*) कि वास्तविकता तो यह है कि समस्त दृश्य जगत परमेश्वर की शक्तियों का प्रसार है। ये शक्तियाँ भौतिक तत्त्वों तथा जीवात्माओं के रूप में प्रकट होती हैं। जीवात्माएँ भ्रमवश यह मान बैठती हैं कि भौतिक तत्त्व उनके भोग के साधन हैं और वे अपने को उनका भोक्ता मान बैठती हैं। किन्तु इनमें से कोई भी स्वतंत्र नहीं, ये दोनों भगवान् की शक्तियाँ हैं। इनका मूल कारण श्रीभगवान् ही हैं। यद्यपि ईश्वर की शक्तियों का प्रसार ही यह मूल कारण है किन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि ईश्वर ने स्वयं का विभिन्न प्रकार से विस्तार किया है। मायावादियों के सिद्धान्त की भर्त्सना करते हुए गीता में भगवान् का कथन है—*मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः*—सभी जीव मुझमें स्थित हैं किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ। प्रत्येक वस्तु उन्हीं पर आश्रित है और उनकी शक्तियों का विस्तार मात्र है किन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि सारी वस्तुएँ उन्हीं के समान पूजनीय हैं। भौतिक विस्तार तो क्षणिक है, जबकि ईश्वर क्षणिक नहीं है। जीवात्माएँ ईश्वर के अंश हैं, किन्तु वे स्वयं ईश्वर नहीं हैं। इस जगत में जीवात्माएँ अकल्पनीय नहीं हैं, किन्तु ईश्वर तो है। अतः यह सिद्धान्त कि ईश्वर की शक्तियाँ उन्हीं के विस्तार होने के कारण ईश्वर के ही समान हैं, भ्रामक है।

यथा सुषुप्तः पुरुषो विश्वं पश्यति चात्मनि ।
आत्मानमेकदेशस्थं मन्यते स्वप्न उत्थितः ॥५३॥

एवं जागरणादीनि जीवस्थानानि चात्मनः ।
मायामात्राणि विज्ञाय तद्द्रष्टारं परं स्मरेत् ॥५४॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; सुषुप्तः—सोया हुआ; पुरुषः—व्यक्ति; विश्वम्—समस्त ब्रह्माण्डों को; पश्यति—देखता है; च—भी; आत्मनि—अपने भीतर; आत्मानम्—अपने आपको; एक-देश-स्थम्—एक स्थान में स्थित होकर; मन्यते—मानता है; स्वप्ने—स्वप्नावस्था में; उत्थितः—जगकर; एवम्—इस प्रकार; जागरण-आदीनि—जागृत अवस्था तथा अन्य; जीव-स्थानानि—जीव की विभिन्न स्थितियाँ; च—भी; आत्मनः—श्रीभगवान् की; माया-मात्राणि—माया शक्ति के प्रदर्शन; विज्ञाय—जानकर; तत्—उनका; द्रष्टारम्—जनक या द्रष्टा; परम्—परमात्मा; स्मरेत्—स्मरण करना चाहिए।.

जब मनुष्य गाढ़ निद्रा में होता है, तो वह स्वप्न देखता है और अपने अन्तर में विशाल पर्वत तथा नदियाँ या सम्भवतः सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को भी देखता है, यद्यपि ये सारी वस्तुएँ अत्यन्त दूर हैं। किन्तु कभी कभी जब वह स्वप्न से जगता है, तो अपने को मनुष्य रूप में एक स्थान पर बिस्तर पर लेटा पाता है। तब वह अपने को अनेक स्थितियों में पाता है यथा विशेष राष्ट्रीयता, परिवार आदि में। प्रगाढ़-निद्रा, स्वप्न तथा जाग्रत ये समस्त अवस्थाएँ भगवान् की ही शक्तियाँ हैं। मनुष्य को इन अवस्थाओं के मूल स्रष्टा को, जो इनसे प्रभावित नहीं होता, सदैव स्मरण रखना चाहिए।

तात्पर्य : जीवात्माओं की जागृत, स्वप्न, सुषुप्त अवस्थाओं में से कोई भी यथार्थ नहीं हैं। ये बद्ध जीवन की विभिन्न अवस्थाओं की झलकियाँ हैं। भले ही अनेक पर्वत, नदियाँ, वृक्ष, मधु-मक्खियाँ, शेर तथा सर्प कितनी ही दूर स्थित क्यों न हो, किन्तु स्वप्न में कोई उन्हें पास दिखने की कल्पना कर सकता हैं। जिस प्रकार रात्रि में सूक्ष्म स्वप्न दिखते हैं उसी प्रकार जीवात्मा जगने पर भी राष्ट्र, जाति, समाज, धन, उच्च प्रासाद, बैंक बचत, पद तथा यश के स्थूल स्वप्न में खोया रहता है। ऐसी दशा में मनुष्य को यह समझना चाहिए कि भौतिक जगत के संसर्ग से ही ऐसा होता है। जीवन के विभिन्न रूपों में वह विभिन्न पदों पर स्थित है और ये माया की सृष्टियाँ हैं, जो भगवान् के निर्देश से कार्यरत रहती हैं। फलतः भगवान् ही परम कर्ता है और बद्धजीव का कर्तव्य है कि वह इन परमकर्ता श्रीकृष्ण का स्मरण करे। जीवात्मा के रूप में हम सभी प्रकृति की तरंगों में बहाए लिए जा रहे हैं, जो ईश्वर के निर्देशानुसार कार्य करती हैं (*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*)।

भक्तिविनोद ठाकुर का गीत है—*मिछे मायार वशे, याच्छ भेसेऽ, खाच्छ हाबुडुबु, भाइ*—स्वप्न तथा जागृति की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में तुम माया की तरंगों में क्यों बहे चले जा रहे हो? ये सब माया की सृष्टियाँ हैं। हमारा एकमात्र कर्तव्य है कि माया के अध्यक्ष श्रीकृष्ण का स्मरण करते रहें। ऐसा करने के लिए शास्त्रों का उपदेश है—*हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्*—मनुष्य को चाहिए कि वह ईश्वर के नाम का अर्थात् *हरेकृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे* का निरन्तर जप करे। परमेश्वर का साक्षात्कार तीन विभिन्न परम रूपों में—ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्—में होता है किन्तु परम साक्षात्कार तो भगवान् ही हैं। जो भगवान् श्रीकृष्ण का साक्षात्कार करता है, वह ही पूर्ण महात्मा है *(वासुदेव: सर्वं इति स महात्मा सुदुर्लभ:)*। मनुष्य जन्म पाकर हमें भगवान् को समझना चाहिए क्योंकि इससे प्रत्येक अन्य वस्तु समझ में आ सकेगी। *यस्मिन् विज्ञाते सर्वमेवं विज्ञातं भवति।* इस वैदिक शिक्षा से मात्र श्रीकृष्ण को जान लेने से ब्रह्म, परमात्मा, प्रकृति, माया, दिव्य शक्ति इत्यादि सभी जाने जा सकते हैं। प्रकृति भगवान् की अध्यक्षता में कार्य करती है और हम सब प्रकृति की विभिन्न अवस्थाओं के द्वारा दूर ले जाये जा रहे हैं। आत्म-साक्षात्कार के लिए सदैव श्रीकृष्ण को स्मरण रखना होगा। जैसा *पद्मपुराण* में कहा गया है—*स्मर्तव्य: सततं विष्णु:*—हमें चाहिए कि भगवान् विष्णु का सदैव स्मरण करें। *विस्मर्तव्यो न जातुचित्*—हमें भगवान् को कभी नहीं भूलना चाहिए। यही जीवन की सिद्धि है।

येन प्रसुप्त: पुरुष: स्वापं वेदात्मनस्तदा ।
सुखं च निर्गुणं ब्रह्म तमात्मानमवेहि माम् ॥ ५५॥

शब्दार्थ

येन—जिसके (परब्रह्म) द्वारा; प्रसुप्त:—सोया हुआ; पुरुष:—व्यक्ति; स्वापम्—स्वप्न के विषय को; वेद—जानता है; आत्मन:—अपना; तदा—उस समय; सुखम्—सुख; च—भी; निर्गुणम्—भौतिक परिवेश से किसी प्रकार के सम्पर्क से रहित, सम्पर्कहीन; ब्रह्म—परमात्मा; तम्—उसको; आत्मानम्—सर्वव्यापी; अवेहि—जानो; माम्—मुझको।.

तुम मुझे परब्रह्म जानो, जो सर्वव्यापी परमात्मा है और जिसके माध्यम से सुप्त जीवात्मा अपनी सुप्तावस्था तथा इन्द्रियातीत सुखों का अनुभव कर सकता है। कहने का तात्पर्य यह

है। कि सुप्त जीवात्माओं की गतिविधियों का कारण मैं ही हूँ।

तात्पर्य : जब जीवात्मा मिथ्या अहंकार से मुक्त हो जाता है, तो वह ईश्वर के अंश रूप में, अर्थात् आत्मा रूप में अपनी श्रेष्ठ स्थिति को समझता है। फलत: सुप्तावस्था में भी जीवात्मा ब्रह्म के कारण सुख का अनुभव कर सकता है। भगवान् का कथन है कि वह ब्रह्म, वह परमात्मा तथा वह भगवान् मैं ही हूँ। श्रील जीव गोस्वामी ने अपने ग्रंथ *क्रम सन्दर्भ* में ऐसा लिखा है।

उभयं स्मरत: पुंस: प्रस्वापप्रतिबोधयो: ।
अन्वेति व्यतिरिच्येत तज्ज्ञानं ब्रह्म तत्परम् ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

उभयम्—दोनों अवस्थाएँ (निद्रा तथा जागृति); स्मरत:—स्मरण रखते हुए; पुंस:—पुरुष का; प्रस्वाप—निद्रा के समय चेतना का; प्रतिबोधयो:—तथा जगते रहने पर चेतना का; अन्वेति—विस्तार होता है; व्यतिरिच्येत—के परे पहुँच सकता है; तत्—वह; ज्ञानम्—ज्ञान; ब्रह्म—परब्रह्म; तत्—वह; परम्—दिव्य।

यदि निद्रा के समय देखे गये स्वप्न केवल परमात्मा द्वारा ही देखे गए विषय हैं, तो फिर जीवात्मा, जो परमात्मा से पृथक् है, स्वप्नों के क्रियाकलापों को क्यों स्मरण रखता है? एक व्यक्ति के अनुभवों को दूसरा नहीं समझ सकता। अत: जीवात्मा, जो तथ्यों का ज्ञाता है और स्वप्न तथा जागृति में प्रकट होने वाली घटनाओं के विषय में जिज्ञासा करता है आकस्मिक कार्यों से पृथक् है। जानने वाला तो ब्रह्म है। दूसरे शब्दों में जानने का गुण जीवात्मा तथा परमात्मा से सम्बन्धित है। इसलिए जीवात्मा को भी स्वप्न तथा जागृति की घटनाओं का अनुभव हो सकता है। दोनों दशाओं में ज्ञाता वही रहता है और गुणरूप में वह परब्रह्म से एकाकार है।

तात्पर्य : जीवात्मा गुणों में परब्रह्म के ही समान है, किन्तु मात्रा में जीवात्मा ब्रह्म का अंश होने से परब्रह्म के समान नहीं हो सकता। गुणों में ब्रह्म होने के कारण जीवात्मा स्वप्न में तो विगत कार्यकलपों को स्मरण रख सकता है और जागृत अवस्था की वर्तमान् गतिविधियों को भी जान सकता है।

यदेतद्विस्मृतं पुंसो मद्भावं भिन्नमात्मनः ।
ततः संसार एतस्य देहाद्देहो मृतेर्मृतिः ॥ ५७॥

शब्दार्थ

यत्—जो; एतत्—यह; विस्मृतम्—भूला हुआ; पुंसः—जीवात्मा का; मत्-भावम्—मेरी स्थिति; भिन्नम्—भिन्न, विलग; आत्मनः—परमात्मा से; ततः—उससे; संसारः—भौतिक, बद्ध जीवन; एतस्य—जीवात्मा का; देहात्—एक शरीर से; देहः—दूसरा शरीर; मृतेः—एक मृत्यु से; मृतिः—दूसरी मृत्यु।

जब जीवात्मा अपने आपको मुझसे भिन्न मानकर ज्ञान तथा आनन्द में मुझसे अपने गुण रूप में दिव्य तादात्म्य को भूल जाता है तभी उसका यह भौतिक बद्ध जीवन प्रारम्भ होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि वह मुझमें तादात्म्य न मानकर अपने सांसारिक विस्तारों में, यथा पत्नी, सन्तान तथा धन में अभिरुचि दिखाने लगता है। इस प्रकार अपने कर्मों के प्रभाव से एक शरीर के बाद दूसरा शरीर और एक मृत्यु के बाद दूसरी मृत्यु का चक्कर लगाता रहता है।

तात्पर्य : सामान्यतः मायावादी दार्शनिक अथवा उनसे प्रभावित व्यक्ति अपने आपको श्रीभगवान् के ही सदृश उत्तम मानते हैं। यह उनके बद्ध जीवन का कारण है। वैष्णव कवि जगदानन्द पंडित ने *प्रेम-विवर्त* में कहा है—

कृष्ण-बहिर्मुख हञा भोग वांछा करे।
निकट-स्थ माया तारे जापटिया धरे॥

ज्योंही जीवात्मा अपनी स्वाभाविक स्थिति को भूलकर परमेश्वर से एकाकार होने की चेष्टा करता है, उसी क्षण बद्ध जीवन शुरु हो जाता है। जीवात्मा तथा परमात्मा में गुणात्मक तथा मात्रात्मक सादृश्य का विचार उठना ही बद्ध जीवन का मूल कारण है। यदि कोई परमेश्वर तथा जीवात्मा के अन्तर को भूलता है, तो बद्ध जीवन शुरू हो जाता है। बद्ध जीवन का अभिप्राय है एक शरीर त्याग कर दूसरा ग्रहण करना और मरने के बाद पुनः मृत्यु को स्वीकार करना। मायावादी ज्ञानी का दर्शन कहता है—*तत् त्वम् असि*—अर्थात् तुम ईश्वर ही हो। वह भूल जाता है

कि उसका यह उपदेश जीवात्मा की तटस्था स्थिति पर लागू होता है, जो सूर्य प्रकाश के समान है। सूर्य में उष्मा तथा प्रकाश दोनों रहते हैं एवं सूर्य प्रकाश में भी ये दोनों विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार सूर्य तथा सूर्य प्रकाश गुण-रूप से एक ही हैं, किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सूर्य का प्रकाश सूर्य पर आश्रित है। जैसा भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में कहा है—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*—"मैं ब्रह्म का मूल स्रोत हूँ।" सूर्य गोलक की उपस्थिति के कारण सूर्य-प्रकाश महत्त्वपूर्ण है। ऐसा नहीं है कि सूर्यप्रकाश की सर्वव्यापकता के कारण सूर्यगोलक महत्त्वपूर्ण है। इस तथ्य को न समझना तथा उसे भूलना ही माया है। अपनी तथा परमेश्वर की स्वाभाविक स्थिति के विस्मरण से ही मनुष्य माया या संसार अर्थात् बद्ध जीवन में प्रवेश करता है। इस सम्बन्ध में मध्वाचार्य का कहना है—

सर्वभिन्नं परात्मानं विस्मरन् संसरेदिह।

अभिन्नं संस्मरन् याति तमो नास्त्यत्र संशयः॥

जब मनुष्य यह सोचता है कि वह सब प्रकार से परमात्मा से अभिन्न है, तो वह निश्चित रूप से अंधकार (*तमः*) में रहता है।

लब्ध्वेह मानुषीं योनिं ज्ञानविज्ञानसम्भवाम् ।
आत्मानं यो न बुद्ध्येत न क्वचित्क्षेममाप्नुयात् ॥५८॥

शब्दार्थ

लब्ध्वा—प्राप्त करके; इह—इस संसार (विशेषतः भारतवर्ष की इस पवित्र भूमि पर) में; मानुषीम्—मनुष्य की; योनिम्—योनि; ज्ञान—वैदिक शास्त्रों के माध्यम से ज्ञान का; विज्ञान—तथा जीवन में उस ज्ञान का व्यवहार; सम्भवाम्—सम्भाव्यता, सम्भावना; आत्मानम्—अपना वास्तविक स्वरूप; यः—जो भी; न—नहीं; बुद्ध्येत—समझता है; न—कभी नहीं; क्वचित्—किसी समय; क्षेमम्—जीवन में सफलता; आप्नुयात्—प्राप्त कर सकता है।

वैदिक ज्ञान तथा उसके व्यवहार के माध्यम से आत्म-साक्षात्कार द्वारा मनुष्य अपने जीवन में सिद्धि प्राप्त कर सकता है। ऐसा भारत में जन्म लेने वाले मनुष्य के लिए विशेष रूप से सम्भव है। जो मनुष्य ऐसी उपयुक्त परिस्थिति में जन्म लेकर अपने आपको नहीं जान पाता वह परम सिद्धि को प्राप्त कर सकने में अक्षम रहता है भले ही वह स्वर्ग लोक को

प्राप्त क्यों न हो जाए।

तात्पर्य : इस कथत की पुष्टि *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (आदि ९.४१) में मिलती है। भगवान् चैतन्य ने कहा है—

भारत-भूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार।

जन्म सार्थक करि, कर पर-उपकार॥

भारत भूमि में जन्म लेने वाला प्रत्येक प्राणी विशेषतया मानव वैदिक ज्ञान तथा उसके व्यवहार के द्वारा परम साफल्य प्राप्त कर सकता है। स्वयंसिद्ध होने पर वह सम्पूर्ण मानव समाज के आत्म-साक्षात्कार के लिए सेवा-कार्य कर सकता है। परोपकार करने की यह सर्वोत्तम विधि है।

स्मृत्वेहायां परिक्लेशं ततः फलविपर्ययम् ।
अभयं चाप्यनीहायां सङ्कल्पाद्विरमेत्कविः ॥५९॥

शब्दार्थ

स्मृत्वा—स्मरण करके; ईहायाम्—कर्मफल के उद्देश्य से किये गये कर्म के क्षेत्र में; परिक्लेशम्—शक्ति का क्षय तथा दयनीय स्थिति; ततः—उससे; फल-विपर्ययम्—इच्छा से विपरीत फल; अभयम्—निर्भयता; च—भी; अपि—निस्सन्देह; अनीहायाम्—जब कर्मफल की कोई आकांक्षा नहीं रह जाती; सङ्कल्पात्—भौतिक कामना से; विरमेत्—रुक जाना चाहिए; कविः—ज्ञानी पुरुष।.

यह स्मरण रखते हुए कि कर्मफल हेतु सम्पन्न कर्मों के क्षेत्र में बड़ी बड़ी अड़चनें आती हैं और इच्छा से विपरीत फल प्राप्त होते हैं चाहे वे भौतिक कर्मों से उत्पन्न हों या वैदिक ग्रंथों द्वारा बताये सकाम कर्मों के फल हों, बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह सकाम कर्मों की इच्छा का परित्याग कर दे क्योंकि ऐसी चेष्टाओं से जीवन का परम उद्देश्य प्राप्त नहीं हो सकता। दूसरी ओर यदि कोई कर्मफल के हेतु निष्काम भाव से कर्म करता है अर्थात् वह भक्ति-कार्यों में लगता है, तो दयनीय स्थितियों से मुक्त रहकर वह जीवन का परम उद्देश्य प्राप्त कर सकता है। इस पर विचार करते हुए मनुष्य को चाहिए कि भौतिक कामनाओं का परित्याग करे।

सुखाय दुःखमोक्षाय कुर्वाते दम्पती क्रियाः ।
ततोऽनिवृत्तिरप्राप्तिर्दुःखस्य च सुखस्य च ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

सुखाय—सुख के लिए; दुःख-मोक्षाय—दुख से छुटकारा पाने के लिए; कुर्वाते—करते हैं; दम्-पती—पत्नी तथा पति; क्रियाः—कर्म; ततः—उससे; अनिवृत्तिः—विश्राम न मिलना; अप्राप्तिः—लाभ न होना; दुःखस्य—दुख का; च—भी; सुखस्य—सुख का; च—भी।

पुरुष तथा स्त्री जैसे दम्पत्ति के रूप में कई प्रकार से पारस्परिक सहयोग करके सुख प्राप्त करने तथा दुख को कम करने के लिए कई प्रकार से योजना बनाते हैं; किन्तु कामनाओं से पूर्ण होने के कारण उनके कर्मों से न तो कभी सुख प्राप्त होता है और न दुख में कमी आती है। उल्टे, ये भारी दुख के कारण बनते हैं।

एवं विपर्ययं बुद्ध्वा नृणां विज्ञाभिमानिनाम् ।
आत्मनश्च गतिं सूक्ष्मां स्थानत्रयविलक्षणाम् ॥ ६१ ॥
दृष्टश्रुताभिर्मात्राभिर्निर्मुक्तः स्वेन तेजसा ।
ज्ञानविज्ञानसन्तृप्तो मद्भक्तः पुरुषो भवेत् ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विपर्ययम्—विपरीत; बुद्ध्वा—समझकर; नृणाम्—मनुष्यों का; विज्ञ-अभिमानिनाम्—जो अपने को विज्ञान से पूर्ण मानते हैं; आत्मनः—अपने आप का; च—भी; गतिम्—उन्नति; सूक्ष्माम्—समझने में अत्यन्त कठिन; स्थान-त्रय—जीवन की तीन दशाएँ (गाढ़ निद्रा, स्वप्न तथा जागृति); विलक्षणाम्—से विलग; दृष्ट—प्रत्यक्ष देखा हुआ; श्रुताभिः—अथवा अधिकारियों की सूचना से समझा हुआ; मात्राभिः—वस्तुओं से; निर्मुक्तः—मुक्त होकर; स्वेन—अपने आप से; तेजसा—विवेक से; ज्ञान-विज्ञान—ज्ञान तथा इस ज्ञान के व्यवहार से; सन्तृप्तः—पूर्णतया सन्तुष्ट; मत्-भक्तः—मेरा भक्त; पुरुषः—पुरुष; भवेत्—हो जाना चाहिए।

मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि जो व्यक्ति अपने भौतिक अनुभव पर गर्व करते हैं उन्हें जगते, सोते तथा प्रगाढ़ निद्रा में कल्पित किए गये फलों के विपरीत फल मिलते हैं। मनुष्य को यह भी समझना चाहिए कि यद्यपि भौतिकतावादी व्यक्ति के लिए आत्मा को देख पाना दुष्कर है, तो भी वह इन समस्त स्थितियों से परे है और उसे अपने विवेक के आधार पर इस जन्म में तथा अगले जन्म में कर्म-फल की इच्छा का परित्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार दिव्य ज्ञान में अनुभवी बनकर ही किसी को मेरा भक्त बनना चाहिए।

एतावानेव मनुजैर्योगनैपुण्यबुद्धिभिः ।
स्वार्थः सर्वात्मना ज्ञेयो यत्परात्मैकदर्शनम् ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

एतावान्—इतना; एव—निस्सन्देह; मनुजैः—मनुष्यों के द्वारा; योग—भक्ति योग के द्वारा, परमेश्वर से जुड़ने की विधि द्वारा; नैपुण्य—निपुणता; बुद्धिभिः—बुद्धिमानों के द्वारा; स्व-अर्थः—जीवन का परम उद्देश्य; सर्व-आत्मना—सब प्रकार से; ज्ञेयः—जानने योग्य; यत्—जो; पर—दिव्य ईश्वर का; आत्म—तथा आत्मा का; एक—एकत्व का; दर्शनम्—समझ।

जो पुरुष जीवन के परम उद्देश्य को प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि वे परम पुरुष तथा जीवात्मा का भलीभाँति अवलोकन करें जो अंश तथा पूर्ण होने के कारण गुण रूप से एक ही हैं। जीवन की यही सबसे बड़ी समझ है। इससे बढ़कर और कोई सत्य नहीं है।

त्वमेतच्छ्रद्धया राजन्नप्रमत्तो वचो मम ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो धारयन्नाशु सिध्यसि ॥ ६४॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; एतत्—यह; श्रद्धया—परम श्रद्धापूर्वक; राजन्—हे राजन्; अप्रमत्तः—प्रमत्त हुए बिना किसी अन्य निष्कर्ष को न पहुँचते हुए; वचः—उपदेश; मम—मेरा; ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्नः—ज्ञान तथा विज्ञान से भलीभाँति अवगत होकर; धारयन्—स्वीकार करते हुए; आशु—शीघ्र ही; सिध्यसि—सिद्ध हो सकोगे।

हे राजन्! यदि तुम भौतिक सुख से विरक्त रह कर परम श्रद्धा सहित मुझसे संलग्न होकर ज्ञान तथा इसकी जीवन में व्यवहारिकता में निपुण बन कर मेरे इस निष्कर्ष को स्वीकार करोगे तो तुम परम सिद्धि को प्राप्त होगे।

श्रीशुक उवाच
आश्वास्य भगवानित्थं चित्रकेतुं जगद्गुरुः ।
पश्यतस्तस्य विश्वात्मा ततश्चान्तर्दधे हरिः ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; आश्वास्य—आश्वासन देकर; भगवान्—भगवान्; इत्थम्—इस प्रकार; चित्रकेतुम्—राजा चित्रकेतु को; जगत्-गुरुः—परम गुरु; पश्यतः—देखते देखते; तस्य—उसके; विश्व-आत्मा—समस्त ब्रह्माण्ड का परमात्मा; ततः—वहाँ से; च—भी; अन्तर्दधे—अन्तर्धान हो गया; हरिः—भगवान् हरि।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—इस प्रकार चित्रकेतु को उपदेश देकर और उसे सिद्धि का आश्वासन देकर जगद्गुरु परमात्मा भगवान् संकर्षण उस स्थान से चित्रकेतु के देखते-देखते अन्तर्धान हो गये।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के छठे स्कंन्ध के अन्तर्गत ''राजा चित्रकेतु की परमेश्वर से भेंट'' नामक सोलहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सत्रह

माता पार्वती द्वारा चित्रकेतु को शाप

इस अध्याय में भगवान् शिव के साथ हँसी करने के कारण चित्रकेतु द्वारा असुर देह प्राप्त करने का वर्णन है।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से बातें करने के बाद चित्रकेतु विद्याधर लोक की स्त्रियों के साथ अपने विमान में सुखोपभोग करने लगा। भगवान् के यश का सामूहिक कीर्तन करने के बाद उसने अपने विमान में बाह्य अन्तरिक्ष में उड़ान भरी। एक दिन इस प्रकार उड़ते-उड़ते वह सुमेरु पर्वत के निकुंजों में जा पहुँचा जहाँ चारों ओर से सिद्धों, चारणों और साधुओं से घिरे हुए शिवजी पार्वती का आलिंगन कर रहे थे। शिवजी को उस स्थिति में देखकर चित्रकेतु जोर-जोर से हँसा जिससे पार्वती अत्यन्त रुष्ट हो उठीं और उसे शाप दे दिया। इस शाप से चित्रकेतु ने बाद में वृत्रासुर नामक असुर के रूप में जन्म लिया।

किन्तु चित्रकेतु पार्वती के शाप से तनिक भी नहीं डरा। वह इस प्रकार बोला—''प्रत्येक प्राणी अपने विगत कर्मों के अनुसार मानव-समाज में सुख-दुख का भोग करता है और इस भौतिक जगत में विचरण करता है। अत: वह स्वयं अपने सुख-दुख के लिए उत्तरदायी है। इस जगत में प्रत्येक प्राणी भौतिक प्रकृति द्वारा नियंत्रित होता है, तो भी वह अपने आपको प्रत्येक वस्तु का कर्ता मानता है। यह जगत में जो मनुष्य भगवान् की बहिरंगा शक्ति से उद्‌भूत है वह भी शापित होता है, तो कभी वर प्राप्त करता है और इस प्रकार वह कभी स्वर्गलोक का सुख भोगता है, तो कभी अधोलोकों का दुख; किन्तु ये समस्त स्थितियाँ एक सी हैं क्योंकि ये इसी भौतिक संसार में हैं। इनमें कोई भी स्थिति स्थायी अस्तित्व नहीं रखती क्योंकि ये सभी अस्थायी हैं। भगवान् ही

परम नियंता हैं क्योंकि उन्हीं के नियंत्रण में इस संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार होता है, किन्तु वे इन विभिन्न रूपान्तरों के प्रति उदासीन बने रहते हैं। भगवान् की भौतिक बहिरंगा शक्ति इस भौतिक जगत के ऊपर नियंत्रण रखती है। ईश्वर जीवात्माओं के लिए विभिन्न स्थितियाँ उत्पन्न करके संसार की सहायता करते हैं।''

जब चित्रकेतु ने इस प्रकार कहा तो वहाँ पर उपस्थित शिव तथा पार्वती सहित सभा के सभी सदस्यों को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। तब भगवान् शिव ईश्वर के भक्तों के सम्बन्ध में बताने लगे। उन्होंने बताया कि भक्त जीवन की समस्त स्थितियों में उदासीन रहता है, चाहे वह स्वर्गलोक में हो या नरक लोक में, चाहे वह मुक्त हो या बद्ध, चाहे वह सुखी हो या दुखी। ये माया द्वारा उत्पन्न द्वैत मात्र हैं। माया के प्रभाव से जीवात्मा स्थूल तथा सूक्ष्म देह धारण करता है और इस आडम्बरपूर्ण स्थिति में ईश्वर का अंश होते हुए भी कष्ट उठाता है। तथाकथित देवता अपने को स्वतंत्र राजा मानते हैं और वे यह भूल जाते हैं कि समस्त जीवात्माएँ परमेश्वर के भिन्न अंश हैं। यह अध्याय भक्त तथा भगवान् के यशोगान के साथ समाप्त होता है।

श्रीशुक उवाच

यतश्चान्तर्हितोऽनन्तस्तस्यै कृत्वा दिशे नमः ।
विद्याधरश्चित्रकेतुश्चचार गगने चरः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; यतः—जिस (दिशा); च—तथा; अन्तर्हितः—अन्तर्धान; अनन्तः—भगवान् अनन्त; तस्यै—उसको; कृत्वा—करके; दिशे—दिशा में; नमः—नमस्कार; विद्याधरः—विद्याधर लोक का राजा; चित्रकेतुः—चित्रकेतु; चचार—यात्रा की; गगने—बाह्य अन्तरिक्ष में; चरः—चल।

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने कहा—जिस दिशा में भगवान् अनन्त अन्तर्धान हुए थे उस दिशा की ओर नमस्कार करके, राजा चित्रकेतु विद्याधरों का अगुवा बनकर बाह्य अन्तरिक्ष में यात्रा करने लगा।

स लक्षं वर्षलक्षाणामव्याहतबलेन्द्रियः ।

स्तूयमानो महायोगी मुनिभिः सिद्धचारणैः ॥ २॥
कुलाचलेन्द्रद्रोणीषु नानासङ्कल्पसिद्धिषु ।
रेमे विद्याधरस्त्रीभिर्गापयन्हरिमीश्वरम् ॥ ३॥

शब्दार्थ

सः—वह (चित्रकेतु); लक्षम्—एक लाख; वर्ष—वर्ष; लक्षाणाम्—एक लाख का; अव्याहत—बाधारहित; बल-इन्द्रियः—जिसकी इन्द्रियों का बल तथा शक्ति; स्तूयमानः—प्रशंसित होकर; महा-योगी—परम योगी; मुनिभिः—मुनियों द्वारा; सिद्ध-चारणैः—सिद्धों तथा चारणों से; कुलाचलेन्द्र-द्रोणीषु—कुलाचलेन्द्र अथवा सुमेरु पर्वत की घाटियों में; नाना-सङ्कल्प-सिद्धिषु—जहाँ समस्त प्रकार की योग शक्तियाँ सिद्ध हो जाती हैं; रेमे—भोग किया; विद्याधर-स्त्रीभिः—विद्याधर लोक की स्त्रियों के साथ; गापयन्—प्रशंसा करती हुई; हरिम्—भगवान्, हरि; ईश्वरम्—नियन्ता की।

महान् साधुओं तथा मुनियों एवं सिद्धलोक तथा चारणलोक के वासियों द्वारा प्रशंसित, सर्वाधिक शक्तिशाली योगी चित्रकेतु लाखों वर्षों तक जीवन का आनन्द भोगता हुआ विचरता रहा। शारीरिक शक्ति तथा इन्द्रियों के क्षीण हुए बिना वह सुमेरु पर्वत की घाटियों में घूमता रहा वहाँ जो विभिन्न प्रकार की योग-शक्तियों की सिद्धि का स्थान है। उसने भगवान् हरि की महिमा का जप करते हुए विद्याधरलोक की रमणियों के साथ जीवन का आनन्द उठाया।

तात्पर्य : यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि महाराज चित्रकेतु विद्याधरलोक की अनुपम सुन्दरियों से घिरे होते थे, किन्तु वे भगवान् के पवित्र नाम का जाप करके उनका यशोगान करना नहीं भूले। कई स्थलों पर यह सिद्ध हो चुका है कि जो किसी भौतिक अवस्था से कलुषित नहीं है और जो भगवान् के यश का जप करने वाला शुद्ध भक्त है, ऐसे शुद्ध भक्त को सिद्ध मानना चाहिए।

एकदा स विमानेन विष्णुदत्तेन भास्वता ।
गिरिशं ददृशे गच्छन्परीतं सिद्धचारणैः ॥ ४॥
आलिङ्ग्याङ्कीकृतां देवीं बाहुना मुनिसंसदि ।
उवाच देव्याः शृण्वन्त्या जहासोच्चैस्तदन्तिके ॥ ५॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; सः—उस (राजा चित्रकेतु) ने; विमानेन—विमान से; विष्णु-दत्तेन—भगवान् विष्णु द्वारा प्रदत्त; भास्वता—देदीप्यमान्, तेजोमय; गिरिशम्—भगवान् शिव को; ददृशे—देखा; गच्छन्—जाते हुए; परीतम्—घिरे हुए;

सिद्ध—सिद्धलोक के वासियों से; चारणैः—तथा चारणलोक के वासियों से; आलिङ्ग्य—आलिंगन करते हुए; अङ्कीकृताम्—अपनी गोद में बैठाये हुए; देवीम्—अपनी पार्वती को; बाहुना—अपने हाथ से; मुनि-संसदि—अनेक बड़े-बड़े साधुओं की उपस्थिति में; उवाच—वह बोला; देव्याः—जब देवी पार्वती; शृण्वन्त्याः—सुन रही थीं; जहास—वह हँसा; उच्चैः—अत्यन्त तेजी से; तद्-अन्तिके—पास में।

एक बार जब राजा चित्रकेतु भगवान् विष्णु द्वारा प्रदत्त अत्यन्त तेजोमय विमान पर बैठकर बाह्य अन्तरिक्ष में यात्रा कर रहा था, तो उन्होंने भगवान् शिव को सिद्धों एवं चारणों से घिरा हुआ देखा। शिवजी महामुनियों की सभा में बैठे थे और देवी पार्वती को अपनी गोद में बैठाकर अपने हाथ से उनका आलिंगन कर रहे थे। राजा चित्रकेतु पार्वती के निकट जाकर तेजी से हँसे और कहने लगे।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—

भक्तिं भूतिं हरिर्दत्त्वा स्वविच्छेदानुभूतये।

देव्याः शापेन वृत्रत्वं नीत्वातं स्वान्तिकेऽनयत्॥

सारांश यह कि भगवान् चित्रकेतु को यथाशीघ्र वैकुण्ठलोक लाना चाहते थे। ईश्वर की योजना यह थी कि पार्वती के शाप से चित्रकेतु वृत्रासुर बने जिससे वह अगले जन्म में भगवान् के धाम को तुरन्त लौट सके। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जब भक्त से असुर का कार्य कराते हुए ईश्वर ने अनुग्रहवश उसे अपने धाम वापस बुला लिया। भगवान् शिव द्वारा पार्वती का आलिंगन किया जाना पति-पत्नी सम्बन्ध के अनुसार स्वाभाविक था; यह चित्रकेतु के लिए कोई विलक्षण घटना न थी। तो भी चित्रकेतु भगवान् शिव को उस मुद्रा में देखकर जोर से हँस पड़ा, यद्यपि उसे ऐसा नहीं करना चाहिए था। फलतः उसे शापित होना पड़ा और यह शाप उसके भगवान् के धाम वापस जाने का कारण बना।

चित्रकेतुरुवाच

एष लोकगुरुः साक्षाद्धर्मं वक्ता शरीरिणाम् ।
आस्ते मुख्यः सभायां वै मिथुनीभूय भार्यया ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

चित्रकेतुः उवाच—चित्रकेतु ने कहा; एषः—यह; लोक-गुरुः—वैदिक शिक्षाओं को मानने वाले लोगों के गुरु; साक्षात्—प्रत्यक्ष; धर्मम्—धर्म का; वक्ता—बोलने वाला; शरीरिणाम्—देहधारी समस्त जीवात्माओं के; आस्ते—बैठाना है; मुख्यः—प्रधान, मुखिया; सभायाम्—सभा में; वै—निस्सन्देह; मिथुनी-भूय—आलिंगन करते हुए; भार्यया—अपनी पत्नी के साथ।

चित्रकेतु ने कहा—शिवजी समस्त जगत के गुरु हैं और भौतिक देहधारी जीवात्माओं में सर्वश्रेष्ठ हैं। वे ही धर्मपद्धति के व्याख्याता हैं, तो भी यह कितना आश्चर्यजनक है कि वे बड़े बड़े सन्त पुरुषों की सभा के बीच अपनी पत्नी पार्वती का आलिंगन कर रहे हैं!

जटाधरस्तीव्रतपा ब्रह्मवादिसभापतिः ।
अङ्कीकृत्य स्त्रियं चास्ते गतह्रीः प्राकृतो यथा ॥ ७॥

शब्दार्थ

जटा-धरः—जटा धारण करने वाले; तीव्र-तपाः—कठिन तपस्या के कारण सिद्ध; ब्रह्म-वादि—वैदिक नियमों के कट्टर अनुयायी का; सभा-पतिः—अध्यक्ष, सभापति; अङ्कीकृत्य—आलिंगन करके; स्त्रियम्—स्त्री को; च—तथा; आस्ते—बैठा है; गत-ह्रीः—निर्लज्ज; प्राकृतः—प्रकृति द्वारा बद्ध पुरुष; यथा—जिस प्रकार।

जटाधरी शिवजी ने निस्सन्देह कठिन तपस्या की है। वे वैदिक नियमों के कट्टर अनुयायियों की सभा के अध्यक्ष हैं। किन्तु तो भी वे साधु पुरुषों के मध्य अपनी गोद में अपनी पत्नी को लेकर विराजमान हैं और सामान्य निर्लज्ज व्यक्ति की भाँति उसका आलिंगन कर रहे हैं।

तात्पर्य : चित्रकेतु शिवजी के उच्च पद से परिचित था इसलिए उन्होंने यह कहा कि यह कितना आश्चर्य है कि शिवजी सामान्य व्यक्ति जैसा आचरण कर रहे हैं। उन्होंने शिवजी के पद की प्रशंसा की किन्तु जब उन्होंने देखा कि वे साधु पुरुषों की सभा में बैठकर निर्लज्ज होकर सामान्य व्यक्तियों का सा व्यवहार कर रहे हैं, तो उन्हें आश्चर्य हुआ। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि यद्यपि चित्रकेतु ने शिवजी की आलोचना की, किन्तु दक्ष की भाँति उनका अपमान नहीं किया। दक्ष ने तो शिवजी को नगण्य मान लिया था जबकि चित्रकेतु ने शिवजी के इस प्रकार आसीन होने पर आश्चर्य ही व्यक्त किया।

प्रायशः प्राकृताश्चापि स्त्रियं रहसि बिभ्रति ।
अयं महाव्रतधरो बिभर्ति सदसि स्त्रियम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

प्रायशः—सामान्यतः; प्राकृताः—बद्धजीव; च—भी; अपि—यद्यपि; स्त्रियम्—स्त्री को; रहसि—निर्जन स्थान में; बिभ्रति—आलिंगन करता है; अयम्—यह (शिवजी); महा-व्रत-धरः—महान् व्रतों तथा तपस्याओं का स्वामी; बिभर्ति—भोग कर रहा है; सदसि—महान् पुरुषों की सभा में; स्त्रियम्—अपनी पत्नी का।

प्रायः सामान्य पुरुष एकान्त में ही अपनी पत्नियों का आलिंगन और भोग करते हैं। यह कितना आश्चर्यजनक है कि इतने बड़े तपस्वी महादेव परम साधुओं की सभा के बीच अपनी पत्नी का सबों के समक्ष आलिंगन कर रहे हैं!

तात्पर्य : महा-व्रत-धरः शब्द का अर्थ ब्रह्मचारी है, जो कभी नीचे पतित नहीं होता। शिवजी की गणना श्रेष्ठ योगियों में की जाती है, तो भी उन्होंने साधुओं की सभा में अपनी पत्नी का आलिंगन किया। चित्रकेतु इसकी प्रशंसा करते हैं कि शिव कितने महान् हैं, जो इस स्थिति में भी अप्रभावित बने रहे। अतः चित्रकेतु ने कोई अपराध नहीं किया; उसने मात्र अपना आश्चर्य प्रकट किया।

श्रीशुक उवाच
भगवानपि तच्छ्रुत्वा प्रहस्यागाधधीर्नृप ।
तूष्णीं बभूव सदसि सभ्याश्च तदनुव्रताः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; भगवान्—भगवान् शिव; अपि—भी; तत्—वह; श्रुत्वा—सुनकर; प्रहस्य—हँसकर; अगाधधीः—अगाध बुद्धि वाला; नृप—हे राजा; तूष्णीम्—चुप; बभूव—हो गया; सदसि—सभा में; सभ्याः—सारे सदस्यों ने; च—तथा; तत्-अनुव्रताः—भगवान् शिव का अनुसरण किया (चुप रहे)।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे राजा! चित्रकेतु के वचन सुनकर परम बलशाली, अगाध ज्ञानवान् देवाधिदेव शिव केवल हँस दिये और चुप रहे। सभा के समस्त सदस्यों ने भी उन्हीं का अनुकरण किया और कुछ नहीं कहा।

तात्पर्य : चित्रकेतु द्वारा शिव की आलोचना का उद्देश्य रहस्यमय है और सामान्य व्यक्ति की समझ के परे है। तो भी श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस प्रकार टिप्पणी की है। परम वैष्णव

एवं परम शक्तिशाली देवता होने के कारण शिवजी अपनी इच्छानुसार कुछ भी करने में समर्थ हैं। यद्यपि वे बाह्यरूप से सामान्य व्यक्ति का सा आचरण कर रहे थे और शिष्टाचार का पालन नहीं कर रहे थे, किन्तु ऐसे कार्यों से उनकी उच्च स्थिति में कोई कमी नहीं आती। कठिनाई यही है कि सामान्य व्यक्ति उनके इस आचरण को देखकर उसका अनुकरण कर सकता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (३.२१) में कहा गया है—

यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन: ।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

"महापुरुष जो जो आचरण करता है, सामान्य पुरुष उसका अनुसरण करते हैं। वह पुरुष अपने विलक्षण कार्यों से जो आदर्श स्थापित कर देता है, सम्पूर्ण विश्व उसी के अनुसार कार्य करता है।" सामान्य व्यक्ति भी दक्ष की भाँति जिसने आलोचना का फल भोगा वह शिवजी की आलोचना करके कष्ट का भागी हो सकता है। राजा चित्रकेतु चाहते थे कि शिवजी अपना बाह्य व्यवहार बन्द कर दें ताकि दूसरे लोग आलोचना न करें और अपराध के भागी न हों। यदि कोई यह सोचता है कि भगवान् विष्णु ही पूर्ण हैं और अन्य सभी देवता शिवजी के समान अनुचित कृत्य करते रहें तो वह अपराधी है। यह सब सोचकर ही चित्रकेतु शिवजी के प्रति इतने निष्ठुर हो सके।

शिवजी परम ज्ञानी होने के कारण चित्रकेतु के मन्तव्य को समझ गये, अत: वे तनिक भी क्रुद्ध नहीं हुए; अपितु हँसकर शान्त बने रहे। शिवजी को घेर कर बैठे हुए सभा के सदस्य भी चित्रकेतु के मन्तव्य को समझ गये। फलत: शिवजी के व्यवहार की प्रतिक्रिया में उन्होंने कोई प्रतिवाद नहीं किया और वे भी शान्त रहे। यदि सभा के सदस्यों ने यह सोचा होता कि चित्रकेतु ने शिवजी का अपमान किया है, तो वे अपने कानों को बन्द करके अवश्य ही उठकर चले जाते।

इत्यतद्वीर्यविदुषि ब्रुवाणे बह्वशोभनम् ।

रुषाह देवी धृष्टाय निर्जितात्माभिमानिने ॥ १० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अ-तत्-वीर्य-विदुषि—शिव के शौर्य को न जानने के कारण चित्रकेतु ने; ब्रुवाणे—कहा; बहु-अशोभनम्—अत्यन्त अशोभनीय बातें उच्चपदीय शिव की आलोचना; रुषा—क्रोध से; आह—कहा; देवी—देवी पार्वती; धृष्टाय—निर्लज्ज चित्रकेतु से; निर्जित-आत्म—जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है; अभिमानिने—अपने आपको मानते हुए।

शिवजी तथा पार्वती के शौर्य (वीर्य) को न जानते हुए राजा चित्रकेतु ने उनकी तीखी आलोचना की। उसके बचन तनिक भी अच्छे लगने वाले न थे, अतः अत्यन्त क्रुद्ध देवी पार्वती चित्रकेतु से, जो अपने को इन्द्रियों के नियंत्रण में शिवजी से श्रेष्ठ समझ रहा था, इस प्रकार बोलीं।

तात्पर्य : यद्यपि चित्रकेतु शिव का अपमान नहीं करना चाहता था, किन्तु उसे चाहिए था कि उनकी आलोचना नहीं करता भले ही शिवजी सामाजिक शिष्टाचार का उल्लंघनन कर रहे थे फिर भी उनकी आलोचना न करता। कहा गया है—*तेजीयसां न दोषाय*—जो परम समर्थ है उसे निर्दोष मानना चाहिए। उदाहरणार्थ, किसी को सूर्य की बुराई नहीं करनी चाहिए यद्यपि वह सड़कों से मूत्रादि को उड़ाता है। सर्वाधिक शक्तिमान की आलोचना न तो सामान्य व्यक्ति द्वारा, न ही महान् पुरुष द्वारा होनी चाहिए। चित्रकेतु को यह समझना चाहिए था कि यद्यपि शिव उस प्रकार बैठे हुए थे तो भी उनकी आलोचना नहीं होनी चाहिए थी। कठिनाई यह थी कि चित्रकेतु भगवान् विष्णु, संकर्षण का परम भक्त हो गया था और संकर्षण का वर प्राप्त होने से उसे कुछ-कुछ घमण्ड भी हो आया था, अत: उसने सोचा कि वह किसी की भी, चाहे वह शिवजी ही क्यों न हों, आलोचना कर सकता था। भक्त में ऐसा गर्व अक्षम्य है। वैष्णव को हमेशा विनम्र रहना चाहिए और अन्यों का आदर करना चाहिए।

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।

अमानिना मानदेन कीर्तनीय: सदा हरि: ॥

“अपने को तिनके से भी तुच्छ मानते हुए मनुष्य को विनीत भाव से हरि के पवित्र नाम का

जप करना चाहिए। उसे वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु तथा मिथ्या अहंकार से रहित एवं अन्यों को सम्मान प्रदान करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। ऐसी ही मनोदशा में ईश्वर के पवित्र नाम का निरन्तर जप सम्भव है।'' वैष्णव को किसी अन्य की स्थिति को कम समझने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। विनम्र बने रहकर हरे कृष्ण मंत्र का जाप करना ही श्रेयस्कर है। निर्जितात्माभिमानिने शब्द से सूचित होता है कि चित्रकेतु अपने को शिव से भी बड़ा इन्द्रियजित मानता था, किन्तु वास्तव में वह वैसा नहीं था। इन्हीं कारणों से माता पार्वती चित्रकेतु पर क्रुद्ध हुईं।

श्रीपार्वत्युवाच

अयं किमधुना लोके शास्ता दण्डधरः प्रभुः ।
अस्मद्विधानां दुष्टानां निर्लज्जानां च विप्रकृत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-पार्वती उवाच—देवी पार्वती ने कहा; अयम्—यह; किम्—क्या; अधुना—अब; लोके—संसार में; शास्ता—परम नियन्ता; दण्ड-धरः—दण्ड देने वाला; प्रभुः—स्वामी; अस्मत्-विधानाम्—इन जैसे व्यक्तियों का; दुष्टानाम्—अपराधी; निर्लज्जानाम्—निर्लज्जों का; च—तथा; विप्रकृत्—नियंत्रण रखने वाला, रोकने वाला।

देवी पार्वती ने कहा—ओह, क्या हम जैसे निर्लज्ज व्यक्तियों को दण्ड देने के लिए इसने दण्डधारी का पद ले लिया है? क्या इसे शासक नियुक्त किया गया है? क्या यही सबों का एकमात्र स्वामी है?

न वेद धर्मं किल पद्मयोनि-
र्न ब्रह्मपुत्रा भृगुनारदाद्याः ।
न वै कुमारः कपिलो मनुश्च
ये नो निषेधन्त्यतिवर्तिनं हरम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वेद—जानता है; धर्मम्—धर्म को; किल—निस्सन्देह; पद्म-योनिः—भगवान् ब्रह्मा; न—न तो; ब्रह्म-पुत्राः—भगवान् ब्रह्मा के पुत्र; भृगु—भृगु; नारद—नारद; आद्याः—इत्यादि; न—न तो; वै—निस्सन्देह; कुमारः—चारों अश्विनी कुमार; कपिलः—भगवान् कपिल; मनुः—स्वयं मनु; च—तथा; ये—जो; नो—नहीं; निषेधन्ति—रोक लगाते हैं; अति-वर्तिनम्—नियमों तथा आदेशों के परे; हरम्—भगवान् शिव को।

अहो! ऐसा प्रतीत होता है कि न तो कमल-पुष्प से जन्म लेने वाले ब्रह्मा, न भृगु तथा

नारद जैसे महामुनि अथवा सनत कुमार आदि चारों कुमार ही धर्म के नियमों को जानते हैं। मनु तथा कपिल भी उन नियमों को भूल चुके हैं। मैं सोचती हूँ कि इसलिए उन्होंने कभी शिवजी को इस प्रकार अनुचित ढंग से आचरण करने के लिए नहीं टोका।

एषामनुध्येयपदाब्जयुग्मं
जगद्गुरुं मङ्गलमङ्गलं स्वयम् ।
यः क्षत्रबन्धुः परिभूय सूरीन्
प्रशास्ति धृष्टस्तदयं हि दण्ड्यः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

एषाम्—इन सबों में (महापुरुषों) में; अनुध्येय—ध्यान करने योग्य; पद-अब्ज-युग्मम्—जिनके दो चरणकमल; जगत्-गुरुम्—सारे विश्व का गुरु; मङ्गल-मङ्गलम्—साक्षात् सर्वश्रेष्ठ धार्मिक नियम; स्वयम्—स्वयं; यः—जो; क्षत्र-बन्धुः—क्षत्रियों में सबसे निकृष्ट; परिभूय—मात देकर; सूरीन्—देवतागण (यथा ब्रह्मा तथा अन्य); प्रशास्ति—दण्ड देता है; धृष्टः—ढीठ ने; तत्—अतः; अयम्—यह व्यक्ति; हि—निस्सन्देह; दण्ड्यः—दण्डनीय है।

यह चित्रकेतु में घोर निकृष्ट है क्योंकि इसने उन शिवजी का तिरस्कार करके ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं को मात कर दिया है, जो उनके चरणकमलों पर बैठकर सदैव ध्यान धरते रहते हैं। भगवान् शिव साक्षात् धर्म तथा समस्त जगत के गुरु हैं अतः चित्रकेतु दण्डनीय है।

तात्पर्य : सभा के सभी सदस्य परम ब्रह्म तथा स्वरूपसिद्ध जीव थे, किन्तु उन्होंने अपनी गोद में लेकर पार्वती को आलिंगित करते हुए शिवजी के व्यवहार के लिए कुछ भी नहीं कहा। तो भी चित्रकेतु ने शिवजी की आलोचना की, अत: पार्वती के विचार से वह दण्डनीय था।

नायमर्हति वैकुण्ठपादमूलोपसर्पणम् ।
सम्भावितमतिः स्तब्धः साधुभिः पर्युपासितम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अयम्—यह व्यक्ति; अर्हति—के योग्य है; वैकुण्ठ-पाद-मूल-उपसर्पणम्—भगवान् विष्णु के चरणकमल की शरण प्राप्त करने का; सम्भावित-मतिः—अपने को अत्यन्त पूज्य समझकर; स्तब्धः—घमंडी; साधुभिः—बड़े बड़े सन्त पुरुषों के द्वारा; पर्युपासितम्—पूजनीय।

यह व्यक्ति ऐसा सोचकर अपनी सफलता से फूला हुआ है कि मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूँ। यह व्यक्ति भगवान् विष्णु के उन चरणकमलों के निकट, जिनकी उपासना सभी साधु पुरुष

करते हैं, जाने के योग्य ही नहीं है क्योंकि यह अपने को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझ कर घमंडी बन गया है।

तात्पर्य : यदि कोई भक्त अपने आपको भक्ति में सिद्ध मान बैठता है, तो लोग उसे घमंडी तथा भगवान् के चरणकमलों के आश्रय के नीचे बैठने के लिए अयोग्य मानते हैं। यही नहीं, भगवान् चैतन्य का यह उपदेश भी लागू होता है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

"मनुष्य को चाहिए कि अपने आपको तिनके से भी तुच्छ मानकर विनीत भाव से भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन कर; उसे वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु, अहंकार से रहित तथा अन्यों का आदर करने के लिए तत्पर रहना चाहिए।" ऐसी ही मानसिक स्थिति में वह निरन्तर भगवन्नाम का जप कर सकता है। जब तक मनुष्य विनम्र नहीं होता वह भगवान् के चरणकमलों के निकट बैठने का अधिकारी नहीं होता।

अतः पापीयसीं योनिमासुरीं याहि दुर्मते ।
यथेह भूयो महतां न कर्ता पुत्र किल्बिषम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अतः—इसलिए; पापीयसीम्—अत्यन्त पापपूर्ण; योनिम्—योनि को; आसुरीम्—आसुरी; याहि—जाओ; दुर्मते—हे दुर्मति (कुबुद्धि); यथा—जिससे; इह—इस संसार में; भूयः—फिर; महताम्—महान् पुरुष को; न—नहीं; कर्ता—करोगे; पुत्र—हे पुत्र; किल्बिषम्—कोई पाप।

ऐ मेरे दुर्बुद्धि बेटे! अब तुम असुरों के निम्न तथा पापी परिवार में जन्म ग्रहण करो जिससे तुम पुनः इस संसार में महान् सन्त पुरुषों के प्रति ऐसा पाप न कर सको।

तात्पर्य : मनुष्य को चाहिए कि वैष्णवों में श्रेष्ठ भगवान् शिव के चरणकमल में पाप करने के प्रति सतर्क रहे। श्रील रूप गोस्वामी को शिक्षा देते हुए श्री चैतन्य महाप्रभु ने वैष्णव के चरणकमल पर किये गये पाप को हाती माता अर्थात् प्रमत्त हाथी कहा है। जब कोई मस्त हाथी किसी सुन्दर

बाग में घुसता है, तो वह उसे नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। इसी प्रकार यदि कोई भगवान् के चरणकमल पर मस्त हाथी के समान पाप करता है, तो उसका सारा आध्यात्मिक जीवन अवरुद्ध हो जाता है। अत: उसे वैष्णव के चरणकमल में पाप करने के प्रति सचेष्ट रहना चाहिए।

माता पार्वती ने चित्रकेतु को दण्ड देकर ठीक ही किया क्योंकि उसने इस भौतिक संसार के बद्धजीवों के परम पिता महादेव का धृष्टतापूर्वक अपमान किया था। देवी दुर्गा माता कहलाती हैं और भगवान् शिव पिता कहलाते हैं। शुद्ध वैष्णव को चाहिए कि अन्यों की आलोचना किये बिना अपना कर्तव्य पालन करे। यही सबसे सुरक्षित स्थिति है अन्यथा यदि उस पर वैष्णव की आलोचना का पाप चढ़ता है।

चूँकि चित्रकेतु निस्सन्देह वैष्णव था, उसे पार्वती के शाप से अवश्य ही आश्चर्य हुआ होगा। इसलिए देवी पार्वती उसे पुत्र कहकर सम्बोधित किया। प्रत्येक पुरुष माता दुर्गा का पुत्र है किन्तु वे एक सामान्य माता नहीं हैं। ज्योंही कोई असुर दुराचरण करता है, माता दुर्गा तुरन्त उसे दण्डित करती हैं जिससे उसे चेत जाये। इसकी व्याख्या भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.१४) में इस प्रकार की है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

''मेरी यह दैवी शक्ति अर्थात् त्रिगुणमयी माया बड़ी दुस्तर है परन्तु जो मेरे शरणागत हो जाते हैं, वे इसे सुगमतापूर्वक तर जाते हैं।'' श्रीकृष्ण के शरणागत होने का अर्थ है उनके भक्तों के भी शरणागत होना क्योंकि कोई भी श्रीकृष्ण का तब तक पूर्ण दास नहीं बन सकता जब तक वह किसी भक्त का दास नहीं बन जाता। छाडिया वैष्णव-सेवा निस्तार पायेछे केबा—श्रीकृष्ण के दास की सेवा किये बिना कोई श्रीकृष्ण के दास पद को नहीं प्राप्त कर सकता। अत: माता पार्वती चित्रकेतु से वैसे ही बोलीं जैसे कोई माता अपने चंचल पुत्र से कहती है, ''बेटे! मैं तुम्हें इसलिए दण्ड दे रही हूँ जिससे तुम फिर से ऐसा न करो।'' अपने पुत्र के प्रति माता की यह प्रवृत्ति यशोदा

में भी देखी जाती है, जो श्रीभगवान् की माता बनीं। माता यशोदा भगवान् कृष्ण को बाँधकर उन्हें छड़ी दिखाकर दण्ड देती थीं। इस प्रकार माता का यह परम कर्तव्य है कि अपने प्रिय पुत्र को डाँटे, भले ही वह परमेश्वर ही क्यों न हो। अत: यह समझना चाहिए कि चित्रकेतु को दण्डित करना माता दुर्गा के लिए उचित था। यह दण्ड चित्रकेतु के लिए वरदान सिद्ध हुआ क्योंकि वृत्रासुर असुर रूप में जन्म लेकर वह सीधे वैकुण्ठ को भेज दिया गया।

श्रीशुक उवाच
एवं शप्तश्चित्रकेतुर्विमानादवरुह्य सः ।
प्रसादयामास सतीं मूर्ध्ना नम्रेण भारत ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुक देव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; शप्तः—शापित; चित्रकेतुः—राजा चित्रकेतु; विमानात्—विमान से; अवरुह्य—उतर कर; सः—वह; प्रसादयाम् आस—परम प्रसन्न हुआ; सतीम्—पार्वती को; मूर्ध्ना—शिर से; नम्रेण—नीचे झुक कर; भारत—हे राजा परीक्षित।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे राजा परीक्षित! पार्वती द्वारा शाप दिये जाने पर चित्रकेतु अपने विमान से नीचे उतरा, उनके समक्ष विनम्रतापूर्वक नतमस्तक हुआ और उसने उन्हें पूर्णरूपेण प्रसन्न कर दिया।

चित्रकेतुरुवाच
प्रतिगृह्णामि ते शापमात्मनोऽञ्जलिनाम्बिके ।
देवैर्मर्त्याय यत्प्रोक्तं पूर्वदिष्टं हि तस्य तत् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

चित्रकेतुः उवाच—राजा चित्रकेतु ने कहा; प्रतिगृह्णामि—अंगीकार करता हूँ; ते—तुम्हारा; शापम्—शाप; आत्मनः—अपने; अञ्जलिना—बद्ध हाथों से; अम्बिके—हे माता; देवैः—देवताओं द्वारा; मर्त्याय—मनुष्य को; यत्—जो; प्रोक्तम्—नियत; पूर्व-दिष्टम्—पूर्वकर्मों के अनुसार पहले से निश्चित; हि—निस्सन्देह; तस्य—उसका; तत्—वह।

चित्रकेतु ने कहा—हे माता! मैं अपने हाथ जोड़ कर आपका शाप स्वीकार करता हूँ। मुझे शाप की परवाह नहीं है, क्योंकि मनुष्य के पूर्वकर्मों के अनुसार ही देवताओं द्वारा सुख या दुख प्रदान किये जाते हैं।

तात्पर्य : चूँकि चित्रकेतु भगवान् का भक्त था इसलिए वह माता पार्वती के शाप से तनिक भी

विचलित नहीं हुआ। उसे यह भली-भाँति ज्ञात था कि सुख या दुख दैवनेत्र या श्रीभगवान् के दूतों द्वारा पहले से निश्चित विगत कर्मों के फल होते हैं। उसे यह ज्ञात था कि उसने भगवान् शिव या माता पार्वती के चरणकमलों पर किसी प्रकार का पाप नहीं किया था किन्तु फिर भी उसे दण्डित किया गया था जिसका सीधा अर्थ था कि दण्ड तो पूर्वनिश्चित था। अत: राजा ने कोई परवाह नहीं की। भक्त स्वभाव से इतना विनम्र होता है कि जीवन की किसी अवस्था को वह ईश्वर का वरदान मानकर स्वीकार करता है, *तत् तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाण:* (*भागवत* १०.१४.८)। भक्त किसी के द्वारा दिये गये दण्ड को ईश्वर का अनुग्रह मान कर स्वीकार करता है। यदि मनुष्य इस प्रकार की विचारधारा से रहे तो वह देखता है कि उसे जो भी असफलताएँ मिलती हैं, वे गत दुष्कर्मों के फलस्वरूप हैं; अत: वह किसी को दोष नहीं देता। उल्टे कष्टों के कारण अधिकाधिक विमल होकर वह भगवान् में आसक्त होता जाता है। अत: कष्टभोग भी पवित्र होने की विधि है।

इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का कथन है कि जिसने कृष्णभक्ति विकसित कर ली है और श्रीकृष्ण से प्रेम करना सीख लिया है उसे कर्म के नियमों के अन्तर्गत सुख तथा दुख नहीं सताते। निस्सन्देह वह कर्म से परे होता है। *ब्रह्म-संहिता* का कथन है—*कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजाम्*—भक्त कर्म-फल से इसलिए मुक्त हो जाता है क्योंकि वह भक्ति करता है। इसी सिद्धान्त की पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.२६) में भी हुई है—*स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते*—जो भक्ति में संलग्न है, वह पहले ही अपने कर्म के फल से मुक्त है, अत: वह तुरन्त ही ब्रह्म-भूत अर्थात् दिव्य हो जाता है। *श्रीमद्भागवत* (१.२.२१) में भी यह व्यक्त हुआ है—*क्षीयन्ते चास्य कर्माणि*—प्रेम दशा प्राप्त करने के पूर्व वह कर्म के समस्त फलों से मुक्त हो जाता है।

ईश्वर अपने भक्तों के प्रति अत्यन्त दयालु एवं वत्सल हैं, फलत: भक्त को किसी भी दशा में कर्मफल नहीं भोगने पड़ते। भक्त कभी स्वर्ग की कामना नहीं करता। भक्त के लिए स्वर्ग, मुक्ति तथा नरक एकसमान हैं क्योंकि वह भौतिक संसार में विभिन्न अवस्थाओं के बीच भेद नहीं करता। वह भगवान् के धाम वापस जाने का सदैव आकांक्षी होता है और वहाँ ईश्वर का पार्षद बनना

चाहता है। यह अभिलाषा उसके हृदय में अत्यन्त उत्कट हो उठती है इसलिए इस जीवन में भौतिक परिवर्तनों की परवाह नहीं करता। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टिप्पणी है कि पार्वती द्वारा चित्रकेतु का शापित होना एक प्रकार से ईश्वर का अनुग्रह माना जाना चाहिए। भगवान् चाहते थे कि चित्रकेतु यथाशीघ्र उनके पास वापस आए, अत: उन्होंने उसके समस्त पूर्वकर्मों के बन्धनों को समाप्त कर दिया। प्रत्येक प्राणी के हृदय में वास करने वाले भगवान् ने पार्वती के हृदय से कार्य करके चित्रकेतु को शाप दिलाया जिससे उसके सारे भौतिक कर्म फल विनष्ट हो जाँए। इस प्रकार अगले जीवन में चित्रकेतु वृत्रासुर हुआ और भगवान् के धाम को वापस गया।

संसारचक्र एतस्मिञ्जन्तुरज्ञानमोहितः ।
भ्राम्यन्सुखं च दुःखं च भुङ्क्ते सर्वत्र सर्वदा ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

संसार-चक्रे—इस संसार रूपी पहिए में; एतस्मिन्—यह; जन्तुः—जीवात्मा; अज्ञान-मोहितः—अज्ञान के कारण मोहग्रस्त; भ्राम्यन्—घूमता हुआ; सुखम्—सुख; च—तथा; दुःखम्—दुख; च—भी; भुङ्क्ते —भोगता है; सर्वत्र—सभी जगह; सर्वदा—सदैव।

अज्ञान से मोहग्रस्त होकर यह जीवात्मा इस संसार रूपी जंगल में भटकता रहता है और हर जगह तथा हर समय अपने पूर्वकर्मों के फलस्वरूप सुख तथा दुख पाता रहता है (अत: हे माता! इस घटना के लिए न आप दोषी हैं न मैं)।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (३.२७) में पुष्टि की गई है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

''सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा सम्पन्न होते हैं परन्तु गुणों से मोहग्रस्त जीवात्मा अपने को इनका कर्ता मान बैठता है।'' वस्तुत: बद्धजीव पूर्णत: भौतिक प्रकृति के वश में रहता है। हर समय यहाँ-वहाँ भटकते हुए उसे पूर्वकर्मों के फल भोगने होते हैं। यह सब प्रकृति के नियमों से घटित होता है, किन्तु मनुष्य मूर्खतावश अपने को कर्ता मान बैठता है, जो कि सत्य नहीं है। कर्म-

चक्र से छूटने के लिए भक्ति-मार्ग या कृष्णभावनामृत ग्रहण करना चाहिए। यही एकमात्र उपाय है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

नैवात्मा न परश्चापि कर्ता स्यात्सुखदु:खयो: ।
कर्तारं मन्यतेऽत्राज्ञ आत्मानं परमेव च ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एव—निस्सन्देह; आत्मा—आत्मा; न—न तो; पर:—दूसरा (शत्रु या मित्र); च—भी; अपि—निस्सन्देह; कर्ता—करने वाला; स्यात्—हो सकता है; सुख-दु:खयो:—सुख तथा दुख का; कर्तारम्—करनेवाला; मन्यते—मानता है; अत्र—इस सम्बन्ध में; अज्ञ:—मूर्ख; आत्मानम्—अपने आपको; परम्—अन्य; एव—निस्सन्देह; च—भी।

इस संसार में न तो स्वयं जीवात्मा और न पराये (मित्र तथा शत्रु) ही भौतिक सुख तथा दुख के कारण हैं। केवल अज्ञानतावश जीवात्मा यह सोचता है कि वह तथा पराये लोग इसके कारणस्वरूप हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अज्ञ* शब्द महत्त्वपूर्ण है। इस संसार में सभी जीवात्माएँ थोड़ी बुहत अज्ञ हैं। यह अज्ञानता भौतिक प्रकृति द्वारा प्रस्तुत तमोगुण में अत्यन्त प्रबल रूप से चलती रहती है। अत: मनुष्य को चाहिए कि वह अपने चरित्र तथा आचरण द्वारा सतोगुण को प्राप्त करके अधोक्षज पद पर पहुँचे जहाँ से उसे अपनी तथा अन्यों की स्थिति का ज्ञान होने लगता है। प्रत्येक कार्य भगवान् की अध्यक्षता में सम्पन्न होता है। जिस विधि से कर्मफल निश्चित होते हैं वह *नियतम्* (सदैव कार्यशील) कहलाता है।

गुणप्रवाह एतस्मिन्क: शाप: को न्वनुग्रह: ।
क: स्वर्गो नरक: को वा किं सुखं दु:खमेव वा ॥ २० ॥

शब्दार्थ

गुण-प्रवाहे—प्रकृति के गुणों की धारा में; एतस्मिन्—यह; क:—क्या; शाप:—शाप; क:—क्या; नु—निस्सन्देह; अनुग्रह:—कृपा; क:—क्या; स्वर्ग:—स्वर्गलोक के पद तक पहुँचना; नरक:—नरक; क:—क्या; वा—अथवा; किम्—क्या; सुखम्—सुख; दु:खम्—दुख; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा।

यह संसार सतत प्रवाहमान् नदी की तरंगों के समान है, अत: इसमें क्या शाप और क्या अनुग्रह? क्या स्वर्गलोक और क्या नरकलोक? क्या सुख और क्या वास्तविक दुख?

निरन्तर प्रवाहित होते रहने के कारण तरंगें कोई शाश्वत प्रभाव नहीं छोड़तीं।

तात्पर्य : श्रील भक्तिविनोद ठाकुर का गीत है—*(मिछे) मायार वशे, याच्छ भेसे, खाच्छ हाबुडुबु, भाइ*—हे जीवात्माओ! इस संसार में भौतिक प्रकृति की गुणरूपी तरंगों में क्यों इधर उधर भटक रही हो? *(जीव) कृष्णदास, एइ विश्वास, कर्ले त' आर दुःख नाइ*—"यदि जीवात्मा यह समझ ले कि वह श्रीकृष्ण का शाश्वत दास है, तो किसी प्रकार का कष्ट न रह जाए।" श्रीकृष्ण चाहते हैं कि हम इस भौतिक संसार के समस्त व्यापारों को छोड़कर उनकी शरण में जाँए। यदि हम ऐसा करें तो फिर इस संसार के कार्य-कारण कहाँ रहेंगे? शरणागत जीव के लिए कार्य-कारण जैसी कोई वस्तु नहीं रह जाती। इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का कहना है कि इस संसार में भेजा जाना वैसा ही है जैसे कि नमक की खान में फेंका जाना। नमक की खान में गिरे हुए व्यक्ति को चारों ओर नमक ही चखने को मिलता है। इसी प्रकार यह संसार दुखों से पूर्ण है। इस संसार का तथाकथित क्षणिक सुख भी एक प्रकार से दुख ही होता है, किन्तु अज्ञानतावश हम इसे समझ नहीं पाते। यही वास्तविकता है। जब मनुष्य को चेत होता है अर्थात् जब उसे कृष्ण-चेतना होती है, तो उसे इस संसार की विभिन्न स्थितियों से कोई सरोकार नहीं रह जाता। उसे सुख-दुख, शाप-कृपा या स्वर्ग-नरक से कोई प्रयोजन नहीं रहता है। उसे इनमें कोई अन्तर नहीं दिखता।

एकः सृजति भूतानि भगवानात्ममायया ।
एषां बन्धं च मोक्षं च सुखं दुःखं च निष्कलः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

एकः—एक; सृजति—उत्पन्न करता है; भूतानि—विभिन्न प्रकार की जीवात्माओं को; भगवान्—श्रीभगवान्; आत्म-मायया—आत्म स्वरूप शक्तियों से; एषाम्—समस्त बद्धजीवों का; बन्धम्—बद्ध जीवन; च—तथा; मोक्षम्—मुक्त जीवन; च—भी; सुखम्—सुख; दुःखम्—दुख; च—तथा; निष्कलः—भौतिक गुणों से अप्रभावित।

श्रीभगवान् एक हैं। वे भौतिक जगत की स्थितियों से प्रभावित हुए बिना आत्मस्वरूप शक्ति से समस्त जीवों की सृष्टि करते हैं। माया से दूषित होकर जीवात्मा अविद्या को प्राप्त

होता है और अनेक प्रकार के बन्धनों में जा पड़ता है। कभी-कभी ज्ञान के कारण जीवात्मा को मुक्ति दी जाती है। सत्व तथा रजो गुणों के कारण उसे सुख तथा दुख मिलते हैं।

तात्पर्य : यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि जीवात्माएँ विभिन्न स्थितियों में क्यों रहती हैं और ऐसा कौन करता है ? इसका उत्तर यही है कि भगवान् अकेले ही बिना किसी की सहायता के यह सब करते हैं। ईश्वर की अपनी शक्तियाँ हैं (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*) और इनमें से उनकी बहिरंगा शक्ति के द्वारा यह जगत एवं बद्धजीवों के नाना प्रकार के सुख-दुख भगवान् की अध्यक्षता में उत्पन्न होते हैं। यह संसार तीन प्रकार के गुणों से युक्त है—सत्त्व गुण, रजोगुण तथा तमो गुण। भगवान् सत्त्व गुण से संसार का पालन, रजोगुण से उसकी उत्पत्ति और तमोगुण से उसका संहार करते हैं। जीवात्माओं की उत्पत्ति के पश्चात् उनको सुख तथा दुख इन गुणों के संयोग से प्राप्त होते हैं। जब जीवात्माएँ सत्त्व गुण में होती हैं, तो वे सुख का अनुभव करती हैं, रजोगुण में दुख का और तमोगुण में उन्हें इसका ज्ञान ही नहीं रह जाता कि करना क्या है अथवा अच्छा-बुरा होता क्या है।

न तस्य कश्चिद्दयितः प्रतीपो
न ज्ञातिबन्धुर्न परो न च स्वः ।
समस्य सर्वत्र निरञ्जनस्य
सुखे न रागः कुत एव रोषः ॥ २२॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तस्य—उस (परमेश्वर) का; कश्चित्—कोई; दयितः—प्रिय; प्रतीपः—अप्रिय; न—नहीं; ज्ञाति—परिजन; बन्धुः—मित्र; न—नहीं; परः—पराया; न—नहीं; च—भी; स्वः—अपना; समस्य—समानधर्मा; सर्वत्र—सभी जगह; निरञ्जनस्य—प्रकृति द्वारा अप्रभावित; सुखे—सुख में; न—नहीं; रागः—आसक्ति; कुतः—कहाँ से; एव—निस्सन्देह; रोषः—क्रोध।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् समस्त जीवों को एकसमान देखते हैं; अतः न तो कोई उनका अत्यन्त प्रिय है, न कोई शत्रु; न तो उनका कोई मित्र है न कोई परिजन। इस भौतिक जगत से अनासक्त होने के कारण उन्हें तथाकथित सुख के लिए न तो कोई स्नेह है, न दुख के

लिए किसी प्रकार की घृणा। सुख तथा दुख सापेक्ष हैं। भगवान् सदैव प्रसन्न रहने वाले हैं, अतः उनके लिए दुख का कोई अर्थ नहीं है।

तथापि तच्छक्तिविसर्ग एषां
सुखाय दुःखाय हिताहिताय ।
बन्धाय मोक्षाय च मृत्युजन्मनोः
शरीरिणां संसृतयेऽवकल्पते ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तथापि—तो भी; तत्-शक्ति—ईश्वर की शक्ति का; विसर्गः—सृष्टि; एषाम्—इन सबों (बद्धजीवों) का; सुखाय—सुख के लिए; दुःखाय—दुख के लिए; हित-अहिताय—लाभ तथा हानि के लिए; बन्धाय—बन्धन के लिए; मोक्षाय—मुक्ति के लिए; च—भी; मृत्यु—मृत्यु; जन्मनोः—तथा जन्म का; शरीरिणाम्—समस्त देहधारियों का; संसृतये—आवागमन के लिए; अवकल्पते—कर्म करता है।.

यद्यपि परमेश्वर कर्म के अनुसार प्राप्त होने वाले हमारे सुख दुख से अनासक्त हैं और कोई भी उनका शत्रु या मित्र नहीं है, तो भी वे अपनी भौतिक शक्ति (माया) के द्वारा शुभ तथा अशुभ कर्मों की उत्पत्ति करते हैं। इस प्रकार भौतिक जीवन को चालू रखने के लिए वे सुख-दुख, लाभ-हानि, बन्धन-मोक्ष, जन्म-मृत्यु की सृष्टि करते हैं।

तात्पर्य : यद्यपि श्रीभगवान् अपनी आदि दिव्य स्थिति में प्रत्येक वस्तु के कर्ता हैं, किन्तु अपनी भौतिक स्थिति में, बद्धजीवों के सुख-दुख अथवा बन्धन-मोक्ष के लिए वे उत्तरदायी नहीं हैं। ये तो उन बद्धजीवों के सकाम कर्मों के फल के अनुसार प्राप्त होते हैं। न्यायमूर्ति की आज्ञा से एक व्यक्ति बन्दीगृह से छूटता है और दूसरा बन्दी बनाया जाता है, किन्तु इन लोगों के सुख, दुख के लिए वह न्यायमूर्ति उत्तरदायी नहीं होता। इन लोगों के सुख-दुख तो उनके अपने कर्मों के परिणाम होते हैं। यद्यपि सर्वोपरि सत्ता शासन (राज्य) ही होती है, किन्तु न्याय तो सरकार के विभिन्न विभागों को सौंपा रहता है, अतः व्यक्तिगत न्याय के लिए राज्य उत्तरदायी नहीं रहता। इस प्रकार राजसत्ता सभी नागरिकों के लिए एकसमान है। इसी प्रकार परमेश्वर भी निरपेक्ष (उदासीन) हैं, किन्तु उन्होंने न्याय तथा व्यवस्था के लिए कई विभाग बना रखे हैं, जो जीवात्माओं की

गतिविधियों पर नियंत्रण रखते हैं। इस प्रसंग में एक अन्य उदाहरण कमलिनी तथा भौंरों का है। जिस प्रकार कमलिनियाँ सूर्य प्रकाश से खिलती या बन्द होती हैं, तो उससे भौंरों को सुख या दुख का अनुभव होता है, किन्तु इसके लिए सूर्य या सूर्य प्रकाश उत्तरदायी नहीं होता।

अथ प्रसादये न त्वां शापमोक्षाय भामिनि ।
यन्मन्यसे ह्यसाधूक्तं मम तत्क्षम्यतां सति ॥ २४॥

शब्दार्थ

अथ—अत:; प्रसादये—प्रसन्न करने का प्रयत्न कर रहा हूँ; न—नहीं; त्वाम्—तुमको; शाप-मोक्षाय—शाप से मुक्ति पाने के लिए; भामिनि—हे क्रुद्धा; यत्—जो; मन्यसे—तुम मान लो; हि—निस्सन्देह; असाधु-उक्तम्—अनुचित बात; मम—मेरी; तत्—वह; क्षम्यताम्—क्षमा करें; सति—हे सती!.

हे माता! आप अब वृथा ही क्रुद्ध हैं। चूँकि मेरे समस्त सुख-दुख मेरे पूर्वकर्मों के द्वारा सुनिश्चित हैं, अत: मैं न तो क्षमा-प्रार्थी हूँ और न आपके शाप से मुक्त होना चाहता हूँ। यद्यपि मैंने जो कुछ कहा है अनुचित नहीं है, किन्तु जो कुछ आप अनुचित समझती हों उसके लिए क्षमा करें।

तात्पर्य : चित्रकेतु को यह भलीभाँति ज्ञात था कि प्रकृति के नियमों से कर्मों के फल प्राप्त होते हैं, अत: वह पार्वती के शाप से मुक्त नहीं होना चाहता था। तो भी वह उन्हें संतुष्ट करना चाहता था क्योंकि उसने कहा था उसके कथन के स्वाभाविक होने पर भी वे उससे रुष्ट थीं। अत: शिष्टाचार के नाते महाराज चित्रकेतु ने पार्वती से क्षमायाचना की।

श्रीशुक उवाच
इति प्रसाद्य गिरिशौ चित्रकेतुररिन्दम ।
जगाम स्वविमानेन पश्यतो: स्मयतोस्तयो: ॥ २५॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; प्रसाद्य—प्रसन्न करके; गिरिशौ—भगवान् शिव तथा उनकी पत्नी पार्वती को; चित्रकेतु:—राजा चित्रकेतु; अरिम्-दम—शत्रुओं को दमन करने में समर्थ हे राजा परीक्षित; जगाम—चला गया; स्व-विमानेन—अपने विमान द्वारा; पश्यतो:—देखते देखते; स्मयतो:—हँसते हुए; तयो:—भगवान् शिव तथा पार्वती दोनों के।.

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे शत्रुओं को दमन करने वाले राजा परीक्षित!

शिवजी तथा पार्वती को प्रसन्न करने के बाद चित्रकेतु अपने विमान पर बैठ गये और उनके देखते-देखते प्रस्थान कर गये। जब शिवजी तथा पार्वती ने देखा कि शापित होने पर भी चित्रकेतु निर्भय था, तो वे उसके आचरण पर विस्मित होकर हँस पड़े।

ततस्तु भगवान्रुद्रो रुद्राणीमिदमब्रवीत् ।
देवर्षिदैत्यसिद्धानां पार्षदानां च शृण्वताम् ॥ २६॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; तु—तब; भगवान्—सर्वशक्तिमान; रुद्रः—भगवान् शिव ने; रुद्राणीम्—अपनी पत्नी पार्वती से; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा; देवर्षि—जबकि परम साधु नारद; दैत्य—असुरों; सिद्धानाम्—तथा योगशक्ति में पटु सिद्धलोक के वासियों के; पार्षदानाम्—अपने निजी सहयोगियों के; च—भी; शृण्वताम्—सुन रहे थे।

तत्पश्चात् परमसाधु नारद, असुरों, सिद्धलोक के वासियों तथा अपने व्यक्तिगत सहयोगियों के समक्ष सर्वशक्तिमान भगवान् शिव अपनी पत्नी पार्वती से बोले और वे सब सुनते रहे।

श्रीरुद्र उवाच
दृष्टवत्यसि सुश्रोणि हरेरद्भुतकर्मणः ।
माहात्म्यं भृत्यभृत्यानां निःस्पृहाणां महात्मनाम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

श्री-रुद्रः उवाच—शिवजी ने कहा; दृष्टवती असि—क्या तुमने देखा; सु-श्रोणि—हे सुन्दरी पार्वती; हरेः—श्रीभगवान् के; अद्भुत-कर्मणः—विस्मयपूर्ण कार्य; माहात्म्यम्—महानता; भृत्य-भृत्यानाम्—दासानुदासों की; निःस्पृहाणाम्—इन्द्रियतृप्ति की आकांक्षा से रहित; महात्मनाम्—महान् पुरुषों का।

शिवजी ने कहा—हे सुन्दरी! तुमने वैष्णवों की महानता देख ली? श्रीभगवान् हरि के दासानुदास होकर वे महान् पुरुष होते हैं और किसी प्रकार के सांसारिक सुख में रुचि नहीं रखते।

तात्पर्य : पार्वती-पति भगवान् शिव ने अपनी पत्नी से कहा, ''हे पार्वती! तुम अत्यन्त सुन्दर शरीर वाली हो, निस्सन्देह, तुम यशस्वी भी हो, किन्तु मेरा विचार है कि तुम श्रीभगवान् के दासानुदास भक्तों की सुन्दरता तथा महिमा की बराबरी नहीं कर सकतीं।'' निस्सन्देह, जब वे

अपनी पत्नी के साथ ऐसा परिहास कर रहे थे तो मुसका रहे थे क्योंकि कोई दूसरा ऐसा नहीं कह सकता था। शिवजी ने आगे कहा, "परमेश्वर के कार्य महान् होते हैं और अपने भक्त चित्रकेतु पर उनके विचित्र प्रभाव का यह दूसरा उदाहरण है। देखो न, तुमने इस राजा को शाप दिया है, किन्तु न तो वह भयभीत हुआ, न ही दुखी है। उल्टे, उसने तुम्हारा सम्मान किया, तुम्हें माता कहकर सम्बोधित किया और अपने को दोषी मानकर तुम्हारे शाप को अंगीकार कर लिया। उसने प्रतिकार में कुछ भी नहीं कहा। यही भक्त की श्रेष्ठता है। तुम्हारे शाप को विनम्रतापूर्वक सहन करके उसने तुम्हारी सुन्दरता तथा तुम्हारी शाप-शक्ति की महिमा को मात कर दिया है। मैं निष्पक्ष होकर यह कह सकता हूँ कि चित्रकेतु ने ईश्वर का भक्त होने के कारण ही तुम्हें तथा तुम्हारी श्रेष्ठता को पराजित कर दिया है।" जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*तरोरपि सहिष्णुना*—अर्थात् भक्त वृक्ष के समान समस्त शापों तथा विफलताओं को सहन कर सकता है। भक्त की यही श्रेष्ठता है। अप्रत्यक्ष रूप से शिवजी ने पार्वती को भविष्य में चित्रकेतु जैसे भगवद्भक्त को शाप देने की भूल न करने के लिए आगाह किया। उन्होंने संकेत किया कि यद्यपि तुम शक्तिमान हो, किन्तु राजा चित्रकेतु अपनी शक्ति का प्रदर्शन किये बिना ही अपनी सहिष्णुता के कारण तुमसे आगे निकल गया है।

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति ।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

नारायण-पराः—जो केवल नारायण की सेवा में रुचि रखते हैं, शुद्ध भक्त; सर्वे—समस्त; न—नहीं; कुतश्चन—कहीं भी; बिभ्यति—डरते हैं; स्वर्ग—स्वर्ग लोक; अपवर्ग—मुक्ति; नरकेषु—तथा नरक में; अपि—भी; तुल्य—समान; अर्थ—महत्त्व; दर्शिनः—देखने वाले।

पूरी तरह से भगवान् नारायण की सेवा में लीन रहने वाले भक्तजन जीवन की किसी भी अवस्था से भयभीत नहीं होते। उनके लिए स्वर्ग, मुक्ति तथा नरक एकसमान हैं क्योंकि ऐसे भक्त ईश्वर की सेवा में ही रुचि रखते हैं।

तात्पर्य : यह स्वाभाविक है कि पार्वती ने पूछा हो कि भक्त इतने महान् कैसे बनते हैं? अत: इस श्लोक में बताया गया है कि भक्तलोग *नारायण-पर* होते हैं। वे जीवन की विफलताओं की परवाह नहीं करते क्योंकि नारायण की सेवा करते हुए उन्होंने सभी प्रकार के कष्टों को झेलने की शिक्षा पाई है। उन्हें इसकी परवाह नहीं रहती कि वे स्वर्ग में हैं या नरक में, वे केवल ईश्वर की सेवा करते रहते हैं। यही उनकी श्रेष्ठता है। *आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्*—वे मुक्त रूप से ईश्वर की सेवा में प्रवृत्त होते हैं, अत: वे श्रेष्ठ हैं। भगवान् शिव ने *भृत्य-भृत्यानाम्* शब्द का व्यवहार करके यह संकेत किया है कि यद्यपि चित्रकेतु ने सहिष्णुता तथा श्रेष्ठता का यह आदर्श उपस्थित किया है, किन्तु जितने भी भक्तों ने भगवान् की शरण ग्रहण कर रखी है वे सभी यशस्वी (महिमामय) हैं। उन्हें इसकी तनिक भी इच्छा नहीं कि वे स्वर्ग में रहकर सुखी बनें और मुक्त होकर परम तेजोमय ब्रह्म से एकाकार हो लें। ऐसे लाभ उनको नहीं भाते। वे तो भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा करना चाहते हैं।

देहिनां देहसंयोगाद्द्वन्द्वानीश्वरलीलया ।
सुखं दु:खं मृतिर्जन्म शापोऽनुग्रह एव च ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

देहिनाम्—देहधारी व्यक्तियों का; देह-संयोगात्—भौतिक देह के सम्पर्क से; द्वन्द्वानि—द्वैत भावनाएँ; ईश्वर-लीलया—ईश्वर की परम इच्छा से; सुखम्—सुख; दु:खम्—दुख; मृति:—मृत्यु; जन्म—जन्म; शाप:—शाप; अनुग्रह:—कृपा; एव—निश्चय ही; च—तथा।

परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति के कार्यों के कारण जीवात्माएँ भौतिक देह के सम्पर्क में बद्ध हैं। सुख तथा दुख, जन्म तथा मृत्यु, शाप तथा अनुग्रह के द्वैतभाव संसार के सम्पर्क के सहज गौण फल हैं।

तात्पर्य : हम *भगवद्गीता* में पाते हैं—*मयाध्यक्षेण प्रकृति: सूयते सचराचरम्*—यह संसार ईश्वर की भौतिक शक्ति देवी दुर्गा के निर्देशानुसार कार्य करती है, जबकि देवी दुर्गा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के निर्देश से कार्य करती हैं। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (५.४४) में भी हुई है—

सृष्टिस्थितिप्रलयसाधनशक्तिरेका

छायेव यस्य भुवनानि बिभर्ति दुर्गा।

दुर्गा अर्थात् शिवजी की पत्नी पार्वती अत्यन्त शक्तिमान हैं। वे अपनी इच्छा से अनेक ब्रह्माण्डों की सृष्टि, पालन एवं लय कर सकती हैं। किन्तु वे भगवान् श्रीकृष्ण के ही निर्देश पर कार्य करती हैं, स्वतंत्र रूप से नहीं। श्रीकृष्ण निष्पक्ष हैं, किन्तु यह संसार द्वैतपूर्ण है, अतः सुख-दुख, शाप-अनुग्रह जैसे सापेक्ष पद की इच्छा ईश्वर द्वारा सृजित हैं। वे जो *नारायण-पर* अर्थात् शुद्ध भक्त नहीं हैं, वे संसार की इस द्वैतता से विचलित होते हैं, किन्तु ईश्वर में निरन्तर अनुरक्त रहने के कारण भक्त उससे तनिक भी विचलित नहीं होते। उदाहरणार्थ, हरिदास ठाकुर को बाइस बाजार में बेतों से पीटा गया, किन्तु वे तनिक भी विचलित नहीं हुए, उल्टे वे हँसते हुए इस पिटाई को सहते रहे। संसार की विचलनकारी द्वैतताओं के होते हुए भी भक्त कभी विचलित नहीं होते। चूँकि वे अपने मन को भगवान् के चरणकमलों में स्थिर रखते हैं और उनके पवित्र नाम में केन्द्रित रहते हैं अतः उन्हें इस द्वैतता से उत्पन्न होने वाले तथाकथित दुख तथा आनन्द का अनुभव नहीं होता।

अविवेककृतः पुंसो ह्यर्थभेद इवात्मनि ।
गुणदोषविकल्पश्च भिदेव स्त्रजिवत्कृतः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अविवेक-कृतः—अज्ञानता में किया गया; पुंसः—जीवात्मा का; हि—निस्सन्देह; अर्थ-भेदः—महत्त्व का अन्तर; इव—के सदृश; आत्मनि—अपने आप में; गुण-दोष—गुण तथा दोष का; विकल्पः—कल्पना; च—तथा; भित्—अन्तर; एव—निश्चय ही; स्त्रजि—माला में; वत्—सदृश; कृतः—बनी हुई।

जिस प्रकार मनुष्य फूलमाला को सर्प समझ बैठता है अथवा स्वप्न में सुख तथा दुख का अनुभव करता है उसी प्रकार भौतिक संसार में सुविचार के अभाव में हम सुख तथा दुख में एक को अच्छा तथा दूसरे को बुरा समझ कर विभेद करते हैं।

तात्पर्य : द्वैतमय जगत के सुख तथा दुख दोनों ही भ्रामक धारणाएँ हैं। *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (अन्त्य ४.१७६) में कहा गया है—

''द्वैते'' भद्राभद्रज्ञान, सब—''मनोधर्म''।

एइ भाल, एइ मन्द,''—एइ सब ''भ्रम''॥

द्वैतपूर्ण जगत में सुख तथा दुख का अन्तर मात्र मनोरथ होता है क्योंकि तथाकथित सुख तथा दुख वास्तव में एक ही हैं। वे स्वप्न में भोगे सुख तथा दुख के तुल्य हैं। सुप्त मनुष्य स्वप्न में सुख-दुख की सृष्टि कर लेता है यद्यपि इनका अस्तित्व होता है।

इस श्लोक में दूसरा उदाहरण फूल की माला का है, जो मूलतः अत्यन्त सुन्दर होती है, किन्तु भ्रमवश तथा प्रौढ़ ज्ञान के अभाव में मनुष्य उसे साँप समझ बैठता है। इस प्रसंग में प्रबोधानन्द सरस्वती का कथन—*विश्वं पूर्ण-सुखायते*—लागू होता है। इस भौतिक संसार में प्रत्येक मानव संकट-पूर्ण स्थितियों से दुखी है किन्तु प्रबोधानंद सरस्वती कहते हैं कि यह संसार सुख से पूर्ण है। यह कैसे सम्भव है? इसका उत्तर वे इस प्रकार देते हैं—*यत्-कारुण्य-कटाक्ष-वैभवतां तं गौरमेव स्तुमः*। भक्त श्री चैतन्य महाप्रभु की अहैतुकी कृपा के कारण ही इस संसार के दुख को सुख मान लेता है। उन्होंने स्वयं यह दिखा दिया कि हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करते हुए वे सदैव प्रसन्न रहे, उन्हें कोई कष्ट नहीं मिला। मनुष्य को चाहिए कि उन्हीं के चरण-चिह्नों का अनुसरण करते हुए निरन्तर *हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*—इस महामंत्र का कीर्तन करे। तब उसे इस संसार की द्वैतता से कष्ट नहीं पहुँचेगा। चाहे जिस स्थिति में वह रहे, ईश्वर के पवित्र नाम के जप से वह प्रसन्न रहेगा।

अपने स्वप्नों में हम कभी खीर खाने का आनन्द उठाते हैं, तो कभी ऐसा लगता है मानों हमारे परिवार का कोई प्रिय सदस्य मर गया है। चूँकि जाग्रत अवस्था में वही मन तथा वही शरीर उसी द्वैतपूर्ण संसार में रहते हैं, अतः संसार के तथाकथित सुख तथा दुख स्वप्न के काल्पनिक तथा ऊपरी सुख से श्रेष्ठ नहीं हैं। स्वप्न तथा जागृति दोनों में मन ही कार्य करता है और मन के संकल्प तथा विकल्प से उत्पन्न प्रत्येक वस्तु मनोधर्म कहलाती है।

वासुदेवे भगवति भक्तिमुद्वहतां नृणाम् ।
ज्ञानवैराग्यवीर्याणां न हि कश्चिद्व्यपाश्रयः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

वासुदेवे—भगवान् वासुदेव, कृष्ण में; भगवति—भगवान्; भक्तिम्—भक्ति में प्रेम तथा श्रद्धा; उद्वहताम्—धारण करने वालों के लिए; नृणाम्—मनुष्यों का; ज्ञान-वैराग्य—वास्तविक ज्ञान तथा विरक्ति का; वीर्याणाम्—शक्तिमान; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; कश्चित्—कुछ भी; व्यपाश्रयः—शरण के रूप में।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव कृष्ण की भक्ति में अनुरक्त व्यक्ति स्वभावतः परम ज्ञानी तथा इस संसार से विरक्त रहने वाले होते हैं। अतः ऐसे भक्त न तो इस संसार के तथाकथित सुख में न ही तथाकथित दुख में कोई रुचि रखते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर एक भक्त तथा दिव्य विषय पर मनन करने वाले दार्शनिक का अन्तर दिखाया गया है। भक्त को इस संसार की असत्यता या विनश्वरता को समझने के लिए ज्ञान का अनुशीलन करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वासुदेव में विशुद्ध भक्ति के कारण उसमें यह ज्ञान तथा विरक्ति स्वतः प्रकट होती हैं। अन्यत्र *श्रीमद्भागवत* (१.२.७) में इसकी पुष्टि की गई है—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥

जो मनुष्य वासुदेव कृष्ण की शुद्ध भक्ति में अनुरक्त होता है, वह स्वतः इस संसार से अवगत हो जाता है, जिसके फलस्वरूप वह स्वभावतः विरक्त हो जाता है। यह विरक्ति उसके उच्च ज्ञान से ही सम्भव है। चिन्तनशील दार्शनिक ज्ञान के अनुशीलन से यह समझने का प्रयास करता है कि यह संसार मिथ्या है, किन्तु भक्त में बिना किसी प्रयास के यह ज्ञान स्वतः प्रकट होता है। मायावादी चिन्तक अपने तथाकथित ज्ञान पर गुमान कर सकते हैं किन्तु वासुदेव को न समझने के कारण (*वासुदेवः सर्वम् इति*) वे संसार की द्वैतता को नहीं समझ पाते क्योंकि यह वासुदेव की बहिरंगा शक्ति का प्राकट्य है। अतः जब तक तथाकथित ज्ञानी वासुदेव की शरण में नहीं जाते तब तक उनका चिन्तनशील ज्ञान अधूरा रहता है। *येऽन्येरविन्दाक्ष विमुक्ति-मानिनः*—वे वासुदेव के चरणकमलों की शरण में गये बिना सांसारिक कलुष से मुक्त होना चाहते हैं किन्तु वे वासुदेव के

चरणकमलों में शरण नहीं लेते हैं, अत: उनका ज्ञान अशुद्ध है। वे जब सचमुच शुद्ध हो जाते हैं, तो वासुदेव की शरण ग्रहण करते हैं अत: ज्ञानी की अपेक्षा भक्त के लिए परम सत्य को समझ पाना सुगम है क्योंकि ज्ञानी वासुदेव को समझने के लिप मात्र चिन्तन करते हैं। शिवजी ने इस कथन की पुष्टि अगले श्लोक में की है।

नाहं विरिञ्चो न कुमारनारदौ
न ब्रह्मपुत्रा मुनयः सुरेशाः ।
विदाम यस्येहितमंशकांशका
न तत्स्वरूपं पृथगीशमानिनः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं (शिव); विरिञ्चः—ब्रह्माजी; न—नहीं; कुमार—अश्विनीकुमार; नारदौ—देवर्षि नारद; न—नहीं; ब्रह्म-पुत्राः—भगवान् ब्रह्मा के पुत्र; मुनयः—परम साधु पुरुष; सुर-ईशाः—समस्त देवता; विदाम—जानते हैं; यस्य—जिसका; ईहितम्—गतिविधि; अंशक-अंशकाः—अंशों के भी अंश; न—नहीं; तत्—उसका; स्व-रूपम्—वास्तविक व्यक्तित्व; पृथक्—भिन्न; ईश—राजा; मानिनः—मान बैठे हैं।.

न तो मैं (शिव), न ब्रह्मा या अश्विनीकुमार, न ही नारद या ब्रह्मा के अन्य साधु-पुत्र और न देवता ही परमेश्वर की लीलाओं को तथा उनके स्वरूप को समझ सकते हैं। भगवान् के अंश होते हुए भी हम अपने को स्वतंत्र तथा पृथक् शासक (नियन्ता) मान बैठते हैं जिससे हम उनके स्वरूप को नहीं समझ सकते।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* (५.३३) का कहना है—

अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्

आद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च।

वेदेषु दुर्लभमदुर्लभमात्मभक्तौ

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

‘‘मैं उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् गोविन्द की उपासना करता हूँ जो आदि पुरुष हैं, परम अच्युत अनादि, अनन्त रूपों में विस्तार करते हुए भी वही आदि, पुरातन तथा नवयौवन से पूर्ण पुरुष हैं।

ऐसे नित्य, आनन्दमय तथा सर्वज्ञ ईश्वर को सर्वोत्तम वेदज्ञानी भी नहीं जान पाते, वे तो शुद्ध भक्तों के ही समक्ष सदैव प्रकट होते हैं।'' शिवजी अपने को एक ऐसा अभक्त बताते हैं, जो भगवान् के स्वरूप को नहीं समझ सकता। भगवान् अनन्त होने के कारण असंख्य 'रूपों' वाले हैं। तो भला सामान्य पुरुष उन्हें कैसे समझ सकता है? शिवजी निस्सन्देह सामान्य पुरुषों से ऊपर हैं, किन्तु वे भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को नहीं समझ पाते। शिव न तो सामान्य जीवों की श्रेणी में आते हैं न ही भगवान् विष्णु की श्रेणी में। वे सामान्य पुरुषों तथा भगवान् विष्णु दोनों के मध्य में हैं।

न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियः स्वः परोऽपि वा ।
आत्मत्वात्सर्वभूतानां सर्वभूतप्रियो हरिः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अस्य—ईश्वर का; अस्ति—है; प्रियः—अत्यन्त प्यारा; कश्चित्—कोई; न—नहीं; अप्रियः—जो प्रिय न हो; स्वः—अपना; परः—पराया; अपि—भी; वा—या; आत्मत्वात्—आत्मा की भी आत्मा होने से; सर्व-भूतानाम्—सभी जीवात्माओं का; सर्व-भूत—सभी जीवात्माओं के लिए; प्रियः—अत्यधिक प्रिय; हरिः—भगवान् हरि।

भगवान् को न कोई अति प्रिय है और न कोई अप्रिय। उनके न तो कोई स्वजन है और न कोई पराया है। वे वास्तव में समस्त जीवों के आत्मा के आत्मा हैं। इस प्रकार वे समस्त जीवों के कल्याणकारी मित्र तथा उन सबों के अत्यन्त प्रिय हैं।

तात्पर्य : श्रीभगवान् का दूसरा स्वरूप समस्त जीवात्माओं का परम आत्मा है। जिस प्रकार 'स्व' अत्यन्त प्रिय होता है उसी 'स्व' का परम 'स्व' और भी अधिक प्रिय होता है। प्रत्येक के लिए समान मित्रवत् परमात्मा का कोई भी शत्रु नहीं हो सकता। भगवान् तथा जीवात्माओं के बीच शत्रुता या मित्रता का भाव माया के बीच में आ जाने के कारण है। चूंकि भौतिक प्रकृति के तीन प्रकार के गुण यह हस्तक्षेप करते हैं जिसके कारण भिन्न-भिन्न सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं। वास्तव में शुद्ध जीवात्मा सदैव ईश्वर को अत्यन्त प्रिय है और उसे भी ईश्वर प्रिय होता है। पक्षपात अथवा शत्रुता का प्रश्न नहीं उठता।

तस्य चायं महाभागश्चित्रकेतुः प्रियोऽनुगः ।
सर्वत्र समदृक्शान्तो ह्यहं चैवाच्युतप्रियः ॥ ३४॥
तस्मान्न विस्मयः कार्यः पुरुषेषु महात्मसु ।
महापुरुषभक्तेषु शान्तेषु समदर्शिषु ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उस (ईश्वर) का; च—तथा; अयम्—यह; महा-भागः—परम भाग्यशाली; चित्रकेतुः—राजा चित्रकेतु; प्रियः—प्यारा; अनुगः—आज्ञापालक सेवक; सर्वत्र—सभी जगह; सम-दृक्—समान दृष्टि; शान्तः—अत्यन्त शांत; हि—निस्सन्देह; अहम्—मैं; च—भी; एव—निश्चय ही; अच्युत-प्रियः—कभी न चूकने वाले भगवान् कृष्ण को प्रिय; तस्मात्—अतः; न—नहीं; विस्मयः—आश्चर्य; कार्यः—करणीय, कार्य; पुरुषेषु—पुरुषों में से; महा-आत्मसु—जो महात्मा है; महा-पुरुष-भक्तेषु—भगवान् विष्णु के भक्त; शान्तेषु—शान्त; सम-दर्शिषु—सम-दर्शियों में, सबको समान मानने वाले।.

यह परम उदार चित्रकेतु ईश्वर का प्रिय भक्त है। यह सभी जीवों का समदर्शी है और आसक्ति तथा घृणा से मुक्त है। इसी प्रकार मैं भी भगवान् नारायण का परम प्रिय हूँ, अतः नारायण के उच्च भक्तों की गतिविधियों को देखकर चकित नहीं होना चाहिए क्योंकि वे आसक्ति तथा द्वेष से मुक्त रहते हैं। वे सदैव शान्त रहते हैं और समदर्शी होते हैं।

तात्पर्य : कहा गया है कि *वैष्णवेर क्रिया, मुद्रा विज्ञेय ना बुझय*—"परम मुक्त वैष्णवों की गतिविधियों को देखकर किसी को आश्चर्य नहीं करना चाहिए।" किसी को भगवान् की गतिविधियों तथा भक्तों की गतिविधियों को देखकर गुमराह नहीं होना चाहिए। ईश्वर तथा उनके भक्त दोनों ही मुक्त हैं। वे समान स्तर पर हैं, अन्तर केवल इतना ही है कि ईश्वर स्वामी हैं और भक्तजन दास। गुणात्मक रूप से वे एक ही हैं। *भगवद्गीता* (९.२९) में भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

"मैं न तो किसी से द्वेष करता हूँ और न पक्षपात; जीव मात्र में मेरा समभाव है। परन्तु जो प्राणी भक्तिभाव से मेरी सेवा करते हैं, वे मेरे मित्र मुझमें ही स्थित हैं। और मैं भी उनका मित्र हूं। " भगवान् के इस कथन से स्पष्ट है कि भगवान् को उनके भक्त सदैव अत्यन्त प्रिय हैं। वास्तव में शिव ने पार्वती से यह कहा, "चित्रकेतु तथा मैं दोनों ही भगवान् को परम प्रिय हैं अर्थात् हम दास रूप में समान स्तर पर हैं; हम एक दूसरे के सखा हैं और कभी कभी परिहास भी कर लेते हैं। जब

चित्रकेतु मेरे व्यवहार पर जोर से हँसा तो वास्तव में मित्र होने के नाते उसने ऐसा किया, अत: उसे शाप देने की कोई आवश्यकता न थी।'' इस प्रकार शिवजी ने अपनी पत्नी पार्वती को यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि चित्रकेतु को शाप देकर उन्होंने अच्छा नहीं किया।

जीवन के उच्च स्तर पर भी स्त्री तथा पुरुष में भेद हैं, यहाँ तक कि भगवान् शिव तथा पार्वती में भी। शिवजी तो चित्रकेतु को ठीक से जान पाये किन्तु पार्वती नहीं जान पाईं। अत: जीवन के उच्च स्तरों में भी पुरुष और स्त्री की समझ में अन्तर होता है। यह स्पष्ट शब्दों में कहा जा सकता है कि स्त्री की समझ पुरुष से निम्न कोटि की होती है। अब पाश्चात्य देशों में स्त्री तथा पुरुष को समान मानने के लिए आन्दोलन किया जा रहा है, किन्तु इस श्लोक से पता चलता है कि स्त्री सदैव पुरुष की अपेक्षा कम बुद्धिमान होती है।

यह स्पष्ट है कि चित्रकेतु अपने मित्र शिव की आलोचना इसलिए करना चाहते थे क्योंकि वे अपनी पत्नी को गोद में बैठाये हुए थे। शिव भी चित्रकेतु की आलोचना करना चाहते थे क्योंकि ऊपर से वे महान् भक्त थे और भीतर भीतर विद्याधर लोक की स्त्रियों के साथ सुखोपभोग में रुचि दिखा रहे थे। ये तो मित्रों के पारस्परिक हास-परिहास थे, इसमें चित्रकेतु को पार्वती द्वारा शाप दिये जाने का कोई कारण न था। शिवजी के उपदेश को सुनकर पार्वती अवश्य ही लज्जित हुई होंगी कि उन्होंने चित्रकेतु को असुर बनने का शाप क्यों दिया? माता पार्वती चित्रकेतु की स्थिति नहीं समझ पाई थीं अत: उन्होंने शाप दे दिया। किन्तु शिवजी के वचनों को समझने के बाद वे लज्जित हुईं।

श्रीशुक उवाच

इति श्रुत्वा भगवत: शिवस्योमाभिभाषितम् ।
बभूव शान्तधी राजन्देवी विगतविस्मया ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; श्रुत्वा—सुनकर; भगवतः—अत्यन्त शक्तिमान देवता; शिवस्य—शिव का; उमा—पार्वती; अभिभाषितम्—भाषण; बभूव—हो गई; शान्त-धीः—अत्यन्त शान्त; राजन्—हे राजा परीक्षित; देवी—देवी; विगत-विस्मया—आश्चर्य से मुक्त।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा, हे राजन्! अपने पति से यह संभाषण सुनकर देवी उमा (शिव की पत्नी) को राजा चित्रकेतु के व्यवहार पर जो विस्मय उत्पन्न हुआ था वह जाता रहा और उनकी बुद्धि स्थिर हो गई।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *शान्त-धीः* शब्द का अर्थ *स्वीय-पूर्व-स्वभाव-स्मृत्या* है। जब पार्वती ने चित्रकेतु को शाप देने वाले अपने पूर्व आचरण का स्मरण किया, तो वे अत्यन्त लज्जित हुईं और उन्होंने अपने मुख को साड़ी के छोर से ढक लिया। उन्होंने स्वीकार किया कि चित्रकेतु को शाप देकर उन्होंने त्रुटि की है।

इति भागवतो देव्याः प्रतिशप्तुमलन्तमः ।
मूर्ध्ना स जगृहे शापमेतावत्साधुलक्षणम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; भागवतः—परम भक्त; देव्याः—देवी पार्वती का; प्रतिशप्तुम्—बदले में शाप देने; अलन्तमः—समर्थ; मूर्ध्ना—सिर से; सः—वह (चित्रकेतु); जगृहे—स्वीकार किया; शापम्—शाप; एतावत्—इतना बड़ा; साधु-लक्षणम्—भक्त के लक्षण।

महान् भक्त चित्रकेतु इतना शक्तिमान था कि यदि वह चाहता तो पलट कर (बदले में) माता पार्वती को शाप दे देता, किन्तु ऐसा न करके उसने नम्रता से शाप को स्वीकार किया और शिवजी तथा उनकी पत्नी के सम्मुख अपना शिर झुकाया। इसे वैष्णव का आदर्श आचरण समझना चाहिए।

तात्पर्य : शिवजी द्वारा सूचित किये जाने पर माता पार्वती जान सकीं कि चित्रकेतु को शाप देकर उन्होंने त्रुटि की है। चित्रकेतु का चरित्र इतना महान् था कि पार्वती द्वारा गलती से शापित होने पर भी वह अपने विमान से तत्काल उतरा और शाप को अंगीकार करके माता के समक्ष अपना माथा टेका। इसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है—*नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति*। चित्रकेतु ने खेल-खेल में माता के शाप को इसलिए स्वीकार कर लिया जिससे वे प्रसन्न

हो जाय। यही साधु का लक्षण है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*तृणादपि सुनीचेन तरोरपिसहिष्णुना*। भक्त को अत्यन्त विनम्र होना चाहिए और बड़ों का सम्मान करना चाहिए। श्रीभगवान् द्वारा रक्षित होने से भक्त सदा परम शक्तिमान होता है, किन्तु वह अपनी शक्ति का वृथा प्रदर्शन नहीं करना चाहता। किन्तु यदि अल्प-ज्ञानी पुरुष को थोड़ी सी भी शक्ति प्राप्त हो जाती है, तो वह उसका उपयोग इन्द्रियतृप्ति के लिए करना चाहता है। भक्त का आचरण ऐसा नहीं होता।

जज्ञे त्वष्टुर्दक्षिणाग्नौ दानवीं योनिमाश्रितः ।
वृत्र इत्यभिविख्यातो ज्ञानविज्ञानसंयुतः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

जज्ञे—उत्पन्न हुआ; त्वष्टुः—त्वष्टा नामक ब्राह्मण का; दक्षिण-अग्नौ—दक्षिणाग्नि नामक यज्ञ की अग्नि में; दानवीम्—आसुरी; योनिम्—योनि; आश्रितः—शरणागत; वृत्रः—वृत्र; इति—इस प्रकार; अभिविख्यातः—विख्यात; ज्ञान-विज्ञान-संयुतः—जीवन के दिव्य ज्ञान तथा व्यावहारिक ज्ञान से युक्त।

माता दुर्गा (भवानी, शिवजी की पत्नी) से शापित होकर उसी चित्रकेतु ने आसुरी योनि में जन्म लिया। वह त्वष्टा द्वारा किये गये यज्ञ से असुर के रूप में प्रकट हुआ, यद्यपि वह दिव्य ज्ञान और उसके व्यावहारिक उपयोग में अभी भी परिपूर्ण था और इस प्रकार वह वृत्रासुर के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

तात्पर्य : योनि का सामान्य अर्थ जाति—अर्थात् परिवार, समूह या किस्म—समझा जाता है। यद्यपि वृत्रासुर असुरों के परिवार में उत्पन्न हुआ, किन्तु उसका आध्यात्मिक ज्ञान तब भी बना रहा। *ज्ञान-विज्ञान-संयुतः*—उसका दिव्य ज्ञान तथा जीवन में उस ज्ञान का व्यवहार उसे भूले नहीं। अतः यदि किसी कारणवश भक्त च्युत होता है, तो भी वह नष्ट नहीं होता।

यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं

को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ।

(भागवत १.५.१७)

एक बार भक्ति में सिद्ध हो जाने पर किसी भी दशा में उसकी आध्यात्मिक निधि का क्षय नहीं

होता। वह जितना भी आत्मज्ञान अर्जित कर चुका होता है, वह बना रहता है। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि हुई है। यदि कोई भक्तियोगी भ्रष्ट होता है, तो वह सम्पन्न परिवार में या ब्राह्मण परिवार में जन्म ग्रहण करता है और वहाँ वह फिर से अपनी भक्ति के कार्यकलाप जहाँ उसने छोड़े थे, वहाँ से प्रारम्भ कर देता है। वृत्रासुर भले ही असुर कहलाता रहा हो, किन्तु उसकी भी कृष्णभावना या भक्ति विनष्ट नहीं हुई थी।

एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
वृत्रस्यासुरजातेश्च कारणं भगवन्मतेः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; ते—तुमको; सर्वम्—सब कुछ; आख्यातम्—बता दिया; यत्—जो; माम्—मुझसे; त्वम्—तुमने; परिपृच्छसि—पूछा था; वृत्रस्य—वृत्रासुर का; असुर-जातेः—असुर योनि में उत्पन्न; च—तथा; कारणम्—कारण; भगवत्-मतेः—कृष्णभावना में उन्नत बुद्धि का।

हे राजा परीक्षित! तुमने मुझसे पूछा था कि परम भक्त वृत्रासुर ने असुर वंश में किस प्रकार जन्म लिया; अतः मैंने तुम्हें उसके विषय में सब कुछ बताने का प्रयास किया है।

इतिहासमिमं पुण्यं चित्रकेतोर्महात्मनः ।
माहात्म्यं विष्णुभक्तानां श्रुत्वा बन्धाद्विमुच्यते ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

इतिहासम्—इतिहास; इमम्—यह; पुण्यम्—परम पवित्र; चित्रकेतोः—चित्रकेतु का; महा-आत्मनः—परम भक्त; माहात्म्यम्—महिमायुक्त; विष्णु-भक्तानाम्—विष्णु के भक्तों का; श्रुत्वा—सुनकर; बन्धात्—जीवन के बन्धन से; विमुच्यते—मुक्त हो जाता है।

चित्रकेतु महान् भक्त (महात्मा) था। यदि कोई मनुष्य किसी शुद्ध भक्त से चित्रकेतु के इस इतिहास को सुने तो श्रोता भी इस संसार में अपने बद्ध जीवन से मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : पुराणों में वर्णित ऐताहासिक घटनाएँ यथा भागवत पुराण का चित्रकेतु का यह इतिहास, अभक्तों अथवा बाहरी लोगों द्वारा कभी कभी गलत समझ लिया जाता है। इसलिए शुकदेव गोस्वामी का उपदेश है कि चित्रकेतु का यह इतिहास किसी भक्त के मुख से ही सुना जाये। भक्ति सम्बन्धी या भगवान् और भक्तों के सम्बन्ध में जो कुछ भी हो उसे भक्त से ही सुना

जाये, किसी व्यावसायिक वाचक से नहीं। यहाँ इसकी संस्तुति की गई है। श्री चैतन्य महाप्रभु के सचिव का भी यही कहना था कि *श्रीमद्भागवत* का इतिहास भक्त से ही सीखा जाये—*याह, भागवत पड वैष्णवेर स्थाने*। मनुष्य को चाहिए कि भागवत के कथनों को व्यावसायिक वाचकों से न सुनें अन्यथा उसका प्रभाव नहीं पड़ेगा। श्रीसनातन गोस्वामी ने *पद्म पुराण* से उद्धरण देते हुए कठोर वर्जना की है कि अभक्तों के मुख से भगवान् तथा उनके भक्तों का चरित्र न सुना जाये।

अवैष्णवमुखोद्गीर्णं पूतं हरिकथामृतम्।

श्रवणं नैव कर्तव्यं सर्पोच्छिष्टं यथा पयः॥

"अवैष्णव के मुख से श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं सुना जाना चाहिए। जिस प्रकार सर्प के होंठों का स्पर्श करने से दूध विषाक्त हो जाता है उसी प्रकार अवैष्णव द्वारा कृष्ण के सम्बन्ध में दिया गया व्याख्यान विषपूर्ण होता है।" केवल प्रामाणिक भक्त ही अपने श्रोताओं को भक्ति के विषय में उपदेश देकर उन्हें भक्तियोग में प्रभावित कर सकता है।

य एतत्प्रातरुत्थाय श्रद्धया वाग्यतः पठेत् ।
इतिहासं हरिं स्मृत्वा स याति परमां गतिम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो भी व्यक्ति; एतत्—यह; प्रातः—प्रातःकाल; उत्थाय—उठकर, जगकर; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; वाक्-यतः—मन तथा वाणी को वश में करके; पठेत्—पढ़े; इतिहासम्—इतिहास; हरिम्—परमेश्वर; स्मृत्वा—स्मरण करके; सः—वह व्यक्ति; याति—जाता है; परमाम् गतिम्—भगवान् के धाम को।.

जो व्यक्ति प्रातःकाल उठकर अपने मन तथा वाणी को वश में रखकर तथा श्रीभगवान् का स्मरण करके चित्रकेतु का यह इतिहास पढ़ता है, वह बिना कठिनाई के भगवान् के धाम को चला जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध के अन्तर्गत "माता पार्वती द्वारा चित्रकेतु को शाप" नामक सत्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अठारह

राजा इन्द्र का वध करने के लिए दिति का व्रत

इस अध्याय में कश्यप की पत्नी दिति की कथा है कि इन्द्र के वध के लिए पुत्र प्राप्त करने के निमित्त उसने किस प्रकार व्रत का पालन किया। इसमें यह भी उल्लेख है कि किस प्रकार इन्द्र ने दिति के गर्भ में ही पुत्र को खण्ड-खण्ड करके उस की योजना को विफल बनाने का प्रयास किया।

त्वष्टा तथा उसके वंशजों के प्रसंग में आदित्यों तथा अन्य देवताओं के वंश का वर्णन किया गया है। अदिति के पाँचवें पुत्र सविता की पत्नी पृश्नि के तीन पुत्रियाँ सावित्री, व्याहृति तथा त्रयी थीं एवं अग्निहोत्र, पशु, सोम, चातुर्मास्य तथा पंच महायज्ञ नामक महान् पुत्र हुए। भग की पत्नी सिद्धि के तीन पुत्र हुए, जिनके नाम महिमा, विभु तथा प्रभु थे तथा आशी नाम की एक कन्या भी उत्पन्न हुई। धाता की चार पत्नियों कुहू, सिनीवाली, राका तथा अनुमति से क्रमशः सायम्, दर्श, प्रातः तथा पूर्णमास नामक चार पुत्र उत्पन्न हुए। विधाता की पत्नी क्रिया से पाँच पुरीष्य उत्पन्न हुए जो पाँच प्रकार के अग्निदेवों के प्रतिनिधि थे। ब्रह्मा के मानस पुत्र भृगु ने पुत्र वरुण की पत्नी चर्षणी के गर्भ से जन्म लिया और ऋषि वाल्मीकि वरुण के वीर्य से उत्पन्न हुए। अगस्त्य तथा वसिष्ठ वरुण तथा मित्र के दो पुत्र थे। वे दोनों उर्वशी के रूप पर मोहित हो गये तो उनका वीर्य स्खलित हो गया जिसे मिट्टी के पात्र में रखा गया। उसी पात्र से अगस्त्य तथा वसिष्ठ की उत्पत्ति हुई। मित्र की पत्नी रेवती के गर्भ से तीन पुत्र हुए उत्सर्ग, अरिष्ठ तथा पिप्पल। अदिति के कुल बारह पुत्र हुए जिनमें इन्द्र ग्यारहवाँ था। इन्द्र की पत्नी का नाम पौलोमी (शची देवी) रखा गया। उसके तीन पुत्र हुए जयन्त, ऋषभ तथा मीढुष। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् स्वयं अपनी शक्ति से वामनदेव के रूप में प्रकट हुए। उनकी पत्नी कीर्ति के गर्भ से बृहत्श्लोक नामक पुत्र जन्मा। उसके प्रथम पुत्र का नाम सौभग था। यह अदिति के पुत्रों का विवरण है। श्रीभगवान् के अवतार आदित्य उरुक्रम का विवरण अष्टम स्कन्ध में दिया जायेगा।

इस अध्याय में दिति से उत्पन्न असुरों का भी विवरण दिया गया है। दिति के वंश में परम साधु-भक्त प्रह्लाद तथा उनके नाती बलि भी उत्पन्न हुए। हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष दिति के प्रथम पुत्र थे। हिरण्यकशिपु तथा उनकी पत्नी कयाधु के चार पुत्र हुए संह्लाद, अनुह्लाद, ह्लाद तथा प्रह्लाद। उनके एक पुत्री भी थी जिसका नाम सिंहिका था। विप्रचित नामक असुर के संयोग से सिंहिका के राहु नामक पुत्र हुआ जिसका शिरच्छेद श्रीभगवान् ने किया था। संह्लाद की पत्नी कृति से पंचजन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। ह्लाद की पत्नी धमनि से वातापि और इल्वल नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। इल्वल ने वातापि को मेढा बनाकर उसे अगस्त्य को खाने के लिए दिया। अनुह्लाद की पत्नी सूर्या की कोख से बाष्कल तथा महिष नामक दो पुत्रों ने जन्म लिया। प्रह्लाद के पुत्र का नाम विरोचन था और पौत्र का नाम बलि महाराज। बलि महाराज के एक सौ पुत्र थे जिनमें बाण सबसे ज्येष्ठ था।

आदित्यों तथा अन्य देवताओं की वंशावली बताने के बाद शुकदेव गोस्वामी ने दिति के मरुत नामक पुत्रों का वर्णन किया है और यह बताया है किस प्रकार वे देवता-पद को प्राप्त हुए। इन्द्र की सहायता के लिए ही भगवान् विष्णु ने हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु का वध किया। अत: दिति को अत्यन्त ईर्ष्या हुई। इसी कारण वह ऐसा पुत्र चाहती थी जो इन्द्र का बध कर सके। उसने अपनी सेवा से कश्यप मुनि को मोहित किया जिससे वह उनसे इस कार्य को करने के लिए महान् पुत्र प्राप्त कर सके। वेद वाक्य *विद्वांसम् अपि कर्षति* के अनुसार कश्यपमुनि इस परम सुन्दरी अपनी पत्नी, से परम आकृष्ट हुए और उसकी किसी भी प्रार्थना को स्वीकार करने का वचन दे दिया। किन्तु जब उसने इन्द्र का बध करने वाले पुत्र के लिए प्रार्थना कि तो कश्यपमुनि ने अपने आपको धिक्कारा और अपनी पत्नी दिति से कहा कि वैष्णव अनुष्ठानों के अनुसार अपनी शुद्धि करे। जब कश्यप के उपदेश से दिति सेवा-भक्ति करने लगी, तो इन्द्र उसके मन्तव्य को समझ गया अत: वह उसके सभी कार्यकलापों का निरीक्षण करने लगा। एक दिन इन्द्र ने देखा कि वह सेवा कार्य से विचलित हो गई अत: वह उसके गर्भ में प्रविष्ट हो गया और उसके पुत्र को उनचास खण्डों में

काट डाला। इस प्रकार उनचास प्रकार के मरुत (वायु) प्रकट हुए किन्तु दिति ने वैष्णव अनुष्ठान किये थे इसलिए सभी पुत्र वैष्णव हो गये।

श्रीशुक उवाच
पृश्निस्तु पत्नी सवितुः सावित्रीं व्याहृतिं त्रयीम् ।
अग्निहोत्रं पशुं सोमं चातुर्मास्यं महामखान् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; पृश्निः—पृश्नि; तु—तब; पत्नी—भार्या; सवितुः—सविता की; सावित्रीम्—सावित्री; व्याहृतिम्—व्याहृति; त्रयीम्—त्रयी; अग्निहोत्रम्—अग्निहोत्र; पशुम्—पशु; सोमम्—सोम; चातुर्मास्यम्—चातुर्मास्य; महा-मखान्—पाँचों महायज्ञ।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा—पृश्नि, जो अदिति के बारह पुत्रों में से पाँचवें पुत्र सविता की पत्नी थी, तीन पुत्रियाँ सावित्री, व्याहृति तथा त्रयी और अग्निहोत्र, पशु, सोम, चार्तुमास्य तथा पंच महायज्ञ नामक पुत्र उत्पन्न हुए।

सिद्धिर्भगस्य भार्याङ्ग महिमानं विभुं प्रभुम् ।
आशिषं च वरारोहां कन्यां प्रासूत सुव्रताम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सिद्धिः—सिद्धि; भगस्य—भग की; भार्या—पत्नी; अङ्ग—हे राजा; महिमानम्—महिमा; विभुम्—विभु; प्रभुम्—प्रभु; आशिषम्—आशीष; च—तथा; वरारोहाम्—अत्यन्त सुन्दरी; कन्याम्—पुत्री को; प्रासूत—जन्म दिया; सु-व्रताम्—सदाचारिणी।

हे राजन्! अदिति के छठे पुत्र भग की पत्नी का नाम सिद्धि था जिसके महिमा, विभु तथा प्रभु नामक तीन पुत्र तथा आशीष नामक एक अत्यन्त सुन्दरी कन्या उत्पन्न हुई।

धातुः कुहूः सिनीवाली राका चानुमतिस्तथा ।
सायं दर्शमथ प्रातः पूर्णमासमनुक्रमात् ॥ ३ ॥
अग्नीन्पुरीष्यानाधत्त क्रियायां समनन्तरः ।
चर्षणी वरुणस्यासीद्यस्यां जातो भृगुः पुनः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

धातुः—धाता के; कुहूः—कुहू; सिनीवाली—सिनीवाली; राका—राका; च—तथा; अनुमतिः—अनुमति; तथा—भी; सायम्—सायम्; दर्शम्—दर्श; अथ—भी; प्रातः—प्रातः; पूर्णमासम्—पूर्णमास; अनुक्रमात्—क्रमशः; अग्नीन्—

अग्निदेव; पुरीष्यान्—पुरीष्य नामक; आधत्त—जन्म दिया; क्रियायाम्—क्रिया से; समनन्तरः—अगला पुत्र विधाता; चर्षणी—चर्षणी; वरुणस्य—वरुण का; आसीत्—था; यस्याम्—जिसमें; जातः—जन्म लिया; भृगुः—भृगु ने; पुनः—फिर।

अदिति के सातवें पुत्र धाता के चार पत्नियाँ थीं जिनके नाम थे कुहू, सिनीवाली, राका तथा अनुमति। इन चारों से क्रमशः सायम्, दर्श, प्रातः तथा पूर्णमास नामक चार पुत्र हुए। अदिति के आठवें पुत्र विधाता की पत्नी का नाम क्रिया था जिससे पुरीष्य नामक पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। अदिति के नवें पुत्र वरुण की पत्नी चर्षणी थी जिसके गर्भ से ब्रह्मा के पुत्र भृगु ने फिर जन्म लिया।

वाल्मीकिश्च महायोगी वल्मीकादभवत्किल ।
अगस्त्यश्च वसिष्ठश्च मित्रावरुणयोरृषी ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

वाल्मीकिः—वाल्मीकि; च—तथा; महा-योगी—परम योगी; वल्मीकात्—बाँबी से; अभवत्—जन्म लिया; किल—निस्सन्देह; अगस्त्यः—अगस्त्य; च—तथा; वसिष्ठः—वशिष्ठ; च—भी; मित्रा-वरुणयोः—मित्र तथा वरुण दोनों के; ऋषी—दो ऋषि।

वरुण के वीर्य से परम योगी वाल्मीकि ने बाँबी से जन्म लिया। भृगु तथा वाल्मीकि वरुण के विशिष्ट पुत्र थे, जबकि अगस्त्य तथा वसिष्ठ ऋषि वरुण तथा मित्र (अदिति के दसवें पुत्र) के संयुक्त पुत्र थे।

रेतः सिषिचतुः कुम्भे उर्वश्याः सन्निधौ द्रुतम् ।
रेवत्यां मित्र उत्सर्गमरिष्टं पिप्पलं व्यधात् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

रेतः—वीर्य; सिषिचतुः—स्खलित; कुम्भे—घड़े में; उर्वश्याः—उर्वशी का; सन्निधौ—उपस्थिति में; द्रुतम्—उड़कर; रेवत्याम्—रेवती में; मित्रः—मित्र; उत्सर्गम्—उत्सर्गम्; अरिष्टम्—अरिष्ट; पिप्पलम्—पिप्पल; व्यधात्—जन्म लिया।

स्वर्ग-सुन्दरी उर्वशी को देखकर मित्र तथा वरुण दोनों का वीर्य स्खलित हो गया जिसे उन्होंने एक मिट्टी के पात्र में रख दिया। बाद में इसी पात्र से अगस्त्य तथा वसिष्ठ नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। ये मित्र तथा वरुण के संयुक्त (उभयनिष्ट) पुत्र हैं। मित्र को अपनी पत्नी रेवती से तीन पुत्र उत्पन्न हुए जिनके नाम उत्सर्ग, अरिष्ट तथा पिप्पल थे।

तात्पर्य : आधुनिक विज्ञान वीर्य को संसाधित करके टेस्ट ट्यूबों में जीवात्माएँ उत्पन्न करने में प्रयत्नशील हैं, किन्तु बहुत काल पहले पात्र में वीर्य को रखकर शिशु उत्पन्न करना सम्भव था।

पौलोम्यामिन्द्र आधत्त त्रीन्पुत्रानिति नः श्रुतम् ।
जयन्तमृषभं तात तृतीयं मीढुषं प्रभुः ॥ ७॥

शब्दार्थ

पौलोम्याम्—पौलोमी (शची देवी) ने; इन्द्रः—इन्द्र ने; आधत्त—उत्पन्न किया; त्रीन्—तीन; पुत्रान्—पुत्र; इति—इस प्रकार; नः—हमारे द्वारा; श्रुतम्—सुना हुआ; जयन्तम्—जयन्त; ऋषभम्—ऋषभ; तात—हे राजन्; तृतीयम्—तीसरा; मीढुषम्—मीढुष; प्रभुः—राजा।

हे राजा परीक्षित! अदिति के ग्यारहवें पुत्र एवं स्वर्गलोक के राजा इन्द्र की पत्नी पौलोमी के गर्भ से जयन्त, ऋषभ तथा मीढुष नामक तीन पुत्र उत्पन्न हुए। ऐसा हमने सुना है।

उरुक्रमस्य देवस्य मायावामनरूपिणः ।
कीर्तौ पत्न्यां बृहच्छ्लोकस्तस्यासन्सौभगादयः ॥ ८॥

शब्दार्थ

उरुक्रमस्य—उरुक्रम की; देवस्य—भगवान् की; माया—अन्तरंगा शक्ति से; वामन-रूपिणः—वामन के रूप में; कीर्तौ—कीर्ति से; पत्न्याम्—अपनी पत्नी; बृहच्छ्लोकः—बृहत्श्लोक; तस्य—उसके; आसन्—थे; सौभग-आदयः—सौभग आदि पुत्र।

अनेक शक्तियों वाले पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अपनी शक्ति से बौने (वामन) के रूप में प्रकट हुए जो अदिति के बारहवें पुत्र उरुक्रम कहलाते हैं। उनकी पत्नी कीर्ति के गर्भ से बृहत्श्लोक नामक एक पुत्र ने जन्म लिया जिसके सौभग इत्यादि कई पुत्र हुए।

तात्पर्य : जैसा कि *भगवद्गीता* (४.६) में भगवान् का वचन है

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥

"मैं अजन्मा, सब प्राणियों का ईश्वर और सच्चिदानन्द अविनाशी स्वरूप होते हुए भी युग युग में अपने आदि दिव्य रूप में प्रकट होता रहता हूँ।" श्रीभगवान् अवतीर्ण होते हैं, तो उन्हें बहिरंगा शक्ति की सहायता की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि वे अपनी स्वयं की शक्ति से यथार्थ रूप में प्रकट

होते हैं। यह आध्यात्मिक शक्ति माया भी कहलाती है। कहा गया है *अतो मायामयं विष्णुं प्रवदन्ति मनीषिण:* श्रीभगवान् द्वारा अंगीकृत शरीर मायामय कहलाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे बहिरंगा शक्ति से निर्मित हैं; इस माया का तात्पर्य उनकी अंतरंगा शक्ति से है।

तत्कर्मगुणवीर्याणि काश्यपस्य महात्मन: ।
पश्चाद्वक्ष्यामहेऽदित्यां यथैवावततार ह ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तत्—उसका; कर्म—कर्म; गुण—गुण; वीर्याणि—तथा शक्ति; काश्यपस्य—कश्यप के पुत्र के; महा-आत्मन:—परम आत्मा; पश्चात्—बाद में; वक्ष्यामहे—मैं वर्णन करूँगा; अदित्याम्—अदिति से; यथा—कैसे; एव—निश्चय ही; अवततार—अवतार लिया; ह—निस्सन्देह।

बाद में (आठवें स्कंध में) मैं यह वर्णन करूँगा कि किस प्रकार उरुक्रम अर्थात् भगवान् वामनदेव परम साधु कश्यप के पुत्र के रूप में प्रकट हुए और किस प्रकार तीनों लोकों को अपने पगों से नाप लिया। मैं उनके अपूर्व कर्मों, गुणों, शक्ति तथा अदिति के गर्भ से जन्म ग्रहण करने के सम्बन्ध में वर्णन करूँगा।

अथ कश्यपदायादान्दैतेयान्कीर्तयामि ते ।
यत्र भागवत: श्रीमान्प्रह्लादो बलिरेव च ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अथ—अब; कश्यप-दायादान्—कश्यप के पुत्रों का; दैतेयान्—दिति से उत्पन्न; कीर्तयामि—वर्णन करूँगा; ते—तुमसे; यत्र—जहाँ; भागवत:—परम भक्त; श्री-मान्—यशस्वी; प्रह्लाद:—प्रह्लाद; बलि:—बलि; एव—निश्चय ही; च—भी।

अब मैं दिति के उन पुत्रों का वर्णन करूँगा जो कश्यप के द्वारा उत्पन्न किये गये किन्तु जो असुर बने। इस असुर वंश में परम भक्त प्रह्लाद महाराज तथा बलि महाराज प्रकट हुए। असुरों को दैत्य कहा जाता है क्योंकि वे दिति के गर्भ से उत्पन्न हुए थे।

दितेर्द्वावेव दायादौ दैत्यदानववन्दितौ ।
हिरण्यकशिपुर्नाम हिरण्याक्षश्च कीर्तितौ ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

दितेः—दिति के; द्वौ—दो; एव—निश्चय ही; दायादौ—पुत्र; दैत्य-दानव—दैत्यों तथा दानवों के द्वारा; वन्दितौ—पूजित; हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु; नाम—नामक; हिरण्याक्षः—हिरण्याक्ष; च—भी; कीर्तितौ—विख्यात।

सर्वप्रथम दिति के गर्भ से हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। ये दोनों अत्यन्त शक्तिशाली थे और दैत्यों तथा दानवों द्वारा पूजित थे।

हिरण्यकशिपोर्भार्या कयाधुर्नाम दानवी ।
जम्भस्य तनया सा तु सुषुवे चतुरः सुतान् ॥ १२॥
संह्लादं प्रागनुह्लादं ह्लादं प्रह्लादमेव च ।
तत्स्वसा सिंहिका नाम राहुं विप्रचितोऽग्रहीत् ॥ १३॥

शब्दार्थ

हिरण्यकशिपोः—हिरण्यकशिपु की; भार्या—पत्नी; कयाधुः—कयाधु; नाम—नामक; दानवी—दनु की संतान; जम्भस्य—जम्भ की; तनया—पुत्री; सा—उसने; तु—निस्सन्देह; सुषुवे—जन्म दिया; चतुरः—चार; सुतान्—पुत्रों को; संह्लादम्—संह्लाद; प्राक्—पहले; अनुह्लादम्—अनुह्लाद; ह्लादम्—ह्लाद; प्रह्लादम्—प्रह्लाद; एव—भी; च—तथा; तत्-स्वसा—उसकी बहन; सिंहिका—सिंहिका; नाम—नाम की; राहुम्—राहु को; विप्रचितः—विप्रचित से; अग्रहीत्—प्राप्त किया।

हिरण्यकशिपु की पत्नी कयाधु नाम से विख्यात थी। वह जम्भ की पुत्री एवं दनु की वंशज थी। उसके एक एक करके चार पुत्र हुए जिनके नाम संह्लाद, अनुह्लाद, ह्लाद तथा प्रह्लाद थे। इन चारों भाइयों की बहन का नाम सिंहिका था। उसने विप्रचित नामक असुर से ब्याह करके राहु नामक असुर को जन्म दिया।

शिरोऽहरद्यस्य हरिश्चक्रेण पिबतोऽमृतम् ।
संह्लादस्य कृतिर्भार्यासूत पञ्चजनं ततः ॥ १४॥

शब्दार्थ

शिरः—शीश; अहरत्—काट लिया; यस्य—जिसका; हरिः—हरि ने; चक्रेण—चक्र से; पिबतः—पीते हुए; अमृतम्—अमृत; संह्लादस्य—संह्लाद की; कृतिः—कृति; भार्या—पत्नी ने; असूत—जन्म दिया; पञ्चजनम्—पंचजन; ततः—उससे।

जब राहु वेश बदलकर देवताओं के बीच में अमृत पी रहा था, तो भगवान् हरि ने उसका सिर काट लिया। संह्लाद की पत्नी का नाम कृति था। इन दोनों के संयोग से कृति के पंचजन नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ।

ह्रादस्य धमनिर्भार्यासूत वातापिमिल्वलम् ।
योऽगस्त्याय त्वतिथये पेचे वातापिमिल्वलः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

ह्रादस्य—ह्राद की; धमनिः—धमनि; भार्या—पत्नी; असूत—जन्म दिया; वातापिम्—वातापि; इल्वलम्—इल्वल को; यः—जो; अगस्त्याय—अगस्त्य के लिए; तु—लेकिन; अतिथये—अपने अतिथि; पेचे—पकाया; वातापिम्—वातापि को; इल्वलः—इल्वल ने।

ह्राद की पत्नी का नाम धमनि था। उसने वातापि तथा इल्वल नामक दो पुत्रों को जन्म दिया। जब अगस्त्य मुनि इल्वल के अतिथि बने तो उसने वातापि को, जो मेढे के रूप में था, पकाकर भोजन करवाया।

अनुह्रादस्य सूर्यायां बाष्कलो महिषस्तथा ।
विरोचनस्तु प्राह्रादिर्देव्यां तस्याभवद्बलिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अनुह्रादस्य—अनुह्राद की; सूर्यायाम्—सूर्या से; बाष्कलः—बाष्कल; महिषः—महिष; तथा—और; विरोचनः—विरोचन; तु—निस्सन्देह; प्राह्रादिः—प्रह्लाद का पुत्र; देव्याम्—उसकी पत्नी से; तस्य—उसके; अभवत्—हुआ; बलिः—बलि।

अनुह्राद की पत्नी सूर्या थी। उसने बाष्कल तथा महिष नामक दो पुत्रों को जन्म दिया। प्रह्लाद के विरोचन नामक एक पुत्र हुआ जिसकी पत्नी से बलि महाराज ने जन्म लिया।

बाणज्येष्ठं पुत्रशतमशनायां ततोऽभवत् ।
तस्यानुभावं सुश्लोक्यं पश्चादेवाभिधास्यते ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

बाण-ज्येष्ठम्—सबसे बड़ा बाण; पुत्र-शतम्—एक सौ पुत्र; अशनायाम्—अशना से; ततः—उससे; अभवत्—हुए; तस्य—उसके; अनुभावम्—चरित्र, महिमा; सु-श्लोक्यम्—प्रशंसनीय; पश्चात्—बाद में; एव—निश्चय ही; अभिधास्यते—वर्णन किया जायेगा।

इसके पश्चात् अशना की कोख से महाराज बलि को एक सौ पुत्र प्राप्त हुए जिनमें राजा बाण ज्येष्ठ था। बलि महाराज का चरित्र (महिमा) अत्यन्त प्रशंसनीय है और उनका वर्णन आगे (आठवें स्कंध में) होगा।

बाण आराध्य गिरिशं लेभे तद्गणमुख्यताम् ।

यत्पार्श्वे भगवानास्ते ह्यद्यापि पुरपालकः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

बाणः—बाण ने; आराध्य—पूजा करके; गिरिशम्—शिवजी की; लेभे—प्राप्त किया; तत्—उसका (भगवान् शिव); गण-मुख्यताम्—प्रमुख पार्षदों में से एक का पद; यत्-पार्श्वे—जिसके निकट; भगवान्—भगवान् शिव; आस्ते—रहता है; हि—जिसके कारण; अद्य—अब; अपि—भी; पुर-पालकः—राजधानी का रक्षक।

चूँकि राजा बाण शिवजी का उपासक था, अतः वह उनके सर्वश्रेष्ठ पार्षदों (गणों) में से एक बन गया। आज भी शिवजी राजा बाण की राजधानी की रक्षा करते हैं और सदैव उसके निकट खड़े रहते हैं।

मरुतश्च दितेः पुत्राश्चत्वारिंशन्नवाधिकाः ।
त आसन्नप्रजाः सर्वे नीता इन्द्रेण सात्मताम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

मरुतः—मरुत गण; च—तथा; दितेः—दिति के; पुत्राः—पुत्र; चत्वारिंशत्—चालीस; नव-अधिकाः—तथा नौ; ते—वे; आसन्—थे; अप्रजाः—निःसन्तान; सर्वे—सभी; नीताः—लाये गये; इन्द्रेण—इन्द्र के द्वारा; स-आत्मताम्—देवताओं के पद को।

दिति के गर्भ से उनचास मरुतदेव भी उत्पन्न हुए। इनमें से किसी के सन्तान नहीं हुई। यद्यपि दिति ने उन्हें जन्मा था किन्तु इन्द्र ने उन्हें देव-पद प्रदान किया।

तात्पर्य : असुर भी देवता बना दिये जाते हैं जब उनका असुर-मूलक चरित्र सुधर जाता है। इस विश्व में दो प्रकार के मनुष्य हैं। भगवान् विष्णु के भक्त देवता कहलाते हैं और उनके विरोधी असुर कहलाते हैं। इस श्लोक के अनुसार असुरों को भी देवता बनाया जा सकता है।

श्रीराजोवाच
कथं त आसुरं भावमपोह्यौत्पत्तिकं गुरो ।
इन्द्रेण प्रापिताः सात्म्यं किं तत्साधु कृतं हि तैः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा परीक्षित ने कहा; कथम्—क्योंकर; ते—वे; आसुरम्—आसुरी; भावम्—वृत्ति; अपोह्य—त्यागकर; औत्पत्तिकम्—जन्म के कारण; गुरो—हे प्रभो; इन्द्रेण—इन्द्र के द्वारा; प्रापिताः—बदले गए; स-आत्म्यम्—देवताओं को; किम्—क्या; तत्—अतः; साधु—पुण्यकर्म; कृतम्—सम्पन्न किये गये; हि—निस्सन्देह; तैः—उनके द्वारा।

राजा परीक्षित ने पूछा—हे प्रभो! जन्म के कारण वे उनचासों मरुत आसुरी वृत्ति से

परिपूर्ण रहे होंगे तो फिर स्वर्ग के राजा इन्द्र ने उन्हें देवता क्यों बनाया? क्या उन्होंने कोई पुण्यकर्म या अनुष्ठान किए थे?

इमे श्रद्दधते ब्रह्मन्नृषयो हि मया सह ।
परिज्ञानाय भगवंस्तन्नो व्याख्यातुमर्हसि ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

इमे—ये; श्रद्दधते—उत्सुक हैं; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; ऋषयः—साधुजन; हि—निस्सन्देह; मया सह—मेरे साथ; परिज्ञानाय—जानने के लिए; भगवन्—हे महात्मन्; तत्—अतः; नः—हमको; व्याख्यातुम् अर्हसि—कृपा करके बताएँ।

हे श्रेष्ठ ब्राह्मण! मैं तथा यहाँ पर उपस्थित सभी साधुजन इसे जानने के लिए परम उत्सुक हैं। अतः हे महात्मन्! हमसे इसका कारण बताएँ।

श्रीसूत उवाच
तद्विष्णुरातस्य स बादरायणि-
र्वचो निशम्याद‍ृतमल्पमर्थवत् ।
सभाजयन्सन्निभृतेन चेतसा
जगाद सत्रायण सर्वदर्शनः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

श्री-सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; तत्—वे; विष्णुरातस्य—महाराज परीक्षित का; सः—उस; बादरायणिः—शुकदेव गोस्वामी ने; वचः—शब्द; निशम्य—सुनकर; आद‍ृतम्—आदरपूर्ण; अल्पम्—संक्षिप्त; अर्थ-वत्—सप्रयोजन; सभाजयन् सन्—प्रशंसा करते हुए; निभृतेन चेतसा—अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक; जगाद—उत्तर दिया; सत्रायण—हे शौनक; सर्व-दर्शनः—सर्वज्ञाता, सर्वदर्शी।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा—हे महर्षि शौनक! महाराजा परीक्षित को सविनय एवं संक्षेप में आवश्यक विषयों पर बोलते हुए सुनकर सर्वज्ञाता शुकदेव गोस्वामी ने उनके प्रयत्नों की प्रशंसा की और इस प्रकार उत्तर दिया।

तात्पर्य : शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित के प्रश्न की अत्यधिक सराहना की क्योंकि वह संक्षेप में होते हुए भी सारगर्भित जिज्ञासाओं से पूर्ण था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इस बात पर बल देते हैं कि यद्यपि दिति ईर्ष्या से पूर्ण थी, किन्तु उसका हृदय भक्तिमय मनोवृत्ति के कारण शुद्ध हो चुका था। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यद्यपि कश्यप मुनि परम विद्वान थे और

आत्मचेतना में सिद्ध थे, किन्तु तो भी वे सुन्दर पत्नी की उत्प्रेरण के वश में थे। चूँकि इन समस्त प्रश्नों को महाराज परीक्षित ने अत्यन्त संक्षेप में पूछा इसलिए शुकदेव गोस्वामी अति प्रसन्न हुए।

श्रीशुक उवाच
हतपुत्रा दितिः शक्रपार्ष्णिग्राहेण विष्णुना ।
मन्युना शोकदीप्तेन ज्वलन्ती पर्यचिन्तयत् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; हत-पुत्रा—जिसके पुत्रों का वध किया जा चुका था; दितिः—दिति ने; शक्र-पार्ष्णि-ग्राहेण—जो इन्द्र की सहायता कर रहा था; विष्णुना—भगवान् विष्णु के द्वारा; मन्युना—क्रोधपूर्वक; शोक-दीप्तेन—शोक से उद्दीप्त; ज्वलन्ती—जलते हुए; पर्यचिन्तयत्—सोचा।

श्री शुकदेव गोस्वामी बोले—इन्द्र की सहायता करने मात्र के लिए भगवान् विष्णु ने हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष नामक दोनों भाइयों का वध कर दिया। उनके मारे जाने से उनकी माता दिति शोक तथा क्रोध से परिपूर्ण होकर इस प्रकार सोचने लगी।

कदा नु भ्रातृहन्तारमिन्द्रियाराममुल्बणम् ।
अक्लिन्नहृदयं पापं घातयित्वा शये सुखम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

कदा—कब; नु—निस्सन्देह; भ्रातृ-हन्तारम्—बन्धुओं को मारने वाला; इन्द्रिय-आरामम्—इन्द्रियतृप्ति का अत्यधिक इच्छुक; उल्बणम्—क्रूर; अक्लिन्न-हृदयम्—कठोर हृदय; पापम्—पापी; घातयित्वा—मरवाकर; शये—दम लूँगी; सुखम्—सुखपूर्वक।

अत्यन्त इन्द्रियलोलुप भगवान् इन्द्र ने हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष इन दोनों भाइयों का वध भगवान् विष्णु के माध्यम से किया है। अतः वह क्रूर, कठोर हृदय एवं पापी है। मैं कब उसे मारकर शान्तचित्त होकर दम ले सकूँगी?

कृमिविड्भस्मसंज्ञासीद्यस्येशाभिहितस्य च ।
भूतध्रुक्तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

कृमि—कीड़े; विट्—विष्ठा, मल; भस्म—राख; संज्ञा—नाम; आसीत्—होता है; यस्य—जिस (शरीर) का; ईश-अभिहितस्य—राजा कहलाने पर भी; च—भी; भूत-ध्रुक्—अन्यों को पीड़ा पहुँचाने वाला; तत्-कृते—उसके लिए; स्व-अर्थम्—स्वार्थ के लिए; किम् वेद—क्या वह जानता है; निरयः—नरक में यातना; यतः—जिससे।

समस्त राजाओं तथा महान् नायकों के शरीर मृत्यु के पश्चात् कीड़ों, विष्ठा अथवा राख में परिणत हो जाएंगे। यदि कोई ऐसे शरीर की रक्षा के लिए ईर्ष्यावश अन्यों का बध करता है, तो क्या वह जीवन के वास्तविक हित को जानता है? निश्चय ही वह नहीं जानता क्योंकि अन्य जीवों के प्रति ईर्ष्या करने से वह अवश्य ही नरक को जाता है।

तात्पर्य : बड़े से बड़े राजा का शरीर भी अन्ततः विष्ठा, कीड़ों अथवा राख में परिणत हो जाता है। यदि कोई देहात्मबुद्धि के प्रति अत्यधिक आसक्त है, तो वह अवश्य ही अधिक बुद्धिमान नहीं है।

आशासानस्य तस्येदं ध्रुवमुन्नद्धचेतसः ।
मदशोषक इन्द्रस्य भूयाद्येन सुतो हि मे ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

आशासानस्य—सोचते हुए; तस्य—उसका; इदम्—यह (शरीर); ध्रुवम्—शाश्वत; उन्नद्ध-चेतसः—जिसका मन वश में नहीं है; मद-शोषकः—प्रमत्तता को दूर करने वाला; इन्द्रस्य—इन्द्र की; भूयात्—हो सकता है कि; येन—जिससे; सुतः—पुत्र; हि—निश्चय ही; मे—मेरा।

दिति ने विचार कियाः कि इन्द्र अपने शरीर को शाश्वत समझ कर अनियंत्रित हो गया है। अतः मैं ऐसा पुत्र चाहूँगी जो इन्द्र की उन्मत्तता को दूर कर दे। इसके लिए मैं कुछ न कुछ उपाय करती हूँ।

तात्पर्य : जो लोग देहात्मबुद्धि में रहते हैं शास्त्रों में उनकी तुलना गौवों और गधों जैसे पशुओं से की गयी है। दिति इन्द्र को दण्ड देना चाहती थी, जो पशु की तरह नीच बन गया था।

इति भावेन सा भर्तुराचचारासकृत्प्रियम् ।
शुश्रूषयानुरागेण प्रश्रयेण दमेन च ॥ २७॥
भक्त्या परमया राजन्मनोज्ञैर्वल्गुभाषितैः ।
मनो जग्राह भावज्ञा सस्मितापाङ्गवीक्षणैः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; भावेन—विचार से; सा—उसने; भर्तुः—पति का; आचचार—सम्पन्न किया; असकृत्—निरन्तर; प्रियम्—प्रिय कार्य; शुश्रूषया—सेवा से; अनुरागेण—प्रेम से; प्रश्रयेण—विनम्रता से; दमेन—आत्म-संयम से; च—भी; भक्त्या—भक्ति से; परमया—महान्; राजन्—हे राजन्; मनोज्ञैः—मनोहर; वल्गु-भाषितैः—मीठे वचनों से; मनः—उसका मन; जग्राह—अपने वश में कर लिया; भाव-ज्ञा—उसकी प्रकृति को जानने वाली; स-स्मित—मुस्कान से पूर्ण; अपाङ्ग-वीक्षणैः—तिरछी चितवन से।

इस प्रकार सोचती हुई (इन्द्र को मारने के लिए एक ऐसे पुत्र की इच्छा से) दिति निरन्तर अपने पति कश्यप को अपने मोहक आचरण से प्रसन्न रखने लगी। हे राजन्! दिति कश्यप की सभी आज्ञाओं का अत्यन्त निष्ठा से पालन करती रही। वह सेवा, प्रेम, विनय तथा आत्म-संयम एवं अपनी मृदुल वाणी से और अपनी मन्द हँसी और बाँकी चितवन से कश्यप के मन को आकृष्ट करते हुए उसने उन्हें अपने वश में कर लिया।

तात्पर्य : जब कोई स्त्री अपने पति की परम प्रिय बनना चाहे और उसे अत्यन्त निष्ठावान् आज्ञाकारी बनाना चाहे तो उसको सब प्रकार से प्रसन्न करने का उसे यत्न करना चाहिए। जब पति अपनी पत्नी से प्रसन्न होता है, तो पत्नी उससे सभी आवश्यक वस्तुएँ, आभूषण तथा पूर्ण इन्द्रिय-सुख प्राप्त कर सकती है। यहाँ पर दिति के आचरण से यही सूचित होता है।

एवं स्त्रिया जडीभूतो विद्वानपि मनोज्ञया ।
बाढमित्याह विवशो न तच्चित्रं हि योषिति ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार से; स्त्रिया—स्त्री द्वारा; जडीभूतः—मंत्रमुग्ध; विद्वान्—विद्वान; अपि—भी; मनोज्ञया—अत्यन्त दक्ष; बाढम्—तथास्तु, स्वीकार है; इति—इस प्रकार; आह—कहा; विवशः—उसके वश में; न—नहीं; तत्—वह; चित्रम्—आश्चर्यजनक; हि—निस्सन्देह; योषिति—स्त्रियों के मामले में।

यद्यपि कश्यप मुनि एक विद्वान पुरुष थे, किन्तु वे दिति के बनावटी व्यवहार से मोहित हो गये जिससे वे उसके वश में आ गये। अतः उन्होंने अपनी पत्नी को विश्वास दिलाया कि वे उसकी इच्छाओं की पूर्ति करेंगे। पति द्वारा ऐसा वचन तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं है।

विलोक्यैकान्तभूतानि भूतान्यादौ प्रजापतिः ।

स्त्रियं चक्रे स्वदेहार्धं यया पुंसां मतिर्हृता ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

विलोक्य—देखकर; एकान्त-भूतानि—विरक्त; भूतानि—जीवात्माएँ; आदौ—प्रारम्भ में; प्रजापतिः—भगवान् ब्रह्मा; स्त्रियम्—स्त्री; चक्रे—उत्पन्न किया; स्व-देह—अपने शरीर से; अर्धम्—आधा; यया—जिससे; पुंसाम्—मनुष्यों का; मतिः—मन; हृता—हर लिया गया।

सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्माण्ड की जीवात्माओं के पिता ब्रह्माजी ने देखा कि समस्त जीवात्मा विरक्त हो रहे हैं। अतः उन्होंने जनसंख्या बढ़ाने के उद्देश्य से पुरुष के आधे अंग से स्त्री की रचना की क्योंकि स्त्री का आचरण मनुष्य के मन को हर लेता है।

तात्पर्य : यह समस्त ब्रह्माण्ड विषयासक्ति से मंत्रमुग्ध है। भगवान् ब्रह्मा ने इसलिए ऐसा किया है, जिससे न केवल मनुष्यों की वरन् अन्य योनियों की भी जनसंख्या में वृद्धि हो। जैसाकि ऋषभदेव ने पंचम स्कन्ध में कहा है—*पुंसः स्त्रिया मिथुनीभावम् एतम्*—समस्त विश्व पुरुष तथा स्त्री के मध्य कामसक्ति से मंत्रमुग्ध है। जब स्त्री तथा पुरुष का संयोग होता है, तो यह आकर्षण-ग्रंथि और भी दृढ़ हो जाती है और मनुष्य सांसारिकता में फँसता जाता है। यही भौतिक जगत का मोह है। इसी मोह का प्रभाव कश्यप मुनि पर पड़ा, यद्यपि वे परम विद्वान तथा आध्यात्मिक ज्ञान में अग्रणी थे। मनुसंहिता (२.२१५) तथा *श्रीमद्भागवत* (९.१९.१७) में कहा गया है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा माविविक्तासनो भवेत्।

बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

"मनुष्यों को चाहिए कि किसी स्त्री के साथ, यहाँ तक कि अपनी माता, बहन अथवा पुत्री के साथ भी एकान्तवास न करे क्योंकि इन्द्रियाँ इतनी बलवान् होती हैं कि ज्ञानी से ज्ञानी पुरुष भी पथभ्रष्ट हो सकता है।" जब कोई मनुष्य किसी स्त्री के पास एकान्त में रहता है, तो निश्चित रूप से उसकी कामेच्छा बढ़ जाती है। अतः यहाँ पर प्रयुक्त *एकान्त-भूतानि* शब्दों से सूचित होता है कि विषय-वासना से बचने के लिए मनुष्य को चाहिए कि जहाँ तक सम्भव हो स्त्री की संगति से दूर रहे। कामेच्छा इतनी प्रबल होती है कि यदि मनुष्य एकान्त में किसी स्त्री के साथ, भले ही वह उसकी माता, बहन या पुत्री ही क्यों न हो, रहता है, तो वह कामाभिभूत हो उठता है।

एवं शुश्रूषितस्तात भगवान्कश्यपः स्त्रिया ।
प्रहस्य परमप्रीतो दितिमाहाभिनन्द्य च ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; शुश्रूषितः—सेवा किये जाने पर; तात—हे प्रिय; भगवान्—परम शक्तिमान; कश्यपः—कश्यप मुनि ने; स्त्रिया—स्त्री के द्वारा; प्रहस्य—हँसकर; परम-प्रीतः—अत्यन्त प्रसन्न होकर; दितिम्—दिति से; आह—कहा; अभिनन्द्य—स्वीकृति देते हुए; च—भी।

हे प्रिय! अपनी पत्नी दिति के विनम्र आचरण से अत्यधिक प्रसन्न होकर परम शक्तिशाली साधु पुरुष कश्यप हँस पड़े और इस प्रकार बोले।

श्रीकश्यप उवाच
वरं वरय वामोरु प्रीतस्तेऽहमनिन्दिते ।
स्त्रिया भर्तरि सुप्रीते कः काम इह चागमः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

श्री-कश्यपः उवाच—कश्यप मुनि ने कहा; वरम्—वर, आशीर्वाद; वरय—माँगो; वामोरु—हे सुन्दरी; प्रीतः—प्रसन्न; ते—तुमसे; अहम्—मैं; अनिन्दिते—हे अनिन्द्य स्त्री; स्त्रियाः—स्त्री के लिए; भर्तरि—जब उसका पति; सु-प्रीते—प्रसन्न हो; कः—क्या; कामः—इच्छा; इह—यहाँ; च—तथा; अगमः—प्राप्त करना कठिन।

कश्यप मुनि ने कहा—हे अनिन्द्य सुन्दरी! मैं तुम्हारे आचरण से परम प्रसन्न हूँ, अतः तुम चाहे जो भी वर माँग सकती हो। यदि पति प्रसन्न हो तो चाहे इस लोक की या अन्य लोक की वह कौन सी इच्छा है, जो पूरी न हो सके?

पतिरेव हि नारीणां दैवतं परमं स्मृतम् ।
मानसः सर्वभूतानां वासुदेवः श्रियः पतिः ॥ ३३ ॥
स एव देवतालिङ्गैर्नामरूपविकल्पितैः ।
इज्यते भगवान्पुम्भिः स्त्रीभिश्च पतिरूपधृक् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

पतिः—पति; एव—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही; नारीणाम्—स्त्रियों की; दैवतम्—देवता; परमम्—परम, सर्वश्रेष्ठ; स्मृतम्—माना जाता है; मानसः—हृदय में स्थित; सर्व-भूतानाम्—समस्त जीवात्माओं के; वासुदेवः—वासुदेव; श्रियः—सौभाग्य की देवी का; पतिः—पति; सः—वह; एव—निश्चय ही; देवता-लिङ्गैः—देवताओं के स्वरूपों से; नाम—नाम; रूप—स्वरूप; विकल्पितैः—कल्पित; इज्यते—पूजा जाता है; भगवान्—श्रीभगवान्; पुम्भिः—मनुष्यों के द्वारा; स्त्रीभिः—स्त्रियों के द्वारा; च—भी; पति-रूप-धृक्—पति के रूप में।

पति ही स्त्रियों के लिए परम देवता होता है। लक्ष्मीपति भगवान् वासुदेव सबों के हृदय में स्थित हैं और सकाम भक्तों द्वारा विभिन्न नामों तथा देव-रूपों में पूजे जाते हैं। इसी प्रकार पति भगवान् के रूप में पत्नी के लिए पूजा की वस्तु है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२३) में श्रीकृष्ण का कथन है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

"हे अर्जुन! अन्य देवताओं की यज्ञ द्वारा जो भी उपासना की जाती है, वह वास्तव में मेरे ही लिए होती है किन्तु यह बिना वास्तविक समझ-बूझ के की जाती है।" देवतागण तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के सहायकों की तरह हैं, जो उनके हाथ-पाँव की भाँति कार्य करते हैं। जो श्रीभगवान् के वास्तविक सम्पर्क में नहीं है और न उनकी वास्तविक स्थिति को समझ सकता है उसे कभी-कभी यह सलाह दी जाती है कि देवताओं की पूजा करे क्योंकि वे भगवान् के अंगस्वरूप हैं। यदि स्त्रियाँ, जो साधारणतया अपने पतियों के प्रति अत्यधिक आसक्त होती हैं अपने पतियों को वासुदेव के प्रतिनिधियों के रूप में पूजें तो उन्हें उसी प्रकार लाभ मिल सकता है, जिस प्रकार अजामिल को अपने पुत्र नारायण का नाम लेने से। यद्यपि अजामिल को अपने पुत्र से प्यार था, किन्तु नारायण नाम के प्रति उसकी आसक्ति होने से और उस नाम का बारम्बार जप करने से ही उसे मुक्ति मिल सकी। भारत में आज भी पति को पति-गुरु कहा जाता है। यदि पति तथा पत्नी कृष्णभक्ति को बढ़ाने के लिए एक दूसरे पर आसक्त रहें तो इस प्रगति के लिए उनका यह सहयोग अत्यन्त लाभप्रद होगा। यद्यपि वैदिक मंत्रों में कभी-कभी इन्द्र तथा अग्नि के नामों का उच्चारण किया जाता है (*इन्द्राय स्वाहा, अग्नये स्वाहा*) किन्तु वैदिक यज्ञ वास्तव में भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के लिए ही किए जाते हैं। जब तक कोई भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति के प्रति अधिक आसक्त रहता है तब तक उसे देवताओं या अपने पति की पूजा करनी चाहिए।

तस्मात्पतिव्रता नार्यः श्रेयस्कामाः सुमध्यमे ।
यजन्तेऽनन्यभावेन पतिमात्मानमीश्वरम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतः; पति-व्रताः—पति-परायणः; नार्यः—स्त्रियाँ; श्रेयः-कामाः—कल्याण चाहने वाले; सु-मध्यमे—हे तन्वंगी; यजन्ते—पूजा करते हैं; अनन्य-भावेन—भक्तिपूर्वक; पतिम्—पति को; आत्मानम्—परमात्मा; ईश्वरम्—श्रीभगवान् के प्रतिनिधि को।

हे सुन्दर शरीर वाली, तन्वंगी प्रिये! कर्तव्यनिष्ठा पत्नी को सदाचारिणी और अपने पति की आज्ञाकारिणी होना चाहिए। उसे अपने पति की पूजा वासुदेव के प्रतिनिधि के रूप में भक्तिपूर्वक करनी चाहिए।

सोऽहं त्वयार्चितो भद्रे ईदृग्भावेन भक्तितः ।
तं ते सम्पादये काममसतीनां सुदुर्लभम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सः—ऐसा व्यक्ति; अहम्—मैं; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अर्चितः—पूजित; भद्रे—हे कल्याणी; ईदृक्-भावेन—इस प्रकार से; भक्तितः—भक्तिपूर्वक; तम्—उस; ते—तुम्हारी; सम्पादये—पूरी करूँगा; कामम्—इच्छा को; असतीनाम्—असतियों के लिए; सु-दुर्लभम्—अप्राप्य।

हे कल्याणी! तुमने मुझे श्रीभगवान् का प्रतिनिधि मानकर अत्यन्त भक्तिपूर्वक मेरी पूजा की है, अतः मैं तुम्हारी इच्छाओं को पूरा करके तुम्हें पुरस्कृत करूँगा, जो किसी अ-सती पत्नी के लिए दुर्लभ है।

दितिरुवाच
वरदो यदि मे ब्रह्मन्पुत्रमिन्द्रहणं वृणे ।
अमृत्युं मृतपुत्राहं येन मे घातितौ सुतौ ॥ ३७॥

शब्दार्थ

दितिः उवाच—दिति ने कहा; वर-दः—वरदान देने वाला; यदि—यदि; मे—मुझको; ब्रह्मन्—हे परम आत्मन्; पुत्रम्—पुत्र की; इन्द्र-हणम्—इन्द्र का वध करने वाला; वृणे—याचना करती हूँ; अमृत्युम्—अमर; मृत-पुत्रा—जिसके पुत्र मर चुके हैं; अहम्—मैं; येन—जिसके द्वारा; मे—मेरे; घातितौ—मारे गये; सुतौ—दो पुत्र।

दितिने उत्तर दिया—हे पतिदेव! हे महात्मन्! मैं अपने दो पुत्र खो चुकी हूँ। यदि आप मुझे वर देना चाहते हैं, तो मैं ऐसा अमर पुत्र चाहूँगी जो इन्द्र का वध कर सके। मैं इसलिए यह प्रार्थना कर रही हूँ क्योंकि इन्द्र ने विष्णु की सहायता से मेरे दो पुत्रों, हिरण्याक्ष तथा

हिरण्यकशिपु, का वध किया है।

तात्पर्य : *इन्द्र-हणम्* शब्द का अर्थ है, ''इन्द्र को मारने में समर्थ,'' किन्तु इसका एक दूसरा अर्थ, ''जो इन्द्र का अनुगमन करे,'' भी होता है। *अमृत्युम्* शब्द से देवताओं का बोध होता है, जो दीर्घजीवी होने के कारण सामान्य मनुष्यों की भाँति नहीं मरते। उदाहरणार्थ, भगवान् ब्रह्मा की आयु *भगवद्गीता* में इस प्रकार बताई गई है—*सहस्रयुगपर्यन्तम् अहर्यद् ब्रह्मणो विदुः*। ब्रह्मा का एक दिन अर्थात् १२ घंटे का समय ४३,००,००० गुणित १,००० वर्ष होता है। इस प्रकार उसका जीवनकाल सामान्य मनुष्य की कल्पना से परे है। इसलिए देवताओं को कभी-कभी अमर अर्थात् न मरने वाला कहा जाता है। किन्तु इस भौतिक जगत में सबको मरना है। अतः *अमृत्युम्* शब्द बताता है कि दिति ऐसा पुत्र चाहती थी जो देव-तुल्य हो।

निशम्य तद्वचो विप्रो विमनाः पर्यतप्यत ।
अहो अधर्मः सुमहानद्य मे समुपस्थितः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; तत्-वचः—उसके शब्द; विप्रः—ब्राह्मण; विमनाः—खिन्न; पर्यतप्यत—पछताने लगा; अहो—ओह; अधर्मः—अधर्म; सु-महान्—अत्यन्त महान्; अद्य—आज; मे—मुझ पर; समुपस्थितः—आ गया है।

दिति की प्रार्थना सुनकर कश्यप मुनि अत्यधिक उद्विग्न हो गये। वे पश्चाताप करने लगे, ''हाय, अब मेरे समक्ष इन्द्र को वध करने के अपवित्र कार्य का संकट आया है।

तात्पर्य : यद्यपि कश्यप मुनि अपनी पत्नी दिति की इच्छा को पूर्ण करने के लिए उत्सुक थे, किन्तु जब उन्होंने सुना कि वह इन्द्र का वध करने वाला पुत्र चाहती है, तो उनकी प्रसन्नता छूमन्तर हो गई क्योंकि वे इस विचार के विरोधी थे।

अहो अर्थेन्द्रियारामो योषिन्मय्येह मायया ।
गृहीतचेताः कृपणः पतिष्ये नरके ध्रुवम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; अर्थ-इन्द्रिय-आरामः—भौतिक सुख में अत्यधिक लिप्त; योषित्-मय्या—स्त्री के रूप में; इह—यहाँ; मायया—माया के द्वारा; गृहीत-चेताः—मेरा मोहित मन; कृपणः—कंजूस, निष्ठुर; पतिष्ये—मैं जा गिरूँगा; नरके—नरक में; ध्रुवम्—निश्चय ही।.

कश्यप मुनि ने सोचा, ओह! मैं अब भौतिक सुख के प्रति अत्यधिक आसक्त हो चुका हूँ। अतः इस अवसर का लाभ उठाकर मेरा मन श्रीभगवान् की माया द्वारा स्त्री (अपनी पत्नी) के रूप में आकृष्ट हुआ है। अतः मैं अत्यन्त नीच हूँ और अवश्य ही नरक में जा गिरूँगा।

कोऽतिक्रमोऽनुवर्तन्त्याः स्वभावमिह योषितः ।
धिङ्मां बताबुधं स्वार्थे यदहं त्वजितेन्द्रियः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

कः—क्या; अतिक्रमः—पाप (दोष); अनुवर्तन्त्याः—अनुसरण करते हुए; स्व-भावम्—उसकी प्रकृति; इह—यहाँ; योषितः—स्त्री का; धिक्—धिक्कार है; माम्—मुझको; बत—हाय, ओह; अबुधम्—अपरिचित; स्व-अर्थे—अपने लाभ के हेतु; यत्—क्योंकि; अहम्—मैं; तु—निस्सन्देह; अजित-इन्द्रियः—अपनी इन्द्रियों को वश में करने में अशक्त।.

मेरी इस पत्नी ने उस साधन का सहारा लिया है, जो उसकी प्रकृति का अनुगामी है, अतः उसको दोष नहीं दिया जा सकता। किन्तु मैं तो पुरुष हूं। सारा दोष तो मेरा है क्योंकि मैं तनिक भी जान न पाया कि मेरी भलाई किसमें है क्योंकि मैं अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रख सका।

तात्पर्य : स्त्री का जन्मजात स्वभाव संसार का उपभोग करना है। वह अपने पति को जिह्वा, उदर तथा उपस्थ की तुष्टि द्वारा इस संसार का सुख भोगने के लिए प्रवृत्त करती है। स्त्री पाकशास्त्र में निपुण होने के कारण अपने पति को सुस्वादु भोजन के द्वारा आसानी से प्रसन्न कर सकती है। जब कोई अच्छा-भोजन खाता है, तो उसका पेट भरता है और पेट भरने पर पुरुषेन्द्रियाँ प्रबल हो उठती हैं। विशेषतः जब मनुष्य मांस खाने तथा मद्य पीने जैसी तामसी वस्तुओं का आदी होता है, तो वह निश्चित रूप से विषयोन्मुख हो उठता है। यह समझ लेना चाहिए कि यह विषयोन्मुखी प्रवृत्ति नरक में गिरने का साधन है, आत्मोन्नत्ति का नहीं। इस प्रकार कश्यप मुनि ने अपनी स्थिति पर विचार किया, तो उन्हें पश्चाताप हुआ। दूसरे शब्दों में, गृहस्थ होना अत्यन्त संकटपूर्ण है जब

तक कि मनुष्य प्रशिक्षित न हो और उसकी पत्नी अपने पति की अनुगामिनी न हो। पति को जीवन के प्रारम्भ में ही इसकी शिक्षा मिलनी चाहिए। *कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह* (*भागवत* ७.६.१)। *ब्रह्मचर्य* काल में *ब्रह्मचारी* (विद्यार्थी) को *भागवत-धर्म* (भक्ति)में दक्ष होने की शिक्षा मिलनी चाहिए। अतः जब वह विवाह करे और यदि उसकी पत्नी पतिव्रता हो और वह भी भक्ति का पालन करे तो पति-पत्नी का सम्बन्ध अत्यधिक उपयुक्त रहता है। आध्यात्मिक चेतना के बिना, मात्र इन्द्रियतृप्ति के लिए पति-पत्नी का सम्बन्ध उत्तम नहीं है। *श्रीमद्भागवत* (१२.२.३) में कहा गया है कि इस कलियुग में—*दम्पत्येऽभिरुचिर्हेतुः*—पति-पत्नी का सम्बन्ध विषय-वासना पर आधारित होगा। अतः जब पति-पत्नी दोनों ही कृष्णभक्ति में तत्पर न रहें, उनके लिए गृहस्थ जीवन अत्यन्त घातक होता है।

शरत्पद्मोत्सवं वक्त्रं वचश्च श्रवणामृतम् ।
हृदयं क्षुरधाराभं स्त्रीणां को वेद चेष्टितम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

शरत्—शरद ऋतु में; पद्म—कमल-पुष्प; उत्सवम्—फूलते हुए; वक्त्रम्—मुख; वचः—शब्द; च—भी; श्रवण—कान के लिए; अमृतम्—सुख देने वाले; हृदयम्—हृदय; क्षुर-धारा—छुरे की धार; आभम्—सदृश; स्त्रीणाम्—स्त्रियों के; कः—कौन; वेद—जानता है; चेष्टितम्—चरित्र को।

स्त्री का मुख शरदकालीन खिले हुए कमल-पुष्प के समान आकर्षक तथा सुन्दर होता है। उसके शब्द अत्यन्त मधुर और कानों को प्रिय लगने वाले होते हैं, किन्तु यदि उसके हृदय का अध्ययन किया जाये, तो पता चलेगा कि वह छुरे की धार के समान अत्यन्त पैना है। भला ऐसा कौन है, जो स्त्री के कार्यकलापों को जान सके?

तात्पर्य : कश्यप मुनि ने भौतिक दृष्टि से स्त्री का बहुत सुन्दर चित्र खींचा है। स्त्रियाँ अपनी सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध हैं और तरुणावस्था में, विशेष रूप से सोलह या सत्रह वर्ष की आयु में, वे पुरुषों के लिए अत्यधिक आकर्षक होती हैं। इसलिए स्त्री के मुख की तुलना शरद्कालीन कमल-पुष्प से की गई है। जिस प्रकार कमल का पुष्प शरद् में अत्यन्त सुन्दर लगता है उसी प्रकार

से तरुणावस्था को प्राप्त स्त्री भी अत्यन्त आकर्षक होती है। संस्कृत भाषा में स्त्री की वाणी को नारी स्वर कहते हैं क्योंकि सामान्यत: वह गाती है और उसका गायन आकर्षक होता है। आज-कल तो सिने-तारिकाओं का ही स्वागत होता है। उनमें से कुछ तो मात्र गायन के बल पर प्रभूत धन कमाती हैं। इसलिए, जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा है, स्त्री का संगीत घातक है क्योंकि इससे संन्यासी उसका शिकार हो सकता है। संन्यास का अर्थ स्त्री-संग का परित्याग है, किन्तु यदि कोई संन्यासी स्त्री की वाणी सुनता है और उसके सुन्दर मुख को देखता है, तो वह निश्चित रूप से उसकी ओर आकृष्ट होता है और उसका पतन हो जाता है। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। यहाँ तक मुनि विश्वामित्र भी मेनका के शिकार हुए। अत: जो आध्यात्मिक उन्नति करना चाहता है उसे विशेष रूप से सावधान रहना चाहिए कि वह न तो स्त्री का मुख देखे और न उसकी वाणी सुने। स्त्री के मुख को देखना और उसकी सुन्दरता की प्रशंसा करना या उसकी वाणी सुनकर उसके गायन की प्रशंसा करना ब्रह्मचारी या संन्यासी का निश्चित पतन है। अत: कश्यप मुनि द्वारा स्त्री के अंगों का वर्णन अत्यन्त शिक्षाप्रद है।

यदि स्त्री के शरीर के अंग सुन्दर हैं, उसका मुख आकर्षक और वाणी मधुर है, तो वह पुरुष के लिए जाल के समान है। शास्त्रों का उपदेश है कि यदि ऐसी स्त्री पुरुष की सेवा के लिए आए तो उसे घास से ढका हुआ अन्धकूप समझना चाहिए। खेतों के बीच ऐसे अनेक कुँए होते हैं और मनुष्य उनसे परिचित न होने के कारण उनमें गिर जाते हैं। इस प्रकार ऐसे बहुत से निर्देश हैं। चूँकि संसार के सारे आकर्षण स्त्री के आकर्षण पर आधारित हैं, अत: कश्यपमुनि ने सोचा कि ऐसी स्थिति में भला स्त्री के हृदय को कौन जान सकता है? चाणाक्य पण्डित का भी उपदेश है—*विश्वासो नैव कर्तव्य: स्त्रीषु राजकुलेषु च*—"दो प्रकार के व्यक्तियों पर कभी विश्वास न करे—राजनीतिज्ञ तथा स्त्री।" ये शास्त्रों की आधिकारिक शिक्षाएँ हैं, अत: स्त्रियों के साथ उठने-बैठने में विशेष सतर्कता बरतनी चाहिए।

कभी कभी हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन की आलोचना की जाती है कि इसमें स्त्री तथा

पुरुष मिले-जुले रहते हैं। किन्तु कृष्णभक्ति तो हर एक के लिए होती है चाहे वह पुरुष हो या स्त्री। श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है—*स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपियान्ति परां गतिम्*—चाहे स्त्री हो, शूद्र या वैश्य, (ब्राह्मण तथा क्षत्रिय होने को छोड़ दें), प्रत्येक जीव भगवान् के धाम वापस जाने के लिए उपयुक्त है यदि वह अपने गुरु तथा शास्त्र के उपदेशों का कठोरता से पालन करता है। अत: हम कृष्णभावनामृत आन्दोलन के समस्त सदस्यों से, चाहे स्त्री हों या पुरुष, यह आग्रह करेंगे कि वे भौतिक शरीर के प्रति आकृष्ट न होकर केवल श्रीकृष्ण के प्रति आकृष्ट हों। तभी सब कुछ ठीक रहेगा, अन्यथा भय बना रहेगा।

न हि कश्चित्प्रिय: स्त्रीणामञ्जसा स्वाशिषात्मनाम् ।
पतिं पुत्रं भ्रातरं वा घ्नन्त्यर्थे घातयन्ति च ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निश्चय ही; कश्चित्—कोई; प्रिय:—प्रिय; स्त्रीणाम्—स्त्रियों का; अञ्जसा—वास्तव में; स्व-आशिषा—अपने स्वार्थ के लिए; आत्मनाम्—सर्वाधिक प्रिय; पतिम्—पति को; पुत्रम्—पुत्र को; भ्रातरम्—भाई को; वा—अथवा; घ्नन्ति—मार डालती हैं; अर्थे—अपने स्वार्थ के लिए; घातयन्ति—वध करवाती हैं; च—भी।

अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए स्त्रियाँ मनुष्यों के साथ ऐसा व्यवहार करती हैं मानो वे उनकी सर्वाधिक प्रिय हों, किन्तु वास्तव में उनका कोई प्रिय नहीं होता। स्त्रियों को अति साधु स्वभाव का माना जाता है, किन्तु अपने स्वार्थ के लिए वे अपने पति, पुत्र या भाई की भी हत्या कर सकती हैं या दूसरों से करा सकती हैं।

तात्पर्य : कश्यप मुनि ने स्त्रियों के स्वभाव का अच्छा अध्ययन किया है। स्वभाव से ही स्त्रियाँ स्वार्थी होती हैं, अत: सभी प्रकार से उनकी रक्षी की जानी चाहिए जिससे उनका स्वार्थी होने का यह स्वभाव प्रकट न हो। स्त्रियों को मनुष्यों द्वारा सुरक्षा की आवश्यकता होती है। बचपन में स्त्री की सुरक्षा उसके पिता द्वारा, युवावस्था में उसके पति द्वारा और वृद्धावस्था में उसके पुत्र द्वारा होनी चाहिए। यह मनु का आदेश है। उनका कथन है कि स्त्री को किसी भी अवस्था में स्वतंत्रता नहीं दी जानी चाहिए। स्त्रियों की रक्षा इसलिए की जानी चाहिए कि उनकी स्वार्थपरता

प्रकट न हो पाए। इस काल में भी ऐसी घटनाएँ हुई हैं जिनमें स्त्रियों ने जीवन बीमा का लाभ उठाने के लिए अपने पतियों की हत्याएँ की हैं। यह स्त्रियों की आलोचना नहीं, अपितु उनके स्वभाव का व्यावहारिक अध्ययन है। देहात्मबुद्धि के द्वारा ही स्त्री की या पुरुष की आलोचना की ऐसी सहज वृत्तियों का प्राकट्य होता है। जब किसी स्त्री या पुरुष की आध्यत्मिक चेतना बढ़ जाती है, तो उसकी देहात्मबुद्धि जाती रहती है। हमें समस्त स्त्रियों को आध्यात्मिक इकाइयों (*अहम् ब्रह्मास्मि*) के रूप में देखना चाहिए जिनका एकमात्र धर्म श्रीकृष्ण को तुष्ट करना है। तब हम पर इस शरीर को धारण करने से उत्पन्न होने वाले प्रकृति के गुणों का प्रभाव नहीं होगा।

कृष्णभावनामृत आन्दोलन इतना लाभप्रद है कि यह भौतिक प्रकृति के कल्मष को, जो देह धारण करने से उत्पन्न होता है, दूर कर सकता है। इसलिए प्रारम्भ में ही *भगवद्गीता* का यह उपदेश है कि चाहे स्त्री हो या पुरुष, जीव को यह समझ लेना चाहिए कि वह शरीर नहीं वरन् आत्मा है। प्रत्येक मनुष्य को शरीर नहीं वरन् आत्मा के कार्यकलापों में रुचि रखनी चाहिए। चाहे स्त्री हो या पुरुष, जब तक कोई देहात्मबुद्धि से प्रेरित रहता है तब तक सदा ही पथभ्रष्ट होने की सम्भावना बनी रहती है। आत्मा को कभी-कभी पुरुष कहा जाता है क्योंकि चाहे कोई स्त्री वेष में हो या पुरुष वेष में, वह इस भौतिक जगत का सुख उठाना चाहता है और जिसमें सुखोपभोग की यह वृत्ति होती है, वह पुरुष कहलाता है। चाहे पुरुष हो या स्त्री, वह अन्यों की सेवा करने में रुचि नहीं रखता, प्रत्येक प्राणी अपनी इन्द्रियों को ही तुष्ट करने में रुचि रखता है। किन्तु कृष्णभावनामृत या कृष्णभक्ति प्रत्येक पुरुष या स्त्री को उत्तम कोटि का प्रशिक्षण प्रदान करती है। पुरुष को उत्तमकोटि का कृष्णभक्त बनने और स्त्री को पति की निष्ठावान अनुगामिनी बनने का प्रशिक्षण मिलना चाहिए। इससे दोनों का जीवन सुखी बनेगा।

प्रतिश्रुतं ददामीति वचस्तन्न मृषा भवेत् ।
वधं नार्हति चेन्द्रोऽपि तत्रेदमुपकल्पते ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

प्रतिश्रुतम्—वचन दिया गया; ददामि—दूँगा; इति—इस प्रकार; वचः—कथन; तत्—वह; न—नहीं; मृषा—झूठा; भवेत्—हो सकता है; वधम्—हत्या; न—नहीं; अर्हति—उपयुक्त है; च—तथा; इन्द्रः—इन्द्र; अपि—भी; तत्र—उस प्रसंग में; इदम्—यह; उपकल्पते—उपयुक्त है।

मैंने उसे एक वर देने का वचन दिया है, जिसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता, लेकिन इन्द्र वध किये जाने योग्य नहीं है। इस स्थिति में मैने जो उपाय (हल) सोचा है, वह उपयुक्त है।

तात्पर्य : कश्यप मुनि ने यह निष्कर्ष निकाला, ''दिति ऐसा पुत्र चाहती है, जो इन्द्र का वध कर सके। आखिर वह स्त्री है, अत: अधिक चतुर नहीं है। मैं उसे ऐसी शिक्षा दूँगा कि वह इन्द्र के वध के विचार को त्यागकर स्वयं वैष्णव अर्थात् कृष्ण की भक्त हो जाये। यदि वह वैष्णव नियमों को अंगीकार कर लेने के लिए राजी हो जाती है, तो उसका कुलषित हृदय निश्चय ही शुद्ध हो जाएगा—*चेतोदर्पणमार्जनम्*। भक्ति की यही विधि है। कृष्णभावनामृत में भक्ति के नियमों का पालन करके कोई भी व्यक्ति शुद्ध बनाया जा सकता है क्योंकि कृष्णभावनामृत इतना प्रबल होता है कि परम मलिन श्रेणी का व्यक्ति भी शुद्ध होकर श्रेष्ठतम् वैष्णव बन जाता है।

श्री चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन का यही मुख्य उद्देश्य है। नरोत्तमदास ठाकुर का कहना है—

ब्रजेन्द्रनन्दन एइ, शची-सुत हैल सेइ,

बलराम हइल निताइ

दीन-हीन यत छिल, हरि-नामे उद्धारिल,

त'र साक्षी जगाइ-माधाइ

इस कलियुग में श्री चैतन्य महाप्रभु का प्राकट्य उन पतित आत्माओं के उद्धार के हेतु है, जो सदैव भौतिक सुख के लए कुछ न कुछ आयोजन करते रहते हैं। उन्होंने इस युग के मनुष्यों को हरे कृष्ण महामंत्र के जपने का अपूर्व अवसर प्रदान किया है, जिससे वे समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त होकर पूर्णत: शुद्ध बन सकें। एक बार शुद्ध वैष्णव बन जाने पर कोई भी मनुष्य देहात्मबुद्धि से परे चला जाता है। इस प्रकार कश्यप मुनि ने अपनी पत्नी को वैष्णवी बनाने का प्रयत्न किया

जिससे वह इन्द्र के वध करने का विचार त्याग दे। उनकी इच्छा थी कि दिति तथा उसके पुत्र शुद्ध बनें जिससे वे वैष्णव बनने के योग्य हो सकें। निस्सन्देह, कभी-कभी अभ्यासकर्ता वैष्णव नियमों का पालन करते करते विचलित हो तो भी कोई हानि नहीं है। यहाँ तक कि भ्रष्ट वैष्णव को भी अच्छा फल प्राप्त होता है, जैसा कि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है—*स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्*—वैष्णव नियमों के रंचमात्र पालन से भी इस संसार के बड़े से बड़े भय से छुटकारा पाया जा सकता है। इस प्रकार इन्द्र के प्राणों की रक्षा के लिए कश्यप ने अपनी पत्नी दिति को वैष्णव बनाने के लिए उपदेश देने की बात सोची।

इति सञ्चिन्त्य भगवान्मारीचः कुरुनन्दन ।
उवाच किञ्चित्कुपित आत्मानं च विगर्हयन् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; सञ्चिन्त्य—सोचकर; भगवान्—शक्तिमान; मारीचः—कश्यप मुनि; कुरु-नन्दन—हे कुरुवंशी; उवाच—बोला; किञ्चित्—कुछ-कुछ; कुपितः—क्रुद्ध; आत्मानम्—अपने आप को; च—भी; विगर्हयन्—धिक्कारते हुए।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—इस प्रकार विचारते हुए कश्यप मुनि कुछ-कुछ क्रुद्ध हो गये। हे कुरुवंशी महाराज परीक्षित! वे अपने आपको धिक्कारते हुए दिति से इस प्रकार बोले।

श्रीकश्यप उवाच
पुत्रस्ते भविता भद्रे इन्द्रहादेवबान्धवः ।
संवत्सरं व्रतमिदं यद्यञ्जो धारयिष्यसि ॥ ४५॥

शब्दार्थ

श्री-कश्यपः उवाच—कश्यप मुनि ने कहा; पुत्रः—पुत्र; ते—तुम्हारा; भविता—होगा; भद्रे—हे कल्याणी; इन्द्र-हा—इन्द्र का वध करने वाला, अथवा इन्द्र का अनुयायी; अदेव-बान्धवः—असुरों का मित्र (अथवा देव-बान्धवः—देवताओं का मित्र); संवत्सरम्—एक वर्ष तक; व्रतम्—व्रत को; इदम्—इस; यदि—यदि; अञ्जः—उचित रीति से; धारयिष्यसि—पालन करोगी।

कश्यप मुनि ने कहा, हे कल्याणी! यदि तुम अपने इस व्रत के सम्बन्ध में मेरे उपदेशों का कम से कम एक वर्ष तक पालन करोगी तो तुम्हें निश्चित रूप से पुत्र प्राप्त होगा जो इन्द्र का वध करने में सक्षम होगा। किन्तु यदि तुम वैष्णव नियमों का पालन करने वाले इस व्रत

से तनिक भी विचलित होगी तो तुम्हें जो पुत्र प्राप्त होगा वह इन्द्र का अनुयायी होगा।

तात्पर्य : *इन्द्र-हा* शब्द से ऐसे असुर का बोध होता है, जो इन्द्र को मारने के लिए सदैव उत्सुक रहता है। स्वाभाविक है कि इन्द्र का शत्रु असुरों का मित्र होगा, किन्तु *इन्द्र-हा* शब्द से इन्द्र का अनुयायी या उसका आज्ञापालक अर्थ भी निकलता है। जब कोई इन्द्र का भक्त बनता है, तो निश्चय ही वह देवताओं का मित्र होगा। अत: *इन्द्र-हादेव-बान्धव:* शब्द समान उच्चारण वाले हैं और उनका अर्थ है "तुम्हारा पुत्र इन्द्र को मारेगा किन्तु वह देवताओं का मित्र होगा।" जब कोई व्यक्ति देवताओं का वास्तव में मित्र बन गया तो फिर वह इन्द्र का वध कैसे कर सकता है?

दितिरुवाच
धारयिष्ये व्रतं ब्रह्मन्ब्रूहि कार्याणि यानि मे ।
यानि चेह निषिद्धानि न व्रतं घ्नन्ति यान्युत ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

दितिः उवाच—दिति ने कहा; धारयिष्ये—अंगीकार करूँगी; व्रतम्—व्रत; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; ब्रूहि—कृपया कहें; कार्याणि—करणीय; यानि—जो सब; मे—मुझसे; यानि—जो सब; च—तथा; इह—यहाँ; निषिद्धानि—वर्जित; न—नहीं; व्रतम्—व्रत; घ्नन्ति—तोड़ते हैं; यानि—जो सब; उत—भी।

दिति ने उत्तर दिया—हे ब्राह्मण! मैं आपके परामर्श को स्वीकार करती हूँ। मैं व्रत का पालन करूँगी। अब मुझे बतावें कि मुझे क्या करना है, क्या नहीं करना है और किस प्रकार यह व्रत भंग नहीं हो सकेगा? कृपा करके यह सब स्पष्ट बताए।

तात्पर्य : जैसाकि पहले कहा जा चुका है, स्त्री सामान्यत: अपना स्वार्थ साधना चाहती है। कश्यप मुनि ने दिति की इच्छापूर्ति के लिए एक वर्ष तक शिक्षा देने का प्रस्ताव रखा और चूँकि वह इन्द्र को मारने के लिए इच्छुक थी, अत: उसने तुरन्त अंगीकर कर लिया और कहा, "कृपया मुझसे उस व्रत को कहें और बताएँ कि उसे किस प्रकार पालना होगा। मैं वचन देती हूँ कि मैं उसको भंग नहीं करूँगी।" स्त्री की मनोवृत्ति का यह दूसरा पक्ष है। यद्यपि स्त्री अपनी योजना पूरी करने की परम इच्छुक रहती है किन्तु जब कोई उसे शिक्षा देता है, विशेष रूप से जब पति शिक्षा देता है, तो वह निर्दोष भाव से पालन करती है। इस प्रकार उसे अच्छे उद्देश्य-प्राप्ति के लिए

शिक्षित किया जा सकता है। स्त्री स्वभाव से पुरुष की अनुगामिनी बनना चाहती है, अत: यदि पुरुष अच्छा है, तो स्त्री को सद्कार्य के लिए शिक्षित किया जा सकता है।

श्रीकश्यप उवाच

न हिंस्याद्भूतजातानि न शपेन्नानृतं वदेत् ।
न छिन्द्यान्नखरोमाणि न स्पृशेद्यदमङ्गलम् ॥ ४७॥

शब्दार्थ

श्री-कश्यपः उवाच—कश्यप मुनि ने कहा; न हिंस्यात्—हिंसा न करे; भूत-जातानि—जीवात्माओं की; न शपेत्—शाप न दे; न—नहीं; अनृतम्—झूठ; वदेत्—बोले; न छिन्द्यात्—न काटे; नख-रोमाणि—नाखून तथा रोएँ; न स्पृशेत्—स्पर्श न करे; यत्—जो; अमङ्गलम्—अशुभ।

कश्यप मुनि ने कहा, हे प्रिये! इस व्रत का पालन करते समय न तो उग्र बने, न ही किसी को कष्ट पहुँचाए। न तो किसी को शाप दे, न असत्य भाषण करे। न तो अपने नाखून तथा बाल काटे और न हड्डियों तथा खोपड़ी जैसी अशुद्ध वस्तुओं का स्पर्श करे।

तात्पर्य : कश्यप मुनि ने अपनी पत्नी को जो पहला उपदेश दिया वह था किसी से द्वेष न करना। इस संसार में सबों में द्वेष करने की सामान्य प्रवृत्ति पाई जाती है। अत: कृष्णभक्त बनने के लिए इस प्रवृत्ति पर अंकुश लगाना चाहिए जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है (*परमो निर्मत्सराणाम्*)। कृष्णभक्त सदैव द्वेषरहित होता है, जबकि अन्य लोग द्वेषमय। अत: कश्यपमुनि द्वारा अपनी पत्नी को यह उपदेश देना कि वह द्वेषरहित हो, सूचित करता है कि कृष्णभक्ति को बढ़ाने की दिशा में यह पहली अवस्था है। कश्यप मुनि अपनी पत्नी को कृष्णभक्त बनाना चाहते थे जिससे उसकी तथा इन्द्र दोनों की रक्षा हो सके।

नाप्सु स्नायान्न कुप्येत न सम्भाषेत दुर्जनैः ।
न वसीताधौतवासः स्त्रजं च विधृतां क्वचित् ॥ ४८॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अप्सु—जल में; स्नायात्—नहाए; न कुप्येत—न क्रोध करे; न सम्भाषेत—न बोले; दुर्जनैः—बुरे लोगों से; न वसीत—न धारण करे; अधौत-वासः—बिना धुले कपड़े; स्त्रजम्—फूलों की माला; च—तथा; विधृताम्—पहनी हुई; क्वचित्—कभी।

कश्यप मुनि ने आगे कहा—हे कल्याणी! नहाते समय पानी में कभी न घुसे, कभी क्रोध न करे और न दुष्ट लोगों से कभी बोले या संगति करे। कभी भी बिना धुले वस्त्र न पहने और पहले धारण की गई माला को कभी न पहने।

नोच्छिष्टं चण्डिकान्नं च सामिषं वृषलाहृतम् ।
भुञ्जीतोदक्यया दृष्टं पिबेन्नाञ्जलिना त्वपः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; उच्छिष्टम्—जूठा भोजन; चण्डिका-अन्नम्—देवी काली को चढ़ाया गया भोजन; च—तथा; स-आमिषम्—मांस से युक्त; वृषल-आहृतम्—शूद्र द्वारा लाया हुआ; भुञ्जीत—खाए; उदक्यया—रजस्वला स्त्री द्वारा; दृष्टम्—देखा गया; पिबेत् न—नहीं पिये; अञ्जलिना—दोनों हाथों की अँजुली द्वारा; तु—भी; अपः—जल।

कभी भी जूठा भोजन न खायें, देवी काली (दुर्गा) को चढ़ाया हुआ प्रसाद न खायें और मांस या मछली से मिश्रित कोई भी वस्तु न खायें। शूद्र द्वारा लाई गई या शूद्र द्वारा स्पर्श की गई अथवा रजस्वला स्त्री द्वारा देखी गई किसी भी सामग्री को न खायें। अंजली से पानी न पियें।

तात्पर्य : सामान्यत: देवी काली पर मांस तथा मछली से युक्त भोजन चढ़ाया जाता है, अत: कश्यप मुनि ने अपनी पत्नी को ऐसे जूठे प्रसाद को ग्रहण करने के लिए मना किया है। वास्तव में वैष्णवों को देवताओं पर चढ़ी हुई किसी भी भोज्य सामग्री को ग्रहण करने की अनुमति नहीं है। उन्हें तो भगवान् विष्णु पर चढ़ाये गये प्रसाद को ही ग्रहण करना चाहिए। इन उपदेशों के द्वारा निषेध विधि से कश्यपमुनि अपनी पत्नी को वैष्णवी बनाना चाह रहे थे।

नोच्छिष्टास्पृष्टसलिला सन्ध्यायां मुक्तमूर्धजा ।
अनर्चितासंयतवाक्नासंवीता बहिश्चरेत् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; उच्छिष्टा—जूठा; अस्पृष्ट-सलिला—बिना धोये; सन्ध्यायाम्—सायंकाल; मुक्त-मूर्धजा—बाल खोले हुए; अनर्चिता—आभूषण रहित; असंयत-वाक्—वाणी के संयम बिना; न—नहीं; असंवीता—बिना ओढ़े; बहिः—बाहर; चरेत्—जाए।

भोजन करने के पश्चात् तुम्हें मुँह, हाथ तथा पाँव धोये बिना बाहर सड़क पर नहीं जाना

चाहिए। तुम्हें न तो शाम को या बाल खोले हुए और न आभूषणों से सज्जित हुए बिना बाहर जाना चाहिए। जब तक वाणी का संयम न हो और शरीर ठीक से ढका न हो तब तक तुम्हें घर से बाहर नहीं जाना चाहिए।

तात्पर्य : कश्यप मुनि ने अपनी पत्नी को सलाह दी कि जब तक ठीक से अलंकृत और वस्त्राभूषित न होए, बाहर न निकले। उन्होंने आजकल की भाँति चारों ओर प्रचलित मिनीस्कर्ट पहन कर बाहर निकलने की अनुमति नहीं दी। प्राच्य सभ्यता के अनुसार जब कोई स्त्री बाहर निकलती है, तो वह अपने शरीर को ठीक से ढके रहती है, जिससे कोई उसे पहचान न सके। इन सब विधियों को शुद्धि के लिए स्वीकार करना चाहिए। यदि कोई कृष्णभक्ति करता है, तो वह पूर्णतः शुद्ध हो जाता है और इस संसार के कल्मष से बचा रहता है।

नाधौतपादाप्रयता नार्द्रपादा उदक्शिराः ।
शयीत नापराङ्नान्यैर्न नग्ना न च सन्ध्ययोः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अधौत-पादा—बिना धुले पाँव; अप्रयता—बिना शुद्ध हुए; न—नहीं; अर्द्र-पादा—भीगे पाँव; उदक्-शिराः—उत्तर की ओर सिर करके; शयीत—सोए; न—नहीं; अपराक्—पश्चिम की ओर सिर करके; न—नहीं; अन्यैः—अन्य स्त्रियों के साथ; न—नहीं; नग्ना—निर्वस्त्र होकर; न—नहीं; च—तथा; सन्ध्ययोः—सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय।

तुम्हें न तो दोनों पाँव धोये बिना या शुद्ध हुए बिना, न ही गीले पाँव अथवा अपना सिर पश्चिम या उतर करके सोना चाहिए। सूर्योदय अथवा सूर्यास्त के समय, निर्वस्त्र होकर तथा अन्य स्त्रियों के साथ नहीं लेटना चाहिए।

धौतवासा शुचिर्नित्यं सर्वमङ्गलसंयुता ।
पूजयेत्प्रातराशात्प्राग्गोविप्राञ्श्रियमच्युतम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

धौत-वासा—धुले वस्त्र पहन कर; शुचिः—शुद्ध होकर; नित्यम्—सदैव; सर्व-मङ्गल—समस्त शुभ सामग्रियों सहित; संयुता—सज्जित होकर; पूजयेत्—पूजा करनी चाहिए; प्रातः-आशात् प्राक्—कलेवा के पूर्व; गो-विप्रान्—गायों तथा ब्राह्मणों; श्रियम्—सम्पत्ति की देवी; अच्युतम्—श्रीभगवान् को।

मनुष्य को चाहिए कि धुला वस्त्र पहन कर, सदैव शुद्ध रहकर तथा हल्दी, चंदन और

अन्य मांगलिक सामग्रियों से अलंकृत होकर कलेवा करने के पूर्व गायों, ब्राह्मणों, ऐश्वर्य की देवी (लक्ष्मी) तथा श्रीभगवान् की पूजा करे।

तात्पर्य : यदि किसी को गायों तथा ब्राह्मणों का सत्कार करने तथा पूजा करने की शिक्षा दे दी जाये तो वह वास्तव में सभ्य बन जाता है। परमेश्वर की पूजा की संस्तुति की जाती है और भगवान् को गाएँ तथा ब्राह्मण अत्यंन्त प्रिय हैं (*नमो ब्रह्मण्य-देवाय गो-ब्राह्मणहिताय च*)। दूसरे शब्दों में, यह कह सकते हैं, जिस सभ्यता में गायों तथा ब्राह्मणों का आदर नहीं होता उसे धिक्कार है। ब्राह्मणों का गुण प्राप्त किये बिना तथा गायों को सुरक्षा प्रदान किये बिना कोई आत्मसिद्ध नहीं बन सकता। गो-रक्षा से प्रचुर दुग्ध-सामग्री की निश्चिन्तता आती है और उन्नत सभ्यता के लिए यह परमावश्यक है। गो-मांस खाकर सभ्यता को दूषित नहीं करना चाहिए। जब कोई सभ्यता अग्रसर होती है तभी वह आर्य सभ्यता कहलाती है। मांस के लिए गोवध न करके सभ्य मनुष्यों को उसके दूध से अनेक वस्तुएँ बनाकर समाज की दशा सुधारनी चाहिए। यदि मनुष्य ब्राह्मण-संस्कृति का अनुसरण करे तो वह कृष्णभक्ति में दक्ष हो सकता है।

स्त्रियो वीरवतीश्चार्चेत्स्रग्गन्धबलिमण्डनैः ।
पतिं चार्च्योपतिष्ठेत ध्यायेत्कोष्ठगतं च तम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

स्त्रियः—स्त्रियाँ; वीर-वतीः—पति तथा पुत्रों से सम्पन्न; च—तथा; अर्चेत्—पूजन करना चाहिए; स्त्रक्—पुष्प मालाओं से; गन्ध—चन्दन; बलि—भेंट; मण्डनैः—तथा आभूषणों से; पतिम्—पति की; च—तथा; आर्च्य—पूजा करके; उपतिष्ठेत—स्तुति करना चाहिए; ध्यायेत्—ध्यान करनी चाहिए; कोष्ठ-गतम्—गर्भ में रहकर; च—भी; तम्—उसको।

इस व्रत का पालन करने वाली स्त्री को चाहिए कि वह पुष्प माला, चन्दन, आभूषण तथा अन्य सामग्रियों से पुत्रवती तथा सौभाग्यवती स्त्रियों की पूजा करे। गर्भवती स्त्री को अपने पति की पूजा करके उसकी स्तुति करनी चाहिए। उसे उसका ध्यान यह सोचकर करना चाहिए कि वह उसके गर्भ में स्थित है।

तात्पर्य : गर्भस्थ शिशु पति के शरीर का अंग होता है। अत: पति अपने प्रतिनिधि के माध्यम

से अपनी गर्भवती स्त्री के गर्भ में निवास करता है।

सांवत्सरं पुंसवनं व्रतमेतदविप्लुतम् ।
धारयिष्यसि चेत्तुभ्यं शक्रहा भविता सुतः ॥ ५४॥

शब्दार्थ

सांवत्सरम्—एक वर्ष तक; पुंसवनम्—पुंसवन नामक; व्रतम्—व्रत; एतत्—यह; अविप्लुतम्—तोड़े बिना, अतिक्रमण किये बिना; धारयिष्यसि—करोगी; चेत्—यदि; तुभ्यम्—तुम्हारे; शक्र-हा—इन्द्र का वधकर्ता; भविता—होगा; सुतः—पुत्र।

कश्यप मुनि ने आगे कहा—यदि तुम श्रद्धापूर्वक कम से कम एक वर्ष तक इस व्रत में लगी रहकर इस पुंसवन अनुष्ठान को करोगी तो तुम्हारे एक पुत्र उत्पन्न होगा जो इन्द्र का वध करेगा। किन्तु यदि इस व्रत को करने में कुछ भी त्रुटि रह गई तो तुम्हारा पुत्र इन्द्र का मित्र बन जाएगा।

बाढमित्यभ्युपेत्याथ दिती राजन्महामनाः ।
कश्यपाद्गर्भमाधत्त व्रतं चाञ्जो दधार सा ॥ ५५॥

शब्दार्थ

बाढम्—तथास्तु; इति—इस प्रकार; अभ्युपेत्य—स्वीकार करके; अथ—तब; दितिः—दिति ने; राजन्—हे राजा; महा-मनाः—हर्षित; कश्यपात्—कश्यप से; गर्भम्—वीर्य; आधत्त—प्राप्त करके; व्रतम्—व्रत; च—तथा; अञ्जः—ठीक से; दधार—पालन किया; सा—उसने।

हे राजा परीक्षित! कश्यप की पत्नी दिति ने पुंसवन नामक शुद्धिकर्त्री विधि को करना अंगीकार कर लिया। उसने कहा, ''हाँ, मैं आपके उपदेशानुसार सब कुछ करूँगी।'' वह अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक कश्यप का वीर्य धारण कर गर्भवती हुई और श्रद्धापूर्वक व्रत का पालन करती रही।

मातृष्वसुरभिप्रायमिन्द्र आज्ञाय मानद ।
शुश्रूषणेनाश्रमस्थां दितिं पर्यचरत्कविः ॥ ५६॥

शब्दार्थ

मातृ-स्वसुः—अपनी माता की बहन (मौसी) का; अभिप्रायम्—मन्तव्य; इन्द्रः—इन्द्र; आज्ञाय—समझकर; मान-द—सबों को सम्मान देने वाले, हे राजा परीक्षित; शुश्रूषणेन—सेवा से; आश्रम-स्थाम्—आश्रम में रहने वाली; दितिम्—दिति; पर्यचरत्—परिचर्या की गई; कविः—अपना स्वार्थ देखकर।

सबों का सम्मान करने वाले हे राजा! इन्द्र ने दिति का मन्तव्य जान लिया, अतः वह अपना स्वार्थ साधने की युक्ति सोचने लगा। इस तर्क का अनुसरण करते हुए कि आत्म-रक्षा प्रकृति का प्रथम नियम है, उसने दिति की प्रतिज्ञा को भंग करना चाहा। अतः वह आश्रमवासिनी अपनी मौसी दिति की सेवा करने लगा।

नित्यं वनात्सुमनसः फलमूलसमित्कुशान् ।
पत्राङ्कुरमृदोऽपश्च काले काल उपाहरत् ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

नित्यम्—प्रतिदिन; वनात्—वन से; सुमनसः—फूल; फल—फल; मूल—जड़ें; समित्—यज्ञ के लिए समिधा (लकड़ी); कुशान्—तथा कुश; पत्र—पत्तियाँ; अङ्कुर—कलियाँ; मृदः—तथा मिट्टी; अपः—जल; च—भी; काले काले—उचित समय पर; उपाहरत्—ले आने लगा।

इन्द्र प्रतिदिन जंगल से फूल, फल, कंद तथा यज्ञ के लिए समिधा लाकर अपनी मौसी की सेवा करने लगा। वह उचित समय पर कुश, पत्तियाँ, कलियाँ, मिट्टी तथा जल भी ले आता था।

एवं तस्या व्रतस्थाया व्रतच्छिद्रं हरिर्नृप ।
प्रेप्सुः पर्यचरज्जिह्मो मृगहेव मृगाकृतिः ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; तस्याः—उस (दिति) का; व्रत-स्थायाः—श्रद्धापूर्वक अपना व्रत का पालन करने वाली; व्रत-छिद्रम्—व्रत पालन करने में त्रुटि (कमी); हरिः—इन्द्र; नृप—हे राजन्; प्रेप्सुः—ढूँढने की इच्छा से; पर्यचरत्—सेवा की गई; जिह्मः—छलपूर्ण; मृग-हा—बहेलिया; इव—सदृश; मृग-आकृतिः—हिरन के रूप में।

हे राजा परीक्षित! जिस प्रकार बहेलिया हिरन को मारने के लिए हिरन की खाल पहन कर छद्मवेष धारण करता है उसी प्रकार से इन्द्र, हृदय से दिति पुत्रों का शत्रु किन्तु बाहर से मित्र बनकर अत्यन्त श्रद्धापूर्वक दिति की सेवा करने लगा। इन्द्र का मन्तव्य दिति के व्रत के अनुष्ठान में त्रुटि निकालकर उसे धोखा देना था, किन्तु साथ ही वह नहीं चाहता था कि कोई

उसे पहचान सके इसलिए वह अत्यन्त सतर्कता के साथ उसकी सेवा करने लगा।

नाध्यगच्छद्व्रतच्छिद्रं तत्परोऽथ महीपते ।
चिन्तां तीव्रां गतः शक्रः केन मे स्याच्छिवं त्विह ॥५९॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अध्यगच्छत्—पा सका; व्रत-छिद्रम्—व्रत पालन में त्रुटि; तत्-परः—उसमें व्यस्त; अथ—तत्पश्चात्; मही-पते—हे विश्व के स्वामी; चिन्ताम्—चिन्ता को; तीव्राम्—तीव्र; गतः—प्राप्त; शक्रः—इन्द्र; केन—किस प्रकार; मे—मेरा; स्यात्—हो सकता है; शिवम्—शुभ; तु—तब; इह—यहाँ।

हे विश्वेश्वर! जब इन्द्र को कोई त्रुटि न मिली तो उसने सोचा, अब मेरा कल्याण कैसे हो? इस प्रकार वह गहरी चिन्ता में डूब गया।

एकदा सा तु सन्ध्यायामुच्छिष्टा व्रतकर्शिता ।
अस्पृष्टवार्यधौताङ्घ्रिः सुष्वाप विधिमोहिता ॥६०॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; सा—वह; तु—लेकिन; सन्ध्यायाम्—संध्या समय; उच्छिष्टा—भोजन के तुरन्त बाद; व्रत—व्रत से; कर्शिता—दुर्बल तथा अशक्त; अस्पृष्ट—बिना आचमन लिए; वारि—जल; अधौत—बिना धोये; अङ्घ्रिः—अपने पाँव; सुष्वाप—सोने के लिए गई; विधि—दैववश; मोहिता—मोहित होकर।

कठोरता से व्रत का पालन करते रहने से अत्यन्त क्षीण एवं अशक्त हो जाने से दुर्भाग्यवश दिति ने भोजन के पश्चात् मुँह, हाथ तथा पाँव धोने में लापरवाही बरती और सन्ध्या में ही सो गई।

लब्ध्वा तदन्तरं शक्रो निद्रापहृतचेतसः ।
दितेः प्रविष्ट उदरं योगेशो योगमायया ॥६१॥

शब्दार्थ

लब्ध्वा—पाकर; तत्-अन्तरम्—तत्पश्चात्; शक्रः—इन्द्र; निद्रा—नींद से; अपहृत-चेतसः—अचेत; दितेः—दिति के; प्रविष्टः—घुस गया; उदरम्—गर्भ में; योग-ईशः—योग के स्वामी, योगेश्वर; योग—योग-सिद्धियों की; मायया—शक्ति से।

इस त्रुटि को पाकर समस्त योगशक्तियों (योग सिद्धियाँ यथा अणिमा, लघिमा) का स्वामी इन्द्र घोर निद्रा में अचेत दिति के गर्भ में प्रविष्ट हो गया।

तात्पर्य : परम सफल योगी को आठ सिद्धियाँ प्राप्त रहती हैं। इनमें से एक के द्वारा, जिसे अणिमा सिद्धि कहते हैं, वह परमाणु से भी लघु बन सकता है। उस अवस्था में वह कहीं भी प्रविष्ट हो सकता है। इन्द्र इसी शक्ति से गर्भिणी दिति के भीतर प्रविष्ट हो गया।

चकर्त सप्तधा गर्भं वज्रेण कनकप्रभम् ।
रुदन्तं सप्तधैकैकं मा रोदीरिति तान्पुनः ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

चकर्त—काट दिया; सप्त-धा—सात खंडों में; गर्भम्—गर्भ को; वज्रेण—अपने वज्र से; कनक—स्वर्ण की; प्रभम्—ज्योति वाले; रुदन्तम्—रोते हुए; सप्त-धा—सात खंडों में; एक-एकम्—प्रत्येकों; मा रोदीः—मत रोओ; इति—इस प्रकार; तान्—उनको; पुनः—फिर।

दिति के गर्भ में प्रविष्ट होकर इन्द्र ने अपने वज्र से चमकते हुए सोने के समान गर्भ (भ्रूण) को सात खण्डों में काट डाला। सात स्थानों में सात विभिन्न जीव रोने लगे। इन्द्र ने ''मत रो'' ऐसा कहकर प्रत्येक को पुनः सातखण्डों में काट डाला।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर लिखते हैं कि इन्द्र ने अपनी योगशक्ति से पहले एक मरुत के शरीर को सात भागों में बढ़ा दिया और फिर मूल शरीर के सात भागों में से प्रत्येक को काटकर कुल उनचास भाग कर दिये। जब प्रत्येक शरीर के सात खण्ड किये गये तो अन्य जीवात्माएँ इन शरीरों में प्रविष्ट कर गईं। इस प्रकार वे उन वृक्षों के तुल्य बन गईं जिन्हें विभिन्न हिस्सों में काटकर पर्वत के ऊपर लगा दिया जाता है और वे पृथक् सत्ता प्राप्त कर लेते हैं। पहला शरीर एक ही था और जब उसे कई खण्डों में काटा गया तो अन्य जीवात्माएँ इन नवीन शरीरों में प्रवेश कर गईं।

तमूचुः पाट्यमानास्ते सर्वे प्राञ्जलयो नृप ।
किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसकी; ऊचुः—कहा; पाट्यमानाः—संतप्त होकर; ते—वे; सर्वे—समस्त; प्राञ्जलयः—हाथ जोड़े; नृप—हे राजा; किम्—क्यों; नः—हमको; इन्द्र—हे इन्द्र; जिघांससि—मारना चाहते हो; भ्रातरः—भाइयों को; मरुतः—मरुद्गण; तव—तुम्हारे।

अत्यन्त संतप्त होकर, हाथ जोड़कर उन्होंने इन्द्र से कहा—"हे राजन्! हे इन्द्र! हम तुम्हारे भाई मरुद्गण हैं। तुम हमें क्यों मार रहे हो?"

मा भैष्ट भ्रातरो मह्यं यूयमित्याह कौशिकः ।
अनन्यभावान्पार्षदानात्मनो मरुतां गणान् ॥ ६४ ॥

शब्दार्थ

मा भैष्ट—मत डरो; भ्रातरः—भाई; मह्यम्—मेरे; यूयम्—तुम सब; इति—इस प्रकार; आह—कहा; कौशिकः—इन्द्र; अनन्य-भावान्—भक्तिपूर्ण; पार्षदान्—अनुयायीगण; आत्मनः—अपने; मरुताम् गणान्—मरुद्गणों से।

जब इन्द्र ने देखा कि वे वास्तव में उसके भक्त-अनुयायी हैं, तो उसने उनसे कहा कि यदि तुम सचमुच मेरे भाई हो तो तुम्हें मुझसे डरने की कोई आवश्यकता नहीं है।

न ममार दितेर्गर्भः श्रीनिवासानुकम्पया ।
बहुधा कुलिशक्षुण्णो द्रौण्यस्त्रेण यथा भवान् ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ममार—मरा; दितेः—दिति का; गर्भः—गर्भ (भ्रूण); श्रीनिवास—लक्ष्मी के निवास स्थान, भगवान् विष्णु के; अनुकम्पया—अनुग्रह से; बहु-धा—अनेक खण्डों में; कुलिश—वज्र से; क्षुण्णः—कटा हुआ; द्रौणि—अश्वत्थामा के; अस्त्रेण—अस्त्र से; यथा—जिस प्रकार; भवान्—आप।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा, हे राजा परीक्षित! आप अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से जला दिये गये थे, किन्तु जब श्रीकृष्ण आपकी माता के गर्भ में प्रविष्ट हुए तो आप बच गए। इसी प्रकार यद्यपि इन्द्र ने एक गर्भ को वज्र द्वारा उनचास खण्डों में काट डाला था, किन्तु वे सभी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अनुग्रह से बच गये।

सकृदिष्ट्वादिपुरुषं पुरुषो याति साम्यताम् ।
संवत्सरं किञ्चिदूनं दित्या यद्धरिरर्चितः ॥ ६६ ॥
सजूरिन्द्रेण पञ्चाशद्देवास्ते मरुतोऽभवन् ।
व्यपोह्य मातृदोषं ते हरिणा सोमपाः कृताः ॥ ६७ ॥

शब्दार्थ

सकृत्—एक बार; इष्ट्वा—पूजा करके; आदि-पुरुषम्—आदि पुरुष को; पुरुषः—एक व्यक्ति; याति—जाता है; साम्यताम्—भगवान् जैसा शरीर धारण किये हुए; संवत्सरम्—एक वर्ष; किञ्चित् ऊनम्—कुछ कम; दित्या—दिति के द्वारा; यत्—क्योंकि; हरिः—भगवान् हरि; अर्चितः—पूजित; सजूः—के साथ; इन्द्रेण—इन्द्र; पञ्चाशत्—पचास; देवाः—देवता; ते—वे; मरुतः—मरुद्गण; अभवन्—हुए; व्यपोह्य—हटाकर; मातृ-दोषम्—अपनी माता का दोष; ते—वे; हरिणा—भगवान् हरि द्वारा; सोम-पाः—सोमरस पीने वाले; कृताः—बनाये गये थे।

यदि कोई पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा एक बार भी करता है, तो वह वैकुण्ठ मे प्रवेश करने का अधिकारी हो जाता है तथा भगवान् विष्णु के रूप को प्राप्त करता है। संकल्पपूर्वक कड़ाई से नियमों का पालन करते हुए दिति ने लगभग एक वर्ष तक भगवान् विष्णु की पूजा की। आध्यात्मिक जीवन की इस शक्ति के कारण उनचास मरुद्रगण पैदा हुए। यद्यपि मरुद्रगण दिति के गर्भ से पैदा हुए, किन्तु परम भगवान् की कृपा से वे देवताओं की बराबरी पर आ गये, यह कैसा आश्चर्य है?

दितिरुत्थाय ददृशे कुमाराननलप्रभान् ।
इन्द्रेण सहितान्देवी पर्यतुष्यदनिन्दिता ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

दितिः—दिति ने; उत्थाय—उठकर; ददृशे—देखा; कुमारान्—बालकों को; अनल-प्रभान्—अग्नि के समान तेजस्वी; इन्द्रेण सहितान्—इन्द्र के साथ; देवी—देवी; पर्यतुष्यत्—प्रसन्न थी; अनिन्दिता—शुद्ध हुई।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा करने से दिति पूर्णतया शुद्ध हो गई थी। जब वह बिस्तर से उठी तो उसने इन्द समेत अपने उनचास पुत्रों को देखा। ये उनचासों पुत्र अग्नि के समान तेजवान थे और इन्द्र के मित्र थे अतः वह अतीव प्रसन्न थी।

अथेन्द्रमाह ताताहमादित्यानां भयावहम् ।
अपत्यमिच्छन्त्यचरं व्रतमेतत्सुदुष्करम् ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

अथ—तदनन्तर; इन्द्रम्—इन्द्र से; आह—बोली; तात—प्यारे बेटे; अहम्—मैं; आदित्यानाम्—आदित्यों से; भय-आवहम्—भयभीत करने वाली; अपत्यम्—पुत्र; इच्छन्ती—इच्छा करती हुई; अचरम्—पालन किया; व्रतम्—व्रत; एतत्—यह; सु-दुष्करम्—जो कर पाना अत्यन्त कठिन है।

तदनन्तर, दिति ने इन्द्र से कहा—हे पुत्र! मैं इस कठोर व्रत का इसलिए पालन कर रही

थी कि तुम बारहों आदित्यों को मारने के लिए एक पुत्र प्राप्त कर सकूँ।

एकः सङ्कल्पितः पुत्रः सप्त सप्ताभवन्कथम् ।
यदि ते विदितं पुत्र सत्यं कथय मा मृषा ॥ ७० ॥

शब्दार्थ

एकः—एक; सङ्कल्पितः—प्रार्थना की थी; पुत्रः—पुत्र; सप्त सप्त—उनचास; अभवन्—हो गये; कथम्—किस प्रकार; यदि—यदि; ते—तुम्हारे द्वारा; विदितम्—ज्ञात; पुत्र—हे पुत्र!; सत्यम्—सच सच; कथय—कहो; मा—मत (बोलना); मृषा—झूठ।

मैंने केवल एक पुत्र के लिए प्रार्थना की थी, किन्तु मैं देखती हूँ कि ये तो उनचास हैं। यह किस तरह सम्भव हो सका? मेरे पुत्र इन्द्र! यदि तुम जानते हो तो मुझसे सच सच कहो। झूठ बोलने का प्रयास मत करना।

इन्द्र उवाच
अम्ब तेऽहं व्यवसितमुपधार्यागतोऽन्तिकम् ।
लब्धान्तरोऽच्छिदं गर्भमर्थबुद्धिर्न धर्मदृक् ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रः उवाच—इन्द्र ने कहा; अम्ब—हे माता; ते—तुम्हारा; अहम्—मैं; व्यवसितम्—व्रत; उपधार्य—समझकर; आगतः—आया; अन्तिकम्—पास ही; लब्ध—पाकर; अन्तरः—त्रुटि, दोष; अच्छिदम्—मैंने काट दिया; गर्भम्—गर्भ; अर्थ-बुद्धिः—स्वार्थवश; न—नहीं; धर्म-दृक्—धर्म-दृष्टि वाला।

इन्द्र ने उत्तर दिया—हे माता! स्वार्थ से अंधा होने के कारण मैंने धर्म से मुँह मोड़ लिया था। जब मुझे ज्ञात हुआ कि आप आध्यात्मिक जीवन का महान् व्रत धारण कर रही हैं, तो मैं उसमें कोई त्रुटि निकालना चाहता था। और जब मुझे त्रुटि मिल गई तो मैं आपके गर्भ में प्रविष्ट हो गया और मैंने गर्भ को खंड खंड कर दिया।

तात्पर्य : जब इन्द्र की मौसी दिति ने बिना हिचक के इन्द्र को अपना मन्तव्य कह सुनाया तो इन्द्र ने अपना मन्तव्य बताया। इस प्रकार दोनों परस्पर शत्रु न रहकर एक दूसरे से सत्य बोलने लगे। विष्णु की संगति के प्रभाव से ही ऐसा होता है। *श्रीमद्भागवत*(५.१८.१२) में कहा गया है—*यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना सर्वै: गुणैस्तत्र समासते सुरा:*—यदि किसी में भक्ति की प्रवृत्ति

जागृत होती है और वह परमेश्वर की पूजा करके शुद्ध बन जाता है, तो उसके शरीर में निश्चय ही समस्त श्रेष्ठ गुण प्रकट होते हैं। विष्णु की पूजा के स्पर्श से दिति तथा इन्द्र दोनों शुद्ध हो गये।

कृत्तो मे सप्तधा गर्भ आसन्सप्त कुमारकाः ।
तेऽपि चैकैकशो वृक्णाः सप्तधा नापि मम्रिरे ॥ ७२ ॥

शब्दार्थ

कृत्तः—काटा गया; मे—मेरे द्वारा; सप्त-धा—सात खण्डों में; गर्भः—गर्भ (भ्रूण); आसन्—हो गया; सप्त—सात; कुमारकाः—शिशु; ते—वे; अपि—यद्यपि; च—भी; एक-एकशः—प्रत्येक; वृक्णाः—काटे गये; सप्त-धा—सप्त खण्डों में; न—नहीं; अपि—अब तक; मम्रिरे—मरे।

सर्वप्रथम मैंने गर्भस्थ शिशु को सात खण्डों में काट डाला जिससे सात शिशु बन गये। तब फिर मैंने प्रत्येक शिशु के भी सात सात खण्ड कर दिये। किन्तु परमेश्वर के अनुग्रह से इनमें से कोई भी मरा नहीं।

ततस्तत्परमाश्चर्यं वीक्ष्य व्यवसितं मया ।
महापुरुषपूजायाः सिद्धिः काप्यानुषङ्गिणी ॥ ७३ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; तत्—वह; परम-आश्चर्यम्—महान् आश्चर्य; वीक्ष्य—देखकर; व्यवसितम्—यह निश्चय किया गया; मया—मेरे द्वारा; महा-पुरुष—भगवान् विष्णु की; पूजायाः—पूजा का; सिद्धिः—फल; कापि—कुछ; आनुषङ्गिणी—आनुसंगिक, गौण।

हे माता! जब मैंने देखा कि उनचासों पुत्र जीवित हैं, तो निश्चित ही मुझे आश्चर्य हुआ। मुझे विश्वास हो गया कि यह आपके द्वारा विष्णु-उपासना के लिए की गई नियमित भक्तिपूर्ण सेवा का ही आनुषंगिक फल है।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु की सेवा में संलग्न व्यक्ति के लिए कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है। यह वास्तविकता है। *भगवद्गीता* (१८.७८) में कहा गया है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।

तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

"जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ धनुषधारी अर्जुन है, वहीं शाश्वत राजलक्ष्मी,

समस्त ऐश्वर्य, विजय, विलक्षण शक्ति तथा नीति है, ऐसा मेरा मत है।'' योगेश्वर पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, जो अपनी इच्छानुसार जो भी चाहें कर सकते हैं। यह प्राप्ति परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता है। ईश्वर को प्रसन्न कर लेने वाले के लिए कोई भी उपलब्धि आश्चर्यजनक नहीं। उसके लिए सब कुछ सम्भव है।

आराधनं भगवत ईहमाना निराशिषः ।
ये तु नेच्छन्त्यपि परं ते स्वार्थकुशलाः स्मृताः ॥ ७४॥

शब्दार्थ

आराधनम्—उपासना; भगवतः—श्रीभगवान् की; ईहमानाः—वांछित; निराशिषः—भौतिक इच्छाओं से रहित, निष्काम; ये—जो; तु—निस्सन्देह; न इच्छन्ति—कामना नहीं करते; अपि—भी; परम्—मुक्ति; ते—वे; स्व-अर्थ—अपने हित में; कुशलाः—कुशल, दक्ष; स्मृताः—माने हुए।

यद्यपि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की उपासना में ही निरत रहने वालों को भगवान् से किसी भी प्रकार की भौतिक इच्छा, यहाँ तक कि मुक्ति की भी कामना नहीं रहती, तो भी भगवान् कृष्ण उनकी समस्त कामनाओं को परिपूर्ण करते हैं।

तात्पर्य : जब ध्रुव महाराज को भगवान् विष्णु के दर्शन हुए तो उन्होंने भगवान् से कोई वर नहीं माँगा क्योंकि वे भगवान् के दर्शन से ही पूर्णतः तुष्ट थे। तो भी भगवान् इतने दयालु हैं कि उन्होंने महाराज ध्रुव को ब्रह्माण्ड के सर्वश्रेष्ठ लोक, ध्रुवलोक, भेज दिया क्योंकि प्रारम्भ में उन्होंने अपने पिता के राज्य से भी बड़े राज्य की कामना की थी। अतः शास्त्र का कथन है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

''उदार बुद्धि वाला व्यक्ति, चाहे सकाम हो, निष्काम हो या मुक्ति का इच्छुक हो, उसे सब प्रकार से परब्रह्म की उपासना करनी चाहिए।'' (*भागवत २.३.१०*)। मनुष्य को चाहिए कि वह पूर्णभक्ति में निरत हो। तब, भले ही वह निष्काम क्यों न हो, उसकी पूर्व इच्छित कामनाओं की पूर्ति भगवान् की उपासना मात्र से हो जाती है। वास्तविक भक्त मुक्ति की भी कामना नहीं करता

(*अन्याभिलाषिता शून्यम्*)। किन्तु भगवान् अपने भक्त को अक्षय ऐश्वर्य प्रदान करके उसकी कामना पूरी करते हैं। कर्मी का ऐश्वर्य नष्ट हो जाता है, किन्तु भक्त का ऐश्वर्य अविनश्वर है। भक्त ज्यों ज्यों अधिक भक्ति करता है त्यों त्यों उसका ऐश्वर्य बढ़ता जाता है।

आराध्यात्मप्रदं देवं स्वात्मानं जगदीश्वरम् ।
को वृणीत गुणस्पर्शं बुधः स्यान्नरकेऽपि यत् ॥ ७५ ॥

शब्दार्थ

आराध्य—उपासना के बाद; आत्म-प्रदम्—जो अपने आपको अर्पित करता है; देवम्—भगवान् को; स्व-आत्मानम्—परम-प्रिय; जगत्-ईश्वरम्—ब्रह्माण्ड के स्वामी को; कः—क्या; वृणीत—चुनेगा; गुण-स्पर्शम्—भौतिक सुख; बुधः—बुद्धिमान मनुष्य; स्यात्—है; नरके—नरक में; अपि—भी; यत्—जो।

समस्त आकांक्षाओं का अन्तिम लक्ष्य भगवान् का दास बनना है। यदि कोई बुद्धिमान मनुष्य अपने भक्तों को आत्मसमर्पित करने वाले परम प्रिय भगवान् की सेवा करता है, तो वह भौतिक सुख की कामना कैसे कर सकता है, जो नरक में भी प्राप्य है?

तात्पर्य : कोई बुद्धिमान व्यक्ति मात्र भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए भक्त बनना नहीं चाहेगा। यही भक्त की परीक्षा है। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु का उपदेश है—

न धनं न जनं न सुन्दरी कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

"हे परम शक्तिमान ईश्वर! मुझे न तो धनसंचय की इच्छा है, न मैं सुन्दर स्त्रियों की कामना करता हूँ, न ही मुझे अनेक अनुयायी चाहिए। मैं तो जन्म-जन्मांतर आपकी अहैतुकी भक्ति की कामना करता हूँ।" शुद्ध भक्त ईश्वर से धन, दास, सुन्दर पत्नी, यहाँ तक कि मुक्ति की भी कभी कामना नहीं करता। किन्तु भगवान् वचन देते हैं—*योगक्षेमं वहाम्यहम्*—"मैं स्वेच्छा से अपनी सेवा के लिए प्रत्येक आवश्यक वस्तु लाता हूँ।"

तदिदं मम दौर्जन्यं बालिशस्य महीयसि ।
क्षन्तुमर्हसि मातस्त्वं दिष्ट्या गर्भो मृतोत्थितः ॥ ७६ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; इदम्—यह; मम—मुझ; दौर्जन्यम्—कुकृत्य; बालिशस्य—मूर्ख का; महीयसि—हे श्रेष्ठ स्त्री; क्षन्तुम् अर्हसि—कृपा करके क्षमा करें; मातः—हे माता; त्वम्—तुम; दिष्ट्या—सौभाग्य से; गर्भः—गर्भस्थ शिशु; मृत—मारा हुआ; उत्थितः—जीवित हो उठा।

हे माता, हे महीयसी! मैं मूर्ख हूँ। मैंने जो भी पाप किये हैं उसके लिए आप मुझे क्षमा प्रदान करें। आपके उनचासों पुत्र बिना किसी क्षति के आपकी भक्ति के कारण ही उत्पन्न हुए हैं। मैंने शत्रु होने के नाते उनको खण्ड खण्ड कर दिया था, किन्तु आपकी परम भक्ति के कारण वे मरे नहीं।

श्रीशुक उवाच

इन्द्रस्तयाभ्यनुज्ञातः शुद्धभावेन तुष्टया ।
मरुद्भिः सह तां नत्वा जगाम त्रिदिवं प्रभुः ॥ ७७ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इन्द्रः—इन्द्र; तया—उस (दिति) से; अभ्यनुज्ञातः—अनुमति पाकर; शुद्ध-भावेन—शुद्ध आचरण से; तुष्टया—संतुष्ट होकर; मरुद्भिः सह—मरुतों के साथ; ताम्—उसको; नत्वा—नमस्कार करके; जगाम—चला गया; त्रि-दिवम्—स्वर्गलोक को; प्रभुः—भगवान्।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—दिति इन्द्र के इस उत्तम आचरण से अत्यन्त प्रसन्न हुई। तब इन्द्र ने अपनी मौसी को अत्यन्त आदरपूर्वक प्रणाम किया और उसकी आज्ञा से अपने मरुद्गण भाइयों सहित स्वर्गलोक को चला गया।

एवं ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
मङ्गलं मरुतां जन्म किं भूयः कथयामि ते ॥ ७८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; ते—तुमको; सर्वम्—सब कुछ; आख्यातम्—कह सुनाया; यत्—जो; माम्—मुझसे; त्वम्—तुमने; परिपृच्छसि—पूछा; मङ्गलम्—शुभ, कल्याणकारी; मरुताम्—मरुतों का; जन्म—उत्पत्ति; किम्—क्या; भूयः—आगे; कथयामि—कहूँगा; ते—तुम से।

हे राजा परीक्षित! मैंने यथासम्भव तुम्हारे द्वारा पूछे गये प्रश्नों, विशेष रूप से मरुतों के इस शुद्ध मंगलकारी वर्णन, का उत्तर दिया। अब तुम आगे जो पूछना चाहते हो पूछो, मैं उसे भी विस्तार से बताऊँगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कंध के अन्तर्गत ''राजा इन्द्र का वध करने के लिए दिति का व्रत'' नामक अठारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter उन्नीस

पुंसवन व्रत का अनुष्ठान

इस अध्याय में बताया गया है कि कश्यप की पत्नी दिति ने किस प्रकार कश्यप मुनि के भक्ति सम्बन्धी उपदेशों को कार्यरूप में परिणत किया। अग्रहायण (नवम्बर-दिसम्बर) मास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को प्रत्येक स्त्री को चाहिए कि वह दिति के चरणचिह्नों का अनुसरण करती हुई और अपने पति के उपदेशों का पालन करती हुई इस पुंसवन व्रत को प्रारम्भ करे। प्रात:काल हाथ-मुँह धोकर, पवित्र होकर, वह मरूतों के जन्म रहस्य के बारे में सुने, फिर श्वेत वस्त्र धारण करके और समुचित अलंकरणों से आभूषित होकर कलेवा करने के पूर्व भगवान् विष्णु तथा उनकी पत्नी लक्ष्मीजी की पूजा करे और भगवान् विष्णु की कृपा, धैर्य, शक्ति, महानता तथा अन्य गुणों की महिमा तथा साथ ही समस्त वरों को देने के लिए स्तुति करे। वे सभी वर प्रदान कर सकते हैं। पूजा की समस्त सामग्रियाँ—यथा आभूषण, यज्ञोपवीत, सुगंधि, पुष्प, अगुर तथा भगवान् के पाँव, हाथ तथा मुख के प्रक्षालन के लिए जल आदि भेंट करने के बाद भगवान् का इस मंत्र के द्वारा आवाहन करे—*ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय महाविभूतिपतये सह महाविभूतिभिर्बलिम् उपहरामि॥* तब अग्नि को बारह बार आहुतियाँ दे और इस मंत्र का उच्चारण करे *ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महाविभूतिपतये स्वाहा।* इस मंत्र का दस बार उच्चारण करते हुए नमस्कार करे। तब लक्ष्मीनारायण मंत्र का जप करे।

यदि गर्भवती स्त्री या उसका पति इस भक्तिपूर्ण व्रत को नियमपूर्वक सम्पन्न करता है, तो दोनों को फल प्राप्त होगा। इस विधि को एक वर्ष तक चालू रखकर संयमशील पत्नी को चाहिए कि कार्तिक पूर्णिमा को उपवास रखे। दूसरे दिन पति पूर्ववत् भगवान् की पूजा करे और फिर अच्छा-

अच्छा भोजन पकाकर ब्राह्मणों को प्रसाद वितरण करके उत्सव मनाए। तब ब्राह्मणों की अनुमति से पति-पत्नी प्रसाद ग्रहण करें। पुंसवन व्रत के फल की महिमा बताने के बाद यह अध्याय समाप्त हो जाता है।

श्रीराजोवाच
व्रतं पुंसवनं ब्रह्मन्भवता यदुदीरितम् ।
तस्य वेदितुमिच्छामि येन विष्णुः प्रसीदति ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—महाराज परीक्षित ने कहा; व्रतम्—व्रत; पुंसवनम्—पुंसवन नामक; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; भवता—आपके द्वारा; यत्—जो; उदीरितम्—कहा गया है; तस्य—उसका; वेदितुम्—जानना; इच्छामि—चाहता हूँ; येन—जिससे; विष्णुः—भगवान् विष्णु; प्रसीदति—प्रसन्न होते हैं।

महाराज परीक्षित ने कहा—हे प्रभो! आप पुंसवन व्रत के सम्बन्ध में पहले ही बता चुके हैं। अब मैं इसके विषय में विस्तार से सुनना चाहता हूँ क्योंकि मैं समझता हूँ कि इस व्रत का पालन करके भगवान् विष्णु को प्रसन्न किया जा सकता है।

श्रीशुक उवाच
शुक्ले मार्गशिरे पक्षे योषिद्भर्तुरनुज्ञया ।
आरभेत व्रतमिदं सार्वकामिकमादितः ॥ २ ॥

निशम्य मरुतां जन्म ब्राह्मणाननुमन्त्र्य च ।
स्नात्वा शुक्लदती शुक्ले वसीतालङ्कृताम्बरे ।
पूजयेत्प्रातराशात्प्राग्भगवन्तं श्रिया सह ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; शुक्ले—शुक्ल पक्ष के; मार्गशिरे—अगहन (नवम्बर-दिसम्बर) मास में; पक्षे—पक्ष (पखवारे) में; योषित्—स्त्री; भर्तुः—पति की; अनुज्ञया—अनुमति से; आरभेत—प्रारम्भ करे; व्रतम्—व्रत; इदम्—यह; सार्व-कामिकम्—समस्त कामनाओं को पूरा करने वाले; आदितः—पहले दिन से; निशम्य—सुनकर; मरुताम्—मरुतों के; जन्म—जन्म, उत्पत्ति; ब्राह्मणान्—ब्राह्मणों से; अनुमन्त्र्य—उपदेश लेकर; च—तथा; स्नात्वा—नहा कर; शुक्ल-दती—साफ किये गये दाँतों से; शुक्ले—श्वेत; वसीत—धारण करे; अलङ्कृता—आभूषण; अम्बरे—वस्त्र; पूजयेत्—पूजा करे; प्रातः-आशात् प्राक्—कलेवा से पहले; भगवन्तम्—श्रीभगवान् की; श्रिया सह—लक्ष्मी सहित।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा—स्त्री को चाहिए कि अगहन मास (नवम्बर-दिसम्बर) के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को अपने पति की अनुमति से इस नैमित्यिक भक्ति को तप के व्रत

सहित प्रारम्भ करे क्योंकि इससे सभी मनोकामनाएँ पूरी हो सकती हैं। भगवान् विष्णु की उपासना करने के पूर्व स्त्री को चाहिए कि वह मरुतों के जन्म की कथा को सुने। योग्य ब्राह्मणों के निर्देशानुसार वह प्रातःकाल अपने दाँत साफ करे, नहाए, श्वेत साड़ी पहने और आभूषण धारण करे और फिर कलेवा करने के पूर्व भगवान् विष्णु तथा लक्ष्मी की पूजा करे।

अलं ते निरपेक्षाय पूर्णकाम नमोऽस्तु ते ।
महाविभूतिपतये नमः सकलसिद्धये ॥ ४॥

शब्दार्थ

अलम्—पर्याप्त; ते—तुम्हारे लिए; निरपेक्षाय—उदासीन; पूर्ण-काम—जिसकी कामना सदैव पूर्ण होती है, ऐसे भगवान्; नमः—नमस्कार; अस्तु—हो; ते—तुमको; महा-विभूति—लक्ष्मी के; पतये—पति को; नमः—नमस्कार; सकल-सिद्धये—समस्त सिद्धियों के स्वामी को।

[तब वह भगवान् की इस प्रकार से प्रार्थना करे]—हे भगवन्! आप समस्त ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं किन्तु मैं ऐश्वर्य की कामना नहीं करती हूँ। मैं आपको सहज भाव से सादर नमस्कार करती हूँ। आप उन सम्पत्ति की देवी लक्ष्मी देवी के पति और स्वामी हैं, जो समस्त ऐश्वर्यों से युक्त हैं। आप समस्त योग के स्वामी हैं। मैं आपको केवल नमस्कार करती हूँ।

तात्पर्य : भक्त जानता है कि भगवान् की प्रशंसा किस प्रकार की जाए—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

"श्रीभगवान् परम पूर्ण हैं अतः उनके समस्त उद्गम या उनका व्यवहार-जगत समग्रतः पूर्ण से युक्त है। जो कुछ पूर्ण से उत्पन्न होता है, वह भी स्वयं में पूर्ण होता है। चूँकि भगवान् परम पूर्ण हैं इसलिए उनसे अनेक पूर्ण इकाइयाँ उद्गत होने पर भी वे पूर्ण शेष बचे रहते हैं।" इसलिए परमेश्वर की शरण में जाने की आवश्यकता होती है। भक्त की जो भी आवश्यकताएँ होती हैं पूर्ण श्रीभगवान् उसकी पूर्ति करते हैं (*तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्*)। इसलिए शुद्ध भक्त

भगवान् से किसी वस्तु की याचना नहीं करेगा। वह केवल उन्हें नमस्कार करता है और भक्त द्वारा जो भी अर्पित किया जाता है भले ही *पत्रं पुष्पं फलं तोयम्* ही क्यों न हो, भगवान् उसे स्वीकार करते हैं। किसी बनावटी प्रयास को करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। उत्तम यही होता है कि सीधे-सादे ढंग से जो भी प्राप्त हो सके उसे भगवान् को आदरभाव से नमस्कारपूर्वक अर्पित किया जाये। भगवान् अपने भक्तों को समस्त ऐश्वर्य प्रदान करने में पूर्णतया सक्षम हैं।

यथा त्वं कृपया भूत्या तेजसा महिमौजसा ।
जुष्ट ईश गुणैः सर्वैस्ततोऽसि भगवान्प्रभुः ॥५॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; त्वम्—तुम; कृपया—कृपा से; भूत्या—ऐश्वर्य से; तेजसा—तेज से; महिम-ओजसा—महिमा तथा बल से; जुष्टः—युक्त; ईश—हे ईश्वर; गुणैः—दिव्य गुणों से; सर्वैः—समस्त; ततः—अतः; असि—हो; भगवान्—श्रीभगवान्; प्रभुः—स्वामी।

हे भगवन्! आप अहैतुकी कृपा, समस्त ऐश्वर्य, समस्त तेज तथा समस्त महिमा, बल एवं दिव्य गुणों से युक्त होने के कारण हर एक के स्वामी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में आगत *ततोऽसि भगवान् प्रभुः* शब्दों का अर्थ इस प्रकार है, "अतः आप प्रत्येक के स्वामी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं।" श्रीभगवान् छह प्रकार के ऐश्वर्यों से पूर्ण होने के साथ-साथ अपने भक्तों पर अत्यन्त दयालु हैं। यद्यपि वे पूर्ण हैं, किन्तु फिर भी वे चाहते हैं कि सभी जीवात्माएँ उनकी शरण में आकर उनकी सेवा करें। इस प्रकार से वे प्रसन्न होते हैं। यद्यपि वे स्वयं में पूर्ण हैं, तो भी अपने भक्तों द्वारा *पत्रं पुष्पं फलं तोयम्* भक्तिपूर्वक अर्पित किये जाने पर प्रसन्न होते हैं। कभी-कभी भगवान् अपने भक्त से भोजन माँगते हैं जैसे कि वे भूखे हों जिस प्रकार माता यशोदा से भगवान् कृष्ण। कभी-कभी वे अपने भक्तों को स्वप्न में बता देते हैं कि उनका मन्दिर तथा उनका बगीचा अब जीर्ण हो चुके हैं जिससे वे उनका उपयोग अच्छी तरह से नहीं कर सकते। इस प्रकार वे भक्तों से उनकी मरम्मत के लिए कहते हैं। कभी-कभी वे पृथ्वी के अन्दर गाड़ दिये जाने पर स्वयं बाहर आने में असमर्थ बताकर अपने भक्तों से उनकी रक्षा करने को कहते

हैं। कभी-कभी अपने भक्तों से पूरे विश्व में घूमकर उनके यश का प्रचार करने के लिए कहते हैं यद्यपि वे अकेले इस कार्य को करने में सक्षम हैं। यद्यपि श्रीभगवान् सभी धन-धान्य से सम्पन्न और आत्म-निर्भर हैं, किन्तु फिर भी वे अपने भक्तों पर आश्रित रहते हैं। अत: भगवान् तथा उनके भक्तों का सम्बन्ध अत्यन्त गुह्य है। केवल भक्त ही जान पाते हैं कि सम्पूर्ण होकर भी भगवान् किसी विशेष कार्य के लिए किस प्रकार भक्तों पर आश्रित रहते हैं। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* (११.३३) में की गई है जहाँ श्रीकृष्ण अर्जुन को बताते हैं—*निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्*—हे अर्जुन! तुम केवल युद्ध के निमित्त (कारण) बनो।'' यद्यपि श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र युद्ध में अकेले जीत सकने की क्षमता रखते थे, किन्तु फिर भी उन्होंने अपने भक्त अर्जुन को युद्ध के लिए प्रेरित किया और जीत का कारण बनने के लिए कहा। श्री चैतन्य महाप्रभु अपने नाम तथा सन्देश को सारे विश्व में प्रसारित करने में पूर्ण सक्षम थे, किन्तु फिर भी इसके लिए वे अपने भक्तों पर निर्भर रहे। इन सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् की आत्मनिर्भरता का सब से महत्त्वपर्ण पक्ष यह है कि वे अपने भक्तों पर निर्भर हैं। यही उनकी अहैतुकी कृपा कहलाती है। जिस भक्त ने भगवान् की इस अहैतुकी कृपा को अनुभव द्वारा देखा है, वही स्वामी तथा दास को समझ सकता है।

विष्णुपत्नि महामाये महापुरुषलक्षणे ।
प्रीयेथा मे महाभागे लोकमातर्नमोऽस्तु ते ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

विष्णु-पत्नि—हे भगवान् विष्ण की पत्नी; महा-माये—हे भगवान् विष्णु की शक्ति; महा-पुरुष-लक्षणे—भगवान् विष्णु के गुणों एवं ऐश्वर्यों से युक्त; प्रीयेथा:—कृपापूर्वक प्रसन्न हों; मे—मुझ पर; महा-भागे—हे लक्ष्मी की देवी; लोक-मातः—हे संसार की माता; नमः—नमस्कार; अस्तु—हो; ते—तुमको।

[भगवान् विष्णु को समुचित नमस्कार करने के बाद भक्तों को चाहिए कि वे धन-धान्य की देवी लक्ष्मी माता को सादर नमस्कार करें और इस प्रकार से प्रार्थना करें—] हे विष्णु-पत्नी, हे भगवान् विष्णु की अंतरंगा शक्ति! आप विष्णु के ही समान श्रेष्ठ हैं क्योंकि आपमें भी उनके सारे गुण तथा ऐश्वर्य निहित हैं। हे धन-धान्य की देवी! आप मुझ पर

कृपालु हों। हे जगन्माता! मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् नाना शक्तियों से पूर्ण हैं (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*) । चूँकि माता लक्ष्मी भगवान् की बहुमूल्य शक्ति हैं इसलिए उन्हें यहाँ पर *महा-माये* कहकर सम्बोधित किया गया है। *माया* शब्द का अर्थ है शक्ति। भगवान् विष्णु अपनी प्रमुख शक्ति के बिना सर्वत्र अपनी शक्ति का प्रदर्शन नहीं कर पाते। कहा गया है *शक्ति शक्तिमान् अभेद*—शक्ति तथा शक्तिमान एक ही हैं अत: माता लक्ष्मी भगवान् विष्णु की नित्य संगिनी हैं, वे दोनों निरन्तर साथ रहते हैं कोई भी भगवान् विष्णु के बिना लक्ष्मी को अपने घर में नहीं रख सकता। यदि कोई ऐसा सोचे तो उसके लिए यह घातक होगा क्योंकि भगवान् की सेवा के बिना लक्ष्मी माया बन जाती है। किन्तु भगवान् विष्णु के संग वे निस्सन्देह परा शक्ति हैं।

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय महाविभूतिपतये सह महाविभूतिभिर्बलिमुपहरामीति;
अनेनाहरहर्मन्त्रेण
विष्णोरावाहनार्घ्यपाद्योपस्पर्शनस्नानवासउपवीतविभूषणगन्धपुष्पधूप ।दीपोपहाराद्युपचारान्सुसमाहि
तोपाहरेत्. ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

ॐ—हे भगवान्; नम:—नमस्कार; भगवते—श्रीभगवान् को, जो छहों ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं; महा-पुरुषाय—श्रेष्ठ भोक्ता; महा-अनुभावाय—सर्वशक्तिमान; महा-विभूति—धन की देवी के; पतये—पति; सह—साथ; महा-विभूतिभि:—पार्षद; बलिम्—भेंट; उपहरामि—अर्पित कर रहा हूँ; इति—इस प्रकार; अनेन—इस; अह:-अह:—प्रतिदिन; मन्त्रेण—मंत्र से; विष्णो:—भगवान् विष्णु का; आवाहन—आवाहन; अर्घ्य-पाद्य-उपस्पर्शन—हाथ, पाँवों तथा मुँह को प्रक्षालित करने के लिए जल; स्नान—नहाने के लिए जल; वास—वस्त्र; उपवीत—यज्ञोपवीत, जनेऊ; विभूषण—गहने; गन्ध—सुगन्धित द्रव्य; पुष्प—फूल; धूप—धूप; दीप—दीपक; उपहार—भेंट; आदि—इत्यादि; उपचारान्—निवेदन, भेंट; सु-समाहिता—मनोयोग से; उपाहरेत्—अर्पित करे।

"हे छ: ऐश्वर्यों से युक्त भगवान् विष्णु! आप सर्वश्रेष्ठ भोक्ता एवं सर्व-शक्तिमान हैं। हे माता लक्ष्मी के पति! मैं विश्वक्सेन जैसे पार्षदों की संगति में रहने वाले आपको सादर नमस्कार करता हूँ। मैं आपको समस्त पूजा-सामग्री अर्पित करता हूँ।" मनुष्य को चाहिए कि प्रतिदिन अत्यन्त मनोयोग से भगवान् विष्णु की पूजा-यथा उनके हाथ, पाँव तथा मुख धोने के लिए और स्नान के लिए जल इत्यादि पूजा सामग्रियों से पूजा करते हुए इस मंत्र का

उच्चारण करे। उसे चाहिए कि उन्हें वस्त्र, उपवीत, आभूषण, सुगंधि, पुष्प, अगुरु तथा दीपक अर्पित करे।

तात्पर्य : यह मंत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। श्रीविग्रह की पूजा करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उपर्युक्त मंत्र का जप करना चाहिए।

हविःशेषं च जुहुयादनले द्वादशाहुती ।
ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महाविभूतिपतये स्वाहेति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

हविः-शेषम्—शेष नैवेद्य; च—तथा; जुहुयात्—अर्पित करे; अनले—अग्नि में; द्वादश—बारह; आहुतीः—आहुतियाँ; ॐ—हे भगवान्; नमः—नमस्कार; भगवते—श्रीभगवान् को; महा-पुरुषाय—परम भोक्ता; महा-विभूति—धन की देवी के; पतये—पति को; स्वाहा—आहुति; इति—इस प्रकार।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—उपर्युक्त समस्त पूजा सामग्री से भगवान् की पूजा करने के बाद मनुष्य को चाहिए कि वह ''ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महाविभूतिपतये स्वाहा'' इस मंत्र का जप करे और पवित्र अग्नि में बारह बार घी की आहुतियाँ दे।

श्रियं विष्णुं च वरदावाशिषां प्रभवावुभौ ।
भक्त्या सम्पूजयेन्नित्यं यदीच्छेत्सर्वसम्पदः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्रियम्—सौभाग्य की देवी को; विष्णुम्—भगवान् विष्णु को; च—तथा; वर-दौ—वरों को देने वाली; आशिषाम्—आशीर्वादों का; प्रभवौ—साधन; उभौ—दोनों; भक्त्या—भक्ति से; सम्पूजयेत्—पूजे; नित्यम्—प्रतिदिन; यदि—यदि; इच्छेत्—चाहता है; सर्व—समस्त; सम्पदः—ऐश्वर्य।

यदि किसी को समस्त ऐश्वर्यों की चाहत है, तो उसका कर्तव्य है कि प्रतिदिन भगवान् विष्णु की पूजा उनकी पत्नी लक्ष्मी सहित करे। उसे परम आदर से उपर्युक्त विधि से उनकी पूजा करनी चाहिए। भगवान् विष्णु तथा ऐश्वर्य की देवी का अत्यन्त शक्तिशाली संयोग है। वे समस्त वरों को देने वाले हैं तथा समस्त सौभाग्य के स्रोत हैं। अतः हर एक का कर्तव्य है कि लक्ष्मी-नारायण की पूजा करे।

तात्पर्य : लक्ष्मी-नारायण अर्थात् भगवान् विष्णु तथा माता लक्ष्मी सबों के हृदय में सदैव

विराजमान रहते हैं (*ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*)। किन्तु अभक्त लोग यह नहीं समझते कि भगवान् विष्णु अपनी प्रेयसी लक्ष्मी के साथ सबों के हृदयों में स्थित हैं, अत: उन्हें विष्णु का ऐश्वर्य प्राप्त नहीं होता। पाखंडी लोग कभी-कभी दरिद्र मनुष्य को दरिद्रनारायण कहकर पुकारते हैं। यह अत्यन्त अवैज्ञानिक है। भगवान् विष्णु तथा लक्ष्मी सदैव प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित रहते हैं, विशेष रूप से उनके हृदय में जो दरिद्र नहीं हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति नारायण है। नारायण के प्रसंग में इस शब्द का व्यवहार अत्यन्त कुत्सित हैं। भगवान् कभी दरिद्र नहीं बनते, अत: वे कभी दरिद्रनारायण नहीं कहे जा सकते। वे तो सबों के हृदय में विद्यमान हैं, किन्तु वे न तो दरिद्र हैं न धनी। केवल ऐसे धूर्त लोग जो नारायण के ऐश्वर्य को नहीं जानते उन पर दरिद्रता का आघात पहुंचाने का प्रयास करते हैं।

प्रणमेद्दण्डवद्भूमौ भक्तिप्रह्वेण चेतसा ।
दशवारं जपेन्मन्त्रं ततः स्तोत्रमुदीरयेत् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

प्रणमेत्—नमस्कार करना चाहिए; दण्ड-वत्—दण्ड के समान; भूमौ—भूमि पर; भक्ति—भक्ति से; प्रह्वेण—विनीत; चेतसा—भाव से; दश-वारम्—दस बार; जपेत्—उच्चारण करना चाहिए; मन्त्रम्—मंत्र; ततः—तब; स्तोत्रम्—प्रार्थना; उदीरयेत्—जप करे।

भक्ति के साथ विनीत भाव से भगवान् को नमस्कार करना चाहिए। भूमि पर दण्ड के समान गिरते समय (दण्डवत करते हुए) उपर्युक्त मंत्र का दस बार उच्चारण करना चाहिए। तब उसे निम्नानुसार प्रार्थना करनी चाहिए।

युवां तु विश्वस्य विभू जगतः कारणं परम् ।
इयं हि प्रकृतिः सूक्ष्मा मायाशक्तिर्दुरत्यया ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

युवाम्—तुम दोनों; तु—निस्सन्देह; विश्वस्य—ब्रह्माण्ड के; विभू—स्वामी; जगतः—जगत के; कारणम्—कारण; परम्—सर्वश्रेष्ठ; इयम्—यह; हि—निश्चय ही; प्रकृतिः—शक्ति; सूक्ष्मा—समझने में कठिन; माया-शक्तिः—अन्तरंगा शक्ति; दुरत्यया—पार पाना कठिन है।

हे भगवान् विष्णु तथा माता लक्ष्मी! आप दोनों समस्त सृष्टि के स्वामी हैं। वास्तव में इस

सृष्टि के कारण आप ही हैं। माता लक्ष्मी को समझ पाना अत्यन्त कठिन है क्योंकि वे इतनी शक्तिशाली हैं कि उनकी शक्ति की सीमा का पार पाना कठिन है। माता लक्ष्मी को भौतिक जगत में बहिरंगा शक्ति के रूप में अंकित किया जाता है, परन्तु वास्तव में वे सदैव ईश्वर की अन्तरंगा शक्ति हैं।

तस्या अधीश्वरः साक्षात्त्वमेव पुरुषः परः ।
त्वं सर्वयज्ञ इज्येयं क्रियेयं फलभुग्भवान् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तस्याः—उसका; अधीश्वरः—स्वामी; साक्षात्—प्रत्यक्षतः; त्वम्—तुम; एव—निश्चय ही; पुरुषः—पुरुष; परः—परम; त्वम्—तुम; सर्व-यज्ञः—साक्षात् यज्ञ; इज्या—पूजा; इयम्—यह (लक्ष्मी); क्रिया—कार्यकलाप; इयम्—यह; फल-भुक्—फलों के भोक्ता; भवान्—आप।

हे ईश्वर, आप शक्ति के स्वामी हैं, अतः आप परम पुरुष हैं। आप साक्षात् यज्ञ हैं। आत्मक्रिया की प्रतिरूप लक्ष्मी आपको अर्पित उपासना की आदि रूपा हैं, जबकि आप समस्त यज्ञों के भोक्ता हैं।

गुणव्यक्तिरियं देवी व्यञ्जको गुणभुग्भवान् ।
त्वं हि सर्वशरीर्यात्मा श्रीः शरीरेन्द्रियाशयाः ।
नामरूपे भगवती प्रत्ययस्त्वमपाश्रयः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

गुण-व्यक्तिः—गुणों का आगार; इयम्—यह; देवी—देवी; व्यञ्जकः—प्रकाशक, प्रकट करने वाले; गुण-भुक्—गुणों के भोक्ता; भवान्—आप; त्वम्—तुम; हि—निस्सन्देह; सर्व-शरीरी आत्मा—समस्त जीवात्माओं की परम आत्मा; श्रीः—ऐश्वर्य की देवी; शरीर—शरीर, देह; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आशयाः—तथा मन; नाम—नाम; रूपे—तथा रूप; भगवती—लक्ष्मी; प्रत्ययः—प्रकाशक; त्वम्—तुम; अपाश्रयः—आधार।

यहाँ पर उपस्थित माता लक्ष्मी समस्त गुणों की आगार हैं जबकि आप इन गुणों के प्रकाशक तथा भोक्ता हैं। दरअसल, आपही प्रत्येक वस्तु के भोक्ता हैं। आप समस्त जीवात्माओं के परमात्मा के रूप में रहते हैं और लक्ष्मी देवी उनके शरीर, इन्द्रिय तथा मन का रूप हैं। उनके भी पवित्र नाम तथा रूप हैं और आप समस्त नामों तथा रूपों के आधार हैं। आप उनके प्रकाशन का कारण हैं।

तात्पर्य : तत्त्ववादियों के आचार्य, मध्वाचार्य ने इस श्लोक का वर्णन इस प्रकार किया हैं, ''विष्णु को साक्षात् यज्ञ के रूप में और माता लक्ष्मी को आध्यात्मिक कार्य तथा उपासना के आद्य रूप में वर्णित किया जाता है। निस्सन्देह, वे आध्यात्मिक कार्य तथा समस्त यज्ञों के परम-आत्मा रूप को बताने वाले हैं। भगवान् विष्णु लक्ष्मी देवी के भी परमात्मा रूप हैं किन्तु भगवान् विष्णु का परमात्मा नहीं हो सकता क्योंकि विष्णु भगवान् स्वयं ही सब जीवों के दिव्य परमात्मा हैं।''

मध्वाचार्य के अनुसार दो प्रकार के कारक या तत्त्व हैं—एक स्वतंत्र और दूसरा आश्रित। पहला तत्त्व परमेश्वर विष्णु है और तत्त्व दूसरा जीव है। लक्ष्मी देवी की गणना कभी-कभी जीवों में की जाती है क्योंकि वे भगवान् विष्णु पर आश्रित हैं। किन्तु गौड़ीय वैष्णव लक्ष्मी देवी को निम्न रूप से वर्णित करते हैं, जो बलदेव विद्याभूषणकृत *प्रमेयरत्नावली* के दो श्लोकों में दिया हुआ है। इनमें से पहला श्लोक *विष्णुपुराण* से उद्धृत है

नित्यैव सा जगन्माता विष्णोः श्रीरपायिनी।

यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम॥

विष्णो स्युः शक्तयस्तिस्त्रस्तासु या कीर्तिता परा।

सैव श्रीस्तदभिन्नेति प्राह शिष्यान् प्रभुर्महान्॥

''हे ब्राह्मण श्रेष्ठ! लक्ष्मी जी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु की चिरसंगिनी हैं इसलिए उन्हें अनपायिनी कहा जाता है। वे समस्त सृष्टि की माता हैं। जिस प्रकार भगवान् विष्णु सर्वव्यापी हैं उसी प्रकार उनकी आत्मपराशक्ति माता लक्ष्मी जी भी सर्वव्यापी हैं। भगवान् विष्णु की तीन प्रमुख शक्तियाँ हैं—अन्तरंगा, बहिरंगा तथा तटस्था। श्री चैतन्य महाप्रभु ने पराशक्ति को भगवान् से अभिन्न माना है। इस प्रकार (लक्ष्मी) भी स्वतंत्र विष्णु तत्त्व में सम्मिलित हैं।''

प्रमेयरत्नावली की कान्तिमाला टीका में यह कथन है—*ननु क्वचित् नित्य-मुक्त-जीवात्वं लक्ष्म्याः स्वीकृतं, तत्राह—प्राहेति। नित्यैवेति पद्ये सर्व-व्याप्ति-कथनेन कला-काष्ठेत्यादि-पद्य-द्वये, शुद्धोऽपीत्युक्त च महाप्रभुना स्वशिष्यान् प्रतिक्ष्मा भगवदद्वैतम् उपदिष्टम्। क्वचित् यत् तस्यास्तु द्वैतम्*

उक्तं, तत् तु तदाविष्ट-नित्य-मुक्त-जीवम् आदाय संगतमस्तु। यद्यपि कुछ अधिकारिक वैष्णवशिष्य-परम्पराएँ लक्ष्मी देवी को वैकुण्ठ की शाश्वत मुक्तात्माओं (जीवों) में परिगणित करती हैं, किन्तु श्री चैतन्य महाप्रभु ने विष्ण पुराण के कथननुसार लक्ष्मी को विष्णुतत्त्व से अभिन्न माना है। इसका सही निष्कर्ष यह है कि विष्णु से भिन्न होने का लक्ष्मी का वर्णन तब किया जाता है जब शाश्वत मुक्त जीवात्मा में लक्ष्मी के गुण पाये जाते हैं, उस वर्णन का अभिप्राय भगवान् विष्णु की प्रेयसी लक्ष्मी से कदापि नहीं है।''

यथा युवां त्रिलोकस्य वरदौ परमेष्ठिनौ ।
तथा म उत्तमश्लोक सन्तु सत्या महाशिषः ॥ १४॥

शब्दार्थ

यथा—चूँकि; युवाम्—तुम दोनों; त्रि-लोकस्य—तीनों लोकों में; वर-दौ—वर देने वाले, वरदानी; परमे-ष्ठिनौ—परम शासक; तथा—अतः; मे—मेरा; उत्तम-श्लोक—उत्तम श्लोकों से वन्दित, हे भगवान्; सन्तु—हों; सत्याः—पूर्ण; महा-आशिषः—बड़ी बड़ी अभिलाषाएँ।

आप दोनों ही तीनों लोकों के परम अधिष्ठाता एवं वरदाता हैं, अतः हे उत्तमश्लोक भगवान्! आपके अनुग्रह से मेरी अभिलाषाएँ पूर्ण हों।

इत्यभिष्टूय वरदं श्रीनिवासं श्रिया सह ।
तन्निःसार्योपहरणं दत्त्वाचमनमर्चयेत् ॥ १५॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अभिष्टूय—स्तुति करके; वर-दम्—वर देने वाले को; श्री-निवासम्—ऐश्वर्य की देवी के धाम, भगवान् विष्णु को; श्रिया सह—लक्ष्मी सहित; तत्—तब; निःसार्य—हटाकर; उपहरणम्—पूजा की सामग्री; दत्त्वा—अर्पित करके; आचमनम्—हाथ तथा मुँह धोने का जल; अर्चयेत्—पूजा करे।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—इस प्रकार श्रीनिवास भगवान् विष्णु की पूजा ऐश्वर्य की देवी माता लक्ष्मी जी के साथ साथ उपर्युक्त विधि से स्तुतियों द्वारा की जाये। फिर पूजा की सारी सामग्री हटाकर उनका हाथ-मुंह धुलाने के लिये जल अर्पित करे और फिर से उनकी पूजा करे।

ततः स्तुवीत स्तोत्रेण भक्तिप्रह्वेण चेतसा ।
यज्ञोच्छिष्टमवघ्राय पुनरभ्यर्चयेद्धरिम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; स्तुवीत—स्तुति करे; स्तोत्रेण—प्रार्थना से; भक्ति—भक्ति से; प्रह्वेण—विनम्र; चेतसा—मन से; यज्ञ-उच्छिष्टम्—यज्ञावशेष; अवघ्राय—सूँघकर; पुनः—फिर; अभ्यर्चयेत्—पूजा करे; हरिम्—भगवान् विष्णु की।

तत्पश्चात् अत्यन्त भक्ति एवं विनीत भाव से मनुष्य भगवान् तथा लक्ष्मी की स्तुति करे। तब यज्ञावशेष को सूँघकर विष्णु तथा लक्ष्मी की पुनः पूजा करे।

पतिं च परया भक्त्या महापुरुषचेतसा ।
प्रियैस्तैस्तैरुपनमेत्प्रेमशीलः स्वयं पतिः ।
बिभृयात्सर्वकर्माणि पत्न्या उच्चावचानि च ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

पतिम्—पति; च—तथा; परया—परम; भक्त्या—भक्ति से; महा-पुरुष-चेतसा—परम पुरुष मानकर; प्रियैः—प्रिय; तैः तैः—उन उन (भेंटों) से; उपनमेत्—उपासना करे; प्रेम-शीलः—प्रेमपूर्वक; स्वयम्—स्वयं; पतिः—पति; बिभृयात्—सम्पन्न करे; सर्व-कर्माणि—सारे कार्य; पत्न्याः—पत्नी के; उच्च-अवचानि—उच्च तथा निम्न, छोटे बड़े; च—तथा।

पत्नी अपने पति को परमेश्वर का प्रतिनिधि मानकर और उसे प्रसाद देकर विशुद्ध भक्ति से उसकी पूजा करे। पति भी अपनी पत्नी से परम प्रमुदित होकर अपने परिवार के कार्यों में लग जाए।

तात्पर्य : उपर्युक्त विधि से पति तथा पत्नी के पारिवारिक सम्बन्ध आध्यात्मिक रूप में स्थापित होने चाहिए।

कृतमेकतरेणापि दम्पत्योरुभयोरपि ।
पत्न्यां कुर्यादनर्हायां पतिरेतत्समाहितः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

कृतम्—किया गया; एकतरेण—एक के द्वारा; अपि—भी; दम्-पत्योः—पति तथा पत्नी का; उभयोः—दोनों; अपि—तो भी; पत्न्याम्—जब पत्नी; कुर्यात्—उसे करना चाहिए, वह करे; अनर्हायाम्—अक्षम; पतिः—पति; एतत्—यह; समाहितः—मनोयोग से।

पति-पत्नी दोनों में से कोई एक इस भक्ति को निष्पादित कर सकता है। उनके मधुर सम्बन्धों के कारण दोनों को फल मिलता है। अतः यदि पत्नी इस व्रत को करने में असमर्थ

हो तो पति सावधानी से इसे करे। इससे उसकी आज्ञाकारिणी पत्नी को भी उसका फल मिलेगा।

तात्पर्य : जब पत्नी आज्ञाकारिणी और पति एकनिष्ठ होता है, तो उनके बीच मधुर सम्बन्ध दृढ़ता से स्थापित हो जाते हैं। तब, यदि पत्नी दुर्बल होने के कारण पति के साथ भक्ति नहीं भी कर सकती, तो भी उसके पति के कार्यों में उसका आधा हिस्सा रहता है यदि वह पतिव्रता और पवित्र हो।

विष्णोर्व्रतमिदं बिभ्रन्न विहन्यात्कथञ्चन ।
विप्रान्स्त्रियो वीरवतीः स्रग्गन्धबलिमण्डनैः ।
अर्चेदहरहर्भक्त्या देवं नियममास्थिता ॥ १९ ॥
उद्वास्य देवं स्वे धाम्नि तन्निवेदितमग्रतः ।
अद्यादात्मविशुद्ध्यर्थं सर्वकामसमृद्धये ॥ २० ॥

शब्दार्थ

विष्णोः—विष्णु का; व्रतम्—व्रत; इदम्—यह; बिभ्रत्—करते हुए; न—नहीं; विहन्यात्—भंग करे; कथञ्चन—किसी कारण से; विप्रान्—ब्राह्मण; स्त्रियः—स्त्रियाँ; वीर-वतीः—पतियों तथा पुत्रों से युक्त; स्रक्—मालाओं; गन्ध—चंदन; बलि—भोजन की भेंट; मण्डनैः—तथा आभूषणों से; अर्चेत्—पूजा करे; अहः-अहः—नित्यप्रति; भक्त्या—भक्ति से; देवम्—भगवान् विष्णु; नियमम्—विधि-विधान; आस्थिता—पालन करते हुए; उद्वास्य—रखकर; देवम्—भगवान् को; स्वे—उनके अपने; धाम्नि—घर में; तत्—उसको; निवेदितम्—अर्पित; अग्रतः—दूसरों को बाँट कर; अद्यात्—खाए; आत्म-विशुद्धि-अर्थम्—आत्मशुद्धि के लिए; सर्व-काम—समस्त अभिलाषाएँ; समृद्धये—पूर्ण करने के लिए।

मनुष्य को चाहिए कि इस भक्तिपूर्ण विष्णु-व्रत को माने और किसी अन्य कार्य में व्यस्त होने के लिए इसके पालन से विचलित न हो। उसे चाहिए कि नित्यप्रति ब्राह्मणों तथा उन सौभाग्यवती स्त्रियों अर्थात् अपने पतियों के साथ शान्तिपूर्वक रहने वाली स्त्रियों को बचा हुआ प्रसाद, पुष्प माला, चन्दन तथा आभूषण अर्पित करके उनकी पूजा करे। पत्नी को चाहिए कि अत्यन्त भक्तिपूर्वक विधि-विधानों के अनुसार भगवान् विष्णु की पूजा करे। तत्पश्चात् भगवान् विष्णु को शयन कराए और इसके बाद प्रसाद ग्रहण करे। इस प्रकार पति तथा पत्नी परिशुद्ध हो जाएंगे और उनकी समस्त कामनाएँ पूरी होंगी।

एतेन पूजाविधिना मासान्द्वादश हायनम् ।
नीत्वाथोपरमेत्साध्वी कार्तिके चरमेऽहनि ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

एतेन—इससे; पूजा-विधिना—पूजा की विधि से; मासान् द्वादश—बारह मास; हायनम्—एक वर्ष; नीत्वा—बिताकर; अथ—फिर; उपरमेत्—उपवास करे; साध्वी—एकनिष्ठ पत्नी; कार्तिके—कार्तिक मास में; चरमे अहनि—अन्तिम दिन।

साध्वी स्त्री को चाहिए कि एक वर्ष के लिए इस भक्तिमय सेवा को निरन्तर करे। जब एक वर्ष बीत जाये तो उसे चाहिए कि कार्तिक मास (अक्टूबर-नवम्बर) की पूर्णिमा को उपवास करे।

श्वोभूतेऽप उपस्पृश्य कृष्णमभ्यर्च्य पूर्ववत् ।
पयःशृतेन जुहुयाच्चरुणा सह सर्पिषा ।
पाकयज्ञविधानेन द्वादशैवाहुतीः पतिः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

श्वः-भूते—उसके दूसरे दिन प्रातःकाल; अपः—जल; उपस्पृश्य—छू कर; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण को; अभ्यर्च्य—पूज कर; पूर्व-वत्—पहले की तरह; पयः-शृतेन—उबाले हुए दूध से; जुहुयात्—अर्पित करे; चरुणा—खीर; सह—सहित; सर्पिषा—घी; पाक-यज्ञ-विधानेन—'गृह्य सूत्रों' के आदेशानुसार; द्वादश—बारह; एव—निश्चय ही; आहुतीः—आहुतियाँ; पतिः—पति।

दूसरे दिन प्रातःकाल स्नान करके और भगवान् कृष्ण की पूर्ववत् पूजा करके गुह्य-सूत्रों के निर्देशानुसार वर्णित भोजन बनाए जैसा उत्सवों पर बनाया जाता है। घी से खीर तैयार करे और पति को चाहिए कि वह इस सामग्री से अग्नि में बारह बार आहुति दे।

आशिषः शिरसादाय द्विजैः प्रीतैः समीरिताः ।
प्रणम्य शिरसा भक्त्या भुञ्जीत तदनुज्ञया ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

आशिषः—आशीर्वाद; शिरसा—सिर से; आदाय—स्वीकार करके; द्विजैः—ब्राह्मणों के द्वारा; प्रीतैः—प्रसन्न; समीरिताः—उच्चरित; प्रणम्य—प्रणाम करके; शिरसा—शिर के बल; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; भुञ्जीत—भोजन ग्रहण करे; तत्-अनुज्ञया—उनकी अनुमति से।

तत्पश्चात् वह (पति) ब्राह्मणों को संतुष्ट करे और जब ब्राह्मण प्रसन्न होकर आशीर्वाद दें तो अपने शिर के द्वारा उन्हें सादर प्रणाम करे और उनकी अनुमति लेकर प्रसाद ग्रहण करे।

आचार्यमग्रतः कृत्वा वाग्यतः सह बन्धुभिः ।
दद्यात्पत्न्यै चरोः शेषं सुप्रजास्त्वं सुसौभगम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

आचार्यम्—आचार्य को; अग्रतः—सर्वप्रथम; कृत्वा—समुचित स्वागत करके; वाक्-यतः—वाणी को वश में करते हुए; सह—साथ; बन्धुभिः—मित्रों तथा स्वजनों के साथ; दद्यात्—प्रदान करे; पत्न्यै—पत्नी को; चरोः—खीर की आहुति का; शेषम्—शेष भाग; सु-प्रजास्त्वम्—जिससे अच्छी सन्तान निश्चित हो; सु-सौभगम्—जिससे सौभाग्य प्राप्त हो।

पति को चाहिए कि भोजन करने के पूर्व सर्वप्रथम आचार्य को सुखद आसन दे और अपने मित्रों तथा स्वजनों के साथ, वाणी को वश में रखते हुए गुरु को प्रसाद भेंट करे। तब पत्नी को चाहिए कि घी में पकाई गई खीर की आहुति से बचे भाग को खाए। इस अवशेष को खाने से विद्वान तथा भक्त पुत्र की और समस्त सौभाग्य की प्राप्ति निश्चित हो जाती है।

एतच्चरित्वा विधिवद्व्रतं विभो-
रभीप्सितार्थं लभते पुमानिह ।
स्त्री चैतदास्थाय लभेत सौभगं
श्रियं प्रजां जीवपतिं यशो गृहम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; चरित्वा—करके; विधि-वत्—शास्त्रानुमोदित विधि से; व्रतम्—व्रत; विभोः—भगवान् से; अभीप्सित—वांछित; अर्थम्—वस्तु; लभते—प्राप्त करता है; पुमान्—पुरुष; इह—इस जीवन में; स्त्री—स्त्री; च—तथा; एतत्—यह; आस्थाय—करके; लभेत—प्राप्त कर सकती है; सौभगम्—सौभाग्य; श्रियम्—ऐश्वर्य; प्रजाम्—संतति; जीव-पतिम्—दीर्घजीवी पति; यशः—ख्याति; गृहम्—घर।

यदि इस व्रत या अनुष्ठान को शास्त्र सम्मत विधि के अनुसार किया जाये तो इसी जीवन में मनुष्य को ईश्वर से मनवांछित आशीष (वर) प्राप्त हो सकते हैं। जो पत्नी इस अनुष्ठान को करती है उसे अवश्य ही सौभाग्य, ऐश्वर्य, पुत्र, दीर्घजीवी पति, ख्याति तथा अच्छा घरबार प्राप्त होता है।

तात्पर्य : आज भी बंगाल में यदि कोई स्त्री दीर्घकाल तक अपने पति के साथ-साथ जीवित रहती है, तो उसे अत्यन्त भाग्यशाली माना जाता है। एक स्त्री सामान्यतः अच्छा पति, अच्छी संतान, अच्छा घर, धन, ऐश्वर्य इत्यादि की कामना करती है। इस श्लोक में की गई संस्तुति के अनुसार स्त्री तथा पुरुष दोनों को ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से मनवांछित वर प्राप्त होंगे। इस

विशेष प्रकार का व्रत रखकर कृष्णभक्ति से पुरुष तथा स्त्री दोनों इस संसार में सुखी रहेंगे और कृष्ण भावनाभावित होने के कारण वैकुण्ठ जगत में भेजे जाएँगे।

कन्या च विन्देत समग्रलक्षणं
पतिं त्ववीरा हतकिल्बिषां गतिम् ।
मृतप्रजा जीवसुता धनेश्वरी
सुदुर्भगा सुभगा रूपमछ्यम् ॥ २६ ॥
विन्देद्विरूपा विरुजा विमुच्यते
य आमयावीन्द्रियकल्यदेहम् ।
एतत्पठन्नभ्युदये च कर्म-
ण्यनन्ततृप्तिः पितृदेवतानाम् ॥ २७॥
तुष्टाः प्रयच्छन्ति समस्तकामान्
होमावसाने हुतभुक्श्रीहरिश्च ।
राजन्महन्मरुतां जन्म पुण्यं
दितेर्व्रतं चाभिहितं महत्ते ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

कन्या—अविवाहित लड़की; च—तथा; विन्देत—प्राप्त कर सकती है; समग्रलक्षणम्—समस्त अच्छे गुणों वाला; पतिम्—पति को; तु—और; अवीरा—पति या पुत्र रहित स्त्री; हत-किल्बिषाम्—दोषरहित; गतिम्—गन्तव्य; मृत-प्रजा—स्त्री जिसके पुत्र मर चुके हैं; जीव-सुता—दीर्घजीवी पुत्रों वाली; धन-ईश्वरी—धनवान; सु-दुर्भगा—अभागी; सु-भगा—भाग्यवान्; रूपम्—सुन्दरता; अछ्यम्—श्रेष्ठ; विन्देत्—प्राप्त कर सकती है; विरूपा—कुरुप स्त्री; विरुजा—रोग से; विमुच्यते—मुक्त हो जाती है; यः—जो; आमया-वी—रुग्ण पुरुष; इन्द्रिय-कल्य-देहम्—हृष्ट पुष्ट देह; एतत्—यह; पठन्—सुनाना; अभ्युदये च कर्मणि—तथा यज्ञ में जिसमें पितरों तथा देवों को आहुति दी जाती है; अनन्त—अपार; तृप्तिः—तुष्टि; पितृ-देवतानाम्—पितरों तथा देवताओं के; तुष्टाः—प्रसन्न होकर; प्रयच्छन्ति—प्रदान करते हैं; समस्त—सभी; कामान्—इच्छाएँ; होम-अवसाने—इस अनुष्ठान के पूर्ण हो जाने पर; हुत-भुक्—यज्ञ का भोक्ता; श्री-हरिः—भगवान् विष्णु; च—तथा; राजन्—हे राजा; महत्—महान्; मरुताम्—मरुतों का; जन्म—जन्म; पुण्यम्—पवित्र; दितेः—दिति का; व्रतम्—व्रत; च—भी; अभिहितम्—कहा गया; महत्—महान्; ते—तुमसे।

यदि अविवाहित कन्या इस व्रत को रखती है, तो उसे सुन्दर पति मिल सकता है। यदि अवीरा स्त्री (जिसका कोई पति या पुत्र नहीं है) इस अनुष्ठान को करती है, तो उसे वैकुण्ठ जगत को भेजा जा सकता है। जिस स्त्री की संतानें जन्म लेने के बाद मर चुकी हों, उसे दीर्घजीवी सन्तान के साथ ही साथ सम्पत्ति भी प्राप्त होती है। अभागी स्त्री का भाग्य खुल जाता है और कुरूपा स्त्री सुन्दर हो जाती है। इस व्रत को रखने से रोगी पुरुष को रोग से

मुक्ति मिल सकती है और कार्य करने के लिए स्वस्थ शरीर प्राप्त हो सकता है। यदि इस कथा को कोई अपने पितरों तथा देवों को आहुति देते समय विशेषतया श्राद्ध-पक्ष में सुनाता तो देवता तथा पितृलोक के वासी उससे अत्यन्त प्रसन्न होंगे और उसकी समस्त इच्छाओं को पूर्ण करते हैं। इस अनुष्ठान के करने से भगवान् विष्णु तथा माता लक्ष्मी उस पर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। हे राजा परीक्षित! मैंने पूरी तरह से बता दिया है कि दिति ने किस प्रकार इस व्रत को किया और उसे श्रेष्ठ पुत्र—मरुत्गण तथा सुखी जीवन—प्राप्त हुए। मैंने तुम्हें यथाशक्ति विस्तार से सुनाने का प्रयत्न किया है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कंन्ध के अन्तर्गत ''पुंसवन व्रत का अनुष्ठान'' नामक उन्नीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

॥ इति षष्ठ: स्कन्ध: समाप्त: ॥

Chapter एक

समदर्शी भगवान्

इस अध्याय में महाराज परीक्षित के एक प्रश्न के उत्तर में शुकदेव गोस्वामी अपना निर्णय देते हैं कि किस तरह भगवान् ने परमात्मा, सखा तथा हरेक के रक्षक होते हुए भी, स्वर्ग के राजा इन्द्र के निमित्त दैत्यों का वध किया। वे अपने कथनों में उन लोगों के तर्कों का पूरी तरह खंडन करते हैं, जो भगवान् पर पक्षपात करने का दोषारोपण करते हैं। शुकदेव गोस्वामी सिद्ध करते हैं कि चूँकि बद्धजीव का शरीर प्रकृति के तीन गुणों से संदूषित है, अतएव उसमें शत्रुता तथा मित्रता, आसक्ति तथा विरक्ति जैसे द्वैत भावों का उदय होना स्वाभाविक है। किन्तु परमेश्वर में इस प्रकार के द्वैत भाव नहीं होते। यहाँ तक कि शाश्वत काल भी भगवान् के कार्यकलापों को नियंत्रित नहीं कर सकता। शाश्वत काल भगवान् द्वारा ही सृजित है, अतएव वह उन्हीं के वशीभूत होकर कार्य करता रहता है। भगवान् सदैव प्रकृति के गुणों के प्रभाव अर्थात् अपनी उस बहिरंगा शक्ति माया के प्रभाव से परे रहते हैं, जो सृष्टि तथा प्रलय का कार्य करती है। इस तरह परमेश्वर द्वारा मारे गये सारे दैत्य या असुर तुरन्त ही *मोक्ष-लाभ* करते हैं।

परीक्षित महाराज द्वारा पूछा गया दूसरा प्रश्न शिशुपाल के विषय में है कि यद्यपि वह कृष्ण के बचपन से ही उनके प्रति शत्रु-भाव रखता था तथा कृष्ण की निन्दा किया करता था फिर भी जब कृष्ण ने उसका वध किया तो वह कृष्ण में लीन होकर मोक्ष पा गया। शुकदेव गोस्वामी बताते हैं कि भक्तों के चरणों पर अपराध करने के कारण वैकुण्ठ में भगवान् के दो द्वारपाल, जिनके नाम जय तथा विजय थे, सत-युग में हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष बने। फिर अगले युग—त्रेतायुग—में वे ही रावण तथा कुम्भकर्ण बने और द्वापर युग के अन्त में शिशुपाल तथा दन्तवक्र बने। अपने सकाम कर्मों से जय तथा विजय ने भगवान् के शत्रु बने रहना स्वीकार किया और जब उसी मनोवृत्ति में उनका वध हुआ तो उन्हें सायुज्य मोक्ष प्राप्त हुआ। इस तरह यदि कोई ईर्ष्यावश भी भगवान् का चिन्तन करता है, तो उसे मोक्ष प्राप्त होता है। तो फिर उन भक्तों के विषय में क्या कहा जाये जो प्रेम तथा श्रद्धापूर्वक भगवान् की सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं?

श्रीराजोवाच
समः प्रियः सुहृद्ब्रह्मन्भूतानां भगवान्स्वयम् ।
इन्द्रस्यार्थे कथं दैत्यानवधीद्विषमो यथा ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—महाराज परीक्षित ने कहा; समः—समान; प्रियः—प्रिय; सुहृत्—मित्र; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण (शुकदेव); भूतानाम्—समस्त जीवों के; भगवान्—परमेश्वर, विष्णु; स्वयम्—स्वयं; इन्द्रस्य—इन्द्र के; अर्थे—लाभ के लिए; कथम्—कैसे; दैत्यान्—असुरों को; अवधीत्—मारा; विषमः—पक्षपात; यथा—मानो।

राजा परीक्षित ने पूछा : हे ब्राह्मण, भगवान् विष्णु सबों के शुभचिन्तक होने के कारण हर एक को समान रूप से अत्यधिक प्रिय हैं, तो फिर उन्होंने किस तरह एक साधारण मनुष्य की भांति इन्द्र का पक्षपात किया और उसके शत्रुओं को मारा? सबों के प्रति समभाव रखने वाला व्यक्ति कुछ लोगों के तरह किसी के प्रति पक्षपात करेगा और अन्यों के प्रति शत्रु-भाव रखेगा?

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२९) में भगवान् कहते हैं—*समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः*—"मैं सबों पर समभाव रखता हूँ; न तो कोई मुझे प्रिय है, न कोई मेरा शत्रु है" किन्तु पिछले स्कन्ध में यह देखा गया है कि भगवान् ने इन्द्र के लिए असुरों का वध करके उसका पक्षपात किया (*हतपुत्रा दितिः शक्रपार्ष्णिग्राहेण विष्णुना*)। अतएव भगवान् स्पष्टतः इन्द्र के पक्षधर थे यद्यपि वे सबों के हृदय में स्थित परमात्मा हैं। जिस तरह सबों को आत्मा अत्यन्त प्रिय है उसी प्रकार सबों को परमात्मा भी प्रिय हैं। अतएव परमात्मा से कोई त्रुटि नहीं हो सकती। रूप तथा स्थिति का विचार किये बिना भगवान् सभी जीवों के प्रति सदैव दयालु रहते हैं फिर भी उन्होंने एक सामान्य मित्र की भाँति इन्द्र का पक्ष-समर्थन किया। यही परीक्षित महाराज की जिज्ञासा का विषय था। कृष्ण-भक्त के रूप में वे यह भली-भाँति जानते थे कि कृष्ण किसी का पक्षपात नहीं करते किन्तु जब उन्होंने देखा कि कृष्ण ने दैत्यों के साथ शत्रु की भाँति आचरण किया तो उन्हें कुछ सन्देह होने लगा। अतएव उन्होंने स्पष्ट उत्तर जानने के लिए शुकदेव गोस्वामी से यह प्रश्न पूछा।

भक्त यह कभी स्वीकार नहीं करेगा कि भगवान् विष्णु में भौतिक गुण होते हैं। महाराज परीक्षित भली-भाँति जानते थे कि दिव्य होने के कारण भगवान् विष्णु को भौतिक गुणों से कुछ लेना-देना नहीं है किन्तु अपने इस विचार की पुष्टि के लिए वे प्रामाणिक पुरुष शुकदेव गोस्वामी से सुनना चाहते थे। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*समस्य कथं वैषम्यम्*—चूँकि भगवान् समदर्शी हैं, अतएव वे किसी का पक्ष ग्रहण क्यों करेंगे? *प्रियस्य कथम् असुरेषु प्रीत्यभावः।* परमात्मा होने के कारण भगवान्

प्रत्येक को अत्यन्त प्रिय हैं। तो फिर भगवान् असुरों के प्रति निष्ठुरता क्यों बरतने लगें? यह पक्षपात किसलिए? *सुहृदश्च कथं तेष्वसौहार्दम्।* चूँकि भगवान् कहते हैं कि वे *सुहृदं सर्वभूतानाम्* अर्थात् समस्त जीवों के शुभचिन्तक हैं, तो फिर उन्होंने दैत्यों का वध करके पक्षपात क्यों करते हैं? ये प्रश्न परीक्षित महाराज के मन में उठे अतएव उन्होंने शुकदेव गोस्वामी से प्रश्न किया।

न ह्यस्यार्थः सुरगणैः साक्षान्निःश्रेयसात्मनः ।
नैवासुरेभ्यो विद्वेषो नोद्वेगश्चागुणस्य हि ॥ २॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निश्चय ही; अस्य—उनके; अर्थः—लाभ, हित; सुर-गणैः—देवताओं के साथ; साक्षात्—स्वयं; निःश्रेयस—सर्वोच्च वरदान का; आत्मनः—जिसका स्वभाव; न—नहीं; एव—निश्चय ही; असुरेभ्यः—असुरों के लिए; विद्वेषः—ईर्ष्या, द्वेष; न—नहीं; उद्वेगः—भय; च—तथा; अगुणस्य—भौतिक गुणों से रहित; हि—निश्चय ही।

भगवान् विष्णु साक्षात् भगवान् तथा समस्त आनन्द के आगार हैं; अतएव उन्हें देवताओं का पक्ष-ग्रहण करने से क्या लाभ मिलेगा? इस प्रकार उनका कौन सा स्वार्थ सधेगा? जब भगवान् दिव्य हैं, तो फिर उन्हें असुरों से भय कैसा? और उनसे ईर्ष्या कैसी?

तात्पर्य : हमें आध्यात्मिक तथा भौतिक के अन्तर को सदैव स्मरण रखना चाहिए। जो भौतिक है, वह भौतिक गुणों द्वारा संदूषित रहता है किन्तु जो आध्यात्मिक या दिव्य है उसे ये गुण छू तक नहीं पाते। कृष्ण चाहे भौतिक जगत में रहें या आध्यात्मिक जगत में, वे रहते हैं परम ही। जब हमें कृष्ण में पक्षपात दिखता है, तो यह दृष्टि उनकी बहिरंगा शक्ति के कारण होती है। अन्यथा उनके शत्रु उनके द्वारा वध किये जाने पर किस तरह मोक्ष प्राप्त कर सके? प्रत्येक व्यक्ति जो भगवान् से आदान-प्रदान करता है धीरे-धीरे भगवान् के गुण अर्जित कर लेता है। जो आध्यात्मिक चेतना में जितनी अधिक प्रगति कर लेता है, वह भौतिक गुणों के द्वन्द्व (द्वैत) से उतना ही कम प्रभावित होता है। अतएव परमेश्वर निश्चित रूप से इन गुणों से मुक्त होते हैं। उनकी शत्रुता तथा मित्रता भौतिक शक्ति द्वारा प्रस्तुत किये गये बाह्यगुण हैं। भगवान् तो नित्य दिव्य हैं, वे परम निरपेक्ष हैं, चाहे वे मारें या वर दें।

ईर्ष्या तथा मैत्री-भाव का उदय उसी में होता है, जो अपूर्ण है। हम अपने शत्रुओं से भयभीत रहते हैं क्योंकि इस भौतिक जगत में हमें सदैव सहायता की आवश्यकता बनी रहती है। किन्तु भगवान् को किसी की भी सहायता नहीं चाहिए, क्योंकि वे आत्माराम हैं। *भगवद्गीता* (९.२६) में भगवान् कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

"यदि कोई भक्त मुझे भक्तिपूर्वक एक पत्ता, एक फूल, फल या जल प्रदान करता है, तो उसे मैं स्वीकार करता हूँ।" भगवान् ऐसा क्यों कहते हैं? क्या वे भक्त की भेंट पर आश्रित हैं? वास्तव में वे आश्रित नहीं हैं किन्तु वे अपने भक्त पर आश्रित रहना पसन्द करते हैं। यह उनकी कृपा है। इसी प्रकार वे असुरों से डरते नहीं। अतएव भगवान् द्वारा पक्षपात करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

इति नः सुमहाभाग नारायणगुणान्प्रति ।
संशयः सुमहाञ्जातस्तद्भवांश्छेत्तुमर्हति ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; नः—हमारा; सु-महा-भाग—हे भाग्यवान्; नारायण-गुणान्—नारायण के गुणों के; प्रति—प्रति; संशयः—सन्देह; सु-महान्—अत्यन्त महान्; जातः—उत्पन्न; तत्—वह; भवान्—आप; छेत्तुम् अर्हति—कृपया दूर कर दें।

हे सौभाग्यशाली तथा विद्वान ब्राह्मण, यह अत्यन्त सन्देहास्पद विषय बन गया है कि नारायण पक्षपातपूर्ण हैं या निष्पक्ष हैं? कृपया निश्चित साक्ष्य द्वारा मेरे इस सन्देह को दूर करें कि नारायण सर्वदा उदासीन तथा सबों के प्रति सम हैं।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् नारायण परम हैं, अतएव उनके दिव्य गुणों का वर्णन एक-सा है। इस तरह उनके द्वारा दिये गये दण्ड तथा वरदान दोनों का एक-सा महत्त्व है। मूलतः उनके शत्रुतापूर्ण कार्य उनके तथाकथित शत्रुओं के प्रति शत्रुता के प्रदर्शन नहीं होते, किन्तु भौतिक जगत में लोग सोचते हैं कि कृष्ण भक्तों के प्रति अनुकूल हैं और अभक्तों के प्रतिकूल हैं। जब *भगवद्गीता* में कृष्ण अन्तिम रूप से *सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज* का उपदेश देते हैं, तो यह केवल अर्जुन के लिए ही नहीं है अपितु इस ब्रह्माण्ड के प्रत्येक जीव के लिए है।

श्रीऋषिरुवाच
साधु पृष्टं महाराज हरेश्चरितमद्भुतम् ।
यद्भागवतमाहात्म्यं भगवद्भक्तिवर्धनम् ॥ ४॥
गीयते परमं पुण्यमृषिभिर्नारदादिभिः ।
नत्वा कृष्णाय मुनये कथयिष्ये हरेः कथाम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

श्री-ऋषिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; साधु—सर्वश्रेष्ठ; पृष्टम्—प्रश्न; महा-राज—हे महान् राजा; हरेः—परमेश्वर, हरि के; चरितम्—कार्यकलाप; अद्भुतम्—अद्‌भुत; यत्—जिससे; भागवत—भगवान् के भक्त (प्रह्लाद) का; माहात्म्यम्—यश; भगवत्-भक्ति—भगवान् की भक्ति को; वर्धनम्—बढ़ाने वाली; गीयते—गाई जाती है; परमम्—अग्रणी; पुण्यम्—पवित्र; ऋषिभिः—ऋषियों के द्वारा; नारद-आदिभिः—नारद आदि द्वारा; नत्वा—नमस्कार करके; कृष्णाय—कृष्णद्वैपायन व्यास को; मुनये—मुनि; कथयिष्ये—मैं कह सुनाऊँगा; हरेः—हरि की; कथाम्—कथाएँ।

महामुनि शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा, आपने मुझसे अतीव श्रेष्ठ प्रश्न किया है। भगवान् के कार्यकलापों से सम्बन्धित कथाएँ, जिनमें उनके भक्तों के भी यशों का वर्णन रहता है, भक्तों को अत्यन्त भाने वाली हैं। ऐसी अद्‌भुत कथाएँ सदैव भौतिकतावादी जीवनशैली के कष्टों का निवारण करने वाली होती हैं। अतएव नारद-जैसे मुनि *श्रीमद्‌भागवत* के विषय में सदैव उपदेश देते रहते हैं, क्योंकि इससे मनुष्य को भगवान् के अद्‌भुत कार्यकलापों के श्रवण तथा कीर्तन की सुविधा प्राप्त होती है। अब मैं श्रील व्यासदेव को सादर प्रणाम करके भगवान् हरि के कार्यकलापों से सम्बन्धित कथाओं का वर्णन प्रारम्भ करता हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक में शुकदेव गोस्वामी सादर नमस्कार करते हैं *कृष्णाय मुनये* को जिसका अर्थ है कि वे कृष्ण द्वैपायन व्यास को नमस्कार करते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह सर्वप्रथम अपने गुरु को सादर नमस्कार करे। शुकदेव गोस्वामी के गुरु उनके पिता व्यासदेव हैं, अतएव वे सर्वप्रथम कृष्ण द्वैपायन व्यास को सादर नमस्कार करते हैं; तब वे भगवान् हरि की कथा का वर्णन करना प्रारम्भ करते हैं।

जब भी हमें भगवान् के दिव्य कार्यकलापों को सुनने का अवसर प्राप्त हो तो हमें चाहिए कि उसका लाभ उठाएँ। श्री चैतन्य महाप्रभु ने *कीर्तनीयः सदा हरिः* की संस्तुति की अर्थात् मनुष्य को सदैव भगवान् कृष्ण के विषय में कीर्तन करके, उनके विषय में बातें करके तथा उनके विषय में सुन करके कृष्ण कथा में लगे रहना चाहिए। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति का एकमात्र धर्म यही है।

निर्गुणोऽपि ह्यजोऽव्यक्तो भगवान्प्रकृतेः परः ।
स्वमायागुणमाविश्य बाध्यबाधकतां गतः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

निर्गुणः—भौतिक गुणों से रहित; अपि—यद्यपि; हि—निश्चय ही; अजः—अजन्मा; अव्यक्तः—अप्रकट; भगवान्—परमेश्वर; प्रकृतेः—भौतिक प्रकृति से; परः—दिव्य; स्व-माया—अपनी शक्ति के; गुणम्—भौतिक गुण में; आविश्य—प्रवेश करके; बाध्य—बाध्य; बाधकताम्—बाध्य होने की स्थिति; गतः—स्वीकार करता है।

भगवान् विष्णु सदा भौतिक गुणों से परे रहने वाले हैं अतएव वे निर्गुण कहलाते हैं। अजन्मा

होने के कारण उनका शरीर राग तथा द्वेष से प्रभावित नहीं होता। यद्यपि भगवान् सदैव भौतिक जगत से ऊपर हैं, किन्तु अपनी आध्यात्मिक (परा) शक्ति से वे प्रकट हुए और बद्धजीव की भाँति कर्तव्यों तथा दायित्वों (बाध्यताओं) को ऊपर से स्वीकार करके उन्होंने सामान्य मनुष्य की भाँति कार्य किया।

तात्पर्य : तथाकथित आसक्ति, विरक्ति तथा दायित्व (बाध्यताएँ) भौतिक प्रकृति से सम्बन्धित हैं, जो भगवान् से उद्भूत है, किन्तु जब भगवान् इस भौतिक जगत में अवतरित होकर कर्म करते हैं, तो वे अपने आध्यात्मिक पद पर स्थित होकर ऐसा करते हैं। यद्यपि भौतिक दृष्टि से उनके कार्यकलाप भिन्न प्रतीत होते हैं, किन्तु वे परम तथा अभिन्न होते हैं। अतएव यह कहना कि वे किसी से ईर्ष्या करते हैं या मित्रता बरतते हैं परमेश्वर पर दोषारोपण करना है।

भगवद्गीता (९.११) में भगवान् स्पष्ट कहते हैं—*अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्*—जब मैं मनुष्य रूप में अवतरित होता हूँ तो मूर्ख लोग मेरा उपहास करते हैं। इस धरा पर या इस ब्रह्माण्ड के भीतर कृष्ण अपने आध्यात्मिक शरीर या आध्यात्मिक गुणों में किसी परिवर्तन के बिना प्रकट होते हैं। नि:सन्देह, वे कभी भी भौतिक गुणों से प्रभावित नहीं होते। वे ऐसे गुणों से सदा मुक्त रहते हैं, किन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि वे भौतिक गुणों से प्रभावित हैं। यह समझ आरोपित है। अतएव कृष्ण कहते हैं *जन्म कर्म च मे दिव्यम्*—वे जो भी करते हैं सदैव दिव्य होने के कारण उसे भौतिक गुणों से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता। *एवं यो वेत्ति तत्त्वत:*—वे जिस तरह के कर्म करते हैं उसे केवल भक्तगण ही समझ सकते हैं। तथ्य तो यह है कि कृष्ण किसी का पक्षपात नहीं करते। वे सबों के लिए समभाव रखते हैं, लेकिन भौतिक गुणों से प्रभावित अपूर्ण दृष्टि के कारण लोग कृष्ण पर भौतिक गुणों का आरोप करते हैं और जब कोई ऐसा करता है, तो वह मूढ या मूर्ख बन जाता है। जब कोई ठीक से सत्य को समझ लेता है, तो वह भक्त तथा भौतिक गुणों से मुक्त अर्थात् *निर्गुण* बन जाता है। मात्र कृष्ण के कार्यकलापों को समझ कर कोई दिव्य बन सकता है और ज्योंही वह दिव्य बन जाता है, तो वह दिव्य जगत में जाने के योग्य बन जाता है। *त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन*—जो भगवान् के कार्यकलापों को ठीक से समझता है, वह शरीर त्यागने के बाद दिव्य जगत (वैकुण्ठ) को चला जाता है।

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः ।
न तेषां युगपद्राजन्ह्रास उल्लास एव वा ॥ ७॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतोगुण; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; इति—इस प्रकार; प्रकृतेः—भौतिक प्रकृति के; न—नहीं; आत्मनः—आत्मा के; गुणाः—गुण; न—नहीं; तेषाम्—उनके; युगपत्—एकसाथ; राजन्—हे राजा; ह्रासः—कमी; उल्लासः—प्रधानता; एव—निश्चय ही; वा—अथवा।

हे राजा परीक्षित, सत्व, रज, तम—ये तीनों भौतिक गुण भौतिक जगत से सम्बद्ध हैं, अतः ये भगवान् को छू तक नहीं पाते। ये तीनों गुण एकसाथ बढ़ या घट कर कार्य नहीं कर सकते।

तात्पर्य : भगवान् की मूल स्थिति समभाव (समानता) की है। वे सतो, रजो वा तमोगुण से तनिक भी प्रभावित नहीं होते क्योंकि ये भौतिक गुण उनका स्पर्श तक नहीं कर पाते। अतएव भगवान् को परम ईश्वर कहा जाता है। *ईश्वरः परमः कृष्णः*—वे परम नियन्ता हैं। वे भौतिक गुणों का नियंत्रण करते हैं (*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया*)। *मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते*—प्रकृति अर्थात् भगवान् के आदेश पर कार्य करती है। तो फिर वे प्रकृति के गुणों के अधीन कैसे हो सकते हैं ? वे प्राकृतिक गुणों से प्रभावित कैसे हो सकते है ? अतएव भगवान् द्वारा पक्षपात किये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

जयकाले तु सत्त्वस्य देवर्षीन्रजसोऽसुरान् ।
तमसो यक्षरक्षांसि तत्कालानुगुणोऽभजत् ॥ ८॥

शब्दार्थ

जय-काले—प्रसिद्धि के समय में; तु—निस्सन्देह; सत्त्वस्य—सतोगुण का; देव—देवताओं; ऋषीन्—तथा ऋषियों को; रजसः—रजोगुण का; असुरान्—असुरों को; तमसः—तमोगुण का; यक्ष-रक्षांसि—यक्षों तथा राक्षसों को; तत्-काल-अनुगुणः—विशेष अवसर के अनुकूल; अभजत्—अपनाया।

जब सतोगुण प्रधान होता है, तो ऋषि तथा देवता उस गुण के बल पर समुन्नति करते हैं जिससे वे परमेश्वर द्वारा प्रोत्साहित एवं प्रेरित किये जाते हैं। इसी प्रकार जब रजोगुण प्रधान होता है, तो असुरगण फूलते-फलते हैं और जब तमोगुण प्रधान होता है, तो यक्ष तथा राक्षस समृद्धि पाते हैं। भगवान् प्रत्येक के हृदय में स्थित रह कर सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण के फलों को पुष्ट करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् किसी का पक्ष नहीं लेते। बद्धजीव प्रकृति के विभिन्न गुणों के वशीभूत रहता है और प्रकृति के पीछे भगवान् का हाथ रहता है, किन्तु किसी की विजय तथा हानि सतोगुण, रजोगुण

तथा तमोगुण के फल हैं। भगवान् के पक्षपात के नहीं बरतते। श्रील जीवगोस्वामी *भागवत-सन्दर्भ* में स्पष्ट करते हैं :

सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः।

स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु॥

ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित् त्वय्येका सर्वसंस्थितौ।

ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥

भागवत सन्दर्भ के इस कथन के अनुसार भगवान् सदैव भौतिक गुणों से परे रहते हैं और इन गुणों से कभी प्रभावित नहीं होते। यही गुण जीव में भी पाया जाता है, लेकिन चूँकि वह प्रकृति द्वारा बद्ध है, अतएव भगवान् की ह्लादिनी शक्ति भी बद्धजीव के लिए कष्टकारक होती है। भौतिक जगत में बद्धजीव द्वारा भोगे गये सुख के साथ-साथ अनेक कष्ट आते हैं। उदाहरणार्थ, हमने दो महायुद्ध देखे हैं, जो रजोगुण तथा तमोगुण के द्वारा संचालित थे और इसमें दोनों ही पक्ष वास्तव में विनष्ट हो गए। जर्मनी ने अंग्रजों के विरुद्ध युद्ध छेड़ा था जिससे वे विनष्ट हो जाँए, किन्तु परिणाम यह हुआ कि दोनों ही पक्ष विनष्ट हो गये। भले ही कागज पर सही, मित्र राष्ट्र विजयी तो हुए किन्तु वस्तुतः उनमें से कोई विजयी नहीं हुआ। अतः हमें यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि भगवान् किसी का पक्षपात नहीं करते। हर व्यक्ति प्रकृति के विविध गुणों के प्रभाव के अन्तर्गत कर्म करता है और जब विविध गुण प्रधान हो जाते हैं, तो देवता या असुर विविध गुणों के प्रभाव से विजयी प्रतीत होते हैं।

हर व्यक्ति अपने-अपने सगुण कर्मों का फल भोगता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.११-१३) में भी हुई है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।

ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।

रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।

तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥

“सतोगुण के प्राकाट्यों का अनुभव तब होता है जब शरीर के सभी द्वार ज्ञान द्वारा आलोकित हो जाते है।”

हे भारतश्रेष्ठ! जब रजोगुण में वृद्धि होती है, तो अत्यधिक आसक्ति, अदम्य इच्छा, लालसा तथा अतीव उद्योग के लक्षण उत्पन्न होते हैं।”

हे कुरुनन्दन! जब तमोगुण में वृद्धि होती है, तो अज्ञान उन्मत्तता, मोह, जड़ता तथा अंधकार प्रकट होते हैं।”

प्रत्येक हृदय में वास करने वाले भगवान् विभिन्न गुणों की वृद्धि से होने वाले फलों को ही देते हैं; वे निष्पक्ष हैं। वे लाभ तथा हानि का निरीक्षण करते हैं, किन्तु उसमें हाथ नहीं लगाते।

प्रकृति के गुण एकसाथ कार्यशील नहीं होते। इन गुणों की अन्योन्य क्रियाएँ ॠतु-परिवर्तनों की भाँति हैं। कभी रजोगुण में वृद्धि होती है, तो कभी तमोगुण में और कभी-कभी सतोगुण में। सामान्य रूप से देवताओं में सत्त्वगुण पाया जाता है, अतएव जब असुर तथा देवता युद्ध करते हैं, तो देवताओं की विजय होती है, क्योंकि उनमें सत्त्वगुण का प्राधान्य रहता है। किन्तु यह भगवान् का पक्षपात नहीं है।

ज्योतिरादिरिवाभाति सङ्घातान्न विविच्यते ।
विदन्त्यात्मानमात्मस्थं मथित्वा कवयोऽन्ततः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ज्योतिः—अग्नि; आदिः—तथा अन्य तत्त्व; इव—सदृश; आभाति—प्रतीत होती हैं; सङ्घातात्—देवताओं तथा अन्यों के शरीरों से; न—नहीं; विविच्यते—पहचाने जाते हैं; विदन्ति—अनुभव करते हैं; आत्मानम्—परमात्मा को; आत्म-स्थम्—हृदय में स्थित; मथित्वा—विलग करके; कवयः—दक्ष चिन्तक; अन्ततः—भीतर।

सर्वव्यापी भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित रहते हैं और एक कुशल चिन्तक ही अनुभव कर सकता है कि वे अधिक या न्यून मात्रा में कैसे वहाँ उपस्थित हैं। जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि, जलपात्र में जल या घड़े के भीतर आकाश को समझा जा सकता है उसी प्रकार जीव की भक्तिमयी क्रियाओं को देखकर यह समझा जा सकता है कि वह जीव असुर है या देवता। विचारशील व्यक्ति किसी मनुष्य के कर्मों को देखकर यह समझ सकता है कि उस मनुष्य पर भगवान् की कितनी कृपा है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१०.४१) में भगवान् कहते हैं—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमद् ऊर्जितमेव वा।

तद् तद् एवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

''यह जान लो कि सारी सुन्दर, यशस्वी तथा बलशाली सृष्टियाँ मेरे तेज के केवल एक स्फुलिंग से उत्पन्न होती हैं।'' हमें यह व्यावहारिक अनुभव है कि एक व्यक्ति अद्‌भुत से अद्‌भुत कार्य कर लेता है, किन्तु दूसरा व्यक्ति उन्हीं कार्यों को और यहाँ तक कि ऐसे कार्यों को जिसमें थोड़े से सामान्य ज्ञान की आवश्यकता होती है नहीं कर पाता। अतएव भगवान् ने किसी भक्त का कितना पक्ष-समर्थन किया है, वह भक्त द्वारा सम्पन्न कार्यों से ही आँका जा सकता हैं। *भगवद्गीता* (१०.१०) में भगवान् यह भी कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

''जो लोग निरन्तर मेरी भक्ति करते हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं उन्हें मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।'' यह अत्यन्त व्यावहारिक है। शिक्षक द्वारा शिष्य को शिक्षा देना तभी सार्थक है जब वह उन शिक्षाओं को अधिकाधिक ग्रहण कर सके। अन्यथा शिक्षक द्वारा शिक्षा दिये जाने पर भी वह अपनी विद्या में कोई प्रगति नहीं कर पाता। इससे पक्षपात का प्रश्न ही नहीं उठता। जब कृष्ण कहते हैं—*तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तम्* तब यह सूचित होता है कि कृष्ण हर एक को भक्तियोग प्रदान करने के लिए तैयार रहते हैं लेकिन मनुष्य को उसे ग्रहण करने में समर्थ होना चाहिए। यही रहस्य है। इस प्रकार जब कोई व्यक्ति अद्‌भुत भक्तिमय कार्यकलाप करता है, तो विचारवान व्यक्ति समझते हैं कि भगवान् कृष्ण इस भक्त पर अधिक अनुकूल हैं।

इसे समझ पाना कठिन नहीं है, लेकिन ईर्ष्यालु लोग यह मानने के लिए तैयार नहीं होते कि भगवान् ने भक्त की उन्नत स्थिति के कारण ही उस पर कृपा की है। ऐसे मूर्ख ईर्ष्या करने लगते हैं और प्रगत भक्त के कार्यों का अवमूल्यन करने का प्रयास करते हैं। यह वैष्णवता नहीं है। वैष्णव को चाहिए कि अन्य वैष्णव द्वारा की गई *भगवत्सेवा* की प्रशंसा करे। इसीलिए *श्रीमद्‌भागवत* में वैष्णव को *निर्मत्सर* कहा गया है। वैष्णवजन न तो अन्य वैष्णवों से कभी ईर्ष्या करते हैं, न अन्य किसी से भी।

इसीलिए वे *निर्मत्सराणां सताम्* कहलाते हैं।

जैसाकि *भगवद्गीता* से सूचित होता है, मनुष्य यह समझ सकता है कि वह किस तरह सत्त्वगुण, रजोगुण या तमोगुण से संतृप्त होता है। यहाँ पर जो उदाहरण दिये गये हैं उनमें से अग्नि सत्त्वगुण की द्योतक है। हम अग्नि के परिमाण से काष्ठ, पेट्रोल या अन्य ज्वलनशील पदार्थों की संरचना समझ सकते हैं। इसी प्रकार जल रजोगुण का द्योतक है। हमारी क्षुद्र त्वचा में तथा विशाल अटलांटिक सागर दोनों ही में जल है और किसी पात्र में जल की मात्रा देखकर पात्र के आकार का अनुमान लगाया जा सकता है। आकाश तमोगुण का द्योतक है। आकाश एक छोटे से घड़े में भी है और अन्तरिक्ष में भी। इस प्रकार उचित न्याय द्वारा सत्त्व, रजो तथा तमोगुण की मात्रा के अनुसार यह देखा जा सकता है कि कौन *देवता* है और कौन *असुर* और कौन यक्ष या राक्षस है। केवल देखकर कोई व्यक्ति देवता, असुर या राक्षस को नहीं पहचान सकता, अपितु एक विवेकशील व्यक्ति ऐसे व्यक्ति द्वारा सम्पन्न कार्यकलापों से ही उसे समझ पाता है। *पद्मपुराण* में सामान्य वर्णन मिलता है—*विष्णुभक्तः स्मृतो दैव आसुरस्तद्विपर्ययः।* विष्णु का भक्त देवता होता है, जबकि असुर या यक्ष इसका ठीक उल्टा होता है। असुर भगवान् विष्णु का भक्त नहीं होता, अपितु अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए वह देवताओं, भूतों, प्रेतों इत्यादि का भक्त होता है। इस प्रकार देवता, राक्षस तथा असुर का निर्णय उनके कार्यकलापों से किया जा सकता है।

इस श्लोक में *आत्मानम्* शब्द का अर्थ *परमात्मानम्* है। परमात्मा सबों के अन्तःकरण में स्थित हैं (*अन्ततः*)। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१८.६१) में हुई है। *ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।* प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित होने के कारण *ईश्वर* हर एक को उसके द्वारा उपदेश ग्रहण करने की क्षमता के अनुसार निर्देशन करते हैं। *भगवद्गीता* के उपदेश सबों के लिए खुले हुए हैं, किन्तु कुछ लोग उन्हें ठीक से समझते हैं जब कि कुछ लोग इतने बेढंगेपन से समझते हैं कि वे कृष्ण के अस्तित्व पर ही विश्वास नहीं कर पाते, यद्यपि वे कृष्ण की पुस्तक पढ़ते होते हैं। यद्यपि *गीता* कहती है *श्रीभगवान् उवाच* अर्थात् "कृष्ण ने कहा" किन्तु वे कृष्ण को नहीं समझ पाते। यह उनका दुर्भाग्य या उनकी अक्षमता है, जो रजोगुण तथा तमोगुण के द्वारा उत्पन्न होती है। इन्ही गुणों के कारण वे कृष्ण को समझ तक नहीं पाते जबकि अर्जुन जैसा प्रगत भक्त उन्हें समझता है और यह कहकर उनका गुणगान करता

है—*परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्*—आप परब्रह्म हैं, परम धाम तथा परम पवित्र करने वाले हैं। कृष्ण सबों के लिए प्रकट हैं, किन्तु उन्हें समझने की क्षमता होना आवश्यक है।

बाह्य लक्षणों के आधार पर कोई यह नहीं समझ सकता कि भगवान् की कृपा किस पर है और किस पर नहीं। मनुष्य की मनोवृत्ति के अनुसार ही कृष्ण उसके प्रत्यक्ष उपदेशक बनते हैं, अथवा उसके लिए अज्ञात रहते हैं। यह कृष्ण का पक्षपात नहीं है, अपितु उन्हें समझ पाने की क्षमता के प्रति उनकी अनुक्रिया है। मनुष्य की ग्राहकता के अनुसार, चाहे वह देवता हो, असुर हो अथवा यक्ष या राक्षस, कृष्ण के गुण उसी अनुपात से प्रकट होते हैं। किन्तु जो अल्पज्ञ हैं, वे कृष्ण की शक्ति के इस आनुपातिक प्रदर्शन (प्राकट्य) को कृष्ण का पक्षपात समझते हैं, परन्तु वास्तव में यह बात ऐसी नहीं है। कृष्ण सबों पर समभाव रखते हैं और कृष्ण-कृपा को ग्रहण करने की क्षमता के अनुसार ही मनुष्य कृष्णभावनामृत में प्रगति करता है। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर एक व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। आकाश में अनेक तारे होते हैं। रात्रि में, यहाँ तक कि अँधेरे में भी, चन्द्रमा अत्यधिक प्रकाशमान रहता है और प्रत्यक्ष दिखता है। सूर्य भी अत्यधिक प्रकाशमान है। किन्तु बादल से आच्छादित होने पर ये ज्योतिपिंड नहीं दिखते। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों *सत्तवगुण* में वृद्धि होती जाती है त्यों-त्यों भक्ति के कारण उसका तेज अधिकाधिक दिखता है, किन्तु जो जितना ही रजो तथा तमो गुणों से आच्छादित होता है, उसका तेज उतना ही कम दृष्टिगोचर होता है। किसी के गुणों का प्राकट्य भगवान् के पक्षपात पर नहीं निर्भर करता, अपितु विभिन्न आवरणों की मात्रा पर निर्भर करता है। इस तरह यह पता चल सकता है कि कोई *सत्त्वगुण* में कितना अग्रसर है और कितना रजो तथा तमो गुणों से आवृत है।

यदा सिसृक्षुः पुर आत्मनः परो
रजः सृजत्येष पृथक्स्वमायया ।
सत्त्वं विचित्रासु रिरंसुरीश्वरः
शयिष्यमाणस्तम ईरयत्यसौ ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; सिसृक्षुः—सृष्टि करने को इच्छुक; पुरः—भौतिक शरीर; आत्मनः—जीवों के लिए; परः—भगवान्; रजः—रजोगुण; सृजति—प्रकट करता है; एषः—वह; पृथक्—अलग, मुख्यतया; स्व-मायया—अपनी सृजन शक्ति के द्वारा; सत्त्वम्—सतोगुण; विचित्रासु—विभिन्न प्रकार के शरीरों में; रिरंसुः—कर्म करने का इच्छुक; ईश्वरः—भगवान्; शयिष्यमाणः—समाप्त करने के निकट; तमः—तमोगुण; ईरयति—प्रकट करता है; असौ—वह परमेश्वर।

जब भगवान् विभिन्न प्रकार के शरीर उत्पन्न करते हैं और प्रत्येक जीव को उसके चरित्र तथा सकाम कर्मों के अनुसार विशिष्ट प्रकार का शरीर प्रदान करते हैं, तो वे प्रकृति के सारे गुणों—सत्त्व गुण, रजोगुण तथा तमोगुण—को पुनरुज्जीवित करते हैं। तब परमात्मा के रूप में वे प्रत्येक शरीर में प्रविष्ट होकर सृजन, पालन तथा संहार के गुणों को प्रभावित करते हैं जिनमें से सतोगुण का उपयोग पालन के लिए, रजोगुण का उपयोग सृजन के लिए तथा तमोगुण का उपयोग संहार के लिए किया जाता है।

तात्पर्य : यद्यपि भौतिक प्रकृति का संचालन सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण के द्वारा होता है, लेकिन प्रकृति स्वतंत्र नहीं है। जैसाकि भगवान् *भगवद्गीता* (९.१०) में कहते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृति: सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

''हे कुन्तीपुत्र! यह भौतिक प्रकृति मेरे निर्देशन के अन्तर्गत कार्य कर रही है और यह समस्त चर तथा अचर प्राणियों को उत्पन्न कर रही है। इसके नियमानुसार इस जगत का बारम्बार सृजन तथा विनाश होता रहता है।'' भौतिक जगत में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन तीनों गुणों की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप होते हैं, किन्तु इन तीनों गुणों से भी ऊपर उनका अध्यक्ष परमेश्वर होता है। प्रकृति (*यन्त्रारूढानि मायया*) द्वारा जीवों को प्रदत्त विभिन्न प्रकार के शरीरों में या तो सत्त्वगुण प्रधान होता है, अथवा रजोगुण या तमोगुण। शरीर की उत्पत्ति प्रकृति द्वारा भगवान् के निर्देशानुसार होती है। इसलिए यहाँ पर कहा गया है—*यदा सिसृक्षु: पुर आत्मन: पर:* जो सूचित करता है कि यह शरीर निश्चित रूप से भगवान् द्वारा सृजित है। *कर्मणा दैवनेत्रेण*—जीव के कर्मानुसार भगवान् के निर्देशन में शरीर निर्मित किया जाता है। यह शरीर सतोगुणी है, या रजोगुणी अथवा तमोगुणी, यह सब बहिरंगा शक्ति के द्वारा (*पृथक् स्वमायया*) भगवान् के निर्देशन में सम्पन्न किया जाता है। इस प्रकार भगवान् (*ईश्वर*) विभिन्न प्रकार के शरीरों में परमात्मा रूप में निर्देश देते हैं और पुन: शरीर को विनष्ट करने के लिए। वे तमोगुण का उपयोग करते हैं। इस तरह से जीवों को विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त होते हैं।

कालं चरन्तं सृजतीश आश्रयं ।

प्रधानपुम्भ्यां नरदेव सत्यकृत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

कालम्—समय; चरन्तम्—गतिशील; सृजति—उत्पन्न करता है; ईश:—भगवान्; आश्रयम्—शरण; प्रधान—भौतिक शक्ति के लिए; पुम्भ्याम्—तथा जीव के द्वारा; नर-देव—हे मनुष्यों के शासक; सत्य—असली; कृत्—स्रष्टा।

हे महान् राजा, भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों के नियंता भगवान्, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्रष्टा हैं, काल की सृष्टि करते हैं जिससे भौतिक शक्ति तथा जीव काल की सीमा के भीतर परस्पर क्रिया कर सकें। इस प्रकार परम पुरुष न तो कभी काल के अधीन होता है, न ही भौतिक शक्ति (माया) के अधीन होता है।

तात्पर्य : किसी को कभी भी यह नहीं सोचना चाहिए कि भगवान् काल पर आश्रित हैं। वे वास्तव में ऐसी स्थिति उत्पन्न करते हैं जिससे प्रकृति कार्य करती है और जिससे बद्धजीव प्रकृति के अधीन रहता है। बद्धजीव तथा प्रकृति दोनों ही काल के अधीन कर्म करते हैं, किन्तु भगवान् काल की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के अधीन नहीं हैं, क्योंकि काल की सृष्टि भगवान् ने ही की है। अधिक स्पष्ट करने के लिए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि सृजन, पालन तथा संहार ये तीनों भगवान् की परम इच्छा के अधीन हैं।

भगवद्गीता (४.७) में भगवान् कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

''हे भरतवंशी! जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का प्राधान्य होता है, तब-तब मैं स्वयं अवतरित होता हूँ।'' चूँकि भगवान् कृष्ण सबों के नियंत्रक हैं, अतएव वे जब-जब प्रकट होते हैं, तो काल की सीमाओं में बँधे नहीं होते (*जन्म कर्म च मे दिव्यम्*)। इस श्लोक में *कालं चरन्तं सृजतीश आश्रयं* पद सूचित करता है कि चाहे सत्त्वगुण का प्राधान्य हो या रजोगुण अथवा तमोगुण का, यद्यपि भगवान् काल के भीतर कार्य करते हैं, किन्तु हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि भगवान् काल के अधीन हैं। काल उनके अधीन है, क्योंकि वे इसका सृजन एक निश्चित विधि से कर्म करने के लिए करते हैं, वे कर्म को काल के नियंत्रण में नहीं करते। भौतिक जगत की सृष्टि तो भगवान् की एक लीला मात्र है। हर वस्तु उनके पूर्ण नियंत्रण में रहती है। चूँकि सृष्टि का जन्म तब होता है जब रजोगुण प्रधान होता है, अतएव भगवान् रजोगुण को सुविधाएँ प्रदान करने के लिए आवश्यक काल की सृष्टि करते हैं। इसी

प्रकार वे पालन तथा संहार के लिए आवश्यक कालों का सृजन करते हैं। इस प्रकार यह श्लोक प्रतिपादित करता है कि भगवान् काल की सीमाओं के भीतर नहीं हैं।

जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—*ईश्वर: परम: कृष्ण:*—कृष्ण परम नियामक हैं। *सच्चिदानन्द विग्रह:*—उनका शरीर आनन्दपूर्ण तथा आध्यात्मिक है। *अनादि:*—वे किसी के भी अधीन नहीं हैं। जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* (७.७) में पुष्टि की है—*मत्त: परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय*—"हे धन के विजेता (अर्जुन)! कोई भी सत्य मुझसे श्रेष्ठ नहीं।" कोई भी वस्तु कृष्ण से बढ़कर नहीं हो सकती, क्योंकि वे प्रत्येक वस्तु के नियंत्रक तथा स्रष्टा हैं।

मायावादी दार्शनिकों का कहना है कि यह जगत *मिथ्या* है, अतएव हमें इस *मिथ्या* सृष्टि की परवाह नहीं करनी चाहिए (*ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या*)। किन्तु यह सही नहीं है। यहाँ पर *सत्यकृत्* कहा गया है अर्थात् *सत्यं परम्* द्वारा जो भी उत्पन्न किया जाता है, वह *मिथ्या* नहीं कहा जा सकता। सृष्टि का कारण *सत्य* है, अतएव कारण का प्रकार्य किस तरह *मिथ्या* हो सकता है? *सत्यकृत्* शब्द का व्यवहार ही यह प्रतिपादित करने के लिए किया गया है कि भगवान् द्वारा उत्पन्न प्रत्येक वस्तु वास्तविक है, मिथ्या नहीं। भले ही सृष्टि क्षणिक हो, किन्तु मिथ्या नहीं है।

य एष राजन्नपि काल ईशिता
सत्त्वं सुरानीकमिवैधयत्यत:।
तत्प्रत्यनीकानसुरान्सुरप्रियो
रजस्तमस्कान्प्रमिणोत्युरुश्रवा: ॥ १२॥

शब्दार्थ

य:—जो; एष:—यह; राजन्—हे राजा; अपि—भी; काल:—काल, समय; ईशिता—परमेश्वर; सत्त्वम्—सतोगुण; सुर-अनीकम्—अनेक देवताओं को; इव—निश्चय ही; एधयति—बढ़ाता है; अत:—अतएव; तत्-प्रत्यनीकान्—उनके प्रति वैर भाव; असुरान्—असुरों को; सुर-प्रिय:—देवताओं का मित्र होने से; रज:-तमस्कान्—रजो तथा तमों गुणों से आच्छादित; प्रमिणोति—नष्ट करता है; उरु-श्रवा:—जिसका यश दूर-दूर तक फैला है।.

हे राजन् यह काल सत्त्वगुण को बढ़ाता है। इस तरह यद्यपि परमेश्वर नियन्ता हैं, किन्तु वे देवताओं पर कृपालु होते हैं, जो अधिकांशत: सतोगुणी होते हैं। तभी तमोगुणी असुरों का विनाश होता है। परमेश्वर काल को विभिन्न प्रकार से कार्य करने के लिए प्रभावित करते हैं, किन्तु वे कभी पक्षपात नहीं करते। उनके कार्यकलाप यशस्वी हैं, अतएव वे उरुश्रवा कहलाते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२९) में भगवान् कहते हैं—*समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रिय:*—न तो मैं किसी से ईर्ष्या करता हूँ, न मैं किसी का पक्षपात करता हूँ, मैं सबों के प्रति समभाव रखता हूँ। भगवान् पक्षपात नहीं कर सकते; वे सबों के प्रति सदैव समभाव रखते हैं। अतएव जब देवताओं पर कृपा की जाती है और असुरों का वध होता है, तो यह पक्षपात नहीं होता, अपितु काल का प्रभाव होता है। इसका एक अच्छा उदाहरण यह है कि बिजली का मिस्त्री एक ही विद्युत् शक्ति से हीटर तथा कूलर को जोड़ता है। गरम करने तथा ठंडा करने का कारण मिस्त्री द्वारा इच्छानुसार विद्युतशक्ति का समायोजन होता है। परन्तु वस्तुत: मिस्त्री को न तो गरम अथवा ठंडा करने से, न ही उससे उत्पन्न सुख या दुख से कोई प्रयोजन रहता है।

ऐसी अनेक ऐतिहासिक घटनाएँ हैं जिसमें भगवान् ने किसी असुर का वध किया, किन्तु भगवान् की कृपा से उसे उच्चतर पद मिल गया। पूतना इसका एक उदाहरण है। पूतना का उद्देश्य कृष्ण को मार डालना था। *अहो बकी यं स्तनकालकूटम्।* वह अपने स्तनों में विष लगाकर कृष्ण को मारने के उद्देश्य से नन्द महाराज के घर गई, किन्तु जब वह मार डाली गई तो उसे वैसा ही उच्चतम पद प्राप्त हुआ जैसाकि कृष्ण की माता को। कृष्ण इतने दयालु तथा निष्पक्ष हैं कि चूँकि उन्होंने पूतना का स्तनपान किया था, अतएव उन्होंने तुरन्त उसे अपनी माता के रूप में स्वीकार कर लिया। पूतना का इस प्रकार वध करने से भगवान् की निष्पक्षता में कोई कमी नहीं आई। वे सबों के मित्र हैं—*सुहृदं सर्वभूतानाम्।* अतएव भगवान् के चरित्र पर पक्षपात का आरोप नहीं लगाया जा सकता है क्योंकि परम नियंता के अपने पद को वे सदा बनाए रखते हैं। भगवान् ने पूतना का वध शत्रु के रूप में किया, किन्तु उनके परम नियन्ता होने के कारण उसे उनकी माता जैसे उच्च पद की प्राप्ति हुई। अतएव श्रील मध्व मुनि कहते हैं—*काले कालविषयेऽपीशिता देहादि कारणत्वात् सुरानीकम् इव स्थितं सत्त्वम्।* सामान्यतया हत्यारे को फाँसी दी जाती है और *मनु-संहिता* में तो कहा गया है कि राजा हत्यारे का वध करके उस पर कृपा करता है और इस प्रकार उसे विविध प्रकार के कष्टों से बचा लेता है। अपने पापमय कर्मों के कारण ऐसा हत्यारा राजा की कृपा से मार दिया जाता है। कृष्ण परम न्यायकर्ता के रूप में इसी प्रकार से आचरण करते हैं, क्योंकि वे परम नियन्ता हैं। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् सदैव निष्पक्ष रहते हैं और सभी जीवों पर अत्यधिक दयालु हैं।

अत्रैवोदाहृतः पूर्वमितिहासः सुरर्षिणा ।
प्रीत्या महाक्रतौ राजन्पृच्छतेऽजातशत्रवे ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अत्र—इस प्रसंग में; एव—निश्चय; उदाहृतः—सुनाया गया; पूर्वम्—पहले; इतिहासः—पुरानी कथा; सुर-ऋषिणा—देवर्षि नारद द्वारा; प्रीत्या—प्रसन्नतापूर्वक; महा-क्रतौ—महान् राजसूय यज्ञ के अवसर पर; राजन्—हे राजा; पृच्छते—जिज्ञासा करने वाले; अजात-शत्रवे—महाराज युधिष्ठिर को, जिनका कोई शत्रु न था।

हे राजन्, पूर्वकाल में जब महाराज युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ कर रहे थे तो महर्षि नारद ने उनके पूछे जाने पर कुछ ऐतिहासिक तथ्य कह सुनाये जिससे पता चलता है कि भगवान् असुरों का वध करते समय भी कितने निष्पक्ष रहते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने एक जीवन्त उदाहरण प्रस्तुत किया।

तात्पर्य : इस श्लोक से महाराज युधिष्ठिर द्वारा किए जा रहे राजसूय यज्ञ की स्थली पर जब भगवान् ने शिशुपाल का वध किया तब भी वे कितने निष्पक्ष थे, इसका पता चलता है।

दृष्ट्वा महाद्भुतं राजा राजसूये महाक्रतौ ।
वासुदेवे भगवति सायुज्यं चेदिभूभुजः ॥ १४॥
तत्रासीनं सुरऋषिं राजा पाण्डुसुतः क्रतौ ।
पप्रच्छ विस्मितमना मुनीनां शृण्वतामिदम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; महा-अद्भुतम्—अत्यन्त अद्भुत; राजा—राजा; राजसूये—राजसूय नामक; महा-क्रतौ—महान् यज्ञ के अवसर पर; वासुदेवे—वासुदेव में; भगवति—भगवान् में; सायुज्यम्—लीन हुआ; चेदिभू-भुजः—चेदि के राजा शिशुपाल का; तत्र—वहाँ; आसीनम्—बैठा हुआ; सुर-ऋषिम्—नारदमुनि से; राजा—राजा; पाण्डु-सुतः—पाण्डु पुत्र युधिष्ठिर ने; क्रतौ—यज्ञ में; पप्रच्छ—पूछा; विस्मित-मनाः—आश्चर्यचकित होकर; मुनीनाम्—मुनियों की उपस्थिति में; शृण्वताम्—सुनते हुए; इदम्—यह।

हे राजन्, महाराज पाण्डु के पुत्र महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ के समय शिशुपाल को भगवान् कृष्ण के शरीर में विलीन होते हुए स्वयं देखा। अतएव आश्चर्यचकित होकर उन्होंने वहीं पर बैठे महर्षि नारद से इसका कारण पूछा। जब उन्होंने यह प्रश्न पूछा तो वहाँ पर उपस्थित सारे ऋषियों ने भी इस प्रश्न को पूछे जाते सुना।

श्रीयुधिष्ठिर उवाच
अहो अत्यद्भुतं ह्येतदुर्लभैकान्तिनामपि ।
वासुदेवे परे तत्त्वे प्राप्तिश्चैद्यस्य विद्विषः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-युधिष्ठिरः उवाच—महाराज युधिष्ठिर ने कहा; अहो—ओह; अति-अद्भुतम्—अत्यन्त आश्चर्यजनक; हि—निश्चय ही; एतत्—यह; दुर्लभ—प्राप्त करने में कठिन; एकान्तिनाम्—अध्यात्मवादियों के लिए; अपि—भी; वासुदेवे—वासुदेव में; परे—परम; तत्त्वे—परम सत्य; प्राप्तिः—प्राप्ति; चैद्यस्य—शिशुपाल की; विद्विषः—ईर्ष्यालु।

महाराज युधिष्ठिर ने पूछा : यह अत्यन्त आश्चर्यजनक है कि असुर शिशुपाल अत्यन्त ईर्ष्यालु होते हुए भी भगवान् के शरीर में लीन हो गया। यह सायुज्य मुक्ति बड़े-बड़े अध्यात्मवादियों के लिए भी दुष्प्राप्य है, तो फिर भगवान् के शत्रु को यह कैसे प्राप्त हुई?

तात्पर्य : अध्यात्मवादियों की दो श्रेणियाँ हैं—*ज्ञानी* तथा *भक्त*। भक्तगण भगवान् के शरीर में लीन होने की कोई इच्छा नहीं रखते लेकिन ज्ञानी जन ऐसा चाहते हैं। किन्तु शिशुपाल न तो ज्ञानी था, न ही भक्त। फिर भी मात्र भगवान् से ईर्ष्या करने के कारण उसे भगवान् के शरीर में लीन होने जैसी सद्गति प्राप्त हुई। निश्चय ही यह आश्चर्यजनक था, अतएव महाराज युधिष्ठिर ने शिशुपाल के ऊपर भगवान् की इस रहस्यमयी कृपा का कारण पूछा।

एतद्वेदितुमिच्छामः सर्व एव वयं मुने ।
भगवन्निन्दया वेनो द्विजैस्तमसि पातितः ॥ १७॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; वेदितुम्—जानना; इच्छामः—चाहते हैं; सर्वे—सभी; एव—निश्चय ही; वयम्—हम सब; मुने—हे मुनि; भगवत्-निन्दया—भगवान् की निन्दा करने के कारण; वेनः—वेन, पृथु महाराज का पुत्र; द्विजैः—ब्राह्मणों के द्वारा; तमसि—नरक में; पातितः—गिरा दिया गया।

हे मुनि, हम सभी भगवान् की इस कृपा का कारण जानने के लिए उत्सुक हैं। मैंने सुना है कि प्राचीन काल में वेन नामक राजा ने भगवान् की निन्दा की। फलस्वरूप सारे ब्राह्मणों ने उसे बाध्य किया कि वह नरक में जाये। शिशुपाल को भी नरक जाना चाहिए था। तो फिर वह भगवान् के शरीर में किस तरह लीन हो गया?

दमघोषसुतः पाप आरभ्य कलभाषणात् ।
सम्प्रत्यमर्षी गोविन्दे दन्तवक्रश्च दुर्मतिः ॥ १८॥

शब्दार्थ

दमघोष-सुतः—दमघोष का पुत्र, शिशुपाल; पापः—पापी; आरभ्य—प्रारम्भ करके; कल-भाषणात्—बालक जैसी तोतली बोली से; सम्प्रति—आज भी; अमर्षी—ईर्ष्यालु; गोविन्दे—श्रीकृष्ण के प्रति; दन्तवक्रः—दन्तवक्र; च—भी; दुर्मतिः—दुर्बुद्धि।

अपने बाल्यकाल के प्रारम्भ से ही, जब वह ठीक से बोल नहीं पाता था, दमघोष के

महापापी पुत्र शिशुपाल ने भगवान् की निन्दा करनी प्रारम्भ कर दी थी और वह मृत्यु काल तक श्रीकृष्ण से ईर्ष्या करता रहा। इसी प्रकार उसका भाई दन्तवक्र भी ऐसी आदतें पाले रहा।

शपतोरसकृद्विष्णुं यद्ब्रह्म परमव्ययम् ।
श्वित्रो न जातो जिह्वायां नान्धं विविशतुस्तमः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

शपतोः—निन्दा करने वाले शिशुपाल तथा दन्तवक्र दोनों ही का; असकृत्—बारम्बार; विष्णुम्—भगवान् कृष्ण को; यत्—जो; ब्रह्म परम्—परब्रह्म; अव्ययम्—बिना किसी कमी के; श्वित्रः—श्वेत कुष्ठ; न—नहीं; जातः—प्रकट; जिह्वायाम्—जीभ पर; न—नहीं; अन्धम्—अँधेरा; विविशतुः—वे घुसे; तमः—नरक में।

यद्यपि शिशुपाल तथा दन्तवक्र दोनों ही भगवान् विष्णु (कृष्ण) की बारम्बार निन्दा करते रहे तो भी वे पूर्ण स्वस्थ रहे। न तो उनकी जीभों में ही श्वेत कुष्ठ रोग हुआ, न वे नारकीय जीवन के गहन अंधकार में प्रविष्ट हुए। हम सचमुच इससे अत्यधिक चकित हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१०.१२) में अर्जुन ने कृष्ण का वर्णन इस प्रकार किया है—*परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्*—आप परब्रह्म, परम धाम तथा पवित्र करने वाले हैं। यहाँ पर इसकी पुष्टि हुई है। *विष्णुं यद् ब्रह्म परमव्ययम्।* विष्णु ही कृष्ण हैं। कृष्ण विष्णु के कारण हैं, इसके विपरीत नहीं। इसी प्रकार ब्रह्म कृष्ण के कारण नहीं हैं, अपितु कृष्ण ब्रह्म के कारण हैं। अतएव कृष्ण परब्रह्म हैं (*यद् ब्रह्म परमव्ययम्*)।

कथं तस्मिन्भगवति दुरवग्राह्यधामनि ।
पश्यतां सर्वलोकानां लयमीयतुरञ्जसा ॥ २० ॥

शब्दार्थ

कथम्—कैसे; तस्मिन्—उसमें; भगवति—भगवान् में; दुरवग्राह्य—प्राप्त करने में कठिन; धामनि—जिसका स्वभाव; पश्यताम्—देखते-देखते; सर्व-लोकानाम्—सारे लोगों के; लयम् ईयतुः—लीन हो गये; अञ्जसा—सरलता से।

यह कैसे सम्भव हो पाया कि शिशुपाल तथा दन्तवक्र अनेक महापुरुषों की उपस्थिति में उन कृष्ण के शरीर में सरलता से प्रविष्ट हो सके, जिन भगवान् की प्रकृति को प्राप्त कर पाना इतना कठिन है?

तात्पर्य : शिशुपाल तथा दन्तवक्र पूर्वजन्म में वैकुण्ठ के द्वारपाल जय और विजय थे। उनका अन्तिम लक्ष्य कृष्ण के शरीर में लीन होना नहीं था। वे कुछ काल तक लीन रहे, किन्तु बाद में उन्हें प्रभु के लोक में रहने तथा उन्हीं के समान शरीर प्राप्त करने, *सारूप्य* तथा *सालोक्य* मुक्ति प्राप्त करने,

का अवसर मिला। शास्त्र साक्षी है कि यदि कोई परमेश्वर की निन्दा करता है, तो उसको अनेक ब्राह्मणों का वध करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा लाखों वर्षों तक नारकीय जीवन बिताने का दण्ड दिया जाता है। किन्तु शिशुपाल को नारकीय जीवन में प्रवेश नहीं करना पड़ा; वह तो तुरन्त ही सरलता से *सायुज्य मुक्ति* को प्राप्त हुआ। शिशुपाल को ऐसा सुअवसर दिया जाना कोरी कथा नहीं है। वहाँ पर उपस्थित सभी लोगों ने इसे देखा, अतएव साक्ष्य की कमी नहीं है। लेकिन यह हुआ कैसे? महाराज युधिष्ठिर अत्यन्त चकित थे।

एतद्भ्राम्यति मे बुद्धिर्दीपार्चिरिव वायुना ।
ब्रूह्येतदद्भुततमं भगवान्ह्यत्र कारणम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

एतत्—इसे लेकर; भ्राम्यति—डगमगा रही है; मे—मेरी; बुद्धिः—बुद्धि; दीप-अर्चिः—दीपक की लौ; इव—सदृश; वायुना—वायु से; ब्रूहि—कृपा करके कहें; एतत्—यह; अद्भुततमम्—सर्वाधिक अद्भुत; भगवान्—समस्त ज्ञान से युक्त; हि—निश्चय ही; अत्र—यहाँ; कारणम्—कारण।

यह विषय निस्सन्देह अत्यन्त अद्भुत है। मेरी बुद्धि उसी तरह डगमगा रही है, जिस तरह बहती हुई वायु से दीपक की लौ विचलित हो जाती है। हे नारद मुनि, आप सब कुछ जानते हैं। कृपा करके मुझे इस अद्भुत घटना का कारण बताएँ।

तात्पर्य : शास्त्रों का आदेश है—*तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।* जब मनुष्य जीवन की कठिन समस्याओं से आक्रान्त हो जाये तो उनको हल करने के लिए उसे नारद अथवा परम्परागत किसी प्रतिनिधि तुल्य गुरु के पास जाना चाहिए। अतएव महाराज युधिष्ठिर ने नारद से विनती की कि वे ऐसी अद्भुत घटना का कारण बताएँ।

श्रीबादरायणिरुवाच
राज्ञस्तद्वच आकर्ण्य नारदो भगवानृषिः ।
तुष्टः प्राह तमाभाष्य शृण्वत्यास्तत्सदः कथाः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; राज्ञः—राजा (युधिष्ठिर) के; तत्—वे; वचः—शब्द; आकर्ण्य—सुनकर; नारदः—नारद मुनि ने; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; ऋषिः—ऋषि; तुष्टः—प्रसन्न होकर; प्राह—कहा; तम्—उसको; आभाष्य—सम्बोधित करके; शृण्वत्याः तत्-सदः—सभासदों की उपस्थित में; कथाः—कथाएँ।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : महाराज युधिष्ठिर की विनती सुनकर अत्यन्त शक्तिशाली गुरु नारद मुनि अत्यन्त प्रसन्न हुए, क्योंकि वे हर बात को जानने वाले हैं। इस तरह उन्होंने यज्ञ में

भाग लेने वाले सभी व्यक्तियों के समक्ष उत्तर दिया।

श्रीनारद उवाच
निन्दनस्तवसत्कारन्यक्कारार्थं कलेवरम् ।
प्रधानपरयो राजन्नविवेकेन कल्पितम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; निन्दन—निन्दा; स्तव—स्तुति, प्रशंसा; सत्कार—सम्मान; न्यक्कार—अपमान; अर्थम्—के प्रयोजन से; कलेवरम्—शरीर; प्रधान-परयोः—प्रकृति तथा भगवान् का; राजन्—हे राजा; अविवेकेन—बिना भेदभाव के; कल्पितम्—उत्पन्न।

महर्षि नारद ने कहा : हे राजन्, निन्दा तथा स्तुति, अपमान तथा सम्मान का अनुभव अज्ञान के कारण होता है। बद्धजीव का शरीर भगवान् द्वारा अपनी बहिरंगा शक्ति के माध्यम से इस जगत में कष्ट भोगने के लिए बनाया गया है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१८.६१) में कहा गया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

"हे अर्जुन! परमेश्वर सबों के हृदय में स्थित है और वह भौतिक शक्ति से निर्मित यंत्र पर आसीन समस्त जीवों के चक्कर लगाने का निर्देशन कर रहा है।" भौतिक शरीर का निर्माण बहिरंगा शक्ति द्वारा भगवान् के निर्देशानुसार किया जाता है। बद्धजीव इस यंत्र में आरूढ़ होकर पूरे ब्रह्माण्ड में विचरण करता है और देहात्म-बुद्धि के कारण कष्ट ही कष्ट भोगता रहता है। वस्तुतः निन्दा का कष्ट और प्रशंसा का हर्ष, सत्कार की स्वीकृति या कठोर शब्दों द्वारा अपमान—ये सभी जीवन की भौतिक धारणा से ही अनुभव किये जाते हैं। किन्तु चूँकि भगवान् भौतिक नहीं, अपितु सच्चिदानन्द विग्रह हैं, अतएव वे अपमान या सम्मान, निन्दा या स्तुति से अप्रभावित रहते हैं। सदा अप्रभावित रहने तथा पूर्ण होने के कारण वे भक्तों द्वारा सुन्दर प्रार्थनाएँ किये जाने पर अधिक हर्षित नहीं होते, यद्यपि भक्त को भगवान् की प्रार्थना करने से लाभ होता है। निस्सन्देह वे अपने तथाकथित शत्रु के प्रति अत्यन्त दयालु रहते हैं, क्योंकि जो भगवान् को सतत अपना शत्रु मानता है उसे भी लाभ होता है यद्यपि वह भगवान् के प्रतिकूल सोचता रहता है। बद्धजीव, शत्रु या मित्र, चाहे किसी रूप में भगवान् पर अनुरक्त हो जाता है और लाभ ही प्राप्त करता है।

हिंसा तदभिमानेन दण्डपारुष्ययोर्यथा ।
वैषम्यमिह भूतानां ममाहमिति पार्थिव ॥ २४॥

शब्दार्थ

हिंसा—कष्ट; तत्—इसका; अभिमानेन—मिथ्या धारणा; दण्ड-पारुष्ययोः—दण्ड तथा अपमान की; यथा—जिस तरह; वैषम्यम्—भ्रान्ति; इह—यहाँ (इस शरीर में); भूतानाम्—जीवों का; मम-अहम्—मेरा और मैं; इति—इस प्रकार; पार्थिव—हे पृथ्वी के स्वामी।

हे राजन्, देहात्म-बुद्धि के कारण बद्धजीव अपने शरीर को ही आत्मा मान लेता है और अपने शरीर से सम्बद्ध हर वस्तु को अपनी मानता है। चूँकि उसे जीवन की यह मिथ्या धारणा रहती है, अतएव उसे प्रशंसा तथा अपमान जैसे द्वंद्वों को भोगना पड़ता है।

तात्पर्य : जब बद्धजीव शरीर को ही आत्मा मान लेता है तभी वह अपमान या प्रंशसा के प्रभावों का अनुभव करता है। तभी वह एक व्यक्ति को शत्रु और दूसरे को मित्र मान बैठता है और वह शत्रु का अपमान तथा मित्र का सत्कार करना चाहता है। मित्रों तथा शत्रुओं की यह सृष्टि उसकी देहात्म-बुद्धि का परिणाम होती है।

यन्निबद्धोऽभिमानोऽयं तद्वधात्प्राणिनां वधः ।
तथा न यस्य कैवल्यादभिमानोऽखिलात्मनः ।
परस्य दमकर्तुर्हि हिंसा केनास्य कल्प्यते ॥ २५॥

शब्दार्थ

यत्—जिसमें; निबद्धः—बँधा हुआ; अभिमानः—मिथ्या धारणा; अयम्—यह; तत्—उस (शरीर) के; वधात्—विनाश से; प्राणिनाम्—जीवों का; वधः—विनाश; तथा—उसी प्रकार से; न—नहीं; यस्य—जिसका; कैवल्यात्—अद्वितीय या परम होने के कारण; अभिमानः—भ्रान्त धारणा; अखिल-आत्मनः—समस्त जीवों के परमात्मा का; परस्य—भगवान् का; दम-कर्तुः—परम नियन्ता; हि—निश्चय ही; हिंसा—क्षति; केन—कैसे; अस्य—उसका; कल्प्यते—सम्पन्न की जाती है।

देहात्मा-बुद्धि के कारण बद्धजीव सोचता है कि जब शरीर नष्ट हो जाता है, तो जीव नष्ट हो जाता है। भगवान् विष्णु ही परम नियन्ता तथा समस्त जीवों के परमात्मा हैं। चूँकि उनका कोई भौतिक शरीर नहीं होता, अतएव उनमें ''मैं तथा मेरा'' जैसी भ्रान्त धारणा नहीं होती। अतएव यह सोचना सही नहीं है कि जब उनकी निन्दा की जाती है या उनकी स्तुति की जाती है, तो वे पीड़ा या हर्ष का अनुभव करते हैं। ऐसा कर पाना उनके लिए असम्भव है। इस प्रकार उनका न कोई शत्रु है और न कोई मित्र। जब वे असुरों को दण्ड देते हैं, तो उनकी भलाई के लिए ऐसा करते हैं और जब भक्तों की स्तुतियाँ स्वीकार करते हैं, तो वह उनके कल्याण के लिए होता है।

वे न तो स्तुतियों से प्रभावित होते हैं न निन्दा से।

तात्पर्य : भौतिक शरीरों से आवृत होने के कारण बड़े से बड़े विद्वान तथा मिथ्या ढंग से शिक्षित प्राचार्य समेत सारे बद्धजीव यह सोचते हैं कि ज्योंही शरीर का अन्त हो जाता है त्योंही सब कुछ समाप्त हो जाता है। यह उनकी देहात्म-बुद्धि के कारण है। कृष्ण के न तो ऐसी देहात्म-बुद्धि होती है, न ही उनका शरीर उनकी आत्मा से भिन्न है। अतएव जब कृष्ण में किसी प्रकार की देहात्म-बुद्धि है ही नहीं तो फिर वे भौतिक स्तुतियों तथ दोषारोपणों से किस प्रकार प्रभावित हो सकते हैं? यहाँ पर कृष्ण के शरीर को *कैवल्य* कहा गया है अर्थात् उनसे अभिन्न। चूँकि हर एक के देहात्म-बुद्धि होती है अतएव यदि कृष्ण भी ऐसे ही हों तो फिर उनमें तथा बद्धजीव में क्या अन्तर हुआ? *भगवद्गीता* में कृष्ण के उपदेशों को निर्णायक माना जाता है, क्योंकि उनका शरीर भौतिक नहीं होता। ज्योंही भौतिक शरीर मिला नहीं कि मनुष्य में चार अवगुण आ जाते हैं, लेकिन कृष्ण के भौतिक देह न होने से उनमें ये अवगुण नहीं पाये जाते। वे सदैव आध्यात्मिक दृष्टि से चिन्मय तथा आनन्दमय रहते हैं। *ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्दविग्रह:*—उनका स्वरूप शाश्वत, आनन्दपूर्ण तथा ज्ञानपूर्ण है। *सच्चिदानन्द-विग्रह:, आनन्द चिन्मय-रस* तथा *कैवल्य* एक ही हैं।

कृष्ण प्रत्येक व्यक्ति के हृदय के भीतर परमात्मा रूप में विस्तार कर सकते हैं। *भगवद्गीता* (१३.३) में इसकी पुष्टि हुई है। *क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत*—भगवान् परमात्मा हैं अर्थात् सभी जीवों की *आत्मा* हैं। अतएव यह स्वाभाविक रूप से निष्कर्ष निकलता है कि उनमें दोषपूर्ण देहात्म-बुद्धि नहीं पाई जाती। वे हर एक शरीर में स्थित होते हुए भी देहात्म-बुद्धि नहीं रखते। वे ऐसी धारणाओं से सदैव मुक्त रहते हैं, अतएव वे जीव के भौतिक शरीर से सम्बन्धित किसी भी वस्तु से प्रभावित नहीं हो सकते।

भगवद्गीता (१६.१९) में कृष्ण कहते हैं—

तानहं द्विषत: क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

"जो लोग ईर्ष्यालु तथा खल हैं, जो मनुष्यों में निम्नतम हैं, वे मेरे द्वारा इस भवसागर में जीवन की विविध आसुरी योनियों में डाल दिये जाते हैं।" किन्तु जब भी भगवान् असुरों जैसे मनुष्यों को दण्ड

देते हैं, तो यह दण्ड इन बद्धजीवों के हित में होता है। भगवान् से ईर्ष्या करने के कारण बद्धजीव उन पर यह दोषारोपण कर सकता है कि "कृष्ण बुरे हैं, वे चोर हैं।" किन्तु कृष्ण समस्त जीवों पर दयालु होने के कारण ऐसे आरोपों पर ध्यान नहीं देते। उल्टे, वे बद्धजीवों के द्वारा अनेक बार "कृष्ण-कृष्ण" का कीर्तन करने को महत्त्व देते हैं। वे कभी-कभी ऐसे असुरों को एक जन्म में निम्नतर योनि में डालकर दण्डित करते हैं और फिर जब वे दोषारोपण करना छोड़ देते हैं, तो अगले जन्म में कृष्ण का निरन्तर कीर्तन करने के कारण उन्हें मुक्त कर दिया जाता है। परमेश्वर या उनके भक्त की निन्दा करना बद्धजीवों के लिए कभी कल्याणप्रद नहीं होता, किन्तु अत्यन्त दयालु होने के कारण कृष्ण बद्धजीवों के ऐसे पापकर्मों के लिए एक जन्म में दण्ड देते हैं और फिर उन्हें अपने धाम वापस बुला लेते हैं। इसका सजीव उदाहरण वृत्रासुर है, जो पूर्वजन्म में चित्रकेतु महाराज नामक महान् भक्त था। चूँकि उसने भक्तों के शिरोमणि शिवजी का उपहास किया, अतएव उसे वृत्र नामक असुर का शरीर धारण करना पड़ा। किन्तु बाद में उसे भगवद्धाम प्राप्त हुआ। इस तरह जब कृष्ण किसी असुर या बद्धजीव को दण्ड देते हैं, तो वे उसकी निन्दा करने की आदत छुड़ा देते हैं और जब वह पूरी तरह शुद्ध हो जाता है, तो भगवान् उसे अपने धाम बुला लेते हैं।

तस्माद्वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेन वा ।
स्नेहात्कामेन वा युञ्ज्यात्कथञ्चिन्नेक्षते पृथक् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; वैर-अनुबन्धेन—निरन्तर शत्रुता से; निर्वैरेण—भक्ति से; भयेन—भय से; वा—अथवा; स्नेहात्—स्नेह से; कामेन—विषय वासनाओं से; वा—अथवा; युञ्ज्यात्—केन्द्रित करे; कथञ्चित्—किसी न किसी तरह; न—नहीं; ईक्षते—देखता है; पृथक्—अन्य कुछ।

अतएव यदि कोई बद्धजीव किसी तरह शत्रुता या भक्ति, भय, स्नेह या विषयवासना द्वारा—इनमें से सभी या किसी एक के द्वारा—अपने मन को भगवान् पर केन्द्रित करता है, तो परिणाम एक सा मिलता है, क्योंकि अपनी आनन्दमयी स्थिति के कारण भगवान् कभी भी शत्रुता या मित्रता द्वारा प्रभावित नहीं होते।

तात्पर्य : इस श्लोक से किसी को यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि चूँकि कृष्ण पर अनुकूल प्रार्थनाओं या प्रतिकूल निन्दा का कोई असर नहीं होता इसलिए परमेश्वर की निन्दा ही की जाये। यह विधि-विधान नहीं है। *भक्तियोग* का अर्थ है—*आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्*—मनुष्य को चाहिए कि

अत्यन्त अनुकूल होकर कृष्ण की सेवा करे। यही असली आदेश है। यहाँ यह कहा गया है कि यद्यपि शत्रु कृष्ण के प्रतिकूल सोचता है, किन्तु भगवान् ऐसी अभक्तिमयी सेवा से अप्रभावित रहते हैं। वे इस तरह शिशुपाल को तथा उसी भाव से शत्रुभाव रखने वाले अन्य बद्धजीवों को भी वर देते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि मनुष्य भगवान् के प्रति शत्रुभाव रखे। यहाँ पर अनुकूल होकर भक्ति करने पर बल दिया गया है, जानबूझ कर भगवान् की निन्दा करने पर नहीं। कहा गया है—

निन्दां भगवतः शृण्वंस्तत्परस्य जनस्य वा।

ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्च्युतः॥

यदि कोई भगवान् या उनके भक्तों की निन्दा सुने तो उसे चाहिए कि या तो तुरन्त कार्यवाही करे या उस स्थान को छोड़ दे। अन्यथा उसे सतत नारकीय जीवन भोगना होगा। ऐसे अनेक आदेश हैं। अतएव विधान के अनुसार मनुष्य को भगवान् के प्रतिकूल नहीं होना चाहिए, अपितु सदैव उनके अनुकूल रहना चाहिए।

शिशुपाल द्वारा परमेश्वर में लीन होने की घटना भिन्न प्रकार की थी, क्योंकि अपने भौतिक जीवन के प्रारम्भ से ही जय-विजय को तीन जन्मों तक परमेश्वर को शत्रु की भाँति मानने का श्राप मिला था। उसके बाद उन्हें भगवद्धाम लौटना था। जय तथा विजय भीतर-भीतर जानते थे कि कृष्ण भगवान् हैं, लेकिन अपने उद्धार हेतु वे जानबूझ कर उनके शत्रु बने रहे। वे अपने जीवन के प्रारम्भ से ही भगवान् कृष्ण को अपना शत्रु समझने लगे थे, लेकिन उनकी निन्दा करते हुए भी शत्रुवत् विचारों के साथ-साथ वे लगातार उनका कीर्तन भी करते रहते थे। इस प्रकार वे कृष्ण के पवित्र नाम का कीर्तन करने के कारण शुद्ध हो गये। यह जान लेना चाहिए कि निन्दक भी भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करने से अपने पापपूर्ण कृत्यों से मुक्त हो सकता है। अतएव जो भक्त भगवान् के अनुकूल रह कर सेवा करता है उसकी मुक्ति सुनिश्चित है। अगले श्लोक से यह स्पष्ट हो जाता है। कृष्ण का एकाग्र ध्यान करने से मनुष्य शुद्ध हो जाता है और भौतिक जीवन से उसका उद्धार हो जाता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *भयेन* शब्द की बहुत ही सुन्दर व्याख्या की है। *भयेन* का अर्थ है "भय से"। जब गोपियाँ सुनसान रात्रि में कृष्ण के पास गईं तो उन्हें अपने सम्बन्धियों—अपने पतियों, भाइयों तथा पिताओं द्वारा—दण्डित होने का भय था, किन्तु उन सबकी परवाह न करती हुईं वे कृष्ण

के पास गईं। भय तो था ही, किन्तु यह भय कृष्ण के प्रति उनकी भक्ति को रोक नहीं पाया।

मनुष्य को भूलकर भी यह नहीं सोचना चाहिए कि शिशुपाल की तरह शत्रु भाव से कृष्ण की पूजा की जानी चाहिए। आदेश यह है—*आनुकूल्यस्य ग्रहणं प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्*—मनुष्य को चाहिए कि में प्रतिकूल कर्म त्याग दे और अनुकूल स्थितियों को ही स्वीकार करे। सामान्यतया यदि कोई भगवान् की निन्दा करता है, तो वह दण्डित होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१६.१९) में भगवान् कहते हैं :

तानहं द्विषतः क्रूरान संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

ऐसे अनेक आदेश हैं। मनुष्य को चाहिये कि प्रतिकूल होकर कृष्ण को न पूजे, अन्यथा उसे कम से कम एक जन्म में दण्डित होना पड़ेगा जिससे वह शुद्ध हो सके। जिस प्रकार मनुष्य को चाहिये कि वह शत्रु बाघ या सर्प का आलिंगन करके मरने का प्रयास न करे उसी तरह उसे चाहिये कि वह भगवान् की निन्दा न करे और नारकीय जीवन में जाने के लिए उनका शत्रु न बने।

इस श्लोक का उद्देश्य इस बात पर बल देना है कि भगवान् के शत्रु का भी उद्धार हो सकता है, उनके मित्र के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं। श्रील मध्वाचार्य ने भी कई प्रकार से कहा है कि मनुष्य को मनसा, वाचा, कर्मणा भगवान् विष्णु की निन्दा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि निन्दक अपने पूर्वजों सहित नारकीय जीवन का भागी होगा।

कर्मणा मनसा वाचा यो द्विष्याद् विष्णुमव्ययम्।

मज्जन्ति पितरस्तस्य नरके शाश्वतीः समाः॥

भगवद्गीता (१६.१९-२०) में भगवान् कहते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

"जो लोग ईर्ष्यालु तथा दुर्जन हैं, जो मनुष्यों में सबसे नीच हैं, वे मेरे द्वारा इस संसार-सागर में जीवन की विविध आसुरी योनियों में डाल दिये जाते हैं। ऐसे लोग आसुरी योनियों में बारम्बार जन्म

लेने के कारण कभी भी मुझ तक नहीं पहुँच सकते। वे धीरे-धीरे अत्यन्त निकृष्ट जीवन में धँस जाते हैं।'' जो भगवान् की निन्दा करता है उसे असुरों के परिवार में डाल दिया जाता है, जिसमें भगवान् की सेवा के विस्मरण होने की पूरी-पूरी सम्भावना रहती है। भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (९.११-१२) में आगे और भी कहते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

जो मूढ़ अर्थात् धूर्त हैं, वे परमेश्वर की निन्दा करते हैं, क्योंकि वे मनुष्य की भाँति प्रकट होते हैं। वे भगवान् के अनन्त ऐश्वर्य को नहीं जानते।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतस:।

राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिता:॥

शत्रु भाव से जो कुछ भी किया जाता है, वह विफल होता है (*मोघाशा:*)। यदि ये शत्रु मुक्त होना चाहते हैं, या ब्रह्म में लीन होना चाहते हैं, यदि वे *कर्मियों* की भाँति उच्च लोकों में पहुँचने के इच्छुक हैं, अथवा यदि वे भगवद्धाम को ही वापस जाना चाहते हैं, तो उन्हें निश्चित रूप से निराश होना पड़ेगा।

जहाँ तक हिरण्यकशिपु की बात है, यद्यपि वह भगवान् से अत्यधिक शत्रुता रखता था, किन्तु वह अपने पुत्र के विषय में सदैव सोचा करता था, जो एक महान् भक्त था। अतएव अपने पुत्र प्रह्लाद महाराज की कृपा से हिरण्यकशिपु का भगवान् के द्वारा उद्धार हो गया।

हिरण्यकशिपुश्चापि भगवन्निन्दया तम:।

विवक्षुरत्यगात्सूनो: प्रह्लादस्यानुभावत:॥

निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य को शुद्ध भक्ति नहीं छोड़नी चाहिए। यहाँ तक कि निजी लाभ के लिए भी हिरण्यकशिपु या शिशुपाल का अनुकरण नहीं करना चाहिये। सफलता प्राप्त करने का यह तरीका नहीं है।

यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात् ।
न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चिता मति: ॥ २७॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; वैर-अनुबन्धेन—निरन्तर शत्रुता से; मर्त्यः—व्यक्ति; तत्-मयताम्—उनमें तल्लीनता; इयात्—प्राप्त कर सकता है; न—नहीं; तथा—उसी तरह; भक्ति-योगेन—भक्ति से; इति—इस प्रकार; मे—मेरा; निश्चिता—निश्चित; मतिः—मत, विचार।

नारद मुनि ने आगे बताया—मनुष्य को भक्ति द्वारा भगवान् के विचार में ऐसी गहन तल्लीनता प्राप्त नहीं हो सकती जितनी कि उनके प्रति शत्रुता के माध्यम से। ऐसा मेरा विचार है।

तात्पर्य : सर्वोच्च शुद्ध भक्त श्रीमान् नारद मुनि शिशुपाल जैसे कृष्ण के शत्रुओं की प्रशंसा करते हैं, क्योंकि उनके मन पूर्णतया सदा कृष्ण में लीन रहते हैं। निस्सन्देह, वह शत्रु अपने में कृष्णभावनामृत में पूर्णतया लीन न रहने का अभाव पाता है। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि कृष्ण के शत्रु कृष्ण के शुद्ध भक्तों से बढ़कर होते हैं। *चैतन्य-चरितामृत* (आदि ५.२०५) में कृष्णदास कविराज गोस्वामी भी इसी विनीत भाव से अपने विषय में सोचते हैं—

जगाइ माधाइ हैते मुञि से पापिष्ठ।
पुरीषेर कीट हैते मुञि से लघिष्ठ॥

"मैं जगाइ तथा माधाइ से भी निकृष्ट पापी हूँ और मैं मल के कीड़े से भी नीचे हूँ।" शुद्ध भक्त अपने को सदैव दूसरों से हीन समझता है। यदि कोई भक्त भगवान् की सेवा करने के निमित्त श्रीमती राधारानी के पास जाता है, तो वे भी यही सोचती हैं कि यह भक्त मुझसे बढ़कर है। इस तरह नारद मुनि कहते हैं कि उनके मतानुसार कृष्ण के शत्रु अच्छी स्थिति में होते हैं, क्योंकि वे इन विचारों में कि कृष्ण उनका वध करेंगे, पूर्णतया लीन रहते हैं जिस प्रकार अत्यन्त विषयी मनुष्य सदैव स्त्रियों तथा उनकी संगति के विषय में सोचता रहता है।

इस सम्बन्ध में मुख्य बात यह है कि मनुष्य को चौबीसों घण्टे कृष्ण के विचारों में लीन रहना चाहिये। वृन्दावन में दर्शित *राग-मार्ग* में अनेक भक्त हैं। चाहे *दास्य-रस* हो, *सख्य-रस* हो, *वात्सल्य-रस* हो या *माधुर्य-रस,* कृष्ण के भक्त सदैव कृष्ण के विचारों में अभिभूत रहते हैं। जब कृष्ण वृन्दावन से दूर जंगल में गौवें चराते तो गोपियाँ सदैव माधुर्य-रस में इन विचारों में मग्न रहती है कि कृष्ण जंगल में किस प्रकार विचरण करते होंगे। उनके पाँवों के तलवे इतने कोमल हैं कि गोपियाँ उनके चरणकमलों को अपने वक्षस्थलों पर रखने का साहस नहीं कर पातीं। निस्सन्देह, वे अपने वक्ष:स्थलों को कृष्ण के चरणकमलों के लिए बहुत कठोर स्थान समझती है, फिर भी वे चरणकमल जंगल में भ्रमण करते हैं, जो कांटेदार पौंधो से भरा हुआ है। गोपियाँ अपने-अपने घरों में ऐसे विचारों में मग्न

रहती हैं, यद्यपि कृष्ण उनसे दूर होते हैं। इसी तरह कृष्ण अपने तरुण मित्रों के साथ खेलते हैं, तो माता यशोदा को यही विचार सताता रहता है कि कृष्ण लगातार खेलते रहने के कारण ठीक से भोजन नहीं कर पाते, अतएव वे कमजोर पड़ते जा रहे हैं। ये उन आनन्दानुभूतियों के उदाहरण हैं, जो कृष्ण की सेवा करते समय वृन्दावन में प्रकट होती थीं। नारद मुनि ने इस श्लोक में इस सेवा की अप्रत्यक्ष प्रशंसा की है। विशेष रूप से बद्धजीवों के लिए नारद मुनि बताते हैं कि उन्हें किसी ना किसी तरह कृष्ण के विचारों में मग्न रहना चाहिये, क्योंकि इससे मनुष्य इस संसार के सारे भय से बच जावेगा। कृष्ण के विचारों में पूरी तरह निमग्न रहना भक्ति योग की चरम स्थिति है।

कीटः पेशस्कृता रुद्धः कुड्यायां तमनुस्मरन् ।
संरम्भभययोगेन विन्दते तत्स्वरूपताम् ॥ २८ ॥
एवं कृष्णे भगवति मायामनुज ईश्वरे ।
वैरेण पूतपाप्मानस्तमापुरनुचिन्तया ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

कीटः—कीड़ा; पेशस्कृता—मधुमक्खी (भृंगी) द्वारा; रुद्धः—बन्दी बनाया गया; कुड्यायाम्—दीवाल के छेद में; तम्—उस (मधुमक्खी) को; अनुस्मरन्—सोचते हुए; संरम्भ-भय-योगेन—अत्यधिक भय तथा शत्रुता के द्वारा; विन्दते—प्राप्त करता है; तत्—उस मक्खी का; स्व-रूपताम्—वही रूप; एवम्—इस प्रकार; कृष्णे—कृष्ण में; भगवति—भगवान्; माया-मनुजे—जो अपनी ही शक्ति से मनुष्य रूप में; ईश्वरे—परम; वैरेण—शत्रुता से; पूत-पाप्मानः—पापों से शुद्ध हुए; तम्—उसको; आपुः—प्राप्त किया; अनुचिन्तया—चिन्तन से।

एक मधुमक्खी (भृंगी) द्वारा दीवाल के छेद में बन्दी बनाया गया एक कीड़ा सदैव भय तथा शत्रुता के कारण उस मधुमक्खी के विषय में सोचता रहता है और बाद में मात्र चिन्तन से स्वयं मधुमक्खी बन जाता है। इसी प्रकार यदि सारे बद्धजीव किसी तरह सच्चिदानन्द विग्रह श्रीकृष्ण का चिन्तन करें, तो वे पापों से मुक्त हो जाएँगे। वे भगवान् को चाहे पूज्य रूप में मानें या शत्रु के रूप में, निरन्तर उनका चिन्तन करते रहने से उन सबों को आध्यात्मिक शरीर की पुनःप्राप्ति हो जाएगी।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (४.१०) में भगवान् कहते हैं—

वीतरागभयक्रोधा मन्माया मामुपाश्रिताः ।

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥

“आसक्ति, भय तथा क्रोध से मुक्त होकर मुझमें पूर्णतया लीन होकर तथा मेरी शरण ग्रहण करके

भूतकाल में अनेकानेक व्यक्ति मेरे ज्ञान से पवित्र बन गये हैं और इस तरह उन्होंने मेरे प्रति दिव्य प्रेम प्राप्त किया है।" कृष्ण के विषय में निरन्तर चिन्तन करते रहने के दो ढंग हैं—एक तो भक्त के रूप में और दूसरा शत्रु के रूप में। भक्त अपने ज्ञान तथा तपस्या से भय तथा क्रोध से मुक्त होकर शुद्ध भक्त बन जाता है। इसी तरह शत्रु यद्यपि कृष्ण के विषय में शत्रु भाव से सोचता है, किन्तु निरन्तर सोचते रहने से वह भी शुद्ध बन जाता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.३०) में अन्यत्र की गई है जहाँ भगवान् कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥

"यदि कोई अत्यन्त गर्हित कर्म भी करे किन्तु यदि वह भक्ति में लगा रहता है, तो उसे साधु समझना चाहिये, क्योंकि वह उचित ठीक तरह से स्थित है।" भक्त निस्सन्देह मनोयोग से भगवान् की पूजा करता है। इसी प्रकार यदि एक शत्रु (*सुदुराचारः*) सदैव कृष्ण का चिन्तन करता है, तो वह भी शुद्ध भक्त बन जाता है। यहाँ पर उस कीट का दृष्टान्त दिया गया है, जो उस मधुमक्खी (भृंगी) का निरन्तर चिन्तन करने के कारण जो उसे छेद में जबरदस्ती प्रविष्ट करा देती है, मधुमक्खी (भृंगी) बन जाता है। भयवश सदैव मधुमक्खी का चिन्तन करते रहने से कीड़ा मक्खी बनने लगता है। यह एक व्यावहारिक उदाहरण है। भगवान् कृष्ण इस भौतिक जगत में दो प्रयोजनों से प्रकट होते हैं—*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*—भक्तों की रक्षा करने तथा असुरों का संहार करने हेतु। साधुगण तथा भक्तगण सदैव भगवान् का चिन्तन करते रहते हैं, लेकिन कंस तथा शिशुपाल जैसे असुर या *दुष्कृती* भी कृष्ण का चिन्तन उन्हें मारने के उद्देश्य से करते हैं। कृष्ण का चिन्तन करने से असुर तथा भक्त दोनों ही माया के पाश से मुक्त हो जाते हैं।

इस श्लोक में *माया-मनुजे* शब्द आया है। जब भगवान् कृष्ण अपनी मूल आध्यात्मिक शक्ति में प्रकट होते हैं (*सम्भवाम्यात्ममायया*) तो उन्हें भौतिक प्रकृति के द्वारा निर्मित स्वरूप ग्रहण करने के लिए बाध्य नहीं होना पड़ता। अतएव भगवान् को *ईश्वर* अथवा माया का नियंत्रक कह कर सम्बोधित किया गया है। वे माया द्वारा नियंत्रित नहीं होते। जब कोई असुर शत्रुतावश उनका लगातार चिन्तन करता है, तो वह अपने जीवन के पापों से निश्चित रूप से मुक्त हो जाता है। कृष्ण के विषय में किसी

भी रूप में चिन्तन करना, चाहे वह उनके नाम, स्वरूप, गुण, साज-सामान या उनसे सम्बन्धित अन्य किसी रूप में हो, हर एक के लिए लाभप्रद होता है। *शृण्वतां स्वकथा: कृष्ण: पुण्यश्रवणकीर्तन:।* कृष्ण का चिन्तन, कृष्ण के पवित्र नामों का श्रवण या कृष्ण की लीलाओं का श्रवण—ये सभी शुद्ध बनाने वाले हैं और *तत्पश्चात्* मनुष्य भक्त बन जाता है। अतएव हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन हर एक को किसी न किसी प्रकार कृष्ण के पवित्र नाम को सुनने तथा कृष्ण का *प्रसाद* ग्रहण करने के लिए प्रेरित करने का प्रयास कर रहा है। इस तरह मनुष्य धीरे-धीरे भक्त बन जाएगा और उसका जीवन सफल हो सकेगा।

कामाद्द्वेषाद्भयात्स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मनः ।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

कामात्—काम से; द्वेषात्—घृणा से; भयात्—भय से; स्नेहात्—स्नेह से; यथा—तथा; भक्त्या—भक्ति से; ईश्वरे—ईश्वर में; मनः—मन; आवेश्य—लीन करके; तत्—उस; अघम्—पाप को; हित्वा—त्याग कर; बहवः—अनेक; तत्—उस; गतिम्—मुक्ति के मार्ग को; गताः—प्राप्त हुए।

अनेकानेक व्यक्तियों ने केवल अत्यन्त एकाग्रतापूर्वक कृष्ण का चिन्तन करके तथा पापपूर्ण कर्मों का त्याग करके मुक्ति प्राप्त की है। यह ध्यान कामवासनाओं, शत्रुतापूर्ण भावनाओं, भय, स्नेह या भक्ति के कारण हो सकता है। अब मैं यह बताऊँगा कि किस प्रकार से मनुष्य भगवान् में अपने मन को एकाग्र करके कृष्ण की कृपा प्राप्त करता है।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१०.३३.३९) में कहा गया है—

विक्रीड़ितं ब्रजवधूभिरिदं च विष्णोः

श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः।

भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं

हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥

यदि प्रामाणिक श्रोता कृष्ण व गोपियों की लीलाओं को, जो कामपूर्ण सी प्रतीत होती हैं, से सुनता है, तो उसके हृदय की कामवासना, जो बद्धजीव के हृदय रोग का कारण है, विनष्ट हो जाएगी और वह भगवान् का श्रेष्ठ भक्त बन जाएगा। यदि कोई कृष्ण के साथ गोपियों के विषयी आचरण के श्रवण मात्र से विषय-वासनाओं से मुक्त हो जाता है, तो निश्चित रूप से गोपियाँ कृष्ण के पास जाकर ऐसी समस्त

इच्छाओं से मुक्त हो गईं। इसी प्रकार शिशुपाल तथा अन्य लोग जो कृष्ण से अत्यधिक ईर्ष्या करते थे और निरन्तर कृष्ण का चिन्तन करते थे ईर्ष्या से मुक्त हो गये। नन्द महाराज तथा माता यशोदा स्नेह के कारण कृष्णभावनामृत में लीन रहते थे। जब मन किसी न किसी तरह कृष्ण में पूरी तरह लीन रहता है, तो भौतिक अंश तो तुरन्त लुप्त हो जाता है और आध्यात्मिक अंश—कृष्ण का आकर्षण—प्रकट हो जाता है। इससे परोक्षतः यह पुष्टि होती है कि यदि कोई ईर्ष्यावश ही कृष्ण का चिन्तन करता है, तो मात्र चिन्तन करने के कारण वह अपने समस्त पापों से मुक्त हो जाता है और शुद्ध भक्त बन जाता है। इसके उदाहरण अगले श्लोक में दिये गये हैं।

गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।
सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

गोप्यः—गोपियाँ; कामात्—काम-वासनाओं से; भयात्—भय से; कंसः—राजा कंस; द्वेषात्—द्वेष से; चैद्य-आदयः—शिशुपाल तथा अन्य; नृपाः—राजा; सम्बन्धात्—नाते से; वृष्णयः—वृष्णिजन या यादवगण; स्नेहात्—स्नेह से; यूयम्—तुम सब, सारे (पाण्डव); भक्त्या—भक्ति से; वयम्—हम सब; विभो—हे महान् राजा।

हे राजा युधिष्ठिर, गोपियाँ अपनी विषयवासना से, कंस भय से, शिशुपाल तथा अन्य राजा ईर्ष्या से, यदुगण कृष्ण के साथ पारिवारिक सम्बन्ध से, तुम सब पाण्डव कृष्ण के प्रति अपार स्नेह से तथा हम सारे सामान्य भक्त अपनी भक्ति से कृष्ण की कृपा को प्राप्त कर सके हैं।

तात्पर्य : विभिन्न प्रकार के लोग अपनी निजी प्रबल इच्छाओं के अनुसार जिसे *भाव* कहते हैं विभिन्न प्रकार की *मुक्ति* प्राप्त करते हैं यथा *सायुज्य,* सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य तथा सार्ष्टि। इस प्रकार यहाँ इसका वर्णन किया गया है कि गोपियाँ अपनी काम-वासनाओं के द्वारा भगवान् की सर्वाधिक प्रिय भक्तिनें बन सकीं, क्योंकि उनकी वासनाएँ कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेम पर आश्रित थीं। यद्यपि गोपियों ने वृन्दावन में प्रेमिकओं के रूप में (*परकीया रस*) अपनी काम-वासनाओं को प्रकट किया था किन्तु वास्तव में वे काम-वासनाएँ न थीं। आध्यात्मिक प्रगति के लिए यह महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि उनकी इच्छाएँ वासनायुक्त प्रतीत होती थीं, लेकिन वे भौतिक जगत की काम-वासनाएँ न थीं। *चैतन्य-चरितामृत* में आध्यात्मिक तथा भौतिक जगत की इच्छाओं की तुलना सोने तथा लोहे से की गई है। सोना तथा लोहा दोनों ही धातुएँ हैं, लेकिन उनके मूल्य में महान् अन्तर है। कृष्ण के प्रति गोपियों की काममय इच्छाओं की तुलना सोने से की गई है और भौतिक विषय-वासनाओं की तुलना लोहे से की

गई है।

कंस तथा कृष्ण के अन्य शत्रू ब्रह्म में विलीन हो गये, लेकिन कृष्ण के मित्रों तथा भक्तों को भी वही पद क्यों प्राप्त हो? कृष्ण के भक्त भगवान् के नित्य संगी के रूप में उनका सान्निध्य या तो वृन्दावन में या वैकुण्ठ लोक में प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार यद्यपि नारद मुनि तीनों लोकों में विचरण करते हैं, किन्तु वे नारायण की उत्तम भक्ति करते हैं (*ऐश्वर्यमान्*)। सारे वृन्दावन में वृष्णियों तथा यदुवों एवं कृष्ण के माता-पिता का कृष्ण से पारिवारिक सम्बन्ध है, लेकिन वृन्दावन में कृष्ण के पोष्य पिता तथा माता वसुदेव तथा देवकी से अधिक श्रेष्ठ हैं।

कतमोऽपि न वेनः स्यात्पञ्चानां पुरुषं प्रति ।
तस्मात्केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

कतमः अपि—कोई भी; न—नहीं; वेनः—नास्तिक राजा वेन; स्यात्—ग्रहण करेगा; पञ्चानाम्—पाँचों का (जिनका उल्लेख पहले हो चुका है); पुरुषम्—भगवान् के; प्रति—प्रति; तस्मात्—अतएव; केनापि—किसी भी; उपायेन—उपाय से; मनः—मनको; कृष्णे—कृष्ण में; निवेशयेत्—स्थिर करना चाहिये।

मनुष्य को किसी न किसी प्रकार से कृष्ण के स्वरूप पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। तब ऊपर बताई गई पाँच विधियों में से किसी एक के द्वारा वह भगवद्धाम वापस जा सकता है। लेकिन राजा वेन जैसे नास्तिक इन पाँचों विधियों में से किसी एक के द्वारा कृष्ण के स्वरूप का चिन्तन करने में असमर्थ होने से मोक्ष नहीं पा सकते। अतएव मनुष्य को चाहिए कि जैसे भी हो, चाहे मित्र बनकर या शत्रु बनकर, वह भगवान् का चिन्तन करे।

तात्पर्य : निर्विशेषवादी तथा नास्तिक कृष्ण के स्वरूप को सदैव तोड़ने-मरोड़ने का प्रयत्न करते हैं। यहाँ तक कि आधुनिक युग के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ तथा दार्शनिक भी *भगवद्गीता* से कृष्ण को विलग करना चाहते हैं। फलस्वरूप ऐसे लोगों के लिए कोई मोक्ष नहीं है। लेकिन कृष्ण के शत्रु सोचते हैं "यह रहा मेरा शत्रु कृष्ण! मुझे उसका वध करना है।" वे कृष्ण का चिन्तन उनके वास्तविक रूप में करते हैं, अतएव उन्हें मोक्ष प्राप्त होता है। अतएव भक्तगण जो कि कृष्ण के स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करते हैं, वे तो निश्चित रूप से मुक्ति प्राप्त करते हैं। मायावादी नास्तिकों का एकमात्र धन्धा रह गया है कृष्ण को रूपहीन बनाना। फलस्वरूप कृष्ण के चरणों कमलों में इस घोर अपराध के कारण वे मोक्ष की आशा नहीं कर सकते। इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*तेन*

शिशुपालादिभिन्नः प्रतिकूलभावं दिधीषुर्येन इव नरकं यातीति भावः। शिशुपाल के अतिरिक्त उन में से किसी को मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता हैं, जो विधि-विधानों के विरोधी है। उन्हें तो नरक मिलना ही होता है। विधि-विधान यही है कि सदैव कृष्ण का चिन्तन करो, चाहे मित्र रूप में हो या शत्रु रूप में।

मातृष्वस्रेयो वश्चैद्यो दन्तवक्रश्च पाण्डव ।
पार्षदप्रवरौ विष्णोर्विप्रशापात्पदच्युतौ ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

मातृ-स्वस्रेयः—मौसी का पुत्र (शिशुपाल); वः—तुम्हारा; चैद्यः—राजा शिशुपाल; दन्तवक्रः—दन्तवक्र; च—तथा; पाण्डव—हे पाण्डव; पार्षद-प्रवरौ—दोनों श्रेष्ठ पार्षद; विष्णोः—विष्णु के; विप्र—ब्राह्मणों के; शापात्—शाप से; पद—वैकुण्ठ लोक में अपने पद से; च्युतौ—गिरे हुए।

नारद मुनि ने आगे कहा : हे पाण्डवश्रेष्ठ, तुम्हारी मौसी के दोनों पुत्र तुम्हारे चचेरे भाई शिशुपाल तथा दन्तवक्र पहले भगवान् विष्णु के पार्षद थे, लेकिन ब्राह्मणों के शाप से वे वैकुण्ठ लोक से इस भौतिक जगत में आ गिरे।

तात्पर्य : शिशुपाल तथा दन्तवक्र सामान्य असुर न थे अपितु पहले वे भगवान् विष्णु के निजी पार्षद थे। वे इस भौतिक जगत में पतित हुए, लेकिन वास्तव में वे इस जगत में भगवान् की लीलाओं में सहायता करने आये थे।

श्रीयुधिष्ठिर उवाच
कीदृशः कस्य वा शापो हरिदासाभिमर्शनः ।
अश्रद्धेय इवाभाति हरेरेकान्तिनां भवः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

श्री-युधिष्ठिरः उवाच—महाराज युधिष्ठिर ने कहा; कीदृशः—किस प्रकार का; कस्य—किसका; वा—अथवा; शापः—श्राप; हरि-दास—हरि का सेवक; अभिमर्शनः—हरा कर; अश्रद्धेयः—अविश्वसनीय; इव—मानो; आभाति—प्रकट होता है; हरेः—हरि का; एकान्तिनाम्—उनका जो श्रेष्ठ पार्षदों के रूप में अनुरक्त हैं; भवः—जन्म।

महाराज युधिष्ठिर ने पूछा : किस प्रकार के महान् श्राप ने मुक्त विष्णु-भक्तों को भी प्रभावित किया और किस तरह का व्यक्ति भगवान् के भी पार्षदों को श्राप दे सका? भगवान् के दृढ़ भक्तों के लिए इस भौतिक जगत में फिर से आ गिरना असम्भव है। मैं इस पर विश्वास नहीं कर सकता।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (८.१६) में भगवान् स्पष्ट कहते हैं—*मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते*—जो भौतिक कल्मष से शुद्ध हो चुका है और भगवद्धाम वापस जा चुका होता है, वह फिर

कभी इस भौतिक जगत में नहीं लौटता। *भगवद्गीता* (४.९) में अन्यत्र कृष्ण कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो मेरे प्राकट्य तथा मेरे कर्मों की दिव्य प्रकृति को जान लेता है, वह शरीर त्यागने के बाद इस भौतिक जगत में पुन: जन्म धारण नहीं करता, अपितु मेरे नित्य धाम को प्राप्त होता है।" अतएव महाराज युधिष्ठिर आश्चर्यचकित थे कि शुद्ध भक्त इस भौतिक जगत में लौट सकता है—यह निश्चय ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम् ।
देहसम्बन्धसम्बद्धमेतदाख्यातुमर्हसि ॥ ३५॥

शब्दार्थ

देह—भौतिक शरीर की; इन्द्रिय—इन्दियाँ; असु—प्राण; हीनानाम्—जो रहित हैं उनका; वैकुण्ठ-पुर—वैकुण्ठ के; वासिनाम्—निवासियों का; देह-सम्बन्ध—भौतिक शरीर में; सम्बद्धम्—बन्धन; एतत्—यह; आख्यातुम् अर्हसि—कृपया वर्णन करें।

वैकुण्ठवासियों के शरीर पूर्णतया आध्यात्मिक होते हैं, उनको भौतिक शरीर से, इन्द्रियों या प्राण से कुछ लेना-देना नहीं रहता। अतएव कृपा करके बताइये कि किस तरह भगवान् के पार्षदों को सामान्य व्यक्तियों की तरह भौतिक शरीर में अवतरित होने का श्राप दिया गया?

तात्पर्य : इस अति महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर दे पाना सामान्य व्यक्ति के लिए कठिन होगा किन्तु *महाजन* होने के कारण नारद मुनि इसका उत्तर दे सकते थे। अतएव महाराज युधिष्ठिर ने उनसे यह कहकर—*एतद् आख्यातुम् अर्हसि*—कि आप ही इसका कारण बता सकते हैं, प्रश्न पूछा। प्रामाणिक स्रोतों से पता चल सकता है कि भगवान् विष्णु के जो पार्षद इस वैकुण्ठ लोक से नीचे आते हैं, वे वास्तव में पतित नहीं होते। वे भगवान् की इच्छा पूरी करने के लिए इस भौतिक जगत में अवतरित होते हैं और उनका इस प्रकार का अवतरण भगवान् के ही समान होता है। भगवान् इस भौतिक जगत में अपनी अन्तरंगा शक्ति के माध्यम से आते हैं। इसी प्रकार जब भगवद्भक्त या भगवान् का पार्षद इस जगत में अवतरित होता है, तो वह आध्यात्मिक शक्ति के बल पर ऐसा करता है। भगवान् द्वारा सम्पन्न कोई भी लीला *योगमाया* द्वारा व्यवस्थित की जाती है, *महामाया* द्वारा नहीं। अतएव यह समझना चाहिए कि जब जय तथा विजय इस भौतिक जगत में अवतरित हुए तो वे इसलिए आये, क्योंकि उन्हें भगवान्

के लिये कुछ करना था। अन्यथा यह तथ्य है कि कोई भी वैकुण्ठ से नीचे पतित नहीं होता।

निस्सन्देह, जो जीव *सायुज्य मुक्ति* का इच्छुक है, वह कृष्ण के ब्रह्मतेज में रहता जाता है, जो कृष्ण के शरीर पर आश्रित है (*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*)। ऐसी निर्विशेषवादी का जो ब्रह्मतेज की शरण ग्रहण करता है पतन अवश्यम्भावी है। इसका उल्लेख शास्त्र (भागवत १०.२.३२) में हुआ है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्।

त्वय्यस्तभावाद् अविशुद्धबुद्धय: ।

आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं तत:

पतन्त्यधोऽनादृतयुस्मदङ्घ्रय: ॥

"हे भगवान्! उनकी बुद्धि अशुद्ध है, जो अपने को मुक्त तो मानते हैं, किन्तु जिनमें भक्ति नहीं होती। भले ही वे कठोर तपस्या द्वारा सर्वोच्च बिन्दु को क्यों न प्राप्त कर लें, वे इस भौतिक जगत में पुन: अवश्य गिरते हैं, क्योंकि वे आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं करते।" चूँकि निर्विशेषवादी भगवान् का पार्षद बनने वैकुण्ठ लोक तक नहीं पहुँच पाते, अतएव उनकी इच्छाओं के अनुसार कृष्ण उन्हें *सायुज्य मुक्ति* प्रदान करते हैं। फिर भी, चूँकि सायुज्य मुक्ति अधूरी मुक्ति है, अतएव वे इस जगत में फिर आ गिरते हैं। जब यह कहा जाता है कि कोई जीवात्मा ब्रह्मलोक से च्युत होता है, तो यह निर्विशेषवादी पर लागू होता है।

प्रामाणिक स्रोतों से पता चलता है कि जय-विजय को इस भौतिक जगत में भगवान् की युद्ध करने की इच्छा-पूर्ति के लिये भेजा गया था। भगवान् को भी कभी-कभी युद्ध करने की इच्छा होती है, किन्तु भगवान् के परम विश्वसनीय भक्त के अतिरिक्त उनसे कौन युद्ध कर सकता है? जय-विजय भगवान् की इच्छा-पूर्ति के लिये ही इस जगत में अवतरित हुए। अतएव उनके तीनों जन्मों में सर्वप्रथम हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु के रूप में, फिर रावण तथा कुम्भकर्ण के रूप में और अन्त में शिशुपाल तथा दन्तवक्र के रूप में उन्हें भगवान् ने अपने हाथों से मारा। दूसरे शब्दों में, जय-विजय नामक भगवान् के पार्षद भगवान् की युद्ध करने की इच्छा पूरी करने के लिए इस भौतिक जगत में अवतरित हुए। अन्यथा जैसाकि महाराज युधिष्ठिर कहते हैं—*अश्रद्धेय इवाभाति*—कि भगवान् का दास वैकुण्ठ से नीचे गिरता है अविश्वसनीय प्रतीत होता है। इस जगत में जय-विजय किस प्रकार आये इसकी

विवेचना नारद मुनि द्वारा आगे की गई है।

श्रीनारद उवाच

एकदा ब्रह्मणः पुत्रा विष्णुलोकं यदृच्छया ।
सनन्दनादयो जग्मुश्चरन्तो भुवनत्रयम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; एकदा—एक बार; ब्रह्मणः—ब्रह्माजी के; पुत्राः—पुत्र; विष्णु—भगवान् विष्णु के; लोकम्—लोक में; यदृच्छया—संयोगवश; सनन्दन-आदयः—सनन्दन तथा अन्य; जग्मुः—गये; चरन्तः—विचरण करते; भुवन-त्रयम्—तीनों लोकों में।

परम साधु नारद ने कहा—एक बार ब्रह्मा के चारों पुत्र जिनके नाम सनक, सनन्दन, सनातन तथा सनत्कुमार हैं, तीनों लोकों का विचरण करते हुए संयोगवश विष्णुलोक में आये।

पञ्चषड्ढायनार्भाभाः पूर्वेषामपि पूर्वजाः ।
दिग्वाससः शिशून्मत्वा द्वाःस्थौ तान्प्रत्यषेधताम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

पञ्च-षट्-धा—पाँच या छः वर्ष; आयन—लगभग; अर्भ-आभाः—बालकों जैसे; पूर्वेषाम्—ब्रह्माण्ड के पुराने लोग (मरीचि तथा अन्य); अपि—यद्यपि; पूर्व-जाः—पहले उत्पन्न; दिक्-वाससः—नंगे होने से; शिशून्—बच्चे; मत्वा—सोचकर; द्वाः-स्थौ—दो द्वारपालों, जय तथा विजय ने; तान्—उनको; प्रत्यषेधताम्—मना किया।

यद्यपि ये चारों महर्षि मरीचि आदि ब्रह्मा के अन्य पुत्रों की अपेक्षा बड़े थे, किन्तु वे पाँच या छः वर्ष के छोटे-छोटे नंगे बच्चों जैसे प्रतीत हो रहे थे। जय तथा विजय नामक इन द्वारपालों ने जब उन्हें वैकुण्ठलोक में प्रवेश करने का प्रयास करते देखा तो सामान्य बच्चे समझ कर उन्हें प्रवेश करने से मना कर दिया।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य अपने ग्रंथ *तन्त्र सार* में कहते हैं—

द्वाःस्थावित्यनेनाधिकार-स्थत्वमुक्तम्-

अधिकारस्थिताश्चैव विमुक्तश्च द्विधा जनाः।

विष्णुलोकस्थितास्तेषां वरशापादियोगिनः॥

अधिकारस्थितां मुक्तिं नियतं प्राप्नुवन्ति च।

विमुक्त्यनन्तरं तेषां वर शापादयो ननु॥

देहेन्द्रियासुयुक्तश्च पूर्वं पश्चान्न तैर्युताः।

अप्यभिमानिभिस्तेषां देवैः स्वात्मोत्तमैर्युताः॥

सारांश यह है कि वैकुण्ठलोक में भगवान् विष्णु के निजी पार्षद सदैव मुक्तात्माएँ हैं। यदि कभी उन्हें वर प्राप्त होता है या शाप दिया जाता है, तो भी वे सदैव मुक्त रहते हैं और वे प्रकृति के भौतिक गुणों से कभी कलुषित नहीं होते। वैकुण्ठलोक में मुक्ति के पूर्व उन्हें भौतिक शरीर प्राप्त थे, किन्तु एक बार वैकुण्ठलोक आ जाने पर उनके वे शरीर नहीं रहे। अतएव भगवान् विष्णु के पार्षदों को यदि कभी शापवश अवतरित होना पड़ता है, तो भी वे सदैव मुक्त रहते हैं।

अशपन्कुपिता एवं युवां वासं न चार्हथः ।
रजस्तमोभ्यां रहिते पादमूले मधुद्विषः ।
पापिष्ठामासुरीं योनिं बालिशौ यातमाश्वतः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

अशपन्—शाप दिया; कुपिताः—क्रोध से भर कर; एवम्—इस प्रकार; युवाम्—तुम दोनों; वासम्—निवास स्थान; न—नहीं; च—तथा; अर्हथः—योग्य हो; रजः-तमोभ्याम्—रजो तथा तमो गुणों से; रहिते—रहित; पाद-मूले—चरण कमलों पर; मधु-द्विषः—मधु असुर का वध करने वाले विष्णु के; पापिष्ठाम्—अत्यन्त पापी; आसुरीम्—आसुरी; योनिम्—योनि में, गर्भ में; बालिशौ—अरे तुम दोनों मूर्ख; यातम्—जाओ; आशु—शीघ्र; अतः—इसलिए।

जय तथा विजय नामक द्वारपालों द्वारा इस प्रकार रोके जाने पर सनन्दन तथा अन्य मुनियों ने क्रोधपूर्वक उन्हें श्राप दे दिया। उन्होंने कहा—''अरे दोनों मूर्ख द्वारपालों, तुम रजो तथा तमो गुणों से क्षुभित होने के कारण मधुद्विष के चरण-कमलों की शरण में रहने के अयोग्य हो, क्योंकि वे ऐसे गुणों से रहित हैं। तुम्हारे लिए श्रेयस्कर होगा कि तुरन्त ही भौतिक जगत में जाओ और अत्यन्त पापी असुरों के परिवार में जन्म ग्रहण करो।''

एवं शप्तौ स्वभवनात्पतन्तौ तौ कृपालुभिः ।
प्रोक्तौ पुनर्जन्मभिर्वां त्रिभिर्लोकाय कल्पताम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; शप्तौ—शापित होकर; स्व-भवनात्—अपने निवास वैकुण्ठ से; पतन्तौ—गिरते हुए; तौ—वे दोनों (जय तथा विजय); कृपालुभिः—दयालु मुनियों (सनन्दन आदि) द्वारा.); प्रोक्तौ—सम्बोधित किये; पुनः—फिर; जन्मभिः—जन्मों से; वाम्—तुम्हारे; त्रिभिः—तीन; लोकाय—पद के लिए; कल्पताम्—सम्भव हो।

मुनियों द्वारा इस प्रकार शापित होकर जब जय तथा विजय भौतिक जगत में गिर रहे थे तो उन मुनियों ने उन पर दया करके इस प्रकार सम्बोधित किया, ''हे द्वारपालो, तुम तीन जन्मों के बाद वैकुण्ठलोक में अपने-अपने पदों पर लौट सकोगे, क्योंकि तब श्राप की अवधि समाप्त हो चुकी होगी।''

जज्ञाते तौ दितेः पुत्रौ दैत्यदानववन्दितौ ।
हिरण्यकशिपुर्ज्येष्ठो हिरण्याक्षोऽनुजस्ततः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

जज्ञाते—उत्पन्न हुए; तौ—वे दोनों; दितेः—दिति के; पुत्रौ—दो पुत्र; दैत्य-दानव—समस्त असुरों से; वन्दितौ—पूजित; हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु; ज्येष्ठः—बड़ा; हिरण्याक्षः—हिरण्याक्ष; अनुजः—छोटा; ततः—तत्पश्चात्।.

भगवान् के ये दोनों पार्षद, जय तथा विजय, बाद में दिति के दो पुत्रों के रूप में जन्म लेकर इस भौतिक जगत में अवतरित हुए। इनमें हिरण्यकशिपु बड़ा और हिरण्याक्ष छोटा था। सारे दैत्यों तथा दानवों (आसुरी योनियाँ) द्वारा दोनों का अत्यधिक सम्मान किया जाता था।

हतो हिरण्यकशिपुर्हरिणा सिंहरूपिणा ।
हिरण्याक्षो धरोद्धारे बिभ्रता शौकरं वपुः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

हतः—मारा गया; हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु; हरिणा—हरि या विष्णु द्वारा; सिंह-रूपिणा—शेर के (भगवान् नृसिंह के) रूप में; हिरण्याक्षः—हिरण्याक्ष; धरा-उद्धारे—पृथ्वी उठाने के लिए; बिभ्रता—धारण करके; शौकरम्—सूकर जैसा; वपुः—स्वरूप।.

भगवान् श्री हरि ने नृसिंह देव के रूप में प्रकट होकर हिरण्यकशिपु का वध किया। जब भगवान् गर्भोदक सागर में गिरी हुई पृथ्वी का उद्धार कर रहे थे तो हिरण्याक्ष ने उन्हें रोकने का प्रयत्न किया और बाद में भगवान् ने वराह के रूप में हिरण्याक्ष का वध कर दिया।

हिरण्यकशिपुः पुत्रं प्रह्लादं केशवप्रियम् ।
जिघांसुरकरोन्नाना यातना मृत्युहेतवे ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु; पुत्रम्—पुत्र; प्रह्लादम्—प्रह्लाद महाराज को; केशव-प्रियम्—केशव का प्रिय भक्त; जिघांसुः—मारने की इच्छा से; अकरोत्—किया; नाना—विविध; यातनाः—यातनाएँ; मृत्यु—मृत्यु; हेतवे—के हेतु।.

हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद को, जो भगवान् विष्णु का महान् भक्त था, मारने के लिए नाना प्रकार के कष्ट दिये।

तं सर्वभूतात्मभूतं प्रशान्तं समदर्शनम् ।
भगवत्तेजसा स्पृष्टं नाशक्नोद्धन्तुमुद्यमैः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; सर्व-भूत-आत्म-भूतम्—समस्त जीवों में आत्मा; प्रशान्तम्—शान्त किन्तु घृणा आदि से रहित.; सम-दर्शनम्—समदर्शी; भगवत्-तेजसा—भगवान् की शक्ति से; स्पृष्टम्—सुरक्षित; न—नहीं; अशक्नोत्—समर्थ हुआ; हन्तुम्—मारने में; उद्यमैः—महान् प्रयत्नों तथा विविध अस्त्रों के द्वारा।

समस्त जीवों के परमात्मा भगवान् गम्भीर शान्त तथा समदर्शी हैं। चूँकि महान् भक्त प्रह्लाद भगवान् की शक्ति द्वारा सुरक्षित था, अतएव हिरण्यकशिपु नाना प्रकार के यत्न करने पर भी उसे मारने में असमर्थ रहा।

तात्पर्य : इस श्लोक में *सर्वभूतात्मभूतम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*—भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में समान भाव से स्थित हैं। अतएव न उनका किसी से द्वेष है, न मित्रता। उनके लिए सभी समान हैं। यद्यपि कभी-कभी वे किसी को दण्ड देते पाये जाते हैं, किन्तु यह वैसे ही है जैसे कि बच्चे के कल्याण के लिए पिता बच्चे को दण्ड देता है। भगवान्-प्रदत्त दण्ड भगवान् की समदर्शिता का सूचक है। अतएव भगवान् को *प्रशान्तं समदर्शनम्* कहा गया है। यद्यपि भगवान् को अपनी इच्छा की पूर्ति ठीक से करनी होती है, तो भी वे सभी परिस्थितियों में समभाव बने रहते हैं। वे सबके प्रति समदर्शी हैं।

ततस्तौ राक्षसौ जातौ केशिन्यां विश्रवःसुतौ ।
रावणः कुम्भकर्णश्च सर्वलोकोपतापनौ ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; तौ—दोनों द्वारपाल (जय तथा विजय); राक्षसौ—असुर; जातौ—उत्पन्न; केशिन्याम्—केशिनी के गर्भ से; विश्रवः-सुतौ—विश्रवा के पुत्र; रावणः—रावण; कुम्भकर्णः—कुम्भकर्ण; च—तथा; सर्व-लोक—सभी लोगों को; उपतापनौ—कष्ट देने वाले।

तत्पश्चात् भगवान् विष्णु के दोनों द्वारपाल जय तथा विजय रावण तथा कुम्भकर्ण के रूप में विश्रवा द्वारा केशिनी के गर्भ से उत्पन्न किए गये। वे ब्रह्माण्ड के समस्त लोगों को अत्यधिक कष्टप्रद थे।

तत्रापि राघवो भूत्वा न्यहनच्छापमुक्तये ।
रामवीर्यं श्रोष्यसि त्वं मार्कण्डेयमुखात्प्रभो ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तत्र अपि—तत्पश्चात्; राघवः—भगवान् रामचन्द्र के रूप में; भूत्वा—प्रकट होकर; न्यहनत्—वध किया; शाप-मुक्तये—शाप-मुक्त करने के लिए; राम-वीर्यम्—भगवान् राम का पराक्रम; श्रोष्यसि—सुनोगे; त्वम्—तुम; मार्कण्डेय-मुखात्—ऋषि मार्कण्डेय के मुख से; प्रभो—हे प्रभु।

नारद मुनि ने आगे कहा : हे राजा, जय तथा विजय को ब्राह्मणों के शाप से मुक्त करने के

लिए भगवान् रामचन्द्र रावण तथा कुम्भकर्ण का वध करने के लिए प्रकट हुए। अच्छा होगा कि तुम भगवान् रामचन्द्र के कार्यकलापों के विषय में मार्कण्डेय से सुनो।

तावत्र क्षत्रियौ जातौ मातृष्वस्रात्मजौ तव ।
अधुना शापनिर्मुक्तौ कृष्णचक्रहतांहसौ ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

तौ—दोनों; अत्र—यहाँ, तीसरे जन्म में; क्षत्रियौ—क्षत्रिय अथवा राजा; जातौ—उत्पन्न; मातृ-स्वसृ-आत्म-जौ—मौसी के पुत्र; तव—तुम्हारी; अधुना—अब; शाप-निर्मुक्तौ—शाप से मुक्त; कृष्ण-चक्र—कृष्ण के चक्र द्वारा; हत—विनष्ट; अंहसौ—जिसके पाप।.

तीसरे जन्म में वही जय तथा विजय क्षत्रियों के कुल में तुम्हारी मौसी के पुत्रों के रूप में तुम्हारे मौसरे भाई बने हैं। चूँकि भगवान् कृष्ण ने उनका वध अपने चक्र से किया है, अतएव उनके सारे पाप नष्ट हो चुके हैं और अब वे शाप से मुक्त हैं।

तात्पर्य : अपने अन्तिम जन्म में जय तथा विजय राक्षस नहीं बने, अपितु उन्होंने सुप्रसिद्ध क्षत्रिय कुल में जन्म लिया जिसका सम्बन्ध कृष्ण के परिवार से था। वे भगवान् कृष्ण के मौसेरे भाई बने और लगभग उन्हीं के समान पद पर थे। भगवान् ने स्वयं अपने चक्र द्वारा उन्हें मार कर ब्राह्मणों के शाप से बचे हुए पापों को भी नष्ट कर दिया। नारद मुनि ने महाराज युधिष्ठिर को बताया कि शिशुपाल भगवान् कृष्ण के शरीर में प्रवेश करके उनके पार्षद के रूप में पुन: वैकुण्ठ लोक में प्रविष्ट हुआ। इस घटना को सबों ने देखा था।

वैरानुबन्धतीव्रेण ध्यानेनाच्युतसात्मताम् ।
नीतौ पुनर्हरेः पार्श्वं जग्मतुर्विष्णुपार्षदौ ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

वैर-अनुबन्ध—घृणा का बन्धन; तीव्रेण—तीव्र; ध्यानेन—ध्यान से; अच्युत-सात्मताम्—अच्युत भगवान् के तेज को; नीतौ—प्राप्त किया; पुनः—फिर; हरेः—हरि का; पार्श्वम्—सान्निध्य; जग्मतुः—वे पहुँचे; विष्णु-पार्षदौ—भगवान् विष्णु के द्वारपाल पार्षद।.

भगवान् विष्णु के ये दोनों पार्षद, जय तथा विजय, दीर्घकाल तक शत्रुता का भाव बनाये रहे। इस प्रकार कृष्ण के विषय में सदैव चिन्तन करते रहने से भगवद्धाम जाने पर उन्हें पुन: भगवान् की शरण प्राप्त हो गई।

तात्पर्य : जय-विजय चाहे जिस अवस्था में रहे हों, किन्तु वे सदैव कृष्ण का स्मरण करते रहे।

अतएव *मौषल लीला* के अन्त में ये दोनों पार्षद कृष्ण के पास लौट गये। कृष्ण के शरीर तथा नारायण के शरीर में कोई अन्तर नहीं है। अतएव देखने में यद्यपि वे कृष्ण के शरीर में प्रविष्ट हुए किन्तु वास्तव में वे विष्णु के द्वारपालों के रूप में वैकुण्ठ लोक में पुन: प्रविष्ट हुए। वे कृष्ण के शरीर से होकर वैकुण्ठ लोक लौटे, यद्यपि ऐसा प्रतीत हुआ कि उन्हें कृष्ण के शरीर में *सायुज्य मुक्ति* प्राप्त हुई।

श्रीयुधिष्ठिर उवाच
विद्वेषो दयिते पुत्रे कथमासीन्महात्मनि ।
ब्रूहि मे भगवन्येन प्रह्लादस्याच्युतात्मता ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

श्री-युधिष्ठिरः उवाच—महाराज युधिष्ठिर ने कहा; विद्वेषः—घृणा, द्वेष; दयिते—अपने प्रिय; पुत्रे—पुत्र के लिए; कथम्—किस प्रकार; आसीत्—था; महा-आत्मनि—महान् आत्मा, प्रह्लाद; ब्रूहि—कृपया कहें; मे—मुझे; भगवन्—हे श्रेष्ठ मुनि; येन—जिससे; प्रह्लादस्य—प्रह्लाद महाराज की; अच्युत—अच्युत से; आत्मता—आत्मीयता, अत्यधिक आसक्ति।

महाराज युधिष्ठिर ने पूछा : हे नारद मुनि, हिरण्यकशिपु तथा उसके प्रिय पुत्र प्रह्लाद महाराज के बीच ऐसी शत्रुता क्यों थी? प्रह्लाद महाराज भगवान् कृष्ण के इतने बड़े भक्त कैसे बने? कृपया यह मुझे बतायें।

तात्पर्य : कृष्ण के सारे भक्त *अच्युतात्मा* कहलाते हैं, क्योंकि वे प्रह्लाद महाराज के पदचिह्नों पर चलते हैं। अच्युत का अर्थ है कभी चूक न करने वाले भगवान् विष्णु, क्योंकि उनका हृदय सदैव अच्युत है। चूँकि भक्तगण अच्युत से जुड़े होते हैं, अतएव वे *अच्युतात्मा* कहलाते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कंध के अन्तर्गत "समदर्शी भगवान्" नामक प्रथम अध्याय के भक्ति वेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दो

असुरराज हिरण्यकशिपु

जैसाकि इस अध्याय में बताया जाएगा, हिरण्याक्ष के विनाश के बाद उसके पुत्र तथा उसका भाई हिरण्यकशिपु अत्यधिक दुखी हुए। हिरण्यकशिपु ने सामान्य लोगों के धार्मिक कार्यकलापों को कम करने के प्रयास में अनेक पाप किये। किन्तु उसने अपने भतीजों को एक इतिहास का उपदेश दिया जिससे उनके शोक कम हो सकें।

जब भगवान् ने शूकर के रूप में प्रकट होकर हिरण्यकशिपु के भाई हिरण्याक्ष को मार डाला तो हिरण्यकशिपु अत्यन्त दुखी हुआ। क्रोध में आकर उसने भगवान् पर आरोप लगाया कि वे अपने भक्तों का पक्षपात करते हैं। उसने अपने भाई को मारने के लिए भगवान् द्वारा वराह रूप धारण करने की हँसी भी उड़ाई। वह सारे असुरों तथा राक्षसों को उत्तेजित करने लगा और शान्त मुनियों तथा पृथ्वी के अन्यवासियों के अनुष्ठानों में विघ्न डालने लगा। यज्ञ न कर पाने से सारे देवता पृथ्वी पर छिपे–छिपे विचरण करने लगे।

अपने भाई का अग्निदाह करने के बाद हिरण्यकशिपु अपने भतीजों से शास्त्रों से उद्धरण दे देकर जीवन की सच्चाई के विषय में बातें करता रहा। वह उन्हें सान्त्वना देने के उद्देश्य से बोला "हे भतीजो! वीरों के लिए शत्रु के समक्ष मरना यशपूर्ण होता है। सारे जीव अपने–अपने सकाम कर्मों के अनुसार इस संसार में साथ–साथ आते हैं और प्रकृति के नियमों द्वारा फिर विलग हो जाते हैं। किन्तु हमें यह सदैव जानना चाहिए कि आत्मा, जो कि शरीर से भिन्न है, शाश्वत्, अविकारी, शुद्ध, सर्वव्यापी तथा सर्वज्ञ है। भौतिक शक्ति से बद्ध होने पर आत्मा उच्च या निम्न योनियों में विभिन्न साहचर्यों में जन्म लेता है और इस तरह अनेक प्रकार के शरीर प्राप्त करता है, जिसमें वह सुख तथा दुख भोगता है। इस संसार की दशाओं से पीड़ित होना ही सुख तथा दुख का कारण है; इसके अन्य कारण नहीं होते और मनुष्य को कर्म की ऊपरी क्रियाओं को देखकर शोक–संतप्त नहीं होना चाहिए।"

तत्पश्चात् हिरण्यकशिपु ने उशीनर नरेश सुयज्ञ से सम्बन्धित एक ऐतिहासिक घटना कह सुनाई। जब राजा का वध हो गया तो उसकी शोक–संतप्त रानियों को जो उपदेश दिया गया था उसे भी हिरण्यकशिपु ने अपने भतीजों को कह सुनाया। उसने *कुलिंग* पक्षी का वृतान्त सुनाया जो अपनी पत्नी के शोक में मग्न होने पर एक व्याध के बाण से विद्ध हो गया। उसी ने उसकी पत्नी को बाण से मार डाला था। इन कथाओं को सुनाकर हिरण्यकशिपु ने अपने भतीजों तथा अन्य सम्बन्धियों को सान्त्वना प्रदान की और उन्हें शोक से मुक्त किया। इस तरह शान्त होने पर हिरण्यकशिपु की माता दिति तथा अनुजवधू रुषाभानु ने अपना मन आध्यात्मिक विचारों में लगा दिया।

श्रीनारद उवाच

भ्रातर्येवं विनिहते हरिणा क्रोडमूर्तिना ।

हिरण्यकशिपू राजन्पर्यतप्यद्रुषा शुचा ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; भ्रातरि—जब उसका भाई (हिरण्याक्ष); एवम्—इस प्रकार; विनिहते—मार डाला गया; हरिणा—हरि द्वारा; क्रोड-मूर्तिना—वराह के रूप में; हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु ने; राजन्—हे राजा; पर्यतप्यत्—पीड़ित; रुषा—क्रोध से; शुचा—शोक से।

श्री नारद मुनि ने कहा : हे राजा युधिष्ठिर, जब भगवान् विष्णु ने वराह रूप धारण करके हिरण्याक्ष को मार डाला, तो हिरण्याक्ष का भाई हिरण्यकशिपु अत्यधिक क्रुद्ध हुआ और विलाप करने लगा।

तात्पर्य : युधिष्ठिर ने नारद मुनि से पूछा था कि हिरण्यकशिपु अपने ही पुत्र प्रह्लाद से इतनी ईर्ष्या क्यों करता था? अतएव नारद मुनि ने कथा कहनी प्रारम्भ की जिस तरह हिरण्यकशिपु भगवान् विष्णु का दृढ़ वैरी बन गया था।

आह चेदं रुषा पूर्णः सन्दष्टदशनच्छदः ।
कोपोज्ज्वलद्भ्यां चक्षुर्भ्यां निरीक्षन्धूम्रमम्बरम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

आह—कहा; च—तथा; इदम्—यह; रुषा—क्रोध; पूर्णः—भरा हुआ; सन्दष्ट—काट दिया गया; दशन-छदः—जिसके होठ; कोप-उज्ज्वलद्भ्याम्—क्रोध से जलता हुआ; चक्षुर्भ्याम्—आँखों से; निरीक्षन्—देखते हुए; धूम्रम्—धूमिल; अम्बरम्—आकाश को।

क्रोध से भरकर तथा अपने होठ काटते हुए हिरण्यकशिपु ने क्रोध से जलती हुई आँखों से आकाश को देखा तो वह सारा आकाश धूमिल हो गया। इस प्रकार वह बोलने लगा।

तात्पर्य : असुर सदैव की भाँति भगवान् के प्रति ईर्ष्या करते हैं और उनसे शत्रुता रखते हैं। हिरण्यकशिपु ने भगवान् विष्णु को मारने तथा उनके धाम वैकुण्ठलोक को विध्वंस करने का विचार किया तो ये उसके शरीर के उद्वेग थे।

करालदंष्ट्रोग्रदृष्ट्या दुष्प्रेक्ष्यभ्रुकुटीमुखः ।
शूलमुद्यम्य सदसि दानवानिदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

कराल-दंष्ट्र—भयानक दाँतों से; उग्र-दृष्ट्या—तथा भयानक दृष्टि से; दुष्प्रेक्ष्य—देखने में भयावह; भ्रु-कुटी—रोषपूर्ण भौहों से; मुखः—जिसका मुँह; शूलम्—त्रिशूल को; उद्यम्य—उठाते हुए; सदसि—सभा में; दानवान्—असुरों से; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा।

अपने भयानक दाँत, उग्र दृष्टि तथा रोषपूर्ण भौहों को दिखाते हुए, देखने में भयानक उसने

अपना त्रिशूल धारण किया और अपने एकत्र असुर संगियों से इस प्रकार कहा।

भो भो दानवदैतेया द्विमूर्धंस्त्र्यक्ष शम्बर ।
शतबाहो हयग्रीव नमुचे पाक इल्वल ॥ ४॥
विप्रचित्ते मम वचः पुलोमन्शकुनादयः ।
शृणुतानन्तरं सर्वे क्रियतामाशु मा चिरम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

भोः—अरे; भोः—अरे; दानव-दैतेयाः—दानवों तथा दैत्यों; द्वि-मूर्धन्—द्विमूर्ध (दो सिर वाला); त्रि-अक्ष—त्र्यक्ष (तीन नेत्रों वाला); शम्बर—शम्बर; शत-बाहो—शतबाहु (सौ भुजाओं वाला); हयग्रीव—हयग्रीव (घोड़ेका सिर वाला); नमुचे—नमुचि; पाक—पाक; इल्वल—इल्वल; विप्रचित्ते—विप्रचित्ति; मम—मेरे; वचः—शब्द; पुलोमन्—पुलोम; शकुन—शकुन; आदयः—इत्यादि; शृणुत—सुनो तो; अनन्तरम्—तत्पश्चात्; सर्वे—सभी; क्रियताम्—किया जाये; आशु—शीघ्र; मा—मत; चिरम्—देर करो।

अरे दानवो और दैत्यो, अरे द्विमूर्ध, त्र्यक्ष, शम्बर तथा शतबाहु, अरे हयग्रीव, नमुचि, पाक तथा इल्वल, अरे विप्रचित्ति, पुलोमन, शकुन तथा अन्य असुरों, तुम सब जरा मेरी बात को ध्यानपूर्वक सुनो और तब अविलम्ब मेरे वचनों के अनुसार कार्य करो।

सपत्नैर्घातितः क्षुद्रैर्भ्राता मे दयितः सुहृत् ।
पार्ष्णिग्राहेण हरिणा समेनाप्युपधावनैः ॥ ६॥

शब्दार्थ

सपत्नैः—शत्रुओं * द्वारा; घातितः—मारा गया; क्षुद्रैः—शक्ति में नगण्य; भ्राता—भाई; मे—मेरा; दयितः—अत्यन्त प्रिय; सुहृत्—शुभेच्छु; पार्ष्णि-ग्राहेण—पीछे से आक्रमण करके; हरिणा—भगवान् द्वारा; समेन—समान, (देवता तथा असुर दोनों); अपि—यद्यपि; उपधावनैः—पूजकों या देवताओं द्वारा।

मेरे क्षुद्र शत्रु सारे देवता मेरे परम प्रिय तथा आज्ञाकारी शुभेच्छु भ्राता हिरण्याक्ष को मारने के लिए एक हो गये हैं। यद्यपि परमेश्वर विष्णु हम दोनों के लिए अर्थात् देवताओं तथा असुरों के लिए सदैव समान हैं किन्तु इस बार देवताओं द्वारा अत्यधिक पूजित होने से उन्होंने उनका पक्ष लिया और हिरण्याक्ष को मारने में उनकी सहायता की।

Footnote starts Here:

*असुर तथा देवतागण दोनों ही भगवान् को परम स्वामी मानते हैं, किन्तु देवता तो अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करते हैं जबकि असुर उनको ललकारते हैं। इस तरह देवता तथा असुर एक पति की दो सपत्नियों की भाँति हैं। प्रत्येक पनी दूसरी की सपत्नी है, अतएव यहाँ पर *सपत्नैः* शब्द व्यवहृत है।

Footnote Ends Here.

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२९) में कहा गया है—*समोऽहं सर्वभूतेषु*—भगवान् समस्त जीवों के प्रति समदर्शी हैं। चूँकि देवता तथा असुर दोनों ही जीव हैं, तो फिर यह कैसे सम्भव है कि भगवान् एक वर्ग के जीवों का पक्षपात करें और दूसरे के विरुद्ध रहें? वास्तव में भगवान् के लिए पक्षपात कर पाना सम्भव नहीं है। फिर भी चूँकि देवता तथा भक्त भगवान् के आदेशों का कठोरता से सदा पालन करते हैं अतएव अपनी निष्ठा के कारण वे उन असुरों पर विजयी होते हैं, जो यह जानते हैं कि परमेश्वर तो विष्णु हैं किन्तु वे उनके आदेशों का पालन नहीं करते। भगवान् विष्णु का निरन्तर स्मरण करते रहने के कारण असुरगण सामान्यतया मृत्यु के बाद *सायुज्य मुक्ति* प्राप्त करते हैं। हिरण्यकशिपु भगवान् पर पक्षपात करने का लांछन लगा रहा था, क्योंकि देवता उनकी पूजा करते थे, लेकिन वस्तुत: सरकार की तरह ही भगवान् तनिक भी पक्षपात नहीं करते। सरकार किसी एक नागरिक का पक्षपात नहीं करती, किन्तु यदि नागरिक नियमों का पालन करने वाला है, तो वह शान्तिपूर्वक रहने तथा अपने असली स्वार्थों की पूर्ति करने के लिए राज्य से प्रचुर अवसर प्राप्त करता है।

तस्य त्यक्तस्वभावस्य घृणेर्मायावनौकसः ।
भजन्तं भजमानस्य बालस्येवास्थिरात्मनः ॥ ७॥
मच्छूलभिन्नग्रीवस्य भूरिणा रुधिरेण वै ।
असृक्प्रियं तर्पयिष्ये भ्रातरं मे गतव्यथः ॥ ८॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका (भगवान् का); त्यक्त-स्वभावस्य—अपने स्वभाव (समदर्शिता) को जिसने त्याग दिया है; घृणेः—अत्यन्त गर्हित; माया—भ्रामक शक्ति के प्रभाव से; वन-ओकसः—जंगल में पशु के समान आचरण करते हुए; भजन्तम्—भक्ति में लगे भक्त को; भजमानस्य—पूजित होकर; बालस्य—लड़के के; इव—सदृश; अस्थिर-आत्मनः—सदैव अशान्त तथा परिवर्तित होने वाला; मत्—मेरा; शूल—त्रिशूल से; भिन्न—अलग किया गया, छिन्न; ग्रीवस्य—जिसकी गर्दन; भूरिणा—अत्यधिक; रुधिरेण—रक्त से; वै—निस्सन्देह; असृक्-प्रियम्—रक्त का प्यासा; तर्पयिष्ये—प्रसन्न करूँगा; भ्रातरम्—भाई को; मे—अपने; गत-व्यथः—अपने को शान्त बनाकर।

भगवान् ने असुरों तथा देवताओं के प्रति समानता की अपनी सहज प्रवृत्ति त्याग दी है। यद्यपि वे परम पुरुष हैं, किन्तु अब माया के वशीभूत होकर उन्होंने अपने भक्तों अर्थात् देवताओं को प्रसन्न करने के लिए वराह का रूप धारण किया है, जिस तरह एक अशान्त बालक किसी

की ओर उन्मुख हो जाये। अतएव मैं अपने त्रिशूल से भगवान् विष्णु के सिर को उनके धड़ से अलग कर दूँगा और उनके शरीर से निकले प्रचुर रक्त से अपने भाई हिरण्याक्ष को प्रसन्न करूँगा जो उनके रक्त को चूसने का शौकीन था। इस प्रकार मैं भी शान्त हो सकूँगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में आसुरी मनोवृत्ति के दोष का स्पष्ट वर्णन है। हिरण्यकशिपु ने सोचा कि विष्णु भी एक चंचल बालक की भाँति पक्षपात करते हैं। हिरण्यकशिपु ने यह सोचा कि भगवान् किसी भी समय अपना मन बदल सकते हैं, अतएव उनके वचन तथा कर्म बच्चों जैसे हैं। वास्तव में असुरगण सामान्य मानव होने के कारण अपना मन बदलते हैं और भौतिकता से बद्ध होने के कारण वे सोचते हैं कि भगवान् भी बद्ध हैं। जैसाकि भगवान् *भगवद्गीता* (९.११) में कहते हैं—*अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्*—जब मैं मनुष्य रूप में अवतरित होता हू तो मूर्ख मेरा उपहास करते हैं।

असुर सदैव सोचते हैं कि विष्णु को मारा जा सकता है। अतएव उन्हें मारने के विचार में लीन होने के कारण उन्हें विष्णु के प्रतिकूल सोचने का अवसर तो प्राप्त होता है। यद्यपि वे भक्त नहीं होते, लेकिन विष्णु के विषय में सोचना प्रभावशाली होता है और इस तरह वे सामान्यतया *सायुज्य मुक्ति* प्राप्त करते हैं। चूँकि असुरगण परमेश्वर को सामान्य जीव मानते हैं, अतएव वे सोचते हैं कि वे भगवान् विष्णु का उसी तरह वध कर सकते हैं जैसे कि किसी सामान्य व्यक्ति का वध किया जा सकता है। यहाँ पर एक अन्य तथ्य प्रकट हुआ है कि असुरगण रक्त के प्यासे होते हैं। निस्सन्देह, वे सबके सब मांसभक्षक तथा रक्त चूसने वाले होते हैं।

हिरण्यकशिपु ने भगवान् पर आरोप लगाया कि उनका मन एक छोटे बालक की तरह चंचल है, जिसे कुछ बर्फी तथा लड्डू देकर जो चाहो सो कराया जा सकता है। अप्रत्यक्षतः इससे भगवान् की वास्तविक स्थिति सूचित होती है, जो *भगवद्गीता* (९.२३) में कहते हैं कि

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

"यदि कोई प्रेम तथा भक्ति से मुझे एक पत्ती, एक फूल, फल या जल अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।" भगवान् भक्तों के दिव्य प्रेम के कारण उनकी भेंटें स्वीकार करते हैं। चूँकि भक्तगण परमेश्वर से प्रेम करते हैं अतएव वे भगवान् को पहले अर्पित किये बिना अपना भोजन नहीं

करते। भगवान् एक क्षुद्र पत्र या पुष्प के लिए लालायित नहीं रहते। उनके पास खाने के लिए बहुत है। वे ही सारे जीवों को भोजन देने वाले हैं। फिर भी चूँकि वे अत्यन्त कृपालु तथा *भक्तवत्सल* हैं अर्थात् भक्तों के अनुकूल हैं, अतएव उन्हें प्रेम तथा भक्तिपूर्वक जो भी अर्पित किया जाता है उसे वे अवश्य खाते हैं। इस गुण को बालपना नहीं समझना चाहिए। भगवान् का सर्वोच्च गुण है उनकी *भक्तवत्सलता*। दूसरे शब्दों में, वे अपने भक्तों से सदैव अत्यधिक प्रसन्न रहते हैं। जहाँ तक माया शब्द के प्रयोग की बात है, जब यह भगवान् तथा उनके भक्तों के व्यवहारों में प्रयुक्त होता है, तो इसका अर्थ है "स्नेह"। अपने भक्तों के पक्ष में किये गये कर्म अवगुण नहीं हैं, अपितु भगवान् के सहज स्नेह के लक्षण हैं।

जहाँ तक भगवान् विष्णु के रुधिर का प्रश्न है, चूँकि भगवान् विष्णु के सिर को उनके शरीर से छिन्न नहीं किया जा सकता अतएव रक्त की बात ही नहीं उठती। किन्तु विष्णु के शरीर को अलंकृत करने वाली माला रक्त के ही समान लाल होती है। जब असुरों को *सायुज्य मुक्ति* मिलती है और वे अपने पापमय कर्मों को पीछे छोड़ जाते हैं, तो उन्हें रक्त के समान विष्णु की लाल माला ही आशीर्वाद (वर) देती है। सायुज्य मुक्ति प्राप्त करने के बाद कभी-कभी असुरों को वैकुण्ठ लोक प्राप्त होता है जहाँ उन्हें भगवान् की माला का प्रसाद पुरस्कार रूप में मिलता है।

तस्मिन्कूटेऽहिते नष्टे कृत्तमूले वनस्पतौ ।
विटपा इव शुष्यन्ति विष्णुप्राणा दिवौकसः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—जब वह; कूटे—अत्यन्त मायावी; अहिते—शत्रु; नष्टे—नष्ट हो जाता है; कृत्त-मूले—जड़ें कट जाने पर; वनस्-पतौ—वृक्ष; विटपाः—डालें तथा पत्तियाँ; इव—सदृश; शुष्यन्ति—सूख जाती हैं; विष्णु-प्राणाः—जिनका प्राण विष्णु है; दिव-ओकसः—देवतागण।

जब वृक्ष की जड़ काट दी जाती है, तो वह गिर पड़ता है और उसकी शाखायें एवं पत्तियाँ स्वयमेव सूख जाती हैं। उसी तरह जब मैं इस मायावी विष्णु को मार डालूँगा तो सारे देवता, जिनके लिए भगवान् विष्णु प्राण तथा आत्मा हैं, अपना जीवन-स्त्रोत खो देंगे और मुरझा जाएँगे।

तात्पर्य : यहाँ पर देवताओं तथा असुरों का अन्तर बताया गया है। देवता सदैव भगवान् के आदेशों का पालन करते हैं जबकि असुरगण उन्हें क्षुब्ध करने या मारने की योजना बनाते हैं। फिर भी कभी-कभी असुरगण देवताओं की भगवत्कृपा पर पूर्ण निर्भरता की प्रशंसा करते हैं। यह असुरोंद्वारा देवताओं

का अप्रत्यक्ष महिमा-गायन है।

तावद्यात भुवं यूयं ब्रह्मक्षत्रसमेधिताम् ।
सूदयध्वं तपोयज्ञस्वाध्यायव्रतदानिनः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तावत्—जब तक (मैं विष्णु के मारने में व्यस्त हूँ); यात—जाओ; भुवम्—पृथ्वी लोक में; यूयम्—तुम सब; ब्रह्म-क्षत्र—ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों का; समेधिताम्—कर्मो (ब्राह्मण संस्कृति तथा वैदिक शासन) द्वारा सम्पन्न बने हुए; सूदयध्वम्—विनष्ट कर दो; तपः—तपस्या करने वालों को; यज्ञ—यज्ञ; स्वाध्याय—वैदिक ज्ञान का अध्ययन; व्रत—अनुष्ठान सम्बन्धी प्रतिज्ञाएँ; दानिनः—तथा दान देने वालों का।

जब तक मैं भगवान् विष्णु के मारने के कार्य में लगा हूँ, तब तक तुम लोग पृथ्वी लोक में जाओ जो ब्राह्मण संस्कृति तथा क्षत्रिय शासन के कारण फल-फूल रहा है। ये लोग तपस्या, यज्ञ, वैदिक अध्ययन, आनुष्ठानिक व्रत तथा दान में लगे रहते हैं। ऐसे सारे लोगों को जाकर विनष्ट कर दो।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु का मुख्य उद्देश्य देवताओं को विचलित करना था। उसने सर्वप्रथम भगवान् विष्णु को मार डालने की योजना बनाई जिससे विष्णु की मृत्यु होने पर सारे देवता स्वत: निर्बल होकर मर जाएंगे। उसकी दूसरी योजना पृथ्वी के वासियों को सताने की थी। पृथ्वीवासियों तथा अन्य लोकों की शान्ति तथा समृद्धि ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों द्वारा स्थिर रखी जाती थी। *भगवद्गीता* (४.१३) में भगवान् कहते हैं—*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः*—प्रकृति के तीन गुणों तथा उनके नियत कर्म के अनुसार मानव समाज के चार वर्णों की सृष्टि मेरे द्वारा की गई है। सभी लोकों में भिन्न-भिन्न प्रकार के वासी रहते हैं, लेकिन यहाँ पर मनुष्यों द्वारा निवसित पृथ्वी लोक के प्रसंग में वे संस्तुत करते हैं कि समाज चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—में विभाजित किया जाए। इस पृथ्वी पर भगवान् कृष्ण के अवतार के पूर्व ऐसा जाना जाता है कि यह पृथ्वी ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों द्वारा व्यवस्थित होती थी। ब्राह्मण का कर्तव्य है कि वह *शमः* (शान्ति), *दमः* (आत्मसंयम), *तितिक्षा* (सहिष्णुता), *सत्यम्* (सच्चाई), *शौचम्* (स्वच्छता) तथा *आर्जवम्* (सरलता) का संवर्धन करे और तब क्षत्रिय राजाओं को सलाह दे कि देश या लोक पर किस तरह शासन किया जाये। ब्राह्मणों के उपदेशों का पालन करते हुए क्षत्रियों को चाहिए कि वे जनता को तपस्या, यज्ञ, स्वाध्याय तथा वैदिक अनुष्ठानों में दृढ़ बनने के लिए प्रवृत्त करें। उन्हें ब्राह्मणों, संन्यासियों तथा मन्दिरों को दान देने की भी

व्यवस्था करनी चाहिए। ब्राह्मण संस्कृति का यह दैवी विधान है।

लोगों की प्रवृत्ति यज्ञ सम्पन्न करने की ओर इसलिए होती है, क्योंकि यदि यज्ञ नहीं किये जाएं तो अपर्याप्त वर्षा होगी (*यज्ञाद् भवति पर्जन्यः*) जिससे कृषिकर्म में बाधा उपस्थित होगी (*पर्जन्याद् अन्नसम्भवः*) अतएव ब्राह्मण संस्कृति का सूत्रपात करके क्षत्रिय *सरकार* को चाहिए कि लोगों को यज्ञ करने, वेदों को पढ़ने तथा दान देने के प्रति प्रवृत्त करें। इस प्रकार लोगों की आवश्यकताएँ सरलता से पूर्ण हो सकेंगी और समाज में उपद्रव नहीं होगा। इस सम्बन्ध में भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (३.१२) में कहते हैं—

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

"सारे देवता जीवन की विविध आवश्यकताओं का भार सँभालने के कारण यज्ञ सम्पन्न होने पर तुष्ट होकर मनुष्य की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। किन्तु जो व्यक्ति इन उपहारों को देवताओं को अर्पित किये बिना भोग करता है, वह निश्चय ही चोर है।"

देवतागण वैध इच्छापूर्ति अभिकर्ता हैं, जो विष्णु के प्रतिनिधि रूप में कार्य करते हैं, अतएव नियत यज्ञ सम्पन्न करके उन्हें प्रसन्न किया जाना चाहिए। वेदों में विभिन्न देवताओं के लिए भिन्न-भिन्न यज्ञ बताये गये हैं, किन्तु वे सारे यज्ञ अन्ततः भगवान् को ही समर्पित होते हैं। जो भगवान् को नहीं समझ सकता उसके लिए संस्तुति की जाती है कि वह देवताओं के लिए यज्ञ करे। वेदों में सम्बद्ध व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न भौतिक गुणों के अनुसार विभिन्न यज्ञों की संस्तुति की गई है। विभिन्न देवताओं की पूजा का आधार भी गुणों के अनुसार है। उदाहरणार्थ, मांसाहारियों को प्रकृति की बीभत्स स्वरूपा देवी काली की पूजा की संस्तुति की जाती है। इस देवी के समक्ष पशुओं की बलि दी जाती है। किन्तु सतोगुणियों के लिए विष्णु-पूजा की संस्तुत की जाती है। अन्ततः सारे यज्ञ क्रमशः दिव्य पद तक उठने के निमित्त किये जाते हैं। सामान्य व्यक्तियों के लिए कम से कम पाँच यज्ञ आवश्यक हैं जिन्हें *पञ्चमहायज्ञ* कहा जाता है।

किन्तु मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि मानव समाज की सारी आवश्यकताएँ भगवान् के अभिकर्ता देवताओं द्वारा पूरी की जाती हैं। कोई कुछ बना नहीं सकता। उदाहरणार्थ, मानव समाज के

समस्त खाद्य पदार्थों के विषय में विचार करें। इनमें अन्न, फल, तरकारियाँ, दूध तथा चीनी सम्मिलित हैं, जो शाकाहारियों के लिए हैं। इनमें मांसाहारियों के लिए भी खाद्य पदार्थ होते हैं, यथा मांस, किन्तु इनमें से किसी का भी निर्माण मनुष्य द्वारा नहीं हो सकता। पुनः दूसरा उदाहरण उष्मा, प्रकाश, जल तथा वायु का लें जो जीवन के लिए आवश्यक हैं और इनमें से किसी का भी निर्माण मानव समाज द्वारा नहीं हो सकता। परमेश्वर के बिना न तो प्रचुर सूर्यप्रकाश हो सकता है, न चाँदनी, न वर्षा, न मन्द समीर जिनके अभाव में कोई जीवित नहीं रह सकता। स्पष्ट है कि हमारे जीवन भगवान् द्वारा प्रदत्त वस्तुओं पर आश्रित है। यहाँ तक कि अपने निर्माणकार्यों के लिए भी हमें अनेक कच्चे मालों की आवश्यकता होती है—यथा धातुएँ, गन्धक, पारा, मैंगनीज इत्यादि और ये सब भगवान् के अभिकर्ताओं द्वारा इस उद्देश्य से प्रदान की जाती हैं कि हम इनका उचित उपयोग करके अपने को स्वस्थ रखकर आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर सकें जो हमारे जीवन का चरम लक्ष्य अर्थात् संसार में जीवन-संघर्ष से मोक्ष है। यह जीवन-लक्ष्य यज्ञों को सम्पन्न करके प्राप्त किया जाता है। यदि हम मनुष्य जीवन के प्रयोजन को भूल जाते हैं और मात्र इन्द्रियतृप्ति के लिए भगवान् के अभिकर्ताओं से आपूर्ति ग्रहण करते जाते हैं और संसार में अधिकाधिक फँसते जाते हैं, जो सृष्टि का उद्देश्य नहीं है, तो निश्चय ही हम चोर बन जाते हैं और हमें प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित होना पड़ता है। चोरों का समाज कभी सुखी नहीं रह सकता, क्योंकि उनका कोई जीवन-लक्ष्य नहीं होता। निपट भौतिकतावादी चोरों का कोई जीवन-लक्ष्य नहीं होता। वे इन्द्रियतृप्ति द्वारा प्रेरित होते हैं, उन्हें यज्ञों को सम्पन्न करने का कोई ज्ञान भी नहीं होता। किन्तु भगवान् चैतन्य ने यज्ञ की सरलतम विधि का सूत्रपात किया, जो *सङ्कीर्तन यज्ञ* है और जिसे विश्व का कोई भी ऐसा व्यक्ति, जो कृष्णभावनामृत के सिद्धान्तों को स्वीकार करता है, सम्पन्न कर सकता है।

हिरण्यकशिपु ने पृथ्वी के निवासियों को मार डालने की योजना बनाई थी जिससे यज्ञ बन्द हो जाँय और सारे देवता विचलित हो कर स्वतः मर जाएं। जब परमेश्वर भगवान् विष्णु का स्वतः वध हो जाएगी। ये हिरण्यकशिपु की आसुरी योजनाएँ थीं और वह ऐसे कार्यों में दक्ष था।

विष्णुर्द्विजक्रियामूलो यज्ञो धर्ममयः पुमान् ।

देवर्षिपितृभूतानां धर्मस्य च परायणम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

विष्णु:—भगवान् विष्णु; द्विज—ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों का; क्रिया-मूल:—जिसका मूल है यज्ञों एवं वेदों में वर्णित अनुष्ठानों को सम्पन्न करना; यज्ञ:—साक्षात् यज्ञ (भगवान् विष्णु जो यज्ञ पुरुष कहलाते हैं); धर्म-मय:—धार्मिक सिद्धान्तों से पूर्ण; पुमान्—परम पुरुष; देव-ऋषि—देवताओं तथा व्यासदेव एवं नारद जैसे महान् ऋषियों का; पितृ—पूर्वजों का; भूतानाम्—तथा समस्त जीवों का; धर्मस्य—धार्मिक सिद्धान्तों का; च—भी; परायणम्—आश्रय।.

ब्राह्मण-संस्कृति का मूल सिद्धान्त यज्ञों तथा अनुष्ठानों के साक्षात् स्वरूप भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना है। भगवान् विष्णु समस्त धार्मिक सिद्धान्तों के साक्षात् आगार हैं और वे समस्त देवताओं, महान् पितरों तथा सामान्य जनता के आश्रय हैं। यदि ब्राह्मणों का वध कर दिया जाये तो क्षत्रियों को यज्ञ सम्पन्न करने के लिए प्रेरित करने वाला कोई नहीं रहेगा और इस तरह सारे देवता यज्ञों द्वारा प्रसन्न न किये जाने पर स्वत: मर जायेंगे।

तात्पर्य : चूँकि विष्णु ही ब्राह्मण-संस्कृति के केन्द्रबिन्दु हैं, अतएव हिरण्यकशिपु की योजना विष्णु-वध करने की थी क्योंकि यदि विष्णु का वध कर दिया जाता है, तो ब्राह्मण-संस्कृति भी विनष्ट हो जाएगी। ब्राह्मण-संस्कृति के विनाश होने पर यज्ञ सम्पन्न नहीं हो सकेंगे और यज्ञ के अभाव में नियमित वर्षा होनी बन्द हो जाएगी (*यज्ञात् भवति पर्जन्य:*)। इस तरह सारे विश्व में उत्पात होंगे जिससे देवता पराजित हो जाएँगे। इस श्लोक से हमें स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है कि वैदिक सभ्यता के नष्ट होने से मानव समाज किस तरह विश्रृंखलित हो जाता है और ब्राह्मणों द्वारा सम्पन्न होने वाले वैदिक कर्मकाण्ड बन्द हो जाते हैं। *कलौ शूद्रसम्भव: ।* चूँकि आधुनिक जगत की जनसंख्या अधिकांशत: शूद्र है, अतएव ब्राह्मण-संस्कृति विनष्ट हो चुकी है और इसे उचित मार्ग पर ले आना अत्यधिक कठिन है। अतएव भगवान् चैतन्य ने भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन की संस्तुति की है, जिससे खोई हुई ब्राह्मण-संस्कृति सरलता से पुनरुज्जीवित हो सकेगी।

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

आसुरी जनसंख्या में वृद्धि के कारण ब्राह्मण-संस्कृति तो विनष्ट हो ही चुकी है। कोई क्षत्रिय-सरकार भी नहीं है। उल्टे, आजकल की सरकार प्रजातांत्रिक है, जिसमें कोई भी शूद्र मतदान द्वारा सरकारी बागडोर अपने हाथ में लेकर शासन सँभाल सकता है। कलियुग के विषाक्त प्रभाव के कारण शास्त्र (भागवत १२.२.१३) का कथन है—*दस्युप्रायेषु राजसु*—सरकार दस्युओं अर्थात् लुटेरों की

नीतियाँ धारण करेगी। इस प्रकार ब्राह्मणों से कोई आदेश नहीं मिलेंगे और यदि मिलें भी तो कोई क्षत्रिय शासक नहीं होगा जो उनका पालन कर सके। सत्ययुग को छोड़कर पहले भी जब असुरों का प्रभाव था तो हिरण्यकशिपु ने ब्राह्मण-संस्कृति तथा क्षत्रिय-सरकार को विनष्ट करने की योजना बनाई थी जिस से सारे संसार में अराजकता फैल जाये। यद्यपि सत्ययुग में इस योजना को कार्यान्वित कर पाना दुष्कर था, लेकिन शूद्रों तथा असुरों से पूर्ण इस कलियुग में ब्राह्मण-संस्कृति विनष्ट हो चुकी है और केवल महामंत्र के कीर्तन से ही पुनरुज्जीवित हो सकती है। इसीलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन या हरे कृष्ण आन्दोलन का सूत्रपात ब्राह्मण संस्कृति को सरलता से पुनरुज्जीवित करने के लिए किया गया है, जिससे लोग इसी जीवन में सुखी तथा शान्तिमय रह सकें और अगले जन्म में ऊपर उठने की तैयारी कर सकें। इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य ने *ब्रह्माण्ड पुराण* से यह श्लोक उद्धृत किया है—

विप्रयज्ञादिमूलं तु हरिरित्यासुरं मतम्।

हरिरेव हि सर्वस्य मूलं सम्यङ्मतो नृप॥

"हे राजन्! असुरगण सोचते हैं कि हरि या भगवान् विष्णु का अस्तित्व ब्राह्मणों तथा यज्ञों के कारण है, लेकिन तथ्य तो यह है कि हरि ब्राह्मणों तथा यज्ञों सहित प्रत्येक वस्तु के कारण हैं।" अतएव *हरि कीर्तन* या *सङ्कीर्तन* आन्दोलन के प्रचार द्वारा ब्राह्मण-संस्कृति तथा क्षत्रिय-सरकार स्वत: वापस आ जाएगी और लोग अत्यन्त सुखी होंगे।

यत्र यत्र द्विजा गावो वेदा वर्णाश्रमक्रियाः ।
तं तं जनपदं यात सन्दीपयत वृश्चत ॥ १२॥

शब्दार्थ

यत्र यत्र—जहाँ जहाँ; द्विजाः—ब्राह्मण गण; गावः—सुरक्षित गाएँ; वेदाः—वैदिक संस्कृति; वर्ण-आश्रम—चार वर्णों तथा चार आश्रमों वाली आर्यसभ्यता के; क्रियाः—कार्यकलाप; तम् तम्—उनको; जन-पदम्—नगर या शहर में; यात—जाओ; सन्दीपयत—अग्नि लगा दो; वृश्चत—(सारे वृक्षों को) काट डालो।

जहाँ कहीं भी गौवों तथा ब्राह्मणों को सुरक्षा प्राप्त है तथा जहाँ-जहाँ वर्णाश्रम नियमों के अनुसार वेदों का अध्ययन होता है, वहाँ-वहाँ तुरन्त जाओ। तुम लोग उन स्थानों में अग्नि लगा दो और जीवन के स्रोत वृक्षों को जड़ से काट कर गिरा दो।

तात्पर्य : यहाँ पर असली मानव सभ्यता के चित्र का अप्रत्यक्ष वर्णन हुआ है। पूर्ण मानव सभ्यता में भलीभाँति प्रशिक्षित पुरुषों का वर्ग पूर्ण ब्राह्मण के रूप में होना चाहिए। इसी प्रकार शास्त्रों के

आदेशानुसार सुचारु रूप से देश का शासन चलाने के लिए क्षत्रिय होने चाहिए और होने चाहिए वैश्य जो गायों की रक्षा कर सकें। *गाव:* शब्द सूचित करता है कि गायों को सुरक्षा प्रदान की जाये। चूँकि वैदिक सभ्यता समाप्त हो गई है, अतएव गाएँ सुरक्षित नहीं हैं, अपितु कसाईघरों में वे अन्धाधुन्ध काटी जा रही हैं। ऐसे कार्य असुरों के हैं, अतएव यह आसुरी सभ्यता है। यहाँ पर वर्णित *वर्णाश्रम* कर्म मानव सभ्यता के लिए अनिवार्य है। जब तक मार्गदर्शन के लिए ब्राह्मण न हों, ठीक से शासन करने के लिए क्षत्रिय न हों तथा अन्न उत्पन्न करने एवं गायों की रक्षा के लिए पूर्ण वैश्य न हों तब तक लोग शान्तिपूर्वक कैसे रह सकते हैं? यह असम्भव है।

दूसरी बात यह है कि वृक्षों को भी सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए। वृक्ष को उसके जीवन-काल में किसी औद्योगिक कार्य के लिए नहीं काटा जाना चाहिए। कलियुग में वृक्षों को उद्योग के लिए, विशेष रूप से कागज मिलों के लिए, आँख मूँद कर व्यर्थ ही काटा जाता है और ये मिलें वृहद मात्रा में कागज तैयार करती हैं जिससे आसुरी विज्ञापन, व्यर्थ साहित्य, अनेक समाचारपत्रों का प्रकाशन होता है तथा अन्य कागजी उत्पाद बनते हैं। यह आसुरी सभ्यता का चिह्न है। जब तक भगवान् विष्णु की सेवा के लिए आवश्यकता न पड़े, वृक्ष न काटे जाँय। *यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन:*—भगवान् विष्णु के लिये यज्ञ रूप कर्म किया जाये, अन्यथा कर्म मनुष्य को इस भौतिक जगत से बाँधने वाला है। लेकिन यदि कागज की मिलें कागज का उत्पादन बन्द कर दें तो यह पूछा जा सकता है कि हमारा इस्कान-साहित्य किस तरह छपेगा? इसका उत्तर यह है कि कागज मिलों को चाहिये कि इस्कान-साहित्य के प्रकाशनार्थ ही कागज का उत्पादन करें, क्योंकि यह साहित्य भगवान् विष्णु की सेवा करने के लिये प्रकाशित किया जाता है। यह साहित्य भगवान् विष्णु के साथ हमारे सम्बन्ध को स्पष्ट करताहै, अतएव इस्कान-साहित्य का प्रकाशन यज्ञ-सम्पादन है। *यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन:।* यज्ञ तो श्रेष्ठ अधिकारियों द्वारा बताई गई विधि से सम्पन्न किया जाये। अवांछित साहित्य के प्रकाशन हेतु कागज-निर्माण के लिये ही वृक्षों को काटना सबसे बड़ा पापकर्म है।

इति ते भर्तृनिर्देशमादाय शिरसादृता: ।
तथा प्रजानां कदनं विदधु: कदनप्रिया: ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ते—वे; भर्तृ—स्वामी की; निर्देशम्—आज्ञा; आदाय—प्राप्त कर; शिरसा—सिर के बल; आदृताः—आदर करते हुए; तथा—और; प्रजानाम्—सारे नागरिकों का; कदनम्—दण्ड; विदधुः—दिया; कदन-प्रियाः—अन्यों को दण्ड देने में पटु।

इस तरह जघन्य कर्मों के इच्छुक असुरों ने हिरण्यकशिपु की आज्ञा को अत्यन्त आदरपूर्वक लिया और उसे नमस्कार किया। उसके निर्देशानुसार वे सारे जीवों के विरुद्ध ईर्ष्यापूर्ण कार्यकलाप में जुट गये।

तात्पर्य : जैसाकि यहाँ पर बताया गया है आसुरी सिद्धान्तों के अनुयायी सामान्य जनों के प्रति नितान्त ईर्ष्या से भरे रहते हैं। आजकल की वैज्ञानिक प्रगति इस ईर्ष्या का जीता-जागता उदाहरण है। नाभिकीय ऊर्जा की खोज जनता के लिए विपत्तिजनक रही है, क्योंकि संसार भर में असुरगण नाभिकीय हथियार बना रहे हैं। इस प्रसंग में *कदनप्रियाः* शब्द अत्यन्त सार्थक है। असुरगण जो वैदिक संस्कृति को विनष्ट कर देना चाहते हैं, वे निर्बल नागरिकों से अत्यधिक ईर्ष्या करते हैं और ऐसा कार्य करते हैं कि उनकी खोजें अन्ततोगत्वा हर एक के लिए अकल्याणकर सिद्ध हों (*जगतोऽहिताः*)। *भगवद्गीता* के सोलहवें अध्याय में यह भलीभाँति बताया गया है कि असुरगण सामान्यजनों के विनाश हेतु किस प्रकार पापकर्मों में रत रहते हैं।

पुरग्रामव्रजोद्यानक्षेत्रारामाश्रमाकरान् ।
खेटखर्वटघोषांश्च ददहुः पत्तनानि च ॥ १४॥

शब्दार्थ

पुर—नगर तथा कस्बे; ग्राम—गाँव; व्रज—चारागाहें; उद्यान—बगीचे; क्षेत्र—खेत; आराम—प्राकृतिक जंगल; आश्रम—सन्त जनों की कुटिया; आकरान्—खानें (जिनसे ब्राह्मण-संस्कृति को बनाये रखने के लिए मूल्यवान धातुएं निकलती हैं); खेट—गाँव; खर्वट—पहाड़ी गाँव; घोषान्—ग्वालों के छोटे-छोटे गाँव; च—तथा; ददहुः—जला दिया; पत्तनानि—राजधानियों को; च—भी।

असुरों ने नगरों, गावों, चारागाहों, उद्यानों, खेतों तथा जंगलों में आग लगा दी। उन्होंने साधु पुरुषों के घरों, मूल्यवान धातु उत्पन्न करने वाली महत्त्वपूर्ण खानों, कृषकों के आवासों, पर्वतीय ग्रामों, अहीरों की बस्तियों को जला दिया। उन्होंने सरकारी राजधानियाँ भी जला दीं।

तात्पर्य : *उद्यान* उन स्थानों के लिए प्रयुक्त किया जाता है जहाँ फल तथा फूल उत्पन्न करने के लिए वृक्ष उगाये जाते हैं, जो मानव सभ्यता के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं। *भगवद्गीता* (९.२६) में कृष्ण कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

''यदि कोई मुझे प्रेम तथा भक्तिपूर्वक एक पत्ती, एक फूल, फल या जल अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।'' फल तथा फूल भगवान् को अत्यन्त प्रिय हैं। यदि कोई भगवान् को प्रसन्न करना चाहता है, तो वह केवल फल तथा फूल अर्पित कर सकता है और भगवान् उन्हें ग्रहण करके प्रसन्न हो जाते हैं। हमारा एकमात्र कर्तव्य है भगवान् को प्रसन्न करना (*संसिद्धिर्हरितोषणम्*)। हम जो कुछ भी करें, हमारा व्यवसाय चाहे कुछ भी हो, हमारा मुख्य लक्ष्य भगवान् को प्रसन्न करना या तुष्ट करना होना चाहिये। इस श्लोक में वर्णित सारी सामग्री विशेष रूप से भगवान् की तुष्टि के निमित्त है, अन्य किसी की इन्द्रिय-तृप्ति के लिये नहीं। सरकार का ही नहीं, अपितु सारे समाज का गठन ऐसा होना चाहिए कि हर एक को भगवान् को संतुष्ट करने की शिक्षा दी जा सके। किन्तु दुर्भाग्यवश इस युग में *न ते विदुः स्वार्थगातिं हि विष्णुम्*—लोग यह नहीं जानते कि मनुष्य-जीवन सर्वोच्च का लक्ष्य भगवान् विष्णु को तुष्ट करना है। इसके विपरीत, वे असुरों की तरह विष्णु को मार कर इन्द्रियतृप्ति द्वारा सुखी बनना चाहते हैं।

केचित्खनित्रैर्बिभिदुः सेतुप्राकारगोपुरान् ।
आजीव्यांश्चिच्छिदुर्वृक्षान्केचित्परशुपाणयः ।
प्रादहञ्शरणान्येके प्रजानां ज्वलितोल्मुकैः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

केचित्—कुछ असुर; खनित्रैः—फावड़ों से; बिभिदुः—खण्ड-खण्ड कर दिया; सेतु—पुल; प्राकार—रक्षा करने वली दीवालें, परकोटे; गोपुरान्—नगर के द्वारों को; आजीव्यान्—जीविका के साधन; चिच्छिदुः—काट डाला; वृक्षान्—वृक्षों को; केचित्—कुछ ने; परशु-पाणयः—हाथ में कुल्हाड़ी लेकर; प्रादहन्—जला डाला; शरणानि—आवास; एके—अन्य असुरों ने; प्रजानाम्—नागरिकों के; ज्वलित—जलते हुए; उल्मुकैः—लुकाठों से।

कुछ असुरों ने फावड़े लेकर पुल, परकोटे तथा नगरों के द्वारों (गोपुरों) को तोड़ डाला। कुछ ने कुल्हाड़े लेकर आम, कटहल के महत्त्वपूर्ण वृक्षों तथा अन्य भोज्य सामग्री वाले वृक्षों को काट डाला। कुछ असुरों ने हाथ में जलते लुकाठे लेकर नागरिकों के रिहायशी मकानों में आग लगा दी।

तात्पर्य : सामान्यतया वृक्षों का काटना वर्जित है, विशेष रूप से जो वृक्ष मानव-समाज के भरण के लिये स्वादिष्ट फल उत्पन्न करते हैं उन्हें तो नहीं ही काटना चाहिये। विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न

प्रकार के फल वृक्ष होते हैं। भारत में आम तथा कटहल के वृक्ष प्रमुख हैं और अन्य स्थानों में आम, कटहल, नारियल तथा बेर के वृक्ष पाये जाते हैं। ऐसा कोई भी वृक्ष जो मनुष्य के भरण के लिये स्वादिष्ट फल उत्पन्न करता हो उसे बिल्कुल ही नहीं काटना चाहिये। यह शास्त्रों का आदेश है।

एवं विप्रकृते लोके दैत्येन्द्रानुचरैर्मुहुः ।
दिवं देवाः परित्यज्य भुवि चेरुरलक्षिताः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विप्रकृते—सताये जाकर; लोके—जब सारे लोग; दैत्य-इन्द्र-अनुचरैः—दैत्यराज हिरण्यकशिपु के अनुयायियों द्वारा; मुहुः—पुनः पुनः; दिवम्—स्वर्ग लोक को; देवाः—देवतागण; परित्यज्य—त्याग कर; भुवि—पृथ्वी लोक पर; चेरुः—घूमने लगे (उपद्रव का विस्तार देखने के लिये); अलक्षिताः—असुरों से छिप कर।

इस प्रकार हिरण्यकशिपु के अनुयायियों द्वारा बारम्बार अप्राकृतिक घटनाओं के रूप में सताये जाने पर सभी लोगों ने बाध्य होकर वैदिक संस्कृति की सारी गतिविधियाँ बन्द कर दीं। देवतागण भी यज्ञों का फल न पाने के कारण विचलित हो उठे। उन्होंने स्वर्गलोक के अपने-अपने आवास त्याग दिये और असुरों से अलक्षित होकर विनाश का अवलोकन करने के लिए वे पृथ्वीलोक में इधर-उधर विचरण करने लगे।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, यज्ञ सम्पन्न करने से मनुष्यों तथा देवताओं को अन्योन्याश्रित सौभाग्य प्राप्त होता है। जब असुरों के उत्पातों से यज्ञ होने बन्द हो गये तो देवतागण सहज ही यज्ञ के फलों से वंचित रह गये और उन्हें अपने-अपने कर्तव्य करने में बाधा पड़ने लगी। अतएव वे पृथ्वी लोक पर यह देखने के लिए कि लोग किस प्रकार विचलित हुए और यह विचार करने के लिए कि क्या करना चाहिये, उतर आये।

हिरण्यकशिपुर्भ्रातुः सम्परेतस्य दु:खितः ।
कृत्वा कटोदकादीनि भ्रातृपुत्रानसान्त्वयत् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु ने; भ्रातुः—भाई का; सम्परेतस्य—मृत; दु:खितः—अत्यन्त दुखी; कृत्वा—करके; कटोदक-आदीनि—मृत्यु के पश्चात् के कृत्य, अन्त्येष्टि क्रिया; भ्रातृ-पुत्रान्—अपने भाई के लड़कों को; असान्त्वयत्—सान्त्वना दी।

अपने भाई की अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न कर लेने के बाद हिरण्यकशिपु ने अत्यन्त दुखित होकर अपने भतीजों को सान्त्वना प्रदान करने का प्रयास किया।

शकुनिं शम्बरं धृष्टिं भूतसन्तापनं वृकम् ।
कालनाभं महानाभं हरिश्मश्रुमथोत्कचम् ॥ १८ ॥
तन्मातरं रुषाभानुं दितिं च जननीं गिरा ।
श्लक्ष्णया देशकालज्ञ इदमाह जनेश्वर ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

शकुनिम्—शकुनि को; शम्बरम्—शम्बर को; धृष्टिम्—धृष्टि को; भूतसन्तापनम्—भूतसंतापन को; वृकम्—वृक को; कालनाभम्—कालनाभ को; महानाभम्—महानाभ को; हरिश्मश्रुम्—हरिश्मश्रु को; अथ—तथा; उत्कचम्—उत्कच को; तत्-मातरम्—उनकी माता; रुषाभानुम्—रुषाभानु को; दितिम्—दिति को; च—तथा; जननीम्—अपनी माता; गिरा—शब्दों से; श्लक्ष्णया—अत्यन्त मधुर; देश-काल-ज्ञः—जो काल तथा परिस्थिति को समझने में दक्ष हो; इदम्—यह; आह—कहा; जन-ईश्वर—हे राजा!.

हे राजा, हिरण्यकशिपु अत्यन्त क्रुद्ध था, किन्तु महान् राजनीतिज्ञ होने के कारण वह देश तथा काल के अनुसार कर्म करना जानता था। अतएव वह अपने भतीजों को मधुर वाणी से सान्त्वना देने लगा। इनके नाम थे शकुनि, शम्बर, धृष्टि, भूतसन्तापन, वृक, कालनाभ, महानाभ, हरिश्मश्रु तथा उत्कच। उसने उनकी माता अर्थात् अपनी अनुजवधू रुषाभानु एवं अपनी माता दिति को भी ढाढस बँधाया। वह उनसे इस प्रकार बोला।

श्रीहिरण्यकशिपुरुवाच
अम्बाम्ब हे वधूः पुत्रा वीरं मार्हथ शोचितुम् ।
रिपोरभिमुखे श्लाघ्यः शूराणां वध ईप्सितः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्री-हिरण्यकशिपुः उवाच—हिरण्यकशिपु ने कहा; अम्ब अम्ब—मेरी माता, मेरी माता; हे—हे, ओ; वधूः—मेरी बहू; पुत्राः—मेरे भाई के पुत्रों; वीरम्—वीर; मा—मत; अर्हथ—तुम्हें चाहिये; शोचितुम्—शोक करना; रिपोः—शत्रु के; अभिमुखे—समक्ष; श्लाघ्यः—प्रशंसनीय; शूराणाम्—वास्तविक महान् पुरुषों का; वधः—वध; ईप्सितः—वांछित।.

हिरण्यकशिपु ने कहा : हे माता, हे वधू तथा हे भतीजो, तुम लोगों को महान् वीर की मृत्यु के लिए शोक नहीं करना चाहिए, क्योंकि अपने शत्रु के समक्ष वीर की मृत्यु अत्यन्त प्रशंसनीय तथा वांछनीय होती है।

भूतानामिह संवासः प्रपायामिव सुव्रते ।
दैवेनैकत्र नीतानामुन्नीतानां स्वकर्मभिः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

भूतानाम्—समस्त जीवों का; इह—इस संसार में; संवासः—साथ-साथ रहना; प्रपायाम्—ठंडा जल पीने के स्थान, प्याऊ; इव—सदृश; सु-व्रते—हे भद्रे; दैवेन—भाग्य द्वारा; एकत्र—एक स्थान पर; नीतानाम्—लाये गये; उन्नीतानाम्—दूर-दूर ले जाने वालों का; स्व-कर्मभिः—अपने-अपने कर्मों से।.

हे माता, किसी भोजनालय या प्याऊ में अनेक राहगीर पास-पास आते हैं, किन्तु जल पीने

के बाद अपने-अपने गन्तव्यों को चले जाते हैं। इसी प्रकार जीव भी किसी परिवार में आकर मिलते हैं किन्तु बाद में अपने-अपने कर्मों के अनुसार वे अपने-अपने गन्तव्यों को चले जाते हैं।

तात्पर्य :

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

''मोहग्रस्त जीवात्मा भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के प्रभावों में आकर अपने को उन कर्मों का कर्ता सोचने लगता है, जो वास्तव में प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं।''(भगवद्गीता ३.२७) सारे जीव प्रकृति के आदेशों के अनुसार कर्म करते हैं, क्योंकि भौतिक जगत में हम पूरी तरह उच्चतर नियंत्रण में रहते हैं। सारे जीव इस जगत में इसलिए आये, क्योंकि वे कृष्ण के समान भोग करना चाहते हैं और इस तरह वे प्रकृति द्वारा विभिन्न मात्राओं में बद्ध होने के लिए भेजे गये हैं। भौतिक जगत में तथाकथित परिवार एक घर में ऐसे अनेक व्यक्तियों का सम्मिलन है जिन्हें अपना बन्दी जीवन बिताना होता है। जिस तरह जेल में बंद अपराधी अपनी अवधि पूरी होने पर छोड़े जाने पर ही तितर-बितर हो जाते हैं उसी प्रकार हम परिवार के सदस्य, जो अस्थायी रूप से एकत्र हुए हैं, अपने-अपने गन्तव्यों की यात्रा करते रहेंगे। एक अन्य दृष्टान्त दिया जाता है कि, पारिवारिक सदस्य उन तिनकों के समान हैं, जो नदी की लहरों में साथ-साथ बहते रहते हैं। ये तिनके कभी कभी भँवर में पास-पास आ जाते हैं और पुनः उन्हीं लहरों द्वारा विलग किये जाकर अकेले जल में तैरने लगते हैं।

हिरण्यकशिपु दैत्य था, किन्तु उसे भौतिक ज्ञान और समझ थी। फलस्वरूप उसने अपने पारिवारिक जनों को—अपनी अनुजवधू, अपनी माता तथा भतीजों—को जो सलाह दी वह बहुत अच्छी थी। यद्यपि दैत्यों को ज्ञान में अत्यन्त बढ़ा-चढ़ा माना जाता है, लेकिन वे भगवान् की सेवा में अपनी सद्बुद्धि का प्रयोग न करने के कारण ही दैत्य या असुर कहलाते हैं। किन्तु देवतागण बड़ी ही बुद्धिमानी से भगवान् को प्रसन्न रखने के लिए कर्म करते हैं। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* (१.२.१३) में इस प्रकार हुई है—

अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः।

स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्॥

“अत: द्विजश्रेष्ठ! यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य वर्ण तथा आश्रम के विभाग के अनुसार अपने नियत कर्तव्य (*धर्म*) करता हुआ जिस सर्वोच्च सिद्धि को प्राप्त कर सकता है, वह है भगवान् हरि को प्रसन्न करना।” देवता या देवतुल्य बनने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् को प्रसन्न करे, चाहे उसकी वृत्ति कुछ भी हो।

नित्य आत्माव्ययः शुद्धः सर्वगः सर्ववित्परः ।
धत्तेऽसावात्मनो लिङ्गं मायया विसृजन्गुणान् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

नित्यः—शाश्वत; आत्मा—आत्मा; अव्ययः—न चुकने वाला; शुद्धः—भौतिक कल्मष से रहित; सर्व-गः—भौतिक या आध्यात्मिक जगतों में कहीं भी जाने के योग्य; सर्व-वित्—ज्ञान से पूर्ण; परः—भौतिक दशाओं से परे; धत्ते—स्वीकार करता है; असौ—वह आत्मा या जीव; आत्मनः—अपना; लिङ्गम्—शरीर; मायया—भौतिक शक्ति के द्वारा; विसृजन्—उत्पन्न करते हुए; गुणान्—विविध भौतिक गुणों को।

आत्मा या जीव की मृत्यु नहीं होती, क्योंकि वह नित्य तथा अव्यय है। भौतिक कल्मष से मुक्त होने के कारण वह भौतिक या आध्यात्मिक जगतों में कहीं भी जा सकता है। वह भौतिक शरीर से पूरी तरह अवगत होते हुए भी उससे सर्वथा भिन्न है, किन्तु अपनी किंचित स्वतंत्रता के दुरुपयोग के कारण उसे भौतिक शक्ति द्वारा उत्पन्न सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर धारण करने होते हैं और इस तरह उसे तथाकथित भौतिक सुख तथा दुख सहने होते हैं। अतएव किसी भी मनुष्य को शरीर में से आत्मा के निकलने पर शोक नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु ने अत्यन्त बुद्धिमानी से आत्मा की स्थिति का वर्णन किया है। आत्मा कभी भी शरीर नहीं होता, अपितु वह सदैव शरीर से पूर्णतया भिन्न होता है। नित्य तथा अव्यय होने के कारण आत्मा की मृत्यु नहीं होती, किन्तु जब वही शुद्ध आत्मा मुक्तभाव से भौतिक जगत का भोग करना चाहता है, तो उसे प्रकृति के प्रतिबन्धों के अन्तर्गत रख दिया जाता है, जिसके कारण उसे किसी न किसी प्रकार शरीर धारण करना पड़ता है और उसके सुखों एवं दुखों को भोगना होता है। इसका वर्णन कृष्ण द्वारा *भगवद्गीता* (१३.२२) में भी हुआ है। *कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्-योनिजन्मसु*—जीव विभिन्न परिवारों में या योनियों में उत्पन्न होता है, क्योंकि वह प्रकृति के गुणों द्वारा दूषित रहता है। प्रकृति द्वारा बद्ध होने पर जीव को एक प्रकार का शरीर धारण करना होता है, जो परमेश्वर के आदेशानुसार प्रकृति द्वारा प्रदत्त होता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

"हे अर्जुन! परमेश्वर प्रत्येक के हृदय में स्थित हैं और ये उन सारे जीवों के विचरण का निर्देश करते रहते हैं, जो भौतिक शक्ति से निर्मित यंत्र पर आरूढ होते हैं।" (*भगवद्गीता* १८.६१) यह शरीर एक यंत्र के तुल्य है और जीव को उसके कर्म के अनुसार प्रकृति के वशीभूत होकर इधर-उधर विचरण करने के लिये विशेष प्रकार का यंत्र प्रदान किया जाता है। यह तब तक चलता रहता है जब तक वह परमेश्वर की शरण में नहीं जाता (*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*)। बिना शरण में गये बद्धजीव प्रकृति की व्यवस्था से एक जीवन से दूसरे जीवन में ले जाया जाता है।

यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव ।
चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते चलतीव भूः ॥ २३॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अम्भसा—जल द्वारा; प्रचलता—गतिमान; तरवः—वृक्ष (नदी के तट के); अपि—भी; चलाः—गतिमान; इव—मानो; चक्षुषा—आँख से; भ्राम्यमाणेन—गतिमान; दृश्यते—देखा जाता है; चलती—चलती हुई, गतिमान; इव—मानो; भूः—धरती।

जल की गति के कारण नदी के तटवर्ती वृक्ष जल में प्रतिबिम्बित होकर चलते प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार जब आँखें किसी मानसिक असंतुलन के कारण चलती रहती हैं, तो धरती (स्थल) भी घूमती प्रतीत होती है।

तात्पर्य : कभी-कभी मानसिक असंतुलन के कारण धरती घूमती प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ, एक शराबी या हृदय-रोग से पीड़ित व्यक्ति कभी-कभी अनुभव करता है कि धरती गतिमान है। इसी प्रकार प्रवाहित नदी में वृक्षों के प्रतिबिम्ब भी चलते प्रतीत होते हैं। ये सब माया के कार्य हैं। वस्तुतः जीव नहीं चलता (*स्थाणुरचलोऽयम्*)। जीव का न तो जन्म होता है, न मृत्यु होती है, किन्तु नश्वर सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों के कारण जीव एक स्थान से दूसरे को गति करता या सदा के लिए मृत प्रतीत होता है। जैसाकि महान् बंगाली वैष्णव कवि जगदानन्द पंडित ने कहा है—

पिशाची पाइले येन मति-च्छन्न हय।

मायाग्रस्त जीवेर हय से भाव उदय॥

प्रेम विवर्त के इस कथनानुसार जब जीव प्रकृति द्वारा बद्ध होता है, तो वह ऐसे व्यक्ति के समान

होता है, जिसे भूत-प्रेत सताते हैं। अतएव मनुष्य को आत्मा के स्थिर पद को समझना चाहिये और जानना चाहिये कि वह किस तरह प्रकृति की लहरों के द्वारा शोक तथा लालसा के अन्तर्गत विभिन्न शरीरों तथा विभिन्न पदों तक ले जाया जाता है। मनुष्य को जीवन की सफलता तब मिलती है जब वह अपनी स्वाभाविक स्थिति को समझते है और प्रकृति द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों से विचलित नहीं होता (*प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वश:*)।

एवं गुणैर्भ्राम्यमाणे मनस्यविकल: पुमान् ।
याति तत्साम्यतां भद्रे ह्यलिङ्गो लिङ्गवानिव ॥ २४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; गुणै:—प्रकृति के गुणों द्वारा; भ्राम्यमाणे—विचलित होने पर; मनसि—मन में; अविकल:—परिवर्तन के बिना; पुमान्—जीव; याति—पास जाता है; तत्-साम्यताम्—मन की विक्षोभ जैसी दशा; भद्रे—हे भद्र माता; हि—निश्चय ही; अलिङ्ग:—सूक्ष्म या स्थूल शरीर से रहित; लिङ्ग-वान्—भौतिक शरीर से युक्त; इव—मानो।

इसी तरह से हे मेरी भद्र माता, जब प्रकृति के गुणों की गति द्वारा यह मन विचलित होता (भटकता) है तब जीव, चाहे वह कितना ही सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों की विभिन्न अवस्थाओं से मुक्त क्यों न हो, यही सोचता है कि वह एक स्थिति से दूसरी में परिवर्तित हो गया है।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१०.८४.१३) में कहा गया है—

यस्यात्मबुद्धि: कुणपे त्रिधातुके

स्वधी: कलत्रादिषु भौमइज्यधी:।

यत्तीर्थबुद्धि: सलिले न कर्हिचि-

ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखर: ॥

"जो मनुष्य तीन तत्त्वों से बने शरीर को आत्मा के रूप में पहचानता है, जो अपने शरीर से उपजातों को अपना सगा मानता है, जो जन्मभूमि को पूज्य मानता है और जो तीर्थस्थान में दिव्य ज्ञानी पुरुषों से भेंट करने नहीं, अपितु स्नान करने जाता है उसे गाय या गधा ही समझना चाहिये।" यद्यपि हिरण्यकशिपु महान् असुर था, किन्तु वह आज की जनता के समान मूर्ख न था। उसे आत्मा तथा सूक्ष्म एवं स्थूल शरीरों का स्पष्ट ज्ञान था, किन्तु आज हम इतने पतित हो चुके हैं कि बड़े-बड़े विज्ञानी, दार्शनिक तथा नेता समेत प्रत्येक व्यक्ति देहात्मबुद्धि के अधीन है, जिसकी शास्त्रों द्वारा निन्दा हुई है। *स एव गोखर:*—ऐसे लोग गायों तथा गधों के तुल्य हैं।

हिरण्यकशिपु ने अपने परिवार वालों को उपदेश दिया कि यद्यपि उसके भाई हिरण्याक्ष का स्थूल शरीर मृत है, जिसके कारण शोक-संतप्त हैं, किन्तु उन सबों को हिरण्याक्ष की महान् आत्मा के लिये शोक-सन्तप्त नहीं होना चाहिये, क्योंकि उसे अगली गति प्राप्त हो चुकी है। आत्मा सदैव अपरिवर्तित रहता है (*अविकलः पुमान्*)। हम आत्माएँ हैं, किन्तु जब हम मानसिक कार्यकलापों (*मनोधर्म*) द्वारा बहा लिये जाते हैं, तो हमें तथाकथित भौतिक जीवन भोगना पड़ता है। ऐसा प्रायः अभक्तों के साथ होता रहता है। *हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणाः*—भले ही अभक्तों में उच्च भौतिक गुण हों किन्तु मूर्ख होने के कारण उनमें एक भी उत्तम गुण नहीं रहता। भौतिक जगत में बद्धजीव की सारी उपाधियाँ शव के अलंकरण के तुल्य हैं। बद्धजीव को आत्मा तथा इस संसार के प्रभावों से परे उसके उच्च अस्तित्व का कोई ज्ञान नहीं रहता।

एष आत्मविपर्यासो ह्यलिङ्गे लिङ्गभावना ।
एष प्रियाप्रियैर्योगो वियोगः कर्मसंसृतिः ॥ २५ ॥
सम्भवश्च विनाशश्च शोकश्च विविधः स्मृतः ।
अविवेकश्च चिन्ता च विवेकास्मृतिरेव च ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; आत्म-विपर्यासः—जीवन का मोह; हि—निस्सन्देह; अलिङ्गे—भौतिक शरीरविहीन में; लिङ्ग-भावना—भौतिक शरीर को ही आत्मा मानना; एषः—यह; प्रिय—अत्यन्त प्रियों के साथ; अप्रियैः—तथा अप्रियों के साथ (शत्रुओं, परिवार के बाहर वालों के साथ); योगः—सम्बन्ध; वियोगः—वियोग; कर्म—कर्मफल; संसृतिः—जीवन की भौतिक दशा; सम्भवः—जन्म स्वीकार करते हुए; च—तथा; विनाशः—मृत्यु स्वीकार करते हुए; च—तथा; शोकः—शोक; च—तथा; विविधः—अनेक प्रकार के; स्मृतः—शास्त्रवर्णित; अविवेकः—विवेक-शक्ति का अभाव; च—तथा; चिन्ता—चिन्ता; च—भी; विवेक—समुचित विवेक शक्ति का; अस्मृतिः—विस्मरण होना; एव—निस्संदेह; च—भी।

मोहावस्था में जीव अपने शरीर तथा मन को आत्मा स्वीकार करके कुछ व्यक्तियों को अपना सगा सम्बन्धी और अन्यों को बाहरी लोग मानने लगता है। इस भ्रान्ति के कारण उसे कष्ट भोगना पड़ता है। निस्सन्देह, ऐसे मनोभावों का संचय ही सांसारिक दुख और तथाकथित सुख का कारण बनता है। इस प्रकार स्थित होकर बद्धजीव को विभिन्न योनियों में जन्म लेना होता है और विभिन्न चेतनाओं में कर्म करना पड़ता है, जिससे नवीन शरीरों की उत्पत्ति होती है। यह सतत भौतिक जीवन संसार कहलाता है। जन्म, मृत्यु, शोक, मूर्खता तथा चिन्ता—ये सब ऐसे भौतिक विचारों के कारण होते हैं। इस तरह हम कभी उचित ज्ञान प्राप्त करते हैं, तो कभी जीवन की भ्रान्त धारणा के पुनः शिकार बनते हैं।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यमस्य प्रेतबन्धूनां संवादं तं निबोधत ॥ २७॥

शब्दार्थ

अत्र—इस प्रसंग में; अपि—निस्सन्देह; उदाहरन्ति—उदाहरण देते हैं; इमम्—यह; इतिहासम्—इतिहास; पुरातनम्—अत्यन्त प्राचीन; यमस्य—यमराज का, जो मृत्यु का अधीक्षक है और मृत्यु के पश्चात् निर्णय सुनाता है; प्रेत-बन्धूनाम्—मृत मनुष्य के मित्रों की; संवादम्—बातचीत; तम्—उसको; निबोधत—समझने का प्रयास करो।.

इस प्रसंग में प्राचीन इतिहास से एक उदाहरण दिया गया है। इसमें यमराज तथा मृत व्यक्ति के मित्रों के मध्य की वार्ता निहित है। कृपया इसे ध्यानपूर्वक सुनिये।

तात्पर्य : *इतिहास-पुरातनम्* का अर्थ है ''प्राचीन इतिहास''। यद्यपि पुराणों में तिथिक्रम से वर्णन नहीं मिलते, किन्तु इनमें वर्णित घटनाएँ विगत युगों की वास्तविक कथाएँ हैं। *श्रीमद्भागवत महापुराण* है अर्थात् यह समस्त पुराणों का सार है। मायावादी पुराणों को नहीं मानते, किन्तु श्रील मध्वाचार्य तथा अन्य अधिकारी विद्वान इन्हें विश्व के प्रामाणिक इतिहासों के रूप में स्वीकार करते हैं।

उशीनरेष्वभूद्राजा सुयज्ञ इति विश्रुतः ।
सपत्नैर्निहतो युद्धे ज्ञातयस्तमुपासत ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

उशीनरेषु—उशीनर नामक राज्य में; अभूत्—था; राजा—एक राजा; सुयज्ञः—सुयज्ञ; इति—इस प्रकार; विश्रुतः—प्रसिद्ध; सपत्नैः—शत्रुओं द्वारा; निहतः—मारा गया; युद्धे—युद्ध में; ज्ञातयः—सम्बन्धी जन; तम्—उसके; उपासत—चारों ओर बैठ गए।.

उशीनर नामक राज्य में सुयज्ञ नाम का एक विख्यात राजा था। जब यह राजा युद्ध में शत्रुओं द्वारा मार डाला गया तो उसके सम्बन्धी मृत शरीर को घेर कर बैठ गये और उस मित्र की मृत्यु पर शोक प्रकट करने लगे।

विशीर्णरत्नकवचं विभ्रष्टाभरणस्रजम् ।
शरनिर्भिन्नहृदयं शयानमसृगाविलम् ॥ २९ ॥
प्रकीर्णकेशं ध्वस्ताक्षं रभसा दष्टदच्छदम् ।
रजःकुण्ठमुखाम्भोजं छिन्नायुधभुजं मृधे ॥ ३० ॥
उशीनरेन्द्रं विधिना तथा कृतं
पतिं महिष्यः प्रसमीक्ष्य दुःखिताः ।
हताः स्म नाथेति करैरुरो भृशं
घ्नन्त्यो मुहुस्तत्पदयोरुपापतन् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

विशीर्ण—इधर-उधर बिखरे; रत्न—रत्नों से बना; कवचम्—सुरक्षा कवच; विभ्रष्ट—गिरा हुआ; आभरण—आभूषण; स्रजम्—मालाएँ; शर-निर्भिन्न—बाणों से बिंधा; हृदयम्—हृदय को; शयानम्—लेटा हुआ; असृक्-आविलम्—रक्तरंजित; प्रकीर्ण-केशम्—बिखरे हुए बाल को; ध्वस्त-अक्षम्—धँसी हुई आँख को; रभसा—क्रोध से; दष्ट—काटा हुआ; दच्छदम्—उसके होंठ को; रजः-कुण्ठ—धूल से ढका; मुख-अम्भोजम्—उसके कमल जैसे मुख को; छिन्न—कटे हुए; आयुध-भुजम्—उसके हथियार तथा बाहों को; मृधे—युद्धस्थल में; उशीनर-इन्द्रम्—उशीनर राज्य के स्वामी को; विधिना—विधाता से; तथा—इस तरह; कृतम्—इस दशा को प्राप्त; पतिम्—पति को; महिष्यः—रानियाँ; प्रसमीक्ष्य—देखकर; दुःखिताः—अत्यन्त दुखी; हताः—मारी गयी; स्म—निश्चय ही; नाथ—हे स्वामी; इति—इस प्रकार; करैः—हाथों से; उरः—वक्षस्थल; भृशम्—निरन्तर; घ्नन्त्यः—पीटती हुई; मुहुः—बारम्बार; तत्-पदयोः—राजा के चरणों पर; उपापतन्—गिर पड़ीं।

वध किया हुआ राजा युद्धस्थल में लेटा था। उसका सुनहला रत्नजटित कवच छिन्न-भिन्न हो गया था, उसके आभूषण तथा वस्त्र अपने-अपने स्थान से विलग हो चुके थे, उसके बाल बिखर गये थे और उसकी आँखें कान्तिहीन हो चुकी थीं, उसका सारा शरीर रक्त से सना था और उसका हृदय शत्रु के बाणों से बिंधा था। उसने मरते समय अपना शौर्य दिखाना चाहा, अतएव उसके होंठ दाँतों से भिंच गये थे और दाँत उस स्थिति में थे। उसका कमल सदृश सुन्दर मुख अब काला पड़ गया था और युद्धभूमि की धूल से भरा था। तलवार तथा अन्य हथियारों से युक्त उसकी भुजाएं कटकर टूट चुकी थी। जब उशीनर के राजा की रानियों ने अपने पति को इस स्थिति में पड़े देखा तो वे रोने लगीं—"हे नाथ, तुम्हारे मारे जाने से हम भी मारी जा चुकी हैं।" इन शब्दों को टेर-टेर कर वे अपनी छाती पीट-पीट कर मृत राजा के चरणों पर गिर पड़ीं।

तात्पर्य : जैसाकि कहा गया है *रभसा दष्टदच्छदम्*—युद्ध के समय राजा क्रुद्ध था, उसने अपना पराक्रम दिखाने के लिए अपने होंठ काटे तो भी वह विधिवश (*विधिना*) मारा गया। इससे सिद्ध होता है कि हम उच्चतर शक्तियों द्वारा नियंत्रित हैं; हमारी निजी शक्ति या प्रयास सदैव श्रेष्ठ नहीं रह पाता। हमें परमेश्वर द्वारा प्रदत्त स्थिति स्वीकार करनी चाहिए।

रुदत्य उच्चैर्दयिताङ्घ्रिपङ्कजं
सिञ्चन्त्य अस्रैः कुचकुङ्कुमारुणैः ।
विस्रस्तकेशाभरणाः शुचं नृणां
सृजन्त्य आक्रन्दनया विलेपिरे ॥ ३२॥

शब्दार्थ

रुदत्यः—रोती हुई; उच्चैः—जोर-जोर से; दयित—अपने प्रिय पति के; अङ्घ्रि-पङ्कजम्—चरणकमलों को; सिञ्चन्त्यः—भिगोती हुई; अस्रैः—आँसुओं से; कुच-कुङ्कुम-अरुणैः—जो उसके वक्षस्थलों में लगे कुमकुम के कारण लाल हो रहे थे; विस्रस्त—बिखरे; केश—बाल; आभरणाः—तथा आभूषण; शुचम्—शोक; नृणाम्—सामान्य लोगों का; सृजन्त्यः—उत्पन्न करते हुए; आक्रन्दनया—अत्यन्त करुणापूर्वक रो करके; विलेपिरे—शोक करने लगीं।

रानियों के उच्च स्वर में रोने पर उनके आँसू वक्षस्थल पर लुढ़क आये जहाँ वे कुमकुम चूर्ण से लाल होकर फिर उनके पति के चरणकमलों पर गिर पड़े। उनके केश बिखर गये, उनके आभूषण गिर गये और अन्यों के हृदय से सहानुभूति जगाती हुई रानियाँ अपने पति की मृत्यु पर शोक करने लगीं।

अहो विधात्राकरुणेन नः प्रभो
भवान्प्रणीतो दृगगोचरां दशाम् ।
उशीनराणामसि वृत्तिदः पुरा
कृतोऽधुना येन शुचां विवर्धनः ॥ ३३॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; विधात्रा—विधाता द्वारा; अकरुणेन—अत्यन्त निर्दय; नः—हमारा; प्रभो—हे स्वामी; भवान्—आप; प्रणीतः—छीना गया; दृक्—दृष्टि की; अगोचराम्—सीमा के बाहर; दशाम्—अवस्था को; उशीनराणाम्—उशीनर राज्य के वासियों को; असि—था; वृत्ति-दः—जीविका देने वाला; पुरा—पहले; कृतः—समाप्त; अधुना—अब; येन—जिससे; शुचाम्—शोक को; विवर्धनः—बढ़ाते हुए।

हे नाथ, अब आप क्रूर विधाता द्वारा हमारी दृष्टि से ओझल कर लिये गये हैं। इसके पूर्व आप उशीनर के निवासियों को जीविका प्रदान करते थे जिससे वे सुखी थे, किन्तु अब आपकी दशा उनके दुख का कारण बनी है।

त्वया कृतज्ञेन वयं महीपते
कथं विना स्याम सुहृत्तमेन ते ।
तत्रानुयानं तव वीर पादयोः
शुश्रूषतीनां दिश यत्र यास्यसि ॥ ३४॥

शब्दार्थ

त्वया—तुम; कृतज्ञेन—अत्यन्त कृतज्ञ व्यक्ति के; वयम्—हम; मही-पते—हे राजा; कथम्—कैसे; विना—बिना; स्याम—रहेंगी; सुहृत्-तमेन—हमारे मित्रों में श्रेष्ठ; ते—तुम्हारे; तत्र—वहाँ; अनुयानम्—अनुगमन करते हुए; तव—तुम्हारा; वीर—हे वीर पुरुष; पादयोः—चरणकमलों की; शुश्रूषतीनाम्—सेवा में लगे रहने वालों का; दिश—कृपया आज्ञा दें; यत्र—कहाँ; यास्यसि—जाओगे।

हे राजा, हे वीर, आप अत्यन्त कृतज्ञ पति थे और हम सबों के अत्यन्त निष्ठावान् मित्र थे। आपके बिना हम कैसे रह सकेंगी? हे वीर, आप जहाँ भी जा रहे हैं, कृपा करके हमारा निर्देशन करें जिससे हम आपके पदचिन्हों का अनुसरण कर सकें और पुनः आपकी सेवा कर सकें। हमें भी अपने साथ ले चलें।

तात्पर्य : पुराने जमाने में क्षत्रिय राजा सामान्यतया कई पत्नियों का पति होता था और राजा की

मृत्यु होने पर, विशेषतया युद्धभूमि में मरने पर, सारी रानियाँ पति के साथ *सहमारण* स्वीकार करती थीं, क्योंकि वही उनका जीवन होता था। जब पाण्डवों के पिता पाण्डु महाराज मरे तो उनके दो पत्नियाँ थीं—एक युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन की माता और दूसरी नकुल तथा सहदेव की माता—और वे दोनों ही अपने पति के साथ चिता में जल मरने के लिए तैयार थीं। बाद में ऐसा समझौता हुआ जिससे कुन्ती तो छोटे-छोटे बालकों की रखवाली के लिए जीवित रही और दूसरी पत्नी माद्री को पति के साथ मरने दिया गया। यह सहमारण की प्रथा भारत में ब्रिटिश शासन तक भी चलती रही, किन्तु बाद में इसे हतोत्साहित किया जाने लगा, क्योंकि कलियुग की प्रगति के साथ ही पत्नियों की मनोवृत्ति क्रमशः बदलती गई। इस तरह *सहमारण* की प्रथा एक तरह से उन्मूलित हो चुकी है। तो भी मैंने पचास वर्ष में एक डाक्टर की पत्नी को पति की मृत्यु के तुरन्त बाद स्वेच्छा से मृत्यु का वरण करते देखा है। पति-पत्नी दोनों को शव-यान में जुलूस के साथ ले जाया गया। पतिव्रता पत्नी का पति के लिए ऐसा प्रखर प्रेम अत्यन्त अनूठा है।

एवं विलपतीनां वै परिगृह्य मृतं पतिम् ।
अनिच्छतीनां निर्हारमर्कोऽस्तं सन्न्यवर्तत ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार से; विलपतीनाम्—विलाप करती रानियों का; वै—निस्सन्देह; परिगृह्य—अपनी गोद में लेकर; मृतम्—मृत; पतिम्—पति को; अनिच्छतीनाम्—न चाहती हुए; निर्हारम्—दाह संस्कार के लिए शव को ले जाते हुए; अर्कः—सूर्य; अस्तम्—डूबने के स्थान में; सन्न्यवर्तत—चला गया।

यद्यपि शव-दाह के लिए समय उपयुक्त था लेकिन रानियाँ शव को अपनी गोद में लिए हुए विलाप करती रहीं और उन्होंने शव को ले जाने की अनुमति नहीं दी। तभी सूर्य पश्चिम दिशा में अस्त हो गया।

तात्पर्य : वैदिक प्रथा के अनुसार यदि कोई व्यक्ति दिन में मरता है, तो उसका दाह-संस्कार सूर्यास्त के पूर्व हो जाना चाहिए, चाहे उसे जलाया जाये या गाड़ा जाये। यदि वह रात्रि के समय मरता है, तो अगले दिन प्रातःकाल दाह-कर्म पूरा किया जाता है। ऐसा लगता है कि रानियाँ मृत शरीर के लिए, जो लोष्ठवत् था, शोक करती रहीं और उन्होंने उसे जलाने के लिए नहीं दिया। इससे मूर्ख व्यक्तियों में व्याप्त मोह का प्रबल बन्धन स्पष्ट होता है, क्योंकि वे शरीर को आत्मा मानते हैं। सामान्यतया स्त्रियाँ कम बुद्धिमान मानी जाती हैं। केवल अज्ञानवश ही रानियाँ मृत शरीर को पति मान

रही थीं और किसी न किसी कारण सोच रही थीं कि यदि शरीर रह जाए तो उनका पति उनके साथ रहता रहेगा। ऐसी धारणा निश्चय ही गोखर अर्थात् गायों तथा गधों के लिए होती है। हमने वास्तव में देखा है कि कभी-कभी जब गाय का बछड़ा मर जाता है, तो ग्वाले उस बछड़े के मृत शरीर को मढ़ा कर गाय के समक्ष प्रस्तुत करके उसे धोखा देते हैं। इस तरह वह गाय जो वैसे दूध नहीं दुहने देती बछड़े के मृत शरीर को चाटती है और दूध दुहने देती है। इससे शास्त्र के वर्णन की पुष्टि होती है कि मूर्ख मनुष्य देहात्मबुद्धि के कारण गाय के समान होता है। न केवल मूर्ख व्यक्ति तथा स्त्रियाँ शरीर को आत्मा मानती हैं, अपितु हमने देखा है कि एक तथाकथित योगी का शव उसके शिष्यों द्वारा कई दिनों तक रखा रहने दिया गया, क्योंकि वे सोच रहे थे कि उनके गुरु समाधि में हैं। जब शरीर सड़ने लगा और दुर्गन्ध आने लगी तब कहीं जाकर शिष्यों ने तथाकथित योगी के शरीर को जलाने दिया। इस प्रकार मूर्ख व्यक्तियों में देहात्मबुद्धि अत्यन्त प्रबल होती है जिनकी तुलना गायों तथा गधों से की जाती है। आजकल बड़े-बड़े वैज्ञानिक मृत शरीरों को प्रशीतित करने के फेर में हैं जिससे भविष्य में इन प्रशीतित शरीरों को पुन: जिन्दा किया जा सके। हिरण्यकशिपु द्वारा वर्णित यह ऐतिहासिक वृत्तान्त लाखों वर्ष पूर्व घटित हुआ होगा, क्योंकि वह लाखों वर्ष पूर्व जीवित था और तब भी वह इतिहास का उदाहरण दे रहा था। अत: यह घटना हिरण्यकशिपु के जीवन काल से पहले हुई होगी, किन्तु देहात्मबुद्धि की वही अविद्या आज भी न केवल अज्ञों में अपितु वैज्ञानिकों में भी व्याप्त है, जो हिमशीतित शवों को पुनरुज्जीवित करने की बात सोचते हैं।

ऐसा लगता है कि रानियाँ शव को जलाने के लिए इसलिए नहीं दे रही थीं, क्योंकि वे अपने पति के शव के साथ मरने से डर रही थीं।

तत्र ह प्रेतबन्धूनामाश्रुत्य परिदेवितम् ।
आह तान्बालको भूत्वा यम: स्वयमुपागत: ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; ह—निश्चय ही; प्रेत-बन्धूनाम्—मृत राजा के मित्रों तथा सम्बन्धियों के; आश्रुत्य—सुनकर; परिदेवितम्—तीव्र विलाप (जो यमराज के लोक से भी सुना जा सकता था); आह—कहा; तान्—उनसे (शोकसन्तप्त रानियों से); बालक:—एक लड़का; भूत्वा—बन कर; यम:—मृत्यु के अधीक्षक यमराज ने; स्वयम्—साक्षात्; उपागत:—आकर।

जब रानियाँ राजा के मृत शरीर के लिए विलाप कर रही थीं तो उनका तीव्र विलाप यमलोक तक में सुनाई पड़ रहा था। अतएव बालक का रूप धारण करके यमराज मृतक के सम्बन्धियों

के निकट पहुँचे और उन्हें इस प्रकार से उपदेश दिया।

तात्पर्य : कभी-कभी जीव को अपना शरीर त्याग कर यमराज के निर्णय के अनुसार दूसरे शरीर में प्रवेश करना पड़ता है। किन्तु बद्धजीव के लिए दूसरे शरीर में प्रवेश करना तब तक सम्भव नहीं होता जब तक मृत शरीर को दाह संस्कार द्वारा या अन्य किसी साधन से विनष्ट न कर दिया जाये। जीव को वर्तमान शरीर के प्रति आसक्ति होती है और वह दूसरे शरीर में प्रवेश नहीं करना चाहता, अतएव तब तक वह प्रेत बनकर रहता है। यदि मरा हुआ व्यक्ति पुण्यात्मा होता है, तो यमराज उसे मुक्त करने के उद्देश्य से दूसरा शरीर प्रदान करते हैं। चूँकि राजा के शरीर के जीव को उसके शरीर से आसक्ति थी, अतएव वह प्रेत बनकर मँडरा रहा था और इसीसे यमराज विशेष रूप से शोकमग्न सम्बन्धियों को स्वयं उपदेश देने के लिए उनके पास गये। यमराज उनके पास बालक-वेश में गये, क्योंकि बालक को कहीं भी जाने की छूट रहती है, यहाँ तक कि राजमहल में भी। इसके अतिरिक्त यह बालक दर्शन की बातें कर रहा था। जब कोई बालक दर्शन की बातें करता है, तो लोग सुनने में बड़ी रुचि लेते हैं।

श्रीयम उवाच

अहो अमीषां वयसाधिकानां
विपश्यतां लोकविधिं विमोहः ।
यत्रागतस्तत्र गतं मनुष्यं
स्वयं सधर्मा अपि शोचन्त्यपार्थम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

श्री-यमः उवाच—श्री यमराज ने कहा; अहो—ओह; अमीषाम्—इनका; वयसा—उम्र से; अधिकानाम्—जिनकी आयु अधिक है, उनका; विपश्यताम्—प्रति दिन देखते हुए; लोक-विधिम्—प्रकृति के नियम को (कि हर कोई मरता है); विमोहः—मोह; यत्र—जहाँ से; आगतः—आया हुआ; तत्र—वहाँ; गतम्—लौटा हुआ; मनुष्यम्—मनुष्य; स्वयम्—स्वयं; स-धर्माः—स्वभाव में समान (मरने के लिए उद्यत); अपि—यद्यपि; शोचन्ति—विलाप करते हैं; अपार्थम्—व्यर्थ ही।

श्री यमराज ने कहा—ओह! यह कितना आश्चर्यजनक है। ये लोग, जो मुझसे वय में बड़े हैं उन्हें अच्छी तरह अनुभव है कि सैकड़ों हजारों जीव जन्म लेते और मरते हैं। इस तरह उन्हें समझना चाहिए कि उन्हें भी मरना है, तो भी वे मोहग्रस्त रहते हैं। बद्धजीव अज्ञात स्थान से आते हैं और मृत्यु के बाद उसी अज्ञात स्थान को लौट जाते हैं। इस नियम का कोई अपवाद नहीं मिलता तो यह जानते हुए भी वे व्यर्थ शोक क्यों करते हैं?

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (२.२८) में भगवान् कहते हैं—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

''सारे सृजित जीव प्रारम्भ में अप्रकट रहते हैं, बीच में प्रकट होते हैं और विनष्ट होने पर पुन: अप्रकट हो जाते हैं। अतएव शोक करने की क्या आवश्यकता है?''

यह मानते हुए कि दार्शनिकों की दो श्रेणियाँ हैं जिनमें से एक आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास करता है और दूसरी नहीं करती, इन दोनों ही दशाओं में शोक करने का कोई कारण नहीं है। वैदिक वाङ्मय के अनुयायी आत्मा के अस्तित्व पर न विश्वास करने वालों को नास्तिक कहते हैं। फिर भी यदि हम तर्क के लिए नास्तिकवाद सिद्धान्त को मान लें तो भी शोक करने का कोई कारण नहीं होता। आत्मा के पृथक् अस्तित्व के अलावा सृष्टि के पूर्व भौतिक तत्त्व अव्यक्त रहते हैं। किन्तु अव्यक्तता की इस सूक्ष्म दशा से ही व्यक्तता आती है, जिस तरह शून्य से वायु उत्पन्न होती है, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है। पृथ्वी से अनेक प्रकार की अभिव्यक्तियाँ होती हैं। उदाहरणार्थ, एक विशाल गगनचुम्बी प्रासाद पृथ्वी से प्रकट होता है। इसे ध्वस्त कर देने पर वह पुन: अप्रकट हो जाता है और अन्तत: परमाणुओं के रूप में रह आता है। ऊर्जा के संरक्षण का नियम बना रहता है, किन्तु कालक्रम में वस्तुएँ प्रकट तथा अप्रकट होती रहती हैं—यह अन्तर है। तो प्रकट होने या अप्रकट होने पर शोक करने का क्या लाभ है? अप्रकट अवस्था में भी वस्तुएँ खोती नहीं। प्रारम्भ में तथा अन्त में इन दोनों ही अवस्थाओं में सारे तत्त्व अव्यक्त रहते हैं और इससे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

यदि हम *भगवद्गीता* में दिये गये वैदिक निर्णय को स्वीकार करें (*अन्तवन्त इमे देहा:*) कि ये भौतिक शरीर कालक्रम से विनष्ट हो जाएँगे (*नित्यस्योक्ता: शरीरिण:*) किन्तु आत्मा नित्य है, तो हमें यह स्मरण रखना होगा कि यह शरीर वस्त्र की भाँति हैं; तो फिर वस्त्र-परिवर्तन के लिए शोक कैसा? नित्य आत्मा के आगे भौतिक शरीर का वास्तविक अस्तित्व नहीं होता। यह स्वप्न जैसा है। स्वप्न में हम आकाश में उड़ते या राजा की तरह रथ में आसीन हो सकते हैं, किन्तु जगने पर हम अपने को न तो आकाश में उड़ते, न रथ पर आसीन पाते हैं। वैदिक वाङ्मय भौतिक देह के अनस्तित्व के आधार पर आत्म-साक्षात्कार पर बल देता है। अतएव दोनों ही तरह से, चाहे कोई आत्मा के अस्तित्व को

मानता हो या न मानता हो, शरीर की क्षति के लिए शोक करना व्यर्थ है।

महाभारत में कहा गया है—*अदर्शनाद् इहायातः पुनश्चादर्शनं गतः।* इस कथन से नास्तिक विज्ञानियों के सिद्धान्त का समर्थन होता है कि माता के गर्भ में शिशु के प्राण नहीं होते और वह एक पिंड जैसा रहता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि शल्यक्रिया द्वारा किसी पदार्थ के पिंड को बाहर निकाल लिया जाये (गर्भपात कराया जाये) तो जीव की हत्या नहीं होती। शिशु का शरीर तो ट्यूमर (अर्बुद) की भाँति होता है और यदि इस ट्यूमर को शल्यक्रिया द्वारा काट कर निकाल लिया जाये और फेंक दिया जाए तो इसमें कोई पाप नहीं होता। यही तर्क राजा तथा रानियों के प्रसंग में भी दिया जा सकता है। राजा का शरीर अव्यक्त स्रोत से व्यक्त हुआ था और अब वह व्यक्त से अव्यक्त अवस्था को प्राप्त हो गया था। चूँकि व्यक्तता (अभिव्यक्ति) केवल दो अव्यक्तताओं के मध्य में विद्यमान रहती है, तो फिर कोई इस अन्तराल में प्रकट हुए शरीर के लिए क्यों रोए?

अहो वयं धन्यतमा यदत्र
त्यक्ताः पितृभ्यां न विचिन्तयामः ।
अभक्ष्यमाणा अबला वृकादिभिः
स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; वयम्—हम सब; धन्य-तमाः—अत्यन्त भाग्यशाली; यत्—क्योंकि; अत्र—इस समय; त्यक्ताः—असुरक्षित, अकेले छोड़ी हुई; पितृभ्याम्—पिता तथा माता दोनों के द्वारा; न—नहीं; विचिन्तयामः—चिन्ता करते; अभक्ष्यमाणाः—न खाई जाकर; अबलाः—अत्यन्त निर्बल; वृक-आदिभिः—भेड़िया तथा अन्य हिंस्र पशुओं द्वारा; सः—वह (भगवान्); रक्षिता—रक्षा करेगा; रक्षति—रक्षा कर चुका है; यः—जो; हि—निश्चय ही; गर्भे—गर्भ के भीतर।

यह कितना आश्चर्यजनक है कि इन वयोवृद्ध महिलाओं को हमारे जैसा भी उच्चतर जीवन-बोध नहीं है! निस्सन्देह, हम अत्यन्त भाग्यशाली हैं, क्योंकि यद्यपि हम बालक हैं और अपने माता-पिता के द्वारा जीवन-संघर्ष करने के लिए असुरक्षित छोड़ दिये गये हैं और यद्यपि हम अत्यन्त निर्बल हैं, तो भी हिंस्र पशुओं ने न तो हमें खाया, न विनष्ट किया। इस तरह हमें दृढ़ विश्वास है कि जिस भगवान् ने हमें माता के गर्भ में भी सुरक्षा प्रदान की है वे ही हमारी सर्वत्र रक्षा करते रहेंगे।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६१) में कहा गया है—*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*—भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित रहते हैं। इस प्रकार भगवान् सबों की रक्षा करते हैं और उनकी

इच्छानुसार भोगने के लिए जीव को विभिन्न शरीर प्रदान करते हैं। सब कुछ भगवान् के आदेश से होता है अतएव हमें जीव के जन्म तथा मृत्यु के लिए शोक नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये भगवान् द्वारा नियोजित होते हैं। भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहते हैं—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्त: स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—मैं सबों के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होती है। मनुष्य को चाहिए कि हृदय में स्थित भगवान् की आज्ञानुसार ही कर्म करे। किन्तु जीव स्वतंत्र होकर कर्म करना चाहता है, अतएव भगवान् उसे कर्म करने तथा फलों का अनुभव करने की सुविधा देते रहते हैं। भगवान् कहते हैं *सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—"अन्य समस्त कर्तव्यों को त्याग दो और केवल मेरी शरण में आओ।" जो भगवान् के आदेशों का पालन नहीं करता उसे इस भौतिक जगत का भोग करने की सुविधा दे दी जाती है। भगवान् बद्धजीव को रोकने के बजाय भोग करने का अवसर प्रदान करते हैं जिससे परिपक्व अनुभव होने पर अनेक जन्म-जन्मांतरों के बाद (*बहूनां जन्मनामन्ते*) वह यह समझे कि वासुदेव के चरणकमलों की शरण ग्रहण करना ही सारे जीवों का एकमात्र कर्तव्य है।

य इच्छयेश: सृजतीदमव्ययो
य एव रक्षत्यवलुम्पते च य: ।
तस्याबला: क्रीडनमाहुरीशितु-
श्चराचरं निग्रहसङ्ग्रहे प्रभु: ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

य:—जो; इच्छया—उसकी इच्छा से (किसी के द्वारा बाध्य होकर नहीं); ईश:—परम नियन्ता; सृजति—उत्पन्न करता है; इदम्—इस (भौतिक जगत) को; अव्यय:—यथारूप में रहकर (इतनी सारी भौतिक सृष्टियों को उत्पन्न करने के कारण अपने अस्तित्व को खोये बिना); य:—जो; एव—निस्सन्देह; रक्षति—पालन करता है; अवलुम्पते—संहार करता है; च—भी; य:—जो; तस्य—उसका; अबला:—हे दीन स्त्रियों; क्रीडनम्—खेल; आहु:—वे कहते हैं; ईशितु:—भगवान् का; चर-अचरम्—चर तथा अचर; निग्रह—विनाश में; सङ्ग्रहे—या रक्षा में; प्रभु:—पूर्ण समर्थ।

उस बालक ने स्त्रियों को सम्बोधित किया: हे अबलाओ, उस अविनाशी भगवान् की इच्छा से सम्पूर्ण जगत का सृजन, पालन और संहार होता है। यह वेदों का निर्णय है। चर तथा अचर से युक्त यह भौतिक सृष्टि उनके खिलौने के समान है। परमेश्वर होने के कारण वे इसको विनष्ट करने तथा इसकी रक्षा करने में पूर्ण समर्थ हैं।

तात्पर्य : इस प्रसंग में रानियाँ तर्क कर सकती हैं "यदि भगवान् ने हमारे पति की रक्षा गर्भ में की

थी तो अब वे क्यों नहीं कर रहे?'' इस प्रश्न का उत्तर यह है *य इच्छयेश: सृजतीदमव्ययो य एव रक्षत्यवलुम्पते च य:*। कोई भगवान् के कार्यों की आलोचना नहीं कर सकता। भगवान् सदैव स्वतंत्र हैं, अतएव वे रक्षा कर सकते हैं और संहार भी कर सकते हैं। वे हमारे आदेशवाहक (बैरा) नहीं हैं। जो उन्हें रुचता है वे वही करते हैं। अतएव वे परमेश्वर हैं। भगवान् इस संसार का सृजन किसी के अनुरोध पर नहीं करते, अतएव वे अपनी इच्छा मात्र से समस्त वस्तुओं का संहार कर सकते हैं। यही उनकी श्रेष्ठता है। यदि कोई तर्क करता है कि ''वे इस तरह क्यों करते हैं?'' तो इसका उत्तर यही है कि वे ऐसा इसलिए कर सकते हैं, क्योंकि वे सर्वोपरि हैं। कोई उनके कार्यकलापों के प्रति आपत्ति नहीं कर सकता। यदि कोई तर्क करता है कि ''इस पापपूर्ण सृष्टि तथा संसार का क्या प्रयोजन है?'' तो इसका उत्तर यह है कि वे अपनी सर्वशक्तिमत्ता सिद्ध करने के लिए कुछ भी कर सकते हैं और कोई उनसे पूछ नहीं सकता। यदि उन्हें इसका उत्तर देना होता कि वे ऐसा क्यों करते हैं और ऐसा क्यों नहीं करते हैं, तो उनकी सर्वश्रेष्ठता में बट्टा लगता।

पथि च्युतं तिष्ठति दिष्टरक्षितं
गृहे स्थितं तद्विहतं विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपि तदीक्षितो वने
गृहेऽभिगुप्तोऽस्य हतो न जीवति ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

पथि—रास्ते में; च्युतम्—गिरा हुआ, अधिकार से वंचित; तिष्ठति—बना रहता है; दिष्ट-रक्षितम्—भाग्य द्वारा रक्षित; गृहे—घर में; स्थितम्—यद्यपि स्थित; तत्-विहतम्—परमेश्वर की इच्छा से मारा गया; विनश्यति—नष्ट हो जाता है; जीवति—जीवित रहता है; अनाथ: अपि—बिना रक्षक के भी; तत्-ईक्षित:—भगवान् द्वारा रक्षित होकर; वने—जगंल में; गृहे—घर में; अभिगुप्त:—पूरी तरह गुप्त तथा रक्षित; अस्य—इसका; हत:—मारा गया; न—नहीं; जीवति—बचता है।.

कभी-कभी मनुष्य अपना धन सड़क पर खो देता है जहाँ सभी उसे देख सकते हैं; फिर भी यह धन भाग्यवश सुरक्षित पड़ा रहता है और इसे कोई नहीं देख पाता। इस तरह जिस व्यक्ति ने इस धन को खोया था, उसे यह वापस मिल जाता है। दूसरी ओर, यदि भगवान् सुरक्षा प्रदान नहीं करते तो घर में अत्यन्त सुरक्षित ढंग से रखा होने पर भी यह धन खो जाता है। यदि भगवान् किसी की रक्षा करते हैं, तो उसका कोई रक्षक न होते हुए भी तथा जंगल में रहते हुए भी वह जीवित रहता है जब कि घर पर सम्बन्धियों तथा अन्यों से रक्षित होते हुए भी मनुष्य कभी-कभी मर जाता है; कोई उसकी रक्षा नहीं कर पाता।

तात्पर्य : ये भगवान् की श्रेष्ठता के उदाहरण हैं। रक्षा करने या संहार करने की हमारी योजनाएँ सफल नहीं होतीं, किन्तु भगवान् जो भी करने की सोच लेते हैं वह सचमुच होकर रहता है। इस प्रसंग में दिये गये उदाहरण व्यावहारिक हैं। हर एक को ऐसे अनुभव हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त भी अनेक स्पष्ट उदाहरण हैं। उदाहरणार्थ, प्रह्लाद महाराज ने कहा कि सचमुच ही बालक अपने माता-पिता पर आश्रित रहता है, किन्तु उनके होते हुए भी बालक को अनेक यातनाएँ सहनी होती हैं। कभी-कभी अच्छी से अच्छी दवा एवं अनुभवी वैद्य के होते हुए भी रोगी बच नहीं पाता। चूँकि सब कुछ भगवान् की मुक्त इच्छा (मर्जी) पर निर्भर है, अतएव हमारा एकमात्र कर्तव्य है कि हम उनकी शरण में जाएं और उनका आश्रय खोजें।

भूतानि तैस्तैर्निजयोनिकर्मभि-
र्भवन्ति काले न भवन्ति सर्वशः ।
न तत्र हात्मा प्रकृतावपि स्थित-
स्तस्या गुणैरन्यतमो हि बध्यते ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

भूतानि—जीवों के समस्त शरीर; तैः तैः—अपने अपने; निज-योनि—अपने शरीर उत्पन्न करके; कर्मभिः—पूर्व कर्मों के द्वारा; भवन्ति—प्रकट होते हैं; काले—काल क्रम से; न भवन्ति—अदृश्य होते हैं; सर्वशः—सभी तरह से; न—नहीं; तत्र—वहाँ; ह—निस्सन्देह; आत्मा—आत्मा; प्रकृतौ—इस भौतिक जगत के भीतर; अपि—यद्यपि; स्थितः—स्थित; तस्याः—उस (भौतिक शक्ति) के; गुणैः—विभिन्न गुणों के द्वारा; अन्य-तमः—अत्यन्त भिन्न; हि—निस्सन्देह; बध्यते—बाँधा जाता है।

प्रत्येक बद्धजीव अपने कर्म के अनुसार भिन्न प्रकार का शरीर पाता है और जब उसका कार्य समाप्त हो जाता है, तो शरीर भी नष्ट हो जाता है। यद्यपि आत्मा विभिन्न योनियों में विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों में स्थित रहता है, किन्तु वह उनसे बँधा नहीं रहता, क्योंकि वह व्यक्त शरीर से सदा-सदा पूर्णतया भिन्न माना जाता है।

तात्पर्य : यहाँ स्पष्ट बताया गया है कि जीव द्वारा विभिन्न शरीर धारण किये जाने के लिये ईश्वर जिम्मेदार नहीं है। जीव को प्रकृति के नियमों तथा अपने-अपने कर्म के अनुसार शरीर धारण करना होता है। अतएव वैदिक आदेश है कि भौतिक कार्यों में संलग्न व्यक्तियों को ऐसे निर्देश दिये जाँय जिससे वह अपने कार्यों को भगवान् की सेवा में लगा सके और बारम्बार जन्म-मरण के भव-बन्धन से छूट सके (*स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः*)। भगवान् तो सदा ही निर्देश देने के लिए तत्पर रहते हैं। निसन्देह, उनके निर्देश *भगवद्गीता* में विस्तार से दिये हुए हैं। यदि हम इन निर्देशों का

लाभ उठाएँ तो प्रकृति के नियमों से बद्ध रह कर भी हम अपनी मूल स्थिति प्राप्त करने के लिए स्वतंत्र हो सकेंगे (*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*)। हमें दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि भगवान् सर्वश्रेष्ठ हैं और यदि हम उनकी शरण ग्रहण करें तो वे हमारी जिम्मेदारी ले कर हमें बता सकेंगे कि किस तरह भौतिक जीवन से छूट कर हम भगवद्धाम को वापस जा सकते हैं। ऐसी शरणागति के बिना मनुष्य को अपने कर्म के अनुसार शरीर-विशेष धारण करना पड़ता है—कभी पशु का तो कभी देवता का आदि आदि। यद्यपि शरीर यथासमय मिलता और विनष्ट होता है, किन्तु आत्मा वास्तव में शरीर में मिलता नहीं, अपितु उस गुण-विशेष के वशीभूत होता है, जिससे वह पापपूर्ण ढंग से जुड़ा रहता है। आध्यात्मिक शिक्षा से मनुष्य की चेतना बदल जाती है, जिससे वह भगवान् की आज्ञाओं का पालन करता है और प्रकृति के गुणों के प्रभाव से मुक्त हो जाता है।

इदं शरीरं पुरुषस्य मोहजं
यथा पृथग्भौतिकमीयते गृहम् ।
यथौदकैः पार्थिवतैजसैर्जनः
कालेन जातो विकृतो विनश्यति ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

इदम्—इस; शरीरम्—शरीर को; पुरुषस्य—बद्धजीव का; मोह-जम्—अविद्या से उत्पन्न; यथा—जिस तरह; पृथक्—भिन्न; भौतिकम्—भौतिक; ईयते—देखा जाता है; गृहम्—घर को; यथा—जिस तरह; उदकैः—जल से; पार्थिव—पृथ्वी से; तैजसैः—तथा अग्नि से; जनः—बद्धजीव; कालेन—काल द्वारा; जातः—उत्पन्न; विकृतः—रूपान्तरित; विनश्यति—नष्ट हो जाता है।.

जिस प्रकार एक गृहस्वामी अपने घर से पृथक् होते हुए भी अपने घर को अपने से अभिन्न मानता है उसी प्रकार अज्ञानवश बद्धजीव इस शरीर को आत्मा मान बैठता है, यद्यपि शरीर आत्मा से वास्तव में भिन्न है। यह शरीर पृथ्वी, जल तथा अग्नि के अंशों के संयोग से प्राप्त होता है और जब वे कालक्रम में रूपान्तरित हो जाते हैं, तो शरीर विनष्ट हो जाता है। आत्मा को शरीर के इस सृजन तथा विलय से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता।

तात्पर्य : हम एक शरीर से दूसरे शरीर में देहान्तर करते हैं। ये शरीर हमारे मोह से जन्य हैं, किन्तु आत्माएँ भौतिक बद्ध जीवन से पृथक् विद्यमान हैं। यहाँ पर उदाहरण दिया गया है कि घर या मोटरकार उसके स्वामी से सदा पृथक् होती हैं, किन्तु बद्धजीव आसक्ति के कारण उसे अपने से अभिन्न मानता है। मोटरकार या घर वास्तव में भौतिक तत्त्वों से बना होता है। जब तक भौतिक तत्त्व सही ढंग

से मिले रहते हैं, तो मोटरकार या घर का अस्तित्व रहता है, किन्तु उनके विलग होते ही घर या मोटरकार भी ध्वस्त हो जाती है। किन्तु आत्मा तो सदैव जैसे का तैसा बना रहता है।

यथानलो दारुषु भिन्न ईयते
यथानिलो देहगतः पृथक्स्थितः ।
यथा नभः सर्वगतं न सज्जते
तथा पुमान्सर्वगुणाश्रयः परः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अनलः—आग; दारुषु—काष्ठ में; भिन्नः—पृथक्; ईयते—देखी जाती है; यथा—जिस प्रकार; अनिलः—वायु; देह-गतः—शरीर के भीतर; पृथक्—विलग; स्थितः—स्थित; यथा—जिस तरह; नभः—आकाश; सर्व-गतम्—सर्वव्यापक; न—नहीं; सज्जते—मिलता है, लिप्त होता है; तथा—उसी प्रकार; पुमान्—जीव; सर्व-गुण-आश्रयः—यद्यपि प्रकृति के सभी गुणों का आश्रय; परः—भौतिक कल्मष से परे।

जिस तरह अग्नि काष्ठ में स्थित रहती है, किन्तु वह काष्ठ से भिन्न समझी जाती है, जिस तरह वायु मुँह तथा नथुनों के भीतर स्थित रहती है, किन्तु उनसे पृथक् मानी जाती है और जिस तरह आकाश सर्वत्र व्याप्त होकर भी किसी वस्तु से लिप्त नहीं होता उसी तरह जीव भी, जो भले ही इस समय भौतिक शरीर में बन्दी है, उस शरीर का स्त्रोत होते हुए भी उससे पृथक् है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् ने बताया है कि भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही शक्तियाँ उन्हीं से उद्भूत होती हैं। भौतिक शक्ति को *मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा*—भगवान् की आठ पृथक् शक्तियाँ कहा गया है। यद्यपि आठ स्थूल तथा सूक्ष्म भौतिक शक्तियाँ हैं—जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार हैं, *भिन्ना* अर्थात् भगवान् से पृथक् कही गई हैं, किन्तु वास्तव में वे ऐसी हैं नहीं। जिस प्रकार अग्नि काष्ठ से पृथक् प्रतीत होती है और जिस तरह नथनों तथा मुँह में से होकर निकलने वाली वायु शरीर से भिन्न लगती है उसी तरह परमात्मा जीव से भिन्न लगता है, किन्तु एक ही साथ वह भिन्न तथा अभिन्न होता है। यही श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रतिपादित *अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्त्व* का दर्शन है। कर्मफलों के अनुसार प्राणी भगवान् से पृथक् प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में वह भगवान् से घनिष्ठतापूर्वक सम्बद्ध होता है। फलस्वरूप भले ही इस समय हम भगवान् द्वारा उपेक्षित लगें, लेकिन वास्तव में वे हमारे कार्यकलापों के प्रति सदैव सजग रहते हैं। अतएव प्रत्येक परिस्थिति में हमें भगवान् की श्रेष्ठता पर ही आश्रित रहना चाहिए और उनके साथ अपने घनिष्ठ सम्बन्ध को पुनरुज्जीवित करना चाहिए। हमें भगवान् की सत्ता तथा नियंत्रण पर आश्रित रहना चाहिए।

सुयज्ञो नन्वयं शेते मूढा यमनुशोचथ ।
यः श्रोता योऽनुवक्तेह स न दृश्येत कर्हिचित् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

सुयज्ञः—सुयज्ञ नामक राजा; ननु—निस्सन्देह; अयम्—यह; शेते—लेटा है; मूढाः—हे मूर्ख जनो; यम्—जिसको; अनुशोचथ—रोदन करते हो; यः—जो; श्रोता—सुनने वाला; यः—जो; अनुवक्ता—बोलने वाला; इह—इस संसार में; सः—वह; न—नहीं; दृश्येत—दृष्टिगोचर है; कर्हिचित्—किसी भी समय।.

यमराज ने आगे कहा : हे शोक करने वालो, तुम सारे के सारे मूर्ख हो। तुम जिस सुयज्ञ नाम व्यक्ति के लिए शोक कर रहे हो वह तुम्हारे समक्ष अब भी लेटा है। वह कहीं नहीं गया। तो फिर तुम्हारे शोक का क्या कारण है? पहले वह तुम्हारी बातें सुनता था और उत्तर देता था, किन्तु तुम लोग अब उसे न पाकर शोक कर रहे हो। यह विरोधमूलक आचरण है, क्योंकि तुमने वास्तव में उस व्यक्ति को शरीर के भीतर कभी नहीं देखा था, जो तुम्हें सुनता था और उत्तर देता था। तुम्हें शोक करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि तुम जिस शरीर को हमेशा देखते आये हो वह तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है।

तात्पर्य : बालक के रूप में यमराज द्वारा दिया गया यह उपदेश सामान्य व्यक्ति की भी समझ में आने वाला है। जो सामान्य व्यक्ति शरीर को आत्मा मान लेता है, वह निश्चय ही पशु सदृश है (*यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके...स एव गोखरः*) लेकिन एक सामान्य व्यक्ति भी समझ सकता है कि मृत्यु के बाद मनुष्य चला जाता है। यद्यपि शरीर वही पड़ा रहता है, किन्तु मृत व्यक्ति के सम्बन्धी शोक करते हैं कि वह चला गया है क्योंकि सामान्य व्यक्ति शरीर को तो देखता है, किन्तु आत्मा को नहीं देखता। जैसाकि *भगवद्गीता* में वर्णन हुआ—*देहिनोऽस्मिन् यथा देहे*—शरीर का मालिक आत्मा भीतर रहता है। मृत्यु के बाद जब श्वास नथुनों के भीतर जानी बन्द हो जाती है, तो लोग समझ सकते हैं कि शरीर के भीतर जो व्यक्ति अभी तक सुन कर उत्तर दे रहा था अब चला गया है। अतएव वास्तव में सामान्य व्यक्ति यह निष्कर्ष निकालता है कि आत्मा शरीर से सचमुच भिन्न था और अब चला गया है। इस प्रकार एक सामान्य व्यक्ति भी अपने होश में रह कर यह जान सकता है कि जो वास्तविक व्यक्ति शरीर के भीतर था और सुन कर उत्तर दे रहा था वह कभी दिखा नहीं। अतएव जो कभी दिखा न हो, उसके लिए शोक करने की क्या आवश्यकता है?

न श्रोता नानुवक्तायं मुख्योऽप्यत्र महानसुः ।
यस्त्विहेन्द्रियवानात्मा स चान्यः प्राणदेहयोः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; श्रोता—सुनने वाला; न—नहीं; अनुवक्ता—बोलने वाला; अयम्—यह; मुख्यः—मुख्य, प्रधान; अपि—यद्यपि; अत्र—इस शरीर में; महान्—महान्; असुः—प्राणवायु; यः—जो; तु—लेकिन; इह—इस शरीर में; इन्द्रिय-वान्—समस्त इन्द्रियों से युक्त; आत्मा—आत्मा; सः—वह; च—तथा; अन्यः—भिन्न; प्राण-देहयोः—प्राणवायु तथा भौतिक शरीर से।

शरीर में सबसे महत्वपूर्ण वस्तु प्राण है, किन्तु वह भी न तो श्रोता है और न वक्ता। यहाँ तक कि प्राण से परे आत्मा भी कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि वास्तविक निदेशक तो परमात्मा है, जो जीवात्मा के साथ सहयोग करता है। शरीर की गतिविधियों को संचालित करने वाला परमात्मा शरीर तथा प्राण से भिन्न है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१५.१५) में भगवान् स्पष्ट कहते हैं—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—"मैं सबों के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होती हैं।" यद्यपि आत्मा प्रत्येक शरीर में उपस्थित है (*देहिनोऽस्मिन् यथा देहे*) किन्तु वह इन्द्रियों, मन इत्यादि के माध्यम से कर्म करने वाला प्रधान पुरुष नहीं है। आत्मा तो परमात्मा के ही सहयोग से कार्य कर सकता है, क्योंकि परमात्मा ही उसे कर्म करने या न करने का निर्देश देता है (*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*)। कोई उनकी स्वीकृति के बिना कर्म नहीं कर सकता, क्योंकि परमात्मा *उपद्रष्टा* तथा *अनुमन्ता* अर्थात् साक्षी तथा अनुमति देने वाला दोनों हैं। जो व्यक्ति प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में ध्यान से अध्ययन करता है, वही इस असली ज्ञान को समझ सकता है कि भगवान् ही व्यष्टि आत्मा (जीवात्मा) के समस्त कार्य-कलापों के संचालक एवं उन कार्यों के फलों के नियामक हैं। यद्यपि जीवात्मा में इन्द्रियाँ होती हैं, किन्तु वह वास्तविक स्वामी नहीं होता, स्वामी तो परमात्मा होता है। फलस्वरूप परमात्मा को हृषीकेश कहा जाता है और परमात्मा प्रत्येक जीवात्मा को यही सलाह देते हैं कि उनकी शरण ग्रहण करके सुखी बना जाये (*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*)। इस प्रकार वह अमर होकर वैकुण्ठधाम को सकता है जहाँ उसे नित्य, ज्ञान-मय एवं आनन्दमय जीवन की परम सफलता प्राप्त होगी। निष्कर्ष यह है कि जीवात्मा शरीर, इन्द्रियों, प्राण तथा शरीर के भीतर की वायु से भिन्न है और उसके ऊपर परमात्मा होता है, जो उसको सारी सुविधाएँ प्रदान करता है। जो जीवात्मा परमात्मा के लिए सब कुछ करता है, वह शरीर के भीतर सुखपूर्वक निवास करता है।

भूतेन्द्रियमनोलिङ्गान्देहानुच्चावचान्विभुः ।
भजत्युत्सृजति ह्यन्यस्तच्चापि स्वेन तेजसा ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

भूत—पाँच भौतिक तत्त्वों से; इन्द्रिय—दस इन्द्रियाँ; मनः—तथा मन; लिङ्गान्—लक्षणयुक्त; देहान्—स्थूल शरीरों को; उच्च-अवचान्—उच्च वर्ग तथा निम्न वर्ग को; विभुः—जीवात्मा, जो शरीर तथा इन्द्रियों का स्वामी है; भजति—प्राप्त करता है; उत्सृजति—त्याग देता है; हि—निस्सन्देह; अन्यः—पृथक् होने से; तत्—उस; च—भी; अपि—निस्सन्देह; स्वेन—अपने; तेजसा—उच्च ज्ञान की शक्ति से।

पाँच भौतिक तत्त्व, दस इन्द्रियाँ तथा मन—ये सभी मिलकर स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के विभिन्न अंगों का निर्माण करते हैं। जीव अपने भौतिक शरीरों के सम्पर्क में आता है, चाहे ये उच्च हों या निम्न और बाद में अपनी निजी शक्ति से उन्हें त्याग देता है। यह शक्ति जीव की उस निजी शक्ति में देखी जा सकती है, जिससे वह विभिन्न प्रकार के शरीर धारण कर सकता है।

तात्पर्य : बद्धजीव के ज्ञान होता है और यदि वह स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों का पूरा उपयोग जीवन के वास्तविक विकास में करना चाहे तो वह ऐसा कर सकता है। अतएव यहाँ यह कहा गया है कि वह अपनी उच्च बुद्धि से (*स्वेन तेजसा*) सही स्रोत अर्थात् गुरु या आचार्य से प्राप्त श्रेष्ठ ज्ञान की श्रेष्ठ शक्ति से अपने बद्ध जीवन को भौतिक शरीर में छोड़कर भगवद्धाम वापस जा सकता है। किन्तु यदि वह अपने को भौतिक संसार के अंधकार में रखना चाहता है, तो वह भी कर सकता है। भगवान् इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.२५) में इस प्रकार करते हैं—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

“जो लोग देवताओं की पूजा करते हैं, वे देवताओं के बीच जन्म लेंगे; जो भूत-प्रेतों की पूजा करते हैं, वे ऐसे जीवों के बीच जन्मते हैं, जो पूर्वजों की पूजा करते हैं, वे पूर्वजों के पास जाते हैं और जो मेरी पूजा करते हैं, वे मेरे साथ रहते हैं।”

मनुष्य का शरीर मूल्यवान है। कोई चाहे तो इस शरीर का उपयोग उच्च लोक तथा पितृलोक जाने के लिए कर सकता है या वह इसी अधोलोक में रह सकता है। किन्तु यदि वह प्रयत्न करे तो भगवद्धाम वापस जा सकता है। यह शक्ति परमात्मा रूप में भगवान् द्वारा प्रदान की जाती है। अतएव भगवान् कहते हैं—*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—“मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न है।” यदि कोई भगवान् से असली ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, तो वह बारम्बार शरीर धारण करने के बन्धन से

मुक्त हो सकता है। यदि कोई भगवान् की भक्ति स्वीकार करता है और उनकी शरण में जाता है, तो भगवान् उसे भगवद्धाम वापस जाने का निर्देश देने के लिए तैयार रहते हैं, किन्तु यदि कोई मूर्खतावश अपने को अंधकार में रखना चाहता है, तो वह भौतिक जीवन में ही रह सकता है।

यावल्लिङ्गान्वितो ह्यात्मा तावत्कर्मनिबन्धनम् ।
ततो विपर्ययः क्लेशो मायायोगोऽनुवर्तते ॥ ४७॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; लिङ्ग-अन्वितः—सूक्ष्म शरीर द्वारा आवृत; हि—निस्सन्देह; आत्मा—आत्मा; तावत्—तब तक; कर्म—सकाम कर्मों का; निबन्धनम्—बन्धन; ततः—उससे; विपर्ययः—उल्टा (धोखे से शरीर को आत्मा मानते हुए); क्लेशः—कष्ट; माया-योगः—बहिरंगा भ्रामक शक्ति के साथ प्रबल सम्बन्ध; अनुवर्तते—पीछा करता है।.

जब तक आत्मा मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार से युक्त सूक्ष्म शरीर द्वारा आवृत रहता है तब तक वह अपने सकाम-कर्मों के फल से बँधा रहता है। इस आवरण के कारण आत्मा भौतिक शक्ति से जुड़ा रहता है। अतएव उसे उसी के अनुसार जन्म-जन्मांतर भौतिक दशाओं एवं विपर्ययों को भोगना पड़ता है।

तात्पर्य : जीव सूक्ष्म शरीर द्वारा बँधा हुआ है, जिसमें मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार सम्मिलित रहते हैं। अतएव मृत्यु के समय की मानसिक स्थिति अगले शरीर का कारण बनती है। जैसाकि *भगवद्गीता* (८.६) में पुष्टि हुई है—*यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्*—मृत्यु के समय मन उस मानदण्ड को निर्धारित कर देता है, जिससे आत्मा दूसरे प्रकार के शरीर में ले जाया जाता है। यदि जीव मन की आज्ञा का विरोध करता है और मन को भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगाता है, तो मन उसे नीचे नहीं गिरा सकता। अतएव सारे मनुष्यों का कर्तव्य है कि मन को सदैव भगवान् के चरणकमलों में संलग्न रखें (*स वै मनः कृष्ण पदारविन्दयोः*)। जब मन कृष्ण के चरणकमलों में लगा रहता है, तो बुद्धि विमल हो जाती है और उसे परमात्मा से प्रेरणा प्राप्त होती है (*ददामि बुद्धियोगं तम्*)। इस तरह जीव भव-बन्धन से मुक्ति की दिशा में प्रगति करता है। जीवात्मा सकाम कर्म के नियमों के अधीन रहता है, किन्तु परमात्मा इनके प्रभावित नहीं होता। जैसाकि वैदिक *उपनिषद्* में पुष्टि हुई है, परमात्मा तथा जीवात्मा एक शरीर में बैठे हुए दो पक्षियों की तरह हैं। जीवात्मा शारीरिक कर्मों के फल खाकर सुख या दुख भोगता है, लेकिन परमात्मा ऐसे बन्धन से मुक्त होने के कारण साक्षी बना रहता है और जीवात्मा की इच्छानुसार उसे कर्मों की अनुमति देता रहता है।

वितथाभिनिवेशोऽयं यद्गुणेष्वर्थदृग्वचः ।
यथा मनोरथः स्वप्नः सर्वमैन्द्रियकं मृषा ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

वितथ—व्यर्थ; अभिनिवेशः—धारणा; अयम्—यह; यत्—जो; गुणेषु—प्रकृति के गुणों में; अर्थ—तथ्य के रूप में; दृक्-वचः—देखना तथा बोलना; यथा—जिस तरह; मनोरथः—मानसिक कल्पना (दिवास्वप्न); स्वप्नः—स्वप्न; सर्वम्—सब कुछ; ऐन्द्रियकम्—इन्द्रियों से उत्पन्न; मृषा—झूठ।.

प्रकृति के गुणों तथा उनसे उत्पन्न तथाकथित सुख तथा दुख को वास्तविक रूप से देखना तथा उनके विषय में बातें करना व्यर्थ है। जब दिन में मन विचरता रहता है और मनुष्य अपने को अत्यन्त महत्वपूर्ण समझने लगता है या जब वह रात में सपने देखता है और अपने को किसी सुन्दरी के साथ रमण करते देखता है, तो ये मात्र मिथ्या स्वप्न होते हैं। इसी प्रकार से भौतिक इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न सुखों तथा दुखों को व्यर्थ समझना चाहिए।

तात्पर्य : भौतिक इन्द्रियों के कार्यकलापों से प्राप्त होने वाले सुख-दुख वास्तविक नहीं होते। अतएव *भगवद्गीता* ऐसे सुख की बात करती है, जो भौतिक जीवन-बोध से परे हैं (*सुखम् आत्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्*)। जब हमारी इन्द्रियाँ भौतिक कल्मष से शुद्ध हो जाती हैं, तो वे *अतीन्द्रिय* अर्थात् दिव्य इन्द्रियाँ बन जाती हैं और जब ये दिव्य इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश की सेवा में लग जाती हैं, तो मनुष्य को असली दिव्य आनन्द प्राप्त हो सकता है। अपने सूक्ष्म मन के मनोरथ द्वारा हम जो भी सुख या दुख निर्माण करते हैं उसमें यथार्थ वास्तविकता नहीं होती, वह मात्र मनोरथ (मानसिक कल्पना) होता है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि मनोरथ द्वारा तथाकथित सुख की कल्पना न करे। प्रत्युत सबसे अच्छा मार्ग तो यह है कि मन को हृषीकेश की सेवा में लगाया जाये और वास्तविक आनन्दमय जीवन का अनुभव किया जाये।

वैदिक उक्ति है—*अपामसोमममृता अभूम अप्सरोभिर्विहराम।* ऐसी विचारधारा से मनुष्य स्वर्गलोक जाकर युवतियों के साथ भोग करना तथा सोमरस का पान करना चाहता है। किन्तु ऐसे काल्पनिक आनन्द का कोई महत्त्व नहीं है। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.२३) में पुष्टि की गई है—*अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्*—अल्प बुद्धि वाले लोग देवताओं की पूजा करते हैं। ऐसे लोगों को सीमित तथा क्षणिक फल प्राप्त होता है। यदि कोई सकाम कर्म द्वारा या देवताओं की पूजा से इन्द्रियभोग के लिए स्वर्गलोक चला भी जाये तो *भगवद्गीता* द्वारा ऐसे पद को *अन्तवत्* अर्थात् नश्वर बताकर निन्दा की गई

है। जो इस तरह से सुख भोगता है, वह स्वप्न में सुन्दरी का आलिंगन करने जैसा होता है। भले ही कुछ काल के लिए यह सुखकर हो, किन्तु मूलतः यह मिथ्या है। इस जगत में सुख तथा दुख की मानसिक कल्पनाओं की तुलना स्वप्न से की जाती है, क्योंकि वे झूठ होते हैं। भौतिक इन्द्रियों का उपयोग करके सुख प्राप्त करने के सारे विचार मिथ्या आधार-भूमि पर टिके होते हैं अतएव व्यर्थ होते हैं।

अथ नित्यमनित्यं वा नेह शोचन्ति तद्विदः ।
नान्यथा शक्यते कर्तुं स्वभावः शोचतामिति ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतएव; नित्यम्—शाश्वत आत्मा; अनित्यम्—नश्वर भौतिक शरीर; वा—अथवा; न—नहीं; इह—इस संसार में; शोचन्ति—शोक करते हैं; तत्-विदः—जो शरीर तथा आत्मा के ज्ञान में बढ़े-चढ़े हैं; न—नहीं; अन्यथा—अन्यथा; शक्यते—समर्थ है; कर्तुम्—करने के लिए; स्व-भावः—प्रकृति; शोचताम्—शोक करने वालों का; इति—इस प्रकार।

जिन्हें आत्म-साक्षात्कार का पूरा-पूरा ज्ञान है, जो यह भलीभाँति जानते हैं कि आत्मा नित्य है किन्तु शरीर नश्वर है, वे शोक द्वारा अभिभूत नहीं होते। किन्तु जिन्हें आत्म-साक्षात्कार का ज्ञान नहीं होता वे शोक करते हैं। अतएव मोह-ग्रस्त व्यक्ति को शिक्षित कर पाना कठिन है।

तात्पर्य : *मीमांसा* दार्शनिकों के अनुसार प्रत्येक वस्तु *नित्य* है और *सांख्य* दार्शनिकों के अनुसार प्रत्येक वस्तु *मिथ्या* या *अनित्य* अर्थात् अस्थायी है। तो भी आत्मा के असली ज्ञान के बिना ऐसे दार्शनिक मोहग्रस्त रहते हैं और शूद्रों की तरह शोक करते हैं। अतएव श्रील शुकदेव गोस्वामी ने परीक्षित महाराज से कहा—

श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः ।
अपश्यताम् आत्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम् ॥

"हे राजेन्द्र! जो लोग भौतिकता में उलझे हैं, वे परम सत्य के ज्ञान के प्रति अन्धे होने से मानव समाज में अनेक विषयों का श्रवण करते हैं।" (भागवत् २.१.२) भौतिक कार्यकलापों में लगे हुए सामान्य मनुष्यों को जानने के लिए अनेकानेक विषय हैं, क्योंकि ऐसे लोग आत्म-साक्षात्कार को नहीं समझते। अतएव मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए जिससे जीवन की किसी भी परिस्थिति में वह अपने व्रत पर अटल रहे।

लुब्धको विपिने कश्चित्पक्षिणां निर्मितोऽन्तकः ।
वितत्य जालं विदधे तत्र तत्र प्रलोभयन् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

लुब्धकः—बहेलिया; विपिने—जंगल में; कश्चित्—किसी; पक्षिणाम्—पक्षियों का; निर्मितः—नियुक्त; अन्तकः—मारने वाला; वितत्य—फैलाकर; जालम्—जाल; विदधे—पकड़ लिया; तत्र तत्र—यहाँ वहाँ; प्रलोभयन्—अनाज का लालच देकर।

एक बहेलिया था, जो पक्षियों को दानों का लालच देता था और तब एक जाल फैलाकर उन्हें पकड़ लेता था। वह इस तरह रह रहा था मानो साक्षात् मृत्यु ने उसे पक्षियों का वधिक नियुक्त किया हो।

तात्पर्य : यह इतिहास की दूसरी घटना है।

कुलिङ्गमिथुनं तत्र विचरत्समदृश्यत ।
तयोः कुलिङ्गी सहसा लुब्धकेन प्रलोभिता ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

कुलिङ्ग-मिथुनम्—कुलिंग नामक पक्षियों का जोड़ा (नर तथा मादा); तत्र—वहाँ (जहाँ बहेलिया शिकार करता था); विचरत्—घूमते हुए; समदृश्यत—उसने देखा; तयोः—जोड़े को; कुलिङ्गी—मादा पक्षी; सहसा—एकाएक; लुब्धकेन—बहेलिया द्वारा; प्रलोभिता—लालच में आ गई।

जंगल में घूमते हुए उस बहेलिया ने कुलिंग पक्षियों का एक जोड़ा देखा। इन दोनों में से मादा पक्षी बहेलिया के प्रलोभन में आ गई।

सासज्जत सिचस्तन्त्र्यां महिष्यः कालयन्त्रिता ।
कुलिङ्गस्तां तथापन्नां निरीक्ष्य भृशदुःखितः ।
स्नेहादकल्पः कृपणः कृपणां पर्यदेवयत् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

सा—वह मादा पक्षी; असज्जत—फँस गई; सिचः—जाल की; तन्त्र्याम्—रस्सी में; महिष्यः—हे रानियो; काल-यन्त्रिता—काल के वशीभूत होकर; कुलिङ्गः—नर कुलिंग पक्षी; ताम्—उसको; तथा—उस अवस्था में; आपन्नाम्—पकड़ा हुआ; निरीक्ष्य—देखकर; भृश-दुःखितः—अत्यन्त दुखी; स्नेहात्—स्नेहवश; अकल्पः—कुछ करने में असमर्थ; कृपणः—बेचारा पक्षी; कृपणाम्—बेचारी पत्नी के लिए; पर्यदेवयत्—शोक करने लगा।

हे सुयज्ञ की रानियो, नर कुलिंग पक्षी अपनी पत्नी को विधाता के अत्यन्त स्वप्नपूर्ण चंगुल में पड़ी देखकर अत्यन्त दुखी हुआ। स्नेहवश बेचारा पक्षी अपनी पत्नी को छुड़ा न सकने के कारण उसके लिए शोक करने लगा।

अहो अकरुणो देवः स्त्रियाकरुणया विभुः ।

कृपणं मामनुशोचन्त्या दीनया किं करिष्यति ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; अकरुणः—अत्यन्त क्रूर; देवः—विधाता; स्त्रिया—मेरी पत्नी से; आकरुणया—जो अत्यन्त करुणापूर्ण; विभुः—परमेश्वर; कृपणम्—बेचारा; माम्—मेरे लिये; अनुशोचन्त्या—शोक करती; दीनया—बेचारी; किम्—क्या; करिष्यति—करेगा।

ओह! विधाता कितना क्रूर है। मेरी पत्नी असहाय होने से ही ऐसी विषम स्थिति में है—और मेरे लिए विलाप कर रही है। भला विधाता इस बेचारे मादा पक्षी को लेकर क्या पाएगा? उसे क्या लाभ होगा।

कामं नयतु मां देवः किमर्धेनात्मनो हि मे ।
दीनेन जीवता दुःखमनेन विधुरायुषा ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

कामम्—जैसा वह चाहता है; नयतु—ले जाए; माम्—मुझको; देवः—भगवान्; किम्—क्या लाभ; अर्धेन—आधे से; आत्मनः—शरीर के; हि—निस्सन्देह; मे—मेरा; दीनेन—बेचारे द्वारा; जीवता—जीवित; दुःखम्—दुख में; अनेन—इस; विधुर-आयुषा—कष्टमय जीवन वाला।

यदि निर्दय विधाता मेरी अर्धांगिनी, मेरी पत्नी, को लिए जा रहा है, तो वह मुझे भी क्यों नहीं ले जाता? आधा शरीर लेकर और अपनी पत्नी की क्षति से विरहित होकर मेरे जीने से क्या लाभ? मुझे इस तरह से क्या मिलेगा?

कथं त्वजातपक्षांस्तान्मातृहीनान्बिभर्म्यहम् ।
मन्दभाग्याः प्रतीक्षन्ते नीडे मे मातरं प्रजाः ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

कथम्—कैसे; तु—लेकिन; अजात-पक्षान्—जिनके उड़ने के पंख अभी नहीं उगे; तान्—उन; मातृ-हीनान्—माता से बिछुड़े हुओं को; बिभर्मि—पालन करूँगा; अहम्—मैं; मन्द-भाग्याः—अत्यन्त अभागे; प्रतीक्षन्ते—वे प्रतीक्षा करते हैं; नीडे—घोंसले में; मे—मेरे; मातरम्—अपनी माता की; प्रजाः—पक्षी के बच्चे।

पक्षी के अभागे बच्चे मातृविहीन होकर अपने घोंसले में उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं कि वह आए तो उन्हें खिलाए। वे अब भी बहुत छोटे हैं और उनके पंख तक नहीं उगे हैं। मैं उनका किस प्रकार पालन कर सकूँगा?

तात्पर्य : नर पक्षी अपने बच्चों की माता के लिए शोक कर रहा है, क्योंकि माता ही बच्चों का पालन करती है और उनकी सुरक्षा करती है। लेकिन यमराज ने एक छोटे बालक के वेष में पहले ही बता दिया है कि यद्यपि उसकी माता ने उसे बिना किसी देखरेख के जंगल में घूमता छोड़ दिया था,

किन्तु भेड़िया तथा अन्य हिंसक पशुओं ने उसे नहीं खाया था। असली तथ्य यह है कि यदि भगवान् किसी की रक्षा करते हैं, तो वह भले ही मातृविहीन तथा पितृविहीन ही क्यों न हो, ईश्वर की इच्छा से उसका पालन हो ही जाता है। अन्यथा यदि परमेश्वर रक्षा नहीं करते तो माता-पिता के होते हुए भी मनुष्य को कष्ट भोगना पड़ता है। दूसरा उदाहरण उस रोगी का है, जो उत्तम वैद्य तथा उत्तम औषधि के होने पर भी कभी-कभी मर जाता है। इस प्रकार भगवान् की रक्षा के बिना कोई जीवित नहीं कर सकता, चाहे उसके माता-पिता हों अथवा न हों।

इस श्लोक की दूसरी बात यह है कि पक्षी तथा पशु समाज में भी बच्चों के लिए माता-पिता में सुरक्षा की भावना होती है—मानव समाज के विषय में तो क्या कहा जाये? किन्तु कलियुग में मनुष्य इतना पतित हो चुका है कि माता-पिता अपने बच्चों को गर्भ में ही विज्ञान का यह बहाना लेकर मार डालते हैं कि गर्भ के भीतर बालक में कोई प्राण नहीं होता। चूँकि अत्यन्त प्रशिक्षित चिकित्सक ऐसा अभिमत देते हैं, अतएव आजकल के माता-पिता अपने बच्चों को गर्भ में ही मार डालते हैं। मानव समाज कितना पतित हो चुका है! उनका वैज्ञानिक ज्ञान इतना आगे बढ़ चुका है कि वे अंडे तथा भ्रूण के भीतर जीवन नहीं मानते। अब ये तथाकथित विज्ञानी रासायनिक विकास का सिद्धान्त प्रस्तुत करने के लिए नोबेल पुरस्कार प्राप्त कर रहे हैं। किन्तु यदि रासायनिक संयोग ही जीवन के स्रोत हैं, तो फिर सारे विज्ञानी रसायनशास्त्र के बल पर अंडा जैसी कोई वस्तु निर्मित क्यों नहीं कर लेते और उसे इनक्युबेटर में रख कर उससे चुज़ा क्यों नहीं निकाल लेते? उनका उत्तर क्या है? वे अपने वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर एक अंडा तक नहीं उत्पन्न कर सकते। ऐसे विज्ञानियों को *भगवद्गीता* में *माययापहृतज्ञाना:* कहा गया है अर्थात् ऐसे मूर्ख जिनके असली ज्ञान को हर लिया गया हो। ये ज्ञानी पुरुष होने का नहीं, अपितु विज्ञानी तथा दार्शनिक होने का स्वांग भरते हैं, यद्यपि उनके तथाकथित सैद्धान्तिक ज्ञान से व्यावहारिक परिणाम प्राप्त नहीं हो सकते।

एवं कुलिङ्गं विलपन्तमारात्
प्रियावियोगातुरमश्रुकण्ठम् ।
स एव तं शाकुनिकः शरेण
विव्याध कालप्रहितो विलीनः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कुलिङ्गम्—पक्षी को; विलपन्तम्—विलाप करता; आरात्—दूरी से; प्रिया-वियोग—अपनी पत्नी की क्षति के कारण; आतुरम्—अत्यन्त दुखी; अश्रु-कण्ठम्—आँखों में आँसू भर कर; सः—उसने (बहेलिया ने); एव—निस्सन्देह; तम्—उसको (नर पक्षी को); शाकुनिकः—जो गिद्ध तक को मार सके; शरेण—तीर से; विव्याध—बेध दिया; काल-प्रहितः—काल द्वारा प्रेरित होकर; विलीनः—छिपा, गुप्त।

अपनी पत्नी की क्षति के कारण कुलिंग पक्षी आँखों में आँसू भर कर विलाप कर रहा था। तभी काल के आदेशों का पालन करते हुए अत्यन्त सावधानी से दूर छिपे बहेलिये ने अपना तीर छोड़ा जिसने कुलिंग पक्षी के शरीर को बेध कर उसे मार डाला।

एवं यूयमपश्यन्त्य आत्मापायमबुद्धयः ।
नैनं प्राप्स्यथ शोचन्त्यः पतिं वर्षशतैरपि ॥ ५७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; यूयम्—तुम सब; अपश्यन्त्यः—न देखकर; आत्म-अपायम्—अपनी मृत्यु को; अबुद्धयः—हे मूर्खो; न—नहीं; एनम्—उसको; प्राप्स्यथ—प्राप्त करोगी; शोचन्त्यः—शोक करती हुई; पतिम्—अपने पति के लिए; वर्ष-शतैः—सैकड़ों वर्षों तक; अपि—भी।

इस प्रकार छोटे बालक के वेष में यमराज ने सभी रानियों को बताया : तुम सब इतनी मूर्ख हो तुम शोक तो कर रही हो किन्तु तुम शोक तो कर रही हो किन्तु अपनी मृत्यु को भी नहीं देख रही हो। अल्प ज्ञान के वशीभूत होकर तुम यह नहीं जानती हो कि यदि तुम सैकड़ों वर्षों तक भी अपने मृत पति के लिए शोक करो तो भी तुम उसे जीवित नहीं कर सकती और तब तक तुम्हारा जीवन समाप्त हो जाएगा।

तात्पर्य : एक बार यमराज ने महाराज युधिष्ठिर से पूछा—“इस संसार में आश्चर्यमय वस्तु क्या है?” महाराज युधिष्ठिर ने उत्तर दिया (*महाभारत* वनपर्व ३१३.११६)—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाःस्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यम् अतः परं॥

लाखों जीव प्रतिक्षण मृत्यु को प्राप्त होते हैं, किन्तु मूर्ख जीव तब भी अपने को मृत्युहीन समझता है और मृत्यु की तैयारी नहीं करता। इस संसार की सबसे आश्चर्यमय वस्तु यही है। प्रत्येक व्यक्ति को मरना होता है, क्योंकि वह पूर्णतया प्रकृति के वश में होता है, फिर भी हर व्यक्ति अपने को स्वतंत्र मानता है, वह जो चाहे सो कर सकता है और वह कभी मरेगा नहीं, अपितु सदा जीवित रहेगा। तथाकथित विज्ञानी विविध योजनाएँ बना रहे हैं जिससे जीव भविष्य में सदैव जीवित रहेंगे, किन्तु जब वे ऐसे वैज्ञानिक ज्ञान में लगे रहते हैं तभी यमराज उन्हें उनके तथाकथित शोधकार्य से छीन लेता है।

श्रीहिरण्यकशिपुरुवाच

बाल एवं प्रवदति सर्वे विस्मितचेतसः ।
ज्ञातयो मेनिरे सर्वमनित्यमयथोत्थितम् ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

श्री-हिरण्यकशिपुः उवाच—श्री हिरण्यकशिपु ने कहा; बाले—बालक रूप में यमराज; एवम्—इस प्रकार; प्रवदति—दार्शनिक रूप में बोल रहा था; सर्वे—समस्त; विस्मित—आश्चर्यचकित; चेतसः—हृदय वाले; ज्ञातयः—सम्बन्धीगण; मेनिरे—उन्होंने सोचा; सर्वम्—समस्त भौतिक वस्तुएँ; अनित्यम्—नाशवान्; अयथा-उत्थितम्—अस्थायी घटना से उदित।

हिरण्यकशिपु ने कहा : जब यमराज इस तरह छोटे से बालक के वेष में सुयज्ञ के मृत शरीर को घेरे हुए समस्त सम्बन्धियों को उपदेश दे रहे थे तो सभी लोग उनके दार्शनिक वचनों को सुनकर दंग थे। वे समझ सके कि प्रत्येक भौतिक वस्तु नाशवान् है, वह सदा विद्यमान नहीं रह सकती।

तात्पर्य : इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (२.१८) में की गई है। *अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः*—शरीर तो नाशवान् है, किन्तु शरीर के भीतर का आत्मा नित्य है। अतएव मानव समाज में ज्ञान में बढ़े-चढ़े लोगों का कर्तव्य है कि नित्य आत्मा की स्वाभाविक स्थिति का अध्ययन करें और जीवन के असली उत्तरदायित्व को समझें तथा शरीर का पालन करने में ही मानव जीवन के अमूल्य समय को न गँवा दें। प्रत्येक मनुष्य को यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि आत्मा किस तरह सुखी रह सकता है और वह सच्चिदानन्द स्वरूप जीवन कहाँ प्राप्त कर सकता है। मानव प्राणी ऐसे विषयों के अध्ययन के लिए है, नाशवान् शरीर की देखरेख में व्यस्त रहने के लिए नहीं है, क्योंकि यह शरीर अवश्य बदलेगा। कोई नहीं जानता कि उसे पुनः मनुष्य-शरीर मिलेगा या नहीं इसकी कोई गारन्टी नहीं है, क्योंकि अपने कर्म के अनुसार ही मनुष्य को देवता से लेकर एक कुत्ते तक का शरीर प्राप्त हो सकता है। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य की टीका है—

अहं ममाभिमानादि त्वयथोत्त्थमनित्यकम्।
महदादि यथोत्त्थं च नित्या चापि यथोत्त्थिता॥
अस्वतन्त्रैव प्रकृतिः स्वतन्त्रो नित्य एव च।
यथार्थभूतश्च पर एक एव जनार्दनः॥

केवल जनार्दन या भगवान् ही सदा रहते हैं, किन्तु उनकी सृष्टि, यह भौतिक जगत, नाशवान् है।

अतएव ऐसा प्रत्येक व्यक्ति जो भौतिक शक्ति द्वारा मोहित है और यह सोचने में लीन रहता है कि "मैं यह शरीर हूँ और इस शरीर से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु मेरी है " वह भ्रम (मोह) में रहता है। उसे अपने आपको जनार्दन का एक अंश ही सोचना चाहिए और इस जगत में, विशेष रूप से इस मनुष्य जीवन में, उसका एकमात्र प्रयास यही होना चाहिए कि वह भगवद्धाम वापस जाकर जनार्दन की संगति प्राप्त करे।

यम एतदुपाख्याय तत्रैवान्तरधीयत ।
ज्ञातयो हि सुयज्ञस्य चक्रुर्यत्साम्परायिकम् ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

यमः—बालक रूप में यमराज; एतत्—यह; उपाख्याय—उपदेश देकर; तत्र—वहाँ; एव—निस्सन्देह; अन्तरधीयत—अन्तर्धान हो गया; ज्ञातयः—सम्बन्धियों ने; हि—निस्सन्देह; सुयज्ञस्य—राजा सुयज्ञ के; चक्रुः—सम्पन्न किया; यत्—जो हैं; साम्परायिकम्—अन्येष्टि संस्कार।

बालक रूप में यमराज सुयज्ञ के समस्त मूर्ख सम्बन्धियों को उपदेश देकर उनकी दृष्टि से ओझल हो गया। तब राजा सुयज्ञ के सम्बन्धियों ने अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की।

अतः शोचत मा यूयं परं चात्मानमेव वा ।
क आत्मा कः परो वात्र स्वीयः पारक्य एव वा ।
स्वपराभिनिवेशेन विनाज्ञानेन देहिनाम् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

अतः—अतएव; शोचत—शोक करो; मा—मत; यूयम्—तुम सब; परम्—अन्य; च—तथा; आत्मानम्—अपने आप; एव—निश्चय ही; वा—अथवा; कः—कौन; आत्मा—अपना; कः—कौन; परः—दूसरा; वा—अथवा; अत्र—इस भौतिक जगत में; स्वीयः—अपना; पारक्यः—अन्यों के लिए; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा; स्व-पर-अभिनिवेशेन—अपने तथा औरों के देहात्मबुद्धि में लीन होने से; विना—अलावा; अज्ञानेन—ज्ञान का अभाव; देहिनाम्—समस्त जीवधारियों का।

अतएव तुममें से किसी को भी शरीर-क्षति के लिए, चाहे तुम्हारा अपना शरीर हो या अन्यों का हो, शोकसंतप्त नहीं होना चाहिए। यह तो केवल अज्ञान है, जिससे मनुष्य यह सोचकर शारीरिक भेदभाव बरतता है कि मैं कौन हूँ? अन्य लोग कौन हैं? मेरा क्या है? उनका क्या है?

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में आत्म-संरक्षण की धारणा प्रकृति का पहला नियम है। इस धारणा के अनुसार मनुष्य पहले अपनी निजी सुरक्षा में रुचि लेनी चाहिए है, तब समाज, मित्रता, प्रेम, राष्ट्रीयता आदि-आदि पर विचार करना चाहिए, क्योंकि ये सब देहात्मबुद्धि एवं आत्म-ज्ञान के अभाव से ही विकसित हैं। यह अज्ञान कहलाता है। जब तब मानव समाज अंधकार तथा अज्ञान में है तब तक लोग

देहात्मबुद्धि के कारण बड़ी-बड़ी तैयारियाँ करते रहेंगे। प्रह्लाद महाराज ने इसे *भरम* कहा है। भौतिकतावादी धारणा में आधुनिक सभ्यता बड़ी-बड़ी सड़कों, घरों, मिलों तथा फैक्टरियों के लिए बृहद् आयोजन करती है और सभ्यता की उन्नति के विषय में मनुष्य की यही धारणा है। लेकिन लोग यह नहीं जानते कि वे स्वयं किसी भी क्षण इस दृश्य से बाहर किये जा सकते हैं और ऐसे शरीर ग्रहण करने के लिए बाध्य हो सकते हैं जिन्हें विशाल घरों, महलों, सड़कों तथा स्वचालित यानों से कोई सरोकार न हो। अतएव जब अर्जुन अपने सगे रिश्तेदारों से शारीरिक सम्बन्धों के बारे में सोच रहा था तो कृष्ण ने तुरन्त ही उसे यह कहकर प्रताड़ित किया—*कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् अनार्यजुष्टम्*—यह देहात्मबुद्धि अनार्यों को शोभा देती है जिनका ज्ञान बढ़ा-चढ़ा नहीं होता। आर्य-सभ्यता आध्यात्मिक ज्ञान में बढ़ी-चढ़ी होती है। किन्तु कोई आर्य का ठप्पा लगाकर आर्य नहीं बनता। आध्यात्मिक ज्ञान के विषय में गहन अंधकार में रहकर कोई अपने को आर्य होने का दावा करे तो वह अनार्य है। इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य ने *ब्रह्मवैवर्त पुराण* से निम्नलिखित उदाहरण दिये हैं—

क आत्मा कः पर इति देहाद्यपेक्षया

न हि देहादिरात्मा स्यान् न च शत्रुरुदीरितः।

अतो दैहिकवृद्धौ वा क्षये वा किं प्रयोजनम्॥

यस्तु देहगतो जीवः स हि नाशं न गच्छति।

ततः शत्रुविवृद्धौ च स्वनाशे शोचनं कुतः॥

देहादि व्यतिरिक्तौ तु जीवेशौ प्रतिजानता।

अत आत्मविवृद्धिस्तु वासुदेवे रतिःस्थिरा।

शत्रुनाशस्तथाज्ञाननाशो नान्यः कथञ्चन॥

इसका भाव यह है कि जब तक हम इस मनुष्य के शरीर में हैं, हमारा कर्तव्य है कि शरीर के भीतर के आत्मा को समझें। शरीर आत्मा नहीं है; हम शरीर से भिन्न हैं अतएव देहात्मबुद्धि के रूप में मित्रों, शत्रुओं तथा जिम्मेदारियों का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। किसी को इसके विषय में अधिक उत्सुक नहीं होना चाहिए कि शरीर शिशुता से बाल्यावस्था और बाल्यावस्था से वृद्धावस्था में और तब मृत्यु में बदल रहा है। प्रत्युत मनुष्य के शरीर के भीतर स्थित आत्मा के विषय में तथा भव-बन्धन से

आत्मा को छुड़ाने के विषय में अत्यन्त गम्भीर रहना चाहिए। शरीर के भीतर का जीव कभी विनष्ट नहीं होता; अतएव मनुष्य को यह जान लेना चाहिये कि उसके चाहे लाख दोस्त या दुश्मन हों, न तो दोस्त सहायता कर सकते हैं न ही दुश्मन कोई हानि पहुँचा सकते हैं। मनुष्य को जानना चाहिए कि वह आत्मा है (*अहं ब्रह्मास्मि*) और आत्मा की स्वाभाविक स्थिति शरीर में होने वाले परिवर्तनों से अप्रभावित रहती है। सभी दशाओं में प्रत्येक व्यक्ति को आत्मा के रूप में भगवान् विष्णु का भक्त होना चाहिए और उसे शारीरिक सम्बन्धों, यथा दोस्त या दुश्मनों, की परवाह नहीं करनी चाहिए। हमें यह जान लेना चाहिए कि देहात्मबुद्धि में न तो हम स्वयं और न हमारे शत्रु कभी मारे जाते हैं।

श्रीनारद उवाच
इति दैत्यपतेर्वाक्यं दितिराकर्ण्य सस्नुषा ।
पुत्रशोकं क्षणात्त्यक्त्वा तत्त्वे चित्तमधारयत् ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; इति—ईस प्रकार; दैत्य-पतेः—असुरों के राजा का; वाक्यम्—वाणी; दितिः—दिति, हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष की माता ने; आकर्ण्य—सुनकर; स-स्नुषा—हिरण्याक्ष की पत्नी सहित; पुत्र-शोकम्—अपने पुत्र हिरण्याक्ष का महान् वियोग; क्षणात्—तुरन्त; त्यक्त्वा—छोड़कर; तत्त्वे—जीवन के असली दर्शन में; चित्तम्—हृदय को; अधारयत्—लगाया।.

श्री नारद ने आगे कहा : हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष की माता दिति ने अपनी पुत्रवधू हिरण्याक्ष की पत्नी रुषाभानु सहित हिरण्यकशिपु के उपदेशों को सुना। तब उसने अपने पुत्र की मृत्यु के शोक को भुला दिया और उसने अपने मन तथा ध्यान को जीवन का असली दर्शन समझने में लगा दिया।

तात्पर्य : जब किसी का कोई सम्बन्धी मरता है, तो वह दर्शन में अधिक रुचि लेने लगता है, किन्तु जैसे ही अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न हो जाती है, वह पुनः भौतिकतावादी कार्यों में लग जाता है। यहाँ तक कि अत्यन्त भौतिकतावादी दैत्य भी कभी-कभी अपने किसी सम्बन्धी की मृत्यु होने पर दर्शन के विषय में सोचते हैं। भौतिकतावादी व्यक्ति की इस मनोवृत्ति को *श्मशान वैराग्य* कहते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है, चार प्रकार के लोग आध्यात्मिक जीवन तथा ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी। विशेष रूप से जब कोई भौतिक परिस्थितियों से अत्यन्त पीड़ित रहता है, तो वह ईश्वर में मन लगाता है। अतएव कुन्ती देवी ने कृष्ण की प्रार्थना करते हुए कहा है कि उन्हें जीवन में सुख की अपेक्षा दुख पसन्द है। भौतिक जगत में सुखी रहने वाला व्यक्ति कृष्ण या ईश्वर

को भूल जाता है, किन्तु कभी-कभी वास्तविक पवित्रात्मा दुख में रहकर भी कृष्ण का स्मरण करता है। अतएव महारानी कुन्ती ने दुख पसन्द किया, क्योंकि यह कृष्ण को स्मरण करने का सुअवसर होता है। जब कृष्ण कुन्ती देवी के पास से स्वदेश को लौट रहे थे तो कुन्ती देवी ने बड़े ही खेदपूर्वक कहा था कि वे दुख में ही अच्छी थीं, क्योंकि कृष्ण सदैव साथ रहते थे, किन्तु अब जब पाण्डव सिंहासनासीन हैं, तो कृष्ण दूर जा रहे हैं। दुख तो भक्त के लिए भगवान् को निरन्तर स्मरण करने का सुअवसर होता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सातवें स्कंध के अन्तर्गत ''असुरराज हिरण्यकशिपु'' नामक द्वितीय अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तीन

हिरण्यकशिपु की अमर बनने की योजना

इस अध्याय में बताया गया है कि हिरण्यकशिपु ने भौतिक लाभ के लिए कठोर तपस्या की और इस तरह उसने ब्रह्माण्ड भर में उपद्रव मचा दिया। यहाँ तक कि इस ब्रह्माण्ड के प्रमुख व्यक्ति ब्रह्मा भी कुछ-कुछ विचलित हो गये और वे स्वयं यह देखने गये कि हिरण्यकशिपु इतनी कठोर तपस्या क्यों कर रहा है।

हिरण्यकशिपु अमर होना चाहता था। वह चाहता था कि न तो वह किसी के द्वारा जीता जा सके, न जरा तथा रोग से पीड़ित हो, न ही किसी प्रतिद्वन्द्वी द्वारा सताया जाये। इस प्रकार वह समस्त ब्रह्माण्ड का परम शासक बनना चाहता था। इस कामना से वह मन्दार पर्वत की घाटी में गया और वहाँ उग्र तपस्या तथा ध्यान करने लगा। हिरण्यकशिपु को ऐसी तपस्या में लगा देखकर देवतागण अपने अपने घर लौट आये, किन्तु जब हिरण्यकशिपु इस तरह से तपस्या में संलग्न था तो उसके सिर से एक प्रकार की अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी जिससे अखिल ब्रह्माण्ड के निवासी जिसमें पशु-पक्षी तथा देवता सभी सम्मिलित थे उद्विग्न हो उठे। जब सारे उच्च तथा निम्न लोक तप्त हो जाने के कारण रहने के योग्य नहीं रहे तो सारे देवता विचलित होकर स्वर्गलोक के अपने आवासों को छोड़-छोड़कर ब्रह्माजी से भेंट करने तथा अनावश्यक ताप को कम करने के लिए प्रार्थना करने गये। देवताओं ने ब्रह्माजी से

हिरण्यकशिपु की महत्त्वाकांक्षा बतलाई कि वह अपने जीवन की अल्पायु को जीत कर अमर होना चाहता है और सारे लोकों का, यहाँ तक कि ध्रुव लोक का भी स्वामी बन जाना चाहता है।

हिरण्यकशिपु के एकान्त ध्यान का प्रयोजन सुनकर ब्रह्माजी अपने साथ महर्षि भृगु तथा दक्ष जैसे महापुरुषों को लेकर हिरण्यकशिपु से भेंट करने गये। तत्पश्चात् उन्होंने अपने कमण्डल से हिरण्यकशिपु के सिर पर जल छिड़का।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने इस ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्माजी के समक्ष अपना सिर झुकाकर उन्हें बारम्बार सादर नमस्कार किया तथा प्रार्थना की। जब ब्रह्माजी ने वर देना स्वीकार कर लिया तो उसने प्रार्थना की कि वह किसी जीव द्वारा न तो किसी ढके या खुले स्थान में ये मारा जाये, न दिन में या रात में मरे, न वह किसी हथियार से, स्थल में या वायु में मारा जाये, न वह किसी मनुष्य, पशु देवता या अन्य जीवित या मृत प्राणी द्वारा मारा जाये। उसने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर अपनी श्रेष्ठता के लिए भी प्रार्थना की तथा उसने अणिमा, लघिमा इत्यादि आठों योग-सिद्धियों के लिए भी प्रार्थना की।

श्रीनारद उवाच
हिरण्यकशिपू राजन्नजेयमजरामरम् ।
आत्मानमप्रतिद्वन्द्वमेकराजं व्यधित्सत ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; हिरण्यकशिपुः—दैत्यराज हिरण्यकशिपु; राजन्—हे राजा युधिष्ठिर; अजेयम्—किसी शत्रु द्वारा न जीता जा सकने योग्य; अजर—जरा या व्याधि से रहित; अमरम्—अमर; आत्मानम्—स्वयं; अप्रतिद्वन्द्वम्—किसी प्रतिद्वन्द्वी या विरोधी से विहीन; एक-राजम्—ब्रह्माण्ड का एकछत्र राजा, चक्रवर्ती; व्यधित्सत—बनना चाहता था।

नारद मुनि ने महाराज युधिष्ठिर से कहा : दैत्यराज हिरण्यकशिपु अजेय तथा वृद्धावस्था एवं शरीर की जर्जरता से मुक्त होना चाहता था। वह अणिमा तथा लघिमा जैसी समस्त योग-सिद्धियों को प्राप्त करना, मृत्युरहित होना और ब्रह्मलोक समेत अखिल विश्व का एकछत्र राजा बनना चाहता था।

तात्पर्य : असुरों द्वारा सम्पन्न तपस्या के लक्ष्य ऐसे ही होते हैं। हिरण्यकशिपु ब्रह्माजी से ऐसा वरदान प्राप्त करना चाहता था जिससे वह भविष्य में ब्रह्माजी के धाम को जीतने में समर्थ हो सके। इसी प्रकार एक अन्य दैत्य ने शिवजी से वर प्राप्त किया, किन्तु बाद में वह उसी वर से शिवजी को मारना चाहता था। इस तरह स्वार्थी व्यक्ति आसुरी तपस्या द्वारा अपने ही उपकारी को मारना चाहता है

जब कि वैष्णव भगवान् का नित्य दास बना रहना चाहता है और भगवान् के पद को कभी भी प्राप्त करना नहीं चाहता। *सायुज्य मुक्ति* के द्वारा, जिसकी कामना प्राय: असुरगण करते हैं, कोई मनुष्य भगवान् के अस्तित्व में तदाकार हो जाता है, या कभी-कभी कोई अद्वैतवाद का लक्ष्य प्राप्त कर लेता है किन्तु उसे पुन: इस संसार में संघर्ष करने के लिए नीचे गिरना पड़ता है।

स तेपे मन्दरद्रोण्यां तप: परमदारुणम् ।
ऊर्ध्वबाहुर्नभोदृष्टि: पादाङ्गुष्ठाश्रितावनि: ॥ २॥

शब्दार्थ

स:—उसने (हिरण्यकशिपु ने); तेपे—सम्पन्न किया; मन्दर-द्रोण्याम्—मन्दर पर्वत की घाटी में; तप:—तपस्या; परम—अत्यधिक; दारुणम्—कठिन; ऊर्ध्व—ऊपर उठाये; बाहु:—बाहें; नभ:—आकाश की ओर; दृष्टि:—अपनी दृष्टि; पाद-अङ्गुष्ठ—अपने पाँव के अँगूठे से; आश्रित—सहारा लेकर; अवनि:—पृथ्वी पर।

हिरण्यकशिपु ने मन्दर पर्वत की घाटी में अपने पाँव के अँगूठे के बल भूमि में खड़े होकर, अपनी भुजाएँ ऊपर किये तथा आकाश की ओर देखते हुए अपनी तपस्या प्रारम्भ की। यह अवस्था अतीव कठिन थी, किन्तु सिद्धि प्राप्त करने के लिए उसने इसे स्वीकार किया।

जटादीधितिभी रेजे संवर्तार्क इवांशुभि: ।
तस्मिंस्तपस्तप्यमाने देवा: स्थानानि भेजिरे ॥ ३॥

शब्दार्थ

जटा-दीधितिभि:—सिर पर जटा के तेज से; रेजे—चमक रहा था; संवर्त-अर्क:—प्रलयकालीन सूर्य; इव—सदृश; अंशुभि:—किरणों से; तस्मिन्—जब वह (हिरण्यकशिपु); तप:—तपस्या में; तप्यमाने—लगा था; देवा:—सारे देवता जो हिरण्यकशिपु के आसुरी कृत्यों को देखने के लिए सारे ब्रह्माण्ड में घूम रहे थे; स्थानानि—अपने-अपने स्थानों को; भेजिरे—लौट गये।

हिरण्यकशिपु के जटाजूट से प्रलयकालीन सूर्य की किरणों के समान प्रकाशमान तथा असह्य तेज प्रकट हुआ। ऐसी तपस्या देखकर सारे देवता, जो अभी तक सारे लोकों में भ्रमण कर रहे थे, अपने-अपने घरों को लौट गये।

तस्य मूर्ध्न: समुद्भूत: सधूमोऽग्निस्तपोमय: ।
तीर्यगूर्ध्वमधो लोकान्प्रातपद्विष्वगीरित: ॥ ४॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके; मूर्ध्न:—सिर से; समुद्भूत:—उत्पन्न हुआ; स-धूम:—धुआँ के साथ; अग्नि:—आग; तप:-मय:—कठिन तपस्या के कारण; तीर्यक्—अगल-बगल; ऊर्ध्वम्—ऊपर; अध:—नीचे; लोकान्—सारे लोक; प्रातपत्—गर्म हो उठे; विष्वक्—चारों ओर; ईरित:—फैली हुई।

हिरण्यकशिपु की कठिन तपस्या के कारण उसके सिर से अग्नि प्रकट हुई और यह अग्नि

अपने धुएँ समेत आकाश भर में फैल गई। उसने ऊर्ध्व तथा अध: लोकों को घेर लिया जिससे वे सभी अत्यन्त गर्म हो उठे।

चुक्षुभुर्नद्युदन्वन्तः सद्वीपाद्रिश्चचाल भूः ।
निपेतुः सग्रहास्तारा जज्वलुश्च दिशो दश ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

चुक्षुभुः—विचलित हो उठे; नदी-उदन्वन्तः—सारी नदियाँ तथा समुद्र; स-द्वीप—द्वीपों समेत; अद्रिः—पर्वत; चचाल—हिलने लगे; भूः—भूमण्डल की सतह; निपेतुः—गिर पड़े; स-ग्रहाः—ग्रहों सहित; ताराः—तारे; जज्वलुः—प्रज्ज्वलित हो उठीं; च—भी; दिशः दश—दसों दिशाएँ।

उसकी कठिन तपस्या के बल से सारी नदियाँ तथा सारे समुद्र क्षुब्ध हो उठे, भूमण्डल की सतह अपने पर्वतों तथा द्वीपों समेत हिलने लगी और तारे तथा ग्रह टूट कर गिर पड़े। सारी दिशाएँ प्रज्ज्वलित हो उठीं।

तेन तप्ता दिवं त्यक्त्वा ब्रह्मलोकं ययुः सुराः ।
धात्रे विज्ञापयामासुर्देवदेव जगत्पते ।
दैत्येन्द्रतपसा तप्ता दिवि स्थातुं न शक्नुमः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तेन—उस (तपस्या की अग्नि) के द्वारा; तप्ताः—झुलसे; दिवम्—उच्च लोकों में अपने रिहायशी मकान; त्यक्त्वा—छोड़कर; ब्रह्म-लोकम्—ब्रह्मा के रहने वाले लोक को; ययुः—गये; सुराः—देवतागण; धात्रे—इस ब्रह्माण्ड के प्रधान ब्रह्माजी तक; विज्ञापयाम् आसुः—निवेदन किया; देव-देव—हे देवताओं में प्रमुख; जगत्-पते—हे ब्रह्माण्ड के स्वामी; दैत्य-इन्द्र-तपसा—दैत्यराज हिरण्यकशिपु द्वारा की जा रही कठोर तपस्या के द्वारा; तप्ताः—जले हुए; दिवि—स्वर्गलोक में; स्थातुम्—रुकने के लिए; न—नहीं; शक्नुमः—हम सब समर्थ हैं।

हिरण्यकशिपु की कठोर तपस्या से झुलसने तथा अत्यन्त विचलित होने के कारण समस्त देवताओं ने अपने रहने के लोक छोड़ दिये और ब्रह्मा के लोक को गये जहाँ उन्होंने स्त्रष्टा को इस प्रकार सूचित किया—"हे देवताओं के स्वामी, हे ब्रह्माण्ड के प्रभु, हिरण्यकशिपु की कठोर तपस्या के कारण उसके शिर से निकलने वाली अग्नि के कारण हम लोग इतने उद्विग्न हैं कि हम अपने लोकों में रह नहीं सकते, अतएव हम आपके पास आये हैं।"

तस्य चोपशमं भूमन्विधेहि यदि मन्यसे ।
लोका न यावन्नङ्क्ष्यन्ति बलिहारास्तवाभिभूः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके; च—निस्सन्देह; उपशमम्—समाप्ति; भूमन्—हे महापुरुष; विधेहि—कृपया करें; यदि—यदि; मन्यसे—आप सही समझते हैं; लोकाः—विभिन्न लोकों के सारे निवासी; न—नहीं; यावत्—तब तक; नङ्क्ष्यन्ति—नष्ट हो जाएँगे; बलि-हाराः—पूजा के प्रति आज्ञाकारी; तव—तुम्हारी; अभिभूः—हे समस्त ब्रह्माण्ड के प्रधान।

हे महापुरुष, हे ब्रह्माण्ड के प्रधान, यदि आप उचित समझें तो इन सारे उत्पातों को, जो सब कुछ विनष्ट करने के उद्देश्य से हो रहे हैं, कृपा करके रोक दें जिससे आपकी आज्ञाकारी प्रजा का संहार न हो।

तस्यायं किल सङ्कल्पश्चरतो दुश्चरं तपः ।
श्रूयतां किं न विदितस्तवाथापि निवेदितम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अयम्—यह; किल—निश्चय ही; सङ्कल्पः—दृढ़ निश्चय; चरतः—सम्पन्न करने वाला; दुश्चरम्—अत्यन्त कठिन; तपः—तपस्या; श्रूयताम्—सुन लें; किम्—क्या; न—नहीं; विदितः—ज्ञात; तव—तुम्हारा; अथापि—अब फिर भी; निवेदितम्—निवेदन किया गया।

हिरण्यकशिपु ने अत्यन्त कठिन तपस्या का व्रत ले रखा है। यद्यपि आपसे उसकी योजना छिपी नहीं है, तो भी हम जिस रूप में उसके मन्तव्यों का निवेदन कर रहे हैं, कृपा करके उन्हें सुन लें।

सृष्ट्वा चराचरमिदं तपोयोगसमाधिना ।
अध्यास्ते सर्वधिष्ण्येभ्यः परमेष्ठी निजासनम् ॥ ९ ॥
तदहं वर्धमानेन तपोयोगसमाधिना ।
कालात्मनोश्च नित्यत्वात्साधयिष्ये तथात्मनः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सृष्ट्वा—सृजन करके; चर—चल; अचरम्—तथा अचल; इदम्—यह; तपः—तपस्या का; योग—तथा योग शक्ति का; समाधिना—समाधि के अभ्यास द्वारा; अध्यास्ते—स्थित है; सर्व-धिष्ण्येभ्यः—स्वर्गलोक समेत समस्त लोकों की अपेक्षा; परमेष्ठी—ब्रह्माजी ने; निज-आसनम्—अपना सिंहासन; तत्—अतएव; अहम्—मैं; वर्धमानेन—वृद्धि के कारण; तपः—तपस्या; योग—योग शक्ति; समाधिना—तथा समाधि से; काल—समय का; आत्मनोः—तथा आत्मा का; च—तथा; नित्यत्वात्—नित्यता से; साधयिष्ये—प्राप्त करेगा; तथा—इतना; आत्मनः—अपने लिए।

''इस ब्रह्माण्ड में परमपुरुष ब्रह्माजी ने अपना उच्च पद कठिन तपस्या, योगशक्ति तथा समाधि द्वारा प्राप्त किया है। फलस्वरूप इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने के बाद वे इसके सर्वाधिक पूज्य देवता बने हैं। चूँकि मैं शाश्वत हूँ और काल भी शाश्वत है, अतएव मैं ऐसी ही तपस्या, योगशक्ति तथा समाधि के लिए अनेक जन्मों तक प्रयास करूँगा और वह स्थान ग्रहण करूँगा जो ब्रह्माजी ने प्राप्त किया है।''

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु का संकल्प ब्रह्माजी के पद को ग्रहण करने का था लेकिन यह असम्भव था क्योंकि ब्रह्माजी की आयु अत्यन्त दीर्घ थी। जैसाकि *भगवद्गीता* (८.१७) में पुष्टि की गई है—*सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः*—ब्रह्मा का एक दिन एक हजार युग के तुल्य है। ब्रह्मा की आयु अत्यन्त दीर्घ है, फलस्वरूप हिरण्यकशिपु के लिए उनका पद प्राप्त कर सकना असम्भव था। फिर भी उसका निर्णय था कि चूँकि आत्मा तथा काल दोनों शाश्वत हैं अतएव यदि वह उस पद को एक जीवनकाल में नहीं प्राप्त कर सकता तो वह जन्म-जन्मांतर तपस्या करता रहेगा, जिससे कभी न कभी उसे वह पद प्राप्त हो सके।

अन्यथेदं विधास्येऽहमयथा पूर्वमोजसा ।
किमन्यैः कालनिर्धूतैः कल्पान्ते वैष्णवादिभिः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अन्यथा—बिल्कुल उल्टा; इदम्—यह ब्रह्माण्ड; विधास्ये—बना दूँगा; अहम्—मैं; अयथा—अनुपयुक्त; पूर्वम्—पहले जैसा; ओजसा—अपनी तपस्या के बल से; किम्—क्या लाभ; अन्यैः—दूसरे के साथ; काल-निर्धूतैः—काल के साथ समाप्त होने वाला; कल्प-अन्ते—युग के अन्त में; वैष्णव-आदिभिः—ध्रुवलोक या वैकुण्ठ लोक जैसे लोकों से।

''अपनी कठोर तपस्या से मैं पुण्य तथा पाप कर्मों के फलों को उलट दूँगा। मैं इस संसार की समस्त स्थापित प्रथाओं को पलट दूँगा। कल्प के अन्त में ध्रुवलोक भी मिट जाएगा। अतएव इसका क्या लाभ है? मैं तो ब्रह्मा के पद पर बना रहना अधिक पसन्द करूँगा।''

तात्पर्य : देवताओं ने ब्रह्माजी को हिरण्यकशिपु का आसुरी संकल्प कह सुनाया। उन्होंने सूचित किया कि हिरण्यकशिपु सारे मान्य सिद्धान्तों को पलट देना चाहता है। लोग इस भौतिक जगत में कठिन तपस्या करके स्वर्गलोक चले जाते हैं लेकिन हिरण्यकशिपु नहीं चाहता था कि लोग स्वर्ग में सुखी रहें, क्योंकि देवता स्वर्ग में रहते हुए भी उसके विरुद्ध कूटनीतिक विचार रखते थे। वह चाहता था कि जो लोग इस संसार में सताये जाते हैं, वे स्वर्ग में भी दुखी रहें। निस्सन्देह, वह ऐसा उत्पीडन सर्वत्र चालू करना चाह रहा था। कोई यह पूछ सकता है कि यह कैसे सम्भव होगा क्योंकि विश्व की व्यवस्था तो अनन्त काल से चली आ रही है? किन्तु हिरण्यकशिपु को घमण्ड था कि वह अपनी तपस्या से सब कुछ कर लेगा। यहाँ तक कि वह वैष्णवों की स्थिति को असुरक्षित बना देना चाहता था। ये कतिपय लक्षण हैं उसके आसुरी संकल्प के।

इति शुश्रुम निर्बन्धं तपः परममास्थितः ।
विधत्स्वानन्तरं युक्तं स्वयं त्रिभुवनेश्वर ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; शुश्रुम—हमने सुना है; निर्बन्धम्—प्रबल संकल्प; तपः—तपस्या; परमम्—अत्यन्त कठोर; आस्थितः—स्थित; विधत्स्व—कृपया कार्यवाही करें; अनन्तरम्—जल्दी से जल्दी; युक्तम्—उपयुक्त; स्वयम्—अपने से, स्वयं; त्रि-भुवन-ईश्वर—हे तीनों संसारों के स्वामी।

हे प्रभु, हमने विश्वस्त सूत्रों से सुना है कि हिरण्यकशिपु आपका पद प्राप्त करने के लिए कठिन तपस्या में जुटा हुआ है। आप तीनों लोकों के स्वामी हैं। आप जैसा उचित समझें वैसा अविलम्ब करें।

तात्पर्य : भौतिक जगत में स्वामी अपने नौकर को एक पद प्रदान करता है, किन्तु वह सदैव योजना बनाता रहता है कि किस प्रकार अपने स्वामी का पद छीन ले। इतिहास में इसके अनेक दृष्टान्त प्राप्त हैं। विशेष रूप से भारत में मुसलमानों के शासन काल में अनेक नौकरों ने षड्यंत्र द्वारा अपने स्वामियों के पद हथिया लिये। चैतन्य साहित्य से यह पता चलता है कि सुबुद्धि राय नामक एक बड़े जमींदार ने एक मुसलमान लड़के को नौकर के रूप में रखा था। वह इस लड़के को अपने पुत्र की तरह मानता था और जब वह कभी कुछ चुराता तो उसका स्वामी दण्ड देने के लिए उसे बेंत से मारता था। इससे उस लड़के की पीठ पर एक निशान बन गया था। बाद में जब वह लड़का कुटिल उपायों से हुसने शाह नाम से बंगाल का नवाब बन गया तो एक दिन उसकी पत्नी ने इस निशान को देखा और इसके विषय में पूछा। नवाब ने उत्तर दिया कि बचपन में वह सुबुद्धिराय का नौकर था और उन्होंने किसी उपद्रव के लिए उसे दण्ड दिया था। यह सुनकर नवाब की पत्नी तत्क्षण क्रुद्ध हो उठी और उसने अपने पति से अनुरोध किया कि वह सुबुद्धि राय की हत्या कर दे। किन्तु नवाब हुसेन शाह सुबुद्धि राय का अत्यन्त कृतज्ञ था, अतएव उसने हत्या करने से मना कर दिया। किन्तु जब उसकी पत्नी ने अनुरोध किया कि वह सुबुद्धि राय को मुसलमान बना ले तो नवाब राजी हो गया। उसने अपनी सुराही से कुछ जल निकाल कर सुबुद्धि राय पर छिड़क दिया और यह घोषित कर दिया कि सुबुद्धि राय अब मुसलमान हो गया है। बात यह है कि यही नवाब पहले सुबुद्धि राय का सामान्य नौकर था, किन्तु येन-केन-प्रकारेण वह बंगाल के नवाब का श्रेष्ठ पद प्राप्त करने में सक्षम रहा। ऐसा है यह भौतिक संसार। प्रत्येक व्यक्ति नाना प्रकार की युक्तियों से स्वामी बनना चाहता है, यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इन्द्रियों का दास है। इस पद्धति पर चल कर प्रत्येक जीव भले ही अपनी इन्द्रियों का दास क्यों न हो,

सम्पूर्ण संसार का स्वामी बनना चाहता है। हिरण्यकशिपु इसका ज्वलन्त उदाहरण था और देवताओं ने उसके इन मन्तव्यों की जानकारी ब्रह्माजी को दी।

तवासनं द्विजगवां पारमेष्ठ्यं जगत्पते ।
भवाय श्रेयसे भूत्यै क्षेमाय विजयाय च ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तव—आपका; आसनम्—सिंहासन; द्विज—ब्राह्मण संस्कृति का अथवा ब्राह्मणों का; गवाम्—गौवों का; पारमेष्ठ्यम्—सर्वोच्च, परम; जगत्-पते—हे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्वामी; भवाय—उन्नति के लिए; श्रेयसे—चरम सुख के लिए; भूत्यै—ऐश्वर्य बढ़ाने के लिए; क्षेमाय—पालन तथा सौभाग्य के लिए; विजयाय—विजय तथा बढ़ती प्रतिष्ठा के लिए; च—तथा।.

हे ब्रह्माजी, निश्चय ही आपका पद इस ब्रह्माण्ड के सभी लोगों के लिए, विशेष रूप से ब्राह्मणों तथा गायों के लिए, अत्यन्त कल्याणप्रद है। इससे ब्राह्मण-संस्कृति तथा गौ-सुरक्षा को अधिकाधिक महिमामंडित किया जा सकता है और इस प्रकार सभी प्रकार के भौतिक सुख, ऐश्वर्य तथा सौभाग्य स्वतः वृद्धि करेंगे। किन्तु दुर्भाग्यवश यदि हिरण्यकशिपु आपका स्थान ग्रहण करता है, तो सब कुछ नष्ट हो जाएगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में *द्विज गवां पारमेष्ठ्यम्* शब्द ब्राह्मणों, ब्राह्मण-संस्कृति तथा गायों की श्रेष्ठ स्थिति को सूचित करने वाले हैं। वैदिक संस्कृति में गायों तथा ब्राह्मणों का कल्याण अनिवार्य है। ब्राह्मण संस्कृति का विकास करने तथा गायों की सुरक्षा करने के समुचित प्रबन्ध के बिना, प्रशासन के सारे कार्य ध्वस्त हो जाएँगे। हिरण्यकशिपु कहीं ब्रह्मा का पद न पा ले इस भय से सारे देवता अत्यन्त उद्विग्न थे। हिरण्यकशिपु विख्यात दैत्य था और देवतागण यह जानते थे कि यदि दैत्यों तथा राक्षसों को यह उच्च पद मिल गया तो ब्राह्मण-संस्कृति तथा गौवों की सुरक्षा मिट्टी में मिल जाएगी। जैसाकि *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा गया है—सबों के आदि स्वामी भगवान् कृष्ण हैं (*भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्*) अतएव भगवान् अच्छी तरह जानते हैं कि इस जगत में जीवों की भौतिक स्थिति को किस तरह सुधारा जाये। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में भगवान् कृष्ण के प्रतिनिधि रूप में कार्य करने के लिए एक ब्रह्मा नियुक्त है, जिसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* में हुई है (*तेने ब्रह्म हृदा य आदि-कवये*)। प्रत्येक ब्रह्माण्ड का प्रमुख स्रष्टा ब्रह्मा है, जो अपने शिष्यों तथा पुत्रों को वैदिक ज्ञान प्रदान करता है। प्रत्येक लोक में राजा या परम नियन्ता को ब्रह्मा का प्रतिनिधि होना चाहिए। अतएव यदि ब्रह्मा के पद पर कोई राक्षस या असुर आसीन हो जाये तो ब्रह्माण्ड की सारी व्यवस्था, विशेष रूप से ब्राह्मण-संस्कृति तथा

गायों की सुरक्षा, नष्ट हो जाएगी। सारे देवताओं को इस संकट की आशंका थी, अतएव वे सब ब्रह्माजी के पास यह प्रार्थना करने के लिए गये कि वे हिरण्यकशिपु की चाल को ध्वस्त करने के लिए तुरन्त कदम उठाएँ।

सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्माजी पर मधु तथा कैटभ नामक दो असुरों ने आक्रमण किया था, किन्तु कृष्ण ने उन्हें बचा लिया था। अतएव कृष्ण को *मधुकैटभहन्तृ* कहा जाता है। अब पुन: हिरण्यकशिपु ब्रह्मा का स्थान लेने वाला था। भौतिक जगत इस तरह स्थित है कि ब्रह्मा तक का पद कभी-कभी संकट में रहता है, तो सामान्य जीवों के विषय में क्या कहा जाये? तो भी हिरण्यकशिपु के समय तक किसी ने ब्रह्मा का स्थान ग्रहण करने का यत्न नहीं किया था। किन्तु हिरण्यकशिपु इतना महान् दैत्य था कि वह अपनी इच्छा पूरी करने पर अटल था।

भूत्यै शब्द का अर्थ है ''ऐश्वर्य बढ़ाने के लिए'' और *श्रेयसे* शब्द अन्ततोगत्वा भगवद्धाम वापस जाने का द्योतक है। आध्यात्मिक उन्नति से मनुष्य के भौतिक पद में उन्नति के साथ-साथ मोक्ष का मार्ग भी स्पष्ट होता जाता है और वह भव-बन्धन से छूट जाता है। यदि कोई आध्यात्मिक उन्नति में ऐश्वर्यवान् पद पर हो तो उसका ऐश्वर्य कभी नहीं घटता। अतएव ऐसा आध्यात्मिक वरदान *भूति* या *विभूति* कहलाता है। इसकी पुष्टि कृष्ण ने *भगवद्गीता* (१०.४१) में की है। *यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं...मम तेजोंऽशसम्भवम्*—यदि भक्त आध्यात्मिक चेतना में उन्नति करता है और इस तरह वह भौतिक दृष्टि से ऐश्वर्यवान् भी बन जाता है, तो उसका पद भगवान् का विशिष्ट वरदान होता है। ऐसे ऐश्वर्य को कभी भौतिक नहीं मानना चाहिए। इस समय इस धरा लोक में ब्रह्माजी का प्रभाव काफी घट चुका है और हिरण्यकशिपु के प्रतिनिधि राक्षसों तथा दैत्यों ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया है। इसलिए ब्राह्मण-संस्कृति तथा गायों को कोई भी संरक्षण प्राप्त नहीं है, यद्यपि ये समस्त सौभाग्य के लिए अत्यावश्यक हैं। यह युग अत्यन्त घातक है, क्योंकि समाज का संचालन असुरों तथा राक्षसों के द्वारा हो रहा है।

इति विज्ञापितो देवैर्भगवानात्मभूर्नृप ।
परितो भृगुदक्षाद्यैर्ययौ दैत्येश्वराश्रमम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; विज्ञापितः—सूचित; देवैः—समस्त देवताओं द्वारा; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; आत्म-भूः—कमल से उत्पन्न ब्रह्माजी; नृप—हे राजा; परितः—घिरा हुआ; भृगु—भृगु द्वारा; दक्ष—दक्ष से; आद्यैः—तथा अन्यों से; ययौ—गये; दैत्य-ईश्वर—दैत्यों के राजा हिरण्यकशिपु के; आश्रमम्—तपस्या स्थल पर।

हे राजा, देवताओं द्वारा इस प्रकार सूचित किये जाने पर अत्यन्त शक्तिशाली ब्रह्माजी भृगु, दक्ष तथा अन्य महर्षियों को साथ लेकर तुरन्त उस स्थान के लिए चल पड़े जहाँ हिरण्यकशिपु तपस्या कर रहा था।

तात्पर्य : ब्रह्माजी प्रतीक्षा में थे कि हिरण्यकशिपु की तपस्या पूरी हो ले तो वे वहाँ जाकर उसकी इच्छानुसार उसे वर दे सकें। अब वे समस्त देवताओं तथा बड़े-बड़े साधु पुरुषों को साथ लेकर जाने का अवसर पा कर उसे इच्छित वर देने गये।

न ददर्श प्रतिच्छन्नं वल्मीकतृणकीचकैः ।
पिपीलिकाभिराचीर्णं मेदस्त्वङ्मांसशोणितम् ॥ १५ ॥
तपन्तं तपसा लोकान्यथाभ्रापिहितं रविम् ।
विलक्ष्य विस्मितः प्राह हसंस्तं हंसवाहनः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ददर्श—देखा; प्रतिच्छन्नम्—आवृत, ढका हुआ; वल्मीक—बांबी; तृण—घास; कीचकैः—तथा बाँस के डंडे से; पिपीलिकाभिः—चींटियों द्वारा; आचीर्णम्—चारों ओर से खाया हुआ; मेदः—जिसकी चर्बी; त्वक्—चमड़ी; मांस—मांस; शोणितम्—तथा रक्त; तपन्तम्—तपाता हुआ; तपसा—कठिन तपस्या से; लोकान्—तीनों लोकों को; यथा—जिस तरह; अभ्र—बादलों से; अपिहितम्—आच्छादित; रविम्—सूर्य को; विलक्ष्य—देखकर; विस्मितः—आश्चर्य-चकित; प्राह—कहा; हसन्—हँसते हुए; तम्—उसको; हंस-वाहनः—हंस यान पर आसीन ब्रह्माजी ने।

हंसयान पर चलने वाले ब्रह्माजी पहले तो यह नहीं देख पाये कि हिरण्यकशिपु कहाँ है, क्योंकि उसका शरीर बाँबी, घास तथा बाँस के ड़ड़ों से आच्छादित था। चूँकि हिरण्यकशिपु दीर्घकाल से वहाँ था अतएव चीटियाँ उसकी खाल, चर्बी, मांस तथा रक्त चट कर चुकी थीं। तब ब्रह्माजी तथा देवताओं ने उसे खोज निकाला। वह बादलों से आच्छादित सूर्य की भाँति सारे संसार को अपनी तपस्या से तपा रहा था। आश्चर्यचकित होकर ब्रह्माजी हँस पड़े और उसे इस प्रकार सम्बोधित करने लगे।

तात्पर्य : प्राणी अपनी त्वचा, मज्जा, अस्थि, रक्त इत्यादि के बिना केवल निजी शक्ति से जीवित रह सकता है, क्योंकि यह कहा गया है *असङ्गोऽयं पुरुषः*—प्राणी (जीव) को भौतिक आवरण से कुछ भी लेना देना नहीं रहता। हिरण्यकशिपु ने अनेक वर्षों तक कठिन तपस्या की थी। निस्सन्देह, कहा जाता है कि उसने एक सौ दैवी वर्षों तक तपस्या की। चूँकि देवताओं का एक दिन हमारे छः मासों के

बराबर होता है, अतएव यह अत्यन्त दीर्घ समय था। प्रकृति के अपने ढंग से उसके शरीर को केंचुओं, चीटियों तथा परजीवियों ने लगभग खा लिया था और इसलिए ब्रह्मा भी पहले उसे नहीं देख पाये। किन्तु बाद में ब्रह्मा जान गये कि हिरण्यकशिपु कहाँ पर था और वे उसकी तपस्या की अद्‌भुत शक्ति को देखकर आश्चर्यचकित रह गये। उस समय कोई भी यह निष्कर्ष निकालता कि हिरण्यकशिपु मृत हो चुका था, क्योंकि उसका शरीर पूरी तरह से आच्छादित हो चुका था। लेकिन इस ब्रह्माण्ड के प्रथम जीव ब्रह्मा समझ गये कि हिरण्यकशिपु जीवित है किन्तु भौतिक तत्त्वों द्वारा आच्छादित हो गया है।

यहाँ इस ओर भी ध्यान देना चाहिए कि यद्यपि हिरण्यकशिपु ने वर्षों तक लगातार यह तपस्या की थी फिर भी वह दैत्य तथा राक्षस के रूप में ही विख्यात था। अगले श्लोकों से पता चल जाएगा कि इस प्रकार की कठिन तपस्या बड़े से बड़े साधु पुरुष भी नहीं कर सकते। तो फिर वह राक्षस तथा दैत्य क्यों कहलाता था? इसका कारण यह था कि उसने जो भी किया वह सब अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए किया था। उसका पुत्र प्रह्लाद अभी केवल पाँच वर्ष का था अतएव वह कर ही क्या सकता था? फिर भी नारद मुनि के उपदेशों के अनुसार केवल थोड़ीसी भक्ति करके वह भगवान् का इतना प्रिय बन गया कि वे उसे बचाने के लिए आये। जबकि हिरण्यकशिपु अपनी सारी तपस्या के बावजूद मारा गया। भक्ति तथा सिद्धि की अनेक विधियों में यही अन्तर है। जो अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए कठिन तपस्या करता है, वह समग्र संसार को डराता है, जबकि थोड़ी सी भक्ति करने वाला भक्त हर एक का मित्र होता है (*सुहृदं सर्वभूतानाम्*)। चूँकि भगवान् प्रत्येक जीव के शुभचिन्तक हैं और चूँकि भक्त भगवान् के गुण प्राप्त कर लेता है, अतएव भक्त भी भक्ति के द्वारा हर एक के कल्याण के लिए कर्म करता है। इस प्रकार यद्यपि हिरण्यकशिपु ने ऐसी कठिन तपस्या की थी, किन्तु वह दैत्य तथा राक्षस ही बना रहा जबकि उसी दैत्य पिता से उत्पन्न प्रह्लाद महाराज अत्यन्त सम्मानित भक्त बन गये जिससे स्वयं भगवान् ने उनकी रक्षा की। इसीलिए भक्ति सर्वोपाधि *विनिर्मुक्तम्* कहलाती है, जिससे सूचित होता है कि भक्त समस्त भौतिक उपाधियों से मुक्त हो जाता है और वह *अन्याभिलाषिताशून्यम्* अर्थात् समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त होकर दिव्य पद पर स्थित होता है।

श्रीब्रह्मोवाच

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते तपःसिद्धोऽसि काश्यप ।

वरदोऽहमनुप्राप्तो व्रियतामीप्सितो वरः ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्री-ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; उत्तिष्ठ—उठो; उत्तिष्ठ—उठो; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारा; तपः-सिद्धः—तपस्या करने में पूर्ण; असि—तुम हो; काश्यप—हे कश्यप पुत्र; वर-दः—वर देने वाला; अहम्—मैं; अनुप्राप्तः—आया हूँ; व्रियताम्—माँग लो; ईप्सितः—वांछित; वरः—वरदान।

ब्रह्माजी ने कहा : हे कश्यप मुनि के पुत्र, उठो, उठो, तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम अपनी तपस्या में सिद्ध हो चुके हो, अतएव मैं तुम्हें वरदान देता हूँ। तुम मुझसे जो चाहे सो माँग सकते हो और मैं तुम्हारी इच्छा पूरी करने का प्रयत्न करूँगा।

तात्पर्य : श्रील मध्वाचार्य ने *स्कंद पुराण* से उद्धरण दिया है, जिसके अनुसार हिरण्यकशिपु हिरण्यगर्भ कहलाने वाले ब्रह्माजी का भक्त बनकर तथा उन्हें प्रसन्न करने के लिए कठिन तपस्या करके स्वयं हिरण्यक भी कहलाता है। राक्षस तथा असुरगण ब्रह्मा तथा शिव जैसे विविध देवताओं की पूजा इन देवताओं का स्थान ग्रहण करने के लिए करते हैं। इसकी व्याख्या हम पिछले श्लोकों में कर चुके हैं।

अद्राक्षमहमेतं ते हृत्सारं महदद्भुतम् ।
दंशभक्षितदेहस्य प्राणा ह्यस्थिषु शेरते ॥ १८॥

शब्दार्थ

अद्राक्षम्—स्वयं देखा है; अहम्—मैंने; एतम्—यह; ते—तुम्हारी; हृत्-सारम्—सहन शक्ति; महत्—अत्यधिक; अद्भुतम्—आश्चर्यजनक; दंश-भक्षित—कीड़ों तथा चीटियों से खायी हुई; देहस्य—देह का; प्राणाः—प्राण, प्राणवायु; हि—निस्सन्देह; अस्थिषु—हड्डियों में; शेरते—शरण ले रहा है।

मैं तुम्हारे धैर्य को देखकर अत्यन्त विस्मित हूँ। सभी तरह के कीड़ों तथा चीटियों द्वारा खाये तथा काटे जाने के बावजूद तुम अपनी अस्थियों में प्राणवायु को संचालित किये हुए हो। निस्सन्देह, यह आश्चर्यजजनक है।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा का अस्तित्व अस्थियों में भी हो सकता है जैसाकि हिरण्यकशिपु के निजी उदाहरण से दर्शित होता है। जब बड़े-बड़े योगी समाधि में रहते हैं, तो उनके शरीर भूमि में गड़े रहने पर उनकी खाल, मज्जा, रक्त इत्यादि खाये जाने पर भी, यदि उनकी हड्डियाँ बची रहती हैं, तो वे दिव्य पद पर विद्यमान रह सकते हैं। हाल ही में एक पुरातत्वविद ने अपनी खोज प्रकाशित की है, जिसमें सूचित किया गया है कि भूमि में गाड़े जाने के बाद क्राइस्ट को खोद निकाला गया और तब वे कश्मीर गये। योगियों के ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हैं जब वे समाधि में गाड़ दिये

गये और कई घन्टों के बाद अच्छी अवस्था में जीवित निकाल लिए गये। योगी अपने को दिव्य अवस्था में जीवित रख सकता है भले ही उसे कई दिनों के लिए क्या वर्षों तक क्यों न गाड़ कर रखा जाये।

नैतत्पूर्वर्षयश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे ।
निरम्बुर्धारयेत्प्राणान्को वै दिव्यसमाः शतम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतत्—यह; पूर्व-ऋषयः—तुम्हारे पहले के ऋषि यथा भृगु ने; चक्रुः—सम्पन्न किया; न—न तो; करिष्यन्ति—करेंगे; च—भी; अपरे—अन्य लोग; निरम्बुः—जल पिये बिना; धारयेत्—जीवित रख सकते हैं; प्राणान्—प्राण वायु को; कः—कौन; वै—निस्सन्देह; दिव्य-समाः—दैवी वर्ष; शतम्—एक सौ।

यहाँ तक कि भृगु जैसे साधु पुरुष, जो पहले जन्म ले चुके हैं ऐसी कठिन तपस्या नहीं कर सके हैं, न भविष्य में भी कोई ऐसा कर सकेगा। इस तीनों लोकों में ऐसा कौन होगा जो जल पिये बिना एक सौ दैवी वर्षों तक जीवन धारण कर सके?

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि यदि योगी पानी की एक बूँद भी न पिये तो वह योग विधि से अनेकानेक वर्षों तक जीवित रह सकता है भले ही उसके बाह्य शरीर को चींटियाँ तथा कीड़े-मकोड़े खा जाँय।

व्यवसायेन तेऽनेन दुष्करेण मनस्विनाम् ।
तपोनिष्ठेन भवता जितोऽहं दितिनन्दन ॥ २० ॥

शब्दार्थ

व्यवसायेन—संकल्प से; ते—तुम्हारा; अनेन—इस; दुष्करेण—दुष्कर; मनस्विनाम्—बड़े-बड़े ऋषियों तथा साधु पुरुषों के लिए भी; तपः-निष्ठेन—तपस्या करने के उद्देश्य से; भवता—तुम्हारे द्वारा; जितः—जीता गया; अहम्—मैं; दिति-नन्दन—हे दिति पुत्र।

हे दितिपुत्र, तुमने अपने महान् संकल्प से तथा अपनी तपस्या से वह कर दिखाया है, जो बड़े-बड़े साधु पुरुषों के लिए भी दुष्कर है। इस तरह तुमने मुझे निश्चय ही जीत लिया है।

तात्पर्य : *जितः* शब्द के विषय में श्रील मध्व मुनि शब्द *निर्णय* से निम्नलिखित उदाहरण देते हैं—*पराभूतं वशस्थं च जितभिद् उच्यते बुधैः*—यदि कोई किसी के वश में हो जाता है या दूसरे द्वारा पराजित हो जाता है, तो वह *जितः* कहलाता है। हिरण्यकशिपु की तपस्या इतनी महान् तथा अद्भुत थी कि ब्रह्माजी को भी अपने को उससे पराजित हुआ स्वीकार करना पड़ा।

ततस्त आशिषः सर्वा ददाम्यसुरपुङ्गव ।
मर्तस्य ते ह्यमर्तस्य दर्शनं नाफलं मम ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ततः—इसके कारण; ते—तुमको; आशिषः—वरदान; सर्वाः—सभी; ददामि—दूँगा; असुर-पुङ्गव—हे असुरों में श्रेष्ठ; मर्तस्य—मरने वाले का; ते—तुम्हारी तरह; हि—निस्सन्देह; अमर्तस्य—न मरने वाले का; दर्शनम्—दर्शन; न—नहीं; अफलम्—बिना फल के; मम—मेरा।

हे असुरों में श्रेष्ठ, इस कारण मैं तुम्हारी इच्छानुसार तुम्हें सारे वरदान देने के लिए तैयार हूँ। मैं देवताओं के दैवी संसार से सम्बन्धित हूँ, जहाँ देवतागण मनुष्यों की तरह नहीं मरते। अतएव यद्यपि तुम मर्त्य हो, किन्तु तुमने मेरा दर्शन किया है, अतः यह व्यर्थ नहीं जाएगा।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य तथा असुर तो मर्त्य हैं, किन्तु देवता नहीं हैं। जो देवता ब्रह्माजी के साथ सत्य लोक में रहते हैं, वे अपने शरीरपात के समय वर्तमान देहों सहित वैकुण्ठ लोक को जाते हैं। अतएव यद्यपि हिरण्यकशिपु ने कठिन तपस्या की थी, किन्तु ब्रह्मा ने भविष्यवाणी की कि उसे मरना होगा। वह न तो अमर हो सकता है, न देवताओं के समान पद पा सकता है। उसने इतने वर्षों तक जो महान् तप किया था उससे उसे मृत्यु से सुरक्षा प्राप्त नहीं हो सकती थी। इसकी भविष्यवाणी ब्रह्मा द्वारा की जा चुकी थी।

श्रीनारद उवाच

इत्युक्त्वादिभवो देवो भक्षिताङ्गं पिपीलिकैः ।
कमण्डलुजलेनौक्षद्दिव्येनामोघराधसा ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; आदि-भवः—इस ब्रह्माण्ड का पहला जीवित प्राणी, ब्रह्माजी; देवः—प्रधान देवता; भक्षित-अङ्गम्—हिरण्यकशिपु का शरीर जो प्रायः खाया जा चुका था; पिपीलिकैः—चींटियों द्वारा; कमण्डलु—ब्रह्माजी के हाथ के जलपात्र से; जलेन—जल से; औक्षत्—छिड़का; दिव्येन—आध्यात्मिक, सामान्य नहीं; अमोघ—अचूक; राधसा—जिसकी शक्ति।

श्री नारद मुनि ने आगे कहा : हिरण्यकशिपु से ये शब्द कहने के बाद इस ब्रह्माण्ड के प्रथम जीव ब्रह्माजी ने, जो अत्यन्त शक्तिमान हैं, उसके शरीर पर अपने कमण्डल से दिव्य अचूक आध्यात्मिक जल छिड़का, जिसे चींटियों तथा कीड़े-मकोड़ों ने खा लिया था। इस तरह उन्होंने हिरण्यकशिपु को जीवित किया।

तात्पर्य : इस ब्रह्माण्ड में ब्रह्माजी प्रथम जीव हैं जिन्हें सृष्टि करने की शक्ति परमेश्वर द्वारा प्राप्त है।

तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये—*आदि देव* या *आदि कवि* अर्थात् प्रथम सजीव प्राणी को भगवान् ने स्वयं हृदय के भीतर से शिक्षा दी थी। उसे शिक्षा देने वाला कोई न था, किन्तु चूँकि ब्रह्माजी के हृदय में स्थित हैं, अतएव ब्रह्मा को साक्षात् भगवान् ने शिक्षा दी। ब्रह्माजी विशेष रूप से शक्त्याविष्ट होने के कारण वे जो चाहते हैं उसे करने में अचूक हैं। *अमोघ राधसा* शब्द का अर्थ यही है। वे हिरण्यकशिपु के मूल शरीर को जीवनदान देना चाहते थे; अतएव उन्होंने अपने कमण्डल से दिव्य जल छिड़कर उन्होंने यह कार्य तुरन्त कर डाला।

स तत्कीचकवल्मीकात्सहओजोबलान्वितः ।
सर्वावयवसम्पन्नो वज्रसंहननो युवा ।
उत्थितस्तप्तहेमाभो विभावसुरिवैधसः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह हिरण्यकशिपु; तत्—उस; कीचक-वल्मीकात्—बाँबी तथा बाँस के कुंज से; सहः—मानसिक शक्ति; ओजः—इन्द्रिय शक्ति; बल—तथा पर्याप्त शारीरिक शक्ति से; अन्वितः—युक्त; सर्व—समस्त; अवयव—शरीर के अंग; सम्पन्नः—पूर्णतया फिर से पाकर; वज्र-संहननः—वज्र के समान मजबूत शरीर वाला; युवा—तरुण; उत्थितः—उठा हुआ; तप्त-हेम-आभः—जिसके शरीर की कान्ति पिघले सोने के समान थी; विभावसुः—अग्नि; इव—सदृश; एधसः—काष्ठ से।

ज्योंही ब्रह्मा ने अपने कमंडल से उसके शरीर पर जल छिड़का त्योंही हिरण्यकशिपु उठ बैठा। उसके शरीर के अंग-प्रत्यंग इतने बलवान् थे कि वह वज्र के आघात को भी सहन कर सकता था। इतनी शारीरिक शक्ति एवं पिघले सोने की सी शारीरिक कान्ति से युक्त वह पूर्ण तरुण पुरुष की भाँति बाँबी से उसी तरह प्रकट हुआ जिस तरह काष्ठ से अग्नि उत्पन्न होती है।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु को पुनः जीवन प्राप्त हुआ तो उसका शरीर इतना बलिष्ठ था कि वह वज्र के आघात को भी सहन कर सकता था। अब वह अत्यन्त बलिष्ठ शरीर वाला तरुण पुरुष था और उसके सुन्दर शरीर की आभा पिघले सोने जैसी थी। यह कायाकल्प उसकी कठोर तपस्या का परिणाम था।

स निरीक्ष्याम्बरे देवं हंसवाहमुपस्थितम् ।
ननाम शिरसा भूमौ तद्दर्शनमहोत्सवः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने (हिरण्यकशिपु ने); निरीक्ष्य—देखकर; अम्बरे—आकाश में; देवम्—परम देवता; हंस-वाहम्—हंस-वायुयान पर चढ़ने वाला; उपस्थितम्—अपने समक्ष स्थित; ननाम—नमस्कार किया; शिरसा—शिर के बल; भूमौ—भूमि पर; तत्-दर्शन—ब्रह्माजी का दर्शन कर के; महा-उत्सवः—अत्यन्त प्रसन्न।

आकाश में हंस-वायुयान पर सवार ब्रह्मा को अपने समक्ष देखकर हिरण्यकशिपु अत्यन्त प्रसन्न हुआ। वह तुरन्त शिर के बल भूमि पर गिर पड़ा और भगवान् के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने लगा।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२३-२४) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।

न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥

"हे कुन्तीपुत्र! मनुष्य अन्य देवों को जो भी कुछ चढ़ाता है, वह वास्तव में मेरे लिए ही होता है, किन्तु वह बिना सही ज्ञान के चढ़ाया जाता है। मैं ही एकमात्र भोक्ता हूँ और यज्ञ का एकमात्र स्वामी हूँ। जो लोग मेरे दिव्य स्वभाव को वास्तव में नहीं जानते वे पतित होते हैं।"

वास्तव में, कृष्ण कहते हैं "जो लोग देवताओं की पूजा में लगे रहते हैं, वे बहुत बुद्धिमान नहीं होते, यद्यपि अप्रत्यक्ष रूप में यह मेरी ही पूजा है।" उदाहरणार्थ, जब कोई व्यक्ति वृक्ष की जड़ों में पानी न डालकर वृक्ष की टहनियों तथा पत्तों में जल डालता है, तो वह पर्याप्त ज्ञान के अभाव में या अनुष्ठानों का पालन किये बिना ही ऐसा करता है। वृक्ष को जल देने की विधि है कि उसकी जड़ों में पानी डाला जाये। इसी प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों की सेवा करने की विधि है पेट में भोजन डालना। एक तरह से सारे देवता परमेश्वर की सरकार के विभिन्न अफसर तथा निदेशक हैं। मनुष्य को सरकार द्वारा निर्मित कानून का पालन करना होता है न कि अफसरों या निदेशकों द्वारा निर्मित कानूनों का। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को केवल परमेश्वर की पूजा करनी होती है। इससे भगवान् के विभिन्न अफसर तथा निदेशक स्वतः प्रसन्न हो लेंगे। सारे अफसर तथा निदेशक तो सरकार के प्रतिनिधि हैं और इनमें से किसी को भी घूस देना अवैध है। *भगवद्गीता* में इसे *अविधिपूर्वकम्* कहा गया है। दूसरे शब्दों में, कृष्ण देवताओं की अनावश्यक पूजा की अनुमति नहीं देते।

भगवद्गीता में यह स्पष्ट कहा गया है कि वैदिक साहित्य में अनेक प्रकार के यज्ञ सम्पन्न करने की संस्तुति की गई है, किन्तु वास्तव में वे सब परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए हैं। यज्ञ का अर्थ है

विष्णु। *भगवद्गीता* के तृतीय अध्याय में स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य को चाहिए कि यज्ञ अथवा विष्णु को प्रसन्न करने के लिए ही कर्म करे। मानव सभ्यता का पूर्ण रूप, जो वर्णाश्रम धर्म के नाम से जाना जाता है, विष्णु को प्रसन्न करने के ही निमित्त है। अतएव कृष्ण कहते हैं "मैं समस्त यज्ञों का भोक्ता हूँ क्योंकि मैं ईश्वर हूँ। किन्तु अल्पज्ञ इस तथ्य को न जानते हुए क्षणिक लाभ के लिए देवताओं की पूजा करते हैं। अतएव वे इस भौतिक संसार में आ गिरते हैं और जीवन के इच्छित लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाते।" किन्तु यदि किसी को कोई भौतिक इच्छा पूरी करनी है, तो अच्छा हो कि वह इसके लिए परमेश्वर से प्रार्थना करे (यद्यपि यह शुद्ध भक्ति नहीं है) और इस तरह उसे वांछित फल प्राप्त होगा।

यद्यपि हिरण्यकशिपु ने ब्रह्माजी को नमस्कार किया, किन्तु वह विष्णु के प्रति अत्यधिक शत्रुता रखता था। यह असुर का लक्षण है। असुरगण देवताओं की पूजा भगवान् से भिन्न होने के रूप में करते हैं और वे यह नहीं जानते कि सारे देवता भगवान् के दास होने के कारण ही शक्तिशाली होते हैं। यदि भगवान् देवताओं से शक्ति छीन लें तो देवतागण अपने उपासकों को वरदान न दे सकें। एक भक्त तथा असुर में यही अन्तर होता है कि भक्त यह जानता रहता है कि विष्णु भगवान् हैं और सभी लोग उनसे शक्ति प्राप्त करते हैं। एक भक्त विशेष शक्तियों के लिए देवताओं की पूजा न करके भगवान् विष्णु की पूजा यह जानते हुए करता है कि यदि उसे किसी शक्ति की आवश्यकता होगी तो वह विष्णु के भक्त के रूप में कर्म करता हुआ प्राप्त कर लेगा। अतएव शास्त्र (*भागवत* २.३.१०) में यह संस्तुति की गई है—

अकाम: सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी: ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

"जो व्यक्ति व्यापक बुद्धि का होता है, वह चाहे भौतिक इच्छओं से युक्त हो, या उनसे मुक्त हो अथवा मुक्ति चाहता हो उसे सभी तरह से परम पूर्ण भगवान् की पूजा करनी चाहिए।" यदि मनुष्य भौतिक इच्छाओं से पूर्ण भी हो तो भी उसे देवताओं की पूजा न करके परमेश्वर की पूजा करनी चाहिए। इससे परमेश्वर के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित होगा और वह असुर या अभक्त बनने से बच जायेगा। इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य *ब्रह्म-तर्क* से निम्नलिखित उदाहरण देते हैं—

एकस्थानैककार्यत्वाद् विष्णो: प्राधान्यतस्तथा ।

जीवस्य तदधीनत्वान्न भिन्नाधिकृतं वच: ॥

चूँकि विष्णु सर्वश्रेष्ठ हैं अतएव उनकी पूजा द्वारा मनुष्य की सारी इच्छाएँ पूरी हो सकती हैं। उसे किसी अन्य देवता की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है।

उत्थाय प्राञ्जलिः प्रह्व ईक्षमाणो दृशा विभुम् ।
हर्षाश्रुपुलकोद्भेदो गिरा गद्गदयागृणात् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

उत्थाय—उठकर; प्राञ्जलिः—हाथ जोड़े; प्रह्वः—विनीत भाव से; ईक्षमाणः—देखते हुए; दृशा—अपनी आँखों से; विभुम्—इस ब्रह्माण्ड के भीतर परम पुरुष को; हर्ष—प्रसन्नता के; अश्रु—आँसुओं से; पुलक—शरीर में रोमांच; उद्भेदः—सजीव; गिरा—शब्दों से; गद्गदया—रुक-रुक कर; अगृणात्—प्रार्थना की।

तब दैत्यराज भूमि से उठकर एवं ब्रह्माजी को अपने समक्ष देखकर प्रसन्नता से अभिभूत हो गया। वह अश्रुपूर्ण नेत्रों एवं कम्पित पुलकित शरीर से अपने हाथ जोड़कर तथा अवरुद्ध वाणी से ब्रह्माजी को प्रसन्न करने के लिए विनीत मुद्रा में प्रार्थना करने लगा।

श्रीहिरण्यकशिपुरुवाच

कल्पान्ते कालसृष्टेन योऽन्धेन तमसावृतम् ।
अभिव्यनग्जगदिदं स्वयञ्ज्योतिः स्वरोचिषा ॥ २६ ॥
आत्मना त्रिवृता चेदं सृजत्यवति लुम्पति ।
रजःसत्त्वतमोधाम्ने पराय महते नमः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

श्री-हिरण्यकशिपुः उवाच—हिरण्यकशिपु ने कहा; कल्प-अन्ते—ब्रह्माजी के प्रत्येक दिन के अन्त में; काल-सृष्टेन—काल (समय) द्वारा सृजित; यः—जो; अन्धेन—घने अंधकार से; तमसा—अज्ञान से; आवृतम्—ढका हुआ; अभिव्यनक्—प्रकट, व्यक्त; जगत्—विराट अभिव्यक्ति; इदम्—यह; स्वयम्-ज्योतिः—आत्म-तेज; स्व-रोचिषा—अपने शरीर की किरणों से; आत्मना—अपने से; त्रि-वृता—प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा संचालित; च—भी; इदम्—यह भौतिक जगत; सृजति—उत्पन्न करता है; अवति—पालन करना है; लुम्पति—संहार करता है; रजः—रजोगुण का; सत्त्व—सतोगुण; तमः—तथा तमोगुण का; धाम्ने—परम स्वामी को; पराय—परम को; महते—महान् को; नमः—मेरा सादर नमस्कार।

"मैं इस ब्रह्माण्ड के परम स्वामी को सादर नमस्कार करता हूँ। उनके जीवन के प्रत्येक दिन के अन्त में यह ब्रह्माण्ड काल के प्रभाव से घने अंधकार द्वारा आच्छादित हो जाता है और दूसरे दिन पुनः वही आत्म-तेजस्वी स्वामी अपने निजी तेज से अपनी भौतिक शक्ति के माध्यम से, जो प्रकृति के तीन गुणों से युक्त है, सम्पूर्ण जगत का सृजन, पालन तथा संहार करता है। वे ब्रह्माजी ही सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण—इन तीन प्रकृति के गुणों के आधार हैं।"

तात्पर्य : *अभिव्यनग् जगद् इदम्* शब्द इस विराट जगत को उत्पन्न करने वाले के लिए आये हैं।

आदि स्रष्टा भगवान् कृष्ण हैं (*जन्माद्यस्य यत:*), ब्रह्माजी तो गौण स्रष्टा हैं। जब भगवान् कृष्ण द्वारा ब्रह्माजी को शिल्पी के रूप में व्यवहार जगत की सृष्टि करने के लिए शक्ति प्रदान की जाती है, तो वे इस ब्रह्माण्ड के परम शक्तिशाली स्वरूप बन जाते हैं। सम्पूर्ण भौतिक शक्ति कृष्ण द्वारा उत्पन्न की जाती है और बाद में इस शक्ति का लाभ उठाकर ब्रह्मा समग्र व्यवहार-जगत का शिल्पन करते हैं। ब्रह्माजी के दिन के अन्त में स्वर्ग लोक तक सारी वस्तुएँ जल से आप्लावित हो उठती हैं और अगले दिन प्रात:काल जब ब्रह्माण्ड में अंधकार हो जाता है, तो ब्रह्माजी फिर से सृष्टि उत्पन्न करते हैं। अतएव उन्हें यहाँ पर ब्रह्माण्ड का आदि स्रष्टा कहा गया है।

त्रीन् गुणान् वृणोति—ब्रह्माजी प्रकृति के तीन गुणों का लाभ उठाते हैं। यहाँ पर प्रकृति को *त्रिवृता* कहा गया है अर्थात् वह तीन भौतिक गुणों की उद्गम है। इसकी टीका में श्रील मध्वाचार्य कहते हैं कि *त्रिवृता* का अर्थ *प्रकृत्या* है। भगवान् कृष्ण आदि स्रष्टा हैं और ब्रह्माजी आदि शिल्पी हैं।

नम आद्याय बीजाय ज्ञानविज्ञानमूर्तये ।
प्राणेन्द्रियमनोबुद्धिविकारैर्व्यक्तिमीयुषे ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

नमः—मैं सादर नमस्कार करता हूँ; आद्याय—आदि जीव को; बीजाय—विराट विश्व के बीज को; ज्ञान—ज्ञान के; विज्ञान—व्यावहारिक ज्ञान के; मूर्तये—अर्चा विग्रह या स्वरूप को; प्राण—प्राणों के; इन्द्रिय—इन्द्रिय के; मनः—मन के; बुद्धि—बुद्धि के; विकारैः—रूपान्तरों से; व्यक्तिम्—अभिव्यक्ति; ईयुषे—जिसने प्राप्त कर लिया है।

''मैं इस ब्रह्माण्ड के आदि पुरुष ब्रह्माजी को नमस्कार करता हूँ जो ज्ञान विशेष हैं तथा जो इस विराट जगत को उत्पन्न करने में मन तथा अनुभूत बुद्धि का उपयोग कर सकते हैं। उनके कार्य-कलापों के ही कारण इस ब्रह्माण्ड में हर वस्तु दृष्टिगोचर हो रही है, अतएव वे समग्र अभिव्यक्तियों के कारण हैं।''

तात्पर्य : *वेदान्त सूत्र* का शुभारम्भ इस घोषणा से होता है कि परम पुरुष ही समस्त सृष्टि का आदि स्रोत हैं (*जन्माद्यस्य*)। कोई यह प्रश्न कर सकता है कि क्या ब्रह्माजी परम पुरुष हैं? नहीं। परम पुरुष तो कृष्ण हैं। ब्रह्मा कृष्ण से ही अपना मन, बुद्धि तथा अन्य सारी वस्तुएँ प्राप्त करते हैं और तब वे गौण स्रष्टा या इस ब्रह्माण्ड के शिल्पी बनते हैं। इस सम्बन्ध में हमें ध्यान रखना चाहिए कि सृष्टि संयोगवश विशाल पिंड के विस्फोट से उत्पन्न नहीं हुई। वैदिक जिज्ञासु ऐसे निरर्थक सिद्धान्तों को नहीं मानते। प्रथम उत्पन्न जीव तो ब्रह्मा हैं जिसे भगवान् ने पूर्ण ज्ञान तथा बुद्धि प्रदान की। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में

कहा गया है *तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये*—यद्यपि ब्रह्मा प्रथम उत्पन्न प्राणी हैं, लेकिन वे स्वतंत्र नहीं हैं, क्योंकि वे अपने हृदय में भगवान् की सहायता से बुद्धि प्राप्त करते हैं। सृष्टि के समय ब्रह्मा के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं होता, अतएव वे भगवान् से प्रत्यक्ष रूप में हृदय के माध्यम से अपनी बुद्धि प्राप्त करते हैं। इसकी व्याख्या *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में की जा चुकी है।

इस श्लोक में ब्रह्माजी को विराट् जगत का आदि कारण कहा गया है। यह भौतिक जगत में उनके पद का सूचक है। ऐसे अनेक नियंत्रक हैं जिन सबों को परमेश्वर विष्णु ने उत्पन्न किया। इसका चित्रांकन *चैतन्य-चरितामृत* में वर्णित एक घटना में हुआ है। जब इस ब्रह्माण्ड विशेष के ब्रह्मा को कृष्ण ने द्वारका में आमंत्रित किया तो उन्होंने सोचा कि वे ही एकमात्र ब्रह्मा हैं। अतएव जब कृष्ण ने अपने नौकर से पूछा कि कौन से ब्रह्मा भेंट करने द्वार पर आये हैं, तो ब्रह्माजी को आश्चर्य हुआ। उसने उत्तर दिया कि चारों कुमारों के पिता ब्रह्माजी द्वार पर प्रतीक्षा कर रहे हैं। बाद में ब्रह्माजी ने कृष्ण से पूछा कि आपने यह क्यों पूछा था कि कौन से ब्रह्मा आये हैं। तो भगवान् ने बताया कि ऐसे लाखों ब्रह्मा हैं, क्योंकि ब्रह्माण्ड भी लाखों हैं। तब कृष्ण ने सारे ब्रह्माओं को बुलाया तो सारे ब्रह्मा तुरन्त उनसे भेंट करने गये। *चतुर्मुख* ब्रह्मा ने चार मुख होने के कारण उन अनेक ब्रह्माओं के मध्य अपने को अत्यन्त तुच्छ प्राणी समझा जिनके अनेक मुख थे। इस प्रकार प्रत्येक ब्रह्माण्ड का एक शिल्पी ब्रह्मा होता है और कृष्ण उन सबों के आदि स्रोत हैं।

त्वमीशिषे जगतस्तस्थुषश्च
प्राणेन मुख्येन पतिः प्रजानाम् ।
चित्तस्य चित्तैर्मनइन्द्रियाणां
पतिर्महान्भूतगुणाशयेशः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; ईशिषे—वास्तविक नियंत्रण करते हो; जगतः—चल प्राणियों का; तस्थुषः—एक स्थान पर स्थिर रहने वालों का; च—तथा; प्राणेन—प्राण से; मुख्येन—समस्त कार्यकलापों का उद्गम; पतिः—स्वामी; प्रजानाम्—समस्त जीवों का; चित्तस्य—मन का; चित्तैः—चेतना से; मनः—मन का; इन्द्रियाणाम्—तथा दो प्रकार की इन्द्रियों (कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ) का; पतिः—स्वामी; महान्—महान्; भूत—भौतिक तत्त्वों का; गुण—तथा भौतिक तत्त्वों के गुण; आशय—इच्छाओं का; ईशः—परम स्वामी।

''आप ही इस भौतिक जगत के जीवन के उद्गम होने से चर तथा अचर दोनों प्रकार के जीवों के स्वामी तथा नियन्ता हैं और उनकी चेतना को प्रेरित करते रहते हैं। आप मन और कर्म

तथा ज्ञान की इन्द्रियों को धारण करते हैं अतएव आप समस्त भौतिक तत्त्वों तथा उनके गुणों के महान् नियन्ता हैं। आप समस्त इच्छाओं के भी नियन्ता हैं।''

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट इंगित किया गया है कि प्रत्येक वस्तु का मूल स्रोत जीवन है। ब्रह्मा को परम पुरुष कृष्ण ने उपदेश दिया था। कृष्ण परम पुरुष हैं (*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*) और ब्रह्मा भी जीव हैं लेकिन ब्रह्मा के मूल स्रोत कृष्ण ही हैं। अतएव *भगवद्गीता* (७.७) में कृष्ण कहते हैं— *मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय*—''हे अर्जुन! मुझसे श्रेष्ठ सत्य कोई नहीं है।'' कृष्ण ब्रह्माजी के मूल स्रोत हैं, जो इस ब्रह्माण्ड के मूल स्रोत हैं। ब्रह्माजी कृष्ण के प्रतिनिधि हैं, अतएव कृष्ण के सारे गुण तथा कार्यकलाप ब्रह्माजी में भी पाये जाते हैं।

त्वं सप्ततन्तून्वितनोषि तन्वा
त्रय्या चतुर्होत्रकविद्यया च ।
त्वमेक आत्मात्मवतामनादि-
रनन्तपारः कविरन्तरात्मा ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; सप्त-तन्तून्—सात प्रकार के वैदिक अनुष्ठान, जिनमें पहला है अग्निष्टोम यज्ञ; वितनोषि—फैलाते हो; तन्वा—अपने शरीर से; त्रय्या—तीन वेद; चतुः-होत्रक—चार प्रकार के पुरोहित जो होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता कहलाते हैं; विद्यया—आवश्यक ज्ञान द्वारा; च—भी; त्वम्—तुम; एकः—एक; आत्मा—परमात्मा; आत्म-वताम्—सारे जीवों का; अनादिः—आदिरहित; अनन्त-पारः—अन्तहीन; कविः—परम प्रेरक; अन्तः-आत्मा—हृदय के भीतर स्थित परमात्मा।

''हे प्रभु, आप साक्षात् वेदों के रूप में तथा समस्त याज्ञिक ब्राह्मणों के कार्यकलापों से सम्बन्धित ज्ञान के द्वारा अग्निष्टोम इत्यादि सात प्रकार के यज्ञों के वैदिक अनुष्ठानों का विस्तार करते हैं। निस्सन्देह, आप याज्ञिक ब्राह्मणों को तीनों वेदों में उल्लिखित अनुष्ठानों को सम्पन्न करने के लिए प्रेरित करते हैं। समस्त जीवों की अन्तरात्मा होने से आप आदिरहित, अन्तरहित तथा सर्वज्ञ हैं, आप काल तथा देश की सीमाओं के परे हैं।''

तात्पर्य : वैदिक अनुष्ठान, उनका ज्ञान तथा उनको सम्पन्न करने वाले व्यक्ति परमात्मा द्वारा प्रेरित होते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है— *मत्तः स्मृतिर्ज्ञानपोहनं च*—भगवान् से ही स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होते हैं। परमात्मा हर एक के हृदय में स्थित हैं (*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः, ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*) और जब कोई वैदिक ज्ञान में बढ़ा-चढ़ा होता है, तो परमात्मा उसे निर्देश देते हैं। परमात्मा के रूप में कार्य करते हुए भगवान् उपयुक्त व्यक्ति को वैदिक अनुष्ठानों को

सम्पन्न करने की प्रेरणा देते हैं जिन्हें *ऋत्विक्* कहते हैं। इसके लिए चार प्रकार के पुरोहितों को इसका उल्लेख होता, *अध्वर्यु, ब्रह्मा* तथा उद्गाता के रूप में हुआ है।

त्वमेव कालोऽनिमिषो जनाना-
मायुर्लवाद्यवयवैः क्षिणोषि ।
कूटस्थ आत्मा परमेष्ठ्यजो महां-
स्त्वं जीवलोकस्य च जीव आत्मा ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम, एक ही; एव—निश्चित; कालः—अनन्त समय; अनिमिषः—बिना पलक झाँपे; जनानाम्—समस्त जीवों के; आयुः—आयु, उम्र; लव-आदि—सेकंड, पल, मिनट तथा घन्टे आदि; अवयवैः—विभिन्न भागों से; क्षिणोषि—क्षीण करते हो, घटाते हो; कूट-स्थः—किसी से प्रभावित हुए बिना; आत्मा—परमात्मा; परमेष्ठी—परमेश्वर; अजः—अजन्मा; महान्—महान; त्वम्—तुम; जीव-लोकस्य—इस भौतिक जगत का; च—भी; जीवः—जीवन का कारण; आत्मा—परमात्मा।

हे स्वामी, आप नित्य जागते रहते हैं और जो कुछ घटित होता है उसे देखते हैं। नित्य काल के रूप में आप अपने विभिन्न अंगों तथा क्षण, सेकंड, मिनट तथा घंटे से समस्त जीवों की आयु घटाते हैं फिर भी आप अपरिवर्तनशील हैं, एक ही साथ परमात्मा, साक्षी तथा अजन्मा, सर्वव्यापी नियन्ता हैं, जो समस्त जीवों के जीवन के कारण हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *कूट-स्थ* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*—भगवान् प्रत्येक व्यक्ति के हृदय के भीतर विराजमान हैं। जैसाकि उपनिषदों में *एकत्वम्* शब्द से सूचित होता है यद्यपि जीव लाखों हैं लेकिन भगवान् परमात्मा रूप में उनमें से हर एक में स्थित हैं। फिर भी वे अनेक में एक हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—*अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्*—उनके अनेक रूप हैं, किन्तु वे अद्वैत—एक तथा अपरिवर्तित हैं। चूँकि भगवान् सर्वव्यापी हैं, अतएव वे नित्य काल में भी स्थित हैं। जीवों को भगवान् का भिन्नांश कहा जाता है, क्योंकि वे सभी जीवों के जीवन तथा आत्मा हैं और उनके हृदयों में अन्तर्यामी के रूप में स्थित रहते हैं जैसी कि *अचिन्त्य भेदाभेद दर्शन* की स्थापना है। चूँकि सारे जीव ईश्वर के अंश हैं, अतः वे गुणों में उनके समान होकर भी उनसे भिन्न होते हैं। परमात्मा समस्त जीवों को क र्म करने के लिए प्रेरित करता है, वह एक है और अव्यय है। यद्यपि विषयों तथा कार्यकलापों की अनेक किस्में हैं फिर भी भगवान् एक है।

त्वत्तः परं नापरमप्यनेज-

देजच्च किञ्चिद्व्यतिरिक्तमस्ति ।
विद्याः कलास्ते तनवश्च सर्वा
हिरण्यगर्भोऽसि बृहत्त्रिपृष्ठः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

त्वत्तः—तुमसे; परम्—उच्चतर; न—नहीं; अपरम्—निम्नतर; अपि—भी; अनेजत्—अचर; एजत्—चर; च—तथा; किञ्चित्—कोई वस्तु; व्यतिरिक्तम्—पृथक्; अस्ति—है; विद्याः—विद्या, ज्ञान; कलाः—अंश; ते—तुम्हारे; तनवः—शरीर के लक्षण; च—तथा; सर्वाः—सभी; हिरण्य-गर्भः—अपने उदर में ब्रह्माण्ड को रखने वाला; असि—तुम हो; बृहत्—बड़े से बड़ा; त्रि-पृष्ठः—प्रकृति के तीन गुणों से परे।

"आपसे पृथक् कुछ भी नहीं है चाहे वह अच्छा हो या निम्नतर, अचर या चर। वैदिक वाङ्मय से यथा उपनिषदों से तथा मूल वैदिक ज्ञान के उपायों से प्राप्त ज्ञान आपके बाह्य शरीर की रचना करने वाले हैं। आप हिरण्यगर्भ अर्थात् ब्रह्माण्ड के आगार हैं, लेकिन परम नियन्ता के रूप में स्थित होने से आप तीन गुणों से युक्त भौतिक जगत से परे हैं।

तात्पर्य : *परम* शब्द का अर्थ हैं "परम कारण" तथा *अपरम्* का अर्थ है "कार्य"। परम कारण तो भगवान् हैं और भौतिक प्रकृति कार्य है। चर तथा अचर दोनों प्रकार के जीव कला एवं विज्ञान विषयक वैदिक आदेशों से नियंत्रित होते हैं, अतएव वे सभी भगवान् की बहिरंगा शक्ति के विस्तार हैं, जो परमात्मा के रूप में केन्द्रित हैं। ब्रह्माण्डों का अस्तित्व परमेश्वर के श्वसनकाल तक रहता है (*यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः*)। इस प्रकार ये ब्रह्माण्ड भी भगवान् महाविष्णु के गर्भ के भीतर रहते हैं। अतएव कुछ भी भगवान् से पृथक् नहीं है। *अचिन्त्य भेदाभेदतत्त्व* का दर्शन यही है।

व्यक्तं विभो स्थूलमिदं शरीरं
येनेन्द्रियप्राणमनोगुणांस्त्वम् ।
भुङ्क्षे स्थितो धामनि पारमेष्ठ्ये
अव्यक्त आत्मा पुरुषः पुराणः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

व्यक्तम्—प्रकट; विभो—हे प्रभु; स्थूलम्—विराट अभिव्यक्ति; इदम्—यह; शरीरम्—बाह्य शरीर; येन—जिससे; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; प्राण—प्राण; मनः—मन; गुणान्—दिव्य गुण; त्वम्—तुम; भुङ्क्षे—भोग करते हो; स्थितः—स्थित; धामनि—अपने धाम में; पारमेष्ठ्ये—परम; अव्यक्तः—सामान्य ज्ञान से प्रकट न होने वाला; आत्मा—आत्मा; पुरुषः—परम पुरुष; पुराणः—आदि, सबसे प्राचीन।

हे प्रभु, आप अपने धाम में निरन्तर स्थित रह कर अपने विराट रूप को इस विराट जगत के भीतर से विस्तारित करते हैं और इस तरह आप भौतिक जगत का आस्वादन करते प्रतीत होते हैं।

आप ब्रह्म, परमात्मा, सबसे प्राचीन ईश्वर हैं।

तात्पर्य : कहा जाता है कि परम सत्य तीन रूपों में प्रकट होता है—निराकार ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा भगवान् कृष्ण। यह विराट जगत भगवान् का स्थूल शरीर है, वे भौतिक रसों का आस्वादन अपने अंशों अर्थात् जीवों का विस्तार करके करते हैं। ये जीव गुणात्मक रूप से उनसे अभिन्न हैं। किन्तु भगवान् वैकुण्ठ लोक में स्थित हैं जहाँ वे आध्यात्मिक रसों का भोग करते हैं। अतएव एक परम सत्य भगवान् अपनी विराट अभिव्यक्ति द्वारा, अपने आध्यात्मिक ब्रह्मतेज द्वारा तथा परमेश्वर रूप में अपने साक्षात् अस्तित्व द्वारा सर्वत्र व्याप्त है।

अनन्ताव्यक्तरूपेण येनेदमखिलं ततम् ।
चिदचिच्छक्तियुक्ताय तस्मै भगवते नमः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

अनन्त-अव्यक्त-रूपेण—असीम, अप्रकट रूप द्वारा; येन—जिससे; इदम्—यह; अखिलम्—सम्पूर्ण; ततम्—विस्तारित; चित्—आध्यात्मिक; अचित्—भौतिक; शक्ति—शक्ति; युक्ताय—से युक्त; तस्मै—उस; भगवते—भगवान् को; नमः—मैं सादर नमस्कार करता हूँ।

मैं उन परमब्रह्म को नमस्कार करता हूँ जिन्होंने अपने अनन्त, अव्यक्त रूप को विराट जगत के रूप में ब्रह्माण्ड की समग्रता में विस्तार किया है। उनमें बहिरंगा शक्ति तथा अन्तरंगा शक्ति और समस्त जीवों से समन्वित मिश्रित तटस्था शक्ति पाई जाती है।

तात्पर्य : भगवान् अनन्त शक्तियों से युक्त हैं (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*) जिन्हें बहिरंगा, अन्तरंगा तथा तटस्था के रूप में संक्षेप में बताया जाता है। बहिरंगा शक्ति से यह भौतिक जगत प्रकट होता है, अन्तरंगा शक्ति से आध्यात्मिक जगत और तटस्था शक्ति से सारे जीव प्रकट होते हैं। यह तटस्था शक्ति अन्तरंगा तथा बहिरंगा शक्ति का मिश्रण है। जीव परब्रह्म का अंश होने से वास्तव में अन्तरंगा शक्ति हैं, लेकिन बहिरंगा शक्ति के सम्पर्क में होने के कारण वे भौतिक एवं आध्यात्मिक शक्तियाँ का मिश्रीत रूप हैं। भौतिक तथा आध्यात्मिक लीलाओं में लगे रहते हैं। भौतिक शक्ति उनकी लीलाओं की अभिव्यक्ति मात्र है।

यदि दास्यस्यभिमतान्वरान्मे वरदोत्तम ।
भूतेभ्यस्त्वद्विसृष्टेभ्यो मृत्युर्मा भून्मम प्रभो ॥ ३५॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; दास्यसि—दोगे; अभिमतान्—वांछित; वरान्—वर; मे—मुझको; वरद-उत्तम—हे समस्त वरदायकों में श्रेष्ठ; भूतेभ्यः—जीवों से; त्वत्—तुमसे; विसृष्टेभ्यः—उत्पन्न किये गये; मृत्युः—मृत्यु; मा—नहीं; भूत्—हो; मम—मेरे; प्रभो—हे स्वामी।

हे प्रभो, हे श्रेष्ठ वरदाता, यदि आप मुझे मेरा मनचाहा वर देना ही चाहते हैं, तो यह वर दें कि मैं आपके द्वारा उत्पन्न किसी भी जीव के द्वारा मृत्यु को प्राप्त न होऊँ।

तात्पर्य : गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से उत्पन्न होकर ब्रह्माण्ड के प्रथम जीव ब्रह्मा ने इस संसार में रहने के लिए विभिन्न प्रकार के जीव उत्पन्न किये। अतएव सृष्टि के प्रारम्भ से सारे जीव एक श्रेष्ठ जीव से उत्पन्न हुए। अन्ततोगत्वा कृष्ण ही श्रेष्ठ जीव और अन्य सबों के जनक हैं। *अहं बीजप्रद: पिता*—वे समस्त जीवों के वीर्यदाता पिता हैं।

यहाँ तक हिरण्यकशिपु ने ब्रह्माजी की पूजा भगवान् के रूप में की और वह उनके वर से अमर होने की आशा करता रहा। किन्तु अब यह समझकर कि ब्रह्मा भी अमर नहीं हैं, क्योंकि कल्पान्त के समय वे भी मर जाएँगे, हिरण्यकशिपु अत्यन्त सतर्क होकर ऐसा वर माँग रहा है, जो अमरता के ही समकक्ष है। उसका पहला प्रस्ताव है कि वह इस भौतिक जगत के भीतर ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न किसी भी प्रकार के जीव द्वारा न मारा जा सके।

नान्तर्बहिर्दिवा नक्तमन्यस्मादपि चायुधैः ।
न भूमौ नाम्बरे मृत्युर्न नरैर्न मृगैरपि ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अन्तः—भीतर (घर या महल); बहिः—घर के बाहर; दिवा—दिन के समय; नक्तम्—रात्रि के समय; अन्यस्मात्—ब्रह्मा के परे अन्य किसी से; अपि—भी; च—भी; अयुधैः—इस जगत में प्रयुक्त होने वाले किसी भी हथियार से; न—न तो; भूमौ—भूमि पर; न—नहीं; अम्बरे—आकाश में; मृत्युः—मृत्यु; न—नहीं; नरैः—किसी मनुष्य द्वारा; न—न तो; मृगैः—किसी पशु द्वारा; अपि—भी।

मुझे यह वर दें कि मैं न तो घर के अन्दर, न घर के बाहर, न दिन के समय, न रात में, न भूमि पर, न आकाश में मरूँ। मुझे वर दें कि मेरी मृत्यु न तो आपके द्वारा उत्पन्न जीवों के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा हो, न किसी हथियार से हो, न किसी मनुष्य या पशु के द्वारा हो।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु को भय था कि कहीं विष्णु उसे पशु बनकर न मारें, क्योंकि उसके भाई का वध विष्णु ने वराह का रूप धारण करके किया था। अतएव वह सभी प्रकार के पशुओं से अत्यन्त चौकन्ना रहता था, लेकिन विष्णु किसी पशु का रूप धारण किये बिना ही अपना सुदर्शन चक्र चलाकर

उसे मार सकते थे, क्योंकि यह चक्र उनकी उपस्थिति बिना भी कहीं भी जा सकता था। इसीलिए हिरण्यकशिपु सभी प्रकार के हथियारों से अपनी रक्षा के प्रति चौकन्ना था। उसने सभी प्रकार के काल तथा देशों से सावधानी बरती, क्योंकि उसे भय था कि कोई अन्य देश में उसे मार न डाले। ऊपर तथा नीचे अनेक लोक हैं, अतएव उसने ऐसे वर के लिए प्रार्थना की जिससे वह इन लोकों में से किसी के निवासी द्वारा न मारा जा सके। आदि देवता तीन हैं—ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर। हिरण्यकशिपु जानता था कि ब्रह्माजी उसे नहीं मारेंगे, किन्तु वह यह भी चाहता था कि विष्णु या महेश्वर भी उसका वध न करें। अतएव उसने ऐसे वर के लिए प्रार्थना की। इस तरह हिरण्यकशिपु ने सोचा कि वह इस ब्रह्माण्ड के भीतर किसी भी जीव के द्वारा किसी भी तरह मृत्यु को प्राप्त नहीं हो सकेगा। उसने प्राकृतिक मृत्यु के प्रति भी सावधानी बरती, क्योंकि ऐसी मृत्यु घर के भीतर या बाहर हो सकती है।

व्यसुभिर्वासुमद्भिर्वा सुरासुरमहोरगैः ।
अप्रतिद्वन्द्वतां युद्धे ऐकपत्यं च देहिनाम् ॥ ३७॥
सर्वेषां लोकपालानां महिमानं यथात्मनः ।
तपोयोगप्रभावाणां यन्न रिष्यति कर्हिचित् ॥ ३८॥

शब्दार्थ

व्यसुभिः—निर्जीव वस्तुओं द्वारा; वा—अथवा; असुमद्भिः—सजीवों द्वारा; वा—अथवा; सुर—देवताओं द्वारा; असुर—दैत्यों द्वारा; महा-उरगैः—अधोलोक में वास करने वाले बड़े-बड़े सर्पों द्वारा; अप्रतिद्वन्द्वताम्—जिसकी बराबरी करने वाला न हो; युद्धे—युद्ध में; ऐक-पत्यम्—श्रेष्ठता; च—तथा; देहिनाम्—भौतिक शरीरधारियों के ऊपर; सर्वेषाम्—सभी; लोक-पालानाम्—समस्त लोकों के प्रधान देवताओं का; महिमानम्—यश; यथा—जिस तरह; आत्मनः—आपका; तपः-योग-प्रभावाणाम्—उन सबों का जिन्हें तपस्या तथा योगाभ्यास द्वारा शक्ति प्राप्त होती है; यत्—जो; न—कभी नहीं; रिष्यति—नष्ट होती है; कर्हिचित्—कभी भी।

आप मुझे वर दें कि किसी सजीव या निर्जीव प्राणी द्वारा मेरी मृत्यु न हो। मुझे यह भी वर दें कि मैं किसी देवता या असुर द्वारा या अधोलोकों के किसी बड़े सर्प द्वारा न मारा जाऊँ। चूँकि आपको युद्धभूमि में कोई मार नहीं सकता इसलिए आपका कोई प्रतिद्वन्द्वी भी नहीं है। इसी प्रकार आप मुझे यह भी वर दें कि मेरा भी कोई प्रतिद्वन्द्वी न हो। मुझे सारे जीवों तथा लोकपालों का एकछत्र स्वामित्व प्रदान करें और उस पद से प्राप्त होने वाला समस्त यश दें। साथ ही मुझे लम्बी तपस्या तथा योगाभ्यास से प्राप्त होने वाली सारी योग शक्तियाँ दें, क्योंकि ये कभी भी विनष्ट नहीं हो सकतीं।

तात्पर्य : ब्रह्माजी को अपना श्रेष्ठ पद लम्बी तपस्या, योग, ध्यान आदि से प्राप्त हुआ था।

हिरण्यकशिपु ऐसा ही पद चाहता था। योग, तपस्या तथा अन्य विधियों से प्राप्त सामान्य शक्तियाँ कभी-कभी नष्ट हो जाती हैं, लेकिन भगवान् की कृपा से प्राप्त होने वाली शक्तियाँ कभी नष्ट नहीं होतीं। अतएव हिरण्यकशिपु ऐसा वर चाहता था, जो कभी समाप्त न हो।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सातवें स्कंध के अन्तर्गत ''अमर बनने की हिरण्यकशिपु की योजना'' नामक तीसरे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चार

ब्रह्माण्ड में हिरण्यकशिपु का आतंक

इस अध्याय में पूरी तरह बताया गया है कि हिरण्यकशिपु ने किस तरह ब्रह्माजी से शक्ति प्राप्त की और फिर किस तरह इस ब्रह्माण्ड के समस्त जीवों को तंग करने में उसका दुरुपयोग किया।

हिरण्यकशिपु ने कठोर तपस्या द्वारा ब्रह्माजी को प्रसन्न करके मनवांछित वर प्राप्त किये। इन वरों के प्राप्त होते ही उसका शरीर जो प्राय: पूरी तरह विनष्ट हो चुका था पूर्ण सौन्दर्य तथा स्वर्ण जैसी कान्ति से चैतन्य हो उठा। इतने पर भी वह भगवान् विष्णु से ईर्ष्या करता रहा और अपने भाई के वध को भुला नहीं पाया। उसने दशों दिशाएँ तथा तीनों लोक जीत लिए और देवताओं तथा असुरों समेत सभी जीवो को अपने वश में कर लिया। वह इन्द्र को उसके निवास से भगाकर सारे स्थानों का स्वामी बन गया और अत्यन्त विलासमय जीवन बिताने लगा अत: वह प्रमत्त हो उठा। भगवान् विष्णु, ब्रह्मा तथा शिवजी के अतिरिक्त सारे देवता उसके अधीन होकर उसकी सेवा करने लगे, किन्तु इतनी भौतिक शक्ति के बावजूद वह असुन्तष्ट था, क्योंकि वह वैदिक नियमों का उल्लंघन करने से गर्वित और फूला हुआ था। सारे ब्राह्मण उससे असन्तुष्ट थे और वे संकल्प करके उसे शाप देते थे। अन्ततोगत्वा ब्रह्माण्ड के सारे जीवों ने, जिनमें देवता तथा ऋषि भी थे, हिरण्यकशिपु के शासन से मुक्ति पाने के लिए परमेश्वर से प्रार्थना की।

भगवान् विष्णु ने देवताओं को बताया कि उन्हें तथा अन्य जीवों को हिरण्यकशिपु द्वारा उत्पन्न भयाक्रान्त परिस्थितियों से बचाया जाएगा। चूँकि हिरण्यकशिपु सारे देवताओं, वेदों के अनुयायियों, गायों, ब्राह्मणों तथा धार्मिक साधु पुरुषों का उत्पीड़क था और चूँकि वह परमेश्वर से द्वेष रखता था,

अतएव शीघ्र ही उसका वध किया जाएगा। हिरण्यकशिपु का अन्तिम कारनामा होगा अपने ही पुत्र प्रह्लाद को सताना जो एक महाभागवत परम वैष्णव थे। तब उसके जीवन का अन्त होगा। जब भगवान् ने देवताओं को इस तह आश्वस्त कर दिया तो हर एक प्राणी यह जानकर प्रसन्न हुआ कि शीघ्र ही हिरण्यकशिपु के कारण ढाये जानेवाले दुखों का अन्त हो जाएगा।

अन्त में नारद मुनि हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद महाराज के गुणों का वर्णन करते हैं और बतलाते हैं कि किस प्रकार एक पिता अपने ही योग्य पुत्र से ईर्ष्या करता है। इस प्रकार अध्याय का अन्त होता है।

श्रीनारद उवाच

एवं वृतः शतधृतिर्हिरण्यकशिपोरथ ।
प्रादात्तत्तपसा प्रीतो वरांस्तस्य सुदुर्लभान् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने आगे कहा; एवम्—इस प्रकार; वृतः—याचना की; शत-धृतिः—ब्रह्माजी ने; हिरण्यकशिपोः—हिरण्यकशिपु की; अथ—तब; प्रादात्—प्रदान किया; तत्—उसकी; तपसा—कठिन तपस्या से; प्रीतः—प्रसन्न होकर; वरान्—वरों को; तस्य—हिरण्यकशिपु को; सु-दुर्लभान्—अत्यन्त अप्राप्य।

नारद मुनि ने कहा : ब्रह्माजी हिरण्यकशिपु की दुष्कर तपस्या से अत्यन्त प्रसन्न थे। अतएव जब उसने उनसे वर माँगे तो उन्होंने निस्सन्देह वे दुर्लभ वर प्रदान कर दिये।

श्रीब्रह्मोवाच

तातेमे दुर्लभाः पुंसां यान्वृणीषे वरान्मम ।
तथापि वितराम्यङ्ग वरान्यद्यपि दुर्लभान् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; तात—हे पुत्र; इमे—ये सभी; दुर्लभाः—बहुत कम प्राप्त होने वाले; पुंसाम्—मनुष्यों को; यान्—जो; वृणीषे—तुम माँगते हो; वरान्—वरों को; मम—मुझसे; तथापि—फिर भी; वितरामि—मैं तुम्हें प्रदान करूँगा; अङ्ग—हे हिरण्यकशिपु; वरान्—वरों को; यद्यपि—यद्यपि; दुर्लभान्—सामान्यतया प्राप्त न होने वाले।

ब्रह्माजी ने कहा : हे हिरण्यकशिपु, तुमने जो वर माँगे हैं, वे अधिकांश मनुष्यों को बड़ी कठिनाई से प्राप्त हो पाते हैं। हे पुत्र, यद्यपि ये वर सामान्यतया उपलब्ध नहीं हो पाते, तथापि मैं तुम्हें प्रदान करूँगा।

तात्पर्य : भौतिक वर सही रूप में वर कहलाने योग्य नहीं होते। यदि किसी को अधिकाधिक वर मिलें तो ऐसा वर स्वयं में शाप बन सकता है, क्योंकि इस जगत में जिस तरह भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त

करने के लिए अत्यधिक शक्ति तथा प्रयास की आवश्यकता पड़ती है उसी तरह उसे बनाये रखने के लिए प्रयास की आवश्यकता पड़ती है। ब्रह्माजी ने हिरण्यकशिपु को बताया कि वे उसे उसके द्वारा माँगे वर दे तो रहे हैं, लेकिन उन्हें निभा पाना अत्यन्त कठिन होगा। फिर भी चूँकि ब्रह्मा ने वचन दिया था, अतएव वे उसके माँगे गये सारे वर दे देना चाहते थे। *दुर्लभान्* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य को चाहिए कि ऐसा वर न ले जिसे शान्तिपूर्वक भोगा न जा सके।

ततो जगाम भगवानमोघानुग्रहो विभुः ।
पूजितोऽसुरवर्येण स्तूयमानः प्रजेश्वरैः ॥ ३॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; जगाम—चले गये; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान, ब्रह्माजी; अमोघ—न चूकने वाले; अनुग्रहः—जिसका वर; विभुः—इस ब्रह्माण्ड में सर्वश्रेष्ठ; पूजितः—पूजित होकर; असुर-वर्येण—अत्यन्त सम्माननीय असुर हिरण्यकशिपु द्वारा; स्तूयमानः—प्रशंसित होकर; प्रजा-ईश्वरैः—अनेक देवताओं द्वारा, जो विभिन्न क्षेत्रों के स्वामी हैं।.

तब अमोघ वर देने वाले ब्रह्माजी दैत्यों में श्रेष्ठ हिरण्यकशिपु द्वारा पूजित तथा महर्षियों एवं साधु पुरुषों द्वारा प्रशंसित होकर वहाँ से विदा हो गये।

एवं लब्धवरो दैत्यो बिभ्रद्धेममयं वपुः ।
भगवत्यकरोद्द्वेषं भ्रातुर्वधमनुस्मरन् ॥ ४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; लब्ध-वरः—वांछित वरदान पाकर; दैत्यः—हिरण्यकशिपु; बिभ्रत्—प्राप्त करके; हेम-मयम्—सोने की कान्ति वाला; वपुः—शरीर; भगवति—भगवान् विष्णु के प्रति; अकरोत्—निभाया; द्वेषम्—ईर्ष्या; भ्रातुः वधम्—अपने भाई के वध को; अनुस्मरन्—सदैव सोचते हुए।.

इस प्रकार बह्मा जी से आशीष पाकर तथा कान्तियुक्त स्वर्णिम देह पाकर असुर हिरण्यकशिपु अपने भाई के वध का स्मरण करता रहा जिससे वह भगवान् विष्णु का ईर्ष्यालु बना रहा।

तात्पर्य : आसुरी मनुष्य इस ब्रह्माण्ड में प्राप्त होने योग्य सारे ऐश्वर्यों को प्राप्त करने के बाद भी भगवान् का ईर्ष्यालु बना रहता है।

स विजित्य दिशः सर्वा लोकांश्च त्रीन्महासुरः ।
देवासुरमनुष्येन्द्रगन्धर्वगरुडोरगान् ॥ ५॥
सिद्धचारणविद्याध्रानृषीन्पितृपतीन्मनून् ।

यक्षरक्ष:पिशाचेशान्प्रेतभूतपतीनपि ॥ ६ ॥
सर्वसत्त्वपतीञ्जित्वा वशमानीय विश्वजित् ।
जहार लोकपालानां स्थानानि सह तेजसा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (हिरण्यकशिपु); विजित्य—जीतकर; दिशः—दिशाएँ; सर्वाः—सभी; लोकान्—लोकों को; च—भी; त्रीन्—तीन (उच्च, मध्य तथा निम्न); महा-असुरः—महान् दैत्य; देव—देवतागण; असुर—असुरगण; मनुष्य—मनुष्यों के; इन्द्र—राजा; गन्धर्व—गन्धर्वगण; गरुड—गरुड़; उरगान्—बड़े-बड़े सर्पों को; सिद्ध—सिद्ध; चारण—चारण; विद्याध्रान्—विद्याधरों को; ऋषीन्—ऋषियों तथा साधु पुरुषों को; पितृ-पतीन्—यमराज तथा पितरों के अन्य नायकों को; मनून्—सारे मनुओं को; यक्ष—यक्षगण; रक्षः—राक्षसगण; पिशाच-ईशान्—पिशाच लोक के नायकों; प्रेत—प्रेतों; भूत—तथा भूतों के; पतीन्—स्वामियों को; अपि—भी; सर्व-सत्त्व-पतीन्—विभिन्न लोकों के स्वामियों को; जित्वा—जीतकर; वशम् आनीय—वश में करके; विश्व-जित्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का विजेता; जहार—अधीन कर लिया; लोक-पालानाम्—उन देवताओं का जो विश्व का कार्य सँभालते हैं; स्थानानि—स्थान; सह—सहित; तेजसा—उनकी सारी शक्ति।

हिरण्यकशिपु समग्र ब्रह्माण्ड का विजेता बन गया। इस महान् असुर ने तीनों लोकों—उच्च, मध्य तथा निम्न लोकों को जीत लिया जिसमें मनुष्यों, गन्धर्वों, गरुड़ों, महासर्पों, चारणों, विद्याधरों, महामुनियों, यमराजों, मनुष्यों, यक्षों, पिशाचों तथा उनके स्वामियों एवं भूत-प्रेतों के स्वामियों के लोक सम्मिलित थे। उसने उन सारे अन्य लोकों के शासकों को भी हरा दिया जहाँ-जहाँ जीव रहते थे और उन्हें अपने वश में कर लिया। सबों के निवासों को जीतकर उसने उनकी शक्ति तथा उनके प्रभाव को छीन लिया।

तात्पर्य : इस श्लोक में *गरुड़* शब्द यह सूचित करता है कि गरुड़ जैसे विशाल पक्षियों के भी लोक थे। इसी प्रकार *उरग* शब्द इंगित करता है कि विशाल सर्पों के भी लोक हैं। ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों का ऐसा वर्णन आधुनिक विज्ञानियों के लिए चुनौती स्वरूप है, जो यह सोचते हैं कि इस धरा लोक को छोड़कर सारे लोक शून्य हैं। विज्ञानी दावा करते हैं कि उन्होंने चन्द्र लोक की यात्राएँ की हैं जहाँ उन्हें कोई जीव नहीं मिले, केवल धूल तथा पत्थर के विशाल खड्ड मिले हैं, यद्यपि चन्द्रमा इतना चमकीला है कि समग्र ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करने में सूर्य की तरह काम करता है। निस्सन्देह, आधुनिक विज्ञानियों को ब्रह्माण्ड विषयक वैदिक जानकारी के प्रति आश्वस्त कर पाना सम्भव नहीं है। तो भी हम विज्ञानियों की इन बातों से अत्यधिक प्रभावित नहीं हैं कि अन्य सारे लोक शून्य हैं और केवल पृथ्वी ही जीवों से पूर्ण है।

देवोद्यानश्रिया जुष्टमध्यास्ते स्म त्रिपिष्टपम् ।
महेन्द्रभवनं साक्षान्निर्मितं विश्वकर्मणा ।

त्रैलोक्यलक्ष्म्यायतनमध्युवासाखिलर्द्धिमत् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

देव-उद्यान—देवताओं के प्रसिद्ध बगीचों का; श्रिया—ऐश्वर्य से; जुष्टम्—समृद्ध; अध्यास्ते स्म—रहता रहा; त्रि-पिष्टपम्—स्वर्ग लोक जहाँ देवतागण निवास करते हैं; महेन्द्र-भवनम्—स्वर्ग के राजा इन्द्र का महल; साक्षात्—प्रत्यक्ष; निर्मितम्—बनाया हुआ; विश्वकर्मणा—देवताओं के प्रसिद्ध शिल्पी विश्वकर्मा द्वारा; त्रैलोक्य—तीनों लोकों का; लक्ष्मी-आयतनम्—सम्पत्ति की देवी का निवास; अध्युवास—निवास करती थीं; अखिल-ऋद्धि-मत्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के ऐश्वर्य सहित।

समस्त ऐश्वर्य से युक्त हिरण्यकशिपु स्वर्ग के सुप्रसिद्ध नन्दन उद्यान में रहने लगा, जिसका भोग देवता करते हैं। वस्तुतः वह स्वर्ग के राजा इन्द्र के अत्यन्त ऐश्वर्यशाली महल में रहने लगा। इस महल को देवताओं के शिल्पी साक्षात् विश्वकर्मा ने निर्मित किया था और इसे इतने सुन्दर ढंग से बनाया गया था मानो सम्पूर्ण विश्व की लक्ष्मी वहीं निवास कर रही हो।

तात्पर्य : इस वर्णन से प्रतीत होता है कि उच्च लोक के सारे स्वर्ग लोक निम्न लोकों की तुलना में, जिसमें हम वास करते हैं, सैकड़ों गुना अधिक समृद्ध हैं। सुप्रसिद्ध स्वर्ग का शिल्पी विश्वकर्मा उच्च लोकों में अनेक अद्भुत इमारतें बनाने के लिए प्रसिद्ध है जहाँ न केवल सुन्दर इमारते हैं, अपितु अनेक ऐश्वर्यशाली उद्यान तथा पार्क हैं जिन्हें *नन्दन-देवोद्यान* कहा जाता है अर्थात् वे जो देवताओं द्वारा भोगे जाने के सर्वथा उपयुक्त हैं। उच्च लोकों तथा उनके ऐश्वर्यों के इस वर्णन को वैदिक वाङ्मय जैसे प्रामाणिक साहित्य से समझा जा सकता है। उच्च लोकों का मूल्यांकन करने के लिए दूरबीन तथा अन्य अपूर्ण यंत्र अपर्याप्त होंगे। चूँकि तथाकथित विज्ञानियों की दृष्टि अपूर्ण है, अतएव ऐसे यंत्रों की आवश्यकता पड़ेगी, लेकिन ये यंत्र स्वयं भी अपूर्ण हैं। अतएव अधूरे व्यक्तियों द्वारा मानव निर्मित अपूर्ण यंत्रों की सहायता से उच्चलोकों का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। किन्तु वैदिक वाङ्मय से प्राप्त प्रत्यक्ष ज्ञान पूर्ण है। अतएव हम इस कथन को स्वीकार नहीं कर सकते कि इस पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य लोकों में ऐश्वर्यशाली निवास स्थान नहीं हैं।

यत्र विद्रुमसोपाना महामारकता भुवः ।
यत्र स्फाटिककुड्यानि वैदूर्यस्तम्भपङ्क्तयः ॥ ९ ॥
यत्र चित्रवितानानि पद्मरागासनानि च ।
पयःफेननिभाः शय्या मुक्तादामपरिच्छदाः ॥ १० ॥
कूजद्भिर्नूपुरैर्देव्यः शब्दयन्त्य इतस्ततः ।
रत्नस्थलीषु पश्यन्ति सुदतीः सुन्दरं मुखम् ॥ ११ ॥

तस्मिन्महेन्द्रभवने महाबलो

महामना निर्जितलोक एकराट् ।
रेमेऽभिवन्द्याङ्घ्रियुगः सुरादिभिः
प्रतापितैरूर्जितचण्डशासनः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ (इन्द्र के आवास में); विद्रुम-सोपानाः—मूँगे की सीढ़ियाँ; महा-मारकताः—मरकत; भुवः—फर्श; यत्र—जहाँ; स्फाटिक—स्फटिक, क्रिस्टल की; कुड्यानि—दीवालें; वैदूर्य—वैदूर्य मणि के; स्तम्भ—ख भों की; पङ्क्तयः—कतारें; यत्र—जहाँ; चित्र—अद्भुत; वितानानि—चँदोवे; पद्मराग—मणियों से जड़े; आसनानि—आसन, बैठने के स्थान; च—भी; पयः—दूध का; फेन—झाग; निभाः—के सदृश; शय्याः—सेज, बिछौने; मुक्तादाम—मोतियों के; परिच्छदाः—किनारे वाले; कूजद्भिः—खनकती हुई; नूपुरैः—घुंघुरुओं से; देव्यः—दैवी स्त्रियाँ; शब्द-यन्त्यः—मधुर ध्वनि करती हुई; इतः ततः—इधर उधर; रत्न-स्थलीषु—रत्नों से जटित स्थानों में; पश्यन्ति—देखती हैं; सु-दतीः—सुन्दर दाँतों वाली; सुन्दरम्—सुन्दर; मुखम्—मुँह; तस्मिन्—उसमें; महेन्द्र-भवने—स्वर्ग के राजा के रिहायशी मकान में; महा-बलः—अत्यन्त शक्तिशाली; महा-मनाः—अत्यधिक विचारवान; निर्जित-लोकः—सबों को वश में रखने वाला; एक-राट्—शक्तिशाली तानाशाह; रेमे—भोग किया; अभिवन्द्य—पूजित; अङ्घ्रि-युगः—जिसके दोनों पैर; सुर-आदिभिः—देवताओं द्वारा; प्रतापितैः—उद्विग्न होकर; ऊर्जित—आशा से अधिक; चण्ड—कठिन; शासनः—जिसका शासन।

राजा इन्द्र के आवास की सीढ़ियाँ मूँगे की थीं, फर्श अमूल्य पन्ने से जटित था, दीवालें स्फटिक की थीं और ख भे वैदूर्य मणि के थे। उसके अद्भुत वितान सुन्दर ढंग से सजाये गये थे, आसन मणियों से जटित थे और झाग के सदृश श्वेत रेशमी बिछौने मोतियों से सजाये गये थे। वे महल में इधर-उधर घूम रही थीं, उनके घुँघुरुओं से मधुर झनकार निकल रही थी और वे रत्नों में अपने सुन्दर प्रतिबिम्ब देख रही थीं। किन्तु अत्यधिक सताये गये देवताओं को हिरण्यकशिपु के चरणों पर सिर झुकाना पड़ता था, क्योंकि उसने देवताओं को अकारण ही दण्डित कर रखा था। इस प्रकार हिरण्यकशिपु उस महल में रह रहा था और सबों पर कठोरता से शासन कर रहा था।

तात्पर्य : स्वर्ग लोक में हिरण्यकशिपु इतना शक्तिशाली हो गया था कि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव को छोड़कर शेष सारे देवताओं को उसकी सेवा करनी पड़ती थी। निस्सन्देह, वे अत्यधिक भयभीत रहते थे कि आज्ञा-उल्लंघन करने पर उन्हें कठोर दण्ड दिया जाएगा। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने हिरण्यकशिपु की तुलना महाराज वेन से की है, क्योंकि वह भी नास्तिक था और वेदवर्णित अनुष्ठानों का उपहास करता था। तो भी महाराज वेन भृगु जैसे कुछ महर्षियों से डरता था, किन्तु हिरण्यकशिपु इस प्रकार राज्य कर रहा था जिसमें विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव के अतिरिक्त सभी भयभीत थे। हिरण्यकशिपु भृगु जैसे महर्षियों की क्रोधाग्नि से भस्म होने से इतना सतर्क रहता था कि उसने अपनी तपस्या के बल पर उन्हें पिछाड़ दिया था और अपने अधीन कर रखा था। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वर्ग लोक में भी, जहाँ लोग

पुण्यकर्म करने के बाद ही जाते हैं, हिरण्यकशिपु जैसे असुरों के द्वारा उपद्रव किये जाते हैं। तीनों लोकों में कोई ऐसा नहीं जो बिना उपद्रव के सुख-शान्ति से रह सकता हो।

तमङ्ग मत्तं मधुनोरुगन्धिना
विवृत्तताम्राक्षमशेषधिष्ण्यपाः ।
उपासतोपायनपाणिभिर्विना
त्रिभिस्तपोयोगबलौजसां पदम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (हिरण्यकशिपु को); अङ्ग—हे राजा; मत्तम्—मतवाला; मधुना—सुरा से; उरु-गन्धिना—तीक्ष्ण गन्ध वाली; विवृत्त—चढ़ी हुई; ताम्र-अक्षम्—ताँबे जैसी आँखों वाला; अशेष-धिष्ण्य-पाः—समस्त लोकों के प्रमुख व्यक्तियों ने; उपासत—पूजा की; उपायन—साज सामान से युक्त; पाणिभिः—अपने अपने हाथों से; विना—बिना, रहित; त्रिभिः—तीन प्रमुख देवता (विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव); तपः—तपस्या; योग—योग शक्ति; बल—शारीरिक शक्ति; ओजसाम्—इन्द्रियों की शक्ति; पदम्—धाम।

हे राजा, हिरण्यकशिपु सदा ही तीक्ष्ण गन्ध वाली सुरा पिये रहता था, अतएव उसकी ताम्र जैसी (लाल) आँखें सदैव चढ़ी रहती थीं। फिर भी चूँकि उसने योग की महान् तपस्या की थी और यद्यपि वह निन्दनीय था, किन्तु तीन देवताओं-ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु—के अतिरिक्त सारे देवता अपने-अपने हाथों में विविध भेंटें लेकर उसे प्रसन्न करने के लिए उसकी सेवा करते थे।

तात्पर्य : *स्कन्द पुराण* में वर्णन आया है—*उपायनं ददुः सर्वे विना देवान् हिरण्यकः।* हिरण्यकशिपु इतना शक्तिशाली था कि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव—इन तीन देवों के अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति उसकी सेवा में लगा रहता था। मध्वाचार्य कहते हैं—*आदित्या वसवोरुद्रास्त्रिविधा हि सुरा यतः।* देवता तीन प्रकार के हैं—आदित्य, वसु तथा रुद्र, जिनके नीचे अन्य सारे देवता यथा मरुत तथा साध्य हैं। (*मरुतश्चैव विश्वे च साध्याश्चैव च तद्गताः*) अतएव सारे देवता *त्रिपिष्टप* कहलाते हैं और वही *त्रि* शब्द ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के लिए भी प्रयुक्त होता है।

जगुर्महेन्द्रासनमोजसा स्थितं
विश्वावसुस्तुम्बुरुरस्मदादयः ।
गन्धर्वसिद्धा ऋषयोऽस्तुवन्मुहु-
र्विद्याधराश्चाप्सरसश्च पाण्डव ॥ १४॥

शब्दार्थ

जगुः—यश गान किया; महेन्द्र-आसनम्—राजा इन्द्र का सिंहासन; ओजसा—निजी शक्ति से; स्थितम्—स्थित; विश्वावसुः—गन्धर्वों का मुख्य गायक; तुम्बुरुः—अन्य गन्धर्व गायक; अस्मत्-आदयः—हम सहित (नारद तथा अन्यों ने भी हिरण्यकशिपु

का यशोगान किया); गन्धर्व—गन्धर्व लोक के वासी; सिद्धाः—सिद्ध लोक के वासी; ऋषयः—बड़े-बड़े ऋषि तथा साधु पुरुष; अस्तुवन्—स्तुतियाँ कीं; मुहुः—पुनःपुनः; विद्याधराः—विद्याधर लोक के वासी; च—तथा; अप्सरसः—अप्सर लोक के वासी; च—तथा; पाण्डव—हे पाण्डु के वंशज।

हे पाण्डु के वंशज महाराज युधिष्ठिर, हिरण्यकशिपु ने राजा इन्द्र के सिंहासन पर आसीन होकर अपने निजी बल से अन्य सारे लोकों के निवासियों को वश में किया। विश्वावसु तथा तुम्बुरु नामक दो गन्धर्व, मैं तथा विद्याधर, अप्सराएँ एवं साधुओं ने उसका यशोगन करने के लिए बारम्बार उसकी स्तुतियाँ कीं।

तात्पर्य : कभी-कभी असुरगण इतने शक्तिशाली हो उठते हैं कि नारद मुनि तथा उन्हीं जैसे भक्तों भी अपनी सेवा में लगा सकते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता कि नारद हिरण्यकशिपु के अधीन थे। किन्तु कभी-कभी इस जगत में ऐसा हो जाता है कि महापुरुष, यहाँ तक कि बड़े-बड़े भक्त भी, असुरों द्वारा नियंत्रित हो सकते हैं।

स एव वर्णाश्रमिभिः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
इज्यमानो हविर्भागानग्रहीत्स्वेन तेजसा ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (हिरण्यकशिपु); एव—निस्सन्देह; वर्ण-आश्रमिभिः—चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के विधि-विधानों को कड़ाई से पालने वाले व्यक्तियों द्वारा; क्रतुभिः—अनुष्ठानों द्वारा; भूरि—प्रचुर; दक्षिणैः—दक्षिणा से; इज्यमानः—पूजित होकर; हविः-भागान्—आहुति का अंश; अग्रहीत्—छीन लेता; स्वेन—अपने; तेजसा—तेज से।

वर्णाश्रम धर्म का पालन करने वाले पुरुष बड़ी-बड़ी दक्षिणा वाले यज्ञ करके उसकी पूजा करते, तो वह यज्ञों की आहुतियाँ देवताओं को न देकर स्वयं ले लेता था।

अकृष्टपच्या तस्यासीत्सप्तद्वीपवती मही ।
तथा कामदुघा गावो नानाश्चर्यपदं नभः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अकृष्ट-पच्या—बिना जोते बोये अन्न देने वाली; तस्य—हिरण्यकशिपु के; आसीत्—थी; सप्त-द्वीप-वती—सात द्वीपों वाली; मही—पृथ्वी; तथा—उसी तरह; काम-दुघाः—इच्छानुसार दूध देने वाली; गावः—गायें; नाना—विविध; आश्चर्य-पदम्—अनोखी वस्तुएँ; नभः—आकाश।

ऐसा प्रतीत होता है मानों सात द्वीपों वाली पृथ्वी हिरण्यकशिपु के भय से, बिना जोते बोये ही अन्न प्रदान करती थी। इस प्रकार यह वैकुण्ठ लोक की सुरभि या स्वर्गलोक की कामदुधा गायों के समान थी। पृथ्वी पर्याप्त अन्न प्रदान करती, गाएँ प्रचुर दूध देतीं तथा आकाश अनोखी घटनाओं से सुसज्जित रहता था।

रत्नाकराश्च रत्नौघांस्तत्पत्न्यश्चोहुरूर्मिभिः ।
क्षारसीधुघृतक्षौद्रदधिक्षीरामृतोदकाः ॥ १७॥

शब्दार्थ

रत्नाकराः—समुद्र; च—तथा; रत्न-ओघान्—विविध प्रकार के मूल्यवान मणि; तत्-पत्न्यः—समुद्रों की पत्नियाँ अर्थात् नदियाँ; च—भी; ऊहुः—ले जाती थीं; ऊर्मिभिः—अपनी-अपनी लहरों से; क्षार—खारा समुद्र; सीधु—सुरा सागर; घृत—घी का सागर; क्षौद्र—ईख रस का सागर, इक्षु सागर; दधि—दही का सागर; क्षीर—दूध का सागर; अमृत—तथा अत्यन्त मीठा सागर; उदकाः—जल।

ब्रह्माण्ड के विविध सागर अपनी पत्नियों स्वरूप नदियों तथा उनकी सहायक नदियों की लहरों से हिरण्यकशिपु के उपयोग हेतु विविध प्रकार के रत्नों की पूर्ति करते थे। ये सागर लवण, इक्षु, सुरा, घृत, दुग्ध, दही तथा मीठे जल के थे।

तात्पर्य : जैसाकि हम सबों को अनुभव है, इस लोक के समुद्रों का पानी खारा है किन्तु इस ब्रह्माण्ड के अन्य लोकों के समुद्र इक्षु, सुरा, घी, दुग्ध तथा मीठे जल के हैं। नदियों की तुलना अलंकारिक भाषा में समुद्रों की पत्नियों से की गई है, क्योंकि सारी नदियाँ समुद्रों में उसी तरह बहकर जाती हैं जिस प्रकार पत्नियाँ अपने पतियों पर आसक्त रहती हैं। आधुनिक विज्ञानी अन्य लोकों की सैर के प्रयास करते हैं, लेकिन उन्हें इसकी कोई जानकारी नहीं है कि ब्रह्माण्ड के भीतर कितने प्रकार के समुद्र हैं। उनके अनुभव के अनुसार चन्द्रमा धूल से पूर्ण है, किन्तु इससे इसकी व्याख्या नहीं हो पाती कि लाखों मील दूर रह कर भी चन्द्रमा किस प्रकार शीतल किरणें प्रदान करता हैं। जहाँ तक हमारी बात है, हम तो व्यासदेव तथा शुकदेव गोस्वामी को प्रमाण मानते हैं जिन्होंने वैदिक साहित्य के अनुसार विश्व की स्थिति का वर्णन किया है। ये विद्वान उन आधुनिक विज्ञानियों से भिन्न मत रखते हैं, जो अपने अपूर्ण ऐन्द्रिय अनुभव से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इसी लोक में जीव रहते हैं और अन्य लोक या तो शून्य हैं या धूल से भरे हैं।

शैला द्रोणीभिराक्रीडं सर्वर्तुषु गुणान्द्रुमाः ।
दधार लोकपालानामेक एव पृथग्गुणान् ॥ १८॥

शब्दार्थ

शैलाः—पर्वत तथा पहाड़ियाँ; द्रोणीभिः—बीच की घाटियों सहित; आक्रीडम्—हिरण्यकशिपु की क्रीड़ा स्थली; सर्व—सभी; ऋतुषु—सभी ऋतुओं में; गुणान्—विभिन्न प्रकार के गुण (फल तथा फूल); द्रुमाः—पौधे; दधार—सम्पन्न किया; लोक-पालानाम्—विभिन्न विभागों के लिए अध्यक्ष; एकः—अकेला; एव—निस्सन्देह; पृथक्—भिन्न; गुणान्—गुण।

पर्वतों के मध्य की घाटियाँ हिरण्यकशिपु की क्रीड़ास्थली बन गईं जिसके प्रभाव से सभी

पौधे सभी ऋतुओं में प्रभूत फूल तथा फल देने लगे। जल वृष्टि कराना, सुखाना तथा जलाना जो विश्व के तीन विभागाध्यक्षों इन्द्र, वायु तथा अग्नि के गुण हैं, वे अब देवताओं की सहायता के बिना अकेले हिरण्यकशिपु द्वारा निर्देशित होने लगे।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है—*तेजोवारिमृदां यथा विनिमयः*—यह भौतिक जगत अग्नि, जल तथा पृथ्वी के द्वारा संचालित है और ये सब मिलकर आकार ग्रहण करते हैं। यहाँ इसका उल्लेख हुआ है कि तीन प्रकार के गुण (*पृथग् गुणान्*) पृथक्-पृथक् देवताओं के निर्देशन में काम करते हैं। उदाहरणार्थ, इन्द्र पर जलवृष्टि का भार है, वायुदेवता वायु को वश में करके जल को सुखाता है और अग्नि देवता प्रत्येक वस्तु को जलाता है। किन्तु हिरण्यकशिपु अपने योगबल से इतना शक्तिशाली बन गया था कि उसने देवताओं से किसी प्रकार की सहायता लिए बिना अकेले ही सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया।

स इत्थं निर्जितककुबेकराड्विषयान्प्रियान् ।
यथोपजोषं भुञ्जानो नातृप्यदजितेन्द्रियः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने (हिरण्यकशिपु); इत्थम्—इस प्रकार; निर्जित—जीत लीं; ककुप्—सारी दिशाएँ; एक-राट्—एकछत्र सम्राट; विषयान्—इन्द्रियविषयों को; प्रियान्—अत्यन्त प्रिय; यथा-उपजोषम्—यथासम्भव; भुञ्जानः—भोग करते हुए; न—नहीं; अतृप्यत्—सन्तुष्ट था; अजित-इन्द्रियः—इन्द्रियों को वश में न कर सकने के कारण।

समस्त दिशाओं को वश में करने की शक्ति प्राप्त करके तथा यथासम्भव सभी प्रकार की इन्द्रिय-तृप्ति का भोग करने के बावजूद हिरण्यकशिपु असन्तुष्ट रहा, क्योंकि वह अपनी इन्द्रियों को वश में करने के बजाय उनका दास बना रहा।

तात्पर्य : यह आसुरी जीवन का एक उदाहरण है। भले ही नास्तिक लोग भौतिक दृष्टि से प्रगति कर लें और इन्द्रियों के लिए अत्यन्त सुखमय परिस्थिति उत्पन्न कर लें, किन्तु इन्द्रियों के वशीभूत होने के कारण वे कभी तुष्ट नहीं होते। यह आधुनिक सभ्यता का प्रभाव है। भौतिकतावादी व्यक्ति धन तथा स्त्रियों का भोग करने में बहुत आगे बढ़े रहते हैं फिर भी मानव समाज में असन्तोष व्याप्त रहता है, क्योंकि कृष्णभावनामृत के बिना मानव समाज कभी सुखी एवं शान्त नहीं रह सकता। जहाँ तक इन्द्रियतृप्ति का प्रश्न है, भौतिकतावादी अपने भोग को अपनी कल्पना भर बढ़ाते जा सकते हैं, किन्तु ऐसी भौतिक स्थिति में लोग अपनी इन्द्रियों के दास बने रहते हैं, अतएव वे तुष्ट नहीं रह सकते।

हिरण्यकशिपु मानवता की इस असन्तुष्ट दशा का ज्वलन्त उदाहरण था।

एवमैश्वर्यमत्तस्य दृप्तस्योच्छास्त्रवर्तिनः ।
कालो महान्व्यतीयाय ब्रह्मशापमुपेयुषः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; ऐश्वर्य-मत्तस्य—ऐश्वर्य से मदान्ध रहने वाले का; दृप्तस्य—अत्यन्त गर्वित; उत्-शास्त्र-वर्तिनः—शास्त्रों में वर्णित विधि-विधानों का उल्लंघन करते हुए; कालः—अवधि; महान्—महान; व्यतीयाय—बिता दिया; ब्रह्म-शापम्—प्रतिष्ठित ब्राह्मणों का श्राप; उपेयुषः—प्राप्त करके।

इस प्रकार अपने ऐश्वर्य से अत्यधिक गर्वित एवं प्रामाणिक शास्त्रों के विधि-विधानों का उल्लंघन करते हुए हिरण्यकशिपु ने काफी समय बिताया। अतएव उसे चार कुमारों ने, जो कि प्रतिष्ठित ब्राह्मण थे, शाप दे दिया।

तात्पर्य : ऐसे अनेक दृष्टान्त प्राप्त हैं जब ऐश्वर्य प्राप्त करने के बाद असुर इतने गर्वीले हो उठे कि उन्होंने प्रामाणिक शास्त्रों में दिये गये नियमों का उल्लंघन किया। हिरण्यकशिपु ने यही किया। जैसाकि *भगवद्गीता* (१६.२३) में कहा गया है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

"जो व्यक्ति आध्यात्मिक आदेशों की अवज्ञा करता है और स्वेच्छा से कर्म करता है उसे न तो सिद्धि प्राप्त होती है, न सुख, न ही परम गति प्राप्त हो पाती है।" *शास्त्र* शब्द हमारे कार्यकलापों को नियंत्रित करने वाले के रूप में आया है। हम शास्त्रों में उल्लिखित नियमों तथा विधि-विधानों का अतिक्रमण या उल्लंघन नहीं कर सकते। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में बारम्बार मिलती है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

"मनुष्य को चाहिए कि शास्त्रों के नियमों द्वारा जाने कि क्या कर्तव्य है और क्या नहीं है। ऐसे विधि-विधानों को जानकर मनुष्य को चाहिए कि कर्म करे जिससे उसका क्रमिक उत्थान हो सके।" (*भगवद्गीता* १६.२४) मनुष्य को शास्त्रों के निर्देशानुसार कर्म करना चाहिए, किन्तु माया इतनी प्रबल है कि ज्योंही कोई ऐश्वर्यवान् बन जाता है कि त्योंही शास्त्रीय नियमों का उल्लंघन करने लगता है। किन्तु वह ज्योंही इस तरह उल्लंघन करता है त्योंहि कि उसके विनाश का मार्ग खुल जाता है।

तस्योग्रदण्डसंविग्नाः सर्वे लोकाः सपालकाः ।
अन्यत्रालब्धशरणाः शरणं ययुरच्युतम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसकी (हिरण्यकशिपु की); उग्र-दण्ड—अत्यन्त भयावह ताड़ना से; संविग्नाः—विचलित; सर्वे—सभी; लोकाः—सारे लोक; स-पालकाः—अपने प्रधान शासकों सहित; अन्यत्र—अन्य कहीं; अलब्ध—न प्राप्त करके; शरणाः—शरण; शरणम्—शरण के लिए; ययुः—पास आये; अच्युतम्—भगवान् के।

हिरण्यकशिपु द्वारा दिये गये कठोर दण्ड से सभी व्यक्ति, यहाँ तक कि विभिन्न लोकों के शासक भी, अत्यधिक पीड़ित थे। वे अत्यन्त भयभीत तथा उद्विग्न होकर और अन्य किसी की शरण न पा सकने के कारण अन्ततः भगवान् विष्णु की शरण में आये।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (५.२९) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

"मुनिगण मुझे समस्त यज्ञों तथा तपस्याओं का चरम प्रयोजन, समस्त लोकों तथा देवताओं का परमेश्वर तथा समस्त जीवों का उपकारी तथा शुभचिन्तक जानकर भौतिक यातनाओं से शान्ति-लाभ करते हैं।" भगवान् कृष्ण वस्तुतः हर एक के श्रेष्ठ मित्र हैं। विपत्ति या दुख में शुभचिन्तक मित्र की खोज की जाती है और ऐसे ही परम शुभचिन्तक भगवान् श्रीकृष्ण हैं। अतएव विभिन्न लोकों के सारे निवासी अन्य कोई शरण न पाकर अपने परम मित्र के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने के लिए बाध्य हो गए। यदि हम प्रारम्भ से ही परम मित्र की शरण खोजते रहें तो किसी प्रकार के भय का कोई कारण नहीं उठता। कहा गया है कि यदि जल में तैरते हुए कुत्ते की पूँछ पकड़ कर कोई व्यक्ति समुद्र पार करना चाहे तो वह निस्सन्देह मूर्ख है। इसी प्रकार विपत्ति के समय जो व्यक्ति देवताओं की शरण में जाता है, वह मूर्ख है, क्योंकि उसके सारे प्रयास व्यर्थ होंगे। हर परिस्थिति में मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की शरण ग्रहण करे। तब किसी प्रकार का भय नहीं रहेगा।

तस्यै नमोऽस्तु काष्ठायै यत्रात्मा हरिरीश्वरः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते शान्ताः सन्न्यासिनोऽमलाः ॥ २२ ॥
इति ते संयतात्मानः समाहितधियोऽमलाः ।
उपतस्थुर्हृषीकेशं विनिद्रा वायुभोजनाः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तस्यै—उस; नमः—हमारा सादर नमस्कार; अस्तु—हो; काष्ठायै—दिशा को; यत्र—जहाँ; आत्मा—परमात्मा; हरिः—भगवान्; ईश्वरः—परम नियन्ता; यत्—जो; गत्वा—जाकर; न—कभी नहीं; निवर्तन्ते—लौटते हैं; शान्ताः—शान्त; सन्न्यासिनः—संन्यासीगण; अमलाः—शुद्ध; इति—इस प्रकार; ते—वे; संयत-आत्मानः—मनों को वश में करके; समाहित—सुस्थिर; धियः—बुद्धि; अमलाः—शुद्ध की गई; उपतस्थुः—पूजा की; हृषीकेशम्—इन्द्रियों के स्वामी की; विनिद्राः—बिना सोये; वायु-भोजनाः—केवल वायु ले कर।

"हम उस दिशा को सादर नमस्कार करते हैं जहाँ भगवान् स्थित हैं, जहाँ संन्यास आश्रम में रहने वाले विशुद्ध आत्मा महान् साधु पुरुष जाते हैं और जहाँ जाकर वे फिर कभी नहीं लौटते।" बिना सोये, अपने मनों को पूर्णतया वश में करके तथा केवल अपनी श्वास पर जीवित रहकर विभिन्न लोकपालों ने इस ध्यान से हृषीकेश की पूजा करनी प्रारम्भ की।

तात्पर्य : *तस्यै काष्ठायै*—ये दो शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् अपने ब्रह्म तथा परमात्मा रूप में सर्वत्र, प्रत्येक दिशा में, प्रत्येक हृदय में तथा प्रत्येक परमाणु में विद्यमान हैं। तो फिर *तस्यै काष्ठायै*—"उस दिशा में जहाँ हरि स्थित हैं" कहने का क्या प्रयोजन है ? हिरण्यकशिपु के काल में उसका प्रभाव सर्वत्र था, किन्तु उसका प्रभाव उन स्थानों पर न था जहाँ भगवान् ने लीलाएँ की थीं। उदाहरणार्थ, इस पृथ्वी लोक में वृन्दावन या अयोध्या जैसे स्थान हैं, जिन्हें *धाम* कहा जाता है। *धामों* में कलियुग का या किसी असुर का प्रभाव नहीं रहता। यदि कोई ऐसे धाम में आश्रय ग्रहण करता है, तो भगवान् की पूजा करना सुगम होती है और आध्यात्मिक उन्नति भी जल्दी होती है। वास्तव में आज भी कोई व्यक्ति भारत में वृन्दावन तथा ऐसे ही अन्य स्थानों में जाकर तुरन्त ही आध्यात्मिक कर्मों का फल प्राप्त कर सकता है।

तेषामाविरभूद्वाणी अरूपा मेघनिःस्वना ।
सन्नादयन्ती ककुभः साधूनामभयङ्करी ॥ २४॥

शब्दार्थ

तेषाम्—सबों के समक्ष; आविरभूत्—प्रकट हुई; वाणी—आवाज; अरूपा—रूपविहीन; मेघ-निःस्वना—बादल की सी ध्वनि करती; सन्नादयन्ती—कम्पन उत्पन्न करती; ककुभः—सभी दिशाएँ; साधूनाम्—साधु पुरुषों की; अभयङ्करी—अभय करने वाली।

तब उन सबों के समक्ष दिव्य वाणी प्रकट हुई जो भौतिक नेत्रों से अदृश्य पुरुष से निकली थी। यह वाणी मेघ की ध्वनि के समान गम्भीर थी और यह अत्यन्त प्रोत्साहन देने वाली तथा सभी प्रकार का भय भगाने वाली थी।

मा भैष्ट विबुधश्रेष्ठाः सर्वेषां भद्रमस्तु वः ।
मद्दर्शनं हि भूतानां सर्वश्रेयोपपत्तये ॥ २५ ॥

ज्ञातमेतस्य दौरात्म्यं दैतेयापसदस्य यत् ।
तस्य शान्तिं करिष्यामि कालं तावत्प्रतीक्षत ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

मा—मत; भैष्ट—डरो; विबुध-श्रेष्ठाः—हे श्रेष्ठ विद्वान पुरुषों; सर्वेषाम्—सबों का; भद्रम्—कल्याण करना, जो पूर्ण सत्य है; अस्तु—हो; वः—तुम्हारा; मत्-दर्शनम्—मेरा दर्शन (मेरी प्रार्थना या मेरा श्रवण करना, जो पूर्ण सत्य है); हि—निस्सन्देह; भूतानाम्—समस्त जीवों का; सर्व-श्रेय—समस्त कल्याण की; उपपत्तये—प्राप्ति के लिए; ज्ञातम्—ज्ञात; एतस्य—इसका; दौरात्म्यम्—दुष्कर्म; दैतेय-अपसदस्य—महान् असुर हिरण्यकशिपु का; यत्—जो; तस्य—उसकी; शान्तिम्—समाप्ति; करिष्यामि—करूँगा; कालम्—काल, समय की; तावत्—तब तक; प्रतीक्षत—प्रतीक्षा करो।

भगवान् की वाणी इस प्रकार गुंजायमान हुई—"हे परम श्रेष्ठ विद्वानो, डरो मत। तुम सब का कल्याण हो। तुम सभी मेरे श्रवण तथा कीर्तन द्वारा एवं मेरी स्तुति से मेरे भक्त बनो, क्योंकि इन सब का उद्देश्य सभी जीवों को आशीष देना है। मैं हिरण्यकशिपु के कार्यकलापों से परिचित हूँ और मैं उन्हें शीघ्र ही रोक दूँगा। तब तक तुम मेरी धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करो।

तात्पर्य : कभी-कभी लोग ईश्वर के दर्शन के लिए अत्यधिक उत्सुक रहते हैं। इस श्लोक में आगत *मद्दर्शनम्* शब्द पर विचार करते हुए यह ध्यान देना होगा कि *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं *भक्त्या मामभिजानाति।* दूसरे शब्दों में, भगवान् को समझने या उनका दर्शन करने अथवा उनसे बातें करने की सामर्थ्य मनुष्य की भक्ति सम्बन्धी प्रगति पर निर्भर करती है। भक्ति के नौ प्रकार के विभिन्न कार्य-कलाप होते हैं—*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।* चूँकि ये भक्ति-कार्य श्रेष्ठ होते हैं, अतएव मन्दिर में अर्चाविग्रह की पूजा करने, उनका दर्शन करने एवं उनके गुणगान करने में कोई आधारभूत अन्तर नहीं। निस्सन्देह, ये सभी विधियाँ हैं उनके दर्शन की, क्योंकि भक्ति में किया गया प्रत्येक कार्य भगवान् से प्रत्यक्ष सम्पर्क का साधन होता है। भगवान् की वाणी की गूँज समस्त भक्तों के समक्ष प्रकट हुई अतः इस वाणी को उच्चारित करने वाला व्यक्ति यद्यपि अदृश्य था, तो भी वे भगवान् से भेंट कर रहे थे या उनका दर्शन कर रहे थे, क्योंकि वे सभी स्तुति कर रहे थे और भगवान् की वाणी विद्यमान थी। भौतिक जगत के नियमों से सर्वथा विपरीत भगवान् के दर्शन करने, उनकी स्तुति करने तथा उनकी दिव्य वाणी सुनने में कोई अन्तर नहीं होता। अतएव शुद्ध भक्त भगवान् की महिमा का गायन करके ही पूर्णरूपेण प्रसन्न रहते हैं। ऐसा

महिमा-गायन *कीर्तन* कहलाता है। कीर्तन करना और हरे कृष्ण ध्वनि का श्रवण वास्तव में भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। मनुष्य को इस स्थिति का अनुभव करना चाहिए। तभी वह भगवान् के कार्यकलापों की परम प्रकृति को समझ सकेगा।

यदा देवेषु वेदेषु गोषु विप्रेषु साधुषु ।
धर्मे मयि च विद्वेषः स वा आशु विनश्यति ॥ २७॥

शब्दार्थ

यदा—जब; देवेषु—देवताओं में; वेदेषु—वेदों में; गोषु—गायों में; विप्रेषु—ब्राह्मणों में; साधुषु—साधु पुरुषों में; धर्मे—धार्मिक नियमों में; मयि—मुझ भगवान् में; च—तथा; विद्वेषः—ईर्ष्यालु; सः—ऐसा व्यक्ति; वै—निस्सन्देह; आशु—शीघ्र ही; विनश्यति—विनष्ट हो जाता है।.

जब कोई व्यक्ति भगवान् के प्रतिनिधि देवताओं, समस्त ज्ञान के दाता वेदों, गायों, ब्राह्मणों, वैष्णवों, धार्मिक सिद्धान्तों तथा अन्ततः मुझ भगवान् से ईर्ष्या करता है, तो वह तथा उसकी सभ्यता दोनों अविलम्ब नष्ट हो जाएंगी।

निर्वैराय प्रशान्ताय स्वसुताय महात्मने ।
प्रह्लादाय यदा द्रुह्येद्धनिष्येऽपि वरोर्जितम् ॥ २८॥

शब्दार्थ

निर्वैराय—शत्रुहीन; प्रशान्ताय—अत्यन्त गम्भीर तथा शान्त; स्व-सुताय—अपने ही पुत्र को; महा-आत्मने—महान् भक्त; प्रह्लादाय—प्रह्लाद महाराज को; यदा—जब; द्रुह्येत्—सतायेगा; हनिष्ये—मैं मारूँगा; अपि—यद्यपि; वर-ऊर्जितम्—ब्रह्मा द्वारा वर प्राप्त।.

जब हिरण्यकशिपु अपने ही पुत्र परम भक्त प्रह्लाद को सतायेगा, जो अत्यन्त शान्त, गम्भीर तथा शत्रुरहित है, तो मैं ब्रह्मा के समस्त वरों के होते हुए भी उसका तुरन्त ही वध कर दूँगा।

तात्पर्य : समस्त पापों में सबसे घोर पाप है शुद्ध भक्त या वैष्णव के प्रति अपराध। एक वैष्णव के चरणकमलों पर किया गया अपराध इतना घातक होता है कि श्री चैतन्य महाप्रभु ने इसकी तुलना उस प्रमत्त हाथी से की है, जो उद्यान में घुस कर अनेक पौधों तथा वृक्षों को उखाड़ कर अत्यन्त उपद्रव मचा देता है। यदि कोई किसी ब्राह्मण या वैष्णव के चरणकमलों के प्रति अपराधी है, तो उसके अपराध उसके समस्त पुण्यकर्मों का उच्छेद कर देते हैं। अतएव मनुष्य को सतर्क रहना चाहिए कि *वैष्णव-अपराध* न हो। यहाँ पर भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि यद्यपि हिरण्यकशिपु को ब्रह्माजी से वरदान प्राप्त थे, किन्तु उसने ज्योंही अपने पुत्र प्रह्लाद महाराज के चरणकमलों पर अपराध किया कि उसके

सारे वरदान व्यर्थ हो जाएंगे। यहाँ पर प्रह्लाद महाराज जैसे वैष्णव को *निर्वैर* अर्थात् शत्रुविहीन बतलाया गया है। *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र (३.२५.२१) कहा गया है कि *अजातशत्रव: शान्ता: साधव: साधुभूषणा:*—भक्त के कोई शत्रु नहीं होता, वह शान्त होता है, वह शास्त्रों के आदेशों का पालन करता है और उसके सभी व्यवहार शुद्ध होते हैं, वह शत्रुता मोल नहीं लेता, किन्तु यदि कोई उसका शत्रु बनता है, तो भगवान् उसका संहार कर देगें चाहे उसे कहीं से कितने ही वरदान क्यों न प्राप्त हों। निश्चय ही हिरण्यकशिपु अपनी तपस्या के फलों को भोग रहा था, किन्तु यहाँ पर भगवान् कहते हैं कि वह ज्योंही प्रह्लाद महाराज के चरणकमलों पर अपराध करेगा कि उसका विनाश कर दिया जाएगा। अपने पुण्यों के परिणामस्वरूप किसी की दीर्घायु, ऐश्वर्य, सौन्दर्य, शिक्षा तथा उसकी सम्पत्ति उसकी रक्षा नहीं कर सकते यदि वह वैष्णव के चरणकमलों पर अपराध करता है। सब कुछ होते हुए भी यदि कोई किसी वैष्णव के चरणकमलों पर अपराध करता है, तो वह विनष्ट हो जाएगा।

श्रीनारद उवाच

इत्युक्ता लोकगुरुणा तं प्रणम्य दिवौकसः ।
न्यवर्तन्त गतोद्वेगा मेनिरे चासुरं हतम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—परम साधु नारद मुनि ने कहा; इति—इस प्रकार; उक्ताः—सम्बोधित; लोक-गुरुणा—सबों के परम गुरु द्वारा; तम्—उसको; प्रणम्य—प्रणाम करके; दिवौकसः—सारे देवता; न्यवर्तन्त—लौट गये; गत-उद्वेगाः—सारी चिन्ताओं से मुक्त; मेनिरे—उन्होंने विचार किया; च—भी; असुरम्—असुर (हिरण्यकशिपु) को; हतम्—मारा हुआ।

परम साधु नारद मुनि ने आगे कहा : जब सबों के गुरु भगवान् ने स्वर्ग में रहने वाले सभी देवताओं को इस तरह आश्वस्त कर दिया तो उन सबों ने उन्हें प्रणाम किया और विश्वस्त होकर लौट आये कि अब तो हिरण्यकशिपु एक तरह से मर चुका है।

तात्पर्य : वे अल्पबुद्धि लोग जो सदैव देवताओं की ही पूजा में व्यस्त रहते हैं उन्हें यह ध्यान देना चाहिए कि जब जब देवताओं को असुर सताते हैं तब तब वे अपनी रक्षा के लिए भगवान् के पास पहुँचते हैं। जब देवतागण भगवान् के पास जाते हैं, तो फिर देवताओं के वे पूजक अपनी वाञ्छित कामनाओं के लिए परमेश्वर के पास क्यों नहीं जाते? *श्रीमद्भागवत* (२.३.१०) में कहा गया है—

अकाम: सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी: ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

"कोई कुछ चाहे या कुछ भी न चाहे अथवा भगवान् से तादात्म्य चाहे, वह तभी बुद्धिमान कहलाता है जब वह दिव्य प्रेमाभक्ति द्वारा भगवान् की पूजा करता है। चाहे कोई कर्मी हो, अथवा ज्ञानी या योगी, यदि वह किसी विशेष वर की पूर्ति चाहता है भले ही वर भौतिक क्यों न हो तो उसे भगवान् के पास जाकर प्रार्थना करनी चाहिए क्योंकि तब उसकी पूर्ति होगी। किसी भी इच्छा-पूर्ति के लिए किसी देवता के पास अलग से जाने की आवश्यकता नहीं।"

तस्य दैत्यपतेः पुत्राश्चत्वारः परमाद्भुताः ।
प्रह्लादोऽभून्महांस्तेषां गुणैर्महदुपासकः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तस्य—उस (हिरण्यकशिपु); दैत्य-पतेः—दैत्यों के राजा के; पुत्राः—पुत्रगण; चत्वारः—चार; परम-अद्भुताः—अत्यन्त योग्य तथा अद्भुत; प्रह्लादः—प्रह्लाद नामक; अभूत्—था; महान्—सबसे बड़ा; तेषाम्—उनमें से; गुणैः—दिव्य गुणों के कारण; महत्-उपासकः—भगवान् का अनन्य भक्त होने के कारण।

हिरण्यकशिपु के चार अद्भुत सुयोग्य पुत्र थे जिसमें से प्रह्लाद नामक पुत्र सर्वश्रेष्ठ था। निस्सन्देह प्रह्लाद समस्त दिव्य गुणों की खान थे, क्योंकि वे भगवान् के अनन्य भक्त थे।

तात्पर्य : *यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः*—जिसकी कृष्ण पर अविचल भक्तिमयी निष्ठा है, उसमें कृष्ण तथा देवताओं के सारे गुण निरन्तर प्रकट होते हैं (*भागवत* ५.१८.१२)। यहाँ पर समस्त सद्गुणों की खान प्रह्लाद महाराज की प्रशंसा उनके द्वारा भगवान् के पूजन के कारण की गई। अतएव ऐसे शुद्ध भक्त में जो निष्काम होता है समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक सद्गुण पाये जाते हैं। यदि कोई कट्टर किन्तु उदार भगवद्भक्त होने के कारण आध्यात्म में बढ़ा-चढ़ा होता है, तो उसके शरीर में सारे सद्गुण प्रकट हो जाते हैं। दूसरी ओर, *हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणाः*—यदि कोई भक्त नहीं है, तो उसमें जो कुछ भौतिक सद्गुण होते हैं, वे भी व्यर्थ होते हैं। यह वेदों का निर्णय है।

ब्रह्मण्यः शीलसम्पन्नः सत्यसन्धो जितेन्द्रियः ।
आत्मवत्सर्वभूतानामेकप्रियसुहृत्तमः ।
दासवत्सन्नतार्याङ्घ्रिः पितृवद्दीनवत्सलः ॥ ३१ ॥
भ्रातृवत्सदृशे स्निग्धो गुरुष्वीश्वरभावनः ।
विद्यार्थरूपजन्माढ्यो मानस्तम्भविवर्जितः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मण्यः—अच्छे ब्राह्मण के समान सुसंस्कृत; शील-सम्पन्नः—समस्त सद्गुणों से युक्त; सत्य-सन्धः—परम सत्य को जानने के लिए कृतसंकल्प; जित-इन्द्रियः—इन्द्रियों तथा मन को पूरी तरह वश में करते हुए; आत्म-वत्—परमात्मा के समान; सर्व-भूतानाम्—समस्त जीवों का; एक-प्रिय—एकमात्र प्यारा; सुहृत्-तमः—सर्वश्रेष्ठ मित्र; दास-वत्—नीच सेवक की तरह; सन्नत—सदैव आज्ञाकारी; आर्य-अङ्घ्रिः—महान् पुरुषों के चरणकमलों पर; पितृ-वत्—पिता के ही समान; दीन-वत्सलः—गरीबों पर दयालु; भ्रातृ-वत्—भाई के ही समान; सदृशे—अपने समान वालों को; स्निग्धः—अत्यन्त प्यारा; गुरुषु—गुरुओं में; ईश्वर-भावनः—भगवान् के समान मानने वाला; विद्या—शिक्षा; अर्थ—धन; रूप—सौन्दर्य; जन्म—कुलीनता; आढ्यः—से सम्पन्न; मान—गर्व; स्तम्भ—अविवेक से; विवर्जितः—पूर्णतया मुक्त।

[यहाँ पर हिरण्यकशिपु के पुत्र महाराज प्रह्लाद के गुणों का उल्लेख हुआ है] वे योग्य ब्राह्मण के रूप में पूर्णतया संस्कृत, सच्चरित्र तथा परम सत्य को समझने के लिए दृढ़संकल्प थे। उन्हें अपनी इन्द्रियों तथा मन पर पूर्ण संयम था। परमात्मा की भाँति वे प्रत्येक जीव के प्रति दयालु थे और हर एक के श्रेष्ठ मित्र थे। वे सम्मानित व्यक्ति के साथ दास की भाँति व्यवहार करते थे, गरीबों के वे पिता तुल्य थे और समानधर्माओं के प्रति वे दयालु भ्राता की तरह अनुरक्त रहने वाले तथा अपने गुरुओं तथा पुराने गुरुभाइयों को भगवान् की तरह मानने वाले थे। वे उस बनावटी गर्व (मान) से पूरी तरह मुक्त थे, जो उनकी अच्छी शिक्षा, धन, सौन्दर्य व उच्च जन्म के कारण संभव था।

तात्पर्य : ये वैष्णव के कतिपय गुण हैं। वैष्णव स्वतः ब्राह्मण होता है क्योंकि उसमें ब्राह्मण के सारे गुण पाये जाते हैं—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

''शान्ति, आत्मसंयम, तपस्या, शुद्धता, सहिष्णुता, निर्व्याजता या साधुता, बुद्धि, ज्ञान तथा धार्मिकता—ये गुण हैं जिनसे ब्राह्मण कार्य करता है।'' (*भगवद्गीता* १८.४२) ये सारे गुण वैष्णव के शरीर में प्रकट होते हैं। अतएव पूर्ण वैष्णव एक पूर्ण ब्राह्मण भी होता है जैसाकि *ब्रह्मण्यः शीलसम्पन्नः* शब्दों से प्रकट होता है। वैष्णव परम सत्य को समझने के लिए कृतसंकल्प रहता है और परम सत्य को समझने के लिए मनुष्य में अपनी इन्द्रियों तथा मन पर पूरा संयम होना चाहिए। प्रह्लाद महाराज में ये सारे गुण थे। वैष्णव सदैव सबों का शुभेच्छु होता है। उदाहरणार्थ, छह गोस्वामियों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—*धीराधीरजनप्रियौ।* वे भद्र तथा अभद्र के बीच लोकप्रिय थे। वैष्णव हर एक के लिए समभाव होता है, चाहे उसकी स्थिति कुछ भी क्यों न हो। *आत्मवत्*—वैष्णव को परमात्मा की

तरह होना चाहिए। *ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।* निस्सन्देह, परमात्मा को किसी से घृणा नहीं होती। वह एक ब्राह्मण के हृदय में भी वास करता है और एक शूकर के भी हृदय में। जिस प्रकार चन्द्रमा चण्डाल के घर में अपनी मनोहर किरणें प्रसारित करने से इनकार नहीं करता उसी प्रकार एक वैष्णव किसी के भी कल्याण के लिए कर्म करने से इन्कार नहीं करता। अतएव वैष्णव अपने गुरु (आर्य) के प्रति सदैव आज्ञाकारी होता है। *आर्य* शब्द ज्ञान में बढ़े-चढ़े व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है। जिसमें ज्ञान का अभाव है, वह *आर्य* नहीं कहला सकता। किन्तु इस समय तो *आर्य* शब्द का उपयोग नास्तिकों के लिए प्रयुक्त होता है। कलियुग की यही दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है।

गुरु शब्द उस आध्यात्मिक स्वामी को बताता है, जो अपने भक्त को कृष्ण के विज्ञान में अथवा कृष्णभावनामृत में दीक्षित करता है, जैसाकि श्रील विश्वनाथ ठाकुर ने बताया है (*श्री भगवान्-मन्त्रोपदेशके गुरावित्यर्थः*)।

नोद्विग्नचित्तो व्यसनेषु निःस्पृहः
श्रुतेषु दृष्टेषु गुणेष्ववस्तुदृक् ।
दान्तेन्द्रियप्राणशरीरधीः सदा
प्रशान्तकामो रहितासुरोऽसुरः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; उद्विग्न—विचलित; चित्तः—जिसकी चेतना; व्यसनेषु—कठिन परिस्थितियों में; निःस्पृहः—इच्छारहित; श्रुतेषु—सुनी हुई बातों में (विशेषतया पुण्यकर्मों के कारण स्वर्ग लोक को उत्थान); दृष्टेषु—साथ ही क्षणिक दृश्य वस्तुओं में; गुणेषु—भौतिक प्रकृति के गुणों के अन्तर्गत इन्द्रियतृप्ति वाले विषयों में; अवस्तु-दृक्—देखते हुए मानो असार हों; दान्त—नियमित करते हुए; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; प्राण—सजीव शक्ति; शरीर—शरीर; धीः—तथा बुद्धि; सदा—सदैव; प्रशान्त—शान्त किया गया; कामः—जिसकी भौतिक इच्छाओं से; रहित—पूर्णतया विहीन; असुरः—आसुरी प्रकृति; असुरः—यद्यपि असुर वंश में उत्पन्न।.

यद्यपि प्रह्लाद महाराज का जन्म असुर वंश में हुआ था, किन्तु वे स्वयं असुर न होकर भगवान् विष्णु के परम भक्त थे। अन्य असुरों की तरह वे कभी भी वैष्णवों से ईर्ष्या नहीं करते थे। कठिन परिस्थिति आने पर वे कभी क्षुब्ध नहीं होते थे और वेदों में वर्णित सकाम कर्मों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भी रुचि नहीं लेते थे। निस्सन्देह, वे हर भौतिक वस्तु को व्यर्थ मानते थे; इसलिए वे भौतिक इच्छाओं से पूर्णतया रहित थे। वे सदैव अपनी इन्द्रियों तथा प्राणवायु पर संयम रखते थे। स्थिरबुद्धि तथा संकल्पमय होने के कारण उन्होंने सारी विषय-वासनाओं का दमन कर लिया था।

तात्पर्य : इस श्लोक से पता चलता है कि कोई मनुष्य केवल जन्म के कारण योग्य अथवा अयोग्य नहीं होता। प्रह्लाद महाराज जन्म से असुर थे फिर भी उनमें पूर्ण ब्राह्मण के सारे गुण पाये जाते थे (*ब्रह्मण्य: शीलसम्पन्न:*)। कोई भी व्यक्ति गुरु के निर्देशन के अन्तर्गत पूर्णतया योग्य बन सकता है। प्रह्लाद महाराज इसका ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि किस प्रकार गुरु का चिन्तन करके उनके आदेशों को शान्तिपूर्वक ग्रहण किया जाये।

यस्मिन्महद्गुणा राजन्गृह्यन्ते कविभिर्मुहुः ।
न तेऽधुना पिधीयन्ते यथा भगवतीश्वरे ॥ ३४॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; महत्-गुणाः—उच्च दिव्य गुण; राजन्—हे राजा; गृह्यन्ते—यशोगान किया जाता है; कविभिः—विचारवान् तथा ज्ञानी पुरुषों द्वारा; मुहुः—सदैव; न—नहीं; ते—वे; अधुना—आजकल; पिधीयन्ते—अदृश्य हो जाते हैं; यथा—जिस तरह; भगवति—भगवान् में; ईश्वरे—परम नियन्ता में।

हे राजा, आज भी प्रह्लाद महाराज के सद्गुणों का यशोगान विद्वान सन्तों तथा वैष्णवों द्वारा किया जाता है। जिस तरह सारे सद्गुण सदैव भगवान् में विद्यमान रहते हैं उसी प्रकार वे उनके भक्त प्रह्लाद महाराज में भी सदैव पाये जाते हैं।

तात्पर्य : प्रामाणिक शास्त्र से पता चलता है कि प्रह्लाद महाराज अब भी वैकुण्ठलोक के साथ-साथ इसी भौतिक जगत में रहते हैं। एक साथ विभिन्न स्थानों में रहने का यह दिव्य गुण भगवान् की दूसरी योग्यता है। *गोलोक एव निवसत्यखिलात्म-भूताः*—यद्यपि भगवान् हर एक के हृदय में प्रकट होते हैं, तो भी वे अपने निजी लोक गोलोक वृन्दावन में रहते हैं। भक्त अपनी अनन्य भक्ति के कारण भगवान् जैसे ही गुण प्राप्त कर लेता है। सामान्य जीव इतने योग्य नहीं हो सकते, किन्तु एक भक्त पूरी तरह नहीं परंतु अंशतः भगवान् की ही तरह योग्य हो सकता है।

यं साधुगाथासदसि रिपवोऽपि सुरा नृप ।
प्रतिमानं प्रकुर्वन्ति किमुतान्ये भवादृशाः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको; साधु-गाथा-सदसि—ऐसे सभा में जहाँ साधु पुरुष एकत्र होते हैं या उच्च लक्षणों (गुणों) की व्याख्या होती है; रिपवः—ऐसे व्यक्ति जो प्रह्लाद महाराज के शत्रु माने गये (प्रह्लाद जैसे भक्त के भी शत्रु थे जिसमें उनका पिता तक सम्मिलित था); अपि—भी; सुराः—देवतागण (जो असुरों के शत्रु हैं और चूँकि प्रह्लाद महाराज असुर वंश में जन्मे थे अतएव देवताओं को उनका शत्रु होना चाहिए); नृप—हे राजा युधिष्ठिर; प्रतिमानम्—भक्तों में सर्वश्रेष्ठ के उदाहरणरूप; प्रकुर्वन्ति—वे करते हैं; किम् उत—उनके विषय में क्या कहा जाये; अन्ये—दूसरे; भवादृशाः—आपके समान महापुरुष।

हे राजा युधिष्ठिर, किसी भी सभा में जहाँ सन्तों तथा भक्तों की चर्चाएँ चलती हैं वहाँ पर असुरों के शत्रु देवतागण तक प्रह्लाद महाराज को परम भक्त के रूप में उदाहृत करते हैं। आपका तो कहना ही क्या जो प्रह्लाद महाराज का उदाहरण सदा देते रहते हैं।

गुणैरलमसङ्ख्येयैर्माहात्म्यं तस्य सूच्यते ।
वासुदेवे भगवति यस्य नैसर्गिकी रतिः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

गुणैः—आध्यात्मिक गुणों से युक्त; अलम्—क्या आवश्यकता है; असङ्ख्येयैः—जो असंख्य हैं; माहात्म्यम्—महानता; तस्य—उसकी (प्रह्लाद महाराज की); सूच्यते—सूचित किया जाता है; वासुदेवे—भगवान् कृष्ण में जो वसुदेव के पुत्र हैं; भगवति—भगवान्; यस्य—जिसकी; नैसर्गिकी—प्राकृतिक; रतिः—आसक्ति।

भला ऐसा कौन है, जो प्रह्लाद महाराज के असंख्य दिव्य गुणों के नाम गिना सके? उनको वासुदेव भगवान् श्री कृष्ण (वसुदेव के पुत्र) में अविचल श्रद्धा एवं अनन्य भक्ति थी। भगवान् कृष्ण के प्रति उनकी अनुरक्ति अपनी पूर्व भक्ति के कारण स्वाभाविक थी। यद्यपि उनके सद्गुणों की गणना नहीं की जा सकती, किन्तु उनसे सिद्ध होता है कि वे महात्मा थे।

तात्पर्य : दशावतारों की स्तुति में जयदेव गोस्वामी कहते हैं—*केशव धृतनरहरिरूप जय जगदीश हरे।* प्रह्लाद महाराज भगवान् नृसिंह के भक्त थे, जो केशव या साक्षात् कृष्ण हैं। अतएव इस श्लोक में *वासुदेव भगवति* शब्द का यह अर्थ लेना चाहिए कि नृसिंह देव के प्रति प्रह्लाद महाराज की अनुरक्ति वसुदेव के पुत्र वासुदेव श्रीकृष्ण के प्रति अनुरक्ति थी। इसलिए प्रह्लाद महाराज को *महात्मा* कहा गया है। जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* (७.१९) में स्वयं पुष्टि की है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

"अनेक जन्मों के बाद जो वास्तव में ज्ञानी है, वह मेरी शरण में आता है और मुझे ही समस्त कारणों के कारण रूप में जानता है। ऐसे महात्मा अत्यन्त दुर्लभ हैं।" वसुदेव के पुत्र कृष्ण का महान् भक्त महात्मा होता है, जिसको ढूँढ़ पाना अत्यन्त दुर्लभ है। अगले श्लोक में कृष्ण के प्रति प्रह्लाद महाराज की आसक्ति का वर्णन किया जाएगा। उनका हृदय सदैव कृष्ण के विचारों से पूर्ण रहता था। अतएव प्रह्लाद महाराज कृष्णभावनामृत के आदर्श भक्त हैं।

न्यस्तक्रीडनको बालो जडवत्तन्मनस्तया ।
कृष्णग्रहगृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

न्यस्त—त्याग करके; क्रीडनकः—सभी प्रकार के खेल-कूद या बचपन में खेल की प्रवृत्ति; बालः—बालक; जड-वत्—आलसी की तरह बिना किसी गतिविधि के; तत्-मनस्तया—कृष्ण में पूर्णतया लीन होने से; कृष्ण-ग्रह—कृष्ण के द्वारा जो कि प्रबल प्रभाव के तुल्य (ग्रह के समान) हैं; गृहीत-आत्मा—जिसका मन पूर्णतया आकृष्ट है; न—नहीं; वेद—समझ पाया; जगत्—सम्पूर्ण भौतिक जगत; ईदृशम्—इस तरह का।.

अपने बाल्यकाल के प्रारम्भ से ही प्रह्लाद महाराज को बालकों के खेल-कूद में अरुचि थी। निस्सन्देह, उन्होंने उन सबका परित्याग कर दिया था और कृष्णभावनामृत में पूर्णतया लीन होकर शान्त तथा जड़ बने रहते थे। चूँकि उनका मन सदैव कृष्णभावनामृत से प्रभावित रहता था, अतएव वे यह नहीं समझ सके कि यह संसार किस प्रकार से इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में निमग्न रहकर चलता रहता है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज ऐसे व्यक्ति के ज्वलन्त उदाहरण हैं, जो कृष्णभावनामृत में पूर्णतया निमग्न रहता है। *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य ८.२७४) में कहा गया है—

स्थावर-जंगम देखे, ना देखे तार मूर्ति।

सर्वत्र हय निज इष्ट-देव-स्फूर्ति॥

पूर्णतया कृष्णभावनाभावित व्यक्ति इस जगत में स्थित होकर भी कृष्ण के अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं देखता। यह *महाभागवत* का लक्षण है। वह सर्वत्र कृष्ण ही कृष्ण देखता है क्योंकि कृष्ण के लिए उसमें शुद्ध प्रेम रहता है। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* द्वारा (५.३८) पुष्टि की गई हैं:-

प्रेमांजनच्छुरितभक्तिविलोचनेन

सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो उस भक्त द्वारा सदा देखे जाते हैं जिसकी आँखों में प्रेम का अंजन लगा हुआ है। वे भक्त के हृदय में स्थित अपने नित्य श्यामसुन्दर स्वरूप में देखे जाते हैं।'' ऐसा दुर्लभ महात्मा पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होता है और वह अपने हृदय में भगवान् का निरन्तर दर्शन करता रहता है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि यदि व्यक्ति पर शनि, राहु

अथवा केतु जैसे बुरे ग्रहों का प्रभाव होता है, तो वह किसी भावी कार्य में उन्नति नहीं कर पाता। इसके ठीक विपरीत, प्रह्लाद महाराज कृष्ण रूपी परम ग्रह द्वारा प्रभावित थे। अतएव वे भौतिक जगत के विषय में न तो सोच सकते थे, न कृष्णभावनामृत के बिना जीवित रह सकते थे। यह *महाभागवत* का लक्षण है। भले ही कोई कृष्ण का शत्रु क्यों न हो, *महाभागवत* उसे भी कृष्ण की सेवा में संलग्न देखता है। एक अन्य मोटा उदाहरण यह है कि पीलियाग्रस्त आँखों को सब कुछ पीला दिखता है। इसी प्रकार *महाभागवत* को अपने अतिरिक्त हर व्यक्ति कृष्ण की सेवा में संलग्न प्रतीत होता है।

प्रह्लाद महाराज प्रमाणित *महाभागवत* अर्थात् परम भक्त हैं। पिछले श्लोक में बताया गया है कि उनमें नैसर्गिक अनुरक्ति थी (*नैसर्गिकी रतिः*)। इस श्लोक में कृष्ण के प्रति ऐसी नैसर्गिक रति के लक्षण वर्णित हैं। यद्यपि प्रह्लाद महाराज अभी बच्चे थे किन्तु उन्हें खेलने में कोई रुचि न थी। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (११.२.४२) में कहा गया है *विरक्तिरन्यत्र च*—पूर्ण कृष्णभावनामृत का लक्षण है कि मनुष्य सारे भौतिक कार्यकलापों में कोई रुचि नहीं लेता। एक छोटे से बालक के लिए खेल-कूद छोड़ पाना असम्भव है, किन्तु प्रह्लाद महाराज उत्कृष्ट भक्ति में स्थित रहने के कारण सदैव कृष्णभावनामृत की समाधि में लीन रहते थे। जिस प्रकार एक भौतिकतावादी सदैव भौतिक लाभ के विचारों में खोया रहता है उसी तरह प्रह्लाद महाराज जैसा *महाभागवत* सदैव कृष्ण के विचारों में मग्न रहता है।

आसीनः पर्यटन्नश्नन्शयानः प्रपिबन्ब्रुवन् ।
नानुसन्धत्त एतानि गोविन्दपरिरम्भितः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

आसीनः—बैठते; पर्यटन्—घूमते; अश्नन्—खाते; शयानः—सोते; प्रपिबन्—पीते; ब्रुवन्—बोलते; न—नहीं; अनुसन्धत्ते—जान पाया; एतानि—ये सारे कार्यकलाप; गोविन्द—भगवान् द्वारा, जो इन्द्रियों को जगाने वाले हैं; परिरम्भितः—आलिंगित होकर।

प्रह्लाद महाराज सदैव कृष्ण के विचारों में लीन रहते थे। इस प्रकार भगवान् द्वारा आलिंगित उन्हें यह पता भी नहीं चल पाता था कि उनकी शारीरिक आवश्यकताएँ यथा बैठना, चलना, खाना, सोना, पीना तथा बोलना किस तरह स्वतः सम्पन्न होती थीं।

तात्पर्य : एक छोटा बालक अपनी माता द्वारा लालन-पालन किये जाने पर यह नहीं जान पाता कि किस तरह खाने, सोने, लेटने, मल-मूत्र विसर्जन जैसी शरीर की आवश्यकताएँ पूरी होती रहती हैं। वह केवल अपनी माता की गोद में पड़े रहने से सन्तुष्ट रहता है। इस प्रकार प्रह्लाद महाराज एक छोटे से

बालक के तुल्य थे जिसकी देख-रेख गोविन्द द्वारा की जा रही थी। उनके शरीर के आवश्यक कार्यकलाप अनजाने ही सम्पन्न हो रहे थे। जिस प्रकार माता-पिता अपने बालक की देख-रेख करते हैं उसी प्रकार गोविन्द के विचारों में मग्न प्रह्लाद महाराज की रक्षा गोविन्द करते थे। यही कृष्णभावनामृत है। प्रह्लाद महाराज कृष्णभावनामृत की पूर्ण सिद्धि के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

क्वचिद्रुदति वैकुण्ठचिन्ताशबलचेतनः ।
क्वचिद्धसति तच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; रुदति—रोता है; वैकुण्ठ-चिन्ता—कृष्ण के विचारों से; शबल-चेतनः—जिसका मन मोहग्रस्त; क्वचित्—कभी; हसति—हँसता है; तत्-चिन्ता—उसके विचारों से; आह्लादः—प्रमुदित होकर; उद्गायति—उच्च स्वर में कीर्तन करता है; क्वचित्—कभी।

कृष्णभावनामृत में प्रगति होने से वह कभी रोता था, कभी हँसता था, कभी हर्षित होता था और कभी उच्च स्वर में गाता था।

तात्पर्य : इस श्लोक से बालक से भक्त की तुलना का और भी स्पष्टीकरण होता है। यदि माता बालक को पालने पर छोड़कर कोई घरेलू कार्य करने चली जाती है, तो बालक तुरन्त जान लेता है कि माता दूर चली गई है, अतएव वह रोने लगता है। किन्तु जैसे ही माता लौटकर बच्चे को लाड-प्यार करती है त्योंही बच्चा हँसने लगता है और प्रफुल्लित हो उठता है। इसी प्रकार प्रह्लाद महाराज कृष्ण के विचारों में सदैव मग्न रहने के कारण कभी-कभी यह सोचकर वियोग का अनुभव करते थे कि "कृष्ण कहाँ हैं?" इसकी व्याख्या श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा की गई है। *शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्दविरहेण मे।* जब महान् भक्त अनुभव करता है कि कृष्ण चले गये हैं या अदृश्य हैं, तो वह विरह में रोता है और जब कभी देखता है कि कृष्ण उसकी रखवाली करने के लिए लौट आये हैं, तो वह हँसता है, जिस तरह कभी-कभी बालक यह समझकर हँसता है कि उसकी माँ उसकी देखभाल कर रही है। ये लक्षण *भाव* कहलाते हैं। *भक्तिरसामृतसिन्धु* में भक्त के इन *भावों* का पूर्ण वर्णन किया गया है। ये *भाव* पूर्ण भक्त के कार्यकलापों में दृष्टिगोचर होते रहते हैं।

नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित् ।
क्वचित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

नदति—जोर से चीखता (हे कृष्ण कहकर); क्वचित्—कभी; उत्कण्ठः—उत्सुक होकर; विलज्जः—लाजरहित; नृत्यति—नाचता है; क्वचित्—कभी; क्वचित्—कभी; तत्-भावना—कृष्ण के भावों से युक्त; युक्तः—लीन होकर; तत्-मयः—ऐसा सोचते हुए कि वह कृष्ण बन गया है; अनुचकार—अनुकरण किया; ह—निस्सन्देह।

कभी भगवान् का दर्शन करके प्रह्लाद महाराज पूर्ण उत्सुकतावश जोर से पुकारने लगते। कभी-कभी वे प्रसन्नतावश अपनी लज्जा खो बैठते और हर्ष के भावावेश में नाचने लगते। कभी-कभी कृष्ण के भावों में विभोर होकर वे भगवान् से एकाकार होने का अनुभव करते और उनकी लीलाओं का अनुकरण करते।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज कभी यह अनुभव करते कि भगवान् उनसे दूर चले गये हैं, तो वे जोर से उन्हें पुकारते। जब वे देखते कि भगवान् उनके समक्ष हैं, तो वे प्रमुदित होते। कभी-कभी अपने आपको परम में लीन समझ कर वे भगवान् की लीलाओं का अनुकरण करते और भगवान् से विलग होने पर वे उन्माद के लक्षण प्रकट करते। भक्त की इन भावनाओं को निर्विशेषवादी कभी भी समझ नहीं सकेंगे। इसके लिए मनुष्य को आध्यात्मिक ज्ञान के भीतर प्रवेश करना होता है। प्रथम अनुभूति निर्विशेष ब्रह्म की होती है किन्तु परमात्मा तथा अन्ततोगत्वा भगवान् की अनुभूति के लिए और आगे जाना होता है। तब भक्त भगवान् की शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य या माधुर्य जैसे दिव्य भावों से पूजा करता है। यहाँ पर प्रह्लाद महाराज की भावना वात्सल्य रस की थी। जिस प्रकार माता के दूर चले जाने पर बालक रोता है उसी प्रकार जब प्रह्लाद महाराज को लगता कि भगवान् दूर हैं, तो वे रोने लगते (*नदति*)। पुनः प्रह्लाद जैसे भक्त कभी-कभी उन्हें शान्त करने के लिए भगवान् को माता के समान दूर से आते देखते हैं और बालक से यह कहते सुनते हैं "मेरे बेटे! मत रोओ। मैं आ रही हूँ।" तब भक्त अपने चारों ओर की परिस्थितियों की परवाह न करके यह सोचते हुए नाचने लगता है—"ये रहे मेरे स्वामी! मेरे स्वामी आ रहे हैं।" इस प्रकार भक्त पूर्णतः हर्षित होकर कभी-कभी भगवान् की लीलाओं का अनुकरण करता है, जिस तरह ग्वाले जंगली जानवरों के आचरण की नकल उतारते हैं। किन्तु वह सचमुच भगवान् नहीं बनता। प्रह्लाद महाराज ने यहाँ पर वर्णित आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नति के द्वारा प्राप्त कर ली थी।

क्वचिदुत्पुलकस्तूष्णीमास्ते संस्पर्शनिर्वृतः ।

अस्पन्दप्रणयानन्दसलिलामीलितेक्षणः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; उत्पुलकः—रोमांचित होकर; तूष्णीम्—पूर्णतया मौन; आस्ते—रहता है; संस्पर्श-निर्वृतः—भगवान् के सम्पर्क में अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव करते हुए; अस्पन्द—स्थिर; प्रणय-आनन्द—प्रेम सम्बन्ध के कारण दिव्य आनन्द से; सलिल—अश्रु भर कर; आमीलित—अधखुली; ईक्षणः—जिसकी आँखें।

कभी-कभी भगवान् के करकमलों का स्पर्श अनुभव करके वे आध्यात्मिक रूप से प्रसन्न होते और मौन बने रहते, उनके शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते (रोमांच हो आता) और भगवान् के प्रेम के कारण उनके अर्धनिमीलित नेत्रों से अश्रु ढुलकने लगते।

तात्पर्य : जब भक्त को भगवान् के वियोग का अनुभव होता है, तो वह उन्हें देखने के लिए आतुर हो उठता है और कभी-कभी जब उसे वियोग की पीड़ा सताती है, तो उसके अधखुले नेत्रों से अश्रुओं की झड़ी लग जाती है। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने *शिक्षाष्टक* में कहा है *युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्। चक्षुषा प्रावृषायितम्* का अर्थ है भक्त के नेत्रों से आँसुओं की निरन्तर झड़ी लग जाना। ये लक्षण, जो शुद्ध भक्तिमय आनन्द में प्रकट होते हैं, प्रह्लाद महाराज के शरीर में प्रकट हो रहे थे।

स उत्तमश्लोकपदारविन्दयो-
र्निषेवयाकिञ्चनसङ्गलब्धया ।
तन्वन्परां निर्वृतिमात्मनो मुहु-
र्दुःसङ्गदीनस्य मनः शमं व्यधात् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (प्रह्लाद महाराज); उत्तम-श्लोक-पद-अरविन्दयोः—भगवान् के चरणकमलों पर, जिसकी पूजा दिव्य स्तुतियों से की जाती है; निषेवया—निरन्तर सेवा द्वारा; अकिञ्चन—उन भक्तों का जिन्हें इस जगत से कुछ भी लेना देना नहीं रहता; सङ्ग—संगति; लब्धया—प्राप्त हुआ; तन्वन्—विस्तार करने वाली; पराम्—सर्वोच्च; निर्वृतिम्—आनन्द; आत्मनः—आत्मा का; मुहुः—निरन्तर; दुःसङ्ग-दीनस्य—बुरी संगति के कारण आध्यात्मिक ज्ञान से विहिन; मनः—मन को; शमम्—शान्त; व्यधात्—बना दिया।

पूर्ण, अनन्य भक्तों की संगति के कारण जिन्हें भौतिकता से कुछ भी लेना देना नहीं था। प्रह्लाद महाराज निरन्तर भगवान् के चरणकमलों की सेवा में लगे रहते थे। जब वे पूर्ण आनन्द में होते तो उनके शारीरिक लक्षणों को देखकर आध्यात्मिक ज्ञान से विहीन व्यक्ति भी शुद्ध हो जाते थे। दूसरे शब्दों में, प्रह्लाद महाराज उन्हें दिव्य आनन्द प्रदान करते थे।

तात्पर्य : एक तरह से प्रह्लाद महाराज ऐसी स्थिति में थे जिसमें उन्हें अपने पिता द्वारा नित्य ही

सताया जाता था। ऐसी भौतिक स्थिति में किसी का मन अविचल नहीं रह सकता, लेकिन चूँकि भक्ति अहैतुकी (*अहैतुक्यप्रतिहता*) होती है, अतएव प्रह्लाद महाराज कभी भी हिरण्यकशिपु की प्रताड़ना से विचलित नहीं होते थे। उल्टे, भगवान् के प्रेम में आत्मविभोर होने पर उनके शारीरिक लक्षणों से उनके मित्रों के मन बदलते, जो नास्तिक कुलों में उत्पन्न थे। अपने पिता द्वारा सताये जाने से विचलित होने के बजाय प्रह्लाद महाराज इन मित्रों को प्रभावित करते और उनके मनों को विमल बनाते। भक्त कभी भी भौतिक दशाओं से कलुषित नहीं होता लेकिन भौतिक दशाओं में रहने वाले व्यक्ति शुद्ध भक्त के आचरण को देख कर आध्यात्मिक प्रगति करके आनन्दमय बन जाते हैं।

तस्मिन्महाभागवते महाभागे महात्मनि ।
हिरण्यकशिपू राजन्नकरोदघमात्मजे ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस; महा-भागवते—भगवान् के परम भक्त में; महा-भागे—अत्यन्त भाग्यशाली; महा-आत्मनि—जिनका मन अत्यन्त उदार है; हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु ने; राजन्—हे राजा; अकरोत्—किया; अघम्—अत्यन्त महापाप; आत्म-जे—अपने ही पुत्र के प्रति।

हे राजा युधिष्ठिर, उस असुर हिरण्यकशिपु ने इस महान् भाग्यशाली भक्त प्रह्लाद को सताया था, यद्यपि वह उसका निजी पुत्र था।

तात्पर्य : जब अपनी कठिन तपस्या के बल पर उच्च स्थान पर होते हुए भी हिरण्यकशिपु-जैसा कोई असुर किसी भक्त को तंग करने लगता है, तो उसका पतन होने लगता है और उसकी तपस्याओं के फल क्षीण होने लगते हैं। जो व्यक्ति किसी शुद्ध भक्त को सताता है, वह अपनी सारी तपस्या तथा पुण्यकर्मों के फल खो देता है। चूँकि हिरण्यकशिपु अपने महानतम भक्त पुत्र प्रह्लाद महाराज को प्रताड़ित करने पर तुल गया था, अतएव उसका ऐश्वर्य क्षीण होने लगा।

श्रीयुधिष्ठिर उवाच
देवर्ष एतदिच्छामो वेदितुं तव सुव्रत ।
यदात्मजाय शुद्धाय पितादात्साधवे ह्यघम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

श्री-युधिष्ठिरः उवाच—महाराज युधिष्ठिर ने प्रश्न किया; देव-ऋषे—हे देवताओं में श्रेष्ठ साधु पुरुष; एतत्—यह; इच्छामः—हमारी इच्छा है; वेदितुम्—जानने के लिए; तव—तुमसे; सु-व्रत—आध्यात्मिक उन्नति के लिए दृढ़संकल्प; यत्—क्योंकि; आत्म-जाय—अपने ही पुत्र को; शुद्धाय—जो अत्यन्त शुद्ध तथा सम्मानित था; पिता—पिता हिरण्यकशिपु ने; अदात्—दिया; साधवे—महान् साधु को; हि—निस्सन्देह; अघम्—कष्ट।

महाराज युधिष्ठिर ने कहा : हे देवर्षि, हे श्रेष्ठ आध्यात्मिक नेता, हिरण्यकशिपु ने शुद्ध तथा श्रेष्ठ सन्त प्रह्लाद महाराज को अपना पुत्र होने पर भी किस प्रकार इतना अधिक कष्ट दिया? मैं इसे आपसे जानना चाहता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् के विषय में और उनके शुद्ध भक्त के गुणों के विषय में यदि किसी को कुछ जानना हो तो उसे देवर्षि नारद जैसे अधिकारी से प्रश्न करना चाहिए। दिव्य विषयों के बारे में अज्ञानी से प्रश्न नहीं करना चाहिए। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (३.२५.२५) में कहा गया है—*सतां प्रसङ्गान् मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः*—केवल भक्तों की संगति से भगवान् तथा उनके भक्तों के विषय में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है। नारद मुनि जैसे भक्त को *सुव्रत* कह कर सम्बोधित किया गया है। *सु* का अर्थ है "अच्छा," *व्रत* का अर्थ है "प्रतिज्ञा"। इस तरह *सुव्रत* शब्द ऐसे व्यक्ति का सूचक है, जिसे भौतिक जगत से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता, क्योंकि यह जगत सदा से बुरा रहा है। शुष्क ज्ञान से गर्वित भौतिकतावादी विद्वान से कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक बात नहीं समझ सकता। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५५) में कहा गया है—*भक्त्या मामभिजानाति*—मनुष्य को चाहिए कि वह भक्ति द्वारा तथा किसी भक्त से कृष्ण को समझने का प्रयास करे। अतएव युधिष्ठिर महाराज बिल्कुल ठीक ही श्री नारद मुनि से प्रह्लाद महाराज के विषय में और आगे जानना चाह रहे थे।

पुत्रान्विप्रतिकूलान्स्वान्पितरः पुत्रवत्सलाः ।
उपालभन्ते शिक्षार्थं नैवाघमपरो यथा ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

पुत्रान्—पुत्रों को; विप्रतिकूलान्—पिता की इच्छा के प्रतिकूल कर्म करने वाले; स्वान्—अपने ही; पितरः—पिता; पुत्र-वत्सलाः—पुत्रों के प्रति अत्यन्त स्नेह जताने के कारण; उपालभन्ते—प्रताड़ित करते हैं; शिक्ष-अर्थम्—उन्हें पाठ पढ़ाने के लिए; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; अघम्—दण्ड; अपरः—शत्रु; यथा—सदृश।

माता तथा पिता सदा ही अपने बच्चों के प्रति वत्सल होते हैं। जब बच्चे आज्ञापालक नहीं होते तो माता-पिता उन्हें किसी शत्रुतावश नहीं, अपितु उन्हें शिक्षा देने तथा उनके भले के लिए दण्ड देते हैं। तो हिरण्यकशिपु ने क्योंकर अपने इतने नेक पुत्र प्रह्लाद महाराज को प्रताड़ित किया? मैं यह जानने के लिए अत्यन्त उत्सुक हूँ।

किमुतानुवशान्साधूंस्तादृशान्गुरुदेवतान् ।

एतत्कौतूहलं ब्रह्मन्नस्माकं विधम प्रभो ।
पितुः पुत्राय यद्द्वेषो मरणाय प्रयोजितः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

किम् उत—काफी कम; अनुवशान्—आज्ञाकारी तथा पूर्ण पुत्रों को; साधून्—परम भक्त; तादृशान्—उस तरह के; गुरु-देवतान्—पिता को भगवान् तुल्य सम्मान देने वाले; एतत्—यह; कौतूहलम्—संशय; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; अस्माकम्—हमारा; विधम—दूर कीजिये; प्रभो—हे स्वामी; पितुः—पिता का; पुत्राय—पुत्र के लिए; यत्—जो; द्वेषः—द्वेष ईर्ष्या; मरणाय—मारने के लिए; प्रयोजितः—प्रयुक्त।

महाराज युधिष्ठिर ने आगे पूछा : भला एक पिता के लिए यह कैसे सम्भव हुआ कि वह अपने आज्ञाकारी, सदाचारी तथा पिता का सम्मान करने वाले पुत्र के प्रति इतना उग्र बना? हे ब्राह्मण, हे स्वामी, मैंने कभी ऐसा विरोधाभास नहीं सुना कि कोई वत्सल पिता अपने नेक पुत्र को मार डालने के उद्देश्य से उसे दण्डित करे। कृपा करके इस सम्बन्ध में मेरे संशयों को दूर कीजिए।

तात्पर्य : मानव समाज के इतिहास में विरले ही कोई वत्सल पिता अपने नेक तथा भक्त पुत्र को दण्डित करता पाया गया है। अतएव महाराज युधिष्ठिर नारद मुनि से अपने इस संशय को दूर कराना चाहते थे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कंध के अन्तर्गत ''ब्रह्माण्ड में हिरण्यकशिपु का आतंक'' नामक चौथे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पाँच

हिरण्यकशिपु का साधु पुत्र प्रह्लाद महाराज

प्रह्लाद महाराज अपने गुरु के आदेशों का पालन नहीं कर पाते थे, क्योंकि वे सदैव भगवान् विष्णु की पूजा में लगे रहते ते। जैसाकि इस अध्याय में वर्णन हुआ है, हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद महाराज को साँप से डँसा कर तथा हाथी के पाँव के नीचे डालकर मार डालने का यत्न किया, किन्तु फिर भी वह असफल ही रहा।

हिरण्यकशिपु के गुरु शुक्राचार्य के दो पुत्र थे जिनके नाम षण्ड तथा अमर्क थे जिन्हें प्रह्लाद महाराज को पढ़ाने का भार सौंपा गया था। यद्यपि अध्यापक बालक प्रह्लाद को राजनीति, अर्थशास्त्र तथा अन्य सांसारिक विषयों की शिक्षा देने का प्रयास करते, किन्तु बालक उनके उपदेशों पर कोई

ध्यान नहीं देता था। उल्टे वह शुद्ध भक्त बना रहा। प्रह्लाद महाराज को कभी भी मित्रों तथा शत्रुओं में भेद-भाव करना अच्छा नहीं लगता था। आध्यात्मिक प्रवृत्ति के कारण वह सबों के प्रति समान भाव रखता।

एक बार हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र से पूछा कि उसने अपने अध्यापकों से कौन सी सर्वश्रेष्ठ बात सीखी है। प्रह्लाद महाराज ने उत्तर दिया कि जो मनुष्य द्वन्द्वों में फँसा रहता है और सोचता है कि "यह मेरा है और यह मेरे शत्रु का है।" उसे चाहिए कि वह अपना गृहस्थ जीवन त्याग कर भगवान् की पूजा करने के लिए जंगल चला जाये।

जब हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र से इस प्रकार की भक्ति की बातें सुनी तो उसने निश्चय किया कि हो न हो पाठशाला में उसके किसी मित्र ने इस छोटे बच्चे को इस प्रकार दूषित कर रखा है। अतएव उसने अध्यापकों को आदेश दिया कि वे बालक का ध्यान रखें जिससे वह कृष्णभावनाभावित भक्त न बन जाये। किन्तु जब अध्यापकों ने प्रह्लाद महाराज से पूछा कि वह उनकी शिक्षाओं के विरुद्ध क्यों कार्य करता है, तो उसने अध्यापकों को शिक्षा दी कि स्वामित्व की प्रवृत्ति मिथ्या है, अतएव वह भगवान् विष्णु का अनन्य भक्त बनने का प्रयास कर रहा है। इस उत्तर से अध्यापक बहुत अप्रसन्न हुए और उन्होंने उस बालक को तरह-तरह से डराया धमकाया। उन्होंने अपनी सामर्थ्य भर उसे शिक्षा दी और तब उसे उसके पिता के समक्ष ले आये।

हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद को स्नेहपूर्वक गोद में उठा लिया और फिर उससे पूछा कि तुमने अपने अध्यापकों से कौन सी सर्वश्रेष्ठ बात सीखी है। सदैव की भाँति प्रह्लाद महाराज ने भक्ति की नवों विधियों—यथा श्रवण, कीर्तन इत्यादि की प्रशंसा करनी प्रारम्भ की। इस पर असुरराज हिरण्यकशिपु अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और षण्ड तथा अमर्क दोनों अध्यापकों को त्रुटिपूर्ण प्रशिक्षण के लिए प्रताड़ित करने लगा। तब तथाकथित अध्यापकों ने राजा को बताया कि प्रह्लाद स्वत: भक्त होने के कारण उनके उपदेशों पर ध्यान नहीं देता। जब उन्होंने अपने आपको निर्दोष सिद्ध कर दिया तो हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद से पूछा कि तुमने *विष्णु भक्ति* कहाँ से सीखी? प्रह्लाद ने उत्तर दिया कि जो लोग गृहस्थ जीवन से बँधे हैं, वे न तो व्यक्तिगत रूप से न ही सामूहिक रूप से कृष्णभावनामृत का विकास कर पाते हैं। प्रत्युत वे इस संसार में बारम्बार जन्म लेते और मरते हैं और चर्वितचर्वण करते हैं। प्रह्लाद ने बताया कि

प्रत्येक मनुष्य का धर्म है कि वह शुद्ध भक्त की शरण ग्रहण करे और इस तरह कृष्णभावनामृत समझने का पात्र बने।

इस उत्तर से हिरण्यकशिपु क्रुद्ध हो गया और उसने प्रह्लाद को अपनी गोद से फेंक दिया। चूँकि उस विष्णु का प्रह्लाद भक्त बन गया था जिसने उसके चाचा हिरण्याक्ष का वध किया था, अतएव वह विश्वासघाती था। अत: हिरण्यकशिपु ने अपने सहायकों को आदेश दिया कि उसको मार डालें। उन्होंने प्रह्लाद पर तीक्ष्ण हथियारों से प्रहार किया, उसे हाथी के पाँवों के नीचे फेंका, उसे नारकीय यातनाएँ दीं, उसे पर्वत के ऊपर से नीचे गिराया और हजारों यत्नों से उसे मारने की कोशिशें की, किन्तु वे असफल रहे। अतएव हिरण्यकशिपु अपने पुत्र प्रह्लाद से अत्यधिक भयभीत हो उठा। उसने उसे बन्दी बना लिया। हिरण्यकशिपु के गुरु शुक्राचार्य के पुत्र प्रह्लाद को अपने ढंग से पढ़ाते, किन्तु वह उनके उपदेशों को नहीं मानता था। जब अध्यापकगण कक्षा में न होते तो वह पाठशाला में कृष्णभावनामृत का उपदेश देता और उसके उपदेशों से उसके सारे सहपाठी, जो असुरों के पुत्र थे, उसी की तरह भक्त बन गये।

श्रीनारद उवाच
पौरोहित्याय भगवान्वृत: काव्य: किलासुरै: ।
षण्डामर्कौ सुतौ तस्य दैत्यराजगृहान्तिके ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारद: उवाच—महान् सन्त नारद ने कहा; पौरोहित्याय—पुरोहित कर्म के लिए; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; वृत:—चुना गया; काव्य:—शुक्राचार्य; किल—निस्सन्देह; असुरै:—असुरों के द्वारा; षण्ड-अमर्कौ—षण्ड तथा अमर्क; सुतौ—दो पुत्र; तस्य—उसके; दैत्य-राज—दैत्यों का राजा, हिरण्यकशिपु; गृह-अन्तिके—घर के पास।

महामुनि नारद ने कहा : हिरण्यकशिपु आदि असुरों ने शुक्रचार्य को अनुष्ठान सम्पन्न कराने के लिए पुरोहित के रूप में चुना। शुक्राचार्य के दो पुत्र षण्ड तथा अमर्क हिरण्यकशिपु के महल के ही पास रहते थे।

तात्पर्य : प्रह्लाद के प्रारम्भिक जीवन की कथा इस प्रकार सुनाई जाती है। शुक्राचार्य नास्तिकों के, विशेष रूप से हिरण्यकशिपु के, पुरोहित बने और इस प्रकार उनके दो पुत्र षण्ड तथा अमर्क हिरण्यकशिपु के महल के पास रहने लगे। शुक्राचार्य को हिरण्यकशिपु का पुरोहित नहीं बनना चाहिए था, क्योंकि स्वयं हिरण्यकशिपु तथा उसके सारे अनुयायी नास्तिक थे। ब्राह्मण को ऐसे व्यक्ति का पुरोहित बनना चाहिए जो आध्यात्मिक संस्कृति की उन्नति में रुचि रखे। किन्तु शुक्राचार्य नाम ही ऐसे

व्यक्ति का सूचक है, जो अपने पुत्रों तथा वंशजों को लाभ दिलाने में ही रुचि रखता हो, भले ही धन कैसे ही आए। असली ब्राह्मण को नास्तिक लोगों का पुरोहित नहीं बनना चाहिए।

तौ राज्ञा प्रापितं बालं प्रह्लादं नयकोविदम् ।
पाठयामासतुः पाठ्यानन्यांश्चासुरबालकान् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तौ—वे दोनों (षण्ड और अर्मक); राज्ञा—राजा द्वारा; प्रापितम्—भेजे गये; बालम्—बालक को; प्रह्लादम्—प्रह्लाद नामक; नय-कोविदम्—नैतिक सिद्धान्तों से परिचित; पाठयाम् आसतुः—पढ़ाया करते; पाठ्यान्—भौतिक ज्ञान की पुस्तकें; अन्यान्—अन्य; च—भी; असुर-बालकान्—असुरों के बालकों को।

प्रह्लाद महाराज पहले से ही भक्ति में निपुण थे, किन्तु जब उनके पिता ने उन्हें पढ़ाने के लिए शुक्राचार्य के दोनों पुत्रों के पास भेजा तो उन दोनों ने उन्हें तथा अन्य असुरपुत्रों को अपनी पाठशाला में भर्ती कर लिया।

यत्तत्र गुरुणा प्रोक्तं शुश्रुवेऽनुपपाठ च ।
न साधु मनसा मेने स्वपरासद्ग्रहाश्रयम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; तत्र—वहाँ (पाठशाला में); गुरुणा—अध्यापकों द्वारा; प्रोक्तम्—बताया गया; शुश्रुवे—सुना; अनुपपाठ—सुनाया; च—तथा; न—नहीं; साधु—अच्छे; मनसा—मन से; मेने—विचार किया; स्व—निजी; पर—दूसरों का; असत्-ग्रह—बुरे भाव से; आश्रयम्—पुष्ट किया गया, समर्थित।

प्रह्लाद अध्यापकों द्वारा पढ़ाये गये राजनीति तथा अर्थशास्त्र के पाठों को सुनते और सुनाते अवश्य थे, किन्तु वे यह समझते थे कि राजनीति में किसी को मित्र माना जाता है और किसी को शत्रु। अतएव यह विषय उन्हें पसन्द न था।

तात्पर्य : राजनीति में एक वर्ग के मनुष्यों को शत्रु और दूसरे वर्ग वालों को मित्र माना जाता है। राजनीति की सारी बातें इसी दर्शन पर आधारित हैं और सम्पूर्ण विश्व विशेषतः आजकल इसी में उलझा हुआ है। जनता को मित्र देशों तथा मित्र वर्गों या शत्रु देशों तथा शत्रु वर्गों से ही मतलब रहता है, किन्तु जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, विद्वान व्यक्ति कभी भी शत्रुओं तथा मित्रों में भेद-भाव नहीं बरतता। विशेषतया भक्तगण मित्र या शत्रु नहीं बनाते। भक्त तो यह देखता है कि प्रत्येक जीव कृष्ण का अंश है (*ममैवांशो जीवभूतः*)। अतएव भक्त शत्रुओं तथा मित्रों को कृष्णभावनामृत की शिक्षा देने का प्रयत्न करके दोनों के साथ समानता का व्यवहार करता है। निस्सन्देह, नास्तिक लोग शुद्ध भक्तों के

उपदेशों का पालन नहीं करते, उल्टे वे भक्त को अपना शत्रु मानते हैं। किन्तु भक्त न तो कभी मित्रता करता है न शत्रुता। यद्यपि प्रह्लाद महाराज को षण्ड तथा अमर्क के उपदेश सुनने पड़ते थे, किन्तु उन्हें मित्रों तथा शत्रुओं की यह विचार-धारा जो राजनीति का मूल आधार है, पसन्द न थी। वे इस विचार-धारा में रुचि नहीं रखते थे।

एकदासुरराट्पुत्रमङ्कमारोप्य पाण्डव ।
पप्रच्छ कथ्यतां वत्स मन्यते साधु यद्भवान् ॥ ४॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; असुर-राट्—असुरों के सम्राट ने; पुत्रम्—अपने पुत्र को; अङ्कम्—गोद में; आरोप्य—लेकर; पाण्डव—हे महाराज युधिष्ठिर; पप्रच्छ—पूछा; कथ्यताम्—बतलाओ; वत्स—मेरे प्यारे पुत्र; मन्यते—मानते हो; साधु—श्रेष्ठतम; यत्—जिसे; भवान्—तुम।

हे राजा युधिष्ठिर, एक बार असुरराज हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद को अपनी गोद में लेकर बड़े ही दुलार से पूछा : हे पुत्र, मुझे यह बतलाओ कि तुमने अपने अध्यापकों से जितने विषय पढ़े हैं उनमें से सर्वश्रेष्ठ कौन सा है।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु ने अपने कुमार बालक से ऐसी बात नहीं पूछी जिसका उत्तर दे पाना उसके लिए कठिन होता, अपितु उसने बालक को यह स्पष्ट बतलाने का अवसर दिया कि उसे सबसे अच्छा क्या लगता है। निस्सन्देह, प्रह्लाद महाराज परम भक्त होने के कारण सब कुछ जानते थे, अतएव वे बतला सकते थे कि जीवन का सर्वश्रेष्ठ अंश क्या है। वेदों में कहा गया है—*यस्मिन् विज्ञाते सर्वमेवं विज्ञातं भवति*—यदि कोई ईश्वर को ठीक से समझता है, तो वह किसी भी विषय को अच्छी तरह से समझ सकता है। कभी-कभी हमें बड़े-बड़े विज्ञानियों तथा दार्शनिकों को ललकारना पड़ता है, किन्तु कृष्ण की कृपा से हम विजयी होते हैं। एक तरह से देखा जाये तो सामान्य व्यक्ति के लिए यह असम्भव है कि वह असली ज्ञान के विषय में विज्ञानियों तथा दार्शनिकों को चुनौती दे पाये, किन्तु एक भक्त उन्हें ललकार सकता है, क्योंकि कृष्ण-कृपा से भक्त को प्रत्येक वस्तु का सर्वोत्कृष्ट ज्ञान होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.११) में पुष्टि की गई है—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

कृष्ण प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में परमात्मा रूप में स्थित होकर भक्त के हृदय के अज्ञान को दूर

करते हैं। विशेष कृपा करके वे भक्त के समक्ष प्रकाश का दीपक दिखाकर उसे सारे ज्ञान से प्रकाशित करते हैं। अतएव प्रह्लाद महाराज श्रेष्ठ ज्ञान से अवगत थे और जब पिता ने पूछा तो उन्होंने उसे वह ज्ञान प्रदान किया। प्रह्लाद महाराज अपने बढ़े-चढ़े कृष्णभावनामृत के कारण कठिन से कठिन समस्या को हल करने में समर्थ थे। अतएव उन्होंने इस प्रकार उत्तर दिया।

श्रीप्रह्लाद उवाच

तत्साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनां
सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात् ।
हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं
वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्लादः उवाच—प्रह्लाद महाराज ने कहा; तत्—वह; साधु—अत्यन्त उत्तम अथवा जीवन का श्रेष्ठ अंश; मन्ये—मानता हूँ; असुर-वर्य—हे असुरों के राजा; देहिनाम्—शरीरधारियों का; सदा—सदैव; समुद्विग्न—चिन्ताओं से पूर्ण; धियाम्—जिसकी बुद्धि; असत्-ग्रहात्—क्षणिक शरीर या शारीरिक सम्बन्धों को असली मानने के कारण (यह सोचते हुए कि मैं यह शरीर हूँ और इस शरीर से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु मेरी है); हित्वा—त्याग कर; आत्म-पातम्—स्थान जहाँ जाकर आत्म-साक्षात्कार रुक जाता है; गृहम्—देहात्मबुद्धि या गृहस्थ जीवन; अन्ध-कूपम्—जो मात्र अंधा कुआँ है (जहाँ जल नहीं होता किन्तु फिर भी लोग जल की तलाश करते हैं); वनम्—जंगल में; गतः—जाकर; यत्—जो; हरिम्—भगवान् को; आश्रयेत—शरण लेता है।.

प्रह्लाद महाराज ने उत्तर दिया: हे असुरश्रेष्ठ दैत्यराज, जहाँ तक मैंने अपने गुरु से सीखा है, ऐसा कोई व्यक्ति जिसने क्षणिक देह तथा क्षणिक गृहस्थ जीवन स्वीकार किया है, वह निश्चय ही चिन्ताग्रस्त रहता है, क्योंकि वह ऐसे अंधे कुएँ में गिर जाता है जहाँ जल नहीं रहता, केवल कष्ट ही कष्ट मिलते हैं। मनुष्य को चाहिए कि इस स्थिति को त्याग कर वन में चला जाये। स्पष्टार्थ यह है कि मनुष्य को चाहिए कि वह वृन्दावन जाये जहाँ केवल कृष्णभावनामृत व्याप्त है और इस तरह वह भगवान् की शरण ग्रहण करे।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु ने सोचा था कि प्रह्लाद अभी छोटा सा अनुभवहीन बालक मात्र है अतएव वह कुछ ऐसा उत्तर देगा जो मन को भाने वाला होगा, व्यावहारिक नहीं होगा। किन्तु प्रह्लाद महाराज ने उच्च भक्त होने के कारण शिक्षा के सारे गुण प्राप्त कर लिए थे।

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना

सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।

हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा

मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥

"जिसकी कृष्ण में अविचल भक्तिमयी श्रद्धा होती है, वह निरन्तर कृष्ण तथा देवताओं के सारे सद्‌गुण प्रकट करता रहता है। किन्तु जिसमें भगवान् की भक्ति नहीं होती उसमें सद्‌गुण नहीं पाये जाते, क्योंकि वह मानसिक कल्पनाओं के द्वारा भौतिक जगत में व्यस्त रहता है, जो भगवान् का बाह्यस्वरूप है।" (*भागवत* ५.१८.१२) तथाकथित शिक्षित दार्शनिक तथा विज्ञानी जो बौद्धिक स्तर को प्राप्त होते हैं, *सत्* अर्थात् शाश्वत तथा *असत्* अर्थात् क्षणिक में अन्तर नहीं कर पाते। वैदिक आदेश है *असतो मा ज्योतिर्गम*—प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि नश्वर स्तर को त्यागकर शाश्वत स्तर को प्राप्त करे। आत्मा शाश्वत है और शाश्वत आत्मा-विषयक कथाएँ वास्तविक ज्ञान हैं। अन्यत्र कहा गया है—*अपश्यताम् आत्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम्*—जो देहात्मबुद्धि से जुड़े रहते हैं और जो भौतिक इन्द्रियसुख के स्तर पर गृहस्थ के रूप में जीवन से चिपके रहते हैं, वे शाश्वत आत्मा के कल्याण को नहीं देख सकते। प्रह्लाद महाराज ने इसकी पुष्टि यह कहकर की कि जो व्यक्ति जीवन में सफलता की आकांक्षा करता है उसे सही स्रोत से तुरन्त यह समझ लेना चाहिए कि उसका स्वार्थ किसमें है और आध्यात्मिक चेतना में वह अपने जीवन को किस प्रकार ढाले। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने को कृष्ण का अंश समझे और निश्चित आध्यात्मिक सफलता के लिए उनके चरणकमलों में पूर्णतया समर्पित हो ले। इस भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति देहात्मबुद्धि के कारण जन्म-जन्मांतर कठिन जीवन-संघर्ष करता रहता है। अतएव प्रह्लाद महाराज ने संस्तुति की है कि इस बारम्बार जन्म-मृत्यु की भौतिक दशा को रोकने के लिए मनुष्य को वन में चला जाना चाहिए।

वर्णाश्रम प्रणाली में मनुष्य पहले ब्रह्मचारी बनता है, फिर गृहस्थ, तब वानप्रस्थ और अन्त में संन्यासी। वन जाने का अर्थ है वानप्रस्थ जीवन स्वीकार करना जो गृहस्थ जीवन तथा संन्यास के बीच का जीवन है। जैसाकि *विष्णु-पुराण* (३.८.९) में पुष्टि की गई है—*वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् विष्णुराराध्यते*—वर्ण तथा आश्रम की प्रथा को स्वीकार करके मनुष्य अपने को भगवान् विष्णु की पूजा करने के स्तर तक बड़ी आसानी से उठा सकता है। अन्यथा यदि वह देहात्मबुद्धि में रहता जाता है, तो वह इसी संसार में सड़ता रहता है और उसका जीवन व्यर्थ हो जाता है। समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र श्रेणियाँ होनी चाहिए और आध्यात्मिक उन्नति के लिए मनुष्य को क्रमशः ब्रह्मचारी,

गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी बनना चाहिए। प्रह्लाद महाराज ने संस्तुति की कि उनके पिता को वानप्रस्थ जीवन स्वीकार कर लेना चाहिए क्योंकि देहात्मबुद्धि के कारण वे और अधिक आसुरी मनोवृत्ति वाले हो रहे थे। प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता से कहा कि उनके लिए वानप्रस्थ जीवन स्वीकार करना श्रेयस्कर होगा, न कि गृहस्थ के रूप में *गृहम् अन्धकूपम्* में गहरे गिरते जाना। अतएव हम अपने कृष्णभावनामृत आन्दोलन में विश्व के समस्त पुरुषों को वृन्दावन आने के लिए तथा यहाँ पर संन्यास जीवन बिताने और कृष्णभावनामृत में उन्नति करने के लिए आमंत्रित करते हैं।

श्रीनारद उवाच

श्रुत्वा पुत्रगिरो दैत्यः परपक्षसमाहिताः ।
जहास बुद्धिर्बालानां भिद्यते परबुद्धिभिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; श्रुत्वा—सुनकर; पुत्र-गिरः—अपने पुत्र की उपदेशमयी वाणी; दैत्यः—हिरण्यकशिपु; पर-पक्ष—शत्रु की ओर; समाहिताः—श्रद्धा युक्त; जहास—हँसा; बुद्धिः—बुद्धि; बालानाम्—छोटे बालकों की; भिद्यते—प्रदूषित होती है; पर-बुद्धिभिः—शत्रु पक्ष के सिखलाने से।

नारद मुनि ने आगे कहा : जब प्रह्लाद महाराज ने भक्तिमय आत्म-साक्षात्कार के विषय में बतलाया और इस तरह अपने पिता के शत्रु-पक्ष के प्रति अपनी स्वामि-भक्ति दिखलाई तो असुरराज हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद की बातें सुनकर हँसते हुए कहा—"शत्रु की वाणी द्वारा बाल-बुद्धि इसी तरह बिगाड़ी जाती है।"

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु असुर होने के कारण विष्णु तथा उनके भक्तों को अपना शत्रु मानता था। इसलिए यहाँ पर *परपक्ष* (शत्रु की ओर) शब्द व्यवहृत हुआ है। हिरण्यकशिपु ने कभी भी विष्णु या कृष्ण की बातें नहीं मानीं। प्रत्युत वह किसी भी वैष्णव की बुद्धि से क्रुद्ध हो जाता था। भगवान् विष्णु या कृष्ण कहते हैं—*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—अन्य सारे कर्तव्यों को त्याग कर मेरी शरण में आओ। किन्तु हिरण्यकशिपु जैसे असुरों ने इससे कभी सहमति नहीं दिखलाई। अतएव कृष्ण कहते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

"जो शैतान नितान्त मूर्ख हैं, जो मनुष्यों में अधम हैं, जिनकी बुद्धि मोह द्वारा नष्ट हो चुकी है और

जो असुर भाव में हिस्सा बँटाते हैं, वे मेरी शरण में नहीं आते'' (*भगवद्गीता* ७.१५)। *असुरभाव* हिरण्यकशिपु का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसे लोग *मूढ* तथा *नराधम* होने के कारण कभी भी विष्णु को ब्रह्म रूप में स्वीकार नहीं करते और न उनकी शरण ग्रहण करते हैं। स्वाभाविक था कि हिरण्यकशिपु अपने पुत्र प्रह्लाद पर अत्यधिक क्रुद्ध होता, क्योंकि वह शत्रुपक्ष द्वारा प्रभावित हो रहा था। अतएव उसने आदेश दिया था कि उसके पुत्र के निवास स्थान में नारद जैसे साधु पुरुषों को प्रविष्ट न होने दिया जाये, अन्यथा वैष्णव उपदेशों से प्रह्लाद अधिक बिगड़ जाएगा।

सम्यग्विधार्यतां बालो गुरुगेहे द्विजातिभिः ।
विष्णुपक्षैः प्रतिच्छन्नैर्न भिद्येतास्य धीर्यथा ॥ ७॥

शब्दार्थ

सम्यक्—पूर्णतया; विधार्यताम्—उसकी सुरक्षा की जाये; बालः—यह कम आयु का; गुरु-गेहे—गुरुकुल में, जहाँ बच्चों को गुरु द्वारा पढ़ाये जाने के लिए भेज दिया जाता है; द्वि-जातिभिः—ब्राह्मणों द्वारा; विष्णु-पक्षैः—विष्णु की ओर के; प्रतिच्छन्नैः—छद्म वेश में रहने वाले; न भिद्येत—प्रभावित न होने पाए; अस्य—उसकी; धीः—बुद्धि; यथा—जिससे।

हिरण्यकशिपु ने अपने सहायकों को आदेश दिया: हे असुरो, इस बालक के गुरुकुल में जहाँ पर यह शिक्षा पाता है, इसकी सुरक्षा का पूरा ध्यान रखो जिससे इसकी बुद्धि छद्मवेश में घूमने वाले वैष्णवों द्वारा और अधिक न प्रभावित हो पाए।

तात्पर्य : हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में मनुष्य को सामान्य कर्मी की भाँति वेश धारण करने की कला का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि आसुरी साम्राज्य में प्रत्येक व्यक्ति वैष्णव उपदेशों के विरुद्ध रहता है। कृष्णभावनामृत वर्तमान युग के असुरों को तनिक भी नहीं भाता। ज्योंही वे किसी को केसरिया वस्त्र धारण किये, गले में माला डाले तथा मस्तक पर तिलक लगाये देखते हैं कि वे तुरन्त ही क्षुब्ध हो उठते हैं। वे वैष्णवों का उपहास करने के लिए हरे कृष्ण कहकर उनकी आलोचना करते हैं और कुछ लोग तो निष्ठा से हरे कृष्ण का जाप भी करते हैं। प्रत्येक अवस्था में चूँकि हरे कृष्ण परम है, चाहे कोई मजाक में कहे या निष्ठापूर्वक कहे फिर भी इसका प्रभाव पड़ेगा। वैष्णवगण जो प्रसन्न होते हैं जब असुरगण हरे कृष्ण कीर्तन करते हैं, क्योंकि इससे पता चलता है कि हरे कृष्ण आन्दोलन की जड़ें गहरा रही हैं। वैष्णवों को दण्डित करने के लिए हिरण्यकशिपु जैसे बड़े-बड़े असुर सदैव तत्पर रहते हैं और ऐसी व्यवस्था करते हैं जिससे वैष्णव लोग न तो अपनी पुस्तकें बेचने, न ही कृष्णभावनामृत का प्रचार करने आएं। इस प्रकार हिरण्यकशिपु ने जो कुछ बहुत समय पहले किया था, वही आज भी

हो रहा है। यही भौतिकतावादी जीवन-शैली है। असुर या भौतिकतावादी नहीं चाहते कि कृष्णभावनामृत किसी प्रकार उन्नति करे और वे इसमें नाना प्रकार से विघ्न डालने का प्रयास करते रहते हैं। इतने पर भी कृष्णभावनामृत के प्रचारकों को अपना वैष्णव वेश बना कर या अन्य वेश में उपदेश देने के लिए आगे बढ़ते जाना चाहिए। चाणक्य पंडित का कहना है कि यदि ईमानदार व्यक्ति को किसी बहुत बड़े ठग से पाला पड़े तो यह आवश्यक है कि वह भी ठग बने—ठगने के उद्देश्य से नहीं अपितु अपने उपदेश कार्य को सफल बनाने के लिए।

गृहमानीतमाहूय प्रह्लादं दैत्ययाजकाः ।
प्रशस्य श्लक्ष्णया वाचा समपृच्छन्त सामभिः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

गृहम्—अध्यापकों (षण्ड तथा अमर्क) के घर तक; आनीतम्—लाया गया; आहूय—पुकार कर; प्रह्लादम्—प्रह्लाद को; दैत्य-याजकाः—हिरण्यकशिपु के पुरोहित; प्रशस्य—शान्त करके; श्लक्ष्णया—अत्यन्त नम्रतापूर्वक; वाचा—वाणी; समपृच्छन्त—प्रश्न पूछा; सामभिः—अत्यन्त अनुकूल शब्दों से।

जब हिरण्यकशिपु के नौकर बालक प्रह्लाद को गुरुकुल वापस ले आये तो असुरों के पुरोहित षण्ड तथा अमर्क ने उसे शान्त किया। उन्होंने अत्यन्त मृदु वाणी तथा स्नेह भरे शब्दों से उससे इस प्रकार पूछा।

तात्पर्य : षण्ड तथा अमर्क असुरों के पुरोहित थे। वे प्रह्लाद महाराज से यह जानने के लिए उत्सुक थे कि वे कौन से वैष्णव हैं, जो उसे कृष्णभावनामृत का उपदेश देने आते हैं। उसका मन्तव्य उन वैष्णवों के नामों का पता लगाना था। प्रारम्भ में उन्होंने बालक को डराया-धमकाया नहीं, क्योंकि ऐसा करने पर हो सकता था कि वह असली दोषियों के नाम न बताता। अतएव उन्होंने अत्यन्त मृदु तथा शान्त भाव से इस प्रकार पूछा।

वत्स प्रह्लाद भद्रं ते सत्यं कथय मा मृषा ।
बालानति कुतस्तुभ्यमेष बुद्धिविपर्ययः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

वत्स—हे पुत्र; प्रह्लाद—प्रह्लाद; भद्रम् ते—तुम्हारा कल्याण हो; सत्यम्—सत्य; कथय—बतलाओ; मा—मत; मृषा—मिथ्या, झूठ; बालान् अति—अन्य असुर बालकों से बढ़कर; कुतः—कहाँ से; तुभ्यम्—तुमको; एषः—इस; बुद्धि—बुद्धि का; विपर्ययः—विकार, प्रदूषण।

हे पुत्र प्रह्लाद, तुम्हारा क्षेम तथा कल्याण हो। तुम झूठ मत बोलना। ये बालक जिन्हें तुम देख

रहे हो, वे तुम जैसे नहीं हैं, क्योंकि ये सब पथभ्रष्ट जैसे नहीं बोलते। तुमने ये उपदेश कहाँ से सीखे? तुम्हारी बुद्धि इस तरह कैसे बिगड़ गई है?

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज अभी बालक ही थे, अतएव उनके अध्यापकों ने सोचा कि यदि इस बालक को फुसला सकें तो वह तुरन्त सच बता देगा और यह रहस्य प्रकट कर देगा कि किस प्रकार वैष्णवजन आकर उसे भक्ति का पाठ पढ़ा जाते हैं। निस्सन्देह, यह विस्मयजनक था कि उसी पाठशाला के अन्य दैत्य बालक बिगड़े नहीं थे, केवल प्रह्लाद महाराज ही वैष्णवों के उपदेश से बिगड़े थे। अध्यापकों का मुख्य कर्तव्य था कि वे पता लगाएँ कि वे वैष्णव कौन थे, जो वहाँ आकर प्रह्लाद को शिक्षा देते थे और उसकी बुद्धि को बिगाड़ रहे थे।

बुद्धिभेदः परकृत उताहो ते स्वतोऽभवत् ।
भण्यतां श्रोतुकामानां गुरूणां कुलनन्दन ॥ १० ॥

शब्दार्थ

बुद्धि-भेदः—बुद्धि भ्रष्ट होना; पर-कृतः—शत्रुओं द्वारा किया गया; उताहो—अथवा; ते—तुम्हारा; स्वतः—अपने से; अभवत्—था; भण्यताम्—हमें बताओ; श्रोतु-कामानाम्—सुनने के इच्छुक; गुरूणाम्—अपने अध्यापकों का; कुल-नन्दन—हे अपने वंश के सर्वश्रेष्ठ।

हे कुलश्रेष्ठ, तुम्हारी बुद्धि का यह विकार अपने आप आया है या शत्रुओं द्वारा लाया गया है? हम सब तुम्हारे अध्यापक हैं और इसके विषय में जानने के इच्छुक हैं। हमसे सच-सच कहो।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज के अध्यापक आश्चर्यचकित थे कि इतना छोटा बालक किस तरह ऐसे उच्च वैष्णव-दर्शन की बातें कर सकता है। अतएव उन्होंने उन वैष्णवों के विषय में जानना चाहा जो चोरी-चोरी उसे शिक्षा दे रहे थे जिससे वे वैष्णव बन्दी बनाये जा सकें और प्रह्लाद के पिता हिरण्यकशिपु के समक्ष मारे जा सकें।

श्रीप्रह्लाद उवाच
परः स्वश्चेत्यसद्ग्राहः पुंसां यन्मायया कृतः ।
विमोहितधियां दृष्टस्तस्मै भगवते नमः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्लादः उवाच—प्रह्लाद महाराज ने उत्तर दिया; परः—शत्रु; स्वः—स्वजन या मित्र; च—भी; इति—इस प्रकार; असत्-ग्राहः—जीवन की भौतिक धारणा; पुंसाम्—मनुष्यों की; यत्—जिसकी; मायया—माया से; कृतः—उत्पन्न; विमोहित—

मोहग्रस्त; धियाम्—बुद्धिवालों का; दृष्टः—साक्षात् अनुभव किया गया; तस्मै—उस; भगवते—भगवान् को; नमः—मेरा नमस्कार है।.

प्रह्लाद महाराज ने उत्तर दिया: मैं उन भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ जिनकी माया ने मनुष्यों की बुद्धि को चकमा देकर 'मेरे मित्र' तथा 'मेरे शत्रु' में अन्तर उत्पन्न किया है। निस्सन्देह, मुझको अब इसका वास्तविक अनुभव हो रहा है, यद्यपि मैंने पहले इसके विषय में प्रामाणिक स्त्रोतों से सुन रखा है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (५.१८) में कहा गया है—

विद्या विनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

"विनीत साधु अपने असली ज्ञान के बल पर एक विद्वान तथा भद्र ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता तथा चाण्डाल (अछूत) को समान दृष्टि से देखता है।" जो *पण्डितः* हैं—अर्थात् जो वास्तव में विद्वान हैं, समदर्शी हैं, उन्नत भक्त जिन्हें प्रत्येक वस्तु का पूरा-पूरा ज्ञान है किसी भी प्राणी को मित्र या शत्रु के रूप में नहीं देखते। अपितु व्यापक दृष्टि होने से वे सबों को कृष्ण के अंश रूप में देखते हैं जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने पुष्टि की है (*जीवेर 'स्वरूप' हय कृष्णेर 'नित्य दास'*)। प्रत्येक जीव भगवान् का अंश होने के कारण उनकी सेवा के लिए आया है, जिस तरह शरीर का प्रत्येक अंग पूरे शरीर की सेवा के लिए होता है।

सारे जीव भगवान् के दास के रूप में एक से हैं, लेकिन वैष्णव स्वाभाविक अपनी विनम्रता के कारण प्रत्येक अन्य जीव को *प्रभु* कहकर सम्बोधित करता है। वह अन्य दासों को इतना आगे बढ़ा देखता है कि उसे उनसे बहुत कुछ सीखने को मिलता है। इस तरह वह भगवान् के अन्य सभी भक्तों को *प्रभु* के रूप में स्वीकार करता है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति भगवान् का दास है, लेकिन अपनी विनम्रता के कारण वैष्णव दास दूसरे दास को अपना प्रभु (स्वामी) मानता है। प्रभु का ज्ञान गुरु के ज्ञान से प्रारम्भ होता है—

यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादो

यस्याप्रसादान् न गतिः कुतोऽपि।

"गुरु की कृपा होने पर मनुष्य को कृष्ण का आशीर्वाद प्राप्त होता है। गुरु की कृपा के बिना

किसी भी तरह की प्रगति नहीं हो सकती।''

साक्षाद् धरित्वेन समस्तशास्त्रै-

रुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्भिः।

किन्तु प्रभोर्यः प्रिय एव तस्य

वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥

''गुरु का उतना ही आदर किया जाना चाहिए जितना कि भगवान् का किया जाता है क्योंकि वह भगवान् का परम विश्वस्त सेवक है। इसे समस्त शास्त्रों ने स्वीकार किया है और सारे विद्वान इसका पालन करते हैं। अतएव मैं ऐसे गुरु के चरणकमलों को सादर प्रणाम करता हूँ जो श्रीहरि (कृष्ण) के प्रामाणिक प्रतिनिधि हैं।'' ईश्वर का दास गुरु भगवान् की अत्यन्त गुह्य सेवा में लगा रहता है। यह सेवा समस्त बद्धजीवों को माया के चंगुल से मुक्त करती है, जिसमें मनुष्य सोचता है ''यह व्यक्ति मेरा शत्रु है और यह मेरा मित्र है।'' वास्तव में भगवान् समस्त जीवों के मित्र हैं और सारे जीव भगवान् के नित्य दास हैं। एकत्व तो इसी ज्ञान से सम्भव है, न कि कृत्रिम विचार से कि हममें से प्रत्येक ईश्वर है या ईश्वर के तुल्य है। असली ज्ञान तो यही है कि ईश्वर परम प्रभु हैं और हम सभी उनके दास हैं, अतएव हम सभी एक ही स्तर (पद) पर हैं। प्रह्लाद महाराज को उनके गुरु नारद ने पहले ही यह सिखला दिया था, किन्तु तो भी प्रह्लाद को आश्चर्य हो रहा था कि किस तरह मोहग्रस्त जीव किसी को अपना मित्र और किसी को अपना शत्रु मानता है।

जब तक मनुष्य द्वैत दर्शन से चिपका रहता है और किसी को मित्र तथा किसी को शत्रु मानता है तब तक उसे माया के पाश में समझना चाहिए। मायावादी दार्शनिक भी भ्रम में रहता है, क्योंकि वह समस्त जीवों को ईश्वर मानकर उन्हें एक समझता है। कोई भी व्यक्ति ईश्वर के तुल्य नहीं है। दास कभी प्रभु (स्वामी) के तुल्य नहीं हो सकता। वैष्णव दर्शन के अनुसार स्वामी (प्रभु) एक है और दास भी एक हैं लेकिन स्वामी तथा दास में मुक्त अवस्था में भी अन्तर बना रहता है। बद्ध अवस्था में हम सोचते हैं कि कुछ प्राणी हमारे मित्र हैं और अन्य हमारे शत्रु हैं। इस तरह हम द्वैत भाव में बने रहते हैं। किन्तु मुक्त अवस्था में ईश्वर प्रभु के रूप में और सारे जीव ईश्वर के दास होने के कारण एक होते हैं।

स यदानुव्रतः पुंसां पशुबुद्धिर्विभिद्यते ।
अन्य एष तथान्योऽहमिति भेदगतासती ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह भगवान्; यदा—जब; अनुव्रतः—अनुकूल या प्रसन्न; पुंसाम्—बद्धजीवों का; पशु-बुद्धिः—जीवन के विषय में पाशविक धारणा है (कि मैं भगवान् हूँ और हर एक ईश्वर है); विभिद्यते—नष्ट हो जाता है; अन्यः—दूसरा; एषः—यह; तथा—भी; अन्यः—दूसरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; भेद—अन्तर; गत—से युक्त; असती—संकटपूर्ण।

जब भगवान् किसी जीव से उसकी भक्ति के कारण प्रसन्न हो जाते हैं, तो वह पण्डित बन जाता है और वह शत्रु, मित्र तथा अपने में कोई भेद नहीं मानता। तब वह बुद्धिमानी से सोचता है कि हम सभी ईश्वर के नित्य दास हैं, अतएव हम एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं।

तात्पर्य : जब प्रह्लाद महाराज के अध्यापकों तथा आसुरी पिता ने पूछा कि उसकी बुद्धि किस तरह दूषित हो गई है, तो प्रह्लाद महाराज ने कहा—"जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मेरी बुद्धि दूषित नहीं की गई है। परन्तु अपने गुरु की कृपा से तथा भगवान् कृष्ण की कृपा से मैंने अब यह सीखा है कि न तो कोई मेरा मित्र है और न कोई शत्रु है। वास्तव में हम सभी कृष्ण के नित्य दास हैं, किन्तु माया के प्रभाव से हम सोचते हैं कि हम एक दूसरे के शत्रु तथा मित्र रूप में भगवान् से भिन्न स्थित हैं। अब यह भ्रम दूर हो गया है, अतएव मैं सामान्य मनुष्यों की तरह नहीं रहा। अब मैं यह नहीं सोचता कि मैं ईश्वर हूँ और अन्य लोग मेरे शत्रु तथा मित्र हैं। अब मैं ठीक ही सोचता हूँ कि हर कोई ईश्वर का नित्य दास है और हमारा कर्तव्य है कि इन परम प्रभु की सेवा की जाये, क्योंकि तब हम दास के रूप में एकत्व के पद पर खड़े होंगे।"

असुरगण प्रत्येक व्यक्ति को मित्र या शत्रु मानते हैं, लेकिन वैष्णवों का कहना है कि चूँकि प्रत्येक व्यक्ति भगवान् का दास है, अतएव प्रत्येक व्यक्ति एक जैसे पद पर है। अत: एक वैष्णव अन्य जीवों को न तो शत्रु मानता है, न मित्र अपितु कृष्णभावनामृत का प्रसार करता है हर एक को यह शिक्षा देता है कि हम सभी भगवान् के दास के रूप में एक हैं, किन्तु हम राष्ट्रों, जातियों तथा शत्रु-मित्रों के वर्गों को जन्म देकर अपने अमूल्य जीवन व्यर्थ गँवा रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति को कृष्णभावनामृत पद प्राप्त करके भगवान् के दास रूप में एकत्व का अनुभव करना चाहिए। यद्यपि जीवन की चौरासी लाख योनियाँ हैं, किन्तु एक वैष्णव उनमें इस एकत्व का अनुभव करता है। *ईशोपनिषद* का उपदेश है—*एकत्वम् अनुपश्यत:।* भक्त को चाहिए कि भगवान् को प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित देखे और यह भी देखे कि प्रत्येक जीव भगवान् के नित्य दास के रूप में है। यह दृष्टि *एकत्वम्* कहलाती है। यद्यपि

दास तथा स्वामी का सम्बन्ध रहता है, किन्तु दास तथा स्वामी अपनी आध्यात्मिक पहचान के कारण एक हैं। यह भी *एकत्वम्* है। अतएव वैष्णव की *एकत्वम्* की धारणा मायावादी की धारणा से भिन्न है।

हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद महाराज से पूछा कि वह अपने परिवार से विपरीत क्यों हो गया है? जब किसी परिवार का कोई सदस्य किसी शत्रु द्वारा मारा जाता है, तो उस परिवार के सारे सदस्य उस हत्यारे के शत्रु बन जाते हैं, लेकिन हिरण्यकशिपु देख रहा था कि प्रह्लाद का तो हत्यारे से मैत्री-भाव था। अतएव उसने पूछा ''किसने तुममें इस तरह की बुद्धि उत्पन्न की है? क्या तुमने स्वयं यह चेतना विकसित की है? चूँकि तुम छोटे से बालक हो, अतएव किसी ने अवश्य ही तुम्हें इस तरह सोचने के लिए प्रेरित किया है।'' प्रह्लाद महाराज कहना चाहते थे कि विष्णु के अनुकूल मनोवृत्ति तभी विकसित हो सकती है जब भगवान् अनुकूल हों (*स यदानुव्रतः*)। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—कृष्ण सबों के मित्र हैं (*सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति*)। भगवान् कभी भी लाखों जीवों में से किसी के भी शत्रु नहीं होते। वे तो सदा सबों के मित्र हैं। यही असली ज्ञान है। यदि कोई सोचता है कि भगवान् शत्रु हैं, तो उसकी बुद्धि पशुबुद्धि है। वह झूठ ही सोचता हैं ''मैं अपने शत्रु से भिन्न हूँ और मेरा शत्रु मुझसे भिन्न है। चूँकि शत्रु ने ऐसा किया है अतएव मेरा कर्तव्य है कि मैं उसका वध करूँ।'' इस भ्रान्त धारणा को इस श्लोक में *भेदगतासती* के रूप में वर्णित किया गया है। वास्तविक तथ्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति भगवान् का दास है जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने *चैतन्य-चरितामृत* में पुष्टि की है (*जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्यदास'*)। ईश्वर के दास रूप में हम सभी एक हैं और शत्रुता और मित्रता का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि मनुष्य वास्तव में यह समझ ले कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति भगवान् का दास है, तो फिर शत्रु या मित्र का प्रश्न कहाँ उठता है?

भगवान् की सेवा करने के लिए सबों को मैत्रीभाव रखना चाहिए। हर एक को चाहिए कि दूसरे द्वारा की गई भगवान् की सेवा की प्रशंसा करे और अपनी ही सेवा पर गर्वित न हो। यही वैष्णवों के सोचने की विधि या वैकुण्ठ विचार है। सेवा करने के लिए दासों में स्पर्द्धा हो सकती है, बाह्य रूप से होड़ लग सकती है, किन्तु वैकुण्ठ लोक में तो दूसरे दास की सेवा प्रशंसित होती है, निन्दित नहीं। यह वैकुण्ठ की स्पर्द्धा है। यहाँ पर दासों के मध्य शत्रुता का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रत्येक व्यक्ति को पूरी सामर्थ्य भर भगवान् की सेवा करने देना चाहिए और हर एक को चाहिए कि दूसरे द्वारा की जाने वाली

सेवा को समझे। वैकुण्ठ के कार्यकलाप ऐसे ही हैं। चूँकि हर व्यक्ति दास है अतएव हर एक समान स्तर (पद) पर होता है और उसे अपनी सामार्थ के अनुसार भगवान् की सेवा करने दी जाती है। जैसाकि *भगवद्गीता* से (१५.१५) पुष्ट होता है—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्त: स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—भगवान् सबों के हृदय में स्थित हैं और दास की मनोवृत्ति के अनुसार आदेश देते रहते हैं। किन्तु भगवान् भक्तों तथा अभक्तों को भिन्न-भिन्न आदेश देते हैं। अभक्तगण परमेश्वर की सत्ता को चुनौती देते हैं, अतएव भगवान् ऐसा आदेश देते हैं जिससे अभक्त जन्म-जन्मातर भगवान् की सेवा को भूलता रहता है और प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित होता है। किन्तु जब भक्त अत्यन्त निष्ठापूर्वक भगवान् की सेवा करना चाहता है, तो भगवान् भिन्न रीति से आदेश देते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.१०) में भगवान् कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

"जो निरन्तर मेरी भक्ति करते हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं उन्हें मैं बुद्धि देता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।" प्रत्येक व्यक्ति वास्तव में दास है, वह न तो शत्रु है, न मित्र और हर व्यक्ति भगवान् के पृथक्-पृथक् आदेशानुसार कार्य कर रहा है, क्योंकि वे प्रत्येक जीव को उसकी मानसिकता के अनुसार निर्देश देते हैं।

स एष आत्मा स्वपरेत्यबुद्धिभि-
र्दुरत्ययानुक्रमणो निरूप्यते ।
मुह्यन्ति यद्वर्त्मनि वेदवादिनो
ब्रह्मादयो ह्येष भिनत्ति मे मतिम् ॥ १३॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—यह; आत्मा—प्रत्येक हृदय में स्थित परमात्मा; स्व-पर—यह मेरा कार्य है और वह दूसरे का है; इति—इस प्रकार; अबुद्धिभिः—ऐसी खराब बुद्धि वालों के द्वारा; दुरत्यय—पालन करना अत्यन्त दुष्कर; अनुक्रमणः—जिसकी भक्ति; निरूप्यते—निश्चित की जाती है (शास्त्रों या गुरु के उपदेशों से); मुह्यन्ति—मोहित हो जाते हैं; यत्—जिसके; वर्त्मनि—रास्ते में; वेद-वादिनः—वैदिक आदेशों के अनुयायी; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा से लेकर देवगण तक; हि—निस्सन्देह; एषः—यह; भिनत्ति—बदल देती है; मे—मेरी; मतिम्—बुद्धि को।

जो लोग सदैव 'शत्रु' तथा 'मित्र' के बारे में सोचते हैं, वे अपने भीतर परमात्मा को स्थिर कर पाने में असमर्थ रहते हैं। इनकी जाने दें, ब्रह्मा जैसे बड़े-बड़े पुरुष जो वैदिक साहित्य से पूरी

तरह अभिज्ञ हैं कभी-कभी भक्ति के सिद्धान्तों का पालन करते हुए मोहग्रस्त हो जाते हैं। जिस भगवान् ने यह परिस्थिति उत्पन्न की है उसी ने ही मुझे आपके तथाकथित शत्रु का पक्षधर बनने की बुद्धि दी है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज ने खुल कर स्वीकार किया—"हे अध्यापको! आप त्रुटिवश सोचते हैं कि भगवान् विष्णु आपके शत्रु हैं, लेकिन चूँकि वे मुझ पर अनुकूल हैं, अतएव मैं समझता हूँ कि वे सबों के मित्र हैं। आप भले ही यह सोचें कि मैंने आपके शत्रु का पक्ष ग्रहण किया है, लेकिन वास्तव में उन्होंने मुझ पर महान् कृपा की है।"

यथा भ्राम्यत्ययो ब्रह्मन्स्वयमाकर्षसन्निधौ ।
तथा मे भिद्यते चेतश्चक्रपाणेर्यदृच्छया ॥ १४॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; भ्राम्यति—घूमता है; अयः—लोह; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणो; स्वयम्—अपने आप; आकर्ष—चुम्बक के; सन्निधौ—निकट; तथा—उसी तरह; मे—मेरी; भिद्यते—बदलती है; चेतः—चेतना; चक्र-पाणेः—हाथ में चक्र धारण करने वाले भगवान् विष्णु की; यदृच्छया—केवल इच्छा मात्र से।

हे ब्राह्मणों (आध्यापको), जिस प्रकार चुम्बक से आकर्षित लोह स्वतः चुम्बक की ओर जाता है, उसी प्रकार भगवान् विष्णु की इच्छा से बदली हुई मेरी चेतना उन चक्रधारी की ओर आकृष्ट होती है। इस प्रकार मुझे कोई स्वतंत्रता नहीं है।

तात्पर्य : चुम्बक द्वारा लोहे का आकृष्ट होना स्वाभाविक है। उसी तरह सारे जीवों का कृष्ण के प्रति आकृष्ट होना स्वाभाविक है और इसीलिए भगवान् का असली नाम कृष्ण है, जिसका अर्थ है हर एक को तथा हर वस्तु को आकृष्ट करने वाला। ऐसे आकर्षण के विशिष्ट उदाहरण वृन्दावन में मिलते हैं जहाँ हर वस्तु तथा हर कोई कृष्ण द्वारा आकृष्ट होता है। नन्द महाराज तथा यशोदा देवी, वयोवृद्ध लोग, श्रीदामा, सुदामा तथा अन्य ग्वाल-बाल जैसे मित्रगण तथा श्रीमती राधारानी तथा उनकी सखी गोपियाँ और यहाँ तक कि पशु-पक्षी, गाएँ तथा बछड़े तक आकृष्ट होते हैं। बगीचों के फूल-फल आकृष्ट हैं, यमुना की तरंगें आकृष्ट हैं तथा स्थल, आकाश, वृक्ष, पौधे, पशु तथा अन्य सारे जीव आकृष्ट हैं। वृन्दावन में प्रत्येक वस्तु की यह स्वाभाविक स्थिति है।

वृन्दावन के व्यापारों से सर्वथा विपरीत यह भौतिक जगत है जहाँ सारे लोग कृष्ण द्वारा नहीं, अपितु माया द्वारा आकृष्ट होते हैं। आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों का यही अन्तर है। हिरण्यकशिपु

इस भौतिक जगत में होने के कारण स्त्रियों तथा धन के द्वारा आकृष्ट था जबकि प्रह्लाद महाराज अपनी स्वाभाविक स्थिति में होने के कारण कृष्ण द्वारा आकृष्ट थे। जब हिरण्यकशिपु ने पूछा कि प्रह्लाद महाराज का पृथक् दृष्टिकोण क्यों है, तो उन्होंने उत्तर दिया कि उनकी दृष्टि पृथक् नहीं है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की स्वाभाविक स्थिति कृष्ण द्वारा आकृष्ट होने की है। प्रह्लाद ने कहा कि उनका यह दृष्टिकोण इसलिए भिन्न लगता है, क्योंकि हिरण्यकशिपु अप्राकृतिक रूप से कृष्ण से अनाकृष्ट है, अतएव उसके शुद्धिकरण की आवश्यकता है।

ज्योंही मनुष्य भौतिक कल्मष से शुद्ध हो जाता है, तो वह पुनः कृष्ण के प्रति आकृष्ट होता है (*सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्*)। इस भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति की धूल से कलुषित है और वह विभिन्न उपाधियों के अनुसार कर्म करता है—कभी मनुष्य के रूप में, कभी पशु के रूप में, कभी देवता के रूप में, तो कभी वृक्ष के रूप में। उसे इन सारी उपाधियों को धोकर दूर कर देना चाहिए। तभी वह स्वभावतः कृष्ण के प्रति आकृष्ट होगा। भक्ति द्वारा जीव अपने समस्त अस्वाभाविक आकर्षणों से शुद्ध हो जाता है। जब वह शुद्ध हो जाता है, तो कृष्ण द्वारा आकृष्ट होता है और तब माया की सेवा न करके कृष्ण की सेवा करने लगता है। यही उसकी प्राकृतिक स्थिति है। भक्त कृष्ण द्वारा आकृष्ट होता है, लेकिन अभक्त भौतिक भोग की धूल से कलुषित होने के कारण आकृष्ट नहीं होता। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.२८) में हुई है—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

''जिन्होंने पूर्वजन्म में तथा इस जीवन में पुण्यकर्म किया है, जिनके पाप कर्म पूरी तरह उन्मूलित हो चुके हैं और जो भ्रम के द्वैत से मुक्त हैं, वे ही संकल्पपूर्वक मेरी सेवा में संलग्न होते हैं।'' मनुष्य को संसार की पापमयी धूल से सर्वथा मुक्त होना चाहिए। इस संसार का प्रत्येक व्यक्ति भौतिक इच्छा से दूषित है। जब तक वह समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त नहीं हो लेता (*अन्याभिलाषिता शून्यम्*), तब तक वह कृष्ण द्वारा आकृष्ट नहीं होता।

श्रीनारद उवाच
एतावद्ब्राह्मणायोक्त्वा विरराम महामतिः ।

तं सन्निभर्त्स्य कुपितः सुदीनो राजसेवकः ॥ १५॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद महामुनि ने कहा; एतावत्—इतना; ब्राह्मणाय—शुक्राचार्य के पुत्रों से, जो ब्राह्मण थे; उक्त्वा—कहकर; विरराम—मौन हो गये; महा-मतिः—महान् बुद्धि वाले प्रह्लाद महाराज; तम्—उसको (प्रह्लाद महाराज को); सन्निभर्त्स्य—अत्यन्त भर्त्सना करते हुए; कुपितः—क्रुद्ध होकर; सु-दीनः—विचारों में दरिद्र या अत्यधिक शोकमग्न; राज-सेवकः—राजा हिरण्यकशिपु के सेवकगण।

श्री नारद महामुनि ने आगे कहा : शुक्राचार्य के पुत्रों अर्थात् अपने शिक्षकों षण्ड तथा अमर्क से यह कहने के बाद महात्मा प्रह्लाद महाराज मौन हो गये। तब ये तथाकथित ब्राह्मण उन पर क्रुद्ध हुए। चूँकि वे हिरण्यकशिपु के दास थे अतएव वे अत्यन्त दुखी थे। वे प्रह्लाद महाराज की भर्त्सना करने के लिए इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : शुक्राचार्य (शुक्र का अर्थ है वीर्य) के पुत्र जन्म से ब्राह्मण थे, किन्तु असली ब्राह्मण तो वह है, जिसमें ब्राह्मण के गुण पाये जाँए। षण्ड तथा अमर्क शुक्राचार्य के वीर्य से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण तो थे, किन्तु उनमें असली ब्राह्मण के गुण नहीं थे, क्योंकि वे हिरण्यकशिपु की नौकरी करते थे। वास्तविक ब्राह्मण किसी को भी कृष्ण का भक्त बनते देखकर अत्यन्त प्रसन्न होता है, अपने शिष्य के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं। ऐसे ब्राह्मण अपने परम स्वामी को प्रसन्न करने के लिए होते हैं। ब्राह्मण को किसी अन्य का दास बनने के लिए वर्जित किया गया है, क्योंकि यह तो कुत्तों तथा शूद्रों का कार्य है। कुत्ते को अपने स्वामी को प्रसन्न रखना पड़ता है, लेकिन ब्राह्मण को अन्य किसी को प्रसन्न नहीं करना होता, उसे मात्र कृष्ण को प्रसन्न करना होता है (*आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्*)। ब्राह्मण की असली योग्यता यही है। चूँकि षण्ड तथा अमर्क जन्मना ब्राह्मण थे और हिरण्यकशिपु जैसे स्वामी के दास हो गये थे, अतएव व्यर्थ ही प्रह्लाद महाराज को दण्डित करना चाहते थे।

आनीयतामरे वेत्रमस्माकमयशस्करः ।
कुलाङ्गारस्य दुर्बुद्धेश्चतुर्थोऽस्योदितो दमः ॥ १६॥

शब्दार्थ

आनीयताम्—लायी जाये; अरे—ओह; वेत्रम्—बेंत, छड़ी; अस्माकम्—हमारी; अयशस्करः—अपयश लाने वाला; कुल-अङ्गारस्य—जो कुल में अंगार के सदृश है उसका; दुर्बुद्धेः—दुर्बुद्धि वाले; चतुर्थः—चौथा; अस्य—उसका; उदितः—घोषित; दमः—दण्ड (हठ न्याय)।

अरे! मेरी छड़ी तो लाओ! यह प्रह्लाद हम लोगों के नाम और यश में बट्टा लगा रहा है। अपनी दुर्बुद्धि के कारण यह असुरों के कुल में अंगार बन गया है। अब राजनीतिक कूटनीति के चार

प्रकारों में से चौथे के द्वारा इसका उपचार किये जाने की आवश्यकता है।

तात्पर्य : राजनीतिक मामलों में जब कोई व्यक्ति सरकार के विरुद्ध अवज्ञा दिखलाता है, तो उसके दमन के लिए चार नियमों का प्रयोग किया जाता है—कानूनी आदेश, शमन करना, पद प्रदान करना या अन्ततः हथियार का प्रयोग। जब कोई तर्क शेष नहीं रहते तो उसे दण्डित किया जाता है। तर्कशास्त्र में इसे हठ न्याय कहते हैं। षण्ड तथा अमर्क नामक दोनों ब्राह्मण जब प्रह्लाद महाराज से अपने पिता से भिन्न मत होने का कारण कहलवा नहीं पाये तो उन्होंने अपने स्वामी हिरण्यकशिपु को प्रसन्न करने के लिए बेंत मँगवाया जिससे वे उसे दन्ड दे सके। चूँकि प्रह्लाद भक्त बन चुका था, अतएव उन्होंने सोचा कि वह दुर्बुद्धि से कलुषित हो चुका है और असुरों के कुल के लिए निकृष्टतम सन्तान है। जैसाकि कहावत है "जहाँ अज्ञान ही वरदान बन जाता है, वहाँ बुद्धिमान होना मूर्खता है।" जिस समाज या परिवार का हर व्यक्ति असुर हो वहाँ किसी का वैष्णव बनना सरासर मूर्खता है। इस तरह प्रह्लाद महाराज पर दुर्बुद्धि का आरोप लगाया गया, क्योंकि वे असुरों के बीच में थे जिनमें उनके शिक्षक भी सम्मिलित थे, जो कहने भर के ब्राह्मण थे।

हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्यों की स्थिति प्रह्लाद महाराज जैसी है। सारे विश्व में ९९ प्रतिशत लोग ईश्वरविहीन असुर हैं, अतएव प्रह्लाद महाराज का अनुसरण करते हुए हम लोगों का प्रचार-कार्य सदैव अनेक अवरोधों से ग्रस्त रहता है। जिन अमरीकी बालकों ने कृष्णभावनामृत के प्रचार कार्य में अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया है उन्हें भक्त होने के दोष में सी. आई. ए. का सदस्य बतलाया जाता है। यही नहीं, भारत के शुक्र-ब्राह्मण, जो यह मानते हैं कि कोई ब्राह्मण तभी हो सकता है, जब वह ब्राह्मण कुल में जन्मा हो, हम पर आरोप लगाते हैं कि हम हिन्दू धर्म को विनष्ट कर रहे हैं। निस्सन्देह, तथ्य यह है कि योग्यता से ही कोई ब्राह्मण बन सकता है। चूँकि हम यूरोपवासियों तथा अमरीकियों को योग्य बनने की शिक्षा दे रहे हैं और उन्हें ब्राह्मण पद प्रदान कर रहे हैं, अतएव हम पर हिन्दू धर्म को विनष्ट करने का आरोप लगाया जाता है। फिर भी हमें सभी प्रकार की कठिनाइयों का सामना करते हुए प्रह्लाद महाराज की भाँति ही दृढसंकल्प होकर कृष्णभावनामृत का प्रसार करना है। असुरराज हिरण्यकशिपु का पुत्र होते हुए भी प्रह्लाद कभी भी आसुरी पिता के शुक्र से उत्पन्न ब्राह्मण पुत्रों की प्रताड़ना से भयभीत नहीं हुए।

दैतेयचन्दनवने जातोऽयं कण्टकद्रुमः ।
यन्मूलोन्मूलपरशोर्विष्णोर्नालायितोऽर्भकः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

दैतेय—दैत्य वंश के; चन्दन-वने—चन्दन वन में; जातः—उत्पन्न; अयम्—यह; कण्टक-द्रुमः—कँटीला वृक्ष; यत्—जिसकी; मूल—जड़ों के; उन्मूल—काटने में; परशोः—जो कुल्हाड़े की भाँति है; विष्णोः—भगवान् विष्णु; नालायितः—हत्था या बेंट; अर्भकः—बालक।

यह धूर्त प्रह्लाद चन्दन के वन में कँटीले वृक्ष के समान प्रकट हुआ है। चन्दन-वृक्ष काटने के लिए कुल्हाड़े की आवश्यकता होती है और कँटीले वृक्ष की लकड़ी ऐसे कुल्हाड़े का हत्था बनाने के लिए अत्यन्त उपयुक्त होती है। भगवान् विष्णु दैत्य वंश रूपी चन्दन बन को काट गिराने के लिए कुल्हाड़े के तुल्य हैं और यह प्रह्लाद उस कुल्हाड़े का हत्था (बेंट) है।

तात्पर्य : सामान्यतया कँटीले वृक्ष मरुस्थल में उगते हैं, वे चन्दन वन में नहीं उगते किन्तु शुक्र-ब्राह्मण षण्ड-अमर्क नामक ब्राह्मणों ने दैत्यराज हिरण्यकशिपु के वंश की तुलना चन्दन वन से की और प्रह्लाद महाराज की तुलना उस कठोर बलिष्ठ कँटीले वृक्ष से की जिससे कुल्हाड़े का हत्यार बनाया जाता है। उन्होंने भगवान् विष्णु की तुलना कुल्हाड़े से की। अकेला कुल्हाड़ा कँटीले वृक्ष को नहीं काट सकता, इस के लिए कण्टीले लकड़ी से बने हाथे की आवश्यकता होती है। इस प्रकार उस कँटीले वृक्ष जैसी आसुरी सभ्यता को *विष्णु भक्ति* रूपी कुल्हाड़े से ही खण्ड-खण्ड किया जा सकता है। इस आसुरी सभ्यता रूपी कुल्हाड़े का प्रह्लाद महाराज जैसा कोई सदस्य बेंट बनकर भगवान् विष्णु की सहायता कर सकता है और इस तरह आसुरी सभ्यता का समूचा वन खण्ड-खण्ड किया जा सकता है।

इति तं विविधोपायैर्भीषयंस्तर्जनादिभिः ।
प्रह्लादं ग्राहयामास त्रिवर्गस्योपपादनम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

इति—इस तरह से; तम्—उसको (प्रह्लाद महाराज को); विविध-उपायैः—अनेक प्रकार से; भीषयन्—धमकाते हुए; तर्जन-आदिभिः—ताड़ना आदि के द्वारा.; प्रह्लादम्—प्रह्लाद महाराज को; ग्राहयाम् आस—पढ़ाया; त्रि-वर्गस्य—जीवन के तीन लक्ष्य (धर्म, अर्थ तथा काम); उपपादनम्—शास्त्र जो प्रस्तुत करता है।

प्रह्लाद महाराज के शिक्षक षण्ड तथा अमर्क ने अपने शिष्य को तरह-तरह से डराया-धमकाया और उसे धर्म, अर्थ तथा काम के मार्गों के विषय में पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। यह थी उनकी शिक्षा देने की विधि।

तात्पर्य : इस श्लोक में *प्रह्लादं ग्राहयाम् आस* पद महत्त्वपूर्ण है। *ग्राहयाम् आस* का शाब्दिक अर्थ होगा कि उन्होंने प्रह्लाद महाराज को धर्म, अर्थ तथा काम के मार्गों को स्वीकार कराने की चेष्टा की। सामान्यतया लोग इन्हीं तीनों में बँधे रहते हैं, उन्हें मुक्ति मार्ग में कोई रुचि नहीं रहती। प्रह्लाद महाराज का पिता तो केवल स्वर्ण तथा विषय-भोग में रुचि लेता था। *हिरण्य* शब्द का अर्थ है "सोना" और *कशिपु* का अर्थ है "मुलायम गद्दे" जिन पर लोग इन्द्रियतृप्ति का आनन्द लेते हैं, किन्तु *प्रह्लाद* शब्द सूचक है उस व्यक्ति का जो ब्रह्म को जानने से सदैव प्रसन्न रहता है (*ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा*)। *प्रह्लाद* का अर्थ है प्रसन्नात्मा, अर्थात् सदैव प्रसन्न रहने वाला। प्रह्लाद भगवान् की पूजा करने में सदैव प्रसन्न रहता था, लेकिन हिरण्यकशिपु के आदेशों के अनुसार, शिक्षकगण उसे भौतिक बातों की शिक्षा देने में अधिक रुचि दिखाते थे। भौतिकतावादी लोग सोचते हैं कि धर्म का पक्ष उनकी भौतिक दशा सुधारने के लिए है। वे मन्दिर में नाना प्रकार के देवताओं की पूजा करने जाते हैं जिससे उनकी भौतिक दशा सुधारने के लिए वर प्राप्त हो सके। वे *साधु* या तथाकथित *स्वामी* के पास इसलिए जाते हैं जिससे भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिए कोई सुगम विधि प्राप्त हो सके। ये तथाकथित साधु धर्म के नाम पर भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त करने के सुगम मार्ग दिखलाकर भौतिकतावादियों की इन्द्रियों को तुष्ट करने का प्रयास करते हैं। कभी-कभी वे कुछ तिलस्म या आशीर्वाद देते हैं। कभी-कभी वे उन्हें सोना बनाकर आकृष्ट करते हैं। तब वे अपने को ईश्वर घोषित करते हैं और ये मूर्ख भौतिकतावादी आर्थिक लाभ के लिए उनकी ओर आकृष्ट होते हैं। इस ठगी के फलस्वरूप अन्य लोग धार्मिक विधि को ग्रहण करने में आनाकानी करते हैं और इसके बजाय वे सामान्य लोगों को भौतिक उन्नति के लिए कार्य करने का उपदेश देते हैं। यही विश्व भर में हो रहा है। आज से नहीं, अपितु अनन्त काल से लोग *मोक्ष* में रुचि नहीं लेते। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—ये चार सिद्धान्त हैं। लोग भौतिक रूप से ऐश्वर्यवान क्यों बने? इन्द्रियतृप्ति के लिए। अतएव लोग भौतिकता पूर्ण जीवनके इन्ही तीन *मार्गों* को अच्छा समझते हैं। किसी की रुचि *मोक्ष* में नहीं होती और *भगवद्भक्ति* तो मोक्ष से भी ऊपर है। अतएव भक्तियोग या कृष्णभावनामृत को समझना अत्यन्त कठिन है। इसकी व्याख्या आगे चलकर प्रह्लाद महाराज द्वारा की जाएगी। षण्ड तथा अमर्क नामक अध्यापकों ने प्रह्लाद महाराज को भौतिकतावादी जीवन-शैली अपनाने के लिए फुसलाया, किन्तु उनका प्रयास व्यर्थ गया।

तत एनं गुरुर्ज्ञात्वा ज्ञातज्ञेयचतुष्टयम् ।
दैत्येन्द्रं दर्शयामास मातृमृष्टमलङ्कृतम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; एनम्—उसको (प्रह्लाद महाराज को); गुरुः—उसके गुरु; ज्ञात्वा—जानकर; ज्ञात—जाना हुआ; ज्ञेय—जिन्हें जानना है; चतुष्टयम्—चार कूटनीतिक सिद्धान्त-साम, दाम, दंड, भेद; दैत्य-इन्द्रम्—दैत्यों के राजा हिरण्यकशिपु को; दर्शयाम् आस—ले गये, प्रस्तुत किया; मातृ-मृष्टम्—अपनी माता के द्वारा नहलाया जाकर; अलङ्कृतम्—आभूषणों से सजाया जाकर।

कुछ काल बाद षण्ड तथा अमर्क नामक शिक्षकों ने सोचा कि प्रह्लाद महाराज जनता के नेताओं को शान्त करने, उन्हें लाभप्रद आकर्षक नौकरीयाँ देकर प्रसन्न करने, उनमें फूट डालकर उन पर शासन करने तथा अवज्ञा करने पर उन्हें दण्डित करने के कूटनीतिक मामलों में पर्याप्त शिक्षा प्राप्त कर चुका है। तब एक दिन जब प्रह्लाद की माता अपने पुत्र को स्वयं नहला-धुलाकर तथा पर्याप्त आभूषणों से अलंकृत कर चुकी थीं तो उन शिक्षकों ने उसे उसके पिता के समक्ष लाकर प्रस्तुत कर दिया।

तात्पर्य : जो विद्यार्थी शासक या राजा होने वाला हो उसके लिए आवश्यक है कि वह चार कूटनीतिक सिद्धान्तों को सीखे। राजा तथा उसकी प्रजा के बीच सदा प्रतिस्पर्धा चलती है। अतएव जब कोई नागरिक जनसमूह को राजा के विरुद्ध भड़काएं तो राजा का धर्म है कि वह उसे बुलाए और मीठी-मीठी वाणी से यह कहकर शान्त करे—"तुम इस राज्य के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो। तुम जनता को किसी नये आन्दोलन के लिए क्यों भड़का रहे हो?" यदि वह नागरिक बहलावे में नहीं आता तो राजा को चाहिए कि उसे गवर्नर या मंत्री का कोई लाभप्रद पद कोई भी पद जिस में ऊँचा वेतन मिलता हो—प्रदान करे जिससे वह राजी हो सके। यदि शत्रु फिर भी जनता को भड़काएं तो राजा को चाहिए कि शत्रु के खेमे में मतभेद उत्पन्न कर दे। किन्तु यदि वह इतने पर भी न माने तो राजा को चाहिए कि उसे कठोर दण्ड दे—वह उसे कारागार में डाल दे या गोली चलाने वाली पोलिस की टुकड़ी के सामने खड़ा कर दे। हिरण्यकशिपु द्वारा नियुक्त शिक्षकों ने प्रह्लाद महाराज को यह पढ़ाया कि किस प्रकार कूटनीतिज्ञ बना जाये जिससे प्रजा के ऊपर ठीक से शासन किया जा सके।

पादयोः पतितं बालं प्रतिनन्द्याशिषासुरः ।
परिष्वज्य चिरं दोर्भ्यां परमामाप निर्वृतिम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

पादयोः—पावों पर; पतितम्—गिरा हुआ; बालम्—बालक (प्रह्लाद महाराज) को; प्रतिनन्द्य—प्रोत्साहित करते हुए; आशिषा—आशीर्वादों से (''प्रिय पुत्र, तुम दीर्घायु हो और प्रसन्न रहो''); असुरः—असुर हिरण्यकशिपु ने; परिष्वज्य—चूम कर; चिरम्—प्यारवश दीर्घकाल तक; दोर्भ्याम्—अपनी दोनों बाहों से; परमाम्—महान; आप—प्राप्त किया; निर्वृतिम्—हर्ष, आनन्द।

जब हिरण्यकशिपु ने देखा कि उसका पुत्र उसके चरणों पर विनत है और प्रणाम कर रहा है, तो उसने तुरन्त ही वत्सल पिता की भाँति अपने पुत्र को आशीर्वाद देते हुए उसे अपनी दोनों बाँहों में भरकर उसका आलिंगन किया। पिता स्वभावतः अपने पुत्र का आलिंगन करके प्रसन्न होता है और इस तरह हिरण्यकशिपु अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

आरोप्याङ्कमवघ्राय मूर्धन्यश्रुकलाम्बुभिः ।
आसिञ्चन्विकसद्वक्त्रमिदमाह युधिष्ठिर ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

आरोप्य—बैठाकर; अङ्कम्—गोद में; अवघ्राय मूर्धनि—उसका सिर सूँघ कर; अश्रु—आँसुओं की; कला-अम्बुभिः—बूँदों के जल से; आसिञ्चन्—भिगोते हुए; विकसत्-वक्त्रम्—प्रसन्न मुख; इदम्—यह; आह—कहा; युधिष्ठिर—हे महाराज युधिष्ठिर।

नारद मुनि ने आगे बताया: हे राजा युधिष्ठिर, हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद महाराज को अपनी गोद में बैठा लिया और उसका सिर सूँघने लगा। फिर अपने नेत्रों से प्रेमाश्रु ढरकाते हुए और बालक के हँसते मुख को भिगोते हुए वह अपने पुत्र से इस प्रकार बोला।

तात्पर्य : यदि बालक या शिष्य अपने पिता अथवा गुरु के चरणों पर गिरता है, तो गुरु या पिता अपने से छोटे का सिर सूँघता है।

हिरण्यकशिपुरुवाच
प्रह्लादानूच्यतां तात स्वधीतं किञ्चिदुत्तमम् ।
कालेनैतावतायुष्मन्यदशिक्षद्गुरोर्भवान् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

हिरण्यकशिपुः उवाच—राजा हिरण्यकशिपु ने कहा; प्रह्लाद—हे प्रह्लाद; अनूच्यताम्—बतलाओ; तात—मेरे पुत्र; स्वधीतम्—भलीभाँति सीखा हुआ; किञ्चित्—कुछ; उत्तमम्—अत्यन्त सुन्दर; कालेन एतावता—इतने काल में; आयुष्मन्—चिरंजीव; यत्—जो; अशिक्षत्—सीखा है; गुरोः—अपने गुरुओं से; भवान्—तुमने।

हिरण्यकशिपु ने कहा : हे प्रह्लाद, मेरे पुत्र, हे चिरञ्जीव, इतने काल में तुमने अपने गुरुओं से बहुत सारी बातें सुनी हैं। अब तुम उन सब में जिसे सर्वश्रेष्ठ समझते हो उसे मुझसे कह सुनाओ।

तात्पर्य : इस श्लोक में हिरण्यकशिपु अपने पुत्र से पूछता है कि उसने अपने गुरु से क्या सीखा

है। प्रह्लाद महाराज के गुरु दो प्रकार के थे—एक तो शुक्राचार्य के पुत्र षण्ड तथा अमर्क जिन्हें उनके पिता ने नियुक्त किया था तथा दूसरे गुरु नारद मुनि थे जिन्होंने उन्हें तब शिक्षा दी थी जब वे अपनी माता के गर्भ में थे। प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता के प्रश्न का उत्तर उन उपदेशों के आधार पर दिया जिन्हें उन्होंने अपने गुरु नारद से प्राप्त किया था। इस तरह पुन: मतभेद उत्पन्न हो गया, क्योंकि वे अपने गुरु से सीखी सर्वोत्तम बात बताना चाहते थे जबकि हिरण्यकशिपु राजनीति तथा कूटनीति के विषय में सुनना चाह रहा था जिन्हें उन्होंने षण्ड तथा अमर्क से सीखा था। पिता और पुत्र के बीच का यह मतभेद तब बढ़कर और गम्भीर हो गया जब प्रह्लाद महाराज ने अपने गुरु नारद से जो सीखा था उसे बताना शूरू किया।

श्रीप्रह्लाद उवाच

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ २३॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियेत भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्लादः उवाच—प्रह्लाद महाराज ने कहा; श्रवणम्—सुनना; कीर्तनम्—कीर्तन करना; विष्णोः—भगवान् विष्णु का (अन्य किसी का नहीं); स्मरणम्—स्मरण करना; पाद-सेवनम्—चरणों की सेवा करना; अर्चनम्—पूजा करना (षोडशोपचार अर्थात् १६ प्रकार की साजसामग्री द्वारा); वन्दनं—स्तुति करना; दास्यम्—दास बनना; सख्यम्—सर्वश्रेष्ठ मित्र बनना; आत्म-निवेदनम्—अपने पास की प्रत्येक वस्तु को समर्पित करना; इति—इस प्रकार; पुंसा अर्पिता—भक्त द्वारा अर्पित; विष्णौ—भगवान् विष्णु पर (अन्य किसी पर नहीं); भक्तिः—भक्ति; चेत्—यदि; नव-लक्षणा—नौ प्रकार वाली; क्रियेत—करना चाहिए; भगवति—भगवान् में; अद्धा—प्रत्यक्षत: या पूर्णत:; तत्—वह; मन्ये—मैं मानता हूँ; अधीतम्—विद्या अध्ययन; उत्तमम्—सर्वोच्च।

प्रह्लाद महाराज ने कहा : भगवान् विष्णु के दिव्य पवित्र नाम, रूप, साज-सामान तथा लीलाओं के विषय में सुनना तथा कीर्तन करना, उनका स्मरण करना, भगवान् के चरणकमलों की सेवा करना, षोडशोपचार विधि द्वारा भगवान् की सादर पूजा करना, भगवान् से प्रार्थना करना, उनका दास बनना, भगवान् को सर्वश्रेष्ठ मित्र के रूप में मानना तथा उन्हें अपना सर्वस्व न्योछावर करना (अर्थात् मनसा, वाचा, कर्मणा उनकी सेवा करना)—शुद्ध भक्ति की ये नौ विधियाँ स्वीकार की गई हैं। जिस किसी ने इन नौ विधियों द्वारा कृष्ण की सेवा में अपना जीवन अर्पित कर दिया है उसे ही सर्वाधिक विद्वान व्यक्ति मानना चाहिए, क्योंकि उसने पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है।

तात्पर्य : जब प्रह्लाद महाराज के पिता ने कहा कि उसने जो कुछ सीखा है उसमें से कुछ सुनाए तो उसने सोचा कि उसने अपने गुरु से जो सीखा है, वह सर्वोत्तम उपदेश है, जबकि उसने षण्ड तथा अमर्क नामक अपने भौतिक गुरुओं से जो सीखा था यह व्यर्थ था। *भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र च* (*भागवत* ११.२.४२)। यह शुद्ध भक्ति का लक्षण है। शुद्ध भक्त केवल भक्ति में रुचि रखता है, भौतिक बातों में नहीं। भक्ति करने के लिए मनुष्य को सदैव कृष्ण या भगवान् विष्णु के विषय में श्रवण तथा कीर्तन करने में लगना चाहिए। मन्दिर पूजा की विधि *अर्चन* कहलाती है। यहाँ पर यह बताया जाएगा कि अर्चन किस प्रकार किया जाये। मनुष्य को कृष्ण के इन शब्दों में पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए जब वे कहते हैं कि वे सबों के महान् शुभचिन्तक हैं (*सुहृदं सर्वभूतानाम्*)। भक्त कृष्ण को अपना एकमात्र मित्र मानता है। यह *सख्यम्* कहलाता है। *पुंसार्पिता विष्णौ। पुंसा* शब्द का अर्थ है ''समस्त जीवों द्वारा''। ऐसा कोई भेदभाव नहीं है कि केवल एक ही व्यक्ति को या केवल ब्राह्मण को भगवान् की भक्ति करने दिया जाये। हर कोई भक्ति कर सकता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.३२) में पुष्टि की गई है—*स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।* यद्यपि स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र अल्पज्ञ माने जाते हैं, लेकिन वे भी भक्त बनकर भगवद्धाम जा सकते हैं।

यज्ञ करने के बाद कभी-कभी सकाम कर्म में लगा व्यक्ति अपने यज्ञफल विष्णु को औपचारिक रूप से समर्पित करता है। किन्तु यहाँ पर कहा गया है *भगवत्यद्धा*—मनुष्य को चाहिए कि प्रत्येक वस्तु सीधे विष्णु को अर्पित करे। यह *संन्यास* कहलाता है (केवल न्यास नहीं)। एक *त्रिदंडी* संन्यासी तीन दण्ड धारण करता है, जो *कायमनोवाक्य*—शरीर, मन तथा वाणी के सूचक हैं। ये सभी विष्णु को अर्पित किये जाने चाहिए। तभी कोई भक्ति प्रारम्भ कर सकता है। सकाम कर्मी पहले कुछ पुण्यकर्म करते हैं और तब वे औपचारिक रूप से या आधिकारिक रूप से विष्णु को उसके फल अर्पित करते हैं। किन्तु असली भक्त पहले अपने शरीर, मन तथा वचनों से कृष्ण को आत्मसमर्पण करता है और तब अपने शरीर, मन तथा वचनों को कृष्ण की इच्छानुसार उनकी सेवा में लगाता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकूर अपनी पुस्तक 'तथ्य' में निम्नलिखित व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। *श्रवण* शब्द भगवान् के पवित्र नाम तथा उनके रूप, गुण, पार्षद एवं लीलाओं के वर्णन को कानों से सुनने के लिए आता है जैसाकि *श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता* तथा अन्य प्रामाणिक शास्त्रों में बतलाया

गया है। इन सन्देशों को सुनने के बाद इन ध्वनियों को स्मरण करके उन्हें बारम्बार दुहराना चाहिए (*कीर्तनम्*)। *स्मरणम्* का अर्थ है भगवान् के बारे में अधिकाधिक जानने का प्रयत्न करना और *पादसेवनम्* का अर्थ है समय तथा परिस्थिति के अनुसार भगवान् के चरणकमलों की सेवा में अपने को लगाना। *अर्चनम्* का अर्थ है भगवान् विष्णु की उसी रूप में पूजा करना जैसी कि मन्दिरों में की जाती है। *मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजि मां नमस्कुरु*—नमस्कार करना या वंदना करना। *वन्दनम्* का अर्थ है *नमस्कुरु* अर्थात् नमस्कार करना या प्रार्थना करना। अपने आपको कृष्ण का चिर दास—*नित्य कृष्ण दास*—मानना *दास्यम्* है और कृष्ण का हितचिन्तन *सख्यम्* कहलाता है। कृष्ण चाहते हैं कि सभी लोग उसकी शरण में जाँए, क्योंकि सभी लोग स्वभावत: उनके दास हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण के निष्ठावान् मित्र की भाँति वह उनके दर्शन का प्रचार करे और हर एक से कृष्ण की शरण में जाने के लिए अनुरोध करे। *आत्मनिवेदनम्* का अर्थ है कृष्ण को प्रत्येक वस्तु अर्पित करना जिसमें शरीर, मन, बुद्धि तथा अपने पास में जो भी हो वह सम्मिलित है।

भक्ति की इन नौ विधियों को निष्ठापूर्वक सम्पन्न करने को भक्ति कहते हैं। *अद्धा* का अर्थ है "सीधे, प्रत्यक्षत:"। मनुष्य को *कर्मियों* की तरह नहीं होना चाहिए जो पुण्यकर्म करने के बाद कृष्ण को उनके फल औपचारिक रूप में अर्पित करते हैं। यह तो *कर्मकाण्ड* है। मनुष्य को अपने पुण्यकर्मों के फल की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए, अपितु पूर्णतया समर्पित होकर पुण्यकर्म करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को भगवान् विष्णु की तुष्टि के लिए कर्म करना चाहिए न कि अपनी इन्द्रियों की तुष्टि के लिए। यही अर्थ है अद्धा शब्द का।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।

आनुकूल्येन कृष्णनुशीलनं भक्तिरुत्तमा।

"मनुष्य को चाहिए कि भौतिक लाभ के लिए सकाम कर्मों के द्वारा या दार्शनिक चिन्तन के द्वारा भौतिक लाभ की इच्छा किये बिना तथा अनुकूल होकर कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति करे।" ज्ञान या कर्म से अप्रभावित रहकर कृष्ण को तुष्ट करना चाहिए।

गोपालतापनी उपनिषद् के अनुसार भक्ति का अर्थ है केवल भगवान् की भक्ति, अन्य किसी की नहीं। *उपनिषद* के अनुसार भक्ति भगवान् की भक्तिमयी सेवा है। भक्ति करने के लिए मनुष्य को

देहात्म-बुद्धि से तथा स्वर्गलोक जाकर सुखी रहने की आकांक्षा से मुक्त होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, किसी भौतिक लाभ के लिए किसी प्रकार की इच्छा से रहित होकर परमेश्वर की तुष्टि के लिए ही किया गया कर्म भक्ति कहलाता है। भक्ति को निष्कर्म अर्थात् सकाम कर्म के फलों से मुक्ति भी कहते हैं। भक्ति तथा निष्कर्म समान पद पर होते हैं यद्यपि भक्ति तथा सकाम कर्म एक जैसे प्रतीत होते हैं।

प्रह्लाद महाराज ने जिन नौ विभिन्न विधियों का प्रतिपादन किया है और जिन्हें उन्होंने नारद मुनि से सीखा था, हो सकता है कि भक्ति के लिए उन सबों की आवश्यकता न पड़े। यदि कोई भक्त अविचल भाव से इनमें से एक का भी पालन करता है, तो उसे भगवान् की कृपा प्राप्त हो सकती है। कभी-कभी यह पाया जाता है कि जब कोई किसी एक विधि का पालन करता होता है, तो उसमें अन्य विधियाँ मिली होती हैं। भक्त के लिए यह अनुचित नहीं है। जब भक्त नौ विधियों (*नवलक्षणा*) में से किसी एक को सम्पन्न करता है, तो वही पर्याप्त होती है, अन्य आठ उसी में निहित रहती हैं। अब हम इन नवों विधियों की विवेचना करेंगे।

(१) *श्रवणम्*—भगवान् के पवित्र नाम को सुनना (*श्रवणम्*) भक्ति का शुभारम्भ है। यद्यपि नवों विधियों में से कोई भी एक विधि पर्याप्त होती है, किन्तु क्रमानुसार भगवान् के पवित्र नाम का श्रवण ही भक्ति का प्रारम्भ है। निस्सन्देह, यह अनिवार्य है। जैसाकि भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने प्रतिपादित किया है—*चेतोदर्पणमार्जनम्*—भगवान् का नामकीर्तन करने से मनुष्य उस देहात्मबुद्धि से छुटकारा पा जाता है, जो कि प्रकृति के मलिन गुणों के कारण उत्पन्न होती है। जब मनुष्य के हृदय से मैल हट जाता है, तो वह भगवान् सच्चिदानन्द को समझ सकता है—*ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।* इस तरह भगवान् के पवित्र नामों का श्रवण करने से मनुष्य भगवान् के साकार रूप को समझने की स्थिति में होता है। भगवान् के स्वरूप की अनुभूति करने के बाद वह भगवान् के दिव्य गुणों को समझ सकता है और दिव्य गुणों को समझ लेने के बाद भगवान् के पार्षदों को समझ सकता है। इस प्रकार वह भगवान् के नाम, दिव्य रूप तथा गुण, उनके पार्षद तथा उनसे सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु की अनुभूति कर लेने के बाद भगवान् को पूरी तरह समझने की दिशा में अग्रसर होता जाता है। अतएव क्रमवार विधि है *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः।* यही क्रम कीर्तन तथा स्मरण में मिलता है। जब किसी शुद्ध भक्त के मुख से भगवान् के पवित्र नाम, रूप, गुण तथा पार्षद का कीर्तन सुन पड़ता है, तो उसके श्रवण तथा

कीर्तन अत्यन्त सुहावने लगते हैं। श्रील सनातन गोस्वामी ने बनावटी भक्त या अभक्त के मुख से कीर्तन सुनने के लिए मना किया है।

श्रीमद्भागवत के पाठ को सुनना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण श्रवण विधि मानी गई है। *श्रीमद्भागवत* पवित्र नाम के दिव्य कीर्तन से पूर्ण है और *श्रीमद्भागवत* का कीर्तन तथा श्रवण दिव्य रसों से ओत-प्रोत है। भगवान् के दिव्य पवित्र नाम को भक्त की रुचि के अनुसार सुना तथा जपा जा सकता है। कोई चाहे तो कृष्ण के पवित्र नाम का कीर्तन करे या भगवान् राम या नृसिंहदेव के नाम का कीर्तन करे (*रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्*)। भगवान् के असंख्य नाम तथा रूप हैं अतएव भक्त किसी भी रूप का ध्यान कर सकता है और अपनी रुचि के अनुसार पवित्र नाम का कीर्तन कर सकता है। सबसे अच्छा मार्ग तो यह होगा कि अपने ही स्तर के शुद्ध भक्त से पवित्र नाम, रूप इत्यादि का श्रवण किया जाये। दूसरे शब्दों में, जो कृष्ण के प्रति अनुरक्त है उसे कीर्तन करना चाहिए और उन अन्य शुद्ध भक्तों से श्रवण करना चाहिए जो कृष्ण के प्रति ही अनुरक्त हैं। यही सिद्धान्त उन भक्तों पर लागू होता है, जो भगवान् राम, नृसिंह तथा अन्य भगवान् रूपों द्वारा आकृष्ट होते हैं। चूँकि कृष्ण भगवान् के परम रूप हैं (*कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*), अच्छा यही होगा कि ऐसे सिद्ध भक्त से भगवान् कृष्ण के नाम, रूप तथा लीलाओं के विषय में सुना जाये जो भगवान् कृष्ण के रूप द्वारा विशेष अनुरक्त हो। *श्रीमद्भागवत* में शुकदेव गोस्वामी जैसे महान् भक्तों ने भगवान् कृष्ण के नाम, रूप तथा गुणों का विशेष रूप से वर्णन किया है। भगवान् के नाम, रूप तथा गुणों के विषय में सुने बिना भक्ति की अन्य विधियों को ठीक से नहीं समझा जा सकता। अतएव चैतन्य महाप्रभु संस्तुति करते हैं कि मनुष्य कृष्ण नाम का कीर्तन करे। *परं विजयते श्रीकृष्ण सङ्कीर्तनम्।* यदि कोई इतना भाग्यशाली हो कि उसे सिद्ध भक्तों के मुख से सुनने का अवसर प्राप्त हो तो वह भक्ति के मार्ग पर अत्यन्त सफल हो सकता है। अतएव भगवान् के नाम, रूप तथा गुणों का श्रवण अनिवार्य है।

श्रीमद्भागवत (१.५.११) में एक श्लोक है—

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो

यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि॥

नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यत्

श्रृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥

"अनन्त देव के नाम, रूप तथा गुणों का वर्णन करने वाले श्लोक समस्त जगत के समस्त पाप फलों को दूर करने में समर्थ हैं। अतएव यदि ऐसे श्लोक ठीक से न भी रचे गये हों तो भी भक्त उन्हें सुनते हैं, उनका वर्णन करते हैं और उन्हें प्रामाणिक मानते हैं। इस सम्बन्ध में श्रीधर स्वामी की टिप्पणी है कि शुद्ध भक्त दूसरे भक्त से भगवान् के नाम, रूप तथा गुणों का श्रवण करके लाभ उठाता है। यदि ऐसा अवसर न प्राप्त हो तो वह अकेले ही भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन एवं श्रवण करता है।

(२) *कीर्तनम्*—नाम के श्रवण का वर्णन ऊपर किया गया है। अब पवित्र नाम के कीर्तन को समझने का प्रयास किया जाये जो उसी क्रम में दूसरे स्थान पर है। ऐसी संस्तुति है कि कीर्तन उच्च स्वर से किया जाये। *श्रीमद्भागवत* में नारद मुनि कहते हैं कि उन्होंने बिना किसी लज्जा के भगवान् के नाम का कीर्तन करते हुए विश्व का भ्रमण प्रारम्भ किया। इसी प्रकार श्री चैतन्य महाप्रभु ने उपदेश दिया है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।

अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥

भक्त को चाहिए कि घास से भी अधिक विनम्र होकर, वृक्ष की भाँति सहिष्णु होकर तथा हर एक को नमस्कार करते हुए, किसी से आदर की इच्छा न रखते हुए, शान्तिपूर्वक भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करे। ऐसी योग्यताए भगवान् के नाम का कीर्तन करना सुगम बना देती हैं। कोई भी व्यक्ति दिव्य कीर्तन की विधि को सरलता से सम्पन्न कर सकता है। यहाँ तक कि जो शरीर से अक्षम है, अन्यों की तुलना में नीच है, भौतिक योग्यताओं से रहित है या जिसने पुण्यकर्म नहीं किये हैं, उसके लिए भी पवित्र नाम का कीर्तन लाभप्रद है। आध्यात्मिक जीवन में उन्नति के लिए उच्च कुल में जन्म, उच्च शिक्षा, सुन्दर शरीर, धन तथा पुण्यकर्मों के फल व्यर्थ हैं, क्योंकि एकमात्र पवित्र नाम के कीर्तन द्वारा मनुष्य प्रगति कर सकता है। वैदिक साहित्य के प्रामाणिक स्रोत से यह ज्ञात है कि विशेष रूप से इस कलियुग में लोग अल्पायु हैं, उनके स्वभाव अत्यन्त बुरे हैं और वे अप्रामाणिक भक्ति की विधियों को स्वीकार करने के लिए तैयार रहते हैं। यही नहीं, वे भौतिक दशाओं द्वारा सदैव उद्विग्न रहते हैं और परम अभागे हैं। ऐसी परिस्थिति में *यज्ञ, दान, तप* तथा *क्रिया* जैसी अन्य विधियों को सम्पन्न कर पाना सम्भव नहीं हो पाता। अतएव संस्तुति की गई है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

"इस कलह तथा कपट के युग में उद्धार का एकमात्र साधन भगवान् के नाम का कीर्तन है। कोई अन्य उपाय नहीं है, कोई अन्य उपाय नहीं है, कोई अन्य उपाय नहीं है।" भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन मात्र से मनुष्य आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करता है। जीवन की सफलता के लिए यह सर्वोत्तम विधि है। अन्य युगों में भी नाम कीर्तन समान रूप से शक्तिशाली होता है किन्तु इस कलियुग में यह विशेष रूप से शक्तिशाली है। *कीर्तनाद् एव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्।* केवल कृष्ण के पवित्र नाम-कीर्तन से मनुष्य मुक्त हो जाता है और भगवद्धाम को जाता है। अतएव यदि कोई व्यक्ति भक्ति की अन्य विधियाँ अपनाता है, तो उसे पवित्र नाम के कीर्तन को आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होने की प्रमुख विधि के रूप में ग्रहण करना चाहिए। *यज्ञै सङ्कीर्तन-प्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः*—जो अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि वाले हैं उन्हें भगवान् के पवित्र नाम कीर्तन की यह विधि ग्रहण करनी चाहिए। किन्तु उन्हें विभिन्न प्रकार के कीर्तन निर्मित नहीं करने चाहिए। शास्त्रों में संस्तुत पवित्र नाम के कीर्तन—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। पर गम्भीरतापूर्वक स्थिर रहना चाहिए।

भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करते हुए दस अपराधों से बचना चाहिए। सनत्कुमार से पता चलता है कि यदि कोई अनेक प्रकार से घोर अपराधी भी हो तो भगवान् के पवित्र नाम की शरण ग्रहण करने पर वह अपराधी जीवन से मुक्त हो जाता है। यद्यपि मनुष्य दो पैर वाले पशु से श्रेष्ठ नहीं है, तो भी वह यदि भगवन्नाम की शरण ग्रहण करता है, तो मुक्त हो जाएगा। अतएव मनुष्य को अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए कि भगवन्नाम के चरणकमलों पर अपराध न होने दे। ये अपराध इस प्रकार हैं—(अ) उस भक्त की निन्दा करना, जो भगवान् के नाम की महिमा के प्रचार में लगा हो (आ) शिवजी या किसी अन्य देवता के नाम को भगवान् के नाम के समान शक्तिशाली समझना (न तो कोई भगवान् के समान है न उनसे बढ़कर) (इ) गुरु की आज्ञा का पालन न करना, (ई) वैदिक ग्रंथों या उनके अनुसरण पर लिखे गये ग्रंथों की निन्दा करना, (उ) यह टीका करना कि भगवान् के नाम की महिमा बढ़ा-चढ़ाकर कही जाती है, (ऊ) पवित्र नाम की व्याख्या भिन्न प्रकार से करना, (ए) पवित्र नाम के

कीर्तन के बल पर पापकर्म करना, (ऐ) पवित्र नाम के कीर्तन की तुलना पुण्यकर्मों से करना, (ओ) ऐसे व्यक्ति को भगवन्नाम कीर्तन की महिमा का उपदेश देना जिसे ऐसे कीर्तन का कोई ज्ञान न हो, (औ) सारे शास्त्रों के आदेशों को सुनकर भी पवित्र कीर्तन के प्रति दिव्य अनुराग उत्पन्न न होना।

इन अपराधों के शमन का कोई उपाय नहीं है। अतएव यह संस्तुति की जाती है कि पवित्र नाम के चरणों पर अपराधी चौबीसों घण्टे नाम कीर्तन करे। पवित्र नाम के निरन्तर कीर्तन से मनुष्य अपराधों से मुक्त होगा और धीरे-धीरे उस दिव्य पद को प्राप्त होगा जहाँ वह शुद्ध नामकीर्तन कर सकता है और इस तरह भगवान् का प्रेमी बन सकता है।

यह संस्तुति की जाती है कि यदि कोई अपराध करे भी तो उसे पवित्र नाम का कीर्तन करते रहना चाहिए। दूसरे शब्दों में, पवित्र नाम का कीर्तन मनुष्य को अपराधरहित बनाता है। *नाम कौमुदी* पुस्तक में आदेश है कि यदि कोई किसी वैष्णव के चरणकमलों के प्रति अपराधी है, तो उसे चाहिए कि उस वैष्णव को आत्म-समर्पण कर दे और क्षमा प्राप्त कर ले। इसी प्रकार यदि कोई पवित्र नामकीर्तन के प्रति अपराधी है, तो वह पवित्र नाम को आत्म-समर्पण करके अपने अपराधों से मुक्त हो ले। इस सम्बन्ध में दक्ष ने शिवजी से जो कुछ कहा था वह इस प्रकार है—"मैं आपकी महिमा से परिचित न था, अतएव भरी सभा में मैंने आपके चरणकमलों पर अपराध किया, किन्तु आप इतने कृपालु हैं कि आपने मेरे अपराध को नहीं माना। उल्टे जब मैं आप पर दोषारोपण के फलस्वरूप नीचे गिर रहा था तो आपने अपनी कृपामय चितवन से मुझे बचा लिया। आप अत्यन्त महान् हैं। कृपया मुझे क्षमा कर दें और अपने उच्च गुणों से तुष्ट हों।"

मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी इच्छाएँ अर्पित करने के लिए अत्यन्त विनीत हो और पवित्र नाम की महिमा में रची गई स्तुतियों का उच्चारण करे, यथा *अयि मुक्तकुलैरुपास्य मानम्* तथा *निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्।* भगवान् के चरणकमलों पर किये गये अपराधों से मुक्त होने के लिए ऐसी प्रार्थनाएँ करनी चाहिए।

(३) *स्मरणम्*—श्रवण तथा कीर्तन विधियों को नियमित रूप से सम्पन्न करने तथा अपने अंत:करण को शुद्ध करने के बाद *स्मरणम्* की संस्तुति की जाती है। *श्रीमद्भागवत* (२.१.११) में शुकदेव गोस्वामी राजा परीक्षित को बतलाते हैं—

एतन्निर्विद्यमानानाम् इच्छताम् अकुतोभयम्।

योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्॥

"हे राजन्! जिन महान् योगियों ने सारे भौतिक सम्बन्धों का पूर्ण परित्याग कर दिया है, जिन्हें सारे भौतिक भोग चाहिए तथा जो दिव्य ज्ञान के कारण आत्मसन्तुष्ट हैं उनके लिए भगवान् के पवित्र नाम के सतत कीर्तन की संस्तुति की जाती है।" भगवान् के साथ विभिन्न सम्बन्धों के अनुसार *नामानुकीर्तनम्* अर्थात् भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन के अनेक भेद हैं अतएव विभिन्न सम्बन्धों एवं रसों के अनुसार स्मरण के पाँच प्रकार हैं। ये इस प्रकार हैं—(१) भगवान् के किसी विशेष रूप की पूजा के विषय में शोध करना, (२) किसी एक विषय पर मन को एकाग्र करना तथा अन्य सारे विषयों के सोचने, अनुभव करने तथा चाहने जैसे मन के कार्यों से विलग होना, (३) भगवान् के किसी विशेष रूप पर एकाग्र होना (यह ध्यान कहलाता है) (४) भगवान् के रूप पर मन को निरन्तर एकाग्र रखना (यह ध्रुवानुस्मृति या पूर्ण ध्यान कहलाता है) तथा (५) किसी विशेष रूप पर एकाग्रता के लिए रुचि उत्पन्न करना (यह समाधि कहलाती है)। किसी विशेष परिस्थिति में भगवान् की किसी विशेष लीला पर चित्त की एकाग्रता स्मरण भी कहलाती है। अतएव सम्बन्ध के अनुसार समाधि पाँच प्रकार से सम्भव है। विशेषतया उदासीन अवस्था में भक्तों की समाधि मानसिक (चित्त) एकाग्रता कहलाती है।

(४) *पाद-सेवनम्*—मनुष्य की रुचि तथा शक्ति के अनुसार श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण के बाद *पादसेवनम्* की बारी आती है। मनुष्य को स्मरण की सिद्धि तभी मिलती है जब वह निरन्तर भगवान् के चरणकमलों का चिन्तन करता है। भगवान् के चरणकमलों के चिन्तन में गहन आसक्ति होने को *पादसेवनम्* कहते हैं। जब कोई *पादसेवनम्* में विशेष रूप से अविचल रहता है, तो इस विधि से अन्य विधियाँ भी मिलती रहती हैं—यथा भगवान् के स्वरूप का दर्शन, भगवान् के स्वरूप का स्पर्श, भगवान् के रूप या मन्दिर की परिक्रमा, भगवान् के रूप के दर्शन के लिए जगन्नाथ पुरी, द्वारका तथा मथुरा जैसे स्थानों का भ्रमण तथा गंगास्नान या यमुनास्नान। गंगास्नान तथा शुद्ध वैष्णव की सेवा भी *तदीय उपासनम्* कहलाते हैं। ये भी *पादसेवनम्* हैं। *तदीय* शब्द का अर्थ है भगवान् विषयक। वैष्णव की सेवा, तुलसी, गंगा तथा यमुना *पादसेवनम्* में सम्मिलित हैं। *पादसेवनम्* की ये सारी विधियाँ मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन में तेजी से प्रगति करने में सहायता करती हैं।

(५) *अर्चनम्*—पादसेवनम् के बाद *अर्चनम्* अर्थात् देव की पूजा की बारी आती है। यदि कोई सचमुच *अर्चनम्* विधि में रुचि रखता है, तो उसे अवश्य ही प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण करके इस विधि को सीखना चाहिए। *अर्चनम्* के लिए अनेक पुस्तकें हैं जिसमें से *नारद पञ्चरात्र* विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस युग में अर्चन के लिए पञ्चरात्र पद्धति की विशेष रूप से संस्तुति की जाती है। अर्चन की दो पद्धतियाँ हैं—*भागवत* पद्धति तथा *पाञ्चरात्रिकी* पद्धति। *श्रीमद्भागवत* में पाञ्चरात्रिकी पूजा (अर्चन) की कोई संस्तुति नहीं है, क्योंकि इस कलियुग में देव पूजा के बिना भी केवल श्रवण, कीर्तन, स्मरण तथा पादसेवनम् से सब कुछ पूरी तरह सम्पन्न हो सकता है। रूप गोस्वामी का कथन है—

श्री विष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद् वैयासकिः कीर्तने
प्रह्लादः स्मरणे तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽस्थ सख्येऽर्जुनः
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिर्भूत् कृष्णाप्तिरेषां परम्॥

"परीक्षित महाराज ने केवल श्रवण से और शुकदेव गोस्वामी ने केवल कीर्तन से मोक्ष प्राप्त किया। प्रह्लाद महाराज ने भगवान् के स्मरण से मोक्ष प्राप्त किया। धन की देवी लक्ष्मी ने भगवान् के चरणकमलों की पूजा (पादसेवनम्) करके सिद्धि प्राप्त की। पृथु महाराज ने भगवान् के अर्चाविग्रह की पूजा (अर्चनम्) करके मोक्ष प्राप्त किया। अक्रूर ने वन्दना करके, हनुमान ने सेवा करके, अर्जुन ने भगवान् से मैत्री स्थापित करके तथा बलि महाराज ने भगवान् की सेवा में सर्वस्व अर्पित करके मोक्ष प्राप्त किया।" इन सब महान् भक्तों ने विशेष विधियों के द्वारा भगवान् की सेवा की किन्तु इन सबों को मोक्ष मिला और ये भगवद्धाम वापस जाने के भागी हुए। *श्रीमद्भागवत* में इसकी व्याख्या की गई है।

अतएव यह संस्तुति की जाती है कि दीक्षित भक्त मन्दिर में अर्चा विग्रह की पूजा करके *नारद पञ्चरात्र* के नियमों का पालन करें। ऐसे गृहस्थ भक्त जिनके पास प्रचुर भौतिक सम्पत्ति है उनके लिए देव-अर्चन विधि की प्रबल संस्तुति की जाती है। जो ऐश्वर्यवान् गृहस्थ भक्त अपनी कठिन कमाई की पूँजी भगवान् की सेवा में नहीं लगाता वह कंजूस कहलाता है। मनुष्य को चाहिए कि देव अर्चन के लिए वेतनभोगी ब्राह्मण न लगाए। यदि कोई स्वयं अर्चन न करके वेतनभोगी नौकर लगाता है, तो वह

आलसी माना जाता है और उसकी देवपूजा कृत्रिम मानी जाती है। ऐश्वर्यवान् गृहस्थ अर्चा-विग्रह की पूजा के लिए उच्चकोटि की सामग्री जुटा सकता है और फलस्वरूप उसके लिए देवपूजा अनिवार्य है। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी होते हैं, किन्तु मन्दिर में देवपूजा का कार्य विशेष रूप से गृहस्थों द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिए। ब्रह्मचारीगण संन्यासियों के साथ प्रचार कार्य के लिए जा सकते हैं और वानप्रस्थों को अपने अगले आश्रम, संन्यास, की तैयारी करते रहना चाहिए। किन्तु गृहस्थ भक्त सामान्यतया भौतिक कार्यकलापों में संलग्न रहते हैं, अतएव यदि वे देवपूजा नहीं करते तो उनका पतन निश्चित है। देवपूजा का अर्थ है विधि-विधानों का सही सही पालन करना। इससे मनुष्य भक्ति में स्थिर रह सकेंगे। सामान्यतया गृहस्थ के बच्चे होते हैं और तब गृहस्थ की पत्नियों को अपने बच्चों के पालन-पोषण में उसी तरह व्यस्त रहना चाहिए जिस तरह नर्सरी स्कूल में बच्चों की देखरेख के लिए अध्यापिकाएँ होती हैं।

गृहस्थ भक्तों को चाहिए कि वे गुरु द्वारा दिये गये आदेशों तथा उपयुक्त प्रबन्धों द्वारा *अर्चन विधि* या देवपूजन करें। जो लोग मन्दिर में अर्चन नहीं कर सकते उनके लिए *अग्नि पुराण* का यह कथन है—यदि कोई गृहस्थ भक्त परिस्थितिवश अर्चन नहीं कर सकता तो उसे चाहिए कि कम से कम अर्चन होते देखे और इस तरह वह भी सफलता प्राप्त करे। अर्चन का विशेष प्रयोजन अपने आपको शुद्ध तथा स्वच्छ रखना है। गृहस्थ भक्तों को स्वच्छता का आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए।

अर्चन को श्रवण तथा कीर्तन के साथ-साथ करते रहना चाहिए। अतएव प्रत्येक मंत्र के पूर्व *नमः* शब्द आता है। सभी मंत्रों में विशिष्ट शक्तियाँ होती हैं जिनका लाभ गृहस्थों को उठाना चाहिए। ऐसे अनेक मंत्र हैं जिनके पूर्व *नमः* शब्द आता है, किन्तु यदि कोई भगवान् के पवित्र नाम का उच्चारण करता है, तो वह *नमः* के कई बार उच्चारण करने का फल पाता है। भगवान् के नामोच्चारण से भगवत्प्रेम के पद तक पहुँचा जा सकता है। इस पर कोई यह प्रश्न कर सकता है—तो फिर दीक्षित होने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यही है कि यद्यपि पवित्र नामोच्चारण से आध्यात्मिक जीवन में प्रगति होती है, जिससे भगवत्प्रेम का पद प्राप्त किया जा सकता है किन्तु भौतिक शरीर होने से मनुष्य भी कल्मषग्रस्त हो सकता है। फलस्वरूप *अर्चन विधि* पर विशेष बल दिया जाता है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि *भागवत* विधि तथा *पाञ्चरात्रिकी* विधि इन दोनों का ही लाभ उठाए।

अर्चन के दो विभाग हैं—शुद्ध एवं सकाम कर्मों से मिश्रित। जो स्थिर है उसके लिए अर्चन अनिवार्य है। इसी अर्चन विधि के अन्तर्गत श्री जन्माष्टमी, रामनवमी तथा नृसिंह चतुर्दशी जैसे नाना प्रकार के उत्सवों का मनाना सम्मिलित है। दूसरे शब्दों में, गृहस्थ के लिए इन उत्सवों को मनाना आवश्यक है।

अब हम अर्चन में होने वाले अपराधों की विवेचना करेंगे। ये अपराध हैं—(१) जूते पहनकर या पालकी में चढ़कर मन्दिर के भीतर जाना, (२) मान्य उत्सवों को न मनना, (३) देवों को नमस्कार करने से कतराना, (४) खाने के बाद हाथ धोये बिना अशुद्ध अवस्था में ही प्रार्थना करना, (५) एक हाथ से नमस्कार करना, (६) देव के समक्ष परिक्रमा करना, (७) देव के सामने पाँव पसारना, (८) एक हाथ से पाँव का टखना पकड़ कर देव के समक्ष बैठना, (९) देव के समक्ष लेटना, (१०) देव के समक्ष भोजन करना, (११) देव के समक्ष झूठ बोलना, (१२) देव के समक्ष किसी को जोर से पुकारना, (१३) देव के समक्ष अनर्गल बातें करना, (१४) देव के समक्ष किसी पर चिल्लाना, (१५) देव के समक्ष वाद-विवाद करना, (१६) देव के समक्ष किसी को दंड देना, (१७) देव के समक्ष ऊनी कम्बल ओढ़ना, (१८) देव के समक्ष कपट-वचन कहना, (१९) देव के समक्ष किसी का पक्ष लेना, (२०) देव के समक्ष किसी की निन्दा करना, (२१) देव के समक्ष किसी को पूजना, (२२) देव के समक्ष अश्लील भाषा का प्रयोग करना, (२३) देव के समक्ष अपान वायु निकालना, (२४) समर्थ होते हुए भी ठाटबाट से देव की पूजा करने से कतराना, (२५) देवता को चढ़ाये बिना कोई वस्तु खाना, (२६) ऋतु के अनुसार देव पर ताज़े फल न चढ़ाना, (२७) देव को उच्छिष्ट भोजन या किसी अन्य को दिया गया पदार्थ अर्पित करना, (२८) देव की ओर पीठ फेर कर बैठना, (२९) देव के समक्ष अन्य किसी को नमस्कार करना, (३०) गुरु को नमस्कार करते हुए समुचित स्तुति का उच्चारण न करना, (३१) देव के समक्ष आत्म-प्रशंसा करना, (३२) देवताओं की निन्दा करना। अर्चना विधि या देव पूजन में इन बत्तीस अपराधों से बचना चाहिए।

वराह पुराण में निम्नलिखित अपराधों का उल्लेख हुआ है—(१) किसी धनी व्यक्ति के घर भोजन करना, (२) अँधेरे में देव के समक्ष कक्ष में प्रवेश करना, (३) विधि-विधानों का पालन न करते हुए देव की पूजा करना, (४) बिना शब्दोच्चारण किये मन्दिर में प्रवेश करना, (५) कुत्ते द्वारा देखा गया

भोग एकत्र करना, (६) देवपूजा करते समय मौन भंग करना, (७) देव पूजा के बीच शौचादि के लिए जाना, (८) बिना पुष्प अर्पित किये अगुरु चढ़ाना, (९) वर्जित फूलों से अर्चना करना, (१०) दाँत साफ किये बिना पूजा करना, (११) मैथुन के बाद पूजा करना, (१२) दीपक, शव या रजस्वला स्त्री को स्पर्श करना या लाल, नीले कपड़े पहनना या बिना धुले या किसी के पहने, अथवा गन्दे कपड़े धारण करना। अन्य अपराधों में शव को देखने के बाद अर्चन करना, देव के समक्ष अपान वायु निकालना, देव के समक्ष क्रोध करना और श्मशान घाट से लौटकर तुरन्त देव पूजन करना सम्मिलित हैं। खाने के बाद जब तक भोजन पच न जाये तब तक न तो देव की पूजा करनी चाहिए, न देव का स्पर्श करना चाहिए, न कुसुम्भ तेल तथा हींग खाने के बाद देव पूजन करना चाहिए। ये भी अपराध हैं।

अन्य निम्नलिखित अपराधों की सूची मिलती है—(१) वैदिक साहित्य के शास्त्रीय आदेशों के विरुद्ध होना अथवा हृदय से *श्रीमद्भागवत* का अनादर करना और ऊपर से झूठे ही इसके सिद्धान्तों को मानना, (२) शास्त्रों से असहमति व्यक्त करने का प्रचार करना, (३) देव के समक्ष पान चबाना, (४) रेंड़ के पत्ते पर पूजा के लिए फूल रखना, (५) दोपहर के बाद देव पूजन करना, (६) वेदी पर या फर्श पर बैठकर (बिना आसन के) देव पूजन करना, (७) देव को स्नान कराते समय बाएँ हाथ से उनका स्पर्श करना, (८) देव पर बासी या चढ़ाये हुए फूल चढ़ाना, (९) देव पूजन के समय थूकना, (१०) देव पूजन के समय अपने वैभव का विज्ञापन करना, (११) मस्तक पर टेढ़ा तिलक लगाना, (१२) बिना पाँव धोये मन्दिर में प्रवेश करना, (१३) अदीक्षित व्यक्ति द्वारा पकाये गये भोजन को देव पर चढ़ाना, (१४) अदीक्षित व्यक्ति या अवैष्णव के समक्ष देव पूजा करना तथा देव को भोग लगाना, (१५) गणेश आदि वैकुण्ठ देवों को पूजे बिना देव का पूजन करना, (१६) पसीने से लथपथ होकर पूजा करना, (१७) देव पर चढ़े फूलों को लेने से इनकार करना, (१८) भगवान् के पवित्र नाम की शपथ लेना।

यदि कोई इन अपराधों में से एक भी अपराध करता है, तो उसे *भगवद्गीता* का कम से कम एक अध्याय पढ़ना चाहिए। इसकी पुष्टि *स्कन्द पुराण* के अवन्ती खण्ड में की गई है। इसी प्रकार एक अन्य आदेश है कि जो विष्णु सहस्र नाम का पाठ करता है, वह सभी अपराधों से मुक्त किया जा सकता है। उसी *स्कन्द पुराण* के रेवा खण्ड में कहा गया है कि जो तुलसी की स्तुति करता है या तुलसी का बीज

बोता है, वह भी सारे अपराधों से छूट जाता है। इसी प्रकार जो *शालिग्राम* शिला को पूजता है, वह भी सारे अपराधों से छूट जाता है। *ब्रह्माण्ड पुराण* में कहा गया है कि जो शंख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण करने वाले चतुर्भुज विष्णु भगवान् की पूजा करता है, वह उपर्युक्त समस्त अपराधों से मुक्त हो जाता है। *आदि वराह पुराण* में कहा गया है कि पुजारी जिसने अपराध किया है उसे साँकरना नामक धाम में एक दिन का उपवास व गंगा में स्नान करना चाहिए। अर्चाविग्रह के पूजन के क्रम कभी कभी कोई मन में पूजा करता है। ''सारे व्यक्ति मन से पूजा कर सकते हैं।'' *गौतमीय तन्त्र* का कहना है ''गृहविहीन संन्यासी के लिए मन के भीतर देव की अर्चना की संस्तुति की जाती है।'' *नारद पंचरात्र* में भगवान् नारायण ने कहा है कि मन के भीतर देव पूजा *मानस पूजा* कहलाती है। इस विधि से मनुष्य चारों कष्टों से मुक्त हो सकता है। कभी-कभी स्वतंत्र रूप से मन द्वारा पूजा की जा सकती है। श्रीमद् भागवद् के कथनानुसार, नव योगेन्द्रों में से एक आविर्होत्र मुनि के आदेशानुसार सारे मंत्रों का उच्चारण करके देव पूजा की जा सकती है। शास्त्रों में आठ प्रकार के देवों का उल्लेख है और ''मानस'' देव उनमें से एक है। इस प्रसंग में *ब्रह्मवैवर्त पुराण* का निम्नलिखित वर्णन दिया जा रहा है।

बहुत पहले प्रतिष्ठानपुर में एक ब्राह्मण रहता था, जो अत्यन्त गरीब किन्तु अबोध था पर वह असन्तुष्ट नहीं था। एक दिन ब्राह्मणों की एक सभा में उसने एक वार्तलाप सुना जो मन्दिर में देव पूजन के विषय में था। उसी सभा में उसने यह भी सुना कि देव की पूजा मन से भी की जा सकती है। इस घटना के बाद वह ब्राह्मण गोदावरी नदी में स्नान करके मन में देव पूजन करने लगा। वह अपने मन में ही मन्दिर को धोता और कल्पना द्वारा सोने तथा चाँदी के पात्रों में सभी पवित्र नदियों का जल लाता। उसने पूजा की सारी अमूल्य सामग्री एकत्र कर ली और देव को स्नान कराने से लेकर आरती करने तक देव की अत्यन्त भव्य पूजा की। इस तरह उसे महान् सुख प्राप्त हुआ। जब इस तरह कई वर्ष बीत गये तो उसने अपने मन में देव पूजा के लिए घी से खीर तैयार की। उसने एक सुनहरे पात्र में खीर रखी और भगवान् कृष्ण को भेंट कर दी, लेकिन उसे लगा कि खीर बहुत गरम है, अतएव उसने अपनी उँगली से उसे छू दिया। उसे तुरन्त लगा कि उसकी उँगली गरम खीर से जल गई है, अतएव वह पछताने लगा। जब ब्राह्मण को पीड़ा हो रही थी तो भगवान् विष्णु वैकुण्ठ में हँसने लगे। इस पर लक्ष्मी जी ने पूछा कि आप क्यों हँस रहे हैं। तब विष्णु ने अपने पार्षदों से कहा कि उस ब्राह्मण को वैकुण्ठ में

ले आएँ। इस तरह उस ब्राह्मण को *सामीप्य* मुक्ति प्राप्त हुई।

(६) *वन्दनम्*—यद्यपि देव अर्चन में वन्दना भी सम्मिलित रहती है, लेकिन श्रवण-कीर्तन आदि अन्य विधियों की तरह इसे भी पृथक् माना जा सकता है, इसलिए यहाँ पर पृथक् वर्णन किया जा रहा है। भगवान् के दिव्य गुण तथा ऐश्वर्य असीम हैं और जो कोई विविध कार्यकलापों में भगवान् के गुणों से प्रभावित होता है, वह भगवान् की वन्दना या स्तुति करता है। इस तरह वह सफल बनता है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित अपराधों से बचना चाहिए—(अ) एक हाथ से नमस्कार करना, (आ) अपना शरीर ढके हुए नमस्कार करना, (इ) देव की तरफ पीठ करना, (ई) देव के बाईं ओर से प्रणाम करना तथा (उ) बहुत निकट से देव को प्रणाम करना।

(७) *दास्यम्*—दास के रूप में भगवान् की सहायता करने के विषय में यह कथन पाया जाता है—हजारों जन्मों के बाद जब कोई यह समझ पाता है कि वह कृष्ण का नित्य दास है, तो वह इस ब्रह्माण्ड के अन्य लोगों का उद्धार कर सकता है। यदि कोई व्यक्ति अन्य किसी भक्ति-विधि को किये बिना केवल यह सोचता रहे कि वह कृष्ण का नित्य दास है, तो वह सफलता प्राप्त कर सकता है, क्योंकि केवल इसी भावना से भक्ति की नवों विधियाँ सम्पन्न हो जाती हैं।

(८) *सख्यम्*—मित्र के रूप में भगवान् की पूजा करने के सम्बन्ध में *अगस्त्य संहिता* का कहना है कि *श्रवणम्* तथा *कीर्तनम्* द्वारा भक्ति में लगा भक्त कभी-कभी भगवान् के साक्षात् दर्शन करना चाहता है, अतएव वह मन्दिर में रहने लगता है। अन्यत्र ऐसा कथन प्राप्त होता है "हे भगवान्, परम पुरुष तथा नित्य सखा! यद्यपि आप आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण हैं, तो भी आप वृन्दावनवासियों के सखा बन चुके हैं। ये भक्त कितने भाग्यशाली हैं?" इस कथन में 'सखा' शब्द प्रगाढ़ प्रेमसूचक है। इसलिए सख्य दास्य से श्रेष्ठ है। दास्य रस से ऊपर की अवस्था में भक्त भगवान् को सखा (मित्र) रूप में स्वीकार करता है। यह आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि जब भक्त हृदय से शुद्ध होता है, तो भगवान् के स्वत:स्फूर्त प्रेम के प्रकट होते ही उसका देव अर्चन घट जाता है। इस प्रसंग में श्रीधर स्वामी ने श्रीदामा विप्र का उल्लेख किया है, जिसने अपने मन में कृतज्ञता प्रकट करते हुए सोचा "अच्छा हो कि भगवान् कृष्ण से इस प्रकार सख्य भाव से जन्म-जन्मांतर सम्बन्धित रहूँ।"

(९) *आत्मनिवेदनम्*—जब किसी में भगवान् की सेवा करने के अतिरिक्त कोई इच्छा नहीं रहती

तो वह अपना सर्वस्व भगवान् को अर्पित कर देता है और हर कार्य भगवान् को प्रसन्न करने के लिए करता है। यह अवस्था *आत्मनिवेदनम्* है। ऐसा भक्त उस गाय के तुल्य है, जिसकी रखवाली उसका स्वामी करता है। अपने स्वामी की देख-रेख में गाय को अपने उदर-पूर्ति की कोई चिन्ता नहीं रह जाती। ऐसी गाय अपने स्वामी के प्रति सदैव समर्पित रहती है और कभी भी मनमाना कार्य नहीं करती, केवल स्वामी के लाभ के लिए ही हर कार्य करती है। इसलिए कुछ भक्त भगवान् को शरीर समर्पण करने को *आत्मनिवेदनम्* मानते हैं और जैसाकि *भक्तिविवेक* ग्रंथ में बतलाया गया है, कभी-कभी भगवान् को आत्मा का समर्पण *आत्मनिवेदनम्* कहा जाता है। आत्मनिवेदनम् का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण बलि महाराज तथा अम्बरीष महाराज का है। द्वारका में रुक्मिणी देवी के आचरण में भी कभी-कभी *आत्मनिवेदनम्* पाया जाता है।

निशम्यैतत्सुतवचो हिरण्यकशिपुस्तदा ।
गुरुपुत्रमुवाचेदं रुषा प्रस्फुरिताधरः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; एतत्—यह; सुत-वचः—पुत्र की वाणी; हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु ने; तदा—उस समय; गुरु-पुत्रम्—अपने गुरु शक्राचार्य के पुत्र से; उवाच—कहा; इदम्—यह; रुषा—क्रोध से; प्रस्फुरित—हिलते हुए; अधरः—जिसके होठ।

अपने पुत्र प्रह्लाद के मुख से इन वचनों को सुनकर हिरण्यकशिपु अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। उसने काँपते होठों से अपने गुरु शुक्राचार्य के पुत्र षण्ड से इस प्रकार कहा।

ब्रह्मबन्धो किमेतत्ते विपक्षं श्रयतासता ।
असारं ग्राहितो बालो मामनादृत्य दुर्मते ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-बन्धो—हे ब्राह्मण के अयोग्य पुत्र; किम् एतत्—यह क्या है; ते—तुम्हारे द्वारा; विपक्षम्—मेरे शत्रु दल का; श्रयता—आश्रय लेकर; असता—अत्यन्त दुष्ट; असारम्—सारहीन, व्यर्थ; ग्राहितः—पढ़ाया गया; बालः—बालक; माम्—मुझको; अनादृत्य—अनादर करके; दुर्मते—अरे मूर्ख अध्यापक।

अरे ब्राह्मण के अत्यन्त नृशंस (घृणित) अयोग्य पुत्र, तुमने मेरे आदेश की अवज्ञा की है और मेरे शत्रु-पक्ष की शरण ले रखी है। तुमने इस बेचारे बालक को भक्ति का पाठ पढ़ाया है। यह क्या बकवास है ?

तात्पर्य : इस श्लोक में *असारम्* शब्द का जिस का अर्थ है ''सारहीन'' महत्त्वपूर्ण। असुर के लिए भक्ति में कोई सार नहीं रहता, किन्तु भक्त के लिए तो भक्ति जीवन का एकमात्र आवश्यक कारक है।

चूँकि हिरण्यकशिपु को जीवन का सार भी पसन्द न थी, अतएव उसने कटु वचन कहकर प्रह्लाद महाराज के अध्यापकों को प्रताड़ित किया।

सन्ति ह्यसाधवो लोके दुर्मैत्राश्छद्मवेषिणः ।
तेषामुदेत्यघं काले रोगः पातकिनामिव ॥ २७॥

शब्दार्थ

सन्ति—हैं; हि—निस्सन्देह; असाधवः—असाधु मनुष्य; लोके—इस संसार में; दुर्मैत्राः—धोखा देने वाले मित्र; छद्म-वेषिणः—दिखावटी पहनावा पहने; तेषाम्—उन सबों का; उदेति—उदय होता है; अघम्—पापमय जीवन का फल; काले—काल क्रम में; रोगः—रोग; पातकिनाम्—पापी मनुष्यों के; इव—सदृश।

समय के साथ, उन लोगों में अनेक प्रकार के रोग प्रकट होते हैं, जो पापी हैं। इसी प्रकार से इस संसार में छद्मवेष धारण किये हुए जितने धोखेबाज मित्र हैं अन्ततोगत्वा उनके मिथ्या आचरण से उनकी वास्तविकता शत्रुता में प्रकट हो जाती है।

तात्पर्य : अपने पुत्र प्रह्लाद की शिक्षा को लेकर हिरण्यकशिपु अत्यधिक असन्तुष्ट रहता था। जब प्रह्लाद भक्ति के विषय में शिक्षा देने लगे तो हिरण्यकशिपु तुरन्त अध्यापकों को मित्र वेष में अपना शत्रु मानने लगा। इस श्लोक में *रोगः पातकिनाम् इव* से वह रोग सूचित होता है, जो अत्यन्त पापमय तथा बद्ध जीवन में अत्यन्त कष्टकर होता है (*जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि*)। रोग तो पापी व्यक्ति के शरीर का लक्षण है।

स्मृतिशास्त्र का कथन है—

ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात् सुरापः श्यावदन्तकः ।

स्वर्णहारी तु कुनखी दुश्चर्मा गुरुतल्पगः ॥

ब्राह्मणों के हत्यारे बाद में क्षय रोग से पीड़ित होते हैं। शराबी लोगों के दाँत झड़ जाते हैं, स्वर्ण चुराने वालों को नाखून के रोग हो जाते हैं और ऐसे कामी पुरुष जो उच्च कुल की स्त्रियों से यौन सम्बन्ध रखते हैं उन्हें कोढ़ तथा इसी प्रकार के चर्म रोग होते हैं।

श्रीगुरुपुत्र उवाच

न मत्प्रणीतं न परप्रणीतं
सुतो वदत्येष तवेन्द्रशत्रो ।
नैसर्गिकीयं मतिरस्य राजन्

नियच्छ मन्युं कददाः स्म मा नः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्री-गुरु-पुत्रः उवाच—हिरण्यकशिपु के गुरु शुक्राचार्य के पुत्र ने कहा; न—नहीं; मत्-प्रणीतम्—मेरे द्वारा पढ़ाने से; न—न तो; पर-प्रणीतम्—किसी अन्य द्वारा पढ़ाने से; सुतः—पुत्र (प्रहलाद); वदति—कहता है; एषः—यह; तव—तुम्हारा; इन्द्र-शत्रो—इन्द्र के शत्रु; नैसर्गिकी—प्राकृतिक; इयम्—यह; मतिः—प्रवृत्ति; अस्य—उसकी; राजन्—हे राजा; नियच्छ—त्याग दें; मन्युम्—अपना क्रोध; कत्—दोष; अदाः—लगाइये; स्म—निस्सन्देह; मा—नहीं; नः—हम पर।

हिरण्यकशिपु के गुरु शुक्राचार्य के पुत्र ने कहा : हे इन्द्र के शत्रु, हे राजन्, आपके प्रह्लाद पुत्र ने जो भी कहा है, वह न तो मेरे द्वारा पढ़ाया गया है, न किसी अन्य के द्वारा। उसमें यह भक्ति स्वतः विकसित हुई है। अतएव आप अपना क्रोध त्याग दें और व्यर्थ ही हमें दोषी न ठहराएँ। एक ब्राह्मण को इस प्रकार अपमानित करना अच्छा नहीं है।

श्रीनारद उवाच
गुरुणैवं प्रतिप्रोक्तो भूय आहासुरः सुतम् ।
न चेद्गुरुमुखीयं ते कुतोऽभद्रासती मतिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; गुरुणा—अध्यापक द्वारा; एवम्—इस प्रकार; प्रतिप्रोक्तः—उत्तर दिये जाने पर; भूयः—पुनः; आह—कहा; असुरः—महान् दैत्य, हिरण्यकशिपु ने; सुतम्—अपने पुत्र को; न—नहीं; चेत्—यदि; गुरु-मुखी—गुरु के मुख से निकली; इयम्—यह; ते—तुम्हारा; कुतः—कहाँ से; अभद्र—हे अशुभ; असती—अत्यन्त बुरी; मतिः—प्रवृत्ति, रुझान।

श्री नारद मुनि ने आगे कहा : जब हिरण्यकशिपु को अध्यापक से यह उत्तर मिल गया तो उसने पुनः अपने पुत्र को सम्बेधित किया। हिरण्यकशिपु ने कहा "रे धूर्त! हमारे परिवार के सबसे पतित! यदि तुमने यह शिक्षा अपने अध्यापकों से नहीं प्राप्त की, तो बतला कि इसे कहाँ से प्राप्त की?"

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवती ठाकुर बतलाते हैं कि भक्ति वास्तव में *भद्रा सती* होती है *अभद्र असती* नहीं होती। दूसरे शब्दों में, भक्ति का ज्ञान न तो अशुभ होता है न शिष्टाचार के विरुद्ध होता है। भक्ति सीखना हर एक का कर्तव्य है। अतएव प्रह्लाद महाराज की तात्क्षणिक शिक्षा शुभ तथा पूर्ण सिद्ध होती है।

श्रीप्रह्लाद उवाच
मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा
मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम् ।

अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं
पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्लादः उवाच—श्री प्रह्लाद ने कहा; मतिः—झुकाव; न—कभी नहीं; कृष्णे—भगवान् कृष्ण में; परतः—अन्यों के उपदेशों से; स्वतः—अपनी बुद्धि से; वा—अथवा; मिथः—संयुक्त प्रयास से; अभिपद्येत—विकसित होती है; गृह-व्रतानाम्—भौतिकवादी देहात्मबुद्धि के प्रति अनुरक्त लोगों का; अदान्त—अनियंत्रित; गोभिः—इन्द्रियों द्वारा; विशताम्—प्रवेश करते हुए; तमिस्रम्—नारकीय जीवन में; पुनः—फिर से; पुनः—फिर से; चर्वित—पहले से चबाई गई वस्तुएँ; चर्वणानाम्—जो चबा रहे हैं।.

प्रह्लाद महाराज ने उत्तर दिया: अपनी असंयमित इन्द्रियों के कारण जो लोग भौतिकतावादी जीवन के प्रति अत्यधिक लिप्त रहते हैं, वे नरकगामी होते हैं और बार-बार उसे चबाते हैं, जिसे पहले ही चबाया जा चुका है। ऐसे लोगों का कृष्ण के प्रति झुकाव न तो अन्यों के उपदेशों से, न अपने निजी प्रयासों से, न ही दोनों को मिलाकर कभी होता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *मतिर्न कृष्णे* शब्द कृष्ण के प्रति की गई भक्ति को बताते हैं। जो भी तथाकथित राजनीतिज्ञ, प्रकांड पंडित तथा दार्शनिक *भगवद्गीता* को पढ़ते हैं, वे अपने भौतिक अभिप्रायों के उपयुक्त कोई न कोई अर्थ निकालने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु कृष्ण विषयक उनका यह भ्रम उन्हें कोई लाभ नहीं दिलाता। चूँकि ये सभी लोग *भगवद्गीता* को भौतिक रीति से तालमेल बैठाने के साधन के रूप में प्रयुक्त करने में रुचि रखते हैं अतएव उनके लिए कृष्ण या कृष्णभावनामृत का निरन्तर विचार करना असम्भव है (*मतिर्न कृष्णे*)। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५५) में में कहा गया है—*भक्त्या मामभिजानाति*—कोई कृष्ण को यथारूप में भक्ति के द्वारा ही समझ सकता है। तथाकथित राजनीतिज्ञ तथा विद्वान कृष्ण को काल्पनिक मानते हैं। राजनीतिज्ञ कहता है कि उनका कृष्ण *भगवद्गीता* में अंकित कृष्ण से भिन्न है। यद्यपि वह कृष्ण तथा राम को परमेश्वर मानता है किन्तु वह उन्हें निराकार समझता है, क्योंकि उसे कृष्ण की सेवा का कोई अनुमान नहीं रहता। अतएव उसका एकमात्र कार्य रहता है—*पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्*—चबाये हुए को बार-बार चबाना। ऐसे राजनीतिज्ञों तथा विद्वानों का लक्ष्य अपनी शारीरिक इन्द्रियों द्वारा भौतिक जगत का भोग करना होता है। इसलिए यहाँ पर स्पष्ट कहा गया है कि जो गृहव्रत हैं, अर्थात् जिनका एकमात्र लक्ष्य भौतिक जगत में इस शरीर के साथ सुखपूर्वक जीवन बिताना होता है वे कृष्ण को समझ नहीं सकते। *गृहव्रत* तथा *चर्वितचर्वणानाम्* दोनों ही पद सूचित करते हैं कि भौतिकतावादी पुरुष जन्म-जन्मांतर विभिन्न शरीरों में इन्द्रियतृप्ति भोगना चाहते हैं, किन्तु फिर भी वे असन्तुष्ट रहते हैं। व्यक्तिवाद के नाम पर ऐसे लोग

जीवन की भौतिकतावादी शैली के प्रति सदैव आसक्त रहते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४४) में कहा गया है—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

''जो लोग इन्द्रियभोग तथा भौतिक ऐश्वर्य के प्रति अत्यधिक आसक्त हैं और जो ऐसी वस्तुओं से मोहग्रस्त हैं उनके मनों में परमेश्वर की भक्ति का दृढ़ संकल्प नहीं उत्पन्न होता।'' जो लोग भौतिक भोग में लिप्त हैं, वे भगवान् की भक्ति में दृढ़ नहीं हो सकते। वे न तो भगवान् कृष्ण को समझ सकते हैं न उनके उपदेश *भगवद्गीता* को। *अदान्त गोभिर्विशतां तमिस्रम्*—उनका मार्ग सचमुच नारकीय जीवन की ओर ले जाने वाला है। जैसाकि ऋषभदेव ने पुष्टि की है—*महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः*—मनुष्य को चाहिए कि किसी भक्त की सेवा करके कृष्ण को समझने का प्रयत्न करे। *महत्* शब्द भक्त के लिए आया है।

महात्मानस्तुं मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

''हे पृथापुत्र! जो मोहग्रस्त नहीं हैं ऐसे महात्मा दैवी प्रकृति के संरक्षण में रहते हैं। वे पूर्णतया भक्ति में लगे रहते हैं, क्योंकि वे मुझे आदि अविनाशी भगवान् के रूप में जानते हैं।'' (*भगवद्गीता* ९.१३) *महात्मा* वह है, जो चौबीसों घण्टे भक्ति में लगा रहता है। जैसाकि अगले श्लोकों में बताया गया है, जब तक कोई ऐसे महापुरुष के पीछे लग नहीं जाता, वह कृष्ण को नहीं समझ सकता। हिरण्यकशिपु जानना चाह रहा था कि प्रह्लाद ने कृष्णभावनामृत कहाँ से प्राप्त किया? किसने उसे सिखाया था? प्रह्लाद ने व्यंग्यपूर्वक उत्तर दिया ''हे पिता! आप जैसे व्यक्ति कृष्ण को कभी नहीं समझ पाएँगे। केवल *महत्* अर्थात् महात्मा की सेवा करके कृष्ण को समझा जा सकता है। जो लोग भौतिक परिस्थितियों से समझौता करनेका प्रयास करते हैं, वे चबाये हुए को चबाते हुए कहे जाते हैं। आज तक कोई भी व्यक्ति भौतिक परिस्थितियों को समंजित नहीं कर पाया, किन्तु लोग जन्म-जन्मांतर, पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रयास करते हैं और बारम्बार असफल होते हैं। जब तक मनुष्य किसी *महत्*—महात्मा या भगवान् के अनन्य भक्त—द्वारा प्रशिक्षित नहीं किया जाता तब तक उसके द्वारा कृष्ण तथा उनकी भक्ति

को समझ पाने की सम्भावना नहीं है।''

न ते विदु: स्वार्थगतिं हि विष्णुं
दुराशया ये बहिरर्थमानिन: ।
अन्धा यथान्धैरुपनीयमाना-
स्तेऽपीशतन्त्र्यामुरुदाम्नि बद्धा: ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ते—वे; विदु:—जानते हैं; स्व-अर्थ-गतिम्—जीवन का चरम लक्ष्य या अपने असली हित को; हि—निस्सन्देह; विष्णुम्—भगवान् विष्णु तथा उनके धाम को; दुराशया:—इस भौतिक जगत का भोग करने के इच्छुक; ये—जो; बहि:—बाह्य इन्द्रिय विषय; अर्थ-मानिन:—महत्त्वपूर्ण मानते हुए; अन्धा:—अन्धे व्यक्ति; यथा—जिस प्रकार; अन्धै:—दूसरे अन्धे व्यक्तियों द्वारा; उपनीयमाना:—ले जाए जाकर; ते—वे; अपि—यद्यपि; ईश-तन्त्र्याम्—भौतिक प्रकृति की रस्सियों (नियमों) को; उरु—अत्यन्त शक्तिशाली; दाम्नि—रस्सियाँ; बद्धा:—बँधी हुई।

जो लोग भौतिक जीवन के भोग की भावना द्वारा दृढ़ता से बँधे हैं और जिन्होंने अपने ही समान बाह्य इन्द्रिय विषयों से आसक्त अन्धे व्यक्ति को अपना नेता या गुरु स्वीकार कर रखा है, वे यह नहीं समझ सकते कि जीवन का लक्ष्य भगवद्धाम को वापस जाना तथा भगवान् विष्णु की सेवा में लगे रहना है। जिस प्रकार अन्धे व्यक्ति द्वारा ले जाया गया दूसरा अन्धा व्यक्ति सही मार्ग भूल सकता है और गड्ढे में गिर सकता है उसी प्रकार भौतिकता से आसक्त व्यक्ति अपने ही जैसे किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा मार्ग दिखलाये जाने पर सकाम कर्म की रस्सियों द्वारा बंधे रहते हैं, जो अत्यन्त मजबूत धागों से बनी होती हैं और ऐसे लोग तीनों प्रकार के कष्ट सहते हुए पुन:-पुन: भौतिक जीवन प्राप्त करते रहते हैं।

तात्पर्य : चूँकि असुरों तथा भक्तों के विचारों में अन्तर होना ही चाहिए अतएव जब हिरण्यकशिपु की आलोचना उसके पुत्र प्रह्लाद महाराज द्वारा की जा रही थी तो उसे इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए था कि वे उसकी जीवन-शैली से सहमत न थे। तो भी हिरण्यकशिपु अत्यन्त क्रुद्ध था और अपने पुत्र को अध्यापक या गुरु का उपहास करने कि लिए डाँटना चाहता था, क्योंकि उसके अध्यापक महान् आचार्य शुक्राचार्य के ब्राह्मण-परिवार में उत्पन्न हुए थे। शुक्र शब्द का अर्थ हैं ''वीर्य'' और आचार्य गुरु का सूचक है। आदि काल से वंशानुगत गुरुओं को मान्यता प्राप्त होती रही है, किन्तु प्रह्लाद महाराज ने ऐसे जन्मजात गुरु को या उसके उपदेश को ग्रहण करने से इनकार कर दिया था। वास्तविक गुरु *श्रोत्रिय* होता है और जो *परम्परा* से पूर्ण ज्ञान सुनता है या प्राप्त किये होता है। अतएव प्रह्लाद

महाराज ने जन्मजात गुरु को मान्यता नहीं दी। ऐसे गुरु विष्णु में तनिक भी रुचि नहीं दिखाते। निस्सन्देह, वे भौतिक सफलता के इच्छुक रहते हैं (*बहिरर्थमानिनः*)। *बहिः* शब्द का अर्थ है "बाह्य," *अर्थ* का "हित" तथा *मानिनः* का अर्थ "गम्भीरता से लेना" होता है। एक तरह से सभी लोग आध्यात्मिक जगत से अनजान हैं। भौतिकतावादियों का ज्ञान इस भौतिक जगत की ४०० करोड़ मील की सीमा तक संकुचित है, जो सृष्टि का अंधकारमय अंश है। वे यह नहीं जानते कि इस भौतिक जगत के परे आध्यात्मिक जगत भी है। जब तक कोई भगवान् का भक्त नहीं होता वह आध्यात्मिक जगत के अस्तित्व को नहीं समझ सकता। ऐसे गुरु जो इस भौतिक जगत में ही रुचि रखते हैं अन्धे कहे गये हैं। ऐसे अन्धे उन अनेक अन्धे अनुयायियों का मार्गदर्शन कर सकते हैं जिन्हें भौतिक दशाओं का सही ज्ञान नहीं है किन्तु ऐसे लोग प्रह्लाद महाराज जैसे भक्तों द्वारा स्वीकार नहीं किये जाते। ऐसे अन्धे गुरु बाह्य भौतिक जगत में रुचि रखने के कारण सदैव प्रकृति की मजबूत रस्सियों द्वारा बँधे रहते हैं।

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं
निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एषाम्—इनकी; मतिः—चेतना; तावत्—तब तक; उरुक्रम-अङ्घ्रिम्—भगवान् के चरणकमल, जो असामान्य कार्य करने के लिए विख्यात हैं; स्पृशति—छूती है; अनर्थ—अंवाछित वस्तुओं का; अपगमः—विलोप, छिपना; यत्—जिसका; अर्थः—प्रयोजन; महीयसाम्—महात्माओं (या भक्तों) का; पाद-रजः—चरणकमल की धूल द्वारा; अभिषेकम्—राजतिलक; निष्किञ्चनानाम्—उन भक्तों का जिन्हें इस भौतिक जगत से कुछ भी लेना-देना नहीं है; न—नहीं; वृणीत—स्वीकार करे; यावत्—जब तक।

जब तक भौतिकतावादी जीवन के प्रति झुकाव रखने वाले लोग ऐसे वैष्णवों के चरणकमलों की धूलि अपने शरीर में नहीं लगाते जो भौतिक कल्मष से पूर्णतया मुक्त हैं, तब तक वे भगवान् के चरणकमलों के प्रति आसक्त नहीं हो सकते जिनका यशोगान उनके अपने असामान्य कार्यकलापों के लिए किया जाता है। केवल कृष्णभावनाभावित बनकर एवं इस प्रकार से भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करके ही मनुष्य भौतिक कल्मष से मुक्त हो सकता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित होने से *अनर्थ अपगम:* प्राप्त होता है अर्थात् सभी अनर्थों या उन दुखमय दशाओं का लोप होता है, जिन्हें हमने व्यर्थ ही अंगीकार कर रखा है। भौतिक देह इन अवांछित दुखमय दशाओं का मूल कारण है। समग्र वैदिक सभ्यता इन्हीं अवांछित दुखों से मुक्ति दिलाने के लिए है, किन्तु प्रकृति के नियमों से बद्ध लोग जीवन-लक्ष्य को नहीं जानते। जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है—*ईश-तन्त्र्यम् उरुदाम्नि बद्धा:*—वे प्रकृति के तीन प्रबल गुणों द्वारा बँधे हैं। वह शिक्षा जो बद्धजीव को जन्म-जन्मांतर बद्ध रखती है भौतिकतावादी शिक्षा कहलाती है। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने बताया है कि भौतिकतावादी शिक्षा माया के प्रभाव को बढ़ाती है। ऐसी शिक्षा से बद्धजीव भौतिकतावादी जीवन के प्रति अधिकाधिक आकृष्ट होता है और अवांछित दुखों से मुक्ति पाने से दूर चला जाता है।

कोई यह पूछ सकता है कि अत्यधिक शिक्षित लोग कृष्णभावनामृत को क्यों स्वीकार नहीं करते? इसका कारण इस श्लोक में बतलाया गया है। जब तक कोई पूर्णतया कृष्णभावनाभावित प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण नहीं करता तब तक कृष्ण को समझने का प्रश्न ही नहीं उठता। शिक्षक, विद्वान तथा लाखों व्यक्तियों द्वारा पूजित राजनीतिक नेता जीवन के लक्ष्य को नहीं समझ सकते और कृष्णभावनामृत को अंगीकार नहीं कर सकते हैं क्योंकि उन्होंने प्रामाणिक गुरु एवं वेदों को स्वीकार नहीं किया है। अतएव *मुण्डक उपनिषद्* (३.२.३) में कहा गया है—*नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन*—न तो शिक्षा प्राप्त करने से, न विद्वत्तापूर्ण भाषण करने से (*प्रवचनेन लभ्य:*) अथवा अनेकानेक अद्भुत वस्तुओं की खोज करने वाले बुद्धिमान विज्ञानी बनने से कोई स्वरूपसिद्ध बन सकता है। कोई कृष्ण को तब तक नहीं समझ सकता जब तक उस पर भगवान् की कृपा न हो। जिसने कृष्ण के शुद्ध भक्त की शरण ले ली है और उसके चरणकमलों की धूलि धारण की है, वही कृष्ण को समझ सकता है। सर्वप्रथम मनुष्य को यह जानना चाहिए कि वह माया के चंगुल से किस प्रकार बाहर निकले। इसका एकमात्र उपाय है कि वह कृष्णभावनाभावित हो जाये और सरलता से कृष्णभावनाभावित होने के लिए आवश्यक है कि किसी स्वरूपसिद्ध महत् या महात्मा की शरण ग्रहण की जाये जिसका एकमात्र स्वार्थ परमेश्वर की भक्ति में लगे रहना है। जैसाकि भगवान् *भगवद्गीता* (९.१३) में कहते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिता: ।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

"हे पृथापुत्र! जो मोहग्रस्त नहीं हैं अर्थात् महात्मा हैं, वे दैवी प्रकृति के संरक्षण में रहते हैं। वे पूर्णतया भक्ति में संलग्न रहते हैं, क्योंकि वे मुझे आदि तथा अविनाशी भगवान् के रूप में जानते हैं।" अतएव जीवन के अंवाछित दुखों को समाप्त करने के लिए मनुष्य को भक्त बन जाना चाहिए।

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना

सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुरा: ।

"जिसमें कृष्ण के प्रति अविचल भक्तिमयी श्रद्धा है, वह निरन्तर कृष्ण तथा देवताओं के सद्‌गुणों को प्रकट करता है।" (भागवत ५.१८.१२)

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्था: प्रकाशन्ते महात्मन: ॥

"केवल उन महात्माओं को वैदिक ज्ञान का सारा अर्थ स्वत: प्रकट होता है जिन्हें भगवान् तथा गुरु दोनों पर ही निश्चित श्रद्धा होती है।" (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.२३)

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।

"भगवान् केवल उसे प्राप्त हो पाता है, जिसे वे स्वयं चुनते हैं। ऐसे व्यक्ति को वे अपना स्वरूप प्रकट करते हैं।" (*मुण्डक उपनिषद्* ३.२.३)

ये वैदिक आदेश हैं। मनुष्य को चाहिए कि भौतिक शिक्षाप्राप्त विद्वान या राजनीतिज्ञ की शरण ग्रहण न करके स्वरूपसिद्ध गुरु की शरण में जाये। उसे चाहिए कि वह ऐसे व्यक्ति की शरण ले जो भक्ति में संलग्न रहता हो और भौतिक कल्मष से मुक्त हो (*निष्किञ्चन*)। भगवद्धाम जाने का यही उपाय है।

इत्युक्त्वोपरतं पुत्रं हिरण्यकशिपू रुषा ।
अन्धीकृतात्मा स्वोत्सङ्गान्निरस्यत महीतले ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; उपरतम्—रुक गया; पुत्रम्—पुत्र को; हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु ने; रुषा—अत्यधिक क्रोध से; अन्धीकृत-आत्मा—आत्म-साक्षात्कार से अन्धा बना हुआ; स्व-उत्सङ्गात्—अपनी गोद से; निरस्यत—फेंक दिया; मही-तले—भूमि पर।

जब प्रह्लाद महाराज इस प्रकार बोलकर शान्त हो गये तो क्रोध से अन्धे हिरण्यकशिपु ने उन्हें अपनी गोद से उठाकर भूमि पर फेंक दिया।

आहामर्षरुषाविष्टः कषायीभूतलोचनः ।
वध्यतामाश्वयं वध्यो निःसारयत नैरृताः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

आह—उसने कहा; अमर्ष—रोष; रुषा—तथा क्रोध से; आविष्टः—पराभूत, वशीभूत; कषायी-भूत—गरम लाल ताँबे की भाँति हुए; लोचनः—जिसकी आँखें; वध्यताम्—मार डालो; आशु—तुरन्त; अयम्—इसको; वध्यः—मारने के योग्य है, जो; निःसारयत—बाहर निकाल दो; नैरृताः—हे असुरो।

अत्यन्त क्रुद्ध तथा पिघले ताम्र जैसी लाल-लाल आँखें किये हिरण्यकशिपु ने अपने नौकरों से कहा : अरे असुरो, इस बालक को मेरी आँखों से दूर करो। यह वध करने योग्य है। इसे जितनी जल्दी हो सके मार डालो।

अयं मे भ्रातृहा सोऽयं हित्वा स्वान्सुहृदोऽधमः ।
पितृव्यहन्तुः पादौ यो विष्णोर्दासवदर्चति ॥ ३५॥

शब्दार्थ

अयम्—यह; मे—मेरे; भ्रातृ-हा—भाई को मारने वाला; सः—वह; अयम्—यह; हित्वा—त्यागकर; स्वान्—अपने; सुहृदः—शुभचिन्तक; अधमः—अत्यन्त नीच; पितृव्य-हन्तुः—चाचा हिरण्याक्ष के मारने वाले के; पादौ—चरणों पर; यः—जो; विष्णोः—भगवान् विष्णु के; दास-वत्—नौकर की तरह; अर्चति—सेवा करता है।

यह बालक प्रह्लाद मेरे भाई को मारने वाला है, क्योंकि इसने एक तुच्छ नौकर की भाँति मेरे शत्रु भगवान् विष्णु की सेवा में संलग्न रहने के लिए अपने परिवार को छोड़ दिया है।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद महाराज को अपने भाई का हत्यारा माना है, क्योंकि वे भगवान् विष्णु की भक्ति में लगे रहते थे। दूसरे शब्दों में, प्रह्लाद महाराज को तो *सारूप्य मोक्ष* प्राप्त होगा और इस तरह वे भगवान् विष्णु के समान थे। अतएव प्रह्लाद महाराज का वध हिरण्यकशिपु द्वारा किया जाना था। भक्तों या वैष्णवों को *सारूप्य, सालोक्य, सार्ष्टि* तथा *सामीप्य*—ये चार प्रकार की मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं जब कि मायावादियों को *सायुज्य* मुक्ति प्राप्त होती है। किन्तु सायुज्य मुक्ति अत्यन्त निश्चित नहीं है, जबकि भक्तों की चारों मुक्तियाँ अत्यन्त निश्चित हैं। यद्यपि वैकुण्ठ लोक में भगवान् विष्णु या नारायण के सारे दास भगवान् के ही समान स्तर पर रहते हैं, किन्तु वहाँ के भक्त

अच्छी तरह जानते हैं कि भगवान् उनके स्वामी हैं और वे उनके दास हैं।

विष्णोर्वा साध्वसौ किं नु करिष्यत्यसमञ्जसः ।
सौहृदं दुस्त्यजं पित्रोरहाद्यः पञ्चहायनः ॥ ३६॥

शब्दार्थ

विष्णोः—विष्णु को; वा—अथवा; साधु—अच्छा; असौ—यह; किम्—क्या; नु—निस्सन्देह; करिष्यति—करेगा; असमञ्जसः—विश्वास न करने योग्य; सौहृदम्—प्रिय सम्बन्ध; दुस्त्यजम्—छोड़ पाना कठिन; पित्रोः—अपने पिता-माता का; अहात्—छोड़ दिया; यः—जो; पञ्च-हायनः—केवल पाँच वर्ष का।

यद्यपि प्रह्लाद केवल पाँच वर्ष का है, किन्तु इसी अल्पावस्था में उसने अपने माता-पिता के स्नेह-सम्बन्ध को त्याग दिया है। अतएव यह निश्चय ही विश्वास करने योग्य नहीं है। निस्सन्देह, इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता कि वह विष्णु के प्रति भी ठीक से आचरण करेगा।

परोऽप्यपत्यं हितकृद्यथौषधं
स्वदेहजोऽप्यामयवत्सुतोऽहितः ।
छिन्द्यात्तदङ्गं यदुतात्मनोऽहितं
शेषं सुखं जीवति यद्विवर्जनात् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

परः—उसी परिवार से सम्बन्धित न होना; अपि—यद्यपि; अपत्यम्—बालक; हित-कृत्—जो लाभप्रद है; यथा—जिस प्रकार; औषधम्—औषधि; स्व-देह-जः—अपने ही शरीर से उत्पन्न; अपि—यद्यपि; आमय-वत्—रोग के समान; सुतः—पुत्र; अहितः—जो हितैषी नहीं है; छिन्द्यात्—काट देना चाहिए; तत्—उस; अङ्गम्—शरीर के भाग को; यत्—जो; उत—निस्सन्देह; आत्मनः—शरीर का; अहितम्—अनुपयोगी; शेषम्—बचा हुआ, शेष; सुखम्—सुखपूर्वक; जीवति—जीवित रहता है; यत्—जिसके; विवर्जनात्—काट देने से।

यद्यपि औषधि (जड़ी-बूटी) जंगल में उत्पन्न होने के कारण मनुष्य की श्रेणी में परिगणित नहीं होती किन्तु लाभप्रद होने पर अत्यन्त सावधानी से रखी जाती है। इसी प्रकार यदि अपने परिवार से बाहर का कोई व्यक्ति अनुकूल हो तो उसे पुत्र के समान संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए। दूसरी ओर, यदि किसी के शरीर का कोई अंग रोग से विषाक्त हो जाये तो उसे काट कर अलग कर देना चाहिए जिससे शेष शरीर सुखपूर्वक जीवित रहे। इसी प्रकार भले ही अपना आत्मज पुत्र ही क्यों न हो, यदि वह प्रतिकूल है, तो उसका परित्याग कर देना चाहिए।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु ने समस्त भगवद्भक्तों को उपदेश दिया है कि वे तृण से भी अधिक विनीत और वृक्षों से भी अधिक सहिष्णु बनें अन्यथा उनके भक्ति-मार्ग में सदैव उपद्रव होते रहेंगे। यहाँ पर इसका प्रत्यक्ष उदाहरण दिया गया है कि किस तरह एक भक्त एक अभक्त द्वारा, जो कि एक

वत्सल पिता है, सताया जाता है। यह भौतिक जगत ऐसा है कि अभक्त पिता एक भक्त पुत्र का शत्रु बन जाता है। अपने ही पुत्र को मार डालने का निश्चय करके हिरण्यकशिपु ने ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया जो अपने शरीर के ही एक अंग के विषाक्त होने तथा शेष शरीर के लिए हानिकारक होने के कारण उसे काट कर अलग करने के तुल्य है। निस्सन्देह, यही उदाहरण अभक्तों पर भी लागू किया जा सकता हैं। चाणक्य पण्डित का उपदेश है—*त्यज दुर्जनसंसर्गम् भज साधुसमागमम्*—जो भक्त सचमुच ही आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होने के लिए इच्छुक हैं उन्हें चाहिए कि अभक्तों की संगति छोड़कर सदैव भक्तों की संगति करें। इस शरीर से अत्यधिक लिप्त होना अज्ञानता है, क्योंकि यह क्षणिक तथा दुखमय है। अतएव जो भक्त आत्म-साक्षात्कार के हेतु तपस्या करने के लिए कृतसंकल्प हैं और जो आध्यात्मिक चेतना में अग्रसर होना चाहते हैं उन्हें नास्तिक अभक्तों का साथ छोड़ देना चाहिए। प्रह्लाद महाराज में अपने पिता हिरण्यकशिपु की विचारधारा से असहयोग करने की प्रवृत्ति बनी रही तो भी वे सहिष्णु तथा विनीत थे। किन्तु हिरण्यकशिपु अभक्त होने के कारण इतना कलुषित था कि वह अपने पुत्र को मार डालने तक के लिए सन्नद्ध था। उसने अंग काट देने के तर्क द्वारा इसकी पुष्टि करनी चाही।

सर्वैरुपायैर्हन्तव्यः सम्भोजशयनासनैः ।
सुहृल्लिङ्गधरः शत्रुर्मुनेर्दुष्टमिवेन्द्रियम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

सर्वैः—सभी; उपायैः—उपायों के द्वारा; हन्तव्यः—मार डाला जाये; सम्भोज—खाते; शयन—लेटे; आसनैः—बैठे हुए; सुहृत्-लिङ्ग-धरः—मित्र का बाना धारण किये हुए; शत्रुः—दुश्मन; मुनेः—मुनियों की; दुष्टम्—अनियंत्रित; इव—जैसे; इन्द्रियम्—इन्द्रियाँ।

जिस प्रकार असंयमित इन्द्रियाँ आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ने के लिए व्यस्त योगियों की शत्रु होती हैं उसी प्रकार यह प्रह्लाद मित्र के समान प्रतीत होकर भी मेरा शत्रु है, क्योंकि इस पर मेरा वश नहीं चलता। अतएव खाते, बैठे या सोते हुए, सभी तरह से इस शत्रु को मार डाला जाये।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद महाराज को मार डालने का अभियान नियोजित किया कि वह अपने पुत्र को खाते समय विष खिला कर, उसे उबलते तेल में बैठा कर या जब वह सो रहा हो तो उसे हाथी के पैरों के नीचे फेंककर मार डालेगा। इस तरह हिरण्यकशिपु ने अपने उस निर्दोष बालक को, जो अभी केवल पाँच वर्ष का था, मार डालने का इसलिए निश्चय किया, क्योंकि यह बालक भगवान्

का भक्त बन गया था। ऐसी मनोवृत्ति होती है अभक्तों की भक्तों के प्रति।

नैरृतास्ते समादिष्टा भर्त्रा वै शूलपाणयः ।
तिग्मदंष्ट्रकरालास्यास्ताम्रश्मश्रुशिरोरुहाः ॥ ३९ ॥
नदन्तो भैरवं नादं छिन्धि भिन्धीति वादिनः ।
आसीनं चाहनञ्शूलैः प्रह्लादं सर्वमर्मसु ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

नैरृताः—असुर; ते—वे; समादिष्टाः—आज्ञा पाकर; भर्त्रा—अपने स्वामी से; वै—निस्सन्देह; शूल-पाणयः—अपने हाथों में त्रिशूल लेकर; तिग्म—अत्यन्त तीखे; दंष्ट्र—दाँत; कराल—तथा भयानक; आस्याः—मुख; ताम्र-श्मश्रु—ताँबे जैसी मूछें; शिरोरुहाः—सिर के बाल; नदन्तः—ध्वनि करते; भैरवम्—भयानक; नादम्—ध्वनि; छिन्धि—काट दो; भिन्धि—छोट-छोटे टुकड़े कर डालो; इति—इस प्रकार; वादिनः—बोलते हुए; आसीनम्—चुपचाप बैठा हुआ; च—तथा; अहनन्—आक्रमण किया; शूलैः—अपने त्रिशूलों से; प्रह्लादम्—प्रह्लाद पर; सर्व-मर्मसु—शरीर के कोमल भागों (मर्मस्थलों) पर।

इस प्रकार हिरण्यकशिपु के सारे नौकर राक्षसगण प्रह्लाद महाराज के शरीर के नम्र भागों (मर्मस्थलों) पर अपने त्रिशूल से वार करने लगे। इन राक्षसों के मुख अत्यन्त भयानक थे, दाँत तीखे तथा दाढ़ी एवं बाल ताँबे जैसे थे और वे सब अत्यन्त भयावने प्रतीत हो रहे थे। वे उच्च स्वर से "उसके टुकड़े-टुकड़े कर दो। उसे छेद डालो" इस तरह चिल्ला कर प्रह्लाद महाराज पर जो शान्त भाव से भगवान् का ध्यान करते हुए आसीन थे प्रहार करने लगे ।

परे ब्रह्मण्यनिर्देश्ये भगवत्यखिलात्मनि ।
युक्तात्मन्यफला आसन्नपुण्यस्येव सत्क्रियाः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

परे—परम; ब्रह्मणि—ब्रह्म; अनिर्देश्ये—इन्द्रियों से अदृश्य; भगवति—भगवान् में; अखिल-आत्मनि—सबों के परमात्मा; युक्त-आत्मनि—जिसका मन लगा था, उस (प्रह्लाद) पर; अफलाः—निष्फल, व्यर्थ; आसन्—थे; अपुण्यस्य—ऐसे व्यक्ति का जिसके पास पुण्यकर्मों की पूँजी न हो; इव—सदृश; सत्-क्रियाः—सत्कर्म (यथा यज्ञ तथा तपस्या)।

ऐसा व्यक्ति जिसके पास कोई पुण्यकर्म की कमाई नहीं होती यदि वह कोई अच्छा कार्य करे भी तो उसका कोई परिणाम नहीं निकलता। इसी प्रकार राक्षसों के हथियारों का प्रह्लाद महाराज पर कोई प्रकट प्रभाव नहीं पड़ रहा था, क्योंकि वे भौतिक दशाओं से अविचलित रहने वाले भक्त थे और उन भगवान् का ध्यान करने तथा सेवा करने में व्यस्त थे, जो अनश्वर थे, जिन्हें भौतिक इन्द्रियों द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता और जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के आत्मा हैं।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज भगवान् के विचार में निरन्तर पूर्णतया मगन रहते थे। जैसाकि कहा गया है *गोविन्द परिरम्भितः।* प्रह्लाद महाराज सदैव ध्यान में लीन रहते थे, अतएव उनकी रक्षा गोविन्द करते

थे। जिस प्रकार एक छोटा सा शिशु अपने पिता या माता की गोद में पूर्णतः सुरक्षित रहता है वैसे ही भक्त समस्त परिस्थितियों में परमेश्वर द्वारा सुरक्षित रहता है। तो क्या इसका अर्थ यह होता है कि जब राक्षसों ने प्रह्लाद महाराज पर आक्रमण किया तो गोविन्द पर भी उनका प्रहार हुआ? ऐसा सम्भव नहीं है। असुरों ने भगवान् को चोट पहुँचाने या मार डालने के अनेक प्रयास किये, किन्तु वे किसी भौतिक साधन द्वारा क्षतिग्रस्त नहीं हो सकते, क्योंकि वे सदैव अध्यात्म में लीन रहते हैं। अतएव यहाँ पर *परे ब्रह्मणि* शब्दों का प्रयोग हुआ है। राक्षसगण न तो परमेश्वर को देख सकते हैं, न उन्हें छू सकते हैं, यद्यपि वे ऊपरी तौर पर यह सोचे कि वे भगवान् के दिव्य शरीर पर अपने भौतिक हथियारों से प्रहार कर रहे हैं। इस श्लोक में भगवान् को *अनिर्देश्ये* कहा गया है। चूँकि वे सर्वव्यापी हैं, अतएव हम उन्हें किसी एक स्थान पर नहीं देख सकते। साथ ही, वे *अखिलात्मा* हैं, वे हर वस्तु के प्राण हैं, यहाँ तक कि भौतिक हथियारों के भी। जो लोग भगवान् की स्थिति को नहीं समझते वे हतभाग्य हैं। भले ही वे यह सोचें कि वे भगवान् तथा उसके भक्त को मार सकते हैं, किन्तु उनके सारे प्रयास व्यर्थ जाते हैं। भगवान् जानते हैं कि उनसे किस प्रकार निपटा जाए।

प्रयासेऽपहते तस्मिन्दैत्येन्द्रः परिशङ्कितः ।
चकार तद्वधोपायान्निर्बन्धेन युधिष्ठिर ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

प्रयासे—प्रयास में; अपहते—व्यर्थ; तस्मिन्—उस; दैत्य-इन्द्रः—दैत्यों का राजा हिरण्यकशिपु; परिशङ्कितः—अत्यन्त भयभीत (यह सोचकर कि बालक की रक्षा हो रही है); चकार—किया; तत्-वध-उपायान्—उसे मारने के विविध उपाय; निर्बन्धेन—संकल्प से; युधिष्ठिर—हे राजा युधिष्ठिर।.

हे राजा युधिष्ठिर, जब प्रह्लाद महाराज को मार डालने के असुरों के सारे प्रयास निष्फल हो गये तो दैत्यराज हिरण्यकशिपु अत्यन्त भयभीत होकर उसे मारने के अन्य उपायों की योजना करने लगा।

दिग्गजैर्दन्दशूकेन्द्रैरभिचारावपातनैः ।
मायाभिः सन्निरोधैश्च गरदानैरभोजनैः ।
हिमवाय्वग्निसलिलैः पर्वताक्रमणैरपि ॥ ४३ ॥
न शशाक यदा हन्तुमपापमसुरः सुतम् ।
चिन्तां दीर्घतमां प्राप्तस्तत्कर्तुं नाभ्यपद्यत ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

दिक्-गजैः—बड़े-बड़े हाथियों द्वारा, जिन्हें अपने पैरों तले किसी भी वस्तु को कुचल डालने का प्रशिक्षण दिया गया था; दन्द-शूक-इन्द्रैः—राजा के जहरीले साँपों द्वारा कटा कर; अभिचार—विध्वंसक जादू द्वारा; अवपातनैः—पर्वत की चोटी से गिरा कर; मायाभिः—युक्तियों द्वारा; सन्निरोधैः—बन्दी बना कर; च—तथा; गर-दानैः—विष पिला कर; अभोजनैः—भूखों रख कर; हिम-वायु-अग्नि—ठिठुरती ठंड, हवा तथा अग्नि; सलिलैः—तथा जल से; पर्वत-आक्रमणैः—बड़े-बड़े पत्थरों तथा पहाड़ियों से कुचला कर; अपि—भी; न शशाक—समर्थ न हुआ; यदा—जब; हन्तुम्—मारने के लिए; अपापम्—जो तनिक भी पापी न था; असुरः—असुर (हिरण्यकशिपु); सुतम्—अपने पुत्र को; चिन्ताम्—चिन्ता; दीर्घ-तमाम्—अधिक काल से चली आ रही; प्राप्तः—प्राप्त किया; तत्-कर्तुम्—उसे करने के लिए; न—नहीं; अभ्यपद्यत—प्राप्त किया।

हिरण्यकशिपु अपने पुत्र को विशाल हाथी के पाँवों के नीचे, बड़े-बड़े भयानक साँपों के बीच में, विध्वसंक जादू का प्रयोग करके, पर्वत की चोटी से नीचे गिरा कर, मायावी तरकीबें करके, विष देकर, भूखों रख कर, ठिठुरती ठंड, हवा, अग्नि तथा जल में रखकर या उस पर भारी पत्थर फेंक कर भी नहीं मार पाया। जब उसने देखा कि वह निर्दोष प्रह्लाद को किसी तरह हानि नहीं पहुँचा पाया, तो वह अत्यन्त चिन्ता में पड़ गया कि आगे क्या किया जाये।

एष मे बह्वसाधूक्तो वधोपायाश्च निर्मिताः ।
तैस्तैर्द्रोहैरसद्धर्मैर्मुक्तः स्वेनैव तेजसा ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; मे—मेरा; बहु—अनेक; असाधु-उक्तः—गालियाँ; वध-उपायाः—उसे मारने के अनेक उपायों द्वारा; च—तथा; निर्मिताः—कल्पित, बनाया; तैः—उनके द्वारा; तैः—उनके द्वारा; द्रोहैः—विश्वासघात से; असत्-धर्मैः—घृणित कर्म के द्वारा; मुक्तः—छूटा हुआ; स्वेन—अपने; एव—निस्सन्देह; तेजसा—तेज से।

हिरण्यकशिपु ने विचार किया: मैंने इस बालक को दण्डित करने के लिए अनेक गालियाँ दी हैं, अपशब्द कहे हैं और उसे मार डालने के लिए अनेक उपाय किये हैं, किन्तु मेरे समस्त प्रयत्नों के बावजूद यह मरा नहीं। निस्सन्देह, इन विश्वासघातों तथा घृणित कर्मों के द्वारा वह तनिक भी प्रभावित नहीं हुआ और अपनी ही शक्ति से उसने अपने को बचाया है।

वर्तमानोऽविदूरे वै बालोऽप्यजडधीरयम् ।
न विस्मरति मेऽनार्यं शुनः शेप इव प्रभुः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

वर्तमानः—स्थित होकर; अविदूरे—अधिक दूरी पर नहीं; वै—निस्सन्देह; बालः—शिशु मात्र; अपि—यद्यपि; अजड-धीः—पूर्ण निर्भीक; अयम्—यह; न—नहीं; विस्मरति—भूलता है; मे—मेरा; अनार्यम्—दुर्व्यवहार; शुनः शेपः—कुत्ते की टेढ़ी पूँछ; इव—सदृश; प्रभुः—समर्थ होकर।

यद्यपि यह मेरे अत्यन्त निकट है और निरा बालक है फिर भी यह पूर्ण निर्भीक है। यह उस कुत्ते की टेढ़ी पूँछ के समान है, जो कभी सीधी नहीं की जा सकती, क्योंकि यह मेरे दुर्व्यवहार

तथा अपने स्वामी भगवान् विष्णु से अपने सम्बन्ध को कभी भी नहीं भूलता है।

तात्पर्य : *शुन:* शब्द का अर्थ है "कुत्ते की" और *शेप* का अर्थ है "पूँछ"। यह उदाहरण अत्यन्त सीधा सा है। कोई कुत्ते की पूँछ को सीधा करने का कितना ही प्रयास क्यों न करे वह कभी भी सीधी नहीं होती अपितु सदैव टेढ़ी ही रहती है। *शुन: शेप* अजीगर्त के द्वितीय पुत्र का नाम भी है। उसे हरिश्चन्द्र को भी बेच दिया गया था, लेकिन बाद में उसने विश्वामित्र की शरण ले ली थी जो हरिश्चन्द्र का शत्रु था और फिर उसका साथ नहीं छोड़ा।

अप्रमेयानुभावोऽयमकुतश्चिद्भयोऽमरः ।
नूनमेतद्विरोधेन मृत्युर्मे भविता न वा ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

अप्रमेय—असीम; अनुभावः—यश; अयम्—यह; अकुतश्चित्-भयः—किसी भी ओर से भय न होना; अमरः—अमर; नूनम्—निश्चय ही; एतत्-विरोधेन—इसका विरोध करने से; मृत्युः—मृत्यु; मे—मेरी; भविता—हो जाये; न—नहीं; वा—अथवा।

मैं देखता हूँ कि इस बालक की शक्ति असीम है, क्योंकि यह मेरे किसी भी दण्ड से भयभीत नहीं हुआ। यह अमर प्रतीत होता है, अतएव इसके प्रति शत्रुता के भाव से मैं मरूँगा। या ऐसा नहीं भी हो सकता।

इति तच्चिन्तया किञ्चिन्म्लानश्रियमधोमुखम् ।
शण्डामर्कावौशनसौ विविक्त इति होचतुः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; तत्-चिन्तया—प्रह्लाद महाराज की स्थिति के कारण चिन्ता से पूर्ण; किञ्चित्—कुछ-कुछ; म्लान—मुरझाया; श्रियम्—शारीरिक कान्ति; अधः-मुखम्—नीचे मुँह किये; शण्ड-अमर्कौ—षण्ड तथा अमर्क; औशनसौ—शुक्राचार्य के पुत्रो; विविक्ते—गुप्त स्थान में; इति—इस प्रकार; ह—निस्सन्देह; ऊचतुः—बोले।

इस प्रकार सोचते हुए चिन्तित तथा कान्तिहीन दैत्यराज अपना मुँह नीचा किये चुप रह गया। शुक्राचार्य के दोनों पुत्र षण्ड तथा अमर्क एकान्त में उससे बोले।

जितं त्वयैकेन जगत्त्रयं भ्रुवोर्
विजृम्भणत्रस्तसमस्तधिष्ण्यपम् ।
न तस्य चिन्त्यं तव नाथ चक्ष्वहे
न वै शिशूनां गुणदोषयोः पदम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

जितम्—जीता गया; त्वया—तुम्हारे द्वारा; एकेन—अकेले; जगत्-त्रयम्—तीनों जगत; भ्रुवोः—भौहों के; विजृम्भण—फैलने से; त्रस्त—भयभीत हो जाते हैं; समस्त—सारे; धिष्ण्यपम्—प्रत्येक लोक के प्रमुख व्यक्ति; न—नहीं; तस्य—उसकी; चिन्त्यम्—चिन्ता; तव—तुम्हारा; नाथ—हे स्वामी; चक्ष्वहे—हम देख रहे हैं; न—न तो; वै—निस्सन्देह; शिशूनाम्—बच्चों के; गुण-दोषयोः—उत्तम गुण या दोष का; पदम्—विषय।

हे स्वामी, हम जानते हैं कि यदि आप अपनी भौहों को हिला भी दें तो विविध लोकों के नायक (पालक) अत्यन्त भयभीत हो उठते हैं। आपने किसी की सहायता लिए बिना ही तीनों लोकों को जीत लिया है। इसलिए हमें आपके चिन्तित होने का कोई कारण नहीं दिख रहा। जहाँ तक प्रह्लाद का प्रश्न है, वह एक बालक मात्र है और वह चिन्ता का कारण नहीं बन सकता। अन्ततः उसके गुणों या अवगुणों का कोई महत्व नहीं है।

इमं तु पाशैर्वरुणस्य बद्ध्वा
निधेहि भीतो न पलायते यथा ।
बुद्धिश्च पुंसो वयसार्यसेवया
यावद्गुरुर्भार्गव आगमिष्यति ॥५०॥

शब्दार्थ

इमम्—इसको; तु—लेकिन; पाशैः—रस्सियों से; वरुणस्य—वरुण देव की; बद्ध्वा—बाँध कर; निधेहि—रखो; भीतः—डरा हुआ; न—नहीं; पलायते—भागे; यथा—जिससे; बुद्धिः—बुद्धि; च—भी; पुंसः—मनुष्य की; वयसा—उम्र बढ़ने से; आर्य—अनुभवी व्यक्तियों की; सेवया—सेवा से; यावत्—जब तक; गुरुः—हमारा गुरु; भार्गवः—शुक्राचार्य; आगमिष्यति—आ जाएगा।

हमारे गुरु शुक्राचार्य के लौट आने तक इस बालक को वरुण की रस्सियों से बाँध दो जिससे वह डर कर भाग न सके। हर हालत में, जब वह कुछ-कुछ बड़ा हो जाएगा और हमारे उपदेशों को आत्मसात् कर चुकेगा या हमारे गुरु की सेवा कर लेगा तो इसकी बुद्धि बदल जाएगी। इस प्रकार चिन्ता की कोई बात नहीं है।

तथेति गुरुपुत्रोक्तमनुज्ञायेदमब्रवीत् ।
धर्मो ह्यस्योपदेष्टव्यो राज्ञां यो गृहमेधिनाम् ॥५१॥

शब्दार्थ

तथा—इस प्रकार से; इति—इस तरह; गुरु-पुत्र-उक्तम्—शुक्राचार्य के पुत्रों, षण्ड तथा अमर्क द्वारा सलाह दिये जाने पर; अनुज्ञाय—मानकर; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा; धर्मः—कर्तव्य; हि—निस्सन्देह; अस्य—प्रह्लाद को; उपदेष्टव्यः—उपदेश देना चाहिए; राज्ञाम्—राजाओं के; यः—जो; गृह-मेधिनाम्—गृहस्थ जीवन में जिनकी रुचि है।

अपने गुरु पुत्र षण्ड तथा अमर्क के इन उपदेशों को सुनकर हिरण्यकशिपु राजी हो गया और उनसे प्रह्लाद को इस वृत्तिपरक धर्म का उपदेश देने की प्रार्थना की जिसका पालन राजसी

गृहस्थ परिवार करते हैं।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु चाहता था कि प्रह्लाद महाराज देश या विश्व का शासन चलाने के लिए कूटनीतिक राजा के रूप में प्रशिक्षित हो न कि संन्यास आश्रम के लिए उपदेश प्राप्त करे। *धर्म* शब्द किसी धार्मिक विश्वास के लिए नहीं प्रयुक्त हुआ। जैसाकि स्पष्ट कहा गया है—*धर्मो ह्यस्योपदेष्टव्यो राज्ञां यो गृहमेधिनाम्।* राजाओं के परिवार दो प्रकार के होते हैं—पहले वे जिसके सदस्य गृहस्थ जीवन से आसक्त रहते हैं और दूसरे *राजर्षि* अर्थात् वे राजा जो शासक के रूप में शासन करते हैं, किन्तु साथ ही ऋषि भी होते हैं। प्रह्लाद *राजर्षि* बनना चाहते थे, किन्तु हिरण्यकशिपु उसे इन्द्रिय-भोग-आसक्त राजा बनाना चाहता था (*गृहमेधिनाम्*)। इसीलिए आर्य प्रणाली में *वर्णाश्रम धर्म* होता है, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति समाज में अपने *वर्ण* (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) तथा *आश्रम* (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) के अनुसार शिक्षा प्राप्त करता है।

भक्ति से पवित्र हुआ भक्त संसारी गुणों से ऊपर दिव्य स्थिति में रहता है। इस प्रकार प्रह्लाद महाराज तथा हिरण्यकशिपु में यह अन्तर था कि हिरण्यकशिपु चाहता था कि प्रह्लाद संसार में लिप्त रहे, किन्तु प्रह्लाद तो प्रकृति के गुणों से ऊपर थे। जब तक कोई प्रकृति के वश में रहता है तब तक उसका वृत्तिपरक कर्तव्य (धर्म) उस व्यक्ति से भिन्न होता है, जो प्रकृति के वश में नहीं होता। मनुष्य के असली धर्म का वर्णन *श्रीमद्भागवत* में हुआ है (*धर्मं तु साक्षाद् भगवत्प्रणीतम्*)। जैसाकि धर्मराज या यमराज ने अपने आदेशपालक से कहा था, जीव आध्यात्मिक सत्ता है अतएव उसका वृत्तिपरक कर्तव्य धर्म भी आध्यात्मिक है। वास्तविक धर्म तो वह है, जिसका उपदेश *भगवद्गीता* में हुआ है—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।* मनुष्य को चाहिए कि वह भौतिक धर्म का परित्याग उसी तरह कर दे जिस प्रकार उसे भौतिक शरीर का परित्याग करना होता है। चाहे किसी का धर्म हो, यहाँ तक कि वर्णाश्रम धर्म के अनुसार भी हो, उसे उसका परित्याग करके अपने आध्यात्मिक कार्य में लग जाना चाहिए। मनुष्य के असली धर्म का वर्णन श्री चैतन्य महाप्रभु ने किया है—*जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्य दास'*—प्रत्येक व्यक्ति कृष्ण का नित्य दास है। यही मनुष्य का असली धर्म है।

धर्ममर्थं च कामं च नितरां चानुपूर्वशः ।

प्रह्लादायोचतू राजन्प्रश्रितावनताय च ॥ ५२॥

शब्दार्थ

धर्मम्—संसारी वृत्तिपरक कर्तव्य; अर्थम्—आर्थिक विकास; च—तथा; कामम्—इन्द्रिय तृप्ति; च—तथा; नितराम्—सदैव; च—तथा; अनुपूर्वशः—क्रमानुसार, प्रारम्भ से लेकर अन्त तक; प्रह्लादाय—प्रह्लाद महाराज के लिए; ऊचतुः—उन्होंने कहा; राजन्—हे राजा; प्रश्रित—नम्र; अवनताय—तथा विनीत; च—भी।

तत्पश्चात् षण्ड तथा अमर्क ने अत्यन्त नम्र एवं विनीत प्रह्लाद महाराज को क्रमशः तथा निरन्तर धर्म, अर्थ तथा काम के विषय में पढ़ाना शुरू किया।

तात्पर्य : मानव समाज में चार विधियाँ (पुरुषार्थ) हैं—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। इनका अन्त मोक्ष में होता है। मानव समाज को आगे बढ़ने के लिए धर्म विधि का पालन करना होता है और इसी धर्म के आधार पर मनुष्य को अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने का प्रयास करना चाहिए जिससे वह धार्मिक विधि-विधानों के अनुसार इन्द्रिय-तृप्ति की आवश्यकता-पूर्ति कर सके। तब भव-बन्धन से मोक्ष प्राप्त करना आसान होगा। यही वैदिक विधि है। जब कोई धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की अवस्थाएँ पार कर लेता है, तो वह भक्त बन जाता है। तब वह ऐसे पद पर होता है जहाँ से वह गिर कर पुनः जगत में नहीं आता (*यद्गत्वा न निवर्तन्ते*)। जैसाकि *भगवद्गीता* में उपदेश दिया गया है, यदि कोई इन चारों अवस्थाओं को पार कर जाता है और वास्तव में मुक्त है, तो वह भक्ति में संलग्न होता है। तब उसे इस संसार में पुनः पड़ने की सम्भावना नहीं रहती।

यथा त्रिवर्गं गुरुभिरात्मने उपशिक्षितम् ।
न साधु मेने तच्छिक्षां द्वन्द्वारामोपवर्णिताम् ॥ ५३॥

शब्दार्थ

यथा—इस प्रकार; त्रि-वर्गम्—तीन विधियाँ (धर्म, अर्थ तथा काम); गुरुभिः—अध्यापकों द्वारा; आत्मने—अपने (प्रह्लाद) को; उपशिक्षितम्—उपदेश दिया; न—नहीं; साधु—वास्तव में अच्छा; मेने—उसने माना; तत्-शिक्षाम्—उस शिक्षा को; द्वन्द्व-आराम—द्वैत (शत्रुता तथा मित्रता) में आनन्द लेने वाले व्यक्तियों द्वारा; उपवर्णिताम्—संस्तुत।

षण्ड तथा अमर्क नामक शिक्षकों ने प्रह्लाद महाराज को धर्म, अर्थ तथा काम इन तीन प्रकार के भौतिक विकास के बारे में शिक्षा दी। किन्तु प्रह्लाद महाराज इन उपदेशों से ऊपर थे, अतएव उन्होंने इन्हें पसन्द नहीं किया, क्योंकि ऐसे उपदेश संसारी मामलों के द्वैत पर आधारित होते हैं, जो मनुष्य को भौतिकतावादी जीवन-शैली में फंसा लेते हैं जिसमें जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि प्रमुख हैं।

तात्पर्य : पूरा संसार भौतिकतावादी जीवन-शैली में रुचि रखता है। निस्सन्देह, तीनों संसार के

९९.९ प्रतिशत लोग मोक्ष या आध्यात्मिक शिक्षा में कोई रुचि नहीं लेते। केवल भगवान् के भक्त, जिनमें प्रह्लाद महाराज तथा नारद मुनि जैसे महापुरुष प्रमुख हैं, आध्यात्मिक जीवन की असली शिक्षा में रुचि लेते हैं। कोई व्यक्ति भौतिक पद पर रहते हुए धर्म के नियमों को नहीं समझ सकता। अतएव उन्हें चाहिए कि वे इन महापुरुषों का अनुगमन करें। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (६.३.२०) में कहा गया है—

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।

प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥

मनुष्य को चाहिए कि वह ब्रह्मा, नारद, शिव, कपिल, मनु, चारों कुमार, प्रह्लाद महाराज, भीष्म, जनक, बलि महाराज, शुकदेव गोस्वामी तथा यमराज जैसे महापुरुषों के पदचिह्नों का अनुसरण करे। जो लोग आध्यात्मिक जीवन में रुचि रखते हैं उन्हें चाहिए कि धर्म, अर्थ तथा काम का परित्याग करके प्रह्लाद महाराज का अनुगमन करें। मनुष्य को आध्यात्मिक शिक्षा लेनी चाहिए। इसीलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन प्रह्लाद महाराज के चरण-चिह्नों पर चलकर सारे विश्व में फैल रहा है, क्योंकि जिन्हें अपने शिक्षकों से प्राप्त भौतिकतावादी शिक्षा बिल्कुल पसन्द न थी।

यदाचार्यः परावृत्तो गृहमेधीयकर्मसु ।
वयस्यैर्बालकैस्तत्र सोपहूतः कृतक्षणैः ॥५४॥

शब्दार्थ

यदा—जब; आचार्यः—शिक्षकगण; परावृत्तः—काम में लग गये; गृह-मेधीय—गृहस्थ जीवन के; कर्मसु—कार्यों में; वयस्यैः—समान आयु वाले अपने मित्रों; बालकैः—बालकों के द्वारा; तत्र—वहाँ; सः—वह (प्रह्लाद महाराज); अपहूतः—बुलाया गया; कृत-क्षणैः—उचित अवसर पाकर।

जब शिक्षक अपने घरेलू काम करने अपने घर चले जाते थे, तो प्रह्लाद महाराज के समवयस्क छात्र उन्हें इस अवकाश (छुट्टी) को खेलने में लगाने के लिए बुला लेते।

तात्पर्य : अवकाश के समय जब शिक्षक कक्षा से चले जाते तो छात्रगण प्रह्लाद के साथ खेलने की इच्छा से उन्हें बुलाते। किन्तु जैसाकि अगले श्लोकों से प्रकट हो जाएगा, प्रह्लाद महाराज को खेलना नहीं भाता था। उल्टे, वे प्रत्येक क्षण का उपयोग कृष्णभावनामृत को अग्रसर करने में बिताना चाहते थे। इसलिए जैसाकि इस श्लोक के *कृतक्षणैः* शब्द से सूचित होता है, उपयुक्त अवसर पर जब कृष्णभावनामृत के विषय में विचार करना सम्भव होता तो प्रह्लाद महाराज समय का उपयोग

निम्नलिखित प्रकार से करते थे।

अथ ताञ्श्लक्ष्णया वाचा प्रत्याहूय महाबुधः ।
उवाच विद्वांस्तन्निष्ठां कृपया प्रहसन्निव ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; तान्—सहपाठियों को; श्लक्ष्णया—अत्यन्त सुहावनी; वाचा—वाणी से; प्रत्याहूय—सम्बोधित करके; महा-बुधः—अत्यन्त बुद्धिमान तथा आध्यात्मिक चेतना में अग्रसर प्रह्लाद महाराज ने (महा-महान्, बुधः-पंडित); उवाच—कहा; विद्वान्—अत्यन्त विद्वान; तत्-निष्ठाम्—ईश्वर साक्षात्कार का मार्ग; कृपया—दयालु होकर; प्रहसन्—हँसते हुए; इव—सदृश।

तब प्रह्लाद महाराज ने, जो सचमुच परम विद्वान पुरुष थे, अपने सहपाठियों से अत्यन्त मधुर वाणी में कहा। उन्होंने हँसते हुए भौतिकतावादी जीवन-शैली की अनुपयोगिता के विषय में बताना शुरू किया। उन पर अत्यन्त कृपालु होने के कारण उन्होंने उन्हें इस प्रकार उपदेश दिया।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज का हँसना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अन्य विद्यार्थी धर्म, अर्थ तथा काम के उपयोग द्वारा भौतिक जीवनका भोग करने में अत्यधिक आगे बढ़े हुए थे किन्तु प्रह्लाद महाराज उन पर हँस पड़े क्योंकि वे जानते थे कि यह वास्तविक सुख नहीं है। वास्तविक सुख तो कृष्णभावनामृत की प्रगति है। जो लोग प्रह्लाद महाराज के अनुयायी हैं उनका कर्तव्य है कि सारे विश्व को शिक्षा दें कि किस प्रकार कृष्णभावनाभावित होकर वास्तव में सुखी बना जाये। भौतिकतावादी व्यक्ति धर्म को इसलिए ग्रहण करते हैं कि उन्हें वर प्राप्त हो सके जिससे उनकी आर्थिक स्थिति सुधर सके और वे इन्द्रियतृप्ति द्वारा भौतिक जगत का भोग कर सकें। किन्तु प्रह्लाद महाराज जैसे भक्त इस बात पर हँसते हैं कि ऐसे लोग कितने मूर्ख हैं कि आत्मा के देहान्तरण के ज्ञान के बिना ये नाशवान् जीवन में व्यस्त हैं। भौतिकतावादी व्यक्ति क्षणिक लाभों में लगे रहते हैं जबकि प्रह्लाद महाराज जैसे व्यक्ति, जो आध्यात्मिक ज्ञान में बढ़े-चढ़े हैं, भौतिकतावादी जीवन-शैली में तनिक भी रुचि नहीं रखते, अपितु वे ज्ञान तथा आनन्द के शाश्वत जीवन को प्राप्त करना चाहते हैं। अतएव जिस तरह कृष्ण सदैव पतितात्माओं पर, दयालु रहते हैं उसी तरह उनके दास कृष्ण के भक्त भी सम्पूर्ण जनता को कृष्णभावनामृत की शिक्षा देने में रुचि रखते हैं। भक्तगण भौतिकतावादी जीवन के दोषों को जानते हैं, अतएव वे उसे तुच्छ समझ कर उस पर हँसते हैं। किन्तु दयावश ऐसे भक्तगण सारे विश्व में *भगवद्गीता* का उपदेश देते हैं।

ते तु तद्गौरवात्सर्वे त्यक्तक्रीडापरिच्छदाः ।
बाला अदूषितधियो द्वन्द्वारामेरितेहितैः ॥ ५६ ॥
पर्युपासत राजेन्द्र तन्न्यस्तहृदयेक्षणाः ।
तानाह करुणो मैत्रो महाभागवतोऽसुरः ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; तु—निस्सन्देह; तत्-गौरवात्—प्रह्लाद महाराज के शब्दों के प्रति महान् आदर से (उनके भक्त होने के कारण); सर्वे—वे सभी; त्यक्त—त्याग; क्रीडा-परिच्छदाः—खेलने के खिलौने; बालाः—लड़के; अदूषित-धियः—जिनकी बुद्धि अपने पिताओं के समान दूषित नहीं हुई; द्वन्द्व—द्वैत्य भाव में; आराम—आनन्द लेने वाले (यथा षण्ड तथा अमर्क जैसे शिक्षक); ईरित—उपदेशों द्वारा; ईहितैः—तथा कार्यों से; पर्युपासत—चारों ओर बैठ गये; राज-इन्द्र—हे राजा युधिष्ठिर; तत्—उसको; न्यस्त—त्याग करके; हृदय-ईक्षणाः—अपने हृदय तथा नेत्र; तान्—उनको; आह—बोला; करुणः—अत्यन्त दयालु; मैत्रः—असली मित्र; महा-भागवतः—अत्यन्त पूज्य भक्त; असुरः—यद्यपि असुर पिता से उत्पन्न प्रह्लाद महाराज।

हे राजा युधिष्ठिर, सारे बालक प्रह्लाद महाराज को अत्यधिक चाहते थे और उनका सम्मान करते थे। अपनी अल्पायु के कारण वे अपने शिक्षकों के उपदेशों एवं कार्यों से जितने दूषित नहीं हुए थे जबकि उनके शिक्षक निन्दा, द्वैत तथा शारीरिक सुविधा के प्रति आसक्त थे। इस तरह सारे बालक अपने-अपने खिलौने छोड़कर प्रह्लाद महाराज की बात सुनने के लिए उनके चारों ओर बैठ गये। उनके हृदय तथा नेत्र उन पर टिके थे और वे उन्हें उत्साहपूर्वक देख रहे थे। प्रह्लाद महाराज यद्यपि असुर कुल में पैदा हुए थे, किन्तु महान् भक्त थे और वे असुरों की कल्याण-कामना करते थे। इस प्रकार उन्होंने उन बालकों को भौतिकतावादी जीवन की व्यर्थता के विषय में उपदेश देना प्ररम्भ किया।

तात्पर्य : *बाला अदूषित-धियः* पद बताता है कि बच्चे अल्पायु होने के कारण भौतिकतावादी जीवन से उतने दूषित नहीं थे जितने कि उनके पिता। अतएव प्रह्लाद महाराज ने अपने सहपाठियों की अबोधता का लाभ उठा कर उन्हें आध्यात्मिक जीवन की महत्ता तथा भौतिकतावादी जीवन की असारता का उपदेश देना शुरू किया। यद्यपि षण्ड तथा अमर्क सारे बालकों को धर्म, अर्थ तथा काम सम्बधी भौतिकतावादी जीवन का उपदेश दे रहे थे लेकिन बच्चे अधिक दूषित नहीं हुए थे। अतएव वे कृष्णभावनामृत के विषय में प्रह्लाद महाराज से सुनने के लिए उत्सुक थे। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन के कार्यकलापों में गुरुकुल का अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि गुरुकुल के बालकों को बचपन से ही कृष्णभावनामृत के विषय में शिक्षा दी जाती है। वे अपने अन्तस्तल में स्थिर हो जाते हैं और जब वे बड़े होते हैं, तो प्रकृति के गुण उन्हें जीत नहीं पाते।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध के अन्तर्गत "हिरण्यकशिपु का साधु पुत्र प्रह्लाद

महाराज'' नामक पाँचवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छह

प्रह्लाद द्वारा अपने असुर सहपाठियों को उपदेश

इस अध्याय में प्रह्लाद महाराज द्वारा अपने सहपाठियों को दिये गये उपदेशों का विवरण है। अपने सारे के सारे असुरों के पुत्र मित्रों से प्रह्लाद महाराज ने बल देकर कहा कि मानव समाज में प्रत्येक जीव को जीवन के प्रारम्भ से ही आध्यात्मिक अनुभूति में रुचि लेनी चाहिए। बचपन में ही मनुष्यों को पढ़ाया जाना चाहिए कि भगवान् हर एक का आराध्यदेव है। मनुष्य को भौतिक भोग में अधिक रुचि नहीं दिखानी चाहिए, अपितु उसे आसानी से जितना भौतिक लाभ हो जाये उसी से सन्तुष्ट रहना चाहिए। चूँकि मनुष्य की आयु अत्यल्प है, अतएव उसे अपना प्रत्येक क्षण आध्यात्मिक उन्नति में लगाना चाहिए। यदि कोई गलती से यह सोचता है कि चलो, प्रारम्भ में भौतिक सुविधाओं को भोग लिया जाये और बुढ़ापे में कृष्ण भक्ति करेंगे तो यह गलत है। ऐसे भौतिकतावादी विचार व्यर्थ होते हैं, क्योंकि कोई भी व्यक्ति वृद्धावस्था में आध्यात्मिक जीवन-शैली नहीं अपना सकता। अतएव मनुष्य को जीवन के प्रारम्भ से ही भक्ति में (श्रवणं कीर्तनं विष्णोः) प्रवृत्त होना चाहिए। यह सभी जीवों का धर्म है। भौतिक शिक्षा प्रकृति के तीन गुणों से प्रभावित होती है, लेकिन मानव समाज में जिस आध्यात्मिक शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है, वह दिव्य होती है। प्रह्लाद महाराज ने उस रहस्य को भी प्रकट कर दिया जिस तरह उन्होंने नारद मुनि से शिक्षा प्राप्त की थी। परम्परा को प्राप्त प्रह्लाद महाराज के चरणकमलों को ग्रहण करके कोई भी आध्यात्मिक जीवन की पद्धति को समझ सकता है। इस जीवन को स्वीकार करने के लिए कोई भौतिक योग्यता नहीं चाहिए।

प्रह्लाद महाराज के सहपाठियों ने उनकी बात सुन लेने के बाद उनसे पूछा कि वे किस तरह इतने विद्वान तथा उन्नत बने हैं। इस प्रकार इस अध्याय की समाप्ति होती है।

श्रीप्रह्लाद उवाच

कौमार आचरेत्प्राज्ञो धर्मान्भागवतानिह ।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्लादः उवाच—प्रह्लाद महाराज ने कहा; कौमारः—बाल्य काल में; आचरेत्—अभ्यास करे; प्राज्ञः—बुद्धिमान व्यक्ति; धर्मान्—वृत्तिपरक कर्तव्य; भागवतान्—जो भगवान् की भक्ति हैं; इह—इस जीवन में; दुर्लभम्—अत्यन्त दुर्लभ; मानुषम्—मनुष्य का; जन्म—जन्म; तत्—वह; अपि—भी; अध्रुवम्—नश्वर; अर्थ-दम्—अर्थ से पूर्ण।

प्रह्लाद महाराज ने कहा : पर्याप्त बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह जीवन के प्रारम्भ से ही अर्थात् बाल्यकाल से ही अन्य सारे कार्यों को छोड़कर भक्ति कार्यों के अभ्यास में इस मानव शरीर का उपयोग करे। यह मनुष्य-शरीर अत्यन्त दुर्लभ है और अन्य शरीरों की भाँति नाशवान् होते हुए भी अर्थपूर्ण है, क्योंकि मनुष्य जीवन में भक्ति सम्पन्न की जा सकती है। यदि निष्ठापूर्वक किंचित भी भक्ति की जाये तो पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता तथा वेदाध्ययन का सारा उद्देश्य मनुष्य जीवन में भक्ति की पूर्ण अवस्था प्राप्त करना है। अतएव वैदिक प्रणाली के अनुसार जीवन के प्रारम्भिक काल से ही ब्रह्मचर्य प्रणाली चलाई जाती है, जिससे बाल्यकाल से ही—पाँच वर्ष की अवस्था से—मनुष्य अपने कर्मों को इस तरह मोड़े कि वह ढंग से पूर्णरूपेण भक्ति में प्रवृत्त हो सके। जैसी कि *भगवद्गीता* (२.४०) में पुष्टि की गई है—*स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्*—इस पथ पर की गई अल्प प्रगति भी मनुष्य को अत्यन्त घातक भय से बचा सकती है। वैदिक साहित्य के निर्णयों से संदर्भ न रखने के कारण आधुनिक सभ्यता मानव समाज के सदस्यों के प्रति इतनी क्रूर है कि बच्चों को ब्रह्मचारी बनने की शिक्षा देने के बजाये माताओं को शिक्षा देती है कि जनसंख्या न बढ़ने देने के लिए वे गर्भ में ही अपने बच्चों को मार दें। और यदि भाग्यवश बालक बच जाता है, तो उसे इन्द्रिय-तृप्ति के लिए ही शिक्षित किया जाता है। इस तरह धीरे-धीरे सारे संसार में मानव समाज में जीवन की पूर्णता के प्रति रुचि का ह्रास हो रहा है। निस्सन्देह लोग कूकरों-सूकरों की भाँति जी रहे हैं और वे ८४,००,००० निम्न जीव-योनियों में देहान्तरण करने की तैयारी करके अपने मनुष्य-जीवन अवधि को व्यर्थ गंवा रहे हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन लोगों को भक्ति करना सिखलाकर मानव समाज की सेवा करने के लिए उत्सुक है, जिससे मनुष्य पुनः पशु-जीवन में न जा गिरें। जैसाकि प्रह्लाद महाराज पहले कह चुके हैं *भागवत* धर्म में *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यम् आत्मनिवेदनम्* निहित हैं। सारे स्कूलों, कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में एवं घरों में भी सारे बच्चों तथा तरुणों को भगवान् के विषय में श्रवण करने की शिक्षा दी जानी चाहिए। दूसरे शब्दों में, उन्हें इसकी शिक्षा दी जानी चाहिए कि वे *भगवद्गीता* के उपदेशों को सुनकर उन्हें अपने-अपने जीवन में उतारें और इस प्रकार भक्ति में सशक्त

बनें तथा पशु-जीवन में पतित होने के भय से मुक्त हों। इस कलियुग के लिए भागवत धर्म का अनुसरण अत्यन्त सरल बना दिया गया है। शास्त्र का कथन है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा।

मनुष्य को केवल हरे कृष्ण महामंत्र कीर्तन करने की आवश्यकता है। जो भी इस महामंत्र का कीर्तन करता है उसका हृदय शुद्ध हो जाएगा और वह जन्म-मृत्यु के चक्र से बच जाएगा।

यथा हि पुरुषस्येह विष्णोः पादोपसर्पणम् ।
यदेष सर्वभूतानां प्रिय आत्मेश्वरः सुहृत् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिससे कि; **हि**—निस्सन्देह; **पुरुषस्य**—जीव का; **इह**—यहाँ; **विष्णोः**—भगवान् विष्णु का; **पाद-उपसर्पणम्**—चरणकमलों के निकट आना; **यत्**—क्योंकि; **एषः**—यह; **सर्व-भूतानाम्**—समस्त जीवों का; **प्रियः**—प्रिय; **आत्म-ईश्वरः**—आत्मा का स्वामी, परमात्मा; **सुहृत्**—शुभचिन्तक तथा मित्र।

यह मनुष्य-जीवन भगवद्धाम जाने का अवसर प्रदान करता है अतएव प्रत्येक जीव को, विशेष रूप से उसे जिसे मनुष्य जीवन मिला है, भगवान् विष्णु के चरणकमलों की भक्ति में प्रवृत्त होना चाहिए। यह भक्ति स्वाभाविक है क्योंकि भगवान् विष्णु सर्वाधिक प्रिय, आत्मा के स्वामी तथा अन्य सब जीवों के शुभचिन्तक हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (५.२९) में भगवान् कहते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

"साधु लोग मुझे समस्त यज्ञ तथा तपस्या का परम प्रयोजन, समस्त लोकों तथा देवताओं का परमेश्वर एवं समस्त जीवों का उपकारी तथा हितैषी जानकर भौतिक यातनाओं से शान्ति प्राप्त करते हैं।" इन तीन तथ्यों को—कि भगवान् विष्णु ही सारी सृष्टि के मालिक हैं, वे समस्त जीवों के सर्वश्रेष्ठ हितैषी तथा हर वस्तु के परम भोक्ता हैं—समझ लेने पर मनुष्य शान्त तथा सुखी बनता है। इसी दिव्य सुख के लिए जीव ब्रह्माण्ड भर में नाना योनियों तथा विभिन्न लोकों में चक्कर लगाता रहता है, किन्तु विष्णु के साथ अपने घनिष्ठ सम्बन्ध को भूल जाने के कारण उसे जन्म-जन्मन्तार कष्ट भोगना पड़ता है। अतएव मनुष्य-जीवन में शिक्षाप्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि मनुष्य ईश्वर या विष्णु के साथ अपने

घनिष्ठ सम्बन्ध को समझ सके। प्रत्येक जीव का ईश्वर से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह *शान्तरस* में भगवान् का यशोगान करे या *दास्य रस* में दास की भाँति विष्णु से नित्य सम्बन्ध स्थापित करके या *सख्य रस* में मित्र की तरह या *वात्सल्य रस* में माता-पिता के रूप में या *माधुर्य रस* में दाम्पत्य प्रेमी के रूप में रहे। ये सारे सम्बन्ध प्रेम के स्तर पर होते हैं। विष्णु हर एक के प्रेम के केन्द्र हैं, अतएव हर एक का कर्तव्य है कि वह भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगे। जैसाकि भगवान् ने (*भागवत* ३.२५.३८) कहा है—*येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम्*। किसी भी रूप में सही, हम विष्णु से सम्बन्धित हैं, जो परम प्रिय परमात्मा, पुत्र, मित्र तथा गुरु हैं। ईश्वर के साथ हमारा नित्य सम्बन्ध मनुष्य-जीवन में पुनः जागृत हो सकता है और शिक्षा का लक्ष्य भी यही होना चाहिए। निस्सन्देह, यही जीवन तथा शिक्षा की पूर्णता है।

सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम् ।
सर्वत्र लभ्यते दैवाद्यथा दुःखमयत्नतः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सुखम्—सुख; ऐन्द्रियकम्—भौतिक इन्द्रियों के प्रसंग में; दैत्याः—दैत्य कुल में उत्पन्न मेरे मित्रो; देह-योगेन—विशेष प्रकार का शरीर होने के कारण; देहिनाम्—समस्त देहधारी जीवों का; सर्वत्र—सभी जगह (किसी योनि में); लभ्यते—उपलब्ध हैं; दैवात्—भाग्य से; यथा—जिस प्रकार; दुःखम्—दुख; अयत्नतः—बिना प्रयास के।

प्रह्लाद महाराज ने आगे कहा : हे दैत्य कुल में उत्पन्न मेरे मित्रों, शरीर के सम्पर्क से इन्द्रियविषयों से जो सुख अनुभव किया जाता है, वह तो किसी भी योनि में अपने विगत सकाम कर्मों के अनुसार प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा सुख बिना प्रयास के उसी तरह स्वतः प्राप्त होता है, जिस प्रकार हमें दुख प्राप्त होता है।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में सभी प्रकार के जीवन में कोई न कोई तथाकथित सुख तथा दुख लगा रहता है। कोई नहीं चाहता कि दुख आए किन्तु वह आता है। इसी प्रकार भौतिक सुख के लाभों को पाने के लिए प्रयास न करने पर भी हमें सुख स्वतः प्राप्त होता है। ये दुख-सुख किसी भी जीवन में बिना प्रयास के मिलते हैं। अतएव दुख के विरुद्ध लड़ने या सुख के लिए कठिन श्रम करने में समय तथा शक्ति का अपव्यय व्यर्थ है। मनुष्य-जीवन में हमारा एकमात्र कर्तव्य भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को जा गृत करना और इस प्रकार भगवद्धाम वापस जाने के लिए योग्य होना चाहिए। हमारे द्वारा भौतिक शरीर स्वीकार करते ही सुख तथा दुख आते रहते हैं। चाहे वह शरीर किसी रूप में हो हम

किसी भी दशा में ऐसे सुख-दुख से बच नहीं सकते। अतएव मनुष्य जीवन का सबसे अच्छा उपयोग भगवान् विष्णु के साथ अपने सम्बन्ध को पुन: जागृत करना है।

तत्प्रयासो न कर्तव्यो यत आयुर्व्यय: परम् ।
न तथा विन्दते क्षेमं मुकुन्दचरणाम्बुजम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

तत्—उस (काम तथा अर्थ) के लिए; प्रयास:—प्रयत्न; न—नहीं; कर्तव्य:—करणीय; यत:—जिससे; आयु:-व्यय:—आयु की हानि; परम्—एकमात्र या अन्तत:; न—न तो; तथा—उस तरह से; विन्दते—भोगता है; क्षेमम्—जीवन का अन्तिम लक्ष्य; मुकुन्द—भव-बन्धन से उद्धार करने वाले भगवान् के; चरण-अम्बुजम्—चरणकमलों को।.

केवल इन्द्रिय-तृप्ति या भौतिक सुख के लिए आर्थिक विकास द्वारा प्रयत्न नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे समय तथा शक्ति की हानि होती है और वास्तविक लाभ नहीं मिल पाता। यदि कोई कृष्णभावनामृत को लक्ष्य बनाकर प्रयत्न करे तो वह निश्चित रूप से आत्म-साक्षात्कार के आध्यात्मिक पद को प्राप्त कर सकता है। आर्थिक विकास में अपने आपको संलग्न रखने से कोई ऐसा लाभ प्राप्त नहीं होता।

तात्पर्य : हम देखते हैं कि भौतिकतावादी व्यक्ति अपना भौतिक ऐश्वर्य बढ़ाने के लिए आर्थिक विकास में दिन-रात लगे रहते हैं और यदि यह मान भी लें कि वे इन प्रयत्नों से कुछ लाभ प्राप्त कर लेते हैं, तो भी इससे उनके जीवन की वास्तविक समस्या हल नहीं हो पातीं। न ही वे यह जानते हैं कि जीवन की असली समस्या क्या है। यह आध्यात्मिक शिक्षा की कमी के कारण है। इस युग में विशेष रूप से प्रत्येक व्यक्ति अंधकार में है, देहात्म-बुद्धि से युक्त है और वह आत्मा तथा उसकी आवश्यकताओं के बारे में कुछ नहीं जानता। समाज के अंधे नेताओं द्वारा गुमराह होकर लोग शरीर को ही सब कुछ मान बैठते हैं और वे शरीर को भौतिक रूप से आरामदेह बनाये रखने का प्रयास करते रहते हैं। ऐसी सभ्यता को धिक्कार है, क्योंकि यह मानवता को जीवन के वास्तविक लक्ष्य को जानने की ओर नहीं ले जाती। लोग व्यर्थ ही अपना समय तथा मानव जीवनरूपी अमूल्य उपहार नष्ट करते हैं, क्योंकि जो मनुष्य आध्यात्मिक जीवन का अनुशीलन नहीं करता बल्कि कुत्ते-बिल्लियों की तरह मरता है, वह अगले जन्म में पतित हो जाता है। ऐसा व्यक्ति मनुष्य-जीवन से निरन्तर जन्म-मृत्यु के चक्र में चला जाता है। इस प्रकार वह मनुष्य-जीवन के उस वास्तविक लाभ को खो देता है, जो कृष्णभावनाभावित होने तथा जीवन की समस्याओं को हल करने के रूप में है।

ततो यतेत कुशलः क्षेमाय भवमाश्रितः ।
शरीरं पौरुषं यावन्न विपद्येत पुष्कलम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

ततः—अतएव; यतेत—प्रयत्न करना चाहिए; कुशलः—बुद्धिमान मनुष्य जो जीवन के अन्तिम लक्ष्य में रुचि रखता हो; क्षेमाय—जीवन के असली लाभ के लिए या भव-बन्धन से मुक्ति के लिए; भवम् आश्रितः—जो भौतिक संसार में है; शरीरम्—शरीर; पौरुषम्—पुरुष का; यावत्—जब तक; न—नहीं; विपद्येत—असफल होता है; पुष्कलम्—हृष्ट-पुष्ट।

अतएव इस संसार में रहते हुए (भवम् आश्रितः) भले तथा बुरे में भेद करने में सक्षम व्यक्ति को चाहिए कि जब तक शरीर हृष्ट-पुष्ट रहे और विनष्ट होने से चिन्ताग्रस्त न हो तब तक वह जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास करे।

तात्पर्य : जैसाकि प्रह्लाद महाराज ने इस अध्याय के प्रारम्भ में कहा है—*कौमार आचरेत् प्राज्ञः। प्राज्ञः* शब्द उस व्यक्ति को बताता है, जो अनुभवी है तथा भले-बुरे की पहचान कर सकता है। ऐसे व्यक्ति को अपनी आर्थिक उन्नति के लिए कुत्ते-बिल्ली की तरह कार्य करते हुए इस अमूल्य मानव जीवन तथा अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करना चाहिए।

इस श्लोक के *भवम् आश्रितः* के स्थान पर *भयम् आश्रितः* पाठ भी उपलब्ध है, किन्तु हम चाहे जिस पाठ का अर्थ ग्रहण करें, निष्कर्ष वही निकलता है। *भयम् आश्रितः* सूचित करता है कि भौतिकतावादी जीवन-शैली सदैव भय से पूर्ण है क्योंकि पद-पद पर संकट बना रहता है। भौतिकतावादी जीवन चिन्ता तथा भय (*भयम्*) से पूर्ण है। इसी प्रकार *भवम् आश्रितम्* पाठ स्वीकार करने पर *भवम्* अनावश्यक झंझट तथा समस्याओं का सूचक है। कृष्णभावनामृत के अभाव में मनुष्य *भवम्* में आ पड़ता है जहाँ वह निरन्तर जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से चिन्तित रहता है। इस तरह मनुष्य निश्चित रूप से चिन्ताग्रस्त बना रहता है। मानव समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इस प्रकार की सामाजिक प्रणाली में विभक्त तो होना चाहिए, किन्तु हर एक व्यक्ति भक्ति में प्रवृत्त हो सकता है। यदि कोई भक्ति के बिना रहना चाहता है, तो उसके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होने का कोई अर्थ नहीं निकलता। कहा जाता है *स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः*—कोई चाहे उच्चवर्ग का हो या निम्न वर्ग का, कृष्णभावनामृत के अभाव में उसका पतन निश्चित है। विज्ञ पुरुष अपने पद से च्युत होने के प्रति सदैव भयभीत रहता है। यह विधान है। मनुष्य को अपने उच्च पद से नीचे नहीं गिरना चाहिए। जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य तभी तक प्राप्त किया जा सकता है जब तक शरीर हृष्ट-पुष्ट रहता है। अतएव

हमें इस तरह रहना चाहिए कि हम मन तथा बुद्धि से स्वस्थ एवं पुष्ट रहें जिससे हम जीवन-लक्ष्य एवं समस्याओं से भरे हुए जीवन के बीच अन्तर कर सकें। विचारवान् व्यक्ति को उचित-अनुचित में अन्तर करना सीख कर इस तरह से कर्म करना और जीवन-लक्ष्य प्राप्त करना चाहिए।

पुंसो वर्षशतं ह्यायुस्तदर्धं चाजितात्मनः ।
निष्फलं यदसौ रात्र्यां शेतेऽन्धं प्रापितस्तमः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

पुंसः—प्रत्येक मनुष्य के लिए; वर्ष-शतम्—एक सौ वर्ष; हि—निस्सन्देह; आयुः—आयु, उम्र; तत्—उसका; अर्धम्—आधा; च—तथा; अजित-आत्मनः—ऐसे व्यक्ति का जो अपनी इन्द्रियों का दास है; निष्फलम्—बिना लाभ के, निरर्थक; यत्—क्योंकि; असौ—वह व्यक्ति; रात्र्याम्—रात में; शेते—सोता है; अन्धम्—अज्ञान (अपने शरीर तथा आत्मा को भूल कर); प्रापितः—पूर्णतया प्राप्त करके; तमः—अंधकार।

प्रत्येक व्यक्ति की अधिकतम आयु एक सौ वर्ष है, किन्तु जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर पाता, उसकी आयु के आधे वर्ष तो रात्रि में बारह घण्टे अज्ञानवश सोने में ही बीत जाते हैं। अतएव ऐसे व्यक्ति की आयु केवल पचास वर्ष होती है।

तात्पर्य : चाहे ब्रह्माजी हों या एक मनुष्य अथवा एक चींटी—सभी एक सौ वर्ष तक जीवित रहते हैं, लेकिन उनकी एक सौ वर्ष की उम्र एक दूसरे से भिन्न होती है। यह संसार सापेक्ष है, अतएव इसके काल के सापेक्ष क्षण भिन्न हैं। इस तरह ब्रह्माजी के सौ वर्ष मनुष्य के सौ वर्ष के समान नहीं होते। *भगवद्गीता* से हमें पता चलता है कि ब्रह्माजी के एक दिन अर्थात् बारह घण्टे ४३००००० × १००० वर्षों के तुल्य है (*सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः*)। अतएव काल, व्यक्ति तथा परिस्थितियों के अनुसार *वर्ष शतम्* या सौ वर्ष सापेक्षतया भिन्न-भिन्न होते हैं। जहाँ तक मनुष्य का सम्बन्ध है यहाँ पर दी गई गणना सामान्य लोगों के लिए सही है। यद्यपि मनुष्य की अधिक से अधिक आयु सौ वर्ष की होती है, किन्तु सोने के कारण वह अपने पचास वर्ष गँवा देता है। खाना, सोना, मैथुन तथा भय—ये चार शारीरिक आवश्यकताएँ हैं, किन्तु जो व्यक्ति आध्यात्मिक चेतना में आगे बढ़ना चाहता है उसे चाहिए कि इन कार्यकलापों में कमी करके अपने जीवन का पूरा-पूरा लाभ उठाये। इससे उसे अपनी आयु का पूर्ण सदुपयोग करने का अवसर प्राप्त हो सकेगा।

मुग्धस्य बाल्ये कैशोरे क्रीडतो याति विंशतिः ।

जरया ग्रस्तदेहस्य यात्यकल्पस्य विंशतिः ॥ ७॥

शब्दार्थ

मुग्धस्य—मोहग्रस्त या पूर्ण ज्ञान में न होने वाले व्यक्ति का; बाल्ये—बचपन में; कैशोरे—किशोरावस्था में; क्रीडतः—खेलते हुए; याति—बीतता है; विंशतिः—बीस वर्ष; जरया—वृद्धावस्था से; ग्रस्त-देहस्य—ग्रस्त मनुष्य का; याति—बीत जाता है; अकल्पस्य—बिना संकल्प के क्योंकि भौतिक कार्यों के करने में असमर्थ रहता है; विंशतिः—और बीस वर्ष।

मनुष्य अपने बाल्यकाल की कोमल अवस्था में, जब सभी मोहग्रस्त होते हैं, दस वर्ष बिता देता है। इसी प्रकार किशोर अवस्था में, खेल-कूद में लगकर वह अगले दस वर्ष बिता देता है। इस प्रकार बीस वर्ष व्यर्थ चले जाते हैं। इसी तरह से वृद्धावस्था में जब मनुष्य अक्षम हो जाता है और वह भौतिक कार्यकलाप भी सम्पन्न नहीं कर पाता, उसमें उसके बीस वर्ष और निकल जाते हैं।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत के बिना मनुष्य बीस वर्ष बाल्यावस्था तथा किशोरवस्था में तथा अन्य बीस वर्ष ऐसी वृद्धावस्था में बिताता है जब वह कोई भी भौतिक कार्य ठीक से नहीं कर पाता और इस चिन्ता से पूर्ण रहता है कि वह अपने लड़कों तथा नातियों के लिए क्या करे और अपनी सम्पत्ति की किस तरह रक्षा करे। इनमें से आधे वर्ष सोने में निकल जाते हैं। यही नहीं, शेष जीवन में से वह रात्रि में सोने में अन्य तीस वर्ष गुजार देता है। इस प्रकार जो मनुष्य जीवन के उद्देश्य को नहीं जानता तथा इस मानव स्वरूप का सदुपयोग करना नहीं जानता है, वह १०० वर्षों में से ७० वर्ष ऐसे ही गँवा देता है।

दुरापूरेण कामेन मोहेन च बलीयसा ।
शेषं गृहेषु सक्तस्य प्रमत्तस्यापयाति हि ॥ ८॥

शब्दार्थ

दुरापूरेण—जो कभी पूरा नहीं होता; कामेन—भौतिक जगत को भोगने की प्रबल इच्छा से; मोहेन—मोह से; च—भी; बलीयसा—जो बलिष्ठ तथा दुर्जेय है; शेषम्—जीवन के बचे हुए वर्ष; गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; सक्तस्य—अत्यधिक आसक्त का; प्रमत्तस्य—पागल का; अपयाति—व्यर्थ बिता देता है; हि—निस्सन्देह।

जिसके मन तथा इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं वह अतृप्त कामेच्छाओं तथा प्रबल मोह के कारण पारिवारिक जीवन में अधिकाधिक आसक्त होता जाता है। ऐसे पागल मनुष्य के जीवन के शेष वर्ष भी व्यर्थ जाते हैं, क्योंकि वह इन वर्षों में भी अपने को भक्ति में नहीं लगा सकता।

तात्पर्य : यह जीवन के सौ वर्षों का लेखा-जोखा है। यद्यपि इस युग में सामान्यत: सौ वर्ष की आयु सम्भव नहीं है, फिर भी यदि किसी को इतनी आयु मिल भी जाये तो गणना के अनुसार पचास

वर्ष सोने में व्यर्थ जाते हैं, बीस वर्ष बचपन तथा किशोरावस्था में और बीस वर्ष अशक्तता (*जरा-व्याधि*) में निकल जाते हैं। इस तरह केवल कुछ ही वर्ष बच रहते हैं लेकिन ये वर्ष भी गृहस्थ जीवन में अत्यधिक आसक्त रहने से ईश्वरभावनामृत के बिना ही व्यर्थ बीत जाते हैं। अतएव मनुष्य को जीवन के प्रारम्भिक काल में पूर्ण ब्रह्मचारी बनने, फिर यदि वह गृहस्थ बनता है, तो विधि-विधानों का पालन करते हुए इन्द्रिय-निग्रह में सिद्ध बनने का प्रशिक्षण मिलना चाहिए। गृहस्थ जीवन के बाद वानप्रस्थ जीवन स्वीकार करके जंगल जाना चाहिए और तब संन्यास ले लेना चाहिए। यही जीवन की पूर्णता है। जो लोग जीवन के प्रारम्भ से ही अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर पाते (*अजितेन्द्रिय*) उन्हें केवल इन्द्रिय-तृप्ति के लिए ही शिक्षित किया जाता है जैसाकि हम पाश्चात्य देशों में देख चुके हैं। इस प्रकार एक सौ वर्ष की पूरी आयु व्यर्थ और दुरुपयोग में जाती है। मृत्यु के समय जब मनुष्य दूसरे शरीर में देहान्तरण करता है, तो यह आवश्यक नहीं कि मनुष्य का ही शरीर मिले। एक सौ वर्ष के अन्त में जो व्यक्ति तपस्यामय जीवन में मनुष्य की तरह कर्म नहीं करता रहता वह कूकर-सूकर या बिल्लियों के शरीर को पुनः धारण करता है। अतएव कामेच्छाओं तथा इन्द्रिय-तृप्ति का यह जीवन अत्यन्त विपदाग्रस्त है।

को गृहेषु पुमान्सक्तमात्मानमजितेन्द्रियः ।
स्नेहपाशैर्दृढैर्बद्धमुत्सहेत विमोचितुम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन सा; गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; पुमान्—मनुष्य; सक्तम्—अत्यधिक आसक्त; आत्मानम्—स्वयं, आत्मा; अजित-इन्द्रियः—जिसने कभी इन्द्रियों को वश में नहीं किया; स्नेह-पाशैः—स्नेह की रस्सियों से; दृढैः—अत्यन्त शक्तिशाली; बद्धम्—हाथ तथा पैर बाँधा हुआ; उत्सहेत—समर्थ है; विमोचितुम्—भव-बन्धन से छुड़ाने के लिए।

ऐसा कौन मनुष्य होगा जो अपनी इन्द्रियों को वश में करने में असमर्थ होने के कारण गृहस्थ जीवन से अत्यधिक आसक्त होकर अपने आपको मुक्त कर सके? आसक्त गृहस्थ अपनों (पत्नी, बच्चे तथा अन्य सम्बन्धी) के स्नेह-बन्धन से अत्यन्त दृढ़तापूर्वक बँधा रहता है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज का पहला प्रस्ताव था—*कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतान् इह*—पर्याप्त बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह जीवन के प्रारम्भ से ही अर्थात् बाल्यकाल से ही अन्य सारे कार्यों को छोड़कर भक्ति कार्यों के अभ्यास में अपने शरीर का उपयोग करे। *धर्मान् भागवतान्* का अर्थ है भगवान् के साथ सम्बन्ध पुनः जागृत करने का धार्मिक सिद्धान्त। इस कार्य के लिए साक्षात् कृष्ण

उपदेश देते हैं—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—अन्य सारे कर्तव्यों को त्याग कर मेरी शरण में आओ। इस भौतिक संसार में रहते हुए हम अनेक वादों के नाम पर अनेकानेक कर्तव्यों को गढ़ते रहते हैं, किन्तु हमारा वास्तविक कर्तव्य तो अपने आपको जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से मुक्त करना है। इसके लिए सर्वप्रथम भव-बन्धन से और विशेष रूप से गृहस्थ जीवन से मुक्त होना चाहिए। गृहस्थ जीवन वास्तव में भौतिकता से आसक्त व्यक्ति के लिए विधि-विधानों के अन्तर्गत इन्द्रिय-तृप्ति का एक प्रकार का लाइसेंस है। अन्यथा गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने की आवश्यकता नहीं।

गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के पूर्व मनुष्य को गुरु के संरक्षण में उसके स्थान या गुरुकुल में ब्रह्मचारी के रूप में प्रशिक्षण प्राप्त करना चाहिए। *ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन् दान्तो गुरोर्हितम्* (भागवत ७.१२.१)। ब्रह्मचारी को प्रारम्भ से ही सिखाया जाता है कि गुरु के लाभ के लिए सब कुछ न्यौछावर कर दे। ब्रह्मचारी को उपदेश दिया जाता है कि वह सभी स्त्रियों को माता कहकर घर-घर जाकर भिक्षा माँगे और जो कुछ एकत्र करे उसे वह गुरु को लाकर दे दे। इस प्रकार वह अपनी इन्द्रियों को वश में करना तथा प्रत्येक वस्तु को गुरु को समर्पित करना सीखता है। पूर्णतया प्रशिक्षित होने पर यदि वह चाहता है, तो उसे विवाह करने दिया जाता है। इस प्रकार वह सामान्य गृहस्थ नहीं होता जिसने केवल अपनी इन्द्रियों को तृप्त करना सीख लिया है। प्रशिक्षित गृहस्थ धीरे-धीरे गृहस्थ जीवन त्याग कर जंगल जा सकता है, जिससे वह आध्यात्मिक जीवन में अधिकाधिक प्रबुद्ध हो सके और अन्ततः संन्यास ले ले। प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता को बताया कि समस्त भौतिक चिन्ताओं से मुक्त होने के लिए मनुष्य को जंगल में जाना चाहिए। *हित्वात्मपातं गृहम् अन्धकूपम्।* मनुष्य को अपना घर-बार छोड़ देना चाहिए, क्योंकि यह भौतिक संसार के घोर अंधकारमय भागों में नीचे जाने के लिए स्थान है। अतएव पहला उपदेश यह है कि मनुष्य अपना गृहस्थ जीवन त्याग दे (*गृहम् अन्धकूपम्*)। किन्तु यदि वह अनियंत्रित इन्द्रियों के कारण गृहस्थ जीवन के अन्धे कुएँ में बना रहना अच्छा समझता है, तो वह अपनी पत्नी, बच्चे, नौकर, घर, धन इत्यादि की प्रेम-रस्सियों से अधिकाधिक जकड़ता जाता है। ऐसे मनुष्य को भौतिक बंधन से मुक्ति नहीं मिल सकती। अतएव बच्चों को बचपन से ही उच्चकोटि का ब्रह्मचारी बनने की शिक्षा दी जानी चाहिए। तभी भविष्य में वे गृहस्थ जीवन का परित्याग कर पाएँगे।

भगवद्धाम वापस जाने के लिए मनुष्य को भौतिक आसक्ति से पूर्णतया मुक्त होना चाहिए। अतएव भक्तियोग का अर्थ है *वैराग्य विद्या*—ऐसी कला जो भौतिक भोग के प्रति अरुचि उत्पन्न करने में सहायक होती है।

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥

"भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति करने से मनुष्य को अहैतुक ज्ञान तथा जगत से वैराग्य प्राप्त हो जाता है।" (भागवत १.२.७) यदि कोई जीवन के प्रारम्भ से ही भक्ति में लग जाता है, तो वह सरलता से *वैराग्य विद्या* या *अनासक्ति* प्राप्त करता है और *जितेन्द्रिय* अर्थात् इन्द्रियों का नियंत्रक बन जाता है। जो अपने को पूर्णरूपेण भक्ति में लगाता है, वह *गोस्वामी* या स्वामी अर्थात् इन्द्रियों का स्वामी कहलाता है। गोस्वामी हुए बिना किसी को संन्यास नहीं ग्रहण करना चाहिए। इन्द्रिय-भोग की प्रबल प्रवृत्ति ही भौतिक शरीर का कारण है। बिना पूर्ण ज्ञान के भौतिक भोग से विरक्त नहीं हुआ जा सकता, किन्तु जब तक वह इस अवस्था को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक वह भगवद्धाम वापस जाने का पात्र नहीं होता।

को न्वर्थतृष्णां विसृजेत्प्राणेभ्योऽपि य ईप्सितः ।
यं क्रीणात्यसुभिः प्रेष्ठैस्तस्करः सेवको वणिक् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

कः—कौन; नु—निस्सन्देह; अर्थ-तृष्णाम्—धन अर्जित करने की प्रबल इच्छा को; विसृजेत्—त्याग सकता है; प्राणेभ्यः—जीवन की अपेक्षा; अपि—निस्सन्देह; यः—जो; ईप्सितः—अधिक वांछित; यम्—जिसको; क्रीणाति—प्राप्त करने का प्रयास करता है; असुभिः—अपने ही प्राण से; प्रेष्ठैः—अत्यन्त प्रिय; तस्करः—चोर; सेवकः—नौकर; वणिक्—व्यापारी।.

धन इतना प्रिय होता है कि लोग इसे मधु से भी मीठा मानने लगते हैं, अतएव ऐसा कौन होगा जो धन संग्रह करने की तृष्णा का परित्याग कर सकता है और वह भी गृहस्थ जीवन में? चोर, व्यावसायिक नौकर (सैनिक) तथा व्यापारी अपने प्रिय प्राणों की बाजी लगाकर भी धन प्राप्त करना चाहते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में इंगित किया गया है कि धन किस तरह प्राणों से भी प्रिय हो सकता है। चोर अपने प्राणों को संकट में डाल कर धनवान के घर में धन चुराने के लिए प्रवेश करते हैं। भले ही वे अतिक्रमण के कारण बन्दूकों से मार डाले जाँय या संतरी कुत्ते उन पर आक्रमण कर दें, किन्तु फिर भी वे सेंध लगाने का प्रयत्न करते हैं। तो वे अपना जीवन संकट में क्यों डालते हैं? मात्र कुछ धन पाने

के लिए। इसी प्रकार व्यावसायिक सैनिक सेना में भर्ती होता है और वह युद्धक्षेत्र में मरने की परवाह न करके मात्र धन के लिये इस नौकरी को स्वीकार करता है। इसी प्रकार व्यापारीगण भी नावों में सवार होकर अपने प्राणों को संकट में डाल कर एक देश से दूसरे देश में जाते हैं या मोती तथा अन्य अमूल्य रत्न चुनने के लिए समुद्र के जल में गोते लगाते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध है और इसे सभी स्वीकार करेंगे कि धन मृत्यु से भी मधुर होता है। धन प्राप्त करने के लिए कुछ भी किया जा सकता है और यह उन धनी मनुष्यों पर विशेष रूप से चरितार्थ होता है, जो गृहस्थ जीवन में अत्यधिक लिप्त हैं। पूर्वकाल में उच्च जाति के सदस्य—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य (शूद्रों के अतिरिक्त अन्य सारे लोग) गुरुकुल में ब्रह्मचर्य तथा योगाभ्यास द्वारा वैराग्य तथा इन्द्रिय-संयम का जीवन बिताते थे। तब उन्हें गृहस्थ जीवन में प्रविष्ट होने दिया जाता था। फलस्वरूप ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हैं जहाँ बड़े-बड़े राजाओं तथा सम्राटों ने गृहस्थ जीवन का परित्याग किया है। यद्यपि वे अत्यन्त ऐश्वर्यवान् थे तथा साम्राज्यों के स्वामी थे तो भी वे अपना सारा वैभव इसीलिए छोड़ सके, क्योंकि उन्हें शुरू से ही ब्रह्मचर्य व्रत का प्रशिक्षण प्राप्त होता था। अतएव प्रह्लाद महाराज का यह उपदेश अत्यन्त अनुकूल है—

कौमार आचरेत प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।

दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्॥

"पर्याप्त बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह जीवन के प्रारम्भ से ही अर्थात् बाल्यकाल से ही अन्य सारे कर्मों को छोड़कर भक्ति कार्यों के अभ्यास में अपने शरीर का उपयोग करे। यह मनुष्य शरीर अत्यन्त दुर्लभ है और अन्य शरीरों की भाँति नाशवान होते हुए भी अर्थपूर्ण है, क्योंकि मनुष्य जीवन में ही भक्ति सम्पन्न की जा सकती है। यदि निष्ठापूर्वक किंचित भी भक्ति की जाये तो पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो सकती है।" मानव समाज को इस उपदेश से लाभ उठाना चाहिए।

कथं प्रियाया अनुकम्पितायाः
सङ्गं रहस्यं रुचिरांश्च मन्त्रान् ।
सुहृत्सु तत्स्नेहसितः शिशूनां
कलाक्षराणामनुरक्तचित्तः ॥ ११ ॥
पुत्रान्स्मरंस्ता दुहितॄर्हृदय्या
भ्रातॄन्स्वसॄर्वा पितरौ च दीनौ ।

गृहान्मनोज्ञोरुपरिच्छदांश्च
वृत्तीश्च कुल्याः पशुभृत्यवर्गान् ॥ १२॥
त्यजेत कोशस्कृदिवेहमानः
कर्माणि लोभादवितृप्तकामः ।
औपस्थ्यजैह्वं बहुमन्यमानः
कथं विरज्येत दुरन्तमोहः ॥ १३॥

शब्दार्थ

कथम्—कैसे; प्रियायाः—परमप्रिय पत्नी की; अनुकम्पितायाः—सदैव स्नेहिल एवं दयालु; सङ्गम्—साथ; रहस्यम्—एकान्त; रुचिरान्—अत्यन्त सुखद तथा भाने वाला; च—तथा; मन्त्रान्—उपदेश; सुहृत्सु—पत्नी तथा बच्चों को; तत्-स्नेह-सितः—उनके स्नेह से बँधा हुआ; शिशूनाम्—छोटे-छोटे बच्चों का; कल-अक्षराणाम्—तोतली बोली बोलते हुए; अनुरक्त-चित्तः—व्यक्ति जिसका मन मोहित है; पुत्रान्—बच्चों को; स्मरन्—सोचने में; ताः—उनको; दुहितृः—पुत्रियाँ (विवाहित तथा अपनी ससुराल में रहती हुई); हृदय्याः—हृदय में वास करने वाली; भ्रातृन्—भाइयों को; स्वसृः वा—अथवा बहिनों को; पितरौ—माता-पिता; च—तथा; दीनौ—वृद्धावस्था के कारण अत्यधिक अशक्त; गृहान्—घरेलू मामले; मनोज्ञ—अत्यन्त आकर्षक; उरु—अत्यधिक; परिच्छदान्—साज-सामान; च—तथा; वृत्तीः—आय के महान् साधन (उद्योग व्यापार); च—तथा; कुल्याः—परिवार से सम्बद्ध; पशु—पशुओं(गायों, हाथियों तथा और घरेलू पशुओं); भृत्य—नौकर-नौकरानियों के; वर्गान्—समूहों को; त्यजेत—छोड़ सकता है; कोशः-कृत्—रेशम का कीड़ा; इव—सदृश; ईहमानः—सम्पन्न करते हुए; कर्माणि—विभिन्न कार्यकलाप; लोभात्—अतृप्त इच्छाओं के कारण; अवितृप्त-कामः—जिनकी बढ़ती हुई इच्छाएँ पूरी नहीं होती; औपस्थ्य—कर्मेन्द्रियाँ; जैह्वम्—तथा जीभ से प्राप्त आनन्द; बहु-मन्यमानः—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानते हुए; कथम्—कैसे; विरज्येत—त्यागने में समर्थ है; दुरन्त-मोहः—अत्यधिक मोह में होने से।

भला ऐसा मनुष्य, जो अपने परिवार के प्रति अत्यधिक स्नेहिल हो और जिसके हृदय में सदैव उनकी आकृतियां रहती हों, वह किस तरह उनका संग छोड़ सकता है? विशेषकर पत्नी सदैव अत्यन्त दयालु तथा सहानुभूति पूर्ण होती है और अपने पति को सदैव एकान्त में प्रसन्न करती है। भला ऐसा कौन होगा जो ऐसी प्रिय तथा स्नेहिल पत्नी की संगति का त्याग करता हो? छोटे-छोटे बालक तोतली बोली बोलते हैं, जो सुनने में अत्यन्त मधुर लगती है और उनके पिता सदैव उनके मधुर शब्दों के विषय में सोचते रहते हैं। वह भला उनका संग किस तरह छोड़ सकता है? किसी भी मनुष्य को अपने वृद्ध माता-पिता, अपने पुत्र तथा पुत्रियाँ भी अत्यन्त प्रिय होते हैं। पुत्री अपने पिता की अत्यन्त लाड़ली होती है और अपनी ससुराल में रहती हुई भी वह उसके मन में बसी रहती है। भला कौन है, जो इस संग को छोड़ेगा? इसके अतिरिक्त भी घर में अनेक अलंकृत साज-सामान होते हैं और अनेक पशु तथा नौकर भी रहते हैं। भला ऐसे आराम को कौन छोड़ना चाहता है? आसक्त गृहस्थ उस रेशम-कीट की तरह है, जो अपने चारों ओर धागा बुनकर अपने को बन्दी बना लेता है और फिर उससे निकल पाने में असमर्थ रहता है। केवल दो इन्द्रियों—शिश्न तथा जिह्वा—की तुष्टि के लिए मनुष्य भौतिक दशाओं से बँध जाता

है। कोई इनसे कैसे बच सकता है?

तात्पर्य : गृहस्थी में पहला आकर्षण सुन्दरी तथा मधुरभाषिणी पत्नी है, जो गृहस्थी के आकर्षण को बढ़ाने वाली होती है। मनुष्य को अपनी पत्नी का आनन्द दो प्रमुख इन्द्रियों से मिलता है—जीभ से तथा शिश्न से। स्त्री अत्यन्त मीठे स्वर से बोलती है। यह निश्चय ही आकर्षण है। फिर वह सुखद भोजन तैयार करती है, जिससे जीभ तृप्त होती है और जीभ तृप्त हो जाने पर जिनमें शिश्न विशेष है को बल प्राप्त होता है। इस प्रकार पत्नी मैथुन में आनन्द प्रदान करती है। गृहस्थ जीवन का अर्थ है विषयी जीवन (*यन्मैथुनादि गृहमेधि सुखं हि तुच्छम्*)। यह सब जीभ द्वारा प्रोत्साहित है। फिर सन्तानें उत्पन्न होती हैं। बच्चा अपनी तोतली बोली से आनन्द प्रदान करता है और जब लड़के-लड़कियाँ बड़े हो जाते हैं, तो मनुष्य उनकी शिक्षा तथा विवाह में व्यस्त हो जाता है। फिर अपने माता-पिता भी होते हैं जिनकी देख-रेख करनी होती है और मनुष्य सामाजिक वातावरण में तथा अपने भाई-बहनों को प्रसन्न करने में भी लग जाता है। वह घरेलू काम-काज में इस तरह व्यस्त होता जाता है कि उन्हें छोड़ पाना असम्भव हो जाता है। इस प्रकार गृहस्थी *गृहम् अन्धकूपम्*—अर्थात् वह अंधा कुआँ बन जाती है, जिसमें मनुष्य गिर जाता है। ऐसे व्यक्ति के लिए उसमें से निकल पाना तब तक मुश्किल रहता है जब तक कोई बलवान् मनुष्य अर्थात् गुरु उसकी सहायता न करे, क्योंकि गुरु आध्यात्मिक उपदेशों की रस्सी से पतित मनुष्य की सहायता करता है। पतित मनुष्य को चाहिए कि इस रस्सी का सहारा ले और तब गुरु या भगवान् कृष्ण उसे अंधकूप से बाहर निकाल लेंगे।

कुटुम्बपोषाय वियन्निजायुर्
न बुध्यतेऽर्थं विहतं प्रमत्तः ।
सर्वत्र तापत्रयदुःखितात्मा
निर्विद्यते न स्वकुटुम्बरामः ॥ १४॥

शब्दार्थ

कुटुम्ब—पारिवारिक सदस्यों के; पोषाय—पालन-पोषण के लिए; वियत्—इनकार करते हुए; निज-आयुः—अपनी उम्र; न—नहीं; बुध्यते—समझता है; अर्थम्—जीवन का हित या प्रयोजन; विहतम्—विनष्ट; प्रमत्तः—भौतिक परिस्थिति में पागल होकर; सर्वत्र—सभी जगह; ताप-त्रय—तीनों दुखमय स्थितियों से (अध्यात्मिक, अधिदैविक तथा अधिभौतिक); दुःखित—सताया जाकर; आत्मा—आत्मा; निर्विद्यते—पछताता है; न—नहीं; स्व-कुटुम्ब-रामः—परिवार का भरण-पोषण करके ही भोग भोगता है।

अत्यधिक आसक्त मनुष्य यह नहीं समझ सकता कि वह अपना बहुमूल्य जीवन अपने

परिवार के ही पालन-पोषण में व्यर्थ बिता रहा है। वह यह भी नहीं समझ पाता कि इस मनुष्य-जीवन का जो परम सत्य के साक्षात्कार के लिए उपयुक्त है, उद्देश्य अदृश्य रूप से विनष्ट हो रहा है। फिर भी वह इतनी चतुरता एवं सावधानी से देखता रहता है कि दुर्व्यवस्था के कारण एक भी पाई न खोई जाए। इस प्रकार यद्यपि संसार में आसक्त व्यक्ति सदैव तीनों प्रकार के कष्ट सहता रहता है, किन्तु वह इस संसार के प्रति अरुचि उत्पन्न नहीं कर पाता।

तात्पर्य : मूर्ख व्यक्ति न तो यही समझ पाता है कि मनुष्य जीवन का महत्त्व क्या है, न ही यह समझ पाता है कि वह किस तरह अपने परिवार वालों के भरण-पोषण में ही अपना अमूल्य जीवन व्यर्थ बिता रहा है। वह अपनी हानि के एक छदाम की भी गणना करने में पटु होता है, लेकिन वह इतना मूर्ख होता है कि यह नहीं जानता कि वह भौतिक गणना के अनुसार कितना धन खो रहा है। चाणक्य पण्डित उदाहरण देते हैं कि जीवन का एकक्षण लाखों रुपयों से भी नहीं खरीदा जा सकता। किन्तु मूर्ख व्यक्ति ऐसे मूल्यवान जीवन को बिना यह जाने ही बिताता है कि आर्थिक गणना के अनुसार कितना जीवन व्यर्थ चला गया। यद्यपि भौतिकतावादी व्यक्ति लागत की गणना करने और व्यापार करने में पटु होता है, किन्तु उसे इसकी अनुभूति नहीं हो पाती कि ज्ञान के अभाव में वह अपने मूल्यवान जीवन का दुरूपयोग होने दे रहा है। ऐसा व्यक्ति यद्यपि तीनों प्रकार के कष्टों को सहता रहता है, किन्तु वह भौतिकतावादी जीवन-शैली को रोक पाने के लिए बुद्धिमान नहीं होता।

वित्तेषु नित्याभिनिविष्टचेता
विद्वांश्च दोषं परवित्तहर्तुः ।
प्रेत्येह वाथाप्यजितेन्द्रियस्त-
दशान्तकामो हरते कुटुम्बी ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

वित्तेषु—भौतिक सम्पत्ति में; नित्य-अभिनिविष्ट-चेताः—जिसका मन सदैव रमा रहता है; विद्वान्—जानते हुए; च—भी; दोषम्—बुराई; पर-वित्त-हर्तुः—ठगकर या काला बाजारी से अन्यों का धन चुराने वाले का; प्रेत्य—मरने के बाद; इह—इस संसार में; वा—अथवा; अथापि—फिर भी; अजित-इन्द्रियः—इन्द्रियों को वश में न कर सकने के कारण; तत्—वह; अशान्त-कामः—जिसकी इच्छाएँ कभी पूरी नहीं होती, अतृप्त; हरते—चुराता है; कुटुम्बी—अपने परिवार को अत्यधिक चाहने वाला।

यदि कोई मनुष्य पारिवारिक भरण-पोषण के कर्तव्यों के प्रति अत्यधिक आसक्त होने के कारण अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर पाता और उसका मन सदैव इसी में डूबा रहता है कि धन का संग्रह कैसे करे। यद्यपि वह जानता रहता है कि जो अन्यों का धन लेता है उसे सरकारी

नियमों और मृत्यु के बाद यमराज के नियमों द्वारा दण्डित होना पड़ेगा। तो भी वह धन अर्जित करने के लिए दूसरों को धोखा देता रहता है।

तात्पर्य : आजकल विशेष रूप से लोग न तो अगले जीवन में विश्वास करते हैं, न यमराज के न्यायालय में तथा न ही पापी को मिलने वाले विविध दण्डों में। किन्तु उन्हें कम से कम इतना तो जान लेना चाहिए कि जो धन प्राप्त करने के लिए अन्यों को ठगता है, वह सरकार के नियमों द्वारा दण्डित होगा। फिर भी, लोग न तो इस जीवन के, न ही अगले जीवन के नियमों की परवाह करते हैं। कोई चाहे कितना ज्ञानी क्यों न हो वह अपने पापकर्मों को नहीं रोक पाता, यदि वह अपनी इन्द्रियों को वश में करने में असमर्थ है।

विद्वानपीत्थं दनुजाः कुटुम्बं
पुष्णान्स्वलोकाय न कल्पते वै ।
यः स्वीयपारक्यविभिन्नभाव-
स्तमः प्रपद्येत यथा विमूढः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

विद्वान्—जानते हुए (विशेष रूप से गृहस्थ जीवन में असुविधाओं को); अपि—यद्यपि; इत्थम्—इस प्रकार; दनु-जाः—हे असुर पुत्रो; कुटुम्बम्—परिवार के सदस्य या दूर के लोग (यथा जाति, समाज, राष्ट्र या राष्ट्रकुलों के लोग); पुष्णन्—जीवन की सारी सुविधाएँ प्रदान करते हुए; स्व-लोकाय—अपने को समझने में; न कल्पते—समर्थ नहीं होता; वै—निस्सन्देह; यः—जो; स्वीय—अपना; पारक्य—अन्यों का; विभिन्न—पृथक्; भावः—जीवन की धारणा वाला; तमः—केवल अंधकार; प्रपद्येत—प्रवेश करता है; यथा—जिस प्रकार; विमूढः—शिक्षारहित व्यक्ति या पशु जैसा।

हे मित्रों, हे असुरपुत्रो, इस भौतिक जगत में शिक्षा में अग्रणी लगने वाले व्यक्ति भी यह विचार करने की प्रवृत्ति रखते हैं "यह मेरा है और यह पराया है।" इस प्रकार वे सीमित पारिवारिक जीवन की धारणा में अपने परिवारों को जीवन की आवश्यकताएँ प्रदान करने में लगे रहते हैं मानो अशिक्षित कुत्ते-बिल्ली हों। वे आध्यात्मिक ज्ञान ग्रहण नहीं कर सकते प्रत्युत वे मोहग्रस्त तथा अज्ञान से पराभूत हैं।

तात्पर्य : मानव समाज में मनुष्य को शिक्षित करने के प्रयास किये जाते हैं, किन्तु पशु-समाज में न तो ऐसी व्यवस्था हैं, न ही पशुओं को शिक्षित किया जा सकता है। अतएव पशुओं एवं मूर्ख मनुष्यों को *विमूढ* या मोहग्रस्त कहा जाता है और शिक्षित मनुष्य को *विद्वान्* कहते हैं। असली *विद्वान्* वह है, जो इस भौतिक जगत के भीतर अपनी स्थिति को समझने का प्रयास करता है। उदाहरणार्थ, जब

सनातन गोस्वामी ने श्री चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों की शरण ली तो उनका पहला प्रश्न था *'के आमि' 'केने आमाय जारे ताप त्रय'*। दूसरे शब्दों में, वे अपनी स्वाभाविक स्थिति जानना चाहते थे और यह जानना चाहते थे कि वे संसार के तीन प्रकार के दुख क्यों उठा रहे हैं। यह शिक्षा की विधि है। यदि कोई यह न पूछकर कि "मैं कौन हूँ? मेरे जीवन का लक्ष्य क्या है?" कूकरों-सूकरों की ही पशु-वृत्ति का पालन करे तो उसकी शिक्षा से क्या लाभ है? जैसाकि पिछले श्लोक में बताया जा चुका है जीव अपने सकाम कर्मों द्वारा रेशम के कीट की भाँति अपने ही जाल में फँसा रहता है। मूर्ख लोग सामान्यतया इस भौतिक जगत का भोग करने की प्रबल इच्छा के कारण अपने सकाम कर्म द्वारा बँधे हुए हैं। ऐसे लोग समाज, जाति तथा राष्ट्र की ओर आकृष्ट होकर अपना समय व्यर्थ गँवाते हैं और मनुष्य-जन्म पाकर उसका कोई लाभ नहीं उठा पाते। विशेषकर इस कलियुग में बड़े-बड़े नेता, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक तथा विज्ञानी मूर्खतापूर्ण कार्यों में यह सोचकर लगे हुए हैं कि "यह मेरा है और वह तुम्हारा है।" विज्ञानी नाभिकीय अस्त्रों का आविष्कार करते हैं और अपने समाज या राष्ट्र का हित-समर्थन करने के लिए बड़े-बड़े नेताओं से सहयोग करते हैं। किन्तु इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि वे अपने तथाकथित उच्च ज्ञान के होते हुए भी कुत्ते-बिल्लियों वाली मानसिकता से ग्रस्त होते हैं। जिस तरह बिल्लियाँ तथा कुत्ते अपने जीवन के वास्तविक हित को न जानकर अधिकाधिक अज्ञान में फँसते जाते हैं उसी प्रकार तथाकथित शिक्षित व्यक्ति जो अपने निज को या जीवन के असली लक्ष्य को नहीं जानता भौतिकता में अधिकाधिक मग्न होता जाता है। अतएव प्रह्लाद महाराज हर एक को *वर्णाश्रम धर्म* के सिद्धान्तों का पालन करने के लिए उपदेश देते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि एक विशेष अवस्था को प्राप्त करने पर वह आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन करने के लिए संन्यास आश्रम ग्रहण करे और इस तरह मुक्त हो ले। इसकी व्याख्या अगले श्लोकों में विस्तार से की गई है।

यतो न कश्चित्क्व च कुत्रचिद्वा
दीनः स्वमात्मानमलं समर्थः ।
विमोचितुं कामदृशां विहार-
क्रीडामृगो यन्निगडो विसर्गः ॥ १७॥
ततो विदूरात्परिहृत्य दैत्या
दैत्येषु सङ्गं विषयात्मकेषु ।

उपेत नारायणमादिदेवं
स मुक्तसङ्गैरिषितोऽपवर्गः ॥ १८॥

शब्दार्थ

यतः—क्योंकि; न—कभी नहीं; कश्चित्—कोई; क्व—किसी भी स्थान में; च—भी; कुत्रचित्—किसी समय; वा—अथवा; दीनः—अल्प ज्ञान वाला; स्वम्—अपना; आत्मानम्—स्वयं; अलम्—अत्यधिक; समर्थः—सशक्त; विमोचितुम्—मुक्त करने के लिए; काम-दृशाम्—कामलोलुप स्त्रियों का; विहार—विषय सुख में; क्रीडा-मृगः—खिलौना, मनोरंजन का साधन; यत्—जिसमें; निगडः—जो भव-बन्धन की जंजीर है; विसर्गः—पारिवारिक सम्बन्धों का विस्तार; ततः—ऐसी परिस्थिति में; विदूरात्—दूर से ही; परिहृत्य—त्याग करके; दैत्याः—हे दैत्यों के पुत्र मेरे मित्रो; दैत्येषु—दैत्यों के मध्य; सङ्गम्—साथ; विषय-आत्म-केषु—जिन्हें इन्द्रियभोग की लत है, व्यसनी; उपेत—पास जाना चाहिए; नारायणम्—भगवान् नारायण के; आदि-देवम्—समस्त देवताओं के उद्‌गम; सः—वह; मुक्त-सङ्गैः—मुक्त पुरुषों की संगति द्वारा; इषितः—इच्छित; अपवर्गः—मुक्ति का मार्ग।

हे मित्रों, हे दैत्य पुत्रो, यह निश्चित है कि भगवान् के ज्ञान से विहीन कोई भी अपने को किसी काल या किसी देश में मुक्त करने में समर्थ नहीं रहा है। उल्टे, ऐसे ज्ञान-विहीन लोग भौतिक नियमों से बाँधे जाते हैं। वे वास्तव में इन्द्रियविषय में लिप्त रहते हैं और उनका लक्ष्य स्त्रियाँ होती है। निस्सन्देह, ऐसे लोग आकर्षक स्त्रियों के हाथ के खिलौने बने रहते हैं। ऐसी जीवन-धारणोओं के शिकार बनकर वे बच्चों, नातियों तथा पनातियों से घिरे रहते हैं और इस तरह वे भव-बन्धन की जंजीरों से जकड़े जाते हैं। जो लोग ऐसी जीवन-धारणा में बुरी तरह लिप्त रहते हैं, वे दैत्य कहलाते हैं। इसलिए यद्यपि तुम सभी दैत्यों के पुत्र हो, किन्तु ऐसे व्यक्तियों से दूर रहो और भगवान् नारायण की शरण ग्रहण करो जो समस्त देवताओं के उद्‌गम हैं, क्योंकि नारायण-भक्तों का चरम लक्ष्य भव-बन्धन से मुक्ति पाना है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज की दार्शनिक धारणा है कि मनुष्य को गृहस्थ जीवन के अंधकूप को त्यागकर भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने के लिए जंगल में चला जाना चाहिए। (*हित्वात्मपातं गृहम् अन्धकूपं वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत*)। इस श्लोक में भी वे इसी बात पर बल दे रहे हैं। मानव समाज के इतिहास में कोई कभी या कहीं भी अपने परिवार के स्नेह तथा आसक्ति के कारण मोक्ष नहीं प्राप्त कर सका है। यहाँ तक कि जो ऊपर से बहुत पढ़े-लिखे लगते है उनमें भी वही पारिवारिक आसक्ति पाई जाती है। यहाँ तक कि वृद्धावस्था या अशक्तावस्था में भी वे अपने परिवारों की संगति नहीं छोड़ पाते क्योंकि वे इन्द्रिय-भोग के प्रति आसक्त रहते हैं। जैसाकि हमने कई बार व्याख्या की है—*यन् मैथुनादिगृहमेधिसुखं हि तुच्छम्*—तथाकथित गृहस्थ मात्र यौन सुख के प्रति आकृष्ट रहते हैं। इस प्रकार वे अपने को पारिवारिक जीवन की शृंखला से बद्ध रखते हैं। यही नहीं, वे

अपने बच्चों को भी इसी तरह बँधा रखना चाहते हैं। ऐसे लोग स्त्रियों के हाथ की कठपुतली बनकर संसार के गहनतम भाग में जा गिरते हैं। *अदान्त गोभिर्विशतां तमिस्रं पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्।* चूँकि वे अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रख सकते, अतएव वे चर्वित-चर्वण जीवन बिताते रहते हैं और संसार के घोर अंधकारयुक्त भागों में नीचे चले जाते हैं। मनुष्य को चाहिए कि ऐसे दैत्यों की संगति छोड़कर भक्तों की संगति करे। इस प्रकार वह भवबन्धन से मुक्त हो सकेगा।

न ह्यच्युतं प्रीणयतो बह्वायासोऽसुरात्मजाः ।
आत्मत्वात्सर्वभूतानां सिद्धत्वादिह सर्वतः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अच्युतम्—कभी न गिरने वाले भगवान्; प्रीणयतः—तुष्ट करते हुए; बहु—अत्यधिक; आयासः—प्रयास; असुर-आत्म-जाः—हे असुरपुत्रों; आत्मत्वात्—सिद्ध होने के कारण; सर्व-भूतानाम्—सारेजीवों का; सिद्धत्वात्—स्थापित होने से; इह—इस संसार में; सर्वतः—सभी दिशाओं में, सभी कालों में तथा सभी दृष्टिकोणों से।.

हे दैत्यपुत्रो, भगवान् नारायण ही समस्त जीवों के पिता और मूल परमात्मा हैं। फलस्वरूप उन्हें प्रसन्न करने में या किसी भी दशा में उनकी पूजा करने में बच्चे या वृद्ध को कोई अवरोध नहीं होता। जीव तथा भगवान् का अन्तःसम्बन्ध एक तथ्य है अतएव भगवान् को प्रसन्न करने में कोई कठिनाई नहीं है।

तात्पर्य : कोई यह पूछ सकता है "यह ठीक है कि मनुष्य पारिवारिक जीवन के प्रति अत्यन्त आसक्त रहता है, किन्तु यदि उसे यह जीवन छोड़कर भगवान् की सेवा में आसक्त होना है, तो उसे उतना ही प्रयास करना तथा कष्ट झेलना होगा। अतएव इस तरह कष्ट झेलकर भगवान् की सेवा में लगने से क्या लाभ?" यह वैध आपत्ति नहीं है। भगवान् *भगवद्गीता* (१४.४) में बल देकर कहते हैं—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।

तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

"हे कुन्तीपुत्र! यह जान लो कि इस भौतिक प्रकृति में सारी जीवयोनियाँ जन्म द्वारा सम्भव होती हैं और मैं वीर्यदाता पिता हूँ।" भगवान् नारायण सभी जीवों के वीर्यदाता पिता हैं, क्योंकि सारे जीव परमेश्वर के अंश हैं (*ममैवांशो...जीव भूतः*)। जिस प्रकार पिता तथा पुत्र के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने में कोई कठिनाई नहीं होती उसी प्रकार नारायण तथा जीवों के मध्य प्राकृतिक घनिष्ठ सम्बन्ध को पुनःस्थापित करने में कोई कठिनाई नहीं है। *स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्—*

यदि कोई रंचमात्र भी भक्ति करता है, तो नारायण उसे बड़े से बड़े खतरे से बचाने के लिए सदैव सन्नद्ध रहते हैं। इसका सर्वविदित उदाहरण अजामिल है। अजामिल ने अनेक पापकर्म करके अपने को भगवान् से विलग कर लिया था और यमराज ने उसे अत्यन्त कठोर दण्ड देकर नीचा दिखाना चाहा, लेकिन उसने मृत्यु के समय नारायण का नामोच्चार किया था, जो भगवान् नारायण का उच्चार न होकर उसके पुत्र नारायण का उच्चार था तो भी वह यमराज के हाथों से बचा लिया गया। इसलिए नारायण को प्रसन्न करने में उतना प्रयत्न नहीं करना पड़ता जितना कि अपने परिवार को, जाति तथा राष्ट्र को प्रसन्न करने में। हमने देखा है कि नामी से नामी राजनीतिक नेता अपने आचरण में थोड़ी सी भी गड़बड़ी के लिए जान से मारे गये हैं। अतएव अपने समाज, परिवार, जाति तथा राष्ट्र को प्रसन्न कर पाना, अत्यन्त कठिन है, किन्तु नारायण को प्रसन्न कर पाना तनिक भी कठिन नहीं, यह अत्यन्त सरल काम है।

मनुष्य का कर्तव्य है कि वह नारायण के साथ अपने सम्बन्ध को पुनः जागृत करे। इस दिशा में थोड़ा प्रयास करने से सफलता प्राप्त होगी जबकि अपने तथाकथित परिवार, समाज तथा राष्ट्र को अपने जीवन का बलिदान देकर भी प्रसन्न कर पाना सम्भव नहीं होगा। भगवान् के पवित्र नाम के श्रवण तथा कीर्तन—*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*—में निहित थोड़ा प्रयास भगवान् को प्रसन्न करने में सफल बना सकता है, अतएव श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपना आशीर्वाद—*परं विजयते श्रीकृष्ण सङ्कीर्तनम्*—श्रीकृष्ण संकीर्तन की जय हो कहकर दिया। यदि कोई मनुष्य जीवन का असली लाभ उठाना चाहता है, तो उसे भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करना चाहिए।

परावरेषु भूतेषु ब्रह्मान्तस्थावरादिषु ।
भौतिकेषु विकारेषु भूतेष्वथ महत्सु च ॥ २० ॥
गुणेषु गुणसाम्ये च गुणव्यतिकरे तथा ।
एक एव परो ह्यात्मा भगवानीश्वरोऽव्ययः ॥ २१ ॥
प्रत्यगात्मस्वरूपेण दृश्यरूपेण च स्वयम् ।
व्याप्यव्यापकनिर्देश्यो ह्यनिर्देश्योऽविकल्पितः ॥ २२ ॥
केवलानुभवानन्दस्वरूपः परमेश्वरः ।
माययान्तर्हितैश्वर्य ईयते गुणसर्गया ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

पर-अवरेषु—जीवन की श्रेष्ठ या नारकीय स्थिति में; भूतेषु—जीवों में; ब्रह्म-अन्त—ब्रह्मा में समाप्त होने वाले; स्थावर-आदिषु—पेड़-पौधों जैसे अचल प्राणियों से लेकर; भौतिकेषु—भौतिक तत्त्वों में; विकारेषु—रूपान्तरों में; भूतेषु—प्रकृति के पाँच स्थूल तत्त्वों में; अथ—साथ ही; महत्सु—महत् तत्त्व में पूर्ण शक्ति; च—भी; गुणेषु—प्रकृति के गुणों से; गुण-साम्ये—भौतिक गुणों के संतुलन में; च—तथा; गुण-व्यतिकरे—प्रकृति के नियमों के असमान प्राकट्य में; तथा—और; एकः—एक; एव—एकमात्र; परः—दिव्य; हि—निस्सन्देह; आत्मा—मूल स्रोत; भगवान्—भगवान्; ईश्वरः—नियन्ता; अव्ययः—विकाररहित; प्रत्यक्—आन्तरिक; आत्म-स्वरूपेण—परमात्मा के रूप में, अपने मूल स्वाभाविक पद के द्वारा; दृश्य-रूपेण—अपने दृश्य रूपों द्वारा; च—भी; स्वयम्—स्वयं; व्याप्य—व्याप्त; व्यापक—सर्वव्यापी; निर्देश्यः—वर्णन किया जाने वाला; हि—निश्चय; अनिर्देश्यः—जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता (सूक्ष्म उपस्थिति के कारण); अविकल्पितः—बिना भेदभाव के; केवल—एकमात्र; अनुभव-आनन्द-स्वरूपः—जिसका स्वरूप आनन्द पूर्ण तथा ज्ञान से युक्त है; परम-ईश्वरः—परमेश्वर, परम शासक; मायया—माया द्वारा; अन्तर्हित—आवृत, ढका हुआ; ऐश्वर्यः—जिसका असीम ऐश्वर्य; ईयते—भूल से मान लिया जाता है; गुण-सर्गया—प्रकृति के गुणों की अन्योन्य क्रिया से।

परम नियन्ता भगवान् जो अच्युत तथा अजेय हैं जीवन के विभिन्न रूपों में यथा पौधे जैसे स्थावर जीवों से लेकर प्रथम जन्मे प्राणी ब्रह्मा तक में उपस्थित हैं। वे अनेक प्रकार की भौतिक सृष्टियों में भी उपस्थित हैं तथा सारे भौतिक तत्त्वों, सम्पूर्ण भौतिक शक्ति एवं प्रकृति के तीनों गुणों (सतो, रजो तथा तमो गुण) के साथ-साथ अव्यक्त प्रकृति एवं मिथ्या अंहकार में भी उपस्थित हैं। एक होकर भी वे सर्वत्र उपस्थित रहते हैं। वे समस्त कारणों के कारण दिव्य परमात्मा भी हैं, जो सारे जीवों के अन्तस्तल में प्रेक्षक के रूप में उपस्थित हैं। उन्हें व्याप्य तथा सर्वव्यापक परमात्मा के रूप में इंगित किया गया है, लेकिन वास्तव में उनको इंगित नहीं किया जा सकता। वे अपरिवर्तित तथा अविभाज्य हैं। वे परम सच्चिदानन्द के रूप में अनुभव किये जाते हैं। माया के आवरण से ढके होने के कारण नास्तिक को वे अविद्यमान प्रतीत होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् न केवल समस्त जीवों के परमात्मा के रूप में उपस्थित हैं, अपितु एकसाथ वे सारी सृष्टि में प्रत्येक वस्तु में व्याप्त हैं। वे समस्त परिस्थितियों में और सभी समय विद्यमान रहते हैं। वे ब्रह्माजी के हृदय में विद्यमान रहते हैं और कूकरों, शूकरों, वृक्षों, पौधों इत्यादि के भी अन्तस्तल में रहते हैं। वे सर्वत्र उपस्थित हैं। वे न केवल जीवों के हृदय में उपस्थित हैं अपितु भौतिक वस्तुओं में, यहाँ तक कि भौतिकविज्ञानियों द्वारा खोजे गये परमाणुओं, प्रोटाँनों तथा इलेक्ट्रानों में भी रहते हैं।

भगवान् तीन रूपों में उपस्थित रहते हैं—ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्। चूँकि वे सर्वत्र विद्यमान हैं, अतएव उन्हें *सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—ब्रह्म से परे विद्यमान कहा गया है। *भगवद्गीता* से पुष्टि होती है कि अपने ब्रह्म रूप के द्वारा कृष्ण सर्वव्याप्त हैं (*मया ततम् इदं सर्वम्*) लेकिन ब्रह्म कृष्ण पर आश्रित है (*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*)। कृष्ण के बिना ब्रह्म या परमात्मा का अस्तित्व नहीं हो सकता। अतएव

भगवान् परम सत्य की चरम अनूभूति हैं। यद्यपि वे प्रत्येक हृदय के भीतर परमात्मा रूप में स्थित हैं फिर भी वे एक हैं चाहे वह व्यक्तिगत रूप में हों या सर्वव्यापी ब्रह्म के रूप में।

कृष्ण परम कारणस्वरूप हैं और जिन भक्तों ने भगवान् की शरण ग्रहण की है वे उनकी तथा उनकी उपस्थिति का अनुभव ब्रह्माण्ड में तथा प्रत्येक परमाणु में कर सकते हैं (*अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थम्*)। यह अनुभूति केवल उन भक्तों को होती है जिन्होंने भगवान् के चरणकमलों पर अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है। अन्यों के द्वारा यह सम्भव नहीं। इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (७.१४) में की है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

सौभाग्यशाली जीव ही भक्तिमयी प्रवृत्ति में शरणागति की विधि को स्वीकार करते हैं। अनेक लोकों में विविध योनियों में चक्कर लगाने के बाद जब मनुष्य को भक्त की कृपा से परम सत्य का असली ज्ञान होता है, तो वह भगवान् की शरण ग्रहण करता है, जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्ट हुआ है (*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते*)।

दैत्यकुलों में उत्पन्न प्रह्लाद महाराज के सहपाठियों ने सोचा कि ब्रह्म की अनुभूति कर पाना अत्यन्त कठिन होगा। निस्सन्देह, अनेक लोग यही बात कहते हैं, इसका हमें अनुभव है। किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। ब्रह्म समस्त जीवों से घनिष्ठतापूर्वक सम्बन्धित हैं। अतएव यदि कोई वैष्णव दर्शन को समझता है, जो यह बतलाता है कि ब्रह्म किस तरह सर्वत्र उपस्थित है और वह किस प्रकार सर्वत्र कर्म करता है, तो उसके लिए भगवान् की पूजा करना या उनकी अनुभूति करना तनिक भी कठिन नहीं है। फिर भी भगवान् की अनुभूति भक्तों की संगति से ही सम्भव है। अतएव श्री चैतन्य महाप्रभु ने रूप गोस्वामी को शिक्षा देते हुए कहा (*चैतन्य चरितामृत,* मध्य १९.१५१)—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज॥

भौतिक दशा में जीव अनेक योनियों में तथा अनेक परिस्थितियों में घूमता रहता है, किन्तु यदि वह शुद्ध भक्त के सम्पर्क में आता है और भक्ति के विषय में उससे शिक्षाएँ ग्रहण करने की बुद्धिमानी

दिखाता है, तो वह ब्रह्म तथा परमात्मा के उत्स भगवान् को बिना कठिनाई के समझ सकता है। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—

अन्तर्यामी प्रत्यगात्मा व्याप्तः कालो हरिः स्मृतः।

प्रकृत्या तमसावृतत्वात् हरेरैश्वर्यं न ज्ञायते॥

भगवान् हरेक के हृदय में *अन्तर्यामी* रूप में उपस्थित हैं और शरीर से आवृत आत्मा में दृश्य होते हैं। निस्सन्देह, वे प्रत्येक काल तथा परिस्थिति में सर्वत्र हैं, लेकिन माया के आवरण से प्रच्छन्न होने के कारण सामान्य व्यक्ति को लगता है कि ईश्वर नहीं है।

तस्मात्सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम् ।
भावमासुरमुन्मुच्य यया तुष्यत्यधोक्षजः ॥ २४॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; सर्वेषु—समस्त; भूतेषु—जीवों पर; दयाम्—दया; कुरुत—दिखालाओ; सौहृदम्—मैत्री; भावम्—भाव, प्रवृत्ति; आसुरम्—असुरों का (जो मित्रों तथा शत्रुओं को पृथक् करते हैं); उन्मुच्य—त्याग कर; यया—जिससे; तुष्यति—प्रसन्न होता है; अधोक्षजः—भगवान् जो इन्द्रियों की अनभूति के परे है।

अतएव हे असुरों से उत्पन्न मेरे प्यारे तरुण मित्रो, तुम सब ऐसा करो कि ऐसे भगवान्, जो भौतिक ज्ञान की धारणा से परे हैं, वे तुम पर प्रसन्न हों। तुम अपनी आसुरी प्रकृति छोड़ दो और शत्रुता या द्वैत रहित होकर कर्म करो। सभी जीवों में भक्ति जगाकर उन पर दया प्रदर्शित करो और इस प्रकार उनके हितैषी बनो।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१८.५५) में भगवान् कहते हैं— *भक्त्या माम् अभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः*—मनुष्य केवल भक्ति से परमेश्वर को यथारूप में समझ सकता है। प्रह्लाद महाराज ने अन्ततः अपने असुर सहपाठियों को शिक्षा दी कि वे प्रत्येक व्यक्ति को कृष्णभावनामृत विज्ञान का उपदेश देकर भक्ति की विधि स्वीकार करें। उपदेश देना (प्रचार करना) भगवान् की सर्वोत्तम सेवा है। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत के उपदेश कार्य की इस सेवा में लग जाता है उससे भगवान् तुरन्त ही अतीव प्रसन्न होते हैं। इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (१८.६९) में में की है— *न च तस्मान् मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः*—इस संसार में न तो उससे बढ़कर प्रिय मेरा दास है, न भविष्य में कभी इससे बढ़कर प्रिय होगा। यदि कोई भगवान् के यश तथा उनकी श्रेष्ठता का उपदेश करके कृष्णभावनामृत को फैलाने का प्रयास निष्ठापूर्वक करता है, तो भले ही वह अपूर्ण रूप से शिक्षित क्यों न हो, वह भगवान् का सर्वप्रिय

दास बन जाता है। यह भक्ति है। ज्योंही शत्रु तथा मित्र का भेद-भाव किये बिना मानवता के लिए वह सेवा करता है त्योंही भगवान् प्रसन्न होते हैं और उसके जीवन का उद्देश्य पूरा हो जाता है। अतएव श्री चैतन्य महाप्रभु ने प्रत्येक व्यक्ति को उपदेश दिया है कि वह गुरु-भक्त बने और कृष्णभावनामृत का प्रचार करे (*यारे देख, तारे कह 'कृष्ण'-उपदेश*)। भगवान् की अनुभूति करने का यह सरलतम उपाय है। ऐसे उपदेश कार्य से उपदेशक तुष्ट होता है और जिन्हें उपदेश दिया जाता है वे भी तुष्ट हो जाते हैं। सम्पूर्ण विश्व में शान्ति लाने की विधि यही है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह परमेश्वर सम्बन्धी ज्ञान के इन तीन सूत्रों को समझे कि वे परम भोक्ता हैं, कि वे प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं तथा वे सबों के श्रेष्ठ सुहृद तथा सखा हैं। उपदेशक को ये सत्य स्वयं समझने चाहिए और सबों को इन्हीं का उपदेश देना चाहिए। तब सारे विश्व में शान्ति रहेगी।

इस श्लोक में *सौहृदम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतया लोग कृष्णभावनामृत से अनजान हैं, अतएव उनका हितैषी बनने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह उन्हें बिना किसी भेद-भाव के कृष्णभावनामृत की शिक्षा दे। चूँकि भगवान् विष्णु हर एक के अन्तस्तल में विद्यमान हैं, अतएव प्रत्येक शरीर विष्णु का मन्दिर है। मनुष्य को चाहिए कि इस ज्ञान का दुरुपयोग *दरिद्र नारायण* जैसे शब्दों के बहाने से न करे। यदि नारायण दरिद्र अर्थात् गरीब मनुष्य के घर में वास करते हैं, तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि वे दरिद्र हो गये हैं। वे सर्वत्र रहते हैं—दरिद्र के घर में और धनी के घर में भी किन्तु सभी परिस्थितियों में वे नारायण बने रहते हैं। यह सोचना कि वे निर्धन या धनी हो जाते हैं भौतिक अनुमान है। वे सदैव *षड्ऐश्वर्यपूर्ण*—अर्थात् वे सदा छहों ऐश्वर्यों से पूर्ण रहते हैं।

तुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त आद्ये
किं तैर्गुणव्यतिकरादिह ये स्वसिद्धाः ।
धर्मादयः किमगुणेन च काङ्क्षितेन
सारं जुषां चरणयोरुपगायतां नः ॥ २५॥

शब्दार्थ

तुष्टे—तुष्ट होने पर; च—भी; तत्र—वहाँ; किम्—क्या; अलभ्यम्—अप्राप्य; अनन्ते—भगवान् में; आद्ये—समस्त वस्तुओं के अनादि स्रोत, समस्त कारणों के कारण; किम्—और क्या चाहिए; तैः—उनसे; गुण-व्यतिकरात्—प्रकृति के गुणों की क्रिया;

इह—इस संसार में; ये—जो; स्व-सिद्धा:—स्वयमेव प्राप्त; धर्म-आदय:—भौतिक उन्नति के तीन सिद्धान्त (अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम); किम्—क्या आवश्यकता; अगुणेन—परमेश्वर में मुक्ति के साथ; च—तथा; काङ्क्षितेन—वांछित; सारम्—सारे निचोड़; जुषाम्—स्वाद लेते हुए; चरणयो:—भगवान् के दो चरणकमल; उपगायताम्—भगवान् के गुणों का गान करने वाले; न:—हमारा।

जिन भक्तों ने समस्त कारणों के कारण, समस्त वस्तुओं के आदि स्रोत भगवान् को प्रसन्न कर लिया है उनके लिए कुछ भी दुष्प्राप्य नहीं है। भगवान् असीम आध्यात्मिक गुणों के आगार हैं। अतएव उन भक्तों के लिए जो प्रकृति के गुणों से परे हैं उन्हें धर्म, अर्थ काम, मोक्ष के सिद्धान्तों का पालन करने से क्या लाभ, क्योंकि ये तो प्रकृत्ति के गुणों के प्रभावों के अन्तर्गत स्वत: प्राप्त हैं! हम भक्तगण सदैव भगवान् के चरणकमलों का यशोगान करते हैं अतएव हमें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की याचना नहीं करनी चाहिए।

तात्पर्य : उन्नत सभ्यता में सभी लोग धार्मिक बनने, आर्थिक दृष्टि से भलीभाँति स्थित होने, अपनी इन्द्रियों को पूरी तरह तुष्ट करने एवं अन्त में मोक्ष-लाभ करने के लिए उत्सुक रहते हैं, किन्तु बढ़-चढ़ कर इतनी वांछा नहीं करनी चाहिए। निस्सन्देह, भक्त के लिए ये सब सहज ही प्राप्त हैं। बिल्वमंगल ठाकुर ने कहा है—*मुक्ति: स्वयं मुकुलितांजलि सेवतेऽस्मान् धर्मार्थकामगतय: समयप्रतीक्षा:।* मुक्ति तो सदैव भक्त के द्वार पर आज्ञापालन के लिए हाथ जोड़े खड़ी रहती है। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष भक्त की सेवा करने का अवसर पाने के लिए प्रतीक्षित रहते हैं। भक्त पहले से दिव्य पद को प्राप्त रहता है, उसे मुक्त होने के लिए किसी अतिरिक्त योग्यता की आवश्यकता नहीं पड़ती। जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.२६) में पुष्टि की गई है—*स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते*—भक्त प्रकृति के तीनों गुणों के कर्मों एवं फलों से परे होता है, क्योंकि वह ब्रह्म पद पर स्थित होता है।

प्रह्लाद महाराज ने कहा—*अगुणेन च कांक्षितेन*—यदि कोई भगवान् के चरणकमलों की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा हो तो उसे धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष की परवाह नहीं रहती। अतएव दिव्य ग्रंथ *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है—*धर्म: प्रोज्झितकैतवोऽत्र। धर्म, अर्थ, काम* तथा *मोक्ष* तो *कैतव* हैं, अर्थात् वे मिथ्या तथा व्यर्थ हैं। *निर्मत्सराणाम्* अर्थात् जो पुरुष पृथक्तावादी भौतिक कार्यकलापों से परे हैं, जो 'मेरा' तथा 'तेरा' में कोई भेद नहीं रखते, किन्तु, भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं, वे ही वास्तव में *भागवत धर्म* स्वीकार करने के योग्य हैं (*धर्मान् भगवतान् इह*)। चूँकि वे *निर्मत्सर* हैं अर्थात् किसी से ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखते, अतएव वे अन्यों को, यहाँ तक कि अपने शत्रुओं

को भक्त बनाना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—*कांक्षते मोक्षगम् अपि सुखं नाकाङ्क्षतो यथा।* भक्तगण किसी भी भौतिक सुख की आकांक्षा नहीं करते जिसमें मोक्ष से प्राप्त होने वाला सुख भी सम्मिलित है। यह *अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्* कहलाता है। *कर्मी* भौतिक सुख चाहते हैं और *ज्ञानी* मोक्ष चाहते हैं, किन्तु भक्त कुछ नहीं चाहता। वह तो भगवान् के चरणकमलों की दिव्य प्रेमाभक्ति करके तथा सर्वत्र उपदेश द्वारा उनके गुणों का गान करके ही सन्तुष्ट रहता है, क्योंकि यही उसका जीवन और प्राण है।

धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग
ईक्षा त्रयी नयदमौ विविधा च वार्ता ।
मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं
स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

धर्म—धर्म; अर्थ—आर्थिक उन्नति; कामः—संयमित इन्द्रियतृप्ति; इति—इस प्रकार; यः—जो; अभिहितः—बताये गये; त्रि-वर्गः—तीन का समूह; ईक्षा—आत्म-साक्षात्कार; त्रयी—वैदिक अनुष्ठान; नय—तर्क; दमौ—तथा विधि एवं व्यवस्था की विद्या; विविधा—अनेक प्रकार; च—भी; वार्ता—वृत्तिपरक कर्तव्य या जीविका; मन्ये—मैं मानता हूँ; तत्—उनको; एतत्—वे; अखिलम्—सारा; निगमस्य—वेदों का; सत्यम्—सत्य; स्व-आत्म-अर्पणम्—अपने को पूरी तरह अर्पित कर देना; स्व-सुहृदः—अपने परम मित्र को; परमस्य—परम; पुंसः—पुरुष।

धर्म, अर्थ तथा काम—इन तीनों को वेदों में त्रिवर्ग अर्थात् मोक्ष के तीन साधन कहा गया है। इन तीन वर्गों के अन्तर्गत ही शिक्षा तथा आत्म-साक्षात्कार, वैदिक आदेशानुसार सम्पन्न कर्मकाण्ड, विधि तथा व्यवस्था विज्ञान एवं जीविका अर्जित करने के विविध साधन आते हैं। ये तो वेदों के अध्ययन के बाह्य विषय हैं अतएव मैं उन्हें भौतिक मानता हूँ। किन्तु मैं भगवान् विष्णु के चरणकमलों में समर्पण को दिव्य मानता हूँ।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज के ये उपदेश भक्ति की दिव्य स्थिति पर बल देते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.२६) में पुष्टि की गई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो पूर्ण भक्ति में लगा रहता है, जो किसी भी परिस्थिति में च्युत नहीं होता वह तुरन्त ही प्रकृति के गुणों को पार करके ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।" जो व्यक्ति भगवान् की भक्ति में पूर्णतया संलग्न

रहता है, वह तुरन्त ही दिव्य पद को प्राप्त होता है, जो कि *ब्रह्मभूत* अवस्था है। ऐसी शिक्षा या कार्य जो *ब्रह्मभूत* पद या आत्म-साक्षात्कार पद पर नहीं होता वह भौतिक माना जाता है और प्रह्लाद महाराज का कहना है कि कोई भी भौतिक वस्तु परम सत्य नहीं हो सकती, क्योंकि परम सत्य आध्यात्मिक पद पर होता है। इसकी पुष्टि भगवान् कृष्ण ने भी *भगवद्गीता* (२.४५) में की है जहाँ पर वे यह कहते हैं—*त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन*—"वेदों में केवल तीन गुणों का वर्णन मिलता है। हे अर्जुन! इन गुणों से ऊपर उठो। इन सबसे परे होओ।" भले ही किसी के कर्मों की स्वीकृति वेदों द्वारा क्यों न मिली हो, भौतिक पद पर कर्म करना जीवन का लक्ष्य नहीं है। जीवन का चरम लक्ष्य तो आध्यात्मिक पद पर बने रहना है। मानव उद्देश्य यही है। सारांशत: वैदिक कर्मकाण्डों तथा आदेशों की अवमानना नहीं की जानी चाहिए, वे आध्यात्मिक पद तक पहुँचने के साधन हैं। किन्तु यदि कोई इस पद तक नहीं पहुँच पाता तो सारे वैदिक अनुष्ठान केवल समय के अपव्यय हैं। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* (१.२.८) में हुई है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

"कर्तव्य (धर्म) चाहे जिस वृत्ति के पुरुष द्वारा किये जाँय, यदि वे परमेश्वर के सन्देश के प्रति आकर्षण उत्पन्न नहीं कर पाते तो उन पर किया सारा श्रम निरर्थक है। यदि कोई दृढ़तापूर्वक धर्म के कार्यों को करता है, किन्तु यदि वह अन्ततः परमेश्वर की शरण में नहीं जाता तो उसका मोक्ष या ऊपर उठने के सारे साधन समय तथा श्रम के अपव्यय मात्र हैं।"

ज्ञानं तदेतदमलं दुरवापमाह
नारायणो नरसखः किल नारदाय ।
एकान्तिनां भगवतस्तदकिञ्चनानां
पादारविन्दरजसाप्लुतदेहिनां स्यात् ॥ २७॥

शब्दार्थ

ज्ञानम्—ज्ञान; **तत्**—वह; **एतत्**—यह; **अमलम्**—कल्मषरहित; **दुरवापम्**—समझ पाना कठिन (भक्ति की कृपा के बिना); **आह**—बतलाया; **नारायणः**—भगवान् नारायण ने; **नर-सखः**—सारे जीवों (विशेषतया मनुष्यों) के मित्र; **किल**—निश्चय ही; **नारदाय**—महर्षि नारद को; **एकान्तिनाम्**—उनका, जिन्होंने एकमात्र भगवान् की शरण ले रखी है; **भगवतः**—भगवान् का; **तत्**—वह (ज्ञान); **अकिञ्चनानाम्**—जिन्हें कोई भौतिक सम्पत्ति नहीं चाहिए; **पाद-अरविन्द**—भगवान् के चरणकमलों की; **रजसा**—धूल से; **आप्लुत**—स्नात, नहाये हुए; **देहिनाम्**—जिनके शरीर; **स्यात्**—सम्भव है।

समस्त जीवों के शुभचिन्तक एवं मित्र भगवान् नारायण ने यह दिव्य ज्ञान पहले परम सन्त नारद को दिया। ऐसा ज्ञान नारद जैसे सन्त पुरुष की कृपा के बिना समझ पाना कठिन है, किन्तु जिसने भी नारद की परम्परा की शरण ले रखी है, वह इस गुह्य ज्ञान को समझ सकता है।

तात्पर्य : यहाँ यह बताया गया है कि गुह्य ज्ञान को समझ पाना अत्यन्त कठिन है फिर भी यदि शुद्ध भक्त की शरण ग्रहण कर ली जाये तो इसे समझना सरल है। इस गुह्य ज्ञान का उल्लेख *भगवद्गीता* में भी अन्त में हुआ है जहाँ भगवान् कहते हैं—*सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—तुम सभी प्राकर के धर्मों को त्याग दो और मेरी शरण ग्रहण करो। यह ज्ञान गुह्यतम है, किन्तु यदि कोई नारद की परम्परा में स्थित गुरु के माध्यम से भगवान् तक पहुँचता है, तो इसे समझा जा सकता है। प्रह्लाद महाराज असुरपुत्रों को यह बताना चाहते थे कि यद्यपि ऐसा ज्ञान केवल नारद जैसे सन्त पुरुष के द्वारा समझा जाता है, किन्तु उन्हें निराश नहीं होना चाहिए, क्योंकि यदि कोई भौतिक गुरुओं के बजाय नारद की शरण ग्रहण करता है, तो इस ज्ञान को समझना सम्भव हो जाता है। इसे समझना उच्चकुलीनता पर निर्भर नहीं है। जीव निश्चय ही आध्यात्मिक पद पर शुद्ध होता है, अतएव जो कोई गुरु की कृपा से आध्यात्मिक पद को प्राप्त कर लेता है, वह गुह्य ज्ञान को भी समझ लेता है।

श्रुतमेतन्मया पूर्वं ज्ञानं विज्ञानसंयुतम् ।
धर्मं भागवतं शुद्धं नारदाद्देवदर्शनात् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्रुतम्—सुना गया; एतत्—यह; मया—मेरे द्वारा; पूर्वम्—इसके पहले; ज्ञानम्—गुह्य ज्ञान; विज्ञान-संयुतम्—अपने व्यावहारिक सम्प्रयोग से संयुक्त; धर्मम्—दिव्य धर्म; भागवतम्—भगवान् से सम्बद्ध; शुद्धम्—शुद्ध, जिसे भौतिक कार्यों से कुछ लेना-देना नहीं है; नारदात्—महान् सन्त नारद से; देव—भगवान् का; दर्शनात्—जो सदैव दर्शन करने वाले।

प्रह्लाद महाराज ने आगे कहा : मैंने यह ज्ञान भक्ति में सदैव तल्लीन रहने वाले परम सन्त नारद से प्राप्त किया है। यह ज्ञान भागवत धर्म कहलाता है, जो अत्यन्त वैज्ञानिक है। यह तर्क तथा दर्शन पर आधारित है और समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त है।

श्रीदैत्यपुत्रा ऊचुः

प्रह्लाद त्वं वयं चापि नर्तेऽन्यं विद्महे गुरुम् ।
एताभ्यां गुरुपुत्राभ्यां बालानामपि हीश्वरौ ॥ २९ ॥
बालस्यान्तःपुरस्थस्य महत्सङ्गो दुरन्वयः ।

छिन्धि नः संशयं सौम्य स्याच्चेद्विस्रम्भकारणम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

श्री-दैत्य-पुत्राः ऊचुः—दैत्य पुत्रों ने कहा; प्रह्राद—हे मित्र प्रह्लाद; त्वम्—तुम; वयम्—हम सब; च—तथा; अपि—भी; न—नहीं; ऋते—सिवाय; अन्यम्—अन्य; विद्महे—जानते हैं; गुरुम्—गुरु को; एताभ्याम्—इन दोनों; गुरु-पुत्राभ्याम्—शुक्राचार्य के पुत्रों से; बालानाम्—बच्चों के; अपि—यद्यपि; हि—निस्सन्देह; ईश्वरौ—दो नियन्ता; बालस्य—बच्चों का; अन्तःपुर-स्थस्य—घर या महल के भीतर रहते हुए; महत्-सङ्गः—नारद-जैसे महापुरुष की संगति; दुरन्वयः—अत्यन्त कठिन; छिन्धि—कृपया दूर करो; नः—हमारा; संशयम्—संशय, शंका; सौम्य—हे भद्र; स्यात्—हो सके; चेत्—यदि; विस्रम्भ-कारणम्—तुम्हारे वचनों में श्रद्धा का कारण।

दैत्य पुत्रों ने उत्तर दिया: प्रह्लाद, न तुम और न ही हम शुक्राचार्य के पुत्र षण्ड तथा अमर्क के अतिरिक्त अन्य किसी अध्यापक या गुरु को जानते हैं। अन्ततः हम बच्चे हैं और वे हमारे नियंत्रक हैं। तुम जैसे सदैव महल के भीतर रहने वाले के लिए ऐसे महापुरुष की संगति कर पाना अत्यन्त कठिन है। हे परम भद्र मित्र, क्या तुम यह बतलाओगे कि तुम्हारे लिए नारद से सुन पाना कैसे सम्भव हो सका? इस सम्बन्ध में हमारी शंका को दूर करो।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध के अन्तर्गत "प्रह्लाद द्वारा अपने असुर सहपाठियों को उपदेश" नामक छठे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सात

प्रह्लाद ने गर्भ में क्या सीखा

इस अध्याय में प्रह्लाद महाराज अपने असुर सहपाठियों के संशयों को दूर करने के लिए बताते हैं कि किस प्रकार उन्होंने अपनी माता के गर्भ में रहते हुए नारद मुनि के मुख से उपदेश किये गये भागवत धर्म को सुना।

जब हिरण्यकशिपु अपना राज्य छोड़कर कठिन तपस्या करने के लिए मन्दराचल पर्वत चला गया तो सारे असुर (दैत्य) तितर-बितर हो गये। उस समय हिरण्यकशिपु की पत्नी कयाधु गर्भवती थी और देवताओं ने इस धोखे से कि उसके गर्भ में एक दूसरा असुर है उसे बन्दी बना लिया। उनकी योजना थी कि जैसे ही बालक उत्पन्न होगा वे उसे मार डालेंगे। जब वे कयाधु को स्वर्गलोक ले जा रहे थे तो रास्ते में नारद मुनि से भेंट हुई जिन्होंने उसे स्वर्गलोक ले जाने से रोक दिया और उसे हिरण्यकशिपु के वापस आने तक अपने आश्रम में ले जाकर रखा। नारद मुनि के आश्रम में कयाधु ने अपने गर्भस्थ बालक की रक्षा के लिए प्रार्थना की। नारद मुनि ने उसे आश्वस्त किया और आध्यात्मिक ज्ञान सम्बन्धी

उपदेश दिये। यद्यपि प्रह्लाद महाराज अभी छोटे बच्चे के रूप में गर्भ में ही थे, किन्तु उन्होंने इन उपदेशों को ध्यानपूर्वक सुना:—आत्मा सदैव शरीर से पृथक् रहता है। जीव के आध्यात्मिक स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता। कोई भी व्यक्ति जो देहात्मबुद्धि से परे होता है, वह शुद्ध है और दिव्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यह दिव्य ज्ञान भक्ति है और प्रह्लाद महाराज ने अपनी माता के गर्भ में रहते हुए नारद मुनि से भक्ति सम्बन्धी उपदेश प्राप्त किये। जो व्यक्ति प्रामाणिक गुरु के उपदेशों के माध्यम से भगवान् की सेवा में लगा रहता है, वह तुरन्त मुक्त हो जाता है और माया के पाश से छूटकर सारे अज्ञान से तथा भौतिक इच्छाओं से छुट्टी पा लेता है। प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह परमेश्वर की शरण ग्रहण करे और इस प्रकार समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त हो ले। कोई भी व्यक्ति चाहे वह किसी पद पर क्यों न हो इस सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। भक्ति तपस्या, योग या पवित्रता के भौतिक कार्यकलापों पर आश्रित नहीं होती। इनके न होने पर भी शुद्ध भक्त की कृपा से मनुष्य को भक्ति प्राप्त हो सकती है।

श्रीनारद उवाच
एवं दैत्यसुतैः पृष्टो महाभागवतोऽसुरः ।
उवाच तान्स्मयमानः स्मरन्मदनुभाषितम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—महान् सन्त नारद मुनि ने कहा; एवम्—इस प्रकार; दैत्य-सुतैः—दैत्य को पुत्रों द्वारा; पृष्टः—पूछे जाने पर; महा-भागवतः—भगवान् के महान् भक्त ने; असुरः—दैत्यों के वंश में उत्पन्न; उवाच—कहा; तान्—उनसे (असुर पुत्रों से); स्मयमानः—हँसते हुए; स्मरन्—स्मरण करते हुए; मत्-अनुभाषितम्—मेरे द्वारा कहा गया।

नारद मुनि ने कहा : यद्यपि प्रह्लाद महाराज असुरों के परिवार में जन्मे थे, किन्तु वे समस्त भक्तों में सबसे महान् थे। इस प्रकार अपने असुर सहपाठियों द्वारा पूछे जाने पर उन्होंने मेरे द्वारा कहे गये शब्दों का स्मरण किया और अपने मित्रों से इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : जब प्रह्लाद महाराज अपनी माता के गर्भ में थे तो उन्होंने नारद मुनि के शब्द सुने थे। कोई इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता कि गर्भस्थ बालक ने किस तरह नारद के शब्द सुने होंगे, किन्तु यह आध्यात्मिक जीवन है। आध्यात्मिक जीवन की प्रगति को कोई भी भौतिक दशा रोक नहीं सकती। यह *अहैतुक्यप्रतिहता* कहलाती है। आध्यात्मिक ज्ञान के अर्जन को कोई भी भौतिक दशा रोक नहीं पाती। इस तरह प्रह्लाद महाराज बचपन से ही अपने मित्रों को अध्यात्म-ज्ञान बतलाते रहे। इसका प्रभाव भी पड़ता रहा, यद्यपि वे सभी बालक थे।

श्रीप्रह्लाद उवाच
पितरि प्रस्थितेऽस्माकं तपसे मन्दराचलम् ।
युद्धोद्यमं परं चक्रुर्विबुधा दानवान्प्रति ॥ २॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्लादः उवाच—प्रह्लाद महाराज ने कहा; पितरि—असुर पिता हिरण्यकशिपु के; प्रस्थिते—यहाँ से जाने पर; अस्माकम्—हमारे; तपसे—तपस्या करने के लिए; मन्दर-अचलम्—मन्दराचल नामक पर्वत पर; युद्ध-उद्यमम्—युद्ध करने का उद्योग; परम्—महान्; चक्रुः—सम्पन्न किया; विबुधाः—इन्द्र इत्यादि देवताओं ने; दानवान्—असुरों के; प्रति—प्रति।

प्रह्लाद महाराज ने कहा : जब हमारे पिता हिरण्यकशिपु कठिन तपस्या करने के लिए मन्दराचल पर्वत चले गये तो उनकी अनुपस्थिति में इन्द्र इत्यादि देवताओं ने युद्ध में सारे असुरों का दमन करने का घोर प्रयास किया।

पिपीलिकैरहिरिव दिष्ट्या लोकोपतापनः ।
पापेन पापोऽभक्षीति वदन्तो वासवादयः ॥ ३॥

शब्दार्थ

पिपीलिकैः—छोटी-छोटी चीटियों के द्वारा; अहिः—साँप; इव—सदृश; दिष्ट्या—ओह; लोक-उपतापनः—सदैव सबों का उत्पीड़न करने वाला; पापेन—अपने ही पाप कर्मों से; पापः—पापी हिरण्यकशिपु; अभक्षि—खा लिया गया; इति—इस प्रकार; वदन्तः—कहते हुए; वासव-आदयः—राज इन्द्र आदि देवता।

"ओह! जिस प्रकार साँप को छोटी-छोटी चींटियाँ खा जाती हैं उसी प्रकार कष्टदायक हिरण्यकशिपु जो सभी प्रकार के लोगों पर कहर ढहाता था अपने ही पापकर्मों के कारण पराजित किया जा चुका है।" ऐसा कहकर इन्द्रादि देवताओं ने असुरों से लड़ने की योजना बनाई।

तेषामतिबलोद्योगं निशम्यासुरयूथपाः ।
वध्यमानाः सुरैर्भीता दुद्रुवुः सर्वतो दिशम् ॥ ४॥
कलत्रपुत्रवित्ताप्तान्गृहान्पशुपरिच्छदान् ।
नावेक्ष्यमाणास्त्वरिताः सर्वे प्राणपरीप्सवः ॥ ५॥

शब्दार्थ

तेषाम्—इन्द्र आदि देवताओं का; अतिबल-उद्योगम्—अत्यधिक शक्ति तथा उद्योग; निशम्य—सुन कर; असुर-यूथपाः—असुरों के महन नायक; वध्यमानाः—एक के बाद एक मारे जाकर; सुरैः—देवताओं द्वारा; भीताः—भयभीत; दुद्रुवुः—भाग गये; सर्वतः—समस्त; दिशम्—दिशाओं में; कलत्र—पत्नियाँ; पुत्र-वित्त—लड़के तथा सम्पत्ति; आप्तान्—सम्बन्धी; गृहान्—घरों को; पशु-परिच्छदान्—पशु तथा गृहस्थी के सामान को; न—नहीं; अवेक्ष्यमाणाः—देखते हुए; त्वरिताः—जल्दी-जल्दी; सर्वे—सभी; प्राण-परीप्सवः—जीवित रहने की अत्यधिक इच्छा करते हुए।

एक के बाद एक मारे जाने पर जब असुरों के महान् नायकों ने लड़ाई में देवताओं का

अभूतपूर्व पराक्रम देखा, तो वे तितर-बितर होकर सभी दिशाओं में भागने लगे। अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए वे अपने घरों, पत्नियों, बच्चों, पशुओं तथा घर के सारे साज-समान को छोड़कर जल्दी-जल्दी भाग गये। उन्होंने इन सबकी परवाह नहीं की और मात्र भागना आरम्भ कर दिया।

व्यलुम्पन् राजशिबिरममरा जयकाङ्क्षिणः ।
इन्द्रस्तु राजमहिषीं मातरं मम चाग्रहीत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

व्यलुम्पन्—लूटा; राज-शिबिरम्—मेरे पिता हिरण्यकशिपु के महल को; अमराः—देवताओं ने; जय-काङ्क्षिणः—विजयी होने के लिए उत्सुक; इन्द्रः—देवताओं के प्रमुख राजा इन्द्र ने; तु—लेकिन; राज-महिषीम्—रानी; मातरम्—माता को; मम—मेरी; च—भी; अग्रहीत्—पकड़ लिया।

विजयी देवताओं ने असुरराज हिरण्यकशिपु के महल को लूट लिया और उसके भीतर की सारी वस्तुएँ नष्ट-भ्रष्ट कर दीं। तब स्वर्ग के राजा इन्द्र ने मेरी माता को बन्दी बना लिया।

नीयमानां भयोद्विग्नां रुदतीं कुररीमिव ।
यदृच्छयागतस्तत्र देवर्षिर्ददृशे पथि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

नीयमानाम्—ले जाई जाती हुई; भय-उद्विग्नाम्—उद्विग्न तथा भयभीत; रुदतीम्—रोती हुई; कुररीम् इव—कुररी पक्षी की तरह; यदृच्छया—दैववश; आगतः—आये हुए; तत्र—उस स्थान पर; देव-ऋषिः—परम सन्त नारद ने; ददृशे—देखा; पथि—रास्ते में।

जब इस प्रकार वे गृद्ध द्वारा पकड़ी गई कुररी पक्षी की भाँति भय से चिल्लाती हुई ले जाई जा रही थीं तो देवर्षि महर्षि नारद जो उस समय किसी भी कार्य में व्यस्त नहीं थे, घटनास्थल पर प्रकट हुए और उन्होंने उस अवस्था में उन्हें देखा।

प्राह नैनां सुरपते नेतुमर्हस्यनागसम् ।
मुञ्च मुञ्च महाभाग सतीं परपरिग्रहम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

प्राह—कहा; न—नहीं; एनाम्—इसको; सुर-पते—हे देवताओं के राजा; नेतुम्—घसीटने के लिए; अर्हसि—तुम्हें चाहिए; अनागसम्—पापरहित, निर्दोष; मुञ्च मुञ्च—छोड़ दो, छोड़ दो; महा-भाग—हे परम भाग्यशाली; सतीम्—सती; पर-परिग्रहम्—पराये पुरुष की पत्नी को।

नारद मुनि ने कहा : हे देवराज इन्द्र, यह स्त्री निश्चय ही पापरहित है। तुम्हें इसे इस तरह क्रूरतापूर्वक घसीटना नहीं चाहिए। हे परम सौभाग्यशाली, यह सती स्त्री किसी दूसरे की पत्नी

है। तुम इसे तुरन्त छोड़ दो।

श्रीइन्द्र उवाच

आस्तेऽस्या जठरे वीर्यमविषह्यं सुरद्विषः ।
आस्यतां यावत्प्रसवं मोक्ष्येऽर्थपदवीं गतः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्री-इन्द्रः उवाच—राजा इन्द्र ने कहा; आस्ते—है; अस्याः—उसके; जठरे—उदर में; वीर्यम्—वीर्य; अविषह्यम्—असहनीय; सुर-द्विषः—देवताओं के शत्रु का; आस्यताम्—इसे रहने दें (हमारी कैद में); यावत्—जब तक; प्रसवम्—बच्चे का जन्म; मोक्ष्ये—मैं छोड़ दूँगा; अर्थ-पदवीम्—मेरे लक्ष्य का मार्ग; गतः—प्राप्त हुआ।

राजा इन्द्र ने कहा : इस असुरपत्नी के गर्भ में उस असुर हिरण्यकशिपु का वीर्य है। अतएव इसे तब तक हमारे संरक्षण में रहने दें जब तक बच्चा उत्पन्न नहीं हो जाता। तब हम इसे छोड़ देंगे।

तात्पर्य : स्वर्ग के राजा इन्द्र ने प्रह्लाद महाराज की माता को इसलिए बन्दी बनाना चाहा, क्योंकि उसने सोचा कि उसके गर्भ में दूसरा असुर, दूसरा हिरण्यकशिपु बैठा है। अतएव सर्वोत्तम उपाय यही होगा कि जब यह बच्चा उत्पन्न हो तो उसे मार डाला जाये और तब स्त्री को मुक्त कर दिया जाये।

श्रीनारद उवाच

अयं निष्किल्बिषः साक्षान्महाभागवतो महान् ।
त्वया न प्राप्स्यते संस्थामनन्तानुचरो बली ॥ १० ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—महान् सन्त नारद मुनि ने कहा; अयम्—यह (गर्भस्थ बालक); निष्किल्बिषः—पूर्णतया पापरहित; साक्षात्—प्रत्यक्ष; महा-भागवतः—सन्त भक्त; महान्—महान्; त्वया—तुम्हारे द्वारा; न प्राप्स्यते—नहीं प्राप्त करेगा; संस्थाम्—अपनी मृत्यु; अनन्त—भगवान् का; अनुचरः—दास; बली—अत्यन्त शक्तिशाली।

नारद मुनि ने उत्तर दिया: इस स्त्री के गर्भ में स्थित बालक निर्दोष या निष्पाप है। निस्सन्देह, वह महान् भक्त तथा भगवान् का शक्तिशाली दास है। अतएव तुम उसे मार पाने में सक्षम नहीं होगे।

तात्पर्य : ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हैं जब असुरों या अभक्तों ने भक्त को मारने का प्रयास किया है, किन्तु वे भगवान् के महान् भक्त को कभी मार नहीं पाये। भगवान् *भगवद्गीता* (९.३१) में वचन देते हैं—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*। यह भगवान् की घोषणा है कि उनका भक्त असुरों द्वारा नहीं मारा जा सकता। प्रह्लाद महाराज इस वचन की सत्यता के ज्वलन्त उदाहरण हैं। नारद मुनि ने

स्वर्ग के राजा से कहा ''भले ही तुम देवता क्यों न हो, तुम्हारे लिए और अन्यों के लिए भी इस बालक को मार पाना असम्भव होगा।''

इत्युक्तस्तां विहायेन्द्रो देवर्षेर्मानयन्वचः ।
अनन्तप्रियभक्त्यैनां परिक्रम्य दिवं ययौ ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्तः—सम्बोधित होकर; ताम्—उसको; विहाय—छोड़ कर; इन्द्रः—स्वर्ग का राजा; देव-ऋषेः—नारद मुनि के; मानयन्—मानते हुए, सम्मान करते हुए; वचः—शब्दों का; अनन्त-प्रिय—भगवान् के प्रिय; भक्त्या—भक्ति से; एनाम्—इसको (स्त्री को); परिक्रम्य—परिक्रमा करके; दिवम्—स्वर्ग लोक को; ययौ—वापस चला गया।

जब परम सन्त नारद मुनि ने इस प्रकार कहा तो राजा इन्द्र ने नारद के वचनों का सम्मान करते हुए तुरन्त ही मेरी माता को छोड़ दिया। चूँकि मैं भगवद्भक्त था, अतएव सब देवताओं ने मेरी माता की परिक्रमा की और तब वे सभी अपने अपने स्वर्गधाम को वापस चले गये।

तात्पर्य : यद्यपि राजा इन्द्र तथा अन्य देवता महापुरुष हैं, किन्तु वे नारद मुनि के इतने आज्ञाकारी हैं कि राजा इन्द्र ने प्रह्लाद महाराज सम्बन्धी मुनि के वचनों को तुरन्त स्वीकार कर लिया। यह परम्परा पद्धति द्वारा समझना कहलाता है। इन्द्र तथा देवता यह नहीं जानते थे कि हिरण्यकशिपु की पत्नी कयाधु के गर्भ में एक महान् भक्त है, किन्तु उन्होंने नारद मुनि के प्रामाणिक कथन को स्वीकार कर लिया और तुरन्त ही उस गर्भिणी स्त्री की परिक्रमा करके उस भक्त को सम्मान प्रदान किया। परम्परा पद्धति द्वारा भगवान् तथा भक्त को समझना ज्ञान की विधि है। ईश्वर तथा उनके भक्त के विषय में सोच-विचार करने की आवश्यकता नहीं होती। मनुष्य को चाहिए कि प्रामाणिक भक्त के कथनों को स्वीकार करे और समझने का प्रयत्न करे।

ततो मे मातरमृषिः समानीय निजाश्रमे ।
आश्वास्येहोष्यतां वत्से यावत्ते भर्तुरागमः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; मे—मेरी; मातरम्—माता को; ऋषिः—नारद ऋषि ने; समानीय—लाकर; निज-आश्रमे—अपने आश्रम में; आश्वास्य—आश्वासन देकर; इह—यहाँ; उष्यताम्—निवास करो; वत्से—मेरी बेटी; यावत्—जब तक; ते—तुम्हारे; भर्तुः—पति का; आगमः—आगमन, आना।

प्रह्लाद महाराज ने आगे बताया: परम सन्त नारद मुनि मेरी माता को अपने आश्रम ले गये और यह कहकर सभी प्रकार से सुरक्षा का आश्वासन दिया ''मेरी बेटी, तुम मेरे आश्रम में अपने

पति के वापस आने तक रहो।''

तथेत्यवात्सीद्देवर्षेरन्तिके साकुतोभया ।
यावद्दैत्यपतिर्घोरात्तपसो न न्यवर्तत ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तथा—ऐसा ही हो; इति—इस प्रकार; अवात्सीत्—रहती रही; देव-ऋषेः—देवर्षि नारद के; अन्तिके—निकट; सा—वह (मेरी माता); अकुतो-भया—किसी भी प्रकार के भय के बिना; यावत्—जब तक; दैत्य-पतिः—मेरे पिता असुरराज हिरण्यकशिपु ने; घोरात्—अत्यन्त कठिन; तपसः—तपस्या; न—नहीं; न्यवर्तत—बन्द कर दिया।

देवर्षि नारद के उपदेशों को मानकर मेरी माता बिना किसी प्रकार के भय के उनकी देख-रेख में तब तक रहती रही जब तक मेरे पिता दैत्यराज अपनी घोर तपस्या से मुक्त नहीं हो गये।

ऋषिं पर्यचरत्तत्र भक्त्या परमया सती ।
अन्तर्वत्नी स्वगर्भस्य क्षेमायेच्छाप्रसूतये ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

ऋषिम्—नारद मुनि की; पर्यचरत्—सेवा करती रही; तत्र—वहाँ (आश्रम में); भक्त्या—श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक; परमया—परम; सती—आज्ञाकारी स्त्री; अन्तर्वत्नी—गर्भवती; स्व-गर्भस्य—अपने गर्भ के; क्षेमाय—कल्याण के लिए; इच्छा—इच्छानुसार; प्रसूतये—सन्तान उत्पन्न करने के लिए।

मेरी माता गर्भवती होने के कारण अपने गर्भ की सुरक्षा चाहती थीं और चाहती थीं कि पति के आगमन के बाद सन्तान उत्पन्न हो। इस तरह वे नारद मुनि के आश्रम पर रहती रहीं जहाँ वे अत्यन्त भक्तिपूर्वक नारद मुनि की सेवा करती रहीं।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* (९.१९.१७) में में कहा गया है—

मात्रा स्वस्रा दुहिता वा नाविविक्तासनो भवेत्।

बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

''मनुष्य को चाहिए कि वह स्त्री के साथ, चाहे उसकी माता, बहन या पुत्री ही क्यों न हो, एकान्त में न रहे।'' यद्यपि एकान्त स्थान में पुरुष को स्त्री के साथ रहने के लिए पूरी तरह वर्जित किया गया है फिर भी नारद मुनि ने प्रह्लाद महाराज की तरुणी माता को आश्रय दिया जो अत्यन्त भक्ति तथा श्रद्धा से उनकी सेवा करती रहीं। तो क्या इसका अर्थ यह हुआ कि नारद मुनि ने वैदिक आदेशों का उल्लंघन किया? निश्चय ही नहीं। ऐसे आदेश संसारी प्राणियों के लिए हैं, नारद तो संसारी श्रेणी से परे हैं। वे महान् सन्त हैं और दिव्य पद पर स्थित हैं। अतएव स्वयं तरुण होते हुए भी वे एक तरुणी स्त्री को

शरण देकर उसकी सेवा स्वीकार कर सकते थे। हरिदास ठाकुर ने भी एक वेश्या तरुणी से रात्रि के गहन अंधकार में बातें की थीं, लेकिन वह स्त्री उनके मन को विचलित न कर पाई। उल्टे, वह हरिदास ठाकुर के आशीर्वाद से शुद्ध भक्तिन या वैष्णवी बन गई। किन्तु सामान्य लोगों को ऐसे महान् भक्तों का अनुकरण नहीं करना चाहिए। उन्हें स्त्रियों की संगति से दूर रहकर विधि-विधानों का कड़ाई से पालन करना चाहिए। किसी को नारद मुनि या हरिदास ठाकुर का अनुकरण नहीं करना चाहिए। कहा गया है—*वैष्णवेर क्रिया-मुद्रा विज्ञे ना बुझय।* बड़ा से बड़ा विद्वान भी वैष्णव के आचरण को नहीं समझ सकता। कोई भी बिना भय के किसी वैष्णव की शरण में जा सकता है। अतएव पिछले श्लोक में स्पष्ट कहा गया है *देवर्षेरन्तिके साकुतोभया*—प्रह्लाद महाराज की माता कयाधु सभी प्रकार के भय से रहित होकर नारद मुनि के संरक्षण में रहती रहीं। इसी तरह नारद मुनि अपने दिव्य पद के कारण उस तरुणी के साथ अविचल भाव से रहते रहे। नारद मुनि, हरिदास ठाकुर तथा ऐसे ही आचार्य जिन्हें भगवान् के यश का प्रचार करने की विशेष शक्ति प्राप्त है कभी भौतिक पद तक नीचे नहीं उतर सकते। अतएव यह सर्वथा वर्जित है कि आचार्य को सामान्य मनुष्य माना जाये (*गुरुषु नरमतिः*)।

ऋषिः कारुणिकस्तस्याः प्रादादुभयमीश्वरः ।
धर्मस्य तत्त्वं ज्ञानं च मामप्युद्दिश्य निर्मलम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

ऋषिः—नारद मुनि; कारुणिकः—पतितों पर अत्यधिक स्नेहिल या कृपालु; तस्याः—उसको; प्रादात्—उपदेश दिया; उभयम्—दोनों को; ईश्वरः—शक्तिमान नियन्ता नारद मुनि जो चाहे सो कर दे; धर्मस्य—धर्म का; तत्त्वम्—सत्य; ज्ञानम्—ज्ञान; च—तथा; माम्—मुझको; अपि—विशेष रूप से; उद्दिश्य—इंगित करके; निर्मलम्—भौतिक कल्मष से रहित।

नारद मुनि ने गर्भ में स्थित मुझे तथा अपनी सेवा में लगी मेरी माता दोनों को उपदेश दिया। चूँकि वे स्वभाव से पतितों पर अत्यन्त दयालु हैं, अतएव अपनी दिव्य स्थिति के कारण उन्होंने धर्म तथा ज्ञान के विषय में उपदेश दिये। ये उपदेश भौतिक कल्मष से रहित थे।

तात्पर्य : यहाँ पर कहा गया है—*धर्मस्य तत्त्वं ज्ञानं च...निर्मलम्। निर्मलम्* शब्द निष्कलंक धर्म का सूचक है या यों कहें कि *भागवत धर्म* का सूचक है। सामान्यतया कर्मकाण्ड कल्मषग्रस्त धर्म के अंग होते हैं जिनसे लोग अपनी सम्पत्ति तथा समृद्धि बढ़ाकर लाभ उठाते हैं, लेकिन कल्मषहीन शुद्ध धर्म में ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को समझना एवं तदनुसार कर्म करना निहित रहते हैं जिससे जीवन का सर्वोच्च मन्तव्य तथा भगवद्धाम की वापसी दोनों पूरे होते हैं। प्रह्लाद महाराज ने उपदेश दिया कि

जीवन के प्रारम्भ से मनुष्य को *भागवतधर्म* के स्तर तक ऊपर उठना चाहिए (*कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतान् इह*)। भगवान् स्वयं भी शुद्ध कल्मषरहित धर्म की बात करते हैं जब वे *भगवद्गीता* (१८.६६) में कहते हैं—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—सारे धर्मों का परित्याग करके मेरी शरण में आ जाओ। मनुष्य को ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को समझना चाहिए और तब उसी के अनुसार कर्म करना चाहिए। यही *भागवत धर्म* है। भागवत धर्म का अर्थ है *भक्तियोग*।

वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित:।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥

"भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति करके मनुष्य तुरन्त ही अहैतुकी ज्ञान तथा संसार से विरक्ति प्राप्त कर लेता है।" (*भागवत* १.२.७) शुद्ध धर्म के पद पर स्थित होने के लिए मनुष्य को वासुदेव कृष्ण से सम्बन्धित भक्ति करनी चाहिए।

तत्तु कालस्य दीर्घत्वात्स्त्रीत्वान्मातुस्तिरोदधे ।
ऋषिणानुगृहीतं मां नाधुनाप्यजहात्स्मृतिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह (धर्म तथा ज्ञान विषयक उपदेश); तु—निस्सन्देह; कालस्य—समय के; दीर्घत्वात्—दीर्घ होने के कारण; स्त्रीत्वात्—स्त्री होने के कारण; मातु:—मेरी माता का; तिरोदधे—लुप्त हो गया; ऋषिणा—ऋषि द्वारा; अनुगृहीतम्—आशीर्वाद से; माम्—मुझको; न—नहीं; अधुना—आज; अपि—भी; अजहात्—छोड़ पाई; स्मृतिः—स्मृति (नारद मुनि के उपदेशों की)।

अधिक काल बीत जाने तथा स्त्री होने से अल्पज्ञ होने के कारण मेरी माता उन सारे उपदेशों को भूल गईं, किन्तु ऋषि नारद ने मुझे आशीर्वाद दिया था, अतएव मैं नहीं भूल पाया।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.३२) में भगवान् कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु: पापयोनय:।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

"हे पृथापुत्र! जो मेरी शरण में आ जाते हैं—वे भले ही निम्नकुल में उत्पन्न स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र (श्रमिक) क्यों न हों—परम गति को प्राप्त होते हैं।" *पापयोनि* शब्द उन लोगों के लिए आया है, जो शूद्रों से भी निम्न हैं। किन्तु भले ही स्त्री *पापयोनि* न हो, लेकिन अल्पज्ञ होने के कारण वह कभी-कभी भक्ति के उपदेशों को भूल जाती है। परन्तु जो पर्याप्त बलवान् हैं उनके भूलने का प्रश्न ही नहीं उठता। सामान्यतया स्त्रियाँ भौतिक भोग के प्रति आसक्त होती हैं जिसके कारण वे कभी-कभी भक्ति के उपदेश

भूल जाती हैं। किन्तु चाहे वह स्त्री ही क्यों न हो, यदि विधिवत् भक्ति का पूर्ण अभ्यास करती है, तो भगवान् के ही कथन के अनुसार वह भगवद्धाम वापस जा सकती है (*तेऽपि यान्ति परां गतिम्*)। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। मनुष्य को भगवान् की शरण ग्रहण करके विधि-विधानों का कड़ाई से पालन करना चाहिए। तब बिना भेदभाव के वह भगवद्धाम वापस जा सकेगा। प्रह्लाद महाराज की माता गर्भस्थ शिशु की रक्षा के प्रति अधिक चिन्तित थीं और अपने पति को वापस आते देखने के लिए उत्सुक थीं। अतएव वे नारद मुनि के भव्य उपदेशों पर गम्भीरता से विचार नहीं कर सकीं।

भवतामपि भूयान्मे यदि श्रद्दधते वचः ।
वैशारदी धीः श्रद्धातः स्त्रीबालानां च मे यथा ॥ १७॥

शब्दार्थ

भवताम्—तुम लोगों की; अपि—भी; भूयात्—हो सकता है; मे—मेरा; यदि—यदि; श्रद्दधते—तुम विश्वास करो; वचः—शब्द; वैशारदी—अत्यन्त दक्ष, या परमेश्वर के प्रति; धीः—बुद्धि; श्रद्धातः—दृढ़ श्रद्धा के कारण; स्त्री—स्त्रियों के; बालानाम्—बालकों के; च—भी; मे—मेरा; यथा—जिस तरह।

प्रह्लाद महाराज ने कहा : हे मित्रों, यदि तुम मेरी बातों पर श्रद्धा करो तो तुम भी उसी श्रद्धा से मेरे ही समान दिव्य ज्ञान को समझ सकते हो, भले ही तुम सभी छोटे-छोटे बालक क्यों न हो। इसी प्रकार एक स्त्री भी दिव्य ज्ञान को समझ सकती है और यह जान सकती है कि आत्मा क्या है तथा भौतिक पदार्थ क्या है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज के ये शब्द परम्परा से चले आने वाले ज्ञान के प्रसंग में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। प्रह्लाद महाराज अपनी माता के गर्भ में शिशु रूप में रहते हुए भी नारद के शक्तिशाली उपदेश को सुनकर परम शक्ति के अस्तित्व के विषय में पूर्णतः आश्वस्त थे और समझ गये थे किस प्रकार भक्तियोग द्वारा जीवन-सिद्धि प्राप्त की जाती है। आध्यात्मिक ज्ञान के विषय में ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ज्ञातव्य हैं।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

"जो महापुरुष भगवान् तथा गुरु दोनों पर निश्चित श्रद्धा रखते हैं उन्हें वैदिक ज्ञान का सारा आशय स्वतः प्रकट हो जाता है।" (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.२३)

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।

सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यद:॥

''कोई भी व्यक्ति अपनी स्थूल भौतिक इन्द्रियों द्वारा कृष्ण को यथारूप में नहीं समझ सकता। वे भक्तों की दिव्य प्रेमाभक्ति से प्रसन्न होकर अपने आपको प्रकट करते हैं।'' (*भक्तिरसामृत सिन्धु* १.२.२३४)

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वत:।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

''मनुष्य परम पुरुष को उनके यथारूप में केवल भक्ति द्वारा समझ सकता है। और जब वह ऐसी भक्ति से परमेश्वर की पूर्ण भावना में होता है, तो वह भगवद्धाम में प्रवेश कर सकता है।'' (*भगवद्गीता* १८.५५)

ये वैदिक आदेश हैं। मनुष्य को गुरु के शब्दों में पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए और भगवान् में भी ऐसी श्रद्धा होनी चाहिए। तब आत्मा तथा परमात्मा का असली ज्ञान एवं भौतिक पदार्थ तथा आत्मा के मध्य का अन्तर स्वत: प्रकट हो जाएगा। यह *आत्मतत्त्व* या आध्यात्मिक ज्ञान भक्त के अन्तस्तल में प्रकट होगा, क्योंकि उसने प्रह्लाद महाराज जैसे *महाजन* के चरणकमलों की शरण ले ली है।

इस श्लोक में आगत *भूयात्* शब्द का अर्थ ''जो हो सो'' लिया जा सकता है। प्रह्लाद महाराज अपने सहपाठियों को यह कहकर आशीर्वाद देते हैं ''तुम भी मेरे समान श्रद्धावान् बनो। प्रामाणिक वैष्णव बनो।'' प्रत्येक भगवद्भक्त चाहता है कि प्रत्येक व्यक्ति कृष्णभावनामृत ग्रहण करे। किन्तु दुर्भाग्यवश कभी-कभी लोगों को परम्परा से चले आ रहे गुरु के शब्दों में प्रगाढ़ श्रद्धा नहीं होती, अतएव वे दिव्य ज्ञान को समझ पाने में अक्षम रह जाते हैं। गुरु को प्रह्लाद महाराज की भाँति वैध परम्परा की श्रेणी में से होना चाहिए जिन्होंने नारद से ज्ञान प्राप्त किया। यदि असुरों के पुत्रों एवं प्रह्लाद महाराज के सहपाठियों को प्रह्लाद से सत्य का पाठ सीखना होता तो वे निश्चित रूप से दिव्य ज्ञान से अवगत हो गये होते।

वैशारदी धी: शब्द भगवान् विषयक बुद्धि को सूचित करने वाले हैं, क्योंकि भगवान् अत्यधिक दक्ष हैं। उन्होंने अपनी दक्षता से अलौकिक ब्रह्माण्डों की सृष्टि की है। अत्यन्त दक्ष हुए बिना कोई भी परम दक्ष (पटु) की दक्ष-व्यवस्था को समझ नहीं सकता है। किन्तु यदि कोई इतना भाग्यशाली हो कि

उसे ब्रह्मा, शिव, माता लक्ष्मी या कुमारों से चली आ रही परम्परा का प्रामाणिक गुरु मिल जाये तो वह इसे समझ सकता है। ज्ञान तथा अध्यात्म के ये चार *सम्प्रदाय* क्रमश: ब्रह्म सम्प्रदाय, रुद्र सम्प्रदाय, श्री सम्प्रदाय तथा कुमार सम्प्रदाय कहलाते है। *सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते निष्फला मता:*—ऐसे सम्प्रदाय या परम्परा से प्राप्त भगवद्ज्ञान मनुष्य को प्रबुद्ध कराने वाला है। यदि वह परम्परा मार्ग का अनुसरण नहीं करता तो भगवान् को समझ पाना असम्भव है। यदि कोई परम्परा में श्रद्धा के साथ भक्ति द्वारा परमेश्वर को समझता है और फिर आगे बढ़ता है, तो वह ईश्वर के प्रति अपने प्राकृतिक प्रेम को जागृत करता है। तब जीवन में उसकी सफलता निश्चित है।

जन्माद्याः षडिमे भावा दृष्टा देहस्य नात्मनः ।
फलानामिव वृक्षस्य कालेनेश्वरमूर्तिना ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

जन्म-आद्याः—जन्म से लेकर; षट्—छः (जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, रूपान्तर, क्षय तथा अन्त में मृत्यु); इमे—ये सब; भावाः—शरीर की विभिन्न अवस्थाएँ; दृष्टाः—देखे जाते हैं; देहस्य—शरीर के; न—नहीं; आत्मनः—आत्मा के; फलानाम्—फलों के; इव—सदृश; वृक्षस्य—वृक्ष के; कालेन—काल क्रम से; ईश्वर-मूर्तिना—जिसका स्वरूप रूपान्तर करने या शारीरिक कार्यकलापों को वश में करने की क्षमता है।.

जिस प्रकार वृक्ष के फलों तथा फूलों में कालक्रम से छः प्रकार के परिवर्तन—जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, रूपान्तर, क्षय तथा अन्त में मृत्यु—होते हैं उसी प्रकार विभिन्न परिस्थितियों में आत्मा को जो भौतिक शरीर प्राप्त होता है उसमें भी ऐसे ही परिवर्तन होते हैं। किन्तु आत्मा में ऐसे परिवर्तन नहीं होते।

तात्पर्य : आत्मा तथा भौतिक शरीर का अन्तर समझने के लिए यह श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आत्मा शाश्वत है, जैसाकि *भगवद्गीता* (२.२०) में कहा गया है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्

नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

"आत्मा का न तो जन्म होता है न मृत्यु। न ही एक बार अस्तित्व में आने पर कभी इसका विनाश होता है। यह अजन्मा, शाश्वत, सदा विद्यमान रहने वाला, न मरने वाला तथा सनातन है। इस शरीर का

वध किये जाने पर इसका वध नहीं होता।'' आत्मा क्षय तथा परिवर्तन से मुक्त होने के कारण शाश्वत है, जबकि शरीर में क्षय तथा परिवर्तन होते रहते हैं। वृक्ष तथा उसके फल-फूलों का उदाहरण अत्यन्त सरल एवं स्पष्ट है। वृक्ष अनेकानेक वर्षों तक खड़ा रहता है, किन्तु ऋतु-परिवर्तन के साथ इसके फूलों तथा फलों में छः परिवर्तन होते हैं। आधुनिक रसायनविदों का मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त कि जीवन रासायनिक अन्तक्रियाओं से उत्पन्न किया जा सकता है सच नहीं माना जा सकता। मनुष्य के भौतिक शरीर का जन्म शुक्र तथा रज के मिश्रण से होता है, किन्तु जन्म का इतिहास तो यह है कि कभी-कभी मैथुन के बाद रज तथा वीर्य के मिलने के बाद भी गर्भधारण नहीं होता। जब तक इस मिश्रण में आत्मा प्रवेश नहीं करता तब तक गर्भधारण की सम्भावना नहीं रहती, किन्तु मिश्रण में आत्मा का आश्रय मिलते ही शरीर का जन्म होता है, उसका अस्तित्व होता है, वह बढ़ता है, रूपान्तरित होता है, क्षीण होता है और अन्त में विनष्ट हो जाता है। वृक्ष में फल-फूल तो ऋतुओं के अनुसार आते-जाते रहते हैं, किन्तु वृक्ष खड़ा रहता है। इसी प्रकार देहान्तरशील जीव विविध शरीर स्वीकार करते हैं जिनमें छः परिवर्तन होते हैं, किन्तु आत्मा स्थायी रूप से वैसे का वैसा ही रहता है (*अजो नित्यः शाश्वतोऽयंपुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे*)। आत्मा शाश्वत है तथा सदा विद्यमान रहता है, किन्तु आत्मा द्वारा ग्रहीत शरीर बदलते रहते हैं।

आत्मा के दो प्रकार हैं—परमात्मा (भगवान्) तथा जीवात्मा (जीव)। जिस तरह जीवात्मा में विविध शारीरिक परिवर्तन होते रहते हैं उसी तरह परमात्मा में सृष्टि के विभिन्न कल्प घटित होते हैं। इस सम्बन्ध में मध्वाचार्य कहते हैं—

षड् विकाराः शरीरस्य न विष्णोस्तद्गतस्य च।

तदधीनं शरीरं च ज्ञात्वा तन् ममतां त्यजेत्॥

चूँकि शरीर आत्मा का बाह्य रूप है अतएव आत्मा शरीर पर आश्रित नहीं है, प्रत्युत शरीर आत्मा पर आश्रित है। जो इस सत्य को समझता है, वह अपने शरीर के पोषण के प्रति अधिक चिन्तित नहीं होता। शरीर को स्थायी रूप या शाश्वत रूप से धारण किये रहने की कोई सम्भावना नहीं है। *अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।* यह *भगवद्गीता* (२.१८) का कथन है। भौतिक शरीर अन्तवन्त (नाशवान) है, किन्तु शरीर के भीतर का आत्मा शाश्वत है (*नित्यस्योक्ताः शरीरिणः*)। भगवान् विष्णु

तथा उनके अंश रूप सारे जीव शाश्वत हैं। *नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।* भगवान् विष्णु मुख्य जीव हैं जबकि व्यक्तिगत जीव भगवान् विष्णु के अंश हैं। शरीर की सभी कोटियाँ—विराट् रूप से लेकर क्षुद्र चींटी तक नाशवान हैं, किन्तु परमात्मा तथा आत्मा गुण में एक से होने के कारण नित्य विद्यमान रहते हैं। अगले श्लोक में इसकी अधिक व्याख्या हुई है।

आत्मा नित्योऽव्यय: शुद्ध एक: क्षेत्रज्ञ आश्रय: ।
अविक्रिय: स्वदृग् हेतुर्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृत: ॥ १९ ॥
एतैर्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणै: परै: ।
अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

आत्मा—आत्मा, भगवान् का अंश; नित्य:—जन्म या मृत्यु से रहित; अव्यय:—क्षीण होने की सम्भावना से रहित; शुद्ध:—आसक्ति तथा विरक्ति के भौतिक कल्मष से रहित; एक:—अकेला; क्षेत्र-ज्ञ:—जानने वाला अतएव भौतिक शरीर से पृथक्; आश्रय:—मूल आधार; अविक्रिय:—शरीर की तरह परिवर्तन नहीं होते; स्व-दृक्—आत्म-प्रकाशित; हेतु:—समस्त कारणों के कारण; व्यापक:—चेतना के रूप में सारे शरीर में फैला हुआ; असङ्गी—शरीर पर आश्रित न रहकर (एक शरीर से दूसरे में देहान्तर करने के लिए मुक्त); अनावृत:—भौतिक कल्मष के द्वारा आच्छादित नहीं; एतै:—इन सबों के द्वारा; द्वादशभि:—बारह; विद्वान्—व्यक्ति जो मूर्ख नहीं हैं, अपितु वस्तुओं के यथारूप से परिचित हैं; आत्मन:—आत्मा के; लक्षणै:—लक्षणों से; परै:—दिव्य; अहम्—मैं (मैं यह शरीर हूँ); मम—मेरा (इस शरीर से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु मेरी है); इति—इस प्रकार; असत्-भावम्—जीवन की मिथ्या धारणा; देह-आदौ—अपनी पहचान भौतिक देह से और फिर अपनी पत्नी, सन्तान, परिवार, या जाति, राष्ट्र आदि से करना; मोह-जम्—मोहमय ज्ञान से उत्पन्न; त्यजेत्—त्याग देना चाहिए।.

'आत्मा' परमेश्वर या जीवों का सूचक है। ये दोनों ही आध्यात्मिक हैं, जन्म-मृत्यु से मुक्त हैं तथा क्षय से रहित एवं भौतिक कल्मष से भी मुक्त हैं। ये व्यष्टि हैं, ये बाह्य शरीर के ज्ञाता हैं, प्रत्येक वस्तु के आश्रय या आधार हैं। ये भौतिक परिवर्तन से मुक्त हैं, ये आत्मप्रकाशित हैं, ये समस्त कारणों के कारण हैं तथा सर्वव्यापी हैं। इन्हें भौतिक शरीर से कोई सरोकार नहीं रहता, अतएव ये सदैव अनाकृष्ट रहते हैं। इस दिव्य गुणों से युक्त जो मनुष्य वास्तव में विद्वान है उसे जीवन की भ्रान्त धारणा का परित्याग करना चाहिए जिसमें वह सोचता है "मैं यह भौतिक शरीर हूँ और इस शरीर से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु मेरी है।"

Footnote starts Here:

१.आत्मा के आश्रय बिना भौतिक शरीर का अस्तित्व नहीं हो सकता।

२.जैसाकि पहले बताया जा चुका है वृक्ष में फल-फूल जन्म लेते हैं, लगे रहते हैं, बढ़ते हैं, रूपान्तरित होते हैं, क्षीण होते हैं और ऋतु-परिवर्तन के अनुसार विनष्ट होते हैं, किन्तु इतने सारे

परिवर्तनों के होते हुए भी वृक्ष वैसे का वैसा रहता है। इसी प्रकार आत्मा समस्त परिवर्तनों से मुक्त है।

३.किसी को आत्मा को प्रकट करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, वह स्वयं प्रकट है। मनुष्य सरलता से समझ सकता है कि जीवित शरीर में आत्मा है।

Footnote Ends Here.

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१५.७) में भगवान् कृष्ण स्पष्ट कहते हैं— *ममैवांशो जीवलोके जीवभूत:*— सारे जीव मेरे अंश हैं। अतएव सारे जीव गुणात्मक रूप से भगवान् के ही समान हैं, जो समस्त जीवों के नायक या श्रेष्ठ हैं। वेदों में कहा गया है— *नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*—भगवान् प्रधान जीव हैं, अधीन जीवों के नायक हैं। चूँकि सारे जीव ईश्वर के प्रतिरूप या अंश हैं अतएव उनके गुण परमेश्वर के गुणों से भिन्न नहीं होते। जीवों के गुण भगवान् जैसे होते हैं जिस प्रकार समुद्र की एक बूँद की रासायनिक संरचना स्वयं विशाल समुद्र जैसी होती है। इस तरह गुण में एकत्व किन्तु मात्रा में अन्तर होता है। कोई व्यक्ति नमूने के रूप में जीव को समझकर भगवान् को समझ सकता है क्योंकि ईश्वर के सारे गुण जीवों में सूक्ष्म मात्रा में पाये जाते हैं। वैसे तो एकत्व होता है, किन्तु ईश्वर महान् है, जबकि जीव अत्यन्त क्षुद्र हैं। *अणोरणीयान् महतो महीयान्* (कठोपनिषद् १.२.२०)। सारे जीव परमाणु से भी छोटे हैं किन्तु ईश्वर महानतम से भी महान् है। महानता सम्बन्धी हमारी धारणा को आकाश द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, क्योंकि हम आकाश को असीमरूप से विशाल मानते हैं, किन्तु ईश्वर आकाश से भी विशाल है। इसी प्रकार हमें ज्ञात है कि सारे जीव अणुओं से भी छोटे हैं—आकार में बाल के अगले भाग के दस हजारवें भाग के तुल्य—फिर भी जीव तथा भगवान् दोनों में समस्त कारणों के परम कारण होने का गुण पाया जाता है। निस्सन्देह, जीव की उपस्थिति के कारण ही शरीर का अस्तित्व है और उसमें परिवर्तन होते रहते हैं। इसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड के भीतर परमेश्वर के होने से ही भौतिक नियमों द्वारा नियंत्रित परिवर्तन घटित होते हैं।

एक: शब्द महत्त्वपूर्ण है। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.४) में बताया गया है— *मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थित:।* प्रत्येक वस्तु, चाहे भौतिक हो अथवा आध्यात्मिक, जिसमें पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश तथा जीव सम्मिलित हैं, आत्मा के पद पर स्थित है। यद्यपि प्रत्येक वस्तु भगवान् से

उद्भूत है किन्तु कोई यह न सोचे कि भगवान् किसी अन्य वस्तु पर निर्भर हैं।

ईश्वर तथा जीव दोनों ही पूर्णतया सचेत हैं। जीवों के रूप में हम अपने शारीरिक अस्तित्व के प्रति सचेत हैं। इसी प्रकार भगवान् विराट दृश्य जगत के प्रति सचेत हैं। इसकी पुष्टि वेदों से होती है। *यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरीक्षम्। विज्ञातारम् अधिकेन विजानीयात्। एकमेवाद्वितीयम्। आत्मज्योतिः सम्राड् इहोवाच। स इमान् लोकान् असृजत। सत्यं ज्ञानम् अनन्तम्। असङ्गो ह्ययं पुरुषः। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।* ये सारे वैदिक आदेश सिद्ध करते हैं कि भगवान् तथा लघु आत्मा दोनों व्यष्टि हैं। एक महान् है और दूसरा क्षुद्र किन्तु दोनों ही समस्त कारणों के कारण हैं—शरीर से सीमित किन्तु विश्व की दृष्टि से असीम।

हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि हम गुण में भगवान् के समान हैं किन्तु मात्रा में कभी भी उनके तुल्य नहीं हैं। अल्पज्ञ व्यक्ति अपने आपको गुण में ईश्वर के समान पाकर मूर्खतावश यह सोचने लगते हैं कि मात्रा में भी वे उन्हीं के तुल्य हैं। उनकी बुद्धि *अविशुद्ध बुद्धयः* अर्थात् असंस्कृत या कल्मषग्रस्त बुद्धि कहलाती है। जब ऐसे लोग अनेक जन्मों तक परम कारण को समझने का प्रयास करने के बाद वासुदेव कृष्ण का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं, तो वे उनकी शरण में जाते हैं (*वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः*)। इस प्रकार वे महात्मा बन जाते हैं। यदि कोई इतना भाग्यशाली होता है कि वह ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को समझ लेता है—यह जान लेता है कि ईश्वर महान् हैं (विभु) और आत्मा लघु (अणु) है, तो वह पूर्ण ज्ञान को प्राप्त माना जाता है। जब मनुष्य यह सोचता है कि वह भौतिक शरीर है और शरीर से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु उसकी है, तो वह अंधकार में रहता है। यह *अहं मम* (*जनस्य मोहोऽयमहं ममेति*) है। यह मोह है। उसे अपनी भ्रान्त धारणा त्याग कर हर एक वस्तु से पूर्णतः अवगत हो जाना चाहिए।

स्वर्णं यथा ग्रावसु हेमकारः
क्षेत्रेषु योगैस्तदभिज्ञ आप्नुयात् ।
क्षेत्रेषु देहेषु तथात्मयोगै-
रध्यात्मविद्ब्रह्मगतिं लभेत ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

स्वर्णम्—सोने को; **यथा**—जिस प्रकार; **ग्रावसु**—स्वर्ण खनिज के पत्थरों में; **हेम-कारः**—स्वर्ण के विषय में जानने वाला, विशेषज्ञ; **क्षेत्रेषु**—सोने की खानों में; **योगैः**—विभिन्न विधियों द्वारा; **तत्-अभिज्ञः**—जानकार जो यह जानता है कि सोना कहाँ

है; आप्नुयात्—सरलता से प्राप्त कर लेता है; क्षेत्रेषु—भौतिक खेतों में; देहेषु—मनुष्य शरीरों तथा शेष चौरासी लाख योनियों में; तथा—उसी प्रकार; आत्म-योगैः—आध्यात्मिक विधियों से; अध्यात्म-वित्—आत्मा तथा पदार्थ के अन्तर को समझने में पटु; ब्रह्म-गतिम्—आध्यात्मिक जीवन में सिद्धि; लभेत—प्राप्त कर सकता है।

एक दक्ष भूविज्ञानी समझ सकता है कि सोना कहाँ पर है और वह उसे स्वर्णखनिज में से विविध विधियों द्वारा निकाल सकता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक रूप से अग्रसर व्यक्ति यह समझ सकता है कि शरीर के भीतर किस तरह आध्यात्मिक कण विद्यमान रहते हैं और इस प्रकार आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन द्वारा वह सिद्धि प्राप्त कर सकता है। फिर भी जिस प्रकार एक अनाड़ी यह नहीं समझ पाता कि सोना कहाँ पर है, उसी प्रकार जिस मूर्ख व्यक्ति ने आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन नहीं किया वह यह नहीं समझ सकता कि शरीर के भीतर आत्मा किस तरह विद्यमान रह सकता है।

तात्पर्य : यहाँ पर आध्यात्मिक ज्ञान सम्बन्धी एक बहुत अच्छा उदाहरण दिया गया है। मूर्ख लोग, जिनमें तथाकथित ज्ञानी, दार्शनिक तथा विज्ञानी सम्मिलित हैं, शरीर के भीतर आत्मा के अस्तित्व को नहीं समझ सकते क्योंकि उनमें आध्यात्मिक ज्ञान का अभाव रहता है। वेदों का आदेश है—*तद् विज्ञानार्थं स गुरुम् एवाभिगच्छेत्*—आध्यात्मिक ज्ञान समझने के लिए प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए। जब तक कोई भूगर्भविज्ञान में प्रशिक्षित न हुआ हो, वह पत्थर में सोने की पहचान नहीं कर सकता। इसी प्रकार जब तक कोई मनुष्य गुरु द्वारा प्रशिक्षित नहीं हो जाता वह आत्मा तथा पदार्थ के विषय में कुछ नहीं समझ सकता। यहाँ पर कहा गया है—*योगैस्तद् अभिज्ञः।* इससे सूचित होता है कि जिसका सम्बन्ध आध्यात्मिक ज्ञान से रहता है, वह समझ सकता है कि शरीर के भीतर आध्यात्मिक आत्मा है। किन्तु जिसमें पशु-बुद्धि रहती है और आध्यात्मिक संस्कृति रहती ही नहीं वह इसे नहीं समझ सकता। एक दक्ष खनिजवेत्ता या भूगर्भशास्त्री यह समझ सकता है कि सोना कहाँ-कहाँ है और उसे निकालने के लिए वह धन लगा सकता है, एवं खनिज में से रासायनिक विधि से सोना निकाल लेता है। उसी तरह दक्ष अध्यात्मविद् (तत्त्ववेत्ता) भी समझ सकता है कि पदार्थ के भीतर आत्मा कहाँ है। जिसे प्रशिक्षण प्राप्त नहीं हुआ होता वह सोना तथा पत्थर में अन्तर नहीं बता सकता। इसी प्रकार जिन मूर्खों तथा धूर्तों ने दक्ष गुरु से यह नहीं सीखा कि आत्मा क्या है और पदार्थ क्या है, वह शरीर के भीतर आत्मा के अस्तित्व को नहीं समझ सकता। ऐसे ज्ञान को समझने के लिए उस मनुष्य को योग प्रणाली में या अन्ततः भक्ति योग प्रणाली में प्रशिक्षित होना चाहिए। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५५) में

कहा गया है— *भक्त्या मामभिजानाति।* जब तक कोई भक्तियोग की शरण नहीं ग्रहण करता तब तक वह शरीर के भीतर आत्मा के अस्तित्व को नहीं समझ सकता, अतएव *भगवद्गीता* (२.१३) निम्नलिखित शिक्षा सिखाने से प्रारम्भ होती है—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

"जिस प्रकार इस शरीर में देहधारी आत्मा निरन्तर बचपन से युवावस्था में फिर वृद्धावस्था में जाता है उसी प्रकार आत्मा मृत्यु के समय दूसरे शरीर में चला जाता है। स्वरूपसिद्ध जीव ऐसे परिवर्तन से मोहग्रस्त नहीं होता।" इस प्रकार पहला उपदेश है कि शरीर के भीतर आत्मा रहता है और एक शरीर से दूसरे में देहान्तर करता रहता है। आध्यात्मिक ज्ञान का यह शुभारम्भ है। जो व्यक्ति इस ज्ञान को समझने में दक्ष नहीं होता अथवा इसे समझने की परवाह नहीं करता वह देहात्मबुद्धि में पाशविक जीवन की विचारधारा में पड़ा रहता है, जिसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* में की गई है (*यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके...स एव गोखरः*)। मानव समाज के प्रत्येक व्यक्ति को *भगवद्गीता* के उपदेशों को समझा चाहिए क्योंकि यही एक साधन है, जिससे कोई आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है और स्वतः इस मिथ्या भ्रामक ज्ञान को त्याग सकता है, जिसके कारण वह सोचता है "मैं यह शरीर हूँ और इस शरीर से सम्बन्धित सारी वस्तुएँ मेरी हैं (*अहं ममेति*)।" कूकरों की सी इस धारणा को अविलम्ब त्यागना होगा। मनुष्य को आत्मा तथा परमात्मा या ईश्वर को समझने के लिए तैयार रहना चाहिए, क्योंकि ये परम्परा सम्बन्धित हैं। इस प्रकार जीवन की समस्याएँ हल करके मनुष्य भगवद्धाम वापस जा सकता है।

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्तास्त्रय एव हि तद्गुणाः ।
विकाराः षोडशाचार्यैः पुमानेकः समन्वयात् ॥ २२॥

शब्दार्थ

अष्टौ—आठ; प्रकृतयः—भौतिक शक्तियाँ; प्रोक्ताः—कही गयी हैं; त्रयः—तीन; एव—निश्चय ही; हि—निश्चित; तत्-गुणाः—भौतिक शक्ति के गुण; विकाराः—रूपान्तर, दोष; षोडश—सोलह; आचार्यैः—अधिकारियों द्वारा; पुमान्—जीव; एकः—एक; समन्वयात्—समन्वय से।

भगवान् की आठ भिन्न भौतिक शक्तियों, प्रकृति के तीन गुणों तथा सोलह विकारों (ग्यारह इन्द्रियों तथा पाँच स्थूल तत्त्व यथा पृथ्वी तथा जल) के अन्तर्गत एक ही आत्मा साक्षी के रूप में

विद्यमान रहता है। अतएव सारे महान् आचार्यों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि आत्मा इन्हीं भौतिक तत्त्वों द्वारा बद्ध है।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोक में बताया जा चुका है—*क्षेत्रेषु देहेषु तथात्मयोगैरध्यात्मविद् ब्रह्मगतिं लभेत*—आध्यात्मिक रूप से अग्रसर व्यक्ति यह समझ सकता है कि शरीर के भीतर किस तरह आध्यात्मिक कण विद्यमान रहते हैं और इस प्रकार आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन द्वारा वह सिद्धि प्राप्त कर सकता है। जो बुद्धिमान पुरुष शरीर के भीतर आत्मा का अनुसन्धान करने में पटु है उसे उन आठ बहिरंगा शक्तियों को समझना चाहिए जो *भगवद्गीता* (७.४) में सूचीबद्ध हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

"भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार—ये आठों मेरी भिन्न भौतिक शक्तियाँ हैं। *भूमि* में सारे इन्द्रियबोध के विषय सम्मिलित हैं—रूप, रस, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श। गुलाब की सुगंध, मीठे फल का स्वाद तथा अन्य जो कुछ हम चाहते हैं, वह सब भूमि के ही अन्तर्गत आता है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.१०.४) में कहा गया है—*सर्वकामदुघा मही*—पृथ्वी (मही) में हमारी सारी आवश्यक वस्तुएँ हैं। इस प्रकार *भूमि* या पृथ्वी में सारे इन्द्रियबोध के विषय हैं। स्थूल भौतिक तत्त्व तथा सूक्ष्मतत्त्व (मन, बुद्धि तथा अहंकार) मिलकर सम्पूर्ण भौतिक शक्ति बनाते हैं।

इसी सम्पूर्ण भौतिक शक्ति में तीन गुण हैं। ये हैं—सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण। ये आत्मा से नहीं, अपितु भौतिक शक्ति से सम्बद्ध हैं। इन्हीं तीन तत्त्वों की अन्योन्य क्रिया से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा उनका नियंत्रक मन प्रकट होते हैं। तब इन गुणों के अनुसार जीवात्मा विभिन्न प्रकार के कर्मों को विभिन्न प्रकार के ज्ञान, विचार, अनुभूति तथा इच्छा से सम्पन्न करने का अवसर प्राप्त करता है। इस प्रकार शारीरिक यंत्र कार्य करना प्रारम्भ करता है।

इसका समुचित विश्लेषण बड़े-बड़े आचार्यों द्वारा, विशेष रूप से देवहूति-पुत्र भगवान् कृष्ण के अवतार कपिल द्वारा, *सांख्य योग* में हुआ है। यहाँ पर इसका संकेत *आचार्यै* शब्द से हुआ है। हमें चाहिए कि जो वैध आचार्य न हो उसका अनुगमन न करें। *आचार्यवान् पुरुषो वेद*—दक्ष आचार्य की शरण ग्रहण करने पर ही सत्य को पूरी तरह समझा जा सकता है।

जीव अकेला है लेकिन शरीर कई भौतिक तत्त्वों का संघटन है। इसकी पुष्टि इस तथ्य से होती है कि ज्योंही जीव भौतिक तत्त्वों के इस संघटन को छोड़ देता है त्योंही वह पदार्थ का निरा संघट्ट बन जाता है। गुणात्मक रूप से पदार्थ एक है और आत्मा भी परमात्मा के साथ एक है। परमात्मा एक है तथा आत्मा (जीव) भी एक है, किन्तु आत्मा को व्यष्टि भौतिक शक्ति के संयोग का नियन्ता माना जाता है, जबकि परमेश्वर समग्र भौतिक शक्ति का नियंत्रक है। जीव अपने शरीर विशेष का स्वामी है और अपने कर्मों के अनुसार विविध सुख-दुख भोगता है, किन्तु परम पुरुष परमात्मा यद्यपि एक है, किन्तु वह विभिन्न शरीरों में व्यष्टि के रूप में उपस्थित है।

भौतिक शक्ति वस्तुतः चौबीस तत्त्वों में विभाजित है। आत्मा अथवा शरीर का स्वामी पच्चीसवाँ तत्त्व है और इन सबों के ऊपर परमात्मा रूप में भगवान् विष्णु हैं, जो छब्बीसवें तत्त्व हैं। जब कोई इन छब्बीसों तत्त्वों को जान लेता है, तो वह *अध्यात्मवित्* बन जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१३.३) में कहा गया है—*क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानम्*—क्षेत्र (शरीर) तथा आत्मा और परमात्मा मिलकर असली ज्ञान की सृष्टि करते हैं। जब तक मनुष्य यह नहीं समझ लेता कि आत्मा से भगवान् का नित्य सम्बन्ध है तब तक उसका ज्ञान अधूरा रहता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१९) में हुई है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

"अनेक जन्मों तथा मृत्युओं के बाद जो वास्तव में ज्ञानी है, वह मुझे समस्त कारणों का कारण जानते हुए मेरी शरण में आता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है।" प्रत्येक वस्तु, चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक, उन वासुदेव की विभिन्न शक्तियों से युक्त है जिनके अधीन आत्मा है, जो परमेश्वर का ही अंश है। इस पूर्ण ज्ञान को समझ लेने पर मनुष्य भगवान् की शरण ग्रहण करता है (*वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः*)।

देहस्तु सर्वसङ्घातो जगत्तस्थुरिति द्विधा ।
अत्रैव मृग्यः पुरुषो नेति नेतीत्यतत्त्यजन् ॥ २३॥

शब्दार्थ

देहः—शरीर; तु—लेकिन; सर्व-सङ्घातः—चौबीसों तत्त्वों का मेल; जगत्—चलायमान दिखने वाला चर; तस्थुः—तथा एक स्थान पर खड़ा, अचर; इति—इस प्रकार; द्विधा—दो प्रकार; अत्र एव—इस पदार्थ में; मृग्यः—खोजा जाना चाहिए; पुरुषः—

जीव, आत्मा; न—नहीं; इति—इस प्रकार; न—नहीं; इति—इस प्रकार; इति—इस प्रकार; अतत्—जो आत्मा नहीं है; त्यजन्—त्यागते हुए।

प्रत्येक जीवात्मा के दो प्रकार के शरीर होते हैं—पाँच स्थूल तत्त्वों से बना स्थूल शरीर तथा तीन सूक्ष्म तत्त्वों से बना सूक्ष्म शरीर। किन्तु इन्हीं शरीरों में आत्मा है। मनुष्य को चाहिए कि वह "यह नहीं है, यह नहीं है," कहकर विश्लेषण द्वारा आत्मा का अनुसन्धान करे। इस तरह उसे आत्मा को पदार्थ से पृथक् कर लेना चाहिए।

तात्पर्य : जैसाकि पहले कहा गया है—*स्वर्णं यथा ग्रावसु हेमकार: क्षेत्रेषु योगैस्तदभिज्ञ आप्नुयात्।* जो मिट्टी के अध्ययन में दक्ष हैं वह ज्ञात कर लेता है कि सोना कहाँ पर है और फिर वहीं खोदता है। तब वह पत्थर का विश्लेषण कर सकता है और सोने की परीक्षा नाइट्रिक अम्ल से कर सकता है। इसी प्रकार शरीर के भीतर आत्मा ढूँढने के लिए मनुष्य को सारे शरीर का विश्लेषण करना चाहिए। अपने शरीर का विश्लेषण करते समय मनुष्य को अपने आपसे यह पूछना चाहिए कि क्या उसका सिर आत्मा है, क्या उसकी अँगुलियाँ आत्मा हैं, क्या हाथ आत्मा हैं, आदि-आदि। इस प्रकार उसे एक-एक करके सारे भौतिक तत्त्वों एवं शरीर में इन तत्त्वों के मेलों को नकार देना चाहिए। तब यदि कोई पटु है और आचार्य का अनुगमन करता है, तो वह समझ सकता है कि वह शरीर के भीतर रहने वाला आत्मा है। *भगवद्गीता* (२.१३) में सर्वोच्च आचार्य कृष्ण अपनी शिक्षाएँ इस प्रकार प्रारम्भ करते हैं—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

"जिस तरह इस शरीर में देहधारी आत्मा निरन्तर बचपन से युवावस्था में और फिर वृद्धावस्था में जाता है उसी प्रकार मृत्यु के समय आत्मा दूसरे शरीर में चला जाता है। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति ऐसे परिवर्तन से मोहग्रस्त नहीं होता।" आत्मा के शरीर होता है और वह शरीर के भीतर रहता है। यही असली विश्लेषण है। आत्मा कभी शारीरिक तत्त्वों में मिल नहीं पाता। यद्यपि आत्मा शरीर के भीतर रहता है, किन्तु यह पृथक् और सदैव शुद्ध रहने वाला है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपना विश्लेषण करे और अपने आपको समझे। यही आत्म-साक्षात्कार है। *नेति-नेति* पदार्थ को नकारने की विश्लेषण विधि है। मनुष्य को चाहिए कि दक्षतापूर्वक ऐसा विश्लेषण करके यह समझे कि आत्मा कहाँ है। किन्तु जो दक्ष नहीं है, वह न तो सोना तथा मिट्टी में अन्तर कर सकता है, न ही शरीर तथा आत्मा में।

अन्वयव्यतिरेकेण विवेकेनोशतात्मना ।
स्वर्गस्थानसमाम्नायैर्विमृशद्भिरसत्वरैः ॥ २४॥

शब्दार्थ

अन्वय—प्रत्यक्षत:; व्यतिरेकेण—तथा अप्रत्यक्ष रूप से; विवेकेन—प्रौढ़ विवेकता; उशता—शुद्ध हुआ; आत्मना—मन से; स्वर्ग—सृष्टि; स्थान—पालन; समाम्नायैः—तथा विनाश द्वारा; विमृशद्भिः—गम्भीर विश्लेषण करने वालों के द्वारा; असत्-वरैः—अत्यन्त धीर।

धीर तथा दक्ष पुरुषों को चाहिए कि आत्मा का अनुसन्धान वैश्लेषिक अध्ययन के द्वारा शुद्ध हुए मनों से करें जो सृष्टि, पालन तथा संहार होने वाली सारी वस्तुओं से आत्मा के सम्बन्ध तथा अन्तर के रूप में किया गया हो।

तात्पर्य : धीर व्यक्ति वैश्लेषिक अध्ययन द्वारा स्वयं ही शरीर तथा आत्मा के अन्तर को जान सकता है। उदाहरणार्थ, जो व्यक्ति अपने शरीर में अपने हाथ, सिर इत्यादि पर विचार करता है, वह निश्चय ही आत्मा तथा शरीर के अन्तर को समझ सकता है। कोई यह नहीं कहता "मैं सिर हूँ।" सभी यह कहते हैं "मेरा सिर।" अतएव दो संज्ञाएँ हैं—'सिर तथा मैं।' वे एक नहीं हैं, यद्यपि वे एक संघट्ट प्रतीत होते हैं।

कोई यह तर्क कर सकता है "जब हम शरीर का विश्लेषण करते हैं, तो उसमें हमें सिर, हाथ, पाँव, पेट, रक्त, अस्थियाँ, मूत्र, मल इत्यादि मिलते हैं किन्तु जब सबों पर विचार हो चुका होता है, तो फिर आत्मा कहाँ है?" किन्तु गम्भीर मनुष्य इस वैदिक उपदेश का लाभ उठाता है।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति। (तैत्तिरीय उपनिषद् ३.१.१)

इस प्रकार वह समझ सकता है कि सिर, हाथ तथा पूरा शरीर आत्मा के आधार पर बड़ा हुआ है। यदि आत्मा भीतर है, तो शरीर, सिर, हाथ, पैर बढ़ते हैं, अन्यथा नहीं। मृत बालक नहीं बढ़ता क्योंकि उसमें आत्मा विद्यमान नहीं है। यदि शरीर के सतर्क विश्लेषण के बाद भी किसी को आत्मा का अस्तित्व न दिखे, तो यह अज्ञान ही है। भला भौतिकतावादी कार्यकलापों में पूरी तरह संलग्न व्यक्ति किस प्रकार उस आत्मा को समझ सकता है, जो एक बाल के अगले भाग के दस हजारवें भाग जितना छोटा है? ऐसा व्यक्ति मूर्खतावश सोचता है कि भौतिक शरीर रसायनों के मेल से बड़ा हुआ है, यद्यपि वह इन तत्त्वों को ढूँढ़ नहीं पाता। किन्तु वेद हमें बताते हैं कि रासायनिक मेल से प्राण नहीं बनता;

प्राण तो आत्मा तथा परमात्मा है और शरीर उसी प्राण के ही आधार पर बढ़ता है। वृक्ष में लगा फल वृक्ष की उपस्थिति के कारण ही बढ़ता है और उसमें छह प्रकार के परिवर्तन होते हैं। यदि वृक्ष न हो तो फल के बढ़ने तथा परिपक्व होने का प्रश्न ही न उठे। अतएव शरीर के अस्तित्व के परे शरीर के भीतर परमात्मा तथा आत्मा है। *भगवद्गीता* में बताये गये आध्यात्मिक ज्ञान की यह पहली जानकारी है। *देहिनोऽस्मिन् यथा देहे*—शरीर का अस्तित्व परमेश्वर तथा उन्हीं के अंशस्वरूप जीव की उपस्थिति के कारण होता है। इसकी आगे व्याख्या *भगवद्गीता* (९.४) में स्वयं भगवान् ने की है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

"यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मेरे अव्यक्त रूप से व्याप्त है। सारे जीव मुझमें हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।" परमात्मा सर्वत्र उपस्थित है। वेदों का आदेश है—*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—प्रत्येक वस्तु ब्रह्म है या कि ब्रह्म की शक्ति का विस्तार है। *सूत्रे मणिगणा इव*—प्रत्येक वस्तु भगवान् पर अवलम्बित है, जिस प्रकार मोती सूत्र द्वारा गूँथे रहते हैं। यह सूत्र प्रधान ब्रह्म है। यह परम कारण परमेश्वर है, जिस पर प्रत्येक वस्तु आधारित है (*मत्तः परतरं नान्यत*)। इस प्रकार हमें चाहिए कि आत्मा तथा परमात्मा का अध्ययन करें जिस पर यह सारा भौतिक विराट् जगत आश्रित है। इसकी व्याख्या इस वैदिक कथन से हो जाती है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।

बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति वृत्तयः ।
ता येनैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः ॥ २५॥

शब्दार्थ

बुद्धेः—बुद्धि का; जागरणम्—जागरण या स्थूल इन्द्रियों की सक्रिय अवस्था; स्वप्नः—स्वप्न (स्थूल शरीर के बिना ही इन्द्रियों की सक्रियता); सुषुप्तिः—प्रगाढ़, निद्रा या सारे कार्यकलापों का बन्द होना (यद्यपि जीव दर्शक होता है); इति—इस प्रकार; वृत्तयः—विभिन्न कार्यकलाप; ताः—वे; येन—जिससे; एव—निस्सन्देह; अनुभूयन्ते—अनुभव किये जाते हैं; सः—वह; अध्यक्षः—साक्षी (जो कार्यकलापों से भिन्न है); पुरुषः—भोक्ता; परः—दिव्य।

सक्रियता की तीन अवस्थाओं (वृत्तियों) में बुद्धि की अनुभूति की जा सकती है—जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति। जो व्यक्ति इन तीनों का अनुभव करता है उसे ही मूल स्वामी या शासक, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् माना जाना चाहिए।

तात्पर्य : बुद्धि के बिना न तो कोई इन्द्रियों के प्रत्यक्ष कार्यकलापों को समझ सकता है, न स्वप्न

को और न समस्त स्थूल तथा सूक्ष्म कार्यकलापों की समाप्ति को समझ सकता है। साक्षी तथा नियन्ता तो परमात्मा है, जिसके निर्देश से आत्मा जाग्रत, सुप्त तथा सुषुप्त अवस्था में समझ सकता है। भगवान् *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहते हैं—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—मैं सबों के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति प्राप्त होती है। सारे जीव अपनी बुद्धि के कारण जाग्रत, सुप्त तथा सुषुप्त इन तीन अवस्थाओं में लीन रहते हैं। यह बुद्धि उन भगवान् द्वारा प्रदत्त होती है, जो मित्र के रूप में आत्मा के साथ रहते हैं। श्रील मध्वाचार्य कहते हैं कि जब जीव की बुद्धि सुख-दुख को कार्यकलापों के ऊपर अनुभव करके सक्रिय होती है, तो कभी-कभी उसे *सत्त्व बुद्धि* कहा जाता है। स्वप्न की अवस्था में भगवान् से ही ज्ञान प्राप्त होता है (*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*)। भगवान् या परमात्मा परम नियन्ता हैं और सारे उपनिदेशक उन्हीं के निर्देशन में हैं। मनुष्य को चाहिए कि अपनी बुद्धि से भगवान् को समझे।

एभिस्त्रिवर्णैः पर्यस्तैर्बुद्धिभेदैः क्रियोद्भवैः ।
स्वरूपमात्मनो बुध्येद्गन्धैर्वायुमिवान्वयात् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एभिः—इन; त्रि-वर्णैः—तीन गुणों के द्वारा निर्मित; पर्यस्तैः—पूर्णतया तिरस्कृत (प्राण का स्पर्श न करने से); बुद्धि—बुद्धि के; भेदैः—प्रकारों से; क्रिया-उद्भवैः—विभिन्न कार्यकलापों से उत्पन्न; स्वरूपम्—स्वाभाविक स्थिति; आत्मनः—आत्मा की; बुध्येत्—समझना चाहिए; गन्धैः—गन्ध से; वायुम्—वायु को; इव—ठीक उसी तरह; अन्वयात्—घनिष्ठ सम्बन्ध से।

जिस प्रकार वायु की उपस्थिति उसके द्वारा ले जाई जाने वाली सुगन्धियों के द्वारा जानी जाती है उसी तरह भगवान् के निर्देशन में मनुष्य बुद्धि के इन तीन विभागों द्वारा जीवात्मा को समझ सकता है। किन्तु ये तीन विभाग आत्मा नहीं हैं, वे तीन गुणों से बने होते हैं और क्रियाओं से उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि पहले बताया जा चुका है, हमारे अस्तित्व की तीन अवस्थाएँ हैं—जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति। इन तीनों अवस्थाओं में हमारे अनुभव भिन्न-भिन्न होते हैं। इस तरह आत्मा इन तीनों अवस्थाओं का साक्षी है। वास्तव में शरीर की क्रियाएँ आत्मा की क्रियाएँ नहीं हैं। आत्मा शरीर से पृथक् है। जिस प्रकार सुगन्ध उस भौतिक माध्यम से भिन्न होती है, जिस में उसे ले जाया जाता है उसी प्रकार आत्मा भौतिक क्रियाओं से अनासक्त रहता है। ऐसा विश्लेषण वही कर सकता है, जो परमेश्वर के चरणकमलों में शरणागत है। इसकी पुष्टि इस वैदिक आदेश द्वारा होती है—*यस्मिन् विज्ञाते सर्वमेवं*

विज्ञातं भवति। यदि कोई भगवान् को समझ सकता है, तो वह अन्य बातें स्वत: ही समझ सकता है। भगवान् के चरणारविन्दों की शरण न ग्रहण करने के कारण बड़े-बड़े विद्वान, दार्शनिक, वैज्ञानिक तथा धर्मवेत्ता भी सदैव मोहग्रस्त रहते हैं। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* (१०.२.३२) में हुई है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्

त्वय्यस्तभावाद् अविशुद्धबुद्धय:।

भले ही कोई अपने को भव-कल्मष से मुक्त क्यों न समझे, किन्तु यदि उसने भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं की है, तो उसकी बुद्धि दूषित रहती है। जैसाकि *भगवद्गीता* (३.४२) में कहा गया है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य: परं मन:।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धे: परतस्तु स:॥

इन्द्रियों से ऊपर मन है, मन से ऊपर बुद्धि है और बुद्धि से ऊपर आत्मा है। अन्तत: जब मनुष्य की बुद्धि भक्ति द्वारा शुद्ध हो जाती है, तो वह *बुद्धि योग* में स्थित हो जाता है। इसकी भी व्याख्या *भगवद्गीता* में हुई है (*ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते*)। भक्ति के विकसित होने तथा मनुष्य की बुद्धि शुद्ध होने पर वह अपनी बुद्धि का उपयोग भगवद्धाम वापस जाने में कर सकता है।

एतद्द्वारो हि संसारो गुणकर्मनिबन्धन: ।
अज्ञानमूलोऽपार्थोऽपि पुंस: स्वप्न इवार्प्यते ॥ २७॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; द्वार:—जिसका द्वार; हि—निस्सन्देह; संसार:—भौतिक जगत जिसमें मनुष्य तीन प्रकार के कष्ट पाता है; गुण-कर्म-निबन्धन:—प्रकृति के तीन गुणों द्वारा बन्दी बनना; अज्ञान-मूल:—जिसकी जड़ अज्ञान है; अपार्थ:—निरर्थक; अपि—यद्यपि; पुंस:—जीव का; स्वप्न:—स्वप्न; इव—सदृश; अर्प्यते—रखा जाता है।

दूषित बुद्धि के कारण मनुष्य को प्रकृति के गुणों के अधीन रहना पड़ता है और इस प्रकार वह भवबन्धन में पड़ जाता है। इस संसार को, जिसका कारण अज्ञान है, उसी प्रकार अवांछित तथा नश्वर मानना चाहिए जिस प्रकार स्वप्नावस्था में मनुष्य को झूठे ही कष्ट भोगना पड़ता है।

तात्पर्य : नश्वर जीवन की अवांछित दशा को ही अज्ञान कहते हैं। मनुष्य यह आसानी से समझ सकता है कि भौतिक देह नश्वर है, क्योंकि यह एक निश्चित तिथि पर सृजित होती है और जन्म, मृत्यु, वृद्धि, पालन, रूपान्तरण तथा क्षय इन छ: अवस्थाओं को पार करके निश्चित तिथि पर इसका अन्त हो

जाता है। शाश्वत आत्मा की यह दशा उसके अज्ञान के कारण है और यद्यपि यह नश्वर है तथापि यह अवांछित है। अज्ञान के ही कारण मनुष्य को एक नश्वर शरीर के बाद दूसरे में रखा जाता है। किन्तु आत्मा को ऐसे नश्वर शरीर में प्रविष्ट होने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह अपने अज्ञान के कारण या कृष्ण को विस्मृत करने के कारण ही ऐसा करता है। अतएव इस मानव जीवन में, जिसमें बुद्धि विकसित रहती है, मनुष्य को चाहिए कि वह कृष्ण को समझने का प्रयास करते हुए अपनी भावना को बदले। तभी वह मुक्त हो सकेगा। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.९) में हुई है जहाँ भगवान् कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो मेरे आविर्भाव तथा कर्म की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह इस शरीर को त्यागने के बाद पुन: इस संसार में जन्म नहीं लेता अपितु मेरे नित्य धाम को प्राप्त करता है।" जब तक मनुष्य कृष्ण को समझता नहीं और कृष्णभावनामृत को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक वह भव-बन्धन में पड़ा रहता है। इस बद्ध जीवन को समाप्त करने के लिए उसे *भगवान्* की शरण ग्रहण करनी चाहिए। निस्सन्देह, भगवान् यही चाहते हैं—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।*

जैसाकि महाराज ऋषभदेव ने उपदेश दिया है—*न साधु मन्ये यत आत्मनोऽयमसन्नपि क्लेशद आस देह:।* मनुष्य को इतना समझदार तो होना ही चाहिए कि वह यह समझे कि यद्यपि यह शरीर नश्वर है और बहुत काल तक नहीं रहेगा, किन्तु जब तक यह शरीर है तब तक कष्ट भोगना होगा। अतएव यदि वह अच्छी संगति से किसी प्रामाणिक गुरु के उपदेशों से कृष्णभावनामृत ग्रहण कर ले तो उसके बद्ध जीवन का अन्त हो सकता है और उसकी मूल भावना, जो कि कृष्णभावनामृत कहलाती है, पुन: जागृत हो सकती है। जब कोई कृष्णभावनाभावित होता है, तो वह समझ सकता है कि यह जीवन, चाहे जाग्रत अवस्था में हो या स्वप्न अवस्था में हो, स्वप्नवत् ही रहता है और उसका वास्तविक महत्त्व नहीं रहता। यह अनुभूति भगवान् की कृपा से सम्भव है। यह कृपा *भगवद्गीता* के उपदेशों के रूप में उपलब्ध है। अतएव हर एक के लिए श्री चैतन्य महाप्रभु का सन्देश है कि वह मानव समाज के हर एक मूर्ख व्यक्ति को जाग्रत करने के लिए कल्याण कार्यों में लग जाये जिससे वह भी कृष्णभावनामृत पद को प्राप्त कर सके और बद्ध जीवन से मुक्ति-लाभ कर सके।

इस सम्बन्ध में श्री मध्वाचार्य ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं—

दु:खरूपोऽपि संसारो बुद्धिपूर्वम् अवाप्यते।

यथा स्वप्ने शिरश्छेदं स्वयं कृत्वात्मनो वश: ॥

ततो दु:खमवाप्येत तथा जागरितोऽपि तु।

जानन्नप्यात्मनो दु:खमवशस्तु प्रवर्तते ॥

मनुष्य को समझना चाहिए कि भौतिक जीवन दुखों से पूर्ण है, इसे शुद्ध बुद्धि द्वारा ही समझा जा सकता है। जब मनुष्य की बुद्धि शुद्ध होती है, तो वह यह समझ सकता है कि अवांछित नश्वर भौतिक जीवन स्वप्नतुल्य है। जिस प्रकार स्वप्न में सिर काटे जाने पर मनुष्य को पीड़ा का अनुभव होता है, उसी प्रकार अज्ञान में वह न केवल स्वप्न में, अपितु जाग्रत अवस्था में भी कष्ट पाता है। भगवान् की कृपा बिना वह अज्ञान में पड़ा रहता है और नाना प्रकार के भौतिक कष्टों को भोगता है।

तस्माद्भवद्भि: कर्तव्यं कर्मणां त्रिगुणात्मनाम् ।
बीजनिर्हरणं योग: प्रवाहोपरमो धिय: ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; भवद्भि:—तुम लोगों द्वारा; कर्तव्यम्—करणीय; कर्मणाम्—सारे भौतिक कार्यकलापों का; त्रि-गुण-आत्मनाम्—प्रकृति के तीन गुणों द्वारा; बीज-निर्हरणम्—बीज का जलना; योग:—परमेश्वर से जुड़ने की विधि; प्रवाह—जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति के रूप में निरन्तर धारा की; उपरम:—समाप्ति; धिय:—बुद्धि का।

अतएव हे मित्रो, हे असुर पुत्रो, तुम्हारा कर्तव्य है कि कृष्णभावनामृत को ग्रहण करो जो प्रकृति के गुणों द्वारा कृत्रिम रूप से उत्पन्न सकाम कर्मों के बीज को जला सकता है और जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्त अवस्था में बुद्धि के प्रवाह को रोक सकता है। दूसरे शब्दों में, कृष्णभावनामृत ग्रहण करने पर मनुष्य का अज्ञान तुरन्त विनष्ट हो जाता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१४.२६) में पुष्टि की गई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

''जो पूर्ण भक्ति में लगा रहता है, जो किसी भी परिस्थिति में च्युत नहीं होता वह तुरन्त ही प्रकृति के गुणों को पार करके ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।'' भक्तियोग कि अभ्यास द्वारा मनुष्य तुरन्त ही आध्यात्मिक पद को प्राप्त होता है, जो प्रकृति के तीन गुणों के कार्य-कारणों से परे है। अज्ञान की जड़

भौतिक चेतना है, जिसे आध्यात्मिक चेतना या कृष्णभावनामृत द्वारा काटा जा सकता है। *बीजनिर्हरणम्* शब्द भौतिक जीवन के मूल कारण को भस्मसात करने को बताता है। *मेदिनी कोश* में मोह की परिभाषा उसके फल के रूप में दी गई है—*योगेऽपूर्वार्थसम्प्राप्तौ सङ्गतिध्यानयुक्तिषु।* जब कोई अज्ञान के कारण विषम परिस्थिति में फँस जाता है, तो वह जिस विधि से इससे मुक्त हो पाता है, वह योग है। इसे ही मुक्ति भी कहते हैं। *मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।* *मुक्ति* का अर्थ है अज्ञान या मोह की उस स्थिति का परित्याग जिससे वह अपनी स्वाभाविक स्थिति के विपरीत सोचता है। अपनी स्वाभाविक स्थिति में लौट आने को *मुक्ति* कहते हैं और जिस विधि से यह किया जाता है, वह *योग* है। इस प्रकार योग कर्म, ज्ञान तथा सांख्य से बढ़कर है। निस्सन्देह, योग जीवन का चरम लक्ष्य है इसीलिए कृष्ण ने अर्जुन को सलाह दी कि वह योगी बन जाये (*तस्माद् योगी भवार्जुन*)। भगवान् कृष्ण ने आगे भी *भगवद्गीता* (६.४७) में उपदेश दिया है कि उच्च श्रेणी का योगी वह है, जिसने भक्ति का पद प्राप्त कर लिया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्तमो मतः॥

"समस्त योगियों में जो योगी अत्यन्त श्रद्धापूर्वक दिव्य प्रेमाभक्ति में मेरी पूजा करते हुए सदैव मुझी में लगा रहता है, वह मुझसे योग द्वारा घनिष्ठतापूर्वक जुड़ा रहता है और सबों में श्रेष्ठ होता है।" अतएव जो व्यक्ति अपने हृदय में कृष्ण का सदैव चिन्तन करता है, वह *सर्वश्रेष्ठ* योगी है। इस सर्वश्रेष्ठ योग प्रणाली का अभ्यास करके वह भौतिक दशा से मुक्त हो जाता है।

तत्रोपायसहस्त्राणामयं भगवतोदितः ।
यदीश्वरे भगवति यथा यैरञ्जसा रतिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तत्र—उस सम्बन्ध में (भवबन्धन से छूटने में); उपाय—विधियों में; सहस्त्राणाम्—हजारों; अयम्—यह; भगवता उदितः—भगवान् द्वारा प्रदत्त; यत्—जो; ईश्वरे—ईश्वर में; भगवति—भगवान् में; यथा—जिस प्रकार; यैः—जिसके द्वारा; अञ्जसा—तेजी से; रतिः—प्रेम तथा स्नेह से आसक्ति।

भौतिक जीवन से छूटने के लिए जितनी विधियाँ संस्तुत हैं उनमें से उस एक को जिसे स्वयं भगवान् ने बताया है और स्वीकार किया है, सभी तरह से पूर्ण समझना चाहिए। वह विधि है कर्तव्य का सम्पन्न किया जाना जिससे परमेश्वर के प्रति प्रेम विकसित होता है।

तात्पर्य : उन अनेक योग विधियों में से जो मनुष्य को भव-कल्मष के बन्धन से ऊपर उठाती हैं उस एक विधि को जिसे भगवान् ने संस्तुत किया है सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिए। यह विधि *भगवद्गीता* में स्पष्टत: बतलाई गई है जहाँ भगवान् कहते हैं—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—सारे धर्मों को त्याग कर केवल मेरी शरण ग्रहण करो। यह विधि सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि भगवान् आश्वस्त करते हैं—*अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच:*—मैं तुम्हें सारे पापों से मुक्त कर दूँगा, तुम डरो मत। चिन्ता करने की कोई बात नहीं है, क्योंकि स्वयं भगवान् आश्वस्त कर रहे हैं कि वे अपने भक्त की रखवाली करेंगे और उसे पापकर्मों के फलों से बचा लेंगे। भवबन्धन पापकर्मों का ही फल है। इसलिए चूँकि भगवान् आश्वस्त कर रहे हैं कि वे सकाम कर्मों के फलों को दूर कर देंगे, अतएव चिन्ता करने की कोई बात नहीं है। इसीलिए आत्मा के रूप में अपनी स्थिति को समझने तथा अपने को भक्ति में लगाने की विधि सर्वोत्तम है। सम्पूर्ण वैदिक कार्यक्रम इसी सिद्धान्त पर टिका है और मनुष्य इसे वेदों में संस्तुत की गई विधि से समझ सकता है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था: प्रकाशन्ते महात्मन: ॥

''जो महापुरुष भगवान् तथा गुरु दोनों पर गूढ़ श्रद्धा रखते हैं उन्हें वैदिक ज्ञान का सारा आशय स्वत: प्रकट हो जाता है।'' (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.२३) मनुष्य को चाहिए कि ईश्वर के प्रतिनिधि स्वरूप शुद्ध भक्त को अपना गुरु मान ले और उसे भगवान् के ही समान आदर प्रदान करे। यही सफलता का रहस्य है। जो इस विधि को ग्रहण करता है उसे पूरी विधि ज्ञात हो जाती है। इस श्लोक में *यैरञ्जसा रति:* शब्द यह बताते हैं कि गुरु की सेवा करने तथा उसकी शरण ग्रहण करने से मनुष्य को भक्ति प्राप्त होती है और भक्ति करने से वह धीरे-धीरे भगवान् में आसक्त हो जाता है। भगवान् के प्रति इस आसक्ति के कारण वह भगवान् को समझ सकता है। दूसरे शब्दों में, वह यह समझ सकता है कि भगवान् की स्थिति क्या है, हमारी स्थिति क्या है और हमारा सम्बन्ध क्या है? भक्तियोग की सरल विधि द्वारा यह सब सरलता से समझा जा सकता है। ज्योंही मनुष्य भक्तियोग पद को प्राप्त होता है त्योंहि उसके कष्ट तथा उसके भव-बन्धन का मूल कारण नष्ट हो जाता हैं। इसकी स्पष्ट व्याख्या अगले श्लोक में की गई है, जो सफलता के रहस्य को बताता है।

गुरुशुश्रूषया भक्त्या सर्वलब्धार्पणेन च ।
सङ्गेन साधुभक्तानामीश्वराराधनेन च ॥ ३० ॥
श्रद्धया तत्कथायां च कीर्तनैर्गुणकर्मणाम् ।
तत्पादाम्बुरुहध्यानात्तल्लिङ्गेक्षार्हणादिभिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

गुरु-शुश्रूषया—प्रामाणिक गुरु की सेवा द्वारा; भक्त्या—श्रद्धा तथा भक्ति से; सर्व—समस्त; लब्ध—भौतिक लाभों के; अर्पणेन—अर्पण से (गुरु को या गुरु के माध्यम से कृष्ण को); च—तथा; सङ्गेन—संगति से; साधु-भक्तानाम्—भक्तों तथा साधु पुरुषों की; ईश्वर—भगवान् की; आराधनेन—पूजा से; च—तथा; श्रद्धया—अत्यन्त श्रद्धापूर्वक; तत्-कथायाम्—भगवान् की कथाओं में; च—तथा; कीर्तनैः—यशोगान द्वारा; गुण-कर्मणाम्—भगवान् के दिव्य गुणों तथा कर्मों का; तत्—उसके; पाद-अम्बुरुह—चरणकमलों पर; ध्यानात्—ध्यान से; तत्—उसका; लिङ्ग—स्वरूप (अर्चाविग्रह); ईक्ष—दर्शन; अर्हण-आदिभिः—तथा पूजा द्वारा।

मनुष्य को प्रामाणिक गुरु स्वीकार करना चाहिए और अत्यन्त भक्ति तथा श्रद्धा से उसकी सेवा करनी चाहिए। उसके पास जो कुछ भी हो उसे गुरु को अर्पित करना चाहिए और सन्त पुरुषों तथा भक्तों की संगति में भगवान् की पूजा करनी चाहिए, श्रद्धापूर्वक भगवान् के यश का श्रवण करना चाहिए, भगवान् के दिव्य गुणों तथा कार्यकलापों का यशोगान करना चाहिए, सदैव भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करना चाहिए तथा शास्त्र एवं गुरु के आदेशानुसार भगवान् के अर्चाविग्रह की पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बताया गया है कि जिस विधि से भगवान् के प्रति प्रेम तथा स्नेह तुरन्त बढ़े वह इस भव-बन्धन से मुक्त होने के हजारों उपायों में सर्वश्रेष्ठ है। कहा गया है—*धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्*—वास्तव में धर्म के सिद्धान्तों का सत्य अत्यन्त गुह्य होता है। फिर भी यदि कोई धर्म के नियमों को वास्तव में स्वीकार कर ले तो इसे सरलता से समझा जा सकता है। जैसाकि कहा गया है—*धर्मं तु साक्षात् भगवत्प्रणीतम्*—धर्म की विधि परमेश्वर द्वारा प्रतिपादित है, क्योंकि वे परमसत्ता हैं। पिछले श्लोक में भी इसे *भगवतोदित:* शब्द द्वारा सूचित किया गया है। भगवान् के आदेश अच्युत हैं और उनके लाभ पूर्णतः निश्चित हैं। उनके आदेशनुसार धर्म का पूर्ण स्वरूप भक्तियोग है, जैसाकि इस श्लोक में बताया गया है।

भक्तियोग का अभ्यास करने के पूर्व प्रामाणिक गुरु स्वीकार करना चाहिए। श्रील रूप गोस्वामी अपने *भक्तिरसामृत सिन्धु* (१.२.७४-७५) में उपदेश दिया है—

गुरुपादाश्रयस्तस्मात् कृष्णदीक्षादिशिक्षणम्।

विश्रम्भेण गुरोः सेवा साधुवर्त्मानुवर्तनम् ॥

सद्धर्म पृच्छा भोगादित्यागः कृष्णस्य हेतवे।

मनुष्य का पहला कर्तव्य है कि प्रामाणिक गुरु स्वीकार करे। छात्र या शिष्य को अत्यन्त जिज्ञासु होना चाहिए, उसे सनातन धर्म के विषय में पूर्ण सत्य जानने के लिए उत्सुक रहना चाहिए। *गुरु शुश्रूषया* शब्दों का अर्थ है कि वह स्वयं गुरु को शारीरिक सुविधाएँ प्रदान करके जैसे स्नान करते, वस्त्र बदलते, सोते, खाते समय सहायता पहुँचा कर उनकी सेवा करे। यह *गुरु शुश्रूषणम्* कहलाता है। शिष्य दास की भाँति गुरु की सेवा करे और उसके पास जो कुछ भी हो उसे गुरु को समार्पित कर दे। *प्राणैः अर्थैर्धिया वाचा।* प्रत्येक व्यक्ति के पास जीवन, सम्पत्ति, बुद्धि तथा वाणी होती है और इन सबों को गुरु के माध्यम से भगवान् को अर्पित कर देना चाहिए। गुरु को सब कुछ कर्तव्य के रूप में अर्पित कर देना चाहिए, किन्तु यह भेंट भौतिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए बनावटी ढंग से नहीं, अपितु ह्रदय से की जानी चाहिए। यह भेंट *अर्पण* कहलाती है। इसके साथ ही शिष्टाचार सीखने तथा भक्ति का समुचित आचरण करने के लिए उसे भक्तों तथा सन्त पुरुषों के साथ रहना चाहिए। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि गुरु को जो कुछ भी अर्पित किया जाये वह प्रेम तथा स्नेहपूर्वक किया जाये, भौतिक स्तवन के लिए नहीं। इसी प्रकार यह भी संस्तुति की गई है कि मनुष्य भक्तों की संगति करे, किन्तु उसे तनिक विवेक से काम लेना होगा। वास्तव में *साधु* को अपने आचरण में सन्त जैसा होना चाहिए (*साधवः सदाचाराः*)। जब तक वह आदर्श आचरण में दृढ़ नहीं रहता उसका *साधु* पद पूर्ण नहीं है। अतएव एक वैष्णव या साधु को आदर्श आचरण में दृढ़ और पूर्ण रहना चाहिए। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि वैष्णव का सम्मान वैष्णव के योग्य होना चाहिए जिसका अर्थ है कि उसकी सेवा की जानी चाहिए तथा स्तवन किया जाना चाहिए। किन्तु यदि वह संगति के उपयुक्त व्यक्ति नहीं है, तो उसकी संगति नहीं करनी चाहिए।

हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः ।
इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

हरिः—भगवान्; सर्वेषु—समस्त; भूतेषु—जीवों में; भगवान्—परम पुरुष; आस्ते—स्थित है; ईश्वरः—सर्वश्रेष्ठ नियन्ता; इति—इस प्रकार; भूतानि—सारे जीव; मनसा—ऐसी समझ से; कामैः—इच्छाओं से; तैः—उन; साधु मानयेत्—मनुष्य को चाहिए कि अत्यधिक आदर करे।

मनुष्य को चाहिए कि भगवान् को उनके अन्तर्यामी प्रतिनिधि स्वरूप में परमात्मा को सदैव स्मरण करे, जो प्रत्येक जीव के अंतःकरण में स्थित हैं। इस प्रकार उसे जीव की स्थिति या स्वरूप के अनुसार प्रत्येक जीव का आदर करना चाहिए।

तात्पर्य : *हरिः सर्वेषु भूतेषु*—कभी-कभी ढोंगी लोग इस कथन को ठीक से न समझने के कारण यह झूठा निष्कर्ष निकालते हैं कि चूँकि हरि अर्थात् भगवान् प्रत्येक जीव में स्थित हैं, अतएव प्रत्येक जीव हरि है। ऐसे मूर्ख लोग प्रत्येक शरीर में स्थित आत्मा तथा परमात्मा में अन्तर नहीं कर पाते। आत्मा तो जीव है और परमात्मा भगवान् हैं, किन्तु जीव परमात्मा या परमेश्वर से भिन्न है। अतएव *हरिः सर्वेषु भूतेषु* का अर्थ यह हुआ कि हरि परमात्मा के रूप में स्थित हैं, आत्मा के रूप में नहीं, यद्यपि आत्मा परमात्मा का ही अंश है। प्रत्येक जीव को आदर देने का अर्थ प्रत्येक जीव में स्थित परमात्मा का आदर करना है। प्रत्येक जीव को परमात्मा नहीं मान लेना चाहिए। कभी-कभी ढोंगी लोग जीव को *दरिद्र नारायण,* स्वामी नारायण, यह नारायण, वह नारायण जैसे नाम प्रदान करते हैं। हमें यह स्पवृतः समझ लेना चाहिए कि यद्यपि नारायण प्रत्येक जीव के हृदय में विराजमान हैं, किन्तु जीव कभी नारायण नहीं बन सकता।

एवं निर्जितषड्वर्गैः क्रियते भक्तिरीश्वरे ।
वासुदेवे भगवति यया संलभ्यते रतिः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; निर्जित—दमन किया गया; षट्-वर्गैः—इन्द्रियों के छह लक्षणों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मत्सर) से; क्रियते—की जाती है; भक्तिः—भक्ति; ईश्वरे—परम नियन्ता में; वासुदेवे—भगवान् वासुदेव में; भगवति—भगवान्; यया—जिससे; संलभ्यते—प्राप्त की जाती है; रतिः—आसक्ति।

इन (उपर्युक्त) कार्यकलापों द्वारा मनुष्य शत्रुओं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, ईर्ष्या—के प्रभाव को दमन करने में समर्थ होता है और ऐसा कर लेने पर वह भगवान् की सेवा कर सकता है। इस प्रकार वह भगवान् की प्रेमाभक्ति को निश्चित रूप से प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य : जैसाकि श्लोक ३०-३१ में उल्लेख किया जा चुका है, मनुष्य का पहला काम है कि वह भगवान् के प्रतिनिधि, गुरु, की सेवा प्रारम्भ करने के लिए उनके के पास पहुँचे। प्रह्लाद महाराज ने

प्रस्ताव रखा कि छोटे बालक को (*कौमार आचरेत् प्राज्ञः*) प्रारम्भ से ही गुरुकुल में रहकर गुरु की सेवा करने की शिक्षा दी जाये। *ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन् दान्तो गुरोर्हितम्* (*भागवत* ७.१२.१)। यह आध्यात्मिक जीवन का सूत्रपात है। गुरुपादाश्रमः साधु,-वर्तमानवर्ततम्, सद्धर्भ-पृच्छ गुरु तथा शास्त्रों के आदेशों का पालन करते हुए शिष्य भक्ति प्राप्त करता है और सम्पत्ति से अनासक्त हो जाता है। उसके पास जो कुछ होता है, उसे वह अपने गुरु को अर्पित कर देता है और वह उसे *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* में प्रवृत्त करता है और शिष्य दृढ़तापूर्वक आज्ञापालन करके अपनी इन्द्रियों को वश में करना सीखता है। फिर अपनी शुद्ध बुद्धि का प्रयोग करके वह धीरे-धीरे भगवान् का प्रेमी बन जाता है, जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने पुष्ट किया है (*आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गः*)। इस प्रकार मनुष्य-जीवन पूर्ण बन जाता है और कृष्ण के प्रति उसकी आसक्ति प्रकट हो जाती है। इस अवस्था में वह आनन्द को प्राप्त होता है और *भाव* तथा *अनुभाव* की अनुभूति करता है जैसाकि अगले श्लोक में बताया गया है।

निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान्
वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि ।
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं
प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति ॥ ३४॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; कर्माणि—दिव्य कार्यकलापों को; गुणान्—आध्यात्मिक गुणों का; अतुल्यान्—असामान्य (जो सामान्य पुरुष में नहीं दिखते); वीर्याणि—अत्यन्त शक्तिमान; लीला-तनुभिः—अनेक लीला स्वरूपों के द्वारा; कृतानि—किये गये; यदा—जब; अतिहर्ष—अत्यन्त प्रसन्नता के कारण; उत्पुलक—रोमांच; अश्रु—आँखों में आँसू; गद्गदम्—अवरुद्ध कण्ठ; प्रोत्कण्ठः—खुले स्वर से; उद्गायति—उच्च स्वर से कीर्तन करता है; रौति—रोता है; नृत्यति—नाचता है।

जो भक्ति के पद पर आसीन हो जाता है, वह निश्चय ही इन्द्रियों का नियंत्रक है और इस तरह वह एक मुक्त पुरुष हो जाता है। जब ऐसा मुक्त पुरुष या शुद्ध भक्त विभिन्न लीलाएँ करने के लिए भगवान् के अवतारों के दिव्य गुणों तथा कार्यकलापों के विषय में सुनता है, तो उसके शरीर में रोमांच हो आता है, उसकी आँखों से आँसू झरने लगते हैं और आध्यात्मिक अनुभूति के कारण उसकी वाणी अवरुद्ध हो जाती है। कभी वह नाचता है, तो कभी जोर-जोर से गाता है और कभी रोने लगता है। इस प्रकार वह अपने दिव्य हर्ष को व्यक्त करता है।

तात्पर्य : भगवान् के कार्यकलाप असामान्य होते हैं। उदाहरणार्थ, जब वे रामचन्द्र के रूप में प्रकट हुए तो उन्होंने समुद्र पर पुल बनाने का असामान्य कार्य किया। इसी प्रकार जब भगवान् कृष्ण प्रकट

हुए तो उन्होंने सात वर्ष की ही अवस्था में गोवर्धन पर्वत उठा लिया। ये असामान्य कार्य हैं। मूर्ख तथा धूर्त दिव्य पद को प्राप्त नहीं हुए होते लोग जो वे भगवान् के इन असामान्य कार्यों को पौराणिक या काल्पनिक मानते हैं। किन्तु जब मुक्त व्यक्ति या भक्त भगवान् के इन असामान्य कार्यकलापों के विषय में सुनता है, तो वह तुरन्त ही आनन्द-विभोर हो उठता है और कीर्तन करने, नाचने तथा जोर-जोर से प्रसन्न होकर रोने के लक्षण प्रकट करता है। भक्त तथा अभक्त के बीच यही अन्तर है।

यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धस-
त्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम् ।
मुहुः श्वसन्वक्ति हरे जगत्पते
नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; ग्रह-ग्रस्तः—प्रेत द्वारा सताया गया; इव—सदृश; क्वचित्—कभी; हसति—हँसता है; आक्रन्दते—जोर से चिल्लाता है (भगवान् के दिव्य गुणों का स्मरण करके); ध्यायति—ध्यान करता है; वन्दते—नमस्कार करता है; जनम्—सारे जीवों को (उन्हें भगवान् की सेवा में प्रवृत्त सोचकर); मुहुः—निरन्तर; श्वसन्—तेजी से साँस लेते; वक्ति—बोलता है; हरे—हे प्रभु; जगत्-पते—हे सम्पूर्ण संसार के स्वामी; नारायण—हे नारायण; इति—इस प्रकार; आत्म-मतिः—भगवान् के विचारों में पूर्णतया मग्न; गत-त्रपः—लज्जारहित।

जब भक्त प्रेतग्रस्त व्यक्ति के समान बन जाता है, तो वह हँसता है और उच्च स्वर से भगवान् के गुणों के विषय में कीर्तन करता है। कभी वह ध्यान करने बैठता है और कभी प्रत्येक जीव को भगवान् का भक्त मानते हुए प्रणाम करता है। लगातार तेज साँस लेता हुआ वह सामाजिक शिष्टाचार के प्रति बेपरवाह हो जाता है और पागल व्यक्ति की तरह जोर-जोर से " हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, हे भगवान्, हे ब्रह्माण्ड के स्वामी, " का उच्चारण करता है।

तात्पर्य : जब कोई बाह्य सामाजिक रीतियों की परवाह न करते हुए हर्ष में भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करता है, तो यह समझा जाता है कि वह *आत्ममति* है। दूसरे शब्दों में, उसकी चेतना भगवान् की ओर मुड़ जाती है।

तदा पुमान्मुक्तसमस्तबन्धन-
स्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः ।
निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा
भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; पुमान्—जीव; मुक्त—मुक्त; समस्त-बन्धनः—भक्ति पथ के समस्त अवरोधों से; तत्-भाव—भगवान् के कार्यकलापों की स्थिति के; भाव—चिन्तन से; अनुकृत—उसी प्रकार का बनाया हुआ; आशय-आकृतिः—जिसका मन तथा शरीर; निर्दग्ध—पूर्णतया जला हुआ; बीज—बीज या जगत का मूल कारण; अनुशयः—इच्छा; महीयसा—अत्यन्त शक्तिशाली; भक्ति—भक्ति का; प्रयोगेण—सम्प्रयोग से; समेति—प्राप्त करता है; अधोक्षजम्—भगवान् को, जो मन तथा ज्ञान की पहुँच से परे हैं।

तब भक्त सारे भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है, क्योंकि वह निरन्तर भगवान् की लीलाओं के विषय में सोचता रहता है और उसका मन तथा शरीर आध्यात्मिक गुणों में बदल चुके होते हैं। उसकी उत्कट भक्ति के कारण उसका अज्ञान, भौतिक चेतना तथा समस्त प्रकार की भौतिक इच्छाएँ जलकर पूर्णतया भस्म हो जाती हैं। यही वह अवस्था है जब मनुष्य भगवान् के चरणकमलों की शरण प्राप्त कर सकता है।

तात्पर्य : जब भक्त पूर्णतया शुद्ध हो जाता है, तो वह *अन्याभिलाषिताशून्य* बन जाता है। दूसरे शब्दों में, उसकी सारी इच्छाएँ जलकर भस्म हो जाती हैं और वह भगवान् के दास, मित्र, पिता, माता या प्रेमी के रूप में रहने लगता है। इस प्रकार से निरन्तर सोचते रहने के कारण उसके वर्तमान शरीर तथा मन पूर्णतया आध्यात्मिक बन जाते हैं और उसके भौतिक शरीर की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। यदि लोहे की शलाका को आग में रख दिया जाये तो वह गरम होती जाती है और जब वह पूर्णतया लाल हो जाती है, तो वह शलाका नहीं रहती, अपितु आग बन जाती है। इसी प्रकार जब कोई भक्त निरन्तर भक्ति में लगा रहता है और अपनी मूल कृष्णचेतना में भगवान् का चिन्तन करता रहता है, तो उसके सारे भौतिक कार्यकलाप समाप्त हो जाते हैं, क्योंकि उसका शरीर आध्यात्मिक हो जाता है। कृष्णभावनामृत में प्रगति अत्यन्त शक्तिशाली होती है अतएव इसी जीवन में ऐसे भक्त को भगवान् के चरणकमलों की शरण प्राप्त हो जाती है। भक्त की यह दिव्य आनन्दमयी (भावविभोर) स्थिति श्री चैतन्य महाप्रभु में पूर्णतया प्रकट थी। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य लिखते हैं—

तद्भावभावः तद् यथा स्वरूपं भक्तिः

केचिद् भक्ता विनृत्यन्ति गायन्ति य यथेप्सितम्

केचित् तूष्णीं जपन्त्येव केचित् शोभयकारिणः।

भक्ति की आनन्दमयी स्थिति श्री चैतन्य महाप्रभु में पूर्णतया प्रकट थी जो कभी नाचते थे, तो कभी चिल्लाते, कभी गाते, कभी मौन हो जाते और कभी भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करते थे। यही पूर्ण आध्यात्मिक स्थिति है।

अधोक्षजालम्भमिहाशुभात्मनः
शरीरिणः संसृतिचक्रशातनम् ।
तद्ब्रह्मनिर्वाणसुखं विदुर्बुधा-
स्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

अधोक्षज—भगवान् से, जो भौतिकतावादी मन या प्रायोगिक ज्ञान की पहुँच से परे हैं; आलम्भम्—निरन्तर सम्पर्क में रहते हुए; इह—इस भौतिक जगत में; अशुभ-आत्मनः—जिसका मन भौतिकता से कलुषित है; शरीरिणः—देहधारी जीव का; संसृति—संसार का; चक्र—चक्कर; शातनम्—पूर्णतया रोकते हुए; तत्—वह; ब्रह्म-निर्वाण—परब्रह्म या परम सत्य से जुड़ा हुआ; सुखम्—दिव्य सुख; विदुः—समझो; बुधाः—आध्यात्मिक दृष्टि से आगे बढ़े हुए; ततः—इसलिए; भजध्वम्—भक्ति में लग जाओ; हृदये—हृदय के भीतर; हृत्-ईश्वरम्—हृदय के भीतर परमात्मा को।

जीवन की असली समस्या जन्म-मृत्यु का चक्कर है, जो पहिये (चक्र) की भाँति बारम्बार ऊपर-नीचे चलता रहता है। किन्तु जब कोई भगवान् के सम्पर्क में रहता है, तो यह चक्र पूरी तरह रुक जाता है। दूसरे शब्दों में, भक्ति में निरन्तर मगन रहने से जो दिव्य आनन्द मिलता है उससे वह इस संसार से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। सारे विद्वान व्यक्ति इसे जानते हैं। अतएव हे मित्रो, हे असुरपुत्रो, तुम सभी लोग तुरन्त अपने-अपने हृदय में स्थित परमात्मा का ध्यान और पूजन प्रारम्भ कर दो।

तात्पर्य : सामान्यतया यह समझा जाता है कि परम सत्य के निराकार ब्रह्म स्वरूप में लीन होने से मनुष्य पूर्णतया सुखी हो जाता है। *ब्रह्म निर्वाण* शब्द परम सत्य से जुड़ने के लिए द्योत्तक हैं जिसे तीन स्वरूपों में अनुभव किया जाता है—*ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते।* मनुष्य को निराकार ब्रह्म में लीन होने पर *ब्रह्मसुख* का अनुभव होता है, क्योंकि *ब्रह्मज्योति* भगवान् का तेज है। *यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि। यस्य प्रभा* या निराकार ब्रह्म कृष्ण के दिव्य शरीर की किरणें है। अतएव मनुष्य को ब्रह्म में लीन होने से जो भी सुख मिलता है, वह कृष्ण के सम्पर्क के कारण है। कृष्ण से सम्पर्क पूर्ण *ब्रह्मसुख* है। जब मन निराकार ब्रह्म के सम्पर्क में रहता है, तो मनुष्य प्रसन्न होता है, किन्तु मनुष्य को भगवान् की सेवा करने के लिए और आगे बढ़ना चाहिए, क्योंकि इसकी कोई गारण्टी नहीं है कि वह ब्रह्मज्योति में लीन रहे ही। जैसाकि कहा गया है—*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृत युष्मदङ्घ्रयः*—कोई भले ही परम सत्य के ब्रह्म स्वरूप से तदाकार हो ले किन्तु सम्भावना बनी रहती है कि वह अधोक्षज वासुदेव से परिचित न होने के कारण च्युत हो जाये। निस्सन्देह, ऐसे *ब्रह्मसुख* से

भौतिक सुख विलग हो जाता है किन्तु जब कोई निराकार ब्रह्म तथा अन्तर्यामी परमात्मा से होता हुआ दास, मित्र, पिता या प्रेमी के रूप में भगवान् के पास पहुँचता है, तो उसका सुख सर्वव्यापी बन जाता है। तब उसे स्वत: दिव्य आनन्द का अनुभव होता है, जिस तरह कि चमकते चन्द्रमा को देखकर सुख होता है। चन्द्रमा को देखकर मनुष्य को प्राकृतिक सुख प्राप्त होता है, किन्तु जब वह भगवान् का दर्शन करता है, तो उसका दिव्य सुख सैकड़ों-हजारों गुणा बढ़ जाता है। ज्योंही वह भगवान् से घनिष्ठतापूर्वक जुड़ जाता है त्योंही वह सारे भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है। *या निर्वृतिस्तनुभृताम्।* समस्त भौतिक सुख की समाप्ति *निर्वृति* या *निर्वाण* कहलाती है। श्रील रूप गोस्वामी *भक्तिरसामृत सिन्धु* (१.१.३८) में कहते हैं—

ब्रह्मानन्दो भवेद् एष चेत् परार्धगुणीकृत:।

नैति भक्तिसुखाम्भोधे: परमाणुतुलामपि॥

"यदि ब्रह्मानन्द को, अर्थात् ब्रह्मज्योति में लीन होने से आनन्द को १०० करोड़ गुना कर दिया जाय, तो भी वह भक्ति में अनुभव किये गये दिव्य आनन्द के सागर के एक परमाणु के बराबर भी नहीं होगा।"

ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

सम: सर्वेषु भूतेषु मदभक्तिं लभते पराम्॥

"जो आध्यात्मिक पद पर स्थित होता है उसे तुरन्त परब्रह्म की अनुभूति हो जाती है और वह पूर्णतया प्रसन्न हो जाता है। न तो वह शोक प्रकट करता है न किसी वस्तु की इच्छा करता है। वह समस्त जीवों पर सम भाव रखता है। इस दशा में उसे भगवान् की शुद्ध भक्ति प्राप्त होती है" (*भगवद्गीता* १८.५४)। यदि कोई *ब्रह्मनिर्वाण* पद से आगे बढ़ता है, तो वह भक्ति अवस्था को प्राप्त होता है (*मद्भक्तिं लभते पराम्*)। *अधोक्षजालम्भम्* शब्द मन को उन परम सत्य में लगाये रखने का सूचक है, जो मन तथा भौतिक चिन्तन के परे हैं। *स वै मन: कृष्ण पदारविन्दयो:।* यह अर्चाविग्रह पूजा का फल है। निरन्तर भगवान् की सेवा करते रहने तथा उनके चरणकमलों का ही चिन्तन करने से मनुष्य स्वत: सारे भौतिक कल्मष से छूट जाता है। इस प्रकार *ब्रह्म-निर्वाण-सुखम्* शब्द यह बताता है कि जब कोई परम सत्य के सम्पर्क में रहता है, तो *विषय-वासना पूर्णतया* समाप्त हो जाती है।

कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरे-
रुपासने स्वे हृदि छिद्रवत्सतः ।
स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनां
सामान्यतः किं विषयोपपादनैः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

कः—क्या; अति-प्रयासः—कठिन प्रयास; असुर-बालकाः—हे असुरपुत्रो; हरेः—भगवान् की; उपासने—भक्ति करने में; स्वे—अपने; हृदि—हृदय में; छिद्र-वत्—अवकाश की तरह; सतः—सदैव विद्यमान; स्वस्य—अपना या जीव का; आत्मनः—परमात्मा का; सख्युः—शुभचिन्तक मित्र; अशेष—असीम; देहिनाम्—देहधारी जीवों का; सामान्यतः—सामान्य रूप से; किम्—क्या आवश्यकता है; विषय-उपपादनैः—इन्द्रियभोग के लिए इन्द्रिय प्रदान करने वाली क्रियाओं से।

हे मित्रो, हे असुरपुत्रो, परमात्मा रूप में भगवान् सदैव समस्त जीवों के अंतःकरण में विद्यमान रहते हैं। निस्सन्देह, वे सारे जीवों के शुभचिन्तक तथा मित्र हैं और भगवान् की पूजा करने में कोई कठिनाई भी नहीं है। तो फिर, लोग उनकी भक्ति क्यों नहीं करते? वे इन्द्रियतृप्ति के लिए कृत्रिम साज-सामान बनाने में व्यर्थ ही क्यों लिप्त रहते हैं?

तात्पर्य : चूँकि भगवान् सर्वश्रेष्ठ हैं, अतएव कोई न तो उनके तुल्य है, न उनसे बढ़कर है। फिर भी, यदि कोई भगवान् का भक्त हो तो भगवान् उसे सहज ही प्राप्य हैं। भगवान् की तुलना आकाश से की जाती है, क्योंकि आकाश विस्तृत होकर भी सबों की, मनुष्यों की क्या पशुओं तक की, पहुँच में है। भगवान् परमात्मा रूप में श्रेष्ठ हितैषी तथा सखा के रूप में विद्यमान रहते हैं। जैसी कि वेदों में पुष्टि की गई है—*सयुजौ सखायौ।* भगवान् परमात्मा रूप में सदैव जीव के साथ हृदय में स्थित रहते हैं। वे जीव के इतने घनिष्ठ मित्र होते हैं कि हृदय के भीतर रहते जाते हैं जिससे कोई भी बिना किसी कठिनाई के उनसे सदा सम्पर्क स्थापित कर सकता है। इसे कोई भी भक्ति के द्वारा कर सकता है (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्*)। ज्योंही मनुष्य भगवान् का श्रवण करता है (*कृष्णकीर्तन*) त्योंही भगवान् से उसका सम्पर्क स्थापित हो जाता है। भक्ति की किसी एक या सभी विधियों से भक्त तुरन्त ही भगवान् के सम्पर्क में आता है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यम् आत्मनिवेदनम्॥

अतः भगवान् से सम्पर्क होने में कोई कठिनाई नहीं होती (*कोऽति प्रयासः*)। दूसरी ओर, नरक जाने में काफी प्रयत्न करना होता है। यदि कोई अवैध यौन, मांसाहार, द्यूत क्रीड़ा तथा मादक द्रव्यसेवन

द्वारा नरक जाना चाहे तो उसे इतनी सारी चीजें ग्रहण करनी होती हैं। अवैध यौन के लिए वेश्यालय जाने के लिए धन का प्रबन्ध करना होगा, मांसाहार के लिए अनेक कसाईघर खोलने होंगे, द्यूतक्रीड़ा के लिए नाचघरों तथा होटलों की व्यवस्था करनी होगी तथा मादकद्रव्य सेवन के लिए अनेक हौलियाँ खोलनी होंगी। स्पष्ट है कि यदि कोई नरक जाना चाहता है, तो उसे काफी परिश्रम करना होगा, किन्तु यदि वह भगवद्धाम जाना चाहे तो किसी भी कठिन प्रयास की आवश्यकता नहीं होगी। भगवद्धाम जाने लिए वह कहीं भी एकान्त में किसी भी दशा में रह कर, भूमि पर बैठ कर परमात्मा का ध्यान धर सकता है और भगवान् के विषय में कीर्तन तथा श्रवण कर सकता है। भगवान् के पास जाने में कोई कठिनाई नहीं होती। *अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रम्।* इन्द्रियों को वश में न कर पाने के कारण नरक जाने के लिए अनेक प्रयास करने होंगे, किन्तु यदि वह विचारवान् हो तो सरलता से भगवान् की कृपा प्राप्त कर सकता है, क्योंकि भगवान् निरन्तर उसके साथ रहते है। भगवान् तो *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* की सरल विधि से प्रसन्न होते हैं। निस्सन्देह, भगवान् का कहना है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः॥

"यदि कोई मुझे भक्तिपूर्वक एक पत्ता, फूल, फल या जल भी अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।" (*भगवद्गीता* ९.२६) भगवान् का ध्यान कहीं भी और सर्वत्र किया जा सकता है। इस तरह प्रह्लाद महाराज ने अपने मित्र असुरपुत्रों को उपदेश दिया कि वे बिना कठिनाई के भगवद्धाम लौट जाने का मार्ग ग्रहण करें।

रायः कलत्रं पशवः सुतादयो
गृहा मही कुञ्जरकोशभूतयः ।
सर्वेऽर्थकामाः क्षणभङ्गुरायुषः
कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत्प्रियं चलाः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

रायः—सम्पत्ति; कलत्रम्—अपनी पत्नी तथा सखियाँ; पशवः—गाय, घोड़े, गधे, बिल्ली, कुत्ते जैसे घरेलू पशु; सुत-आदयः—पुत्र इत्यादि; गृहाः—बड़े-बड़े महल तथा आवास; मही—भूमि; कुञ्जर—हाथी; कोश—खजाना; भूतयः—तथा इन्द्रियतृप्ति एवं भोगविलास की अन्य सामग्रियाँ; सर्वे—सभी; अर्थ—आर्थिक विकास; कामाः—तथा इन्द्रियतृप्ति; क्षण-भङ्गुर—क्षण भर में विनाश-शील; आयुषः—आयु वाले का; कुर्वन्ति—करते हैं या लाते हैं; मर्त्यस्य—मरने वाले का; कियत्—कितना; प्रियम्—आनन्द; चलाः—क्षणिक या चलायमान।

मनुष्य का धन, सुन्दर स्त्री तथा सखियाँ, उसके पुत्र तथा पुत्रियाँ, उसका घर, उसके घरेलू पशु जैसे गाएँ, हाथी तथा घोड़े, उसका खजाना, आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति, यहाँ तक कि उसकी आयु जिसमें वह इन भौतिक ऐश्वर्यों का भोग कर सकता है निश्चित रूप से क्षणभंगुर एवं नश्वर हैं। चूँकि मनुष्य जीवन का अवसर अस्थायी है अतएव ये सारे भौतिक ऐश्वर्य ऐसे समझदार व्यक्ति को कौन सा लाभ पहुँचा सकते हैं जिसने अपने आपको शाश्वत समझ रखा है?

तात्पर्य : यह श्लोक बताता है कि आर्थिक विकास का दम भरने वाले किस प्रकार प्रकृति के नियमों द्वारा निराश होते हैं। जैसाकि पिछले श्लोक में पूछा गया है कि *विषयोपपादनै*—तथाकथित आर्थिक विकास का वास्तविक लाभ क्या है? विश्व इतिहास ने सिद्ध कर दिया है कि भौतिक सभ्यता के विकास द्वारा शारीरिक सुविधा के लिए आर्थिक विकास करने के प्रयत्नों से जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग की अनिवार्यता का उपचार नहीं हो पाया। हर एक को विश्व इतिहास के बड़े-बड़े साम्राज्यों, यथा रोम, मुगल या ब्रिटिश साम्राज्यों का ज्ञान है, किन्तु ऐसे आर्थिक विकास में लगे रहने वाले ये सारे समाज (*सर्वेऽर्थकामा:*) बारम्बार होने वाले युद्धों, बीमारियों, दुर्भिक्षों इत्यादि के माध्यम से प्रकृति के नियमों द्वारा ध्वस्त होते रहे हैं। इस तरह उनके सारे प्रयास क्षणभंगुर तथा अस्थायी हैं। अतएव इस श्लोक में कहा गया है—*कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत् प्रियं चला:*—भले ही कोई अपने विशाल साम्राज्य होने का कितना ही गर्व क्यों न करे, लेकिन ये साम्राज्य अस्थायी होते हैं; १०० या २०० वर्षों के बाद सब कुछ नष्ट हो जाता है। ऐसे सारे आर्थिक विकास यद्यपि अत्यन्त कठिनाई तथा प्रयत्न से सम्पन्न होते हैं, किन्तु तुरन्त ही समाप्त हो जाते हैं, इसीलिए इन्हें *चला:* कहा गया है। बुद्धिमान व्यक्ति को यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि भौतिक आर्थिक विकास तनिक भी सुखकर नहीं होता। *भगवद्गीता* में सम्पूर्ण जगत को *दु:खालयम् अशाश्वतम्* अर्थात् दुखमय तथा नश्वर कहा गया है। आर्थिक विकास भले ही कुछ काल तक सुखकर लगे किन्तु बहुत दिनों तक नहीं टिकता। इस प्रकार अनेक बड़े-बड़े उद्योगपति अब अत्यन्त संतप्त हैं क्योंकि लूटने वाली विभिन्न सरकारें उन्हें तंग करती हैं। निष्कर्ष यह है कि तथाकथित आर्थिक विकास के लिए अपना समय क्यों व्यर्थ किया जाये जो न तो स्थायी है, न आत्मा के लिए सुखकर है?

दूसरी ओर, भगवान् कृष्ण के साथ हमारा सम्बन्ध शाश्वत है। *नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम।* शुद्ध आत्माएँ

कृष्ण से निरन्तर प्रेम करती हैं और ऐसा स्थायी प्रेम, जो दास, सखा, माता-पिता या प्रेमी के रूप में हो सकता है, सरलता से पुनरुज्जीवित किया जा सकता है। इस युग के लिए विशेष छूट है कि मनुष्य केवल हरे कृष्ण कीर्तन करके ईश्वर के साथ अपने मूल सम्बन्ध को फिर से जीवित कर सकता है (*हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्*) और इस तरह वह इतना सुखी हो सकता है कि उसे किसी भौतिक वस्तु की इच्छा नहीं रह जाती। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने घोषित किया है—*न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।* कृष्णभावनामृत में प्रगत भक्त धन, अनुयायी, सम्पत्ति कुछ भी नहीं चाहता। *रायः कलत्रं पशवः सुतादयो गृहा मही कुञ्जरकोशभूतयः।* भौतिक ऐश्वर्यों के स्वामित्व से उत्पन्न तृप्ति शूकरों-कूकरों के जीवन में भी देखी जाती है, भले ही वह दूसरे स्तर की हो किन्तु वे भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को पुनःजागृत नहीं कर सकते। किन्तु मनुष्य जीवन में कृष्ण के साथ हमारे सुप्त शाश्वत सम्बन्ध को पुनरुज्जीवित कर पाना सम्भव है। इसलिए प्रह्लाद महाराज ने इस जीवन को *अर्थदम्* कहा है। फलस्वरूप यदि हम अपना जीवन आर्थिक विकास में व्यर्थ न बिताकर कृष्ण के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध को पुनरुज्जीवित करने में लगाएँ तो हमारा जीवन सफल हो जाये।

एवं हि लोकाः क्रतुभिः कृता अमी
क्षयिष्णवः सातिशया न निर्मलाः ।
तस्माददृष्टश्रुतदूषणं परं
भक्त्योक्तयेशं भजतात्मलब्धये ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इसी प्रकार (जिस तरह सांसारिक सम्पत्ति तथा कुटुम्बी नश्वर हैं); हि—निश्चय ही; लोकाः—उच्चतरलोक, यथा स्वर्ग, चन्द्रमा, सूर्य तथा ब्रह्मलोक; क्रतुभिः—बड़े-बड़े यज्ञों को सम्पन्न करने से; कृताः—प्राप्त किया; अमी—ये सब; क्षयिष्णवः—अस्थायी, नश्वर; सातिशयाः—यद्यपि अधिक आरामदेह तथा भाने वाले; न—नहीं; निर्मलाः—शुद्ध (उत्पातों से रहित); तस्मात्—इसलिए; अदृष्ट-श्रुत—न तो देखा हुआ, न सुना गया; दूषणम्—जिसकी त्रुटि; परम्—परम; भक्त्या—अत्यन्त भक्तिपूर्वक; उक्तया—जिस तरह वैदिक साहित्य में वर्णित है (ज्ञान कर्म मिश्रित नहीं); ईशम्—भगवान् को; भजत—पूजा करो; आत्म-लब्धये—आत्म-साक्षात्कार के लिए।

वैदिक साहित्य से पता चलता है कि बड़े-बड़े यज्ञ सम्पन्न करके मनुष्य स्वर्गादि लोक तक ऊपर उठ सकता है। किन्तु स्वर्गलोक का जीवन पृथ्वी के जीवन की अपेक्षा सैकड़ों-हजारों गुना अधिक सुखकर होने पर भी स्वर्गलोक न तो शुद्ध (निर्मल) हैं, न भौतिक जगत के दोष से रहित हैं। सारे स्वर्गलोक भी नश्वर हैं, अतएव ये जीवन के लक्ष्य नहीं हैं। किन्तु यह न तो कभी देखा गया, न ही सुना गया कि भगवान् में उन्माद होता है। फलस्वरूप तुम्हें अपने निजी लाभ

तथा आत्म-साक्षात्कार के लिए शास्त्रोक्त विधि से अत्यन्त भक्ति के साथ भगवान् की पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है *क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*—यहाँ तक कि यदि कोई पशुओं की बलि देकर पापपूर्ण कृत्यों को सपन्न करके बड़े-बड़े यज्ञ करके स्वर्गलोक को प्राप्त हो जाये तो भी स्वर्गलोक में सुख का स्तर कभी निरापद नहीं रहता। स्वर्ग के राजा इन्द्र को भी ऐसा ही जीवन-संघर्ष करना होता है। इस प्रकार स्वर्ग प्राप्त कर लेने में कोई व्यावहारिक लाभ नहीं है। निस्सन्देह, पुण्यकर्मों के फल क्षीण होने पर मनुष्य को इसी पृथ्वी पर लौटना होता है। वेदों का कथन है—*तद्यथेह कर्मजितो लोक: क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोक: क्षीयत।* जिस प्रकार कठिन श्रम से अर्जित यहाँ का भौतिक पद कालक्रम में समाप्त हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य का स्वर्ग-वास भी अन्तोगत्वा समाप्त हो जाता है। मनुष्य अपने पुण्य कर्मों की मात्रा के अनुसार विभिन्न प्रकार की योनियाँ प्राप्त करता है, किन्तु उनमें से एक भी स्थायी नहीं होती, अतएव वे सब अशुद्ध होती हैं। फलस्वरूप मनुष्य को चाहिए कि वह स्वर्गलोक जाने के लिए प्रयास न करे, क्योंकि उससे या तो पृथ्वी पर लौटना होगा या इससे भी नीचे नरक लोकों को जाना होगा। ऊपर जाने तथा नीचे आने के इस चक्कर को समाप्त करने के लिए मनुष्य को कृष्णभावनामृत ग्रहण करना चाहिए। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान जीव।
गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज॥

(*चैतन्य-चरितामृत, मध्य* १९.१५१)

जीव जन्म तथा मृत्यु के चक्र में घूम रहा है, कभी स्वर्गलोक जाता है, तो कभी अधोलोकों में जाता है, किन्तु यह तो जीवन की समस्याओं का कोई हल नहीं हुआ। हाँ, यदि कृष्णकृपा से किसी को कृष्णप्रतिनिधि, गुरु, मिल जाये तो वह आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करके भगवद्धाम जाने का संकेत पा सकता है। वास्तव में यही वांछनीय है। *भजतात्म-लब्धये*—मनुष्यों को आत्म-साक्षात्कार के लिए कृष्णभावनामृत ग्रहण करना चाहिए।

यदर्थ इह कर्माणि विद्वन्मान्यसकृन्नरः ।
करोत्यतो विपर्यासममोघं विन्दते फलम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; अर्थे—लिए; इह—इस भौतिक जगत में; कर्माणि—अनेक कार्य (फैक्टरियों, उद्योगों, चिन्तन आदि में); विद्वत्—ज्ञान में बढ़ा-चढ़ा; मानी—मानने वाला; असकृत्—पुनः पुनः; नरः—पुरुष; करोति—करता है; अतः—इससे; विपर्यासम्—विपरीत; अमोघम्—ध्रुव; विन्दते—प्राप्त करता है; फलम्—फल।

भौतिकतावादी मनुष्य अपने को अत्यन्त बुद्धिमान समझ कर निरन्तर आर्थिक विकास के लिए कर्म करता रहता है। किन्तु जैसाकि वेदों में बताया गया है, वह या तो इसी जीवन में या अगले जीवन में भौतिक कर्मों द्वारा बार-बार निराश होता रहता है। निस्सन्देह, उसे अपनी इच्छाओं से सर्वथा विपरीत फल मिलते हैं।

तात्पर्य : किसी को आज तक भौतिक कर्मों से मनवांछित फल नहीं प्राप्त हो सका। उल्टे, वह पुनः पुनः निराश होता रहा है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह न तो इस जीवन में और न अगले जीवन में ऐसे इन्द्रिय सुख-कर्मों में अपना समय व्यर्थ गँवाए। अनेक राष्ट्रवादियों, अर्थशास्त्रियों तथा अन्य महत्त्वकांक्षी पुरुषों ने अकेले या सामूहिक रूप से सुख के लिए प्रयत्न किए हैं किन्तु इतिहास से यह प्रकट है कि वे सब निराश हुए हैं। हमने अर्वाचीन इतिहास में अनेकानेक राजनीतिक नेताओं को व्यक्तिगत तथा सामूहिक आर्थिक विकास के लिए कठिन कार्य करते देखा है किन्तु वे सभी असफल रहे हैं। यह तो प्रकृति का नियम है, जैसाकि अगले श्लोक में स्पष्ट बताया गया है।

सुखाय दुःखमोक्षाय सङ्कल्प इह कर्मिणः ।
सदाप्नोतीहया दुःखमनीहायाः सुखावृतः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

सुखाय—जीवन के तथाकथित उच्चतर स्तर के द्वारा सुख प्राप्त करने के लिए; दुःख-मोक्षाय—दुख से छुटकारा पाने के लिए; सङ्कल्पः—संकल्प; इह—इस संसार में; कर्मिणः—आर्थिक विकास के लिए प्रयत्नशील जीव का; सदा—सदैव; आप्नोति—प्राप्त करता है; ईहया—कर्म या महत्त्वाकांक्षा द्वारा; दुःखम्—केवल दुख; अनीहायाः—आर्थिक विकास न चाहते हुए; सुख—सुख से; आवृतः—ढका हुआ।

इस भौतिक जगत में प्रत्येक भौतिकतावादी सुख का इच्छुक रहता है और अपने दुख कम करना चाहता है, अतएव वह तदनुसार कर्म करता है। किन्तु वास्तव में कोई तभी तक सुखी रहता है जब तक वह सुख के लिए प्रयत्नशील नहीं होता। ज्योंही वह सुख के लिए कार्य प्रारम्भ कर देता है त्योंही उसकी दुख की अवस्था प्रारम्भ होती है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में वर्णन हुआ है (*प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैकर्माणि सर्वशः*),

प्रत्येक बद्धजीव प्रकृति के नियमों से बँधा हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् के आदेशानुसार प्रकृति से एक विशेष प्रकार का शरीर प्राप्त हुआ है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

"हे अर्जुन! भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हैं और उन सारे जीवों को घुमा रहे हैं मानो वे भौतिक शक्ति से बने यंत्र पर आरूढ़ हों।" (*भगवद्गीता* १८.६१) भगवान् परमात्मा रूप में हर एक के हृदय में स्थित हैं और जीव जैसी इच्छा करता है उसी के अनुसार भगवान् उसे विभिन्न शरीरों में अपनी आकांक्षाओं के अनुसार कर्म करने की सुविधा प्रदान करते हैं। यह शरीर एक यंत्र के समान है, जिसके द्वारा मनुष्य सुख की मिथ्या इच्छा के अनुसार घूमता रहता है और जीवन के विभिन्न स्तरों में जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से पीड़ित होता रहता है। प्रत्येक प्राणी किसी न किसी योजना तथा कामना से अपने कार्य प्रारम्भ करता है, किन्तु उसे अपनी योजना के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक कोई सुख प्राप्त नहीं होता। इसके विपरीत ज्योंही वह अपनी योजना के अनुसार कार्य प्रारम्भ करता है त्योंही उसका कष्टमय जीवन शुरू हो जाता है। अतएव मनुष्य को जीवन की कष्टप्रद अवस्था को दूर करने के लिए उत्सुक नहीं होना चाहिए, क्योंकि इसके लिए कोई कुछ नहीं कर सकता। *अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।* यद्यपि मनुष्य अपनी मिथ्या कामना के अनुसार कर्म करता रहता है, तथापि वह सोचता है कि अपने कर्मों से वह अपनी भौतिक स्थिति सुधार सकता है। वेदों का आदेश है कि मनुष्य को चाहिए कि वह न तो सुख बढ़ाने का, न ही दुखों को कम करने का प्रयास करे, क्योंकि यह सब व्यर्थ होता है। *तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदः*—मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार के लिए कार्य करना चाहिए न कि आर्थिक विकास के लिए जिसको सुधार पाना असम्भव है। बिना प्रयास के ही उसके भाग्य में लिखा सुख तथा दुख मिलेगा। कोई इसे बदल नहीं सकता। अतएव श्रेयस्कर यही होगा कि मनुष्य अपना समय कृष्णभावनामृतमय आध्यात्मिक जीवन की प्रगति में लगाए। मनुष्य होकर उसे अपने समय का अपव्यय नहीं करना चाहिए। यह अच्छा होगा कि तथाकथित सुख की कामना किये बिना कृष्णभावनामृत को विकसित करने में इस जीवन का उपयोग किया जाये।

कामान्कामयते काम्यैर्यदर्थमिह पूरुषः ।
स वै देहस्तु पारक्यो भङ्गुरो यात्युपैति च ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

कामान्—इन्द्रिय तृप्ति की वस्तुओं को; कामयते—इच्छा करता है; काम्यैः—विभिन्न अभिलिषित कार्यों द्वारा; यत्—जिस; अर्थम्—के लिए; इह—इस भौतिक जगत में; पूरुषः—जीवात्मा; सः—वह; वै—निस्सन्देह; देहः—शरीर; तु—लेकिन; पारक्यः—अन्यों का (कुत्ता, चील्हों इत्यादि का) ; भङ्गुरः—नश्वर; याति—चला जाता है; उपैति—आत्मा का आलिंगन करता है; च—तथा।

जीवात्मा अपने शरीर के लिए सुख चाहता है और इस उद्देश्य से वह अनेक योजनाएँ बनाता है, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि यह शरीर तो दूसरों की सम्पत्ति होता है। निस्सन्देह, नश्वर शरीर जीवात्मा को गले लगाता है और फिर उसे छोड़कर चल देता है।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति अपने शरीर के लिए सुविधा चाहता है और इसके लिए वह उपयुक्त परिस्थिति उत्पन्न करता है, किन्तु वह यह भूल जाता है कि वह शरीर कुत्तों, सियारों अथवा कीटों के भक्षण के लिए है और यह व्यर्थ मल-राख अथवा मिट्टी में परिणत हो जाता है। जीवात्मा प्रत्येक जन्म में एक शरीर के बाद दूसरे शरीर की सुविधा के लिए भौतिक सम्पत्ति प्राप्त करने के व्यर्थ प्रयासों में अपना समय गँवाता है।

किमु व्यवहितापत्यदारागारधनादयः ।
राज्यकोशगजामात्यभृत्याप्ता ममतास्पदाः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

किम् उ—क्या कहा जाये; व्यवहित—पृथक् किया गया; अपत्य—सन्तानें; दार—पत्नियाँ; अगार—निवासस्थान; धन—सम्पत्ति; आदयः—इत्यादि; राज्य—राज्य; कोश—खजाना; गज—बड़े बड़े हाथी तथा घोड़े; अमात्य—मंत्री; भृत्य—नौकर-चाकर; आप्ताः—सम्बन्धी; ममता-आस्पदाः—घनिष्ठ सम्बन्धियों के झूठे स्थान या घर (अपने लोग)।

चूँकि शरीर को अन्ततः मल या मिट्टी में बदल जाना है अतएव इस शरीर से सम्बन्धित साज-सामान—यथा पत्नियाँ, घर, धन, बच्चे, सम्बन्धी, नौकर-चाकर, मित्र, राज्य, खजाने, पुश तथा मंत्रियों—से क्या प्रयोजन? ये सभी नश्वर हैं। इनके विषय में और अधिक क्या कहा जा सकता है?

किमेतैरात्मनस्तुच्छैः सह देहेन नश्वरैः ।
अनर्थैरर्थसङ्काशैर्नित्यानन्दरसोदधेः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या लाभ; एतैः—इन सबों से; आत्मनः—अपने को; तुच्छैः—जो प्राय: नगण्य हैं; सह—साथ; देहेन—शरीर के; नश्वरैः—नाशवान; अनर्थैः—अनिच्छित; अर्थ-सङ्काशैः—ऐसा प्रतीत होता है मानो आवश्यक हों; नित्य-आनन्द—नित्य सुख के; रस—अमृत के; उदधेः—समुद्र के लिए।

ये सारे साज-सामान तभी तक अत्यन्त प्रिय लगते हैं जब तक यह शरीर है किन्तु ज्योंही यह शरीर नष्ट हो जाता है त्योंही शरीर से सम्बद्ध ये सारी वस्तुएँ भी समाप्त हो जाती हैं। अतएव वास्तव में किसी को इनसे कुछ लेना-देना नहीं रहता है किन्तु वह अज्ञानवश ही इन्हें मूल्यवान समझ बैठता है। शाश्वत सुख के सागर की तुलना में ये सारी वस्तुएँ अत्यन्त नगण्य हैं। शाश्वत जीव के लिए ऐसे नगण्य सम्बन्धों से क्या लाभ है?

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत या कृष्णभक्ति शाश्वत आनन्द का सागर है। इस शाश्वत आनन्द की तुलना में समाज के तथाकथित सुख, मित्रता तथा प्रेम व्यर्थ तथा नगण्य हैं। अतएव मनुष्य को अस्थायी वस्तुओं के लिए आसक्त नहीं होना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि कृष्णभावनामृत स्वीकार करके सदा के लिए सुखी बन जाये।

निरूप्यतामिह स्वार्थः कियान्देहभृतोऽसुराः ।
निषेकादिष्ववस्थासु क्लिश्यमानस्य कर्मभिः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

निरूप्यताम्—निश्चित हो जाने दें; इह—इस संसार में; स्व-अर्थः—निजी लाभ; कियान्—कितना; देह-भृतः—शरीरधारी जीव का; असुराः—हे असुरपुत्रो; निषेक-आदिषु—मैथुन आदि से प्राप्त होने वाले सुख इत्यादि; अवस्थासु—नश्वर दशाओं में; क्लिश्यमानस्य—घोर कठिनाइयों को भोगने वाले का; कर्मभिः—पूर्वकर्मों के द्वारा।

हे मित्रो, हे असुरपुत्रो, जीव को अपने पूर्वकर्मों के अनुसार नाना प्रकार के शरीर प्राप्त होते हैं। इस तरह वह अपने विशिष्ट जीवन की सभी स्थितियों में—गर्भ में प्रवेश करने से लेकर अपने इस विशेष शरीर तक—कष्ट ही कष्ट भोगता प्रतीत होता है। अतएव तुम लोग पूरी तरह विचार करके मुझे बतलाओ कि जीव का ऐसे सकाम कर्मों में वास्तविक स्वार्थ क्या है, जबकि ये दुख तथा कष्ट प्रदान करने वाले हैं?

तात्पर्य : *कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये।* मनुष्य को अपने कर्म के अनुसार विशेष प्रकार का शरीर मिलता है। इस संसार में मनुष्य के विशेष प्रकार के शरीर से प्राप्त होने वाला भौतिक आनन्द विषय-भोग पर आधारित है—*यन्मैथुनादिगृहमेधि सुखं हि तुच्छम्।* सारा संसार केवल मैथुन-सुख के लिए कठिन श्रम कर रहा है। मैथुन-सुख भोगने और भौतिक जीवन को बनाये रखने के लिए उसे

अत्यधिक श्रम करना पड़ता है और ऐसे कार्यों के कारण वह दूसरे भौतिक शरीर के लिए तैयारी करता रहता है। प्रह्लाद महाराज इस विषय को अपने असुर मित्रों के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत करते हैं। सामान्यतया असुर लोग यह नहीं समझ सकते कि भौतिक जीवन का तथाकथित आनन्द अर्थात् मैथुन-सुख की सारी वस्तुएँ अत्यधिक कठिन श्रम पर निर्भर करती हैं।

कर्माण्यारभते देही देहेनात्मानुवर्तिना ।
कर्मभिस्तनुते देहमुभयं त्वविवेकतः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

कर्माणि—सकाम कर्म; आरभते—प्रारम्भ करता है; देही—देहधारी जीव; देहेन—उस शरीर से; आत्म-अनुवर्तिना—अपनी इच्छा तथा पूर्वकर्मों के अनुसार प्राप्त होने वाला; कर्मभिः—ऐसे कर्मों के द्वारा; तनुते—विस्तीर्ण करता है; देहम्—दूसरा शरीर; उभयम्—दोनों; तु—निस्सन्देह; अविवेकतः—अज्ञान के कारण।

वह जीव, जिसे यह वर्तमान शरीर अपने विगत कर्म के कारण प्राप्त हुआ है, अपने इस जीवन में ही अपने कर्म के फलों को समाप्त कर सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह शरीर के बन्धन से मुक्त हो गया है। जीव को एक प्रकार का शरीर मिलता है और वह इस शरीर से कर्म करके दूसरे शरीर को जन्म देता है। इस प्रकार वह अपने अज्ञान के कारण जन्म-मरण के चक्र द्वारा एक शरीर से दूसरे में देहान्तर करता रहता है।

तात्पर्य : विभिन्न शरीरों से होकर जीव का विकास प्रकृति के नियमों द्वारा स्वतः चलता रहता है, मनुष्य को छोड़कर। दूसरे शब्दों में, जीव प्रकृति के नियमों द्वारा (*प्रकृतेः क्रियमाणानि*) निम्न योनियों से विकसित होकर मनुष्य योनि प्राप्त करता है। किन्तु अपनी विकसित चेतना के कारण मनुष्य को जीव की स्वाभाविक स्थिति समझनी चाहिए और यह समझना चाहिए कि वह भौतिक शरीर क्यों स्वीकार करे। उसे यह अवसर प्रकृति द्वारा प्रदान किया जाता है किन्तु यदि इतने पर भी वह पशु की ही तरह कार्य करता है, तो उसके मनुष्य-जीवन से क्या लाभ? इस जीवन में मनुष्य को जीवन-लक्ष्य चुनकर उसी के अनुसार कार्य करना चाहिए। उसे गुरु तथा शास्त्रों से उपदेश ग्रहण करके काफी बुद्धिमान बन जाना चाहिए। मनुष्य जीवन में उसे मूर्ख तथा अज्ञानी नहीं बने रहना चाहिए अपितु उसे अपनी स्वाभाविक स्थिति के विषय में जिज्ञासा करनी चाहिए। यह *अथातो ब्रह्मजिज्ञासा* कहलाता है। मानव मनोविज्ञान से अनेक प्रश्न उठते हैं जिन पर विविध विचारकों ने मनन किया है और ज्ञान के आधार पर अनेक प्रकार के उत्तर दिये हैं। यह मोक्ष की विधी नहीं है। वैदिक आदेश है—*तद्विज्ञानार्थं*

स गुरुमेवाभिगच्छेत्—जीवन की समस्याओं का हल निकालने के लिए गुरु बनाना चाहिए। *तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमं*—यदि कोई भौतिक जीवन की समस्या के विषय में जानने के लिए सचमुच उत्सुक है, तो उसे प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए।

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

"गुरु के निकट जाकर सत्य जानने का प्रयास करो। उनसे विनीत भाव से प्रश्न करो और उनकी सेवा करो। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति तुम्हें ज्ञान प्रदान कर सकता है क्योंकि उसने सत्य का दर्शन किया है।" (*भगवद्गीता* ४.३४) मनुष्य को चाहिए कि *प्रणिपातेन* अर्थात् शरण में जाकर तथा सेवा करके प्रामाणिक गुरु के निकट तक पहुँचे। बुद्धिमान मनुष्य को गुरु से जीवन-लक्ष्य के विषय में प्रश्न पूछना चाहिए। एक प्रामाणिक गुरु ऐसे समस्त प्रश्नों का उत्तर दे सकता है क्योंकि उसने असली सत्य को देखा है। हम अपने सामान्य कार्यकलापों तक में हानि-लाभ पर विचार करके ही सब कर्म करते हैं। इसी तरह बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि भौतिक जीवन की सम्पूर्ण प्रक्रिया पर विचार करे और तब प्रामाणिक गुरु के आदेशानुसार बुद्धिमत्तापूर्वक कर्म करे।

तस्मादर्थाश्च कामाश्च धर्माश्च यदपाश्रयाः ।
भजतानीहयात्मानमनीहं हरिमीश्वरम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; अर्थाः—आर्थिक विकास के लिए आकांक्षाएँ; च—तथा; कामाः—इन्द्रिय तृप्ति के लिए आकाक्षाएँ; च—भी; धर्माः—धर्म के कर्तव्य; च—तथा; यत्—जिस पर; अपाश्रयाः—आश्रित; भजत—पूजा करो; अनीहया—उनके लिए किसी प्रकार की इच्छा से रहित; आत्मानम्—परमात्मा को; अनीहम्—विरस; हरिम्—भगवान् को; ईश्वरम्—ईश्वर को।

आध्यात्मिक जीवन के चार सिद्धान्त—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—भगवान् की रुचि पर आश्रित हैं। अतएव हे मित्रो, भक्तों के चरणचिन्हों का अनुगमन करो। बिना किसी प्रकार की इच्छा किये (निष्काम भाव से) परमेश्वर पर आश्रित रहकर भक्तिपूर्वक परमात्मा की पूजा करो।

तात्पर्य : ये बुद्धिमानी के शब्द हैं। हर व्यक्ति को यह जान लेना चाहिए कि जीवन की प्रत्येक अवस्था में हम भगवान् पर आश्रित हैं। अतएव हम जिस धर्म को स्वीकार करते हैं वह *भावगत धर्म* होना चाहिए जिसकी संस्तुति प्रह्लाद महाराज कर रहे हैं। यही कृष्ण का उपदेश है—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।* कृष्ण के चरणकमलों में शरण ग्रहण करने का अर्थ है भागवत धर्म या भक्ति के

विधि-विधानों के अनुसार कर्म करना। जहाँ तक आर्थिक विकास का सम्बन्ध है हमें अपने-अपने वृत्तिपरक कर्तव्य करने चाहिए, किन्तु उनके फलों के लिए भगवान् के चरणकमलों पर पूर्णरूपेण आश्रित रहना चाहिए। *कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्*—तुम्हें अपने वृत्तिपरक कर्तव्य करने का अधिकार तो है, किन्तु कर्म के फलों का अधिकार तुम्हें नहीं है। मनुष्य को अपने पद के अनुसार अपने कर्तव्य करने चाहिए किन्तु फल के लिए कृष्ण पर पूरी तरह आश्रित रहना चाहिए। नरोत्तमदास ठाकुर गाते हैं कि हमारी एकमात्र कामना यही होनी चाहिए कि हम कृष्णभावनामृत के कार्यों को सम्पन्न करें। हमें *कर्म-मीमांसा* दर्शन से भ्रमित नहीं होना चाहिए जिसके अनुसार यदि हम गम्भीरतापूर्वक अपना कर्तव्य करते रहें तो उसका फल स्वत: प्राप्त हो जाएगा। यह तथ्य नहीं है। अन्तिम फल तो भगवान् की इच्छा पर निर्भर करता है। अतएव भक्ति में भक्त भगवान् पर पूर्णत: आश्रित रहता है और दम्भहीन होकर अपने वृत्तिपरक कर्तव्य सम्पन्न करता है। अतएव प्रह्लाद महाराज ने अपने मित्रों को सलाह दी कि वे कृष्ण पर पूरी तरह निर्भर रहें और भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करें।

सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मेश्वर: प्रिय: ।
भूतैर्महद्भि: स्वकृतै: कृतानां जीवसंज्ञित: ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

सर्वेषाम्—समस्त; अपि—निश्चय ही; भूतानाम्—जीवों में से; हरि:—भगवान् जो जीव के कष्टों को शमन करने वाले हैं; आत्मा—जीवन का आदि स्रोत; ईश्वर:—पूर्ण नियन्ता; प्रिय:—प्रिय; भूतै:—पाँच भौतिक तत्त्वों द्वारा; महद्भि:—समग्र भौतिक शक्ति महत् तत्त्व से उद्भूत; स्व-कृतै:—जो स्वत: प्रकट होते हैं; कृतानाम्—उत्पन्न; जीव-संज्ञित:—जीव के नाम से ज्ञात, क्योंकि सारे जीव भगवान् की तटस्था शक्ति के अंश हैं।

भगवान् हरि समस्त जीवों के आत्मा तथा परमात्मा हैं। प्रत्येक जीव जीवित आत्मा तथा भौतिक शरीर के रूप में उनकी शक्ति का प्राकट्य है। अतएव भगवान् अत्यन्त प्रिय हैं और परम नियन्ता हैं।

तात्पर्य : परमेश्वर अपनी विविध शक्तियों—भौतिक, आध्यात्मिक था तटस्था शक्तियों—द्वारा प्रकट होते हैं। वे इस भौतिक जगत में समस्त जीवों के आदि स्रोत हैं और हर एक के हृदय में परमात्मा रूप में विद्यमान हैं। यद्यपि जीव अपने विभिन्न प्रकार के शरीरों का कारण है, किन्तु शरीर तो भगवान् के आदेशानुसार प्रकृति द्वारा प्रदान किया जाता है।

ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।

"हे अर्जुन! भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हैं और उन सबको घुमा रहे हैं, जो मानो भौतिक शक्ति से बने एक यंत्र पर आरूढ़ हैं।" (*भगवद्गीता* १८.६१) यह शरीर एक यंत्र या कार के समान है, जिसमें जीव को बैठाकर इच्छानुसार घूमने का अवसर प्रदान किया जाता है। भगवान् भौतिक शरीर तथा आत्मा के आदि कारण हैं, जो उनकी तटस्था शक्ति के कारण विस्तार करता है। परमेश्वर समस्त जीवों के सर्वाधिक प्रिय हैं। अतएव प्रह्लाद महाराज अपने सहपाठियों को, जो असुरों के पुत्र हैं, सलाह देते हैं कि वे पुनः परमेश्वर की शरण ग्रहण करें।

देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा ।
भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान्स्याद्यथा वयम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

देवः—देवता; असुरः—असुर; मनुष्यः—मनुष्य; वा—अथवा; यक्षः—यक्ष (आसुरी योनि का सदस्य); गन्धर्वः—गन्धर्व; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा; भजन्—सेवा करते हुए; मुकुन्द-चरणम्—मुक्तिदाता मुकुन्द या भगवान् कृष्ण के चरणकमलों पर; स्वस्ति-मान्—समस्त कल्याण से ओत-प्रोत; स्यात्—हो जाता है; यथा—जिस प्रकार; वयम्—हम (प्रह्लाद महाराज)।

यदि देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व या अन्य कोई इस संसार के भीतर मुक्तिदाता मुकुन्द के चरणकमलों की सेवा करता है, तो वह हमारे (प्रह्लाद महाराज जैसे महाजनों के) ही समान जीवन की सर्वश्रेष्ठ कल्याणकारी स्थितियों कल्याण का भाजन होता है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज ने अपना ही जीता-जागता उदाहरण देते हुए अपने मित्रों से अनुरोध किया कि वे भक्ति में लग जाँए। चाहे कोई देव समाज का हो या असुर समाज, मानव समाज या गन्धर्व समाज का, प्रत्येक जीव को मुकुन्द के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए और सौभाग्य में पूर्ण बनना चाहिए।

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः ।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ॥ ५१ ॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च ।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अलम्—पर्याप्त; द्विजत्वम्—अत्यन्त पूर्ण एवं योग्य ब्राह्मण होना; देवत्वम्—देवत्व; ऋषित्वम्—साधु पुरुष होना; वा—अथवा; असुर-आत्म-जाः—हे असुरों के वंशजो; प्रीणनाय—प्रसन्न करने के लिए; मुकुन्दस्य—भगवान् मुकुन्द का; न

वृत्तम्—बुरा आचरण; न—नहीं; बहु-ज्ञता—पाण्डित्य; न—न तो; दानम्—दान; न—न तो; तपः—तपस्या; न—न तो; इज्या—पूजा; न—न तो; शौचम्—स्वच्छता; न व्रतानि—न व्रतों का पालन; च—भी; प्रीयते—प्रसन्न किया जाता है; अमलया—निष्कलंक; भक्त्या—भक्ति द्वारा; हरिः—भगवान्; अन्यत्—अन्य वस्तुएँ; विडम्बनम्—मात्र दिखावा।

हे मित्रो, हे असुरपुत्रो, तुम लोग न तो पूर्ण ब्राह्मण, देवता या महान् सन्त बनकर, न ही सदाचरण या प्रकाण्ड ज्ञान के द्वारा परमेश्वर को प्रसन्न कर सकते हो। इनमें से किसी भी योग्यता से भगवान् प्रसन्न होने वाले नहीं हैं। न ही दान, तपस्या, यज्ञ, शुद्धता या व्रतों से उन्हें कोई प्रसन्न कर सकता है। भगवान् तो तभी प्रसन्न होते हैं जब मनुष्य उनकी अविचल अनन्य भक्ति करता है। एकनिष्ठ भक्ति के बिना सब कुछ दिखावा मात्र है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि परमेश्वर की सभी प्रकार से निष्ठापूर्वक सेवा करने पर ही कोई पूर्ण बन सकता है। ईश्वर-प्रेम विकसित करने के लिए ब्राह्मण, देवता, ऋषि जैसे भौतिक उच्च पद कारणस्वरूप नहीं हैं किन्तु यदि कोई निष्ठापूर्वक भगवान् की सेवा में लगा रहता है, तो उसकी कृष्ण-चेतना पूरी हो जाती है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* द्वारा (९.३०) होती है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

"भले ही कोई अत्यन्त निन्दनीय कार्य क्यों न करे, किन्तु यदि वह भक्ति में लगा रहता है, तो वह साधु माना जाता है, क्योंकि वह सम्यक् रीति से अवस्थित होता है।" जीवन की पूर्णता इसी में है कि कृष्ण के लिए अनन्य प्रेम उत्पन्न किया जाये। इसमें अन्य विधियाँ भी सहायक हो सकती हैं, किन्तु यदि कृष्ण के प्रति प्रेम उत्पन्न नहीं होता तो अन्य सारी विधियाँ समय का अपव्यय मात्र हैं।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

"मनुष्यों के द्वारा किसी भी व्यवसाय से सम्बन्धित किये गये कर्तव्य (धर्म) व्यर्थ श्रम होते हैं यदि वे भगवान् के प्रति आकर्षण न उत्पन्न कर सकें।" (*भागवत* १.२.८) किसी की पूर्णता की परीक्षा भगवान् के प्रति उसकी अनन्य भक्ति है।

ततो हरौ भगवति भक्तिं कुरुत दानवाः ।
आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतात्मनीश्वरे ॥५३॥

शब्दार्थ

ततः—अतएव; हरौ—भगवान् हरि के प्रति; भगवति—भगवान्; भक्तिम्—भक्ति; कुरुत—करो; दानवाः—मेरे मित्रों, असुरपुत्रों; आत्म-औपम्येन—अपनी ही तरह; सर्वत्र—सभी जगह; सर्व-भूत-आत्मनि—जो समस्त जीवों में आत्मा तथा परमात्मा के रूप में स्थित है; ईश्वरे—नियन्ता भगवान् में।

हे मित्र असुरपुत्रो, जिस प्रकार तुम सब अपने आपको देखते हो और अपनी देखभाल करते हो उसी तरह समस्त जीवों में परमात्मा के रूप में सर्वत्र विद्यमान रहने वाले भगवान् को प्रसन्न करने के लिए उनकी भक्ति स्वीकार करो।

तात्पर्य : *आत्मौपम्येन* शब्द का अर्थ है अपने ही समान अन्यों को समझना। मनुष्य आसानी से यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि बिना भक्ति के, बिना कृष्णभावनाभावित हुए कोई सुखी नहीं रह सकता। अतएव भक्तों का कर्तव्य है कि विश्व भर में सर्वत्र कृष्णभावनामृत का प्रचार करें, क्योंकि कृष्णभावनामृत के अभाव में सारे जीव सांसारिक यातनाएँ झेल रहे हैं। कृष्णभावनामृत का प्रचार सर्वश्रेष्ठ कल्याण-कार्य है। निस्सन्देह, श्री चैतन्य महाप्रभु ने इसे *पर-उपकार* कहा है। जिन लोगों ने भारत भूमि में मनुष्य रूप में जन्म लिया है उन्हें *पर-उपकार* करने का कार्य भार विशेषरूप में सौंपा गया है।

भारत-भूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार।
जन्म सार्थक करि' कर पर-उपकार॥

सारा संसार कृष्णभावनामृत के अभाव से पीड़ित है (चै.च. आदि ९.४१) अतएव चैतन्य महाप्रभु ने भारत में जन्म लेने वाले सारे मनुष्यों को उपदेश दिया है कि कृष्णभावनामृत द्वारा अपने जीवन को पूर्ण बनाएँ और फिर सारे विश्व में इस दिव्य सन्देश का उपदेश दें जिससे अन्य लोग कृष्णभावनामृत के नियमों का पालन करके सुखी बन सकें।

दैतेया यक्षरक्षांसि स्त्रियः शूद्रा व्रजौकसः ।
खगा मृगाः पापजीवाः सन्ति ह्यच्युततां गताः ॥५४॥

शब्दार्थ

दैतेयाः—हे असुरो; यक्ष-रक्षांसि—यक्ष तथा राक्षस कहलाने वाले; स्त्रियः—स्त्रियाँ; शूद्राः—श्रमिक वर्ग; व्रज-ओकसः—ग्रामीण ग्वाले; खगाः—पक्षी; मृगाः—पशु; पाप-जीवाः—पापी जीव; सन्ति—हो सकते हैं; हि—निश्चय ही; अच्युतताम्—अच्युत भगवान् के गुण को; गताः—प्राप्त।

हे मित्रो! हे असुरपुत्रो, प्रत्येक व्यक्ति जिसमें तुम भी शामिल हो, (यक्ष तथा राक्षस) अज्ञानी

स्त्रियाँ, शूद्र, ग्वाले, पक्षी, निम्नतर पशु तथा पापी जीव अपना-अपना मूल शाश्वत आध्यात्मिक जीवन पुन: प्राप्त कर सकते हैं और भक्तियोग के सिद्धान्तों को स्वीकार करने मात्र से सदा-सदा इसी तरह बने रह सकते हैं।

तात्पर्य : भक्तों को *अच्युत गोत्र* अर्थात् भगवान् का वंश कहा जाता है। भगवान् *अच्युत* कहलाते हैं जैसाकि *भगवद्‌गीता* में इंगित किया गया है (*सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत्*)। भगवान् इस जगत में अच्युत हैं क्योंकि वे परम आध्यात्मिक पुरुष हैं। इसी प्रकार भगवान् के अंश होने के कारण जीव भी अच्युत बन सकते हैं। यद्यपि प्रह्लाद की माता बद्ध अवस्था में थीं और असुर की पत्नी थीं, लेकिन यक्ष, राक्षस, स्त्रियाँ, शूद्र यहाँ तक कि पक्षी तथा अन्य निम्नतर जीव भी *अच्युत गोत्र* को प्राप्त हो सकते हैं। यही सर्वोच्च सिद्धि है। जिस प्रकार कृष्ण कभी च्युत नहीं होते उसी प्रकार जब हम अपनी आध्यात्मिक चेतना, कृष्णभावनामृत, को पुन: जाग्रत कर लेते हैं, तो हम पुन: भवसागर में नहीं गिरते। मनुष्य को चाहिए कि परम अच्युत श्रीकृष्ण की स्थिति को समझे जिन्होंने *भगवद्‌गीता* (४.९) में कहा है :

जन्म कर्म च में दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो मेरे प्राकट्य तथा कार्यों की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह अपना शरीर त्यागने के बाद इस जगत में पुन: जन्म नहीं लेता बल्कि मेरे नित्य धाम को प्राप्त करता है।" मनुष्य को चाहिए कि अच्युत को समझे और यह भी समझे कि हम उनसे किस प्रकार सम्बद्ध हैं। उसे भगवान् की सेवा करनी चाहिए। यही जीवन की पूर्णता है। श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—*अच्युततां च्युतिवर्जनम्।* *अच्युतता* शब्द उस मनुष्य का सूचक है, जो इस जगत में कभी नहीं गिरता, अपितु भगवान् की सेवा में सदा लगा हुआ वैकुण्ठ लोक में रहता आ रहा है।

एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंस: स्वार्थ: पर: स्मृत: ।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

एतावान्—इतना; एव—निश्चय ही; लोके अस्मिन्—इस जगत में; पुंसः—जीव का; स्व-अर्थः—असली हित; परः—दिव्य; स्मृतः—माना जाने वाला; एकान्त-भक्तिः—अनन्य भक्ति; गोविन्दे—गोविन्द के प्रति; यत्—जो; सर्वत्र—सभी तरह; तत्-ईक्षणम्—गोविन्द या कृष्ण के साथ सम्बन्ध को देखना।

इस भौतिक जगत में समस्त कारणों के कारण गोविन्द के चरणकमलों के प्रति सेवा करना और सर्वत्र उनका दर्शन करना ही एकमात्र जीवन-लक्ष्य है। जैसाकि समस्त शास्त्रों ने बतलाया है मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य इतना ही है।

तात्पर्य : इस श्लोक में आगत *सर्वत्र तदीक्षणम्* शब्द भक्ति की चरम सिद्धि को बताते हैं जिसमें प्रत्येक वस्तु गोविन्द के कार्यकलापों से सम्बद्ध दिखती है। अतएव उच्च भक्त (महाभागवत) कभी भी किसी वस्तु को गोविन्द से असम्बद्ध नहीं देखता।

स्थावर-जङ्गम देखे, ना देखे तार मूर्ति।

सर्वत्र हय निज इष्टदेव-स्फूर्ति॥

"*महाभागवत* प्रत्येक चल तथा अचल वस्तु को देखता है लेकिन वह उनके वास्तविक रूपों को नहीं देखता। प्रत्युत वह जहाँ कहीं भी देखता है, वहीं उसे परमेश्वर का रूप प्रकट दिखता है।" (*चैतन्य-चरितामृत,* मध्य ८.२७४) यहाँ तक कि इस जगत में भी भक्त भौतिकरूप से प्रकट होने वाली वस्तुओं को नहीं देखता, इसके बदले में वह हर वस्तु में गोविन्द के दर्शन करता है। जब कोई भक्त किसी वृक्ष या मनुष्य को देखता है, तो वह उन्हें गोविन्द रूप में देखता है। *गोविन्दमादिपुरुषम्*—गोविन्द प्रत्येक वस्तु के आदि स्रोत हैं।

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।

अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

"गोविन्द कहलाने वाले कृष्ण परम नियन्ता है। सच्चिदानन्द रूप हैं। वे सबों के उद्‌गम हैं। उनका कोई अन्य उद्‌गम नहीं हैं, क्योंकि वे समस्त कारणों के कारण हैं।" (*ब्रह्म-संहिता* ५.१) एक पूर्ण भक्त की पहचान यही है कि वह इस ब्रह्माण्ड में गोविन्द के सर्वत्र दर्शन करता है, यहाँ तक कि एक परमाणु में भी (*अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थम्*)। भक्त की यही पूर्ण दृष्टि है। इसीलिए कहा गया है—

नारायणमयं धीराः पश्यन्ति परमार्थिनः।

जगद् धनमयं लुब्धाः कामुकाः कामिनीमयम्॥

भक्त हर एक को नारायण रूप में देखता है (*नारायणमयम्*)। प्रत्येक वस्तु नारायण की शक्ति का विस्तार है। जिस प्रकार लोभी को प्रत्येक वस्तु कमाई का साधन प्रतीत होती है और जिस प्रकार कामी को सारी वस्तु काम के लिए अनुकूल लगती हैं उसी तरह परम पूर्ण भक्त प्रह्लाद महाराज ने एक एत्थर के ख भे के भीतर भी नारायण को देखा। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि हम किसी भ्रष्ट व्यक्ति द्वारा गढ़े गये *दरिद्र नारायण* शब्द को स्वीकार करें। वास्तव में जो नारायण का सर्वत्र दर्शन करता है, वह दरिद्र तथा धनी में कोई अन्तर नहीं करता। *दरिद्र नारायण* को चुनना और *धनी नारायण* का परित्याग—भक्त की यह दृष्टि नहीं होती प्रत्युत यह भौतिकतावादी व्यक्तियों की अपूर्ण दृष्टि है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध के अन्तर्गत ''प्रह्लाद ने गर्भ में क्या सीखा'' नामक सातवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter आठ

भगवान् नृसिंह द्वारा असुरराज का वध

जैसाकि इस अध्याय में बताया गया है, हिरण्यकशिपु अपने ही पुत्र प्रह्लाद महाराज को मार डालने के लिए उद्यत था, किन्तु उस असुर के समक्ष भगवान् श्री नृकेशरी, अर्ध-सिंह, अर्ध-मनुष्य के रूप में प्रकट हुए और उसका वध कर दिया।

प्रह्लाद महाराज के उपदेशों का पालन करने से असुरों के सारे पुत्र भगवान् विष्णु के प्रति अनुरक्त हो उठे। जब यह अनुराग प्रकट हो गया तो षण्ड तथा अमर्क नामक उनके शिक्षक अत्यन्त भयभीत हो उठे कि ये सारे बालक भगवान् के प्रति अधिकाधिक अनुरक्त हो उठेंगे। अतएव अपने को असहाय पाकर वे हिरण्यकशिपु के पास गये और प्रह्लाद की शिक्षा के प्रभाव का विस्तार से वर्णन करने लगे। यह सुनकर हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद को मारने का निश्चय किया। हिरण्यकशिपु इतना क्रुद्ध था कि प्रह्लाद महाराज उसके पैरों पर गिर पड़े और उसे शान्त करने के लिए अनेक बातें कहीं, किन्तु वे अपने असुर पिता हिरण्यकशिपु को प्रसन्न नहीं कर पाये। असुर की भाँति हिरण्यकशिपु अपने को

भगवान् से बड़ा विज्ञापित करने लगा, किन्तु प्रह्लाद महाराज ने यह कहते हुए उसे चुनौती दी कि वह ईश्वर नहीं है। उन्होंने घोषित किया कि भगवान् सर्वव्यापी हैं, प्रत्येक वस्तु उनके अधीन है, कोई न तो उनके तुल्य है, न उनसे बढ़कर है। इस प्रकार वे भगवान् का गुणगान करने लगे। उन्होंने अपने पिता से प्रार्थना की कि वे सर्वशक्तिमान परमेश्वर के सामने झुकें।

प्रह्लाद महाराज जितना ही भगवान् का गुणगान करते गए वह राक्षस उतना ही अधिक क्रुद्ध तथा विचलित होता गया। हिरण्यकशिपु ने अपने वैष्णव पुत्र से पूछा कि क्या तेरा ईश्वर महल के ख भों में विद्यमान है? प्रह्लाद महाराज ने तुरन्त ही स्वीकार किया कि चूंकि वे सर्वत्र विद्यमान हैं, अतएव वे इन ख भों में भी हैं। जब हिरण्यकशिपु ने अपने नन्हें पुत्र से यह दर्शन सुना तो उसने इसे बचकानी बात कहते हुए उसे चिढ़ाया और जोर से अपनी मुट्ठी ख भे पर दे मारी।

ज्योंही हिरण्यकशिपु ने ख भे पर प्रहार किया कि उससे एक भीषण ध्वनि उत्पन्न हुई। पहले तो असुरराज हिरण्यकशिपु को ख भे के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखा किन्तु प्रह्लाद महाराज के वचनों को सत्य करने के लिए भगवान् उस ख भे में से नृसिंह देव के अद्‌भुत अवतार के रूप में प्रकट हुए, जिनका आधा भाग शेर का और आधा मनुष्य का था। हिरण्यकशिपु तुरन्त समझ गया कि भगवान् का यह अद्वितीय अद्‌भुत रूप उसकी मृत्यु के लिए ही है अतएव वह नृसिंह देव से लड़ने के लिए सन्नद्ध हो गया। भगवान् कुछ काल तक उस असुर से लड़ने की लीला करते रहे। दिन तथा रात के संधिकाल में संध्या समय उन्होंने उस असुर को पकड़ कर अपनी गोद में रख लिया और नाखूनों से उसका पेट विदीर्ण कर डाला। भगवान् ने न केवल असुरराज हिरण्यकशिपु को मारा, अपितु उसके अनेक अनुयायियों का भी वध कर दिया। जब वहाँ पर उनसे लड़ने के लिए कोई न रह गया तो वे गर्जना करते हुए उसके सिंहासन पर जा बैठे।

इस प्रकार सारा ब्रह्माण्ड हिरण्यकशिपु के शासन से मुक्त हो गया और दिव्य आनन्द के मारे हर व्यक्ति अत्यन्त हर्षित हो उठा। तब सारे देवता ब्रह्माजी को आगे करके भगवान् के समीप आये। इनमें बड़े-बड़े साधु पुरुष, पितरगण, सिद्धगण, विद्याधर, नाग, मनु, प्रजापति, गन्धर्व, चारण, यक्ष, किम्पुरुष, वैतालिक, किन्नर तथा अनेक प्रकार के मनुष्य रूप के जीव सम्मिलित थे। वे सब भगवान्

के निकट ही खड़े होकर उनकी प्रार्थना करने लगे। भगवान् सिंहासन पर आरूढ़ थे और उनका आध्यात्मिक तेज चमक रहा था।

श्रीनारद उवाच
अथ दैत्यसुताः सर्वे श्रुत्वा तदनुवर्णितम् ।
जगृहुर्निरवद्यत्वान्नैव गुर्वनुशिक्षितम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; अथ—तत्पश्चात्; दैत्य-सुताः—असुरों के पुत्र (प्रह्लाद महाराज के सहपाठी); सर्वे—सभी; श्रुत्वा—सुनकर; तत्—उससे (प्रह्लाद से); अनुवर्णितम्—भक्तिमय जीवन के विषय में कथन; जगृहुः—स्वीकार किया; निरवद्यत्वात्—उस उपदेश के श्रेष्ठ उपयोग के कारण; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; गुरु-अनुशिक्षितम्—जो उनके गुरुओं ने पढ़ाया था।

नारद मुनि ने आगे कहा : सारे असुरपुत्रों ने प्रह्लाद महाराज के दिव्य उपदेशों की सराहना की और उन्हें अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक ग्रहण किया। उन्होंने षण्ड तथा अमर्क नामक अपने गुरुओं द्वारा दिये गये भौतिकतावादी उपदेशों का तिरस्कार कर दिया।

तात्पर्य : यह प्रह्लाद महाराज जैसे शुद्ध भक्त के उपदेश का प्रभाव है। यदि भक्त योग्य हो, सत्यनिष्ठ हो और कृष्णभावनामृत के प्रति गम्भीर हो तथा यदि वह प्रामाणिक गुरु के उपदेशों का उसी तरह पालन करे जिस तरह प्रह्लाद महाराज नारद मुनि से प्राप्त उपदेशों का पालन अपना उपदेश देते समय कर रहे थे तो ऐसा उपदेश प्रभावशाली होता है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (३.२५.२५) में कहा गया है :

सतां प्रसङ्गान् मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।

यदि कोई सत् अर्थात् शुद्ध भक्त द्वारा दिये गये प्रवचन को समझने का प्रयास करता है, तो वे उपदेश अत्यन्त कर्णप्रिय तथा हृदय को भले लगेंगे। इस तरह यदि कोई कृष्णभावनामृत ग्रहण करने के लिए प्रेरित होता है और अपने जीवन में इस विधि का अभ्यास करता है, तो वह निश्चित रूप से भगवद्धाम लौट जाने में सफल होता है। प्रह्लाद महाराज की कृपा से उनके सारे सहपाठी असुर-पुत्र वैष्णव हो गये। उन्हें अपने तथाकथित गुरुओं, षण्ड तथा अमक की बातें सुननी पसन्द नहीं आई जो उन्हें केवल कुटूनीति, राजनीति, आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति के लिए ऐसे ही विषयों की शिक्षा दे रहे थे।

अथाचार्यसुतस्तेषां बुद्धिमेकान्तसंस्थिताम् ।
आलक्ष्य भीतस्त्वरितो राज्ञ आवेदयद्यथा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

अथ—तदुपरान्त; आचार्य-सुतः—शुक्राचार्य के पुत्र; तेषाम्—उन (असुर पुत्रों) की; बुद्धिम्—बुद्धि; एकान्त-संस्थिताम्—केवल एक ही विषय, भक्ति, में स्थिर; आलक्ष्य—देखकर; भीतः—भयभीत होकर; त्वरितः—तुरन्त; राज्ञे—राजा (हिरण्यकशिपु) से; आवेदयत्—कह सुनाया; यथा—उचित ढंग से।

जब शुक्राचार्य के पुत्र षण्ड तथा अमर्क ने देखा कि सारे विद्यार्थी असुर पुत्र प्रह्लाद महाराज की संगति से कृष्णभक्ति में आगे बढ़ रहे हैं, तो वे डर गये। अतएव वे असुरराज के पास गये और उनसे सारी स्थिति वर्णन कर दी।

तात्पर्य : *बुद्धिम् एकान्त संस्थिताम्* शब्द सूचित करते हैं कि प्रह्लाद महाराज के उपदेशों से सारे विद्यार्थी, जिन्होंने उनका उपदेश सुना था, इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मनुष्य-जीवन का एकमात्र लक्ष्य कृष्णभावनामृत है। तथ्य यह है कि जो भी शुद्ध भक्त की संगति करता है और उसके उपदेश सुनता है, वह कृष्णभावनामृत में स्थिर हो जाता है और भौतिक चेतना से विक्षिप्त नहीं होता। शिक्षकों ने अपने विद्यार्थियों में इसे विशेषतः देखा, अतएव वे डर गये, क्योंकि सारा विद्यार्थीवर्ग धीरे-धीरे कृष्णभावनाभावित होता जा रहा था।

कोपावेशचलद्गात्रः पुत्रं हन्तुं मनो दधे ।
क्षिप्त्वा परुषया वाचा प्रह्लादमतदर्हणम् ।
आहेक्षमाणः पापेन तिरश्चीनेन चक्षुषा ॥ ३ ॥
प्रश्रयावनतं दान्तं बद्धाञ्जलिमवस्थितम् ।
सर्पः पदाहत इव श्वसन्प्रकृतिदारुणः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

कोप-आवेश—अत्यन्त क्रुद्ध मुद्रा में; चलत्—काँपता हुआ; गात्रः—पूरा शरीर; पुत्रम्—अपने पुत्र को; हन्तुम्—मारने के लिए; मनः—मन को; दधे—स्थिर किया; क्षिप्त्वा—डाँटते हुए; परुषया—अत्यन्त कटु; वाचा—वाणी से; प्रह्लादम्—महाराज प्रह्लाद को; अ-तत्-अर्हणम्—(अपने उत्तम चरित्र तथा कोमल आयु के कारण) प्रताड़ना के अयोग्य; आह—कहा; ईक्षमाणः—क्रोध में उसे देखते हुए; पापेन—अपने पापकर्मों के कारण; तिरश्चीनेन—टेढ़ी; चक्षुषा—आँखों से; प्रश्रय-अवनतम्—अत्यन्त विनम्रता से; दान्तम्—संयमित; बद्ध-अञ्जलिम्—हाथ जोड़े; अवस्थितम्—स्थित; सर्पः—साँप; पद-आहतः—पाँव से कुचला जाकर; इव—सदृश; श्वसन्—फुफकारते; प्रकृति—प्रकृति से; दारुणः—अत्यन्त दुष्ट।

जब हिरण्यकशिपु सारी स्थिति समझ गया तो वह इतना अधिक क्रुद्ध हुआ कि उसका सारा शरीर काँपने लगा। इस तरह उसने अन्ततः अपने पुत्र प्रह्लाद को मार डालने का निश्चय कर लिया। वह स्वभाव से अत्यन्त क्रूर था और अपने को अपमानित हुआ जानकर वह पाँव से

कुचले सर्प की भाँति फुफकारने लगा। उसका पुत्र प्रह्लाद शान्त, विनम्र तथा उदार था, वह इन्द्रियसंयमी था और हिरण्यकशिपु के समक्ष हाथ जोड़े खड़ा था। वह अपनी आयु तथा आचरण के अनुसार प्रताड़ना के योग्य न था। फिर भी हिरण्यकशिपु ने टेढ़ी नजर से उसे घूरते हुए निम्नलिखित कटु शब्दों के द्वारा फटकारा।

तात्पर्य : जब कोई परम अधिकारी भक्त के प्रति धृष्ट बन जाता है, तो उसे प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित होना पड़ता है। उसकी आयु क्षीण हो जाती है, उस पर गुरुजनों का *आशीर्वाद* नहीं रह जाता और उसके पुण्यों का फल जाता रहता है। उदाहरणार्थ हिरण्यकशिपु ने भौतिक जगत में इतनी शक्ति प्राप्त कर ली थी कि वह स्वर्गलोक समेत लगभग ब्रह्माण्ड के सारे लोकों को जीत सकता था। किन्तु अब प्रह्लाद जैसे वैष्णव के प्रति अपने दुर्व्यवहार के कारण उसकी तपस्या के सभी फल घट गए। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१०.४.४६) में कहा गया है—

आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकान् आशिष एव च।

हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः॥

''जब कोई किसी महात्मा के साथ दुर्व्यवहार करता है, तो उसकी आयु, ऐश्वर्य, यश, धर्म, सम्पत्ति तथा सौभाग्य सभी नष्ट हो जाते हैं।''

श्रीहिरण्यकशिपुरुवाच
हे दुर्विनीत मन्दात्मन्कुलभेदकराधम ।
स्तब्धं मच्छासनोद्वृत्तं नेष्ये त्वाद्य यमक्षयम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

श्री-हिरण्यकशिपुः उवाच—वरदान प्राप्त हिरण्यकशिपु ने कहा; हे—अरे; दुर्विनीत—अत्यन्त बेशर्म, धृष्ट; मन्द-आत्मन्—अरे मूर्ख; कुल-भेद-कर—परिवार को फोड़ने वाले; अधम—अरे नीच; स्तब्धम्—अत्यन्त हठी; मत्-शासन—मेरी आज्ञा का; उद्वृत्तम्—उल्लंघन करके; नेष्ये—मैं भेजूँगा; त्वा—तुमको; अद्य—आज; यम-क्षयम्—मृत्यु के अधीक्षक यमराज के पास।

हिरण्यकशिपु ने कहा : अरे उद्दण्ड, निपट दुर्बुद्धि, परिवार को फोड़ने वाले! अरे नीच! तुमने अपने ऊपर शासन करने वाली शक्ति का उल्लघंन किया है, अतएव तू हठी मूर्ख है। आज मैं तुझे यमराज के घर भेजूंगा।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु ने अपने वैष्णव पुत्र की भर्त्सना उसके *दुर्विनीत* अर्थात् असभ्य, उद्दण्ड या बेशर्म होने के कारण की। किन्तु श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस *दुर्विनीत* शब्द का अर्थ सरस्वती

देवी की कृपा लगाया है। उनका कहना है कि *दुः* का अर्थ यह भौतिक जगत है। इसकी पुष्टि भगवान् कृष्ण द्वारा *भगवद्गीता* में दिये गये उपदेश से होती है कि यह भौतिक जगत *दुःखालयम्* है अर्थात् भौतिक दशाओं से ओत-प्रोत है। *वि* का अर्थ *विशेष* होता है और *नीत* का अर्थ है 'लाया गया'। भगवान् की कृपा से प्रह्लाद महाराज को भौतिक जगत के लोगों को यह शिक्षा देने के लिए लाया गया था कि वे सब किस तरह इस भव-सागर से बाहर निकलें। भगवान् कृष्ण कहते हैं—*यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।* जब सारी जनता या कुछ लोग अपने कर्तव्य को भूल जाते हैं, तो भगवान् कृष्ण प्रकट होते हैं। जब कृष्ण उपस्थित नहीं रहते तो उनका भक्त उपस्थित रहता है, लेकिन ध्येय एक ही होता है—बेचारे बद्धजीवों को माया के चंगुल से मुक्त करना जो उन्हें दुख देती रहती है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर और भी बताते हैं कि *मन्दात्मन्* शब्द का अर्थ है *मन्द*—अत्यन्त बुरा या आध्यात्मिक अनुभूति में अत्यन्त कमजोर। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.१.१०) में कहा गया है—*मन्दाः सुमनन्दमतयो मन्दभाग्या।* प्रह्लाद महाराज उन सभी *मन्दों* अर्थात् मायावशीभूत जीवों के पथ-प्रदर्शक हैं। वे इस जगत में मन्द तथा दुष्ट जीवों के भी उपकारी हैं। *कुलभेदकराधम्*—प्रह्लाद महाराज अपने कार्यों से उन महापुरुषों को मात कर गये जिन्होंने बड़े-बड़े कुल स्थापित किये थे। प्रत्येक व्यक्ति अपने ही परिवार में तथा अपने वंश को विख्यात बनाने में रुचि रखता है, किन्तु प्रह्लाद महाराज इतने उदार थे कि उन्होंने जीव जीव में कोई भेदभाव नहीं बरता। अतएव वे उन *प्रजापतियों* से भी महान् थे जिन्होंने अपने वंशों को स्थापित किया था। *स्तब्धम्* शब्द हठी या जिद्दी का सूचक है। भक्त असुरों के आदेशों की कभी परवाह नहीं करता। जब वे आदेश देते हैं, तो वह शान्त रहता है। भक्त तो कृष्ण के आदेशों की परवाह करता है, असुरों या अभक्तों की नहीं। वह असुरों का सम्मान नहीं करता भले ही वह उसका पिता क्यों न हो। *मच्छासनोद् वृत्तम्*—प्रह्लाद महाराज अपने असुर पिता के प्रति आज्ञाकारी न थे। *यम-क्षयम्*—प्रत्येक बद्धजीव यमराज के वश में है, किन्तु हिरण्यकशिपु कहता था कि वह प्रह्लाद महाराज को ही अपना मोक्षदाता मानता है, क्योंकि प्रह्लाद महाराज हिरण्यकशिपु को जन्म-मरण चक्कर से मुक्त करने वाले थे। वे एक महान् भक्त होने के नाते एक योगी से बढ़कर थे, अतएव हिरण्यकशिपु को *भक्तियोगियों* के समाज में लाया जाना था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने

इन शब्दों की अत्यन्त रोचक व्याख्या की है, जिससे वे विद्या की देवी सरस्वती के पक्ष से समझे जा सके।

क्रुद्धस्य यस्य कम्पन्ते त्रयो लोकाः सहेश्वराः ।
तस्य मेऽभीतवन्मूढ शासनं किं बलोऽत्यगाः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

क्रुद्धस्य—क्रुद्ध होने पर; यस्य—जिसके; कम्पन्ते—काँपते हैं; त्रयः लोकाः—तीनों लोक; सह-ईश्वराः—अपने-अपने नायकों समेत; तस्य—उस; मे—मेरे (हिरण्यकशिपु के); अभीत-वत्—निर्भीक; मूढ—धूर्त; शासनम्—आदेश; किम्—क्या; बलः—बल; अत्यगाः—अति हो गई है।.

मेरे दुष्ट पुत्र प्रह्लाद! तुम जानते हो कि जब मैं क्रुद्ध होता हूँ तो तीनों लोक अपने-अपने नायकों सहित काँपने लगते हैं। तो फिर तुम किसके बल पर इतने धृष्ट हो गये हो कि तुम निर्भीक होकर मेरी आज्ञा का उल्लंघन कर रहे हो?

तात्पर्य : शुद्ध भक्त तथा भगवान् के मध्य अत्यन्त मधुर सम्बन्ध होता है। भक्त कभी भी अपने को शक्तिशाली नहीं मानता, उल्टे उसे इतना दृढ़ विश्वास रहता है कि समस्त संकटों से कृष्ण अपने भक्तों की रक्षा करेंगे, अतएव वह कृष्ण के चरणकमलों पर पूरी तरह समर्पित हो जाता है। भगवान् कृष्ण स्वयं *भगवद्गीता* (९.३१) में कहते हैं—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*—हे कुन्ती पुत्र! तुम निर्भीक होकर घोषित कर दो कि मेरा भक्त कभी मरता नहीं। भगवान् ने स्वयं यह घोषणा न करके अर्जुन से घोषित करने का अनुरोध किया, क्योंकि कभी-कभी कृष्ण अपना विचार बदल देते हैं, अतएव लोग उन पर विश्वास नहीं भी कर सकते थे। इस तरह कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि वह यह घोषित करे कि भगवद्भक्त कभी विनष्ट नहीं होता।

हिरण्यकशिपु हैरान था कि उसका पाँच वर्ष का बालक इतना निर्भीक कैसे हो सकता है कि वह अपने इतने महान् तथा शक्तिशाली पिता के आदेश की परवाह न करे। भक्त भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी के आदेश का पालन नहीं कर सकता। ऐसी है भक्त की स्थिति। हिरण्यकशिपु समझ गया कि यह बालक हो न हो अत्यन्त शक्तिशाली है, क्योंकि वह उसके आदेशों की परवाह नहीं कर रहा था। अतएव हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र से पूछा—*किम् बलः*—तुमने मेरे आदेश का उल्लंघन कैसे किया? तुमने किसके बल पर ऐसा किया है?

श्रीप्रह्राद उवाच

न केवलं मे भवतश्च राजन्
स वै बलं बलिनां चापरेषाम् ।
परेऽवरेऽमी स्थिरजङ्गमा ये
ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीताः ॥ ७॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्रादः उवाच—प्रह्लाद महाराज ने उत्तर दिया; न—नहीं; केवलम्—केवल; मे—मेरा; भवतः—आपका; च—तथा; राजन्—हे राजा; सः—वह; वै—निस्सन्देह; बलम्—बल; बलिनाम्—बलियों के; च—तथा; अपरेषाम्—अन्यों का; परे—सम्माननीय; अवरे—अधीन; अमी—वे; स्थिर-जङ्गमाः—चल या अचल जीव; ये—जो; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा इत्यादि; येन—जिसके द्वारा; वशम्—वश में; प्रणीताः—लाया गया।

प्रह्लाद महाराज ने कहा, हे राजन्, आप जिस बल के मेरे स्त्रोत को जानना चाह रहे हैं वह आपके बल का भी स्त्रोत है। निस्सन्देह, समस्त प्रकार के बलों का मूल स्त्रोत एक ही है। वह न केवल आपका या मेरा बल है, अपितु सबों का एकमात्र बल है। उसके बिना किसी को कोई बल नहीं मिल सकता। चाहे चल हो या अचल, उच्च हो या नीच, ब्रह्मा समेत सारे जीव भगवान् के बल द्वारा नियंत्रित हैं।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (१०.४१) में कहते हैं—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

"जान लो कि सारी सुन्दर, यशस्वी तथा शक्तिशाली सृष्टियाँ मेरे तेज के एक स्फुलिंग से प्रकट होती हैं।" प्रह्लाद महाराज द्वारा इस की पुष्टि की जा रही है। यदि कोई मनुष्य कहीं कोई अद्वितीय बल या शक्ति देखता है, तो वह भगवान् से उद्भूत हुई है। उदाहरणार्थ, अग्नि की कई कोटियाँ हैं, किन्तु वे सभी सूर्य से ऊष्मा तथा प्रकाश प्राप्त करती हैं। इसी प्रकार सारे जीव, चाहे बड़े हों या छोटे, भगवान् की दया पर निर्भर हैं। मनुष्य का एकमात्र कर्तव्य है कि वह उनकी शरण में जाये, क्योंकि वह दास है और कभी भी स्वामी का स्वतंत्र पद प्राप्त नहीं कर सकता। मनुष्य स्वामी का पद स्वामी की दया से ही प्राप्त कर सकता है, स्वतंत्र रूप से नहीं जब तक कोई इस दर्शन को समझ नहीं लेता तब तक वह *मूढ* बना रहता है। दूसरे शब्दों में, वह बुद्धिमान नहीं होता। जिन *मूढों* या गधों में बुद्धि नहीं होती वे भगवान् की शरण में नहीं जा सकते।

जीव की अधीन अवस्था समझने में लाखों जन्म लग जाते हैं, किन्तु जब कोई वास्तव में विज्ञ हो जाता है, तो वह भगवान् की शरण में जाता है। भगवान् *भगवद्गीता* (७.१९) में कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

"जो जीव वास्तव में ज्ञानी होता है, वह अनेक जन्म-जन्मांतरों के बाद मुझे समस्त कारणों का कारण समझ कर मेरी शरण में आता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।" प्रह्लाद महाराज *महात्मा* थे, अतएव उन्होंने भगवान् के चरणकमलों में पूर्ण आत्म-समर्पण कर दिया था। उन्हें दृढ़ विश्वास था कि उनके कृष्ण समस्त परिस्थितियों में उन्हें सुरक्षा प्रदान करेंगे।

स ईश्वरः काल उरुक्रमोऽसा-
वोजः सहः सत्त्वबलेन्द्रियात्मा ।
स एव विश्वं परमः स्वशक्तिभिः
सृजत्यवत्यत्ति गुणत्रयेशः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (भगवान्); ईश्वरः—परम नियन्ता; कालः—काल; उरुक्रमः—भगवान् जिनके सारे कार्य असाधारण होते हैं; असौ—वे ही; ओजः—इन्द्रियों की शक्ति; सहः—मन की शक्ति; सत्त्व—स्थैर्य; बल—शारीरिक शक्ति; इन्द्रिय—तथा इन्द्रियों का; आत्मा—आत्मा; सः—वह; एव—निस्सन्देह; विश्वम्—सारा विश्व; परमः—परम; स्व-शक्तिभिः—अपनी विविध दिव्य शक्तियों से; सृजति—सृजन करता है; अवति—पालन करता है; अत्ति—संहार कर देता है; गुण-त्रय-ईशः—तीनों गुणों का स्वामी।

परम नियन्ता एवं काल रूप भगवान् इन्द्रियों के बल, मन के बल, शरीर के बल तथा इन्द्रियों के प्राण हैं। उनका प्रभाव असीम है। वे समस्त जीवों में श्रेष्ठ तथा प्रकृति के तीनों गुणों के नियन्ता हैं। वे अपनी शक्ति से इस ब्रह्माण्ड का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं।

तात्पर्य : चूँकि यह भौतिक जगत तीनों गुणों द्वारा चलायमान होता है और चूँकि भगवान् उनका स्वामी है अतएव भगवान् इस भौतिक जगत का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं।

जह्यासुरं भावमिमं त्वमात्मनः
समं मनो धत्स्व न सन्ति विद्विषः ।
ऋतेऽजितादात्मन उत्पथे स्थितात्
तद्धि ह्यनन्तस्य महत्समर्हणम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

जहि—त्याग दो; आसुरम्—आसुरी; भावम्—प्रवृत्ति को; इमम्—इस; त्वम्—तुम (मेरे पिता); आत्मनः—अपने; समम्—बराबर; मनः—मन; धत्स्व—बनाओ; न—नहीं; सन्ति—हैं; विद्विषः—शत्रु; ऋते—के अतिरिक्त; अजितात्—अनियंत्रित; आत्मनः—मन; उत्पथे—अवांछित प्रवृत्तियों के कुमार्ग पर; स्थितात्—स्थित होकर; तत् हि—वह (प्रवृत्ति); हि—निस्सन्देह; अनन्तस्य—असीम भगवान् की; महत्—सर्वश्रेष्ठ; समर्हणम्—पूजा-विधि।

प्रह्लाद महाराज ने कहा : हे पिता, आप अपनी आसुरी प्रवृत्ति त्याग दें। आप अपने हृदय में शत्रु-मित्र में भेदभाव न लाएँ, आप अपने मन को सबों के प्रति समभाव बनाएँ। इस संसार में अनियंत्रित तथा पथभ्रष्ट मन के अतिरिक्त कोई शत्रु नहीं है। जब कोई मनुष्य प्रत्येक व्यक्ति को समता के पद पर देखता है तभी वह भगवान् की ठीक से पूजा करने की स्थिति में होता है।

तात्पर्य : जब तक मन को भगवान् के चरणकमलों में स्थिर नहीं कर लिया जाता तब तक मन को वश में कर पाना असम्भव है। जैसाकि अर्जुन *भगवद्गीता* (६.३४) में कहता है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

"हे कृष्ण! मन चंचल, उद्दंड, जिद्दी तथा अत्यन्त प्रबल होता है और मेरी समझ में इसे दमित कर पाना वायु को नियंत्रित करने की अपेक्षा अधिक कठिन है।" मन को नियंत्रित करने की प्रामाणिक विधि है मन को भगवान् की सेवा में स्थिर कर देना। हम अपने मन के आदेशानुसार शत्रु तथा मित्र बनाते हैं, किन्तु वास्तव में न तो मित्र होते हैं और न शत्रु। *पण्डिताः समदर्शिनः। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।* इसे समझना ही भक्ति के राज्य में प्रवेश करने की पहली शर्त है।

दस्यून्पुरा षण्न विजित्य लुम्पतो
मन्यन्त एके स्वजिता दिशो दश ।
जितात्मनो ज्ञस्य समस्य देहिनां
साधोः स्वमोहप्रभवाः कुतः परे ॥ १० ॥

शब्दार्थ

दस्यून्—लुटेरे; पुरा—प्रारम्भ में; षट्—छह; न—नहीं; विजित्य—जीत कर; लुम्पतः—किसी की सारी सम्पत्ति चुराते हुए; मन्यन्ते—मानते हैं; एके—कुछ; स्व-जिताः—जीता हुआ; दिशः दश—दसों दिशाएँ; जित-आत्मनः—जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है, इन्द्रियजित; ज्ञस्य—विद्वान का; समस्य—समदर्शी; देहिनाम्—समस्त जीवों के प्रति; साधोः—ऐसे साधु पुरुष का; स्व-मोह-प्रभवाः—अपने ही मोह से उत्पन्न; कुतः—कहाँ; परे—शत्रु या विरोधी तत्त्व।

प्राचीन काल में आपके समान ही अनेक मूढ हुए हैं जिन्होंने उन छह शत्रुओं को नहीं जीता जो शरीर रूपी सम्पत्ति को चुरा ले जाते हैं। ये मूढ यह सोचकर गर्वित होते हैं "मैंने तो दसों दिशाओं के सारे शत्रुओं को जीत लिया है।" किन्तु यदि कोई व्यक्ति इन छह शत्रुओं पर विजयी

होता है और सारे जीवों पर समभाव रखता है, तो उसके लिए शत्रु नहीं होते। शत्रु की कल्पना मूर्खतावश की जाती है।

तात्पर्य : इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि उसने अपने शत्रुओं को जीत लिया है, किन्तु वह यह नहीं समझ पाता कि उसके शत्रु तो उसका अनियंत्रित मन तथा इन्द्रियाँ हैं (*मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति*)। इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति अपनी इन्द्रियों का दास बन चुका है। मूलतः प्रत्येक व्यक्ति कृष्ण का दास होता है, किन्तु अज्ञानवश वह इसे भूल जाता है और इस तरह वह कामेच्छा, क्रोध, लोभ, प्रमत्तता तथा ईर्ष्यावश माया की सेवा में लग जाता है। वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति भौतिक नियमों के परिणामों पर आश्रित है फिर भी वह अपने को स्वतंत्र समझता है और सोचता है कि उसने सारी दिशाएँ जीत ली हैं। निष्कर्ष यह निकला कि जो व्यक्ति यह सोचता है कि उसके अनेक शत्रु हैं वह अज्ञानी है जब कि कृष्णभावनाभावित व्यक्ति जानता है कि मनुष्य के भीतर के शत्रुओं—अनियंत्रित मन तथा इन्द्रियों—के अतिरिक्त कोई अन्य शत्रु नहीं है।

श्रीहिरण्यकशिपुरुवाच
व्यक्तं त्वं मर्तुकामोऽसि योऽतिमात्रं विकत्थसे ।
मुमूर्षूणां हि मन्दात्मन्ननु स्युर्विक्लवा गिरः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-हिरण्यकशिपुः उवाच—वर प्राप्त हिरण्यकशिपु ने कहा; व्यक्तम्—स्पष्ट रूप से; त्वम्—तुम; मर्तु-कामः—मृत्यु के इच्छुक; असि—हो; यः—जो; अतिमात्रम्—असीम; विकत्थसे—डींग मार रहे हो (मानो तुमने इन्द्रियों जीत ली हों और तुम्हारे पिता ने न जीती हों); मुमूर्षूणाम्—तुरन्त ही मरने वाले व्यक्तियों का; हि—निस्सन्देह; मन्द-आत्मन्—हे मूर्ख; ननु—निश्चय ही; स्युः—हो जाते हैं; विक्लवाः—ऊटपटाँग; गिरः—शब्द।

हिरण्यकशिपु ने उत्तर दिया: रे मूर्ख! तू मेरे महत्त्व को घटाने का प्रयास कर रहा है मानो तू मुझसे अधिक इन्द्रिय-संयमी है। यह अति-बुद्धिमत्ता है। अतएव मैं समझ रहा हूँ कि तुम मेरे हाथों मरना चाहते हो, क्योंकि ऐसी बेसिर-पैर की (ऊटपटाँग) बातें वे ही करते हैं, जो मरणासन्न होते हैं।

तात्पर्य : *हितोपदेश* में कहा गया है—*उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये।* यदि किसी मूर्ख व्यक्ति को अच्छा उपदेश दिया जाता है, तो वह उसका लाभ न उठा कर उल्टे और अधिक क्रुद्ध होता है। प्रह्लाद महाराज के प्रामाणिक उपदेशों को उसके पिता हिरण्यकशिपु ने सत्य करके नहीं माना प्रत्युत वह शुद्ध भक्त एवं महान् पुत्र पर अधिकाधिक क्रुद्ध हो उठा। ऐसी कठिनाई हमेशा उत्पन्न हो जाती है

जब कोई भक्त हिरण्यकशिपु जैसे व्यक्तियों को, जो धन तथा स्त्रियों द्वारा आकृष्ट होते हैं, कृष्णभावनामृत का उपदेश देता है (*हिरण्य* का अर्थ है "सोना" तथा *कशिपु* का अर्थ है "बढ़िया गद्दा")। यही नहीं, पिता कभी नहीं चाहता कि उसका पुत्र उसे उपदेश दे, विशेष रूप से यदि पिता असुर हो। किन्तु प्रह्लाद महाराज का वैष्णव उपदेश अप्रत्यक्षत: उनके आसुरी पिता पर फलित हो रहा था, क्योंकि हिरण्यकशिपु कृष्ण तथा उनके भक्त के प्रति अत्यधिक ईर्ष्या के कारण अपने मारे जाने के लिए नृसिंहदेव को शीघ्रता से बुला रहा था। इस प्रकार वह साक्षात् भगवान् द्वारा मारे जाने के लिए तेजी ला रहा था। यद्यपि हिरण्यकशिपु असुर था, किन्तु यहाँ उसे *श्री* शब्द से पुकारा गया है। क्यों? इसका उत्तर यह है कि सौभाग्यवश उनका पुत्र प्रह्लाद महाराज जैसा महाभागवत था। इस प्रकार असुर होते हुए भी उसे मोक्ष प्राप्त होगा और वह भगवद्धाम लौटेगा।

यस्त्वया मन्दभाग्योक्तो मदन्यो जगदीश्वरः ।
क्वासौ यदि स सर्वत्र कस्मात्स्तम्भे न दृश्यते ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; त्वया—तेरे द्वारा; मन्द-भाग्य—अरे अभागे; उक्तः—कहा गया; मत्-अन्यः—मेरे अतिरिक्त; जगत्-ईश्वरः—ब्रह्माण्ड का परम नियन्ता; क्व—कहाँ; असौ—वही; यदि—यदि; सः—वह; सर्वत्र—सभी जगह (सर्वव्यापी); कस्मात्—क्यों; स्तम्भे—मेरे समक्ष के ख भे में; न दृश्यते—नहीं दिखता।

अरे अभागे प्रह्लाद! तूने सदैव मेरे अतिरिक्त किसी परम पुरुष का वर्णन किया है, जो हर एक के ऊपर है, हर एक का नियन्ता है तथा जो सर्वव्यापी है। लेकिन वह है कहाँ? यदि वह सर्वत्र है, तो वह मेरे समक्ष के इस ख भे में क्यों उपस्थित नहीं है?

तात्पर्य : कभी-कभी असुरगण यह घोषित करते हैं कि वे ईश्वर के अस्तित्व को इसलिए नहीं मानते, क्योंकि वे उन्हें देख नहीं सकते। किन्तु असुर जो कुछ नहीं जानता उसका वर्णन स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (७.२५) में किया है—*नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः*—"मैं कभी मूर्ख तथा अज्ञानी के समक्ष प्रकट नहीं होता। उनके लिए मैं योगमाया से आवृत रहा करता हूँ।" भगवान् केवल भक्तों द्वारा देखे जाने के लिए अनावृत रहते हैं, लेकिन अभक्त उन्हें नहीं देख सकते। भगवान् के दर्शन पाने की योग्यता का वर्णन *ब्रह्म-संहिता* (५.३८) में किया गया है—*प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।* जिस भक्त ने भगवान् कृष्ण के प्रति सच्चा प्रेम विकसित कर लिया है, वह उन्हें सर्वत्र सदा देख सकता है, किन्तु असुर उन्हें नहीं देख सकता, क्योंकि उसे परमेश्वर का

स्पष्ट ज्ञान नहीं है। जब हिरण्यकशिपु प्रह्लाद महाराज को मार डालने की धमकी दे रहा था तो प्रह्लाद ने निश्चित रूप से अपने तथा अपने पिता के समक्ष खड़े हुए ख भे को देखा और यह भी देखा कि भगवान् उसे अपने आसुरी पिता के शब्दों से न डरने के लिए प्रोत्साहित करने हेतु उस ख भे में उपस्थित हैं। भगवान् उसकी रक्षा करने के लिए उपस्थित थे। हिरण्यकिशपु ने प्रह्लाद महाराज के कथन पर ध्यान देते हुए उससे पूछा "बोल, तेरा ईश्वर कहाँ है?" प्रह्लाद महाराज ने उत्तर दिया, "वे सर्वत्र हैं।" तब हिरण्यकशिपु ने फिर पूछा "तो वह मेरे सामने वाले ख भे में क्यों नहीं है?" इस तरह भक्त समस्त परिस्थितियों में परमेश्वर का सदैव दर्शन कर सकता है, जबकि अभक्त ऐसा नहीं कर पाता।

यहाँ पर प्रह्लाद महाराज के पिता ने उसे 'सर्वाधिक अभागा' कहकर सम्बोधित किया है। हिरण्यकशिपु अपने आपको सर्वाधिक भाग्यशाली समझता है, क्योंकि वह ब्रह्माण्ड की सम्पत्ति का स्वामी था उसके वैध पुत्र प्रह्लाद महाराज को ही यह विशाल सम्पत्ति उत्तराधिकार में मिलनी थी, किन्तु वह अपनी धृष्टता के कारण अपने पिता के हाथों से मरने जा रहा था। अतएव प्रह्लाद महाराज के असुर पिता ने उसे अत्यन्त अभागा समझा, क्योंकि वह उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकार प्राप्त नहीं कर सकेगा। हिरण्यकशिपु को ज्ञात न था कि प्रह्लाद महाराज तीनों लोकों में सर्वाधिक भाग्यशाली पुरुष थे, क्योंकि उनकी रक्षा परमेश्वर कर रहे थे। ऐसी होती है अज्ञानता असुरों की। वे यह नहीं जानते कि भक्त समस्त परिस्थितियों में भगवान् द्वारा रक्षित होता है (*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*)।

सोऽहं विकत्थमानस्य शिरः कायाद्धरामि ते ।
गोपायेत हरिस्त्वाद्य यस्ते शरणमीप्सितम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अहम्—मैं; विकत्थमानस्य—ऐसे अनर्गल प्रलाप करने वालों का; शिरः—सिर; कायात्—शरीर से; हरामि—छिन्न कर दूँगा; ते—तुम्हारा; गोपायेत—वह तुम्हारी रक्षा करे; हरिः—भगवान् हरि; त्वा—तुमको; अद्य—अब; यः—जो; ते—तुम्हारा; शरणम्—रक्षक; ईप्सितम्—वांछित।

चूँकि तुम इतना अधिक अनर्गल प्रलाप कर रहे हो अतएव अब मैं तुम्हारे शरीर से तुम्हारा शिर छिन्न कर दूँगा। अब मैं देखूँगा कि तुम्हारा परमाराध्य ईश्वर तुम्हारी रक्षा किस तरह करता है। मैं उसे देखना चाहता हूँ।

तात्पर्य : असुरगण सदैव सोचते हैं कि भक्तों का ईश्वर काल्पनिक है। वे यह सोचते हैं कि ईश्वर है ही नहीं और ईश्वर के प्रति भक्ति की तथाकथित धार्मिक भावना मात्र निद्राजनक है। यह एक तरह

का व्यामोह है, जैसाकि एल० एस० डी० तथा अफीम से उत्पन्न होता है। जब प्रह्लाद महाराज हिरण्यकशिपु को कह रहे थे कि भगवान् सर्वत्र उपस्थित हैं, तो हिरण्यकशिपु को उस पर विश्वास नहीं हो रहा था। चूँकि एक आदर्शमय असुर होने के कारण हिरण्यकशिपु को विश्वास था कि कहीं ईश्वर नहीं है और कोई प्रह्लाद की रक्षा नहीं कर सकेगा, अतएव वह अपने पुत्र को मारने के लिए प्रोत्साहित हुआ। उसने इस विचार को चुनौती दी कि भक्त सदैव परमेश्वर द्वारा रक्षित है।

एवं दुरुक्तैर्मुहुरर्दयन्रुषा
सुतं महाभागवतं महासुरः ।
खड्गं प्रगृह्योत्पतितो वरासनात्
स्तम्भं तताडातिबलः स्वमुष्टिना ॥ १४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; दुरुक्तैः—कटु वचनों से; मुहुः—निरन्तर; अर्दयन्—प्रताड़ित किया जाकर; रुषा—अनावश्यक क्रोध सहित; सुतम्—अपने पुत्र को; महा-भागवतम्—महान् भक्त; महा-असुरः—महान् असुर हिरण्यकशिपु ने; खड्गम्—तलवार; प्रगृह्य—ग्रहण करके; उत्पतितः—उठकर; वर-आसनात्—अपने अत्यन्त उच्च सिंहासन से; स्तम्भम्—ख भे को; तताड—प्रहार किया; अति-बलः—बलशाली; स्व-मुष्टिना—अपनी मुट्ठी या घूँसे से।

अतिशय क्रोध के कारण अत्यन्त बलशाली हिरण्यकशिपु ने अपने महाभागवत पुत्र को अत्यन्त कटु वचन कहे और उसकी भर्त्सना की। उसे बारम्बार श्राप देते हुए हिरण्यकशिपु ने अपनी तलवार निकाली, अपने राजसी सिंहासन से उठ खड़ा होकर और अत्यन्त क्रोध के साथ ख भे पर मुष्टिका-प्रहार किया।

तदैव तस्मिन्निनदोऽतिभीषणो
बभूव येनाण्डकटाहमस्फुटत् ।
यं वै स्वधिष्ण्योपगतं त्वजादयः
श्रुत्वा स्वधामात्ययमङ्ग मेनिरे ॥ १५॥

शब्दार्थ

तदा—उसी समय; एव—ठीक; तस्मिन्—उस (ख भे) के भीतर; निनदः—ध्वनि; अति-भीषणः—अत्यन्त भयावनी; बभूव—हुई; येन—जिससे; अण्ड-कटाहम्—ब्रह्माण्ड आवरण (कोश); अस्फुटत्—चिटखता प्रतीत हुआ; यम्—जिसको; वै—निस्सन्देह; स्व-धिष्ण्य-उपगतम्—अपने-अपने घर पहुँच कर; तु—लेकिन; अज-आदयः—ब्रह्माजी इत्यादि देवतागण; श्रुत्वा—सुनकर; स्व-धाम-अत्ययम्—अपने-अपने निवासों का ध्वंस; अङ्ग—हे राजा युधिष्ठिर; मेनिरे—सोचा।

तब उस ख भे से एक भयानक आवाज आई जिससे ब्रह्माण्ड का आवरण विदीर्ण होता प्रतीत हुआ। हे युधिष्ठिर, यह आवाज ब्रह्मा आदि देवताओं के निवासों तक पहुँच गई और जब देवताओं ने इसे सुना तो उन्होंने सोचा ''ओह! अब हमारे लोकों का विनाश होने जा रहा है।''

तात्पर्य : जिस प्रकार हम वज्रपात की ध्वनि से कभी कभी अत्यधिक भयभीत हो उठते हैं और यह सोचने लगते हैं कि शायद हमारे घर विनष्ट हो जायेंगे उसी प्रकार ब्रह्मा आदि देवता हिरण्यकशिपु के समक्ष ख भे से उत्पन्न गर्जन सुनकर भयभीत हो उठे।

स विक्रमन्पुत्रवधेप्सुरोजसा
निशम्य निर्ह्रादमपूर्वमद्भुतम् ।
अन्त:सभायां न ददर्श तत्पदं
वितत्रसुर्येन सुरारियूथपा: ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

स:—वह (हिरण्यकशिपु); विक्रमन्—अपने शौर्य का प्रदर्शन करते हुए; पुत्र-वध-ईप्सु:—अपने ही पुत्र का वध करने का इच्छुक; ओजसा—अत्यन्त बलपूर्वक; निशम्य—सुनकर; निर्ह्रादम्—भयानक ध्वनि को; अपूर्वम्—पहले कभी न सुनी गई; अद्भुतम्—अत्यन्त अद्भुत; अन्त:-सभायाम्—सभा के भीतर; न—नहीं; ददर्श—देखा; तत्-पदम्—उस भयानक आवाज के स्त्रोत को; वितत्रसु:—भयभीत हुए; येन—जिस ध्वनि से; सुर-अरि-यूथ-पा:—असुरों के अन्य नेता (हिरण्यकशिपु ही नहीं)।

अपने पुत्र को मारने के इच्छुक हिरण्यकशिपु ने जो इस तरह अपना अद्वितीय शौर्य दिखला रहा था जब एक अद्भुत भीषण (घोर) ध्वनि सुनी जिसे इसके पूर्व उसने कभी नहीं सुना था। इसी ध्वनि को सुनकर अन्य असुरनायक भी भयभीत हुए। उस सभा में इस ध्वनि के उद्गम को कोई नहीं ढूँढ़ पाया।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.८) में कृष्ण यह कहकर अपनी व्याख्या करते हैं—

रसोऽमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशि सूर्ययो: ।

प्रणव: सर्ववेदेषु शब्द: खे पौरुषं नृषु ॥

"हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! मैं ही जल का स्वाद, सूर्य तथा चन्द्रमा का प्रकाश, वैदिक मंत्रों का ॐ शब्द तथा आकाश एवं मनुष्य के पुरुषार्थ की ध्वनि हूँ।" यहाँ पर भगवान् ने आकाश में भीषण ध्वनि द्वारा (*शब्द: खे*) सर्वत्र अपनी उपस्थिति प्रकट की। अब हिरण्यकशिपु जैसे असुर भगवान् की परम नियंत्रक शक्ति का अनुभव कर सके और इस प्रकार हिरण्यकशिपु भयभीत हो गया। मनुष्य चाहे कितना बलशाली क्यों न हो, वह वज्रपात की ध्वनि से सदैव भयभीत होता है। इसी प्रकार हिरण्यकशिपु तथा उसके सारे संगी असुर उस ध्वनि के रूप में उपस्थित भगवान् की उपस्थिति से भयभीत थे, यद्यपि वे उस ध्वनि के उद्गम का पता नहीं लगा पाये।

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं
व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः ।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

सत्यम्—सच; विधातुम्—सिद्ध करने के लिए; निज-भृत्य-भाषितम्—अपने दास के ही शब्दों को (प्रह्लाद महाराज द्वारा कहे गये शब्द कि भगवान् सर्वव्यापी हैं); व्याप्तिम्—उपस्थिति; च—तथा; भूतेषु—जीवों तथा तत्त्वों के मध्य; अखिलेषु—समस्त; च—तथा; आत्मनः—अपना; अदृश्यत—दिखाई पड़ा; अति—अत्यन्त; अद्भुत—अद्भुत; रूपम्—रूप को; उद्वहन्—धारण करके; स्तम्भे—ख भे में; सभायाम्—सभा के भीतर; न—नहीं; मृगम्—पशु; न—न तो; मानुषम्—मनुष्य ।

अपने दास प्रह्लाद महाराज के वचनों को सिद्ध करने के लिए कि वे सत्य हैं—अर्थात् यह सिद्ध करने के लिए कि भगवान् सर्वत्र उपस्थित हैं, यहाँ तक कि सभा भवन के ख भे के भीतर भी हैं—भगवान् श्री हरि ने अपना अभूतपूर्व अद्भुत रूप प्रकट किया। यह रूप न तो मनुष्य का था, न सिंह का। इस प्रकार भगवान् उस सभाकक्ष में अपने अद्भुत रूप में प्रकट हुए।

तात्पर्य : जब हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद महाराज से पूछा ''तुम्हारा भगवान् कहाँ है? क्या वह इस ख भे में उपस्थित है?'' तो प्रह्लाद महाराज ने निर्भीक होकर उत्तर दिया, ''हाँ, मेरे भगवान् सर्वत्र उपस्थित हैं।'' अतएव हिरण्यकशिपु को यह विश्वास दिलाने के लिए कि प्रह्लाद महाराज का कथन निर्भ्रान्त था, भगवान् उस ख भे से प्रकट हो गये। वे आधा सिंह तथा आधा मनुष्य के रूप में प्रकट हुए जिससे हिरण्यकशिपु यह नहीं जान पाया कि यह विराट दैव सिंह है या मनुष्य। प्रह्लाद के कथन की पुष्टि करके भगवान् ने सिद्ध कर दिया कि उनका भक्त कभी विनष्ट नहीं होता, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*)। यद्यपि प्रह्लाद का असुर पिता उन्हें मार डालने की बार-बार धमकियाँ दे चुका था, किन्तु प्रह्लाद को विश्वास था कि वे मारे नहीं जा सकते, क्योंकि उनकी रक्षा करने वाले भगवान् हैं। ख भे से प्रकट होकर भगवान् ने मानो यह कहते हुए अपने भक्त को प्रोत्साहित किया हो ''मत चिन्तित होओ। मैं यहाँ उपस्थित हूँ।'' नृसिंह देव के रूप में प्रकट होकर भगवान् ने ब्रह्माजी के वचनों को भी रख लिया कि हिरण्यकशिपु का वध न तो किसी पशु के द्वारा होगा, न मनुष्य द्वारा। भगवान् ऐसे रूप में प्रकट हुए जो न तो पूरी तरह मनुष्य का, न सिंह का कहा जा सकता था।

स सत्त्वमेनं परितो विपश्यन्

स्तम्भस्य मध्यादनुनिर्जिहानम् ।
नायं मृगो नापि नरो विचित्र-
महो किमेतन्नृमृगेन्द्ररूपम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (दैत्यराज हिरण्यकशिपु); सत्त्वम्—सजीव प्राणी को; एनम्—इस; परितः—चारों ओर; विपश्यन्—देखते हुए; स्तम्भस्य—ख भे के; मध्यात्—बीच से; अनुनिर्जिहानम्—निकल कर; न—नहीं; अयम्—यह; मृगः—पशु; न—नहीं; अपि—निस्सन्देह; नरः—मनुष्य; विचित्रम्—अत्यन्त अद्भुत; अहो—ओह; किम्—किया; एतत्—यह; नृ-मृग-इन्द्र-रूपम्—मनुष्य तथा पशुओं के राजा सिंह का रूप।

जब हिरण्यकशिपु उस ध्वनि का स्रोत ढूँढ़ने के लिए इधर-उधर देख रहा था तो उस ख भे से भगवान् का एक अद्भुत रूप प्रकट हुआ जो न तो मनुष्य का था और न सिंह का माना जाता था। हिरण्यकशिपु आश्चर्यचकित हुआ, ''यह कैसा प्राणी है, जो आधा पुरुष तथा आधा सिंह है?''

तात्पर्य : असुर कभी भी परमेश्वर की असीम शक्ति का अनुमान नहीं लगा सकता। जैसाकि वेदों में कहा गया है—*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी-ज्ञान बलक्रिया च*—भगवान् की विविध शक्तियाँ सदैव उनके ज्ञान के स्वत: प्राकट्य के रूप में कार्य करती हैं। असुर के लिए निस्सन्देह, यह आश्चर्यजनक बात है कि मनुष्य तथा सिंह के रूप संयुक्त हो सकते हैं, क्योंकि उसे भगवान् की अजेय शक्ति का कोई अनुभव नहीं रहता जिसके कारण अहं सर्वशक्तिमान कहा जाता है। असुरगण भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता को नहीं जान सकते। वे सदैव भगवान् की तुलना अपने से करते हैं (*अवजानन्तिमां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्*)। ये मूढ़ अर्थात् धूर्त सोचते हैं कि कृष्ण एक सामान्य मनुष्य हैं, जो अन्य मनुष्यों के हित के लिए प्रकट होते हैं। *परं भावम् अजानन्तः*—मूर्ख, धूर्त तथा असुरगण भगवान् की परम शक्ति की अनुभूति नहीं कर पाते, किन्तु भगवान् सब कुछ कर सकते हैं। निस्सन्देह, वे जो भी चाहें कर सकते हैं। जब हिरण्यकशिपु को ब्रह्माजी से वर प्राप्त हुआ था तो वह सोच रहा था कि वह सुरक्षित है, क्योंकि उसे वर प्राप्त था कि वह न तो किसी पशु द्वारा मारा जा सकेगा, न मनुष्य द्वारा। उसने कभी सोचा भी नहीं था कि पशु तथा मनुष्य संयुक्त होकर उसे आश्चर्यचकित कर देंगे। भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता का यही अर्थ है।

मीमांसमानस्य समुत्थितोऽग्रतो ।
नृसिंहरूपस्तदलं भयानकम् ॥ १९ ॥

प्रतप्तचामीकरचण्डलोचनं
स्फुरत्सटाकेशरजृम्भिताननम् ।
करालदंष्ट्रं करवालचञ्चल
क्षुरान्तजिह्वं भ्रुकुटीमुखोल्बणम् ॥ २० ॥

स्तब्धोर्ध्वकर्णं गिरिकन्दराद्भुत-
व्यात्तास्यनासं हनुभेदभीषणम् ।
दिविस्पृशत्कायमदीर्घपीवर-
ग्रीवोरुवक्षःस्थलमल्पमध्यमम् ॥ २१ ॥

चन्द्रांशुगौरैश्छुरितं तनूरुहै-
र्विष्वग्भुजानीकशतं नखायुधम् ।
दुरासदं सर्वनिजेतरायुध-
प्रवेकविद्रावितदैत्यदानवम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

मीमांसमानस्य—भगवान् के अद्भुत रूप के विषय में उधेड़-बुन करने वाले हिरण्यकशिपु के; समुत्थितः—प्रकट हुआ; अग्रतः—समक्ष; नृसिंह-रूपः—नृसिंह देव (आधा सिंह तथा आधा मनुष्य) के रूप; तत्—वह; अलम्—विलक्षण रीति से; भयानकम्—अत्यन्त भयावना; प्रतप्त—पिघला हुआ; चामीकर—सोना; चण्ड-लोचनम्—भयानक आँखों वाला; स्फुरत्—चमकाते हुए; सटा-केशर—अपनी गरदन के बाल; जृम्भित-आननम्—मुँह फैलाये; कराल—भयानक; दंष्ट्रम्—दाँतों से युक्त; करवाल-चञ्चल—पैनी तलवार जैसी हिलती; क्षुर-अन्त—तथा छुरे के समान तेज; जिह्वम्—अपनी जीभ को; भ्रुकुटी-मुख—अपने क्रोध-पूर्ण मुख के कारण; उल्बणम्—डरावना; स्तब्ध—स्थिर; ऊर्ध्व—ऊपर की ओर फैले; कर्णम्—कान; गिरि-कन्दर—पर्वत की गुफाओं के सदृश; अद्भुत—अत्यन्त भयानक; व्यात्तास्य—मुँह फैलाये; नासम्—तथा नथुने; हनु-भेद-भीषणम्—जबड़े अलग होने से भय उत्पन्न करता; दिवि-स्पृशत्—आकाश को छूता हुआ; कायम्—शरीर; अदीर्घ—लघु; पीवर—मोटी; ग्रीव—गर्दन; उरु—चौड़ा; वक्षः-स्थलम्—सीना; अल्प—छोटा; मध्यमम्—शरीर का मध्य भाग; चन्द्र-अंशु—चन्द्रमा की किरणों की तरह; गौरैः—गौर वर्ण के; छुरितम्—आवृत; तनूरुहैः—बालों से; विष्वक्—सभी दिशाओं में; भुज—भुजाओं का; अनीक-शतम्—एक सौ पंक्तियों वाला; नख—नाखून; आयुधम्—घातक हथियार के रूप में; दुरासदम्—जीत पाना कठिन; सर्व—समस्त; निज—स्वयं; इतर—तथा अन्य; आयुध—हथियारों का; प्रवेक—सर्वश्रेष्ठ (हथियार) के प्रयोग द्वारा; विद्रावित—दौने लगा; दैत्य—असुरों; दानवम्—तथा धूर्तों (नास्तिकों) को।

हिरण्यकशिपु ने अपने समक्ष खड़े नृसिंह देव के रूप का निश्चय करने के लिए भगवान् के रूप को ध्यान से देखा। भगवान् का रूप पिघले सोने के सदृश था। उनकी क्रुद्ध आँखों के कारण जो पिघले स्वर्ण से मिलती थी वह रूप अत्यन्त भयानक लग रहा था; उनके चमकीले अयाल (गर्दन के बाल) उनके भयानक मुखमण्डल के आकार को फैला रहे थे; उनके दाँत मृत्यु-जैसे भयानक थे, उनकी उस्तरे जैसी तीक्ष्ण जीभ लड़ाई में तलवार के समान इधर-उधर चल रही थी; उनके कान खड़े तथा स्थिर थे और उनके नथुने तथा खुला मुख पर्वत की गुफा-जैसे लग रहे थे। उनके जबड़े फैले हुए थे जिससे भय उत्पन्न हो रहा था और उनका समूचा शरीर आसमान को छू रहा था। उनकी गर्दन अत्यन्त छोटी तथा मोटी थी; उनकी छाती चौड़ी थी तथा कमर पतली थी। उनके शरीर के रोएँ चन्द्रमा की किरणों के समान श्वेत लग रहे थे। उनकी

भुजाएं चारों दिशाओं में फैले सैनिकों की टुकड़ियों से मिलती जुलती थी, जब वे असुरों धूर्तों तथा नास्तिकों का अपने शंख, चक्र, गदा, कमल तथा अन्य प्राकृतिक अस्त्र-शस्त्रों से वध कर रहे थे।

प्रायेण मेऽयं हरिणोरुमायिना
वधः स्मृतोऽनेन समुद्यतेन किम् ।
एवं ब्रुवंस्त्वभ्यपतद्गदायुधो
नदन्नृसिंहं प्रति दैत्यकुञ्जरः ॥ २३॥

शब्दार्थ

प्रायेण—शायद; मे—मेरा; अयम्—यह; हरिणा—भगवान् द्वारा; उरु-मायिना—अत्यधिक योग शक्ति वाले; वधः—मृत्यु; स्मृतः—आयोजित; अनेन—इस; समुद्यतेन—प्रयास के साथ; किम्—क्या लाभ; एवम्—इस प्रकार; ब्रुवन्—मन ही मन कहा; तु—निस्सन्देह; अभ्यपतत्—आक्रमण किया; गदा-आयुधः—अपने गदा रूपी आयुध से युक्त; नदन्—जोर से गर्जना करते हुए; नृ-सिंहम्—आधा सिंह तथा आधा मनुष्य के रूप में प्रकट होने वाले भगवान्; प्रति—के प्रति; दैत्य-कुञ्जरः—हाथी के तुल्य असुर हिरण्यकशिपु ने।.

हिरण्यकशिपु ने मन ही मन कहा : "अत्यधिक योग शक्ति वाले भगवान् विष्णु ने मेरा वध करने के लिए यह योजना बनाई है, किन्तु ऐसा प्रयास करने से क्या लाभ है? भला ऐसा कौन है, जो मुझसे युद्ध कर सकता है?" ऐसा सोचते हुए हाथी के समान हिरण्यकशिपु ने अपनी गदा उठाकर भगवान् पर आक्रमण कर दिया।

तात्पर्य : कभी कभी जंगल में सिंहों तथा हाथियों के मध्य युद्ध होता है। यहाँ पर भगवान् सिंह रूप में प्रकट हुए और हिरण्यकशिपु ने निडर हाथी की तरह उन पर आक्रमण कर दिया। सामान्यत: हाथी सिंह से हार जाता है अतएव इस श्लोक में दी गई उपमा युक्तियुक्त है।

अलक्षितोऽग्नौ पतितः पतङ्गमो
यथा नृसिंहौजसि सोऽसुरस्तदा ।
न तद्विचित्रं खलु सत्त्वधामनि
स्वतेजसा यो नु पुरापिबत्तमः ॥ २४॥

शब्दार्थ

अलक्षितः—अदृश्य; अग्नौ—अग्नि में; पतितः—गिरा हुआ; पतङ्गमः—पतंगा; यथा—जिस तरह; नृसिंह—भगवान् नृसिंह देव का; ओजसि—तेज में; सः—वह; असुरः—हिरण्यकशिपु; तदा—उस समय; न—नहीं; तत्—वह; विचित्रम्—अद्भुत; खलु—निस्सन्देह; सत्त्व-धामनि—सतोगुणी भगवान् में; स्व-तेजसा—अपने तेज से; यः—जो भगवान्; नु—निस्सन्देह; पुरा—प्राचीन काल में; अपिबत्—निगल लिया; तमः—भौतिक सृष्टि के भीतर अंधकार।.

जिस तरह एक बेचारा छोटा पतंगा बरबस अग्नि में गिरकर अदृश्य हो जाता है उसी तरह जब हिरण्यकशिपु ने तेजोमय भगवान् पर आक्रमण किया तो वह अदृश्य हो गया। यह आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि भगवान् सदैव सतोगुण की स्थिति में रहते हैं। प्राचीन काल में सृष्टि के समय वे अंधकारपूर्ण ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट हो गये थे और उसे उन्होंने अपने आध्यात्मिक तेज से प्रकाशित कर दिया था।

तात्पर्य : भगवान् सदैव शुद्ध सत्त्व में स्थित रहते हैं। यह भौतिक जगत सामान्यत: तमोगुण द्वारा नियंत्रित होता है किन्तु आध्यात्मिक जगत भगवान् तथा उनके तेज की उपस्थिति के कारण तमो, रजो या दूषित सतोगुण के द्वारा होने वाले समस्त कल्मष से सर्वथा रहित है। यद्यपि इस जगत में भी ब्राह्म गुणों के रूप में सतोगुण का रंचमात्र पाया जाता है किन्तु कभी-कभी ऐसे गुण रजो तथा तमो गुणों के प्राबल्य के कारण अदृश्य हो जाते हैं। किन्तु भगवान् सदैव दिव्यत: स्थिर रहते हैं, अतएव रजो तथा तमोंगुण उनका स्पर्श भी नहीं कर पाते। जब भी भगवान् विद्यमान रहते हैं, तो तमोगुण के कारण कोई भी अज्ञान वहाँ टिक नहीं सकता। *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य २२.३१) में कहा गया है—

कृष्ण—सूर्य-सम, माया हय अन्धकार।
याहाँ कृष्ण, ताहाँ नाहि मायार अधिकार॥

''भगवान् प्रकाश हैं और अविद्या अंधकार है। जहाँ भगवान् रहते हैं वहाँ अविद्या नहीं रहती।'' यह भौतिक जगत तमोगुण से और आध्यात्मिक जीवन के अज्ञान से पूर्ण है, किन्तु भक्तियोग से यह अज्ञान जाता रहता है। भगवान् का प्राकट्य इसलिए हुआ, क्योंकि प्रह्लाद महाराज ने भक्तियोग प्रदर्शित किया और ज्योंही भगवान् प्रकट हुए त्योंही हिरण्यकशिपु के रजो तथा तमोंगुण का प्रभाव जाता रहा, क्योंकि भगवान् का शुद्ध सतोगुण या ब्रह्मतेज प्रधान हो गया। उस प्रखर तेज के समक्ष हिरण्यकशिपु अदृश्य हो गया, अर्थात् उसका प्रभाव नगण्य हो गया। शास्त्र में यह बताने के लिए कि भौतिक जगत का अंधकार किस प्रकार भाग जाता है उदाहरण प्राप्त है। जब ब्रह्मा गर्भोदकशायी विष्णु के उदर से निकले—कमल से उत्पन्न हुए तो उन्होंने देखा कि सब कुछ अंधकारमय है, किन्तु जब उन्हें भगवान् से ज्ञान प्राप्त हो गया तो सब कुछ स्पष्ट हो गया जिस तरह रात्रि से सूर्य प्रकाश में आने पर प्रत्येक वस्तु स्पष्ट दिखने लगती है। मुख्य बात तो यह है कि जब तक हम प्रकृति के गुणों में रहते हैं तब तक हम

सदैव अंधकार में होते हैं। यह अंधकार भगवान् की उपस्थिति के बिना दूर नहीं हो पाता जिस का आवाहन भक्तियोग विधि से किया जाता है। भक्तियोग से कल्मषविहीन दिव्य स्थिति उत्पन्न होती है।

ततोऽभिपद्याभ्यहनन्महासुरो
रुषा नृसिंहं गदयोरुवेगया ।
तं विक्रमन्तं सगदं गदाधरो
महोरगं तार्क्ष्यसुतो यथाग्रहीत् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; अभिपद्य—आक्रमण करके; अभ्यहनत्—प्रहार किया; महा-असुरः—महान् असुर (हिरण्यकशिपु) ने; रुषा—क्रुद्ध होकर; नृसिंहम्—भगवान् नृसिंह देव पर; गदया—अपनी गदा से; उरु-वेगया—अत्यधिक बलपूर्वक; तम्—उसे (हिरण्यकशिपु को); विक्रमन्तम्—अपना पराक्रम दिखाते हुए; स-गदम्—उसकी गदा सहित; गदा-धरः—हाथ में गदा लिए भगवान् नृसिंह देव ने; महा-उरगम्—विशाल सर्प को; तार्क्ष्य-सुतः—तार्क्ष्य पुत्र गरुड़; यथा—जिस तरह; अग्रहीत्—पकड़ ले।

तत्पश्चात् अत्यन्त क्रुद्ध उस महान् असुर हिरण्यकशिपु ने तेजी से नृसिंह देव पर अपनी गदा से आक्रमण कर दिया और उन्हें मारने लगा। किन्तु भगवान् नृसिंह देव ने उस महान् असुर को उसकी गदा समेत उसी तरह पकड़ लिया जिस तरह गरुड़ किसी साँप को पकड़ ले।

स तस्य हस्तोत्कलितस्तदासुरो
विक्रीडतो यद्वदहिर्गरुत्मतः ।
असाध्वमन्यन्त हृतौकसोऽमरा
घनच्छदा भारत सर्वधिष्ण्यपाः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (हिरण्यकशिपु); तस्य—उस दिव्य (भगवान् नृसिंह) के; हस्त—हाथों से; उत्कलितः—छूट गया; तदा—उस समय; असुरः—दैत्यराज हिरण्यकशिपु; विक्रीडतः—खेलते हुए; यद्वत्—के सदृश; अहिः—सर्प; गरुत्मतः—गरुड़ का; असाधु—बुरा; अमन्यन्त—मान लिया; हृत-ओकसः—जिनके धाम हिरण्यकिशपु ने छीन लिये थे; अमराः—देवगण; घन-च्छदाः—बादलों के पीछे स्थित; भारत—हे भरतपुत्र; सर्व-धिष्ण्य-पाः—समस्त स्वर्गलोकों के शासक।

हे भरत के महान् पुत्र युधिष्ठिर, जब नृसिंह देव ने हिरण्यकशिपु को अपने हाथ से छूट जाने का अवसर दे दिया, जिस तरह से कभी-कभी गरुड़ साँप के साथ खिलवाड़ करते हुए उसे अपने मुँह से सरक जाने देता है, तो सारे देवताओं ने, जिनके निवास स्थान उनके हाथों से निकल चुके थे और जो असुर के भय से बादलों के पीछे छिपे थे, इस घटना को शुभ नहीं माना। निस्सन्देह, वे अत्यधिक विचलित थे।

तात्पर्य : जब हिरण्यकिशपु नृसिंह के चंगुल में था और मार डाला जाने वाला था तो भगवान् ने उसे अपने चंगुल से सरक जाने का एक अवसर दिया। देवताओं ने इस घटना को पसन्द नहीं किया,

क्योंकि वे हिरण्यकशिपु से अत्यधिक डरे हुए थे। वे जानते थे कि यदि किसी तरह हिरण्यकशिपु भगवान् के हाथों से छूट निकला और उसने यह देख लिया कि देवता उसकी मृत्यु की अत्यन्त हर्ष के साथ प्रतीक्षा कर रहे हैं, तो वह उनसे बदला लेगा। इसलिए वे अत्यधिक भयभीत थे।

तं मन्यमानो निजवीर्यशङ्कितं
यद्धस्तमुक्तो नृहरिं महासुरः ।
पुनस्तमासज्जत खड्गचर्मणी
प्रगृह्य वेगेन गतश्रमो मृधे ॥ २७॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (नृसिंह देव को); मन्यमानः—सोचते हुए; निज-वीर्य-शङ्कितम्—अपने शौर्य से भयभीत; यत्—क्योंकि; हस्त-मुक्तः—भगवान् के चंगुल से मुक्त; नृ-हरिम्—भगवान् नृसिंह देव को; महा-असुरः—महान् असुर ने; पुनः—फिर से; तम्—उस पर; आसज्जत—आक्रमण किया; खड्ग-चर्मणी—अपनी ढाल-तलवार; प्रगृह्य—लेकर; वेगेन—अत्यन्त वेग के साथ; गत-श्रमः—थकान से मुक्त; मृधे—युद्ध भूमि में।

जब हिरण्यकशिपु नृसिंह देव के हाथों से छूट गया तो उसे यह मिथ्या विचार हुआ कि भगवान् उसके शौर्य से डर गये हैं। अतएव युद्ध से थोड़ा विश्राम करके उसने अपनी ढाल-तलवार निकाली और फिर से अत्यन्त बलपूर्वक भगवान् पर आक्रमण कर दिया।

तात्पर्य : जब पापी व्यक्ति भौतिक सुविधाएँ भोगता है, तो मूर्ख लोग कभी-कभी सोचते हैं "यह कैसी बात है कि यह पापी तो आनन्द कर रहा है, जबकि पुण्यात्मा कष्ट पा रहा है?" परमेश्वर की इच्छा से कभी-कभी पापी व्यक्ति को भौतिक जगत का भोग करने का अवसर प्रदान किया जाता है मानो वह प्रकृति के चंगुल में है ही नहीं। इस तरह वह मूर्ख बन जाता है। पापी व्यक्ति की जो प्रकृति के नियमों के विरुद्ध कार्य करता है दण्ड मिलना चाहिए, किन्तु कभी-कभी उसे उसी तरह क्रीड़ा करने का अवसर प्रदान किया जाता है, जिस तरह नृसिंह देव के चंगुल से मुक्त होने पर हिरण्यकशिपु को दिया गया। हिरण्यकशिपु को अन्ततः नृसिंह देव के हाथों मरना था, किन्तु कौतुक देखने के लिए ही उन्होंने उसे अपने हाथों से छूटने का अवसर प्रदान किया।

तं श्येनवेगं शतचन्द्रवर्त्मभिश्
चरन्तमच्छिद्रमुपर्यधो हरिः ।
कृत्वाट्टहासं खरमुत्स्वनोल्बणं
निमीलिताक्षं जगृहे महाजवः ॥ २८॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (हिरण्यकशिपु को); श्येन-वेगम्—बाज जैसी गति वाले; शत-चन्द्र-वर्त्मभिः—अपनी तलवार तथा एक सौ चन्द्रमा जैसे चिह्नों से युक्त ढाल को भाँजते हुए; चरन्तम्—गति करते हुए; अच्छिद्रम्—किसी तरह का स्थान छोड़े बिना; उपरि-अधः—ऊपर तथा नीचे; हरिः—भगवान्; कृत्वा—करते हुए; अट्ट-हासम्—जोर की हँसी; खरम्—अत्यन्त तीखी; उत्स्वन-उल्बणम्—इस तीव्र गर्जन से अत्यन्त भयभीत; निमीलित—बन्द; अक्षम्—आँखें; जगृहे—पकड़ लिया; महा-जवः—अत्यन्त शक्तिशाली भगवान् ने।

अट्टहास करते हुए अत्यन्त प्रबल तथा शक्तिशाली भगवान् नारायण ने हिरण्यकशिपु को पकड़ लिया जो किसी प्रकार का वार करने की संभावना छोड़े बिना अपनी तलवार-ढाल से अपनी रक्षा कर रहा था। वह कभी बाज की गति से आकाश में चला जाता और कभी पृथ्वी पर चला आता था। वह नृसिंहदेव की हँसी के भय से अपनी आखें बन्द किये था।

विष्वक्स्फुरन्तं ग्रहणातुरं हरि-
व्यालो यथाखुं कुलिशाक्षतत्वचम् ।
द्वार्यूरुमापत्य ददार लीलया
नखैर्यथाहिं गरुडो महाविषम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

विष्वक्—चारों ओर; स्फुरन्तम्—अपने अंग हिलाते हुए; ग्रहण-आतुरम्—पकड़े जाने से पीड़ित; हरिः—भगवान्, नृसिंह देव ने; व्यालः—साँप; यथा—जिस तरह; आखुम्—चूहे को; कुलिश-अक्षत—जो इन्द्र के वज्र द्वारा भी न काटी जा सके; त्वचम्—त्वचा या खाल को; द्वारि—देहली पर; ऊरुम्—अपनी जाँघ पर; आपत्य—रखकर; ददार—फाड़ डाला; लीलया—सरलता से; नखैः—अपने नाखूनों से; यथा—जिस प्रकार; अहिम्—साँप को; गरुडः—गरुड़, विष्णु का वाहन; महा-विषम्—अत्यन्त विषधर।

जिस प्रकार कोई साँप किसी चूहे को या कोई गरुड़ किसी अत्यन्त विषैले सर्प को पकड़ ले उसी तरह भगवान् नृसिंहदेव ने उस हिरण्यकशिपु को पकड़ लिया जिसकी त्वचा में इन्द्र का वज्र भी नहीं घुस सकता था। ज्योंही पकड़े जाने पर वह अत्यन्त पीड़ित होकर अपने अंग इधर-उधर तथा चारों ओर हिलाने लगा त्योंही नृसिंहदेव ने उस असुर को अपनी गोद में रख लिया और अपनी जांघों का सहारा देकर उस सभा भवन की देहली पर अपने हाथ के नाखूनों से सरलतापूर्वक उस असुर को छिन्न-भिन्न कर डाला।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु को ब्रह्माजी से वरदान प्राप्त था कि वह न तो स्थल पर मरेगा, न आकाश में। अतएव ब्रह्माजी के वचन को अक्षत बनाये रखने के लिए नृसिंहदेव ने हिरण्यकशिपु के शरीर को अपनी गोद में रख लिया जो न तो स्थल था न आकाश। उसे यह भी वरदान मिला था कि वह न तो रात्रि में मरेगा, न दिन में। अतएव ब्रह्मा के इस वचन को रखने के लिए भगवान् ने हिरण्यकशिपु को

सन्ध्या-समय मारा जो दिन का अवसान था तथा रात्रि का शुभारम्भ, किन्तु जो न तो दिन था न रात। उसने ब्रह्माजी से यह भी वर प्राप्त कर रखा था कि वह न तो किसी हथियार से मरे, न ही किसी मृत या जीवित व्यक्ति के द्वारा। अतएव ब्रह्मा के वचन को रखने के लिए भगवान् नृसिंहदेव ने हिरण्यकशिपु के शरीर में अपने नाखून घुसेड़ दिये जो न तो हथियार थे न ही मृत या जीवित थे। निस्सन्देह, नाखूनों को मृत कहा जा सकता है, किन्तु साथ ही उन्हें जीवित भी कहा जा सकता है। ब्रह्मा के समस्त वरदानों को अक्षत बनाये रखने के लिए भगवान् नृसिंहदेव ने उस महान् असुर हिरण्यकशिपु को अत्यन्त विषम स्थिति में किन्तु अत्यन्त सरलता से मार डाला।

संरम्भदुष्प्रेक्ष्यकराललोचनो
व्यात्ताननान्तं विलिहन्स्वजिह्वया ।
असृग्लवाक्तारुणकेशराननो
यथान्त्रमाली द्विपहत्यया हरिः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

संरम्भ—अत्यन्त क्रोध के कारण; दुष्प्रेक्ष्य—अत्यन्त कठिनाई से दिखने वाला; कराल—अत्यन्त भयावह; लोचनः—आँखें; व्यात्त—फैली हुई; आनन-अन्तम्—मुँह की कोरों को; विलिहन्—चाटते हुए; स्व-जिह्वया—अपनी जीभ से; असृक्-लव—रक्त के धब्बों से; आक्त—पुता हुआ; अरुण—लाल-लाल; केशर—गरदन के बाल; आननः—तथा मुख; यथा—जिस तरह; अन्त्र-माली—आँतों की माला से विभूषित; द्विप-हत्यया—किसी हाथी को मारने से; हरिः—सिंह।

भगवान् नृसिंहदेव के मुख तथा गरदन के बाल रक्त के छींटों से सने थे और क्रोध से पूर्ण होने के कारण उनकी भयानक आँखों की ओर देख पाना असम्भव था। वे अपने मुँह की कोरों को जीभ से चाट रहे थे तथा हिरण्यकशिपु के उदर से निकली आँतों की माला से सुशोभित थे। वे उस सिंह की भाँति प्रतीत हो रहे थे जिस ने अभी-अभी किसी हाथी को मारा हो।

तात्पर्य : भगवान् नृसिंहदेव के मुखमंडल के बाल रक्त के छींटों से लाल-लाल हो गये थे और वे अत्यन्त सुन्दर लग रहे थे। उन्होंने अपने नाखूनों से हिरण्यकशिपु के पेट को फाड़ डाला, उस असुर की आँतें निकाल लीं और उन्हें माला की तरह पहन लिया जिससे उनकी सुन्दरता बढ़ गई। इस प्रकार भगवान् अत्यन्त भयानक बन गये मानो कोई सिंह किसी हाथी से भिड़ा हो।

नखाङ्कुरोत्पाटितहृत्सरोरुहं
विसृज्य तस्यानुचरानुदायुधान् ।
अहन्समस्तान्नखशस्त्रपाणिभि-

दोर्दण्डयूथोऽनुपथान्सहस्रशः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

नख-अङ्कुर—नुकीले नाखूनों से; उत्पाटित—चीरा गया; हृत्-सरोरुहम्—कमल पुष्प जैसे हृदय को; विसृज्य—एक तरफ फेंक कर; तस्य—उसके; अनुचरान्—अनुयायियों (सैनिक तथा अंगरक्षकों) को; उदायुधान्—हथियार उठाते हुए; अहन्—मार डाला; समस्तान्—सभी; नख-शस्त्र-पाणिभिः—अपने नाखूनों तथा हाथ के अन्य हथियारों से; दोर्दण्ड-यूथः—असंख्य बाहुओं वाले; अनुपथान्—हिरण्यकशिपु के अनुचरों को; सहस्रशः—हजारों।

अनेकानेक भुजाओं वाले भगवान् ने सर्वप्रथम हिरण्यकशिपु का हृदय निकाल लिया और उसे एक ओर फेंक दिया। फिर वे असुर के सैनिकों की ओर मुड़े। ये सैनिक हजारों के झुंड में भगवान् से लड़ने आये थे और हाथों में हथियार उठाए थे। ये हिरण्यकशिपु के अत्यन्त स्वामिभक्त अनुचर थे, किन्तु नृसिंह देव ने उन्हें अपने नाखून की नोकों से ही मार डाला।

तात्पर्य : इस जगत की सृष्टि के समय से ही दो प्रकार के मनुष्य होते रहे हैं—*देव* तथा *असुर*। देवगण सदैव भगवान् के प्रति स्वामिभक्त होते हैं जबकि असुरगण नास्तिक होते हैं, जो भगवान् की श्रेष्ठता को ललकारते हैं। इस समय सारे विश्व में नास्तिकों का बोलबाला है। वे यह सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं कि ईश्वर नहीं है और हर घटना भौतिक तत्त्वों के संयोग से घटित होती है। इस प्रकार यह जगत अधिकाधिक ईश्वरविहीन होता जा रहा है, फलस्वरूप सब कुछ अस्त-व्यस्त है। यदि ऐसी ही स्थिति बनी रही तो भगवान् निश्चित रूप से कार्यवाही करेंगे जैसाकि हिरण्यकशिपु के साथ किया। उन्होंने क्षण भर में हिरण्यकशिपु तथा उसके अनुयायियों को विनष्ट कर डाला। इसी तरह यदि यह ईश्वरविहीन सभ्यता चलती रही तो भगवान् की एक उँगुली के हिलाने से यह क्षण भर में नष्ट हो जाएगी। इसलिए असुरों को सावधान रहना चाहिए और अपनी ईश्वरविहीन सभ्यता में कटौती करनी चाहिए। उन्हें कृष्णभावनामृत आन्दोलन का लाभ उठाना चाहिए और भगवान् के प्रति आज्ञाकारी बनना चाहिए, अन्यथा विनाश निश्चित है। जिस प्रकार हिरण्यकशिपु का विनाश क्षण भर में हो गया उसी प्रकार ईश्वरविहीन सभ्यता किसी भी क्षण नष्ट हो सकती है।

सटावधूता जलदाः परापतन्
ग्रहाश्च तद्दृष्टिविमुष्टरोचिषः ।
अम्भोधयः श्वासहता विचुक्षुभु-
र्निर्ह्रादभीता दिगिभा विचुक्रुशुः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

सटा—नृसिंह देव की जटा से; अवधूताः—हिले हुए; जलदाः—बादल; परापतन्—बिखरे हुए; ग्रहाः—चमकीले ग्रह; च—तथा; तत्-दृष्टि—पैनी दृष्टि से; विमुष्ट—निकाल ली गई; रोचिषः—जिसका तेज; अम्भोधयः—समुद्रों का जल; श्वास-हताः—नृसिंह देव के श्वास से प्रताड़ित; विचुक्षुभुः—क्षुब्ध हो उठा; निर्ह्राद-भीताः—नृसिंह देव की गर्जना से भयभीत; दिगिभाः—दिशाओं की रखवाली करने वाले सारे हाथी; विचुक्रुशुः—चिग्घाड़ उठे।

नृसिंह देव के सिर के बालों से बादल हिलकर इधर-उधर बिखर गये। उनकी जलती आँखों से आकाश के नक्षत्रों का तेज मंद पड़ गया और उनके श्वास से समुद्र क्षुब्ध हो उठे। उनकी गर्जना से संसार के सारे हाथी भय से चिग्घाड़ने लगे।

तात्पर्य : जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* (१०.४१) में कहा है—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तद् तद् एवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

"तुम जान लो कि समस्त सुन्दर गौरवशाली तथा शक्तिशाली सृष्टि मेरे तेज के एक स्फुलिंग से ही प्रकट होती है।" आकाश में ग्रहों तथा नक्षत्रों का प्रकाश भगवान् के तेज का आंशिक प्राकट्य है। विभिन्न जीवों में अनेक अद्भुत गुण पाये जाते हैं, किन्तु जितनी भी अद्वितीय वस्तुएँ पाई जाती हैं, वे भगवान् के *तेजस्* की अंश मात्र हैं। समुद्रों की उत्ताल तरंगें तथा भगवान् की सृष्टि के अनेक आश्चर्य उस समय नगण्य बन जाते हैं जब वे अपने विशेष रूप में इस जगत में अवतरित होते हैं। उनके साकार सर्वविजयी दिव्य गुणों की तुलना में सारी वस्तुएँ तुच्छ हैं।

द्यौस्तत्सटोत्क्षिप्तविमानसङ्कुला
प्रोत्सर्पत क्ष्मा च पदाभिपीडिता ।
शैलाः समुत्पेतुरमुष्य रंहसा
तत्तेजसा खं ककुभो न रेजिरे ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

द्यौः—बाह्य आकाश; तत्-सटा—उनके बालों से; उत्क्षिप्त—बाहर फेंका हुआ; विमान-सङ्कुला—विमानों से पूरित; प्रोत्सर्पत—स्थान से सरक गया; क्ष्मा—पृथ्वी; च—भी; पद-अभिपीडिता—भगवान् के चरणकमलों के गुरु भार से पीड़ित; शैलाः—पर्वत; समुत्पेतुः—ऊपर उठ गया; अमुष्य—उस (भगवान्) के; रंहसा—असह्य बल से; तत्-तेजसा—उसके तेज से; खम्—आकाश; ककुभः—दसों दिशाएँ; न रेजिरे—नहीं चमकीं।

नृसिंह देव के सिर के बालों से वायुयान (विमान) बाह्य आकाश तथा उच्च लोकों में जा गिरे। भगवान् के चरणकमलों के दबाव से पृथ्वी अपनी स्थिति से छिटकती प्रतीत हुई और उनके असह्य बल से सारे पर्वत ऊपर उछल गये। भगवान् के शारीरिक तेज से आकाश तथा समस्त दिशाओं का प्राकृतिक प्रकाश घट गया।

तात्पर्य : इस श्लोक से पता चलता है कि बहुत समय पहले आकाश में विमान उड़ा करते थे। *श्रीमद्भागवत* की रचना पाँच हजार वर्ष पूर्व हुई और इस श्लोक के कथन से सिद्ध होता है कि उस समय उच्चलोकों में तथा अधोलोकों में भी अत्यन्त विकसित सभ्यता विद्यमान थी। आधुनिक विज्ञानी तथा दार्शनिक मूर्खतावश यह बताते हैं कि तीन हजार वर्ष पूर्व कोई सभ्यता न थी, किन्तु इस श्लोक के कथन से ऐसे अटपटे निर्णय निरस्त हो जाते हैं। वैदिक सभ्यता लाखों वर्ष पूर्व विद्यमान थी। वह इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि के समय से ही विद्यमान थी और उसमें सारी आधुनिक सुविधाएँ तथा इससे भी अधिक व्यवस्थाएं प्राप्त थीं।

ततः सभायामुपविष्टमुत्तमे
नृपासने सम्भृततेजसं विभुम् ।
अलक्षितद्वैरथमत्यमर्षणं
प्रचण्डवक्त्रं न बभाज कश्चन ॥ ३४॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; सभायाम्—सभाभवन में; उपविष्टम्—बैठे हुए; उत्तमे—श्रेष्ठ; नृप-आसने—सिंहासन पर जिस पर हिरण्यकशिपु बैठता था; सम्भृत-तेजसम्—पूर्ण तेजोमय; विभुम्—परमेश्वर को; अलक्षित-द्वैरथम्—जिनका प्रतिद्वन्द्वी या शत्रु दिख नहीं रहा था; अति—अत्यन्त; अमर्षणम्—(अपने क्रोध के कारण) भयानक; प्रचण्ड—भयंकर; वक्त्रम्—मुखमंडल; न—नहीं; बभाज—पूजे; कश्चन—कोई।.

अपना पूर्ण तेज तथा भंयकर मुखमंडल दिखलाते हुए नृसिंह देव अत्यन्त क्रुद्ध होने तथा अपने बल एवं ऐश्वर्य का सामना करने वाले किसी को न पाकर सभा भवन में राजा के श्रेष्ठतम सिंहासन पर जा बैठे। भय तथा आज्ञाकारिता के कारण किसी में साहस न हुआ कि सामने आकर भगवान् की सेवा करे।

तात्पर्य : जब हिरण्यकशिपु के सिंहासन पर भगवान् बैठ गये तो किसी ने विरोध नहीं किया, यहाँ तक कि हिरण्यकशिपु की ओर से कोई शत्रु भगवान् से लड़ने नहीं आया। इसका अर्थ है कि असुरों ने भगवान् की श्रेष्ठता तुरन्त स्वीकार कर ली। दूसरी बात यह है कि यद्यपि हिरण्यकशिपु भगवान् को अपना कट्टर शत्रु मानता था, किन्तु वैकुण्ठ में वह उनका अत्यन्त आज्ञाकारी दास था, अतएव हिरण्यकशिपु द्वारा इतने श्रम से प्राप्त किये गये सिंहासन पर भगवान् बैठने से तनिक भी हिचके नहीं। इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि कभी-कभी बड़े-बड़े सन्त तथा ऋषि वैदिक मंत्रों तथा तंत्रों के द्वारा भगवान् को महत्त्वपूर्ण आसन प्रदान करते हैं, किन्तु तो भी भगवान् उन आसनों

पर नहीं विराजते। चूँकि हिरण्यकशिपु पहले वैकुण्ठ-द्वार का रक्षक जय के रूप में था और यद्यपि वह ब्राह्मणों के शाप से पतित होकर असुर बना था और यद्यपि हिरण्यकशिपु के रूप में उसने भगवान् को कभी कोई वस्तु अर्पित नहीं की थी तो भी भगवान् अपने भक्त तथा दास के प्रति इतने वत्सल थे कि उन्होंने हिरण्यकशिपु द्वारा स्थापित सिंहासन पर प्रसन्नतापूर्वक आसन ग्रहण किया। इस प्रसंग में यह समझ लेना होगा कि भक्त अपने जीवन की किसी भी परिस्थिति में भाग्यशाली होता है।

निशाम्य लोकत्रयमस्तकज्वरं
तमादिदैत्यं हरिणा हतं मृधे ।
प्रहर्षवेगोत्कलितानना मुहुः
प्रसूनवर्षैर्ववृषुः सुरस्त्रियः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

निशाम्य—सुनकर; लोक-त्रय—तीनों लोकों का; मस्तक-ज्वरम्—सिर दर्द; तम्—उसको; आदि—मूल; दैत्यम्—असुर को; हरिणा—भगवान् द्वारा; हतम्—मारा गया; मृधे—युद्ध में; प्रहर्ष-वेग—प्रसन्नता के मारे; उत्कलित-आननाः—खिले हुए चेहरों वाली; मुहुः—पुनः पुनः; प्रसून-वर्षैः—फूलों की वर्षा से; ववृषुः—वर्षा की; सुर-स्त्रियः—देवताओं की स्त्रियों ने।

हिरण्यकशिपु तीनों लोकों का सिर दर्द बना हुआ था। अतएव जब स्वर्गलोक में देवताओं की पत्नियों ने देखा कि इस महान् असुर का वध भगवान् के हाथों से हो गया है, तो उनके चेहरे प्रसन्नता के मारे खिल उठे। देवताओं की स्त्रियों ने स्वर्ग से भगवान् नृसिंह देव पर पुनः पुनः फूलों की वर्षा की।

तदा विमानावलिभिर्नभस्तलं
दिदृक्षतां सङ्कुलमास नाकिनाम् ।
सुरानका दुन्दुभयोऽथ जघ्निरे
गन्धर्वमुख्या ननृतुर्जगुः स्त्रियः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; विमान-आवलिभिः—विभिन्न प्रकार के विमानों से; नभस्तलम्—आकाश को; दिदृक्षताम्—देखने के इच्छुक; सङ्कुलम्—समूहबद्ध; आस—हो गया; नाकिनाम्—देवातओं के; सुर-आनकाः—देवताओं के ढोल; दुन्दुभयः—दुन्दुभियाँ; अथ—तथा; जघ्निरे—बजायी गईं; गन्धर्व-मुख्याः—गन्धर्वों के प्रमुख; ननृतुः—नाचने लगीं; जगुः—गाने लगे; स्त्रियः—स्वर्ग की स्त्रियाँ।

उस समय भगवान् नारायण का दर्शन करने के इच्छुक देवताओं के विमानों से आकाश पट गया। देवतागण ढोल तथा नगाड़े बजाने लगे जिन्हें सुनकर देव लोक की स्त्रियाँ नाचने लगीं और गन्धर्वों के मुखिया मधुर गान गाने लगे।

तत्रोपव्रज्य विबुधा ब्रह्मेन्द्रगिरिशादयः ।
ऋषयः पितरः सिद्धा विद्याधरमहोरगाः ।
मनवः प्रजानां पतयो गन्धर्वाप्सरचारणाः ॥ ३७॥

यक्षाः किम्पुरुषास्तात वेतालाः सहकिन्नराः ।
ते विष्णुपार्षदाः सर्वे सुनन्दकुमुदादयः ॥ ३८॥

मूर्ध्नि बद्धाञ्जलिपुटा आसीनं तीव्रतेजसम् ।
ईडिरे नरशार्दुलं नातिदूरचराः पृथक् ॥ ३९॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ (आकाश में); उपव्रज्य—(अपने-अपने विमानों से) आकर; विबुधाः—सारे देवता; ब्रह्म-इन्द्र-गिरिश-आदयः—ब्रह्मा, इन्द्र, शिव आदि; ऋषयः—ऋषिगण; पितरः—पितृलोक के निवासी; सिद्धाः—सिद्धलोक के निवासी; विद्याधर—विद्याधर लोक के निवासी; महा-उरगाः—सर्प लोक के वासी; मनवः—मनुष्यगण; प्रजानाम्—(विभिन्न लोक के) जीवों के; पतयः—प्रमुख; गन्धर्व—गन्धर्व लोक के वासी; अप्सर—अप्सरा लोक के वासी; चारणाः—चारण लोक के वासी; यक्षाः—यक्षगण; किम्पुरुषाः—किम्पुरुषगण; तात—हे प्रिय; वेतालाः—वेतालगण; सह-किन्नराः—किन्नरों समेत; ते—वे; विष्णु-पार्षदाः—(विष्णु लोक में) भगवान् विष्णु के निजी सहयोगी; सर्वे—सभी; सुनन्द-कुमुद-आदयः—सुनन्द तथा कुमुद आदि; मूर्ध्नि—अपने सिरों पर; बद्ध-अञ्जलि-पुटाः—हाथ जोड़े; आसीनम्—सिंहासन पर बैठे हुए; तीव्र-तेजसम्—अपना आध्यात्मिक तेज बिखेरते हुए; ईडिरे—सादर पूजा की; नर-शार्दुलम्—आधा मनुष्य तथा आधा सिंह के रूप में प्रकट होने वाले भगवान् को; न अति-दूरचराः—पास आकर; पृथक्—अलग-अलग।

हे राजा युधिष्ठिर, तब सारे देवता भगवान् के निकट आ गये। उनमें ब्रह्माजी, इन्द्र तथा शिव जी प्रमुख थे और उनके साथ बड़े-बड़े साधु पुरुष एवं पितृलोक, सिद्धलोक, विद्याधर लोक तथा नागलोक के निवासी भी थे। वहीं सारे मनु तथा अन्य लोकों के प्रजापति भी पहुँच गये। अप्सराओं के साथ-साथ गन्धर्व, चारण, यक्ष, किन्नर, बेताल, किम्पुरुष लोक के वासी तथा विष्णु के पार्षद सुनन्द एवं कुमुद आदि भी पहुँचे। ये सभी भगवान् के निकट आये जो अपने तीव्र प्रकाश से चमक रहे थे। इन सबों ने अपने-अपने सिरों के ऊपर हाथ जोड़कर नमस्कार किया और स्तुतियाँ कीं।

श्रीब्रह्मोवाच
नतोऽस्म्यनन्ताय दुरन्तशक्तये
विचित्रवीर्याय पवित्रकर्मणे ।
विश्वस्य सर्गस्थितिसंयमान्गुणैः
स्वलीलया सन्दधतेऽव्ययात्मने ॥ ४०॥

शब्दार्थ

श्री-ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; नतः—नतमस्तक; अस्मि—हूँ; अनन्ताय—अनन्त भगवान् को; दुरन्त—जिसका अन्त ढूँढ़ पाना कठिन है; शक्तये—विभिन्न शक्तियों से युक्त; विचित्र-वीर्याय—नाना प्रकार के पराक्रम से युक्त; पवित्र-कर्मणे—जिनके कर्म का फल नहीं होता (चाहे बुरा ही कर्म क्यों न करें, वे भौतिक गुण से दूषित नहीं होते); विश्वस्य—विश्व की; सर्ग—सृष्टि;

स्थिति—पालन; संयमान्—तथा संहार; गुणैः—गुणों से; स्व-लीलया—आसानी से; सन्दधते—सम्पन्न करता है; अव्यय-आत्मने—जिनके व्यक्तित्व का ह्रास नहीं होता।.

ब्रह्माजी ने प्रार्थना की: हे प्रभु, आप अनन्त हैं और आपकी शक्ति का कोई अन्त नहीं है। कोई भी आपके पराक्रम तथा अद्भुत प्रभाव का अनुमान नहीं लगा सकता, क्योंकि आपके कर्म माया द्वारा दूषित नहीं होते। आप भौतिक गुणों से सहज ही ब्रह्माण्ड का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं लेकिन तो भी आप अव्यय बने रहते हैं। अतएव मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् के कार्यकलाप सदैव अद्भुत होते हैं। यद्यपि जय तथा विजय उनके पार्षद और विश्वस्त मित्र थे, किन्तु उन्हें शापवश असुरों का शरीर धारण करना पड़ा। यही नहीं, ऐसे ही एक असुर-परिवार में प्रह्लाद महाराज को महाभावगत का आचरण प्रदर्शित करने के लिए जन्म धारण करना पड़ा और तब भगवान् को उसी असुर का वध करने के लिए नृसिंह देव का रूप धारण करना पड़ा जिसने भगवान् की इच्छा से असुर-कुल में जन्म लिया था। अतएव ऐसा कौन होगा जो भगवान् के दिव्य कार्यकलापों को समझ सके? उनके कार्यकलापों की कौन कहे, उनके दासों के कार्यकलापों तक को समझना कठिन है। *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (मध्य २३.३९) में कहा गया है *ताँर वाक्य, क्रिया, मुद्रा विज्ञेह ना बुझय*—भगवान् के दासों के कार्यकलापों को कोई नहीं जान सकता। अतएव भगवान् के कार्यकलापों के विषय में क्या कहा जा सकता है? यह कौन समझ सकता है कि कृष्ण किस तरह सम्पूर्ण जगत को लाभान्वित कर रहे हैं। भगवान् को *दुरन्त शक्ति* कहकर सम्बोधित किया गया है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति उनकी शक्तियों को तथा उनकी कार्यविधि को नहीं समझ सकता।

श्रीरुद्र उवाच

कोपकालो युगान्तस्ते हतोऽयमसुरोऽल्पकः ।
तत्सुतं पाह्युपसृतं भक्तं ते भक्तवत्सल ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

श्री-रुद्रः उवाच—शिवजी ने स्तुति की; कोप-कालः—(ब्रह्माण्ड का संहार करने के लिए) आपके क्रोध का उचित समय; युग-अन्तः—कल्प का अन्त; ते—तुम्हारे द्वारा; हतः—मारा गया; अयम्—यह; असुरः—महान् दैत्य; अल्पकः—नगण्य; तत्-सुतम्—उसके पुत्र (प्रह्लाद महाराज) की; पाहि—रक्षा करो; उपसृतम्—शरणागत होकर पास ही खड़ा; भक्तम्—भक्त; ते—तुम्हारा; भक्त-वत्सल—हे भक्तों के प्रति अत्यन्त वत्सल प्रभु!.

शिव जी ने कहा : कल्प का अन्त ही आपके क्रोध का समय होता है। अब जबकि यह नगण्य असुर हिरण्यकशिपु मारा जा चुका है, हे भक्तवत्सल प्रभु, कृपा करके उसके पुत्र प्रह्लाद महाराज की रक्षा करें जो आपके निकट पूर्ण शरणागत भक्त के रूप में खड़ा हुआ है।

तात्पर्य : भगवान् इस भौतिक जगत के स्रष्टा हैं। सृष्टि में तीन प्रक्रम होते हैं—सृजन, पालन तथा अन्त में संहार। संहार के समय, प्रत्येक युग के अन्त में भगवान् क्रुद्ध होते हैं और यह क्रुद्ध होने का कार्य शिवजी द्वारा सम्पन्न होता है, अतएव वे रुद्र कहलाते हैं। जब भगवान् हिरण्यकशिपु को मारने के लिए अत्यन्त क्रुद्ध हुए तो सभी लोग उनके रुख को देखकर भयभीत थे, लेकिन शिवजी भयभीत नहीं हुए, क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि भगवान् का क्रोध भी एक लीला है। उन्हें पता था कि उन्हें ही भगवान् के क्रोध की भूमिका निभानी पड़ेगी। *काल* का अर्थ है शिवजी (भैरव) तथा *कोप* का अर्थ है भगवान् का क्रोध। इन दोनों के संयोग से निर्मित *कोप-काल* का प्रयोग प्रत्येक कल्प के अन्त के लिए हुआ है। भगवान् भले ही अत्यन्त क्रुद्ध क्यों न प्रतीत हों, वास्तव में वे अपने भक्तों के प्रति सदा वत्सल रहते हैं। चूँकि वे *अव्ययात्मा* हैं अर्थात् वे कभी च्युत नहीं होते, अतएव वे क्रुद्ध रहने पर भी भक्तों के प्रति वत्सल बने रहते हैं। अतएव शिवजी ने भगवान् को याद दिलाया कि वे प्रह्लाद महाराज के प्रति पितृतुल्य वत्सल बनें जो उनकी बगल में विनीत शरणागत भक्त की तरह खड़े थे।

श्रीइन्द्र उवाच

प्रत्यानीताः परम भवता त्रायता नः स्वभागा
दैत्याक्रान्तं हृदयकमलं तद्गृहं प्रत्यबोधि ।
कालग्रस्तं कियदिदमहो नाथ शुश्रूषतां ते
मुक्तिस्तेषां न हि बहुमता नारसिंहापरैः किम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

श्री-इन्द्रः उवाच—स्वर्ग के राजा इन्द्र ने कहा; प्रत्यानीताः—लौटना है; परम—हे परम; भवता—आपके द्वारा; त्रायता—रक्षा किये जाकर; नः—हम; स्व-भागाः—यज्ञ का अंश; दैत्य-आक्रान्तम्—दैत्य से पीड़ित; हृदय-कमलम्—अपने कमल रूपी हृदय; तत्-गृहम्—जो आपका वास्तविक धाम है; प्रत्यबोधि—प्रकाशित किया जा चुका; काल-ग्रस्तम्—समय द्वारा कवलित; कियत्—नगण्य; इदम्—यह (संसार); अहो—ओह; नाथ—हे स्वामी; शुश्रूषताम्—सेवा में लगे रहने वालों के लिए; ते—तुम्हारा; मुक्तिः—भवबन्धन से मोक्ष; तेषाम्—उनका (शुद्ध भक्तों का); न—नहीं; हि—निस्सन्देह; बहुमता—बहुत आवश्यक समझा; नार-सिंह—हे नृसिंह देव; अपरैः किम्—अन्य किसी सम्पत्ति से क्या लाभ?.

राजा इन्द्र ने कहा : हे परमेश्वर, आप हमारे उद्धारक तथा रक्षक हैं। आपने दैत्य से हमारे वास्तविक यज्ञ भाग जो वास्तव में आपके हैं लौटाये हैं। चूँकि असुरराज हिरण्यकशिपु अत्यन्त

भयानक था, अतः आपके स्थायी निवास हमारे हृदय उसके द्वारा विजित हो चुके थे। अब आपकी उपस्थिति से हमारे हृदयों से निराशा तथा अंधकार दूर हो गये हैं। हे प्रभु, जो लोग आपकी सेवा में सदैव लगे रहते हैं उनके लिए सारा भौतिक ऐश्वर्य तुच्छ है, क्योंकि आपकी सेवा मोक्ष से भी बढ़कर है। वे जब मोक्ष की भी परवाह नहीं करते तो काम, अर्थ तथा धर्म के विषय में क्या कहा जाये?

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में दो प्रकार के लोग हैं—देवतागण तथा असुर। यद्यपि देवता भी भौतिक भोग के प्रति आसक्त होते हैं, लेकिन वे होते हैं भगवान् के भक्त जो वैदिक आदेशों के अनुसार कर्म करते हैं। हिरण्यकशिपु के राज्य काल में प्रत्येक व्यक्ति को वैदिक सभ्यता के नित्य कर्तव्यों को निबाहने में अवरोध होता था। जब हिरण्यकशिपु मार डाला गया तो देवताओं को अपने सामान्य जीवन यापन में विशेष उसासी हुई, क्योंकि वे हिरण्यकशिपु द्वारा विचलित रहते थे।

चूँकि कलियुग में सरकार असुरों से पूर्ण रहती है, अतएव भक्तों का जीवन संकट में रहता है। वे यज्ञ नहीं कर सकते, अतएव भगवान् विष्णु की पूजा के लिए किये जाने वाले यज्ञ का प्रसाद ग्रहण नहीं कर सकते। देवताओं के हृदयों में सदैव असुरों का भय समाया रहता है, अतएव वे भगवान् के विषय में सोच भी नहीं पाते। देवताओं का कार्य है अपने हृदयों में भगवान् का सदैव चिन्तन करना। भगवान् *भगवद्गीता* (६.४७) में कहते हैं—

योगिनाम् अपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

''समस्त योगियों में जो दिव्य प्रेमाभक्ति से मेरी पूजा करते हुए सदैव श्रद्धापूर्वक मुझमें निवास करता है, वह योग में मुझसे घनिष्ठतापूर्वक बँध जाता है और सर्वोच्च होता है।'' देवतागण पूर्ण योगी बनने के लिए सदैव भगवान् के ध्यान में लीन रहते हैं, लेकिन असुरों की उपस्थिति के कारण उनके हृदय सदैव असुरों के कार्यकलापों से भरे रहते हैं। इस तरह उनके हृदय, यद्यपि परमेश्वर के वास के निमित्त हैं, किन्तु व्यावहारिक रूप से वे शत्रुओं द्वारा आच्छन्न रहते हैं। अतएव जब हिरण्यकशिपु मर गया तो देवताओं को उसासी हुई, क्योंकि अब वे भगवान् के विषय में आसानी से सोच सकेंगे। अब उन्हें यज्ञ-फल प्राप्त हो सकेगा और इस भौतिक जगत में भी सुखी बन सकेंगे।

श्रीऋषय ऊचुः
त्वं नस्तपः परममात्थ यदात्मतेजो
येनेदमादिपुरुषात्मगतं ससक्थ ।
तद्विप्रलुप्तममुनाद्य शरण्यपाल
रक्षागृहीतवपुषा पुनरन्वमंस्थाः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

श्री-ऋषयः ऊचुः—ऋषियों ने कहा; त्वम्—तुम; नः—हमारी; तपः—तपस्या; परमम्—सर्वोच्च; आत्थ—उपदेश दिया; यत्—जो; आत्म-तेजः—आपकी आध्यात्मिक शक्ति; येन—जिससे; इदम्—यह (भौतिक जगत); आदि-पुरुष—हे परम आदि भगवान्; आत्म-गतम्—आपके भीतर लीन; ससक्थ—(आपने) उत्पन्न किया; तत्—तप की वह विधि; विप्रलुप्तम्—चुराई गई; अमुना—उस दैत्य (हिरण्यकशिपु) द्वारा; अद्य—अब; शरण्य-पाल—शरणागत के परम पालक; रक्षा-गृहीत-वपुषा—आपके शरीर द्वारा जिसे आप रक्षा प्रदान करने के लिए धारण करते हैं; पुनः—फिर; अन्वमंस्थाः—आपने अनुमोदित किया है।

सारे उपस्थित ऋषियों ने उनकी इस प्रकार स्तुति कीः हे प्रभु, हे शरणागत पालक, हे आदि पुरुष, आपने हमें पहले जिस तपस्या की विधि का उपदेश दिया है, वह आपकी ही आध्यात्मिक शक्ति है। आप तपस्या से ही भौतिक जगत का सृजन करते हैं। यह तपस्या आपमें सुप्त रहती है। इस दैत्य ने अपने कार्यकलापों से इसी तपस्या को रोक सा रखा था, किन्तु अब हम लोगों की रक्षा करने के लिए आप जिस नृसिंह देव के रूप में प्रकट हुए हैं उससे तथा इस असुर को मारने से तपस्या की विधि का फिर से अनुमोदन हुआ है।

तात्पर्य : सारे जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते हुए आत्म-साक्षात्कार का अवसर मनुष्य रूप में प्राप्त करते हैं और तब धीरे-धीरे देवता, किन्नर तथा चारण के पद को पाते हैं जिसका वर्णन आगे किया जाएगा। मनुष्य जीवन से ऊपर सभी उच्च स्तरों पर मुख्य कर्तव्य तपस्या है। जैसाकि ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को उपदेश दिया था—*तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं शुद्ध्येत्।* अपने भौतिक जीवन को सुधारने के लिए तपस्या परमावश्यक है, किन्तु जब सामान्य लोग असुर के अधीन हो जाते ह, या आसुरी शासन के नियंत्रण में आ जाते हैं, तो वे इस प्रक्रिया को आगे भूल जाते है और क्रमशः आसुरी बन जाते हैं। अतएव सारे ऋषि जो सामान्यतया तपस्या में लगे थे नृसिंह देव द्वारा हिरण्यकशिपु के मारे जाने पर चिन्तामुक्त हो गये। उन्होंने अनुभव किया कि भगवान् द्वारा मानव जीवन सम्बन्धी मूल उपदेश की—कि यह आत्म-साक्षात्कार हेतु तपस्या करने के लिए है—पुनः पुष्टि की गई जब उन्होंने हिरण्यकशिपु का वध कर दिया।

श्रीपितर ऊचुः

श्राद्धानि नोऽधिबुभुजे प्रसभं तनूजै-
र्दत्तानि तीर्थसमयेऽप्यपिबत्तिलाम्बु ।
तस्योदरान्नखविदीर्णवपाद्य आर्च्छत्
तस्मै नमो नृहरयेऽखिलधर्मगोप्त्रे ॥ ४४॥

शब्दार्थ

श्री-पितरः ऊचुः—पितृलोक के वासियों ने कहा; श्राद्धानि—श्राद्ध कर्म (मृत पुरुखों को एक विशेष विधि से प्रदत्त भोज्य सामग्री); नः—हमारा; अधिबुभुजे—भोग किया; प्रसभम्—बल द्वारा; तनूजैः—अपने पुत्रों-पौत्रों द्वारा; दत्तानि—प्रदत्त; तीर्थ-समये—तीर्थ स्थानों में स्नान करते समय; अपि—भी; अपिबत्—पिया; तिल-अम्बु—तिल के साथ जलांजलि; तस्य—उस असुर के; उदरात्—पेट से; नख-विदीर्ण—नाखून से फाड़ा गया; वपात्—जिसकी आँतों की चमड़ी; यः—जिस (भगवान्) ने; आर्च्छत्—प्राप्त किया; तस्मै—उसको (भगवान् को); नमः—नमस्कार; नृ-हरये—नृहरि को जो आधे सिंह तथा आधे पुरुष के रूप में प्रकट हुए; अखिल—विश्वजनीन; धर्म—धार्मिक नियम; गोप्त्रे—पालन करने वाले।

पितृलोक के वासियों ने प्रार्थना कीः हम ब्रह्माण्ड के धार्मिक नियमों के पालनकर्ता भगवान् नृसिंह देव को सादर नमस्कार करते हैं। आपने उस असुर को मार डाला है, जो हमारे श्राद्ध के अवसर पर हमारे पुत्रों-पौत्रों द्वारा अर्पित बलि को छीनकर खा जाता था और तीर्थस्थलों पर अर्पित की जाने वाली तिलांजलि को पी जाता था। हे प्रभु, आपने इस असुर को मारकर अपने नाखूनों से इसके पेट को विदीर्ण करके उसमें से समस्त चुराई हुई सामग्री निकाल ली है। अतएव हम आपको सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : समस्त गृहस्थों का कर्तव्य है कि अपने दिवंगत पूर्वजों को अन्न की बलि दें, किन्तु हिरण्यकशिपु के काल में यह प्रथा रोक दी गई थी, कोई भी व्यक्ति अपने पितरों को श्राद्ध पिण्डदान नहीं दे सकता था। अतएव जब आसुरी शासन होता है, तो सारे वैदिक नियम अस्त-व्यस्त कर दिये जाते हैं, सारे यज्ञोत्सव रोक दिये जाते हैं और यज्ञ के सारे साधन आसुरी सरकार द्वारा छीन लिए जाते हैं। इससे अव्यवस्था फैल जाती है और फलस्वरूप सारा संसार नरक बन जाता है। अतएव जब सारे असुर नृसिंह देव द्वारा मार डाले जाते हैं, तो हर व्यक्ति को चैन मिलता है, चाहे वह किसी भी लोक का वासी हो।

श्रीसिद्धा ऊचुः

यो नो गतिं योगसिद्धामसाधु-
रहार्षीद्योगतपोबलेन ।
नाना दर्पं तं नखैर्विददार
तस्मै तुभ्यं प्रणताः स्मो नृसिंह ॥ ४५॥

शब्दार्थ

श्री-सिद्धाः ऊचुः—सिद्धलोक के वासियों ने कहा; यः—जिस व्यक्ति ने; नः—हमारी; गतिम्—सिद्धि को; योग-सिद्धाम्—योग द्वारा प्राप्त; असाधुः—अत्यन्त असभ्य तथा असत्यनिष्ठ; अहार्षीत्—चुरा लिया; योग—योग; तपः—तथा तप का; बलेन—बलपूर्वक; नाना दर्पम्—सम्पत्ति, ऐश्वर्य तथा शक्ति के कारण घमंडी; तम्—उसको; नखैः—नाखूनों से; विददार—फाड़ डाला; तस्मै—उस; तुभ्यम्—तुम्हें; प्रणताः—नतमस्तक; स्मः—हम हैं; नृसिंह—हे नृसिंहदेव।

सिद्धलोक के वासियों ने प्रार्थना की: हे भगवान् नृसिंह देव, हम लोग सिद्धलोक के निवासी होने के कारण अष्टांग योग में स्वतःसिद्ध होते हैं। तो भी हिरण्यकशिपु इतना धूर्त था कि उसने अपने बल तथा तपस्या से हमारी सारी शक्तियाँ छीन ली थीं। इस तरह वह अपने योग-बल के प्रति घमंडी हो गया था। अब आपके नखों से इस दुष्ट का वध हो जाने के कारण हम आपको सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : पृथ्वी पर ऐसे अनेक योगी हैं, जो जादू की तरह सोने के कुछ टुकड़े निर्मित करके कुछ-कुछ योगशक्ति का प्रदर्शन कर सकते हैं, किन्तु सिद्धलोक के वासी सचमुच ही योगशक्ति में अत्यन्त प्रबल होते हैं। वे वायुयानों के बिना ही एक लोक से दूसरे लोक तक उड़कर जा सकते हैं। यह *लघिमा-सिद्धि* कहलाती हैं। वे सचमुच ही बहुत हल्के हो सकते हैं और आकाश में उड़ सकते हैं। किन्तु हिरण्यकशिपु घोर तपस्या के द्वारा सिद्धलोक के भी वासियों को मात कर गया और उनके लिए उत्पात खड़ा करने लगा। सिद्धलोक के ये वासी हिरण्यकशिपु द्वारा परास्त भी कर दिये गये थे। अब जबकि हिरण्यकशिपु का वध भगवान् ने कर दिया है सिद्धलोक के वासियों को भी राहत का अनुभव हुआ।

श्रीविद्याधरा ऊचुः

विद्यां पृथग्धारणयानुराद्धां
न्यषेधदज्ञो बलवीर्यदृप्तः ।
स येन सङ्ख्ये पशुवद्धतस्तं
मायानृसिंहं प्रणताः स्म नित्यम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

श्री-विद्याधराः ऊचुः—विद्याधर लोक के निवासियों ने प्रार्थना की; विद्याम्—जो विद्याएँ (जिनसे प्रकट तथा अप्रकट हुआ जा सकता है); पृथक्—भिन्न-भिन्न; धारणया—मन के भीतर विविध ध्यानों से; अनुराद्धाम्—प्राप्त किया गया; न्यषेधत्—रोक दिया; अज्ञः—इस मूर्ख ने; बल-वीर्य-दृप्तः—शारीरिक शक्ति तथा हर एक को जीत लेने की सामर्थ्य से फूल कर; सः—वह (हिरण्यकशिपु); येन—जिसके द्वारा; सङ्ख्ये—युद्ध में; पशु-वत्—पशु के समान; हतः—मारा गया; तम्—उसको; माया-नृसिंहम्—अपनी माया के प्रभाव द्वारा नरसिंह रूप में प्रकट होने वाले नृसिंह देव को; प्रणताः—विनत; स्म—निश्चय ही; नित्यम्—शाश्वत।

विद्याधर के निवासियों ने प्रार्थना की: उस मूर्ख हिरण्यकशिपु ने विविध प्रकार के ध्यान के अनुसार प्रकट तथा अप्रकट होने की हमारी शक्ति पर प्रतिबन्ध लगा दिया था, क्योंकि उसे अपनी श्रेष्ठ शारीरिक शक्ति तथा अन्यों को जीत लेने की सामर्थ्य का घमण्ड था। अब भगवान् ने उसका उसी तरह वध कर दिया है जैसे वह असुर कोई पशु हो। हम भगवान् नृसिंह देव के उस लीला रूप को सादर प्रणाम करते हैं।

श्रीनागा ऊचुः

येन पापेन रत्नानि स्त्रीरत्नानि हृतानि नः ।
तद्वक्षःपाटनेनासां दत्तानन्द नमोऽस्तु ते ॥ ४७॥

शब्दार्थ

श्री-नागाः ऊचुः—नागलोक के वासी, जो नाग सदृश दिखते हैं; येन—जिस व्यक्ति से; पापेन—अत्यन्त पापी (हिरण्यकशिपु); रत्नानि—हमारे सिरों की मणियाँ; स्त्री-रत्नानि—सुन्दर स्त्रियाँ; हृतानि—हर ली गईं; नः—हमारी; तत्—उसका; वक्षः-पाटनेन—वक्षस्थल को चीर कर; आसाम्—समस्त स्त्रियों का (जिनका अपहरण हुआ था); दत्त-आनन्द—हे आनन्द के स्रोत; नमः—हमारा सादर नमस्कार; अस्तु—हो; ते—तुम्हारे प्रति।

नागलोक के वासियों ने कहा : अत्यन्त पापी हिरण्यकशिपु ने हम सबके फणों की मणियाँ तथा हम सबकी सुन्दर पत्नियाँ छीन ली थीं। अब चूँकि उसके वक्षस्थल को आपने अपने नाखूनों से विदीर्ण कर दिया है, अतएव आप हमारी पत्नियों की परम प्रसन्नता के कारण हैं। इस तरह हम सभी मिलकर आपको सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : यदि किसी की सम्पत्ति तथा पत्नी बलपूर्वक छीन ली जाये तो वह शान्तिपूर्वक नहीं रह सकता। पृथ्वीलोक के नीचे बसे नागलोक के सभी वासी अत्यन्त चिन्तित थे, क्योंकि हिरण्यकशिपु द्वारा उनकी सम्पत्ति चुरा ली गई थी और पत्नियों का अपहरण हो चुका था। अब हिरण्यकशिपु के मारे जाने से उनकी सम्पत्ति तथा उनकी पत्नियाँ वापस मिल चुकी थीं जिससे उनको परम प्रसन्नता हुई। विभिन्न लोकों के निवासियों ने भगवान् को सादर नमस्कार किया, क्योंकि हिरण्यकशिपु की मृत्यु से उन्हें उसासी मिली थी। अब हिरण्यकशिपु द्वारा किये गये उत्पातों की ही तरह सारे संसार में उत्पात हो रहे हैं, क्योंकि सरकारें आसुरी हैं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के बारहवें स्कन्ध में बताया गया है, कलियुग के सरकारी कर्मचारी धूर्तों तथा लुटेरों जैसे होंगे। इस तरह एक ओर प्रजा खाद्यान्नों के अभाव से पीड़ित होगी और दूसरी ओर सरकार उस पर भारी कर लगाएगी। दूसरे शब्दों में, इस युग में विश्व के अधिकांश भागों में लोग हिरण्यकशिपु के शासन-सिद्धान्तों द्वारा उत्पीड़ित होंगे।

श्रीमनव ऊचुः

मनवो वयं तव निदेशकारिणो
दितिजेन देव परिभूतसेतवः ।
भवता खलः स उपसंहृतः प्रभो
करवाम ते किमनुशाधि किङ्करान् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

श्री-मनवः ऊचुः—सभी मनुओं ने यह कहकर नमस्कार किया; मनवः—संसारी कार्यों के नेता (विशेष रूप से भगवान् की सुरक्षा में विधिपूर्वक रहने के लिए मानवता को ज्ञान प्रदान करने में); वयम्—हम; तव—आपके; निदेश-कारिणः—आज्ञापालक; दिति-जेन—दिति के पुत्र हिरण्यकशिपु द्वारा; देव—हे प्रभु; परिभूत—अवहेलना करके; सेतवः—मानव समाज में वर्णाश्रम पद्धति सम्बन्धी नैतिक नियम; भवता—आपके द्वारा; खलः—दुष्ट; सः—वह; उपसंहृतः—मारा गया; प्रभो—हे प्रभु; करवाम—हम करें; ते—तुम्हारा; किम्—क्या; अनुशाधि—कृपया आदेश दें; किङ्करान्—अपने शाश्वत सेवकों को।

समस्त मनुओं ने इस प्रकार प्रार्थना की: हे प्रभो, हम सारे मनु आपके आज्ञापालक के रूप में मानव समाज के लिए विधि प्रदान करते हैं किन्तु इस महान् असुर हिरण्यकशिपु की क्षणभंगुर श्रेष्ठता के कारण वर्णाश्रम धर्म पालन विषयक हमारे नियम नष्ट हो गये थे। हे स्वामी, अब आपके द्वारा इस महान् असुर का वध हो जाने से हम अपनी सहज स्थिति में हैं। कृपया अपने इन शाश्वत दासों को आज्ञा दें कि अब वे क्या करें।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में अनेक स्थलों पर *वर्णाश्रम धर्म* का उल्लेख किया है। वे लोगों को इस वर्णाश्रम धर्म की शिक्षा इसलिए देते हैं जिससे वे चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के नियमों का पालन करते हुए शान्तिपूर्वक मानव जीवन बिता सकें। और इस प्रकार आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नति कर सकें। मनुओं ने *मनुसंहिता* का संकलन किया। *संहिता* का अर्थ है वैदिक ज्ञान तथा *मनु* शब्द यह बताता है कि इस ज्ञान को देने वाले मनु हैं। ये मनु कभी तो भगवान् के अवतार होते हैं और कभी शक्त्याविष्ट जीव। बहुत काल पूर्व भगवान् कृष्ण ने सूर्य को उपदेश दिया था। ये मनु सामान्यतः सूर्यदेव के पुत्र होते हैं। अतएव श्रीकृष्ण ने अर्जुन से *भगवद्गीता* की महत्ता बताते हुए कहा—*इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् अहम् अव्ययम् विवस्वान् मनवे प्राह*—"यह उपदेश विवस्वान सूर्यदेव को दिया गया जिन्होंने इसे अपने पुत्र मनु को दिया।" मनु ने जो विधि प्रदान की वह *मनुसंहिता* कहलाती है और जिसमें मनुष्य किस तरह जीवन-यापन करें इसके विषय में वर्ण तथा आश्रम पर आधारित आदेश हैं। ये अत्यन्त वैज्ञानिक जीवन-विधियाँ हैं, लेकिन हिरण्यकशिपु जैसे असुरों के शासन में मानव समाज छिन्न होकर निम्न से निम्नतर होता जाता है। इस तरह विश्व में कहीं शान्ति नहीं रह जाती। निष्कर्ष यह

निकला कि यदि हम मानव समाज में शान्ति तथा व्यवस्था चाहते हैं, तो हमें *मनुसंहिता* में दिये गये नियमों का पालन करना चाहिए जिसकी पुष्टि भगवान् कृष्ण ने की है।

श्रीप्रजापतय ऊचुः

प्रजेशा वयं ते परेशाभिसृष्टा
न येन प्रजा वै सृजामो निषिद्धाः ।
स एष त्वया भिन्नवक्षा नु शेते
जगन्मङ्गलं सत्त्वमूर्तेऽवतारः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

श्री-प्रजापतयः ऊचुः—विभिन्न प्राणियों को उत्पन्न करने वाले महापुरुषों ने यह कहकर प्रार्थनाएँ कीं; प्रजा-ईशाः—जीवों की अनेक पीढ़ियों को जन्म देने वाले ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न सारे प्रजापति; वयम्—हम सभी; ते—तुम्हारे; पर-ईश—हे परमेश्वर; अभिसृष्टाः—उत्पन्न; न—नहीं; येन—जिस (हिरण्यकशिपु) से; प्रजाः—सारे जीव; वै—निस्सन्देह; सृजामः—हम उत्पन्न करते हैं; निषिद्धाः—मना किया गया; सः—वह (हिरण्यकशिपु); एषः—यह; त्वया—तुम्हारे द्वारा; भिन्न-वक्षाः—जिसका वक्षस्थल विदीर्ण किया जा चुका है; नु—निस्सन्देह; शेते—शयन करता है; जगत्-मङ्गलम्—सारे जगत के कल्याण के लिए; सत्त्व-मूर्ते—शुद्ध सतोगुण के दिव्य रूप में; अवतारः—यह अवतार।

प्रजापतियों ने इस प्रकार स्तुति की: हे परमेश्वर, हे ब्रह्मा तथा शिव जी के भी पूज्य प्रभु, हम सारे प्रजापति आपके द्वारा दी गई आज्ञा के पालन के लिए उत्पन्न किये गये थे, किन्तु हिरण्यकशिपु ने हमें और उत्तम सन्तान उत्पन्न करने से रोक दिया। अब यह असुर हमारे समक्ष मृत पड़ा है, जिसके वक्षस्थल को आपने विदीर्ण कर दिया है। अतएव हम आपको सादर नमस्कार करते हैं, क्योंकि इस शुद्ध सात्विक रूप में आपका यह अवतार समग्र ब्रह्माण्ड के कल्याण के निमित्त है।

श्रीगन्धर्वा ऊचुः

वयं विभो ते नटनाट्यगायका
येनात्मसाद्वीर्यबलौजसा कृताः ।
स एष नीतो भवता दशामिमां
किमुत्पथस्थः कुशलाय कल्पते ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

श्री-गन्धर्वाः ऊचुः—गन्धर्वलोक के निवासी (जो सामान्यतः स्वर्ग के गायक होते हैं) बोले; वयम्—हम; विभो—हे प्रभु; ते—तुम्हारे; नट-नाट्य-गायकाः—नाटक के नर्तक तथा गायक; येन—जिससे; आत्मसात्—पराधीन; वीर्य—उसके पराक्रम; बल—तथा शारीरिक शक्ति के; ओजसा—प्रभाव से; कृताः—बने (लाये हुए); सः—वह (हिरण्यकशिपु); एषः—यह; नीतः—लाया गया; भवता—आपके द्वारा; दशाम् इमाम्—इस दशा को; किम्—क्या; उत्पथस्थः—कुमार्गगामी; कुशलाय—कल्याण के लिए; कल्पते—समर्थ है।

गन्धर्वलोक के निवासियों ने प्रार्थना की: हे भगवान्, हम नाच तथा अभिनय में गायन द्वारा आपकी सेवा में लगे रहते थे, किन्तु इस हिरण्यकशिपु ने अपनी शारीरिक शक्ति तथा पराक्रम से हमें अपने अधीन बना लिया था। अब आपके द्वारा यह इस अधम दशा को प्राप्त हुआ है। भला हिरण्यकशिपु जैसे कुमार्गगामी के कार्यकलापों से हमें क्या लाभ हो सकता है?

तात्पर्य : भगवान् का अत्यन्त आज्ञाकारी सेवक बनकर मनुष्य अत्यन्त शक्तिशाली, प्रभावशाली तथा तेजवान् बन जाता है, किन्तु कुमार्गगामी असुरों का पतन हिरण्यकशिपु के समान होता है। भले ही हिरण्यकशिपु जैसे व्यक्ति कुछ काल तक अत्यन्त शक्तिमान रहते रहे, किन्तु भगवान् के आज्ञाकारी दास—यथा देवता—सदैव शक्तिशाली बने रहते हैं। भगवत्कृपा से वे हिरण्यकशिपु के प्रभाव पर विजय पाते हैं।

श्रीचारणा ऊचु:
हरे तवाङ्घ्रिपङ्कजं भवापवर्गमाश्रिताः ।
यदेष साधुहृच्छयस्त्वयासुरः समापितः ॥५१॥

शब्दार्थ

श्री-चारणाः ऊचुः—चारणलोक के निवासियों ने कहा; हरे—हे भगवान्; तव—तुम्हारे; अङ्घ्रि-पङ्कजम्—चरणकमल; भव-अपवर्गम्—संसार के कल्मष से मुक्त होने के लिए एकमात्र शरण; आश्रिताः—शरणागत; यत्—क्योंकि; एषः—यह; साधु-हृत्-शयः—समस्त ईमानदार मनुष्यों के हृदयों में संकट; त्वया—आपके द्वारा; असुरः—असुर (हिरण्यकशिपु); समापितः—मार डाला गया।.

चारणलोक के निवासियों ने कहा : हे प्रभु, आपने उस असुर हिरण्यकशिपु को विनष्ट कर दिया जो सारे निष्कपट पुरुषों के हृदयों में आतंक बना हुआ था। अब हमें शान्ति मिली है। हम सभी आपके उन चरणकमलों की शरण ग्रहण करते हैं, जो बद्धजीव को भौतिक कल्मष से मुक्ति दिलानेवाले हैं।

तात्पर्य : भगवान् अपने नरहरि या नृसिंह देव रूप में उन दुष्टों का वध करने के लिए सदैव उद्यत रहते हैं, जो निष्कपट भक्तों के मनों में अशान्ति उत्पन्न करते हैं। भक्तों को कृष्णभावनामृत आन्दोलन का प्रसार करने के लिए संसार भर में अनेक संकटों तथा अवरोधों का सामना करना होता है किन्तु जो आज्ञाकारी दास भक्तिपूर्वक भगवान् का उपदेश देता है उसे यह जान लेना चाहिए कि नृसिंह देव सदैव उसके रक्षक होते हैं।

श्रीयक्षा ऊचुः
वयमनुचरमुख्याः कर्मभिस्ते मनोज्ञै-
स्त इह दितिसुतेन प्रापिता वाहकत्वम् ।
स तु जनपरितापं तत्कृतं जानता ते
नरहर उपनीतः पञ्चतां पञ्चविंश ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

श्री-यक्षाः ऊचुः—यक्षलोक के निवासियों ने प्रार्थना की; वयम्—हम; अनुचर-मुख्याः—आपके प्रमुख सेवक; कर्मभिः—सेवाओं से; ते—तुम्हारे; मनो-ज्ञैः—अत्यन्त अच्छे लगने वाले; ते—वे; इह—इस समय; दिति-सुतेन—दिति पुत्र हिरण्यकशिपु द्वारा; प्रापिताः—बलात् लगाये गये; वाहकत्वम्—कहार के कार्य में; सः—वह; तु—लेकिन; जन-परितापम्—मनुष्य की दयनीय स्थिति; तत्-कृतम्—उसके द्वारा की गई; जानता—जानते हुए; ते—तुम्हारे द्वारा; नर-हर—हे नृसिंह रूप; उपनीतः—प्राप्त, लाया गया है; पञ्चताम्—मृत्यु को; पञ्च-विंश—हे पच्चीसवें सिद्धान्त (अन्य चौबीस तत्त्वों के नियंत्रक)।

यक्षलोक के निवासियों ने प्रार्थना की: हे चौबीस तत्त्वों के नियामक, हम आपको भाने वाली सेवाएँ करने के कारण आपके सर्वश्रेष्ठ सेवक माने जाते हैं फिर भी दितिपुत्र हिरण्यकशिपु के आदेश पर हमसे पालकी ढोने का कार्य लिया जाता था। हे नृसिंह देव, आप यह जानते हैं कि इस असुर ने किस तरह सबों को कष्ट पहुँचाया है, किन्तु अब आपने इसका वध कर दिया है और इसका शरीर पंच तत्त्वों में मिल गया है।

तात्पर्य : परमेश्वर दस इन्द्रियों, पाँचों भौतिक तत्त्वों, पाँच इन्द्रियविषयों, मन, बुद्धि-अहंकार तथा आत्मा के नियामक हैं, अतएव उन्हें *पंचविंश* अर्थात् पच्चीसवां तत्त्व कहा गया है। यक्ष लोक के वासी समस्त सेवकों में श्रेष्ठ माने जाते हैं, किन्तु हिरण्यकशिपु उनसे पालकी ढोवाता था। सारा ब्रह्माण्ड हिरण्यकशिपु से संतप्त था, किन्तु अब जब उसका शरीर मृत्यु को प्राप्त हो चुका था तो सबों को शान्ति हुई। हिरण्यकशिपु की मृत्यु से यक्ष पुनः भगवान् की सेवा में लग गये। इस तरह उन सबों ने भगवान् के प्रति कृतज्ञता प्रकट की और उनसे प्रार्थना की।

श्रीकिम्पुरुषा ऊचुः
वयं किम्पुरुषास्त्वं तु महापुरुष ईश्वरः ।
अयं कुपुरुषो नष्टो धिक्कृतः साधुभिर्यदा ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

श्री-किम्पुरुषाः ऊचुः—किम्पुरुष लोक के निवासियों ने कहा; वयम्—हम; किम्पुरुषाः—किम्पुरुष लोक के वासी अथवा क्षुद्र प्राणी; त्वम्—आप; तु—फिर भी; महा-पुरुषः—परमेश्वर; ईश्वरः—परम नियन्ता; अयम्—यह; कु-पुरुषः—अत्यन्त पापी पुरुष, हिरण्यकशिपु; नष्टः—वध किया गया; धिक्-कृतः—तिरस्कृत होकर; साधुभिः—साधु पुरुषों द्वारा; यदा—जब।

किम्पुरुषलोक के वासियों ने कहा : हम क्षुद्र जीव हैं और आप परम नियामक महापुरुष हैं। अतएव हम आपकी समुचित स्तुति कैसे कर सकते हैं? जब भक्तों ने तंग आकर इस असुर का तिरस्कार कर दिया तो आपने इसका वध कर दिया।

तात्पर्य : भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* (४.७-८) में इस धरा पर अपने प्राकट्य का कारण बतलाया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

"जब-जब धार्मिक सिद्धान्तों का ह्रास होता है और अधर्म में उल्लेखनीय वृद्धि होती है उस समय मैं स्वयं अवतार लेता हूँ। मैं पवित्रात्माओं का उद्धार करने तथा दुष्टों का संहार करने तथा साथ ही धार्मिक सिद्धान्तों को पुन:स्थापित करने के लिए युग-युग में अवतरित होता हूँ।" भगवान् दो प्रकार के कार्य करने के लिए अवतरित होते हैं—असुरों को मारने तथा भक्तों की रक्षा करने। जब भक्त असुरों द्वारा अत्यधिक सताये जाते हैं, तो भक्तों की रक्षा करने के लिए भगवान् विविध अवतारों में प्रकट होते हैं। प्रह्लाद महाराज के चरण-चिह्नों पर चलने वाले भक्तों को अभक्तों के आसुरी कार्यकलापों से कभी विचलित नहीं होना चाहिए, अपितु उन्हें भगवान् के सत्यनिष्ठ भक्त के रूप में अपने नियमों पर अटल रहना चाहिए और आश्वस्त रहना चाहिए कि आसुरी कार्यकलापों से उनकी भक्ति रुकेगी नहीं।

श्रीवैतालिका ऊचुः

सभासु सत्रेषु तवामलं यशो
गीत्वा सपर्यां महतीं लभामहे ।
यस्तामनैषीद्वशमेष दुर्जनो
द्विष्ट्या हतस्ते भगवन्यथामयः ॥५४॥

शब्दार्थ

श्री-वैतालिकाः ऊचुः—वैतालिकलोक के वासियों ने कहा; सभासु—सभाओं में; सत्रेषु—यज्ञ-स्थल में; तव—तुम्हारा; अमलम्—किसी प्रकार के भी कल्मष से रहित, निर्मल; यशः—यश, कीर्ति; गीत्वा—गाते हुए; सपर्याम्—सम्माननीय पद;

महतीम्—महान्; लभामहे—हमने प्राप्त किया; यः—जो; ताम्—उस (आदरणीय पद) को; अनैषीत्—ले आया; वशम्—अपने वश में; एषः—यह; दुर्जनः—कुटिल व्यक्ति; द्विष्ट्या—सौभाग्य से; हतः—मारा गया; ते—तुम्हारे द्वारा; भगवन्—हे भगवान्; यथा—जिस तरह; आमयः—रोग।

वैतालिकलोक के निवासियों ने कहा : हे प्रभु, सभाओं तथा यज्ञस्थलों में आपके निर्मल यश का गायन करने के कारण प्रत्येक व्यक्ति हमें आदर प्रदान करता था। किन्तु इस असुर ने हमारे उस पद को छीन लिया था। अब हमारा बड़ा भाग्य है कि आपने इस महान् असुर का उसी तरह वध कर दिया जिस प्रकार कोई भीषण रोग को अच्छा कर देता है।

श्रीकिन्नरा ऊचुः

वयमीश किन्नरगणास्तवानुगा
दितिजेन विष्टिममुनानुकारिताः ।
भवता हरे स वृजिनोऽवसादितो
नरसिंह नाथ विभवाय नो भव ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

श्री-किन्नराः ऊचुः—किन्नर लोक के निवासियों ने कहा; वयम्—हम सभी; ईश—हे ईश्वर; किन्नर-गणाः—किन्नर लोक के वासी; तव—तुम्हारे; अनुगाः—आज्ञाकारी दास; दिति-जेन—दिति पुत्र द्वारा; विष्टिम्—बिना किसी प्रकार के पारिश्रमिक के सेवा, बेगार; अमुना—उससे; अनुकारिताः—कराया गया; भवता—आपके द्वारा; हरे—हे भगवान्; सः—वह; वृजिनः—अत्यन्त पापी; अवसादितः—विनष्ट; नरसिंह—हे नृसिंह देव; नाथ—हे स्वामी; विभवाय—सुख तथा ऐश्वर्य के लिए; नः—हमारे; भव—हों।

किन्नरों ने कहा : हे परम नियन्ता, हम आपके सतत सेवक हैं, लेकिन आपकी सेवा में युक्त न होकर हम सभी इस असुर की बेगार में लगाये गये थे। अब आपने इस पापी का वध कर दिया है, अतएव हे नृसिंहदेव, हे स्वामी, हम आपको सादर नमस्कार करते हैं। कृपा करके हमारे संरक्षक बने रहें।

श्रीविष्णुपार्षदा ऊचुः

अद्यैतद्धरिनररूपमद्भुतं ते
दृष्टं नः शरणद सर्वलोकशर्म ।
सोऽयं ते विधिकर ईश विप्रशप्त-
स्तस्येदं निधनमनुग्रहाय विद्मः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

श्री-विष्णु-पार्षदाः ऊचुः—वैकुण्ठलोक के भगवान् विष्णु के पार्षदों ने कहा; अद्य—आज; एतत्—यह; हरि-नर—आधा सिंह तथा आधा पुरुष; रूपम्—रूप को; अद्भुतम्—अद्भुत; ते—तुम्हारा; दृष्टम्—देखा हुआ; नः—हमारा; शरण-द—शाश्वत शरण प्रदान करने वाला; सर्व-लोक-शर्म—विभिन्न लोकों में सौभाग्य लाने वाला; सः—वह; अयम्—यह; ते—तुम्हारा; विधिकरः—आज्ञापालक (दास); ईश—हे ईश्वर; विप्र-शप्तः—ब्राह्मण द्वारा शापित; तस्य—उसका; इदम्—यह; निधनम्—वध; अनुग्रहाय—विशेष कृपा के लिए; विद्मः—हम समझते हैं।

विष्णु के वैकुण्ठलोक के पार्षदों ने यह प्रार्थना की: हे स्वामी, हे शरणदाता, आज हमने नृसिंहदेव के रूप में आपके अद्भुत रूप का दर्शन किया है, जो समस्त जगत में सौभाग्य लाने वाला है। हे भगवान्, हम यह समझते हैं कि हिरण्यकशिपु आपकी सेवा में रत रहने वाला जय ही था, किन्तु उसे ब्राह्मणों ने शाप दे दिया था जिससे उसे असुर का शरीर प्राप्त हुआ था। हम समझते हैं कि उसका मारा जाना उस पर आपकी विशेष कृपा है।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु का इस धरा पर आविर्भाव तथा भगवान् के शत्रु के रूप में कार्यशील रहना पूर्वनियोजित था। जय तथा विजय को सनक, सनत्कुमार, सनन्दन तथा सनातन नामक ब्राह्मणों ने शाप दिया था, क्योंकि इन दोनों ने चारों कुमारों को रोका था। भगवान् ने अपने इन सेवकों को दिये गये शाप को स्वीकार किया। वे भौतिक जगत में जाने और शाप से मुक्त होने पर वैकुण्ठलोक वापस आने के लिए राजी हो गये। यद्यपि जय तथा विजय अत्यन्त उद्विग्न थे, लेकिन भगवान् ने उन्हें सलाह दी कि वे शत्रु की तरह कार्य करें जिससे तीन जन्मों के बाद वे वापस आ सकें, अन्यथा सामान्य तौर पर सात जन्म लेने पड़ते हैं। इस आदेश पर जय तथा विजय ने भगवान् के शत्रुओं की भूमिका निभाई और अब जब वे दोनों मृत थे तो समस्त विष्णु दूतों ने समझा कि भगवान् द्वारा हिरण्यकशिपु का वध एक प्रकार से उस पर विशेष कृपा थी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध के अन्तर्गत ''भगवान् नृसिंहदेव द्वारा असुरराज का वध'' नामक आठवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter नौ

प्रह्लाद द्वारा नृसिंह देव का प्रार्थनाओं से शान्त किया जाना

जैसाकि इस अध्याय में बताया गया है, प्रह्लाद महाराज ने ब्रह्माजी के आदेशानुसार भगवान् नृसिंहदेव को शान्त किया, क्योंकि हिरण्यकशिपु का वध करने के बाद वे अत्यन्त क्रुद्ध थे।

हिरण्यकशिपु का वध करने के बाद भगवान् क्रुद्ध बने रहे और ब्रह्माजी समेत सारे देवता उन्हें शान्त नहीं कर सके। यहाँ तक कि नारायण की चिरसंगिनी लक्ष्मी जी को भी नृसिंह भगवान् के सामने आने का साहस नहीं हुआ। तब ब्रह्माजी ने प्रह्लाद महाराज से कहा कि वे भगवान् के समक्ष जाएं और

उनके क्रोध को शान्त करें। प्रह्लाद महाराज अपने प्रभु भगवान् नृसिंहदेव की वत्सलता के प्रति आश्वस्त थे, अतएव उन्हें उनसे तनिक भी भय नहीं हुआ। वे अत्यन्त गम्भीर होकर भगवान् के चरणकमलों के समक्ष गये और उन्हें प्रणाम किया। भगवान् नृसिंहदेव प्रह्लाद महाराज पर अत्यन्त वत्सल थे, अतएव उन्होंने उनके सिर पर अपना हाथ रखा। इस स्पर्श से प्रह्लाद महाराज को तुरन्त ही *ब्रह्मज्ञान* उत्पन्न हुआ। इस प्रकार उन्होंने ब्रह्मज्ञान से तथा पूर्ण भक्तिमय आह्लाद से पूरित होकर प्रार्थना की। उन्होंने अपनी प्रार्थना में जो उपदेश दिये वे निम्न प्रकार हैं—

प्रह्लाद ने कहा—"मुझे इसका गर्व नहीं है कि मैं भगवान् से प्रार्थना कर रहा हूँ। मैं तो भगवान् की कृपा शरण ले रहा हूँ, क्योंकि बिना भक्ति के कोई भी उन्हें प्रसन्न नहीं कर सकता। कोई उच्च कुल में जन्म लेकर या मात्र महान् ऐश्वर्य से या विद्या, तपस्या, या योग शक्ति से उन्हें प्रसन्न नहीं कर सकता। सचमुच ही ये सब उन्हें प्रिय नहीं हैं, क्योंकि शुद्ध भक्ति के अतिरिक्त उन्हें अन्य कुछ भी प्रसन्न नहीं कर सकता। यहाँ तक कि बारह ब्राह्मण-गुणों से सम्पन्न ब्राह्मण जाति का व्यक्ति भी उन्हें उतना प्रिय नहीं जितना कि चण्डाल के भी घर में उत्पन्न हुआ भक्त प्रिय होता है, वे उसकी प्रार्थना स्वीकार करते हैं। भगवान् को किसी की प्रार्थनाओं की आवश्यकता नहीं है, किन्तु यदि कोई भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है, तो इससे उसे काफी लाभ पहुँचता है। अतएव निम्न कुल में उत्पन्न अज्ञानी व्यक्ति हृदय से भगवान् की प्रार्थना कर सकते हैं और ये प्रार्थनाएँ भगवान् को स्वीकार होती हैं। ज्योंही कोई भगवान् से प्रार्थना करता है, वह ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।

भगवान् नृसिंहदेव अकेले प्रह्लाद के निजी लाभ के लिए नहीं, अपितु सारे मानव समाज के लाभ हेतु प्रकट हुए थे। अभक्त को नृसिंहदेव का भयावह रूप भले ही अत्यन्त भयानक लगे, किन्तु भक्त के लिए तो भगवान् अन्य रूपों की ही भाँति सदैव वत्सल रहते हैं। इस भौतिक जगत में बद्ध जीवन सचमुच ही अत्यन्त भयावह है, किन्तु भक्त को किसी चीज का भय नहीं रहता। संसार का भय मिथ्या अहंकार के कारण है, अतएव प्रत्येक जीव के जीवन का चरम लक्ष्य भगवान् के दासानुदास पद को प्राप्त करना है। इस जगत में जीवों की दीन दशा का उपचार मात्र भगवत्कृपा ही है। यद्यपि ब्रह्मा तथा अन्य देवता, यहाँ तक कि अपना पिता भी, तथाकथित भौतिक रक्षक हैं, किन्तु वे भी किसी के लिए कुछ नहीं कर सकते, यदि कोई भगवान् द्वारा उपेक्षित हो। किन्तु भगवान् के चरणकमलों की शरण

ग्रहण करने पर वह भौतिक प्रकृति के प्रहार से बच सकता है। अतएव प्रत्येक जीव को तथाकथित भौतिक सुख के प्रति अनाकृष्ट रहकर यथासम्भव भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए। मानव जीवन का यही उद्देश्य है। मात्र इन्द्रियतृप्ति के प्रति आकृष्ट होना मूर्खता होगी। भगवद्भक्त या अभक्त के लिए उच्च या निम्नकुल में उत्पन्न होने का कोई महत्त्व नहीं है। यहाँ तक कि ब्रह्मा तथा लक्ष्मी जी तक उनकी पूर्ण कृपा प्राप्त नहीं कर पाते जब कि भक्त को सरलता से ऐसी भक्ति प्राप्त हो जाती है। भगवान् की कृपा सबों पर समान रूप से वितरित होती है चाहे वह उच्चकुल में उत्पन्न हो या निम्नकुल में। चूंकि प्रह्लाद महाराज को नारद मुनि का आशीर्वाद प्राप्त था, प्रह्लाद एक महान् भक्त हो गए। भगवान् निर्विशेषवादियों तथा शून्यवादियों से सदैव अपने भक्तों को बचाते हैं। भगवान् जीव की रक्षा करने तथा उसे लाभ पहुँचाने के लिए सदैव उसके हृदय में परमात्मा रूप में विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार भगवान् कभी त्राता बनते हैं, तो कभी संहर्ता। मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् को किसी प्रकार का दोष न दे। उनकी ही योजना से इस जगत में जीवन की विविधता दिख रही है। ये सभी अन्ततोगत्वा उनकी कृपाएँ हैं।

यद्यपि सारा विराट जगत अभिन्न है, तो भी भौतिक जगत आध्यात्मिक जगत से भिन्न है। केवल भगवत्कृपा से ही समझा जा सकता है कि अद्भुत प्रकृति किस प्रकार कार्य करती है। उदाहरणार्थ, यद्यपि ब्रह्माजी गर्भोदकशायी विष्णु के उदर से निकले कमल के आसन से प्रकट हुए, किन्तु प्रकट होने के बाद उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि वे क्या करें। उन पर मधु एवं कैटभ नामक दो असुरों ने आक्रमण कर दिया और उनसे वैदिक ज्ञान छीन लिया, किन्तु भगवान् ने उन्हें मारकर ब्रह्मा को वैदिक ज्ञान वापस दिलाया। इस प्रकार भगवान् प्रत्येक युग में देवों, मनुष्यों, पशुओं, सन्तों तथा जलचरों के बीच प्रकट होते रहते हैं। ऐसे सारे अवतार भक्तों की रक्षा करने तथा असुरों का वध करने के निमित्त होते हैं, किन्तु इस वध करने तथा रक्षा करने में भगवान् कोई पक्षपात नहीं बरतते। बद्धजीव सदैव बहिरंगा शक्ति के प्रति आकृष्ट होता है, अतएव उसमें लोभ तथा काम पाया जाता है और इस तरह वह कष्ट भोगता है। भक्त के प्रति भगवान् की अहैतुकी कृपा ही वह एकमात्र साधन है, जिससे संसार से बाहर निकला जा सकता है। जो भी व्यक्ति भगवान् के कार्यकलापों का गायन करता है, वह इस भौतिक जगत से निर्भय हो जाता है किन्तु जो ऐसा नहीं करता वह सदैव कष्ट उठाता है।

जो लोग एकान्त में भगवान् की पूजा करने में रुचि रखते हैं, वे भले ही मोक्ष पा लें किन्तु शुद्ध भक्त अन्यों का कष्ट देखकर सदैव दुखी रहता है। अतएव वह अपने मोक्ष की परवाह न करके सदैव भगवान् की महिमा का उपदेश करता रहता है। इसलिए प्रह्लाद महाराज ने अपने सहपाठियों को उपदेश देकर उनका उद्धार करने का प्रयास किया और इसीलिए वे कभी शान्त नहीं रहे। यद्यपि शान्त रहना, तपस्या करना, वैदिक साहित्य को समझना, अनुष्ठान करना, एकान्त वास करना तथा जप और दिव्य ध्यान करना मोक्ष के जाने-माने साधन हैं, किन्तु ये सब उन अभक्त-वञ्चकों के लिए हैं, जो अन्यों पर आश्रित रहना चाहते हैं। किन्तु शुद्ध भक्त ऐसे वंचक कार्यों से परे रहकर भगवान् का साक्षात् दर्शन कर सकता है।

विराट जगत की संरचना का परमाणुवाद तथ्यपरक नहीं है। भगवान् प्रत्येक वस्तु के कारणस्वरूप हैं अतएव वे इस सृष्टि के भी कारण हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि भगवान् को नमस्कार द्वारा, प्रार्थना द्वारा, मन्दिर में पूजा द्वारा, सदैव उनके स्मरण तथा उनके दिव्य कार्यकलापों के श्रवण द्वारा उनकी भक्ति में लगा रहे। इन छह प्रकार के कर्मों के बिना उसे भक्ति नहीं मिल सकती।

इस प्रकार प्रह्लाद महाराज ने पग-पग पर उनकी कृपा की याचना करते हुए उनकी प्रार्थना की। भगवान् नृसिंहदेव उनकी प्रार्थनाओं से प्रसन्न हो गये, अतएव उन्होंने प्रह्लाद महाराज को वर देना चाहा जिससे उन्हें सारी भौतिक सुविधाएँ प्राप्त हो सकें। किन्तु प्रह्लादमहाराज ऐसी भौतिक सुविधाओं से दिग्भ्रमित होने वाले न थे। वे तो भगवान् के दासानुदास बने रहना चाहते थे।

श्रीनारद उवाच

एवं सुरादयः सर्वे ब्रह्मरुद्रपुरः सराः ।
नोपैतुमशकन्मन्युसंरम्भं सुदुरासदम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारद उवाच—नारद मुनि ने कहा; एवम्—इस प्रकार; सुर-आदयः—देवताओं का समूह; सर्वे—सारे; ब्रह्म-रुद्र-पुरः सराः—ब्रह्मा तथा शिव द्वारा प्रतिनिधित्व किया जाकर; न—नहीं; उपैतुम्—भगवान् के समक्ष जाने के लिए; अशकन्—समर्थ; मन्यु-संरम्भम्—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; सु-दुरासदम्—जिन तक पहुँच पाना दुष्कर है (नृसिंहदेव), उन्हें।

नारद मुनि ने आगे कहा : ब्रह्मा, शिव इत्यादि अन्य बड़े-बड़े देवताओं का साहस न हुआ कि वे भगवान् के समक्ष जायँ, क्योंकि उस समय वे अत्यन्त क्रुद्ध थे।

तात्पर्य : श्रील नरोत्तम दास ठाकुर ने *प्रेम-भक्ति-चन्द्रिका* में गाया है—*'क्रोध' भक्त-द्वेषि-जने*—क्रोध का प्रयोग उस असुर को दण्डित करने के लिए किया जाना चाहिए जो भक्तों से ईर्ष्या करता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्य इन सबों का भगवान् तथा उनके भक्त के लिए समुचित उपयोग है। भगवद्भक्त कभी भी भगवान् या अन्य भगवद्भक्तों की निन्दा नहीं सहन कर सकता और न भगवान् ही भक्त की निन्दा सह सकते हैं। इस प्रकार नृसिंहदेव इतने अधिक क्रुद्ध थे कि ब्रह्मा तथा शिव जैसे बड़े-बड़े देवता और लक्ष्मी जी तक, जो कि भगवान् की नित्य संगिनी हैं, उनकी प्रशंसा तथा यशोगान द्वारा उन्हें शान्त नहीं कर सके। कोई भी भगवान् के क्रोध को शान्त नहीं कर सका, किन्तु क्योंकि भगवान् अपना प्यार प्रह्लाद महाराज को जताना चाहते थे, इसलिए सारे देवताओं तथा भगवान् के समक्ष उपस्थित अन्य जनों ने प्रह्लाद महाराज को ही उन्हें शान्त करने के लिए आगे कर दिया।

साक्षात्श्रीः प्रेषिता देवैर्दृष्ट्वा तं महदद्भुतम् ।
अदृष्टाश्रुतपूर्वत्वात्सा नोपेयाय शङ्किता ॥ २ ॥

शब्दार्थ

साक्षात्—प्रत्यक्ष; श्रीः—लक्ष्मी जी; प्रेषिता—भगवान् के समक्ष जाने के लिए प्रार्थना की गई; देवैः—सारे देवताओं (ब्रह्मा, शिव इत्यादि) द्वारा; दृष्ट्वा—देखकर; तम्—उस (नृसिंहदेव) को; महत्—अत्यन्त विशाल; अद्भुतम्—अद्भुत; अदृष्ट—कभी न देखा गया; अश्रुत—कभी न सुना गया; पूर्वत्वात्—कभी पहले; सा—वह लक्ष्मी; न—नहीं; उपेयाय—भगवान् के समक्ष गई; शङ्किता—अत्यधिक भयभीत।

वहाँ पर उपस्थित भयभीत सारे देवताओं ने लक्ष्मी जी से प्रार्थना की कि वे भगवान् के समक्ष जाएँ। किन्तु उन्होंने भी भगवान् का ऐसा अद्भुत तथा असामान्य रूप कभी नहीं देखा था, अतएव वे उनके पास नहीं जा सकीं।

तात्पर्य : भगवान् के असंख्य शारीरिक रूप हैं (*अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्*)। ये सारे रूप वैकुण्ठलोक में रहते हैं, तो भी *लीला शक्ति* से प्रेरित लक्ष्मी जी भगवान् के इस अद्वितीय रूप को नहीं जान पाईं। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य *ब्रह्माण्ड पुराण* से निम्नलिखित श्लोक सुनाते हैं—

अदृष्टाश्रुतपूर्वत्वाद् अन्यैः साधारणैर्जनैः ।

नृसिंहं शंकितेव श्रीर्लोकमोहायनो ययौ ॥

प्रह्लादे चैव वात्सल्यदर्शनाय हरेरपि ।

ज्ञात्वा मनस्तथा ब्रह्मा प्रह्लादं प्रेषयत् तदा॥

एकत्रैकस्य वात्सल्यं विशेषाद्दर्शयेद्धरिः।

अवरस्यापि मोहाय क्रमेणैवापि वत्सलः॥

दूसरे शब्दों में, सामान्य व्यक्ति के लिए नृसिंहदेव के रूप में भगवान् अदृष्ट तथा अद्‌भुत होते हैं, किन्तु प्रह्लाद महाराज जैसे भक्त के लिए भगवान् का ऐसा भयावह रूप किञ्चिदपि असामान्य नहीं होता। भगवत्कृपा से ही भक्त आसानी से समझ सकता है कि भगवान् जिस रूप में चाहें उसमें वे प्रकट हो सकते हैं। अतएव भक्त कभी भी ऐसे रूप से भयभीत नहीं होता। चूँकि भगवान् ने प्रह्लाद महाराज पर विशेष कृपा की थी, अतएव वे शान्त तथा निर्भय बने रहे, यद्यपि सारे देवतागण, यहाँ तक कि लक्ष्मी जी भी, भगवान् नृसिंहदेव से भयभीत थीं। *नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति* (*भागवत* ६.१७.२८)। न केवल प्रह्लाद महाराज जैसा नारायण-भक्त भौतिक जीवन की भयावह दशा से निर्भीक बना रहता है, अपितु भक्त के भय को दूर करने के लिए भगवान् के प्रकट होने पर भी भक्त सभी परिस्थितियों में अपनी निर्भीक स्थिति बनाये रखता है।

प्रह्लादं प्रेषयामास ब्रह्मावस्थितमन्तिके ।
तात प्रशमयोपेहि स्वपित्रे कुपितं प्रभुम् ॥ ३॥

शब्दार्थ

प्रह्लादम्—प्रह्लाद महाराज से; प्रेषयाम् आस—अनुरोध किया; ब्रह्मा—ब्रह्माजी ने; अवस्थितम्—स्थित; अन्तिके—अत्यन्त निकट; तात—मेरे प्रिय पुत्र; प्रशमय—शान्त कराने का प्रयास करो; उपेहि—पास जाओ; स्व-पित्रे—तुम्हारे पिता के आसुरी कार्यों के कारण; कुपितम्—अत्यधिक क्रुद्ध; प्रभुम्—भगवान् को ।.

तत्पश्चात् ब्रह्माजी ने अपने पास ही खड़े प्रह्लाद महाराज से अनुरोध किया—हे पुत्र, भगवान् नृसिंहदेव तुम्हारे आसुरी पिता पर अत्यधिक क्रुद्ध हैं। अतएव तुम आगे जाकर भगवान् को शान्त करो।

तथेति शनकै राजन्महाभागवतोऽर्भकः ।
उपेत्य भुवि कायेन ननाम विधृताञ्जलिः ॥ ४॥

शब्दार्थ

तथा—ऐसा ही हो; इति—इस प्रकार ब्रह्माजी के वचनों को मानकर; शनकैः—धीरे-धीरे; राजन्—हे राजा (युधिष्ठिर); महा-भागवतः—अत्यन्त महान् भक्त (प्रह्लाद महाराज); अर्भकः—यद्यपि छोटे बालक ही थे; उपेत्य—धीरे-धीरे निकट जाकर; भुवि—पृथ्वी पर; कायेन—अपने शरीर से; ननाम—प्रणाम किया; विधृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़े हुए।

नारद मुनि ने आगे कहा : हे राजा, यद्यपि महान् भक्त प्रह्लाद महाराज केवल छोटे से बालक थे, लेकिन उन्होंने ब्रह्माजी की बातें मान लीं। वे धीरे-धीरे भगवान् नृसिंहदेव की ओर बढ़े और हाथ जोड़कर पृथ्वी पर गिर कर उन्हें सादर नमस्कार किया।

स्वपादमूले पतितं तमर्भकं
विलोक्य देवः कृपया परिप्लुतः ।
उत्थाप्य तच्छीर्ष्ण्यदधात्कराम्बुजं
कालाहिवित्रस्तधियां कृताभयम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

स्व-पाद-मूले—अपने चरणकमलों पर; पतितम्—गिरा हुआ; तम्—उस (प्रह्लाद महाराज); अर्भकम्—छोटे से बालक को; विलोक्य—देखकर; देवः—नृसिंहदेव ने; कृपया—अपनी अहैतुकी कृपा से; परिप्लुतः—भावविभोर होकर; उत्थाप्य—उठा कर; तत्-शीर्ष्णि—उसके सिर पर; अदधात्—रख दिया; कर-अम्बुजम्—अपना कर कमल; काल-अहि—काल रूपी सर्प का (जो तुरन्त ही मार सकता है); वित्रस्त—डरा हुआ; धियाम्—उन सबों के जिनके मन; कृत-अभयम्—निर्भय बनाता है।

जब नृसिंहेदव ने देखा कि छोटे से बालक प्रह्लाद महाराज ने चरमकमलों पर साष्टांग प्रणाम किया है, तो वे अपने भक्त के प्रति अत्यधिक भाव-विभोर हो उठे। प्रह्लाद को उठाते हुए उन्होंने अपना कर-कमल उस बालक के सिर पर रख दिया। उनका हाथ उनके समस्त भक्तों को अभय-दान करने वाला है।

तात्पर्य : भौतिक जगत की चार आवश्यकताएँ हैं—आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन। इस भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति सदैव भयभीत रहता है (*सदा समुद्विग्न-धियाम्*) और प्रत्येक व्यक्ति को निर्भय बनाने का एकमात्र साधन है कृष्णभावनामृत। जब भगवान् नृसिंहदेव प्रकट हुए तो सारे भक्त निर्भय हो गये। भक्त के निर्भय होने की आशा है भगवान् नृसिंहदेव के पवित्र नाम का कीर्तन करना। *यतो यतो यामि ततो नृसिंहः*—हम जहाँ-जहाँ भी जाँय, सदैव नृसिंह भगवान् का चिन्तन करें। इस तरह भगवद्भक्त को कोई भय नहीं रह जाएगा।

स तत्करस्पर्शधुताखिलाशुभः
सपद्यभिव्यक्तपरात्मदर्शनः ।
तत्पादपद्मं हृदि निर्वृतो दधौ
हृष्यत्तनुः क्लिन्नहृदश्रुलोचनः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (प्रह्लाद महाराज); तत्-कर-स्पर्श—नृसिंहदेव के कर कमल द्वारा स्पर्श किये जाने पर; धुत—पवित्र होकर; अखिल—सम्पूर्ण; अशुभः—अशुभ या भौतिक इच्छाएँ; सपदि—तुरन्त; अभिव्यक्त—प्रकट; पर-आत्म-दर्शनः—परमात्मा का साक्षात्कार; तत्-पाद-पद्मम्—नृसिंहदेव के चरणकमल को; हृदि—हृदय में; निर्वृतः—दिव्य आनन्द से पूरित; दधौ—बन्दी बना लिया; हृष्यत्-तनुः—शरीर में दिव्य आनन्द का प्रकट्य; क्लिन्न-हृत्—दिव्य आनन्द के कारण मृदु हुए हृदय वाला; अश्रु-लोचनः—अपनी आँखों में आँसू भर कर।

भगवान् नृसिंहदेव द्वारा प्रह्लाद महाराज का सिर स्पर्श करने से प्रह्लाद के समस्त भौतिक कल्मष तथा इच्छाएँ पूर्णतया धुल गईं। अतएव वे दिव्य पद को प्राप्त हो गये और उनके शरीर में आनन्द के सारे लक्षण प्रकट हो गए। उनका हृदय प्रेम से पूरित हो उठा, उनकी आँखों में आँसू आ गये और उन्होंने अपने हृदय में भगवान् के चरणकमलों को बन्दी बना लिया।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.२६) में कहा गया है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो भक्ति में पूरी तरह लगा रहता है और किसी भी परिस्थिति में च्युत नहीं होता वह तुरन्त प्रकृति के गुणों को पार करके ब्रह्मपद को प्राप्त होता है।" भगवान् ने अन्यत्र *भगवद्गीता* (९.३२) में कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

"हे पृथापुत्र! जो मेरी शरण ग्रहण करते हैं, वे चाहे निम्नतर जन्म के अर्थात् स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र क्यों न हों परम लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं।"

भगवद्गीता के इन श्लोकों से यह स्पष्ट है कि यद्यपि प्रह्लाद महाराज असुर-कुल में उत्पन्न हुए थे और उनकी रगो में आसुरी रक्त प्रवाहित हो रहा था, किन्तु भक्त के दिव्य पद के कारण उनके सारे भौतिक शारीरिक कल्मष धुल गये थे। दूसरे शब्दों में, अध्यात्म पथ के ऐसे अवरोध उन्हें प्रगति करने से नहीं रोक सके थे, क्योंकि वे भगवान् के प्रत्यक्ष सम्पर्क में थे। जो लोग तन तथा मन से नास्तिकता से दूषित हैं, वे कभी भी दिव्य पद पर स्थित नहीं हो सकते, किन्तु ज्योंही ऐसे लोग भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाते हैं त्योंही वे भक्ति के पद पर स्थित होने के योग्य हो जाते हैं।

अस्तौषीद्धरिमेकाग्रमनसा सुसमाहितः ।

प्रेमगद्गदया वाचा तन्न्यस्तहृदयेक्षणः ॥ ७॥

शब्दार्थ

अस्तौषीत्—वह प्रार्थना करने लगा; हरिम्—भगवान् की; एकाग्र-मनसा—भगवान् के चरणकमलों पर अपने मन को स्थिर करके; सु-समाहितः—अत्यन्त मनोयोग से; प्रेम-गद्गदया—दिव्य आनन्द की अनुभूति के कारण बोल सकने में असमर्थ; वाचा—वाणी से; तत्-न्यस्त—उन (नृसिंहदेव) पर पूर्णतया समर्पित; हृदय-ईक्षणः—हृदय तथा दृष्टि सहित।

प्रह्लाद महाराज ने पूर्ण समाधि में पूरे मनोयोग से अपने मन तथा दृष्टि को भगवान् नृसिंहदेव पर स्थिर कर दिया। तब वे स्थिर मन से अवरुद्ध वाणी से प्रेमपूर्वक प्रार्थना करने लगे।

तात्पर्य : *सुसमाहितः* शब्द का अर्थ है ''अत्यन्त ध्यानपूर्वक'' या ''पूर्णतया स्थिर होकर''। *योगसिद्धि* के फलस्वरूप ही इस प्रकार मन को स्थिर किया जा सकता है। *श्रीमद्भागवत* (१२.१३.१) में कहा गया है—*ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः।* मनुष्य को योगसिद्धि तभी मिल सकती है जब वह समस्त भौतिक विक्षेपों से मुक्त होता है और उसका मन भगवान् के चरणकमलों में स्थिर हो जाता है। यह *समाधि* कहलाती है। प्रह्लाद महाराज ने यह अवस्था प्राप्त कर ली थी। चूँकि वे सेवा में लगे रहते थे, अतएव वे अपने को अध्यात्म पद पर स्थित अनुभव करते थे। उनका मन तथा ध्यान स्वभावतः अध्यात्म में लीन रहता था। उसी स्थिति में उन्होंने निम्न प्रकार से प्रार्थना करनी शुरू की।

श्रीप्रह्लाद उवाच

ब्रह्मादयः सुरगणा मुनयोऽथ सिद्धाः
सत्त्वैकतानगतयो वचसां प्रवाहैः ।
नाराधितुं पुरुगुणैरधुनापि पिप्रुः
किं तोष्टुमर्हति स मे हरिरुग्रजातेः ॥ ८॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्लादः उवाच—प्रह्लाद महाराज ने प्रार्थना की; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्माजी तथा अन्यों ने; सुर-गणाः—उच्च लोक के निवासी; मुनयः—परम साधु व्यक्ति; अथ—भी (यथा चारों कुमार इत्यादि); सिद्धाः—जिन्होंने सिद्धि या पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है; सत्त्व—आध्यात्मिक स्थिति के लिए; एकतान-गतयः—जिन्होंने बिना विचलन के किसी भी भौतिक कार्यकलाप को ग्रहण कर लिया है; वचसाम्—वृत्तान्तों या वचनों का; प्रवाहैः—धाराओं के द्वारा; न—नहीं; आराधितुम्—प्रसन्न करने के लिए; पुरु-गुणैः—यद्यपि पूर्णतया योग्य; अधुना—अब तक; अपि—भी; पिप्रुः—समर्थ थे; किम्—क्या; तोष्टुम्—प्रसन्न करने के लिए; अर्हति—समर्थ है; सः—वह (भगवान्); मे—मेरा; हरिः—भगवान्; उग्र-जातेः—असुर परिवार में जन्मा।

प्रह्लाद महाराज ने प्रार्थना की: असुर परिवार में जन्म लेने के कारण यह कैसे सम्भव हो सकता है कि मैं भगवान् को प्रसन्न करने के लिए उपयुक्त प्रार्थना कर सकूँ? आज तक ब्रह्मा इत्यादि सारे देवता तथा समस्त मुनिगण उत्तमोत्तम वाणी से भगवान् को प्रसन्न नहीं कर पाये,

यद्यपि ये सारे व्यक्ति सतोगुणी एवं परम योग्य हैं, तो फिर मेरे विषय में क्या कहा जाये? मैं तो बिल्कुल ही अयोग्य हूँ।

तात्पर्य : एक पूर्ण योग्य वैष्णव भगवान् की प्रार्थना करते समय अपने को अत्यन्त तुच्छ समझता है। उदाहरणार्थ, *चैतन्य-चरितामृत* के लेखक कृष्णदास कविराज गोस्वामी कहते हैं—

जगाइ माधाइ हैते मुञि से पापिष्ठ।

पुरीषेर कीट हैते मुञि से लघिष्ठ॥

(*चैतन्य-चरितामृत, आदि* ५.२०५)

इस तरह वह अपने को विष्ठा के कीड़े से भी तुच्छ तथा जगाइ एवं माधाइ से भी अधिक पापी मानता है। शुद्ध वैष्णव अपने विषय में ऐसा ही सोचता है। इसी तरह यद्यपि प्रह्लाद महाराज अत्यन्त शुद्ध उच्च वैष्णव थे किन्तु वे अपने को भगवान् की प्रार्थना के लिए परम अयोग्य समझ रहे थे। *महाजनो येन गतः स पन्थाः।* प्रत्येक शुद्ध वैष्णव को इसी तरह सोचना चाहिए। उसे अपनी वैष्णव-योग्यताओं का वृथा गर्व नहीं होना चाहिए। अतएव श्री चैतन्य महाप्रभु ने उपदेश दिया है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।

अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

"मनुष्य को चाहिए कि वह अपने को पगडंडी के तिनके से भी तुच्छ माने और विनीत भाव से भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करे। उसे वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु होना चाहिए, उसे मिथ्या प्रतिष्ठा-भाव से रहित होना चाहिए और सदैव अन्यों का आदर करने के लिए तैयार रहना चाहिए। ऐसी मनोदशा में ही वह भगवान् के पवित्र नाम का निरन्तर कीर्तन कर सकता है।" विनीत हुए बिना आध्यात्मिक जीवन में प्रगति कर पाना अत्यन्त कठिन है।

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान्गजयूथपाय ॥ ९॥

शब्दार्थ

मन्ये—मैं मानता हूँ; धन—सम्पत्ति; अभिजन—राजसी परिवार; रूप—सुन्दरता; तपः—तपस्या; श्रुत—वेदाध्ययन से प्राप्त ज्ञान; ओजः—इन्द्रिय पराक्रम; तेजः—शारीरिक तेज; प्रभाव—प्रभाव; बल—शारीरिक शक्ति; पौरुष—उद्यम; बुद्धि—बुद्धि; योगाः—योग शक्ति; न—नहीं; आराधनाय—प्रसन्न करने के लिए; हि—निस्सन्देह; भवन्ति—हैं; परस्य—दिव्य का; पुंसः—भगवान्; भक्त्या—केवल भक्ति से; तुतोष—तुष्ट हो गया था; भगवान्—भगवान्; गज-यूथ-पाय—हाथियों के राजा (गजेन्द्र) के हेतु।.

प्रह्लाद महाराज ने आगे कहा : भले ही मनुष्य के पास सम्पत्ति, राजसी परिवार, सौन्दर्य, तपस्या, शिक्षा, दक्षता, कान्ति, प्रभाव, शारीरिक शक्ति, उद्यम, बुद्धि तथा योगशक्ति क्यों न हो, किन्तु मेरी समझ से इन सारी योग्यताओं से भी कोई व्यक्ति भगवान् को प्रसन्न नहीं कर सकता। किन्तु भक्ति से वह ऐसा कर सकता है। गजेन्द्र ने ऐसा किया और इस तरह भगवान् उससे प्रसन्न हो गये।

तात्पर्य : कोई भी भौतिक योग्यता भगवान् को प्रसन्न करने का साधन नहीं हो सकती। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है भगवान् केवल भक्ति से जाने जा सकते हैं (*भक्त्या मामभिजानाति*)। जब तक भगवान् भक्त की सेवा से प्रसन्न नहीं हो जाते तब तक वे अपने आपको प्रकट नहीं होने देते (*नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः*)। यह समस्त शास्त्रों का अभिमत है। कोई न तो चिन्तन से, न ही योग्यताओं से भगवान् के पास जा सकता है या उन्हें समझ सकता है।

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखात्श्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

विप्रात्—ब्राह्मण की अपेक्षा; द्वि-षट्-गुण-युतात्—बारह ब्राह्मण गुणों से सम्पन्न*; अरविन्द-नाभ—भगवान्, विष्णु, जिनकी नाभि से कमल निकला है; पाद-अरविन्द—चरणकमलों की; विमुखात्—भक्ति से विमुख; श्व-पचम्—निम्नकुल में जन्मे या चाण्डाल को; वरिष्ठम्—अत्यन्त यशस्वी; मन्ये—मानता हूँ; तत्-अर्पित—भगवान् के चरणकमलों में शरणागत; मनः—अपना मन; वचन—शब्द; ईहित—प्रत्येक प्रयास; अर्थ—सम्पत्ति; प्राणम्—तथा जीवन; पुनाति—शुद्ध करता है; सः—वह (भक्त); कुलम्—अपने परिवार को; न—नहीं; तु—लेकिन; भूरिमानः—जो झूठे ही अपने को प्रतिष्ठित पद पर सोचते हैं।.

Footnote Starts Here:

*पूर्ण ब्राह्मण के बारह गुण इस प्रकार हैं—धर्म पालन, सत्य भाषण, तपस्या द्वारा इन्द्रिय निग्रह, ईर्ष्या से रहित होना, बुद्धिमान होना, सहिष्णु होना, शत्रु न बनाना, यज्ञ करना, दान देना, स्थिर रहना, वेदाध्ययन में पारंगत होना तथा व्रत पालना। *

Footnote Ends Here.

यदि किसी ब्राह्मण में बारहों योग्यताएँ (*सनत्सुजात* ग्रन्थ में उल्लिखित) हों किन्तु यदि वह भक्त नहीं है और भगवान् के चरणकमलों से विमुख है, तो वह उस चाण्डाल भक्त से भी अधम होता है, जिसने अपना सर्वस्व मन, वचन, कर्म, सम्पत्ति तथा जीवन भगवान् को अर्पित कर दिया है। ऐसा भक्त उस ब्राह्मण से श्रेष्ठ है, क्योंकि भक्त अपने सारे परिवार को पवित्र कर सकता है जब कि झूठी प्रतिष्ठा वाला तथाकथित ब्राह्मण अपने आप को आप भी शुद्ध नहीं कर पाता।

तात्पर्य : यह एक भक्त तथा एक कर्मकाण्डी ब्राह्मण का अन्तर बताने वाला कथन बारह महाजनों में से एक प्रह्लाद महाराज का है। मानव समाज चार वर्णों तथा चार आश्रमों में बँटा है, किन्तु प्रधान सिद्धान्त उच्चकोटि का शुद्ध भक्त बनना है। *हरि-भक्ति-सुधोदय* में कहा गया है—

भगवद्भक्तिहीनस्य जातिः शास्त्रं जपस्तपः।

अप्राणस्यैव देहस्य मण्डनं लोकरञ्जनम्॥

''यदि कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य जैसे उच्चकुल में उत्पन्न होता है, किन्तु यदि वह भगवद्भक्त नहीं है, तो उसके ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के सारे गुण व्यर्थ हैं। निस्सन्देह, वे शव के अलंकरण जैसे माने जाते हैं।''

इस श्लोक में प्रह्लाद महाराज विप्रों अर्थात् विद्वान ब्राह्मणों की बात करते हैं। चारों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—में विप्र को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, किन्तु अधम चाण्डाल परिवार में जन्मा भक्त ऐसे विप्रों से श्रेष्ठ होता है—क्षत्रियों, वैश्यों इत्यादि की तो बात ही नहीं उठती। भक्त अन्य सबों की अपेक्षा श्रेष्ठ है, क्योंकि वह ब्रह्म पद पर सदैव दिव्य पद पर रहता है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

''जो पूर्ण भक्ति में लगा रहता है, जो किसी भी परिस्थिति में च्युत नहीं होता, वह तुरन्त ही भौतिक गुणों को पार करके ब्रह्म पद को प्राप्त होता है'' (*भगवद्गीता* १४.२६)। *सनत्सुजात* पुस्तक में प्रथम कोटिक ब्राह्मण के बारह गुण बताये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

ज्ञानं च सत्यं च दम: श्रुतं च

ह्यमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया।

यज्ञश्च दानं च धृति: शमश्च

महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य॥

कृष्णभावनामृत आन्दोलन में यूरोपीय तथा अमरीकी भक्तों को कभी-कभी ब्राह्मण मान लिया जाता है, किन्तु तथाकथित ब्राह्मण जाति के लोग उनसे अत्यधिक ईर्ष्या करते हैं। ऐसी ईर्ष्या के उत्तर में प्रह्लाद महाराज कहते हैं कि जो ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होकर अपने प्रतिष्ठित पद का मिथ्या गर्व करता है, वह स्वयं को भी शुद्ध नहीं कर पाता, परिवार की तो कोई बात ही नहीं उठती। किन्तु यदि निम्नकुल में उत्पन्न चाण्डाल भक्त हो और भगवान् के चरणकमलों में पूर्णत: समर्पित हो तो वह अपने पूरे परिवार को शुद्ध कर सकता है। हमें इसका वास्तविक अनुभव है कि किस तरह अमरीकियों तथा यूरोपीयों ने कृष्णभावनाभवित होकर अपने समूचे परिवारों को शुद्ध कर दिया है—यहाँ तक कि जब एक भक्त की माता मरने लगी तो उसने अपनी अन्तिम श्वास छोड़ते समय कृष्ण के विषय में जिज्ञासा प्रकट की। अतएव यह सैद्धान्तिक रूप से सही है तथा व्यावहारिक रूप से सिद्ध किया जा चुका है कि भक्त अपने परिवार, जाति, समाज तथा राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ सेवा कर सकता है। मूर्ख लोग भक्तों को पलायनवाद के सिद्धान्तों का पालन करने का दोषी ठहराते हैं। लेकिन वास्तविकता तो यह है कि भक्त ही अपने परिवार को उठाने वाला सही व्यक्ति होता है। भक्त हर वस्तु को भगवान् की सेवा में लगा देता है अतएव वह सदैव बढ़ा चढ़ा उन्नत व्यक्ति है।

नैवात्मन: प्रभुरयं निजलाभपूर्णो
मानं जनादविदुष: करुणो वृणीते ।
यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्री: ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

न—न तो; एव—निश्चय ही; आत्मन:—अपने निजी लाभ के लिए; प्रभु:—स्वामी; अयम्—यह; निज-लाभ-पूर्ण:—जो सदैव अपने में तुष्ट रहता है (अन्यों की सेवाओं द्वारा प्रसन्न किये जाने की उसे कोई आवश्यकता नहीं रहती); मानम्—आदर; जनात्—व्यक्ति से; अविदुष:—जो यह नहीं जानता कि जीवन का लक्ष्य भगवान् को प्रसन्न करना है; करुण:—(भगवान्) जो इस मूर्ख अज्ञानी व्यक्ति पर इतना दयालु है; वृणीते—स्वीकार करता है; यत् यत्—जो भी; जन:—व्यक्ति; भगवते—भगवान् पर; विदधीत—अर्पित करे; मानम्—पूजा; तत्—वह; च—निस्सन्देह; आत्मने—अपने लाभ के लिए; प्रति-मुखस्य—दर्पण में मुख के प्रतिबिम्ब का; यथा—जिस तरह; मुख-श्री:—मुँह का सौन्दर्य।

भगवान् सदैव आत्मतुष्ट रहने वाले हैं, अतएव जब उन्हें कोई भेंट अर्पित की जाती है, तो भगवत्कृपा से यह भेंट भक्त के लाभ के लिए ही होती है, क्योंकि भगवान् को किसी की सेवा की आवश्यकता नहीं है। उदाहरणार्थ, यदि किसी का मुख सज्जित हो तो दर्पण में उसके मुख का प्रतिबिम्ब भी सज्जित दिखता है।

तात्पर्य : भक्तियोग में भक्त को नौ सिद्धान्तों का पालन करना होता है। ये है—*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।* श्रवण, कीर्तन इत्यादि द्वारा भगवान् का यशोगान भगवान् के लाभ के लिए नहीं है, यह भक्त के लाभ के लिए है। भगवान् तो सदैव महिमावान है चाहे भक्त महिमागान करे या न करे। किन्तु यदि भक्त भगवान् का महिमा-गायन करता है, तो भक्त स्वयं ही स्वतः यशस्वी बनता है (*चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापनम्*)। भगवान् का निरन्तर यशोगान करने से जीव का अन्तस्तल शुद्ध हो जाता है, जिससे वह समझ सकता है कि वह संसारी नहीं है, अपितु आत्मा है, जिसका वास्तविक कार्य कृष्णभावनामृत को आगे बढ़ाना है, जिससे वह भव-बन्धन से छूट सके। इस प्रकार संसार की प्रज्ज्वलित अग्नि शमित हो जाती है (*भवमहादावाग्निनिर्वापनम्*)। मूर्ख व्यक्ति को बड़ा आश्चर्य होता है जब कृष्ण आदेश देते हैं—*सर्वधमान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—सारे धार्मिक कार्यकलापों को त्याग दो और मेरी शरण में आओ। कुछ मूर्ख पंडित यहाँ तक कहते हैं कि ऐसी माँग करना अति है। किन्तु यह माँग भगवान् के लाभ के लिए नहीं की जाती, यह तो मानव समाज के कल्याण के लिए होती है। यदि सारे मनुष्य व्यष्टि रूप से तथा समष्टि रूप से प्रत्येक वस्तु को कृष्णभावनामृत में रखकर भगवान् को समर्पित कर दें तो इससे सारा मानव समाज लाभान्वित होगा। जो व्यक्ति भगवान् को प्रत्येक वस्तु अर्पित नहीं करता उसे इस श्लोक में *अविदुष* या धूर्त कहा गया है। *भगवद्गीता* (७.१५) में भगवान् इसी प्रकार से कहते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

''ऐसे दुष्कृत लोग नितान्त मूर्ख हैं, मनुष्यों में अधम हैं, जिनका ज्ञान मोह द्वारा अपहृत हो चुका है और जो असुरों की भाँति नास्तिक स्वभाव के हैं; वे मेरी शरण में नहीं आते।'' अज्ञान तथा दुर्भाग्य के

कारण नास्तिक तथा *नराधम* लोग भगवान् की शरण में नहीं जाते। इसलिए भगवान् कृष्ण स्वयं पूर्ण होकर भी विभिन्न युगों में बद्धजीवों से यही चाहते हैं कि वे उनके शरणागत हो लें जिससे वे भव-बन्धन से मुक्त हो सकें। सारांश यह है कि हम जितना ही अधिक कृष्णभक्ति में लगते हैं और भगवान् की सेवा करते हैं उतना ही अधिक लाभ उठाते हैं। कृष्ण को हम से किसी प्रकार की सेवा नहीं चाहिए।

तस्मादहं विगतविक्लव ईश्वरस्य
सर्वात्मना महि गृणामि यथा मनीषम् ।
नीचोऽजया गुणविसर्गमनुप्रविष्टः
पूयेत येन हि पुमाननुवर्णितेन ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; अहम्—मैं; विगत-विक्लवः—अयोग्य होने का चिन्तन छोड़कर; ईश्वरस्य—ईश्वर का; सर्व-आत्मना—पूर्ण शरणागत होकर; महि—यश; गृणामि—कीर्तन या वर्णन करूँगा; यथा मनीषम्—अपनी बुद्धि के अनुसार; नीचः—यद्यपि निम्न कुल (मेरे पिता असुर रहे और समस्त सद्गुणों से विहीन) में उत्पन्न; अजया—अज्ञान के कारण; गुण-विसर्गम्—भौतिक जगत (जिसमें जीव गुणों के कल्मष के अनुसार जन्म लेता है); अनुप्रविष्टः—के भीतर प्रविष्ट; पूयेत—शुद्ध हो; येन—जिससे (भगवान् के यश से); हि—निस्सन्देह; पुमान्—मनुष्य; अनुवर्णितेन—कीर्तन किये जाने या पाठ किये जाने पर।

अतएव यद्यपि मैंने असुरकुल में जन्म लिया है, तो भी निस्सन्देह, जहाँ तक मेरी बुद्धि जाती है मैं पूरे प्रयास से भगवान् की प्रार्थना करूँगा। जो भी व्यक्ति अज्ञान के कारण इस भौतिक जगत में प्रविष्ट होने को बाध्य हुआ है, वह भौतिक जीवन को पवित्र बना सकता है यदि वह भगवान् की प्रार्थना करे और उनके यश का श्रवण करे।

तात्पर्य : यह स्पष्ट है कि भक्त को उच्च कुल में जन्म लेने, धनी होने, राजसी वृत्ति का या सुन्दर होने की आवश्यकता नहीं है। इनमें से कोई भी गुण किसी को भक्ति में नहीं लगा सकता। उसे तो भक्ति में ऐसा अनुभव होना चाहिए "ईश्वर महान् हैं और मैं अत्यन्त लघु हूँ। अतएव मेरा कर्तव्य है कि मैं भगवान् के प्रति प्रार्थना करूँ।" इसी आधार पर भगवान् को समझा जा सकता है और उनकी सेवा की जा सकती है। भगवान् *भगवद्गीता* (१८.५५) में कहते हैं—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

"मनुष्य केवल भक्ति द्वारा परम पुरुष को यथारूप में समझ सकता है और जब वह ऐसी भक्ति द्वारा भगवान् की पूर्ण चेतना में होता है, तो वह भगवद्धाम में प्रवेश कर सकता है।" इस तरह प्रह्लाद महाराज ने अपने भौतिक पद का विचार न करते हुए भगवान् की स्तुति करने का निश्चय किया।

सर्वे ह्यमी विधिकरास्तव सत्त्वधाम्नो
ब्रह्मादयो वयमिवेश न चोद्विजन्तः ।
क्षेमाय भूतय उतात्मसुखाय चास्य
विक्रीडितं भगवतो रुचिरावतारैः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—सभी; हि—निश्चय; अमी—ये; विधि-कराः—आदेश पालनकर्ता; तव—तुम्हारे; सत्त्व-धाम्नः—सदैव दिव्य जगत में स्थित रहकर; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा इत्यादि देवता; वयम्—हम; इव—समान; ईश—हे भगवान्; न—नहीं; च—तथा; उद्विजन्तः—भयभीत (आपके भयानक रूप से); क्षेमाय—रक्षा के लिए; भूतये—वृद्धि के लिए; उत—कहा जाता है; आत्म-सुखाय—ऐसी लीलाओं से निजी तुष्टि के लिए; च—भी; अस्य—इस (भौतिक जगत) का; विक्रीडितम्—प्रकट; भगवतः—आपके; रुचिर—अत्यन्त मनोहर; अवतारैः—अवतार से।

हे भगवान, ब्रह्मा आदि सारे देवता आपके निष्ठावान् दास हैं, क्योंकि वे दिव्य पद पर स्थित हैं। अतः वे हमारी (प्रह्लाद तथा उनके असुर पिता हिरण्यकशिपु की) तरह नहीं हैं। इस भयानक रूप में आपका प्राकट्य स्वान्तःसुख के लिए आपकी लीला है। ऐसा अवतार सदा ही ब्रह्माण्ड की रक्षा तथा सुधार (अभ्युदय) के लिए होता है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज यह कहना चाह रहे थे कि उनके पिता तथा उनके परिवार के अन्य सदस्य अत्यन्त अभागे थे, क्योंकि वे सभी असुर थे जब कि भगवान् के भक्त उनके आदेशों का पालन करने के लिए सदैव सन्नद्ध रहने से अत्यन्त भाग्यशाली हैं। जब भगवान् इस धरा पर विविध अवतारों में प्रकट होते हैं, तो वे दो कार्य करते हैं—भक्तों की रक्षा तथा असुरों का विनाश (*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*)। उदाहरणार्थ, नृसिंहदेव अपने भक्त की रक्षा के लिए प्रकट हुए थे। उन जैसी लिलीएं निश्चित रूप से भक्तों को भयभीत बनाने के लिए नहीं होती; फिर भी सारे भक्त अत्यन्त सरल एवं आज्ञाकारी होने के कारण भगवान् के भयानक अवतार से भयभीत थे। अतएव प्रह्लाद महाराज अपनी इस स्तुति में भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि वे अपना क्रोध त्याग दें।

तद्यच्छ मन्युमसुरश्च हतस्त्वयाद्य
मोदेत साधुरपि वृश्चिकसर्पहत्या ।

लोकाश्च निर्वृतिमिताः प्रतियन्ति सर्वे
रूपं नृसिंह विभयाय जनाः स्मरन्ति ॥ १४॥

शब्दार्थ

तत्—अतएव; यच्छ—कृपया त्याग दें; मन्युम्—अपना क्रोध; असुरः—मेरा पिता, महा असुर हिरण्यकशिपु; च—भी; हतः—मारा गया; त्वया—आपके द्वारा; अद्य—आज; मोदेत—प्रसन्न होते हैं; साधुः अपि—साधु पुरुष भी; वृश्चिक-सर्प-हत्या—साँप या बिच्छू मार कर; लोकाः—सारे लोक; च—निस्सन्देह; निर्वृतिम्—आनन्द; इताः—प्राप्त किया है; प्रतियन्ति—प्रतीक्षा कर रहे हैं (आपके क्रोध शान्त होने की); सर्वे—वे सभी; रूपम्—यह रूप; नृसिंह—हे नृसिंहदेव; विभयाय—उनका भय दूर करने के लिए; जनाः—ब्रह्माण्ड के सारे लोग; स्मरन्ति—स्मरण करेंगे।

अतएव हे नृसिंहदेव भगवान्, आप अपना क्रोध अब त्याग दें, क्योंकि मेरा पिता महा असुर हिरण्यकशिपु मारा जा चुका है। चूँकि साधु पुरुष भी साँप या बिच्छू के मारे जाने पर प्रसन्न होते हैं, अतएव इस असुर की मृत्यु से सारे लोकों को परम सन्तोष हुआ है। अब वे अपने सुख के प्रति आश्वस्त हैं और भय से मुक्त होने के लिए आपके इस कल्याणप्रद अवतार का सदैव स्मरण करेंगे।

तात्पर्य : इस श्लोक की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यद्यपि साधु पुरुष कभी भी किसी जीव को मारना नहीं चाहते, किन्तु सर्प तथा बिच्छू जैसे ईर्ष्यालु जीवों का वध होने पर वे भी प्रसन्न होते हैं। हिरण्यकशिपु इसलिए मारा गया, क्योंकि वह सर्प या बिच्छू से भी निकृष्ट था और इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति सुखी था। अत: अब भगवान् को क्रोध करने की कोई आवश्यकता न थी। भक्तगण जब भी संकट में हो वे नृसिंहदेव के रूप का स्मरण कर सकते हैं, अतएव नृसिंहदेव का प्राकट्य तनिक भी अशुभ न था। भगवान् का प्राकट्य सदैव ही पूजनीय तथा समस्त विज्ञजनों एवं भक्तों के लिए कल्याणप्रद होता है।

नाहं बिभेम्यजित तेऽतिभयानकास्य-
जिह्वार्कनेत्रभ्रुकुटीरभसोग्रदंष्ट्रात् ।
आन्त्रस्रजःक्षतजकेशरशङ्कुकर्णा-
न्निर्ह्रादभीतदिगिभादरिभिन्नखाग्रात् ॥ १५॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; बिभेमि—भयभीत हूँ; अजित—हे अजेय, परम विजयी पुरुष; ते—तुम्हारा; अति—अत्यन्त; भयानक—भयावना; आस्य—मुख; जिह्वा—जीभ; अर्क-नेत्र—सूर्य की तरह चमकती आँखें; भ्रुकुटी—क्रुद्ध भौहें; रभस—प्रबल; उग्र-दंष्ट्रात्—भयावने दाँत; आन्त्र-स्रजः—आँतों की माला पहने; क्षतज—रक्त से सने; केशर—गर्दन के बाल; शङ्कु-कर्णात्—बर्छे जैसे पैने कान; निर्ह्राद—गर्जना (आपके द्वारा की गई) से; भीत—डरा हुआ; दिगिभात्—जिससे बड़े-बड़े हाथी भी; अरि-भित्—शत्रु को फाड़ने वाला; नख-अग्रात्—अपने नाखून के अग्र भाग से।

हे अजित भगवान्, मैं न तो आपके भयानक मुख तथा जीभ से, न ही सूर्य के समान चमकीली आँखों से या टेढ़ी भौहों से भयभीत हूँ। मैं आपके तेज नुकीले दाँतों से, आँतों की माला से, रक्त रंजित गर्दन के बालों से या बर्छे जैसे पैने कानों से भी नहीं डर रहा हूँ। न ही मैं आपके सिंहनाद से भयभीत हूँ जिससे हाथी भाग कर दूर चले जाते हैं। न मैं आपके नाखूनों से भयभीत हूँ जो आपके शत्रु को मारने के निमित्त हैं।

तात्पर्य : भगवान् नृसिंहदेव का भयङ्कर स्वरूप अभक्तों के लिए निश्चय ही अत्यन्त घातक था किन्तु प्रह्लाद महाराज ऐसे भयावह स्वरूप से तनिक भी विचलित नहीं होने वाले नहीं थे। सिंह अन्य पशुओं के लिए अत्यन्त भयावह होता है, किन्तु सिंह शावक उससे तनिक भी भयभीत नहीं होते। सागर का जल स्थल के समस्त जीवों के लिए अत्यन्त भयानक लगता है, लेकिन सागर में रहने वाली एक छोटी सी मछली भी उसमें निर्भय विचरण करती है। क्यों? क्योंकि छोटी मछली ने विशाल सागर की शरण ले रखी है। कहा जाता है कि बड़े-बड़े हाथी नदी की बाढ़ में बह जाते हैं, किन्तु छोटी मछलियाँ धारा के विरुद्ध तैरती रहती हैं। अतएव यद्यपि *दुष्कृति* लोगों को मारने के लिए भगवान् कभी-कभी भयानक रूप धारण कर लेते हैं, किन्तु भक्तगण सदा उन्हें पूजते हैं। *केशव धृतनरहरिरूप जय जगदीश हरे।* भक्तों को भगवान् की पूजा करने में सदैव आनन्द आता है और वे उनके किसी भी रूप का, चाहे वह मनोहर हो या भयावह, यशोगान करते हैं।

त्रस्तोऽस्म्यहं कृपणवत्सल दुःसहोग्र
संसारचक्रकदनाद्ग्रसतां प्रणीतः ।
बद्धः स्वकर्मभिरुशत्तम तेऽङ्घ्रिमूलं
प्रीतोऽपवर्गशरणं ह्वयसे कदा नु ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

त्रस्तः—डरा हुआ; अस्मि—हूँ; अहम्—मैं; कृपण-वत्सल—पतित आत्माओं पर अत्यन्त दयालु मेरे प्रभु; दुःसह—असहनीय; उग्र—भयानक; संसार-चक्र—जन्म मृत्यु का चक्कर; कदनात्—ऐसी बुरी अवस्था से; ग्रसताम्—एक दूसरे को भक्षण करने वाले बद्धजीवों में से; प्रणीतः—फेंका जाकर; बद्धः—बँधा हुआ; स्व-कर्मभिः—अपने कर्मों के द्वारा; उशत्तम—हे दुर्जेय; ते—तुम्हारे; अङ्घ्रि-मूलम्—चरण कमलों के तलवे; प्रीतः—(मुझपर) प्रसन्न होकर; अपवर्ग-शरणम्—जो इस भयावह भौतिक संसार से मुक्ति के लिए शरण हैं; ह्वयसे—आप मुझे बुला लेंगे; कदा—कब; नु—निस्सन्देह।

हे पतितों पर सदय, परम शक्तिशाली दुर्जेय प्रभु, मैं अपने कर्मों के कारण असुरों की संगति में आ पड़ा हूँ, अतएव मैं इस संसार में अपनी जीवन दशा से अत्यधिक भयभीत हूँ। वह क्षण

कब होगा जब आप मुझे उन चरणकमलों की शरण में बुला लेंगे जो बद्ध जीवन से मोक्ष के चरम लक्ष्य हैं?

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में रहना ही दुखमय है, किन्तु यदि किसी को असुरों अथवा नास्तिकों की संगति मिल जाये तो और भी असहनीय हो जाता है। कोई यह पूछ सकता है कि जीव को भौतिक जगत में क्यों डाल दिया जाता है? निस्सन्देह, मूर्ख लोग कभी-कभी भगवान् का उपहास करते हैं क्योंकि वे उन्हें यहाँ ले आये। वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म के अनुसार बद्ध जीवन में रखा जाता है। अतएव प्रह्लाद महाराज अन्य समस्त बद्धजीवों का प्रतिनिधित्व करते हुए स्वीकार करते हैं कि उन्हें अपने कर्म के कारण असुरों के बीच में रखा गया। भगवान् *कृपणवत्सल* कहलाते हैं क्योंकि वे बद्धजीवों पर अत्यधिक दयालु हैं। अतएव जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है जब-जब धर्म के पालन में त्रुटियाँ आती हैं तब-तब भगवान् अवतरित होते हैं (*यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत... तदात्मानं सृजाम्यहम्*)। भगवान् बद्धजीवों का उद्धार करने के लिए अत्यन्त उत्सुक रहते हैं, अतएव वे हम सबों को भगवद्धाम लौटने के लिए आदेश देते हैं (*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*)। इस तरह प्रह्लाद महाराज को आशा थी कि भगवान् कृपा करके उन्हें अपने चरणकमलों की शरण में फिर से बुला लेंगे। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् के चरणकमलों में शरण ग्रहण करके भगवद्धाम लौटने के लिए उत्सुक रहना चाहिए और इसी तरह कृष्णभावनामृत में पूरी तरह प्रशिक्षित होना चाहिए।

यस्मात्प्रियाप्रियवियोगसंयोगजन्म-
शोकाग्निना सकलयोनिषु दह्यमानः ।
दुःखौषधं तदपि दुःखमतद्धियाहं
भूमन्भ्रमामि वद मे तव दास्ययोगम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

यस्मात्—जिसके कारण (इस संसार में अस्तित्व के कारण); प्रिय—अच्छा लगने वाला; अप्रिय—न अच्छा लगने वाला; वियोग—विरह; संयोग—तथा मिलन के कारण; जन्म—जिसका जन्म; शोक-अग्निना—शोक की अग्नि से; सकल-योनिषु—किसी भी प्रकार के शरीर में; दह्यमानः—जल कर; दुःख-औषधम्—दुखी जीवन के लिए उपचार; तत्—वह; अपि—भी; दुःखम्—कष्ट; अ-तत्-धिया—शरीर को आत्मा मानकर; अहम्—मैं; भूमन्—हे महान; भ्रमामि—घूम रहा हूँ (जन्म मरण के चक्र में); वद—कृपया उपदेश दें; मे—मुझको; तव—तुम्हारा; दास्य-योगम्—सेवा कार्य।

हे महान, हे परमेश्वर, प्रिय तथा अप्रिय परिस्थितियों के संयोग से तथा उनसे बिछुड़ने के कारण मनुष्य स्वर्ग या नरक लोकों में अत्यन्त शोचनीय स्थिति को प्राप्त होता है मानो संताप की अग्नि में जल रहा हो। यद्यपि इस दुखमय जीवन से निकलने की अनेक औषधियाँ हैं किन्तु भौतिक जगत में ये औषधियाँ दुखों से भी अधिक कष्टकारक हैं। अतएव मैं सोच रहा हूँ कि इसकी एकमात्र औषधि आपकी सेवा में संलग्न होना है। कृपया मुझे ऐसी सेवा का उपदेश दें।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज भगवान् के चरणकमलों की सेवा में संलग्न होने के इच्छुक थे। अपने ऐश्वर्यशाली पिता की मृत्यु के बाद प्रह्लाद महाराज को उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकार ग्रहण करना था, जो सारे विश्व में फैली थी, लेकिन वे ऐसे भौतिक ऐश्वर्य को ग्रहण करना नहीं चाह रहे थे, क्योंकि कोई चाहे स्वर्ग में रहे या नरक में, चाहे वह धनी हो या निर्धन, भौतिक दशाएँ सर्वत्र ही रहती हैं। अतएव कोई भी जीवन-दशा पूर्णरूपेण प्रिय नहीं होती। यदि मनुष्य अदूषित आनन्दमय जीवन भोगना चाहता है, तो उसे भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगना चाहिए। भौतिक ऐश्वर्य भले ही कुछ काल तक प्रिय लगने वाला हो, किन्तु इसके लिए मनुष्य को अत्यधिक कठिन श्रम करना होता है। जब निर्धन व्यक्ति धनी बन जाता है, तो उसकी दशा सुधर जाती है, किन्तु उसे इस दशा तक पहुँचने में अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं। भौतिक जीवन में कोई दुखी रहे या सुखी दोनों ही अवस्थाएँ दुखमय हैं। यदि कोई वास्तव में आनन्दमय सुखी जीवन चाहता है, तो उसे कृष्णभावनाभावित होना पड़ेगा और भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगना होगा। यही असली औषधि है। सारा संसार इस भ्रम में है कि बद्धजीव के दुखों को दूर करने के लिए यदि भौतिकतावादी उपचारों में प्रगति की जाये तो लोग सुखी हो सकेंगे, किन्तु यह प्रयास कभी सफल होने वाला नहीं है। मानवता को भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगने का प्रशिक्षण देना ही होगा। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का यही उद्देश्य है। मनुष्य की भौतिक दशाओं में परिवर्तन करने से सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि सर्वत्र ही कष्ट तथा दुख हैं।

सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवताया
लीलाकथास्तव नृसिंह विरिञ्चगीताः ।
अञ्जस्तितर्म्यनुगृणन्गुणविप्रमुक्तो
दुर्गाणि ते पदयुगालयहंससङ्गः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अहम्—मैं (प्रह्लाद महाराज); प्रियस्य—अत्यन्त प्रिय की; सुहृदः—शुभचिन्तक; परदेवतायाः—भगवान् का; लीला-कथाः—लीलाओं की कथाएँ; तव—तुम्हारी; नृसिंह—हे नृसिंहदेव; विरिञ्च-गीताः—शिष्य परम्परा से ब्रह्मा द्वारा प्रदत्त; अञ्जः—सरलता से; तितर्मि—पार कर लूँगा; अनुगृणन्—निरन्तर वर्णन करते हुए; गुण—प्रकृति के गुणों से; विप्रमुक्तः—विशेषतया अदूषित होने से; दुर्गाणि—जीवन की समस्त दुखमय परिस्थितियाँ; ते—तुम्हारे; पद-युग-आलय—चरणकमलों में लीन; हंस-सङ्गः—हंसों अर्थात् मुक्तात्माओं की संगति पाकर (भौतिक गुणों से जिनका कोई सम्बन्ध नहीं है)।

हे भगवान् नृसिंहदेव, मुक्तात्माओं (हंसों) की संगति में आपकी दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहकर मैं प्रकृति के तीन गुणों के स्पर्श से पूर्णतः कल्मषहीन हो सकूँगा और अपने अत्यन्त प्रिय स्वामी आपकी महिमाओं का कीर्तन कर सकूँगा। मैं ब्रह्मा तथा उनकी शिष्य परम्परा के पद-चिन्हों पर ठीक तरह से चलकर आपकी महिमाओं का कीर्तन करूँगा। इस प्रकार मैं अज्ञान के सागर को निश्चय ही पार कर सकूँगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में भक्त के जीवन तथा कर्तव्य की भली-भाँति व्याख्या की गई है। ज्योंही भक्त भगवान् के पवित्र नाम तथा उसके यश का कीर्तन कर सकता है, वह निश्चय ही मुक्ति-पद पर पहूंच जाता है। भगवान् के पवित्र नाम तथा कार्यकलापों के श्रवण तथा कीर्तन के प्रति अनुराग होने से (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*) मनुष्य को ऐसी स्थिति प्राप्त होती है जहाँ भौतिक कल्मष नहीं होता। मनुष्य को शिष्य परम्परा से प्राप्त प्रामाणिक गीतों का कीर्तन करना चाहिए। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि शिष्य परम्परा के पालन से कीर्तन शक्तिशाली बनता है (*एवं परम्पराप्राप्तम् इमं राजर्षयो विदुः*)। कीर्तन की अनेक विधियाँ बनाने से कोई प्रभाव नहीं होगा। किन्तु पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा छोड़े गये गीत या कथा का कीर्तन (*महाजनो येन गतः स पन्थाः*) अत्यन्त प्रभावशाली होता है और यह विधि सरल भी है इसलिए इस श्लोक में प्रह्लाद महाराज *अञ्जः* (सरलता से) शब्द का प्रयोग करते हैं। शिष्य परम्परा से प्राप्त महापुरुषों के विचारों को स्वीकार करना निश्चय ही उस शुष्क चिन्तन विधि से सरल होगा जिसके द्वारा मनुष्य परम सत्य को समझने के लिए कोई न कोई साधन ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है। सर्वोत्तम विधि यही है कि पूर्ववर्ती आचार्यों के उपदेशों को स्वीकार करके उनका पालन किया जाये। तब ईश-साक्षात्कार तथा आत्म-साक्षात्कार अत्यन्त सरल हो जाएँगे। इस सरल विधि के पालन से मनुष्य प्रकृति के भौतिक गुणों के कल्मष से मुक्त हो जाता है और अज्ञान के उस सागर को पार कर सकता है, जो अनेक कष्टदायक परिस्थितियों से पूर्ण है। महान् आचार्यों के पदचिह्नों पर चलकर मनुष्य हंसों या परमहंसों की संगति प्राप्त करता है, जो भौतिक कल्मष अनेक कष्टदायक परिस्थितियों से

पूर्णतया मुक्त हैं। निस्सन्देह, आचार्यों के उपदेशों का पालन करके मनुष्य सदा से सारे भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है और इस तरह उसका जीवन सफल हो जाता है, क्योंकि वह जीवन-लक्ष्य तक पहुँच जाता है। यह भौतिक जगत दुखमय है, चाहे किसी का जीवन स्तर कैसा ही क्यों न हो। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। भौतिक विधियों द्वारा संसार के दुखों को कम करने के सारे उपाय असफल होंगे। वास्तविक रूप में सुखी होने के लिए मनुष्य को कृष्णभावनाभावित होना चाहिए, अन्यथा सुख मिलना असम्भव है। कोई यह कह सकता है कि आध्यात्मिक जीवन में उन्नति करने के लिए तपस्या करनी होती है, अर्थात् स्वेच्छा से असुविधा को स्वीकार करना होता है। किन्तु इस तरह की असुविधा उतनी घातक नहीं हैं जितनी कि सारे दुखों को कम करने के भौतिक प्रयास होते हैं।

बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह
नार्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः ।
तप्तस्य तत्प्रतिविधिर्य इहाञ्जसेष्ट-
स्तावद्विभो तनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

बालस्य—छोटे बच्चों का; न—नहीं; इह—इस संसार में; शरणम्—शरण (रक्षा); पितरौ—पिता तथा माता; नृसिंह—नृसिंहदेव; न—न तो; आर्तस्य—किसी रोग से पीड़ित व्यक्ति का; च—भी; अगदम्—दवा; उदन्वति—सागर के जल में; मज्जतः—डूबते व्यक्ति की; नौः—नाव; तप्तस्य—भौतिक दुख से पीड़ित व्यक्ति का; तत्-प्रतिविधिः—(जगत के दुखों को रोकने के लिए खोजी गई) शमन विधि; यः—जो; इह—इस संसार में; अञ्जसा—अत्यन्त सरलता से; इष्टः—स्वीकृत (दवा के रूप में); तावत्—उसी तरह; विभो—हे स्वामी; तनु-भृताम्—भौतिक शरीर स्वीकार करने वाले जीवों का; त्वत्-उपेक्षितानाम्—आपके द्वारा उपेक्षित तथा अस्वीकृत।

हे नृसिंहदेव, हे परमेश्वर, देहात्मबुद्धि के कारण आपके द्वारा उपेक्षित देहधारी जीव अपने कल्याण के लिए कुछ भी नहीं कर पाते। वे जो भी उपचार स्वीकार करते हैं, उन से यद्यपि कदाचित क्षणिक लाभ पहुँचता है, किन्तु वे स्थायी नहीं रह पाते। उदाहरणार्थ, माता तथा पिता अपने बालक की रक्षा नहीं कर पाते, वैद्य तथा दवा रोगी का कष्ट दूर नहीं कर पाते तथा समुद्र में कोई नाव डूबते हुए मनुष्य को नहीं बचा पाती।

तात्पर्य : माता-पिता की देख-रेख से, विभिन्न रोगों की दवा से तथा जल, स्थल और वायु में सुरक्षा के साधनों से भौतिक जगत के विभिन्न कष्टों से छुटकारा पाने का प्रयास किया जाता है, किन्तु इनमें से किसी एक के भी द्वारा सुरक्षा निश्चित नहीं है। मनुष्य को भले ही उनसे क्षणिक लाभ मिल जाए, किन्तु इनसे स्थायी लाभ नहीं पहुँचता। माता-पिता के रहते हुए बच्चों को आकस्मिक मृत्यु, रोग

तथा अन्य कष्टों से बचाया नहीं जा सकता। कोई भी, यहाँ तक कि माँ-बाप भी, उसकी सहायता नहीं कर सकते। अन्ततोगत्वा भगवान् ही शरण बनते हैं और जो कोई उनकी शरण ग्रहण करता है उसकी रक्षा हो जाती है। यह ध्रुव है। जैसाकि भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* (९.३१) में कहा है—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*—हे कुन्तीपुत्र! तुम निर्भय होकर यह घोषित कर दो कि भगवान् का भक्त कभी मरता नहीं। अतएव जब तक कोई भगवान् की अहैतुकि कृपा द्वारा रक्षित न हो तब तक कोई उपचार सफलता पूर्वक काम नहीं करता। फलस्वरूप मनुष्य को अहैतुकी भगवत्कृपा पर पूरी तरह निर्भर रहना चाहिए। यद्यपि नैत्यिक कर्म के रूप में अन्य उपचार विधियों को स्वीकार किया जाना चाहिए, किन्तु जो व्यक्ति भगवान् द्वारा उपेक्षित है उसकी रक्षा कोई नहीं कर पाता। इस भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के आक्रमण का सामना करता है, किन्तु अन्ततोगत्वा वह प्रकृति के वशीभूत हो जाता है। अतएव यद्यपि तथाकथित दार्शनिक तथा विज्ञानी भी प्रकृति के प्रहार पर विजय पाना चाहते हैं, किन्तु वे अभी ऐसा नहीं कर पाये हैं। कृष्ण *भगवद्गीता* (१३.९) में कहते हैं कि संसार के असली दुख चार हैं—*जन्ममृत्युजराव्याधि*—अर्थात् जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा तथा रोग। विश्व के इतिहास में कभी कोई प्रकृति के द्वारा आरोपित इन दुखों पर विजय नहीं पा सकता। *प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। प्रकृति* इतनी प्रबल है कि कोई भी उसके कठोर नियमों पर विजय नहीं पा सकता। अतएव तथाकथित विज्ञानियों, दार्शनिकों, धर्मज्ञों तथा राजनीतिज्ञों को यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि वे जनता को सुविधाएँ प्रदान नहीं कर सकते। उन्हें जनता को जाग्रत बनाने के लिए विकट प्रचार करना चाहिए और उन्हें कृष्णभावनामृत के स्तर तक उठाना चाहिए। हमारे द्वारा विश्व भर में कृष्णभावनामृत को प्रसारित करने का जो विनम्र प्रयास किया जा रहा है, वह शान्तिमय एवं सुखी जीवन लाने की एकमात्र औषधि है। हम भगवत्कृपा के बिना कभी सुखी नहीं बन सकते (*त्वद् उपेक्षितानाम्*)। यदि हम अपने परम पिता को अप्रसन्न करते रहें तो न तो हम इस भौतिक जगत में, न स्वर्गलोग में, न ही अधोलोक में, कभी भी सुखी बन सकेंगे।

यस्मिन्यतो यर्हि येन च यस्य यस्माद्
यस्मै यथा यदुत यस्त्वपरः परो वा ।
भावः करोति विकरोति पृथक्स्वभावः

सञ्चोदितस्तदखिलं भवतः स्वरूपम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जीवन की किसी भी दशा में; यतः—किसी कारण से; यर्हि—किसी भी समय (भूत, वर्तमान या भविष्य) में; येन—किसी से; च—भी; यस्य—किसी के विषय में; यस्मात्—किसी कारण से; यस्मै—किसी के प्रति (स्थान, व्यक्ति या काल का विचार किये बिना); यथा—जिस तरह; यत्—चाहे जो भी हो; उत—निश्चय ही; यः—जो; तु—लेकिन; अपरः—दूसरा; परः—परम; वा—अथवा; भावः—प्राणी; करोति—करता है; विकरोति—बदलता है; पृथक्—भिन्न; स्वभावः—प्रकृति (प्रकृति के विभिन्न गुणों) के वशीभूत होकर; सञ्चोदितः—प्रभावित होकर; तत्—वह; अखिलम्—समस्त; भवतः—आपका; स्वरूपम्—आपकी विभिन्न शक्तियों से निस्सृत।

हे प्रभु, इस जगत में प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुणों के अधीन है। सर्वोच्च व्यक्ति ब्रह्माजी से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक सारे प्राणी इन्हीं गुणों के वशीभूत हो कर कार्य करते हैं। अतएव इस जगत में सारे व्यक्ति आपकी शक्ति के वशीभूत हैं। वे जिस कारण से कर्म करते हैं, जिस स्थान में कर्म करते हैं, जिस काल में कर्म करते हैं, जिस पदार्थ के कारण कर्म करते हैं, जिस जीवन-लक्ष्य को उन्होंने अन्तिम मान रखा है तथा इस लक्ष्य को प्राप्त करने की जो विधि है—ये सभी आपकी शक्ति की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं। निस्सन्देह, शक्ति तथा शक्तिमान के अभिन्न होते हैं, वे सब आपकी ही अभिव्यक्तियाँ हैं।

तात्पर्य : कोई चाहे अपने माता-पिता द्वारा या सरकार अथवा किसी स्थान या किसी अन्य कारण से, अपने को रक्षित माने यह सब परमेश्वर की विभिन्न शक्तियों के कारण है। जो कुछ भी किया जाता है, वह चाहे उच्चलोक में, मध्यलोक में अधोलोक में क्यों न किया जाये, वह परमेश्वर के अधीक्षण या नियंत्रण के कारण होता है। अतएव यह कहा जाता है—*कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये।* जन-जन के हृदय में स्थित परमात्मा उसकी प्रवृत्ति के अनुसार कर्म करने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। ये सारी प्रवृत्तियाँ कर्मशील व्यक्ति के लिए कृष्ण द्वारा प्रदत्त सुविधाएँ मात्र हैं। अतएव *भगवद्गीता* का कथन है—*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—प्रत्येक व्यक्ति परमात्मा द्वारा प्रदत्त प्रेरणा के अनुसार ही कार्य करता है। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना जीवन-लक्ष्य होता है, अतएव वह परमेश्वर द्वारा पथ-प्रदर्शित होकर भिन्न-भिन्न ढंग से कर्म करता है।

यस्मिन् यतो यर्हि येन च यस्य यस्मात् से सूचित होता है कि सारे कर्म, चाहे वे जैसे भी हों, परमेश्वर के विभिन्न स्वरूप ही हैं। वे सब जीव द्वारा उत्पन्न हैं और भगवत्कृपा से ही पूर्ण होते हैं। यद्यपि ऐसे समस्त कर्म भगवान् से अभिन्न हैं, तो भी भगवान् निर्देश देते हैं—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—अन्य सारे कर्मों को त्याग कर मेरी शरण में आओ। जब हम भगवान् के इस आदेश को

स्वीकार करते हैं, तो हम वास्तव में सुखी बन सकते हैं। किन्तु जब तक हम अपनी भौतिक इन्द्रियों के अनुसार कर्म करते हैं तब तक हम भौतिक जीवन में बने रहते हैं, किन्तु ज्योंही हम भगवान् के वास्तविक दिव्य आदेश के अनुसार कर्म करते हैं त्योंही हम आध्यात्मिक पद को प्राप्त होते हैं। भक्ति के कार्यकलाप भगवान् के प्रत्यक्ष अधीन हैं। *नारद पञ्चरात्र* का कथन है—

सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।

हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥

जब मनुष्य भौतिक उपाधियों को त्याग कर भगवान् के अधीन् होकर कर्म करता है, तो उसमें आध्यात्मिक जीवन का पुन: संचार होता है। इसे *स्वरूपेन अवस्थिति* कहा जाता है, जिसका अर्थ है अपनी मूल स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त करना। यह मुक्ति का असली विवरण है।

माया मन: सृजति कर्ममयं बलीय:
कालेन चोदितगुणानुमतेन पुंस: ।
छन्दोमयं यदजयार्पितषोडशारं
संसारचक्रमज कोऽतितरेत्त्वदन्य: ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

माया—भगवान् की बहिरंगा शक्ति; मन:*—मन; सृजति—उत्पन्न करती है; कर्म-मयम्—हजारों इच्छाएँ उत्पन्न करके उसके अनुसार कर्म करती हुई; बलीय:—अत्यन्त शक्तिशाली, दुर्जेय; कालेन—समय द्वारा; चोदित-गुण—जिनके तीनों गुण विक्षुब्ध होते हैं; अनुमतेन—कृपादृष्टि से अनुमति प्राप्त (काल); पुंस:—भगवान् कृष्ण के अंश विष्णु का; छन्द:-मयम्—वेदों के निर्देशों से प्रभावित; यत्—जो; अजया—अज्ञान अंधकार के कारण; अर्पित—चढ़ाया गया; षोडश—सोलह; अरम्—तीलियाँ; संसार-चक्रम्—विभिन्न योनियों में बारम्बार जन्म-मृत्यु का चक्र (पहिया); अज—हे अजन्मा; क:—ऐसा कौन है; अतितरेत्—बाहर निकलने में समर्थ; त्वत्-अन्य:—आपके चरणकमलों की शरण लिए बिना।

Footnote Starts Here:

*मन सदैव योजना बनाता है कि किस तरह भौतिक जगत में रहा जाये और जीवन-संघर्ष होता रहे। यह सूक्ष्म शरीर का मुख्य अंग है। जिस शरीर में मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार रहते हैं।

Footnote Ends Here.

हे भगवान्, हे परम शाश्वत, आपने अपने स्वांश का विस्तार करके काल द्वारा क्षुब्ध होने वाली अपनी बहिरंगा शक्ति के द्वारा जीवों के सूक्ष्म शरीरों की सृष्टि की है। इस प्रकार मन जीव को अनन्त प्रकार की इच्छाओं में फाँस लेता है जिन्हें कर्मकाण्ड के वैदिक आदेशों तथा सोलह

तत्त्वों के द्वारा पूरा किया जाना होता है। भला ऐसा कौन है, जो आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण किये बिना इस बन्धन से छूट सके ?

तात्पर्य : यदि हर वस्तु में भगवान् का हाथ रहे तो भौतिक बन्धन से छूटकर आध्यात्मिक आनन्दमय जीवन में जाने का प्रश्न कहाँ उठता है ? निस्सन्देह, यह तथ्य है कि कृष्ण प्रत्येक वस्तु के स्रोत हैं जैसाकि कृष्ण स्वयं *भगवद्गीता* में कहते हैं (*अहं सर्वस्य प्रभवः*)। भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही जगतों के सारे कार्यकलाप परमेश्वर के आदेशों से भौतिक या आध्यात्मिक प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.१०) में आगे भी पुष्टि हुई है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*—भगवान् के आदेश के बिना प्रकृति कुछ भी नहीं कर सकती, वह स्वतंत्रतापूर्वक कार्यशील नहीं हो सकती। अतएव प्रारम्भ में जीव ने भौतिक शक्ति का भोग करना चाहा और भगवान् कृष्ण ने जीव को सारी सुविधा प्रदान करने के उद्देश्य से इस भौतिक जगत की सृष्टि की और जीव को सुविधा प्रदान की कि वह मन के द्वारा नाना प्रकार के विचारों तथा आयोजनों की कल्पना करे। जन्म-मरण के चक्र की सृष्टि भगवान् ने की किन्तु प्रगति की विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार आगे बढ़ने के लिए मोहग्रस्त जीव को निर्देशित करने के लिए वेदों (*छन्दोमयम्*) में अनेक आदेश दिये गये हैं। यदि कोई स्वर्ग जाना चाहता है, तो उसे वैदिक आदेशों का पालन करना चाहिए। जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा है—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

''जो लोग देवताओं की पूजा करते हैं, वे देवताओं के बीच जन्म लेते हैं, जो भूतप्रेतों की पूजा करते हैं, वे इन्हीं के बीच जन्म ग्रहण करते हैं, जो पूर्वजों की पूजा करते हैं, वे उन्हीं के पास जाते हैं और जो मेरी पूजा करते हैं, वे मेरे साथ रहते हैं।'' वेदों का असली अभिप्राय जीव को भगवद्धाम वापस जाने का मार्गनिर्देश करना है, किन्तु जीव अपने जीवन के असली लक्ष्य को न जानने के कारण कभी यहाँ जाना चाहता है, तो कभी वहाँ और कभी यह करना चाहता है, तो कभी वह। इस प्रकार वह विभिन्न योनियों में बन्दी बन कर सारे ब्रह्माण्ड में घूमता रहता है और ऐसे कार्यों में प्रवृत्त होता है, जिसके फल उसे भोगने पड़ते हैं। अतएव श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं (चै.च. मध्य. १९.१५१)—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान जीव।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज।

पतित जीवात्मा माया में फँस कर भौतिक जगत में इधर-उधर भ्रमण करता रहता है किन्तु यदि भाग्यवश उसे भगवान् का प्रामाणिक प्रतिनिधि मिल जाता है, जो उसे भक्ति का बीज प्रदान करता है और यदि वह ऐसे गुरु या ईश्वर के प्रतिनिधि का लाभ उठाता है, तो उसे *भक्ति-लता-बीज* अर्थात् भक्ति का बीज प्राप्त होता है। यदि वह उचित रीति से कृष्णभावनामृत का अनुशीलन करता है, तो वह धीरे-धीरे आध्यात्मिक जगत तक उठा दिया जाता है। इससे चरम निष्कर्ष यह निकलता है कि मनुष्य को भक्तियोग के सिद्धान्तों की शरण ग्रहण करनी चाहिए, क्योंकि इससे उसे क्रमश: मुक्ति प्राप्त होगी। इस भौतिक संघर्ष से मुक्ति की कोई भी अन्य विधि सम्भव नहीं है।

स त्वं हि नित्यविजितात्मगुण: स्वधाम्ना
कालो वशीकृतविसृज्यविसर्गशक्ति: ।
चक्रे विसृष्टमजयेश्वर षोडशारे
निष्पीड्यमानमुपकर्ष विभो प्रपन्नम् ॥ २२॥

शब्दार्थ

स:—वह (परम स्वतंत्र व्यक्ति ने अपनी बहिरंगा शक्ति से भौतिक मन की सृष्टि की जो इस भौतिक जगत के समस्त दुख का कारण है); त्वम्—तुम (हो); हि—निस्सन्देह; नित्य—शाश्वत रूप से; विजित-आत्म—जीता गया; गुण:—जिसका बुद्धि गुण; स्व-धाम्ना—अपनी निजी आध्यात्मिक शक्ति से; काल:—काल तत्त्व (जो सृजन तथा संहार करता है); वशी-कृत—आपके अधीन; विसृज्य—जिससे सारे प्रभाव; विसर्ग—तथा सारे कारण; शक्ति:—शक्ति; चक्रे—काल चक्र में (जन्म-मृत्यु का चक्र); विसृष्टम्—फेंका जाकर; अजया—आपकी बहिरंगा शक्ति, तमोगुण से; ईश्वर—हे परम नियन्ता; षोडश-अरे—सोलह तीलियों वाले (पाँच भौतिक तत्त्व, दस इन्द्रियाँ तथा इन सबका नायक मन); निष्पीड्यमानम्—विदलित (पहिए के नीचे) होकर; उपकर्ष—कृपया मुझे ले लें (अपने चरणकमलों की शरण में); विभो—हे महानतम्; प्रपन्नम्—आपकी शरण में आया।.

हे प्रभु, हे महानतम, आपने सोलह अवयवों से इस भौतिक जगत की रचना की है, किन्तु आप उनके भौतिक गुणों से परे हैं। दूसरे शब्दों में, ये भौतिक गुण पूर्णतया आपके वश में हैं और आप कभी भी उनके द्वारा जीते नहीं जाते। अतएव काल तत्त्व आपका प्रतिनिधित्व करता है। हे प्रभु, हे महान्, आपको कोई नहीं जीत सकता किन्तु जहाँ तक मेरी बात है, मैं तो कालचक्र द्वारा पिसा जा रहा हूँ; अतएव मैं आपको पूर्ण आत्म-समर्पण करता हूँ। अब आप मुझे अपने पाद-पद्मों में संरक्षण प्रदान करें।

तात्पर्य : भौतिक दुखों का चक्र भी भगवान् की ही सृष्टि है, किन्तु वे स्वयं भौतिक शक्ति के नियंत्रण में नहीं हैं, वे भौतिक शक्ति कि नियामक हैं। जब कि हम सारे जीव उनके वश में हैं। जब हम अपनी स्वाभाविक स्थिति त्याग देते हैं (*जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्य-दास'*) तो भगवान् इस भौतिक शक्ति को उत्पन्न करते हैं जिसके वश में सारे बद्धजीव हैं। वे परम हैं और वे ही बद्धात्मा को भौतिक प्रकृति के संघात से उबार सकते हैं (*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*)। बहिरंगा शक्ति अर्थात् माया बद्धजीवों पर तीन प्रकार के तापों को थोपती है, अतएव पिछले श्लोक में प्रह्लाद महाराज ने भगवान् से प्रार्थना की है "आपके अतिरिक्त अन्य कोई मेरी रक्षा नहीं कर सकता।" उन्होंने यह भी बताया कि बच्चे के रक्षक उसके माता-पिता न तो उसे जन्म-मृत्यु के संघात से बचा सकते है न ही औषधि तथा वैद्य उसे मृत्यु से बचा सकते हैं। इसी तरह नाव या अन्य ऐसे साधन भी जल में डूब रहे व्यक्ति को नहीं बचा सकते, क्योंकि प्रत्येक वस्तु के नियामक भगवान् हैं। अतएव संतप्त मानवता को चाहिए कि कृष्ण की शरण में जाये, क्योंकि *भगवद्गीता* के अन्तिम उपदेश (१८.६६) में कृष्ण स्वयं माँग करते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।

"तुम सारे धर्मों को त्याग कर मेरी शरण में आओ। मैं सारे पापों से तुम्हारा उद्धार कर दूँगा। तुम डरो मत।" सारे समाज को चाहिए कि इस घोषणा का लाभ उठाए और भुत-वर्तमान तथा भविष्य के काल-चक्र द्वारा कुचले जाने के भय से कृष्ण द्वारा रक्षित हो जाये।

निष्पीड्यमानम् (पीसा जाकर) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक जीव वस्तुतः इस भौतिक जगत में पुनः पुनः पिसता रहता है और इस दशा से बचने के लिए उसे भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए। तभी वह सुखी हो सकेगा। *प्रपन्नम्* शब्द भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भगवान् की शरण में पूर्णतः जाये बिना कोई बच नहीं सकता। सरकार अपराधी को कारागार में डाल कर दण्ड देती है किन्तु वही सरकार यदि चाहे तो उसे बन्दी जीवन से मुक्त कर सकती है। इसी प्रकार, हमें यह अन्तिम रूप से जान लेना चाहिए कि हमारी यह दुखमय भौतिक अवस्था भगवान् द्वारा नियत की गई है और

यदि हम इस कष्ट से बचना चाहते हैं, तो हमें उसी नियन्ता से निवेदन करना चाहिए। इस तरह मनुष्य इस भौतिक अवस्था से बच सकता है।

दृष्टा मया दिवि विभोऽखिलधिष्ण्यपाना-
मायु: श्रियो विभव इच्छति याञ्जनोऽयम् ।
येऽस्मत्पितु: कुपितहासविजृम्भितभ्रू-
विस्फूर्जितेन लुलिता: स तु ते निरस्त: ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

दृष्टा:—व्यावहारिक रूप से देखा गया; मया—मेरे द्वारा; दिवि—उच्च लोकों में; विभो—हे प्रभु; अखिल—समस्त; धिष्ण्य-पानाम्—विभिन्न राज्यों या लोकों के प्रधानों की; आयु:—आयु, उम्र; श्रिय:—ऐश्वर्य; विभव:—यश, प्रभाव; इच्छति—इच्छा करते हैं; यान्—जो सब; जन: अयम्—ये सारे लोग; ये—जो (आयु, ऐश्वर्य आदि); अस्मत् पितु:—हमारे पिता हिरण्यकशिपु के; कुपित-हास—क्रुद्ध होने पर अपनी हँसी द्वारा; विजृम्भित—फैली हुई; भ्रू—भौंहों के; विस्फूर्जितेन—केवल स्वरूप से; लुलिता:—नीचे गिराई हुई या समाप्त; स:—वह (मेरा पिता); तु—लेकिन; ते—तुम्हारे द्वारा; निरस्त:—पूर्णतया विनष्ट।

हे भगवान्, सामान्यत: लोग दीर्घ आयु, ऐश्वर्य तथा भोग के लिए उच्च लोकों में जाना चाहते हैं, किन्तु मैंने अपने पिता के कार्यकलापों से इन सबों को देख लिया है। जब मेरे पिता क्रुद्ध होते थे और देवताओं पर व्यंग्य हँसी हँसते थे तो वे उनकी भौहों की गतियों को देखने से ही तुरन्त विनष्ट हो जाते थे। तो भी मेरे इतने शक्तिशाली पिता अब एक क्षण में आपके द्वारा ध्वस्त कर दिये गये।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में मनुष्य को व्यावहारिक अनुभव द्वारा भौतिक ऐश्वर्य, दीर्घायु तथा प्रभाव का महत्त्व समझ लेना चाहिए। हमें यह वास्तविक अनुभव है कि इसी लोक में नैपोलियन, हिटलर, सुभाषचन्द्र बोस तथा गांधीजी जैसे अनेक महान् राजनीतिज्ञ तथा सेनानी हुए हैं, किन्तु उनके जीवन का अन्त होते ही उनकी लोकप्रियता, प्रभाव तथा सभी कुछ समाप्त हो गया। प्रह्लाद महाराज को अपने महान् पिता हिरण्यकशिपु के कार्यकलापों को देखकर ऐसा ही अनुभव प्राप्त हुआ था, अतएव उन्होंने इस संसार की किसी वस्तु को कोई महत्त्व प्रदान नहीं किया। कोई भी व्यक्ति न तो अपने शरीर को, न ही भौतिक उपलब्धियों को सदा बनाये रख सकता है। वैष्णव समझ सकता है कि इस भौतिक जगत में कोई भी चाहे कितना ही शक्तिशाली, ऐश्वर्यशाली या प्रभावशाली क्यों न हो, सदैव नहीं बना रह सकता। ऐसी वस्तुएँ किसी भी समय समाप्त हो सकती हैं। किन्तु उन्हें कौन समाप्त कर सकता है ? भगवान्। अतएव मनुष्य को यह अन्तिम रूप से समझ लेना चाहिए कि परमेश्वर से बड़ा कोई नहीं

है और चूँकि वे चाहते हैं—*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—अतएव प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वह इस प्रस्ताव को माने। उसे बारम्बार जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के चक्र से बचने के लिए भगवान् की शरण में जाना चाहिए।

तस्मादमूस्तनुभृतामहमाशिषोऽज्ञ
आयुः श्रियं विभवमैन्द्रियमाविरिञ्च्यात् ।
नेच्छामि ते विलुलितानुरुविक्रमेण
कालात्मनोपनय मां निजभृत्यपार्श्वम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अत; अमूः—इन सारे (ऐश्वर्यों); तनु-भृताम्—देहधारी जीवों के प्रसंग में; अहम्—मैं; आशिषः अज्ञः—ऐसे आशीर्वाद के फल को भलीभाँति जानता हुआ; आयुः—दीर्घ आयु; श्रियम्—भौतिक ऐश्वर्य; विभवम्—प्रभाव तथा यश; ऐन्द्रियम्—इन्द्रियतृप्ति के सारे साधन; आविरिञ्च्यात्—ब्रह्मा से लेकर (एक क्षुद्र चींटी तक); न—नहीं; इच्छामि—चाहता हूँ; ते—तुम्हारे द्वारा; विलुलितान्—समाप्त किये जाने वाले; उरु-विक्रमेण—अत्यन्त शक्तिशाली; काल-आत्मना—काल के स्वामी के रूप में; उपनय—कृपया ले चलें; माम्—मुझको; निज-भृत्य-पार्श्वम्—अपने अत्यन्त आज्ञाकारी भक्त की संगति में।

हे भगवन्, अब मुझे सांसारिक ऐश्वर्य, योगशक्ति, दीर्घायु तथा ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक के सारे जीवों द्वारा भोग्य अन्य भौतिक आनन्दों का पूरा-पूरा अनुभव है। आप शक्तिशाली काल के रूप में इन सबों को नष्ट कर देते हैं। अतः मैं अपने अनुभव के आधार पर इन सबों को नहीं लेना चाहता। हे भगवान्, मेरी प्रार्थना है कि आप मुझे अपने शुद्ध भक्त के सम्पर्क में रखें और निष्ठावान् दास के रूप में उसकी सेवा करने दें।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* का अध्ययन करते हुए प्रत्येक बुद्धिमान मनुष्य को अध्यात्म ज्ञान के इस महान् ग्रंथ में उल्लिखित ऐतिहासिक घटनाओं से प्रह्लाद महाराज जैसा अनुभव प्राप्त हो सकता है। उसे चाहिए कि वह प्रह्लाद महाराज के चरणचिह्नों का अनुसरण करते हुए अनुभव द्वारा यह सीखे कि सारा भौतिक ऐश्वर्य किसी क्षण नष्ट हो सकता है। यहाँ तक कि यह शरीर जिसके लिए हम अनेक ऐन्द्रिय आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं किसी भी क्षण नष्ट हो सकता है। किन्तु आत्मा शाश्वत है। *न हन्यते हन्यमाने शरीरे*—आत्मा शरीर के विनष्ट हो जाने पर भी कभी नष्ट नहीं होता। अतः बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वह आत्मा के सुख की चिन्ता करे, इस शरीर के सुख के लिए नहीं। यदि किसी को ब्रह्माजी तथा अन्य देवताओं जैसी दीर्घायु वाला शरीर मिल भी जाता है, तो वह भी नष्ट हो जाएगा, अतः बुद्धिमान मनुष्य को अमर अविनाशी आत्मा की ही चिन्ता करनी चाहिए।

मनुष्य को आत्म-रक्षा के लिए शुद्ध भक्त की शरण ग्रहण करनी चाहिए। इसलिए नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं— *छाड़िया वैष्णव-सेवा निस्तार पायेछे केबा।* यदि कोई अपने आपको भौतिक प्रकृति के थपेड़ों से बचाना चाहता है, जो भौतिक शरीर से उत्पन्न होते हैं, तो उसे कृष्णभावनाभावित होना चाहिए और कृष्ण को पूरी तरह समझने का प्रयत्न करना चाहिए। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.९) में कहा गया है— *जन्म कर्म च मे दिव्यम् एवं यो वेत्ति तत्त्वतः।* मनुष्य को चाहिए कि सच्चाई के साथ कृष्ण को समझे और ऐसा शुद्ध भक्त की सेवा द्वारा ही सम्भव है। इस प्रकार प्रह्लाद महाराज नृसिंहदेव से प्रार्थना करते हैं कि वे उन्हें भौतिक ऐश्वर्य न प्रदान करके शुद्ध भक्त तथा दास के सान्निध्य में रखें। इस जगत में प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति को प्रह्लाद महाराज का अनुसरण करना चाहिए। *महाजनो येन गतः स पन्थाः।* प्रह्लाद महाराज अपने पिता के द्वारा छोड़ी गयी सम्पत्ति का भोग करना नहीं चाहते थे अपितु वे भगवान् के दास का दास बनना चाहते थे। उन्होंने उस मोहमयी मानव सभ्यता का तिरस्कार किया जो भौतिक उन्नति द्वारा सुख के लिए सदा प्रयत्नशील रहती है। उनके चरणचिह्नों पर चलने वाले भक्त भी ऐसी सभ्यता का तिरस्कार करते हैं।

भौतिक ऐश्वर्य विभिन्न प्रकार के हैं जिन्हें शास्त्रों में *भुक्ति, मुक्ति* तथा *सिद्धि* कहा गया है। *भुक्ति* का अर्थ है श्रेष्ठ पद पर स्थित होना, यथा स्वर्ग लोक में देवताओं का पद जहाँ मनुष्य भौतिक इन्द्रियतृप्ति का सर्वाधिक भोग कर सकता है। *मुक्ति* का अर्थ है भौतिक उन्नति से ऊब कर भगवान् से एकाकार होने की इच्छा करना। *सिद्धि* योगियों जैसे कठिन ध्यान द्वारा आठ प्रकार की सिद्धियाँ (अणिमा, लघिमा, महिमा इत्यादि) प्राप्त करना है। ऐसे सारे लोग जो भुक्ति, मुक्ति या सिद्धि द्वारा किसी भौतिक उन्नति के इच्छुक हैं, वे कालक्रम में दण्डनीय हैं और वे पुनः भौतिक कार्यकलापों में लौट आते हैं। प्रह्लाद महाराज ने इन सबों का तिरस्कार कर दिया वे शुद्ध भक्त के निर्देशन में मात्र एक दास की भाँति लगे रहना चाहते थे।

कुत्राशिषः श्रुतिसुखा मृगतृष्णिरूपाः
क्वेदं कलेवरमशेषरुजां विरोहः ।
निर्विद्यते न तु जनो यदपीति विद्वान्
कामानलं मधुलवैः शमयन्दुरापैः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

कुत्र—कहाँ; आशिषः—आशीर्वाद, वर; श्रुति-सुखाः—सुनने में मधुर लगने वाले; मृगतृष्णि-रूपाः—मरुस्थल में मृगतृष्णा के समान; क्व—कहाँ; इदम्—यह; कलेवरम्—शरीर; अशेष—असीम; रुजाम्—रोग का; विरोहः—उत्पत्ति स्थान; निर्विद्यते—तुष्ट होता है; न—नहीं; तु—लेकिन; जनः—सामान्य लोग; यत् अपि—यद्यपि; इति—इस प्रकार; विद्वान्—तथाकथित दार्शनिक, विज्ञानी तथा राजनीतिज्ञ; काम-अनलम्—कामेच्छा की प्रज्ज्वलित अग्नि; मधु-लवैः—शहद (सुख) की बूँदों से; शमयन्—नियंत्रण करते हुए; दुरापैः—प्राप्त कर पाना अत्यन्त कठिन।

इस भौतिक जगत में प्रत्येक जीव कुछ न कुछ भावी सुख की कामना करता है, जो मरुस्थल में मृग-मरीचिका के समान है। भला मरुस्थल में जल कहाँ? दूसरे शब्दों में, इस भौतिक जगत में सुख कहाँ? जहाँ तक इस शरीर की बात है, इसका मूल्य ही क्या है? यह विभिन्न रोगों का स्रोत मात्र है। तथाकथित दार्शनिक, विज्ञानी तथा राजनीतिज्ञ इसे भली-भाँति जानते हैं फिर भी वे क्षणिक सुख की आकांक्षा रखते हैं। सुख प्राप्त कर पाना अत्यन्त कठिन है लेकिन वे अपनी इन्द्रियों को वश में न रख पाने के कारण भौतिक जगत के तथाकथित सुख के पीछे दौते हैं और सही निष्कर्ष तक कभी नहीं पहुँच पाते।

तात्पर्य : एक बँगला गीत है, जिसमें बताया गया है कि "मैंने सुख के लिए यह घर बनाया, किन्तु दुर्भाग्यवश इसमें आग लग गई और अब सब कुछ जल कर राख हो गया है।" इससे भौतिक सुख की प्रकृति का चित्रण होता है। प्रत्येक व्यक्ति इसे जानता है फिर भी वह कुछ न कुछ प्रसन्नता प्रदान करनेवाली बात सुनना या सोचना चाहता है। दुर्भाग्यवश काल के साथ उसकी सारी योजनाएँ ध्वस्त हो जाती हैं। ऐसे अनेक राजनीतिज्ञ हुए हैं जिन्होंने साम्राज्य, श्रेष्ठता तथा विश्व-नियंत्रण की योजनाएँ तो बनाईं, किन्तु कालक्रम में उनकी सारी योजनाएँ तथा साम्राज्य—यहाँ तक कि राजनीतिज्ञ स्वयं भी नष्ट हो गये। प्रत्येक व्यक्ति को प्रह्लाद महाराज से यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि हम किस प्रकार इन्द्रियभोग के लिए शारीरिक अभ्यासों के द्वारा तथाकथित क्षणिक सुख में लगे रहते हैं। हम सभी बारम्बार योजनाएँ बनाते हैं, जो ध्वस्त होती रहती हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि ऐसी योजनाएँ बनाना छोड़ दे।

जिस प्रकार घृत डाल कर कोई व्यक्ति प्रज्ज्वलित अग्नि को शमित नहीं कर सकता उसी तरह कोई भी व्यक्ति अपने इन्द्रिय-भोग के लिए योजनाएँ बनाकर तुष्ट नहीं हो सकता। यह प्रज्ज्वलित अग्नि *भव महादावाग्नि* है। जंगलों में आग स्वयमेव लगती है, किसी को प्रयास नहीं करना पड़ता। हम इस जगत में सुखी रहना चाहते हैं, किन्तु यह कभी सम्भव नहीं होगा, इससे तो इच्छाओं की जलती अग्नि में

वृद्धि होगी। हमारी इच्छाएँ भ्रामक विचारों तथा योजनाओं से पूरी नहीं हो सकतीं प्रत्युत हमें भगवान् कृष्ण के उपदेश का पालन करना होगा—सर्वधर्मान् *परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।* तभी हम सुखी हो सकेंगे, अन्यथा सुख के नाम पर हम दुख भोगते रहेंगे।

क्वाहं रजःप्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मिन्
जातः सुरेतरकुले क्व तवानुकम्पा ।
न ब्रह्मणो न तु भवस्य न वै रमाया
यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

क्व—कहाँ; अहम्—मैं हूँ; रजः-प्रभवः—रजोगुणी शरीर में उत्पन्न होकर; ईश—हे ईश्वर; तमः—तमोगुण; अधिके—बढ़कर; अस्मिन्—इस; जातः—उत्पन्न; सुर-इतर-कुले—नास्तिकों या असुरों के परिवार में (जो भक्तों से निम्न कोटि हैं); क्व—कहाँ; तव—तुम्हारी; अनुकम्पा—अहैतुकी कृपा; न—नहीं; ब्रह्मणः—ब्रह्माजी का; न—नहीं; तु—लेकिन; भवस्य—शिवजी का; न—न तो; वै—ही; रमायाः—लक्ष्मी जी का; यत्—जो; मे—मेरा; अर्पितः—चढ़ाया गया; शिरसि—सिर पर; पद्म-करः—कमल जैसा हाथ; प्रसादः—कृपा का प्रतीक।

हे प्रभु, हे परमात्मा, कहाँ घोर नारकीय रजो तथा तमोगुणी परिवार में उत्पन्न हुआ मैं और कहाँ आपकी अहैतुकी कृपा जो ब्रह्माजी, शिव जी या लक्ष्मी जी को कभी प्राप्त नहीं हो पाई? आप कभी भी इनके सिरों पर अपना कमल जैसा हाथ नहीं रखते, किन्तु आपने मेरे सिर पर इसे रखा है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज भगवान् की अहैतुकी कृपा से आश्चर्यचकित थे, क्योंकि यद्यपि वे असुर कुल में उत्पन्न हुए थे और यद्यपि भगवान् ने ब्रह्मा, शिव या अपनी नित्यसंगिनी लक्ष्मी जी के सिर पर कभी अपना कमल जैसा हाथ नहीं रखा था तो भी भगवान् नृसिंहदेव ने प्रह्लाद महाराज के सिर पर कृपापूर्वक अपना हाथ रखा। यही अहैतुकी कृपा है। भगवान् की अहैतुकी कृपा किसी भी व्यक्ति को प्राप्त हो सकती है, चाहे इस जगत में वह किसी भी पद पर क्यों न हो। कोई भी व्यक्ति, चाहे उसकी भौतिक स्थिति कुछ भी हो, परमेश्वर की पूजा करने के लिए उपयुक्त है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.२६) में हुई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो पूरी तरह भक्ति में लगा रहता है, जो किसी भी परिस्थिति में च्युत नहीं होता वह तुरन्त प्रकृति के गुणों को पार कर के ब्रह्म-पद को प्राप्त होता है।" जो कोई भगवान् की निरन्तर भक्ति करता है, वह आध्यात्मिक जगत में स्थित होता है और उसे भौतिक गुणों (सतो, रजो तथा तमो गुणों) से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता।

चूँकि प्रह्लाद महाराज आध्यात्मिक पद पर स्थित थे अतएव उन्हें अपने इस शरीर से कुछ भी लेना-देना नहीं था, जो रजो तथा तमो गुणों से उत्पन्न था। रजो तथा तमो गुणों के लक्षण *श्रीमद्भागवत* (१.२.१९) में काम तथा लोभ के रूप में वर्णित हैं (*तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये*)। महान् भक्त होने के कारण प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता से उत्पन्न अपने शरीर को रजो तथा तमोगुणी माना, लेकिन चूँकि वे भगवान् की सेवा में लगे हुये थे, अतएव उनके शरीर का सम्बन्ध इस भौतिक जगत से न था। शुद्ध वैष्णव का शरीर इसी जीवन में अध्यात्मीकृत होता है। उदाहरणार्थ, जब लोहे को अग्नि में रखा जाता है, तो वह लाल हो जाता है और लोहा न रहकर अग्नि बन जाता है। इसी प्रकार भगवान् की भक्ति में संलग्न भक्तों के तथाकथित भौतिक शरीर भी आध्यात्मिक जीवन की अग्नि में निरन्तर रहने के कारण आध्यात्मिक बन जाते हैं, उन्हें भौतिक पदार्थ से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता।

श्रील मध्वाचार्य की टिप्पणी है कि ब्रह्माण्ड-जननी लक्ष्मीजी को वैसी कृपा प्राप्त नहीं हो पाई जैसी प्रह्लाद महाराज को प्रदान की गई, क्योंकि यद्यपि लक्ष्मीजी परमेश्वर की नित्यसंगिनी हैं, किन्तु भगवान् अपने भक्तों पर अधिक ध्यान देते रहते हैं। दूसरे शब्दों में, भक्ति इतनी महान् है कि जब निम्नकुलों में उत्पन्न व्यक्ति भी भगवान् की सेवा करते हैं, तो वह उसे स्वीकार्य करके लक्ष्मी जी द्वारा की गई सेवा से बढ़कर मानते हैं। स्वर्गलोकों में वास करने वाले ब्रह्मा, इन्द्र तथा अन्य देवता विभिन्न चेतना में स्थित रहते हैं, इसलिए कभी-कभी असुरों द्वारा पीड़ित होते रहते हैं। किन्तु एक भक्त निम्नलोकों में भी स्थित रहकर किसी भी परिस्थिति में कृष्णभावनामृत के जीवन का आनन्द लेता। *परतः स्वतः कर्मतः*—वह जिस तरह कर्म करता है, जिस तरह अन्यों से शिक्षा ग्रहण करता है या जिस तरह अपने भौतिक कार्यकलाप करता है, प्रत्येक दशा में जीवन का आनन्द भोगता है। इस प्रसंग में मध्वाचार्य ने *ब्रह्म-तर्क* में उल्लिखित निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं—

श्री ब्रह्मब्राह्मीवीन्द्रादित्रिकतत् स्त्रीपुरुष्टुताः ।

तदन्ये च क्रमादेव सदा मुक्तौ स्मृतावपि॥

हरिभक्तौ च तज्ज्ञाने सुखे च नियमेन तु।

परत: स्वत: कर्मतो वा न कथञ्चित् तदन्यथा॥

नैषा परावरमतिर्भवतो ननु स्या-
ज्जन्तोर्यथात्मसुहृदो जगतस्तथापि ।
संसेवया सुरतरोरिव ते प्रसाद:
सेवानुरूपमुदयो न परावरत्वम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एषा—यह; पर-अवर—उच्च या निम्न का; मति:—ऐसा भेद-भाव; भवत:—आपका; ननु—निस्सन्देह; स्यात्—होवे; जन्तो:—सामान्य जीवों का; यथा—जिस प्रकार; आत्म-सुहृद:—मित्र का; जगत:—समूचे संसारे का; तथापि—फिर भी (मैत्री या मतभेद का ऐसा प्रदर्शन होता है); संसेवया—भक्त द्वारा की गई सेवा की कोटि के अनुसार; सुरतरो: इव—वैकुण्ठ लोक में कल्पवृक्ष की भाँति (जो भक्त को इच्छानुसार फल देने वाला है); ते—तुम्हारा; प्रसाद:—आशीर्वाद या आशीष; सेवा-अनुरूपम्—भगवान् के प्रति की गई सेवा की कोटि के अनुसार; उदय:—अभिव्यक्ति; न—नहीं; पर-अवरत्वम्—छोटे-बड़े का भेदभाव।

हे भगवान्, आप सामान्य जीवों की तरह मित्र तथा शत्रु एवं अनुकूल तथा प्रतिकूल के मध्य भेदभाव नहीं बरतते, क्योंकि आप में ऊँच-नीच की कोई भावना नहीं है। फिर भी आप सेवा के स्तर के अनुसार ही अपना आशीष प्रदान करते हैं ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कल्पवृक्ष इच्छाओं के अनुसार ही फल देता है और ऊँच-नीच में भेदभाव नहीं बरतता।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (४.११) में भगवान् स्पष्ट कहते हैं—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*—जो जिस तरह मेरी शरण में आता है, तदनुसार ही मैं उसे पुरस्कार प्रदान करता हूँ। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्य-दास'*—प्रत्येक प्राणी कृष्ण का नित्य दास है। जीव अपनी सेवा के अनुसार कृष्ण से स्वत: आशीर्वाद प्राप्त करता है, क्योंकि वे यह भेदभाव नहीं बरतते कि "यह व्यक्ति मुझसे घनिष्ठतापूर्वक जुड़ा है और यह वह है, जिसे मैं नहीं चाहता।" कृष्ण हर एक को अपनी शरण में आने की सलाह देते हैं (*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*)। भगवान् से जो सम्बन्ध बनता है, वह उनके प्रति की गई सेवा तथा शरणागति के अनुपात में होता है। इस तरह सारे विश्व में जीव स्वयं ही अपने बड़े या छोटे पद का चुनाव करते हैं। यदि कोई भगवान् को आदेश देना चाहता है कि भगवान् उसे कुछ दें तो वह अपनी इच्छानुकूल आशीर्वाद प्राप्त करता है। यदि वह चाहता है कि स्वर्ग लोक में स्थान प्राप्त करे तो उसे वह स्थान मिलता है और यदि

वह पृथ्वी पर ही शूकर के रूप में बना रहना चाहता है, तो भगवान् उसकी वह इच्छापूर्ति भी करते हैं। अतएव मनुष्य का पद उसकी इच्छाओं से निश्चित होता है। हमारे जीवन में उच्च या निम्न पदों के लिए भगवान् उत्तरदायी नहीं हैं। इसकी और अधिक व्याख्या स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.२५) में की है—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

कुछ लोग स्वर्गलोक भेजे जाना चाहते हैं, कुछ पितृलोक और कुछ इसी धरती पर बने रहना चाहते हैं, किन्तु यदि कोई भगवद्धाम लौट जाने का इच्छुक होता है, तो उसे वहाँ भी भेज दिया जा सकता है। किसी विशेष भक्त की माँगों के अनुसार भगवत्कृपा से उसे फल प्राप्त होता है। भगवान् यह सोचकर भेदभाव नहीं बरतते "यह व्यक्ति मेरे अनुकूल है और यह मेरे अनुकूल नहीं है" अपितु वे हर एक की इच्छापूर्ति करते हैं। अतएव शास्त्रों का आदेश है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

"कोई चाहे निष्काम हो या सकाम या मुक्ति प्राप्त करने का इच्छुक हो, हर एक व्यक्ति को चाहिए कि पूर्ण सिद्धि के लिए, जिसकी चरम परिणति कृष्णभावनामृत में होती है, सभी तरह से भगवान् की पूजा करे।" (*भागवत* २.३.१०) भगवान् की सेवा में पूरी तरह से लगे रहने पर हर एक को अपने पद के अनुसार मनवांछित फल मिलता है चाहे वह भक्त हो, कर्मी हो या ज्ञानी।

एवं जनं निपतितं प्रभवाहिकूपे
कामाभिकाममनु यः प्रपतन्प्रसङ्गात् ।
कृत्वात्मसात्सुरर्षिणा भगवन्गृहीतः
सोऽहं कथं नु विसृजे तव भृत्यसेवाम् ॥ २८॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; जनम्—सामान्य व्यक्ति को; निपतितम्—गिरा हुआ; प्रभव—भौतिक जगत के; अहि-कूपे—सर्पों से पूर्ण अंधे कुएँ में; काम-अभिकामम्—इन्द्रियविषयों की कामना; अनु—अनुसरण करते हुए; यः—जो व्यक्ति; प्रपतन्—(इस अवस्था में) गिर कर; प्रसङ्गात्—बुरी संगति के कारण या भौतिक इच्छाओं की अधिकाधिक संगति से; कृत्वा आत्मसात्—मुझको (अपने [नारद] जैसे आध्यात्मिक गुण प्राप्त करने के लिए) वाध्य करके; सुर-ऋषिणा—महान् सन्त पुरुष (नारद) द्वारा; भगवन्—हे भगवान्; गृहीतः—स्वीकार; सः—वह व्यक्ति; अहम्—मैं; कथम्—कैसे; नु—निस्सन्देह; विसृजे—त्याग सकता हूँ; तव—तुम्हारी; भृत्य-सेवाम्—शुद्ध भक्त की सेवा।

हे भगवान्, मैं एक-एक करके भौतिक इच्छाओं की संगति में आने से सामान्य लोगों का अनुगमन करते हुए सर्पों के अन्धे कुएँ में गिरता जा रहा था। किन्तु आपके दास नारद मुनि ने कृपा करके मुझे अपने शिष्य के रूप में स्वीकार कर लिया और मुझे यह शिक्षा दी कि इस दिव्य पद को किस तरह प्राप्त किया जाये। अतएव मेरा पहला कर्तव्य है कि मैं उनकी सेवा करूँ। भला मैं उनकी यह सेवा कैसे छोड़ सकता हूँ?

तात्पर्य : जैसाकि बाद के श्लोकों से पता चलेगा, यद्यपि भगवान् ने प्रह्लाद महाराज को सीधे मनवांछित वर माँगने के लिए कहा, किन्तु उन्होंने भगवान् की इस भेंट को अस्वीकार कर दिया। उन्होंने उलट कर भगवान् से यह प्रार्थना की कि वे अपने दास नारद मुनि की सेवा में उसे लगा रहने दें। यह शुद्ध भक्त का लक्षण है। मनुष्य को चाहिए कि पहले गुरु की सेवा करे। ऐसा नहीं होता कि कोई अपने गुरु को छोड़कर भगवान् की सेवा करने की इच्छा करे। वैष्णव के लिए यह सिद्धान्त नहीं है। नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं—

तांदेर चरण सेवि भक्त-सने वास।

जनमे जनमे हय, एइ अभिलाष॥

मनुष्य को सीधे भगवान् की सेवा करने के लिए उत्सुक नहीं होना चाहिए। श्री चैतन्य महाप्रभु ने उपदेश दिया है कि मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् के दास का दासानुदास बने (*गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः*)। भगवान् तक पहुँचने की यही विधि है। पहले गुरु की सेवा की जानी चाहिए जिससे उनकी कृपा से भगवान् की सेवा के निकट जाया जा सके। रूप गोस्वामी को शिक्षा देते हुए श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा था—*गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज*—गुरु की कृपा से और फिर कृष्ण की कृपा से भक्ति का बीज प्राप्त किया जा सकता है। सफलता का यही रहस्य है। पहले गुरु को प्रसन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए और तब भगवान् को प्रसन्न करने का प्रयास करना चाहिए। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर भी कहते हैं—*यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादो।* मनुष्य को मनगढ़त ज्ञान द्वारा भगवान् को प्रसन्न करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। पहले उसे गुरु की सेवा करने के लिए तैयार होना होता है और जब वह योग्य बन जाता है, तो उसे भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा करने का स्वतः अवसर प्राप्त कराया जाता है। अतएव प्रह्लाद महाराज ने प्रस्ताव रखा कि उन्हें नारद मुनि की सेवा में

लगे रहने दिया जाये। यही सही निष्कर्ष है। अतएव उन्होंने कहा—*सोऽहं कथं नु विसृजे तव भृत्यसेवाम्*—भला मैं अपने उन गुरु की सेवा करना कैसे त्याग दूँ जिन्होंने मुझ पर इस तरह से कृपा की कि मैं अब आपको अपने समक्ष देख रहा हूँ? प्रह्लाद महाराज ने भगवान् से प्रार्थना की कि वे अपने गुरु नारद मुनि की सेवा में लगे रहें।

मत्प्राणरक्षणमनन्त पितुर्वधश्च
मन्ये स्वभृत्यऋषिवाक्यमृतं विधातुम् ।
खड्गं प्रगृह्य यदवोचदसद्विधित्सु-
स्त्वामीश्वरो मदपरोऽवतु कं हरामि ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

मत्-प्राण-रक्षणम्—मेरे जीवन की रक्षा करके; अनन्त—हे अनन्त असीम दिव्य गुणों के आगार; पितुः—मेरे पिता का; वधः च—तथा वध; मन्ये—मानता हूँ; स्व-भृत्य—आपके अनन्य दासों का; ऋषि-वाक्यम्—तथा नारद मुनि के शब्दों को; ऋतम्—सत्य; विधातुम्—सिद्ध करने के लिए; खड्गम्—तलवार; प्रगृह्य—हाथ में धारण करके; यत्—चूँकि; अवोचत्—मेरे पिता ने कहा; असत्-विधित्सुः—बड़े ही अपवित्र ढंग से कर्म करने की इच्छा से; त्वाम्—तुमको; ईश्वरः—कोई परम नियामक; मत्-अपरः—मेरी अपेक्षा दूसरा कोई; अवतु—बचा ले; कम्—तुम्हारा सिर; हरामि—अब मैं छिन्न कर दूँगा।

हे भगवान्, हे दिव्य गुणों के असीम आगार, आपने मेरे पिता हिरण्यकशिपु का वध किया है और मुझे उनकी तलवार से बचा लिया है। उन्होंने अत्यन्त क्रुद्ध होकर कहा था "यदि मेरे अतिरिक्त कोई परम नियन्ता है, तो वह तुम्हें बचाए। अब मैं तुम्हारे सिर को तुम्हारे शरीर से काटकर अलग कर दूँगा।" अतएव मैं सोच रहा हूँ कि मुझे बचाने तथा उन्हें मारने—दोनों ही कार्यों में आपने अपने भक्त के वचनों को सत्य करने के लिए ही कर्म किया है। इसका कोई अन्य कारण नहीं है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२९) में भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

भगवान् निस्सन्देह समदर्शी हैं। न तो कोई उनका मित्र है, न कोई उनका शत्रु किन्तु मनुष्य भगवान् से लाभ की कामना करते हैं, अतएव भगवान् उन्हें देने में अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। विभिन्न जीवों के उच्च तथा निम्न पद उनकी इच्छाओं के अनुसार होते हैं, क्योंकि भगवान् समदर्शी होने के कारण हर एक की इच्छापूर्ति करते हैं। हिरण्यकशिपु का वध तथा प्रह्लाद महाराज की रक्षा का होना भी परम नियन्ता

के कार्यकलापों के इसी नियम के अनुसार हैं। जब प्रह्लाद की माता हिरण्यकशिपु की पत्नी कयाधु, नारद मुनि के संरक्षण में थीं तो उन्होंने अपने पुत्र की शत्रु से रक्षा के लिए प्रार्थना भी की थी और तब नारद मुनि ने आश्वासन दिया था कि प्रह्लाद महाराज की शत्रु के हाथों से सदैव रक्षा होती रहेगी। अत: जब हिरण्यकशिपु प्रह्लाद का वध करने जा रहा था तो भगवान् ने *भगवद्गीता* में दिये गये अपने वचन की पूर्ति करने (*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति*) तथा नारद के वचनों को सत्य सिद्ध करने के लिए प्रह्लाद महाराज को बचा लिया। भगवान् एक करनी से कई उद्देश्यों की पूर्ति कर सकते हैं। इस तरह हिरण्यकशिपु का वध तथा प्रह्लाद की रक्षा का कार्य भगवान् के भक्त की सत्यता तथा भगवान् की स्वामिभक्ति को सिद्ध करने के लिए एकसाथ किये गये। भगवान् अपने भक्तों की इच्छाओं को पूरा करने के लिए कार्य करते हैं अन्यथा उन्हें कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है। जैसाकि वैदिक भाषा में कहा गया है—*न तस्य कार्यं करणं च विद्यते*—भगवान् को स्वयं कुछ नहीं करना पड़ता, क्योंकि सब कुछ उनकी विभिन्न शक्तियों द्वारा किया जाता हैं (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*)। भगवान् की विविध शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा सब कुछ सम्पन्न होता है। अतएव जब वे स्वयं कुछ करते हैं, तो वह केवल अपने भक्तों को प्रसन्न करने के लिए होता है। भगवान् *भक्तवत्सल* कहलाते हैं, क्योंकि वे अपने निष्ठापूर्ण सेवक पर अत्यधिक कृपा करते हैं।

एकस्त्वमेव जगदेतममुष्य यत्त्व-
माद्यन्तयो: पृथगवस्यसि मध्यतश्च ।
सृष्ट्वा गुणव्यतिकरं निजमाययेदं
नानेव तैरवसितस्तदनुप्रविष्ट: ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एक:—एक; त्वम्—तुम; एव—एकमात्र; जगत्—दृश्य जगत; एतम्—यह; अमुष्य—उस (समग्र ब्रह्माण्ड) का; यत्—चूँकि; त्वम्—तुम; आदि—प्रारम्भ में; अन्तयो:—अन्त में; पृथक्—अलग से; अवस्यसि—विद्यमान हो (कारण रूप में); मध्यत: च—बीच में भी (आदि तथा अन्त के मध्य में); सृष्ट्वा—उत्पन्न करके; गुण-व्यतिकरम्—प्रकृति के तीनों गुणों का रूपान्तर; निज-मायया—अपनी निजी बहिरंगा शक्ति से; इदम्—यह; नाना इव—अनेक किस्मों की तरह; तै:—उनके (गुणों के) द्वारा; अवसित:—अनुभव किया; तत्—वह; अनुप्रविष्ट:—प्रवेश करके।

हे भगवान्, अकेले आप ही अपने आपको विराट् जगत के रूप में प्रकट करते हैं, क्योंकि आप सृष्टि के पूर्व विद्यमान थे, संहार के बाद भी विद्यमान रहते हैं और आदि तथा अन्त के बीच में पालक होते हैं। यह सब प्रकृति के तीनों गुणों की क्रिया-प्रतिक्रिया के माध्यम से आपकी

बहिरंगा शक्ति द्वारा किया जाता है। अतएव भीतर तथा बाहर जो कुछ भी विद्यमान है, वह केवल आप हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.३५) में कहा गया है—

एकोऽप्यसौ रचयितुं जगदण्डकोटिं
यच्छक्तिरस्ति जगदण्डचया यदन्तः ।
अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

"मैं उन गोविन्द भगवान् की पूजा करता हूँ जो अपने किसी एक अंश के द्वारा प्रत्येक ब्रह्माण्ड तथा प्रत्येक परमाणु तक में प्रवेश करते हैं और इस प्रकार अपनी अनन्त शक्ति को सारी भौतिक सृष्टि में प्रकट करते हैं।" इस विराट जगत की सृष्टि करने के लिए गोविन्द भगवान् अपनी बहिरंगा शक्ति का विस्तार करते हैं और इस प्रकार वे ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु के भीतर, यहाँ तक कि परमाणु में भी प्रविष्ट कर जाते हैं। इस प्रकार वे पूरी भौतिक सृष्टि में विद्यमान रहते हैं। इसलिए भगवान् द्वारा अपने भक्तों के पालन में जो कार्यकलाप सम्पन्न किये जाते हैं, वे भौतिक न होकर दिव्य होते हैं। वे प्रत्येक वस्तु में कार्य-कारण के रूप में विद्यमान रहते हैं फिर भी वे पृथक् होकर इस जगत के परे रहते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.४) में भी हुई है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

सम्पूर्ण विराट जगत भगवान् की शक्ति का विस्तार मात्र है, प्रत्येक वस्तु उन्हीं पर टिकी है फिर भी वे सृजन, पालन तथा संहार से परे पृथक् रहते हैं। भाँति-भाँति की सृष्टि उनकी बहिरंगा शक्ति से उत्पन्न है। चूँकि शक्ति तथा शक्तिमान एक हैं, अतएव सारी वस्तुएँ एक हैं (*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*) अतएव परब्रह्म या कृष्ण के बिना कुछ भी विद्यमान नहीं रह सकता। भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत का अन्तर यही है कि उनकी भौतिक शक्ति भौतिक जगत में, किन्तु उनकी आध्यात्मिक शक्ति आध्यात्मिक जगत में प्रकट होती है। फिर भी दोनों शक्तियों का सम्बन्ध परमेश्वर से होता है, अतएव उच्च स्तर पर भौतिक शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती, क्योंकि प्रत्येक वस्तु आध्यात्मिक शक्ति होती

है। जिस शक्ति में भगवान् की सर्वव्यापकता की अनुभूति नहीं हो पाती वह भौतिक कहलाती है, अन्यथा प्रत्येक वस्तु आध्यात्मिक है। इसीलिए प्रह्लाद प्रार्थना करते हैं—*एकस्त्वमेव जगदेतम्*—आप सब कुछ हैं।

त्वं वा इदं सदसदीश भवांस्ततोऽन्यो
माया यदात्मपरबुद्धिरियं ह्यपार्था ।
यद्यस्य जन्म निधनं स्थितिरीक्षणं च
तद्वैतदेव वसुकालवदष्टितर्वोः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; वा—या तो; इदम्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड; सत्-असत्—कार्य कारण से युक्त (आप कारण हैं और आपकी शक्ति कार्य है); ईश—हे ईश्वर परम नियन्ता; भवान्—आप; ततः—ब्रह्माण्ड से; अन्यः—पृथक् स्थित (भगवान् सृष्टि करते हैं फिर भी वे सृष्टि से पृथक् रहते हैं); माया—शक्ति जो पृथक् सृष्टि प्रतीत होती है; यत्—जिससे; आत्म-पर-बुद्धिः—अपने तथा पराये की धारणा; इयम्—यह; हि—निस्सन्देह; अपार्था—अर्थहीन (आप ही सब कुछ हैं अतएव 'मेरा' तथा 'तेरा' समझ पाने की आशा नहीं है); यत्—जिस वस्तु से; यस्य—जिसका; जन्म—सृजन; निधनम्—संहार; स्थितिः—पालन; ईक्षणम्—अभिव्यक्ति; च—तथा; तत्—वह; वा—या; एतत्—यह; एव—निश्चय ही; वसुकाल-वत्—पृथ्वी होने के गुण तथा उससे आगे पृथ्वी के सूक्ष्म तत्त्व (गन्ध) के समान; अष्टि-तर्वोः—बीज (कारण) तथा वृक्ष (कारण का कार्य)।

हे भगवान्, हे परमेश्वर, यह समग्र सृष्टि आपके द्वारा उत्पन्न है और विराट जगत आपकी शक्ति का परिणाम है। यद्यपि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आपके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है फिर भी आप अपने को उससे पृथक् रखते हैं। 'मेरा' तथा 'तुम्हारा' की धारणा निश्चय ही एक प्रकार का मोह (माया) है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु आपसे उद्भूत होने के कारण आपसे भिन्न नहीं है। निस्सन्देह, विराट जगत आपसे अभिन्न है और संहार भी आपके द्वारा ही किया जाता है। आप तथा ब्रह्माण्ड के बीच का यह सम्बन्ध बीज तथा वृक्ष अथवा सूक्ष्म कारण तथा स्थूल अभिव्यक्ति के उदाहरण के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.१०) में भगवान् कहते हैं—

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।

"हे पृथापुत्र! तुम यह जान लो कि मैं सारे जीवों का मूल बीज हूँ।" वैदिक वाङ्मय में कहा गया है—*ईशावास्यमिदं सर्वम्, यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते* तथा *सर्वं खल्विदं ब्रह्म।* यह सारी वैदिक जानकारी बताती है कि केवल एक ईश्वर है और उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। मायावादी विचारक इसकी व्याख्या अपने ढंग से करते हैं, लेकिन भगवान् इस सत्य पर बल देते हैं कि वे सब कुछ होते

हुए भी प्रत्येक वस्तु से पृथक् रहते हैं। यही श्री चैतन्य महाप्रभु का दर्शन है, जो *अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्व* कहलाता है। प्रत्येक वस्तु एक, अर्थात् परमेश्वर है फिर भी प्रत्येक वस्तु उनसे भिन्न है। एकत्व तथा भेद (अन्तर) की यही विचारधारा है।

यहाँ पर *वसुकालवद् अष्टितर्वो:* का उदाहरण दिया गया है, जिसे समझना अत्यन्त आसान है। प्रत्येक वस्तु काल में विद्यमान है फिर भी काल की विभिन्न अवस्थाएँ हैं—वर्तमान, भूत तथा भविष्य। ये तीनों एक हैं। प्रतिदिन हमें काल का अनुभव प्रात: दोपहर तथा संध्या के रूप में होता रहता है और यद्यपि प्रात: दोपहर से भिन्न है और दोपहर संध्या से भिन्न है फिर भी उन्हें सबको मिलाकर एक माना जाता है। काल भगवान् की शक्ति है, लेकिन भगवान् इस काल से पृथक् रहते हैं। प्रत्येक वस्तु का सृजन, पालन तथा संहार काल द्वारा होता है, लेकिन भगवान् का न तो आदि है और न अन्त। वे *नित्य: शाश्वत:* हैं। प्रत्येक वस्तु वर्तमान, भूत तथा भविष्य काल की इन अवस्थाओं से होकर गुजरती है फिर भी भगवान् सदैव वही रहते हैं। इस तरह निस्सन्देह, भगवान् तथा विराट जगत में अन्तर है, किन्तु वस्तुत: वे पृथक् नहीं हैं। उन्हें पृथक् समझना अविद्या है।

किन्तु असली एकत्व मायावादियों की धारणा के तुल्य नहीं है। वास्तविक ज्ञान तो यह है कि सारे अन्तर भगवान् की शक्ति द्वारा प्रकट होते हैं। बीज वृक्ष के रूप में प्रकट होता है, जिसमें तना, शाखें, पत्तियाँ, फूल तथा फल की विविधता दिखती है। इसीलिए श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने गाया है—*केशव तुया जगत विचित्र*—हे भगवान्! आपकी सृष्टि विविधतापूर्ण है। ये विविधताएँ एक होते हुए भी भिन्न हैं। यही *अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्व दर्शन* है। *ब्रह्म-संहिता* में जो निष्कर्ष दिया हुआ है, वह इस प्रकार है—

ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्द विग्रह:।

अनादिरादिर्गोविन्द: सर्वकारणकारणम्॥

''गोविन्द नाम से विख्यात कृष्ण परम नियन्ता हैं। उनका शरीर सच्चिदानन्द स्वरूप है। वे सबों के उद्गम हैं। उनका कोई अन्य उद्गम नहीं है, क्योंकि वे समस्त कारणों के प्रधान कारण हैं।'' चूँकि भगवान् परम कारण हैं, अतएव प्रत्येक वस्तु उन्हीं जैसी है, किन्तु जब हम उनकी विविधताओं पर विचार करते हैं, तो पाते हैं कि एक वस्तु दूसरे से भिन्न है।

अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एक वस्तु तथा दूसरी वस्तु के बीच कोई अन्तर नहीं होता फिर भी उनकी किस्मों में अन्तर होता है। इस प्रसंग में मध्वाचार्य सामान्य वृक्ष तथा अग्नि में पड़े वृक्ष का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि दोनों वृक्ष एक हैं, लेकिन काल के कारण वे भिन्न दिखते हैं। काल भगवान् के अधीन है इसलिए भगवान् काल से भिन्न हैं। फलस्वरूप प्रगत भक्त सुख तथा दुख में अन्तर नहीं मानता जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१०.१४.८) में कहा गया है—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो

भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।

जब भक्त तथाकथित दुख की स्थिति में होता है, तो वह इसे भगवान् का उपहार या आशीष मानता है। जब भक्त जीवन की किसी भी स्थिति में इसप्रकार सदा कृष्णभावनामृत को प्राप्त होता है, तो उसे *मुक्तिपदे स दायभाक्* अर्थात् भगवद्धाम लौटने का पूर्ण सुपात्र कहा जाता है। *दायभाक्* शब्द का अर्थ है 'उत्तराधिकार'। पुत्र पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है। इसी प्रकार जब भक्त द्वैत से रहित होकर पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होता है, तो वह निश्चित होता है कि वह भगवद्धाम जाएगा जिस प्रकार पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनता है।

न्यस्येदमात्मनि जगद्विलयाम्बुमध्ये
शेषेत्मना निजसुखानुभवो निरीहः ।
योगेन मीलितदृगात्मनिपीतनिद्र-
स्तुर्ये स्थितो न तु तमो न गुणांश्च युङ्क्षे ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

न्यस्य—फेंककर; इदम्—यह; आत्मनि—अपने आप में; जगत्—आपके द्वारा उत्पन्न विराट संसार; विलय-अम्बु-मध्ये—कारणार्णव में, जिसमें प्रत्येक वस्तु सुरक्षित शक्ति के रूप में संरक्षित रहती है; शेषे—सोये हुए के समान कर्म करते हो; आत्मना—अपने से; निज—अपना; सुख-अनुभवः—आध्यात्मिक आनन्द की अवस्था का अनुभव; निरीहः—कुछ भी न करते हुए प्रतीत होना; योगेन—योग शक्ति के द्वारा; मीलित-दृक्—बन्द आँखें; आत्म—अपने प्राकट्य द्वारा; निपीत—रोका गया; निद्रः—जिसकी नींद; तुर्ये—दिव्य अवस्था में; स्थितः—अपने को रखते हुए; न—नहीं; तु—लेकिन; तमः—सोने की भौतिक अवस्था; न—न तो; गुणान्—भौतिक गुण; च—तथा; युङ्क्षे—अपने को लगाते हो।

हे परमेश्वर, संहार के बाद सृजनात्मक शक्ति आप में स्थित रखी जाती है और आप अपनी अधखुली आँखों से सोते प्रतीत होते हैं। किन्तु तथ्य तो यह है कि आप एक सामान्य व्यक्ति की भाँति सोते नहीं, क्योंकि आप भौतिक जगत की सृष्टि के परे सदैव दिव्य अवस्था में रहते हैं और सदैव दिव्य आनन्द का अनुभव करते हैं। इस तरह क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में आप भौतिक

वस्तुओं को छुए बिना अपनी दिव्य स्थिति में बने रहते हैं। यद्यपि आप सोते प्रतीत होते हैं, किन्तु यह सोना अविद्या की निद्रा से पृथक् होता है।

तात्पर्य : जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.४७) में स्पष्ट बताया गया है—

यः कारणार्णवजले भजति स्म योग

निद्रामनन्तजगदण्डसरोमकूपः।

आधारशक्तिमवलम्ब्य परां स्वमूर्तिं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अपने अंश महा-विष्णु के रूप में कारणार्णव में शयन करते हैं जिसके दिव्य शरीर के रोम-कूपों से सारे ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं और जो चिर योगनिद्रा धारण किये रहते हैं।" *आदि पुरुष*—कृष्ण या गोविन्द अपने को महाविष्णु के रूप में विस्तारित करते हैं। इस विराट जगत के संहार के पश्चात् वे स्वयं को दिव्य आनन्द में रखते हैं। *योग निद्राम्* शब्द भगवान् के प्रसंग में व्यवहृत हुआ है। मनुष्य को यह समझ लेना चाहिए यह निद्रा हमारी उस निद्रा के समान नहीं है, जो तमोगुणी है। भगवान् सदैव अध्यात्म में स्थित रहते हैं। वे *सच्चिदानन्द* हैं, इसलिए वे सामान्य मनुष्यों की भाँति निद्रा द्वारा विचलित नहीं होते। यह समझना होगा कि भगवान् सभी अवस्थाओं में दिव्य आनन्द में रहते हैं। श्रील मध्वाचार्य ने संक्षेप में कहा है कि भगवान् *तूर्यस्थितः* हैं—सदैव अध्यात्म (तुरीयावस्था) में स्थित रहते हैं। अध्यात्म में *जागरणनिद्रासुषुप्ति* जागृति, निद्रा तथा घोर निद्रा जैसी कोई वस्तु नहीं होती।

योग का अभ्यास महाविष्णु की योगनिद्रा के समान है। योगियों को सलाह दी जाती है कि वे अपनी आँखें अधखुली रखें, किन्तु यह दशा निद्रा नहीं होती, यद्यपि आधुनिक युग में नकली योगी अपने-अपने कथित योग का प्रदर्शन सोकर करते हैं। शास्त्र में योग को *ध्यानावस्थित* कहा गया है, जो पूर्ण ध्यान की स्थिति है, किन्तु यह ध्यान भगवान् पर केन्द्रित ध्यान है। *ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा*— मन को सदैव भगवान् के चरणकमलों पर स्थित करना चाहिए। योगाभ्यास का अर्थ सोना (निद्रा) कदापि नहीं है। मन को सक्रियरूप से भगवान् के चरणकमलों पर स्थिर करना चाहिए; तभी योगाभ्यास सफल होगा।

तस्यैव ते वपुरिदं निजकालशक्त्या
सञ्चोदितप्रकृतिधर्मण आत्मगूढम् ।
अम्भस्यनन्तशयनाद्विरमत्समाधे-
र्नाभेरभूत्स्वकणिकावटवन्महाब्जम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उस भगवान् का; एव—निश्चय ही; ते—तुम्हारा; वपुः—शरीर; इदम्—यह (ब्रह्माण्ड); निज-काल-शक्त्या—शक्तिशाली काल द्वारा; सञ्चोदित—क्षुब्ध; प्रकृति-धर्मणः—उनका जिनसे प्रकृति के तीनों गुण; आत्म-गूढम्—आप में निहित; अम्भसि—कारणार्णव के जल में; अनन्त-शयनात्—अनन्त (जो आपका अन्य रूप है) नामक शय्या से; विरमत्-समाधेः—समाधि से जगकर; नाभेः—नाभि से; अभूत्—प्रकट हुआ; स्व-कणिका—बीज से; वट-वत्—महान् वट वृक्ष की तरह; महा-अब्जम्—संसार का महान् कमल (जो इसी तरह उगा है)।

यह विराट भौतिक जगत भी आपका ही शरीर है। यह पदार्थ का पिंड आपकी काल शक्ति द्वारा क्षुब्ध होता है और इस तरह प्रकृति के तीनों गुण प्रकट होते हैं। तब आप शेष या अनन्त की शय्या से जागते हैं और आपकी नाभि से एक क्षुद्र दिव्य बीज उत्पन्न होता है। इसी बीज से विराट जगत का कमल पुष्प प्रकट होता है ठीक उसी तरह जिस प्रकार एक छोटे बीज से विशाल वट वृक्ष उगता है।

तात्पर्य : महाविष्णु के तीन विभिन्न रूपों का क्रमशः वर्णन किया जा रहा है—ये हैं कारणोदकशायी विष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु जो सृष्टि तथा पालन के उद्गम हैं। महाविष्णु से गर्भोदकशायी विष्णु उत्पन्न होते हैं जिनसे क्रमशः क्षीरोदकशायी विष्णु का विस्तार होता है। इस प्रकार महाविष्णु ही गर्भोदकशायी विष्णु के मूल कारण हैं और गर्भोदकशायी विष्णु से कमल निकलता है, जिसमें से ब्रह्माजी प्रकट होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का मूल कारण विष्णु हैं। फलस्वरूप विराट जगत विष्णु से भिन्न नहीं है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१०.८) में हुई है जहाँ कृष्ण कहते हैं—*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते*—"मैं समस्त आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों का स्रोत हूँ। मुझी से प्रत्येक वस्तु उद्भूत है।" गर्भोदकशायी विष्णु कारणोदकशायी विष्णु के अंश हैं, जो स्वयं संकर्षण के अंश हैं। इस प्रकार अन्ततोगत्वा कृष्ण समस्त कारणों के कारण हैं (*सर्वकारणकारणम्*)। निष्कर्ष यह निकला कि भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों जगत परमेश्वर के शरीर माने जाते हैं। हम यह समझ सकते हैं कि भौतिक शरीर की उत्पत्ति आध्यात्मिक शरीर से होती है, अतएव वह आध्यात्मिक शरीर का अंश (विस्तार) है। जब मनुष्य आध्यात्मिक कर्म करता है, तो

उसका समग्र भौतिक शरीर आध्यात्मीकृत हो जाता है। इसी प्रकार जब इस भौतिक जगत में कृष्णभावनामृत आन्दोलन का विस्तार होता है, तो समूचा संसार आध्यात्मीकृत हो जाता है। जब तक इसकी अनुभूति नहीं होती तब तक हम इस भौतिक जगत में रहते हैं, किन्तु ज्योंही हम पूर्णरूपेण कृष्णभावनाभावित हो जाते हैं, तो हम इस भौतिक जगत में न रहकर आध्यात्मिक जगत में रहते हैं।

तत्सम्भवः कविरतोऽन्यदपश्यमान-
स्त्वां बीजमात्मनि ततं स बहिर्विचिन्त्य ।
नाविन्ददब्दशतमप्सु निमज्जमानो
जातेऽङ्कुरे कथमुहोपलभेत बीजम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तत्-सम्भवः—उस कमल से उत्पन्न; कविः—सृष्टि के सूक्ष्म कारण को समझने वाला (ब्रह्मा); अतः—उस (कमल) से; अन्यत्—अन्य कुछ; अपश्यमानः—देख सकने में अक्षम; त्वाम्—आपको; बीजम्—कमल के कारण को; आत्मनि—अपने में; ततम्—विस्तार कर लिया; सः—उसने (ब्रह्मा); बहिः विचिन्त्य—अपने को बाहरी मानकर; न—नहीं; अविन्दत्—(आपको) समझा; अब्द-शतम्—देवताओं के अनुसार एक सौ वर्षों तक (देवताओं का एक दिन हमारे छः मास के तुल्य); अप्सु—जल के भीतर; निमज्जमानः—गोता लगाकर; जाते अङ्कुरे—जब बीज अंकुरित होकर लता रूप में प्रकट होता है; कथम्—कैसे; उह—हे भगवान्; उपलभेत—कोई देख सकता है; बीजम्—पहले से फलित बीज को।

उस विशाल कमल पुष्प से ब्रह्माजी उत्पन्न हुए किन्तु उन्हें उस कमल के सिवाय कुछ भी नहीं दिखा। अतएव आप को बाहर स्थित जानकर उन्होंने जल में गोता लगाया और वे एक सौ वर्षों तक उस कमल के उद्गम को खोजने का प्रयत्न करते रहे। किन्तु उन्हें आपका कोई पता नहीं चल पाया क्योंकि जब बीज फलीभूत होता है, तो असली बीज नहीं दिख पाता।

तात्पर्य : यह विराट जगत का वर्णन है। इस जगत का विकास बीज के फलीभूत होने के समान है। जब रुई से धागे बन जाते हैं, तो रुई नहीं दिखती और जब धागों से कपड़ा बुना जाता है, तो धागे नहीं दिखते। इसी प्रकार यह कथन बिल्कुल सही है कि जब गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से उत्पन्न बीज विराट विश्व के रूप में प्रकट हो गया तो कोई यह नहीं समझ सकता था कि इस विराट विश्व की उत्पत्ति का कारण क्या था। आधुनिक विज्ञानियों ने सृष्टि के उद्गम की विवेचना "पिंड सिद्धान्त" (चंक थ्योरी) से करने का प्रयास किया है, लेकिन यह कोई नहीं बता सकता कि ऐसा पिंड किस प्रकार फटा होगा। किन्तु वैदिक वाङ्मय स्पष्ट बताता है कि सम्पूर्ण भौतिक शक्ति परमेश्वर की चितवन से प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा क्षुब्ध हुई। दूसरे शब्दों में, "पिंड सिद्धान्त" के अनुसार पिंड का फटना

भगवान् द्वारा किया गया। अतएव मनुष्य को चाहिए कि परम कारण विष्णु को समस्त कारणों का कारण स्वीकार कर ले।

स त्वात्मयोनिरतिविस्मित आश्रितोऽब्जं
कालेन तीव्रतपसा परिशुद्धभावः ।
त्वामात्मनीश भुवि गन्धमिवातिसूक्ष्मं
भूतेन्द्रियाशयमये विततं ददर्श ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (ब्रह्मा); तु—लेकिन; आत्म-योनिः—बिना माता के उत्पन्न (सीधे पिता विष्णु से उत्पन्न); अति-विस्मितः—अत्यधिक चकित (अपने जन्म का उद्गम न पाकर); आश्रितः—आसीन; अब्जम्—कमल; कालेन—काल के द्वारा; तीव्र-तपसा—घोर तपस्या द्वारा; परिशुद्ध-भावः—पूर्णतया शुद्ध होकर; त्वाम्—आपको; आत्मनि—अपने शरीर में; ईश—हे ईश्वर; भुवि—पृथ्वी के भीतर; गन्धम्—गन्ध; इव—सदृश; अति-सूक्ष्मम्—अत्यन्त सूक्ष्म; भूत-इन्द्रिय—तत्त्वों तथा इन्द्रियों से बना; आशय-मये—तथा जो इच्छाओं से पूर्ण (मन); विततम्—फैला हुआ; ददर्श—देखा।

आत्मयोनि के नाम से विख्यात अर्थात् बिना माता के उत्पन्न ब्रह्माजी को आश्चर्य हुआ। अतएव उन्होंने कमल पुष्प की शरण ग्रहण की और जब वे सैकड़ों वर्षों तक कठोर तपस्या करने के बाद शुद्ध हुए तो वे देख पाये कि समस्त कारणों के कारण भगवान् उनके अपने पूरे शरीर तथा इन्द्रियों में उसी तरह व्याप्त थे जिस प्रकार गन्ध अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी पृथ्वी में अनुभव की जाती है।

तात्पर्य : यहाँ पर *अहं ब्रह्मास्मि* के रूप में आत्म-साक्षात्कार के कथन की विवेचना की गई है, जिसकी व्याख्या मायावादी दर्शन के अनुसार "मैं परमेश्वर हूँ" के रूप में की जाती है। परमेश्वर प्रत्येक वस्तु के आदि बीज हैं (*जन्माद्यस्य यतः। अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते*)। इस प्रकार भगवान् सर्वत्र व्याप्त हैं यहाँ तक कि हमारे शरीरों में भी, क्योंकि ये भौतिक शक्ति से बने हैं, जो भगवान् की भिन्ना शक्ति है। हमें यह अनुभव करना चाहिए कि चूँकि परमेश्वर हमारे शरीर में व्याप्त हैं और चूँकि व्यष्टि जीवात्मा परमेश्वर का अंश है, अतएव प्रत्येक वस्तु ब्रह्म है (*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*)। ब्रह्मा को यह अनुभूति शुद्ध होने के बाद हुई और यह हर एक के लिए सम्भव है। जब मनुष्य *अहं ब्रह्मास्मि* के पूर्णतया ज्ञान में रहता है, तो वह सोचता है "मैं परमेश्वर का अंश हूँ, मेरा शरीर उनकी भौतिक शक्ति से बना है, अतएव मेरा कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है यद्यपि फिर भी परमेश्वर सर्वत्र व्याप्त है, वह मुझसे पृथक् है।" *अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्व* का यही दर्शन है। यहाँ पर पृथ्वी के भीतर गन्ध का उदाहरण

दिया गया है। पृथ्वी में गन्ध है और रंग हैं, किन्तु उन्हें कोई देख नहीं सकता। वास्तव में हम देखते है कि जब पृथ्वी से फूल उगते हैं, तो वे विभिन्न रंगों एवं सुगन्धों वाले दिखते हैं। निश्चय ही फूलों ने इन्हें पृथ्वी से प्राप्त किया होगा, यद्यपि ये हमें पृथ्वी में दिखते नहीं। इसी प्रकार परमेश्वर अपनी विभिन्न शक्तियों द्वारा हमारे शरीर तथा आत्मा में विस्तार करते हैं, यद्यपि हम उन्हें देख नहीं पाते। किन्तु एक बुद्धिमान मनुष्य परमेश्वर को सर्वत्र व्याप्त देख सकता है—*अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थम्*—भगवान् अपनी विभिन्न शक्तियों से ब्रह्माण्ड के भीतर तथा परमाणु के भीतर रहते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति के लिए भगवान् का असली दृश्य यही है। आदिजन्मा ब्रह्मा अपनी तपस्या के कारण अत्यन्त बुद्धिमान व्यक्ति बने और तब उन्हें यह अनुभूति हुई। अतएव हमें उन ब्रह्मा से सारा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए जो अपनी तपस्या के कारण सिद्ध बने।

एवं सहस्रवदनाङ्घ्रिशिरःकरोरु-
नासाद्यकर्णनयनाभरणायुधाढ्यम् ।
मायामयं सदुपलक्षितसन्निवेशं
दृष्ट्वा महापुरुषमाप मुदं विरिञ्चः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सहस्र—हजार; वदन—मुख; अङ्घ्रि—पाँव; शिरः—सिर; कर—हाथ; उरु—जाँघें; नास-आद्य—नाक इत्यादि.; कर्ण—कान; नयन—आँखें; आभरण—तरह-तरह के गहनों; आयुध—तरह-तरह के हथियारों से; आढ्यम्—लैस; माया-मयम्—असीम शक्ति द्वारा प्रदर्शित; सत्-उपलक्षित—विभिन्न लक्षणों में प्रकट होकर; सन्निवेशम्—एकसाथ मिलकर; दृष्ट्वा—देख कर; महा-पुरुषम्—भगवान् को; आप—प्राप्त किया; मुदम्—दिव्य आनन्द; विरिञ्चः—ब्रह्मा ने।.

तब ब्रह्माजी ने आपको हजारों मुखों, पाँवों, सिरों, हाथों, जांघो, नाकों, कानों तथा आँखों से युक्त देखा। आप भलीभाँति वस्त्र धारण किये थे और नाना प्रकार के आभूषणों तथा आयुधों से सुशोभित थे। आपको विष्णु रूप में देखकर तथा आपके दिव्य लक्षणों एवं अधोलोकों से फैले हुए आपके चरणों को देखकर ब्रह्माजी को दिव्य आनन्द प्राप्त हुआ।

तात्पर्य : परम शुद्ध होने के कारण ब्रह्माजी भगवान् को उनके मूल विष्णु रूप में देख सके जिनके हजारों मुख तथा रूप थे। यह विधि आत्म-साक्षात्कार कहलाती है। असलि आत्म-साक्षात्कार भगवान् के निर्विशेष तेज का दर्शन नहीं है, अपितु भगवान् के दिव्य रूप का साक्षात् दर्शन है। जैसाकि यहाँ स्पष्ट उल्लेख हुआ है, ब्रह्माजी ने भगवान् को *महापुरुष* के रूप में देखा। अर्जुन ने भी कृष्ण को इसी रूप में देखा था। अतएव उसने भगवान् से कहा—*परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् पुरुषं शाश्वतं*

दिव्यम्—आप परब्रह्म, परम धाम, पवित्र करने वाले, परम सत्य नित्य दैवी पुरुष हैं। भगवान् *परम पुरुष* अर्थात् सर्वश्रेष्ठ रूप हैं। *पुरुषं शाश्वतम्*—शाश्वत परम भोक्ता हैं। ऐसा नहीं है कि निर्विशेष ब्रह्म रूप धारण करता है, अपितु निर्विशेष ब्रह्मज्योति भगवान् के परम रूप का उद्भास है। ब्रह्मा शुद्ध होने पर भगवान् के परम रूप को देख पाये। निर्विशेष ब्रह्म के सिर, पाँव, हाथ, नाक, कान नहीं हो सकते। ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि ये भगवान् के रूप के लक्षण हैं।

मायामयम् शब्द का अर्थ है ''आध्यात्मिक ज्ञान''। इसकी व्याख्या मध्वाचार्य ने की है—*मायामयम् ज्ञानस्वरूपम्।* भगवान् के रूप को बताने वाले इस *मायामयम्* शब्द का अर्थ ''मोह'' नहीं लेना चाहिए, प्रत्युत भगवान् का रूप वास्तविक है और इस रूप का दर्शन पूर्ण ज्ञान का प्रतिफल है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है—*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते। ज्ञानवान्* शब्द का अर्थ है ऐसा व्यक्ति जिसे पूर्ण ज्ञान हो। ऐसा व्यक्ति भगवान् का दर्शन कर सकता है और इसलिए वह उनकी शरण में जाता है। मुख, नाक, कान आदि प्रतीकों द्वारा व्यक्त भगवान् का रूप नित्य हैं। ऐसे रूप के बिना कोई आनन्दमय नहीं हो सकता। किन्तु भगवान् *सच्चिदानन्द-विग्रह* हैं जैसाकि शास्त्र में कहा गया है (*ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः*)। जब कोई पूर्ण दिव्य आनन्द को प्राप्त होता है, तो वह भगवान् के परम रूप (*विग्रह*) को देख सकता है। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—

गन्धाख्या देवता यद्वत् पृथिवीं व्याप्य तिष्ठति।
एवं व्याप्तं जगद् विष्णुं ब्रह्मात्मस्थं ददर्श ह॥

ब्रह्मा ने देखा कि जिस प्रकार सुगन्धियाँ तथा रंग सारी पृथ्वी में फैलते हैं उसी प्रकार भगवान् सूक्ष्म रूप में विराट विश्व में व्याप्त हैं।

तस्मै भवान्हयशिरस्तनुवं हि बिभ्रद्
वेदद्रुहावतिबलौ मधुकैटभाख्यौ ।
हत्वानयच्छ्रुतिगणांश्च रजस्तमश्च
सत्त्वं तव प्रियतमां तनुमामनन्ति ॥ ३७॥

शब्दार्थ

तस्मै—उन ब्रह्मा को; भवान्—आप; हय-शिरः—घोड़े का शिर तथा गर्दन वाले; तनुवम्—अवतार; हि—निस्सन्देह; बिभ्रत्—स्वीकार करते हुए; वेद-द्रुहौ—दो असुर जो वैदिक सिद्धान्तों के विरुद्ध थे; अति-बलौ—अत्यन्त बलशाली; मधु-कैटभ-आख्यौ—मधु तथा कैटभ नाम से विख्यात; हत्वा—मारकर; अनयत्—प्रदान किया; श्रुति-गणान्—सारे भिन्न-भिन्न वेद

(साम, यजुः, ऋग तथा अथर्व); च—तथा; रजः तमः च—रजो तथा तमो गुणों द्वारा अंकित करके; सत्त्वम्—शुद्ध दिव्य सतोगुण; तव—तुम्हारा; प्रिय-तमाम्—सर्वाधिक प्रिय; तनुम्—रूप का (हयग्रीव); आमनन्ति—आदर करते हैं।

हे भगवान्, जब आप घोड़े का शिर धारण करके हयग्रीव रूप में प्रकट हुए तो आपने रजो तथा तमो गुणों से पूर्ण मधु तथा कैटभ नामक दो असुरों का संहार किया। फिर आपने ब्रह्मा को वैदिक ज्ञान प्रदान किया। इसी कारण से सारे महान् ऋषिगण आपके रूपों को दिव्य अर्थात् भौतिक गुणों से अछूता मानते हैं।

तात्पर्य : भगवान् अपने दिव्य रूप में अपने भक्तों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए सदा उद्यत रहते हैं। जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख है भगवान् ने हयग्रीव रूप धारण करके मधु तथा कैटभ नामक असुरों का वध किया, जब उन्होंने ब्रह्माजी पर आक्रमण किया था। आधुनिक असुर यह सोचते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ में जीवन नहीं था, किन्तु *श्रीमद्भागवत* से हमें ज्ञात होता है कि भगवान् ने जिस प्रथम सजीव प्राणी को जन्म दिया वह ब्रह्मा था, जो वैदिक ज्ञान से ओत-प्रोत है। दुर्भाग्यवश जिन्हें वैदिक ज्ञान वितरित करने का भार सौंपा गया है, यथा कृष्णभावनामृत का प्रचार करने वाले भक्त, उन पर कभी-कभी असुरों द्वारा आक्रमण किये जा सकते हैं, किन्तु भक्तों को आश्वस्त रहना चाहिए कि ऐसे आसुरी आक्रमण से उनका बाल बाँका भी नहीं होगा, क्योंकि भगवान् उन्हें सुरक्षा प्रदान करने के लिए सदैव उद्यत रहते हैं। वेद वह ज्ञान प्रदान करते हैं जिसके द्वारा हम भगवान् को समझ सकते हैं (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*)। भगवान् के भक्त उस ज्ञान का प्रसार करने के लिए सदैव उद्यत रहते हैं जिससे कृष्णभावनामृत द्वारा भगवान् को समझा जा सकता है। लेकिन असुरगण परमेश्वर को न समझ सकने के कारण रजो तथा तमो गुणों से पूर्ण रहते हैं। इस प्रकार दिव्य रूप वाले भगवान् असुरों का वध करने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। सतोगुण के अनुशीलन से ही मनुष्य दिव्य भगवान् की स्थिति को तथा उन्हें समझने के मार्ग में आने वाले समस्त अवरोधों को हटाने के लिए वे जिस प्रकार सदैव उद्यत रहते हैं समझ सकता है।

सारांश रूप में जब भी भगवान् अवतरित होते हैं, वे अपने आदि दिव्य रूप में प्रकट होते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.७) में भगवान् कहते हैं :

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

"हे भरतवंशी! जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का प्राधान्य हो जाता है उस समय मैं स्वयं अवतरित होता हूँ।" भगवान् के विषय में यह सोचना मूर्खता होगी कि वे मूलत: निर्विशेष हैं और जब वे साक्षात् रूप में अवतरित होते हैं, तो भौतिक शरीर धारण कर लेते हैं। भगवान् जब भी अवतरित होते हैं, वे अपने आदि दिव्य रूप में प्रकट होते हैं, जो आध्यात्मिक एवं आनन्दपूर्ण होता है। लेकिन मायावादी जैसे अज्ञानी लोग भगवान् के दिव्य रूप को नहीं समझ पाते अतएव भगवान् यह कहकर उनको दण्डित करते हैं—*अवजानन्ति मां मूढा: मानुषीं तनुमाश्रितम्*—जब मनुष्य रूप में अवतरित होता हूँ तो मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। जब भी भगवान् प्रकट होते हैं, चाहे मछली के रूप में हों, कछुआ, शूकर या अन्य किसी रूप में हों, मनुष्य को यह समझना चाहिए कि वे अपनी दिव्य स्थिति बनाये रखते हैं और उनका एकमात्र कार्य होता है *हत्वा*—असुरों का वध करना। भगवान् भक्तों की रक्षा करने तथा असुरों का वध करने के लिए प्रकट होते हैं (*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*)। चूँकि असुरगण सदैव वैदिक सभ्यता का विरोध करने के लिए सन्नद्ध रहते हैं, अतएव भगवान् के दिव्य रूप के द्वारा उनका वध अवश्यम्भावी है।

इत्थं नृतिर्यगृषिदेवझषावतारै-
लोकान्विभावयसि हंसि जगत्प्रतीपान् ।
धर्मं महापुरुष पासि युगानुवृत्तं
छन्न: कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ स त्वम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; नृ—यथा मनुष्य (यथा कृष्ण तथा रामचन्द्र); तिर्यक्—पशु की तरह का (जैसे शूकर); ऋषि—महान् ऋषि की तरह (परशुराम); देव—देवता गण; झष—लचर (जैसे मछली तथा कछुवा); अवतारै:—ऐसे विभिन्न अवतारों के द्वारा; लोकान्—सारे लोकों को; विभावयसि—रक्षा करते हो; हंसि—(कभी-कभी) मारते हो; जगत् प्रतीपान्—इस संसार में बाधा उत्पन्न करने वालों को; धर्मम्—धार्मिक सिद्धान्तों को; महा-पुरुष—हे महान् पुरुष; पासि—रक्षा करते हो; युग-अनुवृत्तम्—विभिन्न युगों के अनुसार; छन्न:—ढका हुआ; कलौ—कलियुग में; यत्—क्योंकि; अभव:—हुए हैं (और भविष्य में होंगे); त्रि-युग:—त्रियुग नामक; अथ—अतएव; स:—वही पुरुष; त्वम्—तुम।

हे प्रभु, इस प्रकार आप विभिन्न अवतारों में जैसे मनुष्य, पशु, ऋषि, देवता, मत्स्य या कच्छप के रूप में प्रकट होते हैं और इस प्रकार से विभिन्न लोकों में सम्पूर्ण सृष्टि का पालन करते हैं तथा आसुरीं सिद्धन्तों का वध करते हैं। हे भगवान्, आप युग के अनुसार धार्मिक सिद्धान्तों की रक्षा करते हैं। किन्तु कलियुग में आप स्वयं को भगवान् के रूप में घोषित नहीं करते। इसलिए आप 'त्रियुग' कहलाते हैं, अर्थात् तीन युगों में प्रकट होने वाले भगवान्।

तात्पर्य : जिस प्रकार मधु तथा कैटभ के आक्रमण से ब्रह्मा की रक्षा करने के लिए भगवान् प्रकट हुए थे उसी प्रकार वे परम भक्त प्रह्लाद महाराज की रक्षा करने के लिए भी प्रकट हुए। इसी प्रकार कलियुग के पतित जीवों की रक्षा के लिए भगवान् चैतन्य प्रकट हुए। युग चार हैं—सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग। कलियुग को छोड़कर शेष तीन युगों में भगवान् विभिन्न अवतारों में प्रकट होकर भगवान् कहलाते हैं, किन्तु यद्यपि कलियुग में श्री चैतन्य महाप्रभु भगवान् हैं, किन्तु उन्होंने कभी भी अपने आपको भगवान् नहीं कहा। उल्टे, जब-जब उन्हें कृष्ण के समान होने वाले सम्बोधित किया गया तब-तब वे अपने हाथों से अपने कान बन्द कर लेते थे और अपने आपको कृष्ण कहने से मना कर देते थे, क्योंकि वे एक भक्त की भूमिका निभा रहे थे। वे जानते थे कि कलियुग में अपने आपको ईश्वर का नकली अवतार कहने वाले अनेक लोग होंगे, अतएव वे अपने आपको भगवान् कहे जाने से कतराते रहे। किन्तु अनेक वैदिक ग्रथों में, विशेष रूप से *भागवत* (११.५.३२) में चैतन्य महाप्रभु को भगवान् स्वीकार किया जाता है—

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥

कलियुग में बुद्धिमान लोग भगवान् की पूजा श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में करते हैं, जो नित्यानन्द, अद्वैत, गदाधर तथा श्रीवास जैसे अपने पार्षदों से सदैव घिरे रहते हैं। समग्र कृष्णभावनामृत आन्दोलन *सङ्कीर्तन* आन्दोलन पर आधारित है, जिसका सूत्रपात श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा किया गया। अतएव जो भी व्यक्ति *सङ्कीर्तन* आन्दोलन के माध्यम से भगवान् को समझने का प्रयास करता है, वह प्रत्येक वस्तु को भलीभाँति जान लेता है। वह *सुममेधस्* अर्थात् प्रचुर ज्ञानवान् व्यक्ति होता है।

नैतन्मनस्तव कथासु विकुण्ठनाथ
सम्प्रीयते दुरितदुष्टमसाधु तीव्रम् ।
कामातुरं हर्षशोकभयैषणार्तं
तस्मिन्कथं तव गतिं विमृशामि दीनः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

न—निश्चय ही नहीं; एतत्—यह; मनः—मन; तव—तुम्हारी; कथासु—दिव्य कथाओं में; विकुण्ठ-नाथ—हे चिन्तारहित वैकुण्ठ के स्वामी; सम्प्रीयते—शान्त हो जाता है या रुचि रखता है; दुरित—पापकर्मों से; दुष्टम्—बेईमान; असाधु—झूठा; तीव्रम्—वश में करना कठिन; काम-आतुरम्—सदैव विभिन्न इच्छाओं तथा कामेच्छाओं से पूर्ण; हर्ष-शोक—कभी हर्ष द्वारा तो कभी दुख द्वारा; भय—तथा कभी भय द्वारा; एषणा—तथा इच्छा द्वारा; आर्तम्—दुखी; तस्मिन्—उस मानसिक स्थिति में;

कथम्—कैसे; तव—तुम्हारा; गतिम्—दिव्य कार्यकलाप; विमृशामि—मैं विचार करूँगा और समझने का प्रयास करूँगा; दीनः—अत्यन्त पतित तथा गरीब।

चिन्तारहित वैकुण्ठलोकों के स्वामी, मेरा मन अत्यन्त पापी तथा कामी है, कभी यह सुखी कहलाता है, तो कभी दुखी है। मेरा मन शोक तथा भय से पूर्ण है और सदैव अधिकाधिक धन की खोज में रहता है। इस तरह यह अत्यधिक दूषित गया है और आपकी कथाओं से कभी तुष्ट नहीं होता। अतएव मैं अत्यन्त पतित तथा दलित हूँ। ऐसी जीवन-स्थिति में भला मैं आपके कार्यकलापों की व्याख्या करने में किस तरह समर्थ हो सकता हूँ?

तात्पर्य : यहाँ पर प्रह्लाद महाराज अपने को सामान्य व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करते हैं यद्यपि उन्हें इस भौतिक जगत से कुछ भी लेना-देना नहीं है। वे आध्यात्मिक जगत के वैकुण्ठलोकों में सदैव स्थित रहते हैं, किन्तु पतित आत्माओं की ओर से वे पूछते हैं कि जब उनका मन भौतिक वस्तुओं से सदैव विचलित रहता है, तो वे किस तरह भगवान् की दिव्य स्थिति की चर्चा कर सकते हैं? हमारा मन इसलिए पापपूर्ण हो जाता है, क्योंकि हम सदैव पापपूर्ण कार्यों में लगे रहते हैं। ऐसी कोई भी वस्तु जो कृष्णभावनामृत से सम्बन्धित न समझी जानी चाहिए। निस्सन्देह, *भगवद्गीता* में (१८.६६) कृष्ण चाहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

''सारे धर्मों को त्याग कर केवल मेरी शरण में आ जाओ। मैं सारे पाप-कर्मों से तुम्हारा उद्धार कर दूँगा। तुम डरो मत।'' ज्योंही कोई भगवान् कृष्ण की शरण में जाता है, वे तुरन्त ही उसे पापकर्मों के फलों से छुटकारा दिला देते हैं। अतएव जो भगवान् के चरणकमलों में शरणागत नहीं है उसे पापपूर्ण, मूर्ख, मनुष्यों में पतित तथा नास्तिक मनोवृत्तिओं के कारण समस्त असली ज्ञान से विहीन-समझना चाहिए। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१५) में हुई है—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।

माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

इसलिए, विशेष रूप से इस कलियुग में, मन को शुद्ध करना चाहिए और यह हरे कृष्ण महामंत्र के कीर्तन द्वारा ही सम्भव है। *चेतो दर्पणमार्जनम्।* इस युग में हरे कृष्ण महामंत्र कीर्तन की विधि ही

एकमात्र उपाय है, जिससे पापपूर्ण मन को शुद्ध किया जा सकता है। जब मन सारे पापपूर्ण कर्म-फलों से धुल जाता है, तो मनुष्य मानव जीवन में अपने कर्तव्य (धर्म) को समझ सकता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन पापी मनुष्यों को शिक्षित करने के लिए है, जिससे वे हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करने मात्र से ही पवित्र हो सकें।

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

इस कलियुग में गम्भीर तथा चतुर बनने के लिए हृदय (मन) को स्वच्छ करने के लिए हरे कृष्ण महामंत्र के उच्चारण के अतिरिक्त अन्य कोई भी ऐसी विधि नहीं जिसका महत्त्व हो। प्रह्लाद महाराज ने पिछले श्लोकों में इस विधि की परिपुष्टि की है। *त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः।* प्रह्लाद इसकी और भी पुष्टि करते हैं कि यदि किसी का मन सदैव कृष्ण चिन्तन में लीन है, तो वही गुण मनुष्य को शुद्ध बनाएगा और उसे सदा के लिए शुद्ध रखेगा। भगवान् तथा उनके कार्यकलापों को समझने के लिए मनुष्य को भौतिक जगत के सारे कल्मष से अपने मन को मुक्त रखना चाहिए और इसे वह भगवान् के पवित्र नाम का उच्चारण करके ही प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार वह सारे भव-बन्धन से छूट जाता है।

जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति मावितृप्ता
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् ।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक्क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

जिह्वा—जीभ; एकतः—एक ओर; अच्युत—हे अच्युत भगवान्; विकर्षति—आकर्षित करती है; मा—मुझको; अवितृप्ता—सन्तुष्ट न होने से; शिश्नः—जननेन्द्रियाँ; अन्यतः—दूसरी ओर; त्वक्—चमड़ी (मुलायम वस्तु को छूने के लिए); उदरम्—पेट (तरह-तरह के भोजन के लिए); श्रवणम्—कान (किसी मधुर संगीत को सुनने के लिए); कुतश्चित्—किसी अन्य ओर तक; घ्राणः—नाक (सूँघने के लिए); अन्यतः—और भी दूसरी ओर को; चपल-दृक्—चंचल दृष्टि; क्व च—कहीं पर; कर्म-शक्तिः—सक्रिय इन्द्रियाँ; बह्व्यः—अनेक; स-पत्न्यः—सौतें; इव—सदृश; गेह-पतिम्—गृहस्थ को; लुनन्ति—नष्ट कर देती हैं।.

हे अच्युत भगवान्, मेरी दशा उस पुरुष की भाँति है, जिसकी कई पत्नियाँ हों और वे सभी उसे अपने अपने ढंग से आकर्षित करने का प्रयास कर रही हों। उदाहरणार्थ, जीभ स्वादिष्ट व्यंजनों की ओर आकृष्ट होती है, जननेन्द्रियाँ किसी आकर्षक स्त्री के साथ संभोग करने के लिए

और स्पर्श इन्द्रियाँ मुलायम वस्तुओं का स्पर्श करने के लिए आकृष्ट होती हैं। पेट भरा रहने पर भी अधिक खाना चाहता है और कान आपके विषय में न सुन कर सामान्यतः सिनेमा गीतों की ओर आकृष्ट होते हैं। घ्राण की इन्द्रिय किसी अन्य ओर ही आकृष्ट होती है, चंचल आँखें इन्द्रियतृप्ति के दृश्यों की ओर आकृष्ट होती हैं तथा सक्रिय इन्द्रियाँ अन्यत्र आकृष्ट होती हैं। इस तरह मैं सचमुच ही दुविधा में रहता हूँ।

तात्पर्य : मानव जीवन ईश-साक्षात्कार के लिए है, किन्तु *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* से प्रारम्भ होने वाली यह विधि तब तक विचलित होती रहती है जब तक हमारी इन्द्रियाँ भौतिक रूप से आकृष्ट होती हैं। अतएव भक्ति का अर्थ है इन्द्रियों को शुद्ध बनाना। बद्ध-अवस्था में हमारी इन्द्रियाँ भौतिक इन्द्रियतृप्ति द्वारा प्रच्छन्न रहती हैं और जब तक मनुष्य को इन्द्रियों को विमल बनाने का प्रशिक्षण प्राप्त नहीं होता, तब तक वह भक्त नहीं बन सकता। इसीलिए हम अपने कृष्णभावनामृत आन्दोलन में प्रारम्भ से यही उपदेश देते हैं कि मनुष्य इन्द्रियों के कार्यकलापों को, विशेष रूप से जीभ को, जिसे श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने अत्यन्त लालची तथा अजेय बताया है सीमित करे। जीभ के इस आकर्षण पर अंकुश लगाने के लिए मनुष्य को सलाह दी जाती है कि वह न तो मांस या ऐसी ही अखाद्य वस्तुएँ ग्रहण करे, न ही वह जीभ को सुरापान करने या धूम्रपान करने की अनुमति दे। यहाँ तक कि चाय तथा काफी पीने की भी अनुमति नहीं दी जाती। इसी प्रकार जननेन्द्रियों को अवैध काम से रोकना चाहिए। इन्द्रियों पर ऐसे अंकुश के बिना मनुष्य कृष्णभावनामृत में प्रगति नहीं कर सकता। इन्द्रियों को वश में करने की एकमात्र विधि भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन एवं श्रवण करना है। अन्यथा मनुष्य सदैव विचलित होता रहेगा जिस प्रकार कि अनेक पत्नियों वाला गृहस्थ सदैव इन्द्रियतृप्ति के लिए उनके द्वारा विचलित किया जाता है।

एवं स्वकर्मपतितं भववैतरण्या-
मन्योन्यजन्ममरणाशनभीतभीतम् ।
पश्यञ्जनं स्वपरविग्रहवैरमैत्रं
हन्तेति पारचर पीपृहि मूढमद्य ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; स्व-कर्म-पतितम्—अपने भौतिक कार्यकलापों के फल के कारण पतित हुआ; भव—अज्ञान जगत (जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि की तुलना में); वैतरण्याम्—वैतरणी नदी में (जो मृत्यु के अधीक्षक यमराज के द्वार के समक्ष बहती है); अन्य: अन्य—एक के बाद एक; जन्म—जन्म; मरण—मृत्यु; आशन—विभिन्न प्रकार का भोजन; भीत-भीतम्—अत्यधिक भयभीत; पश्यन्—देखते हुए; जनम्—जीव को; स्व—अपना; पर—पराया; विग्रह—शरीर में; वैर-मैत्रम्—मित्रता तथा शत्रुता मानते हुए; हन्त—हाय; इति—इस तरह; पारचर—मृत्यु की नदी के दूसरी ओर स्थित आप; पीपृहि—कृपया हम सबों को (इस घातक स्थिति से) बचा लें; मूढम्—आध्यात्मिक ज्ञान से विहीन हम सभी मूर्ख हैं; अद्य—आज (क्योंकि आप स्वयं यहाँ उपस्थित हैं)।

हे भगवान्, आप सदैव मृत्यु की नदी के दूसरी ओर (उस पार) दिव्य रूप में स्थित रहते हैं, किन्तु हम सभी अपने पापकर्मों के फलों के कारण इस ओर कष्ट भोग रहे हैं। निस्सन्देह, हम इस नदी में गिर गये हैं और जन्म-मृत्यु की वेदनाओं से बारम्बार कष्ट उठा रहे हैं तथा भयानक वस्तुएँ खा रहे हैं। अब कृपा करके हम पर दृष्टि डालिये—न केवल मुझ पर अपितु उन सबों पर जो कष्ट उठा रहे हैं—और अपनी अहैतुकी कृपा तथा दया से हमारा उद्धार कीजिए तथा हमारा पालन कीजिये।

तात्पर्य : शुद्ध वैष्णव प्रह्लाद महाराज भगवान् से न केवल अपने लिए, अपितु अन्य समस्त पीड़ित जीवों के लिए प्रार्थना करते हैं। वैष्णवों की दो कोटियाँ हैं— *भजनानन्दी* तथा *गोष्ठ्यानन्दी।* भजनानन्दी केवल अपने निजी लाभ के लिए भगवान् की पूजा करते हैं, लेकिन गोष्ठ्यानन्दी अन्य सबों को कृष्णभावनामृत तक ऊपर उठाना चाहते हैं जिससे उनकी रक्षा हो सके। ऐसे मूर्ख जो बारम्बार जन्म तथा मृत्यु को एवं भौतिक जीवन के अन्य कष्टों को देख नहीं पाते इसके बारे में तनिक भी आश्वस्त नहीं रह सकते कि अगले जन्म में उन पर क्या बीतेगी। निस्सन्देह, ऐसे मूर्ख भौतिकताग्रस्त धूर्तों ने जीवन की अनुत्तरदायी शैली बना ली है, जो अगले जीवन के बारे में सोचते ही नहीं। वे यह नहीं जानते कि अपने ही कार्यकलापों के अनुसार मनुष्य को चौरासी लाख योनियों में से चुनकर शरीर प्राप्त होता है। *भगवद्गीता* में इन धूर्तों को *दुष्कृतिनो मूढा:* कहा गया है। जो लोग कृष्णभावनाभावित नहीं हैं ऐसे अभक्तों को पापकर्मों में लगना पड़ता है। इसीलिए वे *मूढ* अर्थात् मूर्ख तथा धूर्त हैं। वे ऐसे मूर्ख होते हैं कि उन्हें यह भी ज्ञात नहीं रहता कि अगले जीवन में उन पर क्या बीतेगी। यद्यपि वे सब तरह के प्राणियों को घृणित वस्तुएँ खाते देखते हैं—यथा शूकरों को मल खाते, मगरमच्छों को सभी प्रकार की मछली इत्यादी खाते इत्यादी व्यर्थ की वस्तुएँ खाने के कारण अगले जीवन में वे अत्यन्त गर्हित वस्तुएँ खाने के लिए वाध्य होंगे। एक वैष्णव ऐसे गर्हित जीवन से सदैव भयभीत रहता है और ऐसी

वीभत्स दशा से उबरने के लिए वह अपने आपको भगवान् की भक्ति में लगाता है। भगवान् उन पर दयालु हैं अतएव वे उनके हित के लिए प्रकट होते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

"हे भरतवंशी! जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का प्राधान्य हो जाता है उस समय मैं स्वयं अवतरित होता हूँ।" (*भगवद्गीता* ४.७) भगवान् पतितात्माओं की सहायता के लिए सदैव सन्नद्ध रहते हैं लेकिन वे मूर्ख तथा धूर्त होने के कारण कृष्णभावनामृत को ग्रहण नहीं करते और कृष्ण के उपदेशों का पालन नहीं करते। इसीलिए यद्यपि श्री चैतन्य महाप्रभु साक्षात् भगवान् कृष्ण हैं, किन्तु वे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में उपदेश करने के लिए भक्त रूप में आते हैं। *यारे देख, तारे कह 'कृष्ण'-उपदेश।* अतएव मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण का निष्ठावान् दास बने। *आमार आज्ञाय गुरु हञा तार'एइ देश* (*चैतन्य-चरितामृत* मध्य ७.१२८)। मनुष्य को गुरु बनना चाहिए और सारे विश्व में *भगवद्गीता* की शिक्षाओं का मात्र उपदेश देकर कृष्णभावनामृत का प्रसार करना चाहिए।

को न्वत्र तेऽखिलगुरो भगवन्प्रयास
उत्तारणेऽस्य भवसम्भवलोपहेतोः ।
मूढेषु वै महदनुग्रह आर्तबन्धो
किं तेन ते प्रियजनाननुसेवतां नः ॥ ४२॥

शब्दार्थ

कः—कौन सा; नु—निस्सन्देह; अत्र—इस मामले में; ते—आपका; अखिल-गुरो—हे सम्पूर्ण सृष्टि के परम गुरु; भगवन्—हे भगवान्; प्रयासः—प्रयास; उत्तारणे—इन पतित आत्माओं के उद्धार हेतु; अस्य—इसका; भव-सम्भव—सृजन तथा पालन का; लोप—तथा प्रलय का; हेतोः—कारण का; मूढेषु—इस भौतिक जगत में सड़ने वाले मूर्ख व्यक्तियों में; वै—निस्सन्देह; महत्-अनुग्रहः—भगवान् द्वारा दया; आर्त-बन्धो—हे पीड़ित जीवों के मित्र; किम्—क्या कठिनाई है; तेन—उससे; ते—तुम्हारे; प्रिय-जनान्—प्रिय पुरुषों (भक्तों) को; अनुसेवताम्—जो सदैव सेवा करने में लगे हैं उनका; नः—हमारी तरह (जो इस तरह लगे हैं)।

हे परमेश्वर, हे समग्र जगत के आदि आध्यात्मिक गुरु, आप ब्रह्माण्ड के कार्यों के प्रबन्धक हैं, अतएव आपकी सेवा में लगे हुए पतितात्माओं का उद्धार करने में आपको कौन सी कठिनाई है? आप सभी दुखी मानवता के मित्र हैं और महापुरुषों के लिए मूर्खों पर दया दिखलाना आवश्यक है। अतएव मैं सोचता हूँ कि आप हम जैसे मनुष्यों पर अहैतुकी कृपा प्रदर्शित करेंगे जो आपकी सेवा में लगे हुए हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर *प्रियजनान् अनुसेवतां न:* शब्द सूचित करते हैं कि भगवान् उन भक्तों का पक्ष लेते हैं, जो भगवान् के शुद्ध भक्त के उपदेशों के अनुसार कर्म करते हैं। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को भगवान् के दासों के दास के दास बनना चाहिए। यदि कोई सीधे भगवान् का दास बनना चाहे तो यह उतना लाभप्रद नहीं होगा जितना कि भगवान् के दास का दास बनना। यह उन श्री चैतन्य महाप्रभु का आदेश है, जो हमें *गोपीभर्तु: पदकमलयोर्दासदासानुदास:* बनने का मार्ग दिखलाते हैं। मनुष्य को भगवान् का सीधा भक्त बनने में गर्वित नहीं होना चाहिए, अपितु उसे भगवान् के दास, किसी शुद्ध भक्त, का अन्वेषण करके उसकी सेवा में लगना चाहिए। जो जितना ही अधिक दास का दास बनता है, वह भक्ति में उतना ही पूर्ण बनता है। यह *भगवद्गीता* का भी आदेश है—*एवं परम्पराप्राप्तम् इमं राजर्षयो विदु:।* केवल *परम्परा* प्रणाली द्वारा भगवान् के विज्ञान को समझा जा सकता है। इस सम्बन्ध में श्रील नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं—*तांदेर चरण सेवि भक्त-सने वास—मुझे भगवान् के भक्तों के चरणकमलों की सेवा करने दो तथा उनके साथ रहने दो। जन्मे जन्मे हय, एइ अभिलाष।* नरोत्तमदास ठाकुर का अनुसरण करते हुए मनुष्य को जन्म-जन्मांतर भगवान् के दास का दास बनने की अभिलाषा करनी चाहिए। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर भी गाते हैं—*तुमि त'ठाकुर, तोमार कुकुर, बलिया जानह मोरे*—हे भगवान्, हे वैष्णव! कृपा करके मुझे अपना कुत्ता मान लें। मनुष्य को शुद्ध भक्त अर्थात् वैष्णव का कुत्ता बनना चाहिए, क्योंकि वह बिना कठिनाई के कृष्ण को प्राप्त करा देगा। *कृष्ण से तोमार, कृष्ण दिते पार।* कृष्ण अपने शुद्ध भक्त की सम्पत्ति हैं अतएव यदि हम शुद्ध भक्त की शरण ग्रहण करें तो वह सरलता से कृष्ण को प्राप्त करा सकता है। प्रह्लाद किसी भक्त की सेवा में लगना चाहते हैं इसलिए वे कृष्ण से प्रार्थना करते हैं—"हे भगवान्! मुझे अपने प्रिय भक्त की शरण दे दें जिससे मैं उसकी सेवा कर सकूँ और आपको प्रसन्न कर सकूँ।" *मद्भक्तपूजाभ्यधिका* (*भागवत* ११.१९.२१)। भगवान् कहते हैं "मेरी भक्ति करने की अपेक्षा मेरे भक्त की सेवा में लगने का प्रयास करना श्रेष्ठ है।"

इस श्लोक में जो दूसरी महत्त्वपूर्ण बात कही गई है, वह यह है कि प्रह्लाद महाराज अकेले ही भक्ति से लाभान्वित नहीं होना चाहते, अपितु वे भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि इस भौतिक जगत में हम सभी पतितात्माएँ उनकी कृपा से उनके दास की सेवा में लगें जिससे हम सबों का उद्धार हो जाए।

भगवान् के लिए अपनी कृपा प्रदान करना कठिन नहीं है और इस तरह प्रह्लाद महाराज कृष्णभावनामृत का प्रसार करके सारे विश्व को बचाना चाहते हैं।

नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्यास्
त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः ।
शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ
मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एव—निश्चय ही; उद्विजे—मैं उद्विग्न अथवा भयभीत हूँ; पर—हे पर; दुरत्यय—पार करना कठिन; वैतरण्याः—वैतरणी नदी को (भौतिक जगत की नदी); त्वत्-वीर्य—आपके यश तथा कार्यकलाप का; गायन—कीर्तन करने से या वितरित करने से; महा-अमृत—अमृत के समान आध्यात्मिक आनन्द के महासागर में; मग्न-चित्तः—लीन चित्त वाला; शोचे—मैं केवल पछता रहा हूँ; ततः—उससे; विमुख-चेतसः—वे मूर्ख तथा धूर्त जो कृष्णभावनामृत से विहीन हैं; इन्द्रिय-अर्थ—इन्द्रिय तृप्ति में; माया-सुखाय—क्षणिक मोहमय सुख के लिए; भरम्—मिथ्या भार या उत्तरदायित्व (अपने परिवार, समाज तथा राष्ट्र के पालन के लिए तथा उस हेतु विशद प्रबन्ध); उद्वहतः—उठाये हुए (इस प्रबन्ध के लिए महान् योजनाएं बना कर); विमूढान्—यद्यपि वे मूर्खों तथा धूर्तों के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं (मैं उनके विषय में भी सोच रहा हूँ)।

हे श्रेष्ठ महापुरुष, मैं भौतिक जगत से तनिक भी भयभीत नहीं हूँ, क्योंकि मैं जहाँ कहीं भी ठहरता हूँ आपके यश तथा कार्यकलाप के विचारों में लीन रहता हूँ। मैं एकमात्र उन मूर्खों तथा धूर्तों के लिए चिन्तित हूँ जो भौतिक सुख के लिए तथा अपने परिवार, समाज तथा देश के पालन हेतु बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाते हैं। मैं मात्र उन के प्रति प्रेम के बारे में चिन्तित हूँ।

तात्पर्य : संसार भर में सारे व्यक्ति भौतिक जगत के दुखों से निपटने के लिए बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाते हैं। यह बात वर्तमान समय के लिए, भूतकाल के लिए तथा भविष्य के लिए सत्य है। यद्यपि लोग इतनी बड़ी-बड़ी राजनैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक योजनाएँ बनाते हैं, तो भी यहाँ पर उन्हें *विमूढ* अर्थात् मूर्ख कहा गया है। *भगवद्गीता* में इस भौतिक जगत को *दुःखालयम् अशाश्वतम्*—कहा गया है लेकिन ये मूर्ख भौतिक जगत को *सुखालयम्*—सुख का आगार बनाने पर तुले हैं। वे यह नहीं जानते कि प्रत्येक वस्तु भौतिक प्रकृति की व्यवस्था के अनुसार किस प्रकार कार्य करती है और प्रकृति अपने ढंग से कार्य करती है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहङ्कार विमूढात्मा कर्ताहम् इति मन्यते ॥

"मोहग्रस्त जीवात्मा प्रकृति के तीनों गुणों के प्रभाव में अपने आपको उन सारे कार्यों का कर्ता मान लेता है, जो वास्तव में प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं।" (*भगवद्गीता* ३.२७)

भौतिक प्रकृति जो मानव रूप में दुर्गा नाम से जानी जाती है, असुरों को दण्डित करने के लिए योजना बनाती है। यद्यपि सारे असुर, जो ईशविहीन दैत्य हैं, जीवन-संघर्ष में रत रहते हैं, किन्तु दुर्गा देवी, जो अपने दसों-हाथों में विभिन्न आयुधों से युक्त रहती हैं, उन पर सीधा प्रहार करती हैं। वे अपने सिंहवाहन या रजो तथा तमोगुण पर सवारी करती हैं। प्रत्येक व्यक्ति रजो तथा तमों गुणों द्वारा युद्ध करने और प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का घोर संघर्ष करता है, किन्तु अन्ततोगत्वा प्रकृति के नियमों द्वारा सबों का विनाश हो जाता है।

भौतिक तथा आध्यात्मिक लोकों के बीच में वैतरणी नामक एक नदी पड़ती है। इसके दूसरी ओर अर्थात् आध्यात्मिक जगत में पहुँचने के लिए इस नदी को पार करना होता है। इसे पार करना दुष्कर है जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१४) में भगवान् कहते हैं—*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया*—मेरी इस दैवी शक्ति को जो तीन गुणों वाली है, पार पाना कठिन है। यहाँ पर यही *दुरत्यया* शब्द प्रयुक्त है, जिसका अर्थ है "अत्यन्त कठिन"। अतएव कोई भगवान् की दया के बिना प्रकृति के कठोर नियमों से पार नहीं पा सकता। इतने पर भी सारे भौतिकतावादी अपनी-अपनी योजनाओं से मोहग्रस्त कर भी इस भौतिक जगत में सुखी बनने के लिए बारम्बार प्रयास करते हैं, इसलिए उन्हें *विमूढ*—प्रथम कोटि का मूर्ख—कहा गया है। जहाँ तक प्रह्लाद महाराज की बात है, वे तनिक भी दुखी नहीं थे, क्योंकि इस भौतिक जगत में रहते हुए भी वे कृष्णभावनामृत से परिपूर्ण थे। जो लोग कृष्णभावनाभावित हैं और भगवान् की सेवा करने का प्रयास कर रहे हैं, वे दुखी नहीं हैं। किन्तु जिसके पास कृष्णभावनामृत की कोई पूँजी नहीं है और जो जीवन-संघर्ष में रत है, वह न केवल मूर्ख है, अपितु अत्यधिक दुखी भी है। प्रह्लाद महाराज एक साथ सुखी तथा दुखी थे। कृष्णभावनाभावित होने के कारण वे अत्यन्त सुख तथा दिव्य आनन्द का अनुभव कर रहे थे, फिर भी वे उन मूर्खों तथा धूर्तों के लिए अत्यधिक दुखी थे, जो इस भौतिक जगत में सुखी बनने की विशद योजनाएँ बनाते हैं।

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा

मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ।
नैतान्विहाय कृपणान्विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥ ४४॥

शब्दार्थ

प्रायेण—प्रायः सभी मामलों में, सामान्यतया; देव—हे ईश्वर; मुनयः—बड़े बड़े सन्त पुरुष; स्व—निजी; विमुक्ति-कामाः—इस भौतिक जगत से मुक्ति के इच्छुक; मौनम्—मूक भाव से; चरन्ति—विचरण करते हैं (हिमालय के जंगल में जहाँ भौतिकतावादियों के कार्यकलापों से कोई सम्पर्क नहीं रहता); विजने—एकान्त स्थान में; न—नहीं; पर-अर्थ-निष्ठाः—कृष्णभावनामृत आन्दोलन का लाभ पहुँचाने के लिए अन्यों के लिए काम करने में रुचि रखने वाला; न—नहीं; एतान्—इन; विहाय—छोड़कर; कृपणान्—मूर्खों तथा धूर्तों को (जो मनुष्य जीवन का लाभ न जानते हुए भौतिक कार्य में लगे रहते हैं); विमुमुक्षे—मैं मुक्त होना और भगवद्धाम लौट जाना चाहता हूँ; एकः—अकेला; न—नहीं; अन्यम्—दूसरा; त्वत्—आपके लिए ही; अस्य—इसकी; शरणम्—शरण; भ्रमतः—ब्रह्माण्ड भर में घूमने और भटकने वाले जीव की; अनुपश्ये—मैं देखूँ।

हे भगवान् नृसिंहदेव, मैं देख रहा हूँ कि सन्त पुरुष तो अनेक हैं, किन्तु वे अपने ही मोक्ष में रुचि रखते हैं। वे बड़े-बड़े नगरों की परवाह न करते हुए मौन व्रत धारण करके ध्यान करने के लिए हिमालय या बन में चले जाते हैं; वे दूसरों की मुक्ति में रुचि नहीं रखते, किन्तु जहाँ तक मेरी बात है मैं इन बेचारे मूर्खों तथा धूर्तों को छोड़कर अकेले अपनी मुक्ति नहीं चाहता। मैं जानता हूँ कि कृष्णभावनामृत के बिना और आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण किये बिना कोई सुखी नहीं हो सकता। अतएव मैं उन सबों को आपके चरणकमलों की शरण में वापस लाना चाहता हूँ।

तात्पर्य : यह एक वैष्णव अर्थात् भगवान् के शुद्ध भक्त का निर्णय है। यदि उसे इस भौतिक जगत में रुकना भी पड़े, तो उसकी अपनी कोई समस्याएँ नहीं हैं क्योंकि उसका एकमात्र व्यापार कृष्णभावनामृत में स्थित रहना है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति नरक में भी जाकर सुखी रह सकता है। अतएव प्रह्लाद महाराज ने कहा—*नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्याः*—हे श्रेष्ठ पुरुष! मैं इस भौतिक संसार से तनिक भी भयभीत नहीं हूँ। शुद्ध भक्त जीवन की किसी भी अवस्था में दुखी नहीं रहता। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* (६.१७.२८) में हुई है—

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥

"जो भक्त एकान्त भाव से भगवान् नारायण की भक्ति में लगे रहते हैं, वे जीवन की किसी अवस्था में कभी भयभीत नहीं होते। उनके लिए स्वर्ग, मोक्ष तथा नरक एक से हैं, क्योंकि ऐसे भक्त भगवान् की सेवा में ही लगे रहना चाहते हैं।"

भक्त के लिए स्वर्ग या नरक में रहना एक-जैसा है, क्योंकि भक्त न तो स्वर्ग में रहता है, न नरक में अपितु वह आध्यात्मिक जगत में कृष्ण के साथ रहता है। भक्त की सफलता का मर्म कर्मियों तथा ज्ञानियों को ज्ञात नहीं हो पाता। अतएव कर्मीजन भौतिक जोड़-तोड़ द्वारा सुखी बनना चाहते हैं और ज्ञानीजन परमेश्वर के साथ तदाकार होकर सुखी बनना चाहते हैं। किन्तु भक्त की ऐसी कोई रुचि नहीं होती। वह हिमालय या जंगल में जाकर तथाकथित ध्यान में रुचि नहीं रखता। प्रत्युत वह संसार के सबसे व्यस्त भाग में रुचि दिखाता है जहाँ वह लोगों को कृष्णभावनामृत की शिक्षा देता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का शुभारम्भ इसी उद्देश्य से किया गया था। हम किसी को एकान्त स्थान में ध्यान करने की शिक्षा नहीं देते जिससे वह यह दिखा सके कि वह प्रगत हो चुका है और वह अपने तथाकथित दिव्य ध्यान के बारे में गर्व का अनुभव कर सके, भले ही वह सभी प्रकार के मूर्खतापूर्ण भौतिक कार्यों में व्यस्त क्यों न रहता हो। प्रह्लाद महाराज जैसा वैष्णव कभी भी आध्यात्मिक प्रगति में झाँसा देने के पक्ष में नहीं होता। प्रत्युत वह लोगों में कृष्णभावनामृत जागृत करने में रुचि रखता है, क्योंकि यही एकमात्र साधन है, जिससे वे सुखी बन सकते हैं। प्रह्लाद महाराज स्पष्ट कहते हैं—*नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये*—मैं जानता हूँ कृष्णभावनामृत के बिना अर्थात् आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण किये बिना कोई सुखी नहीं हो सकता। मनुष्य जन्म-जन्मांतर इस ब्रह्माण्ड में घूमता रहता है, किन्तु किसी भक्त श्री चैतन्य महाप्रभु के दास की कृपा से उसे कृष्णभावनामृत का पता चल सकता है और तब वह न केवल इस जगत में सुखी बन सकता है, अपितु भगवद्धाम को वापस जा सकता है। जीवन का यही असली लक्ष्य है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्य हिमालय या वन में जाकर तथाकथित ध्यान करने में रुचि नहीं रखते, जहाँ मनुष्य ध्यान का प्रदर्शन मात्र कर सकता है। न ही वे शहरों में योग तथा ध्यान के अनेक स्कूल खोलने में रुचि रखते हैं। प्रत्युत कृष्णभावनामृत आन्दोलन का यही लक्ष्य है। प्रत्येक सदस्य द्वार-द्वार जाकर लोगों को *भगवद्गीता* की शिक्षाओं अथवा भगवान् चैतन्य की शिक्षाओं के विषय में आश्वस्त करने के प्रयास में रुचि रखता है। हरे कृष्ण आन्दोलन का यही लक्ष्य है। के सदस्यों को पूरा विश्वास हो जाना चाहिए कि कृष्ण के बिना कोई सुखी नहीं हो सकता। इस तरह कृष्णभावनाभावित व्यक्ति सभी प्रकार के छद्म-आध्यात्मवादियों, चिन्तकों, एकेश्वरवादियों, दार्शनिकों तथा परोपकारियों से दूर रहता है।

यन्मैथुनादिगृहमेधिसुखं हि तुच्छं
कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम् ।
तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः
कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो (इन्द्रिय तृप्ति के निमित्त है); मैथुन-आदि—काम चर्चा, काम साहित्य का पठन या विषयी जीवन का भोग (घर में, या बाहर यथा क्लब में); गृहमेधि-सुखम्—परिवार, समाज, मैत्री इत्यादि से अनुरक्त रहने के आधार पर सभी प्रकार का भौतिक सुख.; हि—निस्सन्देह; तुच्छम्—तुच्छ, नगण्य; कण्डूयनेन—खुजलाने से; करयोः—दोनों हाथों के (खुजली दूर करने के लिए); इव—सदृश; दुःख-दुःखम्—विभिन्न प्रकार के दुख (इन्द्रियतृप्ति की खुजली के पश्चात् होनेवाले); तृप्यन्ति—तुष्ट हो जाते हैं; न—कभी नहीं; इह—भौतिक इन्द्रिय तृप्ति में; कृपणाः—मूर्ख व्यक्ति; बहु-दुःख-भाजः—विभिन्न प्रकार के दुखों को प्राप्त; कण्डूति-वत्—यदि ऐसी खुजलाहट से सीख ले सके; मनसि-जम्—जो मात्र मानसिक कल्पना है (वास्तविक सुख नहीं होता); विषहेत—तथा (ऐसी खुजलाहट) सहन करता है; धीरः—अत्यन्त पूर्ण तथा गम्भीर व्यक्ति (बन सकता है)।

विषयी जीवन की तुलना खुजली दूर करने हेतु दो हाथों को रगड़ने से की गई है। गृहमेधी अर्थात् तथाकथित गृहस्थ जिन्हें कोई आध्यात्मिक ज्ञान नहीं है, सोचते हैं कि यह खुजलाना सर्वोत्कृष्ट सुख है, यद्यपि वास्तव में यह दुख का मूल है। कृपण जो ब्राह्मणों से सर्वथा विपरीत होते हैं, बारम्बार ऐन्द्रिय भोग करने पर भी तुष्ट नहीं होते। किन्तु जो धीर हैं और इस खुजलाहट को सह लेते हैं उन्हें मूर्खों तथा धूर्तों जैसे कष्ट नहीं सहने पड़ते।

तात्पर्य : भौतिकतावादी सोचते हैं कि इस संसार का सबसे बड़ा सुख विषयासक्ति है, अतएव वे अपनी इन्द्रियों को, विशेष रूप से कामेन्द्रियों को, तुष्ट करने के लिए बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाते हैं। ऐसा सामान्यतया सर्वत्र और विशेष रूप से पाश्चात्य जगत में पाया जाता है जहाँ विषयी जीवन की तुष्टि के लिए विभिन्न प्रकार के नियमित प्रबन्ध होते हैं। किन्तु तथ्य यह है कि इससे कोई सुखी नहीं हो पाया है। यहाँ तक कि वे हिप्पी भी, जिन्होंने अपने बाप-दादों के भौतिक सुखों का परित्याग कर दिया है, विषयी जीवन के सनसनीखेज सुख नहीं त्याग सकते! ऐसे लोगों को यहाँ पर *कृपण* कहा गया है। यह मनुष्य-जीवन एक महान् निधि है, क्योंकि इसी जीवन में मनुष्य अपने जीवन-लक्ष्य को पूरा कर सकता है। किन्तु दुर्भाग्यवश शिक्षा तथा संस्कृति के अभाव में लोग विषयी जीवन के मिथ्या सुख के शिकार बनाये जाते हैं। इसीलिए प्रह्लाद महाराज यह उपदेश देते हैं कि इस इन्द्रियतृप्ति की सभ्यता से, विशेष रूप से विषयी जीवन से, भ्रमित न हुआ जाये। मनुष्य को गम्भीर होना चाहिए, इन्द्रियतृप्ति से बचना चाहिए और कृष्णभावनाभावित होना चाहिए। इस के उल्ट कंजूस के समान ही कामी पुरुष

कभी भी इन्द्रियतृप्ति से सुख-लाभ नहीं कर पाता। प्रकृति के प्रभाव से बच पाना दुष्कर है किन्तु जैसाकि कृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.१४) में कहा है—*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*—यदि कोई स्वेच्छा से कृष्ण के चरणकमलों में आत्मसमर्पण करता है, तो वह आसानी से बच सकता है।

विषयी जीवन के निम्नकोटिक सुख के विषय में यामुनाचार्य कहते हैं—

यदावधि मम चेत: कृष्णपदारविन्दे
नव-नवरसधामनुद्यत रन्तुमासीत्।
तदावधि बत नारीसङ्गमे स्मर्यमाणे,
भवति मुखविकार: सुष्टु निष्ठीवनं च।

"चूँकि मैं कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगाया गया हूँ और उन्हीं में नया-नया आनन्द पाता रहा हूँ, अतएव जब भी मैं विषय-सुख के बारे में सोचता हूँ तभी इस विचार पर थूकता हूँ और मेरे होंठ अरुचि से विकृत हो जाते हैं।" यामुनाचार्य पहले एक बड़े राजा थे जिन्होंने अनेक प्रकार का ऐन्द्रिय सुख भोगा था, किन्तु जब बाद में वे भगवान् की सेवा में रत हुए तो उन्हें आध्यात्मिक आनन्द मिला और विषयी जीवन के विचार पर घृणा होने लगी। यदि विषय-विचार उनके मन में आता भी तो वे घृणा से उस पर थूक देते थे।

मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनस्वधर्म-
व्याख्यारहोजपसमाधय आपवर्ग्या: ।
प्राय: परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां
वार्ता भवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानाम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

मौन—चुप्पी; व्रत—व्रत; श्रुत—वैदिक ज्ञान; तप:—तपस्या; अध्ययन—शास्त्र का अध्ययन; स्व-धर्म—वर्णाश्रम धर्म का पालन; व्याख्या—शास्त्रों की विवेचना; रह:—एकान्त स्थान में रहना; जप—कीर्तन अथवा मंत्रों का उच्चारण; समाधय:—समाधि में रहना; आपवर्ग्या:—मोक्ष मार्ग में प्रगति करने के लिए किये जाने वाले दस प्रकार के कार्य; प्राय:—सामान्यतया; परम्—एकमात्र साधन; पुरुष—हे प्रभु; ते—वे सब; तु—लेकिन; अजित-इन्द्रियाणाम्—उन व्यक्तियों का जो इन्द्रियों को वश में नहीं कर सकते; वार्ता:—जीविका; भवन्ति—हैं; उत—इसलिए ऐसा कहा जाता है; न—नहीं; वा—अथवा; अत्र—इस सम्बन्ध में; तु—लेकिन; दाम्भिकानाम्—मिथ्या गर्व करने वाले व्यक्तियों का।

हे भगवन्, मोक्ष मार्ग के लिए दस विधियाँ संस्तुत हैं—मौन रहना, किसी से बातें न करना, व्रत रखना, सभी प्रकार का वैदिक ज्ञान संचित करना, तपस्या करना, वेदाध्ययन करना, वर्णाश्रम धर्म के कर्तव्यों को पूरा करना, शास्त्रों की व्याख्या करना, एकान्त स्थान में रहना,

मौन मंत्रोच्चार करना, समाधि में लीन रहना। मोक्ष की ये विभिन्न विधियाँ सामान्यतया उन लोगों के लिए व्यापारिक अभ्यास और जीविकोपार्जन के साधन हैं जिन्होंने इन्द्रियों को जीता नहीं। चूँकि ऐसे लोग मिथ्या अहंकारी होते हैं अतएव हो सकता है कि ये विधियाँ सफल न भी हों।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (६.१.१५) में कहा गया है—

केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः।

अघं धुन्वन्ति कात्स्न्र्येन नीहारमिव भास्करः॥

''केवल ऐसा विरला पुरुष जिसने कृष्ण की पूर्ण अनन्य भक्ति स्वीकार की है, पापकर्मों के खर-पतवार का उन्मूलन कर सकता है, जिससे उसके दोबारा उगने की सम्भावना न रहे। वह इसे केवल भक्ति के द्वारा कर सकता है, जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से कुहरे को तुरंत भगा देता है।'' मनुष्य जीवन का असली प्रयोजन भव-बन्धन से मुक्ति प्राप्त करना है। ऐसी मुक्ति कई विधियों से प्राप्त की जा सकती है (*तपसा ब्रह्मचर्येण शमेन च दमेन च*) किन्तु वे सब न्यूनाधिक तपस्या पर ही आश्रित रहती हैं, जो ब्रह्मचर्य से प्रारम्भ होती है। शुकदेव गोस्वामी कहते हैं कि जो *वासुदेवपरायण* हैं अर्थात् जो वासुदेव कृष्ण के चरणकमलों में पूर्णतया समर्पित हैं, वे मौन, व्रत तथा अन्य विधियों का फल केवल भक्ति करके स्वतः प्राप्त कर लेते हैं। दूसरे शब्दों में, ये सारी विधियाँ उतनी शक्तिशाली नहीं हैं। यदि कोई भक्ति करता है, तो वे सब की सब सरलता से सम्पन्न हो जाती हैं। उदाहरणार्थ, *मौन* का अर्थ केवल बोलना छोड़ देना नहीं है। जीभ तो बोलने के लिए है यद्यपि कभी-कभी दिखावे के लिए मनुष्य मौन रहता है। बहुत से ऐसे लोग हैं, जो सप्ताह में किसी एक दिन मौन रहते हैं। लेकिन वैष्णव ऐसा मौन धारण नहीं करता। मौन का अर्थ है मूर्खतापूर्ण भाषण न करना। सामान्यतया सभाओं, समारोहों तथा बैठकों में लोग मेढकों की तरह मूर्खतापूर्वक भाषण करते हैं। श्रील रूप गोस्वामी ने इसे *वाचो वेगम्* कहा है। जो व्यक्ति कुछ कहना चाहता है, वह अपने को बड़ा भारी वक्ता दिखला सकता है किन्तु अच्छा यही है कि बोलने की अपेक्षा वह मौन रहे। अतएव मौन की यह विधि ऐसे व्यक्तियों के लिए संस्तुत है, जो व्यर्थ बोलने के आदी हैं। जो भक्त नहीं होता वह मूर्खतापूर्ण ही बोलेगा, क्योंकि उसमें कृष्ण की महिमा के विषय में बोलने की शक्ति नहीं होती। इस तरह वह जो कुछ भी बोलता है, वह माया द्वारा प्रभावित रहता है और उसकी तुलना मेढक के टरटराने से की गई है। किन्तु जो भगवान्

की महिमा के विषय में बोलता है उसे मौन रहने की आवश्यकता नहीं है। श्री चैतन्य महाप्रभु की संस्तुति है *कीर्तनीय: सदा हरि:*—मनुष्य को चौबीसों घण्टे भगवान् की महिमा का कीर्तन करते रहना चाहिए। *मौन* रहने की कोई आवश्यकता नहीं है।

मोक्ष या मोक्ष के मार्ग पर प्रगति करने या मोक्ष के लिए ये दस विधियाँ भक्तों के लिए नहीं हैं। *केवलया भक्त्या*—यदि कोई केवल भगवद्भक्ति करता है, तो मोक्ष की सारी की सारी दसों विधियाँ स्वत: सम्पन्न हो जाती हैं। प्रह्लाद महाराज का प्रस्ताव है कि ऐसी विधियाँ *अजितेन्द्रियों* के लिए हैं, अर्थात् उनके लिए हैं, जो अपनी इन्द्रियों को जीत नहीं सकते। किन्तु भक्तगण पहले से अपनी इन्द्रियाँ जीत चुके होते हैं। *सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्*—भक्त पहले से भौतिक कल्मष से मुक्त हुआ होता है। अतएव श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने कहा है—

दुष्ट मन! तुमि किसेर वैष्णव?

प्रतिष्ठार तरे, निर्जनेर घरे, तव हरिनाम केवल कैतव।

ऐसे अनेक लोग हैं, जो हरे कृष्ण मंत्र का जाप एकान्त स्थान में करना चाहते हैं, लेकिन यदि कोई उपदेश करने, अभक्तों से निरन्तर बातें करने में रुचि नहीं रखता तो प्रकृति के गुणों के प्रभाव को पर विजय पाना दुष्कर है। अतएव जब तक कोई कृष्णभावनामृत में पूरी तरह प्रगत न हो उसे हरिदास ठाकुर की नकल नहीं करनी चाहिए, जिनके पास चौबीसों घण्टे पवित्र नाम का कीर्तन करने के अलावा कोई कार्य नहीं था। प्रह्लाद महाराज ऐसी विधि का तिरस्कार नहीं करते, वे इसे स्वीकार करते हैं किन्तु भगवान् की सक्रिय सेवा से इन विधियों में से किसी एक से सामान्यतया मोक्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता। कोई मिथ्या अहंकार से ही मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

रूपे इमे सदसती तव वेदसृष्टे
बीजाङ्कुराविव न चान्यदरूपकस्य ।
युक्ताः समक्षमुभयत्र विचक्षन्ते त्वां
योगेन वह्निमिव दारुषु नान्यतः स्यात् ॥ ४७॥

शब्दार्थ

रूपे—रूपों में; इमे—इन दो; सत्-असती—कार्य तथा कारण; तव—तुम्हारा; वेद-सृष्टे—वेदों में व्याख्यायित; बीज-अङ्कुरौ—बीज तथा अंकुर; इव—सदृश; न—कभी नहीं; च—भी; अन्यत्—अन्य कोई; अरूपकस्य—बिना आकार वाले आपका; युक्ताः—आपकी भक्ति में लीन; समक्षम्—आँखों के सामने; उभयत्र—दोनों तरह से (आध्यात्मिक तथा भौतिक रीति

से); विचक्षन्ते—वास्तव में देख सकते हैं; त्वाम्—तुमको; योगेन—केवल भक्ति के द्वारा; वह्निम्—आग; इव—सदृश; दारुषु—काठ में; न—नहीं; अन्यतः—अन्य किसी विधि से; स्यात्—सम्भव है।.

प्रामाणिक वैदिक ज्ञान द्वारा मनुष्य यह देख सकता है कि विराट जगत में कार्य तथा कारण के रूप भगवान् के ही हैं, क्योंकि यह विराट जगत उन की शक्ति है। कार्य तथा कारण दोनों ही भगवान् की शक्तियों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। अतएव हे प्रभु, जिस तरह कोई चतुर मनुष्य कार्य-कारण पर विचार करते हुए यह देख सकता है कि अग्नि किस तरह काठ में व्याप्त है उसी तरह भक्ति में लगे हुए व्यक्ति समझ सकते हैं कि आप किस प्रकार से कार्य तथा कारण दोनों ही हैं।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोकों में वर्णन हुआ है अनेक तथाकथित आध्यात्मिक ज्ञान के जिज्ञासु *मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनस्वधर्मव्याख्यारहोजपसमाधयः* नामक विभिन्न दस विधियों का पालन करते हैं। ये कितनी ही आकर्षक क्यों न हों किन्तु इनके पालन द्वारा कोई वास्तविक कार्य-कारण तथा प्रत्येक वस्तु के मूल कारण को (*जन्माद्यस्य यतः*) नहीं समझ पाता। प्रत्येक वस्तु के मूल उद्गम तो स्वयं भगवान् हैं (*सर्वकारणकारणम्*)। प्रत्येक वस्तु का यह उद्गम परम शासक कृष्ण हैं। *ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः ।* उनका अपना नित्य आध्यात्मिक स्वरूप है। निस्सन्देह, वे प्रत्येक वस्तु के मूल हैं (*बीजं मां सर्वभूतानाम्*)। जितनी भी सृष्टिया दिख रही हैं उनका कारण भगवान् है। इसे तथाकथित मौन या अन्य किसी अस्त-व्यस्त विधि से नहीं समझा जा सकता। परम कारण को केवल भक्ति द्वारा ही समझा जा सकता है जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*भक्त्या मामभिजानाति*)। *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र (११.१४.२१)स्वयं भगवान् कहते हैं *भक्त्याहमेकया ग्राह्यः*—मनुष्य कारणों के कारण आदि परम पुरुष को केवल भक्ति से समझ सकता है, किसी प्रकार के दिखावे से नहीं।

त्वं वायुरग्निरवनिर्वियदम्बु मात्राः
प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च ।
सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन्
नान्यत्त्वदस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम (हो); वायुः—वायु; अग्निः—अग्नि; अवनिः—पृथ्वी; वियत्—आकाश; अम्बु—जल; मात्राः—इन्द्रियविषय; प्राण—प्राणवायु; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; हृदयम्—मन; चित्—चेतना; अनुग्रहः च—तथा मिथ्या अहंकार या देवता; सर्वम्—हर वस्तु; त्वम्—तुम; एव—एकमात्र; स-गुणः—तीन गुणों से युक्त प्रकृति; विगुणः—आध्यात्मिक स्फुलिंग तथा परमात्मा जो

भौतिक प्रकृति से परे हैं; च—तथा; भूमन्—हे भगवान्; न—नहीं; अन्यत्—दूसरा; त्वत्—तुम्हारी अपेक्षा; अस्ति—है; अपि—यद्यपि; मनः-वचसा—मन तथा वाणी से; निरुक्तम्—प्रत्येक प्रकट वस्तु।

हे परमेश्वर, आप वास्तव में वायु, भूमि, अग्नि, आकाश तथा जल हैं। आप तन्मात्राएँ, प्राणवायु, पाँचों इन्द्रियाँ, मन, चेतना तथा मिथ्या अहंकार हैं। निस्सन्देह, आप स्थूल तथा सूक्ष्म हर वस्तु हैं। भौतिक तत्त्व तथा शब्दों या मन से व्यक्त प्रत्येक वस्तु आपके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

तात्पर्य : यह भगवान् विषयक सर्वव्यापी धारणा है, जो यह बताती है कि वे सर्वत्र व्याप्त हैं। *सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—प्रत्येक वस्तु ब्रह्म अर्थात् कृष्ण है। उनके बिना कोई वस्तु नहीं है। *भगवद्गीता* (९.४) में भगवान् स्वयं कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

"मैं सर्वत्र विद्यमान हूँ और प्रत्येक व्यक्ति मुझमें स्थित है, फिर भी मैं सर्वत्र दृष्टिगोचर नहीं होता।" भगवान् केवल भक्ति द्वारा देखे जा सकते हैं। *तत्र तिश्ठाभि नारद यत्र जायन्ति मद्भक्ताः*—भगवान् वहीं वास करते हैं जहाँ उनके भक्त उनके गुणों का कीर्तन करते हैं।

नैते गुणा न गुणिनो महदादयो ये
सर्वे मनः प्रभृतयः सहदेवमर्त्याः ।
आद्यन्तवन्त उरुगाय विदन्ति हि त्वा-
मेवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

न—न तो; एते—ये सब; गुणाः—प्रकृति के तीन गुण; न—न तो; गुणिनः—तीन गुणों के अधिष्ठाता देव (यथा ब्रह्मा रजोगुण के प्रधान देव हैं तथा शिव तमोगुण के); महत्-आदयः—पाँच तत्त्व, इन्द्रियाँ तथा तन्मात्राएँ; ये—जो; सर्वे—सभी; मनः—मन; प्रभृतयः—इत्यादि; सह-देव-मर्त्याः—देवताओं तथा मर्त्य मनुष्यों सहित; आदि-अन्त-वन्तः—जिनका आदि तथा अन्त है; उरुगाय—सभी साधु पुरुषों द्वारा महिमा-मण्डित होने वाले हे परमेश्वर; विदन्ति—समझतेहैं; हि—निस्सन्देह; त्वाम्—तुमको; एवम्—इस प्रकार; विमृश्य—विचार करके; सुधियः—सारे बुद्धिमान पुरुष; विरमन्ति—रुक जाते हैं; शब्दात्—वेदों का अध्ययन करने या समझने से।

न तो प्रकृति के तीन गुण (सतो, रजो तथा तमो), न इन तीनों गुणों के नियामक अधिष्ठाता देव, न पाँच स्थूल तत्त्व, न मन, न देवता, न मनुष्य ही आपको समझ सकते हैं, क्योंकि ये सभी जन्म तथा संहार के वशीभूत रहते हैं। ऐसा विचार करके आध्यात्मिक दृष्टि से प्रगत व्यक्ति भक्ति

करने लगे हैं। ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति वैदिक अध्ययन की परवाह नहीं करते, निस्सन्देह वे व्यावहारिक भक्ति में अपने आपको लगाते हैं।

तात्पर्य : जैसा कई स्थानों पर कहा गया है—*भक्त्या मामभिजानाति*—केवल भक्ति द्वारा परमेश्वर को जाना जा सकता है। बुद्धिमान मनुष्य अर्थात् भक्त श्लोक ४६ में वर्णित विधियों के विषयों में अधिक माथापच्ची नहीं करते (*मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययन-स्वधर्म*)। भक्ति द्वारा भगवान् को समझ लेने के बाद ऐसे भक्त वेदाध्ययन में रुचि नहीं दिखाते। निस्सन्देह, इसकी पुष्टि वेदों में भी हुई है। वेदों का कथन है *किम् अर्था वयम् अध्येष्यामहे किम् अर्था वयम् वक्ष्यामहे।* इतने वेदों का अध्ययन करने से क्या लाभ? उनकी तरह-तरह से व्याख्या करने से क्या लाभ? *वयम् वक्ष्यामहे।* किसी को न तो वेदाध्ययन की आवश्यकता रह जाती है, न दार्शनिक चिन्तन द्वारा उनका वर्णन करने की। *भगवद्गीता* (२.५२) का भी कहना है—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥

जब कोई भक्ति द्वारा भगवान् को जान लेता है, तो वह वेदाध्ययन बन्द कर देता है। अन्यत्र भी कहा गया है—*आराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम्।* यदि कोई भगवान् को समझ सकता है और उनकी सेवा में लग जाता है, तो कठिन तपस्या करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। किन्तु यदि कोई कठिन तपस्या करके भगवान् को नहीं समझ पाता तो ऐसी तपस्या व्यर्थ है।

तत्तेऽर्हत्तम नमः स्तुतिकर्मपूजाः
कर्म स्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम् ।
संसेवया त्वयि विनेति षडङ्गया किं
भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत ॥५०॥

शब्दार्थ

तत्—अतएव; ते—तुम्हारा; अर्हत्-तम—हे सर्वश्रेष्ठ पूज्य; नमः—नमस्कार; स्तुति-कर्म-पूजाः—प्रार्थना तथा अन्य भक्ति कार्यों से भगवान् की पूजा करना; कर्म—आपको समर्पित कर्म; स्मृतिः—निरन्तर स्मरण; चरणयोः—चरणकमलों का; श्रवणम्—निरन्तर सुनना; कथायाम्—(आपकी) कथाओं का; संसेवया—ऐसी भक्ति; त्वयि—तुम में; विना—रहित; इति—इस प्रकार; षट्-अङ्गया—छह अंगों वाला; किम्—कैसे; भक्तिम्—भक्ति को; जनः—व्यक्ति; परमहंस-गतौ—परम हंस द्वारा प्राप्त; लभेत—प्राप्त कर सकता है।

अतएव हे श्रेष्ठतम पूज्य भगवान्, मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ, क्योंकि षडंग भक्ति किये बिना परमहंस को प्राप्त होने वाला लाभ भला कौन प्राप्त कर सकता है? षडंग भक्ति के अंग हैं—प्रार्थना करना, समस्त कर्म फलों को भगवान् को समर्पित करना, पूजा करना, आपके निमित्त कर्म करना, आपके चरणकमलों को सदैव स्मरण करना तथा आपके यश का श्रवण करना।

तात्पर्य : वेदों का आदेश है—*नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।* भगवान् को केवल वेदाध्ययन तथा प्रार्थनाओं द्वारा नहीं समझा जा सकता। एकमात्र भगवत्कृपा होने पर ही उन्हें समझा जा सकता है। अतएव भगवान् को समझने की विधि ही भक्ति है। भक्ति के बिना परम सत्य को समझने के लिए केवल वैदिक आदेशों का पालन करके परम सत्य को नहीं समझा जा सकता। भक्ति की विधि उस *परमहंस* द्वारा समझी जाती है, जिसने हर वस्तु का सार ग्रहण कर लिया है। भक्ति के फल ऐसे परमहंस के लिए सुरक्षित रहते है और यह अवस्था भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी वैदिक विधि द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती। ज्ञान तथा योग जैसी अन्य विधियाँ भी तभी सफल होती हैं जब वे भक्ति के साथ मिली हों। जब हम ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा ध्यानयोग की बातें करते हैं, तो *योग* शब्द *भक्ति* का सूचक होता है। *भक्तियोग* या *बुद्धियोग* जब बुद्धि तथा पूर्ण ज्ञान से सम्पन्न किया जाता है, तो भगवद्धाम वापस जाने की वही एकमात्र सफल विधि होती है। यदि कोई संसार की पीड़ाओं से मुक्त होना चाहता है, तो इस लक्ष्य की शीघ्र पूर्ति के लिए उसे भक्ति ग्रहण करनी होगी।

श्रीनारद उवाच

एतावद्वर्णितगुणो भक्त्या भक्तेन निर्गुणः ।
प्रह्लादं प्रणतं प्रीतो यतमन्युरभाषत ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद ने कहा; एतावत्—यहाँ तक; वर्णित—वर्णन किया गया; गुणः—दिव्य गुण; भक्त्या—भक्ति से; भक्तेन—भक्त (प्रह्लाद महाराज) द्वारा; निर्गुणः—दिव्य भगवान्; प्रह्लादम्—प्रह्लाद महाराज को; प्रणतम्—भगवान् के चरणकमलों की शरण में आया हुआ; प्रीतः—प्रसन्न होकर; यत-मन्युः—क्रोध को वश में करके; अभाषत—इस प्रकार बोलने लगे।

महान् ऋषि नारद ने कहा : इस प्रकार अपने भक्त प्रह्लाद महाराज द्वारा दिव्य पद से प्रार्थना किये जाने पर भगवान् नृसिंह देव शान्त हो गये। उन्होंने अपना क्रोध त्याग दिया और दण्डवत् प्रणाम करने वाले प्रह्लाद पर अत्यधिक दयालु होने के कारण उनसे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : यहाँ पर *निर्गुण* शब्द महत्त्वपूर्ण है। मायावादी दार्शनिक परम सत्य को *निर्गुण* या *निराकार* मानते हैं। *निर्गुण* शब्द भौतिक गुणों से विहीन का सूचक है। दिव्य गुणों से पूर्ण होने के कारण भगवान् ने अपना क्रोध त्याग दिया और प्रह्लाद से बोले।

श्रीभगवानुवाच
प्रह्लाद भद्र भद्रं ते प्रीतोऽहं तेऽसुरोत्तम ।
वरं वृणीष्वाभिमतं कामपूरोऽस्म्यहं नृणाम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; प्रह्लाद—हे प्रह्लाद; भद्र—तुम इतने सौम्य हो; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारा; प्रीतः—प्रसन्न; अहम्—मैं (हूँ); ते—तुम्हारा; असुर-उत्तम—हे असुर वंश (नास्तिकों) में श्रेष्ठ भक्त; वरम्—आशीर्वाद; वृणीष्व—(मुझसे) माँग लो; अभिमतम्—वांछित; काम-पूरः—हर एक की इच्छा पूरी करने वाला; अस्मि—हूँ; अहम्—मैं; नृणाम्—सारे मनुष्यों का।

श्री भगवान् ने कहा : हे सौम्य प्रह्लाद, हे असुरोत्तम, तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुमसे अति प्रसन्न हूँ। मैं हर जीव की इच्छा पूर्ण करना मेरी लीला है; इसलिए तुम मुझसे कोई मनोवाञ्छित वर माँग सकते हो।

तात्पर्य : भगवान् *भक्तवत्सल* हैं अर्थात् वे अपने भक्तों पर अत्यन्त प्रेम करने वाले हैं। यह कोई असामान्य बात नहीं कि भगवान् ने अपने भक्त को सारे आशीर्वाद दिये। भगवान् ने वास्तव में कहा ''मैं सबों की मनोकामना पूरी करता हूँ। चूँकि तुम मेरे भक्त हो, अतएव जो कुछ तुम्हें चाहिए वह प्रदान किया जाएगा, किन्तु यदि तुम किसी अन्य के लिए प्रार्थना करो तो वह प्रार्थना भी पूरी की जाएगी।'' इस तरह यदि हम भगवान् या उनके भक्त के पास जाँय या कोई भक्त हमें आशीष दे तो वह स्वाभाविक है कि हमें स्वतः भगवान् के सारे आशीष प्राप्त हो जाएंगे। *यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादः।* श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि यदि कोई अपने वैष्णव गुरु को प्रसन्न कर ले तो उसकी सारी कामनाएँ पूरी हो जाएँगी।

मामप्रीणत आयुष्मन्दर्शनं दुर्लभं हि मे ।
दृष्ट्वा मां न पुनर्जन्तुरात्मानं तप्तुमर्हति ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; अप्रीणतः—बिना प्रसन्न किये; आयुष्मन्—हे दीर्घजीवी प्रह्लाद; दर्शनम्—दर्शन; दुर्लभम्—कभी-कभी; हि—निस्सन्देह; मे—मेरा; दृष्ट्वा—देख कर; माम्—मुझको; न—नहीं; पुनः—फिर; जन्तुः—जीव; आत्मानम्—अपने लिए; तप्तुम्—पछताने के लिए; अर्हति—पात्र है, योग्य है।

हे प्रह्लाद, तुम दीर्घजीवी होओ, मुझे प्रसन्न किये बिना कोई न तो मुझे जान सकता है, न मेरे महत्त्व को समझ सकता है, किन्तु जिसने मेरा दर्शन कर लिया है या मुझे प्रसन्न कर लिया है उसे अपनी तुष्टि के लिए पछताना नहीं पड़ता।

तात्पर्य : भगवान् को प्रसन्न किये बिना कोई किसी तरह से भी सुखी नहीं रह सकता किन्तु जिसने भगवान् को प्रसन्न करना सीख लिया है उसे अपनी भौतिक दशा पर और अधिक पछताना नहीं होता।

प्रीणन्ति ह्यथ मां धीराः सर्वभावेन साधवः ।
श्रेयस्कामा महाभाग सर्वासामाशिषां पतिम् ॥ ५४॥

शब्दार्थ

प्रीणन्ति—प्रसन्न करने का प्रयास करते हैं; हि—निस्सन्देह; अथ—इसके कारण; माम्—मुझको; धीराः—जो गम्भीर तथा बुद्धिमान हैं; सर्व-भावेन—सभी प्रकार से, भक्ति के विभिन्न भावों से; साधवः—सदाचारी पुरुष (सभी प्रकारसे पूर्ण); श्रेयस्-कामाः—जीवन में श्रेष्ठ लाभ की इच्छा करने वाले; महा-भाग—हे परम भाग्यशाली; सर्वासाम्—समस्त; आशिषाम्—आशीर्वादों के; पतिम्—स्वामी को (मुझको)।

हे प्रह्लाद, तुम अत्यन्त भाग्यशाली हो। तुम मुझसे यह जान लो कि जो अत्यन्त चतुर तथा ऊपर उठे हुए हैं, वे सभी विभिन्न भावों द्वारा मुझे प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं, क्योंकि मैं ही ऐसा व्यक्ति हूँ जो हर एक की सारी इच्छाओं को पूरा कर सकता हूँ।

तात्पर्य : *धीराः सर्वभावेन* शब्दों का अर्थ "तुम जिस तरह चाहो" नहीं है। *भाव* तो ईश-प्रेम की प्रारम्भिक दशा है—

अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।

साधकानाम् अयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः ॥

(*भक्तिरसामृतसिंधु* १.४.१६)

ईश-प्रेम तक पहुँचने के पूर्व *भाव* दशा अन्तिम विभाग है। *सर्वभाव* का अर्थ है कि मनुष्य भगवान् को कई दिव्य भावों से प्रेम कर सकता है—यथा दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य भाव। *शान्त* अवस्था में मनुष्य भगवान् की प्रेमाभक्ति की सीमारेखा पर होता है। ईश्वर का शुद्ध प्रेम *दास्य* भाव से प्रारम्भ होता है और *सख्य, वात्सल्य* में विकसित होता हुआ *माधुर्य* भाव को प्राप्त होता है। फिर भी इन पाँचों भावों

में से किसी एक द्वारा भगवान् की प्रेमाभक्ति की जा सकती है। चूँकि हमारा मुख्य कार्य भगवान् से प्रेम करना है, अतएव मनुष्य उपर्युक्त प्रेम के किसी भी पद से सेवा कर सकता है।

श्रीनारद उवाच
एवं प्रलोभ्यमानोऽपि वरैर्लोकप्रलोभनैः ।
एकान्तित्वाद्भगवति नैच्छत्तानसुरोत्तमः ॥५५॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; एवम्—इस प्रकार; प्रलोभ्यमानः—लुभाया जाकर; अपि—यद्यपि; वरैः—आशीषों से; लोक—जगत को; प्रलोभनैः—विभिन्न प्रकार के लोभों से; एकान्तित्वात्—पूर्ण समर्पण करने के कारण; भगवति—भगवान् में; न ऐच्छत्—नहीं चाहा; तान्—उन आशीर्वादों को; असुर-उत्तमः—असुरों के परिवार में श्रेष्ठ प्रह्लाद महाराज ने।

नारद मुनि ने कहा : प्रह्लाद महाराज भौतिक सुख की सदा कामना करने वाले असुरकुल के सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं। यद्यपि भगवान् ने उन्हें भौतिक सुख के लिए सभी वरदान दिए थे और वे उन्हें प्रलोभन दे रहे थे फिर भी अपनी अनन्य कृष्ण-भक्ति के कारण उन्होंने इन्द्रिय-तृप्ति के लिए कोई भी भौतिक लाभ स्वीकार करना पसन्द नहीं किया।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज तथा ध्रुव महाराज जैसे शुद्ध भक्त भक्ति की किसी भी अवस्था में भौतिक लाभ की इच्छा नहीं रखते। जब भगवान् ध्रुव महाराज के समक्ष उपस्थित हुए तो ध्रुव ने उनसे किसी भौतिक लाभ की चाह नहीं की—*स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे।* शुद्ध भक्त होने के कारण उन्होंने भगवान् से किसी प्रकार के लाभ की याचना नहीं कर सके। इस प्रसंग में श्री चैतन्य महाप्रभु ने हमेउपदेश दिया है—

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।

मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

"हे जगदीश! मैं ऐसे वरों के लिए प्रार्थना नहीं करता जिनसे भौतिक सम्पत्ति, नाम या सौन्दर्य प्राप्त हो। मेरी एकमात्र इच्छा आपकी सेवा करने की है। कृपया मुझे अपने दास के दास की सेवा में लगा लें।"

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कंध के अन्तर्गत "प्रह्लाद द्वारा नृसिंहदेव का शान्त किया जाना" नामक नवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दस

भक्त शिरोमणि प्रह्लाद

इस अध्याय में वर्णन किया गया है कि प्रह्लाद महाराज को प्रसन्न करने के बाद भगवान् नृसिंहदेव किस तरह अन्तर्धान हो गये। इसमें शिवजी द्वारा प्रदत्त वर का भी उल्लेख है।

नृसिंहदेव प्रह्लाद महाराज को एक-एक करके अनेक वरदान देना चाह रहे थे, किन्तु उन्हें आध्यात्मिक प्रगति में बाधक सोचकर प्रह्लाद महाराज ने एक भी वर स्वीकार नहीं किया। उल्टे उन्होंने अपने को भगवान् के चरणकमलों में पूरी तरह समर्पित कर दिया। उन्होंने कहा ''यदि भगवान् की भक्ति में लगा रहने वाला मनुष्य निजी इन्द्रियतृप्ति के लिए प्रार्थना करता है, तो वह शुद्ध भक्त क्या भक्त भी नहीं कहला सकता। उसे ऐसा व्यापारी ही कहा जा सकता है, जो लेन-देन के व्यापार में लगा रहता है। इसी प्रकार, जो स्वामी अपने सेवक से सेवा कराकर उसे प्रसन्न करना चाहता है, वह भी असली स्वामी नहीं है।'' अतएव प्रह्लाद महाराज ने भगवान् से कोई याचना नहीं की, प्रत्युत उन्होंने कहा कि यदि भगवान् उन्हें वर देना ही चाहते हैं, तो वे उन्हें यह विश्वास दिला दें कि वे भौतिक इच्छाओं के लिए कोई वर माँगने को नहीं प्रेरित नहीं करेंगे। कामेच्छाओं के बदले भक्ति का विनिमय सदैव प्रधान बना रहता है। ज्योंही कामेच्छाएँ जाग्रत हो उठती हैं त्योंही मनुष्य की इन्द्रियाँ, मन, जीवन, आत्मा, धर्म, धैर्य, बुद्धि, शर्म, सौन्दर्य, बल, स्मृति तथा सत्यनिष्ठा सभी विलुप्त हो जाते हैं। मनुष्य तभी अनन्य भक्ति कर सकता है जब उसके मन में भौतिक इच्छाएँ न हों।

प्रह्लाद महाराज की अनन्य भक्ति से भगवान् अत्यधिक प्रसन्न हुए फिर भी उन्होंने एक भौतिक वरदान दिया कि वे इस जगत में पूर्णतया सुखी रहेंगे और अगले जीवन में वैकुण्ठ में निवास करेंगे। उन्होंने यह भी वरदान दिया कि वे *मन्वन्तर* के अन्त तक इस जगत के राजा रहेंगे, उन्हें भगवान् की महिमा का श्रवण करने की सुविधा प्राप्त होती रहेगी और वे कल्मषहीन भक्तियोग द्वारा भगवान् की सेवा करते हुए उन्हीं पर पूरी तरह आश्रित रहेंगे। भगवान् ने प्रह्लाद को उपदेश दिया कि वे भक्तियोग के द्वारा यज्ञ सम्पन्न करें, क्योंकि यह राजा का कर्तव्य है।

प्रह्लाद महाराज ने भगवान् द्वारा प्रदत्त सब कुछ स्वीकार कर लिया और उनसे अपने पिता का उद्धार करने के लिए प्रार्थना की। इस प्रार्थना के बदले भगवान् ने उन्हें आश्वस्त किया कि जिस परिवार में उनके समान शुद्ध भक्त उत्पन्न हो उस भक्त का न केवल पिता, अपितु उसकी इक्कीस पीढ़ियाँ मुक्त हो

जाती हैं। भगवान् ने प्रह्लाद से यह भी कहा कि वे अपने पिता की मृत्यु के बाद समुचित कर्मकाण्ड सम्पन्न करें।

तब वहाँ पर उपस्थित ब्रह्माजी ने भगवान् की अनेक प्रकार की स्तुति की और कृतज्ञता प्रकट की कि उन्होंने प्रह्लाद महाराज को ऐसा वरदान दिया है। भगवान् ने ब्रह्माजी को सलाह दी कि वे असुरों को उस तरह वरदान न दें जैसाकि उन्होंने हिरण्यकशिपु को दिया था क्योंकि ऐसे वरों से वे आसक्त हो जाते हैं। तब नृसिंहदेव अन्तर्धान हो गये। उसी दिन ब्रह्मा तथा शुक्राचार्य द्वारा प्रह्लाद महाराज विश्व के सिंहासन पर बिठाये गये।

इस तरह नारद मुनि ने युधिष्ठिर महाराज से प्रह्लाद महाराज का चरित्र कह सुनाया। तत्पश्चात् उन्होंने भगवान् रामचन्द्र द्वारा रावण वध तथा द्वापर युग में शिशुपाल तथा दन्तवक्र के वध का वर्णन किया। शिशुपाल भगवान् में लीन हो गया था और उसे सायुज्य मुक्ति प्राप्त हुई थी। नारद मुनि ने युधिष्ठिर महाराज की प्रशंसा की, क्योंकि भगवान् कृष्ण पाण्डवों के सुहृद तथा मित्र थे और सदैव उनके घर में रुका करते थे। इस तरह पाण्डवों का भाग्य प्रह्लाद महाराज से बढ़कर था।

बाद में नारद मुनि ने बताया कि मय-दानव ने किस तरह उन असुरों के लिए त्रिपुर की रचना की जिन्होंने अत्यन्त बलशाली बन कर देवताओं को हराया। इस हार के कारण रुद्र या शिव ने त्रिपुर को ध्वस्त कर दिया जिसके कारण वे त्रिपुरारि के नाम से प्रसिद्ध हुए। इसी कारण से रुद्र देवताओं द्वारा अत्यंत प्रशंसित तथा पूजित हैं। यह कथा इस अध्याय के अन्त में आती है।

श्रीनारद उवाच

भक्तियोगस्य तत्सर्वमन्तरायतयार्भकः ।
मन्यमानो हृषीकेशं स्मयमान उवाच ह ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; भक्ति-योगस्य—भक्ति के नियमों का; तत्—वे (नृसिंहदेव द्वारा दिये गये वर); सर्वम्—उनमें से प्रत्येक; अन्तरायतया—अवरोध के होने से (भक्तियोग के पथ पर); अर्भकः—बालक रूप प्रह्लाद महाराज; मन्यमानः—मानते हुए; हृषीकेशम्—नृसिंहदेव को; स्मयमानः—मुसकाते हुए; उवाच—कहा; ह—भूतकाल का सूचक।

नारद मुनि ने आगे कहा : यद्यपि प्रह्लाद महाराज बालक थे किन्तु जब उन्होंने नृसिंहदेव द्वारा दिये गये वरों को सुना तो उन्होंने इन्हें भक्ति के मार्ग में अवरोध समझा। तब वे विनीत भाव से मुसकाये और इस तरह बोले।

तात्पर्य : भक्ति का परम लक्ष्य भौतिक उपलब्धियाँ नहीं है, अपितु ईश-प्रेम है। इसलिए प्रह्लाद महाराज, ध्रुव महाराज, अम्बरीष महाराज, युधिष्ठिर महाराज तथा अनेक भक्त राजाओं ने अत्यन्त ऐश्वर्यवान् होते हुए भी भगवान् की सेवा में इस ऐश्वर्य को लगाया, अपनी इन्द्रिय-तृप्ति में नहीं। निस्सन्देह, भौतिक ऐश्वर्य का स्वामित्व सदैव भयावह है क्योंकि भौतिक ऐश्वर्य के वशीभूत होकर मनुष्य भक्ति से पथभ्रष्ट हो सकता है। तो भी शुद्ध भक्त कभी भी भौतिक ऐश्वर्य से भ्रमित नहीं होता (*अन्याभिलाषिता शून्यम्*)। उल्टे, उसके पास जो कुछ भी रहता है उसे वह शत-प्रतिशत भगवान् की सेवा में लगाता है। जब कोई भौतिक सम्पत्ति से आकृष्ट होता है, तो इस सम्पत्ति को माया द्वारा प्रदत्त माना जाता है, किन्तु जब वह इस सम्पत्ति का पूरा उपयोग सेवा में करता है, तो उसे ईश्वर का उपहार या भक्ति को सम्वर्धित करने के लिए कृष्ण-प्रदत्त सुविधा माना जाता है।

श्रीप्रह्लाद उवाच
मा मां प्रलोभयोत्पत्त्या सक्तंकामेषु तैर्वरैः ।
तत्सङ्गभीतो निर्विण्णो मुमुक्षुस्त्वामुपाश्रितः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्लादः उवाच—प्रह्लाद महाराज ने (भगवान् से) कहा; मा—मत; माम्—मुझको; प्रलोभय—लालच दीजिए; उत्पत्त्या—मेरे जन्म के कारण (असुर कुल में); सक्तम्—(मैं पहले से ही) अनुरक्त; कामेषु—भौतिक भोग में; तैः—उन सभी; वरैः—भौतिक सम्पत्ति के वरों द्वारा; तत्-सङ्ग-भीतः—ऐसी भौतिक संगति से डर कर; निर्विण्णः—भौतिक इच्छाओं से पूर्णतया विरक्त होकर; मुमुक्षुः—भौतिक जीवन से मुक्त होने का इच्छुक; त्वाम्—आपके चरणकमलों में; उपाश्रितः—मैंने शरण ले ली है।.

प्रह्लाद महाराज ने आगे कहा : हे प्रभु, हे भगवान्, नास्तिक परिवार में जन्म लेने के कारण मैं स्वभावतः भौतिक भोग के प्रति अनुरक्त हूँ; अतएव आप मुझे इन मोहों से मत ललचाइये। मैं भौतिक दशाओं से अत्यधिक भयभीत हूँ और भौतिकतावादी जीवन से मुक्त होने का इच्छुक हूँ। यही कारण है कि मैंने आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण की है।

तात्पर्य : भौतिकतावादी जीवन का अर्थ है शरीर तथा शरीर सम्बन्धी प्रत्येक वस्तु से आसक्ति। यह आसक्ति इन्द्रियतृप्ति के लिए कामेच्छा पर और वह भी विशेष रूप से मैथुनसुख पर आधारित है। *कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः*—जब मनुष्य भौतिक भोग के प्रति अत्यधिक आसक्त रहता है, तो उसका सारा ज्ञान जाता रहता है (*हृतज्ञानाः*)। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, जो लोग भौतिक भोग के प्रति आसक्त होते हैं, वे विविध भौतिक ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए देवताओं की पूजा करते हैं। वे देवी दुर्गा

तथा शिवजी की पूजा के प्रति विशेष अनुरक्त रहते हैं, क्योंकि यह दिव्य दम्पति अपने भक्तों को समस्त भौतिक ऐश्वर्य प्रदान कर सकता है। लेकिन प्रह्लाद महाराज समस्त भौतिक भोग से विरक्त थे, अतएव उन्होंने नृसिंहदेव के चरणकमलों की शरण ग्रहण की, किसी अन्य देवता के चरण कमल की नहीं। यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि यदि कोई इस भौतिक जगत से, तीनों तापों से तथा *जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि* से छूटना चाहता है, तो उसे भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए, क्योंकि भगवान् की शरण के बिना भौतिकतावादी जीवन से मुक्ति सम्भव नहीं है। नास्तिक लोग भौतिक भोग के प्रति अत्यधिक आसक्त होते हैं, अतएव यदि उन्हें भौतिक भोग का अधिक से अधिक अवसर मिलता है, वे उसे ग्रहण कर लेते हैं। किन्तु प्रह्लाद महाराज इस ओर से अत्यन्त सतर्क थे। यद्यपि उनका जन्म भौतिकतावादी पिता से हुआ था, किन्तु भक्त होने के कारण उन्हें कोई भौतिक इच्छा न थी (*अन्याभिलाषिताशून्यम्*)।

भृत्यलक्षणजिज्ञासुर्भक्तं कामेष्वचोदयत् ।
भवान्संसारबीजेषु हृदयग्रन्थिषु प्रभो ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

भृत्य-लक्षण-जिज्ञासुः—शुद्ध भक्त के लक्षण प्रकट करने का इच्छुक; भक्तम्—भक्त को; कामेषु—भौतिक जगत में, जहाँ कामेच्छाएँ प्रधान हैं; अचोदयत्—भेजा; भवान्—आपने; संसार-बीजेषु—इस जगत में उपस्थित रहने का मूल कारण; हृदय-ग्रन्थिषु—(भौतिक सुख की इच्छाएं) जो समस्त बद्धजीवों के हृदयों के भीतर हैं; प्रभो—हे पूज्य भगवान्!.

हे मेरे अराध्य देव, चूँकि हर एक के हृदय में भौतिक संसार के मूल कारण कामेच्छाओं का बीज रहता है, अतएव आपने मुझे इस भौतिक जगत में शुद्ध भक्त के लक्षण प्रकट करने के लिए भेजा है।

तात्पर्य : *भक्तिरसामृत-सिन्धु* में *नित्यसिद्ध* तथा *साधनसिद्ध* भक्तों के विषय में पर्याप्त चर्चा दी हुई है। *नित्यसिद्ध* भक्त इस संसार में अपने-उदाहरण द्वारा भक्त बनने की शिक्षा देने के लिए वैकुण्ठलोक से आते हैं। इस जगत के जीव ऐसे भक्तों से शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं और इसतरह भगवद्धाम जाने में रुचि उत्पन्न कर सकते हैं। *नित्यसिद्ध* भक्त भगवान् के आदेश से वैकुण्ठलोक से आता है और अपने उदाहरण द्वारा यह दिखलाता है कि किस तरह शुद्ध भक्त बना जाये (*अन्याभिलाषिता शून्यम्*)। इस जगत में आने पर भी *नित्यसिद्ध* भक्त भौतिक भोग के प्रलोभनों में नहीं आता। इसके सर्वोत्कृष्ट उदाहरण महाभागवत भक्त प्रह्लाद महाराज हैं, जो *नित्यसिद्ध* थे। यद्यपि उनका जन्म नास्तिक

हिरण्यकशिपु के परिवार में हुआ था, किन्तु वे किसी तरह के भौतिक भोग के प्रति आसक्त नहीं थे। भगवान् चाहते थे कि प्रह्लाद महाराज शुद्ध भक्त के लक्षण प्रकट करें, अतएव उन्हें भौतिक वर स्वीकार करने के लिए फुसलाना चाहा, किन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। उल्टे, उन्होंने अपने निजी उदाहरण से शुद्ध भक्त के लक्षण प्रकट किये। दूसरे शब्दों में, भगवान् न तो स्वयं अपने भौतिक शुद्ध भक्त को इस भौतिक संसार में भेजना चाहते हैं, न ही भक्त को यहाँ आने में कोई भौतिक प्रयोजन रहता है। जब भगवान् स्वयं इस जगत में अवतार के रूप में आते हैं, तो वे भौतिक परिवेश से आकृष्ट नहीं होते और उन्हें भौतिक कार्य से कोई मतलब नहीं रहता फिर भी वे अपने निजी उदाहरण से सामान्य व्यक्ति को भक्त बनना सिखाते हैं। इसी प्रकार जो भक्त भगवान् के आदेश से यहाँ आता है, वह भी अपने निजी आचरण से दिखाता है कि शुद्ध भक्त कैसे बना जाए। इसलिए शुद्ध भक्त सभी जीवों के लिए, जिनमें ब्रह्मा भी सम्मिलित हैं, व्यावहारिक उदाहरण होता है।

नान्यथा तेऽखिलगुरो घटेत करुणात्मनः ।
यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् ॥ ४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अन्यथा—और कुछ; ते—तुम्हारा; अखिल-गुरो—हे समस्त सृष्टि के परम शिक्षक; घटेत—ऐसा हो सकता है; करुणा-आत्मनः—परम पुरुष जो अपने भक्तों पर अत्यन्त दयालु हैं; यः—जो व्यक्ति; ते—तुमसे; आशिषः—भौतिक लाभ; आशास्ते—इच्छा करता है (आपकी सेवा करने के बदले में); न—नहीं; सः—ऐसा व्यक्ति; भृत्यः—सेवक; सः—ऐसा व्यक्ति; वै—निस्सन्देह; वणिक्—व्यापारी (जो अपने व्यापार से लाभ उठाना चाहता है)।

अन्यथा हे भगवान्, हे समस्त जगत के परम शिक्षक, आप अपने इस भक्त के प्रति इतने दयालु हैं कि आपने उससे कुछ भी ऐसा करने को प्रेरित नहीं किया जो उसके लिए अलाभकारी हो। दूसरी ओर, जो व्यक्ति आपकी भक्ति के बदले में कुछ भौतिक लाभ चाहता है, वह आपका शुद्ध भक्त नहीं हो सकता। वह उस व्यापारी की तरह ही है, जो सेवा के बदले में लाभ चाहता है।

तात्पर्य : कभी-कभी यह देखा जाता है कि कोई व्यक्ति किसी भक्त के पास या भगवान् के मन्दिर में किसी भौतिक लाभ की प्राप्त करने के लिए आता है। ऐसे व्यक्ति को यहाँ पर वणिक कहा गया है। *भगवद्गीता* में *आर्तो जिज्ञासुरार्थार्थी* का वर्णन है। *आर्त* शारीरिक दृष्टि से पीड़ित व्यक्ति को सूचित करने वाला है और *अर्थार्थी* धन चाहने वाले को। ऐसे व्यक्ति अपने दुख को दूर करने या धन प्राप्त

करने के लिए भगवान् से आशीर्वाद लेने के लिए उनके पास जाने को प्रेरित किए जाते हैं। उन्हें *सुकृती* या पवित्र कहा गया है, क्योंकि वे दुख पड़ने या धन की आवश्यकता होने पर परमेश्वर के पास पहुँचते हैं। बिना पवित्र हुए कोई भगवान् के पास तक नहीं पहुँच सकता। भले ही ऐसा सुकृती कुछ भौतिक लाभ पा ले, किन्तु जो भौतिक लाभ का इच्छुक रहता है, वह शुद्ध भक्त नहीं हो सकता। जब शुद्ध भक्त को भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त होता है, तो वह उसके पवित्र कार्य के कारण नहीं अपितु भगवान् की सेवा के कारण होता है। भगवान् की सेवा करने पर व्यक्ति स्वत: पवित्र बन जाता है, अतएव शुद्ध भक्त *अन्याभिलाषिताशून्यम्* होता है। उसे न तो भौतिक लाभ की इच्छा रहती है, न ही भगवान् उसे भौतिक लाभ का प्रलोभन देते हैं। जब भक्त को किसी वस्तु की आवश्यकता होती है, तो भगवान् उसकी पूर्ति करते हैं (*योगक्षेमं वहाम्यहम्*)।

कभी-कभी भौतिकतावादी लोग भगवान् को फल-फूल चढ़ाने मन्दिर में जाते हैं, क्योंकि उन्होंने *भगवद्गीता* से सीख रखा है कि यदि भक्त कुछ फल-फूल अर्पित करता है, तो भगवान् उन्हें स्वीकार करते हैं। *भगवद्गीता* (९.२६) में भगवान् कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन:॥

''यदि कोई प्रेम तथा भक्तिपूर्वक मुझे एक पत्ती, एक फूल या जल भी अर्पित करता है, तो मैं उसे ग्रहण करूँगा।'' इस तरह व्यावसायिक प्रवृत्ति वाला व्यक्ति सोचता है कि यदि उसे फूल चढ़ाने मात्र से कुछ लाभ हो सके—जैसे कि उसे प्रचुर धन मिल सके—तो यह अच्छा सौदा हो। ऐसे व्यक्तियों को शुद्ध भक्त नहीं माना जाता। चूँकि उनकी इच्छाएँ शुद्ध नहीं होतीं, अतएव भक्त होने का दिखावा करने के लिए मन्दिर में जाने पर भी वे व्यापारी ही बने रहते हैं। *सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्*—जब कोई भौतिक इच्छाओं से पूरी तरह मुक्त हो जाता है तभी वह शुद्ध हो सकता है और उसी शुद्ध अवस्था में वह भगवान् की सेवा कर सकता है। *हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते।* यही शुद्ध भक्ति-पद है।

आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः ।

न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन्यो राति चाशिषः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

आशासानः—(सेवा के बदले) इच्छाएँ रखने वाला व्यक्ति; न—नहीं; वै—निस्सन्देह; भृत्यः—योग्य सेवक या भगवान् का शुद्ध भक्त; स्वामिनि—स्वामी से; आशिषः—भौतिक लाभ; आत्मनः—अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए; न—न तो; स्वामी—स्वामी, प्रभु; भृत्यतः—सेवक से; स्वाम्यम्—स्वामी होने के श्रेष्ठ पद से; इच्छन्—चाहते हुए; यः—ऐसा स्वामी जो; राति—प्रदान करता है; च—भी; आशिषः—भौतिक लाभ।

जो सेवक अपने स्वामी से भौतिक लाभ की इच्छा रखता है, वह निश्चय ही योग्य सेवक या शुद्ध भक्त नहीं है। इसी प्रकार जो स्वामी अपने सेवक को इसलिए आशीष देता है कि स्वामी के रूप में उसकी प्रतिष्ठा बनी रहे, वह भी शुद्ध स्वामी नहीं है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (७.२०) में कहा गया है—*कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना: प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता:*—जिनके मन भौतिक इच्छाओं द्वारा मलिन हो चुके हैं, वे देवताओं की शरण में जाते हैं। देवता कभी स्वामी नहीं बन सकता, क्योंकि स्वामी तो भगवान् हैं। इसलिए देवतागण अपना सम्मानित पद बनाये रखने के लिए अपने पूजकों को मनवांछित आशीष देते रहते हैं। उदाहरणार्थ, एक समय एक असुर ने शिवजी से यह वरदान प्राप्त किया कि वह जिसके सिर पर अपना हाथ रख दे वह मर जाये। ऐसे वरदान देवताओं से प्राप्त किये जा सकते हैं। किन्तु यदि कोई भगवान् की पूजा करता है, तो वे कभी ऐसे गर्हित वरदान नहीं देंगे। इसके विपरीत, *श्रीमद्भागवत* (१०.८८.८) में कहा गया है—*यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।* यदि कोई भौतिकतावादी होने के साथ-साथ परमेश्वर का दास बनना चाहता है, तो भगवान् अपने भक्त पर परम अनुकम्पा करके उसका सारा भौतिक ऐश्वर्य हर लेते हैं और बाध्य कर देते हैं कि वह भगवान् का शुद्ध भक्त बन जाए। प्रह्लाद महाराज शुद्ध भक्त तथा शुद्ध स्वामी का अन्तर बताते हैं। भगवान् शुद्ध स्वामी या परम स्वामी हैं जबकि निष्काम अनन्य भक्त शुद्ध सेवक है। भौतिकतावादी प्रवृत्ति का व्यक्ति सेवक नहीं बन सकता और जो अपने सेवक पर अपनी रोब दिखाने के लिए व्यर्थ ही आशीष देता रहता है, वह असली स्वामी नहीं है।

अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः ।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अहम्—जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है; तु—निस्सन्देह; अकामः—निष्काम; त्वत्-भक्तः—निष्काम भाव से आपके प्रति पूर्णतया आसक्त; त्वम् च—आप भी; स्वामी—असली मालिक; अनपाश्रयः—निष्काम भाव से (सकाम होने पर आप स्वामी नहीं बन सकते); न—नहीं; अन्यथा—सेवक-सेव्य जैसे सम्बन्ध के बिना; इह—यहाँ; आवयोः—हमारा; अर्थः—किसी स्वार्थ के

(भगवान् शुद्ध स्वामी हैं और प्रह्लाद महाराज नि:स्वार्थ शुद्ध भक्त हैं); राज—राजा; सेवकयो:—तथा सेवक के; इव—सदृश (जिस तरह राजा सेवक के लाभ हेतु कर लेता है या जनता राजा हेतु कर देती है)।.

हे प्रभु, मैं आपका नि:स्वार्थ सेवक हूँ और आप मेरे नित्य स्वामी हैं। सेवक तथा स्वामी होने के अतिरिक्त हमें कुछ भी नहीं चाहिए। आप प्राकृतिक रूप से मेरे स्वामी हैं और मैं आपका सेवक हूँ। हम दोनों में कोई अन्य सम्बन्ध नहीं है।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा था—*जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्य दास'*—प्रत्येक जीव भगवान् कृष्ण का शाश्वत दास है। भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (५.२९) में कहते हैं—*भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्*—मैं सभी लोकों का स्वामी और परम भोक्ता हूँ। भगवान् की यह स्वाभाविक स्थिति है और जीव की स्वाभाविक स्थिति है कि वह उनकी शरण में जाये (*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*)। यदि यह सम्बन्ध बना रहता है, तो स्वामी तथा सेवक के मध्य शाश्वत तथा वास्तविक सुख बना रहता है। दुर्भाग्यवश जब यह शाश्वत सम्बन्ध गड़बड़ा जाता है, तो जीव अलग रहते हुए सुखी बनना चाहता है और अपने स्वामी को अपना आदेशपालक समझ लेता है। इस तरह से सुख नहीं मिल सकता। स्वामी को भी चाहिए कि वह अपने सेवक की इच्छाएँ पूरी न करता रहे। यदि वह ऐसा करता है, तो वह असली स्वामी नहीं है। असली स्वामी तो वह आदेश देता है "तुम्हें यह करना है" और असली सेवक तुरन्त आदेश का पालन करता है। जब तक परमेश्वर एवं अधीनस्थ जीव के मध्य ऐसा सम्बन्ध स्थापित नहीं हो जाता, तब तक असली सुख नहीं मिल सकता। जीव तो *आश्रय* है—सदैव अधीन—और भगवान् *विषय* हैं अर्थात् परम जीवन लक्ष्य हैं। दुर्भाग्यवश इस जगत में फँसे हुए लोग इसे नहीं जानते। *न ते विदु: स्वार्थगतिं हि विष्णुम्*—भौतिक शक्ति द्वारा मोहित होने से इस जगत का प्रत्येक जीव अचेत रहता है कि जीवन का एकमात्र लक्ष्य भगवान् विष्णु के पास जाना है।

आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्।

तस्मात् परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्॥

पद्मपुराण में शिवजी अपनी पत्नी पार्वती अर्थात् देवी दुर्गा को बताते हैं कि जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना है और वे तभी प्रसन्न हो सकते हैं जब उनका दास प्रसन्न होता है। अतएव श्री चैतन्य महाप्रभु शिक्षा देते हैं—*गोपीभर्तु:पदकमलयोर्दासदासानुदास:।* मनुष्य को दास

का भी दास होना चाहिए। प्रह्लाद महाराज ने भी भगवान् नृसिंहदेव से प्रार्थना की कि वे उन्हें अपने सेवक बना लें। भक्ति की यह निर्धारित विधि है। ज्योंही भक्त भगवान् को अपना आदेशवाहक बनाना चाहता है त्योंही भगवान् ऐसे स्वार्थी भक्त का स्वामी बनने से इनकार कर देते हैं। *भगवद्गीता* (४.११) में भगवान् कहते हैं—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*—जो जिस तरह मेरी शरण ग्रहण करता है उसी के अनुसार मैं उसे पुरस्कार प्रदान करता हूँ। भौतिकतावादी व्यक्ति सामान्यतया भौतिक लाभ की ओर प्रवृत्त होते हैं। जब तक व्यक्ति ऐसी दूषित अवस्था में रहता है तब तक उसे भगवद्धाम वापस जाने का लाभ नहीं मिल पाता।

यदि दास्यसि मे कामान्वरांस्त्वं वरदर्षभ ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; **दास्यसि**—देना चाहते हैं; **मे**—मुझको; **कामान्**—इच्छित वस्तु; **वरान्**—अपने आशीर्वाद के रूप में; **त्वम्**—तुम; **वरद-ऋषभ**—हे भगवान् आप कोई भी वर दे सकते हैं; **कामानाम्**—भौतिक सुख की सारी इच्छाओं का; **हृदि**—अपने हृदय के भीतर; **असंरोहम्**—वृद्धि का न होना; **भव तः**—आपसे; **तु**—तब; **वृणे**—प्रार्थना करता हूँ; **वरम्**—ऐसे वरदान के लिए।

हे सर्वश्रेष्ठ वरदाता स्वामी, यदि आप मुझे कोई वांछित वर देना ही चाहते हैं, तो मेरी आपसे प्रार्थना है कि मेरे हृदय में किसी प्रकार की भौतिक इच्छाएँ न रहें।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु ने हमें शिक्षा दी है कि भगवान् से किस प्रकार वरदान के लिए प्रार्थना की जाये। उन्होंने कहा—

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवतात् भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

"हे प्रभु! न तो मैं सम्पत्ति चाहता हूँ, न अनेक अनुयायी, न सुन्दर स्त्री, क्योंकि ये सभी भौतिकतावादी इच्छाएँ हैं। किन्तु यदि मुझे आपसे कोई वरदान माँगना ही हो तो मेरी प्रार्थना है कि मैं चाहे जिस किसी जीवन में जन्म ग्रहण करूँ, प्रत्येक दशा में मैं आपकी दिव्य भक्ति से विहीन न होऊँ।" भक्तगण उन मायावादियों की तुलना में सदैव लाभप्रद स्थिति में रहते हैं, जो प्रत्येक वस्तु को निराकार या शून्य बना देना चाहते हैं। कोई भी मनुष्य शून्यवादी नहीं रह सकता है, उसके पास कुछ-न-कुछ तो होना ही चाहिए। अतएव भक्त सदैव कुछ-न-कुछ रखना चाहता है और इसका अत्यन्त सुन्दर वर्णन प्रह्लाद महाराज इस प्रकार करते हैं "यदि मुझे आपसे कोई वरदान लेना ही है, तो मेरी

प्रार्थना है कि मेरे हृदय में कोई भौतिक इच्छा न रह जाये।'' भगवान् की सेवा करने की इच्छा लेशमात्र भी भौतिक नहीं है।

इन्द्रियाणि मनः प्राण आत्मा धर्मो धृतिर्मतिः ।
ह्रीः श्रीस्तेजः स्मृतिः सत्यं यस्य नश्यन्ति जन्मना ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; मनः—मन; प्राणः—प्राण; आत्मा—शरीर; धर्मः—धर्म; धृतिः—धैर्य; मतिः—बुद्धि; ह्रीः—लज्जा; श्रीः—ऐश्वर्य; तेजः—बल; स्मृतिः—स्मरण शक्ति; सत्यम्—सत्य; यस्य—जिसकी कामेच्छाएँ; नश्यन्ति—विनष्ट हो जाती हैं; जन्मना—जन्म से ही।

हे भगवान्, जन्म काल से ही कामेच्छाओं के कारण मनुष्य की इन्द्रियों के कार्य, मन, जीवन, शरीर, धर्म, धैर्य, बुद्धि, लज्जा, ऐश्वर्य, बल, स्मृति तथा सत्यनिष्ठा समाप्त हो जाते हैं।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है *कामं हृद्रोगम्।* भौतिकतावादी जीवन का अर्थ ही होता है कि मनुष्य कामेच्छा नामक भयंकर रोग से पीड़ित है। मुक्ति का अर्थ है कामेच्छा से मुक्त होना, क्योंकि ऐसी इच्छा के कारण ही मनुष्य को बारम्बार जन्म तथा मृत्यु स्वीकार करनी पड़ती है। जब तक उसकी कामेच्छाएँ पूरी नहीं हो पातीं, तब तक वह उन्हें पूरी करने के लिए बारम्बार जन्म लेता है। अतएव भौतिक इच्छाओं के कारण ही मनुष्य विभिन्न कार्य करता है और विभिन्न प्रकार के शरीर धारण करके कभी न तुष्ट होने वाली इच्छाओं को पूरी करने का प्रयास करता है। इसकी एकमात्र औषधि है भक्ति में लग जाना जो समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त होने पर प्रारम्भ होती है। *अन्याभिलाषिताशून्यम्। अन्य-अभिलाषिता* का अर्थ ''भौतिक इच्छा'' और *शून्यम्* का अर्थ है ''से मुक्त।'' आध्यात्मिक जीव के कार्यकलाप आध्यात्मिक होते हैं और इच्छाएँ भी आध्यात्मिक होती हैं, जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने वर्णन किया है—*मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि।* भगवान् की अनन्य भक्ति ही एकमात्र आध्यात्मिक इच्छा है। किन्तु इस इच्छा को पूरा करने के लिए मनुष्य को समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त होना चाहिए। इच्छारहित का अर्थ है भौतिक इच्छाओं से मुक्ति। श्रील रूप गोस्वामी ने इसे *अन्याभिलाषिताशून्यम्* कहा है। जैसे ही मनुष्य में भौतिक इच्छाएं उत्पन्न होती है, उसकी आध्यात्मिक पहचान समाप्त हो जात है। तब जीवन का सारा साज-सामान जिसमें मनुष्य की इन्द्रियाँ, शरीर, धर्म, धैर्य तथा बुद्धि सम्मिलित हैं, मूल कृष्णचेतना से विपथ हो जाता है। भौतिक इच्छाओं के उदय होते ही मनुष्य अपनी इन्द्रियों का तथा बुद्धि का उपयोग भगवान् की तुष्टि के लिए सही ढंग से

नहीं कर पाता। मायावादी विचारक निर्विशेष, संज्ञाहीन तथा मनरहित बनना चाहते हैं, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। जीव को जीवित रहना ही पड़ता है, सदैव इच्छाओं-आकांक्षाओं आदि से युक्त होकर। किन्तु इन्हें शुद्ध बनाना चाहिए जिससे मनुष्य भौतिक कल्मश के बिना आध्यात्मिक रूप से आकांक्षा कर सके। प्रत्येक जीव में ये प्रवृत्तियाँ रहती हैं, क्योंकि वह सजीव है। किन्तु भौतिकता से कलुषित होने पर वह भौतिक विपत्ति के हाथों में चला जाता है (*जन्ममृत्युजराव्याधि*)। यदि मनुष्य जन्म-मृत्यु के चक्र से बचना चाहता है, तो उसे भगवान् की भक्ति ग्रहण करनी चाहिए—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।

हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥

"भक्ति का अर्थ है अपनी समस्त इन्द्रियों को इन्द्रियों के स्वामी भगवान् की सेवा में लगाना। जब आत्मा परमेश्वर की सेवा करता है, तो उसके दो अतिरिक्त प्रभाव होते हैं—एक तो वह समस्त भौतिक उपाधियों से मुक्त हो जाता है और दूसरा यह कि भगवान् की सेवा में लगने मात्र से ही मनुष्य की इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं।"

विमुञ्चति यदा कामान्मानवो मनसि स्थितान् ।
तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते ॥ ९॥

शब्दार्थ

विमुञ्चति—छोड़ देता है; यदा—जब भी; कामान्—समस्त भौतिक इच्छाओं को; मानवः—मानव समाज; मनसि—मन के भीतर; स्थितान्—स्थित; तर्हि—तभी; एव—निस्सन्देह; पुण्डरीक-अक्ष—हे कमलनयन भगवान्; भगवत्त्वाय—भगवान् के समान ही ऐश्वर्यवान होने का; कल्पते—पात्र बनता है।

हे प्रभु, जब मनुष्य अपने मन से सारी भौतिक इच्छाएँ निकालने में सक्षम हो जाता है, तो वह आपके ही समान सम्पत्ति तथा ऐश्वर्य का पात्र बन जाता है।

तात्पर्य : कभी-कभी नास्तिक लोग भक्त की आलोचना यह कह कर करते हैं "यदि तुम भगवान् से वरदान लेना नहीं चाहते और यदि भगवान् का सेवक भगवान् के ही समान ऐश्वर्यवान् है, तो फिर तुम भगवान् के सेवक बने रहने का वरदान क्यों माँगते हो?" श्रीधर स्वामी की टीका है— *भगवत्त्वाय भगवत् समान ऐश्वर्याय*। *भगवत्त्व* अर्थात् भगवान् के ही समान होने का अर्थ भगवान् से तादात्म्य या उनके समान होना नहीं है, यद्यपि आध्यात्मिक जगत में सेवक स्वामी के समान ही ऐश्वर्यवान् होता है। भगवान् का सेवक दास, मित्र, पिता, माता या प्रेमी के रूप में भगवान् की सेवा में लगा रहता है और

ये सभी भगवान् के ही समान ऐश्वर्यवान् होते हैं। यही *अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्व* है। सेवक तथा स्वामी भिन्न होते हुए भी ऐश्वर्य में समान हैं। भगवान् से एकसाथ भिन्नता तथा एकत्त्व का यही अर्थ है।

ॐ नमो भगवते तुभ्यं पुरुषाय महात्मने ।
हरयेऽद्भुतसिंहाय ब्रह्मणे परमात्मने ॥ १० ॥

शब्दार्थ

ॐ—हे भगवान्; नमः—मैं नमस्कार करता हूँ; भगवते—परम पुरुष को; तुभ्यम्—तुम्हें; पुरुषाय—परम पुरुष को; महा-आत्मने—परमात्मा को; हरये—भक्तों के समस्त दुखों को हरने वाले भगवान् को; अद्भुत-सिंहाय—आपके अद्‌भुत सिंह रूप नृसिंहदेव को; ब्रह्मणे—परब्रह्म को; परम-आत्मने—परमात्मा को।

हे षड्ऐश्वर्यवान् प्रभु, हे परम पुरुष, हे परमात्मा, हे समस्त दुखों के विनाशक, हे अद्भुत नृसिंह रूप में परम पुरुष, मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में प्रह्लाद महाराज ने बतलाया कि भक्त *भगवत्व* को प्राप्त कर सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अपने दास पद को खो देता है। भगवान् के शुद्ध दास को, भले ही वह भगवान् के ही समान ऐश्वर्यवान् क्यों न हो, भगवान् को सादर नमस्कार करना होता है। प्रह्लाद महाराज भगवान् को शान्त करने में लगे थे, अतएव वे अपने को भगवान् के तुल्य नहीं मान रहे थे। उन्होंने अपनी स्थिति दास रूप में बतलाई और उन्हें सादर नमस्कार किया।

श्रीभगवानुवाच
नैकान्तिनो मे मयि जात्विहाशिष
आशासतेऽमुत्र च ये भवद्विधाः ।
तथापि मन्वन्तरमेतदत्र
दैत्येश्वराणामनुभुङ्क्ष्व भोगान् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; न—नहीं; एकान्तिनः—अनन्य भक्ति के अतिरिक्त और किसी इच्छा से विहीन; मे—मुझसे; मयि—मुझमें; जातु—किसी समय; इह—इस संसार में; आशिषः—वरदान; आशासते—आन्तरिक इच्छा; अमुत्र—अगले जीवन में; च—तथा; ये—जो भक्त; भवत्-विधाः—आपकी तरह; तथापि—फिर भी; मन्वन्तरम्—एक मनु की आयु तक; एतत्—यह; अत्र—इस संसार में; दैत्य-ईश्वराणाम्—भौतिकतावादी मनुष्यों के ऐश्वर्यों का; अनुभुङ्क्ष्व—भोग कर सकते हो; भोगान्—सभी भौतिक ऐश्वर्यों को।

भगवान् ने कहा : हे प्रिय प्रह्लाद, तुम जैसा भक्त न तो इस जीवन में, न ही अगले जीवन में किसी प्रकार के भौतिक ऐश्वर्य की कामना करता है। तो भी मैं तुम्हें आदेश देता हूँ कि तुम इस मन्वन्तर तक असुरों के राजा के रूप में इस भौतिक जगत में उनके ऐश्वर्य का भोग करो।

तात्पर्य : प्रत्येक मनु की आयु एकहत्तर युग चक्र की अनधि के तुल्य परिगणित की जाती है, जिसमें प्रत्येक युग ४३००००० वर्ष के समान होता है। यद्यपि नास्तिक लोग भौतिक ऐश्वर्य का भोग करना चाहते हैं और बड़े जोर-शोर से बड़े-बड़े आवास, सड़कें, शहर तथा कारखाने बनवाने का प्रयास करते हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश, वे अस्सी, नब्बे वर्ष या बहुत हुआ तो एक सौ वर्षों से अधिक जीवित नहीं रह सकते। यद्यपि भौतिकतावादी व्यक्ति व्यामोह का साम्राज्य बनाने में इतना श्रम करता है लेकिन वह कुछ वर्षों से अधिक तक उसका भोग नहीं कर पाता। फिर भी चूँकि प्रह्लाद महाराज भक्त थे, अतएव भगवान् ने उन्हें भौतिकतावादियों के राजा के रूप में ऐश्वर्य-भोग करने की अनुमति प्रदान कर दी। प्रह्लाद महाराज ने हिरण्यकशिपु के परिवार में जन्म लिया था, जो सर्वोच्च भौतिकतावादी था और चूँकि प्रह्लाद अपने पिता के प्रामाणिक उत्तराधिकारी थे, अतएव भगवान् ने उन्हें अपने पिता द्वारा बनाये गये साम्राज्य पर इतने वर्षों तक भोग करने की अनुमति प्रदान की जिसकी गणना किसी भी भौतिकतावादी व्यक्ति के लिए कर पाना असम्भव है। भक्त को भौतिक ऐश्वर्य की कामना नहीं करनी होती, किन्तु यदि वह शुद्ध भक्त होता है, तो बिना किसी प्रयास के उसे भौतिक सुख-भोग करने का पर्याप्त अवसर प्राप्त होता है। अतएव हर एक को सलाह दी जाती है कि वह सभी परिस्थितियों में भक्ति करे। यदि कोई भौतिक ऐश्वर्य चाहता है, तो वह शुद्ध भक्त भी बन सकता है और इस तरह उसकी इच्छापूर्ति हो जाएगी। *श्रीमद्भागवत* (२.३.१०) में कहा गया है—

अकाम: सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी: ।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

''चाहे कोई कुछ चाहे या नहीं अथवा वह भगवान् में तदाकार होना चाहे, तभी तो वह तभी बुद्धिमान है। यदि वह भगवान् की दिव्य सेवा द्वारा उनकी पूजा करता है।''

कथा मदीया जुषमाणः प्रियास्त्व-
मावेश्य मामात्मनि सन्तमेकम् ।
सर्वेषु भूतेष्वधियज्ञमीशं
यजस्व योगेन च कर्म हिन्वन् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

कथाः—सन्देश या उपदेश; मदीयाः—मेरे द्वारा प्रदत्त; जुषमाणः—सदैव सुनकर या विचार करके; प्रियाः—अत्यन्त प्रिय; त्वम्—तुम; आवेश्य—पूर्णतया लीन होकर; माम्—मुझको; आत्मनि—अपने हृदय में; सन्तम्—विद्यमान रहकर; एकम्—एक

(वही परमात्मा); सर्वेषु—समस्त; भूतेषु—जीवों में; अधियज्ञम्—समस्त कर्मकाण्डों के भोक्ता; ईशम्—परमेश्वर को; यजस्व—पूजो; योगेन—भक्ति योग द्वारा; च—भी; कर्म—सकाम कर्म; हिन्वन्—त्यागकर।

भले ही तुम इस भौतिक जगत में ही क्यों न रहो, लेकिन तुम्हें निरन्तर मेरे उपदेशों तथा वचनों को सुनना चाहिए और मेरे ही विचार में लीन रहना चाहिए, क्योंकि मैं हर एक के हृदय में परमात्मा रूप में निवास करता हूँ। अतएव तुम सकाम कर्मों का परित्याग करके मेरी पूजा करो।

तात्पर्य : जब भक्त भौतिक दृष्टि से अत्यधिक ऐश्वर्यवान् बन जाता है, तो उसे यह नहीं सोचना चाहिए कि वह अपने सकाम कर्मों का फल भोग रहा है। इस जगत में भक्त अपने सारे ऐश्वर्यों को भगवान् की सेवा में लगाता है, क्योंकि वह यह योजना बनाता रहता है कि अपने ऐश्वर्य से भगवान् की किस तरह सेवा करे जैसाकि भगवान् स्वयं सलाह दे रहे हैं। उसके पास जो भी भौतिक सम्पत्ति होती है उसे वह भगवान् के यश को तथा उनकी सेवा के प्रसार में लगाता है। भक्त कभी भी ऐसे कर्म के फल को भोगने के लिए कोई भी सकाम कर्म या कर्मकाण्ड नहीं करता। प्रत्युत वह यह जानता है कि ऐसा कर्मकाण्ड अल्पज्ञ के लिए होता है। नरोत्तमदास ठाकुर ने अपनी कृति *प्रेम-भक्तिचन्द्रिका* में कहा है—*कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, केवल विषेर भाण्ड*—कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड दोनों ही विष के पात्रों के तुल्य हैं। जो इन दोनों की ओर आकृष्ट होता है, वह अपने मनुष्य जीवन को नष्ट कर देता है। अतएव भक्त कभी भी *कर्मकाण्ड* या *ज्ञानकाण्ड* में रूचि नहीं रखता। वह तो भगवान् की अनुकूल सेवा में (*आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्*) अथवा भक्ति सम्बन्धी आध्यात्मिक कार्यों के अनुशीलन में रुचि रखता है।

भोगेन पुण्यं कुशलेन पापं
कलेवरं कालजवेन हित्वा ।
कीर्तिं विशुद्धां सुरलोकगीतां
विताय मामेष्यसि मुक्तबन्धः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

भोगेन—भौतिक सुख की अनुभूतियों से; पुण्यम्—पुण्य कर्म या उनके काम; कुशलेन—पवित्रतापूर्वक कर्म करके (समस्त पवित्र कर्मों में भक्ति सर्वश्रेष्ठ है); पापम्—अपवित्र कार्यों के सभी प्रकार के फल; कलेवरम्—शरीर; काल-जवेन—शक्तिशाली काल द्वारा; हित्वा—त्याग कर; कीर्तिम्—कीर्ति, ख्याति; विशुद्धाम्—दिव्य या पूर्णतया शुद्ध; सुर-लोक-गीताम्—स्वर्ग में भी प्रशंसित; विताय—सारे ब्रह्माण्ड में विस्तार करके; माम्—मुझ तक; एष्यसि—वापस आओगे; मुक्त-बन्धः—बन्धन से मुक्त होकर।

हे प्रह्लाद, इस भौतिक जगत में रहते हुए तुम सुख का अनुभव करके अपने पुण्यकर्म से सारे फलों को समाप्त कर सकोगे और पुण्यकर्म करके पापकर्मों को विनष्ट कर दोगे। शक्तिशाली काल के कारण तुम अपना शरीर-त्याग करोगे, किन्तु तुम्हारे कार्यों की ख्याति का गुणगान स्वर्गलोक तक में होगा। तुम बन्धनों से मुक्त होकर भगवद्धाम को लौट सकोगे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*एवं प्रह्लादस्यांशेन साधनसिद्धत्वं नित्यसिद्धत्वं च नारदादिवज्ज्ञेयम्।* भक्तों की दो श्रेणियाँ होती हैं—*साधनसिद्ध* तथा *नित्यसिद्ध।* प्रह्लाद महाराज मिश्रित *सिद्ध* हैं—अर्थात् वे अंशतः भक्ति के कारण और अंशतः शाश्वत् सिद्धि के कारण सिद्ध हैं। इनकी तुलना नारद जैसे भक्तों से की जाती है। भूतकाल में नारद मुनि पहले एक दासी पुत्र थे, किन्तु अगले जन्म में भक्ति करने के कारण उन्होंने *साधनसिद्धि* प्राप्त की। इतने पर भी वे *नित्यसिद्ध* थे, क्योंकि वे भगवान् को नहीं भुलाते।

कुशलेन शब्द अत्यन्त महत्त्वंपूर्ण है। मनुष्य को भौतिक जगत में अत्यन्त कौशल से रहना चाहिए। यह जगत द्वैत जगत कहलाता है, क्योंकि इसमें कभी पुण्य करना होता है, तो कभी पाप। यद्यपि कोई पाप नहीं करना चाहता, किन्तु यह संसार ऐसा बना है कि इसमें सदैव संकट बना रहता है (*पदं पदं यद् विपदाम्*)। इस तरह भक्ति करते हुए भी भक्त के अनेक शत्रु बन जाते हैं। प्रह्लाद महाराज को स्वयं इसका अनुभव हुआ, क्योंकि उनका पिता तक उनका शत्रु बन गया। भक्तों को चाहिए कि अत्यन्त कौशल के साथ वे सदैव भगवान् का चिन्तन करें जिससे दुख उनका स्पर्श भी न कर पाए। यह *पाप-पुण्य* की कुशल व्यवस्था है। प्रह्लाद महाराज जैसा प्रतिष्ठित भक्त *जीवन्मुक्त* होता है—अर्थात् इसी जीवन में भौतिक शरीर से मुक्त रहता है।

य एतत्कीर्तयेन्मह्यं त्वया गीतमिदं नरः ।
त्वां च मां च स्मरन्काले कर्मबन्धात्प्रमुच्यते ॥ १४॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; एतत्—यह कार्य; कीर्तयेत्—कीर्तन करता है; मह्यम्—मुझको; त्वया—तुम्हारे द्वारा; गीतम्—प्रार्थना की गई; इदम्—यह; नरः—मनुष्य; त्वाम्—तुमको; च—भी; माम् च—मुझको भी; स्मरन्—स्मरण करते हुए; काले—कालान्तर में; कर्म-बन्धात्—कर्म के बन्धन से; प्रमुच्यते—छूट जाता है।

जो व्यक्ति तुम्हारे तथा मेरे कार्यों का सदैव स्मरण करता है और तुम्हारे द्वारा की गई प्रार्थनाओं का कीर्तन करता है, वह कालान्तर में भौतिक कर्म-फलों से मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : यहाँ पर कहा गया है कि जो कोई प्रह्लाद महाराज के कार्य-कलापों का और उनसे सम्बन्धित नृसिंहदेव के कार्यकलापों का कीर्तन तथा श्रवण करता है यह धीरे-धीरे समस्त कर्मबन्धन से छूट जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.१५, २.५६) में कहा गया—

यं हि न व्यथयन्ति एते पुरुषं पुरुषर्षभ।

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

"हे पुरुषश्रेष्ठ (अर्जुन)! जो व्यक्ति सुख तथा दुख से विचलित नहीं होता और दोनों में स्थिर बना रहता है, वह निश्चय ही मुक्ति का पात्र है।"

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

"जो तीन तापों के होते हुए भी विचलित नहीं होता, जो सुख से फूल नहीं उठता और जो आसक्ति, भय तथा क्रोध से मुक्त होता है, वह स्थिर चित्त वाला साधु (मुनि) कहलाता है।" भक्त को विषम परिस्थिति में न तो दुखी होना चाहिए, न भौतिक ऐश्वर्य में अत्यधिक प्रसन्न होना चाहिए। भौतिक जीवन की कुशल व्यवस्था यही है। चूँकि भक्त जानता है कि किस तरह कौशलपूर्वक व्यवस्था करनी चाहिए इसलिए वह *जीवन्मुक्त* कहलाता है। *भक्तिरसामृत-सिन्धु* में रूप गोस्वामी बताते हैं—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

"जो व्यक्ति मनसा, वाचा, कर्मणा कृष्णचेतना में रहकर कर्म करता है (कृष्ण की सेवा करता है) वह इस भौतिक जगत में ही रहते हुए मुक्त पुरुष है, भले ही वह तथाकथित अनेक भौतिक कर्मों में क्यों न लगा रहे।" जीवन की किसी भी परिस्थिति में भक्ति में निरन्तर लगे रहने के कारण भक्त समस्त भवबन्धन से मुक्त होता है—

भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्।

"कोई भले ही मांसभक्षी परिवार में क्यों न उत्पन्न हो, किन्तु भक्ति में रत होने पर वह शुद्ध हो जाता है।" (*भागवत* ११.१४.२१) श्रील जीव गोस्वामी इस श्लोक को अपने समर्थन में उद्धृत करते

हैं कि जो कोई प्रह्लाद महाराज के शुद्ध जीवन तथा कार्य-कलापों का कीर्तन करता है, वह भौतिक कार्यकलापों से मुक्त हो जाता है।

श्रीप्रह्लाद उवाच

वरं वरय एतत्ते वरदेशान्महेश्वर ।
यदनिन्दत्पिता मे त्वामविद्वांस्तेज ऐश्वरम् ॥ १५॥
विद्धामर्षाशयः साक्षात्सर्वलोकगुरुं प्रभुम् ।
भ्रातृहेति मृषादृष्टिस्त्वद्भक्ते मयि चाघवान् ॥ १६॥
तस्मात्पिता मे पूयेत दुरन्ताद्दुस्तरादघात् ।
पूतस्तेऽपाङ्गसंदृष्टस्तदा कृपणवत्सल ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्लादः उवाच—प्रह्लाद महाराज ने कहा; वरम्—आशीर्वाद; वरये—माँगता हूँ; एतत्—यह; ते—आपसे; वरद-ईशात्—जो ब्रह्मा तथा शिव देवताओं को भी वर प्रदान करते हैं ऐसे ईश्वर से; महा-ईश्वर—हे परमेश्वर; यत्—उस; अनिन्दत्—निन्दा की; पिता—पिता ने; मे—मेरे; त्वाम्—आपकी; अविद्वान्—ज्ञान-विहीन; तेजः—बल; ऐश्वरम्—श्रेष्ठता; विद्ध—दूषित होकर; अमर्ष—क्रोध में; आशयः—हृदय के भीतर; साक्षात्—प्रत्यक्ष; सर्व-लोक-गुरुम्—समस्त जीवों के परम गुरु को; प्रभुम्—परम स्वामी को; भ्रातृ-हा—उसके भाई की हत्या करने वाला; इति—इस प्रकार; मृषा-दृष्टिः—मिथ्या बोध के कारण ईर्ष्यालु; त्वत्-भक्ते—आपके भक्त; मयि—मुझमें; च—तथा; अघ-वान्—घोर पाप करने वाला; तस्मात्—उससे; पिता—पिता; मे—मेरा; पूयेत—शुद्ध हो जावे; दुरन्तात्—महान्; दुस्तरात्—दुस्तर; अघात्—समस्त पापकर्मों से; पूतः—पवित्र हुआ (यद्यपि वह था); ते—तुम्हारी; अपाङ्ग—चितवन से; संदृष्टः—देखा जाकर; तदा—उस समय; कृपण-वत्सल—हे भौतिकतावादी पर दयालु।

प्रह्लाद महाराज ने कहा : हे परमेश्वर, चूँकि आप पतितात्माओं पर इतने दयालु हैं अतएव मैं आपसे एक ही वर माँगता हूँ। मैं जानता हूँ कि आपने मेरे पिता की मृत्यु के समय अपनी कृपादृष्टि डालकर उन्हें पवित्र बना दिया था, किन्तु वे आपकी शक्ति तथा श्रेष्ठता से अनजान होने के कारण आप पर मिथ्या ही यह सोचकर क्रुद्ध थे कि आप उनके भाई को मारने वाले हैं। इस तरह उन्होंने समस्त जीवों के गुरु आपकी प्रत्यक्ष निन्दा की थी और आपको भक्त अर्थात् मेरे ऊपर जघन्य पातक किये थे। मेरी इच्छा है कि उन्हें इन पापों के लिए क्षमा कर दिया जाये।

तात्पर्य : यद्यपि हिरण्यकशिपु भगवान् की गोद के सम्पर्क में आते ही तथा भगवान् द्वारा दृष्टिपात किये जाने पर ही शुद्ध हो चुका था, किन्तु तो भी प्रह्लाद महाराज भगवान् के अपने मुख से सुनना चाहते थे कि उनकी अहैतुकी कृपा से उनका पिता शुद्ध हो गया। उन्होंने यह स्तुति अपने पिता के लिए की। वैष्णव पुत्र होने के नाते, अपने पिता द्वारा इतना कष्ट पहुँचाये जाने पर भी वे अपने पिता के वात्सल्य को भुला नहीं पाये थे।

श्रीभगवानुवाच

त्रिःसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ ।
यत्साधोऽस्य कुले जातो भवान्वै कुलपावनः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; त्रिः-सप्तभिः—सात गुणित तीन अर्थात् इक्कीस; पिता—पिता; पूतः—पवित्र; पितृभिः—तुम्हारे पुरखों सहित; सह—सभी एकसाथ; ते—तुम्हारा; अनघ—हे निष्पाप व्यक्ति (प्रह्लाद महाराज); यत्—चूँकि; साधो—हे परम साधु पुरुष; अस्य—इस व्यक्ति के; कुले—वंश में; जातः—जन्म लिया; भवान्—तुमने; वै—निस्सन्देह; कुल-पावनः—पूरे वंश को पवित्र करनेवाले।

भगवान् ने कहा : हे परम पवित्र, साधु पुरुष, तुम्हारे पिता तुम्हारे परिवार के इक्कीस पुरखों सहित पवित्र कर दिये गये हैं। चूँकि तुम इस परिवार में उत्पन्न हुए थे, अतएव सारा कुल पवित्र हो गया।

तात्पर्य : *त्रिः सप्तभिः* का अर्थ है सात गुणित तीन। कोई भी मनुष्य अपने परिवार की विगत चार-पाँच पीढ़ियों अपने परदादा या उनके पिता तक के ही नाम गिन सकता है, किन्तु चूँकी भगवान् इक्कीस पुरखों का उल्लेख करते हैं, अतएव यह सूचित होता है कि कोई वरदान अन्य परिवारों तक भी प्रसार करता है। जिस परिवार में कोई इस समय जन्म लिए रहता है उसके अतिरिक्त वह अन्य परिवारों में भी जन्मा रहता है। इस प्रकार जब कोई वैष्णव किसी एक परिवार में जन्म लेता है, तो वह भगवत् कृपा से न केवल अपने उस परिवार को पवित्र बनाता है, अपितु उन परिवारों को भी पवित्र बनाता है जिनमें वह पहले जन्म लिए रहता है।

यत्र यत्र च मद्भक्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः ।
साधवः समुदाचारास्ते पूयन्तेऽपि कीकटाः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यत्र यत्र—जहाँ-जहाँ; च—भी; मत्-भक्ताः—मेरे भक्त; प्रशान्ताः—अत्यन्त शान्त; सम-दर्शिनः—सबों को समभाव से देखने वाले; साधवः—समस्त सद्गुणों से युक्त; समुदाचाराः—समान रूप से उदार; ते—वे सभी; पूयन्ते—पवित्र हो जाते हैं; अपि—भी; कीकटाः—पतित देश या उसके वासी।

जहाँ कहीं भी सदाचारी तथा सद्गुणसम्पन्न, शान्त एवं समदर्शी भक्त होते हैं वह देश तथा परिवार भले ही गर्हित क्यों न हो, पवित्र हो जाते हैं।

तात्पर्य : जहाँ भी प्रतिष्ठित भक्त ठहरते हैं, न केवल वे तथा उनके कुल अपितु समूचा देश पवित्र हो जाता है।

सर्वात्मना न हिंसन्ति भूतग्रामेषु किञ्चन ।
उच्चावचेषु दैत्येन्द्र मद्भावविगतस्पृहा: ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सर्व-आत्मना—सभी प्रकार से, यहाँ तक कि क्रोध तथा ईर्ष्या से युक्त; न—कभी नहीं; हिंसन्ति—ईर्ष्या करते हैं; भूत-ग्रामेषु—समस्त योनियों में; किञ्चन—इनमें से किसी के प्रति; उच्च-अवचेषु—ऊँच-नीच जीवों में; दैत्य-इन्द्र—हे दैत्यों के राजा, प्रह्लाद; मत्-भाव—मेरी भक्ति के कारण; विगत—त्यागा हुआ; स्पृहा:—क्रोध तथा लालच के सभी गुण।

हे दैत्यराज प्रह्लाद, मेरी भक्ति में अनुरक्त रहने के कारण मेरा भक्त उच्च तथा निम्न जीवों में भेद-भाव नहीं बरतता। सभी तरह से वह किसी से ईर्ष्या नहीं करता।

भवन्ति पुरुषा लोके मद्भक्तास्त्वामनुव्रता: ।
भवान्मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

भवन्ति—हो जाते हैं; पुरुषा:—मनुष्य; लोके—इस संसार में; मत्-भक्ता:—मेरे शुद्ध भक्त; त्वाम्—तुमको; अनुव्रता:—अनुसरण करते हुए; भवान्—तुम; मे—मेरा; खलु—निस्सन्देह; भक्तानाम्—समस्त भक्तों का; सर्वेषाम्—विभिन्न रसों में; प्रतिरूप-धृक्—यथार्थ आदर्श।

जो तुम्हारे आदर्श का अनुसरण करेंगे वे स्वभावत: मेरे शुद्ध भक्त हो जाएँगे। तुम मेरे भक्त का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हो और अन्य लोग तुम्हारे पदचिन्हों का अनुसरण करेंगे।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य *स्कन्द पुराण* से एक उदाहरण देते हैं—

ऋते तु तात्त्विकान् देवान् नारदादींस्तथैव च।

प्रह्लादादुत्तम: को नु विष्णुभक्तौ जगत्त्रये॥

भगवान् के अनेकानेक भक्त हैं जिनकी गणना *श्रीमद्भागवत* (६.३.२०) में इस प्रकार कराई गई है—

स्वयम्भूर्नारद: शम्भु: कुमार: कपिलो मनु:।

प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥

बारह अधिकारी भक्तों में, जिनमें ब्रह्मा, नारद, शिव, कपिल, मनु इत्यादि सम्मिलित हैं, प्रह्लाद महाराज सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

कुरु त्वं प्रेतकृत्यानि पितु: पूतस्य सर्वश: ।
मदङ्गस्पर्शनेनाङ्ग लोकान्यास्यति सुप्रजा: ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

कुरु—सम्पन्न करो; त्वम्—तुम; प्रेत-कृत्यानि—मृत्यु के बाद के क्रिया-कर्म; पितुः—अपने पिता के; पूतस्य—पहले ही शुद्ध हुए; सर्वशः—सभी प्रकार से; मत्-अङ्ग—मेरा शरीर; स्पर्शनेन—स्पर्श करने से; अङ्ग—हे बालक; लोकान्—लोकों को; यास्यति—जाएगा; सु-प्रजाः—भक्त-नागरिक बनने के लिए।

मेरे बालक, तुम्हारा पिता अपनी मृत्यु के समय मेरे शरीर के स्पर्श मात्र से पहले ही पवित्र हो चुका है। तो भी पुत्र का कर्तव्य है कि वह अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् श्राद्ध-क्रिया सम्पन्न करे जिससे उसका पिता ऐसे लोक को जा सके जहाँ वह अच्छा नागरिक तथा भक्त बन सके।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि यद्यपि हिरण्यकशिपु पहले ही पवित्र हो चुका था, किन्तु पुनः भक्त बनने के लिए उसे उच्चलोक में जन्म लेना पड़ा था। प्रह्लाद महाराज को शिष्टाचार के रूप में अन्त्येष्टि क्रिया करने के लिए कहा गया, क्योंकि भगवान् किसी भी हालत में विधि-विधानों को रोकना नहीं चाहते। मध्व मुनि का भी आदेश है—

मधुकैटभौ भक्त्यभावा दूरौ भगवतो मृतौ।

तम एव क्रमादाप्तौ भक्त्या चेद्यो हरिं ययौ॥

जब भगवान् ने मधु-कैटभ असुरों को मार डाला तो उनके सम्बन्धियों ने भी अन्त्येष्टि क्रिया की जिससे वे दोनों भगवद्धाम वापस जा सकें।

पित्र्यं च स्थानमातिष्ठ यथोक्तं ब्रह्मवादिभिः ।
मय्यावेश्य मनस्तात कुरु कर्माणि मत्परः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

पित्र्यम्—पैतृक; च—भी; स्थानम्—स्थान पर, सिंहासन पर; आतिष्ठ—बैठो; यथा-उक्तम्—जैसा कहा गया है; ब्रह्मवादिभिः—वैदिक सभ्यता के पालनकर्ताओं द्वारा; मयि—मुझमें; आवेश्य—पूर्णतया लीन करके; मनः—मन को; तात—हे मेरे बालक; कुरु—सम्पन्न करो; कर्माणि—वैधानिक कार्य; मत्-परः—मेरे कार्य के लिए।

अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न करने के बाद तुम अपने पिता के साम्राज्य का भार सँभालो। तुम सिंहासन पर बैठो और भौतिक कार्यकलापों से तनिक भी विचलित मत होओ। तुम अपना मन मुझ पर स्थिर रखो। तुम शिष्टाचार के रूप में वेदों के आदेशों का उल्लंघन किये बिना अपना विहित कार्य कर सकते हो।

तात्पर्य : जब कोई भक्त बन जाता है, तो वैदिक विधि-विधानों के प्रति उसका कोई कर्तव्य नहीं रह जाता। मनुष्य को अनेक कार्य करने होते हैं, किन्तु यदि कोई भगवद्भक्त बन जाता है, तो वह उनके लिए बाध्य नहीं होता। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (११.५.४१) में कहा गया है—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां

न किङ्करो नायमृणी च राजन्।

सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं

गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

जिसने भगवान् के चरणकमलों में शरण ले ली है, वह अपने पूर्वजों, ऋषियों, मानव समाज, सामान्य व्यक्ति या किसी जीव का ऋणी नहीं रह जाता।

तो भी भगवान् ने प्रह्लाद महाराज को विधि-विधान पालन करने की सलाह दी, क्योंकि वे राजा बनने जा रहे थे और अन्य लोगों को उनका अनुसरण करना था। इस तरह नृसिंहदेव ने प्रह्लाद महाराज को अपने राजनीतिक कार्यों में व्यस्त होने की सलाह दी जिससे लोग भगवद्भक्त बन सकें—

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

''महापुरुष जो भी कर्म करता है, सामान्य जन उसी का अनुसरण करते हैं और वह अपने आदर्श कार्यों से जो प्रमाण प्रस्तुत करता है सारा संसार उसी का अनुगमन करता है।'' (*भगवद्गीता* ३.२१)। मनुष्य को किसी सांसारिक कार्य में आसक्त नहीं होना चाहिए, किन्तु भक्त सामान्य जन को दिखाने के लिए आदर्श रूप में ऐसा कार्य कर सकता है, जिससे वह वैदिक आदेशों से विपथ न हो।

श्रीनारद उवाच

प्रह्लादोऽपि तथा चक्रे पितुर्यत्साम्परायिकम् ।
यथाह भगवान्राजन्नभिषिक्तो द्विजातिभिः ॥ २४॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; प्रह्लादः—प्रह्लाद महाराज; अपि—भी; तथा—उस तरह से; चक्रे—सम्पन्न किया; पितुः—अपने पिता का; यत्—जो कुछ; साम्परायिकम्—मृत्यु के पश्चात् किये जाने वाले कर्मकाण्ड; यथा—जिस तरह; आह—आज्ञा दी; भगवान्—भगवान्; राजन्—हे राजा युधिष्ठिर; अभिषिक्तः—सिंहासन पर बैठाया गया; द्वि-जातिभिः—उपस्थित ब्राह्मणों द्वारा।

श्री नारद मुनि ने आगे कहा : भगवान् की आज्ञानुसार प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता की अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की। हे राजा युधिष्ठिर, तब उसे हिरण्यकशिपु के राजसिंहासन पर ब्राह्मणों के निर्देशानुसार बैठाया गया।

तात्पर्य : यह आवश्यक है कि समाज चार प्रकार के जन समूहों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—में विभाजित हो। यहाँ हम यह देखते हैं कि यद्यपि प्रह्लाद महाराज सभी प्रकार से पूर्ण थे, किन्तु उन्होंने ब्राह्मणों के आदेशों का पालन किया जिन्होंने वैदिक अनुष्ठान सम्पन्न कराये। अतएव समाज में अत्यन्त बुद्धिमान वर्ग के नेता होने चाहिए जो वैदिक ज्ञान में पटु हों जिससे वे समग्र जनता को वैदिक नियमों का पालन करने के लिए मार्गदर्शन दे सकें और जनता क्रमशः पूर्ण बनकर भगवद्धाम जाने के योग्य बन सके।

प्रसादसुमुखं दृष्ट्वा ब्रह्मा नरहरिं हरिम् ।
स्तुत्वा वाग्भिः पवित्राभिः प्राह देवादिभिर्वृतः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

प्रसाद-सुमुखम्—भगवान् के प्रसन्न होने से जिसका मुख तेजोमय था; दृष्ट्वा—यह दशा देखकर; ब्रह्मा—ब्रह्माजी; नर-हरिम्—नृसिंहदेव को; हरिम्—भगवान्; स्तुत्वा—प्रार्थना करके; वाग्भिः—दिव्य शब्दों से; पवित्राभिः—पवित्र; प्राह—बोले; देव-आदिभिः—अन्य देवताओं से; वृतः—घिरे हुए।

अन्य देवताओं से घिरे हुए ब्रह्माजी का मुखमण्डल चमक रहा था क्योंकि भगवान् प्रसन्न थे। अतएव उन्होंने दिव्य शब्दों से भगवान् की प्रार्थना की।

श्रीब्रह्मोवाच
देवदेवाखिलाध्यक्ष भूतभावन पूर्वज ।
दिष्ट्या ते निहतः पापो लोकसन्तापनोऽसुरः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; देव-देव—हे समस्त देवताओं के स्वामी; अखिल-अध्यक्ष—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्वामी; भूत-भावन—हे समस्त जीवों के कारण; पूर्व-ज—हे आदि पुरुष; दिष्ट्या—अपने उदाहरण से या हमारे सौभाग्य से; ते—तुम्हारे द्वारा; निहतः—मारा गया; पापः—अत्यन्त पापी; लोक-सन्तापनः—समग्र ब्रह्माण्ड को दुख देने वाला; असुरः—हिरण्यकशिपु नामक असुर।

ब्रह्माजी ने कहा : हे देवताओं के परम स्वामी, हे समग्र ब्रह्माण्ड के अध्यक्ष, हे समस्त जीवों के वरदाता, हे आदि पुरुष, यह हमारा सौभाग्य है कि आपने इस पापी असुर को मार डाला जो समग्र ब्रह्माण्ड को दुख देने वाला था।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१०.८) में *पूर्वज* शब्द की व्याख्या दी गई है—*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।* ब्रह्मा समेत सारे देवता भगवान् से प्रकट होते हैं। अतएव समस्त कारणों के कारण *आदि पुरुष* गोविन्द हैं।

योऽसौ लब्धवरो मत्तो न वध्यो मम सृष्टिभिः ।
तपोयोगबलोन्नद्धः समस्तनिगमानहन् ॥ २७॥

शब्दार्थ

यः—जो व्यक्ति; असौ—वह (हिरण्यकशिपु); लब्ध-वरः—असामान्य वर प्रदान किये जाने पर; मत्तः—मुझसे; न वध्यः—न मारा जा सकने वाला; मम सृष्टिभिः—मेरे द्वारा उत्पन्न किसी भी जीव द्वारा; तपः-योग-बल—तपस्या, योग तथा बलद्वारा; उन्नद्धः—इस प्रकार से अत्यन्त गर्वित; समस्त—सारे; निगमान्—वैदिक आदेशों को; अहन्—न मानते हुए, उल्लंघन करके।

इस असुर हिरण्यकशिपु ने मुझसे यह वरदान प्राप्त किया था कि वह मेरी सृष्टि में किसी भी जीव के द्वारा मारा नहीं जाएगा। इस आश्वासन के कारण तथा तपस्या और योग से प्राप्त बल द्वारा वह अत्यन्त गर्वित हो उठा और समस्त वैदिक आदेशों का उल्लंघन करने लगा।

दिष्ट्या तत्तनयः साधुर्महाभागवतोऽर्भकः ।
त्वया विमोचितो मृत्योर्दिष्ट्या त्वां समितोऽधुना ॥ २८॥

शब्दार्थ

दिष्ट्या—भाग्य से; तत्-तनयः—उसका पुत्र; साधुः—साधु पुरुष; महा-भागवतः—महान् भक्त; अर्भकः—बालक होते हुए; त्वया—आपके द्वारा; विमोचितः—मुक्त किया हुआ; मृत्योः—मृत्यु के बन्धन से; दिष्ट्या—भाग्य से; त्वाम् समितः—पूर्णतः आपकी शरण में; अधुना—इस समय।

सौभाग्य से हिरण्यकशिपु का पुत्र प्रह्लाद अब मृत्यु से बचा लिया गया है और यद्यपि वह अभी बालक है, किन्तु है महाभागवत, अब वह पूर्णतया आपके चरणकमलों की शरण में है।

एतद्वपुस्ते भगवन्ध्यायतः परमात्मनः ।
सर्वतो गोप्तृ सन्त्रासान्मृत्योरपि जिघांसतः ॥ २९॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; वपुः—शरीर; ते—तुम्हारा; भगवन्—हे भगवान्; ध्यायतः—जो ध्यान करते हैं; परम-आत्मनः—परम पुरुष का; सर्वतः—सभी जगह से; गोप्तृ—रक्षक; सन्त्रासात्—सभी प्रकार के भय से; मृत्योः अपि—यहाँ तक कि मृत्यु भय से भी; जिघांसतः—यदि शत्रु भी ईर्ष्या करे।

हे भगवान्, हे पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर! आप परमात्मा हैं। यदि कोई आपके दिव्य शरीर का ध्यान करता है, आप सभी प्रकार के भय से, यहाँ तक कि आसन्न मृत्यु-भय से भी, उसकी रक्षा करते हैं।

तात्पर्य : हर एक की मृत्यु निश्चित है, क्योंकि कोई भी मृत्यु के हाथों से बच नहीं सकता। यह मृत्यु भगवान् का ही रूप है (*मृत्युः सर्वहरश्चाहम्*)। किन्तु भक्त हो जाने पर उसे सीमित आयु के अनुसार मरना नहीं होता। हर एक की आयु सीमित है, किन्तु भगवान् की कृपा होने से भक्त की आयु बढ़ सकती है, क्योंकि भगवान् किसी के भी कर्मफल को निरस्त कर सकते हैं। *कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजां।* यह *ब्रह्म-संहिता* (५.५४) का कथन है। भक्त *कर्म-नियमों* के अधीन नहीं होता। अतएव भगवान् की अहैतुकी कृपा से भक्त अपनी निर्धारित मृत्यु से भी बच सकता है। ईश्वर मृत्यु-भय से भी अपने भक्त की रक्षा करता है।

श्रीभगवानुवाच
मैवं विभोऽसुराणां ते प्रदेयः पद्मसम्भव ।
वरः क्रूरनिसर्गाणामहीनाममृतं यथा ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने (ब्रह्मा को) उत्तर दिया; मा—मत; एवम्—इस प्रकार; विभो—हे महापुरुष; असुराणाम्—असुरों के; ते—तुम्हारे द्वारा; प्रदेयः—दिया हुआ वर; पद्म-सम्भव—हे कमल पुष्प से उत्पन्न ब्रह्माजी; वरः—वरदान; क्रूर-निसर्गाणाम्—जो व्यक्ति प्रकृति से अत्यन्त क्रूर तथा ईर्ष्यालु होते हैं; अहीनाम्—साँपों को; अमृतम्—अमृत या दूध; यथा—जिस प्रकार।

भगवान् ने उत्तर दिया: हे ब्रह्मा, हे कमल पुष्प से उत्पन्न महान्प्रभु, जिस प्रकार साँप को दूध पिलाना घातक होता है उसी तरह असुरों को वर प्रदान करना घातक होता है, क्योंकि वे प्रकृति से क्रूर तथा ईर्ष्यालु होते हैं। मैं तुम्हें सचेत करता हूँ कि तुम फिर से किभी किसी असुर को ऐसा वर मत प्रदान करना।

श्रीनारद उवाच
इत्युक्त्वा भगवान्राजंस्ततश्चान्तर्दधे हरिः ।
अदृश्यः सर्वभूतानां पूजितः परमेष्ठिना ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; इति उक्त्वा—ऐसा कहकर; भगवान्—भगवान्; राजन्—हे राजा युधिष्ठिर; ततः—उस स्थान से; च—भी; अन्तर्दधे—अन्तर्धान हो गये; हरिः—भगवान् हरि; अदृश्यः—अदृश्य; सर्व-भूतानाम्—समस्त जीवों के द्वारा; पूजितः—पूजे जाकर; परमेष्ठिना—ब्रह्मा द्वारा।

नारद मुनि ने आगे कहा : हे राजा युधिष्ठिर, ब्रह्मा को उपदेश देते हुए सामान्य व्यक्ति को न दिखने वाले भगवान् इस तरह बोले। तब ब्रह्मा द्वारा पूजित होकर भगवान् उस स्थान से अदृश्य हो गये।

ततः सम्पूज्य शिरसा ववन्दे परमेष्ठिनम् ।
भवं प्रजापतीन्देवान्प्रह्लादो भगवत्कलाः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; सम्पूज्य—पूजा करके; शिरसा—सिर झुका करके; ववन्दे—प्रार्थना की; परमेष्ठिनम्—ब्रह्मा को; भवम्—शिव को; प्रजापतीन्—प्रजापतियों को; देवान्—सारे बड़े-बड़े देवताओं को; प्रह्लादः—प्रह्लाद महाराज ने; भगवत्-कलाः—भगवान् के अंश।

तब प्रह्लाद महाराज ने भगवान् के अंश रूप समस्त देवताओं की यथा ब्रह्मा, शिव तथा प्रजापतियों की पूजा और स्तुति की।

ततः काव्यादिभिः सार्धं मुनिभिः कमलासनः ।
दैत्यानां दानवानां च प्रह्लादमकरोत्पतिम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; काव्य-आदिभिः—शुक्राचार्य तथा अन्यों के; सार्धम्—साथ; मुनिभिः—बड़े-बड़े सन्त पुरुषों के; कमल-आसनः—ब्रह्माजी; दैत्यानाम्—सारे असुरों का; दानवानाम्—सारे देवताओं का; च—तथा; प्रह्लादम्—प्रह्लाद महाराज को; अकरोत्—बना दिया; पतिम्—राजा या स्वामी।

तत्पश्चात् शुक्राचार्य तथा अन्य बड़े-बड़े सन्त पुरुषों सहित कमलासीन ब्रह्माजी ने प्रह्लाद को ब्रह्माण्ड के सारे असुरों तथा दानवों का राजा बना दिया।

तात्पर्य : नृसिंहदेव की कृपा से प्रह्लाद महाराज अपने पिता हिरण्यकशिपु से भी बड़े राजा बन गये। ब्रह्माजी ने अन्य ऋषियों तथा देवताओं की उपस्थिति में उनका राज्याभिषेक कर दिया।

प्रतिनन्द्य ततो देवाः प्रयुज्य परमाशिषः ।
स्वधामानि ययू राजन्ब्रह्माद्याः प्रतिपूजिताः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

प्रतिनन्द्य—बधाई देकर; ततः—तत्पश्चात्; देवाः—सारे देवता; प्रयुज्य—देकर; परम-आशिषः—शुभ आशीर्वाद; स्व-धामानि—अपने-अपने धामों को; ययुः—लौट गये; राजन्—हे राजा युधिष्ठिर; ब्रह्म-आद्याः—ब्रह्मा आदि सारे देवता; प्रतिपूजिताः—(प्रह्लाद महाराज द्वारा) भली-भाँति पूजित होकर।

हे राजा युधिष्ठिर, प्रह्लाद महाराज द्वारा भली-भाँति पूजित होकर ब्रह्मादि सारे देवताओं ने उन्हें अपने-अपने आशीर्वाद दिये और फिर अपने-अपने आवासों को वापस चले गये।

एवं च पार्षदौ विष्णोः पुत्रत्वं प्रापितौ दितेः ।
हृदि स्थितेन हरिणा वैरभावेन तौ हतौ ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह से; च—भी; पार्षदौ—दो निजी संगी; विष्णोः—विष्णु के; पुत्रत्वम्—पुत्र बनकर; प्रापितौ—प्राप्त करके; दितेः—दिति के; हृदि—हृदय में; स्थितेन—स्थित; हरिणा—परमेश्वर द्वारा; वैर-भावेन—शत्रु मानकर; तौ—दोनों; हतौ—मारे गये।.

इस प्रकार भगवान् विष्णु के दोनों पार्षद, जो दिति के पुत्र हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु बने थे, मार डाले गये। भ्रमवश उन्होंने सोचा था कि हर एक के हृदय में निवास करने वाले परमेश्वर उनके शत्रु हैं।

तात्पर्य : नृसिंहदेव तथा प्रह्लाद महाराज सम्बन्धी वार्ता तब शुरू हुई जब महाराज युधिष्ठिर ने नारद से पूछा कि शिशुपाल किस तरह कृष्ण के शरीर में लीन हो गया। शिशुपाल तथा दन्तवक्र हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु ही थे। यहाँ पर नारद मुनि बता रहे हैं कि किस प्रकार विष्णु के दोनों पार्षद तीन विभिन्न जन्मों में उन्हीं के द्वारा मारे गये। सर्वप्रथम वे हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु असुर हुए थे।

पुनश्च विप्रशापेन राक्षसौ तौ बभूवतुः ।
कुम्भकर्णदशग्रीवौ हतौ तौ रामविक्रमैः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

पुनः—फिर; च—भी; विप्र-शापेन—ब्राह्मण द्वारा शापित होकर; राक्षसौ—दो राक्षस; तौ—वे दोनों; बभूवतुः—अवतरित हुए; कुम्भकर्ण-दश-ग्रीवौ—कुम्भकर्ण तथा दशशीश रावण के नाम से विख्यात; हतौ—वे भी मार डाले गये; तौ—दोनों; राम-विक्रमैः—भगवान् राम के अतुलित बल से।.

ब्राह्मणों द्वारा शापित होने से इन दोनों पार्षदों ने कुम्भकर्ण तथा दशग्रीव रावण के रूप में फिर से जन्म लिया। ये दोनों राक्षस भगवान् रामचन्द्र के अतुलित पराक्रम द्वारा मारे गये।

शयानौ युधि निर्भिन्नहृदयौ रामशायकैः ।
तच्चित्तौ जहतुर्देहं यथा प्राक्तनजन्मनि ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

शयानौ—लेटे हुए; युधि—युद्धस्थल में; निर्भिन्न—बींधे जाकर; हृदयौ—हृदय में; राम-शायकैः—रामचन्द्र के बाणों से; तत्-चित्तौ—भगवान् राम के विषय में सोचते हुए; जहतुः—त्याग दिया; देहम्—शरीर; यथा—जिस प्रकार; प्राक्तन-जन्मनि—पूर्वजन्मों में।.

भगवान् रामचन्द्र के बाणों से बिंध कर कुम्भकर्ण तथा रावण दोनों ही युद्धभूमि में पड़े रहे और भगवान् के विचार में लीन होकर उसी तरह अपने अपने शरीर छोड़ दिये जिस तरह अपने पूर्व-जन्म में हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु के रूप में किया था।

**ताविहाथ पुनर्जातौ शिशुपालकरूषजौ ।
हरौ वैरानुबन्धेन पश्यतस्ते समीयतुः ॥ ३८ ॥**

शब्दार्थ

तौ—दोनों; इह—इस मानव समाज में; अथ—इस प्रकार; पुनः—फिर; जातौ—जन्म लिया; शिशुपाल—शिशुपाल; करूष-जौ—दन्तवक्र; हरौ—भगवान् में; वैर-अनुबन्धेन—भगवान् को शत्रु मानने के बन्धन द्वारा; पश्यतः—देखते हुए; ते—तुम्हारे; समीयतुः—भगवान् के चरणकमलों में लीन हो गये या चले गये।

उन्होंने फिर से मानव समाज में शिशुपाल तथा दन्तवक्र के रूप में जन्म लिया और भगवान् से वैसा ही वैर-भाव बनाये रखा। ये वही थे, जो ही तुम्हारे समक्ष भगवान् के शरीर में लीन हो गये।

तात्पर्य : *वैरानुबन्धेन*—भगवान् का शत्रु बनना भी जीव के लिए लाभप्रद होता है। *कामाद्द्वेषाद् भयात् स्नेहाद्।* जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने संस्तुति है मनुष्य को कामेच्छा, क्रोध, भय या भगवान् की ईर्ष्या या किसी अन्य प्रकार से (*तस्मात् केनाप्युपायेन*) भगवान् से आसक्त होना चाहिए और अन्ततः भगवद्धाम लौट जाना चाहिए। अतएव ऐसे व्यक्ति के विषय में क्या कहा जा सकता है, जो भगवान् से दास, सखा, पिता, माता, या प्रेमी के रूप में सम्बन्धित हो?

**एनः पूर्वकृतं यत्तद्राजानः कृष्णवैरिणः ।
जहुस्तेऽन्ते तदात्मानः कीटः पेशस्कृतो यथा ॥ ३९ ॥**

शब्दार्थ

एनः—यह पापकर्म (भगवान् की निन्दा का); पूर्व-कृतम्—पूर्व जन्म में किया गया; यत्—जो; तत्—वह; राजानः—राजागण; कृष्ण-वैरिणः—सदैव कृष्ण के शत्रु बने रहने वाले; जहुः—त्याग दिया; ते—वे सभी; अन्ते—मृत्यु के समय; तत्-आत्मानः—वही आध्यात्मिक स्वरूप प्राप्त करके; कीटः—कीड़ा; पेशस्कृतः—काली भृङ्गी द्वारा (पकड़ा गया); यथा—जिस तरह।

न केवल शिशुपाल तथा दन्तवक्र अपितु अन्य अनेकानेक राजा जो कृष्ण के शत्रु बने हुए थे अपनी मृत्यु के समय मोक्ष को प्राप्त हुए। चूँकि वे भगवान् के विषय में सोचते थे, अतः उन्हें भगवान्-जैसा आध्यात्मिक स्वरूप प्राप्त हुआ जिस तरह भृंगी द्वारा पकड़ा गया कीड़ा भृंगी का शरीर प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य : यहाँ पर यौगिक ध्यान का रहस्य समझाया गया है। असली योगी अपने हृदयों में सदैव विष्णु के स्वरूप का ध्यान करते हैं। फलस्वरूप वे मृत्यु के समय विष्णु के स्वरूप का ध्यान धरते हुए अपना शरीर त्याग कर विष्णुलोक या वैकुण्ठलोक को प्राप्त करते हैं जहाँ उन्हें विष्णु जैसा ही स्वरूप प्राप्त होता है। हम छठे स्कंध में देख चुके हैं कि जब अजामिल का उद्धार करने के लिए वैकुण्ठ से

विष्णुदूत आये तो वे विष्णु सरीखे ही लग रहे थे। उनके भी चार हाथ थे और उनका स्वरूप विष्णु जैसा था। अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि कोई विष्णु का चिन्तन करने का अभ्यास करे और मृत्यु के समय उन्हीं के विचार में पूर्णतया लीन रहे तो वह भगवद्धाम वापस चला जाता है। यहाँ तक कि कृष्ण के शत्रु ने भी, यथा राजा कंस जो भयवश कृष्ण का चिन्तन करता था, भगवान् के ही समान आध्यात्मिक स्वरूप प्राप्त किया।

यथा यथा भगवतो भक्त्या परमयाभिदा ।
नृपाश्चैद्यादयः सात्म्यं हरेस्तच्चिन्तया ययुः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यथा यथा—जिस जिस तरह; भगवतः—भगवान् की; भक्त्या—भक्ति से; परमया—परम; अभिदा—ऐसे कार्यकलापों का सतत चिन्तन करते हुए; नृपाः—राजा; चैद्य-आदयः—शिशुपाल, दन्तवक्र आदि; सात्म्यम्—वही रूप; हरेः—भगवान् का; तत्-चिन्तया—निरन्तर उनका चिन्तन करने से; ययुः—भगवद्धाम वापस गये।

जो शुद्ध भक्त भक्ति के द्वारा भगवान् का निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं, वे उन्हीं जैसा शरीर प्राप्त करते हैं। यह सारूप्य मुक्ति कहलाती है। यद्यपि शिशुपाल, दन्तवक्र तथा अन्य राजा कृष्ण का अपने शत्रु के रूप में चिंतन करते थे, किन्तु उन्हें भी वैसा ही फल प्राप्त हुआ।

तात्पर्य : इस सम्बन्ध में *चैतन्य-चरितामृत* में सनातन गोस्वामी को उपदेश देते हुए श्री चैतन्य महाप्रभु ने बताया कि भक्त को बाह्य रूप से नियमतः भक्ति के दैनन्दिन कार्य करने चाहिए, किन्तु अन्तः रूप से उसे उस विशेष भाव का चिन्तन करना चाहिए जिससे वह भगवान् की सेवा के प्रति आकृष्ट है। भगवान् का ऐसा निरन्तर ध्यान करते रहने से भक्त भगवद्धाम जाने का पात्र बन जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.९) में कहा गया है—*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति*—अपना शरीर त्यागने के बाद भक्त को पुनः भौतिक शरीर की प्राप्ति नहीं होती, अपितु वह भगवद्धाम को चला जाता है जहाँ उसे भगवान् के उन नित्य पार्षदों का सा आध्यात्मिक शरीर प्राप्त होता है जिनके कार्यकलापों का वह अनुयायी बना रहता है। किन्तु यदि भक्त भगवान् की निरन्तर सेवा करना चाहता है, तो वह भगवान् के पार्षदों का यथा ग्वालों, गोपियों, भगवान् के माता-पिता, उनके दासों तथा भगवान् के धाम के वृक्ष, भूमि, पशु, लता तथा जल इत्यादि का निरन्तर चिन्तन कर सकता है। इनके विषय में निरन्तर चिन्तन करते रहने से मनुष्य को दिव्य पद की प्राप्ति होती है। शिशुपाल, दन्तवक्र, कंस, पौण्ड्रक, नरकासुर तथा शाल्व जैसे राजाओं का इसी तरह उद्धार हुआ। इसकी पुष्टि मध्वाचार्य ने की है—

पौण्ड्रके नरके चैव शाल्वे कंसे च रुक्मिणि।

आविष्टास्तु हरेर्भक्तास्तद्भक्त्या हरिमापिरे॥

यद्यपि पौण्ड्रक, नरकासुर, शाल्व तथा कंस—ये सभी भगवान् के शत्रु थे, किन्तु ये सारे राजा उनके विषय में निरन्तर सोचा करते थे, अतएव उन्हें वैसी ही मुक्ति—*सारूप्य मुक्ति*—प्राप्त हुई। *ज्ञान-भक्त* को भी वही गति मिलती है। यदि भगवान् के शत्रु तक उनका निरन्तर चिन्तन करके मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं, तो उन शुद्ध भक्तों के विषय में क्या कहा जाये जो सदैव भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं और प्रत्येक कार्य में भगवान् के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं सोचते?

आख्यातं सर्वमेतत्ते यन्मां त्वं परिपृष्टवान् ।
दमघोषसुतादीनां हरेः सात्म्यमपि द्विषाम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

आख्यातम्—वर्णन किया गया; सर्वम्—सब कुछ; एतत्—यह; ते—तुमसे; यत्—जो भी; माम्—मुझसे; त्वम्—तुमने; परिपृष्टवान्—पूछा; दमघोष-सुत-आदीनाम्—दमघोष के पुत्र (शिशुपाल) तथा अन्यों का; हरेः—भगवान् का; सात्म्यम्—समान स्वरूप से; अपि—भी; द्विषाम्—यद्यपि वे शत्रु थे।

तुमने मुझसे पूछा था कि किस तरह शिशुपाल तथा अन्यों ने भगवान् का शत्रु होते हुए भी मोक्ष प्राप्त किया सो वह सब कुछ मैंने तुम्हे बतला दिया है।

एषा ब्रह्मण्यदेवस्य कृष्णस्य च महात्मनः ।
अवतारकथा पुण्या वधो यत्रादिदैत्ययोः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

एषा—यह सब; ब्रह्मण्य-देवस्य—भगवान् का, जो समस्त ब्राह्मणों द्वारा पूजित हैं; कृष्णस्य—आदि भगवान् कृष्ण का; च—भी; महा-आत्मनः—परमात्मा; अवतार-कथा—उनके अवतार की कथाएँ; पुण्या—पवित्र, शुद्ध करने वाली; वधः—मारा जाना, वध; यत्र—जिसमें; आदि—प्रारम्भिक कल्प में; दैत्ययोः—दोनों असुरों (हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु) का।

भगवान् कृष्ण सम्बन्धी इस कथा में भगवान् के विभिन्न अवतार वर्णन किए गये हैं। साथ ही इसमें हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु नामक दो असुरों के वध का भी वर्णन किया गया है।

तात्पर्य : विभिन्न *अवतार* भगवान् कृष्ण या गोविन्द के अंश हैं—

अद्वैतच्युतमनादिमनन्तरूपम्

आद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च।

वेदेषु दुर्लभमदुर्लभमात्मभक्तौ

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

''मैं उन भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो आदि पुरुष हैं—अद्वैत, अच्युत तथा अनादि हैं। यद्यपि वे अनन्त रूपों में विस्तार करते हैं, तो भी वे आदि हैं। यद्यपि वे सबसे प्राचीन पुरुष हैं फिर भी वे सदा नवयुवक जैसे प्रतीत होते हैं। भगवान् ऐसे नित्य, आनन्दमय तथा सर्वज्ञ रूप जैसे वेदों के शैक्षणिक ज्ञान से नहीं समझे जा सकते, किन्तु वे शुद्ध अनन्य भक्तों के लिए सदैव प्रकट होते हैं।'' (*ब्रह्म-संहिता* ५.३३) *ब्रह्म-संहिता* में अवतारों का वर्णन है। निस्सन्देह, समस्त प्रामाणिक शास्त्रों में अवतारों का वर्णन हुआ है। कोई भी मनुष्य अवतार नहीं बन सकता यद्यपि कलियुग में यह फैशन जैसा हो गया है। चूँकि शास्त्रों में अवतारों का वर्णन है, अतएव किसी बनावटी अवतार को स्वीकार करने का खतरा मोल लेने के पूर्व शास्त्रों को देखना चाहिए। शास्त्रों में सर्वत्र कहा गया है कि कृष्ण आदि भगवान् हैं और उनके असंख्य अवतार हैं। *ब्रह्म-संहिता* में अन्यत्र कहा गया है—*रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्*—राम, नृसिंह तथा अन्य अनेक एक के बाद एक भगवान् के अंश हैं। कृष्ण के बाद बलराम, बलराम के बाद संकर्षण और तब अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, नारायण तब फिर पुरुष अवतार—महा विष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु आते हैं। ये सभी अवतार हैं।

मनुष्यों को इन अवतारों के विषय में सुनना चाहिए। ऐसे अवतारों के वर्णन *अवतार कथाएँ* कहलाती हैं। इन कथाओं का श्रवण तथा कीर्तन पूर्णतया पवित्र होता है। *शृण्वतां स्वकथा: कृष्ण: पुण्यश्रवणकीर्तन: ।* जो इन्हें सुनता तथा इनका कीर्तन करता है, वह *पुण्य* बन सकता है।

जब भी अवतारों का प्रसंग आता है, तो धार्मिक सिद्धान्तों की स्थापना होती है और कृष्ण के विरोधी असुर मारे जाते हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन सारे विश्व में दो उद्देश्यों से फैल रहा है—श्री भगवान् के रूप में कृष्ण की स्थापना करना तथा जो मिथ्या ही अपने को अवतार कहते हैं उनका वध करना। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रचारकों को अपने मन में यह संकल्प बड़ी सावधानी से पालन करना चाहिए और उन असुरों का वध करना चाहिए जो बड़ी ही निपुणता से भगवान् कृष्ण को अपमानित करते हैं। यदि हम नृसिंहदेव तथा प्रह्लाद महाराज की शरण ले लें तो कृष्ण के विरोधी असुरों को मारना और इस तरह पन: कृष्ण वर्चस्व को स्थापित करना आसान हो जायगा। *कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*—कृष्ण परमेश्वर हैं, आदि भगवान् हैं। प्रह्लाद महाराज हमारे गुरु हैं और कृष्ण हमारे

आराध्य ईश हैं। जैसाकि चैतन्य महाप्रभु का उपदेश है—*गुरु-कृष्ण प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज।* यदि हम पर प्रह्लाद महाराज और उनके साथ नृसिंहदेव की कृपा हो जाये तो हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन अत्यधिक सफल हो जायेगा।

असुर हिरण्यकशिपु के पास स्वयं ईश्वर बनने का प्रयास करनेके अनेक साधन थे, किन्तु प्रह्लाद महाराज ने अनेक प्रकार से प्रताड़ित किए जाने और धमकाए जाने पर भी अपने शक्तिशाली पिता को ईश्वर मानने से बिल्कुल इनकार कर दिया। हमें प्रह्लाद महाराज के चरणचिह्नों पर चलते हुए ऐसे सारे धूर्तों को अस्वीकार करना होगा जो अपने को ईश्वर कहते हैं। हमें कृष्ण तथा उनके अवतारों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी स्वीकार नहीं करना चाहिए।

प्रह्लादस्यानुचरितं महाभागवतस्य च ।
भक्तिर्ज्ञानं विरक्तिश्च याथार्थ्यं चास्य वै हरेः ॥ ४३ ॥
सर्गस्थित्यप्ययेशस्य गुणकर्मानुवर्णनम् ।
परावरेषां स्थानानां कालेन व्यत्ययो महान् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

प्रह्लादस्य—प्रह्लाद महाराज की; अनुचरितम्—विशेषताएँ (पढ़कर या कार्यकलापों का वर्णन करके समझी गई); महा-भागवतस्य—महान् भक्त की; च—भी; भक्तिः—भगवान् की भक्ति; ज्ञानम्—आध्यात्म का पूर्णज्ञान (ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्); विरक्तिः—भौतिक संसार से वैराग्य; च—भी; याथार्थ्यम्—उन्हें सही सही समझने के लिए; च—तथा; अस्य—इसका; वै—निस्सन्देह; हरेः—सदैव भगवान् के सन्दर्भ में; सर्ग—सृजन; स्थिति—पालन; अप्यय—तथा संहार का; ईशस्य—स्वामी (भगवान्) का; गुण—दिव्य गुण तथा ऐश्वर्य; कर्म—तथा कार्यकलापों का; अनुवर्णनम्—परम्परा के भीतर वर्णन (अनु का अर्थ है 'पश्चात्'। अधिकारी व्यक्ति पूर्व आचार्यों का पालन करते हैं, वे कोई नई चीज नहीं बनाते); पर-अवरेषाम्—देवता तथा असुर नामक विभिन्न प्रकार के जीवों का; स्थानानाम्—विभिन्न लोकों या रहने के स्थानों का; कालेन—समय आने पर; व्यत्ययः—हर वस्तु का संहार; महान्—यद्यपि महान्।

यह कथा महाभागवत प्रह्लाद महाराज के गुणों, उनकी दृढ़ भक्ति, उनके पूर्ण ज्ञान तथा भौतिक कल्मष से पूर्ण विरक्ति को बताती है। यह सृजन, पालन तथा संहार के कारणस्वरूप भगवान् का भी वर्णन करती है। प्रह्लाद महाराज ने अपनी स्तुतियों में भगवान् के दिव्य गुणों के साथ ही यह भी बताया कि किस तरह देवताओं तथा असुरों के आवास भगवान् के निर्देश मात्र से ध्वस्त हो जाते हैं चाहे वे भौतिक ऐश्वर्य से कितने ही भरे क्यों न हो।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* विभिन्न भक्तों के भगवान् की सेवा से सम्बन्धित चरित्रों के वर्णनों से ओत-प्रोत है। यह वैदिक वाङ्मय *भागवत* कहलाता है, क्योंकि इसमें भगवान् तथा उनके भक्त का वर्णन है। प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में *श्रीमद्भागवत* का अध्ययन करने से मनुष्य कृष्ण के विज्ञान, भौतिक तथा

आध्यात्मिक जगतों की प्रकृति तथा जीवन-लक्ष्य को पूर्णरूपेण समझ सकता है। *श्रीमद्भागवतम् अमलं पुराणम्।* *श्रीमद्भागवत* निष्कलंक वैदिक वाङ्मय है, जैसाकि हम *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में ही बतला चुके हैं। अत: *श्रीमद्भागवत* को समझने मात्र से ही हम भक्तों के कार्यकलापों, असुरों के कार्यों, स्थायी तथा नश्वर धामों के विज्ञान को समझ सकते हैं। *श्रीमद्भागवत* के माध्यम से हर बात भली-भाँति ज्ञात हो जाती है।

धर्मो भागवतानां च भगवान्येन गम्यते ।
आख्यानेऽस्मिन्समाम्नातमाध्यात्मिकमशेषत: ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

धर्म:—धार्मिक सिद्धान्त; भागवतानाम्—भक्तों का; च—तथा; भगवान्—भगवान्; येन—जिससे; गम्यते—समझे जा सकते हैं; आख्याने—कथा में; अस्मिन्—इस; समाम्नातम्—पूर्णतया वर्णित है; आध्यात्मिकम्—अध्यात्म; अशेषत:—किसी भेदभाव के बिना।

धर्म के जिन सिद्धान्तों से भगवान् को वास्तव में समझा जा सकता है, वह भागवत धर्म कहलाता है। अतएव इस कथा में इन सिद्धान्तों का समावेश होने से वास्तविक अध्यात्म का भली-भाँति वर्णन हुआ है।

तात्पर्य : धर्म के सिद्धान्तों द्वारा मनुष्य भगवान्, ब्रह्म (निर्विशेष रूप) तथा परमात्मा को समझ सकता है। जब वह इन सिद्धान्तों में पूर्णतया परिचित हो जाता है, तो वह भक्त बन जाता है और *भागवत धर्म* सम्पन्न करता है। शिष्य-परम्परा पद्धति के गुरु प्रह्लाद महाराज ने उपदेश दिया है कि इस *भागवत धर्म* की शिक्षा विद्यार्थियों को प्रारम्भ से दी जाये (*कौमार आचरेत प्राज्ञो धर्मान् भागवतान् इह*)। शिक्षा का असली उद्देश्य भगवान् के विज्ञान को समझना है। *श्रवणं कीर्तनं विष्णो:।* मनुष्य को भगवान् विष्णु तथा उनके विभिन्न अवतारों के विषय में ही सुनना एवं गुणगान मात्र करना चाहिए। अतएव प्रह्लाद महाराज तथा नृसिंहदेव की तत्सम्बन्धी इस कथा में आध्यात्मिक दिव्य विषयों का भली-भाँति वर्णन हुआ है।

य एतत्पुण्यमाख्यानं विष्णोर्वीर्योपबृंहितम् ।
कीर्तयेच्छ्रद्धया श्रुत्वा कर्मपाशैर्विमुच्यते ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; एतत्—इस; पुण्यम्—पवित्र; आख्यानम्—कथा को; विष्णोः—भगवान् विष्णु की; वीर्य—परम शक्ति; उपबृंहितम्—के वर्णन से युक्त; कीर्तयेत्—कीर्तन करता या दुहराता है; श्रद्धया—अतीव श्रद्धापूर्वक; श्रुत्वा—उचित स्रोत से सुन कर; कर्म-पाशैः—सकाम कर्मों के बन्धन से; विमुच्यते—छूट जाता है।

जो कोई भगवान् विष्णु की सर्वव्यापकता विषयक इस कथा को सुनता है और इसका कीर्तन करता है, वह निश्चित रूप से भव-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

एतद्य आदिपुरुषस्य मृगेन्द्रलीलां
दैत्येन्द्रयूथपवधं प्रयतः पठेत ।
दैत्यात्मजस्य च सतां प्रवरस्य पुण्यं
श्रुत्वानुभावमकुतोभयमेति लोकम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह कथा; यः—जो कोई; आदि-पुरुषस्य—आदि भगवान् की; मृग-इन्द्र-लीलाम्—नरसिंह की लीलाओं को; दैत्य-इन्द्र—असुरों का राजा; यूथ-प—हाथी के समान बलिष्ठ; वधम्—वध; प्रयतः—ध्यानपूर्वक; पठेत—पढ़ता है; दैत्य-आत्म-जस्य—असुरपुत्र प्रह्लाद महाराज का; च—भी; सताम्—श्रेष्ठ भक्तों में; प्रवरस्य—श्रेष्ठतम; पुण्यम्—पवित्र; श्रुत्वा—सुनकर; अनुभावम्—कार्यकलाप; अकुतः-भयम्—जहाँ किसी समय तथा कहीं भी कोई भय नहीं है; एति—पहुँचता है; लोकम्—आध्यात्मिक जगत में।

प्रह्लाद महाराज भक्तों में सर्वश्रेष्ठ थे। जो कोई प्रह्लाद महाराज के कार्यकलापों, हिरण्यकशिपु के वध तथा भगवान् नृसिंहदेव की लीलाओं से सम्बद्ध इस कथा को अत्यन्त मनोयोग से सुनता है, वह निश्चयपूर्वक आध्यात्मिक जगत में पहुँचता है जहाँ कोई चिन्ता नहीं रहती है।

यूयं नृलोके बत भूरिभागा
लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति ।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद्
गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

यूयम्—तुम सभी (पांडव); नृ-लोके—इस भौतिक जगत में; बत—फिर भी; भूरि-भागाः—अत्यन्त भाग्यशाली; लोकम्—सारे लोकों को; पुनानाः—पवित्र कर सकने वाले; मुनयः—बड़े-बड़े साधु पुरूष; अभियन्ति—सदैव देखने आते हैं; येषाम्—जिनके; गृहान्—घर में; आवसति—रहते हैं; इति—इस प्रकार; साक्षात्—प्रत्यक्ष; गूढम्—परम गोपनीय; परम् ब्रह्म—परब्रह्म, परमेश्वर; मनुष्य-लिङ्गम्—मनुष्य की भाँति प्रकट होकर।

नारद मुनि ने आगे कहा : हे महाराज युधिष्ठिर, तुम सभी (पाण्डव) अत्यन्त भाग्यशाली हो, क्योंकि भगवान् कृष्ण तुम्हारे महल में सामान्य मनुष्य की भाँति निवास करते हैं। बड़े-बड़े साधु पुरुष इसे भली-भाँति जानते हैं इसीलिए वे निरन्तर इस घर में आते रहते हैं।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज के कार्यकलापों का श्रवण करने के पश्चात् शुद्ध भक्त को उनके चरणचिह्नों का अनुसरण करने के लिए उत्सुक होना चाहिए। किन्तु ऐसे भक्त को यह सोचकर निराशा हो सकती है कि प्रत्येक भक्त प्रह्लाद महाराज के स्तर को प्राप्त नहीं कर सकता। यह शुद्ध भक्त का स्वभाव है; वह अपने आपको सबसे निम्न, अयोग्य तथा अकुशल समझता है। इस प्रकार प्रह्लाद महाराज के कार्यकलापों की कथा सुनकर प्रह्लाद जैसी ही भक्ति के स्तर पर रहने वाले महाराज युधिष्ठिर ने अपने विनम्र स्थिति के बारे में विनयवश अपने विषय में भी ऐसा ही सोचते रहे होंगे, किन्तु नारद मुनि महाराज युधिष्ठिर के मन की बात ताड़ गये, अतएव उन्होंने यह कहकर उन्हें तुरंत प्रोत्साहित किया कि पाण्डव भी कम भाग्यशाली नहीं हैं; वे प्रह्लाद महाराज के ही समान हैं, क्योंकि यद्यपि नृसिंहदेव प्रह्लाद के लिए प्रकट हुए थे तो भगवान् कृष्ण अपने आदि रूप में पाण्डवों के साथ रह रहें थे। यद्यपि कृष्ण की *योगमाया* के वशीभूत हुए पाण्डव अपनी भाग्यशाली स्थिति के विषय में सोच भी नहीं सकते थे, किन्तु नारद मुनि समेत प्रत्येक साधु व्यक्ति इसे समझता था, इसीलिए वे निरन्तर महाराज युधिष्ठिर के पास आते रहते थे।

कोई भी शुद्ध भक्त जो निरन्तर कृष्णभावनाभावित है, वह स्वभावत: अत्यन्त भाग्यशाली है। *नृलोके* शब्द का अर्थ है "भौतिक जगत के भीतर" जिससे सूचित होता है कि पाण्डवों से भी पहले अनेकानेक भक्त हो चुके हैं—यथा यदुवंश के वंशज तथा वसिष्ठ, मरीचि, कश्यप, ब्रह्मा तथा शिवजी जो अत्यन्त भाग्यशाली थे। किन्तु पाण्डव इन सबों से श्रेष्ठ हैं, क्योंकि उनके साथ साक्षात् कृष्ण लगातार रहते हैं। इसलिए नारद मुनि ने विशेष रूप से उल्लेख किया कि इस भौतिक जगत (*नृ-लोके*) में पाण्डव अत्यन्त भाग्यशाली हैं।

स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्य-
कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
प्रियः सुहृद्वः खलु मातुलेय
आत्मार्हणीयो विधिकृद्गुरुश्च ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (भगवान् कृष्ण); वा—भी; अयम्—यह; ब्रह्म—निराकार ब्रह्म (जो कृष्ण का तेज है); महत्—महापुरुषों के द्वारा; विमृग्य—खोजा जाकर; कैवल्य—एकत्व; निर्वाण-सुख—दिव्य सुख का; अनुभूतिः—व्यावहारिक अनुभव का स्रोत; प्रियः—अत्यधिक प्रिय; सुहृत्—शुभचिन्तक; वः—तुम्हारा; खलु—निस्सन्देह; मातुलेयः—मामा का पुत्र; आत्मा—शरीर तथा

आत्मा के ही समान; अर्हणीय:—पूज्य (भगवान् होने से); विधि-कृत्—सन्देशवाहक की तरह (फिर भी वह तुम्हारी सेवा करता है); गुरु:—तुम्हारा परम सलाहकार; च—भी।

निराकार ब्रह्म साक्षात् कृष्ण हैं, क्योंकि कृष्ण निराकार ब्रह्म के स्रोत हैं। वे बड़े-बड़े साधु पुरुषों द्वारा तलाश किये जाने वाले दिव्य आनन्द के उत्स हैं फिर भी परम पुरुष तुम्हारे सर्वाधिक प्रिय मित्र तथा चिरन्तन सुहृद् हैं और तुम्हारे मामा के पुत्ररूप में तुमसे घनिष्ठतः सम्बन्धित हैं। निस्सन्देह, वे सदैव तुम्हारे शरीर तथा आत्मा के सदृश हैं। वे पूज्य हैं फिर भी वे तुम्हारे सेवक की तरह और कभी-कभी तुम्हारे गुरु की तरह कार्य करते हैं।

तात्पर्य : परम सत्य के विषय में सदा ही मतभेद रहा है। अध्यात्मवादियों के एक वर्ग का मत है कि परम सत्य निराकार है और दूसरा वर्ग उन्हें पुरुष मानता है। *भगवद्गीता* में परम सत्य को परम पुरुष के रूप में स्वीकार किया गया है। निस्सन्देह, *भगवद्गीता* में परम पुरुष भगवान् कृष्ण साक्षात् उपदेश देते हैं—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्, मत्तः परतरं नान्यत्*—निराकार ब्रह्म मेरा आंशिक प्राकट्य है और मुझसे बढ़कर कोई सत्य नहीं है। वही कृष्ण भगवान् पाण्डवों के परम मित्र तथा सम्बन्धी की भूमिका निभाते हैं। कभी-कभी तो वे धृतराष्ट्र तथा दुर्योधन तक पाण्डवों का पत्र ले जाने वाले सेवक की भी भूमिका निभाते हैं। चूँकि कृष्ण पाण्डवों के शुभचिन्तक थे, अतएव उन्होंने अर्जुन का गुरु बनकर *गुरु* की भी भूमिका अदा की। अर्जुन ने कृष्ण को अपना गुरु स्वीकार किया था (*शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्*) और कभी-कभी कृष्ण उसे प्रताड़ित भी करते थे। उदाहरणार्थ, भगवान् ने कहा—*अशोच्यान् अन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे*—विद्वान् जैसे शब्द बोलते हुए तुम उसके लिए शोक कर रहे हो जो उसके योग्य नहीं है। भगवान् ने यह भी कहा—*कुतस्त्वां कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्*—हे अर्जुन! यह सारी गन्दगी तुममें कहाँ से आई। पाण्डवों तथा कृष्ण के बीच ऐसी घनिष्ठता थी। इसी तरह से भगवान् का शुद्ध भक्त सभी प्रकार के संकट में भगवान् के साथ रहता है; उस की जीवन पद्धति कृष्ण ही हैं। यह श्री नारद मुनि का आधिकारिक कथन है।

न यस्य साक्षाद्भवपद्मजादिभी
रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम् ।
मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः
प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः ॥५०॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यस्य—जिसका; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भव—शिवजी; पद्म-ज—ब्रह्मा (कमल से उत्पन्न); आदिभिः—उनके तथा अन्यों के द्वारा भी; रूपम्—रूप; धिया—ध्यान के द्वारा भी; वस्तुतया—मूल रूप से; उपवर्णितम्—वर्णित तथा अनुभूत; मौनेन—समाधि या गहन ध्यान द्वारा; भक्त्या—भक्ति द्वारा; उपशमेन—त्याग द्वारा; पूजितः—पूजित; प्रसीदताम्—प्रसन्न हो; एषः—यह; सः—वह; सात्वताम्—महान् भक्तों का; पतिः—स्वामी।

शिव तथा ब्रह्माजी जैसे महापुरुष भगवान् कृष्ण के सत्य का सही-सही वर्णन नहीं कर पाये। वे भगवान् हम पर प्रसन्न हों जो सदा समस्त भक्तों के रक्षक रूप में उन महान् सन्तों द्वारा पूजे जाते हैं, जो मौन, ध्यान, भक्ति तथा त्याग का व्रत लिए रहते हैं।

तात्पर्य : यद्यपि भिन्न-भिन्न लोग परम सत्य की खोज विभिन्न विधियों से करते हैं, तो भी वे अचिन्त्य बने रहते हैं। किन्तु पाण्डवों, गोपियों, गोपों, माता यशोदा, नन्द महाराज तथा वृन्दावन के सभी वासियों को भगवत्-प्राप्ति के लिए ध्यान की परम्परागत विधियों का अभ्यास नहीं करना पड़ता, क्योंकि वे इन सबों के साथ सुख-दुख की सभी स्थितियोमें रहते हैं। इसीलिए नारद जैसा साधु पुरुष अध्यात्मवादियों एवं शुद्ध भक्तों में अन्तर को जानते हुए भगवान् से यही प्रार्थना करता है कि वे उस पर प्रसन्न हों।

स एष भगवान्राजन्व्यतनोद्विहतं यशः ।
पुरा रुद्रस्य देवस्य मयेनानन्तमायिना ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

सः एषः भगवान्—वही भगवान् कृष्ण जो परब्रह्म हैं; राजन्—हे राजा; व्यतनोत्—विस्तार किया; विहतम्—खोया; यशः—कीर्ति में; पुरा—प्राचीन काल में; रुद्रस्य—शिवजी की (जो देवताओं में सर्वाधिक शक्तिमान हैं); देवस्य—देवता का; मयेन—मय नामक असुर द्वारा; अनन्त—असीम; मायिना—तकनीकी ज्ञान से युक्त।

हे राजा युधिष्ठिर, बहुत समय पहले तकनीकी ज्ञान में अत्यन्त कुशल मय नामक दानव ने शिवजी के यश में बट्टा लगाया। उस स्थिति में भगवान् कृष्ण ने शिवजी की रक्षा की थी।

तात्पर्य : शिवजी महादेव अर्थात् सर्वश्रेष्ठ देवता कहलाते हैं। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि यद्यपि ब्रह्माजी को भगवान् के यश का पता नहीं था, किन्तु शिवजी को पता था। इस ऐतिहासिक घटना से सिद्ध होता है कि शिवजी परब्रह्म कृष्ण से शक्ति प्राप्त करते हैं।

राजोवाच

कस्मिन्कर्मणि देवस्य मयोऽहञ्जगदीशितुः ।
यथा चोपचिता कीर्तिः कृष्णेनानेन कथ्यताम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने कहा; कस्मिन्—किस कारण से; कर्मणि—किन कार्यों से; देवस्य—महादेव (शिव) के; मयः—मय दानव; अहन्—नष्ट करना चाहता था; जगत्-ईशितुः—शिव की, जो भौतिक शक्ति का नियंत्रण करते हैं और दुर्गा देवी के पति हैं; यथा—जिस प्रकार; च—तथा; उपचिता—पुनः विस्तार किया; कीर्तिः—कीर्ति; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; अनेन—इस; कथ्यताम्—कृपया कह सुनायें।

महाराज युधिष्ठिर ने पूछा : मय दानव ने किस कारण से शिवजी की कीर्ति नष्ट की? कृष्ण ने किस तरह शिव जी की रक्षा की? और किस तरह उनकी कीर्ति का पुनः विस्तार किया? कृपया इन घटनाओं को कह सुनायें।

श्रीनारद उवाच

निर्जिता असुरा देवैर्युध्यनेनोपबृंहितैः ।
मायिनां परमाचार्यं मयं शरणमाययुः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; निर्जिताः—हार कर; असुराः—सारे असुर; देवैः—देवताओं से; युधि—लड़ाई में; अनेन—कृष्ण द्वारा; उपबृंहितैः—शक्ति बढ़ाकर; मायिनाम्—सारे असुरों की; परम-आचार्यम्—सर्वश्रेष्ठ तथा महानतम; मयम्—मय दानव की; शरणम्—शरण; आययुः—ग्रहण की।

नारद मुनि ने कहा : जब परम देवताओं ने जो भगवान् कृष्ण की दया से सदा शक्तिशाली बने रहते हैं असुरों से युद्ध किया तो असुर हार गये, अतएव उन्होंने महानतम असुर मय दानव की शरण ग्रहण की।

स निर्माय पुरस्तिस्रो हैमीरौप्यायसीर्विभुः ।
दुर्लक्ष्यापायसंयोगा दुर्वितर्क्यपरिच्छदाः ॥ ५४ ॥
ताभिस्तेऽसुरसेनान्यो लोकांस्त्रीन्सेश्वरान्नृप ।
स्मरन्तो नाशयां चक्रुः पूर्ववैरमलक्षिताः ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (मय दानव); निर्माय—निर्मित करके; पुरः—बड़े-बड़े आवास; तिस्रः—तीन; हैमी—स्वर्ण से बने; रौप्या—चाँदी से बने; आयसीः—लोहे से बने; विभुः—अत्यधिक शक्तिशाली; दुर्लक्ष्य—अकूत; अपाय-संयोगाः—आने-जाने की गतिविधियाँ; दुर्वितर्क्य—असामान्य; परिच्छदाः—साज-सामग्री से युक्त; ताभिः—उन सबों (विमान जैसे तीन आवासों) के द्वारा; ते—वे; असुर-सेना-अन्यः—असुरों के सेनानायक; लोकान् त्रीन्—तीनों लोकों को; स-ईश्वरान्—उनके प्रधान शासकों सहित; नृप—हे राजा युधिष्ठिर; स्मरन्तः—स्मरण करते हुए; नाशयाम् चक्रुः—विनाश करने लगा; पूर्व—पहले की; वैरम्—शत्रुता; अलक्षिताः—अदृश्य रहकर।

असुरों के महान् नायक मय दानव ने तीन अदृश्य आवास तैयार किये और उन्हें असुरों को सौंप दिया। ये तीनों आवास सोने, चाँदी तथा लोहे के बने विमानों जैसे थे और उनमें अपूर्व साज-सामग्री थी। हे राजा युधिष्ठिर, इन तीनों आवसों के कारण असुरों के सेनानायक देवताओं

से अदृश्य हो गए थे। इस अवसर का लाभ उठाकर तथा अपनी पूर्व शत्रुता का स्मरण करते हुए असुरगण तीनों लोकों—ऊर्ध्व, मध्य तथा अधो लोकों—का विनाश करने लगे।

ततस्ते सेश्वरा लोका उपासाद्येश्वरं नताः ।
त्राहि नस्तावकान्देव विनष्टांस्त्रिपुरालयैः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; ते—वे (देवगण); स-ईश्वराः—अपने शासकों समेत; लोकाः—सारे लोक; उपासाद्य—निकट जाकर; ईश्वरम्—शिवजी को; नताः—शरणागत होकर गिर पड़े; त्राहि—रक्षा करें; नः—हमारी; तावकान्—आपके होकर भी अत्यन्त भयभीत; देव—हे प्रभु; विनष्टान्—प्रायः विनष्ट; त्रिपुर-आलयैः—उन तीनों पुरों में रहने वाले असुरों द्वारा।

तत्पश्चात् जब असुरगण स्वर्गलोकों को तहस-नहस करने लगे तो उन लोकों के शासक शिवजी की शरण में आये और उन्होंने कहा—हे प्रभु, हम तीन लोकों के वासी देवता विनष्ट होने वाले हैं। हम आपके अनुयायी हैं। कृपया हमारी रक्षा करें।

अथानुगृह्य भगवान्मा भैष्टेति सुरान्विभुः ।
शरं धनुषि सन्धाय पुरेष्वस्त्रं व्यमुञ्चत ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; अनुगृह्य—उन पर कृपा करके; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; मा—मत; भैष्ट—डरो; इति—इस प्रकार; सुरान्—देवताओं को; विभुः—शिवजी ने; शरम्—बाण; धनुषि—धनुष पर; सन्धाय—चढ़ाकर; पुरेषु—असुरों से युक्त उन तीनों आवासों में; अस्त्रम्—अस्त्र; व्यमुञ्चत—छोड़ा।

अत्यन्त शक्तिशाली एवं समर्थ शिवजी ने उन्हें धैर्य बँधाते हुए कहा "डरो मत।" तब उन्होंने अपने धनुष पर बाण चढ़ाकर असुरों द्वारा निवसित तीनों आवासों की ओर छोड़ा।

ततोऽग्निवर्णा इषव उत्पेतुः सूर्यमण्डलात् ।
यथा मयूखसन्दोहा नादृश्यन्त पुरो यतः ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; अग्नि-वर्णाः—अग्नि के समान चमकीले; इषवः—बाण; उत्पेतुः—छोड़े; सूर्य-मण्डलात्—सूर्यमण्डल से; यथा—जिस प्रकार; मयूख-सन्दोहाः—प्रकाश की किरणें; न अदृश्यन्त—देखे नहीं जा सके; पुरः—तीनों आवास; यतः—इसके कारण (शिवजी के बाणों से घिर कर)।

शिवजी द्वारा छोड़े गये बाण सूर्यमण्डल से निकलने वाली प्रज्वलित किरणों जैसे लग रहे थे। उनसे तीनों आवास-रूपी विमान आच्छादित हो गये जिससे वे दिखने बन्द हो गये।

तैः स्पृष्टा व्यसवः सर्वे निपेतुः स्म पुरौकसः ।

तानानीय महायोगी मयः कूपरसेऽक्षिपत् ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

तैः—उन (बाणों) के द्वारा; स्पृष्टाः—स्पर्श किये जाने या आक्रमण किये जाने से; व्यसवः—निष्प्राण; सर्वे—सारे असुर; निपेतुः—गिर पड़े; स्म—पूर्वकाल में; पुर-ओकसः—उपर्युक्त तीनों आवासरूपी विमानों के निवासी होने के कारण; तान्—उन सबों को; आनीय—लाकर; महा-योगी—महान् योगी; मयः—मय दानव ने; कूप-रसे—अमृत के कुएँ में (जिसे महायोगी मय ने बनाया था); अक्षिपत्—रख दिया।.

शिवजी के सुनहरे बाणों से आक्रमण किये जाने से उन तीनों आवासों के निवासी असुर निष्प्राण होकर गिर पड़े। तब परम योगी मय दानव ने उन्हें अपने द्वारा निर्मित अमृत कूप में लाकर डाल दिया।

तात्पर्य : सामान्यतया असुरगण अपनी योगशक्ति के कारण अत्यन्त शक्तिशाली होते हैं। किन्तु जैसाकि भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (६.४७) में कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

"समस्त योगियों में से जो योगी अत्यन्त श्रद्धा पूर्वक मेरी शरण में रहता है और भक्तिपूर्वक मेरी पूजा करता है, वह योग में घनिष्ठतापूर्वक मुझसे युक्त रहता है और सर्वोच्च होता है।" योगी का असली उद्देश्य भगवान् कृष्ण पर अपने ध्यान को पूरी तरह केन्द्रित करना और सदैव उन्हीं का चिन्तन करना है (*मद्गतेनान्तरात्मना*)। ऐसी सिद्धि-लाभ के लिए मनुष्य को *हठ योग* करना होता है और तब इस योग से अभ्यासकर्ता को किञ्चित अपूर्व योगशक्ति प्राप्त होती है। किन्तु असुरगण कृष्ण के भक्त न बनकर इस *योगशक्ति* का उपयोग अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए करते हैं। उदाहरणार्थ, यहाँ पर मय दानव को *महायोगी* कहा गया है किन्तु उसका कार्य असुरों की सहायता करना था। आजकल देखा जाता है कि कुछ ऐसे योगी हैं, जो भौतिकतावादियों को इन्द्रियों की तृप्ति कराते हैं और ऐसे वञ्चक हैं, जो अपने आपको ईश्वर के रूप में विज्ञापित करते हैं। मय दानव ऐसा ही व्यक्ति था, जो असुरों का देवता था और वह कुछ आश्चर्यजनक करामातें कर सकता था जिनमें से एक का वर्णन यहाँ हुआ है—उसने अमृत से पूर्ण एक कुँआ बनाया और असुरों को लाकर उसी में डाल दिया। यह अमृत *मृत-सञ्जीवयितरि* कहलाता था, क्योंकि इससे मृत शरीर जीवित हो सकता था। *मृतसञ्जीवयितरि* एक आयुर्वेदिक दवा भी है। यह एक प्रकार का आसव है, जो मरणासन्न व्यक्ति में जीवन ला देता है।

सिद्धामृतरसस्पृष्टा वज्रसारा महौजसः ।
उत्तस्थुर्मेघदलना वैद्युता इव वह्नयः ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

सिद्ध-अमृत-रस-स्पृष्टाः—शक्तिशाली योग के अमृत का स्पर्श पाकर असुरगण; वज्र-साराः—जिनके शरीर वज्र के समान हो गये हैं; महा-ओजसः—अत्यन्त बलिष्ठ; उत्तस्थुः—फिर से उठ खड़े हो गये; मेघ-दलनाः—बादलों को चीरकर जाने वाले; वैद्युताः—बिजली (जो बादल को चीर देती है); इव—सदृश; वह्नयः—अग्नि जैसे।

असुरों के मृत शरीर इस अमृत का स्पर्श करते ही वज्र के समान अभेद्य हो गये। महान् शक्ति प्राप्त करने के कारण वे बादलों को विदीर्ण करने वाली बिजली की भाँति उठ खड़े हो गये।

विलोक्य भग्नसङ्कल्पं विमनस्कं वृषध्वजम् ।
तदायं भगवान्विष्णुस्तत्रोपायमकल्पयत् ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

विलोक्य—देखकर; भग्न-सङ्कल्पम्—निराश; विमनस्कम्—अत्यन्त अप्रसन्न, अन्यमनस्क; वृष-ध्वजम्—शिवजी को; तदा—उस समय; अयम्—यह; भगवान्—भगवान्; विष्णुः—विष्णु ने; तत्र—अमृत कूप के पास; उपायम्—उपाय (रोकने का); अकल्पयत्—विचार किया।

शिवजी को अत्यन्त दुखी तथा निराश देखकर भगवान् विष्णु ने विचार किया कि मय दानव द्वारा उत्पन्न इस उत्पात को किस प्रकार रोका जाये।

वत्सश्चासीत्तदा ब्रह्मा स्वयं विष्णुरयं हि गौः ।
प्रविश्य त्रिपुरं काले रसकूपामृतं पपौ ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

वत्सः—बछड़ा; च—भी; आसीत्—बन गये; तदा—उस समय; ब्रह्मा—ब्रह्माजी; स्वयम्—खुद; विष्णुः—भगवान् विष्णु; अयम्—यह; हि—निस्सन्देह; गौः—गाय; प्रविश्य—घुसकर; त्रि-पुरम्—तीनों निवासस्थानों को; काले—दोपहर में; रस-कूप-अमृतम्—कुएँ के अमृत को; पपौ—पी लिया।

तब ब्रह्माजी बछड़ा और भगवान् विष्णु गाय बन गये और दोपहर के समय आवासों में प्रवेश करके वे कुएं का सारा अमृत पी गये।

तेऽसुरा ह्यपि पश्यन्तो न न्यषेधन्विमोहिताः ।
तद्विज्ञाय महायोगी रसपालानिदं जगौ ।
स्मयन्विशोकः शोकार्तान्स्मरन्दैवगतिं च ताम् ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; असुराः—असुरगण; हि—निस्सन्देह; अपि—यद्यपि; पश्यन्तः—देखते हुए (कि बछड़ा तथा गाय अमृत पी रहे हैं); न—नहीं; न्यषेधन्—मना किया; विमोहिताः—मोह-ग्रस्त होने से; तत् विज्ञाय—यह भली-भाँति जानकर; महा-योगी—महान्

योगी मय दानव ने; रस-पालान्—अमृत की रक्षा करने वाले असुरों से; इदम्—यह; जगौ—कहा; स्मयन्—मोहग्रस्त हुए; विशोकः—बहुत अप्रसन्न न होते हुए; शोक-आर्तान्—अत्यधिक पश्चात्ताप करते; स्मरन्—स्मरण करते हुए; दैव-गतिम्—आध्यात्मिक शक्ति को; च—भी; ताम्—उस।

असुरों ने बछड़े तथा गाय को देखा लेकिन भगवान् द्वारा उत्पन्न मोह शक्ति के कारण वे उन्हें रोक नहीं पाये। महायोगी मय असुर को पता चल गया कि बछड़ा तथा गाय अमृत पी रहे हैं और वह यह समझ गया कि यह अदृश्य दैवी शक्ति के कारण हो रहा है। इस प्रकार वह पश्चात्ताप करते हुए असुरों से बोला।

देवोऽसुरो नरोऽन्यो वा नेश्वरोऽस्तीह कश्चन ।
आत्मनोऽन्यस्य वा दिष्टं दैवेनापोहितुं द्वयोः ॥ ६४ ॥

शब्दार्थ

देवः—देवता; असुरः—असुर; नरः—मनुष्य; अन्यः—अथवा कोई दूसरा; वा—या तो; न—नहीं; ईश्वरः—परमनियन्ता; अस्ति—है; इह—इस संसार में; कश्चन—कोई; आत्मनः—अपना; अन्यस्य—दूसरे का; वा—अथवा; दिष्टम्—भाग्य; दैवेन—भगवान् द्वारा प्रदत्त; अपोहितुम्—मिटा सकने के लिए; द्वयोः—दोनों का।

मय दानव ने कहा : जो अपने, पराये अथवा दोनों के भाग्य में भगवान् द्वारा निश्चित कर दिया गया है उसे कोई भी कहीं भी मिटा नहीं सकता चाहे वह देवता, असुर, मनुष्य या अन्य कोई क्यों न हो।

तात्पर्य : भगवान् एक है—कृष्ण या *विष्णुतत्त्व।* कृष्ण अपना विस्तार (स्वांश) *विष्णु-तत्त्व* के रूप में करते हैं, जो सबों का नियामक है। मय दानव ने कहा "चाहे मैं योजना बनाऊँ, या तुम या हम मिलकर योजना बनायें, होना वही है, जो भगवान् ने योजना बना रखी है। उनके आदेश के बिना किसी की भी योजना सफल नहीं होगी।" हम अपनी कितनी ही योजनाएँ क्यों न बना लें भगवान् विष्णु की अनुमति के बिना वे कभी भी सफल नहीं होंगी। सभी प्रकार के जीवों द्वारा लाखों योजनाएँ बनाई जाती हैं, किन्तु भगवान् की अनुमति के बिना वे सभी व्यर्थ हैं।

अथासौ शक्तिभिः स्वाभिः शम्भोः प्राधानिकं व्यधात् ।
धर्मज्ञानविरक्त्यृद्धितपोविद्याक्रियादिभिः ॥ ६५ ॥
रथं सूतं ध्वजं वाहान्धनुर्वर्मशरादि यत् ।
सन्नद्धो रथमास्थाय शरं धनुरुपाददे ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; असौ—वह (भगवान् कृष्ण); शक्तिभिः—अपनी शक्तियों से; स्वाभिः—निजी; शम्भोः—शिवजी की; प्राधानिकम्—अवयव; व्यधात्—उत्पन्न किया; धर्म—धर्म; ज्ञान—ज्ञान; विरक्ति—वैराग्य; ऋद्धि—ऐश्वर्य; तपः—तपस्या; विद्या—विद्या; क्रिया—कार्यकलाप; आदिभिः—इत्यादि के द्वारा; रथम्—रथ को; सूतम्—सारथी को; ध्वजम्—झंडे को; वाहान्—हाथी-घोड़ों को; धनुः—धनुष; वर्म—ढाल; शर-आदि—बाण इत्यादि; यत्—प्रत्येक आवश्यक वस्तु से; सन्नद्धः—संयुक्त; रथम्—रथ पर; आस्थाय—आसीन होकर; शरम्—बाण; धनुः—धनुष पर; उपाददे—चढ़ाया, जोड़ा।

नारद मुनि ने आगे कहा—तत्पश्चात् कृष्ण ने शिवजी को अपनी निजी शक्ति से, जो धर्म, ज्ञान, त्याग, ऐश्वर्य, तपस्या, विद्या तथा कर्म से युक्त थी, सभी प्रकार की साज-सामग्री से—यथा रथ, सारथी, ध्वजा, घोड़े, हाथी, धनुष, ढाल तथा बाण से संयुक्त कर दिया। इस तरह से संयुक्त होकर शिव जी अपने धनुष-बाण द्वारा असुरों से लड़ने के लिए रथ पर आसीन हुए।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१२.१३.१६) में कहा गया है—*वैष्णवानां यथा शम्भुः*—शिवजी वैष्णवों में सर्वश्रेष्ठ हैं। निस्सन्देह, वे वैष्णव दर्शन के बारह महाजनों में से एक हैं (*स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः मनुः...*)। भगवान् कृष्ण सभी तरह से अपने समस्त *महाजनों* तथा भक्तों की सहायता करने के लिए सदैव उद्यत रहते हैं (*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*)। यद्यपि शिवजी अत्यन्त शक्तिशाली थे किन्तु वे असुरों से पराजित हो गये; अतएव वे खिन्न एवं निराश थे। किन्तु भगवान् के प्रमुख भक्त होने के कारण स्वयं भगवान् ने उन्हें युद्ध की सारी सामग्री से युक्त किया। अतएव भक्त को चाहिए कि वह भगवान् की सेवा निष्ठापूर्वक करे। शत्रु से सदैव भक्त की रक्षा करने तथा आवश्यकता पडने पर उसे शत्रु से युद्ध के लिए युक्त करने के लिए भगवान् उसके पीछे रहते है। भक्तों के लिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन का प्रचार करने के लिए ज्ञान या भौतिक उपादानों की कोई कमी नहीं रहती।

शरं धनुषि सन्धाय मुहूर्तेऽभिजितीश्वरः ।
ददाह तेन दुर्भेद्या हरोऽथ त्रिपुरो नृप ॥ ६७॥

शब्दार्थ

शरम्—बाणों को; धनुषि—धनुष पर; सन्धाय—एकसाथ जोड़कर; मुहूर्ते अभिजिति—दोपहर के समय; ईश्वरः—भगवान् शिव; ददाह—अग्नि लगा दी; तेन—उन (बाणों के द्वारा); दुर्भेद्याः—दुर्भेद्य, जिसको भेद पाना दुष्कर हो; हरः—शिवजी ने; अथ—इस प्रकार से; त्रि-पुरः—असुरों के तीनों निवासस्थान; नृप—हे राजा युधिष्ठिर।

हे राजा युधिष्ठिर, परम शक्तिशाली शिवजी ने अपने धनुष पर बाण चढ़ाये और दोपहर के समय असुरों के तीनों आवासों में अग्नि लगाकर उन्हें नष्ट कर दिया।

दिवि दुन्दुभयो नेदुर्विमानशतसङ्कुलाः ।
देवर्षिपितृसिद्धेशा जयेति कुसुमोत्करैः ।
अवाकिरञ्जगुर्हृष्टा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

दिवि—आकाश में; दुन्दुभयः—दुन्दुभियाँ; नेदुः—बज उठीं; विमान—विमानों के; शत—सैकड़ों हजारों; सङ्कुलाः—एकत्र; देव-ऋषि—सारे देवता तथा सन्त; पितृ—पितृलोक के निवासी; सिद्ध—सिद्धलोक के निवासी; ईशाः—सभी महापुरुष; जय इति—'जय हो' इस प्रकार उच्चारण किया; कुसुम-उत्करैः—तरह-तरह के फूलों से; अवाकिरन्—शिवजी के ऊपर वर्षा की; जगुः—उच्चारण किया; हृष्टाः—अत्यन्त प्रसन्नता में; ननृतुः—नाचा; च—तथा; अप्सरः-गणाः—स्वर्गलोक की सुन्दरी स्त्रियों ने।

तब आकाश में अपने-अपने विमानों में आसीन उच्चलोकों के निवासियों ने दुन्दुभियाँ बजाईं। देवताओं, ऋषियों, पितरों, सिद्धों तथा विविध महापुरुषों ने शिव जी के ऊपर पुष्प-वर्षा की और जयजयकार की। अप्सराएँ परम प्रमुदित होकर नाचने-गाने लगीं।

एवं दग्ध्वा पुरस्तिस्रो भगवान्पुरहा नृप ।
ब्रह्मादिभिः स्तूयमानः स्वं धाम प्रत्यपद्यत ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; दग्ध्वा—भस्म करके; पुरः तिस्रः—असुरों के तीनों आवासों (पुरियों) को; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; पुर-हा—पुरों को नष्ट करने वाला; नृप—हे राजा युधिष्ठिर; ब्रह्म-आदिभिः—ब्रह्माजी तथा अन्य देवताओं द्वारा; स्तूयमानः—पूजित होकर; स्वम्—अपने; धाम—धाम; प्रत्यपद्यत—लौट गये।

हे राजा युधिष्ठिर, इस प्रकार शिवजी त्रिपुरारी कहलाते हैं, क्योंकि उन्होंने असुरों की तीनों पुरियों को भस्म कर दिया था। ब्रह्मा समेत समस्त देवताओं से पूजित होकर शिव जी अपने धाम लौट गये।

एवं विधान्यस्य हरेः स्वमायया
विडम्बमानस्य नृलोकमात्मनः ।
वीर्याणि गीतान्यृषिभिर्जगद्गुरो-
र्लोकं पुनानान्यपरं वदामि किम् ॥ ७० ॥

शब्दार्थ

एवम् विधानि—इस विधि से; अस्य—कृष्ण की; हरेः—भगवान् की; स्व-मायया—अपनी दिव्य शक्तियों से; विडम्बमानस्य—सामान्य मनुष्य की भाँति कार्य करते हुए; नृ-लोकम्—मानव समाज में; आत्मनः—अपने; वीर्याणि—दिव्य कार्यकलापों की; गीतानि—कथाओं को; ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा; जगत्-गुरोः—परम प्रभु का; लोकम्—सारे लोक; पुनानानि—पवित्र करते हुए; अपरम्—और क्या; वदामि किम्—मैं क्या कह सकता हूँ।

यद्यपि भगवान् कृष्ण मनुष्य के रूप में प्रकट हुए थे फिर भी उन्होंने अपनी शक्ति से अनेक असामान्य तथा आश्चर्यजनक लीलाएँ सम्पन्न कीं। उन महान् सन्त पुरुषों द्वारा जो कुछ कहा जा

चुका है उससे भला मैं और अधिक क्या कह सकता हूँ? प्रत्येक व्यक्ति अधिकारी व्यक्ति से भगवान् के कार्यकलापों के श्रवण मात्र से शुद्ध हो सकता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* तथा अन्य समस्त वैदिक वाङ्मय पूरी तरह बताते हैं कि भगवान् कृष्ण मानव समाज में सामान्य व्यक्ति के रूप में प्रकट होते हैं लेकिन वे विश्व भर के कल्याण के लिए असामान्य कार्य करते हैं। मनुष्य को माया के वशीभूत होकर कृष्ण को सामान्य व्यक्ति नहीं मान लेना चाहिए। जो लोग सचमुच परम सत्य की खोज में रहते हैं, वे यह समझ जाते हैं कि कृष्ण ही सर्वेसर्वा हैं (*वासुदेव: सर्वम् इति*)। किन्तु ऐसे महापुरुष विरले होते हैं। फिर भी यदि कोई सम्पूर्ण *भगवद्गीता यथारूप* पढ़े तो कृष्ण को सरलता से समझ सकता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन समस्त विश्व को भगवान् के रूप में कृष्ण से परिचित कराने के लिए प्रयत्नशील है (*कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*)। यदि लोग इस आन्दोलन को गम्भीरतापूर्वक स्वीकार करें तो उनका मानव जीवन सफल हो जायेगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सातवें स्कंध के अन्तर्गत ''भक्त शिरोमणि प्रह्लाद'' नामक दसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter ग्यारह

पूर्ण समाज: चातुर्वर्ण

इस अध्याय में उन सामान्य सिद्धान्तों का वर्णन है जिनका पालन करने पर मनुष्य, विशेष रूप से वह जो आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करने का इच्छुक है, पूर्ण बन सकता है।

महाराज युधिष्ठिर प्रह्लाद महाराज के गुणों को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। अब उन्होंने नारद मुनि से मनुष्य के वास्तविक धर्म तथा उस *वर्णाश्रम धर्म* के विशेष लक्षणों के विषय में जिज्ञासा प्रकट की जो मानवीय सभ्यता के उच्चतम पद को बताने वाला है। जब उन्होंने नारद मुनि से इन विषयों के सम्बन्ध में प्रश्न किया तो नारद मुनि ने अपनी बातें छोड़कर भगवान् नारायण के कथन उद्धृत किये, क्योंकि धार्मिक सिद्धान्त प्रदान करने के लिए वे परम अधिकारी हैं (*धर्मं तु साक्षाद् भगवत् प्रणीतम्*)। प्रत्येक व्यक्ति को तीस गुण अर्जित करने होते हैं—यथा सत्य, दया तथा तपस्या। धर्म के सिद्धान्तों के पालन की विधि *सनातन धर्म* कहलाती है।

वर्णाश्रम धर्म ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णों को बताने वाला है। यह *संस्कार* विधि को भी प्रस्तुत करता है। *द्विजों* को *गर्भाधान संस्कार* अर्थात् सन्तान उत्पन्न करने का अनुष्ठान सम्पन्न करना होता है। जो इस संस्कार को संपन्न करता है वह वास्तव में द्विज है, किन्तु जो लोग इसे नहीं सम्पन्न करते और *वर्णाश्रम धर्म* के नियमों से विपथ हो जाते हैं, वे *द्विजबन्धु* कहलाते हैं। ब्राह्मण की प्रमुख वृत्तियाँ हैं—अर्चाविग्रह का पूजन, अर्चाविग्रह पूजन की विधि की अन्यों को शिक्षा देना, वेदाध्ययन करना, वेदों का अध्यापन, अन्यों से दान लेना तथा अन्यों को दान देना। ब्राह्मण को इन छः वृत्तिपरक कार्यों से अपना जीवन-निर्वाह करना चाहिए। क्षत्रिय का कर्तव्य है कि वह नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करे तथा उन पर कर लगाए, किन्तु ब्राह्मण से कर लेना वर्जित है। अतएव कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्यों को सरकारी कर से मुक्त होना चाहिए। क्षत्रिय लोग ब्राह्मण के अतिरिक्त हर एक पर कर लगा सकते हैं। वैश्यों को भूमि जोतनी चाहिए, अन्न उत्पन्न करना चाहिए तथा गायों की रक्षा करनी चाहिए जबकि शूद्रों को, जो कभी भी गुण के दृष्टिकोण से ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य नहीं बन सकते, तीनों उच्च जातियों की सेवा करनी चाहिए और इसीसे संतुष्ट रहना चाहिए। ब्राह्मणों के लिए जीविका कमाने के अन्य साधनों की भी संस्तुति की गई है—यथा शालीन, यायावर, *शिल* तथा *उञ्छन*। ये चारों वृत्तिपरक कार्य क्रमशः एक दुसरे से श्रेष्ठतर हैं।

जो व्यक्ति सामाजिक जीवन में निम्नवर्ण का है, वह तब तक उच्च-वर्ण का व्यवसाय स्वीकार नहीं कर सकता जब तक ऐसा करना सर्वथा आवश्यक न हो। आपात्काल में क्षत्रियों के अतिरिक्त सारे वर्ण अन्यों के वृत्तिपरक कार्यों को स्वीकार कर सकते हैं। क्षत्रियों के अतिरिक्त अन्य वर्ण ऋत (*शिलोञ्छन*), अमृत (*अयाचित*), मृत (*याच्ञा*), *प्रमृत (कर्षण)* तथा सत्यानृत (*वाणिज्य*) कहलाने वाले जीविका के साधन ग्रहण कर सकते हैं। ब्राह्मणों या क्षत्रियों द्वारा वैश्यों या शूद्रों की सेवा करना कुत्तों का व्यापार माना जाता है।

नारद मुनि ने यह भी बतलाया कि ब्राह्मण का लक्षण इन्द्रिय-संयम है, क्षत्रिय के लक्षण शक्ति तथा यश हैं, वैश्य का लक्षण ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की सेवा करना है तथा शूद्र का लक्षण तीनों उच्च वर्णों की सेवा करना है। स्त्री का गुण श्रद्धावान तथा पतिव्रता होना है। इस प्रकार नारद मुनि ने उच्च तथा निम्न जातियों के गुणों का वर्णन किया और यह संस्तुति की कि मनुष्य को अपनी जाति या पूर्वजों के

व्यवसाय का पालन करना चाहिए। वह सहसा अपने अभ्यस्त व्यवसाय को नहीं त्याग सकता अतएव यह संस्तुति की जाती है कि मनुष्य धीरे-धीरे जाग्रत हो। ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के लक्षण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, अतएव मनुष्य को केवल इन्हीं लक्षणों के आधार पर जानना चाहिए, जन्म से नहीं। जन्म के आधार पर उपाधि देना का विरोध नारद मुनि तथा समस्त महापुरुषों ने किया है।

श्रीशुक उवाच

श्रुत्वेहितं साधु सभासभाजितं
महत्तमाग्रण्य उरुक्रमात्मनः ।
युधिष्ठिरो दैत्यपतेर्मुदान्वितः
पप्रच्छ भूयस्तनयं स्वयम्भुवः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; श्रुत्वा—सुनकर; ईहितम्—कथा, वृत्तान्त; साधु सभा-सभाजितम्—जो ब्रह्मा तथा शिव जैसे भागवतों की सभा में चर्चित होता है; महत्-तम-अग्रण्यः—साधु पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ (युधिष्ठिर); उरुक्रम-आत्मनः—भगवान् में सदैव अपना मन लगाये रखने वाले (प्रह्लाद महाराज) का जो सदैव असाधारण विधि से कार्य करता है; युधिष्ठिरः—राजा युधिष्ठिर ने; दैत्य-पतेः—असुरों के स्वामी का; मुदा-अन्वितः—प्रसन्न मुद्रा में; पप्रच्छ—पूछा; भूयः—पुनः; तनयम्—पुत्र से; स्वयम्भुवः—ब्रह्माजी के।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : प्रह्लाद महाराज, जिनके कार्यकलाप तथा चरित्र की पूजा तथा चर्चा ब्रह्मा तथा शिव जी जैसे महापुरुष करते हैं, उनके विषय में सुनने के बाद महापुरुषों में सर्वाधिक आदरणीय राजा युधिष्ठिर महाराज ने नारद मुनि से अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में पुनः पूछा।

श्रीयुधिष्ठिर उवाच

भगवन्श्रोतुमिच्छामि नृणां धर्मं सनातनम् ।
वर्णाश्रमाचारयुतं यत्पुमान्विन्दते परम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-युधिष्ठिरः उवाच—महाराज युधिष्ठिर ने पूछा; भगवन्—हे प्रभु; श्रोतुम्—सुनने के लिए; इच्छामि—मेरी इच्छा है; नृणाम्—मानव समाज के; धर्मम्—वृत्तिपरक कार्यों को; सनातनम्—सामान्य तथा (प्रत्येक के लिए) नित्य; वर्ण-आश्रम-आचार-युतम्—समाज तथा आध्यात्मिक प्रगति के चार विभागों के सिद्धान्तों पर आधारित; यत्—जिससे; पुमान्—सामान्य लोग; विन्दते—शान्तिपूर्वक भोग कर सकते हैं; परम्—परम ज्ञान (जिससे भक्ति प्राप्त की जा सकती है)।

महाराज युधिष्ठिर ने कहा : हे प्रभु, मैं आपसे धर्म के उन सिद्धान्तों के विषय में सुनने का इच्छुक हूँ जिनसे मनुष्य जीवन के चरम लक्ष्य भक्ति को प्राप्त कर सकता है। मैं मानव समाज के सामान्य वृत्तिपरक कर्तव्यों तथा वर्णाश्रम धर्म के नाम से विख्यात सामाजिक तथा आध्यात्मिक उन्नति की प्रणाली के विषय में सुनना चाहता हूँ।

तात्पर्य : *सनातन धर्म* का अर्थ है भक्ति। *सनातन* शब्द का अर्थ है, जो नित्य है, जो कभी बदलता नहीं, अपितु सभी परिस्थितियों में अपरिवर्तित रहता है। हम अनेक बार विवेचना कर चुके हैं कि जीव का नित्य वृत्तिपरक कर्तव्य (सनातन धर्म) क्या है। इसकी व्याख्या श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा की गई है। *जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्य दास'*—जीव का असली वृत्तिपरक कर्तव्य भगवान् की सेवा करना है। यदि कोई इस सिद्धान्त से विपथ भी होना चाहे तो भी वह दास बना रहता है, क्योंकि यह उसकी नित्य स्थिति है, किन्तु मनुष्य माया या भौतिक शक्ति की सेवा करता है। अतएव कृष्णभावनामृत आन्दोलन का मुख्य प्रयास भौतिक जगत की व्यर्थ में सेवा न करके भगवान् की सेवा करने के लिए मानव समाज को मार्ग दिखलाने का प्रयास करना होता है। हमारा वास्तविक अनुभव है कि प्रत्येक व्यक्ति, पशु, पक्षी—यहाँ तक कि प्रत्येक जीव—सेवा करने में लगा है। भले ही मनुष्य का शरीर या उसका बाह्य धर्म बदल जाये, किन्तु प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी की सेवा में लगा रहता है। अतएव सेवा करने की प्रवृत्ति नित्य वृत्तिपरक कर्तव्य (धर्म) कहलाती है। *वर्णाश्रम* संस्थान द्वारा यह नित्य वृत्तिपरक कर्तव्य व्यवस्थित किया जा सकता है क्योंकि इसमें चार *वर्ण* (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) एवं चार *आश्रम* (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) होते हैं। इस प्रकार युधिष्ठिर महाराज ने मानव समाज के लाभ के लिए नारद मुनि से *सनातन धर्म* के सिद्धान्तों के विषय में प्रश्न किये।

भवान्प्रजापतेः साक्षादात्मजः परमेष्ठिनः ।
सुतानां सम्मतो ब्रह्मंस्तपोयोगसमाधिभिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

भवान्—आप; प्रजापतेः—प्रजापति (ब्रह्मा) के; साक्षात्—प्रत्यक्ष; आत्म-जः—पुत्र; परमेष्ठिनः—इस ब्रह्माण्ड के परम पुरुष (ब्रह्मा) को; सुतानाम्—सारे पुत्रों में से; सम्मतः—सर्वश्रेष्ठ माने हुए; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ; तपः—तपस्या; योग—योगाभ्यास; समाधिभिः—तथा समाधि या चिन्तन द्वारा (सभी तरह से आप उत्तम हैं)।

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, आप प्रजापति (ब्रह्मा) के साक्षात् पुत्र हैं। आप अपनी तपस्या, योग तथा समाधि के कारण ब्रह्मा के समस्त पुत्रों में से सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं।

नारायणपरा विप्रा धर्मं गुह्यं परं विदुः ।
करुणाः साधवः शान्तास्त्वद्विधा न तथापरे ॥ ४॥

शब्दार्थ

नारायण-पराः—भगवान् के प्रति सदैव आज्ञाकारी रहने वाले; विप्राः—ब्राह्मणों में श्रेष्ठ; धर्मम्—धार्मिक सिद्धान्त; गुह्यम्—अत्यन्त गोपनीय; परम्—परम; विदुः—जानते हैं; करुणाः—ऐसे व्यक्ति अत्यन्त दयालु होते हैं (भक्त होने से); साधवः—जिनका आचरण अत्यन्त श्रेष्ठ है; शान्ताः—शान्त; त्वत्-विधाः—आपके ही समान; न—नहीं; तथा—इस तरह; अपरे—अन्य (भक्ति के अतिरिक्त अन्य विधियों के अनुयायी)।

शान्त जीवन तथा दया में आपसे श्रेष्ठ कोई नहीं है और आपसे बढ़कर कोई यह नहीं जानता कि भक्ति किस तरह की जाये या ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ किस प्रकार बना जाये। अतएव आप गुह्य धार्मिक जीवन के समस्त सिद्धान्तों के जानने वाले हैं और आपसे बढ़कर उन्हें अन्य कोई नहीं जानता।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर जानते थे कि नारद मुनि मानव समाज के परम गुरु हैं, जो आध्यात्मिक मुक्ति के मार्ग की शिक्षा दे सकते हैं जिससे भगवान् को समझा जा सकता है। वस्तुत: इसी प्रयोजन से नारद मुनि ने *भक्तिसूत्र* का संग्रह किया और *नारद पञ्चरात्र* में निर्देश दिये। धार्मिक नियमों तथा जीवन की सिद्धि के विषय में सीखने के लिए मनुष्य को नारद मुनि की शिष्य-परम्परा से उपदेश ग्रहण करने चाहिए। हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन सीधे ब्रह्म-सम्प्रदाय की पंक्ति में है। नारद मुनि ने ब्रह्मा से जो उपदेश प्राप्त किया था उसे ही उन्होंने व्यासदेव को दिया। व्यासदेव ने अपने पुत्र शुकदेव गोस्वामी को उपदेश दिया जिन्होंने *श्रीमद्भागवत* का प्रवचन किया। कृष्णभावनामृत आन्दोलन *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* पर आधारित है। चूँकि *श्रीमद्भागवत* शुकदेव गोस्वामी द्वारा कहा गया था तथा *भगवद्गीता* कृष्ण द्वारा कही गई थी, अतएव उनमें कोई अन्तर नहीं है। यदि हम शिष्य-परम्परा के सिद्धान्त का दृढ़ता से पालन करें तो निश्चय ही हम आध्यात्मिक मोक्ष या भक्ति में नित्य लगे रहने के सही मार्ग पर चल रहे होते हैं।

श्रीनारद उवाच
नत्वा भगवतेऽजाय लोकानां धर्मसेतवे ।
वक्ष्ये सनातनं धर्मं नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; नत्वा—नमस्कार करके; भगवते—भगवान् को; अजाय—अजन्मा, सदैव विद्यमान; लोकानाम्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भर के; धर्म-सेतवे—धार्मिक सिद्धान्तों का रक्षक; वक्ष्ये—मैं बतलाऊँगा; सनातनम्—नित्य; धर्मम्—वृत्तिपरक कर्तव्य (धर्म); नारायण-मुखात्—नारायण के मुँह से; श्रुतम्—जिसे मैंने सुन रखा है।

श्री नारद मुनि ने कहा : मैं सर्वप्रथम समस्त जीवों के धार्मिक सिद्धान्तों के रक्षक भगवान् कृष्ण को नमस्कार करके नित्य धार्मिक पद्धति (सनातन धर्म) के सिद्धान्तों को बताता हूं जिन्हें मैंने नारायण के मुख से सुना है।

तात्पर्य : *अज* शब्द कृष्ण का सूचक है जिन्होंने *भगवद्गीता* (४.६) में बतलाया है—*अजोऽपि सन्नव्ययात्मा*—मैं सदैव विद्यमान रहता हूँ और इस प्रकार मैं कभी जन्म नहीं लेता। मेरे अस्तित्व में कोई परिवर्तन नहीं आता।

योऽवतीर्यात्मनोऽंशेन दाक्षायण्यां तु धर्मतः ।
लोकानां स्वस्तयेऽध्यास्ते तपो बदरिकाश्रमे ॥ ६॥

शब्दार्थ

यः—जो (नारायण); अवतीर्य—अवतार लेकर; आत्मनः—अपने; अंशेन—अंश (नर) के द्वारा; दाक्षायण्याम्—महाराज दक्ष की पुत्री दाक्षायणी के गर्भ में; तु—निस्सन्देह; धर्मतः—धर्म महाराज से; लोकानाम्—सारे लोगों के; स्वस्तये—लाभ हेतु; अध्यास्ते—सम्पन्न करता है; तपः—तपस्या; बदरिकाश्रमे—बद्रिकाश्रम नामक स्थान में।

भगवान् नारायण अपने अंश नर समेत इस संसार में दक्ष महाराज की मूर्ति नामक पुत्री से प्रकट हुए। धर्म महाराज द्वारा उनका जन्म समस्त जीवों के लाभ हेतु था। वे आज भी बदरिकाश्रम नामक स्थान के निकट महान् तपस्या करने में लगे हुए हैं।

धर्ममूलं हि भगवान्सर्ववेदमयो हरिः ।
स्मृतं च तद्विदां राजन्येन चात्मा प्रसीदति ॥ ७॥

शब्दार्थ

धर्म-मूलम्—धार्मिक सिद्धान्तों की जड़; हि—निस्सन्देह; भगवान्—भगवान्; सर्व-वेद-मयः—समस्त वैदिक ज्ञान का सार; हरिः—परम पुरुष; स्मृतम् च—तथा शास्त्र; तत्-विदाम्—परमेश्वर को जानने वाले का; राजन्—हे राजा; येन—जिससे; च—भी; आत्मा—आत्मा, मन, शरीर तथा हर वस्तु; प्रसीदति—पूर्णतया प्रसन्न हो जाती है।

परम पुरुष भगवान् समस्त वैदिक ज्ञान के सार, समस्त धर्मों के मूल तथा महापुरुषों की स्मृति हैं। हे राजा युधिष्ठिर, इस धर्म के सिद्धान्त को प्रमाणस्वरूप समझना चाहिए। इसी धार्मिक सिद्धान्त के आधार पर सबों की तुष्टि होती है, यहाँ तक कि मनुष्य के मन, आत्मा तथा शरीर की भी तुष्टि होती है।

तात्पर्य : जैसाकि यमराज ने कहा है—*धर्मः तु साक्षाद् भगवत्प्रणीतम्।* मृत्यु के बाद प्रत्येक जीव की रक्षा करने वाले भगवान् का प्रतिनिधि यमराज है, जो इसका निर्णय करता है कि जीव कब और

कैसे अपना शरीर बदलेगा। वह अधिकारी है और उसका कहना है कि धर्म तो ईश्वर द्वारा प्रदत्त नियमों तथा आचार संहिताओं से बना होता है। कोई धर्म का निर्माण नहीं कर सकता, अतएव वैदिक सिद्धान्तों के अनुयायी कृत्रिम धार्मिक पद्धतियों को अस्वीकार कर देते हैं। *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—वैदिक ज्ञान का अर्थ है भगवान् कृष्ण को समझना। अतएव हम चाहे वेदों की बात करें या शास्त्रों की, चाहे धर्म की बात करें या मनुष्य के वृत्तिपरक कर्तव्य के सिद्धान्तों की, इन सबका एकमात्र लक्ष्य भगवान् कृष्ण को समझना होना चाहिए। अतएव *श्रीमद्भागवत* (१.२.६) का यह निष्कर्ष है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥

दूसरे शब्दों में, धार्मिक नियमों का लक्ष्य भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करना सीखना है। यह सेवा न तो किसी के उकसाने से होनी चाहिए, न भौतिक स्थितियों के रोके रुकनी चाहिए। तब मानव समाज सभी प्रकार से सुखी हो सकेगा।

स्मृतियाँ वैदिक ज्ञान के सिद्धान्तों का अनुगमन करने वाले शास्त्र हैं जिन्हें वैदिक सिद्धान्तों का प्रमाण माना जाता है। धर्म का पालन करने के लिए बीस प्रकार की भिन्न भिन्न स्मृतियाँ हैं जिनमें से मनु तथा याज्ञवल्क्य स्मृतियाँ सर्वव्यापक हैं। *याज्ञवल्क्य स्मृति* में कहा गया है—

श्रुतिस्मृतिसदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक् सङ्कल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥

मनुष्य को चाहिए कि वह श्रुतियों, वेदों तथा स्मृतियों से मानवीय आचरण सीखे। श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृत-सिन्धु* में कहा है—

श्रुतिस्मृतिपुराणादिपञ्चरात्रविधिं विना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते॥

आशय यह है कि भक्त बनने के लिए मनुष्य को *श्रुति* तथा *स्मृति* में दिये गये नियमों का पालन करना चाहिए। उसे पुराणों तथा *पाञ्चरात्रिकी-विधि* के नियमों को मानना चाहिए। *श्रुति* तथा *स्मृति* का

पालन किये बिना न तो कोई शुद्ध भक्त बन सकता है और न भक्ति से रहित *श्रुति* तथा *स्मृति* से कोई जीवन की सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

अतएव सभी प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि भक्ति के बिना धार्मिक सिद्धान्तों का प्रश्न ही नहीं उठता। धार्मिक सिद्धान्तों को सम्पन्न करने में ईश्वर केन्द्रविन्दु रहता है। इस समय विश्व भर में धर्म के नाम पर जो कुछ भी हो रहा है, वह भक्तिभावना से लगभग रहित है, अतएव *श्रीमद्भागवत* के निर्णय के अनुसार वह निन्दनीय है। भक्ति के बिना तथाकथित धार्मिक सिद्धान्त मात्र प्रवञ्चना हैं।

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः ।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ॥ ८ ॥
सन्तोषः समदृक्सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः ।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम् ॥ ९ ॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः ।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ॥ १० ॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः ।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ॥ ११ ॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः ।
त्रिंशल्लक्षणवान्राजन्सर्वात्मा येन तुष्यति ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सत्यम्—बिना तोड़े-मरोड़े सत्य का भाषण; दया—प्रत्येक दुखी व्यक्ति पर सहानुभूति; तपः—तपस्या (यथा एकादशी के दिन मास में दो बार उपवास करना); शौचम्—स्वच्छता (दिन में दो बार, सुबह-शाम, नियमित रूप से स्नान करना तथा भगवान् के नाम का जप करना याद रखना); तितिक्षा—सहनशक्ति (ऋतु परिवर्तनों या असुविधाजनक परिस्थितियों में भी अक्षुब्ध रहना); ईक्षा—सद्-असद् में अन्तर करना; शमः—मन का संयम (मन को मनमाना कार्य न करने देना); दमः—इन्द्रियों का संयम (इन्द्रियों को असंयमित न होने देना); अहिंसा—अहिंसा (किसी जीव को तीन प्रकार के तापों से पीड़ित न होने देना); ब्रह्मचर्यम्—अपने वीर्य का दुरुपयोग न होने देना (अपनी पत्नी के अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री से संभोग न करना तथा वर्जित अवसरों पर यथा मासिक धर्म के अवसर पर पत्नी के साथ संभोग न करना); च—तथा; त्यागः—अपनी आय का कम से कम पचास प्रतिशत दान में देना; स्वाध्यायः—भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, रामायण, महाभारत जैसे दिव्य ग्रंथों का पठन (अथवा जो वैदिक संस्कृति के लोग नहीं हैं, उनके द्वारा बाइबिल या कुरान का पठन); आर्जवम्—सादगी(मानसिक द्वन्द्व से मुक्ति); सन्तोषः—कठिन प्रयास के बिना जो भी उपलब्ध हो उसी में सन्तुष्ट रहना; समदृक्-सेवा—उन साधु पुरुषों की सेवा करना जो एक जीव तथा दूसरे जीव में अन्तर नहीं करते तथा जो प्रत्येक जीव को आत्मा के रूप में देखते हैं (पण्डिताः समदर्शिनः); ग्राम्य-ईह-उपरमः—तथाकथित परोपकारी कार्यों में भाग न लेते हुए; शनैः—धीरे-धीरे; नृणाम्—मानव समाज में; विपर्यय-ईहा—अनावश्यक कार्य; ईक्षा—वाद-विवाद; मौनम्—गम्भीर तथा शान्त रहना; आत्म—अपने में; विमर्शनम्—शोध (यह कि मनुष्य शरीर है या आत्मा); अन्न-आद्य-आदेः—अन्न, पेय आदि का.; संविभागः—समान वितरण; भूतेभ्यः—विभिन्न जीवों के लिए; च—भी; यथा-अर्हतः—अनुकूल; तेषु—सारे जीवों में; आत्म-देवता-बुद्धिः—आत्मा या देवताओं के रूप में स्वीकार करना; सुतराम्—प्रारम्भिक रूप से; नृषु—सारे मनुष्यों में; पाण्डव—हे महाराज युधिष्ठिर; श्रवणम्—सुनना; कीर्तनम्—कीर्तन करना; च—भी; अस्य—उस (भगवान) का; स्मरणम्—स्मरण करना (भगवान् के शब्दों तथा कार्यों का); महताम्—महापुरुषों का; गतेः—आश्रय स्वरूप; सेवा—सेवा; इज्या—पूजा; अवनतिः—नमस्कार करना; दास्यम्—सेवा करना; सख्यम्—मित्र मानना; आत्म-समर्पणम्—अपना सब कुछ अर्पित कर देना; नृणाम्—सारे मनुष्यों का; अयम्—यह; परः—

सर्वश्रेष्ठ; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त; सर्वेषाम्—सबों में; समुदाहृतः—पूर्णतया वर्णित; त्रिंशत्-लक्षण-वान्—तीस लक्षणों से युक्त; राजन्—हे राजा; सर्व-आत्मा—सबों का परमात्मा; येन—जिससे; तुष्यति—तुष्ट होता है।

सभी मनुष्यों को जिन सामान्य नियम का पालन करना होता है, ये हैं—सत्य, दया, तपस्या, (महीने में कुछ दिन उपवास करना), दिन में दो बार स्नान, सहनशीलता, अच्छे बुरे का विवेक, मन का संयम, इन्द्रिय संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दान, शास्त्रों का अध्ययन, सादगी, सन्तोष, साधु पुरुषों की सेवा, अनावश्यक कार्यों से क्रमशः अवकाश लेना, मानव समाज के अनावश्यक कार्यों की व्यर्थता समझना, गम्भीर तथा शान्त बने रहना एवं व्यर्थ की बातें करने से बचना, मनुष्य शरीर या इस आत्मा के विषय में विचार करना, सभी जीवों (पशुओं तथा मनुष्यों) में अन्न का समान वितरण करना, प्रत्येक आत्मा को (विशेषतया मनुष्य को) परमेश्वर का अंश मानना, भगवान् के कार्यकलापों तथा उनके उपदेशों को सुनना (भगवान् साधु पुरुषों के आश्रय हैं), इन कार्यों तथा उपदेशों का कीर्तन करना, इनका नित्य स्मरण करना, सेवा करने का प्रयास, पूजा करना, नमस्कार करना, दास बनना, मित्र बनना और आत्म-समर्पण करना। हे राजा युधिष्ठिर, मनुष्य जीवन में इन तीस गुणों को अर्जित करना चाहिए। मनुष्य इन गुणों को अर्जित करने मात्र से भगवान् को प्रसन्न कर सकता है।

तात्पर्य : मनुष्यों को पशुओं से अलग समझने के लिए नारद मुनि ने संस्तुति की है कि प्रत्येक मनुष्य उपर्युक्त तीस गुणों की शिक्षा प्राप्त करे। आज-कल पूरे विश्व में सर्वत्र ही धर्मनिरपेक्ष राज्य का विज्ञापन किया जा रहा है, जो ऐसा राज्य है, जिसकी रुचि केवल सांसारिक कार्यों में होगी। किन्तु यदि राज्य के नागरिकों को उपर्युक्त सद्गुणों की शिक्षा नहीं दी जाती तो फिर सुख कैसे प्राप्त होगा? उदाहरणार्थ, यदि सारे लोग असत्यवादी हो जाँय तो राज्य कैसे सुखी रह सकेगा? अतएव चाहे कोई हिन्दू हो या मुसलमान, ईसाई हो या बौद्ध अथवा अन्य किसी सम्प्रदाय का हो, हर एक को सत्यवादी बनने की शिक्षा दी जानी चाहिए। इसी प्रकार हर एक को दयालु बनने तथा महीने में कुछ दिन उपवास करने की शिक्षा दी जानी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को दिन में दो बार नहाना चाहिए, अपने दाँतों को तथा शरीर को स्वच्छ रखना चाहिए और भगवान् के पवित्र नाम का स्मरण करके मन को आन्तरिक रूप से विमल बनाना चाहिए। ईश्वर एक है, चाहे कोई हिन्दू हो, मुसलमान हो या ईसाई। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह भाषा सम्बन्धी उच्चारण की भिन्नता की परवाह न करके भगवान् के पवित्र

नाम का कीर्तन करे। साथ ही मनुष्य को व्यर्थ ही वीर्य स्खलित न करने की शिक्षा दी जानी चाहिए। यह सभी मनुष्यों के लिए नितान्त आवश्यक है। व्यर्थ में वीर्य स्खलन न होने से मनुष्य की स्मृति, संकल्प, क्रियाशीलता तथा शारीरिक शक्ति अत्यन्त प्रबल बनती है। प्रत्येक व्यक्ति को विचार तथा अनुभूति में सरल रहने और शरीर तथा मन से संतुष्ट रहने की शिक्षा दी जानी चाहिए। ये मनुष्य के सामान्य गुण हैं। इसमें धर्मनिरपेक्ष या धार्मिक राज्य का प्रश्न ही नहीं उठता। जब तक मनुष्य को इन तीस गुणों की शिक्षा नहीं दी जाती तब तक शान्ति नहीं हो सकती। अन्ततोगत्वा इस प्रकार संस्तुति की जाती है—

श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः ।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यं आत्मसमर्पणम् ॥

हर एक व्यक्ति को भगवान् का भक्त बन जाना चाहिए, क्योंकि भक्त बनने पर मनुष्य को अन्य सारे गुण स्वतः प्राप्त हो जाएँगे।

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥

"जिसमें कृष्ण की अविचल भक्ति है उसमें कृष्ण तथा देवताओं के सारे सद्गुण निरन्तर प्रकट होते रहते हैं। किन्तु जिसकी अनुरक्ति भगवान् में नहीं है उसमें सद्गुण नहीं होते, क्योंकि वह मनोरथ द्वारा भौतिक जगत में लगा रहता है, जो भगवान् का बाह्य रूप है।" (*भागवत* ५.१८.१२) अतएव हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन सबों को गले लगाने वाला है। मानव सभ्यता को चाहिए कि इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करे और विश्व शान्ति के लिए इन नियमों का अभ्यास करे।

संस्कारा यत्राविच्छिन्नाः स द्विजोऽजो जगाद यम् ।
इज्याध्ययनदानानि विहितानि द्विजन्मनाम् ।
जन्मकर्मावदातानां क्रियाश्चाश्रमचोदिताः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

संस्काराः—संस्कार, शुद्धिकरण की विधियाँ; यत्र—जिसमें; अविच्छिन्नाः—बिना किसी क्रम भंग के; सः—ऐसा व्यक्ति; द्वि-जः—दो बार जन्मा; अजः—ब्रह्मा ने; जगाद—विधान किया; यम्—जो; इज्या—पूजा; अध्ययन—वेदाध्ययन; दानानि—तथा दान; विहितानि—बताये गये; द्वि-जन्मनाम्—द्विजों का; जन्म—जन्म से; कर्म—तथा कर्म से; अवदातानाम्—विमल, पवित्र; क्रियाः—कार्यकलाप; च—भी; आश्रम-चोदिताः—चारों आश्रमों के लिए संस्तुत।

जो लोग अविच्छिन्न रूप से वैदिक मंत्रों द्वारा सम्पन्न होने वाले गर्भाधान संस्कार तथा अन्य नियत विधियों द्वारा शुद्ध किये जा चुके हैं तथा जिनकी स्वीकृति ब्रह्मा द्वारा दी जा चुकी है, वे द्विज कहलाते हैं। ऐसे ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य जो अपनी पारिवारिक परम्परा तथा अपने आचरण द्वारा शुद्ध किये जा चुके हैं उन्हें चाहिए कि भगवान् की पूजा करें, वेदों का अध्ययन करें तथा दान दें। इस पद्धति में उन्हें आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) के नियमों का पालन करना चाहिए।

तात्पर्य : मनुष्य के आचरण सम्बन्धी तीस सामान्य गुणों की सूची प्रस्तुत करने के बाद अब नारद मुनि चार वर्णों तथा चार आश्रमों के नियमों का वर्णन कर रहे हैं। मनुष्य को उपर्युक्त तीस गुणों में प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए, अन्यथा वह मनुष्य नहीं है। फिर ऐसे प्रशिक्षित व्यक्तियों में वर्णाश्रम पद्धति चालू करनी चाहिए। वर्णाश्रम पद्धति में पहला संस्कार *गर्भाधान* का है, जो मैथुन के समय अच्छी सन्तान उत्पन्न करने के लिए मंत्रों द्वारा सम्पन्न किया जाता है। जो व्यक्ति इन्द्रिय-सुख के लिए नहीं, अपितु संस्कार के अनुसार सन्तानोत्पत्ति के लिए संभोग करता है, वह भी ब्रह्मचारी माना जाता है। मनुष्य को वैदिक जीवन के सिद्धान्तों का अतिक्रमण करके इन्द्रिय-सुख के लिए ही वीर्य का विनाश नहीं करना चाहिए। पर सम्भोग में संयम तभी सम्भव है जब जनता को उपर्युक्त तीस गुणों में प्रशिक्षित किया जाये। अन्यथा यह सम्भव नहीं है। यदि कोई द्विज परिवार में जन्म भी ले, किन्तु यदि वह संस्कारों का पालन न करे तो वह *द्विजबन्धु* कहलाता है—अर्थात् वह द्विज नहीं अपितु द्विजों का मित्र है। इस पद्धति का अभिप्राय अच्छे नागरिक उत्पन्न करना है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जब स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं, तो उनकी सन्तानें *वर्णसंकर* कहलाती हैं और जब वर्णसंकर सन्तानें बढ़ जाती हैं, तो सारे विश्व की स्थिति नारकीय बन जाती है। अतएव सारा वैदिक वाङ्मय वर्ण-संकर जनता उत्पन्न करने के विरुद्ध सावधान करता है। वर्णसंकर सन्तानें होने पर उनको शान्ति तथा सम्पन्नता के लिए ठीक से नियंत्रित नहीं किया जा सकता, चाहे कितनी ही बड़ी विधान सभाएँ, संसद या अन्य संस्थाएँ क्यों न हों।

विप्रस्याध्ययनादीनि षडन्यस्याप्रतिग्रहः ।
राज्ञो वृत्तिः प्रजागोप्तुरविप्राद्वा करादिभिः ॥ १४॥

शब्दार्थ

विप्रस्य—ब्राह्मण का; अध्ययन-आदीनि—वेदाध्ययन इत्यादि; षट्—छः (वेदों का अध्ययन, वेदों का अध्यापन, दैव पूजा, अन्यों को पूजा-विधि बताना, दान ग्रहण करना तथा दान देना); अन्यस्य—ब्राह्मण के अलावा अन्य (क्षत्रियों) का; अप्रतिग्रहः—अन्यों से दान लिए बिना (क्षत्रिय ब्राह्मणों के लिए नियत अन्य पाँच कर्तव्य निभा सकता है); राज्ञः—क्षत्रिय की; वृत्तिः—जीविका का साधन; प्रजा-गोप्तुः—प्रजा के पालक; अविप्रात्—जो ब्राह्मण नहीं हैं उससे; वा—अथवा; कर-आदिभिः—कर, दण्ड हेतु, जुर्माना आदि वसूल करके।

ब्राह्मण के लिए छः वृत्तिपरक कर्तव्य हैं। क्षत्रिय के लिए दान लेना वर्जित है किन्तु वह इनमें से अन्य पाँच कर्तव्य कर सकता है। राजा या क्षत्रिय को ब्राह्मण से कर वसूलने की अनुमति नहीं है, किन्तु वह अपनी अन्य प्रजा पर न्यूनतम कर तथा दण्ड के लिए जुर्माना लगाकर अपनी जीविका चला सकता है।

तात्पर्य : विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—ब्राह्मण के छः वृत्तिपरक कर्तव्य हैं जिनमें से तीन अनिवार्य हैं—यथा वेदाध्ययन अर्चा विग्रह पुजा और दान देना शिक्षा प्रदान करना, अन्यों को दैव पूजा के लिए प्रेरित करने तथा दान स्वीकार करने से ब्राह्मणों की जीवन सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। इसकी पुष्टि *मनु संहिता* में भी हुई है—

षण्णां तु कर्मणाम् अस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।

यजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥

ब्राह्मण के छः वृत्तिपरक कर्तव्यों में तीन अनिवार्य हैं। ये हैं—देवपूजन, वेदाध्ययन तथा दान देना। इसके बदले में ब्राह्मण को दान मिलना चाहिए जिससे उसकी जीविका चले। ब्राह्मण अपनी जीविका के लिए कोई वृत्तिपरक व्यवसाय नहीं कर सकता। शास्त्रों का विशेष बल इस पर है कि जो अपने को ब्राह्मण कहता है, वह अन्य किसी की सेवा में रत नहीं हो सकता; अन्यथा वह अपने पद से तुरन्त च्युत होकर शूद्र बन जाता है। श्रील रूप गोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी अत्यन्त सम्मानित परिवार के थे, किन्तु चूंकि वे नवाब हुसैन शाह की छोटी-मोटी क्लर्की नहीं, अपितु मंत्री के रूप में सेवा करते थे, अतएव उन्हें ब्राह्मण समाज से निकाल दिया गया था। निस्सन्देह, वे मुसलमान बन गये और उन्होंने अपने नाम भी बदल दिये थे। जब तक ब्राह्मण शुद्ध न हो, वह अन्यों से दान नहीं ले सकता। दान केवल शुद्ध ब्राह्मणों को दिया जाना चाहिए। भले ही कोई ब्राह्मण-कुल में क्यों न उत्पन्न हो, किन्तु

यदि वह शूद्र का कर्म करता है, तो वह दान नहीं ले सकता, क्योंकि इसका घोर निषेध किया गया है। यद्यपि क्षत्रिय ब्राह्मणों के ही समान योग्य होते हैं, लेकिन वे भी दान नहीं ले सकते। इस श्लोक में *अप्रतिग्रह* शब्द द्वारा इसका जोरदार निषेध किया गया है। निम्न जातियों (वर्णों) के लिए तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता, क्षत्रियों तक को भी दान नहीं लेना चाहिए। राजा या सरकार नागरिकों पर कई प्रकार से कर लगा सकती है—शुल्क, कर, जुर्माना आदि बशर्ते कि राजा अपनी प्रजा को जीवन तथा माल की सुरक्षा प्रदान करने में समर्थ हो। यदि वह सुरक्षा प्रदान करने में सक्षम नहीं है, तो वह कर नहीं लगा सकता। फिर भी राजा को ब्राह्मणों पर तथा कृष्णभावनामृत में पूर्णतया लगे वैष्णवों पर कर नहीं लगाना चाहिए।

वैश्यस्तु वार्तावृत्तिः स्यान्नित्यं ब्रह्मकुलानुगः ।
शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा वृत्तिश्च स्वामिनो भवेत् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

वैश्यः—व्यवसायी वर्ग; तु—निस्सन्देह; वार्ता-वृत्तिः—कृषि, गोरक्षा तथा व्यापार में लगे; स्यात्—हो; नित्यम्—सदैव; ब्रह्म-कुल-अनुगः—ब्राह्मणों के निर्देशों का पालन करते हुए; शूद्रस्य—श्रमिकों का, चतुर्थ श्रेणी के लोग; द्विज-शुश्रूषा—तीन उच्च वर्गों (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) की सेवा; वृत्तिः—जीविका-साधन; च—तथा; स्वामिनः—स्वामी; भवेत्—उसे होना चाहिए।

व्यवसायी वर्ग को सदैव ब्राह्मणों के आदेशों का पालन करना चाहिए और कृषि, व्यापार तथा गोरक्षा जैसे वृत्तिपरक कर्तव्यों में लगे रहना चाहिए। शूद्र का एकमात्र कर्तव्य है उच्चवर्ण में से किसी को स्वामी बनना और उस की सेवा करना।

वार्ता विचित्रा शालीनयायावरशिलोञ्छनम् ।
विप्रवृत्तिश्चतुर्धेयं श्रेयसी चोत्तरोत्तरा ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

वार्ता—वैश्य की जीविका का साधन (कृषि, गोरक्षा तथा व्यापार); विचित्रा—विभिन्न प्रकार; शालीन—बिना प्रयास के प्राप्त जीविका; यायावर—थोड़ा धान माँगने के लिए खेत में जाना; शिल—खेत में गिरे हुए अन्न को चुनना; उञ्छनम्—दूकानों में बोरों से गिरे हुए अन्न को चुनना; विप्र-वृत्तिः—ब्राह्मणों की जीविका; चतुर्धा—चार प्रकार की; इयम्—यह; श्रेयसी—श्रेयस्कर, श्रेष्ठतर; च—भी; उत्तर-उत्तरा—उत्तरोत्तर।

विकल्प के रूप में ब्राह्मण वैश्य की कृषि, गोरक्षा या व्यापार की वृत्तियाँ ग्रहण कर सकता है। जो कुछ बिना माँगे मिल जाये वह उस पर आश्रित रह सकता है, वह प्रति दिन धान के खेत में जाकर भिक्षा माँग सकता है, वह स्वामी द्वारा खेत में थोडा अन्न इकट्टा कर सकता है; या अन्न

के व्यापारियों की दूकान में पिछले गिरे हुए अन्न को एकत्र कर सकता है। जीविका के ये चार साधन हैं जिन्हें ब्राह्मण भी अपना सकते हैं। इन चारों में से प्रत्येक साधन अपने पिछेले से (उत्तरोत्तर) श्रेष्ठ है।

तात्पर्य : कभी-कभी ब्राह्मण को दान में जमीन तथा गौवें मिल जाती हैं। इस तरह वह वैश्य की भाँति अपनी जीविका उपार्जित कर सकता है, जिसमें भूमि में खेती करना, गायों की रक्षा करना आवश्यकता से अधिक अपनी बची हुई वस्तुओं को बेचना सम्मिलित हैं, किन्तु श्रेष्ठतर विधि है खेत में गिरे अन्न को चुनना और बिना भिक्षा मांगे दूकानदार की दूकान से गिरे अन्न को बीनना।

जघन्यो नोत्तमां वृत्तिमनापदि भजेन्नरः ।
ऋते राजन्यमापत्सु सर्वेषामपि सर्वशः ॥ १७॥

शब्दार्थ

जघन्यः—निम्न (पुरुष); न—नहीं; उत्तमाम्—उच्च; वृत्तिम्—जीविका का साधन; अनापदि—जहाँ सामाजिक उपद्रव नहीं होते; भजेत्—स्वीकार करे; नरः—मनुष्य; ऋते—के अतिरिक्त; राजन्यम्—क्षत्रिय का व्यवसाय; आपत्सु—आपातकाल में; सर्वेषाम्—जीवन के प्रत्येक स्तर के प्रत्येक व्यक्ति का; अपि—निश्चय ही; सर्वशः—सारे व्यवसाय या वृत्तिपरक कर्तव्य।

आपात्काल के अतिरिक्त निम्न लोगों को उच्च वर्ग के वृत्तिपरक कार्य नहीं करने चाहिए। हाँ, यदि आपात्काल हो तो क्षत्रिय के अतिरिक्त अन्य सभी लोग अन्यों की जीविकाएँ स्वीकार कर सकते हैं।

तात्पर्य : निम्न जाति के लोगों को, विशेष रूप से वैश्यों तथा शूद्रों को, ब्राह्मण के वृत्तिपरक कर्तव्य स्वीकार नहीं करने चाहिए। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण का वृत्तिपरक कर्तव्य वेदों का अध्यापन है, किन्तु जब तक आपात्काल न हो, क्षत्रियों, वैश्यों या शूद्रों को यह वृत्ति नहीं अपनानी चाहिए। यहाँ तक कि क्षत्रिय भी ब्राह्मण के कार्यों को तब तक स्वीकार नहीं कर सकता जब तक आपात्काल न हो। और यदि वह ऐसा करे तो उसे अन्य किसी से दान नहीं लेना चाहिए। कभी-कभी ब्राह्मण लोग हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन का विरोध करते हैं कि हम यूरोपवासियों को अर्थात् *मलेच्छों* तथा *यवनों* को ब्राह्मण बना रहे हैं, लेकिन यहाँ पर *श्रीमद्भागवत* में इस आन्दोलन को समर्थन मिलता है। इस समय समाज में अव्यवस्था फैली हुई है और हर व्यक्ति ने उस आध्यात्मिक जीवन का अनुशीलन छोड़ दिया है, जो विशेषतः ब्राह्मणों के लिए है। चूँकि सारे विश्व में आध्यात्मिक संस्कृति बन्द कर दी गई है, अतएव इस समय आपात्काल है, अतः अब वह समय आ गया है कि जब नीच तथा अधम को

शिक्षित किया जाये जिससे वे ब्राह्मण बनकर आध्यात्मिक प्रगति का कार्य अपना सकें। मानव समाज की आध्यात्मिक प्रगति बन्द हो चुकी है और इसे आपात्काल समझना चाहिए। यहाँ पर कृष्णभावनामृत नामक आन्दोलन के लिए नारद मुनि का ठोस समर्थन प्राप्त होता है।

ऋतामृताभ्यां जीवेत मृतेन प्रमृतेन वा ।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ।
ऋतमुञ्छशिलं प्रोक्तममृतं यदयाचितम् ॥ १८॥
मृतं तु नित्ययाच्ञा स्यात्प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ।
सत्यानृतं च वाणिज्यं श्ववृत्तिर्नीचसेवनम् ॥ १९॥
वर्जयेत्तां सदा विप्रो राजन्यश्च जुगुप्सिताम् ।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो नृपः ॥ २०॥

शब्दार्थ

ऋत-अमृताभ्याम्—ऋत तथा अमृत नामक वृत्तियों से; जीवेत—जीवित रहे; मृतेन—मृत वृत्ति द्वारा; प्रमृतेन वा—अथवा प्रमृत वृत्ति द्वारा; सत्यानृताभ्याम् अपि—सत्य अनृत वृत्ति के द्वारा भी; वा—अथवा; न—कभी नहीं; श्व-वृत्त्या—कूकर वृत्ति द्वारा; कदाचन—कभी भी; ऋतम्—ऋत; उञ्छशिलम्—खेत या बाजार से गिरे अन्न बीनने की वृत्ति; प्रोक्तम्—कहा गया; अमृतम्—अमृत वृत्ति; यत्—जो; अयाचितम्—किसी से माँगे बिना प्राप्त; मृतम्—मृत की वृत्ति; तु—लेकिन; नित्य-याच्ञा—प्रतिदिन किसानों से अन्न की भीख माँगना; स्यात्—हो; प्रमृतम्—प्रमृत वृत्ति; कर्षणम्—खेत जोतना; स्मृतम्—ऐसा स्मरण किया जाता है; सत्यानृतम्—सत्यानृत वृत्ति; च—तथा; वाणिज्यम्—व्यापार; श्व-वृत्तिः—कूकरों की वृत्ति; नीच-सेवनम्—नीचों (वैश्यों तथा शूद्रों) की सेवा; वर्जयेत्—छोड़ देनी चाहिए; ताम्—उसको (कूकर वृत्ति); सदा—सदैव; विप्रः—ब्राह्मण; राजन्यः च—तथा क्षत्रिय; जुगुप्सिताम्—अत्यन्त गर्हित; सर्व-वेद-मयः—सारे वैदिक ज्ञान में पटु; विप्रः—ब्राह्मण; सर्व-देव-मयः—साक्षात् समस्त देवता; नृपः—क्षत्रिय या राजा।

आपात्काल में मनुष्य ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत तथा सत्यनृत नामक विभिन्न वृत्तियों में से किसी एक को स्वीकार कर सकता है। किन्तु कूकर वृत्ति से कभी नहीं अपनानी चाहिए। उञ्छशिल वृत्ति में अर्थात् खेती से अन्न एकत्र करने की वृत्ति को होता है। इसे ही ऋत कहते हैं। बिना भीख माँगे एकत्र करना अमृत कहलाता है, अन्न की भीख माँगना मृत है, जमीन को जोतना प्रमृत है और व्यापार करना सत्यानृत है। किन्तु निम्न पुरुषों की सेवा करना श्ववृत्ति या कूकर वृत्ति कहलाती है। विशेषतः ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों को शूद्रों की निम्न तथा गर्हित सेवा में नही लगना चाहिए। ब्राह्मणों को समस्त वैदिक ज्ञान में पटु होना चाहिए और क्षत्रियों को देवताओं की पूजा से भली भान्ति परिचित होना चाहिए।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (४.१३) में कहा गया है—*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः*—मानव समाज के चार विभाग प्रकृति के तीन गुणों एवं उनके नियत कर्मों के

अनुसार भगवान् द्वारा निर्मित हुए। पहले मानव समाज को चार विभागों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—में बाँटने का सिद्धान्त कठोरता से पाला जाता था किन्तु वर्णाश्रम सिद्धान्त की क्रमिक उपेक्षा के कारण वर्णसंकर जनता का विकास हुआ और सारा वर्णाश्रम सिद्धान्त चौपट हो गया। इस कलियुग में लगभग हर व्यक्ति शूद्र है (*कलौ शूद्रसम्भवा:*) और ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य को ढूँढ़ पाना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि कृष्णभावनामृत आन्दोलन ब्राह्मणों तथा वैष्णवों का आन्दोलन है, किन्तु इसके द्वारा दैवी वर्णाश्रम व्यवस्था की पुनर्स्थापना का प्रयास किया जा रहा है, क्योंकि समाज के इस विभाजन के बिना कहीं भी शान्ति एवं समृद्धि असम्भव है।

शमो दमस्तप: शौचं सन्तोष: क्षान्तिरार्जवम् ।
ज्ञानं दयाच्युतात्मत्वं सत्यं च ब्रह्मलक्षणम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

शम:—मन का संयम; दम:—इन्द्रिय संयम; तप:—तपस्या; शौचम्—पवित्रता; सन्तोष:—तुष्टि; क्षान्ति:—क्षमाशीलता (क्रोध से विक्षुब्ध न होना); आर्जवम्—सरलता; ज्ञानम्—ज्ञान; दया—दया; अच्युत-आत्मत्वम्—अपने को ईश्वर का नित्य दास मानना; सत्यम्—सत्य; च—भी; ब्रह्म-लक्षणम्—ब्राह्मण के लक्षण।

ब्राह्मण के लक्षण इस प्रकार हैं—मन का संयम, इन्द्रिय संयम, तपस्या, पवित्रता, सन्तोष, क्षमाशीलता, सरलता, ज्ञान, दया, सत्य तथा भगवान् के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण।

तात्पर्य : *वर्णाश्रम-धर्म* व्यवस्था में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास के लक्षणों का वर्णन हुआ है। अन्तिम लक्ष्य तो *अच्युतात्मत्वम्*—सदैव भगवान् कृष्ण या विष्णु के विषय सोचना है। कृष्णभावनामृत में उन्नति करने के लिए मनुष्य को उपर्युक्त गुणों से युक्त ब्राह्मण बनना होता है।

शौर्यं वीर्यं धृतिस्तेजस्त्यागश्चात्मजय: क्षमा ।
ब्रह्मण्यता प्रसादश्च सत्यं च क्षत्रलक्षणम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

शौर्यम्—युद्ध में पराक्रम; वीर्यम्—अजेय होना; धृति:—धैर्य (यहाँ तक कि हारने पर भी क्षत्रिय गम्भीर रहता है); तेज:—अन्यों को पराजित करने की सामर्थ्य; त्याग:—दान देना; च—तथा; आत्म-जय:—शारीरिक आवश्यकताओं से अभिभूत न होना; क्षमा—क्षमाशीलता; ब्रह्मण्यता—ब्राह्मण नियमों के प्रति आज्ञाकारिता; प्रसाद:—जीवन की किसी भी परिस्थिति में प्रसन्न रहना; च—तथा; सत्यम् च—तथा सत्य; क्षत्र-लक्षणम्—ये क्षत्रिय के लक्षण हैं।

युद्ध में प्रभावशाली, अजेय, धैर्यवान, तेजवान तथा दानवीर होना, शारीरिक आवश्यकताओं को वश में करना, क्षमाशील होना, ब्राह्मण नियमों का पालन करना तथा सदैव प्रसन्न रहना और सत्यनिष्ठ होना—ये क्षत्रिय के लक्षण हैं।

देवगुर्वच्युते भक्तिस्त्रिवर्गपरिपोषणम् ।
आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुण्यं वैश्यलक्षणम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

देव-गुरु-अच्युते—देवताओं, गुरु तथा भगवान् विष्णु में; भक्तिः—भक्तिभाव; त्रि-वर्ग—पवित्र जीवन के तीन सिद्धान्तों (धर्म, अर्थ तथा काम) का; परिपोषणम्—सम्पन्न होना; आस्तिक्यम्—शास्त्रों, गुरु तथा परमेश्वर में श्रद्धा; उद्यमः—सक्रिय; नित्यम्—निरन्तर, अनवरत; नैपुण्यम्—निपुणता; वैश्य-लक्षणम्—वैश्य के लक्षण।

देवता, गुरु तथा भगवान् विष्णु के प्रति सदैव अनुरक्ति, धर्म, अर्थ तथा काम में प्रयत्नशीलता; गुरु तथा शास्त्र के शब्द में विश्वास; तथा धनार्जन में निपुणता सहित प्रयत्नशील होना—ये वैश्य के लक्षण हैं।

शूद्रस्य सन्नतिः शौचं सेवा स्वामिन्यमायया ।
अमन्त्रयज्ञो ह्यस्तेयं सत्यं गोविप्ररक्षणम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

शूद्रस्य—शूद्र (समाज के चतुर्थ वर्ण, श्रमिक) का; सन्नतिः—उच्च वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) के प्रति आज्ञाकारिता; शौचम्—पवित्रता; सेवा—सेवाभाव; स्वामिनि—अपने पालने वाले स्वामी के प्रति; अमायया—द्विविधता के बिना; अमन्त्र-यज्ञः—बिना मंत्रों के यज्ञ करना; हि—ही; अस्तेयम्—चोरी न करने का अभ्यास; सत्यम्—सत्य; गो—गाय; विप्र—ब्राह्मण की; रक्षणम्—रक्षा।

समाज के उच्च वर्णों (ब्राह्मणों, क्षत्रिय तथा वैश्यों) को नमस्कार करना, सदैव स्वच्छ रहना, द्वैतभाव से मुक्त रहना, अपने स्वामी की सेवा करना, मंत्र पढ़े बिना यज्ञ करना, चोरी न करना, सदा सत्य बोलना तथा गायों एवं ब्राह्मणों को सदा संरक्षण प्रदान करना—ये शूद्र के लक्षण हैं।

तात्पर्य : यह आम अनुभव है कि श्रमिक या नौकर सामान्यतया चोरी करने के आदि होते हैं। किन्तु प्रथम श्रेणी का नौकर वह है, जो चोरी नहीं करता। यहाँ यह संस्तुति की गई है कि प्रथम श्रेणी के शूद्र को सदैव स्वच्छ रहना चाहिए, चोरी नहीं करनी चाहिए, झूठ नहीं बोलना चाहिए और सदैव अपने स्वामी की सेवा करनी चाहिए। शूद्र यज्ञों तथा वैदिक अनुष्ठानों में अपने स्वामी के साथ उपस्थित रह सकता है, लेकिन उसे मंत्रोच्चार नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह केवल उच्चवर्ण वाले ही यह कर

सकते हैं। जब तक कोई पूर्णतः शुद्ध न हो तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के स्तर को प्राप्त न हो चुका हो—अर्थात् द्विज न हो—तब तक मंत्रोच्चार सफल नहीं होता।

स्त्रीणां च पतिदेवानां तच्छुश्रूषानुकूलता ।
तद्बन्धुष्वनुवृत्तिश्च नित्यं तद्व्रतधारणम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

स्त्रीणाम्—स्त्रियों का; च—भी; पति-देवानाम्—जिन्होंने अपने पतियों को पूज्य मान रखा है; तत्-शुश्रूषा—अपने पति की सेवा करने में तत्परता; अनुकूलता—अपने पति के प्रति अनुकूल रहना; तत्-बन्धुषु—पति के मित्रों तथा सम्बन्धियों में; अनुवृत्तिः—उसी प्रकार अनुकूलता (पति के सन्तोष के लिए उनसे भी सद्व्यवहार करना); च—तथा; नित्यम्—नियमित रूप से; तत्-व्रत-धारणम्—पति के व्रतों को स्वीकार करते हुए अथवा पति के अनुसार कर्म करना।

पति की सेवा करना, अपने पति के अनुकूल रहना, पति के सम्बन्धियों तथा मित्रों के प्रति भी समान रूप से अनुकूल रहना तथा पति के व्रतों का पालन करना—ये चार नियम पतिव्रता स्त्री के लिए पालनीय हैं।

तात्पर्य : एक शान्त गृहस्थ जीवन के लिए यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि स्त्री अपने पति के व्रत का पालन करे। पति के व्रत से किसी प्रकार का असामंजस्य पारिवारिक जीवन का उच्छेद कर देगा। इस प्रसंग में चाणक्य पण्डित का उपदेश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—*दम्पतयोः कलहो नास्ति तत्र श्रीः स्वयमागताः।* जहां पति-पत्नी में झगड़ा नहीं होता वहां भाग्य की देवी (लक्ष्मी) स्वयं उस घर में आती हैं। स्त्री की शिक्षा इस श्लोक में दिए संकेतों के अनुसार होनी चाहिए। पतिव्रता स्त्री के लिए मूल सिद्धान्त यही है कि वह सदा पति के अनुकूल रहे। *भगवद्गीता* (१.४०) में कहा गया है—*स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः*—यदि स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं, तो *वर्णसंकर* संतानें होती हैं। आधुनिक शब्दावली में वर्णसंकर तो हिप्पी हैं, जो विधि-विधानों को नहीं मानते। दूसरी व्याख्या यह है कि जब जनता वर्णसंकर होती है, तो कोई यह नहीं जान पाता कि कौन किस स्तर पर है। *वर्णाश्रम* प्रणाली समाज को वैज्ञानिक ढंग से चार *वर्णों* तथा चार *आश्रमों* में विभाजित करती है, किन्तु *वर्णसंकर* समाज में ऐसा विभेद नहीं दिखता और कोई यह नहीं जान सकता कि कौन क्या है। ऐसे समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में अन्तर कर पाना कठिन होता है। शान्ति तथा प्रसन्नता के लिए वर्णाश्रम प्रणाली का आरम्भ भौतिक जगत में किया जाना चाहिए। जगत में मनुष्य के

कार्यकलापों के लक्षण सुस्पष्ट होने चाहिए और उसी के अनुसार उसको शिक्षा दी जानी चाहिए। तब आध्यात्मिक प्रगति स्वत: सम्भव हो जाएगी।

सम्मार्जनोपलेपाभ्यां गृहमण्डनवर्तनैः ।
स्वयं च मण्डिता नित्यं परिमृष्टपरिच्छदा ॥ २६ ॥
कामैरुच्चावचैः साध्वी प्रश्रयेण दमेन च ।
वाक्यैः सत्यैः प्रियैः प्रेम्णा काले काले भजेत्पतिम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

सम्मार्जन—साफ करने; उपलेपाभ्याम्—जल या तरल पदार्थ से लीपने; गृह—घर; मण्डन—सजाने; वर्तनैः—घर में रहकर ऐसे कार्यों में व्यस्त रहने; स्वयम्—खुद; च—भी; मण्डिता—सुन्दर वस्त्रों से विभूषित; नित्यम्—सदैव; परिमृष्ट—स्वच्छ किया; परिच्छदा—वस्त्र तथा घरेलू बर्तन; कामैः—पति की इच्छानुसार; उच्च-अवचैः—बड़ा तथा छोटा दोनों; साध्वी—पतिव्रता स्त्री; प्रश्रयेण—विनयपूर्वक; दमेन—इन्द्रिय संयम से; च—भी; वाक्यैः—वाणी से; सत्यैः—सत्य से; प्रियैः—अत्यन्त सुहावने; प्रेम्णा—प्रेमपूर्वक; काले काले—अनुकूल समय पर; भजेत्—पूजा करे; पतिम्—पति की।

पतिव्रता (साध्वी) स्त्री को चाहिए कि अपने पति की प्रसन्नता के लिए स्वयं को अच्छे-अच्छे वस्त्रों से सजाये तथा स्वर्णाभूषणों से अलंकृत हो। सदैव स्वच्छ तथा आकर्षक वस्त्र पहने। अपना घर बुहारे तथा उसे पानी तरल पदार्थों से धोए जिससे सारा घर सदा शुद्ध तथा स्वच्छ रहे। उसे गृहस्थी की सामग्री एकत्र करनी चाहिए और घर को अगुरु तथा पुष्पों से सुगन्धित रखना चाहिए। उसे अपने पति की इच्छा पूरी करने के लिए तैयार रहना चाहिए। साध्वी स्त्री को विनीत तथा सत्यनिष्ठ रहकर, अपनी इन्द्रियों पर संयम रख कर तथा मधुर वचन बोलकर काल तथा परिस्थिति के अनुसार अपने पति की प्रेमपूर्ण सेवा में लगना चाहिए।

सन्तुष्टालोलुपा दक्षा धर्मज्ञा प्रियसत्यवाक् ।
अप्रमत्ता शुचिः स्निग्धा पतिं त्वपतितं भजेत् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सन्तुष्टा—सदैव तुष्ट; अलोलुपा—लालची हुए बिना; दक्षा—सेवा करने में पटु; धर्म-ज्ञा—धार्मिक नियमों से पूर्णतया परिचित; प्रिय—सुहावना; सत्य—सत्यनिष्ठ; वाक्—बोलने में; अप्रमत्ता—अपने पति की सेवा में दत्तचित; शुचिः—सदैव स्वच्छ तथा शुद्ध; स्निग्धा—स्नेहिल; पतिम्—पति को; तु—लेकिन; अपतितम्—जो पतित नहीं है; भजेत्—पूजा करे।

साध्वी स्त्री को लालची नहीं होना चाहिए, अपितु उसे सभी परिस्थितियों में संतुष्ट रहना चाहिए। उसे गृहस्थी के काम-काज में अत्यन्त पटु होना चाहिए और धार्मिक नियमों से पूर्णतया अवगत होना चाहिए। उसे मधुर तथा सत्यभाषिणी होना चाहिए; उसे अत्यन्त सतर्क तथा सदैव

शुद्ध एवं पवित्र रहना चाहिए। इस प्रकार एक साध्वी स्त्री को उस पति की प्रेमपूर्वक सेवा करनी चाहिए जो पतित न हो।

तात्पर्य : धर्म के अधिकारी याज्ञवल्क्य के आदेशानुसार—*अशुद्धेः सम्प्रतिक्ष्यो हि महापातक-दूषितः।* जो *दशविधा संस्कार* के अनुसार शुद्ध नहीं किया गया होता उसे महान् पापकर्मों के फलों से दूषित माना जाता है। किन्तु *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं—*न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः*—जो दुष्ट लोग मेरी शरण में नहीं आते वे अधम हैं। *नराधम* का अर्थ है "अभक्त"। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी कहा है—*येइ भजे सेइ बड़, अभक्त—हीन, छार।* जो भी भक्त होता है, वह पापरहित है। किन्तु जो भक्त नहीं है, वह अत्यन्त पतित तथा नीच है। अतएव यह संस्तुति की गई है कि पतिव्रता पत्नी पतित पति की संगति न करे। पतित पति वह है, जो चार प्रकार के पापकर्म करता है—यथा अवैध यौन, मांसाहार, द्यूत क्रीड़ा तथा मादक द्रव्य सेवन। विशेष रूप से जो व्यक्ति भगवान् का शरणागत नहीं होता वह कलुषित समझा जाता है। इस तरह साध्वी स्त्री को सलाह दी जाती है कि वह ऐसे पति की सेवा करने के लिए राजी न हो। ऐसा नहीं है कि यदि पति *नराधम* हो तो भी वह दासी की तरह सेवा करे। यद्यपि स्त्री के कर्तव्य पुरुष से भिन्न होते हैं, किन्तु साध्वी स्त्री पतित पति की सेवा करने के लिए नहीं बनाई गई। यदि उसका पति पतित हो तो संस्तुति की जाती है कि वह अपने पति की संगति त्याग दे। किन्तु पति की संगति त्यागने का अर्थ यह भी नहीं है कि वह फिर से विवाह कर ले और इस तरह वेश्यावृत्ति में प्रवृत्त हो जाए। यदि दुर्भाग्यवश कोई साध्वी स्त्री किसी पतित पति से ब्याही जाती है, तो उसे पती से विलग रहना चाहिए। इसी प्रकार पति भी अपनी पत्नी से विलग रह सकता है, यदि पत्नी शास्त्रों के वर्णन के अनुसार साध्वी न हो। निष्कर्ष यह निकलता है कि पति को शुद्ध वैष्णव होना चाहिए और पत्नी को यहाँ वर्णित समस्त लक्षणों से युक्त साध्वी होना चाहिए। तभी दोनों सुख से रहेंगे और कृष्णभावनामृत में आध्यात्मिक उन्नति करेंगे।

या पतिं हरिभावेन भजेत्श्रीरिव तत्परा ।
हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

या—जो स्त्री; पतिम्—अपने पति को; हरि-भावेन—मानसिक रूप से उसे हरि या भगवान् के समान मानकर; भजेत्—पूजा करती है या सेवा करती है; श्रीः इव—लक्ष्मी के समान; तत्-परा—अनुरक्त होकर; हरि-आत्मना—हरि के विचारों में लीन; हरेः

लोके—आध्यात्मिक जगत या वैकुण्ठलोक में; पत्या—अपने पति के साथ; श्रीः इव—लक्ष्मी के सदृश; मोदते—आध्यात्मिक नित्य जीवन का भोग करती है।

जो स्त्री लक्ष्मी जी के पदचिन्हों पर पूरी तरह चलकर अपने पति की सेवा में लगी रहती है, वह निश्चित रूप से अपने भक्त पति के साथ भगवद्धाम वापस जाती है और वैकुण्ठलोक में अत्यन्त सुखपूर्वक रहती है।

तात्पर्य : साध्वी स्त्री के लिए लक्ष्मी जी जैसी आज्ञाकारिता आदर्श होती है। *ब्रह्म-संहिता* (५.२९) में कहा गया है—*लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानम्।* विष्णु भगवान् वैकुण्ठलोक में हजारों लक्ष्मियों द्वारा पूजित होते हैं और गोलोक वृन्दावन में भगवान् कृष्ण हजारों गोपियों द्वारा पूजित होते हैं, जो सभी लक्ष्मी जी के ही समान हैं। स्त्री को लक्ष्मी जी के ही समान श्रद्धापूर्वक अपने पति की सेवा करनी चाहिए। मनुष्य को भगवान् का आदर्श दास होना चाहिए और स्त्री को लक्ष्मी के समान आदर्श पत्नी होना चाहिए। तब पति तथा पत्नी दोनों इतने श्रद्धायुक्त तथा प्रबल होंगे कि वे साथ-साथ कर्म करते हुए भगवद्धाम वापस जा सकेंगे। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य का मत है—

हरिरस्मिन् स्थित इति स्त्रीणां भर्तरि भावना।
शिष्याणां च गुरौ नित्यं शूद्राणां ब्राह्मणादिषु।
भृत्यानां स्वामिनि तथा हरिभाव उदीरितः॥

स्त्री को चाहिए कि वह अपने पति को परमेश्वर माने। शिष्य को चाहिए कि अपने गुरु को भगवान् माने; शूद्र को चाहिए कि ब्राह्मण को भगवान् माने तथा सेवक को चाहिए कि अपने स्वामी को भगवान् माने। इस प्रकार सभी स्वतः भगवद्भक्त हो जाएँगे। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार सोचने से वे सभी कृष्णभावनाभावित हो जाएंगे।

वृत्तिः सङ्करजातीनां तत्तत्कुलकृता भवेत् ।
अचौराणामपापानामन्त्यजान्तेवसायिनाम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

वृत्तिः—वृत्तिपरक कर्तव्य; सङ्कर-जातीनाम्—मिश्रित वर्णों के लोगों का (चारों वर्णों के अतिरिक्त); तत्-तत्—वे-वे; कुल-कृता—पारिवारिक परम्परा; भवेत्—हो; अचौराणाम्—जो वृत्ति से चोर नहीं हैं; अपापानाम्—जो पापी नहीं हैं; अन्त्यज—निम्न वर्ग के; अन्तेवसायिनाम्—अन्तेवसायी या चाण्डाल नाम से ज्ञात।

संकर जातियों में से जो चोर नहीं होते वे अन्तेवसायी या चण्डाल (कुत्ता खाने वाले) कहलाते हैं और उनके कुल में चले आने वाले रीति-रिवाजों को होते हैं।

तात्पर्य : समाज के चार प्रधान वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—की परिभाषा दी जा चुकी है और अब मिश्रित वर्ण *अन्त्यज* का विवरण दिया जा रहा है। मिश्रित वर्णों में दो विभाग हैं—*प्रतिलोमज* तथा *अनुलोमज।* यदि उच्च जाति की स्त्री निम्न जाति के पुरुष से विवाह करती है, तो उनका यह संयोग *प्रतिलोम* कहलाता है। किन्तु यदि निम्न जाति की स्त्री उच्च जाति के पुरुष से विवाह करती है, तो यह संयोग *अनुलोम* कहलाता है। ऐसे वंशों के सदस्य ताई, धोबी जैसे परम्परागत कर्म करते हैं। *अन्त्यजों* में जो कुछ-कुछ शुद्ध होते हैं—न चोरी करते हैं और न मांसाहार तथा मद्यपान करते हैं, न अवैध मैथुन करते हैं, न जुआ खेलते हैं—वे *अन्तेवसायी* कहलाते हैं। निम्न जातियों में अन्तर्जातीय विवाह तथा मद्यपान की छूट रहती है, क्योंकि ये लोग ऐसे आचरण को पापपूर्ण नहीं मानते।

प्रायः स्वभावविहितो नृणां धर्मो युगे युगे ।
वेददृग्भिः स्मृतो राजन्प्रेत्य चेह च शर्मकृत् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

प्रायः—सामान्यतया; स्व-भाव-विहितः—नियत, अपने गुण के अनुसार; नृणाम्—मानव समाज का; धर्मः—वृत्तिपरक कर्तव्य; युगे युगे—प्रत्येक युग में; वेद-दृग्भिः—वैदिक ज्ञान में पारंगत ब्राह्मण के द्वारा; स्मृतः—मान्य; राजन्—हे राजा; प्रेत्य—मृत्यु के बाद; च—तथा; इह—यहाँ (इस शरीर में); च—भी; शर्म-कृत्—शुभ, कल्याणकारी।

हे राजन्, वैदिक ज्ञान में पारंगत ब्राह्मणों का निर्णय है कि प्रत्येक युग में अपने-अपने भौतिक गुणों के अनुसार विभिन्न वर्णों के लोगों का आचरण इस जीवन में तथा अगले जीवन में कल्याणकारी होता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (३.३५) में कहा गया है—*श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्*—अपने-अपने नियत कर्मों को करना अन्यों के कर्म करने से कहीं अधिक अच्छा है, चाहे वे दोषपूर्ण ही क्यों न हों। *अन्त्यज* अर्थात् निम्नश्रेणी के लोंग चोरी करने, मद्यपान करने तथा अवैध मैथुन करने के अभ्यस्त होते हैं, किन्तु इन्हें पापपूर्ण नहीं माना जाता। उदाहरणार्थ, यदि शेर किसी आदमी को मार डालता है, तो वह पापपूर्ण नहीं है, किन्तु यदि कोई मनुष्य दूसरे व्यक्ति को मारता है, तो वह पापपूर्ण माना जाता है और मारने वाले को फाँसी दी जाती है। जो कृत्य पशु जगत में दैनिक काम है, वही मानव समाज में पापपूर्ण कृत्य है। इस प्रकार समाज में उच्च तथा निम्न वर्गों के लक्षणों के अनुसार

विभिन्न प्रकार के वृत्तिपरक कर्तव्य होते हैं। वैदिक ज्ञान के विशेषज्ञों के अनुसार ये कर्तव्य युग के अनुसार नियत किये जाते हैं।

वृत्त्या स्वभावकृतया वर्तमानः स्वकर्मकृत् ।
हित्वा स्वभावजं कर्म शनैर्निर्गुणतामियात् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

वृत्त्या—वृत्ति से; स्व-भाव-कृतया—अपने भौतिक गुणों के अनुसार किया गया; वर्तमानः—विद्यमान; स्व-कर्म-कृत्—अपना-अपना कार्य करते हुए; हित्वा—त्याग कर; स्व-भाव-जम्—अपने ही गुणों से उत्पन्न; कर्म—कार्य; शनैः—धीरे-धीरे; निर्गुणताम्—दिव्य स्थिति; इयात्—प्राप्त कर सकता है।

यदि कोई अपनी प्रकृति जन्य भौतिक स्थिति के अनुसार अपना वृत्तिपरक कार्य करता है तथा धीरे-धीरे इन कार्यों को छोड़ देता है, तो उसे निष्काम अवस्था प्राप्त हो जाती है।

तात्पर्य : यदि कोई अपने कुल के रिवाजों तथा कर्तव्यों को धीरे-धीरे छोड़कर अपनी स्वाभाविक स्थिति में भगवान् की सेवा करने का प्रयास करता है, तो वह अपने कर्मों से क्रमशः मुक्त हो जाता है और निष्काम अवस्था अर्थात् भौतिक इच्छाओं से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

उप्यमानं मुहुः क्षेत्रं स्वयं निर्वीर्यतामियात् ।
न कल्पते पुनः सूत्यै उप्तं बीजं च नश्यति ॥ ३३॥
एवं कामाशयं चित्तं कामानामतिसेवया ।
विरज्येत यथा राजन्नग्निवत्कामबिन्दुभिः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

उप्यमानम्—इस प्रकार जोतने से; मुहुः—पुनः-पुनः; क्षेत्रम्—खेत; स्वयम्—अपने आप; निर्वीर्यताम्—बंजर; इयात्—हो जाता है; न कल्पते—उपयुक्त नहीं है; पुनः—फिर; सूत्यै—अगली फसल उगाने के लिए; उप्तम्—बोया गया; बीजम्—बीज; च—तथा; नश्यति—नष्ट हो जाता है; एवम्—इस प्रकार; काम-आशयम्—कामेच्छाओं से पूर्ण; चित्तम्—अन्तःकरण; कामानाम्—वांछित वस्तुओं के; अति-सेवया—बारम्बार भोग के कारण; विरज्येत—विरक्त हो सकता है; यथा—जिस तरह; राजन्—हे राजा; अग्नि-वत्—अग्नि; काम-बिन्दुभिः—घी की छोटी-छोटी बूँदों से।

हे राजन्, यदि कोई खेत को बारम्बार जोता-बोया जाता है, तो उसकी उत्पादन शक्ति घट जाती है और जो भी बीज बोये जाते हैं वे नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार घी की एक एक बूँद डालने से अग्नि कभी नहीं बुझती अपितु घी की धारा से वह बुझ जाएगी उसी प्रकार विषयवासना में अत्यधिक लिप्त होने पर ऐसी इच्छाएँ पूरी तरह नष्ट हो जाती हैं।

तात्पर्य : यदि कोई अग्नि में निरन्तर बूँद-बूँद घी छिड़के तो अग्नि नहीं बुझेगी, किन्तु यदि ढेर सारा घी उड़ेल दिया जाये तो अग्नि सम्भवतः पूरी तरह बुझ जाए। इसी प्रकार जो अधिक पापी हैं और

निम्न जाति में उत्पन्न हैं उन्हें जी भर कर पाप करने दिया जाता है, क्योंकि सम्भव है कि वे इन कार्यों से ऊब कर उन्हें शुद्ध बनने का अवसर पा सकें।

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम् ।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; यत्—जो; लक्षणम्—लक्षण; प्रोक्तम्—कहे गये (ऊपर); पुंसः—मनुष्य के; वर्ण-अभिव्यञ्जकम्—विभाजन को सूचित करने वाले (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि); यत्—यदि; अन्यत्र—कहीं और; अपि—भी; दृश्येत—देखा जाता है; तत्—वह; तेन—उस लक्ष्य से; एव—निश्चय ही; विनिर्दिशेत्—उसका नाम धरना चाहिए।

यदि कोई उपर्युक्त प्रकार से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र के लक्षण प्रदर्शित करता है, तो भले ही वह भिन्न जाति का क्यों न हो, उसे वर्गीकरण के उन लक्षणों के अनुसार स्वीकार किया जाना चाहिए।

तात्पर्य : यहाँ पर नारद मुनि स्पष्ट रूप से कहते हैं कि किसी को जन्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र नहीं मान लेना चाहिए। यद्यपि आजकल ऐसा ही प्रचलन है, किन्तु शास्त्र इसे स्वीकार नहीं करते। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.१३) में कहा गया है—*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।* इस तरह गुणों तथा कार्यों के अनुसार समाज के चारों विभागों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—का निर्णय किया जाना चाहिए। यदि कोई ब्राह्मण परिवार में जन्म ले और ब्राह्मण गुण प्राप्त कर ले तो उसे ब्राह्मण माना जाना चाहिए, अन्यथा उसे ब्रह्मबन्धु मानना चाहिए। इसी प्रकार यदि कोई शूद्र ब्राह्मण के गुण अर्जित कर ले तो भले ही वह शूद्र कुल में जन्मा हो, किन्तु वह शूद्र नहीं है; क्योंकि उसके ब्राह्मण गुण विकसित कर लिए हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन इन ब्राह्मण गुणों को विकसित करने के लिए है। चाहे कोई जिस जाति या कुल में उत्पन्न क्यों न हो, यदि उसमें ब्राह्मण के गुण विकसित हो गये हों, तो उसे ब्राह्मण मान लेना चाहिए और उसे *संन्यास* आश्रम प्रदान करना चाहिए। जब तक कोई ब्राह्मण गुणों से सम्पन्न नहीं होता, तब तक वह *संन्यास* नहीं ग्रहण कर सकता। अतएव किसी व्यक्ति को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र की उपाधि प्रदान करने के लिए जन्म अनिवार्य लक्षण नहीं है। यह ज्ञान अत्यावश्यक है। यहाँ पर नारद मुनि स्पष्ट कहते हैं कि यदि किसी मनुष्य में संगत गुण पाये जाँय तो उसके जन्म के अनुसार उसकी जाति मानी जाए, अन्यथा नहीं। जिसने ब्राह्मण के गुण प्राप्त कर लिए हैं, चाहे वह कहीं भी जन्म ले, उसे ब्राह्मण मान लेना चाहिए। इसी प्रकार यदि

किसी ने शूद्र या चण्डाल के गुण विकसित कर लिए हैं, तो वह चाहे कहीं भी जन्मा हो, उसे लक्षणों के अनुसार स्वीकार किया जाना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कंध के अन्तर्गत ''पूर्ण समाज: चातुर्वर्ण'' नामक ग्यारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बारह

पूर्ण समाज : चार आध्यात्मिक वर्ग

इस अध्याय में चारों आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास—के सामान्य वर्णन के साथ ही ब्रह्मचारी तथा वानप्रस्थ का विशेष वर्णन हुआ है। पिछले अध्याय में नारद मुनि ने समाज के वर्ण संस्थान का वर्णन किया है और अब वे इस अध्याय में चारों आश्रमों में आध्यात्मिक उन्नति की अवस्थाओं का वर्णन करेंगे जो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास के नाम से जानी जाती हैं।

ब्रह्मचारी को वास्तविक गुरु के संरक्षण में रहना चाहिए, गुरु का सच्चा आदर करना चाहिए, उन्हें नमस्कार करना चाहिए और उनका तुच्छ सेवक बनकर उनके आदेशों का सदा पालन करना चाहिए। ब्रह्मचारी को आध्यात्मिक कार्यों में लगना चाहिए और गुरु के निर्देशन में वैदिक साहित्य का अध्ययन करना चाहिए। ब्रह्मचर्य प्रणाली के अनुसार उसे मेखला, मृगचर्म, जनेऊ तथा जटा धारण करना चाहिए और हाथ में दण्ड तथा जलपात्र रखना चाहिए। उसे प्रतिदिन प्रात: भिक्षाटन करना चाहिए और शाम को जितनी भिक्षा मिले उसे लाकर गुरु को अर्पित कर देनी चाहिए ब्रह्मचारी को गुरु का आदेश मिलने पर ही प्रसाद स्वीकार करना चाहिए और यदि कभी गुरु अपने शिष्य को खाने की आज्ञा देना भूल जाये तो शिष्य को चाहिए कि अपने आप प्रसाद ग्रहण न करे प्रत्युत उपवास करे। ब्रह्मचारी को प्रशिक्षित किया जाना चाहिए कि जितना नितान्त आवश्यक हो उतने ही भोजन से सन्तुष्ट रहे, अपने उत्तरदायित्व को निभाने में पटु बने, आज्ञाकारी बने तथा अपनी इन्द्रियों पर संयम रखे तथा जहाँ तक सम्भव हो स्त्रियों की संगति से बचे। ब्रह्मचारी को चाहिए कि स्त्रियों के साथ रहने से पूरी तरह बचे और गृहस्थों तथा स्त्री-अनुरक्तों से कभी न मिले। न ही वह किसी स्त्री से एकान्त में बातें करे।

इस प्रकार अपनी शिक्षा पूरी कर लेने के बाद ब्रह्मचारी को चाहिए कि अपने गुरु को दक्षिणा दे और तब अपने घर के लिए विदा हो तथा अगले आश्रम—*गृहस्थ आश्रम*—में प्रवेश करे; अन्यथा शुद्धतापूर्वक ब्रह्मचर्य आश्रम में ही स्थित रहे। शास्त्रों में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा संन्यास आश्रम के कार्यों का उल्लेख है। गृहस्थ को मनमाना कामासक्त-जीवन का भोग करने की छूट नहीं है। निस्सन्देह, वैदिक जीवन का पूर्ण उद्देश्य विषयासक्ति से मुक्त होना है। सारे आश्रम आध्यात्मिक उन्नति के लिए स्वीकृत हैं और यद्यपि गृहस्थ आश्रम में कुछ काल के लिए कामासक्त-जीवन के लिए छूट है, किन्तु यह मनमाने कामासक्त-जीवन की अनुमति प्रदान नहीं करता। अतएव गृहस्थ-जीवन में भी अवैध मैथुन की अनुमति नहीं है। गृहस्थ को विषय-सुख के लिए कोई स्त्री स्वीकार नहीं करनी चाहिए। वीर्य का विनाश भी अवैध मैथुन है।

गृहस्थ आश्रम के बाद वानप्रस्थ आश्रम आता है, जो गृहस्थ तथा संन्यास के बीच में है। वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति को अन्न खाने पर प्रतिबन्ध रहता है और उसे ऐसे फल भी नहीं खाने चाहिए जो पेड़ पर न पके हों। उसे अग्नि में भोजन पकाना भी मना रहता है। यद्यपि वह *चरू* अर्थात् वह अन्नजों यज्ञ की अग्नि में भेट किया जाता है खा सकता है। वह प्राकृतिक रूप में उगे फल तथा अन्न खा सकता है। उसे घास फूस की झोपड़ी में रहकर जाड़ा तथा गर्मी सहन करना होता है। वह नाखून या बाल नहीं काट सकता। उसे अपना शरीर तथा दाँत साफ करना मना रहता है। उसे वृक्ष की छाल पहननी होती है और *दण्ड* धारण करना पड़ता है। उसे बारह वर्ष, आठ वर्ष, चार वर्ष, दो वर्ष या कम से कम एक वर्ष तक जंगल में जीवन बिताने का अभ्यास करना होता है। अन्त में जब वह वृद्धावस्था के कारण वानप्रस्थ के कार्य नहीं कर पाता तो उसे सब कुछ बन्द करके शरीर त्याग देना चाहिए।

श्रीनारद उवाच
ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन्दान्तो गुरोर्हितम् ।
आचरन्दासवन्नीचो गुरौ सुदृढसौहृदः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; ब्रह्मचारी—गुरु के घर पर रहने वाला विद्यार्थी, ब्रह्मचारी; गुरु-कुले—गुरु के निवासस्थान पर; वसन्—रहते हुए; दान्तः—निरन्तर इन्द्रिय संयम करते हुए; गुरोः हितम्—केवल गुरु के लाभ के लिए (अपने लाभ के लिए नहीं); आचरन्—अभ्यास करते हुए; दास-वत्—दास के समान अत्यन्त विनीत होकर; नीचः—विनम्र; गुरौ—गुरु में; सु-दृढ—दृढ़तापूर्वक; सौहृदः—मित्रता में या शुभकामना में।.

नारद मुनि ने कहा : विद्यार्थी को चाहिए कि वह अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखने का अभ्यास करे। उसे विनीत होना चाहिए और गुरु के साथ दृढ़ मित्रता की प्रवृत्ति रखनी चाहिए। ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह महान् व्रत लेकर गुरुकुल में केवल अपने गुरु के लाभ ही रहे।

सायं प्रातरुपासीत गुर्वग्न्यर्कसुरोत्तमान् ।
सन्ध्ये उभे च यतवाग्जपन्ब्रह्म समाहितः ॥ २॥

शब्दार्थ

सायम्—संध्या समय; प्रातः—प्रातः काल; उपासीत—पूजा करे; गुरु—गुरु; अग्नि—आग (अग्नि यज्ञ द्वारा); अर्क—सूर्य; सुर-उत्तमान्—तथा पुरुषों में श्रेष्ठ (पुरुषोत्तम) भगवान् विष्णु को; सन्ध्ये—प्रातः तथा सायंकाल; उभे—दोनों; च—भी; यत-वाक्—बिना बोले, मौन रहकर; जपन्—मन ही मन गुनगुनाते हुए; ब्रह्म—गायत्री मंत्र में; समाहितः—पूर्णतया लीन।

दिन तथा रात्रि के संधिकाल में अर्थात् प्रातःकाल तथा संध्या समय उसे गुरु, अग्नि, सूर्यदेव तथा भगवान् विष्णु के विचारों में लीन रहना चाहिए और गायत्री मंत्र को जपते हुए उनकी पूजा करनी चाहिए।

छन्दांस्यधीयीत गुरोराहूतश्चेत्सुयन्त्रितः ।
उपक्रमेऽवसाने च चरणौ शिरसा नमेत् ॥ ३॥

शब्दार्थ

छन्दांसि—वेदों के मंत्र यथा हरे कृष्ण महामंत्र तथा गायत्री मंत्र; अधीयीत—उच्चारण करे या नियम से पढ़े; गुरोः—गुरु से; आहूतः—बुलाया जाकर; चेत्—यदि; सु-यन्त्रितः—आज्ञाकारी, सभ्य; उपक्रमे—प्रारम्भ में; अवसाने—अन्त में (वेद मंत्रों के पढ़ने में); च—भी; चरणौ—चरणकमलों पर; शिरसा—सिर के बल; नमेत्—नमस्कार करे।

गुरु द्वारा बताए जाने पर विद्यार्थी को चाहिए कि वह उनसे नियमपूर्वक वैदिक मंत्रों का अध्ययन करे। शिष्य को प्रतिदिन अपना अध्ययन प्रारम्भ करने के पूर्व तथा अध्ययन के अन्त में अपने गुरु को सादर नमस्कार करना चाहिए।

मेखलाजिनवासांसि जटादण्डकमण्डलून् ।
बिभृयादुपवीतं च दर्भपाणिर्यथोदितम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

मेखला—मूँज की मेखला; अजिन-वासांसि—मृगचर्म से बने वस्त्र; जटा—बालों की जटा; दण्ड—डण्डा; कमण्डलून्—कमण्डल या जलपात्र; बिभृयात्—उसे (ब्रह्मचारी को) सदैव पहनना या लिये रहना चाहिए; उपवीतम् च—तथा जनेऊ; दर्भ-पाणिः—शुद्ध कुश हाथ में लिये; यथा उदितम्—शास्त्रों में बताई विधि से।

अपने हाथ में शुद्ध कुश घास लिए हुए ब्रह्मचारी को मूँज की मेखला तथा मृगछाला का वस्त्र पहनना चाहिए। उसे शास्त्रोक्त विधि से जटा रखना चाहिए, दण्ड धारण करना चाहिए, कमण्डल लेना चाहिए और यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए।

सायं प्रातश्चरेद्भैक्ष्यं गुरवे तन्निवेदयेत् ।
भुञ्जीत यद्यनुज्ञातो नो चेदुपवसेत्क्वचित् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सायम्—संध्या समय; प्रातः—प्रातःकाल; चरेत्—बाहर जाना चाहिए; भैक्ष्यम्—भिक्षा माँगने; गुरवे—गुरु को; तत्—वह जितना एकत्र करता है; निवेदयेत्—अर्पित करे; भुञ्जीत—खाए; यदि—यदि; अनुज्ञातः—(गुरु द्वारा) आज्ञा दिये जाने पर; नो—अन्यथा; चेत्—यदि; उपवसेत्—उपवास रखे; क्वचित्—कभी।

ब्रह्मचारी को सुबह-शाम भिक्षा माँगने के लिए बाहर जाना चाहिए और जो कुछ भी भिक्षा में मिले उसे लाकर गुरु को दे दे। वह तभी भोजन करे जब गुरु उसे भोजन करने का आदेश दे, अन्यथा यदि कभी गुरु आदेश न दे, तो वह कभी कभी उपवास करे।

सुशीलो मितभुग्दक्षः श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
यावदर्थं व्यवहरेत्स्त्रीषु स्त्रीनिर्जितेषु च ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सु-शीलः—अत्यन्त नम्र तथा सभ्य; मित-भुक्—आवश्यकता से न तो कम और न अधिक भोजन करना; दक्षः—पटु, आलस्य से रहित, सदैव कार्यरत; श्रद्दधानः—शास्त्र तथा गुरु के आदेशों में पूर्ण श्रद्धा रखने वाला; जित-इन्द्रियः—इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखने वाला; यावत्-अर्थम्—जितना आवश्यक हो; व्यवहरेत्—बाह्यरूप से आचरण करे; स्त्रीषु—स्त्रियों से; स्त्री-निर्जितेषु—पुरुष जो स्त्री के वश में होते हैं; च—भी।

ब्रह्मचारी को सदाचारी तथा भद्र होना चाहिए। उसे न तो आवश्यकता से अधिक खाना चाहिए न एकत्र करना चाहिए। उसे सदैव क्रियाशील तथा पटु होना चाहिए और गुरु तथा शास्त्रों के आदेशों में पूर्ण विश्वास रखना चाहिए। उसे अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखते हुए स्त्रियों से या स्त्रियों के वशीभूत पुरुषों से उतनी ही संगति करनी चाहिए जितनी कि आवश्यक हो।

तात्पर्य : ब्रह्मचारी को काफी सतर्क रहना चाहिए कि वह स्त्रियों या स्त्रियों के वशीभूत पुरुषों की संगति न करे। यद्यपि भिक्षा माँगने के लिए बाहर जाने पर उसे ऐसे लोगों से बोलना ही पड़ता है, किन्तु यह सम्पर्क बहुत अल्प होना चाहिए और उसे केवल भिक्षा के सम्बन्ध में ही बातें करनी चाहिए। उसे उन व्यक्तियों से भी सावधान रहना चाहिए जो स्त्रियों के प्रति अनुरक्त होते हैं।

वर्जयेत्प्रमदागाथामगृहस्थो बृहद्व्रतः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्त्यपि यतेर्मनः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

वर्जयेत्—त्याग दे; प्रमदा-गाथाम्—स्त्रियों से बातें करना; अगृहस्थः—जिसने गृहस्थ आश्रम नहीं स्वीकार किया (ब्रह्मचारी या संन्यासी); बृहत्-व्रतः—ब्रह्मचर्य व्रत का पालन; इन्द्रियाणि—इन्द्रियों को; प्रमाथीनि—प्रायः अजेय; हरन्ति—चुरा लेती हैं; अपि—भी; यतेः—संन्यासी का; मनः—मन।

ब्रह्मचारी या अगृहस्थ को स्त्रियों से बातें करने या उनके विषय में बातें करने से दृढ़तापूर्वक बचना चाहिए, क्योंकि इन्द्रियाँ इतनी प्रबल होती हैं कि वे संन्यासी के मन को भी विचलित कर सकती हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मचर्य का अर्थ है विवाह न करने का व्रत धारण करना तथा पूर्ण ब्रह्मचर्य (*बृहद्व्रत*) रखना। ब्रह्मचारी या संन्यासी को स्त्रियों से बातें करने या स्त्री एवं पुरुष की वार्ता वाले साहित्य को पढ़ने से बचना चाहिए। स्त्रियों की संगति पर पाबन्दी का आदेश आध्यात्मिक जीवन का मूल मंत्र है। स्त्रियों से बातें करने या उनकी संगति करने का परामर्श किसी भी वैदिक ग्रन्थ में नहीं मिलता। समग्र वैदिक प्रणाली मनुष्य को विषयी जीवन से बचने की शिक्षा देती है, जिससे वह क्रमशः ब्रह्मचर्य से गृहस्थ, गृहस्थ से वानप्रस्थ और वानप्रस्थ से संन्यास की दिशा में बढ़ता जाए और भौतिक भोग का त्याग करे जो इस भवबन्धन का मूल कारण है। *बृहद्व्रत* उस व्यक्ति का सूचक है, जिसने विवाह न करने का निश्चय किया हुआ है अथवा दूसरे शब्दों में, ऐसा व्यक्ति जो आजीवन कामासक्त-जीवन में अनुरक्त नहीं होता।

केशप्रसाधनोन्मर्दस्नपनाभ्यञ्जनादिकम् ।
गुरुस्त्रीभिर्युवतिभिः कारयेन्नात्मनो युवा ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

केश-प्रसाधन—बाल काढ़ना; उन्मर्द—शरीर की मालिश; स्नपन—स्नान; अभ्यञ्जन-आदिकम्—तैल मर्दन आदि; गुरु-स्त्रीभिः—गुरु की पत्नी से; युवतिभिः—युवती; कारयेत्—करवाए; न—नहीं; आत्मनः—निज सेवा के लिए; युवा—यदि विद्यार्थी युवक हो।

यदि गुरुपत्नी युवती हो तो युवा ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह न तो उससे अपने बाल कढ़वाए, न शरीर में तेल मालिश करवाए और न उसे माता तुल्य प्यार से स्नान कराने दे।

तात्पर्य : शिष्य तथा गुरु-पत्नी के मध्य माता-पुत्र का सा सम्बन्ध होता है। कभी-कभी माता अपने पुत्र के बाल काढ़ती है, उसके शरीर में तेल मलती है या उसे नहलाती है। इसी प्रकार गुरु-पत्नी भी माता होती है, अतएव उसे भी माता तुल्य शिष्य की परवाह करनी चाहिए। किन्तु यदि गुरु-पत्नी युवती हो तो युवक ब्रह्मचारी को चाहिए कि ऐसी माता को अपना स्पर्श न करने दे। इसका कठोर निषेध है। माताएँ सात प्रकार की हैं—

आत्ममाता गुरोः पत्नी ब्राह्मणी राजपत्निका।

धेनुर्धात्री तथा पृथ्वी सप्तैता मातरः स्मृताः ॥

ये माताएँ हैं—जन्मदात्री माता, गुरु की पत्नी, ब्राह्मण पत्नी, राजा की पत्नी, गाय, धाय तथा पृथ्वी। स्त्रियों के साथ अनावश्यक संगति वर्जित है यहाँ तक कि अपनी माता, बहिन या पुत्री के साथ भी। यही मानवीय सभ्यता है। जिस सभ्यता में मनुष्यों को स्त्रियों के साथ बिना रोक-टोक के मिलने दिया जाता है, वह पाशविक सभ्यता है। कलियुग में लोग अत्यन्त उदार हैं, लेकिन स्त्रियों से घुल-मिलकर बातें करना वास्तव में असभ्य जीवन-शैली है।

नन्वग्निः प्रमदा नाम घृतकुम्भसमः पुमान् ।
सुतामपि रहो जह्यादन्यदा यावदर्थकृत् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ननु—निश्चय ही; अग्निः—अग्नि; प्रमदा—स्त्री (पुरुष के मन को मोहने वाली); नाम—नाम ही; घृत-कुम्भ—घी के बर्तन के; समः—समान; पुमान्—मनुष्य; सुताम् अपि—अपनी पुत्री के भी; रहः—एकान्त स्थान में; जह्यात्—साथ न रहे; अन्यदा—किसी अन्य स्त्री के साथ भी; यावत्—जितना; अर्थ-कृत्—आवश्यक हो।.

स्त्री अग्नि के तुल्य है और पुरुष घी के घड़े के समान होता है। अतएव पुरुष को चाहिए कि अपनी पुत्री के साथ भी एकान्त में न रहे। इसी प्रकार उसे अन्य स्त्रियों की संगति से बचना चाहिए। स्त्रियों से आवश्यक कार्य के लिए ही मिलना चाहिए, अन्यथा नहीं।

तात्पर्य : यदि घी का बर्तन और अग्नि पास-पास रखे जाँय तो बर्तन का घी निश्चित रूप से पिघलेगा। स्त्री की उपमा अग्नि से और पुरुष की घी के बर्तन से दी गई है। कोई कितना ही इन्द्रियसंयमी क्यों न हो, स्त्री की उपस्थिति में उसका संयमित रह पाना लगभग अस्मभव हो जाता है, भले ही वह स्त्री उसकी निजी पुत्री, माता या बहन क्यों न हो। निस्सन्देह, संन्यासी तक का मन विचलित हो जाता है। अतएव वैदिक सभ्यता पुरुषों तथा स्त्रियों के मिलने पर प्रतिबन्ध लगाती है।

यदि कोई पुरुष-स्त्री के इस संयोग के निषेध के मूल सिद्धान्त को नहीं समझ सकता तो वह निरा पशु है। यही इस श्लोक का तात्पर्य है।

कल्पयित्वात्मना यावदाभासमिदमीश्वरः ।
द्वैतं तावन्न विरमेत्ततो ह्यस्य विपर्ययः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

कल्पयित्वा—निश्चय करके; आत्मना—आत्म-साक्षात्कार द्वारा; यावत्—जब तक; आभासम्—प्रतिबिम्ब (मूल शरीर तथा इन्द्रियों का); इदम्—यह (शरीर इन्द्रियाँ); ईश्वरः—मोह से पूर्णतया मुक्त; द्वैतम्—द्वन्द्व; तावत्—तब तक; न—नहीं; विरमेत्—देखता है; ततः—ऐसे द्वैत से; हि—निश्चय ही; अस्य—पुरुष का; विपर्ययः—प्रतिक्रिया, जवाबी कार्यवाही।

जब तक जीव पूर्णरूपेण स्वरूपसिद्ध नहीं है—जब तक वह देहात्मबुद्धि की भ्रान्त धारणा से मुक्त नहीं हो लेता जो कि मूल शरीर तथा इन्द्रियों का प्रतिबिम्ब मात्र है तब तक वह उस द्वैत भाव से छुटकारा नहीं पा सकता जो स्त्री तथा पुरुष के मध्य द्वैत का सूचक है। इस तरह हर इसकी हर सम्भावना रहती है कि वह नीचे गिर जाए, क्योंकि उसकी बुद्धि मोहित होती है।

तात्पर्य : यहाँ पर दूसरी महत्त्वपूर्ण चेतावनी है कि मनुष्य अपने को स्त्री-आकर्षण से बचाए। जब तक कोई स्वरूपसिद्ध नहीं हो लेता तथा देहात्मबुद्धि से पूर्णतया स्वतंत्र नहीं हो जाता तब तक स्त्री तथा पुरुष का द्वैत निश्चय ही बना रहेगा। किन्तु वस्तुतः स्वरूपसिद्ध होने पर यह अन्तर जाता रहता है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

"विनीत साधु अपने असली ज्ञान के बल पर विद्वान तथा भद्र ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता तथा चण्डाल को सम दृष्टि से देखता है" (*भगवद्गीता* ५.१८)। आध्यात्मिक स्तर पर विद्वान व्यक्ति न केवल स्त्री-पुरुष के द्वैत का परित्याग कर देता है, अपितु पुरुष तथा पशु के द्वैत को भी त्याग देता है। आत्म-साक्षात्कार की यही परीक्षा है। मनुष्य को इसकी भलीभाँति अनुभूति होनी चाहिए कि जीव आत्मा है, किन्तु वह विविध भौतिक शरीरों का स्वाद ले रहा है। सिद्धान्त रूप में तो मनुष्य इसे समझता है, किन्तु जब उसे व्यावहारिक अनुभूति होती है, तो वह वास्तव में पण्डित बन जाता है। उस समय तक द्वैत बना रहता है और स्त्री-पुरुष की भी धारणा बनी रहती है। इस अवस्था में उसे स्त्रियों के साथ घुलमिल कर रहने में सतर्कता बरतनी होगी। किसी को अपने आपको पूर्ण समझ कर शास्त्रों के इस आदेश को विस्मृत नहीं कर देना चाहिए कि मनुष्य को न केवल किसी स्त्री से अपितु अपनी पुत्री,

माता या बहन के साथ रहने में भी सतर्कता बरतनी चाहिए। इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं—

बहुत्वैनैव वस्तूनां यथार्थज्ञानमुच्यते।

अद्वैतज्ञानमित्येतद् द्वैतज्ञानं तदन्यथा॥

यथा ज्ञानं तथा वस्तु यथा वस्तुस्तथा मतिः।

नैव ज्ञानार्थयोर्भेदस्तत एकत्ववेदनम्॥

विविधता में एकता वास्तविक ज्ञान है, अतएव कृत्रिम रूप से विविधता का परित्याग अद्वैतवाद के पूर्ण ज्ञान को प्रतिबिम्बित नहीं करता। श्री चैतन्य महाप्रभु के *अचिन्त्य भेदाभेद* दर्शन के अनुसार विविधताएँ तो होती हैं, किन्तु वे सब मिलकर एक इकाई का निर्माण करती हैं। ऐसा ज्ञान पूर्ण एकत्व का ज्ञान है।

एतत्सर्वं गृहस्थस्य समाम्नातं यतेरपि ।
गुरुवृत्तिर्विकल्पेन गृहस्थस्यर्तुगामिनः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; सर्वम्—सारे; गृहस्थस्य—गृहस्थ का; समाम्नातम्—वर्णित; यतेः अपि—यहाँ तक कि संन्यासी का; गुरु-वृत्तिः विकल्पेन—गुरु के आदेशों का पालन करने के लिए; गृहस्थस्य—गृहस्थ का; ऋतु-गामिनः—प्रजनन के लिए ऋतुकाल के समय ही मैथुन करना।

सारे नियम तथा विधान गृहस्थ तथा संन्यासी दोनों पर समान रूप से लागू होते हैं। किन्तु गृहस्थ को उपयुक्त अवसर पर प्रजनन के लिए मैथुन करने के लिए गुरु अनुमति प्रदान करता है।

तात्पर्य : कभी-कभी यह गलत समझ लिया जाता है कि गृहस्थ को किसी भी समय मैथुन करने की अनुमति है। यह गृहस्थ जीवन की मिथ्या धारणा है। आध्यात्मिक जीवन में, चाहे कोई गृहस्थ हो, वानप्रस्थ हो, संन्यासी हो या ब्रह्मचारी, हर एक व्यक्ति गुरु के अधीन रहता है। ब्रह्मचारियों तथा संन्यासियों को मैथुन में रत होने के लिए कठोर वर्जन है। इसी प्रकार गृहस्थों के लिए भी कठोर प्रतिबन्ध है। गृहस्थों को गुरु के आदेशानुसार ही स्त्री-संभोग में अनुरक्त होना चाहिए। इसीलिए यहाँ पर उल्लेख है कि मनुष्य अपने गुरु के आदेशों का पालन करे (*गुरुवृत्तिर्विकल्पेन*)। गुरु की आज्ञा होने पर गृहस्थ कामासक्त जीवन स्वीकार कर सकता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.११) में हुई है। *धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि*—धार्मिक विधि-विधानों की अवज्ञा किये बिना कामासक्त-जीवन

बिताना ही धर्म है। गृहस्थ को गुरु की आज्ञा से प्रजनन (सन्तानोत्पति) के लिए उपयुक्त अवधि में स्त्रीगमन करने की अनुमति है। यदि गृहस्थ को गुरु किसी विशेष समय में स्त्रीसम्भोग करने की अनुमति देता है, तो गृहस्थ ऐसा कर सकता है, किन्तु यदि गुरु का आदेश न हो तो गृहस्थ ऐसा न करे। गृहस्थ को चाहिए कि *गर्भाधान संस्कार* अनुष्ठान सम्पन्न करने के लिए अपने गुरु की अनुमति प्राप्त कर ले। तभी वह सन्तान उत्पन्न करने के लिए अपनी पत्नी के पास जाए, अन्यथा नहीं। सामान्यतया ब्राह्मण आजीवन ब्रह्मचारी रहता है, किन्तु कुछ ब्राह्मण अपने गुरु की आज्ञा से गृहस्थ बनकर स्त्री-सम्भोग करते हैं। क्षत्रिय को एक से अधिक पत्नियों से विवाह की छूट है, किन्तु इसे भी गुरु की ही आज्ञा से करना चाहिए। गृहस्थ होने का अर्थ यह नहीं होता कि वह चाहे जितनी बार विवाह करे और स्वेच्छापूर्वक कामासक्त जीवन के भोग में रत हो। यह कोई आध्यात्मिक जीवन नहीं है। आध्यात्मिक जीवन में मनुष्य को अपना सारा जीवन गुरु के मार्ग-निर्देशन में संचालित करना होता है। जो गुरु के निर्देशानुसार आध्यात्मिक जीवन बिताता है, वही कृष्ण की कृपा प्राप्त कर सकता है। *यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसाद: ।* आध्यात्मिक जीवन में प्रगति का इच्छुक व्यक्ति यदि मनमाने ढंग से कर्म करता है और गुरु के आदेशों का पालन नहीं करता तो उसको कोई शरण नहीं मिल पाती। *यस्यप्रसादान् न गति: कुतोऽपि ।* गुरु के आदेश के बिना गृहस्थ को भी कामासक्त जीवन में अनुरक्त नहीं होना चाहिए।

अञ्जनाभ्यञ्जनोन्मर्दस्त्र्यवलेखामिषं मधु ।
स्रग्गन्धलेपालङ्कारांस्त्यजेयुर्ये बृहद्व्रताः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अञ्जन—आँख में लगाया जाने वाला सुरमा; अभ्यञ्जन—शिर की मालिश; उन्मर्द—शरीर की मालिश; स्त्री-अवलेख—स्त्री पर दृष्टि डालना या स्त्री का चित्र बनाना; आमिषम्—मांसाहार; मधु—शराब या शहद पीना; स्रक्—शरीर को फूलों के हारों से सजाना; गन्ध-लेप—शरीर पर सुगन्धित लेप लगाना; अलङ्कारान्—शरीर को आभूषणों से अलंकृत करना; त्यजेयुः—त्याग देना चाहिए; ये—जिन्होंने; बृहत्-व्रताः—ब्रह्मचर्य का व्रत धारण कर रखा है।

ब्रह्मचारियों या उन गृहस्थों को जिन्होंने उपर्युक्त विधि से वर्णित ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर रखा है उनके लिए आँखों में सुरमा या अंजन लगाना, सिर में तेल मलना, हाथ से शरीर की मालिश करना, स्त्री को देखना या उसका चित्र बनाना, मांस खाना, शराब पीना, शरीर को

फूलों के हार से सजाना, शरीर में इत्र-फुलेल लगाना या शरीर को आभूषणों से अलंकृत करना मना है। उन्हें इन सबका परित्याग करना चाहिए।

उषित्वैवं गुरुकुले द्विजोऽधीत्यावबुध्य च ।
त्रयीं साङ्गोपनिषदं यावदर्थं यथाबलम् ॥ १३ ॥
दत्त्वा वरमनुज्ञातो गुरोः कामं यदीश्वरः ।
गृहं वनं वा प्रविशेत्प्रव्रजेत्तत्र वा वसेत् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

उषित्वा—रहते हुए; एवम्—इस प्रकार; गुरु-कुले—गुरु के संरक्षण में; द्वि-जः—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य, जिनका दो बार जन्म होता है; अधीत्य—वैदिक साहित्य पढ़कर; अवबुध्य—इसे ठीक से समझकर; च—तथा; त्रयीम्—वैदिक वाङ्मय; स-अङ्ग—सहायक अंशों सहित; उपनिषदम्—तथा उपनिषदों को; यावत्-अर्थम्—जहाँ तक सम्भव हो; यथा-बलम्—यथाशक्ति; दत्त्वा—देकर; वरम्—पारिश्रमिक (दक्षिणा); अनुज्ञातः—पूछे जाने पर; गुरोः—गुरु की; कामम्—इच्छाएँ; यदि—यदि; ईश्वरः—समर्थ; गृहम्—गृहस्थ जीवन; वनम्—विरक्त जीवन; वा—अथवा; प्रविशेत्—प्रवेश करना चाहिए; प्रव्रजेत्—या बाहर जाना चाहिए; तत्र—वहाँ; वा—या तो; वसेत्—रहना चाहिए।

उपर्युक्त विधि-विधानों के अनुसार द्विज को—ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य को—गुरु के संरक्षण में गुरुकुल में निवास करना चाहिए। वहाँ उसे वेद, वेदाङ्ग तथा उपनिषदों का अध्ययन अपनी शक्ति तथा सामर्थ्य भर करना चाहिए। यदि सम्भव हो तो शिष्य को चाहिए कि वह तब गुरु द्वारा माँगी गई दक्षिणा दे और तब गुरु के आदेशानुसार गुरुकुल छोड़ दे और अपनी इच्छा से किसी अन्य आश्रम को—यथा गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम—को स्वीकार करे।

तात्पर्य : निस्सन्देह, वेदों का अध्ययन करने और उसको समझने में कुछ विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है लेकिन समाज के तीन उच्च वर्णों—ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों—को अपनी-अपनी सामर्थ्य तथा बुद्धि के अनुसार वैदिक साहित्य सीखना चाहिए। दूसरे शब्दों में, शूद्रों तथा अन्त्यजों के अतिरिक्त सबों के लिए वेदाध्ययन अनिवार्य है। वैदिक साहित्य वह ज्ञान प्रदान करता है, जिससे मनुष्य परम सत्य—ब्रह्म, परमात्मा या भगवान्—को समझ सकता है। *गुरुकुल* का उपयोग वैदिक साहित्य के समझने के लिए ही किया जाना चाहिए। इस समय प्रशिक्षण तथा प्रौद्योगिकी के लिए अनेक शिक्षण संस्थान हैं, किन्तु ऐसे ज्ञान को परम सत्य के ज्ञान से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता। अतएव प्रौद्योगिकी तो शूद्रों के लिए है जब कि वेद द्विजों के लिए हैं। फलस्वरूप इस श्लोक में बताया गया है—*द्विजोऽधीत्यावबुध्य च त्रयीं साङ्गोपनिषदम्।* इस समय कलियुग में एक तरह से प्रत्येक व्यक्ति शूद्र है; कोई भी द्विज नहीं है और अतएव समाज की स्थिति अत्यन्त शोचनीय है।

इस श्लोक में ध्यान देने की दूसरी बात है कि ब्रह्मचर्य आश्रम से कोई भी व्यक्ति संन्यास आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम या गृहस्थ आश्रम में जा सकता है। ब्रह्मचारी के लिए गृहस्थ बनना अनिवार्य नहीं है। चूँकि परम लक्ष्य तो परम सत्य को जानना है, अतएव विभिन्न आश्रमों में से गुजरना आवश्यक नहीं है। इस तरह कोई भी व्यक्ति ब्रह्मचारी आश्रम से सीधे संन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकता है। श्रील भक्ती सिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने सीधे ब्रह्मचारी आश्रम से संन्यास आश्रम ग्रहण किया था। दूसरे शब्दों में, उन्होंने गृहस्थ आश्रम या वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार करना अनिवार्य नहीं माना था।

अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेष्वधोक्षजम् ।
भूतैः स्वधामभिः पश्येदप्रविष्टं प्रविष्टवत् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अग्नौ—अग्नि में; गुरौ—गुरु में; आत्मनि—अपने में, आत्मा में; च—भी; सर्व-भूतेषु—प्रत्येक जीव में; अधोक्षजम्—भगवान् को, जो न तो भौतिक आँखों से देखे जा सकते हैं और न ही अन्य भौतिक इन्द्रियों द्वारा अनुभवगम्य हैं; भूतैः—सारे जीवों के साथ; स्व-धामभिः—भगवान् के सामान के साथ-साथ; पश्येत्—देखना चाहिए; अप्रविष्टम्—बिना प्रविष्ट हुए; प्रविष्ट-वत्—प्रविष्ट हुए की भाँति।

मनुष्य को इसकी अनुभूति करनी चाहिए कि भगवान् विष्णु एक ही साथ अग्नि, गुरु, आत्मा तथा समस्त जीवों में सभी परिस्थितियों में प्रविष्ट हैं और नहीं भी हैं। वे प्रत्येक वस्तु के पूर्ण नियामक के रूप में बाह्य तथा आन्तरिक रूप से स्थित हैं।

तात्पर्य : भगवान् की सर्वव्यापकता की अनुभूति ही परम सत्य का पूर्ण साक्षात्कार है, जिसे वैदिक साहित्य के अध्ययन द्वारा प्राप्त करना होता है। *ब्रह्म-संहिता* (५.३५) में कहा गया है—*अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थम्*—ब्रह्माजीण्ड में प्रत्येक जीव के हृदय में तथा परमाणु तक के भीतर स्थित हैं। हमें यह समझ लेना चाहिए कि जब भी भगवान् विद्यमान रहते हैं, तो वे अपने नाम, रूप, पार्षदों तथा दासों के समेत रहते हैं। जीव भगवान् का अंश है। इस तरह मनुष्य को समझना चाहिए कि जब भगवान् परमाणु के भीतर प्रविष्ट हैं, तो जीव भी उसी में हैं। मनुष्य को भगवान् के अचिन्त्य गुण को स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि भौतिक दृष्टि से कोई कभी यह नहीं समझ सकता कि भगवान् किस प्रकार सर्वव्यापी होकर भी अपने गोलोक वृन्दावन में स्थित हैं। यह अनुभूति तभी सम्भव है जब मनुष्य विविध आश्रमों के विधि-विधानों का दृढ़ता से पालन करे। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य का कहना है—

अप्रविष्टः सर्वगतः प्रविष्टस्त्वनुरूपवान्।

एवं द्विरूपो भगवान् हरिरेको जनार्दनः॥

भगवान् अपने आद्यरूप में सभी वस्तुओं में प्रविष्ट नहीं हैं (*अप्रविष्टः*) लेकिन अपने निराकार रूप में वे प्रविष्ट हैं (*प्रविष्टः*)। इस प्रकार वे एक ही समय प्रविष्ट हैं और नहीं भी हैं। *भगवद्गीता* (९.४) में इसकी व्याख्या की गई है जहाँ भगवान् कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

"यह समग्र ब्रह्माण्ड मेरे अव्यक्त रूप में मुझसे व्याप्त है। सारे जीव मुझमें हैं किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।" भगवान् अपना विरोध कर सकते हैं। इस प्रकार एकत्व में विविधता है (*एकत्वं बहुत्वम्*)।

एवं विधो ब्रह्मचारी वानप्रस्थो यतिर्गृही ।
चरन्विदितविज्ञानः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एवम् विधः—इस विधि से; ब्रह्मचारी—चाहे ब्रह्मचारी हो; वानप्रस्थः—चाहे कोई वानप्रस्थ आश्रम का हो; यतिः—या कि संन्यास आश्रम में हो; गृही—या गृहस्थाश्रम में हो; चरन्—आत्म-साक्षात्कार के अभ्यास तथा परम सत्य के ज्ञान द्वारा; विदित-विज्ञानः—परम सत्य विषयक विज्ञान से पूर्णतया अवगत; परम्—परम; ब्रह्म—परम सत्य; अधिगच्छति—समझ सकता है।

इस प्रकार से अभ्यास करते हुए चाहे कोई ब्रह्मचारी आश्रम में हो, गृहस्थ आश्रम में हो अथवा वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम में हो, उसे परम सत्य (ब्रह्म) की सर्वव्यापकता की सदैव अनुभूति होनी चाहिए, क्योंकि इस विधि से ब्रह्म को समझा जा सकता है।

तात्पर्य : यह आत्म-साक्षात्कार का शुभारम्भ है। सर्वप्रथम मनुष्य को यह समझना होगा कि ब्रह्म किस तरह सर्वत्र विद्यमान है और वह किस प्रकार कर्म करता है। यह विद्या *ब्रह्मजिज्ञासा* कहलाती है और मानव जीवन का यही असली लक्ष्य है। ऐसे ज्ञान के बिना कोई अपने को मनुष्य नहीं कह सकता प्रत्युत वह पशु जगत में रहता है। जैसाकि कहा गया है—*स एव गोखरः*—ऐसे ज्ञान के बिना वह गाय या गधे के तुल्य होता है।

वानप्रस्थस्य वक्ष्यामि नियमान्मुनिसम्मतान् ।
यानास्थाय मुनिर्गच्छेदृषिलोकमुहाञ्जसा ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

वानप्रस्थस्य—वानप्रस्थ आश्रम वाले व्यक्ति के (अवकाश प्राप्त जीवन); वक्ष्यामि—अब मैं बतलाऊँगा; नियमान्—नियमों या विधि-विधानों को; मुनि-सम्मतान्—बड़े-बड़े मुनियों, दार्शनिकों तथा साधु पुरुषों द्वारा मान्य; यान्—जिनको; आस्थाय—अभ्यास करके या स्थापित करके; मुनिः—साधु व्यक्ति; गच्छेत्—प्रोन्नत कर दिया जाता है; ऋषि-लोकम्—ऋषियों, मुनियों वाले लोक (महर्लोक) को; उह—हे राजा; अञ्जसा—बिना कठिनाई के।

हे राजा, अब मैं वानप्रस्थ की योग्यताओं का वर्णन करूँगा, जो कि पारिवारिक जीवन से विरक्ति है। वानप्रस्थ के विधि-विधानों का कठोरता से पालन करते हुए वह महर्लोक नामक उच्चतर लोक को सरलता से भेजा जा सकता है।

न कृष्टपच्यमश्नीयादकृष्टं चाप्यकालतः ।
अग्निपक्वमथामं वा अर्कपक्वमुताहरेत् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; कृष्ट-पच्यम्—भूमि को जोतकर उगाये गये अन्न; अश्नीयात्—खाना चाहिए; अकृष्टम्—बिना भूमि जोते उगे; च—तथा; अपि—भी; अकालतः— समय से पहले पका हुआ; अग्नि-पक्वम्—अग्नि में पकाया हुआ अन्न; अथ—भी; आमम्—आम; वा—अथवा; अर्क-पक्वम्—सूर्य के प्रकाश से अपने आप पका भोजन; उत—ऐसा आदेश है; आहरेत्—वानप्रस्थ खाए।

वानप्रस्थ आश्रम में रहने वाले व्यक्ति को जुती हुई जमीन में उगा अन्न नहीं खाना चाहिए। उसे बिना जुती जमीन में उगे उन अन्नों को भी नहीं खाना चाहिए जो पूरी तरह पके न हों। न ही वानप्रस्थ को अग्नि में पका अन्न खाना चाहिए। निस्सन्देह, उसे सूर्य प्रकाश में पके फल ही खाने चाहिए।

वन्यैश्चरुपुरोडाशान्निर्वपेत्कालचोदितान् ।
लब्धे नवे नवेऽन्नाद्ये पुराणं च परित्यजेत् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

वन्यैः—बिना जोते जंगल में उत्पन्न फलों तथा अन्नों से; चरु—अग्नि-यज्ञ में आहुति में डाले जाने वाले अन्न; पुरोडाशान्—चरु से तैयार किए गए पिंड; निर्वपेत्—सम्पन्न करना चाहिए; काल-चोदितान्—अपने आप उगा; लब्धे—प्राप्त होने पर; नवे—नवीन; नवे अन्न-आद्ये—नया उत्पन्न किया गया अन्न; पुराणम्—पुराने अन्न का संग्रह; च—तथा; परित्यजेत्—छोड़ दे।

वानप्रस्थ को चाहिए कि जंगल में अपने आप उगे फलों तथा अन्नों से पुरोडाश को यज्ञ में डालने के लिए तैयार करे। जब उसे थोड़ा सा नया अन्न प्राप्त हो जाए तो वह अन्न के पुराने संग्रह को त्याग दे।

अग्न्यर्थमेव शरणमुटजं वाद्रिकन्दरम् ।

श्रयेत हिमवाय्वग्निवर्षार्कातपषाट्स्वयम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अग्नि—अग्नि; अर्थम्—रखने के लिए; एव—केवल; शरणम्—झोपड़ी; उट-जम्—फूस की बनी; वा—अथवा; अद्रि-कन्दरम्—पर्वत की कन्दरा में; श्रयेत—वानप्रस्थी शरण ले; हिम—बर्फ; वायु—तेज हवा; अग्नि—आग; वर्ष—वर्षा; अर्क—सूर्य का; आतप—चमकना; षाट्—सहन करते हुए; स्वयम्—स्वयं।

वानप्रस्थ को चाहिए कि पवित्र अग्नि को रखने के लिए वह या तो फूस की झोपड़ी बनाए या केवल पर्वत की कन्दरा में शरण ले, किन्तु वह स्वयं हिमपात, प्रभंजन, अग्नि, वर्षा तथा सूर्य के ताप को सहन करने का अभ्यास करे।

केशरोमनखश्मश्रुमलानि जटिलो दधत् ।
कमण्डल्वजिने दण्डवल्कलाग्निपरिच्छदान् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

केश—सिर के बाल; रोम—शरीर पर उगे रोएँ; नख—नाखून; श्मश्रु—मूँछें; मलानि—तथा शरीर का मैल; जटिलः—बाल की जटा; दधत्—रखे; कमण्डलु—जलपात्र; अजिने—तथा मृगचर्म; दण्ड—डण्डा; वल्कल—पेड़ की छाल; अग्नि—आग; परिच्छदान्—वस्त्रों को।

वानप्रस्थ को चाहिए कि सिर पर जटा रखे और अपने शरीर के बाल, नाखून तथा मूँछें बढ़ने दे। वह अपने शरीर की धूल साफ न करे। वह कमण्डल, मृगछाला तथा दण्ड रखे, पेड़ की छाल का आवरण पहने और अग्नि जैसे (गेरुवे) रंग के वस्त्रों का प्रयोग करे।

चरेद्वने द्वादशाब्दानष्टौ वा चतुरो मुनिः ।
द्वावेकं वा यथा बुद्धिर्न विपद्येत कृच्छ्रतः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

चरेत्—रहता रहे; वने—जंगल में; द्वादश-अब्दान्—बारह वर्षों तक; अष्टौ—आठ वर्ष तक; वा—अथवा; चतुरः—चार वर्ष; मुनिः—सन्त विचारवान् व्यक्ति; द्वौ—दो; एकम्—एक; वा—अथवा; यथा—जिससे; बुद्धिः—बुद्धि; न—नहीं; विपद्येत—मोहग्रस्त; कृच्छ्रतः—कठिन तपस्या के कारण।

अत्यधिक विचारवान् होने के कारण वानप्रस्थी को बारह वर्ष, आठ वर्ष, चार वर्ष, दो वर्ष या कम से कम एक वर्ष तक जंगल में रहना चाहिए। उसे इस तरह व्यवहार करना चाहिए कि वह अत्यधिक तपस्या के कारण विचलित या त्रस्त न हो उठे।

यदाकल्पः स्वक्रियायां व्याधिभिर्जरयाथवा ।
आन्वीक्षिक्यां वा विद्यायां कुर्यादनशनादिकम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; अकल्पः—कार्य करने में अक्षम; स्व-क्रियायाम्—अपने नियत कार्यों में; व्याधिभिः—रोग के कारण; जरया—या वृद्धावस्था के कारण; अथवा—या; आन्वीक्षिक्याम्—आध्यात्मिक प्रगति में; वा—अथवा; विद्यायाम्—ज्ञान की प्रगति में; कुर्यात्—करे; अनशन-आदिकम्—पर्याप्त भोजन न ग्रहण करना।

जब वह रोग या वृद्धावस्था के कारण आध्यात्मिक चेतना में प्रगति करने या वेदाध्ययन में अपने निमत कार्य करने में असमर्थ हो जाये तब उसे अन्न न खाने के व्रत का अभ्यास करना चाहिए।

**आत्मन्यग्नीन्समारोप्य सन्न्यस्याहं ममात्मताम् ।
कारणेषु न्यसेत्सम्यक्सङ्घातं तु यथार्हतः ॥ २४॥**

शब्दार्थ

आत्मनि—अपने में ही; अग्नीन्—शरीर के भीतर की अग्नि-तत्त्वयों को; समारोप्य—ठीक से रखकर; सन्न्यस्य—त्याग कर; अहम्—मिथ्या पहचान; मम—मिथ्या धारणा; आत्मताम्—अपने ही शरीर की; कारणेषु—पाँचों तत्त्वों में जो भौतिक शरीर के कारण हैं; न्यसेत्—लीन कर दे; सम्यक्—पूर्णतया; सङ्घातम्—संयोग, मेल; तु—लेकिन; यथा-अर्हतः—जैसा अनुकूल हो।

उसे अग्नि को अपने में (आत्मा में) भलीभाँति रख लेना चाहिए और इस तरह शारीरिक ममत्व को छोड़ दे जिसके कारण वह शरीर को निजी या आत्मा मानता है। वह धीरे-धीरे भौतिक शरीर को पाँच तत्त्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) में लीन कर दे।

तात्पर्य : पाँचों भौतिक तत्त्व (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश) कारण हैं और शरीर कार्य है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि यह शरीर पाँच तत्त्वों के संयोग के अतिरिक्त कुछ नहीं है। भौतिक शरीर तथा पाँच भौतिक तत्त्वों का यह तादात्म्य ही वह ज्ञान है। पूर्ण ज्ञान में ब्रह्म में तादात्म्य का अर्थ है भलीभाँति यह समझ लेना कि मनुष्य शरीर नहीं, अपितु आत्मा है।

**खे खानि वायौ निश्वासांस्तेजःसूष्माणमात्मवान् ।
अप्स्वसृक्श्लेष्मपूयानि क्षितौ शेषं यथोद्भवम् ॥ २५॥**

शब्दार्थ

खे—आकाश में; खानि—शरीर के सारे छिद्रों को; वायौ—वायु में; निश्वासान्—शरीर के भीतर चक्कर लगाने वाली विभिन्न वायु को (प्राण, अपान इत्यादि); तेजःसु—अग्नि में; उष्माणम्—शरीर की गर्मी को; आत्म-वान्—आत्मा को जानने वाला व्यक्ति; अप्सु—जल में; असृक्—रक्त; श्लेष्म—कफ; पूयानि—तथा मूत्र; क्षितौ—पृथ्वी में; शेषम्—शेष या बचे हुए को (चमड़ी, हड्डी तथा शरीर के अन्य कठोर अंग); यथा-उद्भवम्—जिससे सभी उत्पन्न।

गम्भीर, स्वरूपसिद्ध, ज्ञानवान व्यक्ति को चाहिए कि वह शरीर के विभिन्न अंगों को उनके मूल स्रोतों में लीन कर दे। शरीर के छिद्र आकाश द्वारा उत्पन्न हैं, श्वास की क्रिया वायु से उत्पन्न है, शरीर की ऊष्मा अग्नि द्वारा जनित है और वीर्य, रक्त तथा कफ जल द्वारा उत्पन्न हैं। त्वचा,

पेशी तथा अस्थि जैसी कठोर वस्तुएँ पृथ्वी द्वारा उत्पन्न हैं। इस प्रकार शरीर के सारे अवयव विभिन्न तत्त्वों द्वारा उत्पन्न होते हैं। अतएव इन सबों को पुनः उन्हीं तत्त्वों में लीन कर देना चाहिए।

तात्पर्य : स्वरूपसिद्ध होने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य शरीर के विभिन्न तत्त्वों के मूल स्रोतों को जान ले। यह शरीर त्वचा, अस्थि, पेशी, रक्त, वीर्य, मूत्र, मल, ऊष्मा, श्वास इत्यादि के मेल से बना है और ये सारी वस्तुएँ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश से प्राप्त होती हैं। मनुष्य को इन समस्त शारीरिक अवयवों के स्रोतों से पूर्णतया अभिज्ञ होना चाहिए। तभी वह स्वरूपसिद्ध या आत्मवान् बनता है।

वाचमग्नौ सवक्तव्यामिन्द्रे शिल्पं करावपि ।
पदानि गत्या वयसि रत्योपस्थं प्रजापतौ ॥ २६॥
मृत्यौ पायुं विसर्गं च यथास्थानं विनिर्दिशेत् ।
दिक्षु श्रोत्रं सनादेन स्पर्शेनाध्यात्मनि त्वचम् ॥ २७॥
रूपाणि चक्षुषा राजन्ज्योतिष्यभिनिवेशयेत् ।
अप्सु प्रचेतसा जिह्वां घ्रेयैर्घ्राणं क्षितौ न्यसेत् ॥ २८॥

शब्दार्थ

वाचम्—वाणी; अग्नौ—अग्नि देव में; स-वक्तव्याम्—वाणी के कर्म को; इन्द्रे—इन्द्र में; शिल्पम्—हाथ से कर्म करने की सामर्थ्य या कला-कौशल को; करौ—तथा हाथ में; अपि—निस्सन्देह; पदानि—पाँवों को; गत्या—चलने की शक्ति सहित; वयसि—भगवान् विष्णु में; रत्या—कामेच्छा; उपस्थम्—यौनेन्द्रियों समेत; प्रजापतौ—प्रजापति में; मृत्यौ—मृत्युदेव में; पायुम्—गुदा को; विसर्गम्—इसकी क्रिया सहित, मलोतसर्ग करना; च—भी; यथा-स्थानम्—सही स्थान में; विनिर्दिशेत्—सूचित करे; दिक्षु—विभिन्न दिशाओं में; श्रोत्रम्—श्रवेणन्द्रिय; स-नादेन—कम्पन समेत; स्पर्शेन—स्पर्श से; अध्यात्मनि—वायुदेव में; त्वचम्—स्पर्शेन्द्रिय को; रूपाणि—स्वरूप; चक्षुषा—आँखों की ज्योति समेत; राजन्—हे राजा; ज्योतिषि—सूर्य में; अभिनिवेशयेत्—लीन करे; अप्सु—जल में; प्रचेतसा—वरुण देव समेत; जिह्वाम्—जीभ को; घ्रेयैः—सुगन्ध विषय के साथ; घ्राणम्—सूँघने की शक्ति; क्षितौ—पृथ्वी में; न्यसेत्—लीन कर दे।

तत्पश्चात् वाणी-विषय को वाक् इन्द्रिय (जीभ) सहित अग्नि को समर्पित कर दे। कला-कौशल तथा दोनों हाथ इन्द्रदेव को दे दे। गति करने की शक्ति तथा पाँव भगवान् विष्णु को दे दे। उपस्थ सहित इन्द्रियसुख प्रजापति को सौंप दे। गुदा को मलोत्सर्ग क्रिया सहित उसके असली स्थान मृत्यु को सौंप दे। ध्वनि-कम्पन समेत श्रवणेन्द्रिय को दिशाओं के अधिपति को दे दे। स्पर्श समेत स्पर्शेन्द्रिय वायु को समर्पित कर दे। दृष्टि समेत रूप को सूर्य को सौंप दे। वरुण देव समेत जीभ जल को दे दे तथा दोनों अश्विनी कुमार देवों सहित घ्राणशक्ति पृथ्वी को अर्पित कर दे।

मनो मनोरथैश्चन्द्रे बुद्धिं बोध्यैः कवौ परे ।
कर्माण्यध्यात्मना रुद्रे यदहं ममताक्रिया ।
सत्त्वेन चित्तं क्षेत्रज्ञे गुणैर्वैकारिकं परे ॥ २९ ॥
अप्सु क्षितिमपो ज्योतिष्यदो वायौ नभस्यमुम् ।
कूटस्थे तच्च महति तदव्यक्तेऽक्षरे च तत् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

मनः—मन को; मनोरथैः—भौतिक इच्छाओं समेत; चन्द्रे—चन्द्रमा में जो मनोदशा के देवता हैं; बुद्धिम्—बुद्धि को; बोध्यैः—बुद्धि के विषय समेत; कवौ परे—परम बुद्धिमान व्यक्ति ब्रह्माजी में; कर्माणि—भौतिक कार्यों को; अध्यात्मना—मिथ्या अहंकार समेत; रुद्रे—शिव (रूद्र) में; यत्—जहाँ; अहम्—मैं शरीर हूँ; ममता—शरीर सम्बन्धी प्रत्येक वस्तु मेरी है; क्रिया—ऐसा कार्य; सत्त्वेन—जगत की धारणा सहित; चित्तम्—चेतना को; क्षेत्र-ज्ञे—आत्मा में; गुणैः—भौतिक गुणों के द्वारा संचालित भौतिक कार्यकलापों समेत; वैकारिकम्—भौतिक गुणों के अधीन जीवों को; परे—परमात्मा में; अप्सु—जल में; क्षितिम्—पृथ्वी; अपः—जल; ज्योतिषि—ज्योतिष्कों में, विशेषतया सूर्य में; अदः—चमक; वायौ—वायु में; नभसि—आकाश में; अमुम्—वह; कूटस्थे—देहात्मबुद्धि में; तत्—वह; च—भी; महति—महत्तत्व में; तत्—वह; अव्यक्ते—अप्रकट में; अक्षरे—परमात्मा में; च—भी; तत्—उस।

मन को मनोरथों समेत चन्द्रदेव में लीन कर दे। बुद्धि के सारे विषयों को बुद्धि समेत ब्रह्माजी में स्थापित कर दे। मिथ्या अहंकार, जो प्रकृति के गुणों के अधीन रहता है और मनुष्य को यह सोचने के लिए प्रेरित करता है "मैं यह शरीर हूँ और इस शरीर से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु मेरी है" उसे भौतिक कार्यकलापों समेत मिथ्या अहंकार के अधिपति रुद्र में लीन कर दे। भौतिक चेतना को विचार के लक्ष्य समेत प्रत्येक जीवात्मा में और भौतिक प्रकृति गुणों के अधीन कर्म करने वाले देवताओं को विकारयुक्त जीव समेत परब्रह्म में लीन कर दे। पृथ्वी को जल में, जल को सूर्य की ज्योति में, इस ज्योति को वायु में, वायु को आकाश में, आकाश को मिथ्या अहंकार में, मिथ्या अहंकार को समस्त भौतिक शक्ति (महत्तत्व) में, फिर इस महत्तत्व को अप्रकट अवयवों (भौतिक शक्ति का प्रधान स्वरूप) में तथा इस अप्रकट अवयव को परमात्मा में लीन कर दे।

इत्यक्षरतयात्मानं चिन्मात्रमवशेषितम् ।
ज्ञात्वाद्वयोऽथ विरमेद्दग्धयोनिरिवानलः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अक्षरतया—आध्यात्मिक होने से; आत्मानम्—स्वयं (जीवात्मा); चित्-मात्रम्—पूर्णतया आध्यात्मिक; अवशेषितम्—शेषलब्धि (तत्त्वों के एक-एक करके परमात्मा में लीन हो जाने पर); ज्ञात्वा—जानकर; अद्वयः—बिना अन्तर के या परमात्मा के ही गुण वाला; अथ—इस प्रकार; विरमेत्—भौतिक जगत से अलग हो जाए; दग्ध-योनिः—जिसका स्रोत (काष्ठ) जल चुका है; इव—सदृश; अनलः—लपटें।

जब इस तरह सारी भौतिक उपाधियाँ अपने-अपने तत्त्वों में मिल जाँय तो जीव अन्ततोगत्वा पूर्णतया आध्यात्मिक हो जाता है और गुण में परब्रह्म जैसा। इस संसार से वह उसी तरह अवकाश ले ले जिस प्रकार काठ के जल जाने पर उससे उठने वाली लपटें शान्त हो जाती हैं। जब भौतिक शरीर विविध भौतिक तत्त्वों में लौट जाता है, तो केवल आध्यात्मिक जीव बचता है। यही ब्रह्म है और यह गुण में परब्रह्म के तुल्य है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कंध के अन्तर्गत ''पूर्ण समाज: चार आध्यात्मिक वर्ग'' नामक बाहरवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तेरह

सिद्ध पुरुष का आचरण

इस तेरहवें अध्याय में संन्यासियों के लिए अनुष्ठान दिये गये हैं और अवधूत के इतिहास का वर्णन भी हुआ है। इसकी समाप्ति विद्यार्थी के पूर्ण आध्यात्मिक उन्नयन के विवरण के साथ होती है।

श्री नारद मुनि विभिन्न आश्रमों तथा वर्णों के लक्षणों का वर्णन करते चले आ रहे हैं। अब वे इस अध्याय में संन्यासियों द्वारा पालन किए जाने वाले अनुष्ठानों का विशेष वर्णन करते हैं। गृहस्थ जीवन से विरक्त होकर मनुष्य को वानप्रस्थ पद स्वीकार करना चाहिए जिसमें इस शरीर को अपने अस्तित्व का साधन मानकर धीरे-धीरे जीवन की शारीरिक आवश्यकत्ताओं को भूल जाना चाहिए। वानप्रस्थ जीवन के पश्चात् घर छोड़कर मनुष्य को संन्यासी रूप में विभिन्न स्थानों का भ्रमण करना चाहिए। शारीरिक सुख के बिना तथा शारीरिक आवश्यकताओं के लिए किसी की निर्भरता स्वीकार किये बिना उसे प्राय: कुछ भी पहने बिना अर्थात् नग्न घूमना चाहिए। उसे सामान्य मानव समाज के सम्पर्क में आये बिना भीख माँग कर आत्मतुष्ट रहना चाहिए। उसे हर जीव का मित्र होना चाहिए और कृष्णभावनामृत में अत्यन्त शान्त रहना चाहिए। संन्यासी को इस तरह अकेले विचरण करना चाहिए और जीवन या मृत्यु की परवाह नहीं करनी चाहिए। और उस क्षण की प्रतिक्षा करते रहना चाहिए जब उसे यह भौतिक शरीर त्यागना होगा। उसे न तो अनावश्यक पुस्तकें पढ़नी चाहिए, न ज्योतिष जैसा व्यवसाय ग्रहण करना चाहिए, न ही उसे महान् वक्ता बनने का यत्न करना चाहिए। उसे व्यर्थ का तर्क-वितर्क भी नहीं

करना चाहिए और न किसी परिस्थिति में किसी पर आश्रित रहना चाहिए। उसे अन्यों को अपना शिष्य बनने का प्रलोभन नहीं देना चाहिए ताकी उसके शिष्यों की संख्या बढ़ जाए। उसे जीविका के रूप में सामान्य पुस्तकें पढ़ने की आदत छोड़ देनी चाहिए, न ही मन्दिरों तथा मठों की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार जब मनुष्य पूर्ण स्वतंत्र, शान्त तथा समभाव बन जाता है, तो वह मृत्यु के बाद मनवांछित स्थान को चुन सकता है। पूर्ण विद्वान होने पर भी उसे सदैव गूँगे के समान मौन बने रहना चाहिए और चंचल बालक की भाँति विचरण करते रहना चाहिए।

इस प्रसंग में नारद मुनि ने प्रह्लाद तथा एक साधु पुरुष की भेंट का वर्णन किया है, जो जीवन में अजगर वृत्ति धारण किये था। इस तरह उन्होंने परमहंस के लक्षणों का उल्लेख किया है। जिस व्यक्ति ने परमहंस अवस्था प्राप्त कर ली है, वह पदार्थ तथा आत्मा के अन्तर को भली भाँति जानता है। वह अपनी भौतिक इन्द्रियों की तृप्ति में रुचि नहीं रखता, क्योंकि उसे भगवान् की भक्ति करने में सदैव आनन्द की प्राप्ति होती रहती है। वह अपने भौतिक शरीर की रक्षा नहीं चाहता। उसे भगवत्कृपा से जो कुछ प्राप्त होता है उसी से सन्तुष्ट रहकर सुख-दुख से पूर्णतया स्वतंत्र होकर समस्त अनुष्ठानों से परे रहता है। कभी वह कठिन तपस्या करता है, तो कभी भौतिक ऐश्वर्य ग्रहण करता है। उसकी एकमात्र चिन्ता कृष्ण को तुष्ट करने में रहती है, जिसके लिए वह अनुष्ठानों की परवाह न करता हुआ कुछ भी कर सकता है। उसकी तुलना भौतिकतावादी पुरुषों से नहीं की जाती, न ही उसे ऐसे लोगों के निर्णय की आवश्यकता होती है।

श्रीनारद उवाच

कल्पस्त्वेवं परिव्रज्य देहमात्रावशेषितः ।
ग्रामैकरात्रविधिना निरपेक्षश्चरेन्महीम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; कल्पः—वह व्यक्ति जो संन्यास आश्रम की तपस्या करने या दिव्य ज्ञान का अनुशीलन करने के लिए दक्ष है; तु—लेकिन; एवम्—इस प्रकार (जैसाकि पहले कहा गया है); परिव्रज्य—अपनी आत्मिक पहचान को समझते हुए तथा एक स्थान से दूसरे स्थान का विचरण करते हुए; देह-मात्र—केवल शरीर का पालन करते हुए; अवशेषितः—अन्ततः; ग्राम—गाँव में; एक—केवल एक; रात्र—रात गुजारने का; विधिना—विधि से; निरपेक्षः—किसी वस्तु पर आश्रित न रहते हुए; चरेत्—एक स्थान से दूसरे की यात्रा करे; महीम्—पृथ्वी पर।

श्री नारद मुनि ने कहा : जो व्यक्ति आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन कर सकता है उसे सारे भौतिक सम्बन्धों का परित्याग कर देना चाहिए और शरीर को सक्षम बनाये रखकर उसे प्रत्येक

गाँव में केवल एक रात बिताते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करनी चाहिए। इस प्रकार संन्यासी को शरीर की आवश्यकताओं के लिए किसी पर निर्भर रहे बिना सारे संसार में विचरण करना चाहिए।

बिभृयाद्यद्यसौ वासः कौपीनाच्छादनं परम् ।
त्यक्तं न लिङ्गाद्दण्डादेरन्यत्किञ्चिदनापदि ॥ २॥

शब्दार्थ

बिभृयात्—प्रयोग करे; यदि—यदि; असौ—संन्यास आश्रम का व्यक्ति; वासः—वस्त्र या अंगोछा; कौपीन—लंगोटा (गुप्तांगों को ढकने के लिए); आच्छादनम्—ढकने के लिए; परम्—केवल, इतना ही; त्यक्तम्—छोड़ा गया; न—नहीं; लिङ्गात्—संन्यासी के लक्षणों की अपेक्षा; दण्ड-आदेः—डंडा जैसा (त्रिदण्ड); अन्यत्—दूसरा; किञ्चित्—कुछ भी; अनापदि—सामान्य आपत्तिरहित समय में।

संन्यास आश्रम के व्यक्ति को अपना शरीर ढकने के लिए वस्त्र तक का भी उपयोग नहीं करना चाहिए। यदि उसे कुछ पहनना हो तो उसे कौपीन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं पहनना चाहिए और यदि आवश्यकता न हो तो संन्यासी को दण्ड भी नहीं धारण करना चाहिए। संन्यासी को दण्ड तथा कमण्डल के अतिरिक्त कुछ भी साथ में नहीं रखना चाहिए।

एक एव चरेद्भिक्षुरात्मारामोऽनपाश्रयः ।
सर्वभूतसुहृच्छान्तो नारायणपरायणः ॥ ३॥

शब्दार्थ

एकः—अकेला; एव—केवल; चरेत्—घूम सकता है; भिक्षुः—भिक्षा माँगने वाला संन्यासी; आत्म-आरामः—आत्मतुष्ट; अनपाश्रयः—किसी वस्तु पर आश्रित न रहकर; सर्व-भूत-सुहृत्—सभी जीवों का शुभचिन्तक बनकर; शान्तः—पूर्णतया शान्त; नारायण-परायणः—नारायण पर आश्रित होकर एवं उनका भक्त बनकर।

आत्मतुष्ट संन्यासी को चाहिए कि वह द्वार-द्वार से भीख माँगकर जीवन-यापन करे। किसी व्यक्ति या स्थान पर आश्रित न रहकर उसे समस्त जीवों का सुहृद् होना चाहिए। उसे नारायण का शान्त अनन्य भक्त होना चाहिए। इस प्रकार उसे एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमते रहना चाहिए।

पश्येदात्मन्यदो विश्वं परे सदसतोऽव्यये ।
आत्मानं च परं ब्रह्म सर्वत्र सदसन्मये ॥ ४॥

शब्दार्थ

पश्येत्—देखे; आत्मनि—परमात्मा में; अदः—इस; विश्वम्—ब्रह्माण्ड को; परे—परे; सत्-असतः—सृष्टि या सृष्टि का कारण; अव्यये—अव्यय ब्रह्म में; आत्मानम्—स्वयं; च—भी; परम्—सर्वश्रेष्ठ; ब्रह्म—ब्रह्म में; सर्वत्र—सभी जगह; सत्-असत्—कारण-कार्य में; मये—सर्वव्यापी।

संन्यासी को चाहिए कि वह परब्रह्म को प्रत्येक वस्तु में सदा व्याप्त देखने का प्रयास करे और ब्रह्माणु समेत प्रत्येक वस्तु को जिसमें यह ब्रह्माण्ड भी है, जो परब्रह्म पर टिका देखे।

सुप्तिप्रबोधयोः सन्धावात्मनो गतिमात्मदृक् ।
पश्यन्बन्धं च मोक्षं च मायामात्रं न वस्तुतः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सुप्ति—अचेतनावस्था में; प्रबोधयोः—चेतना अवस्था में; सन्धौ—सन्धि अवस्था में; आत्मनः—अपनी आत्मा में; गतिम्—गति; आत्म-दृक्—जो आत्मा को देख सकता है; पश्यन्—देखने या समझने का प्रयास करते हुए; बन्धम्—जीवन की बद्ध अवस्था; च—तथा; मोक्षम्—जीवन की मुक्त अवस्था; च—भी; माया-मात्रम्—मात्र मोह; न—नहीं; वस्तुतः—वास्तव में।

उसे अचेतना तथा चेतना अवस्थाओं में इन दोनों के बीच की अवस्था में अपने आपको समझने का प्रयत्न करना चाहिए और आत्म-स्थित होना चाहिए। इस प्रकार उसे यह अनुभव करना चाहिए कि जीवन की बद्ध तथा मुक्त अवस्थाएँ मात्र भ्रम हैं, वे वास्तविक नहीं हैं। ऐसे उच्च ज्ञान से उसे सर्वव्यापी परम सत्य का दर्शन करना चाहिए।

तात्पर्य : अचेतना अवस्था अज्ञान, अंधकार या भौतिक जगत के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। चेतना अवस्था में मनुष्य जाग्रत रहता है। अचेतना तथा चेतना दोनों की मध्यावस्था में कोई स्थायी अस्तित्व नहीं रहता। अतएव जो व्यक्ति अपने को समझने में बढ़ा चढ़ा है उसे यह समझ लेना चाहिए कि अचेतन तथा चेतन मात्र भ्रम हैं, क्योंकि मूलतः इनका अस्तित्व नहीं होता। केवल परम सत्य का ही अस्तित्व है। जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.४) में पुष्टि की है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

"यह समग्र ब्रह्माण्ड मेरे अव्यक्त रूप में मुझसे व्याप्त है। सारे जीव मुझमें हैं किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।" प्रत्येक वस्तु कृष्ण के निराकार रूप के आधार पर विद्यमान रहती है; कृष्ण के बिना कुछ भी नहीं रह सकता। अतएव कृष्ण का श्रेष्ठ भक्त भगवान् को बिना भ्रम के सर्वत्र देख सकता है।

नाभिनन्देद्ध्रुवं मृत्युमध्रुवं वास्य जीवितम् ।
कालं परं प्रतीक्षेत भूतानां प्रभवाप्ययम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अभिनन्देत्—प्रशंसा करे; ध्रुवम्—निश्चित्, ध्रुव; मृत्युम्—मृत्यु; अध्रुवम्—अनिश्चित; वा—अथवा; अस्य—इस शरीर की; जीवितम्—उम्र; कालम्—शाश्वत समय; परम्—परम; प्रतीक्षेत—अवलोकन करे; भूतानाम्—जीवों का; प्रभव—प्राकट्य; अप्ययम्—अन्तर्धान होना।

चूँकि भौतिक शरीर का विनाश निश्चित है और मनुष्य की आयु स्थिर नहीं है अतएव न तो मृत्यु की, न ही जीवन की प्रशंसा की जानी चाहिए। प्रत्युत मनुष्य को नित्य काल का अवलोकन करना चाहिए जिसमें जीव अपने आपको प्रकट करता है और अन्तर्धान होता है।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में सारे जीव न केवल वर्तमान काल में अपितु भूतकाल में भी जन्म तथा मृत्यु की समस्या का हल निकालने का प्रयास करते रहे हैं। कुछ लोग मृत्यु पर बल देते हैं और प्रत्येक भौतिक वस्तु को भ्रम बताते हैं जबकि अन्य लोग जीवन पर बल देते हैं और इसे अक्षुण्ण तौरपर सुरक्षित रखकर यथाशक्ति भोग करना चाहते हैं। ये दोनों प्रकार के लोग मूर्ख तथा मूढ़ हैं। यह सलाह दी जाती है कि मनुष्य शाश्वत काल का अवलोकन करे जो भौतिक शरीर के प्राकट्य तथा अन्तर्धान का कारण है। और इस शाश्वत काल में जीव के बन्धन को देखे। अतएव श्रीलभक्ति विनोद ठाकुर ने अपनी *गीतावली* में गाया है—

अनादि करम-फले, पड़ि'भवार्णव जले,

तरिंबारे ना देखि उपाय।

मनुष्य को शाश्वत काल की गतिविधियों का अवलोकन करना चाहिए, क्योंकि यही जन्म-मृत्यु का कारण है। वर्तमान युग की सृष्टि के पूर्व सारे जीव काल के अधीन थे। काल के ही अर्न्तगत यह भौतिक जगत उत्पन्न होता है और पुन: विनष्ट हो जाता है। *भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।* काल के वशीभूत होकर जीव जन्म-जन्मांतर प्रकट होते तथा मरते है। यह काल भगवान् की निराकार अभिव्यक्ति है, जो प्रकृति द्वारा बद्धजीवों को भगवान् की शरण में जाकर उससे उबरने का अवसर प्रदान करता है।

नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम् ।
वादवादांस्त्यजेत्तर्कान्पक्षं कंच न संश्रयेत् ॥७॥

शब्दार्थ

न—नहीं; असत्-शास्त्रेषु—समाचार पत्र, उपन्यास, नाटक, कल्पित-कथा जैसा साहित्य; सज्जेत—पढ़े या आसक्त हो; न—न तो; उपजीवेत—रहने का प्रयास करे; जीविकाम्—किसी व्यावसायिक साहित्यिक वृत्तिपरक; वाद-वादान्—दर्शन के विविध पक्षों पर वृथा के तर्क वितर्क; त्यजेत्—छोड़ दे; तर्कान्—तर्कों को; पक्षम्—पक्ष, दल; कंच—कोई; न—नहीं; संश्रयेत्—शरण ग्रहण करे।

समय का व्यर्थ अपव्यय कराने वाले अर्थात् आध्यात्मिक लाभ से विहीन साहित्य का तिरस्कार करना चाहिए। न तो कोई अपनी जीविका कमाने के लिए वृत्तिपरक शिक्षक बने, न वाद-विवाद में भाग ले। न ही वह किसी कारण या पक्ष की शरण ले।

तात्पर्य : आध्यात्मिक ज्ञान में प्रगति करने के इच्छुक व्यक्ति को अत्यन्त सावधान रहना चाहिए कि वह सामान्य साहित्य पढ़ने से बचे। यह संसार ऐसे सामान्य साहित्य से भरा पड़ा है, जो व्यर्थ में मन को क्षुब्ध करने वाला होता है। ऐसा साहित्य जिसमें समाचारपत्र, नाटक, उपन्यास तथा पत्रिकाएँ सम्मिलित हैं वास्तव में आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नति के लिए नहीं है। इसे तो कौवों का क्रीड़ास्थल (*तद्वायसं तीर्थम्*) कहा गया है। आध्यात्मिक ज्ञान में प्रगति करने वाले को ऐसे साहित्य का तिरस्कार करना चाहिए। न ही मनुष्य को विभिन्न तार्किकों या दार्शनिकों के निष्कर्षों से सम्बन्ध रखना चाहिए। निस्सन्देह, प्रचारकों को कभी-कभी विपक्षियों के कथन पर तर्क-वितर्क करने की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु जहाँ तक सम्भव हो ऐसे वाद-विवाद की मनोवृत्ति से बचना चाहिए। इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—

अप्रयोजनपक्षं न संश्रयेत्

नाप्रयोजनपक्षी स्यान्न वृथा शिष्यबन्धकृत।

न चोदासीनः शास्त्रणि न विरुद्धानि चाभ्यसेत्॥

न व्याख्ययोपजीवेत न निषिद्धान् समाचरेत्।

एवम्भूतो यतिर्याति तदेकशरणो हरिम्॥

"न तो वृथा साहित्य का प्रश्रय ग्रहण करे, न उन तथाकथित अनेक दार्शनिकों तथा विचारकों से सम्बन्ध रखे जो आध्यात्मिक प्रगति के लिए व्यर्थ हैं। न ही फैशन या लोकप्रियता के लिए किसी को शिष्य बनाए। मनुष्य इन तथाकथित शास्त्रों के प्रति निरपेक्ष बना रहे—न तो पक्ष ले, न विरोध करे। न ही शास्त्रों की व्याख्या के लिए धन लेकर अपनी जीविका चलाए। संन्यासी को सदा उदासीन रहना चाहिए और भगवान् के चरणकमलों की पूर्ण शरण ग्रहण करके आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करने के लिए साधनों की खोज करनी चाहिए।"

न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद्बहून् ।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत्क्वचित् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; शिष्यान्—शिष्यों को; अनुबध्नीत—भौतिक लाभ के लिए प्रेरित करे; ग्रन्थान्—व्यर्थ का साहित्य; न—नहीं; एव—निश्चय ही; अभ्यसेत्—समझने या अनुशीलन करने का प्रयास करे; बहून्—अनेक; न—नहीं; व्याख्याम्—व्याख्यान को; उपयुञ्जीत—जीविका का साधन बनाए; न—न तो; आरम्भान्—अनावश्यक ऐश्वर्य; आरभेत्—बढ़ाने का यत्न करे; क्वचित्—कभी भी।

संन्यासी को चाहिए कि वह न तो अनेक शिष्य एकत्र करने के लिए भौतिक लाभों का प्रलोभन दे, न व्यर्थ ही अनेक पुस्तकें पढ़े, न जीविका के साधन के रूप में व्याख्यान दे। न व्यर्थ ही भौतिक ऐश्वर्य बढ़ाने का कभी कोई प्रयास करे।

तात्पर्य : सामान्यत: तथाकथित स्वामी तथा योगी लोगों को भौतिक लाभों का प्रलोभन देकर शिष्य बनाते हैं। ऐसे अनेक तथाकथित गुरु हैं, जो रोगों को अच्छा करने या सोना बनाकर भौतिक ऐश्वर्य को बढ़ाने का वादा करके शिष्यों को आकर्षित करते हैं। ये रुपये-पैसे वाले प्रलोभन अज्ञानी व्यक्तियों के लिए होते हैं। संन्यासी को ऐसे भौतिक प्रलोभनों द्वारा शिष्य बनाना वर्जित है। कभी-कभी संन्यासी अनेक मन्दिर तथा मठ बनवाकर भौतिक ऐश्वर्य में फँस जाते हैं, लेकिन वास्तव में ऐसे प्रयासों से बचना चाहिए। मन्दिरों तथा मठों का निर्माण आध्यात्मिक चेतना या कृष्णभावनामृत का प्रचार करने के लिए किया जाना चाहिए, न कि ऐसे लोगों के लिए नि:शुल्क होटलों की व्यवस्था करने के लिए जो भौतिक या आध्यात्मिक कार्यों के लिए उपयोगी नहीं होते। मन्दिरों तथा मठों को सनकी व्यक्तियों के निकम्मे क्लबों की सीमाओं से दूर रखना चाहिए। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में हम उस प्रत्येक व्यक्ति का स्वागत करते हैं, जो आन्दोलन के अनुष्ठानों की सीमाओं से दूर रखना—अवैध मैथुन न करने, नशा न करने, मांस न खाने तथा जुआ न खेलने—पालन के लिए तैयार हो जाता है। मन्दिरों तथा मठों में अनावश्यक, त्यक्त, आलसी व्यक्तियों की भीड़ करने की अनुमति बिल्कुल नहीं दी जानी चाहिए। इनका उपयोग केवल उन भक्तों के लिए होना चाहिए जो कृष्णभावनामृत में आध्यात्मिक प्रगति करने के लिए गम्भीर हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *आरम्भान्* शब्द का अर्थ *मठादि-व्यापारान्* लगाया है, जिसका अर्थ है ''मन्दिर तथा मठ बनाने के प्रयास''। संन्यासी का प्रधान कार्य तो कृष्णभावनामृत का प्रचार करना है, किन्तु यदि भगवत्कृपा से सुविधाएँ उपलब्ध हों तो वह

कृष्णभावनामृत के प्रचार छात्रों को आश्रय देने के लिए मन्दिरों तथा मठों का निर्माण करा सकता है। अन्यथा ऐसे मन्दिरों तथा मठों की कोई आवश्यकता नहीं है।

न यतेराश्रमः प्रायो धर्महेतुर्महात्मनः ।
शान्तस्य समचित्तस्य बिभृयादुत वा त्यजेत् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यतेः—संन्यासी का; आश्रमः—प्रतीकात्मक वेश (दण्ड तथा कमण्डलु); प्रायः—लगभग सदैव; धर्म-हेतुः—आध्यात्मिक जीवन में प्रगति का कारण; महा-आत्मनः—जो वास्तव में महान् है; शान्तस्य—जो शान्त है; सम-चित्तस्य—समदर्शी का; बिभृयात्—(ऐसे प्रतीक) स्वीकार कर ले; उत—निस्सन्देह; वा—अथवा; त्यजेत्—त्याग दे।

ऐसे शान्त समदर्शी व्यक्ति को जो आध्यात्मिक चेतना में सचमुच बढ़ा-चढ़ा है, संन्यासी के प्रतीकों—यथा त्रिदण्ड तथा कमण्डल—को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वह आवश्यकतानुसार इन प्रतीकों को कभी धारण कर सकता है, तो कभी छोड़ सकता है।

तात्पर्य : संन्यास आश्रम की चार अवस्थाएँ हैं—*कुटीचक, बहूदक, परिव्राजकाचार्य* तथा *परमहंस।* श्रीमद्भागवतमें परमहंसों की गणना संन्यासियों में की गई है। मायावादी निर्विशेषवादी संन्यासी इस परमहंस अवस्था को नहीं प्राप्त कर पाते। इसका कारण परम सत्य विषयक उनकी निर्विशेष धारणा है। *ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते।* परम सत्य का अनुभव तीन अवस्थाओं में किया जाता है जिनमें *भगवान्* अर्थात् भगवान् की अनुभूति परमहंसों के लिए है। निस्सन्देह, *श्रीमद्भागवत* स्वयं भी परमहंसों के निमित्त है (*परमो निर्मत्सराणाम् सताम्*)। जब तक कोई परमहंस अवस्था को प्राप्त नहीं हो लेता तब तक वह *श्रीमद्भागवत* को समझने का अधिकारी नहीं होता। वैष्णव सम्प्रदाय में परमहंसों या संन्यासियों का प्रथम कर्तव्य धर्म प्रचार है। प्रचार के लिए ऐसा संन्यासी दण्ड तथा कमण्डल जैसे संन्यास-प्रतीक धारण कर सकता है और कभी उन्हें नहीं भी। सामान्यतया वैष्णव संन्यासी परमहंस होने के कारण स्वतः बाबाजी कहलाते हैं और वे दण्ड या कमण्डल नहीं धारण करते। ऐसा संन्यासी संन्यास के प्रतीकों को धारण करने या न करने के लिए स्वतंत्र है। उसका एकमात्र विचार यही रहता है "कृष्णभावनामृत का प्रचार करने का अवसर कहाँ है?" कभी-कभी कृष्णभावनामृत आन्दोलन अपने प्रतिनिधि संन्यासियों को विदेश भेजता है जहाँ दण्ड तथा कमण्डल को अधिक पसन्द नहीं किया जाता। हम अपने धर्मप्रचारकों को अपनी पुस्तकों तथा दर्शन का परिचय कराने के लिए सामान्य वेश-भूषा में भेजते हैं। हमारी एकमात्र चिन्ता कृष्णभावनामृत के प्रति लोगों को

आकृष्ट करना होती है। इसे हम संन्यासी की या भद्रपुरुष की वेश-भूषा में कर सकते हैं। हमारा एकमात्र लक्ष्य कृष्णभावनामृत में रुचि को प्रसारित करना है।

अव्यक्तलिङ्गो व्यक्तार्थो मनीष्युन्मत्तबालवत् ।
कविर्मूकवदात्मानं स दृष्ट्या दर्शयेन्नृणाम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अव्यक्त-लिङ्गः—जिसमें संन्यास के लक्षण नहीं हैं; व्यक्त-अर्थः—जिसका अभिप्राय प्रकट हो; मनीषी—ऐसा महान् सन्त पुरुष; उन्मत्त—बेचैन; बाल-वत्—बच्चे के समान; कविः—महान् कवि या वक्ता; मूक-वत्—गूँगे व्यक्ति के समान; आत्मानम्—स्वयं; सः—वह; दृष्ट्या—उदाहरण से; दर्शयेत्—प्रस्तुत करे; नृणाम्—मानव समाज को।

साधु पुरुष भले ही मानव समाज के समक्ष अपने आपको प्रकट न करे, किन्तु उस के आचरण से उसका उद्देश्य प्रकट हो जाता है। उसे मानव समाज के समक्ष अपने को एक चंचल बालक की भाँति प्रस्तुत करना चाहिए और सर्वश्रेष्ठ विचारवान् वक्ता होकर भी उसे अपने को मूक व्यक्ति की तरह प्रदर्शित करना चाहिए।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत में अत्यन्त प्रगत महापुरुष कदाचित् अपने आपको संन्यासी के चिह्नों से न भी प्रकट करे। अपने को छिपाने के लिए वह चंचल बालक या मूक व्यक्ति के समान रह सकता है, यद्यपि वह सर्वश्रेष्ठ वक्ता या कवि होता है।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराजगरस्य च ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अत्र—यहाँ पर; अपि—यद्यपि सामान्य लोगों के समक्ष प्रकट नहीं होता; उदाहरन्ति—विद्वान साधु उदाहरण देते हैं; इमम्—इस; इतिहासम्—ऐतिहासिक घटना को; पुरातनम्—अत्यन्त प्राचीन; प्रह्लादस्य—प्रह्लाद महाराज की; च—भी; संवादम्—वार्तालाप; मुनेः—महान् सन्त पुरुष का; आजगरस्य—अजगर की वृत्ति धारण किये; च—भी।

इसके ऐतिहासिक उदाहरण के रूप में विद्वान मुनिजन एक प्राचीन वार्तालाप की कथा सुनाते हैं, जो प्रह्लाद महाराज तथा अजगर वृत्ति धारण किये एक महामुनि के मध्य हुआ था।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज की भेंट जिस मुनि से हुई थी उसने अजगर वृत्ति धारण कर रखी थी। अजगर वर्षों तक एक ही स्थान पर रहा करता है और कहीं नहीं जाता है और जो कुछ स्वतः मिल जाता है, वही खाता है। प्रह्लाद महाराज अपने पार्षदों सहित इस महामुनि से मिले और उनसे इस प्रकार बोले।

तं शयानं धरोपस्थे कावेर्यां सह्यसानुनि ।
रजस्वलैस्तनूदेशैर्निगूढामलतेजसम् ॥ १२॥
ददर्श लोकान्विचरन्लोकतत्त्वविवित्सया ।
वृतोऽमात्यैः कतिपयैः प्रह्लादो भगवत्प्रियः ॥ १३॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (साधु पुरुष); शयानम्—लेटे हुए; धरा-उपस्थे—पृथ्वी पर; कावेर्याम्—कावेरी नदी के तट पर; सह्य-सानुनि—सह्य नामक पर्वत की तलहटी पर; रजः-वलैः—धूल-धूसरित; तनू-देशैः—शरीर के सारे अंगों से; निगूढ—अत्यन्त गहरा; अमल—निर्मल, स्वच्छ; तेजसम्—आध्यात्मिक शक्ति; ददर्श—देखा; लोकान्—विभिन्न लोकों में; विचरन्—घूमते हुए; लोक-तत्त्व—जीवों की प्रकृति (विशेषतया उनकी जो कृष्णभावनामृत में आगे बढ़ना चाहते हैं); विवित्सया—समझने का प्रयास करने के लिए; वृतः—घिरा हुआ; अमात्यैः—राजसी पार्षदों से; कतिपयैः—कुछ; प्रह्लादः—महाराज प्रह्लाद; भगवत्-प्रियः—जो भगवान् को अत्यन्त प्रिय है।

एकबार भगवान् के सर्वाधिक प्रिय सेवक प्रह्लाद महाराज अपने कतिपय विश्वस्त पार्षदों के साथ संत पुरुषों की प्रकृति का अध्ययन करने के लिए विश्व का भ्रमण करने निकले। वे कावेरी तट पर पहुँचे जहाँ सह्य नामक एक पर्वत है। वहाँ पर उन्हें एक महान् साधु पुरुष मिला जो भूमि पर लेटा था और धूल-धूसरित था, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वह अत्यन्त बढ़ा-चढ़ा था।

कर्मणाकृतिभिर्वाचा लिङ्गैर्वर्णाश्रमादिभिः ।
न विदन्ति जना यं वै सोऽसाविति न वेति च ॥ १४॥

शब्दार्थ

कर्मणा—कर्म से; आकृतिभिः—शारीरिक बनावट से; वाचा—शब्दों से; लिङ्गैः—लक्षणों से; वर्ण-आश्रम—वर्णाश्रम के चार भौतिक और जार आध्यात्मिक विभागों से सम्बन्धित; आदिभिः—अन्य लक्षणों से; न विदन्ति—नहीं समझ सके; जनाः—सामान्य लोग; यम्—जिसको; वै—निस्सन्देह; सः—कि वह; असौ—यही व्यक्ति था; इति—इस प्रकार; न—नहीं; वा—अथवा; इति—इस प्रकार; च—भी।

लोग न तो उस साधु पुरुष के कर्मों से, न शारीरिक लक्षणों से, न उसके शब्दों से, न उसके वर्णाश्रम धर्म के लक्षणों से यह समझ पाये कि यह वही पुरुष है, जिसे वे जानते थे।

तात्पर्य : सह्य पर्वत की घाटी में कावेरी नदी के तट पर रहने वाले उस स्थान के निवासी यह नहीं समझ पाये कि वह साधु पुरुष वही है, जिसे वे जानते थे। इसीलिए कहा गया है—*वैष्णवेर क्रिया मुद्रा विज्ञे ना भुझय।* उच्चकोटि का वैष्णव इस प्रकार रहता है कि कोई यह न समझ सके कि वह क्या है या क्या था। वैष्णव के भूतकाल को भी समझने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। प्रह्लाद महाराज ने इस सन्त पुरुष के विगत जीवन के विषय में पूछ-ताछ किये बिना तुरन्त ही सादर नमस्कार किया।

तं नत्वाभ्यर्च्य विधिवत्पादयोः शिरसा स्पृशन् ।
विवित्सुरिदमप्राक्षीन्महाभागवतोऽसुरः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (साधु पुरुष को); नत्वा—प्रणाम करके; अभ्यर्च्य—तथा पूजा करके; विधि-वत्—शिष्टाचार के नियमानुसार; पादयोः—साधु पुरुष के चरणकमलों को; शिरसा—सिर के बल; स्पृशन्—स्पर्श करते हुए; विवित्सुः—उसके विषय में जानने के इच्छुक; इदम्—यह; अप्राक्षीत्—पूछा; महा-भागवतः—भगवान् के महान् भक्त ने; असुरः—यद्यपि असुर कुल में उत्पन्न।

महाभागवत प्रह्लाद महाराज ने उस साधु पुरुष की विधिवत् पूजा की और प्रणाम किया जिसने अजगर-वृत्ति धारण कर रखी थी। इस प्रकार उस साधु पुरुष की पूजा करके तथा उसके चरणकमलों को अपने सिर से स्पर्श करके प्रह्लाद महाराज ने उसे समझने के उद्देश्य से विनीत भाव से इस प्रकार पूछा।

बिभर्षि कायं पीवानं सोद्यमो भोगवान्यथा ॥ १६ ॥
वित्तं चैवोद्यमवतां भोगो वित्तवतामिह ।
भोगिनां खलु देहोऽयं पीवा भवति नान्यथा ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

बिभर्षि—पालन कर रहे हो; कायम्—शरीर; पीवानम्—स्थूल; स-उद्यमः—उद्यम करने वाला; भोगवान्—भोग करने वाला; यथा—जिस तरह; वित्तम्—धन; च—भी; एव—निश्चय ही; उद्यम-वताम्—सदा आर्थिक विकास में लगे रहने वाले पुरुषों का; भोगः—इन्द्रिय तृप्ति; वित्त-वताम्—प्रचुर धनी व्यक्तियों का; इह—इस संसार में; भोगिनाम्—भोक्ताओं का, कर्मियों का; खलु—निस्सन्देह; देहः—शरीर; अयम्—यह; पीवा—अत्यन्त स्थूल; भवति—हो जाता है; न—नहीं; अन्यथा—अन्य कुछ।

उस साधु पुरुष को अत्यन्त स्थूल (मोटा) देखकर प्रह्लाद महाराज ने कहा : महोदय, आप अपनी जीविका अर्जित करने के लिए कोई उद्यम नहीं करते तो भी आपका शरीर उसी तरह हृष्ट-पुष्ट है जैसाकि भौतिकतावादी कर्मी (भोगी) का होता है। मुझे ज्ञात है कि यदि कोई अत्यन्त धनी हो और उसके पास कुछ भी काम करने को नहीं हो तो वह खाकर, सोकर और कोई काम न करके अत्यधिक स्थूल (मोटा) हो जाता है।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर नहीं चाहते थे कि उनके शिष्य कालान्तर में अत्यन्त स्थूल (मोटे) हो जाएं। वे अपने स्थूल (मोटे) शिष्यों को भोगी इन्द्रियों को भोगने वाले बनते देखकर अत्यन्त चिन्तित होते थे। इस दृष्टिकोण की पुष्टि यहाँ पर प्रह्लाद महाराज द्वारा की गई है। वे *अजगर वृत्ति* धारण किये एक साधु पुरुष को अत्यन्त स्थूल देखकर आश्चर्यचकित थे। भौतिक जगत में भी हम देखते हैं कि जब कोई गरीब दुबला व्यक्ति क्रमशः उद्योग या किसी और साधन के बल पर धन कमाने

लगता है, तो वह जी भरकर इन्द्रिय भोग करने लगता है। इस तरह वह स्थूल बन जाता है। अतएव आध्यात्मिक उन्नति के लिए स्थूल होना तनिक भी सन्तोषप्रद नहीं है।

न ते शयानस्य निरुद्यमस्य
ब्रह्मन्नु हार्थो यत एव भोगः ।
अभोगिनोऽयं तव विप्र देहः
पीवा यतस्तद्वद नः क्षमं चेत् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ते—तुम्हारा; शयानस्य—लेटे हुए; निरुद्यमस्य—बिना काम-काज के; ब्रह्मन्—हे साधु पुरुष; नु—निस्सन्देह; ह—स्पष्ट है; अर्थः—धन; यतः—जिससे; एव—निस्सन्देह; भोगः—इन्द्रियभोग; अभोगिनः—इन्द्रिय भोग में न लगे हुए का; अयम्—यह; तव—तुम्हारा; विप्र—हे विद्वान ब्राह्मण; देहः—शरीर; पीवा—स्थूल; यतः—जिस तरह; तत्—वह तथ्य; वद—कृपा करके कहो; नः—हमको; क्षमम्—क्षमा करो; चेत्—यदि मैंने धृष्टता की हो।

हे अध्यात्मज्ञानी ब्राह्मण, आपको कुछ नहीं करना पड़ता जिसके कारण आप लेटे हुए हैं। यह भी माना जा सकता है कि इन्द्रियभोग के लिए आपके पास धन नहीं है। तो फिर आपका शरीर इतना स्थूल कैसे हो गया है? ऐसी परिस्थिति में यदि आप मेरे प्रश्न को प्रमादपूर्ण नहीं मानते तो कृपा करके बतलाएँ कि यह किस तरह से हुआ है?

तात्पर्य : सामान्यतया आध्यात्मिक उन्नति में लगे लोग एक ही बार भोजन करते हैं चाहे दोपहर के बाद या संध्या समय। यदि कोई केवल एक बार भोजन करे तो स्वाभाविक है कि वह स्थूल नहीं हो जाता। किन्तु यह विद्वान साधु अधिक स्थूल था, अतएव प्रह्लाद महाराज अत्यन्त आश्चर्यचकित थे। आत्म-साक्षात्कार का अनुभव होने से अध्यात्मवादी के मुखमण्डल पर निश्चय ही तेज आ जाता है और जो आत्म-साक्षात्कार में बढ़ा-चढ़ा हो उसका शरीर ब्राह्मण के शरीर जैसा माना जाता है। चूँकि तेजवान साधु पुरुष भूमि पर लेटा था और काम न करने पर भी काफी स्थूल था, इसलिए प्रह्लाद महाराज चकित थे और उससे इसके विषय में पूछना चाह रहे थे।

कविः कल्पो निपुणदृक्चित्रप्रियकथः समः ।
लोकस्य कुर्वतः कर्म शेषे तद्वीक्षितापि वा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

कविः—अत्यन्त विद्वान; कल्पः—दक्ष; निपुण-दृक्—बुद्धिमान; चित्र-प्रिय-कथः—मन को भाने वाले मधुर शब्द बोलने में समर्थ; समः—समदर्शी; लोकस्य—सामान्य लोगों का; कुर्वतः—लगे हुए; कर्म—सकाम कर्म; शेषे—तुम लेटे रहते हो; तत्-वीक्षिता—उन सब को देखते हुए; अपि—यद्यपि; वा—अथवा।

आप विद्वान, दक्ष तथा सभी प्रकार से बुद्धिमान प्रतीत होते हैं। आप बहुत अच्छा बोल सकते हैं और हृदय को भाने वाली बातें कर सकते हैं। आप देख रहे हैं कि सामान्य लोग सकाम कर्मों में लगे हुए हैं फिर भी आप यहाँ पर निष्क्रिय लेटे हैं।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज ने उस साधु पुरुष के शारीरिक लक्षणों का अध्ययन किया और उसकी मुखाकृति से वे यह जान सके कि वह बुद्धिमान तथा दक्ष था, यद्यपि वह निष्क्रिय लेटा था। अत: स्वाभाविक था कि प्रह्लाद यह जानने के लिए उत्सुक हुए कि वह वहाँ निष्क्रिय क्यों पड़ा है।

श्रीनारद उवाच
स इत्थं दैत्यपतिना परिपृष्टो महामुनिः ।
स्मयमानस्तमभ्याह तद्वागमृतयन्त्रितः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; सः—वह साधु (लेटा हुआ); इत्थम्—इस प्रकार से; दैत्य-पतिना—दैत्यों के राजा (प्रह्लाद) द्वारा; परिपृष्टः—पूछा जाने पर; महा-मुनिः—महान् साधु पुरुष ने; स्मयमानः—मुसकाते हुए; तम्—उसको (प्रह्लाद को); अभ्याह—उत्तर देने को तैयार हुआ; तत्-वाक्—उसके शब्दों का; अमृत-यन्त्रितः—अमृत के द्वारा मुग्ध होकर।

नारद मुनि ने आगे कहा : जब दैत्यराज प्रह्लाद महाराज इस तरह से साधु पुरुष से प्रश्न कर रहे थे तो वह शब्दों की अमृत वर्षा से मुग्ध हो गया और उसने मुसकाते हुए प्रह्लाद महाराज की उत्सुकता का इस प्रकार जवाब दिया।

श्रीब्राह्मण उवाच
वेदेदमसुरश्रेष्ठ भवान्नन्वार्यसम्मतः ।
ईहोपरमयोर्नृणां पदान्यध्यात्मचक्षुषा ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्राह्मणः उवाच—ब्राह्मण ने उत्तर दिया; वेद—ठीक से जान लो; इदम्—ये सारी चीजें; असुर-श्रेष्ठ—हे असुरों में श्रेष्ठ; भवान्—आप; ननु—निस्सन्देह; आर्य-सम्मतः—जिनके कार्य सभ्य मनुष्यों द्वारा अनुमोदित होते हैं; ईहा—प्रवृत्ति का; उपरमयोः—ह्रास का; नृणाम्—सामान्य लोगों की; पदानि—विभिन्न अवस्थाएँ; अध्यात्म-चक्षुषा—दिव्य आँखों के द्वारा।

साधु ब्राह्मण ने कहा : हे असुरश्रेष्ठ, हे महान् तथा सभ्य पुरुष द्वारा सम्मान्य प्रह्लाद महाराज, आप जीवन की विभिन्न अवस्थाओं से अवगत हैं, क्योंकि आप मनुष्य के चरित्र को अपनी स्वाभाविक दिव्य दृष्टि से देख सकते हैं और इस तरह आप कर्मों की स्वीकृति तथा अस्वीकृति के परिणामों से भलीभाँति परिचित हैं।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज जैसा शुद्ध भक्त अपनी शुद्ध भक्तिदृष्टि के कारण अन्यों के मन की बात जान सकता है। उन जैसा भक्त दूसरे पुरुषों के चरित्र का अध्ययन बिना किसी कठिनाई के कर सकता है।

यस्य नारायणो देवो भगवान्हृद्‍गतः सदा ।
भक्त्या केवलयाज्ञानं धुनोति ध्वान्तमर्कवत् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; नारायणः देवः—भगवान् नारायण; भगवान्—भगवान्; हृत्-गतः—हृदय के अन्दर; सदा—सदैव; भक्त्या—भक्ति द्वारा; केवलया—अकेली; अज्ञानम्—अज्ञान को; धुनोति—स्वच्छ करता है; ध्वान्तम्—अंधकार को; अर्क-वत्—सूर्य के समान।

भगवान् नारायण, जो समस्त ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं आपके हृदय में अग्रणी हैं क्योंकि आप शुद्ध भक्त हैं। वे सदैव अज्ञान के अंधकार को उसी तरह दूर करते हैं जिस प्रकार सूर्य ब्रह्माण्ड से अंधकार को दूर कर देता है।

तात्पर्य : *भक्त्या केवलया* शब्द सूचित करते हैं कि केवल भक्ति करने से मनुष्य पूर्ण ज्ञानी बन सकता है। कृष्ण समस्त ज्ञान के स्वामी हैं (*ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः*)। भगवान् प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित हैं (*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*) और जब भगवान् भक्त पर प्रसन्न हो जाते हैं, तो वे उसे उपदेश देते हैं। किन्तु भगवान् केवल भक्तों को ही ऐसा उपदेश देते हैं जिससे वे भक्ति में आगे बढ़ते जाँय। अन्यों को अर्थात् अभक्तों को वे उनकी शरणागति की विधि के अनुसार उपदेश देते हैं। शुद्ध भक्त का वर्णन *भक्त्या केवलया* शब्दों द्वारा हुआ है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *भक्त्या केवलया* का अर्थ *ज्ञान-कर्माद्यमिश्रया* "सकाम कर्मों या शुष्क ज्ञान से अमिश्रित" है। मात्र चरणकमलों की शरण में जाना ही भक्त की प्रबुद्धता तथा जागरूकता का कारण है।

तथापि ब्रूमहे प्रश्नांस्तव राजन्यथाश्रुतम् ।
सम्भाषणीयो हि भवानात्मनः शुद्धिमिच्छता ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तथापि—फिर भी; ब्रूमहे—मैं उत्तर दूँगा; प्रश्नान्—सारे प्रश्नों का; तव—तुम्हारे; राजन्—हे राजा; यथा-श्रुतम्—जैसा मैंने अधिकारियों से सुनकर सीखा है; सम्भाषणीयः—सम्बोधित किये जाने योग्य; हि—निस्सन्देह; भवान्—आप; आत्मनः—आत्मा की; शुद्धिम्—शुद्धि; इच्छता—इच्छा करने वाले के द्वारा।

हे राजन्, आप सब कुछ जानते हैं किन्तु आपने कुछ प्रश्न किये हैं, अतएव जैसा मैंने अधिकारियों से सुनकर सीखा है उसी के अनुसार उनका उत्तर देने का प्रयास करूँगा। मैं इस मामले में मौन नहीं रह सकता, क्योंकि जो आत्मशुद्धि का इच्छुक है उसके द्वारा आप जैसे व्यक्ति से वार्तालाप करना उपयुक्त होगा।

तात्पर्य : साधु पुरुष प्रत्येक व्यक्ति से बातें नहीं करना चाहता, अतएव वह गम्भीर तथा मौन बना रहता है। प्राय: सामान्य व्यक्ति को उपदेश दिये जाने की आवश्यकता भी नहीं रहती। कहा जाता है कि जब तक कोई उपदेश ग्रहण करने के लिए तैयार न हो साधु पुरुष को चाहिए कि उसे सम्बोधित न करे यद्यपि कभी-कभी साधु पुरुष महान् कृपावश सामान्य व्यक्तियों से बातें कर लेता है। किन्तु प्रह्लाद महाराज सामान्य व्यक्ति न थे, अतएव वे जो भी प्रश्न करते उसका उत्तर बड़े से बड़े पुरुष को भी देना होता था। अतएव वह साधु ब्राह्मण चुप नहीं रह सका, अपितु उत्तर देने लगा। किन्तु ये उत्तर उसके द्वारा कल्पित नहीं थे। इसकी जानकारी *यथाश्रुतम्* शब्दों से द्वारा दी गई है, जिसका अर्थ है "जैसाकि मैंने अधिकारियों से सुना है।" *परम्परा* पद्धति में जब प्रश्न प्रामाणिक होते हैं, तो उत्तर भी प्रामाणिक होते हैं। किसी को उत्तर बनाने का प्रयास नहीं करना चाहिए। उसे शास्त्रों का सन्दर्भ देना चाहिए और वैदिक ज्ञान के अनुसार उत्तर देना चाहिए। *यथाश्रुतम्* शब्द वैदिक ज्ञान को बताते हैं। वेदों को श्रुति कहा जाता है, क्योंकि यह ज्ञान अधिकारियों से प्राप्त किया जाता है। वेदों के कथन *श्रुति-प्रमाण* कहलाते हैं। मनुष्य को चाहिए कि श्रुति से—वेदों या वैदिक वाङ्मय से—साक्ष्य दे और तब उसका कथन सही होगा। अन्यथा उसके शब्द मनगढ़न्त होंगे।

तृष्णया भववाहिन्या योग्यैः कामैरपूर्यया ।
कर्माणि कार्यमाणोऽहं नानायोनिषु योजितः ॥ २४॥

शब्दार्थ

तृष्णया—इच्छाओं के कारण; भव-वाहिन्या—प्रकृति के भौतिक नियमों की चपेट में; योग्यैः—क्योंकि यह; कामैः—भौतिक इच्छाओं से; अपूर्यया—अन्तहीन, एक के बाद एक; कर्माणि—कार्यकलाप; कार्यमाणः—कार्य करने के लिए बाध्य; अहम्—मैं; नाना-योनिषु—जीवन के विभिन्न रूपों में; योजितः—जीवन-संघर्ष में लगा हुआ।

अतृप्त भौतिक इच्छाओं के कारण मैं प्राकृतिक नियमों की तरंगों द्वारा बहा या लिए जा रहा था और जीवन की विभिन्न योनियों में जीवन-संघर्ष करते हुए विभिन्न कार्यकलापों में लगा रहा।

तात्पर्य : जब तक मनुष्य अपनी विविध भौतिक इच्छाओं को पूरा करना चाहता है तब तक वह निरन्तर एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर को ग्रहण करता रहता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि जिस प्रकार एक घास का तिनका नदी में गिर जाता है, तो वह तरह-तरह के काष्ठ तथा पेड़ की टहनियों के साथ बहता रहता है उसी प्रकार जीव भव-सागर में तैरता रहता है और भौतिक दशाओं के बीच टक्कर खाता तथा उछलता है। यही जीवन-संघर्ष है। एक प्रकार के सकाम कर्म से जीव को एक प्रकार का शरीर प्राप्त होता है और उस शरीर से किये गये कर्मों से दूसरा शरीर उत्पन्न होता है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि इन भौतिक कार्यकलापों को बन्द कर दे और ऐसा करने का अवसर मनुष्य-जीवन में ही प्राप्त हो पाता है। विशेष रूप से हमें अपनी कार्य शक्ति को भगवान् की सेवा में लगाना चाहिए, क्योंकि तब भौतिक कार्यकलाप स्वत: रुक जाएँगे। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की शरण ग्रहण करके अपनी इच्छाएँ पूरी करे, क्योंकि वे इन्हें पूरा करना जानते हैं। अतएव भौतिक इच्छाओं के रहते हुए भी मनुष्य को भक्त की सेवा में लग जाना चाहिए। इससे उसका जीवन-संघर्ष शुद्ध हो जाएगा।

अकाम: सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी: ।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

"जिस व्यक्ति में व्यापक बुद्धि है, वह चाहे भौतिक इच्छाओं से पूर्ण हो, या किसी भी इच्छा से रहित हो या मुक्ति की कामना करता हो, उसे हर तरह से परम पुरुष भगवान् की पूजा करनी चाहिए।" (*भागवत* २.३.१०)

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

"मनुष्य को चाहिए कि अनुकूल होकर तथा सकाम कर्म या दार्शनिक चिन्तन द्वारा किसी प्रकार के भौतिक लाभ की इच्छा से रहित होकर भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति करे।" (*भक्तिरसामृत सिन्धु* १.१.११)

यदृच्छया लोकमिमं प्रापितः कर्मभिर्भ्रमन् ।

स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं तिरश्चां पुनरस्य च ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यदृच्छया—भौतिक प्रकृति की तरंगों द्वारा ले जाया जाकर; लोकम्—मनुष्य रूप; इमम्—यह; प्रापितः—प्राप्त किया हुआ; कर्मभिः—विभिन्न सकाम कर्मों के प्रभाव द्वारा; भ्रमन्—एक जीवन से दूसरे जीवन में घूमते हुए; स्वर्ग—स्वर्गलोक; अपवर्गयोः—मुक्ति के; द्वारम्—द्वार तक; तिरश्चाम्—निम्न योनियों तक; पुनः—फिर; अस्य—मनुष्यों की; च—तथा।

मैंने विकास प्रक्रिया के दौरान जो अवांछित भौतिक इन्द्रियतृप्ति के कारण सकाम कर्मों से उत्पन्न होती है यह मनुष्य रूप प्राप्त किया है, जो हमें स्वर्गलोकों तक, मुक्ति तक, निम्न योनियों तक या मनुष्य के बीच पुनर्जन्म लेने तक पहुँचा सकता है।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में सारे जीव प्रकृति के नियमों के अनुसार जन्म तथा मृत्यु के चक्कर में पड़े हुए हैं। विभिन्न योनियों में जन्म तथा मृत्यु का यह संघर्ष विकास प्रक्रिया कहलाता है, किन्तु पाश्चात्य जगत में इसकी गलत विवेचना की गई है। पशु से मनुष्य के विकास का डार्विन का विकास सिद्धान्त अपूर्ण है क्योंकि यह सिद्धान्त विपरीत दशा को अर्थात् मनुष्य से पशु बनने की प्रकिया को प्रस्तुत नहीं करता। लेकिन इस श्लोक में वैदिक प्रमाण के आधार पर विकास की भलीभाँति व्याख्या की गई है। मनुष्य जीवन, जो विकास प्रक्रिया के दौरान प्राप्त होता है ऊपर उठने (*स्वर्गापवर्ग*) या नीचे गिरने का (*तिरश्चाम् पुनरस्य च*) अवसर है। यदि कोई इस मनुष्य जीवन का उचित उपयोग करता है, तो वह स्वर्गलोक जा सकता है जहाँ इस लोक की अपेक्षा भौतिक सुख हजारों गुना श्रेष्ठ है या फिर वह ज्ञान का अनुशीलन कर सकता है, जिससे वह विकास प्रक्रिया से मुक्त हो जाता है और अपने मूल आध्यात्मिक जीवन को फिर से प्राप्त करता है। यह *अपवर्ग* या मुक्ति कहलाता है।

भौतिक जीवन *प-वर्ग* कहलाता है, क्योंकि यहाँ पर हमें दुख की पाँच विभिन्न अवस्थाओं से गुजरना होता है। इन्हें प, फ, ब, भ तथा म अक्षरों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। *प* का अर्थ है *परिश्रम,* *फ* का *फेन* (मुँह का झाग—यथा अधिक श्रम करने पर घोड़े के मुख से निकला झाग), *ब* का *व्यर्थता* या निराशा (कठिन श्रम करने पर भी अन्त में निराशा मिलती है), *भ* से *भय* (भौतिक जगत में मनुष्य भय की अग्नि से जलता रहता है, क्योंकि कोई नहीं जानता कि आगे क्या होगा) तथा *म* से *मृत्यु*। जीवन की इन पाँच विभिन्न अवस्थाओं को निरस्त करने पर ही *अपवर्ग* या भौतिक जगत के दण्ड से मुक्ति मिल सकती है।

तिरश्चाम् शब्द पतित जीवन का सूचक है। निस्सन्देह, मनुष्य-जीवन सर्वश्रेष्ठ जीवन-दशाओं का अवसर प्रदान करता है। पश्चिम के लोग सोचते हैं कि मनुष्य बन्दर से आया और अब वह अधिक सुखपूर्वक रह रहा है। किन्तु यदि कोई इस मनुष्य-जीवन का उपयोग *स्वर्ग* या *अपवर्ग* के लिए नहीं करता तो वह पुनः कूकरों-सूकरों के निम्न जीवन में जा पड़ता है। अतएव विज्ञ मनुष्य को सदैव विचार करना चाहिए कि क्या वह स्वर्गलोक जाना चाहेगा, अपने को विकास प्रक्रिया से मुक्त करने की तैयारी करेगा या फिर से विकास प्रक्रम द्वारा उच्च तथा निम्न योनियों में घूमता रहेगा? यदि कोई पुण्य करता है, तो वह स्वर्गलोक जा सकता है या मुक्ति प्राप्त कर सकता है और भगवद्धाम वापस जा सकता है, अन्यथा वह कुत्ते या शूकर की निम्न योनि में गिर सकता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२५) में बताया गया है—*यान्ति देवव्रता देवान्।* जो लोग उच्चलोकों (देवलोक या स्वर्गलोक) को जाने के इच्छुक हैं उन्हें वैसी ही तैयारी करनी चाहिए। इसी प्रकार जो मुक्ति चाहते हैं और भगवद्धाम वापस जाना चाहते हैं उन्हें वैसी ही तैयारी करनी चाहिए। इसीलिए हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन मानव समाज के लिए सर्वोत्कृष्ट वरदान है क्योंकि यह आन्दोलन लोगों को भगवद्धाम जाने की शिक्षा देता है। *भगवद्गीता* (१३.२२) में स्पष्ट कहा गया है कि जीवन के विभिन्न रूप भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के संयोग से प्राप्त होते हैं (*कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु*)। सतो, रजो या तमोगुणों की संगति के अनुसार ही मनुष्य को अपने अगले जन्म में उपयुक्त शरीर मिलता है। आधुनिक सभ्यता यह नहीं जानती कि जीव शाश्वत होते हुए भी प्रकृति की विभिन्न संगति के अनुसार विभिन्न रुग्ण परिस्थितियों में रखा जाता है जिन्हें अनेक योनियाँ कहते हैं। आधुनिक सभ्यता प्रकृति के नियमों से अनजान है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

"भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के वशीभूत होकर मोहग्रस्त आत्मा अपने को उन सारे कार्यों का कर्ता मान बैठता है, जो वास्तव में प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं।" (*भगवद्गीता* ३.२७) हर जीवात्मा प्रकृति के कठोर नियमों के पूर्ण नियंत्रण में है किन्तु मूढ़ लोग अपने को स्वतंत्र मानते हैं। वास्तविकता तो यह है कि वे स्वतंत्र नहीं हो सकते। यह मूर्खता है। मूर्खतापूर्ण सभ्यता अतीव घातक है, अतएव

कृष्णभावनामृत आन्दोलन लोगों को यह अवगत कराने का प्रयास कर रहा है कि वे प्रकृति के कठोर नियमों के अन्तर्गत पूर्णतया परतंत्र हैं और यह उन्हें श्रीकृष्ण की बहिरंगा शक्ति प्रबल माया द्वारा सताये जाने से बचाने का प्रयास कर रहा है। इन भौतिक नियमों के पीछे परम नियन्ता कृष्ण हैं (*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*)। अतएव यदि कोई कृष्ण की शरण में जाता है (*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*) तो वह तुरन्त ही बाह्य प्रकृति के नियंत्रण से छूट सकता है (*स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते*)। यही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।

तत्रापि दम्पतीनां च सुखायान्यापनुत्तये ।
कर्माणि कुर्वतां दृष्ट्वा निवृत्तोऽस्मि विपर्ययम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अपि—भी; दम्-पतीनाम्—विवाह द्वारा जुड़े पुरुषों तथा स्त्रियों के; च—तथा; सुखाय—आनन्द के लिए, विशेषतया विषयी जीवन के आनन्द हेतु; अन्य-अपनुत्तये—दुख से बचने के लिए; कर्माणि—सकाम कर्मों को; कुर्वताम्—सदैव करते हुए; दृष्ट्वा—देखकर; निवृत्तः अस्मि—(ऐसे कार्यों से) अब मैं निवृत्त हूँ; विपर्ययम्—उल्टा।

इस मनुष्य-जीवन में पुरुष तथा स्त्री का मिलन मैथुन-सुख के लिए होता है, किन्तु हमने वास्तविक अनुभव से देखा है कि उनमें से कोई भी सुखी नहीं है। इसीलिए विपरीत परिणामों को देखकर मैंने भौतिकतावादी कार्यों में भाग लेना बन्द कर दिया है।

तात्पर्य : जैसाकि प्रह्लाद महाराज ने कहा—*यन्मैथुनादि गृहमेधि सुखं हि तुच्छम्।* पुरुष या स्त्री दोनों ही विषय-भोग चाहते हैं और जब वे विवाह संस्कार द्वारा संयुक्त हो जाते हैं, तो वे कुछ काल तक तो सुखी रहते हैं, किन्तु अन्ततोगत्वा उनमें मतभेद आने लगता है और विवाह-विच्छेद के कई उदाहरण देखने में मिलते हैं। यद्यपि प्रत्येक स्त्री तथा पुरुष संभोग के द्वारा जीवन भोगने के लिए वास्तव में इच्छुक है, किन्तु परिणाम निकलता है कलह तथा दुख। विवाह की संस्तुति पुरुषों तथा स्त्रियों को सीमित यौन-जीवन की छूट देने के लिए की जाती है, जिसकी संस्तुति *भगवद्गीता* में भी भगवान् ने की है—*धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि*—जो जीवन धर्मविरुद्ध नहीं है, वह कृष्ण है। प्रत्येक जीव यौन का भोग करने के लिए उत्सुक रहता है, क्योंकि भौतिकतावादी जीवन खाने, सोने, मैथुन तथा भय में निहित है। पशु-जीवन में खाने, सोने, मैथुन-सुख तथा भय को नियंत्रित नहीं किया जा सकता, किन्तु मानव समाज में इन सबको संयमित करना चाहिए। खाने की वैदिक योजना में कृष्ण को अर्पित भोजन या *यज्ञशिष्ट* तथा *प्रसाद* ग्रहण करने का विधान है। *यज्ञ शिष्टाःशिनः सन्तो मुच्यन्ते*

सर्वकिल्बिषैः—भगवान् के भक्तों को सारे पापों से मुक्त कर दिया जाता है, क्योंकि वे यज्ञ में अर्पित किया गया भोजन खाते हैं (*भगवद्गीता* ३.१३)। भौतिक जीवन में, विशेष रूप से खाते समय, मनुष्य पापकर्म करता है और पापकर्म करने से मनुष्य को प्रकृति के नियमों से बाध्य होकर दण्डस्वरूप दूसरा शरीर ग्रहण करना पड़ता है। मैथुन तथा भोजन आवश्यक हैं, इसीलिए ये वैदिक प्रतिबन्धों के अन्तर्गत मानव समाज को प्रदान किये जाते हैं जिससे लोग वैदिक आदेशों के अनुसार खा सकें, सो सकें, मैथुन कर सकें, भयावह जीवन से रक्षा पा सकें और क्रमशः ऊपर उठकर इस शरीर के दण्ड से मुक्त हो सकें। इस प्रकार विवाह के लिए वैदिक आदेश मानव समाज को छूट देता है—किन्तु इसमें यह भाव निहित रहता है विवाह संस्कार से स्त्री तथा पुरुष संयुक्त होकर एक दूसरे को आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होने में सहयोग देंगे। दुर्भाग्यवश, विशेष रूप से इस युग में स्त्री तथा पुरुष अनियंत्रित काम-भोग से संयुक्त होते हैं। इस तरह वे दण्डित होते हैं और उन्हें अपनी पाशविक प्रवृत्तियों को पूरा करने के लिए पशु योनि में पुनः जन्म लेना पड़ता है। अतएव वैदिक आदेश सावधान करते हैं—*नायं देहो देहभाजां नृलोके कष्टान् कामान् अर्हते विड्भुजां* ये। मनुष्य को शूकरों की तरह यौन जीवन नहीं बिताना चाहिए और जो भी मिले, यहाँ तक कि मल भी, उसे खा नहीं लेना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि अर्चाविग्रह पर अर्पित किया गया *प्रसाद* खाए और वैदिक आदेशों के अनुसार काम-भोग करे। उसे कृष्णभावनामृत के काम में लगकर अपने आपको संसार की भयावह स्थिति से बचाना चाहिए और कठिन श्रम से उत्पन्न थकान को मिटाने के लिए ही सोना चाहिए।

उस विद्वान ब्राह्मण ने कहा कि चूँकि सकाम कर्मियों द्वारा प्रत्येक वस्तु का दुरुपयोग किया जाता है अतएव मैंने समस्त सकाम कर्मों से संन्यास ले लिया है।

सुखमस्यात्मनो रूपं सर्वेहोपरतिस्तनुः ।
मनःसंस्पर्शजान्दृष्ट्वा भोगान्स्वप्स्यामि संविशन् ॥ २७॥

शब्दार्थ

सुखम्—सुख; अस्य—उसका; आत्मनः—जीव का; रूपम्—प्राकृतिक स्थिति; सर्व—समस्त; ईह—भौतिक कर्म; उपरतिः—पूर्णतया स्थगित करके; तनुः—अभिव्यक्ति का माध्यम; मनः-संस्पर्श-जान्—इन्द्रियतृप्ति के लिए माँगों से उत्पन्न; दृष्ट्वा—देखकर; भोगान्—इन्द्रियभोगों को; स्वप्स्यामि—चुप बैठा हूँ और इन भौतिक कार्यों के विषय में गहराई से सोच रहा हूँ; संविशन्—ऐसे कार्यों में पैठकर।

जीवों के लिए जीवन का वास्तविक स्वरूप आध्यात्मिक सुख का है और यही असली सुख है। यह सुख तभी प्राप्त किया जा सकता है जब मनुष्य सारे भौतिकतावादी कार्यकलापों को बन्द कर दे। भौतिक इन्द्रियभोग कोरी कल्पना है, अतएव इस विषय पर विचार कर मैंने सारे भौतिक कार्यकलाप बन्द कर दिये हैं और अब यहाँ लेटा हुआ हूँ।

तात्पर्य : यहाँ पर मायावादी तथा वैष्णव दर्शन का अन्तर बताया गया है। मायावादी तथा वैष्णव दोनों ही जानते हैं कि भौतिकतावादी कार्यकलाप में कोई सुख नहीं है। अतएव मायावादी दार्शनिक *ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या* के नारे से चिपके रह कर मिथ्या भौतिक कार्यकलापों से दूर रहना चाहते हैं। वे समस्त कार्यकलापों को बन्द करके परब्रह्म में लीन होना चाहते हैं। किन्तु वैष्णव दर्शन के अनुसार यदि कोई भौतिक कार्य करना मात्र बन्द कर दे तो वह दीर्घकाल तक निष्क्रिय नहीं रह सकता; फलत: प्रत्येक व्यक्ति को आध्यात्मिक कार्यों में लग जाना चाहिए जो इस संसार के दुखों की समस्या को हल कर देंगे। अतएव यह कहा जाता है कि यद्यपि मायावादी दार्शनिक भौतिकतावादी कार्यों से विलग रहने का प्रयास करके ब्रह्म में लीन होना चाहते हैं और वे ब्रह्म में वास्तव में लीन भी हो जाँएं, किन्तु सक्रिय न होने के कारण वे पुन: भौतिक कर्म में आ गिरते हैं (*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं तत: पतन्त्यध:*)। अत: तथाकथित त्यागी ब्रह्म के ध्यान में लीन न रह पाने से अस्पताल तथा पाठशालाएँ आदि खोलने के चक्कर में भौतिक कार्यों में लौट आता है। अतएव केवल ऐसे ज्ञान का अनुशीलन पर्याप्त नहीं है कि भौतिकतावादी कार्यकलाप सुख प्रदान नहीं प्रदान कर सकते, इसलिए मनुष्य ऐसे कर्मों को करना बन्द कर दे। मनुष्य को चाहिए कि भौतिकतावादी कार्यकलापों को त्याग कर आध्यात्मिक कार्यकलाप अंगीकार करे। तब इस समस्या का हल निकल आएगा। आध्यात्मिक कार्यकलाप कृष्ण के आदेश से सम्पन्न होने वाले कार्यकलाप हैं (*आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्*)। जो कुछ कृष्ण कहते हैं, यदि उसे कोई करता है, तो उसके कार्यकलाप भौतिक नहीं होते। उदाहरणार्थ, जब अर्जुन ने भगवान् कृष्ण के आदेशानुसार युद्ध किया तो उसके कार्यकलाप भौतिक नहीं थे। इन्द्रियतृप्ति के लिए युद्ध करना भौतिकतावादी कार्य है, किन्तु भगवान् के आदेश से युद्ध करना आध्यात्मिक है। आध्यात्मिक कार्यों से मनुष्य भगवद्धाम वापस जाने के योग्य बनता है और तब वह नित्य आनन्दमय जीवन बिताता है। यहाँ, इस जगत में प्रत्येक वस्तु मात्र मनोधर्म है, जिससे हमें कभी

भी असली सुख नहीं मिल सकता। अतएव भौतिकतावादी कार्यकलापों को बन्द करके आध्यात्मिक कार्यों में लगना ही व्यावहारिक समाधान है। *यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।* यदि कोई भगवान्—यज्ञ या विष्णु—को प्रसन्न करने के लिए कर्म करता है, तो उसे मुक्त जीवन में स्थित समझा जाता है। किन्तु जो ऐसा नहीं कर पाता वह बन्धनमय जीवन में रहता जाता है।

इत्येतदात्मनः स्वार्थं सन्तं विस्मृत्य वै पुमान् ।
विचित्रामसति द्वैते घोरामाप्नोति संसृतिम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; एतत्—बद्ध पुरुष; आत्मनः—अपना; स्व-अर्थम्—निजी हित; सन्तम्—अपने भीतर स्थित होकर; विस्मृत्य—भुलाकर; वै—निस्सन्देह; पुमान्—जीव; विचित्राम्—आकर्षक मिथ्या वस्तुएँ; असति—भौतिक जगत में; द्वैते—आत्मा के अतिरिक्त; घोराम्—अत्यन्त भयावह (जन्म-मृत्यु को बारबार स्वीकार करने से); आप्नोति—फँस जाता है; संसृतिम्—संसृति में।

इस प्रकार बद्ध आत्मा शरीर के भीतर रहकर अपने हित को भूल जाता है, क्योंकि वह अपनी पहचान शरीर के रूप में करने लगता है। चूँकि, शरीर भौतिक होता है अतएव उसकी सहज प्रवृत्ति भौतिक जगत की विविधताओं की ओर आकृष्ट होने की रहती है। इस तरह जीव इस संसार के कष्टों को भोगता है।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति सुखी बनना चाहता है, क्योंकि जैसाकि पिछले श्लोक में बताया गया है—*सुखम् अस्यात्मनो रूपं सर्वेहोपरतिस्तनुः*—जब जीव अपने मूल आध्यात्मिक स्वरूप में रहता है, तो वह स्वभाव से सुखी रहता है। आध्यात्मिक प्राणी के लिए दुखी रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। जिस प्रकार कृष्ण सदैव प्रसन्न रहते हैं उसी तरह उनके अंश रूप जीव भी स्वभाव से सुखी रहते हैं, किन्तु इस संसार में भेजे जाने से तथा कृष्ण से अपना नित्य सम्बन्ध भूल जाने के कारण वे अपने असली स्वभाव को भूल चुके हैं। चूँकि हममें से प्रत्येक व्यक्ति कृष्ण का अंश है, अतएव उनसे हमारा अत्यन्त वत्सल सम्बन्ध है, किन्तु हम अपना स्वरूप भूल जाने तथा शरीर को ही आत्मा मान लेने के कारण जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के सभी कष्टों से पीड़ित हैं। भौतिकतावादी जीवन की यह भ्रान्ति तब तक बनी रहती है जब तक मनुष्य कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को समझ नहीं लेता। बद्धजीव द्वारा सुख की खोज निश्चय ही मात्र भ्रम है, जैसाकि अगले श्लोक में बताया गया है।

जलं तदुद्भवैश्छन्नं हित्वाज्ञो जलकाम्यया ।
मृगतृष्णामुपाधावेत्तथान्यत्रार्थदृक्स्वतः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

जलम्—जल; तत्-उद्भवैः—उस जल से उत्पन्न घास द्वारा; छन्नम्—ढका; हित्वा—छोड़कर; अज्ञः—मूर्ख पशु; जल-काम्यया—जल पीने की अभिलाषा से; मृगतृष्णाम्—मृगतृष्णा के; उपाधावेत्—पीछे दौड़ता है; तथा—उसी प्रकार; अन्यत्र—कहीं दूसरी जगह; अर्थ-दृक्—स्वार्थरत; स्वतः—अपने में।

जिस प्रकार एक हिरन अज्ञानतावश घास से ढके कुएँ के जल को न देख कर जल के लिए अन्यत्र दौड़ता फिरता रहता है उसी प्रकार भौतिक शरीर से आवृत यह जीव अपने भीतर के सुख को नहीं देख पाता और भौतिक जगत में सुख के पीछे दौड़ता रहता है।

तात्पर्य : यह एक उपयुक्त दृष्टान्त है कि ज्ञान के अभाव में जीव किस तरह अपने से बाहर सुख की तलाश में दौड़ता रहता है। जब मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को आध्यात्मिक प्राणी के रूप में जान लेता है, तो वह परम पुरुष कृष्ण को समझ सकता है और तभी कृष्ण तथा उसके बीच असली सुख का आदान-प्रदान होता है। यह ध्यान देना रोचक होगा कि किस तरह यह श्लोक आत्मा से शरीर के विकास को इंगित करता है। आधुनिक भौतिकतावादी विज्ञानी सोचता है कि जीव पदार्थ से निकलता है, लेकिन तथ्य तो यह है कि पदार्थ जीवन से उत्पन्न होता है। यहाँ पर जीव या आत्मा की तुलना जल से की गई है, जिसमें से घास के रूप में पदार्थ-पुंज प्रकट होता है। जो आत्मा के विज्ञान को नहीं जानता वह सुख को आत्मा में तलाश करने के लिए शरीर के अन्दर नही देखते। वरन् सुख की तलाश करने बाहर भागता है, जिस प्रकार घास के नीचे पानी के होने को न जानते हुए हिरण रेगिस्तान में जाता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन उन दिग्भ्रमित मनुष्यों के अज्ञान को दूर करने का प्रयास कर रहा है, जो जीवन की सीमा से बाहर जल का अनुसंधान करना चाहते हैं। *रसो वै सः। रसोऽहमप्सु कौन्तेय।* जल का स्वाद कृष्ण है। अपनी प्यास बुझाने के लिए कृष्ण की संगति रूपी जल को चखना चाहिए। यही वैदिक आदेश है।

देहादिभिर्दैवतन्त्रैरात्मनः सुखमीहतः ।
दुःखात्ययं चानीशस्य क्रिया मोघाः कृताः कृताः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

देह-आदिभिः—शरीर, मन, अहंकार तथा बुद्धि से; दैव-तन्त्रैः—परम शक्ति के अधीन; आत्मनः—आत्मा का; सुखम्—सुख; ईहतः—खोज करते हुए; दुःख-अत्ययम्—दुखों की कमी; च—भी; अनीशस्य—प्रकृति के अधीन जीव; क्रियाः—कार्यकलाप तथा योजनाएँ; मोघाः कृताः कृताः—पुनः-पुनः व्यर्थ हो जाती हैं।

जीव सुख प्राप्त करना चाहता है और दुख के कारणों से छूटना चाहता है, लेकिन चूँकी जीवों के शरीर प्रकृति के पूर्ण नियंत्रण में होते हैं, अतएव जीव एक के बाद एक विभिन्न शरीरों को पाकर जितनी भी योजनाएँ बनाता है वे अन्ततोगत्वा व्यर्थ हो जाती हैं।

तात्पर्य : चूँकि भौतिकतावादी व्यक्ति इस घोर अंधकार में रहता है कि प्रकृति के नियम किस प्रकार उसके कर्मों के अनुसार उस पर प्रभाव डालते हैं अतएव वह भूल करके आर्थिक विकास के उच्चलोकों में जाने के उद्देश्य से पुण्यकर्मों द्वारा तथा अन्य विधियों से मनुष्य-जीवन में शारीरिक सुपास भोगने की योजनाएँ बनाता है। किन्तु वास्तव में वह अपने कर्मफलों का शिकार बनता है। भगवान् सभी जीवों के अन्तस्तल में परमात्मा रूप में स्थित हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में भगवान् कहते हैं—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो

मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

"मैं सबों के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होती है।" जीव की इच्छाएँ तथा कार्यकलाप परमात्मा द्वारा देखे जाते हैं, क्योंकि वे *उपद्रष्टा* हैं और वे जीव की विविध इच्छाओं की पूर्ती के लिए प्रकृति को आदेश देते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६१) में स्पष्ट कहा गया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

भगवान् सबों के हृदय में आसीन रहते हैं और जो जैसा चाहता है उसी के अनुसार भगवान् उसे विविध प्रकार के शरीर प्रदान करते हैं, जो यंत्रों के समान हैं। जीव ऐसे यंत्र पर आरूढ़ होकर प्रकृति तथा उसके गुणों के वशीभूत रहकर ब्रह्माण्ड भर में घूमता है। इस तरह जीव कर्म करने के लिए भी स्वतंत्र नहीं है, अपितु प्रकृति के पूर्णतया अधीन रहता है और यह प्रकृति भगवान् के पूर्ण नियंत्रण में रहती है।

ज्योंही जीव भौतिक इच्छाओं द्वारा प्रकृति पर प्रभुत्व जताने के लिए प्रताड़ित किया जाता है त्योंही उस पर प्रकृति का नियंत्रण हो जाता है, जिसका अधीक्षण परमात्मा द्वारा होता है। इसका परिणाम यह

होता है कि मनुष्य बारम्बार योजनाएँ बनाता है और निराश होता रहता है, किन्तु मूर्ख व्यक्ति होने के कारण वह इस निराशा का कारण नहीं देख पाता। इस कारण का स्पष्ट उल्लेख *भगवद्गीता* में हुआ है—*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया*—चूँकि मनुष्य परमेश्वर की शरण ग्रहण नहीं करता, अतएव उसे प्रकृति तथा उसके कठोर नियमों के अन्तर्गत कार्य करना होता है। इस बन्धन से छूटने का एकमात्र उपाय भगवान् की शरण ग्रहण करना है। मनुष्य जीवन में जीव को यह उपदेश परम पुरुष कृष्ण से ग्रहण करना चाहिए—*सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—"तुम सुख प्राप्त करने और दुख भगाने की योजना मत बनाओ। तुम इसमें कभी सफल नहीं होगे। तुम केवल मेरी शरण में आओ।" किन्तु दुर्भाग्यवश वह *भगवद्गीता* में स्पष्ट रूप में दिये गये भगवान् के इस आदेश को स्वीकार नहीं करता। इस तरह मनुष्य प्रकृति के नियमों का नित्य बन्दी बन जाता है।

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः—यदि मनुष्य विष्णु या यज्ञ नाम से विख्यात कृष्ण की तुष्टि के लिए कर्म नहीं करता तो वह कर्मफलों के बन्धन में फँस जाएगा। ये बन्धन *पाप* तथा *पुण्य* कहलाते हैं। पुण्यकर्मों से मनुष्य उच्चलोकों को जाता है और पापकर्मों से अधम जीवयोनियों को प्राप्त होता है जिनमें वह प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित किया जाता है। जीवन की अधम योनियों में विकास प्रक्रम पाया जाता है और जब इन योनियों में जीव के बन्धन या दण्ड की अवधि समाप्त हो जाती है, तो उसे पुनः मनुष्य जीवन प्रदान किया जाता है और इसका अवसर दिया जाता है कि वह किस तरह योजना बनाए। यदि वह अवसर को पुनः खो देता है, तो उसे जन्म-मृत्यु के चक्कर में पुनः डाल दिया जाता है और *संसार-चक्र* में कभी वह नीचे जाता है, तो कभी ऊपर आता है। जिस प्रकार चक्र (पहिया) कभी नीचे तो कभी ऊपर जाता है उसी प्रकार प्रकृति के कठोर नियम जीव को कभी सुखी बनाते हैं, तो कभी दुखी। सुख-दुख के चक्र में वह जिस प्रकार कष्ट उटाता है उसका वर्णन अगले श्लोक में हुआ है।

आध्यात्मिकादिभिर्दुःखैरविमुक्तस्य कर्हिचित् ।
मर्त्यस्य कृच्छ्रोपनतैरर्थैः कामैः क्रियेत किम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

आध्यात्मिक-आदिभिः—अध्यात्मिक, अधिदैविक तथा अधिभौतिक; **दुःखैः**—भौतिक जीवन के तीन प्रकार के दुखों से; **अविमुक्तस्य**—ऐसी दुखी अवस्थाओं से मुक्त न होने वाले का; **कर्हिचित्**—कभी-कभी; **मर्त्यस्य**—मरणशील जीव का; **कृच्छ्र-**

उपनतैः—दारुण दुखों के कारण प्राप्त वस्तुएँ; अर्थैः—यदि कुछ लाभ भी प्राप्त हो सके; कामैः—भौतिक इच्छाओं से पूरित; क्रियेत—जो वे करते हैं; किम्—और ऐसे सुख का क्या महत्त्व है।.

भौतिकतावादी कार्यकलाप सदैव तीन प्रकार के दुखों—अध्यात्मिक, अधिदैविक तथा अधिभौतिक—से मिले-जुले होते हैं। अतएव यदि कोई ऐसे कार्य सम्पन्न करके कुछ सफलता प्राप्त भी कर ले तो उससे क्या लाभ है? उसे फिर भी जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि तथा अपने कर्मफलों को भोगना होगा।

तात्पर्य : भौतिकतावादी जीवन—शैली के अनुसार यदि कोई निर्धन व्यक्ति कठिन श्रम करके जीवन के अन्त में कुछ लाभ प्राप्त करता है, तो यह सफलता मानी जाती है। यद्यपि वह तीन प्रकार के कष्टों—अध्यात्मिक, अधिदैविक तथा अधिभौतिक कष्टों को भोग करके पुनः मर जाता है। भौतिकतावादी जीवन के इन तीन प्रकार के कष्टों से कोई भी बच नहीं पाता। ये कष्ट हैं—तन तथा मन से सम्बन्धित; समाज, जाति, राष्ट्र तथा अन्य जीवों द्वारा थोपे गये कष्टों से सम्बन्धित; भूकम्प, सूखा, बाढ़, संक्रामक रोग इत्यादि प्राकृतिक उत्पातों से सम्बन्धित। यदि कोई इन तीनों कष्टों को सहते हुए अत्यधिक श्रम करता है और थोड़ा सा लाभ पाने में सफल हो जाता है, तो ऐसे लाभ से क्या लाभ? इसके अतिरिक्त यदि कोई कर्मी सम्पत्ति संग्रह करने में सफल भी हो जाता है, तो वह उसको भोग नहीं पाता, क्योंकि उसे निराशा में मरना होगा। मैंने एक मरणासन्न व्यक्ति को अपने डाक्टर से अपनी आयु चार वर्ष बढ़ा देने की याचना करते देखा है, जिससे वह अपनी योजना पूरी कर सके। निस्सन्देह, वह डाक्टर उस व्यक्ति की आयु को बढ़ाने में असमर्थ था, अतएव वह व्यक्ति निराशा में मर गया। प्रत्येक व्यक्ति को इसी तरह मरना है और प्रकृति हर व्यक्ति की मानसिक अवस्था का पता लगाकर उसे एक विभिन्न शरीर में उस इच्छा को पूरा करने का दूसरा अवसर प्रदान करती है। भौतिक सुख की सारी भौतिक योजनाएँ निरर्थक हैं, किन्तु माया के वशीभूत होकर हम उन्हें अत्यन्त मूल्यवान समझते हैं। ऐसे अनेक राजनीतिक, समाजसुधारक तथा दार्शनिक हुए हैं जिनकी मृत्यु अत्यन्त दुखद हुई है और उन्हें उनकी योजनाओं का कोई लाभ नहीं मिला। अतएव विज्ञ तथा विवेकवान् व्यक्ति कभी भी मात्र निराशा में मरने के लिए तीन प्रकार के कष्टों के अन्तर्गत कठिन श्रम करके कभी करना नहीं चाहता।

पश्यामि धनिनां क्लेशं लुब्धानामजितात्मनाम् ।

भयादलब्धनिद्राणां सर्वतोऽभिविशङ्किनाम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

पश्यामि—देखता हूँ; **धनिनाम्**—अत्यन्त धनी व्यक्तियों में; **क्लेशम्**—कष्ट; **लुब्धानाम्**—अत्यन्त लालची; **अजित-आत्मनाम्**—अपनी इन्द्रियों के शिकार बनने वाले; **भयात्**—डर के कारण; **अलब्ध-निद्राणाम्**—जिन्हें अनिद्रा का रोग है; **सर्वतः**—चारों ओर से; **अभिविशङ्किनाम्**—विशेष रूप से भयभीत।

ब्राह्मण ने आगे कहा : मैं सचमुच देख रहा हूँ कि अपनी इन्द्रियों के वशीभूत हुआ एक धनी व्यक्ति किस तरह धन संचित करने का अत्यन्त लोभी होता है। अतएव सम्पत्ति तथा ऐश्वर्य होते हुए भी चारों ओर से भय के कारण वह अनिद्र रोग का शिकार बन जाता है।

तात्पर्य : लालची पूँजीपति अनेक कष्ट सह कर सम्पत्ति का संचय करते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि उनका चित्त सदैव क्षुब्ध रहता है क्योंकि वे तरह-तरह के अनुचिता साधनों से धन संग्रह करते हैं। इस तरह वे रात्रि के समय सो नहीं पाते और मानसिक शान्ति पाने के लिए उन्हें नींद की गोलियाँ खानी पड़ती हैं। कभी-कभी गोलियाँ भी कारगर नहीं होतीं। अतएव इतने श्रम से एकत्र किये गये धन का परिणाम सुख नहीं अपितु केवल दुख होता है। ऐसा सुखद पद प्राप्त करने से क्या लाभ यदि मन की शान्ति भंग हो जाये? अतएव नरोत्तम दास ठाकुर ने गाया है—

संसार बिषानले, दिबानिशि हियाज्वले।

जुड़ाइते ना कैनु उपाय

"मैं भौतिक भोग के विषकारी प्रभाव से कष्ट भोग रहा हूँ। इस तरह मेरा हृदय अहर्निश जलता रहता है और अपनी क्रिया बन्द करने वाला है।" लालची पूँजीपति द्वारा अनावश्यक रूप से सम्पत्ति संग्रह करने का परिणाम यह होता है कि उसे चिन्ता की ज्वाला में जलना पड़ता है और सदैव यही चिन्ता लगी रहती है कि वह अपना धन किस तरह बचाए और उसे कैसे लगाए ताकि उसे और धन मिल सके। निश्चय ही ऐसा जीवन बहुत सुखी नहीं होता, किन्तु माया के फेर में पड़कर भौतिकतावादी लोग ऐसे कार्यकलापों में लगे रहते हैं।

जहाँ तक हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन का सम्बन्ध है हम भगवत्कृपा से अपना साहित्य बेचकर सहज ही धन पा रहे हैं। यह साहित्य हमारी इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं बेचा जाता। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का प्रसार करने के लिए हमें अनेक वस्तुओं की आवश्यकता होती है अतएव इस उद्देश्य को अग्रसर करने के लिए कृष्ण आवश्यक धन की पूर्ति करते हैं। कृष्ण का मिशन

सारे विश्व में कृष्णभावनामृत को प्रसारित करना है और इस कार्य के लिए स्वाभाविक है कि हमें प्रचुर धन चाहिए। अतएव श्रील रूप गोस्वामी प्रभुपाद की सलाह के अनुसार हमें उस धन के प्रति अपनी आसक्ति नहीं त्यागनी चाहिए जो कृष्णभावनामृत आन्दोलन का प्रसार कर सके। श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृत सिन्धु* (१.२.२५६) में कहा है—

प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः।

मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते॥

''जब मुक्ति के इच्छुक लोग भगवान् से सम्बन्धित वस्तुओं का परित्याग कर देते हैं, चाहे वे भौतिक ही क्यों न हों तो यह अपूर्ण वैराग्य कहलाता है।'' जो धन कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रसार में सहायता करता है, वह भौतिक जगत का अंश नहीं होता, अतएव हमें चाहिए कि उसे भौतिक समझ कर त्यागें नहीं। श्रील रूप गोस्वामी का उपदेश है—

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः।

निर्बन्धः कृष्ण सम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते॥

''जब कोई किसी भी वस्तु के प्रति आसक्त नहीं रहता अपितु प्रत्येक वस्तु को कृष्ण की समझ कर ग्रहण करता है, तो वह स्वामित्व से ठीक ऊपर स्थित होता है'' (*भक्ति रसामृतसिन्धु* १.२.२५५)। धन तो प्रचुर मात्रा में आता रहता है लेकिन हमें चाहिए कि इन्द्रियतृप्ति के लिए इस धन के प्रति आसक्त न हों, प्रत्येक छदाम का उपयोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रसार में हो, इन्द्रियतृप्ति में नहीं। प्रचारक के लिए उस समय संकट उत्पन्न होता है जब उसे पर्याप्त मात्रा में धन मिलता है, क्योंकि ज्योंही इस संग्रह में से एक भी छदाम अपनी निजी इन्द्रिय-तृप्ति में खर्च करता है त्योंही वह पतित हो जाता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रचारकों को अत्यंत सावधान रहना चाहिए कि इस आन्दोलन के लिए आवश्यक प्रचुर धन का दुरुपयोग न करें। हम इस धन को अपने दुख का कारण न बनाएँ अपितु इसका उपयोग कृष्ण के लिए करें। यह हमारें शाश्वत सुख का कारण बन सकेगा। धन ही लक्ष्मी है, जो नारायण की सङ्गिनी हैं। लक्ष्मी जी को सदैव नारायण के साथ रहना चाहिए तब च्युत होने का कोई भय नहीं रहता।

राजतश्चौरतः शत्रोः स्वजनात्पशुपक्षितः ।
अर्थिभ्यः कालतः स्वस्मान्नित्यं प्राणार्थवद्भयम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

राजतः—राज्य से; चौरतः—चोरों तथा ठगों से; शत्रोः—शत्रुओं से; स्व-जनात्—सम्बन्धियों से; पशु-पक्षितः—पशुओं तथा पक्षियों से; अर्थिभ्यः—भिखारियों तथा दान लेने वालों से; कालतः—समय से; स्वस्मात्—तथा अपने आप से; नित्यम्—नित्य; प्राण-अर्थ-वत्—जीवन या धन वाले के लिए; भयम्—डर।

जिन्हें भौतिक दृष्टि से शक्तिशाली तथा धनी माना जाता है वे सामान्यतः सरकारी नियमों, चोर-उचक्कों, शत्रुओं, स्वजनों, पशुओं, पक्षियों, दान लेने वालों, काल, यहाँ तक कि अपने आप से चिन्तित रहते हैं। इस प्रकार वे अनिवार्यतः भयभीत रहते हैं।

तात्पर्य : *स्वस्मात्* शब्द का अर्थ है "अपने आप से"। धन के प्रति आसक्ति के कारण सबसे धनी पुरुष अपने आप से भी भयभीत रहता है। वह डरता रहता है कि हो सकता है कि मैंने धन को ठीक से तिजोरी में बन्द न किया हो या मुझसे कुछ त्रुटि हो गई हो। सरकार तथा उसके द्वारा लगाये गये आयकर एवं चोरों के अतिरिक्त धनी व्यक्ति के सम्बन्धी भी सदैव यही सोचते रहते हैं कि किस तरह उससे लाभ उठा कर उसका धन ले लिया जाये। कभी-कभी ये सम्बन्धी *स्व-जनक-दस्यु* कहलाते हैं जिसका अर्थ है "सम्बन्धियों के रूप में धूर्त तथा चोर"। अतएव सम्पत्ति जोड़ने या व्यर्थ ही अधिकाधिक धन के लिए प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जीव का असली उद्देश्य तो यह पूछना है कि "मैं कौन हूँ"? और अपने आपको समझना है। मनुष्य को इस संसार में जीव की स्थिति समझनी चाहिए और यह जानना चाहिए कि भगवद्धाम किस तरह लौटा जा सकता है।

शोकमोहभयक्रोधरागक्लैब्यश्रमादयः ।
यन्मूलाः स्युर्नृणां जह्यात्स्पृहां प्राणार्थयोर्बुधः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

शोक—शोक; मोह—मोह; भय—डर; क्रोध—क्रोध; राग—आसक्ति; क्लैब्य—दरिद्रता; श्रम—वृथा मेहनत; आदयः—इत्यादि; यत्-मूलाः—इन सबों का मूल कारण; स्युः—हो जाँए; नृणाम्—मनुष्यों का; जह्यात्—छोड़ देना चाहिए; स्पृहाम्—इच्छा; प्राण—शारीरिक शक्ति या प्रतिष्ठा; अर्थयोः—तथा धन संग्रह करने के लिए; बुधः—बुद्धिमान।

मानव समाज के बुद्धिमान लोगों को चाहिए कि वे शोक, लोभ, भय, क्रोध, अनुराग, दरिद्रता तथा अनावश्यक श्रम के मूल कारण को त्याग दें। इन सबों का मूल कारण अनावश्यक प्रतिष्ठा तथा धन की लालसा है।

तात्पर्य : यहाँ पर वैदिक सभ्यता तथा आधुनिक आसुरी सभ्यता का अन्तर दिया गया है। वैदिक सभ्यता में आत्म-साक्षात्कार करने पर बल रहता था और इसके लिए जीवन-निर्वाह हेतु थोड़ी सी आमदनी की संस्तुति की जाती थी। समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इन चार वर्णों में विभाजित किया गया था और इस समाज के सदस्य अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने प्रयासों को सीमित रखते थे। विशेषत: ब्राह्मणों में भौतिक इच्छाएँ नहीं रहती थीं, किन्तु क्षत्रियों को जनता पर शासन करना होता था, अतएव उनके पास धन तथा प्रतिष्ठा का होना आवश्यक था। लेकिन वैश्य कृषि-उपज तथा गाय के दूध से ही सन्तुष्ट थे और यदि इन उत्पादनों की अधिकता होती थी तो व्यापार करने की अनुमति दी जाती थी। शूद्र भी सुखी थे, क्योंकि तीनों उच्च-वर्णों से उन्हें भोजन तथा आश्रय प्राप्त होता था। किन्तु आज की आसुरी सभ्यता में न तो ब्राह्मण हैं, न क्षत्रिय का प्रश्न ही नहीं उठता हैं, तो केवल तथाकथित श्रमिक तथा समृद्ध व्यापारी जिनका कोई जीवन-उद्देश्य नहीं है।

वैदिक सभ्यता के अनुसार जीवन की चरम सिद्धि संन्यास ग्रहण करना है किन्तु अब लोग यह नहीं जानते कि संन्यास क्यों ग्रहण किया जाता है। न समझ पाने के कारण वे सोचते हैं कि संन्यास सामाजिक उत्तरदायित्व से बच निकलने के लिए ग्रहण किया जाता है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। सामान्यतया आध्यात्मिक जीवन की चतुर्थ अवस्था में संन्यास स्वीकार किया जाता है। मनुष्य ब्रह्मचारी से प्रारम्भ करके पहले गृहस्थ बनता है, फिर वानप्रस्थ और अन्त में संन्यासी बनता है, जिससे वह अपनी जीवन-अवधि का लाभ उठाकर अपने आपको आत्म-साक्षात्कार में लगा सके। संन्यास का अर्थ द्वार-द्वार जाकर भीख माँगकर इन्द्रियतृप्ति के लिए धन संग्रह करना नहीं है। किन्तु, चूँकि लोग कलियुग में न्यूनाधिक रूप में इन्द्रियतृप्ति की ओर उन्मुख हैं, अतएव अपरिपक्व संन्यास की संस्तुति नहीं की जाती। श्रील रूप गोस्वामी ने *उपदेशामृत* (२) में कहा है—

अत्याहार: प्रयासश्च प्रजल्पो नियमाग्रह: ।

जनसङ्गश्च लौल्यं च षड्भिर्भक्तिर्विनश्यति ॥

"जो मनुष्य निम्नलिखित छ: प्रकार के कार्यों में अत्यधिक फँसा रहता है उसकी भक्ति भ्रष्ट हो जाती है। ये हैं (१) आवश्यकता से अधिक खाना या आवश्यकता से अधिक धन संग्रह करना,

(२) उन संसारी वस्तुओं के लिए घोर प्रयास करना जिन्हें प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, (३) संसारी विषयों के बारे में वृथा बातें (४) आध्यात्मिक प्रगति के लिए नहीं, अपितु मात्र पालन करने के लिए शास्त्रीय विधि-विधानों का अभ्यास करना, या शास्त्रों के विधिविधानों का तिरस्कार करके स्वतंत्र रूप से या मनमाने ढंग से कार्य करना, (५) ऐसे संसारी पुरुषों की संगति करना जिनकी रुचि कृष्णभावनामृत में नहीं है तथा (६) भौतिक उपलब्धियों के लिए लालची बनना।'' संन्यासी के पास ऐसा संस्थान होना चाहिए जो कृष्णभावनामृत के प्रचार के लिए हो; उसे चाहिए कि अपने लिए धन संचय न करे। हमारी तो संस्तुति है कि ज्योंही हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में धन संचित हो जाये त्योंही इसका पचास प्रतिशत पुस्तकों के मुद्रण में लगा दिया जाये और शेष पचास प्रतिशत को सारे विश्व में केन्द्र स्थापित करने के कार्य में लगाया जाये। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के व्यवस्थापकों को इस विषय में अत्यधिक सतर्क रहना चाहिए। अन्यथा यह धन शोक, मोह, भय, क्रोध, राग, विपन्नता तथा वृथा श्रम का कारण बनेगा। जब मैं वृन्दावन में अकेला था तो मैंने कभी मठ या मन्दिर बनाने का प्रयास नहीं किया, प्रत्युत *बैक टु गॉडहेड* पत्रिका बेचकर जो थोड़ा बहुत धन एकत्र कर लेता था उसी से पूर्णतया सन्तुष्ट रहता था और उसी धन से अपना कार्य चलाता था और साहित्य भी छापता था। जब मैं विदेश गया तो वहाँ भी इसी सिद्धान्त के अनुसार रहा, किन्तु जब यूरोप तथा अमरीका-वासियों ने प्रचुर धन देना शुरू कर दिया तो मैंने मन्दिर बनवाया तथा अर्चाविग्रह पूजा करना प्रारम्भ कर दिया। अब भी उसी सिद्धान्त का पालन होना चाहिए। जो भी धन संग्रह किया जाता है उसे कृष्ण पर खर्च करना चाहिए। इन्द्रियतृप्ति पर एक छदाम भी व्यय नहीं होना चाहिए। यही *भागवत* सिद्धान्त है।

मधुकारमहासर्पौ लोकेऽस्मिन्नो गुरूत्तमौ ।
वैराग्यं परितोषं च प्राप्ता यच्छिक्षया वयम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

मधुकार—मधुमक्खियाँ जो शहद एकत्र करने के लिए एक फूल से दूसरे फूल पर जाती हैं; महा-सर्पौ—बड़ा साँप (अजगर, अन्यत्र नहीं जाता); लोके—संसार में; अस्मिन्—इस; नः—हमारा; गुरु—गुरु; उत्तमौ—उच्चकोटि का; वैराग्यम्—वैराग्य, त्याग; परितोषम् च—तथा संतोष; प्राप्ताः—प्राप्त किया हुआ; यत्-शिक्षया—जिसके आदेश से; वयम्—हम।

मधुमक्खी तथा अजगर दो श्रेष्ठ गुरु हैं, जो हमें इस सम्बन्ध में आदर्श उपदेश देते हैं कि किस तरह थोड़ा-थोड़ा संग्रह करके सन्तुष्ट रहा जाये और किस तरह एक ही स्थान में ठरहा जाये—हिला न जाये।

विरागः सर्वकामेभ्यः शिक्षितो मे मधुव्रतात् ।
कृच्छ्राप्तं मधुवद्वित्तं हत्वाप्यन्यो हरेत्पतिम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

विरागः—विरक्ति; सर्व-कामेभ्यः—समस्त भौतिक इच्छाओं से; शिक्षितः—पढ़ाया गया; मे—मुझको; मधु-व्रतात्—मधुमक्खी से; कृच्छ्र—अत्यन्त कठिनाई से; आप्तम्—अर्जित; मधु-वत्—शहद के समान (धन ही शहद है); वित्तम्—धन; हत्वा—मारकर; अपि—भी; अन्यः—दूसरा; हरेत्—ले लेता है; पतिम्—स्वामी को।

मधुमक्खी से मैंने सीखा है कि धन संग्रह करने से किस तरह विरक्त रहना चाहिए, क्योंकि यद्यपि धन शहद जैसा है, किन्तु कोई भी धन के स्वामी को मार कर धन को ले जा सकता है।

तात्पर्य : छत्ते में एकत्र किए गए शहद को कोई भी बलपूर्वक ले जा सकता है। अतएव जो धन संग्रह करता है उसके मन में यह विचार उठना चाहिए कि वह सरकार या चोरों द्वारा सताया जा सकता है और उसके शत्रु उसका वध भी कर सकते हैं। इस कलियुग में तो विशेष करके सरकार स्वयं कानून के बल पर इस धन को छीन सकती है, नागरिकों से उसकी रक्षा करना दूर रहा। अतएव विद्वान ब्राह्मण ने निश्चय किया था कि वह धन संग्रह नहीं करेगा। मनुष्य को अपने पास उतना ही धन रखना चाहिए जितने की उसे तुरन्त आवश्यकता हो। अपने पास बहुत अधिक धन रखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इससे यह भय बना रहता है कि सरकार या चोर इसे लूट न ले।

अनीहः परितुष्टात्मा यदृच्छोपनतादहम् ।
नो चेच्छये बह्वहानि महाहिरिव सत्त्ववान् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

अनीहः—और अधिक रखने की इच्छा का होना; परितुष्ट—अत्यन्त सन्तुष्ट; आत्मा—आत्मा; यदृच्छा—अपने आप, बिना यत्न के; उपनतात्—मिली हुई वस्तुओं से; अहम्—मैं; नो—नहीं; चेत्—यदि ऐसा; शये—लेटा रहता हूँ; बहु—अनेक; अहानि—दिन; महा-अहिः—अजगर; इव—सदृश; सत्त्व-वान्—धैर्यवान्।

मैं किसी भी वस्तु को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न नहीं करता, अपितु जो कुछ भी अपने आप मिल जाता है उसी से सन्तुष्ट रहता हूँ। यदि मुझे कुछ भी नहीं मिलता तो अजगर की तरह मैं अविक्षिप्त रहते हुए धैर्यपूर्ण रहता हूँ और कई-कई दिनों तक पड़ा रहता हूँ।

तात्पर्य : मनुष्य को चाहिए कि मधुमक्खियों से विरक्ति सीखे, क्योंकि वे बूँद-बूँद करके मधु का संचय करती हैं और अपने छत्ते में रखती हैं, किन्तु कोई न कोई आकर इस मधु को बलपूर्वक निकाल ले जाता है और मधुमक्खियों के पास कुछ नहीं बचता। अतएव मधुमक्खियों से सीखना चाहिए कि

आवश्यकता से अधिक धन न रखा जाये। इसी प्रकार अजगर से एक ही स्थान पर बिना भोजन किये कई दिनों तक पड़े रहने की और जब अपने आप कुछ मिले तभी खाने की सीख लेनी चाहिए। इस तरह विद्वान ब्राह्मण ने मधुमक्खी तथा अजगर इन दो प्राणियों से प्राप्त शिक्षाएँ दीं।

क्वचिदल्पं क्वचिद्भूरि भुञ्जेऽन्नं स्वाद्वस्वादु वा
क्वचिद्भूरि गुणोपेतं गुणहीनमुत क्वचित् ।
श्रद्धयोपहृतं क्वापि कदाचिन्मानवर्जितम्
भुञ्जे भुक्त्वाथ कस्मिंश्चिद्दिवा नक्तं यदृच्छया ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; अल्पम्—अत्यन्त थोड़ा; क्वचित्—कभी; भूरि—काफी मात्रा; भुञ्जे—खाता हूँ; अन्नम्—भोजन; स्वादु—स्वादिष्ट; अस्वादु—बासी; वा—अथवा; क्वचित्—कभी; भूरि—अधिक; गुण-उपेतम्—सुगंधित; गुण-हीनम्—गंधरहित; उत—चाहे; क्वचित्—कभी; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; उपहृतम्—किसी के द्वारा लाया गया; क्वापि—कभी; कदाचित्—कभी; मान-वर्जितम्—बिना सम्मान के प्रदत्त; भुञ्जे—खाता हूँ; भुक्त्वा—खाकर; अथ—इस तरह; कस्मिन् चित्—कभी किसी स्थान पर; दिवा—दिन; नक्तम्—अथवा रात्रि में; यदृच्छया—जैसा भी मिल जाय।

कभी मैं थोड़ा खाता हूँ और कभी अधिक। कभी भोजन स्वादिष्ट होता है, तो कभी बासी। कभी बड़े आदर के साथ मुझे प्रसाद दिया जाता है और कभी अत्यन्त उपेक्षा से भोजन मिलता है। कभी मैं दिन में खाता हूँ तो कभी रात में। इस प्रकार मुझे जो कुछ आसानी से मिल जाता है उसे ही खाता हूँ।

क्षौमं दुकूलमजिनं चीरं वल्कलमेव वा ।
वसेऽन्यदपि सम्प्राप्तं दिष्टभुक्तुष्टधीरहम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

क्षौमम्—लिनन का कपड़ा; दुकूलम्—रेशमी या सूती; अजिनम्—मृगचर्म; चीरम्—चिरकुट, लंगोट; वल्कलम्—छाल; एव—जैसा हो; वा—अथवा; वसे—धारण करता हूँ; अन्यत्—अन्य कुछ; अपि—यद्यपि; सम्प्राप्तम्—उपलब्ध; दिष्ट-भुक्—भाग्यवश; तुष्ट—संतुष्ट; धीः—मन; अहम्—मैं हूँ।

शरीर ढकने के लिए मेरे भाग्य से मुझे जो कुछ भी मिल जाता है, चाहे क्षौम वस्त्र हो या रेशमी या सूती कपड़ा, चाहे पेड़ की छाल हो या मृगछाला, उसे मैं काम में लाता हूँ। मैं पूर्ण संतुष्ट रहता हूँ तथा विचलित नहीं होता।

क्वचिच्छये धरोपस्थे तृणपर्णाश्मभस्मसु ।
क्वचित्प्रासादपर्यङ्के कशिपौ वा परेच्छया ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; शये—लेटता हूँ; धर-उपस्थे—पृथ्वी की सतह पर; तृण—घास पर; पर्ण—पत्तियाँ; अश्म—पत्थर; भस्मसु—या राख के ढेर पर; क्वचित्—कभी; प्रासाद—महल में; पर्यङ्के—उच्चकोटि के बिस्तर पर; कशिपौ—तकिया पर; वा—अथवा; पर—दूसरे की; इच्छया—इच्छा से।

कभी मैं पृथ्वी पर, कभी पत्तियों पर, घास या पत्थर पर तो कभी राख के ढेर पर अथवा कभी-कभी अन्यों की इच्छा से महल के उच्च कोटि के बिस्तर तथा तकिये पर सोता हूँ।

तात्पर्य : विद्वान ब्राह्मण का यह वर्णन सूचित करता है कि जन्म विभिन्न प्रकार के होते हैं, क्योंकि अपने शरीर के अनुसार ही कोई लेटता है। कभी कोई पशु के रूप में जन्मता है, तो कभी राजा के रूप में। जब वह पशु के रूप में जन्म लेता है, तो उसे जमीन पर लेटना पड़ता है और जब वह राजा या धनी के रूप में जन्म लेता है, तो बड़े-बड़े महलों के उत्तम कमरों में लेटता है, जो बिस्तर तथा फर्नीचर से सज्जित रहते हैं। किन्तु ऐसी सुविधाएँ जीव की इच्छा से उपलब्ध नहीं होतीं, प्रत्युत *परेच्छया* अर्थात् माया के प्रबन्ध से प्राप्त होती हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६१) में कहा गया है—

ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

"हे अर्जुन! भगवान् सबों के हृदय में स्थित हैं और उन सारे जीवों के घूमने का निर्देश करते हैं, जो मानो माया रूपी यंत्र पर आरूढ़ हों।" जीव को अपनी भौतिक इच्छाओं के अनुसार विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त होते हैं, जो भगवान् के आदेशानुसार प्रकृति द्वारा प्रदत्त यंत्रों के समान हैं। भगवत्कृपा से हर एक को लेटने के विविध साधनों से सम्पन्न विभिन्न शरीर धारण करने होते हैं।

क्वचित्स्नातोऽनुलिप्ताङ्गः सुवासाः स्रग्व्यलङ्कृतः ।
रथेभाश्वैश्चरे क्वापि दिग्वासा ग्रहवद्विभो ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; स्नातः—ठीक से नहाया; अनुलिप्त-अङ्गः—सारे शरीर में चन्दन का लेप लगा; सु-वासाः—सुन्दर वस्त्रों से सज्जित; स्रग्वी—पुष्प हारों से सजा; अलङ्कृतः—विभिन्न प्रकार के आभूषणों से सुशोभित; रथ—रथ; इभ—हाथी; अश्वैः—या घोड़े की पीठ पर; चरे—मैं विचरण करता हूँ; क्वापि—कभी; दिक्-वासाः—पूर्णतया नग्न; ग्रह-वत्—मानो भूत-प्रेत पीछा किये हों; विभो—हे स्वामी।

हे स्वामी, कभी मैं ठीक से स्नान करके सारे शरीर में चन्दन का लेप करता हूँ, फूलों की माला पहनता हूँ और सुन्दर वस्त्र तथा आभूषण धारण करता हूँ। फिर मैं राजा की तरह हाथी की पीठ पर या रथ या घोड़े पर सवार होकर विचरण करता हूँ। किन्तु कभी-कभी मैं भूत-प्रेत द्वारा सताये व्यक्ति की तरह नंग-धड़ंग घूमता हूँ।

नाहं निन्दे न च स्तौमि स्वभावविषमं जनम् ।
एतेषां श्रेय आशासे उतैकात्म्यं महात्मनि ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; निन्दे—निन्दा करता हूँ; न—न तो; च—भी; स्तौमि—प्रशंसा करता हूँ; स्व-भाव—जिसका स्वभाव; विषमम्—विपरीत; जनम्—जीव या मनुष्य; एतेषाम्—उन सबों का; श्रेयः—चरम लाभ; आशासे—चाहता हूँ, मनाता हूँ; उत—निस्सन्देह; ऐकात्म्यम्—एकात्मता; महा-आत्मनि—परमात्मा या परब्रह्म (कृष्ण) में।

विभिन्न लोग विभिन्न स्वभाव के होते हैं; अतएव उनकी प्रशंसा करना या उनकी निन्दा करना मेरा कार्य नहीं है। मैं तो इस आशा से उनके कल्याण की कामना करता हूँ कि वे परमात्मा, भगवान् श्रीकृष्ण के साथ एकात्मता स्वीकार करेंगे।

तात्पर्य : ज्योंही मनुष्य भक्तियोग पद तक पहुँच जाता है त्योंही वह भली भाँति जान जाता है कि भगवान् वासुदेव ही जीवन-लक्ष्य हैं (*वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः*)। समस्त वैदिक वाङ्मय का यही आदेश है (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः; सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*)। किसी की भौतिक योग्यताओं के लिए प्रशंसा करने या दुर्गुणों के लिए निन्दा करने से कोई लाभ नहीं होता। भौतिक जगत में अच्छे तथा बुरे का कोई अर्थ नहीं होता, क्योंकि अच्छा व्यक्ति स्वर्ग को जा सकता है और बुरा व्यक्ति अधोलोक को जा सकता है। विभिन्न स्वभावों के लोग कभी ऊपर उठाए जाते हैं और कभी गिरा दिए जाते हैं किन्तु यह जीवन-लक्ष्य नहीं है। जीवन का लक्ष्य तो उत्थान-पतन से मुक्त होकर कृष्णभावनामृत को ग्रहण करना है। अतएव सन्त पुरुष तथाकथित अच्छे तथा बुरे में भेदभाव नहीं बरतता, प्रत्युत वह कामना करता है कि प्रत्येक व्यक्ति कृष्णभावनामृत में सुखी रहे, जो जीवन का चरम लक्ष्य है।

विकल्पं जुहुयाच्चित्तौ तां मनस्यर्थविभ्रमे ।
मनो वैकारिके हुत्वा तं मायायां जुहोत्यनु ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

विकल्पम्—भेदभाव (अच्छे-बुरे, एक दूसरे व्यक्ति, एक दूसरे राष्ट्र में); जुहुयात्—आहुति डाले; चित्तौ—चेतना रूपी अग्नि में; ताम्—उस चेतना को; मनसि—मन में; अर्थ-विभ्रमे—समस्त स्वीकृति तथा अस्वीकृति की जड़; मनः—उस मन को; वैकारिके—पदार्थ के साथ अपनी पहचान के मिथ्या अहंकार में; हुत्वा—आहुति देकर ; तम्—इस मिथ्या अहंकार को; मायायाम्—माया में; जुहोति—आहुति डालता है; अनु—इस सिद्धान्त का पालन करते हुए।

अच्छे तथा बुरे के भेदभाव की जो मानसिक कल्पना (मनोरथ) है उसे इकाई रूप में स्वीकार करके उसे मन में लगाना चाहिए और तब मन को मिथ्या अहंकार में लगाना चाहिए। इस मिथ्या अहंकार को माया में लगाना चाहिए। मिथ्या भेदभाव से लड़ने की विधि यही है।

तात्पर्य : इस श्लोक में बताया गया है कि योगी किस तरह भौतिक राग से मुक्त हो सकता है। भौतिक आकर्षण के कारण *कर्मी* अपने को देख नहीं सकता। ज्ञानी पदार्थ तथा आत्मा में अन्तर जान सकता है, किन्तु योगी जिन में सर्वोत्कृष्ट भक्ति योगी भगवद्धाम जाना चाहते है। कर्मी लोग घोर मोह में रहते हैं; ज्ञानी न तो मोह में रहते हैं न वास्तविक ज्ञान में किन्तु योगीजन, विशेष रूप से भक्ति योगी, पूर्णतया आध्यात्मिक पद पर रहते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.२६) में पुष्टि की गई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो पूर्ण भक्ति में लगा रहता है, जो किसी भी परिस्थिति में च्युत नहीं होता, वह तुरन्त प्रकृति के गुणों को पार करके ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है।" इस तरह भक्त का पद सुरक्षित है। वह तुरन्त आध्यात्मिक पद तक उन्नत कर दिया जाता है। अन्य लोग, यथा ज्ञानी तथा हठयोगी भौतिक भेद-भाव को त्यागने तथा "मैं पदार्थ से उत्पन्न यह शरीर हूँ" इस मिथ्या अहंकार को त्यागने के बाद ही धीरे-धीरे इस पद को प्राप्त करते हैं। मनुष्य को इस मिथ्या अहंकार को माया में लीन करना होता है और इस माया को परम शक्तिमान में लीन करना होता है। भौतिक आकर्षण से मुक्त होने की यही विधि है।

आत्मानुभूतौ तां मायां जुहुयात्सत्यदृङ्मुनिः ।
ततो निरीहो विरमेत्स्वानुभूत्यात्मनि स्थितः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

आत्म-अनुभूतौ—आत्म-साक्षात्कार में; ताम्—उस; मायाम्—शरीर के मिथ्या अहंकार को; जुहुयात्—आहुति कर देना चाहिए; सत्य-दृक्—परम सत्य की वास्तविक अनुभूति करने वाले का; मुनिः—विचारवान् व्यक्ति; ततः—इस आत्म-साक्षात्कार के कारण; निरीहः—भौतिक इच्छाओं से रहित; विरमेत्—भौतिक कार्यों से अवकाश ले लेना चाहिए; स्व-अनुभूति-आत्मनि—आत्म-साक्षात्कार में; स्थितः—स्थित।

विद्वान विचारवान् व्यक्ति को इसकी अनुभूति होनी चाहिए कि यह भौतिक जगत मोह है किन्तु ऐसा आत्म-साक्षात्कार द्वारा ही सम्भव है। ऐसे स्वरूपसिद्ध व्यक्ति को, जिसने सत्य का

वास्तविक साक्षात्कार किया है, आत्म-साक्षात्कार होने के कारण समस्त भौतिक कार्यकलापों से अवकाश ले लेना चाहिए।

तात्पर्य : शरीर की पूरी बनावट संरचना के विश्लेषणात्मक अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि आत्मा शरीर के भौतिक अवयवों—यथा पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि—से सर्वथा भिन्न है। अतएव विचारवान व्यक्ति (*मनीषी या मुनि*) द्वारा ही शरीर तथा आत्मा के भेद की अनुभूति प्राप्त की जा सकती है और इस व्यष्टि आत्मा को समझ लेने के बाद परमात्मा को सरलता से समझा जा सकता है। इस प्रकार यदि मनुष्य अनुभव करता है कि व्यष्टि आत्मा परमात्मा के अधीन है, तो उसे आत्म-साक्षात्कार हो जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* के तेरहवें अध्याय में बतलाया गया है, शरीर के भीतर दो आत्माएँ हैं। शरीर *क्षेत्र* है और इसमें रहने वाले दो *क्षेत्रज्ञ* हैं जिनके नाम हैं परमात्मा तथा आत्मा। परमात्मा तथा आत्मा एक ही वृक्ष (शरीर) पर बैठे दो पक्षियों के समान हैं—एक पक्षी जो कि भुलक्कड़ है वृक्ष के फल खा रहा है और दूसरे पक्षी के आदेशों की परवाह नहीं करता जो अपने इस मित्र पक्षी के कार्यकलापों का साक्षी मात्र है। जब भुलक्कड़ पक्षी अपने परम मित्र को समझता है, जो सदैव उसके साथ रहकर विभिन्न शरीरों में मार्गदर्शन करने का प्रयास करता है, तो वह उस परम पक्षी के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है। जैसाकि योग विधि में बताया गया है—*ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः।* जब कोई पूर्ण योगी बन जाता है, तो ध्यान द्वारा वह अपने परम मित्र को देख सकता है और उसकी शरण में जाता है। यही भक्तियोग का या कृष्णभावनामृतमय के वास्तविक जीवन का शुभारम्भ है।

स्वात्मवृत्तं मयेत्थं ते सुगुप्तमपि वर्णितम् ।
व्यपेतं लोकशास्त्राभ्यां भवान्हि भगवत्परः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

स्व-आत्म-वृत्तम्—आत्म-साक्षात्कार के इतिहास की सूचना; मया—मेरे द्वारा; इत्थम्—इस प्रकार; ते—तुम्हें; सु-गुप्तम्—अत्यन्त गोपनीय; अपि—यद्यपि; वर्णितम्—बतलाई गई; व्यपेतम्—के बिना; लोक-शास्त्राभ्याम्—सामान्य व्यक्ति या सामान्य ग्रंथों का मत; भवान्—आप; हि—निस्सन्देह; भगवत्-परः—भगवान् का भलीभाँति साक्षात्कार करके।

प्रह्लाद महाराज, आप निश्चय ही स्वरूपसिद्ध आत्मा तथा भगवद्भक्त हैं। आप न तो जन-मत की परवाह करते हैं, न ही तथाकथित शास्त्रों की। इस कारण मैंने आपसे निःसंकोच भाव से अपने आत्म-साक्षात्कार का इतिहास कह सुनाया।

तात्पर्य : जो व्यक्ति वास्तव में कृष्ण भक्त है, वह तथाकथित जनमत तथा वैदिक या दार्शनिक ग्रंथों की परवाह नहीं करता। प्रह्लाद महाराज ऐसे ही भक्त हैं जिन्होंने अपने पिता तथा उन्हें सिक्षा देने के लिए निमुक्त किए गए अपने तथाकथित शिक्षकों के झूठे उपदेशों का उल्लंघन किया। उल्टे, वे अपने गुरु नारद मुनि के आदेशों का पालन करते रहे और इस तरह वे सदैव महाभागवत बने रहे। बुद्धिमान भक्त का यही स्वभाव है। *श्रीमद्भागवत* की शिक्षा है—*यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः।* जो वास्तव में अत्यन्त बुद्धिमान है उसे अपने को कृष्ण का नित्य दास मानते हुए कृष्णभावनामृत आन्दोलन में सम्मिलित हो जाना चाहिए और भगवन्नाम के कीर्तन—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का अभ्यास करना चाहिए।

श्रीनारद उवाच

धर्मं पारमहंस्यं वै मुनेः श्रुत्वासुरेश्वरः ।
पूजयित्वा ततः प्रीत आमन्त्र्य प्रययौ गृहम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; धर्मम्—वृत्तिपरक कर्तव्य; पारमहंस्यम्—परमहंसों अर्थात् अत्यन्त पूर्ण मनुष्यों का; वै—निस्सन्देह; मुनेः—साधु पुरुष से; श्रुत्वा—सुनकर; असुर-ईश्वरः—असुरों के राजा प्रह्लाद महाराज ने; पूजयित्वा—साधु पुरुष की पूजा करके; ततः—तत्पश्चात्; प्रीतः—अत्यन्त प्रसन्न होकर; आमन्त्र्य—अनुमति लेकर; प्रययौ—उस स्थान को छोड़ दिया; गृहम्—अपने घर जाने के लिए।

नारद मुनि ने आगे कहा : साधु से ये उपदेश सुन कर असुरराज प्रह्लाद महाराज पूर्ण पुरुष (परमहंस) के वृत्तिपरक कर्तव्य समझ गये। इस प्रकार उन्होंने उस सन्त की विधिपूर्वक पूजा की और उससे अनुमति लेकर अपने घर के लिए विदा हुए।

तात्पर्य : जैसाकि *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य ८.१२८) में उद्धृत किया गया है, श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा—

किबा विप्र, किबा न्यासी, शूद्र केने नय।

येइ कृष्णतत्त्ववेत्ता सेइ 'गुरु' हय॥

कोई भी ऐसा व्यक्ति जो कृष्ण के विज्ञान से पूर्ण तथा अवगत हो गुरु बन सकता है। अतएव प्रह्लाद महाराज असुरों पर शासन करने वाले गृहस्थ होते हुए भी परमहंस थे; फलस्वरूप वे हमारे गुरु हैं। इसीलिए गुरुओं की सूची में प्रह्लाद महाराज के नाम का उल्लेख है—

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।

प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥

(भागवत ६.३.२०)

निष्कर्ष यह निकला कि परमहंस श्रेष्ठ भक्त होता है (*भगवत्प्रिय*)। ऐसा परहंस किसी भी अवस्था में—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम में—समान रूप से मुक्त तथा उत्कृष्ट रहता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कंध के अन्तर्गत ''सिद्ध पुरुष का आचरण'' नामक तेरहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौदह

आदर्श पारिवारिक जीवन

इस अध्याय में देश, काल तथा कर्ता के अनुसार गृहस्थ के वृत्तिपरक कर्तव्यों का वर्णन हुआ है। जब युधिष्ठिर महाराज ने गृहस्थ के वृत्तिपरक कर्तव्यों के विषय में अत्यन्त जिज्ञासा प्रकट की तो नारद मुनि ने उपदेश दिया कि गृहस्थ का सर्वोपरि कर्तव्य वासुदेव कृष्ण पर पूर्णाश्रित रहना तथा निर्धारित भक्ति के द्वारा सभी प्रकार से उन्हें प्रसन्न करना है। यह भक्ति गुरु के उपदेशों तथा भगवद्भक्ति में लगे भक्तों की संगति पर निर्भर करेगी। भक्ति का शुभारम्भ श्रवणम् अर्थात् सुनने से होता है। मनुष्य को चाहिए कि सिद्धात्माओं के मुखों से सुने। इस तरह गृहस्थ की अपनी पत्नी तथा सन्तानों के प्रति आकर्षण क्रमश: घटेगा।

गृहस्थ को चाहिए कि अपने परिवार के पालन के लिए जितना आवश्यक हो उतना ही अर्जित करे। उसे चाहिए कि केवल धन संग्रह करने तथा भौतिक सुविधाओं में व्यर्थ की वृद्धि करने के लिए अत्यधिक उद्यम न करे। यद्यपि गृहस्थ को अपनी जीविका चलाने के लिए ऊपर से अत्यधिक सक्रिय रहना चाहिए, किन्तु भीतर से उसे भौतिक लाभ से अनासक्त रहकर पूर्णत: स्वरूपसिद्ध व्यक्ति बनना चाहिए। पारिवारिक सदस्यों के साथ बर्ताव या मैत्री मात्र उनके प्रयोजन की सिद्धि के लिए होनी चाहिए, उनमें अत्यधिक लिप्त नहीं रहना चाहिए। गृहस्थ को पारिवारिक सदस्यों तथा समाज के आदेशों को ऊपर-ऊपर ग्रहण करना चाहिए लेकिन सार रूप में उसे गुरु तथा शास्त्र द्वारा बताये गये

वृत्तिपरक कर्तव्यों में लगना चाहिए। उसे विशेष रूप से धन कमाने के लिए कृषि कार्यों में लगना चाहिए। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.४४) में कहा गया है—*कृषिगोरक्ष्य वाणिज्यम्*—गृहस्थ के मुख्य कर्तव्य हैं कृषि, गोरक्षा तथा व्यापार। यदि सौभाग्यवश या भगवत्कृपा से अधिक धन आ जाये तो इसका समुचित उपयोग यह होगा कि उसे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में लगाया जाये। उसे इन्द्रियतृप्ति के लिए अधिक धन कमाने के लिए उत्सुक नहीं होना चाहिए। गृहस्थ को यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि जो आवश्यकता से अधिक धन एकत्र करने के लिए प्रयास करता है, वह चोर माना जाता है और प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डनीय है।

गृहस्थ को निम्न वर्ग के जीवों से यथा पशुओं, पक्षियों तथा मधुमक्खियों से स्नेह करना चाहिए और उनसे अपनी सन्तान के समान व्यवहार करना चाहिए। गृहस्थ को चाहिए कि इन्द्रियतृप्ति के लिए वह पशु या पक्षियों को न मारे। उसे चाहिए कि कुत्तों तथा अधम प्राणियों तक की आवश्यकताओं की पूर्ति करे और अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए अन्यों का शोषण न करे। वस्तुत: *श्रीमद्भागवत* के आदेशों के अनुसार प्रत्येक गृहस्थ एक महान् साम्यवादी होता है, जो हर एक को जीविका प्रदान करता है। गृहस्थ को चाहिए कि उसके पास जो कुछ भी हो उसे बिना किसी भेद-भाव के सभी जीवों में वितरित कर दे। सर्वश्रेष्ठ विधि तो प्रसाद वितरण है।

गृहस्थ को चाहिए कि अपनी पत्नी से अत्यधिक लिप्त न रहे, उसे चाहिए कि वह अपनी पत्नी को भी दत्तचित होकर अतिथि की सेवा में लगाए। भगवत्कृपा से गृहस्थ जो भी धन संग्रह करे उसे पाँच प्रकार के कार्यों में व्यय करे—भगवान् की पूजा में, वैष्णव तथा सन्त पुरुषों के स्वागत में, साधारण जनता तथा सभी जीवों में प्रसाद वितरण करने में अपने पितरों को प्रसाद अर्पण करने में तथा स्वयं प्रसाद ग्रहण करने में। गृहस्थ को उपर्युक्त विधि से हर एक की पूजा करने के लिए सदैव उद्यत रहना चाहिए। गृहस्थ को चाहिए कि ऐसी कोई वस्तु तब तक न खाये जब तक वह भगवान् को भेंट न की जा चुकी हो। जैसाकि *भगवद्गीता* (३.१३) में कहा गया है—*यज्ञशिष्टाशिन: सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषै:*—भगवान् के भक्त सभी प्रकार के पापों से मुक्त कर दिये जाते हैं, क्योंकि वे यज्ञ में भेंट किया गया भोजन पाते हैं। गृहस्थ को पुराणों में बताए गए तीर्थ-स्थानों पर आ जाना चाहिए। इस तरह

अपने परिवार, समाज, देश तथा अन्ततः मानवता के लाभ के लिए उसे भगवान् की पूजा में लगना चाहिए।

श्रीयुधिष्ठिर उवाच
गृहस्थ एतां पदवीं विधिना येन चाञ्जसा ।
यायाद्देवऋषे ब्रूहि मादृशो गृहमूढधीः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-युधिष्ठिरः उवाच—युधिष्ठिर महाराज ने कहा; गृहस्थः—अपने परिवार के साथ रहने वाला व्यक्ति; एताम्—इस (पिछले अध्याय में वर्णित विधि); पदवीम्—मुक्ति पद को; विधिना—वैदिक शास्त्र के आदेशानुसार; येन—जिससे; च—भी; अञ्जसा—सरलता से; यायात्—पा सके; देव-ऋषे—हे देवताओं में श्रेष्ठ साधु; ब्रूहि—कृपा करके बताएँ; मादृशः—मेरे समान; गृह-मूढ-धीः—जीवन लक्ष्य से पूर्णतया अनजान।

महाराज युधिष्ठिर ने नारद मुनि से पूछा : हे स्वामी, हे महर्षि, कृपा करके यह बतलाएँ कि जीवन-लक्ष्य के ज्ञान से रहित, घर पर रहने वाले हम लोग किस तरह वेदों के आदेशानुसार सरलता से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं?

तात्पर्य : पिछले अध्यायों में नारद मुनि बतला चुके हैं कि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी को किस-किस तरह कर्म करना चाहिए। सर्वप्रथम उन्होंने ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी के आचरणों का वर्णन किया, क्योंकि ये तीनों आश्रम जीवन-उद्देश्य की पूर्ति के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। हमें यह ध्यान देना चाहिए कि इन तीनों आश्रमों में विषयी-जीवन बिताने की तनिक भी गुंजाईश नहीं है जब कि गृहस्थ जीवन में मैथुन की छूट है। इसीलिए नारद मुनि ने सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास का वर्णन किया, क्योंकि वे बता देना चाहते थे कि मैथुन की तनिक भी आवश्यकता नहीं है, किन्तु जो मैथुन का इच्छुक हो उसे गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के लिए शास्त्रों तथा गुरु की अनुमति प्राप्त होनी चाहिए। युधिष्ठिर महाराज यह सब समझ सके इसीलिए उन्होंने अपने आपको *गृह-मूढ-धीः* अर्थात् जीवन-लक्ष्य के विषय में पूर्णतया अनजान कहकर प्रस्तुत किया। गृहस्थ जीवन बिताने वाला व्यक्ति निश्चित रूप से जीवन के लक्ष्य के बारे में अनजान रहता है—उसकी बुद्धि बहुत बढ़ी-चढ़ी नहीं होती। अतएव जितनी जल्दी हो सके, मनुष्य को चाहिए कि घर के तथाकथित सुविधा-सम्पन्न जीवन को छोड़ दे और तपस्या करने की तैयारी करे। *तपो दिव्यं पुत्रका।* ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को जो उपदेश दिये उनके अनुसार हमें सुविधाजनक स्थिति न उत्पन्न करके तपस्या करनी चाहिए। मनुष्य को इसी तरह से जीवन का चरम लक्ष्य पूरा करने के लिए जीवित रहना चाहिए।

श्रीनारद उवाच

गृहेष्ववस्थितो राजन्क्रियाः कुर्वन्यथोचिताः ।
वासुदेवार्पणं साक्षादुपासीत महामुनीन् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने उत्तर दिया; गृहेषु—घर पर; अवस्थितः—रुककर (गृहस्थ सामान्यतया अपनी पत्नी तथा बच्चों के साथ घर पर रहा करता है); राजन्—हे राजा; क्रियाः—कार्य; कुर्वन्—करते हुए; यथोचिताः—उपयुक्त (गुरु तथा शास्त्र द्वारा आदिष्ट); वासुदेव—भगवान् वासुदेव को; अर्पणम्—अर्पित करना; साक्षात्—प्रत्यक्ष; उपासीत—पूजा करे; महा-मुनीन्—महान् भक्तों को।

नारद मुनि ने उत्तर दियाः हे राजन्, जो लोग घर पर गृहस्थ बन कर रहते हैं उन्हें अपनी जीविका अर्जित करने के लिए कार्य करना चाहिए और अपने कर्मों का फल स्वयं भोगने का प्रयास न करके इन फलों को वासुदेव कृष्ण को अर्पित करना चाहिए। इस जीवन में वासुदेव को किस तरह प्रसन्न किया जाये इसे भगवद्भक्तों की संगति के माध्यम से भलीभाँति सीख जा सकता है।

तात्पर्य : गृहस्थ जीवन की रूपरेखा भगवान् को समर्पण करने की होनी चाहिए। *भगवद्गीता* (६.१) में कहा गया है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

"जो अपने कर्मफलों के प्रति अनासक्त रहता है और जो करणीय है उसे करता है, वह संन्यासी है और वही असली योगी है—वह नहीं जो न तो अग्नि जलाता है और न कर्म करता है।" कोई चाहे ब्रह्मचारी के रूप में कार्य करे या गृहस्थ, वानप्रस्थ अथवा संन्यासी के रूप में, उसे भगवान् वासुदेव कृष्ण की तुष्टि के लिए ही कर्म करना चाहिए। यही हर एक के जीवन का उद्देश्य होना चाहिए। नारद मुनि पहले ही ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी के लिए जीवन-उद्देश्यों का वर्णन कर चुके हैं, अतएव अब वे यह बता रहे हैं कि गृहस्थ को किस तरह रहना चाहिए। मूल उद्देश्य तो भगवान् को तुष्ट करना है।

भगवान् को तुष्ट करने की विधि को यहाँ पर वर्णित *साक्षाद् उपासीत महामुनीन्* से सीखा जा सकता है। *महा-मुनीन्* शब्द महान् सन्त पुरुषों या भक्तों को बताता है। सन्त पुरुष सामान्यतया *मुनि* कहलाते हैं जिसका अर्थ है दिव्य कार्यों से प्रयोजन रखनेवाले विचारवान् दार्शनिक। *महामुनि* सूचक है

उन व्यक्तियों का जिन्होंने न केवल जीवन-लक्ष्य का अध्ययन कर लिया है अपितु जो भगवान् वासुदेव को तुष्ट करने में वास्तव में लगे हुए हैं। ये लोग भक्त कहलाते हैं। भक्तों की संगति किये बिना *वासुदेवार्पण* की विधि नहीं सीखी जा सकती—जिसका अर्थ है वासुदेव या भगवान् कृष्ण को अपना जीवन समर्पित करना।

भारत में इस विधि का कड़ाई से पालन होता था। यहाँ तक कि पचास वर्ष पूर्व मैंने बंगाल के गाँवों तथा कलकत्ता के बाहरी भागों में लोगों को नित्यप्रति अपना सारा काम समाप्त करने के बाद या संध्या के समय सोने के पूर्व *श्रीमद्भागवत* का श्रवण करते देखा है। प्रत्येक व्यक्ति को *भागवत* का श्रवण करना चाहिए। प्रत्येक गाँव में *भागवत* कक्षाएँ चलती थीं जिससे लोगों को *श्रीमद्भागवत* का श्रवण करने का लाभ प्राप्त था, जो जीवन लक्ष्य के बारे में सब कुछ बताता था। इसका वर्णन अगले श्लोक में किया जाएगा।

शृण्वन्भगवतोऽभीक्ष्णमवतारकथामृतम् ।
श्रद्दधानो यथाकालमुपशान्तजनावृतः ॥ ३॥
सत्सङ्गाच्छनकैः सङ्गमात्मजायात्मजादिषु ।
विमुञ्चेन्मुच्यमानेषु स्वयं स्वप्नवदुत्थितः ॥ ४॥

शब्दार्थ

शृण्वन्—सुनते हुए; भगवतः—भगवान् की; अभीक्ष्णम्—सदैव; अवतार—अवतारों की; कथा—कथाएँ; अमृतम्—अमृत; श्रद्दधानः—भगवान् के विषय में सुनने में अत्यन्त श्रद्धालु; यथा-कालम्—समय के अनुसार (सामान्यतया गृहस्थ को सायंकाल या दोपहर में अवकाश मिलता है); उपशान्त—भौतिक कार्यों से पूर्णतया छुटकारा पाकर; जन—लोगों के द्वारा; आवृतः—घिर कर; सत्-सङ्गात्—ऐसी अच्छी संगति से; शनकैः—धीरे-धीरे; सङ्गम्—संगति; आत्म—शरीर में; जाया—पत्नी में; आत्म-ज-आदिषु—तथा सन्तानों में भी; विमुञ्चेत्—ऐसी संगति से छुटकारा पा ले; मुच्यमानेषु—विलग होकर; स्वयम्—स्वयं; स्वप्न-वत्—सपने की तरह; उत्थितः—जाग्रत।

गृहस्थ व्यक्ति को चाहिए कि वह साधु पुरुषों की संगति बारम्बार करे और अत्यन्त श्रद्धापूर्वक भगवान् तथा उनके अवतारों के कार्यकलापों के अमृत का उस रूप में श्रवण करे जिस रूप में वे श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणों में वर्णित हैं। इस प्रकार मनुष्य को चाहिए कि वह धीरे-धीरे अपनी पत्नी तथा सन्तानों के स्नेह से उसी तरह विरक्त होता रहे जिस प्रकार जाग जाने पर मनुष्य स्वप्न से विरक्त हो जाता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत आन्दोलन की स्थापना विश्व-भर के गृहस्थों को *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* का विशेष श्रवण करने का अवसर प्रदान करने के लिए की गई है। यह विधि जिसे कई

प्रकार से वर्णित किया गया है *श्रवण* तथा *कीर्तन* करने की है (*शृण्वतां स्वकथा: कृष्ण: पुण्यश्रवणकीर्तन:*) जो प्रत्येक व्यक्ति को और विशेष रूप से गृहस्थों को, जो *मूढधी:* हैं, कृष्ण के विषय में सुनने का विशेष अवसर प्रदान किया जाना चाहिए। वे लोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन के विभिन्न केन्द्रों में उन भाषणों को, जिनमें *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* से कृष्ण कथाओं की व्याख्या की जाती है, मात्र सुनकर आजकल बहुप्रचलित अवैध मैथुन, मांसाहार, मादक द्रव्यसेवन तथा जुआ खेलने में व्यस्त रहने की पापपूर्ण मनोवृत्ति से शुद्ध हो सकेंगे। उन्हें इसी प्रकार प्रबुद्ध किया जा सकता है। *पुण्यश्रवण कीर्तन: ।* हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—मात्र इस *कीर्तन* में सम्मिलित होने तथा *भगवद्गीता* से कृष्ण के विषय में *श्रवण* करने से मनुष्य शुद्ध हो जाता है और विशेष रूप से तब जब वह प्रसाद भी ग्रहण करे। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में यही सब हो रहा है।

यहाँ पर एक अन्य विशेष वर्णन हुआ है—*शृण्वन्भगवतोऽभीक्ष्णम् अवतार-कथामृतम् ।* ऐसा नहीं है कि यदि किसी ने एक बार *भगवद्गीता* पूरी कर ली तो उसे फिर नहीं सुनना चाहिए। यहाँ पर *अभीक्ष्णम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हमें बारम्बार सुनना चाहिए। बन्द करने का प्रश्न ही नहीं उठता—यदि किसी ने इन कथाओं को अनेक बार पढ़ा हो तो भी उसे बारम्बार पढ़ना चाहिए, क्योंकि भगवत्कथा अर्थात् कृष्ण की वाणी और कृष्ण के द्वारा कहे वचन अमृतम् है। जो जितना ही अधिक *अमृतम्* पीता है, वह उतना ही नित्य जीवन में प्रगति करता है।

यह मनुष्य-जीवन मोक्ष के लिए है, लेकिन दुर्भाग्यवश कलियुग के प्रभाव से *गृहस्थ* लोग प्रतिदिन गधों के समान कठिन श्रम करते हैं। वे प्रात:काल उठते और जीविकोपार्जन के लिए सौ मील तक की यात्रा करते हैं। विशेष रूप से पाश्चात्य देशों में मैंने देखा है कि लोग जीविकोपार्जन के लिए कार्यालयों तथा फैक्टरियों में जाने के लिए प्रात: पाँच बजे जाग जाते हैं। कलकत्ता तथा बम्बई में भी लोग ऐसा ही करते हैं। वे अपने-अपने कार्यालय या फैक्टरी में कठिन श्रम करते हैं और घर लौटते समय तीन-चार घण्टे यातायात में बिताते हैं। तब वे दस बजे सो जाते हैं और पुन: अपने-अपने कार्यालयों तथा फैक्टरियों में जाने के लिए प्रात:काल जग जाते हैं। शास्त्रों में इस प्रकार के कठिन श्रम को शूकरों तथा मलभक्षियों का जीवन कहा गया है। *नायं देहो देहभाजां नृलोके कष्टान् कामान् अर्हते*

विड्भुजां—ये उन समस्त जीवों में से जिन्होंने इस जगत में भौतिक देह धारण करना स्वीकार किया है और जिसे यह मनुष्य का शरीर मिला है उसे केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए अहर्निश कार्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह इन्द्रियतृप्ति तो कूकरों तथा मलभक्षी शूकरों को भी सुलभ है (*भागवत* ५.५.१)। मनुष्य को चाहिए कि *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* सुनने के लिए कुछ समय निकाले। यही वैदिक संस्कृति है। मनुष्य को जीविकोपार्जन के लिए अधिक से अधिक आठ घण्टे कार्य करना चाहिए और दोपहर के बाद या संध्या समय गृहस्थ को भक्तों की संगति में कृष्ण के अवतारों एवं उनके कार्यकलापों के विषय में सुनना चाहिए और इस तरह धीरे-धीरे माया के बन्धन से मुक्त हो जाना चाहिए। किन्तु गृहस्थ कृष्ण-कथा सुनने के लिए समय न निकाल कर अपने-अपने कार्यालयों तथा फैक्टरियों में कठिन श्रम करने के बाद होटलों या क्लबों में जाने के लिए समय निकालते हैं जहाँ वे कृष्ण-कथा न सुनकर असुरों तथा अभक्तों की राजनीतिक गतिविधियों को सुनकर प्रसन्न होते हैं और मैथुन, शराब, स्त्री तथा मांस का भोग करके समय का अपव्यय करते हैं। यह *गृहस्थ* जीवन न होकर आसुरी जीवन होता है। किन्तु कृष्णभावनामृत आन्दोलन विश्व भर में फैले हुए अपने केन्द्रों में ऐसे पतित तथा निन्दनीय व्यक्तियों को कृष्ण के विषय में श्रवण करने का अवसर प्रदान करता है।

स्वप्न में हम मैत्री तथा प्रेम का समाज बना लेते हैं, किन्तु जब हम जागते हैं, तो देखते हैं कि सब छूमन्तर हो गया। इसी प्रकार मनुष्य का समाज, परिवार तथा प्रेम भी स्वप्न हैं और मनुष्य के मरते ही यह स्वप्न समाप्त हो जाता है। इसीलिए मनुष्य चाहे सूक्ष्म रूप में या स्थूल रूप में स्वप्न देखे, ऐसे सारे स्वप्न मिथ्या तथा क्षणिक होते हैं। मनुष्य का असली कार्य तो यह समझना है कि वह आत्मा है (*अहं ब्रह्मास्मि*)। अत: उसके कार्यकलाप भिन्न होने चाहिए तभी वह सुखी हो सकता है।

ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
सम: सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

"जो दिव्य पद पर स्थित है, उसे तुरन्त ही परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है और वह पूर्णतया प्रसन्न हो जाता है। वह न तो कभी पछताता है न किसी चीज की इच्छा करता है। वह समस्त जीवों पर समान दृष्टि रखता है। उस अवस्था में वह मेरी शुद्ध भक्ति प्राप्त करता है।" (*भगवद्गीता* १८.५४) भक्ति में लगा हुआ व्यक्ति सरलता से भौतिकतावादी जीवन के स्वप्न से मुक्त हो जाता है।

यावदर्थमुपासीनो देहे गेहे च पण्डितः ।
विरक्तो रक्तवत्तत्र नृलोके नरतां न्यसेत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

यावत्-अर्थम्—जीविका के लिए जितने प्रयास की आवश्यकता हो उतना ही; उपासीनः—कमाते हुए; देहे—शरीर में; गेहे—घरेलू मामलों में; च—भी; पण्डितः—विद्वान; विरक्तः—अनासक्त; रक्त-वत्—अत्यधिक आसक्त की भाँति; तत्र—उसमें; नृ-लोके—मानव समाज में; नरताम्—मानव जीवन में; न्यसेत्—चित्रित करे।

वास्तविक विद्वान को चाहिए कि वह शरीर पालन के लिए जितना आवश्यक हो उतना ही अर्जित करने के लिए कार्य करे और पारिवारिक मामलों से अनासक्त होकर मानव समाज में रहे, यद्यपि बाहर से वह उसमें अत्यधिक आसक्त प्रतीत हो।

तात्पर्य : यह आदर्श पारिवारिक जीवन का चित्र है। जब श्री चैतन्य महाप्रभु ने रामानन्द राय से जीवन-लक्ष्य के विषय में पूछा तो उन्होंने शास्त्रों की संस्तुति के अनुसार उसका विभिन्न विधियों से वर्णन किया और अन्त में बताया कि मनुष्य अपने पद पर बना रहकर, चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र, या संन्यासी इत्यादि हो, जीवन के उद्देश्य के विषय में जिज्ञासा करे (*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा*)। मनुष्य-जीवन का यही सही उपयोग है। जब अनावश्य मनुष्य इस मानव स्वरूप का दुरुपयोग पशुओं जैसी वृत्तियों में—खाने, सोने, मैथुन करने तथा रक्षा करने में—करता है और उस माया के चंगुल से छूटने का प्रयत्न नहीं करता जो जन्म, मरण, जरा तथा व्याधि के चक्कर में डालती रहती है, तो उसे निम्न-योनियों में ढकेल कर दण्ड दिया जाता है जहाँ से प्रकृति के नियमों के अनुसार उसे विकास करना पड़ता है। *प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।* प्रकृति की पकड़ में पूरी तरह रह कर जीव को पुनः निम्न-योनि से उच्चतर योनियों में तब तक विकास करना होता है जब तक वह मनुष्य-जीवन में नहीं लौट आता और भौतिक चंगुल से छूटने का अवसर प्राप्त नहीं करता। किन्तु बुद्धिमान मनुष्य शास्त्रों से तथा गुरु से सीखता है कि हम सभी जीव शाश्वत हैं, किन्तु प्रकृति के नियमों के अधीन विभिन्न गुणों की संगति करने से कष्टप्रद स्थिति को प्राप्त होते रहते हैं। अतएव वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि उसे मनुष्य-जीवन में व्यर्थ की आवश्यकताओं के लिए प्रयास नहीं करना चाहिए, अपितु उसे अत्यन्त सादा जीवन बिताना चाहिए जिससे शरीर का पालन हो सके। मनुष्य को निश्चय ही जीविका का कोई साधन चाहिए और उसके *वर्ण* तथा *आश्रम* के अनुसार शास्त्रों में जीविका के साधनों की संस्तुति की हुई है। अतएव भगवान् का निष्ठावान् भक्त अधिक धन की लालसा न करके अपनी

जीविका चलाने के लिए कोई न कोई साधन खोज लेता है और जब वह ऐसा करता है, तो कृष्ण उसकी सहायता करते हैं। अतएव उसके लिए जीविकोपार्जन कोई समस्या नहीं बनती। असली समस्या तो जन्म, मृत्यु तथा जरा के बन्धन से मुक्त होने की है। इस स्वतंत्रता को प्राप्त करना तथा व्यर्थ की आवश्यकताओं का अनुसन्धान न करना ही वैदिक सभ्यता का मूल सिद्धान्त है। मनुष्य को अपने आप जो भी जीविका के साधन प्राप्त हो जाँय उनसे संतुष्ट रहना चाहिए। आधुनिक भौतिकतावादी सभ्यता आदर्श सभ्यता से सर्वथा विपरीत है। मानव समाज के तथाकथित नेता प्रतिदिन किसी न किसी ऐसी वस्तु का आविष्कार करते रहते हैं जिससे जीवन-शैली जटिल बनती जाती है और लोग जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के चक्र में अधिकाधिक फँसते जाते हैं।

ज्ञातयः पितरौ पुत्रा भ्रातरः सुहृदोऽपरे ।
यद्वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्ममः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ज्ञातयः—सम्बन्धी, पारिवारिक सदस्य; पितरौ—माता तथा पिता; पुत्राः—सन्तानें; भ्रातरः—भाई; सुहृदः—मित्र; अपरे—तथा अन्य लोग; यत्—जो भी; वदन्ति—सुझाते हैं (जीविका के साधन के लिए); यत्—जो भी; इच्छन्ति—चाहते हैं; च—तथा; अनुमोदेत—उसे मानना चाहिए; निर्ममः—गम्भीरता से न ग्रहण करते हुए।

मानव समाज में बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि अपने कार्यकलापों की योजना को अत्यन्त सहज बनाए। यदि उसका मित्र, पुत्र, माता-पिता, भाई या अन्य कोई कुछ सुझाव देता है, तो उसे ऊपर से मानते हुए यह कहना चाहिए "हाँ, यह ठीक है" किन्तु भीतर से उसे दृढ़संकल्प होना चाहिए कि कहीं वह अपने जीवन को दूभर न बना ले जिससे जीवन का प्रयोजन पूरा न हो सके।

दिव्यं भौमं चान्तरीक्षं वित्तमच्युतनिर्मितम् ।
तत्सर्वमुपयुञ्जान एतत्कुर्यात्स्वतो बुधः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

दिव्यम्—आकाश से वर्षा होने के कारण सरलता से प्राप्य; भौमम्—खानों तथा समुद्र से प्राप्त; च—तथा; आन्तरीक्षम्—भाग्य से प्राप्त; वित्तम्—सारी सम्पत्ति; अच्युत-निर्मितम्—भगवान् द्वारा बनायी गयी; तत्—वस्तुएँ; सर्वम्—सारी; उपयुञ्जान—(मानव समाज या सारे जीवों के लिए) उपयोग में लाते हुए; एतत्—यह (शरीर पालन); कुर्यात्—करे; स्वतः—अतिरिक्त श्रम किये बिना, स्वतः प्राप्त; बुधः—बुद्धिमान व्यक्ति।

भगवान् द्वारा उत्पन्न प्राकृतिक पदार्थों का उपयोग जीवों के शरीरों तथा आत्माओं का पालन करने के लिए किया जाना चाहिए। जीवन की आवश्यकताएँ तीन प्रकार की हैं—वे जो

आकाश से (वर्षा से) उत्पन्न हैं, वे जो पृथ्वी से (खानों, समुद्रों या खेतों से) उत्पन्न हैं तथा वे जो वायुमण्डल से (जो अचानक तथा अनपेक्षित रूप से) उत्पन्न होती हैं।

तात्पर्य : विविध प्रकार के जीव भगवान् के बच्चों के समान हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.४) में भगवान् द्वारा पुष्टि की गई है—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तय: सम्भवन्ति या:।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रद: पिता॥

''हे कुन्तीपुत्र! यह समझ लो कि सारी जीवयोनियाँ इस प्रकृति में जन्म द्वारा सम्भव बनाई जाती है और मैं उनका वीर्यदाता पिता हूँ।'' भगवान् कृष्ण समस्त योनियों तथा रूप वाले जीवों के पिता हैं। जो बुद्धिमान है, वह यह देख सकता है कि चौरासी लाख योनियों में सारे जीव भगवान् के अंश हैं और उनके पुत्र हैं। भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों के भीतर प्रत्येक वस्तु भगवान् की सम्पत्ति है (*ईशावास्यमिदं सर्वम्*) अतएव हर वस्तु उनसे सम्बन्धित है। इस सम्बन्ध में श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं—

प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुन:।

मुमुक्षुभि: परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते॥

''जो व्यक्ति किसी वस्तु को कृष्ण से उसके सम्बन्ध को जाने बिना त्यागता है उसका वैराग्य अपूर्ण कहा जाता है।'' (*भक्तिरसामृत सिन्धु* १.२.२५६) यद्यपि मायावादी विचारक यह कहते हैं कि यह सृष्टि मिथ्या है, किन्तु वास्तव में यह ऐसी है नहीं। यह तथ्य है, किन्तु यह विचार मिथ्या है कि प्रत्येक वस्तु मानव समाज की है। प्रत्येक वस्तु भगवान् की है, क्योंकि वह उनके द्वारा उत्पन्न की गई है। सारे जीव भगवान् के पुत्र, उनके शाश्वत अंश रूप में होने के कारण अपने पिता की सम्पत्ति का उपयोग प्रकृति की व्यवस्था के अनुसार करने के अधिकारी हैं। जैसाकि *उपनिषदों* में कहा गया है—*तेन त्यक्तेन भुञ्जीथ मा गृध: कस्य स्विद्धनम्।* प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् द्वारा उसके लिए निर्धारित की गई वस्तुओं से संतुष्ट रहना चाहिए। किसी दूसरे के अधिकारों में या सम्पत्ति में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। *भगवद्गीता* (३.१४) में कहा गया है—

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्याद् अन्नसम्भव:।

यज्ञाद् भवन्ति पर्जन्यः यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥

"सारे जीव अन्न पर निर्भर हैं और यह अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा यज्ञ करने से होती है और यज्ञ नियत कर्तव्यों से उत्पन्न होता है।" जब काफी अन्न उत्पन्न होता है, तो पशु तथा मनुष्य दोनों का ही उदर-पोषण बिना किसी कठिनाई के हो जाता है। यह प्राकृतिक व्यवस्था है। *प्रकृतेः क्रियामाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।* प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के अधीन कर्म कर रहा है। केवल मूर्ख ही यह सोचते हैं कि वे ईश्वर द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुओं में सुधार ला सकते हैं। गृहस्थों का यह विशेष दायित्व है कि वे यह देखें कि मनुष्यों, जातियों, समाजों या राष्ट्रों के मध्य किसी प्रकार के संघर्ष के बिना भगवान् के नियमों का पालन हो। मानव समाज को ईश्वर के उपहारों का, विशेष रूप से उस अन्न का, सदुपयोग करना चाहिए जो आकाश से होने वाली वर्षा के कारण उत्पन्न होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*यज्ञाद् भवति पर्जन्यः।* यह वर्षा नियमित रूप से हो इसके लिए मनुष्यों को यज्ञ करने चाहिए। पूर्व काल में घी तथा अन्न की आहुति डाल कर यज्ञ सम्पन्न किये जाते थे, किन्तु इस युग में ऐसा कर पाना असम्भव है, क्योंकि मानव समाज के पापकर्मों के कारण घी तथा अन्न का उत्पादन घट गया है। किन्तु लोगों को चाहिए कि कृष्णभावनामृत को ग्रहण करे और हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करे जैसाकि शास्त्रों द्वारा अनुमोदित है (*यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः*)। यदि विश्व भर के लोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन को ग्रहण कर लें और भगवान् के दिव्य नाम तथा कीर्ति का कीर्तन करें तो वर्षा का अभाव न रहे; फलस्वरूप अन्न, फल तथा फूल ठीक से उत्पन्न हों और जीवन की सारी आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। गृहस्थों को ऐसे प्राकृतिक उत्पादन की व्यवस्था का भार उठाना चाहिए। इसीलिए कहा गया है—*तस्येव हेतोः प्रयतेत कोविदः।* बुद्धिमान मनुष्य को भगवन्नाम के कीर्तन द्वारा कृष्णभावनामृत का प्रसार करना चाहिए और तब जीवन की सारी आवश्यकताएँ स्वतः प्राप्त हो जाएँगी।

यावद्भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यावत्—जितना; भ्रियेत—भरा जा सकता है; जठरम्—पेट; तावत्—उतना; स्वत्वम्—स्वामित्व; हि—निश्चय ही; देहिनाम्—जीवों का; अधिकम्—इससे अधिक; यः—जो; अभिमन्येत—स्वीकार कर सकता है; सः—वह; स्तेनः—चोर; दण्डम्—दण्ड के; अर्हति—योग्य है।

शरीर के पालन के लिए जितने धन की आवश्यकता हो उतने के स्वामित्व का ही अधिकार रखना चाहिए, किन्तु जो इससे अधिक का स्वामी बनने की कामना करता है उसे चोर मानना चाहिए और प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डनीय है।

तात्पर्य : ईश्वर की कृपा से हमें कभी कभी काफी मात्रा में अन्न मिल जाता है, अथवा सहसा कहीं से अन्न-दान प्राप्त हो जाता है या व्यापार में अप्रत्याशित लाभ हो जाता है। इस प्रकार हमें आवश्यकता से अधिक धन मिल सकता है। तो फिर उसको किस प्रकार खर्च किया जाये ? बैक में बचत बढ़ाने के लिए धन का संग्रह करने की आवश्यकत्ताा चाहिए। *भगवद्गीता* (१६.१३) में ऐसी प्रकृति को आसुरी कहा गया है—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥

आसुरी लोग सोचते हैं "आज मेरे पास इतना धन है और अपनी योजनाओं के अनुसार मैं और अधिक धन प्राप्त कर लूँगा। इस समय मेरे पास इतना है और भविष्य में यह इससे भी अधिक हो जाएगा।" असुर को तो इसी की चिन्ता रहती है कि आज बैक में मेरा कितना धन है और कल यह कैसे बढ़ पाएगा, किन्तु शास्त्रों द्वारा या वर्तमान युग में सरकार द्वारा धन के अनियंत्रित संग्रह की अनुमति नहीं दी जाती है। वास्तव में जिसके पास अपनी आवश्यकता से अधिक धन हो उसे इस धन को कृष्ण पर खर्च करना चाहिए। वैदिक सभ्यता के अनुसार इस अतिरिक्त धन को कृष्णभावनामृत आन्दोलन को दे दिया जाना चाहिए, जैसाकि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.२७) में आदेश दिया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

"हे कुन्तीपुत्र! तुम जो भी करो, जो भी खाओ, जो भी भेंट करो तथा दान में दो और जितनी भी तपस्याएँ करो, उन सबों को मेरी भेंट के रूप में करो।" गृहस्थों को अपना अतिरिक्त धन कृष्णभावनामृत आन्दोलन के लिए ही खर्च करना चाहिए।

गृहस्थों को चाहिए कि वे विश्व भर में भगवान् के मन्दिरों के निर्माण तथा *भगवद्गीता* या कृष्णभावनामृत के प्रचार के लिए दान दें। *शृण्वन् भगवतोऽभीक्ष्णम् अवतारकथामृतम्।* शास्त्रों में— पुराणों तथा अन्य वैदिक साहित्य में—भगवान् के दिव्य कार्यकलापों का वर्णन करने वाली अनेक कथाएँ हैं जिन्हें हर एक को पुनः पुनः सुनना चाहिए। उदाहरणार्थ, मान लो कि हम प्रतिदिन पूरी *भगवद्गीता* के अठारहः अध्यायों का पाठ करते हैं, तो हमें प्रत्येक बार नयी व्याख्या मिलेगी। दिव्य साहित्य का यही गुण है। इसीलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन मनुष्य को अवसर प्रदान करता है कि वह अपनी अतिरिक्त आय को कृष्णभावनामृत के प्रसार द्वारा सारे मानव समाज के लाभ हेतु व्यय करे। विशेष रूप से भारत में ऐसे सैकड़ों हजारों मन्दिर हैं जिन्हें समाज के उन धनी लोगों ने बनवाया है, जो न तो चोर कहलाना चाहते थे और न ही दण्डित होना चाहते थे।

यह श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैसाकि बताया गया है, जो आवश्यकता से अधिक धन का संग्रह करता है, वह चोर है और प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित होगा। जो व्यक्ति आवश्यकता से अधिक धन जोड़ लेता है, वह अधिकाधिक भौतिक सुविधाओं का भोग करना चाहता है। भौतिकतावादी व्यक्ति अनेक कृत्रिम आवश्यकताएं उत्पन्न करते हैं और उनके प्रलोभन में आकर और अधिक धन संग्रह करने का यत्न करते हैं। आधुनिक आर्थिक विकास की यही विचारधारा है। प्रत्येक व्यक्ति धन कमाने में लगा हुआ है और यह धन बैंक में रखा जाता है। तब बैंक द्वारा यह धन जनता को दिया जाता है। इस प्रकार के चक्र में प्रत्येक व्यक्ति अधिकाधिक धन पाने में लगा हुआ है, जिससे मानव जीवन का आदर्श लक्ष्य खोया जा रहा है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति चोर है अतएव वह दण्डनीय है। जन्म-मृत्यु के चक्र में प्रकृति के नियमों द्वारा दण्ड मिलता है। कोई भी व्यक्ति भौतिक इच्छाओं से पूरी तरह सन्तुष्ट होकर नहीं मरता, क्योंकि ऐसा सम्भव नहीं है। अतएव मृत्यु के समय मनुष्य अत्यधिक दुखी रहता है, क्योंकि वह अपनी इच्छाएँ पूरी नहीं कर पाता। तब प्रकृति के नियम के अनुसार उसे दूसरा शरीर मिलता है, जिससे वह अपनी अपूर्ण इच्छाएँ पूरी कर सके। वह दूसरा जन्म लेकर दूसरा शरीर धारण करके स्वेच्छा से जीवन के ताप-त्रय स्वीकार करता है।

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः ।

आत्मनः पुत्रवत्पश्येत्तैरेषामन्तरं कियत् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

मृग—हिरन; उष्ट्र—ऊँट; खर—गदहा; मर्क—बन्दर; आखु—चूहा; सरीसृप्—साँप; खग—पक्षी; मक्षिकाः—मक्खियाँ; आत्मनः—अपने; पुत्र-वत्—पुत्र के समान; पश्येत्—देखे; तैः—उन पुत्रों से; एषाम्—इन पशुओं का; अन्तरम्—अन्तर; कियत्—कितना कम।

मनुष्य को चाहिए कि हिरन, ऊँट, गधा, बन्दर, चूहा, साँप, पक्षी तथा मक्खी जैसे पशुओं के साथ अपने पुत्र के ही समान बर्ताव करे। इन निर्दोष पशुओं तथा पुत्रों के बीच वास्तव में अन्तर ही कितना है?

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को पशुओं तथा अपने घर के अबोध बालकों में कोई अन्तर नहीं दिखता। यहाँ तक कि हमारे सामान्य जीवन में भी पालतू कुत्ते या बिल्ली को बिना किसी ईर्ष्या के बच्चों की तरह माना जाता है। बच्चों की ही तरह बुद्धिहीन पशु भी परमेश्वर के पुत्र हैं अतएव कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को, चाहे वह गृहस्थ ही क्यों न हो, बच्चों तथा बेचारे पशुओं में भेद-भाव नहीं बरतना चाहिए। दुर्भाग्यवश आधुनिक समाज ने विभिन्न योनि के पशुओं को मारने के लिए अनेक साधन ढूँढ़ निकाले हैं। उदाहरणार्थ, खेतों में ऐसे अनेक चूहे, मक्खियाँ तथा अन्य प्राणी होते हैं, जो उपज को हानि पहुँचाते हैं अतएव कभी-कभी उन्हें जीवनासि दवाओं के द्वारा मार दिया जाता है। लेकिन इस श्लोक में इस प्रकार के वध का निषेध किया गया है। प्रत्येक जीव को भगवान् द्वारा प्रदत्त भोजन से पोषित होना चाहिए। मानव समाज को अपने आपको ईश्वर की सम्पत्ति का एकमात्र भोक्ता नहीं समझ लेना चाहिए; प्रत्युत मनुष्य को यह समझना चाहिए कि अन्य पशुओं को भी ईश्वर की सम्पत्ति में अधिकार है। इस श्लोक में साँप का भी उल्लेख है, जिसका अर्थ यह हुआ कि गृहस्थ को सर्प से भी ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए। यदि प्रत्येक प्राणी भगवान् के उपहारस्वरूप अन्न को खाकर संतुष्ट है, तो एक दूसरे जीव में परस्पर ईर्ष्या किस लिए? आधुनिक काल में लोग समाज में साम्यवादी विचारों के प्रति अधिक उन्मुख रहते हैं लेकिन हम यह नहीं समझ पाते कि *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक में जो कुछ बताया गया है, उससे बढ़कर कोई अन्य साम्यवादी विचार हो सकता हो? यहाँ तक कि साम्यवादी देशों में भी बेचारे पशुओं का वध बिना विचारे किया जाता है यद्यपि इन पशुओं को भी जीवित रहने के लिए अपना नियत भोजन ग्रहण करने का अधिकार है।

त्रिवर्गं नातिकृच्छ्रेण भजेत गृहमेध्यपि ।
यथादेशं यथाकालं यावद्दैवोपपादितम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

त्रि-वर्गम्—तीन सिद्धान्त, धर्म, अर्थ तथा काम; न—नहीं; अति-कृच्छ्रेण—कठिन प्रयत्न के द्वारा; भजेत—सम्पन्न करे; गृह-मेधी—गृहस्थ जीवन में ही रुचि रखने वाला व्यक्ति; अपि—यद्यपि; यथा-देशम्—स्थान के अनुसार; यथा-कालम्—समय के अनुसार; यावत्—जो भी; दैव—भगवत्कृपा से; उपपादितम्—प्राप्त।

यदि कोई ब्रह्मचारी, संन्यासी या वानप्रस्थ न होकर मात्र गृहस्थ हो तो भी उसे धर्म, अर्थ या काम के लिए अधिक श्रम नहीं करना चाहिए। यहाँ तक कि गृहस्थ जीवन में भी स्थान तथा काल के अनुसार न्यूनतम प्रयास से जो कुछ भगवत्कृपा से उपलब्ध हो जाये, उसी से अपना जीवन-यापन करते हुए सन्तुष्ट रहना चाहिए। मनुष्य को अपने आपको उग्र कर्म में नहीं लगाना चाहिए।

तात्पर्य : मानव जीवन में चार सिद्धान्तों की पूर्ति होनी चाहिए—*धर्म, अर्थ, काम* तथा *मोक्ष*। सर्वप्रथम मनुष्य को विभिन्न विधि-विधानों का पालन करते हुए धार्मिक बनना चाहिए और तब अपने परिवार के पालन हेतु एवं अपनी इन्द्रियों की तृप्ति के लिए कुछ धन कमाना चाहिए। इन्द्रियतृप्ति के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण संस्कार विवाह है क्योंकि सम्भोग या मैथुन भौतिक शरीर की प्रमुख आवश्यकता है। *यन्मैथुनादि गृहमेधि सुखं हि तुच्छम्।* मैथुन यद्यपि जीवन की अत्यन्‍ उन्नत आवश्यकता नहीं है, लेकिन भौतिक प्रवृत्तियों के कारण पशु और मनुष्य दोनों में ही कुछ न कुछ इन्द्रियतृप्ति की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य को वैवाहिक जीवन से तुष्ट रहना चाहिए और अतिरिक्त इन्द्रियतृप्ति या विषयी जीवन में शक्ति व्यय नहीं करनी चाहिए।

जहाँ तक आर्थिक विकास की बात है, यह उत्तरदायित्व वैश्यों तथा गृहस्थों पर छोड़ देना चाहिए। मानव समाज को वर्णों तथा आश्रमों में विभाजित होना चाहिए—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। गृहस्थों के लिए आर्थिक विकास आवश्यक है। ब्राह्मण गृहस्थों को *अध्ययन, अध्यापन, यजन* तथा *याजन* के जीवन से सन्तुष्ट रहना चाहिए। ब्राह्मण को ये कार्य पारिश्रमिक लिए बिना करने चाहिए किन्तु जिस व्यक्ति को वह मनुष्य बनने की शिक्षा दे उससे वह दान ले सकता है। जहाँ तक क्षत्रियों का सम्बन्ध है, वे पृथ्वी के राजा माने जाते हैं और पृथ्वी का वितरण वैश्यों में कृषि कार्यों, गोरक्षा तथा व्यापार के लिए होना चाहिए। शूद्रों को कार्य करना चाहिए।

कभी-कभी उन्हें वस्त्र निर्माताओं, बुनकरों, लुहारों, सुनारों इत्यादि के वृत्तिपरक कार्यों में लगना चाहिए या फिर अन्न उत्पादन करने के कठिन श्रम में लगना चाहिए।

ये वे विभिन्न वृत्तिपरक कर्तव्य हैं जिन्हें जीविकोपार्जन के लिए मनुष्यों को करना चाहिए और इसी तरह मानव समाज को सीधा-सादा होना चाहिए। किन्तु इस समय प्रत्येक व्यक्ति तकनीकी विकास में लगा हुआ है, जिसे *भगवद्गीता* में *उग्र कर्म* अर्थात् अत्यन्त कठिन प्रयास कहा गया है। यही उग्र कर्म मानव मस्तिष्क के अन्दर क्षोभ का कारण है। मनुष्य नाना पापपूर्ण कार्यों में व्यस्त रहते हैं और कसाईघर, मदिरालय तथा सिगरेट फैक्टरियाँ खोल कर तथा इन्द्रिय-भोग के लिए रात्रि क्लब एवं अन्य प्रतिष्ठान खोलकर अपने को पतित बनाते हैं। इस प्रकार वे अपने जीवन को बर्बाद कर देते हैं। निस्सन्देह, इन सारे कार्यों में गृहस्थ फँसते हैं, अतएव यहाँ पर *अपि* शब्द के प्रयोग द्वारा यह सलाह दी गई है कि गृहस्थ होते हुए भी मनुष्य को अपने आप को उग्र कर्म में नहीं लगाना चाहिए। मनुष्य की जीविका के साधन अत्यन्त सरल होने चाहिए। जो गृहस्थ नहीं है अर्थात् ब्राह्मचारी वानप्रस्थ और संन्यासी हैं, उन्हें आध्यात्मिक जीवन में प्रगति के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना होता है। इस का अर्थ यह हुआ कि सारी जनसंख्या के तीन चौथाई लोगों के इन्द्रियतृप्ति छोड़कर मात्र कृष्णभावनामृत की प्रगति में लग जाना चाहिए। केवल एक चौथाई जनसंख्या को गृहस्थ होना चाहिए और उसे भी सीमित इन्द्रियतृप्ति के नियमों के अनुसार रहना चाहिए। गृहस्थों, वानप्रस्थों, ब्रह्मचारियों तथा संन्यासियों को कृष्णभावनाभावित बनने में ही सारी शक्ति लगा देनी चाहिए। इस प्रकार की सभ्यता *दैववर्णाश्रम* कहलाती है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का एक उद्देश्य दैववर्णाश्रम की स्थापना करना है, तथाकथित *वर्णाश्रम* को प्रोत्साहित करना नहीं जो मानव समाज द्वारा वैज्ञानिक विधि से व्यवस्थित प्रयासों के अनुसार नहीं होता।

आश्वाघान्तेऽवसायिभ्यः कामान्संविभजेद्यथा ।
अप्येकामात्मनो दारां नृणां स्वत्वग्रहो यतः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

आ—यहाँ तक कि; श्व—कुत्ता; अघ—पापपूर्ण पशु या जीव; अन्ते अवसायिभ्यः—सबसे नीच चाण्डाल को; कामान्—जीवन की आवश्यकताएँ; संविभजेत्—विभाजित करे; यथा—जितना; अपि—भी; एकाम्—एक; आत्मनः—अपनी; दाराम्—स्त्री को; नृणाम्—सामान्य लोगों का; स्वत्व-ग्रहः—स्त्री को अपना ही समझ कर स्वीकार किया जाता है; यतः—जिसके कारण।

कुत्तों, पतित पुरुषों तथा चाण्डाल समेत अछूतों को उनकी समुचित आवश्यकताएँ प्रदान करके उनका पालन करना चाहिए। आवश्यकताएँ गृहस्थों द्वारा पूरी की जानी चाहिए। यहाँ तक कि घर की अपनी उस पत्नी को भी, जिससे मनुष्य घनिष्ठतापूर्वक आसक्त होता है, अतिथियों तथा सामान्य जनों के स्वागत में नियुक्त करना चाहिए।

तात्पर्य : यद्यपि आधुनिक समाज में कुत्ते को घरेलू साज-सामान माना जाता है, लेकिन वैदिक गृहस्थ जीवन पद्धति में कुत्ता अस्पृश्य होता था। जैसाकि यहाँ बताया गया है कुत्ते का पालन उचित भोजन देकर किया जा सकता है, लेकिन उसे घर में घुसने नहीं दिया जाता, शयन कक्ष की बात तो कोसों दूर रही। जाति से निकाले व्यक्ति या अछूत चाण्डालों को भी जीवन की आवश्यताएँ प्रदान की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में *यथा* शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है "जितने का पात्र हो।" जाति से निकाले गये लोगों को आवश्यकता से अधिक धन नहीं दिया जाना चाहिए, अन्यथा वे उसका दुरुपयोग करेंगे। उदाहरणार्थ, इस समय निम्न जाति के लोगों को सामान्यत: काफी मजदूरी दी जाती है, लेकिन ऐसे लोग अपने धन को ज्ञान का अनुशीलन करने तथा जीवन में प्रगति करने में उपयोग न करके शराब पीने तथा इसी प्रकार के पापकर्मों में लगाते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.१३) में कहा गया है— *चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागश:*—लोगों के कार्य तथा गुणों के अनुसार मानव समाज के चार विभाग होने चाहिए। निम्नतम गुणों वाले व्यक्ति ऐसा कोई कार्य नहीं कर सकते जिसमें उच्चतर बुद्धि की आवश्यकता हो। यद्यपि मनुष्यों के कर्मों तथा गुणों के अनुसार ऐसा विभाजन होना चाहिए, किन्तु फिर भी यहाँ यह सुझाया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवन की आवश्यकताएँ प्राप्त होनी चाहिए। आजकल के साभ्यवादी प्रत्येक व्यक्ति को जीवन की आवश्यकताएँ दिलाने के पक्ष में हैं, किन्तु वे केवल मनुष्यों के बारे में विचार करते हैं, निम्नतर पशुओं पर नहीं। किन्तु भागवत में दिये गये सिद्धान्त इतने व्यापक हैं कि इस में संस्तुति की गई हैं कि प्रत्येक जीव को, चाहे मनुष्य हो या पशु, उनके गुण-दोष पर विचार किये बिना जीवन की आवश्यकताएँ प्रदान की जानी चाहिए।

अपनी पत्नी को भी जनता की सेवा के लिए दे देने के पीछे यह भावना होती है कि वह अपनी पत्नी के घनिष्ठ सम्बन्ध को अथवा अत्यधिक आसक्ति को धीरे-धीरे त्याग दे, क्योंकि इस के कारण वह अपनी पत्नी को अपनी अर्धाङ्गिनी या अपने से अभिन्न सोचता है। जैसाकि पहले ही सुझाया गया

है स्वामित्व की भावना को, यहाँ तक कि अपने परिवार के स्वामित्व को भी त्याग देना होगा। भौतिक जीवन का स्वप्न ही जन्म-मृत्यु के चक्र में बँधने के लिए कारणस्वरूप है, अतएव इस स्वप्न को त्याग देना चाहिए। फलत: मानव जीवन में अपनी पत्नी के प्रति आसक्ति को त्यागना होगा, जैसाकि यहाँ पर सुझाव दिया गया है।

जह्याद्यदर्थे स्वान्प्राणान्हन्याद्वा पितरं गुरुम् ।
तस्यां स्वत्वं स्त्रियां जह्याद्यस्तेन ह्यजितो जित: ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

जह्यात्—छोड़ दे; यत्-अर्थे—जिसके लिए; स्वान्—अपना; प्राणान्—जीवन को; हन्यात्—मार डाले; वा—अथवा; पितरम्—पिता को; गुरुम्—गुरु या शिक्षक को; तस्याम्—उसमें; स्वत्वम्—अधिकार, स्वामित्व; स्त्रियाम्—पत्नी में; जह्यात्—त्याग दे; य:—जो (भगवान्); तेन—उसके द्वारा; हि—निस्सन्देह; अजित:—जो जीता नहीं जा सकता; जित:—जीता गया।.

मनुष्य अपनी पत्नी को इतनी गम्भीरतापूर्वक अपना मानता है कि वह कभी-कभी उसके लिए स्वयं को या अन्यों को यथा अपने माता-पिता या गुरु अथवा शिक्षक को मार डालता है। अतएव यदि कोई ऐसी पत्नी के प्रति अपनी आसक्ति का परित्याग कर सकता है, तो वह उन भगवान् को जीत लेता है, जो अजेय हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक पति अपनी पत्नी पर अत्यधिक आसक्त रहता है; अतएव अपनी पत्नी से सम्बन्ध तोड़ पाना अतीव कठिन होता है, किन्तु यदि कोई किसी भी प्रकार से उसे त्याग कर भगवान् की सेवा कर सकता है, तो किसी के द्वारा भी न जीते जा सकने वाले भगवान् उस भक्त के वश में आ जाते हैं। यदि भगवान् भक्त पर प्रसन्न हो जाँय तो फिर कौन सी वस्तु दुर्लभ है? तो फिर मनुष्य को अपनी पत्नी तथा बच्चों से स्नेह तोड़कर भगवान् की शरण क्यों नहीं लेनी चाहिए? इसमें कौन सी भौतिक क्षति है? गृहस्थ जीवन का अर्थ है अपनी पत्नी के प्रति आसक्ति जब कि संन्यास का अर्थ है अपनी पत्नी से विरक्ति तथा कृष्ण से आसक्ति।

कृमिविड्भस्मनिष्ठान्तं क्वेदं तुच्छं कलेवरम् ।
क्व तदीयरतिर्भार्या क्वायमात्मा नभश्छदि: ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

कृमि—कीड़े-मकोड़े; विट्—विष्ठा, मल; भस्म—राख; निष्ठ—आसक्ति; अन्तम्—अन्त में; क्व—क्या है; इदम्—यह (शरीर); तुच्छम्—अत्यन्त नगण्य; कलेवरम्—भौतिक शरीर; क्व—क्या है; तदीय-रतिः—उस शरीर के प्रति आकर्षण; भार्या—पत्नी; क्व अयम्—इस शरीर का क्या लाभ; आत्मा—परमात्मा; नभः-छदिः—आकाश के समान सर्वव्यापी।

समुचित विचार-विमर्श करके मनुष्य को अपनी पत्नी के शरीर के प्रति आकर्षण त्याग देना चाहिए, क्योंकि यह शरीर अन्ततोगत्वा छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़ों, मल या राख में परिणत हो जाएगा। तो भला इस तुच्छ शरीर का क्या महत्त्व है? परम पुरुष कितना महान् है, जो आकाश के समान सर्वव्यापी है?

तात्पर्य : यहाँ पर भी इसी बात पर बल दिया है कि मनुष्य अपनी पत्नी के प्रति या विषयी जीवन के प्रति आसक्ति त्याग दे। यदि मनुष्य बुद्धिमान हुआ तो वह अपनी पत्नी के शरीर को पदार्थ का एक पिंड मान सकता है, जो अन्ततोगत्वा छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़ों, मल या राख में परिणत हो जाएगा। विभिन्न समाजों में अन्त्येष्टि क्रिया के समय मनुष्य के शरीर से तरह-तरह से बर्ताव किया जाता है। कुछ समाजों में गिद्धों द्वारा शरीर को खा लेने दिया जाता है, जिससे मनुष्य-शरीर गिद्ध की विष्ठा बन जाता है। कभी-कभी शरीर को ऐसे ही फेंक दिया जाता है, तब उसे छोटे छोटे कीड़े-मकोड़े खा जाते हैं। किसी-किसी समाज में मृत्यु के बाद शरीर को तुरन्त जला दिया जाता है, जिससे वह भस्म हो जाता है। प्रत्येक दशा में यदि बुद्धिमानी के साथ शरीर की संरचना और इस के परे आत्मा के बारे में सोचा जाये तो शरीर का क्या महत्त्व है? *अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता: शरीरिण:*—शरीर किसी भी क्षण नष्ट हो सकता है किन्तु आत्मा तो नित्य है। यदि मनुष्य अपने शरीर के प्रति आसक्ति त्यागकर आत्मा के प्रति आसक्ति बढ़ाए तो उसका जीवन सफल हो जाए। यह सोचने-विचारने मात्र का विषय है।

सिद्धैर्यज्ञावशिष्टार्थैः कल्पयेद्वृत्तिमात्मनः ।
शेषे स्वत्वं त्यजन्प्राज्ञः पदवीं महतामियात् ॥ १४॥

शब्दार्थ

सिद्धैः—भगवान् की दया से प्राप्त वस्तुएँ; यज्ञा-अवशिष्ट-अर्थैः—पञ्च महायज्ञ सम्पन्न करने के बाद या भगवान् को यज्ञ अर्पित करने के बाद प्राप्त वस्तुएँ; कल्पयेत्—विचार करे; वृत्तिम्—जीविका का साधन; आत्मनः—अपने लिए; शेषे—अन्त में; स्वत्वम्—अपनी पत्नी, बच्चों, घर, व्यापार इत्यादि का तथाकथित स्वामित्व; त्यजन्—त्यागते हुए; प्राज्ञः—बुद्धिमान लोग; पदवीम्—पद; महताम्—आध्यात्मिक चेतना में पूर्णतया सन्तुष्ट महापुरुषों का; इयात्—प्राप्त करना चाहिए।

बुद्धिमान व्यक्ति को प्रसाद खाकर या पाँच विभिन्न प्रकार के यज्ञ सम्पन्न करके तुष्ट रहना चाहिए। ऐसे कार्यों से मनुष्य शरीर तथा शरीर के तथाकथित स्वामित्व के प्रति अपनी अनुरक्ति

को त्याग सकता है। जब वह ऐसा करने में समर्थ होता है, तो वह महात्मा के पद पर दृढ़ स्थित हो जाता है।

तात्पर्य : प्रकृति ने पहले से हमें भोजन देने की व्यवस्था कर रखी है। भगवान् के आदेश से चौरासी लाख योनियों में प्रत्येक जीव के लिए खाने की वस्तुओं की व्यवस्था है। *एको बहूनां यो विदधाति कामान्।* प्रत्येक जीव को कुछ न कुछ खाना पड़ता है और वास्तव में, भगवान् ने पहले से उसके जीवन की आवश्यकता के लिए व्यवस्था कर रखी है। भगवान् ने हाथी और चींटी दोनों ही के लिए भोजन बनाया है। सारे जीव भगवान् के भरोसे जीवित हैं, अतएव बुद्धिमान मनुष्य को भौतिक सुविधाओं के लिए कठिन श्रम नहीं करना चाहिए। प्रत्युत उसे कृष्णभावनामृत में अग्रेसर होने के लिए अपनी शक्ति बचानी चाहिए। आकाश, वायु, स्थल तथा समुद्र में उत्पन्न की गई सारी वस्तुएँ भगवान् की हैं और हर जीव को भोजन दिया जाता है। अतएव मनुष्य को आर्थिक विकास के विषय में अधिक उत्सुक नहीं रहना चाहिए और न ही जन्म-मृत्यु के चक्र में गिरने के खतरे के लिए व्यर्थ ही समय तथा शक्ति का अपव्यय करना चाहिए।

देवानृषीन्नृभूतानि पितृनात्मानमन्वहम् ।
स्ववृत्त्यागतवित्तेन यजेत पुरुषं पृथक् ॥ १५॥

शब्दार्थ

देवान्—देवताओं को; ऋषीन्—ऋषियों को; नृ—मानव समाज को; भूतानि—जीवों को; पितृन्—पुरखों को; आत्मानम्—अपने को या परमात्मा को; अन्वहम्—नित्यप्रति; स्व-वृत्त्या—अपनी जीविका के साधन से; आगत-वित्तेन—स्वत: आने वाले धन से; यजेत—पूजा करे; पुरुषम्—प्रत्येक के हृदय स्थित व्यक्ति को; पृथक्—अलग से।

मनुष्य को चाहिए कि प्रतिदिन वह उन परम पुरुष की पूजा करे जो हर एक के हृदय में स्थित हैं और इसी आधार पर उसे देवताओं, साधु पुरुषों, सामान्य मनुष्यों तथा जीवों, अपने पुरखों तथा स्वयं की अलग-अलग पूजा करनी चाहिए। इस प्रकार वह प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित परम पुरुष की पूजा कर सकता है।

यर्ह्यात्मनोऽधिकाराद्या: सर्वा: स्युर्यज्ञसम्पद: ।
वैतानिकेन विधिना अग्निहोत्रादिना यजेत् ॥ १६॥

शब्दार्थ

यर्हि—जब; आत्मनः—अपना; अधिकार-आद्याः—पूर्ण अधिकार के अन्तर्गत उसके पास की वस्तुएँ; सर्वाः—सारी; स्युः—हो जाता है; यज्ञ-सम्पदः—यज्ञ सम्पन्न करने की सामग्री या भगवान् को प्रसन्न करने के साधन; वैतानिकेन—यज्ञ करने को बताने वाली प्रामाणिक पुस्तकों से; विधिना—विधानों के अनुसार; अग्नि-होत्र-आदिना—अग्नि में यज्ञ करने से.; यजेत्—भगवान् की पूजा करे।.

जब कोई व्यक्ति सम्पत्ति तथा ज्ञान से समृद्ध हो, जो उसके पूर्ण नियंत्रण में हों और जिनसे वह यज्ञ सम्पन्न कर सके या भगवान् को प्रसन्न कर सके तो उसे शास्त्रों के निर्देशानुसार अग्नि में आहुतियाँ डालकर यज्ञ करना चाहिए। इस तरह उसे भगवान् की पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : यदि गृहस्थ वैदिक ज्ञान में पटु हो और भगवान् को प्रसन्न करने के लिए पूजा करने हेतु काफी धनवान हो गया हो तो उसे चाहिए कि वह प्रामाणिक शास्त्रों के आदेशानुसार यज्ञ सम्पन्न करे। *भगवद्गीता* (३.९) में स्पष्ट कहा गया है—*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*—प्रत्येक व्यक्ति को अपना वृत्तिपरक कर्म करना चाहिए, किन्तु इन कर्मों के फल को यज्ञ को अर्पित कर देना चाहिए जिससे भगवान् प्रसन्न हों। यदि कोई इतना भाग्यवान् हो कि दिव्य ज्ञान के साथ-साथ उसके पास धन भी हो जिससे यज्ञ सम्पन्न किया जा सके तो उसे शास्त्रों के आदेशों के अनुसार यज्ञ करने चाहिए। *श्रीमद्भागवत* (१२.३.५२) में में कहा गया है—

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद् हरिकीर्तनात्॥

सारी वैदिक सभ्यता का लक्ष्य भगवान् को प्रसन्न करना है। सत्ययुग में ऐसा अपने हृदय में भगवान् का तथा त्रेता युग में बहुमूल्य यज्ञ संपन्न करके ध्यान करके किया जाता था। वही लक्ष्य द्वापर युग में मन्दिर में भगवान् की पूजा करके प्राप्त किया जा सकता था और इस कलियुग में *सङ्कीर्तन यज्ञ* द्वारा उसी लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। अतएव जिसके पास विद्या तथा सम्पत्ति दोनों हों उसे चाहिए कि इनका उपयोग भगवान् को प्रसन्न करने के लिए और धनी लोगों का धन भी माया की सेवा में लगा हुआ है। पहले से चल रहे संकीर्तन आन्दोलन हरे कृष्ण आन्दोलन अथवा कृष्णभावनामृत आन्दोलन की सहायता करके करे। सारे शिक्षित तथा सम्पत्तिवान् व्यक्तियों को इस आन्दोलन में सम्मिलित होना चाहिए, क्योंकि सारी विद्या तथा धन भगवान् की सेवा के निमित्त हैं। यदि इन्हें भगवान् की सेवा में नहीं लगाया जाता तो इन बहुमूल्य निधियों को माया की सेवा में लगाना पड़ेगा। इस समय तथाकथित विज्ञानियों, दार्शनिकों तथा कवियों की विद्या माया की सेवा में लगी हुई है और

धनी लोगों का धन भी माया की सेवा में लगा हुआ है लेकिन माया की सेवा से विश्व में अराजक स्थिति उत्पन्न होती है। अतएव धनवान व्यक्ति को तथा शिक्षित व्यक्ति को अपने ज्ञान तथा ऐश्वर्य का त्याग भगवान् को सन्तुष्ट करने में कर देना चाहिए और *सङ्कीर्तन* आन्दोलन में सम्मिलित होना चाहिए (*यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः*)।

न ह्यग्निमुखतोऽयं वै भगवान्सर्वयज्ञभुक् ।
इज्येत हविषा राजन्यथा विप्रमुखे हुतैः ॥ १७॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अग्नि—आग; मुखतः—मुख से, ज्वाला से; अयम्—यह; वै—निश्चय ही; भगवान्—भगवान् श्रीकृष्ण; सर्व-यज्ञ-भुक्—सभी प्रकार के यज्ञों के फलों का भोक्ता; इज्येत—पूजा जाता है; हविषा—घी की आहुति से; राजन्—हे राजा; यथा—जिस प्रकार; विप्र-मुखे—ब्राह्मण के मुँह से होकर; हुतैः—उत्तम भोजन की भेंट करके।

भगवान् श्री कृष्ण सारी यज्ञ-आहुतियों के भोक्ता हैं। यद्यपि वे अग्नि में डाली गई आहुतियाँ खाते हैं फिर भी हे राजा, जब उन्हें अन्न तथा घी से बना व्यंजन योग्य ब्राह्मणों के मुख से होकर अर्पित किया जाता है, तो वे और भी प्रसन्न होते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (३.९) में कहा गया है—*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*—सभी कर्म यज्ञ के लिए किये जाने चाहिए और यज्ञ कृष्ण को तुष्ट करने के निमित्त होना चाहिए। *भगवद्गीता* में अन्यत्र (५.२९) भी कहा गया है—*भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्*—वे परमेश्वर हैं और प्रत्येक वस्तु के भोक्ता हैं। यद्यपि यज्ञ कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है, किन्तु जब अन्न तथा घी को अग्नि में न डालकर प्रसाद के रूप में सर्वप्रथम ब्राह्मणों को और बाद में अन्यों को वितरित किया जाता है, तो वे अधिक प्रसन्न होते हैं। इस विधि से कृष्ण अन्य किसी विधि की तुलना में अधिक प्रसन्न होते हैं। वर्तमान काल में तो अग्नि तथा घी की आहुति डाल कर यज्ञ करने की बहुत कम सम्भावना रह गई है। विशेष रूप से भारत में तो घी न होने के बराबर है। प्रत्येक वस्तु जो घी से तैयार होनी चाहिए अब एक प्रकार के तेल से बनाई जाती है। किन्तु यज्ञ अग्नि में तेल डालने की संस्तुति कमी नहीं की जाती है। कलियुग में अन्न तथा घी की उपलब्ध मात्रा धीरे-धीरे घट रही है और लोग चिन्तित हैं कि वे इनकी प्रचुर मात्रा उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। ऐसी परिस्थितियों में शास्त्रों का आदेश है—*यज्ञैः संङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः।* इस युग में बुद्धिमान लोग संकीर्तन आन्दोलन द्वारा यज्ञ सम्पन्न करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि संकीर्तन आन्दोलन में सम्मिलित हो

और अपने ज्ञान तथा धन की आहुति इस आन्दोलन की अग्नि में डाले। हम अपने *सङ्कीर्तन* आन्दोलन या हरे कृष्ण आन्दोलन में अर्चाविग्रह पर भव्य प्रसाद चढ़ाते हैं और बाद में उस प्रसाद को ब्राह्मणों, वैष्णवों एवं सामान्य लोगों में वितरित करते हैं। कृष्ण का प्रसाद ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को दिया जाता है और ब्राह्मणों एवं वैष्णवों का प्रसाद जनता को। इस प्रकार का यज्ञ जिसमें हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन किया जाता है और प्रसाद वितरण होता है, या विष्णु को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ की सर्वाधिक पूर्ण तथा प्रामाणिक विधि है।

तस्माद्ब्राह्मणदेवेषु मर्त्यादिषु यथार्हतः ।
तैस्तैः कामैर्यजस्वैनं क्षेत्रज्ञं ब्राह्मणाननु ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; ब्राह्मण-देवेषु—ब्राह्मणों तथा देवताओं के माध्यम से; मर्त्य-आदिषु—सामान्य मनुष्यों तथा अन्य जीवों के माध्यम से; यथा-अर्हतः—अपनी सामर्थ्य के अनुसार; तैः तैः—उन सभी; कामैः—भोग की विविध वस्तुओं से, यथाभव्य भोजन, पुष्पों की माला, चन्दन आदि से.; यजस्व—पूजा करे; एनम्—इस; क्षेत्र-ज्ञम्—सभी प्राणियों के हृदय में वास करने वाले परमेश्वर को; ब्राह्मणान्—ब्राह्मणों को; अनु—बाद में।

अतएव हे राजा, सर्वप्रथम ब्राह्मणों तथा देवताओं को प्रसाद प्रदान करो और जब वे भलीभाँति खा चुकें तो तुम अपनी सामर्थ्य के अनुसार अन्य जीवों को प्रसाद बाँटो। इस प्रकार तुम सारे जीवों की अर्थात् प्रत्येक जीव के भीतर के परम पुरुष की पूजा कर सकोगे।

तात्पर्य : समस्त जीवों को प्रसाद बांटने की विधी यह है कि सर्वप्रथम ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को प्रसाद दिया जाता है, क्योंकि देवताओं का प्रतिनिधित्व ब्राह्मण करते हैं। इस प्रकार सबों के हृदय में स्थित भगवान् की पूजा हो जाएगी। प्रसाद अर्पित करने की यह वैदिक विधि है। जब भी प्रसाद-वितरण उत्सव मनाया जाता है, तो सर्वप्रथम ब्राह्मणों को प्रसाद दिया जाता है, फिर बच्चों और वृद्धों को; तब स्त्रियों को और अन्त में कुत्तों तथा अन्य घरेलू पशुओं को दिया जाता है। जब यह कहा जाता है कि परम पुरुष नारायण हर एक के हृदय में स्थित हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि प्रत्येक व्यक्ति नारायण बन चुका है या कोई निर्धन व्यक्ति नारायण बन गया है। यहाँ ऐसे निष्कर्ष को अस्वीकार किया गया है।

कुर्यादपरपक्षीयं मासि प्रौष्ठपदे द्विजः ।

श्राद्धं पित्रोर्यथावित्तं तद्बन्धूनां च वित्तवान् ॥ १९॥

शब्दार्थ

कुर्यात्—करना चाहिए; अपर-पक्षीयम्—कृष्ण पक्ष में; मासि—आश्विन (अक्टूबर-नवम्बर) महीने में; प्रौष्ठ-पदे—भाद्र (अगस्त-सितम्बर) माह में; द्विजः—दो बार उत्पन्न; श्राद्धम्—आहुतियाँ; पित्रोः—पितरों के लिए; यथा-वित्तम्—अपनी आय के अनुसार; तत्-बन्धूनाम् च—तथा पूर्वजों के सम्बन्धियों को भी; वित्त-वान्—जो पर्याप्त धनी है।

काफी धनवान ब्राह्मण को भाद्र मास के कृष्ण पक्ष में पितरों को आहुति देनी चाहिए। इसी प्रकार पूर्वजों के सम्बन्धियों को आश्विन मास में महालया पर्व* के अवसर पर आहुति देनी चाहिए।

अयने विषुवे कुर्याद्व्यतीपाते दिनक्षये ।
चन्द्रादित्योपरागे च द्वादश्यां श्रवणेषु च ॥ २०॥
तृतीयायां शुक्लपक्षे नवम्यामथ कार्तिके ।
चतसृष्वप्यष्टकासु हेमन्ते शिशिरे तथा ॥ २१॥
माघे च सितसप्तम्यां मघाराकासमागमे ।
राकया चानुमत्या च मासर्क्षाणि युतान्यपि ॥ २२॥
द्वादश्यामनुराधा स्याच्छ्रवणस्तिस्र उत्तराः ।
तिसृष्वेकादशी वासु जन्मर्क्षश्रोणयोगयुक् ॥ २३॥

शब्दार्थ

अयने—मकर संक्राति के दिन, जब सूर्य उत्तरायण दिशा में जाने लगता है तथा कार्तिक संक्रान्ति के दिन जब सूर्य दक्षिणायन की ओर जाने लगता है; विषुवे—मेष संक्रान्ति तथा तुला संक्रान्ति पर; कुर्यात्—करे; व्यतीपाते—व्यतीपात योग में; दिन-क्षये—उस दिन जब तीनों तिथियाँ मिलती हैं; चन्द्र-आदित्य-उपरागे—सूर्य अथवा चन्द्र ग्रहण के समय; च—तथा; द्वादश्याम् श्रवणेषु—श्रावण नक्षत्र में तथा द्वादशी के दिन; च—तथा; तृतीयायाम्—अक्षय तृतीया के दिन; शुक्ल-पक्षे—शुक्ल पक्ष में; नवम्याम्—नवमी के दिन; अथ—भी; कार्तिके—कार्तिक (अक्टूबर, नवम्बर) मास में; चतसृषु—चतुर्थी को; अपि—भी; अष्टकासु—अष्टका के दिन; हेमन्ते—शीत ऋतु के पूर्व; शिशिरे—शीत ऋतु में; तथा—भी और; माघे—माघ (जनवरी फरवरी) मास में; च—तथा; सित-सप्तम्याम्—शुक्ल पक्ष की सप्तमी के दिन; मघा-राका-समागमे—मघा नक्षत्र तथा पूर्णिमा के संयोग के समय; राकया—पूर्ण चन्द्रमा के दिन; च—तथा; अनुमत्या—शुक्ल पक्ष में पूर्ण चन्द्रमा से थोड़ा पहले; च—तथा; मास-ऋक्षाणि—नक्षत्र जो विभिन्न नामों के स्रोत हैं; युतानि—परस्पर मिल जाते हैं; अपि—भी; द्वादश्याम्—द्वादशी के दिन; अनुराधा—अनुराधा नक्षत्र; स्यात्—हो सकता है; श्रवणः—श्रावण नक्षत्र; तिस्रः—तीन (नक्षत्र); उत्तराः—उत्तरा नामक नक्षत्र (उत्तर-फाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तर-भाद्रपद); तिसृषु—तीनों पर; एकादशी—एकादशी; वा—अथवा; आसु—इन पर; जन्म-ऋक्ष—अपने जन्म नक्षत्र का; श्रोण—श्रवण नक्षत्र के; योग—संयोग से; युक्—युक्त।

Footnote Starts Here:

***महालया पर्व आश्विन मास के कृष्ण पक्ष की अमावस्या को मनाया जाता है और वैदिक चान्द्र वर्ष के अन्तिम दिन का सूचक है।**

Footnote Ends Here.

मनुष्य को चाहिए कि मकर संक्रान्ति (जब सूर्य उत्तरायण की ओर जाने लगता है) के दिन या कर्कट संक्रान्ति (जब सूर्य दक्षिणायन की ओर जाने लगता है) के दिन श्राद्धकर्म करे; वह इस श्राद्धकर्म को मेष संक्रान्ति के दिन तथा तुला संक्रान्ति के दिन, जब तीनों चन्द्र तिथियाँ एकसाथ मिलती हैं, व्यतीपात नामक योग में, चन्द्र या सूर्यग्रहण के समय द्वादशी के दिन तथा श्रवण नक्षत्र में करे। मनुष्य को चाहिए कि अक्षय तृतीया को, कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की नवमी को, शीतऋतु में चारों अष्टकाओं के दिन, माघ मास की शुक्ला सप्तमी के दिन, मघा नक्षत्र तथा पूर्णिमा के योग के समय तथा जब चन्द्रमा पूर्ण हो या लगभग पूर्ण हो, उन दिनों में जब ये दिन उन नक्षत्रों के साथ योग करें जिनसे महीनों के नाम प्राप्त हुए हैं श्राद्धकर्म करे। श्राद्धकर्म द्वादशी को भी किया जाये जब वह अनुराधा, श्रवण, उत्तर फाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा या उत्तर भाद्रपद नामक नक्षत्रों में से किसी के साथ योग करे। यही नहीं, एकादशी को भी श्राद्ध किया जाये जब यह उत्तर फाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा या उत्तर भाद्रपद के योग में हो। अन्त में, मनुष्य को चाहिए अपने जन्म नक्षत्र या श्रवण नक्षत्र के योग वाले दिनों में श्राद्धकर्म करे।

तात्पर्य : *अयन* शब्द का अर्थ है ''पथ'' या ''गमन''। वे छ: मास जिनमें सूर्य उत्तर की ओर जाता है *उत्तरायण* अर्थात् उत्तरी पथ कहलाते हैं और वे छह मास जब सूर्य दक्षिण की ओर जाता है *दक्षिणायन* या दक्षिणी पथ कहलाते हैं। इनका उल्लेख *भगवद्गीता* (८.२४-२५) में हुआ है। जिस दिन सूर्य उत्तर की ओर जाना प्रारम्भ करता है और मकर राशि में प्रवेश करता है, वह मकर संक्रान्ति कहलाता है। जिस दिन सूर्य दक्षिण की यात्रा प्रारम्भ करके कर्क राशि में प्रवेश करता है, वह कर्कट-संक्रान्ति कहलाता है। वर्ष के इन दोनों दिनों में श्राद्ध पर्व मनाया जाना चाहिए।

विषुव या विषुव संक्रान्ति का अर्थ है मेष संक्रान्ति—वह दिन जब सूर्य मेष राशि में प्रवेश करता है। तुला संक्रान्ति के दिन सूर्य तुला राशि में प्रवेश करता है। ये दोनों दिन वर्ष में एक बार पड़ते हैं। योग शब्द सूर्य तथा चन्द्र के विशेष सम्बन्ध का सूचक है जब वे आकाश में घूमते हैं। योग की सत्ताइस विभिन्न कोटियाँ हैं जिनमें से सत्रहवीं व्यतीपात है। जिस दिन यह पड़े उस दिन श्राद्ध कर्म करना चाहिए। तिथि या चान्द्र दिवस सूर्य तथा चन्द्रमा के देशान्तरों की दूरी है। कभी-कभी तिथि चौबीस घण्टे से कम होती है। जब कोई तिथि सूर्योदय के बाद शुरू होती है और अगले दिन के

सूर्योदय के पहले अन्त होती है, तो पिछली तिथि तथा अगली तिथि सूर्योदयों के मध्य चौबीस घण्टों के दिन का स्पर्श करती है। यह *त्र्यहस्पर्श* कहलाता है अर्थात् तीन तिथियों के थोड़े-थोड़े अंश द्वारा स्पर्श हुआ दिन।

श्रील जीव गोस्वामी ने अनेक शास्त्रों से उद्धरण दिये हैं जिनमें कहा गया है कि पितरों को एकादशी तिथि को श्राद्ध की आहुतियाँ नहीं दी जानी चाहिए। जब मृत्यु तिथि एकादशी को पड़े तो श्राद्ध कर्म एकादशी के दिन नहीं, अपितु अगले दिन द्वादशी को करना चाहिए। *ब्रह्मवैवर्त पुराण* में कहा गया है—

ये कुर्वन्ति महीपाल श्राद्धं चैकादशीदिने।

त्रयस्ते नरकं यान्ति दाता भोक्ता च प्रेरकः॥

यदि कोई अपने पुरखों की श्राद्ध की आहुतियाँ एकादशी तिथि को देता है, तो श्राद्धकर्ता एवं वे पुरखे जिनके लिए श्राद्ध किया जाता है तथा पुरोहित तीनों नरकगामी होते हैं।

त एते श्रेयसः काला नृणां श्रेयोविवर्धनाः ।
कुर्यात्सर्वात्मनैतेषु श्रेयोऽमोघं तदायुषः ॥ २४॥

शब्दार्थ

ते—इसलिए; एते—ये सब (ज्योतिष सम्बन्धी गणनाएँ); श्रेयसः—कल्याण के; कालाः—समय; नृणाम्—मनुष्यों का; श्रेयः—कल्याण; विवर्धनाः—बढ़ाते हैं; कुर्यात्—करे; सर्व-आत्मना—अन्य कार्यों से (केवल श्राद्ध कर्म ही नहीं); एतेषु—इन (ऋतुओं) में; श्रेयः—कल्याण (करने वाले); अमोघम्—तथा सफलता; तत्—मनुष्य की; आयुषः—आयु का।

ऋतुओं के सारे अवसर मानवता के लिए अत्यन्त शुभ माने जाते हैं। ऐसे अवसरों पर सारे कल्याण (शुभ) कार्य किये जाने चाहिए, क्योंकि ऐसे कार्यों से मनुष्य अपने छोटे से जीवनकाल में सफलता प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य : जब किसी को प्राकृतिक विकास के द्वारा मनुष्य रूप प्राप्त होता है, तो उसे अगली प्रगति का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेना चाहिए। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा गया है—*यान्ति देवव्रता देवान्*—जो लोग देवताओं की पूजा करते हैं, वे उनके लोकों को जाते हैं। *यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्*—और यदि कोई भगवान् की भक्ति करता है, तो वह भगवद्धाम वापस जाता है। अतएव मनुष्य जीवन में उसे कल्याणकार्य करने होते हैं जिससे वह भगवद्धाम लौट सके। किन्तु भक्ति

भौतिक परिस्थितियों पर आश्रित नहीं है। *अहैतुक्यप्रतिहता।* जो लोग सकाम कर्म में लगे हैं उनके लिए उपर्युक्त काल तथा वस्तुएँ अत्यन्त अनुकूल हैं।

एषु स्नानं जपो होमो व्रतं देवद्विजार्चनम् ।
पितृदेवनृभूतेभ्यो यद्दत्तं तद्ध्यनश्वरम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

एषु—इन सारी (ऋतुओं) में; स्नानम्—गंगा, यमुना में स्नान या किसी अन्य पुण्य स्थल में स्नान; जपः—कीर्तन; होमः—अग्नि यज्ञ; व्रतम्—व्रत रखना; देव—भगवान्; द्विज-अर्चनम्—ब्राह्मणों या वैष्णवों की पूजा करना; पितृ—पितर; देव—देवता; नृ—मनुष्य; भूतेभ्यः—तथा अन्य सारे जीवों को; यत्—जो भी; दत्तम्—प्रदान किया हुआ; तत्—वह; हि—निस्सन्देह; अनश्वरम्—स्थायी रूप से लाभप्रद।

ऋतु-परिवर्तन के इन अवसरों पर यदि कोई गंगा या यमुना में या किसी तीर्थस्थान में स्नान करता है, यदि कोई कीर्तन करता है, अग्नि यज्ञ करता है, व्रत रखता है या यदि कोई भगवान् की, ब्राह्मणों की, पितरों की, देवताओं की तथा सामान्य जीवों की पूजा करता है या जो कुछ दान देता है, तो उसका स्थायी लाभप्रद फल मिलता है।

संस्कारकालो जायाया अपत्यस्यात्मनस्तथा ।
प्रेतसंस्था मृताहश्च कर्मण्यभ्युदये नृप ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

संस्कार-कालः—वैदिक संस्कारों को संम्पन्न करने के लिए बताये गये उचित समय पर; जायायाः—पत्नी के लिए; अपत्यस्य—सन्तानों के लिए; आत्मनः—तथा अपने लिए; तथा—और; प्रेत-संस्था—दाह संस्कार; मृत-अहः—बरसी या वार्षिक श्राद्ध दिन; च—तथा; कर्मणि—सकाम कर्म का; अभ्युदये—बढ़ोत्तरी के लिए; नृप—हे राजा।

हे राजा युधिष्ठिर, अपने, अपनी पत्नी या अपनी सन्तान के संस्कार अनुष्ठानों के लिए नियत समय पर या अन्त्येष्टि संस्कार तथा बरसी के अवसर पर मनुष्य को सकाम कर्मों में आगे बढ़ने के लिए उपर्युक्त शुभ उत्सव सम्पन्न करने चाहिए।

तात्पर्य : वेदों में अपनी पत्नी के साथ, सन्तान के जन्म दिनों पर, या दाह-संस्कार के अवसर पर अनेक अनुष्ठानों के सम्पन्न करने का और गुरुदीक्षा जैसे निजी संस्कार करने की संस्तुति की गई है। इन्हें काल तथा परिस्थिति एवं शास्त्रों के आदेशानुसार मनाना चाहिए। *भगवद्गीता* की सबल संस्तुति है—*ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तम्*—शास्त्रों में जैसा सूचित हो उसी के अनुसार हर काम किया जाये। किन्तु कलियुग के लिए शास्त्रों का आदेश है कि सदैव संकीर्तन यज्ञ सम्पन्न किया जाये—*कीर्तनीयः सदा*

हरि: । शास्त्रों में संस्तुत सारे अनुष्ठानों के पहले और बाद में संकीर्तन होना चाहिए। श्रील जीवगोस्वामी की यही संस्तुति है।

अथ देशान्प्रवक्ष्यामि धर्मादिश्रेयआवहान् ।
स वै पुण्यतमो देश: सत्पात्रं यत्र लभ्यते ॥ २७॥
बिम्बं भगवतो यत्र सर्वमेतच्चराचरम् ।
यत्र ह ब्राह्मणकुलं तपोविद्यादयान्वितम् ॥ २८॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; देशान्—स्थानों का; प्रवक्ष्यामि—वर्णन करूँगा; धर्म-आदि—धार्मिक कृत्य आदि.; श्रेय—कल्याण; आवहान्—जो ला सकता है; स:—वह; वै—निस्सन्देह; पुण्य-तम:—सर्वाधिक पवित्र; देश:—स्थान; सत्-पात्रम्—वैष्णव; यत्र—जहाँ; लभ्यते—उपलब्ध होता है; बिम्बम्—अर्चाविग्रह (मन्दिर में); भगवत:—भगवान् का (जो आश्रय हैं); यत्र—जहाँ; सर्वम् एतत्—इस समग्र विराट जगत का; चर-अचरम्—सारे जड़ तथा चेतन प्राणियों सहित; यत्र—जहाँ; ह—निस्सन्देह; ब्राह्मण-कुलम्—ब्राह्मणों की संगति; तप:—तपस्या; विद्या—शिक्षा; दया—कृपा; अन्वितम्—से युक्त।

नारद मुनि ने आगे कहा : अब मैं उन स्थानों का वर्णन करूँगा जहाँ धार्मिक अनुष्ठान अच्छी तरह सम्पन्न किये जा सकते हैं। जिस किसी स्थान में वैष्णव हो वह स्थान समस्त कल्याणकारी कृत्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ है। भगवान् समस्त चर तथा अचर प्राणियों समेत इस समग्र विराट जगत के आश्रय हैं और वह मन्दिर जहाँ भगवान् का अर्चाविग्रह स्थापित किया जाता है सर्वाधिक पवित्र स्थान होता है। यही नहीं, जिन स्थानों में विद्वान ब्राह्मण तपस्या, विद्या तथा दया के द्वारा वैदिक नियमों का पालन करते हैं, वे भी अत्यन्त शुभ तथा पवित्र होते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में सूचित किया गया है कि जिस मन्दिर में भगवान् कृष्ण की पूजा होती है और जहाँ वैष्णवजन भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं वह किसी भी धार्मिक अनुष्ठान को सम्पन्न करने का सर्वोत्तम पवित्र स्थल है। इस समय विशेष रूप से बड़े-बड़े नगरों में लोग छोटे-छोटे कक्षों में रहते हैं और अर्चाविग्रह या मन्दिर स्थापित करने में समर्थ नहीं होते। अतएव ऐसी परिस्थितियों में बढ़ते हुए इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन द्वारा स्थापित किये जा रहे केन्द्र तथा मन्दिर धार्मिक उत्सवों को सम्पन्न करने के लिए सर्वाधिक पवित्र स्थान हैं। यद्यपि सामान्य लोग धार्मिक उत्सवों या अर्चाविग्रह पूजा में रुचि नहीं रखते, तथापि कृष्णभावनामृत आन्दोलन हर एक को कृष्णभावनाभावित होकर आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ने का अवसर प्रदान करता है।

यत्र यत्र हरेरर्चा स देशः श्रेयसां पदम् ।
यत्र गङ्गादयो नद्यः पुराणेषु च विश्रुताः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

यत्र यत्र—जहाँ कहीं; हरेः—भगवान् कृष्ण की; अर्चा—अर्चाविग्रह पूजा जाता है; सः—वह; देशः—स्थान, देश या पड़ोस; श्रेयसाम्—समस्त कल्याण का; पदम्—स्थान; यत्र—जहाँ; गङ्गा-आदयः—गंगा, यमुना, नर्मदा, कावेरी जैसी; नद्यः—पवित्र नदियाँ; पुराणेषु—पुराणों में; च—भी; विश्रुताः—प्रसिद्ध हैं।

निस्सन्देह, वे स्थान कल्याणकारी हैं जहाँ भगवान् कृष्ण का मन्दिर हो जिसमें उनकी विधिवत् पूजा होती हो। वे स्थान भी कल्याणकारी हैं जहाँ पुराणों जैसे अनुपूरक वैदिक शास्त्रों में उल्लिखित गंगा सदृश प्रसिद्ध पवित्र नदियाँ बहती हैं। निश्चय ही वहाँ जो भी आध्यात्मिक कार्य किया जाता है, वह अत्यन्त प्रभावशाली होता है।

तात्पर्य : ऐसे अनेक नास्तिक हैं, जो मन्दिर में भगवान् के अर्चाविग्रह के पूजन का विरोध करते हैं। किन्तु इस श्लोक में यह प्रमाण सहित कहा गया है कि जिस किसी स्थान में अर्चाविग्रह पूजा जाता है, वह दिव्य है; उसका सम्बन्ध इस भौतिक जगत से नहीं रह जाता। यह भी कहा गया है कि जंगल सतोगुणी होता है, अतएव जो लोग आध्यात्मिक जीवन का अनुशीलन करना चाहते हैं, उन्हें जंगल चले जाना चाहिए (*वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत*) लेकिन मनुष्य को बन्दर की भाँति जंगल में रहने मात्र के लिए नहीं जाना चाहिए। बन्दर तथा अन्य हिंस्र पशु भी जंगल में रहते हैं, किन्तु जो मनुष्य आध्यात्मिक संस्कृति के लिए जंगल जाता है उसे भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए (*वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत*)।

मनुष्य को केवल जंगल जाने से संतुष्ट नहीं होना है; उसे भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी होती है। इसीलिए इस युग में चूँकि आध्यात्मिक संस्कृति के लिए जंगल जाना असम्भव है, अतएव मनुष्य को यह संस्तुति की जाती है कि वह मन्दिर-समुदाय में भक्त के रूप में रहे, अर्चाविग्रह की नियमित पूजा करे, विधि-विधानों का पालन करे तथा उस स्थान को वैकुण्ठ की भांति बना दे। जंगल सतोगुणी, शहर तथा ग्राम रजोगुणी एवं वेश्यालय, होटल तथा रेस्तरां तमोगुणी हो सकते हैं, किन्तु जब कोई मन्दिर-समुदाय में रहता है, तो वह वैकुण्ठ में रहता है। अतएव यहाँ *श्रेयसां पदम्* कहा गया है, जिसका अर्थ है कि यह श्रेष्ठ, सर्वाधिक शुभ स्थान है।

हम सारे विश्व में कई स्थानों पर मन्दिर-समुदायों का निर्माण करा रहे हैं जिससे भक्तों को आश्रय प्राप्त हो और वे मन्दिर में अर्चाविग्रह का पूजन कर सकें। अर्चाविग्रह का पूजन भक्तों के अतिरिक्त

अन्य कोई नहीं कर सकता। ऐसे मन्दिर-पूजक (पुजारी) जो भक्तों को महत्त्व नहीं दे पाते निम्न श्रेणी के होते हैं। वे *कनिष्ठ अधिकारी* हैं। *श्रीमद्भागवत* (११.२.४७) में कहा गया है :

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥

''जो व्यक्ति मन्दिर में अर्चाविग्रह के पूजन में अत्यन्त श्रद्धापूर्वक लगा रहता है किन्तु भक्तों या सामान्य लोगों के प्रति व्यवहार करना नहीं जानता वह *प्राकृत भक्त* या *कनिष्ठ अधिकारी* कहलाता है।'' अतएव मन्दिर में भगवान् का अर्चाविग्रह होना चाहिए और भक्तों को भगवान् की पूजा करनी चाहिए। भक्तों एवं अर्चाविग्रह का यह मेल उच्चकोटि का दिव्य स्थान उत्पन्न करता है।

इसके अतिरिक्त यदि गृहस्थ भक्त अपने घर में *शालग्राम शिला* पूजता है, तो उसका घर भी महान् स्थल बन जाता है। अतएव तीनों उच्च वर्णों के लोग—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—*शालग्राम शिला* या राधाकृष्ण अथवा सीताराम के लघु अर्चाविग्रहों की पूजा अपने-अपने घरों में करते थे। इससे प्रत्येक वस्तु कल्याणकारी बन जाती थी। किन्तु अब उन्होंने अर्चाविग्रह पूजा बन्द कर दी है। लोग आधुनिक बन चुके हैं जिससे वे सभी तरह से पापपूर्ण कृत्यों में अपने को लगाते हैं, अतएव वे अत्यधिक दुखी हैं।

इसलिए वैदिक सभ्यता के अनुसार तीर्थस्थलों को अत्यन्त पवित्र माना जाता है और आज भी सैकड़ों-हजारों तीर्थस्थान हैं—यथा जगन्नाथपुरी, वृन्दावन, हरद्वार, रामेश्वर, प्रयाग तथा मथुरा। भारत तो पूजा करने या आध्यात्मिक जीवन का अनुशीलन करने का स्थान है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन संसार भर के प्रत्येक व्यक्ति को जातिपाँति का भेदभाव किये बिना अपने केन्द्रों में आने और आध्यात्मिक जीवन का पूर्णतया अनुशीलन करने के लिए आमंत्रित करता है।

सरांसि पुष्करादीनि क्षेत्राण्यर्हाश्रितान्युत ।
कुरुक्षेत्रं गयशिरः प्रयागः पुलहाश्रमः ।
नैमिषं फाल्गुनं सेतुः प्रभासोऽथ कुशस्थली ॥ ३० ॥
वाराणसी मधुपुरी पम्पा बिन्दुसरस्तथा ।
नारायणाश्रमो नन्दा सीतारामाश्रमादयः ॥ ३१ ॥
सर्वे कुलाचला राजन्महेन्द्रमलयादयः ।

एते पुण्यतमा देशा हरेरर्चाश्रिताश्च ये ॥ ३२॥
एतान्देशान्निषेवेत श्रेयस्कामो ह्यभीक्ष्णशः ।
धर्मो ह्यत्रेहितः पुंसां सहस्राधिफलोदयः ॥ ३३॥

शब्दार्थ

सरांसि—झीलें; पुष्कर-आदीनि—यथा पुष्कर; क्षेत्राणि—पवित्र स्थान (यथा कुरुक्षेत्र, गया क्षेत्र तथा जगन्नाथपुरी); अर्ह—पूज्य साधु पुरुषों के लिए; आश्रितानि—आश्रय; उत—विख्यात; कुरुक्षेत्रम्—विशेष पवित्र स्थान (धर्मक्षेत्र); गय-शिरः—गया नामक स्थान जहाँ गयासुर ने भगवान् विष्णु के चरणकमलों में शरण ग्रहण की; प्रयागः—गंगा तथा यमुना नामक दो पवित्र नदियों के संगम पर स्थित इलाहाबाद; पुलह-आश्रमः—पुलह मुनि का निवास स्थान; नैमिषम्—नैमिषारण्य (लखनऊ के पास); फाल्गुनम्—वह स्थान जहाँ फाल्गु नदी बहती है; सेतुः—सेतुबन्ध जहाँ भगवान् रामचन्द्र ने भारत तथा लंका के मध्य पुल बनाया था; प्रभासः—प्रभास क्षेत्र; अथ—तथा; कुश-स्थली—द्वारावती या द्वारका; वाराणसी—बनारस; मधु-पुरी—मथुरा; पम्पा—वह स्थान जहाँ पम्पा सरोवर है; बिन्दु-सरः—वह स्थान जहाँ विन्दु सरोवर है; तथा—वहाँ; नारायण-आश्रमः—बदरिकाश्रम; नन्दा—वह स्थान जहाँ नन्दा नदी बहती है; सीता-राम—भगवान् रामचन्द्र तथा माता सीता का; आश्रम-आदयः—शरण स्थलियाँ तथा चित्रकूट; सर्वे—सभी (स्थान); कुलाचलाः—पहाड़ी स्थल; राजन्—हे राजा; महेन्द्र—महेन्द्र; मलय-आदयः—तथा मलयाचल आदि; एते—ये सभी; पुण्य-तमाः—अत्यन्त पवित्र; देशाः—स्थान; हरेः—भगवान् के; अर्च-आश्रिताः—जहाँ राधाकृष्ण का अर्चाविग्रह पूजा जाता है (यथा अमरीका के न्यूयार्क, लास ऐंजिलिस तथा सैनफ्रांसिस्को जैसे बड़े-बड़े शहर और लन्दन, पेरिस जैसे यूरोपीय शहर या जहाँ भी कृष्णभावनामृत के केन्द्र हैं); च—भी; ये—जो; एतान् देशान्—इन देशों को; निषेवेत—पूजा करे या देखने जाए; श्रेयः-कामः—कल्याणकामी; हि—निस्सन्देह; अभीक्ष्णशः—पुनः पुनः; धर्मः—धार्मिक कार्य; हि—जिससे; अत्र—इन स्थानों में; ईहितः—सम्पन्न किया गया; पुंसाम्—पुरुषों का; सहस्र-अधि—एक हजार गुणा से अधिक; फल-उदयः—प्रभावशाली।

पुष्कर जैसे पवित्र सरोवर तथा वे स्थान जहाँ साधु पुरुष रहते हैं यथा कुरुक्षेत्र, गया, प्रयाग, पुलहाश्रम, नैमिषारण्य, फाल्गु नदी का तट, सेतुबन्ध, प्रभास, द्वारका, वाराणसी, मथुरा, पम्पा, बिन्दु सरोवर, बदरिकाश्रम (नारायणाश्रम), वे स्थान जहाँ से होकर नन्दा नदी बहती है, वे स्थल जहाँ भगवान् रामचन्द्र तथा माता सीता ने शरण ली, यथा चित्रकूट तथा महेन्द्र और मलय नामक पहाड़ी क्षेत्र भी—इन सभी स्थानों को अत्यन्त पवित्र एवं पुण्य माना जाता है। इसी प्रकार भारत के बाहर के स्थान जहाँ कृष्णभावनामृत आन्दोलन के केन्द्र हैं और जहाँ राधाकृष्ण अर्चाविग्रह पूजे जाते हैं, उन स्थानों में आध्यात्मिक रूप से बढ़ने-चढ़ने की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों को जाना चाहिए और उनकी पूजा करनी चाहिए। जो आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ना चाहता है, वह इन सारे स्थानों की यात्रा कर सकता है और अनुष्ठान कर सकता है, जिससे अन्य स्थानों में सम्पन्न किये गये उन्हीं कृत्यों से हजार गुना अच्छे फल प्राप्त हो सकते हैं।

तात्पर्य : इन श्लोकों में तथा श्लोक २९ में एक ही बात बलपूर्वक कही गई है—*हरेरर्चाश्रिताश्च ये* या *हरेरर्चा*। दूसरे शब्दों में, जिस स्थान पर भगवान् के अर्चाविग्रह की पूजा की जाती है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन विश्व भर के लोगों को अपने इस्कॉन केन्द्रों के माध्यम से कृष्णभावनामृत ग्रहण करने का अवसर प्रदान कर रहा है, क्योंकि इन केन्द्रों में लोग अर्चाविग्रह की

पूजा कर सकते हैं और हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करके हजारों गुना अच्छी तरह से लाभ उठा सकते हैं। मानव समाज के लिए यह सर्वश्रेष्ठ कल्याण-कार्य है। यही श्री चैतन्य महाप्रभु का सन्देश था। उन्होंने *चैतन्य भागवत* (अन्त्य ४.१२६) में इसकी भविष्यवाणी की थी—

पृथिवीते आछे यत नगरादिग्राम

सर्वत्र प्रचार हैबे मोर नाम

श्री चैतन्य महाप्रभु चाहते थे कि हरे कृष्ण आन्दोलन अर्चाविग्रहों की स्थापना करके विश्व के प्रत्येक ग्राम तथा नगर में फैल जाये जिससे प्रत्येक व्यक्ति इस आन्दोलन का लाभ उठाए और उनका आध्यात्मिक जीवन सर्व कल्याणमय हो जाये। आध्यात्मिक जीवन के बिना कुछ भी कल्याणप्रद नहीं है। *मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतस:* (*भगवद्गीता* ९.१२)। कृष्णभावनाभावित हुए बिना कोई भी व्यक्ति सकाम कर्मों में अथवा ज्ञान में सफल नहीं हो सकता। जैसी कि शास्त्रों में संस्तुति की गई है, हर एक को कृष्णभावनामृत आन्दोलन में भाग लेने तथा आध्यात्मिक जीवन के महत्त्व को समझने में रुचि लेनी चाहिए।

पात्रं त्वत्र निरुक्तं वै कविभि: पात्रवित्तमै: ।
हरिरेवैक उर्वीश यन्मयं वै चराचरम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

पात्रम्—सही व्यक्ति जिसे दान दिया जा सके; तु—लेकिन; अत्र—इस संसार में; निरुक्तम्—निश्चित; वै—निस्सन्देह; कविभिः—विद्वानों द्वारा; पात्र-वित्तमैः—दान के सुयोग्य पात्र को खोज निकालने में दक्ष; हरिः—भगवान्; एव—निस्सन्देह; एकः—एकमात्र; उर्वी-ईश—हे पृथ्वी के राजा; यत्-मयम्—जिस पर हर वस्तु टिकी है; वै—जिससे हर वस्तु उत्पन्न है; चर-अचरम्—इस ब्रह्माण्ड के जड़ या चेतन प्राणी।

हे पृथ्वीपति, पटु तथा विद्वान अध्येताओं ने यह तय किया है कि भगवान् कृष्ण ही सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं जिन्हें प्रत्येक वस्तु प्रदान की जानी चाहिए, जिन पर ब्रह्माण्ड के सारे जड़ या चेतन टिके हैं और सारी वस्तुएँ उन्हीं से उत्पन्न होती हैं।

तात्पर्य : जब भी हम *धर्म, अर्थ, काम* तथा *मोक्ष* विषयक कोई धार्मिक कृत्य करें तो देश, काल तथा पात्र के अनुसार करें। नारद मुनि पहले ही देश तथा काल का वर्णन कर चुके हैं। काल का वर्णन *अयने विषवे कुर्याद् व्यतीपाते दिनक्षये* से प्रारम्भ होने वाले श्लोक २० से २४ वें श्लोक तक हुआ है। दान देने या श्राद्ध करने का वर्णन *सरांसि पुष्करादीनि क्षेत्राण्यर्हाश्रितान्युत* से प्रारम्भ होता है, जो श्लोक

३० से ३३ तक चलता है। अब इस श्लोक में इसका वर्णन है कि किसे सब कुछ अर्पित किया जाये। *हरिरेवैक उर्वीश यन्मयं वैचराचरम्।* भगवान् सबों के मूल हैं अतएव वे सर्वोत्तम *पात्र* हैं जिन्हें सब कुछ दिया जाना चाहिए। *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा गया है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

यदि कोई वास्तविक शान्ति तथा समृद्धि को भोगना चाहता है, तो उसे कृष्ण को सब कुछ अर्पित कर देना चाहिए, क्योंकि वे असली भोक्ता, मित्र तथा स्वामी हैं। इसीलिए कहा गया है (*भागवत* ४.३१.१४):

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन

तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाम्।

प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां

तथैव सर्वार्हणम् अच्युतेज्या॥

भगवान् अच्युत या कृष्ण की पूजा द्वारा या उन्हें प्रसन्न करके मनुष्य सबों को प्रसन्न कर सकता है, जिस प्रकार वृक्ष की जड़ सींच कर शाखाओं, पत्तियों तथा फूलों को पानी दिया जा सकता है या उदर को भोजन प्रदान करके शरीर की सारी इन्द्रियों को तुष्ट किया जा सकता है। इसीलिए भक्त अपनी प्रत्येक वस्तु भगवान् को अर्पित कर देता है, जिससे उसे धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का सर्वोत्तम फल मिले।

देवर्ष्यर्हत्सु वै सत्सु तत्र ब्रह्मात्मजादिषु ।
राजन्यदग्रपूजायां मतः पात्रतयाच्युतः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

देव-ऋषि—देवताओं तथा महान् सन्त पुरुषों में से, जिनमें नारद मुनि आते हैं; अर्हत्सु—अत्यन्त आदरणीय तथा पूजनीय व्यक्ति; वै—निस्सन्देह; सत्सु—महान् भक्तों में से; तत्र—वहाँ (राजसूय यज्ञ में); ब्रह्म-आत्म-जादिषु—तथा ब्रह्मा के पुत्र (सनक, सनन्दन, सनत तथा सनातन); राजन्—हे राजा; यत्—जिससे; अग्र-पूजायाम्—जिसकी पूजा सबसे पहले होनी हो; मतः—निर्णय; पात्रतया—राजसूय यज्ञ की अध्यक्षता के लिए चुना गया सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति; अच्युतः—कृष्ण।

हे राजा युधिष्ठिर, तुम्हारे राजसूय यज्ञ उत्सव में मेरे सहित देवता, मुनि तथा साधुओं के अतिरिक्त ब्रह्माजी के चारों पुत्र उपस्थित थे, किन्तु जब यह प्रश्न उठा कि किस व्यक्ति की सर्वप्रथम पूजा की जाये तो सबों ने परम पुरुष कृष्ण को ही चुना।

तात्पर्य : यहाँ पर महाराज युधिष्ठिर द्वारा सम्पन्न राजसूय यज्ञ का सन्दर्भ आया है। उस सभा में सर्वप्रथम पूजित होने वाले व्यक्ति के चुनाव को लेकर काफी उथल-पुथल हुई थी। सबों ने श्रीकृष्ण की पूजा करने का निश्चय किया। एकमात्र विरोध शिशुपाल की ओर से था और उसके घोर विरोध के कारण ही भगवान् ने उसको मार डाला।

जीवराशिभिराकीर्ण अण्डकोशाङ्घ्रिपो महान् ।
तन्मूलत्वादच्युतेज्या सर्वजीवात्मतर्पणम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

जीव-राशिभिः—करोड़ों जीवों द्वारा; आकीर्णः—भरा हुआ या विस्तीर्ण; अण्ड-कोश—समग्र ब्रह्माण्ड; अङ्घ्रिपः—वृक्ष के समान; महान्—अत्यन्त विशाल; तत्-मूलत्वात्—इस वृक्ष की जड़ होने से; अच्युत-इज्या—भगवान् की पूजा; सर्व—सबों की; जीव-आत्म—जीव; तर्पणम्—तुष्टि।

जीवों से भरा हुआ समग्र ब्रह्माण्ड एक वृक्ष के समान है, जिसकी जड़ भगवान् अच्युत (कृष्ण) हैं। इसलिए भगवान् कृष्ण की पूजा करने से समस्त जीवों की पूजा हो सकती है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१०.८) में भगवान् कहते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

"मैं समस्त आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों का स्रोत हूँ। प्रत्येक वस्तु मुझसे उद्भूत है। इसे ठीक से समझने वाला बुद्धिमान मेरी भक्ति में लग जाता है और पूरे मनोयोग से मेरी पूजा करता है।" लोग अन्य जीवों की, विशेष रूप से गरीबों की, सेवा करने के लिए अत्यधिक उत्सुक रहते हैं किन्तु यद्यपि उन्होंने ऐसी सहायता पहुँचाने के अनेक तरीके बना रखे हैं, किन्तु वास्तव में वे बेचारे जीवों का वध करने में पटु हैं। वैदिक वाङ्मय में इस प्रकार की सेवा या दया की संस्तुति नहीं की गई है। जैसाकि किसी पिछले श्लोक में बताया गया है कि दक्ष साधु पुरुषों ने तय किया है (*निरुक्तम्*) कि कृष्ण ही सभी वस्तुओं के मूल हैं और कृष्ण का पूजन हर एक का पूजन है, जिस प्रकार वृक्ष की जड़ को सींचने का अर्थ है सारी शाखाओं-टहनियों को तुष्ट करना।

दूसरी बात यह है कि यह ब्रह्माण्ड ऊपर से नीचे तक हर लोक में जीवों से परिपूर्ण है (*जीवराशिराकीर्णः*)। आधुनिक विज्ञानी एवं तथाकथित विद्वानों का विचार है कि इस लोक के अतिरिक्त अन्यलोकों में जीव नहीं हैं। हाल ही में उन्होंने कहा है कि वे चाँद में गये, किन्तु वहाँ उन्हें कोई जीव नहीं मिला। किन्तु *श्रीमद्भागवत* तथा अन्य वैदिक ग्रन्थ इस मूर्खतापूर्ण विचारधारा से सहमत नहीं हैं। जीव तो सर्वत्र हैं—एक या दो की संख्या नहीं अपितु *जीवराशिभिः*—लाखों में जीव हैं। यहाँ तक कि सूर्य में भी जीव हैं यद्यपि यह अग्नि के तुल्य लोक है। सूर्य का प्रधान जीव विवस्वान कहलाता है (*इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् अहम् अव्ययम्*)। विभिन्न लोकों में वहाँ की परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न प्रकार के जीव पाये जाते हैं। यह कहना कि केवल यही लोक जीवों से पूर्ण है और अन्य लोक शून्य हैं मूर्खतापूर्ण है। इससे असली ज्ञान का अभाव ही सिद्ध होता है।

पुराण्यनेन सृष्टानि नृतिर्यगृषिदेवताः ।
शेते जीवेन रूपेण पुरेषु पुरुषो ह्यसौ ॥ ३७॥

शब्दार्थ

पुराणि—रहने के स्थान या शरीर; अनेन—उनके (भगवान्) द्वारा; सृष्टानि—इन सृष्टियों में; नृ—मनुष्य; तिर्यक्—मनुष्यों के अतिरिक्त (पशु, पक्षी आदि); ऋषि—साधु पुरुष; देवताः—तथा देवगण; शेते—लेट जाता है; जीवेन—जीवों से; रूपेण—परमात्मा के रूप में; पुरेषु—इन रहने के स्थानों या शरिरों में; पुरुषः—परमेश्वर; हि—निस्सन्देह; असौ—वह (भगवान्)।

भगवान् ने अनेक पुर अर्थात् रहने के स्थान बनाये हैं, यथा मनुष्यों के शरीर, पशु, पक्षी, ऋषि तथा देवता। इन असंख्या-शरीर रूपों में भगवान् परमात्मा रूप में जीव के साथ निवास करते हैं। इस प्रकार वे पुरुषावतार कहलाते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१८.६१) में में कहा गया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

"हे अर्जुन! भगवान् सबों के हृदय में स्थित हैं और सारे जीव मानो भौतिक शक्ति से निर्मित यंत्र पर स्थित हैं, उन सबके घूमने का वे निर्देशन करते हैं।" जीव, भगवान् का अंश होने से अपने अस्तित्व के लिए भगवत्कृपा पर आश्रित रहता है, जो शरीर के किसी भी रूप में साथ-साथ सदैव रहते हैं। जीव एक विशेष प्रकार का भोग चाहता है अतएव भगवान् उसे ऐसा शरीर प्रदान करते हैं, जो

यंत्र के समान है। इस शरीर में उसे जीवित रखने के लिए भगवान् उसके साथ पुरुष रूप में (*क्षीरोदकशायी विष्णु*) रहते हैं। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (५.३५) में की गई है—

एकोऽप्यसौ रचयितुं जगदण्डकोटिं

यच्छक्तिरस्ति जगदण्डचया यदन्तः।

अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अपने स्वांश से प्रत्येक ब्रह्माण्ड तथा प्रत्येक परमाणु में प्रविष्ट कर जाते हैं और इस तरह सारी भौतिक सृष्टि में अपनी अनन्त शक्ति को प्रकट करते हैं।" जीवात्मा भगवान् का अंश होने से जीव कहलाता है। भगवान् *पुरुष* के रूप में *जीव* के साथ रहकर उसे भौतिक सुविधाओं का भोग करने देते हैं।

तेष्वेव भगवान्राजंस्तारतम्येन वर्तते ।
तस्मात्पात्रं हि पुरुषो यावानात्मा यथेयते ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

तेषु—विभिन्न प्रकार के शरीरों (देव, मनुष्य, पशु, पक्षी के) से.); एव—निस्सन्देह; भगवान्—परमात्मा रूप में भगवान्; राजन्—हे राजा; तारतम्येन—अपेक्षतया, कम या ज्यादा; वर्तते—स्थित है; तस्मात्—इसलिये; पात्रम्—परम पुरुष; हि—निस्सन्देह; पुरुषः—परमात्मा; यावान्—जहाँ तक; आत्मा—ज्ञान की सीमा; यथा—तपस्या का विकास; ईयते—प्रकट है।.

हे राजा युधिष्ठिर, प्रत्येक जीव में परमात्मा उसकी समझने की क्षमता के अनुसार बुद्धि प्रदान करता है। अतएव शरीर के भीतर परमात्मा प्रमुख होता है। परमात्मा जीव में उसके ज्ञान के सापेक्ष विकास, तपस्या आदि के अनुसार जीव के समक्ष प्रकट होता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है—*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—भगवान् अपने अन्तर्यामी रूप में हर एक जीव को उसकी क्षमता के अनुसार बुद्धि प्रदान करते हैं। इसीलिए जीवों को हम उच्च तथा निम्न विभिन्न पदों पर पाते हैं। कोई भी जीव, पक्षी या पशु के शरीर में स्थित परमात्मा से उसी दक्षता से आदेश ग्रहण नहीं कर सकता जितना कि प्रगत मनुष्य। इस तरह शारीरिक स्वरूपों की कोटियाँ होती हैं। मानव समाज में पूर्ण ब्राह्मण को आध्यात्मिक चेतना में सर्वाधिक प्रगत माना जाता है और ब्राह्मण से भी अधिक प्रगत वैष्णव होता है। अतएव सर्वोत्तम पुरुष वैष्णव तथा विष्णु हैं। दान देते समय *भगवद्गीता* से (१७.२०) आदेश ग्रहण करने चाहिए—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥

"जो दान कर्तव्य समझकर, उचित समय तथा स्थान पर, योग्य व्यक्ति को तथा बदले की भावना के बिना दिया जाता है उसे सतोगुणी दान कहा जाता है।" मनुष्य को चाहिए कि ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को दान दे क्योंकि इस तरह भगवान् की पूजा हो जाती है। इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य की टीका है—

ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु न विशेषो हरेः क्वचित्।

व्यक्तिमात्रविशेषेण तारतम्यं वदन्ति च॥

ब्रह्मा से लेकर चींटी तक सारे प्राणी परमात्मा द्वारा संचालित हैं (*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*)। किन्तु आध्यात्मिक चेतना में प्रगति के कारण व्यक्ति विशेष को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। अतएव ब्राह्मण वैष्णव महत्त्वपूर्ण है और परमात्मा सर्वोपरि है।

दृष्ट्वा तेषां मिथो नृणामवज्ञानात्मतां नृप ।
त्रेतादिषु हरेरर्चा क्रियायै कविभिः कृता ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; तेषाम्—ब्राह्मणों तथा वैष्णवों में; मिथः—पारस्परिक; नृणाम्—मानव समाज का; अवज्ञान-आत्मताम्—परस्पर अनादरपूर्ण व्यवहार (अपमान); नृप—हे राजा; त्रेता-आदिषु—त्रेतायुग तथा अन्यों में; हरेः—भगवान् का; अर्चा—देवपूजा (मन्दिर में); क्रियायै—पूजाविधि चालू करने के लिए; कविभिः—विद्वान पुरुषों द्वारा; कृता—किया गया।

हे राजन्, जब ऋषियों-मुनियों ने देखा कि त्रेतायुग के प्रारम्भ में ही परस्पर अनादारपूर्ण व्यवहार चालू हो गया तो मन्दिर में अर्चाविग्रह की साज-सामग्री सहित पूजा का सूत्रपात हुआ।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* (१२.३.५२) में कहा गया है—

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।

द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

"सतयुग में विष्णु का ध्यान करने से, त्रेतायुग में यज्ञ करने से तथा द्वापर युग में भगवान् के चरणकमलों की सेवा करने से जो फल मिलता था वही कलियुग में हरे कृष्ण महामंत्र के कीर्तन करने मात्र से प्राप्त हो सकता है।" सतयुग में हर व्यक्ति आध्यात्मिक रूप से बढ़ा-चढ़ा होता था और महापुरुषों के मध्य कोई द्वेष नहीं होता था। किन्तु धीरे-धीरे युग की प्रगति के साथ भौतिक कल्मष के

कारण ब्राह्मणों तथा वैष्णवों तक में अनादरपूर्ण व्यवहार प्रकट होने लगा। वस्तुत: प्रगत वैष्णव का आदर विष्णु से भी अधिक होना चाहिए। जैसाकि *पद्मपुराण* में कहा गया है—*आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्*—समस्त प्रकार के पूजन में से विष्णु-पूजन सर्वोपरि है। *तस्मात् परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्*—और विष्णु-पूजन से भी बढ़कर संस्तुति की गई वैष्णव पूजा है।

पहले सारे कृत्य विष्णु के लिए सम्पन्न किये जाते थे, किन्तु सतयुग के बाद वैष्णवों में अनादरपूर्ण बर्ताव के लक्षण दिखने लगे। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने कहा है कि वैष्णव वह है, जो अन्यों को वैष्णव बनाने में सहायक बनता है। नारद मुनि ऐसे उदाहरण हैं जिन्होंने अनेक लोगों को वैष्णव बनाया है। ऐसा शक्तिमान वैष्णव जिसने अन्यों को वैष्णव बनाया है पूज्य है, किन्तु भौतिक कल्मष के कारण कभी-कभी ऐसे सम्मान्य वैष्णव का अन्य कनिष्ठ वैष्णव अनादर करते हैं। जब ऋषियों ने यह कल्मष देखा तो उन्होंने मन्दिर में अर्चाविग्रह की पूजा प्रारम्भ कर दी। यह पूजा त्रेतायुग में प्रारम्भ हुई और द्वापर में विशेष रूप से प्रमुख थी (*द्वापरे परिचर्यायां*)। लेकिन कलियुग में अर्चाविग्रह पूजा की उपेक्षा की जाती है। अतएव हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन अर्चाविग्रह पूजा की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कोई मन्दिर या अर्चाविग्रह न स्थापित करके संकीर्तन आन्दोलन का व्यापक सूत्रपात किया और ऐसा करके एक व्यावहारिक उदाहरण स्थापित किया। अतएव कृष्णभावनामृत के साहित्य का अधिकाधिक वितरण करना चाहिए। इससे संकीर्तन आन्दोलन को बल मिलता है। जब भी अर्चाविग्रह पूजा की सम्भावना हो तो हम अनेक केन्द्रों की स्थापना कर सकते हैं, लेकिन हमें दिव्य साहित्य के वितरण पर अधिक बल देना चाहिए क्योंकि यह लोगों को कृष्णभावनामृत की ओर उन्मुख करने में अधिक प्रभावशाली होगा।

श्रीमद्भागवत (११.२.४७) में कहा गया है—

अर्चायामेव हरये पूजां य: श्रद्धयेहते।

न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्त: प्राकृत: स्मृत:॥

"ऐसा व्यक्ति जो मन्दिर में अर्चाविग्रह की पूजा में निष्ठापूर्वक लगा रहता है, किन्तु भक्तों या सामान्य लोगों से व्यवहार करना नहीं जानता *प्राकृत भक्त* या कनिष्ठ *अधिकारी* कहलाता है।" प्राकृत भक्त या नवदीक्षित भक्त भौतिक पद पर ही रहता है। वह निश्चय ही अर्चाविग्रह की पूजा में लगा रहता

है किन्तु वह शुद्ध भक्त के कार्यों को पहचान नहीं पाता। वस्तुत: यह देखा गया है कि कृष्णभावनामृत के उद्देश्य का प्रचार करने वाला अधिकारी भगवद्भक्त भी कभी-कभी नवदीक्षित भक्तों की आलोचना का शिकार बनता है। ऐसे नवदीक्षित भक्तों का वर्णन विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने किया है—*सर्वप्राणि सम्माननासमर्थानाम् अवज्ञा स्पर्धादिमतां तु भगवत्प्रतिमैव पात्रमित्याह।* जो अधिकारी भक्तों के कार्यों का सही सही मूल्यांकन नहीं कर पाते उनके लिए अर्चाविग्रह पूजा ही आध्यात्मिक प्रगति का एकमात्र साधन है। *चैतन्य-चरितामृत* (अन्त्य ७.११) में स्पष्ट कहा गया है—*कृष्णशक्ति विना नहे तार प्रवर्तन*—कृष्ण द्वारा अधिकृत हुए बिना कोई समग्र संसार में भगवान् के पवित्र नाम का उपदेश नहीं दे सकता। फिर भी जो भक्त ऐसा करता है, वह कनिष्ठ अधिकारियों द्वारा आलोचित होता है। उनके लिए अर्चाविग्रह की प्रबल संस्तुति की जाती है।

ततोऽर्चायां हरिं केचित्संश्रद्धाय सपर्यया ।
उपासत उपास्तापि नार्थदा पुरुषद्विषाम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; अर्चायाम्—अर्चाविग्रह; हरिम्—जो भगवान् है; केचित्—कोई; संश्रद्धाय—श्रद्धा सहित; सपर्यया—आवश्यक साज-सामान सहित; उपासते—पूजा करता है; उपास्ता अपि—यद्यपि श्रद्धा और नियमपूर्वक पूजा करते रहने पर भी; न—नहीं; अर्थ-दा—लाभप्रद; पुरुष-द्विषाम्—भगवान् विष्णु तथा उनके भक्तों से ईर्ष्या करने वालों के लिए।

कभी-कभी नवदीक्षित भक्त भगवान् की पूजा में सारी साज-सामग्री अर्पित करता है और वह वास्तव में भगवान् की पूजा अर्चाविग्रह के रूप में करता है लेकिन भगवान् विष्णु के अधिकृत भक्तों से ईर्ष्यालु होने के कारण भगवान् उसकी भक्ति से कभी प्रसन्न नहीं होते।

तात्पर्य : अर्चाविग्रह पूजा विशेष रूप से नवदीक्षित भक्तों की शुद्धि के लिए है। किन्तु वास्तव में उपदेश देना (प्रचार करना) अधिक महत्त्वपूर्ण है। *भगवद्गीता* (१८.६९) में कहा गया है—*न च तस्मान् मनुष्येषु कश्चिन् मे प्रियकृत्तमः*—यदि कोई भगवान् से मान्यता चाहता है, तो उसे भगवान् की महिमा का प्रचार करना चाहिए। अतएव जो व्यक्ति अर्चाविग्रह की पूजा करता है उसे प्रचारकों का अत्यधिक सम्मान करना चाहिए, अन्यथा केवल अर्चाविग्रह की पूजा करते रहने से वह भक्ति की निम्न अवस्था में पड़ा रहेगा।

पुरुषेष्वपि राजेन्द्र सुपात्रं ब्राह्मणं विदुः ।

तपसा विद्यया तुष्ट्या धत्ते वेदं हरेस्तनुम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

पुरुषेषु—पुरुषों में; अपि—निस्सन्देह; राज-इन्द्र—हे नृपश्रेष्ठ; सु-पात्रम्—श्रेष्ठ पुरुष; ब्राह्मणम्—योग्य ब्राह्मण को; विदुः—जानना चाहिए; तपसा—तपस्या से; विद्यया—विद्या से; तुष्ट्या—तथा तुष्टि से; धत्ते—धारण करता है; वेदम्—वेद नामक दिव्य ज्ञान; हरेः—भगवान् का; तनुम्—शरीर या अभिव्यक्ति।

हे राजन्, सभी पुरुषों में सुयोग्य ब्राह्मण को इस संसार में सर्वोत्तम मानना चाहिए क्योंकि वह तपस्या, वैदिक अध्ययन तथा संतुष्टि द्वारा भगवान् का प्रतिरूप बन जाता है।

तात्पर्य : हमें वेदों से पता चलता है कि भगवान् परम पुरुष हैं; प्रत्येक जीव व्यष्टि पुरुष है और भगवान् कृष्ण परम पुरुष हैं। वैदिक ज्ञान में पटु तथा दिव्य विषयों में पारंगत ब्राह्मण भगवान् का प्रतिनिधि होता है। अतएव मनुष्य को ऐसे ब्राह्मण या वैष्णव की पूजा करनी चाहिए। वैष्णव ब्राह्मण से श्रेष्ठ होता है, क्योंकि ब्राह्मण इतना ही जानता है कि वह ब्रह्म है, पदार्थ नहीं, किन्तु वैष्णव यह जानता है कि वह न केवल ब्रह्म है, अपितु परब्रह्म का नित्य दास भी है। अतएव वैष्णव की पूजा मन्दिर में की जाने वाली अर्चाविग्रह की पूजा से श्रेष्ठ होती है। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*साक्षाद् धरित्वेन समस्तशास्त्रैः*—सारे शास्त्रों में गुरु को भगवान् के समान माना जाता है, जो ब्राह्मणों में श्रेष्ठ या श्रेष्ठ वैष्णव होता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वैष्णव अपने को ईश्वर मानता है, क्योंकि यह अपराध है। यद्यपि ब्राह्मण या वैष्णव को भगवान् के ही समान प्राणी माना जाता है, किन्तु ऐसा भक्त भगवान् का सदा आज्ञाकारी दास बना रहता है और कभी भी उस प्रतिष्ठा का भोग नहीं करना चाहता जो उसे भगवान् का प्रतिनिधि होने के कारण प्राप्त हो सकती है।

नन्वस्य ब्राह्मणा राजन्कृष्णस्य जगदात्मनः ।
पुनन्तः पादरजसा त्रिलोकीं दैवतं महत् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

ननु—लेकिन; अस्य—उसका; ब्राह्मणाः—योग्य ब्राह्मण; राजन्—हे राजा; कृष्णस्य—भगवान् कृष्ण द्वारा; जगत्-आत्मनः—जो सारी सृष्टि के जीवन तथा आत्मा हैं; पुनन्तः—पवित्र करते हुए; पाद-रजसा—चरणकमलों की धूल से; त्रि-लोकीम्—तीनों लोक को; दैवतम्—पूज्य; महत्—अत्यन्त महान्।

हे राजा युधिष्ठिर, ऐसे ब्राह्मण जो विशेषतः पूरे विश्व में भगवान् की महिमा के प्रचार में लगे रहते हैं, सारी सृष्टि के आत्मा भगवान् द्वारा मान्य और पूजित होते हैं। ब्राह्मण अपने प्रचार द्वारा तीनों लोकों को अपने चरणकमलों की धूलि से पवित्र बनाते हैं और इस तरह वे कृष्ण के भी पूज्य हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६९) में भगवान् कृष्ण द्वारा स्वीकार किया गया है—*न च तस्मान् मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।* ब्राह्मण सारे जगत में कृष्णचेतना सम्प्रदाय का उपदेश देते हैं और यद्यपि वे भगवान् कृष्ण की पूजा करते हैं तथा भगवान् भी उन्हें पूज्य मानते हैं। यह अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। जिस प्रकार ब्राह्मण कृष्ण की पूजा करना चाहते हैं, उसी तरह कृष्ण ब्राह्मणों की पूजा करना चाहते हैं। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् की महिमा के प्रचार में लगे ब्राह्मणों तथा वैष्णवों की पूजा धर्मज्ञों, दार्शनिकों तथा सामान्य लोगों को करनी चाहिए। महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में लाखों ब्राह्मण उपस्थित थे फिर भी उन्होंने अग्रपूजा के लिए कृष्ण को चुना। अतएव कृष्ण सदैव परम पुरुष हैं, किन्तु अपनी अहैतुकी कृपा से वे ब्राह्मणों को अपना सर्वप्रिय मानते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध के अन्तर्गत ''आदर्श पारिवारिक जीवन' नामक चौदहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पंद्रह

सुसंस्कृत मनुष्यों के लिए उपदेश

पन्द्रहवें अध्याय का सारांश इस प्रकार है। पिछले अध्याय में श्रीनारद मुनि ने समाज में ब्राह्मण की महत्ता सिद्ध की। इस अध्याय में अब वे ब्राह्मण की विभिन्न कोटियों में अन्तर दिखलाएँगे। ब्राह्मणों में कुछ तो गृहस्थ होते हैं और अधिकतर सकाम कर्मों में या सामाजिक दशाओं के सुधार में आसक्त रहते हैं। किन्तु इनसे भी ऊपर वे ब्राह्मण हैं, जो तपस्या के प्रति अधिक आकृष्ट रहते हैं और पारिवारिक जीवन से विरक्त हो जाते हैं। ये वानप्रस्थ कहलाते हैं। अन्य ब्राह्मण वेदाध्ययन करने तथा अन्यों को वेदों का तात्पर्य बताने में अधिक रुचि लेते हैं। ऐसे ब्राह्मण ब्रह्मचारी कहलाते हैं। कुछ अन्य ब्राह्मण विभिन्न प्रकार के योगों में विशेष रूप से भक्तियोग तथा ज्ञानयोग में रुचि लेते हैं। ऐसे ब्राह्मण अधिकांशतया संन्यासी होते हैं।

जहाँ तक गृहस्थों का सम्बन्ध है वे विभिन्न प्रकार के शास्त्रीय कृत्यों में, विशेषतया अपने पितरों को आहुति देने तथा अन्य ब्राह्मणों को ऐसे यज्ञों में लगी साज-सामग्री दान रुप में लगे रहते हैं। ऐसा

दान सामान्यतया विरक्त जीवन बिताने वाले ब्राह्मण-संन्यासियों को दिया जाता है। यदि ऐसा संन्यासी नहीं मिल पाता तो सकाम कर्मों में रत ब्राह्मण-गृहस्थों को यह दान दिया जाता है।

लोगों को चाहिए कि अपने पितरों को आहुति देने के लिए श्राद्ध उत्सव में विशद प्रबन्ध न करें। श्राद्ध उत्सव मनाने की सर्वोत्तम विधि अपने सारे पितरों तथा सम्बन्धियों को भागवत-प्रसाद का वितरण करना है। यह सर्वोत्तम *श्राद्ध कर्म* है। श्राद्ध कर्म में मांस परोसने या मांस खाने की आवश्यकता नहीं है। व्यर्थ ही पशुओं का वध करने से बचना चाहिए। समाज में निम्न कोटि के लोग पशुओं का वध करके यज्ञ करना चाहते हैं किन्तु जो ज्ञान में बढ़े-चढ़े हैं उन्हें ऐसी अनावश्यक हिंसा से बचना चाहिए।

ब्राह्मणों को चाहिए कि वे भगवान् विष्णु के पूजन को नियमित करें। जो धर्म-ज्ञान में बढ़े-चढ़े हैं उन्हें पाँच प्रकार के अधर्मों से बचना चाहिए। ये हैं—विधर्म, परधर्म, धर्माभास, उपधर्म तथा छल धर्म। मनुष्य को अपनी स्वाभाविक स्थिति के अनुकूल धर्म के अनुसार कार्य करना चाहिए। ऐसा नहीं है कि सारे लोग एक ही प्रकार के धर्म में दृढ़ बने रहें। सामान्य नियम यह है कि गरीब व्यक्ति व्यर्थ ही आर्थिक विकास के लिए प्रयास न करे। जो ऐसे प्रयासों से बचता है किन्तु भक्ति में लगता है, वह अत्यन्त पुण्यात्मा होता है।

जो अपने मन से तुष्ट नहीं है उसका पतन निश्चित है। मनुष्य को काम, क्रोध, लोभ, भय, शोक, मोह, त्रास, भौतिक विषयों पर व्यर्थ बातें, हिंसा, भौतिक संसार के चार क्लेश तथा तीनों भौतिक गुणों को जीतना चाहिए। यही मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है। जिसे श्रीकृष्ण के समरूप अपने गुरु पर श्रद्धा नहीं है, वह शास्त्रों के अध्ययन से कुछ भी लाभ नहीं पा सकता। मनुष्य को गुरु को कभी भी सामान्य पुरुष नहीं समझना चाहिए, भले ही गुरु के परिवार वाले उसे ऐसा मानते हों। ध्यान तथा तपस्या की अन्य विधियाँ तभी लाभप्रद हैं जब वे कृष्णभावनामृत की ओर अग्रसर होने में सहायक हों, अन्यथा वे समय तथा श्रम का अपव्यय हैं। जो भक्त नहीं हैं उन्हें ऐसा ध्यान तथा तपस्या नीचे गिराने वाले हैं।

प्रत्येक गृहस्थ को अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए, क्योंकि गृहस्थ भले ही इन्द्रियों को वश में करने का प्रयास क्यों न करे वह अपने सम्बन्धियों की संगति का शिकार होकर में नीचे गिर जाता है। इस तरह गृहस्थ को वानप्रस्थ या संन्यासी बनना चाहिए, अर्थात् एकान्त में रहना चाहिए और द्वार-द्वार

भिक्षा माँगने से जो भोजन मिल जाए उसी से सन्तुष्ट रहना चाहिए। उसे ओङ्कार मंत्र या हरे कृष्ण मंत्र का जप करना चाहिए। इस प्रकार उसे अपने भीतर दिव्य आनन्द की अनुभूति हो सकेगी। किन्तु यदि कोई संन्यास लेने के बाद गृहस्थ जीवन में लौट आता है, तो वह *वान्ताशी* अर्थात् "अपनी ही कै को खाने वाला" कहलाता है। ऐसा व्यक्ति निर्लज्ज होता है। गृहस्थ को न तो संस्कार अनुष्ठानों को छोड़ना चाहिए और न संन्यासी को समाज में रहना चाहिए। यदि संन्यासी इन्द्रियों द्वारा विचलित होता है, तो वह रजो तथा तमो गुणों के वश में रहने वाला ठग है। जब कोई परोपकारी कार्य करके सतोगुणी भूमिका निभाता है, तो ऐसे कार्य भक्ति के मार्ग में अवरोधक बन जाते हैं।

भक्ति में प्रगति करने की सर्वोत्तम विधि गुरु के आदेशों का पालन करना है, क्योंकि गुरु के निर्देश से ही इन्द्रियों को जीता जा सकता है। जब तक कोई पूर्णत: कृष्णभावनाभावित न हो तब तक नीचे गिरने की सम्भावना बनी रहती है। निस्सन्देह, कर्मकाण्ड तथा अन्य सकाम कर्म करते हुए हर क्षण अनेक खतरे बने रहते हैं। सकाम कर्मों को बारह भागों में विभाजित किया गया है। सकाम कर्म करने कारण जिन्हें धर्म पथ कहा जाता है मनुष्य को जन्म-मृत्यु का चक्र स्वीकार करना पड़ता है, किन्तु जब कोई *मोक्ष मार्ग* ग्रहण करता है, जिसे *भगवद्गीता* में *अर्चना मार्ग* कहा गया है, तो मनुष्य को जन्म-मृत्यु के चक्र से छुटकारा मिल जाता है। वेदों में इन दोनों मार्गों को *पितृ यज्ञ* तथा *देव यज्ञ* कहा गया है। जो लोग इन दोनों मार्गों का अनुसरण करते हैं, वे भौतिक शरीर में रहकर भी कभी मोहित नहीं होते। एकेश्वरवादी दार्शनिक, जो अपनी इन्द्रियों को धीर-धीरे वश में कर पाता है, समझता है कि सारे आश्रमों का उद्देश्य मोक्ष है। मनुष्य को शास्त्रों के अनुसार जीवन-यापन करना चाहिए।

यदि वैदिक कर्मकाण्डी व्यक्ति भक्त बन जाता है भले ही वह गृहस्थ क्यों न हों तो उसे कृष्ण की अहैतुकी कृपा प्राप्त होती है। भक्त का उद्देश्य भगवद्धाम को वापस जाना है। ऐसा भक्त कर्मकाण्ड न करने पर भी भगवत्कृपा से आध्यात्मिक चेतना में प्रगति करता है। कोई भी व्यक्ति वास्तव में भक्तों की कृपा से आध्यात्मिक चेतना में सफल हो सकता है या भक्तों से के प्रति अनादर दिखा कर वह आध्यात्मिक चेतना से नीचे गिर सकता है। इस प्रसंग में नारद मुनि ने अपनी कथा कह सुनाई कि किस प्रकार वे गन्धर्वलोक से नीचे आकर शूद्रकुल में उत्पन्न हुए और किस प्रकार उन्नत ब्राह्मणों की सेवा करके ब्रह्मा के पुत्र रूप में उत्पन्न हुए और किस तरह उन्होंने अपना दिव्य पद पुन: प्राप्त किया। इन

कथाओं को सुनाने के बाद नारद मुनि ने पांडवों द्वारा भगवान् से प्राप्त कृपा की पाण्डवों की प्रशंसा की नारद मुनि से सुनने के बाद महाराज युधिष्ठिर कृष्ण के प्रेम में विह्वल हो गये और नारद भी अपने धाम के लिए रवाना हो गये। इस प्रकार शुकदेव गोस्वामी द्वारा दक्ष की कन्याओं की विभिन्न सन्तानों का वर्णन किये जाने के बाद *श्रीमद्भागवत* का सप्तम स्कंध समाप्त होता है।

श्रीनारद उवाच
कर्मनिष्ठा द्विजाः केचित्तपोनिष्ठा नृपापरे ।
स्वाध्यायेऽन्ये प्रवचने केचन ज्ञानयोगयोः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; कर्म-निष्ठाः—अनुष्ठानों के प्रति आसक्त (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होने के अनुसार); द्वि-जाः—दो बार जन्म लेने वाले (विशेषतया ब्राह्मण); केचित्—कुछ; तपः-निष्ठाः—तपस्या में आसक्त; नृप—हे राजा; अपरे—अन्य; स्वाध्याये—वैदिक वाङ्मय का अध्ययन करने में; अन्ये—अन्य लोग; प्रवचने—वैदिक वाङ्मय पर भाषण देते हुए; केचन—कुछ; ज्ञान-योगयोः—ज्ञान का अनुशीलन करने तथा भक्तियोग का अभ्यास करने में।

नारद मुनि ने कहा : हे राजन्, कुछ ब्राह्मण सकाम कर्मों में अत्यधिक आसक्त रहते हैं, कुछ तपस्या में और कुछ वैदिक साहित्य का अध्ययन करने में तो कुछ (भले ही कम क्यों न हों) ज्ञान का अनुशीलन करते हैं और विभिन्न योगों का, विशेष रूप से भक्ति योग का अभ्यास करते हैं।

ज्ञाननिष्ठाय देयानि कव्यान्यानन्त्यमिच्छता ।
दैवे च तदभावे स्यादितरेभ्यो यथार्हतः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ज्ञान-निष्ठाय—निर्विशेषवादी या ब्रह्म में लीन होने के इच्छुक अध्यात्मवादी को; देयानि—दान में दिया जाने वाला; कव्यानि—पितरों को तर्पण में दी गई सामग्री; आनन्त्यम्—भव बन्धन से मुक्ति; इच्छता—इच्छुक व्यक्ति को; दैवे—देवताओं को दी जाने वाली सामग्री; च—भी; तत्-अभावे—ऐसे प्रगत अध्यात्मवादियों के न रहने पर; स्यात्—किया जाय; इतरेभ्यः—अन्यों को (यथा सकाम कर्मियों को); यथा-अर्हतः—योग्यता अनुसार, विवेक से।

जो व्यक्ति अपने पितरों या स्वयं की मुक्ति का इच्छुक हो उसे चाहिए कि ऐसे ब्राह्मण को दान दे जो निर्विशेष-अद्वैतवाद में निष्ठा (ज्ञान निष्ठा) रखता हो। ऐसे उच्च ब्राह्मण के अभाव में, सकाम कर्मों (कर्मकाण्ड) में अनुरक्त ब्राह्मण को दान दिया जाय।

तात्पर्य : भवबन्धन से छूटने की दो विधियाँ हैं—पहली विधि *ज्ञान काण्ड* तथा *कर्म काण्ड* है तथा दूसरी विधि *उपासना काण्ड* है। वैष्णव कभी भी ब्रह्म में लीन नहीं होना चाहते, वे तो भगवान् के नित्य दास बनकर उनकी प्रेमाभक्ति करना चाहते हैं। इस श्लोक में *आनन्त्यम् इच्छता* शब्द उन

व्यक्तियों को बताते हैं, जो भवबन्धन से छूट कर भगवान् में लीन होना चाहते हैं। किन्तु जिन भक्तों का लक्ष्य भगवान् की साक्षात् संगति करना है उन्हें कर्मकाण्ड या ज्ञानकाण्ड के कार्यों को स्वीकार करने की कोई इच्छा नहीं रहती, क्योंकि शुद्ध भक्त इन सबके ऊपर है। *अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।* शुद्ध भक्ति में ज्ञान या कर्म का लेश भी नहीं रहता। फलस्वरूप जब वैष्णवजन दान वितरण करते हैं, तो वे ज्ञानकाण्डी या कर्मकाण्डी ब्राह्मण नहीं ढूँढ़ते। इस प्रसंग में अद्वैत गोस्वामी का उदाहरण सर्वश्रेष्ठ है जिन्होंने अपने पिता का श्राद्धकर्म करने के बाद हरिदास ठाकुर को दान दिया, यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति यह जानता था कि हरिदास ठाकुर मुसलमान परिवार में उत्पन्न हुए हैं, ब्राह्मण परिवार में नहीं, अतएव वे ज्ञानकाण्डी या कर्मकाण्डी नहीं थे।

अतएव दान तो उच्चकोटि के अध्यात्मवादी भक्त को ही देना चाहिए, क्योंकि शास्त्रों की संस्तुति है—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायण:।

सुदुर्लभ: प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥

''हे महमुनि! लाखों मुक्त तथा मुक्ति ज्ञान में सिद्ध व्यक्तियों में से कोई एक भगवान् नारायण या कृष्ण का भक्त होता है। ऐसे भक्त जो पूर्णत: शान्त हों वे अत्यन्त दुर्लभ होते हैं।'' (*भागवत* ६.१४.५)। वैष्णव का पद ज्ञानी से ऊँचा होता है अतएव अद्वैत आचार्य ने दान देने के लिए हरिदास ठाकुर को उपयुक्त पात्र समझा। परमेश्वर भी कहते हैं (*हरि भक्ति विलास* १०.१२७)—

न मेऽभक्तश्चतुर्वेदी मद्भक्त: श्वपच: प्रिय:।

तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यता ह्यहम्॥

''भले ही कोई व्यक्ति संस्कृत वैदिक-साहित्य का अत्यन्त पंडित क्यों न हो उसे तब तक मेरा भक्त नहीं माना जाता जब तक वह शुद्ध भक्त न हो, किन्तु यदि श्वपच के परिवार में भी उत्पन्न होकर कोई शुद्ध भक्त है और उसे कर्म या ज्ञान का उपभोग करने की लालसा नहीं है, तो वह मुझे अत्यन्त प्रिय होता है। निस्सन्देह उसका सभी तरह से सम्मान होना चाहिए और वह जो भी दे उसे ग्रहण करना चाहिए। ऐसे भक्त मेरे ही समान पूज्य हैं।'' अतएव कोई ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हो या न हो, किन्तु भगवान् की भक्ति करने से वह कर्मकाण्डी या ज्ञानकाण्डी ब्राह्मणों से ऊपर होता है।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि वृन्दावन के कर्मकाण्डी तथा ज्ञानकाण्डी ब्राह्मण कभी-कभी हमारे मन्दिर के निमंत्रण को अस्वीकार कर देते हैं, क्योंकि हमारा मन्दिर *अंग्रेज मन्दिर* कहलाता है। किन्तु शास्त्रों के साक्ष्य तथा अद्वैत आचार्य द्वारा प्रस्तुत उदाहरण के अनुसार हम भक्तों को प्रसाद देते हैं चाहे वे भारत के हों अथवा यूरप या अमरीका के। यह शास्त्र का निष्कर्ष है कि तमाम ज्ञानकाण्डी या कर्मकाण्डी ब्राह्मणों को खिलाने की अपेक्षा एक शुद्ध ब्राह्मण को खिलाना श्रेष्ठ है चाहे वह जहाँ का हो। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.३०) में हुई है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।

साधुरेव स मन्तव्य: सम्यग्व्यवसितो हि स: ॥

"कोई चाहे कितना ही गर्हित कर्म क्यों न करे, यदि वह भक्ति में लगा रहता है, तो वह साधु माना जाता है, क्योंकि वह सम्यक् रीति से स्थित रहता है।" अतएव इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि कोई ब्राह्मण परिवार का है या अब्राह्मण परिवार का। यदि वह कृष्ण में पूर्णतया अनुरक्त है, तो वह *साधु* है।

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा ।
भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि श्राद्धे कुर्यान्न विस्तरम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

द्वौ—दो; दैवे—देवताओं को आहुति देते समय; पितृ-कार्ये—श्राद्ध कर्म करते समय, जिसमें पितरों को आहुति दी जाती है; त्रीन्—तीन; एक—एक; एकम्—एक; उभयत्र—दोनों अवसरों पर; वा—अथवा; भोजयेत्—भोजन दे; सु-समृद्ध: अपि—भले ही वह अत्यन्त धनी हो; श्राद्धे—पितरों को आहुतियाँ देते समय; कुर्यात्—करे; न—नहीं; विस्तरम्—विशद व्यवस्था।

मनुष्य को चाहिए कि देवताओं को आहुति देते समय केवल दो ब्राह्मणों को और पितरों को आहुति देते समय तीन ब्राह्मणों को आमंत्रित करे। अथवा इन दोनों में केवल एक-एक ब्राह्मण काफी होगा। कोई कितना ही ऐश्वर्यवान क्यों न हो, उसे अधिक ब्राह्मण नहीं आमंत्रित करने चाहिए या इन अवसरों पर अत्यन्त खर्चीली व्यवस्था नहीं करनी चाहिए।

तात्पर्य : जैसाकि हम पहले बता चुके हैं, श्रील अद्वैत आचार्य ने पितरों के श्राद्ध-कर्म के समय केवल हरिदास ठाकुर को आमंत्रित किया था। इस तरह उन्होंने इस सिद्धान्त *न मेऽभक्तश्चतुर्वेदी मद्भक्त: श्वपच: प्रिय:* का पालन किया। भगवान् कहते हैं, "मेरा भक्त बनने के लिए वैदिक ज्ञान में पारंगत होना आवश्यक नहीं है। भले ही कोई श्वपच (कुत्ता खाने वाला) परिवार में क्यों न उत्पन्न हो, वह ऐसे

परिवार में जन्म ले करके भी मेरा भक्त बन सकता है और वह मुझे अत्यन्त प्रिय होता है। अतएव मेरे भक्त को भेंट दी जानी चाहिए और मेरा भक्त मुझे जो भी चढ़ाता है उसे स्वीकार करना चाहिए।" इस सिद्धान्त का पालन करते हुए मनुष्य को चाहिए कि उच्चकोटि के ब्राह्मण या वैष्णव को आमंत्रित करे और अपने पितरों का श्राद्ध-कर्म करते समय उसे ही भोजन कराए।

देशकालोचितश्रद्धाद्रव्यपात्रार्हणानि च ।
सम्यग्भवन्ति नैतानि विस्तरात्स्वजनार्पणात् ॥ ४॥

शब्दार्थ

देश—स्थान; काल—समय; उचित—उचित; श्रद्धा—आदर; द्रव्य—अवयव; पात्र—उपयुक्त व्यक्ति; अर्हणानि—पूजा सामग्री; च—तथा; सम्यक्—उचित; भवन्ति—हैं; न—नहीं; एतानि—ये सब; विस्तरात्—विस्तार के कारण; स्व-जन-अर्पणात्—अथवा सम्बन्धियों को आमंत्रित करने से।

यदि कोई श्राद्ध कर्म के समय अनेक ब्राह्मणों या सम्बन्धियों को भोजन कराने की व्यवस्था करता है, तो काल, देश, श्राद्ध, पदार्थ, पात्र और पूजन विधि में त्रुटियाँ होंगी।

तात्पर्य : नारद मुनि ने श्राद्ध कर्म के अवसर पर सम्बन्धियों या ब्राह्मणों को खिलाने के लिए व्यर्थ वृहद् आयोजन करने का निषेध किया है। जो लोग भौतिक दृष्टि से ऐश्वर्यवान हैं, वे इस उत्सव में दिल खोलकर खर्च करते हैं। भारतवासी विशेष रूप से तीन अवसरों पर—सन्तान के जन्म पर, विवाह पर तथा श्राद्ध कर्म पर—दिल खोलकर खर्च करते हैं, लेकिन श्राद्ध कर्म के समय अनेक ब्राह्मणों एवं सम्बन्धियों को आमंत्रित करने में अत्यधिक व्यय करने के लिए शास्त्र मना करते हैं।

देशे काले च सम्प्राप्ते मुन्यन्नं हरिदैवतम् ।
श्रद्धया विधिवत्पात्रे न्यस्तं कामधुगक्षयम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

देशे—उचित स्थान पर यथा तीर्थस्थान पर; काले—शुभ समय पर; च—भी; सम्प्राप्ते—प्राप्त होने पर; मुनि-अन्नम्—घी से तैयार भोजन जो बड़े-बड़े मुनियों के खाने के योग्य हो; हरि-दैवतम्—भगवान् हरि को; श्रद्धया—प्रेम तथा स्नेह से; विधि-वत्—गुरु तथा शास्त्रों के आदेशानुसार; पात्रे—उपयुक्त व्यक्ति में; न्यस्तम्—अर्पित किया गया; कामधुक्—सम्पन्नता का साधन बन जाता है; अक्षयम्—अक्षय, अविनाशी।

जब उपयुक्त शुभ अवसर तथा स्थान प्राप्त हो तो मनुष्य को चाहिए कि अत्यन्त प्रेमपूर्वक भगवान् के अर्चाविग्रह को घी में बना भोजन अर्पित करे और फिर उपयुक्त व्यक्ति अर्थात् वैष्णव या ब्राह्मण को प्रसाद दे। इससे अक्षय समृद्धि आएगी।

देवर्षिपितृभूतेभ्य आत्मने स्वजनाय च ।
अन्नं संविभजन्पश्येत्सर्वं तत्पुरुषात्मकम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

देव—देवता; ऋषि—साधु पुरुष; पितृ—पितरगण; भूतेभ्यः—सामान्य जीवों को; आत्मने—सम्बन्धियों; स्व-जनाय—पारिवारिक सदस्यों तथा मित्रों को; च—तथा; अन्नम्—भोजन (प्रसाद); संविभजन्—अर्पित करते हुए; पश्येत्—देखे; सर्वम्—सबों को; तत्—उस; पुरुष-आत्मकम्—भगवान् से सम्बन्धित।

मनुष्य को चाहिए कि देवताओं, साधु पुरुषों, अपने पितरों, लोगों, अपने पारिवारिक सदस्यों, अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों को भगवान् के भक्तों के रूप में देखते हुए प्रसाद प्रदान करे।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा गया है, प्रत्येक जीव को भगवान् का अंश मानते हुए प्रसाद बाँटे। यहाँ तक कि गरीबों को भी प्रसाद वितरित करे। कलियुग में प्रत्येक वर्ष अन्नाभाव रहता है और इस तरह परोपकारी लोग गरीबों को खिलाने में दिल खोल कर खर्च करते हैं। इसके लिए उन्होंने *दरिद्रनारायण सेवा* शब्द ढूँढ़ निकाला है। यह मना है। हर एक को चाहिए कि भव्य प्रसाद का वितरण हर एक को भगवान् का अंग मानते हुए करे न कि वाक्जाल द्वारा गरीब मनुष्य को नारायण बना दे। हर व्यक्ति परमेश्वर से सम्बन्धित है किन्तु उसे यह नहीं सोचना चाहिए कि परमेश्वर से सम्बन्धित होने से वह भगवान् बन गया है। ऐसा मायावाद दर्शन अत्यन्त घातक है, विशेष रूप से भक्त के लिए। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने मायावादी दार्शनिकों की संगति करने के लिए मना किया है। *मायावादी भाष्य सुनिले हय सर्वनाश*—यदि कोई मायावादी दर्शन से नाता जोड़ता है, तो उसके भक्तिमय जीवन का विनाश अवश्यम्भावी है।

न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाद्याद्धर्मतत्त्ववित् ।
मुन्यन्नैः स्यात्परा प्रीतिर्यथा न पशुहिंसया ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; दद्यात्—प्रदान करे; आमिषम्—मांस, मछली, अंडा इत्यादि; श्राद्धे—श्राद्ध कर्म में; न—न तो; च—भी; अद्यात्—स्वयं खाए; धर्म-तत्त्व-वित्—धार्मिक कृत्यों का वास्तविक विद्वान; मुनि-अन्नैः—सन्त पुरुषों के लिए घी से बनाये गये व्यंजनों से; स्यात्—हो; परा—उच्चकोटि की; प्रीतिः—तुष्टि; यथा—भगवान् तथा पितरों के लिए; न—न; पशु-हिंसया—व्यर्थ ही पशुओं की बलि द्वारा।

धार्मिक सिद्धान्तों से भली-भाँति अवगत मनुष्य को चाहिए कि वह श्राद्ध कर्म में मांस, अंडे या मछली जैसी कोई वस्तु अर्पित न करे और न ही स्वयं भी ऐसी वस्तु खाए, चाहे वह क्षत्रिय ही क्यों न हो। जब घी से बना उपयुक्त भोजन सन्त जनों को दिया जाता है, तो यह कृत्य

पितरों तथा भगवान् को अत्यन्त प्रिय लगता है, क्योंकि वे यज्ञ के नाम पर पशुओं का वध किये जाने पर कभी प्रसन्न नहीं होते।

**नैतादृशः परो धर्मो नृणां सद्धर्ममिच्छताम् ।
न्यासो दण्डस्य भूतेषु मनोवाक्कायजस्य यः ॥ ८ ॥**

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; एतादृशः—इस तरह का; परः—परम या श्रेष्ठ; धर्मः—धर्म; नृणाम्—मनुष्यों का; सत्-धर्मम्—श्रेष्ठ धर्म; इच्छताम्—के लिए इच्छुक; न्यासः—त्याग कर; दण्डस्य—ईर्ष्या के कारण कष्ट देते हुए; भूतेषु—जीवों में; मनः—मन; वाक्—शब्द; काय-जस्य—तथा शरीर से; यः—जो।

जो लोग श्रेष्ठ धर्म में प्रगति करना चाहते हैं उन्हें सलाह दी जाती है कि वे अन्य जीवों से शरीर, वाणी या मन सम्बन्धी सारी ईर्ष्या छोड़ दें। इससे बढ़कर कोई अन्य धर्म नहीं है।

**एके कर्ममयान्यज्ञान्ज्ञानिनो यज्ञवित्तमाः ।
आत्मसंयमनेऽनीहा जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ ९ ॥**

शब्दार्थ

एके—कोई-कोई, कुछ; कर्म-मयान्—कर्मफल से युक्त (यथा पशु-वध); यज्ञान्—यज्ञ; ज्ञानिनः—ज्ञान में अग्रसर लोग; यज्ञ-वित्-तमाः—यज्ञ के उद्देश्य को भलीभाँति जानने वाला; आत्म-संयमने—आत्म संयम द्वारा; अनीहाः—निष्काम; जुह्वति—यज्ञ करता है; ज्ञान-दीपिते—पूर्ण ज्ञान से प्रकाशित।

आध्यात्मिक ज्ञान से जागृत होने से यज्ञ के विषय में बुद्धिमान व्यक्ति, धार्मिक नियमों के वास्तविक ज्ञाता तथा निष्काम व्यक्ति अपने को आध्यात्मिक ज्ञान की अथवा परम सत्य विषयक ज्ञान की अग्नि में संयमित बनाते हैं। वे कर्मकाण्डीय अनुष्ठान विधि को त्याग सकते हैं।

तात्पर्य : लोग स्वर्ग जाने के लिए कर्मकाण्ड अनुष्ठानों में अधिक रुचि रखते हैं किन्तु जब आध्यात्मिक ज्ञान जागृत हो जाता है, तो वे ऊपर उठने के प्रति उदासीन होकर जीवन-लक्ष्य खोजने के लिए ज्ञान यज्ञ में लग जाते हैं। जीवन का लक्ष्य जन्म तथा मृत्यु के दुखों को पूरी तरह रोक कर भगवद्धाम को वापस जाना है। जब मनुष्य इस उद्देश्य के लिए ज्ञान का अनुशीलन करता है, तो वह कर्म यज्ञ में लगे हुए लोगों की तुलना में उच्चतर पद पर स्थित समझा जाता है।

**द्रव्ययज्ञैर्यक्ष्यमाणं दृष्ट्वा भूतानि बिभ्यति ।
एष माकरुणो हन्यादतज्ज्ञो ह्यसुतृप्ध्रुवम् ॥ १० ॥**

शब्दार्थ

द्रव्य-यज्ञैः—पशुओं तथा अन्य खाद्य वस्तुओं से; यक्ष्यमाणम्—ऐसे यज्ञों में व्यस्त व्यक्ति; दृष्ट्वा—देख कर; भूतानि—जीवों (पशु) को; बिभ्यति—डर जाता है; एषः—यह व्यक्ति (यज्ञकर्ता); मा—मुझको; अकरुणः—निर्दयी; हन्यात्—मार डालेगा; अ-तत्-ज्ञः—अत्यन्त अज्ञानी; हि—निस्सन्देह; असु-तृप्—अन्यों को मार कर सन्तुष्ट रहने वाला; ध्रुवम्—निश्चय ही।

यज्ञ सम्पन्न करने वाले व्यक्ति को देखकर बलि दिये जाने वाले सारे पशु यह सोचकर अत्यन्त डरे रहते हैं कि "यह निर्दय यज्ञकर्ता यज्ञ के उद्देश्य से अनजान होने तथा अन्यों का वध करके परम सन्तुष्ट होने के कारण हमें निश्चित रूप से मार डालेगा।"

तात्पर्य : धर्म के नाम पर प्रायः सारे विश्व में प्रत्येक स्थापित धर्म में पशु-यज्ञ प्रचलित है। कहा जाता है कि जब जीसस क्राइस्ट केवल बारह वर्ष के थे तो यहूदियों को पूजागृह में पशु-पक्षियों की बलि चढ़ाते देखकर उन्हें आघात पहुंचा था। अतएव उन्होंने यहूदी धर्म त्यागकर ईसाई धर्म चलाया जिसमें पुराने टेस्टामेंट के आदेश "तू वध नहीं करेगा" का दृढ़ता से पालन किया जाता था। किन्तु इस समय यज्ञ के नाम पर न केवल पशुओं का वध किया जाता है, अपितु कसाईघरों की संख्या बढ़ जाने से पशु-वध में प्रचुर वृद्धि हुई है। धर्म या भोजन के लिए पशुओं का वध अत्यन्त घृणित है और यहाँ पर उसकी भर्त्सना की जाती है। जब तक कोई निर्दय न हो, वह धर्म के नाम पर और भोजन के लिए पशुओं की बलि नहीं चढ़ा सकता।

तस्माद्दैवोपपन्नेन मुन्यन्नेनापि धर्मवित् ।
सन्तुष्टोऽहरहः कुर्यान्नित्यनैमित्तिकीः क्रियाः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; दैव-उपपन्नेन—भगवत्कृपा से सरलता से प्राप्य; मुनि-अन्नेन—(घी से तैयार तथा भगवान् को अर्पित) भोजन से; अपि—निस्सन्देह; धर्म-वित्—धर्म में बढ़ा-चढ़ा; सन्तुष्टः—अत्यन्त सुखपूर्वक; अहः अहः—दिन प्रति दिन; कुर्यात्—करे; नित्य-नैमित्तिकीः—नियमित तथा कभी-कभी; क्रियाः—कर्तव्य।

अतएव जो वास्तव में धर्म के सिद्धान्तों से अभिज्ञ है और बेचारे पशुओं से अत्यधिक ईर्ष्या नहीं करता उसे दिन-प्रति-दिन प्रसन्नतापूर्वक नैत्यिक तथा किन्हीं विशेष अवसरों पर किये जाने वाले यज्ञों को भगवत्कृपा से जो भी भोजन सरलता से उपलब्ध हो जाये उसी से सम्पन्न करना चाहिए।

तात्पर्य : *धर्मवित्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है "जो धर्म के वास्तविक प्रयोजन को जानता है।" जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६६) में बताया गया है—*सर्व-धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—धर्म को समझने में कृष्णभावनाभावित होना सर्वोच्च अवस्था है। जो इस अवस्था तक पहुँच जाता है, वह

भक्ति की अर्चना विधि को सम्पन्न करता है। चाहे कोई गृहस्थ हो या संन्यासी, वह अपने पास उचित रूप से पैक किया हुआ भगवान् का छोटा अर्चाविग्रह रख सकता है या सम्भव हो तो स्थापित कर सकता है और इस तरह राधा-कृष्ण, सीताराम, लक्ष्मी नारायण, भगवान् जगन्नाथ या श्री चैतन्य महाप्रभु के अर्चाविग्रहों की पूजा घी से बना भोजन अर्पित करके कर सकता है। फिर वह इस पवित्र किए गए प्रसाद को पितरों, देवताओं या अन्य जीवों को नैत्यिक कर्म की भाँति प्रदान कर सकता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सारे केन्द्रों में अर्चाविग्रह पूजन का कार्य अत्यन्त सुन्दर ढंग से चलता आ रहता है जहाँ अर्चाविग्रह को अर्पित करने के बाद भोजन को उच्चकोटि के ब्राह्मणों तथा वैष्णवों में, यहाँ तक कि सामान्य लोगों तक में, वितरित कर दिया जाता है। इस तरह से सम्पन्न किये गये यज्ञ से पूर्ण संतुष्टि मिलती है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सारे सदस्य नित्य ऐसे दिव्य कार्य करते हैं। अतएव हमारे इस आन्दोलन में पशुओं के वध का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः ।
अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत्त्यजेत् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

विधर्मः—अधर्म; पर-धर्मः—अन्यों द्वारा अभ्यास किये जाने वाला धर्म; च—तथा; आभासः—दिखावटी धर्म; उपमा—सिद्धान्त जो धार्मिक लगते हैं किन्तु होते नहीं; छलः—ठगने वाला धर्म; अधर्म-शाखाः—जो अधर्म की विभिन्न शाखाएँ हैं; पञ्च—पाँच; इमाः—ये; धर्म-ज्ञः—धर्म को जानने वाला; अधर्म-वत्—उन्हें अधार्मिक के रूप में स्वीकार करते हुए; त्यजेत्—त्याग दे।

अधर्म की पाँच शाखाएँ हैं, जो विधर्म, परधर्म, आभास, उपधर्म तथा छल धर्म के नाम से उचित रूप में विख्यात हैं। जो असली धार्मिक जीवन से अवगत हो उसे इन पाँचों को अधर्म मानकर इनका परित्याग कर देना चाहिए।

तात्पर्य : कोई भी धर्म जो भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने का विरोधी हो उसे विधर्म या छल धर्म माना जाना चाहिए और जो वास्तव में धर्म में रुचि रखता हो उसे इनका परित्याग कर देना चाहिए। उसे एकमात्र कृष्ण के आदेशों का पालन करना चाहिए और उनकी शरण ग्रहण करनी चाहिए। ऐसा करने के लिए निस्सन्देह, उत्तम बुद्धि की आवश्यकता होती है, जो अनेक जन्मों के बाद भक्तों की सत्संगति करने तथा कृष्णभावनामृत का अभ्यास करने के बाद ही जागृत हो

सकती है। श्रीकृष्ण द्वारा संस्तुत धर्म—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—के अतिरिक्त प्रत्येक धर्म को अधर्म समझ कर त्याग देना चाहिए।

धर्मबाधो विधर्मः स्यात्परधर्मोऽन्यचोदितः ।
उपधर्मस्तु पाखण्डो दम्भो वा शब्दभिच्छलः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

धर्म-बाधः—अपने धर्म को लागू होने से रोकता है; विधर्मः—धर्म के विरुद्ध; स्यात्—हो; पर-धर्मः—ऐसे धर्म का अनुकरण जिसके लिए वह अनुपयुक्त हो; अन्य-चोदितः—किसी अन्य के द्वारा चालू किया गया; उपधर्मः—मनगढंत धर्म; तु—निस्सन्देह; पाखण्डः—जो वेदों के नियमों, प्रामाणिक शास्त्रों के विरुद्ध है; दम्भः—जो मिथ्या ही गर्वित है; वा—अथवा; शब्द-भित्—शब्द जाल से; छलः—ठगने वाला धर्म।

जो धार्मिक नियम किसी को अपना धर्म पालन करने से रोकते हैं विधर्म कहलाते हैं। अन्यों द्वारा चालू किये गये धार्मिक नियम पर-धर्म कहलाते हैं। जो मिथ्या गर्व करता है और वेदों के नियमों का विरोध करता है उसके द्वारा सृजित नये प्रकार का धर्म उपधर्म कहलाता है। शब्द जाल द्वारा विवेचना छल धर्म है।

तात्पर्य : नये प्रकार के धर्म को जन्म देना इस युग का फैशन बन चुका है। तथाकथित स्वामी और योगी इसका समर्थन करते हैं कि मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार किसी भी प्रकार के धर्म का पालन कर सकता है क्योंकि सारी प्रणालियाँ अन्ततोगत्वा एक हैं। किन्तु *श्रीमद्भागवत* में ऐसे फैशनपरस्त विचारों को *विधर्म* कहा गया है क्योंकि ये अपनी ही धार्मिक प्रणाली के विरुद्ध होते हैं। भगवान् ने असली धार्मिक प्रणाली का वर्णन किया है—*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।* असली धार्मिक प्रणाली भगवान् के चरणकमलों में शरण ग्रहण करना है। *श्रीमद्भागवत* के छठे स्कंध में अजामिल के उद्धार के प्रसंग में यमराज कहते हैं—*धर्मं तु साक्षाद् भगवत्प्रणीतम्*—असली धर्म वह है, जो भगवान् द्वारा प्रदत्त है, जिस प्रकार असली विधिशास्त्र वह है, जो सरकार द्वारा प्रदत्त है। कोई अपने घर में न तो असली विधि (कानून) बना सकता है न ही वास्तविक धर्म बना सकता है। अन्यत्र कहा गया है—*स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे*—असली धार्मिक प्रणाली वह है, जो मनुष्य को भगवान् का भक्त बना देती है। अतएव प्रगतिशील कृष्णभावनामृत की इस धार्मिक प्रणाली से जो कुछ भी विपरीत है, वह *विधर्म, परधर्म, उपधर्म या छल धर्म* कहलाता है। *भगवद्गीता* की गलत व्याख्या *छल-धर्म* है। जब कृष्ण कुछ कहते हैं, किन्तु मूढ़ विवेचक उसका कुछ भिन्न अर्थ लगाते हैं, तो यह

छल धर्म, ठगने का धर्म या *शब्दभित्* या शब्द जाल है। मनुष्य को धर्म की इन छलने वाली विविध प्रणालियों से बचना चाहिए।

यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात्पृथक् ।
स्वभावविहितो धर्मः कस्य नेष्टः प्रशान्तये ॥ १४॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—निस्सन्देह; इच्छया—मनमाने ढंग से; कृतः—किया गया; पुम्भिः—मनुष्यों द्वारा; आभासः—धुँधली छाया; हि—निस्सन्देह; आश्रमात्—जीवन के आश्रम से; पृथक्—भिन्न; स्व-भाव—अपने स्वभाव के अनुसार; विहितः—संयमित; धर्मः—धार्मिक नियम; कस्य—किस बात में; न—नहीं; इष्टः—समर्थ; प्रशान्तये—सभी प्रकार के कष्ट से छुटकारे के लिए।

ऐसी कोई भी बनावटी धार्मिक प्रणाली, जो ऐसे व्यक्ति द्वारा बनाई गई हो जो जानबूझ कर अपने आश्रम के नियत कर्तव्यों की उपेक्षा करता है, आभास कहलाती है। किन्तु यदि कोई अपने किसी आश्रम विशेष या वर्ण के अनुसार अपने नियत कर्तव्य करता है, तो फिर वे सारे भौतिक कष्टों को भगाने के लिए पर्याप्त क्यों नहीं हैं?

तात्पर्य : यहाँ यह इंगित किया है कि हर एक को शास्त्रों में दिये वर्ण तथा आश्रम के नियमों का कठोरता से पालन करना चाहिए। *विष्णु पुराण* (३.८.९) में कहा गया है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।

विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम्॥

मनुष्य को अपनी उन्नति के लिए लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए और यह है कृष्णभावनाभावित होना। यही सारे वर्णों तथा आश्रमों का लक्ष्य तथा अन्त है। किन्तु यदि विष्णु की पूजा नहीं की जाती तो वर्णाश्रम संस्था के अनुयायी कोई मनगढंगत ईश्वर बना लेते हैं। इस तरह किसी भी धूर्त या मूर्ख के द्वारा अपने को ईश्वर चुनवा लेना एक फैशन बन चुका है और ऐसे अनेक धर्मोपदेशक हैं जिन्होंने अपने-अपने ईश्वर गढ़ लिए हैं और असली ईश्वर से अपना नाता तोड़ लिया है। *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है कि जो देवताओं को पूजता है उसकी बुद्धि नष्ट हो गई होती है। फिर भी हम देखते हैं कि ऐसा निपट अनपढ़ व्यक्ति जिसकी बुद्धि नष्ट हो चुकी होती है ईश्वर चुन लिया जाता है। यद्यपि उसका एक मन्दिर होता है किन्तु उसके संन्यासी मांसभक्षक होते हैं और वहाँ अनेक भ्रष्ट कार्य चलते रहते हैं। ऐसी धार्मिक प्रणाली जो बेचारे अनुयायियों को दिग्भ्रमित करती है पूरी तरह वर्जित है। ऐसे बनावटी धर्मों को एकदम ठप्प कर देना चाहिए।

मूल प्रणाली यह है कि ब्राह्मण वास्तव में ब्राह्मण बने। वह न केवल ब्राह्मण परिवार में जन्म ले, अपितु योग्य भी बने। साथ ही यदि कोई ब्राह्मणकुल में जन्म न ले, किन्तु ब्राह्मण के गुणों से युक्त हो तो उसे ब्राह्मण माना जाये। इस प्रणाली का दृढ़ता से पालन करने से मनुष्य बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के ही सुखी बन सकता है। *स्वभावविहितो धर्मः कस्य नेष्टः प्रशान्तये।* जीवन का असली उद्देश्य दुख को दूर करना है और शास्त्र के नियमों का पालन करके इसे सरलता से किया जा सकता है।

धर्मार्थमपि नेहेत यात्रार्थं वाधनो धनम् ।
अनीहानीहमानस्य महाहेरिव वृत्तिदा ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

धर्म-अर्थम्—धर्म तथा आर्थिक विकास में; अपि—निस्सन्देह; न—नहीं; ईहेत—प्राप्त करने का प्रयत्न करे; यात्रा-अर्थम्—एकसाथ शरीर और आत्मा के जीवननिर्वाह के लिए; वा—अथवा; अधनः—निर्धन; धनम्—धन; अनीहा—अनिच्छा; अनीहमानस्य—ऐसे व्यक्ति का, जो अपनी जीविका कमाने के लिए प्रयास नहीं करता; महा-अहेः—अजगर; इव—सदृश; वृत्ति-दा—जो प्रयास किये बिना जीविका प्राप्त करता है।.

निर्धन होकर भी मनुष्य को अपने शरीर-निर्वाह के लिए या विख्यात धर्मज्ञ बनने के लिए अपनी आर्थिक दशा सुधारने का प्रयास नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार एक अजगर एक ही स्थान पर पड़ा रहकर तथा अपनी जीविका के लिए कोई प्रयास (चेष्टा) न करते हुए भी शरीर-निर्वाह के लिए भोजन प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार निष्काम व्यक्ति बिना किसी चेष्टा के अपनी जीविका कमा लेता है।

तात्पर्य : मनुष्य शरीर कृष्णभावनामृत विकसित करने मात्र के लिए मिला है। मनुष्य को अपने शरीर निर्वाह के लिए किसी प्रकार की जीविका अर्जित करने का प्रयास करने की भी आवश्यकता नहीं है। इसे अजगर का उदाहरण देकर समझाया गया है। अजगर एक ही स्थान पर लेटा रहता है और अपने उदर-पोषण के लिए जीविकोपार्जन हेतु इधर-उधर नहीं जाता है फिर भी भगवान् की कृपा से उसका पालन होता है। जैसाकि नारद मुनि ने उपदेश दिया है (*भागवत* १.५.१८)—*तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदः*—मनुष्य को केवल कृष्णभावनामृत को बढ़ाने की चेष्टा करनी चाहिए। उसे किसी वस्तु की इच्छा नहीं करनी चाहिए, यहाँ तक कि जीविकोपार्जन की भी नहीं करना चाहिए। इस मनोवृत्ति के अनेक उदाहरण प्राप्त हैं। उदाहरणार्थ माधवेन्द्र पुरी कभी किसी से भोजन माँगने नहीं जाते थे। शुकदेव गोस्वामी ने भी कहा है—*कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्।* ऐसे व्यक्ति के पास क्यों जाया जाये

जो धन से अन्धा हो गया हो? प्रत्युत मनुष्य को कृष्ण पर आश्रित रहना चाहिए, वे ही सब कुछ प्रदान करेंगे। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सारे सदस्यों को, चाहे वे गृहस्थ हों या संन्यासी, दृढ़ता के साथ कृष्णभावनामृत आन्दोलन का प्रसार करना चाहिए। कृष्ण सारी आवश्यकताएँ पूरी करेंगे। इस प्रसंग में *अजगर वृत्ति* को अत्यधिक सराहा गया है। कोई अत्यंत निर्धन क्यों न हो, उसे कृष्णभावनामृत मात्र में अग्रसर होने का प्रयास करना चाहिए और अपनी जीविका कमाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए।

सन्तुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य यत्सुखम् ।
कुतस्तत्कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिशः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सन्तुष्टस्य—कृष्णभावनामृत से संतुष्ट व्यक्ति का; निरीहस्य—अपनी जीविका के लिए चेष्टा न करने वाले का; स्व—निज; आत्म-आरामस्य—आत्मतुष्ट का; यत्—जो; सुखम्—सुख; कुतः—कहाँ; तत्—ऐसा सुख; काम-लोभेन—विषय तथा लोभ से प्रेरित; धावतः—इधर-उधर दौने वाले का; अर्थ-ईहया—धन संग्रह करने की इच्छा से; दिशः—सभी दिशाओं में।.

जो आत्मतुष्ट है और अपने कर्मों को प्रत्येक हृदय में निवास करने वाले भगवान् से जोड़ता है, वह अपनी जीविका के लिए चेष्टा किये बिना दिव्य सुख भोगता है। भला उस भौतिकतावादी के लिए ऐसा सुख कहाँ जो विषय तथा लोभ से प्रेरित रहता है और जो धन जोड़ने की इच्छा से सभी दिशाओं में भागता रहता है?

सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः शिवमया दिशः ।
शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

सदा—सदैव; सन्तुष्ट-मनसः—आत्मतुष्ट व्यक्ति के लिए; सर्वाः—हर वस्तु; शिव-मयाः—शुभ; दिशः—सभी दिशाओं में; शर्करा—कंकड़ों पत्थरों; कण्टक-आदिभ्यः—तथा काँटा आदि से.; यथा—जिस तरह; उपानत्-पदः—ऐसे व्यक्ति के लिए जो पाँवों में जूते पहने हो; शिवम्—कोई भय नहीं है (शुभ)।.

जिसके पाँवों में उचित जूते हों उसे कंकड़-पत्थरों तथा काँटों पर चलने में कोई भय नहीं लगता। उसके लिए सभी कुछ कल्याणमय (शुभ) है। इसी प्रकार जो सदैव आत्मतुष्ट रहता है उसे दुख नहीं सताते; वह सर्वत्र सुख का अनुभव करता है।

सन्तुष्टः केन वा राजन्न वर्तेतापि वारिणा ।
औपस्थ्यजैह्व्यकार्पण्याद्गृहपालायते जनः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सन्तुष्टः—सदैव आत्मतुष्ट रहने वाला व्यक्ति; केन—क्यों; वा—अथवा; राजन्—हे राजा; न—नहीं; वर्तेत—(सुखपूर्वक) रहना चाहिए; अपि—भी; वारिणा—जल पीकर; औपस्थ्य—विषयेन्द्रियों के कारण; जैह्व्य—तथा जीभ के कारण; कार्पण्यात्—बुरी दशा होने से; गृह-पालायते—घरेलू कुत्ते की तरह बन जाता है; जनः—ऐसा व्यक्ति।.

हे राजन्, आत्मतुष्ट व्यक्ति केवल जल पीकर भी सुखी रह सकता है। किन्तु जो व्यक्ति इन्द्रियों द्वारा चालित है, विशेष रूप से जो जीभ और जननेन्द्रियों के वश में होता है उसे अपनी इन्द्रियों की तुष्टि के लिए घरेलू कुत्ते का पद स्वीकार करना पड़ता है।

तात्पर्य : शास्त्रों के अनुसार ब्राह्मण या कृष्णभावनामृत में सुसंस्कृत व्यक्ति अपने जीवन-निर्वाह के लिए, विशेष रूप से इन्द्रियों की तुष्टि के लिए, किसी की नौकरी नहीं करेगा। असली ब्राह्मण सदा तुष्ट रहता है। यदि उसके पास खाने को कुछ भी नहीं रहता तो वह थोड़ा जल पीकर सन्तुष्ट हो सकता है। यह अभ्यास की बात है। किन्तु दुर्भाग्यवश किसी को यह शिक्षा नहीं दी जाती कि आत्म-साक्षात्कार में किस तरह तुष्ट रहा जाये। जैसाकि ऊपर बाताया जा चुका है भक्त इसीलिए सदा संतुष्ट रहता है, क्योंकि उसे अपने हृदय के भीतर परमात्मा की उपस्थिति का आभास होता रहता है और वह उन्हीं के विषय में चौबीसों घंटे चिन्तन करता है। यही असली तुष्टि है। भक्त कभी भी जीभ तथा जननेन्द्रियों के आदेशों पर नहीं चलता अतएव वह कभी भी प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित नहीं होता।

असन्तुष्टस्य विप्रस्य तेजो विद्या तपो यशः ।
स्रवन्तीन्द्रियलौल्येन ज्ञानं चैवावकीर्यते ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

असन्तुष्टस्य—आत्मतुष्ट न होने वाले; विप्रस्य—ब्राह्मण का; तेजः—बल; विद्या—शिक्षा; तपः—तपस्या; यशः—कीर्ति; स्रवन्ति—चुक जाते हैं; इन्द्रिय—इन्द्रियों के; लौल्येन—लालच से; ज्ञानम्—ज्ञान; च—तथा; एव—निश्चय ही; अवकीर्यते—धीरे-धीरे लुप्त हो जाता है।.

भक्त या ब्राह्मण जो आत्म-तुष्ट नहीं होता, उसका आध्यात्मिक ज्ञान, विद्या, तपस्या तथा कीर्ति उसकी इन्द्रियलोलुपता के कारण क्षीण हो जाते हैं और उसका ज्ञान शनैः शनैः लुप्त हो जाता है।

कामस्यान्तं हि क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यैतत्फलोदयात् ।
जनो याति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

कामस्य—इन्द्रियतृप्ति या शरीर की किसी अविलम्ब आवश्यकता के लिए इच्छा का; अन्तम्—अन्त; हि—निस्सन्देह; क्षुत्-तृड्भ्याम्—भूखे या प्यासे के द्वारा; क्रोधस्य—क्रोध का; एतत्—यह; फल-उदयात्—प्रताड़न का उदय होने तथा उसके फल

से; जनः—मनुष्य; याति—पार कर लेता है; न—नहीं; लोभस्य—लालच का; जित्वा—जीतकर; भुक्त्वा—भोगकर; दिशः—सारी दिशाएँ; भुवः—भूमण्डल की।

भूख तथा प्यास से पीड़ित मनुष्य की प्रबल शारीरिक इच्छाएँ तथा आवश्यकताएँ भोजन करने के बाद निश्चित रूप से तुष्ट हो जाती हैं। इसी प्रकार यदि कोई क्रोध करता है, तो प्रताड़ना तथा उसके फल द्वारा क्रोध तुष्ट हो जाता है। लेकिन जहाँ तक लालच की बात है, यदि लालची व्यक्ति संसार की सारी दिशाओं को जीत ले या संसार की प्रत्येक वस्तु का भोग कर ले तो भी वह तुष्ट नहीं होगा।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (३.३७) में कहा गया है कि इस संसार में काम, क्रोध तथा लोभ बद्धजीव के बन्धन के कारण होते हैं। *काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।* जब इन्द्रियतृप्ति के लिए प्रबल विषयवासना की पूर्ति नहीं होती तो मनुष्य क्रोध करता है। यह क्रोध तभी शमित होता है जब वह अपने शत्रु को ताड़ित कर लेता है, किन्तु जब लोभ बढ़ जाता है, तो भला मनुष्य कृष्णभावनामृत में किस तरह प्रगति कर सकता है क्योंकि लोभ रजोगुण से उत्पन्न सबसे बड़ा शत्रु है।

यदि कोई कृष्णभावनामृत को बढ़ाने के लिए अत्यधिक लोभ करता है, तो यह महान् वरदान है। तब *लौल्यमेकलं मूलम्।* यह सर्वश्रेष्ठ सुलभ मार्ग है।

पण्डिता बहवो राजन्बहुज्ञाः संशयच्छिदः ।
सदसस्पतयोऽप्येके असन्तोषात्पतन्त्यधः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

पण्डिताः—पण्डित; बहवः—अनेक; राजन्—हे राजा (युधिष्ठिर); बहु-ज्ञाः—अनुभवी व्यक्ति; संशय-च्छिदः—कानूनी सलाह देने में पटु; सदसः पतयः—विद्वत् सभाओं का सभापति चुने जाने योग्य व्यक्ति; अपि—भी; एके—एक अवगुण से; असन्तोषात्—केवल असन्तोष या लालसा के कारण; पतन्ति—नीचे गिरते हैं; अधः—जीवन के नरक में।

हे राजा युधिष्ठिर, अनेक अनुभवी व्यक्ति, अनेक विधि सलाहकार, अनेक विद्वान तथा विद्वत्सभाओं के सभापति बनने योग्य अनेक व्यक्ति अपने-अपने पदों से सन्तुष्ट न होने के कारण नारकीय जीवन में जा गिरते हैं।

तात्पर्य : आध्यात्मिक उन्नति के लिए मनुष्य को भौतिक दृष्टि से संतुष्ट होना चाहिए क्योंकि ऐसा न होने पर भौतिक विकास के लालच से उसकी आध्यात्मिक प्रगति अस्त-व्यस्त हो जाएगी। ऐसी दो बातें हैं, जो सारे सद्गुणों को व्यर्थ कर देती हैं। एक है विपन्नता या दरिद्रता। *दरिद्रदोषो गुणराशिनाशी।* यदि कोई फटेहाल (दरिद्र) है, तो उसके सारे सद्गुण व्यर्थ हो जाते हैं। इसी प्रकार यदि कोई

अत्यधिक लालची (लोभी) हो जाता है, तो उसके सारे सद्‌गुण नष्ट हो जाते हैं। अतएव ऐसा तालमेल होना चाहिए कि मनुष्य दरिद्र न हो, किन्तु वह जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं से तुष्ट होने का प्रयत्न करे तथा लालच न करे। अतएव आध्यात्मिक उन्नति के लिए भक्त के लिए सर्वश्रेष्ठ सलाह यही है कि वह न्यूनतम आवश्यकताओं से तुष्ट रहे। फलस्वरूप भक्ति में पारंगत विद्वान सलाह देते हैं कि मन्दिरों तथा मठों की संख्या बढ़ाने की चेष्टा न की जाये। ऐसे कार्य केवल वे भक्त कर सकते हैं, जो कृष्णभावनामृत आन्दोलन को अग्रसर करने में अनुभवी हैं। दक्षिण भारत के सारे *आचार्यों* ने, विशेषतया श्रीरामानुजाचार्य ने, अनेक बड़े-बड़े मन्दिर बनवाये और उत्तर भारत में वृन्दावन के सभी गोस्वामियों ने बड़े-बड़े मन्दिर बनवाये। श्रील भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ने भी गौड़ीय मठ नाम से बड़े-बड़े केन्द्र निर्मित कराये। अतएव मन्दिर निर्माण कराना बुरा नहीं है बशर्ते कि कृष्णभावनामृत के प्रसार के लिए सतर्कता बरती जाये। भले ही ऐसे प्रयास लोभपूर्ण माने जाँय, किन्तु ये यह लोभ कृष्ण को तुष्ट करने के लिए है और सभी आध्यात्मिक कार्य हैं।

असङ्कल्पाज्जयेत्कामं क्रोधं कामविवर्जनात् ।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

असङ्कल्पात्—संकल्प से; जयेत्—जीते; कामम्—कामेच्छाओं को; क्रोधम्—क्रोध को; काम-विवर्जनात्—इन्द्रिय इच्छा के विषय को त्याग देने से; अर्थ—धन संग्रह; अनर्थ—दुख का कारण; ईक्षया—मानने से; लोभम्—लोभ को; भयम्—भय को; तत्त्व—सत्य; अवमर्शनात्—विचार करने से।

दृढ़ता-पूर्वक योजनाएँ बनाकर मनुष्य को इन्द्रियतृप्ति की कामपूर्ण इच्छाएँ त्याग देनी चाहिए। इस प्रकार ईर्ष्या त्यागकर क्रोध पर विजय प्राप्त करनी चाहिए, धन संग्रह करने के दोषों पर विचार-विमर्श करके लोभ का परित्याग करना चाहिए और सत्य की विवेचना करके भय का त्याग करना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने सुझाया है कि किस तरह इन्द्रियतृप्ति के लिए विषयवासनाओं पर विजय प्राप्त की जा सकती है। कोई भी मनुष्य स्त्रियों के विषय में सोचना नहीं छोड़ सकता क्योंकि इस तरह सोचना स्वाभाविक है; सड़क पर चलते हुए भी उसे अनेक स्त्रियाँ दिखेंगी। किन्तु यदि कोई स्त्री के साथ न रहने का संकल्प कर ले तो वह स्त्री को देखकर भी कामुक नहीं होगा। यदि कोई मैथुन न करने का निश्चय कर ले तो वह विषयवासनाओं पर स्वत: विजय पा

लेगा। इस प्रसंग में उदाहरण दिया जाता है कि यदि कोई भूखा भी हो किन्तु यदि वह किसी दिन उपवास करने का संकल्प कर ले तो वह भूख-प्यास की बाधाओं को विजय प्राप्त कर सकेगा। यदि कोई संकल्प कर ले कि वह किसी से ईर्ष्या नहीं करेगा तो वह सहज ही क्रोध पर विजय पा लेगा। इसी प्रकार वह धन संचय करने की इच्छा को त्याग सकता है मात्र यदि वह इतना ही सोच ले कि अपने पास आये धन की रक्षा करना कितना कठिन है। यदि किसी के पास प्रचुर नकद धन रहता है, तो वह उसे ठीक से संभालने के विषय में चिन्तित रहता है। इस तरह यदि कोई धन संचय के अवगुणों की विवेचना करे तो वह स्वभावत: बिना कठिनाई के अपना व्यवसाय छोड़ सकता है।

आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया ।
योगान्तरायान्मौनेन हिंसां कामाद्यनीहया ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

आन्वीक्षिक्या—भौतिक तथा आध्यात्मिक विषयों में विचार-विमर्श करके; शोक—शोक; मोहौ—तथा मोह; दम्भम्—मिथ्या अभिमान को; महत्—वैष्णव; उपासया—सेवा द्वारा; योग-अन्तरायान्—योग के मार्ग में अवरोधों पर; मौनेन—मौन से; हिंसाम्—ईर्ष्या; काम-आदि—इन्द्रिय तृप्ति के लिए; अनीहया—बिना चेष्टा के।

आध्यात्मिक ज्ञान के विवेचन से शोक तथा मोह पर विजय प्राप्त की जा सकती है, महान् भक्त की सेवा करके अहंकाररहित बना जा सकता है, मौन रह कर योग मार्ग के अवरोधों से बचा जा सकता है और इन्द्रियतृप्ति को रोक देने से ही ईर्ष्या पर विजय पाई जा सकती है।

तात्पर्य : यदि किसी का पुत्र मर गया हो तो शोक तथा मोह से प्रभावित होना और मृत पुत्र के लिए रोना स्वाभाविक है। लेकिन *भगवद्गीता* के निम्नलिखित श्लोकों पर विचार करने से वह शोक तथा मोह पर विजय पा सकता है—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

चूँकि आत्मा का देहान्तर होता है अतएव जिसने जन्म लिया है उसे अवश्यमेव यह शरीर छोड़ना और फिर दूसरा शरीर ग्रहण करना होता है। इसके लिए शोक करना व्यर्थ है। अतएव कृष्ण कहते हैं— *धीरस्तत्र न मुह्यति*—जो धीर है, जो दर्शन का विद्वान है और ज्ञानी है, वह आत्मा के देहान्तरण पर कभी दुखी नहीं हुआ करता।

कृपया भूतजं दु:खं दैवं जह्यात्समाधिना ।

आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया ॥ २४॥

शब्दार्थ

कृपया—अन्य जीवों पर दयालु होने से; भूत-जम्—अन्य जीवों के कारण; दुःखम्—दुख; दैवम्—भाग्य द्वारा प्रदत्त दुख; जह्यात्—त्याग दे; समाधिना—समाधि या ध्यान द्वारा; आत्म-जम्—शरीर तथा मन के कारण दुख; योग-वीर्येण—हठयोग, प्राणायाम इत्यादि के अभ्यास से; निद्राम्—नींद को; सत्त्व-निषेवया—सतोगुण या ब्राह्मण-गुणों का विकास करके।

मनुष्य को चाहिए कि अन्य जीवों के कारण होने वाले दुखों का प्रतिकार अच्छे आचरण (सदाचार) तथा ईर्ष्या से रहित होकर करे, भाग्य द्वारा प्रदत्त कष्टों का सामना समाधि में ध्यान करके करे और शरीर तथा मन से उत्पन्न दुखों का प्रतिकार हठ योग, प्राणायाम आदि के अभ्यास द्वारा करे। इसी प्रकार विशेष रूप से सतोगुण का विकास करके खाने के मामले में, निद्रा पर विजय पाई जाये।

तात्पर्य : मनुष्य को चाहिए कि वह ऐसा भोजन करने का अभ्यास करे जिससे अन्य जीवों को कष्ट न पहुँचे। चूँकि किसी द्वारा चिकोटी काटे जाने या मारे जाने पर मुझे कष्ट होता है इसलिए मुझे भी अन्य जीवों को चिकोटी काटने या उन्हें मारने का प्रयास नहीं करना चाहिए। लोगों को यह पता नहीं रहता कि निर्दोष पशुओं का वध करने के कारण उन्हें प्रकृति के कठोर कर्मफलों को भोगना पड़ेगा। जिस भी देश के लोग अनावश्यक पशु-वध करते हैं उन्हें प्रकृति द्वारा लादे जाने वाले युद्ध तथा महामारी के कष्ट को भोगना पड़ेगा। अतएव अन्यों के कष्ट से अपने कष्टों की तुलना करके मनुष्य को सभी जीवों पर दयालु रहना चाहिए। कोई भाग्य द्वारा थोपे गये कष्टों से बच नहीं सकता अतएव जब कष्ट आ जाये तो मनुष्य को चाहिए कि हरे कृष्ण मंत्र के जाप में पूर्णतया लीन हो जाये। मनुष्य हठ योग के अभ्यास से शरीर तथा मन के कष्टों से बच सकता है।

रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वं चोपशमेन च ।
एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत् ॥ २५॥

शब्दार्थ

रजः तमः—रजो तथा तमो गुण; च—तथा; सत्त्वेन—सतोगुण विकसित करने से; सत्त्वम्—सतोगुण; च—भी; उपशमेन—आसक्ति त्यागने से; च—तथा; एतत्—ये; सर्वम्—सभी; गुरौ—गुरु में; भक्त्या—भक्तिपूर्वक सेवा करने से; पुरुषः—पुरुष; हि—निस्सन्देह; अञ्जसा—सरलता से; जयेत्—विजय पा सकता है।

मनुष्य को सतोगुण विकसित करके रजोगुण तथा तमोगुण को जीतना चाहिए और तब शुद्ध सत्त्व के पद तक उठ कर सतोगुण से विरक्त हो लेना चाहिए। यदि कोई श्रद्धा तथा

भक्तिपूर्वक गुरु की सेवा में लगा रहे तो यह सब कुछ स्वतः हो सकता है। इस प्रकार प्रकृति के गुणों के प्रभाव पर विजय पाई जा सकती है।

तात्पर्य : किसी रोग के मूल कारण का उपचार करके शारीरिक वेदनाओं एवं क्लेशों को जीता जा सकता है। इसी प्रकार यदि कोई गुरु के प्रति श्रद्धा तथा भक्ति करे तो वह सतो, रजो तथा तमोगुणों के प्रभाव पर सरलता से विजय पा सकता है। योगी तथा ज्ञानी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए कई प्रकार से अभ्यास करते हैं, किन्तु गुरु की कृपा से भक्त को तुरन्त ही भगवत्कृपा प्राप्त हो जाती है। *यस्य प्रसादाद्भगवत्प्रसादो।* यदि गुरु अनुकूल हों तो मनुष्य को सहज ही भगवत्कृपा प्राप्त हो जाती है और भगवत्कृपा होने पर वह इस संसार में सतो, रजो तथा तमोगुणों के प्रभावों को जीतकर तुरन्त दिव्य बन जाता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में की गई है (*स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते*)। यदि कोई गुरु के आदेशों के अनुसार चलने वाला शुद्ध भक्त हो तो उसे सरलता से भगवत्कृपा प्राप्त हो जाती है और वह तुरन्त दिव्य पद पर आरूढ़ होता है। इसकी व्याख्या अगले श्लोक में की गई है।

यस्य साक्षाद्भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ ।
मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जो; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवति—भगवान् में; ज्ञान-दीप-प्रदे—जो ज्ञान रूपी दीप से प्रकाशित करता है; गुरौ—गुरु में; मर्त्य-असत्-धीः—गुरु को सामान्य मनुष्य मानता है और ऐसी प्रतिकूल मनोवृत्ति रखता है; श्रुतम्—वैदिक ज्ञान; तस्य—उसका; सर्वम्—प्रत्येक वस्तु; कुञ्जर-शौच-वत्—झील में हाथी के स्नान के समान।

गुरु को साक्षात् भगवान् मानना चाहिए, क्योंकि वह प्रकाश के लिए दिव्य ज्ञान प्रदान करता है। फलस्वरूप जो यह भौतिक धारणा रखता है कि गुरु सामान्य मनुष्य होता है उसके लिए हर वस्तु निराशाजनक रहती है। उसका प्रकाश, उसका वैदिक अध्ययन तथा ज्ञान झील में हाथी के स्नान के समान होता है।

तात्पर्य : यह संस्तुति की गई है कि मनुष्य गुरु का भगवान् के ही समान पद पर सम्मान करे। *साक्षाद् धरित्वेन समस्तशास्त्रैः।* प्रत्येक शास्त्र का यही आदेश है। *आचार्यं मां विजानीयात्*—आचार्य को भगवान् के ही समान मानना चाहिए। इतने उपदेशों के बाद भी यदि कोई गुरु को सामान्य व्यक्ति समझता है, तो उसका विनाश निश्चित है। उसका वेदाध्ययन तथा प्रकाश के लिए उसकी तपस्या सभी व्यर्थ हैं जैसे हाथी का स्नान। हाथी झील में अच्छी तरह स्नान करता है, किन्तु किनारे पर आते ही

धरती से कुछ धूल उठा कर पूरे शरीर पर छिड़क लेता है। इस तरह हाथी के स्नान का कोई अर्थ नहीं रह जाता। कोई यह तर्क कर सकता है कि जब गुरु के सम्बन्धी तथा उसके पड़ोसी उसे सामान्य व्यक्ति मानते हैं, तो इसमें उस शिष्य का कौन सा दोष है, जो गुरु को सामान्य मनुष्य मानता है? इसका उत्तर अगले श्लोक में मिलेगा। किन्तु आदेश यही है कि गुरु को कभी भी सामान्य व्यक्ति न माना जाए। मनुष्य को गुरु के आदेशों का दृढ़ता से पालन करना चाहिए, क्योंकि यदि गुरु प्रसन्न हो गये तो भगवान् भी प्रसन्न हो गए। *यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादो यस्याप्रसादान् न गतिः कुतोऽपि।*

एष वै भगवान्साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरः ।
योगेश्वरैर्विमृग्याङ्घ्रिर्लोको यं मन्यते नरम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

एषः—यह; वै—निस्सन्देह; भगवान्—भगवान्; साक्षात्—प्रत्यक्ष; प्रधान—प्रकृति के मुख्य कारण; पुरुष—पुरुषावतार भगवान् विष्णु का या समस्त जीवों का; ईश्वरः—परम नियन्ता; योग-ईश्वरैः—बड़े-बड़े साधु पुरुषों या योगियों द्वारा; विमृग्य-अङ्घ्रिः—भगवान् कृष्ण के चरणकमल, जिनकी खोज की जाती है; लोकः—सामान्य जन; यम्—उसको; मन्यते—मानते हैं; नरम्—मनुष्य।

भगवान् कृष्ण अन्य समस्त जीवों के तथा भौतिक प्रकृति के स्वामी हैं। व्यास जैसे महर्षि उनके चरणकमलों की तलाश करते और उन्हें पूजते हैं। तो भी कुछ ऐसे मूर्ख हैं, जो कृष्ण को सामान्य मनुष्य मानते हैं।

तात्पर्य : गुरु को समझने के प्रसंग में भगवान् कृष्ण के परमेश्वर होने का उदाहरण उपयुक्त है। गुरु *सेवक-भगवान्* कहलाता है और कृष्ण *सेव्य-भगवान्* कहलाते हैं जिनकी सेवाकी जानी चाहिए। गुरु पूजक ईश है और भगवान् कृष्ण पूज्य ईश हैं। गुरु और भगवान् में यही अन्तर है।

दूसरी बात—जिस *भगवद्गीता* में भगवान् का उपदेश है, वह बिना किसी हेर-फेर के यथार्थ रूप में गुरु द्वारा प्रस्तुत की जाती है। अतएव परम सत्य गुरु में विद्यमान रहते हैं। श्लोक २६ में *ज्ञानदीपप्रदे* कहा गया है। भगवान् समूचे विश्व को असली ज्ञान देते हैं और उनके प्रतिनिधि रूप में गुरु इस सन्देश को सारे विश्व में ले जाता है। अतएव चरम पद पर गुरु तथा भगवान् में कोई अन्तर नहीं होता। यदि कोई भगवान् कृष्ण या रामचन्द्र को सामान्य व्यक्ति मानता है, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि भगवान् सामान्य व्यक्ति बन गये हैं। इसी प्रकार भगवान् के प्रामाणिक प्रतिनिधि गुरु को यदि उसके परिवार के लोग सामान्य मनुष्य मानते हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह सामान्य मनुष्य बन

गया है। गुरु भगवान् के तुल्य है अतएव जो आध्यात्मिक प्रगति करने के गम्भीरता पूर्वक इच्छुक हों उन्हें गुरु को इसी तरह मानना चाहिए। इस समझ में थोड़ा भी हेर-फेर होने से शिष्य के वैदिक अध्ययन तथा तप में विनाश हो सकता है।

षड्वर्गसंयमैकान्ताः सर्वा नियमचोदनाः ।
तदन्ता यदि नो योगानावहेयुः श्रमावहाः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

षट्-वर्ग—छः तत्त्व, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा छठा मन; संयम-एकान्ताः—इन्द्रिय-दमन का चरम लक्ष्य; सर्वाः—ऐसे सारे कार्यकलाप; नियम-चोदनाः—इन्द्रियों तथा मन को वश में करने के लिए अन्य विधान; तत्-अन्ताः—ऐसे कार्यकलापों का चरमलक्ष्य; यदि—यदि; नो—नहीं; योगान्—ब्रह्म के साथ जुड़ने की कड़ी; आवहेयुः—ले जाती है; श्रम-आवहाः—समय तथा श्रम का अपव्यय।

अनुष्ठान (कर्मकाण्ड), विधि-विधान, तपस्या तथा योगाभ्यास—ये सभी इन्द्रियों तथा मन को वश में करने के लिए हैं, किन्तु इन्द्रियों तथा मन को वश में कर लेने के बाद भी यदि वह भगवान् का ध्यान नहीं करता तो ये सारे कार्यकलाप श्रम के अपव्यय मात्र हैं।

तात्पर्य : कोई यह तर्क कर सकता है कि योगाभ्यास से तथा वैदिक नियमों के अनुसार कर्मकाण्ड करने से गुरु की एकान्त भक्ति किये बिना ही मनुष्य को जीवन के चरम लक्ष्य—परमात्मा—की अनुभूति प्राप्त हो सकती है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि योगाभ्यास से मनुष्य को भगवान् के चिन्तन पद तक पहुँचना चाहिए। जैसाकि शास्त्रों में कहा गया है—*ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः*—ध्यान में लीन मनुष्य योगाभ्यास में सिद्धि प्राप्त करता है तब उसे भगवान् के दर्शन होते हैं। मनुष्य अनेक प्रकार के अभ्यासों से इन्द्रियों को वश में करने की स्थिति में पहुंच सकता है किन्तु इन्द्रियों को वश में करने मात्र से ही कोई ठोस निष्कर्ष को प्राप्त नहीं होता। किन्तु गुरु तथा भगवान् में एकान्त श्रद्धा होने से मनुष्य न केवल इन्द्रियों को वश में करता है, अपितु भगवान् की अनुभूति भी कर लेता है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

"जो लोग भगवान् तथा गुरु दोनों पर निर्विवाद श्रद्धा रखते हैं उन्हीं महात्माओं को वैदिक ज्ञान का आशय स्वतः प्रकट होता है।" (*श्वेताश्वतर उपनिषद* ६.२३) आगे भी कहा गया है—*तुष्येयं*

सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया तथा *तरन्त्यञ्जो भवार्णवम्।* गुरु की सेवा करने मात्र से ही अज्ञान के सागर को पार करके भगवद्धाम को लौटा जा सकता है। तब उसे क्रमशः भगवान् के साक्षात् दर्शन होते हैं और वह भगवान् की संगति में जीवन का भोग कर सकता है। योग का चरम लक्ष्य भगवान् के सम्पर्क में आना है। जब तक इसकी प्राप्ति न हो तब तक तथाकथित योगाभ्यास व्यर्थ का श्रम है।

यथा वार्तादयो ह्यर्था योगस्यार्थं न बिभ्रति ।
अनर्थाय भवेयुः स्म पूर्तमिष्टं तथासतः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; **वार्ता-आदयः**—वृत्तिपरक कर्तव्य आदि कार्यकलाप; **हि**—निश्चय ही; **अर्थाः**—आय (ऐसे वृत्तिपरक कार्यों से); **योगस्य**—आत्म-साक्षात्कार के लिए योग का; **अर्थम्**—लाभ; **न**—नहीं; **बिभ्रति**—सहायता करते हैं; **अनर्थाय**—अर्थहीन (जन्म-मरण के चक्र में बाँधते हुए); **भवेयुः**—वे हैं; **स्म**—सभी काल में; **पूर्तम् इष्टम्**—वैदिक कर्मकाण्ड; **तथा**—उसी तरह; **असतः**—अभक्त का।

जिस तरह वृत्तिपरक कार्यकलाप या व्यापार के लाभ किसी की आध्यात्मिक उन्नति में सहायक नहीं बन सकते, अपितु वे भौतिक बन्धन के कारण बन जाते हैं उसी तरह वैदिक कर्मकाण्ड ऐसे किसी व्यक्ति की सहायता नहीं कर सकते जो भगवान् का भक्त नहीं है।

तात्पर्य : यदि कोई अपने वृत्तिपरक कार्यकलापों से, व्यापार से या कृषि के द्वारा अत्यन्त धनी बन जाता है, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह आध्यात्मिक दृष्टि से बढ़ा-चढ़ा है। आध्यात्मिक उन्नत होना भौतिक दृष्टि से समृद्ध होने से भिन्न है। यद्यपि जीवन का उद्देश्य आध्यात्मिक दृष्टि से सम्पन्न होना है, तो भी पथभ्रष्ट होने के कारण अभागे लोग सदैव भौतिक दृष्टि से धनी बनने के प्रयास में लगे रहते हैं, किन्तु ऐसे भौतिक व्यापारों से मनुष्य-जीवन के उद्देश्य की वास्तविक पूर्ति में कोई सहायता नहीं मिलती। उलटे, भौतिक व्यापारों से मनुष्य व्यर्थ की आवश्यकताओं के प्रति आकृष्ट होता रहता है, जिसके साथ यह खतरा लगा रहता है कि उसे कहीं निम्न योनि में जन्म न लेना पड़े। जैसी कि *भगवद्गीता* (१४.१८) में में पुष्टि हुई है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

''जो सतोगुणी होते हैं, वे धीरे धीरे उच्च लोकों को जाते हैं, जो रजोगुणी हैं, वे पृथ्वी लोक में रह जाते हैं और जो तमोगुणी हैं, वे नरक लोकों को जाते हैं।'' विशेष रूप से इस कलियुग में भौतिक

उन्नति का अर्थ है पतन और निम्न प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाली अनावश्यक वस्तुओं के प्रति आकर्षण। अतएव *जघन्यगुणवृत्तिस्था*—चूँकि लोग निम्न गुणों से कुलषित रहते हैं, अतएव वे अगले जन्मों में या तो पशु या अन्य कोई निम्न योनि में जीवन बिताएँगे। कृष्णभावनामृत के बिना धर्म का दिखावा भले ही अज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में किसी को लोकप्रिय बना दे, किन्तु वास्तव में आध्यात्मिक उन्नति का ऐसा स्वाँग किसी को लाभ नहीं पहुँचाता; यह किसी को जीवन लक्ष्य को चूकने से नहीं रोकेगा।

यश्चित्तविजये यत्तः स्यान्निःसङ्गोऽपरिग्रहः ।
एको विविक्तशरणो भिक्षुर्भैक्ष्यमिताशनः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यः—जो; चित्त-विजये—मन को जीतकर; यत्तः—लगा रहता है; स्यात्—हो; निःसङ्गः—दूषित संगति से रहित; अपरिग्रहः—आश्रित न रहकर (परिवार पर); एकः—अकेले; विविक्त-शरणः—एकान्त स्थान की शरण लेकर; भिक्षुः—संन्यासी; भैक्ष्य—केवल शरीर पालन के लिए भीख माँग कर; मित-अशनः—कम खाने वाला।

जो मन पर विजय पाने का इच्छुक हो उसे अपने परिवार का साथ छोड़ते हुए दूषित संगित से मुक्त एकान्त स्थान में रहना चाहिए। अपने शरीर-पोषण के लिए उसे उतना ही माँगना चाहिए जितने से जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएँ पूरी हो जायँ।

तात्पर्य : मन की चंचलता को जीतने की यही विधि है। मनुष्य को सलाह दी जाती है कि वह अपना परिवार त्याग कर अकेले रहे और भीख माँग कर जीवन निर्वाह करे तथा उतना ही भोजन करे जितने से वह जीवित रहा जा सके। ऐसी विधि के बिना कामेच्छाओं पर विजय नहीं पाई जा सकती। संन्यास का अर्थ है भिक्षा वृत्ति स्वीकार करना जिससे मनुष्य स्वत: विनम्र तथा कामेच्छा से मुक्त हो जाता है। इस प्रसंग में *स्मृति* का निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

द्वन्द्वाहतस्य गार्हस्थ्यं ध्यानभङ्गादिकारणम्।
लक्षयित्वा गृही स्पष्टं संन्यसेद् अविचारयन्॥

द्वन्द्वयुक्त इस जगत में पारिवारिक जीवन ही वह कारण है, जिससे मनुष्य का आध्यात्मिक जीवन या ध्यान नष्ट होता है। इस तथ्य को विशेष तौर पर समझते हुए मनुष्य को नि:संकोच संन्यास आश्रम स्वीकार करना चाहिए।

देशे शुचौ समे राजन्संस्थाप्यासनमात्मनः ।

स्थिरं सुखं समं तस्मिन्नासीतर्ज्वङ्ग ओमिति ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

देशे—स्थान पर; शुचौ—अत्यन्त पवित्र; समे—समतल; राजन्—हे राजा; संस्थाप्य—रखकर; आसनम्—आसन पर; आत्मनः—स्वयं को; स्थिरम्—अत्यन्त स्थिर; सुखम्—सुखपूर्वक; समम्—समतल; तस्मिन्—उस आसन पर; आसीत—बैठ जाये; ऋजु-अङ्गः—शरीर को सीधा करके; ॐ—वैदिक मंत्र प्रणव; इति—इस प्रकार।

हे राजा, योग सम्पन्न करने के लिए पवित्र तथा पुण्य तीर्थस्थल में किसी एक स्थान को चुने। यह स्थान समतल हो—न तो अधिक ऊँचा और न नीचा। तब वहाँ सुखपूर्वक स्थिर तथा समभाव से बैठकर शरीर को सीधा रखकर वैदिक प्रणव का उच्चारण प्रारम्भ करे।

तात्पर्य : सामान्यतया ॐ जप की संस्तुति की जाती है, क्योंकि प्रारम्भ में भगवान् को समझना कठिन होता है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.२.११) में कहा गया है—

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते॥

"जो विद्वान अध्यात्मवादी परम सत्य को जानते हैं, वे इस अद्वैत वस्तु को ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् कहकर पुकारते हैं।" जब तक कोई भगवान् के विषय में पूर्णतः आश्वस्त नहीं हो जाता, उसके अपने हृदय के भीतर परमात्मा को ढूँढ़ते हुए निर्विशेष योगी बननेकी सम्भावना होती है (*ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः*)। यहाँ पर ओङ्कार जप की संस्तुति की गई है, क्योंकि दिव्य अनुभूति के प्रारम्भ में हरे कृष्ण महामंत्र का जाप न करके मनुष्य ओङ्कार (प्रणव) का जाप कर सकता है। हरे कृष्ण महामंत्र तथा ओङ्कार में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों ही भगवान् की ध्वनि-अभिव्यक्तियाँ हैं। *प्रणवः सर्ववेदेषु।* समस्त वैदिक वाङ्मय में ओङ्कार ध्वनि ही शुभारम्भ है (*ॐ नमो भगवते वासुदेवाय*)। ओङ्कार के जप तथा हरे कृष्ण मंत्र के जप में यही अन्तर है कि हरे कृष्ण मंत्र का जप स्थान या आसन का विचार किये बिना किया जा सकता है, जिसकी संस्तुति *भगवद्गीता* (६.११) में की गई है—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥

"योगाभ्यास के लिए मनुष्य को एकान्त स्थान में जाना चाहिए और भूमि पर कुश बिछाकर उसके ऊपर मृगचर्म तथा मुलायम कपड़ा डाल देना चाहिए। आसन न तो अधिक ऊँचा हो न अधिक नीचा।

इसे पवित्र स्थान में होना चाहिए।" हरे कृष्ण मंत्र को कोई भी व्यक्ति स्थान या आसन का विचार किये बिना जप सकता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने स्पष्ट कहा है—*नियमित: स्मरणे न काल:।* हरे कृष्ण महामंत्र के जप करने के लिए आसन के विषय में कोई विशिष्ट आदेश नहीं है। *नियमत: स्मरणे न काल:* नामक आदेश में देश, काल तथा पात्र सभी समाविष्ट हैं। अतएव कोई भी व्यक्ति देश तथा काल का ध्यान रखे बिना हरे कृष्ण मंत्र का जप कर सकता है। विशेषतया इस कलियुग में *भगवद्गीता* द्वारा संस्तुत उपयुक्त स्थान खोज पाना कठिन है। किन्तु हरे कृष्ण महमंत्र का जप किसी भी स्थान में और किसी भी समय किया जा सकता है और इससे तुरन्त ही फल मिलता है। फिर भी हरे कृष्ण मंत्र का जप करते हुए विधि-विधानों का पालन किया जा सकता है। अत: जप के समय शरीर को सीधा रखा जाये। इससे जापक को सहायता मिलेगी अन्यथा उसे नींद आ सकती है।

प्राणापानौ सन्निरुन्ध्यात्पूरकुम्भकरेचकै: ।
यावन्मनस्त्यजेत्कामान्स्वनासाग्रनिरीक्षण: ॥ ३२ ॥
यतो यतो नि:सरति मन: कामहतं भ्रमत् ।
ततस्तत उपाहृत्य हृदि रुन्ध्याच्छनैर्बुध: ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

प्राण—भीतर जाने वाली श्वास; अपानौ—बाहर निकलने वाली श्वास; सन्निरुन्ध्यात्—रोके रहे; पूर-कुम्भक-रेचकै:—श्वास भीतर खींचना, बाहर निकालना तथा रोकना, इन तीनों को क्रमश: पूरक, कुम्भक तथा रेचक कहा जाता है; यावत्—जब तक; मन:—मन; त्यजेत्—छोड़ दे; कामान्—सारी भौतिक इच्छाएँ; स्व—अपनी; नास-अग्र—नाक का अग्रभाग; निरीक्षण:—देखना; यत: यत:—जहाँ कहीं से जे कुछ; नि:सरति—निकलती है; मन:—मन; काम-हतम्—कामेच्छाओं से पराजित होकर; भ्रमत्—घूमते हुए; तत: तत:—यहाँ-वहाँ से; उपाहृत्य—वापस लाकर; हृदि—हृदय के भीतर; रुन्ध्यात्—रोके (मन को); शनै:—अभ्यास से, धीरे-धीरे; बुध:—विद्वान योगी।

विद्वान योगी अपनी नाक के अग्रभाग पर निरन्तर दृष्टि लगाकर पूरक, कुम्भक तथा रेचक नामक श्वास लेने के आसन का—अर्थात् वह श्वास भीतर ले जाने, बाहर निकालने और फिर दोनों को रोक देने का—अभ्यास करता है। इस प्रकार योगी अपने मन को भौतिक आसक्तियों से रोकता है और सारी मानसिक इच्छाएँ त्याग देता है। ज्योंही मन कामेच्छाओं के वशीभूत होकर इन्द्रियतृप्ति की भावनाओं की ओर हटे त्योंही योगी को उसे तुरन्त वापस लाकर हृदय के भीतर बाँध लेना चाहिए।

तात्पर्य : यहाँ पर योगाभ्यास का संक्षिप्त वर्णन हुआ है। जब यह योगाभ्यास परिपूर्ण होता है, तो योगी को अपने हृदय के भीतर परमात्मा के दर्शन होते हैं। किन्तु *भगवद्गीता* (६.४७) में भगवान् कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

''योगियों में से जो योगी अत्यन्त श्रद्धापूर्वक मुझमें सदैव वास करता है और दिव्य प्रेमाभक्ति से मेरी पूजा करता है, वह योग में मुझसे घनिष्ठतापूर्वक बँध जाता है और वह सर्वश्रेष्ठ है।'' भक्त तुरन्त ही सिद्ध योगी बन सकता है क्योंकि वह अपने हृदय में सदैव कृष्ण को धारण करते हुए अभ्यास करता है। योगाभ्यास की यह अन्य विधि है। भगवान् कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

''सदैव मेरा चिन्तन करो और मेरे भक्त बन जाओ। मेरी पूजा करो और मुझे ही नमस्कार करो।'' (*भगवद्गीता* १८.६५) यदि कोई कृष्ण को सदा अपने हृदय में धारण करके (*मद्भक्तः*) भक्ति करता है, तो वह तुरन्त उच्चकोटि का योगी बन जाता है। दूसरे, कृष्ण को मन के भीतर रखना भक्त के लिए कोई कठिन कार्य नहीं। देहात्मबुद्धि के सामान्य मनुष्य के लिए तो योगाभ्यास सहायक सिद्ध हो सकता है, किन्तु जो तुरन्त ही भक्ति करने लगता है, वह बिना किसी कठिनाई के तुरन्त पूर्ण योगी बन जाता है।

एवमभ्यस्यतश्चित्तं कालेनाल्पीयसा यतेः ।
अनिशं तस्य निर्वाणं यात्यनिन्धनवह्निवत् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार से; अभ्यस्यतः—इस योग पद्धति का अभ्यास करने वाले व्यक्ति का; चित्तम्—हृदय; कालेन—कालान्तर में; अल्पीयसा—तुरन्त ही; यतेः—योगाभ्यासी व्यक्ति का; अनिशम्—बिना रुके, निरन्तर; तस्य—उसका; निर्वाणम्—समस्त कल्मष से शुद्धि; याति—प्राप्त करता है; अनिन्धन—बिना लपट या धुँआ के; वह्निवत्—आग के समान।

जब योगी इस तरह नियमित रूप से अभ्यास करता है, तो अल्प काल में उसका हृदय स्थिर हो जाता है और विचलित नहीं होता जिस प्रकार लपट या धूम से रहित अग्नि स्थिर हो जाती है।

तात्पर्य : *निर्वाण* का अर्थ है समस्त भौतिक इच्छाओं का अन्त। कभी-कभी इच्छारहित होना मन की क्रियाशीलता की समाप्ति का द्योतक होता है, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। जीव के इन्द्रियाँ होती हैं

और यदि ये इन्द्रियाँ कार्य करना बन्द कर दें तो जीव जीव न रहे, वह जड़ हो जाये—पत्थर या काठ की तरह। ऐसा सम्भव नहीं है। जीवित रहने के कारण जीव *नित्य* तथा *चेतन* है। जो लोग बहुत बढ़े-चढ़े नहीं हैं उन्हें भौतिक इच्छाओं द्वारा मन को विचलित होने से रोकने के लिए योगाभ्यास करने के लिए कहा जाता है, किन्तु यदि कोई अपने मन को कृष्ण के चरणकमलों पर स्थिर कर लेता है, तो उसका मन सहज ही शान्त हो जाता है। इस शान्ति का वर्णन *भगवद्गीता* (५.२९) में हुआ है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

यदि कोई यह समझ सके कि कृष्ण परम भोक्ता, हर वस्तु के परम स्वामी तथा सबों के परम मित्र हैं, तो उसे शान्ति प्राप्त होती है और वह भौतिक क्षोभ से मुक्त हो जाता है। किन्तु जो भगवान् को नहीं समझ सकता है उसके लिए योगाभ्यास करने की संस्तुति की जाती है।

कामादिभिरनाविद्धं प्रशान्ताखिलवृत्ति यत् ।
चित्तं ब्रह्मसुखस्पृष्टं नैवोत्तिष्ठेत कर्हिचित् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

काम-आदिभिः—विभिन्न कामेच्छाओं से; अनाविद्धम्—अप्रभावित; प्रशान्त—शान्त; अखिल-वृत्ति—हर तरह से अथवा सारे कार्यों में; यत्—जो; चित्तम्—चेतना; ब्रह्म-सुख-स्पृष्टम्—शाश्वत आनन्द के दिव्य पद पर स्थित; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; उत्तिष्ठेत—बाहर आ सकता है; कर्हिचित्—किसी समय।

जब मनुष्य की चेतना भौतिक कामेच्छाओं से अदूषित होती है, तो वह सभी कार्यों में शान्त हो जाती है, क्योंकि मनुष्य नित्य आनन्दमय जीवन को प्राप्त होता है। एक बार इस पद पर स्थित हो जाने पर मनुष्य फिर भौतिक कार्यकलापों की ओर वापस नहीं जाता।

तात्पर्य : ब्रह्मसुखस्पृष्टम् का वर्णन *भगवद्गीता* में भी (१८.५४) हुआ है—

ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

"जो दिव्य पद पर स्थिर है उसे तुरन्त परब्रह्म की अनुभूति हो जाती है और वह पूरी तरह प्रसन्न हो जाता है। वह न तो शोच करता है व कभी किसी वस्तु की इच्छा करता है; वह प्रत्येक जीव के प्रति समभाव रखता है। इस स्थिति में वह दिव्य कार्यकलाप या भगवद्भक्ति प्रारम्भ करता है।" सामान्यतया एक बार *ब्रह्मसुख* को प्राप्त मनुष्य फिर कभी नीचे नहीं आता। किन्तु यदि कोई भक्ति नहीं करता तो

भौतिक जगत में वापस आने की सम्भावना बनी रहती है। *आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृत युष्मदङ्घ्रयः*—मनुष्य *ब्रह्मसुख* पद तक ऊपर जा सकता है, किन्तु वह वहाँ से भी भौतिक जगत में गिर सकता है यदि वह अपने को भक्ति में नहीं लगाता।

यः प्रव्रज्य गृहात्पूर्वं त्रिवर्गावपनात्पुनः ।
यदि सेवेत तान्भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; प्रव्रज्य—वन जाकर (दिव्य सुख में स्थिर होकर); गृहात्—घर से; पूर्वम्—सर्वप्रथम; त्रि-वर्ग—धर्म, अर्थ तथा काम, ये तीन सिद्धान्त; आवपनात्—बोये गये खेत में से; पुनः—फिर; यदि—यदि; सेवेत—स्वीकार करना चाहिए; तान्—भौतिकतावादी कार्यकलापों को; भिक्षुः—संन्यासी; सः—वह पुरुष; वै—निस्सन्देह; वान्त-आशी—वमन करके खाने वाला; अपत्रपः—लज्जारहित, निर्लज्ज।

जो संन्यास आश्रम स्वीकार करता है, वह धर्म, अर्थ तथा काम इन तीन भौतिकतावादी कार्यकलापों के सिद्धान्तों को छोड़ देता है, जिनमें मनुष्य गृहस्थ जीवन में लिप्त रहता है। जो व्यक्ति पहले संन्यास स्वीकार करता है, किन्तु बाद में ऐसी भौतिकतावादी क्रियाओं में लौट आता है, वह वान्ताशी अर्थात् अपनी ही वमन को खाने वाला कहलाता है। निस्सन्देह, वह निर्लज्ज व्यक्ति है।

तात्पर्य : सारे भौतिकतावादी कार्यकलापों का नियमन वर्णाश्रम धर्म संस्थान द्वारा होता है। वर्णाश्रम धर्म के बिना सारे भौतिकतावादी कार्यकलाप पशु-जीवन की सृष्टि करते हैं। मनुष्य-जीवन में वर्ण तथा आश्रम—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास—के नियमों का पालन करते हुए मनुष्य को अन्ततोगत्वा संन्यास स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि संन्यास आश्रम में ही मनुष्य *ब्रह्मसुख* में स्थित हो सकता है। ब्रह्मसुख में मनुष्य कामेच्छाओं से आकृष्ट नहीं होता। जब कोई मैथुन की कामेच्छा से विचलित नहीं होता तो वह संन्यासी बनने के लिए उपयुक्त है, अन्यथा संन्यास ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि कोई *अपरिपक्व* अवस्था में संन्यास ग्रहण करे तो सम्भावना रहती है कि वह स्त्रियों से तथा कामेच्छाओं से आकर्षित हो जाए और पुनः तथाकथित गृहस्थ बन जाये। ऐसा व्यक्ति अत्यन्त निर्लज्ज होता है और *वान्ताशी* कहलाता है—ऐसा व्यक्ति जो उगले हुए को खाता है। वह निश्चय ही निन्दनीय जीवन बिताता है। अतएव हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में यह सलाह दी

जाती है कि संन्यासी तथा ब्रह्मचारी स्त्री–संगति से दूर रहें जिससे कामेच्छाओं का शिकार होकर पतित होने की सम्भावना न रह जाये।

यैः स्वदेहः स्मृतोऽनात्मा मर्त्यो विट्कृमिभस्मवत् ।
त एनमात्मसात्कृत्वा श्लाघयन्ति ह्यसत्तमाः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

यैः—जिन संन्यासियों द्वारा; स्व-देहः—अपना शरीर; स्मृतः—मानते हैं; अनात्मा—आत्मा से भिन्न; मर्त्यः—मृत्यु से प्रभावित; विट्—मल या विष्ठा बन कर; कृमि—कीड़े-मकोड़े; भस्म-वत्—या राख के सदृश; ते—ऐसे लोग; एनम्—इस शरीर को; आत्मसात् कृत्वा—फिर से अपने साथ पहचान करके; श्लाघयन्ति—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कह कर महिमा गाते हैं; हि—निस्सन्देह; असत्-तमाः—सबसे बड़े धूर्त।

जो संन्यासी पहले यह समझते हैं कि शरीर मर्त्य है और यह विष्ठा, कृमि या राख में परिणत हो जाएगा किन्तु जो पुनः शरीर को महत्त्व प्रदान करते हैं तथा आत्मा कहकर उसका गुणगान करते हैं उन्हें सबसे बड़ा धूर्त मानना चाहिए।

तात्पर्य : संन्यासी वह होता है, जो ज्ञान में उन्नति करके यह भलीभाँति समझ चुका है कि ब्रह्म स्वयं आत्मा है, शरीर नहीं। जिसे यह समझ है, वह संन्यास ग्रहण कर सकता है, क्योंकि वह *अहं ब्रह्मास्मि* पद पर स्थित होता है। *ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।* जो व्यक्ति न तो शोच करता है न अपने शरीर के पालन करने की लालसा करता है, किन्तु सभी जीवों को आत्मा के रूप में स्वीकार कर सकता है, वह भगवान् की भक्ति कर सकता है। यदि वह भगवद्भक्ति में प्रवेश नहीं करता, अपितु यह समझे बिना कि आत्मा तथा शरीर भिन्न हैं बनावटी तौर पर अपने को ब्रह्म या नारायण मानता है, तो वह निश्चित रूप से नीचे गिरता है (*पतन्त्यधः*)। ऐसा व्यक्ति फिर से शरीर को महत्त्व प्रदान करता है। भारत में ऐसे अनेक संन्यासी हैं, जो शरीर को महत्त्व प्रदान करते हैं और उन में से कुछ निर्धन मनुष्य के शरीर को विशेष महत्त्व देते हुए उसे *दरिद्र नारायण* के रूप में स्वीकार करते हैं मानो नारायण के भौतिक शरीर होता हो। अन्य अनेक संन्यासी शरीर की सामाजिक स्थिति के महत्त्व पर बल देते हैं—यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र। ऐसे संन्यासी सबसे बड़े धूर्त (*असत्तमाः*) समझे जाते हैं। वे निर्लज्ज हैं, क्योंकि उन्हें अभी तक शरीर तथा आत्मा का अन्तर ज्ञात नहीं हो पाया है और उल्टे वे ब्राह्मण के शरीर को ही ब्राह्मण मानते हैं। ब्राह्मणत्व ब्रह्म के ज्ञान में निहित है। ब्राह्मण का शरीर ब्रह्म नहीं है। इसी प्रकार शरीर न तो धनी होता है न दरिद्र। यदि दरिद्र का शरीर *दरिद्र नारायण*

होता तो फिर धनाढ्य व्यक्ति का शरीर *धनी नारायण* कहलाता। अतएव जो संन्यासी नारायण का अर्थ नहीं जानते, जो शरीर को ब्रह्म या नारायण मानते हैं, वे यहाँ पर अत्यन्त घृणित धूर्तों के रूप में (*असत्तमाः*) वर्णित किए गये हैं। देहात्मबुद्धि के वशीभूत हुए ऐसे संन्यासी शरीर की सेवा करने के विविध कार्यक्रम बनाते हैं। वे तथाकथित धार्मिक कृत्यों की हास्यास्पद संस्थाओं का संचालन करके जनता को गुमराह करते हैं। यहाँ पर ऐसे संन्यासियों को *अपत्रपः* तथा *असत्तमाः* अर्थात् निर्लज्ज तथा आध्यात्मिक जीवन से पतित कहा गया है।

गृहस्थस्य क्रियात्यागो व्रतत्यागो वटोरपि ।
तपस्विनो ग्रामसेवा भिक्षोरिन्द्रियलोलता ॥ ३८ ॥
आश्रमापसदा ह्येते खल्वाश्रमविडम्बनाः ।
देवमायाविमूढांस्तानुपेक्षेतानुकम्पया ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

गृहस्थस्य—गृहस्थ जीवन में स्थित व्यक्ति का; क्रिया-त्यागः—गृहस्थ के कर्तव्य को छोड़ना; व्रत-त्यागः—व्रतों तथा तपस्या का त्याग; वटोः—ब्रह्मचारी के लिए; अपि—भी; तपस्विनः—वानप्रस्थ के लिए, वह जिसने तप युक्त जीवन स्वीकार किया है; ग्राम-सेवा—गाँव में रहकर लोगों की सेवा करना; भिक्षोः—भीख माँग कर रहने वाले संन्यासी के लिए; इन्द्रिय-लोलता—इन्द्रियभोग में अनुरक्ति; आश्रम—आश्रम का; अपसदाः—अत्यन्त गर्हित; हि—निस्सन्देह; एते—ये सब; खलु—निस्सन्देह; आश्रम-विडम्बनाः—विभिन्न आश्रमों का अनुसरण करते और धोखा देते; देव-माया-विमूढान्—भगवान् की बहिरंगा शक्ति के द्वारा मोहग्रस्तों को; तान्—उन; उपेक्षेत—उपेक्षा करे और प्रमाणित न माने; अनुकम्पया—अथवा दया द्वारा (उन्हें असली जीवन की शिक्षा दे)।

गृहस्थ आश्रम में रहने वाले व्यक्ति के लिए विधि-विधानों का परित्याग करना, गुरु के संरक्षण में रहते हुए ब्रह्मचारी के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन न करना, वानप्रस्थ के लिए गाँव में रहना और तथाकथित सामाजिक कार्यों में व्यस्त रहना अथवा संन्यासी के लिए इन्द्रियतृप्ति में अनुरक्त रहना निन्दनीय हैं। जो ऐसा करता है, वह अत्यन्त निम्न श्रेणी का माना जाता है। ऐसा दिखावटी व्यक्ति भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा मोहग्रस्त रहता है। मनुष्य को चाहिए कि वह ऐसे व्यक्ति को किसी भी पद से निकाल दे या हो सके तो उस पर दया करके उसे शिक्षा दे जिससे वह अपने मूल पद पर वापस चला जाए।

तात्पर्य : हमने बारम्बार जोर देकर यह बात कही है कि मानव संस्कृति तब तक प्रारम्भ नहीं होगी जब तक मनुष्य *वर्णाश्रम धर्म* के सिद्धान्तों को ग्रहण नहीं करता। यद्यपि गृहस्थ जीवन में विषय-भोग के लिए छूट है, किन्तु कोई भी व्यक्ति गृहस्थ जीवन के विधि-विधानों का पालन किये बिना यौन

सुख नहीं उठा सकता। इसी तरह ब्रह्मचारी को गुरु के संरक्षण में रहना चाहिए—*ब्रह्मचारी* गुरुकुले वसन् दान्तो गुरोर्हितम्। यदि ब्रह्मचारी अपने गुरु के संरक्षण में नहीं रहता यदि वानप्रस्थी सामान्य कार्यों में लगता है या संन्यासी लालची होता है और जीभ के स्वाद के लिए मांस, अण्डा तथा व्यर्थ की सभी वस्तुएँ खाता है, तो वह वञ्चक है और तुरन्त ही उसे महत्त्वहीन समझ कर त्याग देना चाहिए। ऐसे व्यक्तियों पर अनुकम्पा की जानी चाहिए और यदि किसी में पर्याप्त बल हो तो ऐसे व्यक्तियों को जीवन के गलत मार्ग पर चलने से रोकना चाहिए। अन्यथा उनका बहिष्कार करके और उन पर कोई ध्यान नहीं देना चाहिए।

आत्मानं चेद्विजानीयात्परं ज्ञानधुताशयः ।
किमिच्छन्कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति लम्पटः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—आत्मा तथा परमात्मा को; चेत्—यदि; विजानीयात्—समझ सकता है; परम्—दिव्य, इस जगत से परे; ज्ञान—ज्ञान से; धुत-आशयः—जिसने अपनी चेतना विमल कर ली है; किम्—क्या; इच्छन्—भौतिक सुविधाओं की इच्छा करते हुए; कस्य—किसके लिए; वा—अथवा; हेतोः—किस कारण से; देहम्—भौतिक शरीर को; पुष्णाति—पालन-पोषण करता है; लम्पटः—अवैध रूप से इन्द्रियतृप्ति में अनुरक्त रहकर।

मनुष्य का शरीर आत्मा तथा परमात्मा को जानने के निमित्त होता है और ये दोनों आध्यात्मिक पद पर स्थित हैं। यदि उच्च ज्ञान से परिष्कृत हुए व्यक्ति द्वारा इन दोनों को जाना जा सकता है, तो फिर मूर्ख तथा लालची व्यक्ति किसके लिए और किस कारण से इस शरीर का पालन इन्द्रियतृप्ति के लिए करता है?

तात्पर्य : निस्सन्देह, इस जगत में प्रत्येक व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति के लिए शरीर का पालनपोषण करने में रुचि रखता है, किन्तु ज्ञान के अनुशीलन से मनुष्य धीरे-धीरे यह जान लेना चाहिए कि शरीर आत्मा नहीं है। आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही भौतिक जगत से परे हैं। इसे मनुष्य जीवन में, विशेष रूप से जब कोई संन्यास ग्रहण करता है, समझ लेना चाहिए। जिस संन्यासी ने आत्मा को समझ लिया है उसे आत्मा को ऊपर उठाने तथा परमात्मा की संगति करने में लगना चाहिए। हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन जीव को ऊपर उठाकर भगवद्धाम वापस ले जाने के निमित्त है। ऐसे उत्थान के लिए प्रयास करना मनुष्य जीवन का कर्तव्य है। जब कोई अपना यह कर्तव्य पूरा नहीं करता, तो वह शरीर का पालन क्यों करे? विशेष रूप से जब संन्यासी न केवल साधारण उपायों द्वारा शरीर पालन की चेष्टा

करता है, अपितु मांसाहार तथा अन्य गर्हित वस्तुओं के द्वारा शरीर का पालन करता है, तो वह *लम्पट* होता है—ऐसा लालची व्यक्ति जो इन्द्रियतृप्ति मात्र में लगा रहता है। *संन्यासी* को जीभ, पेट तथा प्रजनन इन्द्रियों की सारी प्रेरणाओं से विलग हो जाना चाहिए, क्योंकि ये तब तक विचलित करती हैं जब तक वह यह नहीं जान लेता कि शरीर आत्मा से भिन्न है।

आहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि
हयानभीषून्मन इन्द्रियेशम् ।
वर्त्मानि मात्रा धिषणां च सूतं
सत्त्वं बृहद्बन्धुरमीशसृष्टम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

आहुः—कहा गया है; शरीरम्—शरीर को; रथम्—रथ; इन्द्रियाणि—इन्द्रियों को; हयान्—घोड़े; अभीषून्—लगाम; मनः—मन; इन्द्रिय—इन्द्रियों का; ईशम्—स्वामी; वर्त्मानि—लक्ष्य; मात्राः—इन्द्रियविषय; धिषणाम्—बुद्धि को; च—तथा; सूतम्—सारथी, रथ हाँकने वाला; सत्त्वम्—चेतना को; बृहत्—महान; बन्धुरम्—बन्धन; ईश—परमेश्वर द्वारा; सृष्टम्—रचा गया।

ज्ञान में बढ़े-चढ़े अध्यात्मवादी भगवान् के आदेश से बने शरीर की तुलना रथ से करते हैं; इन्द्रियाँ घोड़ों के तुल्य हैं; इन्द्रियों का स्वामी मन लगाम सदृश है, इन्द्रियविषय गन्तव्य हैं, बुद्धि सारथी है और सारे शरीर में व्याप्त चेतना इस भौतिक जगत के बन्धन का कारण है।

तात्पर्य : भौतिकतावादी जीवन में मोहग्रस्त व्यक्ति के लिए इन्द्रियतृप्ति में लगे शरीर, मन तथा इन्द्रियाँ बारम्बार जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के बन्धन के कारण हैं। किन्तु जो अध्यात्मज्ञानी हैं, उनके लिए वही शरीर, इन्द्रियाँ तथा मन मुक्ति के कारण हैं। इसकी पुष्टि *कठोपनिषद्* (१.३.३-४, ९) में की गई है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।

आत्मा शरीर रूपी रथ का स्वामी है, जिसका सारथी बुद्धि है। मन गंतव्य तक पहुँचने का संकल्प है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं और इन्द्रियविषय इसी कार्य में सम्मिलित हैं। इस प्रकार मनुष्य गन्तव्य विष्णु तक पहुँच सकता है, जो जीवन के परम लक्ष्य हैं (*परमं पदम्*)। बद्ध जीवन में शरीर की चेतना बन्धन का

कारण है, किन्तु यही चेतना जब कृष्णभावनामृत में रूपान्तरित होती है, तो यह सबों के भगवद्धाम लौटने का कारण बनती है।

इसलिए मनुष्य-शरीर का उपयोग दो प्रकार से किया जा सकता है—अज्ञान के गहनतम भागों में जाने या भगवद्धाम वापस जाने के लिए। भगवद्धाम जाने का मार्ग *महत्-सेवा* अर्थात् स्वरूपसिद्ध गुरु स्वीकार करना है। *महत् सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः।* मुक्ति के लिए प्रामाणिक भक्तों के निर्देश मानने चाहिए क्योंकि वे ही पूर्ण ज्ञान प्रदान करने वाले हैं। दूसरी ओर, *तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्*—यदि संसार के गहनतम भागों में जाना हो तो स्त्रियों के प्रति आसक्त पुरुषों की संगति करता रहे (*योषितां सङ्गिसङ्गम्*)। *योषित्* शब्द का अर्थ है ‘‘स्त्री’’। जो लोग अत्यधिक भौतिकतावादी होते हैं, वे स्त्रियों पर आसक्त रहते हैं।

इसीलिए कहा गया है—*आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च।* यह शरीर रथ के समान है, जिससे कहीं भी जाया जा सकता है। चाहे इसे कुशलता से चलाए या फिर मनमाने ढंग से—तब वह किसी खड्डे में गिर सकता है। दूसरे शब्दों में, यदि कोई अनुभवी गुरु से आदेश ग्रहण करता है, तो वह भगवद्धाम वापस जा सकता है, अन्यथा जन्म-मृत्यु के चक्कर में फँस जाता है। अतएव कृष्ण उपदेश देते हैं—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

‘‘जो लोग भक्ति के मार्ग पर श्रद्धालु नहीं हैं, हे शत्रुओं के विजेता! वे मुझे नहीं पा सकते, अपितु इस संसार में जन्म-मरण में लौट आते हैं।’’ (*भगवद्गीता* ९.३) साक्षात् भगवान् उपदेश देते हैं कि कोई किस प्रकार भगवद्धाम लौट सकता है, किन्तु यदि कोई उनके उपदेशों पर ध्यान नहीं देता तो वह भगवद्धाम वापस न जाकर इसी संसार में जन्म-मृत्यु के दुखमय चक्र में जीवन बिताता है (*मृत्युसंसारवर्त्मनि*)।

अतएव अनुभवी अध्यात्मवादियों की सलाह है कि शरीर को जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त करने में लगाए रखा जाए (*स्वार्थगतिम्*)। जीवन का वास्तविक लक्ष्य तो भगवद्धाम वापस जाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक वैदिक ग्रंथ हैं यथा *वेदान्त सूत्र, उपनिषद, भगवद्गीता, महाभारत* तथा

रामायण। मनुष्य को इन वैदिक ग्रंथों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए और *निवृत्ति* मार्ग का अभ्यास करना चाहिए। तभी उसका जीवन सफल हो सकेगा। शरीर तभी तक महत्त्वपूर्ण है जब तक उसमें चेतना है। चेतनाहीन शरीर पदार्थ का पिंड है। अतएव भगवद्धाम वापस जाने के लिए मनुष्य की चेतना ही उसके भवबन्धन का कारण है किन्तु यदि इस चेतना को भक्तियोग से शुद्ध कर दिया जाय तो उसे अपनी *उपाधि* की—कि वह भारतीय, अमरीकी, मुसलमान, क्रिस्तानी है—*असत्यता* का बोध हो सकेगा। *सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।* मनुष्य को सारी उपाधियाँ भूलकर अपनी चेतना का उपयोग कृष्ण की सेवा में करना चाहिए। अतएव यदि कोई कृष्णभावनामृत आन्दोलन का लाभ उठाए तो उसका जीवन निश्चित रूप से सफल हो जाए।

अक्षं दशप्राणमधर्मधर्मौ
चक्रेऽभिमानं रथिनं च जीवम् ।
धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति
शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम् ॥ ४२॥

शब्दार्थ

अक्षम्—अरा (रथ के पहिये के); दश—दस; प्राणम्—शरीर के भीतर प्रवाहित होने वाली दस प्रकार की वायु; अधर्म—अधर्म; धर्मौ—तथा धर्म (पहिए के ऊपरी तथा निचले भाग); चक्रे—पहिए में; अभिमानम्—मिथ्या पहचान; रथिनम्—रथ का स्वामी या शरीर का स्वामी; च—भी; जीवम्—जीव; धनुः—धनुष; हि—निस्सन्देह; तस्य—उसका; प्रणवम्—वैदिक ओङ्कार मंत्र; पठन्ति—कहा जाता है; शरम्—तीर; तु—लेकिन; जीवम्—जीव; परम्—परमेश्वर; एव—निस्सन्देह; लक्ष्यम्—लक्ष्य।

शरीर के भीतर कार्यशील दस प्रकार की वायुओं की तुलना रथ के पहिए के अरों (तीलियों) से की गई है और इस पहिए के ऊपरी तथा निचले भाग धर्म तथा अधर्म कहलाते हैं। देहात्मबुद्धि में रहने वाला जीव रथ का स्वामी है। वैदिक प्रणव मंत्र ही धनुष है, साक्षात् शुद्ध जीव तीर है और परम पुरुष उसका लक्ष्य है।

तात्पर्य : शरीर के भीतर दस प्रकार की वायुओं का संचार सदा होता रहता है। इनके नाम हैं—प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनञ्जय। इनकी तुलना यहाँ रथ के पहिए के अरों से की गई है। प्राणवायु जीवों के समस्त कार्यकलापों की शक्ति है और ये कार्यकलाप कभी धार्मिक होते हैं, तो कभी अधार्मिक। इस प्रकार धर्म तथा अधर्म रथ के पहियों के ऊपरी तथा निचले भाग कहे जाते हैं। जब जीव भगवद्धाम जाने का निश्चय करता है, तो उसका लक्ष्य भगवान् विष्णु रहता है। बद्धावस्था में मनुष्य यह नहीं समझ पाता कि उसका जीवन-लक्ष्य परमेश्वर है। *न ते*

विदुः स्वार्थगगतिं हि विष्णुः दुराशया ये बहिरर्थमानिनः। जीव इस भौतिक जगत में सुखी रहने का प्रयास करता है किन्तु अपने जीवन-लक्ष्य को नहीं जान पाता। किन्तु जब वह जीवात्मा शुद्ध हो जाता है, तो वह देहात्मबुद्धि की धारणा को त्याग देता है और वह अपने को किसी जाति, राष्ट्र, समाज, परिवार इत्यादि से सम्बन्धित होने की झूठी पहचान को त्याग देता है (*सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्*)। तब वह अपने विमल जीवन का तीर लेकर *प्रणव* या हरे कृष्ण मंत्र के दिव्य कीर्तन रूपी धनुष की सहायता से अपने आपको भगवान् की ओर फेंकता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने टीका की है कि चूँकि इस श्लोक में धनुष और बाण शब्द आये हैं अतएव कोई यह तर्क कर सकता है कि भगवान् तथा जीव परस्पर शत्रु हो गए हैं। यद्यपि भगवान् जीव का तथाकथित शत्रु बन सकता है किन्तु यह भगवान् का वीररस से युक्त विनोद है। उदाहरणार्थ भगवान् ने भीष्म से युद्ध किया और जब भीष्म ने कुरुक्षेत्र के युद्ध में भगवान् के शरीर को तीरों से बेध डाला तो यह बारह प्रकार के भावों में से एक प्रकार का विनोद-भाव या सम्बन्ध था। जब बद्धजीव भगवान् पर तीर चला कर उन तक पहुँचना चाहता है, तो भगवान् को आनन्द मिलता है और जीव को भगवद्धाम जाने का लाभ मिलता है। इस सम्बन्ध में दिया गया दूसरा उदाहरण अर्जुन का है, जिसने *आधार मीन* या *चक्र* के भीतर लगी मछली को वेध कर द्रौपदी की संगति प्राप्त की। इसी प्रकार यदि कोई भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन रूपी बाण से भगवान् विष्णु के चरणकमलों को वेध देता है, तो उसे भक्ति के इस शौर्यपूर्ण कार्य के लिए भगवद्धाम वापस जाने का लाभ मिलता है।

रागो द्वेषश्च लोभश्च शोकमोहौ भयं मदः ।
मानोऽवमानोऽसूया च माया हिंसा च मत्सरः ॥ ४३॥
रजः प्रमादः क्षुन्निद्रा शत्रवस्त्वेवमादयः ।
रजस्तमःप्रकृतयः सत्त्वप्रकृतयः क्वचित् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

रागः—आसक्ति; द्वेषः—शत्रुता; च—भी; लोभः—लालच; च—भी; शोक—सन्ताप; मोहौ—मोह; भयम्—भय; मदः—पागलपन; मानः—प्रतिष्ठा; अवमानः—अपमान; असूया—छिद्रान्वेषण, दूसरों के कार्यों में से दोष ढूँढ़ना; च—भी; माया—छलावा; हिंसा—ईर्ष्या; च—भी; मत्सरः—असहिष्णुता; रजः—रजोगुण (कामेच्छा); प्रमादः—मोह; क्षुत्—भूख; निद्रा—नींद; शत्रवः—शत्रु; तु—निस्सन्देह; एवम् आदयः—जीव की अन्य ऐसी ही धारणाएँ तक; रजः-तमः—रजो तथा तमोगुण; प्रकृतयः—कारण; सत्त्व—सतो गुण से; प्रकृतयः—कारण; क्वचित्—कभी-कभी।

बद्ध-अवस्था में मनुष्य की जीवन सम्बन्धी धारणाएँ कभी कभी कामेच्छा तथा अज्ञान (रजो तथा तमो गुण) के कारण दूषित हो जाती हैं, जो आसक्ति, शत्रुता, लोभ, शोक, मोह, भय, मद, झूठी प्रतिष्ठा, अपमान, छिद्रान्वेषण, छलावा, ईर्ष्या, असहिष्णुता, कामेच्छा, मोह, भूख तथा निद्रा के रूप में प्रकट होती हैं। ये सभी शत्रु हैं। कभी-कभी सतोगुण के द्वारा भी मनुष्य की धारणाएँ दूषित हो जाती हैं।

तात्पर्य : जीवन का असली उद्देश्य भगवद्धाम को वापस जाना है किन्तु प्रकृति के तीनों गुणों के द्वारा—कभी रजोगुण तथा तमोगुण के मेल से तो कभी सतो गुण के द्वारा अनेक व्यवधान आते रहते हैं। इस भौतिक जगत में यदि कोई भौतिकतावादी दृष्टि से परोपकारी, राष्ट्रवादी तथा अच्छा व्यक्ति भी हो तो जीवन की ये सारी धारणाएँ आध्यात्मिक प्रगति में बाधक हो जाती हैं। तो फिर शत्रुता, लालच, मोह, शोक तथा भोग के प्रति अत्यधिक आसक्ति न जाने कितनी बड़ी बाधक होंगी? विष्णु-रूपी लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए जो हमारा असली लक्ष्य है इन विभिन्न अवरोधों या शत्रुओं को जीतने में मनुष्य को अत्यन्त शक्तिशाली होना चाहिए, दूसरे शब्दों में, मनुष्य को इस संसार में न तो अच्छा बनने में, न बुरा बनने में रुचि रखनी चाहिए।

इस भौतिक जगत में तथाकथित अच्छाई और बुराई एक-सी हैं, क्योंकि वे प्रकृति के तीन गुणों से उत्पन्न होती हैं। मनुष्य को प्रकृति के पार जाना होता है। यहाँ तक कि वैदिक अनुष्ठान भी प्रकृति के तीन गुणों से उत्पन्न होते हैं। अतएव कृष्ण ने अर्जुन को सलाह दी—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

''वेदों में मुख्यतया प्रकृति के तीनों गुणों का वर्णन है। हे अर्जुन! इन गुणों से ऊपर उठो। इन सबों के परे होओ। समस्त द्वन्द्वों से, लाभ-हानि की चिन्ताओं से मुक्त होओ तथा आत्मा में स्थित होओ।'' (*भगवद्गीता* २.४५) भगवान् ने *भगवद्गीता* में अन्यत्र भी कहा है—*ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः*—यदि कोई बहुत अच्छा व्यक्ति बन जाता है, अर्थात् यदि वह सतोगुणी होता है, तो वह स्वर्ग को जा सकता है। इसी प्रकार यदि वह रजो तथा तमो गुणों से दूषित होता है, तो वह इसी जगत में बना रह सकता है

या फिर पशु जगत में गिर सकता है। किन्तु ये सारे पद आध्यात्मिक मोक्ष के पथ में अवरोध हैं। अतएव श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज॥

यदि कोई इतना भाग्यशाली हो कि इस तथाकथित अच्छाई तथा बुराई को पार कर जाये और कृष्ण तथा गुरु की कृपा से भक्ति के पद पर पहुँच जाये तो उसका जीवन सफल हो जाता है। इस सम्बन्ध में उसे अत्यन्त साहसी होना चाहिए जिससे वह कृष्णभावनामृत के शत्रुओं को पराजित कर सके। इस जगत में अच्छे तथा बुरे की परवाह न करते हुए डट कर कृष्णभावनामृत का प्रचार करना चाहिए।

यावन्नृकायरथमात्मवशोपकल्पं
धत्ते गरिष्ठचरणार्चनया निशातम् ।
ज्ञानासिमच्युतबलो दधदस्तशत्रुः
स्वानन्दतुष्ट उपशान्त इदं विजह्यात् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; नृ-काय—यह मनुष्य शरीर; रथम्—रथ रूप; आत्म-वश—अपने नियंत्रण पर आश्रित; उपकल्पम्—जिसमें अनेक अधीन अंग हैं; धत्ते—धारण करता है; गरिष्ठ-चरण—श्रेष्ठ गुरुजनों के चरणकमल; अर्चनया—सेवा करके; निशातम्—तेज की हुई; ज्ञान-असिम्—ज्ञान रूपी तलवार या हथियार; अच्युत-बलः—कृष्ण की दिव्य शक्ति से; दधत्—पकड़ कर; अस्त-शत्रुः—जब तक शत्रु पराजित न हो जाये; स्व-आनन्द-तुष्टः—दिव्य आनन्द से पूर्णतया सन्तुष्ट; उपशान्तः—समस्त भौतिक कल्मष से शुद्ध चेतना; इदम्—इस शरीर को; विजह्यात्—त्याग दे।

जब तक मनुष्य को इस शरीर को इसके विभिन्न अंगों तथा साज-सामान सहित जो पूर्णतया अपने वश में नहीं हैं स्वीकार करना है, तब तक उसे अपने श्रेष्ठ जनों—अपने गुरु तथा गुरु के पूर्ववर्तियों व्यक्तियों के चरणकमलों को धारण करना चाहिए। उनकी कृपा से वह ज्ञान की तलवार को तेज कर सकता है और भगवत् कृपा के बल पर तब वह उपर्युक्त शत्रुओं को पराजित कर सकता है। इस प्रकार भक्त को अपने ही दिव्य आनन्द में लीन रहने में समर्थ होना चाहिए और तब वह अपना शरीर त्याग कर अपनी आध्यात्मिक पहचान फिर से पा सकता है।

तात्पर्य : भगवान् ने *भगवद्गीता* (४.९) में कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो मेरे प्राकट्य तथा कार्यों की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह शरीर छोड़ने पर इस जगत में पुन: जन्म धारण नहीं करता, अपितु मेरे नित्य धाम को प्राप्त करता है।" यह जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है और मानव शरीर इसी उद्देश्य के लिए है। *श्रीमद्भागवत* (११.२०.१७) में कहा गया है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं

प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।

मयानुकूलेन नभस्वतेरितं

पुमान्भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा॥

यह मनुष्य शरीर अत्यन्त मूल्यवान नाव है, गुरु इसका कर्णधार है—*गुरुकर्णधारम्*—जो अज्ञान सागर के पार ले जाने में नाव का मार्गदर्शन करने के लिए है। कृष्ण का उपदेश अनुकूल हवा है। मनुष्य को अज्ञान-सागर पार करने के लिए इन सुविधाओं का उपयोग करना चाहिए। चूँकि गुरु ही कर्णधार है, अतएव गुरु की सेवा निष्ठापूर्वक की जानी चाहिए जिससे उनकी कृपा से परमेश्वर की कृपा प्राप्त हो सके।

यहाँ पर *अच्युतबल:* शब्द महत्त्वपूर्ण है। गुरु निश्चय ही अपने शिष्यों पर अत्यन्त कृपालु रहता है, अतएव उसे प्रसन्न कर लेने पर शिष्य को भगवान् से बल मिलता है। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—*गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज*—पहले गुरु को प्रसन्न करना चाहिए तब कृष्ण स्वत: प्रसन्न हो जाएँगे और उनसे वह बल प्राप्त हो जाता है सकेगा जिससे अज्ञान के सागर को पार किया जा सके। यदि कोई सचमुच भगवद्धाम वापस जाने का इच्छुक है, तो उसे गुरु को प्रसन्न करके काफी बलशाली हो जाना चाहिए, क्योंकि तभी उसे शत्रु को जीतने के लिए हथियार मिल सकेगा और साथ ही मिलेगी कृष्ण की कृपा। केवल ज्ञान रूपी हथियार पा लेना पर्याप्त नहीं है। उसे अपने गुरु की सेवा करके तथा उसके आदेशों का पालन करके इस हथियार को तेज करना है। तभी उसे भगवान् की कृपा मिल सकेगी। सामान्य युद्ध में अपने शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अपने रथ तथा घोड़ों की सहायता लेनी होती है और शत्रु को जीत लेने पर यह रथ तथा सारा साज-सामान छोड़ा जा

सकता है। इसी प्रकार जब तक यह मनुष्य देह है तब तक इसका पूरा-पूरा उपयोग जीवन की परम सिद्धि को पाने—भगवद्धाम वापस जाने—के लिए करना चाहिए।

ज्ञान की सिद्धि ब्रह्मभूत होने में है। जैसाकि भगवान् भगवद्गीता (१८.५४) में कहते हैं—

ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

सम: सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

"जो दिव्य पद पर स्थित है उसे तुरन्त परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है और वह परम प्रसन्न हो जाता है। वह किसी चीज के लिए न तो शोक करता है, न इच्छा करता है; वह समस्त जीवों पर समभाव रखता है। ऐसी दशा में उसे शुद्ध भक्ति प्राप्त होती है।" निर्विशेषवादियों के समान ज्ञान के अनुशीलन मात्र से माया के चंगुल से नहीं निकला जा सकता। उसे भक्ति का पद प्राप्त करना होता है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत:।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

"केवल भक्ति द्वारा परम पुरुष को यर्थाथ रूप में समझा जा सकता है और जब ऐसी भक्ति से कोई परमेश्वर की पूर्ण चेतना में रहता है, तो वह भगवद्धाम में प्रवेश कर सकता है।" (*भगवद्गीता* १८.५५)। जब तक भक्ति की अवस्था और गुरु तथा कृष्ण की कृपा प्राप्त नहीं हो जाती तब तक नीचे गिरने तथा फिर से भौतिक शरीर धारण करने की सम्भावना बनी रहती है। अतएव कृष्ण *भगवद्गीता* (४.९) में बल देकर कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो मेरे जन्म तथा कर्म की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह शरीर छोड़ने पर इस जगत में पुन: जन्म धारण नहीं करता अपितु मेरे नित्य धाम को प्राप्त करता है।"

यहाँ पर *तत्त्वत:* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—इसका अर्थ है "वास्तव में"। *ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा।* जब तक कोई गुरु की कृपा से कृष्ण को वास्तव में समझ नहीं लेता तब तक वह अपने भौतिक शरीर को त्यागने के लिए स्वतंत्र नहीं रहता। जैसाकि कहा गया है—*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं*

ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः—यदि मनुष्य कृष्ण के चरणकमलों की सेवा करने में लापरवाही करता है, तो केवल ज्ञान के बल पर भवबन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। यदि उसे *ब्रह्मपदम्*—ब्रह्म में तादात्म्य की अवस्था—भी प्राप्त हो जाए तो भी भक्ति के बिना वह नीचे गिर सकता है। उसे फिर से भवबन्धन में गिरने के खतरे से सतर्क रहना चाहिए। यदि कोई गारंटी है, तो यही है कि भक्ति अवस्था को प्राप्त हुआ जाये जहाँ से कभी भी गिरना नहीं पड़ता। तब वह भौतिक जगत के कार्यकलापों से मुक्त हो जाता है। संक्षेप में, जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है, मनुष्य को चाहिए कि वह कृष्णभावनामृत की परम्परा में चले आ रहे प्रामाणिक गुरु से सम्पर्क करे, क्योंकि उसी की कृपा तथा उसी के उपदेशों से कृष्ण से बल प्राप्त हो सकेगा। इस तरह भक्ति करने से जीवन का चरम लक्ष्य—विष्णु के चरणकमल—प्राप्त हो जाता है।

इस श्लोक में *ज्ञानासिम् अच्युतबलः* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। *ज्ञानासिम्* अर्थात् ज्ञान रूपी तलवार कृष्ण द्वारा दी जाती है और जब कोई कृष्ण के उपदेश रूपी तलवार को पकड़ने के लिए गुरु और कृष्ण की सेवा करता है, तो बलराम उसे बल देते हैं। बलराम नित्यानन्द हैं। *व्रजेन्द्रनन्दन येइ, शची-सुत हैल सेइ, बलराम ह-इल निताइ।* यह *बल* अर्थात् बलराम श्री चैतन्य महाप्रभु के साथ आता है और ये दोनों इतने कृपालु हैं कि इस कलियुग में कोई भी सुगमता से उनके चरणकमलों की शरण ग्रहण कर सकता है। वे विशेषतर इस युग की पतितात्माओं का उद्धार करने के लिए आते हैं। पापी तापी यत छिल, हरि नामे उद्धारिल। उनका हथियार *सङ्कीर्तन* या *हरिनाम* है। इस तरह मनुष्य को कृष्ण से ज्ञान रूपी तलवार ग्रहण करके बलराम की कृपा से बलिष्ठ बनना चाहिए। इसीलिए हम वृन्दावन में कृष्ण-बलराम की पूजा कर रहे हैं। *मुण्डक* उपनिषद् (३.२.४) में कहा गया है—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो
न च प्रमादात् तपसो वाप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वां-
स्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥

बलराम की कृपा के बिना जीवन-लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता। अतएव श्री नरोत्तम दास ठाकुर कहते हैं—*निताइयेर करुणा हबे, व्रजे राधा-कृष्ण पाबे*—जब नित्यानन्द अर्थात् बलराम की कृपा प्राप्त होती है, तो राधाकृष्ण के चरणकमल आसानी से मिल जाते हैं।

से सम्बन्ध नाहि यार, वृथा जन्म गेल तार।

विद्या-कुले कि करिबे तार॥

यदि किसी का निताई अर्थात् बलराम से कोई सम्बन्ध नहीं होता तो वह भले ही ज्ञानी हो अथवा सम्मानित परिवार में जन्मा हो, उसकी यह सम्पदाएं काम नहीं आती। अतएव हमें बलराम से प्राप्त हुए बल द्वारा कृष्णभावनामृत के शत्रुओं को जीतना चाहिए।

नोचेत्प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूता
नीत्वोत्पथं विषयदस्युषु निक्षिपन्ति ।
ते दस्यवः सहयसूतममुं तमोऽन्धे
संसारकूप उरुमृत्युभये क्षिपन्ति ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

नोचेत्—यदि हम अच्युत कृष्ण के उपदेशों का पालन नहीं करते तथा बलराम की शरण नहीं ग्रहण करते; प्रमत्तम्—लापरवाह; असत्—जो सदैव भौतिक चेतना की ओर उन्मुख रहती हैं; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; वाजि—घोड़े की तरह कार्य करते हुए; सूताः—रथ हाँकने वाला (बुद्धि); नीत्वा—लाकर; उत्पथम्—भौतिक इच्छा रूपी पथ पर; विषय—इन्द्रिय विषय; दस्युषु—लुटेरों के हाथों में; निक्षिपन्ति—फेंकते हैं; ते—वे; दस्यवः—लुटेरों; स—सहित; हय-सूतम्—घोड़े तथा सारथी को; अमुम्—वे सब; तमः—अंधकार; अन्धे—अंधा; संसार-कूपे—संसार रूपी कुएँ में; उरु—विशाल; मृत्यु-भये—मृत्यु का डर; क्षिपन्ति—फेंकते हैं।

अन्यथा यदि मनुष्य अच्युत कृष्ण तथा बलदेव की शरण ग्रहण नहीं कर लेता तो इन्द्रियाँ रूपी घोड़े तथा बुद्धि रूपी सारथी दोनों ही भौतिक कल्मष के प्रति उन्मुख होने से अनजाने ही शरीर रूपी रथ को इन्द्रियतृप्ति के मार्ग पर ला खड़ा करते हैं। इस प्रकार जब विषय के धूर्तों—खाना, सोना तथा मैथुन—के द्वारा वह आकृष्ट होता है, तो घोड़े तथा सारथी संसार के अन्धकूप में गिरा दिए जाते हैं और मनुष्य पुनः जन्म-मृत्यु की घातक तथा अत्यन्त भयावह स्थिति में आ पड़ता है।

तात्पर्य : गौर-निताइ—कृष्ण-बलराम—की रक्षा के बिना मनुष्य संसार के अज्ञान-रूपी अंधकूप से बाहर नहीं निकल सकता। इसका संकेत यहाँ *नोचेत्* शब्द से मिलता है, जिसका अर्थ है कि मनुष्य सदा भौतिक संसार के अंधकूप में रहता रहेगा। जीव को *निताइ-गौर* अर्थात् कृष्ण तथा बलराम से बल

प्राप्त करना चाहिए। निताई-गौर की कृपा के बिना अज्ञान के इस अंधकूप से निकलने का कोई रास्ता नहीं है। जैसाकि चैतन्य-चरितामृत (आदि १.२) में कहा गया है—

वन्दे श्रीकृष्णचैतन्यनित्यानन्दो सहोदितौ।

गौडोदये पुष्पवन्तौ चित्रौ शन्दौ तमोनुदौ॥

"मैं श्रीकृष्ण चैतन्य तथा भगवान् नित्यानन्द को सादर नमस्कार करता हूँ जो सूर्य तथा चन्द्रमा के समान हैं। वे एकसाथ गौड़ के क्षितिज में अज्ञान का अंधकार दूर करने के लिए उदित हुए हैं और इस प्रकार आश्चर्यजनक रीति से सबों को वर दे रहे हैं।" यह भौतिक जगत अज्ञान का अंधकूप है। इस अंधकूप में पतित आत्मा को गौर-निताइ के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए क्योंकि तब वह इस जगत से सरलता से उबर सकता है। उनके बल के बिना मीमांसात्मक ज्ञान के बल पर पदार्थ भौतिकता के बन्धन से निकलने का प्रयास अपर्याप्त होगा।

प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ।
आवर्तते प्रवृत्तेन निवृत्तेनाश्नुतेऽमृतम् ॥ ४७॥

शब्दार्थ

प्रवृत्तम्—भौतिक भोग के लिए झुकाव; च—तथा; निवृत्तम्—भौतिक भोग का अन्त; च—तथा; द्वि-विधम्—इन दो प्रकारों; कर्म—कर्मों का; वैदिकम्—वेदों द्वारा संस्तुत; आवर्तते—संसार के चक्र में ऊपर-नीचे घूमता है; प्रवृत्तेन—भौतिक कार्यकलापों के भोग की प्रवृत्ति द्वारा; निवृत्तेन—ऐसे कार्यों को बन्द करने से; अश्नुते—भोग करता है; अमृतम्—शाश्वत जीवन।

वेदों के अनुसार प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दो प्रकार के कार्यकलाप होते हैं—प्रवृत्ति कार्यों का अर्थ है अपने को भौतिकतावादी जीवन की निम्नतर अवस्था से उच्चतर अवस्था तक उठाना जबकि निवृत्ति का अर्थ है भौतिक इच्छा का अन्त। प्रवृत्ति कार्यों से मनुष्य भौतिक बन्धन में कष्ट उठाता है, किन्तु निवृत्ति कार्यों से वह शुद्ध हो जाता है और नित्य आनन्दमय जीवन को भोगने के योग्य बनता है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (१६.७) में पुष्टि की गई है—*प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः*—असुर या अभक्त *प्रवृत्ति* तथा *निवृत्ति* के अन्तर को नहीं जान सकते। वे जो चाहते हैं करते हैं। ऐसे लोग अपने को प्रबल प्रकृति से स्वतंत्र मानते हैं; अतएव वे अनुत्तरदायी होते हैं और पुण्य कर्म

करने की परवाह नहीं करते। निस्सन्देह, वे पाप तथा पुण्य कर्म में अन्तर नहीं कर पाते। भक्ति कभी पुण्य या पाप कर्म पर निर्भर नहीं करती। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.२.६) में कहा गया है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥

"सारी मानवता का परम धर्म वह है, जिससे मनुष्य दिव्य भगवान् की प्रेमा-भक्ति प्राप्त कर सकें। ऐसी भक्ति आत्मा को पूरी तरह तुष्ट करने के लिए अहैतुकी तथा अप्रतिहत होनी चाहिए।" फिर भी जो लोग पुण्यकर्म करते हैं उनके भक्त बनने की सम्भावना अधिक है। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१६) में कृष्ण कहते हैं—*चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन*—हे अर्जुन! चार प्रकार के पुणात्मा लोग मेरी भक्ति करते हैं। यदि कोई किसी भौतिक उद्देश्य से भी भक्ति करता है, तो भी वह पुण्यात्मा समझा जाता है और चूँकि वह कृष्ण के पास आया है, अतएव वह क्रमशः भक्ति की अवस्था तक पहुँच जाएगा। तब वह ध्रुव महाराज की भाँति भगवान् से कोई भौतिक वरदान स्वीकार करने से इनकार कर देगा (*स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे*)। अतएव भौतिक प्रवृत्ति होने पर भी मनुष्य कृष्ण-बलराम या गौर-निताइ के चरणकमलों की शरणग्रहण कर सकता है, जिससे वह सारी भौतिक इच्छाओं से तुरन्त शुद्ध हो सके (*क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति*)। जब मनुष्य पाप तथा पुण्य कर्मों की प्रवृत्तियों से मुक्त हो जाता है, तो वह वापस भगवद्धाम जाने का पूर्ण सुपात्र बन जाता है।

हिंस्रं द्रव्यमयं काम्यमग्निहोत्राद्यशान्तिदम् ।
दर्शश्च पूर्णमासश्च चातुर्मास्यं पशुः सुतः ॥ ४८ ॥
एतदिष्टं प्रवृत्ताख्यं हुतं प्रहुतमेव च ।
पूर्तं सुरालयारामकूपाजीव्यादिलक्षणम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

हिंस्रम्—पशुओं की बलि की पद्धति; द्रव्य-मयम्—जिसमें तमाम साज-सामग्री की आवश्यकता हो; काम्यम्—असीम इच्छाओं से पूरित; अग्नि-होत्र-आदि—अग्नि होम यज्ञ जैसे अनुष्ठान; अशान्ति-दम्—चिन्ता उत्पन्न करने वाले; दर्शः—दर्श नामक अनुष्ठान; च—तथा; पूर्णमासः—पूर्णमास अनुष्ठान; च—भी; चातुर्मास्यम्—चार मास पर होने वाला विधान; पशुः—पशु यज्ञ; सुतः—सोम यज्ञ; एतत्—ये सारे; इष्टम्—लक्ष्य; प्रवृत्त-आख्यम्—भौतिक आसक्ति नाम से ज्ञात; हुतम्—वैश्व देव, जो भगवान् के अवतार हैं; प्रहुतम्—बलिहरण नाम का उत्सव; एव—निस्सन्देह; च—भी; पूर्तम्—जनता के लाभ के हेतु; सुर-आलय—देवताओं के लिए मन्दिर बनवाना; आराम—विश्रामालय तथा बगीचे; कूप—कुँआ खुदवाना; आजीव्य-आदि—भोजन तथा जल वितरण जैसे कार्य; लक्षणम्—लक्षण।

अग्निहोत्र-यज्ञ, दर्श-यज्ञ, पूर्णमास-यज्ञ, चातुर्मास्य-यज्ञ, पशु-यज्ञ तथा सोम-यज्ञ नामक सारे अनुष्ठानों तथा यज्ञों की विशेषता पशुओं का वध करना तथा अनेक अमूल्य पदार्थों को, विशेष रूप से अन्नों को, जलाना है। ये सब भौतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए सम्पन्न किये जाते हैं तथा ये चिन्ता (अशान्ति) उत्पन्न करते हैं। ऐसे यज्ञ करना, वैश्वदेव का पूजन तथा बलिहरण उत्सव सम्पन्न करना जो सभी सम्भवतः जीवन लक्ष्य माने जाते हैं तथा देवताओं के लिए मन्दिर बनवाना, विश्रमागृह तथा बगीचे बनवाना, जल वितरण के लिए कुएँ खुदवाना, भोजन वितरण के लिए केन्द्रों की स्थापना करना तथा जन-कल्याण के कार्य करना—ये सब लक्षण भौतिक इच्छाओं के प्रति आसक्ति से अभिव्यक्त होते है।

द्रव्यसूक्ष्मविपाकश्च धूमो रात्रिरपक्षयः ।
अयनं दक्षिणं सोमो दर्श ओषधिवीरुधः ॥ ५० ॥
अन्नं रेत इति क्ष्मेश पितृयानं पुनर्भवः ।
एकैकश्येनानुपूर्वं भूत्वा भूत्वेह जायते ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

द्रव्य-सूक्ष्म-विपाकः—अग्नि की आहुति दी जाने वाली सामग्री यथा अन्न तथा घी; च—तथा; धूमः—धुएँ में परिणत या धुएँ का अधिष्ठाता देवता; रात्रिः—रात्रि का अधिष्ठाता; अपक्षयः—अंधेरे पाख में; अयनम्—सूर्य के पार करने का अधिष्ठाता देवता; दक्षिणम्—दक्षिणी मंडल में; सोमः—चन्द्रमा; दर्शः—लौटते हुए; ओषधि—पौधे (पृथ्वी पर); वीरुधः—सामान्य वनस्पति (शोक का जन्म); अन्नम्—अन्न; रेतः—वीर्य; इति—इस प्रकार से; क्ष्म-ईश—हे पृथ्वी के राजा, युधिष्ठिर; पितृ-यानम्—पिता के वीर्य से जन्म ग्रहण करने का मार्ग; पुनः-भवः—फिर-फिर; एक-एकश्येन—एक के बाद एक, क्रमशः; अनुपूर्वम्—क्रमवार, क्रमानुसार; भूत्वा—जन्म लेकर; भूत्वा—पुनः जन्म लेकर; इह—इस भौतिक जगत में; जायते—भौतिक जीवन बिताता है।.

हे राजा युधिष्ठिर, जब यज्ञ में घी, अन्न (यथा जौ एवं तिल) की आहुतियाँ दी जाती हैं, तो वे दिव्य धुएँ में परिणत हो जाती हैं, जो मनुष्य को क्रमशः उच्च से उच्चतर लोकों को या धूम, रात्रि, कृष्ण पक्ष, दक्षिणम् तथा अन्त में चन्द्र लोक को ले जाता हैं। किन्तु यज्ञकर्ता फिर पृथ्वी पर उतर कर औषधियाँ, लताएँ, वनस्पतियाँ तथा अन्न बन जाते हैं। तब वे विभिन्न जीवों द्वारा खाये जाते हैं और वीर्य में परिणत होते हैं जिसे मादा शरीर में प्रविष्ट किया जाता है। इस प्रकार मनुष्य पुनः-पुनः जन्म लेता है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२१) में कहा गया है—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना

गतागतं कामकामा लभन्ते॥

''जब प्रवृत्ति मार्ग के अनुयायी स्वर्गिक इन्द्रियसुख भोग चुकते हैं, तो वे पुनः इस मर्त्य लोक में वापस लौट आते हैं। इस प्रकार वैदिक नियमों के द्वारा वे केवल क्षणिक सुख प्राप्त करते हैं।'' *प्रवृत्ति मार्ग* का अनुकरण करते हुए स्वर्ग जाने का इच्छुक जीव नियमित रूप से यज्ञ करता है। वह जिस तरह ऊपर-नीचे आता-जाता है इसका वर्णन *श्रीमद्भागवत* में (यहाँ पर) तथा *भगवद्गीता* में हुआ है। यह भी कहा गया है—*त्रैगुण्यविषया वेदाः*—वेदों में मुख्यतया भौतिक प्रकृति के तीन गुणों की चर्चा है। वेदों में से तीन वेद—साम, यजुः तथा ऋक् उच्चलोकों तक जाने और वापस आने का विशद वर्णन करते हैं। लेकिन कृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं—*त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन*—प्रकृति के तीनों गुणों को पार कर लेने पर ही जन्म-मृत्यु के चक्र से विमुक्त हुआ जा सकता है। अन्यथा भले ही कोई चन्द्रलोक जैसे उच्च लोक को चला जाये, किन्तु उसे पुनः नीचे आना पड़ता है (*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*)। जब पुण्यकर्मों के फलस्वरूप मनुष्य का सुख समाप्त हो जाता है, तो वह वर्षा के रूप में इस लोक में लौट आता है और सर्वप्रथम वृक्ष या लता के रूप में जन्म लेता है, जिसे मनुष्य समेत विविध पशु खाते हैं और वह वीर्य में बदल जाता है। यही वीर्य मादा के शरीर में जाकर जीव को जन्म देता है। जो लोग पृथ्वी पर इस प्रकार लौटते हैं, वे विशेषतः ब्राह्मण जैसे उच्च परिवारों में जन्म लेते हैं।

यहाँ यह स्मरणीय है कि तथाकथित आधुनिक विज्ञानी भी, जो चन्द्रमा तक जा रहे हैं, वहाँ ठहर नहीं सकते, अपितु अपनी-अपनी प्रयोगशालाओं में लौट आते हैं। अतएव कोई चाहे आधुनिक यांत्रिक विधि से चन्द्रमा तक जाए या पुण्यकर्म करके जाए, अन्ततः उसे पृथ्वी पर लौटना होता है। इसका स्पष्ट उल्लेख इस श्लोक में तथा इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* में हुई है। यदि कोई उच्चतर लोकों को जाता भी है (*यान्ति देवव्रता देवान्*), तो वहाँ उसका स्थान सुरक्षित नहीं होता, उसे *मर्त्यलोक* लौटना ही पड़ता है। *आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन*—यदि चन्द्रमा को छोड़ दें और यदि कोई ब्रह्मलोक

को भी जाए तो भी उसे लौटना होता है। *यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम*—किन्तु यदि कोई मेरे धाम को वापस जाता है, तो उसे इस भौतिक लोक में लौटने की आवश्यकता नहीं है।

निषेकादिश्मशानान्तैः संस्कारैः संस्कृतो द्विजः ।
इन्द्रियेषु क्रियायज्ञाञ्ज्ञानदीपेषु जुह्वति ॥ ५२॥

शब्दार्थ

निषेक-आदि—जीवन का प्रारम्भ (गर्भाधान संस्कार); श्मशान-अन्तैः—तथा मृत्यु के समय, जब शरीर को श्मशान घाट पर जला कर राख कर दिया जाता है; संस्कारैः—संस्कार द्वारा; संस्कृतः—शुद्ध किया गया; द्विजः—दो बार जन्म लेने वाला ब्राह्मण; इन्द्रियेषु—इन्द्रियों में; क्रिया-यज्ञान्—कर्म तथा यज्ञ (जिनसे उच्च लोक में जाया जाता है); ज्ञान-दीपेषु—असली ज्ञान के प्रकाश से; जुह्वति—अर्पित करता है।

द्विज (द्वि-जन्मा ब्राह्मण) को गर्भाधान संस्कार के द्वारा अपने माता-पिता की अनुकम्पा से अपना जीवत्व प्राप्त होता है। जीवन के अन्त में अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की जाती है। और तब तक अन्य संस्कार भी संपन्न किए जाते हैं। इस तरह योग्य ब्राह्मण को कुछ समय के बाद भौतिकतावादी कार्यों तथा यज्ञों में अरुचि हो जाती है, किन्तु वह ऐन्द्रिय यज्ञों को पूर्ण ज्ञान के साथ कर्मेन्द्रियों को अर्पित कर देता है, जो ज्ञान की अग्नि से प्रकाशित रहती हैं।

तात्पर्य : जो लोग भौतिकतावादी कार्यों में रुचि लेते हैं, वे जन्म-मृत्यु के चक्र में फंसे रहते हैं। पिछले श्लोक में प्रवृत्ति मार्ग की व्याख्या की जा चुकी है। अब इस श्लोक में बताया जा रहा है कि जिसे पूर्ण ब्रह्मज्ञान होता है, वह उच्च लोकों तक उठने की विधि त्याग कर *निवृत्ति मार्ग* ग्रहण करता है। दूसरे शब्दों में, वह भगवद्धाम जाने की तैयारी करता है। जो लोग ब्राह्मण न होकर नास्तिक होते हैं, वे *प्रवृत्ति* या *निवृत्ति* मार्ग के विषय में कुछ नहीं जानते। वे हर हालत में आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं। अतएव हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन भक्तों को *प्रवृत्ति मार्ग* छोड़ने और *निवृत्ति मार्ग* को स्वीकार करने का प्रशिक्षण देता है, जिससे भगवद्धाम वापस जाया जा सके। यद्यपि इसे समझ पाना कुछ कठिन है किन्तु यदि कोई गम्भीरतापूर्वक कृष्णभावनामृत अपना ले और कृष्ण को समझने का प्रयास करे तो यह अत्यन्त सरल है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति यह समझ सकता है कि *कर्मकाण्ड* पद्धति के अनुसार यज्ञ करना समय का अपव्यय है और मात्र कर्मकाण्ड को त्याग कर ज्ञानकाण्ड को स्वीकार करना भी व्यर्थ है। अतएव नरोत्तम दास ठाकुर ने *प्रेम भक्ति चन्द्रिका* में लिखा है—

कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड,—केवल विषेर भाण्ड,

अमृत' बलिया येबा खाय।

नाना योनि सदा फिरे, कदर्य भक्षण करे,

तार जन्म अध:पाते याय॥

कर्मकाण्ड या ज्ञानकाण्ड का जीवन विष-पात्र के तुल्य है और जो ऐसा जीवन पाता है उसके मानो भाग्य फूटे हों। *कर्मकाण्ड* पद्धति में मनुष्य को पुन:-पुन: जन्म-मृत्यु स्वीकार करना होता है। इसी प्रकार *ज्ञानकाण्ड* में मनुष्य को पुन: इसी जगत में आना होता है। एकमात्र परम पुरुष की पूजा ही भगवद्धाम जाने की सुरक्षा प्रदान करता है।

इन्द्रियाणि मनस्यूर्मौ वाचि वैकारिकं मन: ।
वाचं वर्णसमाम्नाये तमोङ्कारे स्वरे न्यसेत् ।
ओङ्कारं बिन्दौ नादे तं तं तु प्राणे महत्यमुम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ (कर्म तथा ज्ञान सम्बन्धी); मनसि—मन में; ऊर्मौ—स्वीकृति-अस्वीकृति की तरंगों में; वाचि—शब्दों में; वैकारिकम्—परिवर्तनों से दूषित; मन:—मन को; वाचम्—शब्द को; वर्ण-समाम्नाये—सभीअक्षरों का समूह; तम्—उस; ओङ्कारे—ओङ्कार के संक्षिप्त रूप में; स्वरे—कम्पन में; न्यसेत्—छोड़ दे; ओङ्कारम्—संक्षिप्त शब्द ध्वनि को; बिन्दौ—ओङ्कार बिन्दु में; नादे—ध्वनि स्पन्दन में; तम्—उसको; तम्—उस (नाद); तु—निस्सन्देह; प्राणे—प्राणवायु में; महति—परम में; अमुम्—जीव।

मन स्वीकृति तथा अस्वीकृति की तरंगों से सदैव विक्षुब्ध होता रहता है। अतएव इन्द्रियों के सारे कार्यकलाप मन को अर्पित कर देना चाहिए और मन को अपने शब्दों में अर्पित कर देना चाहिए; फिर इन शब्दों को समस्त वर्णों के समूह में अर्पित करना चाहिए जिसे ओङ्कार के संक्षिप्त रूप को अर्पित कर दिया जाना चाहिए। ओङ्कार को बिन्दु में, बिन्दु को नाद में और उस नाद को प्राणवायु में समर्पित करना चाहिए। जो शेष रूप में जीव बचे उसे परम ब्रह्म में स्थापित करे। यही यज्ञ की विधि है।

तात्पर्य : मन सदैव स्वीकृति-अस्वीकृति द्वारा विक्षुब्ध होता है, जिसकी तुलना निरन्तर ऊपर-नीचे उठने वाली मानसिक तरंगों से की गई है। जीव अपनी विस्मरणशीलता के कारण भवसागर की तरंगों में तैरता रहता है। अतएव श्रील भक्ति विनोद ठाकुर ने *गीतावली* में लिखा है—*मिछे मायार वशे याच्छा भेसे', खाच्छा हाबुडुबु, भाइ*—हे मेरे मन! तुम माया के वश में होकर स्वीकृति तथा अस्वीकृति की तरंगों द्वारा दूर ले जाये जा रहे हो। केवल श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करो *जीव कृष्णदास एइ विश्वास,*

कर्ले त' आर दुःख नाइ—यदि हम कृष्ण के चरणकमलों को ही अपना चरम आश्रय मान लें तो हम माया की इन सभी लहरों से बचे रह सकते हैं, जो मानसिक तथा ऐन्द्रिय गतिविधियों एवं स्वीकृति-अस्वीकृति के विक्षोभ के रूप में तरह-तरह से प्रकट होती हैं। *भगवद्गीता* (१८.६६) में कृष्ण उपदेश देते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

"तुम सारे धर्मों को त्यागकर केवल मेरी शरण में आ जाओ। मैं तुम्हें सारे पापकर्मों से उबार लूँगा। तुम डरो मत।" अतएव यदि हम कृष्णभावनामृत ग्रहण करके तथा हरे कृष्ण मंत्र के कीर्तन द्वारा कृष्ण के सम्पर्क में सदा रहकर उनके चरणकमलों में अपने को प्रस्तुत कर दें तो हमें वैकुण्ठ लोक वापस जाने के लिए प्रबन्ध करने का अधिक कष्ट नहीं उठाना पड़े। श्री चैतन्य महाप्रभु की कृपा से यह अत्यन्त सरल है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

अग्निः सूर्यो दिवा प्राह्णः शुक्लो राकोत्तरं स्वराट् ।
विश्वोऽथ तैजसः प्राज्ञस्तुर्य आत्मा समन्वयात् ॥ ५४॥

शब्दार्थ

अग्निः—अग्नि; सूर्यः—सूर्य; दिवा—दिन; प्राह्णः—संध्या; शुक्लः—शुक्ल पक्ष; राक—पूर्णमासी; उत्तरम्—वह अवधि जब सूर्य उत्तर दिशा से होकर जाता है; स्व-राट्—परम् ब्रह्म या ब्रह्माजी; विश्वः—स्थूल उपाधि; अथ—ब्रह्मलोक, सर्वोच्च भौतिक आनन्द; तैजसः—सूक्ष्म उपाधि; प्राज्ञः—कारण रूप उपाधि का साक्षी; तुर्यः—दिव्य; आत्मा—आत्मा; समन्वयात्—प्राकृतिक परिणाम के रूप में।.

ऊपर जाते हुए जीव अग्नि, सूर्य, दिन, सायं, शुक्ल पक्ष, पूर्ण चन्द्रमा तथा सूर्य के उत्तर दिशा जाने की अवधि (उत्तरम्) एवं इनके अधिष्ठाता देवताओं के विभिन्न लोकों में प्रवेश करता है। जब वह ब्रह्मलोक में प्रविष्ट होता है, तो वहाँ लाखों वर्षों तक जीवन भोग करने के बाद अन्त में उसकी भौतिक उपाधि समाप्त हो जाती है। तब वह सूक्ष्म उपाधि प्राप्त करता है, जिससे उसे कारण रूप उपाधि प्राप्त होती है, जो समस्त पूर्ववर्ती अवस्थाओं की साक्षी होती है।

इस अवस्था के विनष्ट होने पर उसे शुद्ध अवस्था प्राप्त होती है, जिसमें वह परमात्मा के साथ अपनी पहचान करता है। इस प्रकार से जीव दिव्य बन जाता है।

देवयानमिदं प्राहुर्भूत्वा भूत्वानुपूर्वशः ।
आत्मयाज्युपशान्तात्मा ह्यात्मस्थो न निवर्तते ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

देव-यानम्—देवयान नाम ऊपर उठने की विधि को; इदम्—इस; प्राहुः—कहा गया है; भूत्वा भूत्वा—बारम्बार जन्म लेकर; अनुपूर्वशः—लगातार; आत्म-याजी—आत्म-साक्षात्कार का इच्छुक; उपशान्त-आत्मा—समस्त भौतिक इच्छाओं से पूर्णतया मुक्त; हि—निस्सन्देह; आत्म-स्थः—अपने में स्थित; न—नहीं; निवर्तते—लौटता है।

आत्म-साक्षात्कार तक उठने की यह क्रमिक विधि उन लोगों के लिए है, जो सचमुच परम सत्य से अवगत हैं। इस देवयान नामक मार्ग पर बारम्बार जन्म लेने से ये क्रमिक अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। जो आत्मा में स्थित है और समस्त भौतिक इच्छाओं से पूर्णतया मुक्त है उसे इस बारम्बार जन्म-मृत्यु के मार्ग से गुजरने की आवश्यकता नहीं होती।

य एते पितृदेवानामयने वेदनिर्मिते ।
शास्त्रेण चक्षुषा वेद जनस्थोऽपि न मुह्यति ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; एते—इस मार्ग पर (जो ऊपर बताया गया है); पितृ-देवानाम्—पितृयान तथा देवयान नामक; अयने—इस मार्ग पर; वेद-निर्मिते—वेदों में बताये गये; शास्त्रेण—शास्त्रों के नियमित अध्ययन से; चक्षुषा—जाग्रत आँखों से; वेद—पूर्णतया अवगत है; जन-स्थः—शरीर में स्थित व्यक्ति; अपि—यद्यपि; न—कभी नहीं; मुह्यति—मोहग्रस्त होता है।

इस भौतिक शरीर में स्थित रहते हुए भी जो पितृयान तथा देवयान मार्गों से पूर्णतया अवगत रहता है और जिसकी आँखें वैदिक ज्ञान की दृष्टि से इस प्रकार खुली रहती हैं वह भौतिक जगत में कभी मोहग्रस्त नहीं होता।

तात्पर्य : *आचार्यवान् पुरुषो वेद*—जो व्यक्ति प्रामाणिक गुरु द्वारा मार्गदर्शित होता है, वह वेदों में वर्णित प्रत्येक वस्तु को जानता है क्योंकि वेद ही अच्युत ज्ञान का मानदण्ड स्थापित करते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में संस्तुत किया गया है—*तद्विज्ञानार्थं स गुरुम् एवाभिगच्छेत्*—मनुष्य को चाहिए कि आचार्य के पास जाए, तभी उसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त होगा। गुरु द्वारा मार्गदर्शन होने पर मनुष्य को जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

आदावन्ते जनानां सद्बहिरन्तः परावरम् ।
ज्ञानं ज्ञेयं वचो वाच्यं तमो ज्योतिस्त्वयं स्वयम् ॥ ५७॥

शब्दार्थ

आदौ—प्रारम्भ में; अन्ते—अन्त में; जनानाम्—सभी जीवों का; सत्—सदैव विद्यमान; बहिः—बाहर; अन्तः—भीतर से; पर—दिव्य; अवरम्—पदार्थ; ज्ञानम्—ज्ञान; ज्ञेयम्—लक्ष्य; वचः—वाणी, अभिव्यक्ति; वाच्यम्—चरम लक्ष्य; तमः—अँधेरा; ज्योतिः—प्रकाश; तु—निस्सन्देह; अयम्—यह (भगवान्); स्वयम्—स्वयं।

जो भीतर बाहर, सभी वस्तुओं तथा जीवों के प्रारम्भ तथा अन्त में, भोग्य तथा भोक्ता के रूप में, उच्च तथा नीच के रूप में विद्यमान है, वह परम सत्य है। वह सदैव ज्ञान तथा ज्ञेय, अभिव्यक्ति तथा अभिज्ञेय, अंधकार तथा प्रकाश के रूप में रहता है। इस तरह वे परमेश्वर सर्वस्व हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर वेदों की इस सूक्ति की व्याख्या की गई है—*सर्वं खल्विदं ब्रह्म। चतुः श्लोकी भागवत* में भी इसकी व्याख्या है। *अहं एवासम् एवाग्रे।* परमेश्वर प्रारम्भ में था, वह सृष्टि के बाद भी रहता है और हर एक का पालन करता है और प्रलय के बाद सब कुछ उसी में लीन हो जाता है जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्*)। इस प्रकार परमेश्वर वास्तव में सर्वस्व है। बद्ध अवस्था में हमारी बुद्धि मोहग्रस्त रहती है किन्तु मुक्ति की पूर्णावस्था में हम यह समझ सकते हैं कि कृष्ण ही प्रत्येक वस्तु के कारण हैं।

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

"गोविन्द कहे जाने वाले कृष्ण परम नियन्ता हैं। उनका शरीर नित्य, आनन्दमय तथा आध्यात्मिक हैं। वे सबों के उद्गम हैं, किन्तु उनका कोई उद्गम नहीं है क्योंकि वे सभी कारणों के कारण हैं।" (*ब्रह्म-संहिता* ५.१) यह ज्ञान की पूर्णता है।

आबाधितोऽपि ह्याभासो यथा वस्तुतया स्मृतः ।
दुर्घटत्वादैन्द्रियकं तद्वदर्थविकल्पितम् ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

आबाधितः—अस्वीकृति; अपि—यद्यपि; हि—निश्चय ही; आभासः—प्रतिबिम्ब; यथा—जिस तरह; वस्तुतया—वास्तविकता के रूप में; स्मृतः—स्वीकृत; दुर्घटत्वात्—वास्तविकता को सिद्ध करना कठिन होने के कारण; ऐन्द्रियकम्—इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान; तद्वत्—उसी तरह; अर्थ—वास्तविकता; विकल्पितम्—कल्पित या संदेहास्पद।

दर्पण से प्राप्त सूर्य के प्रतिबिम्ब को मिथ्या माना जा सकता है, किन्तु इसका वास्तविक अस्तित्व तो होता ही है। उसी तरह कल्पना (ज्ञान) द्वारा यह सिद्ध करना कि तत्त्व का कोई अस्तित्व नहीं होता अत्यन्त कठिन होगा।

तात्पर्य : निर्विशेषवादी यह सिद्ध करने के प्रयास में रहता है कि मीमांसक का दृष्टि-भेद गलत होता है। निर्विशेषवादी दर्शन, *विवर्तवाद,* सामान्यत: साँप को रस्सी स्वीकार करने का उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस उदाहरण के अनुसार हमारी दृष्टि के भेद मिथ्या हैं जिस प्रकार देखी गई रस्सी का सर्प होना मिथ्या है। किन्तु वैष्णव का कहना है कि यद्यपि यह विचार कि रस्सी सर्प है मिथ्या है, किन्तु सर्प मिथ्या नहीं है। मनुष्य को वास्तविक सर्प का अनुभव रहता है, अतएव वह जानता है कि यद्यपि रस्सी को साँप मानना मिथ्या या भ्रामक है, किन्तु साँप वास्तविकता है। इसी प्रकार विविधता से पूर्ण यह जगत मिथ्या नहीं है, यह वैकुण्ठ लोक की वास्तविकता का प्रतिबिम्ब है।

दर्पण में सूर्य का प्रतिबिम्ब अंधकार में प्रकाश ही तो होता है, यद्यपि यह यथार्थत: सूर्य प्रकाश नहीं है, किन्तु सूर्य प्रकाश के बिना प्रतिबिम्ब असम्भव है। इसी प्रकार यदि आध्यात्मिक जगत में वास्तविक मूलाकृति न हो तो इस जगत की नाना विविधताएं असम्भव हो जाँय। मायावादी चिन्तक इसे नहीं समझ सकते, किन्तु असली विचारक को यह विश्वास हो जाना चाहिए कि सूर्य प्रकाश की पृष्ठभूमि के बिना प्रकाश सम्भव नहीं है। इस प्रकार मायावादी चिन्तक द्वारा यह सिद्ध करने का वाग्जाल कि यह भौतिक जगत मिथ्या है अननुभवी बालकों को चकीत कराने वाला लग सकता है, लेकिन पूर्ण ज्ञानी व्यक्ति सही-सही जानता है कि कृष्ण के बिना कोई अस्तित्व नहीं है। अतएव एक वैष्णव कृष्ण को किसी न किसी स्तर पर स्वीकार करने पर बल देता है (*तस्मात् केनाप्युपायेन मन: कृष्णे निवेशयेत्*)।

जब हम कृष्ण के चरणकमलों पर अमिश्रित श्रद्धा रखते हैं, तो सब कुछ प्रकट हो जाता है। कृष्ण ने भी भगवद्गीता (७.१) में कहा है—

मय्यासक्तमना: पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रय: ।

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥

"हे पृथापुत्र अर्जुन! अब तुम सुनो कि किस प्रकार मेरी पूर्ण चेतना से योगाभ्यास करके और मन को मुझमें आसक्त करके तुम मुझे पूरी तरह संशय रहित होकर समझ सकते हो।" कृष्ण तथा उनके उपदेशों में अटल विश्वास करने मात्र पर ही वास्तविकता समझ में आ सकती है (*असंशयं समग्रं माम्*)। मनुष्य यह भी जान सकता है कि कृष्ण की भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियाँ किस तरह कार्य कर रही हैं। वे सर्वत्र किस प्रकार उपस्थित रहते हैं, यद्यपि प्रत्येक वस्तु उनमें नहीं है। यह *अचिन्त्य भेदाभेद* दर्शन वैष्णवों का पूर्ण दर्शन है। प्रत्येक वस्तु कृष्ण से उद्भूत है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक वस्तु की पूजा की जाय। मानसिक चिन्तन (ज्ञान) हमें वास्तविकता को उसी रूप में नहीं बताता, वह अपूर्ण बनी रहती है। तथाकथित विज्ञानी सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि ईश्वर नहीं है और हर घटना प्रकृति के नियमों के कारण घटती है, किन्तु यह अपूर्ण ज्ञान है, क्योंकि जब तक भगवान् का निर्देशन न हो, कोई भी वस्तु कार्य नहीं कर सकती। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* (९.१०) में स्वयं भगवान् ने की है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते॥

"हे कुन्तीपुत्र! यह भौतिक प्रकृति मेरे निर्देशन में कार्य करती है और यह समस्त चर तथा अचर प्राणियों को उत्पन्न करती है। यह सृष्टि उसी के नियमानुसार बार बार उत्पन्न होती और विनष्ट होती है।" इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य की टिप्पणी है—*दुर्घटत्वाद् अर्थत्वेन परमेश्वरेणैव कल्पितम्।* प्रत्येक वस्तु का आधार भगवान् वासुदेव हैं। *वासुदेवः सर्वम् इति स महात्मा सुदुर्लभः।* इसे वही *महात्मा* समझ सकता है, जो पूर्ण ज्ञानी होता है। ऐसा महात्मा विरले ही दिखता है।

क्षित्यादीनामिहार्थानां छाया न कतमापि हि ।
न सङ्घातो विकारोऽपि न पृथङ्नान्वितो मृषा ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

क्षिति-आदीनाम्—पृथ्वी आदि पाँच तत्त्वों का; इह—इस संसार में; अर्थानाम्—उन पाँचों तत्त्वों का; छाया—प्रतिबिम्ब; न—न तो; कतमा—इनमें से कौन; अपि—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही; न—न तो; सङ्घातः—संयोग; विकारः—रूपान्तर; अपि—यद्यपि; न पृथक्—भिन्न नहीं; न अन्वितः—न तो निहित; मृषा—ये सब सिद्धान्त निरर्थक हैं।

इस जगत में पाँच तत्त्व हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश। किन्तु शरीर न तो उनका प्रतिबिम्ब है, न उनका संयोग या उनका रूपान्तर। चूँकि शरीर तथा इसके अवयव न तो पृथक्-पृथक् हैं, न मिश्रित अतएव ऐसे सारे सिद्धान्त निराधार हैं।

तात्पर्य : जंगल पृथ्वी का विकार अवश्य है, किन्तु एक वृक्ष दूसरे वृक्ष पर आश्रित नहीं होता। यदि उनमें से एक काट दिया जाता है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरा वृक्ष भी कट गया। अतएव जंगल न तो वृक्षों का संयोग है, न विकार। इसकी सर्वश्रेष्ठ व्याख्या स्वयं कृष्ण ने की है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त मूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

''यह समग्र ब्रह्माण्ड मेरे अव्यक्त रूप से व्याप्त है। सारे जीव मुझमें हैं लेकिन मैं उनमें नहीं हूँ।'' (*भगवद्गीता* ९.४) हर वस्तु कृष्ण की शक्ति का विस्तार है। जैसाकि कहा गया है—*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*—भगवान् की विविध शक्तियाँ होती हैं, जो विभिन्न प्रकारों से व्यक्त होती हैं। शक्तियों का अस्तित्व है और भगवान् भी साथ-साथ विद्यमान रहते हैं। चूँकि हर वस्तु उनकी शक्ति है अतएव वे एकसाथ हर वस्तु से अभिन्न हैं और हर वस्तु से भिन्न भी हैं। इस प्रकार हमारे द्वारा कल्पित यह सिद्धान्त कि आत्मा पदार्थ का संयोग है और पदार्थ आत्मा का रूपान्तर (विकार) है या यह कि शरीर आत्मा का अंश है निराधार है।

चूँकि भगवान् की सभी शक्तियाँ एकसाथ विद्यमान रहती हैं, अतएव मनुष्य को चाहिए कि भगवान् को समझे। यद्यपि वे हर वस्तु हैं, किन्तु वे हर वस्तु में उपस्थित नहीं रहते। ईश्वर की पूजा उनके मूल कृष्ण रूप में की जानी चाहिए। वे अपनी विभिन्न विस्तृत शक्तियों के अंश रूप में भी विद्यमान रह सकते हैं। जब हम मन्दिर में भगवान् के अर्चाविग्रह की पूजा करते हैं, तो यह अर्चाविग्रह पत्थर या लकड़ी लगता है। लेकिन चूँकि भगवान् का शरीर भौतिक नहीं होता, अतएव वे न तो पत्थर हैं न लकड़ी; फिर भी पत्थर तथा लकड़ी उनसे भिन्न नहीं होते। इस तरह पत्थर या लकड़ी की पूजा करने से हमें कोई फल नहीं प्राप्त होता, किन्तु जब पत्थर या लकड़ी को भगवान् के मूल रूप का प्रतिनिधित्व मान लिया जाता है, तो उस अर्चाविग्रह की पूजा करने से हमें वांछित फल प्राप्त होता है।

इसकी पुष्टि श्री चैतन्य महाप्रभु के *अचिन्त्यभेदाभेद* दर्शन द्वारा होती है, जो यह बताता है कि भगवान् अपने को अपनी शक्ति के रूप में भक्त की सेवा ग्रहण करने के लिए कहीं भी उपस्थित कर सकते हैं।

धातवोऽवयवित्वाच्च तन्मात्रावयवैर्विना ।
न स्युर्ह्यसत्यवयविन्यसन्नवयवोऽन्ततः ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

धातवः—पाँचों तत्त्व; अवयवित्वात्—देहात्मबुद्धि का कारण होने से; च—तथा; तत्-मात्र—इन्द्रियविषय (ध्वनि, स्वाद, स्पर्श आदि); अवयवैः—अंगों से; विना—रहित; न—नहीं; स्युः—विद्यमान रह सकता है; हि—निस्सन्देह; असति—मिथ्या, झूठा; अवयविनि—शरीर के निर्माण में; असन्—न रहते हुए; अवयवः—शरीर का अंग; अन्ततः—अन्त में।

चूँकि शरीर पाँच तत्त्वों से बना है अतएव यह सूक्ष्म इन्द्रियविषयों के बिना अस्तित्व में नहीं रह सकता। चूँकि शरीर मिथ्या है, अतएव इन्द्रियविषय भी स्वभावतः मिथ्या या क्षणिक हैं।

स्यात्सादृश्यभ्रमस्तावद्विकल्पे सति वस्तुनः ।
जाग्रत्स्वापौ यथा स्वप्ने तथा विधिनिषेधता ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

स्यात्—हो; सादृश्य—समानता; भ्रमः—भूल, त्रुटि; तावत्—तब तक; विकल्पे—अलग से; सति—अंश; वस्तुनः—वस्तु से; जाग्रत्—जगा हुआ; स्वापौ—सोता हुआ; यथा—जिस तरह; स्वप्ने—स्वप्न में; तथा—उसी तरह; विधि-निषेधता—आदेशों तथा निषेधों से युक्त विधान।

जब किसी वस्तु को उसके अंशों से पृथक् कर दिया जाता है, तो उनमें समानता (सादृश्य) मानना भ्रम (मोह) कहलाता है। स्वप्न देखते समय मनुष्य जागने तथा सोने की स्थितिओं में अन्तर उत्पन्न कर देता है। ऐसी मानसिक अवस्था में शास्त्रों के विधानों की, जो आदेशों तथा निषेधों के रूप में होते हैं, संस्तुति की जाती है।

तात्पर्य : इस जगत में अनेक विधान तथा शिष्टाचार हैं। यदि यह जगत नश्वर या मिथ्या है, तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि आध्यात्मिक जगत समान होते हुए भी मिथ्या है। यदि किसी का भौतिक शरीर मिथ्या या नश्वर है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि भगवान् का शरीर भी मिथ्या या नश्वर है। आध्यात्मिक जगत सत्य (सही) है और भौतिक जगत इसी के समान है। उदाहरणार्थ, रेगिस्तान में मृग-मरीचिका पाई जाती है और चूंकि इसका जल मिथ्या है, चूंकी इसका यह अर्थ नहीं है कि जल वास्तविकता नहीं है। जल का अस्तित्व है, किन्तु रेगिस्तान में नहीं। इसी प्रकार इस भौतिक जगत में

कुछ भी सत्य नहीं है, किन्तु सत्यता (वास्तविकता) तो आध्यात्मिक जगत में होती है। भगवान् का स्वरूप तथा उनका धाम—गोलोक वृन्दावन—शाश्वत वास्तविकताएँ हैं।

भगवद्गीता से हम जानते हैं कि एक अन्य *प्रकृति* है, जो वास्तविक (सत्य) है। इसकी व्याख्या स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* के आठवें अध्याय (८.१९-२१) में की है—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।

रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः।

यःस सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तम् आहुः परमां गतिं।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

"ब्रह्मा का दिन पुनः-पुनः आता है और सारे जीव चैतन्य हो उठते हैं। तब फिर से रात हो जाती है और वे निस्सहाय होकर विनष्ट हो जाते हैं। लेकिन इसके अतिरिक्त एक प्रकृति और भी है, जो शाश्वत है और इस व्यक्त तथा अव्यक्त पदार्थ के परे है। यह परम है और कभी विनष्ट नहीं होती। जब इस जगत का सब कुछ विनष्ट हो जाता है, तो यह अंश उसी तरह बना रहता है। यह परम धाम अव्यक्त तथा अच्युत कहलाता है और यही चरम गन्तव्य है। जब कोई वहाँ जाता है, तो लौट कर नहीं आता। यही मेरा परम धाम है।" यह भौतिक जगत आध्यात्मिक जगत का प्रतिबिम्ब है। भौतिक जगत नाशवान या मिथ्या है, किन्तु आध्यात्मिक जगत शाश्वत सत्य है।

भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं तथात्मनः ।
वर्तयन्स्वानुभूत्येह त्रीन्स्वप्नान्धुनुते मुनिः ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

भाव-अद्वैतम्—देहात्म-बुद्धि में एकत्व; क्रिया-अद्वैतम्—कर्म में एकत्व; द्रव्य-अद्वैतम्—विभिन्न सामग्री में एकत्व; तथा—और; आत्मनः—आत्मा का; वर्तयन्—विचार करते हुए; स्व—अपना; अनुभूत्या—अनुभूति के अनुसार; इह—इस भौतिक जगत में; त्रीन्—तीन; स्वप्नान्—जीवित दशाएँ (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति); धुनुते—त्याग देता है; मुनिः—दार्शनिक या चिन्तक।

भाव, क्रिया तथा द्रव्य की अद्वैतता (एकत्व) पर विचार करने के बाद तथा आत्मा को समस्त कार्य-कारणों से पृथक् मानते हुए मुनि अपनी ही अनुभूति से जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं को त्याग देता है।

तात्पर्य : अगले श्लोकों में *भावाद्वैत, क्रियाद्वैत* तथा *द्रव्याद्वैत* की व्याख्या दी गई है। किन्तु मनुष्य को भौतिक जगत में दार्शनिक जीवन की सारी अद्वैतताएँ छोड़नी पड़ती हैं और सिद्धि प्राप्त करने के लिए आध्यात्मिक जगत के वास्तविक जीवन को प्राप्त करना होता है।

कार्यकारणवस्त्वैक्यदर्शनं पटतन्तुवत् ।
अवस्तुत्वाद्विकल्पस्य भावाद्वैतं तदुच्यते ॥ ६३॥

शब्दार्थ

कार्य—फल या प्रभाव; कारण—कारण; वस्तु—वस्तु; ऐक्य—एकत्व; दर्शनम्—देखना; पट—वस्त्र; तन्तु—डोरा, सूत; वत्—सदृश; अवस्तुत्वात्—अवास्तविक होने से; विकल्पस्य—विकल्प का; भाव-अद्वैतम्—एकत्व का भाव; तत् उच्यते—वह कहलाता है।.

जब मनुष्य यह समझता है कि फल तथा कारण एक हैं और द्वैत अन्ततः इस विचार की भाँति अवास्तविक है कि वस्त्र के धागे वस्त्र से भिन्न हैं, तो वह एकत्व के मान को प्राप्त होता है, जिसे भावाद्वैत कहते हैं।

यद्ब्रह्मणि परे साक्षात्सर्वकर्मसमर्पणम् ।
मनोवाक्तनुभिः पार्थ क्रियाद्वैतं तदुच्यते ॥ ६४॥

शब्दार्थ

यत्—जो; ब्रह्मणि—परब्रह्म में; परे—दिव्य; साक्षात्—प्रत्यक्ष; सर्व—समस्त; कर्म—कर्म; समर्पणम्—निवेदन, समर्पण; मनः—मन से; वाक्—वाणी से; तनुभिः—तथा शरीर से; पार्थ—हे महाराज युधिष्ठिर; क्रिया-अद्वैतम्—कर्म का एकत्व; तत् उच्यते—वह कहलाता है।.

हे युधिष्ठिर (पार्थ), जब मनुष्य के मन, वाणी तथा शरीर द्वारा किये गये सारे कार्य साक्षात् भगवान् की सेवा में समर्पित किये जाते हैं, तो उसे क्रियाद्वैत नामक कर्मों का एकत्व प्राप्त होता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत आन्दोलन लोगों को सिखाता है कि किस प्रकार प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सेवा में समर्पित कर देने के स्तर तर पहुँचा जाये। कृष्ण ने *भगवद्गीता* (९.२७) में कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

"हे कुन्तीपुत्र! तुम जो भी करो, जो भी खाओ, जो भी आहुति दो तथा दान में दो तथा जो भी तपस्या करो वह सब मुझे भेंट रूप में समर्पित होनी चाहिए।" हम जो भी करते हैं, जो भी खाते हैं, जो भी सोचते तथा जो भी योजना बनाते हैं, यदि वह सब कृष्णभावनामृत आन्दोलन की प्रगति के लिए हो तो यह अद्वैत है। कृष्ण के नाम-कीर्तन तथा कृष्णभावनामृत के लिए कार्य करने में कोई अन्तर नहीं है। दिव्य पद पर ये एक हैं। किन्तु इस अद्वैत के विषय में हमें अपने गुरु से मार्ग-दर्शन प्राप्त करना चाहिए; हमें अपनी अद्वैतता नहीं बनानी चाहिए।

आत्मजायासुतादीनामन्येषां सर्वदेहिनाम् ।
यत्स्वार्थकामयोरैक्यं द्रव्याद्वैतं तदुच्यते ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

आत्म—अपनी; जाया—पत्नी; सुत-आदीनाम्—तथा सन्तानों का; अन्येषाम्—अपने सम्बन्धियों का.; सर्व-देहिनाम्—समस्त जीवों का; यत्—जो भी; स्व-अर्थ-कामयो:—अपने चरम लक्ष्य तथा लाभ का; ऐक्यम्—एकत्व, अद्वैत; द्रव्य-अद्वैतम्—स्वार्थ का एकत्व; तत् उच्यते—कहा जाता है।.

जब किसी मनुष्य का चरम लक्ष्य अपना तथा अपनी पत्नी का, अपनी सन्तानों का, अपने सम्बन्धियों का तथा अन्य समस्त देहधारियों का स्वार्थ एक ही हो तो यह द्रव्याद्वैत कहलाता है।

तात्पर्य : सारे जीवों की वास्तविक रुचि—जीवन-लक्ष्य—भगवद्धाम जाने में होती है। यही अपनी, अपनी पत्नी की, अपने बच्चों की, अपने शिष्यों की तथा अपने मित्रों, सम्बन्धियों, देशवासियों तथा सारी मानवता की रुचि होती है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन व्यवस्था के ऐसे आदेश दे सकता है, जिससे प्रत्येक मनुष्य कृष्णभावनाभावित कार्यों में भाग ले सके और चरम लक्ष्य तक पहुँच सके जो *स्वार्थगतिम्* कहलाता है। प्रत्येक व्यक्ति की रुचि का लक्ष्य विष्णु है, लेकिन चूँकि लोग इसे नहीं जानते (*न ते विदु: स्वार्थगतिम् हि विष्णुम्*), अतएव वे जीवन के अनेक कल्पित स्वार्थों को पूरा करने की विविध योजनाएँ बनाते रहते हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन हर एक को चरम स्वार्थ तक लाने का प्रयास कर रहा है। इस विधि का नाम भले ही भिन्न-भिन्न हो किन्तु यदि लक्ष्य एक ही हो तो लोगों को चाहिए कि जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करने के लिए इसका पालन करें। दुर्भाग्यवश लोग विभिन्न स्वार्थों के विषय में सोचते हैं और अंधे नेता उन्हें दिग्भ्रमित कर रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण भौतिक

सुख के लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयत्न कर रहा है, किन्तु लोग पूर्ण सुख को न जानने के कारण विभिन्न भौतिक स्वार्थों की ओर मुड़ जाते हैं।

यद्यस्य वानिषिद्धं स्याद्येन यत्र यतो नृप ।
स तेनेहेत कार्याणि नरो नान्यैरनापदि ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो भी; यस्य—मनुष्य का; वा—या तो; अनिषिद्धम्—जिसकी मनाही न हो; स्यात्—ऐसा हो; येन—जिससे; यत्र—स्थान तथा समय में; यतः—जिससे; नृप—हे राजा; सः—ऐसा व्यक्ति; तेन—ऐसी विधि से; ईहेत—सम्पन्न करे; कार्याणि—नियत कार्यकलाप; नरः—मनुष्य; न—नहीं; अन्यैः—दूसरी विधियों से; अनापदि—संकट की अनुपस्थिति में।

हे राजा युधिष्ठिर, संकट न रहने पर सामान्य परिस्थितियों में मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन-स्तर के अनुसार नियत कार्यकलापों को ऐसी वस्तुओं, प्रयासों तथा विधियों से सम्पन्न करे तथा ऐसे स्थानों पर निवास करे जो उसके लिए निषिद्ध न हों । वह अन्य विधियों का उपयोग न करे।

तात्पर्य : यह उपदेश सभी जीवन स्तरों वाले पुरुषों के लिए दिया गया है। सामान्य तया समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी तथा गृहस्थ में विभाजित है। हर एक को अपने पद के अनुसार कर्म करना चाहिए और भगवान् को प्रसन्न करने का प्रयास करना चाहिए क्योंकि इससे जीवन सफल बनेगा। इसका उपदेश नैमिषारण्य में दिया गया था—

अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः ।
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् ॥

"हे द्विजश्रेष्ठ! अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य द्वारा अपने नियत कर्तव्यों (धर्म) का निर्वाह जाति तथा आश्रम के अनुसार करने से जो उच्चतम सिद्धि प्राप्त की जा सकती है, वह भगवान् हरि को प्रसन्न करना है।" (*भागवत* १.२.१३) प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि भगवान् को प्रसन्न करने के लिए अपने वृत्तिपरक कर्तव्यों के अनुसार कर्म करे। तभी प्रत्येक व्यक्ति सुखी हो सकेगा।

एतैरन्यैश्च वेदोक्तैर्वर्तमानः स्वकर्मभिः ।
गृहेऽप्यस्य गतिं यायाद्राजंस्तद्भक्तिभाङ्नरः ॥ ६७ ॥

शब्दार्थ

एतैः—इन विधियों से; अन्यैः—अन्य विधियों से; च—तथा; वेद-उक्तैः—जैसा वैदिक वाङ्मय में निर्देश है; वर्तमानः—पालन करते हुए; स्व-कर्मभिः—अपने वृत्तिपरक कर्तव्य से; गृहे अपि—घर पर भी; अस्य—भगवान् कृष्ण के; गतिम्—गन्तव्य; यायात्—पहुँच सकता है; राजन्—हे राजा; तत्-भक्ति-भाक्—भगवान् की भक्ति करने वाला; नरः—व्यक्ति।

हे राजा, मनुष्य को अपने वृत्तिपरक कर्तव्य इन निर्देशों तथा वैदिक ग्रन्थों में दिए गये अन्य निर्देशों के अनुसार सम्पन्न करने चाहिए जिससे वह भगवान् कृष्ण का भक्त बना रहे। इस प्रकार घर पर रहकर भी मनुष्य अपने गन्तव्य तक पहुँच सकता है।

तात्पर्य : जीवन का परम लक्ष्य विष्णु या कृष्ण हैं। अतएव यदि कोई वैदिक अनुष्ठानों या भौतिकतावादी कार्यकलापों के द्वारा कृष्ण रूपी गन्तव्य तक पहुँचने का प्रयास करता है, तो यह जीवनसिद्धि है। उसे कृष्ण को लक्ष्य बनाना चाहिए और जीवन के किसी भी स्तर से कृष्ण के पास पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए।

कृष्ण को सभी की सेवा स्वीकार है। *भगवद्गीता* (९.३२) में भगवान् कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि च यान्ति परां गतिम्॥

"हे पृथापुत्र! जो लोग मेरी शरण ग्रहण करते हैं, वे भले ही निम्न जन्म वाले हों—स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र हों—वे परम धाम तक पहुँच सकते हैं।" चाहे किसी कोई भी पद क्यों न हो, यदि कोई गुरु के आदेशानुसार अपना वृत्तिपरक कर्तव्य करता हुआ कृष्ण तक पहुँचने का प्रयास करता है, तो उसका जीवन सफल है। ऐसा नहीं है कि संन्यासी, वानप्रस्थ तथा ब्रह्मचारी ही कृष्ण के पास तक जा सकते हैं। गृहस्थ भी कृष्ण के पास पहुँच सकता है बशर्ते कि वह निष्काम भाव से शुद्ध भक्त बने। इसका एक उदाहरण अगले श्लोक में उद्धृत है।

यथा हि यूयं नृपदेव दुस्त्यजा-
दापद्गणादुत्तरतात्मनः प्रभोः ।
यत्पादपङ्केरुहसेवया भवा-
नहारषीन्निर्जितदिग्गजः क्रतून् ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; हि—निस्सन्देह; यूयम्—तुम सभी (पाण्डव); नृप-देव—हे राजाओं, मनुष्यों तथा देवताओं के स्वामी; दुस्त्यजात्—अजेय; आपत्—सङ्कटपूर्ण स्थितियाँ; गणात्—सबों से; उत्तरत—बच निकले; आत्मनः—अपना; प्रभोः—भगवान् का; यत्-पाद-पङ्केरुह—जिनके चरणकमल; सेवया—सेवा करने से; भवान्—आपने; अहारषीत्—सम्पन्न किया; निर्जित—हराकर; दिक्-गजः—हाथियों जैसे अत्यन्त शक्तिशाली शत्रु; क्रतून्—अनुष्ठान।

हे राजा युधिष्ठिर, तुम सभी पाण्डवों ने परमेश्वर की सेवा के कारण अनेक राजाओं तथा देवताओं द्वारा उत्पन्न बड़े से बड़े संकटों पर विजय प्राप्त कर ली। तुमने कृष्ण के चरणकमलों की सेवा करके हाथियों के समान बड़े-बड़े शत्रुओं को जीत लिया है और अपने यज्ञ के लिए सामग्री एकत्र की है। भगवत्कृपा से तुम भव-बन्धन से छूट जाओगे।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर ने अपने को सामान्य गृहस्थ के रूप में प्रस्तुत करते हुए नारद मुनि से पूछा कि *गृहमूढधी*—गृहस्थ जीवन में फँस कर मूर्ख बना रहने वाले व्यक्ति—का उद्धार किस तरह हो सकता है। नारद मुनि ने यह कहते हुए महाराज युधिष्ठिर को प्रोत्साहित किया, "तुम सुरक्षित हो, क्योंकि तुम अपने सारे परिवार सहित कृष्ण के शुद्ध भक्त बन चुके हो।" कृष्ण की कृपा से पाण्डवों ने कुरुक्षेत्र का युद्ध जीत लिया था और बड़े-बड़े राजाओं तथा कभी कभी देवताओं के द्वारा भी उत्पन्न किये गये संकटों से अपने को बचा लिया था। इस प्रकार वे इसके जीते-जागते उदाहरण हैं कि कृष्ण की कृपा से किस प्रकार सुरक्षित रहा जा सकता है। हर व्यक्ति को पाण्डवों के उदाहरण का अनुकरण करना चाहिए जिन्होंने यह दिखलाया कि किस प्रकार कृष्ण की कृपा से बचा जा सकता है। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन का उद्देश्य यह शिक्षा देना है कि हर व्यक्ति किस तरह इस जगत में शान्तिपूर्वक रह सकता है और अन्त में भगवद्धाम वापस जा सकता है। भौतिक जगत में पद-पद पर विपत्तियाँ हैं (*पदं पदं यद्विपदां न तेषाम्*) फिर भी यदि कोई नि:संकोच भाव से कृष्ण की शरण ग्रहण करके उसी में रहता जाता है, तो वह सरलता से अज्ञान-सागर को पार कर सकता है। *समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत् पदं पुण्ययशो मुरारेः।* भक्त के लिए यह विशाल अज्ञान-सागर गोखुर में लगे कीचड़ की तरह है। शुद्ध भक्त तरह-तरह से ऊपर उठने के प्रयास की चिन्ता न करता हुआ कृष्ण के दास के सुरक्षित पद पर बना रहता है और इस प्रकार उसका जीवन शाश्वत रूप से निस्सन्देह, सुरक्षित रहता है।

अहं पुराभवं कश्चिद्गन्धर्व उपबर्हणः ।
नाम्नातीते महाकल्पे गन्धर्वाणां सुसम्मतः ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; पुरा—पूर्वजन्म में; अभवम्—था; कश्चित् गन्धर्वः—गन्धर्वलोक के निवासी के रूप में; उपबर्हणः—उपबर्हण; नाम्ना—नाम से; अतीते—बहुत काल पूर्व; महा-कल्पे—ब्रह्मा के जीवन में जो महाकल्प कहलाता है; गन्धर्वाणाम्—गन्धर्वों में; सु-सम्मतः—अत्यन्त सम्मानित व्यक्ति।

बहुत समय पूर्व, एक अन्य महाकल्प (ब्रह्मा का युग) में मैं उपबर्हण नामक गन्धर्व के रूप में था। अन्य गन्धर्वों में मेरा अत्यधिक सम्मान था।

तात्पर्य : श्री नारद मुनि अपने विगत जीवन से व्यावहारिक उदाहरण दे रहे हैं। ब्रह्मा के पूर्वजीवन काल में नारदमुनि गन्धर्व लोक के वासी थे, किन्तु दुर्भाग्य से वे गन्धर्व लोक जहां के निवासी अत्यन्त सुन्दर तथा कुशल गायक होते हैं, के इस उच्च स्थान से गिर गये और शूद्र बने, जैसाकि आगे बताया जाएगा। फिर भी भक्तों की संगति करने से वे गन्धर्व लोक से भी अधिक भाग्यवान् निकले। यद्यपि प्रजापतियों ने उन्हें शूद्र बनने का श्राप दिया था, किन्तु अगले जन्म में वे ब्रह्माजी के पुत्र बने।

श्रील मध्वाचार्य ने *महाकल्पे* शब्द को *अतीत ब्रह्मकल्पे* के रूप में ग्रहण किया है। ब्रह्मा की मृत्यु कई लाख वर्षों बाद होती है। ब्रह्मा के एक दिन का वर्णन *भगवद्गीता* (८.१७) में हुआ है—

सहस्रयुगपर्यन्तम् अहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।

रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥

"मनुष्य की गणना से ब्रह्मा का एक दिन एक हजार युगों के योग के बराबर होता है। और इतनी ही लम्बी उनकी रात्रि भी होती है।" भगवान् श्रीकृष्ण लाखों वर्ष पूर्व की घटनाओं को स्मरण रख सकते हैं। इसी प्रकार नारद मुनि जैसे उनके शुद्ध भक्त भी लाखों वर्ष पुराना जीवन याद रख सकते हैं।

रूपपेशलमाधुर्यसौगन्ध्यप्रियदर्शनः ।
स्त्रीणां प्रियतमो नित्यं मत्तः स्वपुरलम्पटः ॥७०॥

शब्दार्थ

रूप—सौन्दर्य; पेशल—शरीर की बनावट; माधुर्य—आकर्षण; सौगन्ध्य—फूलों की मालाओं तथा चन्दन लेप से अलंकृत होने से अत्यन्त सुगन्धित; प्रिय-दर्शनः—देखने में अत्यन्त सुन्दर; स्त्रीणाम्—स्त्रियों का; प्रिय-तमः—सहज भाव से आकृष्ट; नित्यम्—प्रतिदिन; मत्तः—पागल की तरह गर्वित; स्व-पुर—अपने शहर में; लम्पटः—कामेच्छा के कारण स्त्रियों के प्रति अत्यधिक आसक्त।

मेरा मुखमण्डल सुन्दर था और मेरी शारीरिक रचना आकर्षक तथा सुहावनी थी। फूल के हारों से तथा चन्दन लेप से अलंकृत होने से मैं अपने नगर की स्त्रियों को अत्यन्त मोहक लगता था। इस तरह मैं मोहग्रस्त था और विषय-वासनाओं से सदैव पूर्ण रहता था।

तात्पर्य : जब नारद गन्धर्व लोक के निवासी थे उस समय की उनकी सुन्दरता के वर्णन से ऐसा लगता है कि उस लोक का प्रत्येक व्यक्ति अत्यन्त सुन्दर तथा फूलों और चन्दन से अलंकृत रहता था। नारद मुनि का पहले का नाम उपबर्हण था। उपबर्हण अपने आपको अलंकृत करके स्त्रियों का ध्यान आकृष्ट करने में पटु था, फलतः जैसे अगले श्लोक में वर्णित है, वह एक रसिक हो गया। इस जीवन में रसिक होना दुर्भाग्यपूर्ण हैं क्योंकि स्त्रियों की ओर अत्यधिक आकृष्ट होने से वह शूद्र की संगति में जा गिरता है, जिसे स्त्रियों से बिना रोक-टोक मिलने का लाभ लिया जाता है। इस कलियुग में, जब सारे लोग *मन्दाः सुमन्दमतयः* हैं—शूद्र प्रवृत्ति के कारण अत्यन्त बुरे हैं—ऐसा स्वतंत्र मिलना-जुलना प्रधान रहता है। उच्चतर जातियों—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों में स्त्रियों के साथ पुरुषों का मुक्त मिलना-जुलना सम्भव नहीं है, किन्तु शूद्रों में इसकी छूट है। चूँकि इस कलियुग में कोई सांस्कृतिक शिक्षा नहीं दी जाती, अतएव हर व्यक्ति आध्यात्मिक रूप से प्रशिक्षित नहीं है और इसीलिए वह शूद्र माना जाता है (*अशुद्धाः शूद्रकल्पा हि ब्राह्मणाः कलिसम्भवाः*)। जब सारे लोग शूद्र हो जाते हैं, तो यह बहुत बुरे हो जाते हैं। (*मन्दाः सुमन्दमतयः*) इस प्रकार वे अपनी जीवन-शैली बनाते हैं और इसका परिणाम यह निकलता है कि वे क्रमशः अभागे बन जाते हैं (*मन्दभाग्याः*) और विभिन्न परिस्थितियों द्वारा विचलित होते रहते हैं।

एकदा देवसत्रे तु गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
उपहूता विश्वसृग्भिर्हरिगाथोपगायने ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; देव-सत्रे—देवताओं की सभा में; तु—निस्सन्देह; गन्धर्व—गन्धर्व लोक के वासी; अप्सरसाम्—तथा अप्सरलोक के वासियों के; गणाः—सभी; उपहूताः—बुलाये गये थे; विश्व-सृग्भिः—प्रजापति नामक बड़े-बड़े देवताओं द्वारा; हरि-गाथ-उपगायने—भगवान् की महिमा गायन के कीर्तन के समय।

एक बार देवताओं की सभा में भगवान् की महिमा के गायन के लिए एक संकीर्तन किया गया जिसमें गन्धर्वों तथा अप्सराओं को भाग लेने के लिए प्रजापतियों ने आमंत्रित किया।

तात्पर्य : *सङ्कीर्तन* का अर्थ है भगवान् के पवित्र नाम का जाप करना। हरे कृष्ण आन्दोलन कोई नवीन आन्दोलन नहीं जैसाकि लोग कभी-कभी भ्रमवश सोचते हैं। हरे कृष्ण आन्दोलन ब्रह्माजी के जीवन के प्रत्येक युग में विद्यमान रहा है और पवित्र नाम का कीर्तन ब्रह्मलोक तथा चन्द्रलोक समेत सभी उच्च लोकों में किया जाता है, गन्धर्व लोक तथा अप्सरालोक की बात का तो कहना ही क्या?

अतएव आज से पाँच सौ वर्ष पूर्व इस संसार में श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा शुरू किया गया संकीर्तन आन्दोलन कोई नया आन्दोलन नहीं है। कभी-कभी हमारे दुर्भाग्यवश यह आन्दोलन रोक दिया जाता है, लेकिन श्री चैतन्य महाप्रभु तथा उनके सेवकों ने समग्र विश्व के या यूं कहें, समग्र ब्रह्माण्ड के लाभ के लिए इस आन्दोलन को फिर से चालू किया।

अहं च गायंस्तद्विद्वान्स्त्रीभिः परिवृतो गतः ।
ज्ञात्वा विश्वसृजस्तन्मे हेलनं शेपुरोजसा ।
याहि त्वं शूद्रतामाशु नष्टश्रीः कृतहेलनः ॥ ७२ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; च—तथा; गायन्—भगवान् की महिमा का गायन न करके अन्य देवताओं का गायन करते हुए; तत्-विद्वान्—गाने की कला में निपुण; स्त्रीभिः—स्त्रियों द्वारा; परिवृतः—घिरा हुआ; गतः—वहाँ गया; ज्ञात्वा—अच्छी तरह जानते हुए; विश्व-सृजः—प्रजापति, जिन्हें ब्रह्माण्ड की व्यवस्था सौंपी गई है; तत्—मेरे गायन की प्रवृत्ति; मे—मेरी; हेलनम्—उपेक्षा; शेपुः—शाप दे दिया; ओजसा—बड़े वेग से; याहि—बन जाओ; त्वम्—तुम; शूद्रताम्—शूद्र; आशु—शीघ्र; नष्ट—रहित; श्रीः—सौन्दर्य; कृत-हेलनः—शिष्टाचार भंग करने के कारण।

नारद मुनि ने आगे कहा : उत्सव में बुलाये जाने पर मैं भी वहां गया। स्त्रियों से घिर कर मैंने देवताओं की महिमा का संगीतात्मक गायन प्रारम्भ किया। इसके कारण प्रजापतियों ने मुझे इन शब्दों में बलात् शाप दे डाला ''चूँकि तुमने अपराध किया है अतएव तुम तुरन्त सौन्दर्य से विहीन शूद्र बन जाओ।''

तात्पर्य : *कीर्तन* के सम्बन्ध में शास्त्रों का कथन है—*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*—मनुष्य को भगवान् का यश तथा उनके पवित्र नाम का कीर्तन करना चाहिए। स्पष्ट कहा गया है—*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*—मनुष्य को विष्णु का गुणगान करना चाहिए, अन्य किसी देवता का नहीं। दुर्भाग्यवश कुछ ऐसे मूर्ख लोग होते हैं, जो किसी देवता के नाम पर कीर्तन की कोई विधि निकाल लेते हैं। यह अपराध है। कीर्तन का अर्थ है भगवान् का यशोगान, न कि अन्य किसी देवता का। कभी-कभी लोग *काली कीर्तन* तथा *शिव कीर्तन* का निर्माण करते हैं और बड़े-बड़े मायावादी संन्यासियों तक का कहना है कि कोई चाहे किसी नाम का कीर्तन करे, उसे वही फल मिलेगा। किन्तु यहाँ हम देखते हैं कि लाखों-लाखों वर्ष पूर्व जब नारद मुनि एक गन्धर्व थे तो उन्होंने भगवान् के यशोगान के आदेश की उपेक्षा की थी और वे स्त्रियों की संगति में प्रमत्त होकर कुछ उल्टा गाने लगे थे जिससे उन्हें शूद्र बनने का शाप दिया गया। उनका प्रथम अपराध था कि वे कामुक स्त्रियों के साथ संकीर्तन मंडली में गये और दूसरा

अपराध था कि उन्होंने सामान्य गीतों को, जैसे कि सिनेमा गीतों को, या ऐसे ही अन्य गीतों को संकीर्तन के बराबर मान्यता दी। इस अपराध के लिए उन्हें शूद्र बनने का शाप दिया गया।

तावद्दास्यामहं जज्ञे तत्रापि ब्रह्मवादिनाम् ।
शुश्रूषयानुषङ्गेण प्राप्तोऽहं ब्रह्मपुत्रताम् ॥ ७३ ॥

शब्दार्थ

तावत्—शाप दिये जाने के समय से; दास्याम्—दासी के गर्भ में; अहम्—मैंने; जज्ञे—जन्म लिया; तत्रापि—यद्यपि (शूद्र होकर); ब्रह्म-वादिनाम्—वैदिक ज्ञान में पारंगत लोगों की; शुश्रूषया—सेवा करके; अनुषङ्गेण—एक ही समय; प्राप्तः—प्राप्त किया; अहम्—मैंने; ब्रह्म-पुत्रताम्—ब्रह्मा के पुत्र के रूप में जन्म (इस जन्म में)।

यद्यपि मैंने एक दासी के गर्भ से शूद्र के रूप में जन्म लिया किन्तु मैं वैदिक ज्ञान में पारंगत वैष्णवों की सेवा में लग गया। फलस्वरूप इस जीवन में मुझे ब्रह्माजी के पुत्र रूप में जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

तात्पर्य : भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.३२) में कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिं ॥

"हे पृथापुत्र! जो लोग मेरी शरण में आते हैं भले ही वे निम्नजन्मा—स्त्रियाँ, वैश्य या शूद्र हों, वे परम गन्तव्य तक पहुँच सकते हैं।" कोई चाहे शूद्र के रूप में उत्पन्न हो अथवा स्त्री या वैश्य रूप में, यदि वह बारम्बार अथवा निरन्तर भक्तों की संगति करता है (*साधुसङ्गेन*) तो वह चरम सिद्धि तक पहुँच सकता है। नारद मुनि अपना उदाहरण देकर इसे समझा रहे हैं। *सङ्कीर्तन* आन्दोलन महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि चाहे कोई शूद्र हो अथवा वैश्य, म्लेच्छ, यवन या अन्य कुछ, यदि वह शुद्ध भक्त की संगति करता है, उसके उपदेशों का पालन करता है और उनकी सेवा करता है, तो उसका जीवन सफल हो जाता है। यह भक्ति है। *आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्।* भक्ति के अन्तर्गत कृष्ण तथा उनके भक्तों की अनुकूल सेवा सम्मिलित है। *अन्याभिलाषिता शून्यम्।* यदि कोई कृष्ण तथा उनके भक्त की सेवा करने के अतिरिक्त कोई अन्य इच्छा न करे तो उसका जीवन सफल हो जाता है। नारद मुनि अपने जीवन का व्यावहारिक उदाहरण देकर इसे समझाते हैं।

धर्मस्ते गृहमेधीयो वर्णितः पापनाशनः ।

गृहस्थो येन पदवीमञ्जसा न्यासिनामियात् ॥ ७४॥

शब्दार्थ

धर्मः—वह धार्मिक विधि; ते—तुम्हें; गृह-मेधीयः—गृहस्थ जीवन में अनुरक्त रहकर; वर्णितः—(जैसा मैंने) बताया; पाप-नाशनः—पापकर्मों का विनाश; गृहस्थः—गृहस्थ जीवन बिताने वाला; येन—जिससे; पदवीम्—पद; अञ्जसा—सरलता से; न्यासिनाम्—संन्यासियों का; इयात्—प्राप्त कर सकता है।.

भगवान् के पवित्र नाम का संकीर्तन इतना शक्तिशाली है कि इससे गृहस्थ भी उसी चरम फल को सरलता से प्राप्त कर लेते हैं, जो संन्यासियों को प्राप्त होता है। हे महाराज युधिष्ठिर, मैंने तुम्हें धर्म की वह विधि बतला दी है।

तात्पर्य : यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन की पुष्टि ही है। जो भी इस आन्दोलन में भाग लेता है, चाहे वह किसी भी जाती का हो उस सर्वोच्च फल को प्राप्त कर सकता है, जो एक पूर्ण संन्यासी को प्राप्त होता है—अर्थात् *ब्रह्मज्ञान।* इससे भी महत्त्वपूर्ण यह है कि वह भक्ति में प्रगति कर सकता है। महाराज युधिष्ठिर ने सोचा कि वे गृहस्थ हैं, अतएव उन्हें अपना मोक्ष प्राप्त करने की कोई आशा नहीं थी। इसीलिए उन्होंने नारद मुनि से पूछा था कि वे भवबन्धन से किस प्रकार छूट सके। लेकिन नारद मुनि ने अपना निजी उदाहरण देते हुए यह बतलाया कि भक्तों की संगति करने तथा हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करने से कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्था में बिना किसी संदेह के चरम सिद्धि (परम पद) प्राप्त कर सकता है।

यूयं नृलोके बत भूरिभागा
लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति ।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद्
गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम् ॥ ७५॥

शब्दार्थ

यूयम्—तुम सभी पाण्डव; नृ-लोके—इस जगत में; बत—निस्सन्देह; भूरि-भागाः—अत्यन्त भाग्यशाली; लोकम्—ब्रह्माण्ड के सारे लोक; पुनानाः—शुद्ध कर सकते हो; मुनयः—बड़े-बड़े साधु पुरुष; अभियन्ति—(सामान्य पुरुष की भाँति) देखने आते हैं; येषाम्—जिसके; गृहान्—पाण्डवों के घर को; आवसति—रहता है; इति—इस प्रकार; साक्षात्—प्रत्यक्ष; गूढम्—अत्यन्त गोपनीय; परम्—दिव्य; ब्रह्म—परब्रह्म, कृष्ण; मनुष्य-लिङ्गम्—मानो सामान्य व्यक्ति हों।.

हे महाराज युधिष्ठिर, तुम सभी पाण्डव इस संसार में इतने भाग्यशाली हो कि ब्रह्माण्ड के समस्त लोकों को पवित्र करने वाले अनेकानेक सन्तजन तुम्हारे घर में सामान्य दर्शक के रूप में आते हैं। साथ ही, भगवान् कृष्ण तुम्हारे घर में गोपनीय ढंग से तुम्हारे भाई के समान रह रहे हैं।

तात्पर्य : यह वैष्णव की प्रतिष्ठा बढ़ाने वाला कथन है। मानव समाज में ब्राह्मण ही सर्वाधिक सम्मानित व्यक्ति है। ब्राह्मण वह है, जो निर्विशेष ब्रह्म को समझ सके लेकिन शायद ही कोई उन भगवान् को समझ पाता हो, जिन्हें *भगवद्गीता* में अर्जुन द्वारा *परं ब्रह्म* कहा गया है। *ब्रह्मज्ञान* प्राप्त ब्राह्मण भले ही अत्यन्त भाग्यशाली माना जाये, किन्तु पाण्डव तो इतने भाग्यशाली थे कि परब्रह्म भगवान् उनके घर में सामान्य व्यक्ति की तरह रहते थे। *भूरिभागा:* शब्द बताता है कि पाण्डवगण ब्रह्मचारीयों तथा ब्राह्मणों से भी उच्चतर पद पर थे। अगले श्लोक में नारद मुनि पाण्डवों के पद की महिमा का बारम्बार वर्णन करते हैं।

स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्य
कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
प्रियः सुहृद्वः खलु मातुलेय
आत्मार्हणीयो विधिकृद्गुरुश्च ॥ ७६ ॥

शब्दार्थ

सः—भगवान्; वा—या तो; अयम्—कृष्ण; ब्रह्म—परब्रह्म; महत्-विमृग्य—बड़े-बड़े सन्त पुरुष (कृष्ण भक्त) द्वारा खोजे जाने वाले; कैवल्य-निर्वाण-सुख—मोक्ष तथा दिव्य आनन्द के; अनुभूतिः—साक्षात्कार के लिए; प्रियः—प्रिय; सुहृत्—शुभ चिन्तक; वः—तुम सारे पाण्डवों; खलु—के रूप में प्रसिद्ध; मातुलेयः—मामा का पुत्र, ममेरा भाई; आत्मा—हृदय तथा आत्मा; अर्हणीयः—अत्यन्त पूजनीय; विधि-कृत्—निर्देश देते; गुरुः—तुम्हारा गुरु; च—और।

यह कितना आश्चर्यजनक है कि वे परब्रह्म कृष्ण जिन्हें बड़े-बड़े मुनि अपनी मुक्ति तथा शाश्वत आनन्द प्राप्ति के लिए ढूँढते रहते हैं तुम्हारे श्रेष्ठ शुभचिन्तक, मित्र, ममेरे भाई, आत्मा, पूज्य निर्देशक तथा गुरु की भाँति कार्य कर रहे हैं।

तात्पर्य : कृष्ण ऐसे किसी भी व्यक्ति के निर्देशक तथा गुरु बन सकते हैं, जो उनकी कृपा पाने का इच्छुक रहता है। भगवान् गुरु को इसलिए भेजते हैं कि वह भक्त को प्रशिक्षित करे और जब भक्त प्रगत हो जाये तो भगवान् उसके हृदय में रहकर गुरु की भाँति कार्य करें।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

"जो लोग निरन्तर मेरी भक्ति करते हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं उन्हें मैं बुद्धि देता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।" जब तक कोई भगवान् के प्रतिनिधि गुरु द्वारा पूरी तरह प्रशिक्षित नहीं हो जाता तब तक कृष्ण किसी के साक्षात् गुरु नहीं बनते। अतएव जैसाकि हम पहले कह चुके हैं

भगवान् के प्रतिनिधि गुरु को कभी भी सामान्य मनुष्य नहीं समझना चाहिए। प्रतिनिधि गुरु कभी अपने शिष्य को असत्य ज्ञान नहीं देता, वह केवल पूर्ण ज्ञान प्रदान करता है। इस तरह वह कृष्ण का प्रतिनिधि होता है। कृष्ण भीतर तथा बाहर से गुरु की भाँति सहायता करते हैं। बाहर से वे प्रतिनिधि बनकर और भीतर से साक्षात् रूप में शुद्ध भक्त से बातें करते हैं और उसे उपदेश देते हैं जिससे वह भगवद्धाम वापस जा सकता है।

न यस्य साक्षाद्भवपद्मजादिभी
रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम् ।
मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः
प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः ॥ ७७॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यस्य—जिसका (श्रीकृष्ण का); साक्षात्—प्रत्यक्ष; भव—शिवजी; पद्म-ज-आदिभिः—ब्रह्मा आदि के द्वारा; रूपम्—रूप को; धिया—ध्यान से; वस्तुतया—वस्तुतः; उपवर्णितम्—बताया जा सकता है; मौनेन—मौन से; भक्त्या—भक्ति से; उपशमेन—सारे भौतिक कार्यकलापों को पूरा करके; पूजितः—जिनकी इस तरह पूजा की जाती है; प्रसीदताम्—हम पर प्रसन्न हों; एषः—यह; सः—वही भगवान्; सात्वताम्—भक्तों का; पतिः—पालक, स्वामी तथा मार्गदर्शक।

यहाँ अब वही भगवान् उपस्थित हैं जिनका असली रूप ब्रह्मा तथा शिव जी जैसे महापुरुषों की भी समझ में नहीं आता। उनके भक्त अपने निष्ठापूर्ण आत्मसमर्पण द्वारा उनका साक्षात्कार करते हैं। ऐसे भगवान् जो अपने भक्तों के पालनकर्ता हैं और जिनकी पूजा मौन, भक्ति तथा उपशम द्वारा की जाती है हम पर प्रसन्न हों।

तात्पर्य : जब भगवान् कृष्ण शिव तथा ब्रह्माजी जैसे महापुरुषों की समझ में नहीं आते तो सामान्य व्यक्तियों के लिए क्या कहा जाये? लेकिन वे अपनी अहैतुकी कृपा से अपने भक्तों को भक्ति का वरदान देते हैं जिससे वे कृष्ण को यथारूप में समझ सकते हैं। *भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।* इस ब्रह्माण्ड में कोई भी ऐसा नहीं जो कृष्ण को सचमुच जान सके किन्तु यदि कोई भक्ति करता है, तो वह उन्हें पूरी तरह समझ सकता है। इसकी पुष्टि भगवान् ने भी *भगवद्गीता* (७.१) में की है—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥

"हे पृथापुत्र (अर्जुन)! अब सुनो कि किस तरह मेरी चेतना से पूरित होकर और अपने मन को मुझमें अनुरक्त करके योगाभ्यास करने से तुम बिना संशय मुझे पूरी तरह समझ सकते हो।" भगवान् स्वयं शिक्षा दे रहे हैं कि कोई उन्हें पूर्णतया किस तरह जान सकता है। न केवल पाण्डव अपितु कोई भी व्यक्ति जो कृष्ण के आदेशों को निष्ठापूर्वक स्वीकार करता है, वह भगवान् को यथारूप में समझ सकता है। युधिष्ठिर महाराज को उपदेश देने के बाद नारद मुनि भगवान् का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करते हैं जिससे वे सबों पर प्रसन्न हों और सभी लोग ईश्वर-चेतना में पूर्ण बनकर भगवद्धाम वापस जा सकें।

श्रीशुक उवाच
इति देवर्षिणा प्रोक्तं निशम्य भरतर्षभः ।
पूजयामास सुप्रीतः कृष्णं च प्रेमविह्वलः ॥ ७८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; देव-ऋषिणा—देवर्षि (नारद) द्वारा; प्रोक्तम्—वर्णित; निशम्य—सुनकर; भरत-ऋषभः—भरत महाराज के श्रेष्ठ वंशज, महाराज युधिष्ठिर; पूजयाम् आस—पूजा की; सु-प्रीतः—अत्यधिक प्रसन्न होकर; कृष्णम्—कृष्ण की; च—भी; प्रेम-विह्वलः—कृष्ण के प्रेम में विभोर।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : श्रेष्ठ भरतवंशी युधिष्ठिर ने नारद मुनि के वर्णन से सब कुछ जान लिया। इन उपदेशों को सुनने के बाद उन्हें अपने हृदय में अत्यन्त आनन्द का अनुभव हुआ और उन्होंने अत्यन्त प्रेमविह्वल होकर भगवान् कृष्ण की पूजा की।

तात्पर्य : यह स्वाभाविक है कि जब किसी को पता चल जाता है कि उसके परिवार का कोई व्यक्ति इतना महान् है, तो यह सोचकर कि "ओह! ऐसा महापुरुष हमारा सम्बन्धी है" प्रेमविह्वल हो जाता है। यद्यपि पाण्डव पहले से श्रीकृष्ण को जानते थे, किन्तु जब उन्होंने नारद मुनि से यह सुना कि वे भगवान् हैं, तो पाण्डवों को यह सोचकर आश्चर्य हुआ कि "अरे! भगवान् तो हमारे ममेरे भाई के रूप में हमारे साथ हैं।" निश्चय ही उनको अपार हर्ष हुआ।

कृष्णपार्थावुपामन्त्र्य पूजितः प्रययौ मुनिः ।
श्रुत्वा कृष्णं परं ब्रह्म पार्थः परमविस्मितः ॥ ७९ ॥

शब्दार्थ

कृष्ण—कृष्ण; पार्थौ—तथा महाराज युधिष्ठिर; उपामन्त्र्य—विदा होकर; पूजितः—उनके द्वारा पूजित होकर; प्रययौ—चले गये; मुनिः—नारद मुनि; श्रुत्वा—सुनकर; कृष्णम्—कृष्ण के विषय में; परम् ब्रह्म—भगवान् के रूप में; पार्थः—महाराज युधिष्ठिर; परम-विस्मितः—अत्यधिक चकित।

कृष्ण तथा महाराज युधिष्ठिर द्वारा पूजे जाकर नारद मुनि उनसे विदा लेकर चले गये। युधिष्ठिर महाराज अपने ममेरे भाई कृष्ण को भगवान् के रूप में सुनकर अत्यधिक चकित हुए।

तात्पर्य : यदि नारद तथा युधिष्ठिर के बीच हुए इस संवाद को सुनने के बाद भी किसी के मन में कृष्ण के भगवान् होने में कोई सन्देह रह जाता है, तो उसे चाहिए कि वह तुरन्त ही अपने सन्देह को त्याग कर दे। *असंशयं समग्रम्*—बिना किसी सन्देह तथा बिना किसी दोष के मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण को भगवान् समझे तथा उनके ही चरमकमलों की शरण ले। सामान्य पुरुष वेदों का श्रवण करके भी ऐसा नहीं करते किन्तु यदि कोई भाग्यशाली हुआ तो जन्म-जन्मांतरों के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है (*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते*)।

इति दाक्षायणीनां ते पृथग्वंशाः प्रकीर्तिताः ।
देवासुरमनुष्याद्या लोका यत्र चराचराः ॥ ८० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; दाक्षायणीनाम्—महाराज दक्ष की कन्याओं के, जैसे अदिति तथा दिति; ते—तुम्हारा; पृथक्—अलग; वंशाः—वंश; प्रकीर्तिताः—(मेरे द्वारा) वर्णित किये गये; देव—देवता; असुर—असुरगण; मनुष्य—मनुष्य; आद्याः—इत्यादि; लोकाः—इस ब्रह्माण्ड के सारे लोक; यत्र—जिसमें; चर-अचराः—जड़ तथा चेतन प्राणी।

इस ब्रह्माण्ड के भीतर समस्त लोकों में सारे जड़ तथा चेतन प्राणी जिनमें देवता, असुर तथा मनुष्य सम्मिलित हैं महाराज दक्ष की पुत्रियों से उत्पन्न हुए। इस तरह मैंने उन सबों का तथा उनके विभिन्न वंशों का वर्णन कर दिया है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध के अन्तर्गत ''सुसंस्कृत मनुष्यों के लिए उपदेश'' नामक पन्द्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

वैशाखी शुक्ल एकादशी, तदनुसार १० मई १९७६ की रात में पञ्चतत्व मन्दिर नव नवद्वीप (होनोलुलू) में श्रीकृष्ण चैतन्यप्रभु नित्यानन्द, श्रीअद्वैत गदाधर, श्रीवासादिगौरभक्तवृन्द की कृपा से पूर्ण हुआ। अत: हम आनन्द से—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—किर्तन करें।

॥सप्तम स्कन्ध पूर्ण॥

Preliminary pages of 7th canto starts from here

Preliminary page 1

श्री श्रीगुरु-गौराङ्गौ जयत:

कृष्णद्वैपायन व्यास

कृत

श्रीमद्भागवतम्

श्रीप्रह्लाद उवाच

श्रवणं कीर्तनं विष्णो: स्मरणं पादसेवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥२३॥

इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।

क्रियेत भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥२४॥

(*श्रीमद्भागवत* ७.५.२३-२४)

विषय-सूची

आमुख

प्रस्तावना

अध्याय एक

समदर्शी भगवान्

अध्याय का सारांश

विष्णु हर एक को अतिशय प्रिय

भगवान् की कथाएँ भौतिक कष्ट को दूर करने वाली

कुशल चिन्तक द्वारा भगवान् की उपस्थिति का अनुभव किया जाना

जीव का काल की सीमाओं के भीतर कर्म करना

शिशुपाल का भगवान् के शरीर में लीन होना

बद्धजीव द्वन्द्व में

भगवान् के चिन्तन द्वारा पाप से मुक्ति

नास्तिकों को मोक्ष दुर्लभ

मुनियों द्वारा जय तथा विजय को शाप दिया जाना

अध्याय दो

असुरराज हिरण्यकशिपु

अध्याय का सारांश

हिरण्यकशिपु द्वारा अपने भाई की मृत्यु पर शोक

हिरण्यकशिपु द्वारा भगवान् विष्णु को मारने का व्रत

एकत्रित असुरों को हिरण्यकशिपु का आदेश

असुरों द्वारा विध्वंस कार्य

देवताओं का अदृश्य रूप में पृथ्वी पर विचरण

हिरण्यकशिपु द्वारा अपने भतीजों को सान्त्वना

आत्मा—नित्य तथा अक्षय

राजा सुयज्ञ की कथा

यमराज द्वारा राजा की विधवा पत्नियों को उपदेश

भौतिक सृष्टि: भगवान् का खिलवाड़

पाशबद्ध जीव शरीर से भिन्न

यमराज द्वारा दो कुलिंग पक्षियों की कथा का वर्णन

हिरण्याक्ष की पत्नी तथा माता द्वारा शोक का विस्मरण

अध्याय तीन

अमर बनने की हिरण्यकशिपु की योजना

अध्याय का सारांश

हिरण्यकशिपु द्वारा कठोर तपस्या का शुभारम्भ

देवताओं द्वारा हिरण्यकशिपु की महत्त्वाकांक्षाओं की

सूचना ब्रह्मा को दिया जाना

आश्चर्यचकित ब्रह्मा द्वारा हिरण्यकशिपु को सम्बोधन

ब्रह्मा द्वारा हिरण्यकशिपु को पुनर्जीवन दान

हिरण्यकशिपु द्वारा विनीत भाव से प्रार्थना

हिरण्यकशिपु का वर माँगना

अध्याय चार

ब्रह्माण्ड में हिरण्यकशिपु का आतंक

अध्याय का सारांश

ब्रह्मा द्वारा हिरण्यकशिपु को वरदान

हिरण्यकशिपु द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का विजित किया जाना

इन्द्र के आवास का ऐश्वर्य

प्रत्येक व्यक्ति द्वारा हिरण्यकशिपु की पूजा

हिरण्यकशिपु—अपनी इन्द्रियों का दास

विश्वपालकों द्वारा विष्णु को आत्मसमर्पण

भगवान् की वाणी—समस्त भय को भगाने वाली

प्रह्लाद महाराज के यशस्वी गुण

प्रह्लाद में भाव लक्षणों का प्राकट्य

हिरण्यकशिपु द्वारा अपने ही पुत्र को सताया जाना

अध्याय पाँच

हिरण्यकशिपु का साधु पुत्र प्रह्लाद

अध्याय का सारांश

असुरों द्वारा शुक्राचार्य को अपना पुरोहित बनाना

प्रह्लाद द्वारा असुरराज को उपदेश दिया जाना

अपने पिता के शत्रुओं के प्रति आज्ञाकारी प्रह्लाद

असुरों के पुरोहितों द्वारा प्रह्लाद को सान्त्वना दिया जाना

प्रह्लाद का अपने शिक्षकों द्वारा प्रताड़न

असुरों को काटने के लिए विष्णु कुल्हाड़े के समान

भक्ति की नौ विधियाँ

हिरण्यकशिपु का अपने पुत्र पर क्रुद्ध होना

भौतिकतावादियों द्वारा चर्वित का बारम्बार चर्वण

हिरण्यकशिपु द्वारा प्रह्लाद को मार डालने का आदेश

असुरों द्वारा प्रह्लाद का सताया जाना आरम्भ

प्रह्लाद अपने पिता के उत्पीड़नों से अप्रभावित

प्रह्लाद द्वारा अपने सहपाठियों को उपदेश

अध्याय छह

प्रह्लाद द्वारा अपने असुर सहपाठियों को उपदेश

अध्याय का सारांश

हर बालक को कृष्णभावनामृत की शिक्षा

सभी योनियों में शारीरिक सुख की उपलब्धि

आर्थिक विकास व्यर्थ

आप जीवन कैसे नष्ट करें

पारिवारिक स्नेह का बन्धन

धन मधु से भी मधुर

सर्वशक्तिमान जिह्वा तथा जननांग

शिक्षित कुत्ते-बिल्लियाँ

स्त्रियों के हाथ के नाचने वाले कुत्ते

नास्तिकों को भगवान् के अविद्यमान होने की प्रतीति

भक्तों के लिए कुछ भी अनुपलब्ध नहीं

कृष्ण की शरण में जाना दिव्य

दिव्य ज्ञान को समझ पाना कठिन

अध्याय सात

प्रह्लाद ने गर्भ में क्या सीखा

अध्याय का सारांश

देवताओं द्वारा असुरों को लूटा जाना

नारद द्वारा अजन्मे नायक प्रह्लाद की रक्षा

गर्भ में ही प्रह्लाद द्वारा नारद से उपदेश सुनना

भगवान् तथा हम दोनों ही चेतन जीव

आत्मा को कैसे निकाला जाये

सभी धीर पुरुषों द्वारा आत्मा की खोज आवश्यक

दूषित बुद्धि की शृंखला

प्रामाणिक गुरु को स्वीकार करना और उसकी सेवा करना

नरक जाने में काफी उद्यम की आवश्यकता

सुख के प्रयासों से सदैव दुख की प्राप्ति

आज के कर्मों से भावी शरीर का बनना

सर्वत्र कृष्ण का दर्शन करना चरम लक्ष्य

अध्याय आठ

भगवान् नृसिंहदेव द्वारा असुरराज का वध

अध्याय का सारांश

हिरण्यकशिपु द्वारा अपने पुत्र प्रह्लाद को मार

डालने का निश्चय

प्रह्लाद द्वारा अपने पिता को उपदेश

यदि भगवान् सर्वत्र है, तो मुझे क्यों नहीं दिखता

ख भे से भगवान् नृसिंहदेव का प्रकट होना

भगवान् नृसिंहदेव के स्वरूप का वर्णन

भगवान् द्वारा हिरण्यकशिपु का विर्दीण किया जाना

देवताओं द्वारा भगवान् नृसिंहदेव की स्तुति

अध्याय नौ

प्रह्लाद द्वारा नृसिंहदेव का शान्त किया जाना

अध्याय का सारांश

प्रह्लाद का नृसिंहदेव के निकट जाना

प्रह्लाद द्वारा भगवान् की स्तुति

चांडाल भी भक्त बनकर महान् हो जाता है

भगवान् का अपनी इच्छा से अवतरित होना

तथाकथित उपचार रोगों से भी निकृष्ट

विज्ञानी तथा राजनीतिज्ञ कभी हमें बचा नहीं सकते

भावी सुख केवल मृगमरीचिका

हमारा पहला कर्तव्य—गुरु की सेवा करना

भगवान् की योगनिद्रा

इस युग में भगवान् अपना प्रभाव नहीं दिखलाते

इन्द्रियाँ सपत्नियों के समान

मूर्खों तथा धूर्तों को बचाने में सहायक बनें

एकान्त में ध्यान करने की भर्त्सना

कामवासना को सहन करने से काफी कष्टों से बचाव

भगवान् द्वारा अपना क्रोध त्यागना

भक्तों को भौतिक लाभ अस्वीकार्य

अध्याय दस

भक्तप्रवर प्रह्लाद

अध्याय का सारांश

भक्तगण भौतिकतावादी जीवन से भयभीत

भौतिक लाभ के लिए भगवान् की सेवा

कृष्ण: हमारे प्राकृतिक स्वामी

भगवान् द्वारा असुरों पर राज्य करने का प्रह्लाद को आदेश

महान् भक्तगण सम्पूर्ण राष्ट्रों को शुद्ध करने वाले

ब्रह्मा द्वारा भगवान् नृसिंहदेव की स्तुति

जय तथा विजय के तीन जन्म

मनोयोग से सुनने वालों को वैकुण्ठ प्राप्ति

परब्रह्म व्यक्ति हैं

असुरों में प्रतिभाशाली मय दानव

आपन सोची होत नहिं

अध्याय ग्यारह

पूर्ण समाज: चातुर्वर्ण

अध्याय का सारांश

हमारे नित्य वृत्तिपरक कर्तव्य

मनुष्य के तीस के गुण

बुद्धिजीवी, प्रशासक, व्यापारिक तथा श्रमिक वर्ग

साध्वी स्त्रयाँ: सामाजिक आवश्यकता

समाज का विभाजन कैसे ?

अध्याय बारह

पूर्ण समाजः चार आध्यात्मिक वर्ग

अध्याय का सारांश

ब्रह्मचारी जीवनः गुरु के संरक्षण में रहना

स्त्रियाँ अग्नि के तुल्य और पुरुष घृत सद्दश

वैदिक ज्ञान को समझना ही असली शिक्षा

वानप्रस्थ जीवन, मृत्यु की तैयारी

अध्याय तेरह

सिद्ध पुरुष का आचरण

अध्याय का सारांश

संन्यास आश्रम

संसारी साहित्य न पढ़ें

सिद्ध पुरुष से प्रह्लाद की बातचीत

मनुष्य ही अपने अगले शरीर का चुनाव करने में समर्थ

इन्द्रियभोग काल्पनिक

तीन तरह के ताप

मधुमक्खी तथा अजगर श्रेष्ठ शिक्षक

ज्ञाता मोह से दूर

अध्याय चौदह

आदर्श पारिवारिक जीवन

अध्याय का सारांश

गृहस्थों को मुक्तिलाभ किस तरह हो

सादा जीवन उच्च विचार

पशुओं से पुत्रवत् व्यवहार

पत्नी के शरीर का असली मूल्य

प्रसाद वितरण

इस्कॉन केन्द्रों से हर व्यक्ति लाभान्वित

प्रत्येक वस्तु का कृष्ण को अर्पित किया जाना

अध्याय पन्द्रह

सभ्य मनुष्यों के लिए उपदेश

अध्याय का सारांश

भगवान् तथा उनके भक्तों को भोजन अर्पित करना

धर्म तथा भोजन के लिए पशुओं की हत्या

छद्म धर्म की पाँच शाखाएँ

आर्थिक प्रयास से परे कैसे जाया जाय

लालच: निर्दय मालिक

गुरु: जीवन की सबसे बड़ी सम्पत्ति

योग विधि

आध्यात्मिक नियमों का तोड़ना असह्य

गुरु की कृपा

स्वर्गलोक में क्यों नहीं रहा जा सकता ?

वास्तविकता क्या है ?

चरम स्वार्थ

नारद मुनि के पूर्व जीवन

कृष्ण का पाण्डवों के साथ सामान्य मनुष्य की तरह रहना

परिशिष्ट

लेखक परिचय

Chapter एक

ब्रह्माण्ड के प्रशासक मनु

सर्वप्रथम मैं अपने गुरुदेव कृष्णकृपामूर्ति श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद के चरणकमलों में विनम्र सादर नमस्कार करता हूँ। १९३५ में जब वे राधाकुण्ड में रुके हुए थे तो मैं बम्बई से उनके दर्शन करने गया था। उस समय उन्होंने मन्दिर बनवाने तथा पुस्तकें प्रकाशित करने के सम्बन्ध में मुझे अनेक महत्त्वपूर्ण आदेश दिये थे। उन्होंने स्वयं मुझसे कहा था कि पुस्तकें प्रकाशित करना मन्दिरों के बनवाने से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। निस्सन्देह, वे आदेश मेरे मन में अनेक वर्षों तक बने रहे। मैंने १९४४ में अपनी *बैक टु गॉडहेड* पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया और १९५ में जब मैं अपने पारिवारिक जीवन से विरक्त हो गया तो मैंने दिल्ली में *श्रीमद्भागवत* का प्रकाशन प्रारम्भ किया। जब भारत में *श्रीमद्भागवत* के तीन खण्ड छप चुके थे तो मैं १३ अगस्त १९६५ को संयुक्त राज्य अमरीका के लिए रवाना हो गया।

अपने गुरु के सुझाव के अनुसार मैं पुस्तकों के प्रकाशन का निरंतर प्रयत्न कर रहा हूँ। अब इस वर्ष १९७६ में मैंने *श्रीमद्भागवत* का सप्तम स्कन्ध पूरा किया है और दशम स्कन्ध का सारांश *लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण* के नाम से पहले ही प्रकाशित हो चुका है। अभी भी अष्टम, नवम, दशम, एकादश तथा द्वादश स्कन्धों का प्रकाशन शेष है। अतएव इस अवसर पर मैं अपने गुरु से प्रार्थना कर रहा हूँ कि वे इस कार्य को पूरा करने के लिए मुझे शक्ति प्रदान करें। मैं न तो कोई महान् विद्वान हूँ और न ही महान् भक्त, मैं तो अपने गुरु का केवल एक विनीत दास हूँ और अमरीका के अपने शिष्यों के सहयोग से इन पुस्तकों को प्रकाशित करके उन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न कर रहा हूँ। सौभाग्य से विश्वभर के विद्वान इन ग्रंथों की प्रशंसा कर रहे हैं। आओ, हम मिल-जुलकर कृष्णकृपामूर्ति श्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर को प्रसन्न करने के लिए *श्रीमद्भागवत* के अधिकाधिक खण्डों का प्रकाशन करें।

आठवें स्कन्ध के इस पहले अध्याय में चारों मनुओं—स्वायंभुव, स्वारोचिष, उत्तम तथा तामस—का संक्षिप्त वर्णन हुआ है। सप्तम स्कन्ध के अन्त तक स्वायंभुव मनु के वंश का वर्णन सुनकर महाराज

परीक्षित ने अन्य मनुओं के विषय में जानने की जिज्ञासा प्रकट की। वे यह भी जानना चाह रहे थे कि भगवान् किस प्रकार न केवल भूतकाल में, अपितु वर्तमान काल तथा भविष्यत् काल में भी अवतरित होते हैं और किस तरह वे विभिन्न लीलाओं में मनु की भूमिका निभाते हैं। चूँकि परीक्षित महाराज यह सब जानने को उत्सुक थे अतएव शुकदेव गोस्वामी ने भूतकाल में प्रकट हुए छह मनुओं से आरम्भ करके क्रमश: सभी मनुओं का वर्णन किया।

प्रथम मनु स्वायंभुव मनु थे। उनके दो पुत्रियाँ थीं—आकूति तथा देवहूति जिनसे क्रमश: यज्ञ तथा कपिल नामक दो पुत्र हुए। चूँकि शुकदेव गोस्वामी तृतीय स्कन्ध में कपिल के कार्यकलापों का वर्णन कर चुके थे अतएव उन्होंने अब यज्ञ के कार्यकलापों का वर्णन किया। आदि मनु अपनी पत्नी शतरूपा सहित सुनन्दा नामक नदी के तट पर तपस्या करने के लिए जंगल चले गये, उन्होंने वहाँ एक सौ वर्षों तक तपस्या की। तभी मनु ने समाधि में ही भगवान् की स्तुतियाँ तैयार कीं। तब राक्षसों तथा असुरों ने उन्हें निगल जाने का प्रयास किया, किन्तु यज्ञ ने अपने पुत्रों, यामों तथा देवताओं की सहायता से उन्हें मार डाला। तब यज्ञ ने स्वर्गलोकों के राजा इन्द्र का पद स्वयं ग्रहण कर लिया।

दूसरे मनु का नाम स्वारोचिष था और वे अग्नि के पुत्र थे। उनके पुत्रों में द्युमत, सुषेण तथा रोचिष्मत मुख्य थे। इस मनु के युग में रोचन स्वर्गलोकों का राजा इन्द्र बना और तुषित इत्यादि अनेक देवता हुए। अनेक साधुपुरुष भी हुए—यथा ऊर्ज तथा स्तम्भ। उन्हीं में वेदशिरा था जिसकी पत्नी तुषिता ने विभु को जन्म दिया। विभु ने अट्ठासी हजार *दृढव्रतों* अर्थात् साधुपुरुषों को आत्मसंयम तथा तपस्या का उपदेश दिया।

तृतीय मनु, प्रियव्रत का पुत्र उत्तम था। उसके पुत्रों में पवन, सृञ्जय तथा यज्ञहोत्र इत्यादि थे। इस मनु के राज्यकाल में वसिष्ठ के पुत्रों में प्रमद इत्यादि सप्तर्षि हुए। सत्य, देवश्रुत तथा भद्रगण देवता बने और सत्यजित इन्द्र बना। धर्म की पत्नी सुनृता के गर्भ से सत्यसेन के रूप में भगवान् उत्पन्न हुए जिन्होंने सत्यजित से युद्ध करने वाले यक्षों तथा राक्षसों का वध किया।

तृतीय मनु का भाई तामस चतुर्थ मनु बना। उसके दस पुत्र हुए जिनमें पृथु, ख्याति, नर तथा केतु प्रमुख थे। उसके राज्यकाल में सत्यकगण, हरिगण, वीरगण तथा अन्य देवता हुए। सप्तर्षियों में ज्योतिर्धाम मुख्य था और त्रिशिख इन्द्र बना। हरिमेधा के ही अपनी पत्नी हरिणी के गर्भ से हरि नामक

पुत्र उत्पन्न हुआ। भगवान् के इन्हीं अवतार हरि ने अपने भक्त गजेन्द्र को बचाया। यह घटना *गजेन्द्र मोक्षण* के नाम से वर्णित है। इस अध्याय के अन्त में परीक्षित महाराज इसी घटना के विषय में विशेष जिज्ञासा करते हैं।

श्रीराजोवाच
स्वायम्भुवस्येह गुरो वंशोऽयं विस्तराच्छ्रुतः ।
यत्र विश्वसृजां सर्गो मनूनन्यान्वदस्व नः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा (महाराज परीक्षित) ने कहा; स्वायम्भुवस्य—महापुरुष स्वायंभुव मनु का; इह—इस सम्बन्ध में; गुरो—हे गुरु; वंशः—वंश; अयम्—यह; विस्तरात्—विस्तार से; श्रुतः—मैंने (आपसे) सुना; यत्र—जिसमें; विश्व-सृजाम्—प्रजापति नामक महापुरुषों का, यथा मरीचि इत्यादि का; सर्गः—सृष्टि, जिसमें मनु की पुत्रियों से अनेक पुत्र तथा पौत्र उत्पन्न हुए; मनून्—मनुओं को; अन्यान्—अन्य; वदस्व—कृपया वर्णन करें; नः—हम से।

राजा परीक्षित ने कहा : हे स्वामी! हे गुरु! अभी मैंने आपके मुख से स्वायंभुव मनु के वंश के विषय में भलीभाँति सुना। किन्तु अन्य मनु भी तो हैं; अतएव मैं उनके वंशों के विषय में सुनना चाहता हूँ। कृपा करके उनका वर्णन करें।

मन्वन्तरे हरेर्जन्म कर्माणि च महीयसः ।
गृणन्ति कवयो ब्रह्मंस्तानि नो वद शृण्वताम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

मन्वन्तरे—मन्वन्तरों के परिवर्तन के समय (एक मनु से दूसरा मनु बनने का अन्तराल); हरेः—भगवान् का; जन्म—प्राकट्य; कर्माणि—तथा कर्म; च—भी; महीयसः—अत्यन्त यशस्वी का; गृणन्ति—वर्णन करते हैं; कवयः—विद्वान पुरुष जिन्हें पूर्ण बुद्धि है; ब्रह्मन्—हे विद्वान ब्राह्मण (शुकदेव गोस्वामी); तानि—उन सबों को; नः—हमसे; वद—कहिये; शृण्वताम्—सुनने के इच्छुक।

हे विद्वान ब्राह्मण शुकदेव गोस्वामी! बड़े-बड़े विद्वान पुरुष, जो नितान्त बुद्धिमान् हैं, विभिन्न मन्वन्तरों में भगवान् के कार्यकलापों का तथा उनके प्राकट्य का वर्णन करते हैं। हम इन वर्णनों को सुनने के लिए अत्यन्त उत्सुक हैं। कृपया उनका वर्णन करें।

तात्पर्य : भगवान् के अनेक प्रकार के अवतार होते हैं जिनके अन्तर्गत गुण-अवतार, मन्वन्तर अवतार, लीला अवतार तथा युग अवतार आते हैं और इन सबका वर्णन शास्त्रों में हुआ है। शास्त्रों के सन्दर्भ के बिना किसी को भी भगवान् का अवतार स्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव जैसाकि यहाँ पर विशेष उल्लेख है—*गृणन्ति कवयः*—पूर्ण बुद्धिमान् एवं बड़े-बड़े विद्वान व्यक्ति विभिन्न अवतारों के विवरणों को स्वीकार करते हैं। इस समय, विशेष रूप से भारत में अनेक धूर्त

अपने को अवतार होने का दावा करते हैं और लोगों को गुमराह करते हैं। अतएव अवतार की पहचान की पुष्टि शास्त्रों के विवरणों तथा उनके विलक्षण कार्यकलापों से की जानी चाहिए। जैसाकि इस श्लोक के *महीयस:* शब्द से लक्षित है, अवतार के कार्यकलाप कोई साधारण जादू या बाज़ीगरी नहीं होते, अपितु विलक्षण होते हैं। अत: भगवान् के किसी भी अवतार की पुष्टि शास्त्रों के विवरणों द्वारा की जानी चाहिए और उनके कार्यकलाप यथार्थ विलक्षण होने चाहिए। परीक्षित महाराज विभिन्न युगों के मनुओं के विषय में सुनने को उत्सुक थे। ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं और प्रत्येक मनु इकहत्तर युगों तक जीवित रहता है। इस प्रकार ब्रह्मा के जीवनकाल में हजारों मनु होते हैं।

यद्यस्मिन्नन्तरे ब्रह्मन्भगवान्विश्वभावन: ।
कृतवान्कुरुते कर्ता ह्यतीतेऽनागतेऽद्य वा ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो भी कार्यकलाप; यस्मिन्—किसी विशेष युग में; अन्तरे—मन्वन्तर में; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; भगवान्—भगवान्; विश्व-भावन:—इस दृश्य जगत को उत्पन्न करने वाला; कृतवान्—किया गया; कुरुते—कर रहा है; कर्ता—तथा करेगा; हि—निस्सन्देह; अतीते—भूतकाल में; अनागते—भविष्य में; अद्य—वर्तमान में; वा—अथवा।

हे विद्वान ब्राह्मण! कृपा करके इस दृश्य जगत को उत्पन्न करने वाले भगवान् के उन सारे कार्यकलापों का वर्णन हमसे करें जिन्हें उन्होंने विगत मन्वन्तरों में सम्पन्न किया, जो वे वर्तमान में सम्पन्न कर रहे हैं तथा जो वे भावी मन्वन्तरों में सम्पन्न करेंगे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् ने कहा है कि युद्धभूमि में उपस्थित स्वयं वे तथा अन्य सारे जीव भूतकाल में विद्यमान थे, वे इस समय उपस्थित हैं और भविष्य में भी स्थित रहेंगे। भूत, वर्तमान तथा भविष्य भगवान् तथा सामान्य जीवों के लिए सदैव रहते हैं। *नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।* भगवान् तथा जीव दोनों ही शाश्वत तथा सचेतन हैं, किन्तु इनमें अन्तर यह है कि भगवान् असीम हैं जबकि जीव सीमित हैं। भगवान् प्रत्येक वस्तु के स्रष्टा हैं और यद्यपि जीव उत्पन्न नहीं किये जाते, अपितु वे भगवान् के साथ नित्य रहते आये हैं, किन्तु उनके शरीर उत्पन्न होते हैं जबकि भगवान् का शरीर उत्पन्न नहीं होता। भगवान् तथा उनके शरीर में कोई अन्तर नहीं होता, लेकिन बद्धजीव, शाश्वत होते हुए भी, अपने शरीर से भिन्न होता है।

श्रीऋषिरुवाच

मनवोऽस्मिन्व्यतीताः षट्कल्पे स्वायम्भुवादयः ।
आद्यस्ते कथितो यत्र देवादीनां च सम्भवः ॥ ४॥

शब्दार्थ

श्री-ऋषिः उवाच—महान् ऋषि शुकदेव गोस्वामी ने कहा; मनवः—मनु; अस्मिन्—इस अवधि (ब्रह्मा के एक दिन) में; व्यतीताः—बीता हुआ; षट्—छः; कल्पे—ब्रह्मा के एक दिन में; स्वायम्भुव—स्वायंभुव मनु; आदयः—इत्यादि; आद्यः—प्रथम (स्वायंभुव); ते—तुमसे; कथितः—पहले कहा जा चुका; यत्र—जिसमें; देव-आदीनाम्—समस्त देवताओं का; च—भी; सम्भवः—प्राकट्य, जन्म।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : वर्तमान कल्प में छह मनु हो चुके हैं। मैं तुमसे स्वायंभुव मनु तथा अनेक देवताओं के प्राकट्य के विषय में वर्णन कर चुका हूँ। ब्रह्मा के इस कल्प में स्वायंभुव प्रथम मनु हैं।

आकूत्यां देवहूत्यां च दुहित्रोस्तस्य वै मनोः ।
धर्मज्ञानोपदेशार्थं भगवान्पुत्रतां गतः ॥ ५॥

शब्दार्थ

आकूत्याम्—आकूति के गर्भ से; देवहूत्याम् च—तथा देवहूति के गर्भ से; दुहित्रोः—दोनों पुत्रियों के; तस्य—उसकी; वै—निस्सन्देह; मनोः—स्वायंभुव मनु की; धर्म—धर्म; ज्ञान—तथा ज्ञान; उपदेश-अर्थम्—उपदेश देने के लिए; भगवान्—भगवान् ने; पुत्रताम्—आकूति तथा देवहूति का पुत्रत्व; गतः—स्वीकार किया।

स्वायंभुव मनु के दो पुत्रियाँ थीं—आकूति तथा देवहूति। उनके गर्भ से भगवान् दो पुत्रों के रूप में प्रकट हुए जिनके नाम क्रमशः यज्ञमूर्ति तथा कपिल थे। इन पुत्रों को धर्म तथा ज्ञान का उपदेश देने का कार्यभार सौंपा गया।

तात्पर्य : देवहूति के पुत्र का नाम कपिल था और आकूति के पुत्र का नाम यज्ञमूर्ति। दोनों ने ही धर्म तथा दार्शनिक ज्ञान की शिक्षा दी।

कृतं पुरा भगवतः कपिलस्यानुवर्णितम् ।
आख्यास्ये भगवान्यज्ञो यच्चकार कुरूद्वह ॥ ६॥

शब्दार्थ

कृतम्—पहले ही किया गया; पुरा—पहले; भगवतः—भगवान्; कपिलस्य—देवहूति के पुत्र कपिल का; अनुवर्णितम्—पूर्णतया वर्णन हो चुका है; आख्यास्ये—अब मैं वर्णन करूँगा; भगवान्—भगवान्; यज्ञः—यज्ञपति या यज्ञमूर्ति का; यत्—जो; चकार—सम्पन्न किया; कुरु-उद्वह—हे कुरुश्रेष्ठ।

हे कुरुश्रेष्ठ! मैं पहले ही (तृतीय स्कन्ध में) देवहूति के पुत्र कपिल के कार्यकलापों का वर्णन कर चुका हूँ। अब मैं आकूति के पुत्र यज्ञपति के कार्यकलापों का वर्णन करूँगा।

विरक्त: कामभोगेषु शतरूपापति: प्रभु: ।
विसृज्य राज्यं तपसे सभार्यो वनमाविशत् ॥ ७॥

शब्दार्थ

विरक्त:—अनासक्त; काम-भोगेषु—इन्द्रियतृप्ति में (गृहस्थ जीवन में); शतरूपा-पति:—शतरूपा के पति, स्वायंभुव मनु; प्रभु:—जो विश्व के स्वामी या राजा थे; विसृज्य—पूर्णत: त्यागकर; राज्यम्—अपने राज्य को; तपसे—तपस्या करने के लिए; स-भार्य:—अपनी पत्नी सहित; वनम्—जंगल में; आविशत्—प्रवेश किया।

शतरूपा के पति स्वायंभुव मनु स्वभाव से इन्द्रियभोग के प्रति तनिक भी आसक्त नहीं थे। अतएव उन्होंने अपने विलासमय राज्य को त्याग दिया और अपनी पत्नी सहित तपस्या करने के लिए जंगल में चले गये।

तात्पर्य : जैसा कि भगवद्गीता (४.२) में कहा गया है—*एवं परम्पराप्राप्तम् इमं राजर्षयो विदु:*—यह परम विज्ञान शिष्य-परम्परा द्वारा प्राप्त हुआ और राजर्षियों ने उसे इसी तरह से समझा। सारे मनु परिपूर्ण राजा थे—वे राजर्षि थे। दूसरे शब्दों में, यद्यपि वे विश्व के सम्राट् थे, किन्तु वे महान् सन्तों के समान ही थे। उदाहरण के लिए, स्वायंभुव मनु विश्व के सम्राट थे, किन्तु उन्हें इन्द्रियतृप्ति की कोई इच्छा न थी। राजतंत्र का यही अर्थ है। देश के राजा या साम्राज्य के सम्राट् को इस तरह प्रशिक्षित किया जाना चाहिए कि वह सहज ही इन्द्रियतृप्ति त्याग दे। ऐसा नहीं है कि क्योंकि वह राजा है, अत: वह इन्द्रियतृप्ति पर व्यर्थ ही धन खर्च करे। ज्योंही राजा इन्द्रियतृप्ति पर धन खर्च करके पतित हो गए त्योंही वे विनष्ट हो गए। इसी तरह इस समय राजतंत्र समाप्त हो चुका है और लोगों ने प्रजातंत्र स्थापित किया है, किन्तु वह भी असफल हो रहा है। अब प्रकृति के नियमानुसार वह समय आने वाला है जब तानाशाही से प्रजा को अधिकाधिक कष्ट भोगना पड़ेगा। यदि राजा या तानाशाह अकेले या सरकार के सदस्य संयुक्त रूप से राज्य या साम्राज्य को *मनुसंहिता* के नियमों के अनुसार चला नहीं पाते तो निश्चित रूप से उनकी सरकार नहीं चलेगी।

सुनन्दायां वर्षशतं पदैकेन भुवं स्पृशन् ।
तप्यमानस्तपो घोरमिदमन्वाह भारत ॥ ॥

शब्दार्थ

सुनन्दायाम्—सुनन्दा नदी के तट पर; वर्ष-शतम्—एक सौ वर्षों तक; पद-एकेन—एक पाँव पर; भुवम्—पृथ्वी को; स्पृशन्—छुऐ हुए; तप्यमान:—तपस्या की; तप:—तपस्या; घोरम्—अत्यन्त कठिन; इदम्—निम्नलिखित, यह; अन्वाह—कहा; भारत—हे भरतवंशी।

हे भरतवंशी! स्वायंभुव मनु अपनी पत्नी समेत जंगल में प्रविष्ट होने के बाद सुनन्दा नदी के

तट पर एक पाँव पर खड़े रहे। इस प्रकार केवल एक पाँव से पृथ्वी का स्पर्श करते हुए उन्होंने एक सौ वर्षों तक महान् तपस्या की। तपस्या करते समय वे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने टीका की है कि *अन्वाह* शब्द का अर्थ है कि वे जप कर रहे थे या फुसफुसा रहे थे, किसी को भाषण नहीं दे रहे थे।

श्रीमनुरुवाच
येन चेतयते विश्वं विश्वं चेतयते न यम् ।
यो जागर्ति शयानेऽस्मिन्नायं तं वेद वेद सः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्री-मनुः उवाच—स्वायंभुव मनु ने उच्चारण किया; येन—जिससे (भगवान् से); चेतयते—चेतन हो जाता है; विश्वम्—सारा ब्रह्माण्ड; विश्वम्—सारा ब्रह्माण्ड (भौतिक जगत); चेतयते—चेतन होता है; न—नहीं; यम्—जिसको; यः—वह जो; जागर्ति—सदैव जागता रहता है (सारे कार्यकलापों का साक्षी बना हुआ); शयाने—सोते समय; अस्मिन्—इस शरीर में; न—नहीं; अयम्—यह जीव; तम्—उसको; वेद—जानता है; वेद—जानता है; सः—वह।

श्री-मनु ने कहा : परम पुरुष ने इस चेतन भौतिक जगत की सृष्टि की है; ऐसा नहीं है कि इस भौतिक जगत से उसकी उत्पत्ति हुई हो। जब सब कुछ मौन रहता है, तो परम पुरुष साक्षी रूप में जगा रहता है। जीव उसे नहीं जानता, किन्तु वह सब कुछ जानता है।

तात्पर्य : यहाँ भगवान् और जीवों का अन्तर दिया गया है। *नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।* वेदों के अनुसार भगवान् परम नित्य जीव हैं। परम पुरुष तथा सामान्य जीव में यही अन्तर है कि जब इस भौतिक विश्व का संहार होता है, तो सारे जीव विस्मृति में, स्वप्न में या अचेतन अवस्था में मौन रहते हैं। किन्तु परम पुरुष प्रत्येक वस्तु के साक्षी बनकर जागते रहते हैं। इस भौतिक जगत का सृजन होता है, कुछ काल तक यह बना रहता है और फिर नष्ट हो जाता है। किन्तु इन सारे परिवर्तनों के दौरान परम पुरुष जगे रहते हैं। सभी जीवों की भौतिक दशा में स्वप्न की तीन अवस्थाएँ होती हैं। जब भौतिक जगत जाग्रत रहता है और कार्यशील होता है, तो यह एक प्रकार का स्वप्न है, जाग्रत स्वप्न। जब जीव सो जाते हैं, तो वे फिर स्वप्न देखते हैं। और जब प्रलय के समय वे अचेतनावस्था में होते हैं और यह जगत अप्रकट रहता है, तो सारे जीव एक अन्य स्वप्नावस्था में प्रवेश करते हैं। अतएव वे इस भौतिक जगत में किसी भी अवस्था में स्वप्न देखते रहते हैं। किन्तु आध्यात्मिक जगत में हर वस्तु जाग्रत होती है।

आत्मावास्यमिदं विश्वं यत्किञ्चिज्जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

आत्म—परमात्मा; आवास्यम्—सर्वत्र रहते हुए; इदम्—यह ब्रह्माण्ड; विश्वम्—सारे ब्रह्माण्ड, सारे स्थान; यत्—जो भी; किञ्चित्—प्रत्येक विद्यमान वस्तु; जगत्याम्—संसार में, सर्वत्र; जगत्—हर वस्तु, चर तथा अचर; तेन—उसके द्वारा; त्यक्तेन—नियत; भुञ्जीथाः—भोग कर सकते हो; मा—मत; गृधः—स्वीकार करो; कस्य स्वित्—किसी अन्य का; धनम्—धन।

इस ब्रह्माण्ड में भगवान् परमात्मा रूप में सर्वत्र, जहाँ कहीं भी चर तथा अचर प्राणी हैं, विद्यमान हैं। अतएव मनुष्य उतना ही स्वीकार करे जितना उसके लिए नियत है; उसे पराये धन में हस्तक्षेप करने की इच्छा नहीं करनी चाहिए।

तात्पर्य : स्वायंभुव मनु भगवान् की दिव्य स्थिति बतलाकर अपने पुत्रों तथा पौत्रों को अब उपदेश दे रहे हैं कि ब्रह्माण्ड की सारी सम्पत्ति भगवान् की है। मनु का यह उपदेश न केवल अपने पुत्रों-पौत्रों के लिए है, अपितु सारे मानव समाज के लिए है। *मनुष्य* शब्द मनु से व्युत्पन्न हैं क्योंकि मानव समाज के सारे सदस्य इत्यादि मनु के वंशज हैं। *भगवद्गीता* (४.१) में भी मनु का उल्लेख है जहाँ भगवान् कहते हैं—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् अहमव्ययम् ॥

विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥

"मैंने इस अविनाशी योग विज्ञान की शिक्षा सूर्यदेव विवस्वान् को दी और विवस्वान् ने इसे मानव के पिता मनु को बतलाया; फिर मनु ने आगे इसे इक्ष्वाकु को बतलाया।" स्वायंभुव मनु तथा वैवस्वत मनु का उत्तरदायित्व एक जैसा है। वैवस्वत मनु सूर्यदेव विवस्वान् से उत्पन्न हुए जिनका पुत्र इक्ष्वाकु पृथ्वी का राजा हुआ। चूँकि मनु मानवता के इत्यादि पिता समझे जाते हैं अतएव मानव समाज को चाहिए कि उनके उपदेशों का पालन करे।

स्वायंभुव मनु उपदेश देते हैं कि जो कुछ भी आध्यात्मिक जगत तथा इस भौतिक जगत में विद्यमान है, वह उन भगवान् की सम्पत्ति है, जो सर्वत्र परम चेतना के रूप में उपस्थित हैं। जैसी कि *भगवद्गीता* (१३.३) में पुष्टि हुई है, *क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत*—प्रत्येक क्षेत्र में, अर्थात् प्रत्येक शरीर में परमेश्वर परमात्मा के रूप में उपस्थित हैं। प्रत्येक आत्मा को एक शरीर प्रदान किया जाता है, जिसमें वह रहे और परम पुरुष के आदेशानुसार कर्म करे। अतएव परमात्मा भी प्रत्येक शरीर में उपस्थित रहता है। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि हम स्वतंत्र हैं, प्रत्युत हमें यह समझना चाहिए

कि हमें भगवान् की कुल सम्पत्ति का एक अंश मिला है।

ऐसे ज्ञान से पूर्ण साम्यवाद आ जाएगा। साम्यवादी अपने-अपने राष्ट्रों को लेकर सोचते हैं, किन्तु यहाँ पर जिस आध्यात्मिक साम्यवाद का उपदेश दिया गया है, वह राष्ट्रव्यापी नहीं, अपितु विश्वजनीन है। किसी राष्ट्र या किसी व्यष्टि व्यक्ति का अपना कुछ नहीं होता; प्रत्येक वस्तु भगवान् की है। इस श्लोक का यही अर्थ है। *आत्मावास्यम् इदं विश्वम्*—इस विश्व में जो कुछ भी है, वह भगवान् की सम्पत्ति है। आधुनिक साम्यवादी सिद्धान्त तथा संयुक्त राष्ट्र के विचार में सुधार लाया जा सकता है यदि हर वस्तु भगवान् की मानी जाये। भगवान् हमारी बुद्धि की उपज नहीं हैं प्रत्युत भगवान् ने हमें उत्पन्न किया है। *आत्मावास्यम् इदं विश्वम्। ईशावास्यमिदं सर्वम्।* यह वैश्व साम्यवाद जगत की सारी समस्याएँ हल कर सकता है।

मनुष्य को वैदिक वाङ्मय से यह सीखना चाहिए कि मनुष्य का शरीर भी उसकी सम्पत्ति नहीं है—यह तो उसे उसके कर्मों के अनुसार प्राप्त होता है। *कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये।* चौरासी लाख योनियों के विभिन्न शरीर यंत्र हैं, जो प्रत्येक जीव को मिले हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१.६१) में की गई है—

ईश्वरः सर्वभूतानांहृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

"हे अर्जुन! भगवान् सबों के हृदय में स्थित हैं और सारे जीवों की गतिविधियों का निर्देश कर रहे हैं, जो भौतिक शक्ति से बने यंत्रों पर आरूढ़ जैसे हैं।" भगवान् परमात्मा रूप में हर एक के हृदय में स्थित रहते हैं और प्रत्येक जीव की इच्छाओं का अवलोकन करते रहते हैं। वे इतने दयालु हैं कि जीव को उपयुक्त शरीरों में नाना प्रकार की इच्छाओं का भोग करने का अवसर प्रदान करते हैं। ये शरीर मात्र मशीन (*यन्त्र*) जैसे हैं (*यन्त्रारूढानि मायया*)। ये यंत्र बहिरंगा शक्ति के भौतिक अवयवों से बनाये जाते हैं और इस प्रकार जीव अपनी-अपनी इच्छाओं के अनुसार सुख या दुख भोगते हैं। यह अवसर परमात्मा द्वारा प्रदत्त है।

चूँकि हर वस्तु परमेश्वर की है, अतएव मनुष्य को चाहिए कि दूसरे की सम्पत्ति का अपहरण न करे। हममें अनेक वस्तुओं को बनाने की प्रवृत्ति है। विशेष रूप से आजकल हम गगनचुम्बी प्रासादों

को बना रहे हैं और अन्य भौतिक सुविधाओं का विकास कर रहे हैं। किन्तु हमें यह जान लेना चाहिए कि गगनचुम्बी प्रासादों तथा यंत्रों को बनाने में जिन अवयवों की आवश्यकता होती है उन्हें भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं बना सकता। सारा जगत पंच तत्त्वों के मेल के अतिरिक्त कुछ नहीं है (*तेजोवारिमृदां यथा विनिमयः*)। गगनचुम्बी प्रासाद मिट्टी, जल तथा अग्नि का ही रूपान्तर है। मिट्टी तथा जल को मिलाकर अग्नि में पकाकर ईंटें बनाते हैं और इन्हीं ईंटों से गगनचुम्बी प्रासाद की ऊँची रचना होती है। यद्यपि ईंटें मनुष्य द्वारा निर्मित हैं, किन्तु उनके अवयव उसके द्वारा निर्मित नहीं होते। निस्सन्देह, निर्माता के रूप में मनुष्य भगवान् से वेतन प्राप्त कर सकता है। यही यहाँ पर कहा गया है—*तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः*—मनुष्य विशाल गगनचुम्बी प्रासाद तो बना सकता है, किन्तु निर्माता, व्यापारी या मजदूर कोई भी इसके स्वामित्व का दावा नहीं कर सकता। स्वामित्व तो उस व्यक्ति का होता है, जिसने इस प्रासाद के लिए धन व्यय किया है। भगवान् ने जल, मिट्टी, वायु, अग्नि तथा आकाश की रचना की है और कोई भी इनका उपयोग करके वेतन प्राप्त कर सकता है। (*तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः*)। किन्तु कोई स्वामित्व नहीं जता सकता। यह पूर्ण साम्यवाद है। बड़ी-बड़ी इमारतें बनाने की हमारी प्रवृत्ति का उपयोग केवल बड़े एवं कीमती मन्दिरों के बनवाने में होना चाहिए जिनमें भगवान् का अर्चाविग्रह स्थापित किया जाये। तब भवन बनवाने की हमारी इच्छा पूरी हो जाएगी।

चूँकि सारी सम्पत्ति भगवान् की है—अतएव प्रत्येक वस्तु भगवान् को अर्पित की जानी चाहिए और हमें मात्र प्रसाद ग्रहण करना चाहिए (*तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः*)। हमें आवश्यकता से अधिक प्राप्त करने के लिए आपस में लड़ना नहीं चाहिए, जैसाकि नारद ने महाराज युधिष्ठिर से कहा है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।

अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

"मनुष्य को चाहिए कि उतनी ही सम्पत्ति के स्वामित्व का दावा करे जितनी शरीर-निर्वाह के लिए पर्याप्त है, किन्तु जो इससे अधिक के स्वामित्व की इच्छा करता है, वह चोर है और प्रकृति के नियमों के द्वारा दण्डित होने योग्य है।" (*भागवत* ७.१४.)। निस्सन्देह, हमें खाने, सोने, मैथुन करने तथा रक्षा करने की आवश्यकता पड़ती है (*आहारनिद्राभयमैथुन*), किन्तु जब भगवान् ने पक्षियों तथा मधुमक्खियों तक को ये जीवन-आवश्यकताएँ दे रखी हैं, तो फिर वे मनुष्य के लिए क्यों न दें?

आर्थिक विकास की कोई आवश्यकता नहीं है, हरएक वस्तु पहले से दी हुई है। अतएव मनुष्य को यह समझना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु कृष्ण की है और इसी विचार से प्रसाद ग्रहण किया जा सकता है। किन्तु यदि कोई दूसरों के हिस्से में हस्तक्षेप करता है, तो वह चोर है। हमें आवश्यकता से अधिक कोई भी वस्तु स्वीकार नहीं करनी चाहिए। अतएव यदि भाग्यवश हमें प्रचुर धन प्राप्त हो जाये तो हमें सदैव यह मानना चाहिए कि यह भगवान् का है। कृष्णभावनामृत में हमें पर्याप्त धन मिलता है, लेकिन हमें कभी यह नहीं समझना चाहिए कि यह धन हमारा है। यह तो भगवान् का है और कार्यकर्ताओं अर्थात् भक्तों में समान रूप से वितरित कर दिया जाना चाहिए। किसी भक्त को यह दावा नहीं करना चाहिए कि यह धन या सम्पत्ति उसकी है। यदि कोई यह सोचता है कि इस विराट ब्रह्माण्ड की सम्पत्ति का कोई भी अंश उसका है, तो उसे चोर समझना चाहिए और वह प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डनीय है। *दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया*—कोई न तो प्रकृति की चौकसी से बच सकता है न उससे अपने इरादे छिपा सकता है। यदि मानव समाज नियम के विरुद्ध यह दावा करता है कि इस ब्रह्माण्ड की आंशिक या पूरी सम्पत्ति मनुष्य की है, तो ऐसे समाज को चोरों का समाज होने का शाप मिलेगा और उसे प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित किया जायेगा।

यं पश्यति न पश्यन्तं चक्षुर्यस्य न रिष्यति ।
तं भूतनिलयं देवं सुपर्णमुपधावत ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको; पश्यति—जीव देखता है; न—नहीं; पश्यन्तम्—सदैव देखते हुए; चक्षुः—आँख; यस्य—जिसकी; न—कभी नहीं; रिष्यति—कम होती है; तम्—उसको; भूत-निलयम्—सारे जीवों का मूल स्रोत; देवम्—भगवान् को; सुपर्णम्—जो मित्र के रूप में जीव के साथ-साथ रहता है; उपधावत—हर एक को पूजना चाहिए।

यद्यपि भगवान् विश्व के कार्यकलापों को निरन्तर देखते रहते हैं, किन्तु उन्हें कोई नहीं देख पाता। फिर भी किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि चूँकि उन्हें कोई नहीं देखता अतएव वे भी उसे नहीं देखते। स्मरण रहे कि उनकी देखने की शक्ति में कभी ह्रास नहीं आता अतएव प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि उन परमात्मा की पूजा करे जो प्रत्येक जीव के साथ मित्र रूप में सदैव रहते हैं।

तात्पर्य : कृष्ण की स्तुति करते हुए पाण्डवों की माता श्रीमती कुन्ती देवी ने कहा—*अलक्ष्यं सर्वभूतानाम् अन्तर्बहिरवस्थितम्*—हे कृष्ण! आप हरएक के अन्दर तथा बाहर निवास करते हैं, फिर

भी बुद्धिहीन बद्धजीव आपको देख नहीं पाता। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि ज्ञान-चक्षुओं के द्वारा भगवान् को देखा जा सकता है। इन ज्ञान-चक्षुओं को खोलने वाले को गुरु कहते हैं। अतएव हम निम्नलिखित श्लोक से गुरु की प्रार्थना करते हैं—

ॐ अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

''मैं अपने गुरु को सादर नमस्कर करता हूँ जिन्होंने ज्ञान के दीप से मेरी उन आँखों को खोल दिया है, जो अज्ञान के अंधकार से अन्धी हो गई थीं'' (*गौतमीय तन्त्र*)। गुरु का कार्य शिष्य की ज्ञानरूपी आँखों को खोलना है। जब शिष्य अज्ञान से जगकर ज्ञान प्राप्त करता है, तो वह भगवान् को सर्वत्र देख सकता है क्योंकि भगवान् वास्तव में सर्वत्र हैं। *अण्डान्तरस्थ परमाणुचयान्तरस्थम्।* भगवान् इस ब्रह्माण्ड के भीतर, समस्त जीवों के हृदयों के भीतर, यहाँ तक कि परमाणु के भीतर भी, निवास करते हैं। चूँकि हममें पूर्णज्ञान का अभाव है अतएव हम ईश्वर को देख नहीं सकते, किन्तु थोड़े से सोच-विचार से हम ईश्वर को सर्वत्र देख सकते हैं। इसके लिए प्रशिक्षण की आवश्यकता है। थोड़े से सोच-विचार से अधम से अधम व्यक्ति भी ईश्वर की उपस्थिति की अनुभूति कर सकता है। यदि हम इस पर विचार करें कि यह विशाल सागर किसकी सम्पत्ति है, यह विशाल भूखण्ड किसकी सम्पत्ति है, आकाश किस तरह टिका है, आकाश में किस तरह लाखों तारे तथा ग्रह टिके हुए हैं, इस ब्रह्माण्ड को किसने बनाया और यह किसकी सम्पत्ति है, तो हम निश्चित रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि सभी वस्तुओं का कोई स्वामी है। जब हम किसी भूखण्ड पर व्यक्तिगत रूप से या अपने परिवार तथा राष्ट्र के रूप में स्वामित्व का दावा करते हैं, तो हमें यह भी विचार करना चाहिए कि आखिर हम उसके स्वामी किस तरह बने? यह भूखण्ड हमारे जन्म के पूर्व भी वहीं था। तो फिर यह हमारी सम्पत्ति कैसे बना? ऐसा विचार-विमर्श हमें यह समझने में सहायक होगा कि हर वस्तु का एक परम स्वामी अर्थात् भगवान् होता है।

परमेश्वर सदा जाग्रत रहता है। बद्धावस्था में हम वस्तुओं को भूल जाते हैं क्योंकि हमारे शरीर बदलते रहते हैं, किन्तु क्योंकि भगवान् का शरीर नहीं बदलता अतएव वे भूत, वर्तमान तथा भविष्य को स्मरण रखते हैं। कृष्ण ने *भगवद्गीता* (४.१) में कहा है—*इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् अहमव्ययम्*—

मैंने कम से कम ४ करोड़ वर्ष पूर्व सूर्यदेव से यह ईश-विज्ञान— *भगवद्गीता*—कहा था। जब अर्जुन ने कृष्ण से पूछा कि वे इतने पहले घटी घटनाओं को किस प्रकार स्मरण रख सके तो भगवान् ने उत्तर दिया कि हे अर्जुन! उस समय तुम भी उपस्थित थे। चूँकि अर्जुन कृष्ण का सखा है अतएव जहाँ-जहाँ कृष्ण जाते है, वहाँ-वहाँ अर्जुन भी जाता है। लेकिन अन्तर यही है कि कृष्ण हर बात को स्मरण रखते हैं जबकि अर्जुन जैसा जीव परमेश्वर का सूक्ष्मकण होने के कारण भूल जाता है। अतएव यह कहा गया है कि भगवान् की चौकसी में कभी कमी नहीं आती। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१५.१५) में भी हुई है—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनम् च*—परमात्मा रूप में भगवान् सारे जीवों के हृदयों में सदैव निवास करते हैं और उन्हीं से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होती हैं। इस श्लोक में *सुपर्णम्* शब्द से इसी का संकेत मिलता है, जिसका अर्थ है 'मित्र'। अतएव *श्वेताश्वतर उपनिषद्* (४.६) में कहा गया है—*द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते*—एक ही वृक्ष पर दो पक्षी मित्रों के रूप में बैठे हैं। एक पक्षी वृक्ष के फल खा रहा है और दूसरा केवल देखता है। यह देखने वाला पक्षी खाने वाले पक्षी के मित्र रूप में सदैव उपस्थित रहता है और उसे उन वस्तुओं का स्मरण दिलाता रहता है, जो वह करना चाहता है। इस प्रकार यदि हम दैनिक मामलों में भगवान् पर विचार करें तो हम उन्हें देख सकते हैं या कम से कम उनकी उपस्थिति की अनुभूति सर्वत्र कर सकते हैं।

चक्षुर्यस्य न रिष्यति शब्दों का भावार्थ यह है कि यद्यपि हम उन्हें देख नहीं सकते, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वे हमें नहीं देख सकते। न ही जब विराट विश्व का संहार होता है, तो वे मरते हैं। इस प्रसंग में उदाहरण दिया जाता है कि जब सूर्य रहता है, तो सूर्यप्रकाश रहता है। किन्तु जब सूर्य नहीं रहता या हम सूर्य को नहीं देख सकते तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि सूर्य विनष्ट हो गया। सूर्य फिर भी रहता है, किन्तु हम उसे देख नहीं सकते। इसी प्रकार यद्यपि हम अपने वर्तमान अंधकार में या ज्ञान के अभाव में भगवान् को देख नहीं सकते तो भी वे हमारे कार्यकलापों को देखते रहते हैं और सर्वदा उपस्थित रहते हैं। वे परमात्मा के रूप में साक्षी तथा उपदेशक (*उपद्रष्टा* तथा *अनुमन्ता*) हैं। अतएव गुरु के उपदेशों का पालन करते हुए एवं प्रामाणिक ग्रंथों का अध्ययन करते हुए हम यह समझ सकते हैं कि ईश्वर हमारे समक्ष उपस्थित हैं और हर वस्तु को देख रहे हैं यद्यपि उन्हें देखने के लिए हमारे पास आँखें नहीं हैं।

न यस्याद्यन्तौ मध्यं च स्वः परो नान्तरं बहिः ।
विश्वस्यामूनि यद्यस्माद्विश्वं च तद‍्दृतं महत् ॥ १२॥

शब्दार्थ

न—न तो; यस्य—जिसका (भगवान् का); आदि—प्रारम्भ; अन्तौ—अन्त; मध्यम्—मध्य; च—भी; स्वः—अपना; परः—पराया; न—न तो; अन्तरम्—भीतर; बहिः—बाहर; विश्वस्य—सम्पूर्ण विश्व का; अमूनि—ऐसा विचार; यत्—जिसका रूप; यस्मात्—उससे, जो हर वस्तु का कारण है; विश्वम्—समग्र ब्रह्माण्ड; च—तथा; तत्—वे सब; ऋतम्—सत्य; महत्—अत्यन्त महान्।

भगवान् का न तो आदि है, न अन्त और न मध्य। न ही वे किसी व्यक्ति विशेष या राष्ट्र के हैं। उनका न भीतर है न बाहर। इस जगत में दिखने वाले सारे द्वन्द्व—यथा आदि तथा अन्त, मेरा और उनका—उस परम पुरुष के व्यक्तित्व में अनुपस्थित हैं। यह ब्रह्माण्ड जो उनसे उद्भूत होता है उनका एक दूसरा स्वरूप है। अतएव भगवान् परम सत्य हैं और उनकी महानता पूर्ण है।

तात्पर्य : *ब्रह्मसंहिता* (५.१) में भगवान् कृष्ण का वर्णन मिलता है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः ।

अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥

"गोविन्द नाम से विख्यात कृष्ण परम नियन्ता हैं। उनका शरीर नित्य, आनन्दमय तथा आध्यात्मिक है। वे सबके उद्गम हैं। उनका कोई अन्य उद्गम नहीं है क्योंकि वे समस्त कारणों के मूल कारण हैं।" भगवान् के अस्तित्व का कोई कारण नहीं है क्योंकि वे सभी वस्तुओं के कारण हैं। वे प्रत्येक वस्तु में रहते हैं (*मया ततमिदं सर्वम्*), उनका विस्तार सभी वस्तुओं में है, किन्तु वे प्रत्येक वस्तु नहीं हैं। वे *अचिन्त्य-भेदाभेद* हैं अर्थात् एकसाथ एक तथा भिन्न हैं। इसी की व्याख्या इस श्लोक में हुई है। भौतिक दशा में आदि, मध्य तथा अन्त की धारणा होती है, लेकिन भगवान् में ऐसा कुछ नहीं होता। उनका ब्रह्माण्डीय स्वरूप वही विराट रूप है, जो *भगवद्गीता* में अर्जुन को प्रदर्शित किया गया था। अतएव वे सर्वत्र तथा सदैव विद्यमान रहने के कारण परम सत्य तथा महानतम हैं। उनकी महानता पूर्ण है। ईश्वर महान् हैं, किन्तु वे किस तरह महान् हैं इसकी व्याख्या यहाँ की गई है।

स विश्वकायः पुरुहूतईशः
सत्यः स्वयंज्योतिरजः पुराणः ।
धत्तेऽस्य जन्माद्यजयात्मशक्त्या

तां विद्ययोदस्य निरीह आस्ते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सः—भगवान्; विश्व-कायः—ब्रह्माण्ड का समग्र रूप (समग्र ब्रह्माण्ड भगवान् का बाह्य शरीर है); पुरु-हूतः—अनेक नामों से ज्ञेय; ईशः—परम नियन्ता; सत्यः—परम सत्य; स्वयम्—साक्षात्; ज्योतिः—स्वतः तेजवान्; अजः—अजन्मा, अनादि; पुराणः—सबसे प्राचीन; धत्ते—सम्पन्न करता है; अस्य—इस ब्रह्माण्ड का; जन्म-आदि—सृष्टि, पालन तथा संहार; अजया—अपनी बहिरंगा शक्ति से; आत्म-शक्त्या—अपनी निजी शक्ति से; ताम्—उस बहिरंगा शक्ति को; विद्यया—अपनी आध्यात्मिक शक्ति से; उदस्य—त्यागकर; निरीहः—निष्काम या निष्क्रिय; आस्ते—रह रहा है (भौतिक शक्ति का स्पर्श किये बिना)।

यह समग्र विश्व परम सत्य भगवान् का शरीर है जिनके लाखों नाम हैं और अनन्त शक्तियाँ हैं। वे आत्मतेजस्वी, अजन्मा तथा परिवर्तनहीन हैं। वे प्रत्येक वस्तु के आदि हैं, किन्तु स्वयं उनका कोई आदि नहीं है। चूँकि उन्होंने अपनी बहिरंगा शक्ति से इस विराट रूप की सृष्टि की है अतएव यह उनके द्वारा उत्पन्न, पालित तथा ध्वंसित प्रतीत होता है। फिर भी वे अपनी आध्यात्मिक शक्ति में निष्क्रिय रहते हैं और भौतिक शक्ति के कार्यकलाप उनका स्पर्श तक नहीं कर पाते।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने *शिक्षाष्टक* में कहा है—*नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्तिः*—भगवान् के अनेक नाम हैं, जो परम पुरुष से अभिन्न हैं। यही आध्यात्मिक अस्तित्व है। भगवान् के नामो से युक्त *हरे कृष्ण महामन्त्र* के जप से हमें ज्ञात होता है कि नाम में व्यक्ति की सारी शक्तियाँ रहती हैं। भगवान् के कार्यकलाप अनेक हैं और इन्हीं के अनुसार उनके अनेक नाम हैं। वे माता यशोदा के और माता देवकी के भी पुत्र रूप में प्रकट हुए, अतएव उन्हें देवकीनन्दन तथा यशोदानन्दन कहा जाता है। *परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*—भगवान् की शक्तियाँ अनेक हैं, अतएव वे नाना प्रकार से कर्म करते हैं। फिर भी उनका एक विशेष नाम है। शास्त्र संस्तुति करते हैं कि हम किन नामों का कीर्तन करें—यथा हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। ऐसा नहीं है कि हमें कोई नाम ढूँढना पड़े या बनाना पड़े। प्रत्युत हमें उनके पवित्र नाम के कीर्तन के लिए सन्तों तथा शास्त्रों का अनुगमन करना चाहिए।

यद्यपि भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियाँ दोनों भगवान् की होती हैं, किन्तु जब तक हम भौतिक शक्ति में रहते हैं तब तक भगवान् को समझ पाना असम्भव है। किन्तु जब हम आध्यात्मिक शक्ति पर आते हैं, तो उन्हें जानना अत्यन्त सरल हो जाता है। जैसा कि *श्रीमद्भागवत* (१.७.२३) में कहा गया है—*मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि।* यद्यपि बहिरंगा शक्ति भगवान् की होती है, किन्तु बहिरंगा शक्ति में रहकर (*मम माया दुरत्यया*) भगवान् को समझ पाना मनुष्य के लिए अत्यन्त

कठिन है। किन्तु आध्यात्मिक शक्ति के प्राप्त होते ही उन्हें समझा जा सकता है। इसीलिए *भगवद्गीता* (१.५५) में कहा गया है— *भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः*—जो वास्तव में भगवान् को जानना चाहता है उसे भक्ति पद या कृष्णभावनामृत ग्रहण करना होगा। इस भक्ति में विविध क्रियाएँ सम्मिलित होती हैं (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्*) और भगवान् को समझने के लिए मनुष्य को यह भक्तिमार्ग ग्रहण करना चाहिए। यद्यपि विश्व के लोग ईश्वर को भूल चुके हैं, और यह कहें कि ईश्वर मर चुका है, किन्तु यह सच नहीं है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन ग्रहण करने पर मनुष्य ईश्वर को समझ सकता है और इस तरह सुखी बन सकता है।

अथाग्रे ऋषयः कर्माणीहन्तेऽकर्महेतवे ।
ईहमानो हि पुरुषः प्रायोऽनीहां प्रपद्यते ॥ १४॥

शब्दार्थ

अथ—अतएव; अग्रे—प्रारम्भ में; ऋषयः—सारे विद्वान ऋषियों या सन्त पुरुषों ने; कर्माणि—सकाम कर्म; ईहन्ते—करते हैं; अकर्म—कर्मफल से मुक्ति; हेतवे—के लिए; ईहमानः—ऐसे कार्यों में लगे रहकर; हि—निस्सन्देह; पुरुषः—पुरुष; प्रायः—सदा ही; अनीहाम्—कर्म से मुक्ति; प्रपद्यते—प्राप्त करता है।

अतएव लोगों को कर्मों की ऐसी अवस्था तक पहुँचने में समर्थ बनाने के लिए जो सकाम फलों से दूषित नहीं होते, बड़े-बड़े साधु पुरुष सर्वप्रथम लोगों को सकाम कर्म में लगाते हैं क्योंकि जब तक कोई शास्त्रानुमोदित कर्मों को सम्पन्न करना आरम्भ नहीं करता तब तक वह मुक्ति की अवस्था को या कर्मफल न उत्पन्न करने वाले कार्यों की अवस्था को प्राप्त नहीं होता।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (३.९) में भगवान् कृष्ण उपदेश देते हैं—*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*—विष्णु के लिए यज्ञ रूप में किया गया कर्म करणीय है, अन्यथा कर्म मनुष्य को इस संसार से बाँध देता है। सामान्यतया प्रत्येक व्यक्ति इस संसार में सुखी होने के लिए कठिन श्रम करने के लिए आकृष्ट होता है, किन्तु यद्यपि सारे विश्व में सुख के लिए ही विविध कार्यकलाप चल रहे हैं, लेकिन दुर्भाग्यवश ऐसे सकाम कर्मों से समस्याएँ ही उत्पन्न होती हैं। इसीलिए सलाह दी गई है कि कर्मठ लोग कृष्णभावनामृत के कार्यों में लगें, जिन्हें *यज्ञ* कहा जाता है क्योंकि ऐसा करने से वे लोग क्रमशः भक्तिपद को प्राप्त हो सकेंगे। यज्ञ का अर्थ है भगवान् विष्णु जो *यज्ञ-पुरुष* हैं—यज्ञों के भोक्ता हैं (*भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्*)। वास्तव में, भगवान् ही भोक्ता हैं, इसलिए यदि हम उनको तुष्ट

करने के लिए अपने कर्म करना प्रारम्भ करें तो हम धीरे-धीरे भौतिक कार्यों में रूचि खो देंगे।

सूत गोस्वामी ने नैमिषारण्य के मुनियों की महासभा में घोषित किया था—

अत:पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागश:।

स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्॥

''हे द्विजश्रेष्ठ! यदि वर्णाश्रम धर्म के अनुसार अपने नियत कार्य को करते रहने से कोई सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त की जा सकती है, तो वह भगवान् हरि का तोषण है।'' (*भागवत* १.२.१३)। वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यासी होने के अनुसार कर्म करना चाहिए। हर एक व्यक्ति को इस प्रकार कर्म करते हुए सिद्धि की ओर अग्रसर होना चाहिए जिससे कृष्ण प्रसन्न हो जाँए (*संसिद्धिर्हरितोषणम्*)। कोई अकर्मण्य बनकर कृष्ण को प्रसन्न नहीं कर सकता। उसे भगवान् को प्रसन्न करने के लिए गुरु के आदेशानुसार कर्म करना चाहिए। तभी वह धीरे-धीरे शुद्ध भक्ति की अवस्था तक पहुँचेगा। जैसी कि *श्रीमद्भागवत* (१.५.१२) में पुष्टि हुई है—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाव वर्जितं

न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।

''समस्त भौतिक आकर्षण से मुक्त होने पर भी आत्म-साक्षात्कार का ज्ञान अच्छा नहीं लगता यदि वह अच्युत (ईश्वर) की धारणा से विहीन हो।'' ज्ञानी कहते हैं कि मनुष्य कुछ न करता हुआ एकमात्र ब्रह्म का ध्यान करते हुए नैष्कर्म्य को ग्रहण करे, किन्तु यह तब तक असम्भव है जब तक उसे परब्रह्म कृष्ण की अनुभूति न हो ले। यदि कृष्णभावनामृत न हो तो कोई भी कर्म, चाहे परोपकारी हो, राजनीतिक या सामाजिक, *कर्मबन्धन* को ही उत्पन्न करता है।

जब तक मनुष्य *कर्मबन्धन* में फँसा रहता है तब तक उसे विभिन्न प्रकार के शरीर धारण करने पड़ते हैं, जो मनुष्य जीवन की सुविधा को नष्ट कर देते हैं। इसीलिए *भगवद्गीता* (६.३) में *कर्मयोग* की संस्तुति की गई है—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।

योगारूढस्य तस्यैव शम: कारणमुच्यते॥

"जो योग पद्धति में नवदीक्षित है उसके लिए कर्म साधन है, किन्तु जिसने योग की प्राप्ति कर ली है उसके लिए सभी भौतिक कर्मों से विराम लेना ही साधन कहलाता है।" फिर भी :

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।

इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचार: स उच्यते॥

"जो इन्द्रियों को तथा कर्मेन्द्रियों को रोक लेता है, किन्तु जिसका मन इन्द्रिय-विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह निश्चय ही अपने को धोखा देता है और वञ्चक कहलाता है।" (*भगवद्गीता* ३.६)। मनुष्य को चाहिए कि पूर्णत: कृष्णभावनाभावित होने के लिए वह कृष्ण के लिए गंभीर रूप से कर्म करे। उसे हरिदास ठाकुर जैसे महापुरुषों का अनुकरण नहीं करना चाहिए। *श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर* ने ऐसे अनुकरण की निन्दा करते हुए कहा है—

दुष्ट मन! तुमि किसेर वैष्णव?

प्रतिष्ठार तरे, निर्जनेर घरे,

तव हरिनाम केवल कैतव।

"मेरे मन! तुम कैसे भक्त हो? तुम केवल सस्ती प्रतिष्ठा के लिए निर्जन स्थान में बैठ जाते हो और हरे कृष्ण महामंत्र का जप करने का दिखावा करते हो, किन्तु यह सब ठगी है।" हाल ही में मायापुर में एक अफ्रीकी भक्त ने हरिदास ठाकुर का अनुकरण करना चाहा, किन्तु पन्द्रह दिन के बाद वह अशान्त हो उठा और भाग गया। एकाएक हरिदास ठाकुर का अनुकरण करने का प्रयत्न मत करो। तुम कृष्णभावनाभावित कर्मों में लगो। इससे तुम धीरे-धीरे मुक्ति की अवस्था को प्राप्त हो सकोगे। (*मुक्तिर्हित्वान्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थिति:*)।

ईहते भगवानीशो न हि तत्र विसज्जते ।
आत्मलाभेन पूर्णार्थो नावसीदन्ति येऽनु तम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

ईहते—सृजन, पालन तथा संहार के कार्यों में लगता है; भगवान्—भगवान् कृष्ण; ईश:—परम नियन्ता; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; तत्र—ऐसे कार्यों में; विसज्जते—फँस जाता है; आत्म-लाभेन—अपने लाभ के कारण; पूर्ण-अर्थ:—आत्मतुष्ट; न—नहीं; अवसीदन्ति—निराश होते हैं; ये—जो लोग; अनु—अनुसरण करते हैं; तम्—भगवान् को।

भगवान् अपने ही लाभ से ऐश्वर्यपूर्ण हैं, फिर भी वे संसार के स्रष्टा, पालक तथा संहर्ता के रूप में कार्य करते हैं। इस प्रकार से कर्म करने पर भी वे कभी बन्धन में नहीं पड़ते। अतएव जो

भक्तगण उनके चरण-चिह्नों का अनुगमन करते हैं, वे भी कभी बन्धन में नहीं पड़ते।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (३.९) में कहा गया है—*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*—विष्णु के यज्ञ रूप में किया गया कर्म करणीय है अन्यथा कर्म मनुष्य को इस संसार से बाँध देता है। यदि हम कृष्णभावनामृत में रहकर कर्म नहीं करते तो हम बन्धन में पड़ेंगे जिस तरह कि रेशम का कीड़ा अपने ही कृमिकोश में फँस जाता है। भगवान् कृष्ण हमें यह शिक्षा देने के लिए प्रकट होते हैं कि हम किस तरह कर्म करें जिससे जगत में हम फँसे नहीं। हमारी असली समस्या यह है कि हम भौतिकतावादी कार्यकलापों में फँसे हैं और हमारे बद्ध होने से हमारा संघर्ष एक शरीर से दूसरा शरीर धारण करने के दण्ड के रूप में चलता रहता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.७) में भगवान् कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

''इस बद्ध जगत में सारे जीव मेरे नित्य अंश हैं। बद्ध जीवन के कारण वे मन समेत छहों इन्द्रियों द्वारा कठिन संघर्ष में लगे हैं।'' सारे जीव वास्तव में सूक्ष्म रूप हैं, जो भगवान् के अंश हैं। भगवान् हर वस्तु में पूर्ण हैं और भगवान् के छोटे कण भी मूलतः उन्हीं के समान गुणमय हैं, किन्तु अपने सूक्ष्म अस्तित्व के कारण वे भौतिक आकर्षण से दूषित होकर बद्ध हो जाते हैं। अतएव हमें भगवान् के आदेशों का पालन करना चाहिए। तब हमें भी कृष्ण की भाँति किसी भी बात पर पश्चाताप नहीं करना होगा। (*नावसीदन्ति येऽनु तम्*) क्योंकि वे सृजन, पालन तथा संहार जैसे अपने भौतिक कार्यों से कभी बँधते नहीं। *भगवद्गीता* में कृष्ण स्वयं उपदेश देते हैं और जो भी इनका पालन करता है, वह मुक्त हो जाता है।

कृष्ण के उपदेशों का पालन तभी सम्भव है जब कोई भक्त हो क्योंकि कृष्ण यह आदेश देते हैं कि हे मनुष्य! तुम भक्त बनो। *मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु*—''सदैव मेरा चिन्तन करो और मेरे भक्त बनो। मेरी पूजा करो और मुझे नमस्कार करो।'' (*भगवद्गीता* १.६५)। सदैव कृष्ण के चिन्तन का अर्थ होता है हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन, किन्तु जब तक कोई दीक्षित भक्त न बन ले, यह सम्भव नहीं। ज्योंही कोई भक्त बन जाता है, वह अर्चाविग्रह की पूजा में लग जाता है (*मद्याजी*)। भक्त

का कार्य है भगवान् तथा गुरु को सदा नमस्कार करना। भक्ति पद तक उठने का यह मान्य सिद्धान्त है। इस पद के प्राप्त होते ही मनुष्य भगवान् को धीरे-धीरे समझने लगता है और कृष्ण को समझ लेने मात्र से ही वह भवबन्धन से छूट जाता है।

तमीहमानं निरहङ्कृतं बुधं
निराशिषं पूर्णमनन्यचोदितम् ।
नृञ्शिक्षयन्तं निजवर्त्मसंस्थितं
प्रभुं प्रपद्येऽखिलधर्मभावनम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसी भगवान् को; ईहमानम्—हमारे लाभ के लिए कर्म करने वाले; निरहङ्कृतम्—जो बन्धन अथवा लाभ की इच्छा से रहित है; बुधम्—ज्ञानवान् को; निराशिषम्—अपने कर्मफल को भोगने की इच्छा न रखने वाले को; पूर्णम्—जो पूर्ण है अतएव जिसे इच्छा पूर्ति की आवश्यकता नहीं है; अनन्य—अन्यों के द्वारा; चोदितम्—प्रेरित, प्रोत्साहित; नृन्—सारा मानव समाज; शिक्षयन्तम्—शिक्षा देने के लिए (जीव के असली पथ की); निज-वर्त्म—अपनी निजी जीवन शैली; संस्थितम्—प्रतिष्ठित करने के लिए (विचलित हुए बिना); प्रभुम्—भगवान् से; प्रपद्ये—प्रार्थना करता हूँ; अखिल-धर्म-भावनम्—जो मनुष्यों के समस्त धार्मिक सिद्धान्तों अथवा वृत्तिपरक कर्मों के स्वामी हैं।

भगवान् कृष्ण एक सामान्य व्यक्ति की भाँति कर्म करते हैं, फिर भी वे कर्मफल भोगने की इच्छा नहीं रखते। वे ज्ञान से पूर्ण, भौतिक इच्छाओं तथा विक्षेपों से मुक्त एवं पूर्णतः स्वतंत्र हैं। वे मानव समाज के परम शिक्षक के रूप में अपनी ही कर्मशैली का उपदेश देते हैं और इस प्रकार धर्म के असली मार्ग का उद्घाटन करते हैं। मैं हर व्यक्ति से प्रार्थना करता हूँ कि वह उनका अनुसरण करे।

तात्पर्य : हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन का यही सार है। मानव समाज से हमारा मात्र यही अनुरोध है कि वे *भगवद्गीता* के उपदेशकर्ता के पदचिह्नों पर चलें। *भगवद्गीता यथारूप* के उपदेशों का पालन करने से तुम्हारा जीवन सफल हो जायेगा। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का यही सार है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का व्यवस्थापक हर एक को शिक्षा दे रहा है कि किस प्रकार भगवान् रामचन्द्र, भगवान् कृष्ण तथा श्री चैतन्य महाप्रभु का अनुसरण किया जाय। इस संसार में राजतंत्र या अच्छी सरकार के लिए नेता की आवश्यकता होती है। भगवान् रामचन्द्र ने अपने व्यावहारिक उदाहरण द्वारा यह प्रदर्शित किया कि किस प्रकार सारे मानव समाज के लाभ के लिए जिया जाये। उन्होंने रावण जैसे असुरों के साथ युद्ध किया, उन्होंने अपने पिता के आदेश का पालन किया और वे माता सीता के पत्नीव्रत पति बने रहे। अतएव आदर्श राजा के रूप में भगवान् रामचन्द्र के कार्यों की कोई तुलना नहीं

है। निस्सन्देह, लोग अब भी रामराज्य की लालसा करते हैं। इसी प्रकार कृष्ण ने भगवान् होते हुए भी अपने शिष्य तथा भक्त अर्जुन को शिक्षा दी कि किस तरह जीवन जिया जाये जिससे अन्ततः भगवद्धाम लौटा जा सके (*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन*)। *भगवद्गीता* में सभी प्रकार की शिक्षाएँ मिलती हैं—राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा दार्शनिक। मनुष्य को उनका दृढ़तापूर्वक पालन भर करना है। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में शुद्ध भक्त की भूमिका मात्र अदा करने के लिए भी जन्म लेते हैं। इस तरह भगवान् हमारे जीवन को सफल बनाने के लिए हमें अनेक प्रकार से शिक्षा देते हैं और स्वायंभुव मनु हम सबों से अनुरोध कर रहे हैं कि हम उनका अनुसरण करें।

स्वायंभुव मनु मानव जाति के अग्रणी (नेता) हैं और उन्होंने मानव समाज के मार्गदर्शन हेतु *मनुसंहिता* नामक ग्रंथ प्रदान किया है। इसमें वे हमें भगवान् के विभिन्न अवतारों के अनुसार चलने का निर्देश देते हैं। ये अवतार वैदिक साहित्य में वर्णित हैं और जयदेव गोस्वामी ने दस महत्त्वपूर्ण अवतारों का संक्षेप में वर्णन किया है—*केशव धृतमीनशरीर जय जगदीश हरे, केशव धृतनरहरि-रूप जय जगदीश हरे, केशव धृतबुद्धशरीर जय जगदीश हरे, आदि आदि।* स्वायंभुव मनु हमें ईश्वर के अवतारों के उपदेशों का, विशेषतया *भगवद्गीता यथारूप* के उपदेशों का, पालन करने की शिक्षा देते हैं।

श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा उपदिष्ट *भक्तिमार्ग* की प्रशंसा करते हुए सार्वभौम भट्टाचार्य ने श्री चैतन्य महाप्रभु के कार्यकलापों का चित्रण इस प्रकार किया है—

वैराग्यविद्यानिजभक्तियोगशिक्षार्थमेकः पुरुषः पुराणः।
श्रीकृष्णचैतन्यशरीरधारी कृपाम्बुधिर्यस्तमहं प्रपद्ये॥

"मैं भगवान् श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करता हूँ जो हमें असली ज्ञान, अपनी भक्ति तथा कृष्णचेतना में प्रोत्साहन न देने वाली प्रत्येक वस्तु से विरक्ति का उपदेश देने के लिए चैतन्य महाप्रभु के रूप में अवतरित हुए हैं। वे इसलिए अवतरित हुए हैं क्योंकि वे दिव्य कृपा के सागर हैं। मैं उनके चरणकमलों में शरण लेता हूँ।" (*चैतन्य चन्द्रोदय नाटक* ६.७४)। इस कलिकाल में लोग भगवान् के उपदेशों का पालन नहीं कर सकते; अतएव भगवान् स्वयं ही लोगों को कृष्णभावनाभावित होने का पाठ पढ़ाने के लिए श्रीकृष्णचैतन्य की भूमिका निभाते हैं। वे हर एक से कहते हैं कि मेरा अनुसरण करो और

कलियुग की पतितात्माओं के उद्धार के लिए गुरु बनो।

यारे देख, तारे कह 'कृष्ण'-उपदेश।

आमार आज्ञाय गुरु हञा तार' ऐइ देश॥

"हर व्यक्ति को उपदेश दो कि वह *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* में दिये गये भगवान् कृष्ण के आदेशों का पालन करे। इस तरह गुरु बनकर इस भूमि के प्रत्येक व्यक्ति को मुक्त करने का प्रयास करो।" (*चैतन्य चरितामृत* मध्य ७.१२)। भगवान् रामचन्द्र, भगवान् कृष्ण तथा भगवान् चैतन्य महाप्रभु का एक ही उद्देश्य था—मानव समाज को यह सिखाना कि किस प्रकार भगवान् के उपदेशों का पालन करके सुखी हुआ जाये।

श्रीशुक उवाच
इति मन्त्रोपनिषदं व्याहरन्तं समाहितम् ।
दृष्ट्वासुरा यातुधाना जग्धुमभ्यद्रवन्क्षुधा ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; मन्त्र-उपनिषदम्—वैदिक मंत्र (स्वायंभुव मनु द्वारा उच्चारित); व्याहरन्तम्—सिखाये गये या उच्चारित; समाहितम्—मन को केन्द्रित किया (भौतिक अवस्थाओं से विक्षुब्ध हुए बिना); दृष्ट्वा—देखकर; असुराः—असुरगण; यातुधानाः—राक्षसगण; जग्धुम्—निगल जाना चाहा; अभ्यद्रवन्—तेजी से दौते हुए; क्षुधा—अपनी भूख को शान्त करने के लिए।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : इस प्रकार स्वायंभुव मनु उपनिषदों के मंत्रों की जयध्वनि करते हुए समाधिस्थ हो गये। उन्हें देखकर राक्षसों तथा असुरगण ने अत्यन्त भूखे होने के कारण उन्हें निगल जाना चाहा। अतएव वे उनके पीछे द्रुतगति से दौने लगे।

तांस्तथावसितान्वीक्ष्य यज्ञः सर्वगतो हरिः ।
यामैः परिवृतो देवैर्हत्वाशासत्त्रिविष्टपम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

तान्—असुरों तथा राक्षसों को; तथा—इस प्रकार; अवसितान्—जो स्वायंभुव मनु को निगलने के लिए कृतसंकल्प थे; वीक्ष्य—देखकर; यज्ञः—भगवान् विष्णु, जो यज्ञ कहलाते हैं; सर्व-गतः—हर एक के हृदय में स्थित; हरिः—भगवान्; यामैः—याम नामक अपने पुत्रों के साथ; परिवृतः—घिरा हुआ; देवैः—देवताओं से; हत्वा—(असुरों को) मारकर; अशासत्—(इन्द्रपद ग्रहण करके) शासन चलाया; त्रि-विष्टपम्—स्वर्ग-लोकों का।

प्रत्येक हृदय में वास करने वाले भगवान् विष्णु यज्ञपति के रूप में प्रकट हुए और उन्होंने देखा कि राक्षस तथा असुर स्वायंभुव मनु को निगल जाने वाले हैं। इस प्रकार याम नामक अपने पुत्रों तथा अन्य सभी देवताओं को साथ लेकर भगवान् ने उन असुरों तथा राक्षसों को मार डाला।

तब उन्होंने इन्द्र का पद ग्रहण किया और स्वर्ग लोक पर शासन करने लगे।

तात्पर्य : देवताओं के विभिन्न नाम यथा ब्रह्मा, शिव, इन्द्र इत्यादि व्यक्तिगत नाम नहीं हैं। वे विभिन्न पदों के नाम हैं। इस प्रसंग में हमें पता लगता है कि इन पदों को ग्रहण करने योग्य उपयुक्त व्यक्तियों के न होने पर भगवान् विष्णु कभी ब्रह्मा बनते हैं, तो कभी इन्द्र।

स्वारोचिषो द्वितीयस्तु मनुरग्नेः सुतोऽभवत् ।
द्युमत्सुषेणरोचिष्मत्प्रमुखास्तस्य चात्मजाः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

स्वारोचिषः—स्वारोचिष; द्वितीयः—दूसरा; तु—निस्सन्देह; मनुः—मनु; अग्नेः—अग्नि का; सुतः—पुत्र; अभवत्—बना; द्युमत्—द्युमत्; सुषेण—सुषेण; रोचिष्मत्—रोचिष्मत्; प्रमुखाः—इत्यादि; तस्य—उसके (स्वारोचिष के); च—भी; आत्म-जाः—पुत्र।

अग्नि का पुत्र स्वारोचिष दूसरा मनु बना। उसके अनेक पुत्रों में द्युमत्, सुषेण तथा रोचिष्मत् प्रमुख थे।

तात्पर्य :

मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः ।

ऋषयोंऽशावतारश्च हरेः षड्विधमुच्यते ॥

भगवान् के अनेक अवतार हैं। मनु, *मनुपुत्राः* (मनु के पुत्र) स्वर्ग लोकों का राजा तथा सप्तर्षि—ये सभी भगवान् के अंशावतार हैं। स्वयं मनु, उनके पुत्र प्रियव्रत तथा उत्तानपाद, दक्ष द्वारा उत्पन्न देवता तथा मरीचि जैसे ऋषि—ये सभी स्वायंभुव मनु के राज्यकाल में भगवान् के अंशावतार थे। उस काल में भगवान् के अवतार यज्ञ ने स्वर्गलोकों के शासन का राज्यभार सँभाला। अगला मनु स्वारोचिष था। अगले ग्यारह श्लोकों में मनुओं, ऋषियों तथा देवताओं का और विस्तृत वर्णन हुआ है।

तत्रेन्द्रो रोचनस्त्वासीद्देवाश्च तुषितादयः ।
ऊर्जस्तम्भादयः सप्त ऋषयो ब्रह्मवादिनः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तत्र—इस मन्वन्तर में; इन्द्रः—इन्द्र; रोचनः—रोचन, यज्ञ का पुत्र; तु—लेकिन; आसीत्—हुआ; देवाः—देवता; च—भी; तुषित-आदयः—तुषित तथा अन्य; ऊर्ज—ऊर्ज; स्तम्भ—स्तम्भ; आदयः—तथा अन्य; सप्त—सात; ऋषयः—ऋषिगण; ब्रह्म-वादिनः—सभी निष्ठावान् भक्त।

स्वारोचिष के शासनकाल में इन्द्र का पद यज्ञपुत्र रोचन ने ग्रहण किया। तुषित तथा अन्य

लोग प्रधान देवता बने और ऊर्ज, स्तम्भ इत्यादि सप्तर्षि हुए। ये सभी भगवान् के निष्ठावान् भक्त थे।

ऋषेस्तु वेदशिरसस्तुषिता नाम पत्न्यभूत् ।
तस्यां जज्ञे ततो देवो विभुरित्यभिविश्रुतः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ऋषेः—ऋषि का; तु—निस्सन्देह; वेदशिरसः—वेदशिरा; तुषिता—तुषिता; नाम—नामक; पत्नी—पत्नी ने; अभूत्—उत्पन्न किया; तस्याम्—अपने (गर्भ) से; जज्ञे—जन्म लिया; ततः—तत्पश्चात्; देवः—भगवान्; विभुः—विभु; इति—इस प्रकार; अभिविश्रुतः—विख्यात।.

वेदशिरा अत्यन्त विख्यात ऋषि थे। उनकी पत्नी तुषिता के गर्भ से विभु नामक अवतार ने जन्म लिया।

अष्टाशीतिसहस्राणि मुनयो ये धृतव्रताः ।
अन्वशिक्षन्व्रतं तस्य कौमारब्रह्मचारिणः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अष्टाशीति—अट्ठासी; सहस्राणि—हजार; मुनयः—साधु पुरुष; ये—वे जो; धृत-व्रताः—व्रतधारी; अन्वशिक्षन्—शिक्षाएँ ग्रहण की; व्रतम्—व्रत; तस्य—उसका (विभु का); कौमार—अविवाहित; ब्रह्मचारिणः—तथा ब्रह्मचारी अवस्था में रहने वाला।.

विभु ब्रह्मचारी बने रहे और जीवन पर्यन्त अविवाहित रहे। उनसे अट्ठासी हजार अन्य मुनियों ने आत्मनिग्रह, तपस्या तथा अन्य आचार सम्बन्धी शिक्षाएँ ग्रहण कीं।

तृतीय उत्तमो नाम प्रियव्रतसुतो मनुः ।
पवनः सृञ्जयो यज्ञहोत्राद्यास्तत्सुता नृप ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तृतीयः—तीसरा; उत्तमः—उत्तम; नाम—नामक; प्रियव्रत—राजा प्रियव्रत का; सुतः—पुत्र; मनुः—मनु बना; पवनः—पवन; सृञ्जयः—सृञ्जय; यज्ञहोत्र-आद्याः—यज्ञहोत्र इत्यादि; तत्-सुताः—उत्तम के पुत्र; नृप—हे राजा।.

हे राजा! तीसरा मनु राजा प्रियव्रत का पुत्र उत्तम था। इस मनु के पुत्रों में पवन, सृञ्जय तथा यज्ञहोत्र मुख्य थे।

वसिष्ठतनयाः सप्त ऋषयः प्रमदादयः ।
सत्या वेदश्रुता भद्रा देवा इन्द्रस्तु सत्यजित् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

वसिष्ठ-तनयाः—वशिष्ठ के पुत्र; सप्त—सात; ऋषयः—ऋषिगण; प्रमद-आदयः—प्रमद इत्यादि; सत्याः—सत्यगण; वेदश्रुताः—वेदश्रुतगण; भद्राः—भद्रगण; देवाः—देवतागण; इन्द्रः—स्वर्ग का राजा; तु—लेकिन; सत्यजित्—सत्यजित्।

तीसरे मनु के शासनकाल में वसिष्ठ के प्रमद तथा अन्य पुत्र सप्तर्षि बने। सत्यगण, वेदश्रुतगण तथा भद्रगण देवता बने और सत्यजित् को स्वर्ग का राजा इन्द्र चुना गया।

धर्मस्य सूनृतायां तु भगवान्पुरुषोत्तमः ।
सत्यसेन इति ख्यातो जातः सत्यव्रतैः सह ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

धर्मस्य—धर्म के देवता की; सूनृतायाम्—सूनृता नामक पत्नी के गर्भ में; तु—निस्सन्देह; भगवान्—भगवान्; पुरुष-उत्तमः—परमेश्वर; सत्यसेनः—सत्यसेन; इति—इस प्रकार; ख्यातः—विख्यात; जातः—जन्म लिया; सत्यव्रतैः—सत्यव्रतों के; सह—साथ।

इस मन्वन्तर में भगवान् धर्म की पत्नी सूनृता के गर्भ से प्रकट हुए और सत्यसेन नाम से विख्यात हुए। वे सत्यव्रत नामक अन्य देवताओं के साथ प्रकट हुए।

सोऽनृतव्रतदुःशीलानसतो यक्षराक्षसान् ।
भूतद्रुहो भूतगणांश्चावधीत्सत्यजित्सखः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (सत्यसेन); अनृत-व्रत—झूठ बोलने का व्रत लेने वाला; दुःशीलान्—दुराचारी; असतः—दुष्ट; यक्ष-राक्षसान्—यक्षों तथा राक्षसों को; भूत-द्रुहः—अन्य जीवों की उन्नति का सदैव विरोध करने वाले; भूत-गणान्—भूत प्रेतों का; च—भी; अवधीत्—वध कर दिया; सत्यजित्-सखः—अपने मित्र सत्यजित सहित।

सत्यसेन ने अपने मित्र सत्यजित् सहित जो उस काल के स्वर्ग के राजा इन्द्र थे समस्त झूठे, अपवित्र तथा दुराचारी यक्षों, राक्षसों तथा भूतप्रेतों का वध कर दिया क्योंकि वे सारे जीवों को कष्ट पहुँचाते थे।

चतुर्थ उत्तमभ्राता मनुर्नाम्ना च तामसः ।
पृथुः ख्यातिर्नरः केतुरित्याद्या दश तत्सुताः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

चतुर्थ—चौथा मनु; उत्तम-भ्राता—उत्तम का भाई; मनुः—मनु बना; नाम्ना—नाम से विख्यात; च—भी; तामसः—तामस; पृथुः—पृथु; ख्यातिः—ख्याति; नरः—नर; केतुः—केतु; इति—इस प्रकार; आद्याः—इत्यादि; दश—दस; तत्-सुताः—तामस मनु के पुत्र।

तीसरे मनु उत्तम का भाई जो तामस नाम से विख्यात था चौथा मनु बना। तामस के दस पुत्र थे जिनमें पृथु, ख्याति, नर तथा केतु प्रमुख थे।

सत्यका हरयो वीरा देवास्त्रिशिख ईश्वरः ।
ज्योतिर्धामादयः सप्त ऋषयस्तामसेऽन्तरे ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सत्यकाः—सत्यकगण; हरयः—हरिगण; वीराः—वीरगण; देवाः—देवगण; त्रिशिखः—त्रिशिख; ईश्वरः—स्वर्ग का राजा; ज्योतिर्धाम-आदयः—ज्योतिर्धाम इत्यादि; सप्त—सात; ऋषयः—ऋषिगण; तामसे—तामस मनु के राज्यकाल; अन्तरे—में।

तामस मनु के शासन में सत्यकगण, हरिगण तथा वीरगण देवताओं में से थे। स्वर्ग का राजा इन्द्र त्रिशिख था। सप्तर्षि-धाम के ऋषियों में ज्योतिर्धाम प्रमुख था।

देवा वैधृतयो नाम विधृतेस्तनया नृप ।
नष्टाः कालेन यैर्वेदा विधृताः स्वेन तेजसा ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

देवाः—देवतागण; वैधृतयः—वैधृतिगण; नाम—नामक; विधृतेः—विधृति के; तनयाः—पुत्र; नृप—हे राजा; नष्टाः—नष्ट हो गये थे; कालेन—समय के प्रभाव से; यैः—जिससे; वेदाः—वेद; विधृताः—सुरक्षित थे; स्वेन—अपने; तेजसा—बल से।

हे राजा! तामस मन्वन्तर में विधृति के पुत्र भी जो वैधृति कहलाते थे, देवता बने। चूँकि कालक्रम से वैदिक स्वत्व विनष्ट हो गया था, अतएव इन देवताओं ने अपने बल से वैदिक स्वत्व की रक्षा की।

तात्पर्य : तामस मन्वन्तर में दो प्रकार के देवता थे जिनमें से एक वैधृति कहलाते थे। देवताओं का कार्य वेदों के स्वत्व की रक्षा करना है। देवता शब्द वेदों के स्वत्व को वहन करने वाले का सूचक है, जबकि राक्षस वे हैं, जो वैदिक स्वत्व का उल्लंघन करते हैं। यदि वेदों का स्वत्व जाता रहता है, तो समग्र ब्रह्माण्ड अशान्त हो उठता है। अतएव देवताओं के साथ-साथ राजाओं तथा सरकार के सहायकों का कर्तव्य है कि वे वेदों के स्वत्व को पूरा संरक्षण प्रदान करें; अन्यथा मानव समाज में अशान्ति छा जायेगी और तब उसमें शान्ति अथवा समृद्धि नहीं रह सकती।

तत्रापि जज्ञे भगवान्हरिण्यां हरिमेधसः ।
हरिरित्याहृतो येन गजेन्द्रो मोचितो ग्रहात् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तत्रापि—उस काल में; जज्ञे—प्रकट हुआ; भगवान्—भगवान्; हरिण्याम्—हरिणी के गर्भ में; हरिमेधसः—हरिमेधा से उत्पन्न; हरिः—हरि; इति—इस प्रकार; आहृतः—कहलाया; येन—जिसके द्वारा; गज-इन्द्रः—हाथियों का राजा; मोचितः—छुड़ाया गया था; ग्रहात्—घड़ियाल के मुख से।

इस मन्वन्तर में भगवान् विष्णु ने भी हरिमेधा की पत्नी हरिणी के गर्भ से जन्म लिया और वे हरि कहलाये। हरि ने हाथियों के राजा एवं अपने भक्त गजेन्द्र को घड़ियाल के मुख से छुड़ाया।

श्रीराजोवाच

बादरायण एतत्ते श्रोतुमिच्छामहे वयम् ।
हरिर्यथा गजपतिं ग्राहग्रस्तममूमुचत् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा परीक्षित ने कहा; बादरायणे—हे बादरायण (व्यासदेव) के पुत्र; एतत्—यह; ते—तुमसे; श्रोतुम् इच्छामहे—सुनने की इच्छा करते हैं; वयम्—हम; हरिः—भगवान् हरिः; यथा—जिस तरह से; गज-पतिम्—हाथियों के राजा को; ग्राह-ग्रस्तम्—घड़ियाल द्वारा आक्रमण किये जाने पर; अमूमुचत्—छुड़ाया, उद्धार किया।

राजा परीक्षित ने कहा : हे बादरायणि प्रभु! हम आपसे विस्तार से यह सुनना चाहते हैं कि घड़ियाल द्वारा आक्रमण किये जाने पर हाथियों के राजा (गजेन्द्र) को हरि ने किस प्रकार छुड़ाया?

तत्कथासु महत्पुण्यं धन्यं स्वस्त्ययनं शुभम् ।
यत्र यत्रोत्तमश्लोको भगवान्गीयते हरिः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तत्-कथासु—उन कथाओं में; महत्—महान्; पुण्यम्—पवित्र; धन्यम्—धन्य; स्वस्त्ययनम्—कल्याणप्रद; शुभम्—शुभ; यत्र—जब भी; यत्र—जहाँ भी; उत्तमश्लोकः—उत्तमश्लोक नाम से प्रसिद्ध; भगवान्—भगवान्; गीयते—गायन किया जाता है; हरिः—भगवान्।

कोई भी साहित्य या कथा जिसमें भगवान् उत्तमश्लोक का वर्णन और उनकी महिमा का गायन किया जाता है, वह निश्चय ही महान्, शुद्ध, धन्य, कल्याणप्रद तथा उत्तम है।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत आन्दोलन कृष्ण का वर्णन करने मात्र से सारे विश्व में फैल रहा है। हमने कई पुस्तकें प्रकाशित की हैं जिनमें *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (सत्रह खण्डों में, प्रत्येक चार-चार सौ पृष्ठ का, है), *भगवद्गीता* तथा *भक्तिरसामृतसिन्धु* सम्मिलित हैं। हम *श्रीमद्भागवत* का प्रकाशन साठ खण्डों में कर रहे हैं। जहाँ कहीं भी कोई वक्ता इन पुस्तकों से व्याख्यान देगा तथा श्रोता उसे सुनेंगे, उससे उत्तम तथा शुभ वातावरण उत्पन्न होगा। अतएव कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्यों को, विशेषतया संन्यासियों को बड़ी सावधानी से कृष्णभावनामृत का प्रचार करना चाहिए। इससे शुभ वातावरण उत्पन्न होगा।

श्रीसूत उवाच

परीक्षितैवं स तु बादरायणिः

प्रायोपविष्टेन कथासु चोदितः ।
उवाच विप्राः प्रतिनन्द्य पार्थिवं
मुदा मुनीनां सदसि स्म शृण्वताम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

श्री-सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; परीक्षिता—महाराज परीक्षित के द्वारा; एवम्—इस प्रकार; सः—वह; तु—निस्सन्देह; बादरायणिः—शुकदेव गोस्वामी; प्राय-उपविष्टेन—आसन्न मृत्यु की प्रतीक्षा करने वाले परीक्षितमहाराज ने; कथासु—शब्दों से; चोदितः—प्रोत्साहित होकर; उवाच—कहा; विप्राः—हे ब्राह्मणो; प्रतिनन्द्य—बधाई देकर; पार्थिवम्—महाराज परीक्षित को; मुदा—अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक; मुनीनाम्—मुनियों की; सदसि—सभा में; स्म—निस्सन्देह; शृण्वताम्—सुनने के इच्छुक।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : हे ब्राह्मणो! जब आसन्न मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे परीक्षित महाराज ने शुकदेव गोस्वामी से ऐसा बोलने के लिए प्रार्थना की तो मुनि ने राजा के शब्दों से प्रोत्साहित होकर, राजा का अभिनन्दन किया और वे सुनने के इच्छुक मुनियों की सभा में अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक बोले।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध के अन्तर्गत ''ब्रह्माण्ड के प्रशासक मनु'' नामक प्रथम अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दो

गजेन्द्र का संकट

इस स्कंध के द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ अध्यायों में यह बताया गया है कि भगवान् ने किस तरह चतुर्थ मनु के राज्यकाल में हाथियों के राजा (गजेन्द्र) को संरक्षण प्रदान किया। इस द्वितीय अध्याय में बताया गया है कि जब हाथियों का राजा अपनी पत्नियों सहित जलविहार कर रहा था, तो सहसा एक घड़ियाल (मगरमच्छ) ने उस पर आक्रमण कर दिया और गजेन्द्र ने अपनी रक्षा के लिए भगवान् के चरणकमलों पर आत्मसमर्पण कर दिया।

क्षीरसागर के मध्य में एक अत्यन्त ऊँचा तथा सुन्दर पर्वत है, जिसकी ऊँचाई दस हजार योजन अर्थात् अस्सी हजार मील है। यह पर्वत त्रिकूट कहलाता है। त्रिकूट पर्वत की घाटी में एक सुरम्य उद्यान है, जिसका नाम ऋतुमत है, जिसे वरुण ने बनाया था। उस क्षेत्र में एक अत्यन्त सुन्दर सरोवर भी है। एक बार हाथियों का प्रमुख अपनी पत्नियों सहित उस सरोवर में जलविहार करने गया जिससे जलचरों में हलचल मच गई। इससे उस सरोवर के अत्यन्त बलशाली प्रमुख घड़ियाल ने तुरन्त ही

हाथी के पाँव पर आक्रमण कर दिया। इस तरह हाथी तथा घड़ियाल में महान्युद्ध छिड़ गया। यह युद्ध एक हजार वर्षों तक चलता रहा। उसमें न तो हाथी मरा, न घड़ियाल, किन्तु जल में रहने से धीरे-धीरे हाथी का बल घटने लगा और घड़ियाल का बल बढ़ता रहा। इससे घड़ियाल को अधिकाधिक प्रोत्साहन मिलता रहा। तब अपने को असहाय पाकर एवं अपनी रक्षा का अन्य साधन न देखकर हाथी ने भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण की।

श्रीशुक उवाच

आसीद्गिरिवरो राजंस्त्रिकूट इति विश्रुतः ।
क्षीरोदेनावृतः श्रीमान्योजनायुतमुच्छ्रितः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; आसीत्—था; गिरिवरः—विशाल पर्वत; राजन्—हे राजा; त्रि-कूटः—त्रिकूट; इति—इस प्रकार; विश्रुतः—विख्यात; क्षीर-उदेन—क्षीरसागर द्वारा; आवृतः—घिरा हुआ; श्रीमान्—अत्यन्त सुन्दर; योजन—आठ मील की नाप; अयुतम्—दस हजार; उच्छ्रितः—अत्यन्त उच्च।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्! त्रिकूट नाम का एक विशाल पर्वत है। यह दस हजार योजन (० हजार मील) ऊँचा है। चारों ओर से क्ष ीरसागर द्वारा घिरे होने के कारण इसकी स्थिति अत्यन्त रमणीक है।

तावता विस्तृतः पर्यक्त्रिभिः शृङ्गैः पयोनिधिम् ।
दिशः खं रोचयन्नास्ते रौप्यायसहिरण्मयैः ॥ २ ॥
अन्यैश्च ककुभः सर्वा रत्नधातुविचित्रितैः ।
नानाद्रुमलतागुल्मैर्निर्घोषैर्निर्झराम्भसाम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तावता—उस प्रकार से; विस्तृतः—लम्बाई तथा चौड़ाई (० हजार मील) ; पर्यक्—चारों ओर; त्रिभिः—तीन; शृङ्गैः—चोटियों से; पयः-निधिम्—क्षीरसागर में एक द्वीप में स्थित; दिशः—सारी दिशाएँ; खम्—आकाश; रोचयन्—सुहावना; आस्ते—खड़ा हुआ; रौप्य—चाँदी; अयस—लोह; हिरण्मयैः—तथा सोने से बना; अन्यैः—अन्य चोटियों समेत; च—भी; ककुभः—दिशाएँ; सर्वाः—सभी; रत्न—रत्न; धातु—तथा खनिज से; विचित्रितैः—सुन्दर ढंग से अलंकृत; नाना—अनेक; द्रुम-लता—पौधे तथा लताओं; गुल्मैः—तथा झाड़ियों से; निर्घोषैः—ध्वनि से; निर्झर—झरने के; अम्भसाम्—जल की।

पर्वत की लम्बाई तथा चौड़ाई समान (० हजार मील) है। इसकी तीन प्रमुख चोटियाँ, जो लोहे, चाँदी तथा सोने की बनी हैं, सारी दिशाओं एवं आकाश को सुन्दर बनाती हैं। पर्वत में अन्य चोटियाँ भी हैं, जो रत्नों तथा खनिजों से पूर्ण हैं और सुन्दर वृक्षों, लताओं एवं झाड़ियों से अलंकृत हैं। पर्वत के झरनों से जो ध्वनि उत्पन्न होती है, वह सुहावनी है। इस प्रकार यह पर्वत

सभी दिशाओं में सुन्दरता को बढ़ाते हुए खड़ा है।

स चावनिज्यमानाङ्घ्रिः समन्तात्पयऊर्मिभिः ।
करोति श्यामलां भूमिं हरिन्मरकताश्मभिः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

सः—वह पर्वत; च—भी; अवनिज्यमान-अङ्घ्रिः—जिसका चरण सदा प्रक्षालित होता है; समन्तात्—चारों ओर से; पयः-ऊर्मिभिः—दूध की लहरों से; करोति—बनाता है; श्यामलाम्—गहरा हरा; भूमिम्—भूमि को; हरित्—हरी; मरकत—मरकत मणि; अश्मभिः—पत्थरों से।.

पर्वत के पाद की भूमि सदैव दूध की लहरों से प्रक्षालित होती रहती है, जो आठों दिशाओं में (उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम तथा इनके बीच की दिशाओं में) मरकत मणियाँ उत्पन्न करती रहती है।

तात्पर्य : हमें *श्रीमद्भागवत* से पता चलता है कि समुद्र कई प्रकार के हैं। कहीं दूध का सागर है, कहीं सुरा का सागर, तो कहीं घृत, तेल या मीठे जल का सागर है। इस तरह इस ब्रह्माण्ड में नाना प्रकार के समुद्र हैं। आधुनिक विज्ञानी अपने सीमित ज्ञान के बल पर इन कथनों को चुनौती नहीं दे सकते; वे हमें किसी भी लोक के विषय में पूरी जानकारी नहीं दे सकते यहाँ तक कि जिस लोक में हम रह रहे हैं उसके विषय में भी। इस श्लोक से हम समझ सकते हैं कि यदि किन्हीं पर्वतों की घाटियाँ दुग्ध से प्रक्षालित हों तो उनमें मरकत मणियाँ उत्पन्न होती हैं। किसी में इतनी सामर्थ्य नहीं कि भगवान् द्वारा संचालित भौतिक प्रकृति के कार्यकलापों का अनुकरण कर सके।

सिद्धचारणगन्धर्वैर्विद्याधरमहोरगैः ।
किन्नरैरप्सरोभिश्च क्रीडद्भिर्जुष्टकन्दरः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सिद्ध—सिद्ध लोक के वासी; चारण—चारणलोक के वासी; गन्धर्वैः—तथा गन्धर्वलोक के वासियों द्वारा; विद्याधर—विद्याधर लोक के वासी; महा-उरगैः—सर्पलोक के वासियों द्वारा; किन्नरैः—किन्नरों के द्वारा; अप्सरोभिः—अप्सराओं से; च—तथा; क्रीडद्भिः—खेलकूद में लगी; जुष्ट—विलास में लगे; कन्दरः—गुफाएँ।.

उच्चलोकों के वासी—सिद्ध, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, उरग, किन्नर तथा अप्सराएँ—इस पर्वत में क्रीड़ा करने के लिए जाते हैं। इस तरह पर्वत की सारी गुफाएँ स्वर्गलोकों के निवासियों से भरी रहती हैं।

तात्पर्य : जिस प्रकार सामान्य लोग खारे (लवण) सागर में क्रीड़ा करते हैं उसी प्रकार उच्चलोकों

के निवासी क्षीर सागर में जाते हैं। वे क्षीरसागर में तैरते हैं और त्रिकूट पर्वत की गुफाओं में नाना प्रकार की क्रीड़ाओं का आनन्द लेते हैं।

यत्र सङ्गीतसन्नादैर्नदद्‍गुहममर्षया ।
अभिगर्जन्ति हरयः श्लाघिनः परशङ्कया ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यत्र—उस (त्रिकूट) पर्वत में; **सङ्गीत**—गायन की; **सन्नादैः**—ध्वनि से; **नदत्**—प्रतिध्वनित; **गुहम्**—गुफाएँ; **अमर्षया**—असह्य क्रोध या ईर्ष्या के कारण; **अभिगर्जन्ति**—दहाड़ते हैं; **हरयः**—सिंह; **श्लाघिनः**—अपने बलपर अत्यन्त गर्वित; **पर-शङ्कया**—दूसरे सिंह की आशंका से।

गुफाओं में स्वर्ग के निवासियों के गायन की गूँजती हुई ध्वनियों के कारण वहाँ के सिंह, जिन्हें अपनी शक्ति पर गर्व है, असह्य ईर्ष्या के कारण यह सोचकर गर्जना करते हैं कि वहाँ पर कोई अन्य सिंह वैसे ही दहाड़ रहा है।

तात्पर्य : उच्चतर लोकों में, न केवल विभिन्न प्रकार के मनुष्य ही हैं, अपितु सिंह तथा हाथी जैसे पशु भी हैं। वहाँ वृक्ष हैं और वहाँ की धरती मरकतों से बनी है। ऐसी है भगवान् की सृष्टि! इस प्रसंग में श्रील भक्ति विनोद ठाकुर का गीत है—*केशव! तुया जगत् विचित्र*—हे केशव! आपकी सृष्टि रंग-बिरंगी तथा नाना किस्मों से पूर्ण है। भूविज्ञानी, वनस्पतिविज्ञानी तथा अन्य तथाकथित विज्ञानी अन्य लोकों के विषय में मनोकल्पना करते हैं, किन्तु उनकी विविधताओं का अनुमान न लगा पाने के कारण वे झूठे ही यह कल्पना करते हैं कि इस लोक को छोड़कर अन्य सारे लोक शून्य, निर्जन तथा धूल से भरे हैं। इस तरह वे ब्रह्माण्ड में विद्यमान विभिन्न किस्मों का अनुमान तक न लगा सकने पर भी अपने ज्ञान से गर्वित रहते हैं और अपनी ही क्षमता वाले लोगों द्वारा विद्वान माने जाते हैं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (२.३.१९) में कहा गया है—*श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः*—भौतिकतावादी नेताओं की प्रशंसा कुत्ते, सुअर, ऊँट तथा गधे करते हैं, जो स्वयं भी बड़े पशु हैं। मनुष्य को बड़े पशु द्वारा प्रदत्त ज्ञान से संतुष्ट नहीं होना चाहिए। प्रत्युत उसे शुकदेव गोस्वामी जैसे सिद्ध पुरुष से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। *महाजनो येन गतः स पन्थाः*—हमारा कर्तव्य है कि महाजनों के उपदेशों का पालन करें। महाजनों की संख्या बारह है और शुकदेव गोस्वामी उनमें से एक हैं (*भागवत* ६.३.२०)।

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः ।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम् ॥

वैयासकि ही शुकदेव गोस्वामी हैं। वे जो कुछ भी कहते हैं वह तथ्यात्मक है। यही पूर्ण ज्ञान है।

नानारण्यपशुव्रातसङ्कुलद्रोण्यलङ्कृतः ।
चित्रद्रुमसुरोद्यानकलकण्ठविहङ्गमः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

नाना—अनेक प्रकार के; अरण्य-पशु—जंगली जानवर; व्रात—झुंड; सङ्कुल—पूर्ण; द्रोणि—घाटियाँ; अलङ्कृतः—सुन्दर ढंग से सजायी गई; चित्र—किस्में; द्रुम—वृक्ष; सुर-उद्यान—देवताओं का बगीचा; कलकण्ठ—चहकती हुए; विहङ्गमः—पक्षी।

त्रिकूट पर्वत के नीचे की घाटियाँ अनेक प्रकार के जंगली जानवरों से सुशोभित हैं और देवताओं के उद्यानों में जो वृक्ष हैं उन पर नाना प्रकार के पक्षी सुरीली तान से चहकते रहते हैं।

सरित्सरोभिरच्छोदैः पुलिनैर्मणिवालुकैः ।
देवस्त्रीमज्जनामोदसौरभाम्ब्वनिलैर्युतः ॥ ॥

शब्दार्थ

सरित्—नदियों; सरोभिः—तथा झीलों से; अच्छोदैः—निर्मल जल से पूर्ण; पुलिनैः—किनारे; मणि—छोट-छोटे रत्नों से; वालुकैः—बालू के कणों से मिलते-जुलते; देव-स्त्री—देवताओं की स्त्रियाँ; मज्जन—(जल में) स्नान द्वारा; आमोद—शारीरिक सुगंध; सौरभ—अत्यन्त सुगंधित; अम्बु—जल; अनिलैः—तथा वायु से; युतः—(त्रिकूट पर्वत के वातावरण से) समृद्ध।

त्रिकूट पर्वत में अनेक नदियाँ तथा झीलें हैं जिनके किनारे बालू के कणों के सदृश छोटे-छोटे रत्नों से ढके हैं। उनका जल मणियों की भाँति निर्मल है। जब देवताओं की स्त्रियाँ उनमें स्नान करती हैं, तो उनके शरीरों से जल तथा पवन सुगन्धि ग्रहण कर लेते हैं जिससे वायुमण्डल और भी सुगन्धित हो जाता है।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में भी अनेक प्रकार के जीव हैं। पृथ्वी लोक के जीव सामान्यतया अपने शरीरों की दुर्गन्ध रोकने के लिए बाहर से सुगन्धित पदार्थ लगाते हैं, किन्तु यहाँ हम पाते हैं कि देवताओं की स्त्रियों की शारीरिक सुगंधि से नदियाँ, झीलें, वायु तथा त्रिकूट पर्वत का सारा वातावरण भी सुगंधित हो जाता है। चूँकि उच्चलोकों की स्त्रियों के शरीर अत्यन्त सुन्दर होते हैं अतएव हम सहज ही कल्पना कर सकते हैं कि वैकुण्ठ की स्त्रियों या वृन्दावन की गोपियों के शरीर कितने सुन्दर होंगे?

तस्य द्रोण्यां भगवतो वरुणस्य महात्मनः ।
उद्यानमृतुमन्नाम आक्रीडं सुरयोषिताम् ॥ ९ ॥
सर्वतोऽलङ्कृतं दिव्यैर्नित्यपुष्पफलद्रुमैः ।

मन्दारैः पारिजातैश्च पाटलाशोकचम्पकैः ॥ १० ॥

चूतैः पियालैः पनसैराम्रैराम्रातकैरपि ।
क्रमुकैर्नारिकेलैश्च खर्जूरैर्बीजपूरकैः ॥ ११ ॥

मधुकैः शालतालैश्च तमालैरसनार्जुनैः ।
अरिष्टोडुम्बरप्लक्षैर्वटैः किंशुकचन्दनैः ॥ १२ ॥

पिचुमर्दैः कोविदारैः सरलैः सुरदारुभिः ।
द्राक्षेक्षुरम्भाजम्बुभिर्बदर्यक्षाभयामलैः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उस पर्वत (त्रिकूट) की; द्रोण्याम्—घाटी में; भगवतः—महापुरुष; वरुणस्य—वरुण देव का; महा-आत्मनः—भगवान् का महान् भक्त; उद्यानम्—बगीचा; ऋतुमत्—ऋतुमत; नाम—नामक; आक्रीडम्—आमोद-प्रमोद का स्थान; सुर-योषिताम्—देवताओं की स्त्रियों के; सर्वतः—सर्वत्र; अलङ्कृतम्—सुन्दर ढंग से सजाया हुआ; दिव्यैः—देवताओं से सम्बन्धित; नित्य—सदैव; पुष्प—फूलों; फल—तथा फलों के; द्रुमैः—वृक्षों से; मन्दारैः—मन्दार से; पारिजातैः—पारिजात से; च—भी; पाटल—पाटल; अशोक—अशोक; चम्पकैः—चम्पा से; चूतैः—आम के विशेष फलों से; पियालैः—पियाल फलों से; पनसैः—पनस फल से; आम्रैः—आमों से; आम्रातकैः—आम्रातक नामक खट्टे फलों से; अपि—भी; क्रमुकैः—क्रमुक फलों से; नारिकेलैः—नारियल वृक्षों से; च—तथा; खर्जूरैः—खजूर के वृक्षों से; बीजपूरकैः—अनारों से; मधुकैः—मधुक फलों से; शाल-तालैः—ताड़ फलों से; च—तथा; तमालैः—तमाल वृक्षों से; असन—असन वृक्ष; अर्जुनैः—अर्जुन वृक्षों से; अरिष्ट—अरिष्ट फलों से; उडुम्बर—उडुम्बर का बड़ा वृक्ष; प्लक्षैः—प्लक्ष वृक्ष से; वटैः—बरगद के पेड़ से; किंशुक—गंधविहीन लाल फूलों से; चन्दनैः—चंदन के वृक्षों से; पिचुमर्दैः—पिचुमर्द फूलों से; कोविदारैः—कोविदार फलों से; सरलैः—सरल वृक्षों से; सुर-दारुभिः—सुर-दारु वृक्षों से; द्राक्षा—अंगूर; इक्षुः—गन्ना; रम्भा—केला; जम्बुभिः—जम्बु फलों से; बदरी—बदरी फल; अक्ष—अक्ष फल; अभय—अभय फल; आमलैः—आमलकी या आँवलों के फलों से।

त्रिकूट पर्वत की घाटी में ऋतुमत् नामक उद्यान था। यह उद्यान महान् भक्त वरुण का था और यह देवांगनाओं का क्रीड़ास्थल था। यहाँ सभी ऋतुओं में फूल-फल उगते रहते थे। इनमें से मन्दार, पारिजात, पाटल, अशोक, चम्पक, आम्रविशेष (चूत), पियाल, पनस, आम, आम्रातक, क्रमुक, नारियल, खजूर तथा अनार मुख्य थे। वहाँ पर मधुक, ताड़, तमाल, असन, अर्जुन, अरिष्ट, उडुम्बर, प्लक्ष, बरगद, किंशुक तथा चन्दन के वृक्ष थे। वहाँ पर पिचुमर्द, कोविदार, सरल, सुरदारु, अंगूर, गन्ना, केला, जम्बु, बदरी, अक्ष, अभय तथा आमलकी भी थे।

बिल्वैः कपित्थैर्जम्बीरैर्वृतो भल्लातकादिभिः ।
तस्मिन्सरः सुविपुलं लसत्काञ्चनपङ्कजम् ॥ १४ ॥

कुमुदोत्पलकह्लारशतपत्रश्रियोर्जितम् ।
मत्तषट्पदनिर्घुष्टं शकुन्तैश्च कलस्वनैः ॥ १५ ॥

हंसकारण्डवाकीर्णं चक्राह्वैः सारसैरपि ।
जलकुक्कुटकोयष्टिदात्यूहकुलकूजितम् ॥ १६ ॥

मत्स्यकच्छपसञ्चारचलत्पद्मरजःपयः ।
कदम्बवेतसनलनीपवञ्जुलकैर्वृतम् ॥ १७ ॥

कुन्दैः कुरुबकाशोकैः शिरीषैः कूटजेङ्गुदैः ।
कुब्जकैः स्वर्णयूथीभिर्नागपुन्नागजातिभिः ॥ १ ॥
मल्लिकाशतपत्रैश्च माधवीजालकादिभिः ।
शोभितं तीरजैश्चान्यैर्नित्यर्तुभिरलं द्रुमैः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

बिल्वैः—बिल्व वृक्ष; कपित्थैः—कपित्थ वृक्ष; जम्बीरैः—जम्बीर वृक्षों से; वृतः—घिरा हुआ; भल्लातक-आदिभिः—भल्लातक आदि वृक्षों से; तस्मिन्—उस उद्यान में; सरः—झील; सु-विपुलम्—अत्यन्त विशाल; लसत्—चमकीली; काञ्चन—सुनहरी; पङ्क-जम्—कमलों से पूर्ण; कुमुद—कुमुद पुष्पों का; उत्पल—उत्पल फूल; कह्लार—कह्लार फूल; शतपत्र—तथा शत्रपत्र के फूल; श्रिया—सौन्दर्य सहित; ऊर्जितम्—श्रेष्ठ; मत्त—नशेमें; षट्-पद—भौंरे; निर्घुष्टम्—गुनगुनाते; शकुन्तैः—पक्षियों की चहचहाहट से; च—तथा; कल-स्वनैः—मीठे गानों से; हंस—हंस; कारण्डव—कारण्डव; आकीर्णम्—झुंड में; चक्राह्वैः—चक्रावकों के साथ; सारसैः—सारसों से; अपि—भी; जलकुक्कुट—जल मुर्गाबी; कोयष्टि—कोयष्टि; दात्यूह—दात्यूह; कुल—झुंड; कूजितम्—कूजन करते; मत्स्य—मछली; कच्छप—तथा कछुवों का; सञ्चार—गति करने से; चलत्—विक्षुब्ध; पद्म—कमलों के; रजः—परागकण से; पयः—जल (अलंकृत था); कदम्ब—कदम्ब; वेतस—बेंत; नल—नल, नरकट; नीप—नीप; वञ्जुलकैः—वंजुलक से; वृतम्—घिरा हुआ; कुन्दैः—कुंदों से; कुरुबक—कुरुबक; अशोकैः—अशोक से; शिरीषैः—शिरीष से; कूटज-—कुटज; इङ्गुदैः—इंगुद से; कुब्जकैः—कुब्जक से; स्वर्ण-यूथीभिः—स्वर्णयूथी से; नाग—नाग; पुन्नाग—पुन्नाग; जातिभिः—जाति से; मल्लिका—मल्लिका; शतपत्रैः—शतपत्रों से; च—भी; माधवी—माधवी; जालकादिभिः—जालका आदि से; शोभितम्—अलंकृत; तीरजैः—किनारे पर उगे हुए; च—तथा; अन्यैः—अन्य; नित्य-ऋतुभिः—सभी ऋतुओं में; अलम्—प्रचुर मात्रा में; द्रुमैः—वृक्षों से (फल-फूल से लदे)।

उस उद्यान में एक विशाल सरोवर था, जो चमकीले सुनहरे कमल के फूलों से तथा कुमुद, कह्लार, उत्पल एवं शतपत्र फूलों से भरा था जिनसे पर्वत की सुन्दरता में वृद्धि हो रही थी। उस उद्यान में बिल्व, कपित्थ, जम्बीर तथा भल्लातक वृक्ष भी थे। मदमत्त भौंरें मधुपान कर रहे थे और अत्यन्त मधुर ध्वनि में गान करने वाले पक्षियों की चहचहाहट के साथ वे भी गुनगुना रहे थे। सरोवर में हंसों, कारण्डवों, चक्रावकों, सारसों, जलमुर्गियों, दात्यूहों, कोयष्टियों तथा अन्य चहचहाते पक्षियों के झुंड के झुंड थे। मछलियों तथा कछुवों के इधर-उधर तेजी से गति करने से कमल के फूलों से जो परागकण गिरे थे उनसे जल सुशोभित था। सरोवर के चारों ओर कदम्ब, वेतस, नल, नीप, वञ्जुलक, कुन्द, कुरुबक, अशोक, शिरीष, कूटज, इंगुद, कुब्जक, स्वर्णयूथी, नाग, पुन्नाग, जाति, मल्लिका, शतपत्र, जालका तथा माधवी लताएँ थीं। सरोवर के तट ऐसे वृक्षों से भलीभान्ति अलंकृत थे, जो सभी ऋतुओं में फूल तथा फल देने वाले थे। इस तरह पूरा पर्वत भव्य रूप से सजा हुआ था।

तात्पर्य : त्रिकूट पर्वत की नदियों तथा सरोवरों के ऐसे विशद वर्णन से यह निर्णय निकलता है कि पृथ्वी पर ऐसे अति-सौन्दर्य की कोई तुलना नहीं हो सकती। किन्तु अन्य लोकों में ऐसे अनेक आश्चर्य हैं। उदाहरणार्थ, हमें ज्ञात होता है कि वहाँ बीस लाख किस्म के वृक्ष हैं, किन्तु ये सभी पृथ्वी पर नहीं

पाये जाते। *श्रीमद्भागवत* ब्रह्माण्ड की सारी बातों का पूरा-पूरा ज्ञान प्रदान करता है। इसमें न केवल इस ब्रह्माण्ड का वर्णन मिलता है, अपितु इसके परे आध्यात्मिक जगत का भी विवरण दिया गया है। कोई भी व्यक्ति *श्रीमद्भागवत* में वर्णित भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों के इन वर्णनों को चुनौती नहीं दे सकता। पृथ्वी से चन्द्रमा तक जाने के प्रयास असफल हो चुके हैं, किन्तु पृथ्वी के लोग यह समझ सकते हैं कि अन्य लोकों में क्या-क्या विद्यमान है। इसके लिए किसी कल्पना की आवश्यकता नहीं है, कोई भी व्यक्ति *श्रीमद्भागवत* से वास्तविक ज्ञान ग्रहण करके संतुष्ट हो सकता है।

तत्रैकदा तद्गिरिकाननाश्रयः
करेणुभिर्वारणयूथपश्चरन् ।
सकण्टकं कीचकवेणुवेत्रवद्
विशालगुल्मं प्ररुजन्वनस्पतीन् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ पर; एकदा—एक बार; तत्-गिरि—उस पर्वत (त्रिकूट) के; कानन-आश्रयः—जंगल में रहने वाला; करेणुभिः—हथिनियों के साथ; वारण-यूथ-पः—हाथियों का अगुवा; चरन्—विचरण करते (सरोवर की ओर); स-कण्टकम्—काँटों से भरा स्थान; कीचक-वेणु-वेत्र-वत्—विभिन्न नामों वाले पौधों तथा लताओं से युक्त; विशाल-गुल्मम्—अनेक जंगल; प्ररुजन्—तोड़ते हुए; वनः-पतीन्—वृक्षों और पौधों को।

एक बार हाथियों का अगुवा (प्रमुख), जो त्रिकूट पर्वत के जंगल में रह रहा था, अपनी हथिनियों के साथ सरोवर की ओर घूमने निकला। उसने अनेक पौधों, लताओं तथा गुल्मों को उनके चुभने वाले काँटों की परवाह न करते हुए नष्ट-भ्रष्ट कर डाला।

यद्गन्धमात्राद्धरयो गजेन्द्रा
व्याघ्रादयो व्यालमृगाः सखड्गाः ।
महोरगाश्चापि भयाद्द्रवन्ति
सगौरकृष्णाः सरभाश्चमर्यः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यत्-गन्ध-मात्रात्—उस हाथी की गन्ध से ही; हरयः—सिंह; गज-इन्द्राः—अन्य हाथी; व्याघ्र-आदयः—बाघ जैसे हिंस्र पशु; व्याल-मृगाः—अन्य हिंस्र पशु; सखड्गाः—गैंडे; महा-उरगाः—बड़े-बड़े सर्प; च—भी; अपि—निस्सन्देह; भयात्—डर से; द्रवन्ति—भाग रहे थे; स—सहित; गौर-कृष्णाः—उनमें से कुछ श्वेत और कुछ काले; सरभाः—सरभ; चमर्यः—तथा चमरी भी।

उस हाथी की सुगंध पाकर ही सारे अन्य हाथी, बाघ तथा अन्य हिंस्र पशु—यथा सिंह, गैंडे, सर्प एवं सफेद-काले सरभ—भय से भाग गये। यहाँ तक कि चमरी हिरन भी भाग निकले।

वृका वराहा महिषर्क्षशल्या
गोपुच्छशालावृकमर्कटाश्च ।
अन्यत्र क्षुद्रा हरिणाः शशादय-
श्चरन्त्यभीता यदनुग्रहेण ॥ २२॥

शब्दार्थ

वृकाः—लोमड़ियाँ; वराहाः—भालू; महिष—भैंसा; ऋक्ष—रीछ; शल्याः—सेही; गोपुच्छ—एक प्रकार का हिरन; शालावृक—भेड़िए; मर्कटाः—बन्दर; च—और; अन्यत्र—और कहीं; क्षुद्राः—छोटे पशु; हरिणाः—हिरन; शश-आदयः—खरगोश इत्यादि; चरन्ति—(जंगल में) इधर-उधर घूमते हैं; अभीताः—निर्भय; यत्-अनुग्रहेण—उस हाथी की कृपा से।

इस हाथी की कृपा से लोमड़ी, भेड़िया, भैंसें, भालू, सुअर, गोपुच्छ, सेही, बन्दर, खरहे, हिरन तथा अन्य छोटे पशु जंगल में सर्वत्र विचरण करते रहते थे। वे उससे भयभीत नहीं थे।

तात्पर्य : लगभग सभी पशु इसी हाथी से नियंत्रित थे। फिर भी, यद्यपि वे भयरहित होकर विचरण कर सकते थे, किन्तु सम्मान के कारण वे उसके समक्ष खड़े नहीं रहते थे।

स घर्मतप्तः करिभिः करेणुभि-
र्वृतो मदच्युत्करभैरनुद्रुतः ।
गिरिं गरिम्णा परितः प्रकम्पयन्
निषेव्यमाणोऽलिकुलैर्मदाशनैः ॥ २३॥
सरोऽनिलं पङ्कजरेणुरूषितं
जिघ्रन्विदूरान्मदविह्वलेक्षणः ।
वृतः स्वयूथेन तृषार्दितेन तत्
सरोवराभ्यासमथागमद्द्रुतम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

सः—वह (हाथियों का सरदार); घर्म-तप्तः—पसीने से तर; करिभिः—अन्य हाथियों से; करेणुभिः—तथा हथिनियों से; वृतः—घिरा हुआ; मद-च्युत्—मुँह से लार चुवाता; करभैः—हाथी के बच्चों द्वारा; अनुद्रुतः—पीछे-पीछे चलते हुए; गिरिम्—उस पर्वत को; गरिम्णा—शरीर के भार से; परितः—चारों ओर; प्रकम्पयन्—हिलाते हुए; निषेव्यमाणः—सेवित होकर; अलिकुलैः—भौंरों के झुंड द्वारा; मद-अशनैः—शहद पिये हुए; सरः—सरोवर या झील से; अनिलम्—मन्द वायु; पङ्कज-रेणु-रूषितम्—कमल फूलों से रज ले जाता हुआ; जिघ्रन्—सूँघते हुए; विदूरात्—दूर से; मद-विह्वल—मदग्रस्त होकर; ईक्षणः—चितवन; वृतः—घिरा हुआ; स्व-यूथेन—अपने ही संगियों से; तृषार्दितेन—प्यास से पीड़ित; तत्—उस; सरोवर-अभ्यासम्—सरोवर के किनारे तक; अथ—इस प्रकार; अगमत्—गया; द्रुतम्—तुरन्त।

वह हाथियों का राजा गजपति झुंड के अन्य हाथियों तथा हथिनियों से घिरा था और उसके पीछे-पीछे हाथी के बच्चे चल रहे थे। वह अपने शरीर के भार से त्रिकूट पर्वत को चारों ओर से हिला रहा था। उसके पसीना छूट रहा था, उसके मुँह से मद की लार टपक रही थी और उसकी दृष्टिमद से भरी थी। मधु पी-पीकर भौंरें उसकी सेवा कर रहे थे और वह दूर से ही उन कमल फूलों के रजकणों की सुगंध का अनुभव कर रहा था, जो मन्द पवन द्वारा उस सरोवर से ले जाई

जा रही थी। इस प्रकार प्यास से पीड़ित अपने साथियों से घिरा वह गजपति तुरन्त सरोवर के तट पर आया।

विगाह्य तस्मिन्नमृताम्बु निर्मलं
हेमारविन्दोत्पलरेणुरूषितम् ।
पपौ निकामं निजपुष्करोद्धृत-
मात्मानमद्भिः स्नपयन्गतक्लमः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

विगाह्य—घुस कर; तस्मिन्—उस सरोवर में; अमृत-अम्बु—अमृत के समान स्वच्छ जल; निर्मलम्—अत्यन्त विमल; हेम—अत्यन्त शीतल; अरविन्द-उत्पल—कुमुदिनियों तथा कमलों से; रेणु—धूल से; रूषितम्—मिश्रित; पपौ—पिया; निकामम्—पूर्णतया सन्तुष्ट होने तक; निज—अपनी; पुष्कर-उद्धृतम्—सूँड़ से खींच कर; आत्मानम्—अपने आप; अद्भिः—जल से; स्नपयन्—पूरी तरह स्नान करते हुए; गत-क्लमः—थकान से मुक्त हुआ।

वह हाथियों का राजा (गजपति गजेन्द्र) सरोवर में घुस गया, पूरी तरह नहाया और अपनी थकान से मुक्त हो गया। तब उसने अपनी सूँड़ से जी भरकर शीतल, स्वच्छ अमृततुल्य जल पिया जो कमलपुष्पों तथा जल कुमुदिनियों की रज से मिश्रित था।

स पुष्करेणोद्धृतशीकराम्बुभि-
र्निपाययन्संस्नपयन्यथा गृही ।
घृणी करेणुः करभांश्च दुर्मदो
नाचष्ट कृच्छ्रं कृपणोऽजमायया ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (गजराज); पुष्करेण—अपनी सूँड़ से; उद्धृत—खींचकर; शीकर-अम्बुभिः—तथा जल छिड़क कर; निपाययन्—उन्हें पिलाकर; संस्नपयन्—तथा उन्हें नहला कर; यथा—जिस प्रकार; गृही—गृहस्थ; घृणी—सदैव (अपने परिवार वालों पर) दयालु; करेणुः—हथिनियों को; करभान्—बच्चों को; च—तथा; दुर्मदः—अपने परिवार वालों से अत्यधिक आसक्त; न—नहीं; आचष्ट—विचार किया; कृच्छ्रम्—कठिनाई से; कृपणः—आध्यात्मिक ज्ञान से रहित; अज-मायया—भगवान् की माया के प्रभाव से।

आध्यात्मिक ज्ञान से विहीन एवं अपने परिवार वालों के प्रति अत्यधिक आसक्त मनुष्य की भाँति उस हाथी ने कृष्ण की बहिरंगा शक्ति (माया) द्वारा मोहित होकर अपनी पत्नी तथा बच्चों को स्नान कराया और पानी पिलाया। उसने अपनी सूंड़ में सरोवर का पानी भरकर उन सबके ऊपर छिड़का। उसने इस प्रयास में लगने वाले कठिन श्रम की परवाह नहीं की।

तं तत्र कश्चिन्नृप दैवचोदितो

ग्राहो बलीयांश्चरणे रुषाग्रहीत् ।
यदृच्छयैवं व्यसनं गतो गजो
यथाबलं सोऽतिबलो विचक्रमे ॥ २७॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (गजेन्द्र को); तत्र—वहाँ (जल में); कश्चित्—कोई; नृप—हे राजा; दैव-चोदितः—भाग्य द्वारा प्रेरित; ग्राहः—घड़ियाल; बलीयान्—अत्यन्त शक्तिशाली; चरणे—उसका पाँव; रुषा—क्रुद्ध होकर; अग्रहीत्—पकड़ लिया; यदृच्छया—भाग्य से होने वाली; एवम्—ऐसी; व्यसनम्—खतरनाक परिस्थिति; गतः—प्राप्त करके; गजः—हाथी ने; यथा-बलम्—अपनी शक्ति के अनुसार; सः—वह; अति-बलः—अत्यधिक प्रयास से; विचक्रमे—बाहर निकलने का प्रयत्न किया।

हे राजा! भाग्यवश एक बलिष्ठ घड़ियाल ने, जो हाथी पर क्रुद्ध था, जल के भीतर से ही हाथी के पैर पर आक्रमण कर दिया। हाथी निश्चय ही बलवान् था और उसने भाग्य द्वारा प्रेषित इस संकट से अपनी शक्ति भर अपने को छुड़ाने का प्रयत्न किया।

तथातुरं यूथपतिं करेणवो
विकृष्यमाणं तरसा बलीयसा ।
विचुक्रुशुर्दीनधियोऽपरे गजाः
पार्ष्णिग्रहास्तारयितुं न चाशकन् ॥ २॥

शब्दार्थ

तथा—तब; आतुरम्—उस विकट स्थिति में; यूथ-पतिम्—हाथियों के सरदार को; करेणवः—उसकी पत्नियाँ; विकृष्यमाणम्—आक्रमण किया जाकर; तरसा—बल से; बलीयसा—बल से (घड़ियाल के); विचुक्रुशुः—चिंग्घाड़ने लगीं; दीन-धियः—अल्पज्ञ; अपरे—दूसरे; गजाः—हाथी; पार्ष्णि-ग्रहाः—पीछे से पकड़ कर; तारयितुम्—मुक्त कराने के लिए; न—नहीं; च—भी; अशकन्—असमर्थ थे।

तत्पश्चात् गजेन्द्र को उस विकट स्थिति में देखकर उसकी पत्नियाँ अत्यधिक दुखी हुईं और चिंग्घाड़ने लगीं। दूसरे हाथियों ने गजेन्द्र की सहायता करनी चाही, किन्तु घड़ियाल की विपुल शक्ति के कारण वे उसे पीछे से पकड़कर उसको नहीं बचा सके।

नियुध्यतोरेवमिभेन्द्रनक्रयोर्
विकर्षतोरन्तरतो बहिर्मिथः ।
समाः सहस्रं व्यगमन्महीपते
सप्राणयोश्चित्रममंसतामराः ॥ २९॥

शब्दार्थ

नियुध्यतोः—लड़ते हुए; एवम्—इस प्रकार; इभ-इन्द्र—हाथी; नक्रयोः—तथा घड़ियाल का; विकर्षतोः—खींचना; अन्तरतः—जल के भीतर; बहिः—जल के बाहर; मिथः—एक दूसरे; समाः—वर्ष; सहस्रम्—एक हजार; व्यगमन्—बीत गये; मही-पते—हे राजा; स-प्राणयोः—दोनों जीवित; चित्रम्—आश्चर्यजनक; अमंसत—विचार किया; अमराः—देवताओं ने।

हे राजा! इस तरह हाथी तथा घड़ियाल जल के बाहर तथा जल के भीतर एक दूसरे को घसीट कर एक हजार वर्षों तक लड़ते रहे। इस लड़ाई को देखकर देवतागण अत्यन्त चकित थे।

ततो गजेन्द्रस्य मनोबलौजसां
कालेन दीर्घेण महानभूद्व्ययः ।
विकृष्यमाणस्य जलेऽवसीदतो
विपर्ययोऽभूत्सकलं जलौकसः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; गज-इन्द्रस्य—हाथियों के राजा का; मनः—उत्साहबल का; बल—शारीरिक शक्ति; ओजसाम्—तथा इन्द्रियों का बल; कालेन—वर्षों से लड़ते रहने से; दीर्घेण—दीर्घकालीन; महान्—महान्; अभूत्—गई; व्ययः—चुक; विकृष्यमाणस्य—(घड़ियाल द्वारा) खींचा जाने वाला; जले—जल में; अवसीदतः—घट गई (मानसिक, शारीरिक तथा ऐन्द्रिय शक्ति); विपर्ययः—विपरीत; अभूत्—हो गया; सकलम्—सभी; जल-ओकसः—घड़ियाल, जिसका घर जल है।

तत्पश्चात् जल के भीतर खींचे जाने तथा दीर्घकाल तक लड़ते रहने के कारण हाथी की मानसिक, शारीरिक तथा ऐन्द्रिय शक्ति घटने लगी। इसके विपरीत जल का पशु होने के कारण घड़ियाल का उत्साह, उसकी शारीरिक शक्ति तथा ऐन्द्रिय शक्ति बढ़ती रही।

तात्पर्य : हाथी तथा घड़ियाल की लड़ाई में अन्तर यह था कि हाथी अत्यन्त शक्तिशाली होते हुए भी पराये स्थान अर्थात् जल में था। एक हजार वर्षों की लड़ाई के दौरान उसे कोई भोजन नहीं मिल पाया जिससे उसकी शारीरिक शक्ति क्षीण होने लगी। उसकी शारीरिक शक्ति क्षीण होने से मन भी कमजोर पड़ने लगा और उसकी इन्द्रियाँ शिथिल पड़ गईं। किन्तु घड़ियाल तो जल का प्राणी ठहरा। उसे किसी तरह की कठिनाई नहीं हुई। उसे भोजन प्राप्त होता रहा जिससे उसे मानसिक शक्ति तथा ऐन्द्रिय प्रोत्साहन मिल रहा था। इस प्रकार जहाँ हाथी का बल घटता गया वहाँ घड़ियाल अधिकाधिक बलशाली बनता गया। अब हम इससे यह शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं कि माया से लड़ाई लड़ने में हम ऐसी स्थिति में न पड़ें जिस से कि हमारा बल, उत्साह तथा इन्द्रियाँ शक्तिपूर्वक लड़ने में असमर्थ हो जाँए। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन ने सचमुच माया के विरुद्ध युद्ध ठान लिया है, जिसमें सारे जीव सभ्यता की झूठी मानसिकता लेकर सड़ रहे हैं। इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सिपाहियों में सदा शारीरिक शक्ति, उत्साह तथा ऐन्द्रिय शक्ति रहनी चाहिए। स्वस्थ रहने के लिए उन्हें अपने को सामान्य दशा में रखना चाहिए। सामान्य दशा हर एक के लिए एक सी नहीं होती; अतएव वर्णाश्रम विभाग बनाए गए हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। विशेषतया इस कलियुग में संन्यास लेने की सलाह नहीं दी जाती है—

अश्वमेधं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्।

देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत॥

(*ब्रह्मवैवर्त पुराण*)

इससे हम समझ सकते हैं कि इस युग में *संन्यास* आश्रम इसलिए वर्जित हैं क्योंकि लोग बलवान् नहीं हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने चौबीस वर्ष की आयु में संन्यास लेकर आदर्श प्रस्तुत किया है, लेकिन सार्वभौम भट्टाचार्य तक ने श्री चैतन्य महाप्रभु को सतर्क रहने की सलाह दी थी क्योंकि उन्होंने कम उम्र में संन्यास ले लिया था। हम प्रचार करने के लिए तरुण बालकों को संन्यास प्रदान करते हैं, किन्तु ऐसा अनुभव किया जा रहा है कि वे संन्यास ग्रहण करने के योग्य नहीं हैं। इसमें कोई हानि नहीं है यदि कोई यह सोचे कि वह संन्यास के योग्य नहीं है; किन्तु यदि वे काम-भोग से सदैव विचलित होते हों तो उन्हें ऐसे आश्रम में जाना चाहिए जिसमें काम-भोग की छूट हो अर्थात् वे गृहस्थ आश्रम में जाँए। यदि कोई एक स्थान में अशक्त जान पड़े तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह घड़ियाल रूपी माया से लड़ना बन्द कर दे। हमें कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए जैसाकि गजेन्द्र ने किया था। उसी के साथ वह गृहस्थ भी बना रह सकता है यदि वह काम-भोग में लिप्त रहने से संतुष्ट है। लड़ाई बन्द करने की आवश्यकता नहीं है। अतएव श्री चैतन्य महाप्रभुने संस्तुति की है—*स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिः।* कोई अपने अनुकूल किसी भी आश्रम में रह सकता है; संन्यास ग्रहण करना अनिवार्य नहीं है। यदि उसका मन काम-भोग से चलायमान रहता है, तो वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर सकता है। लेकिन उसे लड़ाई जारी रखनी चाहिए। जो दिव्य पद को प्राप्त नहीं है उसके लिए कृत्रिम रूप से संन्यास ग्रहण करना कोई श्रेय की बात नहीं है। यदि संन्यास उपयुक्त नहीं है, तो वह गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होकर माया के विरुद्ध बलपूर्वक लड़ सकता है। लेकिन उसे लड़ाई बन्द करके भागना नहीं चाहिए।

इत्थं गजेन्द्रः स यदाप सङ्कटं
प्राणस्य देही विवशो यदृच्छया ।
अपारयन्नात्मविमोक्षणे चिरं
दध्याविमां बुद्धिमथाभ्यपद्यत ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार से; गज-इन्द्रः—हाथियों के राजा ने; सः—उस; यदा—जब; आप—प्राप्त की; सङ्कटम्—ऐसी भयानक स्थिति; प्राणस्य—जीवन की; देही—देहधारी; विवशः—परिस्थितिवश असहाय; यदृच्छया—दैव की इच्छा से; अपारयन्—

असमर्थ होकर; आत्म-विमोक्षणे—अपनी रक्षा करने में; चिरम्—दीर्घकाल तक; दध्यौ—गम्भीरतापूर्वक सोचने लगा; इमाम्—यह; बुद्धिम्—निर्णय; अथ—तत्पश्चात्; अभ्यपद्यत—प्राप्त हुआ, पहुँचा।

जब गजेन्द्र ने देखा कि वह दैवी इच्छा से घड़ियाल के चंगुल में है और बंधन में फंसकर परिस्थितिवश असहाय है एवं अपने को संकट से नहीं उबार सकता तो वह मारे जाने से अत्यन्त भयभीत हो उठा। फलस्वरूप उसने दीर्घकाल तक सोचा और अन्ततोगत्वा वह इस निर्णय पर पहुँचा।

तात्पर्य : प्रत्येक प्राणी इस भौतिक जगत में जीवन-संघर्ष में लगा है। प्रत्येक प्राणी अपने को संकट से बचाना चाहता है, किन्तु जब वह अपने को नहीं बचा पाता और यदि वह पवित्र है, तो वह भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१६) में हुई है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जना: सुकृतिनोऽर्जुन।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

चार प्रकार के पवित्र व्यक्ति—जो संकट में हों, जिन्हें धन की आवश्यकता हो, जो ज्ञान की खोज में हों तथा जो जिज्ञासु हों—अपनी रक्षा के लिए या प्रगति करने के लिए भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं। गजेन्द्र ने इस संकट की घड़ी में भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने का निर्णय लिया। पर्याप्त विचार करने के बाद ही वह इस सही निर्णय पर पहुँचा था। ऐसा निर्णय पापी व्यक्ति नहीं ले पाता। अतएव *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जो पवित्र (सुकृती) हों वे यह निर्णय ले सकते हैं कि संकट या विषम परिस्थिति में मनुष्य को कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए।

न मामिमे ज्ञातय आतुरं गजा:
कुत: करिण्य: प्रभवन्ति मोचितुम् ।
ग्राहेण पाशेन विधातुरावृतो-
ऽप्यहं च तं यामि परं परायणम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; माम्—मुझको; इमे—ये सब; ज्ञातय:—मित्र तथा सम्बन्धी (अन्य हाथी); आतुरम्—मेरे दुख में; गजा:—हाथी; कुत:—कैसे; करिण्य:—मेरी पत्नियाँ; प्रभवन्ति—समर्थ हैं; मोचितुम्—(इस संकटमय स्थिति से) उद्धार करने में; ग्राहेण—घड़ियाल से; पाशेन—फन्दे से; विधातु:—भाग्य के; आवृत:—बन्दी; अपि—यद्यपि (मैं ऐसी स्थिति में हूँ); अहम्—मैं; च—भी; तम्—उस (भगवान्) की; यामि—शरण में जाता हूँ; परम्—जो दिव्य हैं; परायणम्—जो ब्रह्मा तथा शिव जैसे सम्मानित देवताओं की भी शरण हैं।

जब मेरे मित्र तथा अन्य सम्बन्धी हाथी मुझे इस संकट से नहीं उबार सके तो मेरी पत्नियों

का तो कहना ही क्या? वे कुछ नहीं कर सकतीं। यह दैवी इच्छा थी कि इस घड़ियाल ने मुझ पर आक्रमण किया है, अतएव मैं उन भगवान् की शरण में जाता हूँ जो हर एक को, यहाँ तक कि महापुरुषों को भी, सदैव शरण प्रदान करते हैं।

तात्पर्य : यह संसार *पदं पदं यद्विपदाम्* रूप में वर्णित है, जिसका अर्थ है कि इसमें पग-पग पर संकट है। मूर्ख झूठे ही सोचता है कि वह इस भौतिक जगत में सुखी है, लेकिन वास्तव में वह सुखी रहता नहीं क्योंकि जो ऐसा सोचता है, वह मोहग्रस्त है। इसमें पग-पग पर और हर क्षण संकट है। आधुनिक सभ्यता में मनुष्य सोचता है कि यदि उसके पास सुन्दर मकान और सुन्दर कार हो तो उसका जीवन पूर्ण है। पाश्चात्य जगत में, विशेषतया अमरीका में, अच्छी कार रखना उत्तम बात है, किन्तु ज्योंही वह सड़क पर कार चलाता है, तो उसे संकट बना रहता है क्योंकि वह किसी भी क्षण दुर्घटना में मर सकता है। आँकड़े बताते हैं कि ऐसी दुर्घटनाओं में अनेक लोग मरते रहते हैं। अतएव यदि हम वास्तव में यह सोचते हैं कि यह संसार अत्यन्त सुखमय स्थान है, तो यह हमारा अज्ञान है। असली ज्ञान यह है कि यह भौतिक जगत संकट से पूर्ण है। हम वहीं तक जीवन-संघर्ष कर सकते हैं जहाँ तक हमारी बुद्धि काम करती है और इस तरह अपनी सुरक्षा करने का प्रयास कर सकते हैं, किन्तु जब तक भगवान् कृष्ण हमें अन्ततः संकट से बचा नहीं लेते तब तक हमारे प्रयास व्यर्थ रहेंगे। अतएव प्रह्लाद महाराज कहते हैं (*भागवत* ७.९.१९)—

बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह

नार्तस्य चागदम् उदन्वति मज्जतो नौः।

तप्तस्य तत्प्रतिविधिर्य इहाञ्जसेष्टस्

तावद् विभो तनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम्॥

भले ही हम सुखी रहने या इस भौतिक जगत के संकटों का सामना करने के लिए कितने ही साधन क्यों न ढूँढ लें, किन्तु जब तक हमारे प्रयासों को भगवान् से पुष्टि नहीं मिल जाती, वे हमें कभी सुखी नहीं बना पाएँगे। जो लोग भगवान् की शरण लिए बिना सुखी रहने का प्रयास करते हैं, वे मूढ़ हैं। *न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।* अधम लोग कृष्णभावनामृत ग्रहण करने से मना कर देते हैं क्योंकि वे सोचते हैं कि कृष्ण की रक्षा के बिना ही वे अपनी रक्षा कर लेंगे। यह उनकी भूल है।

गजेन्द्र का निर्णय सही था। ऐसी संकटमय स्थिति में उसने भगवान् की शरण ग्रहण की।

यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात्
प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम् ।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भया
न्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यः—जो (भगवान्); कश्चन—कोई; ईशः—परमनियन्ता; बलिनः—अत्यन्त शक्तिशाली; अन्तक-उरगात्—मृत्यु लाने वाले काल रूपी विशाल सर्प से; प्रचण्ड-वेगात्—अत्यन्त भयानक बल से; अभिधावतः—पीछा करता हुआ; भृशम्—निरन्तर (हर घड़ी); भीतम्—मृत्यु से डरा हुआ; प्रपन्नम्—शरणागत (भगवान् के); परिपाति—रक्षा करता है; यत्-भयात्—जिस भगवान् के डर से; मृत्युः—साक्षात् मृत्यु; प्रधावति—भाग जाती है; अरणम्—हर एक के वास्तविक आश्रय; तम्—उसकी; ईमहि—मैं शरण लेता हूँ।.

भगवान् निश्चय ही हर एक को ज्ञात नहीं हैं, किन्तु वे हैं अत्यन्त शक्तिशाली तथा प्रभावशाली। अतएव यद्यपि काल रूपी सर्प प्रचण्ड वेग से निरन्तर मनुष्य का पीछा कर रहा है और उसे निगलने को उद्यत है, तथापि, यदि वह इस सर्प से डरकर भगवान् की शरण में जाता है, तो भगवान् उसे संरक्षण प्रदान करते हैं क्योंकि भगवान् के भय से मृत्यु भी भाग जाती है। अतएव मैं उनकी शरण ग्रहण करता हूँ जो महान् एवं शक्तिशाली परम सत्ता हैं और हर एक के वास्तविक आश्रय हैं।

तात्पर्य : जो बुद्धिमान् है, वह समझता है कि सबों के ऊपर एक महान् तथा परम सत्ता है। यह महान् सत्ता निर्दोष व्यक्तियों को उत्पातों से बचाने के लिए विभिन्न अवतारों में प्रकट होती है। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.) में पुष्टि हुई है— *परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*—भगवान् दो कारणों से—दुष्कृती का संहार करने तथा अपने भक्तों की रक्षा करने के उद्देश्य से विभिन्न अवतारों में प्रकट होते हैं। गजेन्द्र ने इनकी ही शरण में जाने का निर्णय लिया। यह बुद्धिमानी है। मनुष्य को उस महान् भगवान् को जानना चाहिए और अपने शरण ग्रहण करनी चाहिए। भगवान् प्रत्यक्ष रूप में हमें यह उपदेश देने आते हैं कि किस तरह सुखी रहा जाये। केवल मूर्ख तथा धूर्त ही बुद्धि होते हुए भी इस परम सत्ता—परम पुरुष—को नहीं देख पाते। *श्रुति मन्त्र* (*तैत्तिरीय उपनिषद्* २.) में कहा गया है—

भीषास्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः ।

भीषास्माद् अग्निश्चन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥

भगवान् के भय से ही वायु बहती है, सूर्य उष्मा तथा प्रकाश का वितरण करता है और मृत्यु हर एक का पीछा करती है। इस प्रकार एक परमनियन्ता है, जैसाकि *भगवद्गीता* से (९.१०) पुष्टि होती है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।* यह भौतिक जगत परमनियन्ता के कारण ही इतनी अच्छी तरह कार्य करता है। अतएव कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति समझ सकता है कि किसी परमनियन्ता का अस्तित्व है। यही नहीं, यह परमनियन्ता साक्षात् कृष्ण के रूप में, चैतन्य महाप्रभु के रूप में तथा भगवान् रामचन्द्र के रूप में उपदेश देने तथा अपने उदाहरण से भगवान् की शरण में जाने की विधि बताने के लिए प्रकट होते हैं। फिर भी जो लोग अधम हैं (दुष्कृती) वे उनकी शरण में नहीं जाते (*न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः*)।

भगवद्गीता में भगवान् स्पष्ट कहते हैं—*मृत्युः सर्व हरश्चाहम्*—"मैं सर्वभक्षी मृत्यु हूँ।" अतः मृत्यु वह प्रतिनिधि है, जो प्रत्येक देहधारी जीव से सब कुछ छीन लेती है। कोई यह नहीं कह सकता "मैं मृत्यु से नहीं डरता।" यह झूठी धारणा है। हर व्यक्ति मृत्यु से डरता है। किन्तु जो भगवान् की शरण ग्रहण करता है, वह मृत्यु से बच सकता है। कोई यह तर्क कर सकता है "क्या भक्त नहीं मरता?" इसका उत्तर यह है कि निश्चित रूप से उसे शरीर त्यागना होगा क्योंकि शरीर भौतिक है। किन्तु अन्तर इतना ही है कि जो कृष्ण की पूर्ण शरण में जाता है और कृष्ण द्वारा रक्षित होता है, उसका वर्तमान शरीर अन्तिम शरीर होता है, उसे फिर से भौतिक शरीर धारण करके मृत्यु के अधीन नहीं होना होता। *भगवद्गीता* (४.९) में इसका आश्वासन दिया गया है—*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन*—भक्त अपना शरीर त्यागने के बाद भौतिक शरीर नहीं पाता अपितु वह भगवद्धाम वापस जाता है। हम सदा संकट में रहते हैं क्योंकि किसी भी क्षण मृत्यु हो सकती है। ऐसा नहीं है कि गजेन्द्र ही मृत्यु से भयभीत था। हरएक को मृत्यु से डरना चाहिए क्योंकि हरएक व्यक्ति काल-रूपी घड़ियाल द्वारा पकड़ा जाता है और किसी भी क्षण मर सकता है। अतएव सर्वोत्तम मार्ग यही है कि भगवान् श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करने का प्रयास किया जाये और इस संसार के जीवन-संघर्ष से बचा जाये जिसमें मनुष्य को बारम्बार जन्म लेना और मरना पड़ता है। इसी ज्ञान तक पहुँचना जीवन का चरम लक्ष्य है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के आठवें स्कंध के अन्तर्गत "गजेन्द्र पर संकट" नामक दूसरे अध्याय

के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तीन

गजेन्द्र की समर्पण-स्तुति

इस अध्याय में गजेन्द्र की स्तुतियों का वर्णन हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि गजेन्द्र पूर्वजन्म में इन्द्रद्युम्न नामक मनुष्य था जिसने परमेश्वर की एक स्तुति सीखी हुई थी। सौभाग्यवश उसे वह स्तुति स्मरण हो आई और वह मन ही मन उसका जप करने लगा। सर्वप्रथम उसने भगवान् को नमस्कार किया। किन्तु घड़ियाल द्वारा आक्रमण के फलस्वरूप अपनी विषम स्थिति के कारण ठीक से स्तुति न कर सकने के लिए उसने अपनी असमर्थता व्यक्त की। फिर भी उसने मंत्र का जप करने का प्रयास किया और निम्नलिखित उचित शब्दों में अपनी बात कह सुनाई।

भगवान् समस्त कारणों के कारण हैं। वे आदि पुरुष हैं जिनसे प्रत्येक वस्तु पैदा हुई है। वे इस विराट जगत के मूल कारण हैं और सारा विश्व उन्हीं पर टिका है; तो भी वे दिव्य हैं क्योंकि वे सभी इस जगत में अपनी बहिरंगा शक्ति से ही कार्य करते हैं। वे अध्यात्मजगत—वैकुण्ठ या गोलोक वृन्दावन—में सदैव स्थित रहते हैं जहाँ वे अपनी नित्य लीलाओं में मग्न रहते हैं। यह भौतिक जगत उनकी बहिरंगा शक्ति या भौतिक प्रकृति का प्रतिफल है, जो उनके निर्देशन में कार्य करती है। इसी कारण से सृजन, पालन तथा संहार होता रहता है। भगवान् सदा विद्यमान रहते हैं। अभक्त के लिए इसे समझ पाना दुरूह है। यद्यपि दिव्य भगवान् सबों के लिए अनुभवगम्य हैं, किन्तु केवल शुद्ध भक्त ही उनकी उपस्थिति तथा कार्यकलापों का अनुभव कर पाते हैं। वे जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से सर्वथा मुक्त हैं। निस्सन्देह, यदि कोई इस जगत में उनकी शरण ग्रहण करता है, तो वह भी उस दिव्य पद को प्राप्त होता है। भगवान् भक्तों के सन्तोष के लिए (*परित्राणाय साधूनाम्*) प्रकट होते हैं और अपने कार्यकलापों का प्राकट्य करते हैं। उनका प्राकट्य, तिरोधान तथा उनकी अन्य लीलाएँ तनिक भी भौतिक नहीं होतीं। जो भी इस रहस्य को जानता है, वह भगवद्धाम में प्रवेश कर सकता है। भगवान् में सारे प्रतिकूल तत्त्वों का समंजन होता है। वे प्रत्येक हृदय में स्थित रहते हैं। वे हर वस्तु के नियामक हैं, सारे कार्यों के साक्षी हैं और समस्त जीवों के आदि स्रोत हैं। निस्सन्देह, सारे जीव उनके अंश हैं

क्योंकि वे महाविष्णु के उद्गम हैं, जो इस संसार में रहने वाले सारे जीवों के स्रोत हैं। भगवान् हमारी इन्द्रियों के कार्यों का अवलोकन कर सकते हैं क्योंकि भगवान् की कृपा से ही वे कार्य कर सकती हैं और भौतिक फल प्राप्त करती हैं। यद्यपि वे प्रत्येक वस्तु के आदि स्रोत हैं, किन्तु उनका कोई भी उपजात द्रव्य उनका स्पर्श नहीं कर पाता। इस प्रकार वे उस सोने की खान के समान हैं, जो आभूषणों के स्वर्ण का उद्गम तो है, किन्तु आभूषणों से सर्वथा भिन्न है। भगवान् की पूजा *पंचरात्र* में बताई विधि से की जाती है। वे हमारे ज्ञान के उद्गम हैं और हमें मुक्ति प्रदान करने वाले हैं। अतएव हमारा कर्तव्य है कि हम भक्तों के उपदेशों के अनुसार, विशेषतया गुरु के उपदेश के अनुसार, उन्हें समझें। यद्यपि हमसे सतोगुण प्रच्छन्न रहता है, किन्तु सन्त पुरुषों तथा गुरु के उपदेशों का पालन करने से हम भवबन्धन से मुक्त हो सकते हैं।

''अभक्त भगवान् के आत्म-प्रकाशित भौतिक स्वरूप की आराधना करते हैं, ज्ञानी लोग उनके निर्विशेष रूप की आराधना करते हैं और योगीजन उनके अन्तर्यामी परमात्मा रूप की प्रशंसा करते हैं। किन्तु पुरुष के रूप में उनके आदि स्वरूप को केवल भक्त ही समझ पाते हैं। भगवान् बद्धजीवों के अंधकार को *भगवद्गीता* में दिये गये अपने उपदेशों द्वारा दूर करने में समर्थ हैं। वे दिव्य गुणों के सागर हैं और देहात्मबुद्धि से मुक्त हुए पुरुषों द्वारा ही समझे जा सकते हैं। वे अपनी अहैतुकी कृपा से बद्धजीव को भवबन्धन से छुड़ाकर भगवद्धाम वापस भेज सकते हैं और अपना निजी पार्षद बना सकते हैं। फिर भी शुद्ध भक्त भगवद्धाम वापस जाने की इच्छा नहीं रखता; वह तो इसी जगत में सेवा करके ही प्रसन्न रहता है। वह भगवान् से किसी वस्तु की याचना नहीं करता। उसकी एकमात्र प्रार्थना यही रहती है कि वह देहात्मबुद्धि से छूटकर भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा रहे।''

इस प्रकार गजेन्द्र ने सीधे भगवान् की स्तुति की और उसे उनमें किसी देवता का भ्रम नहीं हुआ। उसे देखने कोई भी देवता नहीं आये, यहाँ तक कि ब्रह्मा या शिव भी नहीं; प्रत्युत गरुड़ पर आसीन साक्षात् भगवान् नारायण उसके समक्ष प्रकट हुए। गजेन्द्र ने अपनी सूँड़ उठाकर उनका अभिवादन किया और भगवान् ने तुरन्त ही घड़ियाल समेत जिसने उसका पाँव पकड़ रखा था उसे जल के बाहर निकाल लिया। तब भगवान् ने उस घड़ियाल को मार डाला और इस तरह गजेन्द्र की रक्षा की।

श्रीबादरायणिरुवाच

एवं व्यवसितो बुद्ध्या समाधाय मनो हृदि ।
जजाप परमं जाप्यं प्राग्जन्मन्यनुशिक्षितम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; व्यवसितः—स्थिर; बुद्ध्या—बुद्धि से; समाधाय—केन्द्रित करने के लिए; मनः—मन को; हृदि—हृदय में या चेतना में; जजाप—जप किया; परमम्—परम; जाप्यम्—उस मंत्र को जिसे उसने महान् भक्तों से सीखा था; प्राक्-जन्मनि—पूर्वजन्म में; अनुशिक्षितम्—अभ्यास किया हुआ।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : तत्पश्चात् गजेन्द्र ने अपना मन पूर्ण बुद्धि के साथ अपने हृदय में स्थिर कर लिया और उस मंत्र का जप प्रारम्भ किया जिसे उसने इन्द्रद्युम्न के रूप में अपने पूर्वजन्म में सीखा था और जो कृष्ण की कृपा से उसे स्मरण था।

तात्पर्य : ऐसे स्मरण का वर्णन *भगवद्गीता* (६.४३-४४) में इस प्रकार हुआ है—

तत्र तं बुद्धि संयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।

यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः

इन श्लोकों में यह विश्वास दिलाया गया है कि यदि भक्ति में लगा हुआ व्यक्ति नीचे गिर भी जाता है, तो वह पतित नहीं होता, अपितु उसे ऐसे पद पर रखा जाता है, जिससे वह कालक्रम में भगवान् को स्मरण करेगा। जैसाकि बाद में बताया जायेगा, गजेन्द्र पहले इन्द्रद्युम्न नामक राजा था, किन्तु किन्हीं कारणों से वह अगले जन्म में गजेन्द्र बना। अब गजेन्द्र संकट में था और यद्यपि उसका शरीर मनुष्य से भिन्न था, किन्तु उसे वह स्तोत्र स्मरण था जिसे वह पूर्वजन्म में जपा करता था। *यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।* मनुष्य को सिद्धि प्राप्त करने में समर्थ होने के लिए कृष्ण उसे फिर से अपना स्मरण कराने का अवसर प्रदान करते हैं। यहाँ यह सिद्ध हो जाता है क्योंकि यद्यपि गजेन्द्र संकट में पड़ गया था, किन्तु यह उसके लिए अवसर था कि वह अपने पूर्व भक्तिकार्यों को स्मरण करे जिससे वह तुरन्त भगवान् द्वारा उबारा जा सके।

इससे यह अनिवार्य हो जाता है कि कृष्णभावनामृत के सारे भक्त किसी मंत्र का जप करने का अभ्यास करें। निश्चय ही, मनुष्य को हरे कृष्ण मंत्र का जप करना चाहिए क्योंकि यह महामंत्र है। मनुष्य को चाहिए कि वह *चिन्तामणि प्रकर सद्मसु* या नृसिंह स्तोत्र (*इतो नृसिंहः परतो नृसिंहो यतो यतो यामि ततो नृसिंहः*) के जाप का अभ्यास करे। प्रत्येक भक्त को किसी न किसी मंत्र के पूर्णरूपेण

जप का अभ्यास करना चाहिए जिससे भले ही वह इस जीवन में पूर्ण आध्यात्मिक चेतना न प्राप्त कर सके, किन्तु अगले जीवन में वह पशु होने पर भी कृष्णभावनामृत को न भूल सकेगा। निस्सन्देह, भक्त को प्रयास करना चाहिए कि वह इसी जीवन में कृष्णभावनामृत को पूर्ण कर ले क्योंकि कृष्ण तथा उनके उपदेशों को समझ लेने मात्र से ही मनुष्य शरीर छोड़ने पर भगवद्धाम को वापस जा सकता है। यदि किसी का पतन भी हो तो भी कृष्णभावनामृत का अभ्यास व्यर्थ नहीं जाता। उदाहरणार्थ, अजामिल ने बचपन में अपने पिता के निर्देशन में नारायण जप का अभ्यास किया था, किन्तु बाद में अपनी युवावस्था में उसका पतन हो गया—वह शराबी, स्त्रीगामी, चोर तथा उचक्का बन गया। यद्यपि उसने अपने पुत्र नारायण को बुलाने के लिए नारायण के नाम का उच्चारण किया था फिर भी पापकर्मों में लिप्त होकर भी वह उन्नति कर गया। अतएव हमें किसी भी परिस्थिति में हरे कृष्ण मंत्र का जप करना नहीं भूलना चाहिए। इससे हमें बड़े से बड़े संकट में सहायता मिलेगी जैसाकि हम गजेन्द्र के जीवन में पाते हैं।

श्रीगजेन्द्र उवाच

ॐ नमो भगवते तस्मै यत एतच्चिदात्मकम् ।
पुरुषायादिबीजाय परेशायाभिधीमहि ॥ २॥

शब्दार्थ

श्री-गजेन्द्रः उवाच—गजेन्द्र ने कहा; ॐ—हे भगवान्; नमः—मैं सादर नमस्कार करता हूँ; भगवते—भगवान् को; तस्मै—उस; यतः—जिनसे; एतत्—यह शरीर तथा भौतिक जगत; चित्-आत्मकम्—चेतना (आत्मा) के कारण गतिशील; पुरुषाय—परम पुरुष को; आदि-बीजाय—जो उद्गम या प्रत्येक वस्तु के मूल कारण हैं, उन्हें; पर-ईशाय—परम, दिव्य तथा पूज्य; अभिधीमहि—उनका ध्यान करता हूँ।

गजेन्द्र ने कहा : मैं परम पुरुष वासुदेव को सादर नमस्कार करता हूँ (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय)। उन्हीं के कारण यह शरीर आत्मा की उपस्थिति के कारण कर्म करता है; अतएव वे प्रत्येक जीव के मूल कारण हैं। वे ब्रह्मा तथा शिव जैसे महापुरुषों के लिए पूजनीय हैं और वे प्रत्येक जीव के हृदय में प्रविष्ट हैं। मैं उनका ध्यान करता हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक में *एतच्चिदात्मकम्* पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भौतिक शरीर निश्चय ही भौतिक तत्त्वों से बना हुआ है, किन्तु जब कृष्णभावनामृत का ज्ञान हो जाता है, तो यह शरीर भौतिक न रहकर आध्यात्मिक बन जाता है। भौतिक शरीर इन्द्रियभोग के लिए है, किन्तु आध्यात्मिक शरीर भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा रहता है। अतएव जो भक्त भगवान् की सेवा में लगकर निरन्तर

उन्हीं का चिन्तन करता रहता है उसके शरीर को कभी भी भौतिक नहीं मानना चाहिए। इसीलिए आदेश दिया गया है *गुरुषु नरमतिः*—गुरु को कभी भी भौतिक शरीरधारी सामान्य मनुष्य नहीं समझना चाहिए। *अर्च्ये विष्णौ शिलाधीः*—प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि मन्दिर का अर्चाविग्रह पत्थर का बना होता है, किन्तु यह सोचना अपराध है कि अर्चाविग्रह मात्र पत्थर है। इसी प्रकार गुरु के शरीर को भौतिक अवयवों से बना सोचना अपराध है। नास्तिक लोग सोचते हैं कि भक्तगण मूर्खतावश पत्थर की मूर्ति की पूजा ईश्वर के रूप में करते हैं और एक सामान्य पुरुष की गुरु के रूप में। किन्तु तथ्य यह है कि कृष्ण की सर्वशक्तिमानता से अर्चाविग्रह की तथाकथित पत्थर-मूर्ति प्रत्यक्ष भगवान् होती है और गुरु का शरीर प्रत्यक्ष आध्यात्मिक होता है। ऐसे शुद्ध भक्त को, जो अनन्य भक्ति में लगा रहता है, दिव्यपद पर स्थित मानना चाहिए (*स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते*)। अतएव हमें चाहिए कि भगवान् को सादर नमस्कार करें जिनकी कृपा से तथाकथित भौतिक वस्तुएँ भी आध्यात्मिक कार्य में लग जाने पर आध्यात्मिक बन जाती हैं।

ओङ्कार (प्रणव) भगवान् की प्रतीकात्मक ध्वनि-अभिव्यक्ति है। *ॐ तत्सद् इति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः*—*ॐ तत् सत्* ये तीन शब्द तुरन्त परम पुरुष का आह्वान करते हैं। अतएव कृष्ण कहते हैं कि वे सभी मंत्रों में ओङ्कार हैं (*प्रणवः सर्ववेदेषु*)। सारे वैदिक मंत्रों का उच्चारण तुरन्त भगवान् को इंगित करने के लिए ओङ्कार से प्रारम्भ होता है। उदाहरणार्थ, *श्रीमद्भागवत* का शुभारम्भ *ॐ नमो भगवते वासुदेवाय* से होता है। भगवान् वासुदेव एवं ओङ्कार (प्रणव) में कोई अन्तर नहीं है। हमें यह समझने में सतर्क रहना चाहिए कि ओङ्कार किसी निराकार का सूचक नहीं है। निस्सन्देह, इस श्लोक में तुरन्त *ॐ नमो भगवते* आया है। भगवान् एक व्यक्ति हैं। इस तरह ओङ्कार परम पुरुष का स्वरूप है। ओङ्कार का अर्थ निराकार नहीं होता जैसाकि मायावादी चिन्तक मानते हैं। *पुरुषाय* शब्द से यहाँ यह स्पष्ट रूप से व्यक्त है। ओङ्कार से सम्बोधित परम सत्य परम पुरुष है; वह निराकार नहीं है। यदि वह पुरुष न होता तो वह इस ब्रह्माण्ड का इतना बड़ा अग्रणी नियामक कैसे बनता? यद्यपि ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु इस ब्रह्माण्ड के परम नियन्ता हैं, किन्तु भगवान् विष्णु को शिव तथा ब्रह्मा भी नमस्कार करते हैं। इसीलिए इस श्लोक में *परेशाय* शब्द व्यवहृत हुआ है, जो यह सूचित करता है कि भगवान् बड़े-बड़े देवताओं द्वारा भी आराध्य हैं। *परेशाय* का अर्थ है *परमेश्वर*। ब्रह्मा तथा शिव ईश्वर या

महान् नियन्ता हैं, किन्तु भगवान् विष्णु परमेश्वर अर्थात् परम नियन्ता हैं।

यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम् ।
योऽस्मात्परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयम्भुवम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिस मूल पद पर; इदम्—यह ब्रह्माण्ड टिका है; यतः—जिन अवयवों से; च—तथा; इदम्—यह विराट विश्व बना है; येन—जिसके द्वारा; इदम्—यह विराट विश्व रचित तथा पालित है; यः—जो; इदम्—यह भौतिक जगत है; स्वयम्—स्वयं; यः—जो; अस्मात्—इस भौतिक जगत (फल) से; परस्मात्—कारण से; च—तथा; परः—दिव्य या भिन्न; तम्—उस; प्रपद्ये—शरण में जाता हूँ; स्वयम्भुवम्—आत्म-निर्भर की।

भगवान् ही वह परम पद है, जिस पर प्रत्येक वस्तु टिकी हुई है; वे वह अवयव हैं जिससे प्रत्येक वस्तु उत्पन्न हुई है तथा वे वह पुरुष हैं जिसने सृष्टि की रचना की और जो इस विराट विश्व के एकमात्र कारण हैं। फिर भी वे कारण-कार्य से पृथक् हैं। मैं उन भगवान् की शरण ग्रहण करता हूँ जो सभी प्रकार से आत्म-निर्भर हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.४) में भगवान् कहते हैं—*मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना*—मैं भगवान् हूँ, किन्तु सभी कुछ मेरी शक्ति पर निर्भर है, जिस प्रकार मिट्टी का पात्र मिट्टी पर निर्भर रहता है।'' जिस स्थान पर मिट्टी का पात्र टिका रहता है, वह भी मिट्टी है। यह मिट्टी का पात्र कुम्हार द्वारा बनाया जाता है, जिसका शरीर मिट्टी का बना होता है। कुम्हार का चाक, जिससे मिट्टी का पात्र बनता है, मिट्टी का अंश होता है और जिन अवयवों से पात्र बना रहता है वे भी मिट्टी के होते हैं। जैसी कि *श्रुतिमन्त्र* से पुष्टि होती है—*यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।* प्रत्येक वस्तु का मूल कारण भगवान् है और संहार होने पर प्रत्येक वस्तु उन्हीं में प्रविष्ट होती है (*प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्*) इस तरह परमेश्वर—भगवान् रामचन्द्र या भगवान् कृष्ण—हर वस्तु के मूल कारण हैं—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

''गोविन्द नाम से प्रसिद्ध कृष्ण परमनियन्ता हैं। उनका शरीर नित्य, आनन्दमय तथा आध्यात्मिक है। वे सबों के उद्गम हैं। उनका कोई अन्य उद्गम नहीं है क्योंकि वे समस्त कारणों के मूल कारण हैं (*ब्रह्मसंहिता* ५.१)।'' भगवान् हर वस्तु के कारण हैं, किन्तु उनका कोई कारण नहीं है। *सर्वं खल्विदं*

ब्रह्म। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः। यद्यपि भगवान् सब कुछ हैं, किन्तु उनका व्यक्तित्व विराट विश्व से पृथक् है।

यः स्वात्मनीदं निजमाययार्पितं
क्वचिद्विभातं क्व च तत्तिरोहितम् ।
अविद्धदृक्साक्ष्युभयं तदीक्षते
स आत्ममूलोऽवतु मां परात्परः ॥ ४॥

शब्दार्थ

यः—जो भगवान्; स्व-आत्मनि—अपने में; इदम्—इस विराट जगत को; निज-मायया—अपनी निजी शक्ति से; अर्पितम्—लगा हुआ; क्वचित्—कभी-कभी, कल्प के प्रारम्भ में; विभातम्—प्रकट होता है; क्व च—कभी-कभी, प्रलय के समय; तत्—वह (जगत); तिरोहितम्—अदृश्य; अविद्ध-दृक्—वह सब कुछ देखता है (इन सभी परिस्थितियों में); साक्षी—गवाह; उभयम्—दोनों (उत्पत्ति तथा प्रलय); तत् ईक्षते—दृष्टि की हानि के बिना सब कुछ देखता है; सः—वह भगवान्; आत्म-मूलः—आत्मनिर्भर, अन्य कारण न होने पर; अवतु—कृपया हमें संरक्षण दें; माम्—मुझको; परात्-परः—दिव्य से भी दिव्य, समस्त अध्यात्म से परे।

भगवान् अपनी शक्ति के विस्तार द्वारा कभी इस दृश्य जगत को व्यक्त बनाते हैं और कभी इसे अव्यक्त बना देते हैं। वे सभी परिस्थितियों में परम कारण तथा परम कार्य (फल), प्रेक्षक तथा साक्षी दोनों हैं। इस प्रकार वे सभी वस्तुओं से परे हैं। ऐसे भगवान् मेरी रक्षा करें।

तात्पर्य : भगवान् की शक्तियाँ अनेक हैं (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*)। अतएव जब भी वे चाहते हैं अपनी किसी एक शक्ति का उपयोग करते हैं और इस तरह विस्तार करके इस दृश्य जगत की सृष्टि करते हैं। पुनः जब यह दृश्य जगत विनष्ट होता है, तो यह उन्हीं में आश्रय पाता है। फिर भी वे अच्युत परम प्रेक्षक हैं। वे किसी भी परिस्थिति में परिवर्तनरहित रहते हैं। वे मात्र साक्षी के रूप में सारी सृष्टि तथा संहार से पृथक् रहते हैं।

कालेन पञ्चत्वमितेषु कृत्स्नशो
लोकेषु पालेषु च सर्वहेतुषु ।
तमस्तदासीद्गहनं गभीरं
यस्तस्य पारेऽभिविराजते विभुः ॥ ५॥

शब्दार्थ

कालेन—कालान्तर में (लाखों वर्ष बाद); पञ्चत्वम्—जब प्रत्येक मायावी वस्तु विनष्ट हो जाती है; इतेषु—सारे विकार; कृत्स्नशः—इस दृश्य जगत के भीतर की प्रत्येक वस्तु सहित; लोकेषु—सारे लोकों में, या इनमें स्थित हर वस्तु में; पालेषु—ब्रह्मा जैसे पालनकर्ताओं में; च—भी; सर्व-हेतुषु—सारे कारणों में; तमः—महान् अंधकार; तदा—तब; आसीत्—था; गहनम्—अत्यन्त घना; गभीरम्—अत्यन्त गहरा; यः—जो भगवान्; तस्य—इस अंधकारपूर्ण स्थिति के; पारे—इसके अतिरिक्त; अभिविराजते—स्थित है या चमकता है; विभुः—परमेश्वर।

कालक्रम से जब लोकों तथा उनके निदेशकों एवं पालकों समेत ब्रह्माण्ड के सारे कार्य-कारणों का संहार हो जाता है, तो गहन अंधकार की स्थिति आती है। किन्तु इस अंधकार के ऊपर भगवान् रहता है। मैं उनके चरणकमलों की शरण ग्रहण करता हूँ।

तात्पर्य : वैदिक मंत्रों से हमें पता चलता है कि भगवान् सबों के ऊपर हैं। वे ब्रह्मा तथा शिव समेत समस्त देवताओं से ऊपर सर्वश्रेष्ठ हैं। वे परम नियन्ता हैं। जब उनकी शक्ति से हर वस्तु अदृश्य हो जाती है, तो विराट जगत में घना अंधकार छा जाता है। किन्तु भगवान् सूर्य-प्रकाश हैं जैसी कि वैदिक मंत्रों में पुष्टि हुई है—*आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।* हमारा दैनिक अनुभव है कि जब हम इस धरती पर रात्रि के अंधकार में होते हैं, तो सूर्य आकाश में कहीं न कहीं सदैव चमकता रहता है। इसी प्रकार भगवान् परम सूर्य की भाँति सदैव चमकते रहते हैं, तब भी जब कालक्रम से समग्र विराट जगत विनष्ट हो जाता है।

न यस्य देवा ऋषयः पदं विदु-
र्जन्तुः पुनः कोऽर्हति गन्तुमीरितुम् ।
यथा नटस्याकृतिभिर्विचेष्टतो
दुरत्ययानुक्रमणः स मावतु ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

न—न तो; यस्य—जिसका; देवाः—देवतागण; ऋषयः—बड़े-बड़े मुनि; पदम्—पद; विदुः—समझ सकते हैं; जन्तुः—पशुओं के समान बुद्धिहीन जीव; पुनः—फिर; कः—कौन; अर्हति—समर्थ है; गन्तुम्—ज्ञान में प्रवेश करने में; ईरितुम्—अथवा शब्दों द्वारा व्यक्त करने में; यथा—जिस प्रकार; नटस्य—कलाकार के; आकृतिभिः—शारीरिक स्वरूप से; विचेष्टतः—विभिन्न प्रकार से नाचते हुए; दुरत्यय—अत्यन्त कठिन; अनुक्रमणः—उसकी गतियाँ; सः—वही भगवान्; मा—मुझको; अवतु—संरक्षण प्रदान करें।

आकर्षक वेशभूषा से ढके रहने तथा विभिन्न प्रकार की गतियों से नाचने के कारण रंगमंच के कलाकार को श्रोता समझ नहीं पाते। इसी प्रकार परम कलाकार के कार्यों तथा स्वरूपों को बड़े-बड़े मुनि या देवतागण भी नहीं समझ पाते और बुद्धिहीन तो तनिक भी नहीं (जो पशुओं के तुल्य हैं)। न तो देवता तथा मुनि, न ही बुद्धिहीन मनुष्य भगवान् के स्वरूप को समझ सकते हैं और न ही वे उनकी वास्तविक स्थिति को अभिव्यक्त कर सकते हैं। ऐसे भगवान् मेरी रक्षा करें।

तात्पर्य : ऐसी ही बात कुन्ती देवी ने अभिव्यक्त की थी। भगवान् सर्वत्र भीतर-बाहर विद्यमान हैं,

यहाँ तक कि वे हृदय के भीतर भी विद्यमान रहते हैं। *सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो। ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।* इस प्रकार यह सूचित किया गया है कि भगवान् को प्रत्येक हृदय में ढूँढा जा सकता है। अनेकानेक योगी उन्हें पाने का प्रयत्न करते हैं। *ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिन:।* फिर भी बड़े-बड़े योगी, देवता, सन्त तथा मुनि न तो उस महान् कलाकार (नट) के स्वरूप को समझ पाये, न ही वे उनकी गतियों का अर्थ समझ पाये। तो फिर इस जगत के सामान्य चिन्तकों, यथा तथाकथित दार्शनिकों के विषय में क्या कहा जा सकता है? उनके लिए उन्हें समझ पाना असम्भव है। उनके लिए उन्हीं कथनों को स्वीकार करना चाहिए जिनका उपदेश वे हमारे बीच कृपा करके अवतरित होकर देते हैं। हमें भगवान् रामचन्द्र, भगवान् कृष्ण तथा भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के वचनों को स्वीकार मात्र करना चाहिए और उनके पदचिह्नों पर चलना चाहिए। तभी उनके अवतारों के प्रयोजन को जाना जा सकता है।

जन्म कर्म च मे दिव्यम् एवं यो वेत्ति तत्त्वत:।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।

(*भगवद्गीता ४.९*)

यदि भगवत्कृपा से उन्हें कोई जान लेता है, तो उसका इसी शरीर में भी तुरन्त उद्धार हो जाएगा। तब भौतिक शरीर का कोई कार्य नहीं रह जाता। फिर शरीर जितने भी कार्य करेगा वे कृष्णभावनामृत के कार्यकलाप होंगे। इस प्रकार मनुष्य अपना शरीर त्यागकर भगवद्धाम वापस जा सकता है।

दिदृक्षवो यस्य पदं सुमङ्गलं
विमुक्तसङ्गा मुनयः सुसाधवः ।
चरन्त्यलोकव्रतमव्रणं वने
भूतात्मभूताः सुहृदः स मे गतिः ॥ ७॥

शब्दार्थ

दिदृक्षवः—(भगवान् को) देखने के इच्छुक; यस्य—जिसके; पदम्—चरणकमल; सु-मङ्गलम्—कल्याणप्रद; विमुक्त-सङ्गाः—भौतिक दशाओं से पूरी तरह मुक्त; मुनयः—मुनिगण; सु-साधवः—आध्यात्मिक चेतना में बढ़े-चढ़े; चरन्ति—अभ्यास करते हैं; अलोक-व्रतम्—ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ या संन्यास के व्रत; अव्रणम्—बिना किसी त्रुटि के; वने—वन में; भूत-आत्म-भूताः—जो समस्त जीवों के प्रति समान भाव रखते हैं; सुहृदः—जो सबों के मित्र हैं; सः—वही भगवान्; मे—मेरा; गतिः—गन्तव्य।

जो सभी जीवों को समभाव से देखते हैं, जो सबों के मित्रवत् हैं तथा जो जंगल में ब्रह्मचर्य,

वानप्रस्थ तथा संन्यास व्रत का बिना त्रुटि के अभ्यास करते हैं, ऐसे विमुक्त तथा मुनिगण भगवान् के कल्याणप्रद चरणकमलों का दर्शन पाने के इच्छुक रहते हैं। वही भगवान् मेरे गन्तव्य हों।

तात्पर्य : इस श्लोक में भक्तों या उच्च आध्यात्मिक चेतना वाले व्यक्तियों के गुणों का वर्णन है। भक्त सबों पर समान दृष्टि रखते हैं; वे उच्च तथा निम्न जातियों में कोई अन्तर नहीं देखते। *पण्डिता: समदर्शिन: ।* वे हर एक को आत्मा के रूप में देखते हैं, जो भगवान् का अंश होता है। इस प्रकार वे भगवान् की खोज करने के पात्र होते हैं। यह समझते हुए कि भगवान् हर एक के मित्र हैं (*सुहृदं सर्वभूतानाम्*) वे भगवान् की ओर से हर एक से मित्रवत् व्यवहार करते हैं। वे राष्ट्रों या जातियों में भेदभाव न बरतते हुए सर्वत्र कृष्णभावनामृत अर्थात् *भगवद्गीता* के आदेशों का उपदेश देते हैं। इस प्रकार वे भगवान् के चरणकमलों का दर्शन पाने के पात्र होते हैं। कृष्णभावनामृत में ऐसे उपदेशकों को *परमहंस* कहा जाता है। जैसाकि *विमुक्तसङ्ग* शब्द से सूचित होता है, उन्हें भौतिक परिस्थितियों से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् का दर्शन करने के लिए वह ऐसे भक्त की शरण में जाये।

न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा
न नामरूपे गुणदोष एव वा ।
तथापि लोकाप्ययसम्भवाय य:
स्वमायया तान्यनुकालमृच्छति ॥ ॥
तस्मै नम: परेशाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।
अरूपायोरुरूपाय नम आश्चर्यकर्मणे ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; विद्यते—विद्यमान है; यस्य—जिसका (भगवान् का); च—भी; जन्म—जन्म; कर्म—कर्म; वा—अथवा; न—न तो; नाम-रूपे—कोई नाम या भौतिक स्वरूप; गुण—गुण; दोष:—त्रुटि; एव—निश्चय ही; वा—अथवा; तथापि—फिर भी; लोक—इस दृश्य जगत का; अप्यय—विनाश; सम्भवाय—तथा सृष्टि; य:—जो; स्व-मायया—अपनी निजी शक्ति से; तानि—कार्यों को; अनुकालम्—शाश्वत रीति से; ऋच्छति—स्वीकार करता है; तस्मै—उसको; नम:—नमस्कार करता हूँ; पर—दिव्य; ईशाय—परमनियन्ता को; ब्रह्मणे—परब्रह्म को; अनन्त-शक्तये—असीमित शक्ति से; अरूपाय—निराकार; उरु-रूपाय—अवतारों के विविध रूपों वाला; नम:—नमस्कार करता हूँ; आश्चर्य-कर्मणे—जिनके कार्य अद्भुत होते हैं।

भगवान् भौतिक जन्म, कार्य, नाम, रूप, गुण या दोष से रहित हैं। यह भौतिक जगत जिस अभिप्राय से सृजित और विनष्ट होता रहता है उसकी पूर्ति के लिए वे अपनी मूल अन्तरंगा शक्ति

द्वारा रामचन्द्र या भगवान् कृष्ण जैसे मानववत् रूप में आते हैं। उनकी शक्ति महान् है और वे विभिन्न रूपों में भौतिक कल्मष से सर्वथा मुक्त होकर अद्भुत कर्म करते हैं। अतएव वे परब्रह्म हैं। मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : *विष्णु पुराण* में कहा गया है—*गुणांश्च दोषांश्च मुने व्यतीत समस्तकल्याण-गुणात्मको हि।* भगवान् के न तो भौतिक रूप होता है, न भौतिक गुण या दोष। वे आध्यात्मिक हैं और समस्त आध्यात्मिक गुणों के एकमात्र आगार हैं। भगवान् ने *भगवद्गीता* (४.) में कहा है— *परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।* भक्तों को बचाने तथा असुरों का संहार करने के भगवान् के कार्य दिव्य होते हैं। भगवान् जिसका संहार करते हैं उसे भगवान् द्वारा रक्षित भक्त की ही तरह फल मिलता है—दोनों का ही आध्यात्मिक उत्थान होता है। अन्तर केवल इतना ही रहता है कि भक्त सीधे वैकुण्ठ जाकर भगवान् का संगी बनता है, जबकि असुर *ब्रह्मलोक* को जाता है, जो भगवान् का निर्विशेष तेज है। किन्तु दोनों का ही आध्यात्मिक उत्थान होता है। भगवान् द्वारा असुरों का वध या संहार इस भौतिक जगत के वध जैसा नहीं होता। यद्यपि वे प्रकृति के गुणों के अन्तर्गत कार्य करते प्रतीत होते हैं, किन्तु वे *निर्गुण* अर्थात् प्रकृति के गुणों से ऊपर होते हैं। उनका नाम भौतिक नहीं होता अन्यथा कोई हरे कृष्ण हरे राम का जप करके मुक्ति कैसे पा सकता है? राम तथा कृष्ण जैसे भगवान् के नाम साक्षात् राम तथा कृष्ण से अभिन्न हैं। इस तरह हरे कृष्ण मंत्र के जप से मनुष्य भगवान् राम तथा कृष्ण का निरन्तर सान्निध्य प्राप्त करता है और मुक्त हो जाता है। इसका जीवन्त उदाहरण अजामिल है, जो नारायण का नाम जपने मात्र से अपने कार्यकलापों से सदैव परे रहा। यदि अजामिल के साथ यह सही उतरता है, तो भगवान् के लिए क्या कहा जा सकता है? जब भगवान् इस भौतिक जगत में अवतरित होते हैं, तो वे पदार्थ से उत्पन्न नहीं होते। सम्पूर्ण *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि हुई है (*जन्म कर्म च मे दिव्यम्, अवजानन्ति मां मूढा: मानुषीं तनुमाश्रितम्*)। अतएव जब हमारे लाभ के लिए दिव्य कर्म करने हेतु भगवान् राम या कृष्ण अवतरित होते हैं, तो हमें चाहिए कि हम उन्हें सामान्य मनुष्य न मानें। जब भगवान् अवतरित होते हैं, तो वे अपनी आध्यात्मिक शक्ति के बल पर ऐसा करते हैं (*सम्भवाम्यात्ममायया*)। चूँकि वे अवतरित होने के लिए भौतिक शक्ति द्वारा बाध्य नहीं किए जाते अतएव वे सदैव दिव्य हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् को सामान्य व्यक्ति न माने। भौतिक नाम

तथा रूप तो दूषित होते हैं, किन्तु आध्यात्मिक नाम तथा रूप दिव्य होते हैं।

नम आत्मप्रदीपाय साक्षिणे परमात्मने ।
नमो गिरां विदूराय मनसश्चेतसामपि ॥ १० ॥

शब्दार्थ

नमः—मैं नमस्कार करता हूँ; आत्म-प्रदीपाय—आत्म-प्रकाशित को या जीवों को प्रकाश देने वाले को; साक्षिणे—प्रत्येक के हृदय में साक्षी स्वरूप स्थित; परम-आत्मने—परमात्मा में; नमः—नमस्कार करता हूँ; गिराम्—वाणी से; विदूराय—अत्यन्त दूर, अगम्य; मनसः—मन से; चेतसाम्—या चेतना से; अपि—भी।

मैं उन आत्मप्रकाशित परमात्मा को नमस्कार करता हूँ जो प्रत्येक हृदय में साक्षी स्वरूप स्थित हैं, व्यष्टि जीवात्मा को प्रकाशित करते हैं और जिन तक मन, वाणी या चेतना के प्रयासों द्वारा नहीं पहुँचा जा सकता।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण को मानसिक, शारीरिक या बौद्धिक प्रयासों से मनुष्य द्वारा नहीं समझा जा सकता। भगवान् की कृपा से ही व्यष्टि आत्मा प्रकाशित होता है। इसीलिए भगवान् को यहाँ पर *आत्मप्रदीप* कहा गया है। भगवान् सूर्य के समान हैं, जो प्रत्येक वस्तु को प्रकाशित करते हैं, किन्तु किसी के द्वारा प्रकाशित नहीं होते। अतएव जो उन्हें जानने का इच्छुक हो उसे चाहिए कि उनसे प्रकाश प्राप्त करे जैसाकि *भगवद्गीता* में उपदेश दिया गया है। अपने मानसिक, शारीरिक या बौद्धिक बल से कोई भी भगवान् को नहीं समझ सकता।

सत्त्वेन प्रतिलभ्याय नैष्कर्म्येण विपश्चिता ।
नमः कैवल्यनाथाय निर्वाणसुखसंविदे ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वेन—शुद्ध भक्ति से; प्रति-लभ्याय—भगवान् को, जो ऐसी भक्ति से प्राप्त किये जाते हैं; नैष्कर्म्येण—दिव्य कार्यों से; विपश्चिता—अत्यन्त विद्वान व्यक्तियों द्वारा; नमः—नमस्कार करता हूँ; कैवल्य-नाथाय—दिव्यलोक के स्वामी को; निर्वाण—भौतिक कार्यों से पूर्ण मुक्ति; सुख—सुख का; संविदे—प्रदान करने वाला।

भगवान् की अनुभूति उन शुद्ध भक्तों को होती है, जो भक्तियोग की दिव्य स्थिति में रहकर कर्म करते हैं। वे अकलुषित सुख के दाता हैं और दिव्यलोक के स्वामी हैं। अतएव मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भगवान् केवल भक्ति से जाने जा सकते हैं। *भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।* यदि कोई सचमुच भगवान् को जानना चाहता है, तो उसे भक्ति

के कार्यों में जुट जाना चाहिए। ये कार्य *सत्त्व* या *शुद्धसत्त्व* कहलाते हैं। भौतिक जगत में सतोगुणी कार्यों की प्रशंसा की जाती है क्योंकि ये शुद्ध ब्राह्मण के लक्षण हैं। किन्तु भक्ति के कार्य *शुद्धसत्त्व* हैं; दूसरे शब्दों में, वे दिव्य पद पर होते हैं। केवल भक्ति से ही परमेश्वर को समझा जा सकता है।

भक्ति को *नैष्कर्म्य* कहा जाता है। किन्तु मात्र भौतिक कार्यों के निषेध से काम नहीं चलता। *नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितम्।* जब तक कृष्णभावनामृत के लिए कार्य नहीं किये जाते तब तक भौतिक कार्यों को बन्द करना लाभप्रद नहीं होगा। *नैष्कर्म्य* प्राप्त करने की आशा से अनेक उच्च संन्यासियों ने अपने कार्यकलाप बन्द कर दिये; फिर भी वे असफल रहे और भौतिक व्यक्तियों की भ्रान्ति कर्म करने के लिए पुन: भौतिक पद पर लौट आये। किन्तु एक बार भक्तियोग के आध्यात्मिक कार्यों में संलग्न हो जाने पर मनुष्य नीचे नहीं गिरता। अतएव हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन हरएक को नित्य आध्यात्मिक कार्य में लगाने का एक प्रयास है, जिससे मनुष्य भौतिक कर्मों से छूट जाता है। भक्तिमार्ग के आध्यात्मिक कार्य हैं—*श्रवणं कीर्तनं विष्णो: स्मरणं पादसेवनम्*—जिनसे भगवान् को समझा जा सकता है। अतएव, जैसाकि यहाँ पर कहा गया है—*सत्त्वेन प्रतिलभ्याय नैष्कर्म्येण विपश्चिता*—उन शुद्ध भक्तों को भगवान् की अनुभूति होती है, जो दिव्य *भक्तियोग* में रहकर कर्म करते हैं।

गोपाल तापनी उपनिषद् (१५) का कथन है—*भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येनैवामुष्मिन् मनस: कल्पनम् एतद् एव च नैष्कर्म्यम्।* यह नैष्कर्म्य की परिभाषा है। कोई मनुष्य तभी नैष्कर्म्य में कर्म करता है जब वह इस जीवन में या भावी जीवन में (इह अमुत्र), इसी लोक में या स्वर्गलोक में, निष्काम भाव से कृष्णभावनाभावित कार्यों में पूरी तरह लगा रहता है। *अन्याभिलाषिताशून्यम्।* जब मनुष्य सारे कल्मष से मुक्त हो जाता है और गुरु के निर्देशन में भक्ति में रहकर कर्म करता है, तो वह नैष्कर्म्य के पद पर होता है। भगवान् की सेवा ऐसी दिव्य भक्ति से होती है। मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ।

नम: शान्ताय घोराय मूढाय गुणधर्मिणे ।
निर्विशेषाय साम्याय नमो ज्ञानघनाय च ॥ १२॥

शब्दार्थ

नम:—नमस्कार; **शान्ताय**—जो समस्त भौतिक गुणों से ऊपर है और पूर्णतया शान्त है उसे अथवा प्रत्येक जीव में वास करने वाले परमात्मा स्वरूप वासुदेव को; **घोराय**—भगवान् के भयानक रूपों को यथा जामदग्न्य तथा नृसिंह देव को; **मूढाय**—पशु रूप में भगवान् के स्वरूप को यथा वराह को; **गुण-धर्मिणे**—जो भौतिक जगत में विभिन्न गुण स्वीकार करता है;

निर्विशेषाय—भौतिक गुणों से विहीन और पूर्णतया आध्यात्मिक; साम्याय—भगवान् बुद्ध को जो निर्वाण रूप हैं, जहाँ भौतिक कार्यकलाप रुक जाते हैं; नमः—मैं सादर नमस्कार करता हूँ; ज्ञान-घनाय—ज्ञान या निर्विशेष ब्रह्म को; च—भी।

मैं सर्वव्यापी भगवान् वासुदेव को, भगवान् के भयानक रूप नृसिंह देव को, भगवान् के पशुरूप (वराह देव) को, निर्विशेषवाद का उपदेश देने वाले भगवान् दत्तात्रेय को, भगवान् बुद्ध को तथा अन्य सारे अवतारों को नमस्कार करता हूँ। मैं उन भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ जो निर्गुण हैं, किन्तु भौतिक जगत में सतो, रजो तथा तमो गुणों को स्वीकार करते हैं। मैं निर्विशेष ब्रह्मतेज को भी सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : पिछले श्लोकों में बताया गया है कि भगवान् निराकार होते हुए भी अपने भक्तों का पक्ष लेने तथा असुरों को मारने के लिए असंख्य रूप धारण करते हैं। जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है, भगवान् के इतने अवतार हैं कि वे नदी की लहरों की तरह हैं। नदी की लहरें निरन्तर प्रवाहित होती रहती हैं जिससे उन्हें गिन पाना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार कोई यह गणना नहीं कर सकता कि कब और कैसे देश, काल तथा पात्र की आवश्यकताओं के अनुसार भगवान् के विविध अवतार प्रकट होते हैं। भगवान् शाश्वत रूप से प्रकट होते रहते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.७) में कृष्ण ने कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

''हे भरतवंशी! जब-जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म का प्रमुख उत्थान होता है उस समय मैं अवतरित होता हूँ।'' भौतिक जगत में कृष्णभावनामृत से विपथ होने की सदा सम्भावना रहती है अतएव कृष्ण तथा उनके भक्त ऐसी ईश्वर-विहीनता को रोकने के लिए विभिन्न रूपों में कार्य करते हैं।

निर्विशेषवादी भी, जो भगवान् के ज्ञानस्वरूप पर बल देते हैं, भगवान् के तेज में लीन होना चाहते हैं। अतएव यहाँ *ज्ञानघनाय* शब्द सूचित करता है कि भगवान् के रूप तथा अस्तित्व पर अविश्वास करने वाले नास्तिकों के लिए ही ये विभिन्न अवतार प्रकट होते हैं। चूँकि भगवान् शिक्षा देने के लिए अनेकानेक रूपों में आते हैं अतएव कोई यह नहीं कह सकता कि ईश्वर नहीं है। *ज्ञानघनाय* शब्द का प्रयोग यहाँ विशेषतया उन लोगों के लिए हुआ है जिनका ज्ञान मानसिक चिन्तन के माध्यम से भगवान् की खोज करते-करते पथरा गया है। भगवान् को जानने के लिए उथला ज्ञान व्यर्थ होता है, किन्तु जब किसी का ज्ञान गहन तथा गम्भीर हो जाता है, तो वह वासुदेव को समझता है (*वासुदेवः सर्वमिति स*

महात्मा सुदुर्लभः)। ज्ञानी इस अवस्था को अनेकानेक जन्मों के बाद प्राप्त करता है। अतएव यहाँ पर *ज्ञानघनाय* शब्द व्यवहृत हुआ है। *शान्ताय* शब्द सूचित करता है कि भगवान् वासुदेव प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हैं, किन्तु जीव के साथ कोई कर्म नहीं करते। निर्विशेषवादी ज्ञानी वासुदेव की अनुभूति तभी कर पाते हैं जब वे ज्ञान में पूर्णतया परिपक्व हो जाते हैं (*वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः*)।

क्षेत्रज्ञाय नमस्तुभ्यं सर्वाध्यक्षाय साक्षिणे ।
पुरुषायात्ममूलाय मूलप्रकृतये नमः ॥ १३॥

शब्दार्थ

क्षेत्र-ज्ञाय—बाह्य शरीर की प्रत्येक वस्तु जानने वाले को; नमः—मैं नमस्कार करता हूँ; तुभ्यम्—तुमको; सर्व—सब कुछ; अध्यक्षाय—अध्यक्ष को; साक्षिणे—जो साक्षी परमात्मा या अन्तर्यामी हैं; पुरुषाय—परम पुरुष को; आत्म-मूलाय—मूल स्रोत को; मूल-प्रकृतये—पुरुष-अवतार को, जो प्रकृति तथा प्रधान का उद्गम है; नमः—मैं नमस्कार करता हूँ।

मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप परमात्मा, हर एक के अध्यक्ष तथा जो कुछ भी घटित होता है उसके साक्षी हैं। आप परम पुरुष, प्रकृति तथा समग्र भौतिक शक्ति के उद्गम हैं। आप भौतिक शरीर के भी स्वामी हैं। अतएव आप परम पूर्ण हैं। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१३.३) में भगवान् कहते हैं—*क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत*—हे भरतवंशी! तुम्हें यह समझ लेना चाहिए कि मैं सारे शरीरों का ज्ञाता भी हूँ। हममें से हर व्यक्ति सोचता है "मैं यह शरीर हूँ" या "यह मेरा शरीर है," किन्तु वास्तव में सच्चाई इससे भिन्न है। हमें ये शरीर परम स्वामी द्वारा प्राप्त है। जीव, जो कि *क्षेत्रज्ञ* भी है, शरीर का एकमात्र स्वामी नहीं है; शरीर का वास्तविक स्वामी तो भगवान् है, जो परम *क्षेत्रज्ञ* है। उदाहरणार्थ, हम किराये का मकान लेकर उस मकान में रह सकते हैं, किन्तु इस मकान का असली स्वामी तो मकान मालिक होता है। इसी प्रकार हमें भी किसी एक प्रकार का शरीर मिलता है, जिससे हम इस भौतिक जगत का भोग कर सकते हैं, किन्तु इस शरीर का वास्तविक स्वामी तो भगवान् होता है। वह *सर्वाध्यक्ष* कहलाता है क्योंकि इस भौतिक संसार में सारी वस्तुएँ उसी की अध्यक्षता में कार्य करती हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.१०) में की गई है जहाँ भगवान् कहते हैं—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*—हे कुन्तीपुत्र! यह प्रकृति मेरी अध्यक्षता में कार्य करती हुई सभी चर तथा अचर प्राणियों को उत्पन्न करती है। प्रकृति से न जाने कितनी तरह के जीव प्रकट होते हैं जिनमें जलचर, पेड़-पौधे, कीट, पक्षी, पशु, मनुष्य तथा देवता

सम्मिलित हैं। प्रकृति माता है और भगवान् पिता हैं (*अहं बीजप्रद: पिता।*)

प्रकृति हमें भौतिक शरीर प्रदान कर सकती है, किन्तु आत्मा के रूप में हम रहते हैं भगवान् के ही अंश रूप में। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१५.७) में हुई है—*ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:।* जीव ईश्वर का अंश होने के कारण इस भौतिक जगत की उपज नहीं है। अतएव इस श्लोक में भगवान् को *आत्ममूल* अर्थात् प्रत्येक वस्तु का मूल स्रोत कहा गया है। वे सारे जीवों के बीज रूप हैं (*बीजं मां सर्वभूतानाम्*)। *भगवद्गीता* (१४.४) में भगवान् कहते हैं—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तय: सम्भवन्ति या:।

तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रद: पिता॥

"हे कुन्तीपुत्र! यह समझ लो कि सारी योनियों के जीव इस प्रकृति में ही जन्म लेते हैं और मैं वीर्यदाता पिता हूँ।" पौधे, वृक्ष, कीड़े, जलचर, देवता, पशु, पक्षी तथा अन्य सारे जीव भगवान् के पुत्र या अंश हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न मानसिक प्रवृत्तियों के साथ संघर्ष करने के कारण उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीर मिलते हैं (*मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति*)। इस प्रकार वे उस प्रकृति के पुत्र हैं जिसके वीर्यदाता भगवान् हैं। इस जगत में प्रत्येक जीव अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहा है और जन्म-मृत्यु के चक्र से एकमात्र मोक्ष या छुटकारे की विधि है पूर्ण आत्मसमपर्ण। इसका संकेत *नम:* शब्द से मिलता है—"मैं आपको नमस्कार करता हूँ।"

सर्वेन्द्रियगुणद्रष्ट्रे सर्वप्रत्ययहेतवे ।
असता च्छाययोक्ताय सदाभासाय ते नम: ॥ १४॥

शब्दार्थ

सर्व-इन्द्रिय-गुण-द्रष्ट्रे—सभी इन्द्रिय-विषयों के द्रष्टा में; सर्व-प्रत्यय-हेतवे—सभी संशयों के समाधान (और जिनके बिना सभी असमर्थताएँ तथा सारे संदेह हल नहीं किये जा सकते); असता—असत्य या भ्रम के प्रकट होने से; छायया—समानता के कारण; उक्ताय—कहलाया; सत्—सत्य का; आभासाय—प्रतिबिम्ब के लिए; ते—तुमको; नम:—नमस्कार करता हूँ।

हे भगवान्! आप समस्त इन्द्रिय-विषयों के द्रष्टा हैं। आपकी कृपा के बिना सन्देहों की समस्या के हल होने की कोई सम्भावना नहीं है। यह भौतिक जगत आपके अनुरूप छाया के समान है। निस्सन्देह, मनुष्य इस भौतिक जगत को सत्य मानता है क्योंकि इससे आपके अस्तित्व की झलक मिलती है।

तात्पर्य : इस श्लोक का भावानुवाद इस प्रकार होगा "ऐन्द्रिय कर्मों के विषय वास्तव में आपके

द्वारा देखे जाते हैं। आपके निर्देशन के बिना जीव एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। जैसी कि *भगवद्गीता* (१५.१५) में पुष्टि हुई है—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।* आप हरएक के हृदय में स्थित हैं और आपसे ही स्मृति तथा विस्मृति आती है। *छायेव यस्य भुवनानि विभर्ति दुर्गा। माया* के वशीभूत जीव इस भौतिक जगत का आनन्द लूटना चाहता है, किन्तु जब तक आप आदेश नहीं देते तथा उन्हें स्मरण नहीं दिलाते तब तक वह अपने जीवन के छायाव्रत (आभासी) उद्देश्य का अनुसरण करने में प्रगति नहीं कर सकता। बद्धजीव जन्म-जन्मांतर गलत लक्ष्य की ओर प्रगति करता जाता है और उसे इस लक्ष्य का स्मरण आप द्वारा ही दिलाया जाता है। एक जन्म में बद्धजीव किसी एक लक्ष्य की ओर प्रगति करना चाहता है, किन्तु शरीर बदलने पर वह हर बात भूल जाता है। फिर भी हे प्रभु! चूँकि वह इस जगत का कुछ न कुछ भोग करना चाहता था अतएव आप उसे उसके अगले जन्म में इसका स्मरण दिलाते हैं। *मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।* चूँकि बद्धजीव आपको भूलना चाहता है अतएव आप कृपापूर्वक जन्म-जन्मांतर उसे ऐसे अवसर प्रदान करते रहते हैं जिससे वह आपको सतत् भुला सकता है। अतएव आप बद्धजीव के नित्य निर्देशक हैं। चूँकि आप हर वस्तु के मूल कारण हैं अतएव हर वस्तु सत्य प्रतीत होती है। चरम सत्य तो आप ही हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ।''

सर्वप्रत्ययहेतवे शब्द की व्याख्या श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने की है। वे कहते हैं कि फल (कार्य) से कारण की झलक मिल जाती है। उदाहरणार्थ, मिट्टी का पात्र कुम्हार के कार्य का फल है अतएव पात्र को देखकर कुम्हार के अस्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता है। इसी प्रकार यह भौतिक जगत आध्यात्मिक जगत से मिलता जुलता है और कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति अंदाजा लगा सकता है कि यह किस प्रकार कार्य कर रहा है। जैसाकि *भगवद्गीता* में बताया गया है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।* भौतिक जगत की गतिविधियों से ऐसा प्रतीत होता है कि उनके पीछे भगवान् की अध्यक्षता कार्य कर रही है।

नमो नमस्तेऽखिलकारणाय
निष्कारणायाद्भुतकारणाय ।
सर्वागमाम्नायमहार्णवाय

नमोऽपवर्गाय परायणाय ॥ १५॥

शब्दार्थ

नमः—मैं नमस्कार करता हूँ; **नमः**—पुनः नमस्कार करता हूँ; **ते**—तुम्हें; **अखिल-कारणाय**—हर वस्तु के परम कारण को; **निष्कारणाय**—कारणरहित को; **अद्भुत-कारणाय**—हर वस्तु के अद्भुत कारण को; **सर्व**—समस्त; **आगम-आम्नाय**—वैदिक वाङ्मय की परम्परा पद्धति के स्रोत को; **महा-अर्णवाय**—ज्ञान के विशाल सागर को अथवा उस विशाल समुद्र को जिसमें ज्ञान की समस्त सरिताएँ मिलती हैं; **नमः**—नमस्कार करता हूँ; **अपवर्गाय**—मोक्ष दाता को; **पर-अयणाय**—समस्त अध्यात्मवादियों के आश्रय को।

हे भगवान्! आप समस्त कारणों के कारण हैं, किन्तु आपका अपना कोई कारण नहीं है, अतएव आप हर वस्तु के अद्भुत कारण हैं। मैं आपको अपना सादर नमस्कार अर्पित करता हूँ। आप पञ्चरात्र तथा वेदान्तसूत्र जैसे शास्त्रों में निहित वैदिक ज्ञान के आश्रय हैं, जो आपके साक्षात् स्वरूप हैं और परम्परा पद्धति के स्रोत हैं। चूँकि मोक्ष प्रदाता आप ही हैं अतएव आप ही अध्यात्मवादियों के एकमात्र आश्रय हैं। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् को अद्भुत कारण कहा गया है। वे इस बात में अद्भुत हैं कि उनसे असंख्य वस्तुएँ उद्भूत होने पर भी (*जन्माद्यस्य यतः*) वे पूर्ण बने रहते हैं (*पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्ण एवावशिष्यते*)। भौतिक जगत में हमारा अनुभव है कि यदि हमारे बैंक खाते में दस लाख डालर हों तो हम ज्यों-ज्यों धन निकालते जाते हैं त्यों-त्यों बैंक की रकम घटती जाती है और अन्त में वह शून्य हो जाती है। किन्तु भगवान् इतने पूर्ण हैं कि यदि उनके असंख्य विस्तार हो जायें तो भी वे वही भगवान् बने रहते हैं। *पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्ण एवावशिष्यते।* इसीलिए वे अद्भुत कारण हैं। *गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि।*

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।

अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

“गोविन्द नाम से विख्यात कृष्ण परमनियन्ता हैं। उनका शरीर शाश्वत, आनन्दमय तथा आध्यात्मिक है। वे सबों के उद्गम हैं। उनका कोई अन्य उद्गम नहीं है क्योंकि वे सभी कारणों के कारण हैं।” (*ब्रह्मसंहिता* ५.१)।

इस भौतिक जगत से भी हम समझ सकते हैं कि सूर्य लाखों वर्षों से अस्तित्व में है और उष्मा तथा प्रकाश देता रहा है फिर भी उसकी वही शक्ति बनी हुई है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता। तो फिर उस परम कारण, *परब्रह्म* कृष्ण के विषय में क्या कहा जाये? उनसे हर वस्तु निरन्तर उद्भूत होती

रहती है फिर भी वे मूल स्वरूप (*सच्चिदानन्द विग्रह:*) बनाये रहते हैं। कृष्ण स्वयं *भगवद्गीता* (१०.) में कहते हैं— *मत्त: सर्वं प्रवर्तते*—मुझी से हर वस्तु उद्भूत है। हर वस्तु कृष्ण से निरन्तर उद्भूत होती है, तो भी वे वही कृष्ण बने रहते हैं और बदलते नहीं हैं। अतएव वे उन समस्त आध्यात्मवादियों के आश्रय हैं, जो भवबन्धन से छूटने के इच्छुक हैं।

हरएक को कृष्ण की शरण में जाना चाहिए। इसीलिए सलाह दी गई है—

अकाम: सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी:।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

''चाहे कोई सकाम हो, या निष्काम या फिर भगवान् के अस्तित्व में तल्लीन होना चाहता हो, वह तभी बुद्धिमान् कहा जायेगा जब वह दिव्य प्रेमाभक्ति करके भगवान् कृष्ण की पूजा करता हो।'' (*भागवत* २.३.१०)। कृष्ण *परंब्रह्म* तथा *परंधाम* हैं। अतएव कुछ भी चाहने वाले को—चाहे वह *कर्मी* हो, ज्ञानी हो या योगी हो—गम्भीरतापूर्वक भगवान् की अनुभूति करने का प्रयत्न करना चाहिए; तभी उसकी सारी इच्छाएँ पूर्ण हो सकेंगी। भगवान् कहते हैं—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*—जीव जिस प्रकार से मेरी शरण में आते हैं उन्हें मैं उसी प्रकार पुरस्कृत करता हूँ। यहाँ तक कि *कर्मी* भी भगवान् से हर मनवांछित वस्तु प्राप्त कर सकता है। कृष्ण के लिए इच्छित वस्तु की पूर्ति करना तनिक भी कठिन नहीं है। किन्तु मुक्ति प्राप्त करने के लिए मनुष्य को वास्तव में भगवान् कृष्ण की पूजा करनी आवश्यक है।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:। मनुष्य को चाहिए कि वैदिक साहित्य का अध्ययन करके कृष्ण को समझे। जैसी कि यहाँ पुष्टि की गई है—*सर्वागमाम्नाय महार्णवाय।* वे समुद्र के तुल्य हैं और सारा वैदिक ज्ञान उन्हीं की ओर प्रवाहित होता है; अतएव बुद्धिमान् अध्यात्मवादी भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं (*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*)। यही चरम लक्ष्य है।

गुणारणिच्छन्नचिदुष्मपाय
तत्क्षोभविस्फूर्जितमानसाय ।
नैष्कर्म्यभावेन विवर्जितागम-
स्वयंप्रकाशाय नमस्करोमि ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

गुण—प्रकृति के तीन गुणों (सत्त्व, रजस् तथा तमस्) द्वारा; अरणि—अरणि काष्ठ द्वारा; छन्न—आवृत; चित्—ज्ञान का; उष्मपाय—उसको जिसकी अग्नि; तत्-क्षोभ—प्रकृति के तीनों गुणों के क्षोभ से; विस्फूर्जित—बाहर; मानसाय—उसको जिसका मन; नैष्कर्म्य-भावेन—आध्यात्मिक ज्ञान की अवस्था के कारण; विवर्जित—त्याग देने वालों में; आगम—वैदिक सिद्धान्त; स्वयम्—स्वयं; प्रकाशाय—जो प्रकट है उसको; नमः करोमि—मैं सादर नमस्कार करता हूँ।

हे प्रभु! जिस प्रकार अरणि-काष्ठ में अग्नि ढकी रहती है उसी प्रकार आप तथा आपका असीम ज्ञान प्रकृति के भौतिक गुणों से ढका रहता है। किन्तु आपका मन प्रकृति के गुणों के कार्यकलापों पर ध्यान नहीं देता। जो लोग आध्यात्मिक ज्ञान में बढ़े-चढ़े हैं, वे वैदिक वाङ्मय में निर्देशित विधि-विधानों के अधीन नहीं होते। चूँकि ऐसे उन्नत लोग दिव्य होते हैं अतएव आप स्वयं उनके शुद्ध मनों में प्रकट होते हैं। इसलिए मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१०.११) में कहा गया है—

तेषां एवानुकम्पार्थम् अहं अज्ञानजं तमः।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

जिस भक्त ने अपने हृदय में भगवान् के चरणकमलों को धारण कर रखा है उसे भगवान् भीतर से विशेष कृपा करके *ज्ञानदीप* नामक दिव्य प्रकाश प्रदान करते हैं। इस *ज्ञानदीप* की तुलना अरणि-काष्ठ के भीतर छिपी अग्नि से की गई है। पूर्वकाल में यज्ञ सम्पन्न करने के लिए ऋषिगण सीधे अग्नि नहीं जलाते थे; अग्नि का आवाहन अरणि-काष्ठ से किया जाता था। इसी प्रकार सारे जीव प्रकृति के गुणों से आच्छन्न हैं तथा ज्ञान की अग्नि (ज्ञानदीप) भगवान् द्वारा ही जलाई जा सकती है यदि उन्हें कोई अपने हृदय में धारण करे। *स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः।* यदि कोई अपने हृदय के भीतर स्थित कृष्ण के चरणकमलों की शरण गम्भीरतापूर्वक ग्रहण करता है, तो भगवान् सारे अज्ञान का उच्छेदन कर देते हैं। ज्ञान के दीप से मनुष्य विशेष भगवत्कृपा के कारण तुरन्त ही सब कुछ उचित रूप से समझ लेता है और स्वरूपसिद्ध बन जाता है। दूसरे शब्दों में, बाह्य रूप से सुशिक्षित न होने पर भी भक्त को भक्ति के कारण भगवान् भीतर से प्रकाश देते हैं। यदि भगवान् भीतर से प्रकाश दें तो भला कोई अज्ञान में कैसे रह सकता है? अतएव मायावादियों का यह दोषारोपण कि भक्ति का मार्ग बुद्धिहीन या अशिक्षित के लिए है सत्य नहीं उतरता।

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना

सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः

(*भागवत* ५.१.१२)

यदि कोई भगवान् का अनन्य भक्त बन जाता है, तो उसमें सारे सद्गुण स्वत: आ जाते हैं। ऐसा भक्त वेदों के उपदेशों से ऊपर होता है। वह परमहंस होता है। वैदिक वाङ्मय का अवगाहन किये बिना भी भक्त भगवत्कृपा से शुद्ध तथा प्रबुद्ध हो जाता है। भक्त कहता है ''अतएव हे प्रभु! मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।''

मादृक्प्रपन्नपशुपाशविमोक्षणाय
मुक्ताय भूरिकरुणाय नमोऽलयाय ।
स्वांशेन सर्वतनुभृन्मनसि प्रतीत-
प्रत्यग्दृशे भगवते बृहते नमस्ते ॥ १७॥

शब्दार्थ

मादृक्—मेरे समान; प्रपन्न—शरणागत; पशु—पशु; पाश—बन्धन से; विमोक्षणाय—छुड़ाने वाले को; मुक्ताय—प्रकृति के कल्मष से अछूते परमेश्वर को; भूरि-करुणाय—असीम दयालु को; नम:—नमस्कार करता हूँ; अलयाय—कभी भी असावधान या अकर्मण्य न रहने वाले को (मेरे उद्धार के लिए); स्व-अंशेन—आपके परमात्मा रूप अंश से; सर्व—सबों का; तनु-भृत्—प्रकृति में देहधारी जीव; मनसि—मन में; प्रतीत—कृतज्ञ; प्रत्यक्-दृशे—(समस्त कार्यों के) प्रत्यक्ष द्रष्टा के रूप में; भगवते—भगवान् को; बृहते—असीम; नम:—नमस्कार करता हूँ; ते—तुमको।

चूँकि मुझ जैसे पशु ने परममुक्त आपकी शरण ग्रहण की है, अतएव आप निश्चय ही मुझे इस संकटमय स्थिति से उबार लेंगे। निस्सन्देह, अत्यन्त दयालु होने के कारण आप निरन्तर मेरा उद्धार करने का प्रयास करते हैं। आप अपने परमात्मा-रूप अंश से समस्त देहधारी जीवों के हृदयों में स्थित हैं। आप प्रत्यक्ष दिव्य ज्ञान के रूप में विख्यात हैं और आप असीम हैं। हे भगवान्! मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *बृहते नमस्ते* शब्दों की व्याख्या *बृहते श्रीकृष्णाय* के रूप में की है। भगवान् तो कृष्ण हैं। *तत्त्व* अनेक हैं यथा *विष्णुतत्त्व, जीवतत्त्व* तथा *शक्तितत्त्व,* किन्तु सबों से ऊपर *विष्णुतत्त्व* है, जो सर्वव्यापी है। भगवान् के इस सर्वव्यापी रूप की व्याख्या *भगवद्गीता* (१०.४२) में की गई है, जिसमें भगवान् कहते हैं—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम् एकांशेन स्थितो जगत्॥

''किन्तु हे अर्जुन! इस विस्तृत ज्ञान की क्या आवश्यकता है? अपने एक अंश से मैं इस सम्पूर्ण

ब्रह्माण्ड में व्याप्त हूँ और इसका पालन करता हूँ।'' इस प्रकार कृष्ण कहते हैं कि सारा भौतिक जगत उनके आंशिक स्वरूप, परमात्मा, द्वारा पालित है। भगवान् प्रत्येक ब्रह्माण्ड में पहले गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में प्रवेश करते हैं और फिर क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में विस्तार करके सभी जीवों के हृदयों में, यहाँ तक कि परमाणुओं में भी, प्रवेश करते हैं। *अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थम्।* प्रत्येक ब्रह्माण्ड परमाणुओं से ओतप्रोत है और भगवान् न केवल ब्रह्माण्ड के भीतर अपितु परमाणुओं के भीतर भी विद्यमान हैं। इस प्रकार वे प्रत्येक परमाणु में विष्णु के अंश परमात्मा रूप में स्थित हैं, किन्तु जितने भी विष्णुतत्त्व हैं, वे कृष्ण से उद्भूत हैं। जैसी कि *भगवद्गीता* (१०.२) में पुष्टि की गई है—*अहम् आदिर्हि देवानाम्*—कृष्ण इस भौतिक जगत के देवों—ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर—के आदि हैं। इसलिए यहाँ पर उन्हें *भगवते बृहते* कहा गया है। हर व्यक्ति भगवान् है अर्थात् ऐश्वर्य युक्त है, किन्तु कृष्ण *बृहान् भगवान्*—असीम ऐश्वर्य के स्वामी—हैं। *ईश्वर: परम: कृष्ण:।* कृष्ण हर एक के उद्गम हैं। *अहं सर्वस्य प्रभव:।* यहाँ तक कि ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर भी कृष्ण से उत्पन्न हैं। *मत्त: परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय*—कृष्ण से श्रेष्ठ कोई व्यक्ति नहीं है। अतएव विश्वनाथ चक्रवती ठाकुर कहते हैं कि *भगवते बृहते* का अर्थ है ''श्रीकृष्ण को।''

इस भौतिक जगत में प्रत्येक मनुष्य पशु है क्योंकि वह देहात्मबुद्धि से युक्त है—

यस्यात्मबुद्धि: कुणपे त्रि-धातुके
स्वधी: कलत्रादिषु भौम इज्यधी:।
यत्तीर्थबुद्धि: सलिले न कर्हिचि-
ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखर:॥

''जो मनुष्य तीन तत्त्वों से बने शरीर को आत्मा मानता है, जो शरीर के उपजातों को अपने सम्बन्धी मानता है, जो अपनी जन्मभूमि को पूज्य मानता है और जो तीर्थ स्थानों में दिव्य ज्ञानवान् व्यक्तियों से भेंट करने नहीं अपितु केवल स्नान के लिए जाता है, वह गाय या गधे के समान माना जाता है।'' (*भागवत* १०.४.१३)। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति एक तरह से पशु है और हर एक पर भौतिक संसार-रूपी घड़ियाल आक्रमण करता है। वह न केवल गजेन्द्र पर आक्रमण करता है, अपितु हममें से हर एक पर आक्रमण करता है और हम उसके दुष्परिणाम भोगते हैं।

केवल कृष्ण ही हमें इस भौतिक जगत से छुटकारा दिला सकते हैं। निस्सन्देह, वे सदैव हमारा उद्धार करने के प्रयास में लगे रहते हैं। *ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।* वे हमारे हृदयों के भीतर रहते हैं और तनिक भी असावधानी नहीं बरतते। उनका एकमात्र उद्देश्य भौतिक जीवन से हमारा उद्धार करना रहता है। ऐसा नहीं है कि जब हम उनकी प्रार्थना करते हैं तभी वे हमारी ओर ध्यान देते हैं। वे हमारे प्रार्थना करने के पूर्व से ही हमारा उद्धार करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहते हैं। वे हमारे उद्धार के विषय में तनिक भी प्रमाद नहीं करते। अतएव इस श्लोक में कहा गया है—*भूरि करुणाय नमोऽलयाय।* यह भगवान् की अहैतुकी कृपा ही है कि वे हमें सदा भगवद्धाम वापस ले जाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। ईश्वर मुक्त हैं अतएव वे हमें भी मुक्त बनाना चाहते हैं और यद्यपि वे निरन्तर इसके लिए प्रयत्नशील रहते हैं, किन्तु हम उनके उपदेशों का पालन करने से इनकार करते रहते हैं (*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*)। इतने पर भी वे क्रुद्ध नहीं होते। इसीलिए उन्हें यहाँ *भूरिकरुणाय* कहा गया है—वे हमें इस कष्टप्रद भौतिक जीवन से उबारने तथा भगवद्धाम वापस ले जाने के लिए अत्यन्त दयालु रहते हैं।

आत्मात्मजाप्तगृहवित्तजनेषु सक्तै-
दुष्प्रापणाय गुणसङ्गविवर्जिताय ।
मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय
ज्ञानात्मने भगवते नम ईश्वराय ॥ १ ॥

शब्दार्थ

आत्म—मन तथा शरीर; आत्म-ज—पुत्र तथा पुत्रियाँ; आप्त—मित्र तथा सम्बन्धी; गृह—घर, जाति, समाज तथा राष्ट्र; वित्त—धन; जनेषु—विभिन्न दास तथा सहायक तक; सक्तैः—आसक्त लोगों द्वारा; दुष्प्रापणाय—आपको, जो दुष्प्राप्य हैं; गुण-सङ्ग—तीन गुणों द्वारा; विवर्जिताय—कलुषित न होने वाले को; मुक्त-आत्मभिः—पहले से मुक्त हुए पुरुषों के द्वारा; स्व-हृदये—अपने हृदय के भीतर; परिभाविताय—ध्यान किये जाने वाले आपको; ज्ञान-आत्मने—समस्त ज्ञान के आगार; भगवते—भगवान् को; नमः—नमस्कार करता हूँ; ईश्वराय—परमनियन्ता को।

हे प्रभु! जो लोग भौतिक कल्मष से पूर्णतः मुक्त हैं, वे अपने अन्तस्थल में सदैव आपका ध्यान करते हैं। आप मुझ जैसों के लिए दुष्प्राप्य हैं, जो मनोरथ, घर, सम्बन्धियों, मित्रों, धन, नौकरों तथा सहायकों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं। आप प्रकृति के गुणों से निष्कलुषित भगवान् हैं। आप सारे ज्ञान के आगार, परमनियन्ता हैं। अतएव मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् इस भौतिक जगत में आते हैं, किन्तु वे प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहते हैं। इसकी पुष्टि *ईशोपनिषद्* द्वारा होती है—*अपापविद्धम्*—वे कलुषित नहीं होते। इसी तथ्य को यहाँ पर बताया गया है। *गुणसङ्ग-विवर्जिताय।* यद्यपि भगवान् इस भौतिक जगत में अवतार के रूप में प्रकट होते हैं, किन्तु वे प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.११) में कहा गया है—*अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्*—अल्पज्ञ एवं मूर्ख लोग भगवान् का उपहास करते हैं क्योंकि वे एक मनुष्य की भाँति प्रकट होते हैं। अतएव मुक्तात्मा ही भगवान् को समझ सकते हैं। *मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय*—केवल मुक्तात्मा ही कृष्ण के विषय में निरन्तर चिन्तन कर सकता है। ऐसा व्यक्ति सबसे बड़ा योगी होता है। (*भगवद्गीता* ६.४७)

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

"समस्त योगियों में से जो योगी दिव्य प्रेमाभक्ति से युक्त होकर मुझ में स्थित रहता है। मेरी पूजा करता है और वह योग में मुझसे घनिष्ठतापूर्वक युक्त हो जाता है और वही सर्वश्रेष्ठ है।"

यं धर्मकामार्थविमुक्तिकामा
भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति ।
किं चाशिषो रात्यपि देहमव्ययं
करोतु मेऽदभ्रदयो विमोक्षणम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यम्—जिस भगवान् को; धर्म-काम-अर्थ-विमुक्ति-कामाः—ऐसे व्यक्ति जो धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चार सिद्धान्तों की कामना करते हैं; भजन्तः—पूजा द्वारा; इष्टाम्—लक्ष्य को; गतिम्—गन्तव्य; आप्नुवन्ति—प्राप्त कर सकते हैं; किम्—क्या कहा जाये; च—भी; आशिषः—अन्य आशीर्वाद; राति—प्रदान करता है; अपि—भी; देहम्—शरीर को; अव्ययम्—आध्यात्मिक; करोतु—आशीष दें; मे—मुझको; अदभ्र-दयः—अत्यधिक दयालु भगवान्; विमोक्षणम्—वर्तमान संकट से तथा भौतिक जगत से मोक्ष।

भगवान् की पूजा करने पर जो लोग धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—इन चारों में रुचि रखते हैं, वे उनसे अपनी इच्छानुसार इन्हें प्राप्त कर सकते हैं। तो फिर अन्य आशीर्वादों के विषय में क्या कहा जा सकता है? कभी-कभी भगवान् ऐसे महत्वाकांक्षी पूजकों को आध्यात्मिक शरीर प्रदान करते हैं। जो भगवान् असीम कृपालु हैं, वे मुझे वर्तमान संकट से तथा भौतिकतावादी जीवन शैली से मुक्ति का आशीर्वाद दें।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में कुछ लोग *अकामी* होते हैं, कुछ *सकामी* तथा कुछ धर्म, अर्थ, काम एवं अन्ततः मोक्ष की कामना करते हैं।

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

(*भागवत २.३.१०*)

यह संस्तुति की गई है कि मनुष्य की चाहे जो भी स्थिति हो—चाहे वह भौतिक लाभ चाहता हो, या न चाहता हो, या अतंतः मोक्ष चाहता हो, उसे भगवान् की श्रद्धा-पूर्वक भक्ति करनी चाहिए। तभी उसे मनवांछित वस्तु प्राप्ति होगी। *ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*। भगवान् आदान-प्रदान करते हैं। यहाँ तक कि एक सामान्य जीव भी जो चाहता है, उसे कृष्ण प्रदान करते हैं। कृष्ण हर एक के हृदय में स्थित रहते हैं और जीव को मनवांछित वस्तु देते हैं।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

"हे अर्जुन! भगवान् सबों के हृदय में आसीन हैं और भौतिक शक्ति से निर्मित यंत्र पर आरूढ़ सारे जीवों को घुमाते रहते हैं।" (*भगवद्गीता* १.६१) भगवान् हर एक को अप नी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति का अवसर प्रदान करते हैं। यहाँ तक कि ध्रुव महाराज जैसे भक्त भी अपने पिता के साम्राज्य से अधिक बड़े साम्राज्य का वर चाहते थे। यद्यपि उन्हें आध्यात्मिक शरीर प्राप्त हुआ, किन्तु उन्हें साम्राज्य भी प्राप्त हुआ क्योंकि जो भी भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है उसे भगवान् निराश नहीं करते। चूँकि गजेन्द्र ने वर्तमान संकट से या यूँ कहें कि भौतिकतावादी जीवन के वर्तमान संकट से मुक्त होने के लिए शरण ग्रहण की थी तो भगवान् उसकी इच्छापूर्ति क्यों न करते?

एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं
वाञ्छन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः ।
अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमङ्गलं
गायन्त आनन्दसमुद्रमग्नाः ॥ २० ॥
तमक्षरं ब्रह्म परं परेश-
मव्यक्तमाध्यात्मिकयोगगम्यम् ।

अतीन्द्रियं सूक्ष्ममिवातिदूर-
मनन्तमाद्यं परिपूर्णमीडे ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

एकान्तिनः—अनन्य भक्त (जिन्हें कृष्णचेतना के अतिरिक्त अन्य कोई चाह नहीं रहती); यस्य—जिस भगवान् का; न—नहीं; कञ्चन—कुछ; अर्थम्—आशीष; वाञ्छन्ति—इच्छा करते हैं; ये—जो भक्त; वै—निस्सन्देह; भगवत्-प्रपन्नाः—भगवान् के चरणकमलों में पूरी तरह शरणागत; अति-अद्भुतम्—जो अद्‌भुत हैं; तत्-चरितम्—भगवान् के कार्यकलाप; सु-मङ्गलम्—तथा जो सुनने में अत्यन्त शुभ हैं; गायन्तः—कीर्तन तथा श्रवण द्वारा; आनन्द—दिव्य आनन्द रूपी; समुद्र—समुद्र में; मग्नाः—डूबे हुए; तम्—उनको; अक्षरम्—अक्षर; ब्रह्म—ब्रह्म; परम्—दिव्य; पर-ईशम्—परम पुरुषों के स्वामी को; अव्यक्तम्—अदृश्य अथवा मन तथा इन्द्रियों से अनुभव न किए जा सकने वाले; आध्यात्मिक—दिव्य; योग—भक्तियोग द्वारा; गम्यम्—प्राप्य (भक्त्या मामभिजानाति); अति-इन्द्रियम्—भौतिक इन्द्रियों की अनुभूति से परे; सूक्ष्मम्—सूक्ष्म; इव—सदृश; अति-दूरम्—अत्यन्त दूर; अनन्तम्—असीम; आद्यम्—आदि कारण को; परिपूर्णम्—सर्वतः पूर्ण; ईडे—मैं नमस्कार करता हूँ।

ऐसे अनन्य भक्त जिन्हें भगवान् की सेवा करने के अतिरिक्त अन्य कोई चाह नहीं रहती, वे पूर्णतः शरणागत होकर उनकी पूजा करते हैं और उनके आश्चर्यजनक तथा शुभ कार्यकलापों के विषय में सदैव सुनते तथा कीर्तन करते हैं। इस प्रकार वे सदैव दिव्य आनन्द के सागर में मग्न रहते हैं। ऐसे भक्त भगवान् से कोई वरदान नहीं माँगते, किन्तु मैं तो संकट में हूँ। अतएव मैं उन भगवान् की स्तुति करता हूँ जो शाश्वत रूप में विद्यमान हैं, जो अदृश्य हैं, जो ब्रह्मा जैसे महापुरुषों के भी स्वामी हैं और जो केवल दिव्य भक्तियोग द्वारा ही प्राप्य हैं। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण वे मेरी इन्द्रियों की पहुँच से तथा समस्त बाह्य अनुभूति से परे हैं। वे असीम हैं, वे आदि कारण हैं और सभी तरह से पूर्ण हैं। मैं उनको नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य :

अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

(*भक्ति रसामृतसिंधु* १.१.११)

"मनुष्य को चाहिए कि भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति, अनुकूल होकर तथा सकाम कर्म या दार्शनिक चिन्तन द्वारा किसी भौतिक लाभ की इच्छा के बिना करे। यह शुद्ध भक्ति कहलाती है।" अनन्य भक्तों को भगवान् से कुछ भी नहीं माँगना होता, किन्तु गजेन्द्र परिस्थितिवश अविलम्ब वर माँग रहा था क्योंकि उसके समक्ष बचाव का कोई अन्य उपाय नहीं था। कभी-कभी जब कोई विकल्प नहीं रहता तो शुद्ध भक्त भगवान् की कृपा पर पूर्णरूपेण आश्रित रहने के कारण किसी न किसी वर के लिए प्रार्थना करता है। किन्तु ऐसी प्रार्थना में खेद भी व्यक्त किया जाता है। जो भगवान् की दिव्य लीलाओं

के विषय में सदैव श्रवण तथा कीर्तन करता रहता है, वह सदैव ऐसे दिव्य पद पर स्थित रहता है जहाँ किसी भी भौतिक लाभ की याचना नहीं करनी पड़ती। जब तक कोई नितान्त शुद्ध भक्त नहीं होता तब तक वह *सङ्कीर्तन* आन्दोलन में कीर्तन करने तथा नाचने से मिलने वाले दिव्य आनन्द का भोग नहीं कर सकता। ऐसा आनन्द सामान्य भक्त को मिलना सम्भव नहीं है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने हमें दिखलाया है कि किस तरह भावविभोर होकर कीर्तन, श्रवण तथा नृत्य मात्र के द्वारा दिव्य आनन्द उठाया जा सकता है। यही भक्तियोग है। अतएव गजेन्द्र ने कहा—*आध्यात्मिक योगगम्यम्*—जिससे सूचित होता है कि जब तक कोई इस दिव्य पद पर स्थित न हो, तब तक वह भगवान् तक नहीं पहुँच सकता। भगवान् पास पहुँच सकने का वर अनेकानेक जन्मों के बाद प्राप्त होता है फिर भी श्री चैतन्य महाप्रभु ने यह वर सबों को प्रदान किया है—उन पतितात्माओं तक को जिनके पास आध्यात्मिक जीवन की कोई भी विरासत नहीं है। वास्तव में कृष्णभावनामृत आन्दोलन में ऐसा ही देखा जाता है। अतएव भक्तियोग का मार्ग वह निर्मल विधि है, जिससे भगवान् तक पहुँचा जा सकता है। *भक्त्याहमेकया ग्राह्यः*—केवल भक्ति के माध्यम से भगवान् तक पहुँचा जा सकता है। भगवान् *भगवद्गीता* (७.१) में कहते हैं—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥

"हे पृथापुत्र (अर्जुन)! अब सुनो कि किस तरह मेरी भावना से पूर्णतया भावित होकर योगाभ्यास करने और मन को मुझमें अनुरक्त करने से तुम मुझे पूरी तरह संशयरहित होकर जान सकते हो।" मात्र कृष्णभावनामृत में अनुरक्त होने तथा निरन्तर कृष्ण के चरणकमलों के चिन्तन से मनुष्य भगवान् को संशयरहित पूरी तरह जान सकता है।

यस्य ब्रह्मादयो देवा वेदा लोकाश्चराचराः ।
नामरूपविभेदेन फल्ग्व्या च कलया कृताः ॥ २२॥

यथार्चिषोऽग्नेः सवितुर्गभस्तयो
निर्यान्ति संयान्त्यसकृत्स्वरोचिषः ।
तथा यतोऽयं गुणसम्प्रवाहो
बुद्धिर्मनः खानि शरीरसर्गाः ॥ २२॥

स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ्

न स्त्री न षण्ढो न पुमान्न जन्तुः ।
नायं गुणः कर्म न सन्न चासन्
निषेधशेषो जयतादशेषः ॥ २२॥

शब्दार्थ

यस्य—भगवान् का; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा इत्यादि देवता; देवाः—तथा अन्य देवता; वेदाः—वैदिक ज्ञान; लोकाः—विभिन्न पुरुष; चर-अचराः—जड़ (यथा वृक्ष) तथा चेतन; नाम-रूप—विभिन्न नामों तथा विभिन्न रूपों के; विभेदेन—ऐसे विभागों द्वारा; फल्व्या—कम महत्त्वपूर्ण; च—भी; कलया—अंशों से; कृताः—उत्पन्न; यथा—जिस तरह; अर्चिषः—स्फुलिंग; अग्नेः—अग्नि के; सवितुः—सूर्य से; गभस्तयः—चमकीले कण; निर्यान्ति—बाहर निकलते हैं; संयान्ति—तथा प्रवेश करते हैं; असकृत्—पुनः पुनः; स्व-रोचिषः—अंशरूप; तथा—उसी प्रकार से; यतः—भगवान् जिससे; अयम्—यह; गुण-सम्प्रवाहः—प्रकृति के विभिन्न गुणों का निरन्तर प्राकट्य; बुद्धिः मनः—बुद्धि तथा मन; खानि—इन्द्रियाँ; शरीर—शरीर की (स्थूल तथा सूक्ष्म); सर्गाः—विभाग; सः—वह परमात्मा; वै—निस्सन्देह; न—नहीं है; देव—देवता; असुर—असुर; मर्त्य—मनुष्य; तिर्यक्—पक्षी या पशु; न—न तो; स्त्री—स्त्री; न—न तो; षण्ढः—क्लीव; न—न तो; पुमान्—मनुष्य; न—न तो; जन्तुः—जीव या पशु; न अयम्—न तो वह है; गुणः—भौतिक गुण; कर्म—सकाम कर्म; न—न तो; सत्—प्राकट्य; न—न तो; च—भी; असत्—अप्राकट्य; निषेध—नेति-नेति का भेदभाव; शेषः—वह अन्त है; जयतात्—उनकी जय हो; अशेषः—जो अनन्त है।

भगवान् अपने सूक्ष्म अंश जीव तत्त्व की सृष्टि करते हैं जिसमें ब्रह्मा, देवता तथा वैदिक ज्ञान के अंग (साम, ऋग्, यजुर् तथा अथर्व) से लेकर अपने-अपने नामों तथा गुणों सहित समस्त चर तथा अचर प्राणी सम्मिलित हैं। जिस प्रकार अग्नि के स्फुलिंग या सूर्य की चमकीली किरणें अपने स्त्रोत से निकल कर पुनः उसी में समा जाती हैं उसी प्रकार मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, स्थूल भौतिक तथा सूक्ष्म भौतिक शरीर तथा प्रकृति के गुणों के सतत रूपान्तर (विकार)—ये सभी भगवान् से उद्भूत होकर पुनः उन्हीं में समा जाते हैं। वे न तो देव हैं न दानव, न मनुष्य न पक्षी या पशु हैं। वे न तो स्त्री या पुरुष या क्लीव हैं और न ही पशु हैं। न ही वे भौतिक गुण, सकाम कर्म, प्राकट्य या अप्राकट्य हैं। वे ''नेति-नेति'' का भेदभाव करने में अन्तिम शब्द हैं और वे अनन्त हैं। उन भगवान् की जय हो।

तात्पर्य : यह भगवान् की असीम शक्ति का संक्षिप्त वर्णन है। परम पुरुष अपने अंशों को प्रकट करके विभिन्न अवस्थाओं में कर्म करते हैं और ये अंश उनकी विभिन्न शक्तियों (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*) के रूप में एकसाथ भिन्न-भिन्न रूप में स्थित हैं। प्रत्येक शक्ति सहज रूप से कार्यशील है (*स्वाभाविकी ज्ञान बलक्रिया च*)। अतएव भगवान् अनन्त हैं। *न तत् समश्चाभ्याधिकश्च दृश्यते*—न तो कुछ उनके तुल्य हैं, न कोई वस्तु उनसे बढ़कर है। यद्यपि वे अनेक प्रकार से अपने को प्रकट करते हैं लेकिन उन्हें स्वयं कुछ भी नहीं करना होता (*न तस्य कार्यं करणं च विद्यते*) क्योंकि उनकी असीम शक्तियों के विस्तारों से ही सब कुछ किया जाता है।

जिजीविषे नाहमिहामुया कि-
मन्तर्बहिश्चावृतयेभयोन्या ।
इच्छामि कालेन न यस्य विप्लव-
स्तस्यात्मलोकावरणस्य मोक्षम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

जिजीविषे—दीर्घकाल तक रहने की इच्छा; न—नहीं; अहम्—मैं; इह—इस जीवन में; अमुया—या अगले जीवन में (इस संकट से बच जाने पर मैं जीना नहीं चाहता); किम्—क्या लाभ; अन्त:—भीतर से; बहि:—बाहर से; च—तथा; आवृतया—अज्ञान से आच्छादित; इभ-योन्या—हाथी रूप इस जन्म में; इच्छामि—मेरी इच्छा है; कालेन—काल के प्रभाव से; न—नहीं है; यस्य—जिसका; विप्लव:—संहार; तस्य—उस; आत्म-लोक-आवरणस्य—आत्म-साक्षात्कार के आवरण से; मोक्षम्—मोक्ष।

घड़ियाल के आक्रमण से मुक्त किये जाने के बाद मैं और आगे जीवित रहना नहीं चाहता। हाथी के शरीर से क्या लाभ जो भीतर तथा बाहर से अज्ञान से आच्छादित हो? मैं तो अज्ञान के आवरण से केवल नित्य मोक्ष की कामना करता हूँ। यह आवरण काल के प्रभाव से विनष्ट नहीं होता।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में प्रत्येक जीव अज्ञान के अंधकार से आच्छादित है। इसलिए वेदों का आदेश है कि मनुष्य को गुरु के माध्यम से भगवान् तक पहुँचना चाहिए जिनका वर्णन तथा स्तुति *गौतमीय तन्त्र* में इस प्रकार की गई है—

ॐ अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ॥

"मैं अपने गुरु को सादर नमस्कार करता हूँ जिन्होंने ज्ञान के दीपक से मेरी उन आँखों को खोल दिया है, जो अज्ञान के अंधकार से अंधी हो चुकी थीं।" भले ही मनुष्य इस जगत में जीवन-संघर्ष क्यों न करे, किन्तु उसके लिए सदैव जीवित रह पाना असम्भव है। फिर भी मनुष्य को समझना चाहिए कि यह जीवन-संघर्ष अज्ञान के कारण है, क्योंकि प्रत्येक जीव परमेश्वर का नित्य अंश है। किसी को हाथी या भारतीय या अमरीकी पुरुष के रूप में जीवित रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। मनुष्य को जन्म-मृत्यु के चक्कर से मुक्ति प्राप्त करने की एकमात्र कामना करनी चाहिए। अज्ञान के कारण प्रकृति द्वारा प्रदत्त प्रत्येक जीवन को हम सुखी तथा आनन्ददायक मानते हैं, किन्तु इस भौतिक जगत के पतित जीवन में ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक कोई भी वास्तव में सुखी नहीं है। हम सुखपूर्वक रहने के लिए अनेक योजनाऐ बनाते हैं, किन्तु इस भौतिक जगत में कोई सुखी नहीं हो सकता भले ही हम इस

जीवन में या उस जीवन में स्थायी आवास बनाने का कितना ही प्रयत्न क्यों न करें।

सोऽहं विश्वसृजं विश्वमविश्वं विश्ववेदसम् ।
विश्वात्मानमजं ब्रह्म प्रणतोऽस्मि परं पदम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अहम्—मैं (भौतिक जीवन से छुटकारा चाहने वाला); विश्व-सृजम्—इस विश्व का सृजन करने वाले को; विश्वम्—जो स्वयं सम्पूर्ण विश्व स्वरूप है; अविश्वम्—विश्व से परे; विश्व-वेदसम्—इस विश्व के ज्ञाता को या इस विश्व के अवयव को; विश्व-आत्मानम्—विश्व की आत्मा को; अजम्—अजन्मा को; ब्रह्म—परम; प्रणतः अस्मि—नमस्कार करता हूँ; परम्—दिव्य; पदम्—आश्रय, शरण।

भौतिक जीवन से मोक्ष की कामना करता हुआ अब मैं उस परम पुरुष को सादर नमस्कार करता हूँ जो इस ब्रह्माण्ड का स्रष्टा है, जो साक्षात् विश्व का स्वरूप होते हुए भी इस विश्व से परे है। वह इस जगत में हर वस्तु का परम ज्ञाता है, ब्रह्माण्ड का परमात्मा है। वह अजन्मा है और परम पद पर स्थित भगवान् है। उसे मैं सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : कभी-कभी जब सामान्य व्यक्ति को भक्तियोग या कृष्णभावनामृत का उपदेश दिया जाता है, तो लोग तर्क करते हैं "कहाँ हैं कृष्ण? कहाँ है ईश्वर? क्या आप हमें उनका दर्शन करा सकते हैं?" इस श्लोक में इसका उत्तर मिलता है कि यदि हम पर्याप्त बुद्धिमान् हैं, तो हमें यह जानना चाहिए कि कोई ऐसा भी है, जिसने सम्पूर्ण विश्व की रचना की है, जिसने इस विश्व के लिए अवयव प्रदान किये और स्वयं अवयव बन गया, जो नित्य है, किन्तु इस विश्व के भीतर नहीं है। केवल इसी बात पर भगवान् को सादर नमस्कार किया जा सकता है। भक्तिमय जीवन की यही शुरुआत है।

योगरन्धितकर्माणो हृदि योगविभाविते ।
योगिनो यं प्रपश्यन्ति योगेशं तं नतोऽस्म्यहम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

योग-रन्धित-कर्माणः—ऐसे व्यक्ति जिनके सकाम कर्मों के फल भक्तियोग द्वारा जलाये जा चुके हैं; हृदि—हृदय में; योग-विभाविते—पूर्णतः शुद्ध तथा विमल; योगिनः—दक्ष योगी; यम्—भगवान् को; प्रपश्यन्ति—प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं; योग-ईशम्—समस्त योग के स्वामी, भगवान् को; तम्—उसको; नतः अस्मि—नमस्कार करता हूँ; अहम्—मैं।

मैं उन ब्रह्म, परमात्मा, समस्त योग के स्वामी को सादर नमस्कार करता हूँ जो सिद्ध योगियों द्वारा अपने हृदयों में तब देखे जाते हैं जब उनके हृदय भक्तियोग के अभ्यास द्वारा सकाम कर्मों के फलों से पूर्णतया शुद्ध तथा मुक्त हो जाते हैं।

तात्पर्य : गजेन्द्र ने इतना ही स्वीकार किया कि कोई न कोई ऐसा होगा जिसने इस ब्रह्माण्ड की

रचना की है और इसको अवयव प्रदान किये हैं। इतना तो हर एक को, यहाँ तक कि कट्टर नास्तिक को भी मान लेना चाहिए। तो फिर अभक्त तथा सामान्य नास्तिक इसे क्यों नहीं स्वीकार करते? इसका कारण यह है कि वे अपने सकाम कर्मों के फलों से दूषित रहते हैं। मनुष्य को एक के बाद एक सम्पन्न किए गए सकाम कर्मों के फलस्वरूप हृदय में जमी हुई धूल से मुक्त होना चाहिए। उसे भक्तियोग के अभ्यास से इस धूल को धो डालना चाहिए। *योगरन्धित कर्माण: ।* जब तक मनुष्य भौतिक प्रकृति के रजो तथा तमो गुणों से आच्छादित है तब तक भगवान् को जान पाने की कोई सम्भावना नहीं है। *तदा रजस्तमो भावा: कामलोभादयश्च ये।* जब मनुष्य रजो तथा तमो गुणों से मुक्त हो जाता है, तो वह काम तथा लोभ जैसे निम्नतम दुर्गुणों से मुक्त हो जाता है।

आजकल ऐसी बहुत सी योग की पाठशालाएँ हैं, जो लोगों को योग के अभ्यास से काम तथा लोभ विकसित करने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। अतएव लोग तथाकथित योग अभ्यास के लिए अत्यन्त लालायित रहते हैं। किन्तु योग की वास्तविक विधि यहाँ पर वर्णित है। जैसाकि अधिकृत रूप में *श्रीमद्भागवत* (१२.१३.१) में कहा गया है—*ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिन:*— योगी वह है, जो भगवान् के चरणकमलों का सदैव ध्यान करता है। इसी की पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (५.३) में भी हुई है—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन

सन्त: सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो साक्षात् श्यामसुन्दर या कृष्ण हैं, जिनके गुण अचिन्त्य एवं असंख्य हैं, जिन्हें शुद्ध भक्त अपने हृदयों में प्रेम रूपी अञ्जन लगी हुई भक्तिमयी आँखों से देखते हैं।'' भक्तियोगी श्यामसुन्दर को—श्याम वर्ण वाले सुन्दर कृष्ण को—निरन्तर देखता है। चूँकि गजेन्द्र अपने को सामान्य पशु समझ रहा था अतएव उसने अपने आपको भगवान् का दर्शन पाने के लिए अयोग्य समझा। विनयवश उसने सोचा कि वह योग का अभ्यास नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में, भला ऐसे लोग जो देहात्मबुद्धि के कारण पशुओं के समान हैं और जिनकी चेतना शुद्ध नहीं है योग का

अभ्यास कैसे कर सकते हैं? वर्तमान काल में जिन लोगों की इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं, जिन्हें दर्शन का ज्ञान नहीं है और जो धर्म के सिद्धान्तों या विधि-विधानों का पालन नहीं करते, वे भी योगी होने का अभिनय करते हैं। योग अभ्यास में यह सबसे बड़ी विडम्बना है।

नमो नमस्तुभ्यमसह्यवेग
शक्तित्रयायाखिलधीगुणाय ।
प्रपन्नपालाय दुरन्तशक्तये
कदिन्द्रियाणामनवाप्यवर्त्मने ॥ २ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार करता हूँ; नमः—पुनः नमस्कार है; तुभ्यम्—तुमको; असह्य—दुस्तर; वेग—वेग, प्रवाह; शक्ति-त्रयाय—तीन शक्तियों वाले परम पुरुष को; अखिल—ब्रह्माण्ड का; धी—बुद्धि के लिए; गुणाय—इन्द्रिय-विषयों के रूप में प्रकट होने वाले; प्रपन्न-पालाय—शरणागतों को शरण देने वाले ब्रह्म को; दुरन्त-शक्तये—दुर्जय शक्ति वाले; कत्-इन्द्रियाणाम्—उन व्यक्तियों द्वारा जो इन्द्रिय-संयम करने में अक्षम हैं; अनवाप्य—दुर्लभ; वर्त्मने—पथ पर।

हे प्रभु! आप तीन प्रकार की शक्तियों के दुस्तर वेग के नियामक हैं। आप समस्त इन्द्रियसुख के आगार हैं और शरणागत जीवों के रक्षक हैं। आप असीम शक्ति के स्वामी हैं, किन्तु जो लोग अपनी इन्द्रियों को वश में रखने में अक्षम हैं, वे आप तक नहीं पहुँच पाते। मैं आपको बारम्बार सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : आसक्ति, लोभ तथा काम—ये तीन दुस्तर वेग हैं, जो भगवान् के चरणकमलों पर मन को एकाग्र करने में बाधक होते हैं। ये वेग इसलिए कार्यशील रहते हैं क्योंकि भगवान् नहीं चाहते कि अभक्तों तथा नास्तिकों को उनका साक्षात्कार हो। किन्तु भगवान् के चरणकमलों की शरण लेने पर ये अवरोध हट जाते हैं और भगवान् का साक्षात्कार हो सकता है। अतएव भगवान् शरणागतों के रक्षक हैं। भगवान् के चरणकमलों की शरण में गये बिना कोई व्यक्ति भक्त नहीं बन सकता। तब भगवान् उसे भीतर से बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वह भगवद्धाम वापस जा सकता है।

नायं वेद स्वमात्मानं
यच्छक्त्याहंधिया हतम् ।
तं दुरत्ययमाहात्म्यं
भगवन्तमितोऽस्म्यहम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अयम्—सामान्य लोग; वेद—जानते हैं; स्वम्—अपनी; आत्मानम्—पहचान; यत्-शक्त्या—जिसके प्रभाव से; अहम्—मैं स्वतंत्र हूँ; धिया—इस बुद्धि से; हतम्—पराजित या आच्छादित; तम्—उसको; दुरत्यय—समझने में कठिन; माहात्म्यम्—जिसका यश; भगवन्तम्—भगवान् का; इतः—शरण लेकर; अस्मि अहम्—मैं हूँ।

मैं उन भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ जिनकी माया से ईश्वर का अंश जीव देहात्मबुद्धि के कारण अपनी असली पहचान को भूल जाता है। मैं उन भगवान् की शरण ग्रहण करता हूँ जिनके यश को समझ पाना कठिन है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है प्रत्येक जीव—चाहे वह मनुष्य हो, देवता, पशु, पक्षी, मक्खी या कुछ और हो—भगवान् का अंश है। भगवान् तथा जीव पिता तथा पुत्र के समान घनिष्ठतापूर्वक जुड़े हैं। दुर्भाग्यवश, भौतिक सम्पर्क के कारण, जीव इसे भूल जाता है और अपनी ही योजना के अनुसार स्वतंत्र रूप से भौतिक जगत का भोग करना चाहता है। इस माया को पार कर पाना अत्यन्त कठिन है। माया जीव को आच्छादित कर लेती है क्योंकि जीव भगवान् को भूलना चाहता है और इस जगत का भोग करने के लिए अपनी योजना बनाना चाहता है। जब तक यह कलुष (कल्मष) बना रहता है तब तक बद्धजीव अपनी वास्तविक पहचान को समझने में असमर्थ बना रहेगा और जन्म-जन्मांतर भ्रम में पड़ा रहेगा। *अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तैर्जनस्य मोहोऽयम् अहं ममेति* (*भागवत* ५.५.)। जब तक जीव इतना प्रबुद्ध नहीं हो लेता कि वह अपनी वास्तविक स्थिति को समझ सके तब तक वह भौतिकतावादी जीवन के प्रति तथा घर, देश अथवा क्षेत्र, समाज, पुत्र, परिवार, जाति, बैंक बचत आदि के प्रति आकृष्ट रहता रहेगा। इन सबसे आच्छादित होने से वह सोचता रहेगा "मैं यह शरीर हूँ और इससे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु मेरी है।" इस भौतिकवादी देहात्मबुद्धि से ऊपर उठ पाना अत्यन्त कठिन है, किन्तु जो भगवान् के शरणागत हो जाता है, जैसाकि गजेन्द्र ने किया, वह ब्रह्मपद को प्राप्त करके प्रबुद्ध हो जाता है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

"जो अध्यात्मपद पर स्थित है उसे तुरन्त ही परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है और वह पूर्ण प्रसन्न हो जाता है। वह न तो पछताता है, न ही किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा करता है। वह समस्त जीवों के प्रति समान भाव रखता है। उस अवस्था में वह मेरी शुद्धभक्ति को प्राप्त करता है।" (*भगवद्गीता* १.५४)। चूँकि भक्त पूर्णरूपेण ब्रह्मपद पर रहता है अतएव वह किसी अन्य जीव से

ईर्ष्या नहीं करता (*समः सर्वेषु भूतेषु*)।

श्रीशुक उवाच

एवं गजेन्द्रमुपवर्णितनिर्विशेषं
ब्रह्मादयो विविधलिङ्गभिदाभिमानाः ।
नैते यदोपससृपुर्निखिलात्मकत्वात्
तत्राखिलामरमयो हरिराविरासीत् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; गजेन्द्रम्—गजेन्द्र को; उपवर्णित—जिसका वर्णन; निर्विशेषम्—किसी विशेष व्यक्ति के लिए न होकर (किन्तु ब्रह्म के लिए यद्यपि वह यह नहीं जानता था कि ब्रह्म कौन है); ब्रह्मा-आदयः—ब्रह्मा, शिव, इन्द्र तथा चन्द्र जैसे देवता; विविध—नाना प्रकार के; लिङ्ग-भिदा—पृथक्-पृथक् स्वरूपों से; अभिमानाः—अपने को पृथक् सत्ता मानते हुए; न—नहीं; एते—सभी; यदा—जब; उपससृपुः—पास आया; निखिल-आत्मकत्वात्—भगवान् के हरएक के परमात्मा होने से; तत्र—वहाँ; अखिल—ब्रह्माण्ड का; अमर-मयः—देवताओं से युक्त (जो शरीर के केवल बाहरी अंग हैं); हरिः—भगवान्, जो हर वस्तु का हरण कर सकते हैं; आविरासीत्—प्रकट हुआ (हाथी के समक्ष)।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : जब गजेन्द्र किसी व्यक्ति विशेष का नाम न लेकर परम पुरुष का वर्णन कर रहा था, तो उसने ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, चन्द्र इत्यादि देवताओं का आह्वान नहीं किया। अतएव इनमें से कोई भी उसके पास नहीं आये। किन्तु चूँकि भगवान् हरि परमात्मा, पुरुषोत्तम हैं अतएव वे गजेन्द्र के समक्ष प्रकट हुए।

तात्पर्य : गजेन्द्र के वर्णन से लग रहा है कि वह किसी परम सत्ता को लक्ष्य कर रहा था, यद्यपि उसे यह कोई पता न था कि यह परम सत्ता कौन है। उसने अटकल लगाई "ऐसी कोई परम सत्ता अवश्य है, जो सबों से ऊपर है।" ऐसी स्थिति में भगवान् के विविध अंशों ने यथा ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, चन्द्र इत्यादि ने सोचा कि यह तो सहायता के लिए हमें नहीं बुला रहा, यह तो उस ब्रह्म को बुला रहा है; जो हम सबों के ऊपर हैं। जैसाकि गजेन्द्र ने वर्णन किया है, भगवान् के विविध अंश हैं जिनमें देवता, मनुष्य तथा पशु सम्मिलित हैं, जो विभिन्न रूपों से आच्छादित हैं। यद्यपि देवताओं के जिम्मे ब्रह्माण्ड के विविध भागों की देखभाल का उत्तरदायित्व है, किन्तु गजेन्द्र ने सोचा कि ये सब उसकी रक्षा कर पाने में असमर्थ हैं। *हरिं विना नैव मृतिं तरन्ति*—कोई भी व्यक्ति किसी को जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के संकट से बचा नहीं सकता। केवल भगवान् ही संसार के खतरों से रक्षा कर सकते हैं। अतएव इस भयानक संसारी से मुक्त होने के लिए बुद्धिमान् व्यक्ति भगवान् के पास जाता है, किसी देवता के पास नहीं। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.२०) में पुष्टि की गई है—*कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः*

प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः—जो लोग अज्ञानी हैं, वे क्षणिक भौतिक लाभ के लिए विभिन्न देवताओं के पास जाते हैं, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि ये देवता जीव को भौतिक संसार के खतरों से बचा नहीं सकते। अन्य जीवों की तरह देवता भी भगवान् के दिव्य शरीर के बाह्य अंग मात्र हैं। जैसाकि वैदिक मंत्रों में कहा गया है—*स आत्मा अङ्गान्यन्या देवताः।* शरीर के भीतर आत्मा रहता है और शरीर के विभिन्न भाग यथा हाथ-पाँव बाह्य हैं। इसी प्रकार समग्र विश्व की आत्मा नारायण या भगवान् विष्णु हैं और सारे देवता, मनुष्य तथा अन्य जीव उनके शरीर के अंग हैं।

यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चूँकि वृक्ष अपनी जड़ों के बल पर जीवित रहता है और जब जड़ों को पानी दिया जाता है, तो वृक्ष के सारे अंगों को भोजन मिल जाता है उसी तरह मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् की वह पूजा करे जो सबों के आदि मूल हैं। यद्यपि भगवान् के पास तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है, किन्तु वे हमारे अत्यन्त समीप रहते हैं क्योंकि उनका वास हमारे हृदयों में होता है। ज्योंही भगवान् यह समझ लेते हैं कि कोई मनुष्य पूर्णतया उनकी शरण में आकर कृपायाचना कर रहा है त्योंही वे तुरन्त कार्यवाही करते हैं। फलतः गजेन्द्र की रक्षा करने के लिए यद्यपि देवता नहीं आये किन्तु उसकी भावप्रवण स्तुति के कारण भगवान् तुरन्त ही उसके समक्ष प्रकट हुए। इसका अर्थ यह नहीं है कि देवता गजेन्द्र से अप्रसन्न थे बल्कि वास्तव में जब विष्णु की पूजा की जाती है, तो अन्य सारे देवताओं की भी पूजा हो जाती है। *यस्मिन् तुष्टे जगत् तुष्टम्*—यदि भगवान् प्रसन्न हैं, तो सभी प्रसन्न हैं।

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥

''जिस प्रकार वृक्ष की जड़ में पानी डालने से तना, शाखाएँ तथा अन्य सभी भाग ऊर्जित हो उठते हैं, जिस प्रकार उदर में भोजन के पहुँचने से इन्द्रियाँ तथा शरीर के अंग चैतन्य हो उठते हैं उसी प्रकार भक्ति द्वारा भगवान् की पूजा करने से भगवान् के अंश रूप देवता स्वतः संतुष्ट हो जाते हैं। (*भागवत* ४.३१.१४)। जब भगवान् की पूजा की जाती है, तो सारे देवता तुष्ट हो जाते हैं।

तं तद्वदार्तमुपलभ्य जगन्निवासः

स्तोत्रं निशम्य दिविजैः सह संस्तुवद्धिः ।
छन्दोमयेन गरुडेन समुह्यमान-
श्चक्रायुधोऽभ्यगमदाशु यतो गजेन्द्रः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (गजेन्द्र को); तद्वत्—उस तरह से; आर्तम्—दुखी (घड़ियाल के आक्रमण से); उपलभ्य—समझकर; जगत्-निवासः—भगवान्, जो सर्वत्र विद्यमान हैं; स्तोत्रम्—स्तुति; निशम्य—सुनकर; दिविजैः—स्वर्गलोक के निवासियों के; सह—साथ; संस्तुवद्धिः—स्तुति करने वालों के द्वारा; छन्दोमयेन—उनकी इच्छित गति से; गरुडेन—गरुड़ द्वारा; समुह्यमानः—ले जाये जाकर; चक्र—चक्रधारण किये हुए; आयुधः—अन्य हथियार यथा गदा; अभ्यगमत्—आ गये; आशु—तुरन्त; यतः—जहाँ; गजेन्द्रः—गजेन्द्र स्थित था।

गजेन्द्र के प्रार्थना करने के कारण उसकी विकट स्थिति को समझने के पश्चात् सर्वत्र निवास करने वाले भगवान् हरि देवताओं समेत वहाँ प्रकट हुए। ये देवता उनकी स्तुति कर रहे थे। अपने हाथों में चक्र तथा अन्य आयुध लिए और अपने वाहन गरुड़ की पीठ पर सवार होकर वे तीव्र गति से अपनी इच्छानुसार गजेन्द्र के समक्ष प्रकट हुए।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने विशेष रूप से संकेत किया है कि चूँकि गजेन्द्र अत्यधिक संकट में था और भगवान् से कृपा करने के लिए प्रार्थना कर रहा था अतएव देवता वहाँ जाने से सकुचाये यद्यपि वे रक्षा करने के लिए तुरन्त जा सकते थे। चूँकि उन्होंने सोचा कि गजेन्द्र की प्रार्थना भगवान् को लक्षित करके की गई है, अतः उन्होंने इसे अपमान समझा, किन्तु यह स्वयं में एक अपराध था। फलस्वरूप जब भगवान् वहाँ गये तो वे भी गये और उन्होंने भगवान् की स्तुति की जिससे उनका अपराध क्षमा हो सके।

सोऽन्तःसरस्युरुबलेन गृहीत आर्तो
दृष्ट्वा गरुत्मति हरिं ख उपात्तचक्रम् ।
उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रा-
न्नारायणाखिलगुरो भगवन्नमस्ते ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (गजेन्द्र); अन्तः-सरसि—जल में; उरु-बलेन—बलपूर्वक; गृहीतः—जो घड़ियाल द्वारा पकड़ा गया था; आर्तः—तथा अत्यन्त पीड़ित; दृष्ट्वा—देखकर; गरुत्मति—गरुड़ की पीठ पर; हरिम्—भगवान् को; खे—आकाश में; उपात्त-चक्रम्—अपना चक्र घुमाते; उत्क्षिप्य—उठा कर; स-अम्बुज-करम्—कमल का फूल लिए अपनी सूंड़ को; गिरम्-आह—शब्द कहे; कृच्छ्रात्—कठिनाई से; नारायण—हे भगवान्, नारायण; अखिल-गुरो—हे विश्व के स्वामी; भगवन्—हे भगवान्; नमः ते—मैं नमस्कार करता हूँ।

घड़ियाल ने गजेन्द्र को जल में बलपूर्वक पकड़ रखा था जिससे वह अत्यधिक पीड़ा का अनुभव कर रहा था, किन्तु जब उसने देखा कि नारायण अपना चक्र घुमाते हुए गरुड़ की पीठ

पर बैठ कर आकाश में आ रहे हैं, तो उसने तुरन्त ही अपनी सूंड़ में कमल का एक फूल ले लिया और अपनी वेदना के कारण अत्यन्त कठिनाई से निम्नलिखित शब्द कहे ''हे भगवान्, नारायण, हे ब्रह्माण्ड के स्वामी! हे परमेश्वर! मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।''

तात्पर्य : गजेन्द्र भगवान् का दर्शन पाने के लिए इतना इच्छुक था कि जब उसने भगवान् को आकाश में आते देखा तो उसने अत्यन्त पीड़ा से तथा मन्द स्वर में भगवान् को नमस्कार किया। भक्त भयावह स्थिति को भी भयानक नहीं मानता क्योंकि ऐसी संकटपूर्ण स्थिति में वह अत्यन्त आनन्द से भगवान् से प्रार्थना कर सकता है। इस प्रकार भक्त संकट को एक सुअवसर मानता है। *तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाण: ।* जब भक्त विकट संकट में होता है, तो वह इस संकट को भगवान् की महती कृपा मानता है क्योंकि यह संकट भगवान् का निष्ठापूर्वक तथा एकाग्र चित्त से चिन्तन करने का अवसर प्रदान करता है। *तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमानो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्* (*भागवत* १०.१४.)। वह भगवान् पर दोषारोपण नहीं करता कि उनके कारण भक्त ऐसी संकटपूर्ण स्थिति में फँस गया है प्रत्युत वह अपनी संकटपूर्ण स्थिति को अपने विगत दुष्कर्मों का फल मानता है और इस अवसर को भगवान् की प्रार्थना करने का सुयोग समझता है और भगवान् को धन्यवाद देता है कि उसे ऐसा अवसर मिला। जब भक्त इस प्रकार रहता है, तो उसकी मुक्ति—भगवद्धाम-पुनरागमन—सुनिश्चित रहती है। हम इसे गजेन्द्र के उदाहरण से सत्य मान सकते हैं क्योंकि उसने अत्यन्त आतुरता से भगवान् की प्रार्थना की और इस तरह उसे तुरन्त भगवद्धाम लौटने का अवसर प्राप्त हो गया।

तं वीक्ष्य पीडितमज: सहसावतीर्य
सग्राहमाशु सरस: कृपयोज्जहार ।
ग्राहाद्विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्रं
संपश्यतां हरिरमूमुचदुच्छ्रियाणाम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (गजेन्द्र को); वीक्ष्य—(उस अवस्था में) देख कर; पीडितम्—पीड़ित; अज:—अजन्मा भगवान्; सहसा—अचानक; अवतीर्य—(गरुड़ से) उतरकर; स-ग्राहम्—घड़ियाल सहित; आशु—तुरन्त; सरस:—जल से; कृपया—कृपा करके; उज्जहार—बाहर निकाल लिया; ग्राहात्—घड़ियाल से; विपाटित—अलग किया; मुखात्—मुख से; अरिणा—चक्र से; गजेन्द्रम्—गजेन्द्र को; सम्पश्यताम्—जो देख रहे थे; हरि:—भगवान्; अमूम्—उसको (गजेन्द्र को); उचत्—बचा लिया; उच्छ्रियाणाम्—सभी देवताओं की उपस्थिति में।

तत्पश्चात् गजेन्द्र को ऐसी पीड़ित अवस्था में देखकर, अजन्मा भगवान् हरि तुरन्त अहैतुकी

कृपावश गरुड़ की पीठ से नीचे उतरे और गजेन्द्र को घड़ियाल समेत जल के बाहर खींच लाये। तब समस्त देवताओं की उपस्थिति में जो सारा दृश्य देख रहे थे, भगवान् ने अपने चक्र से घड़ियाल के मुख को उसके शरीर से पृथक् कर दिया। इस प्रकार उन्होंने गजेन्द्र को बचा लिया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कंध के अन्तर्गत ''गजेन्द्र की समर्पण-स्तुति'' नामक तीसरे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चार

गजेन्द्र का वैकुण्ठ गमन

इस अध्याय में गजेन्द्र तथा घड़ियाल के पूर्व जन्मों का वर्णन हुआ है। इसमें बताया गया है कि किस तरह घड़ियाल गन्धर्व और गजेन्द्र भगवान् का पार्षद बना।

गन्धर्व लोक में हूहू नाम का एक राजा रहता था। एक बार जब वह स्त्रियों के साथ जल-क्रीड़ा कर रहा था, तो उसने स्नान करते हुए देवल ऋषि का पाँव खींच लिया। इस पर ऋषि अत्यन्त क्रुद्ध हो गये और उसे तुरन्त घड़ियाल बनने का शाप दे डाला। जब हूहू को इस तरह शाप मिल गया तो वह अत्यन्त दुखी हुआ और उसने ऋषि से क्षमा माँगी। ऋषि को दया आ गई; अतएव उन्होंने वर दिया कि जब गजेन्द्र का उद्धार भगवान् द्वारा होगा तो वह मुक्त हो जायेगा। इस तरह जब नारायण ने घड़ियाल को मार डाला तो उसका उद्धार हो गया।

भगवान् की कृपा से जब गजेन्द्र वैकुण्ठ में भगवान् का पार्षद बना तो उसे चार हाथ मिल गये। यह उपलब्धि *सारूप्य मुक्ति* कहलाती है—नारायण के ही समान आध्यात्मिक शरीर प्राप्त करने की मुक्ति। यह गजेन्द्र पूर्व-जन्म में भगवान् विष्णु का महान् भक्त रहा था। उसका नाम इन्द्रद्युम्न था और वह तामिल देश का राजा था। वैदिक सिद्धान्तों का पालन करते हुए इस राजा ने गृहस्थ-जीवन त्याग दिया और वह मलयाचल पर्वत में एक छोटी सी कुटी बना कर मौन भाव से भगवान् की सदैव पूजा करने लगा। एक बार अगस्त्य ऋषि अपने अनेक शिष्यों समेत इन्द्रद्युम्न के आश्रम पधारे, किन्तु भगवान् के ध्यान में तल्लीन रहने के कारण वह राजा उनका उचित सत्कार न कर सका। अतएव ऋषि अत्यन्त क्रुद्ध हो गये और उन्होंने राजा को आलसी हाथी बनने का शाप दे डाला। इस शाप के अनुसार

राजा ने हाथी के रूप में जन्म लिया और वह भक्ति के अपने पहले सारे कार्यों को भूल गया। तो भी अपने हाथी जन्म में, जब घड़ियाल ने उस पर घोर आक्रमण किया, तो उसे अपना भक्ति-पूर्ण पूर्वजीवन याद आया और उस जीवन में उसने जो स्तुति सीखी थी उसका स्मरण किया। इस स्तुति के कारण उसे पुनः भगवत्कृपा प्राप्त हो गई। इस तरह तुरन्त उसका उद्धार हो गया और वह भगवान् का एक चतुर्भुज पार्षद बन गया।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने इस अध्याय की समाप्ति हाथी के सौभाग्य-वर्णन के साथ की है। उनका कथन है कि गजेन्द्र-मोक्ष की कथा सुनने से मनुष्य को भी उद्धार का अवसर प्राप्त हो सकता है। शुकदेव स्वामी इसका स्पष्टता-पूर्ण वर्णन करते हैं और इस प्रकार अध्याय समाप्त हो जाता है।

श्रीशुक उवाच
तदा देवर्षिगन्धर्वा ब्रह्मेशानपुरोगमाः ।
मुमुचुः कुसुमासारं शंसन्तः कर्म तद्धरेः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; तदा—उस अवसर पर (जब गजेन्द्र का उद्धार हो गया); देव-ऋषि-गन्धर्वाः—देवता, ऋषि तथा गन्धर्व; ब्रह्म-ईशान-पुरोगमाः—ब्रह्मा तथा शिवजी इत्यादि ने; मुमुचुः—वर्षा की; कुसुम-आसारम्—फूलों का आवरण; शंसन्तः—प्रशंसा करते हुए; कर्म—दिव्य कर्म; तत्—उस (गजेन्द्र मोक्षण); हरेः—भगवान् का।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब भगवान् ने गजेन्द्र का उद्धार कर दिया तो सारे ऋषियों, गन्धर्वों तथा ब्रह्मा, शिव इत्यादि देवताओं ने भगवान् के इस कार्य की प्रशंसा की और भगवान् तथा गजेन्द्र दोनों के ऊपर पुष्पवर्षा की।

तात्पर्य : इस अध्याय से स्पष्ट है कि देवल ऋषि, नारद मुनि तथा अगस्त्य मुनि जैसे बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी कभी-कभी किसी को शाप देते हैं। किन्तु ऐसे महापुरुषों का शाप वास्तव में वरदान होता है। पिछले जन्म में घड़ियाल एक गन्धर्व था तथा गजेन्द्र राजा इन्द्रद्युम्न था—ये दोनों शापित हुए, किन्तु दोनों को लाभ मिला। इन्द्रद्युम्न को हाथी के जन्म में मोक्ष मिला और वह वैकुण्ठ में भगवान् का पार्षद बना तथा घड़ियाल को उसका गन्धर्व पद पुनः मिल गया। हम प्रायः देखते हैं कि बड़े सन्त या भक्त का शाप, शाप न रहकर वरदान होता है।

नेदुर्दुन्दुभयो दिव्या गन्धर्वा ननृतुर्जगुः ।

ऋषयश्चारणाः सिद्धास्तुष्टुवुः पुरुषोत्तमम् ॥ २॥

शब्दार्थ

नेदुः—बजने लगीं; दुन्दुभयः—दुन्दुभियाँ; दिव्याः—स्वर्ग लोक के आकाश में; गन्धर्वाः—गन्धर्व लोक के वासी; ननृतुः—नाचने लगे; जगुः—तथा गाने लगे; ऋषयः—सारे ऋषि; चारणाः—चारण लोक के निवासी; सिद्धाः—सिद्ध लोक के वासियों ने; तुष्टुवुः—स्तुति की; पुरुष-उत्तमम्—पुरुषोत्तम भगवान् की।

स्वर्ग लोक में दुन्दुभियाँ बजने लगीं, गन्धर्वलोक के वासी नाचने और गाने लगे तथा महान् ऋषियों और चारणलोक एवं सिद्धलोक के निवासियों ने भगवान् पुरुषोत्तम की स्तुतियाँ कीं।

योऽसौ ग्राहः स वै सद्यः परमाश्चर्यरूपधृक् ।
मुक्तो देवलशापेन हूहूर्गन्धर्वसत्तमः ॥ ३॥
प्रणम्य शिरसाधीशमुत्तमश्लोकमव्ययम् ।
अगायत यशोधाम कीर्तन्यगुणसत्कथम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

यः—जो; असौ—वह; ग्राहः—घड़ियाल बन गया; सः—वह; वै—निस्सन्देह; सद्यः—तुरन्त; परम—अत्यन्त सुन्दर; आश्चर्य—अद्भुत; रूप-धृक्—रूप धारण किये (अपने मूल गन्धर्व रूप को); मुक्तः—मुक्त हो गया; देवल-शापेन—देवल ऋषि के शाप से; हूहूः—हूहू नामक; गन्धर्व-सत्तमः—गन्धर्वों में श्रेष्ठ; प्रणम्य—प्रणाम करके; शिरसा—सिर के बल; अधीशम्—परम प्रभु को; उत्तम-श्लोकम्—श्रेष्ठ श्लोकों द्वारा पूजा किया जाने वाला; अव्ययम्—नित्य; अगायत—उच्चारण करने लगा; यशः-धाम—भगवान् की महिमा; कीर्तन्य-गुण-सत्-कथम्—जिसकी दिव्य लीलाएँ तथा गुण यशस्वी हैं।

गन्धर्वों में श्रेष्ठ राजा हूहू देवल मुनि द्वारा शापित होने के बाद घड़ियाल बन गया था। अब भगवान् द्वारा उद्धार किये जाने पर उसने एक सुन्दर गन्धर्व का रूप धारण कर लिया। यह समझकर कि यह सब किसकी कृपा से सम्भव हो सका, उसने तुरन्त सिर के बल प्रणाम किया और श्रेष्ठ श्लोकों से पूजित होने वाले परम नित्य भगवान् के लिए उपयुक्त स्तुतियाँ कीं।

तात्पर्य : जिस तरह गन्धर्व घड़ियाल बना उसकी कथा आगे कही जायेगी। जिस शाप से गन्धर्व को यह पद मिला था वह वास्तव में शाप नहीं था अपितु वरदान था। जब किसी को कोई सन्त पुरुष शाप दे तो अप्रसन्न नहीं होना चाहिए क्योंकि अप्रत्यक्ष रूप से उसका यह शाप वरदान होता है। इस गन्धर्व में स्वर्गलोक के निवासी की मानसिकता थी। इसे भगवान् का पार्षद बनने में लाखों वर्ष लगते। किन्तु देवल ऋषि के शाप से वह घड़ियाल बन गया और एक ही जीवन में उसे साक्षात् भगवान् का दर्शन करने तथा वैकुण्ठ जाकर भगवान् का पार्षद बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसी प्रकार गजेन्द्र का भी उद्धार भगवान् ने किया जब वह अगस्त्य मुनि के शाप से मुक्त हो गया।

सोऽनुकम्पित ईशेन परिक्रम्य प्रणम्य तम् ।
लोकस्य पश्यतो लोकं स्वमगान्मुक्तकिल्बिषः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (राजा हूहू); अनुकम्पितः—कृपा पात्र बनकर; ईशेन—भगवान् द्वारा; परिक्रम्य—परिक्रमा करके; प्रणम्य—प्रणाम करके; तम्—उसको; लोकस्य—सारे देवताओं तथा मनुष्यों के; पश्यतः—देखते-देखते; लोकम्—लोक को; स्वम्—अपने; अगात्—वापस चला गया; मुक्त—मुक्त होकर; किल्बिषः—अपने पापों के फलों से।

भगवान् की अहैतुकी कृपा से अपने पूर्व रूप को पाकर राजा हूहू ने भगवान् की प्रदक्षिणा की और उन्हें नमस्कार किया। तब ब्रह्मा इत्यादि समस्त देवताओं की उपस्थिति में वह गन्धर्व लोक लौट गया। वह सारे पापफलों से मुक्त हो चुका था।

गजेन्द्रो भगवत्स्पर्शाद्विमुक्तोऽज्ञानबन्धनात् ।
प्राप्तो भगवतो रूपं पीतवासाश्चतुर्भुजः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

गजेन्द्रः—हाथियों का राजा गजेन्द्र; भगवत्-स्पर्शात्—भगवान् के हाथों का स्पर्श पाने से; विमुक्तः—तुरन्त मुक्त हो गया; अज्ञान-बन्धनात्—सब प्रकार के अज्ञान से, विशेषतया देहात्मबुद्धि से; प्राप्तः—पाकर; भगवतः—भगवान् के; रूपम्—वही शारीरिक स्वरूप; पीत-वासाः—पीले वस्त्र पहने; चतुः-भुजः—तथा चार भुजाओं वाला, जिनमें वह शंख, चक्र, गदा तथा कमल लिए था।

चूँकि गजेन्द्र का प्रत्यक्ष स्पर्श भगवान् ने अपने करकमलों से किया था अतएव वह समस्त भौतिक अज्ञान तथा बन्धन से तुरन्त मुक्त हो गया। इस प्रकार उसे सारूप्य-मुक्ति प्राप्त हुई जिसमें उसे भगवान् जैसा ही शारीरिक स्वरूप प्राप्त हुआ। वह पीत वस्त्र धारण किये चार भुजाओं वाला बन गया।

तात्पर्य : यदि किसी पर भगवान् की कृपा होती है और वे उसका स्पर्श अपने हाथ से कर देते हैं, तो उसका शरीर आध्यात्मिक बन जाता है और वह भगवद्धाम वापस जा सकता है। जब भगवान् ने गजेन्द्र का स्पर्श किया, तो उसे आध्यात्मिक शरीर प्राप्त हो गया। ध्रुव महाराज को भी आध्यात्मिक शरीर इसी प्रकार मिला था। *अर्चना पद्धति* में भगवान् का शरीर स्पर्श करने का सुअवसर मिलता है, जिससे आध्यात्मिक शरीर प्राप्त होने का सौभाग्य मिल सकता है और भगवद्धाम वापस जाया जा सकता है। न केवल भगवान् के शरीर का स्पर्श करके, अपितु उनकी लीलाओं का श्रवण करके, उनकी महिमाओं का गान करके, उनके चरणों का स्पर्श करके तथा उनकी पूजा करके—दूसरे शब्दों में भगवान् की किसी भी प्रकार से सेवा करके—मनुष्य भौतिक कल्मष से शुद्ध हो जाता है। भगवान् का स्पर्श पाने का यह परिणाम होता है। जो शुद्ध भक्त है (*अन्याभिलाषिताशून्यम्*), जो शास्त्र एवं भगवान्

के वचनों के अनुसार कर्म करता है, वह निश्चित रूप से शुद्ध हो जाता है। वह भी गजेन्द्र की तरह आध्यात्मिक शरीर धारण करके भगवद्धाम लौट जाता है।

स वै पूर्वमभूद्राजा पाण्ड्यो द्रविडसत्तमः ।
इन्द्रद्युम्न इति ख्यातो विष्णुव्रतपरायणः ॥ ७॥

शब्दार्थ

सः—वह हाथी (गजेन्द्र); वै—निस्सन्देह; पूर्वम्—पूर्वजन्म में; अभूत्—था; राजा—राजा; पाण्ड्यः—पाण्डय नामक देश का; द्रविड-सत्-तमः—द्रविड़ देश (दक्षिण भारत) में उत्पन्न होने वालों में श्रेष्ठ; इन्द्रद्युम्नः—महाराज इन्द्रद्युम्न; इति—इस प्रकार; ख्यातः—प्रसिद्ध; विष्णु-व्रत-परायणः—भगवान् की सेवा में सदैव लगा रहने वाला प्रथम कोटि का वैष्णव।

यह गजेन्द्र पहले वैष्णव था और द्रविड़ (दक्षिण भारत) प्रान्त के पाण्डय नामक देश का राजा था। अपने पूर्व जन्म में वह इन्द्रद्युम्न महाराज कहलाता था।

स एकदाराधनकाल आत्मवान्
गृहीतमौनव्रत ईश्वरं हरिम् ।
जटाधरस्तापस आप्लुतोऽच्युतं
समर्चयामास कुलाचलाश्रमः ॥ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, इन्द्रद्युम्न महाराज; एकदा—एक बार; आराधन-काले—देव पूजा के समय; आत्मवान्—अत्यन्त मनोयोग से भक्ति में लगा; गृहीत—धारण किये; मौन-व्रतः—किसी से न बोलने का अनुष्ठान; ईश्वरम्—परम नियन्ता; हरिम्—भगवान् को; जटा-धरः—जटाधारी; तापसः—तपस्या में तल्लीन; आप्लुतः—भगवत्प्रेम में तल्लीन; अच्युतम्—अच्युत भगवान् को; समर्चयाम् आस—पूजा कर रहा था; कुलाचल-आश्रमः—कुलाचल (मलयपर्वत) स्थित उसका आश्रम।

इन्द्रद्युम्न महाराज ने गृहस्थ जीवन से वैराग्य ले लिया और मलय पर्वत चला गया जहाँ उसका आश्रम एक छोटी सी कुटिया के रूप में था। उसके सिर पर जटाएँ थीं और वह सदैव तपस्या में लगा रहता था। एक बार वह मौन व्रत धारण किये भगवान् की पूजा में तल्लीन था और भगवत्प्रेम के आनंद में डूबा हुआ था।

यदृच्छया तत्र महायशा मुनिः
समागमच्छिष्यगणैः परिश्रितः ।
तं वीक्ष्य तूष्णीमकृतार्हणादिकं
रहस्युपासीनमृषिश्चुकोप ह ॥ ९॥

शब्दार्थ

यदृच्छया—अपनी इच्छा से (बिना बुलाये); तत्र—वहाँ; महा-यशाः—सुविख्यात; मुनिः—अगस्त्य मुनि; समागमत्—पधारे; शिष्य-गणैः—अपने शिष्यों से; परिश्रितः—घिरे हुए; तम्—उसको; वीक्ष्य—देखकर; तूष्णीम्—मौन; अकृत-अर्हण-

आदिकम्—स्वागत-सत्कार किये बिना; रहसि—एकान्त स्थान में; उपासीनम्—ध्यान में बैठे; ऋषिः—ऋषि; चुकोप—अत्यन्त क्रुद्ध हुआ; ह—ऐसा हुआ कि ।

जब इन्द्रद्युम्न महाराज भगवान् की पूजा करते हुए ध्यान में तल्लीन थे तो अगस्त्य मुनि अपनी शिष्य-मण्डली समेत वहाँ पधारे। जब मुनि ने देखा कि राजा इन्द्रद्युम्न एकान्त स्थान में बैठकर मौन साधे हैं और उनके स्वागत के शिष्टाचार का पालन नहीं कर रहे हैं, तो वे अत्यन्त क्रुद्ध हुए।

तस्मा इमं शापमदादसाधु-
रयं दुरात्माकृतबुद्धिरद्य ।
विप्रावमन्ता विशतां तमिस्त्रं
यथा गजः स्तब्धमतिः स एव ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तस्मै—महाराज इन्द्रद्युम्न को; इमम्—यह; शापम्—शाप; अदात्—दे डाला; असाधुः—अभद्र; अयम्—यह; दुरात्मा—नीच व्यक्ति; अकृत—अशिक्षित; बुद्धिः—उसकी बुद्धि; अद्य—अब; विप्र—ब्राह्मण का; अवमन्ता—अपमान करने वाला; विशताम्—प्रवेश करे; तमिस्त्रम्—अंधकार में; यथा—जिस तरह; गजः—एक हाथी; स्तब्ध-मतिः—कुन्द बुद्धि वाला; सः—वह; एव—निस्सन्देह ।

तब अगस्त्य मुनि ने राजा को यह शाप दे डाला—"इन्द्रद्युम्न तनिक भी भद्र नहीं है। नीच तथा अशिक्षित होने के कारण इसने ब्राह्मण का अपमान किया है। अतएव यह अंधकार प्रदेश में प्रवेश करे और आलसी मूक हाथी का शरीर प्राप्त करे।"

तात्पर्य : हाथी अत्यन्त बलिष्ठ होता है, उसका शरीर अत्यन्त भारी होता है, वह कठोर श्रम कर सकता है और प्रचुर भोजन खा सकता है; फिर भी उसकी बुद्धि उसके आकार तथा बल के अनुरूप नहीं होती। इस तरह इतनी शारीरिक शक्ति होते हुए भी वह मनुष्य का चाकर बनकर काम करता है। अगस्त्य मुनि ने यही ठीक समझा कि इस राजा को हाथी बनने का शाप दिया जाये क्योंकि इस शक्तिशाली राजा ने मेरा स्वागत उस रूप में नहीं किया जैसा कि *ब्राह्मण* का होना चाहिए। यद्यपि अगस्त्य मुनि ने महाराज इन्द्रद्युम्न को हाथी बनने का शाप दे डाला, किन्तु यह शाप अप्रत्यक्षः वरदान था क्योंकि हाथी का जीवन बिताने से उसके पूर्वजन्म के पापों के सारे फल समाप्त हो गये। हाथी-जीवन का अन्त होते ही वह भगवान् जैसा शरीर पाकर उनका पार्षद बनने के लिए वैकुण्ठ लोक भेज दिया गया। यह *सारूप्य-मुक्ति* कहलाती है।

श्रीशुक उवाच

एवं शप्त्वा गतोऽगस्त्यो भगवान्नृप सानुगः ।
इन्द्रद्युम्नोऽपि राजर्षिर्दिष्टं तदुपधारयन् ॥ ११ ॥
आपन्नः कौञ्जरीं योनिमात्मस्मृतिविनाशिनीम् ।
हर्यर्चनानुभावेन यद्गजत्वेऽप्यनुस्मृतिः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; शप्त्वा—शाप देने के बाद; गतः—उस स्थान को त्याग दिया; अगस्त्यः—अगस्त्य मुनि ने; भगवान्—इतने शक्तिशाली; नृप—हे राजा; स-अनुगः—अपने संगियों समेत; इन्द्रद्युम्नः—राजा इन्द्रद्युम्न; अपि—भी; राजर्षिः—यद्यपि वह राजर्षि था; दिष्टम्—विगत कर्मों के कारण; तत्—वह शाप; उपधारयन्—मानते हुए; आपन्नः—प्राप्त किया; कौञ्जरीम्—हाथी की; योनिम्—योनि; आत्म-स्मृति—अपनी याद; विनाशिनीम्—नष्ट करने वाली; हरि—भगवान्; अर्चन-अनुभावेन—पूजा करने के कारण; यत्—उस; गजत्वे—हाथी के शरीर में; अपि—यद्यपि; अनुस्मृतिः—अपनी विगत भक्ति को स्मरण करने का सुअवसर।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : हे राजा! अगस्त्य मुनि राजा इन्द्रद्युम्न को इस तरह शाप देने के बाद अपने शिष्यों समेत उस स्थान से चले गये। चूँकि राजा भक्त था अतएव उसने अगस्त्य मुनि के शाप का स्वागत किया क्योंकि भगवान् की ऐसी ही इच्छा थी। अतएव अगले जन्म में हाथी का शरीर प्राप्त करने पर भी भक्ति के कारण उसे यह स्मरण रहा कि भगवान् की पूजा और स्तुति किस तरह की जाती है।

तात्पर्य : भगवान् के भक्त की यह अद्वितीय स्थिति है। यद्यपि राजा को शाप मिला था, किन्तु उसने इसका स्वागत किया क्योंकि भक्त सदैव जानता रहता है कि भगवान् की इच्छा के बिना कुछ भी घटित नहीं हो सकता। यद्यपि राजा का कोई दोष न था, फिर भी अगस्त्य मुनि ने उसे शाप दे डाला और जब ऐसा हो गया तो राजा ने इसे अपने विगत दुष्कर्मों के कारण हुआ समझा। *तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणः* (*भागवत* १०.१४.)। यह भक्त के सोचने का व्यावह ारिक उदाहरण है। वह जीवन की किसी भी असफलता को भगवान् का आशीर्वाद मानता है; अतएव वह इन असफलताओं से क्षुब्ध न होकर अपने भक्ति कार्यों में लगा रहता है और कृष्ण उसकी रक्षा करते हैं तथा भगवद्धाम वापस जाने में उसे सक्षम बनाते हैं। यदि भक्त को अपने विगत दुष्कर्मों के फल भोगने ही पड़ें तो भगवान् उसे इनका नाममात्र फल चखाकर तुरन्त ही उनसे मुक्त कर देते हैं। अतएव मनुष्य को भक्ति में दृढ़ रहना चाहिए। भगवान् स्वयं ऐसे व्यक्ति को बहुत जल्दी वैकुण्ठ लोक भेजने की व्यवस्था करेंगे। भक्त को कभी भी दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों से विक्षुब्ध नहीं होना चाहिए, अपितु भगवान् पर ही पूरी तरह आश्रित रहकर अपने नियमित कार्यक्रम में आगे बढ़ते रहना चाहिए। इस श्लोक में *उपधारयन* शब्द

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ "विचार करते हुए" है, जो यह सूचित करता है कि भक्त जानता है कि कौन क्या है; वह समझता है कि इस भौतिक बद्ध जीवन में क्या हो रहा है।

एवं विमोक्ष्य गजयूथपमब्जनाभ-
स्तेनापि पार्षदगतिं गमितेन युक्तः ।
गन्धर्वसिद्धविबुधैरुपगीयमान-
कर्माद्भुतं स्वभवनं गरुडासनोऽगात् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विमोक्ष्य—उद्धार करके; गज-यूथ-पम्—हाथियों के राजा, गजेन्द्र को; अब्ज-नाभः—भगवान् जिनकी नाभि से कमल निकलता है; तेन—उसके (गजेन्द्र) द्वारा; अपि—भी; पार्षद-गतिम्—भगवान् के पार्षद का पद; गमितेन—पहले से प्राप्त; युक्तः—के साथ-साथ; गन्धर्व—गन्धर्व लोक के निवासी; सिद्ध—सिद्ध लोक के निवासी; विबुधैः—तथा बड़े-बड़े ऋषि मुनियों के द्वारा; उपगीयमान—महिमामंडित होकर; कर्म—जिसके कार्यकलाप; अद्भुतम्—आश्चर्यजनक; स्व-भवनम्—अपने धाम को; गरुड-आसनः—गरुड़ पर आसीन होकर; अगात्—लौट गये।

गजेन्द्र को घड़ियाल के चंगुल से तथा इस भौतिक संसार से जो घड़ियाल जैसा लगता है। घड़ियाल जैसे ही इस भौतिक जगत छुड़ाकर भगवान् ने उसे सारूप्य मुक्ति प्रदान की। भगवान् के अद्भुत दिव्य कार्यकलापों का यश बखान करने वाले गन्धर्वों, सिद्धों तथा अन्य देवताओं की उपस्थिति में, भगवान् अपने वाहन गरुड़ की पीठ पर बैठकर अपने अद्भुत धाम को लौट गये और अपने साथ गजेन्द्र को भी लेते गये।

तात्पर्य : इस श्लोक में *विमोक्ष्य* शब्द महत्त्वपूर्ण है। भक्त के लिए मोक्ष या मुक्ति का अर्थ है भगवान् के पार्षद का पद प्राप्त करना। निर्विशेषवादी ब्रह्म ज्योति में तल्लीन होने की मुक्ति से ही संतुष्ट रहते हैं, किन्तु भक्त के लिए मुक्ति का अर्थ भगवान् के तेज में तल्लीन होना नहीं, अपितु वैकुण्ठ लोक जाकर भगवान् का पार्षद बनना है। इस सम्बन्ध में *श्रीमद्भागवत* (१०.१४.) में एक श्लोक है—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो

भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।

हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत

यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

"जो आपकी कृपा का इच्छुक है और इस तरह अपने विगत कर्मों के फल के कारण सभी विषम परिस्थितियों को सह लेता है, जो मन, वाणी तथा शरीर से आपकी भक्ति में सदा लगा रहता है और

सदैव आपको नमस्कार करता है, वह निश्चय ही मुक्ति का योग्य पात्र है।" जो भक्त इस भौतिक जगत में सब कुछ सहकर धैर्यपूर्वक भक्ति करता है, वह *मुक्तिपदे स दायभाक्* अर्थात् मुक्ति का प्रामाणिक पात्र होता है। *दायभाक्* शब्द भगवान् की कृपा के उत्तराधिकार को बताता है। भक्त को सांसारिक परिस्थितियों की परवाह न करके एकमात्र भक्ति में लगे रहना चाहिए। तब वह वैकुण्ठ लोक जाने का स्वत: अधिकारी बन जाता है। जो भक्त भगवान् की अनन्य भक्ति करता है उसे वैकुण्ठ लोक जाने का उसी तरह अधिकार प्राप्त होता है, जिस प्रकार पुत्र को अपने पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकार प्राप्त होता है।

जब कोई भक्त मुक्ति पाता है, तो वह भौतिक कल्मष से छूट जाता है और भगवान् का दास नियुक्त हो जाता है। इसकी व्याख्या *श्रीमद्‌भागवत* (२.१०.६) में की गई है—*मुक्तिर्हित्वान्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थिति:।* *स्वरूप* शब्द *सारूप्य मुक्ति* का सूचक है, जिसका अर्थ है भगवान् के धाम को वापस जाना और भगवान् के ही समान चतुर्भुजी आध्यात्मिक शरीर प्राप्त करके, जो शंख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण किये रहता है भगवान् का नित्य पार्षद बने रहना। निर्विशेषवादी तथा भक्त की मुक्ति में यही अन्तर है कि भक्त तुरन्त ही भगवान् का नित्य दास नियुक्त हो जाता है, जबकि निर्विशेषवादी *ब्रह्मज्योति* में विलीन होकर भी असुरक्षित रहता है और सामान्यत: इस भौतिक जगत में फिर गिर जाता है। *आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं तत: पतन्त्यधोऽनादृत युष्मदङ्घ्रय:* (*भागवत* १०.२.३२)। यद्यपि निर्विशेषवादी, *ब्रह्मज्योति* तक उठकर, उसी में प्रवेश कर जाता है, किन्तु भगवान् की सेवा में न लगा होने के कारण पुन: भौतिकतावादी परोपकारी कार्यों के प्रति आकृष्ट होता है। इस तरह वह अस्पताल तथा शैक्षणिक संस्थान खोलने, गरीबों को भोजन कराने तथा इसी प्रकार की सांसारिक गतिविधियाँ सम्पन्न करने के लिए नीचे आता है जिन्हें वह भगवान् की सेवा करने की अपेक्षा अधिक मूल्यवान समझता है। *अनादृतयुष्मदङ्घ्रय:।* निर्विशेषवादी यह नहीं सोचते कि भगवान् की सेवा करना गरीब की सेवा करने या स्कूल अथवा अस्पताल खोलने की अपेक्षा अधिक मूल्यवान है। यद्यपि वे यह कहते हैं कि *ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या*—अर्थात् ब्रह्म सत्य है और भौतिक जगत मिथ्या है—तो भी वे इस मिथ्या जगत की सेवा करने के अत्यन्त इच्छुक रहते हैं और भगवान् के चरणकमलों की सेवा की उपेक्षा करते हैं।

एतन्महाराज तवेरितो मया
कृष्णानुभावो गजराजमोक्षणम् ।
स्वर्ग्यं यशस्यं कलिकल्मषापहं
दुःस्वप्ननाशं कुरुवर्य शृण्वताम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; महा-राज—हे राजा परीक्षित; तव—तुमसे; ईरितः—वर्णन किया गया; मया—मेरे द्वारा; कृष्ण-अनुभावः—भगवान् कृष्ण की असीम शक्ति (जिससे वे भक्त का उद्धार कर सकते हैं); गज-राज-मोक्षणम्—हाथियों के राजा की मोक्ष-प्राप्ति; स्वर्ग्यम्—स्वर्गलोक के लिए प्रोन्नति; यशस्यम्—भक्त के रूप में अपनी ख्याति बढ़ाने; कलि-कल्मष-अपहम्—कलियुग के कल्मष को कम करने; दुःस्वप्न-नाशम्—बुरे स्वप्नों के कारणों का निराकरण करने; कुरु-वर्य—हे कुरुश्रेष्ठ; शृण्वताम्—इस कथा के सुनने वालों को।

हे राजा परीक्षित! अब मैंने तुमसे कृष्ण की अद्भुत शक्ति का वर्णन कर दिया है, जिसे भगवान् ने गजेन्द्र का उद्धार करके प्रदर्शित किया था। हे कुरुश्रेष्ठ! जो लोग इस कथा को सुनते हैं, वे उच्चलोकों में जाने के योग्य बनते हैं। इस कथा के श्रवण मात्र से वे भक्त के रूप में ख्याति अर्जित करते हैं, वे कलियुग के कल्मष से अप्रभावित रहते हैं और कभी दुःस्वप्न नहीं देखते।

यथानुकीर्तयन्त्येतच्छ्रेयस्कामा द्विजातयः ।
शुचयः प्रातरुत्थाय दुःस्वप्नाद्युपशान्तये ॥ १५॥

शब्दार्थ

यथा—विचलित हुए बिना; अनुकीर्तयन्ति—कीर्तन करते हैं; एतत्—गजेन्द्र मोक्ष की यह कथा; श्रेयः-कामाः—अपना कल्याण चाहने वाले; द्वि-जातयः—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य जाति वाले; शुचयः—विशेषतया ब्राह्मण, जो सदा स्वच्छ रहते हैं; प्रातः—प्रातःकाल; उत्थाय—निद्रा से उठकर; दुःस्वप्न-आदि—रात्रि में ठीक से नींद न आने; उपशान्तये—सारे कष्टों को शमन करने के लिए।

अतएव जो लोग अपना कल्याण चाहते हैं—विशेष रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य और इनमें से भी मुख्यतः ब्राह्मण वैष्णव—उन्हें प्रातःकाल बिस्तर से उठकर अपने दुःस्वप्नों के कष्टों को दूर करने के लिए इस कथा का बिना विचलित हुए यथारूप पाठ करना चाहिए।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य का और विशेषतया श्रीमद्भागवत तथा भगवद्गीता का प्रत्येक श्लोक वैदिक मंत्र है। यहाँ पर प्रयुक्त यथानुकीर्तयन्ति शब्दों से यह संस्तुति की गई है कि इस साहित्य को यथारूप में प्रस्तुत किया जाये। किन्तु ढोंगी लोग वास्तविक कथा से हटकर अपने व्याकरणिक वाग्जाल से मूल पाठ का मनमाना अर्थ लगाते हैं। इस तरह के हेरफेर से बचना चाहिए। यह वैदिक आदेश है,

जिसका समर्थन श्री शुकदेव गोस्वामी जैसे महा-जन द्वारा किया गया है। वे कहते हैं— यथानुकीर्तयन्ति—मनुष्य को चाहिए कि कोई फेर-बदल किए बिना मंत्र का यथारूप पाठ करे क्योंकि तब उसे सौभाग्य के पद तक उठने की योग्यता प्राप्त हो सकेगी। शुकदेव गोस्वामी ने तो विशेष संस्तुति की है कि ब्राह्मण लोग इन सभी मंत्रों का पाठ प्रात:काल शय्या से उठते ही करें।

पापपूर्ण कर्मों के कारण हमें रात में दु:स्वप्न आते हैं, जो अत्यन्त कष्टप्रद होते हैं। महाराज युधिष्ठिर को तो भगवद्भक्ति में थोड़े से विचलन के कारण नरक-दर्शन करना पड़ा था। अतएव दु:स्वप्न पापपूर्ण कार्यों के फलस्वरूप आते हैं। भक्त कभी-कभी किसी पापी व्यक्ति को अपना शिष्य बना लेता है और अपने शिष्य से स्वीकार किए गए पापकर्मों के फल को समाप्त करने के लिए भक्त को बुरे स्वप्न देखने पड़ते हैं। फिर भी गुरु इतना दयालु होता है कि अपने पापी शिष्य के कारण दु:स्वप्न देखने पर भी वह इस कष्टदायक कार्य को कलियुग के भुक्त भोगियों का उद्धार करने के लिए स्वीकार करता है। अतएव दीक्षा के बाद शिष्य को सतर्क रहना चाहिए कि वह फिर से कोई पापपूर्ण कर्म न करे जिससे स्वयं उसे तथा उसके गुरु को कठिनाई उठानी पड़े। अतएव सच्चा शिष्य अर्चाविग्रह, अग्नि, गुरु तथा वैष्णवों के समक्ष वचन देता है कि वह सभी पापपूर्ण कार्यों से दूर रहेगा। इसलिए उसे पुन: पापपूर्ण कृत्य करके कठिन परिस्थिति उत्पन्न नहीं कर लेनी चाहिए।

इदमाह हरिः प्रीतो गजेन्द्रं कुरुसत्तम ।
शृण्वतां सर्वभूतानां सर्वभूतमयो विभुः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; आह—कहा; हरिः—भगवान् ने; प्रीतः—प्रसन्न होकर; गजेन्द्रम्—गजेन्द्र से; कुरु-सत्-तम—हे कुरुवंश में सर्वश्रेष्ठ; शृण्वताम्—सुनते हुए; सर्व-भूतानाम्—हरएक की उपस्थिति में; सर्व-भूत-मयः—सर्वव्यापी भगवान् ने; विभुः—महान्।

हे कुरुश्रेष्ठ! इस प्रकार हरएक के परमात्मा अर्थात् भगवान् ने प्रसन्न होकर सबों के समक्ष गजेन्द्र को सम्बोधित किया। उन्होंने निम्नलिखित आशीष दिए।

श्रीभगवानुवाच

ये मां त्वां च सरश्चेदं गिरिकन्दरकाननम् ।

वेत्रकीचकवेणूनां गुल्मानि सुरपादपान् ॥ १७॥

शृङ्गाणीमानि धिष्ण्यानि ब्रह्मणो मे शिवस्य च ।
क्षीरोदं मे प्रियं धाम श्वेतद्वीपं च भास्वरम् ॥ १॥

श्रीवत्सं कौस्तुभं मालां गदां कौमोदकीं मम ।
सुदर्शनं पाञ्चजन्यं सुपर्णं पतगेश्वरम् ॥ १९॥

शेषं च मत्कलां सूक्ष्मां श्रियं देवीं मदाश्रयाम् ।
ब्रह्माणं नारदमृषिं भवं प्रह्लादमेव च ॥ २०॥

मत्स्यकूर्मवराहाद्यैरवतारैः कृतानि मे ।
कर्माण्यनन्तपुण्यानि सूर्यं सोमं हुताशनम् ॥ २१॥

प्रणवं सत्यमव्यक्तं गोविप्रान्धर्ममव्ययम् ।
दाक्षायणीर्धर्मपत्नीः सोमकश्यपयोरपि ॥ २२॥

गङ्गां सरस्वतीं नन्दां कालिन्दीं सितवारणम् ।
ध्रुवं ब्रह्मऋषीन्सप्त पुण्यश्लोकांश्च मानवान् ॥ २३॥

उत्थायापररात्रान्ते प्रयताः सुसमाहिताः ।
स्मरन्ति मम रूपाणि मुच्यन्ते तेऽंहसोऽखिलात् ॥ २४॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; ये—जो; माम्—मुझको; त्वाम्—तुमको; च—भी; सरः—झील, तालाब; च—भी; इदम्—यह; गिरि—(त्रिकूट) पर्वत; कन्दर—गुफाएँ; काननम्—उद्यान; वेत्र—बेंत; कीचक—खोखला बाँस; वेणूनाम्—अन्य प्रकार के बाँस के; गुल्मानि—समूह, कुंज; सुर-पादपान्—स्वर्गिक वृक्ष; शृङ्गाणि—चोटियाँ; इमानि—ये; धिष्ण्यानि—घर, धाम; ब्रह्मणः—ब्रह्मा को; मे—मेरा; शिवस्य—शिव का; च—भी; क्षीर-उदम्—दुग्धसागर; मे—मेरा; प्रियम्—अत्यन्त प्रिय; धाम—स्थान; श्वेत-द्वीपम्—श्वेत द्वीप नामक; च—भी; भास्वरम्—आध्यात्मिक किरणों से सदैव चमचमाता; श्रीवत्सम्—श्रीवत्स नामक चिह्न; कौस्तुभम्—कौस्तुभ मणि; मालाम्—माला; गदाम्—गदा; कौमोदकीम्—कौमोदकी नामक; मम—मेरा; सुदर्शनम्—सुदर्शन चक्र; पाञ्चजन्यम्—पाञ्चजन्य नामक शंख; सुपर्णम्—गरुड़; पतग-ईश्वरम्—पक्षी-राज; शेषम्—शेष नाग नामक आसन; च—तथा; मत्-कलाम्—मेरा अंश; सूक्ष्माम्—अत्यन्त सूक्ष्म; श्रियम् देवीम्—सम्पत्ति की देवी को; मत्-आश्रयाम्—मुझ पर आश्रित; ब्रह्माणम्—ब्रह्माजी को; नारदम् ऋषिम्—नारद ऋषि को; भवम्—शिवजी को; प्रह्लादम् एव च—तथा प्रह्लाद को भी; मत्स्य—मत्स्य अवतार; कूर्म—कूर्म अवतार; वराह—वराह अवतार; आद्यैः—आदि; अवतारैः—विभिन्न अवतारों के द्वारा; कृतानि—किये गये; मे—मेरे; कर्माणि—कार्यकलाप; अनन्त—असीम; पुण्यानि—शुभ, पवित्र; सूर्यम्—सूर्यदेव को; सोमम्—चन्द्र देव को; हुताशनम्—अग्निदेव को; प्रणवम्—ओंकार मंत्र को; सत्यम्—परम सत्य को; अव्यक्तम्—सम्पूर्ण भौतिकशक्ति को; गो-विप्रान्—गायों तथा ब्राह्मणों को; धर्मम्—भक्ति को; अव्ययम्—अव्यय; दाक्षायणीः—दक्ष की पुत्रियाँ; धर्म-पत्नीः—वैध्य पत्नियाँ; सोम—चन्द्र देव की; कश्यपयोः—तथा कश्यप ऋषि की; अपि—भी; गङ्गाम्—गंगा नदी को; सरस्वतीम्—सरस्वती नदी को; नन्दाम्—नन्दा नदी को; कालिन्दीम्—यमुना नदी को; सित-वारणम्—ऐरावत हाथी को; ध्रुवम्—ध्रुव महाराज को; ब्रह्म-ऋषीन्—बड़े-बड़े ऋषियों को; सप्त—सात; पुण्य-श्लोकान्—अत्यन्त पवित्र; च—तथा; मानवान्—मनुष्यों को; उत्थाय—उठकर; अपर-रात्र-अन्ते—रात्रि के अन्त में; प्रयताः—अत्यन्त सतर्क रहकर; सु-समाहिताः—एकाग्र चित्त से; स्मरन्ति—स्मरण करते हैं; मम—मेरे; रूपाणि—रूपों को; मुच्यन्ते—छूट जाते हैं; ते—ऐसे पुरुष; अंहसः—पापकर्मों के फल से; अखिलात्—सभी प्रकार के।

भगवान् ने कहा : समस्त पापपूर्ण कर्मों के फलों से ऐसे व्यक्ति मुक्त हो जाते हैं, जो रात्रि बीतने पर प्रातःकाल ही जग जाते हैं, अत्यन्त ध्यानपूर्वक अपने मनों को मेरे रूप, तुम्हारे रूप, इस सरोवर, इस पर्वत, कन्दराओं, उपवनों, बेंत के वृक्षों, बाँस के वृक्षों, कल्पतरु, मेरे, ब्रह्मा तथा शिव के निवास स्थानों, सोना, चाँदी तथा लोहे से बनी त्रिकूट पर्वत की तीन चोटियों, मेरे

सुहावने धाम (क्षीरसागर), आध्यात्मिक किरणों से नित्य चमचमाते श्वेत द्वीप, मेरे चिन्ह श्रीवत्स, कौस्तुभ मणि, मेरी वैजयन्ती माला, कौमोदकी नामक मेरी गदा, मेरे सुदर्शन चक्र, तथा पाञ्चजन्य शंख, मेरे वाहन पक्षीराज गरुड़, मेरी शय्या शेषनाग, मेरी शक्ति का अंश लक्ष्मीजी, ब्रह्मा, नारद मुनि, शिवजी, प्रह्लाद, मेरे सारे अवतारों यथा मत्स्य, कूर्म तथा वराह, मेरे अनन्त शुभ कार्यकलापों में जो सुनने वाले को पवित्रता प्रदान करते हैं, मेरे सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, ओङ्कार मंत्र, परम सत्य, समग्र भौतिक शक्तियों, गायों तथा ब्राह्मणों में, भक्ति, सोम तथा कश्यप की पत्नियों में जो राजा दक्ष की पुत्रियाँ हैं, गंगा, सरस्वती, नन्दा तथा यमुना नदियों, ऐरावत हाथी, ध्रुव महाराज, सप्तर्षि तथा पवित्र मनुओं में एकाग्र करते हैं।

ये मां स्तुवन्त्यनेनाङ्ग प्रतिबुध्य निशात्यये ।
तेषां प्राणात्यये चाहं ददामि विपुलां गतिम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

ये—जो; माम्—मुझको (मेरी); स्तुवन्ति—प्रार्थना करते हैं; अनेन—इस प्रकार; अङ्ग—हे राजा; प्रतिबुध्य—जगकर; निश-अत्यये—रात्रि के अन्त में; तेषाम्—उनके लिए; प्राण-अत्यये—मृत्यु के समय; च—भी; अहम्—मैं; ददामि—देता हूँ; विपुलाम्—नित्य, असीम; गतिम्—वैकुण्ठ लोक को स्थानान्तरण।.

हे प्रिय भक्त! जो लोग रात्रि बीतने पर बिस्तर से उठकर तुम्हारे द्वारा अर्पित इस स्तुति से मेरी प्रार्थना करते हैं मैं उन्हें उनके जीवन के अन्त में वैकुण्ठ लोक में नित्य आवास प्रदान करता हूँ।

श्रीशुक उवाच
इत्यादिश्य हृषीकेशः प्राध्माय जलजोत्तमम् ।
हर्षयन्विबुधानीकमारुरोह खगाधिपम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; आदिश्य—उपदेश देकर; हृषीकेशः—हृषीकेश नाम से विख्यात भगवान्; प्राध्माय—बजाकर; जल-ज-उत्तमम्—जलचरों में उत्तम, शंख; हर्षयन्—प्रसन्न करते; विबुध-अनीकम्—देवताओं के समूह को, जिसमें ब्रह्मा तथा शिव प्रमुख हैं; आरुरोह—चढ़ गये; खग-अधिपम्—गरुड़ की पीठ पर।.

श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : इस उपदेश को देकर हृषीकेश भगवान् ने अपना पाञ्चजन्य शंख बजाया और इस प्रकार ब्रह्मा इत्यादि सारे देवताओं को हर्षित किया। तब वे अपने वाहन गरुड़ की पीठ पर चढ़ गये।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कंध के अन्तर्गत "गजेन्द्र का वैकुण्ठ गमन" नामक चौथे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पाँच

देवताओं द्वारा भगवान् से सुरक्षा याचना

इस अध्याय में पाँचवे तथा छठे मनुओं का वर्णन है। साथ ही इसमें देवताओं की स्तुतियों एवं दुर्वासा मुनि के शाप का भी वर्णन हुआ है।

चतुर्थ मनु तामस जिसका वर्णन पहले हो चुका है, का भाई रैवत पाँचवाँ मनु था। रैवत के पुत्रों में अर्जुन, बलि तथा विन्ध्य प्रमुख थे। इस मनु के राज्यकाल में स्वर्ग का राजा इन्द्र विभु के नाम से जाना जाता था, भूतरयगण देवता थे और हिरण्यरोमा, वेदशिरा तथा ऊर्ध्वबाहु इत्यादि सप्तर्षि थे। शुभ्र नामक ऋषि की पत्नी विकुण्ठा के गर्भ से भगवान् वैकुण्ठ ने जन्म लिया। इन भगवान् ने रमादेवी के आग्रह पर वैकुण्ठ लोक उत्पन्न किया। तृतीय स्कंध में इनकी शक्ति तथा कार्यकलापों का उल्लेख हो चुका है।

छठे मनु चाक्षुष थे, जो चक्षु मनु के पुत्र थे। इस छठे मनु के पुत्रों में पुरु, पुरुष तथा सुद्युम्न हुए। इस मनु के शासन काल में मंत्रद्रुम स्वर्ग का राजा इन्द्र था, आप्यगण देवता थे और हविष्मान तथा वीरक इत्यादि सप्तर्षि थे। वैराज की पत्नी देवसम्भूति ने अजित नामक भगवान् के अवतार को जन्म दिया। इसी अजित ने कछुवे का रूप बना कर अपनी पीठ पर मंदर पर्वत को धारण किया और समुद्र मन्थन करके देवताओं के लिए अमृत उत्पन्न किया।

महाराज परीक्षित समुद्र मंथन के विषय में सुनने के लिए बहुत उत्सुक थे; अतएव शुकदेव गोस्वामी ने उन्हें बताना शुरू किया कि किस प्रकार दुर्वासा मुनि के शाप से देवतागण असुरों द्वारा युद्ध में परास्त हुए। जब देवताओं से उनका स्वर्ग का राज्य छिन गया तो वे ब्रह्मा के सभा-भवन में गये और ब्रह्माजी को सब कुछ कह सुनाया। तब ब्रह्मा सारे देवताओं को साथ लेकर क्षीर सागर के तट पर गये और उन्होंने क्षीरोदकशायी विष्णु की स्तुति करना प्रारम्भ किया।

श्रीशुक उवाच
राजन्नुदितमेतत्ते हरेः कर्माघनाशनम् ।
गजेन्द्रमोक्षणं पुण्यं रैवतं त्वन्तरं शृणु ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; राजन्—हे राजा; उदितम्—पहले ही वर्णन किया जा चुका; एतत्—यह; ते—तुमसे; हरेः—भगवान् का; कर्म—कर्म; अघ-नाशनम्—जिसे सुनकर मनुष्य सारे पापों से मुक्त हो सकता है; गजेन्द्र-

मोक्षणम्—गजेन्द्र के मोक्ष को; पुण्यम्—सुनने तथा वर्णन करने में अत्यन्त पवित्र; रैवतम्—रैवत मनु के विषय में; तु—लेकिन; अन्तरम्—इस युग में; शृणु—कृपया मुझसे सुनो।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : हे राजा! मैंने तुमसे गजेन्द्रमोक्षण लीला का वर्णन किया है, जो सुनने में अत्यन्त पवित्र है। भगवान् की ऐसी लीलाओं के विषय में सुनकर मनुष्य सारे पापों के फलों से छूट सकता है। अब मैं रैवत मनु का वर्णन कर रहा हूँ, कृपया उसे सुनो।

पञ्चमो रैवतो नाम मनुस्तामससोदरः ।
बलिविन्ध्यादयस्तस्य सुता हार्जुनपूर्वकाः ॥ २॥

शब्दार्थ

पञ्चमः—पाँचवाँ; रैवतः—रैवत; नाम—नामक; मनुः—मनु; तामस-सोदरः—तामस मनु का भाई; बलि—बलि; विन्ध्य—विन्ध्य; आदयः—इत्यादि; तस्य—उसके; सुताः—पुत्र; ह—निश्चय ही; अर्जुन—अर्जुन; पूर्वकाः—इनके पुत्रों में प्रधान।

तामस मनु का भाई रैवत पाँचवाँ मनु था। उसके पुत्रों में अर्जुन, बलि तथा विन्ध्य प्रमुख थे।

विभुरिन्द्रः सुरगणा राजन्भूतरयादयः ।
हिरण्यरोमा वेदशिरा ऊर्ध्वबाह्वादयो द्विजाः ॥ ३॥

शब्दार्थ

विभुः—विभु; इन्द्रः—स्वर्ग का राजा; सुर-गणाः—देवता; राजन्—हे राजा; भूतरय-आदयः—भूतरय आदि; हिरण्यरोमा—हिरण्यरोमा; वेदशिरा—वेदशिरा; ऊर्ध्वबाहु—ऊर्ध्वबाहु; आदयः—इत्यादि; द्विजाः—ब्राह्मण या सातों लोकों के ऋषि।

हे राजा! रैवत मनु के युग में स्वर्ग का राजा (इन्द्र) विभु था, देवताओं में भूतरय इत्यादि थे और सप्त लोकों के अधिपति सात ब्राह्मण हिरण्यरोमा, वेदशिरा तथा ऊर्ध्वबाहु इत्यादि थे।

पत्नी विकुण्ठा शुभ्रस्य वैकुण्ठैः सुरसत्तमैः ।
तयोः स्वकलया जज्ञे वैकुण्ठो भगवान्स्वयम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

पत्नी—पत्नी; विकुण्ठा—विकुण्ठा नाम की; शुभ्रस्य—शुभ्र की; वैकुण्ठैः—वैकुण्ठों सहित; सुर-सत्-तमैः—देवताओं के साथ; तयोः—विकुण्ठा तथा शुभ्र से; स्व-कलया—स्वांश से; जज्ञे—प्रकट हुआ; वैकुण्ठः—भगवान्; भगवान्—भगवान्; स्वयम्—साक्षात्।

शुभ्र तथा उसकी पत्नी विकुण्ठा के संयोग से भगवान् वैकुण्ठ अपने स्वांश देवताओं सहित प्रकट हुए।

वैकुण्ठः कल्पितो येन लोको लोकनमस्कृतः ।
रमया प्रार्थ्यमानेन देव्या तत्प्रियकाम्यया ॥ ५॥

शब्दार्थ

वैकुण्ठः—वैकुण्ठ लोक; कल्पितः—बनाया गया; येन—जिसके द्वारा; लोकः—लोक; लोक-नमस्कृतः—सभी लोकों द्वारा पूजित; रमया—रमा, धन की देवी द्वारा; प्रार्थ्यमानेन—प्रार्थना किये जाने पर; देव्या—देवी द्वारा; तत्—उसको; प्रिय-काम्यया—प्रसन्न करने के लिए।

धन की लक्ष्मी (रमा) को प्रसन्न करने के लिए भगवान् वैकुण्ठ ने उनकी प्रार्थना पर एक अन्य वैकुण्ठ लोक की रचना की जो सब के द्वारा पूजा जाता है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टिप्पणी है कि यह वैकुण्ठ लोक *श्रीमद्भागवत* की तरह प्रकट होता है और उत्पन्न हुआ या सृजित कहलाता है, किन्तु *श्रीमद्भागवत* तथा वैकुण्ठ दोनों ही आठ प्रकार के आवरणों से ढके भौतिक ब्रह्माण्डों से परे सदैव विद्यमान रहते हैं। जैसाकि द्वितीय स्कंध में बताया जा चुका है, ब्रह्मा ने ब्रह्माण्ड की सृष्टि के पूर्व वैकुण्ठ देखा था। वीरराघव आचार्य उल्लेख करते हैं कि यह वैकुण्ठ इस ब्रह्माण्ड के भीतर है। यह लोकालोक नामक पर्वत के ऊपर स्थित है और सबके द्वारा पूजित है।

तस्यानुभावः कथितो गुणाश्च परमोदयाः ।
भौमान्रेणून्स विममे यो विष्णोर्वर्णयेद्गुणान् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तस्य—वैकुण्ठ के रूप में प्रकट होने वाले भगवान् को; अनुभावः—महान् कार्यकलाप; कथितः—बताये जा चुके; गुणाः—दिव्य गुण; च—भी; परम-उदयाः—अत्यन्त यशस्वी; भौमान्—पृथ्वी के; रेणून्—कण; सः—जो कोई; विममे—गिन सकता है; यः—ऐसा पुरुष; विष्णोः—विष्णु के; वर्णयेत्—गिन सकता है; गुणान्—दिव्य गुणों को।

यद्यपि भगवान् के विविध अवतारों के महान् कार्यों तथा दिव्य गुणों का अद्भुत रीति से वर्णन किया जाता है, किन्तु कभी-कभी हम उन्हें नहीं समझ पाते। किन्तु भगवान् विष्णु के लिए सब कुछ सम्भव है। यदि कोई ब्रह्माण्ड के सारे परमाणुओं को गिन सके तो वह भगवान् के गुणों की गणना कर सकता है। किन्तु ऐसा कर पाना सम्भव नहीं है। अतः कोई भी भगवान् के दिव्य गुणों को नहीं गिन सकता।

तात्पर्य : इस प्रसंग में भगवान् के जिन यशस्वी कार्यों का उल्लेख है वे जय तथा विजय नामक उनके निजी अंगरक्षकों को सनक, सनातन, सनत्कुमार तथा सनन्दन महान् ऋषियों द्वारा शाप दिये जाने के बाद दैत्य बनने पर घटित हुए। जय को हिरण्याक्ष के रूप में वराहदेव से युद्ध करना पड़ा और इन्हीं वराहदेव का वर्णन रैवत कल्प के सम्बन्ध में किया जा रहा है। किन्तु यह युद्ध प्रथम मनु स्वायंभुव के

शासनकाल में हुआ। अतएव कुछ विद्वानों के अनुसार वराह दो हुए हैं। किन्तु अन्यों का मत है कि वराह स्वायंभुव मनु के राज्यकाल में प्रकट हुए और रैवत मनु के काल तक जल के भीतर रहते रहे। कुछ लोगों को सन्देह हो सकता है कि यह कैसे घटित हुआ होगा, किन्तु उत्तर यह है कि कुछ भी घटित हो सकता है। यदि कोई ब्रह्माण्ड के परमाणुओं की गणना कर ले तो वह भगवान् विष्णु के गुणों को गिन सकता है। किन्तु न तो कोई परमाणुओं को गिन सकता है और न भगवान् के दिव्य गुणों को ही।

षष्ठश्च चक्षुषः पुत्रश्चाक्षुषो नाम वै मनुः ।
पूरुपूरुषसुद्युम्नप्रमुखाश्चाक्षुषात्मजाः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

षष्ठः—छठा; च—तथा; चक्षुषः—चक्षु का; पुत्रः—पुत्र; चाक्षुषः—चाक्षुष; नाम—नामक; वै—निस्सन्देह; मनुः—मनु; पूरु—पूरु; पूरुष—पूरुष; सुद्युम्न—सुद्युम्न; प्रमुखाः—प्रमुख; चाक्षुष-आत्म-जाः—चाक्षुष के पुत्र।

चक्षु का पुत्र चाक्षुष कहलाया जो छठा मनु था। उसके कई पुत्र थे जिनमें पूरु, पूरुष तथा सुद्युम्न प्रमुख थे।

इन्द्रो मन्त्रद्रुमस्तत्र देवा आप्यादयो गणाः ।
मुनयस्तत्र वै राजन्हविष्मद्वीरकादयः ॥ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रः—स्वर्ग का राजा; मन्त्रद्रुमः—मंत्रद्रुम नाम का; तत्र—छठे मन्वन्तर में; देवाः—देवतागण; आप्य-आदयः—आप्य तथा अन्य; गणाः—वह सभा; मुनयः—सप्तर्षि; तत्र—वहाँ; वै—निस्सन्देह; राजन्—हे राजा; हविष्मत्—हविष्मान् नाम का; वीरक-आदयः—वीरक तथा अन्य।

चाक्षुष मनु के राज्यकाल में स्वर्ग का राजा मंत्रद्रुम के नाम से विख्यात था। देवताओं में आप्यगण तथा सप्तर्षियों में हविष्मान् तथा वीरक प्रमुख थे।

तत्रापि देवसम्भूत्यां वैराजस्याभवत्सुतः ।
अजितो नाम भगवानंशेन जगतः पतिः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तत्र अपि—पुनः उसी छठे मन्वन्तर में; देवसम्भूत्याम्—देवसम्भूति से; वैराजस्य—उसके पति वैराज का; अभवत्—हुआ; सुतः—पुत्र; अजितः नाम—अजित नामक; भगवान्—भगवान्; अंशेन—अंश से; जगतः पतिः—ब्रह्माण्ड का स्वामी।

इस छठे मन्वन्तर में ब्रह्माण्ड के स्वामी भगवान् विष्णु अपने अंश रूप में प्रकट हुए। वे वैराज की पत्नी देवसम्भूति के गर्भ से उत्पन्न हुए और उनका नाम अजित था।

पयोधिं येन निर्मथ्य सुराणां साधिता सुधा ।
भ्रममाणोऽम्भसि धृतः कूर्मरूपेण मन्दरः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

पयोधिम्—क्षीर सागर; येन—जिसके द्वारा; निर्मथ्य—मथा जाकर; सुराणाम्—देवताओं का; साधिता—उत्पन्न किया; सुधा—अमृत; भ्रममाणः—इधर-उधर भ्रमण करते हुए; अम्भसि—जल के भीतर; धृतः—टिका हुआ था; कूर्म-रूपेण—कछुवे के रूप में; मन्दरः—मन्दर पर्वत।

क्षीरसागर का मंथन करके अजित ने देवताओं के लिए अमृत उत्पन्न किया। कछुवे के रूप में वे महान् मन्दर पर्वत को अपनी पीठ पर धारण किये इधर-उधर हिल-डुल रहे थे।

श्रीराजोवाच
यथा भगवता ब्रह्मन्मथितः क्षीरसागरः ।
यदर्थं वा यतश्चाद्रिं दधाराम्बुचरात्मना ॥ ११ ॥
यथामृतं सुरैः प्राप्तं किं चान्यदभवत्ततः ।
एतद्भगवतः कर्म वदस्व परमाद्भुतम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा परीक्षित ने प्रश्न किया; यथा—जिस तरह; भगवता—भगवान् के द्वारा; ब्रह्मन्—हे विद्वान ब्राह्मण; मथितः—मथा गया; क्षीर-सागरः—दूध का सागर; यत्-अर्थम्—क्या उद्देश्य था; वा—अथवा; यतः—जहाँ से, किस कारण से; च—तथा; अद्रिम्—पर्वत को (मन्दर); दधार—धारण किया; अम्बुचर-आत्मना—कछुवे के रूप में; यथा—जिस तरह; अमृतम्—अमृत; सुरैः—देवताओं द्वारा; प्राप्तम्—प्राप्त किया गया था; किम्—क्या; च—तथा; अन्यत्—दूसरा; अभवत्—बन गया; ततः—तत्पश्चात्; एतत्—ये सभी; भगवतः—भगवान् के; कर्म—कार्यकलाप, लीलाएँ; वदस्व—कृपा करके बतलायें; परम-अद्भुतम्—जो इतने अद्भुत हैं।

राजा परीक्षित ने पूछा : हे परम ब्राह्मण, शुकदेव गोस्वामी! भगवान् विष्णु ने क्षीरसागर का मंथन क्यों और कैसे किया? वे कच्छप रूप में जल के भीतर किसलिए रहे और मन्दर पर्वत को क्यों धारण किये रहे? देवताओं ने किस तरह अमृत प्राप्त किया? और सागर मन्थन से अन्य कौन-कौन सी वस्तुएँ उत्पन्न हुईं? कृपा करके भगवान् के इन सारे अद्भुत कार्यों का वर्णन करें।

त्वया सङ्कथ्यमानेन महिम्ना सात्वतां पतेः ।
नातितृप्यति मे चित्तं सुचिरं तापतापितम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

त्वया—आपके द्वारा; सङ्कथ्यमानेन—वर्णन किया जा रहे; महिम्ना—सारी महिमा से; सात्वताम् पतेः—भक्तों के स्वामी, भगवान् का; न—नहीं; अति-तृप्यति—अत्यधिक तुष्ट होता है; मे—मेरा; चित्तम्—हृदय; सुचिरम्—दीर्घकाल तक; ताप—दुख से; तापितम्—दुखित होकर।

मेरा हृदय भौतिक जीवन के तीन तापों से विचलित है, किन्तु वह अब भी आपके द्वारा वर्णित किये जा रहे भक्तों के स्वामी भगवान् के यशस्वी कार्यकलापों को सुनकर तृप्त नहीं हुआ है।

श्रीसूत उवाच
सम्पृष्टो भगवानेवं द्वैपायनसुतो द्विजाः ।
अभिनन्द्य हरेर्वीर्यमभ्याचष्टुं प्रचक्रमे ॥ १४॥

शब्दार्थ

श्री-सूतः उवाच—श्रीसूत गोस्वामी ने कहा; सम्पृष्टः—पूछे जाने पर; भगवान्—शुकदेव गोस्वामी ने; एवम्—इस प्रकार; द्वैपायन-सुतः—व्यासदेव के पुत्र; द्वि-जाः—यहाँ पर समवेत ब्राह्मण; अभिनन्द्य—महाराज को बधाई देकर; हरेः वीर्यम्—भगवान् के यश को; अभ्याचष्टुम्—वर्णन करने के लिए; प्रचक्रमे—प्रयास किया।

श्रीसूत गोस्वामी ने कहा : यहाँ नैमिषारण्य में एकत्रित हे विद्वान ब्राह्मणो! जब द्वैपायन पुत्र शुकदेव गोस्वामी से राजा ने इस तरह से प्रश्न पूछा तो उन्होंने राजा को बधाई दी और भगवान् के यश को और भी आगे वर्णन करने का प्रयास किया।

श्रीशुक उवाच
यदा युद्धेऽसुरैर्देवा बध्यमानाः शितायुधैः ।
गतासवो निपतिता नोत्तिष्ठेरन्स्म भूरिशः ॥ १५॥
यदा दुर्वासः शापेन सेन्द्रा लोकास्त्रयो नृप ।
निःश्रीकाश्चाभवंस्तत्र नेशुरिज्यादयः क्रियाः ॥ १६॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; यदा—जब; युद्धे—युद्ध में; असुरैः—असुरों द्वारा; देवाः—देवतागण; बध्यमानाः—बाँधे गये; शित-आयुधैः—सर्प-आयुधों द्वारा; गत-आसवः—प्रायः मृत; निपतिताः—गिरे हुए कुछ लोग; न—नहीं; उत्तिष्ठेरन्—पुनः उठ पाये; स्म—ऐसे हो गये; भूरिशः—उनमें से अधिकांश; यदा—जब; दुर्वासः—दुर्वासा मुनि के; शापेन—शाप से; स-इन्द्राः—इन्द्र समेत; लोकाः त्रयः—तीनों लोक; नृप—हे राजा; निःश्रीकाः—बिना किसी भौतिक ऐश्वर्य के; च—भी; अभवन्—हो गया; तत्र—उस समय; नेशुः—सम्पन्न नहीं हो सका; इज्य-आदयः—यज्ञ; क्रियाः—अनुष्ठान।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब असुरों ने अपने-अपने सर्प-आयुधों से युद्ध में देवताओं पर घमासान आक्रमण कर दिया तो अनेक देवता धराशायी हो गये और मर गये। वे फिर से जीवित नहीं किये जा सके। हे राजा! उस समय देवताओं को दुर्वासा मुनि ने शाप दिया हुआ था, तीनों लोक दरिद्रता से पीड़ित थे; इसीलिए अनुष्ठान सम्पन्न नहीं हो पा रहे थे। इसके प्रभाव अत्यन्त गम्भीर थे।

तात्पर्य : ऐसा वर्णन मिलता है कि जब दुर्वासा मुनि मार्ग पर जा रहे थे तो उन्होंने इन्द्र को अपने

हाथी की पीठ पर बैठे देखा। उन्होंने प्रसन्न होकर अपनी एक माला उतारकर इन्द्र के गले में डाल दी। किन्तु गर्वित होने के कारण इन्द्र ने दुर्वासा मुनि के आदर का ध्यान न रखते हुए वह माला उठाकर अपने वाहन हाथी की सूंड़ में पहना दी। हाथी पशु होने के कारण उस माला के महत्त्व को नहीं समझ पाया; अतएव उसने वह माला नीचे गिरा दी और उसे अपने पैरों से रौंद डाला। इस अपमानजनक व्यवहार को देखकर दुर्वासा मुनि ने तुरन्त ही इन्द्र को समग्र भौतिक ऐश्वर्य से रहित दरिद्र होने का शाप दे डाला। इस प्रकार एक ओर युद्ध कर रहे असुरों से दुखी होकर और दूसरी ओर दुर्वासा मुनि के शाप के कारण देवताओं ने तीनों लोकों का अपना सारा भौतिक ऐश्वर्य खो दिया।

भौतिकतावादी उन्नति में अत्यधिक ऐश्वर्यवान् होना कभी-कभी घातक होता है। ऐश्वर्यवान् व्यक्ति किसी की परवाह नहीं करता और इस तरह वह महापुरुषों यथा भक्तों तथा महान् सन्तों के प्रति अपराध करता है। भौतिक ऐश्वर्य की यही शैली है। जैसाकि शुकदेव गोस्वामी ने कहा है—*धनदुर्मदान्ध*—अर्थात् अत्यधिक धन से आदमी अन्धा बन जाता है। स्वर्ग में इन्द्र तक के साथ यही होता है; तो फिर इस भौतिक लोक के लोगों के विषय में क्या कहा जा सकता है? ऐश्वर्यवान् होने पर मनुष्य को वैष्णवों एवं सन्त पुरुषों के प्रति गम्भीर होना तथा अच्छा व्यवहार करना सीखना चाहिए अन्यथा उसका पतन हो जायेगा।

निशाम्यैतत्सुरगणा महेन्द्रवरुणादयः ।
नाध्यगच्छन्स्वयं मन्त्रैर्मन्त्रयन्तो विनिश्चितम् ॥ १७॥
ततो ब्रह्मसभां जग्मुर्मेरोर्मूर्धनि सर्वशः ।
सर्वं विज्ञापयां चक्रुः प्रणताः परमेष्ठिने ॥ १ ॥

शब्दार्थ

निशाम्य—सुनकर; एतत्—यह घटना; सुर-गणाः—सारे देवता; महा-इन्द्र—राजा इन्द्र; वरुण-आदयः—वरुण तथा अन्य देवता; न—नहीं; अध्यगच्छन्—पहुँचे; स्वयम्—साक्षात्; मन्त्रैः—मंत्रणा द्वारा, आपसी विचार-विमर्श करके; मन्त्रयन्तः—विचार-विमर्श करते हुए; विनिश्चितम्—असली निष्कर्ष; ततः—तत्पश्चात्; ब्रह्म-सभाम्—ब्रह्माजी की सभा में; जग्मुः—गये; मेरोः—सुमेरु पर्वत की; मूर्धनि—चोटी पर; सर्वशः—सबों ने; सर्वम्—सारी बातें; विज्ञापयाम् चक्रुः—सूचित किया; प्रणताः—नमस्कार किया; परमेष्ठिने—ब्रह्मा को।.

अपने जीवनों को ऐसी स्थिति में देखकर इन्द्र, वरुण तथा अन्य देवताओं ने परस्पर विचार-विमर्श किया, किन्तु उन्हें कोई हल न मिल सका। तब सारे देवता एकत्र हुए और वे एकसाथ सुमेरु पर्वत की चोटी पर गये। वहाँ पर ब्रह्मा जी की सभा में सब ने ब्रह्मा जी को साष्टांग प्रणाम

किया और जितनी सारी घटनाओं से अवगत कराया।

स विलोक्येन्द्रवाय्वादीन्निःसत्त्वान्विगतप्रभान् ।
लोकानमङ्गलप्रायानसुरानयथा विभुः ॥ १९ ॥
समाहितेन मनसा संस्मरन्पुरुषं परम् ।
उवाचोत्फुल्लवदनो देवान्स भगवान्परः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सः—ब्रह्मा ने; विलोक्य—देखकर; इन्द्र-वायु-आदीन्—इन्द्र, वायु इत्यादि देवताओं को; निःसत्त्वान्—आध्यात्मिक शक्ति से विहीन; विगत-प्रभान्—सारे तेज से रहित; लोकान्—तीनों लोकों को; अमङ्गल-प्रायान्—दुर्भाग्य में डूबे; असुरान्—सारे असुरों को; अयथाः—समृद्धि वाले; विभुः—ब्रह्मा, जो इस जगत में परम हैं; समाहितेन—पूरी तरह समंजित करके; मनसा—मन से; संस्मरन्—पुनः पुनः स्मरण करके; पुरुषम्—परम पुरुष को; परम्—दिव्य; उवाच—कहा; उत्फुल्ल-वदनः—प्रसन्न मुख; देवान्—देवताओं को; सः—वह; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; परः—देवताओं का।

यह देखकर कि सारे देवता प्रभावहीन तथा बलहीन हो गये हैं जिसके फलस्वरूप तीनों लोक अमंगलमय हो चुके हैं तथा यह देखकर कि देवताओं की स्थिति अटपटी है, किन्तु असुरगण फल-फूल रहे हैं ब्रह्मा ने, जो समस्त देवताओं के ऊपर हैं और अत्यन्त शक्तिशाली हैं अपना मन भगवान् पर केन्द्रित किया। इस प्रकार प्रोत्साहित होने से उनका मुख चमक उठा और वे देवताओं से इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : देवताओं से असली स्थिति के बारे में सुनकर ब्रह्माजी अत्यन्त चिन्तित हुए क्योंकि असुर बिना कारण अत्यधिक बलशाली बन चुके थे। जब असुर बलशाली बन जाते हैं, तो सारा संसार विकट स्थिति में पड़ जाता है क्योंकि असुरगण केवल अपनी इन्द्रियतृप्ति में लगे रहते हैं, विश्व कल्याण से उन्हें कोई सरोकार नहीं रहता, किन्तु देवता या भक्तगण सारे जीवों के कल्याण के लिए चिन्तित रहते हैं। उदाहरणार्थ, श्रील रूप गोस्वामी मंत्री पद त्याग कर सारे विश्व के लाभ हेतु वृन्दावन चले गये (*लोकानां हितकारिणौ*)। यह सन्त पुरुष या देवता का गुण है। निर्विशेषवादी तक सभी लोगों का कल्याण-चिन्तन करते हैं। इस प्रकार ब्रह्माजी असुरों को शक्तिशाली होते देखकर अत्यधिक चिन्तित हुए।

अहं भवो यूयमथोऽसुरादयो
मनुष्यतिर्यग्द्रुमघर्मजातयः ।
यस्यावतारांशकलाविसर्जिता

व्रजाम सर्वे शरणं तमव्ययम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; भवः—शिवजी; यूयम्—तुम सारे देवता; अथो—तथा; असुर-आदयः—असुर इत्यादि; मनुष्य—मनुष्य; तिर्यक्—पशु; द्रुम—वृक्ष एवं पौधे; घर्म-जातयः—पसीने से उत्पन्न कीड़े-मकोड़े; यस्य—जिस (भगवान्) का; अवतार—पुरुष अवतार का; अंश—उनके अंश, गुण अवतार, ब्रह्मा का; कला—ब्रह्मा के पुत्रों का; विसर्जिताः—पीढ़ी दर पीढ़ी उत्पन्न; व्रजाम—जायेंगे; सर्वे—हम सभी; शरणम्—शरण में; तम्—उस; अव्ययम्—अव्यय ब्रह्म की।

ब्रह्माजी ने कहा : मैं, शिवजी, तुम सारे देवता, असुर, स्वेदज प्राणी, अण्डज, पृथ्वी से उत्पन्न पेड़-पौधे तथा भ्रूण से उत्पन्न सारे जीव—सभी भगवान् से उन के रजोगुण अवतार (ब्रह्मा, गुणअवतार) से तथा ऋषियों से जो मेरे ही अंश हैं। अतएव हम सभी उन भगवान् के पास चलें और उनके चरणकमलों की शरण ग्रहण करें।

तात्पर्य : कुछ प्राणी भ्रूण से उत्पन्न होते हैं, कुछ पसीने से और कुछ बीज से। इस प्रकार सारे जीव भगवान् के गुणावतार से उत्पन्न होते हैं। अन्ततोगत्वा भगवान् ही सारे जीवों के आश्रय हैं।

न यस्य वध्यो न च रक्षणीयो
नोपेक्षणीयादरणीयपक्षः ।
तथापि सर्गस्थितिसंयमार्थं
धत्ते रजःसत्त्वतमांसि काले ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यस्य—जिसके (भगवान्) द्वारा; वध्यः—मारा जाने वाला; न—न तो; च—भी; रक्षणीयः—रक्षा का पात्र; न—न तो; उपेक्षणीय—उपेक्षणीय; आदरणीय—पूजनीय; पक्षः—अंश; तथापि—फिर भी; सर्ग—सृष्टि; स्थिति—पालन; संयम—तथा संहार; अर्थम्—के लिए; धत्ते—स्वीकार करता है; रजः—रजोगुण; सत्त्व—सतोगुण; तमांसि—तथा तमोगुण को; काले—समय आने पर।

भगवान् के लिए न तो कोई वध्य है, न रक्षणीय, न उपेक्षणीय और न पूजनीय। फिर भी समयानुसार सृष्टि, पालन तथा संहार के लिए वे सतो, रजो या तमो गुण में विभिन्न रूपों में अवतार लेना स्वीकार करते हैं।

तात्पर्य : यह श्लोक बताता है कि भगवान् सब पर समभाव रखते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.२९) में स्वयं भगवान् करते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

“न तो मैं किसी से ईर्ष्या करता हूँ, न किसी का पक्ष लेता हूँ। मैं सब पर समभाव रखता हूँ।

किन्तु जो भी भक्तिपूर्वक मेरी सेवा करता है, वह मेरा मित्र है, वह मुझमें है और मैं भी उसका मित्र हूँ।'' यद्यपि भगवान् निष्पक्ष रहते हैं, किन्तु वे अपने भक्तों का विशेष ध्यान रखते हैं। अतएव भगवान् *भगवद्गीता* (४.) में कहते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

''पुण्यात्माओं का उद्धार तथा दुष्टों का संहार करने के साथ-साथ धर्म के सिद्धान्तों की पुन: स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में अवतरित होता हूँ।'' भगवान् को किसी की रक्षा या विनाश से कोई सरोकार नहीं रहता, किन्तु इस भौतिक जगत के सृजन, पालन तथा संहार के लिए उन्हें बाह्य रूप से सतो, रजो या तमोगुण में कर्म करना पड़ता है। किन्तु वास्तव में वे भौतिक प्रकृति के इन गुणों से प्रभावित नहीं होते। वे हरएक के परमेश्वर हैं। जैसे राजा विधि तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए कभी-कभी किसी को दण्ड देते हैं या पुरस्कृत करते हैं वैसे ही इस जगत के कार्यकलापों से कुछ सरोकार न होने पर भी वे कभी-कभी देश, काल तथा वस्तु के अनुसार विभिन्न अवतारों में प्रकट होते हैं।

अयं च तस्य स्थितिपालनक्षण:
सत्त्वं जुषाणस्य भवाय देहिनाम् ।
तस्माद्व्रजाम: शरणं जगद्गुरुं
स्वानां स नो धास्यति शं सुरप्रिय: ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अयम्—यह अवधि; च—भी; तस्य—भगवान् की; स्थिति-पालन-क्षण:—पालन या अपना शासन स्थापित करने का समय; सत्त्वम्—सतोगुण; जुषाणस्य—(अब बिना प्रतीक्षा किये) स्वीकार करते हुए; भवाय—अधिक उन्नति के लिए; देहिनाम्—भौतिक शरीरधारियों का; तस्मात्—इसलिए; व्रजाम:—जाना चाहिए; शरणम्—शरण में; जगत्-गुरुम्—भगवान् के चरणकमलों पर, जो संसार भर के गुरु हैं; स्वानाम्—हमारा अपना; स:—वह (भगवान्); न:—हमको; धास्यति—देगा; शम्—आवश्यक सौभाग्य; सुर-प्रिय:—देवताओं को स्वभावत: अत्यन्त प्रिय।

देहधारी जीवों के सतोगुण का आह्वान करने का यही अवसर है। सतोगुण भगवान् के शासन की स्थापना करने के निमित्त होता है, जो सृष्टि के अस्तित्व का पालन करेगा। अतएव भगवान् की शरण ग्रहण करने के लिए यह उपयुक्त समय है। चूँकि वे देवताओं पर स्वभावत: अत्यन्त दयालु हैं और उन्हें प्रिय हैं अतएव वे हमें निश्चय ही सौभाग्य प्रदान करेंगे।

तात्पर्य : भौतिक जगत का संचालन तीन गुणों से होता है—ये हैं सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण। रजोगुण से भौतिक वस्तुओं का सृजन होता है, सत्त्वगुण से उनका ठीक से पालन होता है और जब सृष्टि ठीक से स्थित नहीं रहती तो तमोगुण से उनका विनाश हो जाता है।

इस श्लोक से हम कलियुग की स्थिति समझ सकते हैं जिसमें इस समय हम गुजर रहे हैं। कलियुग के प्रारम्भ में या यों कहें कि द्वापरयुग के अन्त में भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हुए और *भगवद्गीता* के रूप में अपने उपदेश छोड़ते गये जिसमें उन्होंने सभी जीवों को अपनी शरण में आने के लिए कहा है। किन्तु कलियुग के प्रारम्भ से ही लोग कृष्ण के चरणकमलों पर आत्मसमर्पण नहीं कर पा रहे हैं; अतएव लगभग पाँच हजार वर्षों के बाद कृष्ण पुन: श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में सारे विश्व को यह सिखाने के लिए आये कि कृष्ण की शरण कैसे ग्रहण की जाये और किस तरह शुद्ध हुआ जाये।

भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने का अर्थ है पूर्ण शुद्धि प्राप्त करना। *भगवद्गीता* (१.६६) में कृष्ण कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच: ॥

"तुम सारे विभिन्न धर्मों को त्याग दो और केवल मेरी शरण में आओ। मैं तुम्हें सारे पापों के फल से बचा लूँगा। तुम डरो मत।" इस तरह जैसे ही कोई कृष्ण के चरणकमलों की शरण में जाता है त्योंही वह निश्चित रूप से समस्त कल्मष से मुक्त हो जाता है।

कलियुग कल्मष से ओतप्रोत है। इसका वर्णन *श्रीमद्भागवत* (१२.३.५१) में हुआ है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुण: ।

कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्ग: परं व्रजेत् ॥

यह कलियुग अनन्त दोषों से पूर्ण है। निस्सन्देह, यह दोषों के सागर (दोष-निधि) के समान है। किन्तु इसमें एक ऐसा अवसर भी है—*कीर्तनाद् एव कृष्णस्य मुक्तसङ्ग: परं व्रजेत्*—केवल हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करके मनुष्य कलियुग के कल्मष से छूट सकता है और वह अपने मूल आध्यात्मिक शरीर में भगवद्धाम को लौट सकता है। कलियुग का यही शुभ अवसर है।

जब कृष्ण प्रकट हुए तो उन्होंने आदेश दिये और जब वे भक्त रूप में श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में स्वयं प्रकट हुए तो उन्होंने हमें वह मार्ग दिखलाया जिससे कलियुग के सागर को पार किया जा सके। वह हरे कृष्ण आन्दोलन का मार्ग है। जब श्री चैतन्य महाप्रभु प्रकट हुए तो उन्होंने *सङ्कीर्तन* आन्दोलन के युग का सूत्रपात किया। यह भी कहा जाता है कि यह युग दस हजार वर्षों तक रहेगा। इसका अर्थ होता है कि *सङ्कीर्तन* आन्दोलन को स्वीकार करने तथा हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करने मात्र से इस कलियुग की पतितात्माओं का उद्धार हो जायेगा। कुरुक्षेत्र युद्ध जिसमें *भगवद्गीता* का प्रवचन हुआ था, के पश्चात् कलियुग को ४,३२,००० हजार वर्षों तक रहना है, जिसमें से केवल ५,००० हजार वर्ष बीते हैं। इस प्रकार अब भी ४,२७,००० वर्ष शेष हैं। इनमें से अगले १०,००० वर्षों तक श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा ५०० वर्ष पूर्व उद्घाटित सङ्कीर्तन आन्दोलन कलियुग की पतितात्माओं को कृष्णभावनामृत आन्दोलन स्वीकार करने, हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करने एवं संसार के पाश से छूटकर भगवद्धाम वापस जाने का सुअवसर प्राप्त होता रहेगा।

हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन सदैव शक्तिमान रहा है, किन्तु कलियुग के लिए यह विशेषतया शक्तिमान है। अतएव महाराज परीक्षित को उपदेश देते हुए शुकदेव गोस्वामी ने हरे कृष्ण मंत्र के कीर्तन पर बल दिया—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥

"हे राजा! यद्यपि यह कलियुग दोषों से पूर्ण है, किन्तु फिर भी इस युग का एक उत्तम गुण है। वह गुण यह है कि हरे कृष्ण महामंत्र के कीर्तन से ही मनुष्य भवबन्धन से मुक्त होकर दिव्य लोक को जा सकता है।" (*भागवत* १२.३.५१)। जिन लोगों ने पूर्णतया कृष्णभावनामृत में रहकर हरे कृष्ण महामंत्र का प्रसार करने का कार्य स्वीकार किया है उन्हें लोगों को भवबन्धन से आसानी से उबारने के इस सुअवसर का लाभ उठाना चाहिए। अतएव, हमारा कर्तव्य है कि श्री चैतन्य महाप्रभु के उपदेशों का अनुगमन करें और निष्ठापूर्वक सारे विश्व में कृष्णभावनामृत आन्दोलन (कृष्ण भक्ति) का प्रचार करें। मानव समाज की शान्ति तथा समृद्धि के लिए यह सर्वोत्तम कल्याण-कार्य है।

श्री चैतन्य महाप्रभु का आन्दोलन *कृष्ण-सङ्कीर्तन* के प्रसार में निहित है। *परं विजयते श्रीकृष्ण*

सङ्कीर्तनम्—श्रीकृष्ण-सङ्कीर्तन की जय हो। यह इतना यशस्वी क्यों है? इसकी भी व्याख्या श्री चैतन्य महाप्रभु ने की है। *चेतो दर्पणमार्जनम्*—हरे कृष्ण महामंत्र के कीर्तन से मनुष्य का हृदय स्वच्छ होता है। सारी कठिनाई तो यह है कि इस कलियुग में सत्त्वगुण नहीं रह गया है और लोगों के हृदय स्वच्छ नहीं हैं; अतएव लोग अपने शरीर को ही आत्मा मानने की भूल कर रहे हैं। यहाँ तक कि बड़े-बड़े विचारक तथा विज्ञानी भी जिनसे हमारा सम्पर्क होता है इस विचार के हैं कि वे शरीर हैं। अभी उसी दिन हम एक प्रमुख विचारक टामस हक्सले से विचार-विमर्श कर रहे थे, जिन्हें अंग्रेज होने का गर्व था। इसका अर्थ यह हुआ कि उनमें देहात्मबुद्धि थी। यह भ्रम हमें सर्वत्र मिलता है। मनुष्य में देहात्मबुद्धि के आने पर वह बिल्ली या कुत्ते जैसा पशु बन जाता है (*स एव गोखरः*)। इस प्रकार हमारे हृदयों में जो सबसे गंदी वस्तुएँ हैं, उनमें से सब से अधिक खतरनाक वस्तु शरीर को ही आत्मा मानने की भ्रान्त धारणा है। इस भ्रान्ति में आकर मनुष्य सोचता है "मैं यह शरीर हूँ। मैं अंग्रेज हूँ। मैं भारतीय हूँ। मैं अमरीकी हूँ। मैं हिन्दू हूँ। मैं मुसलमान हूँ।" यही भ्रान्त धारणा सबसे बड़ा अवरोध है और इसे हटाना होगा। *भगवद्गीता* का और श्री चैतन्य महाप्रभु का यही आदेश है। निस्सन्देह, *भगवद्गीता* का शुभारम्भ ही इस आदेश से होता है—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

"जिस प्रकार देहधारी आत्मा इस शरीर में निरन्तर बचपन से युवावस्था और फिर बुढ़ापे में चलता रहता है उसी तरह आत्मा मृत्यु के समय दूसरे शरीर में चला जाता है।" किन्तु इस परिवर्तन के स्वयं सिद्ध आत्मा विचलित नहीं होता (*भगवद्गीता* २.१३)। यद्यपि आत्मा शरीर के भीतर रहता है लेकिन भ्रान्ति एवं पशु-प्रवृत्ति के कारण मनुष्य शरीर को ही आत्मा मान बैठता है। अतएव श्री चैतन्य महाप्रभु का कहना है—*चेतोदर्पणमार्जनम्।* भ्रान्तियों से पूर्ण हृदय को पूरी तरह स्वच्छ करना मात्र *श्रीकृष्ण सङ्कीर्तन* के माध्यम से सम्भव है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के अग्रणी लोगों को इस सुअवसर पर गम्भीरता से विचार करके पतितात्माओं पर दयालु बनकर उन्हें भौतिक जीवन की भ्रान्तियों से उबारना चाहिए।

मनुष्य इस भौतिक संसार में किसी भी तरह से सुखी नहीं हो सकता। जैसाकि *भगवद्गीता*

(.१६) में कहा गया है—

आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन

''इस भौतिक जगत में सर्वोच्च लोक से निम्नतम लोक तक सभी दुख के स्थान हैं जहाँ बारम्बार जन्म तथा मृत्यु होते रहते हैं।'' अतएव चन्द्रमा तक जाने की कौन कहे, यदि कोई सर्वोच्च लोक, ब्रह्मलोक, भी चला जाये तो भी इस भौतिक जगत में कहीं सुख नहीं है। यदि कोई सचमुच सुख चाहता है, तो उसे वैकुण्ठलोक जाना चाहिए। भौतिक जगत जीवन-संघर्ष के लिए प्रसिद्ध है और योग्यतम की उत्तरजीविता सुप्रसिद्ध सिद्धान्त हैं, किन्तु इस जगत के बेचारे लोग यह नहीं जानते कि उत्तरजीविता क्या है और सक्षम कौन है? उत्तरजीविता का अर्थ यह नहीं होता कि कोई मर जाये। इसका अर्थ यह है कि वह मरे नहीं अपितु ज्ञान के शाश्वत आनन्दमय जीवन का भोग करे। यह उत्तरजीविता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन हर व्यक्ति को उत्तरजीविता के लिए सक्षम बनाने के निमित्त है। निस्सन्देह, यह जीवन-संघर्ष को रोकने के निमित्त है। *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* जीवन-संघर्ष को रोकने के लिए निश्चित आदेश देते हैं और बताते हैं कि नित्य जीवन में किस प्रकार उत्तरजीवी बना जाये। अतएव सङ्कीर्तन आन्दोलन एक महान् अवसर है। मात्र *भगवद्गीता* का श्रवण करने एवं हरे कृष्ण महामंत्र का सङ्कीर्तन करने से मनुष्य पूर्ण शुद्ध हो जाता है। इस तरह जीवन-संघर्ष का अन्त हो जाता है और मनुष्य भगवद्धाम को वापस जाता है।

श्रीशुक उवाच
इत्याभाष्य सुरान्वेधाः सह देवैररिन्दम ।
अजितस्य पदं साक्षाज्जगाम तमसः परम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; आभाष्य—बातें करके; सुरान्—देवताओं को; वेधाः—ब्रह्माण्ड के प्रधान तथा सब को वैदिक ज्ञान प्रदान करने वाले ब्रह्माजी; सह—साथ; देवैः—देवताओं के; अरिम्-दम—सारे शत्रुओं (यथा इन्द्रियों) का दमन करने वाले, हे महाराज परीक्षित; अजितस्य—भगवान् के; पदम्—स्थान तक; साक्षात्—प्रत्यक्ष; जगाम—गये; तमसः—अंधकार के संसार से; परम्—परे।.

हे समस्त शत्रुओं का दमन करने वाले महाराज परीक्षित! देवताओं से बातें करने के बाद ब्रह्माजी उन्हें भगवान् के धाम ले गये जो इस भौतिक जगत से परे है। भगवान् का धाम श्वेतद्वीप नामक टापू में है, जो क्षीर सागर में स्थित है।

तात्पर्य : यहाँ पर महाराज परीक्षित को *अरिन्दम* अर्थात् 'शत्रुओं का दमन करने वाला' कहा गया

है। ऐसा नहीं है कि हमारे शत्रु शरीर के बाहर ही हैं, अपितु हमारे शरीर के भीतर भी अनेक हैं—यथा काम, क्रोध, लोभ। महाराज परीक्षित को विशेष रूप से *अरिन्दम* कहा गया है क्योंकि वे अपने राजनैतिक जीवन में सभी प्रकार के शत्रुओं का दमन करने में समर्थ थे और तरुण नृप होते हुए भी जब उन्होंने सुना कि वे सात दिनों के भीतर मरने वाले हैं, तो उन्होंने तुरन्त अपना साम्राज्य त्याग दिया। उन्होंने अपने शरीर के भीतर स्थित शत्रुओं यथा काम, क्रोध तथा लोभ के आदेशों को नहीं माना। वे उस मुनि के पुत्र पर तनिक भी क्रुद्ध नहीं हुए जिसने उन्हें शाप दिया था। प्रत्युत उस शाप को स्वीकार करते हुए उन्होंने शुकदेव गोस्वामी के सान्निध्य में मरने की तैयारी की। मृत्यु अवश्यम्भावी है, कोई भी मृत्यु की शक्ति पार नहीं पा सकता। अतएव महाराज परीक्षित यह सब जानते हुए *श्रीमद्भागवत* सुनने के इच्छुक थे। फलस्वरूप उन्हें यहाँ *अरिन्दम* कहा गया है।

एक अन्य शब्द *सुर-प्रिय* भी महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि भगवान् कृष्ण सब पर समान भाव रखते हैं, किन्तु वे अपने भक्तों पर विशेष तौर पर कृपालु रहते हैं (*ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्*)। सारे भक्त देवता होते हैं। इस संसार में दो प्रकार के लोग हैं—एक *देव* कहलाते हैं और दूसरे *असुर*। *पद्मपुराण* का कथन है—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
विष्णुभक्तः स्मृतो दैव आसुरस्तद्विपर्ययः॥

जो कोई भी भगवान् कृष्ण का भक्त है, वह देव कहलाता है और अन्य लोग, चाहे वे देवताओं के भक्त ही क्यों न हों, असुर कहलाते हैं। उदाहरणार्थ, रावण शिवजी का महान् भक्त था, किन्तु उसे असुर कहा जाता है। इसी प्रकार हिरण्यकशिपु को ब्रह्मा का महान् भक्त कहा जाता है, तो भी वह असुर था। अतएव केवल भगवान् विष्णु का भक्त *सुर* कहलाता है, *असुर* नहीं। भगवान् कृष्ण अपने भक्तों पर अत्यन्त प्रसन्न रहते हैं, भले ही ये भक्त भक्ति की चरमावस्था को प्राप्त न हों। भक्ति की निम्नतर अवस्थाओं में भी मनुष्य दिव्य होता है और यदि वह भक्ति करता रहे तो वह *देव* या *सुर* ही बना रहता है। यदि कोई इसी तरह रहे तो कृष्ण उस पर सदैव प्रसन्न रहेंगें और उसे उपदेश देंगे जिससे वह आसानी से भगवद्धाम वापस जा सके।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भौतिक जगत के क्षीरसागर स्थित भगवान् के निवास स्थान,

अजितस्य पदम् के विषय में इस प्रकार कहा है— *पदं क्षीरोदधिस्थ श्वेतदीपं तमसः प्रकृतेः परम्*—यह द्वीप श्वेतद्वीप कहलाता है, जो क्षीरसागर में है और दिव्य है। इसका इस भौतिक जगत से कोई वास्ता नहीं है। किसी शहर में सरकार का विश्राम-गृह होता है जहाँ राज्यपाल तथा अन्य महत्त्वपूर्ण सरकारी अधिकारी ठहरते हैं। ऐसा विश्राम-गृह सामान्य घर नहीं होता। इसी प्रकार से श्वेतद्वीप जो क्षीरसागर में स्थित है इसी जगत में है, किन्तु यह *परं पदम्* या दिव्य है।

तत्राद्दष्टस्वरूपाय श्रुतपूर्वाय वै प्रभुः ।
स्तुतिमब्रूत दैवीभिर्गीर्भिस्त्ववहितेन्द्रियः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ (श्वेतद्वीप में); अद्दष्ट-स्वरूपाय—भगवान् को, जिन्हें ब्रह्मा तक ने नहीं देखा था; श्रुत-पूर्वाय—किन्तु जो वेदों से सुने गए थे; वै—निस्सन्देह; प्रभुः—ब्रह्माजी; स्तुतिम्—वैदिक वाङ्मय से प्राप्त स्तुति; अब्रूत—की गई; दैवीभिः—स्तुतियों द्वारा, या वैदिक सिद्धान्तों को पालने वाले व्यक्तियों द्वारा; गीर्भिः—ऐसे गीतों या उच्चारणों द्वारा; तु—तब; अवहित-इन्द्रियः—स्थिरचित्त।

वहाँ (श्वेतद्वीप में) ब्रह्माजी ने भगवान् की स्तुति की, यद्यपि उन्होंने परमेश्वर को इसके पूर्व कभी नहीं देखा था। चूँकि उन्होंने वैदिक वाङ्मय से भगवान् के विषय में सुना हुआ था अतएव उन्होंने स्थिरचित्त होकर भगवान् की उसी तरह स्तुति की जिस प्रकार वैदिक साहित्य में लिखी हुई या मान्य है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि जब ब्रह्मा तथा अन्य देवता श्वेतद्वीप में भगवान् का दर्शन करने जाते हैं, तो वे उनका साक्षात् दर्शन नहीं कर पाते अपितु उनकी प्रार्थना सुनकर भगवान् आवश्यक कार्यवाही करते हैं। ऐसा हमने अनेक बार देखा है। *श्रुतपूर्वाय* शब्द महत्त्वपूर्ण है। प्रत्यक्ष दर्शन करने या सुनने से हमें अनुभव होता है। यदि किसी का प्रत्यक्ष दर्शन कर पाना सम्भव नहीं होता तो उसके विषय में प्रामाणिक स्रोतों से सुना जा सकता है। कभी-कभी लोग पूछते हैं कि क्या हम उन्हें ईश्वर का दर्शन करा सकते हैं? यह अत्यन्त हास्यास्पद है। ईश्वर को स्वीकार करने के पूर्व उनका दर्शन करना आवश्यक नहीं होता। हमारा इन्द्रियबोध सदा अपूर्ण रहता है; अतएव ईश्वर का दर्शन कर लेने पर भी हम उन्हें नहीं समझ सकेंगे। जब कृष्ण इस धरा पर थे तो अनेकानेक लोगों ने उन्हें देखा था, किन्तु वे यह नहीं समझ पाये कि वे भगवान् हैं। *अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।* यद्यपि धूर्तों तथा मूर्खों ने कृष्ण को साक्षात् देखा था, किन्तु वे यह नहीं समझ सके थे कि वे भगवान् हैं। ईश्वर का

साक्षात् दर्शन करके भी अभागा मनुष्य उन्हें समझ नहीं सकता। अतएव हमें प्रामाणिक वैदिक साहित्य से तथा वेदों को समुचित रूप से समझने वाले पुरुषों से भगवान् कृष्ण के विषय में सुनना होता है। यद्यपि ब्रह्मा ने भगवान् को इसके पूर्व नहीं देखा था, किन्तु उनका दृढ़ विश्वास था कि वे श्वेतद्वीप में थे। इस तरह उन्होंने अवसर का लाभ उठाया, वे वहाँ गये और उनकी स्तुति की।

ये स्तुतियाँ सामान्य कल्पित स्तुतियाँ नहीं थीं। स्तुतियों को वेदसम्मत होना चाहिए जैसाकि इस श्लोक में आगत *दैविभिर्गीर्भि:* शब्दों से सूचित होता है। हम अपने कृष्णभावनामृत आन्दोलन में किसी ऐसे गीत की अनुमति नहीं देते जो पहले से स्वीकृत न हो या प्रामाणिक भक्तों द्वारा गाया न गया हो। हम मन्दिर में फिल्मी गानों को गाये जाने की अनुमति नहीं दे सकते। हम प्राय: दो गीत गाते हैं। एक है—*श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु नित्यानन्द श्री अद्वैतगदाधर श्रीवासादि-गौर-भक्तवृन्द।* यह प्रामाणिक गीत है। इसका उल्लेख *चैतन्य चरितामृत* में सदा होता है और आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है। दूसरा गीत है—महामंत्र—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे। हम नरोत्तम दास ठाकुर, भक्तिविनोद ठाकुर तथा लोचनदास ठाकुर के भी गीत गा सकते हैं लेकिन उपर्युक्त दोनों गीत भगवान् को प्रसन्न करने के लिए पर्याप्त हैं, भले ही हम उनका दर्शन न कर सकें। भगवान् का दर्शन करना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि प्रामाणिक साहित्य या अधिकारी जनों के प्रामाणिक वक्तव्यों के द्वारा उनकी प्रंशसा करना।

श्रीब्रह्मोवाच
अविक्रियं सत्यमनन्तमाद्यं
गुहाशयं निष्कलमप्रतर्क्यम् ।
मनोऽग्रयानं वचसानिरुक्तं
नमामहे देववरं वरेण्यम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; अविक्रियम्—अविकारी भगवान् को; सत्यम्—परम सत्य; अनन्तम्—अनन्त; आद्यम्—समस्त कारणों के आदि कारण; गुहा-शयम्—प्रत्येक हृदय में उपस्थित; निष्कलम्—शक्ति का ह्रास हुए बिना; अप्रतर्क्यम्—अचिन्त्य, जो भौतिक तर्कों की सीमा से परे हैं; मन:-अग्रयानम्—मन से भी अधिक वेगवान्; वचसा—शब्द जाल से; अनिरुक्तम्—अवर्णनीय; नमामहे—हम सभी देवता आपको नमस्कार करते हैं; देव-वरम्—उन परमेश्वर को जिनकी न तो कोई तुलना कर सकता है, न उनसे बढ़कर है; वरेण्यम्—परम पूज्य, जिनकी पूजा गायत्री मंत्र द्वारा की जाती है।

ब्रह्माजी ने कहा : हे परमेश्वर, हे अविकारी, असीम परम सत्य! आप हर वस्तु के उद्‌गम हैं। सर्वव्यापी होने के कारण आप प्रत्येक के हृदय में और परमाणु में भी रहते हैं। आपमें कोई

भौतिक गुण नहीं पाये जाते। निस्सन्देह, आप अचिन्त्य हैं। मन आपको कल्पना से नहीं ग्रहण कर सकता और शब्द आपका वर्णन करने में असमर्थ हैं। आप सब के परम स्वामी हैं; अतएव आप हर एक के आराध्य हैं। हम आपको सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् कोई भौतिक सृष्टि की वस्तु नहीं। प्रत्येक भौतिक वस्तु एक से दूसरे रूप में बदलती रहती है। उदाहरणार्थ, मिट्टी से पहले मिट्टी का पात्र बनता है और मिट्टी के पात्र से पुन: मिट्टी बनती है। हमारी सारी सृष्टियाँ क्षणिक एवं अस्थायी हैं, किन्तु भगवान् शाश्वत हैं। इसी प्रकार जीव, जो भगवान् के अंश हैं, भी शाश्वत हैं (*ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:*)। भगवान् सनातन या शाश्वत हैं और जीव भी सनातन हैं। अन्तर इतना ही है कि कृष्ण अर्थात् भगवान् परम सनातन हैं और जीव सूक्ष्म अंशरूप सनातन हैं। जैसाकि *भगवद्‌गीता* (१३.३) में कहा गया है—*क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।* यद्यपि भगवान् जीव हैं और सारे व्यष्टि जीव भी जीव हैं, किन्तु भगवान्, जीवों से भिन्न होने के कारण, विभु (सर्वव्यापी) तथा अनन्त हैं। भगवान् हर वस्तु के कारणस्वरूप हैं। जीव असंख्य हैं, किन्तु भगवान् एक हैं। न तो कोई उनसे बड़ा है, न ही उनके तुल्य है। इस तरह जैसाकि वैदिक मंत्रों से पता चलता है, भगवान् परम पूज्य हैं (*न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते*)। भगवान् परम हैं क्योंकि कोई भी व्यक्ति कल्पना या वाग्जाल से उनका मूल्यांकन नहीं कर सकता। भगवान् मन से भी अधिक वेग से घूम सकते हैं। *ईशोपनिषद्* के श्रुतिमंत्रों में कहा गया है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येतितिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥

"यद्यपि भगवान् अपने धाम में स्थिर हैं, किन्तु वे मन से भी अधिक वेगवान् हैं और दौने में अन्य सब को पिछाड़ सकते हैं। शक्तिशाली देवता उन तक नहीं पहुँच पाते। एक ही स्थान में रहते हुए वे वायु तथा वर्षा की पूर्ति करने वालों को नियंत्रित करते हैं। वे सर्वश्रेष्ठ हैं।" (*ईशोपनिषद्* ४)। इस तरह ब्रह्म की तुलना कभी भी अधीनस्थ जीवों से नहीं की जानी चाहिए।

चूँकि भगवान् सबके हृदय में स्थित हैं किन्तु व्यष्टि जीव ऐसा नहीं है, अतएव जीव की तुलना परमेश्वर से नहीं करनी चाहिए। *भगवद्‌गीता* (१५.१५) में भगवान् कहते हैं—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्ट:*—मैं हरएक के हृदय में स्थित हूँ। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं होता कि हर व्यक्ति

भगवान् के तुल्य है। श्रुतिमंत्रों में यह भी कहा गया है—*हृदि ह्ययमात्मा प्रतिष्ठितः।* *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है—*सत्यं परं धीमहि।* वेद मंत्र कहते हैं—*सत्यं ज्ञानमनन्तम्* तथा *निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यम्।* ईश्वर सर्वश्रेष्ठ हैं। यद्यपि वे स्वयं कुछ नहीं करते फिर भी वे ही सब कुछ करते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.४) में भगवान् कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

''यह सारा ब्रह्माण्ड मेरे अव्यक्त रूप से व्याप्त है, सारे प्राणी मुझमें हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।''

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

''हे कुन्तीपुत्र! यह प्रकृति मेरी अध्यक्षता में कार्य करती है और समस्त चर तथा अचर प्राणियों को उत्पन्न करती है। अपने नियम के अनुसार यह सृष्टि बारम्बार उत्पन्न और विनष्ट होती रहती है।'' (*भगवद्गीता* ९.१०)। इस तरह भगवान् अपने धाम में मौन रहकर भी अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा सब कुछ करते रहते हैं (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*)।

ब्रह्मा द्वारा उच्चरित सारे वैदिक मंत्र या श्रुतिमंत्र, इस श्लोक में आये हैं, क्योंकि ब्रह्मा तथा उनके अनुयायी, जो ब्रह्मसम्प्रदाय के हैं, भगवान् को परम्परा-पद्धति से जानते हैं। हमें अपने पूर्वगामियों के वचनों से ज्ञान प्राप्त करना होता है। कुल बारह महाजन हैं जिनमें से ब्रह्मा भी एक हैं—

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥

(*भागवत* ६.३.२०)

हम लोग ब्रह्मा की परम्परा के हैं अतएव ब्रह्मसम्प्रदाय के नाम से जाने जाते हैं। चूँकि भगवान् को जानने के लिए देवता ब्रह्माजी का अनुसरण करते हैं अतएव हमें भी भगवान् को समझने के लिए परम्परा-पद्धति के महाजनों का अनुसरण करना चाहिए।

विपश्चितं प्राणमनोधियात्मना-

मर्थेन्द्रियाभासमनिद्रमव्रणम् ।
छायातपौ यत्र न गृध्रपक्षौ
तमक्षरं खं त्रियुगं व्रजामहे ॥ २७॥

शब्दार्थ

विपश्चितम्—सर्वज्ञ को; प्राण—किस तरह प्राण कार्यशील है; मनः—किस तरह मन कार्यशील है; धिय—किस तरह बुद्धि कार्यशील है; आत्मनाम्—सारे जीवों का; अर्थ—इन्द्रिय-विषय; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आभासम्—ज्ञान; अनिद्रम्—सदैव जाग्रत तथा अज्ञान से मुक्त; अव्रणम्—सुख तथा दुख से प्रभावित होने वाले भौतिक शरीर के बिना; छाया-आतपौ—अज्ञान से दुखी समस्त लोगों के आश्रय; यत्र—जहाँ; न—नहीं; गृध्र-पक्षौ—किसी भी जीव का पक्षपात; तम्—उसको; अक्षरम्—अच्युत; खम्—आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त; त्रि-युगम्—तीन युगों (सत्य, त्रेता तथा द्वापर) में छह ऐश्वर्यों समेत प्रकट होकर; व्रजामहे—मैं शरण ग्रहण करता हूँ।.

भगवान् प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से जानते रहते हैं कि किस प्रकार प्राण, मन तथा बुद्धि समेत प्रत्येक वस्तु उनके नियंत्रण में कार्य करती है। वे हर वस्तु के प्रकाशक हैं और अज्ञान उन्हें छू तक नहीं गया। उनका भौतिक शरीर नहीं होता जो पूर्वकर्मों के फलों से प्रभावित हो। वे पक्षपात तथा भौतिकतावादी विद्या के अज्ञान से मुक्त हैं। अतएव मैं उन भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता हूँ जो नित्य, सर्वव्यापक तथा आकाश के समान विशाल हैं और तीनों युगों (सत्य, त्रेता तथा द्वापर) में अपने षड्ऐश्वर्यों समेत प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में भगवान् का वर्णन इस प्रकार हुआ है—*जन्माद्यस्य यतोऽन्वयाद् इतरश्चार्थेष्वभिज्ञः ।* भगवान् समस्त उद्भावों के उद्गम हैं और वे अपनी सृष्टि के भीतर होने वाले प्रत्येक कार्यकलाप के विषय में प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से सब कुछ जानते हैं। अतएव भगवान् को यहाँ पर *विपश्चितम्* कहकर सम्बोधित किया गया है, जिसका अर्थ है ''समस्त ज्ञान से पूर्ण या सब कुछ जानने वाला।'' भगवान् परमात्मा हैं और वे सारे जीवों तथा उनकी इन्द्रियों के विषय में सब कुछ जानते हैं।

इस श्लोक में *अनिद्रम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है ''सदैव जागरूक तथा अज्ञान से रहित।'' जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है—*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—भगवान् ही हर एक को बुद्धि प्रदान करते हैं और उनमें विस्मृति उत्पन्न करते हैं। प्राणियों की संख्या करोड़ों में है और भगवान् उन को निर्देश देते हैं। अतएव उन्हें सोने का समय ही नहीं मिल पाता और वे हमारे कार्यकलापों से कभी भी अनभिज्ञ नहीं रहते। वे हर एक घटना के साक्षी हैं। हम प्रतिक्षण जो भी कर रहे हैं उसे वे देखते रहते हैं। भगवान् कर्म से उत्पन्न शरीर से प्रच्छन्न नहीं रहते। हमारे शरीर हमारे

विगत कर्मों के फलस्वरूप निर्मित होते हैं (*कर्मणादैवनेत्रेण*), किन्तु भगवान् के भौतिक शरीर नहीं होता; अतएव उनमें अविद्या नहीं रहती। वे सोते नहीं, अपितु सदैव सतर्क तथा जाग्रत रहते हैं।

भगवान् को त्रियुग कहा गया है क्योंकि वे सतयुग, त्रेता तथा द्वापर युगों में नाना रूपों में प्रकट हुए थे, किन्तु जब वे कलियुग में अवतरित हुए तो उन्होंने अपने आपको कभी भगवान् घोषित नहीं किया—

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्र पार्षदम्

भगवान् कलियुग में भक्त के रूप में प्रकट होते हैं। इस तरह यद्यपि वे कृष्ण होते हैं, किन्तु वे भक्त की भाँति 'हरे कृष्ण मंत्र' का कीर्तन करते हैं। फिर भी *श्रीमद्भागवत* (११.५.३२) संस्तुति करती है—

यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्तिहि सुमेधसः

श्री चैतन्य महाप्रभु जिनका रंग कृष्ण की भाँति साँवला नहीं है, अपितु सुनहला (*त्विषाकृष्णम्*) है, भगवान् हैं। उनके साथ नित्यानन्द, अद्वैत, गदाधर तथा श्रीवास जैसे पार्षद रहते हैं। जो लोग पर्याप्त बुद्धिमान् हैं, वे सङ्कीर्तन-यज्ञ द्वारा इन भगवान् की पूजा करते हैं। इस अवतार में भगवान् अपने आपको परमेश्वर कहकर घोषित नहीं करते, अतएव वे त्रियुग कहलाते हैं।

अजस्य चक्रं त्वजयेर्यमाणं
मनोमयं पञ्चदशारमाशु ।
त्रिनाभि विद्युच्चलमष्टनेमि
यदक्षमाहुस्तमृतं प्रपद्ये ॥ २॥

शब्दार्थ

अजस्य—जीव का; चक्रम्—पहिये को (इस जगत में जन्म-मृत्यु के चक्र को); तु—लेकिन; अजया—भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा; ईर्यमाणम्—अत्यन्त वेग के साथ घूमती हुई; मनः-मयम्—जो मुख्यतः मन पर आधारित मानसिक सृष्टि के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है; पञ्चदश—पन्द्रह; अरम्—तीलियों वाला; आशु—शीघ्र ही; त्रि-नाभि—तीन नाभियों वाला (भौतिक प्रकृति के तीन गुणों वाला); विद्युत्—बिजली की भाँति; चलम्—गतिमान्; अष्ट-नेमि—आठ नेमियों (परिधियों) से बनी (भगवान् की आठ बहिरंगा शक्तियाँ, भूमिरापोऽनलो वायु इत्यादि); यत्—जो; अक्षम्—धुरी; आहुः—वे कहते हैं; तम्—उनको; ऋतम्—सत्य; प्रपद्ये—हम नमस्कार करें।

भौतिक कार्यों के चक्र में, भौतिक शरीर मानसिक रथ के पहिये जैसा होता है। दस इन्द्रियाँ (पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) तथा शरीर के भीतर के पाँच प्राण मिलकर रथ के पहिये के पन्द्रह अरे (तीलियाँ) बनाते हैं। प्रकृति के तीन गुण (सत्त्व, रजस् तथा तमस्)

कार्यकलापों के केन्द्रबिन्दु हैं और प्रकृति के आठ अवयव (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार) इस पहिए की बाहरी परिधि बनाते हैं। बहिरंगा भौतिक शक्ति इस पहिए को विद्युत् शक्ति की भाँति घुमाती है। इस प्रकार यह पहिया बड़ी तेजी से अपनी धुरी या केन्द्रीय आधार अर्थात् भगवान् के चारों ओर घूमता है, जो परमात्मा तथा चरम सत्य हैं। हम उन्हें सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर अलंकारिक ढंग से बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्र का वर्णन हुआ है। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.५) में कहा गया है—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

सारा संसार इसलिए गतिशील है क्योंकि भगवान् का अंश-रूप जीव भौतिक शक्ति का उपयोग करता है। भौतिक शक्ति के पाश में रहकर जीवात्मा भगवान् के निर्देशन में जन्म तथा मृत्यु के चक्र पर आरूढ़ होकर चक्कर लगा रहा है। इसका केन्द्रबिन्दु परमात्मा है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१.६१) में कहा गया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

"हे अर्जुन! भगवान् सबके हृदय में स्थित हैं और उन सारे जीवों की गति का निर्देशन कर रहे हैं, जो मानो भौतिक शक्ति से बने किसी यंत्र पर आसीन हैं।" जीव का भौतिक शरीर बद्ध-जीव के कार्यकलापों का परिणाम है और चूँकि इसका आश्रय देने वाला परमात्मा है अतएव परमात्मा ही वास्तविकता है। इसलिए हमें चाहिए कि इस केन्द्रीय सत्य को सादर नमस्कार करें। मनुष्य को इस जगत के कार्यकलापों से दिग्भ्रमित नहीं होना चाहिए और केन्द्रीय बिन्दु अर्थात् परम सत्य को भूलना नहीं चाहिए। यही यहाँ पर ब्रह्माजी का उपदेश है।

य एकवर्णं तमसः परं त-
दलोकमव्यक्तमनन्तपारम् ।
आसां चकारोपसुपर्णमेन-

मपासते योगरथेन धीराः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

यः—जो भगवान्; एक-वर्णम्—चरम, जो शुद्ध सतोगुणी हैं; तमसः—भौतिक जगत के अंधकार को; परम्—दिव्य; तत्—वह; अलोकम्—जो देखा नहीं जा सकता; अव्यक्तम्—अप्रकट; अनन्त-पारम्—असीम, भौतिक काल तथा दिक् की माप के परे; आसाम् चकार—स्थित; उप-सुपर्णम्—गरुड़ की पीठ पर; एनम्—उनको; उपासते—पूजते हैं; योग-रथेन—योग के यान द्वारा; धीराः—गम्भीर व्यक्ति, जो भौतिक क्षोभ से अविचलित रहते हैं।

भगवान् शुद्ध सत्त्व में स्थित हैं; अतएव वे एकवर्ण—ओङ्कार (प्रणव) हैं। चूँकि भगवान् अंधकार माने जाने वाले दृश्य जगत से परे हैं, अतएव वे भौतिक नेत्रों से नहीं दिखते। फिर भी वे दिक् या काल द्वारा हमसे पृथक् नहीं होते, अपितु वे सर्वत्र उपस्थित रहते हैं। अपने वाहन गरुड़ पर आसीन उनकी पूजा क्षोभ से मुक्ति पा चुके व्यक्तियों के द्वारा योग शक्ति से की जाती है। हम सभी उनको सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : *सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितम्* (*भागवत* ४.३.२३)। इस भौतिक जगत में सतो, रजो तथा तमो—ये तीनों गुण पाये जाते हैं। इन तीनों में से सतोगुण ज्ञान का आधार है, रजोगुण ज्ञान तथा अज्ञान के मिश्रण को लाने वाला है, किन्तु तमोगुण अंधकार से पूर्ण होता है। अतएव भगवान् तमो तथा रजो गुणों से परे होते हैं। वे ऐसे पद पर होते हैं जहाँ सतोगुण या ज्ञान रजो तथा तमोगुण द्वारा विचलित नहीं होता। यह वसुदेव पद कहलाता है। इसी वसुदेव पद पर ही वासुदेव या कृष्ण प्रकट हो सकते हैं। इस प्रकार कृष्ण इस लोक में वसुदेव के पुत्ररूप में प्रकट हुए। चूँकि भगवान् प्रकृति के तीनों गुणों के परे हैं अतएव जिन लोगों में इन तीनों गुणों की प्रधानता होती है, वे उन्हें नहीं दिखते। अतएव मनुष्य को धीर बनना चाहिए या प्रकृति के गुणों द्वारा अविचलित रहना चाहिए। योग का अभ्यास वही कर सकता है, जो इन गुणों के विक्षोभ से मुक्त हो। अतएव योग की परिभाषा इस प्रकार की जाती है—*योग इन्द्रिय संयमः।* जैसा पहले बताया जा चुका है, हम सभी इन्द्रियों द्वारा विचलित होते रहते हैं। साथ ही, हम बहिरंगा शक्ति द्वारा लादे जाने वाले प्रकृति के तीन गुणों द्वारा विचलित किये जाते हैं। बद्ध जीवन में जीव जन्म-मृत्यु के चक्रवात में तेजी से घूमता है, किन्तु जब कोई *विशुद्ध सत्त्व* के दिव्य पद पर स्थित होता है, तो वह गरुड़ की पीठ पर आसीन भगवान् का दर्शन पा सकता है। ब्रह्माजी ऐसे भगवान् को सादर नमस्कार करते हैं।

न यस्य कश्चातितितर्ति मायां

यया जनो मुह्यति वेद नार्थम् ।
तं निर्जितात्मात्मगुणं परेशं
नमाम भूतेषु समं चरन्तम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यस्य—जिसका (भगवान् का); कश्च—कोई; अतितितर्ति—जीतने में समर्थ; मायाम्—माया को; यया—जिसके द्वारा (माया द्वारा); जनः—सामान्य लोग; मुह्यति—मोहित हो जाता है; वेद—समझो; न—नहीं; अर्थम्—जीवन लक्ष्य; तम्—उस (भगवान्) को; निर्जित—पूरी तरह वशीभूत; आत्मा—जीव; आत्म-गुणम्—तथा उनकी बहिरंगा शक्ति; पर-ईशम्—दिव्य पद पर स्थित भगवान्; नमाम—हम नमस्कार करते हैं; भूतेषु—सारे जीवों मे; समम्—समभाव; चरन्तम्—उन्हें वश में करते या उन पर शासन करते।

कोई भी व्यक्ति भगवान् की माया का पार नहीं पा सकता जो इतनी प्रबल होती है कि हर व्यक्ति इससे भ्रमित होकर जीवन के लक्ष्य को समझने की बुद्धि खो देता है। किन्तु वही माया उन भगवान् के वश में रहती है, जो सब पर शासन करते हैं और सभी जीवों पर समान दृष्टि रखते हैं। हम उन्हें नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु अपने पराक्रम से निश्चय ही सभी जीवों को वश में रखते हैं यहाँ तक कि सारे जीव जीवन के लक्ष्य को भूल गए हैं। *न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुम्*—लोग भूल गये हैं कि जीवन लक्ष्य भगवान् के धाम को वापस जाना है। भगवान् की बहिरंगा शक्ति अर्थात् माया सभी बद्धजीवों को ऐसा अवसर प्रदान करती प्रतीत होती है, जिससे वे इस भौतिक जगत में सुखी रहें, किन्तु यह रहती है माया ही। दूसरे शब्दों में, यह ऐसा स्वप्न है, जो कभी पूरा नहीं होता। इस प्रकार हर व्यक्ति भगवान् की बहिरंगा शक्ति अर्थात् माया से भ्रमित होता है। यह माया निस्सन्देह, अत्यन्त प्रबल है, किन्तु यह पूर्णतया उस दिव्य व्यक्ति के वश में रहती है, जिसे इस श्लोक में *परेशम्* अर्थात् दिव्य भगवान् कहा गया है। भगवान् इस भौतिक सृष्टि के अंग नहीं हैं, वे सृष्टि से परे हैं। अतएव वे अपनी बहिरंगा शक्ति के द्वारा न केवल बद्धजीवों को वश में रखते हैं अपितु बहिरंगा शक्ति को भी अपने वश में रखते हैं। *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है कि प्रबल माया हर एक को नियंत्रित करती है और उसके नियंत्रण से छूट पाना अत्यन्त कठिन है। यह नियंत्रक शक्ति भगवान् की है और उनके नियंत्रण में कार्य करती है। किन्तु सारे जीव इस भौतिक शक्ति के अधीन हो जाने से भगवान् को भूल गये हैं।

इमे वयं यत्प्रिययैव तन्वा

सत्त्वेन सृष्टा बहिरन्तराविः ।
गतिं न सूक्ष्मामृषयश्च विद्महे
कुतोऽसुराद्या इतरप्रधानाः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

इमे—ये; वयम्—हम (देवता); यत्—जिसको; प्रियया—अत्यन्त प्रिय लगने वाले; एव—निश्चय ही; तन्वा—भौतिक शरीर; सत्त्वेन—सतोगुण से; सृष्टाः—उत्पन्न; बहिः-अन्तः-आविः—यद्यपि बाहर तथा भीतर से पूर्णतया अवगत; गतिम्—लक्ष्य; न—नहीं; सूक्ष्माम्—अत्यन्त सूक्ष्म; ऋषयः—सन्त पुरुष; च—भी; विद्महे—समझते हैं; कुतः—कैसे; असुर-आद्याः—असुर तथा नास्तिक; इतर—अन्य नगण्य लोग; प्रधानाः—यद्यपि वे अपने समाज के नेता हैं।

चूँकि हमारे शरीर सत्त्वगुण से निर्मित हैं इसलिए हम देवगण भीतर तथा बाहर से सतोगुण में स्थित हैं। सारे सन्त पुरुष भी इसी प्रकार स्थित हैं। अतएव यदि हम भगवान् को न भी समझ सकते हों तो उन नगण्य प्राणियों के विषय में क्या कहा जाये जो रजो तथा तमो गुणों में स्थित हैं? भला वे भगवान् को कैसे समझ सकते हैं? हम उन भगवान् को सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : नास्तिक तथा असुर भगवान् को नहीं समझ पाते यद्यपि भगवान् हर एक के भीतर स्थित हैं। उनके लिए भगवान् अन्त में काल रूप में प्रकट होते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्ट हुआ है (*मृत्युः सर्वहरश्चाहम्*)। नास्तिक लोग सोचते हैं कि वे स्वतंत्र हैं, अतः वे भगवान् की सर्वश्रेष्ठता की परवाह नहीं करते; फिर भी भगवान् अपनी सर्वश्रेष्ठता तब जताते हैं जब वे काल के रूप में उन को अभिभूत करते हैं। मृत्यु के समय उनका तथाकथित वैज्ञानिक ज्ञान तथा भगवान् की सर्वश्रेष्ठता को नकारने की दार्शनिक कल्पना विफल हो जाती है। उदाहरणार्थ, हिरण्यकशिपु नास्तिक वर्ग के लोगों का उच्च प्रतिनिधि था। वह सदैव ईश्वर के अस्तित्व को चुनौती देता था और इस प्रकार वह अपने पुत्र के प्रति भी शत्रुता रखने लगा था। प्रत्येक व्यक्ति हिरण्यकशिपु के नास्तिक सिद्धान्तों से भयभीत था। किन्तु जब भगवान् नृसिंह देव उसे मारने के लिए प्रकट हुए तो उसके नास्तिक सिद्धान्त उसे बचा नहीं पाये। भगवान् नृसिंहदेव ने हिरण्यकशिपु को मार डाला और उसके सारे बल, प्रभाव तथा गर्व को चूर-चूर कर दिया। किन्तु नास्तिक लोग यह कभी नहीं समझ पाते कि उनके द्वारा सृजित प्रत्येक वस्तु किस तरह विनष्ट कर दी जाती है। यद्यपि परमात्मा उनके भीतर स्थित हैं, किन्तु रजो तथा तमो गुणों की प्रधानता के कारण वे भगवान् की सर्वश्रेष्ठता को समझ नहीं पाते। यहाँ तक कि देवता तथा भक्त भी भगवान् के गुणों एवं उनकी स्थिति से पूर्णतः अवगत नहीं हैं यद्यपि वे दिव्य पद पर या सत्त्व पद पर आसीन होते हैं। फिर भला असुर तथा नास्तिक लोग भगवान् को कैसे समझ सकते हैं? ऐसा सम्भव

नहीं है। अतएव इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए ब्रह्मा इत्यादि देवताओं ने भगवान् को सादर नमस्कार किया।

पादौ महीयं स्वकृतैव यस्य
चतुर्विधो यत्र हि भूतसर्गः ।
स वै महापूरुष आत्मतन्त्रः
प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

पादौ—उनके चरणकमल; मही—पृथ्वी; इयम्—यह; स्व-कृत—उन्हीं के द्वारा उत्पन्न; एव—निस्सन्देह; यस्य—जिसका; चतुः-विधः—चार प्रकार के जीवों का; यत्र—जहाँ पर; हि—निस्सन्देह; भूत-सर्गः—भौतिक सृष्टि; सः—वह; वै—निस्सन्देह; महा-पूरुषः—परम पुरुष; आत्म-तन्त्रः—आत्मनिर्भर, आत्माराम; प्रसीदताम्—वे हम पर कृपालु हों; ब्रह्म—महानतम; महा-विभूतिः—असीम शक्ति से युक्त।

इस पृथ्वी पर चार प्रकार के जीव हैं और ये सारे के सारे उन्हीं के द्वारा उत्पन्न किये गये हैं। यह भौतिक सृष्टि उनके चरणकमलों पर टिकी है। वे एश्वर्य तथा शक्ति से पूर्ण परम पुरुष हैं। वे हम पर प्रसन्न हों।

तात्पर्य : *मही* शब्द पाँच भौतिक तत्त्वों—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तथा आकाश—का सूचक है, जो भगवान् के चरणकमलों पर आश्रित हैं। *महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः। महत्-तत्त्व* अर्थात् समग्र भौतिक शक्ति भगवान् के चरणकमलों पर टिकी है क्योंकि यह विराट जगत भगवान् का एक दूसरा ऐश्वर्य ही है। इस विराट जगत में चार प्रकार के जीव हैं—*जरायुज* (भ्रूण से उत्पन्न), *अण्डज* (अण्डों से उत्पन्न), *स्वेदज* (पसीने से उत्पन्न) तथा *उद्भिज* (बीजों से उत्पन्न)। जैसी कि *वेदान्त सूत्र* से पुष्टि होती है (*जन्माद्यस्य यतः*) प्रत्येक वस्तु भगवान् से उत्पन्न होती है। कोई भी स्वतंत्र नहीं है, किन्तु परमात्मा पूर्ण स्वतंत्र हैं। *जन्माद्यस्य यतोऽन्वयाद् इतरश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्।* स्वराट् शब्द का अर्थ है "स्वतंत्र।" हम स्वतंत्र हैं किन्तु भगवान् पूर्णतया स्वतंत्र हैं। अतएव भगवान् सब से बड़े हैं। यहाँ तक कि ब्रह्मा भी, जिन्होंने विराट जगत की सृष्टि की है, भगवान् के एक दूसरे ऐश्वर्य मात्र ही हैं। भौतिक सृष्टि भगवान् द्वारा सक्रिय बनाई जाती है अतएव भगवान् भौतिक सृष्टि के अंग नहीं हैं। वे अपने मूल आध्यात्मिक पद पर बने रहते हैं। भगवान् का विश्वरूप, *वैराजमूर्ति,* भगवान् का एक अन्य स्वरूप है।

अम्भस्तु यद्रेत उदारवीर्यं

सिध्यन्ति जीवन्त्युत वर्धमानाः ।
लोका यतोऽथाखिललोकपालाः
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अम्भः—इस लोक में या अन्य लोकों में दिखने वाली जलराशि; तु—लेकिन; यत्-रेतः—उनका वीर्य; उदार-वीर्यम्—इतना शक्तिशाली; सिध्यन्ति—उत्पन्न किये जाते हैं; जीवन्ति—जीवित रहते हैं; उत—निस्सन्देह; वर्धमानाः—फूलते-फलते हैं; लोकाः—तीनों लोक; यतः—जिससे; अथ—भी; अखिल-लोक-पालाः—ब्रह्माण्ड भर के सारे देवता; प्रसीदताम्—प्रसन्न हों; नः—हम पर; सः—वह; महा-विभूतिः—असीम शक्ति वाला पुरुष।

सारा विराट जगत जल से निकला है और जल ही के कारण सारे जीव स्थित हैं, जीवित रहते तथा विकसित होते हैं। यह जल भगवान् के वीर्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अतएव इतनी महान् शक्ति वाले भगवान् हम पर प्रसन्न हों।

तात्पर्य : तथाकथित विज्ञानियों के सिद्धान्तों के बावजूद, इस पृथ्वीलोक पर तथा अन्य लोकों में जल की विपुल मात्रा की सृष्टि हाइड्रोजन तथा आक्सीजन के मिश्रण से नहीं होती है। प्रत्युत जल को कभी-कभी भगवान् का पसीना तथा कभी-कभी वीर्य कहा जाता है। जल से ही सारे जीव प्रकट होते हैं और जल से ही वे जीवित रहते तथा बढ़ते हैं। यदि जल न होता तो सारा जीवन समाप्त हो जाता। जल हर एक के जीवन का स्रोत है। अतएव भगवत्कृपा से हमें सारे विश्व में इतना जल उपलब्ध है।

सोमं मनो यस्य समामनन्ति
दिवौकसां यो बलमन्ध आयुः ।
ईशो नगानां प्रजनः प्रजानां
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

सोमम्—चन्द्रमा; मनः—मन; यस्य—जिस (भगवान्) का; समामनन्ति—वे कहते हैं; दिवौकसाम्—उच्चलोक के निवासियों का; यः—जो; बलम्—बल; अन्धः—अन्न; आयुः—उम्र; ईशः—परमेश्वर; नगानाम्—वृक्षों का; प्रजनः—प्रजनन का स्रोत; प्रजानाम्—सारे जीवों का; प्रसीदताम्—वे प्रसन्न हों; नः—हम पर; सः—वे भगवान्; महा-विभूतिः—सारे ऐश्वर्यों का स्रोत।

सोम (चन्द्रमा) समस्त देवताओं के लिए अन्न, बल तथा दीर्घायु का स्रोत है। वह सारी वनस्पतियों का स्वामी तथा सारे जीवों की उत्पत्ति का स्रोत भी है। जैसा कि विद्वानों ने कहा है, चन्द्रमा भगवान् का मन है। ऐसे समस्त ऐश्वर्यों के स्रोत भगवान् हम पर प्रसन्न हों।

तात्पर्य : सोम, जो चन्द्रमा का अधिष्ठाता देव है, अन्न का स्रोत है अतएव वह दैवी प्राणियों, देवताओं की भी शक्ति का स्रोत है। वह सारी वनस्पतियों का प्राण है। दुर्भाग्यवश तथाकथित आधुनिक विज्ञानी चन्द्रमा को पूरी तरह न समझ सकने के कारण, उसे मरुस्थल से पूर्ण बताते हैं। चूंकि चन्द्रमा

हमारी वनस्पतियों का स्रोत है, अत: वह मरुस्थल कैसे हो सकता है? चन्द्रमा का प्रकाश (चाँदनी) सारी वनस्पतियों का प्राण है; अतएव सम्भवत: हम यह नहीं मान सकते कि चन्द्रमा मरुस्थल है।

अग्निर्मुखं यस्य तु जातवेदा
जात: क्रियाकाण्डनिमित्तजन्मा ।
अन्त:समुद्रेऽनुपचन्स्वधातून्
प्रसीदतां न: स महाविभूति: ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

अग्नि:—अग्नि; मुखम्—मुँह जिससे भगवान् खाते हैं; यस्य—जिसका; तु—लेकिन; जात-वेदा:—सम्पत्ति या जीवन की समस्त आवश्यकताओं को उत्पन्न करने वाला; जात:—उत्पन्न किया; क्रिया-काण्ड—अनुष्ठान; निमित्त—के लिए; जन्मा—इसीलिए निर्मित; अन्त:-समुद्रे—समुद्र की गहराई में; अनुपचन्—सदैव पचाते हुए; स्व-धातून्—सारे तत्त्वों को; प्रसीदताम्—प्रसन्न हों; न:—हम पर; स:—वह; महा-विभूति:—परम शक्तिशाली।

अनुष्ठानों की आहुति ग्रहण करने के लिए उत्पन्न अग्नि भगवान् का मुख है। सागर की गहराइयों के भीतर भी सम्पत्ति उत्पन्न करने के लिए अग्नि रहती है और उदर में भोजन पचाने के लिए तथा शरीर पालन हेतु विभिन्न स्त्रावों को उत्पन्न करने के लिए भी अग्नि उपस्थित रहती है। ऐसे परम शक्तिमान भगवान् हम पर प्रसन्न हों।

यच्चक्षुरासीत्तरणिर्देवयानं
त्रयीमयो ब्रह्मण एष धिष्ण्यम् ।
द्वारं च मुक्तेरमृतं च मृत्यु:
प्रसीदतां न: स महाविभूति: ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; चक्षु:—आँख; आसीत्—बना; तरणि:—सूर्यदेव; देव-यानम्—देवताओं के मोक्ष पथ का अधिष्ठाता देव; त्रयी-मय:—कर्मकाण्ड के वैदिक ज्ञान के मार्गदर्शन हेतु; ब्रह्मण:—परम सत्य का; एष:—यह; धिष्ण्यम्—साक्षात्कार का स्थान; द्वारम् च—तथा द्वार; मुक्ते:—मुक्ति के लिए; अमृतम्—नित्य जीवन का मार्ग; च—भी; मृत्यु:—मृत्यु का कारण; प्रसीदताम्—हम पर प्रसन्न हों; न:—हमपर; स:—वे भगवान्; महा-विभूति:—परम शक्तिशाली।

सूर्यदेव मुक्ति के मार्ग को चिन्हित करते हैं, जो *अर्चिरादि वर्त्म* कहलाता है। वे वेदों के ज्ञान के प्रमुख स्त्रोत हैं; वे परम सत्य के पूजे जाने वाले धाम हैं। वे मोक्ष के द्वार हैं; वे नित्य जीवन के स्त्रोत हैं; वे मृत्यु के भी कारण हैं। वे भगवान् की आँख हैं। ऐसे परम ऐश्वर्यवान् भगवान् हम पर प्रसन्न हों।

तात्पर्य : सूर्यदेव को देवताओं में प्रधान माना जाता है। उन्हें ब्रह्माण्ड के उत्तरी भाग की निगरानी करने वाला देवता भी माना जाता है। वे वेदों को समझने में सहायता करते हैं। *ब्रह्मसंहिता* (५.५२) में

पुष्टि की गई है—

यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणां

राजा समस्तसुरमूर्तिरशेषतेजाः ।

यस्याज्ञया भ्रमति संभृतकालचक्रो

गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ॥

"असीम तेज से पूर्ण सूर्य समस्त लोकों का राजा है और उत्तम आत्मा की मूर्ति है। सूर्य भगवान् की आँख के समान है। मैं उन आदि-गोविन्द की पूजा करता हूँ जिनके आदेश से सूर्य कालचक्र पर आरूढ़ होकर अपनी यात्रा करता है।" सूर्य वस्तुतः भगवान् की आँख है। वैदिक मंत्रों में कहा गया है कि जब तक भगवान् नहीं देखते, कोई भी प्राणी देख नहीं सकता। यदि सूर्यप्रकाश न रहे, तो किसी भी लोक का कोई भी जीव न देख सके। अतएव सूर्य को परमेश्वर की आँख माना जाता है। इसकी पुष्टि यहाँ पर *यच्चक्षुरासीत्* शब्दों द्वारा और *ब्रह्मसंहिता* में *यच्चक्षुरेष सविता* शब्दों द्वारा हुई है। सविता शब्द का अर्थ है सूर्यदेव।

प्राणादभूद्यस्य चराचराणां
प्राणः सहो बलमोजश्च वायुः ।
अन्वास्म सम्राजमिवानुगा वयं
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

प्राणात्—प्राण से; अभूत्—उत्पन्न हुआ; यस्य—जिसका; चर-अचराणाम्—समस्त चर तथा अचर जीवों का; प्राणः—प्राण; सहः—जीवन का मूल सिद्धान्त; बलम्—बल; ओजः—प्राण; च—तथा; वायुः—वायु; अन्वास्म—अनुसरण करते हैं; सम्राजम्—सम्राट्; इव—सदृश; अनुगाः—अनुयायी; वयम्—हम सभी; प्रसीदताम्—प्रसन्न हों; नः—हम पर; सः—वह; महा-विभूतिः—परम शक्तिशाली।

सारे चर तथा अचर प्राणी अपनी जीवनी शक्ति (प्राण), अपनी शारीरिक शक्ति तथा अपना जीवन तक वायु से प्राप्त करते हैं। हम सभी अपने प्राण के लिए वायु का उसी तरह अनुसरण करते हैं जिस प्रकार नौकर राजा का अनुसरण करता है। वायु की जीवनी शक्ति भगवान् की मूल जीवनी शक्ति से उत्पन्न होती है। ऐसे भगवान् हम पर प्रसन्न हों।

श्रोत्राद्दिशो यस्य हृदश्च खानि

प्रजज्ञिरे खं पुरुषस्य नाभ्याः ।
प्राणेन्द्रियात्मासुशरीरकेतः
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्रोत्रात्—कानों से; दिशः—विभिन्न दिशाएँ; यस्य—जिसके; हृदः—हृदय से; च—भी; खानि—शरीर के छेद; प्रजज्ञिरे—उत्पन्न किया; खम्—आकाश; पुरुषस्य—परम पुरुष की; नाभ्याः—नाभि से; प्राण—जीवनी शक्ति का; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आत्मा—मन; असु—प्राण; शरीर—तथा शरीर; केतः—आश्रय; प्रसीदताम्—प्रसन्न हों; नः—हम पर; सः—वे; महा-विभूतिः—परम शक्तिमान।

परम शक्तिशाली भगवान् हम पर प्रसन्न हों। विभिन्न दिशाएँ उनके कानों से उत्पन्न होती है, शरीर के छिद्र उनके हृदय से निकलते हैं एवं प्राण, इन्द्रियाँ, मन, शरीर के भीतर की वायु तथा शरीर आश्रय रूपी शून्य (आकाश) उनकी नाभि से निकलते हैं।

बलान्महेन्द्रस्त्रिदशाः प्रसादा-
न्मन्योर्गिरीशो धिषणाद् विरिञ्चः ।
खेभ्यस्तुछन्दांस्यृषयो मेढ्रतः कः
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ३९ ॥

बलात्—उनके बल से; महा-इन्द्रः—राजा इन्द्र बन सके; त्रि-दशाः—तथा देवता; प्रसादात्—प्रसन्न होने से; मन्योः—क्रोध से; गिरि-ईशः—शिवजी; धिषणात्—गम्भीर बुद्धि से; विरिञ्चः—ब्रह्माजी; खेभ्यः—शारीरिक छिद्रों से; तु—तथा; छन्दांसि—वैदिक मंत्र; ऋषयः—बड़े-बड़े मुनि; मेढ्रतः—जननेन्द्रियों से; कः—प्रजापति-गण; प्रसिदताम्—प्रसन्न हों; नः—हम पर; सः—वे; महा-विभूतिः—परम शक्तिशाली भगवान्।

स्वर्ग का राजा महेन्द्र भगवान् के बल से उत्पन्न हुआ था, देवतागण भगवान् की कृपा से उत्पन्न हुए थे, शिवजी भगवान् के क्रोध से उत्पन्न हुए थे और ब्रह्माजी उनकी गम्भीर बुद्धि से उत्पन्न हुए थे। सारे वैदिक मंत्र भगवान् के शरीर के छिद्रों से उत्पन्न हुए थे तथा ऋषि और प्रजापतिगण उनकी जननेन्द्रियों से उत्पन्न हुए थे। ऐसे परम शक्तिशाली भगवान् हम पर प्रसन्न हों!

श्रीर्वक्षसः पितरश्छाययासन्
धर्मः स्तनादितरः पृष्ठतोऽभूत् ।
द्यौर्यस्य शीर्ष्णोऽप्सरसो विहारात्
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

श्रीः—धन की देवी; वक्षसः—उनके वक्षस्थल से; पितरः—पितृलोक के निवासी; छायया—उनकी छाया से; आसन्—बन सके; धर्मः—धर्म का सिद्धान्त; स्तनात्—उनके स्तन से; इतरः—अधर्म (धर्म का विपरीत); पृष्ठतः—पीठ से; अभूत्—सम्भव हो सका; द्यौः—स्वर्ग लोक; यस्य—जिसका; शीर्ष्णः—चोटी से; अप्सरसः—अप्सरोलोक के निवासी; विहारात्—उनके इन्द्रिय भोग से; प्रसीदताम्—कृपया प्रसन्न हों; नः—हम पर; सः—वे (भगवान्); महा-विभूतिः—समस्त पराक्रम में महानतम।

लक्ष्मी उनके वक्षस्थल से उत्पन्न हुई, पितृलोक के वासी उनकी छाया से, धर्म उनके स्तन से

तथा अधर्म उनकी पीठ से उत्पन्न हुआ। स्वर्ग लोक उनके सिर की चोटी से तथा अप्सराएँ उनके इन्द्रिय भोग से उत्पन्न हुईं। ऐसे परम शक्तिमान भगवान् हम पर प्रसन्न हों!

विप्रो मुखाद्ब्रह्म च यस्य गुह्यं
राजन्य आसीद्भुजयोर्बलं च ।
ऊर्वोर्विडोजोऽङ्घ्रिरवेदशूद्रौ
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

विप्रः—ब्राह्मण-गण; मुखात्—भगवान् के मुख से; ब्रह्म—वैदिक साहित्य; च—भी; यस्य—जिसका; गुह्यम्—अपने गुप्त ज्ञान से; राजन्यः—क्षत्रियगण; आसीत्—सम्भव हो सका; भुजयोः—उनकी दोनों भुजाओं से; बलम् च—तथा शारीरिक शक्ति; ऊर्वोः—जाँघों से; विद्—वैश्यगण; ओजः—तथा उनका सक्षम उर्वर ज्ञान; अङ्घ्रिः—उनके चरणों से; अवेद—वैदिक ज्ञान की सीमा से परे रहने वाले; शूद्रौ—श्रमिक वर्ग; प्रसीदताम्—प्रसन्न हों; नः—हम पर; सः—वे; महा-विभूतिः—परम शक्तिमान भगवान्।

ब्राह्मण तथा वैदिक ज्ञान भगवान् के मुख से निकले, क्षत्रिय तथा शारीरिक शक्ति उनकी भुजाओं से, वैश्य तथा उत्पादकता एवं सम्पत्ति सम्बन्धी उनका दक्ष ज्ञान उनकी जाँघों से तथा वैदिक ज्ञान से विलग रहने वाले शूद्र उनके चरणों से निकले। ऐसे भगवान्, जो पराक्रम से पूर्ण हैं, हम पर प्रसन्न हों।

लोभोऽधरात्प्रीतिरुपर्यभूद्द्युति-
र्नस्तः पशव्यः स्पर्शेन कामः ।
भ्रुवोर्यमः पक्ष्मभवस्तु कालः
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

लोभः—लालच; अधरात्—निचले होठ से; प्रीतिः—प्यार; उपरि—ऊपरी होठ से; अभूत्—सम्भव हो सका; द्युतिः—शारीरिक कान्ति; नस्तः—नाक से; पशव्यः—पशुओं के उपयुक्त; स्पर्शेन—स्पर्श से; कामः—कामेच्छाएँ; भ्रुवोः—भौंहों से; यमः—यमराज; पक्ष्म-भवः—पलकों से; तु—लेकिन; कालः—नित्यकाल, जो मृत्यु लाता है; प्रसीदताम्—प्रसन्न हों; नः—हम पर; सः—वे; महा-विभूतिः—परम पराक्रम वाले भगवान्।

लोभ उनके निचले होठ से, प्यार उनके ऊपरी होठ से, शारीरिक कान्ति उनकी नाक से, पाशविक वासनाएँ उनकी स्पर्शेन्द्रियों से, यमराज उनकी भौहों से तथा नित्यकाल उनकी पलकों से उत्पन्न होते हैं। वे भगवान् हम सबों पर प्रसन्न हों।

द्रव्यं वयः कर्म गुणान्विशेषं

यद्योगमायाविहितान्वदन्ति ।
यद्दुर्विभाव्यं प्रबुधापबाधं
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

द्रव्यम्—भौतिक जगत के पाँच तत्त्व; वयः—काल; कर्म—सकाम कर्म; गुणान्—प्रकृति के तीन गुणों को; विशेषम्—तेईस तत्त्वों के संयोग से उत्पन्न किस्में; यत्—जो; योग-माया—भगवान् की सृजनात्मक शक्ति से; विहितान्—किया गया; वदन्ति—विद्वान लोग कहते हैं; यत् दुर्विभाव्यम्—जिसे समझ पाना वास्तव में कठिन है; प्रबुध-अपबाधम्—जो लोग पूर्णतया अवगत हैं उन विद्वानों के द्वारा तिरस्कृत; प्रसीदताम्—प्रसन्न हों; नः—हम पर; सः—वह; महा-विभूतिः—हर वस्तु के नियन्ता।.

सभी विद्वान लोग कहते हैं कि पाँचों तत्त्व, नित्यकाल, सकाम कर्म, प्रकृति के तीनों गुण तथा इन गुणों से उत्पन्न विभिन्न किस्में—ये सब योगमाया की सृष्टियाँ हैं। अतएव इस भौतिक जगत को समझ पाना अत्यन्त कठिन है, किन्तु जो लोग अत्यन्त विद्वान हैं उन्होंने इसका तिरस्कार कर दिया है। जो सभी वस्तुओं के नियन्ता हैं ऐसे भगवान् हम सब पर प्रसन्न हों।

तात्पर्य : इस श्लोक का *दुर्विभाव्यम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कोई भी यह नहीं समझ सकता कि भगवान् की भौतिक शक्तियों के माध्यम से भगवान् की व्यवस्था द्वारा प्रत्येक वस्तु किस तरह से इस जगत में घटित हो रही है। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.१०) में कहा गया है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*—वस्तुतः प्रत्येक वस्तु भगवान् के निर्देशन में घटित हो रही है। बस हम इतना ही जान सकते हैं, किन्तु यह सब कैसे हो रहा है इसे समझ पाना दुष्कर है। हम तो इतना भी नहीं समझ पाते कि हमारे शरीर के भीतर किस तरह व्यवस्थित रूप से सब कुछ हो रहा है। यह शरीर एक छोटा सा ब्रह्माण्ड है किन्तु हम यह भी समझ नहीं सकते कि इस छोटे से ब्रह्माण्ड में कैसे सब कुछ हो रहा है, तो फिर इससे कहीं अधिक बड़े ब्रह्माण्ड के कार्यकलापों के विषय में हम कैसे जान सकते हैं? वस्तुतः इस ब्रह्माण्ड को समझ पाना अत्यन्त कठिन है; फिर भी विद्वान संतों ने उपदेश दिया है और कृष्ण ने भी यही उपदेश दिया है कि यह भौतिक जगत—*दुःखालयम् अशाश्वतम्*—दुख तथा नश्वरता का स्थान है। मनुष्य को चाहिए कि इसे त्याग दे और भगवद्धाम को वापस जाये। भौतिकतावादी लोग तर्क कर सकते हैं कि, "यदि यह भौतिक जगत तथा इसके कार्यकलापों को समझना असम्भव है, तो हम इसका तिरस्कार कैसे कर सकते हैं?" इसका उत्तर *प्रबुधापबाधम्* शब्द से मिल जाता है। हमें इस भौतिक जगत का परित्याग करना चाहिए क्योंकि इसका त्याग वेदविदों द्वारा होता है। यद्यपि हम यह नहीं समझ पाते कि यह भौतिक जगत क्या है, किन्तु हमें विद्वानों के उपदेशानुसार, विशेष रूप से कृष्ण

के उपदेश के अनुसार, इसे त्यागने के लिए तैयार रहना चाहिए। कृष्ण कहते हैं—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दु:खालयमशाश्वतम्।

नाप्नुवन्ति महात्मान: संसिद्धिं परमां गता:।

"मुझे प्राप्त करके भक्ति में स्थित योगीजन कभी इस दुख से पूर्ण नश्वर जगत में नहीं लौटते क्योंकि वे परम सिद्धि प्राप्त कर चुके होते हैं।" (*भगवद्गीता* .१५) मनुष्य को भगवद्धाम लौटना होता है क्योंकि जीवन की यह परम सिद्धि है। भगवद्धाम जाने का अर्थ है इस भौतिक जगत का तिरस्कार। यद्यपि हम इस भौतिक जगत के कार्यों को समझ नहीं सकते और यह हमारे लिए चाहे अच्छा हो या बुरा, हमें महाजन के उपदेश के अनुसार इसका तिरस्कार कर देना चाहिए और भगवद्धाम वापस जाना चाहिए।

नमोऽस्तु तस्मा उपशान्तशक्तये
स्वाराज्यलाभप्रतिपूरितात्मने ।
गुणेषु मायारचितेषु वृत्तिभि-
र्न सज्जमानाय नभस्वदूतये ॥ ४४॥

शब्दार्थ

नम:—हमारा नमस्कार; अस्तु—हो; तस्मै—उसको; उपशान्त-शक्तये—जो अन्य कुछ उपलब्ध करने का प्रयास नहीं करता, जो अशान्त नहीं रहता; स्वाराज्य—पूर्णतया स्वतंत्र; लाभ—सारे लाभों का; प्रतिपूरित—पूरी तरह प्राप्त; आत्मने—भगवान् में; गुणेषु—भौतिक जगत का, जो तीन गुणों के कारण गतिशील है; माया-रचितेषु—माया द्वारा उत्पन्न वस्तुओं का; वृत्तिभि:—इन्द्रियों के ऐसे कार्यों से; न सज्जमानाय—जो आसक्त नहीं होता है या भौतिक सुख-दुख से परे है; नभस्वत्—वायु; ऊतये—भगवान् को जिसने अपने लीला-रूप में इस भौतिक जगत की सृष्टि की।

हम उन भगवान् को सादर नमस्कार करते हैं, जो पूर्णतया शान्त, प्रयास से मुक्त तथा अपनी उपलब्धियों से पूर्णतया सन्तुष्ट हैं। वे अपनी इन्द्रियों द्वारा भौतिक जगत के कार्यों में लिप्त नहीं होते। निस्सन्देह, इस भौतिक जगत में अपनी लीलाएँ सम्पन्न करते समय वे अनासक्त वायु की तरह रहते हैं।

तात्पर्य : हम इतना तो जान सकते हैं कि प्रकृति के सारे कार्यकलापों के पीछे भगवान् हैं जिनके संकेत से प्रत्येक घटना घटती है, भले ही हम उन्हें देख न पाएँ। हमें चाहिए कि उन्हें न देख सकने पर भी उन्हें सादर नमस्कार करें। हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि वे पूर्ण हैं। उनकी शक्तियों के द्वारा (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*) सब कुछ व्यवस्थापूर्वक सम्पन्न होता रहता है अतएव उन्हें कुछ भी नहीं

करना होता है (*न तस्य कार्यं करणं च विद्यते*)। जैसाकि यहाँ पर *उपशान्त-शक्तये* शब्द से सूचित होता है, उनकी विभिन्न शक्तियाँ कार्य करती हैं और यद्यपि वे इन शक्तियों को क्रिया-शील करते हैं, किन्तु स्वयं उन्हें कुछ नहीं करना पड़ता। वे हर वस्तु से अनासक्त हैं क्योंकि वे भगवान् हैं। अतएव हम सबको चाहिए कि उन्हें सादर नमस्कार करें।

स त्वं नो दर्शयात्मानमस्मत्करणगोचरम् ।
प्रपन्नानां दिदृक्षूणां सस्मितं ते मुखाम्बुजम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (भगवान्); त्वम्—तुम मेरे भगवान् हो; नः—हमारे लिए; दर्शय—दिखाई पड़ो; आत्मानम्—अपने मूल रूप में; अस्मत्-करण-गोचरम्—हमारी प्रत्यक्ष इन्द्रियों द्वारा विशेष रूप से आँखों से देखने योग्य; प्रपन्नानाम्—हम सभी शरणागतों का; दिदृक्षूणाम्—फिर भी आपको देखने को इच्छुक; सस्मितम्—मुस्काते; ते—तुम्हारा; मुख-अम्बुजम्—कमल जैसा मुख।

हे भगवान्! हम आपके शरणागत हैं फिर भी हम आपका दर्शन करना चाहते हैं। कृपया अपने आदि रूप को तथा अपने मुस्काते मुख को हमारे नेत्रों को दिखलाइये और अन्य इन्द्रियों द्वारा अनुभव करने दीजिये।

तात्पर्य : भक्तगण भगवान् को उनके आदि रूप में उनके कमल सदृश मुस्काते मुख सहित देखना चाहते हैं। वे निराकार रूप की अनुभूति में रुचि नहीं रखते। भगवान् के साकार तथा निराकार दोनों ही रूप होते हैं। निर्विशेषवादियों को भगवान् के साकार रूप का कोई बोध नहीं होता, किन्तु ब्रह्माजी तथा उनकी शिष्य परम्परा वाले सदस्य भगवान् को उनके साकार रूप में देखना चाहते हैं। साकार रूप के बिना मुस्काते मुख की बात ही नहीं उठती, जिसका स्पष्ट संकेत यहाँ *सस्मितम् ते मुखाम्बुजम्* शब्दों से मिलता है। जो लोग ब्रह्मा के वैष्णव सम्प्रदाय के हैं, वे सदैव भगवान् का दर्शन करना चाहते हैं। वे भगवान् के साकार रूप का साक्षात्कार करना चाहते हैं, निराकार रूप का नहीं। जैसाकि यहाँ पर स्पष्ट कहा गया है—*अस्मत् करण-गोचरम्*—भगवान् के साकार रूप की अनुभूति हम अपनी इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्षत: कर सकते हैं।

तैस्तैः स्वेच्छाभूतै रूपैः काले काले स्वयं विभो ।
कर्म दुर्विषहं यन्नो भगवांस्तत्करोति हि ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

तैः—ऐसे प्राकट्यों द्वारा; तैः—ऐसे अवतारों द्वारा; स्व-इच्छा-भूतैः—आपकी निजी इच्छा से सब कुछ प्रकट; रूपैः—वास्तविक रूपों द्वारा; काले काले—विभिन्न युगों में; स्वयम्—स्वयं; विभो—हे ब्रह्म; कर्म—कर्म; दुर्विषहम्—असामान्य (अन्य किसी से न किया जा सकने वाला); यत्—जो; नः—हम पर; भगवान्—भगवान्; तत्—वह; करोति—सम्पन्न करता है; हि—निस्सन्देह।

हे भगवान्! आप विभिन्न युगों में अपनी इच्छा से विभिन्न अवतारों में प्रकट होते हैं और ऐसे असामान्य कार्य आश्चर्यजनक ढंग से करते हैं, जिन्हें हम सब के लिए कर पाना दुष्कर है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (४.७) में भगवान् कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

''जब-जब और जहाँ जहाँ धर्म की हानि होती है और अधर्म की प्रधानता होती है, उस समय, हे भरतवंशी! मैं स्वयं अवतरित होता हूँ।'' अतएव यह एक कल्पना नहीं, अपितु तथ्य है कि भगवान् अपनी इच्छा से भिन्न-भिन्न अवतारों में—यथा मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, रामचन्द्र, बलराम, बुद्ध तथा अन्य अनेक रूपों में प्रकट होते हैं। भक्तगण भगवान् के नाना रूपों में से किसी एक का दर्शन पाने के लिए लालायित रहते हैं। कहा जाता है कि जिस प्रकार समुद्र की लहरों को गिन पाना सम्भव नहीं, उसी तरह भगवान् के रूपों को भी नहीं गिना जा सकता। किन्तु इसका मतलब यह नहीं होता कि चाहे जो कोई अपने को भगवान् का स्वरूप होने का दावा कर दे और उसे अवतार मान लिया जाये। भगवान् के अवतार को स्वीकार किये जाने के लिए शास्त्रों में दिए विवरणों के अनुरूप होना चाहिए। ब्रह्माजी भगवान् के अवतार या समस्त अवतारों के मूल स्रोत का दर्शन पाने के इच्छुक हैं, किसी कपटी के दर्शन के लिए नहीं। अवतार के कार्यकलाप भगवान् की पहचान के प्रमाण हैं। शास्त्रों में वर्णित सारे अवतार अद्‌भुत कर्म करते हैं (*केशव धृत-मीन शरीर जय जगदीश हरे*)। यह तो भगवान् की निजी इच्छा पर है कि वे प्रकट होते हैं और अन्तर्धान होते हैं। केवल भाग्यशाली भक्त ही उनका साक्षात् दर्शन प्राप्त करने की आशा कर सकते हैं।

क्लेशभूर्यल्पसाराणि कर्माणि विफलानि वा ।
देहिनां विषयार्तानां न तथैवार्पितं त्वयि ॥ ४७॥

शब्दार्थ

क्लेश—कठिनाई; भूरि—अत्यधिक; अल्प—बहुत कम; साराणि—अच्छा फल; कर्माणि—कार्यकलाप; विफलानि—निराशा; वा—अथवा; देहिनाम्—मनुष्यों का; विषय-अर्तानाम्—भौतिक जगत का भोग करने के इच्छुक; न—नहीं; तथा—उसी तरह; एव—निस्सन्देह; अर्पितम्—अर्पित; त्वयि—आपको।

कर्मीजन अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए सदैव धनसंग्रह करने के लिए लालायित रहते हैं, किन्तु इसके लिए उन्हें अत्यधिक श्रम करना पड़ता है। इतने कठोर श्रम के बावजूद भी उन्हें सन्तोषप्रद फल नहीं मिल पाता। निस्सन्देह ही कभी-कभी तो उनके कर्मफल से निराशा ही उत्पन्न होती है। किन्तु जिन भक्तों ने भगवान् की सेवा में अपना जीवन अर्पित कर रखा है वे कठोर श्रम किये बिना ही पर्याप्त फल प्राप्त कर सकते हैं। ये फल भक्तों की आशा से बढ़कर होते हैं।

तात्पर्य : हम यह व्यावहारिक रूप से देख सकते हैं कि जिन भक्तों ने कृष्णभावनामृत आन्दोलन में अपना जीवन कृष्ण की सेवा में अर्पित कर दिया है वे किस तरह बिना कठिन श्रम किये भगवान् की सेवा का प्रचुर अवसर प्राप्त कर रहे हैं। वास्तव में कृष्णभावनामृत आन्दोलन केवल चालीस रुपये से चालू हुआ था किन्तु इस समय उसके पास चालीस करोड़ से भी अधिक की सम्पत्ति है, जो आठ-दस वर्षों के भीतर ही प्राप्त की गई है। कोई भी कर्मी इतनी तेजी से अपने व्यापार में उन्नति करने की आशा नहीं रख सकता; साथ ही कर्मी जो कुछ प्राप्त करता है, वह नाशवान् है और कभी-कभी निराशाजनक भी। किन्तु कृष्णभावनामृत में सब कुछ प्रेरणाप्रद एवं प्रगति लाने वाला है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन कर्मियों के बीच अधिक लोकप्रिय नहीं है क्योंकि यह आन्दोलन अवैध मैथुन, मांसाहार, जुआ खेलने तथा मादकद्रव्य सेवन से दूर रहने की संस्तुति करता है। ये ऐसे प्रतिबन्ध हैं, जिन्हें कर्मी बहुत नापसन्द करते हैं। फिर भी इतने सारे शत्रुओं के होते हुए भी यह आन्दोलन बिना किसी अवरोध के प्रगति करता जा रहा है। यदि भक्तगण कृष्ण के चरणकमलों पर अपने जीवन को समर्पित करके इस आन्दोलन का प्रसार करते रहें तो इसे कोई भी रोक नहीं सकेगा। वह बिना किसी सीमा के आगे बढ़ सकेगा। हरे कृण का जप करो।

नावमः कर्मकल्पोऽपि विफलायेश्वरार्पितः ।
कल्पते पुरुषस्यैव स ह्यात्मा दयितो हितः ॥ ४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अवमः—अत्यल्प, नगण्य; कर्म—कर्म; कल्पः—ढंग से सम्पन्न किया गया; अपि—भी; विफलाय—व्यर्थ जाते हैं; ईश्वर-अर्पितः—भगवान् को समर्पित होने के कारण; कल्पते—ऐसा मान लिया जाता है; पुरुषस्य—सारे पुरुषों का; एव—निस्सन्देह; सः—भगवान्; हि—निश्चय ही; आत्मा—परमात्मा, परम पिता; दयितः—अत्यन्त प्रिय; हितः—लाभप्रद।

भगवान् को समर्पित कार्य, भले ही छोटे पैमाने पर क्यों न किये जाँए, कभी भी व्यर्थ नहीं जाते। अतएव स्वाभाविक है कि परम पिता होने के कारण भगवान् अत्यन्त प्रिय हैं और वे जीवों के कल्याण के लिए सदैव कर्म करने के लिए तैयार रहते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (२.४०) में भगवान् कहते हैं—*स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्*—यह धर्म या भक्ति इतनी महत्त्वपूर्ण है कि यदि यह अत्यल्प, लगभग नगण्य मात्रा में भी की जाये तो भी श्रेष्ठ परिणाम मिल सकता है। विश्व-इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हैं जिनमें भगवान् की थोड़ी-सी सेवा करने से भी जीव महानतम संकट से बचा है। उदाहरणार्थ, भगवान् ने अजामिल को नरक जाने के महानतम संकट से बचा लिया। वह इसलिए बचाया जा सका क्योंकि अपने जीवन के अन्त में उसने नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण किया था। अजामिल ने नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण जानबूझ कर नहीं किया था। वास्तव में वह अपने सबसे छोटे पुत्र को बुला रहा था जिसका नाम नारायण था। फिर भी भगवान् नारायण ने इस उच्चारण (जप) को गम्भीरता से लिया और इस तरह अजामिल को *अन्ते नारायणस्मृतिः*—अन्तकाल में नारायण का स्मरण करने का फल मिला। यदि कोई किसी भी तरह नारायण, कृष्ण या राम के पवित्र नाम का स्मरण जीवन के अन्त समय करता है, तो वह तुरन्त ही भगवद्धाम को जाने का दिव्य फल प्राप्त करता है।

वास्तव में भगवान् हमारे प्रेम के एकमात्र लक्ष्य हैं। जब तक हम इस जगत में रहते हैं हमें अनेक इच्छाओं की पूर्ति करनी होती है, किन्तु ज्योंही हम भगवान् के सम्पर्क में आते हैं त्योंही हम पूर्ण तथा पूरी तरह तुष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार छोटा बालक अपनी माता की गोद में पहुँचते ही संतुष्ट हो जाता है। ध्रुव महाराज तपस्या द्वारा कुछ भौतिक लाभ प्राप्त करने के लिए जंगल गये थे, किन्तु जब उन्होंने साक्षात् भगवान् के दर्शन किये तो उन्होंने कहा "मैं कोई भौतिक वरदान नहीं चाहता। मैं पूरी तरह सन्तुष्ट हूँ।" यदि कोई भगवान् की सेवा करके कोई लाभ चाहता भी है, तो यह लाभ अत्यन्त आसानी से बिना कठोर श्रम के ही प्राप्त किया जा सकता है। अतएव शास्त्र की संस्तुति है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत् पुरुषं परम्॥

"कोई मनुष्य हर वस्तु को चाहे या कुछ भी न चाहे या भगवान् के अस्तित्व में तल्लीन होने की

इच्छा करे, किन्तु वह तभी बुद्धिमान् है यदि वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति सम्पन्न करके भगवान् कृष्ण की पूजा करता है।'' (*भागवत* २.३.१०)। यदि भौतिक इच्छाएँ रहें भी तो मनुष्य निस्सन्देह, भगवान् की सेवा करके उन्हें प्राप्त कर सकता है।

यथा हि स्कन्धशाखानां तरोर्मूलावसेचनम् ।
एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; हि—निस्सन्देह; स्कन्ध—तने; शाखानाम्—तथा डालों का; तरोः—वृक्ष की; मूल—जड़; अवसेचनम्—सिंचाई; एवम्—इस प्रकार; आराधनम्—पूजा; विष्णोः—भगवान् विष्णु की; सर्वेषाम्—सब का; आत्मनः—परमात्मा का; च—भी; हि—निस्सन्देह।

जब वृक्ष की जड़ में पानी डाला जाता है, तो वृक्ष का तना तथा शाखाएँ स्वतः तुष्ट हो जाती हैं। इसी प्रकार जब कोई भगवान् विष्णु का भक्त बन जाता है, तो इससे हर एक की सेवा हो जाती है क्योंकि भगवान् हर एक के परमात्मा हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *पद्मपुराण* में कहा गया है—

आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्।

तस्मात् परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्॥

''सभी प्रकार की पूजाओं में से भगवान् विष्णु की पूजा सर्वश्रेष्ठ है और विष्णु की पूजा से भी श्रेष्ठ है उनके भक्त वैष्णव की पूजा।'' जो लोग भौतिक इच्छाओं के प्रति आसक्त हैं, वे अनेक देवताओं की पूजा करते हैं (*कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः*)। चूँकि लोग अनेकानेक भौतिक इच्छाओं के कारण चिन्तित रहते हैं, वे शिव, ब्रह्मा, काली, दुर्गा, गणेश तथा सूर्य की पूजा विभिन्न फलों की प्राप्ति के लिए करते हैं। किन्तु भगवान् विष्णु की पूजा करके इन सारे फलों को एक साथ प्राप्त किया जा सकता है। जैसाकि *भागवत* (४.३१.१४) में अन्यत्र कहा गया है—

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।

प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥

''जिस प्रकार वृक्ष की जड़ को सींचकर वृक्ष के तने तथा सभी डालियों, फूलों तथा फलों को पोषित किया जाता है और जिस प्रकार उदर में भोजन की पूर्ति करके शरीर के सारे अंगों की तुष्टि की जाती है उसी प्रकार विष्णु की पूजा करके हरएक को तुष्ट किया जा सकता है।'' कृष्णभावनामृत कोई

साम्प्रदायिक धार्मिक आन्दोलन नहीं है प्रत्युत यह विश्व के सर्वकल्याणकारी कार्यकलापों के निमित्त है। इस आन्दोलन में जाति-पाति, धर्म या राष्ट्रीयता के भेदभाव से रहित होकर कोई भी व्यक्ति प्रवेश कर सकता है। यदि मनुष्य विष्णुतत्त्व के स्रोत भगवान् कृष्ण की पूजा करने का प्रशिक्षण प्राप्त कर लेता है, तो वह पूर्ण संतुष्ट हो जाता है और सभी तरह से पूर्ण बन जाता है।

नमस्तुभ्यमनन्ताय दुर्वितर्क्यात्मकर्मणे ।
निर्गुणाय गुणेशाय सत्त्वस्थाय च साम्प्रतम् ॥५०॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; तुभ्यम्—हे भगवान्, तुम्हें; अनन्ताय—जो काल की तीनों अवस्थाओं (भूत, वर्तमान तथा भविष्य) को पार करके सदैव जीवित है उसको; दुर्वितर्क्य-आत्म-कर्मणे—आपको, जो अचिन्त्य कार्यकलाप करने वाले हैं; निर्गुणाय—जो दिव्य तथा भौतिक गुणों की उन्मत्तता से मुक्त हैं; गुण-ईशाय—आपको, जो प्रकृति के तीनों गुणों को वश में रखने वाले हैं; सत्त्व-स्थाय—सतोगुण में स्थित; च—भी; साम्प्रतम्—इस समय।

हे भगवान्! आपको नमस्कार है क्योंकि आप नित्य हैं, भूत, वर्तमान तथा भविष्य की काल सीमा से परे हैं। आप अपने कार्यकलापों में अचिन्त्य हैं, आप भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के स्वामी हैं और समस्त भौतिक गुणों से परे रहने के कारण आप भौतिक कल्मष से मुक्त हैं। आप प्रकृति के तीनों गुणों के नियन्ता हैं, किन्तु इस समय आप सतोगुण में स्थित हैं। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् प्रकृति के तीन गुणों द्वारा व्यक्त भौतिक कार्यकलापों को नियंत्रण में रखते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*निर्गुणं गुणभोक्तृ च*—भगवान् सदा ही भौतिक गुणों से परे रहते हैं। फिर भी वे उनके नियामक हैं। भगवान् इन तीनों गुणों को वश में रखने के लिए अपने आपको तीन रूपों में प्रकट करते हैं—ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर। वे विष्णु के रूप में सत्त्वगुण का भार स्वयं संभालते हैं और रजोगुण तथा तमोगुण का भार ब्रह्माजी तथा शिवजी को सौंप देते हैं। किन्तु अन्ततः वे ही तीनों गुणों के नियामक हैं। ब्रह्माजी ने प्रशंसा करते हुए कहा कि चूँकि भगवान् विष्णु ने अब सत्त्वगुण का भार ले लिया है अतएव पूरी आशा है कि देवताओं की इच्छाएँ पूरी होंगी। देवताओं को तमोगुणी असुरगण सता रहे थे। किन्तु जैसाकि ब्रह्माजी पहले कह चुके हैं, चूँकि सत्त्वगुण का समय अब आ गया है अतएव देवतागण अपनी इच्छापूर्ति की आशा कर सकते हैं। देवताओं को ज्ञान में उन्नत माना जाता है फिर भी वे भगवान् के ज्ञान (ईशज्ञान) को नहीं समझ पाये। अतएव भगवान् को यहाँ

पर अनन्ताय कहकर सम्बोधित किया गया है। यद्यपि ब्रह्माजी भूत, वर्तमान तथा भविष्य को जानते हैं, फिर भी वे भगवान् के असीम ज्ञान को समझने में असमर्थ रहते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के आठवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''देवताओं द्वारा भगवान् से सुरक्षा-याचना'' नामक पाँचवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छह

देवताओं तथा असुरों द्वारा सन्धि की घोषणा

इस अध्याय में बताया गया है कि जब देवताओं ने भगवान् की स्तुति की तो वे उनके समक्ष किस प्रकार प्रकट हुए। भगवान् की सलाह के अनुसार देवताओं ने समुद्र-मन्थन से अमृत प्राप्ति के लिए असुरों के साथ सन्धि कर ली।

पिछले अध्याय में वर्णित देवताओं की स्तुति से क्षीरोदकशायी विष्णु प्रसन्न होकर उनके समक्ष प्रकट हो गये। सारे देवता उनके दिव्य शारीरिक तेज से लगभग चकाचौंध हो गये। अतएव प्रारम्भ में तो वे उनके शरीर का कोई भी अंग नहीं देख पाये, किन्तु कुछ समय बाद जब ब्रह्माजी ने उन्हें देखा तो उन्होंने शिव समेत भगवान् की स्तुति करनी प्रारम्भ कर दी।

ब्रह्माजी ने कहा ''जन्म-मृत्यु से परे होने के कारण भगवान् नित्य हैं। वे भौतिक गुणों से रहित हैं; तो भी वे असीम शुभ गुणों के सागर हैं। वे सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर हैं, वे अदृश्य हैं और उनका रूप अचिन्त्य है। वे सभी देवताओं के लिए पूज्य हैं। उनके स्वरूप में असंख्य ब्रह्माण्ड स्थित रहते हैं अतएव वे काल, दिक् या परिस्थिति के द्वारा इन ब्रह्माण्डों से कभी विलग नहीं होते। वे प्रधान हैं। यद्यपि वे भौतिक सृष्टि के आदि, मध्य तथा अन्त हैं, लेकिन मायावादी दार्शनिकों द्वारा कल्पित सर्वेश्वरवाद में कोई दम नहीं है। भगवान् अपने अधीन बहिरंगा शक्ति के द्वारा समस्त भौतिक जगत को नियंत्रित करते हैं। वे अपनी अचिन्त्य दिव्य स्थिति के कारण भौतिक शक्ति के सदैव स्वामी बने रहते हैं। भगवान् अपने नाना रूपों में इस भौतिक जगत में भी सदैव विद्यमान रहते हैं, किन्तु भौतिक गुण उन्हें छू भी नहीं पाते। *भगवद्गीता* में दिये गये उपदेशों के द्वारा ही उनकी स्थिति समझी जा सकती है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.१०) में कहा गया है—*ददामि बुद्धियोगं तम्। बुद्धियोग* का अर्थ है

भक्तियोग। केवल *भक्तियोग* की विधि से परमेश्वर को समझा जा सकता है।

जब शिवजी तथा ब्रह्माजी ने भगवान् की स्तुति की तो भगवान् प्रसन्न हो गये। अत: उन्होंने सारे देवताओं को उचित आदेश दिया। भगवान् अजित ने देवताओं को सलाह दी कि वे असुरों के समक्ष शान्ति प्रस्ताव रखें जिससे सन्धि हो जाने पर देवता तथा असुरगण क्षीरसागर का मन्थन कर सकें। इसके लिए सब से बड़े वासुकि सर्प को रस्सी और मन्दराचल पर्वत को मथानी बनाया जाये। इस मन्थन से विष भी उत्पन्न होगा, किन्तु उसे शिवजी ग्रहण कर लेंगे; अतएव भय की कोई आवश्यकता नहीं है। इस मन्थन से अनेक आकर्षक वस्तुएँ उत्पन्न होंगी, किन्तु भगवान् ने देवताओं को सावधान कर दिया कि वे ऐसी वस्तुओं से मोहित न हों और यदि कोई उपद्रव हो तो भी देवता क्रुद्ध न हों। देवताओं को ऐसी सलाह देकर भगवान् उस स्थान से अन्तर्धान हो गये।

भगवान् के आदेशानुसार देवताओं ने असुरों के राजा महाराज बलि से सन्धि कर ली। तब देवता तथा असुर दोनों ही मन्दर पर्वत को अपने साथ लेकर समुद्र की ओर चल पड़े। इस पर्वत की गुरुता के कारण देवता तथा असुर दोनों ही थक गये और कुछ तो वास्तव में मर गये। तब भगवान् विष्णु अपने वाहन गरुड़ की पीठ पर बैठकर वहाँ प्रकट हुए और उन्होंने अपनी कृपा से इन देवताओं और असुरों को पुन: जीवित कर दिया। तब भगवान् ने उस पर्वत को अपने एक हाथ से उठाकर गरुड़ की पीठ पर रख दिया और उस पर्वत पर बैठकर उस स्थान पर गये जहाँ मन्थन होना था। गरुड़ ने उस पर्वत को समुद्र के मध्य में रख दिया और तब विष्णु ने गरुड़ को आदेश दिया कि वह वहाँ से चला जाये क्योंकि उसके रहने पर वासुकि वहाँ नहीं आ सकता था।

श्रीशुक उवाच

एवं स्तुतः सुरगणैर्भगवान्हरिरीश्वरः ।
तेषामाविरभूद्राजन्सहस्रार्कोदयद्युतिः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; स्तुतः—स्तुति किये जाने पर; सुर-गणैः—देवताओं द्वारा; भगवान्—भगवान्; हरिः—समस्त अशुभों को मिटाने वाले; ईश्वरः—परम नियन्ता; तेषाम्—ब्रह्माजी तथा सारे देवताओं के समक्ष; आविरभूत्—प्रकट हुए; राजन्—हे राजा परीक्षित; सहस्र—एक हजार; अर्क—सूर्य; उदय—उगते हुए; द्युतिः—उनका तेज।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा परीक्षित! देवताओं तथा ब्रह्मा जी द्वारा इस प्रकार स्तुतियों से पूजित भगवान् हरि उन सब के समक्ष प्रकट हो गये। उनका शारीरिक तेज एकसाथ

हजारों सूर्यों के उदय होने के समान था।

तेनैव सहसा सर्वे देवाः प्रतिहतेक्षणाः ।
नापश्यन्खं दिशः क्षौणीमात्मानं च कुतो विभुम् ॥ २॥

शब्दार्थ

तेन एव—इसके कारण; सहसा—एकाएक; सर्वे—सभी; देवाः—देवतागण; प्रतिहत-ईक्षणाः—उनकी दृष्टि चकाचौंध हो गई; न—नहीं; अपश्यन्—देख सके; खम्—आकाश को; दिशः—दिशाओं को; क्षौणीम्—पृथ्वी को; आत्मानम् च—तथा अपने आपको भी; कुतः—तथा देखने का प्रश्न ही कहाँ है; विभुम्—परमेश्वर को।

भगवान् के तेज से सारे देवताओं की दृष्टि चौंधिया गई। वे न तो आकाश, दिशाएँ, पृथ्वी देख सके, न ही अपने आपको देख सके। अपने समक्ष उपस्थित भगवान् को देखना तो दूर रहा।

विरिञ्चो भगवान्दृष्ट्वा सह शर्वेण तां तनुम् ।
स्वच्छां मरकतश्यामां कञ्जगर्भारुणेक्षणाम् ।
तप्तहेमावदातेन लसत्कौशेयवाससा ॥ ३॥
प्रसन्नचारुसर्वाङ्गीं सुमुखीं सुन्दरभ्रुवम् ।
महामणिकिरीटेन केयूराभ्यां च भूषिताम् ॥ ४॥
कर्णाभरणनिर्भातकपोलश्रीमुखाम्बुजाम् ।
काञ्चीकलापवलयहारनूपुरशोभिताम् ॥ ५॥
कौस्तुभाभरणां लक्ष्मीं बिभ्रतीं वनमालिनीम् ।
सुदर्शनादिभिः स्वास्त्रैर्मूर्तिमद्भिरुपासिताम् ॥ ६॥
तुष्टाव देवप्रवरः सशर्वः पुरुषं परम् ।
सर्वामरगणैः साकं सर्वाङ्गैरवनिं गतैः ॥ ७॥

शब्दार्थ

विरिञ्चः—ब्रह्माजी; भगवान्—भगवान् (ब्रह्मा को उनके शक्तिशाली पद के कारण भगवान् कहकर सम्बोधित किया गया); दृष्ट्वा—देखकर; सह—सहित; शर्वेण—शिवजी; ताम्—भगवान् के; तनुम्—दिव्य रूप को; स्वच्छाम्—स्वच्छ भौतिक कल्मष के बिना; मरकत-श्यामाम्—नीले मणि के प्रकाश के समान शारीरिक कान्ति से युक्त; कञ्ज-गर्भ-अरुण-ईक्षणाम्—कमल के फूल के गर्भ सदृश गुलाबी आँखों वाले; तप्त-हेम-अवदातेन—पिघले सोने जैसी कान्ति से युक्त; लसत्—चमकता; कौशेय-वाससा—पीला रेशमी वस्त्र धारण किये; प्रसन्न-चारु-सर्व-अङ्गीम्—जिसके शरीर के सारे अंग अत्यन्त शोभनीय और सुन्दर; सु-मुखीम्—मुस्काते मुखमंडल से युक्त; सुन्दर-भ्रुवम्—जिसकी भौंहें अत्यन्त सुन्दर थीं; महा-मणि-किरीटेन—बहुमूल्य मणियों से जटितमुकुट वाले; केयूराभ्याम् च भूषिताम्—सभी तरह के आभूषणों से सज्जित; कर्ण-आभरण-निर्भात—कानों की मणियों की किरणों से प्रकाशित; कपोल—कपोल; श्री-मुख-अम्बुजाम्—जिसका सुन्दर कमल मुख; काञ्ची-कलाप-वलय—आभूषण यथा कमर की करधनी तथा हाथ के बाजूबंद; हार-नूपुर—वक्षस्थल पर हार तथा पाँवों में पायल पहने; शोभिताम्—सुशोभित; कौस्तुभ-आभरणाम्—जिनका वक्षस्थल कौस्तुभ मणि से अलंकृत था; लक्ष्मीम्—लक्ष्मी; बिभ्रतीम्—चलायमान; वन-मालिनीम्—फूलों की मालाएँ पहने; सुदर्शन-आदिभिः—सुदर्शन चक्र आदि धारण किये; स्व-अस्त्रैः—अपने हथियारों से; मूर्तिमद्भिः—अपने आदि रूप में; उपासिताम्—पूजित होकर; तुष्टाव—संतुष्ट; देव-प्रवरः—देवताओं में प्रमुख; स-शर्वः—शिवजी के सहित; पुरुषम् परम्—परम पुरुष को; सर्व-अमर-गणैः—सभी देवताओं के साथ-साथ; साकम्—सहित; सर्व-अङ्गैः—शरीर के सारे भागों से; अवनिम्—भूमि पर; गतैः—गिरकर प्रणाम किया।

शिवजी सहित ब्रह्माजी ने भगवान् के निर्मल शारीरिक सौन्दर्य को देखा जिनका श्यामल

शरीर मरकत मणि के समान है, जिनकी आँखें कमल के फूल के भीतरी भाग जैसी लाल-लाल हैं, जो पिघले सोने जैसे पीले वस्त्र धारण किये हैं और जिनका समूचा शरीर आकर्षक ढंग से सज्जित है। उन्होंने उनके सुन्दर मुस्काते कमल जैसे मुखमण्डल को देखा जिसके ऊपर बहुमूल्य रत्नों से जड़ित मुकुट था। भगवान् की भौहें आकर्षक हैं और उनकी गालों पर कान के कुण्डल शोभित रहते हैं। ब्रह्मा जी तथा शिव जी ने भगवान् की कमर में पेटी, उनकी बाहों में बाजूबंद, वक्षस्थल पर हार और पाँवों में पायल देखे। भगवान् फूल की मालाओं से अलंकृत थे, उनकी गर्दन में कौस्तुभ मणि अलंकृत थी और उनके साथ लक्ष्मीजी थीं तथा वे चक्र, गदा इत्यादि निजी आयुध लिए हुए थे। जब ब्रह्मा जी ने शिवजी तथा अन्य देवताओं के साथ भगवान् के स्वरूप को इस तरह देखा तो सब ने भूमि पर गिरकर उन्हें प्रणाम किया।

श्रीब्रह्मोवाच
**अजातजन्मस्थितिसंयमाया-
गुणाय निर्वाणसुखार्णवाय ।
अणोरणिम्नेऽपरिगण्यधाम्ने
महानुभावाय नमो नमस्ते ॥ ॥**

शब्दार्थ

श्री-ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; अजात-जन्म-स्थिति-संयमाय—भगवान् को, जो कभी उत्पन्न नहीं होता, किन्तु जिनका विविध अवतारों में प्राकट्य कभी बन्द नहीं होता; अगुणाय—प्रकृति के तीनों गुणों से कभी भी प्रभावित नहीं होने वाले; निर्वाण-सुख-अर्णवाय—भौतिक सृष्टि से परे शाश्वत आनन्द के सागर को; अणोः अणिम्ने—अणु से भी छोटा; अपरिगण्य-धाम्ने—जिनके शारीरिक स्वरूप की अनुभूति भौतिक चिन्तन से नहीं की जाती; महा-अनुभावाय—जिनका अस्तित्व अचिन्त्य है; नमः—नमस्कार; नमः—फिर से नमस्कार; ते—तुमको।

ब्रह्माजी ने कहा : यद्यपि आप अजन्मा हैं, किन्तु अवतार के रूप में आपका प्राकट्य तथा अन्तर्धान सदैव चलता रहता है। आप सदैव भौतिक गुणों से मुक्त रहते हैं और सागर के समान दिव्य आनन्द के आश्रय हैं। अपने दिव्य स्वरूप में नित्य रहते हुए आप अत्यन्त सूक्ष्म से भी सूक्ष्म हैं। अतएव हम आपको जिनका अस्तित्व अचिन्त्य है। सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (४.६) में भगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

"यद्यपि मैं अजन्मा हूँ और मेरा दिव्य शरीर कभी नष्ट नहीं होता, यद्यपि मैं सारे सचेतन जीवों का

स्वामी हूँ, फिर भी मैं प्रत्येक युग में अपने मूल दिव्य रूप में प्रकट होता हूँ।'' *भगवद्गीता* के निम्नलिखित श्लोक (४.७) में भगवान् कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

''जब-जब धर्म का पतन होता है और अधर्म का प्राधान्य हो जाता है तब-तब हे भारत! मैं स्वयं अवतरित होता हूँ।'' इस तरह यद्यपि भगवान् अजन्मा हैं, किन्तु कृष्ण तथा राम जैसे अवतारों के विविध रूपों में प्रकट होते रहते हैं। चूँकि उनके अवतार नित्य हैं अतएव इन अवतारों द्वारा सम्पन्न किये गये कार्यकलाप भी नित्य होते हैं। भगवान् का प्राकट्य इसलिए नहीं होता कि सामान्य जीवों की तरह उन्हें कर्म के द्वारा बाध्य होकर विशेष शरीर धारण करना होता है। यह समझना होगा कि भगवान् का शरीर तथा उनके कार्यकलाप दिव्य हैं क्योंकि वे भौतिक प्रकृति के गुणों के कल्मष से मुक्त होते हैं। ये लीलाएँ भगवान् के लिए दिव्य आनन्द हैं। *अपरिगण्य-धाम्ने* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भगवान् द्वारा विभिन्न अवतारों में प्रकट होने की कोई सीमा नहीं है। ये सारे अवतार सच्चिदानन्द स्वरूप होते हैं।

रूपं तवैतत्पुरुषर्षभेज्यं
श्रेयोऽर्थिभिर्वैदिकतान्त्रिकेण ।
योगेन धातः सह नस्त्रिलोकान्
पश्याम्यमुष्मिन्नु ह विश्वमूर्तौ ॥ ९॥

शब्दार्थ

रूपम्—रूप; तव—तुम्हारा; एतत्—यह; पुरुष-ऋषभ—हे पुरुषों में श्रेष्ठ; इज्यम्—पूज्य; श्रेयः—चरम कल्याण; अर्थिभिः—कामना करने वाले व्यक्तियों द्वारा; वैदिक—वैदिक आदेशों के अनुसार; तान्त्रिकेण—नारद पञ्चरात्र जैसे तंत्रों के अनुयायियों द्वारा अनुभव किया गया; योगेन—योगाभ्यास द्वारा; धातः—हे परम नियन्ता; सह—साथ; नः—हम (देवताओं) को; त्रि-लोकान्—तीनों लोकों को नियंत्रित करने वाले; पश्यामि—प्रत्यक्ष देखता हूँ; अमुष्मिन्—आप में; उ—ओह; ह—पूर्णतया प्रकट; विश्व-मूर्तौ—विश्व रूप आप में।

हे पुरुषश्रेष्ठ, हे परम नियन्ता! जो लोग सचमुच परम सौभाग्य की कामना करते हैं, वे वैदिक तंत्रों के अनुसार आपके इसी रूप की पूजा करते हैं। हे प्रभु! हम आपमें तीनों लोकों को देख सकते हैं।

तात्पर्य : वैदिक मंत्रों का कथन है—*यस्मिन् विज्ञाते सर्वम् एवं विज्ञातं भवति।* जब भक्त अपने

ध्यान में भगवान् का दर्शन करता है या जब वह उनका साक्षात् दर्शन करता है तब वह इस ब्रह्माण्ड के भीतर की प्रत्येक वस्तु से अवगत हो जाता है। निस्सन्देह, उसके लिए कुछ भी अज्ञात नहीं रहता। इस भौतिक जगत की प्रत्येक वस्तु उस भक्त को पूरी तरह प्रकट हो जाती है, जिसने भगवान् के दर्शन कर लिये हैं। अतएव *भगवद्गीता* का (४.३४) उपदेश है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।

"गुरु के पास जाकर सत्य जानने का प्रयत्न करो। उनसे विनीत होकर प्रश्न पूछो और उनकी सेवा करो। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति तुम्हें ज्ञान प्रदान कर सकता है क्योंकि उसने सत्य के दर्शन किये हैं।" ब्रह्माजी ऐसे ही स्वरूपसिद्ध महात्मा हैं (*स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः*)। अतएव मनुष्य को चाहिए कि ब्रह्मा से चली आने वाली शिष्य-परम्परा को स्वीकार करे। तभी वह भगवान् को पूरी तरह समझ सकेगा। यहाँ पर *विश्वमूर्तौ* शब्द संकेत करता है कि भगवान् के स्वरूप में प्रत्येक वस्तु स्थित है। जो उनकी पूजा करने में समर्थ है, वह प्रत्येक वस्तु को उनमें और प्रत्येक वस्तु में उनको देख सकता है।

त्वय्यग्र आसीत्त्वयि मध्य आसीत्
त्वय्यन्त आसीदिदमात्मतन्त्रे ।
त्वमादिरन्तो जगतोऽस्य मध्यं
घटस्य मृत्स्नेव परः परस्मात् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

त्वयि—तुम (भगवान्) में; अग्रे—प्रारम्भ में; आसीत्—था; त्वयि—तुममें; मध्ये—मध्य में; आसीत्—था; त्वयि—तुममें; अन्ते—अन्त में; आसीत्—था; इदम्—यह सारा दृश्य जगत; आत्म-तन्त्रे—पूर्णतया आपके नियंत्रण में; त्वम्—तुम; आदिः—आदि; अन्तः—अन्त; जगतः—दृश्य जगत के; अस्य—इस; मध्यम्—मध्य; घटस्य—मिट्टी के पात्र का; मृत्स्ना इव—मिट्टी के समान; परः—दिव्य; परस्मात्—प्रमुख होने के कारण।

सदैव पूर्ण स्वतंत्र रहने वाले मेरे प्रभु! यह सारा दृश्य जगत आपसे उत्पन्न होता है, आप पर टिका रहता है और आपमें तल्लीन हो जाता है। आप ही प्रत्येक वस्तु के आदि, मध्य तथा अन्त हैं जिस तरह पृथ्वी मिट्टी के पात्र का कारण है; वह उस पात्र को आधार प्रदान करती है और जब पात्र टूट जाता है, तो अन्ततः उसे अपने में मिला लेती है।

त्वं माययात्माश्रयया स्वयेदं
निर्माय विश्वं तदनुप्रविष्टः ।
पश्यन्ति युक्ता मनसा मनीषिणो
गुणव्यवायेऽप्यगुणं विपश्चितः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—आप; मायया—अपनी नित्य शक्ति द्वारा; आत्म-आश्रयया—जिसका अस्तित्व आपकी शरण के अधीन है; स्वया—आपसे उद्भूत; इदम्—यह; निर्माय—उत्पन्न करने के लिए; विश्वम्—सारे ब्रह्माण्ड को; तत्—उसमें; अनुप्रविष्टः—आप प्रवेश करते हैं; पश्यन्ति—वे देखते हैं; युक्ताः—आपके सम्पर्क में रहने वाले व्यक्ति; मनसा—मन से; मनीषिणः—उच्च चेतना वाले लोग; गुण—भौतिक गुणों के; व्यवाये—रूपान्तर में; अपि—यद्यपि; अगुणम्—भौतिक तत्त्वों से अछूता; विपश्चितः—शास्त्र के सत्य से भलीभाँति अभिज्ञ लोग।

हे परब्रह्म! आप अपने में स्वतंत्र हैं और दूसरों से सहायता नहीं लेते। आप अपनी शक्ति से इस दृश्य जगत का सृजन करके इसमें प्रवेश कर जाते हैं। जो लोग कृष्णभावनामृत में बढ़े-चढ़े हैं, जो प्रामाणिक शास्त्रों से भलीभाँति परिचित हैं और जो भक्तियोग के अभ्यास से सारे भौतिक कल्मष से शुद्ध हो जाते हैं, वे यह शुद्ध मन से देख सकते हैं कि आप भौतिक गुणों के रूपान्तरों के भीतर रहते हुए भी इन गुणों से अछूते रहते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.१०) में भगवान् कहते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।

"हे कुन्तीपुत्र! यह प्रकृति मेरे निर्देश में कार्य करती है और सारे चर तथा अचर प्राणियों को उत्पन्न करती है। इसके आदेश से यह जगत बारम्बार उत्पन्न और विनष्ट होता है।" भौतिक शक्ति समग्र दृश्य जगत का सृजन, पालन तथा संहार उन भगवान् के आदेशों से करती है, जो इस ब्रह्माण्ड में गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में प्रवेश करते हैं, किन्तु भौतिक गुणों से अछूते रहते हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् माया अर्थात् बहिरंगा शक्ति को जो यह भौतिक जगत उत्पन्न करती है *मम माया* कहते हैं क्योंकि यह शक्ति भगवान् के पूर्ण नियंत्रण में कार्य करती है। इन तथ्यों की अनुभूति उन्हीं व्यक्तियों को हो सकती है, जो वैदिक ज्ञान में पटु हैं और कृष्णभावनामृत में बढ़े-चढ़े हैं।

यथाग्निमेधस्यमृतं च गोषु
भुव्यन्नमम्बूद्यमने च वृत्तिम् ।
योगैर्मनुष्या अधियन्ति हि त्वां

गुणेषु बुद्ध्या कवयो वदन्ति ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अग्निम्—अग्नि; एधसि—काष्ठ में; अमृतम्—अमृत तुल्य दुग्ध; च—तथा; गोषु—गायों में; भुवि—भूमि पर; अन्नम्—अनाज; अम्बु—जल; उद्यमने—उद्यम में; च—भी; वृत्तिम्—जीविका; योगैः—भक्तियोग के अभ्यास से; मनुष्याः—लोग; अधियन्ति—प्राप्त करते हैं; हि—निस्सन्देह; त्वाम्—तुमको; गुणेषु—गुणों में; बुद्ध्या—बुद्धि से; कवयः—महापुरुष; वदन्ति—कहते हैं।

जिस प्रकार काठ से अग्नि, गाय के थन से दूध, भूमि से अन्न तथा जल और औद्योगिक उद्यम से जीविका के लिए समृद्धि प्राप्त की जा सकती है उसी तरह इस भौतिक जगत में मनुष्य भक्तियोग के अभ्यास द्वारा आपकी कृपा प्राप्त कर सकता है या बुद्धि से आपके पास पहुँच सकता है। जो पुण्यात्मा हैं, वे इसकी पुष्टि करते हैं।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् निर्गुण हैं और इस भौतिक जगत के भीतर नहीं पाये जाते, तथापि सारा भौतिक जगत उनसे व्याप्त है जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*मया ततमिदं सर्वम्*)। यह भौतिक जगत भगवान् की भौतिक शक्ति के प्रसार के अतिरिक्त कुछ नहीं है और सारा जगत उन्हीं पर टिका है (*मत्स्थानि सर्वभूतानि*)। फिर भी भगवान् को यहाँ पर नहीं पाया जा सकता (*न चाहं तेष्ववस्थितः*)। किन्तु भक्तियोग के अभ्यास द्वारा भक्त भगवान् का दर्शन कर सकता है। सामान्यतया कोई व्यक्ति तब तक भक्तियोग का अभ्यास प्रारम्भ नहीं करता जब तक उसने पूर्वजन्म में इसका अभ्यास न किया हो। इसके अतिरिक्त गुरु तथा कृष्ण की कृपा से ही भक्तियोग शुरू किया जा सकता है। *गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्तिलता-बीज।* भक्तियोग का बीज गुरु तथा भगवान् कृष्ण की कृपा से प्राप्य है।

केवल भक्तियोग के अभ्यास से ही भगवान् की कृपा प्राप्त की जा सकती है और उनका साक्षात्कार किया जा सकता है (*प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति*) भगवान् को कर्म, ज्ञान या योग जैसी अन्य विधियों से नहीं देखा जा सकता। मनुष्य भक्तियोग का अनुशीलन गुरु के निर्देशन में कर सकता है (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद-सेवनम्*)। तब भक्त भगवान् को इस जगत में भी देख सकता है यद्यपि वे अदृश्य रहते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में (*भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः*) तथा *श्रीमद्भागवत* में (*भक्त्याहमेकया ग्राह्यः*) हुई है। इस प्रकार भक्ति के द्वारा भगवान् की अनुकम्पा प्राप्त की जा सकती है यद्यपि अभक्तों को वे न तो दिखते हैं न ही उनकी समझ में आते हैं।

इस श्लोक में भक्तियोग के अनुशीलन की तुलना कई भौतिक कार्यकलापों से की गई है। काष्ठ

को रगड़ने से अग्नि प्राप्त हो सकती है, धरती को खोदने से अन्न तथा जल मिल सकता है और गाय के थन को दुहने से अमृततुल्य दूध प्राप्त हो सकता है। दूध की तुलना अमृत से की गई है, जिसे पीकर अमर बना जा सकता है। हाँ, केवल दूध पीने से कोई अमर नहीं हो जाता, किन्तु दूध आयु की अवधि को बढ़ा सकता है। आधुनिक सभ्यता में लोग दूध को महत्त्वपूर्ण नहीं मानते अतएव वे दीर्घजीवी नहीं होते। यद्यपि इस युग में लोग एक सौ वर्षों तक जीवित रह सकते हैं, किन्तु अधिक मात्रा में दूध न पीने के कारण उनकी आयु घट जाती है। यह कलियुग का लक्षण है। कलियुग में लोग दूध पीने की अपेक्षा पशु का वध करके उसका मांस खाना अधिक अच्छा मानते हैं। *भगवद्गीता* में दिये गये उपदेशों में भगवान् गोरक्षा का उपदेश देते हैं। गायों की सुरक्षा करनी चाहिए, उनसे दूध प्राप्त करना चाहिए और इस दूध के विविध पकवान बनाने चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि पर्याप्त दूध पिये। इससे उसकी आयु बढ़ सकती है, मस्तिष्क विकसित हो सकता है, वह भक्ति कर सकेगा और अन्तत: भगवान् की कृपा प्राप्त कर सकता है। जिस प्रकार अन्न तथा जल प्राप्त करने के लिए धरती को खोदना आवश्यक है उसी प्रकार गायों को सुरक्षा प्रदान करना और उनके थनों से अमृत-तुल्य दूध प्राप्त करना आवश्यक है।

इस युग के लोग सुखी जीवन के लिए औद्योगिक उद्यमों में प्रवृत्ति रखते हैं, किन्तु वे उस भक्ति को करने से इनकार करते हैं जिससे उन्हें भगवद्धाम वापस जाकर जीवन का अन्तिम लक्ष्य प्राप्त हो सकता है। दुर्भाग्यवश, जैसाकि कहा गया है—*न ते विदु: स्वार्थ-गतिं हि विष्णुं दुराशया ये बहिरर्थमानिन:।* आध्यात्मिक ज्ञान से विहीन लोग यह नहीं जानते कि जीवन का अन्तिम लक्ष्य भगवद्धाम को वापस जाना है। जीवन के इस उद्देश्य को भुलाकर वे निराशा तथा हताशा में कठोर श्रम करते रहते हैं। (*मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतस:*)। तथाकथित वैश्य लोग—उद्योगपति या व्यापारी—बड़े-बड़े औद्योगिक उद्यमों में लगे हैं, किन्तु वे अन्न तथा दूध में कोई रुचि नहीं रखते। किन्तु जैसाकि यहाँ पर संकेत किया गया है, मरुस्थल में भी धरती खोदकर जल प्राप्त करके अन्न उत्पन्न किया जा सकता है। जब हम अन्न तथा तरकारी उत्पन्न करते हैं, तो गायों को संरक्षण प्राप्त हो सकता है और इन गायों से प्रचुर दूध मिल सकता है। पर्याप्त दूध मिलने से तथा इसे अन्न और तरकारी के साथ मिलाकर हम सैंकड़ों अमृतमय व्यंजन तैयार कर सकते हैं। हम इन व्यंजनों को खा सकते हैं

और औद्योगिक उद्यमों से तथा बेकारी से बच सकते हैं।

कृषि तथा गोरक्षा निष्पाप होने के साधन हैं और इन से भक्ति के प्रति आकृष्ट हुआ जा सकता है। जो लोग पापी हैं, वे भक्ति के प्रति अनुरक्त नहीं होते। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.२) में कहा गया है—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

"जिन लोगों ने पूर्वजन्मों में तथा इस जन्म में पुण्य कार्य किये हैं, जिनके पाप समूल नष्ट हो चुके हैं तथा जो मोह के द्वन्द्व से मुक्त हैं, वे संकल्पपूर्वक मेरी सेवा में प्रवृत्त होते हैं।" इस कलियुग में अधिकांश लोग पापी, अल्पायु, अभागे तथा विक्षुब्ध हैं (*मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः*) उनके लिए चैतन्य महाप्रभु ने सलाह दी है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

"इस कलह तथा कपट के युग में उद्धार का एकमात्र साधन भगवान् के पवित्र नाम का जप है। इसका कोई अन्य रास्ता नहीं है। कोई अन्य रास्ता नहीं है। कोई अन्य रास्ता नहीं है।"

तं त्वां वयं नाथ समुज्जिहानं
सरोजनाभातिचिरेप्सितार्थम् ।
दृष्ट्वा गता निर्वृतमद्य सर्वे
गजा दवार्ता इव गाङ्गमम्भः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तम्—हे भगवान्; त्वाम्—आपको; वयम्—हम सभी; नाथ—हे स्वामी; समुज्जिहानम्—अपनी समस्त महिमा के साथ अब हमारे समक्ष प्रकट होने वाले; सरोज-नाभ—कमल फूल के समान नाभि वाले भगवान् अथवा जिनकी नाभि से कमल निकलता है; अति-चिर—दीर्घकाल तक; ईप्सित—चाहते हुए; अर्थम्—जीवन के चरम लक्ष्य के लिए; दृष्ट्वा—देखकर; गताः—अपनी दृष्टि के अन्तर्गत; निर्वृतम्—दिव्य सुख; अद्य—आज; सर्वे—हम सभी; गजाः—हाथी; दव-अर्ताः—जंगल की अग्नि से पीड़ित; इव—सदृश; गाङ्गम् अम्भः—गंगा के जल से।

जंगल की अग्नि से पीड़ित हाथी गंगाजल प्राप्त होने पर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। इसी प्रकार, हे प्रभु! कमलनाभ प्रभु! चूँकि आप हमारे समक्ष अब प्रकट हुए हैं अतएव हम दिव्य सुख का अनुभव कर रहे हैं। हमें आपके दर्शन की दीर्घकाल से आकांक्षा थी अतएव आपका दर्शन

पाकर हमने अपने जीवन के चरम लक्ष्य को पा लिया है।

तात्पर्य : भगवद्भक्त भगवान् का साक्षात् दर्शन पाने के लिए सदैव अत्यन्त उत्सुक रहते हैं, किन्तु वे कभी यह माँग पेश नहीं करते कि भगवान् उनके समक्ष आयें क्योंकि भक्त ऐसी माँग को भक्ति के विरुद्ध मानता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने *शिक्षाष्टक* में यही पाठ पढ़ाया है। *अदर्शनान् मर्महतां करोतु वा।* भक्त भगवान् का साक्षात्कार करने के लिए सदैव उत्सुक रहता है, किन्तु यदि जन्म-जन्मातर तक भगवान् के दर्शन न होने से उसका हृदय टूट भी जाये तो भी वह भगवान् से प्रकट होने की माँग कभी नहीं करेगा। यह शुद्ध भक्ति का लक्षण है। अतएव इस श्लोक में *अतिचिरईप्सितअर्थम्* शब्द आया है, जिसका अर्थ है कि भक्त भगवान् का दर्शन पाने के लिए दीर्घ समय से आकांक्षा करता रहता है। यदि भगवान् स्वेच्छा से भक्त के समक्ष प्रकट होते हैं, तो वह अत्यन्त सुख का अनुभव करता है, जिस प्रकार ध्रुव महाराज ने भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन पाने पर किया था। जब ध्रुव महाराज ने भगवान् को देखा तो उन्हें कोई वर माँगने की इच्छा नहीं हुई। वे भगवान् को देख कर ही इतने तुष्ट हो गये थे कि उन्होंने भगवान् से कोई वर माँगना नहीं चाहा (*स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे*)। शुद्ध भक्त चाहे भगवान् का दर्शन कर सके या नहीं, वह सदैव इस आशा से भगवान् की सेवा-भक्ति करता है कि कभी न कभी वे उस पर प्रसन्न होकर प्रकट होंगे जिससे उसे उनका साक्षात् दर्शन हो सकेगा।

स त्वं विधत्स्वाखिललोकपाला
वयं यदर्थास्तव पादमूलम् ।
समागतास्ते बहिरन्तरात्मन्
किं वान्यविज्ञाप्यमशेषसाक्षिणः ॥ १४॥

शब्दार्थ

सः—वह; त्वम्—आप; विधत्स्व—कृपया जो आवश्यक हो करें; अखिल-लोक-पालाः—देवता, इस ब्रह्माण्ड के विभिन्न विभागों के निर्देशक; वयम्—हम सभी; यत्—जो; अर्थाः—प्रयोजन; तव—आपके; पाद-मूलम्—चरणकमलों पर; समागताः—हम आये हैं; ते—आपको; बहिः-अन्तः-आत्मन्—हे सबके परमात्मा, हे बाह्य तथा अन्तर के सतत साक्षी; किम्—क्या; वा—अथवा; अन्य-विज्ञाप्यम्—आपको सूचित करते हैं; अशेष-साक्षिणः—हर वस्तु के साक्षी तथा ज्ञाता।

हे भगवान्! हम विविध देवता, इस ब्रह्माण्ड के निर्देशक आपके चरणकमलों के निकट आये हैं। जिस प्रयोजन से हम आये हैं कृपया उसे पूरा करें। आप भीतर तथा बाहर से हर वस्तु के साक्षी हैं। आपसे कुछ भी अज्ञात नहीं है, अतएव आपको किसी बात के लिए पुनः सूचित करना व्यर्थ है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (१३.३) में कहा गया है—*क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।* जीवात्माएँ अपने-अपने शरीर की स्वामी हैं, किन्तु भगवान् सभी शरीरों के स्वामी हैं। चूँकि वे हर एक के शरीर के साक्षी हैं, अतएव उनसे कुछ भी छिपा नहीं है। वे जानते हैं कि हमें क्या चाहिए। अतएव हमारा कर्तव्य है कि गुरु के निर्देशन में निष्ठापूर्वक भक्ति करें। भक्ति करने के लिए हमें जो भी चाहिए उसकी पूर्ति कृपा-पूर्वक कृष्ण करेंगे। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में हमें कृष्ण तथा गुरु के आदेशों मात्र को पूरा करना होता है। तब हमारी सारी आवश्यकताएँ हमारे न माँगने पर भी कृष्ण द्वारा पूरी हो जायेंगी।

अहं गिरित्रश्च सुरादयो ये
दक्षादयोऽग्नेरिव केतवस्ते ।
किं वा विदामेश पृथग्विभाता
विधत्स्व शंं नो द्विजदेवमन्त्रम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं (ब्रह्मा); गिरित्रः—शिवजी; च—भी; सुर-आदयः—तथा सारे देवता; ये—जैसे भी हम हैं; दक्ष-आदयः—महाराज दक्ष इत्यादि; अग्नेः—अग्नि के; इव—सदृश; केतवः—चिनगारियाँ; ते—तुम्हारा; किम्—क्या; वा—अथवा; विदाम—हम समझ सकते हैं; ईश—हे प्रभु; पृथक्-विभाताः—आपसे स्वतंत्र होकर; विधत्स्व—हमें प्रदान करें; शम्—सौभाग्य; नः—हमारा; द्विज-देव-मन्त्रम्—ब्राह्मणों तथा देवताओं के लिए उपयुक्त मोक्ष का साधन।

मैं (ब्रह्मा), शिवजी तथा सारे देवताओं के साथ-साथ, दक्ष जैसे प्रजापति भी चिनगारियाँ मात्र हैं, जो मूल अग्नि स्वरूप आपके द्वारा प्रकाशित हैं। चूँकि हम आपके कण हैं अतएव हम अपनी कुशलता के विषय में समझ ही क्या सकते हैं? हे परमेश्वर! हमें मोक्ष का वह साधन प्रदान करें जो ब्राह्मणों तथा देवताओं के लिए उपयुक्त हो।

तात्पर्य : इस श्लोक में *द्विजदेवमन्त्रम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मंत्र शब्द का अर्थ है "जो भौतिक जगत से उद्धार करता है।" इस भौतिक जगत से केवल द्विज (ब्राह्मण) तथा देव (देवता) ही भगवान् के आदेशानुसार मोक्ष पा सकते हैं। भगवान् जो कुछ भी बोलते हैं वह मंत्र है और बद्धजीवों को मानसिक चिन्तन से उद्धार कराने के लिए पर्याप्त है। सारे बद्धजीव जीवन-संघर्ष में लगे हुए हैं (*मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति*)। इस संघर्ष से मोक्ष सर्वोच्च लाभ है, किन्तु भगवान् से मंत्र प्राप्त किये बिना मोक्ष असम्भव है। आदि मंत्र गायत्री मंत्र है। अतएव संस्कार के बाद जब कोई व्यक्ति ब्राह्मण (द्विज) बनने के योग्य हो जाता है, तो उसे गायत्री मंत्र प्रदान किया जाता है। मात्र गायत्री मंत्र

के जप से मनुष्य मोक्ष पा सकता है। किन्तु यह मंत्र केवल ब्राह्मणों तथा देवताओं के लिए ही उपयुक्त होता है। कलियुग में हम सभी अत्यन्त कठिन स्थिति में हैं जिसमें ऐसे उचित मंत्र की आवश्यकता है, जो हमें इस युग के संकटों से उबार सके। अतएव भगवान् अपने चैतन्य-अवतार में हमें हरे कृष्ण मंत्र प्रदान करते हैं—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

"इस कलह तथा कपट के युग में मोक्ष का एकमात्र साधन भगवान् के पवित्र नाम का जप है। इसके अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नहीं है, कोई अन्य मार्ग नहीं है, कोई अन्य मार्ग नहीं है।" *शिक्षाष्टक* में भगवान् चैतन्य कहते हैं—*परं विजयते श्रीकृष्ण-सङ्कीर्तनम्*—श्रीकृष्ण सङ्कीर्तन की जय हो। हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—यह महामंत्र स्वयं भगवान् जपते हैं, जिन्होंने हमें मोक्ष के लिए यह मंत्र प्रदान किया है।

हम इस संसार के संकटों से उद्धार पाने का कोई साधन नहीं खोज सकते। यहाँ तो ब्रह्मा तथा शिवजी जैसे देवता एवं दक्ष जैसे प्रजापति भी उन परमेश्वर के समक्ष प्रकाशमान चिनगारी के तुल्य हैं जिनकी तुलना महान् अग्नि से की जाती है। चिनगारियाँ तभी तक सुन्दर लगती हैं जब तक वे अग्नि में रहती हैं। उसी प्रकार हमें भगवान् के सान्निध्य में रहकर सदैव भक्ति में लगना चाहिए क्योंकि तभी हम सदा दीप्तिमान रह सकेंगे। ज्योंही हम भगवान् की सेवा से नीचे गिर जाते हैं हमारा तेज तथा हमारी चमक तुरन्त समाप्त हो जाएगी या कुछ काल के लिए रुक जाएगी। जब मूल अग्नि रूपी परमेश्वर की चिनगारी तुल्य हम सारे जीव इस जगत में बद्धजीव की स्थिति में आ गिरते हैं, तो हमें भगवान् से उसी तरह मंत्र ग्रहण करना चाहिए जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रदान किया जाता है। इस हरे कृष्ण मंत्र का उच्चारण करने से हम इस भौतिक जगत की सारी कठिनाइयों से मुक्त हो सकेंगे।

श्रीशुक उवाच

एवं विरिञ्चादिभिरीडितस्तद्
विज्ञाय तेषां हृदयं यथैव ।
जगाद जीमूतगभीरया गिरा
बद्धाञ्जलीन्संवृतसर्वकारकान् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; विरिञ्च-आदिभिः—ब्रह्मा इत्यादि सारे देवताओं द्वारा; ईडितः—पूजित; तत् विज्ञाय—आशा को जानकर; तेषाम्—उन सब का; हृदयम्—हृदय; यथा—जिस तरह; एव—निस्सन्देह; जगाद—उत्तर दिया; जीमूत-गभीरया—बादलों की गरज के समान; गिरा—शब्दों से; बद्ध-अञ्जलीन्—हाथ जोड़कर खड़े देवताओं को; संवृत—संयमित; सर्व—सभी; कारकान्—इन्द्रियों को।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : जब ब्रह्मा समेत सारे देवताओं ने भगवान् की स्तुति की तो वे उनके वहाँ आने का प्रयोजन समझ गये। अतएव भगवान् ने बादल की गर्जना के समान गम्भीर वाणी में उन देवताओं को उत्तर दिया जो हाथ जोड़कर सावधानी से वहाँ खड़े थे।

एक एवेश्वरस्तस्मिन्सुरकार्ये सुरेश्वरः ।
विहर्तुकामस्तानाह समुद्रोन्मथनादिभिः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

एकः—अकेला; एव—निस्सन्देह; ईश्वरः—भगवान्; तस्मिन्—उस; सुर-कार्ये—देवताओं के कार्यों में; सुर-ईश्वरः—देवताओं के ईश्वर, भगवान्; विहर्तु—लीलाओं का आनन्द भोगने के लिए; कामः—इच्छा करते हुए; तान्—देवताओं से; आह—कहा; समुद्र-उन्मथन-आदिभिः—समुद्र-मन्थन के कार्यों से।

यद्यपि देवताओं के स्वामी भगवान् देवताओं के कार्यकलापों को स्वयं सम्पन्न करने में समर्थ थे फिर भी उन्होंने समुद्र-मन्थन की लीला का आनन्द उठाना चाहा। अतएव वे इस प्रकार बोले।

श्रीभगवानुवाच
हन्त ब्रह्मन्नहो शम्भो हे देवा मम भाषितम् ।
शृणुतावहिताः सर्वे श्रेयो वः स्याद्यथा सुराः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; हन्त—उनको सम्बोधित करते हुए; ब्रह्मन् अहो—हे ब्रह्माजी; शम्भो—हे शिवजी; हे—हे; देवाः—देवतागण; मम—मेरा; भाषितम्—कथन; शृणुत—सुनो; अवहिताः—ध्यानपूर्वक; सर्वे—तुम सभी; श्रेयः—कल्याण; वः—तुम सबका; स्यात्—हो; यथा—जिस तरह; सुराः—देवताओं के लिए।

भगवान् ने कहा! हे ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवताओ! तुम सभी ध्यानपूर्वक मेरी बात सुनो क्योंकि मैं जो कुछ कहूँगा उससे तुम सब का कल्याण होगा।

यात दानवदैतेयैस्तावत्सन्धिर्विधीयताम् ।
कालेनानुगृहीतैस्तैर्यावद्वो भव आत्मनः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यात—सम्पन्न करो; दानव—दानवों के साथ; दैतेयैः—तथा असुरों के साथ; तावत्—तब तक; सन्धिः—सन्धि; विधीयताम्—सम्पन्न करो; कालेन—अनुकूल समय के द्वारा (या काव्येन—शुक्राचार्य द्वारा); अनुगृहीतैः—आशीष प्राप्त करते हुए; तैः—उन सब से; यावत्—जब तक; वः—तुम्हारा; भवः—सौभाग्य; आत्मनः—तुम सब का।

जब तक तुम उन्नति नहीं कर रहे हो, तुम सब को दानवों तथा असुरों के साथ सन्धि कर लेनी चाहिए क्योंकि सम्प्रति समय उनके अनुकूल है।

तात्पर्य : इस श्लोक के एक शब्द के दो पाठ हैं—*कालेन* तथा *काव्येन*। *कालेन* का अर्थ है "समय की कृपा से" तथा *काव्येन* का अर्थ है "शुक्राचार्य की कृपा से।" शुक्राचार्य दैत्यों के आध्यात्मिक गुरु हैं। असुरों तथा दैत्यों को दोनों ओर से लाभ था अतएव भगवान् ने देवताओं को सलाह दी कि वे तब तक के लिए उनसे सन्धि कर लें जब तक समय उनके अनुकूल न हो जाये।

अरयोऽपि हि सन्धेयाः सति कार्यार्थगौरवे ।
अहिमूषिकवद्देवा ह्यर्थस्य पदवीं गतैः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अरयः—शत्रुगण; अपि—यद्यपि; हि—निस्सन्देह; सन्धेयाः—सन्धि के योग्य; सति—ऐसा होकर; कार्य-अर्थ-गौरवे—महत्त्वपूर्ण कर्तव्य के मामले में; अहि—सर्प; मूषिक—चूहा; वत्—सदृश; देवाः—हे देवताओ; हि—निस्सन्देह; अर्थस्य—हित का; पदवीम्—पद; गतैः—ऐसा होकर।

हे देवताओ! अपना हित इतना महत्वपूर्ण होता है कि मनुष्य को अपने शत्रुओं से सन्धि भी करनी पड़ सकती है। अपने हित (लाभ) के लिए मनुष्य को सर्प तथा चूहे के तर्क के अनुसार कार्य करना चाहिए।

तात्पर्य : एक बार एक साँप तथा एक चूहा एक पिटारी में पकड़ लिए गये। चूँकि चूहा सर्प का भोजन है अतएव सर्प के लिए यह सुनहरा अवसर था। किन्तु चूँकि दोनों ही पिटारी में बन्द थे अतएव यदि सर्प चूहे को खाता भी, तो वह बाहर निकलने में असमर्थ रहता। इसलिए सर्प ने चूहे से सन्धि करना बुद्धिमानी समझा और उसने चूहे से पिटारी में छेद करने के लिए कहा जिससे वे दोनों बाहर जा सकें। सर्प की योजना थी कि जब चूहा छेद बना लेगा तो सर्प चूहे को खाकर छेद से होकर पिटारी से निकल भागेगा। यही सर्प तथा चूहे का तर्क कहलाता है।

अमृतोत्पादने यत्नः क्रियतामविलम्बितम् ।
यस्य पीतस्य वै जन्तुर्मृत्युग्रस्तोऽमरो भवेत् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अमृत-उत्पादने—अमृत उत्पन्न करने में; यत्नः—यत्न; क्रियताम्—करो; अविलम्बितम्—देर किये बिना, तुरन्त; यस्य—जिस अमृत के; पीतस्य—पीने वाले का; वै—निस्सन्देह; जन्तुः—जीव; मृत्यु-ग्रस्तः—यद्यपि आसन्न मृत्यु संकट में; अमरः—अमर; भवेत्—हो सकता है।

तुरन्त ही अमृत उत्पन्न करने का प्रयत्न करो जिसे पीकर मरणासन्न व्यक्ति अमर हो जाये।

क्षिप्त्वा क्षीरोदधौ सर्वा वीरुत्तृणलतौषधीः ।
मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा तु वासुकिम् ॥ २२॥
सहायेन मया देवा निर्मन्थध्वमतन्द्रिताः ।
क्लेशभाजो भविष्यन्ति दैत्या यूयं फलग्रहाः ॥ २३॥

शब्दार्थ

क्षिप्त्वा—डालकर; क्षीर-उदधौ—क्षीरसागर में; सर्वाः—सभी प्रकार की; वीरुत्—लताएँ; तृण—घास; लता—वनस्पतियाँ; औषधीः—तथा दवाएँ; मन्थानम्—मथानी; मन्दरम्—मन्दर पर्वत को; कृत्वा—बनाकर; नेत्रम्—मथने की डोरी; कृत्वा—बनाकर; तु—लेकिन; वासुकिम्—वासुकि सर्प को; सहायेन—सहायक के साथ; मया—मेरे द्वारा; देवाः—सारे देवता; निर्मन्थध्वम्—मथते रहो; अतन्द्रिताः—सावधानी से, एकाग्र मन से; क्लेश-भाजः—कष्टों को बँटाने वाले; भविष्यन्ति—होंगे; दैत्याः—दैत्य; यूयम्—तुम सब; फल-ग्रहाः—वास्तविक फल का लाभ उठाने वाले।

हे देवताओ! क्षीरसागर में सभी प्रकार की वनस्पतियाँ, तृण, लताएँ तथा औषधियाँ डाल दो। तब मेरी सहायता से मन्दर पर्वत को मथानी तथा वासुकि को मथने की रस्सी बनाकर अविचल चित्त से क्षीरसागर का मन्थन करो। इत तरह से दैत्यगण श्रम कार्य में लग जायेंगे, किन्तु तुम देवताओं को वास्तविक फल—समुद्र से उत्पन्न अमृत—प्राप्त होगा।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि जब दूध में सभी प्रकार की औषधियाँ, लताएँ, तृण तथा वनस्पतियाँ डालकर दूध को मथा जाता है, जिस तरह मक्खन निकालने के लिए दूध को मथा जाता है, तो वनस्पतियों तथा औषधियों के सक्रिय तत्त्व दूध से मिल जाते हैं और उसके परिणामस्वरूप अमृत मिलता है।

यूयं तदनुमोदध्वं यदिच्छन्त्यसुराः सुराः ।
न संरम्भेण सिध्यन्ति सर्वार्थाः सान्त्वया यथा ॥ २४॥

शब्दार्थ

यूयम्—तुम सभी; तत्—वह; अनुमोदध्वम्—स्वीकार करो; यत्—जो भी; इच्छन्ति—वे चाहते हैं; असुराः—असुरगण; सुराः—हे देवताओ; न—नहीं; संरम्भेण—क्रुद्ध होने पर; सिध्यन्ति—सफल होते हैं; सर्व-अर्थाः—सारी वांछनाएँ; सान्त्वया—शान्तिपूर्वक सम्पन्न करने से; यथा—जिस तरह।

हे देवताओ! धैर्य तथा शान्ति से हर कार्य सम्पन्न किया जा सकता है, किन्तु यदि कोई क्रोध से क्षुब्ध रहे तो लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो पाती। अतएव असुरगण जो भी माँगें उनके प्रस्ताव को

स्वीकार कर लो।

न भेतव्यं कालकूटाद्विषाज्जलधिसम्भवात् ।
लोभः कार्यो न वो जातु रोषः कामस्तु वस्तुषु ॥ २५॥

शब्दार्थ

न—नहीं; भेतव्यम्—डरना चाहिए; कालकूटात्—कालकूट से; विषात्—विष से; जलधि—क्षीरसागर से; सम्भवात्—प्रकट हुए; लोभः—लालच; कार्यः—कार्य; न—नहीं; वः—तुमको; जातु—किसी समय; रोषः—क्रोध; कामः—विषयवासना; तु—तथा; वस्तुषु—वस्तुओं में।

क्षीरसागर से कालकूट नामक विष उत्पन्न होगा, किन्तु तुम्हें उससे डरना नहीं है और जब समुद्र के मन्थन से विविध उत्पाद प्राप्त हों तो तुम्हें उनको प्राप्त करने के लिए न तो लालच करना होगा, न ही उत्सुक होना होगा, और न ही क्रुद्ध होना होगा।

तात्पर्य : ऐसा लगता है कि क्षीरसागर के मन्थन से अनेक वस्तुएँ उत्पन्न होंगी जिनमें विष, बहुमूल्य रत्न, अमृत तथा अनेक सुन्दरियाँ सम्मिलित हैं। किन्तु देवताओं को सलाह दी गई थी कि वे रत्नों या सुन्दरियों के प्रति लोभ न दिखायें अपितु धैर्यपूर्वक अमृत की प्रतीक्षा करें। वास्तविक उद्देश्य अमृत प्राप्त करना था।

श्रीशुक उवाच
इति देवान्समादिश्य भगवान्पुरुषोत्तमः ।
तेषामन्तर्दधे राजन्स्वच्छन्दगतिरीश्वरः ॥ २६॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; देवान्—सारे देवताओं को; समादिश्य—उपदेश देकर; भगवान्—भगवान्; पुरुष-उत्तमः—पुरुषों में श्रेष्ठ; तेषाम्—उन सब से; अन्तर्दधे—अन्तर्धान हो गये; राजन्—हे राजा; स्वच्छन्द—मुक्त; गतिः—गति वाले; ईश्वरः—भगवान्।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : हे राजा परीक्षित! देवताओं को इस प्रकार से सलाह देकर समस्त जीवों में श्रेष्ठ, स्वच्छन्द रहने वाले भगवान् उनके समक्ष से अन्तर्धान हो गये।

अथ तस्मै भगवते नमस्कृत्य पितामहः ।
भवश्च जग्मतुः स्वं स्वं धामोपेयुर्बलिं सुराः ॥ २७॥

शब्दार्थ

अथ—इसके बाद; तस्मै—उस; भगवते—भगवान् को; नमस्कृत्य—नमस्कार करके; पिता-महः—ब्रह्माजी; भवः च—तथा शिवजी; जग्मतुः—लौट गये; स्वम् स्वम्—अपने-अपने; धाम—घरों को; उपेयुः—पास गये; बलिम्—राजा बलि के; सुराः—अन्य सारे देवता।

तब भगवान् को सादर नमस्कार करने के बाद ब्रह्मा जी तथा शिवजी अपने-अपने धामों को लौट गये। फिर सारे देवता महाराज बलि के पास गये।

दृष्ट्वारीनप्यसंयत्ताञ्जातक्षोभान्स्वनायकान् ।
न्यषेधद्दैत्यराट्श्लोक्य: सन्धिविग्रहकालवित् ॥ २॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; अरीन्—शत्रुओं को; अपि—यद्यपि; असंयत्तान्—लड़ने के किसी प्रयास बिना; जात-क्षोभान्—विक्षुब्ध हुए; स्व-नायकान्—अपने सेनानायकों को; न्यषेधत्—रोका; दैत्य-राट्—दैत्यों के सम्राट, महाराज बलि; श्लोक्य:—अत्यन्त सम्मानित तथा प्रमुख; सन्धि—समझौता कराने के लिए; विग्रह—तथा लड़ने के लिए; काल—समय; वित्—पूर्णतया अवगत।

दैत्यों में सर्वाधिक विख्यात महाराज बलि भलीभाँति जानते थे कि कब सन्धि करनी चाहिए और कब युद्ध करना चाहिए। इस तरह से यद्यपि उनके सेनानायक विक्षुब्ध थे और देवताओं का वध कर देना चाहते थे, किन्तु जब महाराज बलि ने देखा कि सारे देवता उनके पास आक्रमक प्रवृत्ति त्याग कर आ रहे हैं, तो उन्होंने अपने सेनानायकों को मना कर दिया कि वे देवताओं को मारें नहीं।

तात्पर्य : वैदिक शिष्टाचार कहता है—*गृहे शत्रुमपि प्राप्तं विश्वस्तमकुतोभयम्।* जब शत्रु अपने विपक्षी के घर आयें तो उनका स्वागत इस तरह से होना चाहिए कि वे यह भूल जायें कि दोनों पक्षों में शत्रुता है। बलि महाराज सन्धि करने तथा युद्ध करने की कला में दक्ष थे। अत: उन्होंने देवताओं का ठीक से स्वागत किया यद्यपि उनके सेनानायक विक्षुब्ध थे। इस तरह का व्यवहार पाण्डवों तथा कुरुओं के युद्ध के समय भी प्रचलित था। दिन के समय कौरव तथा पाण्डव पूरे बल से लड़ते थे, किन्तु जब दिन ढल जाता तो वे एक दूसरे के शिबिरों में मित्रों की तरह जाते और उनका स्वागत भी उसी रूप में होता था। ऐसे मैत्रीपूर्ण मिलापों में एक शत्रु दूसरे को मुँहमाँगी वस्तु देता था। ऐसी थी पद्धति।

ते वैरोचनिमासीनं गुप्तं चासुरयूथपै: ।
श्रिया परमया जुष्टं जिताशेषमुपागमन् ॥ २९॥

शब्दार्थ

ते—सभी देवता; वैरोचनिम्—विरोचन के पुत्र बलिराज को; आसीनम्—बैठा हुआ; गुप्तम्—सुरक्षित; च—तथा; असुर-यूथ-पै:—असुरों के सेनानायकों द्वारा; श्रिया—ऐश्वर्य से; परमया—परम; जुष्टम्—वर प्राप्त; जित-अशेषम्—समस्त जगतों का स्वामी; उपागमन्—के पास पहुँचे।

देवगण विरोचन के पुत्र बलि महाराज के पास गये और उनके निकट बैठ गये। उस समय

बलि महाराज की रक्षा असुरों के सेनानायकों द्वारा की जा रही थी और वे अत्यन्त ऐश्वर्यशाली थे। उन्होंने सारे ब्रह्माण्डों को जीत लिया था।

महेन्द्रः श्लक्ष्णया वाचा सान्त्वयित्वा महामतिः ।
अभ्यभाषत तत्सर्वं शिक्षितं पुरुषोत्तमात् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

महा-इन्द्रः—स्वर्ग का राजा इन्द्र; श्लक्ष्णया—अत्यन्त विनीत; वाचा—वचनों से; सान्त्वयित्वा—बलि महाराज को अत्यधिक प्रसन्न करते हुए; महा-मतिः—अत्यन्त बुद्धिमान् मनुष्य; अभ्यभाषत—सम्बोधित किया; तत्—वह; सर्वम्—सब कुछ; शिक्षितम्—जो कुछ सीखा था; पुरुष-उत्तमात्—भगवान् विष्णु से।

अत्यन्त बुद्धिमान् एवं देवताओं के राजा इन्द्र ने बलि महाराज को विनीत शब्दों से प्रसन्न कर लेने के बाद उन सारे प्रस्तावों को अत्यन्त विनयपूर्वक प्रस्तुत किया जिन्हें भगवान् विष्णु ने उसे सिखलाया था।

तत्त्वरोचत दैत्यस्य तत्रान्ये येऽसुराधिपाः ।
शम्बरोऽरिष्टनेमिश्च ये च त्रिपुरवासिनः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तत्—वे सारे शब्द; तु—लेकिन; अरोचत—अत्यन्त रुचिकर थे; दैत्यस्य—बलि महाराज के लिए; तत्र—तथा; अन्ये—अन्य; ये—जो; असुर-अधिपाः—असुरों के प्रधान; शम्बरः—शम्बर; अरिष्टनेमिः—अरिष्टनेमि; च—भी; ये—अन्य जो; च—तथा; त्रिपुर-वासिनः—त्रिपुर के सारे निवासी।

राजा इन्द्र द्वारा रखे गये प्रस्तावों को बलि महाराज ने, उनके सहायकों ने, जिनमें शम्बर तथा अरिष्टनेमि प्रमुख थे एवं त्रिपुर के अन्य सारे निवासियों ने तुरन्त ही मान लिया।

तात्पर्य : इस श्लोक से प्रकट होता है कि उच्च लोकों में भी इस लोक में व्याप्त राजनीति, राजनय, ठगी की प्रवृत्ति तथा दो पक्षों के बीच पाये जाने वाले व्यक्तिगत तथा सामाजिक समझौते पाये जाते हैं। देवतागण बलि महाराज के पास अमृत बनाने का प्रस्ताव लेकर गये थे और असुरों ने इसे यह सोचते हुए तुरन्त स्वीकार कर लिया कि देवता पहले से निर्बल हैं, अतएव जब अमृत निकलेगा तो असुर उसे प्राप्त करके अपने निजी कार्य में ला सकेंगे। निस्सन्देह, देवताओं के भी मनोभाव ऐसे ही थे। अन्तर इतना ही था कि विष्णु भगवान् देवताओं के पक्ष में थे क्योंकि वे उनके भक्त थे जबकि असुर विष्णु की कोई परवाह नहीं करते थे। सारे ब्रह्माण्ड में ही दो दल हैं—विष्णु दल या ईश्वर-भावनाभावित दल तथा ईश्वरविहीन दल। ईश्वरविहीन दल कभी भी सुखी या विजयी नहीं होता जबकि

ईश्वर–भावनाभावित दल सदैव सुखी तथा विजयी होता है।

ततो देवासुराः कृत्वा संविदं कृतसौहृदाः ।
उद्यमं परमं चक्रुरमृतार्थे परन्तप ॥ ३२॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; देव-असुराः—देवता तथा असुर दोनों; कृत्वा—सम्पन्न करके; संविदम्—संकेत करते हुए; कृत-सौहृदाः—उनके बीच सन्धि प्रस्ताव; उद्यमम्—उद्यम; परमम्—परम; चक्रुः—उन्होंने किया; अमृत-अर्थे—अमृत के हेतु; परन्तप—हे शत्रुओं को दण्ड देने वाले महाराज परीक्षित।

हे शत्रुओं को दण्ड देने वाले महाराज परीक्षित! तब देवताओं तथा असुरों ने परस्पर सन्धि कर ली और उन्होंने इन्द्र द्वारा प्रस्तावित अमृत उत्पन्न करने की योजना को बड़े ही उद्यमपूर्वक कार्यान्वित करने की व्यवस्था की।

तात्पर्य : इस श्लोक का *संविदम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। देवता तथा असुर दोनों ने, कुछ काल के लिए ही सही, युद्ध बन्द रखना स्वीकार कर लिया और वे अमृत उत्पन्न करने का प्रयास करने लगे। इस प्रसंग में *श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर* की टीका है—

संविद युद्धे प्रतिज्ञायामाचारे नाम्नि तोषणे।

सम्भाषणे क्रियाकारे संकेत ज्ञानयोरपि॥

“*संवित* शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया जाता है—‘युद्ध में’, ‘वचन देने में’, ‘तुष्ट करने के लिए’, ‘सम्बोधन में’, ‘व्यावहारिक कर्म के द्वारा’, ‘संकेत’ तथा ‘ज्ञान’।”

ततस्ते मन्दरगिरिमोजसोत्पाट्य दुर्मदाः ।
नदन्त उदधिं निन्युः शक्ताः परिघबाहवः ॥ ३३॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; ते—सारे देवता तथा असुर; मन्दर-गिरिम्—मन्दर पर्वत को; ओजसा—बलपूर्वक; उत्पाट्य—उखाड़कर; दुर्मदाः—अत्यन्त शक्तिशाली तथा दक्ष; नदन्त—जोर-जोर से चिल्लाते; उदधिम्—समुद्र की तरफ; निन्युः—लाया; शक्ताः—अत्यन्त शक्तिशाली; परिघ-बाहवः—लम्बी-लम्बी बलशाली भुजाओं वाले।

तत्पश्चात् देवताओं तथा अत्यन्त शक्तिशाली एवं लम्बी-लम्बी बलशाली भुजाओं वाले असुरों ने अत्यन्त बलपूर्वक मन्दर पर्वत को उखाड़ा और जोरों से चिल्लाते हुए वे उसे क्षीरसागर की ओर ले चले।

दूरभारोद्वहश्रान्ताः शक्रवैरोचनादयः ।
अपारयन्तस्तं वोढुं विवशा विजहुः पथि ॥ ३४॥

शब्दार्थ

दूर—दूर तक; भार-उद्वह—भारी बोझा ले जाने से; श्रान्ताः—थके हुए; शक्र—इन्द्र; वैरोचन-आदयः—तथा महाराज बलि इत्यादि; अपारयन्तः—असमर्थ; तम्—पर्वत को; वोढुम्—उठापाने; विवशाः—अशक्त; विजहुः—छोड़ दिया; पथि—रास्ते में।

विशाल पर्वत को दूर तक ले जाने के कारण राजा इन्द्र, महाराज बलि तथा अन्य सारे देवता एवं असुर थक गये। पर्वत को ले जाने में असमर्थ होने के कारण उन्होंने उसे रास्ते में छोड़ दिया।

निपतन्स गिरिस्तत्र बहूनमरदानवान् ।
चूर्णयामास महता भारेण कनकाचलः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

निपतन्—गिरते हुए; सः—उस; गिरिः—पर्वत ने; तत्र—वहाँ; बहून्—अनेक; अमर-दानवान्—देवताओं तथा दानवों को; चूर्णयाम् आस—चूर्ण कर डाला; महता—भारी; भारेण—बोझ से; कनक-अचलः—सोने का पर्वत जिसे मन्दर कहते हैं।

यह पर्वत जो मन्दर के नाम से विख्यात था, अत्यन्त भारी था तथा सोने का बना था, वहीं गिर पड़ा और इस ने अनेक देवताओं तथा असुरों को कुचल डाला।

तात्पर्य : स्वभाव से सोना पत्थर से भारी होता है। चूँकि मन्दर पर्वत सोने का बना था अतएव वह पत्थर से भारी था; फलतः देवता तथा असुर उसे क्षीरसागर तक ठीक से नहीं ले जा सके।

तांस्तथा भग्नमनसो भग्नबाहूरुकन्धरान् ।
विज्ञाय भगवांस्तत्र बभूव गरुडध्वजः ॥ ३६॥

शब्दार्थ

तान्—सारे देवता तथा असुर; तथा—तत्पश्चात्; भग्न-मनसः—हताश होकर; भग्न-बाहु—टूटी बाँहों वाले; ऊरु—जाँघें; कन्धरान्—तथा कंधे; विज्ञाय—जानते हुए; भगवान्—भगवान् विष्णु; तत्र—वहाँ; बभूव—प्रकट हुए; गरुड-ध्वजः—गरुड़ पर सवार।

देवता तथा असुर हताश तथा विक्षुब्ध थे और उनकी भुजाएँ, जाँघें तथा कंधे टूट गये थे। अतएव गरुड़ की पीठ पर सवार सर्वज्ञ भगवान् वहाँ पर प्रकट हुए।

गिरिपातविनिष्पिष्टान्विलोक्यामरदानवान् ।
ईक्षया जीवयामास निर्जरान्निर्व्रणान्यथा ॥ ३७॥

शब्दार्थ

गिरि-पात—मन्दर पर्वत के गिरने; विनिष्पिष्टान्—कुचले हुए; विलोक्य—देखकर; अमर—देवताओं; दानवान्—तथा दानवों को; ईक्षया—अपनी चितवन मात्र से; जीवयाम् आस—जीवित कर दिया; निर्जरान्—बिना किसी शोक के; निर्व्रणान्—बिना घाव के; यथा—मानो।

यह देखकर कि अधिकांश दानव तथा देवता पर्वत के गिरने से कुचले गये हैं, भगवान् ने उन सब पर अपनी दृष्टि दौड़ाई और उन्हें जीवित कर दिया। इस प्रकार वे शोक से रहित हो गये और उनके शरीरों के घाव भी जाते रहे।

गिरिं चारोप्य गरुडे हस्तेनैकेन लीलया ।
आरुह्य प्रययावब्धिं सुरासुरगणैर्वृतः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

गिरिम्—पर्वत को; च—भी; आरोप्य—रखकर; गरुडे—गरुड़ की पीठ पर; हस्तेन—हाथ से; एकेन—एक; लीलया—अपनी लीला के रूप में, आसानी से; आरुह्य—चढ़कर; प्रययौ—चले गये; अब्धिम्—क्षीरसागर; सुर-असुर-गणैः—देवताओं तथा असुरों द्वारा; वृतः—घिरे हुए।

फिर भगवान् ने पर्वत को अत्यन्त सरलतापूर्वक एक हाथ से उठाकर गरुड़ की पीठ पर रख दिया। तब वे स्वयं गरुड़ पर सवार हुए और देवताओं तथा असुरों से घिरे हुए क्षीरसागर चले गये।

तात्पर्य : यहाँ पर सर्वोपरि भगवान् के सर्वशक्तिमान होने का प्रमाण प्राप्त है। जीवों की दो श्रेणियाँ हैं—असुर तथा देवता—किन्तु भगवान् इन दोनों के ऊपर हैं। असुरगण सृष्टि के अवसर-वाद सिद्धान्त में विश्वास करते हैं, किन्तु देवता भगवान् के हाथों से बनी सृष्टि पर विश्वास करते हैं। यहाँ पर भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता सिद्ध हो जाती है क्योंकि उन्होंने मन्दर पर्वत, असुरों तथा देवताओं को मात्र एक ही हाथ से उठाकर गरुड़ की पीठ पर रखा और सब को क्षीरसागर ले आये। देवता तथा भक्त इस घटना को यह जानते हुए कि भगवान् किसी भी वस्तु को चाहे वह कितनी भी भारी क्यों न हो उठा सकते हैं तुरन्त स्वीकार कर लेंगे, किन्तु दानव इस घटना को सुनकर यही कहेंगे कि यह पौराणिक है, यद्यपि वे भी देवताओं के साथ भगवान् द्वारा ले जाये गये थे। किन्तु क्या सर्वशक्तिमान भगवान् के लिए पर्वत उठाना कठिन है? चूँकि उन्होंने लाखों मन्दर-पर्वतों से युक्त असंख्य लोकों को तैरा रखा है, तो फिर वे उनमें से एक पर्वत को अपने हाथ से क्यों नहीं उठा सकते हैं? यह पौराणिक कथा नहीं है अपितु विश्वास करने वालों तथा अश्रद्धालुओं में यही अन्तर है कि देवता वैदिक साहित्य में वर्णित घटनाओं को सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं, किन्तु दानव केवल विवाद करते हैं और कहते हैं कि ये ऐतिहासिक घटनाएँ मात्र पौराणिक कथाएँ हैं। असुरगण यही व्याख्या करना श्रेष्ठ समझते हैं कि इस जगत की सारी घटनाएँ "अकस्मात्" से होती हैं, किन्तु भक्तगण अथवा देवगण किसी भी घटना को

अवसरजनित नहीं मानते। प्रत्युत वे जानते हैं कि प्रत्येक घटना भगवान् की योजना के अनुसार घटती है। देवों तथा दानवों के बीच यही अन्तर है।

अवरोप्य गिरिं स्कन्धात्सुपर्णः पततां वरः ।
ययौ जलान्त उत्सृज्य हरिणा स विसर्जितः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

अवरोप्य—उतार कर; गिरिम्—पर्वत को; स्कन्धात्—अपने कंधे से; सुपर्णः—गरुड़; पतताम्—सारे पक्षियों में; वरः—सबसे महान् या शक्तिमान; ययौ—गया; जल-अन्ते—जहाँ जल है; उत्सृज्य—रखकर; हरिणा—भगवान् द्वारा; सः—वह (गरुड़); विसर्जितः—उस स्थान से चला गया।

तत्पश्चात् पक्षीराज गरुड़ ने अपने कन्धे से मन्दर पर्वत को उतारा और वे उसे जल के निकट ले गये। तब भगवान् ने उससे उस स्थान से चले जाने को कहा और वह चला गया।

तात्पर्य : भगवान् ने गरुड़ को उस स्थान से चले जाने का आदेश दिया क्योंकि सर्पराज वासुकि, जिसे मन्थन के लिए रस्सी बनाया जाना था, गरुड़ की उपस्थिति में वहाँ नहीं जा सकता था। भगवान् विष्णु का वाहन गरुड़ शाकाहारी नहीं है। वह बड़े-बड़े साँप खा जाता है। वासुकि सर्पराज होने के कारण पक्षियों के नायक गरुड़ का सहज भोज्य होगा। अतएव भगवान् विष्णु ने गरुड़ से चले जाने को कहा जिससे मथानी के रूप में मन्दर पर्वत से समुद्र का मन्थन करने के लिए वासुकि को लाया जा सके। ये सब भगवान् की अद्भुत व्यवस्थाएँ हैं। दैववशात् कुछ भी नहीं घटित होता। पक्षी की पीठ पर मन्दर पर्वत उठाना और उसे सही-सही रखना किसी के लिए भी कठिन होगा चाहे वे देव हो या असुर, किन्तु भगवान् के लिए कुछ भी करना सम्भव है जैसाकि इस लीला से स्पष्ट है। भगवान् को एक ही हाथ से पर्वत उठाने तथा उनके वाहन गरुड़ को सभी देवों और दानवों को ले जाने में भगवत् कृपा से कोई कठिनाई नहीं हुई। भगवान् योगेश्वर कहलाते हैं क्योंकि वे सर्वशक्तिमान हैं। यदि वे चाहें तो किसी भी वस्तु को रुई से भी हल्का तथा ब्रह्माण्ड से भी भारी बना सकते हैं। जो लोग भगवान् की लीलाओं में विश्वास नहीं करते वे यह नहीं बता सकते कि घटनाएँ किस तरह घटित होती हैं। "दैव या संयोग" जैसे शब्दों का प्रयोग करके वे अविश्वसनीय विचारों की शरण लेते हैं। कुछ भी आकस्मिक नहीं है। सब भगवान् द्वारा किया जाता है जैसाकि स्वयं भगवान् *भगवद्गीता* में(९.१०) पुष्टि करते हैं—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।* संसार में जितनी भी क्रियाए या प्रतिक्रियाए होती हैं, वे भगवान् की अध्यक्षता में होती हैं। लेकिन जब भगवान् अद्भुत कार्य करते हैं, तो असुरगण भगवान्

की शक्ति को नहीं समझते अतएव वे सोचते हैं कि वे आकस्मिक हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध के अन्तर्गत ''देवताओं तथा असुरों द्वारा सन्धि की घोषणा'' नामक छठे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सात

शिवजी द्वारा विषपान से ब्रह्माण्ड की रक्षा

सातवें अध्याय का सारांश इस प्रकार है। भगवान् ने कच्छप का अवतार लेकर समुद्र में गहरी डुबकी लगाई जिससे वे मन्दर पर्वत को अपनी पीठ पर धारण कर सकें। समुद्र मन्थन से सर्वप्रथम कालकूट विष प्राप्त हुआ। सभी इस विष से भयभीत हो उठे, किन्तु शिवजी ने इसे पीकर सबको संतुष्ट किया।

जब यह समझौता हो गया कि मन्थन से जो अमृत निकलेगा उसे देवता तथा दैत्य परस्पर समान रूप से बाँट लेंगे तो उन्होंने वासुकि को लाकर उसे मथानी की रस्सी के रूप में प्रयुक्त किया। भगवान् की दक्ष योजना के अनुसार असुरों ने सर्प का मुख-भाग पकड़ा और देवताओं ने पूँछ का भाग। तब उन्होंने बड़े ही यत्न से सर्प को दोनों दिशाओं में खींचना शुरू कर दिया। चूँकि मन्दर पर्वत के रूप में प्रयुक्त मथानी अत्यन्त भारी थी और जल के भीतर किसी आधार पर टिकी हुई नहीं थी अतएव वह जल में डूब गई और इस तरह देवताओं तथा असुरों का पराक्रम व्यर्थ हो गया। तब कच्छप रूप धारण करके भगवान् प्रकट हुए और उन्होंने मन्दर पर्वत को अपनी पीठ पर टिका लिया। फिर तो मन्थन बड़ी तेजी से चालू हो गया। मन्थन के परिणामस्वरूप प्रचुर मात्रा में विष उत्पन्न हुआ। जब प्रजापतियों ने देखा कि उन्हें बचाने वाला कोई नहीं है, तो उन्होंने शिवजी के पास जाकर उनकी सच्ची स्तुतियाँ कीं। शिवजी आशुतोष कहलाते हैं क्योंकि वे भक्त पर अत्यधिक प्रसन्न हो जाते हैं; अतएव उन्होंने मन्थन से उत्पन्न सारे विष को पी जाना तुरन्त स्वीकार कर लिया। जब शिवजी ने विष पीना स्वीकार कर लिया तो देवी दुर्गा अर्थात् शिवजी की पत्नी भवानी तनिक भी विचलित नहीं हुईं क्योंकि उन्हें शिवजी के शौर्य का पता था। निस्सन्देह, उन्होंने इस समझौते पर अपनी प्रसन्नता व्यक्त की। तब शिवजी ने सर्वत्र व्याप्त विनाशकारी विष को अपनी हथेली पर एकत्र किया और वे उसे पी गये। इस विष के पी जाने

से उनकी गर्दन नीली-नीली सी हो गई। विष का थोड़ा अंश उनकी हथेली से भूमि पर गिर पड़ा। इसी विष के कारण विषैले साँप, बिच्छू, विषैले पौधे तथा अन्य सारी विषैली वस्तुएँ संसार में पाई जाती हैं।

श्रीशुक उवाच
ते नागराजमामन्त्र्य फलभागेन वासुकिम् ।
परिवीय गिरौ तस्मिन्नेत्रमब्धिं मुदान्विताः ।
आरेभिरे सुरा यत्ता अमृतार्थे कुरूद्वह ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; ते—वे सब (देव तथा दैत्य); नाग-राजम्—नागों के राजा को; आमन्त्र्य—बुलाकर या प्रार्थना करके; फल-भागेन—अमृत का हिस्सा दिलाने का वचन देकर; वासुकिम्—वासुकि सर्प को; परिवीय—घेरकर; गिरौ—मन्दर पर्वत पर; तस्मिन्—उसको; नेत्रम्—मथने की रस्सी; अब्धिम्—क्षीरसागर को; मुदा अन्विताः—सभी अत्यन्त प्रसन्न थे; आरेभिरे—कर्म करने लगा; सुराः—देवतागण; यत्ताः—अत्यन्त प्रयास से; अमृत-अर्थे—अमृत प्राप्त करने के लिए; कुरु-उद्वह—कुरुओं में श्रेष्ठ, हे राजा परीक्षित।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे कुरुश्रेष्ठ महाराज परीक्षित! देवों तथा असुरों ने सर्पराज वासुकि को बुलवाया और उसे वचन दिया कि वे उसे अमृत में भाग देंगे। उन्होंने वासुकि को मन्दर पर्वत के चारों ओर मथने की रस्सी की भाँति लपेट दिया और क्षीरसागर के मन्थन द्वारा अमृत उत्पन्न करने का बड़ी प्रसन्नतापूर्वक प्रयत्न किया।

हरिः पुरस्ताज्जगृहे पूर्वं देवास्ततोऽभवन् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

हरिः—भगवान् अजित ने; पुरस्तात्—सामने से; जगृहे—ले लिया; पूर्वम्—सर्वप्रथम; देवाः—देवतागण; ततः—तत्पश्चात्; अभवन्—वासुकि का अगला हिस्सा पकड़ लिया।

भगवान् अजित ने सर्प के अगले हिस्से को पकड़ लिया और तब सारे देवताओं ने उनके पीछे होकर उसे पकड़ लिया।

तन्नैच्छन्दैत्यपतयो महापुरुषचेष्टितम् ।
न गृह्णीमो वयं पुच्छमहेरङ्गममङ्गलम् ।
स्वाध्यायश्रुतसम्पन्नाः प्रख्याता जन्मकर्मभिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह व्यवस्था; न ऐच्छन्—न चाहते हुए; दैत्य-पतयः—दैत्यों के नेता; महा-पुरुष—भगवान् का; चेष्टितम्—प्रयास; न—नहीं; गृह्णीमः—ले लेंगे; वयम्—हम सभी (दैत्यगण); पुच्छम्—पूँछ; अहेः—सर्प की; अङ्गम्—शरीर का भाग; अमङ्गलम्—अशुभ, निकृष्ट; स्वाध्याय—वैदिक अध्ययन से; श्रुत—तथा वैदिक ज्ञान से; सम्पन्नाः—पूर्ण तथा सज्जित; प्रख्याताः—प्रमुख; जन्म-कर्मभिः—जन्म तथा कार्यकलापों से।

दैत्यों के नेताओं ने पूँछ पकड़ना मूर्खतापूर्ण समझा क्योंकि यह सर्प का अशुभ अंग है। इस

के स्थान पर वे अगला हिस्सा पकड़ना चाहते थे जिसे भगवान् तथा देवताओं ने पकड़ रखा था क्योंकि वह भाग शुभ तथा महिमा-युक्त था। इस प्रकार असुरों ने इस दलील के साथ कि वे सभी वैदिक ज्ञान में अत्यधिक बढ़े-चढ़े हैं और अपने जन्म तथा कार्यकलापों के लिए विख्यात हैं, आपत्ति उठाई कि वे सर्प के अगले हिस्से को पकड़ना चाहते हैं।

तात्पर्य : दैत्यों ने सोचा था कि सर्प का अगला भाग शुभ होता है और इस भाग को पकड़ना अधिक वीरतापूर्ण होगा। साथ ही दैत्य सदा ही देवताओं से विपरीत कार्य करते हैं। यही उनकी प्रकृति है। हमने कृष्णभावनामृत आन्दोलन में इसे वास्तव में देखा है। हम लोग गोरक्षा का प्रचार करते हैं और लोगों को अधिक दूध पीने तथा दूध की बनी सुस्वादु वस्तुएँ खाने के लिए प्रोत्साहित करते हैं लेकिन दैत्यगण ऐसे प्रस्तावों का विरोध करने मात्र के लिए यह दावा करते हैं कि वे विज्ञान में अग्रसर हैं, जैसाकि *स्वाध्याय श्रुत सम्पन्ना:* शब्दों से यहाँ वर्णन हुआ है। उनका कहना है कि उनकी वैज्ञानिक विधि से यह पता चला है कि दूध खतरनाक होता है और गौवों की हत्या करके प्राप्त किया हुआ गोमांस अधिक पौष्टिक होता है। यह मतभेद सदैव चलता रहेगा। निस्सन्देह, यह आदिकाल से चला आ रहा है। लाखों वर्ष पूर्व भी ऐसी ही होड़ थी। दैत्यों ने अपने तथा कथित वैदिक अध्ययन के फलस्वरूप, साँप के मुख भाग को पकड़ना श्रेयस्कर समझा। भगवान् ने साँप के खतरनाक भाग को पकड़ना और दैत्यों को पूँछ पकड़ने देना बुद्धिमानी समझा, क्योंकि वह खतरनाक नहीं थी लेकिन स्पर्धा की भावना के कारण दैत्यों ने साँप के मुख के निकट वाले भाग को पकड़ना बुद्धिमानी समझा। यदि देवता विषपान करते तो दैत्य यह संकल्प करते ''हम भी विष में हिस्सा बँटा कर और इसे पीकर शान से क्यों न मरें?''

स्वाध्यायश्रुतसम्पन्ना: प्रख्याता जन्मकर्मभि: शब्दों से एक दूसरा प्रश्न उठ सकता है। यदि कोई सचमुच वैदिक ज्ञान को प्राप्त है और संस्तुत कार्यों को करने के लिए विख्यात है तथा उच्चकुल में जन्म लिए हुए है, तो फिर वह दैत्य क्यों कहलाये? इसका उत्तर यही है कि भले ही कोई कितनी उच्च शिक्षा प्राप्त क्यों न हो तथा उच्चकुल में क्यों न जन्मा हो, किन्तु यदि वह ईश्वरविहीन है, और ईश्वर के उपदेशों को नहीं सुनता तो वह दैत्य (असुर) है। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं—यथा हिरण्यकशिपु, रावण तथा कंस जैसे सुशिक्षित व्यक्ति जो राज परिवार में जन्मे थे और युद्ध में अत्यन्त

शक्तिशाली तथा पराक्रमी थे, किन्तु भगवान् का उपहास करने के कारण राक्षस या दैत्य कहलाते थे। कोई कितना ही सुशिक्षित क्यों न हो, किन्तु यदि उसे कृष्णभावनामृत का बोध न हो, भगवान् के प्रति आज्ञाकारिता न हो तो वह असुर है। इसका वर्णन स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (७.१५) में किया है—

न मां दुष्कृतिनो मूढा: प्रपद्यन्ते नराधमा: ।

माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिता: ॥

"जो दुष्कृती निपट मूर्ख तथा मनुष्यों में अधम हैं और जिनका ज्ञान मोह द्वारा हर लिया गया है तथा जो नास्तिक प्रकृति के असुरों का साथ देते हैं, वे मेरी शरण में नहीं आते।" *आसुरं भावम्* ईश्वर के अस्तित्व को या उनके दिव्य उपदेशों को न स्वीकार करने का सूचक है। *भगवद्गीता* साक्षात् भगवान् द्वारा दिये गये दिव्य उपदेशों से युक्त है। किन्तु असुरगण इन उपदेशों को प्रत्यक्ष स्वीकार न करने की बजाये मनमाने ढंग से टीकाएँ करते हैं और लोगों को भ्रमित करते हैं। इससे स्वयं उन्हें भी कोई लाभ नहीं मिलता। अतएव मनुष्य को चाहिए कि आसुरी ईश्वरविहीन पुरुषों से सचेत रहे। भगवान् कृष्ण के वचनों के अनुसार यदि कोई ईश्वरविहीन असुर सुशिक्षित भी हो तो भी उसे *मूढ, नराधम* तथा *माययापहृतज्ञान* समझना चाहिए।

इति तूष्णीं स्थितान्दैत्यान्विलोक्य पुरुषोत्तमः ।
स्मयमानो विसृज्याग्रं पुच्छं जग्राह सामरः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; तूष्णीम्—चुपचाप; स्थितान्—ठहरा; दैत्यान्—दैत्यों को; विलोक्य—देखकर; पुरुष-उत्तमः—भगवान् ने; स्मयमानः—मुस्काते हुए; विसृज्य—त्याग कर; अग्रम्—साँप के अगले भाग को; पुच्छम्—पिछला भाग; जग्राह—पकड़ लिया; स-अमरः—देवताओं के साथ-साथ।

इस प्रकार असुरगण देवताओं की इच्छा का विरोध करते हुए मौन रहे। भगवान् असुरों के मनोभावों को ताड़ गये अतएव वे मुस्काने लगे। उन्होंने विचार-विमर्श किये बिना तुरन्त ही साँप की पूँछ पकड़ कर उनका प्रस्ताव मान लिया और सारे देवता उनके साथ हो लिये।

कृतस्थानविभागास्त एवं कश्यपनन्दनाः ।
ममन्थुः परमं यत्ता अमृतार्थं पयोनिधिम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

कृत—ठीक करने; स्थान-विभागाः—जहाँ-जहाँ उन्हें पकड़ना था उन स्थानों का विभाजन; ते—वे; एवम्—इस प्रकार; कश्यप-नन्दनाः—कश्यप के पुत्र (देवता तथा असुर दोनों ही); ममन्थुः—मथा; परमम्—अत्यधिक; यत्ताः—यत्न से; अमृत-अर्थम्—अमृत प्राप्ति के लिए; पयः-निधिम्—क्षीरसागर को।

साँप को किस स्थान पर पकड़ना है, यह तय करने के पश्चात् कश्यप के पुत्र देवता तथा असुर दोनों ने क्षीरसागर के मन्थन से अमृत पाने की लालसा से अपना-अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया।

मथ्यमानेऽर्णवे सोऽद्रिरनाधारो ह्यपोऽविशत् ।
ध्रियमाणोऽपि बलिभिर्गौरवात्पाण्डुनन्दन ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मथ्यमाने—मन्थन के बीच में; अर्णवे—क्षीरसागर में; सः—वह; अद्रिः—पहाड़; अनाधारः—बिना किसी आधार के; हि—निस्सन्देह; अपः—जल में; अविशत्—डूब गया; ध्रियमाणः—पकड़ा हुआ; अपि—यद्यपि; बलिभिः—अत्यन्त बलशाली सुरों तथा असुरों द्वारा; गौरवात्—भारी होने के कारण; पाण्डु-नन्दन—हे पाण्डुपुत्र (महाराज परीक्षित)।

हे पाण्डुवंशी! जब क्षीरसागर में मन्दर पर्वत को इस तरह मथानी के रूप में प्रयुक्त किया जा रहा था, तो उसका कोई आधार न था अतएव असुरों तथा देवताओं के बलिष्ठ हाथों द्वारा पकड़ा रहने पर भी वह जल में डूब गया।

ते सुनिर्विण्णमनसः परिम्लानमुखश्रियः ।
आसन्स्वपौरुषे नष्टे दैवेनातिबलीयसा ॥ ७॥

शब्दार्थ

ते—वे सब (देवता तथा असुर); सुनिर्विण्ण-मनसः—निराश मन से; परिम्लान—मुरझाई; मुख-श्रियः—मुखमण्डल की सुन्दरता; आसन्—हो गई; स्व-पौरुषे—अपने-अपने पौरुष के; नष्टे—नष्ट होने पर; दैवेन—दैवी विधान से; अति-बलीयसा—अत्यन्त बलवान्।

चूँकि पर्वत दैवी शक्ति से डूबा था अतएव देवता तथा असुरगण निराश थे और उनके चेहरे कुम्हला गये प्रतीत होते थे।

विलोक्य विघ्नेशविधिं तदेश्वरो
दुरन्तवीर्योऽवितथाभिसन्धिः ।
कृत्वा वपुः कच्छपमद्भुतं महत्
प्रविश्य तोयं गिरिमुज्जहार ॥ ॥

शब्दार्थ

विलोक्य—देखकर; विघ्न—व्यवधान (पर्वत का डूबना); ईश-विधिम्—दैवी व्यवस्था से; तदा—तब; ईश्वरः—भगवान्; दुरन्त-वीर्यः—अकल्पनीय शक्तिमान; अवितथ—अच्युत; अभिसन्धिः—जिसका संकल्प; कृत्वा—विस्तार करके; वपुः—

शरीर; कच्छपम्—कछुवा; अद्भुतम्—विचित्र; महत्—विशाल; प्रविश्य—घुसकर; तोयम्—जल में; गिरिम्—पर्वत (मन्दर) को; उज्जहार—उठा लिया।

भगवदिच्छा से जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी उसे देखकर असीम शक्तिशाली एवं अच्युत संकल्प वाले भगवान् ने कछुए का अद्‌भुत रूप धारण किया और जल में प्रविष्ट होकर विशाल मन्दर पर्वत को उठा लिया।

तात्पर्य : यहाँ इसका प्रमाण है कि भगवान् हर वस्तु के परम नियन्ता हैं। जैसा हम पहले वर्णन कर चुके हैं, मनुष्यों की दो श्रेणियाँ होती हैं—असुर तथा देवता—किन्तु इनमें से कोई भी परम शक्तिशाली नहीं होता। हरएक व्यक्ति का यह अनुभव है कि हम पर परम शक्ति द्वारा व्यवधान डाले जाते हैं। असुरगण इन व्यवधानों को मात्र संयोग मानते हैं, किन्तु भक्तगण इन्हें परम नियन्ता के कार्य मानते हैं। अतएव जब उन्हें व्यवधानों का सामना करना पड़ता है, तो वे भगवान् से प्रार्थना करते हैं। *तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।* भक्तगण व्यवधानों को यह मानकर सह लेते हैं कि वे भगवान् द्वारा उत्पन्न हैं। वे उन्हें वरदान समझते हैं। किन्तु असुरगण परम नियन्ता को न समझ सकने के कारण ऐसे व्यवधानों को संयोग मानते हैं। यहाँ पर तो साक्षात् भगवान् उपस्थित थे। व्यवधान तो उनकी इच्छा के कारण उत्पन्न हुए थे और उनकी इच्छा से ही वे व्यवधान हट भी गये। भगवान् विशाल पर्वत को सहारा देने के लिए कच्छप रूप में प्रकट हुए। *क्षितिरिह विपुलतरे तव तिष्ठति पृष्ठे।* भगवान् ने उस विशाल पर्वत को अपनी पीठ पर रख लिया। *केशव धृतकूर्मशरीर जय जगदीश हरे।* संकटों की सृष्टि भगवान् द्वारा की जा सकती है और वे उन्हीं के द्वारा दूर भी किये जा सकते हैं। यह भक्तों को ज्ञात रहता है, किन्तु असुरगण इसे नहीं समझ सकते।

तमुत्थितं वीक्ष्य कुलाचलं पुनः
समुद्यता निर्मथितुं सुरासुराः ।
दधार पृष्ठेन स लक्षयोजन
प्रस्तारिणा द्वीप इवापरो महान् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस पर्वत को; उत्थितम्—उठा हुआ; वीक्ष्य—देखकर; कुलाचलम्—मन्दर नामक; पुनः—फिर; समुद्यताः—प्रोत्साहित हो गये; निर्मथितुम्—क्षीरसागर का मन्थन करने के लिए; सुर-असुराः—देवता तथा दानव; दधार—ले गये; पृष्ठेन—पीठ पर; सः—भगवान्; लक्ष-योजन—एक लाख योजन (आठ लाख मील); प्रस्तारिणा—फैला हुआ; द्वीपः—टापू, द्वीप; इव—सदृश; अपरः—अन्य; महान्—विशाल।

जब देवताओं तथा असुरों ने देखा कि मन्दर पर्वत उठाया गया है, तो वे प्रफुल्लित हो गए

और पुनः मन्थन करने के लिए प्रोत्साहित हुए। यह पर्वत विशाल कछुवे की पीठ पर टिका था, जो एक विशाल द्वीप की भाँति आठ लाख मील तक फैला हुआ था।

सुरासुरेन्द्रैर्भुजवीर्यवेपितं
परिभ्रमन्तं गिरिमङ्ग पृष्ठतः ।
बिभ्रत्तदावर्तनमादिकच्छपो
मेनेऽङ्गकण्डूयनमप्रमेयः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सुर-असुर-इन्द्रैः—देवताओं तथा असुरों के नायकों द्वारा; भुज-वीर्य—अपनी भुजाओं के बल पर; वेपितम्—गति करते हुए; परिभ्रमन्तम्—घूमता हुआ; गिरिम्—पर्वत को; अङ्ग—हे महाराज परीक्षित; पृष्ठतः—अपनी पीठ पर; बिभ्रत्—स्थित; तत्—उस; आवर्तनम्—घूमते हुए; आदि-कच्छपः—आदि कछुवे की तरह; मेने—विचार किया; अङ्ग-कण्डूयनम्—शरीर को खुजलाने के समान सुहावना; अप्रमेयः—असीमित।

हे राजा! जब देवताओं तथा असुरों ने अपने बाहुबल से अद्भुत कछुवे की पीठ पर स्थित मन्दर पर्वत को घुमा दिया तो कछुवे ने पर्वत के इस घूमने को अपना शरीर खुजलाने का साधन मान लिया। इससे उसे अत्यन्त सुखप्रद अनुभूति हुई।

तात्पर्य : भगवान् सदैव असीम हैं। यद्यपि कच्छप रूप में भगवान् ने अपनी पीठ पर मन्दर पर्वत नामक विशालतम पर्वत धारण कर रखा था, किन्तु उन्हें कोई असुविधा अनुभव नहीं हो रही थी। उल्टे, उन्हें थोड़ी खुजलाहट लग रही थी जिससे पर्वत का घूमना उन्हें निश्चय ही अत्यन्त रुचिकर लग रहा था।

तथासुरानाविशदासुरेण
रूपेण तेषां बलवीर्यमीरयन् ।
उद्दीपयन्देवगणांश्च विष्णु-
र्दैवेन नागेन्द्रमबोधरूपः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तथा—तत्पश्चात; असुरान्—असुरों को; आविशत्—प्रविष्ट हो गये; आसुरेण—रजोगुण के द्वारा; रूपेण—ऐसे रूप में; तेषाम्—उनका; बल-वीर्यम्—बल तथा शक्ति; ईरयन्—बढ़ती हुई; उद्दीपयन्—प्रोत्साहित करते; देव-गणान्—देवताओं को; च—भी; विष्णुः—भगवान् विष्णु; दैवेन—सत्व रूप के द्वारा; नाग-इन्द्रम्—सर्पों के राजा वासुकि को; अबोध-रूपः—तमोगुण के द्वारा।

तत्पश्चात् भगवान् विष्णु, उन सबको प्रोत्साहित करने एवं विभिन्न प्रकार से शक्ति देने के लिए, असुरों में रजोगुण के रूप में, देवताओं में सतोगुण के रूप में तथा वासुकि में तमोगुण के रूप में प्रविष्ट हो गये।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में हर कोई प्रकृति के विभिन्न गुणों के अधीन है। मन्दर पर्वत द्वारा मन्थन किये जाने में तीन अलग-अलग दल थे—देवता जो सतोगुणी थे, असुर जो रजोगुणी थे तथा नाग वासुकि जो तमोगुणी था। चूँकि सभी लोग थके जा रहे थे (वासुकि तो मरने ही वाला था) अतएव भगवान् विष्णु उन्हें समुद्र मन्थन चालू रखने के लिए प्रोत्साहित करने के हेतु उनमें उनके अपने अपने गुणों—सतो, रजो तथा तमों गुणों—के अनुसार प्रविष्ट हो गये।

उपर्यगेन्द्रं गिरिराडिवान्य
आक्रम्य हस्तेन सहस्रबाहुः ।
तस्थौ दिवि ब्रह्मभवेन्द्रमुख्यै-
रभिष्टुवद्भिः सुमनोऽभिवृष्टः ॥ १२॥

शब्दार्थ

उपरि—चोटी पर; अगेन्द्रम्—विशाल पर्वत; गिरि-राट्—पर्वतों का राजा; इव—सदृश; अन्यः—दूसरा; आक्रम्य—पकड़ कर; हस्तेन—एक हाथ से; सहस्र-बाहुः—एक हजार हाथों वाला; तस्थौ—स्थित; दिवि—आकाश में; ब्रह्म—ब्रह्माजी; भव—शिवजी; इन्द्र—स्वर्ग का राजा इन्द्र; मुख्यैः—प्रमुखों द्वारा; अभिष्टुवद्भिः—भगवान् की स्तुति की; सुमनः—फूल; अभिवृष्टः—बरसा कर।

तब मन्दर पर्वत की चोटी पर भगवान् ने अपने आपको हजारों भुजाओं सहित प्रकट किया जो अन्य विशाल पर्वत की तरह लग रहे थे और एक हाथ से मन्दर पर्वत को पकड़े रखा। तब ब्रह्मा, शिव, इन्द्र तथा अन्य देवताओं ने उच्च लोकों में भगवान् की स्तुति की और उन पर फूलों की वर्षा की।

तात्पर्य : जब मन्दर पर्वत दोनों ओर से खींचा जा रहा था, तो संतुलन बनाये रखने के लिए भगवान् इसकी चोटी पर एक दूसरे विशाल पर्वत के रूप में प्रकट हुए। तब ब्रह्मा, शिव तथा इन्द्र ने भी अपना-अपना विस्तार किया और भगवान् पर फूल बरसाये।

उपर्यधश्चात्मनि गोत्रनेत्रयोः
परेण ते प्राविशता समेधिताः ।
ममन्थुरब्धिं तरसा मदोत्कटा
महाद्रिणा क्षोभितनक्रचक्रम् ॥ १३॥

शब्दार्थ

उपरि—ऊपर; अधः च—तथा नीचे; आत्मनि—देवों तथा असुरों में; गोत्र-नेत्रयोः—पर्वत तथा वासुकि को, जो रस्सी की तरह प्रयुक्त हो रहा था; परेण—भगवान् द्वारा; ते—वे; प्राविशता—उनके भीतर प्रवेश कर गये; समेधिताः—अत्यन्त विक्षुब्ध;

ममन्थुः—मथा; अब्धिम्—क्षीरसागर को; तरसा—अत्यन्त बलपूर्वक; मद-उत्कटाः—मदान्ध होकर; महा-अद्रिणा—मन्दर पर्वत से; क्षोभित—क्षुब्ध; नक्र-चक्रम्—जल के सारे मगर।

देवता तथा असुर अमृत के लिए मानो मतवाले होकर कार्य कर रहे थे क्योंकि भगवान् ने उन्हें प्रोत्साहित कर रखा था; वे पर्वत के ऊपर और नीचे सभी जगह थे और वे देवताओं, असुरों, वासुकि तथा पर्वत में भी प्रविष्ट हो गए थे। देवताओं तथा असुरों के बल से, क्षीरसागर इतनी शक्ति के साथ विलोड़ित हो रहा था कि जल के सारे मगरमच्छ अत्यधिक विचलित हो उठे। तो भी समुद्र का मन्थन इस तरह चलता रहा।

अहीन्द्रसाहस्रकठोरदृङ्मुख-
श्वासाग्निधूमाहतवर्चसोऽसुराः ।
पौलोमकालेयबलील्वलादयो
दवाग्निदग्धाः सरला इवाभवन् ॥ १४॥

शब्दार्थ

अहीन्द्र—सर्पों के राजा का; साहस्र—हजारों; कठोर—अत्यन्त कठोर; दृक्—दिशाएँ; मुख—मुख से; श्वास—साँस; अग्नि—बाहर निकलती हुई अग्नि; धूम—धुँआ; आहत—प्रभावित होकर; वर्चसः—किरणों से; असुराः—असुरगण; पौलोम—पौलोम; कालेय—कालेय; बलि—बलि; इल्वल—इल्वल; आदयः—आदि; दव-अग्नि—जंगल की अग्नि से; दग्धाः—जले हुए; सरलाः—सरल वृक्ष; इव—सदृश; अभवन्—हो गये।

वासुकि के हजारों नेत्र तथा मुख थे। उसके मुख से धुँआ तथा अग्नि की लपटें निकल रही थीं जिससे पौलोम, कालेय, बलि, इल्वल आदि असुरगण पीड़ित हो रहे थे। इस तरह सारे असुर जो जंगल की आग से जले हुए सरल वृक्ष की भाँति प्रतीत हो रहे थे धीरे-धीरे शक्तिहीन हो गए।

देवांश्च तच्छ्वासशिखाहतप्रभान्
धूम्राम्बरस्रग्वरकञ्चुकाननान् ।
समभ्यवर्षन्भगवद्वशा घना
ववुः समुद्रोर्म्युपगूढवायवः ॥ १५॥

शब्दार्थ

देवान्—सारे देवता; च—भी; तत्—वासुकि के; श्वास—साँस लेने से; शिखा—लपटों से; हत—प्रभावित होकर; प्रभान्—उनकी शारीरिक कान्ति; धूम्र—धुँआदार; अम्बर—वस्त्र; स्रक्-वर—श्रेष्ठ माला; कञ्चुक—आभूषण; आननान्—तथा चेहरे; समभ्यवर्षन्—अच्छी तरह वर्षा की गई; भगवत्-वशाः—भगवान् के अधीन; घनाः—बादल के; ववुः—उड़ने लगे; समुद्र—क्षीरसागर के; ऊर्मि—लहरों से; उपगूढ—जल के कणों से युक्त; वायवः—मन्द समीर।

चूँकि वासुकि की दहकती साँस से देवता भी प्रभावित हुए थे अतएव उनकी शारीरिक कान्ति घट गई और उनके वस्त्र, मालाए, आयुध तथा उनके मुखमण्डल धुएँ से काले पड़ गये। किन्तु भगवत्कृपा से समुद्र के ऊपर बादल प्रकट हो गए और वे मूसलाधार वर्षा करने लगे।

समुद्री लहरों से जल के कण लेकर मन्द समीर बहने लगे जिससे देवताओं को राहत मिल सके।

मथ्यमानात्तथा सिन्धोर्देवासुरवरूथपैः ।
यदा सुधा न जायेत निर्ममन्थाजितः स्वयम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

मथ्यमानात्—मथे जाने से; तथा—इस प्रकार से; सिन्धोः—क्षीरसागर से; देव—देवताओं का; असुर—तथा असुरों का; वरूथ-पैः—श्रेष्ठतम के द्वारा; यदा—जब; सुधा—अमृत; न जायेत—बाहर नहीं आया; निर्ममन्थ—मन्थन किया; अजितः—भगवान् ने; स्वयम्—स्वयं।.

जब श्रेष्ठतम देवताओं तथा असुरों के द्वारा इतना उद्यम करने पर भी क्षीरसागर से अमृत नहीं निकला तो स्वयं भगवान् अजित ने समुद्र को मथना प्रारम्भ किया।

मेघश्यामः कनकपरिधिः कर्णविद्योतविद्युन्
मूर्ध्नि भ्राजद्विलुलितकचः स्रग्धरो रक्तनेत्रः ।
जैत्रैर्दोर्भिर्जगदभयदैर्दन्दशूकं गृहीत्वा
मथ्नन्मथ्ना प्रतिगिरिरिवाशोभताथो धृताद्रिः ॥ १७॥

शब्दार्थ

मेघ-श्यामः—बादल जैसे श्याम रंग वाले; कनक-परिधिः—पीले वस्त्र पहने; कर्ण—कानों में; विद्योत-विद्युत्—जिसके कुंडल बिजली की तरह चमक रहे थे; मूर्ध्नि—सिर पर; भ्राजत्—चमकते हुए; विलुलित—हिलते हुए; कचः—जिसके बाल; स्रक्-धरः—फूलों की माला पहने; रक्त-नेत्रः—लाल-लाल आँखों वाले; जैत्रैः—विजय प्राप्त; दोर्भिः—भुजाओं से; जगत्—विश्व को; अभय-दैः—अभयदान देने वाले के द्वारा; दन्दशूकम्—सर्प (वासुकि) को; गृहीत्वा—पकड़ कर; मथ्नन्—मथते हुए; मथ्ना—मथानी (मन्दर पर्वत) से; प्रतिगिरिः—दूसरा पर्वत; इव—सदृश; अशोभत—शोभा पा रहा था; अथो—तब; धृत-अद्रिः—पर्वत धारण किये।.

भगवान् श्याम बादल की भाँति प्रकट हो रहे थे। वे पीले वस्त्र पहने थे, उनके कान के कुंडल बिजली की तरह चमक रहे थे और उनके बाल कन्धों पर बिखरे हुए थे। वे फूलों की माला पहने थे और उनकी आँखे गुलाबी थीं। विश्वभर में अभय देने वाली अपनी बलिष्ठ यशस्वी भुजाओं से उन्होंने वासुकि को पकड़ लिया और वे मन्दर पर्वत को मथानी बनाकर समुद्र का मन्थन करने लगे। जब वे इस प्रकार व्यस्त थे तो वे इन्द्रनील नामक सुन्दर पर्वत की भाँति प्रतीत हो रहे थे।

निर्मथ्यमानादुदधेरभूद्विषं
महोल्बणं हालहलाह्वमग्रतः ।
सम्भ्रान्तमीनोन्मकराहिकच्छपात्

तिमिद्विपग्राहतिमिङ्गिलाकुलात् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

निर्मथ्यमानात्—जब मथने का कार्य चल रहा था; उदधेः—समुद्र से; अभूत्—था; विषम्—विष; महा-उल्बणम्—अत्यन्त भयानक; हालहल-आह्वम्—हालहल नाम से; अग्रतः—सर्वप्रथम; सम्भ्रान्त—क्षुब्ध तथा इधर-उधर गतिशील; मीन—विभिन्न प्रकार की मछलियाँ; उन्मकर—हांगर; अहि—तरह-तरह के सर्प; कच्छपात्—तरह-तरह के कछुओं से; तिमि—व्हेल मछलियाँ; द्विप—समुद्री हाथी; ग्राह—घड़ियाल; तिमिङ्गिल—छोटी व्हेलों को निगल जाने वाली बड़ी व्हेल मछलियाँ; आकुलात्—अत्यधिक व्याकुल होकर।

मछलियाँ, हांगर, कछुवे तथा सर्प अत्यन्त विचलित एवं क्षुब्ध थे। सारा समुद्र उत्तेजित हो उठा और व्हेल, समुद्री हाथी, घड़ियाल तथा तिमिङ्गिल मछली जैसे बड़े-बड़े जलचर सतह पर आ गये। जब इस प्रकार से समुद्र-मन्थन हो रहा था, तो इससे सर्वप्रथम हालहल नामक घातक विष उत्पन्न हुआ।

तदुग्रवेगं दिशि दिश्युपर्यधो
विसर्पदुत्सर्पदसह्यमप्रति ।
भीताः प्रजा दुद्रुवुरङ्ग सेश्वरा
अरक्ष्यमाणाः शरणं सदाशिवम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; उग्र-वेगम्—अत्यन्त भयानक तथा तेज विष; दिशि दिशि—सभी दिशाओं में; उपरि—ऊपर; अधः—नीचे; विसर्पत्—मुड़ता हुआ; उत्सर्पत्—ऊपर जाते हुए; असह्यम्—असह्य; अप्रति—वश में न होने वाला; भीताः—अत्यधिक डरे हुए; प्रजाः—सारे विश्वों के निवासी; दुद्रुवुः—इधर-उधर जा रहे थे; अङ्ग—हे महाराज परीक्षित; स-ईश्वराः—भगवान् सहित; अरक्ष्यमाणाः—असुरक्षित; शरणम्—शरण; सदाशिवम्—शिवजी के चरणकमलों में।

हे राजा! जब वह उग्र विष ऊपर नीचे तथा सभी दिशाओं में वेग के साथ फैलने लगा तो सारे देवता भगवान् समेत शिवजी (सदाशिव) के पास गये। अपने को असुरक्षित तथा अत्यन्त भयभीत पाकर वे सब उनकी शरण मांगने लगे।

तात्पर्य : कोई चाहे तो यह प्रश्न कर सकता है कि जब साक्षात् भगवान् वहाँ उपस्थित थे तो वे सारे देवताओं तथा प्रजा को साथ लेकर सदाशिव की शरण में क्यों गये? उन्होंने स्वयं हस्तक्षेप क्यों नहीं किया? इस प्रसंग में *श्रील मध्वाचार्य* सावधान करते हैं—

रुद्रस्य यशसोऽर्थाय स्वयं विष्णुर्विषं विभुः।

न सञ्जह्रे समर्थोऽपि वायुं चोचे प्रशान्तये॥

भगवान् विष्णु स्थिति को संभालने में सक्षम थे, किन्तु शिवजी को श्रेय प्रदान करने के लिए ही उन्होंने कोई कार्यवाही नहीं की। शिवजी ने बाद में सारा विष पी लिया और उसे अपने गले में रख

लिया।

विलोक्य तं देववरं त्रिलोक्या
भवाय देव्याभिमतं मुनीनाम् ।
आसीनमद्रावपवर्गहेतो-
स्तपो जुषाणं स्तुतिभिः प्रणेमुः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

विलोक्य—देखकर; तम्—उस; देव-वरम्—देवताओं में सर्वश्रेष्ठ को; त्रि-लोक्याः—तीनों लोकों के; भवाय—उन्नति के लिए; देव्या—अपनी पत्नी भवानी सहित; अभिमतम्—स्वीकृत; मुनीनाम्—मुनियों का; आसीनम्—एकसाथ बैठे; अद्रौ—कैलाश पर्वत की चोटी से; अपवर्ग-हेतोः—मुक्ति की कामना करते; तपः—तपस्या में; जुषाणम्—सेवित; स्तुतिभिः—स्तुतियों से; प्रणेमुः—सादर नमस्कार किया।

देवताओं ने शिवजी को अपनी पत्नी भवानी सहित कैलाश पर्वत की चोटी पर तीनों लोकों के मंगलमय अभ्युदय हेतु तपस्या करते हुए देखा। मुक्ति की कामना करने वाले मुनि-गण उनकी पूजा कर रहे थे। देवताओं ने उन्हें प्रणाम किया और आदरपूर्वक प्रार्थना की।

श्रीप्रजापतय ऊचुः
देवदेव महादेव भूतात्मन्भूतभावन ।
त्राहि नः शरणापन्नांस्त्रैलोक्यदहनाद्विषात् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री-प्रजापतयः ऊचुः—प्रजापतियों ने कहा; देव-देव—हे देवताओं में श्रेष्ठ, महादेव; महा-देव—हे महान् देवता; भूत-आत्मन्—इस संसार में हरएक के प्राण तथा आत्मा स्वरूप; भूत-भावन—हे सबके सुख तथा समृद्धि के कारण; त्राहि—उद्धार करें; नः—हमारा; शरण-आपन्नान्—अपने शरणागतों को; त्रैलोक्य—तीनों लोकों का; दहनात्—दहन करने वाले; विषात्—इस विष से।

प्रजापतियों ने कहा : हे देवश्रेष्ठ महादेव, हे समस्त जीवों के परमात्मा तथा उनकी सुख-समृद्धि के कारण! हम आपके चरणकमलों की शरण में आये हैं। अब आप तीनों लोकों में फैलने वाले इस उग्र विष से हमारी रक्षा करें।

तात्पर्य : चूँकि शिवजी पर संहार करने का उत्तरदायित्व है, तो फिर सुरक्षा के लिए उनके पास क्यों जाया जाये जो भगवान् विष्णु का कार्य है? ब्रह्माजी सृजन करते हैं, शिवजी संहार करते हैं, किन्तु ब्रह्मा तथा शिव दोनों ही भगवान् विष्णु के अवतार हैं और *शक्त्यावेश* अवतार कहलाते हैं। उन्हें सर्वव्यापी विष्णु के ही समान विशेष शक्ति प्राप्त रहती है। अतएव जब भी रक्षा के लिए शिवजी से स्तुतियाँ की जाती हैं, तो वे वास्तव में भगवान् विष्णु के लिए होती हैं क्योंकि शिवजी तो विनाश के

निमित्त हैं। शिवजी ईश्वरों में से एक हैं, जो *शक्त्यावेश* अवतार कहलाते हैं। अतएव उन्हें विष्णु के समान गुणों वाला कहकर सम्बोधित किया जा सकता है।

त्वमेकः सर्वजगत ईश्वरो बन्धमोक्षयोः ।
तं त्वामर्चन्ति कुशलाः प्रपन्नार्तिहरं गुरुम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

त्वम् एकः—निस्सन्देह तुम हो; सर्व-जगतः—तीनों लोकों के; ईश्वरः—नियन्ता; बन्ध-मोक्षयोः—बन्धन तथा मोक्ष दोनों के; तम्—उस नियन्ता को; त्वाम् अर्चन्ति—आपको पूजते हैं; कुशलाः—धनधान्य चाहने वाले व्यक्ति; प्रपन्न-आर्ति-हरम्—शरणागत भक्तों के समस्त कष्टों का हरण करने वाला; गुरुम्—जो समस्त पतितात्माओं के लिए सदुपदेशक का कार्य करे उसे।

हे प्रभु! आप सारे विश्व के बन्धन तथा मोक्ष के कारण हैं क्योंकि आप इसके शासक हैं। जो लोग आध्यात्मिक चेतना में बढ़े-चढ़े हैं, वे आपकी शरण में जाते हैं, अतएव आप उनके कष्टों को दूर करने वाले हैं और उनकी मुक्ति के भी आप ही कारण हैं। अतएव हम आपकी पूजा करते हैं।

तात्पर्य : वास्तव में विष्णु ही सारे सौभाग्य के पालन-पोषणहारे हैं। यदि मनुष्य विष्णु की शरण ग्रहण करता है, तो देवताओं ने शिवजी की शरण क्यों ग्रहण की? उन्होंने ऐसा इसलिए किया क्योंकि वे भौतिक संसार की सृष्टि शिवजी के माध्यम से करते हैं और शिवजी विष्णु की ओर से कार्य करते हैं। जब भगवान् *भगवद्गीता* (१४.४) में यह कहते हैं कि वे सारे जीवों के पिता हैं (*अहं बीजप्रदः पिता*) तो यह शिवजी के माध्यम से विष्णु द्वारा सम्पन्न कार्यों का द्योतक है। भगवान् विष्णु सदैव भौतिक कार्यकलापों से विरक्त रहते हैं और जब उन्हें भौतिक कार्यकलाप सम्पन्न करने होते हैं, तो वे शिवजी के माध्यम से करते हैं। अतएव शिवजी की पूजा विष्णु के स्तर पर की जाती है। जब विष्णु बहिरंगा शक्ति से अछूते रहते हैं, तो वे भगवान् विष्णु होते हैं, किन्तु जब वे उसके सम्पर्क में रहते हैं, तो वे शिवजी के रूप में प्रकट होते हैं।

गुणमय्या स्वशक्त्यास्य सर्गस्थित्यप्ययान्विभो ।
धत्से यदा स्वदृग्भूमन्ब्रह्मविष्णुशिवाभिधाम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

गुण-मय्या—तीनों गुणों में कार्य करते हुए; स्व-शक्त्या—अपनी बहिरंगा शक्ति द्वारा; अस्य—इस जगत का; सर्ग-स्थिति-अप्ययान्—सृष्टि, पालन तथा संहार; विभो—हे प्रभु; धत्से—आप सम्पन्न करते हैं; यदा—जब; स्व-दृक्—आप अपने को प्रकट करते हैं; भूमन्—हे महान्; ब्रह्म-विष्णु-शिव-अभिधाम्—ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के रूप में।

हे प्रभु! आप स्वयं-प्रकाशित तथा सर्वश्रेष्ठ हैं। आप अपनी निजी शक्ति से इस भौतिक जगत का सृजन करते हैं और जब आप सृष्टि, पालन तथा संहार का कार्य करते हैं, तो ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर के नाम धारण कर लेते हैं।

तात्पर्य : यह स्तुति वास्तव में पुरुष-रूप भगवान् विष्णु को अर्पित की गई है, जो अपने गुण अवतारों में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर का नाम ग्रहण कर लेते हैं।

त्वं ब्रह्म परमं गुह्यं सदसद्भावभावनम् ।
नानाशक्तिभिराभातस्त्वमात्मा जगदीश्वरः ॥ २४॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; ब्रह्म—निराकार ब्रह्म; परमम्—परम; गुह्यम्—गुह्य, गोपनीय; सत्-असत्-भाव-भावनम्—सब की सृष्टि का कारण, इसका कारण तथा फल; नाना-शक्तिभिः—अनेक प्रकार की शक्तियों से; आभातः—व्यक्त; त्वम्—तुम हो; आत्मा—परमात्मा; जगत्-ईश्वरः—भगवान्।

आप समस्त कारणों के कारण, आत्म-प्रकाशित, अचिन्त्य, निराकार ब्रह्म हैं, जो मूलतः परब्रह्म हैं। आप इस दृश्य जगत में विविध शक्तियों को प्रकट करते हैं।

तात्पर्य : यह स्तुति निराकार ब्रह्म की है, जो परब्रह्म की तेजवान् किरणों से युक्त होता है। परब्रह्म श्रीभगवान् हैं (*परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्*)। जब शिवजी की पूजा परब्रह्म के रूप में की जाती है, तो वह भगवान् विष्णु के लिए होती है।

त्वं शब्दयोनिर्जगदादिरात्मा
प्राणेन्द्रियद्रव्यगुणः स्वभावः ।
कालः क्रतुः सत्यमृतं च धर्म-
स्त्वय्यक्षरं यत्त्रिवृदामनन्ति ॥ २५॥

शब्दार्थ

त्वम्—आप; शब्द-योनिः—वैदिक ज्ञान का स्रोत; जगत्-आदिः—सृष्टि का मूल कारण; आत्मा—आत्मा; प्राण—जीवनी शक्ति; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; द्रव्य—भौतिक तत्त्व; गुणः—तीन गुण; स्व-भावः—प्रकृति; कालः—नित्य समय; क्रतुः—यज्ञ; सत्यम्—सत्य; ऋतम्—सच्चाई; च—तथा; धर्मः—धर्म के दो प्रकार; त्वयि—आपमें; अक्षरम्—मूल अक्षर, ओङ्कार; यत्—जो; त्रि-वृत्—तीन अक्षरों वाला, अ, उ, म् से युक्त; आमनन्ति—कहते हैं।

हे स्वामी! आप वैदिक ज्ञान के मूल स्रोत हैं। आप भौतिक सृष्टि, प्राण, इन्द्रियों, पाँच तत्त्वों, तीन गुणों तथा महत् तत्त्व के मूल कारण हैं। आप नित्य काल, संकल्प तथा सत्य और ऋत कही जाने वाली दो धार्मिक प्रणालियाँ हैं। आप तीन अक्षरों—अ, उ तथा म् वाले ॐ शब्द

के आश्रय हैं।

अग्निर्मुखं तेऽखिलदेवतात्मा
क्षितिं विदुर्लोकभवाङ्घ्रिपङ्कजम् ।
कालं गतिं तेऽखिलदेवतात्मनो
दिशश्च कर्णौ रसनं जलेशम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अग्निः—अग्नि; मुखम्—मुँह; ते—आपका; अखिल-देवता-आत्मा—सारे देवताओं के उद्गम; क्षितिम्—महिमंडल; विदुः—वे जानते हैं; लोक-भव—हे समस्त लोकों के उद्गम; अङ्घ्रि-पङ्कजम्—आपके चरणकमल; कालम्—नित्य काल; गतिम्—प्रगति; ते—आपका; अखिल-देवता-आत्मनः—सभी देवताओं के सार समाहार; दिशः—सारी दिशाएँ; च—तथा; कर्णौ—आपके कान; रसनम्—स्वाद; जल-ईशम्—जल के अधिष्ठाता देवता।

हे समस्त लोकों के पिता! विद्वान लोग जानते हैं कि अग्नि आपका मुख है, पृथ्वी आपके चरणकमल हैं, आप निखिल देवरूप हैं, नित्य काल आपकी गति है, सारी दिशाएँ आपके कान हैं और जल का स्वामी वरुण आपकी जीभ है।

तात्पर्य : *श्रुतिमन्त्रों* में कहा गया है—*अग्निः सर्वदेवताः*—'अग्नि सारे देवताओं का पुंज है।' अग्नि भगवान् का मुख है। अग्नि के द्वारा ही भगवान् सारी यज्ञ-आहुतियाँ स्वीकार करते हैं।

नाभिर्नभस्ते श्वसनं नभस्वान्
सूर्यश्च चक्षूंषि जलं स्म रेतः ।
परावरात्माश्रयणं तवात्मा
सोमो मनो द्यौर्भगवन्शिरस्ते ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

नाभिः—नाभि; नभः—आकाश; ते—आपकी; श्वसनम्—साँस लेना; नभस्वान्—वायु; सूर्यः च—तथा सूर्य का गोला; चक्षूंषि—आपकी आँखें; जलम्—जल; स्म—निस्सन्देह; रेतः—वीर्य; पर-अवर-आत्म-आश्रयणम्—उच्च एवं निम्न सारे जीवों का आश्रय; तव—तुम्हारा; आत्मा—आत्मा; सोमः—चन्द्रमा; मनः—मन; द्यौः—उच्चतर लोक मण्डल; भगवन्—हे प्रभु; शिरः—सिर; ते—तुम्हारा।

हे प्रभु! आकाश आपकी नाभि है, वायु आपकी श्वसन क्रिया है, सूर्य आपकी आँखे हैं तथा जल आपका वीर्य है। आप समस्त प्रकार के उच्च तथा निम्न जीवों के आश्रय हैं। चन्द्रदेव आपका मन है। उच्चतर लोक मण्डल आपका सिर है।

कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसङ्घा
रोमाणि सर्वौषधिवीरुधस्ते ।

छन्दांसि साक्षात्तव सप्त धातव-
स्त्रयीमयात्मन्हृदयं सर्वधर्मः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

कुक्षिः—उदर, कोख; समुद्राः—समुद्र; गिरयः—पर्वत; अस्थि—हड्डियाँ; सङ्घाः—मेल, समूह; रोमाणि—शरीर के रोएँ; सर्व—सभी; औषधि—औषधियाँ; वीरुधः—पौधे तथा लताएँ; ते—आपका; छन्दांसि—वैदिक मंत्र; साक्षात्—प्रत्यक्ष; तव—आपका; सप्त—सात; धातवः—शरीर के स्तर (कोश); त्रयी-मय-आत्मन्—हे साक्षात् तीनों वेद; हृदयम्—हृदय; सर्व-धर्मः—सभी प्रकार के धर्म।

हे प्रभु! आप साक्षात् तीनों वेद हैं। सातों समुद्र आपके उदर हैं और पर्वत आपकी हड्डियाँ है। सारी औषधियाँ, लताएँ तथा वनस्पतियाँ आपके शरीर के रोएँ हैं। गायत्री जैसे वैदिक मंत्र आपके शरीर के सात कोश हैं और वैदिक धर्म पद्धति आपका हृदय है।

मुखानि पञ्चोपनिषदस्तवेश
यैस्त्रिंशदष्टोत्तरमन्त्रवर्गः ।
यत्तच्छिवाख्यं परमात्मतत्त्वं
देव स्वयंज्योतिरवस्थितिस्ते ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

मुखानि—मुखमण्डल; पञ्च—पाँच; उपनिषदः—वैदिक वाङ्मय; तव—तुम्हारा; ईश—हे स्वामी; यैः—जिससे; त्रिंशत्-अष्ट-उत्तर-मन्त्र-वर्गः—अड़तीस महत्त्वपूर्ण वैदिक मंत्रों की कोटि में; यत्—जो; तत्—जैसा है; शिव-आख्यम्—शिवनाम से विख्यात; परमात्म-तत्त्वम्—जो परमात्मा विषयक सत्य की पुष्टि करता है; देव—हे भगवान्; स्वयम्-ज्योतिः—आत्म प्रकाशित; अवस्थितिः—स्थिति; ते—आपकी।

हे प्रभो! पाँच महत्वपूर्ण वैदिक मंत्र आपके पाँच मुखों के द्योतक हैं जिनसे अड़तीस महत्वपूर्ण वैदिक मंत्र उत्पन्न हुए हैं। आप शिव नाम से विख्यात स्वयं प्रकाशित हैं। आप परमात्मा नाम से प्रत्यक्ष परम सत्य के रूप में स्थित हैं।

तात्पर्य : इस सम्बन्ध में जिन पाँच मंत्रों का उल्लेख हुआ है वे हैं—पुरुष, अघोर, सद्योजात, वामदेव तथा ईशान। ये पाँच मंत्र उन अड़तीस विशेष मंत्रों की कोटि में आते हैं, जो शिवजी द्वारा उच्चारित होते हैं; इसीलिए वे शिवजी या महादेव कहलाते हैं। उनके शिव अर्थात् कल्याणकारी कहलाने का एक अन्य कारण यह है कि वे परमात्मा कहलाने वाले ठीक भगवान् विष्णु की तरह आत्मप्रकाशित हैं। चूँकि शिवजी भगवान् विष्णु के प्रत्यक्ष अवतार हैं अतएव वे विष्णु के प्रत्यक्ष प्रतिनिधि हैं। इस तथ्य की पुष्टि एक वैदिक मंत्र—*पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवम् अच्युतम्*—से होती है। परमात्मा अनेक नामों से जाने जाते हैं जिनमें से महेश्वर, शिव तथा अच्युत विशेषत: उल्लेखनीय हैं।

छाया त्वधर्मोर्मिषु यैर्विसर्गो
नेत्रत्रयं सत्त्वरजस्तमांसि ।
साङ्ख्यात्मनः शास्त्रकृतस्तवेक्षा
छन्दोमयो देव ऋषिः पुराणः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

छाया—छाया; तु—लेकिन; अधर्म-ऊर्मिषु—अधर्म की लहरों में, यथा काम, क्रोध, लोभ, मोह में; यैः—जिससे; विसर्गः—इतनी सारी सृष्टियाँ; नेत्र-त्रयम्—तीन आँखें; सत्त्व—सतोगुण; रजः—रजोगुण; तमांसि—तथा तमोगुण; साङ्ख्य-आत्मनः—सारे वैदिक साहित्य का उद्गम; शास्त्र—शास्त्र; कृतः—बनाया हुआ; तव—आपकी; ईक्षा—चितवन मात्र से; छन्दः-मयः—वैदिक छन्दों से युक्त; देव—हे प्रभु; ऋषिः—सारा वैदिक साहित्य; पुराणः—तथा पुराण।

हे भगवान्! आपकी छाया अधर्म में दिखती है, जिससे नाना प्रकार की अधार्मिक सृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं। प्रकृति के तीनों गुण—सत्त्व, रज तथा तमो—आपके तीन नेत्र हैं। छन्दों से युक्त सारे वैदिक ग्रंथ आपसे उद्भूत हैं क्योंकि उनके संग्रहकर्ताओं ने आपकी कृपादृष्टि प्राप्त करके ही उन शास्त्रों को लिखा।

न ते गिरित्राखिललोकपाल-
विरिञ्चवैकुण्ठसुरेन्द्रगम्यम् ।
ज्योतिः परं यत्र रजस्तमश्च
सत्त्वं न यद्ब्रह्म निरस्तभेदम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ते—आपका; गिरि-त्र—हे पर्वतों के राजा; अखिल-लोक-पाल—भौतिक कार्यकलापों के विभागों के सारे निदेशक; विरिञ्च—ब्रह्मा; वैकुण्ठ—भगवान् विष्णु; सुर-इन्द्र—स्वर्ग का राजा; गम्यम्—सरलता से समझा जाने वाला; ज्योतिः—तेज; परम्—दिव्य; यत्र—जहाँ; रजः—रजोगुण; तमः च—तथा तमोगुण; सत्त्वम्—सतोगुण; न—नहीं; यत् ब्रह्म—जो निराकार ब्रह्म है; निरस्त-भेदम्—देवताओं तथा मनुष्यों में किसी अन्तर के बिना।

हे गिरीश! चूँकि निराकार ब्रह्म तेज सतो, रजो तथा तमो गुणों से परे है अतएव इस भौतिक जगत के विभिन्न निदेशक (लोकपाल) न तो इसकी प्रशंसा कर सकते हैं न ही यह जान सकते हैं कि वह कहाँ है। वह ब्रह्मा, विष्णु या स्वर्ग के राजा महेन्द्र द्वारा भी ज्ञेय नहीं है।

तात्पर्य : *ब्रह्मज्योति* वास्तव में भगवान् का तेज है। जैसाकि *ब्रह्मसंहिता* (५.४०) में कहा गया है—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि

कोटिष्वशेष वसुधादिविभूतिभिन्नम्।

तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो महान्शक्ति से युक्त हैं। उनके दिव्य रूप का चमकीला तेज निराकार ब्रह्म है, जो परम, पूर्ण तथा असीम है और असंख्य लोकों की विविधताओं को उनके विभिन्न तेज सहित करोड़ों ब्रह्माण्डों के रूप में प्रदर्शित करता है।'' यद्यपि ब्रह्म का निराकार स्वरूप भगवान् की किरणों का विस्तार (अंश) होता है, किन्तु उन्हें उन निर्विशेषवादियों की देखभाल करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती जो ब्रह्मज्योति में प्रवेश करते हैं। *भगवद्गीता* (९.४) में कृष्ण कहते हैं—*मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना*—मैं अपने निराकार स्वरूप में इस सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त रहता हूँ। इस प्रकार *अव्यक्तमूर्ति* अर्थात् निराकार स्वरूप निश्चय ही कृष्ण की शक्ति का विस्तार है। इसी ब्रह्मतेज में तल्लीन होने के इच्छुक मायावादी लोग शिवजी की पूजा करते हैं। श्लोक २९ में उल्लिखित मंत्र *मुखानि पञ्चोपनिषदस्तवेश* कहलाते हैं। मायावादी लोग शिवजी की पूजा करते समय इन सभी मंत्रों को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण करते हैं। ये मंत्र इस प्रकार हैं—

१) तत् पुरुषाय विद्महे शान्त्यै २) महादेवाय धीमहि विद्यायै ३) तन्नो रुद्र: प्रतिष्ठायै ४) प्रचोदयात् धृत्यै ५) अघोरेभ्यस्तमा ६) अथ...अघोरेभ्यो मोहा... ७) अघोरेभ्यो रक्षा...) अघोरतरे भ्यो निद्रा... ९) सर्वेभ्य: सर्वव्याध्यै १०) सर्वसर्वेभ्यो मृत्यवे ११) नमस्तेऽस्तु क्षुधा... १२) रुद्ररूपेभ्यस्तृष्णा... १३) वामदेवाय रजा... १४) ज्येष्ठाय स्वाहा... १५) श्रेष्ठाय रत्यै १६) रुद्राय कल्याण्यै १७) कालाय कामा... १) कलविकरणाय सन्धिन्यै १९) बल -विक्रणाय क्रिया... २०) बलाय वृद्ध्यै २१) बलच्छाया... २२) प्रमथनाय धात्र्यै २३) सर्वभूत-दमनाय भ्रामण्यै २४) मन: शोषिण्यै २५) उन्मनाय ज्वरा... २६) सद्योजातं प्रपद्यामि सिद्ध्यै २७) सद्योजाताय वै नम: ऋद्ध्यै २) भवे दित्यै २९) अभवे लक्ष्म्यै ३०) नातिभवे मेधा... ३१) भजस्व मां कान्त्यै ३२) भव स्वधा... ३३) उद्भवाय प्रभा... ३४) ईशान: सर्व विद्यानां शशिन्यै ३५) ईश्वर: सर्वभूतानाम् अभयदा... ३६) ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोधिपतिर्ब्रह्मन् ब्रह्मेष्टदा... ३७) शिवो में अस्तु मरीच्यै ३) सदाशिव: ज्वालिन्यै।

निराकार ब्रह्म भौतिक सृष्टि के अन्य लोकपालों तक को अज्ञात हैं जिनमें ब्रह्मा, इन्द्र तथा विष्णुजी तक सम्मिलित हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि विष्णु जी सर्वज्ञ नहीं हैं। भगवान् विष्णु सर्वज्ञ हैं, किन्तु उन्हें यह जानने की आवश्यकता नहीं रहती कि उनके सर्वव्यापी अंश में क्या हो रहा है। अतएव

भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं कि यद्यपि प्रत्येक वस्तु उनका अंश है (*मयाततमिदं सर्वम्*), किन्तु उन्हें प्रत्येक वस्तु की निगरानी नहीं करनी होती (*न चाहं तेष्ववस्थित:*) क्योंकि ब्रह्मा, शिव तथा इन्द्र जैसे अनेक लोकपाल विद्यमान हैं।

कामाध्वरत्रिपुरकालगराद्यनेक-
भूतद्रुहः क्षपयतः स्तुतये न तत्ते ।
यस्त्वन्तकाल इदमात्मकृतं स्वनेत्र-
वह्निस्फुलिङ्गशिखया भसितं न वेद ॥ ३२॥

शब्दार्थ

काम-अध्वर—इन्द्रियतृप्ति के लिए यज्ञ (यथा दक्ष द्वारा सम्पन्न दक्ष-यज्ञ); त्रिपुर—त्रिपुरासुर; कालगर—कालगर; आदि—तथा अन्य; अनेक—कई; भूत-द्रुहः—जीवों को कष्ट देने वाले; क्षपयतः—उनके विनाश में लगे हुए; स्तुतये—आपकी स्तुति; न—नहीं; तत्—वह; ते—आपसे बोलते हुए; यः तु—क्योंकि; अन्त-काले—प्रलय के समय; इदम्—इस भौतिक जगत में; आत्म-कृतम्—अपने से किया गया; स्व-नेत्र—आपकी आँखों से; वह्नि-स्फुलिङ्ग-शिखया—आग की चिनगारियों से; भसितम्—भस्मसात्; न वेद—मैं नहीं जानता कि यह कैसे हो रहा है।

जब आपकी आँखों से उद्भूत लपटों तथा चिनगारियों से प्रलय होता है, तो सारी सृष्टि जलकर राख हो जाती है। तो भी आपको पता नहीं चलता कि यह कैसे होता है। अतएव आपके द्वारा दक्ष-यज्ञ, त्रिपुरासुर तथा कालकूट विष विनष्ट किये जाने के विषय में क्या कहा जा सकता है? ऐसे कार्यकलाप आपको अर्पित की जाने वाली स्तुतियों के विषय नहीं बन सकते।

तात्पर्य : चूँकि शिवजी जो भी बड़े काम करते हैं उन्हें वे महत्त्वहीन समझते हैं अतएव मन्थन से उत्पन्न उग्र विष को निरर्थक करने के विषय में क्या कहा जा सकता था? इस तरह देवताओं ने अप्रत्यक्ष रूप से शिवजी से प्रार्थना की कि वे उस कालकूट विष को प्रभावहीन बना दें जो सारे ब्रह्माण्डों में फैल रहा था।

ये त्वात्मरामगुरुभिर्हृदि चिन्तिताङ्घ्रि-
द्वन्द्वं चरन्तमुमया तपसाभितप्तम् ।
कत्थन्त उग्रपरुषं निरतं श्मशाने
ते नूनमूतिमविदंस्तव हातलज्जाः ॥ ३३॥

शब्दार्थ

ये—जो व्यक्ति; तु—निस्सन्देह; आत्म-राम-गुरुभिः—जो आत्मतुष्ट हैं और संसार भर के गुरु माने जाते हैं; हृदि—हृदय में; चिन्तित-अङ्घ्रि-द्वन्द्वम्—आपके दोनों चरणकमलों का चिन्तन करते; चरन्तम्—विचरण करते; उमया—अपनी प्रेयसी उमा के साथ; तपसा अभितप्तम्—तपस्या द्वारा उच्चपद को प्राप्त; कत्थन्ते—आपके कार्यों की आलोचना करते हैं; उग्र-परुषम्—

अभद्र व्यक्ति; निरतम्—सदैव; श्मशाने—श्मशान में; ते—ऐसे व्यक्ति; नूनम्—निस्सन्देह; ऊतिम्—ऐसे कार्यकलाप; अविदन्—न जानते हुए; तव—आपके कार्यकलाप; हात-लज्जाः—निर्लज्ज।

सारे विश्व को उपदेश देने वाले महान् आत्मतुष्ट व्यक्ति अपने हृदयों में आपके चरणकमलों का निरन्तर चिन्तन करते हैं, किन्तु जब आपकी तपस्या को न जानने वाले व्यक्ति आपको उमा के साथ विचरते देखते हैं, तो वे आपको भ्रमवश कामी समझते हैं अथवा जब वे आपको श्मशान में घूमते हुए देखते हैं, तो भ्रमवश वे आपको अत्यन्त नृशंस तथा ईर्ष्यालु समझते हैं। निस्सन्देह, वे निर्लज्ज हैं। वे आपके कार्यकलापों को कभी नहीं समझ सकते।

तात्पर्य : शिवजी सर्वोच्च वैष्णव हैं (*वैष्णवानां यथा शम्भुः*)। इसलिये कहा गया है—*वैष्णवेर क्रियामुद्रा विज्ञे ना बुझय।* यहाँ तक कि बुद्धिमान् से बुद्धिमान् व्यक्ति भी यह नहीं समझ सकता कि शिवजी जैसा वैष्णव क्या करता है अथवा कैसे करता है। जो लोग काम तथा क्रोध के वशीभूत हैं, वे शिवजी की महिमा का अनुमान नहीं लगा सकते जिनका पद सदैव दिव्य है। कामेच्छाओं से सम्बद्ध सारे कार्यों में शिवजी आत्माराम के निमित्त मात्र हैं। अतएव सामान्य व्यक्तियों को शिवजी तथा उनके कार्यकलापों को समझने का यत्न नहीं करना चाहिए। जो शिवजी के कार्यकलापों की आलोचना करने का प्रयास करता है, वह निर्लज्ज है।

तत्तस्य ते सदसतोः परतः परस्य
नाञ्जः स्वरूपगमने प्रभवन्ति भूम्नः ।
ब्रह्मादयः किमुत संस्तवने वयं तु
तत्सर्गसर्गविषया अपि शक्तिमात्रम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तत्—अतएव; तस्य—उसका; ते—आपका; सत्-असतोः—चर तथा अचर सारे जीवों का; परतः—दिव्य पद पर स्थित; परस्य—समझ पाना दुष्कर; न—न तो; अञ्जः—जैसा है; स्वरूप-गमने—आपकी वास्तविकता तक पहुँच पाना; प्रभवन्ति—सम्भव है; भूम्नः—हे महान्; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा जैसे पुरुष; किम् उत—अन्यों के विषय में क्या कहा जाये; संस्तवने—प्रार्थना करने में; वयम् तु—जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है; तत्—आपका; सर्ग-सर्ग-विषयाः—सृष्टि की सृष्टियाँ; अपि—यद्यपि; शक्ति-मात्रम्—यथाशक्ति।

ब्रह्मा जी तथा अन्य देवतागण जैसे व्यक्ति तक आपकी स्थिति नहीं समझ सकते क्योंकि आप चर तथा अचर सृष्टि से भी परे हैं। चूँकि आपको सही रूप में कोई नहीं समझ सकता तो फिर भला कोई किस तरह आपकी स्तुति कर सकता है? यह असम्भव है। जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, हम ब्रह्मा जी की सृष्टि के प्राणी हैं। अतएव ऐसी परिस्थितियों में हम आपकी ठीक से

स्तुति नहीं कर सकते, किन्तु हमने अपनी बुद्धि के अनुसार अपनी भावनाएँ व्यक्त की हैं।

एतत्परं प्रपश्यामो न परं ते महेश्वर ।
मृडनाय हि लोकस्य व्यक्तिस्तेऽव्यक्तकर्मणः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

एतत्—ये सारी वस्तुएँ; परम्—दिव्य; प्रपश्यामः—हम देख सकते हैं; न—नहीं; परम्—वास्तविक दिव्य स्थिति; ते—आपकी; महा-ईश्वर—हे महान् शासक; मृडनाय—सुख के लिए; हि—निस्सन्देह; लोकस्य—सारे जगत के; व्यक्तिः—प्रकट; ते—आपके; अव्यक्त-कर्मणः—जिसके कार्यकलाप सबको अज्ञात हैं।

हे महान् शासक! हमारे लिए आपके असली स्वरूप को समझ पाना असम्भव है। जहाँ तक हम देख पाते हैं, आपकी उपस्थिति हरएक के लिए सुख-समृद्धि लाती है। इसके परे, कोई भी आपके कार्यकलापों को नहीं समझ सकता। हम इतना ही देख सकते हैं, इससे अधिक कुछ भी नहीं।

तात्पर्य : जब देवतागण शिवजी की इस तरह स्तुति कर रहे थे तो उनका आन्तरिक प्रयोजन उन्हें प्रसन्न करना था जिससे वे हलाहल विष से उत्पन्न उपद्रवकारी स्थिति को ठीक कर लें। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.२०) में कहा गया है—*कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः*—जब कोई देवताओं की पूजा करता है, तो यह निश्चित है कि वह इन देवताओं की कृपा से अपनी आन्तरिक इच्छाओं की पूर्ति चाहता है। सामान्यतया लोग किसी न किसी उद्देश्य के लिए देवताओं की पूजा में लिप्त रहते हैं।

श्रीशुक उवाच
तद्वीक्ष्य व्यसनं तासां कृपया भृशपीडितः ।
सर्वभूतसुहृद्देव इदमाह सतीं प्रियाम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; तत्—यह स्थिति; वीक्ष्य—देखकर; व्यसनम्—खतरनाक, भयानक; तासाम्—सारे देवताओं की; कृपया—कृपा के कारण; भृश-पीडितः—अत्यधिक दुखी; सर्व-भूत-सुहृत्—सारे जीवों के मित्र; देवः—महादेव ने; इदम्—यह; आह—कहा; सतीम्—सती देवी से; प्रियाम्—अपनी अत्यन्त प्रिय पत्नी को।

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : शिवजी सारे जीवों के प्रति सदैव उपकारी हैं। जब उन्होंने देखा कि सारे जीव विष के सर्वत्र फैलने के कारण अत्यधिक उद्विग्न हैं, तो वे अत्यन्त दयार्द्र हो उठे। अतः उन्होंने अपनी नित्य संगिनी सती से इस प्रकार कहा।

श्रीशिव उवाच

अहो बत भवान्येतत्प्रजानां पश्य वैशसम् ।
क्षीरोदमथनोद्भूतात्कालकूटादुपस्थितम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

श्री-शिवः उवाच—श्री शिव ने कहा; अहो बत—कितनी दयनीय है; भवानि—हे प्राणप्यारी भवानी; एतत्—यह स्थिति; प्रजानाम्—सारे जीवों की; पश्य—देखो तो; वैशसम्—अत्यन्त भयानक; क्षीर-उद—क्षीरसागर के; मथन-उद्भूतात्—मन्थन से उत्पन्न; कालकूटात्—विष उत्पन्न होने से; उपस्थितम्—वर्तमान स्थिति।

शिवजी ने कहा : हे प्रिय भवानी! जरा देखो तो किस तरह ये सारे जीव क्षीरसागर के मन्थन से उत्पन्न विष के कारण संकट में पड़ गये हैं!

आसां प्राणपरीप्सूनां विधेयमभयं हि मे ।
एतावान्हि प्रभोरर्थो यद्दीनपरिपालनम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

आसाम्—ये सारे जीव; प्राण-परीप्सूनाम्—अपने जीवन की रक्षा के लिए अत्यन्त उत्सुक; विधेयम्—कुछ न कुछ करना चाहिए; अभयम्—सुरक्षा; हि—निस्सन्देह; मे—मेरे द्वारा; एतावान्—इतना; हि—निस्सन्देह; प्रभोः—प्रभु का; अर्थः—कर्तव्य; यत्—जो; दीन-परिपालनम्—पीड़ित मानवता को सुरक्षा प्रदान करना।

जीवन-संघर्ष में लगे समस्त जीवों को सुरक्षा प्रदान करना मेरा कर्तव्य है। निश्चय ही स्वामी का कर्तव्य है कि वह पीड़ित अधीनस्थों की रक्षा करे।

प्राणैः स्वैः प्राणिनः पान्ति साधवः क्षणभङ्गुरैः ।
बद्धवैरेषु भूतेषु मोहितेष्वात्ममायया ॥ ३९॥

शब्दार्थ

प्राणैः—प्राणों से; स्वैः—अपने; प्राणिनः—अन्य जीवों की; पान्ति—रक्षा करते हैं; साधवः—भक्तगण; क्षण-भङ्गुरैः—नाशवान्; बद्ध-वैरेषु—व्यर्थ ही शत्रुता में लगे; भूतेषु—जीवों में; मोहितेषु—मोहग्रस्त; आत्म-मायया—भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा।

भगवान् की माया से मोहग्रस्त सामान्य लोग सदैव एक दूसरे के प्रति शत्रुता में लगे रहते हैं। किन्तु भक्तगण अपने नश्वर शरीरों को भी संकट में डालकर उनकी रक्षा करने का प्रयास करते हैं।

तात्पर्य : यह वैष्णव का लक्षण है। *पर-दुःख-दुःखी*—बद्धात्माओं को दुखी देखकर वैष्णव सदा दुखी रहता है अन्यथा उन्हें सुखी बनने की शिक्षा देते रहने का उसका कोई अर्थ नहीं होता। भौतिकतावादी जीवन में लोग शत्रुता के कार्यों में अवश्य ही लगे रहते हैं। अतएव ऐसे जीवन की तुलना *संसार-दावानल* से—जंगल की अग्नि से—की गई है, जो स्वतः लग जाती है। शिवजी तथा परम्परा पद्धति में उनके अनुयायी लोगों को भौतिक जीवन की इस भयावह स्थिति से बचाने का प्रयास

करते हैं। शिवजी के सिद्धान्तों का पालन करने वाले भक्तों तथा रुद्र-सम्प्रदाय वालों का यही कर्तव्य है। वैष्णव सम्प्रदाय चार हैं जिनमें से रुद्र-सम्प्रदाय भी एक है क्योंकि शिवजी (रुद्र) सर्वश्रेष्ठ वैष्णव हैं (*वैष्णवानां यथा शम्भुः*)। निस्सन्देह, हम देखेंगे कि शिवजी ने मानवता के लाभ हेतु सारा विष पी लिया।

पुंसः कृपयतो भद्रे सर्वात्मा प्रीयते हरिः ।
प्रीते हरौ भगवति प्रीयेऽहं सचराचरः ।
तस्मादिदं गरं भुञ्जे प्रजानां स्वस्तिरस्तु मे ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

पुंसः—मनुष्य के साथ; कृपयतः—परोपकार में लगा; भद्रे—हे भद्र भवानी; सर्व-आत्मा—परमात्मा; प्रीयते—प्रसन्न होते हैं; हरिः—भगवान्; प्रीते—अपनी प्रसन्नता के कारण; हरौ—हरि; भगवति—भगवान् में; प्रीये—प्रसन्न होता हूँ; अहम्—मैं; स-चर-अचरः—समस्त चर तथा अचर प्राणियों से; तस्मात्—इसलिए; इदम्—यह; गरम्—विष; भुञ्जे—पीने दो; प्रजानाम्—जीवों का; स्वस्तिः—कल्याण; अस्तु—हो; मे—मेरे द्वारा।

हे मेरी भद्र पत्नी भवानी! जब कोई अन्यों के लिए उपकार के कार्य करता है, तो भगवान् हरि अत्यधिक प्रसन्न होते हैं और जब भगवान् प्रसन्न होते हैं, तो मैं भी अन्य सारे प्राणियों के साथ अत्यधिक प्रसन्न होता हूँ। अतएव मुझे यह विष पीने दो क्योंकि मेरे कारण सारे जीव इस प्रकार सुखी हो सकेंगे।

श्रीशुक उवाच
एवमामन्त्र्य भगवान्भवानीं विश्वभावनः ।
तद्विषं जग्धुमारेभे प्रभावज्ञान्वमोदत ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; आमन्त्र्य—सम्बोधित करके; भगवान्—शिवजी; भवानीम्—भवानी को; विश्व-भावनः—सारे विश्व के शुभचिन्तक; तत् विषम्—उस विष को; जग्धुम्—पीना; आरेभे—प्रारम्भ किया; प्रभाव-ज्ञा—शिवजी की सामर्थ्य को भलीभाँति जानने वाली माता भवानी ने; अन्वमोदत—अनुमति दी।

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : इस प्रकार भवानी को सूचित करके शिवजी वह विष पीने लगे और भवानी ने उन्हें ऐसा करने की अनुमति दे दी क्योंकि वे शिवजी की क्षमताओं को भलीभाँति जानती थीं।

ततः करतलीकृत्य व्यापि हालाहलं विषम् ।
अभक्षयन्महादेवः कृपया भूतभावनः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; करतली-कृत्य—हाथ में लेकर; व्यापि—विस्तृत; हालाहलम्—हालाहल नामक; विषम्—विष को; अभक्षयत्—पी लिया; महा-देवः—शिवजी ने; कृपया—कृपा करके; भूत-भावनः—सारे जीवों के कल्याण हेतु।

तत्पश्चात् मानवता के लिए शुभ तथा उपकारी कार्य में समर्पित शिवजी ने कृपा करके सारा विष अपनी हथेली में रखा और वे उसे पी गये।

तात्पर्य : यद्यपि विष की मात्रा इतनी अधिक थी कि वह सारे विश्व में फैला था, किन्तु शिवजी में इतनी महान् शक्ति थी कि उन्होंने उसे थोड़ी मात्रा में घटाकर अपनी हथेली में ले लिया। मनुष्य को चाहिए कि शिवजी का अनुकरण न करे। वे जो चाहें सो कर सकते हैं, किन्तु जो लोग गाँजा तथा अन्य नशीली वस्तुओं का धूम्रपान करके शिवजी का अनुकरण करना चाहते हैं, वे ऐसे कार्यों से अवश्य ही मारे जायेंगे।

तस्यापि दर्शयामास स्ववीर्यं जलकल्मषः ।
यच्चकार गले नीलं तच्च साधोर्विभूषणम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—शिवजी की; अपि—भी; दर्शयाम् आस—प्रदर्शित किया; स्व-वीर्यम्—अपनी शक्ति; जल-कल्मषः—जल से उत्पन्न वह विष; यत्—जो; चकार—बनाया; गले—गर्दन में; नीलम्—नीली रेखा; तत्—वह; च—भी; साधोः—साधुपुरुष का; विभूषणम्—आभूषण, गहना।

अपयश के कारण क्षीरसागर से उत्पन्न विष ने मानो अपनी शक्ति का परिचय शिवजी के गले में नीली रेखा बनाकर दिया हो। किन्तु अब वही रेखा भगवान् का आभूषण मानी जाती है।

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः ।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

तप्यन्ते—स्वेच्छा से कष्ट उठाते हैं; लोक-तापेन—सामान्य लोगों के कष्ट के कारण; साधवः—साधुपुरुष; प्रायशः—प्रायः, सदैव; जनाः—ऐसे पुरुष; परम-आराधनम्—पूजा की सर्वोच्च विधि; तत्—वह कार्य; हि—निस्सन्देह; पुरुषस्य—परम पुरुष का; अखिल-आत्मनः—जो सबका परमात्मा है।

कहा जाता है कि सामान्य लोगों के कष्टों के कारण महापुरुष सदैव स्वेच्छा से कष्ट भोगना स्वीकार करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित भगवान् के पूजने की यह सर्वोच्च विधि मानी जाती है।

तात्पर्य : जो लोग अन्यों के कल्याण के लिए कार्य करने में व्यस्त रहते हैं, वे किस प्रकार भगवान् द्वारा तुरन्त मान्य होते हैं, इसकी व्याख्या यहाँ पर दी गई है। *भगवद्गीता* (१८.६८-६९) में

भगवान् कहते हैं—*य इदं परमं गुह्यं मदभक्तेष्वभिधास्यति... न च तस्मान् मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः*—"जो व्यक्ति मेरे भक्तों को *भगवद्गीता* के सन्देश का उपदेश देता है, वह मुझे अत्यधिक प्रिय है। पूजा द्वारा मुझे तुष्ट करने में उससे बढ़कर कोई नहीं हो सकता।" इस भौतिक जगत में अनेक प्रकार के कल्याणकार्य हैं, किन्तु परम कल्याणकार्य है कृष्णभावनामृत का प्रसार करना। अन्य कल्याणकार्य प्रभावशाली नहीं हो सकते क्योंकि प्रकृति के नियम तथा कर्मफल रोके नहीं जा सकते। भाग्य या कर्म के नियमों के कारण ही मनुष्य सुख या दुख पाता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी को न्यायालय का आदेश मिलता है, तो उसे इसे स्वीकार करना चाहिए, चाहे इससे लाभ हो या हानि। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति कर्म तथा उसके फल के अधीन है। कोई इसे बदल नहीं सकता। इसलिए शास्त्र का वचन है—

तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो
न लभ्यते यद् भ्रमतामुपर्यधः

(*भागवत* १.५.१)

मनुष्य को उसके लिए प्रयास करना चाहिए जो कर्मफल के कारण ब्रह्माण्ड में ऊपर नीचे चक्कर लगाने से कभी भी प्राप्त नहीं हो पाता। वह क्या है? मनुष्य को कृष्णभावनाभावित होने का प्रयास करना चाहिए। यदि वह कृष्णभावनामृत को सारे विश्व में प्रसारित करने का प्रयत्न करता है, तो उसे श्रेष्ठतम कल्याणकार्य करने वाला समझना चाहिए। भगवान् स्वतः उससे अत्यधिक प्रसन्न होते हैं। यदि भगवान् उससे प्रसन्न हो जाते हैं, तो फिर उसके लिए प्राप्त करने को बचता ही क्या है? यदि भगवान् ने किसी को मान्यता दे दी है, तो वह भगवान् से भले ही कुछ न माँगे, किन्तु प्रत्येक हृदय में वास करने वाले भगवान् उस की हर आवश्यकता पूरी करते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में भी हुई है (*तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्*)। पुनः, जैसाकि यहाँ पर कहा गया है—*तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः।* सर्वश्रेष्ठ कल्याणकार्य यही होगा कि लोगों को कृष्णभावनामृत के स्तर तक उठाया जाये क्योंकि बद्धजीव कृष्णभावनामृत के अभाव के कारण ही कष्ट भोग रहे हैं। स्वयं भगवान् भी मानवता के कष्ट को मिटाने के लिए अवतरित होते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

''हे भरतवंशी! जब-जब और जहाँ-जहाँ धर्म की हानि होती है और अधर्म का प्राधान्य होता है उस समय मैं अवतरित होता हूँ। पुण्यात्माओं का उद्धार करने तथा दुष्टों का विनाश करने के अतिरिक्त धर्म की पुनर्स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में अवतरित होता हूँ।'' *भगवद्गीता* (४.७-)। अतएव सारे शास्त्रों का यही अभिमत है कि कृष्णभावनामृत आन्दोलन का प्रसार ही विश्व का सर्वश्रेष्ठ कल्याणकार्य है। इसके फलस्वरूप सामान्य लोगों को जो परम लाभ मिलता है उसके कारण भगवान् भक्त द्वारा की गई सेवा को तुरन्त मान्यता प्रदान करते हैं।

निशम्य कर्म तच्छम्भोर्देवदेवस्य मीढुषः ।
प्रजा दाक्षायणी ब्रह्मा वैकुण्ठश्च शशंसिरे ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; कर्म—कार्य; तत्—वह; शम्भोः—शिवजी का; देव-देवस्य—देवताओं के भी आराध्य; मीढुषः—सामान्य लोगों को बड़े-बड़े वरदान देने वाले; प्रजाः—लोग; दाक्षायणी—दक्षपुत्री भवानी; ब्रह्मा—ब्रह्माजी ने; वैकुण्ठः च—तथा विष्णु ने भी; शशंसिरे—अत्यधिक प्रशंसा की।

इस कार्य को सुनकर भवानी (दक्षकन्या), ब्रह्मा, विष्णु समेत सामान्य लोगों ने देवताओं द्वारा पूजित और लोगों को वरदान देने वाले शिवजी के इस कार्य की अत्यधिक प्रशंसा की।

प्रस्कन्नं पिबतः पाणेर्यत्किञ्चिज्जगृहुः स्म तत् ।
वृश्चिकाहिविषौषध्यो दन्दशूकाश्च येऽपरे ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

प्रस्कन्नम्—इधर-उधर फैला हुआ; पिबतः—शिवजी द्वारा पीते समय; पाणेः—हथेली से; यत्—जो; किञ्चित्—थोड़ा सा; जगृहुः—पी लेने का अवसर पाया; स्म—निस्सन्देह; तत्—वह; वृश्चिक—बिच्छू; अहि—सर्प; विष-औषध्यः—विषैली दवाएँ; दन्दशूकाः च—तथा वे जानवर जिनका दंश विषैला होता है; ये—जो; अपरे—अन्य जीव।

जब शिवजी विषपान कर रहे थे उस समय उनके हाथ से जो थोड़ा सा विष गिरकर छितर गया उसे बिच्छू, सर्प, विषैली औषधियाँ तथा अन्य पशु जिनका दंश विषैला होता है पी गए।

तात्पर्य : मच्छर, सियार, कुत्ते तथा अन्य काटने वाले पशु या विभिन्न प्रकार के दन्दशूक जिनका दंश विषैला होता है, समुद्र मन्थन से प्राप्त विष को पी गए क्योंकि वह शिवजी की हथेली से नीचे गिर

गया था।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के आठवें स्कंध के अन्तर्गत ''शिवजी द्वारा विषपान और ब्रह्माण्ड की रक्षा'' नामक सातवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter आठ

क्षीरसागर का मन्थन

इस अध्याय में बताया गया है कि किस तरह समुद्र मन्थन के दौरान लक्ष्मीजी प्रकट हुईं और उन्होंने विष्णुजी को किस तरह अपना पति स्वीकार कर लिया। आगे चलकर इस अध्याय में बताया गया है कि जब अमृत-पात्र लेकर धन्वन्तरि प्रकट हुए तो असुरों ने तुरन्त ही वह पात्र उनसे छीन लिया, किन्तु भगवान् विष्णु मोहिनी के रूप में प्रकट हो गए। मोहिनी संसार की सर्वाधिक सुन्दर स्त्री थी और असुरों को मोहने तथा देवताओं हेतु अमृत बचाने के लिए प्रकट हुई थी।

जब शिवजी सारा विष पी गये तो देवता तथा असुर दोनों में उत्साह बढ़ा और उन्होंने मन्थन का कार्य फिर शुरू कर दिया। इस मन्थन से, पहले एक सुरभि गाय उत्पन्न हुई। महान् साधु पुरुषों ने इस गाय को स्वीकार किया जिससे उन्हें इसके दूध से घी मिल सके और जिससे वे महान् यज्ञों में इस घी की आहुतियाँ दे सकें। तत्पश्चात् उच्चै:श्रवा नामक घोड़ा उत्पन्न हुआ। इस घोड़े को बलि महाराज ने ले लिया। तब ऐरावत तथा अन्य हाथी प्रकट हुए जो किसी भी दिशा में कहीं भी जा सकते थे। तत्पश्चात् हथिनियाँ भी प्रकट हुईं। कौस्तुभ नामक मणि भी उत्पन्न हुआ जिसे विष्णु ने लेकर अपने वक्षस्थल पर धारण कर लिया। फिर पारिजात पुष्प तथा ब्रह्माण्ड की सुन्दरतम स्त्रियाँ, अप्सराएँ, उत्पन्न हुईं। तब लक्ष्मीजी निकलीं जिनकी पूजा देवताओं, महान् ऋषियों, गन्धर्वों तथा अन्यों ने आदर सहित की। लक्ष्मीजी को ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिला जिसे वे पति रूप में स्वीकार करतीं। अन्ततोगत्वा उन्होंने भगवान् विष्णु को अपना स्वामी चुना। भगवान् विष्णु ने उन्हें सदा-सदा के लिए अपने वक्षस्थल पर रहने का स्थान दे दिया। लक्ष्मी तथा नारायण के इस मिलन से वहाँ पर उपस्थित देवता तथा अन्य सामान्य लोग अत्यधिक प्रसन्न हुए। किन्तु असुरगण लक्ष्मीजी द्वारा उपेक्षित होने के कारण अत्यधिक हताश थे। फिर वारुणी अर्थात् सुरापान की देवी उत्पन्न हुई और भगवान् विष्णु के आदेश से असुरों ने

उसे स्वीकार कर लिया। तब असुर तथा देवता नवीकृत उत्साह से पुनः मन्थन करने लगे। इस बार भगवान् विष्णु के अंशावतार धन्वन्तरि प्रकट हुए। वे अत्यन्त सुन्दर थे और अमृत से युक्त एक पात्र लिये हुए थे। असुरों ने उनके हाथ से तुरन्त ही वह पात्र छीन लिया और भागने लगे। देवतागण अत्यन्त खिन्न होने के कारण विष्णु की शरण में गये। धन्वन्तरि से अमृत-पात्र छीनने के बाद असुरगण परस्पर लड़ने लगे। भगवान् विष्णु ने देवताओं को सान्त्वना प्रदान की जिससे वे लड़े नहीं अपितु मौन रहे। जब असुरगण परस्पर लड़ रहे थे तो साक्षात् भगवान् मोहिनी अवतार के रूप में प्रकट हुए जो ब्रह्माण्ड में सर्वाधिक सुन्दरी थी।

श्रीशुक उवाच
पीते गरे वृषाङ्केण प्रीतास्तेऽमरदानवाः ।
ममन्थुस्तरसा सिन्धुं हविर्धानी ततोऽभवत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; पीते—पी लिये जाने पर; गरे—विष; वृष-अङ्केण—बैल पर बैठने वाले शिवजी द्वारा; प्रीताः—प्रसन्न होकर; ते—वे सब; अमर—देवतागण; दानवाः—तथा असुरगण; ममन्थुः—पुनः मथने लगे; तरसा—बड़े वेग से; सिन्धुम्—क्षीरसागर को; हविर्धानी—सुरभि गाय जो घी देने वाली है; ततः—उस मन्थन से; अभवत्—उत्पन्न हुई।.

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : शिवजी द्वारा विषपान कर लिये जाने पर देवता तथा दानव दोनों ही अत्यधिक प्रसन्न हुए और नवीन उत्साह के साथ समुद्र का मन्थन करने लगे। इसके फलस्वरूप सुरभि नामक गाय उत्पन्न हुई।

तात्पर्य : *सुरभि* गाय को *हविर्धानी* कहा गया है क्योंकि वह मक्खन प्रदान करती है। मक्खन को पिघलाने से घी बनता है, जो बड़े-बड़े अनुष्ठानिक यज्ञों को सम्पन्न करने के लिए अनिवार्य होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१.५) में कहा गया है— *यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्*—मानव समाज में शान्ति तथा समृद्धि बनाये रखने के लिए यज्ञ, दान तथा तपस्या अनिवार्य कर्म हैं। यज्ञ अनिवार्य है; यज्ञ करने के लिए घी नितान्त आवश्यक है और घी के लिए दूध आवश्यक है। दूध तभी उत्पन्न होता है जब पर्याप्त गौवें हों। अतएव *भगवद्गीता* (१.४४) में गोरक्षा की संस्तुति की गई है (*कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्*)।

तामग्निहोत्रीमृषयो जगृहुर्ब्रह्मवादिनः ।

यज्ञस्य देवयानस्य मेध्याय हविषे नृप ॥ २॥

शब्दार्थ

ताम्—उस गाय को; अग्नि-होत्रीम्—अग्नि में आहुति के लिए मट्ठा, दूध तथा घी प्राप्त करने के लिए आवश्यक; ऋषयः—यज्ञ करने वाले ऋषियों ने; जगृहुः—भार सँभाला; ब्रह्म-वादिनः—वैदिक अनुष्ठानों को जानने वाले; यज्ञस्य—यज्ञ का; देव-यानस्य—स्वर्ग तथा ब्रह्मलोक जाने की इच्छा को पूरी करने वाला; मेध्याय—आहुति डालने के योग्य; हविषे—घी के लिए; नृप—हे राजा।

हे राजा परीक्षित! वैदिक अनुष्ठानों से सुपरिचित ऋषियों ने उस सुरभि गाय को ले लिया जो अग्नि में आहुति डालने के लिए नितान्त आवश्यक मट्ठा, दूध तथा घी उत्पन्न करने वाली थी। उन्होंने शुद्ध घी के लिए ही ऐसा किया क्योंकि उन्हें उच्चलोकों में ब्रह्मलोक तक जाने के लिए यज्ञ सम्पन्न करने के लिए घी की आवश्यकता थी।

तात्पर्य : *सुरभि* गाएँ सामान्यतया वैकुण्ठ लोकों में पाई जाती हैं। जैसाकि *ब्रह्मसंहिता* में वर्णन आया है, भगवान् कृष्ण अपने लोक गोलोक वृन्दावन में सुरभि गाएँ पालने में व्यस्त रहते हैं (*सुरभीरभिपालयन्तम्*)। ये गाएँ भगवान् की पालतू गाएँ हैं। सुरभि गायों से चाहे कोई कितना ही दूध ले सकता है और जितनी बार चाहे उन्हें दुह सकता है। दूसरे शब्दों में, सुरभि गाय असीम मात्रा में दूध दे सकती है। यज्ञ सम्पन्न करने के लिए दूध आवश्यक है। मुनिगण जानते हैं कि मानव समाज के जीवन को पूर्ण बनाने के लिए दूध का प्रयोग किस तरह किया जाये। चूँकि शास्त्रों में सर्वत्र गोरक्षा की संस्तुति की गई है अतएव *ब्रह्मवादियों* ने *सुरभि* गाय का भार सँभाला क्योंकि असुरों की विशेष रुचि उसमें नहीं थी।

तत उच्चैःश्रवा नाम हयोऽभूच्चन्द्रपाण्डुरः ।
तस्मिन्बलिः स्पृहां चक्रे नेन्द्र ईश्वरशिक्षया ॥ ३॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; उच्चैःश्रवाः नाम—उच्चैश्रवा नाम का; हयः—घोड़ा; अभूत्—उत्पन्न हुआ; चन्द्र-पाण्डुरः—चन्द्रमा की भाँति श्वेत; तस्मिन्—उसको; बलिः—बलि महाराज ने; स्पृहाम् चक्रे—पाने की इच्छा प्रकट की; न—नहीं; इन्द्रः—देवताओं का राजा; ईश्वर-शिक्षया—भगवान् की पहले की सलाह के कारण।

तत्पश्चात् चन्द्रमा के समान श्वेत रंग का उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा उत्पन्न हुआ। बलि महाराज ने इसे लेना चाहा। स्वर्ग के राजा इन्द्र ने इसका विरोध नहीं किया क्योंकि भगवान् ने पहले से ही उन्हें ऐसी सलाह दे रखी थी।

तत ऐरावतो नाम वारणेन्द्रो विनिर्गतः ।
दन्तैश्चतुर्भिः श्वेताद्रेर्हरन्भगवतो महिम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; ऐरावतः नाम—ऐरावत नामक; वारण-इन्द्रः—हाथियों का राजा; विनिर्गतः—निकला; दन्तैः—अपने दाँतों सहित; चतुर्भिः—चार; श्वेत—सफेद; अद्रेः—पर्वत के; हरन्—मात करते हुए; भगवतः—शिवजी का; महिम्—यश, महिमा।

मन्थन के फलस्वरूप अगली बार हाथियों का राजा ऐरावत उत्पन्न हुआ। यह हाथी श्वेत रंग का था और अपने चारों दाँतों के कारण यह शिवजी के यशस्वी धाम कैलाश पर्वत की महिमा को भी मात दे रहा था।

ऐरावणादयस्त्वष्टौ दिग्गजा अभवंस्ततः ।
अभ्रमुप्रभृतयोऽष्टौ च करिण्यस्त्वभवन्नृप ॥ ५॥

शब्दार्थ

ऐरावण-आदयः—ऐरावण इत्यादि; तु—लेकिन; अष्टौ—आठ; दिक्-गजाः—ऐसे हाथी जो किसी भी दिशा में जा सकते थे; अभवन्—उत्पन्न हुए; ततः—तत्पश्चात्; अभ्रमु-प्रभृतयः—अभ्रमु नामक हथिनी तथा अन्य; अष्टौ—आठ; च—भी; करिण्यः—हथिनियाँ; तु—निस्सन्देह; अभवन्—उत्पन्न हुईं; नृप—हे राजा।

हे राजा! इसके बाद आठ बड़े-बड़े हाथी उत्पन्न हुए जो किसी भी दिशा में जा सकते थे। उनमें ऐरावण प्रमुख था। अभ्रमु आदि आठ हथिनियाँ भी उत्पन्न हुईं।

तात्पर्य : आठों हाथियों के नाम थे—ऐरावण, पुण्डरीक, वामन, कुमुद, अञ्जन, पुष्पदन्त, सार्वभौम तथा सुप्रतीक।

कौस्तुभाख्यमभूद्रत्नं पद्मरागो महोदधेः
तस्मिन्मणौ स्पृहां चक्रे वक्षोऽलङ्करणे हरिः ।
ततोऽभवत्पारिजातः सुरलोकविभूषणम्
पूरयत्यर्थिनो योऽर्थैः शश्वद्भुवि यथा भवान् ॥ ६॥

शब्दार्थ

कौस्तुभ-आख्यम्—कौस्तुभ के रूप में विख्यात; अभूत्—उत्पन्न हुआ; रत्नम्—बहुमूल्य मणि; पद्मरागः—पद्मराग नामक रत्न; महा-उदधेः—महान् क्षीरसागर से; तस्मिन्—उस; मणौ—मणि में; स्पृहाम् चक्रे—पाने की अभिलाषा की; वक्षः-अलङ्करणे—अपने वक्षस्थल को अलंकृत करने के लिए; हरिः—भगवान् ने; ततः—तत्पश्चात्; अभवत्—उत्पन्न हुआ; पारिजातः—पारिजात नामक स्वर्गिक पुष्प; सुर-लोक-विभूषणम्—स्वर्गलोक को विभूषित करने वाला; पूरयति—पूरा करता है; अर्थिनः—धन की इच्छा रखने वाले; यः—जो; अर्थैः—अर्थ (इच्छित) के द्वारा; शश्वत्—सदैव; भुवि—इस लोक पर; यथा—जिस तरह; भवान्—आप (महाराज परीक्षित)।

तत्पश्चात् महान् समुद्र से विख्यात रत्न कौस्तुभ मणि तथा पद्मराग मणि उत्पन्न हुए। भगवान् विष्णु ने अपने वक्षस्थल को अलंकृत करने के लिए इसे पाने की इच्छा व्यक्त की। तब पारिजात

पुष्प उत्पन्न हुआ जो स्वर्ग लोकों को विभूषित करता है। हे राजा! जिस प्रकार तुम इस लोक के प्रत्येक व्यक्ति की इच्छाएँ पूरी करते हो उसी तरह पारिजात हरएक की इच्छाओं को पूरा करता है।

ततश्चाप्सरसो जाता निष्ककण्ठ्यः सुवाससः ।
रमण्यः स्वर्गिणां वल्गुगतिलीलावलोकनैः ॥ ७॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; च—भी; अप्सरसः—अप्सरालोक के वासी; जाताः—उत्पन्न हुए; निष्क-कण्ठ्यः—सुनहरे हारों से अलंकृत; सु-वाससः—सुन्दर वस्त्र पहने; रमण्यः—अत्यन्त सुन्दर तथा आकर्षक; स्वर्गिणाम्—स्वर्गलोक के निवासियों का; वल्गु-गति-लीला-अवलोकनैः—मन्द गति से चलती हुई सबके हृदयों को आकृष्ट करतीं।.

अप्सराएँ (जो स्वर्ग में वेश्याओं की तरह रहती हैं) प्रकट हुईं। वे सोने के आभूषणों तथा गले की मालाओं से पूरी तरह सजी हुई थीं और महीन तथा आकर्षक वस्त्र धारण किये थीं। अप्सराएँ अत्यन्त मन्दगति से आकर्षक शैली में चलती हैं जिससे स्वर्गलोक के निवासी मोहित हो जाते हैं।

ततश्चाविरभूत्साक्षाच्छ्री रमा भगवत्परा ।
रञ्जयन्ती दिशः कान्त्या विद्युत्सौदामनी यथा ॥ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; च—तथा; आविरभूत्—प्रकट हुई; साक्षात्—प्रत्यक्ष; श्री—धन की देवी; रमा—रमा नामक; भगवत्-परा—भगवान् के प्रति पूर्णतया अनुरक्त; रञ्जयन्ती—प्रकाशित करती; दिशः—सभी दिशाओं को; कान्त्या—कान्ति से; विद्युत्—बिजली; सौदामनी—सौदामनी; यथा—जिस तरह।.

तब धन की देवी रमा प्रकट हुईं जो भगवान् द्वारा भोग्या हैं और उन्हीं को समर्पित रहती हैं। वे बिजली की भाँति प्रकट हुईं और उनकी कांति संगमरमर के पर्वत को प्रकाशित करने वाली बिजली को मात कर रही थीं।

तात्पर्य : *श्री* का अर्थ है ऐश्वर्य। कृष्ण समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी हैं।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोक महेश्वरम्।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

यह विश्व-शान्ति का गुर *भगवद्‌गीता* (५.२९) में दिया हुआ है। जब लोग जान जाएँगे कि भगवान् कृष्ण ही परम भोक्ता हैं, परम स्वामी तथा समस्त जीवों के परम सुहृद हैं, तो सारे विश्व में

शान्ति तथा समृद्धि निश्चित रूप से छा जाएगी। दुर्भाग्यवश, बद्धजीव भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा भ्रम में पड़े रहने के कारण एक दूसरे से लड़ना-झगड़ना चाहते हैं जिससे शान्ति भंग होती है। शान्ति के लिए पहली शर्त है कि श्री या धन की देवी द्वारा प्रदत्त सारी सम्पत्ति भगवान् को अर्पित की जाये। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह संसारी सम्पत्ति के अपने झूठे स्वामित्व को त्याग दे और प्रत्येक वस्तु कृष्ण को अर्पित करे। कृष्णभावनामृत आन्दोलन की यही शिक्षा है।

तस्यां चक्रुः स्पृहां सर्वे ससुरासुरमानवाः ।
रूपौदार्यवयोवर्णमहिमाक्षिप्तचेतसः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उसके लिए; चक्रुः—की; स्पृहाम्—इच्छा; सर्वे—हर कोई; स-सुर-असुर-मानवाः—देवता, असुर तथा मनुष्य समेत; रूप-औदार्य—अपूर्व सौन्दर्य तथा शारीरिक स्वरूप के द्वारा; वयः—तारुण्य; वर्ण—रंग; महिमा—यश; आक्षिप्त—क्षुब्ध; चेतसः—मन वाले।

उनके अपने अपूर्व सौन्दर्य, शारीरिक स्वरूप (गठन), तारुण्य, रंग तथा यश के कारण हर व्यक्ति, यहाँ तक कि देवता, असुर तथा मनुष्य उनको पाने की कामना करने लगे। वे इसीलिए आकृष्ट थे क्योंकि रमादेवी समस्त ऐश्वर्यों की उद्गम हैं।

तात्पर्य : इस संसार में ऐसा कौन होगा जो धन, सौन्दर्य तथा इन ऐश्वर्यों से मिलने वाले सामाजिक सम्मान का भूखा न हो? लोग सामान्यतया भौतिक भोग, भौतिक ऐश्वर्य तथा उच्चकुलीन परिवार के सदस्यों की संगति चाहते हैं (*भोगैश्वर्य प्रसक्तानाम्*)। भौतिक भोग का अर्थ है धन, सौन्दर्य तथा इनसे मिलने वाला यश जो धन की देवी की कृपा से ही प्राप्त किये जा सकते हैं। किन्तु धन की देवी कभी अकेली नहीं रहती। जैसाकि पिछले श्लोक में *भगवत्-परा* शब्द से सूचित होता है, वे भगवान् की सम्पत्ति हैं और उन्हीं के द्वारा भोग्या हैं। यदि कोई धन की देवी, माता लक्ष्मी की कृपा का इच्छुक है, तो उसे चाहिए कि वह उन्हें नारायण के साथ रखे क्योंकि वे स्वभाव से *भगवत्-परा* हैं। जो भक्त सदैव नारायण की सेवा में लगे रहते हैं (*नारायणपरायण*) उन्हें निश्चय ही धन की देवी की कृपा प्राप्त हो सकती है, किन्तु जो भौतिकतावादी उन्हें निजी भोग के लिए प्राप्त करना चाहते हैं, वे निराश होते हैं। उनकी यह नीति ठीक नहीं है। उदाहरणार्थ, सुप्रसिद्ध असुर रावण रामचन्द्र को लक्ष्मी अर्थात् सीताजी से विहीन करके विजयी बनना चाहता था, किन्तु परिणाम उल्टा निकला। भगवान् रामचन्द्र ने निस्सन्देह, सीता को बलपूर्वक ले लिया और रावण अपने समूचे भौतिक साम्राज्य सहित विनष्ट हो

गया। धन की देवी सबके लिए, जिसमें मनुष्य भी सम्मिलित हैं, अमीष्ट हैं, किन्तु मनुष्य को यह समझना चाहिए कि धन की देवी केवल भगवान् की ही सम्पत्ति है। कोई भी व्यक्ति धन की देवी का तब तक कृपापात्र नहीं बन पाता जब तक वह उनकी तथा परम भोक्ता भगवान् दोनों की स्तुति नहीं करता।

तस्या आसनमानिन्ये महेन्द्रो महदद्भुतम् ।
मूर्तिमत्यः सरिच्छ्रेष्ठा हेमकुम्भैर्जलं शुचि ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तस्याः—उसके लिए; आसनम्—आसन; आनिन्ये—ले आया; महा-इन्द्रः—स्वर्ग का राजा इन्द्र; महत्—यशस्वी; अद्भुतम्—विचित्र; मूर्ति-मत्यः—रूपों को स्वीकार करते हुए; सरित्-श्रेष्ठाः—विविध पवित्र नदियों में श्रेष्ठ; हेम—सुनहरे; कुम्भैः—जलपात्रों द्वारा; जलम्—जल; शुचि—शुद्ध।

स्वर्ग का राजा इन्द्र लक्ष्मीजी के बैठने के लिए उपयुक्त आसन ले आया। पवित्र जल वाली सारी नदियाँ—यथा गंगा तथा यमुना-साकार हो उठीं और उनमें से हर एक माता लक्ष्मी के लिए सुनहरे जलपात्र में शुद्ध जल ले आईं।

आभिषेचनिका भूमिराहरत्सकलौषधीः ।
गावः पञ्च पवित्राणि वसन्तो मधुमाधवौ ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

आभिषेचनिकाः—अर्चाविग्रह की स्थापना के लिए आवश्यक साज-सामग्री; भूमिः—भूमि ने; आहरत्—एकत्र की; सकल—सभी तरह की; औषधीः—औषधियाँ तथा जड़ीबूटियाँ; गावः—गाएँ; पञ्च—गाय से प्राप्त होने वाले पाँच प्रकार के पदार्थ यथा दूध, मट्ठा, घी, गोबर तथा गोमूत्र; पवित्राणि—अकलुषित; वसन्तः—साक्षात् वसन्त ऋतु; मधु-माधवौ—वसन्त ऋतु अथवा चैत्र और वैशाख मास में उत्पन्न होने वाले फल तथा फूल।

भूमि ने साकार होकर अर्चाविग्रह की स्थापना के लिए जड़ीबूटियाँ एकत्र कीं। गायों ने पाँच प्रकार के उत्पाद दिए—दूध, मट्ठा, घी, गोमूत्र तथा गोबर और साक्षात् वसन्त ऋतु ने चैत्र-वैशाख (अप्रैल तथा मई) मास में उत्पन्न होने वाली हर वस्तु को एकत्र किया।

तात्पर्य : वैदिक निर्देशों के अनुसार सम्पन्न होने वाले समस्त अनुष्ठानों में *पञ्चगव्य* अर्थात् गाय से प्राप्त पाँच पदार्थों—दूध, मट्ठा, घी, गोबर तथा गोमूत्र—की आवश्यकता होती है। गोमूत्र तथा गोबर कल्मषहीन होते हैं और चूँकि ये दोनों भी महत्त्वपूर्ण हैं अतएव मानव सभ्यता के लिए इस पशु की उपयोगिता का अनुमान लगाया जा सकता है। इसीलिए भगवान् कृष्ण गोरक्ष्य अर्थात् गाय-संरक्षण के पक्षधर हैं। जो सभ्यलोग वर्णाश्रम पद्धति का अनुसरण करते हैं, विशेष रूप से कृषि तथा व्यापार में

लगा रहने वाला वैश्य वर्ग, उन्हें चाहिए कि गायों को संरक्षण प्रदान करें। दुर्भाग्यवश कलियुग में लोग *मन्दाः* तथा *सुमन्दमतयः* होते हैं अतएव वे हजारों गायों का वध करते हैं। अतएव वे आध्यात्मिक चेतना में हतभाग्य होते हैं और प्रकृति उन्हें नाना प्रकार से विशेषतया कैंसर जैसे असाध्य रोगों से तथा विभिन्न राष्ट्रों में बारम्बार होने वाले युद्धों से विचलित करती रहती है। जब तक मानव समाज कसाईघरों में गायों का लगातार वध होने देगा तब तक शान्ति तथा समृद्धि का प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

ऋषयः कल्पयां चक्रुराभिषेकं यथाविधि ।
जगुर्भद्राणि गन्धर्वा नट्यश्च ननृतुर्जगुः ॥ १२॥

शब्दार्थ

ऋषयः—ऋषिगण ने; कल्पयाम् चक्रुः—सम्पन्न किया; आभिषेकम्—अभिषेक समारोह, जिसे अर्चाविग्रह की स्थापना के समय किया जाता है; यथा-विधि—जैसाकि प्रामाणिक शास्त्रों में निर्देश हुआ है; जगुः—वैदिक मंत्रों का उच्चारण किया; भद्राणि—सारा सौभाग्य; गन्धर्वाः—तथा गन्धर्व लोक के निवासी; नट्यः—व्यावसायिक नर्तकियाँ; च—भी; ननृतुः—उस अवसर पर बहुत सुन्दर नृत्य किया; जगुः—वेदों द्वारा बताये प्रामाणिक गीतों को गाया।

ऋषियों ने प्रामाणिक शास्त्रों में निर्दिष्ट विधि से सौभाग्य की देवी (लक्ष्मी) का अभिषेक उत्सव सम्पन्न किया; गन्धर्वों ने सर्वमंगलकारी वैदिक मंत्रों का उच्चारण किया और व्यावसायिक नर्तकियों ने सुन्दर नृत्य किया तथा वेदों द्वारा बताये गये प्रामाणिक गीतों को गाया।

मेघा मृदङ्गपणवमुरजानकगोमुखान् ।
व्यनादयन्शङ्खवेणुवीणास्तुमुलनिःस्वनान् ॥ १३॥

शब्दार्थ

मेघाः—साक्षात् बादलों ने; मृदङ्ग—ढोल; पणव—नगाड़े; मुरज—एक अन्य प्रकार का ढोल; आनक—एक अन्य प्रकार का ढोल; गोमुखान्—एक प्रकार की तुरही; व्यनादयन्—बजाया, झंकृत किया; शङ्ख—शंख; वेणु—बाँसुरी; वीणाः—वीणाएँ; तुमुल—कानों को फाड़ने वाली; निःस्वनान्—ध्वनि।

साक्षात् बादलों ने तरह-तरह के ढोल—यथा मृदंग, पणव, मुरज तथा आनक—बजाये। उन्होंने शंख तथा गोमुख नामक तुरहियाँ भी बजाईं और बाँसुरी तथा वीणा का वादन किया। इन सब वाद्ययंत्रों की सम्मिलित ध्वनि अत्यन्त तुमुलपूर्ण थी।

ततोऽभिषिषिचुर्देवीं श्रियं पद्मकरां सतीम् ।
दिगिभाः पूर्णकलशैः सूक्तवाक्यैर्द्विजेरितैः ॥ १४॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; अभिषिषिचुः—शरीर पर पवित्र जल डाला; देवीम्—लक्ष्मी देवी को; श्रियम्—अत्यन्त सुन्दर; पद्म-कराम्—हाथ में कमल का फूल लिए; सतीम्—भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी को न जानने वाली परम साध्वी सती को; दिग्गिभाः—बड़े-बड़े हाथी दिग्गज; पूर्ण-कलशैः—जल से पूर्ण पात्रों द्वारा; सूक्त-वाक्यैः—वैदिक मंत्रों से; द्वि-ज—ब्राह्मणों से; ईरितैः—उच्चारित।

तत्पश्चात् सभी दिशाओं के दिग्गज गंगाजल से भरे कलश ले आये और भाग्य की देवी को विद्वान ब्राह्मणों द्वारा उच्चारित वैदिक मंत्रों के साथ स्नान कराया। स्नान कराये जाते समय लक्ष्मीजी अपनी मौलिक शैली को बनाए रख कर अपने हाथ में कमल धारण किये रहीं और अत्यन्त सुन्दर लग रही थीं। वे परम सती साध्वी हैं क्योंकि वे भगवान् के अतिरिक्त किसी को नहीं जानतीं।

तात्पर्य : इस श्लोक में लक्ष्मीजी को *श्रियम्* कहा गया है, जिसका अर्थ है कि वे षड्ऐश्वर्यों—धन, बल, प्रभाव, सौन्दर्य, ज्ञान तथा त्याग—से युक्त हैं। ये सारे ऐश्वर्य लक्ष्मीजी से प्राप्त किये जाते हैं। लक्ष्मी को यहाँ पर देवी कहा गया है क्योंकि वे वैकुण्ठ लोक में भगवान् तथा उनके भक्तों को सारे ऐश्वर्य प्रदान करती हैं जिससे वे लोग वहाँ का प्राकृतिक जीवन बिताते हैं। भगवान् अपनी प्रिया लक्ष्मी जी से प्रसन्न रहते हैं, जो हाथ में कमल धारण किये रहती हैं। इस श्लोक में माता लक्ष्मी को परम साध्वी सती कहा गया है क्योंकि वे भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी की ओर ध्यान नहीं देतीं।

समुद्रः पीतकौशेयवाससी समुपाहरत् ।
वरुणः स्रजं वैजयन्तीं मधुना मत्तषट्पदाम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

समुद्रः—समुद्र ने; पीत-कौशेय—पीला रेशम; वाससी—पोशाक के ऊपर तथा नीचे के भाग; समुपाहरत्—भेंट किया; वरुणः—जल के अधिष्ठाता देवता ने; स्रजम्—माला; वैजयन्तीम्—अत्यन्त अलंकृत तथा बड़ी; मधुना—शहद से; मत्त—मतवाले; षट्-पदाम्—छः पैरों वाले भौंरों को।

समस्त बहुमूल्य रत्नों के स्रोत समुद्र ने उन्हें पीले रेशमी वस्त्र के ऊपर तथा नीचे के भाग प्रदान किये। जल के प्रधान देवता वरुण ने फूलों की मालाएँ प्रदान कीं जिनके चारों ओर मधु पीकर मस्त हुए भौंरे मँडरा रहे थे।

तात्पर्य : *अभिषेक* उत्सव में अर्चाविग्रह को दूध, शहद, दही, घी, गोबर तथा गोमूत्र आदिद्र से नहलाते समय पीले वस्त्र अर्पित किये जाने का रिवाज हैं। इस तरह लक्ष्मीजी का अभिषेक नियमपूर्वक वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार सम्पन्न हुआ।

भूषणानि विचित्राणि विश्वकर्मा प्रजापतिः ।
हारं सरस्वती पद्ममजो नागाश्च कुण्डले ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

भूषणानि—तरह-तरह के गहने; विचित्राणि—सुन्दर ढंग से सजाये हुए; विश्वकर्मा प्रजापतिः—ब्रह्माजी के पुत्रों प्रजापतियों में से एक जिसका नाम विश्वकर्मा था; हारम्—हार; सरस्वती—विद्या की देवी ने; पद्मम्—कमल का फूल; अजः—ब्रह्मा ने; नागाः च—तथा नागलोक के वासियों ने; कुण्डले—कान के दो कुण्डल।

प्रजापति विश्वकर्मा ने तरह-तरह के अलंकृत आभूषण दिये। विद्या की देवी सरस्वती ने गले का हार, ब्रह्माजी ने कमल का फूल तथा नागलोक के वासियों ने कान के कुण्डल प्रदान किये।

ततः कृतस्वस्त्ययनोत्पलस्रजं
नदद्द्विरेफां परिगृह्य पाणिना ।
चचाल वक्त्रं सुकपोलकुण्डलं
सव्रीडहासं दधती सुशोभनम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; कृत-स्वस्त्ययना—शुभ अनुष्ठानों द्वारा नियमित रूप से पूजी जाकर; उत्पल-स्रजम्—कमलों की माला; नदत्—गुंजार करते; द्विरेफाम्—भौंरों से घिरी; परिगृह्य—पकड़ कर; पाणिना—हाथ से; चचाल—आगे बढ़ी; वक्त्रम्—चेहरा; सु-कपोल-कुण्डलम्—कान के कुण्डलों से अलंकृत गाल; स-व्रीड-हासम्—लज्जा से मुस्काती; दधती—विस्तीर्ण करती; सु-शोभनम्—अपनी प्राकृतिक सुन्दरता को।

तत्पश्चात् शुभ अनुष्ठान द्वारा पूजित माता लक्ष्मी कमलपुष्पों की माला हाथ में लेकर इधर-उधर विचरण करने लगीं जिसके चारों ओर भौंरे मँडरा रहे थे। लज्जा से मुस्काती हुई, कुण्डलों से गाल अलंकृत होने के कारण वे अत्यन्त सुन्दर लग रही थीं।

तात्पर्य : लक्ष्मीजी ने क्षीरसागर को अपने पिता के रूप में स्वीकार किया, किन्तु वे नारायण के वक्षस्थल पर निरन्तर वास करती हैं। वे ब्रह्माजी तक को तथा इस भौतिक जगत के सारे प्राणियों को वरदान देती हैं फिर भी वे समस्त भौतिक गुणों से परे रहती हैं। यद्यपि वे क्षीरसागर से उत्पन्न हुई प्रतीत होती थी, किन्तु वे तुरन्त ही नारायण के वक्षस्थल पर अपने नित्य स्थान को लौट ठाईं।

स्तनद्वयं चातिकृशोदरी समं
निरन्तरं चन्दनकुङ्कुमोक्षितम् ।
ततस्ततो नूपुरवल्गु शिञ्जितै-
र्विसर्पती हेमलतेव सा बभौ ॥ १ ॥

शब्दार्थ

स्तन-द्वयम्—उनके दो स्तन; च—भी; अति-कृश-उदरी—शरीर का मध्य भाग अत्यन्त पतला है, जिसका; समम्—समान रूप से; निरन्तरम्—लगातार; चन्दन-कुङ्कुम—चन्दन तथा लाल रंग के कुंकुम चूर्ण से; उक्षितम्—लेप किया; ततः ततः—यत्र तत्र; नूपुर—पायल का; वल्गु—अत्यन्त सुन्दर; शिञ्जितैः—मन्द झंकार करती; विसर्पती—चलती हुई; हेम-लता—सुनहरी लता; इव—सदृश; सा—वह देवी; बभौ—प्रकट हुई।

उनके संतुलित तथा सुस्थित दोनों स्तन चन्दन तथा कुंकुम चूर्ण से लेपित थे और उनकी कमर अत्यन्त पतली थी। जब वे इधर-उधर चलतीं तो उनके पायल मन्द झंकार करते थे और वे कोई सोने की लता के समान लगती थी।

विलोकयन्ती निरवद्यमात्मनः
पदं ध्रुवं चाव्यभिचारिसद्गुणम् ।
गन्धर्वसिद्धासुरयक्षचारण-
त्रैपिष्टपेयादिषु नान्वविन्दत ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

विलोकयन्ती—निरीक्षण करती, देखती; निरवद्यम्—किसी दोष से रहित; आत्मनः—अपने आपको; पदम्—पद; ध्रुवम्—नित्य; च—भी; अव्यभिचारि-सत्-गुणम्—गुणों में बिना किसी परिवर्तन के; गन्धर्व—गन्धर्वलोक के वासियों; सिद्ध—सिद्धलोक के वासियों; असुर—दानवों; यक्ष—यक्षों; चारण—चारण लोक के वासियों; त्रैपिष्टपेय-आदिषु—तथा देवताओं में; न—नहीं; अन्वविन्दत—किसी को स्वीकार कर सकी।

गन्धर्वों, यक्षों, असुरों, सिद्धों, चारणों तथा स्वर्गलोक के वासियों के बीच विचरण करती हुई भाग्य की देवी लक्ष्मीदेवी उन सबका निरीक्षण कर रही थीं, किन्तु उनमें से कोई भी उन्हें समस्त स्वाभाविक उत्तम गुणों से युक्त नहीं मिला। उनमें से कोई भी दोषों से रहित न था अतएव वे किसी की भी शरण ग्रहण नहीं कर सकीं।

तात्पर्य : क्षीरसागर से उत्पन्न होने के कारण लक्ष्मीदेवी सागर की पुत्री थीं; अतएव उन्हें स्वयंवर समारोह में अपना वर स्वयं चुनने की छूट थी। उन्होंने हर प्रत्याशी का निरीक्षण किया, किन्तु किसी को इस योग्य नहीं पाया कि उसकी शरण ग्रहण की जा सके। दूसरे शब्दों में, इस भौतिक संसार में लक्ष्मी के सहज पति नारायण की समता कोई भी नहीं कर सकता।

नूनं तपो यस्य न मन्युनिर्जयो
ज्ञानं क्वचित्तच्च न सङ्गवर्जितम् ।
कश्चिन्महांस्तस्य न कामनिर्जयः
स ईश्वरः किं परतो व्यपाश्रयः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निश्चय ही; तपः—तपस्या; यस्य—जिस किसी की; न—नहीं; मन्यु—क्रोध; निर्जयः—जीता हुआ; ज्ञानम्—ज्ञान; क्वचित्—किसी साधु पुरुष में; तत्—वह; च—भी; न—नहीं; सङ्ग-वर्जितम्—संगति के कलुष से रहित; कश्चित्—कोई; महान्—अत्यन्त प्रतिष्ठित व्यक्ति; तस्य—उसका; न—नहीं; काम—भौतिक इच्छाएँ; निर्जयः—विजित; सः—ऐसा व्यक्ति; ईश्वरः—नियन्ता; किम्—वह कैसे हो सकता है; परतः—अन्यों का; व्यपाश्रयः—अधीन।

सभा का निरीक्षण करते हुए लक्ष्मीजी ने इस प्रकार सोचा: जिसने महान् तपस्या की है उसने अभी तक क्रोध पर विजय नहीं पाई। किसी के पास ज्ञान है, तो वह भौतिक इच्छाएँ नहीं जीत पाया। कोई महान् पुरुष है, तो उसने कामेच्छाएँ नहीं जीतीं। यहाँ तक कि महापुरुष भी किसी अन्य बात पर आश्रित रहता है। फिर वह परम नियन्ता (ईश्वर) कैसे हो सकता है?

तात्पर्य : यहाँ पर परम नियन्ता अर्थात् ईश्वर के अनुसन्धान का प्रयास हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वर या नियन्ता माना जा सकता है, किन्तु फिर भी ऐसे नियन्ता अन्यों द्वारा नियंत्रित होते हैं। उदाहरणार्थ, भले ही किसी ने कठोर तपस्या क्यों न की हो फिर भी वह क्रोध के वशीभूत रहता है। विश्लेषण करने पर हमें पता चलता है कि प्रत्येक व्यक्ति किसी अन्य वस्तु से नियंत्रित होता है। अतएव भगवान् कृष्ण के अतिरिक्त कोई भी अन्य व्यक्ति असली नियन्ता नहीं हो सकता। इसकी पुष्टि शास्त्रों द्वारा होती है। *ईश्वरः परमः कृष्णः*—कृष्ण परम नियन्ता हैं। वे कभी किसी के द्वारा नियंत्रित नहीं होते क्योंकि वे सबके नियन्ता हैं (*सर्वकारणकारणम्*)।

धर्मः क्वचित्तत्र न भूतसौहृदं
त्यागः क्वचित्तत्र न मुक्तिकारणम् ।
वीर्यं न पुंसोऽस्त्यजवेगनिष्कृतं
न हि द्वितीयो गुणसङ्गवर्जितः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

धर्मः—धर्म; क्वचित्—भले ही पूरा ज्ञान क्यों न हो; तत्र—वहाँ; न—नहीं; भूत-सौहृदम्—अन्य जीवों के साथ मित्रता; त्यागः—त्याग; क्वचित्—किसी के पास भले ही हो; तत्र—वहाँ; न—नहीं; मुक्ति-कारणम्—मुक्ति का कारण; वीर्यम्—बल; न—नहीं; पुंसः—किसी पुरुष का; अस्ति—हो सकता है; अज-वेग-निष्कृतम्—काल की शक्ति से छुटकारा नहीं है; न—न तो; हि—निस्सन्देह; द्वितीयः—दूसरा; गुण-सङ्ग-वर्जितः—प्रकृति के गुणों के कल्मष से पूरी तरह मुक्त।

भले ही किसी के पास धर्म का पूरा ज्ञान क्यों न हो फिर भी वह समस्त जीवों पर दयालु नहीं हो सकता। किसी में, चाहे वह देवता हो या मनुष्य, त्याग हो सकता है, किन्तु वह मुक्ति का कारण नहीं होता। भले ही किसी में महान् बल क्यों न हो फिर भी वह नित्य काल की शक्ति को रोकने में अक्षम रहता है। भले ही कोई भौतिक जगत की आसक्ति से विरक्त हो चुका हो फिर भी वह भगवान् की बराबरी नहीं कर सकता। अतएव कोई भी व्यक्ति प्रकृति के भौतिक गुणों

के प्रभाव से पूरी तरह मुक्त नहीं है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *धर्मः क्वचित् तत्र न भूत सौहृदम्* कथन अत्यन्त सारगर्भित है। हम वास्तव में देखते हैं कि ऐसे कितने ही हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध तथा अन्य सम्प्रदाय वाले धार्मिक लोग हैं, जो अपने-अपने धर्मों का दृढ़ता से पालन करते हैं, किन्तु वे सभी जीवो पर समभाव नहीं रखते। निस्सन्देह, वे अपने को धार्मिक तो कहते हैं, किन्तु बेचारे पशुओं का वध करते रहते हैं। ऐसा धर्म निरर्थक होता है। *श्रीमद्भागवत* का (१.२.) कथन है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।

नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम हि केवलम्॥

कोई अपने सम्प्रदाय के धार्मिक सिद्धान्तों को पालने में कितना ही पटु क्यों न हो, किन्तु यदि उसमें भगवान् से प्रेम करने की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती तो उसके द्वारा धार्मिक सिद्धान्तों का पालन समय का अपव्यय मात्र है। मनुष्य को वासुदेव से प्रेम करने की भावना विकसित करनी चाहिए (*वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः*)। भक्त का लक्षण यही है कि वह हर एक का मित्र होता है (*सुहृदं सर्वभूतानाम्*)। भक्त धर्म के नाम पर बेचारे पशुओं का वध नहीं होने देगा। बनावटी धार्मिक पुरुष तथा भगवद्भक्त के बीच यही अन्तर होता है।

हम देखते हैं कि इतिहास में अनेक वीर पुरुष उत्पन्न हुए हैं, किन्तु वे भी क्रूर काल के हाथों से बच नहीं पाये। यहाँ तक कि सबसे बड़ा वीर पुरुष भी, जब कृष्ण काल-रूप में आते हैं, भगवान् की शासनशक्ति से बच नहीं सकता। इसका वर्णन स्वयं कृष्ण ने किया है—*मृत्युः सर्वहरश्चाहम्*—भगवान् मृत्यु रूप में प्रकट होकर वीर पुरुष की तथाकथित शक्ति को छीन लेते हैं। यहाँ तक कि हिरण्यकशिपु भी अपने को नहीं बचा पाया जब उसके समक्ष नृसिंहदेव कालरूप में प्रकट हुए। किसी की भौतिक शक्ति या पराक्रम भगवान् की शक्ति के सामने शून्य है।

क्वचिच्चिरायुर्न हि शीलमङ्गलं
क्वचित्तदप्यस्ति न वेद्यमायुषः ।
यत्रोभयं कुत्र च सोऽप्यमङ्गलः
सुमङ्गलः कश्च न काङ्क्षते हि माम् ॥ २२॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कोई; चिर-आयुः—दीर्घआयु वाला; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; शील-मङ्गलम्—अच्छा आचरण या कल्याण; क्वचित्—कोई; तत् अपि—अच्छा आचरण होते भी; अस्ति—है; न—नहीं; वेद्यम् आयुषः—उम्र की अवधि से परिचित; यत्र उभयम्—यदि दोनों हुए (आचरण तथा मंगल); कुत्र—कहाँ; च—भी; सः—वह व्यक्ति; अपि—यद्यपि; अमङ्गलः—किसी और बात में अशुभ; सु-मङ्गलः—प्रत्येक प्रकार से शुभ; कश्च—कोई; न—नहीं; काङ्क्षते—इच्छा करता है; हि—निस्सन्देह; माम्—मुझको।

हो सकता है कि कोई दीर्घायु हो, किन्तु वह अच्छे आचरण वाला या मंगलमय न हो। किसी में मंगलमय तथा अच्छा आचरण दोनों ही पाये जा सकते हैं, किन्तु उसकी आयु की अवधि निश्चित नहीं होती। यद्यपि शिवजी जैसे देवताओं का जीवन शाश्वत होता है, किन्तु उनकी आदतें अमंगल सूचक होती हैं—यथा श्मशान में वास। अन्य लोग सभी प्रकार से योग्य होते हुए भी भगवान् के भक्त नहीं होते।

एवं विमृश्याव्यभिचारिसद्गुणै-
र्वरं निजैकाश्रयतयागुणाश्रयम् ।
वव्रे वरं सर्वगुणैरपेक्षितं
रमा मुकुन्दं निरपेक्षमीप्सितम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; विमृश्य—विचार-विमर्श के बाद; अव्यभिचारि-सत्-गुणैः—अद्वितीय दिव्य गुणों से; वरम्—श्रेष्ठ; निज-एक-आश्रयतया—अन्यों पर आश्रित न रहकर समस्त गुणों से युक्त होने के कारण; अगुण-आश्रयम्—समस्त दिव्य गुणों का आगार; वव्रे—स्वीकार किया; वरम्—दूल्हे के रूप में; सर्व-गुणैः—समस्त दिव्य गुणों के साथ; अपेक्षितम्—योग्य; रमा—भाग्य की देवी ने; मुकुन्दम्—मुकुन्द को; निरपेक्षम्—यद्यपि उन्होंने उसकी प्रतीक्षा नहीं की; ईप्सितम्—सर्वाधिक वांछनीय।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : इस प्रकार पूरी तरह विचार-विमर्श करने के बाद भाग्य की देवी (लक्ष्मी) ने मुकुन्द को पति रूप में वरण कर लिया क्योंकि यद्यपि वे स्वतंत्र हैं और उन्हें उनकी कमी भी नहीं खलती थी वे समस्त दिव्य गुणों और योग शक्तियों से युक्त हैं, अतएव सर्वाधिक वांछनीय हैं।

तात्पर्य : भगवान् मुकुन्द आत्मनिर्भर हैं। चूँकि वे पूर्णतया स्वतंत्र हैं अतएव उन्हें न ही उनके लक्ष्मीदेवी के आश्रय की आवश्यकता थी न ही उनके सान्निध्य की। फिर भी लक्ष्मीदेवी ने उन्हें पति रूप में स्वीकार किया।

तस्यांसदेश उशतीं नवकञ्जमालां
माद्यन्मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टाम् ।
तस्थौ निधाय निकटे तदुरः स्वधाम

सव्रीडहासविकसन्नयनेन याता ॥ २४॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके (भगवान् के); अंस-देशे—कंधों पर; उशतीम्—अत्यन्त सुन्दर; नव—नई; कञ्ज-मालाम्—कमल के फूलों की माला को; माद्यत्—मदान्ध; मधुव्रत-वरूथ—भौंरों की; गिरा—ध्वनि से; उपघुष्टाम्—गुंजार से घिरा; तस्थौ—कर रहा; निधाय—माला रखकर; निकटे—पास ही; तत्-उर:—भगवान् का वक्षस्थल; स्व-धाम—अपना असली निवास; स-व्रीड-हास—लज्जा से हँसते हुए; विकसत्—चमकते; नयनेन—आँखों से; याता—इस प्रकार स्थित।

भगवान् के पास जाकर लक्ष्मीजी ने नवीन कमल पुष्पों की माला उनके गले में पहना दी जिसके चारों ओर मधु की खोज में भौंरें गुंजार कर रहे थे। तब भगवान् के वक्षस्थल पर स्थान पाने की आशा से वे उनकी बगल में खड़ी रहीं और उनका मुख लज्जा से मुस्का रहा था।

तस्या: श्रियस्त्रिजगतो जनको जनन्या
वक्षो निवासमकरोत्परमं विभूते: ।
श्री: स्वा: प्रजा: सकरुणेन निरीक्षणेन
यत्र स्थितैधयत साधिपतींस्त्रिलोकान् ॥ २५॥

शब्दार्थ

तस्या:—उसका; श्रिय:—लक्ष्मी; त्रि-जगत:—तीनों लोक के; जनक:—पिता; जनन्या:—माता का; वक्ष:—वक्षस्थल; निवासम्—निवास; अकरोत्—बनाया; परमम्—परम; विभूते:—ऐश्वर्यवान का; श्री:—लक्ष्मी; स्वा:—अपने; प्रजा:—वंशज; स-करुणेन—करुणा से युक्त; निरीक्षणेन—दृष्टि फेरते हुए; यत्र—जहाँ; स्थिता—रहते हुए; ऐधयत—वृद्धि की; स-अधिपतीन्—महान् निदेशकों तथा नेताओं सहित; त्रि-लोकान्—तीनों लोकों को।

भगवान् तीनों लोकों के पिता हैं और उनका वक्षस्थल समस्त ऐश्वर्यों की स्वामिनी भाग्य की देवी माता लक्ष्मी का निवास है। लक्ष्मीजी अपनी अनुकूल तथा कृपापूर्ण चितवन से तीनों लोकों तथा उनके निवासियों और अधिपतियों—देवताओं—के ऐश्वर्य को बढ़ा सकती हैं।

तात्पर्य : लक्ष्मीजी की इच्छानुसार भगवान् ने अपने वक्ष:स्थल को उनका वासस्थान बना दिया जिससे वे अपनी चितवन से हर एक को—देवताओं तथा सामान्य मनुष्यों को—भी उपकृत कर सकें। दूसरे शब्दों में, चूँकि लक्ष्मीजी नारायण के वक्षस्थल पर निवास करती हैं अतएव जो भी भक्त नारायण की पूजा करता है उसे वे देखती रहती हैं। जब वे यह जान लेती हैं कि कोई भक्त नारायण की भक्ति करने के पक्ष में है, तो वे उसे सारे ऐश्वर्य का सहज वरदान देने को उद्यत हो जाती हैं। *कर्मीजन* लक्ष्मी की कृपा तथा पक्षी पाने का प्रयास करते हैं, किन्तु नारायण के भक्त न होने से उनका ऐश्वर्य डगमगा जाता है। नारायण की सेवा में लिप्त रहने वाले भक्तों का ऐश्वर्य *कर्मियों* जैसा नहीं होता। भक्तों का ऐश्वर्य उतना ही स्थायी होता है जितना की स्वयं नारायण का है।

शङ्खतूर्यमृदङ्गानां वादित्राणां पृथुः स्वनः ।
देवानुगानां सस्त्रीणां नृत्यतां गायतामभूत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

शङ्ख—शंख; तूर्य—तुरही; मृदङ्गानाम्—तथा विभिन्न प्रकार के ढोलों का; वादित्राणाम्—वाद्य-यंत्रों की; पृथुः—अत्यधिक; स्वनः—ध्वनि; देव-अनुगानाम्—उच्चलोकों (गंधर्व तथा चारण लोक) के निवासी जो देवताओं के अनुयायी होते हैं; स-स्त्रीणाम्—अपनी-अपनी पत्नियों के साथ; नृत्यताम्—नाचने में व्यस्त; गायताम्—गाते हुए; अभूत्—हो गये।

तब गन्धर्व तथा चारण लोकों के निवासियों ने अपने-अपने वाद्य यंत्र—यथा शंख, तुरही तथा ढोल—बजाये। वे अपनी-अपनी पत्नियों के साथ नाचने गाने लगे।

ब्रह्मरुद्राङ्गिरोमुख्याः सर्वे विश्वसृजो विभुम् ।
ईडिरेऽवितथैर्मन्त्रैस्तल्लिङ्गैः पुष्पवर्षिणः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म—ब्रह्माजी; रुद्र—शिवजी; अङ्गिरः—अंगिरा मुनि; मुख्याः—आदि; सर्वे—सभी ने; विश्व-सृजः—विश्व की व्यवस्था के निदेशक; विभुम्—महान् पुरुष को; ईडिरे—पूजा की; अवितथैः—असली; मन्त्रैः—उच्चारण द्वारा; तत्-लिङ्गैः—उन भगवान् को पूजकर; पुष्प-वर्षिणः—पुष्पों की वर्षा करके।

ब्रह्मा जी, शिव जी, अंगिरा मुनि तथा विश्व व्यवस्था के ऐसे ही निदेशकों ने फूल बरसाये और भगवान् की दिव्य महिमा के सूचक मंत्रों का उच्चारण किया।

श्रियावलोकिता देवाः सप्रजापतयः प्रजाः ।
शीलादिगुणसम्पन्ना लेभिरे निर्वृतिं पराम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्रिया—लक्ष्मी द्वारा; अवलोकिताः—कृपापूर्वक देखे जाने पर; देवाः—सारे देवता; स-प्रजापतयः—प्रजापतियों सहित; प्रजाः—तथा उनकी सन्तानें; शील-आदि-गुण-सम्पन्नाः—सबके सब अच्छे आचरण तथा अच्छे लक्षणों से सम्पन्न; लेभिरे—प्राप्त किया; निर्वृतिम्—संतोष; पराम्—चरम।

सभी प्रजापतियों तथा उनकी प्रजा सहित सारे देवता लक्ष्मीजी की चितवन से धन्य होकर तुरन्त ही अच्छे आचरण तथा दिव्य गुणों से सम्पन्न हो गये। इस तरह वे अत्यधिक सन्तुष्ट हो गये।

निःसत्त्वा लोलुपा राजन्निरुद्योगा गतत्रपाः ।
यदा चोपेक्षिता लक्ष्म्या बभूवुर्दैत्यदानवाः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

निःसत्त्वाः—बलहीन; लोलुपाः—अत्यन्त लालची; राजन्—हे राजा; निरुद्योगाः—हताश; गत-त्रपाः—लज्जाहीन; यदा—जब; च—भी; उपेक्षिताः—उपेक्षित; लक्ष्म्या—लक्ष्मीजी द्वारा; बभूवुः—हो गये; दैत्य-दानवाः—असुर तथा राक्षसगण।

हे राजा! लक्ष्मी द्वारा उपेक्षित हो जाने पर असुर तथा राक्षस अत्यन्त निराश, मोहग्रस्त तथा

हतप्रभ हो गये और इस तरह वे निर्लज्ज बन गये।

अथासीद्वारुणी देवी कन्या कमललोचना ।
असुरा जगृहुस्तां वै हरेरनुमतेन ते ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात् (लक्ष्मीजी के प्रकट होने के बाद); आसीत्—था; वारुणी—वारुणी; देवी—देवपत्नी जो मद्यपों को वश में रखती है; कन्या—तरुणी; कमल-लोचना—कमल जैसे नेत्र वाली; असुराः—असुरों ने; जगृहुः—स्वीकार कर लिया; ताम्—उसको; वै—निस्सन्देह; हरेः—भगवान् के; अनुमतेन—आदेश से; ते—वे (राक्षस)।

तब कमलनयनी देवी वारुणी प्रकट हुई जो मद्यपों को वश में रखती है। भगवान् कृष्ण की अनुमति से बलि महाराज इत्यादि असुरों ने उस तरुणी को अपने अधिकार में ले लिया।

अथोदधेर्मथ्यमानात्काश्यपैरमृतार्थिभिः ।
उदतिष्ठन्महाराज पुरुषः परमाद्भुतः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; उदधेः—क्षीरसागर से; मथ्यमानात्—मथने से; काश्यपैः—कश्यप के पुत्रों अर्थात् देवताओं तथा असुरों द्वारा; अमृत-अर्थिभिः—मन्थन से अमृत पाने के लिए उत्सुक; उदतिष्ठत्—वहाँ प्रकट हुआ; महाराज—हे राजा; पुरुषः—एक पुरुष; परम—अत्यन्त; अद्भुतः—अद्भुत।

हे राजा! तत्पश्चात् जब कश्यप के पुत्र—असुर तथा देवता—दोनों ही क्षीरसागर के मन्थन में लगे हुए थे तो एक अत्यन्त अद्भुत पुरुष प्रकट हुआ।

दीर्घपीवरदोर्दण्डः कम्बुग्रीवोऽरुणेक्षणः ।
श्यामलस्तरुणः स्रग्वी सर्वाभरणभूषितः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

दीर्घ—लम्बा; पीवर—बलिष्ठ; दोः-दण्डः—भुजाएँ; कम्बु—शंख के समान; ग्रीवः—गर्दन; अरुण-ईक्षणः—लाल-लाल आँखें; श्यामलः—काले रंग का; तरुणः—नौजवान; स्रग्वी—फूलों की माला पहने; सर्व—समस्त; आभरण—गहनों से; भूषितः—अलंकृत।

उसका शरीर सुदृढ़ था; उसकी भुजाएँ लम्बी तथा बलिष्ठ थीं; उसकी शंख जैसी गर्दन में तीन रेखाएँ थीं; उसकी आँखें लाल-लाल थीं और उसका रंग साँवला था। वह अत्यन्त तरुण था, उसके गले में फूलों की माला थी तथा उसका सारा शरीर नाना प्रकार के आभूषणों से सुसज्जित था।

पीतवासा महोरस्कः सुमृष्टमणिकुण्डलः ।

स्निग्धकुञ्चितकेशान्तसुभगः सिंहविक्रमः ।
अमृतापूर्णकलसं बिभ्रद्वलयभूषितः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

पीत-वासाः—पीले वस्त्र पहने; महा-उरस्कः—चौ वक्षस्थल वाला; सु-मृष्ट-मणि-कुण्डलः—मोतियों के बने पालिश किए हुए कुण्डल पहने; स्निग्ध—चिकना; कुञ्चित-केश—घुंघराले बाल; अन्त—सिरे पर; सु-भगः—पृथक् तथा सुन्दर; सिंह-विक्रमः—सिंह की भाँति बलवान्; अमृत—अमृत से; आपूर्ण—लबालब; कलसम्—कलश; बिभ्रत्—चलायमान; वलय—बाजूबंद; भूषितः—सुशोभित।

वह पीले वस्त्र पहने था और उसके कानों में मोतियों के बने पालिश किए हुए कुण्डल थे। उसके बालों के सिरे तेल से चुपड़े थे और उसका वक्षस्थल अत्यन्त चौड़ा था। उसका शरीर अत्यन्त सुगठित तथा सिंह के समान बलवान् था। उसने बाजूबंद पहन रखे थे। उसके हाथ में अमृत से पूर्ण कलश था।

स वै भगवतः साक्षाद्विष्णोरंशांशसम्भवः ।
धन्वन्तरिरिति ख्यात आयुर्वेददृगिज्यभाक् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निस्सन्देह; भगवतः—भगवान् का; साक्षात्—प्रत्यक्ष; विष्णोः—भगवान् विष्णु का; अंश-अंश-सम्भवः—स्वांश के स्वांश का अवतार; धन्वन्तरिः—धन्वन्तरि; इति—इस प्रकार; ख्यातः—प्रसिद्ध; आयुः-वेद-दृक्—औषधि विज्ञान में पटु; इज्य-भाक्—यज्ञ में भाग पाने का अधिकारी देवता।

यह व्यक्ति धन्वन्तरि था, जो भगवान् विष्णु के स्वांश का स्वांश था। वह औषधि विज्ञान (आयुर्वेद) में अत्यन्त पटु था और देवता के रूप में यज्ञों में भाग पाने का अधिकारी था।

तात्पर्य : *श्रील मध्वाचार्य* की टीका है—

तेषां सत्याच्चालनार्थं हरिर्धन्वन्तरिर्विभुः।

समर्थोऽप्यसुराणां तु स्वहस्तादमुचत्सुधाम्॥

हाथ में अमृत का घट लिए धन्वन्तरि भगवान् का स्वांश अवतार था। यद्यपि वह अत्यन्त बलशाली था, किन्तु असुरगण उसके हाथ से अमृत घट छीन लेने में सफल हुए।

तमालोक्यासुराः सर्वे कलसं चामृताभृतम् ।
लिप्सन्तः सर्ववस्तूनि कलसं तरसाहरन् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; आलोक्य—देखकर; असुराः—असुरों ने; सर्वे—सभी; कलसम्—अमृत पात्र को; च—भी; अमृत-आभृतम्—अमृत से पूर्ण; लिप्सन्तः—प्रबल इच्छा करते; सर्व-वस्तूनि—सारी वस्तुएँ; कलसम्—पात्र; तरसा—तुरन्त; अहरन्—छीन लिया।

धन्वन्तरि को अमृत पात्र लिये हुए देखकर असुरों ने पात्र तथा उसके भीतर जो कुछ था उसे चाहने के कारण तुरन्त ही उसे बलपूर्वक छीन लिया।

नीयमानेऽसुरैस्तस्मिन्कलसेऽमृतभाजने ।
विषण्णमनसो देवा हरिं शरणमाययु: ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

नीयमाने—ले जाया जाकर; असुरैः—असुरों द्वारा; तस्मिन्—उस; कलसे—पात्र में; अमृत-भाजने—अमृत से भरे; विषण्ण-मनसः—खिन्न मन से; देवाः—सारे देवता; हरिम्—भगवान् की; शरणम्—शरण में; आययुः—गये।

जब अमृत का पात्र असुरों द्वारा छीन लिया गया तो देवतागण अत्यन्त खिन्न हो गए। उन्होंने जाकर भगवान् हरि के चरणकमलों की शरण ली।

इति तद्दैन्यमालोक्य भगवान्भृत्यकामकृत् ।
मा खिद्यत मिथोऽर्थं व: साधयिष्ये स्वमायया ॥ ३७॥

शब्दार्थ

इति—इस तरह; तत्—देवताओं की; दैन्यम्—खिन्नता, विषाद; आलोक्य—देखकर; भगवान्—भगवान्; भृत्य-काम-कृत्—जो अपने सेवकों की इच्छाओं की पूर्ति करने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं; मा खिद्यत—मत दुखी होओ; मिथः—झगड़े से; अर्थम्—अमृत प्राप्त करने के लिए; वः—तुम सबके लिए; साधयिष्ये—सम्पन्न करूँगा; स्व-मायया—अपनी शक्ति से।

अपने भक्तों की मनोकामनाओं को सदा पूरा करने की इच्छा रखने वाले भगवान् ने जब यह देखा कि देवतागण खिन्न हैं, तो उन्होंने उनसे कहा ''दु:खी मत होओ। मैं अपनी शक्ति से असुरों में झगड़ा करा कर उन्हें मोहग्रस्त कर लूँगा। इस प्रकार तुम लोगों की अमृत प्राप्त करने की इच्छा मैं पूरी कर दूँगा।''

मिथ: कलिरभूत्तेषां तदर्थे तर्षचेतसाम् ।
अहं पूर्वमहं पूर्वं न त्वं न त्वमिति प्रभो ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

मिथः—परस्पर; कलिः—असहमति तथा कलह; अभूत्—हुआ; तेषाम्—उन सबका; तत्-अर्थे—अमृत के लिए; तर्ष-चेतसाम्—विष्णु की माया से मोहग्रस्त चित्त; अहम्—मैं; पूर्वम्—पहले; अहम्—मैं; पूर्वम्—पहले; न—नहीं; त्वम्—तुम; न—नहीं; त्वम्—तुम; इति—इस प्रकार; प्रभो—हे राजा।

हे राजा! तब असुरों के बीच झगड़ा छिड़ गया कि सबसे पहले कौन अमृत ले। उनमें से हर एक यही कहने लगा ''तुम पहले नहीं पी सकते। मुझे सबसे पहले पीना चाहिए। तुम नहीं, पहले मैं।''

तात्पर्य : यह असुरों का लक्षण है। अभक्त की पहली चिन्ता यही रहती है कि सर्वप्रथम अपनी निजी इन्द्रियतृप्ति कैसे की जाये जबकि भक्त की सर्वोपरि चिन्ता भगवान् को प्रसन्न करने के लिए होती है। अभक्त तथा भक्त में यही अन्तर है। चूँकि इस जगत में अधिकांश लोग अभक्त हैं अतएव वे निरन्तर स्पर्धा करते एवं लड़ते-झगड़ते रहते हैं क्योंकि हर एक व्यक्ति अपनी इन्द्रियों का भोग करके तुष्ट होना चाहता है। अतएव जब तक ऐसे असुर कृष्णभावनाभावित नहीं हो जाते और भगवान् की इन्द्रियों को तुष्ट करने का प्रशिक्षण प्राप्त नहीं कर लते तब तक मानव समाज या किसी भी समाज में, भले ही वह देवताओं का क्यों न हो, शान्ति नहीं हो सकती। किन्तु भक्त तथा देवता सदैव भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करते हैं; अतएव भगवान् उनकी मनोकामनाओं को तुष्ट करने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं। असुरगण अपनी इन्द्रियों की तुष्टि के लिए लड़ते-झगड़ते हैं, किन्तु भक्तगण भक्ति में लगे रहकर भगवान् की इन्द्रियों की तुष्टि करने में लगे रहते हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्यों को इस ओर सतर्क रहना होगा; तभी उनका इस आन्दोलन का प्रचार-कार्य सफल हो सकेगा।

देवाः स्वं भागमर्हन्ति ये तुल्यायासहेतवः ।
सत्रयाग इवैतस्मिन्नेष धर्मः सनातनः ॥ ३९ ॥
इति स्वान्प्रत्यषेधन्वै दैतेया जातमत्सराः ।
दुर्बलाः प्रबलान्राजन्गृहीतकलसान्मुहुः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

देवाः—देवता; स्वम् भागम्—अपना-अपना हिस्सा; अर्हन्ति—लेने के अधिकारी हैं; ये—जो-जो; तुल्य-आयास-हेतवः—जिन्होंने समान प्रयास किया है; सत्र-यागे—यज्ञ सम्पन्न करने में; इव—उसी प्रकार; एतस्मिन्—इस मामले में; एषः—यह; धर्मः—धर्म; सनातनः—शाश्वत; इति—इस प्रकार; स्वान्—अपनों में; प्रत्यषेधन्—एक दूसरे को मना किया; वै—निस्सन्देह; दैतेयाः—दिति के पुत्र; जात-मत्सराः—ईर्ष्यालु; दुर्बलाः—निर्बल; प्रबलान्—बलपूर्वक; राजन्—हे राजा; गृहीत—ग्रहण किये; कलसान्—अमृत पात्र को; मुहुः—निरन्तर।

कुछ असुरों ने कहा "सभी देवताओं ने क्षीरसागर के मन्थन में हाथ बँटाया है। चूँकि हर एक को समान अधिकार है कि वह किसी भी सार्वजनिक यज्ञ में भाग लें अतः सनातन धर्म के अनुसार यह उचित होगा कि अमृत में देवताओं को भी भाग मिले।" हे राजा! इस प्रकार निर्बल असुरों ने प्रबल असुरों को अमृत लेने से मना किया।

तात्पर्य : अमृत पाने की इच्छा वाले निर्बल असुरों ने देवताओं के पक्ष में बातें कहीं। स्वाभाविक था कि निर्बल दैत्यों ने प्रबल दैत्यों को बिना बँटवारा किये अमृत पीने से रोकने के लिए देवताओं का

समर्थन किया। इस प्रकार जब एक दूसरे को अमृत पीने से रोका गया तो असहमति से झगड़ा उठ खड़ा हुआ।

एतस्मिन्नन्तरे विष्णुः सर्वोपायविदीश्वरः ।
योषिद्रूपमनिर्देश्यं दधारपरमाद्भुतम् ॥ ४१ ॥
प्रेक्षणीयोत्पलश्यामं सर्वावयवसुन्दरम् ।
समानकर्णाभरणं सुकपोलोन्नसाननम् ॥ ४२ ॥
नवयौवननिर्वृत्तस्तनभारकृशोदरम् ।
मुखामोदानुरक्तालिझङ्कारोद्विग्नलोचनम् ॥ ४३ ॥
बिभ्रत्सुकेशभारेण मालामुत्फुल्लमल्लिकाम् ।
सुग्रीवकण्ठाभरणं सुभुजाङ्गदभूषितम् ॥ ४४ ॥
विरजाम्बरसंवीतनितम्बद्वीपशोभया ।
काञ्च्या प्रविलसद्वल्गुचलच्चरणनूपुरम् ॥ ४५ ॥
सव्रीडस्मितविक्षिप्तभ्रूविलासावलोकनैः ।
दैत्ययूथपचेतःसु काममुद्दीपयन्मुहुः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

एतस्मिन् अन्तरे—इस घटना के बाद; विष्णुः—भगवान् विष्णु ने; सर्व-उपाय-वित्—विभिन्न परिस्थितियों से निपटने में पटु; ईश्वरः—परम नियन्ता; योषित्-रूपम्—सुन्दर स्त्री का रूप; अनिर्देश्यम्—कोई यह निश्चित नहीं कर सका कि वह कौन थी; दधार—धारण कर लिया; परम—परम; अद्भुतम्—अद्भुत; प्रेक्षणीय—देखने में सुहावना; उत्पल-श्यामम्—नवीन विकसित कमल के समान श्याम रंग का; सर्व—सारे; अवयव—शरीर के अंग; सुन्दरम्—अत्यन्त सुन्दर; समान—एकसमान; कर्ण-आभरणम्—कान के आभूषण; सु-कपोल—सुन्दर गाल; उन्नस-आननम्—मुखमण्डल में उभरी नाक; नव-यौवन—नवीन युवावस्था; निर्वृत्त-स्तन—स्थिर उरोज; भार—भार; कृश—अत्यन्त दुबली तथा पतली; उदरम्—कमर; मुख—मुखमण्डल; आमोद—आनन्द उत्पादक; अनुरक्त—आकृष्ट; अलि—भौंरे; झङ्कार—गुन-गुन की आवाज करते; उद्विग्न—चिन्ता से; लोचनम्—उसकी आँख; बिभ्रत्—चलायमान; सु-केश-भारेण—सुन्दर बालों के भार से; मालाम्—फूल की माला से; उत्फुल्ल-मल्लिकाम्—पूर्ण विकसित मल्लिका के फूलों से बनी; सु-ग्रीव—सुन्दर गर्दन; कण्ठ-आभरणम्—सुन्दर रत्नों से जटित; सु-भुज—सुन्दर भुजाएँ; अङ्गद-भूषितम्—बाजूबंदों से सज्जित; विरज-अम्बर—अत्यन्त स्वच्छ वस्त्र; संवीत—फैला; नितम्ब—नितम्ब; द्वीप—द्वीप की तरह लगने वाला; शोभया—ऐसी सुन्दरता से; काञ्च्या—करधनी; प्रविलसत्—फैली हुई; वल्गु—अत्यन्त सुन्दर; चलत्-चरण-नूपुरम्—हिलते-डुलते पायल; स-व्रीड-स्मित—सलज्ज हास; विक्षिप्त—दृष्टि फेरते; भ्रू-विलास—भौंहों का क्रियाकलाप; अवलोकनैः—देखने से; दैत्य-यूथ-प—असुरों के नायक; चेतःसु—हृदय में; कामम्—कामेच्छा; उद्दीपयत्—जगाते हुए; मुहुः—निरन्तर।

तब, किसी भी प्रतिकूल परिस्थिति का सामना करने में दक्ष भगवान् विष्णु ने एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री का रूप धारण कर लिया। स्त्री के रूप में यह अवतार—मोहिनी मूर्ति—मन को भाने वाला था। उसका रंग नव-विकसित श्यामल कमल के रंग का था और उसके शरीर का हर अंग सुन्दर ढंग से बना था। उसके कानों में कुण्डल सजे थे, उसके गाल अतीव सुन्दर थे, उसकी नाक उठी हुई थी और उसका मुखमण्डल युवावस्था की कान्ति से युक्त था। उसके बड़े-बड़े

स्तनों के कारण उसकी कमर अत्यन्त पतली लगती थी। उसके मुख तथा शरीर की सुगंधि से आकर्षित भौंरें उसके चारों ओर गुनगुना रहे थे और उसकी आँखें चंचल थीं। उसके बाल अत्यन्त सुन्दर थे और उन पर मल्लिका के फूलों की माला पड़ी थी। उसकी आकर्षक गर्दन हार तथा अन्य आभूषणों से सुशोभित थी; उसकी बाँहों में बाजूबंद शोभित हो रहे थे; उसका शरीर स्वच्छ साड़ी से ढका था और उसके स्तन सुन्दरता के सागर में द्वीपों की तरह प्रतीत हो रहे थे। उसके पाँवों में पायल शोभा दे रहे थे। जब वह लज्जा से हँसती और असुरों पर बाँकी चितवन फेरती तो उसकी भौंहों के हिलने से सारे असुर कामेच्छा से पूरित हो उठते और उनमें से हर एक उसे अपना बनाने की इच्छा करने लगा।

तात्पर्य : असुरों में काम-भावना जगाने के लिए भगवान् ने सुन्दर स्त्री का जो रूप धारण किया उसकी सुन्दरता का यहाँ पूरा वर्णन किया गया है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कंध के अन्तर्गत ''क्षीरसागर का मन्थन'' नामक आठवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter नौ

मोहिनी-मूर्ति के रूप में भगवान् का अवतार

इस अध्याय में बताया गया है कि किस प्रकार सारे असुर मोहिनी के सौन्दर्य से मोहित होकर उसे अमृत-पात्र देने के लिए राजी हो गये जिसने बड़ी ही चातुरी से देवताओं को वह पात्र दे दिया।

जब असुरों को अमृत-पात्र मिल गया तो उनके समक्ष एक अद्वितीय सुन्दरी प्रकट हुई। सारे असुर इस तरुणी के सौन्दर्य से मोहित हो गये और उस पर आसक्त हो गए। चूँकि असुर अमृत पाने के लिए आपस में लड़ रहे थे अतएव उन्होंने अपने झगड़े को निपटाने के लिए इस सुन्दरी को मध्यस्थ चुना। उनकी इस दुर्बलता का लाभ उठाते हुए भगवान् की अवतार मोहिनी ने असुरों से यह वचन ले लिया कि वह जो भी फैसला करेगी उससे असुरगण विचलित नहीं होंगे। जब असुरों ने यह वचन दे दिया तो सुन्दर स्त्री मोहिनी-मूर्ति ने असुरों तथा देवताओं को अलग-अलग पंक्तियों में बैठा दिया जिससे वह अमृत वितरण कर सके। वह जानती थी कि असुर अमृत पान करने के योग्य नहीं हैं; अतएव उन्हें

धोखा देकर उसने सारा अमृत देवताओं में बाँट दिया। जब असुरों ने मोहिनी-मूर्ति का यह छल देखा तो वे मौन बने रहे। किन्तु उनमें से राहु नामक एक असुर ने देवता का वेश धारण कर लिया और वह जाकर देवताओं की पंक्ति में बैठ गया। वह सूर्य तथा चन्द्रमा के निकट जा बैठा। जब भगवान् ने जान लिया कि राहु किस तरह धोखा दे रहा है, तो उन्होंने तुरन्त ही उसका सिर काट लिया। किन्तु राहु ने पहले ही अमृत चख लिया था; अतएव सिर काटे जाने के बावजूद भी वह जीवित रहा। जब देवतागण अमृत पी चुके तो भगवान् ने पुनः अपना पूर्व-रूप धारण कर लिया। शुकदेव गोस्वामी इस अध्याय की समाप्ति इस वर्णन के साथ करते हैं कि भगवान् के पवित्र नामों, उनकी लीलाओं तथा साज-सामान के जप में कितनी शक्ति होती है।

श्रीशुक उवाच

तेऽन्योन्यतोऽसुराः पात्रं हरन्तस्त्यक्तसौहृदाः ।
क्षिपन्तो दस्युधर्माण आयान्तीं ददृशुः स्त्रियम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; ते—वे असुर; अन्योन्यतः—परस्पर; असुराः—असुरगण; पात्रम्—अमृत का बर्तन; हरन्तः—एक दूसरे से छीनते हुए; त्यक्त-सौहृदाः—एक दूसरे के शत्रु बन गये; क्षिपन्तः—कभी-कभी फेंकते हुए; दस्यु-धर्माणः—कभी-कभी लुटेरों की तरह छीनते हुए; आयान्तीम्—आगे आते हुए; ददृशुः—देखा; स्त्रियम्—अत्यन्त सुन्दर तथा आकर्षक स्त्री को।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : तत्पश्चात् असुर एक दूसरे के शत्रु बन गये। उन्होंने अमृत पात्र को फेंकते और छीनते हुए अपना मैत्री-सम्बन्ध तोड़ लिया। इसी बीच उन्होंने देखा कि एक अत्यन्त सुन्दर तरुणी उनकी ओर आ रही है।

अहो रूपमहो धाम अहो अस्या नवं वयः ।
इति ते तामभिद्रुत्य पप्रच्छुर्जातहृच्छयाः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

अहो—कितना आश्चर्यजनक है; रूपम्—इसकी सुन्दरता; अहो—कितना अद्‌भुत है; धाम—इसकी शारीरिक कान्ति; अहो—कितना आर्श्चयजनक; अस्याः—इसका; नवम्—नयी; वयः—युवावस्था; इति—इस तरह; ते—वे असुर; ताम्—उस सुन्दर स्त्री को; अभिद्रुत्य—तेजी से उसके समक्ष जाकर; पप्रच्छुः—उससे पूछा; जात-हृत्-शयाः—उसका भोग करने की कामवासना से भरे हुए हृदय।

उस सुन्दरी को देखकर असुरों ने कहा : ओह! इसका सौन्दर्य कितना आश्चर्यजनक है, इसके शरीर की कान्ति कितनी अद्‌भुत है और इसकी तरुणावस्था का सौन्दर्य कितना उत्कृष्ट है! इस तरह कहते हुए वे उसका भोग करने की कामवासना से पूरित होकर तेजी से उसके पास

पहुँच गये और उससे तरह-तरह के प्रश्न पूछने लगे।

का त्वं कञ्जपलाशाक्षि कुतो वा किं चिकीर्षसि ।
कस्यासि वद वामोरु मथ्नतीव मनांसि नः ॥ ३॥

शब्दार्थ

का—कौन; त्वम्—तुम हो; कञ्ज-पलाश-अक्षि—कमल की पंखड़ियों जैसी आँखों वाली; कुतः—कहाँ से; वा—अथवा; किम् चिकीर्षसि—तुम किस प्रयोजन से यहाँ आई हो; कस्य—किसकी; असि—हो; वद—कृपया हमसे कहो; वाम-ऊरु—हे अद्वितीय सुन्दर जाँघों वाली; मथ्नती—विचलित करती हुई; इव—इस प्रकार; मनांसि—मनों को; नः—हमारे।

हे अद्‌भुत सुन्दरी बाला! तुम्हारी आँखें इतनी सुन्दर हैं कि वे कमल पुष्प की पंखड़ियों जैसी लगती हैं। तुम आखिर हो कौन? तुम कहाँ से आई हो? यहाँ आने का तुम्हारा प्रयोजन क्या है और तुम किसकी हो? हे अद्वितीय सुन्दर जाँघों वाली! हमारे मन तुम्हारे दर्शनमात्र से ही विचलित हो रहे हैं।

तात्पर्य : असुरों ने उस अद्वितीय सुन्दरी से पूछा, "तुम किसकी हो?" स्त्री अपने विवाह के पूर्व पिता की होती है, विवाह के बाद पति की होती है और बुढ़ापे में अपने बड़े पुत्रों की होती है। इस प्रश्न के सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि, "तुम किसकी हो?" प्रश्न का अर्थ है "तुम किसकी पुत्री हो?" चूँकि असुरगण यह समझ पाये थे कि वह सुन्दरी अब भी अविवाहित है अतएव उनमें से हर एक उससे विवाह करना चाहता था। इस तरह उन्होंने पूछा "तुम किसकी पुत्री हो?"

न वयं त्वामरैर्दैत्यैः सिद्धगन्धर्वचारणैः ।
नास्पृष्टपूर्वां जानीमो लोकेशैश्च कुतो नृभिः ॥ ४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वयम्—हम; त्वा—तुमको; अमरैः—देवताओं द्वारा; दैत्यैः—असुरों द्वारा; सिद्ध—सिद्धों द्वारा; गन्धर्व—गन्धर्वों द्वारा; चारणैः—तथा चारणों द्वारा; न—नहीं; अस्पृष्ट-पूर्वाम्—किसी के द्वारा कभी भी न तो भोगी गई न स्पर्श की गई; जानीमः—ठीक से जान लो; लोक-ईशैः—ब्रह्माण्ड के विभिन्न निर्देशकों द्वारा; च—भी; कुतः—क्या कहा जाये; नृभिः—मानव समाज द्वारा।

मनुष्यों की कौन कहे, देवता, असुर, सिद्ध, गन्धर्व, चारण तथा ब्रह्माण्ड के विभिन्न निर्देशक अर्थात् प्रजापति तक इसके पूर्व तुम्हारा स्पर्श नहीं कर पाये। ऐसा नहीं है कि हम तुम्हें ठीक से पहचान नहीं पा रहे हों।

तात्पर्य : असुरों तक ने यह शिष्टाचार निभाया कि उनमें से कोई भी विवाहिता स्त्री को

विषयवासना से युक्त होकर सम्बोधित न करे। महान् विश्लेषक चाणक्य पण्डित कहते हैं—*मातृवत् परदारेषु*—मनुष्य को चाहिए कि दूसरे की पत्नी को अपनी माता माने। असुरों ने यह मान लिया था कि वह तरुण सुन्दरी मोहिनी-मूर्ति जो उनके समक्ष आयी थी निश्चय ही, अविवाहिता थी। अतएव उन्होंने यह मान लिया कि इस संसार के किसी भी व्यक्ति ने जिसमें देवता, गन्धर्व, चारण, सिद्ध सम्मिलित हैं, उसका कभी स्पर्श नहीं किया होगा। असुर जानते थे कि वह तरुणी अविवाहिता थी अतएव उन्होंने उसे सम्बोधित करने का साहस जुटाया। उन्होंने यह मान लिया कि वह तरुणी मोहिनी-मूर्ति वहाँ पर उन सबके बीच (असुर, देवता, गन्धर्व इत्यादि) अपने लिए पति की खोज करने आयी है।

नूनं त्वं विधिना सुभ्रूः प्रेषितासि शरीरिणाम् ।
सर्वेन्द्रियमनःप्रीतिं विधातुं सघृणेन किम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निस्सन्देह; त्वम्—तुम; विधिना—विधाता द्वारा; सु-भ्रूः—हे सुन्दर भौंहों वाली; प्रेषिता—भेजी गई; असि—तुम हो; शरीरिणाम्—समस्त देहधारी जीवों का; सर्व—सभी; इन्द्रिय—इन्द्रियों; मनः—तथा मन को; प्रीतिम्—अच्छी लगने वाली; विधातुम्—तृप्त करने के लिए; स-घृणेन—अपनी अहैतुकी कृपा से; किम्—क्या।

हे सुन्दर भौहों वाली सुन्दरी! निश्चय ही, विधाता ने अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें हम लोगों की इन्द्रियों और मनों को प्रसन्न करने के लिए भेजा है। क्या यह तथ्य नहीं है?

सा त्वं नः स्पर्धमानानामेकवस्तुनि मानिनि ।
ज्ञातीनां बद्धवैराणां शं विधत्स्व सुमध्यमे ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सा—जैसी तुम हो; त्वम्—तुम; नः—हम सभी असुरों के; स्पर्धमानानाम्—जो अधिकाधिक शत्रु बनते जा रहे हैं, उनके; एक-वस्तुनि—एक वस्तु में (अमृत-पात्र में); मानिनि—हे प्रतिष्ठित सुन्दरी; ज्ञातीनाम्—अपने परिवार वालों में; बद्ध-वैराणाम्—अधिकाधिक शत्रु बनकर; शम्—कल्याण; विधत्स्व—सम्पन्न करो; सु-मध्यमे—हे पतली कमर वाली सुन्दरी।

इस समय हम लोग एक ही बात को—अमृत घट को—लेकर परस्पर शत्रुता में मग्न हैं। यद्यपि हम एक ही कुल में उत्पन्न हुए हैं फिर भी हममें शत्रुता बढ़ती ही जा रही है। अतएव हे क्षीण कटि वाली सुप्रतिष्ठित सुन्दरी! हमारी आपसे प्रार्थना है कि आप हमारे इस झगड़े को निपटाने की कृपा करें।

तात्पर्य : असुर लोग समझ गये थे कि उस सुन्दरी ने उन सब का मन मोह लिया था। अतएव उन्होंने एक स्वर से उससे प्रार्थना की कि वह उनके झगड़े का निपटारा करने के लिए मध्यस्था की

भूमिका निभाए।

वयं कश्यपदायादा भ्रातरः कृतपौरुषाः ।
विभजस्व यथान्यायं नैव भेदो यथा भवेत् ॥ ७॥

शब्दार्थ

वयम्—हम सभी; कश्यप-दायादाः—कश्यप मुनि के वंशज; भ्रातरः—हम सभी भाई हैं; कृत-पौरुषाः—हम सभी समर्थ एवं दक्ष हैं; विभजस्व—जरा बाँट दें; यथा-न्यायम्—न्यायपूर्वक; न—नहीं; एव—निश्चय ही; भेदः—पक्षपात; यथा—जिस तरह; भवेत्—हो सके।

हम सभी देवता तथा असुर दोनों ही एक ही पिता कश्यप की सन्तानें हैं और इस तरह से भाई-भाई हैं। किन्तु मतभेद के कारण हम अपना-अपना पराक्रम दिखला रहे हैं। अतएव आपसे हमारी विनती है कि हमारे झगड़े का निपटारा कर दें और इस अमृत को हममें बराबर-बराबर बाँट दें।

इत्युपामन्त्रितो दैत्यैर्मायायोषिद्वपुर्हरिः ।
प्रहस्य रुचिरापाङ्गैर्निरीक्षन्निदमब्रवीत् ॥ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उपामन्त्रितः—अनुरोध किये जाने पर; दैत्यैः—असुरों के द्वारा; माया-योषित्—मायावी स्त्री ने; वपुः हरिः—भगवान् की अवतार; प्रहस्य—हँसते हुए; रुचिर—सुन्दर; अपाङ्गैः—स्त्री-सुलभ हाव भाव दिखा कर; निरीक्षन्—उनको देखते हुए; इदम्—ये शब्द; अब्रवीत्—कहे।

असुरों द्वारा इस प्रकार प्रार्थना किये जाने पर सुन्दरी का रूप धारण किये हुए भगवान् हँसने लगे। फिर स्त्री-सुलभ मोहक हावभाव से उनकी ओर देखते हुए उस सुन्दरी ने इस प्रकार कहा।

श्रीभगवानुवाच
कथं कश्यपदायादाः पुंश्चल्यां मयि सङ्गताः ।
विश्वासं पण्डितो जातु कामिनीषु न याति हि ॥ ९॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—मोहिनी-मूर्ति के रूप में भगवान् ने कहा; कथम्—ऐसा कैसे है; कश्यप-दायादाः—तुम सभी कश्यप मुनि के वंशज हो; पुंश्चल्याम्—मनुष्यों के मनों को विचलित करने वाली वेश्या को; मयि—मेरी; सङ्गताः—संगति में आये हो; विश्वासम्—विश्वास; पण्डितः—विद्वान; जातु—किसी भी समय; कामिनीषु—स्त्री में; न—नहीं; याति—होता है; हि—निस्सन्देह।

मोहिनी-रूप भगवान् ने असुरों से कहा : हे कश्यपमुनि के पुत्रो! मैं तो एक वेश्या हूँ। तुम लोग किस तरह मुझ पर इतना विश्वास कर रहे हो? विद्वान पुरुष कभी स्त्री पर विश्वास नहीं करते।

तात्पर्य : महान् राजनीतिज्ञ तथा नीतिवेत्ता चाणक्य पण्डित ने कहा है—*विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च*—स्त्री या राजनीतिज्ञ पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। इस प्रकार स्त्री का रूप धारण किये हुए भगवान् ने असुरों को सचेत किया कि वे उस पर अधिक विश्वास न करें क्योंकि वह उन्हें अन्ततः धोखा देने के लिए मोहिनी रूप में प्रकट हुई हैं। अप्रत्यक्ष रूप में उसने उनके समक्ष प्रकट होने का अपना प्रयोजन प्रकट करते हुए कश्यप के पुत्रों से कहा "यह सब क्या है ? तुम सभी एक महान् ऋषि की सन्तानें हो; फिर भी तुम ऐसी स्त्री पर विश्वास कर रहे हो जो अपने पिता या पति द्वारा सुरक्षा के अभाव में वेश्या की तरह इधर-उधर घूम रही है ? सामान्यतया स्त्रियों पर विश्वास नहीं करना चाहिए; तो ऐसी स्त्री का क्या कहना जो एक वेश्या की भ्रान्ति इधर उधर घूम रही हो," इस प्रसंग में *कामिनी* शब्द महत्त्वपूर्ण है। स्त्रियाँ, और वह भी सुन्दर तरुण स्त्रियाँ, मनुष्य की सुप्त कामवासना को जगाती हैं। अतएव *मनुसंहिता* के अनुसार प्रत्येक स्त्री की रक्षा या तो उसके पति या पिता द्वारा या उसके सयाने पुत्रों द्वारा की जानी चाहिए। ऐसे संरक्षण के अभाव में स्त्री का शोषण होगा। वास्तव में स्त्रियाँ पुरुषों द्वारा भोगी जाना पसन्द करती हैं। ज्योंही कोई स्त्री पुरुष द्वारा भोगी जाती है, वह सामान्य वेश्या बन जाती है। इसी की व्याख्या मोहिनी-मूर्ति रूप भगवान् द्वारा हुई है।

सालावृकाणां स्त्रीणां च स्वैरिणीनां सुरद्विषः ।
सख्यान्याहुरनित्यानि नूत्नं नूत्नं विचिन्वताम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सालावृकाणाम्—बन्दरों, सियारों तथा कुत्तों की; स्त्रीणाम् च—तथा स्त्रियों की; स्वैरिणीनाम्—विशेष रूप से स्वच्छन्द स्त्रियों की; सुर-द्विषः—हे असुरो; सख्यानि—मित्रता; आहुः—कही जाती है; अनित्यानि—क्षणिक; नूत्नम्—नये मित्र; नूत्नम्—नये मित्र; विचिन्वताम्—चिन्तन करने वालों की।

हे असुरो! जिस प्रकार बन्दर, सियार तथा कुत्ते अपने यौन सम्बन्धों में अस्थिर होते हैं और नित्य ही नया मित्र चाहते हैं उसी प्रकार जो स्त्रियाँ स्वच्छन्द होती हैं (स्वैरिणी) वे नित्य नया मित्र ढूँढती हैं। ऐसी स्त्री की मित्रता कभी स्थायी नहीं होती। यह विद्वानों का अभिमत है।

श्रीशुक उवाच
इति ते क्ष्वेलितैस्तस्या आश्वस्तमनसोऽसुराः ।
जहसुर्भावगम्भीरं ददुश्चामृतभाजनम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; ते—वे असुर; क्ष्वेलितैः—परिहास करने से; तस्याः—मोहिनी-मूर्ति के; आश्वस्त—कृतज्ञ, विश्वास युक्त; मनसः—मनों से; असुराः—सारे असुर; जहसुः—हँस पड़े; भाव-गम्भीरम्—यद्यपि मोहिनी-मूर्ति गम्भीर थी; ददुः—दे दिया; च—भी; अमृत-भाजनम्—अमृत का पात्र।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : मोहिनी-मूर्ति के परिहासपूर्ण शब्द सुनकर सारे असुर अत्यधिक आश्वस्त हुए। वे गम्भीर रूप से हँस पड़े और अन्ततः उन्होंने वह अमृत घट उसके हाथों में थमा दिया।

तात्पर्य : मोहिनी का रूप धारण किये हुए भगवान् कोई हँसी-मजाक नहीं कर रहे थे वरन् गम्भीर बातें कर रहे थे। लेकिन असुर मोहिनी-मूर्ति के शारीरिक अंगों पर मोहित होने के कारण उनकी बातों को हँसी समझ रहे थे और उन्होंने आश्वस्त होकर उस अमृत-पात्र को मोहिनी के हाथों में सौंप दिया। इस तरह मोहिनी मूर्ति भगवान् बुद्ध के समान है, जो *सम्मोहाय सुरद्विषाम्* अर्थात् असुरों को धोखा देने के लिए प्रकट हुई। *सुरद्विषाम्* शब्द उनका सूचक है, जो देवताओं या भक्तों से ईर्ष्या रखते हैं। कभी-कभी भगवान् का अवतार नास्तिकों को धोखा देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि मोहिनी-मूर्ति असुरों से वास्तविक बातें कह रही थी, किन्तु वे उसके वचनों को ठिठोली समझ रहे थे। निस्सन्देह, वे मोहिनी-मूर्ति की निष्कपटता के प्रति इतने आश्वस्त थे कि उन्होंने तुरन्त ही अमृत-पात्र उसको सौंप दिया मानो वे उसे यह छूट दे रहे हों कि वह इस अमृत का चाहे जो करे—चाहे बाँट दे, चाहे फेंक दे या उनको दिये बिना स्वयं ही पी जाये।

ततो गृहीत्वामृतभाजनं हरि-
र्बभाष ईषत्स्मितशोभया गिरा ।
यद्यभ्युपेतं क्व च साध्वसाधु वा
कृतं मया वो विभजे सुधामिमाम् ॥ १२॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; गृहीत्वा—लेकर; अमृत-भाजनम्—अमृत-पात्र को; हरिः—मोहिनी के रूप में हरि ने; बभाष—कहा; ईषत्—कुछ-कुछ; स्मित-शोभया गिरा—हँसती अदा से तथा शब्दों से; यदि—यदि; अभ्युपेतम्—स्वीकार करने का वचन; क्व च—जो भी हो; साधु असाधु वा—अच्छा या बुरा; कृतम् मया—मेरे द्वारा किया गया; वः—तुम्हारे लिए; विभजे—तुम्हें समुचित भाग प्रदान करूँगी; सुधाम्—अमृत को; इमाम्—इस।

तत्पश्चात् अमृत घट को अपने हाथ में लेकर भगवान् थोड़ा मुस्काये और फिर आकर्षक शब्दों में बोले। उस मोहिनी-मूर्ति ने कहा : मेरे प्रिय असुरो! मैं जो कुछ भी करूँ, चाहे वह खरा हो या खोटा, यदि तुम उसे स्वीकार करो तब मैं इस अमृत को तुम लोगों में बाँटने का

उत्तरदायित्व ले सकती हूँ।

तात्पर्य : भगवान् किसी के आदेश से बन्धे नहीं हैं। वे जो कुछ करते है, वह परम है। निस्सन्देह, असुर भगवान् की माया से मोहग्रस्त हो गए थे; अत: मोहिनी-मूर्ति ने उनसे वचन ले लिया कि वह जो कुछ भी करेगी, उन्हें मान्य होगा।

इत्यभिव्याहृतं तस्या आकर्ण्यासुरपुङ्गवाः ।
अप्रमाणविदस्तस्यास्तत्तथेत्यन्वमंसत ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अभिव्याहृतम्—कहे गये शब्द; तस्याः—उसके; आकर्ण्य—सुनकर; असुर-पुङ्गवाः—असुरों में प्रधान; अप्रमाण-विदः—चूँकि वे सभी मूर्ख थे; तस्याः—उसका; तत्—वे वचन; तथा—ऐसा ही हो; इति—इस प्रकार; अन्वमंसत—स्वीकार करने के लिए राजी हो गये।

असुरों के प्रधान निर्णय लेने में अधिक पटु नहीं थे। अतएव मोहिनी मूर्ति के मधुर शब्दों को सुनकर उन्होंने तुरन्त हामी भर दी और कहा ''हाँ, आपने जो कहा है, वह बिल्कुल ठीक है।'' इस तरह असुर उसका निर्णय स्वीकार करने के लिए राजी हो गए।

अथोपोष्य कृतस्नाना हुत्वा च हविषानलम् ।
दत्त्वा गोविप्रभूतेभ्यः कृतस्वस्त्ययना द्विजैः ॥ १४॥
यथोपजोषं वासांसि परिधायाहतानि ते ।
कुशेषु प्राविशन्सर्वे प्रागग्रेष्वभिभूषिताः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; उपोष्य—उपवास रखकर; कृत-स्नानाः—स्नान करके; हुत्वा—आहुति डालकर; च—भी; हविषा—घी से; अनलम्—अग्नि में; दत्त्वा—दान देकर; गो-विप्र-भूतेभ्यः—गायों, ब्राह्मणों तथा समस्त जीवों को; कृत-स्वस्त्ययनाः—विधि-विधान सम्पन्न करके; द्विजैः—ब्राह्मणों के द्वारा निश्चित; यथा-उपजोषम्—अपनी रुचि के अनुसार; वासांसि—वस्त्र; परिधाय—पहन कर; आहतानि—उत्तम तथा नवीन; ते—वे सब; कुशेषु—कुश से बने आसनों पर; प्राविशन्—बैठकर; सर्वे—सभी; प्राक्-अग्रेषु—पूर्व की ओर मुख करके; अभिभूषिताः—ठीक से आभूषणों से अलंकृत होकर।

तब असुरों तथा देवताओं ने उपवास किया। स्नान करने के बाद उन्होंने अग्नि में घी की आहुतियाँ डाली और गायों, ब्राह्मणों तथा समाज के अन्य वर्णों—क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों—को उनकी पात्रता के अनुसार दान दिया। तत्पश्चात् असुरों तथा देवों ने ब्राह्मणों के निर्देशानुसार अनुष्ठान सम्पन्न किये। तब अपनी रुचि के अनुसार नये वस्त्र धारण किये, आभूषणों से अपने-अपने शरीरों को अलंकृत किया और वे पूर्व-दिशा की ओर मुख करके कुशासनों पर बैठ गये।

तात्पर्य : वेदों का आदेश है कि किसी भी अनुष्ठान के पूर्व गंगा, यमुना या समुद्र में स्नान करके

शुद्ध हुआ जाय। तब उसे अनुष्ठान करना चाहिए और अग्नि में घी की आहुति देनी चाहिए। इस श्लोक में *परिधाय आहतानि* शब्द विशेष महत्त्व के हैं। संन्यासी या अनुष्ठान करनेवाले व्यक्ति को सूई से सिले कपड़े पहनना वर्जित है।

प्राङ्मुखेषूपविष्टेषु सुरेषु दितिजेषु च ।
धूपामोदितशालायां जुष्टायां माल्यदीपकैः ॥ १६ ॥
तस्यां नरेन्द्र करभोरुरुशद्दुकूल-
श्रोणीतटालसगतिर्मदविह्वलाक्षी ।
सा कूजती कनकनूपुरशिञ्जितेन
कुम्भस्तनी कलसपाणिरथाविवेश ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

प्राक्-मुखेषु—पूर्व की ओर मुँह किये; उपविष्टेषु—अपने-अपने आसनों पर बैठे; सुरेषु—सारे देवताओं में; दिति-जेषु—असुरों में; च—भी; धूप-आमोदित-शालायाम्—रंगभूमि (सभा-मंडप) जो धूप के धुएँ से पूर्ण थी; जुष्टायाम्—पूर्णतया सजी हुई; माल्य-दीपकैः—फूलों की मालाओं तथा दीपकों से; तस्याम्—उस रंगभूमि (सभा-मंडप) में; नर-इन्द्र—हे राजा; करभ-ऊरुः—हाथी के सूँडों सदृश जाँघों वाली; उशत्-दुकूल—अत्यन्त सुन्दर साड़ी पहने; श्रोणी-तट—गुरु नितम्बों के कारण; अलस-गतिः—धीरे-धीरे पग रखती; मद-विह्वल-अक्षी—जिसकी आँखें युवावस्था के गर्व से बेचैन थीं; सा—वह; कूजती—झंकार करती; कनक-नूपुर—सोने के पायल; शिञ्जितेन—ध्वनि करती; कुम्भ-स्तनी—जल के घट सदृश स्तनों वाली; कलस-पाणिः—हाथ में जल का पात्र लिए; अथ—इस प्रकार; आविवेश—रंगभूमि में प्रविष्ट हुई।

हे राजा! ज्यों ही देवता तथा असुर पूर्व दिशा में मुख करके उस सभा-मण्डप में बैठ गये जो फूल मालाओं तथा बत्तियों से पूर्णतया सजाया गया था और धूप के धुएँ से सुगन्धित हो गया था, उसी समय अत्यन्त सुन्दर साड़ी पहने, पायलों की झनकार करती उस स्त्री ने अत्यन्त गुरु नितम्बों के कारण मन्द गति से चलते हुए उस सभा-मण्डप में प्रवेश किया। उसकी आँखें युवावस्था के मद से विह्वल थीं; उसके स्तन जल से पूर्ण घटों के समान थे; उसकी जाँघें हाथी की सूँड़ जैसी दिखती थीं और वह अपने हाथ में अमृत-पात्र लिए हुए थी।

तां श्रीसखीं कनककुण्डलचारुकर्ण-
नासाकपोलवदनां परदेवताख्याम् ।
संवीक्ष्य सम्मुमुहुरुत्स्मितवीक्षणेन
देवासुरा विगलितस्तनपट्टिकान्ताम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उस; श्री-सखीम्—लक्ष्मी की सखी के समान लगने वाली; कनक-कुण्डल—सुनहले कुण्डलों से युक्त; चारु—अत्यधिक सुन्दर; कर्ण—कान; नासा—नाक; कपोल—गाल; वदनाम्—मुख; पर-देवता-आख्याम्—उस रूप में प्रकट भगवान् को; संवीक्ष्य—उसकी ओर देखकर; सम्मुमुहुः—सारे मोहित हो गये; उत्स्मित—कुछ-कुछ मुस्काते; वीक्षणेन—दृष्टि

डालते हुए; देव-असुराः—सारे देवता तथा असुर; विगलित-स्तन-पट्टिक-अन्ताम्—साड़ी का किनारा स्तनों से खिसक रहा था।

उसकी आकर्षक नाक तथा गालों और सुनहले कुण्डलों से विभूषित कानों ने उसके मुखमण्डल को अतीव सुन्दर बना दिया था। जब वह चलती थी उसकी साड़ी का किनारा उसके स्तनों से खिसक रहा था। जब देवताओं तथा असुरों ने मोहिनी-मूर्ति के इन सुन्दर अंगों को देखा तो वे सब पूरी तरह मोहित हो गये क्योंकि वह उनको तिरछी नजर से देख-देख कर कुछ कुछ मुस्काती जा रही थी।

तात्पर्य : यहाँ पर श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टिप्पणी है कि मोहिनी-मूर्ति भगवान् का स्त्री रूप है और लक्ष्मी उनकी संगिनी हैं। भगवान् द्वारा धारण किया गया यह रूप लक्ष्मी को चुनौती दे रहा था। लक्ष्मीजी सुन्दर हैं, किन्तु यदि भगवान् स्त्री का रूप धारण करते हैं, तो वे लक्ष्मी की सुन्दरता को भी मात कर देते हैं। ऐसा नहीं है कि नारी होने के कारण लक्ष्मीजी सर्वाधिक सुन्दर हैं। भगवान् इतने सुन्दर हैं कि वे नारी रूप धारण करने पर किसी भी लक्ष्मीदेवी के सौन्दर्य को मात कर सकते हैं।

असुराणां सुधादानं सर्पाणामिव दुर्नयम् ।
मत्वा जातिनृशंसानां न तां व्यभजदच्युतः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

असुराणाम्—असुरों का; सुधा-दानम्—अमृत देना; सर्पाणाम्—साँपों का; इव—सदृश; दुर्नयम्—गलत अनुमान; मत्वा—इस प्रकार सोचकर; जाति-नृशंसानाम्—प्रकृति से अत्यधिक ईर्ष्यालुओं का; न—नहीं; ताम्—अमृत को; व्यभजत्—भाग दे दिया; अच्युतः—अच्युत भगवान् ने।

असुर स्वभाव से सर्पों के समान कुटिल होते हैं। अतएव उन्हें अमृत में से हिस्सा देना तनिक भी सम्भव नहीं था क्योंकि यह सर्प को दूध पिलाने के समान घातक होता। यह सोचकर अच्युत भगवान् ने असुरों को अमृत में हिस्सा नहीं दिया।

तात्पर्य : कहा गया है—*सर्पः क्रूरः खलः क्रूरः सर्पात् क्रूरतरः खलः*—सर्प अत्यन्त कुटिल तथा ईर्ष्यालु होता है और इसी तरह असुर होता है। *मन्त्रौषधिवशः सर्पः खलः केन निवार्यते*—सर्प को तो मंत्र अर्थात् जड़ी बूटियों के बल से वश में किया जा सकता है लेकिन ईर्ष्यालु कुटिल मनुष्य को किसी भी तरह वश में नहीं किया जा सकता। इस तर्क के अनुसार भगवान् ने सोचा कि असुरों को अमृत देना मूर्खता होगी।

कल्पयित्वा पृथक्पङ्क्तीरुभयेषां जगत्पतिः ।
तांश्चोपवेशयामास स्वेषु स्वेषु च पङ्क्तिषु ॥ २० ॥

शब्दार्थ

कल्पयित्वा—व्यवस्था करके; पृथक् पङ्क्तीः—अलग-अलग पंक्तियाँ; उभयेषाम्—देवता तथा असुर दोनों की; जगत्-पतिः—ब्रह्माण्ड के स्वामी ने; तान्—उन सबों को; च—तथा; उपवेशयाम् आस—बैठा दिया; स्वेषु स्वेषु—अपने-अपने स्थानों पर; च—भी; पङ्क्तिषु—पंक्तियों में।

मोहिनी-मूर्ति रूपी ब्रह्माण्ड के स्वामी भगवान् ने देवताओं तथा असुरों को बैठने के लिए अलग-अलग पंक्तियों की व्यवस्था कर दी और उन्हें अपने-अपने पद के अनुसार बैठा दिया।

दैत्यान्गृहीतकलसो वञ्चयन्नुपसञ्चरैः ।
दूरस्थान्पाययामास जरामृत्युहरां सुधाम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

दैत्यान्—असुरों को; गृहीत-कलसः—अमृत का घट पकड़े भगवान् ने; वञ्चयन्—ठगते हुए; उपसञ्चरैः—मीठे वचनों से; दूर-स्थान्—देवता, जो दूर बैठे थे; पाययाम् आस—पिलाया; जरा-मृत्यु-हराम्—अशक्तता, बुढ़ापा तथा मृत्यु को हरने वाले; सुधाम्—ऐसे अमृत को।

अपने हाथों में अमृत का कलश लिये वह सर्वप्रथम असुरों के निकट आई और उसने अपनी मधुर वाणी से उन्हें सन्तुष्ट किया और इस तरह उनके अमृत के भाग से उन्हें वंचित कर दिया। तब उसने दूरी पर बैठे देवताओं को अमृत पिला दिया जिससे वे अशक्तता, बुढ़ापा तथा मृत्यु से मुक्त हो सकें।

तात्पर्य : मोहिनी-मूर्ति भगवान् ने देवताओं को दूर बैठाया। तब वह असुरों के पास पहुँची और उनसे अत्यधिक अदा से बोली जिससे वे अपने को उससे बात करने में भाग्यशाली समझें। चूँकि मोहिनी-मूर्ति ने देवताओं को दूरस्थ स्थान पर बिठाया था अतएव असुरों ने सोचा कि देवताओं को नाममात्र का अमृत प्राप्त होगा और मोहिनी-मूर्ति हम पर इतनी प्रसन्न है कि सारा अमृत हमें ही पिला देगी। *वञ्चयन्नुपसञ्चरैः* शब्द सूचित करते हैं कि भगवान् की सारी नीति असुरों को मधुर शब्द बोलकर ठगने की थी। भगवान् की इच्छा एकमात्र देवताओं को अमृत बाँटने की थी।

ते पालयन्तः समयमसुराः स्वकृतं नृप ।
तूष्णीमासन्कृतस्नेहाः स्त्रीविवादजुगुप्सया ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; पालयन्तः—बनाये हुए; समयम्—सन्तुलन; असुराः—असुरगण; स्व-कृतम्—स्वनिर्मित; नृप—हे राजा; तूष्णीम् आसन्—मौन रहे; कृत-स्नेहाः—मोहिनी-मूर्ति के प्रति आसक्ति उत्पन्न होने से; स्त्री-विवाद—स्त्री से मतभेद रखते हुए; जुगुप्सया—ऐसे कृत्य को गर्हित समझते हुए।

हे राजा! चूँकि असुरों ने वचन दिया था कि वह स्त्री जो कुछ भी करेगी, चाहे न्यायपूर्ण हो या अन्याय-पूर्ण, उसे वे स्वीकार करेंगे, अतएव अब अपना वचन रखने, अपना सन्तुलन दिखाने तथा स्त्री से झगड़ा करने से बचने के लिए वे मौन रहे।

तस्यां कृतातिप्रणयाः प्रणयापायकातराः ।
बहुमानेन चाबद्धा नोचुः किञ्चन विप्रियम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—मोहिनी-मूर्ति की; कृत-अति-प्रणयाः—घनिष्ठ मैत्री होने से; प्रणय-अपाय-कातराः—इस भय से भयभीत कि उसके साथ उनकी मैत्री कहीं टूट न जाये; बहु-मानेन—अत्यधिक सम्मान तथा आदर के साथ; च—भी; आबद्धाः—उससे अत्यधिक आसक्त होकर; न—नहीं; ऊचुः—उन्होंने कहा; किञ्चन—कुछ भी नहीं; विप्रियम्—जिससे मोहिनी-मूर्ति उनसे अप्रसन्न हो जाये।

असुरों को मोहिनी-मूर्ति से प्रेम तथा एक प्रकार का विश्वास हो गया था और उन्हें भय था कि उनके सम्बन्ध कहीं डगमगा न जाएँ। अतएव उन्होंने उसके वचनों का आदर-सम्मान किया और ऐसा कुछ भी नहीं कहा जिससे उसके साथ उनकी मित्रता में बाधा पड़े।

तात्पर्य : असुरगण मोहिनी-मूर्ति की छलपूर्ण युक्तियों तथा मैत्रीपूर्ण शब्दों से इतने मुग्ध हो गए कि यद्यपि देवताओं को सर्वप्रथम अमृत बाँटा गया तो भी वे मीठे वचनों से ही शान्त हो गए। भगवान् ने असुरों से कहा, "देवतागण अत्यन्त कंजूस हैं, अतएव वे पहले ही अमृत पी लेने के उत्सुक हैं। अतएव उन्हें ही पहले पी लेने दो। किन्तु तुम उन जैसे नहीं हो, अतएव तुम थोड़े समय तक प्रतीक्षा कर सकते हो। तुम सभी वीर हो, और मुझसे इतने प्रसन्न हो। तुम्हारे लिए श्रेयस्कर होगा कि जब तक देवता अमृत पान न कर लें तब तक तुम लोग प्रतीक्षा करो।"

देवलिङ्गप्रतिच्छन्नः स्वर्भानुर्देवसंसदि ।
प्रविष्टः सोममपिबच्चन्द्रार्काभ्यां च सूचितः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

देव-लिङ्ग-प्रतिच्छन्नः—देवता के वस्त्र से अपने को आच्छादित करके; स्वर्भानुः—राहु ने (जो सूर्य तथा चन्द्रमा पर आक्रमण करके उन्हें ग्रस लेता है); देव-संसदि—देवताओं के समूह में; प्रविष्टः—घुस करके; सोमम्—अमृत; अपिबत्—पी लिया; चन्द्र-अर्काभ्याम्—चन्द्रमा तथा सूर्य दोनों के द्वारा; च—तथा; सूचितः—बतलाये जाने पर।

सूर्य तथा चन्द्रमा को ग्रसने वाला असुर राहु अपने आपको देवता के वस्त्र से आच्छादित

करके देवताओं के समूह में प्रविष्ट हो गया और किसी के द्वारा, यहाँ तक कि भगवान् के द्वारा भी, जाने बिना अमृत पीने लगा। किन्तु चन्द्रमा तथा सूर्य, राहु से स्थायी शत्रुता के कारण, स्थिति को भांप गये। इस तरह राहु पहचान लिया गया।

तात्पर्य : मोहिनी-मूर्ति रूप भगवान् सारे असुरों को मोहित करने में सफल हो गये, किन्तु राहु इतना चतुर था कि वह मोहित नहीं हुआ। वह समझ गया कि मोहिनी-मूर्ति असुरों को ठग रही है अतएव उसने अपने वस्त्र बदल लिए; उसने देवता का वेश बना लिया और देवताओं के समूह में जा बैठा। यहाँ पर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि आखिर राहु को भगवान् क्यों नहीं पहचान पाये? कारण यह था कि भगवान् अमृत पीने का मजा चखाना चाहते थे। यह अगले श्लोकों से स्पष्ट हो जायेगा। किन्तु चन्द्रमा तथा सूर्य राहु से सदैव सतर्क रहते थे। अतएव जब राहु देवताओं के समूह में प्रविष्ट हुआ तो उन्होंने तुरन्त उसे पहचान लिया और तब भगवान् भी उससे सतर्क हो गये।

चक्रेण क्षुरधारेण जहार पिबतः शिरः ।
हरिस्तस्य कबन्धस्तु सुधयाप्लावितोऽपतत् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

चक्रेण—चक्र से; **क्षुर-धारेण**—छुरे जैसा तेज; **जहार**—काट दिया; **पिबतः**—अमृत पीते हुए; **शिरः**—सिर; **हरिः**—भगवान् ने; **तस्य**—राहु का; **कबन्धः तु**—किन्तु शिरविहीन शरीर; **सुधया**—अमृत के द्वारा; **अप्लावितः**—स्पर्श न होने से; **अपतत्**—मृत होकर गिर पड़ा।

भगवान् हरि ने छुरे के समान तेज धार वाले अपने चक्र को चला कर तुरन्त ही राहु का सिर छिन्न कर दिया। जब राहु का सिर उसके शरीर से कट गया तो वह शरीर अमृत का स्पर्श न करने के कारण जीवित नहीं रह पाया।

तात्पर्य : जब मोहिनी-मूर्ति रूप भगवान् ने राहु के सिर को उसके शरीर से छिन्न कर दिया तो सिर तो जीवित रहा, किन्तु शरीर मृत हो गया। राहु मुख से अमृत पी रहा था और इसके पूर्व कि अमृत शरीर में प्रवेश करे, उसका सिर काट दिया गया। इस तरह राहु का सिर तो जीवित रहा, किन्तु उसका शरीर मृत हो गया। भगवान् द्वारा सम्पन्न यह अद्भुत कार्य यह दिखाने के लिए था कि अमृत अद्भुत देव-आहार है।

शिरस्त्वमरतां नीतमजो ग्रहमचीक्लिपत् ।

यस्तु पर्वणि चन्द्रार्कावभिधावति वैरधीः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

शिरः—सिर; तु—निस्सन्देह; अमरताम्—अमरता; नीतम्—प्राप्त करके; अजः—ब्रह्माजी; ग्रहम्—एक ग्रह के रूप में; अचीक्लिपत्—पहचान लिया; यः—वही राहु; तु—निस्सन्देह; पर्वणि—पूर्णिमा तथा अमावस्या में; चन्द्र-अर्कौ—चन्द्रमा तथा सूर्य दोनों का; अभिधावति—पीछा करता है; वैर-धीः—शत्रुता के कारण।

किन्तु अमृत का स्पर्श करने के कारण राहु का सिर अमर हो गया। इस प्रकार ब्रह्माजी ने राहु के सिर को एक ग्रह (लोक) के रूप में मान लिया। चूँकि राहु सूर्य तथा चन्द्रमा का शाश्वत वैरी है, अतः वह पूर्णिमा तथा अमावस्या की रात्रियों में उन पर सदैव आक्रमण करने का प्रयत्न करता है।

तात्पर्य : चूँकि राहु अमर हो गया था इसलिए ब्रह्माजी ने उसे सूर्य या चन्द्रमा जैसे एक ग्रह अथवा लोक के रूप में स्वीकार कर लिया। किन्तु राहु सूर्य तथा चन्द्रमा का नित्य शत्रु होने के कारण पूर्णमासी तथा अमावस्या की रातों में उन पर बारम्बार आक्रमण करता है।

पीतप्रायेऽमृते देवैर्भगवाल्लोकभावनः ।
पश्यतामसुरेन्द्राणां स्वं रूपं जगृहे हरिः ॥ २७॥

शब्दार्थ

पीत-प्राये—जब पीना लगभग समाप्त हो गया; अमृते—अमृत का; देवैः—देवताओं द्वारा; भगवान्—मोहिनी-मूर्ति के रूप में भगवान्; लोक-भावनः—तीनों लोकों के पालक तथा शुभचिन्तक; पश्यताम्—देखते-देखते; असुर-इन्द्राणाम्—अपने सेनापतियों सहित सारे असुरों के; स्वम्—अपने; रूपम्—रूप को; जगृहे—प्रकट किया; हरिः—भगवान् ने।

भगवान् तीनों लोकों के सर्वश्रेष्ठ मित्र तथा शुभचिन्तक हैं। इस तरह जब देवताओं ने अमृत पीना प्रायः समाप्त किया तब भगवान् ने समस्त असुरों के समक्ष अपना वास्तविक रूप प्रकट कर दिया।

एवं सुरासुरगणाः समदेशकाल-
हेत्वर्थकर्ममतयोऽपि फले विकल्पाः ।
तत्रामृतं सुरगणाः फलमञ्जसापु-
र्यत्पादपङ्कजरजःश्रयणान्न दैत्याः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सुर—देवता; असुर-गणाः—तथा असुर; सम—समान; देश—स्थान; काल—समय; हेतु—कारण; अर्थ—उद्देश्य; कर्म—कर्म; मतयः—अभिलाषा; अपि—यद्यपि एक; फले—फल में; विकल्पाः—समान नहीं; तत्र—वहाँ पर; अमृतम्—अमृत; सुर-गणाः—देवता; फलम्—फल; अञ्जसा—आसानी से, पूरी तरह, प्रत्यक्षतः; आपुः—प्राप्त; यत्—जिससे; पाद-पङ्कज—भगवान् के चरणकमलों की; रजः—केसर की धूलि; श्रयणात्—आश्रय ग्रहण करने या वर प्राप्त करने से; न—नहीं; दैत्याः—असुरगण।

यद्यपि देवताओं तथा असुरों के देश, काल, कारण, उद्देश्य, कर्म तथा अभिलाषा एक-जैसे थे, किन्तु देवताओं को एक प्रकार का फल मिला और असुरों को दूसरे प्रकार का। चूँकि देवता सदैव भगवान् के चरणकमलों की धूलि की शरण में रहते हैं अतएव वे बड़ी आसानी से अमृत पी सके और उसका फल भी पा सके। किन्तु भगवान् के चरणकमलों का आश्रय न ग्रहण करने के कारण असुर मनवांछित फल प्राप्त करने में असमर्थ रहे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (४.११) में कहा गया है—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*—भगवान् परम न्यायकर्ता हैं, जो विभिन्न मनुष्यों को उनके चरणकमलों की शरण में जाने के अनुसार पुरस्कृत करते या दण्ड देते हैं। अतएव यह वस्तुतः देखा जा सकता है कि यद्यपि *कर्मी* तथा *भक्त* एक ही स्थान पर, एक ही काल में, एक ही जैसी शक्ति तथा एक सी अभिलाषा से कार्य करते हैं, किन्तु उन्हें पृथक्-पृथक् फल प्राप्त होते हैं। कर्मी जन्म-मृत्यु के चक्र में बँधकर विभिन्न शरीरों में देहान्तर करते हैं—कभी ऊपर जाते हैं, तो कभी नीचे और इस तरह *कर्मचक्र* में अपने कर्मों का फल भोगते हैं। किन्तु भक्त भगवान् के चरणों में पूर्णतया समर्पण करने के कारण कभी भी अपने प्रयासों में असफल नहीं होते। यद्यपि वे बाह्य रूप से कर्मियों की तरह ही कर्म करते हैं, किन्तु वे भगवद्धाम को वापस जाते हैं और प्रत्येक प्रयास में सफल होते हैं। असुरों या नास्तिकों को अपने प्रयासों पर विश्वास रहता है, फिर भी वे अहर्निश कठोर परिश्रम करके भी अपने भाग्य से अधिक प्राप्त नहीं कर पाते। किन्तु भक्त कर्मफलों को पार करके बिना प्रयास के ही अद्भुत फल प्राप्त कर सकते हैं। यह भी कहा गया है—*फलेन परिचीयते*—किसी कार्य की सफलता या असफलता उसके फल से जानी जाती है। ऐसे अनेक कर्मी होते हैं, जो भक्तों के वेश में रहते हैं, किन्तु भगवान् उनके प्रयोजन को जान सकते हैं। कर्मीजन भगवान् की सम्पत्ति का उपयोग अपनी स्वार्थपूर्ण इन्द्रियतृप्ति के लिए करना चाहते हैं, किन्तु भक्त उसे ईश्वर की सेवा में लगाना चाहते हैं। अतएव भक्त सदैव कर्मी से पृथक् रहता है भले ही कर्मीजन भक्तों का वेश बना लें। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (३.९) में यों हुई है—*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।* जो भगवान् विष्णु के लिए कर्म करता है, वह इस भौतिक जगत से मुक्त होता है और इस शरीर को त्यागकर भगवद्धाम को जाता है। किन्तु कर्मी बाह्यरूप से भक्त-जैसा कर्म करने पर भी अपने अभक्तिमय कर्म में फँस जाता है और इस तरह संसार के क्लेशों को भोगता है। इस तरह

कर्मियों तथा भक्तों द्वारा प्राप्त फलों से भगवान् का अस्तित्व समझा जा सकता है, जो कर्मियों तथा ज्ञानियों के साथ भक्तों की तुलना में भिन्न रूप से व्यवहार करते हैं। अत: *श्रीचैतन्य-चरितामृत* का लेखक कहता है—

कृष्णभक्त—निष्काम, अतएव 'शान्त'

भुक्ति-मुक्ति-सिद्धि-कामी—सकलि 'अशान्त'

इन्द्रियतृप्ति चाहने वाले कर्मी, ब्रह्म में विलीन होने की मुक्ति की अभिलाषा करने वाले ज्ञानी तथा योगशक्ति में भौतिक सफलता की खोज करने वाले योगी—ये सभी अशान्त रहते हैं और अन्ततोगत्वा निराश हो जाते हैं। किन्तु भक्त, जो अपने किसी निजी लाभ की आशा नहीं करता और जिसकी एकमात्र अभिलाषा भगवान् की महिमा को प्रसारित करने की रहती है, बिना कठिन श्रम के भक्तियोग के समस्त शुभफल पाता है।

यद्युज्यतेऽसुवसुकर्ममनोवचोभि-
देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत्पृथक्त्वात् ।
तैरेव सद्भवति यत्क्रियतेऽपृथक्त्वात्
सर्वस्य तद्भवति मूलनिषेचनं यत् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो भी; युज्यते—सम्पन्न किया जाता है; असु—जीवन की रक्षा के लिए; वसु—सम्पत्ति की रक्षा; कर्म—कर्म; मनः—मन के कार्यों से; वचोभिः—शाब्दिक कार्यों से; देह-आत्म-ज-आदिषु—अपने शरीर या परिवार के लिए; नृभिः—मनुष्यों के द्वारा; तत्—वह; असत्—क्षणभंगुर; पृथक्त्वात्—भगवान् से वियोग के कारण; तैः—उन्हीं कार्यों के द्वारा; एव—निस्सन्देह; सत् भवति—वास्तविक तथा स्थायी बनता है; यत्—जो; क्रियते—सम्पन्न किया जाता है; अपृथक्त्वात्—वियोग न होने से; सर्वस्य—हर एक के लिए; तत् भवति—लाभप्रद बन जाता है; मूल-निषेचनम्—वृक्ष की जड़ को सींचने की तरह; यत्—जो।

मानव समाज में मनुष्य की सम्पत्ति तथा उसके जीवन की सुरक्षा के लिए मनसावाचाकर्मणा विविध कार्य किये जाते हैं, किन्तु ये सब कार्य शरीर के लिए या इन्द्रियतृप्ति के लिए ही किये जाते हैं। ये सारे कार्यकलाप भक्ति से पृथक् होने के कारण निराशाजनक होते हैं। किन्तु जब ये ही कार्य भगवान् को प्रसन्न करने के लिए किये जाते हैं, तो उनके लाभकारी फल सब में बाँट दिए जाते हैं जिस तरह वृक्ष की जड़ में पानी डालने से वह समूचे वृक्ष में वितरित हो जाता है।

तात्पर्य : भौतिकतावादी कार्यकलापों एवं कृष्णभावनामृत के लिए सम्पन्न कार्यों में अन्तर यही

होता है। सारा जगत सक्रिय है और इसमें कर्मी, ज्ञानी, योगी तथा भक्त सभी सम्मिलित हैं। किन्तु भक्तों के कार्यों के अतिरिक्त सारे कार्यकलाप निराशा एवं समय तथा शक्ति के अपव्यय में समाप्त होते हैं। *मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतस:*—जो भक्त नहीं है उसकी आशाएँ, उसके कर्म, तथा उसका ज्ञान सभी निराशाजनक होते हैं। अभक्त अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए या अपने परिवार, समाज, जाति या राष्ट्र के लिए कर्म करता है, किन्तु ऐसे सारे कार्य भगवान् से पृथक् होने के कारण *असत्* माने जाते हैं। *असत्* का अर्थ है बुरा, या क्षणिक तथा *सत्* का अर्थ है अच्छा तथा स्थायी। कृष्ण की तुष्टि के लिए किये गये कार्य स्थायी तथा उत्तम होते हैं, किन्तु असत् कार्य भले ही परोपकार या राष्ट्रवाद माने जाए, यह 'वाद' या वह 'वाद' कभी स्थायी परिणाम नहीं देता, फलत: निकृष्ट हैं। कृष्णभावनामृत में किया गया थोड़ा सा कार्य भी स्थायी निधि है और सर्वशुभ है क्योंकि यह सर्वकल्याणकारी भगवान् कृष्ण के लिए किया जाता है, जो हर एक के सुहृद हैं (*सुहृदं सर्वभूतानाम्*)। भगवान् ही हर एक वस्तु के एकमात्र भोक्ता तथा स्वामी हैं (*भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्*) अतएव भगवान् के लिए किया गया कोई भी कार्य स्थायी होता है। ऐसे कर्मों के फलस्वरूप कर्ता तुरन्त पहचान लिया जाता है। *न च तस्मान् मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तम:।* ऐसा भक्त, भगवान् का पूर्ण ज्ञान रखने के कारण तुरन्त दिव्य बन जाता है यद्यपि ऊपर से वह भौतिकतावादी कार्यों में व्यस्त दिखाई दे। भौतिकतावादी कर्म तथा आध्यात्मिक कर्म का अन्तर यही है कि भौतिक कर्म अपनी निजी इन्द्रियतृप्ति के लिए किया जाता है, जबकि आध्यात्मिक कर्म भगवान् की दिव्य इन्द्रियों को तुष्ट करने के लिए किये जाते हैं। आध्यात्मिक कर्म से हर एक को वास्तविक लाभ मिलता है, जबकि भौतिकतावादी कर्म से किसी को लाभ नहीं होता, प्रत्युत वह कर्म के नियमों में बँधता जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कंध के अन्तर्गत ''मोहिनी-मूर्ति के रूप में भगवान् का अवतार'' नामक नवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दस

देवताओं तथा असुरों के बीच युद्ध

दसवें अध्याय का सारांश इस प्रकार है—असुरों तथा देवताओं में ईर्ष्या होने के कारण युद्ध चलता

रहा। जब देवता असुरों की चाल से प्राय: हार गए और अत्यन्त खिन्न हो गए। तब भगवान् विष्णु उन सबके बीच प्रकट हुए।

देवता तथा असुर दोनों ही माया–सम्बन्धी कार्यकलापों में निपुण होते हैं लेकिन देवता भगवद्भक्त हैं जबकि असुर उनके सर्वथा विपरीत हैं। देवताओं तथा असुरों ने अमृत–प्राप्ति के लिए क्षीरसागर का मन्थन किया, किन्तु असुर भगवद्भक्त न होने के कारण इससे कोई लाभ प्राप्त न कर सके। देवताओं को अमृत पिलाकर भगवान् विष्णु गरुड़ पर चढ़कर अपने धाम वापस चले गये, किन्तु अत्यन्त दुखी होने के कारण असुरों ने पुन: देवताओं के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। विरोचन के पुत्र बलि महाराज असुरों के सेनापति बने। युद्ध के प्रारम्भ में देवताओं ने असुरों को हराने की तैयारी की। स्वर्ग के राजा इन्द्र ने बलि से और वायु, अग्नि, वरुण इत्यादि देवताओं ने अन्य असुर–नायकों से युद्ध किया। इस युद्ध में असुर पराजित हुए। मृत्यु से बचने के लिए उन्होंने तरह–तरह की भौतिक युक्तियों से देवताओं के पक्ष के सैनिकों को मारकर मायाजाल फैलाना शुरू किया। देवताओं ने अन्य कोई रास्ता न देखकर पुन: भगवान् विष्णु की शरण ली। तब उन्होंने प्रकट होकर असुरों के सारे मायाजाल को छिन्न–भिन्न कर डाला। असुरों के जिन वीरों ने भगवान् से युद्ध किया उनमें कालनेमि, माली, सुमाली तथा माल्यवान मुख्य थे। ये सभी भगवान् द्वारा मारे गये। इस तरह देवता सारे संकटों से मुक्त हो गये।

श्रीशुक उवाच

इति दानवदैतेया नाविन्दन्नमृतं नृप ।
युक्ताः कर्मणि यत्ताश्च वासुदेवपराङ्मुखाः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; दानव-दैतेयाः—असुरों तथा दैत्यों ने; न—नहीं; अविन्दन्—वांछित फल प्राप्त किया; अमृतम्—अमृत; नृप—हे राजा; युक्ताः—सभी मिलकर; कर्मणि—मन्थन में; यत्ताः—पूर्ण मनोयोग से लगे हुए; च—तथा; वासुदेव—भगवान् कृष्ण के; पराङ्मुखाः—अभक्त होने के कारण।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा! यद्यपि असुर तथा दैत्य पूरे मनोयोग तथा श्रम के साथ समुद्र-मन्थन में लगे थे, किन्तु भगवान् वासुदेव के भक्त न होने के कारण वे अमृत नहीं पी सके।

साधयित्वामृतं राजन्पाययित्वा स्वकान्सुरान् ।
पश्यतां सर्वभूतानां ययौ गरुडवाहनः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

साधयित्वा—सम्पन्न करके; अमृतम्—अमृत की उत्पत्ति; राजन्—हे राजा; पाययित्वा—तथा पिलाकर; स्वकान्—अपने भक्तों; सुरान्—देवताओं को; पश्यताम्—उपस्थिति में; सर्व-भूतानाम्—सारे जीवों की; ययौ—चले गये; गरुड-वाहनः—गरुड़ द्वारा ले जाये जाने वाले भगवान्।

हे राजा! समुद्र-मन्थन का कार्य पूरा कर लेने तथा अपने प्रिय भक्त देवताओं को अमृत पिला लेने के बाद भगवान् ने उन सबके देखते-देखते वहाँ से विदा ली और गरुड़ पर चढ़कर अपने धाम चले गये।

सपत्नानां परामृद्धिं दृष्ट्वा ते दितिनन्दनाः ।
अमृष्यमाणा उत्पेतुर्देवान्प्रत्युद्यतायुधाः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सपत्नानाम्—अपने प्रतिद्वन्द्वियों अर्थात् देवताओं का; पराम्—सर्वश्रेष्ठ; ऋद्धिम्—ऐश्वर्य; दृष्ट्वा—देखकर; ते—वे सब; दिति-नन्दनाः—दिति के पुत्र, दैत्यगण; अमृष्यमाणाः—न सह सकने के कारण; उत्पेतुः—दौड़े (उपद्रव मचाने के लिए); देवान्—देवताओं की ओर; प्रत्युद्यत-आयुधाः—अपने हथियार उठाकर।

देवताओं की विजय देखकर असुरगण उनके श्रेष्ठतर ऐश्वर्य को सहन न कर सके। अतः वे अपने-अपने हथियार उठाकर देवताओं की ओर दौड़ पड़े।

ततः सुरगणाः सर्वे सुधया पीतयैधिताः ।
प्रतिसंयुयुधुः शस्त्रैर्नारायणपदाश्रयाः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; सुर-गणाः—देवता; सर्वे—सभी; सुधया—अमृत से; पीतया—पिया हुआ; एधिताः—ऐसे पीने से उत्तेजित होकर; प्रतिसंयुयुधुः—उन्होंने असुरों पर जवाबी हमला किया; शस्त्रैः—शस्त्रों के द्वारा; नारायण-पद-आश्रयाः—उनका असली हथियार नारायण के चरणकमलों की शरण था।

तत्पश्चात् अमृत पीने से उत्तेजित देवताओं ने जो सदैव नारायण के चरणकमलों की शरण में रहते हैं असुरों पर प्रत्याक्रमण करने के लिए युद्ध की मनोवृत्ति से अपने विविध हथियारों का प्रयोग किया।

तत्र दैवासुरो नाम रणः परमदारुणः ।
रोधस्युदन्वतो राजंस्तुमुलो रोमहर्षणः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ (क्षीरसागर के तट पर); दैव—देवता; असुरः—असुर; नाम—नाम से; रणः—युद्ध; परम—अत्यन्त; दारुणः—भयानक; रोधसि—तट पर; उदन्वतः—क्षीरसागर के; राजन्—हे राजा; तुमुलः—कोलाहलपूर्ण; रोम-हर्षणः—शरीर के रोएँ खड़े हुए।

हे राजा! देवताओं तथा असुरों के मध्य क्षीरसागर के तट पर घमासान युद्ध शुरु हो गया। यह युद्ध इतना भयंकर था कि इसके विषय में सुनने से ही शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

तत्रान्योन्यं सपत्नास्ते संरब्धमनसो रणे ।
समासाद्यासिभिर्बाणैर्निजघ्नुर्विविधायुधैः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तत्र—तत्पश्चात्; अन्योन्यम्—एक दूसरे से; सपत्नाः—सभी लड़ाकू बनकर; ते—वे; संरब्ध—अत्यन्त क्रुद्ध; मनसः—मन से; रणे—युद्ध में; समासाद्य—परस्पर लड़ने का अवसर पाकर; असिभिः—तलवार से; बाणैः—बाणों से; निजघ्नुः—एक दूसरे को मारने लगे; विविध-आयुधैः—विभिन्न प्रकार के हथियारों से।

उस युद्ध में दोनों ही दल मन ही मन अत्यन्त क्रुद्ध थे। वे शत्रुतावश एक दूसरे पर तलवारों, बाणों तथा अन्य विविध हथियारों से प्रहार करने लगे।

तात्पर्य : इस ब्रह्माण्ड में, न केवल इस लोक में अपितु उच्च लोकों में भी, सदा से दो प्रकार के मनुष्य रहे हैं। सूर्य तथा चन्द्र जैसे लोकों में आधिपत्य जमाने वाले सारे राजाओं के भी राहु जैसे शत्रु रहे हैं। सूर्य तथा चन्द्रमा पर यदा-कदा राहु द्वारा आक्रमण किये जाने के कारण ही ग्रहण लगते हैं। असुरों तथा देवताओं की लड़ाई शाश्वत है। इसे तब तक नहीं रोका जा सकता जब तक दोनों पक्षों के बुद्धिमान् पुरुष कृष्णभावनाभावित न हो जाँए।

शङ्खतूर्यमृदङ्गानां भेरीडमरिणां महान् ।
हस्त्यश्वरथपत्तीनां नदतां निस्वनोऽभवत् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

शङ्ख—शंखों का; तूर्य—बड़ी तुरहियों का; मृदङ्गानाम्—तथा ढोलों का; भेरीडमरिणाम्—भेरियों तथा डमरियों का; महान्—अत्यन्त कोलाहलपूर्ण; हस्ति—हाथियों का; अश्व—घोड़ों का; रथ-पत्तीनाम्—रथ पर या भूमि पर लड़ने वालो का; नदताम्—शब्द करते; निस्वनः—कोलाहल; अभवत्—हुआ।

शंखों, तुरहियों, ढोलों, भेरियों तथा डमरियों की आवाजों के साथ ही हाथियों, घोड़ों तथा रथ पर चढ़े और पैदल सिपाहियों से निकली ध्वनियों से कोलाहल मच गया।

रथिनो रथिभिस्तत्र पत्तिभिः सह पत्तयः ।
हया हयैरिभाश्चेभैः समसज्जन्त संयुगे ॥ ॥

शब्दार्थ

रथिनः—रथ पर आरूढ़; रथिभिः—शत्रुपक्ष के रथ पर आरूढ़ सैनिकों से; तत्र—युद्धस्थल में; पत्तिभिः—पैदल सेना के; सह—साथ; पत्तयः—शत्रुओं की पैदल सेना; हयाः—घोड़े; हयैः—घुड़सवार शत्रु सैनिकों से; इभाः—हाथी पर चढ़े सैनिक; च—तथा; इभैः—हाथी पर सवार शत्रु-सैनिकों से; समसज्जन्त—समान स्तर पर एक दूसरे से लड़ने लगे, भिड़ गये; संयुगे—युद्धस्थल में।

उस युद्धभूमि में रथी अपने विपक्षी रथियों से, पैदल सेना विपक्षी पैदल सेना से, अश्वारोही विपक्षी अश्वारोहियों से तथा हाथी पर सवार सैनिक विपक्षी हाथी पर सवार सैनिकों से भिड़ गये। इस प्रकार समान पक्षों में युद्ध होने लगा।

उष्ट्रैः केचिदिभैः केचिदपरे युयुधुः खरैः ।
केचिद्गौरमुखैरृक्षैर्द्वीपिभिर्हरिभिर्भटाः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

उष्ट्रैः—ऊँट की पीठ पर; केचित्—कुछ व्यक्ति; इभैः—हाथी की पीठ पर; केचित्—कुछ व्यक्ति; अपरे—अन्य; युयुधुः—युद्ध में लगे हुए; खरैः—गधों की पीठ पर; केचित्—कुछ व्यक्ति; गौर-मुखैः—सफेद मुँह वाले बन्दरों पर; ऋक्षैः—लाल मुँह वाले बन्दरों (रीछों) पर; द्वीपिभिः—बाघों की पीठ पर; हरिभिः—सिंहों की पीठ पर; भटाः—सारे सैनिक।

कुछ सैनिक ऊँटों पर, कुछ हाथियों पर, कुछ गधों पर, कुछ सफेद मुँह वाले और लाल मुँह वाले बन्दरों पर, कुछ बाघों पर और कुछ सिंहों पर सवार होकर लड़ने लगे। इस प्रकार वे सब युद्ध में लगे थे।

गृध्रैः कङ्कैर्बकैरन्ये श्येनभासैस्तिमिङ्गिलैः ।
शरभैर्महिषैः खड्गैर्गोवृषैर्गवयारुणैः ॥ १० ॥
शिवाभिराखुभिः केचित्कृकलासैः शशैर्नरैः ।
बस्तैरेके कृष्णसारैर्हंसैरन्ये च सूकरैः ॥ ११ ॥
अन्ये जलस्थलखगैः सत्त्वैर्विकृतविग्रहैः ।
सेनयोरुभयो राजन्विविशुस्तेऽग्रतोऽग्रतः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

गृध्रैः—गीधों की पीठ पर; कङ्कैः—चील्हों की पीठ पर; बकैः—बगुलों की पीठ पर; अन्ये—अन्य लोग; श्येन—बाजों की पीठ पर; भासैः—भास की पीठ पर; तिमिङ्गिलैः—तिमिङ्गिल नामक बड़ी मछली की पीठ पर; शरभैः—शरभों की पीठ पर; महिषैः—भैंसे की पीठ पर; खड्गैः—गैंडे की पीठ पर; गो—गायों की पीठ पर; वृषैः—बैलों की पीठ पर; गवय-अरुणैः—गवयों तथा अरुणों की पीठ पर; शिवाभिः—सियारों की पीठ पर; आखुभिः—बड़े चूहों की पीठ पर; केचित्—कुछ लोग; कृकलासैः—बड़ी छिपकलियों पर; शशैः—खरहों की पीठ पर; नरैः—मनुष्यों की पीठ पर; बस्तैः—बकरों की पीठ पर; एके—कुछ; कृष्ण-सारैः—काले हिरनों की पीठ पर; हंसैः—हंसों की पीठ पर; अन्ये—अन्य; च—भी; सूकरैः—सुअरों की पीठ पर; अन्ये—अन्य; जल-स्थल-खगैः—जल, स्थल तथा आकाश में चलने वाले पशुओं से; सत्त्वैः—वाहन के रूप में प्रयुक्त प्राणियों से; विकृत—विरूपित हैं; विग्रहैः—ऐसे पशुओं द्वारा जिनके शरीर; सेनयोः—दोनों पक्षो के सैनिकों के; उभयोः—दोनों के; राजन्—हे राजा; विविशुः—प्रवेश किया; ते—वे सभी; अग्रतः अग्रतः—आमने-सामने जाते हुए।

हे राजा! कुछ सैनिक गीधों, चील्हों, बगुलों, बाजों तथा भास पक्षियों की पीठ पर बैठकर

लड़े। कुछ ने विशाल मत्स्यों (तिमि) को भी निगलने वाली तिमिंगलों की पीठ पर, कुछ ने सरभों की पीठ पर तो कुछ ने भैंसों, गैंडों, गायों, बैलों, बनगायों तथा अरुणों की पीठ पर सवार होकर युद्ध किया। अन्य लोगों ने सियारों, चूहों, छिपकलियों, खरहों, मनुष्यों, बकरों, काले हिरनों, हंसों तथा सुअरों की पीठ कर बैठकर युद्ध किया। इस प्रकार जल, स्थल तथा आकाश के पशुओं की पीठ पर, जिनमें विकृत शरीर वाले पशु भी थे, बैठी दोनों सेनाएँ आमने-सामने होकर आगे बढ़ रही थीं।

चित्रध्वजपटै राजन्नातपत्रैः सितामलैः ।
महाधनैर्वज्रदण्डैर्व्यजनैर्बार्हचामरैः ॥ १३ ॥
वातोद्धूतोत्तरोष्णीषैरर्चिर्भिर्वर्मभूषणैः ।
स्फुरद्भिर्विशदैः शस्त्रैः सुतरां सूर्यरश्मिभिः ॥ १४ ॥
देवदानववीराणां ध्वजिन्यौ पाण्डुनन्दन ।
रेजतुर्वीरमालाभिर्यादसामिव सागरौ ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

चित्र-ध्वज-पटैः—सुन्दर सजे झंडों तथा तम्बुओं से; राजन्—हे राजा; आतपत्रैः—धूप से बचने के लिए छातों से; सित-अमलैः—अत्यन्त स्वच्छ तथा श्वेत; महा-धनैः—अत्यन्त मूल्यवान; वज्र-दण्डैः—रत्नों तथा मोतियों से बने दण्डों से; व्यजनैः—पंखों से; बार्ह-चामरैः—मोर पंखों से बने पंखों से; वात-उद्धूत—हवा से उड़ते; उत्तर-उष्णीषैः—ऊपरी तथा निचले वस्त्रों से; अर्चिर्भिः—तेज से; वर्म-भूषणैः—गहनों तथा ढालों से; स्फुरद्भिः—चमकते; विशदैः—तेज तथा स्वच्छ; शस्त्रैः—हथियारों से; सुतराम्—अत्यधिक; सूर्य-रश्मिभिः—सूर्य की चमचमाती किरणों से; देव-दानव-वीराणाम्—देवताओं और दानवों के दलों के सारे वीरों का; ध्वजिन्यौ—अपना-अपना झंडा लिए दोनों दलों के सैनिक; पाण्डु-नन्दन—हे महाराज पाण्डु के वंशज; रेजतुः—चमके; वीर-मालाभिः—वीरों द्वारा पहनी गई मालाओं से; यादसाम्—जलचरों के; इव—सदृश; सागरौ—दोनों समुद्र।

हे राजा! हे महाराज पाण्डु के वंशज! देवता तथा असुर दोनों ही के सैनिक चँदोवा, रंगबिरंगी झंडियों तथा बहुमूल्य रत्नों एवं मोतियों से बनी मूठ वाले छातों से अलंकृत थे। वे मोरपंख से बने तथा अन्य पंखों से सुशोभित थे। ऊपरी तथा अधोवस्त्रों के वायु में लहराने के कारण सैनिक अत्यन्त सुन्दर लग रहे थे और चमचमाती धूप में उनकी ढालें, उनके गहने तथा तीक्ष्ण स्वच्छ हथियार आँखों को चौंधिया रहे थे। इस तरह सैनिकों की टोलियाँ जलचरों के दलों से युक्त दो सागरों के समान प्रतीत हो रही थीं।

वैरोचनो बलिः सङ्ख्ये सोऽसुराणां चमूपतिः ।
यानं वैहायसं नाम कामगं मयनिर्मितम् ॥ १६ ॥

सर्वसाङ्ग्रामिकोपेतं सर्वाश्चर्यमयं प्रभो ।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं दृश्यमानमदर्शनम् ॥ १७॥

आस्थितस्तद्विमानाछ्यं सर्वानीकाधिपैर्वृतः ।
बालव्यजनछत्राछ्यै रेजे चन्द्र इवोदये ॥ १ ॥

शब्दार्थ

वैरोचनः—विरोचन का पुत्र; बलिः—महाराज बलि; सङ्ख्ये—युद्ध में; सः—वह, इतना विख्यात; असुराणाम्—असुरों का; चमू-पतिः—सेनापति; यानम्—वायुयान; वैहायसम्—वैहायस; नाम—नामक; काम-गम्—इच्छानुसार कहीं भी उड़ने में समर्थ; मय-निर्मितम्—मय दानव द्वारा बनाया हुआ; सर्व—सारा; साङ्ग्रामिक-उपेतम्—सभी तरह के शत्रुओं से लड़ने के लिए सभी प्रकार के आवश्यक हथियारों से युक्त; सर्व-आश्चर्य-मयम्—सभी तरह से आश्चर्यपूर्ण; प्रभो—हे राजा; अप्रतर्क्यम्—वर्णन न किए जाने योग्य; अनिर्देश्यम्—अवर्णनीय; दृश्यमानम्—कभी-कभी दृश्य; अदर्शनम्—कभी-कभी अदृश्य; आस्थितः—इस तरह से आसीन; तत्—वह; विमान-अछ्यम्—सर्वोत्कृष्ट वायुयान; सर्व—सारा; अनीक-अधिपैः—सैनिकों के नायकों द्वारा; वृतः—घिरा; बाल-व्यजन-छत्र-अछ्यैः—सुन्दर ढंग से सजाये छातों एवं श्रेष्ठ चामरों से सुरक्षित; रेजे—चमकते हुए स्थित; चन्द्रः—चन्द्रमा; इव—सदृश; उदये—शाम को उदय होते समय।

उस युद्ध के लिए विख्यात सेनापति विरोचन-पुत्र महाराज बलि वैहायस नामक अद्‌भुत वायुयान पर आसीन थे। हे राजा! यह सुन्दर ढंग से सजाया गया वायुयान मय दानव द्वारा निर्मित किया गया था और युद्ध के सभी प्रकार के हथियारों से युक्त था। यह अचिन्त्य तथा अवर्णनीय था। यह कभी दिखता तो कभी नहीं दिखता था। इस वायुयान में एक सुन्दर छाते के नीचे बैठे तथा सर्वोत्तम चमरों से पंखा झले जाते हुए एवं अपने सेनानायकों से घिरे महाराज बलि इस प्रकार लग रहे थे मानों शाम को चन्द्रमा उदय हो रहा हो और सभी दिशाओं को प्रकाशित कर रहा हो।

तस्यासन्सर्वतो यानैर्यूथानां पतयोऽसुराः ।
नमुचिः शम्बरो बाणो विप्रचित्तिरयोमुखः ॥ १९ ॥

द्विमूर्धा कालनाभोऽथ प्रहेतिर्हेतिरिल्वलः ।
शकुनिर्भूतसन्तापो वज्रदंष्ट्रो विरोचनः ॥ २० ॥

हयग्रीवः शङ्कुशिराः कपिलो मेघदुन्दुभिः ।
तारकश्चक्रदृक्शुम्भो निशुम्भो जम्भ उत्कलः ॥ २१ ॥

अरिष्टोऽरिष्टनेमिश्च मयश्च त्रिपुराधिपः ।
अन्ये पौलोमकालेया निवातकवचादयः ॥ २२ ॥

अलब्धभागाः सोमस्य केवलं क्लेशभागिनः ।
सर्व एते रणमुखे बहुशो निर्जितामराः ॥ २३ ॥

सिंहनादान्विमुञ्चन्तः शङ्खान्दध्मुर्महारवान् ।
दृष्ट्वा सपत्नानुत्सिक्तान्बलभित्कुपितो भृशम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके (बलि महाराज के); आसन्—स्थित; सर्वतः—चारों ओर; यानैः—विभिन्न यानों से; यूथानाम्—सैनिकों के; पतयः—सेनानायक; असुराः—असुरगण; नमुचिः—नमुचि; शम्बरः—शम्बर; बाणः—बाण; विप्रचित्तिः—विप्रचित्ति; अयोमुखः—अयोमुख; द्विमूर्धा—द्विमूर्धा; कालनाभः—कालनाभ; अथ—भी; प्रहेतिः—प्रहेति; हेतिः—हेतिः; इल्वलः—इल्वल; शकुनिः—शकुनि; भूतसन्तापः—भूतसन्ताप; वज्र-दंष्ट्रः—वज्रदंष्ट्र; विरोचनः—विरोचन; हयग्रीवः—हयग्रीव; शङ्कु शिराः—शंकुशिरा; कपिलः—कपिल; मेघ-दुन्दुभिः—मेघदुन्दुभि; तारकः—तारक; चक्रदृक्—चक्रदृक्; शुम्भः—शुम्भ; निशुम्भः—निशुम्भ; जम्भः—जम्भ; उत्कलः—उत्कल; अरिष्टः—अरिष्ट; अरिष्टनेमिः—अरिष्टनेमि; च—तथा; मयः च—तथा मय; त्रिपुराधिपः—त्रिपुराधिप; अन्ये—अन्य; पौलोम-कालेयाः—पुलोम तथा कालेय के पुत्र; निवातकवच-आदयः—निवातकवच तथा अन्य असुर; अलब्ध-भागाः—भाग लेने में सभी असमर्थ; सोमस्य—अमृत का; केवलम्—केवल; क्लेश-भागिनः—असुरों ने श्रम का हिस्सा ले लिया; सर्वे—सभी; एते—असुरगण; रण-मुखे—युद्ध के समक्ष; बहुशः—अत्यधिक बल से; निर्जित-अमराः—देवताओं को अत्यधिक कष्ट पहुँचाने वाले; सिंह-नादान्—सिंह जैसी दहाड़े; विमुञ्चन्तः—निकालते हुए; शङ्खान्—शंखों को; दध्मुः—बजाया; महा-रवान्—घोर ध्वनि करने वाले; दृष्ट्वा—देखकर; सपत्नान्—अपने प्रतियोगियों को; उत्सिक्तान्—भयानक; बलभित्—शक्ति से भयभीत (इन्द्र); कुपितः—क्रुद्ध होकर; भृशम्—अत्यधिक।

महाराज बलि को चारों ओर से असुरों के सेनानायक तथा कप्तान घेरे थे। वे अपने-अपने रथों पर सवार थे। उनमें निम्नलिखित असुर थे—नमुचि, शम्बर, बाण, विप्रचित्ति, अयोमुख, द्विमूर्धा, कालनाभ, प्रहेति, हेति, इल्वल, शकुनि, भूतसन्ताप, वज्रदंष्ट्र, विरोचन, हयग्रीव, शंकुशिरा, कपिल, मेघदुन्दुभि, तारक, चक्रदृक्, शुम्भ, निशुम्भ, जम्भ, उत्कल, अरिष्ट, अरिष्टनेमि, त्रिपुराधिप, मय, पुलोम के पुत्र कालेय तथा निवातकवच। ये सारे असुर अमृत के अपने-अपने भाग से वञ्चित रह गये थे; उन्होंने केवल समुद्र-मन्थन का श्रम उठाया था। अब वे सुरों के विरुद्ध लड़ रहे थे और अपनी सेनाओं को प्रोत्साहित करने के लिए उन्होंने सिंह-गर्जना के समान कोलाहल किया और जोर से अपने-अपने शंख बजाये। बलभित अर्थात् इन्द्रदेव अपने रक्तपिपासु प्रतिद्वन्द्वियों की यह स्थिति देखकर अत्यन्त कुपित हुए।

ऐरावतं दिक्करिणमारूढः शुशुभे स्वराट् ।
यथा स्रवत्प्रस्रवणमुदयाद्रिमहर्पतिः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

ऐरावतम्—ऐरावत पर; दिक्-करिणम्—सर्वत्र जा सकने वाले विशाल हाथी; आरूढः—सवार होकर; शुशुभे—देखने में अत्यन्त सुन्दर लगने लगा; स्व-राट्—इन्द्र; यथा—जिस तरह; स्रवत्—बहते हुए; प्रस्रवणम्—सुरा की लहरें; उदय-अद्रिम्—उदयगिरि पर; अहः-पतिः—सूर्य।

ऐरावत हाथी पर जो कहीं भी जा सकता है और जो छिड़कने के लिए जल तथा सुरा को संचित रखता है, चढ़कर इन्द्र ऐसे लग रहे थे मानो उदयगिरि से जहाँ जल के आगार हैं सूर्य निकल रहा हो।

तात्पर्य : उदयगिरि पर्वत की चोटी पर अनेक झीलें हैं जहाँ से झरनों के रूप में निरन्तर जल झरता रहता है। इसी प्रकार इन्द्र का वाहन ऐरावत जल तथा सुरा संचित रखता है और इन्हें इन्द्र की ओर

छिड़कता रहता है। इस प्रकार ऐरावत की पीठ पर बैठे इन्द्र उदयगिरि से ऊपर उठते तेजस्वी सूर्य की भाँति प्रतीत हो रहे थे।

तस्यासन्सर्वतो देवा नानावाहध्वजायुधाः ।
लोकपालाः सहगणैर्वाय्वग्निवरुणादयः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तस्य—इन्द्र के; आसन्—स्थित; सर्वतः—चारों ओर; देवाः—सारे देवता; नाना-वाह—तरह-तरह के वाहनों से; ध्वज-आयुधाः—तथा झंडों एवं हथियारों सहित; लोक-पालाः—उच्च लोकों के सारे प्रमुख; सह—साथ; गणैः—अपने-अपने पार्षदों के साथ; वायु—वायु के अधिष्ठाता देवता; अग्नि—अग्नि के अधिष्ठाता देवता; वरुण—जल के अधिष्ठाता देवता; आदयः—इन्द्र को घेरे हुए सभी।

देवतागण स्वर्ग के राजा इन्द्र को घेरे हुए थे। वे नाना प्रकार के यानों पर सवार थे और झंडों तथा आयुधों से सज्जित थे। उपस्थित देवताओं में वायु, अग्नि, वरुण तथा विभिन्न लोकों के अन्य शासक तथा उनके पार्षद थे।

तेऽन्योन्यमभिसंसृत्य क्षिपन्तो मर्मभिर्मिथः ।
आह्वयन्तो विशन्तोऽग्रे युयुधुर्द्वन्द्वयोधिनः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

ते—वे (देवता तथा दानव); अन्योन्यम्—एक दूसरे को; अभिसंसृत्य—आमने-सामने आकर; क्षिपन्तः—एक दूसरे को प्रताड़ित करते; मर्मभिः मिथः—एक दूसरे के हृदयों को पीड़ा पहुँचाते; आह्वयन्तः—एक दूसरे को सम्बोधित करते; विशन्तः—युद्धभूमि में प्रवेश करके; अग्रे—सामने; युयुधुः—लड़ाई की; द्वन्द्व-योधिनः—दो-दो प्रतिद्वन्द्वी योद्धा।

देवता तथा दानव एक दूसरे के सम्मुख आ गये और मर्मभेदी वचनों से एक दूसरे को धिक्कारने लगे। तब वे निकट आकर जोड़ियों के रूप में आमने-सामने लड़ने लगे।

युयोध बलिरिन्द्रेण तारकेण गुहोऽस्यत ।
वरुणो हेतिनायुध्यन्मित्रो राजन्प्रहेतिना ॥ २ ॥

शब्दार्थ

युयोध—भिड़ गये; बलिः—महाराज बलि; इन्द्रेण—इन्द्र से; तारकेण—तारक से; गुहः—कार्तिकेय; अस्यत—युद्ध में व्यस्त; वरुणः—वरुण देव; हेतिना—हेति से; अयुध्यत्—एक दूसरे से लड़े; मित्रः—मित्र देवता; राजन्—हे राजा; प्रहेतिना—प्रहेति से।

हे राजा! महाराज बलि इन्द्र से, कार्तिकेय तारक से, वरुण हेति से तथा मित्र प्रहेति से भिड़ गये।

यमस्तु कालनाभेन विश्वकर्मा मयेन वै ।
शम्बरो युयुधे त्वष्ट्रा सवित्रा तु विरोचनः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

यमः—यमराज; तु—निस्सन्देह; कालनाभेन—कालनाभ से; विश्वकर्मा—विश्वकर्मा; मयेन—मय से; वै—निस्सन्देह; शम्बरः—शम्बर ने; युयुधे—युद्ध किया; त्वष्ट्रा—त्वष्टा से; सवित्रा—सूर्यदेव से; तु—निस्सन्देह; विरोचनः—विरोचन असुर ने।

यमराज कालनाभ से, विश्वकर्मा मय दानव से, त्वष्टा शम्बर से तथा सूर्यदेव विरोचन से लड़ने लगे।

अपराजितेन नमुचिरश्विनौ वृषपर्वणा ।
सूर्यो बलिसुतैर्देवो बाणज्येष्ठैः शतेन च ॥ ३० ॥
राहुणा च तथा सोमः पुलोम्ना युयुधेऽनिलः ।
निशुम्भशुम्भयोर्देवी भद्रकाली तरस्विनी ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

अपराजितेन—अपराजित देवता से; नमुचिः—नमुचि असुर ने; अश्विनौ—अश्विनी कुमारों ने; वृषपर्वणा—वृषपर्वा दैत्य के साथ; सूर्यः—सूर्य देव ने; बलि-सुतैः—बलि के पुत्रों के साथ; देवः—देवता; बाण-ज्येष्ठैः—जिनमें बाण प्रमुख है; शतेन—एक सौ; च—तथा; राहुणा—राहु से; च—भी; तथा—और; सोमः—चन्द्रदेव ने; पुलोम्ना—पुलोमा के साथ; युयुधे—युद्ध किया; अनिलः—वायु देव; निशुम्भ—निशुम्भ असुर; शुम्भयोः—शुम्भ के साथ; देवी—देवी दुर्गा ने; भद्रकाली—भद्रकाली; तरस्विनी—अत्यन्त शक्तिशाली।

अपराजित देवता ने नमुचि असुर के साथ तथा दोनों अश्विनी कुमारों ने वृषपर्वा के साथ युद्ध किया। सूर्यदेव महाराज बलि के सौ पुत्रों से भिड़ गये जिनमें बाण प्रमुख था। चन्द्रदेव ने राहु से लड़ाई की। वायुदेव ने पुलोमा से तथा शुम्भ और निशुम्भ ने अत्यन्त शक्तिशाली माया भद्रकाली नामक दुर्गादेवी से युद्ध किया।

वृषाकपिस्तु जम्भेन महिषेण विभावसुः ।
इल्वलः सह वातापिर्ब्रह्मपुत्रैररिन्दम ॥ ३२ ॥
कामदेवेन दुर्मर्ष उत्कलो मातृभिः सह ।
बृहस्पतिश्चोशनसा नरकेण शनैश्चरः ॥ ३३ ॥
मरुतो निवातकवचैः कालेयैर्वसवोऽमराः ।
विश्वेदेवास्तु पौलोमै रुद्राः क्रोधवशैः सह ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

वृषाकपिः—शिवजी; तु—निस्सन्देह; जम्भेन—जम्भ के साथ; महिषेण—महिषासुर से; विभावसुः—अग्निदेव; इल्वलः—इल्वल असुर; सह वातापिः—उसके भाई वातापि से; ब्रह्म-पुत्रैः—ब्रह्मा के पुत्रों के साथ, यथा वशिष्ठ से; अरिम्-दम—हे शत्रुओं के दमनकर्ता, महाराज परीक्षित; कामदेवेन—कामदेव से; दुर्मर्षः—दुर्मर्ष; उत्कलः—उत्कल ने; मातृभिः सह—मातृका नामक देवियों के साथ; बृहस्पतिः—बृहस्पति देवता ने; च—तथा; उशनसा—शुक्राचार्य से; नरकेण—नरकासुर से; शनैश्चरः—शनि देवता ने; मरुतः—वायु के देवता; निवातकवचैः—निवातकवच असुर से; कालेयैः—कालकेयों से; वसवः अमराः—वसुओं ने युद्ध किया; विश्वेदेवाः—विश्वेदेवों ने; तु—निस्सन्देह; पौलोमैः—पौलोमों के साथ; रुद्राः—ग्यारह रुद्रों ने; क्रोधवशैः सह—क्रोधवश दानवों के साथ।

हे अरिन्दम महाराज परीक्षित! शिवजी ने जम्भ से तथा विभावसु ने महिषासुर से युद्ध किया। इल्वल ने, अपने भाई वातापि सहित, ब्रह्मा के पुत्रों से युद्ध किया। दुर्मर्ष कामदेव से, उत्कल मातृका नामक देवियों से, बृहस्पति शुक्राचार्य से तथा शनैश्चर नरकासुर से युद्ध में भिड़ गए। मरुत्गण निवातकवच से, वसुओं ने दैत्य कालकेयों से, विश्वेदेवों ने पौलोमों असुरों से तथा रुद्रगणों ने क्रुद्ध क्रोधवश असुरों से युद्ध किया।

त एवमाजावसुराः सुरेन्द्रा
द्वन्द्वेन संहत्य च युध्यमानाः ।
अन्योन्यमासाद्य निजघ्नुरोजसा
जिगीषवस्तीक्ष्णशरासितोमरैः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

ते—वे सभी; एवम्—इस प्रकार; आजौ—युद्धक्षेत्र में; असुराः—असुरगण; सुर-इन्द्राः—तथा देवता; द्वन्द्वेन—दो-दो करके; संहत्य—परस्पर मिलकर; च—तथा; युध्यमानाः—युद्ध करते हुए; अन्योन्यम्—एकदूसरे से; आसाद्य—पास आकर; निजघ्नुः—हथियारों से मार डाला; ओजसा—अत्यन्त बलपूर्वक; जिगीषवः—विजय की कामना करते हुए; तीक्ष्ण—तेज; शर—बाणों से; असि—तलवारों से; तोमरैः—भालों से।

ये सारे देवता तथा असुर लड़ने के उत्साह से युद्धभूमि में एकत्र हुए और अत्यन्त बलपूर्वक एक दूसरे पर प्रहार करने लगे। वे सब विजय की कामना करते हुए जोड़े बनाकर लड़ने लगे और तेज बाणों, तलवारों तथा भालों से बुरी तरह एक दूसरे को मारने लगे।

भुशुण्डिभिश्चक्रगदर्ष्टिपट्टिशैः
शक्त्युल्मुकैः प्रासपरश्वधैरपि ।
निस्त्रिंशभल्लैः परिघैः समुद्गरैः
सभिन्दिपालैश्च शिरांसि चिच्छिदुः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

भुशुण्डिभिः—भुशुण्डि नामक हथियारों से; चक्र—चक्र से; गदा—गदा से; ऋष्टि—ऋष्टि अस्त्रों से; पट्टिशैः—पट्टिश शस्त्र से; शक्ति—शक्ति शस्त्रों से; उल्मुकैः—उल्मुक नामक शस्त्रों से; प्रास—प्रास शस्त्र से; परश्वधैः—परश्वध शस्त्रों से; अपि—भी; निस्त्रिंश—निस्त्रिंश शस्त्रों से; भल्लैः—भालों से; परिघैः—परिघों शस्त्र से; स-मुद्गरैः—मुद्गरों से; स-भिन्दिपालैः—भिन्दिपाल शस्त्रों से; च—भी; शिरांसि—सिरों को; चिच्छिदुः—काट लिया।

उन्होंने भुशुण्डि, चक्र, गदा, ऋष्टि, पट्टिश, शक्ति, उल्मुक, प्रास, परश्वध, निस्त्रिंश, भाला, परिघ, मुद्गर तथा भिन्दिपाल नामक हथियारों से एक दूसरे के सिर काट डाले।

गजास्तुरङ्गाः सरथाः पदातयः

सारोहवाहा विविधा विखण्डिता: ।
निकृत्तबाहूरुशिरोधराङ्घ्रय-
श्छिन्नध्वजेष्वासतनुत्रभूषणा: ॥ ३७॥

शब्दार्थ

गजा:—हाथी; तुरङ्गा:—घोड़े; स-रथा:—रथों सहित; पदातय:—पैदल सैनिक; सारोह-वाहा:—सवारों सहित वाहन; विविधा:—विविध प्रकार के; विखण्डिता:—खण्ड-खण्ड हुए; निकृत्त-बाहु—कटी हुई भुजाएँ; ऊरु—जाँघें; शिरोधर—गर्दन; अङ्घ्रय:—टांगे; छिन्न—कटकर अलग; ध्वज—झंडा; इष्वास—धनुष; तनुत्र—कवच; भूषणा:—गहने, आभूषण।

हाथी, घोड़े, रथ, सारथी, पैदल सेना तथा सवारों सहित विविध प्रकार के वाहन ध्वस्त हो गये। सैनिकों की भुजाएँ, जांघें, गर्दन तथा टांगे कट गईं और उनके झंडे, धनुष, कवच तथा आभूषण छिन्न-भिन्न हो गये।

तेषां पदाघातरथाङ्गचूर्णिता-
दायोधनादुल्बण उत्थितस्तदा ।
रेणुर्दिश: खं द्युमणिं च छादयन्
न्यवर्ततासृक्स्रुतिभि: परिप्लुतात् ॥ ३॥

शब्दार्थ

तेषाम्—युद्धक्षेत्र में लगे सारे; पदाघात—असुरों तथा देवताओं के पैरों के प्रहार से; रथ-अङ्ग—तथा रथों के पहिए; चूर्णितात्—चूर्णित हुए; आयोधनात्—युद्धभूमि से; उल्बण:—अत्यन्त शक्तिशाली; उत्थित:—उठते हुए; तदा—उस समय; रेणु:—धूल के कण; दिश:—सभी दिशाएँ; खम्—बाह्य आकाश; द्युमणिम्—सूर्य तक; च—भी; छादयन्—ढकते हुए; न्यवर्तत—हवा में तैरना बन्द कर दिया; असृक्—रक्त के; स्रुतिभि:—कणों के द्वारा; परिप्लुतात्—दूर दूर तक छिड़के जाने से।

भूमि पर देवताओं तथा असुरों के पाँवों तथा रथों के पहियों के आघात से आकाश में तेजी से धूल के कण उड़ने लगे और धूल का बादल छा गया जिससे सूर्य तक का सारा बाह्य आकाश चारों ओर से ढक गया। किन्तु जब धूल कणों के पश्चात् रक्त की बूँदें सारे आकाश में फुहार की तरह उठने लगीं तो धूल के बादलों का आकाश में मँडराना बन्द हो गया।

तात्पर्य : धूल के बादल ने सारे क्षितिज को ढक लिया, किन्तु जब रक्त की बूँदों की फुहार सूर्य तक पहुँच गई तो आकाश में धूल के बादलों का मँडराना बन्द हो गया। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि यद्यपि रक्त सूर्य तक पहुँच गया बताया गया है, किन्तु यह नहीं कहा गया है कि रक्त चन्द्रमा तक पहुँचा। अतएव स्पष्ट है कि पृथ्वी से निकटतम ग्रह सूर्य है, चन्द्रमा नहीं, जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र बताया गया है। हम इसका उल्लेख कई स्थानों पर कर चुके हैं। पहले सूर्य, फिर चन्द्रमा, तब मंगल, बृहस्पति इत्यादि हैं। सूर्य पृथ्वी की सतह से ९,३०,००,००० मील ऊपर माना जाता है और

श्रीमद्भागवत से यह पता चलता है कि चन्द्रमा सूर्य से १६,००,००० मील ऊपर है। अतएव पृथ्वी तथा चन्द्रमा की दूरी लगभग ९,५०,००,००० मील है। इस तरह यदि कोई अन्तरिक्ष यान १००० मील प्रति घंटे की गति से यात्रा करे तो वह चार दिनों में चाँद तक कैसे पहुँचेगा? इस गति से चाँद तक पहुँचने में कम से कम सात मास लगेंगे। अतएव यह कहना कि अन्तरिक्ष यान चार दिनों में चाँद तक पहुँच गया है, असम्भव है।

शिरोभिरुद्धूतकिरीटकुण्डलैः
संरम्भदृग्भिः परिदष्टदच्छदैः ।
महाभुजैः साभरणैः सहायुधैः
सा प्रास्तृता भूः करभोरुभिर्बभौ ॥ ३९॥

शब्दार्थ

शिरोभिः—सिरों से; उद्धूत—पृथक्, फैली हुई; किरीट—मुकुट; कुण्डलैः—तथा कान के आभूषणों से; संरम्भ-दृग्भिः—क्रोध से घूरती आँखें (यद्यपि सिर शरीर से छिन्न थे); परिदष्ट—दाँतों से काटे गये; दच्छदैः—ओठ; महा-भुजैः—बड़ी-बड़ी बाँहों से; स-आभरणैः—आभूषणों से सजी; सह-आयुधैः—तथा हाथों में हथियार लिये, यद्यपि हाथ छिन्न हो चुके थे; सा—वह युद्धक्षेत्र; प्रास्तृता—बिखरे; भूः—युद्धक्षेत्र; करभ-ऊरुभिः—पांव तथा जाँघें हाथी की सूँड़ों जैसी; बभौ—हो गई।

युद्ध के दौरान युद्धभूमि वीरों के कटे सिरों से पट गई। उनकी आँखें अब भी घूर रही थीं और क्रोध से उनके दाँत उनके होठों से लगे हुए थे। इन छिन्न सिरों के मुकुट तथा कुण्डल बिखर गये थे। इसी प्रकार आभूषणों से सज्जित तथा विविध हथियार पकड़े हुईं अनेक भुजाएँ इधर-उधर बिखरी पड़ी थीं और हाथी की सूँडों जैसे अनेक टांगे तथा जाँघें भी इसी तरह बिखरी हुई थीं।

कबन्धास्तत्र चोत्पेतुः पतितस्वशिरोऽक्षिभिः ।
उद्यतायुधदोर्दण्डैराधावन्तो भटान्मृधे ॥ ४०॥

शब्दार्थ

कबन्धाः—धड़; तत्र—वहाँ (युद्धभूमि में); च—भी; उत्पेतुः—उत्पन्न; पतित—गिरा हुआ; स्व-शिरः-अक्षिभिः—सिर की आँखों से; उद्यत—उठाये; आयुध—हथियारों से युक्त; दोर्दण्डैः—जिसकी भुजाएँ; आधावन्तः—की ओर दौड़ती हुई; भटान्—सैनिक; मृधे—युद्धभूमि में।

उस युद्धभूमि में शीषरहित अनेक धड़ उत्पन्न हो गए थे। वे प्रेततुल्य धड़ अपने हाथों में हथियार लिए, पड़े हुए सिरों की आँखों से देखकर शत्रु सैनिकों पर आक्रमण कर रहे थे।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि युद्धक्षेत्रों में मारे गये वीर तुरन्त ही प्रेत बन गये थे। यद्यपि उनके

सिर उनके शरीरों से कटकर अलग हो गये थे, किन्तु नये धड़ पैदा हो गये थे और ये नए धड़ कटे हुए सिरों की आँखों से देखकर शत्रु पर आक्रमण करने लगे। दूसरे शब्दों में, युद्ध में सम्मिलित होने के लिए अनेक प्रेत उत्पन्न हो गये जिससे युद्धक्षेत्र में अनेक नए धड़ प्रकट हो गए।

बलिर्महेन्द्रं दशभिस्त्रिभिरैरावतं शरैः ।
चतुर्भिश्चतुरो वाहानेकेनारोहमार्च्छयत् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

बलिः—महाराज बलि; महा-इन्द्रम्—स्वर्ग का राजा; दशभिः—दस; त्रिभिः—तीन; ऐरावतम्—इन्द्र के वाहन ऐरावत को; शरैः—बाणों से; चतुर्भिः—चार बाणों से; चतुरः—चार; वाहान्—सवारों को; एकेन—एक से; आरोहम्—चालक को; आर्च्छयत्—वार किया।

महाराज बलि ने तब दस बाणों से इन्द्र पर तथा तीन बाणों से इन्द्र के वाहन ऐरावत पर वार किया। उन्होंने चार बाणों से ऐरावत के पाँवों की रक्षा करने वाले चार घुड़सवारों पर आक्रमण किया और एक बाण से उसके चालक पर।

तात्पर्य : *वाहान्* उन घुड़सवारों का सूचक है, जो हाथी के पैरों की रक्षा कर रहे थे। सैन्य व्यवस्था के अनुसार सेनापति को ले जाने वाले हाथी के पाँवों की भी रक्षा की जाती थी।

स तानापततः शक्रस्तावद्भिः शीघ्रविक्रमः ।
चिच्छेद निशितैर्भल्लैरसम्प्राप्तान्हसन्निव ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (इन्द्र); तान्—उन बाणों को; आपततः—उसकी ओर बढ़ते और गिरते हुए; शक्रः—इन्द्र; तावद्भिः—तुरन्त; शीघ्र-विक्रमः—तुरन्त सताये जाने के लिए अभ्यस्त; चिच्छेद—खण्ड-खण्ड कर डाला; निशितैः—अत्यन्त तेज; भल्लैः—अन्य प्रकार के बाण से; असम्प्राप्तान्—शत्रु के बाण पहुँचने से पहले; हसन् इव—मानो हँस रहा हो।

इसके पूर्व कि बलि महाराज के बाण स्वर्ग के राजा इन्द्र तक पहुँचे, बाणों के चलाने में पटु इन्द्र ने हँसते हुए एक अन्य प्रकार के अत्यन्त तीक्ष्ण भल्ल नामक बाण से उन्हें काट डाला।

तस्य कर्मोत्तमं वीक्ष्य दुर्मर्षः शक्तिमाददे ।
तां ज्वलन्तीं महोल्काभां हस्तस्थामच्छिनद्धरिः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—इन्द्र के; कर्म-उत्तमम्—सैन्यकला में अत्यन्त दक्ष कार्य को; वीक्ष्य—देखकर; दुर्मर्षः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; शक्तिम्—शक्ति नामक हथियार; आददे—ले लिया; ताम्—उस हथियार को; ज्वलन्तीम्—जलती आग; महा-उल्का-आभाम्—महान् अग्नि पुंज की भाँति प्रकट होते हुए; हस्त-स्थाम्—जो अभी बलि के हाथ में ही था; अच्छिनत्—खण्ड-खण्ड कर डाला; हरिः—इन्द्र ने।

जब बलि महाराज ने इन्द्र के दक्ष सैन्य कार्यकलापों को देखा तो वे अपना क्रोध रोक न सके। उन्होंने शक्ति नामक एक दूसरा हथियार ग्रहण किया जो महान् अग्नि पुंज की भाँति ज्वलित हो रहा था। किन्तु इन्द्र ने इसे बलि के हाथ से छूटने के पूर्व ही खण्ड-खण्ड कर दिया।

ततः शूलं ततः प्रासं ततस्तोमरमृष्टयः ।
यद्यच्छस्त्रं समादद्यात्सर्वं तदच्छिनद्विभुः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; शूलम्—भाला; ततः—तत्पश्चात्; प्रासम्—प्रास; ततः—तत्पश्चात्; तोमरम्—तोमर; ऋष्टयः—ऋष्टि नामक हथियारों; यत् यत्—जो-जो; शस्त्रम्—हथियार; समादद्यात्—बलि ने प्रयोग करने चाहे; सर्वम्—उन सब को; तत्—वे ही हथियार; अच्छिनत्—खण्ड-खण्ड कर दिये; विभुः—महान् इन्द्र ने।

तत्पश्चात् बलि महाराज ने एक-एक करके भाला, प्रास, तोमर, ऋष्टि तथा अन्य हथियार चलाये, किन्तु वे जो भी हथियार लेते थे, उन्हें महान् इन्द्र तुरन्त ही खण्ड-खण्ड कर देते थे।

ससर्जाथासुरीं मायामन्तर्धानगतोऽसुरः ।
ततः प्रादुरभूच्छैलः सुरानीकोपरि प्रभो ॥ ४५॥

शब्दार्थ

ससर्ज—छोड़ा; अथ—अब; आसुरीम्—दानवी; मायाम्—माया को; अन्तर्धान—दृष्टि से ओझल; गतः—जाकर; असुरः—बलि महाराज; ततः—तत्पश्चात्; प्रादुरभूत्—प्रकट हुआ; शैलः—एक विशाल पर्वत; सुर-अनीक-उपरि—देवताओं की सेना के सिरोंके ऊपर; प्रभो—हे स्वामी।

हे राजा! तब बलि महाराज अदृश्य हो गये और उन्होंने आसुरी माया का सहारा लिया। तब देवताओं की सेना के सिरों के ऊपर माया से उत्पन्न एक विशाल पर्वत प्रकट हुआ।

ततो निपेतुस्तरवो दह्यमाना दवाग्निना ।
शिलाः सटङ्कशिखराश्चूर्णयन्त्यो द्विषद्बलम् ॥ ४६॥

शब्दार्थ

ततः—उस महान् पर्वत से; निपेतुः—गिरने लगे; तरवः—बड़े-बड़े वृक्ष; दह्यमानाः—अग्नि से जलकर; दव-अग्निना—जंगल की आग से; शिलाः—तथा पत्थर; स-टङ्क-शिखराः—पत्थर की कुल्हाड़ी जैसी तीक्ष्ण धार वाले; चूर्णयन्त्यः—चूर-चूर करते; द्विषत्-बलम्—शत्रुओं की शक्ति को।

उस पर्वत से दावाग्नि से जलते हुए वृक्ष गिरने लगे। उससे पत्थर की कुल्हाड़ी जैसी तीक्ष्ण धार वाले पत्थर-खण्ड भी गिरने लगे जिससे देवताओं के सैनिकों के सिर चकनाचूर हो गये।

महोरगाः समुत्पेतुर्दन्दशूकाः सवृश्चिकाः ।

सिंहव्याघ्रवराहाश्च मर्दयन्तो महागजाः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

महा-उरगाः—बड़े-बड़े साँप; समुत्पेतुः—उन पर गिरने लगे; दन्दशूकाः—अन्य विषैले पशु तथा कीड़े; स-वृश्चिकाः—बिच्छुओं सहित; सिंह—शेर; व्याघ्र—बाघ; वराहाः च—तथा जंगली सूअर; मर्दयन्तः—मर्दन करते हुए; महा-गजाः—बड़े-बड़े हाथी।

देवताओं के सैनिकों पर बिच्छू, बड़े-बड़े सर्प तथा अन्य अनेक विषैले पशुओं के साथ-साथ सिंह, बाघ, सूअर तथा बड़े-बड़े हाथी गिरने लगे और हर वस्तु को चकनाचूर करने लगे।

यातुधान्यश्च शतशः शूलहस्ता विवाससः ।
छिन्धि भिन्धीति वादिन्यस्तथा रक्षोगणाः प्रभो ॥ ४॥

शब्दार्थ

यातुधान्यः—मानव भक्षी असुरनियाँ; च—तथा; शतशः—सैकड़ों; शूल-हस्ताः—सभी हाथों में त्रिशूल लिए; विवाससः—पूर्ण नग्न; छिन्धि—खण्ड-खण्ड कर डालो; भिन्धि—छेद डालो; इति—इस प्रकार; वादिन्यः—बातें करते; तथा—इस तरह; रक्षः-गणाः—राक्षसगण; प्रभो—हे राजा।

हे राजा! तब कई सौ नरभक्षी नर और मादा असुर, जो पूर्णतया नग्न थे और अपने हाथों में त्रिशूल लिए थे "काट डालो! छेद डालो!" के नारे लगाते हुए प्रकट हुए।

ततो महाघना व्योम्नि गम्भीरपरुषस्वनाः ।
अङ्गारान्मुमुचुर्वातैराहताः स्तनयित्नवः ॥ ४९॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; महा-घनाः—बड़े-बड़े बादल; व्योम्नि—आकाश में; गम्भीर-परुष-स्वनाः—अत्यन्त गहरी गड़गड़ाहट उत्पन्न करते; अङ्गारान्—अंगारों को; मुमुचुः—गिराया; वातैः—प्रबल वायु से; आहताः—प्रताड़ित; स्तनयित्नवः—मेघ गर्जना से।

तब आकाश में प्रबल वायु से प्रताड़ित घनघोर घटाएँ प्रकट हो आईं। वे गम्भीर गर्जना करती हुईं जलते कोयलों के अंगारे बरसाने लगीं।

सृष्टो दैत्येन सुमहान्वह्निः श्वसनसारथिः ।
सांवर्तक इवात्युग्रो विबुधध्वजिनीमधाक् ॥ ५०॥

शब्दार्थ

सृष्टः—उत्पन्न; दैत्येन—असुर (बलि महाराज) द्वारा; सु-महान्—अत्यन्त विशाल, विनाशकारी; वह्निः—अग्नि; श्वसन-सारथिः—तेज हवा के द्वारा ले जाई जाकर; सांवर्तकः—सांवर्तक नामक अग्नि जो प्रलय के समय प्रकट होती है; इव—सदृश; अति—अत्यन्त; उग्रः—प्रचण्ड; विबुध—देवताओं के; ध्वजिनीम्—सैनिकों को; अधाक्—जलाकर राख कर दिया।

महाराज बलि द्वारा उत्पन्न की गई अत्यन्त संहारक अग्नि देवताओं के सभी सैनिकों को जलाने लगी। यह अग्नि तेज बहती हवाओं के साथ उस सांवर्तक अग्नि जैसी प्रतीत हो रही थी जो प्रलय के समय प्रकट होती है।

ततः समुद्र उद्वेलः सर्वतः प्रत्यदृश्यत ।
प्रचण्डवातैरुद्धूततरङ्गावर्तभीषणः ॥५१॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; समुद्रः—समुद्र; उद्वेलः—क्षुब्ध होकर; सर्वतः—चारों ओर; प्रत्यदृश्यत—हर एक की दृष्टि के सामने दिखने लगा; प्रचण्ड—भयानक; वातैः—हवा से; उद्धूत—क्षुब्ध; तरङ्ग—लहरों का; आवर्त—भँवर; भीषणः—भीषण।

तत्पश्चात् हवाओं के प्रचण्ड झकोरों से क्षुब्ध समुद्री लहरें तथा भँवर सब की आँखों के सामने एक भीषण बाढ़ के रूप में चारों ओर प्रकट हो आए।

एवं दैत्यैर्महामायैरलक्ष्यगतिभी रणे ।
सृज्यमानासु मायासु विषेदुः सुरसैनिकाः ॥५२॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; दैत्यैः—असुरों के द्वारा; महा-मायैः—मायावी कार्यों में दक्ष; अलक्ष्य-गतिभिः—किन्तु अदृश्य; रणे—युद्ध में; सृज्यमानासु मायासु—ऐसे मायावी वातावरण की सृष्टि होने से; विषेदुः—खिन्न हो गये; सुर-सैनिकाः—देवताओं के सैनिक।

जब ऐसे मायावी कार्यों में दक्ष अदृश्य असुरों द्वारा युद्ध में इस तरह का जादुई वातावरण उत्पन्न किया जा रहा था, तो देवताओं के सैनिक खिन्न हो गये।

न तत्प्रतिविधिं यत्र विदुरिन्द्रादयो नृप ।
ध्यातः प्रादुरभूत्तत्र भगवान्विश्वभावनः ॥५३॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तत्-प्रतिविधिम्—ऐसे मायावी वातावरण की प्रतिक्रिया; यत्र—जहाँ; विदुः—समझ सके; इन्द्र-आदयः—इन्द्र इत्यादि देवता; नृप—हे राजा; ध्यातः—ध्यान किये जाने पर; प्रादुरभूत्—प्रकट हुए; तत्र—उस स्थान पर; भगवान्—भगवान्; विश्व-भावनः—ब्रह्माण्ड के स्त्रष्टा।

हे राजा! जब देवताओं को असुरों के कार्यों का निराकरण कर पाने का कोई उपाय न सूझा तो उन्होंने ब्रह्माण्ड के स्त्रष्टा भगवान् का पूर्ण मनोयोग से ध्यान किया और वे तुरन्त ही प्रकट हो गये।

ततः सुपर्णांसकृताङ्घ्रिपल्लवः
पिशङ्गवासा नवकञ्जलोचनः ।
अदृश्यताष्टायुधबाहुरुल्लस-
च्छ्रीकौस्तुभानर्घ्यकिरीटकुण्डलः ॥५४॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; सुपर्ण-अंस-कृत-अङ्घ्रि-पल्लवः—भगवान्, जिनके चरणकमल गरुड़ के दोनों कंधों पर फैले रहते हैं; पिशङ्ग-वासाः—जिनके वस्त्र पीले हैं; नव-कञ्ज-लोचनः—तथा जिनके नेत्र नवीन खिले कमल की पंखुड़ियों के तुल्य हैं; अदृश्यत—दृष्टिगोचर हो गए (देवताओं के समक्ष); अष्ट-आयुध—आठ प्रकार के आयुधों से युक्त; बाहुः—बाहें; उल्लसत्—झलमलाते; श्री—लक्ष्मी; कौस्तुभ—कौस्तुभ मणि; अनर्घ्य—अगणनीय मूल्य का; किरीट—मुकुट; कुण्डलः—कुण्डल पहने।

नवविकसित कमल की पंखुड़ियों सदृश आँखों वाले भगवान् गरुड़ की पीठ पर बैठे थे और गरुड़ के कंधों पर अपने चरणकमल फैलाये थे। वे पीत वस्त्र धारण किये, कौस्तुभ मणि तथा लक्ष्मीजी से सुसज्जित एवं अमूल्य मुकुट तथा कुण्डल पहने अपनी आठों भुजाओं में विविध आयुध धारण किये देवताओं को दृष्टिगोचर हुए।

तस्मिन्प्रविष्टेऽसुरकूटकर्मजा
माया विनेशुर्महिना महीयसः ।
स्वप्नो यथा हि प्रतिबोध आगते
हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन् प्रविष्टे—भगवान् के प्रवेश करने पर; असुर—असुरों का; कूट-कर्म-जा—जादू भरे कार्यों से; माया—छद्म अभिव्यक्ति; विनेशुः—तुरन्त नष्ट हो गये; महिना—श्रेष्ठ शक्ति द्वारा; महीयसः—भगवान् का जो महानतम से भी महान् हैं; स्वप्नः—सपने; यथा—जिस तरह; हि—निस्सन्देह; प्रतिबोधे—जगने पर; आगते—आ गया है; हरि-स्मृतिः—भगवान् की स्मृति; सर्व-विपत्—सभी प्रकार की विपदाओं से; विमोक्षणम्—तुरन्त मुक्त कर देती है।

जिस प्रकार स्वप्न देखने वाले के जगते ही स्वप्न के भय दूर हो जाते हैं उसी तरह युद्धभूमि में भगवान् के प्रवेश करते ही उनकी दिव्य शक्ति से असुरों की जादूगरी से उत्पन्न माया विलीन हो गई। निस्सन्देह, भगवान् के स्मरण मात्र से मनुष्य सारे संकटों से मुक्त हो जाता है।

दृष्ट्वा मृधे गरुडवाहमिभारिवाह
आविध्य शूलमहिनोदथ कालनेमिः ।
तल्लीलया गरुडमूर्ध्नि पतद्गृहीत्वा
तेनाहनन्नृप सवाहमरिं त्र्यधीशः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; मृधे—युद्धस्थल में; गरुड-वाहम्—गरुड़ द्वारा ले जाए गए भगवान्; इभारि-वाहः—महान् सिंह द्वारा ले गया असुर; आविध्य—घुमा कर; शूलम्—त्रिशूल को; अहिनोत्—उस पर छोड़ा; अथ—इस प्रकार; कालनेमिः—कालनेमि असुर ने; तत्—भगवान् पर असुर द्वारा ऐसा प्रहार; लीलया—आसानी से; गरुड-मूर्ध्नि—गरुड़ के सिर पर; पतत्—गिरते हुए; गृहीत्वा—तुरन्त सहज रूप से पकड़ कर; तेन—उसी हथियार से; अहनत्—मार डाला; नृप—हे राजा; स-वाहम्—अपने वाहन समेत; अरिम्—शत्रु को; त्रि-अधीशः—तीनों लोकों के स्वामी भगवान् ने।

हे राजा! जब सिंह पर आरूढ़ कालनेमि दैत्य ने देखा कि गरुड़वाहन भगवान् युद्धक्षेत्र में हैं, तो उसने तुरन्त अपना त्रिशूल निकाल लिया और उसे गरुड़ के सिर पर चलाया। किन्तु तीनों

लोकों के स्वामी भगवान् हरि ने तुरन्त ही उस त्रिशूल को पकड़ लिया और उसी हथियार से अपने शत्रु कालनेमि को उसके वाहन सिंह समेत मार डाला।

तात्पर्य : इस प्रसंग में *श्रील मध्वाचार्य* कहते हैं—

कालनेम्यादयः सर्वे करिणा निहता अपि।

शुक्रेणोज्जीविताः सन्तः पुनस्तेनैव पातिताः ॥

"कालनेमि तथा अन्य सारे असुर भगवान् हरि द्वारा मार डाले गये और जब असुरों को उनके गुरु शुक्राचार्य ने पुनः जीवित कर दिया तो भगवान् ने उन्हें पुनः मार डाला।"

माली सुमाल्यतिबलौ युधि पेततुर्य-
च्चक्रेण कृत्तशिरसावथ माल्यवांस्तम् ।
आहत्य तिग्मगदयाहनदण्डजेन्द्रं
तावच्छिरोऽच्छिनदरेर्नदतोऽरिणाद्यः ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

माली सुमाली—माली तथा सुमाली नामक दो असुर; अति-बलौ—अत्यन्त शक्तिशाली; युधि—युद्धस्थल में; पेततुः—गिर गये; यत्-चक्रेण—जिसके चक्र से; कृत्त-शिरसौ—छिन्न सिरों वाले; अथ—तत्पश्चात्; माल्यवान्—माल्यवान्; तम्—भगवान् को; आहत्य—आक्रमण करके; तिग्म-गदया—अत्यन्त नुकीली गदा से; अहनत्—मार डालना चाहा; अण्ड-ज-इन्द्रम्—अण्डों से उत्पन्न पक्षियों के राजा, गरुड़ ने; तावत्—उस समय; शिरः—सिर; अच्छिनत्—काट लिया; अरेः—शत्रु का; नदतः—शेर जैसे दहाड़ता; अरिणा—चक्र से; आद्यः—आदि भगवान् ने।

तत्पश्चात् भगवान् ने माली तथा सुमाली नामक दो शक्तिमान असुरों को मारा। उन्होंने अपने चक्र से उनके सिर काट दिये। तब एक अन्य असुर माल्यवान ने भगवान् पर आक्रमण किया। उसने अपनी नुकीली गदा से, सिंह की भाँति गर्जना करते हुए, अण्डो से उत्पन्न पक्षिराज गरुड़ पर आक्रमण किया। किन्तु आदि पुरुष भगवान् ने अपने चक्र का प्रयोग करते हुए उस शत्रु के सिर को भी काट दिया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कंध के अन्तर्गत "देवताओं तथा असुरों के बीच युद्ध" नामक दसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter ग्यारह

इन्द्र द्वारा असुरों का संहार

इस अध्याय में बताया गया है कि महान् मुनि नारद को उन असुरों पर अत्यधिक दया आई जो

देवताओं द्वारा मारे गये थे। अत: उन्होंने देवताओं को इस रक्तपात को बन्द करने के लिए कहा। तब शुक्राचार्य ने अपनी योगशक्ति से सभी असुरों को जीवनदान दिया।

भगवान् का समर्थन होने से देवतागण इन असुरों से नये जोश से पुन: लड़ने लगे। राजा इन्द्र ने बलि पर अपना वज्र चलाया और जब बलि गिर गये तो उनके मित्र जम्भासुर ने इन्द्र पर आक्रमण कर दिया, किन्तु इन्द्र ने अपने वज्र से उसका सिर काट दिया। जब नारद मुनि ने सुना कि जम्भासुर मारा गया है, तो उन्होंने नमुचि, बल तथा पाक को सूचित किया जो उसके सम्बन्धी थे। तब ये तीनों युद्धक्षेत्र में गये और इन्होंने देवताओं पर आक्रमण कर दिया। इन्द्र ने बल तथा पाक के सिर काट दिये और नमुचि के कंधे पर कुलिश नाम का वज्र-रूपी हथियार छोड़ा। किन्तु यह कुलिश वज्र असफल होकर वापस आ गया जिससे इन्द्र खिन्न हो गया। उस समय आकाश से एक अदृश्य वाणी सुनाई पड़ी वाणी ने घोषणा की, "नमुचि को शुष्क या नम हथियार नहीं मार सकता।" यह वाणी सुनकर इन्द्र सोचने लगा कि नमुचि का संहार कैसे हो? तब उसके मन में झाग का विचार आया जो न तो शुष्क होता है, न नम। इस झाग के हथियार का उपयोग करके वह नमुचि को मारने में सफल रहे। इस प्रकार इन्द्र तथा अन्य देवताओं ने अनेक असुर मार गिराये। तब ब्रह्मा के आग्रह पर नारद मुनि देवताओं के पास गये और उन्हें मना किया कि अब वे असुरों का वध करना बन्द कर दें। तब सारे देवता अपने-अपने धामों को चले गये। किन्तु युद्ध-स्थल पर जितने असुर जीवित बचे थे वे सब नारद के आदेशानुसार बलि महाराज को अस्ताचल पर्वत पर ले गये। वहाँ पर शुक्राचार्य के कर-स्पर्श से बलि महाराज को फिर से चेतना आ गई और जिन असुरों के सिर तथा शरीर पूरी तरह नष्ट नहीं हुए थे उन सब को शुक्राचार्य ने अपनी योग-शक्ति से पुन: जीवित कर दिया।

श्रीशुक उवाच
अथो सुराः प्रत्युपलब्धचेतसः
परस्य पुंसः परयानुकम्पया ।
जघ्नुर्भृशं शक्रसमीरणादयस्
तांस्तान्रणे यैरभिसंहताः पुरा ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथो—तत्पश्चात्; सुराः—सारे देवता; प्रत्युपलब्ध-चेतसः—चेतना आ जाने से पुनः जीवित होकर; परस्य—परम; पुंसः—भगवान् की; परया—परम; अनुकम्पया—कृपा से; जघ्नुः—पीटने लगे; भृशम्—

पुनः पुनः; शक्र—इन्द्र; समीरण—वायु; आदयः—इत्यादि; तान् तान्—उन-उन राक्षसों को; रणे—युद्ध में; यैः—जिनके द्वारा; अभिसंहताः—हराये गये थे; पुरा—पहले।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : तत्पश्चात् भगवान् श्रीहरि की परम कृपा से इन्द्र, वायु इत्यादि सारे देवता जीवित हो गये। इस प्रकार जीवित होकर सारे देवता उन्ही असुरों को बुरी तरह पीटने लगे जिन्होंने पहले उन्हें परास्त किया था।

वैरोचनाय संरब्धो भगवान्पाकशासनः ।
उदयच्छद्यदा वज्रं प्रजा हा हेति चुक्रुशुः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

वैरोचनाय—बलि महाराज को (मारने के लिए); संरब्धः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; पाक-शासनः—इन्द्र ने; उदयच्छत्—हाथ में लिया; यदा—जिस समय; वज्रम्—वज्र; प्रजाः—सारे असुर; हा हा—हाय हाय; इति—इस प्रकार; चुक्रुशुः—चिल्लाने लगे।

जब परमशक्तिशाली इन्द्र क्रुद्ध हो गए और उन्होंने महाराज बलि को मारने के लिए अपने हाथ में वज्र ले लिया तो सारे असुर ''हाय हाय'' चिल्ला कर शोक करने लगे।

वज्रपाणिस्तमाहेदं तिरस्कृत्य पुरःस्थितम् ।
मनस्विनं सुसम्पन्नं विचरन्तं महामृधे ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

वज्र-पाणिः—हाथ में सदा वज्र रहता है, जिसके, इन्द्र; तम्—बलि महाराज को; आह—सम्बोधित किया; इदम्—इस तरह; तिरस्कृत्य—प्रताड़ित करके; पुरः-स्थितम्—उसके सामने खड़े होकर; मनस्विनम्—अत्यन्त गम्भीर तथा सहिष्णु; सु-सम्पन्नम्—युद्ध के साज-सामान से युक्त; विचरन्तम्—घूमते हुए; महा-मृधे—विशाल युद्धस्थल में।

गम्भीर, सहिष्णु तथा लड़ने के साज-सामान से भलीभान्ति युक्त बलि महाराज उस विशाल युद्धस्थल में इन्द्र के सामने घूम रहे थे। सदा हाथ में वज्र लिये रहने वाले इन्द्र ने बलि महाराज को इस प्रकार तिरस्कारपूर्वक ललकारा।

नटवन्मूढ मायाभिर्मायेशान्नो जिगीषसि ।
जित्वा बालान्निबद्धाक्षान्नटो हरति तद्धनम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

नट-वत्—धूर्त या ठग की तरह; मूढ—रे धूर्त; मायाभिः—माया करके; माया-ईशान्—माया को वश में करने वाले देवताओं को; नः—हम सब को; जिगीषसि—विजयी बनना चाहते हो; जित्वा—जीतकर; बालान्—बच्चों को; निबद्ध-अक्षान्—आँखें बाँध कर; नटः—ठग; हरति—ले जाता है; तत्-धनम्—बच्चे का धन।

इन्द्र ने कहा : रे धूर्त! जिस प्रकार ठग बच्चे की आँखों को बाँध कर कभी-कभी उसका धन ले जाता है उसी प्रकार तुम यह जानते हुए कि हम सब ऐसी माया-शक्तियों के स्वामी हैं,

अपनी कोई मायाशक्ति दिखलाकर हमें परास्त करना चाहते हो।

आरुरुक्षन्ति मायाभिरुत्सिसृप्सन्ति ये दिवम् ।
तान्दस्यून्विधुनोम्यज्ञान्पूर्वस्माच्च पदादधः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

आरुरुक्षन्ति—व्यक्ति जो उच्च लोकों को जाना चाहते हैं; मायाभिः—तथाकथित योगशक्ति या विज्ञान के भौतिक विकास द्वारा; उत्सिसृप्सन्ति—या ऐसे झूठे प्रयासों से मुक्त होना चाहते हैं; ये—जो व्यक्ति; दिवम्—स्वर्गलोक को; तान्—ऐसे धूर्तों तथा लंठों को; दस्यून्—ऐसे चोरों को; विधुनोमि—मैं नीचे गिराता हूँ; अज्ञान्—मूर्ख; पूर्वस्मात्—पिछला; च—भी; पदात्—पद से; अधः—नीचे।

उन मूर्खों तथा धूर्तों को जो माया से या यांत्रिक साधनों से उच्चलोकों तक पहुँचना चाहते हैं या जो उच्चलोकों को भी पार करके वैकुण्ठलोक या मुक्ति प्राप्त करना चाहते हैं, मैं उन्हें ब्रह्माण्ड के सबसे निम्न भाग में भिजवाता हूँ।

तात्पर्य : विभिन्न लोगों के लिए निस्सन्देह, भिन्न-भिन्न लोक हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.१) में कहा गया है—*ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः*—सतोगुणी पुरुष उच्चतर लोकों को जा सकते हैं। किन्तु जो रजोगुणी तथा तमोगुणी हैं उन्हें उच्चलोकों में प्रवेश नहीं करने दिया जाता। *दिवम्* शब्द उच्चलोकों का द्योतक है, जो स्वर्गलोक कहलाता है। स्वर्गलोक के राजा इन्द्र को अधिकार है कि यदि कोई बद्धजीव समुचित योग्यता के बिना निम्न लोकों से उच्चलोकों को जाने का प्रयास करे तो वह उसे नीचे धकेल दे। चन्द्रमा तक जाने का आधुनिक प्रयास निम्न लोगों द्वारा कृत्रिम यांत्रिक साधनों से स्वर्गलोक जाने का ही प्रयास है। यह प्रयास सफल नहीं हो सकता। इन्द्र के इस कथन से लगता है कि जो यांत्रिक साधनों द्वारा, जिसे यहाँ पर माया कहा गया है, उच्चलोकों को जाने का प्रयास करता है उसे ब्रह्माण्ड के निम्न भागों में नरकलोक में भेज दिया जाता है। उच्चलोकों में जाने के लिए पर्याप्त सद्गुण चाहिए। तमोगुणी पापी पुरुष तथा मदिरा पान, मांस भक्षण तथा अवैध यौनाचार में लगा व्यक्ति कभी भी यांत्रिक साधनों से उच्चलोकों में प्रवेश नहीं करेगा।

सोऽहं दुर्मायिनस्तेऽद्य वज्रेण शतपर्वणा ।
शिरो हरिष्ये मन्दात्मन्यटस्व ज्ञातिभिः सह ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—वही शक्तिशाली पुरुष; अहम्—मैं (इन्द्र); दुर्मायिनः—माया से इतनी जादूगरी करने वाले तुम; ते—तुम्हारा; अद्य—आज; वज्रेण—वज्र से; शत-पर्वणा—सैकड़ों तीक्ष्ण धारों वाला; शिरः—सिर; हरिष्ये—पृथक् कर दूँगा; मन्द-आत्मन्—हे अज्ञानी; घटस्व—इस युद्धस्थल में रहते रहो; ज्ञातिभिः सह—अपने सम्बन्धियों तथा सहायकों सहित।

आज, मैं, वही शक्तिशाली व्यक्ति, हजारों तेज धारों वाले अपने वज्र से तुम्हारे सिर को शरीर से काटकर अलग कर दूँगा। यद्यपि तुम माया द्वारा पर्याप्त चमत्कार दिखा सकते हो, किन्तु तुम्हारा ज्ञान अत्यल्प है। अब तुम अपने परिजनों तथा मित्रों सहित युद्धभूमि में ठहरने की ही चेष्टा दिखा करो।

श्रीबलिरुवाच

सङ्ग्रामे वर्तमानानां कालचोदितकर्मणाम् ।
कीर्तिर्जयोऽजयो मृत्युः सर्वेषां स्युरनुक्रमात् ॥ ७॥

शब्दार्थ

श्री-बलिः उवाच—बलि महाराज ने कहा; सङ्ग्रामे—युद्धभूमि में; वर्तमानानाम्—यहाँ जो लोग उपस्थित हैं उनका; काल-चोदित—काल के प्रभाव से; कर्मणाम्—लड़ने या अन्य कार्यों में लगे मनुष्यों के लिए; कीर्तिः—यश; जयः—विजय; अजयः—हार; मृत्युः—मृत्यु; सर्वेषाम्—सब की; स्युः—होनी चाहिए; अनुक्रमात्—क्रमशः।

बलि महाराज ने उत्तर में कहा : सभी लोग जो इस युद्धभूमि में उपस्थित हैं निश्चय ही नित्य काल के वश में हैं और वे अपने-अपने नियत कर्मों के अनुसार क्रमशः यश, विजय, हार तथा मृत्यु प्राप्त करेंगे।

तात्पर्य : यदि कोई युद्धभूमि में विजयी होता है, तो वह प्रसिद्ध हो जाता है, किन्तु यदि वह विजयी न होकर हार जाता है, तो वह मर सकता है। जीत या हार तो इस तरह के युद्ध में या जीवन-संघर्ष के युद्धक्षेत्र में सम्भव है ही। सब कुछ प्रकृति के नियमों के अनुसार घटित होता है(*प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वशः*)। चूँकि, बिना किसी अपवाद के, हर जीव प्रकृति के गुणों के अधीन है अतएव विजयी या पराजित होना उसके वश में नहीं है अपितु वह प्रकृति के वश में होता है। इसलिए बलि महाराज अत्यन्त विचारवान् थे। वे जानते थे कि युद्ध शाश्वत काल द्वारा नियोजित है और काल के वशीभूत होकर मनुष्य को अपने कर्मों का फल स्वीकार करना होता है। अतएव इन्द्र द्वारा यह धमकी दिये जाने पर भी कि वह बलि महाराज को वज्र से मार डालेगा, बलि महाराज रंचमात्र भी भयभीत नहीं हुए। यही क्षत्रिय धर्म है—*युद्धे चाप्यपलायनम्* (*भगवद्गीता* १.४३)। क्षत्रिय को सभी परिस्थितियों में, विशेषकर युद्धभूमि में, अत्यन्त सहनशील होना चाहिए। अतः बलि महाराज ने बता दिया कि यद्यपि स्वर्ग का राजा जैसा व्यक्ति उन्हें धमका रहा है, किन्तु वे मृत्यु से तनिक भी भयभीत

नहीं हैं।

तदिदं कालरशनं जगत्पश्यन्ति सूरयः ।
न हृष्यन्ति न शोचन्ति तत्र यूयमपण्डिताः ॥ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतएव; इदम्—यह सम्पूर्ण भौतिक जगत; काल-रशनम्—काल के कारण गतिमान्; जगत्—आगे बढ़ता (यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड); पश्यन्ति—देखते हैं; सूरयः—सत्य से अवगत होने के कारण जो बुद्धिमान् हैं; न—नहीं; हृष्यन्ति—हर्षित होते हैं; न—न तो; शोचन्ति—पछताते हैं; तत्र—ऐसे में; यूयम्—तुम सारे देवता; अपण्डिताः—पण्डित नहीं हो (यह भूलकर कि तुम काल के अधीन कार्य कर रहे हो)।

काल की गतियों को देखकर, जो लोग वास्तविक सत्य से अवगत हैं, वे विभिन्न परिस्थितियों के लिए न तो हर्षित होते हैं, न सोचते हैं। चूँकि तुम लोग अपनी विजय पर हर्षित हो अतः तुम्हें अत्यन्त विद्वान नहीं कहा जा सकता।

तात्पर्य : बलि महाराज जानते थे कि स्वर्ग का राजा इन्द्र अत्यन्त शक्तिशाली है और उनसे तो निश्चित रूप से अधिक शक्तिशाली है। फिर भी बलि महाराज ने यह कहकर ललकारा कि इन्द्र बहुत विद्वान पुरुष नहीं है। *भगवद्गीता* (२.११) में कृष्ण ने अर्जुन को यह कहकर फटकारा कि—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥

"तुम बुद्धिमानी की बातें कहते हुए उसके लिए शोक करते हो जो शोक करने योग्य नहीं है। जो लोग बुद्धिमान् हैं, वे न तो जीवित के लिए शोक करते हैं न मरे हुए के लिए।" इस प्रकार जैसे कृष्ण ने अर्जुन को यह कहते हुए फटकारा कि वह पण्डित नहीं है, बलि महाराज ने भी इन्द्र तथा उसके पार्षदों को फटकारा। इस भौतिक जगत में काल के अधीन ही सब घटित होता है। फलस्वरूप ऐसे विद्वान व्यक्ति के लिए जो यह देखता है कि किस तरह घटनाएँ घटती हैं, प्रकृति की लहरों के कारण दुखी या सुखी होने का प्रश्न ही नहीं उठता। आखिर, जब हम इन लहरों द्वारा बहाकर ले जाये जा रहे हैं, तो हर्षित होने या खिन्न होने से क्या लाभ? जो प्रकृति के नियमों से भलीभाँति अवगत है, वह प्रकृति के कार्यकलापों के कारण, कभी भी न तो हर्षित होता है न खिन्न। *भगवद्गीता* (२.१४) में कृष्ण उपदेश देते हैं कि मनुष्य सहिष्णु बने—*तांस्तितिक्षस्व भारत।* कृष्ण के इस उपदेश का पालन करते हुए मनुष्य को परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण न तो खिन्न होना चाहिए न प्रसन्न। यह भक्त

का लक्षण है। भक्त कृष्णभावनामृत में अपना कर्तव्य पालन करता है और विषम परिस्थिति में अप्रसन्न नहीं रहता। उसे पूर्ण विश्वास रहता है कि ऐसी परिस्थितियों में कृष्ण अपने भक्त की रक्षा करते हैं। अतएव भक्त भक्ति के अपने नियत कर्तव्य से कभी विचलित नहीं होता। हर्ष तथा विषाद् जैसे भौतिक गुण देवताओं तक में रहते हैं, जो उच्चलोक में अच्छा स्थान ग्रहण किए हुए हैं। अतएव जब कोई व्यक्ति इस भौतिक जगत की तथाकथित अनुकूल तथा प्रतिकूल दशाओं में अविचलित रहे तो उसे *ब्रह्मभूत* या स्वरूपसिद्ध समझना चाहिए। जैसाकि *भगवद्गीता* (१.५४) में कहा गया है— *ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति*—जो दिव्य पद पर स्थित है, वह तुरन्त ही परब्रह्म का साक्षात्कार करता है और पूरी तरह प्रसन्न हो जाता है। जब मनुष्य भौतिक दशाओं से विचलित नहीं होता तो उसे दिव्य स्तर पर स्थित समझना चाहिए, जो प्रकृति के तीन गुणों के प्रभावों से ऊपर है।

न वयं मन्यमानानामात्मानं तत्र साधनम् ।
गिरो वः साधुशोच्यानां गृह्णीमो मर्मताडनाः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वयम्—हम; मन्यमानानाम्—मानने वालों का; आत्मानम्—स्वयं; तत्र—विजय या हार में; साधनम्—कारण; गिरः—शब्द; वः—तुम्हारा; साधु-शोच्यानाम्—जिन पर साधु पुरुषों को तरस आता है; गृह्णीमः—स्वीकार करते हैं; मर्म-ताडनाः—हृदय को पीड़ा पहुँचाने वाले।

तुम देवता लोग अपने आपको अपनी ख्याति तथा विजय प्राप्त करने का कारण मानते हो। तुम लोगों की अज्ञानता के कारण साधु पुरुष तुम्हारे लिए शोक करते हैं। अतएव तुम्हारे वचन मर्मस्पर्शी होते हुए भी हमें स्वीकार्य नहीं हैं।

श्रीशुक उवाच
इत्याक्षिप्य विभुं वीरो नाराचैर्वीरमर्दनः ।
आकर्णपूर्णैरहनदाक्षेपैराह तं पुनः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; आक्षिप्य—प्रताड़ित करके; विभुम्—इन्द्र को; वीरः—बहादुर बलि महाराज; नाराचैः—नाराच नामक बाणों से; वीर-मर्दनः—बड़े-बड़े वीरों को भी दमित करने वाले बलि महाराज; आकर्ण-पूर्णैः—कानों तक खींचकर; अहनत्—आक्रमण किया; आक्षेपैः—प्रताड़ना के शब्दों से; आह—कहा; तम्—उससे; पुनः—फिर।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : स्वर्ग के राजा इन्द्र को इस प्रकार कटु वचनों से फटकारने के बाद वीरों को मर्दन करने वाले बलि महाराज ने नाराच बाणों को अपने कान तक खींचा और

उनसे इन्द्र पर आक्रमण कर दिया। उन्होंने पुनः इन्द्र को कठोर शब्दों से प्रताड़ित किया।

एवं निराकृतो देवो वैरिणा तथ्यवादिना ।
नामृष्यत्तदधिक्षेपं तोत्राहत इव द्विपः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; निराकृतः—हारकर; देवः—राजा इन्द्र; वैरिणा—अपने शत्रु से; तथ्य-वादिना—सत्य कहने में पटु; न—नहीं; अमृष्यत्—पछताया; तत्—उसकी (बलि की); अधिक्षेपम्—प्रताड़ना; तोत्र—अंकुश या दण्ड से; आहतः—मारा जाकर; इव—सदृश; द्विपः—हाथी।

चूँकि महाराज बलि की फटकारें सत्य थीं अतएव इन्द्र तनिक भी खिन्न नहीं हुआ जिस तरह एक हाथी पीलवान द्वारा अंकुश से पीटा जाने पर भी कभी विचलित नहीं होता।

प्राहरत्कुलिशं तस्मा अमोघं परमर्दनः ।
सयानो न्यपतद्भूमौ छिन्नपक्ष इवाचलः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

प्राहरत्—मारा जाकर; कुलिशम्—वज्र दण्ड; तस्मै—उसको (बलि महाराज को); अमोघम्—अच्युत; पर-मर्दनः—शत्रु को हराने में पटु, इन्द्र; स-यानः—अपने वायुयान सहित; न्यपतत्—गिर पड़ा; भूमौ—पृथ्वी पर; छिन्न-पक्षः—जिसके पंख काट लिये गये हों; इव—सदृश; अचलः—पर्वत।

जब शत्रुओं को हराने वाले इन्द्र ने अपना अमोघ वज्र बलि महाराज पर उन्हें मारने की इच्छा से चलाया तो सचमुच बलि महाराज अपने वायुयान समेत भूमि पर गिर पड़े मानो कोई पर्वत पंख काटे जाने से गिरा हो।

तात्पर्य : वैदिक वाङ्मय के अनेक वर्णनों में पाया जाता है कि पर्वत भी अपने पंखों से आकाश में उड़ते हैं। जब ऐसे पर्वत मृत हो जाते हैं, तो वे जमीन पर गिर जाते हैं जहाँ वे विशाल मृत शरीरों के रूप में रहते हैं।

सखायं पतितं दृष्ट्वा जम्भो बलिसखः सुहृत् ।
अभ्ययात्सौहृदं सख्युर्हतस्यापि समाचरन् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सखायम्—अपने घनिष्ठ मित्र को; पतितम्—गिरा हुआ; दृष्ट्वा—देखकर; जम्भः—जम्भ नामक राक्षस; बलि-सखः—बलि महाराज का घनिष्ठ मित्र; सुहृत्—तथा निरन्तर शुभ चाहने वाला; अभ्ययात्—वहाँ पर प्रकट हुआ; सौहृदम्—अत्यन्त दयालु मित्रता; सख्युः—अपने मित्र का; हतस्य—जो चोट खाकर गिर गया था; अपि—यद्यपि; समाचरन्—मैत्रीपूर्ण कार्य निबाहने के लिए।

जब जम्भासुर ने देखा कि उसका मित्र बलि गिर गया है, तो वह उसके शत्रु इन्द्र के समक्ष

प्रकट हुआ मानो मैत्रीपूर्ण आचरण से बलि महाराज की सेवा करने के लिए आया हो।

स सिंहवाह आसाद्य गदामुद्यम्य रंहसा ।
जत्रावताडयच्छक्रं गजं च सुमहाबलः ॥ १४॥

शब्दार्थ

सः—जम्भासुर ने; सिंह-वाहः—सिंह द्वारा ले जाया गया; आसाद्य—इन्द्र के समक्ष आकर; गदाम्—अपनी गदा को; उद्यम्य—निकालकर; रंहसा—बलपूर्वक; जत्रौ—गर्दन के निचले भाग पर; अताडयत्—मारा; शक्रम्—इन्द्र को; गजम् च—तथा उसके हाथी को; सु-महा-बलः—उस शक्तिशाली जम्भासुर ने।

अत्यन्त शक्तिशाली जम्भासुर सिंह पर सवार होकर इन्द्र के पास आया और उसने अपनी गदा से उसके कंधे पर बलपूर्वक प्रहार किया। उस ने इन्द्र के हाथी पर भी प्रहार किया।

गदाप्रहारव्यथितो भृशं विह्वलितो गजः ।
जानुभ्यां धरणीं स्पृष्ट्वा कश्मलं परमं ययौ ॥ १५॥

शब्दार्थ

गदा-प्रहार-व्यथितः—जम्भासुर की गदा की चोट से पीड़ित; भृशम्—अत्यधिक; विह्वलितः—उद्विग्न; गजः—हाथी; जानुभ्याम्—अपने दोनों घुटनों से; धरणीम्—पृथ्वी को; स्पृष्ट्वा—छूकर; कश्मलम्—अचेत; परमम्—अत्यधिक; ययौ—हो गया।

जम्भासुर की गदा से चोट खाकर इन्द्र का हाथी विचलित और पीड़ित हो गया। उसने भूमि पर घुटने टेक दिये और वह अचेत होकर गिर गया।

ततो रथो मातलिना हरिभिर्दशशतैर्वृतः ।
आनीतो द्विपमुत्सृज्य रथमारुरुहे विभुः ॥ १६॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; रथः—रथ; मातलिना—मातलि नामक सारथी द्वारा; हरिभिः—घोड़ों से; दश-शतैः—सौ का दस गुना, एक हजार; वृतः—जुते हुए; आनीतः—लाया जाकर; द्विपम्—हाथी को; उत्सृज्य—छोड़कर; रथम्—रथ में; आरुरुहे—चढ़ गया; विभुः—महान् इन्द्र।

तत्पश्चात् इन्द्र का सारथी मातलि इन्द्र का रथ ले आया जिसे एक हजार घोड़े खींच रहे थे। तब इन्द्र ने अपने हाथी को छोड़ दिया और वह रथ पर चढ़ गया।

तस्य तत्पूजयन्कर्म यन्तुर्दानवसत्तमः ।
शूलेन ज्वलता तं तु स्मयमानोऽहनन्मृधे ॥ १७॥

शब्दार्थ

तस्य—मातलि की; तत्—वह सेवा (इन्द्र के समक्ष रथ को लाना); पूजयन्—प्रशंसा करते हुए; कर्म—स्वामी की ऐसी सेवा; यन्तुः—सारथी का; दानव-सत्-तमः—असुर श्रेष्ठ, जम्भासुर; शूलेन—त्रिशूल से; ज्वलता—अग्नि की लपटें निकालता; तम्—मातलि को; तु—निस्सन्देह; स्मयमानः—मुस्काते हुए; अहनत्—मारा; मृधे—युद्धस्थल में।.

मातलि के सेवाभाव की प्रशंसा करते हुए असुरश्रेष्ठ जम्भासुर मुस्कराने लगा। फिर भी उसने युद्धभूमि में अग्नि के समान जलते हुए अपने त्रिशूल से मातलि पर प्रहार कर दिया।

सेहे रुजं सुदुर्मर्षां सत्त्वमालम्ब्य मातलिः ।
इन्द्रो जम्भस्य सङ्क्रुद्धो वज्रेणापाहरच्छिरः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सेहे—सहन कर लिया; रुजम्—पीड़ा को; सु-दुर्मर्षाम्—असह्य; सत्त्वम्—धैर्य; आलम्ब्य—धारण करके; मातलिः—सारथी मातलि ने; इन्द्रः—इन्द्र; जम्भस्य—जम्भासुर का; सङ्क्रुद्धः—उस पर क्रुद्ध होकर; वज्रेण—अपने वज्र से; अपाहरत्—अलग कर दिया; शिरः—सिर को।.

यद्यपि मातलि की वेदना असह्य थी, किन्तु उसने बड़े धैर्य से उसे सह लिया। किन्तु इन्द्र जम्भासुर पर अत्यधिक क्रुद्ध हो उठा। उसने अपने वज्र से उस पर प्रहार किया और उसके सिर को धड़ से अलग कर दिया।

जम्भं श्रुत्वा हतं तस्य ज्ञातयो नारदादृषेः ।
नमुचिश्च बलः पाकस्तत्रापेतुस्त्वरान्विताः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

जम्भम्—जम्भासुर को; श्रुत्वा—सुनकर; हतम्—मारा गया; तस्य—उसके; ज्ञातयः—मित्र तथा सम्बन्धी; नारदात्—नारद से; ऋषेः—ऋषि से; नमुचिः—नमुचि; च—भी; बलः—बल नामक असुर; पाकः—तथा पाक राक्षस; तत्र—वहाँ; आपेतुः—तुरन्त आ गये; त्वरा-अन्विताः—फुर्ती से।.

जब नारद ऋषि ने जम्भासुर के मित्रों तथा सम्बन्धियों को यह जानकारी दी कि जम्भासुर मारा गया है, तो नमुचि, बल तथा पाक नामक तीन असुर बड़ी तेजी से युद्धभूमि में आ गए।

वचोभिः परुषैरिन्द्रमर्दयन्तोऽस्य मर्मसु ।
शरैरवाकिरन्मेघा धाराभिरिव पर्वतम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

वचोभिः—कटु वचनों से; परुषैः—अत्यन्त भद्दे तथा कठोर; इन्द्रम्—राजा इन्द्र को; अर्दयन्तः—प्रताड़ित करते; अस्य—इन्द्र के; मर्मसु—हृदय में.; शरैः—बाणों से; अवाकिरन्—चारों ओर से ढक दिया; मेघाः—बादल; धाराभिः—वर्षा की झड़ी से; इव—जिस तरह; पर्वतम्—पर्वत को।.

इन्द्र को कठोर, मर्मभेदी शब्दों से भला-बुरा कहते हुए इन असुरों ने उस पर बाणों से उसी प्रकार वर्षा की जिस तरह वर्षा की झड़ी किसी महान् पर्वत को धो देती है।

हरीन्दशशतान्याजौ हर्यश्वस्य बल: शरै: ।
तावद्भिरर्दयामास युगपल्लघुहस्तवान् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

हरीन्—घोड़ों को; दश-शतानि—एक हजार; आजौ—युद्धभूमि में; हर्यश्वस्य—इन्द्र के; बल:—बल नामक असुर ने; शरै:—बाणों से; तावद्भि:—इतनों से; अर्दयाम् आस—कठिनाई में डाल दिया; युगपत्—एक साथ; लघु-हस्तवान्—हाथ की सफाई से।

बल नामक असुर ने युद्धभूमि में परिस्थिति को तुरन्त सँभालते हुए इन्द्र के सभी एक हजार घोड़ों को उतने ही बाणों से एकसाथ घायल करके संकट में डाल दिया।

शताभ्यां मातलिं पाको रथं सावयवं पृथक् ।
सकृत्सन्धानमोक्षेण तदद्भुतमभूद्रणे ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

शताभ्याम्—दो सौ बाणों से; मातलिम्—मातलि नामक सारथी को; पाक:—पाक नामक राक्षस ने; रथम्—रथ को; स-अवयवम्—सारे साज-सामान सहित; पृथक्—अलग-अलग; सकृत्—एक ही बार में; सन्धान—धनुष पर बाण चढ़ाकर; मोक्षेण—तथा छोड़कर; तत्—ऐसे कार्य को; अद्भुतम्—अद्भुत; अभूत्—हो गया; रणे—युद्धभूमि में।

एक दूसरे असुर पाक ने अपने धनुष पर दो सौ बाण चढ़ाकर और उन्हें एक ही साथ छोड़कर सारे साज-सामान से भरे रथ पर तथा सारथी मातलि पर आक्रमण किया। युद्धभूमि में यह निस्सन्देह एक अद्भुत कार्य था।

नमुचि: पञ्चदशभि: स्वर्णपुङ्खैर्महेषुभि: ।
आहत्य व्यनदत्सङ्ख्ये सतोय इव तोयद: ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

नमुचि:—नमुचि नामक राक्षस ने; पञ्च-दशभि:—पन्द्रह; स्वर्ण-पुङ्खै:—सुनहले पंखों वाले; महा-इषुभि:—अत्यन्त शक्तिशाली बाणों से; आहत्य—भेदकर; व्यनदत्—गर्जना की; सङ्ख्ये—युद्धभूमि में; स-तोय:—जल से भरे हुए; इव—सदृश; तोय-द:—वर्षा करने वाला बादल।

तब एक दूसरे असुर नमुचि ने इन्द्र पर आक्रमण किया और उसे पन्द्रह सुनहरे पंखों वाले अत्यन्त शक्तिशाली बाणों से घायल कर दिया जो जल से भरे बादल के समान गरज रहे थे।

सर्वत: शरकूटेन शक्रं सरथसारथिम् ।
छादयामासुरसुरा: प्रावृट्सूर्यमिवाम्बुदा: ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

सर्वतः—चारों ओर; शर-कूटेन—बाणों की घनी वर्षा से; शक्रम्—इन्द्र को; स-रथ—रथ सहित; सारथिम्—सारथी को; छादयाम् आसुः—ढक दिया; असुराः—सारे असुरों ने; प्रावृट्—वर्षा ऋतु में; सूर्यम्—सूर्य को; इव—सदृश; अम्बु-दाः—बादल।

अन्य असुरों ने अपने बाणों की निरन्तर वर्षा से इन्द्र को उसके रथ तथा सारथी सहित ढक दिया जिस तरह वर्षा ऋतु में बादल सूर्य को ढक लेते हैं।

अलक्षयन्तस्तमतीव विह्वला
विचुक्रुशुर्देवगणाः सहानुगाः ।
अनायकाः शत्रुबलेन निर्जिता
वणिक्पथा भिन्ननवो यथार्णवे ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

अलक्षयन्तः—देख सकने में असमर्थ; तम्—इन्द्र को; अतीव—अत्यधिक बुरी तरह से; विह्वलाः—मोहग्रस्त; विचुक्रुशुः—पश्चाताप करने लगे; देव-गणाः—सारे देवता; सह-अनुगाः—अपने अनुयायियों सहित; अनायकाः—बिना नेता के; शत्रु-बलेन—अपने शत्रुओं की श्रेष्ठ शक्ति द्वारा; निर्जिताः—अत्यधिक सताये गये; वणिक्-पथाः—व्यापारी; भिन्न-नवः—जिसका जहाज टूट गया हो; यथा अर्णवे—जिस तरह समुद्र के बीच में।

देवतागण अपने शत्रुओं द्वारा बुरी तरह से सताये जाने तथा युद्धभूमि में इन्द्र को न देख पाने के कारण अत्यन्त चिन्तित थे। वे बिना नायक या कप्तान के उसी तरह विलाप करने लगे जिस तरह समुद्र के बीच में जहाज ध्वंस होने पर व्यापारी विलाप करते हैं।

तात्पर्य : इस कथन से प्रतीत होता है कि उच्चलोकों में जहाजरानी होती है और व्यापारी व्यवसाय के रूप में नौका चालन करते हैं। कभी-कभी इस लोक की तरह इन व्यापारियों का भी जहाज समुद्र के बीच में ध्वंस हो जाता है। ऐसा लगता है कि उच्चलोकों में भी ऐसी विपदाएँ कभी कभी आती रहती हैं। भगवान् की सृष्टि में होने से उच्चलोक भी शून्य या जीवों से रहित नहीं है। *श्रीमद्भागवत* से हमें ज्ञात होता है कि हमारी पृथ्वी की भाँति प्रत्येक लोक जीवों से पूर्ण है। यह मानने का कोई कारण नहीं कि अन्य लोकों में कोई जीव नहीं हैं।

ततस्तुराषाडिषुबद्धपञ्जराद्
विनिर्गतः साश्वरथध्वजाग्रणीः ।
बभौ दिशः खं पृथिवीं च रोचयन्
स्वतेजसा सूर्य इव क्षपात्यये ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; तुराषाट्—इन्द्र का दूसरा नाम; इषु-बद्ध-पञ्जरात्—शर पंजर से; विनिर्गतः—छूटकर; स—सहित; अश्व—घोड़े; रथ—रथ; ध्वज—झंडा; अग्रणीः—तथा सारथी; बभौ—हो गये; दिशः—सारी दिशाएँ; खम्—आकाश को;

पृथिवीम्—पृथ्वी को; च—तथा; रोचयन्—सुहावना बनाते; स्व-तेजसा—अपने तेज से; सूर्यः—सूर्य; इव—सदृश; क्षपा-अत्यये—रात्रि बीत जाने पर।

तत्पश्चात् इन्द्र ने बाणों के पिंजर से अपने को छुड़ाया। वह अपने रथ, झंडे, घोड़े तथा सारथी के साथ प्रकट हुआ और आकाश, पृथ्वी तथा सभी दिशाओं में प्रसन्नता फैलाते हुए वह तेजी से ऐसे चमकने लगा मानो रात बीद जाने पर सूर्य तेजी से चमक रहा हो। इन्द्र सब की दृष्टि में तेजवान् तथा सुन्दर लग रहा था।

निरीक्ष्य पृतनां देवः परैरभ्यर्दितां रणे ।
उदयच्छद्रिपुं हन्तुं वज्रं वज्रधरो रुषा ॥ २७॥

शब्दार्थ

निरीक्ष्य—देखकर; पृतनाम्—अपने सैनिकों को; देवः—इन्द्र ने; परैः—शत्रुओं द्वारा; अभ्यर्दिताम्—अत्यधिक सताया गया; रणे—युद्धभूमि में; उदयच्छत्—ले लिया; रिपुम्—शत्रुओं को; हन्तुम्—मारने के लिए; वज्रम्—वज्र; वज्र-धरः—वज्रधारण करने वाला; रुषा—अत्यधिक गुस्से से।

जब वज्रधर नाम से विख्यात इन्द्र ने देखा कि उसके सैनिक युद्धभूमि में शत्रुओं द्वारा इस तरह सताये जा रहे हैं, तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। तब उसने शत्रुओं को मारने के लिए अपना वज्र उठा लिया।

स तेनैवाष्टधारेण शिरसी बलपाकयोः ।
ज्ञातीनां पश्यतां राजञ्जहार जनयन्भयम् ॥ २॥

शब्दार्थ

सः—वह (इन्द्र); तेन—उसके द्वारा; एव—निस्सन्देह; अष्ट-धारेण—वज्र द्वारा; शिरसी—दो सिरों को; बल-पाकयोः—बल तथा पाक असुरों के; ज्ञातीनाम् पश्यताम्—उनके सम्बन्धियों तथा सैनिकों के देखते-देखते; राजन्—हे राजा; जहार—(इन्द्र ने) काट दिया; जनयन्—उत्पन्न करते हुए; भयम्—(उनके बीच) भय।

हे राजा परीक्षित! राजा इन्द्र ने बल तथा पाक दोनों असुरों के सिरों को उनके सम्बन्धियों तथा अनुयायियों की उपस्थिति में अपने वज्र द्वारा काट दिया। इस तरह उसने युद्धभूमि में अत्यन्त भयावह वातावरण उत्पन्न कर दिया।

नमुचिस्तद्वधं दृष्ट्वा शोकामर्षरुषान्वितः ।
जिघांसुरिन्द्रं नृपते चकार परमोद्यमम् ॥ २९॥

शब्दार्थ

नमुचिः—नमुचि ने; तत्—उन दो असुरों की; वधम्—हत्या; दृष्ट्वा—देखकर; शोक-अमर्ष—शोक तथा दुख; रुषा-अन्वितः—इससे अत्यन्त क्रुद्ध; जिघांसुः—मारना चाहा; इन्द्रम्—इन्द्र को; नृ-पते—हे महाराज परीक्षित; चकार—किया; परम—महान्; उद्यमम्—प्रयास।

हे राजा! जब असुर नमुचि ने बल तथा पाक दोनों असुरों को मारे जाते देखा तो वह दुख तथा शोक से भर गया। अतएव उसने क्रुद्ध होकर इन्द्र को मारने का महान् प्रयास किया।

अश्मसारमयं शूलं घण्टावद्धेमभूषणम् ।
प्रगृह्याभ्यद्रवत्क्रुद्धो हतोऽसीति वितर्जयन् ।
प्राहिणोद्देवराजाय निनदन्मृगराडिव ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अश्मसार-मयम्—इस्पात का; शूलम्—भाला; घण्टा-वत्—घण्टियों से बँधा; हेम-भूषणम्—सोने के आभूषणों से विभूषित; प्रगृह्य—हाथ में लेकर; अभ्यद्रवत्—बलपूर्वक गया; क्रुद्धः—क्रुद्ध मुद्रा में; हतः असि इति—अब तुम मारे गए; वितर्जयन्—गर्जना करते हुए; प्राहिणोत्—प्रहार किया; देव-राजाय—राजा इन्द्र को; निनदन्—गर्जना करते; मृग-राट्—सिंह; इव—समान।

सिंह गर्जना करते हुए नमुचि ने क्रोध में आकर इस्पात का एक भाला उठाया जिसमें घण्टियाँ बँधी थीं और जो सोने के आभूषणों से सज्जित था। वह उच्चस्वर से चिल्लाया "अब तुम मारे गये।" इस प्रकार इन्द्र को मारने के लिए उसके समक्ष जाकर नमुचि ने अपना हथियार चलाया।

तदापतद्गगनतले महाजवं
विचिच्छिदे हरिरिषुभिः सहस्रधा ।
तमाहनन्नृप कुलिशेन कन्धरे
रुषान्वितस्त्रिदशपतिः शिरो हरन् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; अपतत्—उल्का की तरह गिर पड़ा; गगन-तले—आकाश के नीचे अर्थात् भूमि पर; महा-जवम्—अत्यन्त शक्तिशाली; विचिच्छिदे—खंड-खंड कर डाला; हरिः—इन्द्र ने; इषुभिः—अपने बाणों से; सहस्रधा—हजारों खण्डों में; तम्—उस नमुचि को; आहनत्—प्रहार किया; नृप—हे राजा; कुलिशेन—अपने वज्र से; कन्धरे—कन्धे पर; रुषा-अन्वितः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; त्रिदश-पतिः—देवताओं का राजा इन्द्र; शिरः—सिर; हरन्—काटने के लिए।

हे राजा! जब स्वर्ग के राजा इन्द्र ने इस अत्यन्त शक्तिशाली भाले को ज्वलित उल्का की भाँति भूमि की ओर गिरते देखा तो उसने तुरन्त ही उसे अपने बाणों से खण्ड-खण्ड कर दिया। फिर अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसने नमुचि के कन्धे पर अपने वज्र से प्रहार किया जिससे उसका सिर कट सके।

न तस्य हि त्वचमपि वज्र ऊर्जितो
बिभेद यः सुरपतिनौजसेरितः ।
तदद्भुतं परमतिवीर्यवृत्रभित्
तिरस्कृतो नमुचिशिरोधरत्वचा ॥ ३२॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तस्य—उसका (नमुचि का); हि—निस्सन्देह; त्वचम् अपि—चमड़ी भी; वज्रः—वज्र; ऊर्जितः—अत्यन्त शक्तिशाली; बिभेद—घुस सका; यः—जो हथियार; सुर-पतिना—देवताओं के राजा द्वारा; ओजसा—अत्यन्त वेग के साथ; ईरितः—छोड़ा गया था; तत्—अतएव; अद्भुतम् परम्—अत्यधिक अद्भुत; अतिवीर्य-वृत्र-भित्—इतना शक्तिशाली था कि अत्यन्त बलवान् वृत्रासुर के भी शरीर को भेद सकता था; तिरस्कृतः—जिसे अब पीछे धकेल दिया गया था; नमुचि-शिरोधर-त्वचा—नमुचि की गर्दन की खाल से।

यद्यपि इन्द्र ने नमुचि पर अपना वज्र बड़े ही वेग से चलाया था, किन्तु वह उसकी खाल को भेद तक नहीं पाया। यह बड़ी विचित्र बात है कि जिस सुप्रसिद्ध वज्र ने वृत्रासुर के शरीर को भेद डाला था वह नमुचि की गर्दन की खाल को रंचमात्र भी क्षति नहीं पहुँचा पाया।

तस्मादिन्द्रोऽबिभेच्छत्रोर्वज्रः प्रतिहतो यतः ।
किमिदं दैवयोगेन भूतं लोकविमोहनम् ॥ ३३॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; इन्द्रः—स्वर्ग के राजा; अबिभेत्—बहुत डर गया; शत्रोः—शत्रु (नमुचि) से; वज्रः—वज्र; प्रतिहतः—मारकर लौटने में असमर्थ था; यतः—क्योंकि; किम् इदम्—यह क्या है; दैव-योगेन—दैवी शक्तिसे; भूतम्—हो गया है; लोक-विमोहनम्—सामान्य लोगों के लिए इतना आश्चर्यजनक।

जब इन्द्र ने वज्र को शत्रु से वापस आते देखा तो वह अत्यन्त भयभीत हो गया। वह आश्चर्य करने लगा कि कहीं किसी ऊँची दैवी शक्ति से तो यह सब कुछ नहीं हुआ।

तात्पर्य : इन्द्र का वज्र अमोघ है; अतएव जब उसने देखा कि वह नमुचि को हानि पहुँचाये बिना लौट आया है, तो वह निश्चित रूप से अत्यधिक भयभीत हो उठा।

येन मे पूर्वमद्रीणां पक्षच्छेदः प्रजात्यये ।
कृतो निविशतां भारैः पतत्त्रैः पततां भुवि ॥ ३४॥

शब्दार्थ

येन—इसी वज्र से; मे—मेरे द्वारा; पूर्वम्—पहले; अद्रीणाम्—पर्वतों का; पक्ष-च्छेदः—पंखों का काटा जाना; प्रजा-अत्यये—जब जनता का वध होता था; कृतः—किया गया था; निविशताम्—प्रवेश किये गये पर्वतों को; भारैः—अत्यधिक बोझ से; पतत्त्रैः—पंखों से; पतताम्—गिरते हुए; भुवि—जमीन पर।

इन्द्र ने सोचा: पूर्वकाल में जब अनेक पर्वत अपने पंखों के द्वारा आकाश में उड़ते हुए भूमि पर गिरते थे और लोगों को मार डालते थे तो मैं अपने इसी वज्र से उनके पंख काट लेता था।

तपःसारमयं त्वाष्ट्रं वृत्रो येन विपाटितः ।
अन्ये चापि बलोपेताः सर्वास्त्रैरक्षतत्वचः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

तपः—तपस्या; सार-मयम्—अत्यन्त शक्तिशाली; त्वाष्ट्रम्—त्वष्टा द्वारा सम्पन्न; वृत्रः—वृत्रासुर; येन—जिससे; विपाटितः—मारा गया; अन्ये—अन्य; च—भी; अपि—निस्सन्देह; बल-उपेताः—अत्यन्त शक्तिशाली व्यक्ति; सर्व—सभी प्रकार के; अस्त्रैः—हथियारों से; अक्षत—बिना किसी चोट लगे; त्वचः—उनकी खाल।

यद्यपि वृत्रासुर त्वष्टा द्वारा की गई तपस्या का सार-समाहार था, तो भी (इन्द्र के) वज्र ने उसका काम तमाम कर दिया था। निस्सन्देह, वही नहीं, अपितु ऐसे अनेक अग्रणी वीर भी जिनकी खाल को अन्य हथियार तनिक भी क्षति नहीं पहुँचा सके थे इसी वज्र द्वारा मारे गए।

सोऽयं प्रतिहतो वज्रो मया मुक्तोऽसुरेऽल्पके ।
नाहं तदाददे दण्डं ब्रह्मतेजोऽप्यकारणम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सः अयम्—अतएव, यह वज्र; प्रतिहतः—लौट आया; वज्रः—वज्र; मया—मेरे द्वारा; मुक्तः—छोड़ा गया; असुरे—असुर को; अल्पके—तुच्छ; न—नहीं; अहम्—मैं; तत्—उसे; आददे—पकड़े हुए हूँ; दण्डम्—डंडे की तरह; ब्रह्म-तेजः—ब्रह्मास्त्र के समान शक्तिशाली; अपि—यद्यपि; अकारणम्—अब यह व्यर्थ हो चुका है।

किन्तु, अब वही वज्र एक तुच्छ असुर पर छोड़े जाने पर भी प्रभावहीन हो गया है। अतएव ब्रह्मास्त्र जैसा होने पर भी यह मेरे लिए अब एक सामान्य डंडे की तरह व्यर्थ हो गया है। इसलिए अब मैं इसे धारण नहीं करूँगा।

इति शक्रं विषीदन्तमाह वागशरीरिणी ।
नायं शुष्कैरथो नार्द्रैर्वधमर्हति दानवः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; शक्रम्—इन्द्र को; विषीदन्तम्—शोक करते; आह—कहा; वाक्—वाणी; अशरीरिणी—देहरहित या आकाश से; न—नहीं; अयम्—यह; शुष्कैः—किसी सूखी वस्तु से; अथो—भी; न—न तो; आर्द्रैः—किसी गीली वस्तु से; वधम्—संहार; अर्हति—के योग्य है; दानवः—यह दानव (नमुचि)।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : जब दु:खी इन्द्र इस तरह विषाद कर रहा था, तो एक अशुभ देहरहित वाणी ने आकाश से कहा : यह असुर नमुचि किसी शुष्क या गीली वस्तु से विनष्ट नहीं किया जा सकता।

मयास्मै यद्वरो दत्तो मृत्युर्नैवार्द्रशुष्कयोः ।

अतोऽन्यश्चिन्तनीयस्ते उपायो मघवन्रिपोः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; अस्मै—उसको; यत्—क्योंकि; वरः—वरदान; दत्तः—दिया गया है; मृत्युः—मृत्यु; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; आर्द्र—या तो गीले; शुष्कयोः—या किसी सूखे माध्यम से; अतः—अतएव; अन्यः—अन्य कुछ, दूसरा; चिन्तनीयः—सोचना होगा; ते—तुम्हारे द्वारा; उपायः—उपाय; मघवन्—हे इन्द्र; रिपोः—अपने शत्रु का।

आकाशवाणी ने यह भी कहा "हे इन्द्र! चूँकि मैंने इस असुर को वर दे रखा है कि वह कभी किसी सूखे या गीले हथियार से नहीं मारा जायेगा, अतएव उसे मारने के लिए कोई अन्य उपाय सोचो।"

तां दैवीं गिरमाकर्ण्य मघवान्सुसमाहितः ।
ध्यायन्फेनमथापश्यदुपायमुभयात्मकम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उस; दैवीम्—दैवी; गिरम्—वाणी को; आकर्ण्य—सुनकर; मघवान्—इन्द्र ने; सु-समाहितः—मनोयोग से; ध्यायन्—ध्यान करके; फेनम्—झाग को; अथ—तत्पश्चात्; अपश्यत्—देखा; उपायम्—साधन; उभय-आत्मकम्—एकसाथ शुष्क तथा गीला।

इस अशुभ वाणी को सुनकर इन्द्र बड़े मनोयोग से ध्यान करने लगा कि इस असुर को किस तरह मारा जाये। तब उसे यह सूझा कि झाग ही ऐसा साधन है, जो न तो गीली होती है, न शुष्क।

न शुष्केण न चार्द्रेण जहार नमुचेः शिरः ।
तं तुष्टुवुर्मुनिगणा माल्यैश्चावाकिरन्विभुम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

न—न तो; शुष्केण—शुष्क साधन से; न—न तो; च—भी; आर्द्रेण—गीले हथियार से; जहार—उसने काट लिया; नमुचेः—नमुचि का; शिरः—सिर; तम्—उसको (इन्द्र को); तुष्टुवुः—सन्तुष्ट किया; मुनि-गणाः—सारे मुनियों ने; माल्यैः—फूलों की मालाओं से; च—भी; अवाकिरन्—ढक दिया; विभुम्—उस महापुरुष को।

इस तरह स्वर्ग के राजा इन्द्र ने अपनी झाग के हथियार से नमुचि का सिर काट दिया। यह झाग न तो शुष्क थी, न आर्द्र। तब सारे मुनियों ने उस महापुरुष इन्द्र पर फूलों की वर्षा की तथा माल्यार्पण द्वारा उसे लगभग ढक दिया और सन्तुष्ट कर लिया।

तात्पर्य : इस प्रसंग में *श्रुति-मन्त्रों* का कहना है—*अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोऽदारयत्*—इन्द्र ने नमुचि को जल की झाग से मार डाला जो न तो सूखी होती है न गीली।

गन्धर्वमुख्यौ जगतुर्विश्वावसुपरावसू ।
देवदुन्दुभयो नेदुर्नर्तक्यो ननृतुर्मुदा ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

गन्धर्व-मुख्यौ—गन्धर्वों के दो प्रधान; जगतुः—सुन्दर गीत गाने लगे; विश्वावसु—विश्वावसु; परावसू—परावसु नामक; देव-दुन्दुभयः—देवताओं द्वारा बजाई गई दुन्दुभियाँ; नेदुः—बजाया; नर्तक्यः—नर्तकियाँ, जिन्हें अप्सरा कहा जाता है; ननृतुः—नाचने लगीं; मुदा—अत्यन्त प्रसन्नता से।

विश्वावसु तथा परावसु नामक दो गन्धर्व प्रमुखों ने अतीव प्रसन्नता में गीत गाये। देवताओं ने दुन्दुभियाँ बजाईं और अप्सराओं ने हर्षित होकर नृत्य किया।

अन्येऽप्येवं प्रतिद्वन्द्वान्वाय्वग्निवरुणादयः ।
सूदयामासुरसुरान्मृगान्केसरिणो यथा ॥ ४२॥

शब्दार्थ

अन्ये—अन्यों ने; अपि—भी; एवम्—इस प्रकार; प्रतिद्वन्द्वान्—विपक्षियों को; वायु—वायुदेव; अग्नि—अग्निदेव; वरुण-आदयः—वरुण देव तथा अन्य; सूदयाम् आसुः—तेजी से मारने लगे; असुरान्—सारे असुरों को; मृगान्—हिरनों को; केसरिणः—सिंह; यथा—जिस तरह।

वायु, अग्नि, वरुण इत्यादि देवता अपने विरोधी असुरों को उसी तरह मारने लगे जिस तरह जंगल में हिरनों को सिंह मारते हैं।

ब्रह्मणा प्रेषितो देवान्देवर्षिर्नारदो नृप ।
वारयामास विबुधान्दृष्ट्वा दानवसङ्क्षयम् ॥ ४३॥

शब्दार्थ

ब्रह्मणा—ब्रह्माजी द्वारा; प्रेषितः—भेजा गया; देवान्—देवताओं के; देव-ऋषिः—स्वर्ग के महान् ऋषि; नारदः—नारद मुनि ने; नृप—हे राजा; वारयाम् आस—मना किया; विबुधान्—सारे देवताओं को; दृष्ट्वा—देखकर; दानव-सङ्क्षयम्—असुरों का पूर्ण विनाश।

हे राजा! जब ब्रह्मा ने देखा कि दानवों का पूर्ण संहार तुरन्त होने वाला है, तो उन्होंने नारद द्वारा सन्देश भेजा जो युद्ध रुकवाने के लिए देवताओं के समक्ष गये।

श्रीनारद उवाच
भवद्भिरमृतं प्राप्तं नारायणभुजाश्रयैः ।
श्रिया समेधिताः सर्व उपारमत विग्रहात् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने देवताओं से प्रार्थना की; भवद्भिः—आप लोगों के द्वारा; अमृतम्—अमृत; प्राप्तम्—प्राप्त किया जा चुका है; नारायण—नारायण की; भुज-आश्रयैः—भुजाओं के द्वारा सुरक्षित; श्रिया—लक्ष्मी द्वारा; समेधिताः—उन्नति की है; सर्वे—आप सब; उपारमत—अब रुक जाओ; विग्रहात्—इस लड़ाई से।

महामुनि नारद ने कहा : तुम सारे देवता भगवान् नारायण की भुजाओं द्वारा सुरक्षित हो और उनकी कृपा से तुम सबको अमृत प्राप्त हुआ है। लक्ष्मीजी की कृपा से तुम हर तरह से गौरान्वित

हुए हो; अतएव अब यह लड़ाई बन्द कर दो।

श्रीशुक उवाच
संयम्य मन्युसंरम्भं मानयन्तो मुनेर्वचः ।
उपगीयमानानुचरैर्ययुः सर्वे त्रिविष्टपम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; संयम्य—रोककर; मन्यु—क्रोध का; संरम्भम्—वृद्धि, उभाड़; मानयन्तः—स्वीकार करते हुए; मुनेः वचः—नारद मुनि के शब्द; उपगीयमान—प्रशंसित होकर; अनुचरैः—अनुयायियों द्वारा; ययुः—लौट गये; सर्वे—सारे देवता; त्रिविष्टपम्—स्वर्ग लोक को।.

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : नारद मुनि के वचनों को मानकर देवताओं ने अपना क्रोध त्याग दिया और लड़ाई बन्द कर दी। वे अपने अनुयायियों द्वारा प्रशंसित होकर स्वर्गलोक को लौट गये।

येऽवशिष्टा रणे तस्मिन्नारदानुमतेन ते ।
बलिं विपन्नमादाय अस्तं गिरिमुपागमन् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

ये—जो थोड़े से असुर; अवशिष्टाः—बचे थे; रणे—युद्ध में; तस्मिन्—उस; नारद-अनुमतेन—नारद की आज्ञा से; ते—वे सभी; बलिम्—महाराज बलि को; विपन्नम्—संकटग्रस्त; आदाय—लेकर; अस्तम्—अस्त नामक; गिरिम्—पर्वत पर; उपागमन्—चले गये।.

युद्धक्षेत्र में जितने भी असुर बचे थे, वे सब नारद मुनि के आदेशानुसार बलि महाराज को जिनकी अवस्था अत्यन्त गम्भीर थी, अस्तगिरि ले गये ।

तत्राविनष्टावयवान्विद्यमानशिरोधरान् ।
उशना जीवयामास संजीवन्या स्वविद्यया ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

तत्र—उस पर्वत पर; अविनष्ट-अवयवान्—बचे हुए अंगों वाले मारे गए असुरों को; विद्यमान-शिरोधरान्—जिनके सिर उनके शरीरों में अभी तक लगे थे; उशनाः—शुक्राचार्य; जीवयाम् आस—जीवित कर दिया; संजीवन्या—सञ्जीवनी मंत्र द्वारा; स्व-विद्यया—अपनी विद्या से।.

उस पर्वत पर शुक्राचार्य ने उन सारे मृत असुर सैनिकों को जिनके सिर, धड़ तथा हाथ- पाँव कटे नहीं थे जीवित कर दिया। उन्होंने अपने सञ्जीवनी मंत्र के द्वारा यह सब किया।

बलिश्चोशनसा स्पृष्टः प्रत्यापन्नेन्द्रियस्मृतिः ।
पराजितोऽपि नाखिद्यल्लोकतत्त्वविचक्षणः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

बलिः—महाराज बलि ने; च—भी; उशनसा—शुक्राचार्य द्वारा; स्पृष्टः—स्पर्श से; प्रत्यापन्न—पुन: जीवित किया गया; इन्द्रिय-स्मृतिः—इन्द्रियों के कार्यों तथा स्मृति की अनुभूति; पराजितः—हरा दिया गया; अपि—यद्यपि; न अखिद्यत्—शोक नहीं किया; लोक-तत्त्व-विचक्षणः—सांसारिक कार्यों में अत्यन्त अनुभवी होने के कारण।

बलि महाराज सांसारिक कार्यों में अत्यन्त अनुभवी थे। जब शुक्राचार्य की कृपा से उन्हें होश आया और उनकी स्मृति लौट आई तो जो कुछ हो चुका था उसे वे समझ गये। इसलिए पराजित होने पर भी उन्हें शोक नहीं हुआ।

तात्पर्य : यह महत्त्वपूर्ण बात है कि बलि महाराज को यहाँ पर अत्यन्त अनुभवी कहा गया है। यद्यपि वे हार गये थे, तथापि उन्हें कोई खेद न था क्योंकि वे जानते थे कि भगवान् की अनुमति के बिना कुछ भी नहीं घटित हो सकता। भक्त होने के कारण उन्होंने बिना संताप के अपनी पराजय स्वीकार की। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४७) में भगवान् ने कहा है—*कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्*—कृष्णभावनाभावित हर व्यक्ति को हार-जीत की परवाह न करके अपना कर्तव्य निभाना चाहिए। मनुष्य को कृष्ण या उनके प्रतिनिधि गुरु द्वारा आदेशित अपना कर्तव्य करना चाहिए। *आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा*—उत्तम भक्ति में मनुष्य सदा कृष्ण की इच्छा तथा आदेशों का पालन करता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत में अष्टम स्कन्ध के अन्तर्गत "इन्द्र द्वारा असुरों का संहार" नामक ग्यारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बारह

मोहिनी-मूर्ति अवतार पर शिवजी का मोहित होना

इस अध्याय में वर्णन हुआ है कि किस तरह भगवान् के सुन्दर मोहिनी-मूर्ति अवतार को देखकर शिवजी मोहित हो गये और बाद में किस तरह उन्हें होश आया। जब शिवजी ने आकर्षक स्त्री (मोहिनी) रूपी भगवान् हरि की लीलाओं के विषय में सुना तो वे अपने बैल पर सवार होकर भगवान् को देखने चल पड़े। वे अपनी पत्नी उमा तथा अपने सेवक भूतगणों के साथ भगवान् के चरणकमलों के पास जा पहुँचे। उन्होंने सर्वव्यापी, विराट रूप, सृष्टि के परम नियन्ता, परमात्मा, सबों के आश्रय तथा पूर्ण स्वतंत्र *सर्वकारण-कारणम्* भगवान् को नमस्कार किया। इस प्रकार उन्होंने भगवान् का सही-सही

वर्णन करते हुए उनकी स्तुति की। तत्पश्चात् उन्होंने अपनी इच्छा अभिव्यक्त की। भगवान् अपने भक्तों पर बड़े दयालु होते हैं। अतएव अपने भक्त शिवजी की इच्छा–पूर्ति के लिए उन्होंने अपनी शक्ति का विस्तार किया और अपने आपको एक अत्यन्त सुन्दर एवं मोहक स्त्री के रूप में प्रकट किया। इस रूप को देखकर शिवजी भी मोहित हो गये। बाद में भगवत्कृपा से वे अपने आपको नियंत्रित कर सके। इससे यह प्रदर्शित होता है कि जगत में भगवान् की माया शक्ति से इस भौतिक जगत में हर व्यक्ति स्त्री के रूप पर मोहित होता है। किन्तु पुन: भगवत्–कृपा से वह माया के प्रभाव को जीत सकता है। यह भगवान् के सर्वोच्च भक्त शिवजी से प्रकट हो गया। पहले तो वे मोहित हो गये, किन्तु बाद में भगवत्कृपा से उन्होंने अपने को रोका। इस सम्बन्ध में यह घोषित किया जाता है कि केवल शुद्ध भक्त ही अपने आप को माया के आकर्षक स्वरूप से दूर रख सकता है। अन्यथा एक बार जीव माया के बाह्य स्वरूप के द्वारा बन्दी हुआ नहीं कि वह उससे कभी छूट नहीं पाता। जब भगवान् ने शिवजी पर कृपा की तो उन्होंने अपनी पत्नी भवानी तथा अपने साथी प्रेतों सहित भगवान् की प्रदक्षिणा की और फिर अपने धाम को चले गये। शुकदेव गोस्वामी इस अध्याय की समाप्ति उत्तमश्लोक भगवान् के दिव्य गुणों के वर्णन एवं इस घोषणा के साथ करते हैं कि मनुष्य नवधा भक्ति द्वारा भगवान् की महिमा का गायन कर सकता है, जिसका शुभारम्भ *श्रवणं कीर्तनम्* से होता है।

श्रीबादरायणिरुवाच
वृषध्वजो निशम्येदं योषिद्रूपेण दानवान् ।
मोहयित्वा सुरगणान्हरिः सोमममपाययत् ॥ १ ॥
वृषमारुह्य गिरिशः सर्वभूतगणैर्वृतः ।
सह देव्या ययौ द्रष्टुं यत्रास्ते मधुसूदनः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; वृष-ध्वजः—बैल पर सवारी करने वाले शिवजी ने; निशम्य—सुनकर; इदम्—यह (खबर); योषित्-रूपेण—स्त्री का रूप धारण करके; दानवान्—दानवों को; मोहयित्वा—मुग्ध करके; सुर-गणान्—देवताओं को; हरिः—भगवान् ने; सोमम्—अमृत; अपाययत्—पिलाया; वृषम्—बैल पर; आरुह्य—चढ़कर; गिरिशः—शिवजी; सर्व—सारे; भूत-गणैः—भूत-प्रेतों के द्वारा; वृतः—घिरे हुए; सह देव्या—उमा के साथ; ययौ—गये; द्रष्टुम्—देखने के लिए; यत्र—जहाँ; आस्ते—रुकते हैं; मधुसूदनः—भगवान् विष्णु।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : स्त्री के रूप में भगवान् हरि ने दानवों को मोह लिया और देवताओं को अमृत पिलाया। इन लीलाओं को सुनकर बैल पर सवारी करने वाले शिवजी उस स्थान पर गये जहाँ भगवान् मधुसूदन रहते हैं। शिवजी अपनी पत्नी उमा को साथ लेकर तथा

अपने साथी प्रेतों से घिरकर वहाँ भगवान् के स्त्री-रूप को देखने गये।

सभाजितो भगवता सादरं सोमया भवः ।
सूपविष्ट उवाचेदं प्रतिपूज्य स्मयन्हरिम् ॥ ३॥

शब्दार्थ

सभाजितः—सुसम्मानित; भगवता—भगवान् विष्णु द्वारा; स-आदरम्—अत्यन्त सम्मानपूर्वक (जो शिवजी के अनुकूल था); स-उमया—उमा सहित; भवः—शम्भु (शिवजी); सु-उपविष्टः—ठीक प्रकार से स्थित; उवाच—कहा; इदम्—यह; प्रतिपूज्य—सम्मान प्रदर्शित करके; स्मयन्—मुस्काते; हरिम्—भगवान् के प्रति।

भगवान् ने शिवजी तथा उमा का अत्यन्त सम्मान के साथ स्वागत किया और ठीक प्रकार से बैठ जाने पर शिवजी ने भगवान् की विधिवत् पूजा की तथा मुस्काते हुए वे इस प्रकार बोले।

श्रीमहादेव उवाच
देवदेव जगद्व्यापिञ्जगदीश जगन्मय ।
सर्वेषामपि भावानां त्वमात्मा हेतुरीश्वरः ॥ ४॥

शब्दार्थ

श्री-महादेवः उवाच—शिवजी (महादेव) ने कहा; देव-देव—हे देवताओं में सर्वश्रेष्ठ देवता; जगत्-व्यापिन्—हे सर्वव्यापी भगवान्; जगत्-ईश—हे ब्रह्माण्ड के स्वामी; जगत्-मय—हे भगवान्, जो तुरन्त ही अपनी शक्ति से इस सृष्टि में बदल गए हैं; सर्वेषाम् अपि—समस्त प्रकार के; भावानाम्—स्थितियाँ; त्वम्—तुम; आत्मा—गतिमान् शक्ति; हेतुः—इसका कारण; ईश्वरः—भगवान्, परमेश्वर।

महादेवजी ने कहा : हे देवताओं में प्रमुख देव! हे सर्वव्यापी, ब्रह्माण्ड के स्वामी! आपने अपनी शक्ति से अपने को सृष्टि में रूपान्तरित कर दिया है। आप हर वस्तु के मूल एवं सक्षम कारण हैं। आप भौतिक नहीं हैं। निस्सन्देह, आप हर एक की परम सञ्जीवनी शक्ति या परमात्मा हैं। अतएव आप परमेश्वर हैं अर्थात् सभी नियंत्रकों के परम नियंत्रक हैं।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु इस भौतिक जगत के भीतर *सत्त्वगुण-अवतार* के रूप में निवास करते हैं। शिवजी *तमोगुण-अवतार* हैं और ब्रह्माजी *रजोगुण-अवतार* हैं। किन्तु यद्यपि विष्णुजी इन्हीं में से एक हैं, वे उसी कोटि के नहीं है। भगवान् विष्णु *देवदेव* हैं अर्थात् वे समस्त देवताओं के प्रमुख हैं। चूँकि शिवजी इसी भौतिक जगत में हैं अतएव भगवान् विष्णु की शक्ति में शिवजी सम्मिलित हैं। इसीलिए विष्णु *जगद्व्यापी* या सर्वव्यापी कहलाते हैं। शिवजी कभी-कभी महेश्वर कहलाते हैं; अतएव लोग सोचते हैं कि शिवजी ही सब कुछ हैं। किन्तु यहाँ पर शिवजी विष्णु को जगदीश कहकर सम्बोधित करते हैं जिसका अर्थ है "ब्रह्माण्ड के स्वामी।" कभी-कभी शिवजी विश्वेश्वर कहलाते हैं, किन्तु यहाँ

पर वे विष्णु को *जगन्मय* कहकर सम्बोधित करते हैं जिससे सूचित होता है कि विश्वेश्वर भी भगवान् विष्णु के अधीन हैं। भगवान् विष्णु वैकुण्ठ लोक के स्वामी हैं, फिर भी वे भौतिक जगत को भी नियंत्रित करते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*)। ब्रह्माजी तथा शिवजी भी कभी-कभी ईश्वर कहलाते हैं, किन्तु परम ईश्वर तो भगवान् विष्णु या कृष्ण हैं। जैसाकि *ब्रह्मसंहिता* में कहा गया है—*ईश्वरः परमः कृष्णः*—भगवान् तो कृष्ण या विष्णु हैं। जितनी भी वस्तुओं का अस्तित्व है वे भगवान् विष्णु के ही कारण उचित क्रम में कार्यशील हैं। *अण्डान्तरस्थ परमाणुचयान्तरस्थम्।* यहाँ तक कि परमाणु भी अपने भीतर भगवान् विष्णु की उपस्थिति के कारण कार्यशील हैं।

आद्यन्तावस्य यन्मध्यमिदमन्यदहं बहिः ।
यतोऽव्ययस्य नैतानि तत्सत्यं ब्रह्म चिद्भवान् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

आदि—प्रारम्भ; अन्तौ—तथा अन्त; अस्य—इस व्यक्त जगत का या किसी भी भौतिक या दृश्य वस्तु का; यत्—जो; मध्यम्—आरम्भ एवं अन्त के मध्य, पालन; इदम्—यह दृश्य जगत; अन्यत्—आपके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु; अहम्—गलत धारणा; बहिः—आपसे बाहर; यतः—के कारण; अव्ययस्य—अक्षय; न—नहीं; एतानि—इतने सारे अन्तर; तत्—वह; सत्यम्—परम सत्य; ब्रह्म—ब्रह्म; चित्—आध्यात्मिक; भवान्—आप।

हे भगवान्! व्यक्त, अव्यक्त, मिथ्या अहंकार तथा इस दृश्य जगत का आदि (उत्पत्ति), पालन तथा संहार सभी कुछ आपसे है। किन्तु आप परम सत्य, परमात्मा, परम ब्रह्म हैं अतएव जन्म, मृत्यु तथा पालन जैसे परिवर्तन आप में नहीं पाये जाते।

तात्पर्य : *यतो वा इमानि भूतानि जयन्ते*—वैदिक मंत्रों के अनुसार प्रत्येक वस्तु भगवान् से उद्भूत है। *भगवद्गीता* (७.४) में स्वयं भगवान् कहते हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

"पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार—ये आठ मिलकर मेरी भिन्न। भौतिक शक्तियाँ बनाते हैं।" दूसरे शब्दों में, दृश्य जगत के अवयव भी भगवान् की शक्ति से बने हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि चूँकि सारे अवयव उनसे प्राप्त होते हैं अतएव भगवान् अब पूर्ण नहीं रहे हैं। *पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते*—चूँकि वे पूर्ण इकाई हैं, अतएव भले ही उनसे

अनेक पूर्ण इकाइयाँ क्यों न उद्भूत हों, वे पूर्ण बने रहते हैं। इस तरह भगवान् अवयव अर्थात् अक्षम कहलाते हैं। जब तक हम परम सत्य को *अचिन्त्यभेदाभेद* नहीं मान लेते तब तक हमें परम सत्य की स्पष्ट धारणा नहीं हो सकती। भगवान् हर वस्तु के मूल हैं। *अहमादिर्हि देवानाम्*—वे समस्त देवताओं के मूल कारण हैं। *अहं सर्वस्य प्रभवः*—उन्हीं से हर वस्तु उद्भूत होती है।

सभी दशाओं में, हम इस समग्र दृश्य जगत में चाहे जो भी धारणा करें वह वास्तव में भगवान् है। उनके लिए "यह मेरा है तथा यह किसी अन्य का है" में कोई अन्तर नहीं होता क्योंकि वे सब कुछ हैं। इसीलिए वे अव्यव कहलाते हैं जिसका अर्थ है परिवर्तनरहित तथा न समाप्त होने वाला। चूँकि भगवान् अव्यय हैं अतएव वे परम सत्य हैं।

तवैव चरणाम्भोजं श्रेयस्कामा निराशिषः ।
विसृज्योभयतः सङ्गं मुनयः समुपासते ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तव—तुम्हारे; एव—निस्सन्देह; चरण-अम्भोजम्—चरणकमल; श्रेयः-कामाः—चरम कल्याण रूपी जीवन के चरम लक्ष्य के इच्छुक व्यक्ति; निराशिषः—बिना किसी भौतिक इच्छा के; विसृज्य—त्यागकर; उभयतः—इस जीवन में तथा अगले जीवन में; सङ्गम्—आसक्ति; मुनयः—मुनिगण; समुपासते—पूजा करते हैं।.

जो शुद्ध भक्त या महान् सन्त पुरुष (मुनिगण) जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करने के इच्छुक हैं तथा इन्द्रियतृप्ति की समस्त भौतिक इच्छाओं से रहित हैं, वे आपके चरणकमलों की निरन्तर भक्ति में लगे रहते हैं।

तात्पर्य : जब मनुष्य सोचता है कि, "मैं यह शरीर हूँ और इससे सम्बन्धित हर वस्तु मेरी है" तो वह भौतिक जगत में होता है। *अतो गृहक्षेत्रसुताप्त वित्तैर्जनस्य मोहोऽयमहं ममेति।* यह भौतिक जीवन का लक्षण है। भौतिकतावादी जीवन की धारणा होने पर मनुष्य सोचता है कि, "यह मेरा घर है, यह मेरी जमीन है, यह मेरा परिवार है, यह मेरा प्रान्त है।" किन्तु जो लोग *मुनयः* हैं अर्थात् जो नारद मुनि के पदचिह्नों का अनुगमन करने वाले सन्त पुरुष हैं, वे बिना किसी इन्द्रियतृप्ति की इच्छा के भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहते हैं। *अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञान कर्माद्यनावृतम्।* चाहे यह जीवन हो, या अगला जीवन, ऐसे सन्त भक्तों की एकमात्र चिन्ता भगवान् की सेवा करने के लिए रहती है। अतः वे इतने भी परम होते हैं क्योंकि उन्हें अन्य कोई इच्छा नहीं सताती। भौतिक इच्छा के द्वन्द्वों से मुक्त होने के वे कारण *श्रेयस् कामाः* कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में, उन्हें धर्म, अर्थ या काम से कोई प्रयोजन नहीं

रहता। ऐसे लोगों की एकमात्र चिन्ता *मोक्ष* भी है। यह *मोक्ष* ब्रह्म से तदाकार होना नहीं है जैसाकि मायावादी चिन्तक मानते हैं। चैतन्य महाप्रभु ने बतलाया कि वास्तविक मोक्ष का अर्थ है भगवान् के चरणकमलों की शरण में जाना। उन्होंने सार्वभौम भट्टाचार्य को उपदेश देते हुए इस तथ्य को स्पष्ट तौर पर बतलाया था। सार्वभौम भट्टाचार्य *श्रीमद्भागवत* के *मुक्ति-पदे* शब्द को शुद्ध करना चाहते थे, किन्तु चैतन्य महाप्रभु ने उन्हें बताया कि *श्रीमद्भागवत* के किसी भी शब्द को सुधारने की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने समझाया कि *मुक्तिपदे* भगवान् विष्णु के चरणकमलों का सूचक है, जो मुक्ति के दाता हैं और इसलिए मुकुन्द कहलाते हैं। शुद्ध भक्त को भौतिक वस्तुओं से कोई सरोकार नहीं रहता। वह धर्म, अर्थ या काम के लिए भी चिन्तित नहीं रहता। वह एकमात्र भगवान् के चरणकमलों की सेवा करने में रुचि रखता है।

त्वं ब्रह्म पूर्णममृतं विगुणं विशोक-
मानन्दमात्रमविकारमनन्यदन्यत् ।
विश्वस्य हेतुरुदयस्थितिसंयमाना-
मात्मेश्वरश्च तदपेक्षतयानपेक्षः ॥ ७॥

शब्दार्थ

त्वम्—आप; ब्रह्म—सर्वव्यापी परम सत्य; पूर्णम्—परम पूर्ण; अमृतम्—कभी नष्ट न होने वाले; विगुणम्—प्रकृति के गुणों से मुक्त, आध्यात्मिक रूप से स्थित; विशोकम्—शोक रहित; आनन्द-मात्रम्—सदैव दिव्य आनन्द से युक्त; अविकारम्—परिवर्तनरहित; अनन्यत्—हर वस्तु से पृथक्; अन्यत्—फिर भी सब कुछ हो; विश्वस्य—दृश्य जगत के; हेतुः—कारण; उदय—प्रारम्भ के; स्थिति—पालन; संयमानाम्—तथा विश्व के विभिन्न विभागों को नियंत्रण में रखने वाले समस्त निदेशकों में से; आत्म-ईश्वरः—हर एक को निर्देश देने वाले परमात्मा; च—भी; तत्-अपेक्षतया—हर व्यक्ति आप पर आश्रित है; अनपेक्षः—सदैव पूर्णतः स्वतंत्र।

हे प्रभु! आप परब्रह्म तथा सभी प्रकार से पूर्ण हैं। पूर्णतः आध्यात्मिक होने के कारण आप नित्य, प्रकृति के भौतिक गुणों से मुक्त तथा दिव्य आनन्द से पूरित हैं। निस्सन्देह, आपके लिए शोक करने का प्रश्न ही नहीं उठता। चूँकि आप समस्त कारणों के परम कारण हैं अतएव आपके बिना कोई भी अस्तित्व में नहीं रह सकता। फिर भी जहाँ तक कारण तथा कार्य का सम्बन्ध है हम आपसे भिन्न हैं क्योंकि एक दृष्टि से कार्य तथा कारण पृथक्-पृथक् हैं। आप सृष्टि, पालन तथा संहार के मूल कारण हैं और आप समस्त जीवों को वर देते हैं। हर व्यक्ति अपने कार्यों के फलों के लिए आप पर निर्भर है, किन्तु आप सदा स्वतंत्र हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.४) में भगवान् कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

''यह सारा ब्रह्माण्ड मेरे अव्यक्त रूप से व्याप्त है। सारे जीव मुझमें हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।'' इससे *अचिन्त्य-भेदाभेद* अर्थात् एकसाथ एकत्व तथा भिन्नता दर्शन की व्याख्या हो जाती है। प्रत्येक वस्तु परम ब्रह्म है; फिर भी परम पुरुष हर वस्तु से पृथक् स्थित है। निस्सन्देह, हर भौतिक वस्तु से पृथक् स्थित होने के कारण वे परम ब्रह्म, परम कारण तथा परम नियन्ता हैं। *ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द-विग्रहः।* भगवान् परम कारण हैं और उनके स्वरूप को प्रकृति के भौतिक गुणों से कोई सरोकार नहीं रहता। भक्त प्रार्थना करता है ''जिस तरह आपका भक्त समस्त इच्छाओं से पूर्णतः रहित है उसी प्रकार आप भी इच्छाओं से पूर्णतया मुक्त हैं। आप पूर्णतः स्वतंत्र हैं। यद्यपि सारे जीव आपकी सेवा में लगे रहते हैं, किन्तु आप किसी की सेवा पर आश्रित नहीं हैं। यद्यपि यह संसार पूरी तरह से आपके द्वारा सृजित है, किन्तु सब कुछ आपकी स्वीकृति पर निर्भर करता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति आप ही से उत्पन्न हैं। स्वतंत्र रूप से कुछ भी नहीं किया जा सकता, किन्तु आप अपने सेवकों द्वारा की गई सेवा पर आश्रित न रहते हुए स्वतंत्र होकर कर्म करते हैं। सारे जीव अपनी मुक्ति के लिए आपकी कृपा पर आश्रित रहते हैं, किन्तु जब आप उन्हें मुक्ति देना चाहते हैं, तो आप किसी अन्य पर आश्रित नहीं रहते। निस्सन्देह, अपनी अहैतुकी कृपा से आप किसी को भी मुक्ति दे सकते हैं। जिन्हें आपकी कृपा प्राप्त होती है वे *कृपासिद्ध* कहलाते हैं। सिद्धि-पद को प्राप्त करने में अनेकानेक जन्म लग जाते हैं। (*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते*)। फिर भी कठोर तपस्या किये बिना ही आपकी कृपा से सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। भक्ति को अहैतुकी होना चाहिए और अवरोधों से मुक्त (*अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति*)। यही *निराशिषः* पद है अर्थात् सभी प्रकार के फलों की आशा से मुक्ति। शुद्ध भक्त निरन्तर आपकी दिव्य प्रेमाभक्ति करता है, किन्तु आप उसकी सेवा पर आश्रित न रहकर किसी पर भी कृपा कर सकते हैं।''

एकस्त्वमेव सदसद्द्वयमद्वयं च
स्वर्णं कृताकृतमिवेह न वस्तुभेदः ।
अज्ञानतस्त्वयि जनैर्विहितो विकल्पो

यस्माद्गुणव्यतिकरो निरुपाधिकस्य ॥ ॥

शब्दार्थ

एकः—केवल एक; त्वम्—आप; एव—निस्सन्देह; सत्—जिसका अस्तित्व है, यथा फल; असत्—जिसका अस्तित्व नहीं है, यथा कारण; द्वयम्—दो; अद्वयम्—द्वैतरहित; च—तथा; स्वर्णम्—सोना; कृत—विभिन्न रूपों में निर्मित; आकृतम्—स्वर्ण का मूल स्रोत (सोने की खान); इव—सदृश; इह—इस संसार में; न—नहीं; वस्तु-भेदः—वस्तु में भेद; अज्ञानतः—अज्ञान के कारण; त्वयि—तुममें; जनैः—जनसमूह द्वारा; विहितः—ऐसा होना चाहिए; विकल्पः—विभेद; यस्मात्—जिसके कारण; गुण-व्यतिकरः—प्रकृति के भौतिक गुणों द्वारा उत्पन्न अन्तरों से रहित; निरुपाधिकस्य—किसी भौतिक उपाधि के बिना।

हे प्रभु! आप अकेले ही कार्य तथा कारण हैं, अतएव आप दो प्रतीत होते हुए भी परम एक हैं। जिस तरह आभूषण के सोने तथा खान के सोने में कोई अन्तर नहीं होता, उसी तरह कारण तथा कार्य में अन्तर नहीं होता, दोनों ही एक हैं। अज्ञानवश ही लोग अन्तर तथा द्वैत गढ़ते हैं। आप भौतिक कल्मष से मुक्त हैं और चूँकि समस्त ब्रह्माण्ड आपके द्वारा उत्पन्न है और आपके बिना नहीं रह सकता अतएव यह आपके दिव्य गुणों का प्रभाव है। इस प्रकार इस धारणा को कोई बल नहीं मिलता कि ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि सारे जीव भगवान् की तटस्था शक्ति के स्वरूप हैं और जीवों के विविध शरीर भौतिक शक्ति के परिणाम हैं। इस प्रकार शरीर भौतिक और आत्मा आध्यात्मिक माना जाता है। किन्तु इन दोनों का उद्गम एक ही भगवान् है। जैसाकि भगवान् *भगवद्गीता* (७.४-५) में बताते हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

"पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार—ये आठों मिलकर मेरी भिन्ना भौतिक शक्तियाँ बनाते हैं। किन्तु हे महाबली अर्जुन! इस कनिष्ठ प्रकृति के अतिरिक्त मेरी एक श्रेष्ठ शक्ति है, जो भौतिक प्रकृति से संघर्ष करने वाले सभी तथा ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले सभी जीवों से बनती हैं।" इस प्रकार पदार्थ तथा जीव दोनों भगवान् की शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। चूँकि शक्ति तथा शक्तिमान पृथक्-पृथक् नहीं हैं और चूँकि भौतिक तथा तटस्था दोनों शक्तियाँ परम शक्तिमान भगवान् की शक्तियाँ हैं अतएव अन्ततः भगवान् ही सर्वेसर्वा हैं। इस प्रसंग में सोने का

उदाहरण दिया जा सकता है—एक जो साँचें में नहीं ढाला गया और दूसरा जो साँचें में ढाला जाकर विविध आभूषणों में परिणत कर दिया गया है। सोने का कुंडल तथा खान से निकला सोना केवल कार्य-कारण रूप में भिन्न हैं; अन्यथा वे एक हैं। *वेदान्तसूत्र* में वर्णन हुआ है कि ब्रह्म हर एक वस्तु का कारण है। *जन्माद्यस्य यतः।* प्रत्येक वस्तु परब्रह्म से उत्पन्न होती है—प्रत्येक वस्तु भिन्न-भिन्न शक्तियों के रूप में उससे उद्भूत होती है। इसलिए इनमें से किसी भी शक्ति को मिथ्या नहीं मानना चाहिए। मायावादियों द्वारा ब्रह्म तथा माया में अन्तर मात्र उनके अज्ञान के कारण है।

भागवत-चन्द्र-चन्द्रिका में श्रीमद् वीरराघव आचार्य ने वैष्णव दर्शन का वर्णन इस प्रकार दिया है। दृश्य जगत को *सत्* तथा *असत् और चित्* तथा *अचित्* बतलाया गया है। पदार्थ अचित् है और जीव चित् है लेकिन उनका उद्गम भगवान् है जिनमें पदार्थ तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं होता। इस दृष्टि से पदार्थ तथा आत्मा से युक्त यह दृश्य जगत भगवान् से भिन्न नहीं है। *इदं हि विश्वं भगवान् इवेतरः*—यह दृश्य जगत भी भगवान् है यद्यपि यह उनसे भिन्न प्रतीत होता है। *भगवद्गीता* (९.४) में भगवान् कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।

"यह विश्व मेरे अव्यक्त रूप से व्याप्त है। सारे जीव मुझमें हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।" अतः यद्यपि कोई यह कहे कि भगवान् इस दृश्य जगत से भिन्न हैं, किन्तु वास्तव में वे भिन्न नहीं हैं। भगवान् कहते हैं—*मया ततमिदं सर्वम्*—मैं अपने निराकार रूप में विश्वभर में फैला हुआ हूँ। अतएव यह विश्व उनसे भिन्न नहीं। अन्तर केवल नामों का है। उदाहरणार्थ, चाहे हम सोने के कुंडल की, कंगन की या हार की बात करें, अन्ततोगत्वा वे सभी सोना हैं। उसी प्रकार पदार्थ तथा आत्मा के सभी विविध स्वरूप भगवान् में अन्ततः एक ही हैं। *एकम् एवाद्वितीयं ब्रह्म।* यह वैदिक उक्ति है (*छान्दोग्य उपनिषद्* ६.२.१)। एकत्व का कारण यह है कि सभी वस्तुएँ परब्रह्म से उद्भूत हैं। पहले दिय गये उदाहरण के अनुसार सोने के कुंडल तथा सोने की खान में कोई अन्तर नहीं है। लेकिन वैशेषिक चिन्तक अपनी मायावादी विचारधारा के कारण अन्तर उत्पन्न करते हैं। वे कहते हैं—*ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या*—परम सत्य वास्तविक है और यह दृश्य जगत मिथ्या है। किन्तु जगत को मिथ्या क्यों माना जाये? जगत तो ब्रह्म

का तेज है अतएव जगत भी सत्य है।

अतएव वैष्णवजन जगत को मिथ्या नहीं मानते; वे परमेश्वर सम्बन्धित हर वस्तु को सत्य मानते हैं—

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हम् उपयुञ्जतः।

निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते॥

प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः।

मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते॥

"भगवान् की सेवा के लिए वस्तुएँ स्वीकार की जानी चाहिए न कि निजी इन्द्रियतृप्ति के लिए। यदि कोई अनासक्त भाव से तथा कृष्ण से सम्बन्धित होने के कारण कोई वस्तु स्वीकार करता है, तो उसका त्याग *युक्तं वैराग्यम्* कहलाता है। भगवान् की सेवा करने में जो भी अनुकूल हो उसे स्वीकार करना चाहिए; उसे भौतिक वस्तु समझकर ठुकराना नहीं चाहिए" (*भक्तिरसामृत सिन्धु* १.२.२५५-२५६)। जगत को मिथ्या समझकर त्यागना नहीं चाहिए। यह जगत सत्य है और सत्य की अनुभूति तब होती है जब प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सेवा में लगा दिया जाता है। यदि हम अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए किसी फूल को स्वीकार करते हैं, तो वह भौतिक होता है, किन्तु जब भक्त उसी फूल को भगवान् पर चढ़ाता है, तो वह आध्यात्मिक होता है। अपने लिए लिया गया और पकाया गया भोजन भौतिक है, किन्तु भगवान् के लिए पकाया गया भोजन आध्यात्मिक प्रसाद है। यह अनुभूति का प्रश्न है। वास्तव में, हर वस्तु के देने वाले भगवान् हैं; अतएव हर वस्तु आध्यात्मिक है, किन्तु जो लोग वास्तविक ज्ञान में बढ़े-चढ़े नहीं हैं, वे प्रकृति के तीन गुणों की पारस्परिक क्रिया के कारण वस्तु-वस्तु में भेद मानते हैं। इस प्रसंग में श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि यद्यपि सूर्य ही एकमात्र प्रकाश है किन्तु सात रंगों में दिखने वाला प्रकाश और अंधकार जो सूर्य का अभाव है, वे दोनों सूर्य से भिन्न नहीं हैं क्योंकि सूर्य के अस्तित्व के बिना ऐसा अन्तर रह नहीं सकता। भले ही विभिन्न दशाओं के कारण उनके विविध नाम हों, किन्तु वे सब सूर्य हैं अतएव *पुराणों* का कथन है—

एकदेश स्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा।

परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्॥

"जिस प्रकार अग्नि का प्रकाश अग्नि के एक स्थान पर रहते हुए चारों ओर फैलता है उसी प्रकार परब्रह्म की शक्तियाँ इस सारे ब्रह्माण्ड में फैली हुई हैं" (*विष्णु पुराण* १.२२.५३)। भौतिक दृष्टि से हम सूर्यप्रकाश को विभिन्न नामों तथा कार्यों के अनुसार फैलते अनुभव कर सकते हैं, किन्तु अन्ततः सूर्य एक है। इसी प्रकार *सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—प्रत्येक वस्तु परब्रह्म का विस्तार (अंश) है। अतएव परब्रह्म सर्वस्व हैं और वे भेदरहित हैं। भगवान् से पृथक् किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है।

त्वां ब्रह्म केचिदवयन्त्युत धर्ममेके
एके परं सदसतोः पुरुषं परेशम् ।
अन्येऽवयन्ति नवशक्तियुतं परं त्वां
केचिन्महापुरुषमव्ययमात्मतन्त्रम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

त्वाम्—तुमको; ब्रह्म—परम सत्य, ब्रह्म; केचित्—कुछ लोग, यथा मायावादी जो वेदान्ती कहलाते हैं; अवयन्ति—मानते हैं; उत—निश्चय ही; धर्मम्—धर्म को; एके—कुछ लोग; एके—कुछ अन्य लोग; परम्—दिव्य; सत्-असतोः—कार्य तथा कारण दोनों; पुरुषम्—परम पुरुष को; परेशम्—परम नियन्ता; अन्ये—दूसरे लोग; अवयन्ति—वर्णन करते हैं; नव-शक्ति-युतम्—नौ शक्तियों से युक्त; परम्—दिव्य; त्वाम्—तुमको; केचित्—कुछ; महा-पुरुषम्—भगवान् को; अव्ययम्—शक्तिक्षय के बिना; आत्म-तन्त्रम्—परम स्वतंत्र।

जो निर्विशेष मायावादी कहलाते हैं, वे आपको निर्विशेष ब्रह्म के रूप में मानते हैं। मीमांसक विचारक आपको धर्म के रूप में मानते हैं। सांख्य दार्शनिक आपको ऐसा परम पुरुष मानते हैं, जो प्रकृति तथा पुरुष के परे है और देवताओं का भी नियंत्रक है। जो लोग पञ्चरात्र नामक भक्ति के नियमों के अनुयायी हैं, वे आपको नौ शक्तियों से युक्त मानते हैं। तथा पतञ्जलि मुनि के अनुयायी, जो पतञ्जल दार्शनिक कहलाते हैं, आपको उस परम स्वतंत्र भगवान् के रूप में मानते हैं जिसके न तो कोई तुल्य है और जिस से कोई श्रेष्ठ है।

नाहं परायुरृषयो न मरीचिमुख्या
जानन्ति यद्विरचितं खलु सत्त्वसर्गाः ।
यन्मायया मुषितचेतस ईश दैत्य-
मर्त्यादयः किमुत शश्वदभद्रवृत्ताः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

न—न तो; अहम्—मैं; पर-आयुः—ऐसा व्यक्ति जो लाखों करोड़ों वर्ष जीवित रहता है (ब्रह्माजी); ऋषयः—सात लोकों के सात ऋषि; न—न तो; मरीचि-मुख्याः—मरीचि ऋषि इत्यादि; जानन्ति—जानते हैं; यत्—जिससे (भगवान् से); विरचितम्—यह ब्रह्माण्ड रचा गया; खलु—निस्सन्देह; सत्त्व-सर्गाः—यद्यपि भौतिक सतोगुण में उत्पन्न; यत्-मायया—जिसकी माया के

प्रभाव से; मुषित-चेतसः—मोहित चित्त; ईश—हे स्वामी; दैत्य—असुर; मर्त्य-आदयः—मनुष्य इत्यादि; किम् उत—क्या कहा जाये; शश्वत्—सदैव; अभद्र-वृत्ताः—प्रकृति के निम्न गुणों से प्रभावित।

हे प्रभु! सभी देवताओं में श्रेष्ठ माना जाने वाला मैं, ब्रह्माजी तथा मरीचि इत्यादि महर्षि सतोगुण से उत्पन्न हैं। तब भी हम सभी आपकी माया से मोहग्रस्त हैं और यह नहीं समझ पाते कि यह सृष्टि क्या है। आप हमारी बात छोड़ भी दें तो उन असुरों तथा मनुष्यों के बारे में क्या कहा जाये जो प्रकृति के निम्न गुणों (रजो तथा तमो गुणों) से युक्त हैं? वे आपको कैसे जान सकते हैं?

तात्पर्य : वस्तुतः सतोगुणी लोग भी भगवान् की स्थिति को नहीं समझ सकते। तो फिर उनके विषय में क्या कहा जाये जो प्रकृति के निम्न गुणों—रजो तथा तमो गुणों में स्थित हैं? हम भगवान् के विषय में कल्पना भी कैसे कर सकते हैं? अनेक ऐसे विचारक हैं, जो परम सत्य को समझने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वे निम्न गुणों से युक्त होने के कारण और मद्यपान, मांसाहार, अवैध मैथुन तथा द्यूतक्रीड़ा जैसी बुरी आदतों में अनुरक्त होने के कारण भगवान् के विषय में किस तरह सोच सकते हैं? उनके लिए यह असम्भव है। वर्तमान युग के लिए नारद मुनि द्वारा बताई गई *पाञ्चरात्रिकी विधि ही* एकमात्र आशा है। अतएव श्रील रूप गोस्वामी ने *ब्रह्मयामल* से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

श्रुतिस्मृतिपुराणादिपञ्चरात्रविधिं विना।

ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते॥

"भगवान् की वह भक्ति जो *उपनिषदों, पुराणों* तथा *नारद पञ्चरात्र* जैसे वैदिक वाङ्मय की अवमानना करे वह समाज में अनावश्यक उत्पात मात्र है।" (*भक्तिरसामृत सिन्धु* १.२.१०१)। जो लोग ज्ञानी हैं और सतोगुणी हैं, वे *श्रुति, स्मृति* तथा *पाञ्चरात्रिकी-विधि* जैसे अन्य धर्मशास्त्रों के वैदिक उपदेशों का पालन करते हैं। भगवान् को इस तरह से समझे बिना मनुष्य केवल उत्पात मचाता है। इस कलियुग में अनेक गुरु उत्पन्न हो गये हैं और चूँकि वे *श्रुतिस्मृति-पुराणादि-पञ्चरात्रिक-विधि* का उल्लेख नहीं करते अतएव वे परम सत्य को समझने की दिशा में विश्व भर में महान् उत्पात मचा रहे हैं। फिर भी, जो कोई उपयुक्त गुरु के निर्देशन में *पाञ्चरात्रिकी-विधि* का पालन करता है, वह परम सत्य को समझ सकता है। कहा गया है—*पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता तु भगवान् स्वयम्*—पञ्चरात्र पद्धति भगवान् द्वारा उसी प्रकार कही गई है, जिस तरह *भगवद्गीता* कही गई थी। *वासुदेवशरणा*

विदुरञ्ञसैव—सत्य को वही समझ सकता है, जिसने वासुदेव के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली हो।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

''जो वास्तव में ज्ञानी है, वह अनेक जन्म-जन्मातरों के बाद मुझको समस्त वस्तुओं तथा कारणों का कारण जानते हुए मेरी शरण में आता है। ऐसे महात्मा अत्यन्त दुर्लभ हैं।'' (*भगवद्गीता* ७.१९)। जिन्होंने वासुदेव के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर रखी है केवल वे ही परम सत्य को समझ सकते हैं।

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यद् अहैतुकम्॥

''भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति करने से मनुष्य तुरन्त ही अहैतुक ज्ञान तथा संसार से वैराग्य प्राप्त कर लेता है। (*भागवत* १.२.७)।'' अतएव वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं *भगवद्गीता* (१.६६) में शिक्षा देते हैं—

सर्व-धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज

''सारे धर्मों को त्यागकर केवल मेरी शरण में आओ।''

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः

''केवल भक्ति द्वारा ही परम पुरुष को यथारूप में समझा जा सकता है। (*भगवद्गीता* १.५५)। जब ब्रह्माजी या शिवजी तक भगवान् को ठीक से नहीं समझ पाते तो अन्यों के विषय में क्या कहा जा सकता है? उन्हें तो केवल *भक्तियोग* के द्वारा समझा जा सकता है—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥

(*भगवद्गीता* ७.१)

यदि कोई वासुदेव कृष्ण को स्वयं के बारे में बोलते हुए मात्र श्रवण करके उनकी शरण में जाकर भक्तियोग का अभ्यास करता है, तो वह उनके विषय में सब कुछ जान सकता है। निस्सन्देह, वह उन्हें

सम्यक् रूप से समझ सकता है।

स त्वं समीहितमदः स्थितिजन्मनाशं
भूतेहितं च जगतो भवबन्धमोक्षौ ।
वायुर्यथा विशति खं च चराचराख्यं
सर्वं तदात्मकतयावगमोऽवरुन्त्से ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; त्वम्—आप भगवान्; समीहितम्—(आपके द्वारा) उत्पन्न किया हुआ; अदः—इस भौतिक जगत का; स्थिति-जन्म-नाशम्—सृजन, पालन तथा संहार; भूत—जीवों का; ईहितम् च—तथा विभिन्न कार्य या उद्योग; जगतः—सारे जगत का; भव-बन्ध-मोक्षौ—सांसारिक बन्धन में पड़ने और छूटने में; वायुः—हवा; यथा—जिस तरह; विशति—प्रवेश करती है; खम्—विस्तृत आकाश में; च—तथा; चर-अचर-आख्यम्—तथा चर और अचर; सर्वम्—हर वस्तु; तत्—वह; आत्मकतया—आपकी उपस्थिति से; अवगमः—आपके अवगत रहने से; अवरुन्त्से—सर्वव्यापी होने के कारण आप सब कुछ जानते हैं।

हे प्रभु! आप साक्षात् परम ज्ञान हैं। आप इस सृष्टि तथा इसके सृजन, पालन तथा संहार के विषय में सब कुछ जानते हैं। आप जीवों द्वारा किये जाने वाले उन सारे प्रयासों से अवगत हैं जिनके द्वारा वे इस भौतिक जगत से बँधते या मुक्त होते हैं। जिस प्रकार वायु विस्तीर्ण आकाश के साथ-साथ समस्त चराचर प्राणियों में प्रविष्ट करती है उसी प्रकार आप सर्वत्र विद्यमान हैं, अतएव सर्वज्ञ हैं।

तात्पर्य : *ब्रह्मसंहिता* (५.३५) में कहा गया है—

एकोऽप्यसौ रचयितुं जगदण्डकोटिं

यच्छक्तिरस्ति जगदण्डचया यदन्तः ।

अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

"मैं उन भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अपने एक स्वांश के द्वारा प्रत्येक ब्रह्माण्ड तथा प्रत्येक परमाणु में प्रवेश करते हैं और इस प्रकार सारी सृष्टि में अपनी असीम शक्ति को प्रकट करते हैं।"

आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभि

स्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः ।

गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अपने निजी धाम गोलोक में उन राधा के साथ निवास करते हैं, जो उनके आध्यात्मिक स्वरूप के अनुरूप हैं और ह्लादिनी शक्ति से समन्वित हैं। उनकी सखियां उनकी विश्वस्त संगनियाँ हैं, जो उनके शारीरिक स्वरूप के अंश रूप हैं और नित्य आनन्दमय आध्यात्मिक रस से ओतप्रोत हैं।" (*ब्रह्मसंहिता* ५.३७)।

यद्यपि गोविन्द सदा अपने धाम में निवास करते हैं (*गोलोक एव निवसति*) किन्तु वे एकसाथ सर्वत्र विद्यमान हैं। उनसे कुछ भी छिपा नहीं है और न ही छिपाया जा सकता है। यहाँ पर दिए उदहरण में भगवान् की तुलना वायु से की गई है, जो विस्तीर्ण आकाश में तथा प्रत्येक शरीर के भीतर रहती है, किन्तु फिर भी उन सबसे भिन्न रहती है।

अवतारा मया दृष्टा रममाणस्य ते गुणैः ।
सोऽहं तद्द्रष्टुमिच्छामि यत्ते योषिद्वपुर्धृतम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अवताराः—अवतार; मया—मेरे द्वारा; दृष्टाः—देखे जा चुके हैं; रममाणस्य—लीला करते समय; ते—तुम्हारे; गुणैः—दिव्य गुणों से प्रकट; सः—शिवजी; अहम्—मैं; तत्—वह अवतार; द्रष्टुम् इच्छामि—देखना चाहता हूँ; यत्—जो; ते—तुम्हारा; योषित्-वपुः—स्त्री का शरीर; धृतम्—धारण किया हुआ।

हे प्रभु! मैंने आपके उन सभी अवतारों का दर्शन किया है जिन्हें आप अपने दिव्य गुणों के द्वारा प्रकट कर चुके हैं। अब जबकि आप एक सुन्दर तरुणी के रूप में प्रकट हुए हैं, मैं आपके उसी स्वरूप का दर्शन करना चाहता हूँ।

तात्पर्य : जब शिवजी भगवान् विष्णु के पास गये तो उन्होंने वहाँ उनसे आने का कारण पूछा। अब शिवजी अपनी मनोकामना प्रकट कर रहे हैं। वे भगवान् विष्णु के अधुनातम मोहिनी-मूर्ति अवतार को देखना चाह रहे थे जिसे उन्होंने क्षीरसागर के मन्थन से उत्पन्न अमृत को वितरित करने के लिए धारण किया था।

येन सम्मोहिता दैत्याः पायिताश्चामृतं सुराः ।
तद्दिदृक्षव आयाताः परं कौतूहलं हि नः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

येन—ऐसे अवतार से; सम्मोहिताः—मोहित हो गये थे; दैत्याः—असुरगण; पायिताः—पिलाया गया था; च—भी; अमृतम्—अमृत; सुराः—देवतागण; तत्—वह रूप; दिदृक्षवः—देखने की इच्छा से; आयाताः—हम आये हैं; परम्—अत्यधिक; कौतूहलम्—अत्यन्त उत्सुकता; हि—निस्सन्देह; नः—हमारी।

हे भगवान्! हम लोग यहाँ पर आपके उस रूप का दर्शन करने आये हैं जिसे आपने असुरों को पूर्णतया मोहित करने के लिए दिखलाया था और इस प्रकार देवताओं को अमृत पान करने दिया था। मैं उस रूप को देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक हूँ।

श्रीशुक उवाच

एवमभ्यर्थितो विष्णुर्भगवाञ्शूलपाणिना ।
प्रहस्य भावगम्भीरं गिरिशं प्रत्यभाषत ॥ १४॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; अभ्यर्थितः—प्रार्थना किये जाने पर; विष्णुः भगवान्—भगवान् विष्णु ने; शूल-पाणिना—त्रिशूलधारी शिवजी द्वारा; प्रहस्य—हँसते हुए; भाव-गम्भीरम्—अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक; गिरिशम्—शिवजी को; प्रत्यभाषत—उत्तर दिया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब त्रिशूलधारी शिवजी ने भगवान् विष्णु से इस तरह प्रार्थना की तो वे गम्भीर होकर हँस पड़े और उन्होंने उनको इस प्रकार से उत्तर दिया।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु *योगेश्वर* कहलाते हैं। *यत्र योगेश्वरः कृष्णः।* योगीजन योगाभ्यास द्वारा कुछ शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं, किन्तु भगवान् कृष्ण तो योग शक्ति के ईश्वर कहलाते हैं। शिवजी उस मोहिनी-मूर्ति को देखना चाहते थे जिससे सारा जगत मोहित था और भगवान् विष्णु इस विचार में मग्न थे कि शिवजी को भी किस तरह मोहा जाये। इसलिए *भावगम्भीरम्* शब्द का प्रयोग हुआ है। माया को दुर्गादेवी द्वारा प्रदर्शित किया जाता है, जो गिरिश या शिवजी की पत्नी हैं। शिव दुर्गाजी द्वारा मोहित नहीं हो पाये थे, किन्तु अब जब वे भगवान् विष्णु के स्त्री-रूप को देखना चाह रहे थे तो भगवान् विष्णु अपनी योग-शक्ति से ऐसा रूप धारण करेंगे जो उनको भी मोह सके। इसीलिए भगवान् विष्णु गम्भीर थे और साथ ही हँसते जा रहे थे।

श्रीभगवानुवाच

कौतूहलाय दैत्यानां योषिद्वेषो मया धृतः ।
पश्यता सुरकार्याणि गते पीयूषभाजने ॥ १५॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; कौतूहलाय—मोहग्रस्त करने के लिए; दैत्यानाम्—असुरों को; योषित्-वेषः—सुन्दर स्त्री का रूप; मया—मेरे द्वारा; धृतः—धारण किया गया; पश्यता—देखते हुए कि यह मेरे लिए आवश्यक है; सुर-कार्याणि—देवताओं के हितों की रक्षा करने के लिए; गते—छीन लिए जाने पर; पीयूष-भाजने—अमृत घट के।

भगवान् ने कहा : जब असुरों ने अमृत घट छीन लिया तो मैंने उन्हें प्रत्यक्ष छलावा देकर मोहित करने के उद्देश्य से और इस तरह देवताओं के हित में कार्य करने के लिए, एक सुन्दर स्त्री का रूप धारण कर लिया।

तात्पर्य : जब भगवान् ने मोहिनी-मूर्ति का रूप धारण किया, तो असुर तो सम्मोहित हुए लेकिन वहाँ पर उपस्थित देवतागण प्रसन्न नहीं हुए। दूसरे शब्दों में, जो लोग आसुरी प्रवृत्ति के होते हैं, वे स्त्री के सौन्दर्य से सम्मोहित हो जाते हैं, किन्तु जो कृष्णभावनामृत में आगे बढ़े हुए हैं या जो सतोगुणी पद पर हैं, वे मोहित नहीं होते। भगवान् जानते थे कि क्योंकि शिवजी कोई सामान्य व्यक्ति नहीं हैं, वे सुन्दर से सुन्दर स्त्री द्वारा भी मोहित नहीं किये जा सकते। साक्षात् कामदेव ने पार्वती की उपस्थिति में शिवजी की कामेच्छाएँ जगाने का प्रयत्न किया था, किन्तु शिवजी तनिक भी विचलित नहीं हुए। उल्टे, शिवजी के नेत्रों की ज्वाला से कामदेव भस्म हो गया। अतएव भगवान् विष्णु को ठीक से सोच-विचार करके ऐसा सुन्दर रूप धारण करना था जिससे शिवजी भी सम्मोहित हो जाँय। फलस्वरूप वे गम्भीर रूप से हँस रहे थे, जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है (*प्रहस्य भावगम्भीरम्*)। सामान्यतया कोई सुन्दर स्त्री शिवजी में कामवासना नहीं जगा सकती, किन्तु भगवान् विष्णु सोच रहे थे कि क्या स्त्री का कोई ऐसा रूप हो सकता है, जो उन्हें सम्मोहित कर सके?

तत्तेऽहं दर्शयिष्यामि दिदृक्षोः सुरसत्तम ।
कामिनां बहु मन्तव्यं सङ्कल्पप्रभवोदयम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; ते—तुमको; अहम्—मैं; दर्शयिष्यामि—दिखलाऊँगा; दिदृक्षोः—देखने के इच्छुक; सुर-सत्तम—हे देवताओं में श्रेष्ठ; कामिनाम्—कामी पुरुषों के; बहु—अनेक; मन्तव्यम्—आराधना का लक्ष्य; सङ्कल्प—कामेच्छाएँ; प्रभव-उदयम्—प्रबल रूप से जगाते हुए।

हे देवश्रेष्ठ! अब मैं तुम्हें अपना वह रूप दिखाऊँगा जो कामी पुरुषों द्वारा अत्यधिक सराहा जाता है। चूँकि तुम मेरा वैसा रूप देखना चाहते हो अतएव मैं तुम्हारे समक्ष उसे प्रकट करूँगा।

तात्पर्य : शिवजी द्वारा भगवान् विष्णु से स्त्री का सबसे अधिक आकर्षक रूप प्रकट करने कहना निश्चय ही उपहास का विषय था। शिवजी जानते थे कि वे किसी तथाकथित सुन्दर स्त्री द्वारा विचलित

नहीं किये जा सकते थे। उन्होंने सोचा "भले ही दैत्यगण सम्मोहित हुए हों किन्तु देवता तो सम्मोहित नहीं हुए; तो मेरा क्या कहना जब देवताओं में मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ।" फिर भी शिवजी ने भगवान् को स्त्री रूप में देखना चाहा, अतएव भगवान् विष्णु ने स्त्री की भूमिका अदा करने का निश्चय किया और उन्हें ऐसा रूप दिखाना चाहा, जो उन्हें तुरन्त ही कामवासना के समुद्र में डाल दे। अतएव भगवान् विष्णु ने शिवजी से कहा "मैं तुम्हें अपना स्त्री-रूप दिखलाऊँगा, किन्तु यदि तुम कामवासना से विचलित हो गए तो मुझे दोष मत देना।" कामी लोग स्त्री के आकर्षक अंगों की प्रशंसा करते हैं, किन्तु जो लोग ऐसी कामवासना से परे हैं और जो कृष्णभावनामृत पद को प्राप्त हैं उन्हें मोहित कर पाना अत्यन्त कठिन है। फिर भी, भगवान् की परम इच्छा से सब कुछ हो सकता है। यही शिवजी की परीक्षा करने का उपाय था कि वे अविचलित रह सकते हैं या नहीं।

श्रीशुक उवाच

इति ब्रुवाणो भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ।
सर्वतश्चारयंश्चक्षुर्भव आस्ते सहोमया ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; ब्रुवाणः—बोलते हुए; भगवान्—भगवान् विष्णु; तत्र—वहाँ; एव—तुरन्त; अन्तरधीयत—शिवजी तथा उनके पार्षदों की दृष्टि से ओझल हो गये; सर्वतः—सर्वत्र; चारयन्—घुमाते हुए; चक्षुः—आँखें; भवः—शिव; आस्ते—रह गए; सह-उमया—अपनी पत्नी उमा के साथ।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : ऐसा कहकर भगवान् विष्णु तुरन्त ही अन्तर्धान हो गये और शिवजी उमा सहित वहीं पर चारों ओर आँखें घुमाते उन्हें ढूँढ़ते रह गये।

ततो ददर्शोपवने वरस्त्रियं
विचित्रपुष्पारुणपल्लवद्रुमे ।
विक्रीडतीं कन्दुकलीलया लसद्-
दुकूलपर्यस्तनितम्बमेखलाम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; ददर्श—शिवजी ने देखा; उपवने—सुन्दर वन में; वर-स्त्रियम्—एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री को; विचित्र—नाना प्रकार के; पुष्प—फूल; अरुण—गुलाबी; पल्लव—पत्तियाँ; द्रुमे—वृक्षों के बीच में; विक्रीडतीम्—खेलने में व्यस्त; कन्दुक—गेंद से; लीलया—खेल-खेल में; लसत्—चमकता; दुकूल—साड़ी से; पर्यस्त—ढका; नितम्ब—कूल्हों पर; मेखलाम्—करधनी पहने।

तत्पश्चात् शिवजी ने गुलाबी पत्तियों तथा विचित्र फूलों से भरे निकट के एक सुन्दर जंगल में एक सुन्दर स्त्री को गेंद से खेलते देखा। उसके कूल्हे एक चमचमाती साड़ी से ढके थे तथा एक

करधनी से सुशोभित थे।

आवर्तनोद्वर्तनकम्पितस्तन-
प्रकृष्टहारोरुभरैः पदे पदे ।
प्रभज्यमानामिव मध्यतश्चलत्-
पदप्रवालं नयतीं ततस्ततः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

आवर्तन—नीचे गिरने से; उद्वर्तन—तथा ऊपर उछलने से; कम्पित—हिलते; स्तन—दोनों स्तनों का; प्रकृष्ट—सुन्दर; हार—तथा माला के; उरु-भरैः—गुरु भार के कारण; पदे पदे—प्रत्येक पग पर; प्रभज्यमानाम् इव—मानो टूट जायेगी; मध्यतः—शरीर के मध्य भाग में; चलत्—इस तरह हिलती डुलती; पद-प्रवालम्—मूँगे के समान लाल-लाल पाँव; नयतीम्—चंचल; ततः ततः—जहाँ-तहाँ।

चूँकि गेंद ऊपर तथा नीचे उछल रही थी अतएव जब वह उससे खेलती तो उसके स्तन हिलते थे और जब वह अपने मूँगों जैसे लाल मुलायम पाँवों से इधर-उधर चलती तो उन स्तनों के गुरु भार से तथा फूलों की भारी माला से उसकी कमर प्रत्येक पग पर टूटती हुई प्रतीत हो रही थी।

दिक्षु भ्रमत्कन्दुकचापलैर्भृशं
प्रोद्विग्नतारायतलोललोचनाम् ।
स्वकर्णविभ्राजितकुण्डलोल्लसत्-
कपोलनीलालकमण्डिताननाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

दिक्षु—सारी दिशाओं में; भ्रमत्—उछलते; कन्दुक—गेंद; चापलैः—चपलता; भृशम्—अब और तब; प्रोद्विग्न—चिन्ता से युक्त; तार—आँखें; आयत—चौड़ी खुली; लोल—चंचल; लोचनाम्—आँखों वाली; स्व-कर्ण—अपने दोनों कानों में; विभ्राजित—प्रकाशमान्; कुण्डल—कान की बालियाँ; उल्लसत्—चमकती; कपोल—गाल; नील—साँवले; अलक—बालों से युक्त; मण्डित—सुशोभित था; आननाम्—मुख।

उस स्त्री का मुखमण्डल विस्तृत तथा सुन्दर था और चंचल आँखों से सुशोभित था और वह अपने हाथों द्वारा उछाली गई गेंद के साथ घूम रही थीं। उसके कानों के दो जगमगाते कुण्डल उसके चमकते गालों पर साँवली छाया की तरह सुशोभित हो रहे थे और उसके मुख पर बिखरे बाल उसे देखने में और भी सुन्दर बना रहे थे।

श्लथद्दुकूलं कबरीं च विच्युतां
सन्नह्यतीं वामकरेण वल्गुना ।
विनिघ्नतीमन्यकरेण कन्दुकं
विमोहयन्तीं जगदात्ममायया ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्लथत्—नीचे गिरती या ढीली ढाली; दुकूलम्—साड़ी; कबरीम् च—तथा सिर के बाल; विच्युताम्—खुलकर बिखरते हुए; सन्नह्यतीम्—बाँधने का प्रयत्न करती; वाम-करेण—बाएँ हाथ से; वल्गुना—अत्यन्त आकर्षक; विनिघ्नतीम्—प्रहार करती; अन्य-करेण—दाएँ हाथ से; कन्दुकम्—गेंद को; विमोहयन्तीम्—इस प्रकार हर एक को सम्मोहित करती; जगत्—सारा संसार; आत्म-मायया—अपनी अन्तरंगा शक्ति से।

जब वह गेंद खेलती तो उसके शरीर को ढकने वाली साड़ी ढीली पड़ जाती और उसके बाल बिखर जाते। वह अपने सुन्दर बाएँ हाथ से अपने बालों को बाँधने का प्रयास करती और साथ ही दाएँ हाथ से गेंद को मारकर खेलती जा रही थी। यह इतना आकर्षक दृश्य था कि भगवान् ने अपनी अन्तरंगा शक्ति से इस तरह हर एक को मोह लिया।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.१४) में कहा गया है—*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया*—भगवान् की बहिरंगा शक्ति अत्यन्त प्रबल है। निस्सन्देह, उसके कार्यों से प्रत्येक व्यक्ति पूरी तरह मोहित हो जाता है। यद्यपि शम्भु (शिव) को इस बहिरंगा शक्ति से सम्मोहित नहीं होना चाहिए था, किन्तु भगवान् विष्णु उन्हें भी मोहित करना चाह रहे थे, अतएव उन्होंने अपनी अन्तरंगा शक्ति को उसी तरह से कार्य करने दिया जिस तरह से उनकी बहिरंगा शक्ति सामान्य व्यक्तियों को मोहित करने के लिए करती है। भगवान् विष्णु किसी भी व्यक्ति को, यहाँ तक कि शम्भु जैसे प्रबल पुरुष को भी, मोह सकते हैं।

तां वीक्ष्य देव इति कन्दुकलीलयेषद्-
व्रीडास्फुटस्मितविसृष्टकटाक्षमुष्टः ।
स्त्रीप्रेक्षणप्रतिसमीक्षणविह्वलात्मा
नात्मानमन्तिक उमां स्वगणांश्च वेद ॥ २२॥

शब्दार्थ

ताम्—उसको; वीक्ष्य—देखकर; देवः—शम्भु की; इति—इस प्रकार; कन्दुक-लीलया—गेंद खेलते हुए; ईषत्—कुछ कुछ; व्रीडा—लज्जा से; अस्फुट—अस्पष्ट; स्मित—हँसी से युक्त; विसृष्ट—भेजा हुआ; कटाक्ष-मुष्टः—तिरछी चितवन से पराजित; स्त्री-प्रेक्षण—उस सुन्दर स्त्री को देखते हुए; प्रतिसमीक्षण—तथा निरन्तर उसके द्वारा देखा जाकर; विह्वल-आत्मा—जिसका मन विचलित हो; न—नहीं; आत्मानम्—स्वयं का; अन्तिके—पास ही(स्थित); उमाम्—अपनी पत्नी उमा को; स्व-गणान् च—तथा अपने पार्षदों को; वेद—शिवजी जान सके।

जब शिवजी इस सुन्दर स्त्री को गेंद खेलते हुए देख रहे थे, तब वह कभी इन पर दृष्टि डालती और लज्जा से थोड़ा हँस देती। ज्योंही शिवजी ने उस सुन्दर स्त्री को देखा और उसने इन्हें ताका त्योंही वे स्वयं को तथा अपनी सर्वसुन्दर पत्नी उमा और अपने निकटस्थ पार्षदों को भूल गये।

तात्पर्य : इस जगत का भवबन्धन यही है कि सुन्दर स्त्री सुन्दर पुरुष को और सुन्दर पुरुष सुन्दर स्त्री को मोह सकते हैं। जब शिवजी ने सुन्दर बाला को गेंद खेलते देखा तो ऐसा ही होने लगा। ऐसे मामलों में कामदेव का प्रभाव अत्यन्त प्रधान रहता है। जब दोनों पक्ष अपनी भौंहें हिलाते हैं और एक दूसरे पर दृष्टिपात करते हैं, तो उनकी कामवासना उग्र होती जाती है। इस प्रकार की कामवासना का आदान-प्रदान शिवजी तथा उस सुन्दर स्त्री के बीच हुआ यद्यपि उमा तथा शिवजी के गण उनके पास ही थे। ऐसा है भौतिक संसार में पुरुष तथा स्त्री के बीच आकर्षण। शिवजी को ऐसे आकर्षण से ऊपर माना जाता है, किन्तु वे भी भगवान् विष्णु की मोहिनी शक्ति के शिकार बन गए। ऋषभदेव ने वासनापूर्ण आकर्षणमय प्रकृति का वर्णन इस प्रकार किया है—

पुंसः स्त्रिया मिथुनीभावमेतं

तयोर्मिथो हृदयग्रन्थिमाहुः ।

अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तै-

र्जनस्य मोहोऽयमहं ममेति ॥

"पुरुष तथा स्त्री का आकर्षण जगत का मूल सिद्धान्त है। इसी भ्रान्त धारणा के आधार पर जो स्त्री-पुरुष के हृदयों को बाँधती है, मनुष्य अपने शरीर, घर, सम्पत्ति, सन्तान, सम्बन्धी तथा धन से आकृष्ट होता है। इस तरह जीवन का मोह बढ़ता जाता है और मनुष्य 'मैं तथा मेरा' के रूप में सोचने लगता है (*भागवत्* ५.५.)। जब स्त्री तथा पुरुष कामभावनाओं का आदान-प्रदान करते हैं, तो दोनों ही पीड़ित हो उठते हैं और इस तरह वे इस संसार से विविध प्रकार से बद्ध जाते हैं।

तस्याः कराग्रात्स तु कन्दुको यदा
गतो विदूरं तमनुव्रजत्स्त्रियाः ।
वासः ससूत्रं लघु मारुतोऽहरद्
भवस्य देवस्य किलानुपश्यतः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तस्याः—उस सुन्दरी के; कर-अग्रात्—हाथ से; सः—वह; तु—लेकिन; कन्दुकः—गेंद; यदा—जब; गतः—गया हुआ; विदूरम्—दूर; तम्—उस गेंद को; अनुव्रजत्—पीछे-पीछे चलने लगी; स्त्रियाः—उस स्त्री के; वासः—वस्त्र; स-सूत्रम्—करधनी सहित; लघु—अत्यन्त सुन्दर होने से; मारुतः—मन्द वायु; अहरत्—उड़ा ले गई; भवस्य—शिव का; देवस्य—प्रमुख देवता; किल—निस्सन्देह; अनुपश्यतः—निरन्तर देख रहा था।

जब गेंद उसके हाथ से उछलकर दूर जा गिरी तो वह स्त्री उसका पीछा करने लगी, किन्तु

जब शिवजी इन लीलाओं को देख रहे थे तो अचानक वायु उसके सुन्दर वस्त्र तथा उसकी करधनी को जो उसे ढके हुए थे, उड़ा ले गई।

एवं तां रुचिरापाङ्गीं दर्शनीयां मनोरमाम् ।
दृष्ट्वा तस्यां मनश्चक्रे विषज्जन्त्यां भवः किल ॥ २४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; ताम्—उस; रुचिर-अपाङ्गीम्—आकर्षक अंगों वाली को; दर्शनीयाम्—देखने में सुहावनी; मनोरमाम्—सुगठित; दृष्ट्वा—देखकर; तस्याम्—उस पर; मनः चक्रे—सोचा; विषज्जन्त्याम्—उसके द्वारा आकृष्ट होने के लिए; भवः—शिवजी; किल—निस्सन्देह।.

इस प्रकार शिवजी ने उस स्त्री को देखा जिसके शरीर का अंग प्रत्यंग सुगठित था और उस सुन्दर स्त्री ने भी उनकी ओर देखा। अतएव यह सोचकर कि वह स्त्री उनके प्रति आकृष्ट है, शिवजी उसके प्रति अत्यधिक आकृष्ट हो गये।

तात्पर्य : शिवजी उस स्त्री के शरीर का अंग-प्रत्यंग देख रहे थे और वह भी उन्हें निर्निमेष देख रही थी। अत: शिवजी ने सोचा कि वह भी उनकी ओर आकृष्ट है अतएव उन्होंने उसका स्पर्श करना चाहा।

तयापहृतविज्ञानस्तत्कृतस्मरविह्वलः ।
भवान्या अपि पश्यन्त्या गतह्रीस्तत्पदं ययौ ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तया—उसके द्वारा; अपहृत—चुराया गया; विज्ञानः—विवेक; तत्-कृत—उसके द्वारा किया गया; स्मर—मुस्कान से; विह्वलः—उसके लिए पागल होकर; भवान्याः—शिवजी की पत्नी भवानी द्वारा; अपि—यद्यपि; पश्यन्त्याः—ये घटनाएँ देखी जा रही थीं; गत-ह्रीः—सारी लज्जा से रहित; तत्-पदम्—उस स्थान पर, जहाँ पर वह थी; ययौ—गये।.

उस स्त्री के साथ रमण करने की कामेच्छा के कारण अपना विवेक खोकर शिवजी उसके लिए इतने पागल हो उठे कि भवानी की उपस्थिति में भी वे उसके पास जाने में तनिक भी नहीं हिचकिचाये।

सा तमायान्तमालोक्य विवस्त्रा व्रीडिता भृशम् ।
निलीयमाना वृक्षेषु हसन्ती नान्वतिष्ठत ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सा—वह स्त्री; तम्—शिव को; आयान्तम्—निकट आते हुए; आलोक्य—देखकर; विवस्त्रा—नंगी; व्रीडिता—अत्यन्त लज्जित; भृशम्—इतनी अधिक; निलीयमाना—छिपा रही थी; वृक्षेषु—पेड़ों के बीच में; हसन्ती—हँसती हुई; न—नहीं; अन्वतिष्ठत—एक स्थान पर खड़ी रही।

वह सुन्दरी पहले ही नंगी हो चुकी थी और जब उसने देखा कि शिवजी उसकी ओर चले आ रहे हैं, तो वह अत्यन्त लज्जित हुई। इस तरह वह हँसती रही, किन्तु उसने अपने आपको वृक्षों के बीच छिपा लिया। वह किसी एक स्थान पर खड़ी नहीं रही।

तामन्वगच्छद्भगवान्भवः प्रमुषितेन्द्रियः ।
कामस्य च वशं नीतः करेणुमिव यूथपः ॥ २७॥

शब्दार्थ

ताम्—उसका; अन्वगच्छत्—पीछा किया; भगवान्—शिवजी ने; भवः—भव नाम से विख्यात; प्रमुषित-इन्द्रियः—जिनकी इन्द्रियाँ विचलित थीं; कामस्य—कामवासनाओं के; च—तथा; वशम्—वशीभूत; नीतः—होकर; करेणुम्—हथिनी; इव—सदृश; यूथपः—हाथी।

शिवजी की इन्द्रियाँ विचलित थीं और वे कामवासनाओं के वशीभूत होकर उसका पीछा करने लगे जिस तरह कोई कामी हाथी हथिनी का पीछा करता है।

सोऽनुव्रज्यातिवेगेन गृहीत्वानिच्छतीं स्त्रियम् ।
केशबन्ध उपानीय बाहुभ्यां परिषस्वजे ॥ २॥

शब्दार्थ

सः—शिवजी ने; अनुव्रज्य—उसका पीछा करके; अति-वेगेन—तेजी से; गृहीत्वा—पकड़ कर; अनिच्छतीम्—उसके न चाहने पर भी; स्त्रियम्—स्त्री को; केश-बन्धे—चोटी से; उपानीय—अपने पास खींचकर; बाहुभ्याम्—अपनी भुजाओं से; परिषस्वजे—उसका आलिंगन किया।

तेजी से उसका पीछा करते हुए शिवजी ने उसके बालों का जूड़ा पकड़ लिया और उसे अपने पास खींच लिया। फिर उसके न चाहने पर भी उन्होंने अपनी भुजाओं में भरकर उसका आलिङ्गन कर लिया।

सोपगूढा भगवता करिणा करिणी यथा ।
इतस्ततः प्रसर्पन्ती विप्रकीर्णशिरोरुहा ॥ २९॥
आत्मानं मोचयित्वाङ्ग सुरर्षभभुजान्तरात् ।
प्राद्रवत्सा पृथुश्रोणी माया देवविनिर्मिता ॥ ३०॥

शब्दार्थ

सा—वह स्त्री; उपगूढा—पकड़ी तथा आलिंगन की जाकर; भगवता—शिवजी द्वारा; करिणा—हाथी द्वारा; करिणी—हथिनी; यथा—जिस तरह; इतः ततः—इधर-उधर; प्रसर्पन्ती—साँप की तरह सरकती; विप्रकीर्ण—बिखरे; शिरोरुहा—उसके सिर के

सारे बाल; आत्मानम्—स्वयं को; मोचयित्वा—मुक्त करके; अङ्ग—हे राजा; सुर-ऋषभ—देवताओं में श्रेष्ठ (शिव); भुज-अन्तरात्—अपनी भुजाओं में बाँधकर; प्राद्रवत्—तेजी से भागने लगे; सा—वह; पृथु-श्रोणी—बड़े कूल्हों वाली; माया—अन्तरंगा शक्ति; देव-विनिर्मिता—भगवान् द्वारा प्रकट की गई।

जिस तरह हाथी हथिनी का आलिंगन करता है उसी तरह वह स्त्री, जिसके बाल बिखरे थे, शिवजी द्वारा आलिंगित होकर साँप की तरह सरकने लगी। हे राजा, यह बड़े और ऊँचे नितम्बों वाली स्त्री भगवान् द्वारा प्रस्तुत की गई योगमाया थी। उसने अपने को जिस-तिस भाँति शिवजी के आलिंगन से छुड़ाया और वह भाग गई।

तस्यासौ पदवीं रुद्रो विष्णोरद्भुतकर्मण: ।
प्रत्यपद्यत कामेन वैरिणेव विनिर्जित: ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उनका (शिवजी); असौ—शिवजी; पदवीम्—स्थान; रुद्र:—शिवजी; विष्णो:—भगवान् विष्णु की; अद्भुत-कर्मण:—वह जो अद्भुत कार्य करता है; प्रत्यपद्यत—पीछा करने लगा; कामेन—कामवासना के कारण; वैरिणा इव—शत्रु की तरह; विनिर्जित:—सताया गया।

शिवजी भगवान् विष्णु का जो आश्चर्यजनक कार्य करने वाले हैं और जिन्होंने मोहिनी रूप धारण कर रखा था, ऐसे पीछा करने लगे जैसे वे काम-वासना रूपी शत्रु द्वारा सताये गए हों।

तात्पर्य : शिवजी माया का शिकार नहीं हो सकते। अत: यह समझ लेना चाहिए कि वे भगवान् विष्णु की अन्तरंगा शक्ति से पीड़ित किए जा रहे थे। भगवान् विष्णु अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा अनेक आश्चर्यजनक कार्य सम्पन्न कर सकते हैं।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।

स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च॥

(*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.)

भगवान् की शक्तियाँ विभिन्न हैं जिनसे वे अत्यन्त कुशलता से कार्य कर सकते हैं। किसी कार्य को दक्षता से करने हेतु उन्हें सोचना नहीं पड़ता। यद्यपि शिवजी उस नारी से सताये जा रहे थे, किन्तु यह बात समझ लेनी चाहिए कि ऐसा एक नारी नहीं कर रही थी प्रत्युत भगवान् विष्णु स्वयं कर रहे थे।

तस्यानुधावतो रेतश्चस्कन्दामोघरेतस: ।
शुष्मिणो यूथपस्येव वासितामनुधावत: ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उनका (शिवजी का); अनुधावतः—जो पीछा कर रहा था; रेतः—वीर्य; चस्कन्द—गिरा; अमोघ-रेतसः—उस पुरुष का, जिसका वीर्य-स्खलन कभी निष्फल नहीं जाता; शुष्मिणः—मदान्ध; यूथपस्य—नर हाथी; इव—की भाँति; वासिताम्—गर्भधारण करने में सक्षम हथिनी; अनुधावतः—पीछा करने वाला.

जिस प्रकार गर्भधारण करने में सक्षम हथिनी का पीछा मदान्ध हाथी करता है, उसी तरह शिवजी उस सुन्दर स्त्री का पीछा कर रहे थे। यद्यपि उनका वीर्य व्यर्थ में स्खलित नहीं होता, किन्तु इस अवसर पर उनका वीर्य स्खलित हो गया।

यत्र यत्रापतन्मह्यां रेतस्तस्य महात्मनः ।
तानि रूप्यस्य हेम्नश्च क्षेत्राण्यासन्महीपते ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; यत्र—जहाँ; अपतत्—गिरा; मह्याम्—भूमि पर; रेतः—वीर्य; तस्य—उसका; महा-आत्मनः—महापुरुष (शिव) का; तानि—उन स्थानों का; रूप्यस्य—चाँदी की; हेम्नः—सोने की; च—तथा; क्षेत्राणि—खानें; आसन्—बन गईं; मही-पते—हे राजा।.

हे राजा! पृथ्वी पर जहाँ-जहाँ महापुरुष शिवजी का वीर्य गिरा वहीं-वहीं बाद में सोने तथा चाँदी की खानें प्रकट हो गईं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि जो लोग चाँदी-सोना चाहते हैं, वे भौतिक ऐश्वर्य के लिए शिवजी की पूजा कर सकते हैं। शिवजी बेल वृक्ष के नीचे रहते हैं और अपने रहने के लिए घर तक नहीं बनाते। यद्यपि स्वयं वे निर्धन हैं, किन्तु कभी-कभी अपने भक्तों को प्रचुर मात्रा में सोना-चाँदी प्रदान करते हैं। बाद में जब परीक्षित महाराज इसके विषय में जिज्ञासा करते हैं, तो श्री शुकदेव गोस्वामी उसका उत्तर देते हैं।

सरित्सरःसु शैलेषु वनेषूपवनेषु च ।
यत्र क्व चासन्नृषयस्तत्र सन्निहितो हरः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

सरित्—नदी के किनारों के निकट; सरःसु—तथा झीलों के निकट; शैलेषु—पर्वतों के पास; वनेषु—जंगलों में; उपवनेषु—उद्यानों या छोटे जंगलों में; च—भी; यत्र—जहाँ; क्व—कहीं; च—भी; आसन्—विद्यमान थे; ऋषयः—ऋषिगण; तत्र—वहाँ; सन्निहितः—उपस्थित थे; हरः—शिवजी।.

शिवजी मोहिनी का पीछा करते हुए नदियों तथा झीलों के किनारे, पर्वतों, जंगलों, उद्यानों के पास तथा जहाँ कहीं ऋषिमुनि रह रहे थे, गये।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टिप्पणी है कि मोहिनी-मूर्ति शिवजी को बहुत से स्थानों तक घसीट लाई, विशेष कर जहाँ महान् ऋषि रहते थे जिससे उन्हें शिक्षा दी जा सके कि उनके

शिवजी एक सुन्दरी के पीछे पागल हो गए हैं। इस प्रकार यद्यपि वे सभी ऋषि तथा साधु पुरुष थे, उन्हें अपने आपको मुक्त नहीं समझना चाहिए अपितु सुन्दर स्त्रियों से अत्यधिक सतर्क रहना चाहिए। सुन्दरी की उपस्थिति में किसी को अपने आपको मुक्त नहीं समझना चाहिए। शास्त्रों का आदेश है—

मात्रा श्वस्त्र दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत्।

बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

"मनुष्य को स्त्री के साथ एकान्त स्थान में नहीं रहना चाहिए भले ही वह उसकी माता, बहन या पुत्री क्यों न हो क्योंकि इन्द्रियाँ इतनी बलवान् हैं कि स्त्री की उपस्थिति में वह विचलित हो सकता है चाहे कोई कितना ही विद्वान तथा उन्नत क्यों न हो।" (*भागवत* ९.१९.१७)

स्कन्ने रेतसि सोऽपश्यदात्मानं देवमायया ।
जडीकृतं नृपश्रेष्ठ सन्न्यवर्तत कश्मलात् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

स्कन्ने—पूर्णतया स्खलित होने पर; रेतसि—वीर्य; सः—शिवजी ने; अपश्यत्—देखा; आत्मानम्—अपने को; देव-मायया—भगवान् की माया से; जडीकृतम्—मूर्ख की भाँति वशीभूत हुआ; नृप-श्रेष्ठ—हे राजाओं में श्रेष्ठ (महाराजपरीक्षित); सन्न्यवर्तत—अपने को आगे बढ़ने से रोका; कश्मलात्—मोह से।

हे राजश्रेष्ठ महाराज परीक्षित! जब शिवजी का वीर्य पूर्णतया स्खलित हो गया तो उन्होंने देखा कि वे किस प्रकार भगवान् द्वारा उत्पन्न माया के द्वारा वशीभूत हो गए। इस तरह उन्होंने अपने आपको माया द्वारा और अधिक वशीभूत होने से रोका।

तात्पर्य : जब कोई व्यक्ति किसी स्त्री को देखकर कामवासनाओं से विचलित होता है, तो ये वासनाएँ बढ़ती ही जाती हैं, किन्तु जब मैथुन द्वारा वीर्य स्खलित हो जाता है, तो ये कामवासनाएँ शमित हो जाती हैं। यही सिद्धान्त शिवजी पर भी लागू हुआ। वे मोहिनी-मूर्ति नामक सुन्दर स्त्री द्वारा आकृष्ट हुए थे, किन्तु जब उनका वीर्य पूरी तरह स्खलित हो गया तो उन्हें चेतना आई और यह अनुभव हुआ कि जंगल में उस स्त्री को देखते ही वे किस तरह उसके वशीभूत हो गये थे। यदि किसी को ब्रह्मचर्य-पालन द्वारा वीर्य-रक्षा करने का प्रशिक्षण दिया जाये तो वह स्वभावत: स्त्री की सुन्दरता द्वारा आकृष्ट नहीं होता। यदि कोई ब्रह्मचारी रह सके तो वह संसार के कष्टों से अपने को बचा सकता है। संसार का अर्थ है मैथुन-सुख का आनन्द उठाना (*यन् मैथुनादि गृहमेधिसुखम्*)। यदि मनुष्य को मैथुन-जीवन के बारे शिक्षा दी जाय और उसे वीर्य रक्षा करने के लिए प्रशिक्षित किया जाये तो वह

संसार के संकट से बच जाता है।

अथावगतमाहात्म्य आत्मनो जगदात्मनः ।
अपरिज्ञेयवीर्यस्य न मेने तदु हाद्भुतम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; अवगत—आश्वस्त होकर; माहात्म्यः—महानता; आत्मनः—अपनी; जगत्-आत्मनः—तथा भगवान् की; अपरिज्ञेय-वीर्यस्य—असीम शक्तिमान; न—नहीं; मेने—विचार किया; तत्—मोहित करने में भगवान् के अद्‌भुत कार्यकलापों को; उ ह—निश्चय ही; अद्भुतम्—मानो अद्‌भुत।

इस प्रकार शिवजी को अपनी तथा असीम शक्तिमान भगवान् की स्थिति का बोध हो गया। इस ज्ञान के प्राप्त होने पर उन्हें तनिक भी आश्चर्य नहीं हुआ कि भगवान् विष्णु ने किस अद्‌भुत विधि से उन पर माया का जाल फैलाया था।

तात्पर्य : भगवान् सर्वशक्तिमान कहलाते हैं क्योंकि कोई भी उन्हें किसी भी कार्य में पिछाड़ नहीं सकता। *भगवद्‌गीता* (७.७) में भगवान् कहते हैं—*मत्तः परतरं नान्यत किञ्चिदस्ति धनञ्जय*—हे धन के विजेता! मुझसे बढ़कर कोई सत्य नहीं है। कोई न तो भगवान् की बराबरी कर सकता है, न ही उनसे बढ़कर है क्योंकि वे सबके स्वामी हैं। जैसाकि *चैतन्य-चरितामृत* (*आदि* ५.१४२) में कहा गया है—*एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य*—भगवान् कृष्ण सबके, यहाँ तक कि शिवजी के भी, एकमात्र स्वामी हैं, तो फिर अन्यों के लिए क्या कहा जाये? शिवजी पहले से भगवान् विष्णु की परम शक्ति से अवगत थे, किन्तु जब वे सचमुच मोह में पड़ गये तो उन्हें अपने महान् स्वामी पर गर्व हुआ।

तमविक्लवमव्रीडमालक्ष्य मधुसूदनः ।
उवाच परमप्रीतो बिभ्रत्स्वां पौरुषीं तनुम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (शिवजी को); अविक्लवम्—इस घटना से विचलित हुए बिना; अव्रीडम्—बिना लज्जा के; आलक्ष्य—देखकर; मधु-सूदनः—मधु राक्षस का वध करने वाले भगवान् ने; उवाच—कहा; परम-प्रीतः—अत्यधिक प्रसन्न होकर; बिभ्रत्—धारण करके; स्वाम्—अपना; पौरुषीम्—मूल; तनुम्—रूप।

शिवजी को अविचलित एवं लज्जारहित देखकर भगवान् विष्णु (मधुसूदन) अत्यन्त प्रसन्न हुए। तब उन्होंने अपना मूल रूप धारण कर लिया और वे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : यद्यपि शिवजी भगवान् विष्णु की शक्ति से चकित थे, किन्तु उन्होंने लज्जा का अनुभव नहीं किया। बल्कि वे भगवान् विष्णु द्वारा पराजित होने से गर्वित थे। भगवान् से कुछ भी छिपा नहीं है

क्योंकि वे जन-जन के हृदय में वास करने वाले हैं। निस्सन्देह, *भगवद्गीता* (१५.१५) में भगवान् कहते हैं—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—मैं हर एक के हृदय में आसीन हूँ और मुझ से ही स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होती है। जो कुछ भी घटित हुआ था वह सब भगवान् के निर्देशानुसार हुआ था अतएव खिन्न होने या लज्जित होने का कोई कारण नहीं था। यद्यपि शिवजी किसी से पराजित नहीं होते, किन्तु जब वे भगवान् विष्णु द्वारा पराजित हो गये तो उन्हें गर्व का अनुभव हुआ कि उनके स्वामी इतने महान् तथा शक्तिमान हैं।

श्रीभगवानुवाच
दिष्ट्या त्वं विबुधश्रेष्ठ स्वां निष्ठामात्मना स्थितः ।
यन्मे स्त्रीरूपया स्वैरं मोहितोऽप्यङ्ग मायया ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; दिष्ट्या—कल्याण हो; त्वम्—तुम्हारा; विबुध-श्रेष्ठ—हे समस्त देवताओं में श्रेष्ठ; स्वाम्—अपनी; निष्ठाम्—स्थिर दशा में; आत्मना—अपने आप; स्थितः—स्थित हो; यत्—क्योंकि; मे—मेरे; स्त्री-रूपया—स्त्री जैसे स्वरूप से; स्वैरम्—पर्याप्त; मोहितः—सम्मोहित; अपि—होते हुए भी; अङ्ग—हे शिवजी; मायया—मेरी शक्ति के द्वारा।

भगवान् ने कहा : हे देवताओं में श्रेष्ठ! यद्यपि तुम मेरे द्वारा स्त्रीरूप धारण करने की मेरी शक्ति द्वारा अत्यधिक पीड़ित हुए हो, किन्तु तुम अपने पद पर स्थिर हो। अतएव तुम्हारा कल्याण हो।

तात्पर्य : चूँकि शिवजी समस्त देवताओं में श्रेष्ठ हैं अतएव वे समस्त भक्तों में भी श्रेष्ठ हैं (*वैष्णवानाम् यथा शम्भुः*)। अतएव उनके आदर्श चरित्र की भगवान् ने प्रशंसा की और उन्हें यह कहकर वरदान दिया 'तुम्हारा कल्याण हो।' जब कोई भक्त कुछ-कुछ गर्वित हो उठता है, तो कभी-कभी भगवान् भक्त के भ्रम को दूर करने के लिए अपनी परम शक्ति का प्रदर्शन करते हैं। भगवान् विष्णु की शक्ति द्वारा पर्याप्त सताये जाने के बाद शिवजी ने अपना सामान्य अविचल रूप धारण कर लिया। भक्त की यह स्थिति है। भक्त को किसी परिस्थिति में भी विचलित नहीं होना चाहिए। जैसी कि *भगवद्गीता* (६.२२) में पुष्टि की गई है—*यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते*—भगवान् में पूर्ण श्रद्धा होने से भक्त बड़ी से बड़ी परीक्षा में भी कभी विचलित नहीं होता। ऐसी निरभिमानिता उच्चकोटि के भक्तों में ही सम्भव है जिनमें भगवान् शम्भु एक हैं।

को नु मेऽतितरेन्मायां विषक्तस्त्वदृते पुमान् ।
तांस्तान्विसृजतीं भावान्दुस्तरामकृतात्मभिः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

कः—क्या; नु—निस्सन्देह; मे—मेरा; अतितरेत्—पार पा सकता है; मायाम्—माया को; विषक्तः—भौतिक इन्द्रिय-भोग में आसक्त; त्वत्-ऋते—आपके अतिरिक्त; पुमान्—व्यक्ति; तान्—ऐसी दशाओं; तान्—आसक्त पुरुषों को; विसृजतीम्—पार कर सकने में; भावान्—भौतिक कार्यकलापों के फलों को; दुस्तराम्—पार कर पाना दुष्कर; अकृत-आत्मभिः—अपनी इन्द्रियों को वश में करने में असमर्थ व्यक्तियों द्वारा।

हे प्रिय शम्भु! इस भौतिक जगत में तुम्हारे अतिरिक्त ऐसा कौन है, जो मेरी माया से पार पा सके? सामान्यतया लोग इन्द्रियभोग में आसक्त रहते हैं और इसके प्रभाव में फँस जाते हैं। निस्सन्देह, उनके लिए माया के प्रभाव को लाँघ पाना अत्यन्त कठिन है।

तात्पर्य : तीन प्रमुख देवताओं—ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर में से विष्णु को छोड़कर सभी माया के वश में हैं। *चैतन्य-चरितामृत* में उन्हें मायी कहा गया है, जिसका अर्थ है "माया के प्रभाव में।" किन्तु यद्यपि शिवजी माया के संग रहते हैं, वे उससे प्रभावित नहीं होते। सारे जीव माया द्वारा प्रभावित होते हैं, किन्तु शिवजी माया के साथ रहते हुए भी प्रभावित नहीं होते। दूसरे शब्दों में, इस संसार में शिवजी के अतिरिक्त सारे जीव माया द्वारा विचलित हो जाते हैं। अतएव शिवजी न तो *विष्णु-तत्त्व* हैं न *जीवतत्त्व*। वे इन दोनों के बीच में हैं।

सेयं गुणमयी माया न त्वामभिभविष्यति ।
मया समेता कालेन कालरूपेण भागशः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

सा—वह दुर्लंघ्य; इयम्—यह; गुण-मयी—प्रकृति के तीनों गुणों से युक्त; माया—माया; न—नहीं; त्वाम्—तुमको; अभिभविष्यति—भविष्य में मोहित करने में समर्थ होगी; मया—मेरे साथ; समेता—संयुक्त; कालेन—नित्य समय द्वारा; काल-रूपेण—काल के रूप में; भागशः—अपने विभिन्न अंशों सहित।

यह भौतिक बहिरंगा शक्ति (माया), जो सृष्टि में मुझे सहयोग देती है और प्रकृति के तीनों गुणों में प्रकट होती है अब तुम्हें मोहित नहीं कर सकेगी।

तात्पर्य : शिवजी के साथ उनकी पत्नी दुर्गा भी वहाँ उपस्थित थीं। दुर्गाजी इस दृश्य जगत की सृष्टि करते समय भगवान् को सहयोग देती हैं। भगवान् *भगवद्गीता* (९.१०) में कहते हैं—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*—हे कुन्तीपुत्र! यह प्रकृति मेरे निर्देशन में कार्य करती है और सारे चर तथा अचर प्राणियों को जन्म देती हैं। यह प्रकृति दुर्गा है।

सृष्टिस्थितिप्रलयसाधनशक्तिरेका

छायेव यस्य भुवनानि बिभर्ति दुर्गा

सारे ब्रह्माण्ड की रचना दुर्गाजी द्वारा काल-रूप विष्णु के सहयोग से की जाती है। *स ईक्षत लोकान्नु सृजा। स इमाँल्लोकान् असृजत।* यह वेदों का (*ऐतरेय उपनिषद्* १.१, १-२) कथन है। माया को शिवजी की पत्नी होने का सौभाग्य प्राप्त है। इस तरह शिवजी का सान्निध्य माया से है, किन्तु यहाँ पर भगवान् विष्णु शिवजी को यह विश्वास दिलाते हैं कि अब यह माया उन्हें मोहित नहीं कर सकेगी।

श्रीशुक उवाच
एवं भगवता राजन्श्रीवत्साङ्केन सत्कृतः ।
आमन्त्र्य तं परिक्रम्य सगणः स्वालयं ययौ ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; भगवता—भगवान् द्वारा; राजन्—हे राजा; श्रीवत्स-अङ्केन—अपने वक्षस्थल पर श्रीवत्स-चिह्न धारण करने वाले; सत्-कृतः—अत्यन्त प्रशंसित होकर; आमन्त्र्य—अनुमति लेकर; तम्—उसको; परिक्रम्य—परिक्रमा करके; स-गणः—अपने गणों समेत; स्व-आलयम्—अपने धाम को; ययौ—वापस चले गये।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा! वक्षस्थल पर श्रीवत्स-चिन्ह धारण करने वाले भगवान् द्वारा इस प्रकार प्रशंसित होकर शिवजी ने उनकी परिक्रमा की। फिर उनकी अनुमति लेकर शिवजी अपने गणों सहित अपने धाम कैलास लौट गये।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि जब शिवजी भगवान् विष्णु को नमस्कार कर रहे थे तो भगवान् विष्णु ने उठकर उन्हें गले लगा लिया। इसीलिए यहाँ पर *श्रीवत्साङ्केन शब्द* प्रयुक्त हुआ है। श्रीवत्स-चिह्न भगवान् विष्णु के वक्षस्थल को सुशोभित करता है; अतएव जब शिवजी ने भगवान् विष्णु की परिक्रमा की और भगवान् विष्णुने उनका आलिंगन किया, तो श्रीवत्स-चिह्न शिवजी की छाती को छू गया।

आत्मांशभूतां तां मायां भवानीं भगवान्भवः ।
सम्मतामृषिमुख्यानां प्रीत्याचष्टाथ भारत ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

आत्म-अंश-भूताम्—परमात्मा की शक्ति; ताम्—उस; मायाम्—माया को; भवानीम्—शिवजी की पत्नी को; भगवान्—शक्तिमान; भवः—शिवजी; सम्मताम्—स्वीकार किया हुआ; ऋषि-मुख्यानाम्—महान् ऋषियों द्वारा; प्रीत्या—हर्ष सहित; आचष्ट—सम्बोधित किया; अथ—तब; भारत—हे भरतवंशी महाराज परीक्षित।

हे भरतवंशी महाराज! तब शिवजी ने परम प्रसन्न होकर अपनी पत्नी भवानी को सम्बोधित

किया जो सभी अधिकारियों द्वारा भगवान् विष्णु की शक्ति के रूप में स्वीकार की जाती हैं।

अयि व्यपश्यस्त्वमजस्य मायां
परस्य पुंसः परदेवतायाः ।
अहं कलानामृषभोऽपि मुह्ये
ययावशोऽन्ये किमुतास्वतन्त्राः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

अयि—ओह; व्यपश्यः—देखा है; त्वम्—तुमने; अजस्य—अजन्मा का; मायाम्—माया को; परस्य पुंसः—परम पुरुष का; पर-देवतायाः—परम सत्य; अहम्—मैं; कलानाम्—स्वांशों का; ऋषभः—प्रमुख; अपि—यद्यपि; मुह्ये—मोहित हो गया; यया—जिसके द्वारा; अवशः—अवश; अन्ये—अन्य; किम् उत—क्या कहा जाये; अस्वतन्त्राः—माया पर पूरी तरह आश्रित।

शिवजी ने कहा : हे देवी! अब तुमने भगवान् की माया देख ली है, जो सबके अजन्मा स्वामी हैं। यद्यपि मैं उनके प्रमुख विस्तारों में से एक हूँ तो भी मैं उनकी शक्ति से भ्रमित हो गया था। तो फिर, उन लोगों के विषय में क्या कहा जाये जो माया पर पूर्णतः आश्रित हैं?

यं मामपृच्छस्त्वमुपेत्य योगात्
समासहस्रान्त उपारतं वै ।
स एष साक्षात्पुरुषः पुराणो
न यत्र कालो विशते न वेदः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

यम्—जिसके विषय में; माम्—मुझसे; अपृच्छः—पूछा; त्वम्—तुमने; उपेत्य—पास आकर; योगात्—योग साधन से; समा—वर्ष; सहस्र-अन्ते—एक हजार के अन्त में; उपारतम्—समाप्त होकर; वै—निस्सन्देह; सः—वह; एषः—यहाँ है; साक्षात्—प्रत्यक्ष; पुरुषः—परम पुरुष; पुराणः—आदि; न—नहीं; यत्र—जहाँ; कालः—काल; विशते—प्रवेश कर सकता है; न—नहीं; वेदः—वेद।

जब मैंने एक हजार वर्षों की योग-साधना पूरी कर ली तो तुमने मुझसे पूछा था कि मैं किसका ध्यान कर रहा था। अब ये वही परम पुरुष हैं जिन तक काल नहीं पहुँच पाता और जिन्हें वेद नहीं समझ पाते।

तात्पर्य : काल सर्वत्र प्रवेश कर जाता है, किन्तु वह भगवद्धाम में प्रविष्ट नहीं हो सकता। वेद भी भगवान् को नहीं समझ पाते। यह भगवान् के सर्व-शक्तिमान, सर्वव्यापी तथा सर्वज्ञ होने का संकेत है।

श्रीशुक उवाच

इति तेऽभिहितस्तात विक्रमः शार्ङ्गधन्वनः ।
सिन्धोर्निर्मथने येन धृतः पृष्ठे महाचलः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; ते—तुमको; अभिहितः—बताया गया; तात—हे राजा; विक्रमः—पराक्रम; शार्ङ्ग-धन्वनः—शार्ङ्ग धनुष धारण करने वाले भगवान् का; सिन्धोः—क्षीरसागर के; निर्मथने—मन्थन में; येन—जिससे; धृतः—धारण किया गया था; पृष्ठे—पीठ पर; महा-अचलः—विशाल पर्वत।.

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा! जिस पुरुष ने क्षीरसागर के मन्थन के लिए अपनी पीठ पर महान् पर्वत धारण किया था वही शार्ङ्गधन्वा नामक भगवान् हैं। मैंने तुमसे अभी उन्हीं के पराक्रम का वर्णन किया है।

एतन्मुहुः कीर्तयतोऽनुशृण्वतो
न रिष्यते जातु समुद्यमः क्वचित् ।
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनं
समस्तसंसारपरिश्रमापहम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह कथा; मुहुः—निरन्तर; कीर्तयतः—कीर्तन करने वाले का; अनुशृण्वतः—तथा सुनने वाले का है; न—नहीं; रिष्यते—विनाश किया जाता है; जातु—किसी समय; समुद्यमः—प्रयास; क्वचित्—किसी समय; यत्—क्योंकि; उत्तमश्लोक—भगवान् का; गुण-अनुवर्णनम्—दिव्य गुणों का वर्णन करते हुए; समस्त—सभी; संसार—संसार का; परिश्रम—कष्ट; अपहम्—समाप्त करने वाला।.

जो कोई क्षीरसागर के मन्थन की इस कथा को निरन्तर सुनता या सुनाता है, उसका प्रयास कभी भी निष्फल नहीं होगा। निस्सन्देह, भगवान् के यश का कीर्तन इस भौतिक संसार में समस्त कष्टों को ध्वस्त करने का एकमात्र साधन है।

असदविषयमङ्घ्रिं भावगम्यं प्रपन्ना-
नमृतममरवर्यानाशयत्सिन्धुमथ्यम् ।
कपटयुवतिवेषो मोहयन्यः सुरारीं-
स्तमहमुपसृतानां कामपूरं नतोऽस्मि ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

असत्-अविषयम्—नास्तिकों की समझ में न आने वाला; अङ्घ्रिम्—भगवान् के चरणकमलों को; भाव-गम्यम्—भक्तों की समझ में आने वाला; प्रपन्नान्—पूर्णतया शरणागत; अमृतम्—अमृत; अमर-वर्यान्—केवल देवताओं को; आशयत्—पीने के लिए; सिन्धु-मथ्यम्—क्षीरसागर से उत्पन्न; कपट-युवति-वेषः—मिथ्या तरुणी के रूप में प्रकट होकर; मोहयन्—मोहते हुए; यः—जो; सुर-अरीन्—देवताओं के शत्रुओं को; तम्—उसको; अहम्—मैं; उपसृतानाम्—भक्तों का; काम-पूरम्—समस्त इच्छाओं को पूरा करने वाला; नतः अस्मि—मैं नमस्कार करता हूँ।.

एक तरुण स्त्री का रूप धारण करके तथा इस प्रकार असुरों को मोहित करके भगवान् ने अपने भक्तों अर्थात् देवताओं को क्षीरसागर के मन्थन से उत्पन्न अमृत बाँट दिया। मैं उन भगवान् को जो अपने भक्तों की इच्छाओं को सदा पूरा करते हैं अपना सादर नमस्कार अर्पित करता हूँ।

तात्पर्य : क्षीरसागर के मन्थन सम्बन्धी इस कथा का उपदेश भगवान् द्वारा स्पष्टत: वर्णन किया गया है। यद्यपि वे सब पर समभाव रखते हैं, किन्तु स्वाभाविक स्नेह के कारण वे अपने भक्तों का पक्ष लेते हैं। भगवान् *भगवद्गीता* (९.२९) में कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रिय: ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

''मैं न तो किसी से ईर्ष्या करता हूँ, न किसी का पक्षपात करता हूँ। मैं तो सबके लिए समान हूँ। किन्तु जो भक्तिपूर्वक मेरी सेवा करता है, वह मेरा मित्र है, वह मुझमें है और मैं भी उसका मित्र हूँ।'' भगवान् का यह पक्षपात स्वाभाविक है। कोई भी व्यक्ति अपने बच्चों की परवाह पक्षपात के कारण नहीं करता अपितु प्रेम के आदान-प्रदान के कारण करता है। बच्चे पिता के स्नेह पर आश्रित रहते हैं और पिता स्नेह से बच्चों का पालन करता है। इसी प्रकार चूँकि भक्त भगवान् के चरणकमलों के अतिरिक्त और कुछ मी नहीं जानते अतएव भगवान् अपने भक्तों की रक्षा करने तथा उनकी इच्छाओं को पूरा करने के लिए सदैव तैयार रहते हैं। अतएव वे कहते हैं—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति*—हे कुन्तीपुत्र! निर्भीक होकर घोषणा कर दो कि मेरा भक्त कभी विनष्ट नहीं होता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध के अन्तर्गत ''मोहिनी-मूर्ति अवतार पर शिवजी का मोहित होना'' नामक बारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तेरह

भावी मनुओं का वर्णन

चौदह मनुओं में से छह मनुओं का वर्णन पहले हो चुका है। अब इस अध्याय में सातवें से चौदहवें मनुओं का एक-एक करके वर्णन किया जायेगा।

सातवाँ मनु विवस्वान का पुत्र है और श्राद्धदेव कहलाता है। उसके दस पुत्र हैं—इक्ष्वाकु, नभग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, नाभाग, दिष्ट, तरूष, पृषध्र तथा वसुमान। इस मन्वन्तर के देवता हैं—आदित्यगण, वसुगण, रुद्रगण, विश्वेदेवा, मरुत्गण, अश्विनीकुमार तथा ऋभुगण इत्यादि। स्वर्ग का राजा इन्द्र पुरन्दर के नाम से जाना जाता है और सप्तर्षि कश्यप, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि

तथा भरद्वाज के नामों से विख्यात हैं। इस मन्वन्तर में भगवान् विष्णु कश्यप के पुत्र के रूप में अदिति के गर्भ से उत्पन्न होते हैं।

आठवें मन्वन्तर के मनु सावर्णि हैं। उनके पुत्र निर्मोक आदि हैं और देवताओं में सुतपा आदि हैं। विरोचन-पुत्र बलि इन्द्र हैं और गालव तथा परशुराम सप्तर्षियों में से हैं। इस मन्वन्तर में भगवान् देवगुह्य तथा सरस्वती के पुत्र सार्वभौम के रूप में जन्म लेते हैं।

नवें मन्वन्तर में दक्ष सावर्णि मनु हैं। उनके पुत्रों में भूतकेतु प्रमुख है और देवताओं में मारीचिगर्भ इत्यादि। इन्द्र का नाम अद्भुत है और सप्तर्षियों में हैं द्युतिमान। इस मन्वन्तर में आयुष्मान् तथा अम्बुधारा से जन्मा ऋषभ अवतार होता है।

दसवें मन्वन्तर के मनु ब्रह्मसावर्णि हैं। उनके पुत्रों में भूरिषेण प्रमुख है और सप्तर्षियों में हविष्मान तथा अन्य हैं। देवताओं में सुवासन-गण प्रधान हैं और शम्भु इन्द्र है। इस मन्वन्तर का अवतार विष्वक्सेन है, जो शम्भु का मित्र है और विश्वस्रष्टा नामक ब्राह्मण के घर में विशूची के गर्भ से उत्पन्न हुआ॥

ग्याहरवें मन्वन्तर में धर्मसावर्णि मनु हैं जिनके दस पुत्रों में सत्यधर्म प्रमुख है। देवताओं में विहंगम-गण तथा सप्तर्षियों में अरुण इत्यादि हैं। वैधृत इन्द्र था। इस मन्वन्तर में धर्मसेतु अवतार हुआ जो वैधृत तथा आर्यक से उत्पन्न हैं।

बारहवें मन्वन्तर में रुद्रसावर्णि मनु है जिनके पुत्रों में देववान प्रमुख है। देवताओं में हरितगण इत्यादि है, ऋतधामा इन्द्र है और सप्तर्षियों में तपोमूर्ति तथा अन्य हैं। इस मन्वन्तर का अवतार सुधामा या स्वधामा है, जो सुनृता के गर्भ से जन्म लेता है। उसके पिता का नाम सत्यसहा है।

तेरहवें मन्वन्तर के मनु देवसावर्णि हैं। उनके पुत्रों में चित्रसेन तथा देवताओं में सुकर्मा प्रमुख हैं। दिवस्पति इन्द्र है और निर्मोक सप्तर्षियों में से है। इस मन्वन्तर का अवतार योगेश्वर है, जिसके माता पिता बृहती तथा देवहोत्र हैं।

चौदहवें मन्वन्तर के मनु इन्द्रसावर्णि हैं। उनके पुत्रों के नाम उरु तथा गम्भीर हैं। पवित्रगण इत्यादि देवता, शुचि इन्द्र और अग्नि तथा बाहु इत्यादि सप्तर्षि हैं। इस मन्वन्तर का अवतार वृहद्भानु है, जो विताना के गर्भ से उत्पन्न है और सत्रायन का पुत्र है।

इन मनुओं का शासनकाल कुल मिलाकर एक हजार चतुर्युगों के तुल्य है अर्थात् ४३,००,००० गुना १,००० वर्ष का है।

श्रीशुक उवाच

मनुर्विवस्वतः पुत्रः श्राद्धदेव इति श्रुतः ।
सप्तमो वर्तमानो यस्तदपत्यानि मे शृणु ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; मनुः—मनु; विवस्वतः—सूर्यदेव का; पुत्रः—पुत्र; श्राद्धदेवः—श्राद्धदेव; इति—इस प्रकार; श्रुतः—ज्ञात, विख्यात; सप्तमः—सातवाँ; वर्तमानः—इस समय; यः—जो; तत्—उसकी; अपत्यानि—सन्तानें; मे—मुझसे; शृणु—सुनो।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : वर्तमान मनु का नाम श्राद्धदेव है और वे सूर्यलोक के प्रधान देवता विवस्वान के पुत्र हैं। श्राद्धदेव सातवें मनु हैं। अब मैं उनके पुत्रों का वर्णन करता हूँ कृपा करके मुझसे सुने।

इक्ष्वाकुर्नभगश्चैव धृष्टः शर्यातिरेव च ।
नरिष्यन्तोऽथ नाभागः सप्तमो दिष्ट उच्यते ॥ २ ॥

तरूषश्च पृषध्रश्च दशमो वसुमान्स्मृतः ।
मनोर्वैवस्वतस्यैते दशपुत्राः परन्तप ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

इक्ष्वाकुः—इक्ष्वाकु; नभगः—नभग; च—भी; एव—निस्सन्देह; धृष्टः—धृष्ट; शर्यातिः—शर्याति; एव—निश्चय ही; च—भी; नरिष्यन्तः—नरिष्यन्त; अथ—भी; नाभागः—नाभाग; सप्तमः—सातवाँ; दिष्टः—दिष्ट; उच्यते—विख्यात है; तरूषः च—तथा तरुष; पृषध्रः च—तथा पृषध्र; दशमः—दसवाँ; वसुमान्—वसुमान; स्मृतः—ज्ञात; मनोः—मनु के; वैवस्वतस्य—वैवस्वत; एते—ये सब; दश-पुत्राः—दस पुत्र; परन्तप—हे राजा।

हे राजा परीक्षित! मनु के दस पुत्रों में (प्रथम छः) इक्ष्वाकु, नभग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त तथा नाभाग हैं। सातवाँ पुत्र दिष्ट नाम से जाना जाता है। फिर तरूष तथा पृषध्र के नाम आते हैं और दसवाँ पुत्र वसुमान कहलाता है।

आदित्या वसवो रुद्रा विश्वेदेवा मरुद्गणाः ।
अश्विनावृभवो राजन्निन्द्रस्तेषां पुरन्दरः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

आदित्याः—आदित्यगण; वसवः—वसुगण; रुद्राः—रुद्रगण; विश्वेदेवाः—विश्वेदेवा; मरुत्-गणाः—तथा मरुत्गण; अश्विनौ—दोनों अश्विनीकुमार; ऋभवः—ऋभुगण; राजन्—हे राजा; इन्द्रः—स्वर्ग का राजा; तेषाम्—उनमें से; पुरन्दरः—पुरन्दर।

हे राजा! इस मन्वन्तर में आदित्य, वसु, रुद्र, विश्वेदेवा, मरुत्गण, दोनों भाई अश्विनीकुमार

तथा ऋभु देवता हैं। इनका प्रधान राजा (इन्द्र) पुरन्दर है।

कश्यपोऽत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वामित्रोऽथ गौतमः ।
जमदग्निर्भरद्वाज इति सप्तर्षयः स्मृताः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

कश्यपः—कश्यप; अत्रिः—अत्रि; वसिष्ठः—वसिष्ठ; च—तथा; विश्वामित्रः—विश्वामित्र; अथ—तथा; गौतमः—गौतम; जमदग्निः—जमदग्नि; भरद्वाजः—भरद्वाज; इति—इस प्रकार; सप्त-ऋषयः—सप्तर्षि; स्मृताः—विख्यात।

कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि तथा भरद्वाज सप्तर्षि कहलाते हैं।

अत्रापि भगवज्जन्म कश्यपाददितेरभूत् ।
आदित्यानामवरजो विष्णुर्वामनरूपधृक् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अत्र—इस मनु के शासन में; अपि—निश्चय ही; भगवत्-जन्म—भगवान् का प्राकट्य; कश्यपात्—कश्यप मुनि से; अदितेः—माता अदिति के; अभूत्—सम्भव हुआ; आदित्यानाम्—आदित्यों में से; अवर-जः—सबसे छोटा; विष्णुः—साक्षात् विष्णु; वामन-रूप-धृक्—भगवान् वामन का रूप धारण करते हुए।

इस मन्वन्तर में भगवान् आदित्यों में सबसे छोटे, वामन के नाम से अवतरित हुए। उनके पिता कश्यप तथा माता अदिति थीं।

सङ्क्षेपतो मयोक्तानि सप्तमन्वन्तराणि ते ।
भविष्याण्यथ वक्ष्यामि विष्णोः शक्त्यान्वितानि च ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सङ्क्षेपतः—संक्षेप में; मया—मेरे द्वारा; उक्तानि—बताये गये; सप्त—सात; मनु-अन्तराणि—मनुओं के परिवर्तन; ते—तुमको; भविष्याणि—भावी मनु; अथ—भी; वक्ष्यामि—कहूँगा; विष्णोः—विष्णु के; शक्त्या अन्वितानि—शक्ति सम्पन्न; च—भी।

मैंने तुमसे संक्षेप में सात मनुओं की स्थिति बतला दी है। अब मैं भगवान् विष्णु के अवतारों सहित भावी मनुओं का वर्णन करूँगा।

विवस्वतश्च द्वे जाये विश्वकर्मसुते उभे ।
संज्ञा छाया च राजेन्द्र ये प्रागभिहिते तव ॥ ॥

शब्दार्थ

विवस्वतः—विवस्वान की; च—भी; द्वे—दो; जाये—पत्नियाँ; विश्वकर्म-सुते—विश्वकर्मा की दो पुत्रियाँ; उभे—दोनों; संज्ञा—संज्ञा; छाया—छाया; च—तथा; राज-इन्द्र—हे राजा; ये—जो; प्राक्—पहले; अभिहिते—वर्णन किये गये; तव—तुमसे।

हे राजा! मैं तुमसे पहले ही (छठे स्कंध में) विश्वकर्मा की दो पुत्रियों का वर्णन कर चुका हूँ जिनके नाम संज्ञा तथा छाया थे, जो विवस्वान की प्रथम दो पत्नियाँ थीं।

तृतीयां वडवामेके तासां संज्ञासुतास्त्रयः ।
यमो यमी श्राद्धदेवश्छायायाश्च सुताञ्छृणु ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तृतीयाम्—तीसरी पत्नी; वडवाम्—वडवा को; एके—कुछ लोग; तासाम्—तीनों पत्नियों में से; संज्ञा-सुताः त्रयः—संज्ञा की तीन संतानें; यमः—एक पुत्र यम; यमी—पुत्री यमी; श्राद्धदेवः—दूसरा पुत्र श्राद्धदेव; छायायाः—छाया का; च—तथा; सुतान्—पुत्रों को; शृणु—सुनो।

ऐसा कहा जाता है कि सूर्यदेव के एक तीसरी पत्नी भी थी जिसका नाम वडवा था। इन तीनों पत्नियों में से संज्ञा के तीन संतानें हुईं—यम, यमी तथा श्राद्धदेव। अब मैं छाया की सन्तानों का वर्णन करूँगा।

सावर्णिस्तपती कन्या भार्या संवरणस्य या ।
शनैश्चरस्तृतीयोऽभूदश्विनौ वडवात्मजौ ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सावर्णिः—सावर्णि; तपती—तपती; कन्या—पुत्री; भार्या—पत्नी; संवरणस्य—राजा संवरण की; या—जो; शनैश्चरः—शनैश्चर; तृतीयः—तीसरी सन्तान; अभूत्—जन्म लिया; अश्विनौ—दोनों अश्विनी कुमार; वडवा-आत्म-जौ—वडवा नामक पत्नी के पुत्र।

छाया के एक पुत्र सावर्णि तथा एक पुत्री तपती थी जो बाद में राजा संवरण की पत्नी बनी। छाया की तीसरी सन्तान शनैश्चर (शनि) कहलाई। वडवा ने दो पुत्रों को जन्म दिया जिनके नाम अश्विनी-बन्धु हैं।

अष्टमेऽन्तर आयाते सावर्णिर्भविता मनुः ।
निर्मोकविरजस्काद्याः सावर्णितनया नृप ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अष्टमे—आठवें; अन्तरे—मन्वन्तर में; आयाते—आने पर; सावर्णिः—सावर्णि; भविता—हो जायेगा; मनुः—आठवाँ मनु; निर्मोक—निर्मोक; विरजस्क-आद्याः—विरजस्क इत्यादि; सावर्णि—सावर्णि के; तनयाः—पुत्र; नृप—हे राजा।

हे राजा! आठवें मनु का काल आने पर सावर्णि मनु बनेगा। निर्मोक, विरजस्क इत्यादि उसके पुत्र होंगे।

तात्पर्य : इस समय वैवस्वत मनु का शासन है। ज्योतिषगणना के अनुसार हम वैवस्वत मनु के अट्ठाइसवें युग में हैं। प्रत्येक मनु इकहत्तर युगों तक रहता है और ब्रह्माजी के एक दिन में ऐसे चौदह मनु शासन चलाते हैं। इस समय हम सातवें मनु वैवस्वत के युग में हैं और आठवाँ मनु लाखों वर्ष बाद

आयेगा। लेकिन शुकदेव मुनि ने अधिकारियों से सुन रखा था जिसके आधार पर वे भविष्यवाणी करते हैं कि आठवाँ मनु सावर्णि होगा और उसके पुत्रों में निर्मोक तथा विरजस्क होंगे। शास्त्र यह बता सकते हैं कि लाखों वर्ष बाद क्या होगा।

तत्र देवाः सुतपसो विरजा अमृतप्रभाः ।
तेषां विरोचनसुतो बलिरिन्द्रो भविष्यति ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तत्र—उस मन्वन्तर में; देवाः—देवतागण; सुतपसः—सुतपा; विरजाः—विरजगण; अमृतप्रभाः—अमृत प्रभगण; तेषाम्—उनमें से; विरोचन-सुतः—विरोचन का पुत्र; बलिः—महाराज बलि; इन्द्रः—स्वर्ग का राजा; भविष्यति—होगा।

आठवें मन्वन्तर में सुतपा, विरज तथा अमृतप्रभगण देवता होंगे और विरोचन पुत्र बलि महाराज देवताओं के राजा इन्द्र होंगे।

दत्त्वेमां याचमानाय विष्णवे यः पदत्रयम् ।
राद्धमिन्द्रपदं हित्वा ततः सिद्धिमवाप्स्यति ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

दत्त्वा—दान में देकर; इमाम्—इस समग्र ब्रह्माण्ड को; याचमानाय—उससे याचना करने वाले; विष्णवे—भगवान् विष्णु को; यः—बलि महाराज; पद-त्रयम्—तीन पग भूमि; राद्धम्—प्राप्त किया; इन्द्र-पदम्—इन्द्र का स्थान; हित्वा—त्यागकर; ततः—तत्पश्चात्; सिद्धिम्—सिद्धि; अवाप्स्यति—प्राप्त करेगा।

बलि महाराज ने भगवान् विष्णु को तीन पग भूमि दान में दी जिसके कारण उन्हें तीनों लोक खोने पड़े। किन्तु बाद में बलि द्वारा सर्वस्व दान दे दिये जाने पर जब भगवान् विष्णु प्रसन्न हुए तो बलि महाराज को जीवन की सिद्धि प्राप्त हो जाएगी।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.३) में कहा गया है—*मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित् यतति सिद्धये*—लाखों लोगों में से कोई एक जीवन सिद्धि के लिए प्रयास करता है। यहाँ पर इस सिद्धि का वर्णन है। *राद्धमिन्द्रपदं हित्वा ततः सिद्धिमवाप्स्यति। सिद्धि* तो भगवान् विष्णु की कृपा प्राप्त करने में है, *योगसिद्धियों* में नहीं। *योगसिद्धियाँ—अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व* तथा *कामावसायिता*—क्षणिक हैं। चरमसिद्धि तो भगवान् विष्णु की कृपा प्राप्त करना है।

योऽसौ भगवता बद्धः प्रीतेन सुतले पुनः ।
निवेशितोऽधिके स्वर्गादधुनास्ते स्वराडिव ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

यः—बलि महाराज; असौ—वही; भगवता—भगवान् द्वारा; बद्धः—बाँधा जाकर; प्रीतेन—प्रेम के कारण; सुतले—सुतललोक में; पुनः—फिर; निवेशितः—स्थित; अधिके—अधिक ऐश्वर्यवान्; स्वर्गात्—स्वर्ग की अपेक्षा; अधुना—इस समय; आस्ते—स्थित हैं; स्व-राट् इव—इन्द्र के पद के समान।

भगवान् ने प्रेमपूर्वक बलि को बाँध लिया और फिर उन्हें सुतल राज्य में अधिष्ठित किया जो स्वर्गलोक की अपेक्षा अधिक ऐश्वर्यशाली है। इस समय बलि महाराज उसी लोक में रहते हैं और इन्द्र की अपेक्षा अधिक सुखी हैं।

गालवो दीप्तिमान्रामो द्रोणपुत्रः कृपस्तथा ।
ऋष्यशृङ्गः पितास्माकं भगवान्बादरायणः ॥ १५ ॥
इमे सप्तर्षयस्तत्र भविष्यन्ति स्वयोगतः ।
इदानीमासते राजन्स्वे स्व आश्रममण्डले ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

गालवः—गालव; दीप्तिमान्—दीप्तिमान; रामः—परशुराम; द्रोण-पुत्रः—द्रोणाचार्य का पुत्र अश्वत्थामा; कृपः—कृपाचार्य; तथा—और; ऋष्यशृङ्गः—ऋष्यशृंग; पिता अस्माकम्—हमारे पिता; भगवान्—भगवान् के अवतार; बादरायणः—व्यासदेव; इमे—ये सब; सप्त-ऋषयः—सप्तर्षि; तत्र—उस मन्वन्तर में; भविष्यन्ति—होंगे; स्व-योगतः—भगवान् के प्रति सेवा के परिणामस्वरुप; इदानीम्—इस समय; आसते—वे सब विद्यमान हैं; राजन्—हे राजा; स्वे स्वे—अपने-अपने; आश्रम-मण्डले—विभिन्न आश्रमों में।

हे राजा! आठवें मन्वन्तर में गालव, दीप्तिमान, परशुराम, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, ऋष्यशृंग तथा हमारे पिता व्यासदेव, जो नारायण के अवतार हैं, सप्तर्षि होंगे। इस समय वे सब अपने-अपने आश्रमों में निवास कर रहे हैं।

देवगुह्यात्सरस्वत्यां सार्वभौम इति प्रभुः ।
स्थानं पुरन्दराद्धृत्वा बलये दास्यतीश्वरः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

देवगुह्यात्—अपने पिता देवगुह्य से; सरस्वत्याम्—सरस्वती के गर्भ में; सार्वभौमः—सार्वभौम; इति—इस प्रकार; प्रभुः—स्वामी; स्थानम्—स्थान; पुरन्दरात्—इन्द्र से; हृत्वा—बलपूर्वक छीने जाने पर; बलये—बलि महाराज को; दास्यति—देगा; ईश्वरः—स्वामी।

आठवें मन्वन्तर में अत्यन्त शक्तिशाली भगवान् सार्वभौम जन्म ग्रहण करेंगे। उनके पिता होंगे देवगुह्य और माता होंगी सरस्वती। वे पुरन्दर (इन्द्र) से राज्य छीन कर उसे बलि महाराज को देंगे।

नवमो दक्षसावर्णिर्मनुर्वरुणसम्भवः ।

भूतकेतुर्दीप्तकेतुरित्याद्यास्तत्सुता नृप ॥ १ ॥

शब्दार्थ

नवमः—नौवाँ; दक्ष-सावर्णिः—दक्षसावर्णि; मनुः—मनु; वरुण-सम्भवः—वरुण के पुत्र रूप में; भूतकेतुः—भूतकेतु; दीप्तकेतुः—दीप्तकेतु; इति—इस प्रकार; आद्याः—इत्यादि; तत्—उसके; सुताः—पुत्र; नृप—हे राजा।

हे राजा! नौवाँ मनु दक्षसावर्णि होगा जो वरुण का पुत्र होगा। भूतकेतु, दीप्तकेतु इत्यादि उसके पुत्र होंगे।

पारामरीचिगर्भाद्या देवा इन्द्रोऽद्भुतः स्मृतः ।
द्युतिमत्प्रमुखास्तत्र भविष्यन्त्यृषयस्ततः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

पारा—पारगण; मरीचिगर्भ—मरीचिगर्भगण; आद्याः—आदि; देवाः—देवतागण; इन्द्रः—स्वर्ग का राजा; अद्भुतः—अद्भुत; स्मृतः—ज्ञात; द्युतिमत्—द्युतिमान; प्रमुखाः—आदि; तत्र—उस नवें मन्वन्तर में; भविष्यन्ति—होंगे; ऋषयः—सप्तर्षि; ततः—तब।

नवें मन्वन्तर में पार तथा मरीचिगर्भ इत्यादि देवता रहेंगे। स्वर्ग के राजा इन्द्र का नाम होगा अद्भुत और द्युतिमान सप्तर्षियों में से एक होगा।

आयुष्मतोऽम्बुधारायामृषभो भगवत्कला ।
भविता येन संराद्धां त्रिलोकीं भोक्ष्यतेऽद्भुतः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

आयुष्मतः—पिता आयुष्मान का; अम्बुधारायाम्—माता अम्बुधारा के गर्भ में; ऋषभः—ऋषभ; भगवत्-कला—भगवान् का अंशावतार; भविता—होगा; येन—जिससे; संराद्धाम्—सर्वशक्तिमान; त्रि-लोकीम्—तीनों लोकों को; भोक्ष्यते—भोग करेगा; अद्भुतः—अद्भुत नामक इन्द्र।

भगवान् के अंशावतार ऋषभदेव अपने पिता आयुष्मान तथा माता अम्बुधारा से जन्म लेंगे। वे अद्भुत नामक इन्द्र को तीनों लोकों का ऐश्वर्य भोगने के योग्य बनायेंगे।

दशमो ब्रह्मसावर्णिरुपश्लोकसुतो मनुः ।
तत्सुता भूरिषेणाद्या हविष्मत्प्रमुखा द्विजाः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

दशमः—दसवें मनु; ब्रह्म-सावर्णिः—ब्रह्मसावर्णि; उपश्लोक-सुतः—उपश्लोक का पुत्र; मनुः—मनु होगा; तत्-सुताः—उसके पुत्र; भूरिषेण-आद्याः—भूरिषेण इत्यादि; हविष्मत्—हविष्मान; प्रमुखाः—प्रमुख; द्विजाः—सात ऋषि।

उपश्लोक का पुत्र ब्रह्मसावर्णि दसवाँ मनु होगा। भूरिषेण उसके पुत्रों में एक होगा और हविष्मान इत्यादि ब्राह्मण सप्तर्षि होंगे।

हविष्मान्सुकृतः सत्यो जयो मूर्तिस्तदा द्विजाः ।
सुवासनविरुद्धाद्या देवाः शम्भुः सुरेश्वरः ॥ २२॥

शब्दार्थ

हविष्मान्—हविष्मान; सुकृतः—सुकृत; सत्यः—सत्य; जयः—जय; मूर्तिः—मूर्ति; तदा—उस समय; द्विजाः—सप्तर्षि; सुवासन—सुवासन-गण; विरुद्ध—विरुद्ध-गण; आद्याः—इत्यादि; देवाः—देवता; शम्भुः—शम्भु; सुर-ईश्वरः—देवताओं का राजा इन्द्र।

हविष्मान, सुकृत, सत्य, जय, मूर्ति इत्यादि सप्तर्षि होंगे; सुवासन-गण तथा विरुद्धगण देवता होंगे और शम्भु उन सबका राजा इन्द्र होगा।

विष्वक्सेनो विषूच्यां तु शम्भोः सख्यं करिष्यति ।
जातः स्वांशेन भगवान्गृहे विश्वसृजो विभुः ॥ २३॥

शब्दार्थ

विष्वक्सेनः—विष्वक्सेन; विषूच्याम्—विषूची के गर्भ में; तु—तब; शम्भोः—शम्भु को; सख्यम्—मित्रता; करिष्यति—करेगा; जातः—उत्पन्न होकर; स्व-अंशेन—अपने अंश से; भगवान्—भगवान्; गृहे—घर में; विश्वसृजः—विश्वसृष्टा का; विभुः—अत्यन्त शक्तिशाली भगवान्।

विश्वसृष्टा के घर में विषूची के गर्भ से भगवान् के स्वांश विष्वक्सेन के रूप में भगवान् अवतरित होंगे। वे शम्भु से मैत्री स्थापित करेंगे।

मनुर्वै धर्मसावर्णिरेकादशम आत्मवान् ।
अनागतास्तत्सुताश्च सत्यधर्मादयो दश ॥ २४॥

शब्दार्थ

मनुः—मनु; वै—निस्सन्देह; धर्म-सावर्णिः—धर्मसावर्णि; एकादशमः—ग्यारहवाँ; आत्मवान्—इन्द्रियों को वश में करने वाला; अनागताः—भविष्य में होंगे; तत्—उसके; सुताः—पुत्र; च—तथा; सत्यधर्म-आदयः—सत्यधर्म तथा अन्य; दश—दस।

ग्याहरवें मन्वन्तर में धर्मसावर्णि मनु होंगे जो अध्यात्म ज्ञान के अत्यन्त विद्वान होंगे। उनके दस पुत्र होंगे जिनमें सत्यधर्म प्रमुख होगा।

विहङ्गमाः कामगमा निर्वाणरुचयः सुराः ।
इन्द्रश्च वैधृतस्तेषामृषयश्चारुणादयः ॥ २५॥

शब्दार्थ

विहङ्गमाः—विहङ्गमगण; कामगमाः—कामगम-गण; निर्वाणरुचयः—निर्वाणरुचिगण; सुराः—देवता; इन्द्रः—इन्द्र; च—भी; वैधृतः—वैधृत; तेषाम्—उनमें से; ऋषयः—सप्तर्षि; च—भी; अरुण-आदयः—अरुण इत्यादि।

विहंगम, कामगम, निर्वाणरुचि इत्यादि देवता होंगे। वैधृत देवताओं का राजा इन्द्र होगा और अरुण इत्यादि सप्तर्षि होंगे।

आर्यकस्य सुतस्तत्र धर्मसेतुरिति स्मृतः ।
वैधृतायां हरेरंशस्त्रिलोकीं धारयिष्यति ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

आर्यकस्य—आर्यक का; सुतः—पुत्र; तत्र—उस ग्यारहवें मन्वन्तर में; धर्मसेतुः—धर्मसेतु; इति—इस प्रकार; स्मृतः—विख्यात; वैधृतायाम्—माता वैधृता से; हरेः—भगवान् के; अंशः—अंशावतार; त्रि-लोकीम्—तीनों लोकों पर; धारयिष्यति—शासन चलायेगा।

आर्यक का पुत्र धर्मसेतु आर्यक की पत्नी वैधृता की कोख से भगवान् के अंशावतार के रूप में जन्म लेगा और तीनों लोकों में शासन करेगा।

भविता रुद्रसावर्णी राजन्द्वादशमो मनुः ।
देववानुपदेवश्च देवश्रेष्ठादयः सुताः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

भविता—होगा; रुद्र-सावर्णिः—रुद्र सावर्णि; राजन्—हे राजा; द्वादशमः—बारहवाँ; मनुः—मनु; देववान्—देववान; उपदेवः—उपदेव; च—तथा; देवश्रेष्ठ—देवश्रेष्ठ; आदयः—इत्यादि; सुताः—मनु के पुत्र।

हे राजा! बारहवाँ मनु रुद्रसावर्णि कहलायेगा। देववान, उपदेव तथा देवश्रेष्ठ उसके पुत्र होंगे।

ऋतधामा च तत्रेन्द्रो देवाश्च हरितादयः ।
ऋषयश्च तपोमूर्तिस्तपस्व्याग्नीध्रकादयः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ऋतधामा—ऋतधामा; च—भी; तत्र—उस काल में; इन्द्रः—स्वर्ग का राजा; देवाः—देवता; च—तथा; हरित-आदयः—हरित इत्यादि; ऋषयः च—तथा सप्तर्षि; तपोमूर्तिः—तपोमूर्ति; तपस्वी—तपस्वी; आग्नीध्रक—आग्नीध्रक; आदयः—इत्यादि।

इस मन्वन्तर में ऋतधामा इन्द्र होगा और हरित इत्यादि देवता होंगे। तपोमूर्ति, तपस्वी तथा आग्नीध्रक सप्तर्षि होंगे।

स्वधामाख्यो हरेरंशः साधयिष्यति तन्मनोः ।
अन्तरं सत्यसहसः सुनृतायाः सुतो विभुः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

स्वधामा-आख्यः—स्वधामा नामक; हरेः अंशः—भगवान् का अंश अवतार; साधयिष्यति—शासन करेगा; तत्-मनोः—उस मनु के; अन्तरम्—मन्वन्तर; सत्यसहसः—सत्यसहा का; सुनृतायाः—सुनृता का; सुतः—पुत्र; विभुः—अत्यन्त शक्तिशाली।

माता सुनृता तथा पिता सत्यसहा से भगवान् का अंशावतार स्वधामा उत्पन्न होगा। वह उस मन्वन्तर में शासन करेगा।

मनुस्त्रयोदशो भाव्यो देवसावर्णिरात्मवान् ।
चित्रसेनविचित्राद्या देवसावर्णिदेहजाः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

मनुः—मनु; त्रयोदशः—तेरहवाँ; भाव्यः—होगा; देव-सावर्णिः—देवसावर्णि; आत्मवान्—आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नत; चित्रसेन—चित्रसेन; विचित्र-आद्याः—तथा विचित्र इत्यादि; देव-सावर्णि—देवसावर्णि के; देह-जाः—पुत्र।

तेरहवें मनु का नाम देवसावर्णि होगा और वह आध्यात्मिक ज्ञान में काफी बढ़ा-चढ़ा होगा। चित्रसेन तथा विचित्र उसके पुत्रों में से होंगे।

देवाः सुकर्मसुत्रामसंज्ञा इन्द्रो दिवस्पतिः ।
निर्मोकतत्त्वदर्शाद्या भविष्यन्त्यृषयस्तदा ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

देवाः—देवतागण; सुकर्म—सुकर्मा-गण; सुत्राम-संज्ञाः—तथा सुत्राम नामक; इन्द्रः—इन्द्र; दिवस्पतिः—दिवस्पति; निर्मोक—निर्मोक; तत्त्वदर्श-आद्याः—तत्त्वदर्श इत्यादि; भविष्यन्ति—होंगे; ऋषयः—सप्तर्षि; तदा—उस समय।

तेरहवें मन्वन्तर में सुकर्मा तथा सुत्रामा इत्यादि देवता होंगे, दिवस्पति स्वर्ग का राजा इन्द्र होगा और निर्मोक तथा तत्त्वदर्श सप्तर्षि होंगे।

देवहोत्रस्य तनय उपहर्ता दिवस्पतेः ।
योगेश्वरो हरेरंशो बृहत्यां सम्भविष्यति ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

देवहोत्रस्य—देवहोत्र का; तनयः—पुत्र; उपहर्ता—उपकार करने वाला; दिवस्पतेः—दिवस्पति अर्थात् उस काल के इन्द्र का; योग-ईश्वरः—योगशक्ति का स्वामी, योगेश्वर; हरेः अंशः—भगवान् का अंशावतार; बृहत्याम्—अपनी माता बृहती के गर्भ में; सम्भविष्यति—प्रकट होगा।

देवहोत्र का पुत्र योगेश्वर भगवान् के अंशावतार रूप में प्रकट होगा। उसकी माता का नाम बृहती होगा। वह दिवस्पति के कल्याणार्थ कार्य करेगा।

मनुर्वा इन्द्रसावर्णिश्चतुर्दशम एष्यति ।
उरुगम्भीरबुधाद्या इन्द्रसावर्णिवीर्यजाः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

मनुः—मनु; वा—या; इन्द्र-सावर्णिः—इन्द्रसावर्णि; चतुर्दशमः—चौदहवाँ; एष्यति—बनेगा; उरु—उरु; गम्भीर—गम्भीर; बुध-आद्याः—बुध इत्यादि; इन्द्र-सावर्णि—इन्द्रसावर्णि के; वीर्य-जाः—वीर्य से उत्पन्न।

चौदहवें मनु का नाम इन्द्रसावर्णि होगा। उसके पुत्रों के नाम उरु, गम्भीर तथा बुध होंगे।

पवित्राश्चाक्षुषा देवाः शुचिरिन्द्रो भविष्यति ।

अग्निर्बाहुः शुचिः शुद्धो मागधाद्यास्तपस्विनः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

पवित्राः—पवित्रगण; चाक्षुषाः—चाक्षुषगण; देवाः—देवता; शुचिः—शुचि; इन्द्रः—स्वर्ग का राजा; भविष्यति—होगा; अग्निः—अग्नि; बाहुः—बाहु; शुचिः—शुचि; शुद्धः—शुद्ध; मागध—मागध; आद्याः—इत्यादि; तपस्विनः—तपस्वी मुनि।

पवित्रगण तथा चाक्षुषगण इत्यादि देवता होंगे और शुचि इन्द्र होगा। अग्नि, बाहु, शुचि, शुद्ध, मागध तथा अन्य तपस्वी सप्तर्षि होंगे।

सत्रायणस्य तनयो बृहद्भानुस्तदा हरिः ।
वितानायां महाराज क्रियातन्तून्वितायिता ॥ ३५॥

शब्दार्थ

सत्रायणस्य—सत्रायण का; तनयः—पुत्र; बृहद्भानुः—बृहद्भानु; तदा—उस काल में; हरिः—भगवान्; वितानायाम्—वितना के गर्भ से; महा-राज—हे राजा; क्रिया-तन्तून्—सारे आध्यात्मिक कार्यकलाप; वितायिता—सम्पन्न करेंगे।

हे राजा परीक्षित! चौदहवें मन्वन्तर में भगवान् विताना के गर्भ से प्रकट होंगे और उनके पिता का नाम सत्रायण होगा। यह अवतार बृहद्भानु के नाम से विख्यात होगा और वह आध्यात्मिक कार्यकलाप करेगा।

राजंश्चतुर्दशैतानि त्रिकालानुगतानि ते ।
प्रोक्तान्येभिर्मितः कल्पो युगसाहस्रपर्ययः ॥ ३६॥

शब्दार्थ

राजन्—हे राजा; चतुर्दश—चौदह; एतानि—ये सब; त्रि-काल—तीनों काल (भूत, वर्तमान, भविष्य); अनुगतानि—फैले हुए; ते—तुमसे; प्रोक्तानि—वर्णन किए गए; एभिः—इनके द्वारा; मितः—अनुमानित; कल्पः—ब्रह्मा का एक दिन; युग-साहस्र—चारों युगों के एक हजार चक्र; पर्ययः—से युक्त।

हे राजा! मैंने अभी तुमसे भूत, वर्तमान तथा भविष्य में हुए अथवा होने वाले चौदहों मनुओं का वर्णन किया। ये मनु कुल मिलाकर जितने समय तक शासन करते हैं वह एक हजार युग चक्र है। यह कल्प या ब्रह्माजी का एक दिन कहलाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कंध के "भावी मनुओं का वर्णन" नामक तेरहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौदह

विश्व व्यवस्था की पद्धति

इस अध्याय में मनु के लिए भगवान् द्वारा नियत कर्तव्यों का वर्णन हुआ है। सारे मनु तथा उन

सबके पुत्र, ऋषि, देवता और इन्द्र भी भगवान् के विभिन्न अवतारों के आदेशों के अनुसार कार्य करते हैं। प्रत्येक चतुर्युग में सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग तथा कलियुग आते हैं और प्रत्येक चतुर्युग के अन्त में भगवान् के आदेशानुसार कर्म करने वाले ऋषिगण वैदिक ज्ञान का वितरण करके शाश्वत धार्मिक नियमों की पुन:स्थापना करते हैं। मनु का कर्तव्य धर्म की पद्धति को पुन:स्थापित करना है। मनु के पुत्र उसके आदेशों का पालन करते हैं और इस प्रकार सारा विश्व मनु तथा उसकी सन्तानों द्वारा पालित होता है। इन्द्रगण स्वर्गलोकों के विभिन्न शासक हैं। वे देवताओं की सहायता से तीनों लोकों पर शासन चलाते हैं। भगवान् भी विभिन्न युगों में अवतार के रूप में प्रकट होते हैं। वे सनक, सनातन, याज्ञवल्क्य, दत्तात्रेय तथा अन्यों के रूप में प्रकट होते हैं और आध्यात्मिक ज्ञान, कर्तव्य, योग वे सिद्धान्तों इत्यादि के विषय में उपदेश देते हैं। वे मरीचि इत्यादि के रूप में सन्तानें उत्पन्न करते हैं; राजा के रूप में वे दुष्टों को दण्ड देते हैं और काल के रूप में वे सृष्टि का संहार करते हैं। कोई तर्क कर सकता है कि, ''यदि सर्वशक्तिमान भगवान् मात्र अपनी इच्छा से ही सब कुछ कर सकते हैं, तो फिर उन्होंने इतने महापुरुषों को व्यवस्था का भार क्यों दे रखा है?'' जो लोग माया के वश में हैं, वे यह नहीं समझ सकते हैं कि भगवान् किस तरह और क्यों ऐसा करते हैं।

श्रीराजोवाच

मन्वन्तरेषु भगवन्यथा मन्वादयस्त्विमे ।
यस्मिन्कर्मणि ये येन नियुक्तास्तद्वदस्व मे ॥ १॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा परीक्षित ने कहा; मन्वन्तरेषु—प्रत्येक मन्वन्तर में; भगवन्—हे महर्षि; यथा—जिस तरह; मनु-आदय:—मनु इत्यादि; तु—लेकिन; इमे—ये; यस्मिन्—जिसमें; कर्मणि—कार्यकलाप; ये—जो लोग; येन—जिसके द्वारा; नियुक्ता:—नियुक्त किये गये; तत्—वह; वदस्व—कृपया वर्णन करें; मे—मुझसे।

महाराज परीक्षित ने जिज्ञासा की : हे परम ऐश्वर्यशाली शुकदेव गोस्वामी! कृपा करके मुझे बतायें कि प्रत्येक मन्वन्तर में मनु तथा अन्य लोग किस तरह अपने-अपने कर्तव्यों में लगे रहते हैं और वे किसके आदेश से ऐसा करते हैं।

श्रीऋषिरुवाच

मनवो मनुपुत्राश्च मुनयश्च महीपते ।
इन्द्राः सुरगणाश्चैव सर्वे पुरुषशासनाः ॥ २॥

शब्दार्थ

श्री-ऋषिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; मनवः—सारे मनु; मनु-पुत्राः—मनु के पुत्र; च—तथा; मुनयः—सारे ऋषि; च—तथा; मही-पते—हे राजा; इन्द्राः—सारे इन्द्र; सुर-गणाः—सारे देवता; च—तथा; एव—निश्चय ही; सर्वे—वे सभी; पुरुष-शासनाः—परम पुरुष के शासन के अन्तर्गत।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा! सारे मनु, मनु के पुत्र, ऋषि, इन्द्र तथा देवता भगवान् के यज्ञ जैसे विविध अवतारों में नियुक्त किये जाते हैं।

यज्ञादयो याः कथिताः पौरुष्यस्तनवो नृप ।
मन्वादयो जगद्यात्रां नयन्त्याभिः प्रचोदिताः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यज्ञ-आदयः—भगवान् का अवतार, जो यज्ञ आदि कहलाता है; याः—जो; कथिताः—पहले कहे जा चुके हैं; पौरुष्यः—परम पुरुष के; तनवः—अवतार; नृप—हे राजा; मनु-आदयः—मनु तथा अन्य; जगत्-यात्राम्—विश्व के कार्य; नयन्ति—संचालित करते हैं; आभिः—अवतारों द्वारा; प्रचोदिताः—प्रेरित होकर।

हे राजा! मैं आपसे पहले ही भगवान् के विभिन्न अवतारों का वर्णन कर चुका हूँ—यथा यज्ञ अवतार का। यही अवतार मनुओं तथा अन्यों का चुनाव करते हैं और उन्हीं के आदेश पर वे विश्व-व्यवस्था का संचालन करते हैं।

तात्पर्य : सारे मनु भगवान् के विविध अवतारों के आदेशों का पालन करते हैं।

चतुर्युगान्ते कालेन ग्रस्ताञ्छ्रुतिगणान्यथा ।
तपसा ऋषयोऽपश्यन्यतो धर्मः सनातनः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

चतुः-युग-अन्ते—प्रत्येक चार युगों (सतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग) के अन्त में; कालेन—समय बीतने पर; ग्रस्तान्—विनष्ट; श्रुति-गणान्—वैदिक उपदेश; यथा—जिस तरह; तपसा—तपस्या से; ऋषयः—ऋषिगण; अपश्यन्—दुरुपयोग देखकर; यतः—जहाँ से; धर्मः—वृत्तिपरक कार्य; सनातनः—शाश्वत।

प्रत्येक चार युगों के अन्त में महान् सन्तपुरुष जब यह देखते हैं कि मानव के शाश्वत वृत्तिपरक कर्तव्यों का दुरुपयोग हुआ है, तो वे धर्म के सिद्धान्तों की पुनःस्थापना करते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *धर्म* तथा *सनातन* ये दो शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। *सनातन* का अर्थ है ''शाश्वत'' और *धर्म* का अर्थ है ''वृत्तिपरक कर्तव्य।'' सतयुग से कलियुग आते-आते धर्म तथा वृत्तिपरक कर्तव्य में क्रमशः ह्रास आता जाता है। सतयुग में धर्म का पूरी तरह पालन होता है। किन्तु त्रेता में धर्म की कुछ-कुछ उपेक्षा होती है और केवल तीन-चौथाई धार्मिक कर्तव्य चालू रह पाते हैं। द्वापर में केवल आधा धर्म रह जाता है और कलियुग में केवल एक चौथाई धर्म रहता है, जो क्रमशः

लुप्त हो जाता है। कलियुग के अन्त में धर्म या मानव के वृत्तिपरक कर्तव्य प्राय: विनष्ट हो जाते हैं। निस्सन्देह, हम इस कलियुग में केवल पाँच हजार वर्ष भीतर प्रविष्ट हुए हैं फिर भी सनातन धर्म का ह्रास अत्यन्त मुखर है। अतएव ऋषियों का कर्तव्य है कि वे *सनातन धर्म* के हित के बारे में गम्भीरता से सोचें और इसे समस्त मानव समाज के लाभ के लिए पुन:स्थापित करने का प्रयास करें। कृष्णभावनामृत आन्दोलन इसी सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भ किया गया है। जैसा कि *श्रीमद्भागवत* (१२.३.५१) में कहा गया है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुण: ।
कीर्तनाद् एव कृष्णस्य मुक्तसङ्ग: परं व्रजेत् ॥

समग्र कलियुग दोषों से पूर्ण है। यह दोषों के असीम समुद्र की भाँति है, किन्तु कृष्णभावनामृत आन्दोलन अत्यन्त प्रामाणिक है। अतएव श्री चैतन्य महाप्रभु के चरणचिह्नों का अनुगमन करते हुए उनके आदेशों के अनुसार हम इस कृष्ण-कीर्तन के आन्दोलन को विश्वभर में जारी रखने का प्रयास कर रहे हैं जिसका उद्घाटन आज से पाँच सौ वर्ष पूर्व श्री चैतन्य ने संकीर्तन आन्दोलन, *कृष्णकीर्तन,* का उन्होंने किया था। अब यदि इस आन्दोलन के उद्घाटक विधि-विधानों का दृढ़ता से पालन करें और सारे मानव समाज के लाभ के लिए इस आन्दोलन का प्रसार करें तो वे सनातन धर्म की पुन:स्थापना करते हुए नवीन जीवनशैली का सूत्रपात करेंगे। मनुष्य का सनातन धर्म है कृष्ण की सेवा करना। *जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर नित्य दास। सनातन धर्म* का यही सारांश है। *सनातन* का अर्थ है नित्य या शाश्वत और *कृष्ण-दास* का अर्थ है "कृष्ण का दास।" मनुष्य का शाश्वत वृत्तिपरक कर्तव्य कृष्ण की सेवा करना है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का यही सार है।

ततो धर्मं चतुष्पादं मनवो हरिणोदिता: ।
युक्ता: सञ्चारयन्त्यद्धा स्वे स्वे काले महीं नृप ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तत:—तत्पश्चात् (कलियुग के अन्त में); धर्मम्—धर्म; चतु:-पादम्—चार भागों में; मनव:—सारे मनु; हरिणा—भगवान् द्वारा; उदिता:—उपदिष्ट; युक्ता:—लगे हुए; सञ्चारयन्ति—पुनर्स्थापना करते हैं; अद्धा—प्रत्यक्ष; स्वे स्वे—अपने-अपने; काले—समय में; महीम्—इस जगत में; नृप—हे राजा।

हे राजा! तत्पश्चात् भगवान् के आदेशानुसार व्यस्त होकर सारे मनु चारों अंशों में धर्म की साक्षात् पुनर्स्थापना करते हैं।

तात्पर्य : धर्म की पूरी स्थापना चारों अंशों (चरणों) में जिस तरह की जा सकती है उसकी व्याख्या *भगवद्गीता* में दी गई है। *भगवद्गीता* (४.१) में भगवान् कहते हैं—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।

विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

''मैंने इस सनातन अविनाशकारी योगविद्या का उपदेश सूर्यदेव विवस्वान को दिया और उसने इसे मानव जाति के पिता मनु को दिया। मनु ने आगे इसे इक्ष्वाकु को दिया।'' परम्परा विधि यही है। इसी विधि का पालन करते हुए कृष्णभावनामृत आन्दोलन सारे विश्व में *भगवद्गीता* यथारूप के सिद्धान्तों की शिक्षा, बिना किसी फेर बदल के देता, है। यदि आज के भाग्यशाली लोग भगवान् कृष्ण के उपदेशों को स्वीकार कर लें तो वे निश्चय ही श्री चैतन्य महाप्रभु का संदेश प्रसारित करने में प्रसन्नता का अनुभव करेंगे। श्री चैतन्य महाप्रभु चाहते थे कि कम से कम भारत के सभी लोग इस उद्देश्य के उपदेशक बन जायें। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को चाहिए कि वह गुरु बनकर मानवता की शान्ति तथा समृद्धि के लिए भगवान् के उपदेशों का प्रचार सारे विश्व में करे।

पालयन्ति प्रजापाला यावदन्तं विभागशः ।
यज्ञभागभुजो देवा ये च तत्रान्विताश्च तैः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

पालयन्ति—आदेश पूरा करते हैं; प्रजा-पालाः—विश्व के शासक, अर्थात् मनु के पुत्र तथा पौत्र; यावत् अन्तम्—मनु के शासन के अन्त तक; विभागशः—विभागों में; यज्ञ-भाग-भुजः—यज्ञों के फल के भोक्ता; देवाः—देवतागण; ये—अन्य; च—भी; तत्र अन्विताः—उस काम में लगे हुए; च—भी; तैः—उनके द्वारा।.

यज्ञों के फलों का भोग करने के लिए विश्व के शासक, अर्थात् मनु के पुत्र तथा पौत्र, मनु के शासन काल के अन्त तक भगवान् के आदेशों का पालन करते हैं। देवता भी इन यज्ञों के फलों में भाग प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (४.२) में कहा गया है—

एवं परम्पराप्राप्तम् इमं राजर्षयो विदुः

''यह परम विज्ञान परम्परा शृंखला से होकर प्राप्त किया गया और राजर्षियों ने इसे उसी प्रकार से समझा।'' यह परम्परा प्रणाली मनु से इक्ष्वाकु और इक्ष्वाकु से उसके पुत्र-पौत्रों तक चलती है। विश्व के शासक परम्परा-पद्धति में भगवान् के आदेशों का पालन करते हैं। जो कोई शान्तिपूर्ण जीवन बिताना

चाहता है उसे इस परम्परा प्रणाली में भाग लेकर यज्ञ करने चाहिए। हमें श्री चैतन्य महाप्रभु की गौडीय वैष्णव परम्परा की भाँति सारे विश्व में संकीर्तन यज्ञ करने चाहिए (*यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः*)। श्री चैतन्य महाप्रभु इस कलिकाल में भगवान् के अवतार हैं। यदि सारे विश्व में तेजी के साथ सङ्कीर्तन आन्दोलन फैलाया जाए है, तो वे आसानी से तुष्ट किये जा सकेंगे। इससे लोग सुखी भी बनेंगे; इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इन्द्रो भगवता दत्तां त्रैलोक्यश्रियमूर्जिताम् ।
भुञ्जानः पाति लोकांस्त्रीन्कामं लोके प्रवर्षति ॥७॥

शब्दार्थ

इन्द्रः—स्वर्ग का राजा; भगवता—भगवान् के द्वारा; दत्ताम्—दिया गया; त्रैलोक्य—तीनों लोकों का; श्रियम् ऊर्जिताम्—बड़े ऐश्वर्य; भुञ्जानः—भोगते हुए; पाति—पालन करता है; लोकान्—सारे लोकों को; त्रीन्—तीनों लोकों के भीतर; कामम्—जितना आवश्यक हो; लोके—संसार में; प्रवर्षति—बरसाता है।

भगवान् से आशीष प्राप्त करके तथा इस तरह अत्यधिक विकसित ऐश्वर्य का भोग करते हुए स्वर्ग का राजा इन्द्र सभी लोकों पर पर्याप्त वर्षा करके तीनों लोकों के सारे जीवों का पालन करता है।

ज्ञानं चानुयुगं ब्रूते हरिः सिद्धस्वरूपधृक् ।
ऋषिरूपधरः कर्म योगं योगेशरूपधृक् ॥ ॥

शब्दार्थ

ज्ञानम्—दिव्य ज्ञान; च—तथा; अनुयुगम्—युग के अनुसार; ब्रूते—बताता है; हरिः—भगवान्; सिद्ध-स्वरूप-धृक्—सनक तथा सनातन जैसे मुक्त पुरुषों का रूप धारण करके; ऋषि-रूप-धरः—याज्ञवल्क्य जैसे महान् ऋषियों का रूप धारण करके; कर्म—कर्म; योगम्—योग पद्धति; योग-ईश-रूप-धृक्—दत्तात्रेय जैसे महान् योगी का रूप धारण करके।

प्रत्येक युग में भगवान् हरि दिव्य ज्ञान का उपदेश देने के लिए सनक जैसे सिद्धों का रूप धारण करते हैं, याज्ञवल्क्य जैसे महान् ऋषियों का रूप धारण करके वे कर्मयोग की शिक्षा देने के लिए तथा योग की विधि सिखाने के लिए दत्तात्रेय जैसे महान् योगियों का रूप धारण करते हैं।

तात्पर्य : मानव समाज के कल्याण हेतु भगवान् विश्व पर ठीक प्रकार से शासन करने के लिए न केवल मनु के रूप में अवतरित होते हैं, अपितु वे एक शिक्षक, योगी, ज्ञानी इत्यादि का रूप भी प्रदर्शित करते हैं। अतएव मानव समाज का धर्म है कि भगवान् द्वारा बताये गये कर्म के मार्ग को

स्वीकार करे। वर्तमान युग में सारे वैदिक ज्ञान का सार *भगवद्गीता* में पाया जाता है, जिसकी शिक्षा स्वयं भगवान् ने दी। वही भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु का रूप धारण करके सारे विश्व में *भगवद्गीता* की शिक्षाओं का प्रसार करते हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् हरि मानव समाज पर इतने दयालु तथा कृपालु हैं कि वे पतितात्माओं को अपने धाम वापस ले जाने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं।

सर्गं प्रजेशरूपेण दस्यून्हन्यात्स्वराड्वपुः ।
कालरूपेण सर्वेषामभावाय पृथग्गुणः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सर्गम्—सन्तान की उत्पत्ति; प्रजा-ईश-रूपेण—प्रजापति मरीचि इत्यादि के रूप में; दस्यून्—चोरों तथा उचक्कों को; हन्यात्—मारते हैं; स्व-राट्-वपुः—राजा के रूप में; काल-रूपेण—काल के रूप में; सर्वेषाम्—प्रत्येक वस्तु के; अभावाय—संहार के लिए; पृथक्—भिन्न; गुणः—गुणों से युक्त।

भगवान् प्रजापति मरीचि के रूप में सन्तान उत्पन्न करते हैं; राजा का रूप धारण करके वे चोर-उचक्कों का वध करते हैं और काल के रूप में वे सबका संहार करते हैं। भौतिक संसार के जितने गुण हैं उन्हें भगवान् के ही गुण समझना चाहिए।

स्तूयमानो जनैरेभिर्मायया नामरूपया ।
विमोहितात्मभिर्नानादर्शनैर्न च दृश्यते ॥ १० ॥

शब्दार्थ

स्तूयमानः—ढूँढे जाने पर; जनैः—सामान्य लोगों द्वारा; एभिः—उन सबके द्वारा; मायया—माया के वशीभूत; नाम-रूपया—विभिन्न नामों तथा रूपों से युक्त; विमोहित—मोहग्रस्त हुआ; आत्मभिः—भ्रम द्वारा; नाना—विविध; दर्शनैः—दार्शनिक विचारों से; न—नहीं; च—तथा; दृश्यते—भगवान् को पाया जा सकता है।

सामान्य लोग माया के द्वारा विमोहित हो जाते हैं, अतएव वे परम सत्य भगवान् को विविध प्रकार के शोधों तथा दार्शनिक चिन्तन के द्वारा पाने का प्रयास करते हैं। किन्तु इतने पर भी वे भगवान् का दर्शन पाने में असमर्थ रहते हैं।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में सृष्टि, पालन तथा संहार के लिए जितने भी कार्य-प्रतिकार्य घटित होते हैं, वे वास्तव में एक परम पुरुष द्वारा कराए जाते हैं। ऐसे नाना प्रकार के दार्शनिक हैं, जो परम कारण का अन्वेषण विभिन्न नामों तथा रूपों के अन्तर्गत करने का प्रयास करते हैं, किन्तु वे उन भगवान् कृष्ण को ढूँढ पाने में असमर्थ रहते हैं, जो *भगवद्गीता* में यह बताते हैं कि वे प्रत्येक वस्तु के उद्गम हैं और समस्त कारणों के कारण हैं (*अहं सर्वस्य प्रभवः*)। यह असमर्थता भगवान् की माया के कारण

है। अतएव भक्तगण भगवान् को यथारूप में स्वीकार करते हैं और भगवान् की महिमाओं का कीर्तन करने मात्र से सुखी रहते हैं।

एतत्कल्पविकल्पस्य प्रमाणं परिकीर्तितम् ।
यत्र मन्वन्तराण्याहुश्चतुर्दश पुराविदः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

एतत्—ये सब; कल्प—ब्रह्मा के एक दिन में; विकल्पस्य—एक कल्प में हुए परिवर्तनों का, यथा मनुओं में परिवर्तन; प्रमाणम्—साक्ष्य; परिकीर्तितम्—(मेरे द्वारा) वर्णन किया गया; यत्र—जहाँ; मन्वन्तराणि—मन्वन्तर; आहुः—कहा जाता है; चतुर्दश—चौदह; पुरा-विदः—विद्वान।

एक कल्प में, अर्थात् ब्रह्मा के एक दिन में कई परिवर्तन होते हैं, जो विकल्प कहलाते हैं। हे राजा! मैं इन सबका वर्णन पहले ही कर चुका हूँ। विद्वान व्यक्तियों ने जो भूत, वर्तमान तथा भविष्य को जानते हैं विश्वास पूर्वक जान लिया है कि ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कंध के अन्तर्गत ''विश्व व्यवस्था की पद्धति'' नामक चौदहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पन्द्रह

बलि महाराज द्वारा स्वर्गलोक पर विजय

इस अध्याय में बताया गया है कि बलि ने विश्वजित यज्ञ सम्पन्न करने के बाद किस तरह वरदान के रूप में एक रथ तथा युद्ध की विविध सामग्री प्राप्त की और उसकी सहायता से उसने स्वर्ग के राजा इन्द्र पर किस तरह चढ़ाई की। सारे देवता उसके भय से स्वर्गलोक छोड़-छोड़कर अपने गुरु के आदेशानुसार दूर-दूर चले गये।

महाराज परीक्षित यह जानना चाहते थे कि भगवान् वामनदेव ने किस प्रकार बलि महाराज से तीन पग भूमि लेने के बहाने उससे सब कुछ ले लिया और उसे बन्दी बना लिया। शुकदेव गोस्वामी ने इस जिज्ञासा का उत्तर इस प्रकार दिया : जैसाकि इस स्कंध के ग्यारहवें अध्याय में वर्णन किया जा चुका है, असुरों तथा देवताओं की लड़ाई में बलि महाराज पराजित हुए और युद्ध में मारे गये, किन्तु शुक्राचार्य की कृपा से वे पुनः जीवित हो गए। इस तरह वे अपने गुरु शुक्राचार्य की सेवा करने लगे। भृगुवंशी उन पर प्रसन्न हो गए और उन्होंने उन्हें *विश्वजित-यज्ञ* में लगा दिया। जब यह यज्ञ सम्पन्न हुआ

तो उस यज्ञ-अग्नि से एक रथ, घोड़े, एक पताका, एक धनुष, कवच तथा बाणों के दो तरकस प्रकट हुए। बलि महाराज के पितामह महाराज प्रह्लाद ने उन्हें फूलों की एक शाश्वत माला दी और शुक्राचार्य ने एक शंख दिया। तब प्रह्लाद, ब्राह्मणों एवं अपने गुरु शुक्राचार्य को नमस्कार करके उन्होंने इन्द्र से युद्ध करने के लिए तैयारी की और वे अपने सैनिकों सहित इन्द्रपुरी गये। अपना शंख बजाकर उन्होंने इन्द्र के राज्य की सीमाओं पर आक्रमण कर दिया। बलि महाराज के शौर्य को देखकर इन्द्र अपने गुरु बृहस्पति के पास गया और उनसे बलि के पराक्रम की चर्चा की तथा पूछा कि वह क्या करे। बृहस्पति ने देवताओं को बताया कि चूँकि बलि को ब्राह्मणों से अद्वितीय शक्ति प्राप्त हुई थी अतएव देवता उससे युद्ध नहीं कर सकते। उनकी एकमात्र आशा भगवान् की कृपा प्राप्त करने में है। निस्सन्देह, कहीं कोई विकल्प था भी नहीं। ऐसी दशा में बृहस्पति ने देवताओं को सलाह दी कि वे स्वर्गलोक छोड़कर कहीं अदृश्य हो जाँए। देवताओं ने उनकी बात मान ली और बलि महाराज तथा उनके संगियों ने सारे इन्द्रलोक को हथिया लिया। भृगुमुनि के वंशजों ने भृगु के शिष्य बलि महाराज के प्रति अत्यन्त वत्सल होने के कारण उन्हें एक सौ अश्वमेघ यज्ञ सम्पन्न करने में लगा दिया। इस प्रकार बलि महाराज ने स्वर्गलोक के ऐश्वर्य का भोग किया।

श्रीराजोवाच

बलेः पदत्रयं भूमेः कस्माद्धरिरयाचत ।
भूतेश्वरः कृपणवल्लब्धार्थोऽपि बबन्ध तम् ॥ १ ॥
एतद्वेदितुमिच्छामो महत्कौतूहलं हि नः ।
याच्ञेश्वरस्य पूर्णस्य बन्धनं चाप्यनागसः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; बलेः—बलि महाराज के; पद-त्रयम्—तीन पग; भूमेः—भूमि के; कस्मात्—क्यों; हरिः—भगवान् (वामन के रूप में) ने; अयाचत—माँगा; भूत-ईश्वरः—सारे ब्रह्माण्ड के स्वामी; कृपण-वत्—गरीब मनुष्य की तरह; लब्ध-अर्थः—दान पाकर; अपि—यद्यपि; बबन्ध—बन्दी बना लिया; तम्—उसको (बलि को); एतत्—यह सब; वेदितुम्—समझने के लिए; इच्छामः—हम इच्छा करते हैं; महत्—महान्; कौतूहलम्—उत्सुकता; हि—निस्सन्देह; नः—हमारा; याच्ञा—भीख; ईश्वरस्य—भगवान् की; पूर्णस्य—परम पूर्ण; बन्धनम्—बाँधते हुए; च—भी; अपि—यद्यपि; अनागसः—निर्दोष को।

महाराज परीक्षित ने पूछा : भगवान् सबके स्वामी हैं। तो फिर उन्होंने निर्धन व्यक्ति की भाँति बलि महाराज से तीन पग भूमि क्यों माँगी और जब उन्हें मुँहमाँगा दान मिल गया तो फिर उन्होंने बलि महराज को बन्दी क्यों बनाया? मैं इन विरोधाभासों के रहस्य को जानने के लिए अत्यन्त उत्सुक हूँ।

श्रीशुक उवाच

पराजितश्रीरसुभिश्च हापितो
हीन्द्रेण राजन्भृगुभिः स जीवितः ।
सर्वात्मना तानभजद्भृगून्बलिः
शिष्यो महात्मार्थनिवेदनेन ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; पराजित—हराया जाकर; श्रीः—ऐश्वर्य; असुभिः च—तथा प्राण का; हापितः—विहीन होकर; हि—निस्सन्देह; इन्द्रेण—राजा इन्द्र द्वारा; राजन्—हे राजा; भृगुभिः—भृगुमुनि के वंशजों द्वारा; सः—वह (बलि महाराज); जीवितः—पुनः जीवनदान दिये जाने पर; सर्व-आत्मना—पूर्णतया अधीन होकर; तान्—उनको; अभजत्—पूजा की; भृगून्—भृगुमुनि के वंशजों को; बलिः—बलि महाराज; शिष्यः—शिष्य; महात्मा—महात्मा; अर्थ-निवेदनेन—उन्हें सब कुछ देकर।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा! जब बलि का सारा ऐश्वर्य छिन गया और वे युद्ध में मारे गये तो भृगुमुनि के एक वंशज शुक्राचार्य ने उन्हें फिर से जीवित कर दिया। इससे महात्मा बलि शुक्राचार्य के शिष्य बन गये और अपना सर्वस्व अर्पित करके अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उनकी सेवा करने लगे।

तं ब्राह्मणा भृगवः प्रीयमाणा
अयाजयन्विश्वजिता त्रिणाकम् ।
जिगीषमाणं विधिनाभिषिच्य
महाभिषेकेण महानुभावाः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (बलि महाराज को); ब्राह्मणाः—सारे ब्राह्मणों ने; भृगवः—भृगुमुनि के वंशज; प्रीयमाणाः—प्रसन्न होकर; अयाजयन्—यज्ञ सम्पन्न करने में लगा दिया; विश्वजिता—विश्वजित नामक; त्रि-नाकम्—स्वर्गलोक; जिगीषमाणम्—जीतने की इच्छा से; विधिना—विधिपूर्वक; अभिषिच्य—शुद्ध करने के बाद; महा-अभिषेकेण—महान् अभिषेक अनुष्ठान में स्नान कराकर; महा-अनुभावाः—उच्च ब्राह्मण।

भृगुमुनि के ब्राह्मण वंशज बलि महाराज पर अत्यन्त प्रसन्न हो गए जो इन्द्र का साम्राज्य जीतना चाह रहे थे। अतएव उन्होंने उन्हें अनुष्ठानपूर्वक शुद्ध करके तथा स्नान कराकर विश्वजित नामक यज्ञ करने में लगा दिया।

ततो रथः काञ्चनपट्टनद्धो
हयाश्च हर्यश्वतुरङ्गवर्णाः ।
ध्वजश्च सिंहेन विराजमानो
हुताशनादास हविर्भिरिष्टात् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; रथः—रथ; काञ्चन—सोने से युक्त; पट्ट—रेशमी वस्त्र; नद्धः—लिपटा हुआ; हयाः च—घोड़े भी; हर्यश्व-तुरङ्ग-वर्णाः—इन्द्र के घोड़ों जैसे रंग का (पीला); ध्वजः च—ध्वजा भी; सिंहेन—सिंहचिह्न से युक्त; विराजमानः—उपस्थित; हुत-अशनात्—प्रज्वलित अग्नि से; आस—था; हविर्भिः—घी की आहुति द्वारा; इष्टात्—पूजा किया।.

जब यज्ञ-अग्नि में घी की आहुति दी गई तो अग्नि से स्वर्ण तथा रेशम से आच्छादित एक दैवी रथ प्रकट हुआ। साथ ही इन्द्र के घोड़ों जैसे पीले घोड़े तथा सिंह चिन्ह से अंकित एक ध्वजा प्रकट हुए।

धनुश्च दिव्यं पुरटोपनद्धं
तूणावरिक्तौ कवचं च दिव्यम् ।
पितामहस्तस्य ददौ च माला-
मम्लानपुष्पां जलजं च शुक्रः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

धनुः—धनुष; च—भी; दिव्यम्—असाधारण; पुरट-उपनद्धम्—सोने से मढ़ा; तूणौ—दो तरकस; अरिक्तौ—अच्युत; कवचम् च—तथा कवच; दिव्यम्—दिव्य; पितामहः तस्य—उसके पितामह, प्रह्लाद महाराज ने; ददौ—दिया; च—तथा; मालाम्—माला; अम्लान-पुष्पाम्—न मुरझाने वाले फूलों की; जल जम्—शंख (जल में उत्पन्न); च—भी; शुक्रः—शुक्राचार्य ने।.

उस यज्ञ अग्नि से एक सुनहरा धनुष, अच्युत बाणों से युक्त दो तरकस तथा एक दिव्य कवच भी प्रकट हुए। बलि महाराज के पितामह प्रह्लाद महाराज ने उन्हें कभी न मुरझाने वाले फूलों की माला दी और शुक्राचार्य ने एक शंख प्रदान किया।

एवं स विप्रार्जितयोधनार्थ-
स्तैः कल्पितस्वस्त्ययनोऽथ विप्रान् ।
प्रदक्षिणीकृत्य कृतप्रणामः
प्रह्लादमामन्त्र्य नमश्चकार ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सः—वह (बलि महाराज); विप्र-अर्जित—ब्राह्मणों की कृपा से प्राप्त; योधन-अर्थः—युद्ध के लिए सामग्री से लैस; तैः—उन (ब्राह्मणों) के द्वारा; कल्पित—सलाह; स्वस्त्ययनः—अनुष्ठान; अथ—जिस तरह; विप्रान्—सारे ब्राह्मणों (शुक्राचार्य तथा अन्यों) को; प्रदक्षिणी-कृत्य—परिक्रमा करके; कृत-प्रणामः—नमस्कार करके; प्रह्लादम्—प्रह्लाद महाराज को; आमन्त्र्य—सम्बोधित करके; नमः-चकार—नमस्कार किया।.

ब्राह्मणों की सलाह के अनुसार विशेष अनुष्ठान सम्पन्न कर चुकने तथा उनकी कृपा से युद्ध-सामग्री प्राप्त कर चुकने के बाद, महाराज बलि ने ब्राह्मणों की प्रदक्षिणा की और उन्हें नमस्कार किया। उन्होंने प्रह्लाद महाराज को भी नमस्कार किया।

अथारुह्य रथं दिव्यं भृगुदत्तं महारथः ।
सुस्त्रग्धरोऽथ सन्नह्य धन्वी खड्गी धृतेषुधिः ॥ ॥
हेमाङ्गदलसद्बाहुः स्फुरन्मकरकुण्डलः ।
रराज रथमारूढो धिष्ण्यस्थ इव हव्यवाट् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; आरुह्य—चढ़कर; रथम्—रथ पर; दिव्यम्—दैवी; भृगु-दत्तम्—शुक्राचार्य द्वारा दिया गया; महा-रथः—महान् सारथी बलि महाराज; सु-स्त्रक्-धरः—सुन्दर माला से सुशोभित; अथ—इस तरह; सन्नह्य—कवच से शरीर ढककर; धन्वी—धनुष से लैस होकर; खड्गी—तलवार धारण किये; धृत-इषुधिः—तरकस धारण किये; हेम-अङ्गद-लसत्-बाहुः—अपनी भुजाओं में सुनहरे कड़ों से सुशोभित; स्फुरत्-मकर-कुण्डलः—मरकत के समान चमकीले कुण्डलों से सज्जित; रराज—प्रकाशित कर रहा था; रथम् आरूढः—रथ पर चढ़कर; धिष्ण्य-स्थः—यज्ञवेदी पर स्थित होकर; इव—सदृश; हव्य-वाट्—पूज्य अग्नि।

तब शुक्राचार्य द्वारा दिये गये रथ पर सवार होकर सुन्दर माला से विभूषित बलि महाराज ने अपने शरीर में सुरक्षा-कवच धारण किया, अपने को बाणों से लैस किया, एक तलवार तथा तूणीर (तरकस) लिया। जब वे रथ में आसन ग्रहण कर चुके तो सुनहरे कड़ों से विभूषित बाहों तथा मरकत मणि के कुण्डलों से विभूषित कानों सहित वे पूजनीय अग्नि की तरह चमक रहे थे।

तुल्यैश्वर्यबलश्रीभिः स्वयूथैर्दैत्ययूथपैः ।
पिबद्भिरिव खं दृग्भिर्दहद्भिः परिधीनिव ॥ १० ॥
वृतो विकर्षन्महतीमासुरीं ध्वजिनीं विभुः ।
ययाविन्द्रपुरीं स्वृद्धां कम्पयन्निव रोदसी ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तुल्य-ऐश्वर्य—ऐश्वर्य में समान; बल—शक्ति में; श्रीभिः—तथा सौन्दर्य में; स्व-यूथैः—अपने आदमियों से; दैत्य-यूथ-पैः—तथा असुरों के प्रमुखों से; पिबद्भिः—पीते हुए; इव—मानो; खम्—आकाश को; दृग्भिः—दृष्टि से; दहद्भिः—जलती हुई; परिधीन्—सारी दिशाएँ; इव—मानो; वृतः—घिरा हुआ; विकर्षन्—आकृष्ट करती; महतीम्—महान्; आसुरीम्—आसुरी; ध्वजिनीम्—सैनिकों को; विभुः—अत्यन्त शक्तिशाली; ययौ—गया; इन्द्र-पुरीम्—राजा इन्द्र की राजधानी में; सु-ऋद्धाम्—अत्यन्त ऐश्वर्यशाली; कम्पयन्—हिलाते हुए; इव—मानो; रोदसी—सारे संसार की धरती को।

जब वे अपने सैनिकों तथा असुर-नायकों समेत एकत्र हुए जो बल, ऐश्वर्य एवं सुन्दरता में उन्हीं के समान थे तो ऐसा लग रहा था मानो वे आकाश को निगल जायेंगे और अपनी दृष्टि से सारी दिशाओं को जला देंगे। इस तरह असुर-सैनिकों को एकत्र करके बलि महाराज ने इन्द्र की ऐश्वर्यमयी राजधानी के लिए प्रस्थान किया। निस्सन्देह, ऐसा लग रहा था मानो वे सारे जगत को कंपायमान कर देंगे।

रम्यामुपवनोद्यानैः श्रीमद्भिर्नन्दनादिभिः ।
कूजद्विहङ्गमिथुनैर्गायन्मत्तमधुव्रतैः ।
प्रवालफलपुष्पोरुभारशाखामरद्रुमैः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

रम्याम्—सुहावने; उपवन—फलों के बागों; उद्यानैः—तथा बगीचों से युक्त; श्रीमद्भिः—देखने में अत्यन्त सुन्दर; नन्दन-आदिभिः—यथा नन्दन; कूजत्—चहचहाते; विहङ्ग—पक्षी; मिथुनैः—जोड़ों समेत; गायत्—गाते हुए; मत्त—मतवाले; मधु-व्रतैः—मधुमक्खियों से; प्रवाल—पत्तियों का; फल-पुष्प—फूल तथा फल; उरु—भारी; भार—भार सहन करते हुए; शाखा—जिसकी शाखाएँ; अमर-द्रुमैः—अमर वृक्षों सहित।

राजा इन्द्र की पुरी सुहावने बाग बगीचों से, यथा नन्दन बाग से परिपूर्ण थी। फूलों, पत्तियों तथा फलों के भार से उनके शाश्वत वृक्षों की शाखाएँ नीचे झुकी हुई थीं। इन उद्यानों में चहकते पक्षियों के जोड़े तथा गाती मधुमक्खियाँ आती जाती थीं। वहाँ का सारा वायुमण्डल अत्यन्त दिव्य था।

हंससारसचक्राह्वकारण्डवकुलाकुलाः ।
नलिन्यो यत्र क्रीडन्ति प्रमदाः सुरसेविताः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

हंस—हंस; सारस—सारस; चक्राह्व—चकई, चकवा; कारण्डव—तथा जल मुर्गाबी; कुल—समूहों में; आकुलाः—संकुलित; नलिन्यः—कमल के फूल; यत्र—जहाँ; क्रीडन्ति—खेलते हैं; प्रमदाः—सुन्दर स्त्रियाँ; सुर-सेविताः—देवताओं द्वारा रक्षित।

उद्यानों में देवताओं द्वारा रक्षित सुन्दर स्त्रियाँ खेलती थीं जिनके कमल-ताल हंसों, सारसों, चक्रवाकों तथा बत्तखों से भरे हुए थे।

आकाशगङ्गया देव्या वृतां परिखभूतया ।
प्राकारेणाग्निवर्णेन साट्टालेनोन्नतेन च ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

आकाश-गङ्गया—आकाश गंगा नामक गंगाजल से; देव्या—सदैव पूजित देवी; वृताम्—घिरी हुई; परिख-भूतया—खाई के रूप में; प्राकारेण—चहारदीवारी से; अग्नि-वर्णेन—अग्नि की तरह; स-अट्टालेन—लड़ने के स्थानों सहित; उन्नतेन—अत्यन्त ऊँचे; च—तथा।

वह पुरी आकाशगंगा नामक गंगाजल से पूर्ण खाइयों द्वारा तथा अग्नि जैसे रंग वाली एक अत्यन्त ऊँची दीवाल से घिरी हुई थी। इस दीवाल पर लड़ने के लिए मुंडेर बने थे।

रुक्मपट्टकपाटैश्च द्वारैः स्फटिकगोपुरैः ।
जुष्टां विभक्तप्रपथां विश्वकर्मविनिर्मिताम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

रुक्म-पट्ट—सोने की पत्तरों वाले; कपाटैः—किवाड़ों से; च—तथा; द्वारैः—दरवाजों से; स्फटिक-गोपुरैः—उत्कृष्ट संगमरमर के बने फाटकों से युक्त; जुष्टाम्—जुड़े; विभक्त-प्रपथाम्—अनेक सार्वजनिक सड़कों से; विश्वकर्म-विनिर्मिताम्—स्वर्ग के शिल्पी विश्वकर्मा द्वारा निर्मित।

उसके दरवाजे ठोस सोने के पत्तरों से बने थे और फाटक उत्कृष्ट संगमरमर के थे। ये सभी विभिन्न जन-मार्गों से जुड़े थे। पूरी नगरी का निर्माण विश्वकर्मा ने किया था।

सभाचत्वररथ्याढ्यां विमानैर्न्यर्बुदैर्युताम् ।
शृङ्गाटकैर्मणिमयैर्वज्रविद्रुमवेदिभिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सभा—सभाभवन; चत्वर—आंगन; रथ्य—तथा सार्वजनिक मार्गों से युक्त; आढ्याम्—ऐश्वर्यशाली; विमानैः—वायुयानों से; न्यर्बुदैः—दस करोड़ से कम नहीं; युताम्—से युक्त; शृङ्ग-आटकैः—चौराहों से युक्त; मणि-मयैः—मणियों से बना; वज्र—हीरों के बने; विद्रुम—तथा मूंगे के बने; वेदिभिः—बैठने के स्थानों सहित।

यह नगरी आँगनों, चौ मार्गों, सभाभवनों तथा कम से कम दस करोड़ विमानों से पूर्ण थी। चौराहे मोती से बने थे और भी हीरे तथा मूँगे से बने थे।

यत्र नित्यवयोरूपाः श्यामा विरजवाससः ।
भ्राजन्ते रूपवन्नार्यो ह्यर्चिर्भिरिव वह्नयः ॥ १७॥

शब्दार्थ

यत्र—उस नगरी में; नित्य-वयः-रूपाः—सदैव सुन्दर तथा तरुण बनी रहने वाली; श्यामाः—श्यामा के गुणों वाली; विरज-वाससः—सदैव स्वच्छ वस्त्र पहने; भ्राजन्ते—चमचमाती रहती हैं; रूप-वत्—अच्छी तरह सजी हुई; नार्यः—स्त्रियाँ; हि—निश्चय ही; अर्चिर्भिः—अनेक ज्वालाओं से युक्त; इव—सदृश; वह्नयः—अग्नियाँ।

उस पुरी में नित्य सुन्दर तथा तरुण स्त्रियाँ स्वच्छ वस्त्र पहने ज्वालाओं से युक्त अग्नियों की भाँति चमक रही थीं। उन सब में श्यामा के गुण विद्यमान थे॥

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने श्यामा स्त्री के गुणों का संकेत किया है—

शीतकाले भवेदुष्णा उष्मकाले सुशीतलाः ।

स्तनौ सुकठिनौ यासां ताः श्यामाः परिकीर्तिताः ॥

जिस स्त्री का शरीर शीतऋतु में अत्यन्त गरम रहे और ग्रीष्म में ठंडा रहे और जिसके स्तन साधारणतः अत्यन्त सुगठित हों वह श्यामा कहलाती है।

सुरस्त्रीकेशविभ्रष्टनवसौगन्धिकस्रजाम् ।
यत्रामोदमुपादाय मार्ग आवाति मारुतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सुर-स्त्री—देवताओं की स्त्रियों के; केश—बालों से; विभ्रष्ट—गिरा हुआ; नव-सौगन्धिक—ताजे महकते फूलों से बने; स्रजाम्—फूलों की मालाओं की; यत्र—जिसमें; आमोदम्—सुगन्धि; उपादाय—ले जाकर; मार्गे—सड़कों पर; आवाति—बहता है; मारुत:—मन्द पवन।

उस पुरी की सड़कों में से होकर बहने वाला मन्द समीर देवताओं की स्त्रियों के बालों से गिरे फूलों की सुंगधि से युक्त था।

हेमजालाक्षनिर्गच्छद्धूमेनागुरुगन्धिना ।
पाण्डुरेण प्रतिच्छन्नमार्गे यान्ति सुरप्रिया: ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

हेम-जाल-अक्ष—सुनहरी जाली से बनी छोटी सुन्दर खिड़कियों से; निर्गच्छत्—निकलकर, उठकर; धूमेन—धुएँ से; अगुरु-गन्धिना—अगुरु जलने से सुगन्धित; पाण्डुरेण—अत्यन्त श्वेत; प्रतिच्छन्न—ढका हुआ; मार्गे—सड़क पर; यान्ति—गुजरती हैं; सुर-प्रिया:—सुन्दर अप्सराएँ, दैवी बालाएँ।

अप्सराएँ जिन सड़कों से होकर गुजरती थीं वे अगुरु के श्वेत सुगन्धित धुएँ से ढकी हुई थीं जो सुनहरी तारकशी वाली खिड़कियों से निकल रहा था।

मुक्तावितानैर्मणिहेमकेतुभि-
नार्नापताकावलभीभिरावृताम् ।
शिखण्डिपारावतभृङ्गनादितां
वैमानिकस्त्रीकलगीतमङ्गलाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

मुक्ता-वितानै:—मोतियों से सजे मण्डपों से; मणि-हेम-केतुभि:—मोती तथा सोने से बनी झंडियों से; नाना-पताका—तरह-तरह के ध्वजों वाला; वलभीभि:—महलों की गुम्बदों सहित; आवृताम्—ढका हुआ; शिखण्डि—मोर जैसे पक्षियों; पारावत—कबूतर; भृङ्ग—भौंरे; नादिताम्—अपनी-अपनी गुंजार करते; वैमानिक—विमानों में चढ़कर; स्त्री—स्त्रियों का; कल-गीत—सामूहिक गान से; मङ्गलाम्—कल्याण से पूरित।

नगरी में मोतियों से सजे चँदोवे की छाया पड़ रही थी और महलों की गुम्बदों में मोती तथा सोने की पताकाएँ थीं। वह नगरी सदा मोरों, कबूतरों तथा भौरों की ध्वनि से गूँजती रहती थी। उसके ऊपर विमान उड़ते रहते थे, जो कानों को अच्छे लगने वाले मधुर गीतों का निरन्तर गायन करने वाली सुन्दर स्त्रियों से भरे रहते थे।

मृदङ्गशङ्खानकदुन्दुभिस्वनै:
सतालवीणामुरजेष्टवेणुभि: ।
नृत्यै: सवाद्यैरुपदेवगीतकै-

मनोरमां स्वप्रभया जितप्रभाम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

मृदङ्ग—ढोल; शङ्ख—शंख; आनक-दुन्दुभि—तथा दमामों के; स्वनैः—शब्दों से; स-ताल—पूर्ण ताल में; वीणा—वीणा; मुरज—एक प्रकार का ढोल; इष्ट-वेणुभिः—वंशी की सुन्दर ध्वनि के साथ-साथ; नृत्यैः—नृत्य सहित; स-वाद्यैः—बाजों सहित; उपदेव-गीतकैः—गौण देवताओं यथा गन्धर्वों के गीतों सहित; मनोरमाम्—सुन्दर तथा सुहावना; स्व-प्रभया—अपने तेज से; जित-प्रभाम्—साक्षात् सुन्दरता जीत ली गई।

वह नगरी मृदंग, शंख, दमामे, वंशी तथा तार वाले सुरीले वाद्ययंत्रों के समूहवादन के स्वरों से पूरित थी। वहाँ निरन्तर नृत्य चलता रहता था और गन्धर्वगण गाते रहते थे। इन्द्रपुरी की संयुक्त सुन्दरता साक्षात् सुन्दरता (छटा) को जीत रही थी।

यां न व्रजन्त्यधर्मिष्ठाः खला भूतद्रुहः शठाः ।
मानिनः कामिनो लुब्धा एभिर्हीना व्रजन्ति यत् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

याम्—नगरी की सड़कों में; न—नहीं; व्रजन्ति—जाते हैं; अधर्मिष्ठाः—अधर्मी लोग; खलाः—दुष्ट, ईर्ष्यालु; भूत-द्रुहः—अन्य जीवों पर उग्र भाव रखने वाले; शठाः—वंचक, धोखेबाज; मानिनः—झूठी प्रतिष्ठा वाले; कामिनः—कामी; लुब्धाः—लालची; एभिः—ये; हीनाः—से पूर्णतः रहित; व्रजन्ति—घूमते हैं; यत्—मार्ग पर।

जो पापी, ईर्ष्यालु, अन्य जीवों के प्रति उग्र, चालाक, मिथ्या अभिमानी, कामी या लालची थे वे उस नगरी में प्रवेश नहीं कर सकते थे। वहाँ रहने वाले सभी निवासी इन दोषों से रहित थे।

तां देवधानीं स वरूथिनीपतिर्
बहिः समन्ताद्रुरुधे पृतन्यया ।
आचार्यदत्तं जलजं महास्वनं
दध्मौ प्रयुञ्जन्भयमिन्द्रयोषिताम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उस; देव-धानीम्—इन्द्र के निवास स्थान को; सः—वह (बलि महाराज); वरूथिनी-पतिः—सैनिकों का नायक; बहिः—बाहर; समन्तात्—सभी दिशाओं से; रुरुधे—आक्रमण किया; पृतन्यया—सैनिकों द्वारा; आचार्य-दत्तम्—शुक्राचार्य द्वारा प्रदत्त; जल-जम्—शंख को; महा-स्वनम्—उच्च स्वर; दध्मौ—बजाया; प्रयुञ्जन्—उत्पन्न करते हुए; भयम्—भय; इन्द्र-योषिताम्—इन्द्र द्वारा रक्षित सारी स्त्रियों का।

असंख्य सैनिकों के सेनानायक बलि महाराज ने इन्द्र के इस निवास स्थान के बाहर अपने सैनिकों को एकत्र किया और चारों दिशाओं से उस पर आक्रमण कर दिया। उन्होंने अपने गुरु शुक्राचार्य द्वारा प्रदत्त शंख बजाया जिससे इन्द्र द्वारा रक्षित स्त्रियों के लिए भयावह स्थिति उत्पन्न हो गई।

मघवांस्तमभिप्रेत्य बलेः परममुद्यमम् ।
सर्वदेवगणोपेतो गुरुमेतदुवाच ह ॥ २४॥

शब्दार्थ

मघवान्—इन्द्र; तम्—स्थिति को; अभिप्रेत्य—समझकर; बलेः—बलि महाराज के; परमम् उद्यमम्—महान् उत्साह; सर्व-देव-गण—सभी देवताओं द्वारा; उपेतः—साथ-साथ; गुरुम्—गुरु को; एतत्—निम्नलिखित शब्द; उवाच—कहा; ह—निस्सन्देह।

बलि महाराज के अथक प्रयास को देखकर तथा उसके मन्तव्य को समझकर राजा इन्द्र अन्य देवताओं के साथ अपने गुरु बृहस्पति के पास गये और इस प्रकार बोले।

भगवन्नुद्यमो भूयान्बलेर्नः पूर्ववैरिणः ।
अविषह्यमिमं मन्ये केनासीत्तेजसोर्जितः ॥ २५॥

शब्दार्थ

भगवन्—हे भगवान्; उद्यमः—उत्साह; भूयान्—महान्; बलेः—बलि महाराज का; नः—हमारा; पूर्व-वैरिणः—पुराना शत्रु; अविषह्यम्—असह्य; इमम्—यह; मन्ये—मैं सोचता हूँ; केन—किसके द्वारा; आसीत्—पाया; तेजसा—तेज; ऊर्जितः—प्राप्त किया गया।

हे प्रभु! हमारे पुराने शत्रु बलि महाराज में अब नया उत्साह पैदा हो गया है और उसने ऐसी आश्चर्यजनक शक्ति प्राप्त कर ली है कि हमारा विचार है कि हम उसके तेज का शायद प्रतिरोध नहीं कर सकते।

नैनं कश्चित्कुतो वापि प्रतिव्योढुमधीश्वरः ।
पिबन्निव मुखेनेदं लिहन्निव दिशो दश ।
दहन्निव दिशो दृग्भिः संवर्ताग्निरिवोत्थितः ॥ २६॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एनम्—इस व्यवस्था को; कश्चित्—कोई भी; कुतः—कहीं से भी; वा अपि—या तो; प्रतिव्योढुम्—सामना करने के लिए; अधीश्वरः—समर्थ; पिबन् इव—मानो पी रहे हों; मुखेन—मुख से; इदम्—यह (जगत); लिहन् इव—मानो चाट रहा हो; दिशः दश—दसों दिशाएँ; दहन् इव—मानो जल रही हों; दिशः—सारी दिशाएँ; दृग्भिः—अपनी दृष्टि से; संवर्त-अग्निः—संवर्त अग्नि; इव—सदृश; उत्थितः—उठी है।

कोई कहीं भी बलि की इस सैन्य व्यवस्था का सामना नहीं कर सकता। अब ऐसा प्रतीत होता है जैसे बलि सारे विश्व को अपने मुँह से पी जाना चाह रहा हो, अपनी जीभ से दसों दिशाओं को चाट जाना चाह रहा हो और अपने नेत्रों से प्रत्येक दिशा में अग्निकाण्ड करने का प्रयास कर रहा हो। निस्सन्देह, वह संवर्तक नामक प्रलयंकारी अग्नि के समान उठ पड़ा है।

ब्रूहि कारणमेतस्य दुर्धर्षत्वस्य मद्रिपोः ।

ओजः सहो बलं तेजो यत एतत्समुद्यमः ॥ २७॥

शब्दार्थ

ब्रूहि—कृपा करके हमें बतायें; कारणम्—कारण; एतस्य—इसका; दुर्धर्षत्वस्य—दुर्धर्षता का; मत्-रिपोः—मेरे शत्रु का; ओजः—पराक्रम; सहः—शक्ति; बलम्—बल; तेजः—प्रभाव; यतः—जहाँ से; एतत्—यह सब; समुद्यमः—प्रयास।

कृपया मुझे बतायें कि बलि महाराज की शक्ति, उद्यम, प्रभाव तथा विजय का क्या कारण है? वह इतना उत्साही कैसे हो गया है?

श्रीगुरुरुवाच

जानामि मघवञ्छत्रोरुन्नतेरस्य कारणम् ।
शिष्यायोपभृतं तेजो भृगुभिर्ब्रह्मवादिभिः ॥ २॥

शब्दार्थ

श्री-गुरुः उवाच—बृहस्पति ने कहा; जानामि—जानता हूँ; मघवन्—हे इन्द्र; शत्रोः—शत्रु की; उन्नतेः—उन्नति का; अस्य—उसका; कारणम्—कारण; शिष्याय—शिष्य को; उपभृतम्—प्रदत्त; तेजः—शक्ति; भृगुभिः—भृगुवंशियों द्वारा; ब्रह्म-वादिभिः—सर्वशक्तिमान ब्राह्मणों द्वारा।

देवताओं के गुरु बृहस्पति ने कहा : हे इन्द्र! मैं वह कारण जानता हूँ जिससे तुम्हारा शत्रु इतना शक्तिशाली बन गया है। भृगुमुनि के ब्राह्मण वंशजों ने उनके शिष्य बलि महाराज से प्रसन्न होकर उन्हें ऐसी अद्वितीय शक्ति प्रदान की है।

तात्पर्य : देवताओं के गुरु बृहस्पति ने इन्द्र को बताया ''सामान्यतया बलि तथा उसकी सेना को ऐसी शक्ति नहीं मिल सकती थी, किन्तु ऐसा लगता है कि भृगुमुनि के ब्राह्मण वंशजों ने बलि महाराज से प्रसन्न होकर उन्हें यह आध्यात्मिक शक्ति प्रदान की है।'' दूसरे शब्दों में, बृहस्पति ने इन्द्र को यह बताया कि बलि महाराज का तेज उसका अपना नहीं, अपितु उसके पूज्य गुरु शुक्राचार्य का है। हम नित्य ही स्तुति करते हैं—*यस्य प्रसादाद् भगवत् प्रसादो यस्याप्रसादान् न गतिः कुतोऽपि।* गुरु के प्रसन्न होने पर मनुष्य को अद्वितीय शक्ति, विशेषतया आध्यात्मिक उन्नति के लिए, प्राप्त होती है। गुरु के आशीष ऐसी उन्नति के लिए किये जाने वाले निजी प्रयास से अधिक शक्तिशाली होते हैं। अतएव नरोत्तम दास ठाकुर कहते हैं—

गुरु-मुख-पद्म-वाक्य चित्तेते करिया ऐक्य
आर ना करिह मने आशा

विशेषतया आध्यात्मिक उन्नति के लिए मनुष्य को चाहिए कि गुरु के प्रामाणिक आदेशों का पालन करे। इस प्रकार परम्परा पद्धति से मनुष्य को ईश्वर से प्राप्त होने वाली मूल आध्यात्मिक शक्ति मिल

सकती है (*एवं परम्पराप्राप्तम् इमं राजर्षयो विदुः*)।

ओजस्विनं बलिं जेतुं न समर्थोऽस्ति कश्चन
भवद्विधो भवान्वापि वर्जयित्वेश्वरं हरिम् ।
विजेष्यति न कोऽप्येनं ब्रह्मतेज:समेधितम्
नास्य शक्तः पुरः स्थातुं कृतान्तस्य यथा जनाः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ओजस्विनम्—इतना शक्तिशाली; बलिम्—बलि महाराज को; जेतुम्—जीतने के लिए; न—नहीं; समर्थः—सक्षम; अस्ति—है; कश्चन—कोई; भवत्-विधः—तुम्हारी तरह; भवान्—तुम स्वयं; वा अपि—या तो; वर्जयित्वा—को छोड़कर; ईश्वरम्—परम नियन्ता; हरिम्—भगवान् को; विजेष्यति—जीतेगा; न—नहीं; कः अपि—कोई भी; एनम्—उसको (बलि महाराज को); ब्रह्म-तेजः-समेधितम्—ब्रह्मतेज से समन्वित; न—नहीं; अस्य—उसके; शक्तः—समर्थ; पुरः—सामने; स्थातुम्—ठहरने के लिए; कृत-अन्तस्य—यमराज के; यथा—जिस तरह; जनाः—लोग।

न तो तुम, न ही तुम्हारे सैनिक परमशक्तिशाली बलि को जीत सकते हैं। निस्सन्देह, भगवान् के अतिरिक्त कोई भी उसे जीत नहीं सकता क्योंकि वह अब ब्रह्मतेज से युक्त है। जिस तरह यमराज के समक्ष कोई टिक नहीं पाता उसी तरह बलि महाराज के सामने भी कोई नहीं टिक सकता।

तस्मान्निलयमुत्सृज्य यूयं सर्वे त्रिविष्टपम् ।
यात कालं प्रतीक्षन्तो यतः शत्रोर्विपर्ययः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; निलयम्—अदृश्य; उत्सृज्य—त्यागकर; यूयम्—तुम; सर्वे—सभी; त्रि-विष्टपम्—स्वर्ग का राज्य; यात—अन्यत्र चले जाओ; कालम्—काल की; प्रतीक्षन्तः—प्रतीक्षा करते हुए; यतः—जिससे; शत्रोः—तुम्हारे शत्रु की; विपर्ययः—विपरीत दशा आ जाये।

अतएव तुम सबको चाहिए कि अपने शत्रुओं की स्थिति के पलटने के समय तक प्रतीक्षा करते हुए इस स्वर्गलोक को छोड़ दो और कहीं ऐसे स्थान में चले जाओ जहाँ तुम दिखाई न दो।

एष विप्रबलोदर्कः सम्प्रत्यूर्जितविक्रमः ।
तेषामेवापमानेन सानुबन्धो विनङ्क्ष्यति ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह (बलि महाराज); विप्र-बल-उदर्कः—अपने में निहित ब्राह्मण शक्ति के कारण उन्नति करने वाला; सम्प्रति—इस समय; ऊर्जित-विक्रमः—अत्यन्त शक्तिशाली; तेषाम्—उन्हीं ब्राह्मणों के; एव—निस्सन्देह; अपमानेन—अपमान से; स-अनुबन्धः—अपने मित्रों तथा सहायकों सहित; विनङ्क्ष्यति—विनष्ट हो जायेगा।

इस समय बलि ब्राह्मणों द्वारा प्रदत्त आशीषों के कारण अत्यन्त शक्तिशाली बन गया है,

किन्तु बाद में जब वह इन्हीं ब्राह्मणों का अपमान करेगा तो वह अपने मित्रों तथा सहायकों सहित विनष्ट हो जायेगा।

तात्पर्य : बलि महाराज तथा इन्द्र परस्पर शत्रु थे। अतएव जब देवताओं के गुरु बृहस्पति ने भविष्यवाणी की कि जिन ब्राह्मणों की कृपा से बलि महाराज इतने प्रबल हुए थे उनका अपमान करने पर वे विनष्ट हो जायेंगे तो बलि महाराज के शत्रु सचमुच यह जानने के लिए उत्सुक हो गए कि यह उपयुक्त क्षण कब आयेगा। इन्द्र को शान्त करने के लिए बृहस्पति ने उसे विश्वास दिलाया कि वह समय अवश्य आयेगा क्योंकि बृहस्पति यह देख सकते थे कि भविष्य में बलि महाराज होते वामनदेव के रूप में भगवान् विष्णु को शान्त करने के लिए शुक्राचार्य के आदेशों का उल्लंघन करेंगे। निस्सन्देह, कृष्णभावनामृत में अग्रसर होने के लिए भक्त सारे संकटों को मोल ले सकता है। वामनदेव को प्रसन्न करने के लिए बलि महाराज ने अपने गुरु शुक्राचार्य के आदेशों का उल्लंघन करने का संकट उठाया। इसके कारण उन्हें अपनी सारी सम्पत्ति खोनी पड़ी, किन्तु भगवान् की भक्ति के कारण उन्हें आशा से अधिक लाभ हुआ और भविष्य में आठवें मन्वन्तर में वे इन्द्र के सिंहासन पर पुन: आसीन हुए।

एवं सुमन्त्रितार्थास्ते गुरुणार्थानुदर्शिना ।
हित्वा त्रिविष्टपं जग्मुर्गीर्वाणा: कामरूपिण: ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सु-मन्त्रित—भलीभाँति उपदेश पाकर; अर्थाः—कर्तव्यों के विषय में; ते—वे (देवता); गुरुणा—अपने गुरु द्वारा; अर्थ-अनुदर्शिना—उपयुक्त आदेश; हित्वा—त्यागकर; त्रि-विष्टपम्—स्वर्ग का साम्राज्य; जग्मुः—गये; गीर्वाणाः—देवतागण; काम-रूपिणः—जो इच्छानुसार कोई भी रूप धारण कर सकते थे।.

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : इस प्रकार बृहस्पति द्वारा अपने हित का उपदेश दिये जाने पर देवताओं ने तुरन्त उनकी बातें मान ली। उन्होंने इच्छानुसार रूप धारण किया और वे स्वर्गलोक को छोड़कर असुरों की दृष्टि से ओझल होकर तितर-बितर हो गये।

तात्पर्य : *कामरूपिण:* शब्द बताता है कि स्वर्गलोक के निवासी देवतागण अपनी इच्छानुसार कोई भी रूप धारण कर सकते हैं। अतएव उनके लिए असुरों की आँखों के सामने अज्ञात रूप में रहते जाना तनिक भी कठिन न था।

देवेष्वथ निलीनेषु बलिर्वैरोचन: पुरीम् ।

देवधानीमधिष्ठाय वशं निन्ये जगत्त्रयम् ॥ ३३॥

शब्दार्थ

देवेषु—सारे देवता; अथ—इस तरह से; निलीनेषु—अदृश्य हो जाने पर; बलिः—बलि महाराज; वैरोचनः—विरोचन का पुत्र; पुरीम्—स्वर्ग के राज्य को; देव-धानीम्—देवताओं के निवास स्थान को; अधिष्ठाय—अधिकार में करके; वशम्—नियंत्रण में; निन्ये—ले लिया; जगत्-त्रयम्—तीनों लोकों को।

जब देवतागण ओझल हो गये तो विरोचन के पुत्र बलि महाराज स्वर्ग में प्रविष्ट हुए और वहाँ से उन्होंने तीनों लोकों को अपने अधिकार में कर लिया।

तं विश्वजयिनं शिष्यं भृगवः शिष्यवत्सलाः ।
शतेन हयमेधानामनुव्रतमयाजयन् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तम्—उस (बलि महाराज को); विश्व-जयिनम्—समग्र विश्व के विजेता को; शिष्यम्—शिष्य होने के कारण; भृगवः—भृगु वंशज, यथा शुक्राचार्य के; शिष्य-वत्सलाः—शिष्य से अत्यन्त प्रसन्न होकर; शतेन—एक सौ के द्वारा; हय-मेधानाम्—अश्वमेध यज्ञों के; अनुव्रतम्—ब्राह्मणों के आदेशों का पालन करते हुए; अयाजयन्—सम्पन्न कराया।

भृगु के ब्राह्मण वंशजों ने अपने विश्वविजयी शिष्य से अत्यधिक प्रसन्न होकर उसे एक सौ अश्वमेघ यज्ञ सम्पन्न करने में लगा दिया।

तात्पर्य : महाराज पृथु एवम् इन्द्र के बीच के झगड़े में हम देख चुके हैं कि जब महाराज पृथु ने एक सौ अश्वमेध यज्ञ करने चाहे तो इन्द्र उसे रोकना चाहते थे क्योंकि ऐसे महान् यज्ञों के कारण ही इन्द्र स्वर्ग का राजा बना था। यहाँ पर भृगु के ब्राह्मण वंशजों ने निश्चय किया कि यद्यपि महाराज बलि इन्द्रासन पर विराजमान हैं, तथापि वे तब तक उस पर स्थिर नहीं रह सकेंगे जब तक वे यज्ञ न कर लें। अतएव उन्होंने सलाह दी कि वे कम से कम इन्द्र जितने अश्वमेध यज्ञ करें। *अयाजयन्* शब्द सूचित करता है कि सभी ब्राह्मणों ने बलि महाराज को ऐसे यज्ञ सम्पन्न करने के लिए प्रेरित किया।

ततस्तदनुभावेन भुवनत्रयविश्रुताम् ।
कीर्तिं दिक्षुवितन्वानः स रेज उडुराडिव ॥ ३५॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; तत्-अनुभावेन—ऐसे महान् यज्ञ सम्पन्न करने से; भुवन-त्रय—तीनों लोकों में; विश्रुताम्—विख्यात; कीर्तिम्—कीर्ति; दिक्षु—सभी दिशाओं में; वितन्वानः—फैली हुई; सः—वह (बलि महाराज); रेजे—तेजवान् हो गया; उडुराट्—चन्द्रमा; इव—समान।

जब बलि महाराज ने इन यज्ञों को सम्पन्न कर लिया तो उनकी कीर्ति तीनों लोकों में सभी दिशाओं में फैल गई। इस प्रकार वे अपने पद पर उसी प्रकार चमक उठे जिस तरह आकाश में

चमकीला चाँद।

बुभुजे च श्रियं स्वृद्धां द्विजदेवोपलम्भिताम् ।
कृतकृत्यमिवात्मानं मन्यमानो महामनाः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

बुभुजे—भोग किया; च—भी; श्रियम्—ऐश्वर्य; सु-ऋद्धाम्—सम्पन्नता; द्विज—ब्राह्मणों के; देव—देवताओं के तुल्य; उपलम्भिताम्—पक्षपात के कारण अर्जित; कृत-कृत्यम्—उसके कार्यों से अत्यन्त सन्तुष्ट; इव—सदृश; आत्मानम्—स्वयं को; मन्यमानः—सोचते हुए; महा-मनाः—महान्-मस्तिष्क वाला, उदारमना।

ब्राह्मणों के पश्चात् के कारण महात्मा बलि महाराज अपने आपको परम सन्तुष्ट मानते हुए परम ऐश्वर्यवान् तथा सम्पन्न बन गये और राज्य का भोग करने लगे।

तात्पर्य : ब्राह्मण द्विजदेव कहलाते हैं और क्षत्रिय सामान्यतः नरदेव। वास्तव में देव शब्द भगवान् का द्योतक है। ब्राह्मण भगवान् विष्णु को संतुष्ट करके प्रसन्न होने के लिए मानव समाज का मार्गदर्शन करते हैं और नरदेव कहलाने वाले क्षत्रिय उनकी सलाह से शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखते हैं जिससे अन्य लोग, अर्थात् वैश्य तथा शूद्र, विधि-विधानों का ढंग से पालन कर सकें। इस प्रकार लोग क्रमशः कृष्णभावनामृत तक उन्नत होते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कंध के अन्तर्गत ''बलि महाराज द्वारा स्वर्गलोक पर विजय'' नामक पन्द्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सोलह

पयोव्रत पूजा विधि का पालन करना

जैसाकि इस अध्याय में वर्णन किया गया है, देवताओं की माता अदिति के अत्यन्त खिन्न होने पर उनके पति कश्यपमुनि ने बताया कि वे अपने पुत्रों के लाभ के लिए तपस्या करके किस तरह व्रत रखें।

चूँकि स्वर्ग में देवता दिखलाई नहीं पड़ रहे थे अतएव उनकी माता अदिति उनके वियोग के कारण अत्यधिक दुखी थीं। एक दिन अनेकानेक वर्षों के बाद कश्यपमुनि ध्यान की समाधि से उठे और अपने आश्रम वापस आये। उन्होंने देखा कि उनका आश्रम सुन्दर नहीं लग रहा था और उनकी पत्नी अत्यन्त खिन्न थीं। उन्हें आश्रम भर में हर जगह शोक के चिह्न दिखे। अतएव मुनि ने अपनी पत्नी से आश्रम की कुशलता के विषय में पूछा और जानना चाहा कि वह इतनी खिन्न क्यों दिख रही है। अदिति ने

कश्यपमुनि को आश्रम की कुशलता के बारे में बताने के बाद कहा कि अपने पुत्रों की अनुपस्थिति के कारण वह खिन्न है। तब अदिति ने उनसे प्रार्थना की कि वे यह बतलाएँ कि उनके पुत्र किस प्रकार लौटकर अपने पदों को पुनः प्राप्त कर सकते हैं। वे अपने पुत्रों का कल्याण चाहती थीं। अदिति की प्रार्थना से द्रवित होकर कश्यपमुनि ने उन्हें आत्म-साक्षात्कार के दर्शन, पदार्थ तथा आत्मा के अन्तर तथा भौतिक क्षति से अप्रभावित रहने की विधि का उपदेश दिया। किन्तु जब उन्होंने उसे देखा कि उनके इन उपदेशों के बावजूद अदिति संतुष्ट नहीं है, तो उन्होंने उसे वासुदेव जनार्दन की पूजा करने की सलाह दी। उन्होंने उसे विश्वास दिलाया कि केवल भगवान् वासुदेव ही उन्हें सन्तुष्ट करके उनकी सारी इच्छाओं को पूरा कर सकते हैं। फिर जब अदिति ने भगवान् वासुदेव की पूजा करने की इच्छा व्यक्त की तो प्रजापति कश्यप ने पयोव्रत नामक पूजा की विधि बतलाई जो बारह दिनों में सम्पन्न होता है। उन्हें ब्रह्माजी ने बताया था कि इस विधि से भगवान् कृष्ण को कैसे प्रसन्न किया जा सकता है। इस प्रकार कश्यपमुनि ने अपनी पत्नी को इस व्रत का तथा इसके विधि-विधानों का पालन करने की सलाह दी।

श्रीशुक उवाच

एवं पुत्रेषु नष्टेषु देवमातादितिस्तदा ।
हृते त्रिविष्टपे दैत्यैः पर्यतप्यदनाथवत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; पुत्रेषु—अपने पुत्रों को; नष्टेषु—अपने पदों से अदृश्य हुए; देव-माता—देवताओं की माता; अदितिः—अदिति ने; तदा—उस समय; हृते—खो जाने के कारण; त्रि-विष्टपे—स्वर्गलोक से; दैत्यैः—असुरों के प्रभाव के कारण; पर्यतप्यत्—पश्चाताप करने लगी; अनाथ-वत्—अनाथ की तरह।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा! जब अदिति के पुत्र देवतागण स्वर्गलोक से इस तरह से अदृश्य हो गये और असुरों ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया तो अदिति इस प्रकार विलाप करने लगी मानो उसका कोई रक्षक न हो।

एकदा कश्यपस्तस्या आश्रमं भगवानगात् ।
निरुत्सवं निरानन्दं समाधेर्विरतश्चिरात् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक दिन; कश्यपः—कश्यपमुनि; तस्याः—अदिति के; आश्रमम्—आश्रम में; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; अगात्—गये; निरुत्सवम्—बिना उत्साह के; निरानन्दम्—बिना हर्ष के; समाधेः—समाधि से; विरतः—जगकर; चिरात्—दीर्घकाल के बाद।

परम शक्तिशाली कश्यपमुनि कई दिनों बाद जब ध्यान की समाधि से उठे और घर लौटे तो देखा कि अदिति के आश्रम में न तो हर्ष है, न उल्लास।

स पत्नीं दीनवदनां कृतासनपरिग्रहः ।
सभाजितो यथान्यायमिदमाह कुरूद्वह ॥ ३॥

शब्दार्थ

सः—कश्यपमुनि; पत्नीम्—अपनी पत्नी को; दीन-वदनाम्—सूखा मुखमंडल किये; कृत-आसन-परिग्रहः—आसन ग्रहण करके; सभाजितः—अदिति द्वारा आदर किये जाकर; यथा-न्यायम्—काल तथा देश के अनुसार; इदम् आह—इस प्रकार कहा; कुरु-उद्वह—हे कुरुश्रेष्ठ महाराज परीक्षित।

हे कुरुश्रेष्ठ! भलीभाँति सम्मान तथा स्वागत किये जाने के बाद कश्यपमुनि ने आसन ग्रहण किया और अत्यन्त खिन्न दिख रही अपनी पत्नी अदिति से इस प्रकार कहा।

अप्यभद्रं न विप्राणां भद्रे लोकेऽधुनागतम् ।
न धर्मस्य न लोकस्य मृत्योश्छन्दानुवर्तिनः ॥ ४॥

शब्दार्थ

अपि—क्या; अभद्रम्—दुर्भाग्य; न—नहीं; विप्राणाम्—ब्राह्मणों का; भद्रे—हे अदिति; लोके—इस संसार में; अधुना—इस समय; आगतम्—आ गया है; न—नहीं; धर्मस्य—धर्म का; न—नहीं; लोकस्य—सामान्य लोगों का; मृत्योः—मृत्यु; छन्द-अनुवर्तिनः—जो लोग मृत्यु के गालों में जाने वाले हैं।

हे भद्रे! मुझे आश्चर्य है कि कहीं धर्म पर, ब्राह्मण वर्ग या काल की सोच में पड़ी जनता को कुछ हो तो नहीं गया?

तात्पर्य : इस जगत के सभी निवासियों के लिए और विशेष रूप से ब्राह्मणों के लिए नियत कर्म तो हैं ही, किन्तु जो लोग काल के गाल में जाने वाले हैं ये उन लागों के लिए भी हैं। कश्यपमुनि को आश्चर्य हो रहा था कि क्या सारे अनुष्ठानों का जो सर्वसाधारण के हितके लिए हैं उल्लंघन हुआ है। इसलिए वे सात श्लोकों तक प्रश्न पूछते जाते हैं।

अपि वाकुशलं किञ्चिद्गृहेषु गृहमेधिनि ।
धर्मस्यार्थस्य कामस्य यत्र योगो ह्ययोगिनाम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

अपि—मुझे आश्चर्य हो रहा है; वा—या तो; अकुशलम्—अशुभ; किञ्चित्—कुछ; गृहेषु—घर में; गृह-मेधिनि—गृहस्थ जीवन में अनुरक्त हे मेरी पत्नी; धर्मस्य—धर्म का; अर्थस्य—आर्थिक दशा का; कामस्य—इच्छापूर्ति का; यत्र—घर पर; योगः—ध्यान का फल; हि—निश्चय ही; अयोगिनाम्—जो अध्यात्मवादी नहीं हैं उनका।

हे गृहस्थ जीवन में अनुरक्त मेरी पत्नी! यदि कोई गृहस्थ जीवन में धर्म, अर्थ तथा काम का समुचित पालन करता है, तो उसके कार्यकलाप एक अध्यात्मवादी (योगी) के ही समान श्रेष्ठ होते हैं। मुझे आश्चर्य है कि क्या इन नियमों के पालन में कोई त्रुटि आ गई है?

तात्पर्य : इस श्लोक में कश्यपमुनि ने अपनी पत्नी अदिति को *गृहमेधिनि* कहकर सम्बोधित किया है, जिसका अर्थ होता है "इन्द्रियतृप्ति के लिए जो गृहस्थ जीवन से संतुष्ट है।" सामान्यतया जो लोग गृहस्थ आश्रम में रह रहे हैं, वे भौतिक लाभ के लिए किये गये कर्मक्षेत्र में इन्द्रियतृप्ति का अनुगमन करते हैं। ऐसे गृहमेधियों का एक ही जीवनलक्ष्य होता है—इन्द्रियतृप्ति। इसीलिए कहा गया है—*यन्मैथुनादिगृहमेधि-सुखं हि तुच्छम्*—गृहस्थ जीवन इन्द्रियतृप्ति पर आधारित है; अतएव इससे प्राप्य प्रसन्नता अत्यल्प होती है। फिर भी वैदिक विधि इतनी सारगर्भित है कि गृहस्थ जीवन में भी मनुष्य *धर्म, अर्थ, काम* तथा *मोक्ष* के अनुसार अपने जीवन को व्यवस्थित कर सकता है। मनुष्य का लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना होना चाहिए, किन्तु चूँकि इन्द्रियतृप्ति को एकाएक नहीं छोड़ा जा सकता अतएव शास्त्रों में आदेश दिए हुए हैं कि किस प्रकार धर्म, अर्थ तथा काम के नियमों का पालन किया जाये। जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में ही (१.२.९) कहा गया है—*धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते*—सारे वृत्ति-परक कार्य अन्ततोगत्वा मोक्ष के लिए हैं। उन्हें कभी भी भौतिकलाभ के लिए नहीं किया जाना चाहिए—जो लोग गृहस्थ हैं उन्हें यह नहीं सोचना चाहिए कि धर्म गृहस्थ की इन्द्रियतृप्ति की प्रक्रिया को सुधारने के निमित्त है। गृहस्थ जीवन आध्यात्मिक ज्ञान की उन्नति के लिए भी है, जिससे मनुष्य अन्ततोगत्वा भवबन्धन से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। मनुष्य को जीवन के चरमलक्ष्य (तत्त्व जिज्ञासा) को समझने के उद्देश्य से गृहस्थ जीवन में टिके रहना चाहिए। तब गृहस्थ जीवन योगी-जीवन के समान ही श्रेष्ठ है। अतएव कश्यपमुनि ने अपनी पत्नी से पूछा कि क्या धर्म, अर्थ तथा काम के नियमों का शास्त्रीय आदेशों के अनुसार सही ढंग से पालन हो रहा है? ज्योंही मनुष्य शास्त्र के आदेशों से च्युत होता है त्योंही गृहस्थ जीवन का उद्देश्य तुरन्त ही समाप्त हो जाता है।

अपि वातिथयोऽभ्येत्य कुटुम्बासक्तया त्वया ।

गृहादपूजिता याताः प्रत्युत्थानेन वा क्वचित् ॥ ६॥

शब्दार्थ

अपि—क्या; वा—या तो; अतिथयः—मेहमान; अभ्येत्य—घर आकर; कुटुम्ब-आसक्तया—जो परिवार वालों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं; त्वया—तुम्हारे द्वारा; गृहात्—घर से; अपूजिताः—ठीक से सत्कार न किये जाकर; याताः—चले गये; प्रत्युत्थानेन—खड़े होकर; वा—अथवा; क्वचित्—कभी-कभी।

मुझे आश्चर्य है कि कहीं तुम अपने परिवार के सदस्यों में अत्यधिक आसक्त रहने के कारण अचानक आए अतिथियों का ठीक से स्वागत नहीं कर पाईं और वे बिना सत्कार के ही वापस चले गये?

तात्पर्य : गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह अतिथियों का सत्कार करे, भले ही वे शत्रु ही क्यों न हों। जब कोई अतिथि घर पर आये तो खड़े होकर उसका सत्कार किया जाये और बैठने के लिए उसे आसन प्रदान किया जाये। यह आदेश है—*गृहे शत्रुमपि प्राप्तं विश्वस्तम् अकुतोभयम्*—यदि किसी के घर उसका शत्रु भी आये तो उसका इस तरह सत्कार किया जाये कि वह यह भूल जाये कि आतिथेय उसका शत्रु है। अपनी स्थिति के अनुसार मनुष्य को चाहिए कि घर आये हुए अतिथि का उचित सत्कार करे। कम से कम उसे बैठने के लिए आसन तथा पीने के लिए एक गिलास पानी अवश्य दिया जाये जिससे अतिथि अप्रसन्न न हो। कश्यपमुनि ने अदिति से पूछा कि कहीं ऐसे अतिथियों का निरादर तो नहीं हुआ? अतिथि शब्द उस व्यक्ति का सूचक है, जो बिना बुलाये आये।

गृहेषु येष्वतिथयो नार्चिताः सलिलैरपि ।
यदि निर्यान्ति ते नूनं फेरुराजगृहोपमाः ॥ ७॥

शब्दार्थ

गृहेषु—घर पर; येषु—जिस; अतिथयः—अनामंत्रित मेहमान; न—नहीं; अर्चिताः—स्वागत किये गये; सलिलैः अपि—कम से कम एक गिलास जल देकर के; यदि—यदि; निर्यान्ति—वापस चले जाते हैं; ते—ऐसा गृहस्थ जीवन; नूनम्—निस्सन्देह; फेरु-राज—सियारों का; गृह—घर; उपमाः—सदृश।

जिन घरों से मेहमान एक गिलास जल भेंट किए गए बिना वापस चले जाते हैं, वे घर खेतों के उन बिलों के समान हैं जिनमें सियार रहते हैं।

तात्पर्य : खेतों में साँपों तथा चूहों द्वारा बनाए गए बिल होते है, किन्तु यदि बिल बहुत बड़े हों तो माना जा सकता है कि वह सियार रहते होंगे। निस्सन्देह, ऐसे घरों में कोई आश्रय लेने नहीं जाता। इस तरह मनुष्यों के घर जिनमें अतिथियों का ठीक से स्वागत नहीं किया जाता वे सियारों के घरों के समान हैं।

अप्यग्नयस्तु वेलायां न हुता हविषा सति ।
त्वयोद्विग्नधिया भद्रे प्रोषिते मयि कर्हिचित् ॥ ॥

शब्दार्थ

अपि—क्या; अग्नयः—अग्नि; तु—निस्सन्देह; वेलायाम्—अग्नियज्ञ में; न—नहीं; हुताः—डाला गया; हविषा—घी द्वारा; सति—हे सती; त्वया—तुम्हारे द्वारा; उद्विग्न-धिया—किसी चिन्ता के कारण; भद्रे—हे कल्याणी; प्रोषिते—घर से दूर था; मयि—जब मैं; कर्हिचित्—कभी-कभी।

हे सती तथा शुभे! जब मैं घर से अन्य स्थानों को चला गया तो क्या तुम इतनी चिन्तित थीं कि अग्नि में घी की आहुति भी नहीं दे सकीं?

यत्पूजया कामदुघान्याति लोकान्गृहान्वितः ।
ब्राह्मणोऽग्निश्च वै विष्णोः सर्वदेवात्मनो मुखम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यत्-पूजया—अग्नि तथा ब्राह्मणों की पूजा द्वारा; काम-दुघान्—इच्छाओं को पूरा करने वाला; याति—जो जाता है; लोकान्—उच्च लोकों को; गृह-अन्वितः—गृहस्थ जीवन के प्रति आसक्त; ब्राह्मणः—ब्राह्मणों; अग्निः च—तथा अग्नि; वै—निस्सन्देह; विष्णोः—भगवान् विष्णु का; सर्व-देव-आत्मनः—सारे देवताओं का आत्मा; मुखम्—मुख।

एक गृहस्थ अग्नि तथा ब्राह्मणों की पूजा करके उच्च लोकों में निवास करने के वांछित लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है क्योंकि यज्ञ की अग्नि तथा ब्राह्मणों को समस्त देवताओं के परमात्मा स्वरूप भगवान् विष्णु का मुख माना जाना चाहिए।

तात्पर्य : वैदिक प्रथा के अनुसार अग्नियज्ञ घी, अन्न, फल, फूल इत्यादि की आहुति देने के लिए किया जाता है, जिससे भगवान् विष्णु इन्हें खाकर सन्तुष्ट हों। *भगवद्गीता* (९.२६) में भगवान् कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः॥

"यदि कोई मुझे प्रेम तथा भक्ति के साथ एक पत्ती, एक फूल, फल या जल अर्पित करता है, तो मैं उसे ग्रहण करता हूँ।" अतएव यज्ञ-अग्नि में ये सभी वस्तुएँ अर्पित की जाने से भगवान् विष्णु प्रसन्न हो जाएँगें। इसी प्रकार ब्राह्मण-भोजन की भी संस्तुति की जाती है क्योंकि जब ब्राह्मण लोग यज्ञ के पश्चात् बचे हुए भव्य भोजन को खाते हैं, तो इससे एक प्रकार से साक्षात् भगवान् विष्णु भोजन करते होते हैं। अतएव वैदिक सिद्धान्त संस्तुति करते हैं कि प्रत्येक उत्सव या पर्व पर अग्नि में आहुतियाँ

डाली जाये और ब्राह्मणों को खाने के लिए अच्छा भोजन दिया जाय। ऐसे कार्यों से गृहस्थ स्वर्गलोक तथा ऐसे ही अन्य उच्चलोकों को जाता है।

अपि सर्वे कुशलिनस्तव पुत्रा मनस्विनि ।
लक्षयेऽस्वस्थमात्मानं भवत्या लक्षणैरहम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अपि—चाहे तो; सर्वे—सभी; कुशलिनः—पूर्ण कुशलता के साथ; तव—तुम्हारे; पुत्राः—सारे पुत्र; मनस्विनि—हे विशाल हृदय वाली नारी; लक्षये—देखता हूँ; अस्वस्थम्—अशान्त; आत्मानम्—मन को; भवत्याः—तुम्हारे; लक्षणैः—लक्षणों से; अहम्—मैं।

हे मनस्विनि! तुम्हारे सारे पुत्र कुशलपूर्वक तो हैं? तुम्हारे म्लान मुख को देखकर मुझे लगता है कि तुम्हारा मन शान्त नहीं है। ऐसा क्यों है?

श्रीअदितिरुवाच
भद्रं द्विजगवां ब्रह्मन्धर्मस्यास्य जनस्य च ।
त्रिवर्गस्य परं क्षेत्रं गृहमेधिन्गृहा इमे ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-अदितिः उवाच—श्रीमती अदिति ने कहा; भद्रम्—कल्याण हो; द्विज-गवाम्—ब्राह्मणों तथा गायों का; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; धर्मस्य अस्य—शास्त्र वर्णित धर्म का; जनस्य—लोगों का; च—तथा; त्रि-वर्गस्य—उन्नति की तीन विधियों (धर्म, अर्थ तथा काम) का; परम्—परम; क्षेत्रम्—क्षेत्र; गृहमेधिन्—हे गृहस्थ जीवन में आसक्त मेरे पति; गृहाः—तुम्हारा घर; इमे—ये सारी वस्तुएँ।

अदिति ने कहा : हे मेरे पूज्य ब्राह्मण पति! सारे ब्राह्मण, गाएँ, धर्म तथा अन्य लोग कुशलपूर्वक हैं। हे मेरे घर के स्वामी! धर्म, अर्थ तथा काम—ये तीनों गृहस्थ जीवन में ही फलते फूलते हैं जिसके फलस्वरूप यह जीवन सौभाग्य से पूर्ण होता है।

तात्पर्य : गृहस्थ जीवन में मनुष्य धर्म, अर्थ एवं काम के तीन सिद्धान्तों को शास्त्रों के नियमों के अनुसार विकसित कर सकता है किन्तु मोक्ष-प्राप्ति के लिए मनुष्य को गृहस्थ जीवन का त्याग करके आध्यात्मिक संन्यास ग्रहण करना चाहिए। कश्यपमुनि संन्यासी नहीं थे; अतएव उन्हें यहाँ एक बार ब्राह्मण तथा दूसरी बार *गृहमेधिन* सम्बोधित किया गया है। उनकी पत्नी अदिति ने उन्हें विश्वास दिलाया कि जहाँ तक गृहस्थ-जीवन का सम्बन्ध था, हर बात सु-चारु ढंग से हो रही थी और ब्राह्मणों तथा गायों को सम्मान तथा संरक्षण प्रदान किया जा रहा था। दूसरे शब्दों में, किसी प्रकार की परेशानी नहीं थी; गृहस्थ-जीवन ठीक तरह से उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा था।

अग्नयोऽतिथयो भृत्या भिक्षवो ये च लिप्सवः ।
सर्वं भगवतो ब्रह्मन्ननुध्यानान्न रिष्यति ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अग्नयः—अग्नि की पूजा; अतिथयः—अतिथियों का स्वागत; भृत्याः—सेवकों को तुष्ट करना; भिक्षवः—भिखारियों को प्रसन्न रखना; ये—जो; च—तथा; लिप्सवः—वे जैसा चाहते हैं (वैसा ही उनका ध्यान रखा जाता है); सर्वम्—सारे के सारे; भगवतः—मेरे स्वामी आपका; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; अनुध्यानात्—निरन्तर ध्यान करने से; न रिष्यति—कुछ नहीं रह जाता (सब कुछ ठीक से हो जाता है)।

हे प्रिय पति! मैं अग्नि, अतिथि, सेवक तथा भिखारी इन सब की समुचित देखभाल करती रही हूँ। चूँकि मैं सदैव आपका चिन्तन करती रही हूँ अतएव धर्म में किसी प्रकार की उपेक्षा की सम्भावना नहीं रही।

को नु मे भगवन्कामो न सम्पद्येत मानसः ।
यस्या भवान्प्रजाध्यक्ष एवं धर्मान्प्रभाषते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

कः—क्या; नु—निस्सन्देह; मे—मेरा; भगवन्—हे स्वामी; कामः—इच्छा; न—नहीं; सम्पद्येत—पूरा किया जा सकता है; मानसः—मन के भीतर; यस्याः—मेरे; भवान्—साक्षात् आप; प्रजा-अध्यक्षः—प्रजापति; एवम्—इस प्रकार; धर्मान्—धार्मिक सिद्धान्तों की; प्रभाषते—बातें करते हैं।

हे स्वामी! जब आप प्रजापति हैं और धर्म के सिद्धान्तों के पालन में साक्षात् मेरे उपदेशक हैं, तो फिर मेरी इच्छाओं के पूरा न होने में क्या सम्भावना हो सकती है?

तवैव मारीच मनःशरीरजाः
प्रजा इमाः सत्त्वरजस्तमोजुषः ।
समो भवांस्तास्वसुरादिषु प्रभो
तथापि भक्तं भजते महेश्वरः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

तव—तुम्हारा; एव—निस्सन्देह; मारीच—हे मरीचि के पुत्र; मनः-शरीर-जाः—आपके शरीर या मन से उत्पन्न (सारे असुर तथा देवता); प्रजाः—आपसे उत्पन्न; इमाः—ये सब; सत्त्व-रजः-तमः-जुषः—सतो, रजो तथा तमो गुणों से दूषित; समः—समान; भवान्—आप; तासु—उनमें से हर एक को; असुर-आदिषु—असुरों इत्यादि में; प्रभो—हे स्वामी; तथा अपि—फिर भी; भक्तम्—भक्तों को; भजते—परवाह करता है; महा-ईश्वरः—भगवान्, परम नियन्ता।

हे मरीचि पुत्र! आप महापुरुष होने के कारण असुरों तथा देवताओं के प्रति समभाव रखते हैं क्योंकि वे या तो आपके शरीर से उत्पन्न हैं या आपके मन से। वे सतो, रजो तथा तमो गुणों में से किसी न किसी गुण से युक्त हैं। लेकिन परम नियन्ता भगवान् समस्त जीवों पर समदर्शी होते हुए

भी भक्तों पर विशेष रूप से अनकूल रहते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२९) में भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रिय: ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

यद्यपि भगवान् हर एक के प्रति समभाव रखने वाले हैं, किन्तु वे अपनी भक्ति करने वालों के प्रति विशेष उन्मुख रहते हैं। भगवान् कहते हैं—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति*—हे कुन्तीपुत्र! तुम घोषित कर दो कि मेरा भक्त कभी विनष्ट नहीं होता। अन्यत्र भगवान् कृष्ण कहते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या: पार्थ सर्वश: ॥

(*भगवद्गीता* ४.११)

वस्तुत: प्रत्येक व्यक्ति भगवान् को विभिन्न विधियों से प्रसन्न करना चाहता है, किन्तु प्रसन्न करने की उनकी विधि के अनुसार ही भगवान् उन्हें विभिन्न वर देते हैं। इस प्रकार अदिति ने अपने पति से विनय की कि चूँकि परम नियन्ता भी अपने भक्तों का पक्ष लेते हैं और कश्यप का अपना ही भक्तपुत्र इन्द्र संकट में है अतएव उन्हें चाहिए कि वे इन्द्र की को कृपा प्रदान करें।

तस्मादीश भजन्त्या मे श्रेयश्चिन्तय सुव्रत ।
हृतश्रियो हृतस्थानान्सपत्नै: पाहि न: प्रभो ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; ईश—हे परमशक्तिशाली नियन्ता; भजन्त्या:—अपने सेवक का; मे—मेरा; श्रेय:—कल्याण; चिन्तय—जरा विचार करें; सु-व्रत—हे भद्र; हृत-श्रिय:—ऐश्वर्यविहीन; हृत-स्थानान्—घर-बार से रहित; सपत्नै:—प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा; पाहि—रक्षा कीजिये; न:—हम सबकी; प्रभो—हे स्वामी।

अतएव हे भद्र स्वामी! अपनी दासी पर कृपा कीजिये। हमारे प्रतिद्वन्द्वी असुरों ने अब हमें ऐश्वर्य तथा घर-बार से विहीन कर दिया है। कृपा करके हमें संरक्षण प्रदान कीजिये।

तात्पर्य : देवताओं की माता अदिति ने कश्यपमुनि से अनुरोध किया कि वे देवताओं को संरक्षण प्रदान करें। जब हम देवताओं का नाम लेते हैं, तो उसमें उनकी माता भी सम्मिलित रहती हैं।

पैर्विवासिता साहं मग्ना व्यसनसागरे ।

ऐश्वर्यं श्रीर्यशः स्थानं हृतानि प्रबलैर्मम ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

परैः—अपने शत्रुओं द्वारा; विवासिता—अपने अपने घरों से निकाली जाकर; सा—वही; अहम्—मैं; मग्ना—डूबी हुई; व्यसन-सागरे—कष्ट के समुद्र में; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; श्रीः—सौन्दर्य; यशः—कीर्ति; स्थानम्—स्थान; हृतानि—छीने गये; प्रबलैः—अत्यन्त शक्तिशाली; मम—मेरा।

हमारे अत्यन्त शक्तिशाली शत्रु असुरों ने हमारा ऐश्वर्य, हमारा सौन्दर्य, हमारा यश यहाँ तक कि हमारा घर भी हमसे छीन लिया है। निस्सन्देह, हमें अब वनवास दे दिया गया है और हम विपत्ति के सागर में डूब रहे हैं।

यथा तानि पुनः साधो प्रपद्येरन्ममात्मजाः ।
तथा विधेहि कल्याणं धिया कल्याणकृत्तम ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; तानि—हमारी सारी खोई वस्तुओं को; पुनः—फिर से; साधो—हे साधु पुरुष; प्रपद्येरन्—पुनः प्राप्त कर सकें; मम—मेरा; आत्मजाः—सन्तानें, पुत्र; तथा—उसी प्रकार; विधेहि—कृपा करके करें; कल्याणम्—कल्याण; धिया—विचारार्थ; कल्याण-कृत्-तम—हमारा कल्याण करने वाले सर्वोत्तम व्यक्ति आप।

हे श्रेष्ठ साधु, हे कल्याण करने वाले परम श्रेष्ठ! हमारी स्थिति पर विचार करें और मेरे पुत्रों को ऐसा वर दें जिससे वे अपनी खोई हुई वस्तुएँ फिर से प्राप्त कर सकें।

श्रीशुक उवाच

एवमभ्यर्थितोऽदित्या कस्तामाह स्मयन्निव ।
अहो मायाबलं विष्णोः स्नेहबद्धमिदं जगत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार से; अभ्यर्थितः—प्रार्थना किये जाने पर; अदित्या—अदिति द्वारा; कः—कश्यपमुनि ने; ताम्—उससे; आह—कहा; स्मयन्—मुस्काते हुए; इव—के सदृश; अहो—ओह; माया-बलम्—माया का प्रभाव; विष्णोः—विष्णु की; स्नेह-बद्धम्—इस स्नेह से प्रभावित; इदम्—यह; जगत्—सारा संसार।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : जब अदिति ने कश्यपमुनि से इस प्रकार प्रार्थना की तो वे कुछ मुस्काये और उन्होंने कहा "ओह! भगवान् विष्णु की माया कितनी प्रबल है, जिससे सारा संसार बच्चों के स्नेह से बँधा है।"

तात्पर्य : कश्यपमुनि अपनी पत्नी के कष्ट के प्रति निश्चित रूप से सहानुभूति रखते थे; फिर भी वे चकित थे कि सारा संसार स्नेह से किस प्रकार प्रभावित है।

क्व देहो भौतिकोऽनात्मा क्व चात्मा प्रकृतेः परः ।

कस्य के पतिपुत्राद्या मोह एव हि कारणम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

क्व—कहाँ है; देहः—यह भौतिक शरीर; भौतिकः—पाँच तत्त्व से बना; अनात्मा—जो आत्मा नहीं है; क्व—कहाँ है; च—भी; आत्मा—आत्मा; प्रकृतेः—भौतिक जगत के प्रति; परः—दिव्य; कस्य—किसका; के—कौन है; पति—पति; पुत्र-आद्याः—अथवा पुत्र इत्यादि; मोहः—मोह; एव—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही; कारणम्—कारण।

कश्यपमुनि ने आगे कहा : यह पाँच तत्त्वों से बना भौतिक शरीर है क्या? यह आत्मा से भिन्न है। निस्सन्देह, आत्मा उन भौतिक तत्त्वों से सर्वथा भिन्न है जिनसे यह शरीर बना हुआ है। किन्तु शारीरिक आसक्ति के कारण ही किसी को पति या पुत्र माना जाता है। ये मोहमय सम्बन्ध अज्ञान के कारण उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : आत्मा या जीव निश्चय ही शरीर से भिन्न है, जो पाँच भौतिक तत्त्वों का मेल है। यह सीधा-सादा तथ्य है, किन्तु यह तब तक समझ में नहीं आता जब तक किसी को आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त न हो। कश्यपमुनि अपनी पत्नी से स्वर्गलोक में मिले थे, किन्तु सारे ब्रह्माण्ड में तथा इस पृथ्वी पर भी यही एक भ्रान्त धारणा फैली हुई है। जीवों की विभिन्न कोटियाँ होती हैं, किन्तु उनमें से लगभग सभी देहात्मबुद्धि के वशीभूत होते हैं। दूसरे शब्दों में, इस भौतिक संसार के सारे जीव आध्यात्मिक शिक्षा से न्यूनाधिक विहीन होते हैं। किन्तु वैदिक सभ्यता तो आध्यात्मिक शिक्षा पर टिकी है और यही आध्यात्मिक शिक्षा वह विशेष मूलाधार है, जिस पर अर्जुन से *भगवद्गीता* का प्रवचन किया गया था। *भगवद्गीता* के प्रारम्भ में कृष्ण अर्जुन को यह समझने का उपदेश देते हैं कि आत्मा शरीर से भिन्न है—

देहिनोऽस्मिन यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

"जिस तरह देहधारी आत्मा इस शरीर में बचपन से युवावस्था तथा फिर वृद्धावस्था में जाता है उसी तरह मृत्यु के समय आत्मा किसी दूसरे शरीर में चला जाता है। आत्मसिद्ध जीव ऐसे परिवर्तन से मोह-ग्रस्त नहीं होता।" (*भगवद्गीता* २.१३)। दुर्भाग्यवश आधुनिक मानव सभ्यता में इस आध्यात्मिक शिक्षा का नितान्त अभाव है। कोई भी अपने असली हित को नहीं समझता जो भौतिक देह में नहीं अपितु आत्मा में निहित रहता है। शिक्षा का अर्थ है आध्यात्मिक शिक्षा। आध्यात्मिक शिक्षा के बिना देहात्मबुद्धि में रहकर कठिन श्रम करना पशु के समान जीवन बिताना है। *नायं देहो देहभाजां नृलोके कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां ये* (*भागवत* ५.५.१)। लोग आत्मा के बारे में शिक्षा की परवाह न

करते हुए केवल शारीरिक सुविधाओं के लिए कठिन श्रम करते हैं। इस प्रकार वे अत्यन्त संकटाकीर्ण सभ्यता में रह रहे हैं क्योंकि यह तथ्य है कि आत्मा को एक शरीर से दूसरे में देहान्तर करना होता है (*तथा देहान्तरप्राप्तिः*)। आध्यात्मिक शिक्षा के बिना लोग अंधकार में रहते हैं और वे यह नहीं जानते कि इस देह के विनष्ट होने पर उनका क्या होगा। वे अन्धे बनकर काम करते हैं और अन्धे नेता ही उनका मार्गदर्शन करते हैं। *अन्धा यथान्धैरुपनीयमानास्तेऽपीशतन्त्र्‍याम् उरुदाम्नि बद्धाः* (*भागवत* ७.५.३१)। मूर्ख व्यक्ति यह नहीं जानता कि वह पूरी तरह भौतिक प्रकृति के बन्धन में है और मृत्यु के बाद प्रकृति उस पर एक विशेष प्रकार की देह थोपेगी जिसे उसे स्वीकार करना होगा। वह यह नहीं जानता कि भले ही इस वर्तमान शरीर में वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्यक्ति क्यों न हो, किन्तु हो सकता है कि अगले जन्म में उसे प्रकृति के गुणों अन्तर्गत अपने कार्यों से अज्ञान के कारण पशु या वृक्ष का शरीर धारण करना पड़े। अतएव कृष्णभावनामृत आन्दोलन सारे जीवों को आध्यात्मिक शरीर का असली ज्ञान प्रदान करने का प्रयास कर रहा है। इस आन्दोलन को समझ पाना कठिन नहीं है और लोगों को चाहिए कि इसका लाभ उठायें क्योंकि यह उन्हें अनुत्तरदायित्वपूर्ण संकटमय जीवन से बचा लेगा।

उपतिष्ठस्व पुरुषं भगवन्तं जनार्दनम् ।
सर्वभूतगुहावासं वासुदेवं जगद्गुरुम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

उपतिष्ठस्व—पूजने का प्रयास करो; पुरुषम्—परम पुरुष को; भगवन्तम्—भगवान् को; जनार्दनम्—समस्त शत्रुओं का वध कर सकने वाले को; सर्व-भूत-गुहा-वासम्—हर एक के हृदय में वास करने वाले; वासुदेवम्—वसुदेव के पुत्र, सर्वव्यापी वासुदेव कृष्ण को; जगत्-गुरुम्—सारे संसार के गुरु तथा शिक्षक को।.

हे अदिति! तुम उन भगवान् की भक्ति में लगो जो हर एक के स्वामी हैं, जो हर एक के शत्रुओं का दमन करने वाले हैं तथा जो हर एक के हृदय के भीतर आसीन रहते हैं। वे ही परम पुरुष, श्रीकृष्ण या वासुदेव, सब को शुभ वरदान दे सकते हैं क्योंकि वे विश्व के स्वामी हैं।

तात्पर्य : कश्यपमुनि ने इन शब्दों के द्वारा अपनी पत्नी को शान्त करना चाहा। अदिति ने अपने भौतिकतावादी पति से याचना की थी। निस्सन्देह, यह अति उत्तम है लेकिन वास्तव में किसी का भौतिकतावादी सम्बन्धी उसकी कोई भलाई नहीं कर सकता। यदि कोई भलाई की जा सकती है, तो वह भगवान् वासुदेव द्वारा ही की जाती है। इसलिए कश्यपमुनि ने अपनी पत्नी अदिति को उपदेश दिया कि वह भगवान् वासुदेव की पूजा करनी शुरू कर दे जो हर एक के हृदय के भीतर आसीन हैं। वे

सबके मित्र हैं और जनार्दन कहे जाते हैं क्योंकि वे समस्त शत्रुओं का विनाश कर सकते हैं। भौतिक प्रकृति के तीन गुण हैं—सतो, रजो तथा तमो और प्रकृति के भी ऊपर दूसरा जगत है, जो *शुद्ध-सत्त्व* कहलाता है। भौतिक जगत में सतोगुण सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, किन्तु भौतिक कल्मष के कारण कभी-कभी सतोगुण भी रजो तथा तमो गुणों से पराजित हो जाता है। किन्तु जब कोई व्यक्ति इन गुणों की स्पर्धा को पार करके अपने को भक्ति में लगाता है, तो वह प्रकृति के तीनों गुणों से ऊपर उठ जाता है। उस दिव्य अवस्था में वह शुद्ध चेतना को प्राप्त होता है। *सत्त्वं विशुद्धं वसुदेव शब्दितम्* (*भागवत* ४.३.२३)। भौतिक प्रकृति के ऊपर वह पद है, जो वसुदेव कहलाता है अर्थात् भौतिक कल्मष से मुक्ति। केवल इसी पद पर मनुष्य को भगवान् वासुदेव की अनुभूति हो सकती है। इस प्रकार वसुदेव पद आध्यात्मिक आवश्यकता की पूर्ति करता है। *वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।* जब मनुष्य को वासुदेव अर्थात् भगवान् की अनुभूति हो जाती है, तो वह अत्यन्त महान् बन जाता है।

जैसी कि *भगवद्गीता* (१०.१०) में पुष्टि हुई है, परमात्मा (वासुदेव) हर एक के हृदय में स्थित हैं। भगवान् कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

"जो लोग निरन्तर भक्ति में लगे रहते हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं उन्हें मैं वह बुद्धि देता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकें।"

ईश्वर सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति

"हे अर्जुन! भगवान् हर एक के हृदय में स्थित हैं" (*भगवद्गीता* १.६१)

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

"ऋषिगण मुझे समस्त यज्ञों तथा तपस्याओं का चरम प्रयोजन, समस्त लोकों तथा देवताओं का परमेश्वर तथा समस्त जीवों का उपकारी तथा शुभचिन्तक जानकर भौतिक क्लेशों के चंगुल से शान्ति प्राप्त करते हैं" (*भगवद्गीता* ५.२९)

जब कभी कोई परेशान हो तो उसे वासुदेव कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए।

वे भक्त को इन सारी कठिनाइयों को पार करने तथा भगवद्धाम जाने की बुद्धि प्रदान करेंगे। कश्यपमुनि ने अपनी पत्नी को वासुदेव कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने की सलाह दी जिससे उसकी सारी समस्याएँ सरलता से हल हो जाँय। इस प्रकार कश्यपमुनि एक आदर्श गुरु थे। वे इतने मूर्ख नहीं थे कि वे अपने आप को ईश्वर के समकक्ष एक महापुरुष के रूप में प्रस्तुत करते। वस्तुत: वे प्रामाणिक गुरु थे क्योंकि उन्होंने अपनी पत्नी को वासुदेव के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने की सलाह दी। जो व्यक्ति अपने अधीनस्थ या शिष्य को वासुदेव की पूजा करने का उपदेश देता है, वह सचमुच प्रामाणिक गुरु है। इस प्रसंग में *जगद्गुरुम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कश्यपमुनि ने झूठे ही अपने को जगद्गुरु घोषित नहीं किया यद्यपि वे वास्तव में जगद्गुरु थे क्योंकि उन्होंने वासुदेव के पक्ष का समर्थन किया। वस्तुत: वासुदेव ही जगद्गुरु हैं जैसाकि यहाँ स्पष्ट कहा गया है (*वासुदेवं जगद्गुरुम्*)। जो वासुदेव के उपदेशों की अर्थात् *भगवद्गीता* की शिक्षा देता है, वह *वासुदेवं जगद्गुरुम्* जैसा ही होता है। किन्तु जब कोई इस उपदेश की यथारूप शिक्षा नहीं देता किन्तु अपने आपको जगद्गुरु घोषित करता है, तो वह जनता को मात्र ठगता है। कृष्ण ही जगद्गुरु हैं और जो कृष्ण की ओर से यथारूप में कृष्ण के उपदेश की शिक्षा देता है उसे जगद्गुरु माना जा सकता है। जो अपने सिद्धान्त स्वयं गढ़ता है उसे जगद्गुरु नहीं माना जा सकता; वह झूठे ही जगद्गुरु बन बैठता है।

स विधास्यति ते कामान्हरिर्दीनानुकम्पनः ।
अमोघा भगवद्भक्तिर्नेतरेति मतिर्मम ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (वासुदेव); विधास्यति—निश्चय ही पूरा करेगा; ते—तुम्हारी; कामान्—इच्छाएँ; हरिः—भगवान्; दीन—दुखिया पर; अनुकम्पनः—अत्यन्त कृपालु; अमोघा—अच्युत; भगवत्-भक्तिः—भगवान् की भक्ति; न—नहीं; इतरा—भगवद्भक्ति के अतिरिक्त कुछ भी; इति—इस प्रकार; मतिः—अभिमत; मम—मेरा।

दीनों पर अत्यन्त दयालु भगवान् तुम्हारी सारी इच्छाओं को पूरा करेंगे क्योंकि उनकी भक्ति अच्युत है। भक्ति के अतिरिक्त अन्य सारी विधियाँ व्यर्थ हैं। ऐसा मेरा मत है।

तात्पर्य : मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं—*अकाम, मोक्षकाम* तथा *सर्वकाम।* जो इस जगत से मोक्ष पाना चाहता है, वह *मोक्षकाम* है; जो इस जगत का पूरा-पूरा भोग करना चाहता हे वह *सर्वकाम* कहलाता है, किन्तु जिसने सारी इच्छाएँ पहले ही पूरी कर ली हैं और अब जिसे कोई भौतिक इच्छा नहीं सताती वह अकाम कहलाता है। भक्त को कोई इच्छा नहीं होती। *सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन*

निर्मलम्। वह शुद्ध है और भौतिक इच्छाओं से मुक्त होता है। मोक्षकामी परब्रह्म में विलीन होकर मोक्ष प्राप्त करना चाहता है अतएव ब्रह्म में विलीन होने की इस इच्छा के कारण वह अभी शुद्ध नहीं हुआ होता और जहाँ *मोक्षकामी* ही अशुद्ध हों वहाँ कर्मियों के विषय में क्या कहा जाये जिन्हें अनेक इच्छाओं की पूर्ति करनी होती है? फिर भी शास्त्रों का कथन है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

''चाहे कोई सब कुछ चाहता हो या कुछ भी न चाहता हो या वह भगवान् में विलीन होने की इच्छा करता हो, वह बुद्धिमान् तभी है यदि वह दिव्य प्रेमाभक्ति द्वारा भगवान् कृष्ण की पूजा करता है'' (*भागवत* २.३.१०)।

कश्यपमुनि ने देखा कि उनकी पत्नी अदिति में अपने पुत्रों के भौतिक कल्याण के लिए कुछ इच्छाएँ हैं फिर भी उन्होंने उन्हें भगवान् की भक्ति करने की सलाह दी। दूसरे शब्दों में, चाहे कोई कर्मी हो या ज्ञानी अथवा योगी हो या भक्त, उसे सदा वासुदेव के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए और उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति करनी चाहिए जिससे उसकी सारी इच्छाएँ पूरी हो सकें। कृष्ण *दीन-अनुकम्पन* हैं—वे सब पर परम दयालु रहते हैं। अतएव यदि कोई अपनी भौतिक इच्छाएँ पूरी करना चाहता है, तो कृष्ण उसकी सहायता करते हैं। निस्सन्देह, यदि भक्त अत्यन्त निष्ठावान् होता है, तो भगवान् कभी कभी उस पर विशेष कृपा करके उसकी भौतिक इच्छाएँ पूरी करने से इनकार कर देते हैं और सीधे उसे अनन्य शुद्ध भक्ति का आशीर्वाद देते हैं। *चैतन्यचरितामृत* में (आदि २२.३-३९) कहा गया है—

कृष्ण कहे—'आमा भजे, मागे विषय-सुख

अमृत छाडि' विष मागे—एइ बड़ मूर्ख

आमि—विज्ञ, एइ मूर्खे 'विषय' केने दिब?

स्वचरणामृत दिया 'विषय' भुलाइब

कृष्ण कहते हैं ''यदि कोई मेरी दिव्य प्रेमा-भक्ति में लगा रहकर साथ ही भौतिक भोग का ऐश्वर्य चाहता है, तो वह बहुत बड़ा मूर्ख है। वह निस्सन्देह ऐसे पुरुष के तुल्य है, जो विषपान करने के लिए

अमृत छोड़ देता है। चूँकि मैं अत्यन्त बुद्धिमान् हूँ अतएव मैं इस मूर्ख को भौतिक सम्पन्नता क्यों दूँ? मैं तो उसे अपने चरणकमलों की शरण का अमृत ग्रहण करने तथा मोहमय भौतिक भोग को भूलने के लिए प्रेरित करूँगा।'' यदि भक्त किसी भौतिक इच्छा के साथ-साथ कृष्ण के चरणकमलों में निष्ठापूर्वक अपने मन को लगाना चाहता है, तो कृष्ण उसे सीधे शुद्ध भक्ति प्रदान कर सकते हैं और उसकी सारी भौतिक इच्छाओं तथा सम्पत्ति को हर सकते हैं। यह भक्तों के प्रति भगवान् का विशेष अनुग्रह होता है। अन्यथा यदि कोई कृष्ण की भक्ति करता है, किन्तु फिर भी भौतिक इच्छाएँ पूरी करना चाहता है, तो वह ध्रुव महाराज के ही समान सारी भौतिक इच्छाओं से मुक्त हो सकता है, किन्तु इसमें कुछ समय लग सकता है किन्तु यदि कोई निष्ठावान् भक्त मात्र कृष्ण के चरणकमलों को चाहता है, तो कृष्ण उसे शुद्धभक्ति प्रदान करते हैं।

श्रीअदितिरुवाच
केनाहं विधिना ब्रह्मन्नुपस्थास्ये जगत्पतिम् ।
यथा मे सत्यसङ्कल्पो विदध्यात्स मनोरथम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

श्री-अदितिः उवाच—श्रीमती अदिति प्रार्थना करने लगीं; केन—किसके द्वारा; अहम्—मैं; विधिना—विधानों द्वारा; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; उपस्थास्ये—प्रसन्न कर सकती हूँ; जगत्-पतिम्—ब्रह्माण्ड के स्वामी, जगन्नाथ को; यथा—जिससे; मे—मेरा; सत्य-सङ्कल्पः—इच्छापूर्ति; विदध्यात्—पूरा करे; सः—वह (भगवान्); मनोरथम्—इच्छाएँ, कामनाएँ।

श्रीमती अदिति ने कहा : हे ब्राह्मण! मुझे वह विधि-विधान बतलायें जिससे मैं जगन्नाथ की पूजा कर सकूँ और भगवान् मुझसे प्रसन्न होकर मेरी समस्त इच्छाओं को पूरा कर दें।

तात्पर्य : कहा गया है ''आपन चेती होत नहिं प्रभु चेती तत्काल।'' इस तरह कोई मनुष्य अनेक वस्तुएँ चाह सकता है, किन्तु जब तक भगवान् इन इच्छाओं को पूरा नहीं करते तब तक वे पूरी नहीं हो पातीं। इच्छा की पूर्ति सत्यसङ्कल्प कहलाती है। यह शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अदितिने अपने आप को आप को अपने पति की दया पर छोड़ दिया जिससे वे उसे ऐसे आदेश दे सकें जिनसे वह भगवान् की पूजा करके अपनी सारी इच्छाओं की पूर्ति कर सके। शिष्य को पहले तय करना चाहिए कि मैं परमेश्वर की पूजा करूँगा; तभी गुरु अपने शिष्य को सही निर्देश देगा। कोई अपने गुरु के ऊपर शासन नहीं चला सकता जिस प्रकार रोगी वैद्य से किसी दवा-विशेष की मांग नहीं कर सकता। यही भगवान् की पूजा का शुभारम्भ है। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१६) में पुष्टि की गई है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

'हे भरतश्रेष्ठ! चार प्रकार के शुद्ध लोग मेरी भक्ति करते हैं—आर्त, धन के इच्छुक, जिज्ञासु तथा ब्रह्मज्ञान की खोज करने वाले। अदिति *आर्त* अर्थात् विपदाग्रस्त थीं। वे अत्यन्त दुखी थीं क्योंकि उनके पुत्र देवतागण हर वस्तु से वंचित हो चुके थे। अतः वे अपने पति कश्यपमुनि के निर्देशन में भगवान् की शरण लेना चाह रही थी।

आदिश त्वं द्विजश्रेष्ठ विधिं तदुपधावनम् ।
आशु तुष्यति मे देवः सीदन्त्याः सह पुत्रकैः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

आदिश—मुझे उपदेश दें; त्वम्—हे मेरे पति; द्विज-श्रेष्ठ—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ; विधिम्—विधि-विधानों को; तत्—भगवान्; उपधावनम्—पूजा की विधि; आशु—शीघ्र; तुष्यति—प्रसन्न हो जाता है; मे—मुझ पर; देवः—भगवान्; सीदन्त्याः—अब शोक करते; सह—साथ; पुत्रकैः—अपने सारे पुत्र देवताओं के।

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! कृपा करके मुझे भगवान् की भक्तिपूर्वक पूजा की पूर्ण विधि का उपदेश दें जिससे भगवान् मुझ पर तुरन्त ही प्रसन्न हो जायें और मुझे मेरे पुत्रों सहित इस अत्यन्त संकटपूर्ण परिस्थिति से उबार लें।

तात्पर्य : कभी-कभी अल्पज्ञ व्यक्ति यह पूछते हैं कि क्या आध्यात्मिक उन्नति हेतु भक्ति करने के लिए उन्हें गुरु के पास जाकर शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। इसका उत्तर यहाँ दिया गया है—यहीं क्यों, *भगवद्गीता* में भी जहाँ अर्जुन ने कृष्ण को अपना गुरु मान लिया हैं (*शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्*)। वेदों का भी यह उपदेश है—*तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्*—यदि कोई सचमुच आध्यात्मिक जीवन में उन्नति का इच्छुक है, तो उसे समुचित मार्गदर्शन के लिए गुरु बनाना चाहिए। भगवान् कहते हैं कि मनुष्य को आचार्य की पूजा करनी चाहिए क्योंकि वह भगवान् का प्रतिनिधि होता है (*आचार्यं मां विजानीयात्*)। मनुष्य को यह अवश्य समझ लेना चाहिए। *चैतन्यचरितामृत* में कहा गया है कि गुरु भगवान् की अभिव्यक्ति होता है। अतएव शास्त्रों में प्राप्य सभी प्रमाणों तथा भक्तों के व्यावहारिक आचरण के आधार पर मनुष्य को कोई बनाना चाहिए। अदिति ने अपने पति को अपना गुरु मान लिया जिससे वे उसका मार्गदर्शन कर सकें कि किस तरह भगवान् की पूजा करके आध्यात्मिक चेतना या भक्ति में प्रगति करनी चाहिए।

श्रीकश्यप उवाच

एतन्मे भगवान्पृष्टः प्रजाकामस्य पद्मजः ।
यदाह ते प्रवक्ष्यामि व्रतं केशवतोषणम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

श्री-कश्यपः उवाच—कश्यपमुनि ने कहा; एतत्—यह; मे—मेरे द्वारा; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; पृष्टः—पूछे जाने पर; प्रजा-कामस्य—सन्तान की इच्छा से; पद्म-जः—कमल पुष्प से उत्पन्न ब्रह्माजी ने; यत्—जो भी; आह—कहा; ते—तुमको; प्रवक्ष्यामि—बताऊँगा; व्रतम्—पूजा के रूप में; केशव-तोषणम्—जिसमें भगवान् केशव तुष्ट होते हैं।

श्री कश्यपमुनि ने कहा : जब मुझे सन्तान की इच्छा हुई तो मैंने कमलपुष्प से उत्पन्न होने वाले ब्रह्माजी से जिज्ञासा की। अब मैं तुम्हें वही विधि बताऊँगा जिसका उपदेश ब्रह्माजी ने मुझे दिया था और जिससे भगवान् केशव तुष्ट होते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर भक्तियोग की विधि की और अधिक व्याख्या की गई है। कश्यपमुनि अदिति को उसी विधि का उपदेश करना चाहते थे जिसकी संस्तुति ब्रह्माजी द्वारा भगवान् को तुष्ट करने के लिए की गई थी। यह महत्त्वपूर्ण है। गुरु अपने शिष्य को उपदेश देने के लिए किसी नई विधि का निर्माण नहीं करता। शिष्य अपने गुरु से ऐसी प्रामाणिक विधि प्राप्त करता है, जो उन्हें उनके गुरु द्वारा प्राप्त हुई होती है। यह शिष्य-परम्परा कहलाती है (*एवं परम्परा-प्राप्तं इमं राजर्षयो विदुः*)। भक्तियोग प्राप्त करने की यह प्रामाणिक वैदिक विधि है, जिससे भगवान् प्रसन्न किये जाते हैं। अतएव प्रामाणिक गुरु के पास जाना अनिवार्य है। प्रामाणिक गुरु वह है, जिसे अपने गुरु की कृपा प्राप्त हुई होती है। इसी तरह वह गुरु भी प्रामाणिक होता है क्योंकि उसे अपने गुरु की कृपा प्राप्त हुई होती है। यह *परम्परा* पद्धति कहलाती है। इस परम्परा पद्धति का पालन किये बिना गुरु से प्राप्त किए हुए मंत्र का उच्चारण निरर्थक होता है। आजकल न जाने कितने धूर्त गुरु हैं, जो आध्यात्मिक उन्नति के लिए नहीं, अपितु भौतिक उन्नति के लिए अपने मंत्र गढ़ लेते हैं। किन्तु यदि मंत्र गढ़ा हुआ रहता है, तो वह कभी सफल नहीं हो सकता। मंत्रों में तथा भक्तियोग में विशेष शक्ति होती है बशर्ते कि उन्हें प्रामाणिक व्यक्ति से प्राप्त किया जाये।

फाल्गुनस्यामले पक्षे द्वादशाहं पयोव्रतम् ।
अर्चयेदरविन्दाक्षं भक्त्या परमयान्वितः ॥ २५॥

शब्दार्थ

फाल्गुनस्य—फाल्गुन मास (फरवरी-मार्च) को; अमले—शुक्लपक्ष; पक्षे—पखवारे में; द्वादश-अहम्—बारह दिनों तक, जिसका अन्त द्वादशी के दिन होता है; पयः-व्रतम्—केवल दूध ग्रहण करने का व्रत; अर्चयेत्—पूजा करे; अरविन्द-अक्षम्—कमलनयन भगवान् की; भक्त्या—भक्ति के साथ; परमया—शुद्ध; अन्वितः—से युक्त।

फाल्गुन मास (फरवरी-मार्च) के शुक्लपक्ष में द्वादशी तक के बारह दिनों तक मनुष्य को केवल दूध पर आश्रित रहकर व्रत रखना चाहिए और भक्तिपूर्वक कमलनयन भगवान् की पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : भक्तिपूर्वक भगवान् विष्णु की पूजा करने का अर्थ है अर्चना मार्ग का अनुसरण करना।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

मनुष्य को भगवान् विष्णु या कृष्ण के अर्चाविग्रह की स्थापना करके, उन्हें वस्त्राभूषित करके, फूलों की मालाओं से अलंकृत करके, पूजन करना चाहिए और फल, फूल तथा घी-शक्कर और अन्न से तैयार किए गए सभी प्रकार के भोजन अर्पित करने चाहिए। और घंटी बजाते हुए उसकी आरती करनी चाहिए और दीप जलाकर अगुरु इत्यादि समर्पित करना चाहिए। यह भगवान् की पूजा (अर्चना) कहलाती है। यहाँ पर संस्तुति की गई है कि केवल दूध पीकर व्रत रखा जाये। यह पयोव्रत कहलाता है। जिस प्रकार हम लोग सामान्यतया एकादशी को अन्न न खाकर भक्ति करते हैं उसी तरह यह संस्तुति की जाती है कि द्वादशी के दिन दूध के अतिरिक्त और कुछ न खाया पिया जाये। *पयोव्रत* तथा भगवान् की अर्चन भक्ति शुद्ध भक्ति-भाव (*भक्त्या*) से की जानी चाहिए। भक्ति के बिना भगवान् की पूजा नहीं की जा सकती। *भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।* यदि कोई भगवान् को जानना चाहता है और भगवान् से सीधे जुड़ना चाहता है, तो वह यह जान कर कि वे क्या खाते हैं और किस तरह प्रसन्न होते हैं भक्तियोग का पालन करे। जैसी यहाँ पर भी संस्तुति की गई है—*भक्त्या परमयान्वितः*—मनुष्य को शुद्ध भक्ति से परिपूरित होना चाहिए।

सिनीवाल्यां मृदालिप्य स्नायात्क्रोडविदीर्णया ।
यदि लभ्येत वै स्त्रोतस्येतं मन्त्रमुदीरयेत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सिनीवाल्याम्—अमावस्या के दिन; मृदा—मिट्टी से; आलिप्य—शरीर में लेप करके; स्नायात्—नहाए; क्रोड-विदीर्णया—सूअर की दाढ़ से खोदी हुई; यदि—यदि; लभ्येत—उपलब्ध हो; वै—निस्सन्देह; स्त्रोतसि—प्रवाहमान नदी में; एतम् मन्त्रम्—इस मंत्र को; उदीरयेत्—उच्चारण करे।

यदि सूअर द्वारा खोदी गई मिट्टी उपलब्ध हो तो अमावस्या के दिन अपने शरीर पर इस मिट्टी का लेप करे और बहती नदी में स्नान करे। स्नान करते समय निम्नलिखित मंत्र का उच्चारण करे।

त्वं देव्यादिवराहेण रसाया: स्थानमिच्छता ।
उद्धृतासि नमस्तुभ्यं पाप्मानं मे प्रणाशय ॥ २७॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; देवि—हे माता पृथ्वी; आदि-वराहेण—वराह के रूप में भगवान् द्वारा; रसाया:—ब्रह्माण्ड के निचले भाग से; स्थानम्—स्थान; इच्छता—चाहते हुए; उद्धृता असि—ऊपर उठाई गई; नम: तुभ्यम्—तुम्हें मेरा नमस्कार है; पाप्मानम्—सारे पापकर्म तथा उनके फल; मे—मेरे; प्रणाशय—विनष्ट कर दो।

हे माता पृथ्वी! तुम्हारे द्वारा ठहरने के लिए स्थान पाने की इच्छा करने पर भगवान् ने वराह रूप में तुम्हें ऊपर निकाला था। मैं प्रार्थना करता हूँ कि कृपा करके मेरे पापी जीवन के सारे फलों को आप विनष्ट कर दें। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

निर्वर्तितात्मनियमो देवमर्चेत्समाहित: ।
अर्चायां स्थण्डिले सूर्ये जले वह्नौ गुरावपि ॥ २॥

शब्दार्थ

निर्वर्तित—समाप्त; आत्म-नियम:—प्रक्षालन, मंत्रोच्चारण इत्यादि नैत्यिक कर्म; देवम्—भगवान् को; अर्चेत्—पूजे; समाहित:—पूर्ण मनोयोग से; अर्चायाम्—अर्चाविग्रहों को; स्थण्डिले—वेदी को; सूर्ये—सूर्य को; जले—जल को; वह्नौ—अग्नि को; गुरौ—गुरु को; अपि—निस्सन्देह।

तत्पश्चात् वह अपने नित्य तथा नैमित्तिक आध्यात्मिक कार्य करे और तब बड़े ही मनोयोग से भगवान् के अर्चाविग्रह की पूजा करे। साथ ही वेदी, सूर्य, जल, अग्नि तथा गुरु को भी पूजे।

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महीयसे ।
सर्वभूतनिवासाय वासुदेवाय साक्षिणे ॥ २९॥

शब्दार्थ

नम: तुभ्यम्—मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ; भगवते—भगवान् को; पुरुषाय—परम पुरुष; महीयसे—सभी पुरुषों में श्रेष्ठ; सर्व-भूत-निवासाय—उस व्यक्ति को जो हर एक के हृदय में वास करता है; वासुदेवाय—भगवान् को जो सर्वत्र निवास करता है; साक्षिणे—सबके साक्षी।

हे भगवान्, हे महानतम, हे सब के हृदय में वास करने वाले तथा जिनमें सभी जीव वास करते हैं, हे प्रत्येक वस्तु के साक्षी, हे सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वव्यापी पुरुष वासुदेव! मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

**नमोऽव्यक्ताय सूक्ष्माय प्रधानपुरुषाय च ।
चतुर्विंशद्गुणज्ञाय गुणसङ्ख्यानहेतवे ॥ ३० ॥**

शब्दार्थ

नमः—मैं आपको नमस्कार करता हूँ; अव्यक्ताय—जो भौतिक आँखों से नहीं देखे जाते; सूक्ष्माय—दिव्य; प्रधान-पुरुषाय—परम पुरुष को; च—भी; चतुः-विंशत्—चौबीस; गुण-ज्ञाय— तत्त्वों के ज्ञाता को; गुण-सङ्ख्यान—सांख्ययोग पद्धति का; हेतवे—मूल कारण।

हे परम पुरुष! मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण आप भौतिक आँखों से कभी नहीं दिखते। आप चौबीस तत्त्वों के ज्ञाता हैं और आप सांख्य योगपद्धति के सूत्रपात-कर्ता हैं।

तात्पर्य : *चतुर्विंशद् गुण* अर्थात् चौबीस तत्त्व इस प्रकार हैं—पाँच स्थूल तत्त्व (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश), तीन सूक्ष्म तत्त्व (मन, बुद्धि तथा अहंकार), दस इन्द्रियाँ (पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ), पाँच इन्द्रिय-विषय, तथा दूषित चेतना। ये *सांख्ययोग* के विषय हैं जिसका सूत्रपात भगवान् कपिलदेव द्वारा हुआ। इसी *सांख्ययोग* की स्थापना पुनः एक अन्य कपिल द्वारा हुई, किन्तु वे नास्तिक थे और उनकी पद्धति प्रामाणिक नहीं मानी जाती।

**नमो द्विशीर्ष्णे त्रिपदे चतुःशृङ्गाय तन्तवे ।
सप्तहस्ताय यज्ञाय त्रयीविद्यात्मने नमः ॥ ३१ ॥**

शब्दार्थ

नमः—मैं आपको नमस्कार करता हूँ; द्वि-शीर्ष्णे—दो सिरों वाले; त्रि-पदे—तीन पाँव वाले; चतुः-शृङ्गाय—चार सींगों वाले; तन्तवे—विस्तार करने वाले; सप्त-हस्ताय—सात हाथों वाले; यज्ञाय—यज्ञ पुरुष को; त्रयी—वैदिक अनुष्ठानों के तीन गुण; विद्या-आत्मने—समस्त ज्ञान के स्वरूप भगवान् को; नमः—नमस्कार करता हूँ।

हे भगवान्! मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ जिनके दो सिर (प्रायणीय तथा उदानीय), तीन पाँव (सवन-त्रय), चार सींग (चार वेद) तथा सात हाथ (सप्त छन्द यथा गायत्री) हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ जिनका हृदय तथा आत्मा तीनों वैदिक काण्डों (कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड तथा उपासना काण्ड) हैं तथा जो इन काण्डों को यज्ञ के रूप में विस्तार देते हैं।

**नमः शिवाय रुद्राय नमः शक्तिधराय च ।
सर्वविद्याधिपतये भूतानां पतये नमः ॥ ३२ ॥**

शब्दार्थ

नमः—मैं सादर नमस्कार करता हूँ; शिवाय—शिवजी नामक अवतार को; रुद्राय—रुद्र नामक अंश को; नमः—नमस्कार; शक्ति-धराय—समस्त शक्तियों के आगार; च—तथा; सर्व-विद्या-अधिपतये—समस्त ज्ञान के भंडार; भूतानाम्—सारे जीवों के; पतये—परम स्वामी को; नमः—नमस्कार करता हूँ।

हे शिव, हे रुद्र! मैं समस्त शक्तियों के आगार, समस्त ज्ञान के भंडार तथा प्रत्येक जीव के स्वामी आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् के अंश या अवतार को मनुष्य द्वारा नमस्कार करने की प्रथा है। शिवजी तमोगुण के अवतार हैं, जो प्रकृति के भौतिक गुणों में से एक है।

नमो हिरण्यगर्भाय प्राणाय जगदात्मने ।
योगैश्वर्यशरीराय नमस्ते योगहेतवे ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

नमः—मैं आपको नमस्कार करता हूँ; हिरण्यगर्भाय—चार सिरों वाले हिरण्यगर्भ अर्थात् ब्रह्मा के रूप में स्थित; प्राणाय—हर एक के जीवन-स्रोत; जगत्-आत्मने—सम्पूर्ण विश्व के परमात्मा; योग-ऐश्वर्य-शरीराय—ऐश्वर्य तथा योग शक्ति से पूर्ण शरीर वाले; नमः ते—आपको नमस्कार करता हूँ; योग-हेतवे—समस्त योगशक्ति के आदि स्वामी को।

हिरण्यगर्भ रूप में स्थित, जीवन के स्रोत, प्रत्येक जीव के परमात्मा स्वरूप आपको मैं सादर नमस्कार करता हूँ। आपका शरीर समस्त योग के ऐश्वर्य का स्रोत है। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

नमस्त आदिदेवाय साक्षिभूताय ते नमः ।
नारायणाय ऋषये नराय हरये नमः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

नमः ते—आपको सादर नमस्कार करता हूँ; आदि-देवाय—आदि भगवान् को; साक्षि-भूताय—प्रत्येक के हृदय के भीतर हर बात के साक्षी स्वरूप; ते—तुम्हें; नमः—नमस्कार करता हूँ; नारायणाय—नारायण का अवतार धारण करने वाले; ऋषये—ऋषि को; नराय—मनुष्य के अवतार; हरये—भगवान् को; नमः—मैं सादर नमस्कार करता हूँ।

मैं आदि भगवान्, प्रत्येक के हृदय में स्थित साक्षी तथा मनुष्य रूप में नर-नारायण ऋषि के अवतार आपको सादर नमस्कार करता हूँ। हे भगवान्! मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

नमो मरकतश्यामवपुषेऽधिगतश्रिये ।
केशवाय नमस्तुभ्यं नमस्ते पीतवाससे ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

नमः—मैं नमस्कार करता हूँ; मरकत-श्याम-वपुषे—जिनके शरीर का रंग मरकत मणि के समान श्यामल है; अधिगत-श्रिये—माता लक्ष्मी जिनके अधीन हैं; केशवाय—केशी असुर का वध करने वाले भगवान् केशव को; नमः तुभ्यम्—मैं आपको नमस्कार करता हूँ; नमः ते—पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ; पीत-वाससे—पीताम्बर वाले।

हे पीताम्बरधारी भगवान्! मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ। आपके शरीर का रंग मरकत मणि जैसा है और आप लक्ष्मीजी को पूर्णतः वश में रखने वाले हैं। हे भगवान् केशव! मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

त्वं सर्ववरदः पुंसां वरेण्य वरदर्षभ ।
अतस्ते श्रेयसे धीराः पादरेणुमुपासते ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; सर्व-वर-दः—सभी प्रकार का वरदान देने वाले; पुंसाम्—सारे जीवों को; वरेण्य—हे परम पूज्य; वर-द-ऋषभ—समस्त वरदान देने वालों में सर्वशक्तिमान; अतः—इस कारण से; ते—तुम्हारा; श्रेयसे—समस्त कल्याण के स्रोत; धीराः—अत्यन्त गम्भीर; पाद-रेणुम् उपासते—चरणकमलों की धूल को पूजते हैं।.

हे परम पूज्य भगवान्, हे वरदायकों में श्रेष्ठ! आप हर एक की इच्छाओं को पूरा कर सकते हैं अतएव जो धीर हैं, वे अपने कल्याण के लिए आपके चरणकमलों की धूल को पूजते हैं।

अन्ववर्तन्त यं देवाः श्रीश्च तत्पादपद्मयोः ।
स्पृहयन्त इवामोदं भगवान्मे प्रसीदताम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

अन्ववर्तन्त—भक्ति में रत; यम्—जिसको; देवाः—सारे देवता; श्रीः च—तथा लक्ष्मीजी; तत्-पाद-पद्मयोः—उन भगवान् के चरणकमलों का; स्पृहयन्तः—चाहते हुए; इव—सदृश; आमोदम्—दैवी आनन्द; भगवान्—भगवान्; मे—मुझ पर; प्रसीदताम्—प्रसन्न हों।.

सारे देवता तथा लक्ष्मीजी भी उनके चरणकमलों की सेवा में लगी रहती हैं। निस्सन्देह, वे उन चरणकमलों की सुगन्ध का आदर करते हैं। ऐसे भगवान् मुझ पर प्रसन्न हों।

एतैर्मन्त्रैर्हृषीकेशमावाहनपुरस्कृतम् ।
अर्चयेच्छ्रद्धया युक्तः पाद्योपस्पर्शनादिभिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

एतैः मन्त्रैः—इन मंत्रों के उच्चारण करने से; हृषीकेशम्—समस्त इन्द्रियों के स्वामी भगवान् को; आवाहन—बुलाना; पुरस्कृतम्—सभी प्रकार से सम्मान करते हुए; अर्चयेत्—पूजा करे; श्रद्धया—श्रद्धा तथा भक्ति के साथ; युक्तः—लगा हुआ; पाद्य-उपस्पर्शन-आदिभिः—पूजा की साज-सामग्री (पाद्य, अर्घ्य, आदि) द्वारा।.).

कश्यप मुनि ने आगे कहा : इन सभी मंत्रों के उच्चारण द्वारा भगवान् का श्रद्धा तथा भक्ति के साथ स्वागत करके एवं उन्हें पूजा की वस्तुएँ (पाद्य तथा अर्घ्य) अर्पित करके मनुष्य को केशव अर्थात् हृषीकेश भगवान् कृष्ण की पूजा करनी चाहिए।

अर्चित्वा गन्धमाल्याद्यैः पयसा स्नपयेद्विभुम् ।
वस्त्रोपवीताभरणपाद्योपस्पर्शनैस्ततः ।
गन्धधूपादिभिश्चार्चेद्द्वादशाक्षरविद्यया ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

अर्चित्वा—इस प्रकार पूजा करके; गन्ध-माल्य-आद्यैः—अगुरु, फूल की माला आदि के द्वारा.; पयसा—दूध से; स्नपयेत्—नहलाए; विभुम्—भगवान् को; वस्त्र—वस्त्र; उपवीत—जनेऊ; आभरण—गहने; पाद्य—चरणकमलों को धोने के लिए प्रयुक्त जल; उपस्पर्शनैः—स्पर्श द्वारा; ततः—तत्पश्चात्; गन्ध—सुगंध; धूप—धूपबत्ती; आदिभिः—इत्यादि से; च—तथा; अर्चेत्—पूजा करे; द्वादश-अक्षर-विद्यया—बारह अक्षरों वाले मंत्र से।

सर्वप्रथम भक्त को द्वादश अक्षर मंत्र का उच्चारण करना चाहिए और फूल की माला, अगुरु इत्यादि अर्पित करने चाहिए। इस प्रकार से भगवान् की पूजा करने के बाद भगवान् को दूध से नहलाना चाहिए और उन्हें समुचित वस्त्र तथा यज्ञोपवीत (जनेऊ) पहनाकर गहनों से सजाना चाहिए। तत्पश्चात् भगवान् के चरणों का प्रक्षालन करने के लिए जल अर्पित करके सुगंधित पुष्प, अगुरु तथा अन्य सामग्री से भगवान् की पुनः पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : *द्वादशाक्षर मन्त्र* है—*ॐ नमोभगवते वासुदेवाय।* अर्चाविग्रह की पूजा करते हुए भक्त को चाहिए कि वह बाएँ हाथ से घंटी बजाए और पाद्य, अर्घ्य, वस्त्र, गन्ध, माला, आभरण, भूषण इत्यादि अर्पित करे। इस तरह भगवान् को दूध से नहलाकर वस्त्र पहनाना चाहिए और समस्त सामग्री से उनकी पुनः पूजा करनी चाहिए।

शृतं पयसि नैवेद्यं शाल्यन्नं विभवे सति ।
ससर्पिः सगुडं दत्त्वा जुहुयान्मूलविद्यया ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

शृतम्—पकाया गया; पयसि—दूध में; नैवेद्यम्—अर्चाविग्रह को भेंट; शालि-अन्नम्—चावल; विभवे—यदि उपलब्ध हो; सति—इस प्रकार से; स-सर्पिः—घी के साथ; स-गुडम्—गुड़ के साथ; दत्त्वा—उन्हें प्रदान करके; जुहुयात्—अग्नि में आहुतियाँ डाले; मूल-विद्यया—उसी द्वादशाक्षर मंत्र के उच्चारण के साथ-साथ।

यदि सामर्थ्य हो तो भक्त अर्चाविग्रह पर दूध में घी तथा गुड़ के साथ पकाये चावल चढ़ाए। उसी मूल मंत्र का उच्चारण करते हुए यह सामग्री अग्नि में डाली जाये।

निवेदितं तद्भक्ताय दद्याद्भुञ्जीत वा स्वयम् ।
दत्त्वाचमनमर्चित्वा ताम्बूलं च निवेदयेत् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

निवेदितम्—चढ़ाया हुआ प्रसाद; तत्-भक्ताय—उनके भक्त को; दद्यात्—दिया जाये; भुञ्जीत—खाये; वा—अथवा; स्वयम्—खुद; दत्त्वा आचमनम्—हाथ तथा मुखमार्जन के लिए जल देकर; अर्चित्वा—पूजा करके; ताम्बूलम्—पान; च—भी; निवेदयेत्—प्रदान करे।

उसे चाहिए कि वह सारा प्रसाद या उसका कुछ अंश किसी वैष्णव को दे और तब कुछ प्रसाद स्वयं ग्रहण करे। तत्पश्चात् अर्चाविग्रह को आचमन कराए और तब पान सुपारी चढ़ाकर फिर से भगवान् की पूजा करे।

जपेदष्टोत्तरशतं स्तुवीत स्तुतिभिः प्रभुम् ।
कृत्वा प्रदक्षिणं भूमौ प्रणमेद्दण्डवन्मुदा ॥ ४२॥

शब्दार्थ

जपेत्—मन ही मन उच्चारण करे; अष्टोत्तर-शतम्—एक सौ आठ बार; स्तुवीत—स्तुति करे; स्तुतिभिः—महिमा-स्तुतियों द्वारा; प्रभुम्—भगवान् को; कृत्वा—करके; प्रदक्षिणम्—प्रदक्षिणा; भूमौ—भूमि पर; प्रणमेत्—प्रणाम करे; दण्डवत्—साष्टांग भूमि पर लोटकर; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक।

तत्पश्चात् उसे चाहिए कि वह मुँह में १० बार मं त्र का जप करे और भगवान् की महिमा की स्तुतियाँ करे। तब वह भगवान् की प्रदक्षिणा करे और अन्त में परम सन्तोष तथा प्रसन्नतापूर्वक भूमि पर लोटकर (दण्डवत्) प्रणाम करे।

कृत्वा शिरसि तच्छेषां देवमुद्वासयेत्ततः ।
द्व्यवरान्भोजयेद्विप्रान्पायसेन यथोचितम् ॥ ४३॥

शब्दार्थ

कृत्वा—चढ़ा करके; शिरसि—माथे पर; तत्-शेषाम्—सारा अवशिष्ट (अर्चाविग्रह को चढ़ाया जल तथा फूल); देवम्—अर्चाविग्रह को; उद्वासयेत्—पवित्र स्थान में ले जाकर फेंक देना चाहिए; ततः—तत्पश्चात्; द्वि-अवरान्—कम से कम दो; भोजयेत्—खिलाए; विप्रान्—ब्राह्मणों को; पायसेन—खीर से; यथा-उचितम्—जैसा उचित हो।

अर्चाविग्रह पर चढ़ाये गये जल तथा सभी फूलों को अपने सिर से छूने के बाद उन्हें किसी पवित्र स्थान पर फेंक दे। तब कम से कम दो ब्राह्मणों को खीर का भोजन कराए।

भुञ्जीत तैरनुज्ञातः सेष्टः शेषं सभाजितैः ।
ब्रह्मचार्यथ तद्रात्र्यां श्वो भूते प्रथमेऽहनि ॥ ४४॥
स्नातः शुचिर्यथोक्तेन विधिना सुसमाहितः ।
पयसा स्नापयित्वार्चेद्यावद्व्रतसमापनम् ॥ ४५॥

शब्दार्थ

भुञ्जीत—प्रसाद ग्रहण करे; तैः—उन ब्राह्मणों से; अनुज्ञातः—अनुमति लेकर; स-इष्टः—मित्रों तथा परिवार वालों के सहित; शेषम्—शेष बचा हुआ; सभाजितैः—उचित रूप से सम्मानित; ब्रह्मचारी—ब्रह्मचर्य व्रत का पालन; अथ—निस्सन्देह; तत्-

रात्र्याम्—उस रात में; श्वः भूते—सबेरा होने पर; प्रथमे अहनि—पहले दिन; स्नातः—स्नान किया हुआ; शुचिः—पवित्र होकर; यथा-उक्तेन—जैसाकि पहले कहा जा चुका है; विधिना—विधिपूर्वक; सु-समाहितः—एकाग्र होकर; पयसा—दूध से; स्नापयित्वा—अर्चाविग्रह को स्नान कराकर; अर्चेत्—पूजा करे; यावत्—जब तक; व्रत-समापनम्—पूजा की अवधि समाप्त न हो जाये।

जिन सम्मान्य ब्राह्मणों को भोजन कराया हो उनका भलीभाँति सत्कार करे और तब उनकी अनुमति से अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों सहित स्वयं प्रसाद ग्रहण करे। उस रात में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करे और दूसरे दिन प्रातः स्नान करने के बाद अत्यन्त शुद्धता तथा ध्यान के साथ अर्चाविग्रह को दूध से स्नान कराए और विस्तारपूर्वक पूर्वोक्त विधियों के अनुसार उनकी पूजा करे।

पयोभक्षो व्रतमिदं चरेद्विष्णवर्चनादृतः ।
पूर्ववज्जुहुयादग्निं ब्राह्मणांश्चापि भोजयेत् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

पयः-भक्षः—केवल दूध का पान करने वाला; व्रतम् इदम्—यह व्रत; चरेत्—सम्पन्न करे; विष्णु-अर्चन-आदृतः—अत्यन्त श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक भगवान् विष्णु की पूजा करते हुए; पूर्व-वत्—पहले की तरह; जुहुयात्—आहुतियाँ डाले; अग्निम्—अग्नि में; ब्राह्मणान्—ब्राह्मणों को; च अपि—भी; भोजयेत्—भोजन कराए।

केवल दूधपान करते हुए और श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक भगवान् विष्णु की पूजा करते हुए भक्त इस व्रत का पालन करे। उसे चाहिए कि वह अग्नि में हवन करे और पूर्वोक्त विधि से ब्राह्मणों को भोजन कराए।

एवं त्वहरहः कुर्याद्द्वादशाहं पयोव्रतम् ।
हरेराराधनं होममर्हणं द्विजतर्पणम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; तु—निस्सन्देह; अहः अहः—दिन प्रतिदिन; कुर्यात्—करना चाहिए; द्वादश-अहम्—बारह दिनों तक; पयः-व्रतम्—पयव्रत; हरेः आराधनम्—भगवान् की पूजा; होमम्—हवन करके; अर्हणम्—अर्चाविग्रह की पूजा; द्विज-तर्पणम्—भोजन कराकर ब्राह्मणों को प्रसन्न करना।

इस तरह बारह दिनों तक प्रतिदिन भगवान् का पूजन, नैत्यिक कर्म, हवन तथा ब्राह्मण-भोजन सम्पन्न कराकर यह पयोव्रत रखा जाये।

प्रतिपद्दिनमारभ्य यावच्छुक्लत्रयोदशीम् ।
ब्रह्मचर्यमधःस्वप्नं स्नानं त्रिषवणं चरेत् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

प्रतिपत्-दिनम्—प्रतिपत् के दिन; आरभ्य—प्रारम्भ करके; यावत्—जब तक; शुक्ल—शुक्लपक्ष की; त्रयोदशीम्—तेरस (एकादशी के दो दिन बाद); ब्रह्मचर्यम्—पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन; अधः-स्वप्नम्—फर्श पर शयन; स्नानम्—स्नान; त्रि-सवनम्—तीन बार (प्रातः, सायं तथा दोपहर में); चरेत्—सम्पन्न करे।

प्रतिपदा से लेकर अगले शुक्लपक्ष की तेरस (शुक्ल त्रयोदशी) तक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करे, फर्श पर सोये, प्रतिदिन तीन बार स्नान करे और इस व्रत को सम्पन्न करे।

वर्जयेदसदालापं भोगानुच्चावचांस्तथा ।
अहिंस्रः सर्वभूतानां वासुदेवपरायणः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

वर्जयेत्—न करे; असत्-आलापम्—सांसारिक विषयों पर वृथा बातचीत; भोगान्—इन्द्रियतृप्ति; उच्च-अवचान्—श्रेष्ठ या निकृष्ट; तथा—और; अहिंस्रः—ईर्ष्यारहित होकर; सर्व-भूतानाम्—सारे जीवों का; वासुदेव-परायणः—भगवान् वासुदेव का मात्र भक्त बनकर।

इस अवधि में सांसारिक प्रपंचों या इन्द्रियतृप्ति के विषय पर अनावश्यक चर्चा न चलाये, वह सारे जीवों की ईर्ष्या से पूर्णतया मुक्त रहे और भगवान् वासुदेव का शुद्ध एवं सरल भक्त बने।

त्रयोदश्यामथो विष्णोः स्नपनं पञ्चकैर्विभोः ।
कारयेच्छास्त्रदृष्टेन विधिना विधिकोविदैः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

त्रयोदश्याम्—तेरस को; अथो—तत्पश्चात्; विष्णोः—भगवान् विष्णु का; स्नपनम्—स्नान कराना; पञ्चकैः—पञ्चामृत द्वारा; विभोः—भगवान्; कारयेत्—करे; शास्त्र-दृष्टेन—शास्त्रों द्वारा आदिष्ट; विधिना—विधि से; विधि-कोविदैः—विधि-विधानों को जानने वाले पुरोहितों की सहायता से।

तत्पश्चात् शास्त्रविद् ब्राह्मणों की सहायता से शास्त्रों के आदेशानुसार शुक्लपक्ष की तेरस को भगवान् विष्णु को पञ्चामृत (दूध, मट्ठा, घी, चीनी तथा शहद) से स्नान कराये।

पूजां च महतीं कुर्याद्वित्तशाठ्यविवर्जितः ।
चरुं निरूप्य पयसि शिपिविष्टाय विष्णवे ॥ ५१ ॥
सूक्तेन तेन पुरुषं यजेत सुसमाहितः ।
नैवेद्यं चातिगुणवद्दद्यात्पुरुषतुष्टिदम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

पूजाम्—पूजा; च—भी; महतीम्—अत्यन्त तड़क-भड़क वाला; कुर्यात्—करे; वित्त-शाठ्य—कंजूसी की मनोवृत्ति; विवर्जितः—त्यागकर; चरुम्—यज्ञ में डाला गया अन्न; निरूप्य—ठीक से देखकर; पयसि—दूध के साथ; शिपिविष्टाय—प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित परमात्मा को; विष्णवे—विष्णु को; सूक्तेन—पुरुष-सूक्त नामक वैदिक मंत्रोच्चार से; तेन—उसके द्वारा; पुरुषम्—भगवान् की; यजेत—पूजा करे; सु-समाहितः—मनोयोग से; नैवेद्यम्—अर्चाविग्रह को चढ़ाया गया भोजन;

च—तथा; अति-गुण-वत्—समस्त सुस्वादु व्यंजन; दद्यात्—प्रदान करे; पुरुष-तुष्टि-दम्—भगवान् को अत्यन्त प्रसन्न करने वाली प्रत्येक वस्तु।

धन न खर्च करने की कंजूसी की आदत छोड़कर अन्तर्यामी भगवान् विष्णु की भव्य पूजा का आयोजन करे। मनुष्य को चाहिए कि वह अत्यन्त मनोयोग से घी में पकाये अन्न तथा दूध से आहुति (हव्य) तैयार करे और पुरुष-सूक्त मंत्रोच्चार करे और विविध स्वादों वाले भोजन भेंट करे। इस प्रकार मनुष्य को भगवान् का पूजन करना चाहिए।

आचार्यं ज्ञानसम्पन्नं वस्त्राभरणधेनुभिः ।
तोषयेद‍ृत्विजश्चैव तद्विद्ध्याराधनं हरेः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

आचार्यम्—गुरु को; ज्ञान-सम्पन्नम्—आध्यात्मिक ज्ञान में बढ़ा-चढ़ा; वस्त्र-आभरण-धेनुभिः—वस्त्र, गहने तथा अनेक गायों सहित; तोषयेत्—तुष्ट करके; ऋत्विजः—गुरु द्वारा बताये गये पुरोहित; च एव—तथा; तत् विद्धि—उसे समझने का प्रयास करे; आराधनम्—पूजा; हरेः—भगवान् की।

मनुष्य को चाहिए कि वह वैदिक साहित्य में पारंगत गुरु (आचार्य) को तुष्ट करे और उनके सहायक पुरोहितों को (जो होता, उद्‌गाता, अध्वर्यु तथा ब्रह्म कहलाते हैं) तुष्ट करे। उन्हें वस्त्र, आभूषण तथा गाएँ देकर प्रसन्न करे। यही विष्णु-आराधन अनुष्ठान है।

भोजयेत्तान्गुणवता सदन्नेन शुचिस्मिते ।
अन्यांश्च ब्राह्मणाञ्छक्त्या ये च तत्र समागताः ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

भोजयेत्—प्रसाद बाँटे; तान्—उन सब को; गुण-वता—अच्छे भोजन से; सत्-अन्नेन—घी तथा दूध से बने भोजन से, जो अत्यन्त शुद्ध माना जाता है; शुचि-स्मिते—हे परम पवित्र स्त्री; अन्यान् च—अन्यों को भी; ब्राह्मणान्—ब्राह्मणों को; शक्त्या—यथाशक्ति; ये—जो; च—भी; तत्र—वहाँ (अनुष्ठानों में); समागताः—एकत्र।

हे परम पवित्र स्त्री! मनुष्य को चाहिए कि वह ये सारे अनुष्ठान विद्वान आचार्यों के निर्देशानुसार सम्पन्न करे और उन्हें तथा उनके पुरोहितों को तुष्ट करे। उसे चाहिए कि प्रसाद वितरण करके ब्राह्मणों को तथा वहाँ पर एकत्र हुए लोगों को भी तुष्ट करे।

दक्षिणां गुरवे दद्यादृत्विग्भ्यश्च यथार्हतः ।
अन्नाद्येनाश्वपाकांश्च प्रीणयेत्समुपागतान् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

दक्षिणाम्—धन या सोने का दान; गुरवे—गुरु को; दद्यात्—दे; ऋत्विग्भ्य: च—तथा गुरु द्वारा नियुक्त पुरोहितों को; यथा-अर्हत:—यथाशक्ति; अन्न-अद्येन—प्रसाद वितरण द्वारा; आश्व-पाकान्—चंडाल तक को जो कुत्ते का माँस खाने के आदी हैं; च—भी; प्रीणयेत्—प्रसन्न करे; समुपागतान्—अनुष्ठान में एकत्र होने के कारण।

मनुष्य को चाहिए कि गुरु तथा सहायक पुरोहितों को वस्त्र, आभूषण, गाएँ तथा कुछ धन का दान देकर प्रसन्न करे। तथा प्रसाद वितरण द्वारा वहाँ पर आये सभी लोगों को यहाँ तक कि सबसे अधम व्यक्ति चण्डाल (कुत्ते का माँस खाने वाले) को भी तुष्ट करे।

तात्पर्य : वैदिक प्रणाली के अनुसार यहाँ पर संस्तुत विधि के अनुसार बिना भेदभाव के प्रसाद-वितरण किया जाता है। चाहे कोई ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र, यहाँ तक कि अधमतम व्यक्ति चंडाल का भी प्रसाद लेने के लिए स्वागत करना चाहिए। किन्तु यदि चंडाल प्रसाद ग्रहण करे तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह नारायण या विष्णु बन गया है। नारायण जन-जन के हृदय में स्थित हैं, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि नारायण चंडाल या दरिद्र व्यक्ति हैं। दरिद्र व्यक्ति को नारायण के रूप में स्वीकार करने की मायावादी विचारधारा अत्यन्त ईर्ष्यापूर्ण तथा वैदिक सभ्यता में नास्तिकतावादी आन्दोलन है। इस प्रवृत्ति का सर्वथा परित्याग होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को प्रसाद ग्रहण करने का अवसर मिलना चाहिए, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हर व्यक्ति को नारायण बन जाने का अधिकार है।

भुक्तवत्सु च सर्वेषु दीनान्धकृपणादिषु ।
विष्णोस्तत्प्रीणनं विद्वान्भुञ्जीत सह बन्धुभि: ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

भुक्तवत्सु—भोजन कराने के बाद; च—भी; सर्वेषु—वहाँ पर उपस्थित सब को; दीन—अत्यन्त निर्धन; अन्ध—अन्धा; कृपण—जो ब्राह्मण नहीं है; आदिषु—इत्यादि; विष्णो:—अन्तर्यामी भगवान् विष्णु का; तत्—वह (प्रसाद); प्रीणनम्—प्रसन्न करते हुए; विद्वान्—इस दर्शन को जानने वाला; भुञ्जीत—स्वयं प्रसाद ग्रहण करे; सह—साथ; बन्धुभि:—मित्रों तथा सम्बन्धियों के।

मनुष्य को चाहिए कि वह दरिद्र, अन्धे, अभक्त तथा अब्राह्मण हर व्यक्ति को विष्णु-प्रसाद बाँटे। यह जानते हुए कि जब हर एक व्यक्ति पेट भरकर विष्णु-प्रसाद पा लेता है, तो भगवान् विष्णु परम प्रसन्न होते हैं, यज्ञकर्ता को अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों सहित प्रसाद ग्रहण करना चाहिए।

नृत्यवादित्रगीतैश्च स्तुतिभि: स्वस्तिवाचकै: ।

कारयेत्तत्कथाभिश्च पूजां भगवतोऽन्वहम् ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

नृत्य—नाच कर; वादित्र—बाजा (ढोल) बजाकर; गीतैः—तथा गाकर; च—भी; स्तुतिभिः—शुभ मंत्रोच्चार द्वारा; स्वस्ति-वाचकैः—स्तुति करके; कारयेत्—सम्पन्न करे; तत्-कथाभिः—भागवत, भगवद्गीता तथा इसी प्रकार का साहित्य सुनाकर; च—भी; पूजाम्—पूजा; भगवतः—भगवान् विष्णु की; अन्वहम्—प्रतिदिन (प्रतिपदा से त्रयोदशी तक)।

प्रतिपदा से त्रयोदशी तक इस अनुष्ठान को मनुष्य प्रतिदिन नाच, गाना, बाजा, स्तुति तथा शुभ मंत्रोच्चार एवं *श्रीमद्भागवत* के पाठ के साथ-साथ जारी रखे। इस प्रकार मनुष्य भगवान् की पूजा करे।

एतत्पयोव्रतं नाम पुरुषाराधनं परम् ।
पितामहेनाभिहितं मया ते समुदाहृतम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; पयः-व्रतम्—पयोव्रत नामक अनुष्ठान; नाम—नामक; पुरुष-आराधनम्—भगवान् की पूजा विधि; परम्—श्रेष्ठ; पितामहेन—मेरे पितामह द्वारा; अभिहितम्—कही गई; मया—मेरे द्वारा; ते—तुमको; समुदाहृतम्—विस्तार के साथ वर्णित।

यह धार्मिक अनुष्ठान पयोव्रत कहलाता है, जिसके द्वारा भगवान् की पूजा की जा सकती है। यह ज्ञान मुझे अपने पितामह ब्रह्माजी से मिला और अब मैंने विस्तार के साथ इसका वर्णन तुमसे किया है।

त्वं चानेन महाभागे सम्यक्चीर्णेन केशवम् ।
आत्मना शुद्धभावेन नियतात्मा भजाव्ययम् ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

त्वम् च—तुम भी; अनेन—इस विधि से; महा-भागे—हे भाग्यशालिनी; सम्यक् चीर्णेन—भलीभाँति सम्पन्न करने पर; केशवम्—केशव को; आत्मना—अपने; शुद्ध-भावेन—शुद्ध मन से; नियत-आत्मा—अपने को वश में करते हुए; भज—पूजा करते रहो; अव्ययम्—भगवान् की, जो अक्षय हैं।

हे परम भाग्यशालिनी! तुम अपने मन को शुद्ध भाव में स्थिर करके इस पयोव्रत विधि को सम्पन्न करो और इस तरह अच्युत भगवान् केशव की पूजा करो।

अयं वै सर्वयज्ञाख्यः सर्वव्रतमिति स्मृतम् ।
तपःसारमिदं भद्रे दानं चेश्वरतर्पणम् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

अयम्—यह; वै—निस्सन्देह; सर्व-यज्ञ—सभी प्रकार का धार्मिक अनुष्ठान तथा यज्ञ; आख्यः—कहलाता है; सर्व-व्रतम्—सारे धार्मिक अनुष्ठान; इति—इस प्रकार; स्मृतम्—समझा जाकर; तपः-सारम्—सारी तपस्याओं का सार; इदम्—यह; भद्रे—हे उत्तम स्त्री; दानम्—दान के कार्य; च—तथा; ईश्वर—भगवान्; तर्पणम्—प्रसन्न करने की विधि।

यह पयोव्रत सर्वयज्ञ भी कहलाता है। दूसरे शब्दों में, इस यज्ञ को सम्पन्न कर लेने पर अन्य सारे यज्ञ स्वतः सम्पन्न हो जाते हैं। इसे समस्त अनुष्ठानों में सर्वश्रेष्ठ भी माना गया है। हे भद्रे! यह समस्त तपस्याओं का सार है और दान देने तथा परम नियन्ता को प्रसन्न करने की विधि है।

तात्पर्य : *आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्*—यह शिवजी का कथन पार्वती के प्रति है। भगवान् विष्णु की पूजा करना पूजा की परम विधि है और भगवान् विष्णु की इस पयोव्रत विधि से पूजा किस तरह की जानी चाहिए उसका वर्णन पूरी तरह किया गया है। जीवन का चरम लक्ष्य वर्णाश्रम धर्म द्वारा भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना है। चार वर्णों तथा चार आश्रमों के वैदिक सिद्धान्त भगवान् विष्णु की पूजा के निमित्त हैं (*विष्णुराराध्यते पुंसां नान्यत् तत्तोष कारणम्*)। युग के अनुसार कृष्णभावनामृत आन्दोलन भी *विष्णु आराधनम्* है। *विष्णु आराधनम्* की *पयोव्रत* विधि बहुत काल पूर्व कश्यपमुनि ने अपनी पत्नी अदिति से स्वर्गलोक में कही थी और यही विधि आज भी धरालोक पर प्रामाणिक है। विशेषतया इस कलियुग में कृष्णभावनामृत आन्दोलन द्वारा स्वीकृत विधि सैकड़ों तथा हजारों विष्णु-मन्दिर (राधाकृष्ण, जगन्नाथ, बलराम, सीताराम, गौर-निताई आदि के मन्दिर) खोलने की है। ऐसे विष्णु-मन्दिरों में नियत पूजा सम्पन्न करना तथा इस तरह भगवान् की पूजा करना यहाँ पर संस्तुत पयोव्रत अनुष्ठान सम्पन्न करने के समान है। यह *पयोव्रत* अनुष्ठान शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से त्रयोदशी तक मनाया जाता है, किन्तु हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में विष्णु की पूजा प्रत्येक मन्दिर में चौबीस घण्टों की समयसारिणी के अनुसार की जाती है, जिसमें कीर्तन करने, हरे कृष्ण महामंत्र का जप करने, भगवान् विष्णु को स्वादिष्ट भोजन अर्पित करने तथा इस भोजन को वैष्णवों तथा अन्यों में वितरित करने का कार्य किया जाता है। ये प्रामाणिक गतिविधियाँ हैं और यदि कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्य इन नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करें तो उन्हें पयोव्रत का पालन करने जैसा लाभ प्राप्त होगा। इस तरह कृष्णभावनामृत आन्दोलन में सारे शुभ कार्यों यथा यज्ञ करना, दान देना, व्रत रखना, तपस्या करना इत्यादि का सार निहित है। इस आन्दोलन के सदस्यों को चाहिए कि पूर्वोक्त विधि का पालन निष्ठापूर्वक तत्काल करें। निस्सन्देह, सारे यज्ञ भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के लिए हैं। *यज्ञै सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः*—कलियुग में बुद्धिमान् लोग सङ्कीर्तन यज्ञ करते हैं। मनुष्यों को चाहिए कि इस विधि का दृढ़ता से पालन करें।

त एव नियमाः साक्षात्त एव च यमोत्तमाः ।
तपो दानं व्रतं यज्ञो येन तुष्यत्यधोक्षजः ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; एव—निस्सन्देह; नियमाः—सारे विधि-विधान; साक्षात्—प्रत्यक्ष; ते—वे; एव—निस्सन्देह; च—भी; यम-उत्तमाः—इन्द्रियों को वश में करने की सर्वश्रेष्ठ विधि; तपः—तपस्या; दानम्—दान; व्रतम्—व्रत; यज्ञः—यज्ञ; येन—जिस विधि से; तुष्यति—प्रसन्न होता है; अधोक्षजः—भौतिक इन्द्रियों से अनुभव न हो सकने वाले भगवान्।

अधोक्षज नामक दिव्य भगवान् को प्रसन्न करने की यह सर्वोत्तम विधि है। यह समस्त विधि-विधानों में श्रेष्ठ है, यह सर्वश्रेष्ठ तपस्या है, दान देने की और यज्ञ की सर्वश्रेष्ठ विधि है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१.६६) में भगवान् कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

"सारे धर्मों को त्याग दो और मात्र मेरी शरण में आ जाओ। मैं सारे पापमय फलों से तुम्हारा उद्धार कर दूँगा। तुम डरो मत।" जब तक भगवान् की इच्छानुसार उन्हें प्रसन्न नहीं कर लिया जाता तब तक मनुष्य को अपने कर्मों से कुछ भी शुभ फल प्राप्त नहीं होगा।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः।

नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

"अपने पद के अनुसार किये गये मनुष्य के सारे वृत्तिपरक कार्य व्यर्थ के श्रम हैं यदि वे भगवान् के सन्देश के प्रति आकर्षण न उत्पन्न कर सकें।" (*भागवत* १.२.)। यदि किसी को भगवान् विष्णु अथवा वासुदेव को तुष्ट करने में रुचि नहीं है, तो उसके सारे तथाकथित पुण्यकर्म व्यर्थ हैं। *मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः*—मोहग्रस्त होने के कारण वह अपनी आशाओं, अपने कार्यों तथा अपने ज्ञान में संभ्रान्त रहता है। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की टिप्पणी है—*नपुंसकम् अनपुंसकेनेत्यादिनैकत्वम्।* पुंसत्वमय तथा नपुंसक की बराबरी नहीं की जा सकती। आधुनिक मायावादियों में यह कहने का फैशन बन चुका है कि मनुष्य जो कुछ करता है या जिस किसी मार्ग का अनुसरण करता है, वह सब सही है। किन्तु ये मूर्खतापूर्ण कथन हैं। यहाँ पर इस वाद की बलपूर्वक पुष्टि की गई है कि जीवन में सफलता की यही एकमात्र विधि है। *ईश्वर-तर्पणम् विना सर्वमेव विफलम्।* जब तक भगवान् विष्णु प्रसन्न नहीं होते तब तक मनुष्य के सारे पुण्यकर्म, अनुष्ठान तथा यज्ञ

मात्र दिखावा हैं और उनका कोई मूल्य नहीं होता। दुर्भाग्यवश मूर्ख लोग सफलता के रहस्य को नहीं जानते। *न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुम्।* वे यह नहीं जानते कि असली स्वार्थ की परिणति भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने में है।

तस्मादेतद्व्रतं भद्रे प्रयता श्रद्धयाचर ।
भगवान्परितुष्टस्ते वरानाशु विधास्यति ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; एतत्—यह; व्रतम्—व्रत का पालन; भद्रे—प्रिय भद्र स्त्री; प्रयता—विधि-विधानों का पालन करके; श्रद्धया—श्रद्धा सहित; आचर—सम्पन्न करो; भगवान्—भगवान्; परितुष्टः—अत्यन्त प्रसन्न होकर; ते—तुमको; वरान्—वर, आशीर्वाद; आशु—शीघ्र; विधास्यति—प्रदान करेंगे।

अतएव हे भद्रे! तुम विधि-विधानों का दृढ़ता से पालन करते हुए इस अनुष्ठानिक व्रत को सम्पन्न करो। इस विधि से परम पुरुष तुम पर शीघ्र ही प्रसन्न होंगे और तुम्हारी सारी इच्छाओं को पूरा करेंगे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कंध के अन्तर्गत "पयोव्रत पूजा विधि का पालन करना" नामक सोलहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सत्रह

भगवान् को अदिति का पुत्र बनना स्वीकार

जैसाकि इस अध्याय में बताया गया है अदिति द्वारा सम्पन्न पयोव्रत अनुष्ठान से अत्यधिक प्रसन्न होकर भगवान् अपने पूर्ण ऐश्वर्य सहित उनके समक्ष प्रकट हुये। उनकी प्रार्थना पर भगवान् ने उनका पुत्र बनना स्वीकार कर लिया।

जब अदिति लगातार बारह दिनों तक *पयोव्रत* अनुष्ठान सम्पन्न कर चुकीं तो भगवान् उन पर अत्यधिक प्रसन्न हुए और उनके समक्ष चतुर्भुजी रूप में पीताम्बर धारण किए प्रकट हुए। ज्योंही अदिति ने भगवान् को अपने समक्ष देखा वे तुरन्त उठ खड़ी हुईं और भगवान् के प्रेम में विभोर होकर उन्हें सादर नमस्कार करने के लिए भूमि पर लोट गईं। आनन्दानुभूति से उनका गला भर आया और भक्ति के कारण उनका सारा शरीर काँपने लगा। यद्यपि वे भगवान् की समुचित स्तुति करना चाह रही थीं, किन्तु वे कुछ भी नहीं कर पाईं और इस तरह कुछ समय तक मौन रहीं। तब ढाढ़स बाँधकर भगवान् के

सौन्दर्य का अवलोकन करती हुई वे प्रार्थना करने लगीं। समस्त जीवों के परमात्मा भगवान् उन पर अत्यधिक प्रसन्न हुए और उन्होंने स्वांश रूप में अवतार लेकर उनका पुत्र बनना स्वीकार किया। वे कश्यपमुनि की तपस्या से पहले ही प्रसन्न हो चुके थे, अतएव उन्होंने उनका पुत्र बनना और देवताओं का पालन करना स्वीकार कर लिया। भगवान् इस प्रकार वचन देकर अन्तर्धान हो गये। भगवान् का आदेश पाकर अदिति कश्यपमुनि की सेवा में तत्पर हो गईं। कश्यपमुनि समाधि द्वारा यह देख सके कि भगवान् उनके भीतर हैं और इस तरह उन्होंने अपना वीर्य अदिति के गर्भ में स्थापित किया। हिरण्यगर्भ कहलाने वाले ब्रह्माजी जान गये कि भगवान् अदिति के गर्भ में प्रवेश कर चुके हैं। इसलिए उन्होंने भगवान् की स्तुति की।

श्रीशुक उवाच
इत्युक्ता सादिती राजन्स्वभर्त्रा कश्यपेन वै ।
अन्वतिष्ठद्व्रतमिदं द्वादशाहमतन्द्रिता ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उक्ता—कहे जाने पर; सा—उस; अदितिः—अदिति ने; राजन्—हे राजा; स्व-भर्त्रा—अपने पति; कश्यपेन—कश्यपमुनि से; वै—निस्सन्देह; अनु—इसी प्रकार से; अतिष्ठत्—सम्पन्न किया; व्रतम् इदम्—इस पयोव्रत को; द्वादश-अहम्—बारह दिनों तक; अतन्द्रिता—बिना आलस्य के।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा! इस प्रकार अपने पति कश्यपमुनि से दिए जाने पर अदिति ने बिना आलस्य के उनके आदेशों का दृढ़ता से पालन किया और पयोव्रत अनुष्ठान सम्पन्न किया।

तात्पर्य : किसी भी प्रकार की उन्नति के लिए, विशेषतया आध्यात्मिक जीवन में, गुरु के प्रामाणिक आदेशों का दृढ़तापूर्वक पालन करना होता है। अदिति ने ऐसा किया। उन्होंने अपने पति तथा गुरु के आदेशों का दृढ़ता से पालन किया। जैसी कि वैदिक आदेशों में पुष्टि हुई है—*यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ*—मनुष्य को गुरु पर पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए जो शिष्य के आध्यात्मिक जीवन की प्रगति में सहायक होता है। जब शिष्य स्वतंत्र रूप से सोचने लगता है और गुरु के आदेशों की परवाह नहीं करता तो वह असफल हो जाता है (*यस्याप्रसादान् न गतिः कुतोऽपि*)। अदिति ने अपने पति तथा गुरु के आदेशों का दृढ़ता से पालन किया और इस तरह वे सफल हुईं।

चिन्तयन्त्येकया बुद्ध्या महापुरुषमीश्वरम् ।
प्रगृह्येन्द्रियदुष्टाश्वान्मनसा बुद्धिसारथिः ॥ २॥
मनश्चैकाग्रया बुद्ध्या भगवत्यखिलात्मनि ।
वासुदेवे समाधाय चचार ह पयोव्रतम् ॥ ३॥

शब्दार्थ

चिन्तयन्ति—निरन्तर चिन्तन करते हुए; एकया—एकचित्त होकर; बुद्ध्या—तथा बुद्धि से; महा-पुरुषम्—भगवान् को; ईश्वरम्—परमनियन्ता भगवान् विष्णु को; प्रगृह्य—पूर्णतया वश में करके; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; दुष्ट—शक्तिशाली; अश्वान्—घोड़ों को; मनसा—मन द्वारा; बुद्धि-सारथिः—रथ को हाँकने वाली बुद्धि की सहायता से; मनः—मन; च—भी; एक-अग्रया—एकाग्र होकर; बुद्ध्या—बुद्धि से; भगवति—भगवान् को; अखिल-आत्मनि—सभी जीवों के परमात्मा को; वासुदेवे—भगवान् वासुदेव को; समाधाय—पूर्ण मनोयोग से; चचार—सम्पन्न किया; ह—इस प्रकार; पयः-व्रतम्—पयोव्रत नामक अनुष्ठान को।

अदिति ने पूर्ण अचल ध्यान से भगवान् का चिन्तन किया और इस तरह उन्होंने शक्तिशाली घोड़ों जैसे अपने मन तथा इन्द्रियों को पूरी तरह अपने वश में कर लिया। उन्होंने अपने मन को भगवान् वासुदेव पर केन्द्रित कर दिया और इस तरह पयोव्रत नामक अनुष्ठान पूरा किया।

तात्पर्य : यह भक्तियोग की विधि है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।

''मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति सकाम कर्म या ज्ञान द्वारा किसी भौतिक लाभ की इच्छा से रहित होकर अनुकूल रीति से करे। यही शुद्ध भक्ति कहलाती है।'' मनुष्य को केवल वासुदेव कृष्ण के चरणकमलों पर मन को एकाग्र करना होता है (*स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः*)। इससे मन तथा इन्द्रियाँ वश में हो जायेंगी और मनुष्य अपने आपको भगवान् की भक्ति में पूर्णतः लगा सकता है। भक्त को मन तथा इन्द्रियों को वश में करने के लिए हठयोग विधि का अभ्यास करना आवश्यक नहीं है। उसका मन तथा इन्द्रियाँ भगवान् की अनन्य भक्ति के कारण स्वतः वश में हो जाती हैं।

तस्याः प्रादुरभूत्तात भगवानादिपुरुषः ।
पीतवासाश्चतुर्बाहुः शङ्खचक्रगदाधरः ॥ ४॥

शब्दार्थ

तस्याः—उसके सामने; प्रादुरभूत्—प्रकट हुए; तात—हे राजा; भगवान्—भगवान्; आदि-पुरुषः—आदि पुरुष; पीत-वासाः—पीताम्बर धारण किये; चतुः-बाहुः—चार भुजाओं वाले; शङ्ख-चक्र-गदा-धरः—शंख, चक्र, गदा तथा कमल धारण किये।

हे राजा! तब अदिति के समक्ष आदि भगवान् पीताम्बर वस्त्र पहने तथा अपने चारों हाथों में

शंख, चक्र, गदा तथा कमल धारण किए हुए प्रकट हुए।

तं नेत्रगोचरं वीक्ष्य सहसोत्थाय सादरम् ।
ननाम भुवि कायेन दण्डवत्प्रीतिविह्वला ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (भगवान् को); नेत्र-गोचरम्—उसकी आँखों द्वारा दिखने वाले; वीक्ष्य—देखकर; सहसा—एकाएक; उत्थाय—उठकर; स-आदरम्—अत्यन्त आदर पूर्वक; ननाम—सादर नमस्कार किया; भुवि—भूमि पर; कायेन—पूरे शरीर से; दण्ड-वत्—डंडे के समान गिरते हुए; प्रीति-विह्वला—दिव्य आनन्द के कारण अत्यन्त विह्वल।

जब अदिति की आँखों से भगवान् दिखने लगे तो दिव्य आनन्द के कारण वे इतनी विभोर हो उठीं कि वह तुरन्त ही उठकर भगवान् को सादर नमस्कार करने के लिए भूमि पर दण्ड के समान गिर गईं।

सोत्थाय बद्धाञ्जलिरीडितुं स्थिता
नोत्सेह आनन्दजलाकुलेक्षणा ।
बभूव तूष्णीं पुलकाकुलाकृति-
स्तद्दर्शनात्युत्सवगात्रवेपथुः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; उत्थाय—उठकर; बद्ध-अञ्जलिः—हाथ जोड़े; ईडितुम्—भगवान् की पूजा करने के लिए; स्थिता—स्थित; न उत्सेहे—प्रयत्न नहीं कर सकी; आनन्द—दिव्य आनन्द से; जल—जल से; आकुल-ईक्षणा—पूरित आँखों से; बभूव—हो गई; तूष्णीम्—मौन; पुलक—रोमांच; आकुल—विह्वल; आकृतिः—उसका रूप; तत्-दर्शन—भगवान् के दर्शन करने से; अति-उत्सव—अत्यन्त हर्ष से; गात्र—उसका शरीर; वेपथुः—काँपने लगा।

भगवान् की स्तुति करने में असमर्थ होने के कारण अदिति हाथ जोड़े मौन खड़ी रहीं। दिव्य आनन्द के कारण उनकी आँखों में आँसू भर आये और उनके शरीर के रोंगटे खड़े हो गये। चूँकि वे भगवान् को अपने समक्ष देख रही थीं अतएव वे आह्लादित हो उठीं और उनका शरीर काँपने लगा।

प्रीत्या शनैर्गद्गदया गिरा हरिं
तुष्टाव सा देव्यदितिः कुरूद्वह ।
उद्वीक्षती सा पिबतीव चक्षुषा
रमापतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

प्रीत्या—प्रेम के कारण; शनैः—पुनः-पुनः; गद्गदया—थरथराती हुई; गिरा—वाणी से; हरिम्—भगवान् को; तुष्टाव—तुष्ट; सा—वह; देवी—देवी; अदितिः—अदिति; कुरु-उद्वह—हे महाराज परीक्षित; उद्वीक्षती—टकटकी लगाये हुए; सा—वह;

पिबती इव—मानो पी रही हो; चक्षुषा—आँखों से; रमा-पतिम्—लक्ष्मी के पति, भगवान् को; यज्ञ-पतिम्—समस्त यज्ञों के भोक्ता भगवान् को; जगत्-पतिम्—सारे विश्व के प्रभु तथा स्वामी को।

हे महाराज परीक्षित! तब देवी अदिति ने थरथराती हुई वाणी से अत्यन्त प्रेमपूर्वक भगवान् की स्तुति प्रारम्भ की। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो वे लक्ष्मीपति, समस्त यज्ञों के भोक्ता तथा समग्र विश्व के प्रभु तथा स्वामी भगवान् को अपनी आँखों से पिये जा रही हों।

तात्पर्य : *पयोव्रत* रखने के बाद अदिति को विश्वास हो गया कि उसके समक्ष भगवान् लक्ष्मीपति (रमापति) के रूप में उसके पुत्रों को समस्त ऐश्वर्य प्रदान करने के लिए प्रकट हुए हैं। उसने अपने पति कश्यप के निर्देशन में *पयोव्रत* यज्ञ सम्पन्न किया था; अतएव उसने भगवान् को यज्ञपति के रूप में देखा। वह अपने समक्ष अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए समस्त विश्व के प्रभु एवं स्वामी को देखकर पूर्णतः सन्तुष्ट थी।

श्रीअदितिरुवाच
यज्ञेश यज्ञपुरुषाच्युत तीर्थपाद
तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय ।
आपन्नलोकवृजिनोपशमोदयाद्य
शं नः कृधीश भगवन्नसि दीननाथः ॥ ॥

शब्दार्थ

श्री-अदितिः उवाच—देवी अदिति ने कहा; यज्ञ-ईश—हे समस्त यज्ञों के नियन्ता; यज्ञ-पुरुष—सारे यज्ञों के लाभों का भोग करने वाला पुरुष; अच्युत—कभी न चूकने वाला; तीर्थ-पाद—जिनके चरणकमलों पर सारे पवित्र तीर्थस्थान स्थित हैं; तीर्थ-श्रवः—समस्त सन्त पुरुषों के परम आश्रय के रूप में प्रसिद्ध; श्रवण—जिनके विषय में सुनना; मङ्गल—शुभ है; नामधेय—उनके नाम का उच्चारण करना भी शुभ है; आपन्न—शरणागत; लोक—लोगों का; वृजिन—घातक भौतिक स्थिति; उपशम—कम करते हुए; उदय—प्रकट हुआ है; आद्य—आदि भगवान्; शम्—कल्याण; नः—हमारा; कृधि—कृपया हमें प्रदान करें; ईश—हे परमनियन्ता; भगवन्—हे भगवान्; असि—तुम हो; दीन-नाथः—दीनों के एकमात्र आश्रय।

देवी अदिति ने कहा : हे समस्त यज्ञों के भोक्ता तथा स्वामी, हे अच्युत तथा परम प्रसिद्ध पुरुष, जिनका नाम लेते ही मंगल का प्रसार होता है, हे आदि भगवान्, परमनियन्ता, समस्त पवित्र तीर्थस्थानों के आश्रय! आप समस्त दीन-दुखियों के आश्रय हैं और उनका कष्ट कम करने के लिए प्रकट हुए हैं। आप हम पर कृपालु हों और हमारे कल्याण का विस्तार करें।

तात्पर्य : जो लोग व्रत तथा तपस्या करते हैं भगवान् उनके स्वामी हैं और वे ही उन सब को वर देते हैं। वे भक्त के लिए आजीवन पूज्य होते हैं क्योंकि वे कभी भी अपना वचन नहीं तोड़ते। जैसाकि स्वयं उन्होंने *भगवद्गीता* (९.३१) में कहा है—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*—हे

कुन्तीपुत्र! तुम इसे घोषित कर दो कि मेरा भक्त कभी भी नहीं नष्ट होता। भगवान् को यहाँ पर अच्युत कहा गया है क्योंकि वे अपने भक्तों की रक्षा करते हैं। जो भी भक्तों से शत्रुता रखता है, उसका विनाश भक्तों पर भगवान् की कृपा के कारण अवश्य होता है। चूँकि भगवान् गंगाजल के उद्‌गम हैं इसलिए उन्हें यहाँ तीर्थपाद कहा गया है, जिसका अर्थ है कि सारे तीर्थस्थान उनके चरणकमलों पर स्थित हैं अथवा वे अपने पाँवों से जिसे भी छूते हैं वह पवित्र बन जाता है। उदाहरणार्थ *भगवद्‌गीता* का शुभारम्भ *धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे* शब्दों से होता है। चूँकि भगवान् कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में उपस्थित थे अतएव वह *धर्मक्षेत्र* अर्थात् तीर्थस्थान बन गया। अतएव परम धार्मिक पाण्डवों की विजय सुनिश्चित हो गई। कोई भी स्थान जहाँ भगवान् अपनी लीलाएँ करते हैं—यथा वृन्दावन या द्वारका—वह पवित्र बन जाता है। भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—कानों को सुखद लगता है और जो भी इस कीर्तन को सुनता है उसके सौभाग्य का विस्तार होता है। भगवान् की उपस्थिति के कारण अदिति को पूरा-पूरा विश्वास था कि उसके लिए असुरों द्वारा उत्पन्न संकटमय स्थिति का अब अन्त होने वाला है।

विश्वाय विश्वभवनस्थितिसंयमाय
स्वैरं गृहीतपुरुशक्तिगुणाय भूम्ने ।
स्वस्थाय शश्वदुपबृंहितपूर्णबोध-
व्यापादितात्मतमसे हरये नमस्ते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

विश्वाय—समस्त विश्वरूप भगवान् को; विश्व—विश्व के; भवन—सृजन; स्थिति—पालन; संयमाय—तथा संहार के लिए; स्वैरम्—पूर्णतः स्वतंत्र; गृहीत—हाथ में लेकर; पुरु—पूर्णतः; शक्ति-गुणाय—प्रकृति के तीनों गुणों को वश में रखने वाले; भूम्ने—महानतम; स्व-स्थाय—सदा आदि रूप में स्थित रहने वाले; शश्वत्—सनातन रूप से; उपबृंहित—प्राप्त किया; पूर्ण—सम्पूर्ण; बोध—ज्ञान; व्यापादित—पूर्णतया विनष्ट; आत्म-तमसे—आपकी माया; हरये—परमेश्वर; नमः ते—आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

हे प्रभु! आप सर्वव्यापी विश्वरूप इस विश्व के परम स्वतंत्र स्रष्टा, पालक तथा संहारक हैं। यद्यपि आप अपनी शक्ति को पदार्थ में लगाते हैं, तो भी आप सदैव अपने आदि रूप में स्थित रहते हैं और कभी उस पद से च्युत नहीं होते क्योंकि आपका ज्ञान अच्युत है और किसी भी स्थिति के लिए सदैव उपयुक्त है। आप कभी मोहग्रस्त नहीं होते। हे स्वामी! मैं आपको सादर नमस्कार करती हूँ।

तात्पर्य : *चैतन्यचरितामृत* (आदि २.११७) में कहा गया है—

सिद्धान्त बलिया चित्ते ना कर अलस

इहा हइते कृष्णे लागे सुदृढ मानस

पूर्णतया कृष्णभावनाभावित बनने के लिए प्रयत्नशील मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् की महिमाओं को यथासम्भव समझे। यहाँ पर अदिति इन महिमाओं की ओर संकेत कर रही हैं। यह विश्व भगवान् की बहिरंगा शक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.४) में हुई है—*मया ततमिदं सर्वम्।* हम इस विश्व में जो भी देख रहे हैं वह सब भगवान् की शक्ति का प्रसार है, जिस प्रकार जगत के ऊपर फैली धूप तथा ताप सूर्य के विस्तार होते हैं। जब कोई भगवान् की शरण में जाता है, तो वह माया के प्रभाव को पार कर जाता है क्योंकि परमेश्वर सबके हृदयों में, विशेषतया भक्त के हृदय में, स्थित रहने के कारण तथा पूर्णतया बुद्धिमान् होने के कारण मनुष्य को वह बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वह फिर कभी मोह के गर्त में नहीं गिरता।

आयु: परं वपुरभीष्टमतुल्यलक्ष्मी-
द्योभूरसाः सकलयोगगुणास्त्रिवर्गः ।
ज्ञानं च केवलमनन्त भवन्ति तुष्टात्
त्वत्तो नृणां किमु सपत्नजयादिराशीः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

आयुः—आयु; परम्—ब्रह्मा के समान दीर्घ; वपुः—विशेष प्रकार का शरीर; अभीष्टम्—जीवन लक्ष्य; अतुल्य-लक्ष्मीः—जगत में अद्वितीय ऐश्वर्य; द्यो—स्वर्गलोक; भू—भूलोक; रसाः—अधोलोक; सकल—सभी प्रकार के; योग-गुणाः—आठ यौगिक सिद्धियाँ; त्रि-वर्गः—धर्म, अर्थ तथा काम; ज्ञानम्—ज्ञान; च—तथा; केवलम्—पूर्ण; अनन्त—हे अनन्त; भवन्ति—सम्भव बन जाते हैं; तुष्टात्—आपकी तुष्टि से; त्वत्तः—आपसे; नृणाम्—सभी जीवों को; किम् उ—क्या कहा जाये; सपत्न—शत्रु; जय—जीत; आदिः—इत्यादि; आशीः—ऐसे आशीष या वर।

हे अनन्त! यदि आप प्रसन्न हैं, तो मनुष्य को ब्रह्मा जैसी दीर्घायु, उच्च, मध्य या निम्नलोक में शरीर, असीम भौतिक ऐश्वर्य, धर्म, अर्थ तथा इन्द्रियतोष, पूर्ण दिव्यज्ञान तथा आठों योगसिद्धियाँ बड़ी आसानी से प्राप्त हो सकती हैं। अपने प्रतिद्वंद्वियों पर विजय प्राप्त करने की बात करना तो अत्यन्त नगण्य उपलब्धि है।

श्रीशुक उवाच
अदित्यैवं स्तुतो राजन्भगवान्पुष्करेक्षणः ।

क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानामिति होवाच भारत ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; अदित्या—अदिति द्वारा; एवम्—इस प्रकार; स्तुतः—स्तुति किये जाने पर; राजन्—हे राजा (महाराज परीक्षित); भगवान्—भगवान् ने; पुष्कर-ईक्षणः—कमल जैसे नेत्रों वाले; क्षेत्र-ज्ञः—परमात्मा; सर्व-भूतानाम्—सभी जीवों के; इति—इस प्रकार; ह—निस्सन्देह; उवाच—उत्तर दिया; भारत—हे भरतवंश में श्रेष्ठ।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे भरतवंश में श्रेष्ठ, राजा परीक्षित! जब अदिति ने सभी जीवों के परमात्मा कमलनयन की इस तरह पूजा की तो भगवान् ने इस प्रकार उत्तर दिया।

श्रीभगवानुवाच

देवमातर्भवत्या मे विज्ञातं चिरकाङ्क्षितम् ।
यत्सपत्नैर्हृतश्रीणां च्यावितानां स्वधामतः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; देव-मातः—हे देवताओं की माता; भवत्याः—तुम्हारा; मे—मेरे द्वारा; विज्ञातम्—समझा गया; चिर-काङ्क्षितम्—दीर्घकाल से तुम्हें जिसकी अभिलाषा थी; यत्—क्योंकि; सपत्नैः—प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा; हृत-श्रीणाम्—समस्त ऐश्वर्य से विहीन तुम्हारे पुत्रों का; च्यावितानाम्—विमुख; स्व-धामतः—अपने-अपने आवासों से।

भगवान् ने कहा : हे देवताओं की माता! मैं तुम्हारी उस दीर्घकालीन अभिलाषा को पहले ही समझ गया हूँ जो तुम्हारे उन पुत्रों के कल्याण के विषय में है, जो शत्रुओं द्वारा अपने समस्त ऐश्वर्य से च्युत कर दिये गये हैं और अपने-अपने घरों से खदेड़ दिये गये हैं।

तात्पर्य : भगवान् जन-जन के हृदय में और विशेष रूप से अपने भक्तों के हृदयों में स्थित होने के कारण संकट में भक्तों की सहायता के लिए सदा उद्यत रहते हैं। चूँकि वे सर्वज्ञ हैं अतएव वे जानते हैं कि किस तरह सामञ्जस्य लाया जाये और वे अपने भक्त का कष्ट दूर करने के लिए आवश्यक कार्यवाही करते हैं।

तान्विनिर्जित्य समरे दुर्मदानसुरर्षभान् ।
प्रतिलब्धजयश्रीभिः पुत्रैरिच्छस्युपासितुम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; विनिर्जित्य—हराकर; समरे—युद्ध में; दुर्मदान्—बल के कारण गर्वित; असुर-ऋषभान्—असुरों के नेताओं को; प्रतिलब्ध—पुनः प्राप्त करके; जय—विजय; श्रीभिः—ऐश्वर्य सहित; पुत्रैः—अपने पुत्रों सहित; इच्छसि—तुम चाहती हो; उपासितुम्—उनके साथ मिल कर मेरी पूजा करना।

हे देवी! मैं समझ रहा हूँ कि तुम अपने पुत्रों को पुनः प्राप्त करके, शत्रुओं को युद्धभूमि में पराजित करके तथा अपना धाम तथा ऐश्वर्य पुनः प्राप्त करके उन सब के साथ मिलकर मेरी पूजा करना चाहती हो।

इन्द्रज्येष्ठैः स्वतनयैर्हतानां युधि विद्विषाम् ।
स्त्रियो रुदन्तीरासाद्य द्रष्टुमिच्छसि दु:खिताः ॥ १४॥

शब्दार्थ

इन्द्र-ज्येष्ठैः—जिन व्यक्तियों में इन्द्र सबसे बड़ा है; स्व-तनयैः—अपने पुत्रों द्वारा; हतानाम्—जो मारे जा चुके हैं; युधि—युद्ध में; विद्विषाम्—शत्रुओं की; स्त्रियः—पत्नियाँ; रुदन्तीः—विलाप करती; आसाद्य—अपने-अपने पतियों के शवों के निकट आकर; द्रष्टुम् इच्छसि—देखना चाहती हो; दु:खिताः—अत्यन्त दुखित।

तुम अपने पुत्रों के शत्रु उन असुरों की पत्नियों को अपने-अपने पतियों की मृत्यु पर विलाप करते हुए देखना चाहती हो जब वे इन्द्रादि देवताओं द्वारा युद्ध में मारे जाएँ।

आत्मजान्सुसमृद्धांस्त्वं प्रत्याहृतयशःश्रियः ।
नाकपृष्ठमधिष्ठाय क्रीडतो द्रष्टुमिच्छसि ॥ १५॥

शब्दार्थ

आत्म-जान्—अपने पुत्रों को; सु-समृद्धान्—अत्यन्त ऐश्वर्यवान्; त्वम्—तुम; प्रत्याहृत—वापस पाकर; यशः—यश; श्रियः—ऐश्वर्य; नाक-पृष्ठम्—स्वर्गलोक में; अधिष्ठाय—स्थित; क्रीडतः—विलास करते; द्रष्टुम्—देखने के लिए; इच्छसि—इच्छा करती हो।

तुम चाहती हो कि तुम्हारे पुत्र खोया हुआ यश तथा ऐश्वर्य प्राप्त करें और पुनः पूर्ववत् अपने स्वर्गलोक में निवास करें।

प्रायोऽधुना तेऽसुरयूथनाथा
अपारणीया इति देवि मे मतिः ।
यत्तेऽनुकूलेश्वरविप्रगुप्ता
न विक्रमस्तत्र सुखं ददाति ॥ १६॥

शब्दार्थ

प्रायः—लगभग; अधुना—इस समय; ते—वे सभी; असुर-यूथ-नाथाः—असुरों के प्रधान; अपारणीयाः—अजेय; इति—इस प्रकार; देवि—हे माता अदिति; मे—मेरी; मतिः—सम्मति; यत्—क्योंकि; ते—सारे असुर; अनुकूल-ईश्वर-विप्र-गुप्ताः—ब्राह्मणों द्वारा सुरक्षित, जिनकी कृपा से ईश्वर सदैव उपस्थित रहते हैं; न—नहीं; विक्रमः—शक्ति का उपयोग; तत्र—वहाँ; सुखम्—सुख; ददाति—दे सकता है।

हे देवताओं की माता! मेरे विचार से असुरों के सारे प्रधान अब अजेय हैं क्योंकि वे उन ब्राह्मणों द्वारा सुरक्षित हैं जिन पर भगवान् की सदैव कृपा रहती है। अतएव उनके विरुद्ध बल-प्रयोग अब सुख का स्रोत नहीं बन सकता।

तात्पर्य : जब किसी व्यक्ति पर ब्राह्मणों तथा वैष्णवों की कृपा होती है, तो उसे कोई भी नहीं हरा सकता। यहाँ तक कि यदि कोई किसी ब्राह्मण द्वारा रक्षित है, तो भगवान् भी किसी प्रकार का हस्तक्षेप

नहीं करते। कहा गया है—*गोब्राह्मणहिताय च।* भगवान् सर्वप्रथम गायों तथा ब्राह्मणों को सारे वरदान देने के लिए उन्मुख होते हैं। अतएव यदि किसी पर ब्राह्मण अनुकूल होते हैं, तो न तो भगवान् किसी तरह का हस्तक्षेप करते हैं न ही कोई अन्य व्यक्ति ऐसे पुरुष के सुख में बाधक बन सकता है।

अथाप्युपायो मम देवि चिन्त्यः
सन्तोषितस्य व्रतचर्यया ते ।
ममार्चनं नार्हति गन्तुमन्यथा
श्रद्धानुरूपं फलहेतुकत्वात् ॥ १७॥

शब्दार्थ

अथ—अतएव; अपि—ऐसी स्थिति के बावजूद; उपायः—कोई साधन; मम—मेरा; देवि—हे देवी; चिन्त्यः—सोचा जाना चाहिए; सन्तोषितस्य—अत्यन्त प्रसन्न; व्रत-चर्यया—व्रत रखकर; ते—तुम्हारे द्वारा; मम अर्चनम्—मेरी पूजा करना; न—कभी नहीं; अर्हति—योग्य है; गन्तुम् अन्यथा—और व्यर्थ होने के लिए; श्रद्धा-अनुरूपम्—अपनी श्रद्धा तथा भक्ति के अनुसार; फल—फल; हेतुकत्वात्—कारण होने से।

हे देवी अदिति! फिर भी चूँकि मैं तुम्हारे व्रत-कार्य से प्रसन्न हुआ हूँ अतएव मुझे तुम पर कृपा करने के लिए कोई न कोई साधन खोजना होगा क्योंकि मेरी पूजा कभी भी व्यर्थ नहीं जाती, प्रत्युत पात्रता के अनुरूप वाँछित फल देने वाली होती है।

त्वयार्चितश्चाहमपत्यगुप्तये
पयोव्रतेनानुगुणं समीडितः ।
स्वांशेन पुत्रत्वमुपेत्य ते सुतान्
गोप्तास्मि मारीचतपस्यधिष्ठितः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

त्वया—तुम्हारे द्वारा; अर्चितः—पूजित होकर; च—भी; अहम्—मैं; अपत्य-गुप्तये—तुम्हारे पुत्रों की सुरक्षा करते हुए; पयः-व्रतेन—पयोव्रत द्वारा; अनुगुणम्—जहाँ तक सम्भव है; समीडितः—ठीक से पूजित; स्व-अंशेन—अपने पूर्ण अंश द्वारा; पुत्रत्वम्—तुम्हारा पुत्र बनकर; उपेत्य—इस अवसर का लाभ उठाकर; ते सुतान्—तुम्हारे अन्य पुत्रों को; गोप्ता अस्मि—सुरक्षा प्रदान करूँगा; मारीच—कश्यपमुनि की; तपसि—तपस्या में; अधिष्ठितः—स्थित।

तुमने अपने पुत्रों की रक्षा के लिए मेरी स्तुति की है और महान् पयोव्रत रखकर मेरी समुचित पूजा की है। मैं कश्यपमुनि की तपस्या के कारण तुम्हारा पुत्र बनना स्वीकार करूँगा और इस प्रकार तुम्हारे अन्य पुत्रों की रक्षा करूँगा।

उपधाव पतिं भद्रे प्रजापतिमकल्मषम् ।
मां च भावयती पत्यावेवं रूपमवस्थितम् ॥ १९॥

शब्दार्थ

उपधाव—जाकर पूजा करो; पतिम्—अपने पति की; भद्रे—हे भद्र स्त्री; प्रजापतिम्—जो प्रजापति है; अकल्मषम्—जो अपनी तपस्या के कारण अत्यधिक शुद्ध बन गया है; माम्—मुझको; च—भी; भावयती—मनन करती हुई; पत्यौ—अपने पति में; एवम्—इस प्रकार; रूपम्—रूप; अवस्थितम्—वहाँ पर स्थित।

तुम अपने पति कश्यप के शरीर के भीतर सदैव मुझे स्थित मानकर उनकी पूजा करो क्योंकि वे अपनी तपस्या से शुद्ध हो चुके हैं।

नैतत्परस्मा आख्येयं पृष्टयापि कथञ्चन ।
सर्वं सम्पद्यते देवि देवगुह्यं सुसंवृतम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतत्—यह; परस्मै—बाहरी लोगों को; आख्येयम्—प्रकट किया जाये; पृष्टया अपि—पूछे जाने पर भी; कथञ्चन—किसी के द्वारा; सर्वम्—सब कुछ; सम्पद्यते—सफल होता है; देवि—हे नारी; देव-गुह्यम्—देवताओं के लिए भी गोपनीय; सु-संवृतम्—भलीभाँति गुप्त रखा गया।

हे नारी! यदि कोई पूछे तो भी तुम्हें यह बात किसी को प्रकट नहीं करनी चाहिए। यदि परम गोपनीय बात को गुप्त रखा जाता है, तो वह सफल होती है।

श्रीशुक उवाच
एतावदुक्त्वा भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ।
अदितिर्दुर्लभं लब्ध्वा हरेर्जन्मात्मनि प्रभोः ।
उपाधावत्पतिं भक्त्या परया कृतकृत्यवत् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एतावत्—इस तरह; उक्त्वा—उससे कहकर; भगवान्—भगवान्; तत्र एव—उसी स्थान में; अन्तः-अधीयत—अन्तर्धान हो गये; अदितिः—अदिति; दुर्लभम्—अत्यन्त दुर्लभ सफलता; लब्ध्वा—पाकर; हरेः—भगवान् का; जन्म—जन्म; आत्मनि—अपने में; प्रभोः—भगवान् का; उपाधावत्—तुरन्त गई; पतिम्—अपने पति के पास; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; परया—महान्; कृत-कृत्य-वत्—अपने को अत्यन्त सफल मानती हुई।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : ऐसा कहकर भगवान् उस स्थान से अदृश्य हो गये। भगवान् से यह परम मूल्यवान आशीर्वाद पाकर कि वे उसके पुत्र रूप में प्रकट होंगे, अदिति ने अपने को अत्यन्त सफल माना और वह अत्यन्त भक्तिपूर्वक अपने पति के पास गई।

स वै समाधियोगेन कश्यपस्तदबुध्यत ।
प्रविष्टमात्मनि हरेरंशं ह्यवितथेक्षणः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निस्सन्देह; समाधि-योगेन—ध्यान द्वारा; कश्यपः—कश्यपमुनि ने; तत्—तब; अबुध्यत—समझ सके; प्रविष्टम्—प्रवेश कर गया है; आत्मनि—अपने भीतर; हरेः—भगवान् का; अंशम्—अंश; हि—निस्सन्देह; अवितथ-ईक्षणः—जिसकी दृष्टि कभी धोखा नहीं खाती।

ध्यान समाधि में स्थित होने के कारण अचूक दृष्टि वाले कश्यपमुनि यह देख सके कि उनके भीतर भगवान् का स्वांश प्रविष्ट कर गया है।

सोऽदित्यां वीर्यमाधत्त तपसा चिरसम्भृतम् ।
समाहितमना राजन्दारुण्यग्निं यथानिलः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सः—कश्यप ने; अदित्याम्—अदिति के भीतर; वीर्यम्—वीर्य; आधत्त—रख दिया; तपसा—तपस्या द्वारा; चिर-सम्भृतम्—दीर्घकाल तक कई वर्षों से रुका हुआ; समाहित-मनाः—भगवान् पर पूर्णतया समाधि लगाये; राजन्—हे राजा; दारुणि—काठ में; अग्निम्—अग्नि; यथा—जिस तरह; अनिलः—वायु।

हे राजा! जिस तरह वायु काठ के दो टुकड़ों के बीच घर्षण को तेज करती है और अग्नि उत्पन्न कर देती है उसी तरह भगवान् में पूर्णतया ध्यानमग्न कश्यपमुनि ने अपने वीर्य को अदिति की कुक्षि में स्थानान्तरित कर दिया।

तात्पर्य : जब वायु से क्षुब्ध होकर लकड़ी के दो खण्ड एक दूसरे से रगड़ खाते हैं, तो जंगल में आग लग जाती है। किन्तु वास्तव में यह अग्नि न तो लकड़ी में होती है, न वायु में; यह सदा ही दोनों से भिन्न होती है। इसी प्रकार यहाँ पर यह समझना चाहिए कि कश्यपमुनि तथा अदिति का संयोग सामान्य मानवों जैसा संभोग न था। संभोग के मानवीय स्खलन से भगवान् को कुछ भी लेना-देना नहीं रहता। वे ऐसे संसारी संयोगों से सर्वथा पृथक् रहते हैं।

भगवद्गीता (९.२९) में भगवान् कहते हैं—*समोऽहं सर्वभूतेषु*—मैं समस्त जीवों के प्रति समभाव रखता हूँ। तो भी भक्तों की रक्षा करने तथा उत्पात मचाने वाले असुरों का वध करने के लिए भगवान् ने अदिति की कुक्षि में प्रवेश किया। अतएव यह भगवान् की दिव्य लीला है। इसका गलत अर्थ नहीं लगाना चाहिए। किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि भगवान् उसी प्रकार से अदिति के पुत्र बने जिस तरह स्त्री तथा पुरुष के संभोग से एक सामान्य बालक उत्पन्न होता है।

आजकल के मत-मतान्तर के युग में यहाँ पर जीवन की उत्पत्ति के विषय में बताना उपयुक्त होगा। जीव की जीवनी शक्ति—आत्मा—मानव के वीर्य तथा रज से भिन्न है। यद्यपि बद्ध आत्मा को पुरुष तथा स्त्री की प्रजनन कोशिकाओं से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता, वह अपने कर्म के अनुसार उचित स्थिति में रख दिया जाता है (*कर्मणा दैवनेत्रेण*)। इस तरह जीवन मात्र रज-वीर्य का प्रतिफल नहीं अपितु सारे भौतिक तत्त्वों से स्वतंत्र होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में भलीभाँति बताया गया है, जीव

किसी भौतिक फल पर आश्रित नहीं होता। जीव को न तो अग्नि द्वारा जलाया जा सकता है, न किसी तेज हथियार से काटा जा सकता है, न जल से भिगोया जा सकता है, न ही हवा से सुखाया जा सकता है। वह भौतिक तत्त्वों से पूर्णतया स्वतंत्र होता है, किन्तु किसी श्रेष्ठ व्यवस्था द्वारा वह इन भौतिक तत्त्वों में धर दिया जाता है। वह सदा ही भौतिक सम्पर्क से पृथक् रहता है (*असङ्गो ह्यं पुरुषः*), किन्तु भौतिक दशा प्राप्त होने के कारण उसे प्रकृति के गुणों का बन्धन भोगना पड़ता है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

"इस तरह जीव प्रकृति के तीनों गुणों का भोग करता हुआ जीवनयापन करता है। यह भौतिक प्रकृति की संगति के कारण होता है। इस तरह विभिन्न योनियों में उसे अच्छे-बुरे से पाला पड़ता है।" (*भगवद्गीता* १३.२२) यद्यपि जीव भौतिक तत्त्वों से पृथक् है, किन्तु वह भौतिक अवस्था को प्राप्त होता है और इस तरह उसे भौतिक क्रियाकलापों के फल भोगने होते हैं।

अदितेर्धिष्ठितं गर्भं भगवन्तं सनातनम् ।
हिरण्यगर्भो विज्ञाय समीडे गुह्यनामभिः ॥ २४॥

शब्दार्थ

अदितेः—अदिति के गर्भ में; धिष्ठितम्—स्थापित होकर; गर्भम्—गर्भ; भगवन्तम्—भगवान् को; सनातनम्—सनातन; हिरण्यगर्भः—ब्रह्माजी ने; विज्ञाय—यह जानकर; समीडे—स्तुति की; गुह्य-नामभिः—दिव्य नामों के साथ।

जब ब्रह्माजी को यह ज्ञात हो गया कि भगवान् अदिति के गर्भ में हैं, तो वे दिव्य नामों का पाठ करके भगवान् की स्तुति करने लगे।

तात्पर्य : भगवान् सर्वत्र विद्यमान रहते हैं (*अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थम्*)। अतएव जब कोई उनके दिव्य नामों का—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे का—उच्चारण करता है, तो भगवान् ऐसे सङ्कीर्तन से स्वयमेव प्रसन्न होते हैं। ऐसा नहीं है कि भगवान् अनुपस्थित होते हैं। वे वहाँ पर उपस्थित रहते हैं और जब भक्त दिव्य नाम का उच्चारण करता है, तो यह भौतिक ध्वनि नहीं होती। अतएव भगवान् सहज ही प्रसन्न होते हैं। भक्त जानता है कि भगवान् सर्वत्र उपस्थित हैं और वह उनके पवित्र नाम का उच्चारण करने मात्र से ही उन्हें प्रसन्न कर सकता है।

श्रीब्रह्मोवाच

जयोरुगाय भगवन्नुरुक्रम नमोऽस्तु ते ।
नमो ब्रह्मण्यदेवाय त्रिगुणाय नमो नमः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने स्तुति की; जय—जय हो; उरुगाय—जिनकी महिमा का निरन्तर गान होता है ऐसे भगवान् की; भगवन्—हे भगवान्; उरुक्रम—जिनके कार्यकलाप अत्यन्त यशस्वी हैं; नमः अस्तु ते—मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ; नमः—मेरा सादर नमस्कार; ब्रह्मण्य-देवाय—योगियों के भगवान् को; त्रि-गुणाय—प्रकृति के तीनों गुणों के नियन्ता; नमः नमः—पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ।

ब्रह्माजी ने कहा : हे भगवान्! आपकी जय हो। आप सब के द्वारा महिमान्वित हैं और आपके कार्यकलाप असामान्य होते हैं। हे योगियों के प्रभु, हे प्रकृति के तीनों गुणों के नियन्ता! मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ। मैं आपको पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ।

नमस्ते पृश्निगर्भाय वेदगर्भाय वेधसे ।
त्रिनाभाय त्रिपृष्ठाय शिपिविष्टाय विष्णवे ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

नमः ते—मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ; पृश्नि-गर्भाय—पृश्नि (पूर्व जन्म में अदिति) के गर्भ में वास करने वाले को; वेद-गर्भाय—सदैव वैदिक ज्ञान में निवास करने वाले को; वेधसे—ज्ञान से पूर्ण हैं, जो; त्रि-नाभाय—उन्हें जिनकी नाभि से निकले कमलदण्ड के भीतर तीनों लोक निवास करते हैं; त्रि-पृष्ठाय—जो तीनों लोकों से परे हैं; शिपि-विष्टाय—समस्त जीवों के हृदयों में वास करने वाले को; विष्णवे—सर्वव्यापी भगवान् को।

हे सर्वव्यापी भगवान् विष्णु! मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ क्योंकि आप समस्त जीवों के हृदयों के भीतर स्थित हैं। तीनों लोक आपकी नाभि के भीतर निवास करते हैं, फिर भी आप इन तीनों लोकों से परे हैं। पहले आप पृश्नि के पुत्र रूप में प्रकट हुए थे। मैं उन परम स्रष्टा को सादर नमस्कार करता हूँ जिन्हें केवल वैदिक ज्ञान के द्वारा ही जाना जा सकता है।

त्वमादिरन्तो भुवनस्य मध्यम्
अनन्तशक्तिं पुरुषं यमाहुः ।
कालो भवानाक्षिपतीश विश्वं
स्रोतो यथान्तः पतितं गभीरम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—आप; आदिः—मूल कारण; अन्तः—प्रलय के कारण; भुवनस्य—ब्रह्माण्ड के; मध्यम्—इस जगत का पालन; अनन्त-शक्तिम्—असीम शक्ति के आगार; पुरुषम्—परम पुरुष को; यम्—जिसको; आहुः—कहते हैं; कालः—शाश्वत काल; भवान्—आप; आक्षिपति—आकर्षित करते हुए; ईश—परमेश्वर; विश्वम्—सारे ब्रह्माण्ड को; स्रोतः—लहरें; यथा—जिस तरह; अन्तः पतितम्—जल के भीतर गिरी हुई; गभीरम्—अत्यन्त गहरे।

हे प्रभु! आप तीनों लोकों के आदि, मध्य तथा अन्त हैं और वेदों में आप असीम शक्तियों के

आगार परम पुरुष के रूप में विख्यात हैं। हे स्वामी! जिस प्रकार लहरें गहरे जल में गिरी हुई टहनियों तथा पत्तियों को खींच लेती हैं उसी प्रकार परम शाश्वत काल रूप आप इस ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु को खींचते हैं।

तात्पर्य : कभी-कभी काल को *कालस्रोत* या काल की लहरों के रूप में वर्णित किया जाता है। इस भौतिक जगत की सारी वस्तुएँ काल के अधीन हैं और वे भगवान् रूपी लहरों द्वारा बहाई जाती रहती हैं।

त्वं वै प्रजानां स्थिरजङ्गमानां
प्रजापतीनामसि सम्भविष्णुः ।
दिवौकसां देव दिवश्च्युतानां
परायणं नौरिव मज्जतोऽप्सु ॥ २॥

शब्दार्थ

त्वम्—आप; वै—निस्सन्देह; प्रजानाम्—सारे जीवों के; स्थिर-जङ्गमानाम्—अचल अथवा चल; प्रजापतीनाम्—सारे प्रजापतियों के; असि—हो; सम्भविष्णुः—हर एक के जनक; दिव-ओकसाम्—उच्चलोक के निवासियों के; देव—हे परमेश्वर; दिवः च्युतानाम्—अपने आवासों से नीचे गिरे हुए देवताओं के; परायणम्—परम आश्रय; नौः—नाव; इव—सदृश; मज्जतः—डूबने वाले के; अप्सु—जल में।

हे प्रभु! आप समस्त चर या अचर जीवों के आदि जनक हैं और आप प्रजापतियों के भी जनक हैं। हे स्वामी! जिस प्रकार जल में डूबते हुए व्यक्ति के लिए नाव ही एकमात्र सहारा होती है उसी तरह आप इस समय अपने स्वर्ग-पद से च्युत देवताओं के एकमात्र आश्रय हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कंध के अन्तर्गत "भगवान् को अदिति का पुत्र बनना स्वीकार" नामक सत्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अठारह

भगवान् वामनदेव : वामन अवतार

इस अध्याय में यह वर्णन हुआ है कि वामनदेव किस तरह प्रकट हुए और वे महाराज बलि की यज्ञशाला में कैसे गये जहाँ उनका स्वागत हुआ और उन्होंने वर देकर कैसे उनकी इच्छा पूरी की।

भगवान् वामनदेव इस जगत में अदिति के गर्भ से शंख, चक्र, गदा तथा कमल धारण किये उत्पन्न हुए। उनका शारीरिक वर्ण साँवला था और वे पीताम्बर पहने थे। भगवान् विष्णु श्रावण द्वादशी के शुभ

अवसर पर जब अभिजित नक्षत्र उदित हो चुका था, प्रकट हुए। उस समय भगवान् के प्राकट्य से तीनों लोकों में अर्थात् उच्च लोकबाह्य लोक तथा पृथ्वीलोक में सभी देवता, गाएँ, ब्राह्मण यहाँ तक कि सारी ऋतुएँ भी प्रसन्न थीं। अतएव यह शुभ दिवस विजया कहलाता है। जब *सच्चिदानन्द* विग्रह भगवान् कश्यप तथा अदिति के पुत्र रूप में प्रकट हुए तो उनके माता पिता दोनों अत्यन्त विस्मित हुए। प्रकट होने के बाद भगवान् ने वामन रूप धारण कर लिया। सारे ऋषियों ने हर्ष प्रकट किया और कश्यपमुनि की उपस्थिति में भगवान् वामन का जन्मोत्सव सम्पन्न किया। उनके यज्ञोपवीत संस्कार के समय सूर्यदेव, बृहस्पति, पृथ्वी की प्रधान देवी, स्वर्गलोकों के देवता, उनकी माता, ब्रह्माजी, कुवेर, सप्तर्षि इत्यादि ने उनका सम्मान किया। तब भगवान् वामनदेव नर्मदा नदी के उत्तरी तट पर स्थित उस यज्ञस्थल पर गये जो भृगुकच्छ कहलाता है जहाँ भृगुवंशी ब्राह्मण यज्ञ कर रहे थे। भगवान् वामनदेव मूंज की मेखला, मृगछाला तथा जनेऊ पहने और हाथ में दण्ड, छत्र तथा कमण्डलु लिए महाराज बलि की यज्ञशाला में प्रकट हुए। उनके दिव्य तेज से सारे पुरोहितों का तेज घट गया और उन्होंने अपने-अपने आसनों से खड़े होकर भगवान् वामनदेव की स्तुति की। शिवजी भी भगवान् वामनदेव के अँगूठे से निकले गंगाजल को अपने सिर पर धारण करते हैं अतएव बलि महाराज ने भगवान् वामनदेव के चरण धोकर अपने सिर पर चढ़ाया और यह अनुभव किया कि वे और उनके पूर्वज इससे महिमामण्डित हुए थे। तब बलि महाराज ने वामनदेव की कुशलता पूछी और उनसे प्रार्थना की कि वे धन, रत्न या जो भी इच्छा हो, माँगें।

श्रीशुक उवाच
इत्थं विरिञ्चस्तुतकर्मवीर्यः
प्रादुर्बभूवामृतभूरदित्याम् ।
चतुर्भुजः शङ्खगदाब्जचक्रः
पिशङ्गवासा नलिनायतेक्षणः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इत्थम्—इस तरह से; विरिञ्च-स्तुत-कर्म-वीर्यः—भगवान्, जिनके कार्यों एवं पराक्रम की प्रशंसा ब्रह्माजी भी करते हैं; प्रादुर्बभूव—प्रकट हुए; अमृत-भूः—जिनका प्राकट्य सदैव मृत्युरहित होता है; अदित्याम्—अदिति के गर्भ से; चतुः-भुजः—चार भुजाओं वाले; शङ्ख-गदा-अब्ज-चक्रः—शंख, गदा, कमल तथा चक्र से सुशोभित; पिशङ्ग-वासाः—पीताम्बर धारण किये; नलिन-आयत-ईक्षणः—कमल की पंखड़ियों के समान खिली हुई आँखों वाले।.

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब ब्रह्माजी इस प्रकार भगवान् के कार्यों एवं पराक्रम का

यशोगान कर चुके तो भगवान् जिनकी एक सामान्य जीव की भान्ति कभी मृत्यु नहीं होती, अदिति के गर्भ से प्रकट हुए। उनके चार हाथ शंख, चक्र, गदा तथा पद्म से सुशोभित थे। वे पीताम्बर धारण किये हुए थे और उनकी आँखें खिले हुए कमल की पंखड़ियों जैसी प्रतीत हो रही थीं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अमृत-भूः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। कभी-कभी भगवान् सामान्य बालक की भाँति जन्म लेकर प्रकट होते हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता कि वे जन्म, मृत्यु या बुढ़ापे से प्रभावित होते हैं। भगवान् के अवतारों के प्राकट्य तथा उनके कार्यकलापों के विषय में समझने के लिए बहुत बुद्धिमानी चाहिए। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.९) में हुई है—*जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।* मनुष्य को यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि भगवान् का प्राकट्य तथा तिरोभाव एवं उनके कार्यकलाप *दिव्य* होते हैं। भगवान् को भौतिक कार्यकलापों से कोई सरोकार नहीं होता। जो कोई भगवान् के प्राकट्य, तिरोधान तथा कार्यकलापों को समझता है, वह तुरन्त मुक्त हो जाता है। इस शरीर को छोड़ने पर उसे फिर से भौतिक शरीर कभी नहीं धारण करना पड़ता अपितु वह सीधे स्वर्ग को चला जाता है (*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन*)।

श्यामावदातो झषराजकुण्डल-
त्विषोल्लसच्छ्रीवदनाम्बुजः पुमान् ।
श्रीवत्सवक्षा बलयाङ्गदोल्लस-
त्किरीटकाञ्चीगुणचारुनूपुरः ॥ २॥

शब्दार्थ

श्याम-अवदातः—जिनका शरीर साँवला है और उन्माद से मुक्त है; झष-राज-कुण्डल—मगर के आकार के कुण्डल; त्विषा—कान्ति से; उल्लसत्—चमचमाते; श्री-वदन-अम्बुजः—सुन्दर कमल जैसे मुखमण्डल वाले; पुमान्—परम पुरुष; श्रीवत्स-वक्षाः—जिनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिह्न है; बलय—कड़े; अङ्गद—बाजूबंद; उल्लसत्—चमचमाते; किरीट—मुकुट; काञ्ची—करधनी; गुण—जनेऊ; चारु—सुन्दर; नूपुरः—पायल।

भगवान् का शरीर साँवले रंग का था और समस्त उन्मादों से मुक्त था। उनका कमलमुख मकराकृति जैसे कान के कुण्डलों से सुशोभित होकर अत्यन्त सुन्दर लग रहा था और उनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिह्न था। वे कलाइयों में कंगन पहने थे, अपनी भुजाओं में बाजूबंद पहने थे, सिर पर मुकुट लगाये थे, उनकी कमर में करधनी थी, छाती पर जनेऊ पड़ा था और उनके चरणकमलों को पायल सुशोभित कर रही थीं।

मधुव्रतव्रातविघुष्टया स्वया
विराजितः श्रीवनमालया हरिः ।
प्रजापतेर्वेश्मतमः स्वरोचिषा
विनाशयन्कण्ठनिविष्टकौस्तुभः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

मधु-व्रत—शहद के लिए दीवानी मधुमक्खियों का; व्रात—समूह; विघुष्टया—गुंजार करते; स्वया—असामान्य; विराजितः—स्थित; श्री—सुन्दर; वन-मालया—फूलों की माला से; हरिः—भगवान्; प्रजापतेः—प्रजापति कश्यपमुनि का; वेश्म-तमः—घर का अंधकार; स्व-रोचिषा—अपने तेज से; विनाशयन्—नष्ट करते हुए; कण्ठ—गले में; निविष्ट—पहना हुआ; कौस्तुभः—कौस्तुभ मणि।

उनके वक्षस्थल पर सुन्दर फूलों असाधारण की माला सुशोभित थी और फूलों के अत्यधिक सुगन्धित होने से मधुमक्खियों का बड़ा सा समूह गुंजार करता हुआ शहद के लिए उन पर टूट पड़ा था। जब भगवान् अपने गले में कौस्तुभ मणि पहन कर प्रकट हुए तो उनके तेज से प्रजापति कश्यप के घर का अंधकार दूर हो गया।

दिशः प्रसेदुः सलिलाशयास्तदा
प्रजाः प्रहृष्टा ऋतवो गुणान्विताः ।
द्यौरन्तरीक्षं क्षितिरग्निजिह्वा
गावो द्विजाः सञ्जहृषुर्नगाश्च ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

दिशः—सारी दिशाएँ; प्रसेदुः—प्रसन्न हो उठीं; सलिल—जल के; आशयाः—आगार; तदा—उस समय; प्रजाः—सारे जीव; प्रहृष्टाः—अत्यन्त प्रसन्न; ऋतवः—सारी ऋतुएँ; गुण-अन्विताः—अपने-अपने गुणों से पूर्ण; द्यौः—ऊपरी लोक; अन्तरीक्षम्—बाह्य आकाश; क्षितिः—पृथ्वी; अग्नि-जिह्वाः—देवतागण; गावः—गौवें; द्विजाः—ब्राह्मणगण; सञ्जहृषुः—सभी प्रसन्न हो गये; नगाः च—तथा पर्वत।

उस समय सभी दिशाओं में, नदी तथा सागर जैसे जलागारों में तथा सब के हृदयों में प्रसन्नता व्याप्त हो गई। विभिन्न ऋतुएँ अपने-अपने गुण दिखलाने लगीं तथा उच्चलोक, बाह्य आकाश एवं पृथ्वी पर के सारे जीव हर्षित हो उठे। देवता, गाएँ, ब्राह्मण तथा सारे पर्वत हर्ष से पूरित हो गए।

श्रोणायां श्रवणद्वादश्यां मुहूर्तेऽभिजिति प्रभुः ।
सर्वे नक्षत्रताराद्याश्चक्रुस्तज्जन्म दक्षिणम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

श्रोणायाम्—जब चन्द्रमा श्रवण नक्षत्र पर था; श्रवण-द्वादश्याम्—भाद्र मास के शुक्लपक्ष की द्वादशी को, जो श्रवण-द्वादशी कहलाती हैं; मुहूर्ते—शुभ क्षण में; अभिजिति—अभिजित नक्षत्र में, जो श्रवण राशि का पूर्वार्द्ध है तथा अभिजित मुहूर्त में (मध्यान्ह के समय); प्रभुः—भगवान्; सर्वे—सभी; नक्षत्र—तारे; तारा—लोक; आद्याः—सूर्य आदि लोक; चक्रुः—बनाया; तत्-जन्म—भगवान् का जन्म दिन; दक्षिणम्—अत्यन्त भव्य।

श्रवण-द्वादशी के दिन जब चन्द्रमा श्रवण राशि पर था और शुभ अभिजित मुहूर्त था, भगवान् इस ब्रह्माण्ड में प्रकट हुए। भगवान् के प्राकट्य को अत्यन्त शुभ मानकर सूर्य से लेकर शनि इत्यादि समस्त तारे तथा ग्रह अत्यन्त दानी बन गये।

तात्पर्य : निपुण ज्योतिषी श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *नक्षत्र-ताराद्याः* शब्द की व्याख्या की है। *नक्षत्र* का अर्थ है 'तारे' और इस प्रसंग में *तारा* का अर्थ 'लोक' या 'ग्रह' है एवं *आद्याः* का अर्थ है, वह जिसका वर्णन सर्वप्रथम हुआ है। तारों (ग्रहों) में पहला ग्रह सूर्य है चन्द्रमा नहीं। अतएव वैदिक कथन के अनुसार आधुनिक ज्योतिर्विद की यह मान्यता कि चन्द्रमा पृथ्वी के सबसे निकट है स्वीकार नहीं की जानी चाहिए। जिस क्रम में विश्वभर के लोग सप्ताह के दिनों के नाम लेते हैं—रविवार, सोमवार, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र तथा शनिवार—वस्तुतः वह वेदों के अनुसार लोकों का क्रम ही है और इस कथन से वेदों की पुष्टि होती है। इसके अलावा जब भगवान् का प्रादुर्भाव हुआ तो ज्योतिष गणना के अनुसार तारे तथा ग्रह भगवान् के जन्म को मनाने के लिए अत्यन्त शुभ स्थान पर आ गये।

द्वादश्यां सवितातिष्ठन्मध्यन्दिनगतो नृप ।
विजयानाम सा प्रोक्ता यस्यां जन्म विदुर्हरेः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

द्वादश्याम्—द्वादशी के दिन; सविता—सूर्य; अतिष्ठत्—स्थित था; मध्यम्-दिन-गतः—आकाश के मध्य भाग में; नृप—हे राजा; विजया-नाम—विजया नामक; सा—वह दिन; प्रोक्ता—कहा जाता है; यस्याम्—जिसमें; जन्म—प्रादुर्भाव; विदुः—वे जानते हैं; हरेः—भगवान् हरि का।

हे राजा! द्वादशी के दिन जब भगवान् प्रकट हुए तो सूर्य मध्य आकाश में था, जैसा कि प्रत्येक विद्वान को पता है। यह द्वादशी विजया कहलाती है।

शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्मृदङ्गपणवानकाः ।
चित्रवादित्रतूर्याणां निर्घोषस्तुमुलोऽभवत् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

शङ्ख—शंख; दुन्दुभयः—दुन्दुभी नामक वाद्य; नेदुः—बजने लगे; मृदङ्ग—ढोल; पणव-आनकाः—पणव तथा आनक नाम के ढोल; चित्र—विविध; वादित्र—संगीत ध्वनि; तूर्याणाम्—तथा अन्य वाद्ययंत्रों (तुरहियों) का; निर्घोषः—उच्चस्वर; तुमुलः—अत्यन्त कोलाहलपूर्ण; अभवत्—हो गया।

शंख, ढोल, मृदंग, पणव तथा आनक बजने लगे। इन तथा अन्य विविध वाद्ययंत्रों की ध्वनि अत्यन्त कोलाहलपूर्ण थी।

प्रीताश्चाप्सरसोऽनृत्यन्गन्धर्वप्रवरा जगुः ।
तुष्टुवुर्मुनयो देवा मनवः पितरोऽग्नयः ॥ ॥

शब्दार्थ

प्रीताः—अत्यन्त प्रसन्न होकर; च—भी; अप्सरसः—अप्सराएँ; अनृत्यन्—नाचने लगीं; गन्धर्व-प्रवराः—श्रेष्ठ गन्धर्व गण; जगुः—गाने लगे; तुष्टुवुः—स्तुतियों द्वारा भगवान् को हर्षित किया; मुनयः—मुनियों ने; देवाः—देवताओं ने; मनवः—मनुओं ने; पितरः—पितृलोक के वासियों ने; अग्नयः—अग्नि देवताओं ने।

अत्यधिक हर्षित होकर अप्सराएँ प्रसन्नता के मारे नाचने लगीं, श्रेष्ठ गन्धर्व गाने लगे और महा-मुनि, देवता, मनु, पितरगण तथा अग्निदेवों ने भगवान् को प्रसन्न करने के लिए स्तुतियाँ कीं।

सिद्धविद्याधरगणाः सकिम्पुरुषकिन्नराः ।
चारणा यक्षरक्षांसि सुपर्णा भुजगोत्तमाः ॥ ९ ॥
गायन्तोऽतिप्रशंसन्तो नृत्यन्तो विबुधानुगाः ।
अदित्या आश्रमपदं कुसुमैः समवाकिरन् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सिद्ध—सिद्धलोक के वासी; विद्याधर-गणाः—विद्याधर लोक के वासी; स—सहित; किम्पुरुष—किम्पुरुष लोक के वासी; किन्नराः—किन्नर लोक के निवासी; चारणाः—चारणलोक के वासी; यक्ष—यक्षगण; रक्षांसि—राक्षसगण; सुपर्णाः—सुपर्ण; भुजग-उत्तमाः—सर्पलोक के निवासियों में श्रेष्ठ; गायन्तः—भगवान् का यशोगान करते; अति-प्रशंसन्तः—भगवान् की प्रशंसा करते; नृत्यन्तः—नाचते हुए; विबुधानुगाः—देवताओं के अनुयायी; अदित्याः—अदिति के; आश्रम-पदम्—निवास स्थान; कुसुमैः—फूलों से; समवाकिरन्—ढका हुआ।

सिद्ध, विद्याधर, किम्पुरुष, किन्नर, चारण, यक्ष, राक्षस, सुपर्ण, सर्पलोक के सर्वश्रेष्ठ निवासी तथा देवताओं के अनुयायी—इन सबों ने भगवान् का यशोगान तथा प्रशंसा करते हुए एवं नृत्य करते हुए अदिति के निवास स्थान पर इतने फूल बरसाये कि उनका पूरा घर ढक गया।

दृष्ट्वादितिस्तं निजगर्भसम्भवं
परं पुमांसं मुदमाप विस्मिता ।
गृहीतदेहं निजयोगमायया

प्रजापतिश्चाह जयेति विस्मितः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; अदितिः—माता अदिति ने; तम्—उसको (भगवान् को); निज-गर्भ-सम्भवम्—अपने गर्भ से उत्पन्न; परम्—परम; पुमांसम्—पुरुष को; मुदम्—परम सुख; आप—उत्पन्न किया; विस्मिता—अत्यन्त चकित; गृहीत—स्वीकार किया; देहम्—शरीर या दिव्य रूप; निज-योग-मायया—अपनी आध्यात्मिक शक्ति से; प्रजापतिः—कश्यपमुनि ने; च—भी; आह—कहा; जय—जय हो; इति—इस प्रकार; विस्मितः—आश्चर्यचकित होकर।

जब अदिति ने देखा कि भगवान् ने जो उनके अपने गर्भ से उत्पन्न हुए थे अपनी आध्यात्मिक शक्ति से दिव्य शरीर धारण कर लिया है, तो वे आश्चर्यचकित हो उठीं और अत्यन्त प्रसन्न हुईं। उस बालक को देखकर प्रजापति कश्यप परम सुख एवं आश्चर्य के वशीभूत होकर जय! जय! की ध्वनि करने लगे।

यत्तद्वपुर्भाति विभूषणायुधै-
रव्यक्तचिद्व्यक्तमधारयद्धरिः ।
बभूव तेनैव स वामनो वटुः
सम्पश्यतोर्दिव्यगतिर्यथा नटः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; तत्—वही; वपुः—दिव्य शरीर; भाति—दिखलाता है; विभूषण—आभूषणों; आयुधैः—तथा हथियारों समेत; अव्यक्त—अप्रकट; चित्-व्यक्तम्—आध्यात्मिक रूप से प्रकट; अधारयत्—धारण कर लिया; हरिः—भगवान् ने; बभूव—तुरन्त बन गया; तेन—उससे; एव—निश्चय ही; सः—भगवान्; वामनः—बौना; वटुः—ब्राह्मण ब्रह्मचारी; सम्पश्यतोः—अपने माता-पिता के देखते-देखते; दिव्य-गतिः—अलौकिक गतियों वाला; यथा—जिस तरह; नटः—नट, अभिनेता।

भगवान् अपने आदि रूप में आभूषण पहने तथा हाथ में आयुध धारण किये प्रकट हुए। यद्यपि उनका यह सदैव विद्यमान रहने वाला रूप भौतिक जगत में दृश्य नहीं है, तो भी वे इसी रूप में प्रकट हुए। तत्पश्चात् अपने माता-पिता की उपस्थिति में ही उन्होंने उसी तरह ब्राह्मण वामन अर्थात् ब्रह्मचारी का रूप धारण कर लिया जिस तरह कोई अभिनेता कर लेता है।

तात्पर्य : यहाँ पर *नटः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। एक अभिनेता, एक ही व्यक्ति होते हुए भी विभिन्न अभिनय करने के लिए वेश बदलता रहता है। इसी प्रकार भगवान् भी लाखों रूप बदलते रहते हैं जैसाकि *ब्रह्मसंहिता* (५.३३,३९) में कहा गया है (*अद्वैतम् अच्युतम् अनादिम् अनन्तरूपमाद्यं पुराणपुरुषम्*)। वे अपने असंख्य अवतारों समेत सदैव विद्यमान रहते हैं (*रामादि मूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन् नानावतारमकरोद् भुवनेषु किन्तु*)। यद्यपि वे नाना अवतारों में प्रकट होते हैं, किन्तु वे एक दूसरे से भिन्न नहीं होते। वे वही व्यक्ति रहते हैं—उसी शक्ति, उसी नित्यता एवं उसी दिव्य अस्तित्व के

साथ—किन्तु वे एक ही साथ विभिन्न रूप धारण कर सकते हैं। जब वामनदेव अपनी माता के गर्भ से उत्पन्न हुए तो वे नारायण के रूप में थे जिनके चारों हाथों में आवश्यक प्रतीकात्मक आयुध थे, किन्तु तुरन्त ही उन्होंने अपने को ब्रह्मचारी (वटु) के रूप में बदल लिया। इसका अर्थ यह हुआ कि उनका शरीर भौतिक नहीं है। जो यह सोचता है कि परमेश्वर भौतिक शरीर धारण करते हैं वह बुद्धिमान् नहीं है। उसे भगवान् के रूप के विषय में अधिक जानने की आवश्यकता है। जैसी कि *भगवद्गीता* (४.९) में पुष्टि हुई है—*जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।* भगवान् द्वारा आदि दिव्य शरीर में (सच्चिदानन्द विग्रह) दिव्य अवतार लेने के विषय में समझने की आवश्यकता है।

तं वटुं वामनं दृष्ट्वा मोदमाना महर्षयः ।
कर्माणि कारयामासुः पुरस्कृत्य प्रजापतिम् ॥ १३॥

शब्दार्थ

तम्—उस; वटुम्—ब्रह्मचारी को; वामनम्—बौने; दृष्ट्वा—देखकर; मोदमानाः—प्रसन्न मुद्रा में; महा-ऋषयः—महर्षियों ने; कर्माणि—अनुष्ठानों को; कारयाम् आसुः—सम्पन्न किया; पुरस्कृत्य—आगे करके; प्रजापतिम्—प्रजापति कश्यपमुनि को।

जब ऋषियों ने भगवान् को ब्रह्मचारी वामन के रूप में देखा तो वे निश्चय ही परम प्रसन्न हुए। अतएव प्रजापति कश्यपमुनि को आगे करके उन्होंने सारे अनुष्ठान—यथा जन्म संस्कार—सम्पन्न किये।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता के अनुसार जब किसी ब्राह्मण परिवार में कोई सन्तान उत्पन्न होती है, तो सर्वप्रथम *जातकर्म* अर्थात् जन्म-संस्कार सम्पन्न किया जाता है और उसके बाद अन्य अनुष्ठान भी क्रमशः संपन्न कर लिए जाते हैं। किन्तु जब *ब्रह्मचारी* के रूप में यह *वामन रूप* प्रकट हुआ तो उसका उपवीत संस्कार भी तुरन्त ही सम्पन्न कर दिया गया।

तस्योपनीयमानस्य सावित्रीं सविताब्रवीत् ।
बृहस्पतिर्ब्रह्मसूत्रं मेखलां कश्यपोऽददात् ॥ १४॥

शब्दार्थ

तस्य—भगवान् वामनदेव का; उपनीयमानस्य—उपवीत संस्कार के समय; सावित्रीम्—गायत्री मंत्र का; सविता—सूर्यदेव ने; अब्रवीत्—उच्चारण किया; बृहस्पतिः—देवताओं के गुरु बृहस्पति; ब्रह्म-सूत्रम्—उपवीत, यज्ञोपवीत; मेखलाम्—मूँज की पेटी; कश्यपः—कश्यप मुनि ने; अददात्—प्रदान की।

वामनदेव के यज्ञोपवीत संस्कार के समय सूर्यदेव ने स्वयं गायत्री मंत्र का जप किया, बृहस्पति ने जनेऊ प्रदान किया और कश्यप मुनि ने मूँज की मेखला भेंट की।

ददौ कृष्णाजिनं भूमिर्दण्डं सोमो वनस्पतिः ।
कौपीनाच्छादनं माता द्यौश्छत्रं जगतः पतेः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

ददौ—दिया, भेंट किया; कृष्ण-अजिनम्—मृगछाला; भूमिः—माता पृथ्वी ने; दण्डम्—ब्रह्मचारी का डंडा; सोमः—चन्द्रदेव ने; वनः-पतिः—जंगल का राजा; कौपीन—लंगोट; आच्छादनम्—शरीर को ढकने वाला; माता—उनकी माता अदिति ने; द्यौः—स्वर्गलोक; छत्रम्—छाता; जगतः—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के; पतेः—स्वामी का।

माता पृथ्वी ने उन्हें मृगचर्म प्रदान किया तथा वनस्पतियों के राजा चन्द्रदेव ने उन्हें ब्रह्मदण्ड (ब्रह्मचारी का डंडा) प्रदान किया। उनकी माता अदिति ने उन्हें कौपीन के लिए वस्त्र तथा स्वर्गलोक के अधिनायक देवता ने उन्हें छत्र प्रदान किया।

कमण्डलुं वेदगर्भः कुशान्सप्तर्षयो ददुः ।
अक्षमालां महाराज सरस्वत्यव्ययात्मनः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

कमण्डलुम्—कमण्डल, जलपात्र; वेद-गर्भः—ब्रह्माजी ने; कुशान्—कुशा; सप्त-ऋषयः—सप्तर्षियों ने; ददुः—भेंट किया; अक्ष-मालाम्—रुद्राक्ष की माला; महाराज—हे राजा; सरस्वती—देवी सरस्वती ने; अव्यय-आत्मनः—भगवान् को।

हे राजा! ब्रह्माजी ने अव्यय भगवान् को कमण्डल प्रदान किया, सप्तर्षियों ने कुशा और माता सरस्वती ने उन्हें रुद्राक्ष की माला भेंट की।

तस्मा इत्युपनीताय यक्षराट्पात्रिकामदात् ।
भिक्षां भगवती साक्षादुमादादम्बिका सती ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उनको (वामनदेव को); इति—इस प्रकार; उपनीताय—जिनका उपवीत संस्कार हो चुका है; यक्ष-राट्—स्वर्ग के कोषाध्यक्ष तथा यक्षों के राजा कुवेर ने; पात्रिकाम्—भिक्षापात्र; अदात्—दिया; भिक्षाम्—भिक्षा के लिए; भगवती—शिव पत्नी, माता भवानी ने; साक्षात्—प्रत्यक्ष; उमा—उमा; अदात्—दिया; अम्बिका—ब्रह्माण्ड की जननी; सती—सती साध्वी।

जब इस प्रकार से वामन देव का यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न हो चुका तो यक्षराज कुवेर ने उन्हें भिक्षा माँगने के लिए भिक्षापात्र एवं शिव पत्नी, ब्रह्माण्ड की परम साध्वी, माता भगवती ने उन्हें पहली भिक्षा दी।

स ब्रह्मवर्चसेनैवं सभां सम्भावितो वटुः ।
ब्रह्मर्षिगणसञ्जुष्टामत्यरोचत मारिषः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (वामनदेव); ब्रह्म-वर्चसेन—अपने ब्रह्म-तेज से; एवम्—इस प्रकार; सभाम्—सभा में; सम्भावितः—हर एक के द्वारा समादरित; वटुः—ब्रह्मचारी; ब्रह्म-ऋषि-गण-सञ्जुष्टाम्—ब्राह्मण ऋषियों से पूरित; अति-अरोचत—सबको मात कर रहा था, सुन्दर लगता था; मारिषः—ब्रह्मचारियों में सर्वश्रेष्ठ।

इस प्रकार सब के द्वारा स्वागत किये जाने पर ब्रह्मचारियों में श्रेष्ठ वामनदेव ने अपना ब्रह्मतेज प्रकट किया। इस तरह महान् सन्त ब्राह्मणों की उस पूरी सभा में वे अपनी सुन्दरता में अद्वितीय लगते थे।

समिद्धमाहितं वह्निं कृत्वा परिसमूहनम् ।
परिस्तीर्य समभ्यर्च्य समिद्भिरजुहोद्द्विजः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

समिद्धम्—प्रज्वलित; आहितम्—स्थित; वह्निम्—अग्नि; कृत्वा—करके; परिसमूहनम्—समुचित रीति से; परिस्तीर्य—सब से बढ़कर; समभ्यर्च्य—पूजा करके; समिद्भिः—आहुतियों के द्वारा; अजुहोत्—यज्ञ सम्पन्न किया; द्विजः—ब्राह्मण श्रेष्ठ।

तत्पश्चात् श्री वामनदेव ने यज्ञ-अग्नि प्रज्वलित की, पूजा सम्पन्न की और यज्ञशाला में यज्ञ किया।

श्रुत्वाश्वमेधैर्यजमानमूर्जितं
बलिं भृगूणामुपकल्पितैस्ततः ।
जगाम तत्राखिलसारसम्भृतो
भारेण गां सन्नमयन्पदे पदे ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर; अश्वमेधैः—अश्वमेध यज्ञ द्वारा; यजमानम्—यज्ञकर्ता; ऊर्जितम्—अत्यन्त तेजस्वी; बलिम्—बलि महाराज को; भृगूणाम्—भृगुवंशी ब्राह्मणों के निर्देशन में; उपकल्पितैः—सम्पन्न किया गया; ततः—उस स्थान से; जगाम—चला गया; तत्र—वहाँ; अखिल-सार-सम्भृतः—समस्त सृष्टि के सार भगवान्; भारेण—भार से; गाम्—पृथ्वी को; सन्नमयन्—दबाते हुए; पदे पदे—प्रत्येक पग में।

जब भगवान् ने सुना कि बलि महाराज भृगुवंशी ब्राह्मणों के संरक्षण में अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न कर रहे हैं, तो वे परमपूर्ण भगवान् बलि महाराज पर अपनी कृपा दिखाने के लिए वहाँ के लिए चल पड़े। प्रत्येक डग भरने पर उनके भार से पृथ्वी नीचे धँसने लगी।

तात्पर्य : भगवान् *अखिल-सार-सम्भृत* हैं अर्थात् इस जगत में जो भी आवश्यक वस्तु है वे उसके स्वामी हैं। इस तरह यद्यपि वे बलि महाराज के पास भिक्षा माँगने जा रहे थे, किन्तु वे सदैव पूर्ण हैं और उन्हें किसी से कुछ भी नहीं माँगना होता है। निस्सन्देह, वे इतने शक्तिमान हैं कि अपने तेज के कारण वे प्रत्येक डग से पृथ्वी की सतह को दबा रहे थे।

तं नर्मदायास्तट उत्तरे बले-
र्य ऋत्विजस्ते भृगुकच्छसंज्ञके ।
प्रवर्तयन्तो भृगवः क्रतूत्तमं
व्यचक्षताराददितं यथा रविम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (वामनदेव को); नर्मदायाः—नर्मदा नदी के; तटे—किनारे पर; उत्तरे—उत्तरी; बलेः—महाराज बलि का; ये—जो; ऋत्विजः—अनुष्ठान में लगे पुरोहितगण; ते—वे सभी; भृगुकच्छ-संज्ञके—भृगुकक्ष नामक क्षेत्र में; प्रवर्तयन्तः—सम्पन्न करते हुए; भृगवः—सारे भृगुवंशी; क्रतु-उत्तमम्—अश्वमेध नामक महत्त्वपूर्ण यज्ञ; व्यचक्षत—देखा; आरात्—पास ही; उदितम्—उदय हुए; यथा—जिस तरह; रविम्—सूर्य को।

नर्मदा नदी के उत्तरी तट पर भृगुकक्ष नामक क्षेत्र में यज्ञ सम्पन्न करते हुए भृगुवंशी ब्राह्मण पुरोहितों ने वामनदेव को ऐसे देखा मानो पास ही सूर्य उदय हो रहा हो।

ते ऋत्विजो यजमानः सदस्या
हतत्विषो वामनतेजसा नृप ।
सूर्यः किलायात्युत वा विभावसुः
सनत्कुमारोऽथ दिदृक्षया क्रतोः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

ते—वे सभी; ऋत्विजः—पुरोहितगण; यजमानः—यज्ञ सम्पन्न कराने में व्यस्त बलि महाराज भी; सदस्याः—सभा के सारे सदस्य; हत-त्विषः—तेजरहित; वामन-तेजसा—वामन के चमकीले तेज से; नृप—हे राजा; सूर्यः—सूर्य; किल—कहीं तो; आयाति—आ रहा है; उत वा—अथवा; विभावसुः—अग्निदेव; सनत्-कुमारः—सनत्कुमार; अथ—अथवा; दिदृक्षया—देखने की इच्छा से; क्रतोः—यज्ञ।

हे राजा! वामनदेव के चमकीले तेज से बलि महाराज एवं सभा के सारे सदस्यों सहित सारे पुरोहित तेजहीन हो गये। वे परस्पर पूछने लगे कि कहीं साक्षात् सूर्यदेव अथवा सनत्कुमार या अग्निदेव तो यज्ञोत्सव को देखने नहीं आ गये?

इत्थं सशिष्येषु भृगुष्वनेकधा
वितर्क्यमाणो भगवान्स वामनः ।
छत्रं सदण्डं सजलं कमण्डलुं
विवेश बिभ्रद्धयमेधवाटम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; स-शिष्येषु—अपने शिष्यों सहित; भृगुषु—भृगुओं के बीच; अनेकधा—अनेक प्रकार से; वितर्क्यमाणः—तर्क-वितर्क करते; भगवान्—भगवान्; सः—वह; वामनः—वामन; छत्रम्—छाता; सदण्डम्—लाठी (दंड) सहित; स-जलम्—जल से पूरित; कमण्डलुम्—कमण्डल; विवेश—प्रवेश किया; बिभ्रत्—हाथ में लिए; हयमेध—अश्वमेध यज्ञ की; वाटम्—शाला में।

जब भृगुवंशी पुरोहित तथा उनके शिष्य अनेक प्रकार के तर्क-वितर्कों में संलग्न थे उसी समय भगवान् वामनदेव हाथों में दण्ड, छाता तथा जल से भरा कमण्डल लिए अश्वमेध यज्ञशाला में प्रविष्ट हुए।

मौञ्ज्या मेखलया वीतमुपवीताजिनोत्तरम् ।
जटिलं वामनं विप्रं मायामाणवकं हरिम् ॥ २४॥
प्रविष्टं वीक्ष्य भृगवः सशिष्यास्ते सहाग्निभिः ।
प्रत्यगृह्णन्समुत्थाय सङ्क्षिप्तास्तस्य तेजसा ॥ २५॥

शब्दार्थ

मौञ्ज्या—मूँज की बनी; मेखलया—पेटी से; वीतम्—घिरा हुआ; उपवीत—जनेऊ; अजिन-उत्तरम्—मृगचर्म का उत्तरीय वस्त्र पहने हुए; जटिलम्—जटा धारण किये; वामनम्—वामन को; विप्रम्—ब्राह्मण; माया-माणवकम्—मनुष्य का मायावीपुत्र; हरिम्—भगवान् को; प्रविष्टम्—प्रवेश किया हुआ; वीक्ष्य—देखकर; भृगवः—सारे भृगुवंशी पुरोहित; स-शिष्याः—अपने शिष्यों समेत; ते—वे सभी; सह-अग्निभिः—यज्ञ अग्नि सहित; प्रत्यगृह्णन्—ठीक से स्वागत किया गया; समुत्थाय—खड़े होकर; सङ्क्षिप्ताः—घटा हुआ; तस्य—उसके; तेजसा—तेज से।

भगवान् वामनदेव मूँज की मेखला, जनेऊ, मृगचर्म का उत्तरीय वस्त्र तथा जटाजूट धारण किये हुए ब्राह्मण बालक के रूप में उस यज्ञशाला में प्रविष्ट हुए। उनके तेज से सारे पुरोहितों एवं उनके शिष्यों का तेज घट गया; वे अपने-अपने आसनों से उठ खड़े हुए और प्रणाम करते हुए सबों ने समुचित रीति से उनका स्वागत किया।

यजमानः प्रमुदितो दर्शनीयं मनोरमम् ।
रूपानुरूपावयवं तस्मा आसनमाहरत् ॥ २६॥

शब्दार्थ

यजमानः—बलि महाराज, जिन्होंने सारे पुरोहितों को यज्ञ सम्पन्न करने के लिए लगा रखा था; प्रमुदितः—अत्यन्त प्रसन्न होकर; दर्शनीयम्—देखने में सुहावना; मनोरमम्—इतना सुन्दर; रूप—सौन्दर्य से युक्त; अनुरूप—उनके शारीरिक सौन्दर्य के तुल्य; अवयवम्—शरीर के विभिन्न अंग; तस्मै—उनको; आसनम्—बैठने का स्थान; आहरत्—प्रदान किया।

भगवान् वामनदेव को देखकर परम प्रफुल्लित बलि महाराज ने परम प्रसन्नतापूर्वक उन्हें बैठने के लिए आसन प्रदान किया। भगवान् के शरीर के सुन्दर अंग उनके शरीर की सुन्दरता को योगदान दे ले रहे थे।

स्वागतेनाभिनन्द्याथ पादौ भगवतो बलिः ।
अवनिज्यार्चयामास मुक्तसङ्गमनोरमम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

सु-आगतेन—स्वागत के शब्दों से; अभिनन्द्य—स्वागत करके; अथ—इस प्रकार; पादौ—दोनों चरणकमल; भगवतः—भगवान् के; बलिः—बलि महाराज ने; अवनिज्य—धोकर; अर्चयाम् आस—पूजा की; मुक्त-सङ्ग-मनोरमम्—मुक्तात्माओं को सुन्दर लगने वाले भगवान् को।

इस प्रकार मुक्तात्माओं को सदैव सुन्दर लगने वाले भगवान् का समुचित स्वागत करते हुए बलि महाराज ने उनके चरणकमलों को धोकर उनकी पूजा की।

तत्पादशौचं जनकल्मषापहं
स धर्मविन्मूर्ध्न्यदधात्सुमङ्गलम् ।
यद्देवदेवो गिरिशश्चन्द्रमौलिर्
दधार मूर्ध्ना परया च भक्त्या ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तत्-पाद-शौचम्—भगवान् के चरणकमलों को धोने से प्राप्त जल; जन-कल्मष-अपहम्—जनता के समस्त पापों के फलों को धो डालने वाला; सः—उसने (बलि महाराज ने); धर्म-वित्—धर्म से पूर्णतया ज्ञात; मूर्ध्नि—सिर पर; अदधात्—धारण किया; सु-मङ्गलम्—सर्वकल्याणकारी; यत्—जो; देव-देवः—देवताओं में श्रेष्ठ; गिरिशः—शिवजी; चन्द्र-मौलिः—ललाट पर चन्द्रमा का चिह्न धारण करने वाला; दधार—धारण किया; मूर्ध्ना—सिर पर; परया—परम; च—भी; भक्त्या—भक्तिपूर्वक।

देवताओं में सर्वश्रेष्ठ, ललाट पर चन्द्रमा का चिन्ह धारण करने वाले शिवजी विष्णु के अँगूठे से निकलने वाले गंगाजल को अपने सिर पर भक्तिपूर्वक धारण करते हैं। धार्मिक सिद्धान्तों को जानने वाले होने के कारण बलि महाराज को यह ज्ञात था; फलस्वरूप शिवजी का अनुसरण करते हुए उन्होंने भी भगवान् के चरणकमलों के प्रक्षालन से प्राप्त जल को अपने सिर पर रख लिया।

तात्पर्य : शिवजी गंगाधर कहलाते हैं अर्थात् वे जो अपने सिर पर गंगा जल धारण करते हैं। शिवजी के ललाट पर अर्धचन्द्र का चिह्न लगा रहता है। फिर भी भगवान् को परम आदर प्रदान करने के लिए शिवजी ने इस चिह्न के ऊपर गंगाजल को धारण कर लिया। इस उदाहरण का पालन हर एक को, अथवा कम से कम हर भक्त को करना चाहिए क्योंकि शिवजी महाजनों में से एक हैं। इसी प्रकार बलि महाराज भी बाद में महाजन बन गये। एक महाजन दूसरे महाजन का अनुसरण करता है और महाजन परम्परा का अनुगमन करने से मनुष्य आध्यात्मिक चेतना में प्रगति कर सकता है। गंगाजल पवित्र होता है क्योंकि यह भगवान् विष्णु के चरण के अँगूठे से निकलता है। बलि महाराज ने वामनदेव के चरणकमलों को प्रक्षालित किया और जिस जल से उन्होंने प्रक्षालन किया वह गंगाजल के तुल्य बन गया। अतएव समस्त धर्मों के ज्ञाता बलि महाराज ने शिवजी का अनुसरण करते हुए इस जल

को अपने सिर पर लगा लिया।

श्रीबलिरुवाच
स्वागतं ते नमस्तुभ्यं ब्रह्मन्किं करवाम ते ।
ब्रह्मर्षीणां तपः साक्षान्मन्ये त्वार्य वपुर्धरम् ॥ २९॥

शब्दार्थ

श्री-बलिः उवाच—बलि महाराज ने कहा; सु-आगतम्—स्वागत है; ते—आपका; नमः तुभ्यम्—मैं आपको नमस्कार करता हूँ; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; किम्—क्या; करवाम—हम कर सकते हैं; ते—आपके लिए; ब्रह्म-ऋषीणाम्—ब्रह्मर्षियों की; तपः—तपस्या; साक्षात्—प्रत्यक्ष; मन्ये—मानता हूँ; त्वा—तुमको; आर्य—हे श्रेष्ठ; वपुः-धरम्—साकार।

तब बलि महाराज ने वामनदेव से कहा : हे ब्राह्मण! मैं आपका हार्दिक स्वागत करता हूँ और आपको सादर नमस्कार करता हूँ। कृपया बतायें कि हम आपके लिए क्या करें? हम आपको ब्रह्मर्षियों की तपस्या का साकार रूप मानते हैं।

अद्य नः पितरस्तृप्ता अद्य नः पावितं कुलम् ।
अद्य स्विष्टः क्रतुरयं यद्भवानागतो गृहान् ॥ ३०॥

शब्दार्थ

अद्य—आज; नः—हमारे; पितरः—पितरगण; तृप्ताः—तृप्त; अद्य—आज; नः—हमारे; पावितम्—पवित्र हुए; कुलम्—पूरा परिवार; अद्य—आज; सु-इष्टः—भलीभाँति सम्पन्न; क्रतुः—यज्ञ; अयम्—यह; यत्—क्योंकि; भवान्—आप; आगतः—पधारे हैं; गृहान्—हमारे घर में।

हे प्रभु! आप कृपा करके हमारे घर पधारे हैं अतः मेरे सारे पूर्वज संतुष्ट हो गये, हमारा परिवार तथा समस्त वंश पवित्र हो गया और हम जिस यज्ञ को कर रहे थे वह आपकी उपस्थिति से अब पूरा हो गया।

अद्याग्नयो मे सुहुता यथाविधि
द्विजात्मज त्वच्चरणावनेजनैः ।
हतांहसो वार्भिरियं च भूरहो
तथा पुनीता तनुभिः पदैस्तव ॥ ३१॥

शब्दार्थ

अद्य—आज; अग्नयः—अग्नि; मे—मेरे द्वारा सम्पन्न; सु-हुताः—भलीभाँति आहुति डाली गई; यथा-विधि—शास्त्रीय आदेशानुसार; द्विज-आत्मज—हे ब्राह्मण पुत्र; त्वत्-चरण-अवनेजनैः—जिसने आपके चरणकमल धोये हैं; हत-अंहसः—सारे पापों के फलों से पवित्र हो गये हैं, जो; वार्भिः—जल के द्वारा; इयम्—यह; च—भी; भूः—पृथ्वी पर; अहो—ओह; तथा—और; पुनीता—पवित्र; तनुभिः—छोटे; पदैः—चरणकमलों के स्पर्श से; तव—आपके।

हे ब्राह्मणपुत्र! आज यह यज्ञ-अग्नि शास्त्रादेशानुसार प्रज्ज्वलित हुई है और आपके

पादप्रक्षालित जल से मैं अपने पापकर्मों के सभी फलों से मुक्त हो गया हूँ। हे स्वामी! आपके लघु चरणारविन्द के स्पर्श से समग्र जगती-तल पवित्र हो गया है।

यद्यद्वटो वाञ्छसि तत्प्रतीच्छ मे
त्वामर्थिनं विप्रसुतानुतर्कये ।
गां काञ्चनं गुणवद्धाम मृष्टं
तथान्नपेयमुत वा विप्रकन्याम् ।
ग्रामान्समृद्धांस्तुरगान्गजान्वा
रथांस्तथार्हत्तम सम्प्रतीच्छ ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यत् यत्—जो जो; वटो—हे ब्रह्मचारी; वाञ्छसि—चाहते हो; तत्—वह; प्रतीच्छ—ले सकते हो; मे—मुझसे; त्वाम्—तुम; अर्थिनम्—इच्छा रखने वाले; विप्र-सुत—हे ब्राह्मण पुत्र; अनुतर्कये—मैं मानता हूं; गाम्—गाएँ; काञ्चनम्—सोना; गुणवत् धाम—सज्जित घर; मृष्टम्—सुस्वादु; तथा—और; अन्न—अनाज; पेयम्—पेय पदार्थ; उत—निस्सन्देह; वा—अथवा; विप्र-कन्याम्—ब्राह्मण की पुत्री; ग्रामान्—ग्रामों; समृद्धान्—समृद्ध; तुरगान्—घोड़ों; गजान्—हाथियों; वा—अथवा; रथान्—रथों को; तथा—और; अर्हत्-तम—परम पूज्य; सम्प्रतीच्छ—ले सकते हो।

हे ब्राह्मणपुत्र! ऐसा प्रतीत होता है कि आप यहाँ मुझसे कुछ माँगने आये हैं। अतएव आप जो भी चाहें मुझसे ले सकते हैं। हे परम पूज्य! आप गाय, सोना, सज्जित घर, स्वादिष्ट भोजन तथा पेय, पत्नी के रूप में ब्राह्मण कन्या, समृद्ध गाँव, घोड़े, हाथी, रथ या जो भी इच्छा हो मुझसे ले सकते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध के अन्तर्गत "भगवान् वामनदेव: वामन अवतार" नामक अठाहरवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter उन्नीस

बलि महाराज से वामनदेव द्वारा दान की याचना

इस उन्नीसवें अध्याय में यह बताया गया है कि भगवान् वामन ने किस प्रकार दान में तीन पग भूमि माँगी, किस प्रकार बलि महाराज ने उनका प्रस्ताव मान लिया और किस प्रकार शुक्राचार्य ने उन्हें भगवान् वामनदेव की माँग पूरी करने से मना किया।

जब बलि महाराज ने वामनदेव को ब्राह्मणपुत्र समझकर कुछ भी इच्छानुसार माँगने के लिए कहा तो भगवान् वामनदेव ने पहले हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष के वीरतापूर्ण कार्यकलापों की प्रशंसा की

और फिर जिस कुल में बलि महाराज उत्पन्न हुए थे उसकी प्रशंसा करके उन्होंने राजा से तीन पग भूमि माँगी। बलि महाराज ने इस भूमिदान को अत्यन्त तुच्छ समझकर दान देना स्वीकार कर लिया, किन्तु शुक्राचार्य समझ गये कि वामनदेव देवताओं के मित्र विष्णु हैं अतएव उन्होंने बलि महाराज को यह भूमि न देने को कहा। उन्होंने बलि महाराज को सलाह दी कि वे अपना वचन वापस ले लें। उन्होंने बताया कि अन्यों को वश में करने, हँसी-विनोद करने, संकट के कारण, अन्यों की कुशलता के लिए कार्य करने आदि में मनुष्य अपने वचनों को पूरा करने से मुकर सकता है और इसमें कोई दोष नहीं होता। इस तर्क से शुक्राचार्य ने बलि महाराज को भगवान् वामनदेव को भूमि-दान देने से रोकने का प्रयास किया।

श्रीशुक उवाच
इति वैरोचनेर्वाक्यं धर्मयुक्तं स सूनृतम् ।
निशम्य भगवान्प्रीतः प्रतिनन्द्येदमब्रवीत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; वैरोचनेः—विरोचन के पुत्र के; वाक्यम्—शब्दों को; धर्म-युक्तम्—धर्म से युक्त; सः—वह; सू-नृतम्—अत्यन्त सुहावने; निशम्य—सुनकर; भगवान्—भगवान्; प्रीतः—पूर्णतया प्रसन्न होकर; प्रतिनन्द्य—उसको बधाई देकर; इदम्—निम्नलिखित शब्द; अब्रवीत्—कहे।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : जब भगवान् वामनदेव ने बलि महाराज को इस प्रकार सुहावने ढंग से बोलते हुए सुना तो वे परम प्रसन्न हुए क्योंकि बलि महाराज धार्मिक सिद्धान्तों के अनुरूप बोले थे। इस तरह वे बलि की प्रशंसा करने लगे।

श्रीभगवानुवाच
वचस्तवैतज्जनदेव सूनृतं
कुलोचितं धर्मयुतं यशस्करम् ।
यस्य प्रमाणं भृगवः साम्पराये
पितामहः कुलवृद्धः प्रशान्तः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; वचः—शब्द; तव—तुम्हारे; एतत्—इस प्रकार के; जन-देव—हे जनता के राजा; सू-नृतम्—अत्यन्त सच; कुल-उचितम्—तम्हारे वंश के अनुरूप; धर्म-युतम्—धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार; यशः-करम्—तुम्हारा यश फैलाने के लिए उपयुक्त; यस्य—जिसका; प्रमाणम्—साक्ष्य, प्रमाण; भृगवः—भृगुवंशी ब्राह्मण; साम्पराये—अगले जगत में; पितामहः—तुम्हारे बाबा; कुल-वृद्धः—कुल में सबसे बूढ़े, वयोवृद्ध; प्रशान्तः—अत्यन्त शान्त (प्रह्लाद महाराज)।

भगवान् ने कहा : हे राजा! तुम सचमुच महान् हो क्योंकि तुम्हें वर्तमान सलाह देने वाले

ब्राह्मण भृगुवंशी हैं, और तुम्हारे भावी जीवन के शिक्षक तुम्हारे बाबा (पितामह) प्रह्लाद महाराज हैं, जो शान्त एवं सम्माननीय (वयोवृद्ध) हैं। तुम्हारे कथन अत्यन्त सत्य हैं और वे धार्मिक शिष्टाचार से पूरी तरह मेल खाते हैं। वे तुम्हारे वंश के आचरण के अनुरूप हैं और तुम्हारे यश को बढ़ाने वाले हैं।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज शुद्ध भक्त के ज्वलन्त उदाहरण हैं। कोई यह तर्क कर सकता है कि वृद्ध होते हुए भी चूँकि प्रह्लाद महाराज अपने परिवार के प्रति, विशेष रूप से अपने पौत्र बलि महाराज के प्रति, आसक्त थे तो फिर वे आदर्श कैसे बन सकते हैं ? इसलिए इस श्लोक में *प्रशान्तः* शब्द आया है। भक्त सदैव प्रशान्त होता है। वह किसी भी परिस्थिति में विचलित नहीं होता। भले ही वह गृहस्थ जीवन क्यों न बिता रहा हो और भौतिक वस्तुओं को त्याग न कर पा रहा हो तो भी उसे प्रशान्त समझना चाहिए क्योंकि वह भगवान् की शुद्ध भक्ति करता है। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

किबा विप्र, किबा न्यासी, शूद्र केने नय
येइ कृष्णतत्त्ववेत्ता, सेइ 'गुरु' हय

"कोई चाहे ब्राह्मण हो, या संन्यासी अथवा शूद्र—चाहे जो भी हो—यदि वह कृष्णतत्त्व को जानता है, तो वह गुरु बन सकता है" (*चैतन्यचरितामृत* मध्य .१२)। कृष्ण का पूर्ण तत्त्ववेत्ता चाहे जीवन में किसी भी पद पर हो गुरु होता है। इस प्रकार प्रह्लाद महाराज सभी परिस्थितियों में गुरु हैं।

यहाँ पर भगवान् वामनदेव संन्यासियों तथा ब्रह्मचारियों को यह भी शिक्षा देते हैं कि मनुष्य को आवश्यकता से अधिक नहीं माँगना चाहिए। उन्होंने केवल तीन पग भूमि माँगी जबकि बलि महाराज उन्हें मुँहमाँगा दान देना चाह रहे थे।

न ह्येतस्मिन्कुले कश्चिन्निःसत्त्वः कृपणः पुमान् ।
प्रत्याख्याता प्रतिश्रुत्य यो वादाता द्विजातये ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; एतस्मिन्—इसमें; कुले—कुल या परिवार में; कश्चित्—कोई; निःसत्त्वः—संकुचित मन वाला; कृपणः—कंजूस; पुमान्—कोई व्यक्ति; प्रत्याख्याता—मना करता है; प्रतिश्रुत्य—वचन देकर; यः वा—अथवा; अदाता—न देने वाला; द्विजातये—ब्राह्मणों को।

मुझे ज्ञात है कि आज तक तुम्हारे परिवार में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जन्मा है, जो संकीर्ण मन

वाला या कंजूस हो। न तो किसी ने ब्राह्मणों को दान देने से मना किया है, न ही दान देने का वचन देकर कोई उसे पूरा करने से विमुख हुआ है।

न सन्ति तीर्थे युधि चार्थिनार्थिताः
पराङ्मुखा ये त्वमनस्विनो नृप ।
युष्मत्कुले यद्यशसामलेन
प्रह्राद उद्भाति यथोडुपः खे ॥ ४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; सन्ति—हैं; तीर्थे—तीर्थस्थानों में; युधि—युद्धभूमि में; च—भी; अर्थिना—ब्राह्मण या क्षत्रिय द्वारा; अर्थिताः—जिनसे माँगा गया हो; पराङ्मुखाः—जिसने प्रार्थना को ठुकरा दिया हो; ये—ऐसे व्यक्ति; तु—निस्सन्देह; अमनस्विनः—ऐसे क्षुद्र हृदय वाले, निम्न कोटि के राजा; नृप—हे राजा (बलि महाराज); युष्मत्-कुले—तुम्हारे कुल में; यत्—जिसमें; यशसा अमलेन—निष्कलंक कीर्ति से; प्रह्रादः—प्रह्राद महाराज; उद्भाति—उदय होता है; यथा—जिस प्रकार; उडुपः—चन्द्रमा; खे—आकाश में।.

हे राजा बलि! तुम्हारे कुल में कभी भी ऐसा क्षुद्र हृदय वाला राजा उत्पन्न नहीं हुआ जिसने तीर्थस्थानों में ब्राह्मणों द्वारा माँगे जावे पर दान न दिया हो या युद्धभूमि में क्षत्रियों से लड़ने से मना किया हो। तुम्हारा वंश तो प्रह्लाद महाराज के कारण और भी यशस्वी है क्योंकि वे आकाश में सुन्दर चन्द्रमा के समान हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में क्षत्रिय के लक्षण दिये गये हैं। उनमें से एक लक्षण है दान देने की प्रवृत्ति। क्षत्रिय न तो कभी ब्राह्मण द्वारा माँगे जाने पर दान देने से मना करता है न अन्य क्षत्रिय से युद्ध करने से इनकार करता है। जो राजा मना करता है, वह *क्षुद्र-हृदय* कहलाता है। बलि महाराज के वंश में ऐसे क्षुद्र-हृदय राजा कभी नहीं हुए।

यतो जातो हिरण्याक्षश्चरन्नेक इमां महीम् ।
प्रतिवीरं दिग्विजये नाविन्दत गदायुधः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

यतः—जिस वंश में; जातः—उत्पन्न हुआ था; हिरण्याक्षः—हिरण्याक्ष नामक राजा; चरन्—घूमते हुए; एकः—अकेले; इमाम्—इस; महीम्—पृथ्वी को; प्रतिवीरम्—प्रतिद्वन्द्वी; दिक्-विजये—सारी दिशाओं को जीतने के लिए; न अविन्दत—नहीं पा सका; गदा-आयुधः—अपनी गदा लिए।.

तुम्हारे ही वंश में हिरण्याक्ष ने जन्म लिया था। वह केवल अपनी गदा लेकर सारी दिशाओं को जीतने के लिए बिना किसी सहायता के सारी पृथ्वी में अकेले घूम आया, किन्तु उसे कोई ऐसा वीर न मिला जो उस का सामना कर सके।

यं विनिर्जित्य कृच्छ्रेण विष्णुः क्ष्मोद्धार आगतम् ।
आत्मानं जयिनं मेने तद्वीर्यं भूर्यनुस्मरन् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको; विनिर्जित्य—जीतकर; कृच्छ्रेण—कठिनाई से; विष्णुः—वराह अवतार में भगवान् विष्णु ने; क्ष्मा-उद्धारे—पृथ्वी के उद्धार के समय; आगतम्—उनके समक्ष प्रकट हुआ; आत्मानम्—स्वयं; जयिनम्—विजयी; मेने—विचार किया; तत्-वीर्यम्—हिरण्याक्ष का पराक्रम; भूरि—निरन्तर, या अधिकाधिक; अनुस्मरन्—चिन्तन करते हुए।

गर्भोदक सागर से पृथ्वी का उद्धार करते समय भगवान् विष्णु ने वराह अवतार में हिरण्याक्ष का वध किया जो उनके समक्ष प्रकट हो गया था। तब घमासान युद्ध हुआ और भगवान् ने उसे बड़ी कठिनाई से मारा। बाद में जब भगवान् ने हिरण्याक्ष के असाधारण पराक्रम के विषय में विचार किया, तो उन्होंने अपने को सचमुच विजयी अनुभव किया।

निशम्य तद्वधं भ्राता हिरण्यकशिपुः पुरा ।
हन्तुं भ्रातृहणं क्रुद्धो जगाम निलयं हरेः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; तत्-वधम्—हिरण्याक्ष के वध को; भ्राता—भाई; हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु; पुरा—बहुत पहले; हन्तुम्—मारने के लिए; भ्रातृ-हणम्—अपने भाई के हत्यारे को; क्रुद्धः—अत्यन्त क्रोधित; जगाम—गया; निलयम्—धाम में; हरेः—भगवान् के।

जब हिरण्यकशिपु ने सुना कि उसके भाई का वध कर दिया गया है, तो वह अत्यन्त क्रुद्ध होकर अपने भाई के हत्यारे विष्णु को मारने उनके धाम गया।

तमायान्तं समालोक्य शूलपाणिं कृतान्तवत् ।
चिन्तयामास कालज्ञो विष्णुर्मायाविनां वरः ॥ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (हिरण्यकशिपु को); आयान्तम्—आगे आते हुए; समालोक्य—बारीकी से देखकर; शूल-पाणिम्—अपने हाथ में त्रिशूल लेकर; कृतान्त-वत्—साक्षात् काल के समान; चिन्तयाम् आस—सोचा; काल-ज्ञः—काल की गति को जानने वाले; विष्णुः—विष्णु ने; मायाविनाम्—सभी प्रकार के मायावियों के; वरः—प्रमुख, मुखिया।

हिरण्यकशिपु को हाथ में त्रिशूल लिए साक्षात् काल की भाँति आगे बढ़ते देखकर समस्त मायावियों में श्रेष्ठ तथा काल की गति को जानने वाले भगवान् विष्णु ने इस प्रकार सोचा।

यतो यतोऽहं तत्रासौ मृत्युः प्राणभृतामिव ।
अतोऽहमस्य हृदयं प्रवेक्ष्यामि पराग्दृशः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यतः यतः—जहाँ-जहाँ, जहाँ कहीं भी; अहम्—मैं; तत्र—वहीं; असौ—यह हिरण्यकशिपु; मृत्युः—मृत्यु; प्राण-भृताम्—समस्त जीवों के; इव—सदृश; अतः—इसलिए; अहम्—मैं; अस्य—उसके; हृदयम्—अन्तःस्थल में; प्रवेक्ष्यामि—प्रवेश करूँगा; पराक्-दृशः—ऐसे व्यक्ति का जिसको केवल बाह्य दृष्टि प्राप्त है।

जहाँ कहीं भी मैं जाऊँगा, हिरण्यकशिपु मेरा पीछा करेगा जिस तरह मृत्यु सभी जीवों का पीछा करती है। अतएव मेरे लिए यही श्रेयस्कर होगा कि इसके अन्तःस्थल में प्रवेश कर जाऊँ। तब यह अपनी केवल बहिर्मुखी दृष्टि की शक्ति के कारण मुझे नहीं देख सकेगा।

एवं स निश्चित्य रिपोः शरीर-
माधावतो निर्विविशेऽसुरेन्द्र ।
श्वासानिलान्तर्हितसूक्ष्मदेह-
स्तत्प्राणरन्ध्रेण विविग्नचेताः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह से; सः—वह (भगवान् विष्णु); निश्चित्य—निर्णय करके; रिपोः—शत्रु के; शरीरम्—शरीर में; आधावतः—जो तेजी से भगवान् के पीछे-पीछे दौड़ रहा था; निर्विविशे—घुस गया; असुर-इन्द्र—हे असुर राजा (महाराज बलि); श्वास-अनिल—साँस के साथ; अन्तर्हित—अदृश्य; सूक्ष्म-देहः—अपने सूक्ष्म शरीर में; तत्-प्राण-रन्ध्रेण—उसके नथुने के छिद्र से होकर; विविग्न-चेताः—अत्यन्त उत्सुक होकर।

भगवान् वामनदेव ने आगे कहा : हे असुर राजा! इस निर्णय के बाद भगवान् अपने पीछे तेजी से दौते अपने शत्रु हिरण्यकशिपु के शरीर में प्रवेश कर गये। सूक्ष्म शरीर जिसकी हिरण्यकशिपु कल्पना भी न कर सकता था, धारण करके चिन्तामग्न भगवान् विष्णु उसकी श्वास के साथ उसके नथुने में प्रविष्ट हो गए।

तात्पर्य : भगवान् पहले से ही हर एक के हृदय के भीतर विद्यमान हैं। *ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति* (*भगवद्गीता* १.६१)। अतएव तर्क के अनुसार हिर ण्यकशिपु के शरीर के भीतर प्रवेश करना विष्णु के लिए जरा भी कठिन नहीं था। *विविग्न चेताः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है "अत्यन्त चिन्तित।" ऐसा नहीं है कि भगवान् विष्णु हिरण्यकशिपु से भयभीत थे, प्रत्युत करुणावश भगवान् चिन्तित थे कि उसके कल्याण के लिए क्या किया जाये।

स तन्निकेतं परिमृश्य शून्य-
मपश्यमानः कुपितो ननाद ।
क्ष्मां द्यां दिशः खं विवरान्समुद्रान्
विष्णुं विचिन्वन्न ददर्श वीरः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सः—उस हिरण्यकशिपु ने; तत्-निकेतम्—भगवान् विष्णु के निवास को; परिमृश्य—ढूँढकर; शून्यम्—रिक्त; अपश्यमानः—विष्णु को न देखकर; कुपितः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; ननाद—जोर से गर्जना की; क्ष्माम्—पृथ्वी पर; द्याम्—बाह्य आकाश में; दिशः—सभी दिशाओं में; खम्—आकाश में; विवरान्—सारी गुफाओं में; समुद्रान्—सारे समुद्रों में; विष्णुम्—विष्णु को; विचिन्वन्—ढूँढते हुए; न—नहीं; ददर्श—देखा; वीरः—यद्यपि वह अत्यन्त शक्तिशाली था।

भगवान् विष्णु के निवासस्थान को रिक्त देखकर हिरण्यकशिपु ने सर्वत्र उन की खोज करनी शुरू की। उन्हें न पाने के कारण क्रुद्ध होकर हिरण्यकशिपु ने जोर से गर्जना की और फिर सारे ब्रह्माण्ड, पृथ्वी, स्वर्गलोक, सारी दिशाओं तथा सारी गुफाओं एवं समुद्रों में उन्हें खोजना शुरू किया। किन्तु महान् वीर विष्णु को कहीं नहीं देख पाया।

अपश्यन्निति होवाच मयान्विष्टमिदं जगत् ।
भ्रातृहा मे गतो नूनं यतो नावर्तते पुमान् ॥ १२॥

शब्दार्थ

अपश्यन्—उन्हें न देखकर; इति—इस प्रकार; ह उवाच—बोला; मया—मेरे द्वारा; अन्विष्टम्—खोजा गया; इदम्—यह सम्पूर्ण; जगत्—ब्रह्माण्ड; भ्रातृ-हा—भाई का वध करने वाला विष्णु; मे—मेरे; गतः—चला गया होगा; नूनम्—निश्चय ही; यतः—जहाँ से; न—नहीं; आवर्तते—वापस आ सकता है; पुमान्—कोई मनुष्य।

उन्हें न देखकर हिरण्यकशिपु ने कहा : मैंने सारा ब्रह्माण्ड छान मारा, किन्तु अपने भाई के हत्यारे विष्णु को मैं कहीं नहीं पा सका। अतएव वह अवश्य ही ऐसी जगह चला गया होगा जहाँ से कोई भी लौट नहीं सकता (अर्थात् वह अब मर गया होगा)।

तात्पर्य : सामान्यतया नास्तिक लोग बौद्ध दर्शन के इस निर्णय के अनुयायी होते हैं कि मृत्यु के साथ सब कुछ समाप्त हो जाता है। नास्तिक होने के कारण हिरण्यकशिपु ने इसी तरह सोचा। चूँकि उसे भगवान् विष्णु नहीं दिख पाये थे अतएव उसने सोचा कि वे मर गये हैं। आज भी बहुत से लोग इसी विचारधारा के हैं कि ईश्वर मृत है लेकिन ईश्वर कभी भी मृत नहीं होता। यहाँ तक कि जीव भी जो ईश्वर का अंश है कभी नहीं मरता। *न जायते म्रियते वा कदाचित्*—आत्मा का न तो कभी जन्म होता है, न मृत्यु। यह *भगवद्गीता* का कथन है (२.२०)। यहाँ तक कि सामान्य जीव भी न कभी जन्म लेता है, न मरता है। तो फिर उन भगवान् के विषय में क्या कहा जाये जो समस्त जीवों का स्वामी हैं? निश्चय ही, वे न तो कभी जन्मते हैं, न मरते हैं। *अजोऽपि सन्नव्ययात्मा* (*भगवद्गीता* ४.६)। भगवान् तथा जीव (आत्मा) दोनों ही अजन्मा तथा अव्यय व्यक्ति हैं। अतएव हिरण्यकशिपु का यह निष्कर्ष कि विष्णु मर गये गलत था।

जैसाकि *यतो नावर्तते पुमान्* शब्दों से सूचित होता है, अवश्य ही कोई आध्यात्मिक लोक है और वहाँ जाने पर जीव फिर कभी इस भौतिक जगत में नहीं लौटता। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.९) में हुई है—*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।* भौतिक दृष्टि से तो हर जीव मरता है; मृत्यु अवश्यम्भावी है। किन्तु कर्मी, ज्ञानी तथा योगीजन मृत्यु के बाद इस भौतिक जगत में लौट आते हैं जबकि भक्त नहीं लौटते। हाँ, यदि भक्त परि-पूर्ण नहीं होता तो वह इस भौतिक जगत में फिर से जन्म लेता है, किन्तु किसी उच्चपद पर या धनी कुल में या शुद्ध ब्राह्मण के घर में जन्म लेता है (*शुचीनां श्रीमतां गेहे*) जिससे उसकी आध्यात्मिक चेतना का विकास पूरा हो सके। जिन्होंने कृष्णभावनामृत का अध्ययन पूर्ण कर लिया है और जो निष्काम हैं, वे भगवद्धाम को वापस जाते हैं (*यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम*)। यहाँ इसी तथ्य का वर्णन हुआ है—*यतो नावर्तते पुमान्।* जो व्यक्ति भगवान् के धाम को वापस चला जाता है, वह फिर इस भौतिक जगत में लौटकर नहीं आता।

वैरानुबन्ध एतावानामृत्योरिह देहिनाम् ।
अज्ञानप्रभवो मन्युरहंमानोपबृंहितः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

वैर-अनुबन्धः—शत्रुभाव, शत्रुता; एतावान्—इतनी अधिक; आमृत्योः—मृत्यु पर्यन्त; इह—इस; देहिनाम्—देहात्मबुद्धि में लिप्त पुरुषों का; अज्ञान-प्रभवः—अज्ञान के महान् प्रभाव वश; मन्युः—क्रोध; अहम्-मान—अहंकार से; उपबृंहितः—बढ़ा हुआ।.

भगवान् विष्णु के प्रति हिरण्यकशिपु का क्रोध उसकी मृत्यु तक बना रहा। देहात्मबुद्धि वाले अन्य लोग केवल मिथ्या अहंकार तथा अज्ञान के प्रबल प्रभाव के कारण क्रोध बनाये रखते हैं।

तात्पर्य : सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि बद्धजीव यद्यपि क्रुद्ध हो जाए तो उसका क्रोध शाश्वत न होकर क्षणिक होता है। ऐसा अज्ञान के कारण है। किन्तु हिरण्यकशिपु विष्णु के प्रति अपनी शत्रुता एवं अपने क्रोध को आमरण बनाये रहा। वह विष्णु से बदला लेने की प्रवृत्ति को कभी नहीं भुला पाया क्योंकि उन्होंने उसके भाई को मारा था। देहात्मबुद्धि से ग्रस्त अन्य लोग अपने शत्रुओं पर क्रुद्ध रहते हैं लेकिन भगवान् विष्णु पर नहीं। किन्तु हिरण्यकशिपु लगातार क्रुद्ध रहा। वह न केवल मिथ्या प्रतिष्ठा के कारण अपितु निरन्तर शत्रुता के कारण विष्णु के प्रति क्रुद्ध था।

पिता प्रह्लादपुत्रस्ते तद्विद्वान्द्विजवत्सलः ।
स्वमायुर्द्विजलिङ्गेभ्यो देवेभ्योऽदात्स याचितः ॥ १४॥

शब्दार्थ

पिता—पिता; प्रह्लाद-पुत्रः—महाराज प्रह्लाद का पुत्र; ते—तुम्हारा; तत्-विद्वान्—यद्यपि यह उसे ज्ञात था; द्विज-वत्सलः—फिर भी ब्राह्मणों के प्रति प्रेम होने से; स्वम्—अपनी; आयुः—उम्र; द्विज-लिङ्गेभ्यः—जो ब्राह्मणों के वेश में थे; देवेभ्यः—देवताओं को; अदात्—दे दिया; सः—उसने; याचितः—माँगे जाने पर।

तुम्हारे पिता विरोचन, जो महाराज प्रह्लाद के पुत्र थे, ब्राह्मणों के प्रति अत्यन्त स्नेहिल थे। यद्यपि वे भलीभान्ति जानते थे कि ब्राह्मणों का वेश धारण करके देवतागण उनके समक्ष आये थे, किन्तु उनके मांगने पर उन्होंने उन्हें अपनी आयु दे डाली।

तात्पर्य : बलि के पिता महाराज विरोचन ब्राह्मण वर्ग से इतने प्रसन्न थे कि यह जानते हुए भी कि उनसे दान लेने के लिए ब्राह्मणों का वेश धारण करके देवता आये हैं, उन्होंने दान देना स्वीकार किया।

भवानाचरितान्धर्मानास्थितो गृहमेधिभिः ।
ब्राह्मणैः पूर्वजैः शूरैरन्यैश्चोद्दामकीर्तिभिः ॥ १५॥

शब्दार्थ

भवान्—आपने; आचरितान्—सम्पन्न किया; धर्मान्—धार्मिक सिद्धान्तों को; आस्थितः—स्थित होकर; गृहमेधिभिः—गृहस्थों के द्वारा; ब्राह्मणैः—ब्राह्मणों के द्वारा; पूर्व-जैः—अपने पुरखों के द्वारा; शूरैः—वीरों केद्वारा; अन्यैः च—तथा अन्यों के द्वारा भी; उद्दाम-कीर्तिभिः—अत्यन्त उच्च तथा प्रसिद्ध।

तुमने भी गृहस्थ ब्राह्मणों, अपने पुरखों तथा महान् कार्यों के लिए सुविख्यात शूरवीरों जैसे महान् पुरुषों के सिद्धान्तों का पालन किया है।

तस्मात्त्वत्तो महीमीषद्वृणेऽहं वरदर्षभात् ।
पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र सम्मितानि पदा मम ॥ १६॥

शब्दार्थ

तस्मात्—ऐसे व्यक्ति से; त्वत्तः—आपसे; महीम्—पृथ्वी; ईषत्—थोड़ी सी; वृणे—माँग रहा हूँ; अहम्—मैं; वरद-ऋषभात्—मुक्तहस्त दान देने वाले व्यक्ति से; पदानि—पग; त्रीणि—तीन; दैत्य-इन्द्र—हे दैत्यराज; सम्मितानि—माप के बराबर; पदा—पाँव के द्वारा; मम—मेरे।

हे दैत्यराज! ऐसे कुलीन एवं मुक्तहस्त दान देने वाले आपसे मैं अपने पैरों से मापकर केवल तीन पग भूमि की याचना करता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् वामनदेव अपने पैरों से नापकर केवल तीन पग भूमि चाह रहे थे। उन्हें आवश्यकता से अधिक भूमि नहीं चाहिए थी। किन्तु यद्यपि उन्होंने सामान्य मानवी बालक का वेश बना रखा था, वास्तव में वे ऊर्ध्व, मध्य तथा अधो लोकों से घिरी भूमि को दान में लेना चाह रहे थे।

भगवान् ने अपना पराक्रम दिखलाने के लिए ऐसा किया था।

नान्यत्ते कामये राजन्वदान्याज्जगदीश्वरात् ।
नैनः प्राप्नोति वै विद्वान्यावदर्थप्रतिग्रहः ॥ १७॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अन्यत्—अन्य कुछ; ते—तुमसे; कामये—याचना करता हूँ; राजन्—हे राजा; वदान्यात्—जो इतने दानी हैं; जगत्-ईश्वरात्—सारे ब्रह्माण्ड के राजा से; न—नहीं; एनः—दुख; प्राप्नोति—प्राप्त करता है; वै—निस्सन्देह; विद्वान्—विद्वान; यावत्-अर्थ—जिसे जितना चाहिए; प्रतिग्रहः—अन्यों से दान लेना।

हे समग्र ब्रह्माण्ड के नियामक राजा! यद्यपि आप अत्यन्त उदार हैं और जितनी भूमि चाहूँ मुझे दे सकते हैं, किन्तु मैं आपसे अनावश्यक वस्तु नहीं माँगना चाहता। यदि कोई विद्वान ब्राह्मण अन्यों से अपनी आवश्यकतानुसार दान लेता है, तो वह पापपूर्ण कर्मों में नहीं फँसता।

तात्पर्य : कोई ब्राह्मण या संन्यासी अन्यों से दान माँग सकता है, किन्तु यदि वह आवश्यकता से अधिक लेता है, तो वह दण्डनीय है। कोई भी व्यक्ति आवश्यकता से अधिक भगवान् की सम्पत्ति का उपभोग नहीं कर सकता। भगवान् वामनदेव अप्रत्यक्षत: बलि महाराज को इंगित कर रहे थे कि उसके पास आवश्यकता से अधिक भूमि है। भौतिक जगत में सारे क्लेश अपव्यय के कारण हैं। मनुष्य अंधाधुन्ध धन एकत्र कर लेता है और इसका वह अपव्यय भी करता है। ऐसे कार्यकलाप पापपूर्ण हैं। सारी सम्पत्ति भगवान् की है और सारे जीव भगवान् की सन्तानें होने के कारण अपने परम पिता की सम्पत्ति का उपयोग करने के अधिकारी हैं, किन्तु कोई आवश्यकता से अधिक नहीं ले सकता। इस सिद्धान्त का पालन ब्राह्मणों या संन्यासियों को विशेष रूप से करना चाहिए क्योंकि वे अन्यों के बल पर पलते हैं। इस तरह वामनदेव एक आदर्श याचक थे क्योंकि उन्होंने केवल तीनपग भूमि माँगी थी। निस्सन्देह, उनके पगों में तथा एक सामान्य व्यक्ति के पगों में अन्तर है। भगवान् अपने अचिन्त्य पराक्रम से अपने पदचाप को असीम नाप से सारे ब्रह्माण्ड को घेर सकते हैं जिसमें ऊर्ध्व, अधो तथा मध्य लोक सम्मिलित हैं।

श्रीबलिरुवाच
अहो ब्राह्मणदायाद वाचस्ते वृद्धसम्मताः ।
त्वं बालो बालिशमतिः स्वार्थं प्रत्यबुधो यथा ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-बलिः उवाच—बलि महाराज ने कहा; अहो—आह; ब्राह्मण-दायाद—ब्राह्मण पुत्र; वाचः—वचन; ते—तुम्हारे; वृद्ध-सम्मताः—विद्वानों तथा गुरुजनों को मान्य हैं; त्वम्—तुम; बालः—बालक; बालिश-मतिः—पर्याप्तज्ञान के बिना; स्व-अर्थम्—स्वार्थ या हित; प्रति—के प्रति; अबुधः—ठीक से न जानते हुए; यथा—मानो।.

बलि महाराज ने कहा : हे ब्राह्मण पुत्र! तुम्हारे उपदेश विद्वान तथा वयोवृद्ध पुरुषों जैसे हैं। तो भी अभी तुम बालक हो और तुम्हारी बुद्धि अल्प है। अतएव तुम्हें अपने हित का पूरी तरह ज्ञान नहीं है।

तात्पर्य : भगवान् अपने में पूर्ण हैं अतएव उन्हें अपने स्वार्थ के लिए वास्तव में कुछ भी नहीं चाहिए। अतः भगवान् वामनदेव बलि महाराज के पास स्वार्थ साधन के लिए नहीं गये थे। जैसाकि *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा गया है—*भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।* भगवान् इस लोक के तथा स्वर्गलोक के सभी लोकों के स्वामी हैं। भला उन्हें भूमि की क्या आवश्यकता? बलि महाराज ने ठीक ही कहा है कि वामनदेव को अपने हित के लिए तनिक भी बुद्धि से काम नहीं ले रहे हैं। वामनदेव अपने स्वार्थ के लिए नहीं अपितु अपने भक्तों के कल्याण के लिए बलि महाराज के पास गये थे। बुद्धि से काम नहीं ले रहे भक्तगण भगवान् को प्रसन्न करने के लिए अपने सारे स्वार्थों की बलि कर देते हैं। इसी तरह भगवान् भी अपना निजी स्वार्थ न रखते हुए, भक्तों के लिए कुछ भी कर सकते हैं। जो स्वयं पूर्ण है उसमें भला कोई स्वार्थ कैसे होगा?

मां वचोभिः समाराध्य लोकानामेकमीश्वरम् ।
पदत्रयं वृणीते योऽबुद्धिमान्द्वीपदाशुषम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; वचोभिः—मधुर वचनों से; समाराध्य—पर्याप्त तुष्ट करके; लोकानाम्—इस ब्रह्माण्ड के सारे लोकों का; एकम्—एकमात्र; ईश्वरम्—स्वामी, नियन्ता; पद-त्रयम्—तीन पग; वृणीते—माँग रहा है; यः—जो; अबुद्धिमान्—मूर्ख; द्वीप-दाशुषम्—क्योंकि मैं तुम्हें समूचा द्वीप दे सकता हूँ।.

मैं तुम्हें समूचा द्वीप दे सकता हूँ क्योंकि मैं ब्रह्माण्ड के तीनों विभागों का स्वामी हूँ। तुम मुझसे कुछ लेने आये हो और तुमने मुझे अपने मधुर वचनों से सन्तुष्ट किया है, किन्तु तुम केवल तीन पग भूमि माँग रहे हो अतएव तुम मुझे अधिक बुद्धिमान् नहीं लगते हो।

तात्पर्य : वैदिक ज्ञान के अनुसार समग्र ब्रह्माण्ड शून्य का सागर है। उस सागर में असंख्य लोक हैं और इनमें से प्रत्येक लोक एक द्वीप कहलाता है। जब वामनदेव बलि महाराज से भिक्षा माँगने गये तो सभी द्वीप वास्तव में उनके अधिकार में थे। बलि महाराज वामनदेव के स्वरूप को देखकर अत्यन्त

प्रसन्न थे और वे मुंहमाँगी भूमि देने को तैयार थे लेकिन जब वामनदेव ने केवल तीन पग भूमि माँगी तो बलि महाराज ने सोचा कि वे अधिक बुद्धिमान् नहीं हैं।

न पुमान्मामुपव्रज्य भूयो याचितुमर्हति ।
तस्माद्वृत्तिकरीं भूमिं वटो कामं प्रतीच्छ मे ॥ २० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; पुमान्—कोई व्यक्ति; माम्—मेरे पास; उपव्रज्य—पास आकर; भूयः—पुनः; याचितुम्—माँगने के लिए; अर्हति—योग्य होता है; तस्मात्—इसलिए; वृत्ति-करीम्—अपना पालन करने के लिए उपयुक्त; भूमिम्—भूमि को; वटो—हे लघु ब्रह्मचारी; कामम्—जीवन की आवश्यकता के अनुसार; प्रतीच्छ—ले लो; मे—मुझसे।

हे बालक! जो एक बार कुछ माँगने के लिए मेरे पास आता है उसे अन्यत्र कुछ भी माँगने की आवश्यकता नहीं रहनी चाहिए। अतएव, चाहो तो तुम मुझसे उतनी भूमि माँग सकते हो जितने से तुम्हारी जीवन-यापन संबंधी आवश्यकता पूरी हो सके।

श्रीभगवानुवाच
यावन्तो विषयाः प्रेष्ठास्त्रिलोक्यामजितेन्द्रियम् ।
न शक्नुवन्ति ते सर्वे प्रतिपूरयितुं नृप ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; यावन्तः—यथासम्भव; विषयाः—इन्द्रिय भोग के विषय; प्रेष्ठाः—हर एक के लिए सुहावना; त्रि-लोक्याम्—तीनों लोकों में; अजित-इन्द्रियम्—जिसकी इन्द्रियाँ वश में न हों; न शक्नुवन्ति—असमर्थ हैं; ते—वे; सर्वे—सभी मिलाकर; प्रतिपूरयितुम्—सन्तुष्ट करने के लिए; नृप—हे राजा।

भगवान् ने कहा : हे राजा! जिस मनुष्य की इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं उसे तीनों लोकों में इन्द्रियों को तृप्त करने के लिए जो कुछ भी है संतुष्ट नहीं कर सकता।

तात्पर्य : भौतिक जगत वह माया है, जो जीवों को आत्म-साक्षात्कार के मार्ग से विचलित करती है। इस संसार का प्रत्येक व्यक्ति अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए अधिक से अधिक वस्तुएँ पाने के लिए उत्सुक रहता है। किन्तु वास्तव में जीवन का उद्देश्य इन्द्रियतृप्ति न होकर आत्म-साक्षात्कार है। अतएव जो लोग इन्द्रियतृप्ति के प्रति अधिक आसक्त होते हैं उन्हें अष्टांगयोग पद्धति का अभ्यास करने की सलाह दी जाती है, जिसमें *यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार* आदि सम्मिलित हैं। इस प्रकार से इन्द्रियों को वश में किया जा सकता है। इन्द्रियों को वश में करने का उद्देश्य मनुष्य को जन्म-मरण के चक्र में पड़ने से रोकना है। जैसाकि ऋषभदेव ने कहा है—

नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म

यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति।

न साधु मन्ये यत आत्मनोऽयम्

असन्नपि क्लेशद आस देहः॥

"जब कोई मनुष्य इन्द्रियतृप्ति को जीवन का लक्ष्य मान बैठता है, तो वह निश्चित रूप से भौतिक जीवन के पीछे उन्मत्त हो जाता है और सभी प्रकार के पापकर्मों में लिप्त रहने लगता है। वह यह नहीं जानता कि विगत दुष्कर्मों के परिणामस्वरूप ही उसे यह शरीर प्राप्त हुआ है, जो क्षणिक होते हुए भी उसके दुख का कारण है। वास्तव में जीव को यह भौतिक शरीर नहीं ग्रहण करना चाहिए था, किन्तु इन्द्रियतृप्ति के लिए ही उसे यह शरीर दिया गया है। अतएव मेरे विचार से किसी भी बुद्धिमान् व्यक्ति के लिए यह उपयुक्त नहीं होगा कि वह पुनः इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में लिप्त हो जिनसे वह लगातार एक के बाद दूसरा भौतिक शरीर प्राप्त करता रहता है।" (*भागवत* ५.५.४)। इस तरह ऋषभदेव के अनुसार इस भौतिक जगत के सारे मनुष्य पागलों की तरह उन कार्यों में लगे रहते हैं, जिन्हें उन्हें नहीं करना चाहिए, किन्तु जिन्हें वे मात्र इन्द्रियतृप्ति के लिए अवश्य सम्पन्न करते हैं। ऐसे कार्य उत्तम नहीं हैं क्योंकि इससे उसे अगले जीवन में अपने दुष्कर्मों के दण्डस्वरूप पुनः शरीर प्राप्त होता है और पुनः दूसरा शरीर प्राप्त होने पर उसे संसार में बार-बार कष्ट भोगना पड़ता है। अतएव वैदिक या ब्राह्मण संस्कृति मनुष्य को सिखाती है कि किस प्रकार जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं से सन्तुष्ट रहा जाये।

इस सर्वोच्च संस्कृति की शिक्षा देने के लिए वर्णाश्रम धर्म की संस्तुति की गई है। वर्णाश्रम विभागों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास का उद्देश्य इन्द्रियों को वश में करने और कम से कम आवश्यकताओं से सन्तुष्ट रहने की शिक्षा देना है। आदर्श ब्रह्मचारी के रूप में भगवान् वामनदेव बलि महाराज की इस भेंट को ठुकराते हैं कि वे जो चाहें सो माँग लें। वे कहते हैं कि सन्तोष के बिना कोई कभी सुखी नहीं रह सकता भले ही उसे सारे जगत या सारे ब्रह्माण्ड की सम्पत्ति क्यों न प्राप्त हो ले। अतएव मानव समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य संस्कृतियों का पालन होना चाहिए और लोगों को उतने से ही सन्तुष्ट रहने की शिक्षा दी जानी चाहिए जितने की उन्हें आवश्यकता हो। आधुनिक सभ्यता में ऐसी कोई शिक्षा नहीं है; प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक प्राप्त करना चाहता है और प्रत्येक व्यक्ति असन्तुष्ट तथा दुखी है। इसीलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन विशेष

रूप से अमरीका में विविध कृषि क्षेत्रों की स्थापना कर रहा है, जिससे सुखी बनने और जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं से सन्तुष्ट रहने एवं हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—करके बड़ी आसानी से आत्म-साक्षात्कार के लिए समय बचाया जा सके।

त्रिभिः क्रमैरसन्तुष्टो द्वीपेनापि न पूर्यते ।
नववर्षसमेतेन सप्तद्वीपवरेच्छया ॥ २२॥

शब्दार्थ

त्रिभिः—तीन; क्रमैः—क्रमवार; असन्तुष्टः—असन्तुष्ट; द्वीपेन—द्वीप से; अपि—यद्यपि; न पूर्यते—सन्तुष्ट नहीं होता; नव-वर्ष-समेतेन—नौ वर्षों को प्राप्त करके भी; सप्त-द्वीप-वर-इच्छया—सातों द्वीपों पर अधिकार पाने की इच्छा।

यदि मैं तीन पग भूमि से सन्तुष्ट न होऊँ तब तो यह निश्चित है कि नौ वर्षों से युक्त सातों द्वीपों में से एक द्वीप पाकर भी मैं सन्तुष्ट नहीं हो सकूँगा। यदि मुझे एक द्वीप भी मिल जाये तो मैं अन्य द्वीपों को पाने की आशा करूँगा।

सप्तद्वीपाधिपतयो नृपा वैण्यगयादयः ।
अर्थैः कामैर्गता नान्तं तृष्णाया इति नः श्रुतम् ॥ २३॥

शब्दार्थ

सप्त-द्वीप-अधिपतयः—सात द्वीपों के मालिक; नृपाः—राजा; वैण्य-गय-आदयः—महाराज पृथु, महाराज गय तथा अन्य; अर्थैः—उद्देश्यपूर्ति के लिए; कामैः—अपनी इच्छाओं की तुष्टि हेतु; गताः न—नहीं पहुँच सके; अन्तम्—अन्त तक; तृष्णायाः—अपनी इच्छाओं के; इति—इस प्रकार; नः—हमारे द्वारा; श्रुतम्—सुना गया।

हमने सुना है कि यद्यपि महाराज पृथु तथा महाराज गय जैसे शक्तिशाली राजाओं ने सातों द्वीपों पर स्वामित्व प्राप्त कर लिया था, किन्तु फिर भी उन्हें न तो सन्तोष प्राप्त हुआ न ही वे अपनी आकांक्षाओं का कोई अन्त पा सके।

यदृच्छयोपपन्नेन सन्तुष्टो वर्तते सुखम् ।
नासन्तुष्टस्त्रिभिर्लोकैरजितात्मोपसादितैः ॥ २४॥

शब्दार्थ

यदृच्छया—अपने कर्म के अनुसार परम सत्ता द्वारा जो कुछ प्रदत्त है; उपपन्नेन—जो कुछ मिला है उससे; सन्तुष्टः—मनुष्य को सन्तुष्ट होना चाहिए; वर्तते—है; सुखम्—सुख; न—नहीं; असन्तुष्टः—असन्तुष्ट के लिए; त्रिभिः लोकैः—तीनों लोकों को पा लने पर; अजित-आत्मा—जो अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर सकता; उपसादितैः—भले ही प्राप्त क्यों न कर ले।

मनुष्य को अपने प्रारब्ध से जो कुछ मिलता है उससे सन्तुष्ट रहना चाहिए क्योंकि असन्तोष

से कभी भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। जो व्यक्ति आत्मसंयमी नहीं है, वह तीनों लोकों को पाकर भी सुखी नहीं होगा।

तात्पर्य : यदि सुख ही जीवन का चरम लक्ष्य है, तो प्रारब्ध से जो पद प्राप्त हुआ है उसी से मनुष्य को सन्तुष्ट रहना चाहिए। प्रह्लाद महाराज ने भी यही आदेश दिया है—

सुखम् ऐन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम्।

सर्वत्र लभ्यते दैवाद् यथा दुःखम् अयत्नतः॥

"हे दैत्य मित्रो! देहस्पर्श के द्वारा इन्द्रियविषयों से अनुभव किया जाने वाला सुख जीवन के किसी भी रूप में अपने पूर्वकर्मों के अनुसार प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा सुख बिना किसी प्रयास के स्वतः प्राप्त हो जाता है, जिस प्रकार कि हमें दुख प्राप्त होता है।" (*भागवत*७.६.३)। सुख-प्राप्ति के सम्बन्ध में यह विचारधारा बिल्कुल सही है।

भगवद्गीता (६.२१) में असली सुख का वर्णन इस प्रकार हुआ है—

सुखम् आत्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥

"आध्यात्मिक रूप से हर्षमय स्थिति में मनुष्य असीम दिव्य सुख में रहता है और दिव्य इन्द्रियों के द्वारा उसका भोग करता है। इस प्रकार स्थापित हो जाने पर फिर वह सत्य से कभी दूर नहीं जाता।" मनुष्य को सुख की अनुभूति परा इन्द्रियों से करनी होती है। परा इन्द्रियाँ भौतिक तत्त्वों से बनी इन्द्रियाँ नहीं होतीं। हममें से प्रत्येक व्यक्ति आध्यात्मिक प्राणी है (*अहं ब्रह्मास्मि*) और प्रत्येक व्यक्ति व्यष्टि देही है। इस समय हमारी इन्द्रियाँ भौतिक तत्त्वों से आच्छादित हैं और अज्ञान के कारण आच्छादित करने वाली इन इन्द्रियों को हम अपनी वास्तविक इन्द्रियाँ मान लेते हैं। किन्तु अपनी वास्तविक इन्द्रियाँ तो भौतिक आवरण के भीतर हैं। *देहिनोऽस्मिन यथा देहे*—भौतिक तत्त्वों के आवरण के भीतर आध्यात्मिक इन्द्रियाँ होती हैं। *सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्*—आध्यात्मिक इन्द्रियों के अनाच्छादित होते ही हम इन इन्द्रियों के द्वारा सुखी हो सकते हैं। आध्यात्मिक इन्द्रियों की तुष्टि का वर्णन इस प्रकार हुआ है—*हृषीकेन हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते।* जब इन्द्रियाँ हृषीकेश की भक्ति में लगी रहती हैं तब इन इन्द्रियों की पूर्ण तुष्टि होती है। इन्द्रियतृप्ति के इस श्रेष्ठ ज्ञान के बिना कोई अपनी

भौतिक इन्द्रियों को तुष्ट करने का प्रयास कर सकता है, किन्तु उसे सुख कभी नहीं मिल सकेगा। इन्द्रियतुष्टि की अपनी अभिलाषा को चाहे कोई बढ़ा ले और अपनी इन्द्रियतुष्टि के लिए इच्छित फल भी प्राप्त कर ले, किन्तु उसे कभी सुख एवं सन्तोष प्राप्त नहीं हो सकेगा क्योंकि यह भौतिक स्तर पर होता है।

ब्राह्मण संस्कृति के अनुसार मनुष्य को बिना किसी विशेष प्रयास के जो प्राप्त हो जाये उसी से सन्तुष्ट रहना चाहिए और आध्यात्मिक चेतना का अनुशीलन करना चाहिए। तभी वह सुखी होगा। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का प्रयोजन इसी ज्ञान का प्रसार करना है। जिन व्यक्तियों को वैज्ञानिक आध्यात्मिक ज्ञान नहीं होता वे भ्रमवश सोचते हैं कि कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्य भौतिक कार्यकलापों से दूर रहने का प्रयास करने वाले पलायनवादी हैं। जबकि तथ्य यह है कि हम जीवन के चरम सुख को प्राप्त करने के वास्तविक कार्यों में लगे रहते हैं। यदि किसी को आध्यात्मिक इन्द्रियों को तुष्ट करने का प्रशिक्षण न मिले और वह भौतिक इन्द्रियतृप्ति में लगा रहे तो उसे कभी भी नित्य तथा आनन्दमय सुख नहीं मिल सकेगा। अतएव *श्रीमद्भागवत* (५.५.१) में संस्तुति की गई है—

तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं

शुद्ध्येद् यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम्

मनुष्य को तपस्या करनी चाहिए जिससे उसकी अस्तित्व परक स्थिति पवित्र हो जाये और उसे असीम आनन्दमय जीवन की प्राप्ति हो सके।

पुंसोऽयं संसृतेर्हेतुरसन्तोषोऽर्थकामयोः ।
यदृच्छयोपपन्नेन सन्तोषो मुक्तये स्मृतः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

पुंसः—जीव का; अयम्—यह; संसृतेः—संसार में आवागमन का; हेतुः—कारण; असन्तोषः—भाग्य में लिखे फल से असंतोष; अर्थ-कामयोः—काम तथा अर्थ के लिए; यदृच्छया—प्रारब्ध से; उपपन्नेन—प्राप्त हुआ; सन्तोषः—सन्तोष; मुक्तये—मुक्ति के लिए; स्मृतः—उपयुक्त माना जाता है।

भौतिक जीवन कामेच्छा की पूर्ति एवं अधिक धन पाने की इच्छा में असन्तोष उत्पन्न करता है। बारम्बार जन्म तथा मृत्यु से पूर्ण भौतिक जीवन के बने रहने का यही कारण है। किन्तु प्रारब्ध से जो कुछ प्राप्त होता है उसी से सन्तुष्ट रहने वाला मनुष्य इस भौतिक जगत से मुक्ति पाने के योग्य है।

यदृच्छालाभतुष्टस्य तेजो विप्रस्य वर्धते ।
तत्प्रशाम्यत्यसन्तोषादम्भसेवाशुशुक्षणिः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यदृच्छा-लाभ-तुष्टस्य—भगवान् की कृपा से जो कुछ प्राप्त हो जाये उसी से सन्तुष्ट; तेजः—तेज; विप्रस्य—ब्राह्मण का; वर्धते—बढ़ जाता है; तत्—वह (तेज); प्रशाम्यति—कम हो जाता है; असन्तोषात्—असन्तोष के कारण; अम्भसा—जल डालने से; इव—मानो; आशुशुक्षणिः—अग्नि।

जो ब्राह्मण प्रारब्ध से जो कुछ भी प्राप्त होता है उसी से सन्तुष्ट रहता है, वह आध्यात्मिक शक्ति में निरन्तर बढ़ते जाकर प्रबुद्ध होता रहता है, किन्तु असन्तुष्ट ब्राह्मण की आध्यात्मिक शक्ति उसी तरह क्षीण होती जाती है, जिस प्रकार पानी छिड़कने से अग्नि की ज्वलनशक्ति घटती है।

तस्मात्त्रीणि पदान्येव वृणे त्वद्वरदर्षभात् ।
एतावतैव सिद्धोऽहं वित्तं यावत्प्रयोजनम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—आसानी से मिली हुई वस्तुओं से सन्तुष्ट होने के कारण; त्रीणि—तीन; पदानि—पग; एव—निस्सन्देह; वृणे—मैं याचना करता हूँ; त्वत्—आपसे; वरद-ऋषभात्—मुक्तहस्त दान करने वाले से; एतावता एव—इतने ही से; सिद्धः अहम्—मैं पूर्ण सन्तोष अनुभव करूँगा; वित्तम्—उपलब्धि; यावत्—जहाँ तक; प्रयोजनम्—आवश्यक है।

अतएव हे राजा! दानियों में सर्वश्रेष्ठ आपसे मैं केवल तीन पग भूमि माँग रहा हूँ। इस दान से मैं अत्यधिक प्रसन्न हो जाऊँगा क्योंकि सुखी होने की विधि यही है कि जो नितान्त आवश्यक हो उसे पाकर पूर्ण सन्तुष्ट हो लिया जाये।

श्रीशुक उवाच
इत्युक्तः स हसन्नाह वाञ्छातः प्रतिगृह्यताम् ।
वामनाय महीं दातुं जग्राह जलभाजनम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति उक्तः—इस प्रकार कहे जाने पर; सः—उसने (बलि महाराज ने); हसन्—हँसते हुए; आह—कहा; वाञ्छातः—जैसी तुमने इच्छा की है; प्रतिगृह्यताम्—अब मुझसे ले लो; वामनाय—वामन भगवान् को; महीम्—भूमि; दातुम्—देने के लिए; जग्राह—लिया; जल-भाजनम्—जलपात्र।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : जब बलि महाराज से भगवान् इस प्रकार बोले तो बलि हँस पड़े और उन्होंने कहा "बहुत अच्छा। अब जो इच्छा हो प्राप्त करो।" वामनदेव को इच्छित भूमि देने के अपने वचन की पुष्टि करने के लिए उन्होंने अपना जलपात्र उठाया।

विष्णवे क्ष्मां प्रदास्यन्तमुशना असुरेश्वरम् ।
जानंश्चिकीर्षितं विष्णोः शिष्यं प्राह विदां वरः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

विष्णवे—भगवान् विष्णु (वामनदेव) को; क्ष्माम्—भूमि; प्रदास्यन्तम्—देने के लिए उद्यत; उशनाः—शुक्राचार्य ने; असुर-ईश्वरम्—असुरों के राजा (बलि महाराज) को; जानन्—भलीभाँति जानते हुए; चिकीर्षितम्—जो योजना थी; विष्णोः—भगवान् विष्णु की; शिष्यम्—अपने शिष्य से; प्राह—कहा; विदाम् वरः—हर बात को जानने वालों में श्रेष्ठ।

भगवान् विष्णु के प्रयोजन को जानते हुए विद्वानों में श्रेष्ठ शुक्राचार्य ने तुरन्त ही अपने शिष्य बलि से, जो भगवान् वामनदेव को सब कुछ देने जा रहे थे, इस प्रकार कहा।

श्रीशुक्र उवाच
एष वैरोचने साक्षाद्भगवान्विष्णुरव्ययः ।
कश्यपाददितेर्जातो देवानां कार्यसाधकः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक्रः उवाच—शुक्राचार्य ने कहा; एषः—यह (वामन रूप बालक); वैरोचने—हे विरोचनपुत्र; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवान्—भगवान्; विष्णुः—विष्णु; अव्ययः—अव्यय; कश्यपात्—अपने पिता कश्यप से; अदितेः—अपनी माता अदिति के गर्भ से; जातः—उत्पन्न; देवानाम्—देवताओं का; कार्य-साधकः—हित में काम करने वाला।

शुक्राचार्य ने कहा : हे विरोचनपुत्र! यह वामन रूपधारी ब्रह्मचारी साक्षात् अव्यय भगवान् विष्णु है। यह कश्यप मुनि को अपना पिता और अदिति को अपनी माता स्वीकार करके देवताओं का हित साधने के लिए प्रकट हुआ है।

प्रतिश्रुतं त्वयैतस्मै यदनर्थमजानता ।
न साधु मन्ये दैत्यानां महानुपगतोऽनयः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

प्रतिश्रुतम्—वचन दिया गया; त्वया—तुम्हारे द्वारा; एतस्मै—उसको; यत् अनर्थम्—जो अहित होना है; अजानता—न जानने वाले तुम्हारे द्वारा; न—नहीं; साधु—उत्तम; मन्ये—मैं सोचता हूँ; दैत्यानाम्—असुरों का; महान्—महान्; उपगतः—प्राप्त किया हुआ; अनयः—अशुभ कार्य, अन्याय।

तुम यह नहीं जान पा रहे कि इन्हें भूमि देने का वचन देकर तुमने कैसी घातक स्थिति अंगीकार कर ली है। मेरी समझ में यह वचन (प्रतिज्ञा) तुम्हारे लिए उत्तम नहीं है। इससे असुरों को महान् क्षति होगी।

एष ते स्थानमैश्वर्यं श्रियं तेजो यशः श्रुतम् ।
दास्यत्याच्छिद्य शक्राय मायामाणवको हरिः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह व्यक्ति जो ब्रह्मचारी लग रहा है; ते—तुम्हारी; स्थानम्—अधिकृत भूमि; ऐश्वर्यम्—धन-धान्य; श्रियम्—भौतिक सौन्दर्य; तेजः—भौतिक शक्ति; यशः—कीर्ति, ख्याति; श्रुतम्—शिक्षा; दास्यति—देगा; आच्छिद्य—तुमसे लेकर; शक्राय—तुम्हारे शत्रु इन्द्र को; माया—नकली; माणवकः—मनुष्य का ब्रह्मचारी पुत्र; हरिः—वास्तव में भगवान् हरि है।

यह व्यक्ति जो ऊपर से ब्रह्मचारी लग रहा है वास्तव में भगवान् हरि है, जो तुम्हारी सारी भूमि, सम्पत्ति, सौन्दर्य, शक्ति, यश तथा शिक्षा लेने के लिए इस रूप में आया है। यह तुम्हारा सर्वस्व छीनकर तुम्हारे शत्रु इन्द्र को दे देगा।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस प्रसंग में बताया है कि *हरिः* शब्द 'छीन लेने वाले' का द्योतक है। यदि कोई अपना सम्बन्ध भगवान् हरि से जोड़ता है, तो वे उसके सारे क्लेशों को हर लेते हैं और प्रारम्भ में ऊपर से ऐसा लगता है कि भगवान् उसकी सारी सम्पत्ति, कीर्ति, शिक्षा तथा सौन्दर्य का हरण कर रहे हैं। जैसा कि *श्रीमद्भागवत* (१०..) में कहा गया है— *यस्याहम् अनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।* भगवान् ने महाराज युधिष्ठिर से कहा, "मैं अपने भक्त पर जो पहला अनुग्रह करता हूँ वह यह है कि मैं उसका सब कुछ विशेषकर उसका भौतिक ऐश्वर्य अर्थात् धन हर लेता हूँ।" निष्ठावान् भक्त के प्रति भगवान् का यह विशेष अनुग्रह होता है। यदि निष्ठावान् भक्त कृष्ण को सर्वोपरि चाहता है, किन्तु यदि वह भौतिक पदार्थों में भी आसक्त रहता है और उसका धन कृष्णभक्ति की प्रगति में बाधक बनता है, तो भगवान् चालाकी से उसका सारा धन हर लेते है। यहाँ पर शुक्राचार्य कहते हैं कि यह वामन ब्रह्मचारी तुम्हारा सर्वस्व हर लेगा। इस प्रकार वे यह सूचित करते हैं कि भगवान् मनुष्य का सारा धन और उसका मन भी छीन लेंगे। यदि कोई भगवान् के चरणकमलों पर अपना मन अर्पित कर देता है (*स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः*) तो वह सहज में उन्हें प्रसन्न करने के लिए अपना सर्वस्व दे सकता है। यद्यपि बलि महाराज भक्त थे, किन्तु वे भौतिक सम्पत्ति के प्रति अनुरक्त थे; अतएव भगवान् ने उन पर विशेष कृपा की और वामन रूप धारण करके उनकी सारी सम्पत्ति एवं उनके मन को भी उनसे छीन लिया।

त्रिभिः क्रमैरिमाल्लोकान्विश्वकायः क्रमिष्यति ।
सर्वस्वं विष्णवे दत्त्वा मूढ वर्तिष्यसे कथम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

त्रिभिः—तीन; क्रमैः—पगों द्वारा; इमान्—इन सभी; लोकान्—तीनों लोकों को; विश्व-कायः—विश्व रूप धारण करके; क्रमिष्यति—वे क्रमशः विस्तार करेंगे; सर्वस्वम्—सब कुछ; विष्णवे—भगवान् विष्णु को; दत्त्वा—दान देकर; मूढ—हे मूर्ख; वर्तिष्यसे—तुम जीविका चलाओगे; कथम्—कैसे।

तुमने उन्हें दान में तीन पग भूमि देने का वचन दिया है, किन्तु जब तुम देने इसे दे दोगे तो वे तीनों लोकों में अधिकार जमा लेंगे। तुम निपट मूर्ख हो। तुम नहीं जानते कि तुमने कितनी बड़ी भूल की है। भगवान् विष्णु को सर्वस्व दान देने पर तुम्हारे पास जीविका का कोई साधन नहीं रहेगा। तब तुम कैसे जिओगे?

तात्पर्य : बलि महाराज तर्क कर सकते थे कि मैंने तो केवल तीन पग भूमि देने का वचन दिया है। किन्तु प्रकाण्ड विद्वान ब्राह्मण होने के नाते शुक्राचार्य तुरन्त समझ गये कि यह हरि की चाल है, जो वहाँ झूठे ही ब्रह्मचारी के रूप में प्रकट हुए हैं। *मूढ वर्तिष्यसे कथम्* शब्द बताते हैं कि शुक्राचार्य पुरोहित वर्ग के ब्राह्मण थे। ऐसे पुरोहित अपने शिष्यों से दक्षिणा प्राप्त करने में रुचि रखते हैं। अतएव जब शुक्राचार्य ने देखा कि बलि महाराज ने अपना सारा अधिपत्य खतरे में डाल दिया है, तो वे समझ गये कि इससे न केवल राजा पर अपितु स्वयं शुक्राचार्य के परिवार पर वज्रपात हो जायेगा क्योंकि उनका परिवार महाराज बलि की कृपा पर निर्भर था। एक वैष्णव तथा एक स्मार्त ब्राह्मण में यही अन्तर होता है। स्मार्त ब्राह्मण सदैव भौतिक लाभ की बात सोचता है, जबकि वैष्णव सदैव भगवान् को प्रसन्न करने में रुचि लेता है। शुक्राचार्य के कथन से प्रतीत होता है कि वे हर दृष्टि से स्मार्त ब्राह्मण थे जिन्हें निजी लाभ में ही रुचि थी।

क्रमतो गां पदैकेन द्वितीयेन दिवं विभोः ।
खं च कायेन महता तार्तीयस्य कुतो गतिः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

क्रमतः—क्रमशः; गाम्—भूमि; पदा एकेन—एक पग से; द्वितीयेन—दूसरे पग से; दिवम्—सारा बाह्य आकाश; विभोः—विश्वरूप का; खम् च—आकाश भी; कायेन—उनके दिव्य शरीर के विस्तार से; महता—विश्वरूप से; तार्तीयस्य—जहाँ तक तीसरे पग की बात है; कुतः—कहाँ है; गतिः—पग रखने के लिए।

सर्वप्रथम वामनदेव एक पग से तीनों लोकों को घेर लेंगे, तत्पश्चात् वे दूसरा पग भरेंगे और बाह्य आकाश की प्रत्येक वस्तु को ले लेंगे और तब वे अपने विश्वरूप का विस्तार करके सर्वस्व पर अधिकार जमा लेंगे। तब तुम उन्हें तीसरा पग रखने के लिए कहाँ स्थान दोगे?

तात्पर्य : शुक्राचार्य बलि महाराज को बताना चाह रहे थे कि वे भगवान् वामन द्वारा ठगे जाएँगे।

उन्होंने कहा "तुमने तीन पग का वचन दिया है, किन्तु केवल दो ही पग में तुम्हारा सर्वस्व समाप्त हो जायेगा। तब तुम उन्हें तीसरे पग के लिए किस प्रकार स्थान दे पाओगे?" शुक्राचार्य को पता नहीं था कि भगवान् अपने भक्त की किस तरह रक्षा करते हैं। भक्त को चाहिए कि भगवान् की सेवा में वह अपने अधिकार की सारी वस्तुएँ खतरे में डाल दे किन्तु उसकी सदैव रक्षा होती है और वह कभी भी परास्त नहीं होता। शुक्राचार्य ने भौतिक दृष्टि से अनुमान लगाकर सोचा कि बलि महाराज किसी भी तरह ब्रह्मचारी भगवान् वामनदेव को दिया गया अपना वचन पूरा नहीं कर सकेंगे।

निष्ठां ते नरके मन्ये ह्यप्रदातुः प्रतिश्रुतम् ।
प्रतिश्रुतस्य योऽनीशः प्रतिपादयितुं भवान् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

निष्ठाम्—शाश्वत निवास स्थान; ते—तुम्हारा; नरके—नरक में; मन्ये—सोचता हूँ; हि—निस्सन्देह; अप्रदातुः—वचन पूरा न कर सकने वाले पुरुष का; प्रतिश्रुतम्—जिसको वचन दिया गया हो; प्रतिश्रुतस्य—किसी के द्वारा दिये गये वचन का; यः अनीशः—अशक्त; प्रतिपादयितुम्—पूरी तरह पूर्ण करने में; भवान्—आप।

तुम निश्चित रूप से अपना वचन पूरा करने में असमर्थ होगे और मैं सोचता हूँ कि अपनी इस असमर्थता के कारण तुम्हें नरक में शाश्वत निवास करना पड़ेगा।

न तद्दानं प्रशंसन्ति येन वृत्तिर्विपद्यते ।
दानं यज्ञस्तपः कर्म लोके वृत्तिमतो यतः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तत्—उस; दानम्—दान की; प्रशंसन्ति—सन्तजन प्रशंसा करते हैं; येन—जिससे; वृत्तिः—जीविका; विपद्यते—संकट में पड़ जाये; दानम्—दान; यज्ञः—यज्ञ; तपः—तपस्या; कर्म—सकाम कर्म; लोके—इस संसार में; वृत्तिमतः—अपनी जीविका के अनुसार; यतः—जैसाकि है।

विद्वान व्यक्ति उस दान की प्रशंसा नहीं करते जिससे किसी की अपनी जीविका खतरे में पड़ जाये। दान, यज्ञ, तप तथा सकाम कर्म वही कर सकता है, जो अपनी जीविका कमाने में पूर्ण सक्षम हो (जो अपना भरण-पोषण न कर सके उसके लिए ये कार्य असम्भव हैं)।

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च ।
पञ्चधा विभजन्वित्तमिहामुत्र च मोदते ॥ ३७॥

शब्दार्थ

धर्माय—धर्म के लिए; यशसे—अपने यश के लिए; अर्थाय—अपना ऐश्वर्य बढ़ाने के लिए; कामाय—इन्द्रियतृप्ति के हेतु; स्व-जनाय च—तथा कुटुम्बीजनों के पालन पोषण के लिए; पञ्चधा—इन पाँच भिन्न-भिन्न लक्ष्यों के लिए; विभजन्—बाँटते हुए; वित्तम्—अपने संचित धन को; इह—इस संसार में; अमुत्र—अगले संसार में; च—तथा; मोदते—भोग करता है।

अतएव जो ज्ञानी है उसे चाहिए कि अपने संचित धन को पाँच भागों में विभाजित कर दे—धर्म के लिए, यश के लिए, ऐश्वर्य के लिए, इन्द्रियतृप्ति के लिए तथा कुटुम्बी-जनों के भरण-पोषण के लिए। ऐसा व्यक्ति इस लोक में तथा परलोक में भी सुखी रहता है।

तात्पर्य : शास्त्रों का आदेश है कि यदि किसी के पास धन हो तो उसे पाँच भागों में विभाजित कर देना चाहिए—एक भाग धर्म के लिए, दूसरा भाग यश के लिए, तीसरा ऐश्वर्य के लिए, चौथा इन्द्रियतृप्ति के लिए तथा पाँचवाँ भाग कुटुम्बीजनों के भरणपोषण के लिए। किन्तु वर्तमान समय में सारे लोग ज्ञान से विहीन होने के कारण अपना सारा धन परिवार की तुष्टि के लिए खर्च करते हैं। श्रील रूप गोस्वामी ने अपने ही उदाहरण से हमें शिक्षा दी कि पचास प्रतिशत संचित धन कृष्ण के लिए, पच्चीस प्रतिशत अपने ऊपर तथा शेष पच्चीस प्रतिशत अपने कुटुम्बीजनों पर खर्च करना चाहिए। मनुष्य का मुख्य उद्देश्य कृष्णभावनामृत में प्रगति करना होना चाहिए। इसमें धर्म, अर्थ तथा काम सम्मिलित होंगे। किन्तु, क्योंकि उसके परिवार के लोग भी कुछ लाभ की आशा रखते हैं अतएव अपने संचित धन का कुछ अंश उन्हें भी देकर सन्तुष्ट करना चाहिए। यह शास्त्रीय आदेश है।

अत्रापि बह्वचैर्गीतं शृणु मेऽसुरसत्तम ।
सत्यमोमिति यत्प्रोक्तं यन्नेत्याहानृतं हि तत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अत्र अपि—इस सम्बन्ध में भी (सत्य क्या है, क्या नहीं); बहु-ऋचैः—श्रुति मंत्रों के द्वारा जो बह्वच श्रुति कहलाते हैं और वेदों का साक्ष्य हैं; गीतम्—गाया हुआ; शृणु—सुनो; मे—मुझसे; असुर-सत्तम—हे असुरश्रेष्ठ; सत्यम्—सत्य है; ओम् इति—ॐ से आरम्भ होने वाला; यत्—जो; प्रोक्तम्—कहा हुआ; यत्—जो; न—ॐ से आरम्भ नहीं होता; इति—इस प्रकार; आह—कहा जाता है; अनृतम्—असत्य; हि—निस्सन्देह; तत्—वह।

कोई यह तर्क कर सकता है कि चूँकि तुमने पहले ही वचन दे दिया है अतएव अब कैसे मना कर सकते हो? हे असुरश्रेष्ठ! तुम मुझसे बह्वच-श्रुति का साक्ष्य ले सकते हो जो यह कहती है कि वह वचन सत्य है, जिसके आरम्भ में ॐ हो; वह असत्य है, जो ॐ से आरम्भ न हो।

सत्यं पुष्पफलं विद्यादात्मवृक्षस्य गीयते ।
वृक्षेऽजीवति तन्न स्यादनृतं मूलमात्मनः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सत्यम्—वास्तविक सत्य; पुष्प-फलम्—फूल तथा फल; विद्यात्—समझा जाना चाहिए; आत्म-वृक्षस्य—शरीर रूपी वृक्ष के; गीयते—जैसा वेदों में वर्णित है; वृक्षे अजीवति—यदि वृक्ष ही न जीवित रहे; तत्—वह (पुष्पफलम्); न—नहीं; स्यात्—हो; अनृतम्—झूठ; मूलम्—जड़; आत्मनः—शरीर की।

वेदों का आदेश है कि शरीर रूपी वृक्ष का वास्तविक परिणाम तो इस से मिलने वाले उत्तम फल तथा फूल हैं। किन्तु यदि यह शरीर रूपी वृक्ष ही न रहे तो फिर इन वास्तविक फल-फूलों के होने की कोई सम्भावना नहीं है। यहाँ तक कि यदि शरीर असत्य की नींव पर भी टिका हो तो भी शरीर रूपी वृक्ष के बिना वास्तविक फल-फूल नहीं हो सकते।

तात्पर्य : यह श्लोक बताता है कि इस शरीर में रंचमात्र असत्य के बिना असली सत्य भी नहीं विद्यमान रह सकता। मायावादियों का कहना है—*ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या*—आत्मा सत्य है और माया असत्य है। किन्तु वैष्णव दार्शनिकों को मायावादी दर्शन मान्य नहीं है। यदि तर्क के लिए इस भौतिक जगत को मिथ्या मान भी लिया जाये तो माया में फँसा जीव शरीर की सहायता के बिना इससे बाहर निकल भी नहीं सकता। शरीर की सहायता के बिना कोई न तो धर्म का पालन कर सकता है, न कोई दार्शनिक पूर्णता का चिन्तन कर सकता है। अतएव फूल तथा फल (पुष्पफलम्) को शरीर के परिणाम के रूप में प्राप्त करना होता है। शरीर की सहायता के बिना वह फल प्राप्त भी नहीं हो सकता। इसलिए वैष्णव दर्शन युक्त-वैराग्य की संस्तुति करता है। ऐसा नहीं है कि सारा ध्यान शरीर पर ही दिया जाये, किन्तु उसके साथ-साथ शरीर के भरण-पोषण की उपेक्षा भी न की जाये। जब तक शरीर रहता है मनुष्य वैदिक आदेशों का पूरा अध्ययन करके जीवन के अन्त समय सिद्धि प्राप्त कर सकता है। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* (.६) में हुई है— *यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।* मृत्यु के समय हर बात की परीक्षा होती है। इसलिए यद्यपि यह शरीर नश्वर है, नित्य नहीं है, मनुष्य इससे अच्छी से अच्छी सेवा ले सकता है और अपने जीवन को पूर्ण बना सकता है।

तद्यथा वृक्ष उन्मूलः शुष्यत्युद्वर्ततेऽचिरात् ।
एवं नष्टानृतः सद्य आत्मा शुष्येन्न संशयः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

तत्—अतएव; यथा—जिस प्रकार; वृक्षः—वृक्ष; उन्मूलः—जड़ समेत उखाड़ने पर; शुष्यति—सूख जाता है; उद्वर्तते—गिर पड़ता है; अचिरात्—शीघ्र ही; एवम्—उसी तरह; नष्ट—नष्ट हुआ; अनृतः—यह नाशवान् शरीर; सद्यः—तुरन्त; आत्मा—शरीर; शुष्येत्—सूख जाता है; न—नहीं; संशयः—कोई सन्देह।

जड़ समेत उखाड़ने पर वृक्ष तुरन्त गिर जाता है और सूखने लगता है। इसी प्रकार यदि कोई इस शरीर की परवाह नहीं करता, जो असत्य माना जाता है—अर्थात् यदि इस असत्य का उन्मूलन कर दिया जाये—तो यह शरीर निश्चय ही सूख जाता है।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं—

प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः।

मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते॥

''जो व्यक्ति वस्तुओं का कृष्ण से सम्बन्ध जाने बिना उन्हें बहिष्कृत कर देता है उसका वैराग्य अधूरा होता है।'' (*भक्तिरसामृत-सिन्धु* १.२.२६६)।

यदि शरीर कृष्ण की सेवा में निरत हो तो शरीर को भौतिक नहीं मानना चाहिए। कभी-कभी गुरु के आध्यात्मिक शरीर के विषय में भ्रम हो जाता है। किन्तु श्रील रूप गोस्वामी उपदेश देते हैं—*प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धि-वस्तुनः।* कृष्ण की सेवा में पूर्णतय निरत शरीर की उपेक्षा भौतिक समझकर नहीं करनी चाहिए। जो उपेक्षा करता है उसका वैराग्य झूठा है। यदि शरीर का ठीक से भरण-पोषण नहीं होता तो यह जड़ से उखाड़े गये वृक्ष की भाँति गिर कर सूख जाता है, जिससे आगे फल-फूल नहीं लिए जा सकते। अत: वेदों का आदेश है—

ॐ इति सत्यं नेत्यनृतं तद् एतत्पुष्पं फलं वाचो यत् सत्यं सहेश्वरो यशस्वी कल्याणकीर्तिर्भविता। पुष्पं हि फलं वाचः सत्यं वदत्यथैतन्मूलं वाचो यदनृतं यद्यथा वृक्ष अविर्मूलः शुष्यति, स उद्वर्तत एवमेवानृतं वदन्नाविर्मूलम् आत्मानं करोति, स शुष्यति स उद्वर्तते, तस्मादनृतं न वदेद् दयेत त्वेतेन।

तात्पर्य यह है कि जो कार्य परम सत्य (*ॐ तत्सत्*) की तुष्टि के लिए शरीर की सहायता से किये जाते हैं, वे कभी नाशवान् नहीं होते, भले ही वे नाशवान् शरीर द्वारा सम्पन्न किए जाँए। निस्सन्देह, ऐसे कार्य शाश्वत होते हैं। अतएव शरीर की ठीक से देखभाल करनी चाहिए। चूँकि यह शरीर शाश्वत नहीं है, नाशवान् है कोई इसे शेर द्वारा खाया जाने नहीं दे सकता है, न किसी शत्रु के द्वारा वध होने दिया जा सकता है। शरीर की रक्षा के लिए सारी सावधानियाँ बरतनी चाहिए।

पराग्रिक्तमपूर्णं वा अक्षरं यत्तदोमिति ।

यत्किञ्चिदोमिति ब्रूयात्तेन रिच्येत वै पुमान् ।
भिक्षवे सर्वम्ॐ कुर्वन्नालं कामेन चात्मने ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

पराक्—जो पृथक् करे; रिक्तम्—जो आसक्ति से मुक्त बनाये; अपूर्णम्—अपूर्ण, अधूरा; वा—अथवा; अक्षरम्—यह अक्षर; यत्—जो; तत्—वह; ओम्—ओङ्कार; इति—इस प्रकार कहा गया; यत्—जो; किञ्चित्—जो कुछ भी; ॐ—ओङ्कार; इति—इस प्रकार; ब्रूयात्—यदि तुम कहो; तेन—ऐसा कहने से; रिच्येत—मुक्त हो जाता है; वै—निस्सन्देह; पुमान्—मनुष्य; भिक्षवे—भिक्षुक को; सर्वम्—सारा; ॐ कुर्वन्—ॐ शब्द का उच्चारण करते हुए दान देने से; न—नहीं; अलम्—पर्याप्त; कामेन—इन्द्रियतृप्ति के लिए; च—भी; आत्मने—आत्म-साक्षात्कार के लिए।

ॐ शब्द का उच्चारण ही मनुष्य के धनधान्य के वियोग का सूचक है। दूसरे शब्दों में, ॐ का उच्चारण करने से मनुष्य धन के प्रति आसक्ति से छूट जाता है क्योंकि उसका धन उससे ले लिया जाता है। किन्तु धनविहीन होना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसी अवस्था में मनुष्य अपनी इच्छाओं को पूरा नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में, ॐ शब्द का उच्चारण करने से मनुष्य विपन्न हो जाता है। विशेषतया जब कोई किसी दरिद्र व्यक्ति या भिक्षुक को दान देता है, तो उसका आत्म-साक्षात्कार तथा उसकी इन्द्रियतृप्ति अधूरे रह जाते हैं।

तात्पर्य : बलि महाराज भिक्षुक रूप में आये वामनदेव को सर्वस्व दान कर देना चाहते थे, किन्तु बलि महाराज के कुलगुरु शुक्राचार्य उनके इस वचन को नहीं समझ पाये। शुक्राचार्य ने वैदिक साक्ष्य प्रस्तुत किया कि दरिद्र व्यक्ति को सर्वस्व दान नहीं देना चाहिए वरन् जब कोई दरिद्र दान माँगने आये तो उससे इस प्रकार झूठ बोले "मेरे पास जितना था आपको दे दिया। अब मेरे पास और कुछ भी नहीं है।" मनुष्य को चाहिए अपना सर्वस्व दान में न दे। वास्तव में ॐ शब्द *ओम् तत् सत्* अर्थात् परम सत्य के लिए है। ओङ्कार धन के प्रति आसक्ति से छुटकारे के लिए है क्योंकि धन का उपयोग परमेश्वर के हेतु करना चाहिए। आधुनिक सभ्यता में गरीबों को दान देने की प्रवृत्ति है। ऐसे दान का कोई आध्यात्मिक महत्त्व नहीं होता क्योंकि वास्तव में हम देखते हैं कि यद्यपि निर्धनों के लिए अनेक अस्पताल तथा अन्य संस्थान हैं, किन्तु प्रकृति के तीन गुणों के अनुसार निर्धन वर्ग तो सदैव रहेगा ही। अनेक धर्मार्थ संस्थाओं के होते हुए भी गरीबी को मानव समाज से दूर नहीं भगाया जा सका है। अतएव यहाँ पर संस्तुति की गई है—*भिक्षवे सर्वम् ओम् कुर्वन् नालं कामेन चात्मने।* मनुष्य को चाहिए कि निर्धन भिक्षुओं को अपना सारा धन न बाँटे।

इसका सर्वोत्तम हल है कृष्णभावनामृत आन्दोलन। यह आन्दोलन निर्धनों के प्रति सदैव दयालु रहता है—केवल इसलिए नहीं कि यह उन्हें भोजन देता है अपितु उन्हें कृष्णभावनाभावित होने की

विधि सिखा कर जागृत भी करता है। अतएव हम उन निर्धनों के लिए हजारों केन्द्र खोल रहे हैं, जो धन तथा ज्ञान दोनों में निर्धन हैं। इन निर्धनों को कृष्णभावनामृत का ज्ञान देने तथा उन्हें अवैध मैथुन, नशा, मांसाहार तथा जुआ खेलने से दूर रह कर अपना चरित्र सुधारने के लिए इन केन्द्रों को स्थापित किया जा रहा है। इन जघन्य पापकर्मों के कारण मनुष्यों को जन्म-जन्मांतर कष्ट भोगने पड़ते हैं। धन के सदुपयोग की सर्वश्रेष्ठ विधि है ऐसा केन्द्र खोलना जहाँ सभी लोग रहकर अपना चरित्र सुधार सकें और वे समस्त शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सभी सुविधाएँ प्राप्त कर सकें, किन्तु वहाँ वे आध्यात्मिक नियंत्रण में रहें जिससे वे सुखपूर्वक जीवन बिताते हुए कृष्णभावनामृत में प्रगति करने के लिए अपना समय बचा सकें। यदि किसी के पास धन है, तो उसे व्यर्थ ही नहीं बहाना चाहिए। इसका उपयोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन को अग्रसर करने में होना चाहिए जिससे सारा मानव समाज सुखी, समृद्ध तथा भगवद्धाम वापस जाने के प्रति आशान्वित हो सके। इस सम्बन्ध में वैदिक मंत्र इस प्रकार है—

पराग्वा एतद् रिक्तमक्षरं यदेतद् ॐ इति तद्यत्किञ्चिद् ॐ इति आहात्रैवास्मै तद् रिच्यते। स यत्सर्वम् ॐ कुर्याद् रिच्यादात्मानं स कामेभ्यो नालं स्यात्।

अथैतत्पूर्णमभ्यात्मं यच्च नेत्यनृतं वचः ।
सर्वं नेत्यनृतं ब्रूयात्स दुष्कीर्तिः श्वसन्मृतः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतएव; एतत्—यह; पूर्णम्—पूर्णतया; अभ्यात्मम्—अपने आपको नितान्त निर्धन बताकर दूसरे की सहानुभूति माँगना; यत्—जो; च—भी; न—नहीं; इति—इस प्रकार; अनृतम्—मिथ्या, झूठा; वचः—शब्द; सर्वम्—पूर्णतया; न—नहीं; इति—इस प्रकार; अनृतम्—असत्य; ब्रूयात्—बोले; सः—ऐसा व्यक्ति; दुष्कीर्तिः—अपयश; श्वसन्—साँस लेता हुआ या जीवित; मृतः—मृत है या मार डाला जाये।

अतएव सुरक्षित उपाय है कि 'नहीं' कह दिया जाये। यद्यपि यह असत्य है, किन्तु इससे पूरी रक्षा हो जाती है, इससे अपने प्रति दूसरों की सहानुभूति भी मिलती है और अपने लिए अन्यों से धन एकत्र करने में पूरी सुविधा मिलती है। फिर भी यदि कोई सदा यही कहे कि उसके पास कुछ नहीं है, तो उसकी निन्दा होती है क्योंकि वह जीवित रहकर भी मृत है या उसे जीवित ही मार डालना चाहिए।

तात्पर्य : भिखारी सदैव अपने को निर्धन रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह उनके लिए अच्छा हो

सकता है क्योंकि इस तरह से उनका धन नष्ट न होने का आश्वासन मिल जाता है और धन एकत्र करने की दिशा में अन्यों का ध्यानाकर्षण तथा सहानुभूति मिलती है। किन्तु इसकी भी भर्त्सना की जाती है। यदि कोई जान बूझकर भिक्षावृत्ति को पेशा बना लेता है, तो वह जीवित ही मृत माना जाता है या अन्य दृष्टिकोण से ऐसे झूठे व्यक्ति को जीवित ही मार देना चाहिए। इस सम्बन्ध में वैदिक आदेश इस प्रकार है—*अथैतत् पूर्णमभ्यात्मं यन्नेति स यत्सर्वं नेति ब्रूयात् पापिकास्य कीर्तिर्जायते। सैनं तत्रैव हन्यात्।* यदि कोई निरन्तर निर्धन होने का स्वाँग भरे और भीख द्वारा धन संचित करे तो उसका वध कर देना चाहिए (*सैनं तत्रैव हन्यात्*)।

स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसङ्कटे ।
गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

स्त्रीषु—स्त्री को प्रोत्साहित करके उसे अपने वश में करने के लिए; नर्म-विवाहे—हँसी में या विवाह में; च—भी; वृत्ति-अर्थे—अपनी जीविका कमाने के लिए; प्राण-सङ्कटे—अथवा संकट आने पर; गो-ब्राह्मण-अर्थे—गोरक्षा तथा ब्राह्मण संस्कृति के लिए; हिंसायाम्—शत्रुता के कारण हत्या किये जाने वाले व्यक्ति के लिए; न—नहीं; अनृतम्—असत्य; स्यात्—होता है; जुगुप्सितम्—गर्हित।

अपने वश में लाने के लिए किसी स्त्री से चिकनी-चुपड़ी बातें करने में, हास-परिहास में, विवाह-उत्सव में, अपनी जीविका कमाने में, प्राणों का संकट उपस्थित होने पर, गायों तथा ब्राह्मण संस्कृति की रक्षा करने या शत्रु के हाथों से किसी व्यक्ति की रक्षा करने में असत्य भाषण भी कभी निन्दनीय नहीं माना जाता।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कंध के अन्तर्गत "बलि महाराज से भगवान् वामनदेव द्वारा दान की याचना" नामक उन्नीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बीस

बलि महाराज द्वारा ब्रह्माण्ड समर्पण

बीसवें अध्याय का सारांश इस प्रकार है : यह जानते हुए भी कि वामनदेव उन्हें ठग रहे हैं, बलि महाराज ने दान में अपना सर्वस्व भगवान् को दे दिया। वामनदेव ने अपने शरीर को विस्तीर्ण करके भगवान् विष्णु जैसा विराट रूप धारण कर लिया।

शुक्राचार्य का शिक्षाप्रद उपदेश सुनकर बलि महाराज सोच में पड़ गये। चूँकि गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह धर्म, अर्थ तथा काम विषयक सिद्धान्तों का पालन करे अतएव बलि महाराज को यह अनुचित लगा कि वे ब्रह्मचारी को दिया गया वचन वापस ले लें। ब्रह्मचारी को दिये गये वचन को पूरा न करना या झूठ बोलना कभी उचित नहीं होता क्योंकि झूठ बोलना अत्यन्त पापमय कार्य है। हर व्यक्ति को चाहिए कि झूठ बोलने के पापपूर्ण फलों से भयभीत रहे क्योंकि पृथ्वी माता पापमय झूठ बोलने वाले का भार तक सहन नहीं कर सकती। साम्राज्य का विस्तार करना क्षणिक है और यदि ऐसे विस्तार से प्रजा को कोई लाभ नहीं होता तो वह निरर्थक है। प्राचीन काल में सभी बड़े-बड़े राजा तथा सम्राट अपने राज्यों का विस्तार प्रजा के हित को ध्यान में रखकर करते थे। निस्सन्देह, जनता के लाभ के लिए किये जाने वाले ऐसे कार्यों में व्यस्त रहते हुए उत्कृष्ट व्यक्तियों को कभी-कभी अपना जीवन तक बलिदान करना पड़ा था। ऐसा कहा जाता है कि जिसके कार्य यशस्वी होते हैं वह कभी मरता नहीं, अमर हो जाता है। अतएव यश ही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए और यदि किसी को सत्कीर्ति के लिए दरिद्र भी बनना पड़े तो इसमें कोई हानि नहीं है। बलि महाराज ने सोचा कि चाहे ये ब्रह्मचारी भगवान् वामनदेव विष्णु ही क्यों न हों और चाहे भगवान् उसका दान लेकर उसे बन्दी ही क्यों न बना लें वह उनसे द्वेष नहीं करेगा। इन सब बातों पर विचार करके अन्ततः बलि महाराज ने उन्हें अपना सर्वस्व दान में दे दिया।

तब वामनदेव ने तुरन्त विराट रूप में अपना विस्तार कर लिया। उनकी कृपा से बलि महाराज देख सके कि भगवान् सर्वव्यापी हैं और उनके शरीर में सब कुछ स्थित है। वे भगवान् वामनदेव का दर्शन परम विष्णु के रूप में कर सके जो किरीट, पीतवस्त्र, श्रीवत्स चिह्न, कौस्तुभ मणि, फूलों की माला तथा आभूषण धारण किये हुए थे, जो उनके सारे शरीर को सजाए हुए थे। भगवान् ने धीरे-धीरे सारे जगती तल को और फिर अपने शरीर का विस्तार करके सारे आकाश को आच्छादित कर लिया। उन्होंने अपने हाथों से सारी दिशाएँ घेर लीं और अपने द्वितीय पग से उन्होंने सारे ऊर्ध्वलोकों को आच्छादित कर लिया। इस तरह ऐसा कोई रिक्त स्थान न बचा जहाँ वे अपना तीसरा पग रख सकते।

श्रीशुक उवाच

बलिरेवं गृहपतिः कुलाचार्येण भाषितः ।

तूष्णीं भूत्वा क्षणं राजन्नुवाचावहितो गुरुम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; बलिः—महाराज बलि ने; एवम्—इस प्रकार; गृह-पतिः—गृहस्थी के स्वामी, यद्यपि पुरोहितों द्वारा मार्गदर्शित; कुल-आचार्येण—पारिवारिक गुरु के द्वारा; भाषितः—सम्बोधित किया गया; तूष्णीम्—मौन; भूत्वा—होकर; क्षणम्—एक क्षण के लिए; राजन्—हे राजा (महाराज परीक्षित); उवाच—कहा; अवहितः—पूर्ण विचार-विमर्श करने के बाद; गुरुम्—अपने गुरु से।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा परीक्षित! जब बलि महाराज को उनके गुरु एवं कुलपुरोहित शुक्राचार्य ने इस प्रकार सलाह दी तो वे कुछ समय तक चुप रहे और फिर पूर्ण विचार-विमर्श के बाद अपने गुरु से इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने टिप्पणी की है कि बलि महाराज इस आलोचनात्मक बिन्दु में मौन रहे। वे अपने गुरु शुक्राचार्य के आदेश की अवज्ञा कैसे कर सकते थे? बलि महाराज जैसे गम्भीर व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपने गुरु के आदेशों का तुरन्त पालन करे जैसा उन्होंने परामर्श दिया था। किन्तु बलि महाराज ने यह भी विचार किया कि शुक्राचार्य को अब गुरु स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि वे गुरु के कर्तव्य से विमुख हुए हैं। शास्त्रों के अनुसार गुरु का कर्तव्य है कि वह अपने शिष्य को भगवद्धाम वापस ले जाये। यदि वह ऐसा नहीं कर सकता और उल्टे, अपने शिष्य के भगवद्धाम वापस जाने में बाधा पहुँचाता है, तो वह गुरु नहीं रह सकता। *गुरुर्न स स्यात्* (*भागवत* ५.५.१८)। यदि कोई अपने शिष्य को कृष्णभावन ामृत में अग्रसर होने में सक्षम नहीं बना सकता तो उसे गुरु नहीं बनना चाहिए। जीवन का लक्ष्य कृष्ण-भक्त बनना है, जिससे भवबन्धन से छुटकारा प्राप्त किया जा सके (*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन*)। गुरु कृष्णभावनामृत को विकसित करके शिष्य को इस अवस्था को प्राप्त करने में सहायता देता है। अब शुक्राचार्य ने बलि महाराज को सलाह दी थी कि वे वामनदेव को दिये गये वचन से मुकर जाँए। अतएव ऐसी परिस्थिति में बलि महाराज ने सोचा कि यदि वे अपने गुरु के आदेश की अवज्ञा कर दें तो इसमें कोई दोष नहीं होगा। उन्होंने इस विषय पर तर्क-वितर्क किया कि क्या वे अपने गुरु के आदेश को अस्वीकार कर दें या स्वतंत्र होकर भगवान् को प्रसन्न करने के लिए चाहे जो भी करें? इसमें उन्हें कुछ समय लगा। इसीलिए कहा गया है—*तूष्णीं भूत्वा क्षणं राजन्नुवाचावहितो गुरुम्।* इस बिन्दु पर तर्क-वितर्क करके उन्होंने निर्णय लिया कि प्रत्येक दशा में भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना है भले ही इसमें गुरु-उपदेश की अवहेलना क्यों न करनी पड़े।

जिसे गुरु माना जाये, किन्तु यदि वह विष्णु-भक्ति के सिद्धान्त के विरुद्ध जाता हो तो उसे गुरु नहीं स्वीकार किया जा सकता। यदि किसी ने भूल से ऐसे गुरु को स्वीकार किया हो तो उसे उसको त्याग देना चाहिए। ऐसे गुरु का वर्णन इस प्रकार हुआ है (*महाभारत, उद्योग पर्व* १७९.२५)—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।

उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥

श्रील जीव गोस्वामी ने सलाह दी है कि इस प्रकार के व्यर्थ गुरु या कुलगुरु को त्याग देना चाहिए और सही प्रामाणिक गुरु को स्वीकार करना चाहिए।

षट्कर्मनिपुणो विप्रो मन्त्रतन्त्रविशारदः ।

अवैष्णवो गुरुर्न स्याद् वैष्णवः श्वपचो गुरुः ॥

"एक विद्वान ब्राह्मण वैदिक ज्ञान के समस्त विषयों में पटु होते हुए भी गुरु होने के योग्य नहीं है यदि वह वैष्णव नहीं है, किन्तु यदि निम्नकुल में उत्पन्न व्यक्ति वैष्णव है, तो वह गुरु बन सकता है।" (*पद्मपुराण*)

श्रीबलिरुवाच
सत्यं भगवता प्रोक्तं धर्मोऽयं गृहमेधिनाम् ।
अर्थं कामं यशो वृत्तिं यो न बाधेत कर्हिचित् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-बलिः उवाच—बलि महाराज ने कहा; सत्यम्—सत्य है; भगवता—आपके द्वारा; प्रोक्तम्—कहा गया; धर्मः—धर्म; अयम्—यह; गृहमेधिनाम्—विशेष रूप से गृहस्थों के लिए; अर्थम्—आर्थिक विकास; कामम्—इन्द्रियतृप्ति; यशः वृत्तिम्—यश एवं जीविका का साधन; यः—जो धर्म; न—नहीं; बाधेत—बाधा पहुँचाता है; कर्हिचित्—किसी समय।

बलि महाराज ने कहा : जैसा कि आप कह चुके हैं, जो धर्म किसी के आर्थिक विकास, इन्द्रियतृप्ति, यश तथा जीविका के साधन में बाधक नहीं होता वही गृहस्थ का असली धर्म है। मैं भी सोचता हूँ कि यही धर्म सही है।

तात्पर्य : बलि महाराज द्वारा शुक्राचार्य को दिया गया गम्भीर उत्तर भावपूर्ण है। शुक्राचार्य ने इस बात पर बल दिया था कि मनुष्य की जीविका का भौतिक साधन, उसका भौतिक यश, इन्द्रियतृप्ति तथा आर्थिक विकास उचित तरीके से बने रहने चाहिएँ। भौतिक मामलों में रुचि रखने वाले गृहस्थ का पहला कर्तव्य है कि वह इसका ध्यान रखे। यदि कोई धार्मिक सिद्धान्त किसी की भौतिक दशा को

प्रभावित नहीं करता तो उसे स्वीकार करना चाहिए। इस समय इस कलियुग में यह विचार अत्यन्त प्रधान है। कोई भी व्यक्ति ऐसा धर्म स्वीकार करने को तैयार नहीं है, जो भौतिक सम्पन्नता में बाधक हो। शुक्राचार्य भौतिकतावादी संसारी पुरुष होने के कारण भक्त के सिद्धान्तों को नहीं जानते थे। भक्त भगवान् की पूर्ण तुष्टि के लिए सेवा करने के लिए कृतसंकल्प रहता है। ऐसी कोई भी वस्तु जो इस संकल्प में बाधक बने त्याग कर देनी चाहिए। यही भक्ति का सिद्धान्त है। *आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्* (*चैतन्यचरितामृत, मध्य* २२.१००)। भक्ति करने के लिए मनुष्य को केवल वही स्वीकार करना चाहिए जो अनुकूल हो और उसका परित्याग कर देना चाहिए जो प्रतिकूल हो। बलि महाराज को वामनदेव के चरणकमलों पर अपना सर्वस्व अर्पित करने का सुयोग प्राप्त हुआ था, किन्तु शुक्राचार्य इस भक्तियोग में बाधा डालने के लिए भौतिक तर्क प्रस्तुत कर रहे थे। ऐसी परिस्थिति में बलि महाराज ने निर्णय लिया कि ऐसी बाधाओं से बचा जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, उन्होंने तुरन्त ही शुक्राचार्य की राय को अस्वीकार करने और अपना कर्तव्य पालने का निर्णय लिया। इस तरह उन्होंने भगवान् वामनदेव को अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया।

स चाहं वित्तलोभेन प्रत्याचक्षे कथं द्विजम् ।
प्रतिश्रुत्य ददामीति प्राह्रादिः कितवो यथा ॥ ३॥

शब्दार्थ

सः—वह पुरुष; च—भी; अहम्—मैं हूँ; वित्त-लोभेन—धन के लालच से; प्रत्याचक्षे—मैं धोखा दूँ या हाँ कहकर अब ना करूँ; कथम्—कैसे; द्विजम्—ब्राह्मण को; प्रतिश्रुत्य—पहले ही वचन दे चुकने पर; ददामि—कि मैं दूँगा; इति—इस प्रकार; प्राह्रादिः—मैं जो महाराज प्रह्लाद के पौत्र के रूप में प्रसिद्ध हूँ; कितवः—सामान्य ठग; यथा—जिस तरह।.

मैं महाराज प्रह्लाद का पौत्र हूँ। जब मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मैं यह भूमि दान में दूँगा तो फिर धन के लालच से मैं अपने वचन से किस तरह विचलित हो सकता हूँ? मैं किस तरह एक सामान्य वञ्चक का आचरण कर सकता हूँ और वह भी एक ब्राह्मण के प्रति?

तात्पर्य : बलि महाराज को पहले ही उनके पितामह प्रह्लाद महाराज आशीर्वाद दे चुके थे। इसलिए असुर कुल में उत्पन्न होने पर भी वे विशुद्ध भक्त थे। उच्च भक्तों की दो कोटियाँ होती हैं—साधन-सिद्ध तथा कृपासिद्ध। साधनसिद्ध वह है, जो गुरु द्वारा निर्देशित शास्त्रोक्त विधि-विधानों का नियमित पालन करके भक्त बनता है। यदि कोई ऐसी नियमित भक्ति करता है, तो वह कालक्रम में अवश्य ही सिद्धि प्राप्त कर लेगा। किन्तु कुछ ऐसे भी भक्त होते हैं, जो भक्ति के सभी नियमित विधानों का पालन नहीं

किये रहते, किन्तु गुरु तथा कृष्ण की विशेष कृपा से तुरन्त ही शुद्ध भक्ति में सिद्धि प्राप्त किए होते हैं। ऐसे भक्तों के उदाहरण यज्ञपत्नियाँ, महाराज बलि तथा शुकदेव गोस्वामी हैं। यज्ञपत्नियाँ सकामकर्मी सामान्य ब्राह्मणों की पत्नियाँ थीं। यद्यपि ये ब्राह्मण अत्यन्त विद्वान तथा वैदिक ज्ञान में निपुण थे, किन्तु उन्हें कृष्ण–बलराम की कृपा प्राप्त नहीं हो पाई थी जबकि उनकी पत्नियों ने स्त्रियाँ होते हुए भी भक्ति में पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर ली थीं। इसी प्रकार वैरोचनी बलि महाराज को प्रह्लाद महाराज की कृपा प्राप्त थी और प्रह्लाद महाराज की कृपा के बल पर उन्हें भगवान् विष्णु की कृपा भी प्राप्त हो गई थी जो उनके समक्ष ब्रह्मचारी भिक्षुक के रूप में प्रकट हुए। इस प्रकार बलि महाराज कृपासिद्ध बन गए क्योंकि उन पर गुरु तथा कृष्ण दोनों की विशेष कृपादृष्टि थी। चैतन्य महाप्रभु ने इस कृपा की पुष्टि की है—*गुरु कृष्णप्रसादे पाय भक्तिलताबीज* (*चैतन्यचरितामृत, मध्य* १९.१५१)। प्रह्लाद महाराज की कृपा से बलि महाराज को भक्ति का बीज मिला था और जब यह बीज विकसित हुआ तो उन्हें उस सेवा का परम फल अर्थात् ईश्वर–प्रेम भगवान् वामनदेव के तुरन्त प्रकट होने पर मिला हैं (*प्रेमा पुमर्थो महान्*)। बलि महाराज भगवान् की नियमित भक्ति करते थे और चूँकि वे शुद्ध हो चुके थे अतएव भगवान् उनके समक्ष प्रकट हुए। भगवान् के प्रति अनन्य प्रेम के कारण ही उन्होंने तुरन्त निर्णय लिया कि मैं इस वामन ब्राह्मण को उसका मुँहमाँगा दान दूँगा। यह प्रेम का चिह्न है। इस प्रकार बलि महाराज को *कृपासिद्ध* माना जाता है जिन्होंने भक्ति में उच्चतम सिद्धि विशेष कृपा से प्राप्त की।

न ह्यसत्यात्परोऽधर्म इति होवाच भूरियम् ।
सर्वं सोढुमलं मन्ये ऋतेऽलीकपरं नरम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; असत्यात्—असत्य से; परः—बढ़कर; अधर्मः—अधर्म; इति—इस प्रकार; ह उवाच—सचमुच कहा है; भूः—माता पृथ्वी ने; इयम्—यह; सर्वम्—सर्वस्व; सोढुम्—सहन करने के लिए; अलम्—मैं समर्थ हूँ; मन्ये—यद्यपि मैं मानता हूँ; ऋते—के अतिरिक्त, सिवाय; अलीक-परम्—अत्यन्त जघन्य झूठा; नरम्—मनुष्य।

असत्य से बढ़कर पापमय कुछ भी नहीं है। इसी कारण से एक बार माता पृथ्वी ने कहा था, ''मैं किसी भी भारी बोझ को सहन कर सकती हूँ, किसी झूठे व्यक्ति को नहीं।''

तात्पर्य : पृथ्वी पर अनेक विशाल पर्वत तथा सागर हैं, जो अत्यन्त भारी हैं और उनको धारण करने में माता पृथ्वी को कोई कठिनाई नहीं होती। किन्तु वह अपने को तब अत्यधिक बोझिल अनुभव करती है जब उसे एक भी लबार (झूठे) व्यक्ति को वहन करना पड़ता है। कहा जाता है कि कलियुग

में असत्य एक सामान्य बात है—*मायैव व्यावहारिके* (*भागवत* १२.२.३)। यहाँ तक कि सामान्य व्यवहार में भी लोग अनेक झूठ बोलने के आदी होते हैं। कोई भी झूठ बोलने के पापफलों से मुक्त नहीं है। ऐसी परिस्थिति में कोई भी यह अनुमान लगा सकता है कि पृथ्वी कितनी बोझिल हो चुकी है! पृथ्वी क्या, सारा ब्रह्माण्ड बोझिल है।

नाहं बिभेमि निरयान्नाधन्यादसुखार्णवात् ।
न स्थानच्यवनान्मृत्योर्यथा विप्रप्रलम्भनात् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

न—न तो; अहम्—मैं; बिभेमि—डरता हूँ; निरयात्—नारकीय अवस्था से; न—न तो; अधन्यात्—गरीबी की अवस्था से; असुख-अर्णवात्—दुख रूपी समुद्र से; न—नहीं; स्थान-च्यवनात्—पदच्युत होने से; मृत्योः—मृत्यु से; यथा—जिस तरह; विप्र-प्रलम्भनात्—ब्राह्मण को ठगने से।

मैं नरक, दरिद्रता, दुख रूपी सुमद्र, पदच्युत होने या साक्षात् मृत्यु से उतना नहीं डरता जितना कि एक ब्राह्मण को ठगने से डरता हूँ।

यद्यद्धास्यति लोकेऽस्मिन्सम्परेतं धनादिकम् ।
तस्य त्यागे निमित्तं किं विप्रस्तुष्येन्न तेन चेत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यत् यत्—जो कुछ भी; हास्यति—छोड़ेगा; लोके—संसार में; अस्मिन्—इस; सम्परेतम्—पहले से मृत; धन-आदिकम्—उसका धनधान्य; तस्य—ऐसी सम्पत्ति के; त्यागे—त्याग में; निमित्तम्—हेतु; किम्—क्या है; विप्रः—ब्राह्मण जो गुप्त रूप में भगवान् विष्णु है; तुष्येत्—प्रसन्न किया जाना चाहिए; न—नहीं है; तेन—ऐसे धन से; चेत्—काश।

हे प्रभु! आप यह भी देख सकते हैं कि इस संसार का सारा भौतिक ऐश्वर्य उसके स्वामी की मृत्यु के समय निश्चित रूप से विलग हो जाता है। अतएव यदि ब्राह्मण वामनदेव दिये गये उपहारों (दान) से तुष्ट नहीं होते तो क्यों न उन्हें उस धन से तुष्ट कर लिया जाये जो मृत्यु के समय चला जाने वाला है?

तात्पर्य : *विप्र* शब्द का अर्थ "ब्राह्मण" होने के साथ-साथ "गोपनीय" भी होता है। बलि महाराज ने बिना विचार-विमर्श किये गुप्त रीति से वामनदेव को दान देने का निर्णय लिया था, किन्तु चूँकि ऐसे निर्णय से असुरों तथा उनके गुरु शुक्राचार्य के दिल दुखी होने थे इसलिए उन्होंने अनिश्चित रूप से बात कही। शुद्ध भक्त के रूप में बलि महाराज ने पहले ही भगवान् विष्णु को समस्त भूमि देने का निर्णय कर लिया था।

श्रेयः कुर्वन्ति भूतानां साधवो दुस्त्यजासुभिः ।
दध्यङ्शिबिप्रभृतयः को विकल्पो धरादिषु ॥ ७॥

शब्दार्थ

श्रेयः—अत्यधिक महत्त्व के कार्यकलाप; कुर्वन्ति—करते हैं; भूतानाम्—जन सामान्य के; साधवः—सन्त पुरुष; दुस्त्यज—जिनका त्याग पाना कठिन है; असुभिः—अपने प्राणों के द्वारा; दध्यङ्—महाराज दधीचि; शिबि—महाराज शिबि; प्रभृतयः—तथा अन्य महापुरुष; कः—क्या; विकल्पः—सोच-विचार; धरा-आदिषु—ब्राह्मण को भूमि देने में।

दधीचि, शिबि तथा अन्य अनेक महापुरुष जनसाधारण के लाभ हेतु अपने प्राणों तक की आहुति देने के इच्छुक थे। इतिहास इसका साक्षी है। तो फिर इस नगण्य भूमि को क्यों न त्याग दिया जाये? इसके लिए गम्भीर सोच विचार कैसा?

तात्पर्य : बलि महाराज भगवान् विष्णु को सर्वस्व देने के लिए तैयार थे, किन्तु शुक्राचार्य पेशेवर पुरोहित होने के कारण शायद उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे और सन्देह कर रहे थे कि इतिहास में क्या कोई ऐसा साक्ष्य है, जिसमें किसी ने अपना सर्वस्व दान दे दिया हो। किन्तु बलि महाराज ने महाराज शिबि तथा महाराज दधीचि के ठोस उदाहरण प्रस्तुत किये जिन्होंने जनता की भलाई के लिए अपने प्राण दे दिये थे। यह सच है कि मनुष्य में हर भौतिक वस्तु के प्रति, विशेषतया अपनी भूमि के लिए, आसक्ति होती है, किन्तु जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है मृत्यु के समय भूमि तथा अन्य सम्पत्ति बलपूर्वक छीन ली जाती हैं (*मृत्युः सर्वहरश्चाहम्*)। बलि महाराज से उनका सर्वस्व लेने के लिए साक्षात् भगवान् स्वयं प्रकट हुए थे और बलि महाराज परम भाग्यशाली थे कि वे उनका साक्षात् दर्शन कर सके। किन्तु जो अभक्त होते हैं, वे भगवान् का साक्षात् दर्शन नहीं कर पाते। ऐसे व्यक्तियों के लिए भगवान् मृत्यु के रूप में आते हैं और उसका सारा धनधान्य बलपूर्वक छीन लेते हैं। ऐसी दशा में, क्यों न हम अपने धनधान्य से विमुख होकर उसे भगवान् विष्णु को उनकी तुष्टि के लिए समर्पित कर दें? इस प्रसंग में श्री चाणक्य पण्डित का कहना है—*सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति* (*चाणक्य श्लोक ३६*)। चूँकि हमारा धनधान्य सदा नहीं रहने वाला है अपितु किसी न किसी बहाने छीन लिया जायेगा अतएव जब तक वह हमारे पास है, श्रेयस्कर यही होगा कि इसका उपयोग किसी शुभ कार्य के लिए दान देने में किया जाये। अतएव बलि महाराज ने अपने तथाकथित गुरु के आदेश का उल्लंघन किया।

यैरियं बुभुजे ब्रह्मन्दैत्येन्द्रैरनिवर्तिभिः ।
तेषां कालोऽग्रसील्लोकान्न यशोऽधिगतं भुवि ॥ ॥

शब्दार्थ

यैः—जिनके द्वारा; इयम्—यह जगत; बुभुजे—भोग किया गया; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ; दैत्य-इन्द्रैः—असुर कुलों में उत्पन्न शूरवीरों तथा राजाओं द्वारा; अनिवर्तिभिः—उनके द्वारा जो लड़कर मरने या विजयी होने के लिए दृढ़संकल्प थे; तेषाम्—ऐसे व्यक्तियों का; कालः—काल ने; अग्रसीत्—हर लिया; लोकान्—सारी सम्पत्ति, भोग की सारी वस्तुओं को; न—नहीं; यशः—यश; अधिगतम्—प्राप्त किया; भुवि—इस जगत में।

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! निस्सन्देह, उन महान् असुर राजाओं ने इस संसार का भोग किया है, जो युद्ध करने से कभी भी हिचकिचाते नहीं थे, किन्तु कालान्तर में उनकी कीर्ति के अतिरिक्त उनके पास की हर वस्तु छीन ली गई और वे उसी कीर्ति के बल पर आज भी विद्यमान हैं। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को चाहिए कि सब कुछ छोड़कर सुयश अर्जित करने का प्रयास करे।

तात्पर्य : इस सन्दर्भ में चाणक्य पण्डित भी कहते हैं। (*चाणक्य श्लोक* ३४)—*आयुष: क्षण एकोऽपि न लभ्य स्वर्णकोटिभि: ।* मनुष्य की आयु अत्यन्त अल्प है, किन्तु यदि कोई इस अल्प आयु में ऐसा कुछ कर लेता है, जिससे उसका यश बढ़ता है, तो वह लाखों वर्षों तक जीवित रह सकता है। अतएव बलि महाराज ने तय किया कि वे अपने गुरु के इस आदेश का पालन नहीं करेंगे कि वामनदेव को दिये गये वचन से वे विचलित हो जाँय। उल्टे, उन्होंने तय किया कि वे अपने वचन के अनुसार भूमि देंगे जिससे बारह *महाजनों* में उनकी भी गणना सदा होती रहे (*बलिर्वैयासकिर्वयम्*)।

सुलभा युधि विप्रर्षे ह्यनिवृत्तास्तनुत्यजः ।
न तथा तीर्थ आयाते श्रद्धया ये धनत्यजः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सु-लभाः—सहज ही प्राप्त; युधि—युद्धभूमि में; विप्र-ऋषे—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ; हि—निस्सन्देह; अनिवृत्ताः—लड़ने से न डरकर; तनु-त्यजः—इस प्रकार अपना जीवन होम दिया; न—नहीं; तथा—उसी तरह; तीर्थे आयाते—सन्त पुरुषों के आगमन पर, जिनसे तीर्थस्थल बनते हैं; श्रद्धया—श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक; ये—जो; धन-त्यजः—संचित धन को त्याग सकते हैं।

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! ऐसे अनेक लोग हैं जिन्होंने युद्ध से न डरकर युद्धभूमि में अपने प्राणों की बलि दे दी है, किन्तु ऐसा अवसर किसी को विरले ही मिला है जब किसी मनुष्य ने अपना संचित धन किसी ऐसे साधु पुरुष को निष्ठापूर्वक दान दिया हो जो तीर्थस्थल को जन्म देता है।

तात्पर्य : अनेक क्षत्रियों ने अपने राष्ट्रों के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दी है, किन्तु ऐसा व्यक्ति विरले ही मिलेगा जिसने अपना संचित धन तथा अपनी सारी सम्पत्ति किसी सुपात्र को दान में

दी हो। *भगवद्गीता* (१७.२०) में कहा गया है—

दातव्यं इति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥

"वह दान सात्त्विक माना जाता है, जो कर्तव्य समझकर उचित समय तथा स्थान में सुपात्र को दिया जाता है और उसके बदले में किसी वस्तु की आशा नहीं की जाती।" इस प्रकार उचित स्थान पर दिया गया दान सात्त्विक कहलाता है। इस सात्त्विक दान से भी बढ़कर वह दिव्य दान है, जिसमें भगवान् के लिए सर्वस्व अर्पित कर दिया जाता है। भगवान् वामनदेव बलि महाराज के पास भिक्षा माँगने आये थे। भला दान देने का ऐसा सुयोग किसे मिल सकता था? अतएव बलि महाराज ने बिना किसी हिचक के भगवान् को मुँहमाँगा दान देने का निर्णय लिया। मनुष्य को युद्धभूमि में जीवन होम करने के अनेक अवसर प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु इस प्रकार का अवसर शायद ही किसी को कभी मिलती हो।

मनस्विनः कारुणिकस्य शोभनं
यदर्थिकामोपनयेन दुर्गतिः ।
कुतः पुनर्ब्रह्मविदां भवादृशां
ततो वटोरस्य ददामि वाञ्छितम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

मनस्विनः—अत्यन्त उदार; कारुणिकस्य—अत्यन्त कृपालु पुरुषों का; शोभनम्—अत्यन्त शुभ; यत्—जो; अर्थि—धन के लिए जरूरतमन्द व्यक्तियों का; काम-उपनयेन—इच्छापूर्ति द्वारा; दुर्गतिः—दरिद्रता का मारा; कुतः—क्या; पुनः—फिर; ब्रह्म-विदाम्—ब्रह्मविद्या में पटु पुरुषों का; भवादृशाम्—आप जैसे; ततः—अतएव; वटोः—ब्रह्मचारी का; अस्य—इस वामनदेव; ददामि—दूँगा; वाञ्छितम्—वह जो भी चाहता है।

दान देने से उदार तथा दयालु व्यक्ति निस्सन्देह और अधिक शुभ बन जाता है, विशेषतया जब वह आप जैसे व्यक्ति को दान देता है। ऐसी परिस्थिति में मुझे इस लघु ब्रह्मचारी को उसका मुँहमाँगा दान देना चाहिए।

तात्पर्य : यदि कोई व्यापार, जुआ, वेश्यागमन या नशा करने के कारण धन गँवा देता है और दरिद्र बन जाता है, तो कोई उसकी प्रशंसा नहीं करेगा, किन्तु यदि कोई दान में अपनी सारी सम्पत्ति देकर दरिद्र हो जाता है, तो वह विश्व-वंद्य बन जाता है। इसके अतिरिक्त, यदि कोई उदार तथा दयालु व्यक्ति अच्छे कार्य के लिए अपना सर्वस्व दान करके अपनी दरिद्रता पर गर्व दर्शाता है, तो उसकी दरिद्रता

स्वागत योग्य है और महापुरुष का शुभ लक्षण है। बलि महाराज ने तय किया कि वे वामनदेव को अपना सर्वस्व दान देकर भले ही दरिद्र बन जायें, किन्तु उन्हें यही अभीष्ट होगा।

यजन्ति यज्ञं क्रतुभिर्यमादृता
भवन्त आम्नायविधानकोविदाः ।
स एव विष्णुर्वरदोऽस्तु वा परो
दास्याम्यमुष्मै क्षितिमीप्सितां मुने ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यजन्ति—पूजा करते हैं; यज्ञम्—यज्ञभोक्ता; क्रतुभिः—यज्ञ की विविध सामग्रियों द्वारा; यम्—परम पुरुष को; आदृताः—अत्यन्त आदरपूर्वक; भवन्तः—आप सभी; आम्नाय-विधान-कोविदाः—यज्ञ सम्पन्न करने के वैदिक नियमों से पूर्णतया ज्ञात महान् सन्त पुरुष; सः—वह; एव—निस्सन्देह; विष्णुः—भगवान् विष्णु है; वरदः—या तो वह आशीर्वाद देने के लिए तैयार है; अस्तु—हो जाता है; वा—अथवा; परः—शत्रु रूप में आता है; दास्यामि—दूँगा; अमुष्मै—उसको (विष्णु या वामनदेव को); क्षितिम्—भूमि; ईप्सिताम्—अभीष्ट; मुने—हे मुनि।

हे महामुनि! आप जैसे सन्त महापुरुष जो कर्मकाण्ड तथा यज्ञ सम्पन्न करने के वैदिक सिद्धान्तों से पूर्णतया ज्ञात हैं सभी परिस्थितियों में भगवान् विष्णु की आराधना करते हैं। अतएव वही भगवान् विष्णु यहाँ चाहे मुझे वरदान देने के लिए आये हों या शत्रु के रूप में मुझे दण्ड देने आये हों, मेरा कर्तव्य है कि मैं उनके आदेश का पालन करूँ और बिना हिचक के उनके द्वारा माँगी गई भूमि उन्हें दूँ।

तात्पर्य : जैसाकि शिवजी ने कहा है—

आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्।

तस्मात् परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्॥

(*पद्मपुराण*)

यद्यपि *वेदों* में अनेक देवताओं की पूजा करने की संस्तुतियाँ हैं, किन्तु भगवान् विष्णु परम पुरुष हैं और विष्णु-पूजा ही जीवन का चरम लक्ष्य है। *वर्णाश्रम धर्म* के वैदिक सिद्धान्त समाज को संगठित करने के निमित्त थे जिससे प्रत्येक व्यक्ति भगवान् विष्णु की पूजा हेतु तैयार हो सके।

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।

विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम्॥

"वर्ण तथा आश्रम प्रणाली में संस्तुत कर्तव्यों के सही-सही पालन द्वारा भगवान् विष्णु की पूजा

की जाती है। भगवान् को तुष्ट करने का कोई अन्य साधन नहीं है।" (*विष्णु पुराण* ३..९)। अन्ततोगत्वा मनुष्य को भगवान् विष्णु की पूजा करनी चाहिए और इस कार्य के लिए वर्णाश्रम प्रणाली समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी में संगठित करती है। बलि महाराज को उनके पितामह प्रह्लाद महाराज ने भक्ति की समुचित शिक्षा दी थी; अत: वे जानते थे कि क्या करना चाहिए। वे किसी के द्वारा बहकाये नहीं जा सकते थे, यहाँ तक कि अपने तथाकथित गुरु द्वारा भी। यह पूर्ण शरणागति का लक्षण है। भक्तिविनोद ठाकुर ने कहा है—

मारबि राखबि—यो इच्छा तोहारा

नित्य-दास-प्रति तुया अधिकारा

भगवान् विष्णु की शरण में जाकर मनुष्य को हर परिस्थिति में उनके आदेशों का पालन करने के लिए सन्नद्ध रहना चाहिए, चाहे वे किसी को मारें या शरण दें। भगवान् विष्णु की पूजा हर परिस्थिति में की जानी चाहिए।

यद्यप्यसावधर्मेण मां बध्नीयादनागसम् ।
तथाप्येनं न हिंसिष्ये भीतं ब्रह्मतनुं रिपुम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यद्यपि—यद्यपि; असौ—भगवान् विष्णु; अधर्मेण—छल से; माम्—मुझको; बध्नीयात्—मारते हैं; अनागसम्—यद्यपि मैं पापी नहीं हूँ; तथापि—फिर भी; एनम्—उनके विरुद्ध; न—नहीं; हिंसिष्ये—बदला लूँगा; भीतम्—क्योंकि वे भयभीत हैं; ब्रह्म-तनुम्—ब्राह्मण ब्रह्मचारी का वेश धारण करके; रिपुम्—भले ही वे मेरे शत्रु हों।

यद्यपि वे साक्षात् विष्णु हैं, किन्तु भयवश उन्होंने मेरे पास भिक्षा माँगने आने के लिए ब्राह्मण का वेश धारण कर रखा है। ऐसी परिस्थिति में जब उन्होंने ब्राह्मण रूप धारण कर रखा है, तो वे चाहे अधर्म द्वारा मुझे बन्दी बनाते हैं या मेरा वध भी कर देते हैं तब भी मैं उनसे बदला नहीं लूँगा यद्यपि वे मेरे शत्रु हैं।

तात्पर्य : यदि भगवान् विष्णु जिस रूप में हैं उसी में बलि महाराज के पास आये होते और उन्होंने उनसे कुछ करने को कहा होता तो यह निश्चित है कि बलि महाराज उनकी प्रार्थना को अस्वीकार न करते। लेकिन अपने तथा अपने भक्त के बीच कुछ परिहास हेतु भगवान् ने ब्राह्मण- ब्रह्मचारी का रूप धारण किया और वे बलि महाराज से केवल तीन पग भूमि माँगने आये।

एष वा उत्तमश्लोको न जिहासति यद्यशः ।
हत्वा मैनां हरेद्युद्धे शयीत निहतो मया ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह (ब्रह्मचारी); वा—अथवा; उत्तम-श्लोकः—भगवान् विष्णु जिनकी पूजा वैदिक स्तुतियों से की जाती है; न—नहीं; जिहासति—त्यागना चाहता है; यत्—क्योंकि; यशः—यश; हत्वा—मारकर; मा—मुझको; एनाम्—इस भूमि; हरेत्—ले लेगा; युद्धे—युद्ध में; शयीत—लेट जायेगा; निहतः—मारा जाकर; मया—मेरे द्वारा।

यदि यह ब्राह्मण वास्तव में भगवान् विष्णु है, जिसकी पूजा वैदिक स्तुतियों द्वारा की जाती है, तो वह अपने सर्वव्यापक यश को कभी नहीं छोड़ेगा; वह या तो मेरे द्वारा मारा जाकर लेट जायेगा या युद्ध में मेरा वध कर देगा।

तात्पर्य : बलि महाराज के इस कथन कि विष्णु मारा जाकर लेट जायेगा सीधा अर्थ नहीं लेना चाहिए क्योंकि विष्णु किसी के द्वारा मारे नहीं जा सकते। वे सबको मार सकते हैं, किन्तु स्वयं नहीं मारे जा सकते। अतएव लेट जाने का वास्तविक अर्थ है कि भगवान् विष्णु बलि महाराज के हृदय में निवास करेंगे। भगवान् विष्णु भक्ति द्वारा भक्त से हारते हैं अन्यथा कोई उन्हें हरा नहीं सकता।

श्रीशुक उवाच
एवमश्रद्धितं शिष्यमनादेशकरं गुरुः ।
शशाप दैवप्रहितः सत्यसन्धं मनस्विनम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; अश्रद्धितम्—गुरु के आदेश का आदर न करने वाले; शिष्यम्—शिष्य को; अनादेश-करम्—जो अपने गुरु के आदेश का पालन करने को तैयार न था; गुरुः—गुरु (शुक्राचार्य) ने; शशाप—शाप दिया; दैव-प्रहितः—भगवान् से प्रेरित होकर; सत्य-सन्धम्—जो सत्य पर अडिग थे; मनस्विनम्—जिसका चरित्र अत्युच्च था, सच्चरित्र।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : तत्पश्चात् भगवान् से प्रेरित होकर गुरु शुक्राचार्य ने अपने उच्च शिष्य बलि महाराज को शाप दे दिया जो इतने उदार एवं सत्यनिष्ठ थे कि अपने गुरु के आदेशों को मानने की बजाये उनकी आज्ञा का उल्लघंन करना चाह रहे थे।

तात्पर्य : बलि महाराज तथा उनके गुरु शुक्राचार्य के आचरण में यही अन्तर था कि बलि महाराज में तो पहले से ही ईश-प्रेम विकसित हो चुका था, किन्तु नैत्यिक कर्मकाण्ड के पुरोहित मात्र होने के कारण शुक्राचार्य में ऐसा नहीं हो पाया था। इस प्रकार शुक्राचार्य को भगवान् से कभी प्रेरणा नहीं मिली कि भक्ति विकसित करे। *भगवद्गीता* (१०.१०) में स्वयं भगवान् ने कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

"जो लोग निरन्तर भक्ति करते हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं उन्हें मैं ज्ञान देता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।"

जो भक्तगण सचमुच श्रद्धा तथा प्रेमपूर्वक भक्ति में लगे रहते हैं उन्हें भगवान् प्रेरित करते हैं। वैष्णवजन कभी भी कर्मकाण्डी स्मार्त ब्राह्मणों की परवाह नहीं करते। इसीलिए श्रील सनातन गोस्वामी ने वैष्णवों के मार्गदर्शन के लिए जो स्मार्त विधि का कभी पालन नहीं करते। *हरि-भक्तिविलास* का संग्रह किया है। यद्यपि भगवान् जन-जन के हृदय में वास करते हैं, किन्तु जब तक कोई वैष्णव नहीं होता और जब तक वह भक्ति में निरत नहीं होता तब तक उसे सही उपदेश प्राप्त नहीं हो पाता जिससे वह भगवद्धाम वापस जा सके। ऐसे उपदेश केवल भक्तों के निमित्त होते हैं। अतएव इस श्लोक में *दैव-प्रहित:* शब्द महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है "भगवान् द्वारा प्रेरित होकर।" शुक्राचार्य को चाहिए था कि वे बलि महाराज को प्रोत्साहित करते कि वे भगवान् विष्णु को सर्वस्व दे दें; यह भगवत्-प्रेम का लक्षण होता किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। उल्टे, उन्होंने अपने भक्त—शिष्य को शाप देकर दण्डित करना चाहा।

दृढं पण्डितमान्यज्ञ: स्तब्धोऽस्यस्मदुपेक्षया ।
मच्छासनातिगो यस्त्वमचिराद्भ्रश्यसे श्रिय: ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

दृढम्—तुम अपने निर्णय में इतने दृढ़ हो; पण्डित-मानी—अपने को अत्यधिक विद्वान मानने वाले; अज्ञ:—मूर्ख; स्तब्ध:—धृष्ट, उद्धत; असि—हो गये हो; अस्मत्—हम सबकी; उपेक्षया—उपेक्षा करके; मत्-शासन-अतिग:—मेरे शासन की सीमा का अतिक्रमण करते हुए; य:—ऐसा व्यक्ति (जैसे तुम); त्वम्—तुम; अचिरात्—शीघ्र ही; भ्रश्यसे—नीचे गिर जाओगे; श्रिय:—सारे ऐश्वर्य से।

यद्यपि तुम्हें कोई ज्ञान नहीं है फिर भी तुम तथाकथित विद्वान पुरुष बन गये हो; और इतने धृष्ट होकर तुम मेरे आदेश का उल्लंघन करने का दुस्साहस कर रहे हो। मेरी आज्ञा का उल्लंघन करने के कारण तुम शीघ्र ही सारे ऐश्वर्य से विहीन हो जाओगे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि बलि महाराज *पण्डितमानी* नहीं थे अर्थात् अपने को झूठमूठ विद्वान नहीं समझते थे अपितु वे *पण्डित-मान्य-ज्ञ:* थे अर्थात् इतने पण्डित थे कि अन्य सारे पण्डित उनकी पूजा करते थे। चूँकि वे इतने पण्डित थे इसीलिए वे अपने तथाकथित गुरु के

आदेश का उल्लंघन कर सके। उन्हें संसार से किसी प्रकार की भौतिकता का भय नहीं था। जिसकी परवाह भगवान् विष्णु करते हों उसे किसी अन्य की परवाह करने की आवश्यकता नहीं होती। इस तरह बलि महाराज कभी भी समस्त ऐश्वर्य से वंचित नहीं हो सके। भगवान् द्वारा प्रदत्त ऐश्वर्य की तुलना कर्मकाण्ड से प्राप्त ऐश्वर्य से नहीं की जानी चाहिए। दूसरे शब्दों में, यदि कोई भक्त अत्यन्त ऐश्वर्यवान् हो जाये तो यह समझना चाहिए कि उसका ऐश्वर्य भगवान् का उपहार है। ऐसा ऐश्वर्य कभी नष्ट नहीं होगा जबकि सकाम कर्म द्वारा अर्जित ऐश्वर्य कभी भी नष्ट हो सकता है।

एवं शप्तः स्वगुरुणा सत्यान्न चलितो महान् ।
वामनाय ददावेनामर्चित्वोदकपूर्वकम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार से; शप्तः—शापित होकर; स्व-गुरुणा—अपने ही गुरु द्वारा; सत्यात्—सत्य से; न—नहीं; चलितः—चलायमान; महान्—महापुरुष; वामनाय—वामनदेव को; ददौ—दान में दे दिया; एनाम्—सारी भूमि; अर्चित्वा—पूजा करके; उदक-पूर्वकम्—पहले जल अर्पित करके।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : अपने गुरु द्वारा इस प्रकार शापित होने पर भी महापुरुष होने के नाते बलि महाराज अपने संकल्प से टले नहीं। अतएव प्रथा के अनुसार उन्होंने सर्वप्रथम वामनदेव को जल अर्पित किया और तब उन्हें वह भूमि भेंट की जिसके लिए वे वचन दे चुके थे।

विन्ध्यावलिस्तदागत्य पत्नी जालकमालिनी ।
आनिन्ये कलशं हैममवनेजन्यपां भृतम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

विन्ध्यावलिः—विन्ध्यावलि; तदा—उस समय; आगत्य—वहाँ आकर; पत्नी—महाराज बलि की पत्नी; जालक-मालिनी—मोतियों की माला से सुसज्जित; आनिन्ये—ले आई; कलशम्—जलपात्र; हैमम्—सोने का; अवनेजनि-अपाम्—भगवान् के चरण धोने के लिए जल से युक्त; भृतम्—भरा हुआ।

बलि महाराज की पत्नी विध्यावलि जो गले में मोतियों की माला पहने थीं वहाँ पर तुरन्त आईं और भगवान् के चरणकमलों को धोकर उनकी पूजा करने के निमित्त अपने साथ पानी से भरा सोने का एक बड़ा जलपात्र लेती आईं।

यजमानः स्वयं तस्य श्रीमत्पादयुगं मुदा ।
अवनिज्यावहन्मूर्ध्नि तदपो विश्वपावनीः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

यजमानः—पूजा करने वाला (बलि महाराज); स्वयम्—स्वयम्; तस्य—वामनदेव के; श्रीमत् पाद-युगम्—शुभ एवं सुन्दर चरणकमल युगुल; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक; अवनिज्य—ठीक से धोकर; अवहत्—चढ़ाया; मूर्ध्नि—सिर पर; तत्—वह; अपः—जल; विश्व-पावनीः—सारे संसार को मुक्ति देने वाला।

वामनदेव की पूजा करने वाले बलि महाराज ने प्रसन्नतापूर्वक भगवान् के चरणकमलों को धोया; फिर उस जल को अपने सिर पर चढ़ाया क्योंकि वह जल सम्पूर्ण विश्व का उद्धार करता है।

तदासुरेन्द्रं दिवि देवतागणा
गन्धर्वविद्याधरसिद्धचारणाः ।
तत्कर्म सर्वेऽपि गृणन्त आर्जवं
प्रसूनवर्षैर्ववृषुर्मुदान्विताः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; असुर-इन्द्रम्—असुरों के राजा बलि महाराज को; दिवि—स्वर्गलोक में; देवता-गणाः—देवता लोग; गन्धर्व—गन्धर्वगण; विद्याधर—विद्याधर; सिद्ध—सिद्धलोक के वासी; चारणाः—चारण लोक के वासी; तत्—उस; कर्म—काम; सर्वे अपि—सारे के सारे; गृणन्तः—घोषित करते हुए; आर्जवम्—सरल; प्रसून-वर्षैः—फूलों की वर्षा से; ववृषुः—वर्षा की; मुदा-अन्विताः—उससे परम प्रसन्न होकर।

उस समय स्वर्गलोक के निवासी—यथा देवता, गन्धर्व, विद्याधर, सिद्ध तथा चारण सभी—बलि महाराज के इस सरल द्वैतरहित कार्य से परम प्रसन्न हुए और उन्होंने उनके गुणों की प्रशंसा की तथा उन पर लाखों फूल बरसाये।

तात्पर्य : *आर्जवम्* अर्थात् सरलता या द्वैत से रहित होना ब्राह्मण तथा वैष्णव का गुण है। वैष्णव को स्वत: ब्राह्मण के सारे गुण प्राप्त हो जाते हैं—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः

(*भागवत* ५.१.१२)

वैष्णव में ब्राह्मण के सारे गुण—यथा सत्य, शम, दम, तितिक्षा तथा आर्जव होने चाहिए। वैष्णव के आचरण में दोगलापन नहीं हो सकता। जब बलि महाराज ने अचल श्रद्धा तथा भक्ति के साथ भगवान् विष्णु के चरणकमलों की सेवा की तो स्वर्गलोक के समस्त वासियों ने इस कार्य की परम प्रशंसा की।

नेदुर्मुहुर्दुन्दुभयः सहस्रशो
गन्धर्वकिम्पूरुषकिन्नरा जगुः ।
मनस्विनानेन कृतं सुदुष्करं
विद्वानदाद्यद्रिपवे जगत्त्रयम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

नेदुः—बजने लगीं; मुहुः—पुनः पुनः; दुन्दुभयः—दुन्दुभियाँ; सहस्रशः—हजारों; गन्धर्व—गन्धर्वलोक के वासी; किम्पूरुष—किम्पुरुष लोक के वासी; किन्नराः—किन्नर लोक के वासी; जगुः—गाने लगे; मनस्विना—अत्यन्त पूज्य व्यक्ति के द्वारा; अनेन—बलि महाराज द्वारा; कृतम्—किया गया; सु-दुष्करम्—अत्यन्त कठिन कार्य; विद्वान्—विद्वान होने के कारण; अदात्—दान दिया; यत्—जो; रिपवे—शत्रु को, बलि महाराज के शत्रु देवताओं का पक्ष लेने वाले विष्णु को; जगत्-त्रयम्—तीनों लोक।

गन्धर्वों, किम्पुरुषों तथा किन्नरों ने पुनः पुनः हजारों दुन्दुभियाँ बजाईं और परम प्रसन्न होकर गाना शुरू किया, "बलि महाराज कितने महान् पुरुष हैं और उन्होंने कितना कठिन कार्य सम्पन्न किया है। यद्यपि वे जानते थे कि भगवान् विष्णु उनके शत्रुओं के पक्ष में हैं, तो भी उन्होंने भगवान् को दान में सम्पूर्ण तीनों लोक दे दिये।"

तद्वामनं रूपमवर्धताद्भुतं
हरेरनन्तस्य गुणत्रयात्मकम् ।
भूः खं दिशो द्यौर्विवराः पयोधय-
स्तिर्यङ्नृदेवा ऋषयो यदासत ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; वामनम्—भगवान् वामन का अवतार; रूपम्—रूप; अवर्धत—बढ़ने लगा; अद्भुतम्—आश्चर्यजनक; हरेः—भगवान् का; अनन्तस्य—अनन्त का; गुण-त्रय-आत्मकम्—जिनका शरीर तीन गुणों से युक्त भौतिक शक्ति द्वारा विस्तारित है; भूः—भूमि; खम्—आकाश; दिशः—सभी दिशाएँ; द्यौः—लोक; विवराः—ब्रह्माण्ड के विभिन्न छिद्र; पयोधयः—महान् सागर; तिर्यक्—निम्न पशु, पक्षी; नृ—मनुष्य; देवाः—देवता; ऋषयः—ऋषिगण; यत्—जिसमें; आसत—निवास करते थे।

तब अनन्त भगवान्, जिन्होंने वामन का रूप धारण कर रखा था, भौतिक शक्ति की दृष्टि से आकार में बढ़ने लगे यहाँ तक कि ब्रह्माण्ड की सारी वस्तुएँ जिनमें पृथ्वी, अन्य लोक, आकाश, दिशाएँ, ब्रह्माण्ड के विभिन्न छिद्र, समुद्र, पक्षी, पशु, मनुष्य, देवता तथा ऋषिगण सम्मिलित थे, उनके शरीर के भीतर समा गये।

तात्पर्य : बलि महाराज वामनदेव को दान देना चाह रहे थे, किन्तु भगवान् ने अपने शरीर का ऐसा विस्तार किया कि बलि यह देख लें कि इस ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु पहले से ही भगवान् के शरीर में है। वस्तुतः कोई भी व्यक्ति भगवान् को कुछ भी नहीं दे सकता क्योंकि वे प्रत्येक वस्तु से पूर्ण हैं। कभी-कभी कोई भक्त गंगानदी को गंगाजल अर्पित करते देखा जाता है। वह गंगा में स्नान करने के

बाद अंजुली में गंगा-जल भरकर गंगा को वापस अर्पित करता है। वस्तुत: जब कोई गंगा से एक अंजुली जल लेता है, तो गंगा का कुछ घटता नहीं। इसी प्रकार जब कोई भक्त गंगा में एक अंजुली जल डालता है, तो उससे गंगाजी में कोई वृद्धि नहीं होती। किन्तु ऐसे अर्पण से भक्त माता गंगा का भक्त बनने का यज्ञ प्राप्त करता है। इसी प्रकार जब हम श्रद्धा तथा भक्ति के साथ कोई वस्तु अर्पित करते हैं, तो अर्पित की गई वस्तु न तो हमारी होती है न ही इससे भगवान् के ऐश्वर्य में कोई वृद्धि होती है। किन्तु यदि कोई मनुष्य अपना सब कुछ अर्पित करता है, तो वह भक्त के रूप में मान्य हो जाता है। इस सम्बन्ध में यह उदाहरण दिया जाता है कि यदि कोई अपने मुखमण्डल को माला तथा चन्दन के लेप से सजाकर दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखे तो उसके चेहरे का प्रतिबिम्ब अपने आप सुन्दर लगने लगता है। हर वस्तु के मूल स्रोत भगवान् हैं, जो हमारे भी आदि स्रोत हैं। अतएव जब भगवान् को सजाया जाता है, तो भक्त तथा सारे जीव स्वत: सज जाते हैं।

काये बलिस्तस्य महाविभूतेः
सहर्त्विगाचार्यसदस्य एतत् ।
ददर्श विश्वं त्रिगुणं गुणात्मके
भूतेन्द्रियार्थाशयजीवयुक्तम् ॥ २२॥

शब्दार्थ

काये—शरीर में; बलि:—महाराज बलि; तस्य—भगवान् का; महा-विभूते:—समस्त अद्‌भुत ऐश्वर्यों से युक्त पुरुष का; सह-ऋत्विक्-आचार्य-सदस्य:—समस्त पुरोहितों, आचार्यों तथा उस पवित्र सभा के सदस्यों सहित; एतत्—यह; ददर्श—देखा; विश्वम्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड; त्रि-गुणम्—तीन गुणों वाले; गुण-आत्मके—ऐसे समस्त गुणों के स्रोत में; भूत—भौतिक तत्त्वों समेत; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; अर्थ—इन्द्रिय-विषयों सहित; आशय—मन, बुद्धि तथा अहंकार सहित; जीव-युक्तम्—समस्त जीवों के सहित।

बलि महाराज ने अपने समस्त पुरोहितों, आचार्यों तथा सभा के सदस्यों सहित भगवान् के विश्वरूप को देखा जो षड्ऐश्वर्यों से युक्त था। उस शरीर में ब्रह्माण्ड की सारी वस्तुएँ विद्यमान थीं—सारे भौतिक तत्त्व, इन्द्रियाँ, इन्द्रिय-विषय, मन, बुद्धि, अहंकार, विविध जीव तथा प्रकृति के तीनों गुणों के कर्म तथा उनके फल।

तात्पर्य : *भगवद्‌गीता* में भगवान् कहते हैं—*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्त: सर्वं प्रवर्तते*—कृष्ण हर वस्तु के उद्‌गम हैं। *वासुदेव: सर्वमिति*—कृष्ण सर्वस्व हैं। *मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थित:*—सभी वस्तुएँ भगवान् के शरीर में विद्यमान हैं फिर भी भगवान् सर्वत्र नहीं हैं। मायावादी चिन्तक सोचते हैं

कि चूँकि भगवान् परब्रह्म सब कुछ हो गए हैं इसलिए उनका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। उनका दर्शन *अद्वैतवाद* कहलाता है। किन्तु वास्तव में उनका दर्शन सही नहीं है। यहाँ पर बलि महाराज भगवान् के विराट रूप के द्रष्टा थे और वह शरीर दिख रहा था। यह द्वैतवाद है। सद दो प्राणी होते हैं—एक द्रष्टा और दूसरा दृश्य। द्रष्टा, पूर्ण का अंश होता है, किन्तु वह पूर्ण के तुल्य नहीं होता। पूर्ण का अंश, द्रष्टा पूर्ण से अभिन्न होता है, किन्तु अंश होने के कारण यह कभी पूर्ण नहीं हो सकता। यह अचिन्त्य जिसका प्रतिपादन भेदाभेद पूर्ण दर्शन भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा हुआ है।

रसामचष्टाङ्घ्रितलेऽथ पादयो-
र्महीं महीध्रान्पुरुषस्य जङ्घयोः ।
पतत्रिणो जानुनि विश्वमूर्ते-
रूर्वोर्गणं मारुतमिन्द्रसेनः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

रसाम्—अधोलोक; अचष्ट—देखा; अङ्घ्रि-तले—पाँव के नीचे, तलवे के नीचे; अथ—तत्पश्चात्; पादयोः—पाँवों पर; महीम्—भूमि को; महीध्रान्—पर्वतों को; पुरुषस्य—विराट पुरुष की; जङ्घयोः—पिंडलियों में; पतत्रिणः—उड़ने वाले जीव; जानुनि—घुटनों पर; विश्व-मूर्तेः—विराट भगवान् के रूप का; ऊर्वोः—जाँघों पर; गणम् मारुतम्—वायु के प्रकार; इन्द्र-सेनः—बलि महाराज जिसे इन्द्र के सिपाही मिल गये थे और जो इन्द्र पद पर आसीन थे।

तत्पश्चात् राजा इन्द्र के आसन पर आसीन बलि महाराज ने अधोलोकों को, यथा रसातल को, भगवान् के विराट रूप के पाँव के तलवों पर देखा। उन्होंने भगवान् के पाँवों पर पृथ्वी को, पिंडलियों पर सारे पर्वतों को, घुटनों पर विविध पक्षियों को तथा जाँघों पर वायु के विभिन्न प्रकारों (मरुद्गण) को देखा।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् के विराट रूप की पूर्ण रचना के प्रसंग में विश्व की स्थिति का वर्णन है। इस विराट रूप का अध्ययन तलवों से शुरू होता है। तलवों के ऊपर पैर, पैर दों के ऊपर पिंडलियाँ तथा पिंडलियों के ऊपर घुटने तथा घुटनों के ऊपर जाँघें होती हैं। इस तरह विराट शरीर के सारे अंगों का एक-एक करके वर्णन हुआ है। घुटनों पर पक्षियों का स्थान है और उसके ऊपर मरुद्गण हैं। पक्षी पर्वतों के ऊपर उड़ सकते हैं और पक्षियों के ऊपर वायु के विविध प्रकार होते हैं।

सन्ध्यां विभोर्वाससि गुह्य ऐक्षत्
प्रजापतीञ्जघने आत्ममुख्यान् ।
नाभ्यां नभः कुक्षिषु सप्तसिन्धू-

नुरुक्रमस्योरसि चर्क्षमालाम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

सन्ध्याम्—शाम; विभोः—परमेश्वर के; वाससि—वस्त्र में; गुह्ये—गुप्तांगों में; ऐक्षत्—उसने देखा; प्रजापतीन्—विभिन्न प्रजापतियों को, जिन्होंने सारे जीवों को जन्म दिया; जघने—कूल्हों पर; आत्म-मुख्यान्—बलि महाराज के विश्वस्त मंत्रियों; नाभ्याम्—नाभि पर; नभः—पूरा आकाश; कुक्षिषु—कमर में; सप्त—सात; सिन्धून्—समुद्रों के; उरुक्रमस्य—भगवान् के जो अद्भुत कार्य कर रहे थे; उरसि—वक्षस्थल पर; च—भी; ऋक्ष-मालाम्—तारों का समूह।

बलि महाराज ने अद्भुत कार्य करने वाले भगवान् के वस्त्रों के नीचे संध्या देखी, उनके गुप्तांगों में प्रजापतियों को देखा और उनके कटि प्रदेश के गोल भाग में उन्होंने अपने को तथा अपने विश्वस्त पार्षदों को देखा। उन्होंने भगवान् की नाभि में आकाश, कमर में सातों समुद्र तथा उनके वक्षस्थल में तारों के सारे समूह देखे।

हृद्यङ्ग धर्मं स्तनयोर्मुरारे-
ऋतं च सत्यं च मनस्यथेन्दुम् ।
श्रियं च वक्षस्यरविन्दहस्तां
कण्ठे च सामानि समस्तरेफान् ॥ २५ ॥
इन्द्रप्रधानानमरान्भुजेषु
तत्कर्णयोः ककुभो द्यौश्च मूर्ध्नि ।
केशेषु मेघाञ्छ्वसनं नासिकाया-
मक्ष्णोश्च सूर्यं वदने च वह्निम् ॥ २६ ॥
वाण्यां च छन्दांसि रसे जलेशं
भ्रुवोर्निषेधं च विधिं च पक्ष्मसु ।
अहश्च रात्रिं च परस्य पुंसो
मन्युं ललाटेऽधर एव लोभम् ॥ २७॥
स्पर्शे च कामं नृप रेतसाम्भः
पृष्ठे त्वधर्मं क्रमणेषु यज्ञम् ।
छायासु मृत्युं हसिते च मायां
तनूरुहेष्वोषधिजातयश्च ॥ २ ॥
नदीश्च नाडीषु शिला नखेषु
बुद्धावजं देवगणानृषींश्च ।
प्राणेषु गात्रे स्थिरजङ्गमानि
सर्वाणि भूतानि ददर्श वीरः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

हृदि—हृदय के भीतर; अङ्ग—हे राजा परीक्षित; धर्मम्—धर्म के; स्तनयोः—स्तनों पर; मुरारेः—मुरारि के; ऋतम्—अत्यन्त मधुर शब्द; च—भी; सत्यम्—सत्य को; च—भी; मनसि—मन में; अथ—तत्पश्चात्; इन्दुम्—चन्द्रमा को; श्रियम्—लक्ष्मी को; च—भी; वक्षसि—छाती पर; अरविन्द-हस्ताम्—अपने हाथ में सदैव कमल धारण करने वाली; कण्ठे—गले में; च—भी; सामानि—सारे वेद (साम, यजुर, ऋक् तथा अथर्व); समस्त-रेफान्—सारी ध्वनियों को; इन्द्र-प्रधानान्—इन्द्र आदि को;

अमरान्—सारे देवताओं को; भुजेषु—भुजाओं पर; तत्-कर्णयोः—कानों पर; ककुभः—सारी दिशाएँ; द्यौः च—तथा ज्योतिष्क; मूर्ध्नि—सिर के ऊपर; केशेषु—बालों में; मेघान्—बादलों को; श्वसनम्—श्वास; नासिकायाम्—नथुनों पर; अक्ष्णोः च—आँखों में; सूर्यम्—सूर्य को; वदने—मुख में; च—भी; वह्निम्—आग को; वाण्याम्—वाणी में; च—भी; छन्दांसि—वैदिक स्तुतियाँ; रसे—जीभ में; जल-ईशम्—जल के देवता को; भ्रुवोः—भौंहों पर; निषेधम्—चेतावनी; च—भी; विधिम्—विधि-विधान; च—भी; पक्ष्मसु—पलकों में; अहः च—दिन; रात्रिम्—रात; च—भी; परस्य—परम; पुंसः—पुरुष का; मन्युम्—क्रोध को; ललाटे—मस्तक पर; अधरे—होठों पर; एव—निस्सन्देह; लोभम्—लालच; स्पर्शे—स्पर्श में; च—भी; कामम्—कामेच्छाएँ; नृप—हे राजा; रेतसा—वीर्य से; अम्भः—जल; पृष्ठे—पीठ पर; तु—लेकिन; अधर्मम्—अधर्म को; क्रमणेषु—अद्‌भुत कार्यों में; यज्ञम्—अग्नि यज्ञ को; छायासु—छाया में; मृत्युम्—मृत्यु को; हसिते—हँसी में; च—भी; मायाम्—माया को; तनू-रुहेषु—शरीर के बालों पर; ओषधि-जातयः—ओषधियों की सारी किस्में; च—तथा; नदीः—नदियों को; च—भी; नाडीषु—नाड़ियों में; शिलाः—चट्टानें; नखेषु—नाखूनों में; बुद्धौ—बुद्धि में; अजम्—ब्रह्मा को; देव-गणान्—देवताओं को; ऋषीन् च—तथा ऋषियों को; प्राणेषु—इन्द्रियों में; गात्रे—शरीर में; स्थिर-जङ्गमानि—जड़ तथा चेतन को; सर्वाणि—सारे; भूतानि—जीवों को; ददर्श—देखा; वीरः—बलि महाराज ने।

हे राजा! उन्होंने भगवान् मुरारि के हृदय में धर्म, वक्षस्थल पर मधुर शब्द तथा सत्य, मन में चन्द्रमा, वक्षस्थल पर हाथ में कमल पुष्प लिए लक्ष्मीजी, गले में सारे वेद तथा सारी शब्द ध्वनियां, बाहुओं में इन्द्र इत्यादि सारे देवता, दोनों कानों में सारी दिशाएँ, सिर पर उच्चलोक, बालों में बादल, नथुनों में वायु, आँखों में सूर्य और मुख में अग्नि को देखा। उनके शब्दों से सारे वैदिक मंत्र निकल रहे थे, उनकी जीभ पर जलदेवता वरुणदेव थे, उनकी भौहों पर विधि-विधान तथा उनकी पलकों पर दिन-रात थे (आँखें खुली रहने पर दिन और बन्द होने पर रात्रि)। उनके मस्तक पर क्रोध और उनके होठों पर लालच था। हे राजा! उनके स्पर्श में कामेच्छाएँ, उनके वीर्य में सारे जल, उनकी पीठ पर अधर्म, उनके अद्‌भुत कार्यों या पगों में यज्ञ की अग्नि थी। उनकी छाया में मृत्यु, उनकी मुस्कान में माया थी और उनके शरीर के सारे बालों पर ओषधियाँ तथा लताएँ थीं। उनकी नाड़ियों में सारी नदियाँ, उनके नाखूनों में सारे पत्थर, उनकी बुद्धि में ब्रह्माजी, देवता तथा महान् ऋषिगण और उनके सारे शरीर तथा इन्द्रियों में सारे जड़ तथा चेतन जीव थे। इस प्रकार बलि महाराज ने भगवान् के विराट शरीर में प्रत्येक वस्तु को देखा।

सर्वात्मनीदं भुवनं निरीक्ष्य
सर्वेऽसुराः कश्मलमापुरङ्ग ।
सुदर्शनं चक्रमसह्यतेजो
धनुश्च शार्ङ्गं स्तनयित्नुघोषम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सर्व-आत्मनि—परम पूर्ण या भगवान् में; इदम्—यह ब्रह्माण्ड; भुवनम्—तीनों लोक; निरीक्ष्य—देखकर; सर्वे—सभी; असुराः—असुर, बलि महाराज के पार्षद; कश्मलम्—विलाप; आपुः—प्राप्त किया; अङ्ग—हे राजा; सुदर्शनम्—सुदर्शन नामक; चक्रम्—चक्र; असह्य—न सहा जाने योग्य; तेजः—ताप; धनुः च—तथा धनुष; शार्ङ्गम्—शार्ङ्ग नामक; स्तनयित्नु—घिरे हुए बादलों की ध्वनि; घोषम्—की तरह ध्वनि करती।

हे राजा! जब महाराज बलि के समस्त असुर अनुयायियों ने भगवान् के विराट रूप को देखा, जिन्होंने अपने शरीर के भीतर सब कुछ समा लिया था, और जब उन्होंने भगवान् के हाथ में सुदर्शन नामक चक्र को देखा जो असह्य ताप उत्पन्न करता है और जब उन्होंने उनके धनुष की कोलाहलपूर्ण ध्वनि सुनी तो इन सब के कारण उनके हृदयों में विषाद उत्पन्न हो गया।

पर्जन्यघोषो जलजः पाञ्चजन्यः
कौमोदकी विष्णुगदा तरस्विनी ।
विद्याधरोऽसिः शतचन्द्रयुक्त-
स्तूणोत्तमावक्षयसायकौ च ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

पर्जन्य-घोषः—बादलों जैसी गर्जन; जलजः—भगवान् का शंख; पाञ्चजन्यः—पाञ्चजन्य नामक; कौमोदकी—कौमोदकी नामक; विष्णु-गदा—विष्णु की गदा; तरस्विनी—अत्यन्त वेगवान्; विद्याधरः—विद्याधर नामक; असिः—तलवार; शत-चन्द्र-युक्तः—सैकड़ों चन्द्रमाओं से अलंकृत ढाल; तूण-उत्तमौ—श्रेष्ठ तरकस; अक्षयसायकौ—अक्षयसायक नामक; च—भी।

बादल की सी ध्वनि करने वाला भगवान् का पाञ्चजन्य नामक शंख, अत्यन्त वेगवान् कौमोदकी नामक गदा, विद्याधर नामक तलवार, सैकड़ों चन्द्रमा जैसे चिह्नों से अलंकृत ढाल एवं तरकसों में सर्वश्रेष्ठ अक्षयसायक—ये सभी भगवान् की स्तुति करने के लिए एक साथ प्रकट हुए।

सुनन्दमुख्या उपतस्थुरीशं
पार्षदमुख्याः सहलोकपालाः ।
स्फुरत्किरीटाङ्गदमीनकुण्डलः
श्रीवत्सरत्नोत्तममेखलाम्बरैः ॥ ३२ ॥
मधुव्रतस्रग्वनमालयावृतो
रराज राजन्भगवानुरुक्रमः ।
क्षितिं पदैकेन बलेर्विचक्रमे
नभः शरीरेण दिशश्च बाहुभिः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

सुनन्द-मुख्याः—सुनन्द आदि भगवान् के पार्षद; उपतस्थुः—स्तुति करने लगे; ईशम्—भगवान् की; पार्षद-मुख्याः—अन्य प्रमुख पार्षद; सह-लोक-पालाः—समस्त लोकों के प्रधान देवों सहित; स्फुरत्-किरीट—चमकीले मुकुट सहित; अङ्गद—बाजूबन्द; मीन-कुण्डलः—तथा मछली के आकार के कुण्डल; श्रीवत्स—उनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स नामक बाल; रत्न-

उत्तम—श्रेष्ठ रत्न (कौस्तुभ); मेखला—पेटी; अम्बरैः—पीत वस्त्र सहित; मधु-व्रत—भौंरों का; स्रक्—माला; वनमालया—फूलों की माला से; आवृतः—ढका; रराज—प्रकट; राजन्—हे राजा; भगवान्—भगवान्; उरुक्रमः—अपने अद्भुत कार्यों से प्रत्यक्ष; क्षितिम्—सारे विश्व को; पदा एकेन—एक ही पग से; बलेः—बलि महाराज के; विचक्रमे—ढक लिया; नभः—आकाश; शरीरेण—अपने शरीर से; दिशः च—तथा सारी दिशाएँ; बाहुभिः—अपनी भुजाओं से।

सुनन्द तथा अन्य प्रमुख पार्षदों के साथ-साथ विभिन्न लोकों के प्रधान देवों ने भगवान् की स्तुति की जो चमकीला मुकुट, बाजूबन्द तथा चमकदार मकराकृत कुण्डल पहने हुए थे। भगवान् के वक्षस्थल पर श्रीवत्स नामक बालों का गुच्छा और दिव्य कौस्तुभ मणि थे। वे पीतवस्त्र पहने थे जिसके ऊपर कमर की पेटी बंधी थी। वे फूलों की माला से सज्जित थे जिसके चारों ओर भौंरे मँडरा रहे थे। हे राजा! इस प्रकार अपने आपको प्रकट करते हुए अद्भुत कार्यकलापों वाले भगवान् ने अपने एक पग से सम्पूर्ण पृथ्वी को, अपने शरीर से आकाश को और अपनी भुजाओं से समस्त दिशाओं को ढक लिया।

तात्पर्य : कोई तर्क कर सकता है; जब बलि महाराज ने वामनदेव को उनके पगों द्वारा नापी गई भूमि देने का वचन दिया था, तो भगवान् वामनदेव ने आकाश को क्यों घेर लिया? इस प्रसंग में श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि पग के अन्तर्गत ऊपर तथा नीचे का सारा क्षेत्र सम्मिलित रहता है। जब कोई खड़ा होता है, तो वह निश्चित रूप से आकाश का कुछ भाग और अपने पगों के नीचे भूमि की कुछ मात्रा घेरता है। अतएव जब भगवान् ने अपने शरीर से समस्त आकाश को घेर लिया तो उनके लिए कोई असामान्य बात नहीं थी।

पदं द्वितीयं क्रमतस्त्रिविष्टपं
न वै तृतीयाय तदीयमण्वपि ।
उरुक्रमस्याङ्घ्रिरुपर्युपर्यथो
महर्जनाभ्यां तपसः परं गतः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

पदम्—पग; द्वितीयम्—दूसरा; क्रमतः—आगे बढ़ाकर; त्रि-विष्टपम्—सारा स्वर्गलोक; न—नहीं; वै—निस्सन्देह; तृतीयाय—तीसरे पग के लिए; तदीयम्—भगवान् के; अणु अपि—भूमि का एक कण भी शेष बचा; उरुक्रमस्य—असामान्य कार्य करने वाले भगवान् का; अङ्घ्रिः—ऊपर तथा नीचे घेरने वाले पग; उपरि उपरि—ऊपर और उससे भी ऊपर; अथो—अब; महः-जनाभ्याम्—महर्लोक तथा जनलोक से भी; तपसः—तपोलोक; परम्—उससे भी परे; गतः—पहुँच गया।

जब भगवान् ने अपना दूसरा पग भरा तो उसमें सारे स्वर्गलोक आ गये। अब तीसरे पग के लिए रंचमात्र भी भूमि न बची क्योंकि भगवान् का पग महर्लोक, जनलोक, तपोलोक, यहाँ तक कि सत्यलोक से भी ऊपर तक फैल गया।

तात्पर्य : जब भगवान् का पग महर्लोक, जनलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक सहित सारे लोकों की ऊँचाई से भी ऊपर चला गया तो उनके नाखून निश्चित रूप से ब्रह्माण्ड के आवरण में घुस गये। यह ब्रह्माण्ड पाँच तत्त्वों (*भूमिरापोऽनलो वायुः खम्*) से आच्छादित है। जैसाकि शास्त्रों में कहा गया है ये तत्त्व सतहों (स्तरों) के रूप में हैं और प्रत्येक सतह पिछली सतह से दस गुना मोटी होती जाती है। फिर भी भगवान् के नाखून इन सभी सतहों को बेध गये और ब्रह्मलोक में उन नाखूनों ने एक छेद बना दिया। इसी छेद से गंगा का पानी छनकर इस जगत में आया। इसीलिए कहा जाता है— *पदनखनीरजनितजनपावन* (*दशावतार स्तोत्र* ५)। चूँकि भगवान् ने ब्रह्माण्ड के आवरण में एक छेद कर दिया इसलिए पतितात्माओं के उद्धार हेतु गंगाजल इस जगत में आया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कंध के अन्तर्गत "बलि महाराज द्वारा ब्रह्माण्ड समर्पण" नामक बीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter इक्कीस

भगवान् द्वारा बलि महाराज को बन्दी बनाया जाना

इस अध्याय में बताया गया है कि भगवान् विष्णु ने किस प्रकार बलि महाराज के यश का विज्ञापन करने की इच्छा से तीसरे पग के लिए अपना वचन न निभा पाने के कारण बलि महाराज को बन्दी बना लिया।

जब भगवान् का दूसरा पग ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक जा पहुँचा तो उनके अँगूठे के नाखून के तेज से उस लोक का सौन्दर्य घट गया। तब ब्रह्माजी ने मरीचि इत्यादि ऋषियों तथा स्वर्ग के प्रधान देवों समेत भगवान् की विनम्र स्तुति और पूजा की। उन्होंने भगवान् के चरणों का प्रक्षालन किया और सारी सामग्री से उनका पूजन किया। ऋक्षराज जाम्बवान ने भगवान् की महिमा को गुँजाने के लिए अपना बिगुल बजाया। जब बलि महाराज का सर्वस्व छिन गया तो सारे असुर अत्यन्त क्रुद्ध हुए। बलि महाराज के ऐसा न करने की चेतावनी देने पर भी उन सबों ने भगवान् विष्णु के विरुद्ध अपने हथियार उठा लिये। किन्तु विष्णु के नित्य पार्षदों ने इन सबको हरा दिया और वे सब बलि महाराज के आदेशानुसार पाताललोक में चले गये। भगवान् विष्णु के वाहन गरुड़ ने भगवान् विष्णु का मन्तव्य

समझकर तुरन्त ही बलि महाराज को वरुण के पाश से बन्दी बना लिया। जब बलि महाराज इस असहाय अवस्था में पड़ गए तो भगवान् विष्णु ने उनसे तीसरे पग की भूमि माँगी। जब बलि महाराज अपना वचन पूरा न कर पाये तो भगवान् विष्णु ने उनके संकल्प तथा दृढ़ व्रत को देखते हुए उन्हें सुतललोक में स्थान प्रदान किया जो स्वर्गलोक से बढ़कर है।

श्रीशुक उवाच
सत्यं समीक्ष्याब्जभवो नखेन्दुभि-
र्हतस्वधामद्युतिरावृतोऽभ्यगात् ।
मरीचिमिश्रा ऋषयो बृहद्व्रताः
सनन्दनाद्या नरदेव योगिनः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सत्यम्—सत्यलोक; समीक्ष्य—देखकर; अब्ज-भवः—कमल से उत्पन्न ब्रह्माजी ने; नख-इन्दुभिः—नाखूनों के तेज से; हत—क्षीण हुआ; स्व-धाम-द्युतिः—अपने धाम का प्रकाश; आवृतः—आच्छादित; अभ्यगात्—आया; मरीचि-मिश्राः—मरीचि जैसे मुनियों के साथ; ऋषयः—ऋषिगण; बृहत्-व्रताः—सारे के सारे परम ब्रह्मचारी; सनन्दन-आद्याः—सनक, सनातन, सनन्दन तथा सनत्कुमार जैसे; नर-देव—हे राजा; योगिनः—योगी।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : जब कमलपुष्प से उत्पन्न ब्रह्माजी ने देखा कि उनके धाम ब्रह्मलोक का तेज भगवान् वामनदेव के अँगूठे के नाखूनों के चमकीले तेज से कम हो गया है, तो वे भगवान् के पास गये। ब्रह्माजी के साथ मरीचि इत्यादि ऋषि तथा सनन्दन जैसे योगीजन थे, किन्तु हे राजा! उस तेज के समक्ष ब्रह्मा तथा उनके पार्षद भी नगण्य प्रतीत हो रहे थे।

वेदोपवेदा नियमा यमान्विता-
स्तर्केतिहासाङ्गपुराणसंहिताः ।
ये चापरे योगसमीरदीपित-
ज्ञानाग्निना रन्धितकर्मकल्मषाः ॥ २ ॥
ववन्दिरे यत्स्मरणानुभावतः
स्वायम्भुवं धाम गता अकर्मकम् ।
अथाङ्घ्रये प्रोन्नमिताय विष्णो-
रुपाहरत्पद्मभवोऽर्हणोदकम् ।
समर्च्य भक्त्याभ्यगृणाच्छुचिश्रवा
यन्नाभिपङ्केरुहसम्भवः स्वयम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

वेद—चारों वेद (साम, यजुर्, ऋग् तथा अथर्व), भगवान् द्वारा प्रदत्त मूल ज्ञान; उपवेदाः—पूरक तथा गौण वैदिक ज्ञान यथा आयुर्वेद, धनुर्वेद; नियमाः—विधि-विधान; यम—संयम करने की विधियाँ; अन्विताः—ऐसे मामलों में पटु; तर्क—तर्क;

इतिहास—इतिहास; अङ्ग—वैदिक शिक्षा; पुराण—पुराण; संहिताः—संहिताएँ यथा ब्रह्म-संहिता, वेदों के पूरक ग्रंथ; ये—अन्य; च—भी; अपरे—ब्रह्मा तथा उनके पार्षदों के अतिरिक्त; योग-समीर-दीपित—योगाभ्यास की वायु से प्रज्वलित; ज्ञान-अग्निना—ज्ञान की आग से; रन्धित-कर्म-कल्मषाः—जिनके लिए कर्म का सारा दूषण रुक चुका है; ववन्दिरे—स्तुति की; यत्-स्मरण-अनुभावतः—जिनका ध्यान मात्र करने से; स्वायम्भुवम्—ब्रह्माजी का; धाम—निवास स्थान; गताः—प्राप्त किया था; अकर्मकम्—जो सकाम कर्म से प्राप्त नहीं किया जा सकता; अथ—तत्पश्चात्; अङ्घ्रये—चरणकमलों पर; प्रोन्नमिताय—प्रणाम किया; विष्णोः—विष्णु के; उपाहरत्—पूजा की; पद्म-भवः—कमल से उत्पन्न ब्रह्माजी ने; अर्हण-उदकम्—जल द्वारा अर्घ्य देना; समर्च्य—पूजा करके; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; अभ्यगृणात्—उन्हें प्रसन्न किया; शुचि-श्रवाः—परम प्रसिद्ध वैदिक विद्वान; यत्-नाभि-पङ्केरुह-सम्भवः स्वयम्—जिनकी नाभि से निकले कमल से उत्पन्न ब्रह्माजी।

जो महापुरुष भगवान् के चरणकमलों की पूजा के लिए आए उनमें वे भी थे जिन्होंने आत्मसंयम तथा विधि-विधानों में सिद्धि प्राप्त की थी। साथ ही वे तर्क, इतिहास, सामान्य शिक्षा तथा कल्प नामक (प्राचीन ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बन्धित) वैदिक वाङ्मय में दक्ष थे। अन्य लोग ब्रह्म संहिताओं जैसे वैदिक उपविषयों, वेदों के अन्य ज्ञान तथा वेदांगों (आयुर्वेद, धनुर्वेद, इत्यादि) में पटु थे। अन्य ऐसे थे जिन्होंने योगाभ्यास से जागृत दिव्यज्ञान के द्वारा कर्मफलों से अपने को मुक्त कर लिया था। कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने सामान्य कर्म से नहीं प्रत्युत उच्च वैदिक ज्ञान द्वारा ब्रह्मलोक में निवासस्थान प्राप्त किया था। जल तर्पण द्वारा भगवान् के ऊपर उठे चरणकमलों की भक्तिपूर्वक पूजा कर लेने के बाद भगवान् विष्णु की नाभि से निकले कमल से उत्पन्न ब्रह्माजी ने भगवान् की स्तुति की।

धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य
पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र ।
स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि
लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः ॥ ४॥

शब्दार्थ

धातुः—ब्रह्माजी का; कमण्डलु-जलम्—कमण्डल का पानी; तत्—वही; उरुक्रमस्य—भगवान् विष्णु का; पाद-अवनेजन-पवित्रतया—भगवान् विष्णु के चरणकमलों को धोने और इस तरह दिव्य रूप से पवित्र होने से; नर-इन्द्र—हे राजा; स्वर्धुनी—दिव्यलोक की स्वर्धुनी नामक नदी; अभूत्—हो गई; नभसि—बाह्य आकाश में; सा—वह; पतती—नीचे गिरती हुई; निमार्ष्टि—पवित्र करती; लोक-त्रयम्—तीनों लोकों को; भगवतः—भगवान् के; विशदा—इतनी पवित्र; इव—मानो; कीर्तिः—यश या यशस्वी कार्यकलाप।

हे राजा! ब्रह्मा के कमण्डल से निकला जल अद्भुत कार्यों को करने वाले उरुक्रम भगवान् वामनदेव के चरणकमलों को धोने लगा। इस प्रकार यह जल इतना शुद्ध हो गया कि यह गंगाजल में परिणत होकर आकाश से नीचे बहता हुआ तीनों लोकों को शुद्ध करने लगा मानो भगवान् का विमल यश हो।

तात्पर्य : यहाँ हमें पता चलता है कि जब ब्रह्माजी के कमण्डल के जल से भगवान् वामनदेव के चरणकमल धुले तो गंगाजी बहने लगीं। किन्तु पंचम स्कंध में कहा गया है कि जब वामनदेव का बायाँ पाँव ब्रह्माण्ड के आवरण में घुस गया तो उससे होकर कारणार्णव सागर का दिव्य जल निकलने लगा। अन्यत्र यह भी बताया गया है कि भगवान् नारायण गंगाजल के रूप में प्रकट हुए। अतएव गंगा का जल तीन दिव्य जलों का मेल है और इस तरह गंगा तीनों लोकों को शुद्ध करने में समर्थ हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने यह विवरण दिया है।

ब्रह्मादयो लोकनाथाः स्वनाथाय समादृताः ।
सानुगा बलिमाजह्रुः सङ्क्षिप्तात्मविभूतये ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा इत्यादि महापुरुष; लोक-नाथाः—विभिन्न लोकों के प्रमुख देवता; स्व-नाथाय—अपने परम स्वामी को; समादृताः—अत्यधिक आदर के साथ; स-अनुगाः—अपने अनुयायियों सहित; बलिम्—पूजा की सामग्री; आजह्रुः—एकत्र किया; सङ्क्षिप्त-आत्म-विभूतये—भगवान् को, जिन्होंने अपने निजी ऐश्वर्य का विस्तार किया था, किन्तु अब वामन रूप में घटा लिया था।

ब्रह्माजी तथा विभिन्न लोकों के समस्त प्रधान देवता अपने उन परम स्वामी भगवान् वामनदेव की पूजा करने लगे जिन्होंने अपने सर्वत्र-व्यापक रूप को छोटा करके अपना आदि रूप ग्रहण कर लिया था। उन्होंने पूजा की सारी सामग्री एकत्रित की।

तात्पर्य : सर्वप्रथम वामनदेव ने अपना विस्तार विराट रूप में किया और फिर वे अपने आदि वामन रूप में आ गये। इस तरह उन्होंने भगवान् कृष्ण जैसा ही किया जिन्होंने अर्जुन को पहले अपना विराट रूप प्रकट किया था और बाद में अपना आदि रूप ग्रहण कर लिया था। भगवान् इच्छानुसार कोई भी रूप धारण कर सकते हैं लेकिन उनका आदि रूप कृष्ण का होता है (*कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*)। भक्त की क्षमता के अनुसार भगवान् विभिन्न रूप धारण करते हैं जिससे भक्त उनसे व्यवहार कर सके। यह उनकी अहैतुकी कृपा है। जब भगवान् वामनदेव ने अपना आदि रूप धारण कर लिया तो ब्रह्माजी तथा उनके पार्षदों ने उन्हें प्रसन्न करने के लिए पूजा की विविध सामग्री एकत्र की।

तोयैः समर्हणैः स्रग्भिर्दिव्यगन्धानुलेपनैः ।
धूपैर्दीपैः सुरभिभिर्लाजाक्षतफलाङ्कुरैः ॥ ६ ॥
स्तवनैर्जयशब्दैश्च तद्वीर्यमहिमाङ्कितैः ।

नृत्यवादित्रगीतैश्च शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनैः ॥ ७॥

शब्दार्थ

तोयैः—चरणकमल धोने तथा स्नान के लिए आवश्यक जल से; समर्हणैः—भगवान् की पूजा के लिए पाद्य, अर्घ्य इत्यादि सामग्री से; स्रग्भिः—फूल की मालाओं से; दिव्य-गन्ध-अनुलेपनैः—चन्दन अगुरु से भगवान् वामनदेव के शरीर पर करने के लिए लेप के द्वारा; धूपैः—धूप के द्वारा; दीपैः—दीपकों के द्वारा; सुरभिभिः—अत्यन्त सुगन्धित; लाज—लावा से; अक्षत—अक्षत द्वारा; फल—फलों से; अङ्कुरैः—जड़ों तथा अंकुरों से; स्तवनैः—स्तुतियों से; जय-शब्दैः—जयजयकार द्वारा; च—भी; तत्-वीर्य-महिमा-अङ्कितैः—जिससे भगवान् के यशस्वी कार्य सूचित होते हैं; नृत्य-वादित्र-गीतैः च—नाच, संगीत यंत्रो के वादन तथा गीतगायन से; शङ्ख—शंख; दुन्दुभि—दुन्दुभि; निःस्वनैः—ध्वनि से।

उन्होंने सुगन्धित पुष्प, जल, पाद्य तथा अर्घ्य, चन्दन तथा अगुरु के लेप, धूप, दीप, लावा, अक्षत, फल, मूल तथा अंकुर से भगवान् की पूजा की। ऐसा करते समय उन्होंने भगवान् के यशस्वी कार्यों को सूचित करने वाली स्तुतियाँ कीं और जयजयकार किया। इस तरह भगवान् की पूजा करते हुए उन्होंने नृत्य किया, वाद्ययंत्र बजाये, गाया और शंख और दुन्दुभियां बजाईं।

जाम्बवानृक्षराजस्तु भेरीशब्दैर्मनोजवः ।
विजयं दिक्षु सर्वासु महोत्सवमघोषयत् ॥ ॥

शब्दार्थ

जाम्बवान्—जाम्बवान ने; ऋक्ष-राजः तु—रीछों के राजा; भेरी-शब्दैः—बिगुल बजाकर; मनः-जवः—मनमौज में; विजयम्—विजय, जीत; दिक्षु—सारी दिशाओं में; सर्वासु—सर्वत्र; महा-उत्सवम्—महोत्सव; अघोषयत्—घोषित कर दिया।

रीछों के राजा जाम्बवान भी इस उत्सव में सम्मिलित हो गये। उन्होंने सारी दिशाओं में बिगुल बजाकर भगवान् वामनदेव की विजय का महोत्सव घोषित कर दिया।

महीं सर्वां हृतां दृष्ट्वा त्रिपदव्याजयाच्ञया ।
ऊचुः स्वभर्तुरसुरा दीक्षितस्यात्यमर्षिताः ॥ ९॥

शब्दार्थ

महीम्—पृथ्वी को; सर्वाम्—सारी; हृताम्—छीनी हुई; दृष्ट्वा—देखकर; त्रि-पद-व्याज-याच्ञया—केवल तीन पग भूमि माँगने के बहाने; ऊचुः—कहा; स्व-भर्तुः—अपने स्वामी; असुराः—असुरगण; दीक्षितस्य—यज्ञ के लिए दृढ़संकल्प बलि महाराज के; अति—अत्यधिक; अमर्षिताः—यह उत्सव जिनके लिए असह्य था।

जब बलि महाराज के असुर अनुयायियों ने देखा कि उनके स्वामी ने जिन्होंने यज्ञ सम्पन्न करने का संकल्प कर रखा था। वामनदेव द्वारा तीन पग भूमि माँगे जाने के बहाने सब कुछ गँवा दिया है, तो वे अत्यधिक क्रुद्ध हुए और इस प्रकार बोले।

न वायं ब्रह्मबन्धुर्विष्णुर्मायाविनां वरः ।
द्विजरूपप्रतिच्छन्नो देवकार्यं चिकीर्षति ॥ १०॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वा—अथवा; अयम्—यह; ब्रह्म-बन्धुः—ब्राह्मण वेश में वामनदेव; विष्णुः—साक्षात् विष्णु है; मायाविनाम्—सारे ठगों में; वरः—श्रेष्ठ; द्विज-रूप—ब्राह्मण का रूप बनाकर; प्रतिच्छन्नः—ठगने के लिए वेश धारण किये है; देव-कार्यम्—देवताओं के हित के लिए; चिकीर्षति—प्रयत्न कर रहा है।

यह वामन निश्चित रूप से ब्राह्मण न होकर ठगराज भगवान् विष्णु है। उसने ब्राह्मण का रूप धारण करके अपने असली रूप को छिपा लिया है और इस तरह यह देवताओं के हित के लिए कार्य कर रहा है।

अनेन याचमानेन शत्रुणा वटुरूपिणा ।
सर्वस्वं नो हृतं भर्तुर्न्यस्तदण्डस्य बर्हिषि ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अनेन—इसके द्वारा; याचमानेन—भिखारी के पद को प्राप्त; शत्रुणा—शत्रु के द्वारा; वटु-रूपिणा—ब्रह्मचारी के वेश में; सर्वस्वम्—सर्वस्व; नः—हमारे; हृतम्—ले लिया गया है; भर्तुः—स्वामी का; न्यस्त—फेंका गया; दण्डस्य—दण्ड देने की शक्ति का; बर्हिषि—अनुष्ठान का व्रत लेने के कारण।

हमारे स्वामी बलि महाराज यज्ञ करने की स्थिति में होने के कारण दण्ड देने की अपनी शक्ति त्याग बैठे हैं। इसका लाभ उठाकर हमारे शाश्वत शत्रु विष्णु ने ब्रह्मचारी भिखारी के वेश में उनका सर्वस्व छीन लिया है।

सत्यव्रतस्य सततं दीक्षितस्य विशेषतः ।
नानृतं भाषितुं शक्यं ब्रह्मण्यस्य दयावतः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सत्य-व्रतस्य—सत्यसन्ध महाराज बलि का; सततम्—सदैव; दीक्षितस्य—यज्ञ सम्पन्न करने के लिए दीक्षित हुए; विशेषतः—विशेष रूप से; न—नहीं; अनृतम्—झूठ, असत्य; भाषितुम्—बोलने के लिए; शक्यम्—समर्थ है; ब्रह्मण्यस्य—ब्राह्मण सभ्यता या ब्राह्मण का; दया-वतः—दयावान्।

हमारे स्वामी बलि महाराज सदैव सत्य पर दृढ़ रहते हैं और इस समय तो विशेष रूप से क्योंकि उन्हें यज्ञ करने के लिए दीक्षा दी गई है। वे ब्राह्मणों के प्रति सदैव दयालु तथा सदय रहते हैं और कभी भी झूठ नहीं बोल सकते।

तस्मादस्य वधो धर्मो भर्तुः शुश्रूषणं च नः ।
इत्यायुधानि जगृहुर्बलेरनुचरासुराः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; अस्य—इस ब्रह्मचारी वामन का; वध:—वध; धर्म:—हमारा कर्तव्य है; भर्तु:—हमारे स्वामी की; शुश्रूषणम् च—तथा सेवा करने का तरीका भी है; न:—हमारा; इति—इस प्रकार; आयुधानि—हथियार; जगृहु:—उठा लिया; बले:—बलि महाराज के; अनुचर—अनुयायी; असुरा:—सारे असुरों ने।

अतएव इस वामनदेव भगवान् विष्णु को मार डालना हमारा कर्तव्य है। यह हमारा धर्म है और अपने स्वामी की सेवा करने का तरीका है। इस निर्णय के बाद महाराज बलि के असुर अनुयायियों ने वामनदेव को मारने के उद्देश्य से अपने-अपने हथियार उठा लिये।

ते सर्वे वामनं हन्तुं शूलपट्टिशपाणय: ।
अनिच्छन्तो बले राजन्प्राद्रवञ्जातमन्यव: ॥ १४॥

शब्दार्थ

ते—वे असुर; सर्वे—सभी; वामनम्—भगवान् वामनदेव को; हन्तुम्—मारने के लिए; शूल—त्रिशूल; पट्टिश—भाले; पाणय:—हाथ में लेकर; अनिच्छन्त:—इच्छा के विपरीत; बले:—बलि महाराज की; राजन्—हे राजा; प्राद्रवन्—आगे बढ़े; जात-मन्यव:—सामान्य क्रोध के द्वारा भड़क कर।

हे राजा! असुरों का सामान्य क्रोध भड़क उठा, उन्होंने अपने-अपने भाले तथा त्रिशूल अपने हाथों में ले लिये और बलि महाराज की इच्छा के विरुद्ध वे वामनदेव को मारने के लिए आगे बढ़ गये।

तानभिद्रवतो दृष्ट्वा दितिजानीकपान्नृप ।
प्रहस्यानुचरा विष्णो: प्रत्यषेधन्नुदायुधा: ॥ १५॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; अभिद्रवत:—इस प्रकार आगे बढ़ते; दृष्ट्वा—देखकर; दितिज-अनीक-पान्—असुरों के सैनिक; नृप—हे राजा; प्रहस्य—हँसकर; अनुचरा:—सहयोगी; विष्णो:—भगवान् विष्णु के; प्रत्यषेधन्—मना किया; उदायुधा:—अपने हथियार ग्रहण करने को।

हे राजा! जब विष्णु के सहयोगियों ने देखा कि असुर सैनिक हिंसा पर उतारू होकर आगे बढ़े आ रहे हैं, तो वे हँसने लगे। उन्होंने अपने हथियार उठाते हुए असुरों को ऐसा प्रयत्न करने से मना किया।

नन्द: सुनन्दोऽथ जयो विजय: प्रबलो बल: ।
कुमुद: कुमुदाक्षश्च विष्वक्सेन: पतत्त्रिराट् ॥ १६॥
जयन्त: श्रुतदेवश्च पुष्पदन्तोऽथ सात्वत: ।
सर्वे नागायुतप्राणाश्चमूं ते जघ्नुरासुरीम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

नन्दः सुनन्दः—विष्णु के संगी यथा नन्द तथा सुनन्द; अथ—इस प्रकार; जयः विजयः प्रबलः बलः कुमुदः कुमुदाक्षः च विष्वक्सेनः—तथा जय, विजय, प्रबल, बल, कुमुद, कुमुदाक्ष तथा विष्वक्सेन; पतत्रि-राट्—पक्षिराज गरुड़; जयन्तः श्रुतदेवः च पुष्पदन्तः अथ सात्वतः—जयन्त, श्रुतदेव, पुष्पदन्त तथा सात्वत; सर्वे—सभी; नाग-अयुत-प्राणाः—दस हजार हाथियों के समान शक्तिशाली; चमूम्—सेना को; ते—उन्होंने; जघ्नुः—मार डाला; आसुरीम्—असुरों की।

नन्द, सुनन्द, जय, विजय, प्रबल, बल, कुमुद, कुमुदाक्ष, विष्वक्सेन, पतत्रिराट् (गरुड़), जयन्त, श्रुतदेव, पुष्पदन्त तथा सात्वत—ये सभी भगवान् विष्णु के संगी थे। वे दस हजार हाथियों के तुल्य बलवान् थे। अब वे असुरों के सैनिकों को मारने लगे।

हन्यमानान्स्वकान्दृष्ट्वा पुरुषानुचरैर्बलिः ।
वारयामास संरब्धान्काव्यशापमनुस्मरन् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

हन्यमानान्—मारे जा रहे; स्वकान्—अपने सैनिकों को; दृष्ट्वा—देखकर; पुरुष-अनुचरैः—परम पुरुष के अनुचरों द्वारा; बलिः—बलि महाराज ने; वारयाम् आस—मना किया; संरब्धान्—अत्यधिक क्रुद्ध होते हुए भी; काव्य-शापम्—शुक्राचार्य के द्वारा प्रदत्त शाप को; अनुस्मरन्—याद करते हुए।

जब बलि महाराज ने देखा कि उनके अपने सैनिक भगवान् विष्णु के अनुचरों द्वारा मारे जा रहे हैं, तो उन्हें शुक्राचार्य का शाप याद आया और उन्होंने अपने सैनिकों को युद्ध जारी रखने से मना कर दिया।

हे विप्रचित्ते हे राहो हे नेमे श्रूयतां वचः ।
मा युध्यत निवर्तध्वं न नः कालोऽयमर्थकृत् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

हे विप्रचित्ते—हे विप्रचित्ति; हे राहो—हे राहु; हे नेमे—हे नेमि; श्रूयताम्—सुनो तो; वचः—मेरे शब्द; मा—मत; युध्यत—लड़ो; निवर्तध्वम्—यह लड़ाई बन्द करो; न—नहीं; नः—हमारा; कालः—उपयुक्त समय; अयम्—यह; अर्थ-कृत्—सफल होने का।

हे विप्रचित्ति, हे राहु, हे नेमि! जरा मेरी बात तो सुनो! तुम लोग मत लड़ो। तुरन्त रुक जाओ क्योंकि यह समय हमारे अनुकूल नहीं है।

यः प्रभुः सर्वभूतानां सुखदुःखोपपत्तये ।
तं नातिवर्तितुं दैत्याः पौरुषैरीश्वरः पुमान् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यः प्रभुः—जो परम पुरुष, स्वामी; सर्व-भूतानाम्—सभी जीवों का; सुख-दुःख-उपपत्तये—सुख तथा दुख देने के लिए; तम्—उसको; न—नहीं; अतिवर्तितुम्—जीतने के लिए; दैत्याः—हे दैत्यो; पौरुषैः—मानवीय प्रयास से; ईश्वरः—परम नियन्ता; पुमान्—पुरुष।

हे दैत्यो! कोई भी व्यक्ति मानवीय प्रयासों से उन भगवान् को परास्त नहीं कर सकता जो

समस्त जीवों को सुख तथा दुख देने वाले हैं।

यो नो भवाय प्रागासीदभवाय दिवौकसाम् ।
स एव भगवानद्य वर्तते तद्विपर्ययम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यः—भगवान् का प्रतिनिधि काल; नः—हम सबकी; भवाय—उन्नति के लिए; प्राक्—पहले; आसीत्—स्थित था; अभवाय—हार के लिए; दिव-ओकसाम्—देवताओं का; सः—वही काल; एव—निस्सन्देह; भगवान्—परम पुरुष का प्रतिनिधि; अद्य—आज; वर्तते—उपस्थित है; तत्-विपर्ययम्—हमारे पक्ष के विपरीत।

परम काल जो भगवान् का प्रतिनिधि है और जो पहले हमारे अनुकूल और देवताओं के प्रतिकूल था, वही काल अब हमारे विरुद्ध है।

बलेन सचिवैर्बुद्ध्या दुर्गैर्मन्त्रौषधादिभिः ।
सामादिभिरुपायैश्च कालं नात्येति वै जनः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

बलेन—बल द्वारा; सचिवैः—मंत्रियों की सलाह से; बुद्ध्या—बुद्धि से; दुर्गैः—किलों से; मन्त्र-औषध-आदिभिः—योगमंत्रों या औषधियों के द्वारा; साम-आदिभिः—राजनीति तथा अन्य ऐसे साधनों से; उपायैः च—इसी प्रकार के अन्य उपायों से; कालम्—काल जो भगवान् का प्रतिनिधि है; न—कभी नहीं; अत्येति—जीत सकता है; वै—निस्सन्देह; जनः—कोई व्यक्ति।

कोई भी व्यक्ति भौतिक बल, मंत्रियों की सलाह, बुद्धि, राजनय, किला, मंत्र, औषधि, जड़ी-बूटी या अन्य किसी उपाय से भगवान् स्वरूप काल स्वरूप को परास्त नहीं कर सकता।

भवद्भिर्निर्जिता ह्येते बहुशोऽनुचरा हरेः ।
दैवेनर्द्धैस्त एवाद्य युधि जित्वा नदन्ति नः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

भवद्भिः—तुम सारे असुरों के द्वारा; निर्जिताः—पराजित किये गये थे; हि—निस्सन्देह; एते—देवताओं के सारे सैनिक; बहुशः—बड़ी संख्या में; अनुचराः—अनुयायी; हरेः—विष्णु के; दैवेन—भाग्यवश; ऋद्धैः—ऐश्वर्य बढ़ने से; ते—वे (देवता); एव—निस्सन्देह; अद्य—आज; युधि—युद्ध में; जित्वा—जीतकर; नदन्ति—हर्ष से नाद कर रहे हैं; नः—हमें।

पहले तुम सब ने भाग्य द्वारा शक्ति प्राप्त करके भगवान् विष्णु के ऐसे अनेक अनुयायियों को परास्त किया था। किन्तु आज वे ही अनुयायी हमें परास्त करके शेरों की तरह हर्ष से दहाड़ रहे हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में हार या जीत के पाँच कारण बताये गये हैं। इनमें से दैव सबसे अधिक शक्तिमान है (*न च दैवात् परं बलम्*)। बलि महाराज इस रहस्य को जानते थे कि वे पूर्वकाल में दैव अनुकूल होने के कारण किस प्रकार विजयी हुए थे। चूँकि वही दैव अब उनके अनुकूल नहीं था

अतएव उनकी विजय की कोई संभावना नहीं थी। इस प्रकार उन्होंने अपने अनुचरों को बड़ी बुद्धिमानी से लड़ने से वर्जित किया।

एतान्वयं विजेष्यामो यदि दैवं प्रसीदति ।
तस्मात्कालं प्रतीक्षध्वं यो नोऽर्थत्वाय कल्पते ॥ २४॥

शब्दार्थ

एतान्—देवताओं के इन सारे सैनिकों को; वयम्—हम; विजेष्यामः—जीत लेंगे; यदि—यदि; दैवम्—भाग्य; प्रसीदति—हमारे अनुकूल है; तस्मात्—इसलिए; कालम्—अनुकूल काल की; प्रतीक्षध्वम्—तब तक प्रतीक्षा करो; यः—जो; नः—हमारा; अर्थत्वाय कल्पते—पक्ष में माना जाना चाहिए।

जब तक भाग्य हमारे अनुकूल न हो तब तक हम विजय प्राप्त नहीं कर सकेंगे। अतएव हमें उस उपयुक्त काल की प्रतीक्षा करनी चाहिए जब हम उन्हें पराजित कर सकेंगे।

श्रीशुक उवाच

पत्युर्निगदितं श्रुत्वा दैत्यदानवयूथपाः ।
रसां निर्विविशू राजन्विष्णुपार्षद ताडिताः ॥ २५॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; पत्युः—अपने स्वामी (बलि महाराज) को; निगदितम्—जिसका इस तरह वर्णन हुआ; श्रुत्वा—सुनकर; दैत्य-दानव-यूथ-पाः—दैत्यों तथा दानवों के सेनापति; रसाम्—रसातल लोक में; निर्विविशूः—घुस गये; राजन्—हे राजा; विष्णु-पार्षद—विष्णु के अनुचरों द्वारा; ताडिताः—खदेड़े जाकर।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : हे राजा! अपने स्वामी बलि महाराज के आदेश के अनुसार दैत्यों तथा दानवों के सारे सेनापति ब्रह्माण्ड के निचले भागों में प्रविष्ट हुए जहाँ उन्हें विष्णु के सैनिकों ने खदेड़ दिया था।

अथ तार्क्ष्यसुतो ज्ञात्वा विराट्प्रभुचिकीर्षितम् ।
बबन्ध वारुणैः पाशैर्बलिं सूत्येऽहनि क्रतौ ॥ २६॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; तार्क्ष्य-सुतः—गरुड़ ने; ज्ञात्वा—जानकर; विराट्—पक्षिराज; प्रभु-चिकीर्षितम्—भगवान् वामनदेव की इच्छा से; बबन्ध—बन्दी बना लिया; वारुणैः—वरुण से सम्बन्धित; पाशैः—रस्सियों से; बलिम्—बलि को; सूत्ये—सोमरस पान के; अहनि—दिन; क्रतौ—यज्ञ के समय।

तत्पश्चात् यज्ञ समाप्त हो जाने के बाद सोमपान के दिन पक्षिराज गरुड़ ने अपने स्वामी की इच्छा जानकर बलि महाराज को वरुणपाश से बन्दी बना लिया।

तात्पर्य : भगवान् का नित्य संगी गरुड़ भगवान् की आन्तरिक इच्छा को जानने वाला है। बलि

महाराज की सहिष्णुता तथा भक्ति असंदिग्ध रूप से अतिश्रेष्ठ थी। सारे विश्व को बलि महाराज की महती सहिष्णुता दिखलाने के लिए गरुड़ ने उन्हें बन्दी बना लिया।

हाहाकारो महानासीद्रोदस्यो: सर्वतो दिशम् ।
निगृह्यमाणेऽसुरपतौ विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ २७॥

शब्दार्थ

हाहा-कार:—विलाप का कोलाहलपूर्ण नाद; महान्—अत्यधिक; आसीत्—था; रोदस्यो:—अधो एवं ऊर्ध्व दोनों लोकों में; सर्वत:—सर्वत्र; दिशम्—सारी दिशाएँ; निगृह्यमाणे—दबाये जाने के कारण; असुर-पतौ—असुरों के स्वामी बलि महाराज को; विष्णुना—विष्णु द्वारा; प्रभविष्णुना—जो सर्वत्र अत्यन्त शक्तिशाली है।

जब बलि महाराज परम शक्तिशाली भगवान् विष्णु द्वारा इस प्रकार बन्दी बना लिये गये तो ब्रह्माण्ड के अधो तथा ऊर्ध्व लोकों की समस्त दिशाओं में विलाप का आर्तनाद हुआ।

तं बद्धं वारुणै: पाशैर्भगवानाह वामन: ।
नष्टश्रियं स्थिरप्रज्ञमुदारयशसं नृप ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; बद्धम्—बाँधे गये; वारुणै: पाशै:—वरुण पाश द्वारा; भगवान्—भगवान्; आह—कहा; वामन:—वामनदेव ने; नष्ट-श्रियम्—शारीरिक कान्ति से विहीन बलि महाराज से; स्थिर-प्रज्ञम्—किन्तु फिर भी अपने निर्णय पर अटल; उदार-यशसम्—अत्यन्त सुन्दर एवं विख्यात; नृप—हे राजा।

हे राजा! तब भगवान् वामनदेव अत्यन्त उदार एवं विख्यात बलि महाराज से बोले जिन्हें उन्होंने वरुणपाश से बन्दी बनवा लिया था। यद्यपि बलि महाराज के शरीर की सारी कान्ति जा चुकी थी तो भी वे अपने निर्णय पर अटल थे।

तात्पर्य : जब किसी की सारी सम्पत्ति छिन जाती है, तो निश्चय ही, उसकी शारीरिक कान्ति घट जाती है। किन्तु बलि महाराज अपना सर्वस्व छिन जाने पर भी भगवान् वामनदेव को तुष्ट करने के अपने संकल्प पर अटल थे। *भगवद्गीता* में ऐसे व्यक्ति को *स्थितप्रज्ञ* कहा गया है। शुद्ध भक्त कभी भी भगवान् की सेवा से विचलित नहीं होता, चाहे माया द्वारा कितने ही कष्ट तथा व्यवधान क्यों न आयें। सामान्यतया जिनके पास सम्पत्ति तथा ऐश्वर्य होते हैं, वे विख्यात होते हैं, किन्तु बलि महाराज अपना सर्वस्व छिन जाने के कारण सदा-सदा के लिए विख्यात हो गये। यह भगवान् की अपने भक्तों पर विशेष कृपा है। भगवान् कहते हैं—*यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनै: ।* जब भगवान् अपने भक्त पर प्रथम विशेष कृपा के रूप में सर्वप्रथम उसका सारा धन हर लेते हैं। किन्तु भक्त कभी ऐसी क्षति से

विचलित नहीं होता। वह सेवा में डटा रहता है और भगवान् उसे एक सामान्य पुरुष की आशाओं से कहीं बढ़कर पुरस्कार प्रदान करते हैं।

पदानि त्रीणि दत्तानि भूमेर्मह्यं त्वयासुर ।
द्वाभ्यां क्रान्ता मही सर्वा तृतीयमुपकल्पय ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

पदानि—पग; त्रीणि—तीन; दत्तानि—दिये गये; भूमेः—भूमि के; मह्यम्—मुझको; त्वया—तुम्हारे द्वारा; असुर—हे असुरराज; द्वाभ्याम्—दो पगों द्वारा; क्रान्ता—घेरी हुई; मही—सारी भूमि; सर्वा—पूर्णतया; तृतीयम्—तीसरे पग के लिए; उपकल्पय—साधन ढूँढो।

हे असुरराज! तुमने मुझे तीन पग भूमि देने का वचन दिया है, किन्तु मैंने तो दो ही पग में सारा ब्रह्माण्ड घेर लिया है। अब बताओ कि मैं अपना तीसरा पग कहाँ रखूँ?

यावत्तपत्यसौ गोभिर्यावदिन्दुः सहोडुभिः ।
यावद्वर्षति पर्जन्यस्तावती भूरियं तव ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; तपति—चमक रहा है; असौ—सूर्य; गोभिः—प्रकाश द्वारा; यावत्—जब तक या जहाँ तक; इन्दुः—चन्द्रमा; सह-उडुभिः—अन्य तारों के साथ; यावत्—जहाँ तक; वर्षति—वर्षा करते हैं; पर्जन्यः—बादल; तावती—उतनी दूरी तक; भूः—पृथ्वी; इयम्—यह; तव—तुम्हारे अधिकार में।

जहाँ तक सूर्य तथा तारों सहित चन्द्रमा चमक रहे हैं और जहाँ तक बादल वर्षा करते हैं, वहाँ तक ब्रह्माण्ड की सारी भूमि आपके अधिकार में है।

पदैकेन मयाक्रान्तो भूर्लोकः खं दिशस्तनोः ।
स्वर्लोकस्ते द्वितीयेन पश्यतस्ते स्वमात्मना ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

पदा एकेन—एक पग से ही; मया—मेरे द्वारा; आक्रान्तः—आच्छादित; भूर्लोकः—समस्त भूर्लोक; खम्—आकाश; दिशः—तथा सारी दिशाएँ; तनोः—मेरे शरीर द्वारा; स्वर्लोकः—उच्च स्वर्गलोक; ते—तुम्हारे अधिकार में हैं, वे; द्वितीयेन—दूसरे पग में; पश्यतः ते—तुम्हारे देखते-देखते; स्वम्—तुम्हारा अपना; आत्मना—मेरे द्वारा।

इन में से मैंने एक पग से भूर्लोक को अपना बना लिया है और अपने शरीर से मैंने सारा आकाश तथा सारी दिशाएँ अपने अधिकार में कर ली हैं। तुम्हारी उपस्थिति में ही मैंने अपने दूसरे पग से उच्च स्वर्गलोक को अपना लिया है।

तात्पर्य : वेदों के अनुसार सभी ग्रह पूर्व से पश्चिम की ओर घूमते हैं। सूर्य, चन्द्र तथा अन्य पाँच ग्रह जैसे मंगल और बृहस्पति एक दूसरे के ऊपर चक्कर लगाते हैं। किन्तु वामनदेव ने अपने शरीर तथा

अपने पग का विस्तार करते हुए सारे ग्रह लोकों पर अधिकार कर लिया।

प्रतिश्रुतमदातुस्ते निरये वास इष्यते ।
विश त्वं निरयं तस्माद्गुरुणा चानुमोदितः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

प्रतिश्रुतम्—वचन दिया गया; अदातुः—न दे सका; ते—तुम्हारा; निरये—नरक में; वासः—वासस्थान; इष्यते—संस्तुत; विश—अब प्रवेश करो; त्वम्—तुम; निरयम्—नरकलोक में; तस्मात्—इसलिए; गुरुणा—अपने गुरु द्वारा; च—भी; अनुमोदितः—अनुमोदन किया हुआ।

चूँकि तुम अपने वचन के अनुसार दान देने में असमर्थ रहे हो अतएव नियम कहता है कि तुम नरकलोक में रहने के लिए चले जाओ। इसलिए अपने गुरु शुक्राचार्य के आदेश से अब तुम नीचे जाओ और वहाँ रहो।

तात्पर्य : कहा गया है—

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।

स्वर्गापवर्ग नरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः॥

“जो भक्त एकमात्र भगवान् नारायण की भक्ति में लगे रहते हैं, वे जीवन की किसी भी परिस्थिति से डरते नहीं। उनके लिए स्वर्ग, मुक्ति तथा नरकलोक एकसमान हैं क्योंकि ऐसे भक्त मात्र भगवद्भक्ति में रुचि रखते हैं।” (*भागवत* ६.१७.२)। नारायण की सेवा में लग ा हुआ भक्त सदैव सन्तुलित रहता है। वह वस्तुतः दिव्य जीवन बिताता है। भले ही ऐसा लगे कि वह स्वर्ग या नरक गया है, किन्तु वह इनमें से कहीं नहीं रहता प्रत्युत वह सदा वैकुण्ठ में रहता है (*स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते*)। वामनदेव ने सारे विश्व को मात्र यह दिखलाने के लिए कि बलि महाराज कितने सहिष्णु हैं उन्हें नरकलोक में जाने को कहा, किन्तु बलि महाराज ने आज्ञापालन में तनिक भी आनाकानी नहीं की। भक्त कभी अकेले नहीं रहता। निस्सन्देह, हर व्यक्ति भगवान् के साथ रहता है लेकिन भक्त भगवान् की सेवा में लगे रहने के कारण, किसी भौतिक अवस्था में नहीं रहता। भक्तिविनोद ठाकुर का गीत है—*कीटजन्म हओ यथा तुया दास।* वे भक्तों की संगति में एक तुच्छ कीट के रूप में जन्म लेने के लिए प्रार्थना करते हैं। चूँकि भक्त भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं अतएव जो कोई उनकी संगति में रहता है, वह भी वैकुण्ठ में निवास करता है।

वृथा मनोरथस्तस्य दूरः स्वर्गः पतत्यधः ।
प्रतिश्रुतस्यादानेन योऽर्थिनं विप्रलम्भते ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

वृथा—किसी अच्छे फल से रहित; मनोरथः—मन की इच्छाएँ; तस्य—उसकी; दूरः—दूर; स्वर्गः—स्वर्गलोक को जाना; पतति—गिरता है; अधः—जीवन की नारकीय अवस्था में; प्रतिश्रुतस्य—जिन वस्तुओं के लिए वचन दिया गया हो; अदानेन—न दे सकने के कारण; यः—जो कोई; अर्थिनम्—भिखारी को; विप्रलम्भते—ठगता है।

जो कोई भिखारी को वचन देकर ठीक से दान नहीं देता उसका स्वर्ग जाना या उसकी इच्छा पूरी होना तो दूर रहा वरन् वह नारकीय जीवन में जा गिरता है।

विप्रलब्धो ददामीति त्वयाहं चाढ्यमानिना ।
तद्व्यलीकफलं भुङ्क्ष्व निरयं कतिचित्समाः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

विप्रलब्धः—मैं ठगा गया हूँ; ददामि—तुम्हें दूँगा ऐसा वचन देता हूँ; इति—इस प्रकार; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अहम्—मैं; च—भी; आढ्य-मानिना—अपने ऐश्वर्य पर गर्वित होने के कारण; तत्—अतएव; व्यलीक-फलम्—ठगने का दुष्परिणाम; भुङ्क्ष्व—भोगो; निरयम्—नारकीय जीवन में; कतिचित्—थोड़े; समाः—वर्ष।

अपने वैभव पर वृथा गर्वित होकर तुमने मुझे भूमि देने का वचन दिया, किन्तु तुम अपना वचन पूरा नहीं कर पाये। अतएव अब तुम्हारे वचन (वादे) झूठे हो जाने के कारण तुम्हें कुछ वर्षों तक नारकीय जीवन बिताना होगा।

तात्पर्य : भौतिक जीवन का दूसरा पहलू यह सोचना है कि मैं धनी हूँ और मेरे पास प्रभूत सम्पत्ति है। यह मिथ्या प्रतिष्ठा है। हर वस्तु भगवान् की है, अन्य व्यक्ति के पास कुछ नहीं है। यह वास्तविक तथ्य है। *ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।* बलि महाराज असंदिग्ध रूप से महान् भक्त थे, किन्तु इसके पूर्व वे मिथ्या प्रतिष्ठा पाले हुए थे। अब ईश्वर की परमेच्छा से उन्हें नरकलोक जाना पड़ा, किन्तु वे वहाँ भगवान् के आदेश से गये थे अतः वे वहाँ स्वर्गलोक की अपेक्षा अधिक ठाट से रहे। भक्त सदैव भगवान् की संगति में रहकर उनकी सेवा में व्यस्त रहता है; अतएव उसे नरक या स्वर्ग वास की कोई परवाह नहीं रहती।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध के अन्तर्गत "भगवान् द्वारा बलि महाराज को बन्दी बनाया जाना" नामक इक्कीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बाईस

बलि महाराज द्वारा आत्मसमर्पण

इस अध्याय का सारांश इस प्रकार है—बलि महाराज के आचरण से भगवान् प्रसन्न हुए। अतएव उन्होंने उन्हें सुतललोक में भेज दिया और वहाँ उन्हें वर देकर स्वयं उनका द्वारपाल बनना स्वीकार कर लिया।

बलि महाराज अत्यन्त सत्यवादी थे। अपना वचन पूरा न कर सकने के कारण वे अत्यन्त भयभीत थे क्योंकि वे जानते थे कि जो अपने सत्य से डिग जाता है, वह समाज की आँखों से गिर जाता है। एक सम्मानित व्यक्ति नारकीय जीवन का कष्ट भोग सकता है लेकिन वह सत्य के मार्ग से विपथ होकर बदनाम होने से अत्यन्त भयभीत रहता है। बलि महाराज ने भगवान् द्वारा दिये गये दण्ड को सहर्ष स्वीकार कर लिया। बलि महाराज के वंश में ऐसे अनेक *असुर* हो चुके थे जिन्होंने विष्णु से शत्रुता रखने के कारण अनेक योगियों से भी उच्च स्थान प्राप्त किया था। बलि महाराज को विशेष रूप से प्रह्लाद महाराज की भक्ति-निष्ठा का स्मरण था। इन सब बातों पर विचार करते हुए उन्होंने विष्णु के तीसरे पग के लिए अपना सिर दान में देने का निर्णय लिया। उन्होंने इस पर भी विचार किया कि भगवान् को प्रसन्न करने के लिए किस प्रकार महापुरुष अपने पारिवारिक सम्बन्ध तथा भौतिक सम्पत्ति को छोड़ देते हैं। निस्सन्देह, वे कभी-कभी भगवान् को तुष्ट करने तथा मात्र उनके निजी सेवक बनने के लिए अपने प्राणों तक का उत्सर्ग कर देते हैं। इस तरह पूर्ववर्ती आचार्यों एवं भक्तों का अनुसरण करते हुए बलि महाराज ने अपने आपको कृतकृत्य अनुभव किया।

जब वरुणपाश द्वारा बन्दी बनाये गये बलि महाराज भगवान् की स्तुति कर रहे थे तो उनके पितामह प्रह्लाद महाराज वहाँ प्रकट हुए और उन्होंने बतलाया कि किस तरह भगवान् ने छल से बलि महाराज की सारी सम्पत्ति लेकर उनका उद्धार किया है। उनकी उपस्थिति में ही ब्रह्माजी तथा बलि की पत्नी विन्ध्यावलि ने भगवान् की श्रेष्ठता का वर्णन किया। चूँकि बलि महाराज ने भगवान् को दान में सर्वस्व दे दिया था अतएव उन सबने उनके छोड़े जाने के लिए विनती की। तब भगवान् ने बताया कि अभक्त के पास सम्पत्ति का होना कितना घातक है जब कि भक्त का ऐश्वर्य भगवान् का वरदान होता है। तत्पश्चात् बलि महाराज से प्रसन्न होकर भगवान् ने उन्हें रक्षा के लिए अपना चक्र दिया और उनके साथ रहने का वचन दे दिया।

श्रीशुक उवाच
एवं विप्रकृतो राजन्बलिर्भगवतासुरः ।
भिद्यमानोऽप्यभिन्नात्मा प्रत्याहाविक्लवं वचः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार, जैसाकि पहले कहा जा चुका है; विप्रकृतः—संकट में पड़कर; राजन्—हे राजा; बलिः—बलि महाराज ने; भगवता—भगवान् वामनदेव द्वारा; असुरः—असुरराज; भिद्यमानः अपि—इस कष्टदायक स्थिति में रहकर भी; अभिन्न-आत्मा—शरीर या मन से विचलित हुए बिना; प्रत्याह—उत्तर दिया; अविक्लवम्—अविचल भाव से; वचः—निम्नलिखित शब्द।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा! यद्यपि ऊपर से ऐसा लग रहा था कि भगवान् ने बलि महाराज के साथ दुर्व्यवहार किया है, किन्तु बलि महाराज अपने संकल्प पर अडिग थे। यह सोचते हुए कि मैंने अपना वचन पूरा नहीं किया है, वे इस प्रकार बोले।

श्रीबलिरुवाच
यद्युत्तमश्लोक भवान्ममेरितं
वचो व्यलीकं सुरवर्य मन्यते ।
करोम्यृतं तन्न भवेत्प्रलम्भनं
पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-बलिः उवाच—बलि महाराज ने कहा; यदि—यदि; उत्तमश्लोक—हे परमेश्वर; भवान्—आप; मम—मेरा; ईरितम्—वादा किया गया; वचः—वचन, शब्द; व्यलीकम्—झूठे; सुर-वर्य—हे सुरों (देवताओं) में महानतम; मन्यते—ऐसा सोचते हों; करोमि—करूँगा; ऋतम्—सत्य; तत्—वह (वादा); न—नहीं; भवेत्—होगा; प्रलम्भनम्—धोखा; पदम्—पग; तृतीयम्—तीसरा; कुरु—करें; शीर्ष्णि—सिर पर; मे—मेरे; निजम्—अपने चरणकमलों को।

बलि महराज ने कहा : हे परमेश्वर, हे सभी देवताओं के परम पूज्य! यदि आप सोचते हैं कि मेरा वचन झूठा हो गया है, तो मैं उसे सत्य बनाने के लिए अवश्य ही भूल सुधार दूँगा। मैं अपने वचन को झूठा नहीं होने दे सकता। अतएव आप कृपा करके अपना तीसरा कमलरूपी पग मेरे सिर पर रखें।

तात्पर्य : बलि महाराज भगवान् वामनदेव की चाल समझ गये थे कि वे देवताओं के पक्षधर भिक्षुक बनकर उनके समक्ष आये थे। यद्यपि भगवान् का उद्देश्य बलि को ठगना था, किन्तु बलि को आनन्द आ रहा था कि भगवान् किस प्रकार अपने भक्त को ठगकर उसको महिमा प्रदान कर रहे हैं। कहा जाता है कि भगवान् बड़े अच्छे हैं और यह सच है। वे चाहे ठगें या पुरस्कृत करें, वे सदैव अच्छे हैं। इसीलिए बलि महाराज ने उन्हें उत्तमश्लोक कहकर सम्बोधित किया। उन्होंने कहा "आपकी प्रशंसा सदा उत्तम श्लोकों से की जाती है। आपने देवताओं की ओर से अपना यह कहकर मुझे ठगने

के लिए वेश बदला कि आपको केवल तीन पग भूमि चाहिए, किन्तु बाद में आपने अपना शरीर इस हद तक विस्तारित कर लिया कि आपने अपने दो ही पगों में सारा ब्रह्माण्ड घेर लिया। चूँकि आप अपने भक्तों की ओर से काम कर रहे थे अतएव आप इसे ठगी नहीं मानते है। कोई बात नहीं। मैं भक्त नहीं माना जा सकता। फिर भी चूँकि आप लक्ष्मीपति होकर भी मेरे पास दान माँगने आये हैं अतएव मुझे यथाशक्ति आपको सन्तुष्ट करना चाहिए। अतएव आप यह न सोचें कि मैं आपको ठगना चाहता था; मुझे तो अपना वचन पूरा करना ही होगा। अब भी मेरे पास एक सम्पत्ति बची है—वह है मेरा शरीर। आपने मेरी सम्पत्ति तो ले ली, किन्तु मेरे पास अपना शरीर अब भी बचा है। अब आपकी तुष्टि के लिए मैं अपना शरीर दे रहा हूँ तो आप अपना तीसरा पग मेरे सिर पर रख लें?'' कोई यह पूछ सकता है कि जब भगवान् ने दो ही पगों में पूरा ब्रह्माण्ड घेर लिया तो भला उनके तीसरे पग के लिए बलि महाराज का सिर कैसे पर्याप्त हो सकता था? किन्तु बलि महाराज ने सोचा कि सम्पत्ति की अपेक्षा सम्पत्ति के अधिकारी को बड़ा होना चाहिए। इसलिए यद्यपि भगवान् ने उनकी सारी सम्पत्ति ले ली थी तो भी सम्पत्ति के अधिकारी बलि महाराज का सिर भगवान् के तीसरे पग के लिए पर्याप्त स्थान प्रदान कर सकेगा।

बिभेमि नाहं निरयात्पदच्युतो
न पाशबन्धाद्व्यसनाद्दुरत्ययात् ।
नैवार्थकृच्छ्राद्भवतो विनिग्रहा-
दसाधुवादाद्भृशमुद्विजे यथा ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

बिभेमि—डरता हूँ; न—नहीं; अहम्—मैं; निरयात्—नरक जाने से; पद-च्युतः—न ही अपने स्थान से नीचे गिरने से डरता हूँ; न—न तो; पाश-बन्धात्—वरुण के पाश द्वारा बाँधे जाने से; व्यसनात्—कष्ट से; दुरत्ययात्—असह्य; न—न तो; एव—निश्चय ही; अर्थ-कृच्छ्रात्—गरीबी से, धनाभाव से; भवतः—आप; विनिग्रहात्—उस दंड से जिसे अब मैं भोग रहा हूँ; असाधु-वादात्—अपयश से; भृशम्—अत्यधिक; उद्विजे—चिन्तित हूँ; यथा—जिस तरह।

मैं अपनी सारी सम्पत्ति से वंचित होने, नारकीय जीवन बिताने, गरीबी के लिए वरुणपाश द्वारा बाँधे जाने या आपके द्वारा दण्डित होने से उतना भयभीत नहीं होता हूँ जितना कि मैं अपनी अपकीर्ति से डरता हूँ।

तात्पर्य : यद्यपि बलि महाराज ने भगवान् को पूर्ण आत्म-समर्पण कर दिया था, किन्तु वे ब्राह्मण-ब्रह्मचारी को ठगने के लिए बदनाम होना नहीं सह सकते थे। अपने यश के विषय में पूरी तरह सतर्क

रहने के कारण उन्होंने गम्भीरतापूर्वक सोचा कि बदनामी से कैसे बचा जाये। अतएव भगवान् ने उन्हें अपनी बदनामी को रोकने के लिए अच्छी सलाह दी कि वे अपना सिर अर्पित कर दें। वैष्णव कभी किसी दण्ड से डरता नहीं। *नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति* (*भागवत* ६.१७.२)।

पुंसां श्लाघ्यतमं मन्ये दण्डमर्हत्तमार्पितम् ।
यं न माता पिता भ्राता सुहृदश्चादिशन्ति हि ॥ ४॥

शब्दार्थ

पुंसाम्—मनुष्यों का; श्लाघ्य-तमम्—अत्यन्त प्रशंसनीय; मन्ये—मानता हूँ; दण्डम्—दण्ड को; अर्हत्तम-अर्पितम्—परम आराध्य आपके द्वारा दिये गये; यम्—जो; न—न तो; माता—माता; पिता—पिता; भ्राता—भाई; सुहृदः—मित्रगण; च—भी; आदिशन्ति—अर्पित करते हैं; हि—निस्सन्देह।

यद्यपि कभी-कभी किसी व्यक्ति के पिता, माता, भाई या मित्र उसके हितैषी होने के कारण उसे दण्डित कर सकते हैं, किन्तु वे कभी भी अपने आश्रित को इस प्रकार दण्डित नहीं करते। किन्तु आप परम पूज्य भगवान् हैं अतएव आपने मुझे जो दण्ड दिया है उसे मैं अत्यन्त प्रशंसनीय समझता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् द्वारा दिया गया दण्ड भक्त के द्वारा परम कृपा के रूप में स्वीकार किया जाता है—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन् नमस्ते जीवेत
यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

"जो आपकी कृपा चाहता है और फलस्वरूप अपने विगत कर्मों के कारण सभी प्रकार की विषम परिस्थितियों को सहता है, जो तन, मन तथा वाणी से सदैव आपकी भक्ति में लगा रहता है और आपको सदैव नमस्कार करता है, वह निश्चित रूप से मुक्ति का योग्य पात्र है।" (*भागवत* १०.१४.)। भक्त जानता है कि भगवान् द्वारा दिया गया तथाकथित दण्ड अपने भक्त को सुधारने तथा सन्मार्ग पर लाने का उनका एकमात्र अनुग्रह है। अतएव भगवान् द्वारा दिये गये दण्ड की तुलना अपने पिता, माता, भाई या मित्र द्वारा दिये गये बड़े से बड़े लाभ से भी नहीं की जा सकती।

त्वं नूनमसुराणां नः परोक्षः परमो गुरुः ।
यो नोऽनेकमदान्धानां विभ्रंशं चक्षुरादिशत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; नूनम्—निस्सन्देह; असुराणाम्—असुरों का; नः—हम जिस तरह हैं; परोक्षः—अप्रत्यक्ष; परमः—परम; गुरुः—गुरु; यः—जो (आप); नः—हमारा; अनेक—कई; मद-अन्धानाम्—भौतिक ऐश्वर्य से अन्धा बना; विभ्रंशम्—हमारी मिथ्या प्रतिष्ठा को विनष्ट करके; चक्षुः—ज्ञान का नेत्र; आदिशत्—दिया।

चूँकि आप हम असुरों के अप्रत्यक्ष रूप से महानतम शुभचिन्तक हैं, आप हमारे शत्रु का वेश धारण करके भी हमारे सर्वोच्च कल्याण के लिए कर्म करते हैं। चूँकि हम-जैसे असुर सदैव मिथ्या प्रतिष्ठा का पद पाने की महत्त्वाकांक्षा करते हैं, अतएव आप हमें दण्डित करके हमारे ज्ञान-नेत्र खोलते हैं जिनसे हम सन्मार्ग देख सकें।

तात्पर्य : बलि महाराज ने भगवान् को देवताओं की अपेक्षा असुरों का मित्र अधिक समझा। इस भौतिक जगत में जिसे जितना ही अधिक धन मिलता है, वह उतना ही अधिक आध्यात्मिक जीवन के प्रति अन्धा बन जाता है। देवतागण भौतिक सम्पत्ति के लिए भगवान् के भक्त हैं किन्तु यद्यपि भगवान् प्रत्यक्ष रूप से असुरों के पक्ष में नहीं रहते फिर-भी वे उन्हें मिथ्या-प्रतिष्ठा के पदों से वंचित करके उनके शुभचिन्तक के रूप में कार्य करते हैं। चूँकि मिथ्या प्रतिष्ठा से लोग दिग्भ्रमित हो जाते हैं इसलिए भगवान् उन पर विशेष कृपा करके उनकी मिथ्या-प्रतिष्ठा को हर लेते हैं।

यस्मिन्वैरानुबन्धेन व्यूढेन विबुधेतराः ।
बहवो लेभिरे सिद्धिं यामु हैकान्तयोगिनः ॥ ६ ॥
तेनाहं निगृहीतोऽस्मि भवता भूरिकर्मणा ।
बद्धश्च वारुणैः पाशैर्नातिव्रीडे न च व्यथे ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसको; वैर-अनुबन्धेन—लगातार शत्रु-जैसा व्यवहार करके; व्यूढेन—ऐसी बुद्धि द्वारा स्थिर; विबुध-इतराः—असुर (देवताओं से भिन्न); बहवः—उनमें से अनेक ने; लेभिरे—प्राप्त की; सिद्धिम्—सिद्धि; याम्—जिसको; उ ह—यह भलीभाँति ज्ञात है; एकान्त-योगिनः—अत्यन्त सफल योगियों की उपलब्धियों के तुल्य; तेन—अतएव; अहम्—मैं; निगृहीतः अस्मि—यद्यपि मैं दण्डित हो रहा हूँ; भवता—आपके द्वारा; भूरि-कर्मणा—अद्भुत कर्म करने वाला; बद्धः च—मैं बन्दी हूँ; वारुणैः पाशैः—वरुण के पाश द्वारा; न अति-व्रीडे—मैं इससे तनिक भी लज्जित नहीं हूँ; न च व्यथे—न ही मुझे अधिक कष्ट है।

आपसे लगातार शत्रुता रखने वाले अनेक असुरों ने अन्ततः महान् योगियों की सिद्धि प्राप्त की। आप एक ही कार्य से अनेक उद्देश्यों की पूर्ति कर सकते हैं; फलस्वरूप यद्यपि आपने मुझे अनेक प्रकार से दण्डित किया है फिर भी मुझे वरुणपाश से बंदी बनाये जाने की न तो लज्जा है न ही मैं कोई कष्ट अनुभव कर रहा हूँ।

तात्पर्य : बलि महाराज ने न केवल अपने ऊपर भगवान् की कृपा की प्रशंसा की अपितु अनेक अन्य असुरों के प्रति की गई कृपा को भी सराहा। चूँकि यह कृपा उदारतापूर्वक वितरित की जाती है इसलिए परमेश्वर सर्वकृपालु कहलाते हैं। बलि महाराज तो निस्सन्देह, पूर्णतया शरणागत भक्त थे, किन्तु कुछ ऐसे असुरों ने जो रंचमात्र भी भक्त नहीं थे अपितु भगवान् के शत्रु मात्र थे वही उच्च स्थान प्राप्त किया जो अनेक योगियों ने प्राप्त किया था। इस तरह बलि महाराज की समझ में यह आया कि उन्हें दण्डित करने में भगवान् का कोई गुप्त मन्तव्य था। फलस्वरूप वे भगवान् द्वारा जिस विषम स्थिति में डाल दिये गये थे उससे वे न तो दुखी थे, न ही लज्जित।

पितामहो मे भवदीयसम्मत:
प्रह्लाद आविष्कृतसाधुवाद: ।
भवद्विपक्षेण विचित्रवैशसं
सम्प्रापितस्त्वं परम: स्वपित्रा ॥ ॥

शब्दार्थ

पितामह:—बाबा; मे—मेरे; भवदीय-सम्मत:—आपके भक्तों द्वारा मान्य; प्रह्लाद:—प्रह्लाद महाराज; आविष्कृत-साधु-वाद:—सर्वत्र भक्त के रूप में प्रसिद्ध; भवत्-विपक्षेण—आपके विरुद्ध होने मात्र से ही; विचित्र-वैशसम्—विभिन्न प्रकार से उत्पीड़न करते हुए; सम्प्रापित:—कष्ट उठाया; त्वम्—तुमने; परम:—परम आश्रय; स्व-पित्रा—अपने ही पिता द्वारा।

मेरे बाबा प्रह्लाद महाराज आपके सारे भक्तों द्वारा मान्य होकर प्रसिद्ध हैं। यद्यपि उनके पिता हिरण्यकशिपु ने उन्हें अनेक प्रकार से कष्ट दिए थे, फिर भी वे आपके चरणकमलों का आश्रय लेकर आज्ञाकारी बने रहे।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज जैसा शुद्ध भक्त परिस्थितिवश अनेक प्रकार की यातनाएँ दिये जाने पर भी कभी भी भगवान् की शरण छोड़कर अन्य किसी की शरण ग्रहण नहीं करता। शुद्ध भक्त कभी भी भगवान् की कृपा के विरुद्ध शिकायत नहीं करता। इसके ज्वलन्त उदाहरण प्रह्लाद महाराज हैं। यदि हम उनके जीवन का अवलोकन करें तो हम देख सकते हैं कि यद्यपि उनके अपने ही पिता हिरण्यकशिपु ने उन्हें बहुत कठोर कष्ट दिए थे तो भी वे भगवान् के ध्यान से तनिक भी विचलित नहीं हुए। बलि महाराज अपने पितामह प्रह्लाद महाराज के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए भगवान् द्वारा दण्ड दिए जाने के बावजूद भी भगवद्भक्ति में अचल रहे।

किमात्मनानेन जहाति योऽन्ततः
किं रिक्थहारैः स्वजनाख्यदस्युभिः ।
किं जायया संसृतिहेतुभूतया
मर्त्यस्य गेहैः किमिहायुषो व्ययः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या लाभ; आत्मना अनेन—इस शरीर से; जहाति—त्याग देता है; यः—जो (शरीर); अन्ततः—जीवन के अन्त में; किम्—क्या लाभ; रिक्थ-हारैः—धन के लुटेरों से; स्वजन-आख्य-दस्युभिः—जो स्वजनों के नाम से वास्तव में लुटेरे हैं; किम्—क्या लाभ; जायया—पत्नी से; संसृति-हेतु-भूतया—जो भौतिक दशाओं की वृद्धि की स्रोत है; मर्त्यस्य—मरणशील व्यक्ति का; गेहैः—घर, परिवार तथा जाति से; किम्—क्या लाभ; इह—जिस घर में; आयुषः—जीवन का; व्ययः—मात्र विनाश।

उस भौतिक शरीर से क्या लाभ जो जीवन के अन्त में अपने स्वामी को स्वतः छोड़ देता है? और परिवार के उन सभी सदस्यों से क्या लाभ जो वास्तव में उस धन का अपहरण कर लेते हैं, जो दिव्य ऐश्वर्य के लिए भगवान् की सेवा में उपयोगी हो सकता है? उस पत्नी से भी क्या लाभ जो भौतिक दशाओं को बढ़ाने की स्रोत मात्र है। उस परिवार, घर, देश तथा जाति से भी क्या लाभ जिसमें आसक्त होने से सारे जीवन की मूल्यवान शक्ति का मात्र अपव्यय होता है।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण उपदेश देते हैं—*सर्वं धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—सारे धर्मों को छोड़कर केवल मेरी शरण में आओ। सामान्य व्यक्ति भगवान् के ऐसे कथन को महत्त्व नहीं देता क्योंकि वह सोचता है कि उसके जीवन काल में उसका परिवार, समाज, देश, शरीर तथा कुटुम्बी ही सब कुछ हैं। भला इन्हें छोड़कर कोई भगवान् की शरण क्यों ले? किन्तु प्रह्लाद महाराज तथा बलि महाराज जैसे महापुरुषों के आचरण से हम यह समझते हैं कि एक बुद्धिमान् व्यक्ति के लिए भगवान् की शरण में जाना सही कर्म है। प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध विष्णु की शरण ली। इसी प्रकार बलि महाराज ने अपने गुरु शुक्राचार्य तथा अन्य सभी प्रमुख असुरों की इच्छा के विरूद्ध वामनदेव की शरण ली। लोगों को आश्चर्य हो सकता है कि प्रह्लाद महाराज तथा बलि महाराज ने अपने परिवार, तथा घर-बार के सहज आकर्षण को त्यागकर अपने शत्रु के पक्ष की शरण ग्रहण क्यों की? इस प्रसंग में बलि महाराज बतलाते हैं कि यह शरीर भी जो कि समस्त भौतिक कार्यकलापों का केन्द्रबिन्दु है, एक बाह्य तत्त्व है। यद्यपि हम शरीर को स्वस्थ एवं अपने कार्यकलापों में सहायक बनाये रखना चाहते हैं, किन्तु शरीर सदा काम नहीं कर सकता। यद्यपि मैं आत्मा हूँ, जो कि नित्य है, किन्तु इस शरीर को कुछ काल तक उपयोग में लाने के बाद मुझे प्रकृति के नियमानुसार दूसरा शरीर ग्रहण

करना पड़ता है (*तथा देहान्तर-प्राप्तिः*) यदि मैं इस शरीर से भक्ति में उन्नति के लिए कुछ सेवाकार्य न करूं। मनुष्य को जानना चाहिए कि यदि वह शरीर का उपयोग किसी अन्य कार्य के लिए करता है, तो वह यह समय का अपव्यय करता है क्योंकि जब समय आ जायेगा तो आत्मा स्वयमेव शरीर को छोड़ देगा।

हम समाज, मित्रता तथा प्रेम में अत्यधिक रुचि दिखलाते हैं, किन्तु ये हैं क्या? मित्र तथा कुटुम्बियों के वेश में वे लोग मोहग्रस्त जीव के परिश्रमपूर्वक अर्जित धन को मात्र लूटते रहते हैं। हर व्यक्ति अपनी पत्नी के प्रति आसक्त रहता है और वह उसे प्रिय होती है लेकिन यह पत्नी है क्या? पत्नी स्त्री कहलाती है, जिसका अर्थ है ''भौतिकता का विस्तार करने वाली।'' जो व्यक्ति पत्नी के बिना जीवन बिताता है उसकी भौतिक अवस्थाएँ कम विस्तृत होती हैं। ज्योंही मनुष्य विवाह करके पत्नी से सम्बन्ध जोड़ता है, त्योंही उसकी भौतिक आवश्यकताऐ बढ़ जाती हैं।

पुंसः स्त्रिया मिथुनीभावमेतं

तयोर्मिथो हृदयग्रंथिमाहुः।

अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तै

र्जनस्य मोहोऽयमहं ममेति॥

''इस भौतिक संसार का मूल सिद्धान्त नर तथा नारी के मध्य आर्कषण है। इस भ्रान्त धारणा से जिससे नर तथा नारी के हृदय बँधते हैं मनुष्य अपने शरीर, घर, सम्पत्ति, सन्तान, कुटुम्बी तथा धन के प्रति आकृष्ट हो जाता है। इस प्रकार जीवन का मोह बढ़ता जाता है और जीव ''मैं तथा मेरे'' के रूप में सोचने लगता है। (*भागवत* ५.५.)। मनुष्य जीवन तो आत्म-स ाक्षात्कार के लिए है—अवांछित वस्तुओं की वृद्धि के लिए नहीं। वस्तुतः पत्नी अवांछित वस्तुओं को बढ़ाती है। मनुष्य का जीवनकाल, उसका घर, उसके पास की प्रत्येक वस्तु, यदि वे भगवान् की सेवा में उचित ढंग से नहीं लगाई जातीं तो वे तीन प्रकार के कष्टों (आध्यात्मिक, अधिभौतिक तथा अधिदैविक) के लिए स्थायी दुखदायक भौतिक अवस्थाएँ उत्पन्न करने वाली बनती हैं। दुर्भाग्यवश समाज में इस विषय पर शिक्षा देने वाली कोई संस्था नहीं है। लोगों को जीवन उद्देश्य के विषय में अंधकार में रखा जाता है, जिससे निरन्तर जीवन-संघर्ष चलता रहता है। हम ''योग्यतम की उत्तरजीविता'' की बात करते हैं किन्तु इससे कोई

बचता नहीं क्योंकि इस भौतिक अवस्थाओं से कोई भी स्वतंत्र नहीं है।

इत्थं स निश्चित्य पितामहो महा-
नगाधबोधो भवतः पादपद्मम् ।
ध्रुवं प्रपेदे ह्यकुतोभयं जनाद्
भीतः स्वपक्षक्षपणस्य सत्तम ॥ १० ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इसके कारण; सः—वे प्रह्लाद महाराज; निश्चित्य—इस बात को निश्चित करके; पितामहः—मेरे बाबा; महान्—महान् भक्त; अगाध-बोधः—मेरे पितामह जिन्होंने अपनी भक्ति के द्वारा असीम ज्ञान प्राप्त किया; भवतः—आपके; पाद-पद्मम्—चरणकमल की; ध्रुवम्—अच्युत नित्य आश्रय; प्रपेदे—शरण ग्रहण की; हि—निस्सन्देह; अकुतः-भयम्—पूर्णतया निर्भय; जनात्—सामान्यजनों से; भीतः—डरकर; स्वपक्ष-क्षपणस्य—आपका, जो हमारे पक्ष के असुरों का वध करते हैं; सत्-तम—हे श्रेष्ठों में श्रेष्ठ।

मेरे पितामह जो सभी मनुष्यों में श्रेष्ठ थे और जिन्होंने असीम ज्ञान प्राप्त किया था और जो हर एक द्वारा पूज्य थे, इस जगत के सामान्य लोगों से भयभीत रहते थे। आपके चरणकमलों में प्राप्त होने वाले आश्रय को पूर्णतया समझकर ही उन्होंने आपके द्वारा मारे गये अपने पिता तथा अपने असुर मित्रों की इच्छा के विरुद्ध आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण की थी।

अथाहमप्यात्मरिपोस्तवान्तिकं
दैवेन नीतः प्रसभं त्याजितश्रीः ।
इदं कृतान्तान्तिकवर्ति जीवितं
ययाध्रुवं स्तब्धमतिर्न बुध्यते ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अथ—इसलिए; अहम्—मैं; अपि—भी; आत्म-रिपोः—परिवार के परम्परागत शत्रु का; तव—तुम्हारे; अन्तिकम्—आश्रय; दैवेन—विधिवश; नीतः—लाया गया; प्रसभम्—बलपूर्वक; त्याजित—विहीन; श्रीः—सारे ऐश्वर्य से; इदम्—जीवन का यह दर्शन; कृत-अन्त-अन्तिक-वर्ति—मृत्यु की सुविधा प्राप्त; जीवितम्—आयु; यया—ऐसे ऐश्वर्य से; अध्रुवम्—क्षणिक; स्तब्ध-मतिः—ऐसा मूर्ख व्यक्ति; न बुध्यते—समझ नहीं सकता।

मैं तो दैववश ही मजबूर होकर आपके चरणों में लाया गया हूँ और अपने समस्त ऐश्वर्य से विहीन हो गया हूँ। सामान्य संसारी लोग भौतिक स्थितियों में रहते हुए नश्वर ऐश्वर्य द्वारा उत्पन्न मोह के कारण पग पग पर आकस्मिक मृत्यु का सामना करते हुए भी नहीं समझ पाते कि यह जीवन नश्वर है। मैं तो दैववश ही उस स्थिति से बच गया हूँ।

तात्पर्य : बलि महाराज ने भगवान् के कामों की सराहना की यद्यपि प्रह्लाद महाराज तथा बलि महाराज के अतिरिक्त, असुर परिवारों के सारे सदस्य विष्णु को अपना नित्य पारम्परिक शत्रु मानते थे।

जैसाकि बलि महाराज ने वर्णन किया है, वास्तव में भगवान् विष्णु उनके परिवार के शत्रु नहीं अपितु सर्वोत्तम मित्र थे। इस मैत्री का सिद्धान्त पहले ही बतलाया जा चुका है। *यस्याहम् अनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनै*—भगवान् अपने भक्त का सारा भौतिक ऐश्वर्य छीनकर उस पर विशेष कृपा करते हैं। बलि महाराज ने भगवान् के इस व्यवहार की सराहना की। इसीलिए उन्होंने कहा—*दैवेन नीतः प्रसभं त्याजितश्रीः*—आपने शाश्वत जीवन के सही पद पर लाने के उद्देश्य से ही मुझे इस परिस्थिति में डाल दिया है।

वस्तुतः हर एक मनुष्य को चाहिए कि वह तथाकथित समाज, मैत्री तथा प्रेम से डरे जिनके लिए वह अहर्निश श्रम करता रहता है। जैसाकि बलि महाराज है *जनाद् भीतः*, शब्दों के द्वारा संकेत किया है, प्रत्येक कृष्णभावनाभावित भक्त को सामान्य मनुष्य से भयभीत रहना चाहिए जो भौतिक सम्पत्ति के पीछे भागता रहता है। ऐसा व्यक्ति *प्रमत्त* या पागल कहलाता है, जो मायाजाल का पीछा करता रहता है। ऐसे व्यक्ति यह नहीं जानते कि कठिन जीवन-संघर्ष के बाद मनुष्य को शरीर बदलना पड़ता है और इसकी कोई गारंटी नहीं है कि अगला शरीर किस तरह का होगा। जो पूर्णरूपेण कृष्णभावनाभावित हैं और जीवन के लक्ष्य को समझते हैं, वे कभी भी भौतिक कार्यकलापों की घुड़दौ में नहीं पड़ते। किन्तु यदि कोई निष्ठावान् भक्त किसी तरह च्युत हो ही जाता है, तो भगवान् उसे सुधार लेते हैं और नारकीय जीवन के घोरतम अंधकार में गिरने से बचा लेते हैं।

अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं
पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्

(*भागवत* ७.५.३०)

भौतिक जीवनशैली आखिर है क्या मात्र चबाये हुए को बारम्बार चबाना। यद्यपि ऐसे जीवन से कोई लाभ नहीं मिलता, किन्तु लोग असंयमित इन्द्रियों के कारण उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। *नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म।* असंयमित इन्द्रियों के कारण लोग पापकर्मों में पूरी तरह लग जाते हैं जिनसे कष्टदायक शरीर प्राप्त होता है। बलि महाराज सराह रहे थे कि भगवान् ने किस तरह उन्हें ऐसे अज्ञान के मोहग्रस्त जीवन से बचा लिया है। इसलिए उन्होंने कहा कि उनकी बुद्धि चकरा गई थी। *स्तब्धमतिर्न बुध्यते।* वे समझ ही नहीं सके कि भगवान् किस प्रकार भक्तों के भौतिकतावादी कार्यकलापों को

जबरन रोककर उन पर कृपा करते हैं।

श्रीशुक उवाच
तस्येत्थं भाषमाणस्य प्रह्लादो भगवत्प्रियः ।
आजगाम कुरुश्रेष्ठ राकापतिरिवोत्थितः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; तस्य—बलि महाराज का; इत्थम्—इस प्रकार; भाषमाणस्य—अपनी भाग्यशाली स्थिति का वर्णन करते हुए; प्रह्लादः—महाराज प्रह्लाद; भगवत्-प्रियः—भगवान् के सर्वाधिक प्रिय भक्त; आजगाम—वहाँ प्रकट हुए; कुरु-श्रेष्ठ—हे कुरुओं में श्रेष्ठ महाराज परीक्षित; राका-पतिः—चन्द्रमा; इव—सदृश; उत्थितः—उदित हुए।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे कुरुश्रेष्ठ! जब बलि महाराज इस प्रकार अपने भाग्य की प्रशंसा कर रहे थे तो भगवान् के परम प्रिय भक्त प्रह्लाद महाराज वहाँ प्रकट हुए मानो रात्रि में चन्द्रमा उदय हो गया हो।

तमिन्द्रसेनः स्वपितामहं श्रिया
विराजमानं नलिनायतेक्षणम् ।
प्रांशुं पिशङ्गाम्बरमञ्जनत्विषं
प्रलम्बबाहुं शुभगर्षभमैक्षत ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उन प्रह्लाद महाराज को; इन्द्र-सेनः—बलि महाराज जिनके पास इन्द्र की सारी सेना थी; स्व-पितामहम्—अपने पितामह को; श्रिया—सारे सुन्दर अंगों से युक्त उपस्थित; विराजमानम्—वहाँ पर खड़े; नलिन-आयत-ईक्षणम्—कमल की पंखड़ियों जितनी चौड़ी आँखों से; प्रांशुम्—अत्यन्त सुन्दर शरीर को; पिशङ्ग-अम्बरम्—पीत वस्त्र धारण किये; अञ्जन-त्विषम्—आँखों के अंजन सदृश शरीर से; प्रलम्ब-बाहुम्—अत्यन्त लम्बी भुजाएँ; शुभग-ऋषभम्—सर्वश्रेष्ठ शुभ पुरुष; ऐक्षत—देखा।

तब बलि महाराज ने परम भाग्यशाली व्यक्ति अपने पितामह प्रह्लाद महाराज को देखा जिनका श्यामल शरीर आँखों के अंजन जैसा लग रहा था। उनका लम्बा, भव्य शरीर पीताम्बर धारण किये था, उनकी भुजाएँ लम्बी थीं और उनकी सुन्दर आँखें कमल की पंखड़ियों के समान थीं। वे सबके अत्यन्त प्रिय तथा मोहक थे।

तस्मै बलिर्वारुणपाशयन्त्रितः
समर्हणं नोपजहार पूर्ववत् ।
ननाम मूर्ध्नाश्रुविलोललोचनः
सव्रीडनीचीनमुखो बभूव ह ॥ १४॥

शब्दार्थ

तस्मै—प्रह्लाद महाराज को; बलि:—बलि महाराज ने; वारुण-पाश-यन्त्रित:—वरुणपाश द्वारा बाँधा गया; समर्हणम्—उपयुक्त सम्मान; न—नहीं; उपजहार—प्रदान किया; पूर्व-वत्—पहले की तरह; ननाम—प्रणाम किया; मूर्ध्ना—सिर के बल; अश्रु-विलोल-लोचन:—अश्रुपूरित नेत्र; स-व्रीड—लज्जा सहित; नीचीन—नीचा; मुख:—मुख; बभूव ह—हो गया।

वरुणपाश से बँधे होने के कारण बलि महाराज पहले की तरह प्रह्लाद महाराज को भलीभाँति सम्मान नहीं दे पाये। उन्होंने केवल सिर के द्वारा प्रणाम किया, उनके नेत्र अश्रुपूरित थे और लज्जा से उनका सिर नीचा था।

तात्पर्य : चूँकि बलि महाराज को भगवान् वामनदेव ने बन्दी बना लिया हुआ था अतएव वे निस्सन्देह, अपराधी माने जाने के योग्य थे और बलि महाराज गम्भीरतापूर्वक अनुभव भी कर रहे थे कि वे भगवान् के अपराधी हैं। प्रह्लाद महाराज को निश्चित रूप से यह अच्छा नहीं लगा होगा। इसीलिए बलि महाराज लज्जा से अपना सिर नीचा किये थे।

स तत्र हासीनमुदीक्ष्य सत्पतिं
हरिं सुनन्दाद्यनुगैरुपासितम् ।
उपेत्य भूमौ शिरसा महामना
ननाम मूर्ध्ना पुलकाश्रुविक्लवः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

स:—प्रह्लाद महाराज ने; तत्र—वहाँ; ह आसीनम्—बैठे हुए को; उदीक्ष्य—देखकर; सत्-पतिम्—मुक्तात्माओं के स्वामी भगवान्; हरिम्—हरि को; सुनन्द-आदि-अनुगै:—सुनन्द आदि अपने अनुयायियों द्वारा; उपासितम्—पूजित; उपेत्य—पास जाकर; भूमौ—भूमि पर; शिरसा—सिर के बल (झुककर); महा-मना:—महान् भक्त; ननाम—प्रणाम किया; मूर्ध्ना—सिर के बल; पुलक-अश्रु-विक्लव:—हर्ष के आँसुओं से विचलित।

जब प्रह्लाद महाराज ने देखा कि वहाँ पर सुनन्द जैसे अपने घनिष्ठ संगियों से घिर कर एवं पूजित होकर भगवान् बैठे हैं, तो उनकी आँखें प्रेमाश्रुओं से छलछला उठीं। उनके पास जाकर और भूमि पर गिरकर उन्होंने सिर के बल भगवान् को प्रणाम किया।

श्रीप्रह्लाद उवाच
त्वयैव दत्तं पदमैन्द्रमूर्जितं
हृतं तदेवाद्य तथैव शोभनम् ।
मन्ये महानस्य कृतो ह्यनुग्रहो
विभ्रंशितो यच्छ्रिय आत्ममोहनात् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्लाद: उवाच—प्रह्लाद महाराज ने कहा; त्वया—आपके द्वारा; एव—निस्सन्देह; दत्तम्—दिया गया; पदम्—यह स्थान; ऐन्द्रम्—इन्द्र का; ऊर्जितम्—अत्यन्त महान्; हृतम्—छीन लिया गया; तत्—वह; एव—निस्सन्देह; अद्य—आज; तथा—जिस प्रकार; एव—निस्सन्देह; शोभनम्—सुन्दर; मन्ये—मानता हूँ; महान्—महान्; अस्य—इसका (बलि महाराज का); कृत:—

आपके द्वारा की गई; हि—निस्सन्देह; अनुग्रहः—कृपा; विभ्रंशितः—से विहीन; यत्—क्योंकि; श्रियः—उस ऐश्वर्य से; आत्म-मोहनात्—जो आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया को आच्छादित करने वाला था।

प्रह्लाद महाराज ने कहा : हे प्रभु! इस बलि को इन्द्र पद का महान् ऐश्वर्य आपकी ही देन है और अब उस को आपने ही छीन लिया है। मेरे विचार से आपका देना-लेना एक सा सुन्दर है। चूँकि स्वर्ग के राजा का उच्च पद उसे अज्ञान के अंधकार में डाले हुए था अतएव आपने उसका सारा ऐश्वर्य छीनकर उसके ऊपर महान् अनुग्रह किया है।

तात्पर्य : कहा गया है—*यस्याहम् अनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः* (*भागवत* १०..)। भगवान् की कृपा से ही मनुष्य को सारा भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त होता है, किन्तु यदि इस ऐश्वर्य से मनुष्य गर्वित हो उठता है और आत्म-साक्षात्कार की विधि को भूल जाता है, तो भगवान् उस ऐश्वर्य को अवश्य छीन लेते हैं। भगवान् अपने भक्त को उसका वैधानिक पद ढूँढने में सहायक बनकर अनुग्रह करते हैं। इसके लिए भगवान् भक्त की हर सहायता करने के लिए सदैव तैयार रहते हैं। लेकिन कभी-कभी भौतिक ऐश्वर्य घातक हो जाता है क्योंकि इससे मनुष्य का ध्यान इस मिथ्या प्रतिष्ठा की ओर खिंच जाता है कि मैं ही हर वस्तु का स्वामी हूँ जबकि तथ्य इसके विपरीत रहता है। भक्त को इस भ्रम से बचाने के लिए भगवान् विशेष कृपा प्रदर्शित करके कभी कभी उसका सारा धन छीन लेते हैं। *यस्याह्म अनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।*

यया हि विद्वानपि मुह्यते यत-
स्तत्को विचष्टे गतिमात्मनो यथा ।
तस्मै नमस्ते जगदीश्वराय वै
नारायणायाखिललोकसाक्षिणे ॥ १७॥

शब्दार्थ

यया—जिस ऐश्वर्य से; हि—निस्सन्देह; विद्वान् अपि—विद्वान भी; मुह्यते—मोहित हो जाता है; यतः—आत्म-नियंत्रित; तत्—वह; कः—कौन; विचष्टे—ढूँढ सकता है; गतिम्—उन्नति; आत्मनः—अपनी; यथा—भलीभाँति; तस्मै—उसको; नमः—सादर नमस्कार करता हूँ; ते—तुमको; जगत्-ईश्वराय—ब्रह्माण्ड के स्वामी को; वै—निस्सन्देह; नारायणाय—नारायण को; अखिल-लोक-साक्षिणे—समस्त सृष्टि के साक्षी।

भौतिक ऐश्वर्य इतना मोहक है कि विद्वान तथा आत्मसंयमी व्यक्ति भी आत्म-साक्षात्कार के लक्ष्य को खोजना भूल जाता है। लेकिन भगवान् नारायण, जो ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं, अपनी इच्छानुसार प्रत्येक वस्तु को देख सकते हैं। अतएव मैं उन्हें सादर प्रणाम करता हूँ।

तात्पर्य : *को विचष्टे गतिम् आत्मनो यथा* शब्द सूचित करते हैं कि जब मनुष्य भौतिक ऐश्वर्य का

स्वामी होने की झूठी प्रतिष्ठा से फूल जाता है, तो वह आत्म-साक्षात्कार के लक्ष्य की निश्चित रूप से उपेक्षा करने लगता है। आधुनिक जगत की ऐसी ही स्थिति है। भौतिक ऐश्वर्य में तथाकथित वैज्ञानिक प्रगति के कारण लोगों ने आत्म-साक्षात्कार के मार्ग को पूरी तरह त्याग दिया है। व्यावहारिक दृष्टि से कोई भी व्यक्ति ईश्वर, ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध या वह किस तरह कर्म करे—इन सबके विषय में रुचि नहीं रखता। आधुनिक व्यक्तियों ने ऐसे प्रश्नों को सर्वथा भुला दिया है क्योंकि वे भौतिक सम्पत्ति के पीछे पागल हुए रहते हैं। यदि इस प्रकार की सभ्यता जारी रही तो वह समय शीघ्र ही आयेगा जब भगवान् सारा भौतिक ऐश्वर्य छीन लेंगे। तब लोगों की आँखें खुलेंगी।

श्रीशुक उवाच
तस्यानुशृण्वतो राजन्प्रह्लादस्य कृताञ्जलेः ।
हिरण्यगर्भो भगवानुवाच मधुसूदनम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; तस्य—उस; अनुशृण्वतः—जिससे वह सुन सके; राजन्—हे राजा परीक्षित; प्रह्लादस्य—प्रह्लाद महाराज का; कृत-अञ्जलेः—हाथ जोड़े खड़ा; हिरण्यगर्भः—ब्रह्माजी ने; भगवान्—सर्वशक्तिमान; उवाच—कहा; मधुसूदनम्—मधुसूदन भगवान् से।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : हे राजा परीक्षित! तब ब्रह्माजी अपने पास हाथ जोड़कर खड़े प्रह्लाद महाराज को सुनाकर भगवान् से कहने लगे।

बद्धं वीक्ष्य पतिं साध्वी तत्पत्नी भयविह्वला ।
प्राञ्जलिः प्रणतोपेन्द्रं बभाषेऽवाङ्मुखी नृप ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

बद्धम्—बन्दी किया गया; वीक्ष्य—देखकर; पतिम्—अपने पति को; साध्वी—सती स्त्री; तत्-पत्नी—बलि महाराज की पत्नी ने; भय-विह्वला—डर के मारे अत्यन्त उद्विग्न; प्राञ्जलिः—हाथ जोड़े; प्रणता—नमस्कार करके; उपेन्द्रम्—वामनदेव को; बभाषे—सम्बोधित किया; अवाक्-मुखी—सिर नीचा किये; नृप—हे महाराज परीक्षित।

लेकिन बलि महाराज की सती पत्नी अपने पति को बन्दी देखकर भयभीत तथा दुःखी थी। उसने तुरन्त भगवान् वामनदेव (उपेन्द्र) को नमस्कार किया और हाथ जोड़कर इस प्रकार बोली।

तात्पर्य : यद्यपि ब्रह्माजी बोल रहे थे, उन्हें थोड़ी देर तक रुकना पड़ा क्योंकि बलि महाराज की पत्नी विन्ध्यावलि, जो अत्यन्त क्षुब्ध एवं भयभीत थी, कुछ कहना चाह रही थी।

श्रीविन्ध्यावलिरुवाच

क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते
स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः ।
कर्तुः प्रभोस्तव किमस्यत आवहन्ति
त्यक्तह्रियस्त्वदवरोपितकर्तृवादाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्री-विन्ध्यावलिः उवाच—बलि महाराज की पत्नी विन्ध्यावलि ने कहा; क्रीडा-अर्थम्—लीला के लिए; आत्मनः—अपनी; इदम्—यह; त्रि-जगत्—तीनों लोक (ब्रह्माण्ड); कृतम्—उत्पन्न किया गया; ते—आपके द्वारा; स्वाम्यम्—स्वामित्व; तु—लेकिन; तत्र—तत्पश्चात्; कुधियः—मूर्खजन; अपरे—अन्य; ईश—हे परम पालक, हे प्रभु; कुर्युः—स्थापित किया है; कर्तुः—परमस्रष्टा के लिए; प्रभोः—परम पालक के लिए; तव—तुम्हारे लिए; किम्—क्या; अस्यतः—परम संहारक को; आवहन्ति—अर्पित कर सकते हैं; त्यक्त-ह्रियः—निर्लज्ज, बुद्धिहीन; त्वत्—आपके द्वारा; अवरोपित—अल्पज्ञान के कारण आरोपित; कर्तृ-वादाः—ऐसे मूर्खों का स्वामित्व।

श्रीमती विन्ध्यावलि ने कहा : हे प्रभु! आपने निजी लीलाओं का आनन्द उठाने के लिए सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना की है, किन्तु मूर्ख तथा बुद्धिहीन व्यक्तियों ने भौतिक भोग के लिए उस पर अपना स्वामित्व जताया है। निस्सन्देह, वे निर्लज्ज संशयवादी हैं। वे झूठे ही स्वामित्व जताकर यह सोचते हैं कि वे उसको दान दे सकते हैं और भोग सकते हैं। ऐसी दशा में भला वे आपकी कौन सी भलाई कर सकते हैं, जो इस ब्रह्माण्ड के स्वतंत्र स्रष्टा, पालक तथा संहारक हैं?

तात्पर्य : बलि महाराज की पत्नी ने अत्यन्त बुद्धिमती होने के कारण अपने पति के बन्दी बनाये जाने का अनुमोदन किया और उन पर बुद्धिहीन होने का आरोप लगाया क्योंकि उन्होंने भगवान् की सम्पत्ति पर अपना स्वामित्व जताया था। ऐसा दावा आसुरी जीवन का लक्षण है। यद्यपि देवतागण, जिन्हें भगवान् ने व्यवस्था चलाने के लिए कर्मचारी नियुक्त किया है, भौतिक भोगों के प्रति आसक्त रहते हैं, किन्तु वे कभी भी ब्रह्माण्ड पर अपना स्वामित्व नहीं जताते क्योंकि उन्हें ज्ञात है कि हर वस्तु का वास्तविक स्वामी भगवान् है। देवताओं की यह योग्यता है। किन्तु असुरगण भगवान् के एकाधिकार को स्वीकार न करने के बजाये राष्ट्रीयता की हद-बन्दी के माध्यम से ब्रह्माण्ड की सम्पत्ति का दावा करते हैं। वे कहते हैं, "यह अंश मेरा है, यह अंश तुम्हारा है। मैं इस भाग को दान में दे सकता हूँ और इस भाग को निजी भोग के लिए रख सकता हूँ।" ये सब आसुरी धारणाएँ हैं। इसका वर्णन *भगवद्गीता* (१६.१३) में हुआ है—*इदम् अद्य मया लब्धम् इमं प्राप्स्ये मनोरथम्*—अभी तक मैंने इतना धन तथा इतनी भूमि प्राप्त की है। अब मुझे इसमें और भी वृद्धि करनी है। इस प्रकार मैं सबसे बड़ा स्वामी बन जाऊँगा। भला मेरी बराबरी कौन कर सकता है? ये सब आसुरी विचार हैं।

बलि महाराज की पत्नी ने अपने पति पर यह दोष लगाया कि यद्यपि भगवान् ने उन पर असामान्य अनुग्रह करके उन्हें बन्दी बनाया है और यद्यपि वे भगवान् के तीसरे पग के लिए अपना शरीर अर्पित कर रहे हैं, किन्तु वे फिर भी अज्ञान के अंधकार में हैं। वास्तव में वह शरीर उनका नहीं है, किन्तु दीर्घकालीन आसुरी मनोवृत्ति के कारण वे इसे समझ नहीं पाये। उन्होंने सोचा कि वे अपने दान के वचन को पूरा न कर पाने से अपयश के भागी हुए हैं और चूँकि शरीर उनका है अतएव वे अपना शरीर दान देकर इस अपयश से मुक्त हो जायेंगे। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि शरीर किसी का न होकर भगवान् का है क्योंकि उन्हीं ने यह शरीर प्रदान किया है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१.६१) में कहा गया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

भगवान् हर एक के हृदय में विराजमान हैं और वे अपनी माया शक्ति के द्वारा जीव को उसकी इच्छानुसार एक विशेष प्रकार का यंत्र अर्थात् शरीर प्रदान करते हैं। यह शरीर वास्तव में उस जीव का नहीं होता अपितु वह भगवान् का है। ऐसी दशा में बलि महाराज शरीर को अपना कैसे कह सकते थे?

इस प्रकार बलि महाराज की बुद्धिमती पत्नी विन्ध्यावलि ने प्रार्थना की कि भगवान् अपनी अहैतुकी कृपा से उनके पति को छोड़ दें। अन्यथा बलि महाराज क्या थे—एक लज्जाहीन असुर जिन्हें *त्यक्तह्रियस्त्वदवरोपितकर्तृवादाः* कहा गया है अर्थात् ऐसा मूर्ख व्यक्त जो परम पुरुष की सम्पत्ति पर अपना स्वामित्व जता रहा हो। इस कलियुग में ऐसे निर्लज्ज बुद्धिहीनों की जो भगवान् के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते संख्या बढ़ गई है। भगवान् की सत्ता का उल्लंघन करने के प्रयास में तथाकथित विज्ञानी, दार्शनिक तथा राजनीतिज्ञ विश्व के विनाश की योजनाएँ तैयार करते रहते हैं। वे विश्व कल्याण के लिए कुछ भी नहीं कर सकते और दुर्भाग्यवश कलियुग के कारण उन्होंने विश्व के मामलों को अव्यवस्थित कर दिया है। इस तरह उन अबोध लोगों के लाभ के लिए, जो ऐसे असुरों के प्रचार द्वारा भ्रमित हो रहे हैं, कृष्णभावनामृत आन्दोलन की नितान्त आवश्यकता है। यदि वर्तमान स्थिति को इसी रूप में रहने दिया गया तो लोगों को इन असुर दुर्बुद्धियों के नायकत्व में अधिकाधिक कष्ट झेलने होंगे।

श्रीब्रह्मोवाच
भूतभावन भूतेश देवदेव जगन्मय ।
मुञ्चैनं हृतसर्वस्वं नायमर्हति निग्रहम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; भूत-भावन—हे सबके शुभेच्छु; भूत-ईश—हे सबके स्वामी; देव-देव—हे देवताओं के भी पूज्य देव; जगत्-मय—हे सर्वव्यापक; मुञ्च—कृपया छोड़ दें; एनम्—इस बेचारे बलि महाराज को; हृत-सर्वस्वम्—जिसका सर्वस्व छिन गया है; न—नहीं; अयम्—यह बेचारा; अर्हति—पात्र है; निग्रहम्—दण्ड का।.

ब्रह्माजी ने कहा : हे समस्त जीवों के हितैषी एवं स्वामी, हे सभी देवताओं के पूज्य देव, हे सर्वव्यापी भगवान्! अब यह व्यक्ति पर्याप्त दण्ड पा चुका है क्योंकि आपने इसका सर्वस्व ले लिया है। अब आप इसे छोड़ दें। अब यह अधिक दण्डित होने का पात्र नहीं है।

तात्पर्य : जब ब्रह्माजी ने देखा कि प्रह्लाद महाराज तथा विन्ध्यावलि पहले ही भगवान् के पास बलि महाराज के लिए कृपायाचना करने पहुँच चुके हैं, तो वे भी उनके साथ हो लिए और सांसारिक गणनाओं के आधार पर बलि महाराज को मुक्त किये जाने की संस्तुति करने लगे।

कृत्स्ना तेऽनेन दत्ता भूर्लोकाः कर्मार्जिताश्च ये ।
निवेदितं च सर्वस्वमात्माविक्लवया धिया ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

कृत्स्नाः—सभी; ते—तुमको; अनेन—बलि महाराज द्वारा; दत्ताः—दिया जा चुका; भूः लोकाः—सारी भूमि तथा सारे लोक; कर्म-अर्जिताः च—जो कुछ उसने अपने पुण्यकर्मों से प्राप्त किया था; ये—जो; निवेदितम् च—आपको अर्पित हो चुके; सर्वस्वम्—उसके पास जो कुछ था वह सब; आत्मा—यहाँ तक कि शरीर भी; अविक्लवया—बिना हिचक के; धिया—ऐसी बुद्धि से।(०).

बलि महाराज ने आपको पहले ही अपना सर्वस्व दे दिया था। उन्होंने बिना हिचक के अपनी भूमि, अपने सारे लोक तथा अपने पुण्यकर्मों से जो कुछ अन्य भी अर्जित किया था, यहाँ तक कि अपने शरीर को भी अर्पित कर दिया है।

यत्पादयोरशठधीः सलिलं प्रदाय
दूर्वाङ्कुरैरपि विधाय सतीं सपर्याम् ।
अप्युत्तमां गतिमसौ भजते त्रिलोकीं
दाश्वानविक्लवमनाः कथमार्तिमृच्छेत् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यत्-पादयोः—आपके चरणकमलों पर; अशठ-धीः—द्वैतरहित विशाल हृदय वाला व्यक्ति; सलिलम्—जल; प्रदाय—देकर; दूर्वा—घास; अङ्कुरैः—तथा फूल की कलियों से; अपि—यद्यपि; विधाय—अर्पित करके; सतीम्—परम पूज्य; सपर्याम्—पूजा सहित; अपि—यद्यपि; उत्तमाम्—अत्यन्त उच्च; गतिम्—लक्ष्य; असौ—ऐसा पूजक; भजते—पात्र होता है; त्रि-लोकीम्—तीनों

लोकों को; दाश्वान्—आपको देते हुए; अविक्लव-मनाः—बिना किसी मानसिक द्वैत के; कथम्—कैसे; आर्तिम्—बन्दी बनाये जाने के क्लेश का; ऋच्छेत्—भागी है।

जिनके मन में द्वैत नहीं होता वे आपके चरणों में केवल जल, दूर्वादल या अंकुर अर्पित करके वैकुण्ठ में उच्चतम स्थान प्राप्त कर सकते हैं। इन बलि महाराज ने अब बिना द्वैत के तीनों लोकों की प्रत्येक वस्तु आपको अर्पित कर दी है। तो फिर वे बन्दी होने के कष्ट के भागी कैसे हो सकते हैं?

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२६) में कहा गया है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः॥

भगवान् इतने दयालु हैं कि यदि कोई निष्कपट व्यक्ति भक्तिपूर्वक एवं द्वैतरहित होकर भगवान् के चरणकमलों पर थोड़ा सा जल, फूल, फल या पत्ती चढ़ाता है, तो भगवान् उसे स्वीकार कर लेते हैं। तब वह भक्त स्वर्गलोक भेज दिया जाता है। ब्रह्माजी ने भगवान् का ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट किया और प्रार्थना की कि वे बलि महाराज को छोड़ दें क्योंकि उन्हें वरुणपाश से बन्दी होने के कारण कष्ट हो रहा था और उन्होंने पहले ही तीनों लोक तथा अपना सर्वस्व उन्हें भेंट कर दिया था।

श्रीभगवानुवाच
ब्रह्मन्यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम् ।
यन्मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं मां चावमन्यते ॥ २४॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; ब्रह्मन्—हे ब्रह्माजी; यम्—जिस पर; अनुगृह्णामि—मैं दया करता हूँ; तत्—उसका; विशः—ऐश्वर्य; विधुनोमि—छीन लेता हूँ; अहम्—मैं; यत्-मदः—इस धन के कारण झूठी प्रतिष्ठा होने से; पुरुषः—ऐसा व्यक्ति; स्तब्धः—कुंद बुद्धि होकर; लोकम्—तीनों लोक; माम् च—मेरी भी; अवमन्यते—अवहेलना करता।

भगवान् ने कहा : हे ब्रह्माजी! भौतिक ऐश्वर्य के कारण मूर्ख व्यक्ति मन्दबुद्धि एवं पागल हो जाता है। इस तरह तीनों लोकों में वह किसी का सम्मान नहीं करता और मेरी सत्ता की भी अवहेलना करता है। सर्वप्रथम ऐसे व्यक्ति की सारी सम्पत्ति छीनकर मैं उस पर विशेष अनुग्रह प्रदर्शित करता हूँ।

तात्पर्य : जो सभ्यता भौतिक ऐश्वर्य में उन्नति के कारण ईश्वरविहीन हो गई है, वह अत्यन्त घातक होती है। ऐश्वर्य के कारण भौतिकतावादी इतना घमंडी हो जाता है कि वह किसी का सम्मान नहीं

करता और भगवान् की भी सत्ता को नकारता है। ऐसी मनोवृत्ति का परिणाम निश्चित रूप से अत्यन्त घातक होता है। विशेष अनुग्रह दिखलाने के लिए भगवान् कभी-कभी बलि महाराज जैसे व्यक्ति एक उदाहरण बनाते हैं।

यदा कदाचिज्जीवात्मा संसरन्निजकर्मभि: ।
नानायोनिष्वनीशोऽयं पौरुषीं गतिमाव्रजेत् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; कदाचित्—कभी-कभी; जीव-आत्मा—जीव; संसरन्—जन्म तथा मृत्यु के चक्र में घूमते हुए; निज-कर्मभि:—अपने कर्मों के कारण; नाना-योनिषु—अनेक योनियों में; अनीश:—पराश्रित (माया के वश में); अयम्—यह जीव; पौरुषीम् गतिम्—मनुष्य का पद; आव्रजेत्—प्राप्त करना चाहता है।

अपने ही सकाम कर्मों के कारण विभिन्न योनियों में जन्म-मरण के चक्र में बारम्बार घूमते हुए परतंत्र जीव भाग्यवश मनुष्य का शरीर प्राप्त कर सकता है। यह मनुष्य-जन्म विरले ही प्राप्त हो पाता है।

तात्पर्य : भगवान् पूर्ण स्वतंत्र हैं। इस प्रकार यह सदा सच नहीं होता कि किसी जीव के सारे ऐश्वर्य की हानि उस पर भगवत्कृपा की सूचक हो। भगवान् जैसा भी चाहें कर सकते हैं। वे किसी का ऐश्वर्य छीन सकते हैं या नहीं भी छीनते। जीव की अनेक योनियाँ हैं और भगवान् परिस्थितियों को ध्यान में रखकर उनके साथ इच्छानुसार व्यवहार करते हैं। सामान्यत: यह समझा जाता है कि मनुष्य योनि सबसे अधिक दायित्वपूर्ण है।

पुरुष: प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

"भौतिक प्रकृति में जीव तीनों गुणों का भोग करता हुआ जीवन बिताता है। यह भौतिक प्रकृति के साथ उसकी संगति का फल है। इस तरह विविध योनियों में उसे अच्छी और बुरी परिस्थितियाँ मिलती रहती हैं" (*भगवद्गीता* १३.२२)। इस प्रकार अनेकानेक योनियों में घूमता हुआ जीव मनुष्य-जीवन का अवसर प्राप्त करता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को, विशेष रूप से सभ्य राष्ट्र या संस्कृति वाले मनुष्य को अपने कार्यों में अत्यधिक उत्तरदायी रहना चाहिए। उसे अगले जीवन में स्वयं को संकट में नहीं डालना चाहिए। चूँकि शरीर बदल जायेगा (*तथा देहान्तर प्राप्ति:*) अतएव हमें अत्यधिक सतर्क रहना चाहिए। कृष्णभावनामृत का उद्देश्य यह देखना है कि जीवन का सही उपयोग हो। मूर्ख

जीव अपने को सभी प्रकार के नियंत्रण से मुक्त घोषित करता है, जबकि वास्तव में वह मुक्त नहीं रहता। वह पूरी तरह प्रकृति के नियंत्रण में रहता है। अतएव उसे अपने जीवन के कार्यों में अत्यन्त सावधान एवं उत्तरदायी होना चाहिए।

जन्मकर्मवयोरूपविद्यैश्वर्यधनादिभिः ।
यद्यस्य न भवेत्स्तम्भस्तत्रायं मदनुग्रहः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

जन्म—कुलीन परिवार में जन्म लेकर; कर्म—अद्‌भुत कर्मों या पुण्य कर्मों के द्वारा; वयः—आयु से, विशेषतया युवावस्था में जब मनुष्य अनेक कार्य कर सकता है; रूप—निजी सौन्दर्य से, जिससे सभी आकृष्ट होते हैं; विद्या—विद्या से; ऐश्वर्य—ऐश्वर्य से; धन—धन; आदिभिः—इत्यादि से; यदि—यदि; अस्य—स्वामी का; न—नहीं; भवेत्—है; स्तम्भः—घमंड; तत्र—ऐसी अवस्था में; अयम्—व्यक्ति; मत्-अनुग्रहः—समझो कि उसे मेरी विशेष कृपा प्राप्त हो गई है।

यदि कोई मनुष्य उच्चकुल में जन्मा हो, यदि वह अद्‌भुत कर्म करे, यदि वह तरुण हो, यदि उसके पास सौन्दर्य, उत्तम शिक्षा तथा प्रचुर सम्पत्ति हो और यदि वह इतने पर भी अपने ऐश्वर्य पर न इतराये तो यह समझना चाहिए कि उस पर भगवान् की विशेष कृपा है।

तात्पर्य : यदि इन सब ऐश्वर्यों के होते हुए भी कोई मनुष्य घमंडी नहीं होता तो यह समझना चाहिए कि वह भली भाँति यह जानता है कि उसका सारा ऐश्वर्य भगवान् की कृपा के फलस्वरूप है। अतएव वह अपनी सारी सम्पत्ति भगवान् की सेवा में लगा देता है। भक्त भलीभाँति जानता है कि उसका सर्वस्व—यहाँ तक कि उसका शरीर भी—भगवान् का है। यदि कोई पूर्णतः ऐसे कृष्णभावनामृत में रहता है, तो यह समझना चाहिए कि उस पर भगवान् की विशेष कृपा है। निष्कर्ष यह निकला कि धन से वञ्चित होने को भगवान् की विशेष कृपा नहीं मानना चाहिए। प्रत्युत यदि कोई अपने ऐश्वर्यपूर्ण पद पर निरन्तर बना रहता है, और व्यर्थ ही यह घमंड नहीं करता और यह नहीं सोचता कि वह हर वस्तु का स्वामी है, तो यह भगवान् की विशेष कृपा है।

मानस्तम्भनिमित्तानां जन्मादीनां समन्ततः ।
सर्वश्रेयःप्रतीपानां हन्त मुह्येन्न मत्परः ॥ २७॥

शब्दार्थ

मान—झूठी प्रतिष्ठा का; स्तम्भ—इस धृष्टता के कारण; निमित्तानाम्—कारणों का; जन्म-आदीनाम्—उच्चकुल में जन्म इत्यादि; समन्ततः—सब मिलाकर; सर्व-श्रेयः—जीवन के परम लाभ के लिए; प्रतीपानाम्—बाधाओं का; हन्त—भी; मुह्येत्—मोहग्रस्त हो जाता है; न—नहीं; मत्-परः—मेरा अनन्य भक्त।

यद्यपि उच्चकुल में जन्म एवं ऐसे अन्य ऐश्वर्य भक्ति की उन्नति में बाधक होते हैं क्योंकि ये

झूठी प्रतिष्ठा तथा घमंड के कारण हैं, किन्तु ये ऐश्वर्य भगवान् के अनन्य भक्त को कभी विचलित नहीं करते।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज जैसे भक्तों पर जिन्हें असीम भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त था, भगवान् की विशेष कृपा होती है। एक बार कुवेर ने ध्रुव महाराज को एक वर देना चाहा, किन्तु ध्रुव ने उनसे यही याचना की कि मैं भगवान् की भक्ति करता रहूँ यद्यपि वे चाहते तो उनसे कितना ही भौतिक ऐश्वर्य माँग सकते थे। जब भक्त भगवान् ऐश्वर्य की भक्ति में स्थिर होता है, तो भगवान् को उसे उसके भौतिक ऐश्वर्य से वंचित करने की आवश्यकता नहीं रहती। भगवान् भक्ति के कारण अर्जित धन को कभी नहीं छीनते यद्यपि वे कभी-कभी पुण्य कर्मों के द्वारा अर्जित धन को हर लेते हैं। वे ऐसे भक्त को घमण्ड-रहित करने के लिए या उसे भक्ति के बेहतर पद पर स्थित करने के लिए करते हैं। यदि किसी विशेष भक्त का कार्य प्रचार करना हो, किन्तु यदि वह अपने पारिवारिक जीवन या ऐश्वर्य को त्यागकर भगवत्सेवा नहीं करता तो भगवान् निश्चित रूप से उसका भौतिक ऐश्वर्य छीन लेते हैं और उसे भक्ति में स्थापित कर देते हैं। इस तरह शुद्ध भक्त कृष्णभावनामृत के पूर्ण प्रचार कार्य में लग जाता है।

एष दानवदैत्यानामग्रनीः कीर्तिवर्धनः ।
अजैषीदजयां मायां सीदन्नपि न मुह्यति ॥ २॥

शब्दार्थ

एषः—यह बलि महाराज; दानव-दैत्यानाम्—असुरों तथा नास्तिकों में; अग्रनीः—अग्रगण्य भक्त; कीर्ति-वर्धनः—अत्यन्त विख्यात; अजैषीत्—पहले ही बाजी मार चुका है; अजयाम्—अजेय; मायाम्—माया को; सीदन्—(सारे ऐश्वर्य से) विहीन होकर; अपि—यद्यपि; न—नहीं; मुह्यति—मोहग्रस्त होता है।

बलि महाराज असुरों एवं नास्तिकों में सर्वाधिक विख्यात हो गये हैं क्योंकि अपने सारे ऐश्वर्य से वंचित होकर भी वे अपनी भक्ति में अचल हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *सीदन्नपि न मुह्यति* पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कभी-कभी भक्ति करते हुए भक्त संकट में फँस जाता है। संकट में हर व्यक्ति शोक करता है और दुखी होता है, किन्तु भक्त भगवत्कृपा से बुरी से बुरी स्थिति में भी यह समझ सकता है कि भगवान् उसकी कठिन परीक्षा ले रहे हैं। बलि महाराज ऐसी सारी परीक्षाओं में उत्तीर्ण रहे जैसाकि अगले श्लोकों से प्रकट है।

क्षीणरिक्थश्च्युतः स्थानात्क्षिप्तो बद्धश्च शत्रुभिः ।

ज्ञातिभिश्च परित्यक्तो यातनामनुयापितः ॥ २९ ॥
गुरुणा भर्त्सितः शप्तो जहौ सत्यं न सुव्रतः ।
छलैरुक्तो मया धर्मो नायं त्यजति सत्यवाक् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

क्षीण-रिक्थः—समस्त प्रकार के धनधान्य से विहीन; च्युतः—गिरा हुआ; स्थानात्—अपने श्रेष्ठ स्थान से; क्षिप्तः—बलपूर्वक फेंका गया; बद्धः च—तथा जबरदस्ती बाँधा गया; शत्रुभिः—अपने शत्रुओं द्वारा; ज्ञातिभिः च—तथा अपने कुटुम्बियों द्वारा; परित्यक्तः—त्यागा गया; यातनाम्—सभी प्रकार के कष्ट; अनुयापितः—असामान्य रूप से गहन दुख भोगा हुआ; गुरुणा—अपने गुरु द्वारा; भर्त्सितः—भर्त्सना किया गया; शप्तः—तथा शापित; जहौ—छोड़ दिया; सत्यम्—सत्य को; न—नहीं; सु-व्रतः—अपने व्रत में अटल; छलैः—छल द्वारा; उक्तः—कहा गया; मया—मेरे द्वारा; धर्मः—धर्म; न—नहीं; अयम्—यह बलि महाराज; त्यजति—त्याग देता है; सत्य-वाक्—अपने वचन का पक्का।

बलि महाराज यद्यपि धनविहीन, अपने मौलिक पद से च्युत, अपने शत्रुओं द्वारा पराजित तथा बन्दी बनाये गये, अपने कुटुम्बियों तथा मित्रों द्वारा भर्त्सित हुए और परित्यक्त, बाँधे जाने की पीड़ा से पीड़ित तथा अपने गुरु द्वारा भर्त्सित तथा शापित थे, किन्तु वे अपने व्रत में अटल रहे। उन्होंने अपना सत्य नहीं छोड़ा। मैंने तो निश्चित रूप से छल से धर्म के विषय में बातें कहीं, किन्तु उन्होंने अपना धर्म नहीं छोड़ा क्योंकि वे अपने वचन के पक्के हैं।

तात्पर्य : बलि महाराज ने भगवान् द्वारा ली गई कठिन परीक्षा उत्तीर्ण की। यह भगवान् द्वारा अपने भक्त पर कृपा का अन्य प्रमाण है। कभी-कभी भगवान् भक्त की इतनी कठिन परीक्षाएँ लेते हैं, जो लगभग असह्य होती हैं। बलि महाराज को जिस स्थिति में पहुँचा दिया गया था उसमें किसी के लिए भी जीवित रह पाना कठिन था। किन्तु बलि महाराज ने इन कठिन परीक्षाओं तथा तपस्याओं को सह लिया तो यह भगवान् की कृपा ही है। भगवान् निश्चय ही भक्त की सहनशीलता को सराहते हैं और भक्त के भावी महिमागान के लिए इसे अंकित कर लिया जाता है। यह कोई सरल परीक्षा न थी। जैसाकि इस श्लोक में वर्णन हुआ है, शायद ही कोई ऐसी परीक्षा में सफल हो सके, किन्तु महाजनों में से एक बलि महाराज के भावी महिमागान के लिए भगवान् ने न केवल उनकी परीक्षा ली अपितु ऐसी विपदा सहने के लिए उन्हें शक्ति भी प्रदान की। भगवान् अपने भक्त पर इतने दयालु हैं कि उस की कठिन परीक्षा लेते समय वे उसे आवश्यक शक्ति प्रदान करते हैं जिससे वह उसे सह सके और यशस्वी भक्त बना रह सके।

एष मे प्रापितः स्थानं दुष्प्रापममरैरपि ।
सावर्णेरन्तरस्यायं भवितेन्द्रो मदाश्रयः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एषः—बलि महाराज; मे—मेरे द्वारा; प्रापितः—प्राप्त किया है; स्थानम्—स्थान; दुष्प्रापम्—प्राप्त करने में अत्यन्त कठिन; अमरैः अपि—यहाँ तक कि देवताओं के द्वारा भी; सावर्णेः अन्तरस्य—सावर्णि मनु के काल में; अयम्—यह बलि महाराज; भविता—होगा; इन्द्रः—स्वर्ग का स्वामी; मत्-आश्रयः—पूर्णतः मेरे संरक्षण में।

भगवान् ने आगे कहा : उसकी महान् सहनशक्ति के कारण मैंने उसे वह स्थान प्रदान किया है, जो देवताओं को भी सुलभ नहीं हो पाता। वह सावर्णि मनु के काल में स्वर्ग का राजा बनेगा।

तात्पर्य : यह भगवान् की कृपा है। यहाँ तक कि जब भगवान् भक्त के ऐश्वर्य को भी छीनते हैं, तो वे उसे तुरन्त ऐसा स्थान प्रदान करते हैं, जो देवताओं को स्वप्न में भी सुलभ नहीं हो सकता। भक्ति के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। ऐसा एक उदाहरण सुदामा विप्र का ऐश्वर्य है। सुदामा विप्र को भौतिक सम्पत्ति की सख्त तंगी थी, किन्तु वह विचलित नहीं हुआ और भक्ति के पथ से हटा नहीं। अन्त में भगवान् कृष्ण ने कृपा करके उसे उच्च स्थान प्रदान किया। यहाँ पर *मदाश्रयः* शब्द अत्यन्त सार्थक है। चूँकि भगवान् बलि महाराज को इन्द्र का उच्च पद देना चाहते थे अतएव स्वभावतः सारे देवता उनसे ईर्ष्यालु हो जाते और उन्हें उस पद से विचलित करने के लिए लड़ाई करते। किन्तु भगवान् ने बलि महाराज को आश्वासन दिया कि वे उनके आश्रय में (*मदाश्रयः*) रहेंगे।

तावत्सुतलमध्यास्तां विश्वकर्मविनिर्मितम् ।
यदाधयो व्याधयश्च क्लमस्तन्द्रा पराभवः ।
नोपसर्गा निवसतां सम्भवन्ति ममेक्षया ॥ ३२॥

शब्दार्थ

तावत्—जब तक तुम इन्द्र के पद पर नहीं हो; सुतलम्—सुतल नामक लोक; अध्यास्ताम्—वहाँ जाकर उस स्थान पर अधिकार जमाओ; विश्वकर्म-विनिर्मितम्—विश्वकर्मा द्वारा विशेष रूप से निर्मित; यत्—जिसमें; आधयः—मानसिक क्लेश; व्याधयः—शरीर सम्बन्धी कष्ट; च—भी; क्लमः—थकान; तन्द्रा—आलस्य; पराभवः—पराजित होकर; न—नहीं; उपसर्गाः—अन्य उपद्रवों के लक्षण; निवसताम्—वहाँ रहने वालों का; सम्भवन्ति—सम्भव होते हैं; मम—मेरी; ईक्षया—विशेष निगरानी से।

जब तक बलि महाराज स्वर्ग के राजा (इन्द्र) का पद प्राप्त नहीं कर लेते तब तक वे सुतललोक में रहेंगे जिसे विश्वकर्मा ने मेरे आदेश से निर्मित किया था। चूँकि इसकी रक्षा मेरे द्वारा विशेष रूप से होती है अतएव यह मानसिक तथा शारीरिक व्याधियों, थकान, आलस्य, पराजय तथा अन्य सभी उपद्रवों से मुक्त है। हे बलि महाराज! अब तुम वहाँ जाकर शान्तिपूर्वक रह सकते हो।

तात्पर्य : विश्वकर्मा स्वर्गलोक के उच्च प्रासादों के इंजीनियर या शिल्पी हैं। चूँकि इन्हें बलि

महाराज का आवास बनाने के लिए लगाया गया था अतएव सुतललोक के महल कम से कम स्वर्गलोक जैसे अवश्य होने चाहिए थें। बलि महाराज के लिए तैयार कराये गये इस स्थान का एक अन्य लाभ यह था कि उन्हें वहाँ न तो किसी बाहरी आपत्ति से विचलित होना पड़ेगा, न ही उन्हें कोई मानसिक या शारीरिक क्लेश सतायेगा। सुतललोक के ये अद्वितीय लक्षण हैं जहाँ बलि महाराज रहेंगे।

वैदिक ग्रंथों में हमें अनेक विभिन्न लोकों के वर्णन मिलते हैं जहाँ अनेकानेक प्रासाद हैं, जो धरालोक की तुलना में हजारों गुना श्रेष्ठ हैं। जब हम प्रासादों की बात करते हैं, तो स्वभावत: उसमें बड़े-बड़े शहरों तथा नगरों का भाव निहित होता है। दुर्भाग्यवश जब आधुनिक विज्ञानी अन्य लोकों की खोज करने का प्रयास करते हैं, तो उन्हें चट्टानों तथा बालू के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता। भले ही वे अपनी तुच्छ यात्राओं का आयोजन करते रहें, किन्तु वैदिक साहित्य का अध्येता न तो कभी उन पर विश्वास करेगा न उन्हें अन्य लोकों की खोज का श्रेय प्रदान करेगा।

इन्द्रसेन महाराज याहि भो भद्रमस्तु ते ।
सुतलं स्वर्गिभि: प्रार्थ्यं ज्ञातिभि: परिवारित: ॥ ३३॥

शब्दार्थ

इन्द्रसेन—हे महाराज बलि; महाराज—हे राजा; याहि—जाओ; भो:—हे राजा; भद्रम्—कल्याण; अस्तु—हो; ते—तुम्हारा; सुतलम्—सुतललोक में; स्वर्गिभि:—देवताओं द्वारा; प्रार्थ्यम्—वांछित; ज्ञातिभि:—आपके कुटुम्बियों द्वारा; परिवारित:—घिरे हुए।

हे बलि महाराज (इन्द्रसेन)! तुम उस सुतललोक में जाओ जिसकी कामना देवता भी करते हैं। वहाँ अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों की संगति में शान्तिपूर्वक रहो। तुम्हारा कल्याण हो।

तात्पर्य : जैसाकि *स्वर्गिभि: प्रार्थ्यम्* शब्दों से सूचित होता है सुतललोक स्वर्गलोक से सैकड़ों गुना अच्छा है जहाँ बलि महाराज को स्वर्ग लोक से स्थानान्तरित किया गया। जब भगवान् अपने भक्त को भौतिक ऐश्वर्य से विहीन करते हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि वे उसे दरिद्र बना देते हैं; प्रत्युत वे उसे उच्चतर पद प्रदान करते हैं। भगवान् ने बलि महाराज को अपने कुटुम्ब से विलग होने के लिए नहीं कहा अपितु उन्हें अपने कुटुम्बियों के साथ ठहरने की अनुमति प्रदान की (*ज्ञातिभि: परिवारित:*)।

न त्वामभिभविष्यन्ति लोकेशा: किमुतापरे ।
त्वच्छासनातिगान्दैत्यांश्चक्रं मे सूदयिष्यति ॥ ३४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; त्वाम्—तुमको; अभिभविष्यन्ति—जीत सकेंगे; लोक-ईशाः—विभिन्न लोकों के प्रधान देवता; किम् उत अपरे—सामान्य लोगों के विषय में क्या कहा जाये; त्वत्-शासन-अतिगान्—जो तुम्हारे आदेशों का उल्लंघन करते हैं; दैत्यान्—ऐसे दैत्यों को; चक्रम्—चक्र; मे—मेरा; सूदयिष्यति—मार डालेगा।.

सुतललोक में, सामान्य लोग तो क्या, अन्य लोकों के प्रधान देवता भी तुम्हें नहीं जीत पायेंगे। रही असुरों की बात, यदि वे तुम्हारे शासन का उल्लंघन करेंगे तो मेरा चक्र उनका वध कर देगा।

रक्षिष्ये सर्वतोऽहं त्वां सानुगं सपरिच्छदम् ।
सदा सन्निहितं वीर तत्र मां द्रक्ष्यते भवान् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

रक्षिष्ये—रक्षा करूँगा; सर्वतः—सभी प्रकार से; अहम्—मैं; त्वाम्—तुम्हारी; स-अनुगम्—तुम्हारे संगियों सहित; स-परिच्छदम्—साज-सामान सहित; सदा—सदैव; सन्निहितम्—पास ही रहकर; वीर—हे शूरवीर; तत्र—वहाँ, अपने स्थान में; माम्—मुझको; द्रक्ष्यते—देख सकोगे; भवान्—तुम।.

हे शूरवीर! मैं सदैव तुम्हारे साथ रहूँगा और तुम्हारे संगियों तथा साज-सामग्री समेत तुम्हें सभी प्रकार से संरक्षण प्रदान करूँगा। साथ ही, तुम वहाँ मुझे सदैव देख सकोगे।

तत्र दानवदैत्यानां सङ्गात्ते भाव आसुरः ।
दृष्ट्वा मदनुभावं वै सद्यः कुण्ठो विनङ्क्ष्यति ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तत्र—उस स्थान में; दानव-दैत्यानाम्—असुरों तथा दानवों की; सङ्गात्—संगति से; ते—तुम्हारी; भावः—मनोवृत्ति; आसुरः—आसुरी; दृष्ट्वा—देखकर; मत्-अनुभावम्—मेरी सर्वश्रेष्ठ शक्ति; वै—निस्सन्देह; सद्यः—तुरन्त; कुण्ठः—चिन्ता; विनङ्क्ष्यति—नष्ट हो जायेगी।.

चूँकि तुम्हें वहाँ मेरे परम पराक्रम का दर्शन होगा अतएव असुरों तथा दानवों की संगति से तुममें जो भौतिकतावादी विचार एवं चिन्ताएँ उदित हुई हैं, वे तुरन्त ही विनष्ट हो जायेंगी।

तात्पर्य : भगवान् ने बलि महाराज को सभी प्रकार की सुरक्षा के लिए आश्वस्त किया और अन्त में यह भी आश्वासन दिया कि असुरों की कुसंगति के प्रभावों से उनकी रक्षा करेंगे। बलि महाराज निश्चय ही महान् भक्त बन गये, किन्तु उन्हें कुछ चिन्ता थी कि उनकी संगति शुद्ध भक्तिमयी नहीं है। इसलिए भगवान् ने उन्हें आश्वस्त किया कि उनकी आसुरी मनोवृत्ति नष्ट हो जायेगी। दूसरे शब्दों में, भक्तों की संगति से आसुरी मनोवृत्ति जाती रहती है—

सतां प्रसङ्गान् मम वीर्यसंविदो

भवन्ति हृत्कर्णरसायना: कथा:

(*भागवत ३.२५.२५*)

जब कोई असुर भगवान् की महिमा का गायन करने वाले भक्तों की संगति करता है, तो वह क्रमश: शुद्ध भक्त बन जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध के अन्तर्गत ''बलि महाराज द्वारा आत्मसमर्पण'' नामक बाईसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तेईस

देवताओं को स्वर्गलोक की पुनर्प्राप्ति

इस अध्याय में बतलाया गया है कि बलि महाराज अपने पितामह प्रह्लाद महाराज सहित किस प्रकार सुतललोक गये और भगवान् ने किस तरह इन्द्र को स्वर्गलोक में प्रवेश करने की अनुमति दी।

महात्मा बलि महाराज ने अनुभव किया कि जीवन का सर्वोच्च लाभ भगवान् के चरणकमलों की पूर्ण शरण में रहकर भक्ति प्राप्त करना है। ऐसे निर्णय पर पहुँचकर उन्हों ने प्रेमा-भक्ति से पूरित हृदय एवं अश्रुओं से पूरित नेत्रों से भगवान् को नमस्कार किया और फिर अपने पार्षदों सहित सुतललोक में प्रवेश किया। इस प्रकार भगवान् ने अदिति की इच्छा पूरी की और इन्द्र को पुन:स्थापित किया। जब प्रह्लाद महाराज ने सुना कि बलि को बन्धन से मुक्त कर दिया गया है, तो उन्होंने इस जगत में भगवान् की दिव्य लीलाओं का वर्णन किया। उन्होंने इस भौतिक जगत की सृष्टि करने, सब पर समदृष्टि रखने तथा भक्तों पर कल्पवृक्ष के समान अत्यन्त उदार होने के लिए भगवान् की प्रशंसा की। निस्सन्देह, उन्होंने यह भी कहा कि भगवान् न केवल अपने भक्तों पर वरन् असुरों पर भी दयालु रहते हैं। इस प्रकार उन्होंने भगवान् की असीम अहैतुकी कृपा का वर्णन किया। तत्पश्चात् हाथ जोड़कर भगवान् को सादर नमस्कार किया और फिर उनकी प्रदक्षिणा करके भगवान् के आदेशानुसार वे भी सुतललोक में प्रविष्ट हुए। तब भगवान् ने शुक्राचार्य को आदेश दिया कि वे बलि महाराज द्वारा यज्ञ सम्पन्न करते समय की गई त्रुटियों और कमियों का विवरण दें। शुक्राचार्य भी भगवान् का पवित्र नाम जपने से सकाम कर्म के बन्धन से मुक्त हो गये और उन्होंने बतलाया कि बद्धजीव किस तरह जप द्वारा अपने

दोषों को कम कर सकता है। तब उन्होंने बलि महाराज के यज्ञोत्सव को पूरा किया। समस्त महान् ऋषियों तथा मुनियों ने वामनदेव को इन्द्र का उपकार-कर्ता स्वीकार किया क्योंकि उन्होंने इन्द्र को स्वर्गलोक वापस दिलवाया। उन्होंने भगवान् को ब्रह्माण्ड के सारे कार्यों का पालक स्वीकार किया। इन्द्र ने अपने साथियों सहित अत्यन्त प्रसन्न होकर वामनदेव को अपने समक्ष रखा और तब अपने विमान से स्वर्गलोक वापस गये। सारे देवताओं, सन्तों, पितरों, भूतों तथा सिद्धों ने बलि महाराज की यज्ञशाला में भगवान् विष्णु के अलौकिक कार्यों को देखकर भगवान् की महिमा का पुनः-पुनः गान किया। इस अध्याय का अन्त इस कथन के साथ होता है कि बद्धजीव का सबसे शुभ कार्य है भगवान् विष्णु के महिमायुक्त कार्यों के विषय में श्रवण तथा कीर्तन करना।

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तवन्तं पुरुषं पुरातनं
महानुभावोऽखिलसाधुसम्मतः ।
बद्धाञ्जलिर्बाष्पकलाकुलेक्षणो
भक्त्युत्कलो गद्गदया गिराब्रवीत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उक्तवन्तम्—भगवान् के आदेश पर; पुरुषम्—भगवान् को; पुरातनम्—सबसे अधिक पुरातन; महा-अनुभावः—बलि महाराज जो महात्मा थे; अखिल-साधु-सम्मतः—सभी सन्त पुरुषों द्वारा अनुमोदित; बद्ध-अञ्जलिः—हाथ जोड़कर; बाष्प-कल-आकुल-ईक्षणः—अश्रुपूरित नेत्रों से; भक्ति-उत्कलः—प्रेमा-भक्ति से पूरित; गद्गदया—भक्ति-भाव में अवरुद्ध होती; गिरा—वाणी से; अब्रवीत्—कहा।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब परम पुरातन नित्य भगवान् ने सर्वत्रमान्य शुद्ध भक्त एवं महात्मा बलि महाराज से यह कहा तो बलि महाराज ने आँखों में आँसू भरकर, हाथ जोड़कर तथा भक्ति-भाव के कारण लड़खड़ाती वाणी से इस प्रकार कहा।

श्रीबलिरुवाच

अहो प्रणामाय कृतः समुद्यमः
प्रपन्नभक्तार्थविधौ समाहितः ।
यल्लोकपालैस्त्वदनुग्रहोऽमरै-
रलब्धपूर्वोऽपसदेऽसुरेऽर्पितः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-बलिः उवाच—बलि महाराज ने कहा; अहो—ओह; प्रणामाय—अपना सादर नमस्कार अर्पित करने के लिए; कृतः—मैंने किया; समुद्यमः—केवल एक प्रयास; प्रपन्न-भक्त-अर्थ-विधौ—शुद्ध भक्तों द्वारा माने जाने वाले विधि-विधानों में; समाहितः—समर्थ है; यत्—जो; लोक-पालैः—विभिन्न लोकों के प्रधानों द्वारा; त्वत्-अनुग्रहः—आपकी अहैतुकी कृपा;

अमरैः—देवताओं द्वारा; अलब्ध-पूर्वः—इसके पूर्व अप्राप्त; अपसदे—मुझ जैसे पतित व्यक्ति पर; असुरे—असुर वंश वाले; अर्पितः—अर्पित।

बलि महाराज ने कहा : आपको सादर नमस्कार करने के प्रयास में भी कैसा अद्‌भुत प्रभाव है! मैंने तो आपको अपना नमस्कार अर्पित करने का प्रयास ही किया था, किन्तु वह प्रयास शुद्ध भक्तों के प्रयासों के समान सफल सिद्ध हुआ। आपने मुझ पतित असुर पर जो अहैतुकी कृपा प्रदर्शित की है, वह देवताओं या लोकपालों को भी कभी प्राप्त नहीं हुई।

तात्पर्य : जब वामनदेव बलि महाराज के समक्ष प्रकट हुए तो उन्होंने वामनदेव को तुरन्त सादर नमस्कार करना चाहा, किन्तु शुक्राचार्य एवं अन्य असुर संगियों की उपस्थिति के कारण वे वैसा न कर पाये। लेकिन भगवान् इतने दयालु हैं कि यद्यपि बलि महाराज वास्तव में नमस्कार न कर पाये और, केवल मन में ही वैसा करने का प्रयास किया, तथापि भगवान् ने उन पर इतनी कृपा दिखला दी जितनी की देवता भी कभी आशा नहीं कर सकते थे। जैसाकि *भगवद्‌गीता* (२.४०) में पुष्टि की गई है—*स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्*—इस पथ पर थोड़ी सी प्रगति से भी अत्यन्त घातक भय से मनुष्य की रक्षा हो सकती है। भगवान् *भावग्राही जनार्दन* कहलाते हैं क्योंकि वे भक्त के भाव का सार मात्र ग्रहण कर लेते हैं। यदि भक्त निष्ठापूर्वक शरणागत बनता है, तो प्रत्येक हृदय में स्थित परमात्मा-स्वरूप भगवान् इसे तुरन्त समझ जाते हैं। इस प्रकार भले ही कोई भक्त ऊपर से पूर्ण सेवा न करे, किन्तु यदि वह अन्तःकरण से निष्ठावान् एवं गम्भीर होता है, तो भगवान् उसकी सेवा का स्वागत करते हैं। इस तरह भगवान् *भावग्राही जनार्दन* कहलाते हैं क्योंकि वे मनुष्य की भक्तिमयी प्रवृत्ति के सार को ग्रहण करते हैं।

श्रीशुक उवाच
इत्युक्त्वा हरिमानत्य ब्रह्माणं सभवं ततः ।
विवेश सुतलं प्रीतो बलिर्मुक्तः सहासुरैः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति उक्त्वा—यह कहकर; हरिम्—हरि को; आनत्य—नमस्कार करके; ब्रह्माणम्—ब्रह्माजी को; स-भवम्—शिवजी के साथ; ततः—तत्पश्चात्; विवेश—प्रवेश किया; सुतलम्—सुतललोक में; प्रीतः—पूरी तरह प्रसन्न; बलिः—बलि महाराज ने; मुक्तः—इस प्रकार बन्धन से मुक्त; सह असुरैः—अपने असुर संगियों के साथ।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : इस प्रकार कहने के पश्चात् बलि महाराज ने सर्वप्रथम भगवान् हरि को और फिर ब्रह्माजी तथा शिवजी को नमस्कार किया। इस तरह वे नागपाश

(वरुणपाश) से मुक्त कर दिये गये और पूर्णतया सन्तुष्ट होकर सुतललोक में प्रविष्ट हुए।

एवमिन्द्राय भगवान्प्रत्यानीय त्रिविष्टपम् ।
पूरयित्वादितेः काममशासत्सकलं जगत् ॥ ४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; इन्द्राय—इन्द्र को; भगवान्—भगवान् ने; प्रत्यानीय—वापस देकर; त्रि-विष्टपम्—स्वर्ग लोकों में अपनी श्रेष्ठता; पूरयित्वा—पूरा करके; अदितेः—अदिति की; कामम्—इच्छा; अशासत्—शासन किया; सकलम्—पूर्ण; जगत्—ब्रह्माण्ड।

इस प्रकार इन्द्र को स्वर्गलोकों का स्वामित्व प्रदान करके तथा देवमाता अदिति की इच्छा पूरी करके भगवान् ब्रह्माण्ड के कार्यकलापों पर शासन करने लगे।

लब्धप्रसादं निर्मुक्तं पौत्रं वंशधरं बलिम् ।
निशाम्य भक्तिप्रवणः प्रह्लाद इदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

लब्ध-प्रसादम्—जिसे भगवान् का आशीर्वाद प्राप्त हुआ था; निर्मुक्तम्—बन्धन से छोड़ा गया; पौत्रम्—अपने नाती को; वंश-धरम्—वंशज; बलिम्—बलि महाराज को; निशाम्य—सुनकर; भक्ति-प्रवणः—भक्ति-भाव से पूरित; प्रह्लादः—प्रह्लाद महाराज ने; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा।

जब प्रह्लाद महाराज ने सुना कि उनका पौत्र तथा वंशज बलि महाराज किस तरह बन्धन से मुक्त किया गया है और उसे भगवान् का आशीर्वाद प्राप्त हुआ है, तो वे अत्यधिक प्रेमा-भक्ति के स्वर में इस प्रकार बोले।

श्रीप्रह्लाद उवाच
नेमं विरिञ्चो लभते प्रसादं
न श्रीर्न शर्वः किमुतापरेऽन्ये ।
यन्नोऽसुराणामसि दुर्गपालो
विश्वाभिवन्द्यैरभिवन्दिताङ्घ्रिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्लादः उवाच—प्रह्लाद महाराज ने कहा; न—नहीं; इमम्—यह; विरिञ्चः—ब्रह्माजी भी; लभते—प्राप्त कर सकता है; प्रसादम्—आशीर्वाद; न—न तो; श्रीः—लक्ष्मीजी; न—न तो; शर्वः—शिवजी; किम् उत—क्या कहा जाये; अपरे अन्ये—अन्य; यत्—जो आशीर्वाद; नः—हम; असुराणाम्—असुरों का; असि—हो; दुर्ग-पालः—पालक; विश्व-अभिवन्द्यैः—समस्त ब्रह्माण्ड में पूजित ब्रह्माजी तथा शिवजी जैसे महापुरुषों के द्वारा; अभिवन्दित-अङ्घ्रिः—जिनके चरणकमल पूज्य हैं।

प्रह्लाद महाराज ने कहा : हे भगवान्! आप विश्वपूज्य हैं, यहाँ तक कि ब्रह्माजी तथा शिवजी भी आपके चरणकमलों की पूजा करते हैं। इतने महान् होते हुए भी आपने कृपापूर्वक हम असुरों

की रक्षा करने का वचन दिया है। मेरा विचार है कि ब्रह्माजी, शिवजी या लक्ष्मीजी को भी कभी ऐसी दया प्राप्त नहीं हुई; तो अन्य देवताओं या सामान्य व्यक्तियों की बात ही क्या है!

तात्पर्य : *दुर्गपाल* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *दुर्ग* का अर्थ है "जो सरलता से नहीं जाता।" सामान्यत: दुर्ग का अर्थ किला होता है, जिसमें आसानी से प्रवेश नहीं किया जा सकता। दुर्ग का अन्य अर्थ "कठिनाई" है। चूँकि भगवान् ने बलि महाराज तथा उनके संगियों की सभी संकटों से रक्षा करने का वचन दिया इसीलिए उन्हें यहाँ दुर्गपाल कहा गया है—अर्थात् वे भगवान् जो समस्त कष्टप्रद दशाओं में संरक्षण देते हैं।

यत्पादपद्ममकरन्दनिषेवणेन
ब्रह्मादय: शरणदाश्नुवते विभूती: ।
कस्माद्वयं कुसृतय: खलयोनयस्ते
दाक्षिण्यदृष्टिपदवीं भवत: प्रणीता: ॥ ७॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; पाद-पद्म—चरणकमल के; मकरन्द—मधु का; निषेवणेन—सेवा करने की मिठास को चखकर; ब्रह्म-आदय:—ब्रह्माजी जैसे महापुरुष; शरण-द—हे सबके परम आश्रय भगवान्; अश्नुवते—भोग करते हैं; विभूती:—आपके द्वारा दिये गये आशीर्वाद; कस्मात्—कैसे; वयम्—हम सब; कु-सृतय:—सारे धूर्त तथा चोर; खल-योनय:—ईर्ष्या रखने वाले वंश (असुर वंश) में उत्पन्न; ते—वे असुर; दाक्षिण्य-दृष्टि-पदवीम्—दयादृष्टि से प्राप्त पद; भवत:—आपका; प्रणीता:—प्राप्त किया है।.

हे सबके परम आश्रय! ब्रह्माजी जैसे महापुरुष आपके चरणकमलों की सेवा रूपी मधु का स्वाद चखने मात्र से सिद्धि को भोग पाते हैं। किन्तु हम लोगों पर, जो सारे के सारे धूर्त हैं और असुरों के ईर्ष्यालु वंश में जन्मे हैं आपकी कृपा किस प्रकार हो सकी? यह तो केवल इसीलिए सम्भव हो सका है क्योंकि आपकी कृपा अहैतुकी है।

चित्रं तवेहितमहोऽमितयोगमाया-
लीलाविसृष्टभुवनस्य विशारदस्य ।
सर्वात्मन: समदृशोऽविषम: स्वभावो
भक्तप्रियो यदसि कल्पतरुस्वभाव: ॥ ॥

शब्दार्थ

चित्रम्—अत्यन्त अद्भुत; तव ईहितम्—तुम्हारे सारे कार्यकलाप; अहो—ओह; अमित—असीम; योगमाया—आपकी आध्यात्मिक शक्ति की; लीला—लीला द्वारा; विसृष्ट-भुवनस्य—आपका, जिन्होंने समस्त ब्रह्माण्डों की सृष्टि की है; विशारदस्य—सभी प्रकार से पटु आपका; सर्व-आत्मन:—सर्वव्यापी भगवान् का; सम-दृश:—सबके प्रति समभाव रखने

वाला; अविषमः—बिना भेदभाव के; स्वभावः—यही आपका लक्षण है; भक्त-प्रियः—ऐसी परिस्थिति में आप भक्तों के अत्यन्त अनुकूल बन जाते हो; यत्—क्योंकि; असि—हो; कल्पतरु-स्वभावः—कल्पवृक्ष के गुण वाला।

हे प्रभु! आपकी लीलाएँ आपकी अचिन्त्य आध्यात्मिक शक्ति द्वारा विचित्र ढंग से सम्पन्न होती हैं और अपने विकृत प्रतिबिम्ब अर्थात् भौतिक शक्ति (माया) द्वारा आपने सारे ब्रह्माण्डों की सृष्टि की है। आप सभी जीवों के परमात्मा के रूप में हर बात जानते हैं; अतएव निश्चय ही, आप सब पर समान दृष्टि रखते हैं। तो भी आप अपने भक्तों का पक्ष लेते हैं। यह पक्षपात नहीं है क्योंकि आपका यह गुण उस कल्पवृक्ष की तरह है, जो इच्छानुसार कोई भी वस्तु प्रदान करता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२९) में भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

"न मैं किसी से द्वेष करता हूँ, न किसी का पक्ष लेता हूँ। मैं सब पर समभाव रखता हूँ। किन्तु जो भक्तिपूर्वक मेरी सेवा करता है, वह मेरा मित्र है, वह मुझमें है और मैं भी उसका मित्र हूँ।" भगवान् निस्सन्देह सभी जीवों पर समदर्शी हैं, किन्तु भक्त जो भगवान् के चरणकमलों में पूर्णतया समर्पित हो जाता है अभक्त से भिन्न होता है। दूसरे शब्दों में, भगवान् से समान वर पाने के लिए हर व्यक्ति उनके चरणकमलों में शरण ले सकता है, किन्तु अभक्त ऐसा नहीं करते; अतएव उन्हें माया द्वारा उत्पन्न परिणाम भोगने पड़ते हैं। इसे हम एक साधारण उदाहरण द्वारा समझ सकते हैं। कोई राजा या सरकार समस्त नागरिकों पर समभाव रखती है। इसलिए यदि कोई व्यक्ति इस योग्य है कि उसे सरकार से विशेष कृपा प्राप्त हो और यदि उसे कोई ऐसी कृपा प्रदान की जाती है, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि सरकार पक्षपात करती है। जो यह जानता है कि अपने अधिकारी की कृपा कैसे प्राप्त की जाती है, वह ऐसी कृपा प्राप्त कर सकता है, किन्तु जो ऐसा नहीं जानता वह इसकी परवाह नहीं करता और उसे नहीं पाता। मनुष्यों की दो कोटियाँ होती हैं—असुर तथा सुर (देवता)। देवताओं को परमेश्वर के पद का पूर्ण ज्ञान रहता है; अतएव वे उनके आज्ञाकारी होते हैं, किन्तु असुरगण भगवान् की श्रेष्ठता जानते हुए भी उनकी सत्ता का जानबूझ कर उल्लंघन करते हैं। अतएव भगवान् जीवों की मनोवृत्ति के अनुसार भेदभाव बरतते हैं अन्यथा वे समदर्शी हैं। कल्पवृक्ष की तरह भगवान् उसकी सारी इच्छाएँ पूरी

करते हैं, जो उनकी शरण ग्रहण करता हैं, किन्तु जो शरण नहीं ग्रहण करता वह शरणागत से पृथक् होता है। जो भगवान् के चरणकमलों की शरण लेता है उस पर भगवान् कृपा करते हैं चाहे वह असुर हो या देवता।

श्रीभगवानुवाच

वत्स प्रह्लाद भद्रं ते प्रयाहि सुतलालयम् ।
मोदमानः स्वपौत्रेण ज्ञातीनां सुखमावह ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; वत्स—हे प्रिय पुत्र; प्रह्लाद—हे प्रह्लाद महाराज; भद्रम् ते—तुम्हारा कल्याण हो; प्रयाहि—जाओ; सुतल-आलयम्—सुतल नामक स्थान को; मोदमानः—प्रसन्न मन से; स्व-पौत्रेण—अपने पौत्र (बलि महाराज) सहित; ज्ञातीनाम्—कुटुम्बियों तथा मित्रों का; सुखम्—सुख; आवह—भोग करो।

भगवान् ने कहा : हे मेरे प्रिय पुत्र प्रह्लाद! तुम्हारा मंगल हो। अभी तुम सुतल नामक स्थान को जाओ और वहाँ अपने पौत्र एवं अन्य कुटुम्बियों तथा मित्रों सहित सुख भोगो।

नित्यं द्रष्टासि मां तत्र गदापाणिमवस्थितम् ।
मद्दर्शनमहाह्लादध्वस्तकर्मनिबन्धनः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

नित्यम्—निरन्तर; द्रष्टा—देखने वाला; असि—हो; माम्—मुझको; तत्र—वहाँ (सुतललोक में); गदा-पाणिम्—हाथ में गदा लिए; अवस्थितम्—वहाँ स्थित; मत्-दर्शन—उस रूप में मेरा दर्शन करके; महा-आह्लाद—दिव्य आनन्द से; ध्वस्त—विनष्ट; कर्म-निबन्धनः—सकाम कर्मों का बन्धन।

भगवान् ने प्रह्लाद महाराज को आश्वासन दिया कि तुम वहाँ पर हाथों में शंख, चक्र, गदा तथा कमल लिए मेरे नित्य रूप का दर्शन कर सकोगे। वहाँ मेरे निरन्तर प्रत्यक्ष दर्शन से दिव्य आनन्द प्राप्त करके तुम और अधिक कर्म-बन्धन में नहीं पड़ोगे।

तात्पर्य : *कर्मबन्धन* में जन्म तथा मृत्यु का पिष्टपेषण होता है। मनुष्य इस तरह सकाम कर्म करता है कि वह अपने अगले जीवन के लिए एक दूसरा शरीर बना लेता है। जब तक वह सकाम कर्म में लिप्त रहता है उसे दूसरा भौतिक शरीर स्वीकार करना पड़ता है। भौतिक शरीरों की यह बारम्बार स्वीकृति संसार बन्धन कहलाती है। इसे रोकने के लिए भक्त को सलाह दी जाती है कि वह निरन्तर भगवान् का दर्शन करे। इसलिए कनिष्ठ अधिकारी या नवदीक्षित भक्त को प्रतिदिन मंदिर जाने और नियमित रूप से भगवान् के स्वरूप का दर्शन करने की सलाह दी जाती है। इस प्रकार नवदीक्षित भक्त कर्मबन्धन से छूट सकता है।

श्रीशुक उवाच
आज्ञां भगवतो राजन्प्रह्रादो बलिना सह ।
बाढमित्यमलप्रज्ञो मूर्ध्न्याधाय कृताञ्जलिः ॥ ११ ॥
परिक्रम्यादिपुरुषं सर्वासुरचमूपतिः ।
प्रणतस्तदनुज्ञातः प्रविवेश महाबिलम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; आज्ञाम्—आदेश; भगवतः—भगवान् का; राजन्—हे राजा (परीक्षित महाराज); प्रह्रादः—प्रह्लाद महाराज; बलिना सह—बलि महाराज के साथ-साथ; बाढम्—महोदय, आप जो कहते हैं ठीक है; इति—इस प्रकार; अमल-प्रज्ञः—विमल बुद्धि वाले प्रह्लाद महाराज; मूर्ध्नि—अपने सिर पर; आधाय—रखकर; कृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़े; परिक्रम्य—प्रदक्षिणा करके; आदि-पुरुषम्—परम आदि पुरुष भगवान् को; सर्व-असुर-चमूपतिः—असुरों के समस्त नायकों के स्वामी; प्रणतः—नमस्कार करके; तत्-अनुज्ञातः—उनसे (वामन से) अनुमति पाकर; प्रविवेश—प्रवेश किया; महा-बिलम्—सुतल नामक लोक में।

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा परीक्षित! समस्त असुर-पतियों के स्वामी प्रह्लाद महाराज ने बलि महाराज समेत हाथ जोड़कर भगवान् के आदेश को सिर पर चढ़ाया। भगवान् से हाँ कह कर, उनकी प्रदक्षिणा करके तथा उन्हें सादर प्रणाम करके उन्होंने सुतल नामक अधोलोक में प्रवेश किया।

अथाहोशनसं राजन्हरिर्नारायणोऽन्तिके ।
आसीनमृत्विजां मध्ये सदसि ब्रह्मवादिनाम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; आह—कहा; उशनसम्—शुक्राचार्य से; राजन्—हे राजा; हरिः—भगवान् ने; नारायणः—स्वामी; अन्तिके—निकट ही; आसीनम्—बैठे हुए; ऋत्विजाम् मध्ये—सभी पुरोहितों की टोली में; सदसि—सभा में; ब्रह्म-वादिनाम्—वैदिक नियमों के पालनकर्ताओं की।

तत्पश्चात् भगवान् हरि या नारायण ने शुक्राचार्य को सम्बोधित किया जो पुरोहितों (ब्रह्म, होता, उद्गाता तथा अध्वर्यु) के निकट ही सभा में बैठे थे। हे महाराज परीक्षित! ये सभी पुरोहित ब्रह्मवादी थे अर्थात् यज्ञ सम्पन्न करने के लिए वैदिक सिद्धान्तों का पालन करने वाले थे।

ब्रह्मन्सन्तनु शिष्यस्य कर्मच्छिद्रं वितन्वतः ।
यत्तत्कर्मसु वैषम्यं ब्रह्मदृष्टं समं भवेत् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; सन्तनु—कृपया वर्णन करें; शिष्यस्य—अपने शिष्य का; कर्म-छिद्रम्—सकाम कर्म के दोष; वितन्वतः—यज्ञकर्ता के; यत् तत्—जो; कर्मसु—कार्यों में; वैषम्यम्—त्रुटि; ब्रह्म-दृष्टम्—ब्राह्मणों की दृष्टि में; समम्—सम; भवेत्—हो जाती है।

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ शुक्राचार्य! आप यज्ञ में लगे अपने शिष्य बलि महाराज का अपराध या कमी बतलाइये। इस अपराध का निराकरण योग्य ब्राह्मणों की उपस्थिति में निर्णय लेने पर हो जाएगा।

तात्पर्य : जब बलि महाराज तथा प्रह्लाद महाराज सुतललोक के लिए रवाना हो गये तो भगवान् विष्णु ने शुक्राचार्य से पूछा कि बलि महाराज में वह कौन सा अपराध था जिसके कारण उन्होंने उन्हें शाप दे दिया था। यह तर्क किया जा सकता है कि जब बलि महाराज उस स्थान से चले गये थे तो उनके दोषों का निर्णय कैसे हो सकता था? इसके उत्तर में भगवान् विष्णु ने शुक्राचार्य को बताया कि वहाँ बलि महाराज की उपस्थिति आवश्यक नहीं थी क्योंकि ब्राह्मणों की उपस्थिति में निर्णय हो जाने पर उनके सारे दोषों एवं कमियों का निराकरण हो जायेगा। जैसाकि अगले श्लोक में बताया गया है, बलि महाराज का कोई दोष न था; शुक्राचार्य ने वृथा ही उन्हें शाप दे दिया था। फिर भी बलि महाराज के लिए यह अच्छा ही हुआ। शुक्राचार्य के शाप से उनकी सारी सम्पत्ति जाती रही जिसका परिणाम यह हुआ कि भगवान् ने उनकी भक्ति में प्रगाढ़ श्रद्धा के कारण उन पर कृपा की। निस्सन्देह, भक्त को सकाम कर्मों में लगने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जैसा कि शास्त्र का कथन है—*सर्वार्हणम् अच्युतेज्या* (*भागवत* ४.३१.१४)। अच्युत भगवान् की पूजा करके हर एक को प्रसन्न किया जा सकता है। चूँकि बलि महाराज ने भगवान् को प्रसन्न कर लिया था अतएव उनके यज्ञ करने में कोई कमी नहीं थी।

श्रीशुक्र उवाच
कुतस्तत्कर्मवैषम्यं यस्य कर्मेश्वरो भवान् ।
यज्ञेशो यज्ञपुरुषः सर्वभावेन पूजितः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक्रः उवाच—श्री शुक्राचार्य ने कहा; कुतः—कहाँ है; तत्—उसका (बलि का); कर्म-वैषम्यम्—सकाम कर्म करने में त्रुटि; यस्य—जिसका (बलि का); कर्म-ईश्वरः—सारे सकाम कर्मों के स्वामी; भवान्—आप; यज्ञ-ईशः—सारे यज्ञों के भोक्ता; यज्ञ-पुरुषः—आप ही वे पुरुष हैं जिनकी प्रसन्नता के लिए सारे यज्ञ किये जाते हैं; सर्व-भावेन—सभी प्रकार से; पूजितः—पूजित होकर।

शुक्राचार्य ने कहा : हे प्रभु! आप यज्ञ के भोक्ता हैं और सभी यज्ञों को सम्पन्न कराने वाले हैं। आप यज्ञपुरुष हैं अर्थात् आप ही वे पुरुष हैं जिनके लिए सारे यज्ञ किये जाते हैं। यदि किसी ने आपको पूरी तरह संतुष्ट कर लिया तो फिर उसके यज्ञ करने में त्रुटियों अथवा दोषों के होने

का अवसर ही कहाँ रह जाता है?

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (५.२९) में भगवान् कहते हैं— *भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोक महेश्वरम्*—परम स्वामी भगवान् ही वे असली पुरुष हैं, जिन्हें यज्ञों के द्वारा संतुष्ट करना होता है। *विष्णु पुराण* (३..९) में कहा गया है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।

विष्णुराराध्यते पन्था नन्यत् तत्तोषकारणम्॥

समस्त वैदिक कर्मकाण्डीय यज्ञ यज्ञपुरुष भगवान् विष्णु को तुष्ट करने के उद्देश्य से सम्पन्न किये जाते हैं। समाज के आश्रम—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास—भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के लिए है। इस वर्णाश्रम प्रणाली के अनुसार कर्म करने को *वर्णाश्रमाचरण* कहते हैं। *श्रीमद्भागवत* (१.२.१३) में सूत गोस्वामी कहते हैं—

अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः।

स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्॥

''हे द्विजश्रेष्ठ! अतएव यह निष्कर्ष निकला जाता है कि सर्वोच्च सिद्धि की प्राप्ति भगवान् की तुष्टि है, जो वर्णाश्रम धर्म के विभाजन के अनुसार अपने नियत कर्तव्यों को करने से प्राप्त की जा सकती है।'' हर वस्तु भगवान् को प्रसन्न करने के निमित्त है। अतएव बलि महाराज में कोई दोष न था क्योंकि उन्होंने भगवान् को प्रसन्न कर लिया था और शुक्राचार्य ने स्वीकार किया कि उनको शाप देना ठीक नहीं था।

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः ।
सर्वं करोति निश्छिद्रमनुसङ्कीर्तनं तव ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

मन्त्रतः—वैदिक मंत्रों का गलत उच्चारण करने से; तन्त्रतः—कर्मकाण्ड पालन के लिए अधूरे ज्ञान से; छिद्रम्—दोष; देश—देश; काल—तथा समय; अर्ह—तथा पात्र; वस्तुतः—तथा सामग्री; सर्वम्—ये सब; करोति—बनाता है; निश्छिद्रम्—त्रुटिहीन; अनुसङ्कीर्तनम्—पवित्र नाम का निरन्तर कीर्तन; तव—आपका।.

मंत्रों के उच्चारण तथा कर्मकाण्ड के पालन में त्रुटियाँ हो सकती हैं। देश, काल, व्यक्ति तथा सामग्री के विषय में भी कमियाँ रह सकती हैं। किन्तु भगवन्! यदि आपके पवित्र नाम का कीर्तन किया जाए तो हर वस्तु दोषरहित बन जाती है।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु ने संस्तुति की है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

"इस कलह तथा दिखावे के युग में उद्धार का केवल एक ही साधन है और वह है भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन। इसके अतिरिक्त अन्य कोई रास्ता नहीं है। अन्य कोई रास्ता नहीं है। अन्य कोई रास्ता नहीं है।" (*बृहन्नारदीय पुराण* ३.१२६)। इस कलियुग में वैदिक क र्मकाण्डों या यज्ञों को पूरी तरह से सम्पन्न कर सकना अत्यन्त दुष्कर है। शायद ही कोई वैदिक मंत्रों का ठीक से उच्चारण कर सकता हो या वैदिक अनुष्ठानों के लिए सामग्री का संग्रह कर सकता हो। इसलिए इस युग के लिए जिस यज्ञ की संस्तुति की गई है, वह है सङ्कीर्तन—अर्थात् भगवान् के पवित्र नाम का निरन्तर कीर्तन। *यज्ञैः सङ्कीर्तनः प्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः* (*भागवत* ११.५.२९)। जो लोग बुद्धिमान् हैं और जिनके पास अच्छी दिमागी शक्ति है, वे वैदिक यज्ञों को सम्पन्न करने में समय न गँवाकर भगवान् के पवित्र नामका कीर्तन करें और इस तरह यज्ञ को अच्छी तरह पूरा करें। मैंने देखा है कि अनेक धार्मिक नेताओं को यज्ञ करने एवं अपूर्ण यज्ञ की सम्पन्नता में लाखों रुपया खर्च करने की लत है। यह उन लोगों के लिए शिक्षा है, जो ऐसे अपूर्ण यज्ञ व्यर्थ ही सम्पन्न करते हैं। हमें श्री चैतन्य महाप्रभु की सलाह ग्रहण करनी चाहिए (*यज्ञैः सङ्कीर्तन-प्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः*)। यद्यपि शुक्राचार्य कट्टर कर्मकाण्डी ब्राह्मण थे, किन्तु उन्होंने भी स्वीकार किया है—*निश्छिद्रम् अनुसङ्कीर्तनं तव*—हे भगवान्! आपके पवित्र नाम का निरन्तर कीर्तन सब कुछ पूर्ण कर देता है। कलियुग में वैदिक कर्मकाण्डों को पहले की तरह पूरी तरह सम्पन्न नहीं किया जा सकता। इसलिए श्रील जीव गोस्वामी ने संस्तुति की है कि यद्यपि हर प्रकार का आध्यात्मिक कर्म करते समय सभी सिद्धान्तों के पालन में पूरी सतर्कता बरतनी चाहिए, विशेषतया दैव पूजा में, फिर भी कुछ न कुछ त्रुटि रह सकती है और मनुष्य को चाहिए कि वह इस कमी को पूरा करने के लिए भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करें। इसलिए हम अपने कृष्णभावनामृत आन्दोलन में सभी कर्मों में हरे कृष्ण मंत्र के कीर्तन पर विशेष बल देते हैं।

तथापि वदतो भूमन्करिष्याम्यनुशासनम् ।

एतच्छ्रेयः परं पुंसां यत्तवाज्ञानुपालनम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

तथापि—यद्यपि बलि महाराज का कोई दोष न था, तो भी; वदतः—आपके आदेश के कारण; भूमन्—हे परम; करिष्यामि—मैं करूँगा; अनुशासनम्—क्योंकि यह आपका आदेश है; एतत्—यह; श्रेयः—शुभ; परम्—परम; पुंसाम्—सभी मनुष्यों का; यत्—क्योंकि; तव आज्ञा-अनुपालनम्—आपकी आज्ञा का पालन करने के लिए।

हे भगवान् विष्णु! तो भी मैं आपके आदेशानुसार आपकी आज्ञा का पालन करूँगा क्योंकि आपके आदेश का पालन करना परम शुभ है और हर एक का सर्वोपरि कर्तव्य है।

श्रीशुक उवाच
प्रतिनन्द्य हरेराज्ञामुशना भगवानिति ।
यज्ञच्छिद्रं समाधत्त बलेर्विप्रर्षिभिः सह ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; प्रतिनन्द्य—नमस्कार करके; हरेः—भगवान् की; आज्ञाम्—आज्ञा को; उशनाः—शुक्राचार्य; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; इति—इस प्रकार; यज्ञ-छिद्रम्—यज्ञ करने में त्रुटियाँ; समाधत्त—पूरा करने का निश्चय किया; बलेः—बलि महाराज का; विप्र-ऋषिभिः—योग्यब्राह्मणों के; सह—साथ।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : इस प्रकार परम शक्तिशाली शुक्राचार्य ने आदरपूर्वक भगवान् की आज्ञा स्वीकार कर ली। उन्होंने श्रेष्ठ ब्राह्मणों के साथ बलि महाराज द्वारा सम्पन्न यज्ञ की त्रुटियों को पूरा करना शुरू कर दिया।

एवं बलेर्महीं राजन्भिक्षित्वा वामनो हरिः ।
ददौ भ्रात्रे महेन्द्राय त्रिदिवं यत्परैर्हृतम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; बलेः—बलि महाराज से; महीम्—भूमि को; राजन्—हे राजा परीक्षित; भिक्षित्वा—माँगकर; वामनः—भगवान् वामनदेव; हरिः—भगवान् ने; ददौ—दे दिया; भ्रात्रे—अपने भाई को; महा-इन्द्राय—स्वर्ग के राजा इन्द्र को; त्रिदिवम्—देवलोक; यत्—जो; परैः—अन्यों द्वारा; हृतम्—छीन लिया गया था।

हे राजा परीक्षित! इस प्रकार भिक्षा के रूप में बलि महाराज की सारी भूमि लेकर भगवान् वामनदेव ने उसे अपने भाई इन्द्र को दे दिया जिसे इन्द्र के शत्रु ने ले लिया था।

प्रजापतिपतिर्ब्रह्मा देवर्षिपितृभूमिपैः ।
दक्षभृग्वङ्गिरोमुख्यैः कुमारेण भवेन च ॥ २० ॥
कश्यपस्यादितेः प्रीत्यै सर्वभूतभवाय च ।
लोकानां लोकपालानामकरोद्वामनं पतिम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

प्रजापति-पतिः—सारे प्रजापतियों के स्वामी; ब्रह्मा—ब्रह्माजी ने; देव—देवताओं सहित; ऋषि—सन्त पुरुषों के साथ; पितृ—पितृलोक के निवासियों के साथ; भूमिपैः—मनुओं के साथ; दक्ष—दक्ष; भृगु—भृगु मुनि; अङ्गिरः—अंगिरा मुनि के साथ; मुख्यैः—विभिन्न लोकों के प्रधानों के साथ; कुमारेण—कार्तिकेय के साथ; भवेन—शिवजी के साथ; च—भी; कश्यपस्य—कश्यप मुनि की; अदितेः—अदिति की; प्रीत्यै—प्रसन्नता के लिए; सर्व-भूत-भवाय—समस्त जीवों के मंगल हेतु; च—भी; लोकानाम्—सारे लोकों के; लोक-पालानाम्—समस्त लोकों के प्रधान पुरुषों का; अकरोत्—बना दिया; वामनम्—वामन को; पतिम्—परम नेता।

ब्रह्माजी ने (जो राजा दक्ष तथा अन्य सभी प्रजापतियों के स्वामी हैं) सारे देवताओं, महान् सन्तों, पितृलोक के वासियों, मनुओं, मुनियों और दक्ष, भृगु तथा अंगिरा जैसे नायकों एवं कार्तिकेय तथा शिवजी सहित भगवान् वामनदेव को हर एक के संरक्षक के रूप में ग्रहण किया। यह सब उन्होंने कश्यप मुनि तथा उनकी पत्नी अदिति की प्रसन्नता के लिए एवं ब्रह्माण्ड के समस्त वासियों तथा उनके विभिन्न नायकों के कल्याण के लिए किया।

वेदानां सर्वदेवानां धर्मस्य यशसः श्रियः ।
मङ्गलानां व्रतानां च कल्पं स्वर्गापवर्गयोः ॥ २२ ॥
उपेन्द्रं कल्पयां चक्रे पतिं सर्वविभूतये ।
तदा सर्वाणि भूतानि भृशं मुमुदिरे नृप ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

वेदानाम्—समस्त वेदों की (रक्षा के लिए); सर्व-देवानाम्—सारे देवताओं का; धर्मस्य—सारे धर्मों का; यशसः—सारे यश का; श्रियः—समस्त ऐश्वर्यों का; मङ्गलानाम्—सारे कल्याण का; व्रतानाम् च—तथा सारे व्रतों का; कल्पम्—अत्यन्त पटु; स्वर्ग-अपवर्गयोः—स्वर्ग जाने या भवबन्धन से मुक्ति के लिए; उपेन्द्रम्—भगवान् वामनदेव को; कल्पयाम् चक्रे—यह योजना बनाई; पतिम्—स्वामी को; सर्व-विभूतये—सभी कार्यों के लिए; तदा—उस समय; सर्वाणि—सभी; भूतानि—जीवों को; भृशम्—अत्यधिक; मुमुदिरे—प्रसन्न हो गये; नृप—हे राजा।

हे राजा परीक्षित! इन्द्र को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का राजा माना जाता था, किन्तु ब्रह्माजी समेत अन्य देवता उपेन्द्र अर्थात् वामनदेव को वेदों, धर्म, यश, ऐश्वर्य, मंगल, व्रत, स्वर्गलोक तक उन्नति तथा मुक्ति के रक्षक के रूप मे चाहते थे। इसलिए उन्होंने उपेन्द्र अर्थात् भगवान् वामनदेव, को सबका परम स्वामी स्वीकार कर लिया। इस निर्णय से सारे जीव अत्यधिक प्रसन्न हो गए।

ततस्त्विन्द्रः पुरस्कृत्य देवयानेन वामनम् ।
लोकपालैर्दिवं निन्ये ब्रह्मणा चानुमोदितः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; तु—लेकिन; इन्द्रः—स्वर्ग का राजा; पुरस्कृत्य—आगे रखकर; देव-यानेन—देवताओं द्वारा प्रयुक्त वायुयान द्वारा; वामनम्—वामनदेव को; लोक-पालैः—अन्य सभी लोकों के प्रधानों द्वारा; दिवम्—स्वर्ग को; निन्ये—ले आया; ब्रह्मणा—ब्रह्माजी द्वारा; च—भी; अनुमोदितः—अनुमति प्राप्त।

तत्पश्चात् स्वर्गलोकों के सारे प्रधानों सहित स्वर्ग के राजा, इन्द्र, वामनदेव को अपने समक्ष

करके ब्रह्मा की अनुमति से, उन्हें दैवी वायुयान में बैठा कर स्वर्गलोक ले आये।

प्राप्य त्रिभुवनं चेन्द्र उपेन्द्रभुजपालितः ।
श्रिया परमया जुष्टो मुमुदे गतसाध्वसः ॥ २५॥

शब्दार्थ

प्राप्य—प्राप्त करके; त्रि-भुवनम्—तीनों लोक; च—भी; इन्द्रः—स्वर्ग के राजा ने; उपेन्द्र-भुज-पालितः—उपेन्द्र अर्थात् वामनदेव के बाहुबल से रक्षित होकर; श्रिया—ऐश्वर्य के द्वारा; परमया—परम; जुष्टः—सेवा किया गया; मुमुदे—भोग किया; गत-साध्वसः—असुरों के भय से रहित।

इस प्रकार भगवान् वामनदेव की बाहुओं से रक्षित होकर स्वर्ग के राजा इन्द्र ने तीनों लोकों का अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लिया और निर्भय होकर तथा पूर्णतया सन्तुष्ट होकर वे अपने परम ऐश्वर्यशाली पद पर पुनः प्रतिष्ठित कर दिए गए

ब्रह्मा शर्वः कुमारश्च भृग्वाद्या मुनयो नृप ।
पितरः सर्वभूतानि सिद्धा वैमानिकाश्च ये ॥ २६॥
सुमहत्कर्म तद्विष्णोर्गायन्तः परमद्भुतम् ।
धिष्ण्यानि स्वानि ते जग्मुरदितिं च शशंसिरे ॥ २७॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा—ब्रह्माजी; शर्वः—शिवजी; कुमारः च—तथा कार्तिकेय; भृगु-आद्याः—सप्तर्षियों में से एक भृगुमुनि आदि; मुनयः—मुनिगण; नृप—हे राजा; पितरः—पितृलोक के निवासी; सर्व-भूतानि—अन्य जीव; सिद्धाः—सिद्धलोक के निवासी; वैमानिकाः च—वायुयान द्वारा आकाश में कहीं भी विचरण कर सकने वाले मनुष्य; ये—जो लोग; सुमहत्—अत्यधिक प्रशंसनीय; कर्म—कार्यकलाप; तत्—वे सब (कर्म); विष्णोः—भगवान् विष्णु द्वारा किये गये; गायन्तः—महिमागायन करते हुए; परम् अद्भुतम्—असामान्य तथा अद्भुत; धिष्ण्यानि—लोकों को; स्वानि—अपने-अपने; ते—वे सब; जग्मुः—चले गये; अदितिम् च—अदिति को भी; शशंसिरे—भगवान् के इन कार्यकलापों की प्रशंसा की।

ब्रह्मा, शिव, कार्तिकेय, महर्षि भृगु, अन्य सन्त, पितृलोक के वासी तथा सिद्धलोक के निवासी एवं वायुयान द्वारा बाह्य आकाश की यात्रा करने वाले जीवों के समेत वहाँ पर उपस्थित सारे मनुष्यों ने भगवान् वामनदेव के असामान्य कार्यों की महिमा का गायन किया। हे राजा! भगवान् का कीर्तन एवं उनकी महिमा का गायन करते हुए वे सभी अपने-अपने स्वर्ग लोकों को लौट गये। उन्होंने अदिति के पद की भी प्रशंसा की।

सर्वमेतन्मयाख्यातं भवतः कुलनन्दन ।
उरुक्रमस्य चरितं श्रोतॄणामघमोचनम् ॥ २॥

शब्दार्थ

सर्वम्—सब; एतत्—ये घटनाएँ; मया—मेरे द्वारा; आख्यातम्—वर्णित की गई हैं; भवतः—आपकी; कुल-नन्दन—अपने वंश के आनन्द, हे महाराज परीक्षित; उरुक्रमस्य—भगवान् के; चरितम्—कार्यकलापों को; श्रोतॄणाम्—श्रोताओं का; अघ-मोचनम्—पापों के फलों को नष्ट करने।

हे महाराज परीक्षित! हे अपने वंश के आनन्द! मैंने अब तुमसे भगवान् वामनदेव के अद्भुत कार्यों के विषय में सारा वर्णन कर दिया है। जो लोग इसे सुनते हैं, वे निश्चित रूप से पापकर्मों के सभी फलों से मुक्त हो जाते हैं।

पारं महिम्न उरुविक्रमतो गृणानो
य: पार्थिवानि विममे स रजांसि मर्त्य: ।
किं जायमान उत जात उपैति मर्त्य
इत्याह मन्त्रदृगृषि: पुरुषस्य यस्य ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

पारम्—माप; महिम्नः—यश की; उरुविक्रमतः—अद्भुत कर्म करने वाले भगवान् का; गृणानः—गिन सकता है; यः—जो व्यक्ति; पार्थिवानि—सम्पूर्ण पृथ्वी लोक का; विममे—गिन सकता है; सः—वह; रजांसि—कण; मर्त्यः—मरणशील मनुष्य; किम्—क्या; जायमानः—भविष्य में जन्म लेकर; उत—या तो; जातः—उत्पन्न; उपैति—कर सकता है; मर्त्यः—मरणशील व्यक्ति; इति—इस प्रकार; आह—कहा; मन्त्र-दृक्—जो वैदिक मंत्रों को पहले से ही देख सकते थे; ऋषिः—वसिष्ठ मुनि; पुरुषस्य—परम पुरुष का; यस्य—जिसका।

मरणशील व्यक्ति भगवान् त्रिविक्रम अर्थात् विष्णु की महिमा की थाह नहीं पा सकता जिस प्रकार कि वह सम्पूर्ण पृथ्वी लोक के कणों की संख्या नहीं जान सकता। कोई भी व्यक्ति जिसने जन्म धारण किया है या जो जन्म लेने वाला है ऐसा नहीं कर सकता। इसका गायन महर्षि वसिष्ठ ने किया है।

तात्पर्य : वसिष्ठ मुनि ने भगवान् विष्णु के विषय में एक मंत्र दिया है—*न ते विष्णोर्जायमानो न जातो महिम्नः परम् अनन्तम् आप।* कोई भी व्यक्ति भगवान् विष्णु के असामान्य महिमायुक्त कार्यकलापों की कल्पना नहीं कर सकता। दुर्भाग्यवश तथाकथित विज्ञानी जो किसी भी क्षण काल के ग्रास बन सकते हैं, चिन्तन द्वारा ब्रह्माण्ड की अद्भुत सृष्टि को समझने का प्रयास करते हैं। यह मूर्खतापूर्ण प्रयास है। बहुत काल पूर्व वसिष्ठ मुनि ने कहा था कि ऐसा कोई नहीं है, जो भूतकाल में भगवान् की महिमाओं को माप सका हो, न ही कोई भविष्य में ऐसा कर सकेगा। मनुष्य को भगवान् की सृष्टि के यशस्वी कार्यों को ही देखकर सन्तुष्ट मात्र रहना चाहिए। इसीलिए भगवान् *भगवद्गीता* (१०.४२) में कहते हैं—*विष्टभ्याहम् इदं कृत्सनम् एकांशेन स्थितो जगत्*—मैं अपने एकाकी अंश से इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त रहता हूँ और इसका पालन करता हूँ। भौतिक जगत में असंख्य ब्रह्माण्ड

हैं, उनमें से प्रत्येक में असंख्य लोक हैं, जो भगवान् की भौतिक शक्ति के प्रतिफल माने जाते हैं। फिर भी यह ईश्वर की सृष्टि का चतुर्थांश ही होता है। शेष तीन चौथाई सृष्टि आध्यात्मिक जगत है। तथाकथित विज्ञानी एक ही ब्रह्माण्ड के अनन्त लोकों में से चन्द्रमा तथा मंगल तक को नहीं समझ पाते, किन्तु वे भगवान् की सृष्टि तथा उनकी असाधारण शक्ति की अवहेलना करने का प्रयास करते हैं। ऐसे लोगों को सनकी कहा गया है। *नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म* (*भागवत* ५.५.४)। ऐसे सनकी लोग भगवान् उरुक्रम के यशस्वी कार्यों को नकारने में व्यर्थ ही समय, शक्ति तथा धन का अपव्यय करते हैं।

य इदं देवदेवस्य हरेरद्भुतकर्मणः ।
अवतारानुचरितं शृण्वन्याति परां गतिम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; इदम्—यह; देव-देवस्य—भगवान् का, जो देवताओं द्वारा पूज्य हैं; हरेः—भगवान् कृष्ण या हरि का; अद्भुत-कर्मणः—जिनके कार्यकलाप अद्भुत हैं; अवतार-अनुचरितम्—उनके विभिन्न अवतारों में सम्पन्न कार्यकलाप; शृण्वन्—सुनते हुए; याति—जाता है; पराम् गतिम्—परम सिद्धि को, भगवद्धाम को।

यदि कोई भगवान् के विभिन्न अवतारों के असामान्य कार्यकलापों का श्रवण करता है, तो वह निश्चित रूप से स्वर्गलोक को भेजा जाता है या भगवान् के धाम को वापस जाता है।

क्रियमाणे कर्मणीदं दैवे पित्र्येऽथ मानुषे ।
यत्र यत्रानुकीर्त्येत तत्तेषां सुकृतं विदुः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

क्रियमाणे—सम्पन्न हो जाने पर; कर्मणि—अनुष्ठान का; इदम्—वामनदेव के गुणों का यह विवरण; दैवे—देवताओं को प्रसन्न करने के लिए; पित्र्ये—या पूर्वजों को प्रसन्न करने यथा श्राद्ध उत्सव में; अथ—या तो; मानुषे—मानव समाज के आनन्द के लिए यथा विवाहों में; यत्र—जहाँ भी; यत्र—जब भी; अनुकीर्त्येत—वर्णन किया जाता है; तत्—वह; तेषाम्—उनके लिए; सुकृतम्—शुभ; विदुः—हर एक को समझना चाहिए।

जब भी कर्मकाण्ड के दौरान, चाहे देवताओं को प्रसन्न करने के लिए या पितृलोक के पितरों को प्रसन्न करने के लिए कोई उत्सव किया जाए, या विवाह जैसा सामाजिक कृत्य मनाने के लिए वामनदेव के कार्यकलापों का वर्णन हो, तो उस उत्सव को परम मंगल-मय समझना चाहिए।

तात्पर्य : उत्सव तीन प्रकार के होते हैं—भगवान् या देवताओं को प्रसन्न करने के लिए उत्सव, सामाजिक उत्सव यथा विवाह तथा जन्मदिन एवं पितरों को प्रसन्न करने वाले उत्सव यथा श्राद्ध। इन सभी उत्सवों में विविध कार्यों पर प्रचुर धन खर्च किया जाता है, किन्तु यहाँ पर यह सुझाव दिया गया

है कि यदि इनके साथ-साथ वामनदेव के अद्‌भुत कार्यों का पाठ होता रहे तो निश्चित रूप से वह उत्सव सफल तथा त्रुटिरहित होगा।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के अष्टम स्कन्ध के अन्तर्गत ''देवताओं को स्वर्गलोकों की पुनर्प्राप्ति '' नामक तेईसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौबीस

भगवान् का मत्स्यावतार

इस अध्याय में भगवान् के मत्स्यावतार के वर्णन और महाराज सत्यव्रत के एक बाढ़ से बचने का उल्लेख हुआ है।

भगवान् स्वांश तथा विभिन्नांश द्वारा अपना विस्तार करते हैं। जैसाकि *भगवद्‌गीता* (४.) में कहा गया है—*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*—भगवान् इस लोक में साधुओं या भक्तों की रक्षा करने और दुष्टों या अभक्तों का विनाश करने के लिए प्रकट होते हैं। वे विशेषतया गायों, ब्राह्मणों, देवताओं, भक्तों तथा वैदिक धर्म की रक्षा करने के लिए अवतरित होते हैं। इस प्रकार वे विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं—कभी मछली के रूप में, कभी शूकर के रूप में, तो कभी नृसिंहदेव या वामनदेव के रूप में। किन्तु किसी भी रूप या अवतार में वे प्रकृति के गुणों वाले वातावरण में आने पर भी कभी इनसे प्रभावित नहीं होते। यह उनकी परम नियामक शक्ति का द्योतक है। यद्यपि वे भौतिक वातावरण में आते हैं, किन्तु माया उन्हें छू तक नहीं पाती। अतएव उन पर कोई भी भौतिक गुण किसी भी मात्रा में लागू नहीं हो सकते।

एक बार पिछले कल्प के अन्त में हयग्रीव नामक एक असुर ने प्रलय के समय वैदिक ज्ञान को ब्रह्माजी से छीनना चाहा। अत: भगवान् ने स्वायंभुव मनु के काल के आरम्भ में मत्स्यावतार धारण करके वेदों की रक्षा की। चाक्षुष मनु के काल में सत्यव्रत नाम का एक राजा हुआ जो अत्यन्त धर्मात्मा शासक था। उसकी रक्षा हेतु भगवान् ने दूसरी बार मत्स्यावतार धारण किया । बाद में यही राजा सत्यव्रत सूर्यदेव का पुत्र बना और श्राद्धदेव कहलाया। भगवान् ने इन्हें मनु के रूप में स्थापित किया।

भगवान् की कृपा पाने के लिए राजा सत्यव्रत ने केवल जल पीकर जीवित रहने की तपस्या प्रारम्भ

की। एक बार कृतमाला नदी के तट पर तपस्या करते हुए जब वे अपनी अंजलि से जल दे रहे थे तो उन्हें एक छोटी सी मछली मिली। मछली ने राजा से अपनी रक्षा के लिए सुरक्षित स्थान में रखे जाने की विनती की। यद्यपि राजा को पता नहीं था कि मछली साक्षात् भगवान् है, किन्तु उसने राजा होने के नाते उसकी रक्षा की और उसे एक जलपात्र में सुरक्षित रख दिया। इस मछली ने भगवान् होने के कारण राजा को अपनी शक्ति दिखलानी चाही। अत: उसने अपने शरीर का इस तरह विस्तार किया कि वह जलपात्र में न रखी जा सकी। तब राजा ने इस मछली को एक बड़े कुएँ में डाल दिया, किन्तु कुँआ भी उसके लिए छोटा पड़ गया। तब राजा ने उसे एक झील में डाल दिया, किन्तु वह भी छोटी पड़ गई। अन्त में राजा ने इस मछली को समुद्र में डाल दिया, किन्तु समुद्र भी उसे अपने में समा न पाया। तब राजा समझ गया कि मछली भगवान् के अतिरिक्त और कोई नहीं है; अतएव उसने भगवान् से अपने मत्स्यावतार का वर्णन करने के लिए प्रार्थना की। भगवान् इस राजा पर प्रसन्न हो गये और उन्होंने राजा को बतलाया कि एक सप्ताह के भीतर सारे विश्व में बाढ़ आयेगी और यह मछली ऋषियों, वनस्पतियों, बीजों तथा अन्य जीवों समेत राजा की रक्षा अपने नथुने में बँधी नाव के द्वारा करेगी। यह कहकर भगवान् अदृश्य हो गये। राजा सत्यव्रत ने भगवान् को सादर प्रणाम किया और वे उनके ध्यान में लगे रहे। समय आने पर प्रलय आई और राजा ने एक नाव को निकट आते देखा। उसमें वह विद्वान ब्राह्मणों एवं ऋषियों समेत बैठ गया और भगवान् की पूजा करने के लिए उनकी स्तुति करने लगा। भगवान् सबों के हृदय में स्थित हैं। इस तरह उन्होंने महाराज सत्यव्रत तथा ऋषियों को अपने अन्त:स्थल से वैदिक ज्ञान की शिक्षा दी। अगले जन्म में सत्यव्रत ने वैवस्वत मनु के रूप में जन्म लिया जिसका वर्णन *भगवद्गीता* में हुआ है—*विवस्वान् मनवे प्राह*—सूर्यदेव ने *भगवद्गीता* का विज्ञान अपने पुत्र मनु को बतलाया। विवस्वान् का पुत्र होने के कारण यह मनु वैवस्वत मनु कहलाता है।

श्रीराजोवाच
भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि हरेरद्भुतकर्मण: ।
अवतारकथामाद्यां मायामत्स्यविडम्बनम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा परीक्षित ने कहा; **भगवन्**—हे शक्तिमान; **श्रोतुम्**—सुनने की; **इच्छामि**—इच्छा करता हूँ; **हरे:**—भगवान् हरि के; **अद्भुत-कर्मण:**—जिनके कार्यकलाप अद्भुत हैं; **अवतार-कथाम्**—अवतार की लीलाएँ; **आद्याम्**—प्रथम; **माया-मत्स्य-विडम्बनम्**—जो मछली का अनुकरण मात्र है।

महाराज परीक्षित ने कहा : भगवान् हरि नित्य ही अपने दिव्य पद पर स्थित हैं; फिर भी वे इस भौतिक जगत में अवतरित होते हैं और विभिन्न रूपों में अपने आपको प्रकट करते हैं। उनका पहला अवतार एक बड़ी मछली के रूप में हुआ। हे सर्व-शक्तिमान शुकदेव गोस्वामी! मैं आपसे उस मत्स्यावतार की लीलाएँ सुनने का इच्छुक हूँ।

तात्पर्य : भगवान् सर्वशक्तिमान हैं; फिर भी उन्होंने एक असाधारण मछली का रूप धारण किया। यह भगवान् के दस मूल अवतारों में से एक है।

यदर्थमदधाद्रूपं मात्स्यं लोकजुगुप्सितम् ।
तमःप्रकृतिदुर्मर्षं कर्मग्रस्त इवेश्वरः ॥ २ ॥
एतन्नो भगवन्सर्वं यथावद्वक्तुमर्हसि ।
उत्तमश्लोकचरितं सर्वलोकसुखावहम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यत्-अर्थम्—किस हेतु; अदधात्—स्वीकार किया; रूपम्—रूप; मात्स्यम्—मछली का; लोक-जुगुप्सितम्—इस संसार में तुच्छ मानी जाने वाली; तमः—तमोगुणी; प्रकृति—आचरण; दुर्मर्षम्—जो अत्यन्त पीड़ा-दायक तथा गर्हित है; कर्म-ग्रस्तः—कर्म के नियमों के अधीन; इव—सदृश; ईश्वरः—भगवान्; एतत्—ये सारे तथ्य; नः—हमको; भगवन्—हे अत्यन्त शक्तिशाली साधु; सर्वम्—हर वस्तु; यथावत्—ठीक से; वक्तुम् अर्हसि—कृपा करके बतलायें; उत्तमश्लोक-चरितम्—भगवान् की लीलाएँ; सर्व-लोक-सुख-आवहम्—जिसको सुनने से सभी सुखी होते हैं।.

किस कारण से भगवान् ने कर्म-नियम के अन्तर्गत विविध रूप धारण करने वाले सामान्य जीव की भाँति गर्हित मछली का रूप स्वीकार किया? मछली का रूप निश्चित रूप से गर्हित एवं घोर पीड़ा से पूर्ण होता है। हे प्रभु! इस अवतार का क्या उद्देश्य था? कृपा करके मुझे समझाइये क्योंकि भगवान् की लीलाओं का श्रवण हर एक के लिए मंगलकारी होता है।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से जो प्रश्न पूछा वह *भगवद्गीता* (४.७) में स्वयं भगवान् द्वारा बताये गये इस सिद्धान्त पर आधारित था—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

"जब-जब और जहाँ जहाँ धर्म का ह्रास होता है और अधर्म का उत्थान होता है तब-तब हे भरत के वंशज! मैं स्वयं अवतरित होता हूँ।" भगवान् अपने हर अवतार में जगत को अधर्म से बचाने और विशेषकर अपने भक्तों की रक्षा करने के लिए प्रकट होते हैं (*परित्राणाय साधूनाम्*)। उदाहरणार्थ,

वामनदेव अपने भक्त बलि महाराज को बचाने के लिए प्रकट हुए। इसी प्रकार जब भगवान् ने गर्हित मछली का रूप स्वीकार किया, तो अवश्य ही किसी भक्त पर कृपा करने के लिए ऐसा किया होगा। महाराज परीक्षित उस भक्त के विषय में जानने को उत्सुक थे जिसके लिए उन्होंने यह स्वरूप धारण किया था।

श्रीसूत उवाच

इत्युक्तो विष्णुरातेन भगवान्बादरायणिः ।
उवाच चरितं विष्णोर्मत्स्यरूपेण यत्कृतम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

श्री-सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; इति उक्तः—इस प्रकार पूछे जाने पर; विष्णु-रातेन—महाराज परीक्षित द्वारा, जो विष्णुरात कहलाते हैं; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; बादरायणिः—व्यासदेव के पुत्र शुकदेव गास्वामी ने; उवाच—कहीं; चरितम्—लीलाएँ; विष्णोः—भगवान् विष्णु की; मत्स्य-रूपेण—मछली के रूप में उनके द्वारा; यत्—जो भी; कृतम्—की गईं।

सूत गोस्वामी ने कहा : जब परीक्षित महाराज ने शुकदेव गोस्वामी से इस प्रकार जिज्ञासा प्रकट की तो उस महान् शक्तिशाली साधु पुरुष ने भगवान् के मत्स्यावतार की लीलाओं का वर्णन करना प्रारम्भ कर दिया।

श्रीशुक उवाच

गोविप्रसुरसाधूनां छन्दसामपि चेश्वरः ।
रक्षामिच्छंस्तनूर्धत्ते धर्मस्यार्थस्य चैव हि ॥ ५॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; गो—गायों का; विप्र—ब्राह्मणों का; सुर—देवताओं का; साधूनाम्—तथा भक्तों का; छन्दसाम् अपि—यहाँ तक कि वैदिक वाङ्मय का भी; च—तथा; ईश्वरः—परम नियन्ता; रक्षाम्—रक्षा; इच्छन्—चाहते हुए; तनूः धत्ते—अवतारों के रूप धारण करते हैं; धर्मस्य—धर्म का; अर्थस्य—जीवन के उद्देश्य के नियमों का; च—तथा; एव—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्! गायों, ब्राह्मणों, देवताओं, भक्तों, वैदिक वाङ्मय, धार्मिक सिद्धान्तों तथा जीवन के उद्देश्य को पूरा करने वाले नियमों की रक्षा करने के लिए भगवान् अवतरित होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् सामान्यतः गायों तथा ब्राह्मणों की रक्षा करने के लिए विभिन्न प्रकार के रूपों में अवतरित होते हैं। भगवान् को *गोब्राह्मणहिताय च* कहा गया है—अर्थात् वे गायों तथा ब्राह्मणों का उपकार करने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं। जब भगवान् कृष्ण अवतरित हुए तो वे जानबूझकर

ग्वालबाल बने और उन्होंने स्वयं यह दिखलाया कि किस तरह गायों तथा बछड़ों की रक्षा करनी चाहिए। इसी प्रकार उन्होंने सुदामा विप्र को, जो असली ब्राह्मण थे, सम्मान प्रदान किया। भगवान् के निजी कार्यों से मानव समाज को चाहिए कि गायों तथा ब्राह्मणों की रक्षा करना सीखे। तभी धर्म, जीवन के उद्देश्य की पूर्ति तथा वैदिक ज्ञान की रक्षा की जा सकती है। गायों की सुरक्षा के बिना न तो ब्राह्मण संस्कृति को स्थिर रखा जा सकता है और न ही ब्राह्मण संस्कृति के बिना जीवन का उद्देश्य (अर्थ) पूरा किया जा सकता है। अतएव भगवान् को *गोब्राह्मणहिताय* कहा गया है क्योंकि उनका अवतार केवल गायों तथा ब्राह्मणों की रक्षा के लिए होता है। दुर्भाग्यवश, क्योंकि कलियुग में गायों की तथा ब्राह्मण-संस्कृति की रक्षा नहीं हो पाती, प्रत्येक वस्तु डांवाडोल स्थिति में है। यदि मानव समाज ऊपर उठना चाहता है, तो समाज के नायकों को *भगवद्गीता* के आदेशों का पालन करना चाहिए और गायों, ब्राह्मणों तथा ब्राह्मण संस्कृति को रक्षा प्रदान करनी चाहिए।

उच्चावचेषु भूतेषु चरन्वायुरिवेश्वरः ।
नोच्चावचत्वं भजते निर्गुणत्वाद्धियो गुणैः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

उच्च-अवचेषु—उच्च या निम्न स्वरूपों वाले; भूतेषु—जीवों में; चरन्—आचरण करते हुए; वायुः इव—वायु की भाँति; ईश्वरः—परमेश्वर; न—नहीं; उच्च-अवचत्वम्—उच्च या निम्न कोटि के जीवन का गुण; भजते—स्वीकार करते हैं; निर्गुणत्वात्—समस्त भौतिक गुणों से ऊपर या दिव्य होने के कारण; धियः—सामान्यतया; गुणैः—प्रकृति के गुणों के द्वारा।

यद्यपि भगवान् कभी मनुष्य रूप में और कभी निम्न पशु के रूप में प्रकट होते हैं, किन्तु वे विभिन्न प्रकार के वायुमण्डल में से गुजरने वाली वायु की तरह प्रकृति से सदैव परे रहते हैं। प्रकृति के गुणों से परे रहने के कारण वे उच्च तथा निम्न रूपों से प्रभावित नहीं होते।

तात्पर्य : भगवान् भौतिक प्रकृति के स्वामी हैं (*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*)। इसलिए प्रकृति के परम नियामक होने के कारण भगवान् उसके प्रभाव में नहीं आ सकते। यहाँ पर वायु का उदाहरण दिया गया है। यद्यपि वायु अनेक स्थानों से होकर बहती है, किन्तु वह इन स्थानों के गुणों से प्रभावित नहीं होती। यद्यपि वायु में कभी-कभी गंदे स्थान की गंध आ जाती है, किन्तु उसे उस स्थान से कुछ लेना-देना नहीं रहता। इसी प्रकार भगवान् सर्व-शुभ तथा सर्व-मंगलकारी होने के कारण कभी भी किसी साधारण जीव की भाँति भौतिक गुणों से प्रभावित नहीं होते। *पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्* (*भगवद्गीता* १३.२१)। जब जीव भौतिक प्रकृति में रहता है, तो वह उसके गुणों से

प्रभावित होता है। किन्तु भगवान् कभी भी प्रभावित नहीं होते। जो इसे नहीं जानता वह भगवान् का निरादर करता हुआ उन्हें सामान्य जीव मानता है (*अवजानन्ति मां मूढा:*)। *परं भावम् अजानन्त:*—ऐसे निष्कर्ष पर मूर्ख ही पहुँचते हैं क्योंकि वे भगवान् के दिव्य गुणों से अनजान रहते हैं।

आसीदतीतकल्पान्ते ब्राह्मो नैमित्तिको लय: ।
समुद्रोपप्लुतास्तत्र लोका भूरादयो नृप ॥ ७॥

शब्दार्थ

आसीत्—था; अतीत—भूतकाल में; कल्प-अन्ते—कल्प के अन्त में; ब्राह्म:—ब्रह्मा के एक दिन का; नैमित्तिक:—उसके कारण; लय:—प्लावन, बाढ़; समुद्र—समुद्र में; उपप्लुता:—जलमग्न हो गये; तत्र—वहाँ; लोका:—सारे लोक; भू:-आदय:—भू:, भुव: तथा स्व: ये तीनों लोक; नृप—हे राजा।

हे राजा परीक्षित! विगत कल्प के अन्त में, ब्रह्मा का दिन समाप्त होने पर ब्रह्मा की निद्रा के कारण रात में प्रलय आ गई और तीनों लोक समुद्र के जल से प्लवित हो गये।

कालेनागतनिद्रस्य धातु: शिशयिषोर्बली ।
मुखतो नि:सृतान्वेदान्हयग्रीवोऽन्तिकेऽहरत् ॥ ॥

शब्दार्थ

कालेन—काल (ब्रह्मा के दिन के अन्त) के कारण; आगत-निद्रस्य—जब उन्हें नींद आने लगी; धातु:—ब्रह्मा का; शिशयिषो:—सोने के लिए लेटने की इच्छा करते हुए; बली—शक्तिशाली; मुखत:—मुख से; नि:सृतान्—निकलता हुआ; वेदान्—वैदिक ज्ञान को; हयग्रीव:—हयग्रीव नामक असुर ने; अन्तिके—पास ही; अहरत्—चुरा लिया।

ब्रह्मा का दिन समाप्त होने पर जब ब्रह्मा को नींद आने लगी और वे लेटने की इच्छा करने लगे तब उस समय उनके मुख से वेद निकल रहे थे। तभी हयग्रीव नामक महान् राक्षस ने उस वैदिक ज्ञान को चुरा लिया।

ज्ञात्वा तद्दानवेन्द्रस्य हयग्रीवस्य चेष्टितम् ।
दधार शफरीरूपं भगवान्हरिरीश्वर: ॥ ९॥

शब्दार्थ

ज्ञात्वा—जानकर; तत्—उस; दानव-इन्द्रस्य—महान् असुर; हयग्रीवस्य—हयग्रीव का; चेष्टितम्—कार्यकलाप; दधार—धारण किया; शफरी-रूपम्—मछली का रूप; भगवान्—भगवान्; हरि:—हरि ने; ईश्वर:—परम नियन्ता।

यह जानकर कि यह कार्य महान् असुर हयग्रीव ने किया है, सर्व-ऐश्वर्यशाली भगवान् हरि ने मछली का रूप धारण किया और उस असुर को मारकर वेदों को बचाया।

तात्पर्य : चूँकि प्रत्येक वस्तु जल में निमग्न हो गई थी, वेदों को बचाने के लिए भगवान् के लिए

मछली का रूप धारण करना आवश्यक हो गया था।

तत्र राजऋषिः कश्चिन्नाम्ना सत्यव्रतो महान् ।
नारायणपरोऽतपत्तपः स सलिलाशनः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तत्र—उस प्रसंग में; राज-ऋषिः—राजा जो ऋषि के समान भी योग्य हो; कश्चित्—कोई; नाम्ना—नाम वाला; सत्यव्रतः—सत्यव्रत; महान्—महापुरुष; नारायण-परः—भगवान् नारायण का महान् भक्त; अतपत्—तपस्या की; तपः—तपस्या; सः—उसने; सलिल-आशनः—केवल जल पीकर।

चाक्षुष मन्वन्तर में सत्यव्रत नाम का एक महान् राजा हुआ जो भगवान् का बड़ा भक्त था। उसने केवल जल-पान को आधार बनाकर तपस्या की।

तात्पर्य : भगवान् ने वेदों को बचाने के लिए एक बार स्वायंभुव मन्वन्तर के शुरू में मछली का रूप धारण किया और दुबारा चाक्षुष मन्वन्तर में केवल सत्यव्रत नामक महान् राजा पर कृपा करने के लिए मछली का रूप धारण किया। जिस प्रकार वराह के दो अवतार हुए उसी प्रकार मछली के भी दो अवतार हुए थे। भगवान् ने एक मत्स्यावतार हयग्रीव को मारकर वेदों की रक्षा करने के लिए धारण किया और दूसरा मत्स्यावतार राजा सत्यव्रत पर कृपा करने के लिए।

योऽसावस्मिन्महाकल्पे तनयः स विवस्वतः ।
श्राद्धदेव इति ख्यातो मनुत्वे हरिणार्पितः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; असौ—वह (परम पुरुष); अस्मिन्—इसमें; महा-कल्पे—महा कल्प में; तनयः—पुत्र; सः—वह; विवस्वतः—सूर्यदेव का; श्राद्धदेवः—श्राद्धदेव के नाम से; इति—इस प्रकार; ख्यातः—प्रसिद्ध; मनुत्वे—मनु के पद पर; हरिणा—भगवान् द्वारा; अर्पितः—स्थित था।

इस (वर्तमान) कल्प में राजा सत्यव्रत बाद में सूर्यलोक के राजा विवस्वान का पुत्र बना और श्राद्धदेव के नाम से विख्यात हुआ। भगवान् की कृपा से उसे मनु का पद प्राप्त हुआ।

एकदा कृतमालायां कुर्वतो जलतर्पणम् ।
तस्याञ्जल्युदके काचिच्छफर्येकाभ्यपद्यत ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक दिन; कृतमालायाम्—कृतमाला नदी के तट पर; कुर्वतः—देते हुए; जल-तर्पणम्—जल का अर्घ्य; तस्य—उसकी; अञ्जलि—अंजुलि भर; उदके—जल में; काचित्—कोई; शफरी—छोटी मछली; एका—एक; अभ्यपद्यत—प्रकट हुई।

एक दिन जब राजा सत्यव्रत कृतमाला नदी के तट पर जल का तर्पण करके तपस्या कर रहा

था, तो उसकी अंजुली के जल में एक छोटी सी मछली प्रकट हुई।

सत्यव्रतोऽञ्जलिगतां सह तोयेन भारत ।
उत्ससर्ज नदीतोये शफरीं द्रविडेश्वरः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सत्यव्रतः—राजा सत्यव्रत; अञ्जलि-गताम्—राजा की अंजुली के पानी में आई हुई; सह—साथ; तोयेन—जल के; भारत—हे राजा परीक्षित; उत्ससर्ज—फेंक दिया; नदी-तोये—नदी के जल में; शफरीम्—छोटी मछली को; द्रविड-ईश्वरः—द्रविड देश के राजा सत्यव्रत ने।

हे भरतवंशी राजा परीक्षित! द्रविडदेश के राजा सत्यव्रत ने अपनी अंजुली के जल के साथ उस मछली को नदी के जल में फेंक दिया।

तमाह सातिकरुणं महाकारुणिकं नृपम् ।
यादोभ्यो ज्ञातिघातिभ्यो दीनां मां दीनवत्सल ।
कथं विसृजसे राजन्भीतामस्मिन्सरिज्जले ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

तम्—उससे (सत्यव्रत से); आह—कहा; सा—उस छोटी मछली ने; अति-करुणम्—अत्यन्त करुणामय; महा-कारुणिकम्—अत्यन्त कृपालु; नृपम्—राजा सत्यव्रत को; यादोभ्यः—जलचरों के द्वारा; ज्ञाति-घातिभ्यः—जो छोटी मछलियों को खाने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं; दीनाम्—बेचारी; माम्—मुझको; दीन-वत्सल—हे दीनों के रक्षक; कथम्—क्यों; विसृजसे—फेंक रहे हो; राजन्—हे राजा; भीताम्—अत्यन्त भयभीत; अस्मिन्—इस; सरित्-जले—नदी के जल में।

उस बेचारी छोटी मछली ने अत्यन्त कृपालु राजा सत्यव्रत से करुणापूर्ण स्वर में कहा : हे दीनों के रक्षक राजा! आप मुझे नदी के जल में क्यों फेंक रहे हैं जहाँ पर अन्य जलचर हैं, जो मुझे मार सकते हैं? मैं उनसे बहुत भयभीत हूँ।

तात्पर्य : *मत्स्यपुराण* में कहा गया है—

अनन्त शक्तिर्भगवान् मत्स्यरूपी जनार्दनः ।

क्रीडार्थं याचयामास स्वयं सत्यव्रतं नृपम् ॥

"भगवान् में अनन्त शक्ति होती है। फिर भी उन्होंने अपने मत्स्यरूप की लीला में सत्यव्रत से रक्षा की भीख माँगी।"

तमात्मनोऽनुग्रहार्थं प्रीत्या मत्स्यवपुर्धरम् ।
अजानन्रक्षणार्थाय शफर्याः स मनो दधे ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; आत्मनः—निजी; अनुग्रह-अर्थम्—अनुग्रह दिखाने के लिए; प्रीत्या—अत्यधिक प्रसन्न होकर; मत्स्य-वपुः-धरम्—मछली का शरीर धारण करने वाले भगवान् को; अजानन्—बिना जाने; रक्षण-अर्थाय—रक्षा करने के लिए; शफर्याः—मछली की; सः—उस राजा ने; मनः—मन में; दधे—निश्चय किया।

राजा सत्यव्रत ने यह न जानते हुए कि यह मछली भगवान् है अपनी प्रसन्नता के लिए सहर्ष उस मछली को संरक्षण प्रदान करने का निर्णय लिया।

तात्पर्य : यहाँ पर बिना जाने भगवान् की सेवा करने का दृष्टान्त प्रस्तुत है। ऐसी सेवा अज्ञात-सुकृति कहलाती है। राजा सत्यव्रत ने अपनी दया दिखानी चाही; उसे पता न था कि यह मछली भगवान् विष्णु है। ऐसी अज्ञात भक्ति से भगवान् की कृपा प्राप्त होती है। भगवान् की सेवा चाहे ज्ञात भाव से हो या अज्ञात से, कभी व्यर्थ नहीं जाती।

तस्या दीनतरं वाक्यमाश्रुत्य स महीपतिः ।
कलशाप्सु निधायैनां दयालुर्निन्य आश्रमम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तस्याः—उस मछली के; दीन-तरम्—अत्यन्त कारुणिक; वाक्यम्—वचन को; आश्रुत्य—सुनकर; सः—वह; मही-पतिः—राजा; कलश-अप्सु—कलश में रखे जल में; निधाय—रखकर; एनाम्—इस मछली को; दयालुः—दयालु; निन्ये—ले आया; आश्रमम्—अपने घर।

उस मछली के कारुणिक शब्दों से प्रभावित होकर उस दयालु राजा ने उस मछली को एक जलपात्र में रख लिया और उसे अपने घर ले आया।

सा तु तत्रैकरात्रेण वर्धमाना कमण्डलौ ।
अलब्ध्वात्मावकाशं वा इदमाह महीपतिम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

सा—वह मछली; तु—लेकिन; तत्र—वहाँ; एक-रात्रेण—एक ही रात में; वर्धमाना—बढ़कर; कमण्डलौ—जलपात्र में; अलब्ध्वा—न पाकर; आत्म-अवकाशम्—अपने शरीर के लिए सुविधाजनक स्थान; वा—अथवा; इदम्—यह; आह—कहा; मही-पतिम्—राजा से।

किन्तु मछली एक ही रात में इतनी बड़ी हो गई कि उसे उस जलपात्र में अपना शरीर इधर-उधर घुमाने में कठिनाई होने लगी। तब उसने राजा से इस प्रकार कहा।

नाहं कमण्डलावस्मिन्कृच्छ्रं वस्तुमिहोत्सहे ।
कल्पयौकः सुविपुलं यत्राहं निवसे सुखम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; कमण्डलौ—जलपात्र में; अस्मिन्—इस; कृच्छ्रम्—बड़ी कठिनाई से; वस्तुम्—रहने के लिए; इह—यहाँ; उत्सहे—पसन्द करती हूँ; कल्पय—जरा सोचो; ओकः—रहने का स्थान; सु-विपुलम्—अधिक विस्तृत; यत्र—जहाँ; अहम्—मैं; निवसे—रह सकूँ; सुखम्—सुखपूर्वक।

"हे मेरे प्रिय राजा! मैं इस जलपात्र में इतनी कठिनाई से रहना पसन्द नहीं करती हूँ। अतएव कृपा करके इससे अच्छा जलाशय ढूँढें जहाँ मैं सुखपूर्वक रह सकूँ।"

स एनां तत आदाय न्यधादौदञ्चनोदके ।
तत्र क्षिप्ता मुहूर्तेन हस्तत्रयमवर्धत ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सः—राजा ने; एनाम्—मछली को; ततः—तत्पश्चात; आदाय—निकाल कर; न्यधात्—डाल दिया; औदञ्चन-उदके—कुएँ के जल में; तत्र—वहाँ; क्षिप्ता—फेंकी जाकर; मुहूर्तेन—एक ही क्षण में; हस्त-त्रयम्—तीन हाथ; अवर्धत—तुरन्त बढ़ गई।

तत्पश्चात् राजा ने उस मछली को जलपात्र से निकाल कर एक विशाल कुएँ में डाल दिया। किन्तु वह मछली एक क्षण में ही बढ़कर तीन हाथ की हो गई।

न म एतदलं राजन्सुखं वस्तुमुदञ्चनम् ।
पृथु देहि पदं मह्यं यत्त्वाहं शरणं गता ॥ २० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; मे—मुझको; एतत्—यह; अलम्—उपयुक्त; राजन्—हे राजा; सुखम्—सुख से; वस्तुम्—रहने के लिए; उदञ्चनम्—जलाशय; पृथु—काफी बड़ा; देहि—दीजिये; पदम्—स्थान; मह्यम्—मुझको; यत्—जो; त्वा—तुम्हारी; अहम्—मैं; शरणम्—शरण में; गता—आई हुई।

तब मछली ने कहा : हे राजा! यह जलाशय मेरे सुखमय निवास के लिए उपयुक्त नहीं है। कृपया और अधिक विस्तृत जलाशय प्रदान करें क्योंकि मैं आपकी शरण में आई हूँ।

तत आदाय सा राज्ञा क्षिप्ता राजन्सरोवरे ।
तदावृत्यात्मना सोऽयं महामीनोऽन्ववर्धत ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ततः—वहाँ से; आदाय—लाकर; सा—वह मछली; राज्ञा—राजा द्वारा; क्षिप्ता—डाली जाकर; राजन्—हे राजा परीक्षित; सरोवरे—झील में; तत्—उस; आवृत्य—ढककर; आत्मना—शरीर से; सः—मछली; अयम्—यह; महा-मीनः—विशाल मछली; अन्ववर्धत—तुरन्त बढ़ गई।

हे महाराज परीक्षित! राजा ने उस मछली को कुएँ से निकाला और उसे एक झील में डाल दिया, किन्तु तब उस मछली ने जल के विस्तार से भी अधिक विशाल रूप धारण कर लिया।

नैतन्मे स्वस्तये राजन्नुदकं सलिलौकसः ।

निधेहि रक्षायोगेन ह्रदे मामविदासिनि ॥ २२॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतत्—यह; मे—मुझको; स्वस्तये—सुखी; राजन्—हे राजा; उदकम्—जल; सलिल-ओकसः—क्योंकि मैं विशाल जलचर हूँ; निधेहि—रख दें; रक्षा-योगेन—किसी उपाय से; ह्रदे—झील में; माम्—मुझको; अविदासिनि—शाश्वत।

तब मछली ने कहा : हे राजा! मैं विराट जलचर हूँ और यह जल मेरे लिए तनिक भी उपयुक्त नहीं है। अब कृपा करके मुझे बचाने का कोई उपाय ढूँढ निकालिए। अच्छा हो यदि आप मुझे ऐसी झील के जल में रखें जो कभी न घटे।

इत्युक्तः सोऽनयन्मत्स्यं तत्र तत्राविदासिनि ।
जलाशयेऽसम्मितं तं समुद्रे प्राक्षिपज्झषम् ॥ २३॥

शब्दार्थ

इति उक्तः—इस प्रकार प्रार्थना किया गया; सः—राजा; अनयत्—ले गया; मत्स्यम्—मछली को; तत्र—वहाँ; तत्र—जहाँ; अविदासिनि—जल कभी नहीं घटता; जल-आशये—जल के आगार में; असम्मितम्—असीम; तम्—उसको; समुद्रे—समुद्र में; प्राक्षिपत्—डाल दिया; झषम्—विशाल मछली को।

इस प्रकार प्रार्थना किये जाने पर राजा सत्यव्रत उस मछली को जल के सबसे बड़े आगार में ले आया। किन्तु जब वह भी अपर्याप्त सिद्ध हुआ तो राजा ने अन्त में उस मछली को समुद्र में डाल दिया।

क्षिप्यमाणस्तमाहेदमिह मां मकरादयः ।
अदन्त्यतिबला वीर मां नेहोत्स्रष्टुमर्हसि ॥ २४॥

शब्दार्थ

क्षिप्यमाणः—समुद्र में फेंके जाने पर; तम्—राजा से; आह—मछली ने कहा; इदम्—यह; इह—इस स्थान में; माम्—मुझको; मकर-आदयः—मगर जैसे घातक जलचर; अदन्ति—खा लेंगे; अति-बलाः—अत्यन्त बलशाली होने के कारण; वीर—हे वीर राजा; माम्—मुझको; न—नहीं; इह—इस जल में; उत्स्रष्टुम्—फेंकना; अर्हसि—तुम्हें चाहिए।

समुद्र में फेंके जाते समय मछली ने राजा सत्यव्रत से कहा : हे वीर! इस जल में अत्यन्त शक्तिशाली एवं घातक मगर हैं, जो मुझे खा जायेंगे। अतएव तुम मुझे इस स्थान में मत डालो।

एवं विमोहितस्तेन वदता वल्गुभारतीम् ।
तमाह को भवानस्मान्मत्स्यरूपेण मोहयन् ॥ २५॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विमोहितः—मोहग्रस्त; तेन—उस मछली के द्वारा; वदता—कहे जाने पर; वल्गु-भारतीम्—मधुर वचन; तम्—उससे; आह—कहा; कः—कौन; भवान्—आप; अस्मान्—हमको; मत्स्य-रूपेण—मछली के रूप में; मोहयन्—मोहित करने वाले।

मत्स्यरूप भगवान् से इन मधुर वचनों को सुनकर मोहित हुए राजा ने पूछा : आप कौन हैं? आप तो हम सबको मोहित कर रहे हैं।

नैवं वीर्यो जलचरो दृष्टोऽस्माभिः श्रुतोऽपि वा ।
यो भवान्योजनशतमह्नाभिव्यानशे सरः ॥ २६॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एवम्—इस प्रकार; वीर्यः—शक्तिशाली; जल-चरः—जलचर; दृष्टः—देखा गया; अस्माभिः—हमारे द्वारा; श्रुतः अपि—न ही सुना गया; वा—अथवा; यः—जो; भवान्—आप; योजन-शतम्—सैकड़ों मील तक; अह्ना—एक दिन में; अभिव्यानशे—बढ़कर; सरः—जल।

हे प्रभु! एक ही दिन में आपने अपना विस्तार सैकड़ों मील तक करके नदी तथा समुद्र के जल को आच्छादित कर लिया है। इससे पहले मैंने न तो ऐसा जलचर पशु देखा था और न ही सुना था।

नूनं त्वं भगवान्साक्षाद्धरिर्नारायणोऽव्ययः ।
अनुग्रहाय भूतानां धत्से रूपं जलौकसाम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

नूनम्—निश्चय ही; त्वम्—तुम हो; भगवान्—भगवान्; साक्षात्—प्रत्यक्ष; हरिः—भगवान्; नारायणः—भगवान्; अव्ययः—अव्यय; अनुग्रहाय—दया दिखाने के लिए; भूतानाम्—सारे जीवों के लिए; धत्से—धारण किया है; रूपम्—रूप; जल-ओकसाम्—जलचर की तरह।

हे प्रभु! आप निश्चय ही अव्यय भगवान् नारायण श्री हरि हैं। आपने जीवों पर अपनी कृपा प्रदर्शित करने के लिए ही अब जलचर का स्वरूप धारण किया है।

नमस्ते पुरुषश्रेष्ठ स्थित्युत्पत्त्यप्ययेश्वर ।
भक्तानां नः प्रपन्नानां मुख्यो ह्यात्मगतिर्विभो ॥ २॥

शब्दार्थ

नमः—मैं सादर नमस्कार करता हूँ; ते—तुमको; पुरुष-श्रेष्ठ—हे जीवों में श्रेष्ठ, समस्त भोक्ताओं में श्रेष्ठ; स्थिति—पालन; उत्पत्ति—सृष्टि; अप्यय—तथा संहार के; ईश्वर—परमेश्वर; भक्तानाम्—अपने भक्तों के; नः—हम जैसे; प्रपन्नानाम्—शरणागतों के; मुख्यः—परम; हि—निस्सन्देह; आत्म-गतिः—परम गन्तव्य; विभो—भगवान् विष्णु।

हे प्रभु, हे सृष्टि, पालन तथा संहार के स्वामी! हे भोक्ताओं में श्रेष्ठ भगवान् विष्णु! आप हम जैसे शरणागत भक्तों के नेता तथा गन्तव्य हैं। अतएव मैं आपको सादर प्रणाम करता हूँ।

सर्वे लीलावतारास्ते भूतानां भूतिहेतवः ।

ज्ञातुमिच्छाम्यदो रूपं यदर्थं भवता धृतम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—सारी; लीला—लीलाएँ; अवताराः—अवतार; ते—आपके; भूतानाम्—जीवों के; भूति—फूलने-फलने (अभ्युदय) की स्थिति के लिए; हेतवः—कारण; ज्ञातुम्—जानने के लिए; इच्छामि—इच्छा करता हूँ; अदः—यह; रूपम्—रूप; यत्-अर्थम्—जिसलिए; भवता—आपके द्वारा; धृतम्—धारण किया गया।

आपकी सारी लीलाएँ तथा अवतार निश्चय ही समस्त जीवों के कल्याण के लिए होते हैं। अतएव हे प्रभु! मैं वह प्रयोजन जानना चाहता हूँ जिसके लिए आपने यह मत्स्यरूप धारण किया है।

न तेऽरविन्दाक्ष पदोपसर्पणं
मृषा भवेत्सर्वसुहृत्प्रियात्मनः ।
यथेतरेषां पृथगात्मनां सता-
मदीदृशो यद्वपुरद्भुतं हि नः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; ते—आपके; अरविन्द-अक्ष—हे कमलनेत्रों वाले मेरे प्रभु; पद-उपसर्पणम्—चरणकमलों की पूजा; मृषा—व्यर्थ; भवेत्—हो सकती है; सर्व-सुहृत्—सबों के मित्र; प्रिय—सबों के प्यारे; आत्मनः—हर एक के परमात्मा; यथा—जिस प्रकार; इतरेषाम्—अन्यों (देवताओं) का; पृथक्-आत्मनाम्—आत्मा से भिन्न देहधारी जीव; सताम्—अध्यात्म में स्थित लोगों का; अदीदृशः—आपने दिखलाया है; यत्—जो; वपुः—शरीर; अद्भुतम्—अद्‌भुत; हि—निस्सन्देह; नः—हमको।

हे कमल की पंखुरियों के समान नेत्रों वाले प्रभु! देहात्मबुद्धि वाले देवताओं की पूजा सभी तरह से व्यर्थ है। चूँकि आप हर एक के परम मित्र तथा प्रियतम परमात्मा हैं अतएव आपके चरणकमलों की पूजा कभी व्यर्थ नहीं जाती। इसलिए आपने मछली का रूप दिखलाया है।

तात्पर्य : इन्द्र, चन्द्र तथा सूर्य जैसे देवता सामान्य जीव हैं, जो भगवान् के विभिन्नांश हैं। भगवान् जीवों के माध्यम से अपना विस्तार करते हैं (*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*)। उनके साकार विष्णुतत्त्व रूप सभी आध्यात्मिक हैं, स्वांश कहलाते हैं किन्तु सारे जीव जो उनसे पृथक् हैं उनके विभिन्नांश कहलाते हैं। कुछ विभिन्नांश रूप आध्यात्मिक होते हैं और कुछ पदार्थ तथा आत्मा के संमेल होते हैं। इस जगत में बद्धजीवात्माएँ भौतिक शक्ति से निर्मित अपने बाह्य शरीरों से भिन्न होती हैं। इस तरह स्वर्ग में रहने वाले देवता तथा अधोलोक में रहने वाले जीव समान प्रकृति वाले होते हैं। फिर भी इस लोक के मनुष्य कभी-कभी स्वर्गलोक के देवताओं की पूजा करने के लिए लालायित हो जाते हैं। ऐसी पूजा अस्थायी है। जिस प्रकार इस लोक के मनुष्यों को अपने शरीर बदलने होते हैं (तथा देहान्तरप्राप्तिः) उसी प्रकार से इन्द्र, चन्द्र, वरुण इत्यादि जीवात्माओं को भी यथासमय अपने-अपने

शरीर बदलने होंगे। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्*—अल्पबुद्धि वाले लोग देवताओं को पूजते हैं, किन्तु उनके फल सीमित तथा अस्थायी होते हैं। *कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना: प्रपद्यन्तेऽन्य देवता:*—जो लोग देवताओं के पद को नहीं जानते वे किसी भौतिक प्रयोजन से उनकी पूजा करने की ओर झुकते हैं, किन्तु ऐसी पूजा का फल कभी स्थायी नहीं होता। फलत: यहाँ पर कहा गया है—*यथेतरेषां पृथगात्मनां सताम्, पदोपसर्पणं मृषा भवेत्।* दूसरे शब्दों में, यदि किसी को किसी की पूजा करनी ही है, तो उसे भगवान् की पूजा करनी चाहिए। तब उसकी पूजा कभी व्यर्थ नहीं जायेगी। *स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्*—भगवान् की पूजा करने का स्वल्प प्रयास भी स्थायी निधि होती है। अतएव जैसी कि *श्रीमद्भागवत* में संस्तुति की गई है—*त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे:।* मनुष्य को चाहिए कि वह हरि के चरणकमलों की पूजा करे, चाहे इसके लिए प्राप्त शरीर-विशेष के तथाकथित वृत्तिपरक धर्म को छोडना क्यों न पड़े। चूँकि शरीर की पूजा अस्थायी है इसलिए इसका फल स्थायी नहीं होता। किन्तु भगवान् की पूजा से बहुत बड़ा लाभ मिलता है।

श्रीशुक उवाच

इति ब्रुवाणं नृपतिं जगत्पति:
सत्यव्रतं मत्स्यवपुर्युगक्षये ।
विहर्तुकाम: प्रलयार्णवेऽब्रवी-
च्चिकीर्षुरेकान्तजनप्रिय: प्रियम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; ब्रुवाणम्—बोलते हुए; नृपतिम्—राजा को; जगत्-पति:—सम्पूर्ण विश्व के स्वामी; सत्यव्रतम्—सत्यव्रत को; मत्स्य-वपु:—मत्स्य का शरीर धारण करने वाले भगवान् ने; युग-क्षये—युग के अन्त में; विहर्तु-काम:—अपनी लीलाओं का भोग करने के लिए; प्रलय-अर्णवे—बाढ़ के जल में; अब्रवीत्—कहा; चिकीर्षु:—करने का इच्छुक; एकान्त-जन-प्रिय:—भक्तों के परम प्रिय; प्रियम्—अत्यन्त लाभप्रद वस्तु।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब राजा सत्यव्रत ने इस तरह कहा तो अपने भक्त को लाभ पहुँचाने तथा बाढ़ के जल में अपनी लीलाओं का आनन्द उठाने के लिए युग के अन्त में मछली का रूप धारण करने वाले भगवान् ने इस प्रकार उत्तर दिया।

श्रीभगवानुवाच

सप्तमे ह्यद्यतनादूर्ध्वमहन्येतदरिन्दम ।

निमङ्क्ष्यत्यप्ययाम्भोधौ त्रैलोक्यं भूर्भुवादिकम् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; सप्तमे—सातवें; हि—निस्सन्देह; अद्यतनात्—आज से; ऊर्ध्वम्—आगे; अहनि—दिन में; एतत्—यह सृष्टि; अरिन्दम—हे शत्रुओं को दमन कर सकने वाले राजा; निमङ्क्ष्यति—जल में डूब जायेगी; अप्यय-अम्भोधौ—प्रलय के सागर में; त्रैलोक्यम्—तीनों लोक; भूः-भुव-आदिकम्—भूर्लोक, भुवर्लोक तथा स्वर्लोक।

भगवान् ने कहा : हे शत्रुओं को दमन कर सकने वाले राजा! आज से सातवें दिन भूः, भुवः, तथा स्वः ये तीनों लोक बाढ़ के जल में डूब जायेंगे।

त्रिलोक्यां लीयमानायां संवर्ताम्भसि वै तदा ।
उपस्थास्यति नौः काचिद्विशाला त्वां मयेरिता ॥ ३३॥

शब्दार्थ

त्रि-लोक्याम्—तीनों लोकों; लीयमानायाम्—जलमग्न हो जाने पर; संवर्त-अम्भसि—प्रलय के जल में; वै—निस्सन्देह; तदा—उस समय; उपस्थास्यति—प्रकट होगी; नौः—नाव; काचित्—एक; विशाला—बहुत बड़ी; त्वाम्—तुम्हारे पास; मया—मेरे द्वारा; ईरिता—भेजी गयी।

जब तीनों लोक जल में डूब जायेंगे तो मेरे द्वारा भेजी गई एक विशाल नाव तुम्हारे समक्ष प्रकट होगी।

त्वं तावदोषधीः सर्वा बीजान्युच्चावचानि च ।
सप्तर्षिभिः परिवृतः सर्वसत्त्वोपबृंहितः ॥ ३४॥
आरुह्य बृहतीं नावं विचरिष्यस्यविक्लवः ।
एकार्णवे निरालोके ऋषीणामेव वर्चसा ॥ ३५॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; तावत्—उस समय तक; ओषधीः—औषधियाँ; सर्वाः—सभी तरह की; बीजानि—बीज; उच्च-अवचानि—उच्च तथा निम्न; च—तथा; सप्त-ऋषिभिः—सात ऋषियों से; परिवृतः—घिरा हुआ; सर्व-सत्त्व—सभी प्रकार के जीव; उपबृंहितः—से घिरा; आरुह्य—चढ़कर; बृहतीम्—अत्यन्त बड़ी; नावम्—नाव में; विचरिष्यसि—विचरण करोगे; अविक्लवः—खिन्नतारहित; एक-अर्णवे—बाढ़ के सागर में; निरालोके—बिना प्रकाश के; ऋषीणाम्—ऋषियों के; एव—निस्सन्देह; वर्चसा—तेज से।

हे राजा! तत्पश्चात् तुम सभी तरह की औषधियाँ एवं बीज एकत्र करोगे और उन्हें उस विशाल नाव में लाद लोगे। तब सप्तर्षियों समेत एवं सभी प्रकार के जीवों से घिरकर तुम उस नाव में चढ़ोगे और बिना किसी खिन्नता के तुम अपने संगियों सहित बाढ़ के समुद्र में सुगमता से विचरण करोगे। उस समय ऋषियों का तेज ही एकमात्र प्रकाश होगा।

दोधूयमानां तां नावं समीरेण बलीयसा ।

उपस्थितस्य मे शृङ्गे निबध्नीहि महाहिना ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

दोधूयमानाम्—डगमगाती; ताम्—उस; नावम्—नाव को; समीरेण—हवा से; बलीयसा—शक्तिशाली; उपस्थितस्य—पास ही उपस्थित; मे—मेरे; शृङ्गे—सींग में; निबध्नीहि—बाँध देना; महा-अहिना—महान् सर्प (वासुकी) से।

तब ज्योंही नाव तेज हवा से डगमगाने लगे तुम उसे महान् सर्प वासुकि के द्वारा मेरे सींग से बाँध देना क्योंकि मैं तुम्हारे पास ही उपस्थित रहूँगा।

अहं त्वामृषिभिः सार्धं सहनावमुदन्वति ।
विकर्षन्विचरिष्यामि यावद्ब्राह्मी निशा प्रभो ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; त्वाम्—तुमको; ऋषिभिः—सारे ऋषियों के; सार्धम्—साथ; सह—से युक्त; नावम्—नाव; उदन्वति—प्रलय के जल में; विकर्षन्—खींचते हुए; विचरिष्यामि—विचरण करूँगा; यावत्—जब तक; ब्राह्मी—ब्रह्मा की; निशा—रात्रि; प्रभो—हे राजा।

हे राजा! नाव में बैठे तुम्हं तथा सारे ऋषियों को खींचते हुए, प्रलय-जल में मैं तब तक विचरण करूँगा जब तक ब्रह्मा की शयन-रात्रि समाप्त नहीं हो जाती।

तात्पर्य : यह विशेष प्रलय वास्तव में ब्रह्मा की रात्रि में नहीं अपितु उनके दिन के समय हुई थी क्योंकि यह घटना चाक्षुष मनु के काल में घटी थी। ब्रह्मा जब सोने चले जाते हैं तब उनकी रात होती है, किन्तु दिन के समय चौदह मनु रहते हैं जिनमें से एक चाक्षुष मनु है। इसलिए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर टीका करते हैं कि यद्यपि ब्रह्मा के लिए दिन था, किन्तु भगवान् की परम इच्छा से उन्हें कुछ समय के लिए नींद आने लगी। यह थोड़ा सा समय ब्रह्मा की रात्रि माना जाता है। श्रील रूप गोस्वामी ने अपने *लघु-भागवतामृत* में इसकी विस्तार से विवेचना की है, जिसका सारांश इस प्रकार है—अगस्त्य मुनि के शाप के कारण स्वायम्भुव मनु के काल में प्रलय हुई। इस प्रलय का वर्णन *मत्स्य पुराण* में पाया जाता है। भगवान् की इच्छानुसार चाक्षुष मनु के समय में अकस्मात् एक दूसरी प्रलय हुई। इसका वर्णन मार्कण्डेय ऋषि ने *विष्णु-धर्मोत्तर* में किया है। मनु के काल की समाप्ति पर प्रलय आवश्यक नहीं होती है, किन्तु चाक्षुष मन्वन्तर के अन्त में भगवान् ने अपनी माया से सत्यव्रत को प्रलय का प्रभाव दिखलाना चाहा। श्रील श्रीधर स्वामी भी इस मत से सहमत हैं।

लघु-भागवतामृत में कहा गया है—

मध्ये मन्वन्तरस्यैव मुनेः शापान् मनुं प्रति।

प्रलयोऽसौ बभूवेति पुराणे क्वचिदीर्यते॥

अयम् आकस्मिको जातश्चाक्षुषस्यान्तरे मनोः।

प्रलयः पद्मनाभस्य लीलयेति च कुत्रचित्॥

सर्वमन्वन्तरस्यान्ते प्रलयो निश्चितं भवेत्।

विष्णुधर्मोत्तरे त्वेतत् मार्कण्डेयेण भाषितम्॥

मनोरन्ते लयो नास्ति मनवेऽदर्शि मायया।

विष्णुनेति ब्रुवाणैस्तु स्वामिभिर्नैष मन्यते॥

मदीयं महिमानं च परं ब्रह्मेति शब्दितम् ।
वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे सम्प्रश्नैर्विवृतं हृदि ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

मदीयम्—मेरी; महिमानम्—महिमा; च—तथा; परम् ब्रह्म—परम ब्रह्म, परम सत्य; इति—इस प्रकार; शब्दितम्—विख्यात; वेत्स्यसि—तुम समझोगे; अनुगृहीतम्—कृपा पाकर; मे—मेरे द्वारा; सम्प्रश्नैः—प्रश्नों के द्वारा; विवृतम्—पूर्णतया व्याख्या किया गया; हृदि—हृदय में।

मैं तुम्हें ठीक से सलाह दूँगा और तुम्हारा पक्ष भी लूँगा और मुझ परब्रह्म की महिमाओं के विषय में तुम्हारी जिज्ञासाओं के कारण हर बात तुम्हारे हृदय के भीतर प्रकट होगी। इस तरह तुम मेरे विषय में सब कुछ जान लोगे।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—परमात्मा सबों के हृदयों में स्थित हैं और उन्हीं से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति आती है। जो जितना शरणागत होता है उसी अनुपात में भगवान् अपने को प्रकट करते हैं। *ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।* आदान-प्रदान के सहयोग में भगवान् मनुष्य की शरणागति के अनुपात में अपने को प्रकट करते हैं। जो पूरी तरह शरण में आता है उसे आंशिक रूप से शरण में आने वाले की तुलना में भिन्न रूप में प्राकट्य किया जाता है। हर व्यक्ति स्वभावतः प्रत्यक्ष था अप्रत्यक्ष रूप से भगवान् की शरण में जाता है। बद्धजीव संसार में प्रकृति के नियमों के प्रति भौतिक रूप से आत्म-समर्पण करता है, किन्तु जो व्यक्ति पूर्णरूपेण भगवान् की शरण में जाता है उस पर भौतिक प्रकृति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसे पूर्ण शरणागत व्यक्ति पर भगवान् प्रत्यक्षतः कृपा करते हैं। *मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।* जो पूर्णतया भगवान् की शरण में जाता है उसे प्रकृति के गुणों का भय

नहीं रह जाता क्योंकि हर वस्तु भगवान् की महिमा का विस्तार मात्र है (*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*) और ये महिमाएँ क्रमशः प्रकट होती हैं और अनुभव की जाती हैं। भगवान् परम शुद्धिकर्ता हैं (*परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्*)। जो जितना ही पवित्र हो जाता है और ब्रह्म के बारे में जितना अधिक जानना चाहता है, भगवान् उसके समक्ष उतना ही अधिक प्रकट करते हैं। शुद्ध भक्तों को ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् का पूर्ण ज्ञान प्रकट किया जाता है। भगवान् *भगवद्गीता* (१०.११) में कहते हैं—

तेषामेवानुकम्पार्थम् अहं अज्ञानजं तमः।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

"मैं उन पर कृपा करके उनके हृदयों में बस कर, ज्ञान के चमकते हुए दीप से अज्ञानजन्य अंधकार को विनष्ट कर देता हूँ।"

इत्थमादिश्य राजानं हरिरन्तरधीयत ।
सोऽन्ववैक्षत तं कालं यं हृषीकेश आदिशत् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—जैसाकि पहले कहा जा चुका है; आदिश्य—आदेश देकर; राजानम्—राजा (सत्यव्रत) को; हरिः—भगवान्; अन्तरधीयत—उस स्थान से अदृश्य हो गये; सः—वह (राजा); अन्ववैक्षत—प्रतीक्षा करने लगा; तम् कालम्—उस समय की; यम्—जो; हृषीक-ईशः—समस्त इन्द्रियों के स्वामी, हृषीकेश ने; आदिशत्—आदेश दिया।

राजा को इस प्रकार आदेश देने के बाद भगवान् तुरन्त अन्तर्धान हो गये। तब राजा सत्यव्रत उस काल की प्रतीक्षा करने लगा, जिसका आदेश भगवान् दे गये थे।

आस्तीर्य दर्भान्प्राक्कूलान्राजर्षिः प्रागुदङ्मुखः ।
निषसाद हरेः पादौ चिन्तयन्मत्स्यरूपिणः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

आस्तीर्य—फैलाकर; दर्भान्—कुशों; प्राक्-कूलान्—जिसके सिरे पूर्व की ओर थे; राज-ऋषिः—सन्तराजा सत्यव्रत; प्राक्-उदक्-मुखः—उत्तर पूर्व (ईशान्) की ओर मुख किये; निषसाद—बैठ गया; हरेः—भगवान् के; पादौ—चरणकमलों पर; चिन्तयन्—ध्यान करते हुए; मत्स्य-रूपिणः—जिसने मछली का रूप धारण किया था।

सन्त राजा ने कुशों के सिरों को पूर्व दिशा की ओर करके उन्हें बिछा दिया और स्वयं उत्तर पूर्व की ओर मुख करके कुशों पर बैठकर उन भगवान् विष्णु का ध्यान करने लगा जिन्होंने मछली का रूप धारण किया था।

ततः समुद्र उद्वेलः सर्वतः प्लावयन्महीम् ।
वर्धमानो महामेघैर्वर्षद्भिः समदृश्यत ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; समुद्रः—समुद्र; उद्वेलः—उमड़ता हुआ; सर्वतः—सर्वत्र; प्लावयन्—जलमग्न करते हुए; महीम्—पृथ्वी को; वर्धमानः—अधिकाधिक बढ़कर; महा-मेघैः—विशाल बादलों के द्वारा; वर्षद्भिः—लगातार वर्षा द्वारा; समदृश्यत—राजा ने देखा।

तत्पश्चात् विशाल बादलों ने झड़ी लगाकर समुद्र के जल को और अधिक चढ़ा दिया। इससे समुद्र बढ़कर स्थल के ऊपर बहने लगा और उसने समस्त विश्व को जलमग्न करना आरम्भ कर दिया।

ध्यायन्भगवदादेशं ददृशे नावमागताम् ।
तामारुरोह विप्रेन्द्रैरादायौषधिवीरुधः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

ध्यायन्—स्मरण करते हुए; भगवत्-आदेशम्—भगवान् के आदेश; ददृशे—उसने देखा; नावम्—नाव को; आगताम्—पास आती हुई; ताम्—उसमें; आरुरोह—चढ़ गया; विप्र-इन्द्रैः—साधु ब्राह्मणों सहित; आदाय—लेकर; औषधि—औषधियाँ; वीरुधः—तथा लताएँ।

ज्योंही सत्यव्रत को भगवान् का आदेश स्मरण आया त्योंही उसे अपनी ओर आती हुई एक नाव दिखी। तब उसने वनस्पतियों तथा लताओं को एकत्र किया और वह साधु ब्राह्मणों को साथ लेकर उस नाव में चढ़ गया।

तमूचुर्मुनयः प्रीता राजन्ध्यायस्व केशवम् ।
स वै नः सङ्कटादस्मादविता शं विधास्यति ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस राजा से; ऊचुः—कहा; मुनयः—सारे सन्त ब्राह्मणों ने; प्रीताः—प्रसन्न होकर; राजन्—हे राजा; ध्यायस्व—ध्यान करो; केशवम्—भगवान् केशव का; सः—वह; वै—निस्सन्देह; नः—हमको; सङ्कटात्—संकट से; अस्मात्—जैसा अब दिख रहा है; अविता—बचायेगा; शम्—कल्याण की; विधास्यति—योजना करेगा।

उन सन्त ब्राह्मणों ने प्रसन्न होकर राजा से कहा : हे राजा! भगवान् केशव का ध्यान कीजिए। वे हमें इस आसन्न संकट से उबार लेंगे और हमारे कल्याण की व्यवस्था करेंगे।

सोऽनुध्यातस्ततो राज्ञा प्रादुरासीन्महार्णवे ।
एकशृङ्गधरो मत्स्यो हैमो नियुतयोजनः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

सः—भगवान्; अनुध्यातः—ध्यान किये जाने पर; ततः—तत्पश्चात् (सन्त ब्राह्मणों के वचन सुनकर); राज्ञा—राजा के द्वारा; प्रादुरासीत्—(उसके समक्ष) प्रकट हुई; महा-अर्णवे—प्रलय सागर में; एक-शृङ्ग-धरः—एक सींग धारण किये; मत्स्यः—बड़ी मछली; हैमः—सोने की बनी; नियुत-योजनः—अस्सी लाख मील लम्बी।

जब राजा भगवान् का निरन्तर ध्यान कर रहे थे तो प्रलय सागर में एक बड़ी सुनहरी मछली प्रकट हुई। इस मछली के एक सींग था और वह अस्सी लाख मील लम्बी थी।

निबध्य नावं तच्छृङ्गे यथोक्तो हरिणा पुरा ।
वरत्रेणाहिना तुष्टस्तुष्टाव मधुसूदनम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

निबध्य—बांध कर; नावम्—नाव को; तत्-शृङ्गे—बड़ी मछली के सींग पर; यथा-उक्तः—जैसी सलाह दी गई थी; हरिणा—भगवान् द्वारा; पुरा—पहले; वरत्रेण—रस्सी के द्वारा; अहिना—विशाल सर्प (वासुकि) द्वारा; तुष्टः—प्रसन्न होकर; तुष्टाव—उसने प्रसन्न कर लिया; मधुसूदनम्—मधु के हन्ता भगवान् को।

जैसा कि भगवान् पहले आदेश दे चुके थे उसका पालन करते हुए राजा ने वासुकि सर्प को रस्सी बनाकर उस नाव को मछली के सींग में बाँध दिया। फिर सन्तुष्ट होकर भगवान् की स्तुति करनी प्रारम्भ कर दी।

श्रीराजोवाच
अनाद्यविद्योपहतात्मसंविद-
स्तन्मूलसंसारपरिश्रमातुराः ।
यदृच्छयोपसृता यमाप्नुयु-
र्विमुक्तिदो नः परमो गुरुर्भवान् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने निम्नवत् स्तुति की; अनादि—अनन्त काल से; अविद्या—अज्ञान से; उपहत—विनष्ट हो गया है; आत्म-संविदः—आत्म-ज्ञान; तत्—वह है; मूल—जड़; संसार—भौतिक बन्धन; परिश्रम—दुखद स्थिति तथा कठिन श्रम से पूर्ण; आतुराः—कष्ट सहने वाले; यदृच्छया—परम इच्छा से; उपसृताः—आचार्य का कृपापात्र; यम्—भगवान् को; आप्नुयुः—प्राप्त कर सकता है; विमुक्ति-दः—मुक्ति की प्रक्रिया; नः—हमारा; परमः—परम; गुरुः—गुरु; भवान्—आप।

राजा ने कहा : भगवान् की कृपा से उन लोगों को जो अनन्त काल से आत्मज्ञान खो बैठे हैं और इस अविद्या के कारण भौतिक कष्टमय बद्ध जीवन में रह रहें हैं भगवद्भक्तों से भेंट करने का अवसर मिलता है। मैं उन भगवान् को परम आध्यात्मिक गुरु स्वीकार करता हूँ।

तात्पर्य : वास्तव में भगवान् परम आध्यात्मिक गुरु हैं। वे बद्धजीवों के कष्ट के विषय में सब कुछ जानते हैं; अतएव वे इस भौतिक जगत में वास्तविक स्वयं प्रकट होते हैं, कभी अवतार के रूप में तो कभी किसी जीव को अपना प्रतिनिधि बनाकर। फिर भी वे सभी दशाओं में आदि आध्यात्मिक गुरु हैं,

जो इस संसार में कष्ट भोगने वाली बद्ध जीवात्माओं को प्रकाश प्रदान करता है। भगवान् सदैव बद्धजीवों की कई प्रकार की सहायता देने में लगे रहते हैं। इसीलिए उन्हें यहाँ पर *परमो गुरुर्भवान्* कहकर सम्बोधित किया गया है। भगवान् का प्रतिनिधि भी जो कृष्णभावनामृत का प्रसार-कार्य करता है भगवान् के आदेश को पूरा करने के लिए भगवान् द्वारा मार्गदर्शन पाता है। ऐसा व्यक्ति भले ही एक सामान्य मनुष्य लगे, किन्तु परम गुरु-रूप भगवान् की ओर से काम करने के कारण उसे सामान्य व्यक्ति की तरह उपेक्षित नहीं किया जाना चाहिए। इसीलिए कहा गया है—*आचार्यं मां विजानीयात्*—आचार्य को जो भगवान् की ओर से कार्य करता है साक्षात् भगवान् जैसा मानना चाहिए।

साक्षाद् धरित्वेन समस्तशास्त्रै-

रुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्भिः।

किन्तु प्रभोर्यः प्रिय एव तस्य

वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥

विश्वनाथ चक्रवती ठाकुर ने सलाह दी है कि गुरु जो भगवान् की ओर से कार्य करता है भगवान् की ही भाँति पूजा जाना चाहिए क्योंकि इस भौतिक संसार में फँसे बद्धजीवों को लाभ पहुँचाने के लिए भगवान् के सन्देश के प्रचार हेतु वह भगवान् का सर्वाधिक विश्वनीय दास होता है।

जनोऽबुधोऽयं निजकर्मबन्धनः
सुखेच्छया कर्म समीहतेऽसुखम् ।
यत्सेवया तां विधुनोत्यसन्मतिं
ग्रन्थिं स भिन्द्याद्धृदयं स नो गुरुः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

जनः—जन्म तथा मृत्यु के अधीन बद्धजीव; अबुधः—शरीर को आत्मा स्वीकार करने के कारण सर्वाधिक मूर्ख; अयम्—यह; निज-कर्म-बन्धनः—अपने पापपूर्ण कार्यों के फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के शरीरों को स्वीकार करते हुए; सुख-इच्छया—इस जगत में सुखी बनने की इच्छा से; कर्म—सकाम कर्म; समीहते—योजना बनाता है; असुखम्—केवल दुख के लिए; यत्-सेवया—जिसकी सेवा करने से; ताम्—कर्म बन्धन को; विधुनोति—स्वच्छ बनाता है; असत्-मतिम्—मलिन मनोवृत्ति (शरीर को आत्मा मानते हुए); ग्रन्थिम्—कठिन गाँठ; सः—भगवान्; भिन्द्यात्—काटी जाकर; हृदयम्—हृदय में; सः—वह (भगवान्); नः—हमारा; गुरुः—गुरु।

इस संसार में सुखी बनने की आकांक्षा से मूर्ख बद्धजीव सकाम कर्म करता है जिनसे केवल कष्ट ही मिलते हैं। किन्तु भगवान् की सेवा करने से मनुष्य सुख की ऐसी झूठी इच्छाओं से मुक्त हो जाता है। हे मेरे गुरु! मेरे हृदय से झूठी इच्छाओं की ग्रंथि को काट दें।

तात्पर्य : भौतिक सुख के लिए बद्धजीव सकाम कर्मों में संलग्न होता है, किन्तु वस्तुत: वे उसे भौतिक दुख में डाल देते हैं। बद्धजीव इसे न जानने के कारण अविद्या में रहता कहा जाता है। बद्धजीव सुख की झूठी आशा से विविध भौतिक योजनाओं को अपनाने में लग जाता है। यहाँ महाराज सत्यव्रत प्रार्थना कर रहे हैं कि भगवान् झूठे सुख की इस कठोर गाँठ को काट दें और उसके परम आध्यात्मिक गुरु बन जाँय।

यत्सेवयाग्नेरिव रुद्ररोदनं
पुमान्विजह्यान्मलमात्मनस्तम: ।
भजेत वर्णं निजमेष सोऽव्ययो
भूयात्स ईश: परमो गुरोर्गुरु: ॥ ४॥

शब्दार्थ

यत्-सेवया—जिस (भगवान् की) सेवा से; अग्ने:—अग्नि के स्पर्श में; इव—मानो; रुद्र-रोदनम्—चाँदी या सोने का टुकड़ा पवित्र हो जाता है; पुमान्—पुरुष; विजह्यात्—त्याग सकता है; मलम्—संसार की सारी गंदी वस्तुओं को; आत्मन:—अपनी; तम:—तमोगुण, जिसके अन्तर्गत मनुष्य पवित्र तथा अपवित्र कर्म करता है; भजेत—असली रूप को प्राप्त करता है; वर्णम्—मूल पहचान; निजम्—अपनी; एष:—ऐसा; स:—वह; अव्यय:—अव्यय; भूयात्—हो; स:—वह; ईश:—भगवान्; परम:—परम; गुरो: गुरु:—गुरुओं के गुरु।

भवबन्धन से जो छूटना चाहता है उसे भगवान् की सेवा करनी चाहिए और पवित्र तथा अपवित्र कर्मों से युक्त तमोगुण का संसर्ग छोड़ देना चाहिए। इस तरह मनुष्य को अपनी मूल पहचान फिर से प्राप्त होती है, जिस प्रकार अग्नि में तपाने पर चाँदी या सोने का टुकड़ा अपना सारा मल छुड़ा कर शुद्ध हो जाता है। ऐसे अव्यय भगवान्! आप हमारे गुरु बनें क्योंकि आप अन्य सभी गुरुओं के आदि गुरु हैं।

तात्पर्य : मनुष्य जीवन अपने को शुद्ध बनाने के लिए तपस्या करने के निमित्त है। *तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं शुद्ध्येत।* प्रकृति के गुणों के कल्मष के कारण मनुष्य जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़ा रहता है (*कारणं गुणसङ्गोऽस्य सद्असद्-योनिजन्मसु*); अतएव मनुष्य जीवन का उद्देश्य इस कल्मष से अपने को शुद्ध करना है, जिससे उसे अपना आध्यात्मिक स्वरूप पुन: प्राप्त हो सके और जन्म-मृत्यु के इस चक्र में उसे न पड़ना पड़े। कल्मषहीन बनने की संस्तुत विधि है भगवान् की भक्ति। आत्म-साक्षात्कार की अनेक विधियाँ हैं यथा *कर्म, ज्ञान* तथा *योग,* किन्तु इनमें से कोई भी भक्ति की विधि के तुल्य नहीं है। जिस प्रकार सोने तथा चाँदी के मल को मात्र जल से धोकर नहीं, अपितु अग्नि में

तपाकर दूर किया जा सकता है उसी प्रकार जीव को भक्ति के द्वारा उसके मूल स्वरूप में जागृत किया जा सकता है (*यत्सेवया*), *कर्म, ज्ञान* या *योग* से नहीं। चिन्तनपरक ज्ञान या योगासन प्रक्रिया से कोई लाभ नहीं हो सकता।

वर्णम् शब्द किसी के मूल स्वरूप की कान्ति को बताता है। चाँदी या सोने की मूल कान्ति चमकीली होती है। इसी प्रकार जीव की मूल कान्ति आनन्द की कान्ति है क्योंकि जीव *सच्चिदानन्द विग्रह* का अंशरूप है। *आनन्दमयोऽभ्यासात्।* सच्चिदानन्द विग्रह अर्थात् कृष्ण का अंश होने के कारण प्रत्येक जीव को आनन्दमय होने का अधिकार है। तो फिर प्रकृति के भौतिक गुणों द्वारा मलीन कल्मष के कारण जीव कष्ट क्यों उठाये? जीव को चाहिए कि शुद्ध हो और अपना मूल स्वरूप फिर से प्राप्त करे। ऐसा वह भक्ति द्वारा ही कर सकता है। इसलिए मनुष्य को भगवान् की शिक्षाएँ ग्रहण करनी चाहिए जिन्हें यहाँ *गुरोर्गुरुः* अर्थात् गुरुओं का गुरु कहा गया है।

भले ही हमें भगवान् से प्रत्यक्ष सम्पर्क करने का सौभाग्य प्राप्त न हो, किन्तु भगवान् का प्रतिनिधि साक्षात् भगवान् जैसा होता है क्योंकि ऐसा प्रतिनिधि ऐसा कुछ भी नहीं कहता जो भगवान् द्वारा न कहा गया हो। इसलिए चैतन्य महाप्रभु ने गुरु की यह परिभाषा दी है—*यारे देख, तारे कह 'कृष्ण'-उपदेश*—प्रामाणिक गुरु वह है, जो अपने शिष्यों को कृष्ण द्वारा कहे गये सिद्धान्तों के अनुसार उपदेश देता है। प्रामाणिक गुरु वह है, जिसने कृष्ण को गुरु स्वीकार किया है। यह गुरु-परम्परा प्रणाली है। आदि गुरु तो व्यासदेव हैं क्योंकि वे *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के वक्ता हैं जिनमें लिखी सारी बातें कृष्ण से सम्बन्ध रखती हैं। अतएव *गुरुपूजा* को व्यासपूजा कहा जाता है। अन्ततः आदि गुरु कृष्ण हैं, नारद उनके शिष्य हैं और व्यास नारद के शिष्य हैं। इस प्रकार क्रमशः गुरु-परम्परा प्राप्त होती है। कोई व्यक्ति गुरु नहीं बन सकता यदि वह यह नहीं जानता कि कृष्ण या उनके अवतार क्या चाहते हैं। गुरु का सन्देश भगवान् का सन्देश है और वह संदेश है सारे विश्व में कृष्णभावनामृत का प्रसार।

न यत्प्रसादायुतभागलेश-
मन्ये च देवा गुरवो जनाः स्वयम् ।
कर्तुं समेताः प्रभवन्ति पुंस-
स्तमीश्वरं त्वां शरणं प्रपद्ये ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यत्-प्रसाद—भगवान् की कृपा; अयुत-भाग-लेशम्—मात्र दस हजारवाँ भाग; अन्ये—अन्य; च—भी; देवाः—देवता तक; गुरवः—तथाकथित गुरु; जनाः—सारे लोग; स्वयम्—स्वयं; कर्तुम्—सम्पन्न करने के लिए; समेताः—कुल मिलाकर; प्रभवन्ति—समान रूप से समर्थ बन सकते हैं; पुंसः—भगवान् द्वारा; तम्—उसको; ईश्वरम्—ईश्वर को; त्वाम्—तुम्हारी; शरणम्—शरण; प्रपद्ये—ग्रहण करने दें।

न तो सारे देवता, न तथाकथित गुरू, न ही अन्य सारे लोग, स्वतंत्र रूप से या साथ मिलकर, आपकी कृपा के दस हजारवें भाग के बराबर भी कृपा प्रदान कर सकते हैं। अतएव मैं आपके चरणकमलों की शरण लेना चाहता हूँ।

तात्पर्य : कहा गया है कि—*कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना: प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता:*—सामान्य लोग भौतिक इच्छाओं से प्रेरित होकर शीघ्र ही फल प्राप्त करने के लिए देवताओं की पूजा करते हैं। सामान्यत: लोग भगवान् विष्णु के भक्त नहीं बनते क्योंकि भगवान् विष्णु उनके आदेश-पूरक नहीं बनते। वे भक्त को कभी भी ऐसा वर नहीं देते जिससे भक्त के मन में और वरों की इच्छा उत्पन्न हो। देवताओं की पूजा करने से फल प्राप्त हो सकते हैं किन्तु जैसाकि *भगवद्गीता* में वर्णन हुआ है—*अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्*—देवताओं से जो भी वर लिये जा सकते हैं, वे क्षणिक होते हैं। चूँकि देवता स्वयं नश्वर होते हैं अतएव उनके वर भी नश्वर होते हैं और उनका कोई स्थायी महत्त्व नहीं होता। जो लोग ऐसे वरों की आकांक्षा करते हैं, वे अल्पज्ञ हैं (*तद्भवत्यल्पमेधसाम्*)। भगवान् विष्णु के वर भिन्न हैं। भगवान् विष्णु की कृपा होने पर मनुष्य भौतिक कल्मष से पूर्णतया मुक्त होकर भगवद्धाम को वापस जा सकता है। इसलिए देवताओं द्वारा दिये गये वर भगवान् के वरों के दस हजारवें भाग के भी बराबर नहीं होते। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह देवताओं या झूठे गुरुओं से वर प्राप्त करने का प्रयास न करे। उसे केवल भगवान् से वर पाने की कामना करनी चाहिए। जैसाकि भगवान् *भगवद्गीता* (१.६६) में कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच: ॥

"सारे धर्मों को छोड़कर केवल मेरी शरण में आओ। मैं तुम्हें सारे पापों के फल से उबार लूँगा। तुम डरो मत।" यही सबसे बड़ा वर है।

अचक्षुरन्धस्य यथाग्रणी: कृतस्

तथा जनस्याविदुषोऽबुधो गुरुः ।
त्वमर्कदृक्सर्वदृशां समीक्षणो
वृतो गुरुर्नः स्वगतिं बुभुत्सताम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

अचक्षुः—जिसमें देखने की शक्ति न हो; अन्धस्य—अन्धे पुरुष का; यथा—जिस तरह; अग्रणीः—आगे चलने वाला नेता; कृतः—स्वीकृत; तथा—उसी प्रकार; जनस्य—ऐसे व्यक्ति का; अविदुषः—जिसे जीवन के लक्ष्य का कोई ज्ञान नहो; अबुधः—मूर्ख, मूढ़; गुरुः—गुरु; त्वम्—तुम; अर्क-दृक्—सूर्य के समान प्रतीत होते हो; सर्व-दृशाम्—ज्ञान के सारे स्रोतों में से; समीक्षणः—पूर्ण द्रष्टा; वृतः—स्वीकृत; गुरुः—गुरु; नः—हमारा; स्व-गतिम्—अपने असली जीवन-लक्ष्य को जानने वाला; बुभुत्सताम्—ऐसे प्रबुद्ध व्यक्ति को।

जिस प्रकार एक अन्धा पुरुष न देख सकने के कारण दूसरे अन्धे को अपना नायक मान लेता है, उसी तरह जो लोग जीवन-लक्ष्य को नहीं जानते वे किसी न किसी धूर्त तथा मूर्ख को अपना गुरु बना लेते हैं, किन्तु हमारा लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार है अतएव हम आपको अपना गुरु स्वीकार करते हैं क्योंकि आप सभी दिशाओं में देखने में समर्थ हैं और सूर्य की तरह सर्वज्ञ हैं।

तात्पर्य : अज्ञान में डूबा रहने एवं जीवन-लक्ष्य न जानने के कारण बद्धजीव ऐसा गुरु बनाता है, जो शब्दों की जादूगरी जानता हो और ऐसा जादू दिखा सकता हो जो किसी मूर्ख के लिए आश्चर्यजनक हो। कभी-कभी मूर्ख व्यक्ति किसी को इसलिए गुरु बना लेता है क्योंकि वह अपनी योगशक्ति से थोड़ा सा सोना भी बना सकता है। चूँकि ऐसे शिष्य के पास अल्पज्ञान रहता है अतएव वह यह तै नहीं कर सकता कि सोना बनाना गुरु की कसौटी है या नहीं। क्यों न उन भगवान् कृष्ण को गुरु बनाया जाये जिनसे सोने की अनन्त खानें उत्पन्न होती हैं? *अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।* सोने की सारी खानें भगवान् की शक्ति द्वारा उत्पन्न की जाती हैं; अतएव उस जादूगर को क्यों गुरु बनाया जाये जो थोड़ा सा सोना ही बना सकता है? ऐसे गुरुओं को वे ही मानते हैं, जो अन्धे हैं और जीवन का लक्ष्य नहीं जानते। किन्तु महाराज सत्यव्रत जीवन का लक्ष्य जानते थे। वे भगवान् को जानते थे; अतएव उन्होंने भगवान् को अपना गुरु बनाया। या तो भगवान् या उनका प्रतिनिधि ही गुरु बन सकता है। भगवान् कहते हैं—*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*—ज्योंही कोई मेरी शरण में आ जाता है उसे माया के जाल से छुटकारा मिल सकता है। अतएव यह गुरु का कार्य है कि वह अपने शिष्य को उपदेश दे कि यदि वह भवबन्धन से छूटना चाहता है, तो भगवान् की शरण में जाये। यही गुरु का लक्षण है। इसी सिद्धान्त का उपदेश श्री चैतन्य महाप्रभु ने दिया—*यारे देख, तारे कह 'कृष्ण'-उपदेश।* दूसरे शब्दों में, मनुष्य को यह सलाह दी जाती है कि वह किसी ऐसे को गुरु न बनाए जो भगवान्

कृष्ण द्वारा दिये गये उपदेश के मार्ग पर न चलता हो।

जनो जनस्यादिशतेऽसतीं गतिं
यया प्रपद्येत दुरत्ययं तमः ।
त्वं त्वव्ययं ज्ञानममोघमञ्जसा
प्रपद्यते येन जनो निजं पदम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

जनः—व्यक्ति जो प्रामाणिक गुरु नहीं है (साधारण मनुष्य); जनस्य—उस साधारण व्यक्ति का जिसे जीवन का लक्ष्य ज्ञात नहीं है; आदिशते—आदेश देता है; असतीम्—नश्वर, भौतिक; गतिम्—जीवन लक्ष्य; यया—ऐसे ज्ञान से; प्रपद्येत—शरण में जाता है; दुरत्ययम्—दुर्लंघ्य; तमः—अज्ञान; त्वम्—तुम; तु—लेकिन; अव्ययम्—जो विनष्ट न किया जा सके; ज्ञानम्—ज्ञान; अमोघम्—बिना भौतिक कल्मष के; अञ्जसा—तुरन्त; प्रपद्यते—प्राप्त करता है; येन—ऐसे ज्ञान से; जनः—व्यक्ति; निजम्—अपना; पदम्—मूल स्थान।

तथाकथित भौतिकतावादी गुरु अपने भौतिकतावादी शिष्यों को आर्थिक विकास एवं इन्द्रियतृप्ति के विषय में उपदेश देता है और ऐसे उपदेशों से मूर्ख शिष्य अज्ञान के भौतिक संसार में पड़े रहते है। किन्तु आप शाश्वत ज्ञान प्रदान करते हैं और बुद्धिमान् व्यक्ति ऐसा ज्ञान प्राप्त करके तुरन्त ही अपनी मूल वैधानिक स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य : तथाकथित गुरू अपने शिष्यों को भौतिक लाभ के लिए शिक्षा देते हैं। कुछ गुरू उपदेश देते हैं कि ऐसा ध्यान किया जाये जिससे उसकी बुद्धि शरीर को इन्द्रियतृप्ति के योग्य बनाये रखने में बढ़े। दूसरे प्रकार के गुरू उपदेश देते हैं कि काम (यौन) ही जीवन का चरम लक्ष्य है; अतएव शक्तिभर सम्भोग करना चाहिए। ये उपदेश मूर्ख गुरुओं के हैं। दूसरे शब्दों में, मूर्ख गुरु के उपदेशों के कारण मनुष्य भौतिक संसार में हमेशा के लिए पड़ा रहता है और इसके कष्ट सहता रहता है। किन्तु यदि कोई बुद्धिमान् व्यक्ति भगवान् से आदेश ग्रहण करता है, जैसाकि *भगवद्गीता* में या कपिलदेव के सांख्य दर्शन में बताया गया है, तो उसे शीघ्र ही मुक्ति मिल सकती है और वह आध्यात्मिक जीवन के मूल पद पर स्थित हो सकता है। *निजं पदम्* शब्द सार्थक हैं। भगवान् का अंश होने के कारण जीव को वैकुण्ठलोक में स्थान पाने का जन्मसिद्ध अधिकार है जहाँ किसी प्रकार की चिन्ता नहीं होती। अतएव मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के आदेशों का पालन करे। तब *भगवद्गीता* के कथन के अनुसार इस शरीर को त्यागने के बाद मनुष्य भगवद्धाम वापस जायेगा—*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।* भगवान् अपने मूल स्व-रूप में वैकुण्ठ में रहते हैं और भगवान् के आदेशों का पालन करने वाला भक्त

उनके पास चला जाता है (*माम् एति*)। आध्यात्मिक व्यक्ति के रूप में ऐसा भक्त भगवान् के पास लौट जाता है जहाँ वह उनके साथ खेलता तथा नाचता है। यही जीवन का चरम लक्ष्य है।

त्वं सर्वलोकस्य सुहृत्प्रियेश्वरो
ह्यात्मा गुरुर्ज्ञानमभीष्टसिद्धिः ।
तथापि लोको न भवन्तमन्धधी-
र्जानाति सन्तं हृदि बद्धकामः ॥५२॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम, हे भगवान्; सर्व-लोकस्य—सारे लोकों एवं उनके निवासियों के; सुहृत्—शुभचिन्तक; प्रिय—अत्यन्त प्यारे; ईश्वरः—परम नियन्ता; हि—भी; आत्मा—परमात्मा; गुरुः—गुरु; ज्ञानम्—परम ज्ञान; अभीष्ट-सिद्धिः—समस्त इच्छाओं की पूर्ति; तथा अपि—फिर भी; लोकः—लोग; न—नहीं; भवन्तम्—आपको; अन्ध-धीः—अन्धी बुद्धि के कारण; जानाति—जान सकता है; सन्तम्—स्थित; हृदि—उसके हृदय में; बद्ध-कामः—भौतिक कामेच्छाओं से मोहित होने के कारण।

हे प्रभु! आप सबों के परम हितैषी तथा प्रियतम मित्र, नियन्ता, परमात्मा, परम उपदेशक, परम ज्ञान के दाता तथा समस्त इच्छाओं को पूरा करने वाले हैं। यद्यपि आप हृदय में रहते हैं, किन्तु हृदय में बसी कामेच्छाओं के कारण मूर्ख व्यक्ति आपको समझ नहीं पाता।

तात्पर्य : यहाँ पर मूर्खता का कारण बताया गया है। चूँकि इस जगत में बद्धजीव भौतिकतावादी कामेच्छाओं से पूर्ण रहता है अतएव वह भगवान् को नहीं समझ पाता यद्यपि भगवान् सबों के हृदय में वास करते हैं (*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*)। इसी मूर्खता के कारण वह भगवान् से उपदेश नहीं ग्रहण कर पाता यद्यपि भगवान् प्रत्येक व्यक्ति को बाहर और भीतर से उपदेश देने के लिए उद्यत रहते हैं। भगवान् कहते हैं—*ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।* दूसरे शब्दों में, भगवान् भक्ति के विषय में उपदेश दे सकते हैं जिससे मनुष्य भगवद्धाम लौट सकता है। किन्तु दुर्भाग्यवश लोग भक्ति को नहीं अपनाते। भगवान् सबों के हृदय में स्थित होकर मनुष्य को भगवद्धाम वापस जाने का पूरा-पूरा उपदेश दे सकते हैं, किन्तु मनुष्य कामेच्छाओं के कारण भौतिकतावादी कार्यों में लगा रहता है और भगवान् की सेवा नहीं करता। अतएव वह भगवान् के उपदेश के महत्त्व से वंचित रह जाता है। ज्ञान के बल पर मनुष्य यह समझ सकता है कि वह शरीर न होकर आत्मा है, किन्तु जब तक वह भक्ति में नहीं लगता तब तक जीवन का असली प्रयोजन पूरा पहीं हो पाता। जीवन का असली प्रयोजन भगवद्धाम वापस जाकर भगवान् के साथ रहना, उनके साथ खेलना नाचना तथा खाना-पीना है। ये सब आनन्द के विविध साधन हैं—आध्यात्मिक विविधताओं में आध्यात्मिक आनन्द। भले ही कोई ज्ञान के बल पर

ब्रह्मभूत पद को क्यों न पा ले तथा अपने आध्यात्मिक स्वरूप को क्यों न समझ ले, किन्तु भगवान् को समझे बिना वह आध्यात्मिक जीवन का आनन्द नहीं उठा सकता। इसका संकेत *अभीष्टसिद्धिः* शब्द से मिलता है। भगवान् की भक्ति में लगने से ही जीवन के चरम लक्ष्य को पूरा किया जा सकता है। तब भगवान् मनुष्य को सही उपदेश देंगे कि भगवद्धाम किस तरह वापस जाया जाये।

त्वं त्वामहं देववरं वरेण्यं
प्रपद्य ईशं प्रतिबोधनाय ।
छिन्ध्यर्थदीपैर्भगवन्वचोभि-
र्ग्रन्थीन्हृदय्यान्विवृणु स्वमोकः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—आप कितने उच्च हैं; त्वाम्—तुमको; अहम्—मैं; देव-वरम्—देवताओं द्वारा पूजित; वरेण्यम्—सबों में महान्; प्रपद्ये—पूरी तरह शरणागत; ईशम्—परम नियन्ता को; प्रतिबोधनाय—जीवन के असली प्रयोजन को समझने के लिए; छिन्धि—काट दो; अर्थ-दीपैः—साभिप्राय उपदेश रूपी प्रकाश के द्वारा; भगवन्—हे भगवान्; वचोभिः—अपने शब्दों से; ग्रन्थीन्—गाँठों को; हृदय्यान्—हृदय के भीतर बँधी; विवृणु—बतलाइये; स्वम् ओकः—जीवन में मेरा गन्तव्य।

हे परमेश्वर! आत्म-साक्षात्कार के लिए मैं आपकी शरण ग्रहण करता हूँ। आप सभी वस्तुओं के परम नियन्ता के रूप में देवताओं द्वारा पूजित होते हैं। आप अपने उपदेशों से जीवन के प्रयोजन को प्रकट करते हुए कृपया मेरे हृदय की ग्रंथि को काट दीजिये और मुझे जीवन का लक्ष्य बतलाइये।

तात्पर्य : कभी-कभी यह तर्क किया जाता है कि लोग यह नहीं जानते कि गुरु कौन होता है और ऐसा गुरु ढूँढ़ पाना जो जीवनलक्ष्य के विषय में प्रकाश दे सके अत्यन्त कठिन है। इन सारे प्रश्नों का उत्तर देने के लिए राजा सत्यव्रत हमें रास्ता दिखलाते हैं कि भगवान् को असली गुरु के रूप में स्वीकार किया जाये। भगवान् ने *भगवद्गीता* में सारी बातें बतलाई हैं कि इस संसार में प्रत्येक वस्तु के साथ कैसे व्यवहार किया जाये और किस तरह भगवद्धाम वापस जाया जाये। अतएव तथाकथित गुरुओं से, जो मूढ़ तथा मूर्ख होते हैं, भ्रमित नहीं होना चाहिए। प्रत्युत मनुष्य को चाहिए कि भगवान् को साक्षात् गुरु के रूप में देखे। किन्तु बिना गुरु की सहायता के *भगवद्गीता* को समझ पाना कठिन है। अतएव गुरु परम्परा प्रणाली में प्रकट होता है। *भगवद्गीता* (४.३४) में भगवान् संस्तुति करते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

''गुरु के पास जाकर सत्य जानने का प्रयास करो। उससे विनीत भाव से प्रश्न पूछो और उसकी सेवा करो। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति तुम्हें ज्ञान दे सकता है क्योंकि उसने सत्य का दर्शन किया है।'' भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को प्रत्यक्ष उपदेश दिया। अतएव अर्जुन तत्त्वदर्शी या गुरु है। अर्जुन ने भगवान् को स्वीकार किया। *परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।* इसी तरह भगवान् के साकार भक्त श्री अर्जुन के चरणचिह्नों पर चलकर भगवान् कृष्ण की श्रेष्ठता स्वीकार करनी चाहिए जिसकी पुष्टि व्यास, देवल, असित, नारद तथा रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्क तथा विष्णुस्वामी इत्यादि परवर्ती आचार्यों एवं उनके भी बाद महानतम आचार्य श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा हुई है। तो फिर गुरु ढूँढने में कठिनाई है कहाँ? यदि कोई निष्ठावान् है, तो वह गुरु पा सकता है और हर बात सीख सकता है। मनुष्य को चाहिए कि गुरु से शिक्षा ग्रहण करे और जीवनलक्ष्य की खोज करे। अतएव महाराज सत्यव्रत हमें महाजन का मार्ग प्रदर्शित करते हैं। *महाजनो येन गत: स पन्था:।* मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् (दशावतार) की शरण ग्रहण करे और उनसे आध्यात्मिक जगत एवं जीवनलक्ष्य के बारे में सीखे।

श्रीशुक उवाच
इत्युक्तवन्तं नृपतिं भगवानादिपूरुष: ।
मत्स्यरूपी महाम्भोधौ विहरंस्तत्त्वमब्रवीत् ॥ ५४॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उक्तवन्तम्—महाराज सत्यव्रत के द्वारा कहे जाने पर; नृपतिम्—राजा को; भगवान्—भगवान्; आदि-पूरुष:—आदि पूरुष; मत्स्य-रूपी—मछली के रूप में; महा-अम्भोधौ—बाढ़ के जल में; विहरन्—विचरण करते; तत्त्वम् अब्रवीत्—परम सत्य के विषय में बतलाया।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : जब सत्यव्रत ने मत्स्य रूप धारण करने वाले भगवान् से इस प्रकार प्रार्थना की तो उसको बाढ़ के जल में विचरण करते हुए भगवान् ने परम सत्य के विषय में उपदेश दिया।

पुराणसंहितां दिव्यां साङ्ख्ययोगक्रियावतीम् ।
सत्यव्रतस्य राजर्षेरात्मगुह्यमशेषत: ॥ ५५॥

शब्दार्थ

पुराण—पुराणों में, विशेष रूप से मत्स्य पुराण में, बतलाई गई विषय-वस्तु; संहिताम्—ब्रह्म-संहिता तथा अन्य संहिताओं में निहित वैदिक आदेश; दिव्याम्—सारा दिव्य वाङ्मय; साङ्ख्य—सांख्ययोग; योग—आत्म-साक्षात्कार का विज्ञान या भक्तियोग; क्रियावतीम्—जीवन में व्यवहारिक रूप में प्रयुक्त; सत्यव्रतस्य—राजा सत्यव्रत के; राज-ऋषे:—राजर्षि; आत्म-गुह्यम्—आत्म-साक्षात्कार के सारे रहस्य; अशेषत:—सभी शाखाओं सहित।

इस प्रकार भगवान् ने राजा सत्यव्रत को वह आध्यात्मिक विज्ञान बतलाया जो सांख्ययोग कहलाता है, जिससे पदार्थ तथा आत्मा का अन्तर (अर्थात् भक्तियोग) जाना जाता है। इसके साथ ही भगवान् ने पुराणों (प्राचीन इतिहास) तथा संहिताओं में पाये जाने वाले उपदेश भी बतलाये। भगवान् ने इन सारे ग्रंथों में अपनी व्याख्या की है।

अश्रौषीदृषिभिः साकमात्मतत्त्वमसंशयम् ।
नाव्यासीनो भगवता प्रोक्तं ब्रह्म सनातनम् ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

अश्रौषीत्—उसने सुना; ऋषिभिः—ऋषियों के; साकम्—साथ; आत्म-तत्त्वम्—आत्म-साक्षात्कार का विज्ञान; असंशयम्—बिना किसी सन्देह के (क्योंकि यह भगवान् द्वारा कहा गया था); नावि आसीनः—नाव में बैठा; भगवता—भगवान् द्वारा; प्रोक्तम्—बताया गया; ब्रह्म—सारा दिव्य साहित्य; सनातनम्—सदा विद्यमान।

राजा सत्यव्रत ने ऋषियों सहित नाव में बैठे-बैठे आत्म-साक्षात्कार के विषय में भगवान् के उपदेशों को सुना। ये सारे उपदेश शाश्वत वैदिक साहित्य (ब्रह्म) से थे। इस तरह राजा तथा ऋषियों को परम सत्य (परब्रह्म) के विषय में कोई संशय नहीं रहा।

अतीतप्रलयापाय उत्थिताय स वेधसे ।
हत्वासुरं हयग्रीवं वेदान्प्रत्याहरद्धरिः ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

अतीत—बीता हुआ; प्रलय-अपाये—बाढ़ के अन्त में; उत्थिताय—निद्रा के बाद होश में लाने के लिए; सः—भगवान् ने; वेधसे—ब्रह्मा को; हत्वा—मारकर; असुरम्—असुर; हयग्रीवम्—हयग्रीव को; वेदान्—सारे वैदिक अभिलेख; प्रत्याहरत्—लाकर दे दिए; हरिः—भगवान् ने।

(स्वायंभुव मनु के काल में) पिछली बाढ़ के अन्त में भगवान् ने हयग्रीव नामक असुर को मारा और ब्रह्मा के निद्रा से जगने पर उन्हें सारा वैदिक साहित्य प्रदान कर दिया।

स तु सत्यव्रतो राजा ज्ञानविज्ञानसंयुतः ।
विष्णोः प्रसादात्कल्पेऽस्मिन्नासीद्वैवस्वतो मनुः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; तु—निस्सन्देह; सत्यव्रतः—सत्यव्रत; राजा—राजा; ज्ञान-विज्ञान-संयुतः—ज्ञान तथा उसके व्यावहारिक उपयोग से अभिज्ञ; विष्णोः—भगवान् विष्णु की; प्रसादात्—कृपा से; कल्पे अस्मिन्—इस काल में (वैवस्वत मनु के राज्य में); आसीत्—हो गया; वैवस्वतः मनुः—वैवस्वत मनु।

भगवान् विष्णु की कृपा से राजा सत्यव्रत को सारा वैदिक ज्ञान प्राप्त हो गया और इस काल में उसने अब सूर्यदेव के पुत्र वैवस्वत मनु के रूप में जन्म लिया है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का निर्णय है कि सत्यव्रत चाक्षुष मन्वन्तर में प्रकट हुआ। चाक्षुष मन्वन्तर के बाद वैवस्वत मनु का काल प्रारम्भ हुआ। भगवान् विष्णु की कृपा से सत्यव्रत को द्वितीय मत्स्यावतार से उपदेश प्राप्त हुए और इस तरह उसे सारा आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हुआ।

सत्यव्रतस्य राजर्षेर्मायामत्स्यस्य शार्ङ्गिणः ।
संवादं महदाख्यानं श्रुत्वा मुच्येत किल्बिषात् ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

सत्यव्रतस्य—राजा सत्यव्रत का; राज-ऋषेः—महान् राजा; माया-मत्स्यस्य—तथा मत्स्यावतार का; शार्ङ्गिणः—सिर पर एक सींग वाला; संवादम्—वर्णन या व्यवहार; महत्-आख्यानम्—महान् कथा; श्रुत्वा—सुनकर; मुच्येत—उबर जाता है; किल्बिषात्—सारे पापों के फलों से।

महान् राजा सत्यव्रत तथा भगवान् विष्णु के मत्स्यावतार से सम्बन्धित यह कथा एक महान् दिव्य आख्यान है। जो भी इसे सुनता है, वह पापमय जीवन के फलों से छूट जाता है।

अवतारं हरेर्योऽयं कीर्तयेदन्वहं नरः ।
सङ्कल्पास्तस्य सिध्यन्ति स याति परमां गतिम् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

अवतारम्—अवतार; हरेः—भगवान् का; यः—जो भी; अयम्—यह; कीर्तयेत्—कहता है और कीर्तन करता है; अन्वहम्—रोज; नरः—ऐसा व्यक्ति; सङ्कल्पाः—सारी आकांक्षाएं; तस्य—उसकी; सिध्यन्ति—सफल होती हैं; सः—ऐसा व्यक्ति; याति—वापस जाता है; परमाम् गतिम्—भगवद्धाम या परम स्थान को।

जो कोई मत्स्य अवतार तथा राजा सत्यव्रत के इस वर्णन को सुनाता है उसकी सारी आकांक्षाएं पूरी होंगी और वह निश्चित रूप से भगवद्धाम वापस जाएगा।

प्रलयपयसि धातुः सुप्तशक्तेर्मुखेभ्यः
श्रुतिगणमपनीतं प्रत्युपादत्त हत्वा ।
दितिजमकथयद्यो ब्रह्म सत्यव्रतानां
तमहमखिलहेतुं जिह्ममीनं नतोऽस्मि ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

प्रलय-पयसि—बाढ़ के जल में; धातुः—ब्रह्माजी से; सुप्त-शक्तेः—जो नींद के कारण निष्क्रिय था; मुखेभ्यः—मुँहों से; श्रुति-गणम्—वैदिक अभिलेख; अपनीतम्—चुराये गये; प्रत्युपादत्त—वापस दे दिया; हत्वा—मारकर; दितिजम्—महान् असुर को; अकथयत्—बतलाया; यः—जो; ब्रह्म—वैदिक ज्ञान; सत्यव्रतानाम्—सत्यव्रत तथा महर्षियों के प्रकाश हेतु; तम्—उसको; अहम्—मैं; अखिल-हेतुम्—समस्त कारणों के कारण को; जिह्म-मीनम्—बड़ी मछली का बहाना करके प्रकट होने वाले को; नतः अस्मि—मैं सादर नमस्कार करता हूँ।

मैं उन भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ जिन्होंने उस विशाल मछली का रूप धारण

करने का बहाना किया जिसने ब्रह्मा के निद्रा से जगने पर उन्हें वैदिक साहित्य वापस लाकर दिया और राजा सत्यव्रत तथा महर्षियों को वैदिक साहित्य का सार कह समझाया।

तात्पर्य : यह भगवान् विष्णु के मत्स्यावतार से सत्यव्रत की भेंट का सारांश है। भगवान् विष्णु का उद्देश्य हयग्रीव असुर से सारे वेद वापस लेकर ब्रह्माजी को सौंपना था। संयोगवश भगवान् ने अपनी अहैतुकी कृपा के कारण सत्यव्रत से बात की। *सत्यव्रतानाम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह सूचित करता है कि जो लोग सत्यव्रत के स्तर पर हैं, वे भगवान् द्वारा प्रदत्त वेदों से ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। भगवान् जो भी बोलते हैं वह वेद मान लिया जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*वेदान्तकृद् वेदवित्*—भगवान् सारे वैदिक ज्ञान के संग्रहकर्ता हैं और वे वेदों के तात्पर्य को जानते हैं। अतएव जो कोई भगवान् कृष्ण से या *भगवद्गीता* यथारूप से ज्ञान ग्रहण करता है, वह वेदों के प्रयोजन को जानता है (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*)। कोई वेदवादरतों से अर्थात् जो वेद पढ़कर उनका दूसरा अर्थ लगाते हैं वैदिक ज्ञान नहीं समझ सकता। वेदों को तो भगवान् से जानना होता है।

भगवान् तथा आचार्यों की कृपा से यह टीका आज १ सितम्बर १९७६ को राधाष्टमी के दिन हमारे नई दिल्ली केन्द्र में समाप्त हुई। श्रील नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं—*ताँदेर चरण सेवि भक्त-सने वास जनमे जनमे हय, एइ अभिलाष।* मैं अपने गुरु श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के आदेश से *श्रीमद्भागवत* को अंग्रेजी भाषा में प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहा हूँ और उनकी कृपा से यह अनुवाद-कार्य क्रमशः प्रगति पर है। यूरोपीय तथा अमरीकी भक्त जो कृष्णभावनामृत आन्दोलन में सम्मिलित हुए हैं मेरी पर्याप्त सहायता कर रहे हैं। इस प्रकार मैं अपने प्रयाण के पूर्व इस महान् कार्य को समाप्त करने के लिए आशान्वित हूँ। श्री गुरु तथा गौरांग की जय हो।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध के अन्तर्गत "भगवान् का मत्स्यावतार" नामक चौबीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Preliminary pages starts here:

Preliminary page 1

श्री श्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

कृष्णद्वैपायन व्यास

कृत

श्रीमद्भागवतम्

सत्त्वेन प्रतिलभ्याय नैष्कर्म्येण विपश्चिता।

नम: कैवल्यनाथाय निर्वाणसुखसंविदे ॥११ ॥

(श्रीमद्भागवतम् .३.११)

Preliminary page 3

श्रीमद्भागवतम्

(भगवत्-सन्देश)

अष्टम स्कन्ध

''ब्रह्माण्डीय सृष्टि का निवर्तन''

मूल संस्कृत पाठ, शब्दार्थ,

अनुवाद तथा विस्तृत तात्पर्य सहित

द्वारा

कृष्णकृपामूर्ति

श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

संस्थापकाचार्य : अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

Preliminary page 5

आमुख

प्रस्तावना

अध्याय एक

ब्रह्माण्ड के प्रशासक मनु

अध्याय का सारांश

ईश्वर के अवतार की पुष्टि कैसे की जाए?

असली राष्ट्रीय नेताओं द्वारा इन्द्रियतृप्ति का परित्याग

पूर्ण साम्यवाद: हर वस्तु ब्रह्म की है

मानसिक चिन्तन द्वारा ईश्वर सीमित नहीं हो सकता

मानव समाज के परम शिक्षक

अध्याय दो

गजेन्द्र पर संकट

अध्याय का सारांश

क्षीरसागर की लहरों से पन्ने (मरकत) उत्पन्न होते हैं

त्रिकूट पर्वत का स्वर्गिक वातावरण

इन्द्रियतृप्ति में गजेन्द्र की तल्लीनता

घड़ियाल द्वारा गजेन्द्र का भ्रामक भोग विनष्ट

गजेन्द्र का परम नियन्ता को आत्मसमर्पण

अध्याय तीन

गजेन्द्र की समर्पण-स्तुति

अध्याय का सारांश

गजेन्द्र का पूर्व–जन्म के एक मंत्र का स्मरण करना

अचिन्त्य परम कलाकार

भक्तियोग: शुद्ध आध्यात्मिक कर्म

समस्त अध्यात्मवादियों के लिए एकमात्र आश्रय

कृष्ण जीव को हर इच्छित वस्तु प्रदान करते हैं

जीवन–संघर्ष का कारण: अज्ञान

भगवान् हरि द्वारा गजेन्द्र की रक्षा

अध्याय चार

गजेन्द्र का वैकुण्ठ गमन

अध्याय का सारांश

घड़ियाल के रूप में हूहू राजा का जीवन

गजेन्द्र द्वारा आध्यात्मिक शरीर की पुन: प्राप्ति

अध्याय पाँच

देवताओं की भगवान् से सुरक्षा याचना

अध्याय का सारांश

भगवान् के गुणों की गिनती असम्भव

दुर्वासा मुनि का देवताओं को शाप

श्वेतद्वीप—क्षीरसागर में भगवान् का आवास-स्थान

जन्म तथा मृत्यु का मानसिक चक्र

कृष्ण की माया

चन्द्रमा मरुस्थल क्यों नहीं है?

बड़े-बड़े पण्डितों द्वारा इस नश्वर संसार का बहिष्कार

कृष्णभावनामृत से सबों की तुष्टि

अध्याय छह

देवताओं तथा असुरों द्वारा सन्धि की घोषणा

अध्याय का सारांश

भगवान् का निर्मल शारीरिक सौन्दर्य

भक्तियोग से ब्रह्म तक प्रत्यक्ष पहुँच

साँप तथा चूहे का राजनयिक तर्क

देवताओं तथा असुरों द्वारा मन्दराचल का उखाड़ा जाना

भगवान् द्वारा मन्दराचल का लाया जाना

अध्याय सात

शिवजी का विषपान द्वारा ब्रह्माण्ड की रक्षा करना

अध्याय का सारांश

असुरों का देवताओं से सदैव मतभेद रहना

कूर्म का प्राकट्य—कूर्मावतार

भगवान् अजित द्वारा क्षीरसागर का मंथन

देवताओं द्वारा शिवजी की स्तुति

अननुकरणीय शिवजी द्वारा विषपान

अध्याय आठ

क्षीरसागर का मंथन

अध्याय का सारांश

लक्ष्मीदेवी का प्राकट्य

लक्ष्मीदेवी द्वारा पति का चुनाव

धन्वन्तरि का अमृत पात्र सहित प्रकट होना

अभक्त की प्रथम चिन्ता

मोहिनी अवतार

अध्याय नौ

मोहिनी मूर्ति के रूप में भगवान् का अवतार

अध्याय का सारांश

मोहिनी के दिव्य सौन्दर्य से असुरगण का मुग्ध होना

मोहिनी रूप भगवान् द्वारा नारी-शोषण की व्याख्या

भौतिकतावादी आशाओं तथा कार्यों का सदैव निष्फल होना

अध्याय दस

देवताओं तथा असुरों के बीच युद्ध

अध्याय का सारांश

विरोधी सेनाओं का विवरण

चार दिन में चन्द्रमा तक यात्रा असम्भव

असुरों द्वारा मायावी युद्ध का आश्रय लेना

विष्णु द्वारा देवताओं की मायावी चालें ध्वस्त

अध्याय ग्यारह

देवराज इन्द्र द्वारा असुरों का संहार

अध्याय का सारांश

यांत्रिक अन्तरिक्ष यात्रा की निरर्थकता

रहस्यमय असुर नमुचि

फेन से इन्द्र द्वारा नमुचि का वध

अध्याय बारह

मोहिनी-मूर्ति अवतार पर शिवजी का मोहित होना

अध्याय का सारांश

समस्त नियन्ताओं के परम नियन्ता

हर वस्तु का भगवान् श्रीकृष्ण से विस्तार

शिवजी द्वारा भगवान् के स्त्री-रूप को देखने की माँग

भगवान् विष्णु का मोहिनी-मूर्ति के रूप में प्रकट होना

नर तथा मादा के आकर्षण से जीवन की भ्रान्तियों में वृद्धि

भगवान् की अन्तरंगा शक्ति से शिव द्वारा अपनी पराजय स्वीकार

कृष्ण के भक्त कभी परास्त नहीं होते

अध्याय तेरह

भावी मनुओं का वर्णन

अध्याय का सारांश

वैदिक ग्रंथ भविष्यप्रद्रष्टा होते हैं

अध्याय चौदह

विश्व व्यवस्था की पद्धति

अध्याय का सारांश

मानव का शाश्वत व्यावसायिक धर्म

दार्शनिक असफल क्यों ?

अध्याय पन्द्रह

बलि महाराज द्वारा स्वर्गलोकों पर विजय

अध्याय का सारांश

स्वर्गलोकों की राजधानी इन्द्रपुरी का वर्णन

आत्म-साक्षात्कार का प्रवेश-द्वार: गुरु को प्रसन्न करना

अध्याय सोलह

पयोव्रत पूजा विधि को सम्पन्न करना

अध्याय का सारांश

दिव्य गृहस्थ जीवन

परम नियंता द्वारा अपने भक्तों का पक्ष लेना

आत्मा शरीर से पूर्णत: भिन्न

गुरु बनाने की आवश्यकता

पयोव्रत भक्ति विधि की व्याख्या

''अनेक मार्ग, एक ही फल'' दर्शन मिथ्या क्यों ?

अध्याय सत्रह

भगवान् द्वारा अदिति-पुत्र बनना स्वीकार

अध्याय का सारांश

भगवान् का अदिति के समक्ष प्रकट होना

माया को लाँघना

जीवन दो स्रावों (स्खलनों) का प्रतिफल नहीं

नित्यकाल की तरंगें

अध्याय अठारह

भगवान् वामनदेव का अवतार

अध्याय का सारांश

भगवान् वामन देव का दिव्य जन्म

वैदिक खगोल–विज्ञान: चन्द्र विषयक सत्य

कृष्ण से लाखों अवतार उद्भूत

बलि महाराज द्वारा भगवान् का प्रत्यक्ष अभिनन्दन

अध्याय उन्नीस

भगवान् वामनदेव द्वारा बलि महाराज से दान की भिक्षा माँगना

अध्याय का सारांश

भगवान् द्वारा बलि की उदारता की प्रशंसा

'ईश्वर मृत है''—मनगढ़न्त कल्पना

पृथ्वी के सर्वशक्तिमान धारणकर्ता भगवान् श्रीकृष्ण

अन्य नश्वर शरीर कैसे प्राप्त करें?

कृष्ण भक्त पलायनवादी नहीं

शरीर:अधमतम अवस्था का सर्वोत्तम उपयोग करना

निर्धनता का रामबाण हल

अध्याय बीस

बलि महाराज द्वारा ब्रह्माण्ड समर्पण

अध्याय का सारांश

बलि महाराज द्वारा अपने झूठे गुरु का परित्याग

असत्य : पृथ्वी पर एक भारी बोझ

जीवन का दुर्लभ अवसर—दिव्य दान

बलि महाराज के झूठे गुरु द्वारा उन्हें शाप

भगवान् द्वारा शरीर का विस्तार और ब्रह्माण्ड का घेराव

भगवान् के लम्बे पदचाप से ब्रह्माण्ड के आवरण का भेदन

अध्याय इक्कीस

भगवान् द्वारा बलि महाराज का बन्दी बनाया जाना

अध्याय का सारांश

भगवान् वामनदेव द्वारा अपना आदि रूप धारण किया जाना

बलि के असुर अनुयायियों द्वारा भगवान् पर आक्रमण

बलि की सहिष्णुता, ब्रह्माण्ड के लिए शिक्षा

भक्तगण किसी भी भौतिक दशा से परे

अध्याय बाईस

बलि महाराज द्वारा आत्म-समर्पण

अध्याय का सारांश

भगवान् का बलि के शिर पर अन्तिम पदचाप रखना

मूल्यवान जीवनकाल का अपव्यय

अत्यन्त प्रिय भक्त प्रह्लाद महाराज का आगमन

संसार की अव्यवस्था: परम स्वामी की अवज्ञा

मनुष्य जीवन की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ

बलि महाराज को भगवान् के शाश्वत वर की प्राप्ति

अध्याय तेईस

देवताओं द्वारा स्वर्गलोकों की पुनर्प्राप्ति

अध्याय का सारांश

भक्तगण आनन्द मनाते हैं और अभक्त-गण कष्ट भोगते हैं : क्यों?

हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन

परमेश्वर की अवज्ञा से समय, शक्ति तथा धन का अपव्यय

अध्याय चौबीस

भगवान् का मत्स्यावतार

अध्याय का सारांश

भगवान् ने मत्स्य-रूप क्यों धारण किया?

प्रकृति के नियमों का परमेश्वर पर कोई प्रभाव नहीं

भगवान् के प्रति अनजाने में की गई सेवा भी व्यर्थ नहीं जाती

अज्ञानी पुरुष देवताओं की पूजा करते हैं

दिव्य ज्ञान आत्म-समर्पण पर आधारित

श्रीकृष्ण : परम आध्यात्मिक गुरु

भौतिकतावादी गुरुओं द्वारा मूर्ख शिष्यों का ठगा जाना

प्रामाणिक गुरु की खोज

लेखक-परिचय

Chapter एक

राजा सुद्युम्न का स्त्री बनना

इस अध्याय में यह वर्णन हुआ है कि सुद्युम्न किस प्रकार स्त्री बना और किस तरह से वैवस्वत मनु का वंश चन्द्र से उद्धृत सोमवंश में घुलमिल गया।

महाराज परीक्षित की इच्छानुसार शुकदेव गोस्वामी ने वैवस्वत मनु के वंश के विषय में बतलाया जो पूर्वकाल में द्रविड़ का राजा सत्यव्रत था। इस वंश का वर्णन करते हुए उन्होंने यह भी बतलाया कि किस प्रकार प्रलय-जल में लेटे हुए भगवान् ने अपनी नाभि से उत्पन्न कमल से ब्रह्माजी को जन्म दिया और ब्रह्माजी के मन से मरीचि उत्पन्न हुआ जिसका पुत्र कश्यप था। कश्यप को अदिति के गर्भ से विवस्वान की प्राप्ति हुई जिसकी पत्नी संज्ञा के गर्भ से श्राद्धदेव मनु उत्पन्न हुआ। श्राद्धदेव की पत्नी श्रद्धा ने दस पुत्रों को जन्म दिया, जिनमें इक्ष्वाकु तथा नृग प्रमुख थे।

श्राद्धदेव या वैवस्वत मनु महाराज इक्ष्वाकु के पिता थे। पहले वे सन्तानहीन थे, किन्तु वसिष्ठ मुनि की कृपा से उन्होंने मित्र तथा वरुण को प्रसन्न करने के लिए एक यज्ञ किया। यद्यपि वैवस्वत मनु पुत्ररत्न चाहते थे, किन्तु उनकी पत्नी की इच्छानुसार उन्हें इला नामक पुत्री प्राप्त हुई। अतएव मनु पुत्री-प्राप्ति से सन्तुष्ट नहीं थे। फलस्वरूप वसिष्ठ मुनि ने मनु की तुष्टि के लिए इला को एक बालक में परिणत करने के लिए प्रार्थना की जिसे भगवान् ने स्वीकार कर लिया। अत: इला एक सुन्दर युवक हो गई जिसका नाम सुद्युम्न रखा गया।

एक बार सुद्युम्न अपने मंत्रियों के साथ शिकार पर गया। सुमेरु पर्वत की तलहटी पर सुकुमार नामक एक बन है जिसमें प्रविष्ट होते ही सभी लोग स्त्रियों में परिणत हो गये। जब महाराज परीक्षित ने इसका कारण पूछा तो शुकदेव गोस्वामी ने बतलाया कि सुद्युम्न ने स्त्री बनने के बाद किस प्रकार चन्द्रमा के पुत्र बुध को अपने पति के रूप में स्वीकार किया जिससे उसे पुरूरवा नामक पुत्र की प्राप्ति हुई। शिवजी की कृपा से सुद्युम्न को यह वर मिला कि वह एक मास तक स्त्री और एक मास तक पुरुष के रूप में रहेगा। इस प्रकार उसे अपना राज्य पुन: प्राप्त हो गया और उसे उत्कल, गय तथा विमल नामक तीन पुत्र प्राप्त हुए और वे तीनों परम धार्मिक निकले। तत्पश्चात् उसने अपना राज्य पुरूरवा को सौंप दिया और स्वयं वानप्रस्थ

आश्रम में चला गया।

श्रीराजोवाच
मन्वन्तराणि सर्वाणि त्वयोक्तानि श्रुतानि मे ।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य हरेस्तत्र कृतानि च ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा परीक्षित ने कहा; मन्वन्तराणि—विभिन्न मनुओं के कालों के बारे में; सर्वाणि—समस्त; त्वया—तुम्हारे द्वारा; उक्तानि—वर्णन किये गये; श्रुतानि—सुने गये; मे—मेरे द्वारा; वीर्याणि—अद्भुत कार्यकलाप; अनन्त-वीर्यस्य—असीम बल वाले भगवान्; हरेः—हरि के; तत्र—उन मन्वन्तरों में; कृतानि—सम्पन्न; च—भी।

राजा परीक्षित ने कहा : हे प्रभु शुकदेव गोस्वामी, आप विभिन्न मनुओं के सारे कालों का विस्तार से वर्णन कर चुके हैं और उन कालों में असीम शक्तिशाली भगवान् के अद्भुत कार्यकलापों का भी वर्णन कर चुके हैं। मैं भाग्यशाली हूँ कि मैंने आपसे ये सारी बातें सुनीं।

योऽसौ सत्यव्रतो नाम राजर्षिर्द्रविडेश्वरः ।
ज्ञानं योऽतीतकल्पान्ते लेभे पुरुषसेवया ॥ २ ॥
स वै विवस्वतः पुत्रो मनुरासीदिति श्रुतम् ।
त्वत्तस्तस्य सुताः प्रोक्ता इक्ष्वाकुप्रमुखा नृपाः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यः असौ—जो विख्यात था; सत्यव्रतः—सत्यव्रत; नाम—नामक; राज-ऋषिः—साधु राजा; द्रविड-ईश्वरः—द्रविड देश का शासक; ज्ञानम्—ज्ञान; यः—जो; अतीत-कल्प-अन्ते—अन्तिम मनु के काल के अन्त में या गत कल्प के अन्त में; लेभे—प्राप्त किया; पुरुष-सेवया—भगवान् की सेवा करके; सः—उसने; वै—निस्सन्देह; विवस्वतः—विवस्वान का; पुत्रः—पुत्र; मनुः आसीत्—वैवस्वत मनु हुआ; इति—इस प्रकार; श्रुतम्—मैंने सुना है; त्वत्तः—तुमसे; तस्य—उसके; सुताः—पुत्र; प्रोक्ताः—बताये जा चुके हैं; इक्ष्वाकु-प्रमुखाः—इक्ष्वाकु इत्यादि; नृपाः—अनेक राजा।

द्रविड़ देश के साधु राजा सत्यव्रत को भगवत्कृपा से गत कल्प के अन्त में आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हुआ और वह अगले मन्वन्तर में विवस्वान का पुत्र वैवस्वत मनु बना। मुझे इसका ज्ञान आपसे प्राप्त हुआ है। मैं यह भी जानता हूँ कि इक्ष्वाकु इत्यादि राजा उसके पुत्र थे जैसा कि आप पहले बता चुके हैं।

तेषां वंशं पृथग्ब्रह्मन्वंशानुचरितानि च ।
कीर्तयस्व महाभाग नित्यं शुश्रूषतां हि नः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उन सारे राजाओं के; वंशम्—वंश को; पृथक्—अलग-अलग; ब्रह्मन्—हे महान् ब्राह्मण (शुकदेव गोस्वामी); वंश-अनुचरितानि च—तथा उनके वंश एवं गुण; कीर्तयस्व—कृपया कहिये; महा-भाग—हे परम भाग्यशाली; नित्यम्—नित्य; शुश्रूषताम्—आपकी सेवा में लगे हुओं का; हि—निस्सन्देह; नः—हम सबका।

हे परम भाग्यशाली शुकदेव गोस्वामी, हे महान् ब्राह्मण, कृपा करके हम सबको उन सारे राजाओं के वंशों तथा गुणों का पृथक्-पृथक् वर्णन कीजिये क्योंकि हम आपसे ऐसे विषयों को सुनने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं।

ये भूता ये भविष्याश्च भवन्त्यद्यतनाश्च ये ।
तेषां नः पुण्यकीर्तीनां सर्वेषां वद विक्रमान् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

ये—जो; भूताः—पहले प्रकट हुए हैं; ये—जो; भविष्याः—भविष्य में उत्पन्न होंगे; च—भी; भवन्ति—विद्यमान हैं; अद्यतनाः—इस समय; च—भी; ये—जो; तेषाम्—उन सब का; नः—हमको; पुण्य-कीर्तीनाम्—जो पवित्र तथा प्रसिद्ध थे; सर्वेषाम्—सबका; वद—कृपा करके बतायें; विक्रमान्—पराक्रम के बारे में।

कृपा करके हमें वैवस्वत मनु के वंश में उत्पन्न उन समस्त विख्यात राजाओं के पराक्रम के विषय में बतलायें जो पहले हो चुके हैं, जो भविष्य में होंगे तथा जो इस समय विद्यमान हैं।

श्रीसूत उवाच
एवं परीक्षिता राज्ञा सदसि ब्रह्मवादिनाम् ।
पृष्टः प्रोवाच भगवाञ्छुकः परमधर्मवित् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; परीक्षिता—महाराज परीक्षित द्वारा; राज्ञा—राजा द्वारा; सदसि—सभा में; ब्रह्म-वादिनाम्—वैदिक ज्ञान में पटु सभी सन्त पुरुषों की; पृष्टः—पूछे जाकर; प्रोवाच—उत्तर दिया; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; शुकः—शुक गोस्वामी; परम-धर्म-वित्—धर्म के महान् पंडित।

सूत गोस्वामी ने कहा : जब वैदिक ज्ञान के पंडितों की सभा में परम धर्मज्ञ शुकदेव गोस्वामी से महाराज परीक्षित ने इस प्रकार प्रार्थना की तो वे इस प्रकार बोले।

श्रीशुक उवाच
श्रूयतां मानवो वंशः प्राचुर्येण परन्तप ।
न शक्यते विस्तरतो वक्तुं वर्षशतैरपि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; श्रूयताम्—मुझसे सुनें; मानवः वंशः—मनु का वंश; प्राचुर्येण—विस्तार से; परन्तप—शत्रुओं का दमन करने वाले राजा; न—नहीं; शक्यते—समर्थ है; विस्तरतः—विस्तार से; वक्तुम्—कह पाना; वर्ष-शतैः अपि—सौ वर्षों में भी।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे शत्रुओं का दमन करने वाले राजा, अब तुम मुझसे मनु के वंश के विषय में विस्तार से सुनो। मैं यथासम्भव तुम्हें बतलाऊँगा यद्यपि सौ वर्षों में भी उसके विषय में पूरी तरह नहीं बतलाया जा सकता।

परावरेषां भूतानामात्मा यः पुरुषः परः ।
स एवासीदिदं विश्वं कल्पान्तेऽन्यन्न किञ्चन ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

पर-अवरेषाम्—जीवन के उच्च या निम्न स्तर के सारे जीवों का; भूतानाम्—भौतिक शरीर धारण करने वालों का (बद्धजीवों का); आत्मा—परमात्मा; यः—जो है; पुरुषः—परम पुरुष; परः—दिव्य; सः—वह; एव—निस्सन्देह; आसीत्—था; इदम्—यह; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; कल्प-अन्ते—कल्प के अन्त में; अन्यत्—अन्यत्र; न—नहीं; किञ्चन—कुछ भी।

जीवन की उच्च तथा निम्न अवस्थाओं में पाये जाने वाले जीवों के परमात्मा दिव्य परम पुरुष कल्प के अन्त में विद्यमान थे जब न तो यह ब्रह्माण्ड था, न अन्य कुछ था। केवल वे ही विद्यमान थे।

तात्पर्य : मनु के वंश को कहाँ से प्रारम्भ किया जाय, इस दृष्टि से शुकदेव गोस्वामी यह कहते हुए प्रारम्भ करते हैं कि जब सारा विश्व जलमग्न हो जाता है तो केवल भगवान् विद्यमान रहते हैं, उनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं रहता। अब शुकदेव गोस्वामी यह बतायेंगे कि भगवान् एक-एक करके अन्य वस्तुओं को किस तरह उत्पन्न करते हैं।

तस्य नाभेः समभवत्पद्मकोषो हिरण्मयः ।
तस्मिञ्जज्ञे महाराज स्वयम्भूश्चतुराननः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसकी (भगवान् की); नाभेः—नाभि से; समभवत्—उत्पन्न हुआ; पद्म-कोषः—कमल; हिरण्मयः—सुनहला या हिरण्मय नामक; तस्मिन्—उस सुनहले कमल पर; जज्ञे—प्रकट हुआ; महाराज—हे राजा; स्वयम्भूः—माता के बिना उत्पन्न होने वाला, या अपने आप प्रकट होने वाला; चतुः-आननः—चार मुखों वाला।

हे राजा परीक्षित, भगवान् की नाभि से एक सुनहला कमल उत्पन्न हुआ जिस पर चार मुखों वाले ब्रह्माजी ने जन्म लिया।

मरीचिर्मनसस्तस्य जज्ञे तस्यापि कश्यपः ।
दाक्षायण्यां ततोऽदित्यां विवस्वानभवत्सुतः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

मरीचिः—मरीचि नामक महान् सन्त ने; मनसः तस्य—ब्रह्माजी के मन से; जज्ञे—जन्म लिया; तस्य अपि—मरीचि से; कश्यपः—कश्यप ने (जन्म लिया); दाक्षायण्याम्—महाराज दक्ष की कन्या के गर्भ से; ततः—तत्पश्चात्; अदित्याम्—अदिति के गर्भ से; विवस्वान्—विवस्वान; अभवत्—हुआ; सुतः—पुत्र।

ब्रह्माजी के मन से मरीचि ने जन्म लिया और मरीचि के वीर्य तथा दक्ष महाराज की कन्या के गर्भ से कश्यप प्रकट हुए। कश्यप द्वारा अदिति के गर्भ से विवस्वान ने जन्म लिया।

ततो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञायामास भारत ।
श्रद्धायां जनयामास दश पुत्रान्स आत्मवान् ॥ ११ ॥
इक्ष्वाकुनृगशर्यातिदिष्टधृष्टकरूषकान् ।
नरिष्यन्तं पृषध्रं च नभगं च कविं विभुः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ततः—विवस्वान से; मनुः श्राद्धदेवः—श्राद्धदेव नामक मनु ने; संज्ञायाम्—विवस्वान की पत्नी संज्ञा के गर्भ से; आस—उत्पन्न हुआ; भारत—हे भारत वंश में श्रेष्ठ; श्रद्धायाम्—श्राद्धदेव की पत्नी श्रद्धा के गर्भ से; जनयाम् आस—जन्म दिया; दश—दस; पुत्रान्—पुत्रों को; सः—श्राद्धदेव ने; आत्मवान्—इन्द्रियों को जीतकर; इक्ष्वाकु-नृग-शर्याति-दिष्ट-धृष्ट-करूषकान्—इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट तथा करूषक को; नरिष्यन्तम्—नरिष्यन्त; पृषध्रम् च—तथा पृषध्र; नभगम् च—तथा नभग; कविम्—कवि को; विभुः—महान।

हे भारतवंश के श्रेष्ठ राजा, संज्ञा के गर्भ से विवस्वान को श्राद्धदेव मनु प्राप्त हुए। श्राद्धदेव मनु ने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया था। उन्हें अपनी पत्नी श्रद्धा के गर्भ से दस पुत्र प्राप्त हुए। इन पुत्रों के नाम थे—इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करूषक, नरिष्यन्त, पृषध्र, नभग तथा कवि।

अप्रजस्य मनोः पूर्वं वसिष्ठो भगवान्किल ।
मित्रावरुणयोरिष्टिं प्रजार्थमकरोद्विभुः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अप्रजस्य—निःसन्तान; मनोः—मनु के; पूर्वम्—पहले; वसिष्ठः—मुनि वसिष्ठ; भगवान्—शक्तिशाली; किल—निस्सन्देह; मित्रा-वरुणयोः—मित्र तथा वरुण नामक देवताओं का; इष्टिम्—यज्ञ; प्रजा-अर्थम्—पुत्र प्राप्ति के लिए; अकरोत्—सम्पन्न किया; विभुः—महापुरुष ने।

आरम्भ में मनु के एक भी पुत्र नहीं था। अतएव उसे पुत्रप्राप्ति के लिए आध्यात्मिक ज्ञान में अत्यन्त शक्तिशाली मुनि वसिष्ठ ने मित्र तथा वरुण देवताओं को प्रसन्न करने के लिए एक यज्ञ सम्पन्न किया।

तत्र श्रद्धा मनोः पत्नी होतारं समयाचत ।
दुहित्रर्थमुपागम्य प्रणिपत्य पयोव्रता ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

तत्र—उस यज्ञ में; श्रद्धा—श्रद्धा ने; मनोः—मनु की; पत्नी—पत्नी; होतारम्—यज्ञ करने वाले पुरोहित से; समयाचत—ठीक से भीख माँगी; दुहितृ-अर्थम्—एक पुत्री के लिए; उपागम्य—पास आकर; प्रणिपत्य—प्रणाम करके; पयः-व्रता—पयोव्रत करने वाली, केवल दूध पीने का व्रत रखने वाली।

उस यज्ञ के दौरान मनु की पत्नी श्रद्धा, जो केवल दूध पीकर जीवित रहने का व्रत कर रही थी, यज्ञ कराने वाले पुरोहित के निकट आई, उसे प्रणाम किया और उससे एक पुत्री की याचना की।

प्रेषितोऽध्वर्युणा होता व्यचरत्तत्समाहितः ।
गृहीते हविषि वाचा वषट्कारं गृणन्द्विजः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

प्रेषितः—यज्ञ करने को कहे जाने पर; अध्वर्युणा—ऋत्विक द्वारा; होता—आहुति डालने वाले पुरोहित ने; व्यचरत्—सम्पन्न किया; तत्—वह (यज्ञ); समाहितः—ध्यानपूर्वक; गृहीते हविषि—पहली आहुति के लिए घी लेने पर; वाचा—मंत्रोच्चार द्वारा; वषट्-कारम्—वषट् शब्द से प्रारम्भ होने वाले मंत्र को; गृणन्—उच्चारण करते हुए; द्विजः—ब्राह्मण ने।

प्रधान पुरोहित द्वारा यह कहे जाने पर "अब आहुति डालो" आहुति डालने वाले (होता) ने आहुति डालने के लिए घी लिया। तब उसे मनु की पत्नी की याचना स्मरण हो आई और उसने 'वषट्' शब्दोच्चार करते हुए यज्ञ सम्पन्न किया।

होतुस्तद्व्यभिचारेण कन्येला नाम साभवत् ।
तां विलोक्य मनुः प्राह नातितुष्टमना गुरुम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

होतुः—पुरोहित के; तत्—यज्ञ के; व्यभिचारेण—उल्लंघनपूर्ण कर्म से; कन्या—पुत्री; इला—इला; नाम—नामक; सा—वह कन्या; अभवत्—उत्पन्न हुई; ताम्—उसको; विलोक्य—देखकर; मनुः—मनु; प्राह—बोला; न—नहीं; अतितुष्टमनाः—अत्यधिक तुष्ट; गुरुम्—अपने गुरु से।

मनु ने वह यज्ञ पुत्रप्राप्ति के लिए प्रारम्भ किया था, किन्तु मनु की पत्नी के अनुरोध पर पुरोहित के विपथ होने से इला नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई। इस पुत्री को देखकर मनु बिल्कुल प्रसन्न नहीं हुए। अतएव वे अपने गुरु वसिष्ठ से इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : चूँकि मनु के कोई सन्तान न थी अतएव वे सन्तान के जन्म लेने पर प्रसन्न हुए, यद्यपि वह कन्या थी और उन्होंने उसका नाम इला रखा। किन्तु बाद में वे पुत्र के बजाय पुत्री को पाकर अधिक संतुष्ट नहीं थे। चूँकि वे निःसन्तान थे अतएव इला के जन्म पर अत्यन्त प्रसन्न तो थे लेकिन उनका हर्ष क्षणिक था।

भगवन्किमिदं जातं कर्म वो ब्रह्मवादिनाम् ।
विपर्ययमहो कष्टं मैवं स्याद्ब्रह्मविक्रिया ॥ १७॥

शब्दार्थ

भगवन्—हे प्रभु; किम् इदम्—यह क्या है; जातम्—उत्पन्न हुआ; कर्म—सकाम कर्म; वः—हम सभी; ब्रह्म-वादिनाम्—वैदिक मंत्रों के उच्चारण में पटु आप लोगों का; विपर्ययम्—विचलन; अहो—ओह; कष्टम्—कष्टप्रद; मा एवम् स्यात्—इस तरह नहीं होना चाहिए था; ब्रह्म-विक्रिया—वेद मंत्रों का यह विपरीत प्रभाव।

हे प्रभु, आप लोग वैदिक मंत्रों के उच्चारण में पटु हैं। तो फिर वांछित फल से विपरीत फल क्यों निकला? यही पश्चात्ताप का विषय है। वैदिक मंत्रों का ऐसा उल्टा प्रभाव नहीं होना चाहिए था।

तात्पर्य : इस युग में यज्ञ करना मना है क्योंकि कोई भी व्यक्ति वेद-मंत्रों का ठीक से उच्चारण नहीं कर सकता। यदि वैदिक मंत्रों का ठीक से उच्चारण किया जाय तो जिस इच्छा से यज्ञ किया जाता है उसकी पूर्ति अवश्य होती है। इसीलिए हरे कृष्ण उच्चारण महामंत्र कहलाता है जो अन्य समस्त वैदिक मंत्रों से बढ़ चढ़ कर है क्योंकि हरे कृष्ण महामंत्र के उच्चारण मात्र से अनेक लाभ होते हैं। जैसा कि श्रीचैतन्य महाप्रभु ने बतलाया है (शिक्षाष्टक१)—

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापनं
श्रेय:कैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम्।
आनन्दाम्बुधिवर्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम्॥

"श्रीकृष्ण संकीर्तन की जय हो जो वर्षों से हृदय में जमी धूल को स्वच्छ करता है और बार-बार जन्म-मरण के बद्धजीवन की अग्नि को शमन करता है। यह संकीर्तन आंदोलन मानवता के लिए मूल वरदान है क्योंकि यह वरदान रूपी चन्द्रमा की किरणों को बिखेरता है। यह समस्त दिव्य ज्ञान का जीवन है। यह दिव्य आनन्द के सागर को बढ़ाता है और हमें उस अमृत को चखने में समर्थ बनाता है जिसके लिए हम सभी सदैव लालायित रहते हैं।"

अतएव हमें जिस सर्वश्रेष्ठ यज्ञ को सम्पन्न करना है वह है *संकीर्तन यज्ञ*। *यज्ञै संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधस:* (*भागवत* ११.५.३२)। जो लोग बुद्धिमान हैं वे इस युग में हरे कृष्ण महामंत्र का सामूहिक कीर्तन करके महानतम यज्ञ का लाभ उठाते हैं। जब हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन कई पुरुष मिलकर करते हैं तो यह संकीर्तन कहलाता है। ऐसे यज्ञ के प्रभाव से आकाश में बादल आ जाएँगे (*यज्ञाद् भवति पर्जन्य:*)। दुर्भिक्ष

के इन दिनों में मात्र हरे कृष्ण यज्ञ की विधि से लोग वर्षा तथा अन्न के अभाव से छुटकारा पा सकते हैं। निस्सन्देह इससे सारे मानव समाज को राहत मिल सकती है। अधुना सारे यूरोप तथा अमेरिका में दुर्भिक्ष है और लोग कष्ट उठा रहे हैं, किन्तु यदि लोग इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण करें, यदि वे अपने पापकर्म बन्द कर दें और हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करें तो उनकी सारी समस्याएँ आसानी से सुलझ जायँ। यज्ञ की अन्य विधियों में तरह-तरह की कठिनाइयाँ आती हैं क्योंकि न तो ऐसे पण्डित हैं जो मंत्रों का ठीक से उच्चारण कर सकें, न ही यज्ञ सम्पन्न करने की सामग्री प्राप्त कर पाना सम्भव है। चूँकि मानव समाज दरिद्र है और लोग वैदिक ज्ञान एवं वैदिक मंत्रों के उच्चारण करने की शक्ति से वंचित हैं अतएव हरे कृष्ण महामंत्र ही एकमात्र आश्रय है। लोगों को इसका कीर्तन करने की बुद्धिमानी बरतनी चाहिए। *यज्ञै संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः*। जिनके मस्तिष्क कुन्द हैं वे न तो इस कीर्तन को समझ सकते हैं, न ही इसे ग्रहण कर सकते हैं।

यूयं ब्रह्मविदो युक्तास्तपसा दग्धकिल्बिषाः ।
कुतः सङ्कल्पवैषम्यमनृतं विबुधेष्विव ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यूयम्—तुम सभी; ब्रह्म-विदः—परम सत्य से भलीभाँति परिचित; युक्ताः—संयमित; तपसा—तपस्या के द्वारा; दग्ध-किल्बिषाः—जिनके सारे भौतिक कल्मष जल चुके हैं; कुतः—तब कैसे; सङ्कल्प-वैषम्यम्—संकल्प में त्रुटि; अनृतम्—झूठा वादा, झूठा कथन; विबुधेषु—देवताओं के समाज में; इव—अथवा।

तुम सभी संयमित, संतुलित तथा परम सत्य से परिचित हो। तुम सबने अपनी तपस्याओं के द्वारा सारे भौतिक कल्मष से अपने को पूरी तरह स्वच्छ कर लिया है। तुम सबके वचन देवताओं के वचनों की तरह कभी मिथ्या नहीं होते। तो फिर यह कैसे सम्भव हुआ कि तुम सबका संकल्प विफल हो गया?

तात्पर्य : अनेक वैदिक ग्रंथों से यह पता चलता है कि देवताओं द्वारा दिया गया वरदान या शाप कभी झूठा नहीं होता। तपस्या करने, इन्द्रियों तथा मन को संयमित करने एवं परम सत्य का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य का सारा भौतिक कल्मष जाता रहता है। तब उसके वचन तथा आशीर्वाद देवताओं की तरह कभी विफल नहीं होते।

निशम्य तद्वचस्तस्य भगवान्प्रपितामहः ।
होतुर्व्यतिक्रमं ज्ञात्वा बभाषे रविनन्दनम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; तत् वचः—वे शब्द; तस्य—उसके (मनु के); भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; प्रपितामहः—बाबा के बाबा वसिष्ठ; होतुः व्यतिक्रमम्—होता की त्रुटि; ज्ञात्वा—जानकर; बभाषे—बोला; रवि-नन्दनम्—सूर्यपुत्र वैवस्वत मनु से।

मनु के इन वचनों को सुनकर अत्यन्त शक्तिशाली प्रपितामह वसिष्ठ होता की त्रुटि को समझ गये। अतः वे सूर्यपुत्र से इस प्रकार बोले।

एतत्सङ्कल्पवैषम्यं होतुस्ते व्यभिचारतः ।
तथापि साधयिष्ये ते सुप्रजास्त्वं स्वतेजसा ॥ २० ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; सङ्कल्प-वैषम्यम्—लक्ष्य में त्रुटि; होतुः—होता की; ते—तुम्हारे; व्यभिचारतः—निर्दिष्ट प्रयोजन से हटने के कारण; तथा अपि—फिर भी; साधयिष्ये—मैं सम्पन्न करूँगा; ते—तुम्हारा; सु-प्रजास्त्वम्—अत्यन्त सुन्दर पुत्र; स्व-तेजसा—अपने निजी पराक्रम से।

लक्ष्य में यह त्रुटि तुम्हारे पुरोहित द्वारा मूल उद्देश्य में विचलन के कारण हुई है। फिर भी मैं अपने पराक्रम से तुम्हें एक अच्छा पुत्र प्रदान करूँगा।

एवं व्यवसितो राजन्भगवान्स महायशाः ।
अस्तौषीदादिपुरुषमिलायाः पुंस्त्वकाम्यया ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; व्यवसितः—निश्चित करते हुए; राजन्—हे राजा परीक्षित; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; सः—वसिष्ठ; महा-यशाः—अत्यन्त प्रसिद्ध; अस्तौषीत्—प्रार्थना की; आदि-पुरुषम्—परम पुरुष भगवान् विष्णु से; इलायाः—इला का; पुंस्त्व-काम्यया—पुरुष में परिणत करने के लिए।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा परीक्षित, अत्यन्त प्रसिद्ध एवं शक्तिशाली वसिष्ठ ने यह निर्णय लेने के बाद परम पुरुष भगवान् विष्णु से इला को पुरुष में परिणत करने के लिए प्रार्थना की।

तस्मै कामवरं तुष्टो भगवान्हरिरीश्वरः ।
ददाविलाभवत्तेन सुद्युम्नः पुरुषर्षभः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उसको (वसिष्ठ को); काम-वरम्—इच्छित वरदान; तुष्टः—प्रसन्न होकर; भगवान्—भगवान्; हरिः ईश्वरः—परम नियन्ता भगवान् ने; ददौ—दिया; इला—इला नामक कन्या; अभवत्—हो गई; तेन—इस वरदान से; सुद्युम्नः—सुद्युम्न नामक; पुरुष-ऋषभः—सुन्दर पुरुष।

परम नियन्ता भगवान् ने वसिष्ठ से प्रसन्न होकर उन्हें इच्छित वरदान दिया। इस तरह इला सुद्युम्न नामक एक सुन्दर पुरुष में परिणत हो गई।

स एकदा महाराज विचरन्मृगयां वने ।
वृतः कतिपयामात्यैरश्वमारुह्य सैन्धवम् ॥ २३ ॥
प्रगृह्य रुचिरं चापं शरांश्च परमाद्भुतान् ।
दंशितोऽनुमृगं वीरो जगाम दिशमुत्तराम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

सः—सुद्युम्न; एकदा—एक बार; महाराज—हे राजा परीक्षित; विचरन्—भ्रमण करते हुए; मृगयाम्—शिकार करने के लिए; वने—जंगल में; वृतः—साथ होकर; कतिपय—कुछ; अमात्यैः—मंत्रियों या पार्षदों के द्वारा; अश्वम्—घोड़े पर; आरुह्य—चढ़कर; सैन्धवम्—सिन्धु प्रदेश में उत्पन्न; प्रगृह्य—हाथ में पकड़कर; रुचिरम्—सुन्दर; चापम्—धनुष; शरान् च—तथा बाण; परम-अद्भुतान्—अत्यन्त अद्‌भुत, असामान्य; दंशितः—कवच धारण किये; अनुमृगम्—पशुओं के पीछे; वीरः—वीर; जगाम—गया; दिशम् उत्तराम्—उत्तर दिशा की ओर।

हे राजा परीक्षित, एक बार वीर सुद्युम्न अपने कुछ मंत्रियों के साथ सिन्धुप्रदेश से लाये गये घोड़े पर चढ़कर शिकार करने के लिए जंगल में गया। वह कवच पहने था और धनुष-बाण से सुशोभित था। वह अत्यन्त सुन्दर था। वह पशुओं का पीछा करते तथा उनको मारते हुए जंगल के उत्तरी भाग में पहुँच गया।

सुकुमारवनं मेरोरधस्तात्प्रविवेश ह ।
यत्रास्ते भगवाञ्छर्वो रममाणः सहोमया ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सुकुमार-वनम्—सुकुमार नामक वन में; मेरोः अधस्तात्—मेरु पर्वत की तलहटी में; प्रविवेश ह—प्रविष्ट हुआ; यत्र—जहाँ; आस्ते—था; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली (देवता); शर्वः—शिवजी; रममाणः—रमण में तल्लीन; सह उमया—अपनी पत्नी उमा के साथ।

वहाँ उत्तर में मेरु पर्वत की तलहटी में सुकुमार नामक एक वन है जहाँ शिवजी सदैव उमा के साथ विहार करते हैं। सुद्युम्न उसी वन में प्रविष्ट हुआ।

तस्मिन्प्रविष्ट एवासौ सुद्युम्नः परवीरहा ।
अपश्यत्स्त्रियमात्मानमश्वं च वडवां नृप ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस वन में; प्रविष्टः—प्रविष्ट होने पर; एव—निस्सन्देह; असौ—वह; सुद्युम्नः—राजकुमार सुद्युम्न; पर-वीर-हा—अपने शत्रुओं को दमन करने वाले; अपश्यत्—देखा; स्त्रियम्—स्त्री; आत्मानम्—अपनेआपको; अश्वम् च—तथा अपने घोड़े को; वडवाम्—घोड़ी में; नृप—हे राजा परीक्षित।

हे राजा परीक्षित, ज्यों ही अपने शत्रुओं को दमन करने में निपुण सुद्युम्न उस जंगल में प्रविष्ट हुआ त्यों ही उसने देखा कि वह एक स्त्री में और उसका घोड़ा एक घोड़ी में परिणत हो गया है।

तथा तदनुगाः सर्वे आत्मलिङ्गविपर्ययम् ।
दृष्ट्वा विमनसोऽभूवन्वीक्षमाणाः परस्परम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

तथा—उसी तरह; तत्-अनुगाः—सुद्युम्न के साथी; सर्वे—सारे; आत्म-लिङ्ग-विपर्ययम्—विपरीत लिंग में रूपान्तर; दृष्ट्वा—देखकर; विमनसः—खिन्न; अभूवन्—वे हो गये; वीक्षमाणाः—देखते हुए; परस्परम्—एक दूसरे को।

जब उसके साथियों ने भी अपने स्वरूपों एवं अपने लिंग को विपर्यस्त देखा तो वे सभी अत्यन्त खिन्न हो उठे और एक दूसरे की ओर देखने लगे।

श्रीराजोवाच
कथमेवं गुणो देशः केन वा भगवन्कृतः ।
प्रश्नमेनं समाचक्ष्व परं कौतूहलं हि नः ॥ २८॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—महाराज परीक्षित ने कहा; कथम्—कैसे; एवम्—यह; गुणः—गुण; देशः—देश; केन—क्यों; वा—अथवा; भगवन्—हे शक्तिशाली; कृतः—किया गया; प्रश्नम्—प्रश्न; एनम्—यह; समाचक्ष्व—बतलाइये; परम्—अत्यधिक; कौतूहलम्—उत्सुकता; हि—निस्सन्देह; नः—हमारी।

महाराज परीक्षित ने कहा : हे परम शक्तिशाली ब्राह्मण, यह स्थान इतना शक्तिवान क्यों था और इसे किसने इतना शक्तिशाली बनाया था? कृपा करके इस प्रश्न का उत्तर दीजिये क्योंकि मैं इसके विषय में जानने के लिए अत्यधिक उत्सुक हूँ।

श्रीशुक उवाच
एकदा गिरिशं द्रष्टुमृषयस्तत्र सुव्रताः ।
दिशो वितिमिराभासाः कुर्वन्तः समुपागमन् ॥ २९॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एकदा—एक बार; गिरिशम्—शिवजी को; द्रष्टुम्—देखने के लिए; ऋषयः—ऋषिगण; तत्र—उस जंगल में; सु-व्रताः—आध्यात्मिक शक्ति में अत्यन्त बढ़े-चढ़े; दिशः—सारी दिशाएँ; वितिमिर-आभासाः—सारे अंधकार के साफ हो जाने पर; कुर्वन्तः—करते हुए; समुपागमन्—आये।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : एक बार आध्यात्मिक अनुष्ठानों का कठोरता से पालन करने वाले बड़े-बड़े साधु पुरुष उस जंगल में शिवजी का दर्शन करने आये। उन सबके तेज से सारी दिशाओं

का सारा अंधकार दूर हो गया।

तान्विलोक्याम्बिका देवी विवासा व्रीडिता भृशम् ।
भर्तुरङ्कात्समुत्थाय नीवीमाश्वथ पर्यधात् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तान्—उन साधुपुरुषों को; विलोक्य—देखकर; अम्बिका—माता दुर्गा; देवी—देवी; विवासा—नग्न होने के कारण; व्रीडिता—लज्जित; भृशम्—अत्यधिक; भर्तुः—अपने पति की; अङ्कात्—गोद से; समुत्थाय—उठकर; नीवीम्—वक्षस्थल; आशु अथ—तुरन्त ही; पर्यधात्—वस्त्र से ढक लिया।

जब देवी अम्बिका ने इन साधु पुरुषों को देखा तो वे अत्यधिक लज्जित हुईं क्योंकि उस समय वे नग्न थीं। वे तुरन्त अपने पति की गोद से उठ गईं और अपने वक्षस्थल को ढकने का प्रयास करने लगीं।

ऋषयोऽपि तयोर्वीक्ष्य प्रसङ्गं रममाणयोः ।
निवृत्ताः प्रययुस्तस्मान्नरनारायणाश्रमम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

ऋषयः—सारे साधु पुरुष; अपि—भी; तयोः—उन दोनों की; वीक्ष्य—देखकर; प्रसङ्गम्—रति क्रीड़ा में; रममाणयोः—लगे हुए; निवृत्ताः—आगे जाने से हिचके; प्रययुः—तुरन्त विदा हो गये; तस्मात्—उस स्थान से; नर-नारायण-आश्रमम्—नर नारायण के आश्रम को।

शिवजी तथा पार्वती को काम-क्रीड़ा में संलग्न देखकर सारे साधु पुरुष तुरन्त ही आगे जाने से रुक गये और उन्होंने नर-नारायण के आश्रम के लिए प्रस्थान किया।

तदिदं भगवानाह प्रियायाः प्रियकाम्यया ।
स्थानं यः प्रविशेदेतत्स वै योषिद्भवेदिति ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तत्—क्योंकि; इदम्—यह; भगवान्—शिवजी ने; आह—कहा; प्रियायाः—अपनी प्रिय पत्नी के; प्रिय-काम्यया—आनन्द के लिए; स्थानम्—स्थान; यः—जो कोई; प्रविशेत्—प्रवेश करेगा; एतत्—यहाँ; सः—वह व्यक्ति; वै—निस्सन्देह; योषित्—स्त्री; भवेत्—हो जायेगा; इति—इस प्रकार।

तत्पश्चात् अपनी पत्नी को प्रसन्न करने के लिए शिवजी ने कहा, ''इस स्थान में प्रवेश करते ही पुरुष तुरन्त स्त्री बन जायेगा।''

तत ऊर्ध्वं वनं तद्वै पुरुषा वर्जयन्ति हि ।

सा चानुचरसंयुक्ता विचचार वनाद्वनम् ॥ ३३॥

शब्दार्थ

ततः ऊर्ध्वम्—उस समय के बाद से; वनम्—जंगल में; तत्—उस; वै—विशेष रूप से; पुरुषाः—पुरुष-गण; वर्जयन्ति—नहीं प्रवेश करते; हि—निस्सन्देह; सा—स्त्री रूप में सुद्युम्न; च—भी; अनुचर-संयुक्ता—अपने साथियों के साथ; विचचार—घूमने गया; वनात् वनम्—एक जंगल से दूसरे में।

उस काल से कोई भी पुरुष उस जंगल में नहीं घुसा। किन्तु अब स्त्री रूप में परिणत होकर राजा सुद्युम्न अपने साथियों समेत एक जंगल से दूसरे जंगल में घूमने लगा।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (२.२२) में कहा गया है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय

नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य-

न्यानि संयाति नवानि देही॥

"जिस प्रकार मनुष्य अपने पुराने वस्त्रों को त्यागकर नये वस्त्र धारण करता है उसी प्रकार आत्मा पुराने तथा व्यर्थ के शरीरों को त्यागकर नवीन देहें धारण करता है।"

यह शरीर वस्त्र की भाँति है और यहाँ पर इसे सिद्ध किया गया है। सुद्युम्न तथा उसके साथी नर (पुरुष) थे जिसका अर्थ है कि उनकी आत्माएँ नर वस्त्र से ढकी थीं, किन्तु अब वे स्त्रियाँ हो गई थीं जिसका अर्थ है कि उनका वस्त्र बदला था, किन्तु आत्मा वही रही। कहा जाता है कि आधुनिक चिकित्सा से नर को नारी में और नारी को नर में परिणत किया जा सकता है। किन्तु शरीर का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। शरीर तो इसी जीवन में या अगले जीवन में बदला जा सकता है। अतएव जिस व्यक्ति को आत्मा का और एक शरीर से दूसरे शरीर में आत्मा के देहान्तरण का ज्ञान है वह वस्त्ररूपी शरीर के प्रति कोई ध्यान नहीं देता। *पण्डिताः समदर्शिनः*। ऐसा व्यक्ति परमात्मा के अंश स्वरूप आत्मा का दर्शन करता है। इसीलिए वह समदर्शी अर्थात् विद्वान व्यक्ति है।

अथ तामाश्रमाभ्याशे चरन्तीं प्रमदोत्तमाम् ।
स्त्रीभिः परिवृतां वीक्ष्य चकमे भगवान्बुधः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

अथ—इस तरह; ताम्—उसको; आश्रम-अभ्याशे—अपने आश्रम के निकट; चरन्तीम्—विचरण करती; प्रमदा-उत्तमाम्—कामोत्तेजना को जागृत करने वाली श्रेष्ठ सुन्दरी; स्त्रीभिः—अन्य स्त्रियों द्वारा; परिवृताम्—घिरी हुई; वीक्ष्य—देखकर; चकमे—कामेच्छा की; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; बुधः—चन्द्रमा का पुत्र बुध तथा बुधलोक का प्रधान देवता।

सुद्युम्न परम सुन्दर स्त्री में परिणत कर दिया गया था जो कामेच्छा को जगाने वाली थी और अन्य स्त्रियों से घिरी हुई थी। चन्द्रमा के पुत्र बुध ने इस सुन्दरी को अपने आश्रम के निकट विचरण करते देखकर उसके साथ संभोग करने की इच्छा प्रकट की।

सापि तं चकमे सुभ्रूः सोमराजसुतं पतिम् ।
स तस्यां जनयामास पुरूरवसमात्मजम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सा—सुद्युम्न जो स्त्री के रूप में था; अपि—भी; तम्—उसके साथ (बुध के साथ); चकमे—संभोग करना चाहा; सु-भ्रूः—परम सुन्दरी; सोमराज-सुतम्—चन्द्रमा के राजकुमार के साथ; पतिम्—अपने पति रूप में; सः—वह (बुध); तस्याम्—उसके गर्भ से; जनयाम् आस—उत्पन्न किया; पुरूरवसम्—पुरूरवा नामक; आत्म-जम्—पुत्र को।

उस सुन्दर स्त्री ने भी चन्द्रमा के राजकुमार बुध को अपना पति बनाना चाहा। इस तरह बुध ने उसके गर्भ से पुरूरवा नामक एक पुत्र उत्पन्न किया।

एवं स्त्रीत्वमनुप्राप्तः सुद्युम्नो मानवो नृपः ।
सस्मार स कुलाचार्यं वसिष्ठमिति शुश्रुम ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; स्त्रीत्वम्—स्त्रीत्व; अनुप्राप्तः—प्राप्त करके; सुद्युम्नः—सुद्युम्न नामक पुरुष ने; मानवः—मनु पुत्र; नृपः—राजा ने; सस्मार—स्मरण किया; सः—उसने; कुल-आचार्यम्—कुलगुरु को; वसिष्ठम्—अत्यन्त शक्तिशाली वसिष्ठ; इति शुश्रुम—ऐसा मैंने (विश्वस्त सूत्रों से) सुना है।

मैंने विश्वस्त सूत्रों से सुना है कि मनु-पुत्र सुद्युम्न ने इस प्रकार स्त्रीत्व प्राप्त करके अपने कुलगुरु वसिष्ठ का स्मरण किया।

स तस्य तां दशां दृष्ट्वा कृपया भृशपीडितः ।
सुद्युम्नस्याशयन्पुंस्त्वमुपाधावत शङ्करम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

सः—वह; तस्य—सुद्युम्न की; ताम्—उस; दशाम्—दशा को; दृष्ट्वा—देखकर; कृपया—कृपा करके; भृश-पीडितः—अत्यधिक दुखी; सुद्युम्नस्य—सुद्युम्न की; आशयन्—इच्छा; पुंस्त्वम्—पुरुषत्व; उपाधावत—पूजा करने लगा; शङ्करम्—शिवजी को।

सुद्युम्न की इस शोचनीय स्थिति को देखकर वसिष्ठ अत्यधिक दुखी हुए। उन्होंने सुद्युम्न को उसका पुरुषत्व वापस दिलाने की इच्छा से शिवजी की पूजा करनी फिर प्रारम्भ कर दी।

तुष्टस्तस्मै स भगवानृषये प्रियमावहन् ।
स्वां च वाचमृतां कुर्वन्निदमाह विशाम्पते ॥ ३८ ॥
मासं पुमान्स भविता मासं स्त्री तव गोत्रजः ।
इत्थं व्यवस्थया कामं सुद्युम्नोऽवतु मेदिनीम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तुष्टः—प्रसन्न होकर; तस्मै—वसिष्ठ को; सः—उसने (शिवजी ने); भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; ऋषये—ऋषि को; प्रियम् आवहन्—उसे प्रसन्न करने के लिए; स्वाम् च—अपने; वाचम्—शब्द को; ऋताम्—सत्य; कुर्वन्—करने के लिए; इदम्—यह; आह—कहा; विशाम्पते—हे राजा परीक्षित; मासम्—एक महीना; पुमान्—पुरुष; सः—सुद्युम्न; भविता—बन जायेगा; मासम्—दूसरे महीने में; स्त्री—स्त्री; तव—तुम्हारी; गोत्र-जः—तुम्हारी परम्परा में उत्पन्न शिष्य; इत्थम्—इस तरह; व्यवस्थया—समझौते से; कामम्—इच्छानुसार; सुद्युम्नः—राजा सुद्युम्न; अवतु—शासन कर सकता है; मेदिनीम्—जगत पर।

हे राजा परीक्षित, शिवजी वसिष्ठ पर प्रसन्न हो गए। अतएव शिवजी ने उन्हें तुष्ट करने तथा पार्वती को दिये गये अपने वचन रखने के उद्देश्य से उस सन्त पुरुष से कहा, ''आपका शिष्य सुद्युम्न एक मास तक नर रहेगा और दूसरे मास स्त्री रहेगा। इस तरह वह इच्छानुसार जगत पर शासन कर सकेगा।''

तात्पर्य : इस प्रसंग में *गोत्रजः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। ब्राह्मण लोग सामान्यतया दो कुलों के गुरु होते हैं। एक कुल उनकी शिष्य परम्परा होता है और दूसरा उनके वीर्य से उत्पन्न कुल होता है। दोनों ही वंशज एक ही गोत्र से सम्बन्धित होते हैं। वैदिक प्रणाली में कभी-कभी देखा जाता है कि एक ही ऋषि की शिष्य-परम्परा में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय दोनों पाये जाते हैं और कभी-कभी तो वैश्य तक पाये जाते हैं। चूँकि गोत्र तथा कुल एक हैं अतएव शिष्य तथा वीर्य से उत्पन्न कुल में कोई अन्तर नहीं होता। आज भी वही प्रणाली भारतीय समाज में चल रही है, विशेष रूप से विवाह में गोत्र की गणना की जाती है। यहाँ पर *गोत्रजः* शब्द एक ही कुल में उत्पन्न लोगों को बताने वाला है, चाहे वे शिष्य हों या कुल के सदस्य।

आचार्यानुग्रहात्कामं लब्ध्वा पुंस्त्वं व्यवस्थया ।
पालयामास जगतीं नाभ्यनन्दन्स्म तं प्रजाः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

आचार्य-अनुग्रहात्—गुरु की कृपा से; कामम्—इच्छित; लब्ध्वा—प्राप्त करके; पुंस्त्वम्—पुरुषत्व; व्यवस्थया—शिवजी के इस निर्णय से; पालयाम् आस—उसने शासन चलाया; जगतीम्—सारे जगत पर; न अभ्यनन्दन् स्म—संतुष्ट नहीं थे; तम्—उस राजा से; प्रजाः—नागरिक।

इस प्रकार गुरु की कृपा पाकर शिवजी के वचनों के अनुसार सुद्युम्न को प्रति दूसरे मास में

उसका इच्छित पुरुषत्व फिर से प्राप्त हो जाता था और इस तरह उसने राज्य पर शासन चलाया यद्यपि नागरिक इससे सन्तुष्ट नहीं थे।

तात्पर्य : नागरिक जान गये थे कि राजा हर दूसरे मास स्त्री में परिणत हो जाता है अतएव वह अपने राजसी कर्तव्यों को निभा नहीं सकता था। फलस्वरूप नागरिक अत्यधिक असन्तुष्ट थे।

तस्योत्कलो गयो राजन्विमलश्च त्रयः सुताः ।
दक्षिणापथराजानो बभूवुर्धर्मवत्सलाः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

तस्य—सुद्युम्न के; उत्कलः—उत्कल नामक; गयः—गय नामक; राजन्—हे राजा परीक्षित; विमलः च—तथा विमल नामक; त्रयः—तीन; सुताः—पुत्र; दक्षिणा-पथ—संसार के दक्षिणी भाग के; राजानः—राजागण; बभूवुः—वे बन गये; धर्म-वत्सलाः—अत्यन्त धार्मिक।

हे राजा, सुद्युम्न के तीन अत्यन्त पवित्र पुत्र हुए जिनके नाम थे उत्कल, गय तथा विमल, जो दक्षिणापथ के राजा बने।

ततः परिणते काले प्रतिष्ठानपतिः प्रभुः ।
पुरूरवस उत्सृज्य गां पुत्राय गतो वनम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; परिणते काले—समय आने पर; प्रतिष्ठान-पतिः—राज्य का स्वामी; प्रभुः—अत्यन्त शक्तिशाली; पुरूरवसे—पुरूरवा को; उत्सृज्य—प्रदान करके; गाम्—जगत को; पुत्राय—अपने पुत्र को; गतः—चला गया; वनम्—वन को।

तत्पश्चात् समय आने पर जब जगत का राजा सुद्युम्न काफी वृद्ध हो गया तो उसने अपना सारा साम्राज्य अपने पुत्र पुरूरवा को दे दिया और स्वयं जंगल में चला गया।

तात्पर्य : वैदिक प्रणाली के अनुसार जब किसी की आयु पचास वर्ष हो जाय तो वह वर्णाश्रम संस्थान में रहता हुआ अपने पारिवारिक जीवन को अवश्य छोड़ दे (*पञ्चाशद् ऊर्ध्वं वनम् व्रजेत्*)। इस तरह सुद्युम्न ने अपना राजपाट छोड़कर आध्यात्मिक जीवन पूरा करने के लिए जंगल में जाकर वर्णाश्रम के निर्दिष्ट नियमों का पालन किया।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध के अन्तर्गत ''राजा सुद्युम्न का स्त्री बनना'' नामक पहले अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दो

मनु के पुत्रों की वंशावलियाँ

इस दूसरे अध्याय में करूष इत्यादि मनु के पुत्रों के वंशों का वर्णन हुआ है।

जब सुद्युम्न ने वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार कर लिया और वह जंगल के लिए चल दिया तो वैवस्वत मनु ने पुत्रेच्छा से भगवान् की पूजा की। फलस्वरूप महाराज इक्ष्वाकु की ही भाँति उसके दस पुत्र उत्पन्न हुए जो अपने ही पिता के समान थे। इन पुत्रों में से एक, पृषध्र, अपने हाथ में तलवार लेकर रात में गायों की रखवाली किया करता था। अपने गुरु की आज्ञा पालन करते हुए वह समूची रात इसी तरह खड़ा रहता था। एक बार रात्रि के अंधकार में एक बाघ ने गोशाला में जाकर एक गाय पकड़ ली। जब पृषध्र को यह पता चला तो वह अपने हाथ में तलवार लेकर उस बाघ का पीछा करने लगा। दुर्भाग्यवश जब वह बाघ के पास पहुँच गया तो वह अँधेरे के कारण बाघ तथा गाय में अन्तर न देख पाया और इस तरह उसने गाय का वध कर दिया। इस पर उसके गुरु ने शाप दे दिया कि वह शूद्र कुल में जन्म ले, किन्तु उसने योग का अभ्यास किया और भक्तियोग द्वारा भगवान् की पूजा की। तत्पश्चात् वह स्वेच्छा से प्रज्ज्वलित दावाग्नि में प्रविष्ट हो गया और इस तरह अपना भौतिक शरीर त्यागकर भगवद्धाम वापस चला गया।

मनु का सबसे छोटा बेटा कवि अपने बाल्यकाल से ही भगवान् का परम भक्त था। मनु के पुत्र करूष से क्षत्रियों का एक सम्प्रदाय चला जो कारूष कहलाया। मनु के दूसरे पुत्र धृष्ट से क्षत्रियों का एक अन्य सम्प्रदाय चला जो क्षत्रिय–गुणों से युक्त पिता से जन्म लेने के बावजूद भी, बाद में ब्राह्मण हो गये। मनु के अन्य पुत्र नृग से सुमति, भूतज्योति तथा वसु नामक पुत्र तथा पौत्र हुए। वसु से प्रतीक हुआ और उससे ओघवान हुआ। मनु के अन्य पुत्र नरिष्यन्त के वीर्य के वंश में चित्रसेन, ऋक्ष, मीढ़वान्, पूर्ण, इन्द्रसेन, वीतिहोत्र, सत्यश्रवा, उरुश्रवा, देवदत्त तथा अग्निवेश्य उत्पन्न हुए। अग्निवेश्य नामक क्षत्रिय से अग्निवेश्यायन नामक सुविख्यात ब्राह्मण वंश चला। मनु के अन्य पुत्र दिष्ट के वीर्यकुल से नाभाग उत्पन्न हुआ जिसकी परम्परा में भलन्दन, वत्सप्रीति, प्रांशु, प्रमति, खनित्र, चाक्षुष, विविंशति, रम्भ, खनीनेत्र, करन्धम, अवीक्षित, मरुत्त, दम, राज्यवर्धन, सुधृति, नर, केवल, धुन्धुमान, वेगवान, बुध तथा तृणबिन्दु उत्पन्न हुए। इस प्रकार इस गोत्र में अनेक पुत्र तथा पौत्र उत्पन्न हुए। तृणबिन्दु से इलविला नामक कन्या उत्पन्न हुई

जिससे कुवेर ने जन्म लिया। तृणबिन्दु के तीन पुत्र भी हुए जिनके नाम विशाल, शून्यबन्धु तथा धूम्रकेतु थे। विशाल का पुत्र हेमचन्द्र था जिसका पुत्र धूम्राक्ष था और उसका पुत्र संयम हुआ। संयम के पुत्र देवज तथा कृशाश्व हुए। कृशाश्व के पुत्र सोमदत्त ने अश्वमेध यज्ञ किया और भगवान् विष्णु की पूजा करके उसने भगवद्धाम वापस जाकर परम सिद्धि प्राप्त की।

श्रीशुक उवाच

एवं गतेऽथ सुद्युम्ने मनुर्वैवस्वतः सुते ।
पुत्रकामस्तपस्तेपे यमुनायां शतं समाः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; गते—वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार करने के लिए; अथ—तत्पश्चात्; सुद्युम्ने—जब सुद्युम्न; मनुः वैवस्वतः—वैवस्वत मनु जो श्राद्धदेव कहलाते थे; सुते—अपना पुत्र; पुत्र-कामः—पुत्र पाने की इच्छा से; तपः तेपे—कठिन तपस्या की; यमुनायाम्—यमुना नदी के तट पर; शतम् समाः—एक सौ वर्षों तक।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इसके पश्चात् जब वैवस्वत मनु (श्राद्धदेव) का पुत्र सुद्युम्न वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करने के लिए जंगल में चला गया तो मनु ने और अधिक सन्तान प्राप्त करने की इच्छा से यमुना नदी के तट पर सौ वर्षों तक कठिन तपस्या की।

ततोऽयजन्मनुर्देवमपत्यार्थं हरिं प्रभुम् ।
इक्ष्वाकुपूर्वजान्पुत्रान्लेभे स्वसदृशान्दश ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; अयजत्—पूजा की; मनुः—वैवस्वत मनु ने; देवम्—भगवान् की; अपत्य-अर्थम्—सन्तान प्राप्त करने के लिए; हरिम्—हरि की; प्रभुम्—प्रभु; इक्ष्वाकु-पूर्व-जान्—जिनमें सबसे बड़ा इक्ष्वाकु था; पुत्रान्—पुत्रों को; लेभे—पाया; स्व-सदृशान्—अपनी ही तरह के; दश—दस।

तब पुत्र-कामना से श्राद्धदेव ने देवों के देव भगवान् हरि की पूजा की। इस तरह उसे अपने ही सदृश दस पुत्र प्राप्त हुए। इनमें से इक्ष्वाकु सबसे बड़ा था।

पृषध्रस्तु मनोः पुत्रो गोपालो गुरुणा कृतः ।
पालयामास गा यत्तो रात्र्यां वीरासनव्रतः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

पृषध्रः तु—उनमें से पृषध्र; मनोः—मनु का; पुत्रः—पुत्र; गो-पालः—गायों को पालने वाला; गुरुणा—अपने गुरु के आदेश से; कृतः—लगाया गया; पालयाम् आस—रक्षा की; गाः—गायों को; यत्तः—इस प्रकार लगाया गया; रात्र्याम्—रात में; वीरासन-व्रतः—वीरासन का व्रत लेकर तलवार लिए खड़ा।

इन पुत्रों में से पृषध्र अपने गुरु की आज्ञा का पालन करते हुए गायों की रखवाली में लग गया। गायों की रक्षा के लिए वह सारी रात हाथ में तलवार लिए खड़ा रहता।

तात्पर्य : वीरासन कहलाने वाला व्यक्ति हाथ में तलवार लेकर सारी रात खड़ा रहकर गायों की रक्षा करने का व्रत लेता है। चूँकि पृषध्र ने ऐसा व्रत ले रखा था अतएव यह समझा जा सकता है कि उसका कोई कुल नहीं था। इस व्रत से हम यह भी समझ सकते हैं कि गो-रक्षा कितनी अनिवार्य है। क्षत्रिय का कोई न कोई पुत्र गायों को रात्रि में भी खूँख्वार जानवरों से बचाने के लिए यह व्रत लेता था। तो फिर गायों को कसाईघरों में भेजने के विषय में क्या कहा जाय? यह तो मानव समाज का सबसे पापपूर्ण कृत्य है।

एकदा प्राविशद्गोष्ठं शार्दूलो निशि वर्षति ।
शयाना गाव उत्थाय भीतास्ता बभ्रमुर्व्रजे ॥ ४॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; प्राविशत्—घुस गया; गोष्ठम्—गोशाला में; शार्दूलः—बाघ; निशि—रात्रि में; वर्षति—वर्षा होते समय; शयानाः—लेटी हुईं; गावः—गाएँ; उत्थाय—उठकर; भीताः—डरी हुई; ताः—वे सब; बभ्रमुः—इधर-उधर फैल गईं; व्रजे—गोशाला के चारों ओर की भूमि में।

एक बार रात्रि में, जब वर्षा हो रही थी, एक बाघ गोशाला में घुस आया। उसे देखकर भूमि में लेटी हुई सारी गाएँ डर के मारे खड़ी हो गईं और गोशाला में तितर-बितर हो गईं।

एकां जग्राह बलवान्सा चुक्रोश भयातुरा ।
तस्यास्तु क्रन्दितं श्रुत्वा पृषध्रोऽनुससार ह ॥ ५॥
खड्गमादाय तरसा प्रलीनोडुगणे निशि ।
अजानन्नच्छिनोद्बभ्रोः शिरः शार्दूलशङ्कया ॥ ६॥

शब्दार्थ

एकाम्—एक गाय को; जग्राह—पकड़ लिया; बलवान्—बलशाली बाघ ने; सा—वह गाय; चुक्रोश—चिल्लाने लगी; भय-आतुरा—भयभीत; तस्याः—उसकी; तु—लेकिन; क्रन्दितम्—चीत्कार; श्रुत्वा—सुनकर; पृषध्रः—पृषध्र ने; अनुससार ह—पीछा किया; खड्गम्—तलवार; आदाय—लेकर; तरसा—तेजी से; प्रलीन-उडु-गणे—जब तारे बादलों से ढक गये; निशि—रात में; अजानन्—अनजाने; अच्छिनोत्—काट लिया; बभ्रोः—गाय का; शिरः—सिर; शार्दूल-शङ्कया—बाघ का सिर समझकर।

जब अत्यन्त बलवान बाघ ने एक गाय को पकड़ लिया तो वह भयभीत होकर चिल्लाने लगी। पृषध्र ने यह चीत्कार सुनी और वह तुरन्त इस आवाज का पीछा करने लगा। उसने अपनी तलवार निकाल ली लेकिन चूँकि तारे बादलों से ढके थे अतएव उसने गाय को बाघ समझकर धोखे में अत्यन्त बलपूर्वक गाय का सिर काट लिया।

व्याघ्रोऽपि वृक्णश्रवणो निस्त्रिंशाग्राहतस्ततः ।
निश्चक्राम भृशं भीतो रक्तं पथि समुत्सृजन् ॥ ७॥

शब्दार्थ

व्याघ्रः—बाघ; अपि—भी; वृक्ण-श्रवणः—कान कटा हुआ; निस्त्रिंश-अग्र-आहतः—तलवार की नोंक से कट जाने के कारण; ततः—तत्पश्चात्; निश्चक्राम—(उस स्थान से) भाग निकला; भृशम्—अत्यधिक; भीतः—भयभीत होकर; रक्तम्—रक्त; पथि—रास्ते में; समुत्सृजन्—गिराता हुआ।

चूँकि तलवार की नोक से बाघ का कान कट गया था अतएव वह अत्यधिक भयभीत था और वह उस स्थान से रास्ते भर कान से खून बहाता हुआ भाग खड़ा हुआ।

मन्यमानो हतं व्याघ्रं पृषध्रः परवीरहा ।
अद्राक्षीत्स्वहतां बभ्रुं व्युष्टायां निशि दुःखितः ॥ ८॥

शब्दार्थ

मन्यमानः—यह सोचते हुए कि; हतम्—मार डाला गया; व्याघ्रम्—बाघ को; पृषध्रः—मनु पुत्र पृषध्र; पर-वीर-हा—यद्यपि शत्रु को दण्ड देने में समर्थ था; अद्राक्षीत्—देखा; स्व-हताम्—अपने द्वारा मारी गयी; बभ्रुम्—गाय को; व्युष्टायाम् निशि—रात्रि बीत जाने पर (प्रातःकाल); दुःखितः—अत्यन्त दुखी हुआ।

अपने शत्रु का दमन करने में समर्थ पृषध्र ने प्रातःकाल जब देखा कि उसने गाय का वध कर दिया है, यद्यपि रात में उसने सोचा था कि उसने बाघ को मारा है, तो वह अत्यन्त दुखी हुआ।

तं शशाप कुलाचार्यः कृतागसमकामतः ।
न क्षत्रबन्धुः शूद्रस्त्वं कर्मणा भवितामुना ॥ ९॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (पृषध्र को); शशाप—शाप दे दिया; कुल-आचार्यः—कुलगुरु वसिष्ठ ने; कृत-आगसम्—गोवध का महापाप करने के कारण; अकामतः—न चाहते हुए; न—नहीं; क्षत्र-बन्धुः—क्षत्रिय कुटुम्बी; शूद्रः त्वम्—तुमने शूद्रजैसा आचरण किया है; कर्मणा—अतएव अपने कर्मफल से; भविता—तुम शूद्र हो जाओगे; अमुना—गोवध करने से।

यद्यपि पृषध्र ने अनजाने में यह पाप किया था, किन्तु उसके कुलपुरोहित वसिष्ठ ने उसे यह शाप दिया, "तुम अपने अगले जन्म में क्षत्रिय नहीं बन सकोगे, प्रत्युत गोवध करने के कारण तुम्हें शूद्र बनकर जन्म लेना पड़ेगा।"

तात्पर्य : ऐसा लगता है कि वसिष्ठ तमोगुण से मुक्त नहीं हो पाये थे। पृषध्र के कुलपुरोहित या गुरु होने के नाते उन्हें पृषध्र के अपराध को गम्भीरता से नहीं लेना चाहिए था, किन्तु उल्टे उन्होंने उसे शूद्र बनने का शाप दे दिया। कुलपुरोहित का धर्म शिष्य को शाप देना नहीं अपितु कोई प्रायश्चित्त करवा कर राहत देना

होता है। किन्तु वसिष्ठ ने इसके विपरीत किया। अतएव श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि वह दुर्मति था अर्थात् उसकी बुद्धि ठीक नहीं थी।

एवं शप्तस्तु गुरुणा प्रत्यगृह्णात्कृताञ्जलिः ।
अधारयद्व्रतं वीर ऊर्ध्वरेता मुनिप्रियम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; शप्तः—शापित होकर; तु—लेकिन; गुरुणा—अपने गुरु द्वारा; प्रत्यगृह्णात्—उसने स्वीकार कर लिया; कृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़कर; अधारयत्—ग्रहण किया; व्रतम्—ब्रह्मचर्य व्रत; वीरः—उस वीर ने; ऊर्ध्व-रेताः—अपनी इन्द्रियों को वश में करके; मुनि-प्रियम्—मुनियों द्वारा स्वीकृत।

जब उस वीर पृषध्र को उसके गुरु ने इस प्रकार शाप दे दिया तो उसने हाथ जोड़कर वह शाप अंगीकार कर लिया। तत्पश्चात् अपनी इन्द्रियों को वश में करते हुए उसने सभी मुनियों द्वारा सम्मत ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया।

वासुदेवे भगवति सर्वात्मनि परेऽमले ।
एकान्तित्वं गतो भक्त्या सर्वभूतसुहृत्समः ॥ ११ ॥
विमुक्तसङ्गः शान्तात्मा संयताक्षोऽपरिग्रहः ।
यदृच्छयोपपन्नेन कल्पयन्वृत्तिमात्मनः ॥ १२ ॥
आत्मन्यात्मानमाधाय ज्ञानतृप्तः समाहितः ।
विचचार महीमेतां जडान्धबधिराकृतिः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

वासुदेवे—वासुदेव में; भगवति—भगवान्; सर्व-आत्मनि—परमात्मा में; परे—ब्रह्म में; अमले—कल्मषरहित परम पुरुष में; एकान्तित्वम्—अविचल भाव से भक्ति करते हुए; गतः—उस पद पर स्थित होकर; भक्त्या—शुद्ध भक्ति के कारण; सर्व-भूत-सुहृत् समः—भक्त, मित्र तथा समदर्शी होने के कारण; विमुक्त-सङ्गः—भौतिक कल्मष से रहित; शान्त-आत्मा—शान्तिपूर्ण प्रवृत्ति; संयत—आत्मसंयमित; अक्षः—जिसकी दृष्टि; अपरिग्रहः—किसी से दान ग्रहण कियेबिना; यत्-ऋच्छया—भगवान् की कृपा से; उपपन्नेन—शारीरिक आवश्यकताओं के लिए जो भी उपलब्ध था उससे; कल्पयन्—व्यवस्थित करके; वृत्तिम्—शरीर की आवश्यकताएँ; आत्मनः—आत्मा के लाभ हेतु; आत्मनि—मन में; आत्मानम्—परमात्मा को; आधाय—सदैव रखते हुए; ज्ञान-तृप्तः—आध्यात्मिक ज्ञान से तुष्ट; समाहितः—सदैव समाधिमग्न; विचचार—सर्वत्र भ्रमण करने लगा; महीम्—पृथ्वी में; एताम्—इस; जड—मूक; अन्ध—अन्धा; बधिर—बहरा; आकृतिः—के समान।

तत्पश्चात् पृषध्र ने सारे उत्तरदायित्वों से अवकाश ले लिया और शान्तचित्त होकर अपनी समग्र इन्द्रियों को वश में किया। भौतिक परिस्थितियों से अप्रभावित, भगवान् की कृपा से शरीर तथा आत्मा को बनाए रखने के लिए जो भी मिल जाय उसी से संतुष्ट एवं सब पर समभाव रखते हुए, वह कल्मषहीन परमात्मा भगवान् वासुदेव पर ही अपना सारा ध्यान देने लगा। इस प्रकार शुद्ध ज्ञान से

पूर्णतः सन्तुष्ट एवं अपने मन को भगवान् में ही लगाकर उसने भगवान् की शुद्धभक्ति प्राप्त की और सारे विश्व में विचरण करने लगा। उसे भौतिक कार्यकलापों से कोई लगाव न रहा मानो वह बहरा, गूँगा तथा अन्धा हो।

एवं वृत्तो वनं गत्वा दृष्ट्वा दावाग्निमुत्थितम् ।
तेनोपयुक्तकरणो ब्रह्म प्राप परं मुनिः ॥ १४॥

शब्दार्थ

एवम् वृत्तः—ऐसे आश्रम में स्थित होकर; वनम्—वन में; गत्वा—जाकर; दृष्ट्वा—देखकर; दाव-अग्निम्—जंगल की आग को; उत्थितम्—वहाँ विद्यमान; तेन—उस (अग्नि) के द्वारा; उपयुक्त-करणः—जलाकर सभी इन्द्रियों को लगाते हुए; ब्रह्म—अध्यात्म; प्राप—प्राप्त किया; परम्—चरम लक्ष्य; मुनिः—मुनि की भाँति।

इस मनोवृत्ति से पृषध्र महान् सन्त बन गया और जब वह जंगल में प्रविष्ट हुआ और उसने प्रज्वलित जंगल की आग देखी तो उसने उस अग्नि में अपने शरीर को भस्म कर डाला। इस तरह उसे दिव्य आध्यात्मिक जगत की प्राप्ति हुई।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (४.९) में भगवान् कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यम् एवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो मेरे जन्म तथा कर्म की दिव्य प्रकृति को जानता है वह इस शरीर को त्यागने पर इस भौतिक जगत में पुनः जन्म न लेकर मेरे नित्य धाम को प्राप्त होता है।" पृषध्र को अपने कर्म के कारण अगले जन्म में शूद्र होने का शाप मिला था, किन्तु उसने सन्त जीवन स्वीकार करके भगवान् में अपने मन को केन्द्रित किया जिससे वह शुद्ध भक्त बन गया। जब उसने अग्नि में अपना शरीर त्याग दिया तो वह भक्ति के कारण तुरन्त ही वैकुण्ठधाम जा पहुँचा जैसा कि *भगवद्गीता* में वर्णित है (*मामेति*)। भगवान् का चिन्तन करते हुए जो भक्ति की जाती है वह इतनी शक्तिशाली होती है कि पृषध्र तक, जिसे शूद्र बनने का शाप मिला था, शूद्र बनने के घोर परिणाम से बच गया और भगवद्धाम को वापस गया। जैसा कि *ब्रह्म-संहिता* (५.५४) में कहा गया है—

यस्त्विन्द्रगोपमथवेन्द्रम् अहो स्वकर्म-

बन्धानुरूपफलभाजनमातनोति ।

कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजां

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

जो लोग भक्ति में लग जाते हैं उन्हें उनके भौतिक कर्मों के फल प्रभावित नहीं करते। अन्यथा क्षुद्र कीट से लेकर स्वर्ग के राजा इन्द्र तक प्रत्येक प्राणी कर्म के नियमों के अधीन है, किन्तु सदैव भगवान् की सेवा में संलग्न रहने के कारण शुद्ध भक्त इन नियमों से मुक्त रहता है।

कविः कनीयान्विषयेषु निःस्पृहो
विसृज्य राज्यं सह बन्धुभिर्वनम् ।
निवेश्य चित्ते पुरुषं स्वरोचिषं
विवेश कैशोरवयाः परं गतः ॥ १५॥

शब्दार्थ

कविः—दूसरा पुत्र कवि; कनीयान्—जो सबसे छोटा था; विषयेषु—भौतिक भोगों में; निःस्पृहः—आसक्तिरहित; विसृज्य—छोड़कर; राज्यम्—अपने पिता की सम्पत्ति (राज्य) को; सह बन्धुभिः—अपने मित्रों सहित; वनम्—जंगल में; निवेश्य—सदैव रखकर; चित्ते—हृदय में; पुरुषम्—परम पुरुष को; स्व-रोचिषम्—आत्म-तेजस्वी; विवेश—प्रविष्ट हो गया; कैशोर-वयाः—किशोरावस्था में; परम्—दिव्य जगत; गतः—प्रविष्ट हुआ।

मनु के सबसे छोटे पुत्र कवि ने भौतिक भोगों को अस्वीकार करते हुए युवावस्था में पहुँचने के पूर्व ही राजपाट त्याग दिया। वह अपने हृदय में आत्म-तेजस्वी भगवान् का सदैव चिन्तन करते हुए अपने मित्रों सहित जंगल में चला गया। इस प्रकार उसने सिद्धि प्राप्त की।

करूषान्मानवादासन्कारूषाः क्षत्रजातयः ।
उत्तरापथगोप्तारो ब्रह्मण्या धर्मवत्सलाः ॥ १६॥

शब्दार्थ

करूषात्—करूष से; मानवात्—मनु के पुत्र; आसन्—था; कारूषाः—कारूष कहलाने वाले; क्षत्र-जातयः—क्षत्रियों का समूह; उत्तरा—उत्तरी; पथ—दिशा की ओर; गोप्तारः—राजा; ब्रह्मण्याः—ब्राह्मण संस्कृति के विख्यात रक्षक; धर्म-वत्सलाः—अत्यन्त धार्मिक।

मनु के अन्य पुत्र करूष से कारूष वंश चला जो एक क्षत्रिय कुल था। कारूष क्षत्रिय उत्तरी दिशा के राजा थे। वे ब्राह्मण संस्कृति के विख्यात रक्षक थे और सभी अत्यन्त धार्मिक थे।

धृष्टाद्धार्ष्टमभूत्क्षत्रं ब्रह्मभूयं गतं क्षितौ ।
नृगस्य वंशः सुमतिर्भूतज्योतिस्ततो वसुः ॥ १७॥

शब्दार्थ

धृष्टात्—मनु के दूसरे पुत्र धृष्ट से; धार्ष्टम्—धार्ष्ट नामक जाति; अभूत्—उत्पन्न हुई; क्षत्रम्—क्षत्रिय समूह से सम्बन्धित; ब्रह्म-भूयम्—ब्राह्मणों का पद; गतम्—प्राप्त किया था; क्षितौ—पृथ्वी पर; नृगस्य—मनु के अन्य पुत्र नृग का; वंशः—वंश; सुमतिः—सुमति का; भूतज्योतिः—भूतज्योति का; ततः—तत्पश्चात्; वसुः—वसु नाम से।

मनु पुत्र धृष्ट से धार्ष्ट नामक क्षत्रिय जाति निकली जिसके सदस्यों ने इस जगत में ब्राह्मणों का पद प्राप्त किया। तत्पश्चात् मनु के पुत्र नृग से सुमति और सुमति से भूतज्योति और भूतज्योति से वसु उत्पन्न हुए।

तात्पर्य : यहाँ पर कहा गया है—*क्षत्रं ब्रह्मभूयं गतं क्षितौ*—यद्यपि धार्ष्टगण क्षत्रिय जाति के थे, किन्तु वे ब्राह्मण बनने में समर्थ हो गये थे। इससे नारद मुनि के निम्नलिखित कथन (*भागवत* ७.११.३५) की स्पष्ट पुष्टि होती है—

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत्॥

यदि एक समूह के लोगों के गुण दूसरे समूह के लोगों में पाये जायँ तो उन्हें उनके लक्षणों के आधार पर मान्यता दी जानी चाहिए न कि उस जाति के आधार पर जिसमें वे उत्पन्न हुए हों। जन्म तनिक भी महत्त्वपूर्ण नहीं होता। सारे वैदिक वाङ्मय में मनुष्य के गुणों पर बल दिया गया है।

वसोः प्रतीकस्तत्पुत्र ओघवानोघवत्पिता ।
कन्या चौघवती नाम सुदर्शन उवाह ताम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

वसोः—वसु का; प्रतीकः—प्रतीक नामक; तत्-पुत्रः—उसका पुत्र; ओघवान्—ओघवान; ओघवत्-पिता—जो ओघवान का पिता था; कन्या—उसकी कन्या; च—भी; ओघवती—ओघवती; नाम—नामक; सुदर्शनः—सुदर्शन ने; उवाह—व्याह किया; ताम्—उस कन्या (ओघवती) से।

वसु का पुत्र प्रतीक था और प्रतीक का पुत्र ओघवान हुआ। ओघवान का पुत्र भी ओघवान कहलाया और उसकी पुत्री का नाम ओघवती था। इसका व्याह सुदर्शन के साथ हुआ।

चित्रसेनो नरिष्यन्ताद्दक्षस्तस्य सुतोऽभवत् ।
तस्य मीढ्वांस्ततः पूर्ण इन्द्रसेनस्तु तत्सुतः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

चित्रसेनः—चित्रसेन; नरिष्यन्तात्—मनु के अन्य पुत्र नरिष्यन्त से; ऋक्षः—ऋक्ष; तस्य—चित्रसेन का; सुतः—पुत्र; अभवत्—हुआ; तस्य—ऋक्ष का; मीढ्वान्—मीढ्वान; ततः—उससे (मीढ्वान से); पूर्णः—पूर्ण; इन्द्रसेनः—इन्द्रसेन; तु—लेकिन; तत्-सुतः—उसका (पूर्ण का) पुत्र।

नरिष्यन्त का पुत्र चित्रसेन हुआ और उसका पुत्र ऋक्ष हुआ। ऋक्ष से मीढ्वान, मीढ्वान से पूर्ण और पूर्ण से इन्द्रसेन हुआ।

वीतिहोत्रस्त्विन्द्रसेनात्तस्य सत्यश्रवा अभूत् ।
उरुश्रवाः सुतस्तस्य देवदत्तस्ततोऽभवत् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

वीतिहोत्रः—वीतिहोत्र; तु—लेकिन; इन्द्रसेनात्—इन्द्रसेन से; तस्य—वीतिहोत्र का; सत्यश्रवाः—सत्यश्रवा; अभूत्—हुआ; उरुश्रवाः—उरुश्रवा; सुतः—पुत्र; तस्य—उसका (सत्यश्रवा का); देवदत्तः—देवदत्त; ततः—उरुश्रवा से; अभवत्—हुआ।

इन्द्रसेन से वीतिहोत्र, वीतिहोत्र से सत्यश्रवा, फिर उससे उरुश्रवा और उरुश्रवा से देवदत्त हुआ।

ततोऽग्निवेश्यो भगवानग्निः स्वयमभूत्सुतः ।
कानीन इति विख्यातो जातूकर्ण्यो महानृषिः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ततः—देवदत्त से; अग्निवेश्यः—अग्निवेश्य; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; अग्निः—अग्निदेव; स्वयम्—साक्षात्; अभूत्—हुआ; सुतः—पुत्र; कानीनः—कानीन; इति—इस प्रकार; विख्यातः—सुप्रसिद्ध था; जातूकर्ण्यः—जातूकर्ण्य; महान् ऋषिः—परम सन्त पुरुष।

देवदत्त का पुत्र अग्निवेश्य हुआ जो साक्षात् अग्निदेव था। यह पुत्र विख्यात सन्त था और कानीन तथा जातूकर्ण्य के नाम से विख्यात हुआ।

ततो ब्रह्मकुलं जातमाग्निवेश्यायनं नृप ।
नरिष्यन्तान्वयः प्रोक्तो दिष्टवंशमतः शृणु ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

ततः—अग्निवेश्य से; ब्रह्म-कुलम्—ब्राह्मणों का कुल; जातम्—उत्पन्न हुआ; आग्निवेश्यायनम्—आग्निवेश्यायन; नृप—हे राजा परीक्षित; नरिष्यन्त—नरिष्यन्त का; अन्वयः—वंशज; प्रोक्तः—कहा जा चुका है; दिष्ट-वंशम्—दिष्ट का वंश; अतः—इसके आगे; शृणु—सुनो।

हे राजा, अग्निवेश्य से आग्निवेश्यायन नामक ब्राह्मण कुल उत्पन्न हुआ। चूँकि मैं नरिष्यन्त के वंशजों का वर्णन कर चुका हूँ अतएव अब दिष्ट के वंशजों का वर्णन करूँगा। कृपया मुझसे सुनें।

नाभागो दिष्टपुत्रोऽन्यः कर्मणा वैश्यतां गतः ।

भलन्दनः सुतस्तस्य वत्सप्रीतिर्भलन्दनात् ॥ २३॥

वत्सप्रीतेः सुतः प्रांशुस्तत्सुतं प्रमतिं विदुः ।
खनित्रः प्रमतेस्तस्माच्चाक्षुषोऽथ विविंशतिः ॥ २४॥

शब्दार्थ

नाभागः—नाभाग; दिष्ट-पुत्रः—दिष्ट का पुत्र; अन्यः—दूसरा; कर्मणा—वृत्ति से; वैश्यताम्—वैश्य-आश्रम; गतः—प्राप्त किया; भलन्दनः—भलन्दन; सुतः—पुत्र; तस्य—उसका (नाभाग का); वत्सप्रीतिः—वत्सप्रीति; भलन्दनात्—भलन्दन से; वत्सप्रीतेः—वत्सप्रीति से; सुतः—पुत्र; प्रांशुः—प्रांशु; तत्-सुतम्—उसका (प्रांशु का) पुत्र; प्रमतिम्—प्रमति; विदुः—जानो; खनित्रः—खनित्र; प्रमतेः—प्रमतिसे; तस्मात्—खनित्र से; चाक्षुषः—चाक्षुष; अथ—इस प्रकार (चाक्षुष से); विविंशतिः—विविंशति ।

दिष्ट का पुत्र नाभाग हुआ। यह नाभाग जो आगे वर्णित होने वाले नाभाग से भिन्न था, वृत्ति से वैश्य बन गया। नाभाग का पुत्र भलन्दन हुआ, भलन्दन का पुत्र वत्सप्रीति हुआ और उसका पुत्र प्रांशु था। प्रांशु का पुत्र प्रमति था, प्रमति का पुत्र खनित्र और खनित्र का पुत्र चाक्षुष था जिसका पुत्र विविंशति हुआ।

तात्पर्य : मनु का एक पुत्र ब्राह्मण, दूसरा क्षत्रिय और तीसरा वैश्य बना। इससे नारद मुनि के इस कथन की पुष्टि होती है—*यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यंजकम्* (*भागवत* ७.११.३५)। यह कभी नहीं मानना चाहिए कि ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य जन्मजात हैं। ब्राह्मण क्षत्रिय बन सकता है और क्षत्रिय ब्राह्मण। इसी प्रकार ब्राह्मण या क्षत्रिय वैश्य बन सकता है और वैश्य ब्राह्मण या क्षत्रिय में बदल सकता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है (*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः*)। अतएव कोई जन्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य नहीं बनता अपितु गुण से बनता है। चूँकि ब्राह्मणों की नितान्त आवश्यकता है अतएव हम कृष्णभावनामृत आन्दोलन में कुछ ब्राह्मणों को मानव समाज का मार्गदर्शन कराने के लिए प्रशिक्षित करने का प्रयास कर रहे हैं। चूँकि इस समय ब्राह्मणों की कमी है इसलिए मानव समाज का मस्तिष्क नष्ट हो चुका है। चूँकि व्यावहारिक रूप में प्रत्येक व्यक्ति शूद्र है अतएव इस समय समाज को सही पथ का मार्गदर्शन कराने वाला कोई नहीं है जिससे जीवन की सिद्धि प्राप्त की जा सके।

विविंशतेः सुतो रम्भः खनीनेत्रोऽस्य धार्मिकः ।
करन्धमो महाराज तस्यासीदात्मजो नृप ॥ २५॥

शब्दार्थ

विविंशतेः—विविंशति से; सुतः—पुत्र; रम्भः—रम्भ; खनीनेत्रः—खनीनेत्र; अस्य—रम्भ का; धार्मिकः—अत्यन्त धार्मिक; करन्धमः—करन्धम; महाराज—हे राजा; तस्य—उसके (खनीनेत्र से); आसीत्—था; आत्मजः—पुत्र; नृप—हे राजा।

विविंशति के पुत्र का नाम रम्भ था जिसका पुत्र अत्यन्त महान् एवं धार्मिक राजा खनीनेत्र हुआ।

हे राजा, खनीनेत्र का पुत्र राजा करन्धम हुआ।

तस्यावीक्षित्सुतो यस्य मरुत्तश्चक्रवर्त्यभूत् ।
संवर्तोऽयाजयद्यं वै महायोग्यङ्गिर:सुत: ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके (करन्धम के); अवीक्षित्—अवीक्षित; सुत:—पुत्र; यस्य—जिसका (अवीक्षित का); मरुत्त:—मरुत्त नामक (पुत्र); चक्रवर्ती—राजा; अभूत्—हुआ; संवर्त:—संवर्त; अयाजयत्—यज्ञ कराने के लिए रखा; यम्—जिसको (मरुत्त को); वै—निस्सन्देह; महा-योगी—महान् योगी; अङ्गिर:-सुत:—अंगिरा का पुत्र।

करन्धम से अवीक्षित नामक पुत्र हुआ जिसका पुत्र मरुत्त था जो सम्राट था। महान् योगी अंगिरा-पुत्र संवर्त ने यज्ञ सम्पन्न कराने के लिए मरुत्त को लगाया।

मरुत्तस्य यथा यज्ञो न तथान्योऽस्ति कश्चन ।
सर्वं हिरण्मयं त्वासीद्यत्किञ्चिच्चास्य शोभनम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

मरुत्तस्य—मरुत्त का; यथा—जिस प्रकार; यज्ञ:—यज्ञ; न—नहीं; तथा—उस प्रकार; अन्य:—कोई दूसरा; अस्ति—है; कश्चन—कोई भी; सर्वम्—सभी वस्तुएँ; हिरण्-मयम्—सोने की बनी; तु—निस्सन्देह; आसीत्—था; यत् किञ्चित्—जो भी उसके पास था; च—तथा; अस्य—मरुत्त का; शोभनम्—अत्यन्त सुन्दर।

राजा मरुत्त के यज्ञ का साज-सामान अत्यन्त सुन्दर था क्योंकि सारी वस्तुएँ सोने की बनी थीं। निस्सन्देह, उसके यज्ञ की तुलना किसी भी और यज्ञ से नहीं की जा सकती।

अमाद्यदिन्द्र: सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातय: ।
मरुत: परिवेष्टारो विश्वेदेवा: सभासद: ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अमाद्यत्—मदान्ध हो गया; इन्द्र:—इन्द्र; सोमेन—सोमरस का पान करके; दक्षिणाभि:—पर्याप्त दक्षिणा प्राप्त करके; द्विजातय:—ब्राह्मण वर्ग; मरुत:—मरुतों ने; परिवेष्टार:—भोज्य पदार्थ परोसा; विश्वेदेवा:—विश्वेदेवा; सभा-सद:—सभा के सदस्य।

उस यज्ञ में सोमरस की बहुत अधिक मात्रा पीने से राजा इन्द्र मदान्ध हो गया। ब्राह्मणों को प्रचुर दक्षिणा मिली जिससे वे सन्तुष्ट थे। उस यज्ञ में मरुतों के विविध देवताओं ने खाना परोसा और विश्वेदेव सभा के सदस्य थे।

तात्पर्य : मरुत्त द्वारा सम्पन्न यज्ञ से सभी लोग विशेष रूप से ब्राह्मण तथा क्षत्रिय प्रसन्न थे। ब्राह्मण पुरोहितों के रूप में दक्षिणा पाने में रुचि रखते हैं और क्षत्रिय मद्यपान करने में। अतएव सभी लोग अपने-

अपने प्राप्तव्यों से सन्तुष्ट थे।

मरुत्तस्य दमः पुत्रस्तस्यासीद्राज्यवर्धनः ।
सुधृतिस्तत्सुतो जज्ञे सौधृतेयो नरः सुतः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

मरुत्तस्य—मरुत्त का; दमः—दम; पुत्रः—पुत्र; तस्य—दम का; आसीत्—था; राज्य-वर्धनः—राज्यवर्धन अर्थात् राज्य को बढ़ाने वाला; सुधृतिः—सुधृति; तत्-सुतः—उसका पुत्र; जज्ञे—उत्पन्न हुआ; सौधृतेयः—सुधृति से; नरः—नर नामक; सुतः—पुत्र।

मरुत्त का पुत्र दम हुआ, दम का पुत्र राज्यवर्धन था और उसका पुत्र सुधृति और सुधृति का पुत्र नर था।

तत्सुतः केवलस्तस्माद्धुन्धुमान्वेगवांस्ततः ।
बुधस्तस्याभवद्यस्य तृणबिन्दुर्महीपतिः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तत्-सुतः—उसका (नर का) पुत्र; केवलः—केवल था; तस्मात्—उससे; धुन्धुमान्—धुन्धुमान नामक पुत्र उत्पन्न हुआ; वेगवान्—वेगवान्; ततः—उससे; बुधः—बुध; तस्य—उसके; अभवत्—था; यस्य—जिसका (बुध का); तृणबिन्दुः—तृणबिन्दु; महीपतिः—राजा।

नर का पुत्र केवल हुआ और उसका पुत्र धुन्धुमान था, जिसका पुत्र वेगवान हुआ। वेगवान का पुत्र बुध था और बुध का पुत्र तृणबिन्दु था जो इस पृथ्वी का राजा बना।

तं भेजेऽलम्बुषा देवी भजनीयगुणालयम् ।
वराप्सरा यतः पुत्राः कन्या चेलविलाभवत् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (तृणबिन्दु को); भेजे—पति रूप में स्वीकार किया; अलम्बुषा—अलम्बुषा; देवी—देवी; भजनीय—स्वीकार करने योग्य; गुण-आलयम्—सद्गुणों का आगार; वर-अप्सरा:—अप्सराओं में सर्वश्रेष्ठ; यतः—जिससे (तृणबिन्दु से); पुत्राः—कुछ पुत्र; कन्या—एक पुत्री; च—तथा; इलविला—इलविला नामक; अभवत्—उत्पन्न हुई।

अप्सराओं में सर्वश्रेष्ठ अत्यन्त गुणी कन्या अलम्बुषा ने अपने ही समान योग्य तृणबिन्दु को पति-रूप में स्वीकार किया। उसके कुछ पुत्र तथा इलविला नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई।

यस्यामुत्पादयामास विश्रवा धनदं सुतम् ।
प्रादाय विद्यां परमामृषिर्योगेश्वरः पितुः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यस्याम्—जिसमें (इलविला) में; उत्पादयाम् आस—जन्म दिया; विश्रवा:—विश्रवा; धन-दम्—कुवेर अर्थात् धन देने वाला; सुतम्—पुत्र को; प्रादाय—प्राप्त करके; विद्याम्—विद्या को; परमाम्—परम; ऋषिः—महान् संत पुरुष; योग-ईश्वरः—योग के स्वामी; पितुः—अपने पिता से।

महान् सन्त योगेश्वर विश्रवा ने अपने पिता से परम विद्या प्राप्त करके इलविला के गर्भ से परम विख्यात पुत्र धन देने वाले कुवेर को उत्पन्न किया।

विशालः शून्यबन्धुश्च धूम्रकेतुश्च तत्सुताः ।
विशालो वंशकृद्राजा वैशालीं निर्ममे पुरीम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

विशालः—विशाल; शून्यबन्धुः—शून्यबन्धु; च—भी; धूम्रकेतुः—धूम्रकेतु; च—भी; तत्-सुताः—तृणबिन्दु के पुत्र; विशालः—तीनों में राजा विशाल ने; वंश-कृत्—वंश बनाया; राजा—राजा; वैशालीम्—वैशाली नामक; निर्ममे—निर्माण किया; पुरीम्—महल।

तृणबिन्दु के तीन पुत्र थे—विशाल, शून्यबन्धु तथा धूम्रकेतु। इन तीनों में विशाल ने एक वंश चलाया और वैशाली नामक एक महल की रचना कराई।

हेमचन्द्रः सुतस्तस्य धूम्राक्षस्तस्य चात्मजः ।
तत्पुत्रात्संयमादासीत्कृशाश्वः सहदेवजः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

हेमचन्द्रः—हेमचन्द्र नामक; सुतः—पुत्र; तस्य—उसका (विशाल का); धूम्राक्षः—धूम्राक्ष; तस्य—उसका (हेमचन्द्र का); च—भी; आत्मजः—पुत्र; तत्-पुत्रात्—उसके पुत्र (धूम्राक्ष) से; संयमात्—संयम से; आसीत्—था; कृशाश्वः—कृशाश्व; सह—सहित; देवजः—देवज।

विशाल का पुत्र हेमचन्द्र कहलाया और उसका पुत्र धूम्राक्ष हुआ जिसका पुत्र संयम था और उसके पुत्रों के नाम देवज तथा कृशाश्व थे।

कृशाश्वात्सोमदत्तोऽभूद्योऽश्वमेधैरिडस्पतिम् ।
इष्ट्वा पुरुषमापाग्र्यां गतिं योगेश्वराश्रिताम् ॥ ३५ ॥
सौमदत्तिस्तु सुमतिस्तत्पुत्रो जनमेजयः ।
एते वैशालभूपालास्तृणबिन्दोर्यशोधराः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

कृशाश्वात्—कृशाश्व से; सोमदत्तः—सोमदत्त नामक पुत्र; अभूत्—था; यः—जो (सोमदत्त); अश्वमेधैः—अश्वमेध यज्ञ करके; इडस्पतिम्—भगवान् विष्णु को; इष्ट्वा—पूजकर; पुरुषम्—विष्णु को; आप—प्राप्त किया; अग्र्याम्—सर्वश्रेष्ठ; गतिम्—गन्तव्य, गति; योगेश्वर-आश्रिताम्—महान् योगियों द्वारा प्राप्त स्थान; सौमदत्तिः—सोमदत्त का पुत्र; तु—लेकिन; सुमतिः—सुमति; तत्-पुत्रः—उसका (सुमति का) पुत्र; जनमेजयः—जनमेजय; एते—इन सबों ने; वैशाल-भूपालाः—वैशाल वंश के राजा; तृणबिन्दोः यशः-धराः—तृणबिन्दु के यश को बनाये रखा।

कृशाश्व का पुत्र सोमदत्त हुआ जिसने अश्वमेध यज्ञ किए और इस प्रकार भगवान् विष्णु को

प्रसन्न किया। भगवान् की पूजा करने से उसे ऐसा उच्चपद प्राप्त हुआ जो बड़े-बड़े योगियों को मिलता है। सोमदत्त का पुत्र सुमति था जिसका पुत्र जनमेजय हुआ। विशाल वंश में प्रकट होकर इन सारे राजाओं ने राजा तृणबिन्दु के विख्यात पद को बनाये रखा।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कंध के अन्तर्गत ''मनु के पुत्रों की वंशावलियाँ'' नामक द्वितीय अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तीन

सुकन्या तथा च्यवन मुनि का विवाह

इस अध्याय में मनु के अन्य पुत्र शर्याति के वंश का वर्णन है और इसमें सुकन्या तथा रेवती का भी उल्लेख हुआ है।

देवज्ञ शर्याति ने अंगिरसों के यज्ञ के दूसरे दिन सम्पन्न होने वाले अनुष्ठानों के विषय में आदेश दिया। एक दिन शर्याति अपनी पुत्री सुकन्या सहित च्यवन मुनि के आश्रम में गये। वहाँ सुकन्या ने एक बाँबी के भीतर दो चमकीली वस्तुएँ देखीं और दैववशात् उसने उन दोनों वस्तुओं को छेद दिया। ज्यों ही उसने ऐसा किया कि उस छेद से खून चूने लगा। फलस्वरूप राजा शर्याति तथा उनके संगियों को कब्ज तथा मूत्रबन्द होने लगा। जब राजा ने पूछा कि अकस्मात् परिस्थिति कैसे बदल गई तो पता चला कि इस दुर्भाग्य का कारण सुकन्या थी। तब सबों ने च्यवन मुनि को प्रसन्न करने के लिए स्तुति की और देवज्ञ शर्याति ने अपनी पुत्री उस वृद्ध पुरुष च्यवन मुनि को सौंप दी।

एक बार स्वर्ग के वैद्य अश्विनीकुमार बन्धु च्यवन मुनि के पास गये तो मुनि ने उनसे अपना तारुण्य वापस माँगा। ये दोनों वैद्य च्यवन मुनि को एक विशेष सरोवर के पास ले गये जहाँ उन्हें नहलवाया जिससे उन्हें तारुण्य फिर से वापस मिल गया। इसके बाद सुकन्या अपने पति को नहीं पहचान पाई। अतएव वह अश्विनीकुमारों की शरण में गई जो उसके सतीत्व से परम प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे पुन: उसके पति से मिला दिया। तब च्यवन मुनि ने राजा शर्याति को सोमयज्ञ कराने में लगा दिया और अश्विनीकुमारों को सोमरस पीने का अवसर प्रदान किया। इस पर स्वर्ग का राजा इन्द्र अत्यन्त कुपित हुआ, किन्तु वह शर्याति को कोई क्षति न पहुँचा पाया। तभी से अश्विनीकुमार वैद्यों को सोमरस में भाग मिलने लगा।

बाद में शर्याति के तीन पुत्र हुए जिनके नाम थे—उत्तानबर्हि, आनर्त तथा भूरिषेण। आनर्त के एक ही पुत्र हुआ जिसका नाम रेवत था। रेवत के सौ पुत्र हुए जिनमें से ककुद्मी ज्येष्ठ था। ककुद्मी को ब्रह्माजी ने सलाह दी कि वह अपनी सुन्दर पुत्री रेवती को बलदेव को अर्पित कर दे जो विष्णुतत्त्व की कोटि में आते हैं। तत्पश्चात् ककुद्मी ने गृहस्थ जीवन से वैराग्य ले लिया और वह तपस्या करने के लिए बदरिकाश्रम के जंगल में चला गया।

श्रीशुक उवाच
शर्यातिर्मानवो राजा ब्रह्मिष्ठः सम्बभूव ह ।
यो वा अङ्गिरसां सत्रे द्वितीयमहरूचिवान् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; शर्यातिः—शर्याति नामक राजा; मानवः—मनु का पुत्र; राजा—शासक; ब्रह्मिष्ठः—वैदिक ज्ञान से पूर्णतः भिज्ञ; सम्बभूव ह—वह बना; यः—जो; वा—अथवा; अङ्गिरसाम्—अंगिरा के वंशजों की; सत्रे—यज्ञशाला में; द्वितीयम् अहः—दूसरे दिन सम्पन्न होने वाले उत्सव; ऊचिवान्—कह सुनाया।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : हे राजा, मनु का दूसरा पुत्र राजा शर्याति वैदिक ज्ञान में पारंगत था। उसने अंगिरावंशियों द्वारा सम्पन्न होने वाले यज्ञ के दूसरे दिन के उत्सवों के विषय में आदेश दिए।

सुकन्या नाम तस्यासीत्कन्या कमललोचना ।
तया सार्धं वनगतो ह्यगमच्च्यवनाश्रमम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सुकन्या—सुकन्या; नाम—नामक; तस्य—उसकी (शर्याति की); आसीत्—थी; कन्या—पुत्री; कमल-लोचना—कमल जैसे नेत्रों वाली; तया सार्धम्—उसके साथ; वन-गतः—जंगल में गया हुआ; हि—निस्सन्देह; अगमत्—वह गया; च्यवन-आश्रमम्—च्यवन मुनि के आश्रम में।

शर्याति के सुकन्या नामक एक सुन्दर कमलनेत्री कन्या थी जिसके साथ वे जंगल में च्यवन मुनि के आश्रम को देखने गये।

सा सखीभिः परिवृता विचिन्वन्त्यङ्घ्रिपान्वने ।
वल्मीकरन्ध्रे ददृशे खद्योते इव ज्योतिषी ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सा—वह सुकन्या; सखीभिः—अपनी सहेलियों से; परिवृता—घिरी हुई; विचिन्वन्ती—चुनती हुई; अङ्घ्रिपान्—वृक्षों से फल तथा फूल; वने—जंगल में; वल्मीक-रन्ध्रे—बाँबी के छेद में; ददृशे—देखा; खद्योते—दो जुगुनू; इव—सदृश; ज्योतिषी—दो चमकीली वस्तुएँ।

जब वह सुकन्या जंगल में अपनी सहेलियों से घिरी हुई, वृक्षों से विविध प्रकार के फल एकत्र कर रही थी तो उसने बाँबी के छेद में दो जुगुनू जैसी चमकीली वस्तुएँ देखीं।

ते दैवचोदिता बाला ज्योतिषी कण्टकेन वै ।
अविध्यन्मुग्धभावेन सुस्रावासृक्ततो बहिः ॥ ४॥

शब्दार्थ

ते—उन दोनों; दैव-चोदिता—मानो विधाता द्वारा प्रेरित; बाला—तरुणी ने; ज्योतिषी—बाँबी के भीतर दो जुगुनुओं को; कण्टकेन—काँटे से; वै—निस्सन्देह; अविध्यत्—छेद दिया; मुग्ध-भावेन—बिना जाने; सुस्राव—बाहर निकल आया; असृक्—रक्त; ततः—वहाँ से; बहिः—बाहर।

मानो विधाता से प्रेरित होकर उस तरुणी ने बिना जाने उन दोनों जुगुनुओं को एक काँटे से छेद दिया जिससे उनमें से रक्त फूटकर बाहर आने लगा।

शकृन्मूत्रनिरोधोऽभूत्सैनिकानां च तत्क्षणात् ।
राजर्षिस्तमुपालक्ष्य पुरुषान्विस्मितोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

शकृत्—मल का; मूत्र—तथा मूत्र का; निरोधः—अवरोध; अभूत्—हो गया; सैनिकानाम्—सारे सिपाहियों का; च—तथा; तत्-क्षणात्—तुरन्त; राजर्षिः—राजा; तम् उपालक्ष्य—उस घटना को देखकर; पुरुषान्—अपने आदमियों से; विस्मितः—आश्चर्यचकित होकर; अब्रवीत्—बोला।

उसके बाद ही शर्याति के सारे सैनिकों को तुरन्त ही मल-मूत्र में अवरोध होने लगा। यह देखकर शर्याति बड़े अचम्भे में आकर अपने संगियों से बोला।

अप्यभद्रं न युष्माभिर्भार्गवस्य विचेष्टितम् ।
व्यक्तं केनापि नस्तस्य कृतमाश्रमदूषणम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अपि—ओह; अभद्रम्—कुछ अशुभ; नः—हम लोगों में से; युष्माभिः—तुम लोगों द्वारा; भार्गवस्य—च्यवन मुनि का; विचेष्टितम्—प्रयत्न किया गया है; व्यक्तम्—अब यह स्पष्ट है; केन अपि—किसी के द्वारा; नः—हमारा; तस्य—उसका (च्यवन मुनि का); कृतम्—किया गया है; आश्रम-दूषणम्—आश्रम का प्रदूषण।

यह कितनी विचित्र बात है कि हममें से किसी ने भृगुपुत्र च्यवन मुनि का कुछ अहित करने का प्रयास किया है। निश्चय ही, ऐसा लगता है कि हममें से किसी ने इस आश्रम को अपवित्र कर दिया है।

सुकन्या प्राह पितरं भीता किञ्चित्कृतं मया ।
द्वे ज्योतिषी अजानन्त्या निर्भिन्ने कण्टकेन वै ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सुकन्या—सुकन्या ने; प्राह—कहा; पितरम्—अपने पिता से; भीता—डरी हुई; किञ्चित्—कुछ; कृतम्—किया गया है; मया—मेरे द्वारा; द्वे—दो; ज्योतिषी—चमकती वस्तुएँ; अजानन्त्या—अज्ञान के कारण; निर्भिन्ने—छेद दी गईं; कण्टकेन—काँटे से; वै—निस्सन्देह।

अत्यन्त भयभीत सुकन्या ने अपने पिता से कहा : मैंने कुछ गलती की है क्योंकि मैंने अज्ञानवश

इन दो चमकीली वस्तुओं को काँटे से छेद दिया है।

दुहितुस्तद्वचः श्रुत्वा शर्यातिर्जातसाध्वसः ।
मुनिं प्रसादयामास वल्मीकान्तर्हितं शनैः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

दुहितुः—अपनी पुत्री का; तत् वचः—वह कथन; श्रुत्वा—सुनकर; शर्यातिः—राजा शर्याति ने; जात-साध्वसः—भयभीत होकर; मुनिम्—च्यवन मुनि को; प्रसादयाम् आस—शांत करने का प्रयास किया; वल्मीक-अन्तर्हितम्—बाँबी के भीतर बैठे; शनैः—धीरे-धीरे।

अपनी पुत्री से यह सुनकर राजा शर्याति अत्यधिक डर गये। उन्होंने अनेक प्रकार से च्यवन मुनि को शांत करने का प्रयत्न किया क्योंकि वे ही उस बाँबी के छेद के भीतर बैठे थे।

तदभिप्रायमाज्ञाय प्रादाद्दुहितरं मुनेः ।
कृच्छ्रान्मुक्तस्तमामन्त्र्य पुरं प्रायात्समाहितः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तत्—च्यवन मुनि का; अभिप्रायम्—प्रयोजन; आज्ञाय—समझकर; प्रादात्—प्रदान कर दिया; दुहितरम्—अपनी पुत्री; मुनेः—च्यवन मुनि को; कृच्छ्रात्—बड़ी कठिनाई से; मुक्तः—मुक्त बनाया; तम्—मुनि को; आमन्त्र्य—अनुमति लेकर; पुरम्—अपने स्थान को; प्रायात्—चला गया; समाहितः—अत्यधिक विचारमग्न।

अत्यन्त विचारमग्न होकर और च्यवन मुनि के प्रयोजन को समझकर राजा शर्याति ने मुनि को अपनी कन्या दान में दे दी। इस प्रकार बड़ी मुश्किल से संकट से मुक्त होकर उसने च्यवन मुनि से अनुमति ली और वह घर लौट गया।

तात्पर्य : राजा ने अपनी लड़की से सारी बातें सुनकर च्यवन मुनि को यह अवश्य बतलाया होगा कि किस तरह उसकी पुत्री ने अनजाने ऐसा अपराध किया। किन्तु मुनि ने राजा से पूछा कि उसकी पुत्री विवाहिता है या नहीं। इस तरह राजा ने मुनि का अभिप्राय समझकर (*तदभिप्रायम् आज्ञाय*), तुरन्त ही अपनी पुत्री को दान में दे दिया और वह शापित होने के संकट से बच गया। तब मुनि की आज्ञा से राजा घर लौट गया।

सुकन्या च्यवनं प्राप्य पतिं परमकोपनम् ।
प्रीणयामास चित्तज्ञा अप्रमत्तानुवृत्तिभिः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सुकन्या—राजा शर्याति की पुत्री सुकन्या ने; **च्यवनम्**—च्यवन मुनि को; **प्राप्य**—पाकर; **पतिम्**—पति रूप में; **परम-कोपनम्**—जो सदैव अत्यन्त क्रुद्ध रहता था; **प्रीणयाम् आस**—उसको प्रसन्न किया; **चित्त-ज्ञा**—अपने पति के मन की बात जानने वाली; **अप्रमत्ता अनुवृत्तिभिः**—घबराए बिना सेवा करके।

च्यवन मुनि अत्यन्त क्रोधी थे, किन्तु क्योंकि सुकन्या ने उन्हें पति रूप में प्राप्त किया था, अतः उसने सावधानी से उनके मनोनुकूल व्यवहार किया। उसने बिना घबराए उनकी सेवा की।

तात्पर्य : यह पति तथा पत्नी के मध्य सम्बन्ध का द्योतक है। च्यवन मुनि जैसा महापुरुष सदैव श्रेष्ठ पद पर बना रहना चाहता है। ऐसा व्यक्ति किसी के आगे घुटने नहीं टेक सकता। अतएव च्यवन मुनि का स्वभाव क्रोधी था। उनकी पत्नी सुकन्या उनकी मनोवृत्ति को समझ गई थी अतएव उसने तदनुसार बर्ताव करना प्रारम्भ किया। यदि कोई पत्नी अपने पति के साथ सुख से रहना चाहती है तो उसे अपने पति के मनोभाव समझने का प्रयास करना चाहिए और उसे प्रसन्न करना चाहिए। यह स्त्री की विजय है। यहाँ तक कि श्रीकृष्ण द्वारा अपनी विभिन्न रानियों के साथ किये जाने वाले बर्ताव में भी इसे देखा जा सकता है कि यद्यपि ये रानियाँ बड़े-बड़े राजाओं की पुत्रियाँ थीं, किन्तु उन्होंने भगवान् कृष्ण के समक्ष अपने आपको दासी के रूप में प्रस्तुत किया। कोई स्त्री कितनी भी महान् क्यों न हो उसे अपने पति के समक्ष इसी तरह प्रस्तुत होना चाहिए अर्थात् उसे अपने पति के आदेशों का पालन करने के लिए तथा सभी परिस्थितियों में उसे प्रसन्न रखने के लिए तैयार रहना चाहिए। तभी उसका जीवन सफल हो पाएगा। यदि पत्नी भी पति के समान क्रोधी बन जाय तो उनका गृहस्थ-जीवन अवश्य ही अस्त-व्यस्त हो जायेगा या अंत में पूर्णतया ध्वस्त हो जायेगा। आधुनिक काल की पत्नी विनयशील नहीं है इसीलिए छोटी से छोटी घटना होने पर गृहस्थ-जीवन भंग हो जाता है। पत्नी या पति दोनों में से कोई भी विवाह-विच्छेद के नियमों का लाभ उठा सकता है। किन्तु वैदिक नियमों में विवाह-विच्छेद की कोई व्यवस्था नहीं है और पत्नी को पति की इच्छा के अनुसार विनीत होने की शिक्षा दी जानी चाहिए। पाश्चात्य लोगों का कहना है कि पत्नी के लिए यह दास-प्रवृत्ति है, किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। यह तो स्त्री की निपुणता है जिससे वह अपने कितने ही क्रोधी या नृशंस पति के हृदय पर विजय पा सकती है। यहाँ पर हम स्पष्ट देखते हैं कि यद्यपि च्यवन मुनि तरुण नहीं थे और सुकन्या के पितामह होने योग्य तथा अत्यधिक क्रोधी थे, जब कि सुकन्या एक राजा की सुन्दर तरुण कन्या थी तो भी उसने अपने बूढ़े पति को आत्म-समर्पण करके उसे सभी प्रकार से प्रसन्न करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार वह आज्ञाकारिणी एवं साध्वी पत्नी थी।

कस्यचित्त्वथ कालस्य नासत्यावाश्रमागतौ ।
तौ पूजयित्वा प्रोवाच वयो मे दत्तमीश्वरौ ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

कस्यचित्—कुछ (समय) बाद; तु—लेकिन; अथ—इस प्रकार; कालस्य—समय के बीतने पर; नासत्यौ—दोनों अश्विनीकुमार; आश्रम—च्यवन मुनि के स्थान पर; आगतौ—पहुँचे; तौ—उन दोनों को; पूजयित्वा—सत्कार तथा नमस्कार करके; प्रोवाच—कहा; वयः—तारुण्य; मे—मुझको; दत्तम्—कृपा करके दे दो; ईश्वरौ—क्योंकि तुम दोनों ऐसा करने में समर्थ हो।

कुछ काल बीतने के बाद दोनों अश्विनीकुमार जो स्वर्गलोक के वैद्य थे, च्यवन मुनि के आश्रम आये। उनका सत्कार करने के बाद च्यवन मुनि ने उनसे यौवन प्रदान करने के लिए प्रार्थना की क्योंकि वे ऐसा करने में सक्षम थे।

तात्पर्य : अश्विनीकुमार जैसे स्वर्ग के वैद्य किसी को भी, चाहे वह वृद्ध क्यों न हो, जवानी दे सकते थे। निस्सन्देह, बड़े-बड़े योगी अपनी योगशक्ति से शव में भी जीवन फूँक सकते हैं यदि शरीर की संरचना बिगड़ी न हो। शुक्राचार्य द्वारा बलि महाराज के सैनिकों के उपचार के प्रसंग में हम इसकी व्याख्या कर चुके हैं। यद्यपि आधुनिक चिकित्साशास्त्र शव को जीवित करने या वृद्ध शरीर में जवानी लाने में असमर्थ है, किन्तु इस श्लोकों से पता चलता है कि यदि कोई वैदिक शास्त्र से ज्ञान प्राप्त कर ले तो ऐसा उपचार सम्भव है। दोनों अश्विनीकुमार धन्वन्तरि के ही समान आयुर्वेद में पटु थे। यदि भौतिक विज्ञान की प्रत्येक शाखा में पूर्णता प्राप्त की जानी है तो इसे प्राप्त करने के लिए वैदिक साहित्य का अवलोकन करना चाहिए। किन्तु सबसे बड़ी पूर्णता (सिद्धि) तो भगवान् का भक्त बनना है। इस पूर्णता-प्राप्ति के लिए *श्रीमद्भागवत* का अवलोकन करना चाहिए जो वैदिक कल्पतरु का पक्व फल माना जाता है (*निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्*)।

ग्रहं ग्रहीष्ये सोमस्य यज्ञे वामप्यसोमपोः ।
क्रियतां मे वयोरूपं प्रमदानां यदीप्सितम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ग्रहम्—पूर्ण पात्र; ग्रहीष्ये—मैं दूँगा; सोमस्य—सोमरस का; यज्ञे—यज्ञ में; वाम्—तुम दोनों का; अपि—यद्यपि; असोम-पोः—तुम दोनों का, जो सोमरस पीने के अधिकारी नहीं हो; क्रियताम्—पूरा करो; मे—मेरा; वयः—यौवन; रूपम्—नवयुवक का सौन्दर्य; प्रमदानाम्—स्त्री-वर्ग का; यत्—जो; ईप्सितम्—अभीष्ट है।

च्यवन मुनि ने कहा : यद्यपि तुम दोनों यज्ञ में सोमरस पीने के पात्र नहीं हो, किन्तु मैं वचन देता हूँ कि मैं तुम्हें सोमरस का पूरा बर्तन भर कर दूँगा। कृपा करके मेरे लिए सौन्दर्य तथा तारुण्य की

व्यवस्था करो क्योंकि तरुणी स्त्रियों को ये आकर्षक लगते हैं।

बाढमित्यूचतुर्विप्रमभिनन्द्य भिषक्तमौ ।
निमज्जतां भवानस्मिन्ह्रदे सिद्धविनिर्मिते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

बाढम्—हाँ, हम ऐसा करेंगे; इति—इस प्रकार; ऊचतु:—दोनों ने उत्तर दिया, च्यवन मुनि का प्रस्ताव स्वीकार किया; विप्रम्—ब्राह्मण (च्यवन मुनि) को; अभिनन्द्य—बधाई देकर; भिषक्-तमौ—दोनों महान् वैद्य अश्विनीकुमार; निमज्जताम्—डुबकी लगाइये; भवान्—आप; अस्मिन्—इस; ह्रदे—झील में; सिद्ध-विनिर्मिते—सभी प्रकार की सिद्धियों के लिए विशेषत: बनाई गई।

उन महान् वैद्य अश्विनीकुमारों ने च्यवन मुनि के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया। उन्होंने उस ब्राह्मण से कहा ''आप इस सिद्धिदायक झील में गोता लगाइये। (जो इस झील में नहाता है उसकी कामनाएँ पूरी होती हैं)।

इत्युक्तो जरया ग्रस्तदेहो धमनिसन्तत: ।
ह्रदं प्रवेशितोऽश्विभ्यां वलीपलितविग्रह: ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

इति उक्त:—इस प्रकार कहे जाने पर; जरया—वृद्धावस्था तथा अशक्तता के कारण; ग्रस्त-देह:—रुग्ण देह; धमनि-सन्तत:—जिसकी धमनियाँ शरीर भर में झलक रही थीं; ह्रदम्—झील में; प्रवेशित:—प्रविष्ट हुए; अश्विभ्याम्—अश्विनीकुमारों की सहायता से; वली-पलित-विग्रह:—जिसके शरीर की चमड़ी झूल रही थी तथा बाल सफेद थे।

यह कहकर अश्विनीकुमारों ने च्यवन मुनि को पकड़ा जो वृद्ध थे और जिनके रुग्ण शरीर की चमड़ी झूल रही थी, बाल सफेद थे तथा सारे शरीर में नसें दिख रही थीं और वे तीनों उस झील में घुस गये।

तात्पर्य : च्यवन मुनि इतने वृद्ध थे कि वे अकेले झील में नहीं घुस सकते थे। अत: अश्विनीकुमारों ने उनका शरीर पकड़ा और वे तीनों झील में घुस गये।

पुरुषास्त्रय उत्तस्थुरपीव्या वनिताप्रिया: ।
पद्मस्त्रज: कुण्डलिनस्तुल्यरूपा: सुवासस: ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

पुरुषा:—मनुष्य; त्रय:—तीन; उत्तस्थु:—(झील से) ऊपर निकल आये; अपीव्या:—अत्यन्त सुन्दर; वनिता-प्रिया:—स्त्रियों को आकर्षक लगने वाला पुरुष; पद्म-स्त्रज:—कमल की मालाओं से अलंकृत; कुण्डलिन:—कुण्डल पहिने; तुल्य-रूपा:—समान स्वरूप वाले; सु-वासस:—सुन्दर वस्त्र पहने।

तत्पश्चात् झील से तीन अत्यन्त सुन्दर स्वरूप वाले व्यक्ति ऊपर उठे। वे अच्छे वस्त्र धारण किये थे

और कुण्डलों तथा कमल की मालाओं से विभूषित तीनों ही समान सुन्दरता वाले थे।

तान्निरीक्ष्य वरारोहा सरूपान्सूर्यवर्चसः ।
अजानती पतिं साध्वी अश्विनौ शरणं ययौ ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; निरीक्ष्य—देखकर; वर-आरोहा—सुन्दरी सुकन्या; स-रूपान्—समान सुन्दरता वाले; सूर्य-वर्चसः—सूर्य के समान तेजस्वी; अजानती—न जानती हुई; पतिम्—अपने पति को; साध्वी—उस सती स्त्री ने; अश्विनौ—अश्विनीकुमारों की; शरणम्—शरण; ययौ—ग्रहण की।.

साध्वी एवं परम सुन्दरी सुकन्या अपने पति एवं उन दोनों अश्विनीकुमारों में अन्तर न कर पाई क्योंकि वे समान रूप से सुन्दर थे। अतएव अपने असली पति को पहचान पाने में असमर्थ होने के कारण उसने अश्विनीकुमारों की शरण ग्रहण की।

तात्पर्य : सुकन्या उन तीनों में किसी को भी अपना पति चुन सकती थी क्योंकि उनमें अन्तर कर पाना कठिन था, किन्तु सती होने के कारण उसने अश्विनीकुमारों की शरण ग्रहण की जिससे वे उसका असली पति बतला सकें। सती स्त्री अपने पति के अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष को कभी भी स्वीकार नहीं करेगी, भले ही कोई उसी के समान सुन्दर तथा योग्य क्यों न हो।

दर्शयित्वा पतिं तस्यै पातिव्रत्येन तोषितौ ।
ऋषिमामन्त्र्य ययतुर्विमानेन त्रिविष्टपम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

दर्शयित्वा—दिखलाने के बाद; पतिम्—पति; तस्यै—सुकन्या को; पाति-व्रत्येन—उसके पातिव्रत्य से; तोषितौ—उसपर प्रसन्न होकर; ऋषिम्—च्यवन मुनि को; आमन्त्र्य—उसकी अनुमति लेकर; ययतुः—चले गये; विमानेन—अपने विमान से; त्रिविष्टपम्—स्वर्गलोक को।.

दोनों अश्विनीकुमार सुकन्या के सतीत्व एवं निष्ठा को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। अतः उन्होंने उसे उसके पति च्यवन मुनि को दिखलाया और फिर उनसे अनुमति लेकर वे अपने विमान से स्वर्गलोक को वापस लौट गये।

यक्ष्यमाणोऽथ शर्यातिश्च्यवनस्याश्रमं गतः ।
ददर्श दुहितुः पार्श्वे पुरुषं सूर्यवर्चसम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यक्ष्यमाणः—यज्ञ करने की इच्छा से; अथ—इस प्रकार; शर्यातिः—शर्याति; च्यवनस्य—च्यवन मुनि के; आश्रमम्—आवास तक; गतः—जाकर; ददर्श—देखा; दुहितुः—अपनी कन्या के; पार्श्वे—बगल में; पुरुषम्—पुरुष को; सूर्य-वर्चसम्—सूर्य के समान सुन्दर तथा तेजवान।

तत्पश्चात् यज्ञ सम्पन्न करने की इच्छा से राजा शर्याति च्यवन मुनि के आवास में गये। वहाँ उन्होंने अपनी पुत्री के बगल में सूर्य के समान एक तेजस्वी सुन्दर तरुण पुरुष को देखा।

राजा दुहितरं प्राह कृतपादाभिवन्दनाम् ।
आशिषश्चाप्रयुञ्जानो नातिप्रीतिमना इव ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

राजा—राजा (शर्याति) ने; दुहितरम्—अपनी पुत्री से; प्राह—कहा; कृत-पाद-अभिवन्दनाम्—जो अपने पिता को पहले ही सादर नमस्कार कर चुकी थी; आशिषः—आशीर्वाद; च—तथा; अप्रयुञ्जानः—अपनी पुत्री को दिये बिना; न—नहीं; अतिप्रीति-मनाः—अत्यधिक प्रसन्न; इव—सदृश।

राजा की पुत्री ने पिता के चरणों की वन्दना की, किन्तु राजा उसे आशीष देने की बजाय उससे अत्यधिक अप्रसन्न प्रतीत हुआ और उससे इस प्रकार बोला।

चिकीर्षितं ते किमिदं पतिस्त्वया
प्रलम्भितो लोकनमस्कृतो मुनिः ।
यत्त्वं जराग्रस्तमसत्यसम्मतं
विहाय जारं भजसेऽमुमध्वगम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

चिकीर्षितम्—तुम जो करना चाहती हो; ते—तुम्हारा; किम् इदम्—यह क्या है; पतिः—अपना पति; त्वया—तुम्हारे द्वारा; प्रलम्भितः—ठगा गया है; लोक-नमस्कृतः—जिसका सभी लोग आदर करते हैं; मुनिः—महान् साधु; यत्—क्योंकि; त्वम्—तुम; जरा-ग्रस्तम्—अत्यन्त वृद्ध एवं अशक्त; असति—हे दुष्ट लड़की; असम्मतम्—अनाकर्षक; विहाय—छोड़कर; जारम्—परपति, धृष्ट; भजसे—स्वीकार किया है; अमुम्—इस व्यक्ति को; अध्वगम्—जो भिखारी के तुल्य है।

हे दुष्ट लड़की, तुमने यह क्या कर दिया? तुमने अपने अत्यन्त सम्माननीय पति को धोखा दिया है क्योंकि मैं देख रहा हूँ कि उसके वृद्ध, रोगग्रस्त तथा अनाकर्षक होने के कारण तुमने उसका साथ छोड़कर इस तरुण पुरुष को अपना पति बनाना चाहा है जो भिक्षुक जैसा प्रतीत होता है।

तात्पर्य : इससे वैदिक संस्कृति की महत्ता झलकती है। परिस्थितिवश सुकन्या को ऐसा पति दिया गया था जो उसकी तुलना में वृद्ध था। चूँकि च्यवन मुनि रुग्ण एवं अति वृद्ध थे अतएव वे निश्चित रूप से राजा शर्याति की सुन्दर पुत्री के अनुरूप न थे। फिर भी उसके पिता चाहते थे कि वह अपने पति की आज्ञाकारिणी बनी रहे। अतएव जब पिता ने सहसा देखा कि उसकी पुत्री ने किसी अन्य को पति बना लिया है, यद्यपि

वह तरुण तथा सुन्दर था तो भी उसने तुरन्त ही उसे *असती* कहकर दुत्कारा क्योंकि उसने यह कल्पना कर ली कि उसकी पुत्री ने अपने पति के रहते किसी अन्य को पति बना लिया है। वैदिक संस्कृति के अनुसार यदि कोई तरुणी किसी वृद्ध को भी ब्याह दी जाय तो उसे आदरपूर्वक उसकी सेवा करनी चाहिए। यही सतीत्व है। ऐसा नहीं है कि यदि वह अपने पति को नहीं चाहती तो उसे छोड़ दे और दूसरा पति कर ले। यह वैदिक संस्कृति के विरुद्ध है। वैदिक संस्कृति के अनुसार माता-पिता द्वारा कन्या जिसको सौंप दी जाती है उसे ही पति मानकर उसे उसकी आज्ञाकारिणी बनना और सती रहना होता है। इसीलिए राजा शर्याति सुकन्या के बगल में एक तरुण पुरुष को देखकर चकित हो गए।

कथं मतिस्तेऽवगतान्यथा सतां
कुलप्रसूते कुलदूषणं त्विदम् ।
बिभर्षि जारं यदपत्रपा कुलं
पितुश्च भर्तुश्च नयस्यधस्तमः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कथम्—कैसे; मतिः ते—तुम्हारी चेतना; अवगता—नीचे चली गई; अन्यथा—अन्यथा; सताम्—सर्वाधिक पूज्य; कुल-प्रसूते—कुल में उत्पन्न; कुल-दूषणम्—कुलकलंक; तु—लेकिन; इदम्—यह; बिभर्षि—रख रही हो!; जारम्—परपति को; यत्—क्योंकि यह; अपत्रपा—लज्जारहित है; कुलम्—कुल; पितुः—तुम्हारे पिता का; च—तथा; भर्तुः—पति का; च—तथा; नयसि—नीचे ले जा रही हो; अधः तमः—नीचे अंधकार या नरक में।

हे पूज्य कुल में उत्पन्न मेरी पुत्री, तुमने अपनी चेतना को किस तरह इतना नीचे गिरा दिया है? तुम किस तरह परपति को इतनी निर्लज्जतापूर्वक रख रही हो? इस तरह तुम अपने पिता तथा अपने पति दोनों के कुलों को नरक में धकेल कर बदनाम करोगी।

तात्पर्य : यह बिल्कुल स्पष्ट है कि वैदिक संस्कृति के अनुसार जो स्त्री अपने विवाहित पति के रहते दूसरा पति (जार) स्वीकार करती है वह अपने पिता के कुल तथा पति के कुल को डुबाने वाली मानी जाती है। आज भी इस विषय में ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों के सम्मानित कुलों में वैदिक संस्कृति के नियमों का दृढ़ता से पालन होता है। इस विषय में केवल शूद्र ही पतित होते हैं। वैदिक संस्कृति में ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य कुल की स्त्री के लिए विवाहित पति की उपस्थिति में दूसरा पति स्वीकार करना या विवाह-विच्छेद की माँग करना या परपति को प्रेमी बनाना अमान्य है। अतएव राजा शर्याति च्यवन मुनि के स्वरूप-परिवर्तन की असलियत न जानने के कारण अपनी पुत्री के ऐसे आचरण को देखकर आश्चर्यचकित हुए।

एवं ब्रुवाणं पितरं स्मयमाना शुचिस्मिता ।
उवाच तात जामाता तवैष भृगुनन्दनः ॥ २२॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; ब्रुवाणम्—बातें करते तथा फटकारते हुए; पितरम्—अपने पिता से; स्मयमाना—मुस्काती हुई (क्योंकि सती थी); शुचि-स्मिता—हँसती हुई; उवाच—बोली; तात—हे पिता; जामाता—दामाद; तव—तुम्हारा; एषः—यह तरुण; भृगु-नन्दनः—च्यवन मुनि ही हैं (अन्य कोई नहीं)।

किन्तु अपने सतीत्व पर गर्वित सुकन्या अपने पिता की डाँट फटकार सुनकर मुस्काने लगी। उसने हँसते हुए कहा ''हे पिता, मेरी बगल में बैठा यह तरुण व्यक्ति आपका असली दामाद, भृगुवंश में उत्पन्न, च्यवन मुनि है।''

तात्पर्य : यद्यपि पिता ने यह सोचकर अपनी पुत्री को फटकारा था कि उसने दूसरा पति स्वीकार कर लिया है, किन्तु पुत्री जान रही थी कि वह पूर्णतया ईमानदार तथा सती है; इसीलिए वह हँस रही थी। जब उसने बताया कि उसका वृद्ध पति च्यवन मुनि ही बदलकर तरुण पुरुष बन गया है तो उसे अपने सतीत्व पर गर्व हुआ और इसीलिए वह अपने पिता से बातें करते समय मुस्करा रही थी।

शशंस पित्रे तत्सर्वं वयोरूपाभिलम्भनम् ।
विस्मितः परमप्रीतस्तनयां परिषस्वजे ॥ २३॥

शब्दार्थ

शशंस—उसने वर्णन किया; पित्रे—अपने पिता से; तत्—वह; सर्वम्—हर बात; वयः—आयु परिवर्तन का; रूप—तथा सौन्दर्य का; अभिलम्भनम्—किस तरह उपलब्धि मिली (पति को); विस्मितः—चकित; परम-प्रीतः—अत्यधिक प्रसन्न; तनयाम्—अपनी पुत्री को; परिषस्वजे—हर्षित होकर गले से लगा लिया।

तब सुकन्या ने बतलाया कि किस तरह उसके पति को तरुण पुरुष का सुन्दर शरीर प्राप्त हुआ। जब राजा ने इसे सुना तो वह अत्यधिक चकित हुआ और परम हर्षित होकर उसने अपनी प्रिय पुत्री को गले से लगा लिया।

सोमेन याजयन्वीरं ग्रहं सोमस्य चाग्रहीत् ।
असोमपोरप्यश्विनोश्च्यवनः स्वेन तेजसा ॥ २४॥

शब्दार्थ

सोमेन—सोम से; याजयन्—यज्ञ कराते हुए; वीरम्—राजा (शर्याति) को; ग्रहम्—पूर्ण पात्र; सोमस्य—सोमरस का; च—भी; अग्रहीत्—प्रदान किया; असोम-पोः—जिन्हें सोमरस पीना वर्जित था; अपि—यद्यपि; अश्विनोः—अश्विनीकुमारों का; च्यवनः—च्यवन मुनि; स्वेन—अपने; तेजसा—पराक्रम से।

च्यवन मुनि ने अपने पराक्रम से राजा शर्याति से सोमयज्ञ सम्पन्न कराया। मुनि ने अश्विनीकुमारों को सोमरस का पूरा पात्र प्रदान किया यद्यपि वे इसे पीने के अधिकारी नहीं थे।

हन्तुं तमाददे वज्रं सद्यो मन्युरमर्षितः ।
सवज्रं स्तम्भयामास भुजमिन्द्रस्य भार्गवः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

हन्तुम्—मारने के लिए; तम्—उस (च्यवन) को; आददे—इन्द्र ने धारण किया; वज्रम्—अपना वज्र; सद्यः—तुरन्त; मन्युः—बिना सोचे-विचारे, क्रोध में आकर; अमर्षितः—अत्यन्त उद्विग्न होकर; स-वज्रम्—अपने वज्र से; स्तम्भयाम् आस—निश्चेष्ट कर दिया; भुजम्—बाँह को; इन्द्रस्य—इन्द्र की; भार्गवः—भृगुवंशी च्यवन मुनि।

उद्विग्न एवं क्रुद्ध होने से इन्द्र ने च्यवन मुनि को मार डालना चाहा अतएव उसने बिना सोचे-विचारे अपना वज्र धारण कर लिया। लेकिन च्यवन मुनि ने अपने पराक्रम से इन्द्र की उस बाँह को संज्ञाशून्य कर दिया जिससे उसने वज्र पकड़ रखा था।

अन्वजानंस्ततः सर्वे ग्रहं सोमस्य चाश्विनोः ।
भिषजाविति यत्पूर्वं सोमाहुत्या बहिष्कृतौ ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अन्वजानन्—उनकी अनुमति से; ततः—तत्पश्चात्; सर्वे—सारे देवता; ग्रहम्—भरा पात्र; सोमस्य—सोमरस का; च—भी; अश्विनोः—अश्विनीकुमारों के; भिषजौ—यद्यपि केवल वैद्य; इति—इस प्रकार; यत्—क्योंकि; पूर्वम्—इसके पहले; सोम-आहुत्या—सोमयज्ञ में भाग देकर; बहिः-कृतौ—निकाला गया।

यद्यपि अश्विनीकुमार मात्र वैद्य थे और इसी कारण से उन्हें यज्ञों में सोमरस-पान से बाहर रखा जाता था, किन्तु देवताओं ने इसके बाद उन्हें सोमरस पीने के लिए अनुमति प्रदान कर दी।

उत्तानबर्हिरानर्तो भूरिषेण इति त्रयः ।
शर्यातेरभवन्पुत्रा आनर्ताद्रेवतोऽभवत् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

उत्तानबर्हिः—उत्तानबर्हि; आनर्तः—आनर्त; भूरिषेणः—भूरिषेण; इति—इस प्रकार; त्रयः—तीन; शर्यातेः—राजा शर्याति के; अभवन्—उत्पन्न हुए; पुत्राः—पुत्र; आनर्तात्—आनर्त से; रेवतः—रेवत; अभवत्—उत्पन्न हुआ।

राजा शर्याति के उत्तानबर्हि, आनर्त तथा भूरिषेण नामक तीन पुत्र हुए। आनर्त के पुत्र का नाम रेवत था।

सोऽन्तःसमुद्रे नगरीं विनिर्माय कुशस्थलीम् ।
आस्थितोऽभुङ्क्त विषयानानर्तादीनरिन्दम ।
तस्य पुत्रशतं जज्ञे ककुद्मिज्येष्ठमुत्तमम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सः—रेवत; अन्तः-समुद्रे—समुद्र के नीचे; नगरीम्—शहर; विनिर्माय—बनवाकर; कुशस्थलीम्—कुशस्थली नामक; आस्थितः—वहाँ रहा; अभुङ्क्त—भौतिक सुख का भोग किया; विषयान्—राज्य; आनर्त-आदीन्—आनर्त तथा अन्य; अरिम्-दम—हे शत्रुओं का दमन करने वाले महाराज परीक्षित; तस्य—उसके; पुत्र-शतम्—एक सौ पुत्र; जज्ञे—उत्पन्न हुए; ककुद्मि-ज्येष्ठम्—जिनमें से ककुद्मी ज्येष्ठ था; उत्तमम्—अत्यन्त शक्तिशाली तथा ऐश्वर्यवान्।

हे शत्रुओं के दमनकर्ता महाराज परीक्षित, इस रेवत ने समुद्र के भीतर कुशस्थली नामक राज्य का निर्माण कराया। वहाँ रहकर उसने आनर्त इत्यादि भूखण्डों पर शासन किया। उसके एक सौ सुन्दर पुत्र थे जिनमें सबसे बड़ा ककुद्मी था।

ककुद्मी रेवतीं कन्यां स्वामादाय विभुं गतः ।
पुत्र्या वरं परिप्रष्टुं ब्रह्मलोकमपावृतम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ककुद्मी—राजा ककुद्मी; रेवतीम्—रेवती को; कन्याम्—ककुद्मी की पुत्री; स्वाम्—निजी; आदाय—लेकर; विभुम्—ब्रह्मा के समक्ष; गतः—गया; पुत्र्याः—अपनी पुत्री का; वरम्—पति; परिप्रष्टुम्—पूछने के लिए; ब्रह्मलोकम्—ब्रह्मलोक में; अपावृतम्—तीनों गुणों से परे।

ककुद्मी अपनी पुत्री रेवती को लेकर ब्रह्मा के पास ब्रह्मलोक में गया जो भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों से परे है और उसके लिए पति के विषय में पूछताछ की।

तात्पर्य : ऐसा लगता है कि ब्रह्मा का धाम ब्रह्मलोक भी भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों से परे है (*अपावृतम्*)।

आवर्तमाने गान्धर्वे स्थितोऽलब्धक्षणः क्षणम् ।
तदन्त आद्यमानम्य स्वाभिप्रायं न्यवेदयत् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

आवर्तमाने—लगा रहने के कारण; गान्धर्वे—गन्धर्वों से गाने सुनने में; स्थितः—स्थित; अलब्ध-क्षणः—बात करने के लिए समय न था; क्षणम्—क्षणभर के लिए भी; तत्-अन्ते—समाप्त होने पर; आद्यम्—ब्रह्माण्ड के आदि गुरु (ब्रह्माजी) को; आनम्य—नमस्कार करके; स्व-अभिप्रायम्—अपनी निजी इच्छा; न्यवेदयत्—ककुद्मी ने निवेदन किया।

जब ककुद्मी वहाँ पहुँचा तो ब्रह्माजी गन्धर्वों का संगीत सुनने में व्यस्त थे और उन्हें बात करने की तनिक भी फुरसत न थी। अतएव ककुद्मी प्रतीक्षा करता रहा और संगीत समाप्त होने पर उसने ब्रह्माजी को नमस्कार करके अपनी चिरकालीन इच्छा व्यक्त की।

तच्छ्रुत्वा भगवान्ब्रह्मा प्रहस्य तमुवाच ह ।
अहो राजन्निरुद्धास्ते कालेन हृदि ये कृता: ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तत्—उसे; श्रुत्वा—सुनकर; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; ब्रह्मा—ब्रह्माजी ने; प्रहस्य—हँसकर; तम्—ककुद्मी राजा से; उवाच ह—कहा; अहो—ओह; राजन्—हे राजा; निरुद्धा:—सभी चले गये; ते—वे; कालेन—कालक्रम से; हृदि—हृदय में; ये—वे सभी; कृता:—जिन्होंने तुम्हारे दामाद के रूप में स्वीकृति दे दी है।

उसके वचन सुनकर शक्तिशाली ब्रह्माजी जोर से हँसे और ककुद्मी से बोले: हे राजा, तुमने अपने हृदय में जिन लोगों को अपना दामाद बनाने का निश्चय किया है वे कालक्रम से मर चुके हैं।

तत्पुत्रपौत्रनप्तृणां गोत्राणि च न शृण्महे ।
कालोऽभियातस्त्रिणवचतुर्युगविकल्पित: ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तत्—वहाँ; पुत्र—पुत्रों का; पौत्र—पौत्रों का; नप्तृणाम्—तथा वंशजों का; गोत्राणि—गोत्र; च—भी; न—नहीं; शृण्महे—हम सुनते हैं; काल:—काल; अभियात:—चले गये; त्रि—तीन; नव—नौ; चतुर्-युग—चारों युग (सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलि); विकल्पित:—इस प्रकार मापा गया।

सत्ताईस चतुर्युग बीत चुके हैं। तुमने जिन लोगों को रेवती का पति बनाना चाहा होगा वे अब सब चले गये हैं और उनके पुत्र, पौत्र तथा अन्य वंशज भी नहीं रहे हैं। अब तुम्हें उनके नाम भी नहीं सुनाई पड़ेंगे।

तात्पर्य : ब्रह्माजी के एक दिन में चौदह मनु या एक हजार महायुग बीत जाते हैं। ब्रह्माजी ने राजा ककुद्मी को सूचित किया कि पहले ही सत्ताईस महायुग बीत चुके हैं जिनमें से प्रत्येक में चार युग—सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग—होते हैं। उन युगों में उत्पन्न सारे राजा तथा महापुरुष पहले ही विस्मृत हो चुके थे। भूत, वर्तमान तथा भविष्य से होकर गतिशील काल की यही रीति है।

तद्गच्छ देवदेवांशो बलदेवो महाबल: ।
कन्यारत्नमिदं राजन्नररत्नाय देहि भो: ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; गच्छ—जाओ; देव-देव-अंश:—जिनके स्वांश विष्णु हैं; बलदेव:—बलदेव; महा-बल:—अत्यन्त शक्तिशाली; कन्या-रत्नम्—अपनी सुन्दर पुत्री को; इदम्—इस; राजन्—हे राजा; नर-रत्नाय—भगवान् को, जो सदैव तरुण रहते हैं; देहि—दो (दान में); भो:—हे राजा।

हे राजा, तुम यहाँ से जाओ और अपनी पुत्री भगवान् बलदेव को अर्पित करो जो अभी भी

उपस्थित हैं। वे अत्यन्त शक्तिशाली हैं। निस्सन्देह, वे भगवान् हैं और उनके स्वांश विष्णु हैं। उन्हें दान में दिये जाने के लिए तुम्हारी पुत्री सर्वथा उपयुक्त है।

भुवो भारावताराय भगवान्भूतभावनः ।
अवतीर्णो निजांशेन पुण्यश्रवणकीर्तनः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

भुवः—जगत का; भार-अवताराय—भार कम करने के लिए; भगवान्—भगवान्; भूत-भावनः—सारे जीवों के नित्य हितैषी; अवतीर्णः—अवतरित हुए हैं; निज-अंशेन—अपने अंशस्वरूप समस्त साज-सामान सहित; पुण्य-श्रवण-कीर्तनः—उनकी पूजा श्रवण तथा कीर्तन से की जाती है जिससे मनुष्य पवित्र हो जाता है।

बलदेवजी भगवान् हैं। जो कोई उनका श्रवण और उनका कीर्तन करता है वह पवित्र हो जाता है। चूँकि वे समस्त जीवों के सतत हितैषी हैं अतएव वे अपने सारे साज-सामान सहित सारे जगत को शुद्ध करने तथा इसका भार कम करने के लिए अवतरित हुए हैं।

इत्यादिष्टोऽभिवन्द्याजं नृपः स्वपुरमागतः ।
त्यक्तं पुण्यजनत्रासाद्भ्रातृभिर्दिक्ष्ववस्थितैः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; आदिष्टः—ब्रह्माजी द्वारा आज्ञा दिये जाने पर; अभिवन्द्य—नमस्कार करके; अजम्—ब्रह्माजी को; नृपः—राजा; स्व-पुरम्—अपने आवास को; आगतः—लौट आया; त्यक्तम्—जो शून्य था; पुण्य-जन—उच्चतर जीवों का; त्रासात्—भय से; भ्रातृभिः—अपने भाइयों के द्वारा; दिक्षु—विभिन्न दिशाओं में; अवस्थितैः—रह रहे।

ब्रह्माजी से यह आदेश पाकर ककुद्मी ने उन्हें नमस्कार किया और अपने निवासस्थान को लौट गया। तब उसने देखा कि उसका आवास रिक्त है, उसके भाई तथा अन्य कुटुम्बी उसे छोड़कर चले गये हैं और यक्षों जैसे उच्चतर जीवों के भय से वे समस्त दिशाओं में रह रहे हैं।

सुतां दत्त्वानवद्याङ्गीं बलाय बलशालिने ।
बदर्याख्यं गतो राजा तप्तुं नारायणाश्रमम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सुताम्—अपनी पुत्री को; दत्त्वा—देकर; अनवद्य-अङ्गीम्—सुगठित शरीर वाली; बलाय—बलदेव; बल-शालिने—अत्यन्त बलवान; बदरी-आख्यम्—बदरिकाश्रम नामक; गतः—चला गया; राजा—राजा; तप्तुम्—तपस्या करने के लिए; नारायण-आश्रमम्—नर-नारायण के स्थान को।

तत्पश्चात् राजा ने अपनी परम सुन्दरी पुत्री परम शक्तिशाली बलदेव को दान में दे दी और सांसारिक जीवन से विरक्त होकर वह नर-नारायण को प्रसन्न करने के लिए बदरिकाश्रम चला गया।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध के अन्तर्गत ''सुकन्या तथा च्यवन मुनि का विवाह'' नामक तीसरे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चार

दुर्वासा मुनि द्वारा अम्बरीष महाराज का अपमान

इस अध्याय में महाराज नभग एवं उनके पुत्र नाभाग तथा महाराज अम्बरीष का इतिहास वर्णित है।

मनु का पुत्र नभग हुआ जिसका पुत्र नाभाग कई वर्षों तक गुरुकुल में रहा। नाभाग की अनुपस्थिति में उसके भाइयों ने राज्य में उसे कोई हिस्सा न देकर सारी सम्पत्ति आपस में बाँट ली। जब वह घर लौटा तो उसके भाइयों ने उसके हिस्से के रूप में उसे अपना पिता दे दिया, किन्तु जब नाभाग अपने पिता के पास गया और अपने भाइयों के इस बर्ताव का वर्णन किया तो पिता ने कहा कि यह कपट है। उसने उसे सलाह दी कि तुम अपनी जीविका के लिए यज्ञशाला में जाओ और वहाँ दो मंत्रों का उच्चारण करो। नाभाग ने पिता की आज्ञा का पालन किया और इस प्रकार अंगिरा तथा अन्य मुनियों ने उस यज्ञ में संग्रहीत सारा धन उसे दे दिया। शिवजी ने नाभाग की परीक्षा लेने के लिए इस धन पर अपना दावा किया, किन्तु जब वे उसके आचरण से प्रसन्न हो गये तो सारा धन उसे वापस दे दिया।

नाभाग से अम्बरीष उत्पन्न हुए जो अत्यन्त शक्तिशाली एवं विख्यात भक्त थे। महाराज अम्बरीष सम्पूर्ण जगत के सम्राट थे लेकिन वे अपने ऐश्वर्य को नश्वर मानते थे। वे जानते थे कि ऐसा भौतिक ऐश्वर्य बद्धजीवन में गिराने वाला है अतएव वे इस ऐश्वर्य से विरक्त रहे। उन्होंने अपनी इन्द्रियों तथा मन को भगवान् की सेवा में लगाया। यह विधि युक्त-वैराग्य कहलाती है और भगवान् की पूजा के लिए सर्वथा उपयुक्त होती है। सम्राट होने से उनके पास प्रभूत ऐश्वर्य था; अतएव वे भक्ति भी ऐश्वर्यपूर्वक करते थे और अपने ऐश्वर्य के बावजूद उन्हें अपनी पत्नी, सन्तान या राज्य से कोई अनुराग नहीं था। वे अपनी इन्द्रियों तथा मन को सदैव भगवान् की सेवा में संलग्न रखते थे। अतएव भौतिक ऐश्वर्य का भोग तो क्या, उन्हें मुक्ति की भी कामना नहीं थी।

एक बार महाराज अम्बरीष ने एकादशी का व्रत रखा और वे वृन्दावन में भगवान् की पूजा कर रहे थे। एकादशी के अगले दिन द्वादशी को जब वे अपना व्रत तोड़ने वाले थे तो उनके घर महान् योगी दुर्वासा पधारे और उनके अतिथि बने। अम्बरीष ने दुर्वासा मुनि का स्वागत किया और मुनि ने भोजन करने का आमंत्रण स्वीकार किया। दोपहर में वे यमुना नदी में स्नान करने चले गये। वे वहाँ समाधि में तल्लीन होने

के कारण जल्दी लौट न पाये। किन्तु महाराज अम्बरीष ने जब देखा कि उनके व्रत तोड़ने का समय बीतता जा रहा है तो उन्होंने विद्वान ब्राह्मणों की सलाह से व्रत तोड़ने की औपचारिकता के तौर पर थोड़ा जल पी लिया। दुर्वासा मुनि योगशक्ति से इस घटना को जान गये अत: वे बहुत रुष्ट हुए। लौटकर वे महाराज अम्बरीष को फटकारने लगे और जब इतने से भी संतुष्ट नहीं हुए तो उन्होंने अपनी जटा के एक बाल से कालाग्नि जैसा असुर उत्पन्न किया। लेकिन भगवान् अपने भक्त की सदैव रक्षा करते हैं अतएव उन्होंने महाराज अम्बरीष की रक्षा करने के लिए अपना सुदर्शन चक्र भेजा जिसने तुरन्त ही उस अग्नि सदृश असुर को विनष्ट कर दिया और फिर वह चक्र अम्बरीश महाराज के ईर्ष्यालु दुर्वासा का पीछा करने लगा। दुर्वासा ब्रह्मलोक, शिवलोक तथा अन्य उच्चलोकों में दौते फिरे लेकिन वे सुदर्शन चक्र के कोप से अपने को न बचा सके। अन्त में वैकुण्ठ लोक जाकर उन्होंने भगवान् नारायण की शरण ली। किन्तु भगवान् नारायण भी ऐसे व्यक्ति को क्षमा नहीं कर सके जिसने एक वैष्णव के प्रति अपराध किया हो। ऐसे अपराध से क्षमा के लिए उसी वैष्णव की शरण में जाना होगा जिसका अपमान हुआ हो। क्षमा पाने का कोई अन्य उपाय नहीं है। इस तरह भगवान् नारायण ने दुर्वासा को सलाह दी कि वे महाराज अम्बरीष के पास जाकर उनसे क्षमायाचना करें।

श्रीशुक उवाच

नाभागो नभगापत्यं यं ततं भ्रातर: कविम् ।
यविष्ठं व्यभजन्दायं ब्रह्मचारिणमागतम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; नाभाग:—नाभाग; नभग-अपत्यम्—जो महाराज नभग का पुत्र था; यम्—जिस; ततम्—पिता को; भ्रातर:—बड़े भाइयों ने; कविम्—विद्वान; यविष्ठम्—सबसे छोटा; व्यभजन्—बाँट दिया; दायम्—धन; ब्रह्मचारिणम्—ब्रह्मचारी जीवन स्वीकार करके (नैष्ठिक); आगतम्—वापस आया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : नभग का पुत्र नाभाग बहुत काल तक अपने गुरु के पास रहा। अतएव उसके भाइयों ने सोचा कि अब वह गृहस्थ नहीं बनना चाहता और वापस नहीं आएगा। फलस्वरूप उन्होंने अपने पिता की सम्पत्ति में उसका हिस्सा न रख कर उसे आपस में बाँट लिया। जब नाभाग अपने गुरु के स्थान से वापस आया तो उन्होंने उसके हिस्से के रूप में उसे अपने पिता को दे दिया।

तात्पर्य : ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो घर लौटकर विवाह करके गृहस्थ बन जाते हैं और दूसरे वे जो आजीवन ब्रह्मचारी बने रहने का व्रत लेते हैं और *बृहद्व्रत* कहलाते हैं। *बृहद्व्रत ब्रह्मचारी* गुरु के स्थान से वापस नहीं आता, अपितु वहीं रहता है और बाद में वहीं संन्यास ग्रहण कर लेता है। क्योंकि नाभाग अपने गुरु के स्थान से वापस नहीं आया अत: उसके भाइयों ने सोचा कि उसने *बृहद्व्रत ब्रह्मचर्य* ग्रहण कर लिया है। इसीलिए उन्होंने उसका हिस्सा सुरक्षित नहीं रखा और जब वह लौटा तो उसके हिस्से के रूप में उसे अपने पिता को दे दिया।

भ्रातरोऽभाङ्क्त किं मह्यं भजाम पितरं तव ।
त्वां ममार्यास्तताभाङ्क्षुर्मा पुत्रक तदादृथाः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

भ्रातर:—हे मेरे भाइयो; अभाङ्क्त —आपने हमारे पिता की सम्पत्ति का हिस्सा दिया है; किम्—क्या; मह्यम्—मुझको; भजाम—हम देते हैं; पितरम्—पिता को; तव—तुम्हारे हिस्से के रूप में; त्वाम्—तुम्हें; मम—मुझको; आर्या:—मेरे बड़े भाइयों ने; तत—हे पिता; अभाङ्क्षु:—हिस्सा दिया है; मा—नहीं; पुत्रक—हे पुत्र; तत्—इस वचन को; आदृथा:—कोई महत्त्व दो।

नाभाग ने पूछा, ''मेरे भाइयो, आप लोगों ने पिता की सम्पत्ति में से मेरे हिस्से में मुझे क्या दिया है?'' उसके भाई बोले, ''हमने तुम्हारे हिस्से में पिताजी को रख छोड़ा है।'' तब नाभाग अपने पिता के पास गया और बोला, ''हे पिताजी, मेरे भाइयों ने मेरे हिस्से में आपको दिया है।'' इस पर पिता ने उत्तर दिया, ''मेरे बेटे, तुम इनके ठगने वाले शब्दों पर विश्वास मत करना। मैं तुम्हारी सम्पत्ति नहीं हूँ।''

इमे अङ्गिरसः सत्रमासतेऽद्य सुमेधसः ।
षष्ठं षष्ठमुपेत्याहः कवे मुह्यन्ति कर्मणि ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

इमे—ये सब; अङ्गिरस:—अंगिरा के वंशज; सत्रम्—यज्ञ; आसते—कर रहे हैं; अद्य—आज; सुमेधस:—जो अत्यन्त बुद्धिमान हैं; षष्ठम्—छठवाँ; षष्ठम्—छठवाँ; उपेत्य—प्राप्त करके; अह:—दिन; कवे—हे विद्वान पुरुष; मुह्यन्ति—मोहग्रस्त होते हैं; कर्मणि—सकाम कर्मों में।

नाभाग के पिता ने कहा : अंगिरा के वंशज इस समय एक महान् यज्ञ सम्पन्न करने जा रहे हैं, किन्तु अत्यन्त बुद्धिमान होते हुए भी वे हर छठे दिन यज्ञ करते हुए मोहग्रस्त होंगे और अपने नैत्यिक कर्मों में त्रुटि करेंगे।

तात्पर्य : नाभाग अत्यन्त सरल हृदय था। अतएव जब वह अपने पिता के पास गया तो पिता ने दयावश अपने पुत्र को समझाया कि अपनी जीविका चलाने के लिए वह अंगिरा के वंशजों के पास जाये और यज्ञ करने में होने वाली उनकी त्रुटियों का लाभ उठाये।

तांस्त्वं शंसय सूक्ते द्वे वैश्वदेवे महात्मनः ।
ते स्वर्यन्तो धनं सत्रपरिशेषितमात्मनः ॥ ४॥
दास्यन्ति तेऽथ तानर्च्छ तथा स कृतवान्यथा ।
तस्मै दत्त्वा ययुः स्वर्गं ते सत्रपरिशेषणम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

तान्—उन सबको; त्वम्—तुम; शंसय—वर्णन करो; सूक्ते—वैदिक स्तुतियाँ; द्वे—दोनों; वैश्वदेवे—भगवान् वैश्वदेव के विषय में; महात्मनः—महात्माओं को; ते—वे; स्वः यन्तः—अपने-अपने स्वर्गधामों को जाते हुए; धनम्—सम्पत्ति; सत्र-परिशेषितम्—यज्ञ के अन्त में शेष रहने वाली; आत्मनः—अपनी निजी सम्पत्ति; दास्यन्ति—दे देंगे; ते—तुमको; अथ—इसलिए; तान्—उनको; अर्च्छ—वहाँ जाओ; तथा—उस तरह से (अपने पिता की आज्ञानुसार); सः—वह (नाभाग); कृतवान्—सम्पन्न किया हुआ; यथा—अपने पिता की आज्ञानुसार; तस्मै—उसको; दत्त्वा—देकर; ययुः—चले गये; स्वर्गम्—स्वर्गलोक को; ते—वे सभी; सत्र-परिशेषणम्—यज्ञ का अवशेष।

नाभाग के पिता ने आगे कहा : “उन महात्माओं के पास जाओ और उन्हें वैश्वदेव सम्बन्धी दो वैदिक मंत्र सुनाओ। जब वे महात्मा यज्ञ समाप्त करके स्वर्गलोक को जा रहे होंगे तो वे यज्ञ में प्राप्त शेष दक्षिणा तुम्हें दे देंगे। अतएव तुम तुरन्त जाओ।” इस तरह नाभाग ने वैसा ही किया जैसा उसके पिता ने सलाह दी थी और अंगिरा वंश के सारे मुनियों ने उसे अपना सारा धन दे दिया और फिर वे स्वर्गलोक को चले गये।

तं कश्चित्स्वीकरिष्यन्तं पुरुषः कृष्णदर्शनः ।
उवाचोत्तरतोऽभ्येत्य ममेदं वास्तुकं वसु ॥ ६॥

शब्दार्थ

तम्—नाभाग को; कश्चित्—कोई; स्वीकरिष्यन्तम्—मुनियों द्वारा दिये गये धन को स्वीकार करते हुए; पुरुषः—व्यक्ति; कृष्ण-दर्शनः—देखने में काला; उवाच—कहा; उत्तरतः—उत्तर से; अभ्येत्य—आकर; मम—मेरा; इदम्—यह; वास्तुकम्—यज्ञ का अवशेष; वसु—सारा धन।

जब नाभाग सारा धन ले रहा था तो उत्तर दिशा से एक काला कलूटा व्यक्ति उसके पास आया और बोला, “इस यज्ञशाला की सारी सम्पत्ति मेरी है।”

ममेदमृषिभिर्दत्तमिति तर्हि स्म मानवः ।

स्यान्नौ ते पितरि प्रश्नः पृष्टवान्पितरं यथा ॥ ७॥

शब्दार्थ

मम—मेरा; इदम्—यह; ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा; दत्तम्—प्रदत्त; इति—इस प्रकार; तर्हि—अतएव; स्म—निस्सन्देह; मानवः—नाभाग; स्यात्—हो; नौ—हमारा; ते—तुम्हारा; पितरि—पिता के पास; प्रश्नः—प्रश्न; पृष्टवान्—उसने भी पूछा; पितरम्—अपने पिता से; यथा—जैसी प्रार्थना की गई।

तब नाभाग ने कहा : ''यह धन मेरा है। इसे ऋषियों ने मुझे प्रदान किया है।'' जब नाभाग ने यह कहा तो उस काले कलूटे ने उत्तर दिया, ''चलो तुम्हारे पिता के पास चलें और उनसे इसका निपटारा करने के लिए कहें।'' तदनुसार नाभाग ने अपने पिता से पूछा।

यज्ञवास्तुगतं सर्वमुच्छिष्टमृषयः क्वचित् ।
चक्रुर्हि भागं रुद्राय स देवः सर्वमर्हति ॥ ८॥

शब्दार्थ

यज्ञ-वास्तु-गतम्—यज्ञशाला से सम्बन्धित वस्तुएँ; सर्वम्—सारी; उच्छिष्टम्—बची हुई; ऋषयः—ऋषिगण; क्वचित्—कभी, दक्षयज्ञ में; चक्रुः—ऐसा किया; हि—निस्सन्देह; भागम्—हिस्सा; रुद्राय—शिवजी को; सः—वह; देवः—देवता; सर्वम्—हर वस्तु का; अर्हति—पात्र है।

नाभाग के पिता ने कहा : ऋषियों ने दक्ष यज्ञशाला में जो भी आहुति दी थी, वह शिवजी को उनके भाग के रूप में दी गई थी। अतएव इस यज्ञशाला की प्रत्येक वस्तु निश्चित रूप से शिवजी की है।

नाभागस्तं प्रणम्याह तवेश किल वास्तुकम् ।
इत्याह मे पिता ब्रह्मञ्छिरसा त्वां प्रसादये ॥ ९॥

शब्दार्थ

नाभागः—नाभाग ने; तम्—उसको (शिवजी को); प्रणम्य—प्रणाम करके; आह—कहा; तव—तुम्हारा; ईश—हे भगवान्; किल—निश्चय ही; वास्तुकम्—यज्ञशाला की हर वस्तु; इति—इस प्रकार; आह—कहा; मे—मेरे; पिता—पिता ने; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; शिरसा—सिर के बल नमन करके; त्वाम्—तुमसे; प्रसादये—कृपा की भीख माँगता हूँ।

तत्पश्चात् शिवजी को नमस्कार करने के बाद नाभाग ने कहा : हे पूज्यदेव, इस यज्ञशाला की प्रत्येक वस्तु आपकी है—ऐसा मेरे पिता का मत है। अब मैं विनम्रतापूर्वक आपके समक्ष अपना सिर झुकाकर आपसे कृपा की भीख माँगता हूँ।

यत्ते पितावदद्धर्मं त्वं च सत्यं प्रभाषसे ।
ददामि ते मन्त्रदृशो ज्ञानं ब्रह्म सनातनम् ॥ १०॥

शब्दार्थ

यत्—जो कुछ; ते—तुम्हारे; पिता—पिता ने; अवदत्—कहा है; धर्मम्—सत्य; त्वम् च—तुम भी; सत्यम्—सत्य; प्रभाषसे—बोल रहे हो; ददामि—दूँगा; ते—तुम्हें; मन्त्र-दृशः—मंत्र-विज्ञान को जानने वाले; ज्ञानम्—ज्ञान; ब्रह्म—दिव्य; सनातनम्—शाश्वत।.

शिवजी ने कहा : तुम्हारे पिता ने जो कुछ कहा है वह सत्य है और तुम भी वही सत्य कह रहे हो। अतएव वेदमंत्रों का ज्ञाता मैं तुम्हें दिव्य ज्ञान बतलाऊँगा।

गृहाण द्रविणं दत्तं मत्सत्रपरिशेषितम् ।
इत्युक्त्वान्तर्हितो रुद्रो भगवान्धर्मवत्सलः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

गृहाण—अब ग्रहण करो; द्रविणम्—सारा धन; दत्तम्—दिया गया; मत्-सत्र-परिशेषितम्—मेरे लिए किये गये यज्ञ का अवशेष; इति उक्त्वा—ऐसा कहकर; अन्तर्हितः—ओझल हो गये; रुद्रः—शिवजी; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली देवता; धर्म-वत्सलः—धार्मिक सिद्धान्तों का दृढ़ता से पालन करने वाले।.

शिवजी ने कहा : ''अब तुम यज्ञ का बचा सारा धन ले सकते हो क्योंकि मैं इसे तुम्हें दे रहा हूँ।'' यह कहकर धार्मिक सिद्धान्तों में अटल रहने वाले शिवजी उस स्थान से अदृश्य हो गये।

य एतत्संस्मरेत्प्रातः सायं च सुसमाहितः ।
कविर्भवति मन्त्रज्ञो गतिं चैव तथात्मनः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; एतत्—इस घटना के विषय में; संस्मरेत्—स्मरण करेगा; प्रातः—प्रातःकाल; सायम् च—तथा सायंकाल; सुसमाहितः—अत्यन्त ध्यानपूर्वक; कविः—विद्वान; भवति—बन जाता है; मन्त्र-ज्ञः—समस्त वैदिक मंत्रों का ज्ञाता; गतिम्—गन्तव्य, लक्ष्य; च—भी; एव—निस्सन्देह; तथा आत्मनः—स्वरूपसिद्ध व्यक्ति की तरह।.

जो कोई इस कथा को प्रातःकाल एवं सायंकाल अत्यन्त ध्यानपूर्वक सुनता या स्मरण करता है वह निश्चय ही विद्वान, वैदिक स्तोत्रों को समझने वाला एवं स्वरूपसिद्ध हो जाता है।

नाभागादम्बरीषोऽभून्महाभागवतः कृती ।
नास्पृशद्ब्रह्मशापोऽपि यं न प्रतिहतः क्वचित् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

नाभागात्—नाभाग से; अम्बरीषः—महाराज अम्बरीष ने; अभूत्—जन्म लिया; महा-भागवतः—अत्यन्त पूज्य भक्त; कृती—अत्यन्त विख्यात; न अस्पृशत्—स्पर्श भी नहीं कर पाया; ब्रह्म-शापः अपि—ब्राह्मण का शाप भी; यम्—जिसको (अम्बरीष को); न—न तो; प्रतिहतः—विफल हुआ; क्वचित्—किसी समय।.

नाभाग से महाराज अम्बरीष ने जन्म लिया। महाराज अम्बरीष उच्च भक्त थे और अपने महान् गुणों के लिए विख्यात थे। यद्यपि उन्हें एक अच्युत ब्राह्मण ने शाप दिया था, किन्तु वह शाप उनका

स्पर्श भी न कर पाया।

श्रीराजोवाच
भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि राजर्षेस्तस्य धीमतः ।
न प्राभूद्यत्र निर्मुक्तो ब्रह्मदण्डो दुरत्ययः ॥ १४॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा परीक्षित ने पूछा; भगवन्—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ; श्रोतुम् इच्छामि—आपसे सुनना चाहता हूँ; राजर्षेः—महान् राजा अम्बरीष का; तस्य—उस; धीमतः—अत्यन्त गम्भीर; न—नहीं; प्राभूत्—कार्य कर सका; यत्र—जिस पर (अम्बरीष पर); निर्मुक्तः—मुक्त होकर; ब्रह्म-दण्डः—ब्राह्मण का शाप; दुरत्ययः—दुर्लंघ्य।

राजा परीक्षित ने पूछा: हे महापुरुष, महाराज अम्बरीष निश्चय ही अत्यन्त उच्च एवं सच्चरित्र थे। मैं उनके विषय में सुनना चाहता हूँ। यह कितना आश्चर्यजनक है कि एक ब्राह्मण का दुर्लंघ्य शाप उन पर अपना कोई प्रभाव नहीं दिखला सका।

श्रीशुक उवाच
अम्बरीषो महाभागः सप्तद्वीपवतीं महीम् ।
अव्ययां च श्रियं लब्ध्वा विभवं चातुलं भुवि ॥ १५॥
मेनेऽतिदुर्लभं पुंसां सर्वं तत्स्वप्नसंस्तुतम् ।
विद्वान्विभवनिर्वाणं तमो विशति यत्पुमान् ॥ १६॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; अम्बरीषः—राजा अम्बरीष; महा-भागः—अत्यन्त भाग्यशाली राजा; सप्त-द्वीपवतीम्—सात द्वीपों वाले; महीम्—सारे विश्व को; अव्ययाम् च—तथा न घटने वाली; श्रियम्—सुन्दरता को; लब्ध्वा—प्राप्त करके; विभवम् च—तथा ऐश्वर्य; अतुलम्—असीम; भुवि—पृथ्वी पर; मेने—उसने निश्चय किया; अति-दुर्लभम्—बहुत कम प्राप्त; पुंसाम्—अनेक व्यक्तियों का; सर्वम्—सर्वस्व; तत्—जो; स्वप्न-संस्तुतम्—मानो स्वप्न में कल्पना की गई हो; विद्वान्—पूरी तरह जानते हुए; विभव-निर्वाणम्—उस ऐश्वर्य का विनाश; तमः—अज्ञान; विशति—प्रवेश करता है; यत्—जिससे; पुमान्—व्यक्ति।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : अत्यन्त भाग्यवान महाराज अम्बरीष ने सात द्वीपों वाले समस्त विश्व पर शासन किया और पृथ्वी का अक्षय असीम ऐश्वर्य तथा सम्पन्नता प्राप्त की। यद्यपि ऐसा पद विरले ही मिलता है, किन्तु महाराज अम्बरीष ने इसकी तनिक भी परवाह नहीं की क्योंकि उन्हें पता था कि ऐसा सारा ऐश्वर्य भौतिक है। ऐसा ऐश्वर्य स्वप्नतुल्य है और अन्ततोगत्वा विनष्ट हो जायेगा। राजा जानता था कि कोई भी अभक्त ऐसा ऐश्वर्य प्राप्त करके प्रकृति के तमोगुण में अधिकाधिक प्रविष्ट होता है।

तात्पर्य : भक्त के लिए भौतिक ऐश्वर्य नगण्य है, किन्तु अभक्त के लिए वही ऐश्वर्य अधिकाधिक बन्धन

का कारण होता है क्योंकि भक्त जानता है कि कोई भी भौतिक वस्तु नश्वर है जब कि अभक्त तथाकथित क्षणिक सुख को सर्वस्व मानकर आत्म-साक्षात्कार का मार्ग भूल जाता है। इस प्रकार अभक्त के लिए भौतिक ऐश्वर्य आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में बाधक होता है।

वासुदेवे भगवति तद्भक्तेषु च साधुषु ।
प्राप्तो भावं परं विश्वं येनेदं लोष्ट्रवत्स्मृतम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

वासुदेवे—सर्वव्यापी परम पुरुष में; भगवति—भगवान्; तत्-भक्तेषु—उनके भक्तों में; च—भी; साधुषु—साधु पुरुषों में; प्राप्तः—प्राप्त; भावम्—सम्मान तथा भक्ति; परम्—दिव्य; विश्वम्—सारा ब्रह्माण्ड; येन—जिससे (आध्यात्मिक चेतना); इदम्—यह; लोष्ट्र-वत्—पत्थर के टुकड़े के समान नगण्य; स्मृतम्—स्वीकार्य है (ऐसे भक्त द्वारा)।

महाराज अम्बरीष भगवान् वासुदेव के तथा भगवद्भक्त सन्त पुरुषों के महान् भक्त थे। इस भक्ति के कारण वे सारे विश्व को एक पत्थर के टुकड़े के समान नगण्य मानते थे।

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥ १८॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम् ।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥ १९॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने ।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया
यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ॥ २०॥

शब्दार्थ

सः—वह (महाराज अम्बरीष); वै—निस्सन्देह; मनः—जिसका मन; कृष्ण-पद-अरविन्दयोः—कृष्ण के दोनों चरणकमलों पर (स्थिर); वचांसि—जिसके शब्द; वैकुण्ठ-गुण-अनुवर्णने—कृष्ण का गुणानुवाद करने; करौ—दोनों हाथ; हरेः मन्दिर-मार्जन-आदिषु—हरि मन्दिर की सफाई करने जैसे कार्यों में; श्रुतिम्—जिसका कान; चकार—संलग्न; अच्युत—कभी न गिरने वाले कृष्ण के विषय में; सत्-कथा-उदये—दिव्य कथाओं के श्रवण करने में; मुकुन्द-लिङ्ग-आलय-दर्शने—मुकुन्दके अर्चाविग्रह, मन्दिर तथा पवित्र धामों का दर्शन करने में; दृशौ—उसकी दोनों आँखें; तत्-भृत्य—कृष्ण के सेवकों का; गात्र-स्पर्शे—शरीर का स्पर्श करने में; अङ्ग-सङ्गमम्—उनके शरीर का स्पर्श; घ्राणम् च—तथा उनकी घ्राणेन्द्रिय; तत्-पाद—उनके चरणों के; सरोज—कमल के फूल की; सौरभे—सुगन्धि में; श्रीमत्-तुलस्याः—तुलसी दलों का; रसनाम्—उसकी जीभ; तत्-अर्पिते—भगवान् को चढ़ाये गये प्रसाद में; पादौ—दोनों पाँव; हरेः—भगवान्के; क्षेत्र—मन्दिर या वृन्दावन एवं द्वारकाधाम जैसे पवित्र स्थान; पद-अनुसर्पणे—उन स्थानों तक चलते हुए; शिरः—सिर; हृषीकेश—इन्द्रियों के स्वामी कृष्ण के; पद-अभिवन्दने—चरणकमल को नमस्कार करने में; कामम् च—

तथा उसकी इच्छाएँ; दास्ये—सेवक की भाँति लगी होने में; न—नहीं; तु—निस्सन्देह; काम-काम्यया—इन्द्रियतृप्ति की इच्छा से युक्त; यथा—जिस तरह; उत्तमश्लोक-जन-आश्रया—जो प्रह्लाद जैसे भक्त की शरण लेता है; रतिः—आसक्ति।.

महाराज अम्बरीष सदैव अपने मन को कृष्ण के चरणकमलों का ध्यान करने में, अपने शब्दों को भगवान् का गुणगान करने में, अपने हाथों को भगवान् का मन्दिर झाड़ने-बुहारने में तथा अपने कानों को कृष्ण द्वारा या कृष्ण के विषय में कहे गये शब्दों को सुनने में लगाते रहे। वे अपनी आँखों को कृष्ण के अर्चाविग्रह, कृष्ण के मन्दिर तथा कृष्ण के स्थानों, यथा मथुरा तथा वृन्दावन, को देखने में लगाते रहे। वे अपनी स्पर्श-इन्द्रिय को भगवद्भक्तों के शरीरों का स्पर्श करने में, अपनी घ्राण-इन्द्रिय को भगवान् पर चढ़ाई गई तुलसी की सुगन्ध को सूँघने में और अपनी जीभ को भगवान् का प्रसाद चखने में लगाते रहे। उन्होंने अपने पैरों को पवित्र स्थानों तथा भगवत् मन्दिरों तक जाने में, अपने सिर को भगवान् के समक्ष झुकाने में और अपनी इच्छाओं को चौबीसों घण्टे भगवान् की सेवा करने में लगाया। निस्सन्देह, महाराज अम्बरीष ने अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए कभी कुछ भी नहीं चाहा। वे अपनी सारी इन्द्रियों को भगवान् से सम्बन्धित भक्ति के कार्यों में लगाते रहे। भगवान् के प्रति आसक्ति बढ़ाने की और समस्त भौतिक इच्छाओं से पूर्णतः मुक्त होने की यही विधि है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.१) में भगवान् कहते हैं—*मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः*। इससे सूचित होता है कि मनुष्य को किसी भक्त के निर्देशन में या फिर सीधे भगवान् के निर्देशन में भक्ति करनी चाहिए। किन्तु गुरु के निर्देशन के बिना अपने आपको प्रशिक्षित कर पाना सम्भव नहीं है। अतएव श्रील रूपगोस्वामी के आदेशों के अनुसार भक्त का प्रथम कर्तव्य है कि वह कोई प्रामाणिक गुरु स्वीकार करे जो उसकी इन्द्रियों को भगवान् की दिव्य सेवा करने में लगा सके। *भगवद्गीता* (७.१) में भी भगवान् कहते हैं—*असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु*। दूसरे शब्दों में, यदि कोई भगवान् को पूरी तरह समझना चाहता है तो उसे महाराज अम्बरीष के चरण-चिह्नों का अनुसरण करते हुए भगवान् कृष्ण द्वारा दिये गये उपदेशों का पालन करना चाहिए। कहा गया है—*हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते*। भक्ति का अर्थ है इन्द्रियों के स्वामी, हृषीकेश या अच्युत कृष्ण की सेवा में इन्द्रियों को लगाना। ये शब्द इन श्लाकों में प्रयुक्त हैं। *अच्युत-सत्-कथोदये, हृषीकेश-पदाभिवन्दने*। अच्युत तथा हृषीकेश शब्द *भगवद्गीता* में भी प्रयुक्त हुए हैं। *भगवद्गीता* तो साक्षात् कृष्ण द्वारा कही गई कृष्णकथा है और *श्रीमद्भागवत* भी कृष्णकथा है क्योंकि

भागवत में वर्णित प्रत्येक कथा कृष्ण से सम्बन्धित है।

एवं सदा कर्मकलापमात्मनः
परेऽधियज्ञे भगवत्यधोक्षजे ।
सर्वात्मभावं विदधन्महीमिमां
तन्निष्ठविप्राभिहितः शशास ह ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार (भक्तिमय जीवन बिताते हुए); सदा—सदैव; कर्म-कलापम्—क्षत्रिय राजा के रूप में नियत कार्य; आत्मनः—अपना, स्वयं; परे—परब्रह्म में; अधियज्ञे—परम नियंत्रक, परम भोक्ता में; भगवति—भगवान् में; अधोक्षजे—इन्द्रियबोध से परे जो है उस; सर्व-आत्म-भावम्—भक्ति के विविध प्रकार; विदधत्—सम्पन्न करते हुए, अर्पित करते हुए; महीम्—पृथ्वीलोक को; इमाम्—इस; तत्-निष्ठ—जो भगवान् के निष्ठावान भक्त हैं; विप्र—ऐसे ब्राह्मणों द्वारा; अभिहितः—निर्देशित; शशास—शासन किया; ह—भूतकाल में।.

राजा के रूप में अपने नियत कर्तव्यों का पालन करते हुए महाराज अम्बरीष अपने राजसी कार्यकलापों के फलों को सदैव भगवान् कृष्ण को अर्पित करते थे, जो प्रत्येक वस्तु के भोक्ता हैं और भौतिक इन्द्रियों के बोध के परे हैं। वे निश्चित रूप से निष्ठावान भगवद्भक्त ब्राह्मणों से सलाह लेते थे और इस प्रकार वे बिना किसी कठिनाई के पृथ्वी पर शासन करते थे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा गया है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

इस भौतिक जगत में लोग शान्ति तथा सम्पन्नता में रहने के लिए अतीव उत्सुक रहते हैं और *भगवद्गीता* के इस श्लोक में साक्षात् भगवान् यह शान्ति सूत्र प्रदान करते हैं—हर एक को समझना चाहिए कि भगवान् कृष्ण सभी लोकों के चरम स्वामी हैं; अतएव वे सभी कार्यों—राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक इत्यादि—के भोक्ता हैं। भगवान् ने *भगवद्गीता* में पूर्ण उपदेश दिया है। अम्बरीष महाराज ने आदर्श कार्यकारी अध्यक्ष के रूप में वैष्णव ब्राह्मणों से परामर्श करके एक वैष्णव की भाँति सारे विश्व पर शासन चलाया। शास्त्रों का कथन है कि भले ही ब्राह्मण अपने ब्राह्मण-कर्मों में कितना ही पटु तथा वैदिक ज्ञान में कितना ही पण्डित क्यों न हो, यदि वह वैष्णव नहीं है तो वह गुरुवत् उपदेश नहीं दे सकता।

षट्कर्मनिपुणो विप्रो मन्त्रतन्त्रविशारदः।

अवैष्णवो गुरुर्न स्याद् वैष्णव: श्वपचो गुरु: ॥

अतएव जैसा कि यहाँ पर *तन्निष्ठ विप्राभिहित:* शब्दों से सूचित है महाराज अम्बरीष विशुद्ध भगवद्भक्त ब्राह्मणों से सलाह लेते थे क्योंकि केवल विद्वान पण्डित या कर्मकाण्ड में पटु सामान्य ब्राह्मण सलाह देने में कुशल नहीं होते।

आधुनिक समय में विधान सभाओं के सदस्य राज्य के कल्याण हेतु विधान बनाने के लिए अधिकृत होते हैं, किन्तु महाराज अम्बरीष के साम्राज्य के इस विवरण के अनुसार देश या विश्व का शासन उस कार्यकारी अध्यक्ष के द्वारा चलाया जाना चाहिए जिसके सारे सलाहकार भक्त ब्राह्मण हों। ऐसे सलाहकारों या विधायकों को न तो व्यावसायिक राजनीतिज्ञ होना चाहिए, न ही उन्हें अज्ञानी जनता द्वारा चुना जाना चाहिए प्रत्युत उन्हें राजा द्वारा नियुक्त किया जाना चाहिए। जब राजा अर्थात् राज्याध्यक्ष भक्त होता है और देश का शासन चलाने के लिए भक्त ब्राह्मणों के आदेशों का पालन करता है तो हर व्यक्ति शान्त तथा समृद्ध होगा। जब राजा तथा उसके सलाहकार पूर्ण भक्त होते हैं तो राज्य में कोई अमंगल नहीं हो सकता। सारे नागरिकों को भगवद्भक्त बनना चाहिए जिससे उनका चरित्र स्वत: उत्तम हो—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुरा: ।

हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहि: ॥

"जिसकी भगवान् में अविचल भक्ति होती है उसमें देवताओं के सारे गुण रहते हैं। किन्तु जो भगवद्भक्त नहीं है उसमें केवल भौतिक गुण आ पाते हैं जिनका कोई महत्त्व नहीं है। इसका कारण यह है कि उसका मन मानसिक धरातल पर उड़ता रहता है और उसका चमकीली भौतिक शक्ति द्वारा आकृष्ट होना निश्चित रूप से सम्भव है।" (*भागवत* ५.१८.१२) कृष्णभक्त राजा के निर्देशन में, जनता भक्त बन जायेगी और तब जीवन को सुधारने के लिए राज्य में नित्य नये विधान बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। यदि जनता को भक्त बनने का प्रशिक्षण दिया जाय तो वह स्वत: शान्त तथा निष्कपट बनती है और यदि जनता भक्तों की मंत्रणा लेने वाले भक्त राजा का पथ-प्रदर्शन प्राप्त करती है तो वह राज्य भौतिक जगत में नहीं अपितु आध्यात्मिक जगत में होता है। अतएव विश्व के सारे राज्यों को महाराज अम्बरीष के शासन का आदर्श ग्रहण करना चाहिए, जिसका वर्णन यहाँ पर हुआ है।

ईजेऽश्वमेधैरधियज्ञमीश्वरं
महाविभूत्योपचिताङ्गदक्षिणैः ।
ततैर्वसिष्ठासितगौतमादिभिर्
धन्वन्यभिस्रोतमसौ सरस्वतीम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

ईजे—पूजा किया; अश्वमेधैः—अश्वमेध यज्ञ करके; अधियज्ञम्—सारे यज्ञों के स्वामी को तुष्ट करने के लिए; ईश्वरम्—भगवान् को; महा-विभूत्या—महान् ऐश्वर्य से; उपचित-अङ्ग-दक्षिणैः—समस्त सामग्री तथा ब्राह्मणों को दी गई दक्षिणा समेत; ततैः—सम्पन्न किया; वसिष्ठ-असित-गौतम-आदिभिः—वसिष्ठ, असित तथा गौतम जैसे ब्राह्मणों के द्वारा; धन्वनि—रेगिस्तान में; अभिस्रोतम्—नदी के जल से प्लावित; असौ—महाराज अम्बरीष; सरस्वतीम्—सरस्वती नदी के तट पर।

महाराज अम्बरीष ने उस मरुस्थल में अश्वमेध यज्ञ जैसे महान् यज्ञ सम्पन्न किये जिसमें से होकर सरस्वती नदी बहती है और समस्त यज्ञों के स्वामी भगवान् को प्रसन्न किया। ऐसे यज्ञ महान् ऐश्वर्य तथा उपयुक्त सामग्री द्वारा तथा ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर सम्पन्न किये जाते थे और इन यज्ञों का निरीक्षण वसिष्ठ, असित तथा गौतम जैसे महापुरुषों द्वारा किया जाता था जो यज्ञों के सम्पन्नकर्ता राजा के प्रतिनिधि होते थे।

तात्पर्य : जब कोई वैदिक विधि से यज्ञ सम्पन्न करता है तो उसे पटु ब्राह्मणों की आवश्यकता होती है जिन्हें याज्ञिक ब्राह्मण कहते हैं। किन्तु कलियुग में ऐसे ब्राह्मणों का अभाव है, अतएव कलियुग में शास्त्रों द्वारा संकीर्तनयज्ञ करने की संस्तुति की जाती है (*यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः*)। कलियुग में याज्ञिक ब्राह्मणों का अभाव होने के कारण असम्भव यज्ञों को सम्पन्न करने में धन का अपव्यय न करके बुद्धिमान मनुष्य संकीर्तन यज्ञ करता है। यदि भगवान् को प्रसन्न करने के लिए ठीक से यज्ञ नहीं किये जाते तो वर्षा अभाव हो जाता है (*यज्ञाद् भवति पर्जन्यः*) अतएव यज्ञ सम्पन्न करना अनिवार्य है। यज्ञ के बिना वर्षा का अभाव रहेगा और इस अभाव से अन्न उत्पन्न नहीं होगा जिससे दुर्भिक्ष पड़ेगा। इसलिए राजा का कर्तव्य है कि वह अन्न का उत्पादन बनाये रखने के लिए अश्वमेध यज्ञ जैसे विभिन्न यज्ञ सम्पन्न करता रहे। *अन्नाद् भवन्ति भूतानि।* अन्न के बिना मनुष्य तथा पशु दोनों ही भूखों मरेंगे; अतएव राज्य के लिए आवश्यक है कि यज्ञ सम्पन्न होते रहें क्योंकि यज्ञ होने से जनता भरपेट भोजन प्राप्त करेगी। ब्राह्मणों तथा याज्ञिक पुरोहितों को कुशल सेवा के लिए पर्याप्त धन दिया जाना चाहिए। यह दान दक्षिणा कहलाता है। अम्बरीष महाराज राजा होने के नाते इन सारे यज्ञों को वसिष्ठ, गौतम, असित जैसे महापुरुषों से सम्पन्न कराते थे।

किन्तु वे स्वयं भक्ति में लगे रहते थे जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है (*स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः*)। राजा का यह धर्म है कि वह यह देखे कि सारा कामकाज समुचित मार्ग-निर्देशन में हो रहा है और उसे महाराज अम्बरीष की भाँति आदर्श भक्त होना चाहिए। राजा का कर्तव्य है कि वह यह देखे कि रेगिस्तान में भी अन्न उत्पन्न हो, अन्य स्थानों के विषय में तो क्या कहना?।

यस्य क्रतुषु गीर्वाणैः सदस्या ऋत्विजो जनाः ।
तुल्यरूपाश्चानिमिषा व्यदृश्यन्त सुवाससः ॥ २३॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके (अम्बरीष के); क्रतुषु—(उसके द्वारा सम्पन्न) यज्ञों में; गीर्वाणैः—देवताओं के साथ; सदस्याः—यज्ञ करने वाले सदस्य; ऋत्विजः—पुरोहित; जनाः—तथा अन्य कुशल व्यक्ति; तुल्य-रूपाः—समान रूप वाले; च—तथा; अनिमिषाः—देवताओं की तरह निर्निमेष दृष्टि से, बिना पलक भाँजे; व्यदृश्यन्त—देखे जाकर; सु-वाससः—कीमती वस्त्रों से सज्जित।.

महाराज अम्बरीष द्वारा आयोजित यज्ञ में सभा के सदस्य तथा पुरोहित (विशेष रूप से होता, उद्गाता, ब्रह्मा तथा अध्वर्यु) वस्त्रों से बहुत अच्छी तरह से सज्जित थे और वे सब देवताओं की तरह लग रहे थे। उन्होंने उत्सुकतापूर्वक यज्ञ को समुचित रूप से सम्पन्न कराया।

स्वर्गो न प्रार्थितो यस्य मनुजैरमरप्रियः ।
शृण्वद्भिरुपगायद्भिरुत्तमश्लोकचेष्टितम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

स्वर्गः—स्वर्गलोक का जीवन; न—नहीं; प्रार्थितः—इच्छा का विषय; यस्य—जिसका (अम्बरीष महाराज का); मनुजैः—नागरिकों (प्रजा) द्वारा; अमर-प्रियः—देवताओं तक को परम प्रिय; शृण्वद्भिः—सुनने के आदी; उपगायद्भिः—तथा कीर्तन करने के आदी; उत्तमश्लोक—भगवान् के; चेष्टितम्—महिमामय कार्यकलापों के विषय में।.

महाराज अम्बरीष की प्रजा भगवान् के महिमामय कार्यकलापों के विषय में कीर्तन एवं श्रवण करने की आदी थी। इस प्रकार वह कभी भी देवताओं के परम प्रिय स्वर्गलोक में जाने की इच्छा नहीं करती थी।

तात्पर्य : वह शुद्ध भक्त जिसे भगवान् के पवित्र नाम, यश, गुण, रूप तथा साज-सामान के विषय में कीर्तन एवं श्रवण करने का प्रशिक्षण मिला रहता है कभी भी स्वर्गलोक जाने का इच्छुक नहीं रहता, भले ही वह देवताओं को परम प्रिय क्यों न हो।

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।

स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥

"भगवान् नारायण की एकान्त भक्ति में लगे भक्तगण जीवन की किसी भी परिस्थिति से कभी नहीं डरते। भक्त के लिए स्वर्ग, मुक्ति तथा नरकलोक एक समान हैं।" (भागवत ६.१७.२८) भक्त सदैव वैकुण्ठ में रहता है अतएव उसे किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं रहती। वह अकाम कहलाता है क्योंकि उसे भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करने के अतिरिक्त किसी वस्तु की इच्छा नहीं रहती। चूँकि महाराज अम्बरीष महाभागवत थे अतएव उन्होंने अपनी प्रजा को ऐसी शिक्षा दी थी कि उनकी प्रजा की रुचि किसी भौतिक वस्तु में, यहाँ तक कि स्वर्ग के सुख में भी, नहीं थी।

संवर्धयन्ति यत्कामाः स्वाराज्यपरिभाविताः ।
दुर्लभा नापि सिद्धानां मुकुन्दं हृदि पश्यतः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

संवर्धयन्ति—सुख को बढ़ाती हैं; यत्—क्योंकि; कामाः—ऐसी इच्छाएँ; स्वा-राज्य—भगवान् की सेवा करने के अपने स्वाभाविक पद पर स्थित; परिभाविताः—ऐसी इच्छाओं से पूरित; दुर्लभाः—दुर्लभ; न—नहीं; अपि—भी; सिद्धानाम्—महान् योगियों के; मुकुन्दम्—कृष्ण को; हृदि—हृदय में; पश्यतः—उनका दर्शन करने के आदी व्यक्ति।

जो लोग भगवान् की सेवा करने के दिव्य सुख से परिपूर्ण हैं वे महान् योगियों की उपलब्धियों में भी कोई रुचि नहीं रखते क्योंकि ऐसी उपलब्धियाँ उस भक्त के द्वारा अनुभव किये गये दिव्य आनन्द को वर्धित नहीं करतीं जो अपने हृदय के भीतर सदैव कृष्ण का चिन्तन करता रहता है।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त न केवल उच्च लोकों को जाने में अपितु योग की सिद्धियों तक में अरुचि रखता है। असली सिद्धि तो भक्ति है। निर्विशेष ब्रह्म में तल्लीन होने से प्राप्त सुख तथा योग की आठ सिद्धियों (अणिमा, लघिमा, प्राप्ति इत्यादि) से मिलने वाले सुख भक्त को हर्षित नहीं करते। जैसा कि श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती ने कहा है—

कैवल्यं नरकायते त्रिदशपूराकाशपुष्पायते

दुर्दान्तेन्द्रियकालसर्पपटली प्रोत्खातदंष्ट्रायते।

विश्वं पूर्णसुखायते विधिमहेन्द्रादिश्च कीटायते

यत्कारुण्यकटाक्षवैभववतां तं गौरमेव स्तुमः ॥

(*चैतन्य चन्द्रामृत* ५)

जब भक्त को भगवान् श्रीचैतन्य की कृपा से भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करने का पद मिल जाता है तो वह निर्विशेष ब्रह्म को नरकतुल्य मानता है और स्वर्गलोक के भौतिक सुख को मायाजाल मानता है। जहाँ तक योग की सिद्धियों की बात है, भक्त इन्हें दन्तहीन विषैले सर्प के समान मानता है। योगी की विशेष चिन्ता इन्द्रियों को वश में करने की रहती है, किन्तु भक्त की इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा में लगी रहने के कारण (*हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते*) उसे इन्द्रियों को पृथक् रूप से वश में करने की आवश्यकता नहीं रहती। जो लोग भौतिकता में लगे हैं उनके लिए इन्द्रियों को वश में करने की आवश्यकता पड़ती है लेकिन भक्त की इन्द्रियाँ तो भगवत्सेवा में सदैव लगी रहती हैं जिसका अर्थ है कि वे पहले से ही वश में हो चुकी हैं। *परं दृष्ट्वा निवर्तते* (*भगवद्गीता* २.५९)। भक्त की इन्द्रियाँ भौतिक भोग के द्वारा आकृष्ट नहीं होतीं। यद्यपि यह जगत दुखमय है, किन्तु भक्त इस जगत को भी आध्यात्मिक मानता है क्योंकि प्रत्येक वस्तु भगवान् की सेवा में लगी रहती है। भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों का अन्तर सेवा का भाव है। *निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते*—जब भगवान् की सेवा करने का भाव नहीं होता तो मनुष्य के कार्यकलाप भौतिक होते हैं।

प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः।

मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते॥

(*भक्तिरसामृत सिन्धु १.२.२५६*)

जो कुछ भगवान् की सेवा में नहीं लगा है वह भौतिक है और जो कुछ इस तरह लगा है उसका परित्याग नहीं होना चाहिए। एक गगनचुम्बी प्रासाद तथा एक मन्दिर के निर्माण के पीछे एक-जैसा उत्साह हो सकता है लेकिन प्रयास भिन्न-भिन्न होते हैं क्योंकि एक प्रयास भौतिक होता है और दूसरा आध्यात्मिक है। आध्यात्मिक कार्यों को भौतिक कार्यकलाप समझ कर भ्रम में नहीं पडना चाहिए और इन्हें त्यागना नहीं चाहिए। भगवान् हरि से सम्बन्धित कोई भी वस्तु भौतिक नहीं होती। जो भक्त इस पर विचार करता है वह सदैव आध्यात्मिक कार्यों को प्राप्त होता है अतएव वह भौतिक कार्यों के द्वारा आकृष्ट नहीं होता (*परं दृष्ट्वा निवर्तते*)।

**स इत्थं भक्तियोगेन तपोयुक्तेन पार्थिवः ।
स्वधर्मेण हरिं प्रीणन्सर्वान्कामान्शनैर्जहौ ॥ २६ ॥**

शब्दार्थ

सः—उस (अम्बरीष); इत्थम्—इस प्रकार; भक्ति-योगेन—भगवान् की भक्ति के द्वारा; तपः-युक्तेन—जो तपस्या की श्रेष्ठ विधि भी है; पार्थिवः—राजा ने; स्व-धर्मेण—अपने वैधानिक कार्यकलापों से; हरिम्—परमेश्वर को; प्रीणन्—सन्तुष्ट करते हुए; सर्वान्—सभी प्रकार की; कामान्—भौतिक इच्छाओं को; शनैः—धीरे-धीरे; जहौ—त्याग दिया।

इस तरह इस लोक के राजा महाराज अम्बरीष ने भगवान् की भक्ति की और इस प्रयास में उन्होंने कठिन तपस्या की। उन्होंने अपने वैधानिक कार्यकलापों से भगवान् को सदैव प्रसन्न करते हुए धीरे-धीरे सारी भौतिक इच्छाओं का परित्याग कर दिया।

तात्पर्य : भक्ति के अभ्यास में की गई कठिन तपस्याएँ कई प्रकार की होती हैं। उदाहरणार्थ, मन्दिर में अर्चाविग्रह की पूजा में श्रम-साध्य कार्य करने होते हैं। *श्रीविग्रहाराधननित्यनानाशृंगारतन्मन्दिरमार्जनादौ*। मनुष्य को अर्चाविग्रह को अलंकृत करना चाहिए, मन्दिर साफ करना चाहिए, गंगा तथा यमुना से जल लाना चाहिए, नित्यकर्म करते रहना चाहिए, कई बार आरती करनी चाहिए, अर्चाविग्रह के लिए उत्कृष्ट भोजन तैयार करना चाहिए, वस्त्र तैयार करने चाहिए, आदि-आदि। इस तरह विविध कार्यों में सदैव लगे रहना चाहिए। इसमें जो श्रम लगता है वह निश्चय ही, तपस्या है। इसी प्रकार प्रचारकार्य करने, साहित्य तैयार करने, नास्तिकों को उपदेश देने तथा द्वार-द्वार जाकर साहित्य बाँटने में जो कठिन श्रम निहित रहता है वह निश्चय ही तपस्या है (*तपोयुक्तेन*) । *तपो दिव्यं पुत्रका*। ऐसी तपस्या आवश्यक है। *येन सत्त्वं शुद्ध्येत्*। भक्ति में ऐसी तपस्या से मनुष्य भौतिकवादिता से पवित्र हो जाता है (*कामान् शनैर्जहौ*)। निस्सन्देह, ऐसी तपस्या से भक्ति की स्वाभाविक स्थिति प्राप्त होती है। इस तरह मनुष्य अपनी भौतिक इच्छाएँ त्याग सकता है और ज्योंही वह भौतिक इच्छाओं से मुक्त हो जाता है त्योंही वह जन्म, जरा, मृत्यु तथा रोग की पुनरावृत्ति से छूट जाता है।

**गृहेषु दारेषु सुतेषु बन्धुषु
द्विपोत्तमस्यन्दनवाजिवस्तुषु ।
अक्षय्यरत्नाभरणाम्बरादिष्व्
अनन्तकोशेष्वकरोदसन्मतिम् ॥ २७॥**

शब्दार्थ

गृहेषु—घरों में; दारेषु—स्त्रियों में; सुतेषु—सन्तानों में; बन्धुषु—मित्रों तथा सम्बन्धियों में; द्विप-उत्तम—श्रेष्ठ शक्तिशाली हाथियों में; स्यन्दन—उत्तम रथों में; वाजि—उत्तम घोड़ों में; वस्तुषु—ऐसी सारी वस्तुओं में; अक्षय्य—जिनका महत्त्व कभी घटता नहीं; रत्न—रत्नों में; आभरण—गहनों में; अम्बर-आदिषु—कपड़े, गहने इत्यादि में; अनन्त-कोशेषु—अक्षय खजाने में; अकरोत्—स्वीकार किया; असत्-मतिम्—अनासक्ति।

महाराज अम्बरीष ने घरेलू कार्यों, पत्नियों, सन्तानों, मित्रों तथा सम्बन्धियों, श्रेष्ठ शक्तिशाली हाथियों, सुन्दर रथों, गाड़ियों, घोड़ों, अक्षय रत्नों, गहनों, वस्त्रों तथा अक्षय कोश के प्रति सारी आसक्ति छोड़ दी। उन्होंने इन वस्तुओं को नश्वर तथा भौतिक मानकर इनकी आसक्ति छोड़ दी।

तात्पर्य : *अनासक्तस्य विषयान् यथार्हम् उपयुञ्जतः।* जहाँ तक भौतिक वस्तुएँ भक्ति के काम आयें उन्हें स्वीकार कर लेना चाहिए। *आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्। आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्य-स्य वर्जनम्।* उपदेश देते समय अनेक भौतिक कहलाने वाली वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है। भक्त को घर, पत्नी, सन्तान, मित्र, मोटरकार जैसी भौतिक वस्तुओं के प्रति आसक्त नहीं होना चाहिए। उदाहरणार्थ, महाराज अम्बरीष के पास ये सारी वस्तुएँ थीं, किन्तु वे उनके प्रति आसक्त नहीं थे। यह भक्तियोग का प्रभाव है। भक्तिः *परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र च* (*भागवत* ११.२.४२)। जो भक्ति में बढ़ा-चढ़ा है वह इन्द्रिय-भोग के लिए भौतिक वस्तुओं के प्रति आसक्त नहीं रहता, किन्तु उपदेश देने के लिए, भगवान् की महिमा का प्रसार करने में वह बिना आसक्ति के ऐसी वस्तुएँ स्वीकार करता है। *अनासक्तस्य विषयान् यथार्हम् उपयुञ्जतः।* ऐसी प्रत्येक वस्तु जहाँ तक वह कृष्ण की सेवा में लगाई जा सके, उपयोग की जानी चाहिए।

तस्मा अदाद्धरिश्चक्रं प्रत्यनीकभयावहम् ।
एकान्तभक्तिभावेन प्रीतो भक्ताभिरक्षणम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उसको (महाराज अम्बरीष को); अदात्—प्रदान किया; हरिः—भगवान् ने; चक्रम्—अपना चक्र; प्रत्यनीक-भय-आवहम्—जो भगवान् तथा उनके भक्तों के शत्रुओं के लिए अत्यन्त भयावह है; एकान्त-भक्ति-भावेन—अनन्य भक्ति करने के कारण; प्रीतः—भगवान् इस प्रकार प्रसन्न होकर; भक्त-अभिरक्षणम्—अपने भक्तों की रक्षा के लिए।

महाराज अम्बरीष की अनन्य भक्ति से अतीव प्रसन्न होकर भगवान् ने राजा को अपना चक्र प्रदान किया जो शत्रुओं के लिए भयावह है और जो शत्रुओं तथा विपत्तियों से भक्तों की सदैव रक्षा करता है।

तात्पर्य : सदैव भगवान् की सेवा में लगे रहने के कारण, हो सकता है कि भक्त अपनी रक्षा में पटु न हो, किन्तु भगवान् के चरणकमलों पर पूर्णाश्रित रहने से वह भगवान् द्वारा अपनी रक्षा किये जाने के लिए

आश्वस्त रहता है। प्रह्लाद महाराज ने (*भागवत* ७.९.४३) कहा है—

नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्या-

स्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः।

भक्त भगवान् की सेवा करने के दिव्य आनन्द के सागर में सदैव मग्न रहता है; अतएव वह भौतिक जगत की किसी विपरीत स्थिति से कभी भयभीत नहीं होता। भगवान् यह भी वचन देते हैं—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*—हे अर्जुन! तुम संसार को घोषित कर दो कि भगवान् का भक्त कभी विनष्ट नहीं होता (*भगवद्गीता* ९.३१)। भक्तों की रक्षा के लिए कृष्ण का सुदर्शन चक्र सदैव तैयार रहता है। यह चक्र अभक्तों के लिए अत्यन्त भयावह है (*प्रत्यनीकभयावहम्*)। इसलिए महाराज अम्बरीष के भक्ति-संलग्न रहने पर भी उनका साम्राज्य सभी प्रकार के संकट से मुक्त था।

आरिराधयिषुः कृष्णं महिष्या तुल्यशीलया ।
युक्तः सांवत्सरं वीरो दधार द्वादशीव्रतम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

आरिराधयिषुः—पूजा करने के लिए इच्छुक; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण को; महिष्या—अपनी रानी सहित; तुल्य-शीलया—महाराज अम्बरीष के ही समान योग्य; युक्तः—साथ-साथ; सांवत्सरम्—एक वर्ष तक; वीरः—राजा ने; दधार—स्वीकार किया; द्वादशी-व्रतम्—एकादशी तथा द्वादशी मनाने का व्रत।

महाराज अम्बरीष ने अपने ही समान योग्य अपनी रानी के साथ भगवान् कृष्ण की पूजा करने के लिए एक वर्ष तक एकादशी तथा द्वादशी का व्रत रखा।

तात्पर्य : एकादशी व्रत तथा द्वादशी व्रत रखने का अर्थ है भगवान् को प्रसन्न करना। जो लोग कृष्णभावनामृत में प्रगति करने के इच्छुक हैं उन्हें एकादशी व्रत नियमपूर्वक रखना चाहिए। महाराज अम्बरीष की पत्नी भी राजा के ही समान सुयोग्य थी, इसलिए महाराज अम्बरीष के लिए अपने जीवन को गृहस्थी के कार्यों में व्यस्त रखना संभव हो सका। अतएव इस प्रसंग में *तुल्यशीलया* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जब तक पत्नी अपने पति के समान ही योग्य नहीं होती तब तक गृहस्थी के कार्यों को चला पाना अत्यन्त कठिन होता है। चाणक्य पण्डित की सलाह है कि ऐसी स्थिति में मनुष्य को तुरन्त ही गृहस्थ जीवन त्यागकर वानप्रस्थ या संन्यासी बन जाना चाहिए।

माता यस्य गृहे नास्ति भार्या चाप्रियवादिनी।

अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम् ॥

जिस व्यक्ति के घर में माता न हो और जिसकी पत्नी उसके अनुकूल न हो, उसे तुरन्त ही जंगल में चले जाना चाहिए। चूँकि मनुष्य जीवन मात्र आध्यात्मिक प्रगति के लिए है अतएव उसकी पत्नी को इस प्रयास में सहायक बनना चाहिए अन्यथा गृहस्थ जीवन की कोई आवश्यकता नहीं है।

व्रतान्ते कार्तिके मासि त्रिरात्रं समुपोषितः ।
स्नातः कदाचित्कालिन्द्यां हरिं मधुवनेऽर्चयत् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

व्रत-अन्ते—व्रत रखने के अन्त में; कार्तिके—कार्तिक (अक्टूबर-नवम्बर) मास में; मासि—महीने में; त्रि-रात्रम्—तीन रातों तक; समुपोषितः—पूर्णतया व्रत रखने के पश्चात्; स्नातः—स्नान करके; कदाचित्—कभी; कालिन्द्याम्—यमुना नदी के तट पर; हरिम्—भगवान् को; मधुवने—वृन्दावन के मधुवन नामक क्षेत्र में; अर्चयत्—भगवान् की पूजा की।

एक वर्ष तक उस व्रत को रखने के बाद, तीन रातों तक उपवास रखकर तथा युमना में स्नान करके महाराज अम्बरीष ने कार्तिक के महीने में भगवान् हरि की मधुवन में पूजा की।

महाभिषेकविधिना सर्वोपस्करसम्पदा ।
अभिषिच्याम्बराकल्पैर्गन्धमाल्यार्हणादिभिः ॥ ३१ ॥
तद्गतान्तरभावेन पूजयामास केशवम् ।
ब्राह्मणांश्च महाभागान्सिद्धार्थानपि भक्तितः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

महा-अभिषेक-विधिना—अर्चाविग्रह को नहलाने के अनुष्ठान द्वारा; सर्व-उपस्कर-सम्पदा—अर्चाविग्रह की पूजा की सारी सामग्री से; अभिषिच्य—नहलाकर; अम्बर-आकल्पैः—सुन्दर वस्त्रों तथा गहनों से; गन्ध-माल्य—सुगन्धित फूल की मालाओं से; अर्हण-आदिभिः—अर्चाविग्रह की पूजा की अन्य सामग्री सहित; तत्-गत-अन्तर-भावेन—भक्ति से पूरित अपने मन से; पूजयाम् आस—उसने पूजा की; केशवम्—कृष्ण को; ब्राह्मणान् च—तथा ब्राह्मणों को; महा-भागान्—अत्यन्त भाग्यशाली; सिद्ध-अर्थान्—आत्मतुष्ट, किसी पूजा के लिए प्रतीक्षा किये बिना; अपि—भी; भक्तितः—अत्यन्त भक्तिपूर्वक।

महाभिषेक के विधि-विधानों के अनुसार महाराज अम्बरीष ने सारी सामग्री से भगवान् कृष्ण के अर्चाविग्रह को स्नान कराया। फिर उन्हें सुन्दर वस्त्रों, आभूषणों, सुगन्धित फूलों की मालाओं तथा पूजा की अन्य सामग्री से अलंकृत किया। उन्होंने ध्यानपूर्वक तथा भक्तिपूर्वक कृष्ण की तथा भौतिक इच्छाओं से मुक्त परम भाग्यशाली ब्राह्मणों की पूजा की।

गवां रुक्मविषाणीनां रूप्याङ्घ्रीणां सुवाससाम् ।

पयःशीलवयोरूपवत्सोपस्करसम्पदाम् ॥ ३३ ॥

प्राहिणोत्साधुविप्रेभ्यो गृहेषु न्यर्बुदानि षट् ।
भोजयित्वा द्विजानग्रे स्वाद्वन्नं गुणवत्तमम् ॥ ३४ ॥

लब्धकामैरनुज्ञातः पारणायोपचक्रमे ।
तस्य तर्ह्यतिथिः साक्षाद्दुर्वासा भगवानभूत् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

गवाम्—गाएँ; रुक्म-विषाणीनाम्—सोने के पत्तर से मढ़े सींगों वाली; रूप्य-अङ्घ्रीणाम्—चाँदी के पत्तर से मढ़े खुरों वाली; सु-वाससाम्—वस्त्रों से सुसज्जित; पयः-शील—खूब दूध देने वाली; वयः—तरुण; रूप—सुन्दर; वत्स-उपस्कर-सम्पदाम्—सुन्दर बछड़ों सहित; प्राहिणोत्—दान में दिया; साधु-विप्रेभ्यः—ब्राह्मणों तथा साधु पुरुषों को; गृहेषु—उनके घर में (पहुँचे हुए); न्यर्बुदानि—दस करोड़; षट्—छः गुणा; भोजयित्वा—उन्हें खिलाकर; द्विजान् अग्रे—पहले ब्राह्मणों को; स्वादु अन्नम्—अत्यन्त स्वादिष्ट खाद्यपदार्थ; गुणवत्-तमम्—अत्यन्त स्वादिष्ट; लब्ध-कामैः—परम सन्तुष्ट ब्राह्मणों के द्वारा; अनुज्ञातः—उनकी अनुमति से; पारणाय—द्वादशी का व्रत पूरा करने के लिए; उपचक्रमे—अन्तिम उत्सव मनाने जा रहे; तस्य—उसका (अम्बरीष); तर्हि—तुरन्त; अतिथिः—अनिच्छित मेहमान; साक्षात्—प्रत्यक्ष; दुर्वासाः—योगी दुर्वासा; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; अभूत्—अतिथि रूप में वहाँ प्रकट हुए।

तत्पश्चात् महाराज अम्बरीष ने अपने घर में आये सारे अतिथियों को, विशेषकर ब्राह्मणों को संतुष्ट किया। उन्होंने दान में साठ करोड़ गौवें दीं जिनके सींग सोने के पत्तर से और खुर चाँदी के पत्तर से मढ़े थे। सारी गौवें वस्त्रों से खूब सजाई गई थीं और उनके थन दूध से भरे थे। वे सुशील, तरुण तथा सुन्दर थीं और अपने-अपने बछड़ों के साथ थीं। इन गौवों का दान देने के बाद राजा ने सर्वप्रथम सारे ब्राह्मणों को पेटभर भोजन कराया और जब वे पूरी तरह संतुष्ट हो गये तो वे उनकी आज्ञा से एकादशी व्रत तोड़कर उस का पारण करने वाले थे। किन्तु ठीक उसी समय महान् एवं शक्तिशाली दुर्वासा मुनि अनामंत्रित अतिथि के रूप में वहाँ पर प्रकट हुए।

तमानर्चातिथिं भूपः प्रत्युत्थानासनार्हणैः ।
ययाचेऽभ्यवहाराय पादमूलमुपागतः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (दुर्वासा को); आनर्च—पूजा की; अतिथिम्—यद्यपि वे अनाहूत आये थे; भूपः—राजा (अम्बरीष) ने; प्रत्युत्थान—खड़े हो करके; आसन—आसन देकर; अर्हणैः—पूजा की सामग्री से; ययाचे—प्रार्थना की; अभ्यवहाराय—भोजन करने के लिए; पाद-मूलम्—पाँवों पर; उपागतः—गिर कर।

दुर्वासा मुनि का स्वागत करने के लिए राजा अम्बरीष ने खड़े होकर उन्हें आसन तथा पूजा की सामग्री प्रदान की। तब उनके पाँवों के पास बैठकर राजा ने मुनि से भोजन करने के लिए प्रार्थना की।

प्रतिनन्द्य स तां याच्ञां कर्तुमावश्यकं गतः ।
निममज्ज बृहद्ध्यायन्कालिन्दीसलिले शुभे ॥ ३७॥

शब्दार्थ

प्रतिनन्द्य—प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करके; सः—दुर्वासा मुनि ने; ताम्—उस; याच्ञाम्—प्रार्थना को; कर्तुम्—करने के लिए; आवश्यकम्—आवश्यक धार्मिक अनुष्ठान; गतः—चला गया; निममज्ज—जल में डुबकी लगाई; बृहत्—परब्रह्म; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; कालिन्दी—यमुना के; सलिले—जल में; शुभे—अत्यन्त शुभ।

दुर्वासा मुनि ने प्रसन्नतापूर्वक महाराज अम्बरीष की प्रार्थना स्वीकार कर ली, किन्तु आवश्यक अनुष्ठान करने के लिए वे यमुना नदी में गये। वहाँ उन्होंने पवित्र यमुना नदी के जल में डुबकी लगाई और निराकार ब्रह्म का ध्यान किया।

मुहूर्तार्धावशिष्टायां द्वादश्यां पारणं प्रति ।
चिन्तयामास धर्मज्ञो द्विजैस्तद्धर्मसङ्कटे ॥ ३८॥

शब्दार्थ

मुहूर्त-अर्ध-अवशिष्टायाम्—आधे मुहूर्त के शेष रहने पर; द्वादश्याम्—द्वादशी के दिन; पारणम्—व्रत तोड़ना; प्रति—मनाने के लिए; चिन्तयाम् आस—सोचने लगा; धर्म-ज्ञः—धार्मिक नियमों का ज्ञाता; द्विजैः—ब्राह्मणों के द्वारा; तत्-धर्म—उस धर्म से सम्बन्धित; सङ्कटे—विकट परिस्थिति में।

तब तक व्रत तोड़ने के लिए द्वादशी का केवल आधा मुहूर्त शेष था। फलस्वरूप व्रत को तुरन्त तोड़ा जाना अनिवार्य था। ऐसी विकट परिस्थिति में राजा ने विद्वान ब्राह्मणों से परामर्श किया।

ब्राह्मणातिक्रमे दोषो द्वादश्यां यदपारणे ।
यत्कृत्वा साधु मे भूयादधर्मो वा न मां स्पृशेत् ॥ ३९॥
अम्भसा केवलेनाथ करिष्ये व्रतपारणम् ।
आहुरब्भक्षणं विप्रा ह्यशितं नाशितं च तत् ॥ ४०॥

शब्दार्थ

ब्राह्मण-अतिक्रमे—ब्राह्मणों के प्रति सत्कार के नियमों का उल्लंघन करने में; दोषः—दोष है; द्वादश्याम्—द्वादशी के दिन; यत्—क्योंकि; अपारणे—समय से व्रत न तोड़ने पर; यत् कृत्वा—जिसे करने पर; साधु—जो शुभ है; मे—मेरे लिए; भूयात्—ऐसा हो; अधर्मः—जो धर्म से रहित है; वा—अथवा; न—नहीं; माम्—मुझको; स्पृशेत्—स्पर्श करे; अम्भसा—जल से; केवलेन—केवल; अथ—अतएव; करिष्ये—मैं करूँगा; व्रत-पारणम्—व्रत की पूर्ति; आहुः—कहा; अप्-भक्षणम्—पीने का पानी; विप्राः—हे ब्राह्मणो; हि—निस्सन्देह; अशितम्—खाना; न अशितम् च—तथा न खाना; तत्—ऐसा कार्य।

राजा ने कहा : "ब्राह्मणों के प्रति सत्कार के नियमों का उल्लंघन करना निश्चय ही, महान् अपराध है। दूसरी ओर यदि कोई द्वादशी की तिथि में अपने व्रत को नहीं तोड़ता तो व्रत के पालन में दोष आता है। अतएव हे ब्राह्मणो, यदि आप लोग यह सोचें कि यह शुभ है तथा अधर्मनहीं है तो मैं जल पीकर व्रत तोड़ दूँ।" इस प्रकार ब्राह्मणों से परामर्श करने के बाद राजा इस निर्णय पर पहुँचा

कि ब्राह्मणों के मतानुसार जल का पीना भोजन करना स्वीकार किया जा सकता है और नहीं भी।

तात्पर्य : जब महाराज अम्बरीष ने दुविधा में पड़कर ब्राह्मणों से इस विषय में परामर्श किया कि वे अपना व्रत तोड़ें या दुर्वासा मुनि की प्रतीक्षा करें तो ब्राह्मणगण इसके विषय में कोई निश्चित उत्तर नहीं दे पाये। लेकिन वैष्णव सबसे अधिक बुद्धिमान व्यक्ति होता है। अतएव महाराज अम्बरीष ने ब्राह्मणों के समक्ष स्वयं निर्णय लिया कि वे थोड़ा सा जल पी लें क्योंकि इससे व्रत तोड़ने की पुष्टि भी हो जायेगी और ब्राह्मण-सत्कार के नियमों का उल्लंघन भी नहीं होगा। वेदों में कहा गया है—*अपोऽश्नाति तन् नैवाशितम् नैवानशितम्*—इस वैदिक आदेश का अर्थ है कि जल पीने को भोजन करना माना जा सकता है और नहीं भी माना जा सकता। कभी-कभी अपने व्यावहारिक अनुभव में हम यह देखते हैं कि कोई राजनैतिक नेता सत्याग्रह करते समय खाता नहीं, लेकिन जल पी लेता है। जल पीने को खाना न मानते हुए महाराजअम्बरीष ने ऐसा करने का निर्णय लिया।

इत्यपः प्राश्य राजर्षिश्चिन्तयन्मनसाच्युतम् ।
प्रत्यचष्ट कुरुश्रेष्ठ द्विजागमनमेव सः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अपः—जल; प्राश्य—पीकर; राजर्षिः—राजर्षि अम्बरीष; चिन्तयन्—ध्यान करते हुए; मनसा—मन से; अच्युतम्—भगवान् को; प्रत्यचष्ट—प्रतीक्षा करने लगा; कुरु-श्रेष्ठ—हे कुरु राजाओं में श्रेष्ठ; द्विज-आगमनम्—महान् योगी ब्राह्मण दुर्वासा मुनि के आने की; एव—निस्सन्देह; सः—वह राजा।

हे कुरुश्रेष्ठ, थोड़ा सा जल पीकर राजा अम्बरीष ने अपने मन में भगवान् का ध्यान किया और फिर वे महान् योगी दुर्वासा मुनि के वापस आने की प्रतीक्षा करने लगे।

दुर्वासा यमुनाकूलात्कृतावश्यक आगतः ।
राज्ञाभिनन्दितस्तस्य बुबुधे चेष्टितं धिया ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

दुर्वासाः—महर्षि; यमुना-कूलात्—यमुना नदी के तट से; कृत—करके; आवश्यकः—आवश्यक अनुष्ठान; आगतः—वापस आया; राज्ञा—राजा के द्वारा; अभिनन्दितः—भलीभाँति सत्कार किया जाकर; तस्य—उसका; बुबुधे—समझ सका; चेष्टितम्—चेष्टा, कृत्य; धिया—बुद्धि से।

दोपहर के समय सम्पन्न होने वाले अनुष्ठानों को संपन्न कर लेने के बाद दुर्वासा मुनि यमुना के तट से वापस आये। राजा ने अच्छी प्रकार से उनका स्वागत किया, किन्तु दुर्वासा मुनि ने अपने

योगबल से जान लिया कि राजा ने उनकी अनुमति के बिना जल पी लिया है।

मन्युना प्रचलद्गात्रो भ्रुकुटीकुटिलाननः ।
बुभुक्षितश्च सुतरां कृताञ्जलिमभाषत ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

मन्युना—क्रोध से उद्विग्न मन वाला; प्रचलत्-गात्रः—काँपते शरीर से; भ्रु-कुटी—भौहों से; कुटिल—वक्र; आननः—मुख; बुभुक्षितः च—तथा भूखा; सुतराम्—अत्यधिक; कृत-अञ्जलिम्—हाथ जोड़कर खड़े अम्बरीष महाराज से; अभाषत—कहा।

भूखे, काँपते शरीर, टेढ़े मुँह तथा क्रोध से टेढ़ी भौहें किये दुर्वासा मुनि ने अपने समक्ष हाथ जोड़े खड़े राजा अम्बरीष से क्रोधपूर्वक इस प्रकार कहा।

अहो अस्य नृशंसस्य श्रियोन्मत्तस्य पश्यत ।
धर्मव्यतिक्रमं विष्णोरभक्तस्येशमानिनः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; अस्य—इस पुरुष का; नृ-शंसस्य—इतने निर्दय का; श्रिया उन्मत्तस्य—अपने ऐश्वर्य के कारण गर्वित; पश्यत—देखो तो; धर्म-व्यतिक्रमम्—धार्मिक सिद्धान्तों का उल्लंघन; विष्णोः अभक्तस्य—जो विष्णु का भक्त नहीं है उसका; ईश-मानिनः—अपने आपको ईश्वर मानने वाला।

ओह! जरा इस निर्दय व्यक्ति का आचरण तो देखो, यह भगवान् विष्णु का भक्त नहीं है। यह अपने ऐश्वर्य एवं पद के गर्व के कारण अपने आपको ईश्वर समझ रहा है। देखो न, इसने धर्म के नियमों का उल्लंघन किया है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक में दुर्वासा मुनि द्वारा कहे गये वचनों का पूरा अर्थ ही बदल दिया है। दुर्वासा मुनि ने *नृशंसस्य* शब्द का व्यवहार राजा को क्रूर बताने के लिए किया है लेकिन विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इसका अर्थ यह लगाते हैं कि राजा के चरित्र की महिमा का गान सारे स्थानीय लोगों ने किया। उनके अनुसार नृ का अर्थ है ''सारे स्थानीय लोग'' तथा शंसस्य का अर्थ है ''अम्बरीष का, जिसके चरित्र का गायन किया गया।'' इसी प्रकार जो अत्यन्त धनी होता है वह अपने धन के कारण पागल हो जाता है अतएव वह *श्रिया उन्मत्तस्य* कहलाता है, किन्तु श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार यद्यपि महाराज अम्बरीष अत्यन्त ऐश्वर्यवान राजा थे, किन्तु वे दान के पीछे पागल नहीं थे क्योंकि वे भौतिक ऐश्वर्य के पागलपन को पहले ही पार कर चुके थे। इसी प्रकार *ईशमानिनः* का अर्थ यह लगाया है कि वह भगवान् का इतना आदर करता था कि दुर्वासा मुनि के ऐसा सोचने के बावजूद भी उसने

एकादशी पारण के नियम का उल्लंघन नहीं किया क्योंकि उसने केवल जल ग्रहण किया था। इस प्रकार श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अम्बरीष महाराज के सारे

यो मामतिथिमायातमातिथ्येन निमन्त्र्य च ।
अदत्त्वा भुक्तवांस्तस्य सद्यस्ते दर्शये फलम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

यः—जो व्यक्ति; माम्—मुझ; अतिथिम्—अतिथि को; आयातम्—आया हुआ; आतिथ्येन—अतिथि के रूप में सत्कार द्वारा; निमन्त्र्य—निमंत्रण देकर; च—भी; अदत्त्वा—(भोजन) दिये बिना; भुक्तवान्—स्वयं खा लिया; तस्य—उसका; सद्यः—तुरन्त; ते—तुम्हारा; दर्शये—दिखलाऊँगा; फलम्—परिणाम, फल।

महाराज अम्बरीष, तुमने मुझे अतिथि के रूप में भोजन के लिए बुलाया है लेकिन तुमने मुझे न खिलाकर स्वयं पहले खा लिया है। तुम्हारे इस दुर्व्यवहार के कारण मैं तुमको इसका मजा चखाऊँगा।

तात्पर्य : भक्त तथाकथित योगी द्वारा पराजित नहीं किया जा सकता। यह दुर्वासा मुनि द्वारा महाराज अम्बरीष को प्रताड़ित करने के प्रयास के असफल होने से सिद्ध हो जायेगा। *हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा:* (*भागवत* ५.१८.१२)। जो भगवद्भक्त नहीं है वह कितना ही बड़ा योगी, दार्शनिक या कर्मी क्यों न हो, अच्छा गुणवान अथवा योग्य नहीं माना जाता। केवल भक्त ही सभी परिस्थितियों में विजयी होता है जैसा कि दुर्वासा तथा महाराज अम्बरीष की स्पर्धा की प्रस्तुत घटना से देखा जायेगा।

एवं ब्रुवाण उत्कृत्य जटां रोषप्रदीपितः ।
तया स निर्ममे तस्मै कृत्यां कालानलोपमाम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; ब्रुवाणः—बोलकर (दुर्वासा मुनि); उत्कृत्य—उखाड़कर; जटाम्—बालों के समूह को; रोष-प्रदीपितः—क्रोध के मारे लाल होकर; तया—सिर से उखाड़ी अपनी जटा से; सः—दुर्वासा मुनि ने; निर्ममे—उत्पन्न कर दिया; तस्मै—महाराज अम्बरीष को दण्ड देने के लिए; कृत्याम्—कृत्या; काल-अनल-उपमाम्—प्रलयाग्नि के समान प्रकट होकर।

जब दुर्वासा मुनि ने ऐसा कहा तो क्रोध से उनका मुख लाल पड़ गया। उन्होंने अपने सिर की जटा से एक बाल उखाड़कर महाराज अम्बरीष को दण्ड देने के लिए एक कृत्या उत्पन्न कर दी जो प्रलयाग्नि के समान प्रज्वलित हो रही थी।

तामापतन्तीं ज्वलतीमसिहस्तां पदा भुवम् ।
वेपयन्तीं समुद्वीक्ष्य न चचाल पदान्नृपः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उसको; आपतन्तीम्—उस पर आक्रमण करने के लिए जो आगे बढ़ती हुई; ज्वलतीम्—अग्नि के समान प्रज्ज्वलित; असि-हस्ताम्—हाथ में त्रिशूल लिए हुए; पदा—अपने पगों से; भुवम्—पृथ्वी को; वेपयन्तीम्—कंपाती हुई; समुद्वीक्ष्य—उसे ठीक से देखकर; न—नहीं; चचाल—हिला या हटा; पदात्—अपने स्थान से; नृपः—राजा।

वह देदीप्यमान कृत्या अपने हाथ में त्रिशूल लेकर तथा अपने पदचाप से धरती को कंपाती हुई महाराज अम्बरीष के सामने आई। किन्तु उसे देखकर राजा तनिक भी विचलित नहीं हुआ और अपने स्थान से रंचभर भी नहीं हटा।

तात्पर्य : *नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति* (*भागवत* ६.१७.२८)—नारायण का भक्त कभी किसी भौतिक भय से भयभीत नहीं होता। भक्तों के ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हैं—यथा प्रह्लाद महाराज जिन्हें उनके पिता तरह-तरह के कष्ट देते थे, किन्तु वे तनिक भी भयभीत नहीं हुए यद्यपि वे अभी केवल पाँच वर्ष के बालक थे। अतएव अम्बरीष महाराज तथा प्रह्लाद महाराज का अनुकरण करते हुए भक्त को इस संसार की ऐसी सारी विषम स्थितियों को सहने का अभ्यास करना चाहिए। भक्तों को प्रायः अभक्त सताते हैं फिर भी भगवान् की कृपा पर आश्रित रहकर शुद्ध भक्त कभी भी ऐसे शत्रुतापूर्ण कार्यों से विचलित नहीं होते।

प्राग्दिष्टं भृत्यरक्षायां पुरुषेण महात्मना ।
ददाह कृत्यां तां चक्रं क्रुद्धाहिमिव पावकः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

प्राक् दिष्टम्—पूर्व आयोजित; भृत्य-रक्षायाम्—अपने दासों की रक्षा करने के लिए; पुरुषेण—परम पुरुष द्वारा; महा-आत्मना—परमात्मा द्वारा; ददाह—जलाकर राख कर दिया; कृत्याम्—सृजित कृत्या को; ताम्—उस; चक्रम्—चक्र; क्रुद्ध—क्रुद्ध; अहिम्—सर्प को; इव—सदृश; पावकः—अग्नि।

जिस प्रकार दावाग्नि एक क्रुद्ध सर्प को तुरन्त जला देती है उसी प्रकार पहले से आदिष्ट भगवान् के सुदर्शन चक्र ने भगवद्भक्त की रक्षा करने के लिए उस सृजित कृत्या को जलाकर क्षार कर दिया।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त होने के कारण महाराज अम्बरीष ऐसे संकट में पड़कर भी न तो अपने स्थान से रंचभर हटे, न ही भगवान् से अपनी रक्षा करने के लिए कोई प्रार्थना की। वे विचार में स्थिर थे अतएव यह स्पष्ट था कि वे अपने मन में भगवान् का चिन्तन मात्र कर रहे थे। भक्त कभी अपनी मृत्यु से डरता नहीं

क्योंकि वह सदैव भगवान् का ध्यान अपने कर्तव्य के रूप में करता है, किसी भौतिक लाभ के लिए नहीं। लेकिन भगवान् जानते हैं कि भक्त की रक्षा कैसे करनी चाहिए। जैसा कि *प्राग्-दिष्टम्* शब्द से सूचित होता है, भगवान् सब जानते थे।अतएव इसके पूर्व कि कोई घटना घटे, उन्होंने महाराज अम्बरीष की रक्षा करने के लिए अपने चक्र को तैयार रखा था। भक्त को यह सुरक्षा भक्ति शुरू करने के दिन से ही प्रदान की जाती है। *कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति* (*भगवद्गीता* ९.३१)। यदि कोई व्यक्ति भक्ति शुरू करता है तो तुरन्त ही भगवान् उसकी रक्षा करने लगते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१८.६६) के द्वारा होती है—*अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि।* सुरक्षा का कार्य तुरन्त प्रारम्भ हो जाता है। भगवान् इतने दयालु हैं कि वे अपने भक्त को सही मार्गदर्शन तथा सारी सुरक्षा प्रदान करते हैं। इस तरह भक्त शान्तिपूर्वक बिना किसी बाहरी उपद्रव के कृष्णभावनामृत में ठोस प्रगति करता है। सर्प कितना ही क्रुद्ध और काटने को तैय्यार क्यों न हो, किन्तु जब उसे जंगल की प्रज्ज्वलित अग्नि का सामना करना पड़ता है तो क्रुद्ध से क्रुद्ध सर्प भी असहाय बन जाता है। यद्यपि भक्त का शत्रु अत्यन्त प्रबल भी हो, वह भक्ति की अग्नि के समक्ष क्रुद्ध सर्प जैसा बन जाता है।

तदभिद्रवदुद्वीक्ष्य स्वप्रयासं च निष्फलम् ।
दुर्वासा दुद्रुवे भीतो दिक्षु प्राणपरीप्सया ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस चक्र को; अभिद्रवत्—अपनी ओर आते; उद्वीक्ष्य—देखकर; स्व-प्रयासम्—अपने निजी प्रयास को; च—तथा; निष्फलम्—व्यर्थ हुआ; दुर्वासाः—दुर्वासा मुनि; दुद्रुवे—भगने लगा; भीतः—भयभीत हो गए; दिक्षु—हर दिशा में; प्राण-परीप्सया—अपने जीवन की रक्षा करने की इच्छा से।

जब दुर्वासा मुनि ने देखा कि उनका निजी प्रयास विफल हो गया है और सुदर्शन चक्र उनकी ओर बढ़ रहा है तो वे अत्यधिक भयभीत हो उठे और अपनी जान बचाने के लिए सारी दिशाओं में दौने लगे।

तमन्वधावद्भगवद्रथाङ्गं
दावाग्निरुद्धूतशिखो यथाहिम् ।
तथानुषक्तं मुनिरीक्षमाणो
गुहां विविक्षुः प्रससार मेरोः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

तम्—दुर्वासा का; अन्वधावत्—पीछा करने लगा; भगवत्-रथ-अङ्गम्—भगवान् के रथ के पहिए से निकला चक्र; दाव-अग्निः—जंगल की अग्नि के समान; उद्धूत—ऊपर उठती; शिखः—लपटें; यथा अहिम्—जिस तरह साँप का पीछा करती हैं; तथा—उसी प्रकार; अनुषक्तम्—मानो दुर्वासा मुनि की पीठ को छूता हुआ; मुनिः—मुनि; ईक्षमाणः—इस तरह देखता; गुहाम्—गुफा में; विविक्षुः—प्रवेश करना चाहा; प्रससार—तेजी से आगे बढ़ने लगा; मेरोः—मेरु पर्वत की।

जिस प्रकार दवाग्नि की लपटें साँप का पीछा करती हैं उसी तरह भगवान् का चक्र दुर्वासा मुनि का पीछा करने लगा। दुर्वासा मुनि ने देखा कि यह चक्र उनकी पीठ को छूने वाला है अतएव वे तेजी से दौकर सुमेरु पर्वत की गुफा में घुस जाना चाह रहे थे।

दिशो नभः क्ष्मां विवरान्समुद्रान्
लोकान्सपालांस्त्रिदिवं गतः सः ।
यतो यतो धावति तत्र तत्र
सुदर्शनं दुष्प्रसहं ददर्श ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

दिशः—सारी दिशाएँ; नभः—आकाश में; क्ष्माम्—पृथ्वी पर; विवरान्—छेदों में; समुद्रान्—समुद्रों के भीतर; लोकान्—सारे स्थानों में; स-पालान्—तथा उनके शासकों समेत; त्रिदिवम्—स्वर्गलोकों में; गतः—गया हुआ; सः—वह दुर्वासा मुनि; यतः यतः—जहाँ-जहाँ; धावति—गया; तत्र तत्र—वहीं-वहीं; सुदर्शनम्—भगवान् का चक्र; दुष्प्रसहम्—अत्यन्त भयावह; ददर्श—दुर्वासा मुनि ने देखा।

अपनी रक्षा करने के लिए दुर्वासा मुनि सर्वत्र भागते रहे—वे आकाश, पृथ्वीतल, गुफाओं, समुद्र, तीनों लोकों के शासकों के विभिन्न लोकों तथा स्वर्गलोक में भी गये, किन्तु जहाँ-जहाँ गये वहीं उन्होंने सुदर्शन चक्र की असह्य अग्नि को उनका पीछा करते देखा।

अलब्धनाथः स सदा कुतश्चित्
सन्त्रस्तचित्तोऽरणमेषमाणः ।
देवं विरिञ्चं समगाद्विधात-
स्त्राह्यात्मयोनेऽजिततेजसो माम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

अलब्ध-नाथः—रक्षक की शरण पाये बिना; सः—दुर्वासा मुनि; सदा—सदैव; कुतश्चित्—कहीं; सन्त्रस्त-चित्तः—भयभीत मन से; अरणम्—शरणदाता को; एषमाणः—ढूँढते हुए; देवम्—प्रमुख देवता; विरिञ्चम्—ब्रह्माजी के पास; समगात्—पहुँचा; विधातः—हे प्रभु; त्राहि—मेरी रक्षा कीजिये; आत्म-योने—हे ब्रह्माजी; अजित-तेजसः—अजित अर्थात् भगवान् द्वारा छोड़ी गयी अग्नि से; माम्—मुझको।

दुर्वासा मुनि भयभीत मन से इधर उधर शरण खोजते रहे, किन्तु जब उन्हें कोई शरण न मिल सकी तो अन्ततः वे ब्रह्माजी के पास पहुँचे और कहा—हे प्रभु, हे ब्रह्माजी, कृपा करके भगवान् द्वारा

भेजे गये इस ज्वलित सुदर्शन चक्र से मेरी रक्षा कीजिये।

श्रीब्रह्मोवाच

स्थानं मदीयं सहविश्वमेतत्
क्रीडावसाने द्विपरार्धसंज्ञे ।
भ्रूभङ्गमात्रेण हि सन्दिधक्षोः
कालात्मनो यस्य तिरोभविष्यति ॥ ५३ ॥

अहं भवो दक्षभृगुप्रधानाः
प्रजेशभूतेशसुरेशमुख्याः ।
सर्वे वयं यन्नियमं प्रपन्ना
मूर्ध्न्यार्पितं लोकहितं वहामः ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; स्थानम्—वह स्थान जहाँ मैं हूँ; मदीयम्—मेरा आवास, ब्रह्मलोक; सह—सहित; विश्वम्—सारा ब्रह्माण्ड; एतत्—यह; क्रीडा-अवसाने—भगवान् की लीला-अवधि के अन्त में; द्वि-परार्ध-संज्ञे—द्वि परार्ध के अन्त के नाम से जाना जाने वाला समय; भ्रू-भङ्ग-मात्रेण—भौहों के टेढ़ा होने मात्र से; हि—निस्सन्देह; सन्दिधक्षोः—भगवान् का, जब वे सारे ब्रह्माण्ड को भस्म करना चाहते हैं; काल-आत्मनः—विनाश रूपी; यस्य—जिसका; तिरोभविष्यति—लुप्त हो जायेगा; अहम्—मैं; भवः—शिवजी; दक्ष—प्रजापति दक्ष; भृगु—भृगुमुनि; प्रधानाः—तथा अन्य; प्रजा-ईश—प्रजाओं के नियंत्रक; भूत-ईश—जीवों के नियन्ता; सुर-ईश—देवताओं के नियन्ता; मुख्याः—उनके नेतृत्व में; सर्वे—सभी; वयम्—हम भी; यत्-नियमम्—जिसके नियम; प्रपन्नाः—शरणागत; मूर्ध्न्या अर्पितम्—हम अपने-अपने सिर झुकाकर; लोक-हितम्—जीवों के कल्याण हेतु; वहामः—जीवों के ऊपर शासन करने वाले आदेशों का पालन करते हैं।

ब्रह्माजी ने कहा : द्वि-परार्ध के अन्त में, जब भगवान् की लीलाएँ समाप्त हो जाती हैं तो भगवान् विष्णु अपनी एक भृकुटि के टेढ़ा होने से सारे ब्रह्माण्ड का, जिसमें हमारे निवास स्थान भी सम्मिलित हैं, विनाश कर देते हैं। मैं तथा शिवजी जैसे पुरुष तथा दक्ष, भृगु इत्यादि प्रधान ऋषिमुनि एवं जीवों के शासक, मानव समाज के शासक एवं देवताओं के शासक, हम सभी उन भगवान् विष्णु को अपने अपने सिर झुकाकर समस्त जीवों के कल्याण हेतु उनके आदेशों का पालन करने के लिए उनकी शरण में जाते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१०.३४) में कहा गया है—*मृत्युः सर्वहरश्चाहम्*—जब भगवान् मृत्यु या काल के परम नियामक के रूप में आते हैं तो वे सर्वस्व छीन लेते हैं। दूसरे शब्दों में, सारा ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा तथा हमारा सर्वस्व भगवान् द्वारा किसी प्रयोजन के लिए प्रदत्त है। यह तो शरणागत जीव का कर्तव्य है कि वह परमेश्वर के आदेशों का पालन करे। कोई भी उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। ऐसी परिस्थिति में ब्रह्माजी ने भगवान् के शक्तिशाली सुदर्शन चक्र से दुर्वासा मुनि की रक्षा करने के लिए उन्हें शरण देने से

इनकार कर दिया।

प्रत्याख्यातो विरिञ्चेन विष्णुचक्रोपतापितः ।
दुर्वासाः शरणं यातः शर्वं कैलासवासिनम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

प्रत्याख्यातः—मना किये जाने पर; विरिञ्चेन—ब्रह्माजी द्वारा; विष्णु-चक्र-उपतापितः—भगवान् विष्णु के चक्र की ज्वलित अग्नि से झुलस कर; दुर्वासाः—दुर्वासा मुनि; शरणम्—शरण में; यातः—गया; शर्वम्—शिवजी की; कैलास-वासिनम्—कैलासवासी।

जब सुदर्शन चक्र की ज्वलित अग्नि से संतप्त दुर्वासा को ब्रह्माजी ने इस प्रकार मना कर दिया तो उन्होंने कैलास लोक में सदैव निवास करने वाले शिवजी की शरण लेने का प्रयास किया।

श्रीशङ्कर उवाच

वयं न तात प्रभवाम भूम्नि
यस्मिन्परेऽन्येऽप्यजजीवकोशाः ।
भवन्ति काले न भवन्ति हीदृशाः
सहस्रशो यत्र वयं भ्रमामः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शङ्करः उवाच—शंकरजी ने कहा; वयम्—हम; न—नहीं; तात—हे पुत्र; प्रभवामः—पर्याप्त सक्षम; भूम्नि—भगवान् को; यस्मिन्—जिसमें; परे—अध्यात्म में; अन्ये—अन्य लोग; अपि—भी; अज—ब्रह्माजी; जीव—सारे जीव; कोशाः—ब्रह्माण्ड; भवन्ति—हो सकते हैं; काले—कालक्रम से; न—नहीं; भवन्ति—हो सकते हैं; हि—निस्सन्देह; ईदृशाः—इसकी तरह; सहस्रशः—कई हजार तथा लाख; यत्र—जिसमें; वयम्—हम सभी; भ्रमामः—घूम रहे हैं।

शिवजी ने कहा : हे पुत्र, मैं, ब्रह्माजी तथा अन्य देवता जो अपनी-अपनी महानता की भ्रान्त धारणा के कारण इस ब्रह्माण्ड के भीतर चक्कर लगाते रहते हैं, भगवान् से स्पर्धा करने की क्षमता नहीं रखते क्योंकि भगवान् के निर्देशन मात्र से असंख्य ब्रह्माण्डों एवं उनके निवासियों का जन्म और संहार होता रहता है।

तात्पर्य : भौतिक जगत में असंख्य ब्रह्माण्ड हैं और ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवता भी असंख्य हैं। ये सभी भगवान् के परम निर्देशानुसार इस भौतिक जगत के भीतर चक्कर लगाते रहते हैं। अतएव कोई भी भगवान् की शक्ति की बराबरी नहीं कर सकता। शिवजी ने भी दुर्वासा की रक्षा करने से इनकार कर दिया क्योंकि शिवजी स्वयं भी भगवान् द्वारा भेजे सुदर्शन चक्र की किरणों के नीचे थे।

अहं सनत्कुमारश्च नारदो भगवानजः ।

कपिलोऽपान्तरतमो देवलो धर्म आसुरिः ॥ ५७ ॥

मरीचिप्रमुखाश्चान्ये सिद्धेशाः पारदर्शनाः ।
विदाम न वयं सर्वे यन्मायां माययावृताः ॥ ५८ ॥

तस्य विश्वेश्वरस्येदं शस्त्रं दुर्विषहं हि नः ।
तमेवं शरणं याहि हरिस्ते शं विधास्यति ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; सनत्-कुमारः च—तथा चारों कुमार (सनक, सनातन, सनत्कुमार तथा सनन्द); नारदः—नारद मुनि; भगवान् अजः—ब्रह्माण्ड के श्रेष्ठतम प्राणी, ब्रह्माजी की; कपिलः—देवहूति के पुत्र; अपान्तरतमः—व्यासदेव; देवलः—देवलऋषि; धर्मः—यमराज; आसुरिः—महान् सन्त आसुरि; मरीचि—महान् सन्त मरीचि; प्रमुखाः—इत्यादि; च—भी; अन्ये—अन्य; सिद्ध-ईशाः—सभी अपने-अपने ज्ञान में पूर्ण; पार-दर्शनाः—जिन्होंने सारे ज्ञान का अन्त देखा है; विदामः—समझ सकते हैं; न—नहीं; वयम्—हम सभी; सर्वे—पूर्णतः; यत्-मायाम्—जिसकी माया को; मायया—माया द्वारा; आवृताः—ढका हुआ; तस्य—उसका; विश्व-ईश्वरस्य—ब्रह्माण्ड के स्वामी का; इदम्—यह; शस्त्रम्—हथियार (चक्र); दुर्विषहम्—असह्य; हि—निस्सन्देह; नः—हमारा; तम्—उसकी; एवम्—इसलिए; शरणम् याहि—शरण में जाओ; हरिः—भगवान्; ते—तुम्हारा; शम्—कल्याण; विधास्यति—अवश्यमेव करेंगे।

मैं (शिवजी), सनत्कुमार, नारद, परमादरणीय ब्रह्माजी, कपिल (देवहूति पुत्र), अपान्तरतम (व्यासदेवजी), देवल, यमराज, आसुरि, मरीचि इत्यादि अनेक सन्तपुरुष एवं सिद्धिप्राप्त अन्य अनेक लोग भूत, वर्तमान तथा भविष्य को जानने वाले हैं। फिर भी भगवान् की माया से प्रच्छन्न होने के कारण हम यह नहीं समझ पाते कि यह माया कितनी विस्तीर्ण है। तुम उन्हीं भगवान् के पास राहत प्राप्त करने के लिए जाओ क्योंकि यह सुदर्शन चक्र हम लोगों के लिए भी दुःसह है। तुम भगवान् विष्णु के पास जाओ। वे अवश्य ही दयार्द्र होकर तुम्हें सौभाग्य प्रदान करेंगे।

ततो निराशो दुर्वासाः पदं भगवतो ययौ ।
वैकुण्ठाख्यं यदध्यास्ते श्रीनिवासः श्रिया सह ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; निराशः—निराश हुआ; दुर्वासाः—दुर्वासा मुनि; पदम्—स्थान; भगवतः—भगवान् विष्णु के; ययौ—गया; वैकुण्ठ-आख्यम्—वैकुण्ठ नामक; यत्—जहाँ पर; अध्यास्ते—नित्य वास करते हैं; श्रीनिवासः—भगवान् विष्णु; श्रिया—लक्ष्मी; सह—सहित।

तत्पश्चात् शिवजी के द्वारा भी शरण न दिये जाने से निराश होकर दुर्वासा मुनि वैकुण्ठधाम गये जहाँ भगवान् नारायण अपनी प्रियतमा लक्ष्मीदेवी के साथ निवास करते हैं।

सन्दह्यमानोऽजितशस्त्रवह्निना
तत्पादमूले पतितः सवेपथुः ।
आहाच्युतानन्त सदीप्सित प्रभो

कृतागसं मावहि विश्वभावन ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

सन्दह्यमानः—दग्ध होकर; अजित-शस्त्र-वह्निना—भगवान् के हथियार की ज्वलित अग्नि से; तत्-पाद-मूले—उनके चरणकमलों पर; पतितः—गिरते हुए; स-वेपथुः—काँपते शरीर से; आह—कहा; अच्युत—हे अच्युत भगवान्; अनन्त—हे असीम पराक्रम वाले; सत्-ईप्सित—सन्तों द्वारा वांछित भगवान्; प्रभो—हे परमेश्वर; कृत-आगसम्—महानतम अपराधी; मा—मुझको; अवहि—शरण दो; विश्व-भावन—समस्त विश्व के हितैषी।

सुदर्शन चक्र की गर्मी से झुलसे हुए महान् योगी दुर्वासा मुनि नारायण के चरणकमलों पर गिर पड़े। काँपते शरीर से वे इस तरह बोले, "हे अच्युत, हे अनन्त, हे समस्त ब्रह्माण्ड के रक्षक, आप सभी भक्तों के अभीष्ट हैं। हे प्रभु, मैं महान् अपराधी हूँ। कृपया मुझे संरक्षण प्रदान करें।"

अजानता ते परमानुभावं
कृतं मयाघं भवतः प्रियाणाम् ।
विधेहि तस्यापचितिं विधात-
र्मुच्येत यन्नाम्न्युदिते नारकोऽपि ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

अजानता—अनजाने; ते—तुम्हारी; परम-अनुभावम्—अचिन्त्य शक्ति; कृतम्—किया गया है; मया—मेरे द्वारा; अघम्—महान् अपराध; भवतः—आपके; प्रियाणाम्—भक्तों के चरणों पर; विधेहि—अब कृपा करके जो आवश्यक हो करें; तस्य—ऐसे अपराध का; अपचितिम्—प्रतिक्रिया; विधातः—हे परम नियन्ता; मुच्येत—उद्धार हो सकता है; यत्—जिसका; नाम्नि—जब नाम; उदिते—जगाया जाता है; नारकः अपि—नरक जाने योग्य व्यक्ति भी।

हे प्रभु, हे परम नियन्ता, मैंने आपकी असीम शक्ति समझे बिना आपके परम प्रिय भक्त के प्रति अपराध किया है। कृपया मुझे इस अपराध के फल से बचा लें। आप हर काम कर सकते हैं क्योंकि यदि कोई व्यक्ति नरक जाने के लायक हो, उसके भी हृदय में अपने पवित्र नाम को जगाकर आप उसका उद्धार कर सकते हैं।

श्रीभगवानुवाच
अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अहम्—मैं; भक्त-पराधीनः—मैं अपने भक्तों के वशीभूत हूँ; हि—निस्सन्देह; अस्वतन्त्रः—स्वतंत्र नहीं हूँ; इव—के समान; द्विज—हे ब्राह्मण; साधुभिः—शुद्ध भक्तों से, जो सारी भौतिक इच्छाओं से मुक्त हैं; ग्रस्त-हृदयः—मेरा हृदय नियंत्रण में है; भक्तैः—क्योंकि वे भक्त हैं; भक्त-जन-प्रियः—मैं न केवल अपने भक्त पर आश्रित हूँ लेकिन भक्त के भी भक्त के आश्रित हूँ (मुझे अपने भक्त का भक्त अत्यन्त प्रिय होता है)।

भगवान् ने उस ब्राह्मण से कहा : मैं पूर्णतः अपने भक्तों के वश में हूँ। निस्सन्देह, मैं तनिक भी

स्वतंत्र नहीं हूँ। चूँकि मेरे भक्त भौतिक इच्छाओं से पूर्णतः रहित होते हैं अतएव मैं उनके हृदयों में ही निवास करता हूँ। मुझे मेरे भक्त ही नहीं, मेरे भक्तों के भक्त भी अत्यन्त प्रिय हैं।

तात्पर्य : इस ब्रह्माण्ड के सारे महापुरुष, जिसमें ब्रह्माजी तथा शिवजी भी सम्मिलित हैं, पूर्णतः भगवान् के वशीभूत हैं, किन्तु भगवान् पूरी तरह अपने भक्त के वश में रहते हैं। ऐसा क्यों है? क्योंकि भक्त *अन्याभिलाषिताशून्य* होता है अर्थात् उसके हृदय में कोई अन्य इच्छा नहीं रहती। उसकी एकमात्र इच्छा सदैव भगवान् का चिन्तन करते रहने और अच्छी तरह से उनकी सेवा करते रहने की होती है। इस दिव्य गुण के कारण परमेश्वर भक्तों के अत्यन्त अनुकूल रहते हैं—न केवल भक्तों के अपितु भक्तों के भक्तों के प्रति भी अनुकूल रहते हैं। श्रील नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं—*छाडिया वैष्णव-सेवा निस्तार पायेछे केबा*—भक्तों के भक्त बने बिना कोई भवपाश से छूट नहीं सकता। इसलिए श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपने आपको *गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासानुदासः* कहा। इस तरह उन्होंने हमें उपदेश दियाहै कि हम सीधे कृष्ण के दास न बनें अपितु कृष्ण के दास के दास बनें। ब्रह्मा, नारद, व्यासदेव तथा शुकदेव गोस्वामी जैसे भक्तगण कृष्ण के सीधे दास हैं और जो व्यक्ति नारद, व्यासदेव तथा शुकदेव का दास बनता है जिस तरह कि षड्गोस्वामी थे, वह और भी बड़ा भक्त है। इसलिए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादः*—जो व्यक्ति निष्ठापूर्वक गुरु की सेवा करता है उस भक्त के प्रति कृष्ण निश्चय ही, अनुकूल रहते हैं। भगवान् के आदेशों का सीधा पालन करने की अपेक्षा भक्त के आदेशों का पालन करना अधिक मूल्यवान होता है।

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना ।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन्येषां गतिरहं परा ॥ ६४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; आत्मानम्—दिव्य आनन्द; आशासे—चाहता हूँ; मत्-भक्तैः—मेरे भक्तों के साथ; साधुभिः—साधुपुरुषों के साथ; विना—उनके बिना; श्रियम्—मेरे छहो ऐश्वर्य; च—भी; आत्यन्तिकीम्—परम; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; येषाम्—जिसका; गतिः—लक्ष्य; अहम्—मैं; परा—परम, चरम।

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, मैं उन साधुपुरुषों के बिना अपना दिव्य आनन्द तथा अपने परम ऐश्वर्यों का भोग नहीं करना चाहता जिनके लिए मैं ही एकमात्र गन्तव्य हूँ।

तात्पर्य : भगवान् आत्मनिर्भर हैं लेकिन अपने दिव्य आनन्द का भोग करने के लिए उन्हें अपने भक्तों

के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरणार्थ, यद्यपि वृन्दावन में भगवान् कृष्ण स्वयं में पूर्ण हैं, किन्तु वे अपने दिव्य आनन्द को वर्धित करने के लिए अपने भक्त ग्वालों तथा गोपियों का सहयोग चाहते हैं। ऐसे शुद्ध भक्त जो भगवान् की ह्लादिनी शक्ति को बढ़ाने वाले हैं, भगवान् को अत्यन्त प्रिय हैं। भगवान् न केवल अपने भक्तों की संगति का आनन्द लेते हैं अपितु अनन्त होने के कारण वे अपने भक्तों की संख्या को भी असीमित बनाना चाहते हैं। इस तरह वे अभक्तों तथा विद्रोही जीवों को भगवद्धाम वापस जाने के लिए प्रेरित करने हेतु इस भौतिक जगत में अवतरित होते हैं और उन्हें प्रोत्साहित करते हैं कि उनकी शरण में जाया जाय क्योंकि अनन्त होने के कारण वे अपने भक्तों की संख्या को असीम बनाना चाहते हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन भगवान् के शुद्धभक्तों की संख्या को अधिकाधिक बढ़ाने का प्रयास है। यह निश्चित है कि जो भक्त भगवान् को संतुष्ट करने के इस प्रयास को पूरा करने में सहायक होता है वह अप्रत्यक्ष रूप से भगवान् का नियंत्रक बन जाता है। यद्यपि भगवान् षड्ऐश्वर्य से पूर्ण हैं, किन्तु अपने भक्तों के बिना उन्हें दिव्य आनन्द प्राप्त नहीं होता। इस सन्दर्भ में यह उदाहरण दिया जा सकता है कि यदि किसी धनी पुरुष के परिवार में पुत्र नहीं होता तो वह अपने को सुखी अनुभव नहीं करता। इसीलिए अपने इस सुख की पूर्ति के लिए वह कभी-कभी दत्तक पुत्र बनाता है। शुद्ध भक्त को दिव्य आनन्द का विज्ञान ज्ञात है अतएव वह भगवान् के दिव्य सुख को बढ़ाने में सदा लगा रहता है।

ये दारागारपुत्राप्तप्राणान्वित्तमिमं परम् ।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

ये—जो भक्त; दार—पत्नी; अगार—घर; पुत्र—लड़के, बच्चे; आप्त—सम्बन्धी समाज; प्राणान्—यहाँ तक कि प्राण भी; वित्तम्—सम्पत्ति; इमम्—ये सब; परम्—स्वर्गलोक को जाना या ब्रह्म से एकाकार होना; हित्वा—त्यागकर (ये सब आकांक्षाएँ और सम्पत्ति); माम्—मुझको (मेरी); शरणम्—शरण में; याताः—ग्रहण करके; कथम्—कैसे; तान्—ऐसे पुरुषों को; त्यक्तुम्—त्यागने के लिए; उत्सहे—मैं किस तरह उत्साहित हो सकता हूँ (जो सम्भव नहीं है)।

चूँकि शुद्ध भक्तगण इस जीवन में या अगले जीवन में किसी भौतिक उन्नति की इच्छा से रहित होकर अपने घर, पत्नियों, बच्चों, सम्बन्धियों, धन और यहाँ तक कि अपने जीवन का भी परित्याग, मात्र मेरी सेवा करने के लिए, करते हैं तो मैं ऐसे भक्तों को कभी भी किस तरह छोड़ सकता हूँ?

तात्पर्य : भगवान् की पूजा *ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मण हिताय च* शब्दों से की जाती है। इस तरह वे

ब्राह्मणों के हितैषी हैं। दुर्वासा मुनि निस्सन्देह, महान् ब्राह्मण थे, किन्तु अभक्त होने के कारण वे भक्ति के लिए सर्वस्व अर्पित नहीं कर सकते थे। वस्तुत: महान् योगीजन स्वार्थी होते हैं। इसका प्रमाण यह है कि जब दुर्वासा मुनि ने महाराज अम्बरीष को मारने के लिए असुर उत्पन्न किया तो राजा भगवान् की प्रार्थना करते हुए और उन्हीं पर पूर्णत: आश्रित रहते हुए अपने स्थान पर खड़े रहे, किन्तु जब भगवान् की इच्छानुसार सुदर्शनचक्र ने दुर्वासा मुनि का पीछा करना शुरू किया तो वे इतने व्याकुल हो उठे कि सारे विश्व के कोने-कोने में शरण पाने के लिए भागते फिरे। अन्तत: प्राणों के भय से वे ब्रह्माजी, शिवजी तथा अन्त में भगवान् के पास गये। उन्हें अपने शरीर से इतना मोह था कि वे एक वैष्णव के शरीर का विनाश करना चाह रहे थे। इसलिए उनकी बुद्धि ठीक नहीं थी और ऐसा बुद्धिहीन व्यक्ति भला किस तरह भगवान् द्वारा उबारा जा सकता है? भगवान् उन भक्तों को निश्चित रूप से संरक्षण प्रदान करते हैं जो उनकी सेवा करने के लिए अपना सर्वस्व त्याग देते हैं।

इस श्लोक में दूसरी बात यह कही गई है कि *दारागार पुत्राप्त* अर्थात् घर, पत्नी, सन्तान, मैत्री, समाज तथा प्रेम के प्रति अनुरक्ति होने से भगवान् की कृपा नहीं प्राप्त की जा सकती। जो व्यक्ति भौतिक सुख के लिए चूल्हा-चक्की से लिप्त रहना चाहता है वह शुद्धभक्त नहीं हो सकता। कभी-कभी शुद्ध भक्त में भी पत्नी, सन्तान तथा घर के लिए आकर्षण हो सकता है, किन्तु यदि उसी के साथ वह अपनी शक्तिभर भगवान् की सेवा करना चाहता है तो भगवान् ऐसे भक्त के लिए विशेष प्रबन्ध करते हैं—वे उसकी झूठी आसक्ति की वस्तुओं को छीन लेते हैं और इस तरह उसे उसकी पत्नी, घर, बच्चे, मित्र इत्यादि की आसक्ति से मुक्त कर देते हैं। भक्त को अपने धाम वापस बुलाने के लिए उन पर यह विशेष कृपा है।

मयि निर्बद्धहृदया: साधव: समदर्शना: ।
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रिय: सत्पतिं यथा ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

मयि—मुझको; निर्बद्ध-हृदया:—हृदय में दृढ़ता से संयुक्त; साधव:—शुद्ध भक्तगण; सम-दर्शना:—समदर्शी; वशे—नियंत्रण में; कुर्वन्ति—कर लेते हैं; माम्—मुझको; भक्त्या—भक्ति से; सत्-स्त्रिय:—सती स्त्रियाँ; सत्-पतिम्—अपने सदाचारी पति को; यथा—जिस तरह।

जिस तरह सती स्त्रियाँ अपने भद्र पतियों को अपनी सेवा से अपने वश में कर लेती हैं उसी प्रकार से समदर्शी एवं हृदय से मुझमें अनुरक्त शुद्ध भक्तगण मुझको पूरी तरह अपने वश में कर लेते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक का *समदर्शना:* शब्द महत्त्वपूर्ण है। शुद्ध भक्त वास्तव में सब के प्रति समभाव रखता है, जैसी कि *भगवद्गीता* (१८.५४) में पुष्टि की गई है—*ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति। सम: सर्वेषुभूतेषु*। शुद्ध भक्त होने पर ही विश्वबन्धुत्व सम्भव है (*पण्डिता: समदर्शिन:*)। शुद्ध भक्त विद्वान होता है क्योंकि वह अपनी स्वाभाविक स्थिति को जानता है, भगवान् की स्थिति को जानता है और जीव तथा भगवान् के पारस्परिक सम्बन्ध को जानता है। इस तरह उसे पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान रहता है और वह स्वत: मुक्त हो जाता है (*ब्रह्मभूत:*)। इसलिए वह हर व्यक्ति को आध्यात्मिक स्तर पर देख सकता है। वह सारे जीवों के सुख तथा दुख को समझ सकता है। वह समझता है कि जो उसके लिए सुख है वही दूसरों के लिए सुख है और जो उसके लिए दुख है वही दूसरों के लिए दुख है। इस तरह वह हरएक के प्रति कारुणिक होता है। जैसा कि प्रह्लाद महाराज ने कहा है—

शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ-

मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान्

(*भागवत* ७.९.४३)

लोगों को सांसारिक दुख इसलिए मिलते हैं क्योंकि वे भगवान् के प्रति अनुरक्त नहीं होते। इसलिए शुद्ध भक्त का मुख्य कार्य है कि वह अज्ञानी जनता को कृष्णभावनामृत का बोध कराये।

मत्सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादिचतुष्टयम् ।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णा: कुतोऽन्यत्कालविप्लुतम् ॥ ६७॥

शब्दार्थ

मत्-सेवया—मेरी प्रेमाभक्ति में पूर्णरूपेण संलग्न रहने से; प्रतीतम्—स्वत: प्राप्त; ते—ऐसे भक्त पूर्णतया तुष्ट होते हैं; सालोक्य-आदि-चतुष्टयम्—चार प्रकार के मोक्ष (सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य तथा सार्ष्टि, सायुज्य का तो कहना ही क्या); न—नहीं; इच्छन्ति—इच्छा करते हैं; सेवया—केवल भक्ति से; पूर्णा:—पूर्ण; कुत:—कोई प्रश्न ही नहीं है; अन्यत्—अन्य वस्तुएँ; काल-विप्लुतम्—कालक्रम से विनष्ट होने वाली।

मेरे जो भक्त मेरी प्रेमाभक्ति में लगे रहकर सदैव सन्तुष्ट रहते हैं वे मोक्ष के चार सिद्धान्तों (सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य तथा सार्ष्टि) में भी तनिक रुचि नहीं रखते यद्यपि उनकी सेवा से ये उन्हें स्वत: प्राप्त हो जाते हैं। तो फिर स्वर्गलोक जाने के नश्वर सुख के विषय में क्या कहा जाए?

तात्पर्य : श्रील बिल्वमंगल ठाकुर ने मोक्ष का मूल्यांकन इस प्रकार किया है—

मुक्ति: स्वयं मुकुलिताञ्जलि: सेवतेऽस्मान् धर्मार्थकामगतय: समयप्रतीक्षा:

उन्हें अनुभव हुआ कि यदि कोई भगवान् के प्रति अपनी सहज भक्ति विकसित कर लेता है तो मुक्ति उसकी पूर्णरूपेण सेवा करने के लिए हाथ जोड़े खड़ी रहती है। दूसरे शब्दों में, भक्त पहले से मुक्त रहता है। उसे भिन्न प्रकार की मुक्ति पाने के लिए आकांक्षा करना व्यर्थ है। शुद्ध भक्त को बिना चाहे ही स्वत: मुक्ति प्राप्त होती है।

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

साधवः—शुद्ध भक्तगण; हृदयम्—हृदय में; मह्यम्—मेरे; साधूनाम्—शुद्ध भक्तों के भी; हृदयम्—हृदयों में; तु—निस्सन्देह; अहम्—मैं हूँ; मत्-अन्यत्—मेरे अतिरिक्त अन्य कुछ; ते—वे; न—नहीं; जानन्ति—जानते हैं; न—नहीं; अहम्—मैं; तेभ्यः—उनकी अपेक्षा; मनाक् अपि—एक अंश भी।

शुद्ध भक्त सदैव मेरे हृदय में रहता है और मैं शुद्ध भक्त के हृदय में सदैव रहता हूँ। मेरे भक्त मेरे सिवाय और कुछ नहीं जानते और मैं उनके अतिरिक्त और किसी को नहीं जानता।

तात्पर्य : चूँकि दुर्वासा मुनि महाराज अम्बरीष को प्रताड़ित करना चाहते थे, इसका अर्थ यह हुआ कि वे भगवान् के दिल को दुखाना चाहते थे क्योंकि भगवान् का वचन है—*साधवो हृदयं मह्यम्*—शुद्ध भक्त सदैव मेरे हृदय में रहता है। भगवान् की भावनाएँ उस पिता के समान होती हैं जो अपने बच्चे को पीड़ा में देखकर पीड़ा का अनुभव करता है। अतएव भक्त के चरणकमलों पर किये गये अपराध गम्भीर होते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने जोरदार शब्दों में संस्तुति की है कि किसी को भक्त के चरणकमलों पर अपराध नहीं करना चाहिए। ऐसे अपराधों की तुलना उस मतवाले हाथी से की जा सकती है जो बगीचे में घुसकर उत्पात मचा देता है। अतएव शुद्ध भक्त के चरणकमलों पर अपराध न करने के लिए अत्यधिक सतर्क रहना चाहिए। वस्तुत: महाराज अम्बरीष का तनिक भी दोष न था; दुर्वासा मुनि उन्हें व्यर्थ ही प्रताड़ित करना चाहते थे। महाराज अम्बरीष ने भगवान् को प्रसन्न करने के लिए भक्ति का अंगस्वरूप एकादशी पारण पूरा करना चाहा, अतएव उन्होंने थोड़ा सा जल पी लिया। यद्यपि दुर्वासा मुनि महान् योगी ब्राह्मण थे, किन्तु वे यह नहीं जानते थे कि यह सब क्या है। एक शुद्ध भक्त तथा वैदिक ज्ञान के तथाकथित पंडित में यही अन्तर होता है। भक्तगण सदैव भगवान् के हृदय में स्थित होने के कारण सीधे भगवान् से सारे आदेश प्राप्त करते

हैं जैसा कि *भगवद्गीता* (१०.११) में स्वयं भगवान् पुष्टि करते हैं—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

"मैं उनके हृदयों में वास करते हुए उन पर दया करने के कारण अज्ञानजन्य अंधकार को ज्ञान के दीपक से नष्ट करता हूँ।" भक्त ऐसा कोई कार्य नहीं करता जिसकी अनुमति भगवान् नहीं देते। जैसा कि कहा गया है—*वैष्णवेर क्रियामुद्रा विज्ञेह ना बुझय।* यहाँ तक कि अत्यन्त विद्वान या अनुभवी व्यक्ति भी वैष्णव या शुद्ध भक्त की गतिविधियों को नहीं जान सकता। अतएव किसी को शुद्ध वैष्णव की आलोचना नहीं करनी चाहिए। वैष्णव अपने कार्य को सही ढंग से जानता है और वह जो कुछ करता है वह सही होता है क्योंकि वह सदैव भगवान् से मार्गदर्शन प्राप्त करता है।

उपायं कथयिष्यामि तव विप्र शृणुष्व तत् ।
अयं ह्यात्माभिचारस्ते यतस्तं याहि मा चिरम् ।
साधुषु प्रहितं तेजः प्रहर्तुः कुरुतेऽशिवम् ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

उपायम्—इस भयावह स्थिति से बचने का उपाय; कथयिष्यामि—तुम्हें बतलाऊँगा; तव—इस संकट से तुम्हारे उद्धार का; विप्र—हे ब्राह्मण; शृणुष्व—मुझसे सुनो; तत्—जो मैं कहूँ; अयम्—तुम्हारे द्वारा की गई कार्यवाही; हि—निस्सन्देह; आत्म-अभिचारः—स्वयं से ईर्ष्या (तुम्हारा मन ही तुम्हारा शत्रु बन गया है); ते—तुम्हारे लिए; यतः—जिसके कारण; तम्—उसको (अम्बरीष महाराज को); याहि—तुरन्त जाओ; मा चिरम्—एक क्षण भी देरी न करो; साधुषु—भक्तों को; प्रहितम्—प्रयुक्त; तेजः—शक्ति; प्रहर्तुः—कर्ता का; कुरुते—करता है; अशिवम्—अमंगल।

हे ब्राह्मण, अब मैं तुम्हारी रक्षा के लिए उपदेश देता हूँ। मुझसे सुनो। तुमने महाराज अम्बरीष का अपमान करके आत्म-द्वेष से कार्य किया है। अतएव तुम एक क्षण की भी देरी किये बिना तुरन्त उनके पास जाओ। जो व्यक्ति अपनी तथाकथित शक्ति का प्रयोग भक्त पर करता है उसकी वह शक्ति प्रयोक्ता को ही हानि पहुँचाती है। इस प्रकार कर्ता (विषयी) को हानि पहुँचती है विषय को नहीं।

तात्पर्य : वैष्णव सदा से अभक्तों की ईर्ष्या का विषय बनता रहा है चाहे वह अभक्त उसका पिता ही क्यों न हो। उदाहरणार्थ, हिरण्यकशिपु अपने पुत्र प्रह्लाद महाराज से ईर्ष्या करता था लेकिन यह ईर्ष्या प्रह्लाद के लिए नहीं अपितु हिरण्यकशिपु के लिए घातक सिद्ध हुई। हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र के विरुद्ध जितनी भी कार्यवाहियाँ कीं, उन्हें भगवान् गम्भीरतापूर्वक देखते रहे और जब हिरण्यकशिपु प्रह्लाद को मारने ही

वाला था तो भगवान् साक्षात् प्रकट हुए और हिरण्यकशिपु को मार डाला। वैष्णव के प्रति की गई सेवा धीरे-धीरे संचित होती रहती है और भक्त के लिए वही सम्पत्ति बन जाती है। इसी प्रकार भक्त के विरुद्ध किये गये हानिप्रद कार्यकलाप धीरे-धीरे कर्ता के पतन के कारण बनते हैं। दुर्वासा जैसा महान् ब्राह्मण एवं योगी भी घोर संकट में था क्योंकि उसने शुद्ध भक्त महाराज अम्बरीष के चरणकमलों पर अपराध किया था।

तपो विद्या च विप्राणां निःश्रेयसकरे उभे ।
ते एव दुर्विनीतस्य कल्पेते कर्तुरन्यथा ॥ ७० ॥

शब्दार्थ

तपः—तपस्या; विद्या—ज्ञान; च—भी; विप्राणाम्—ब्राह्मणों की; निःश्रेयस—उन्नति के लिए अत्यन्त शुभ है जो उसका; करे—कारण हैं; उभे—दोनों; ते—ऐसी तपस्या तथा विद्या; एव—निस्सन्देह; दुर्विनीतस्य—उद्धत व्यक्ति का; कल्पेते—हो जाते हैं; कर्तुः—कर्ता का; अन्यथा—विपरीत।

ब्राह्मण के लिए तपस्या तथा विद्या निश्चय ही कल्याणप्रद हैं, किन्तु जब तपस्या तथा विद्या ऐसे व्यक्ति के पास होती हैं जो विनीत नहीं है तो वे अत्यन्त घातक होती हैं।

तात्पर्य : कहा जाता है कि मणि अत्यन्त मूल्यवान होता है, किन्तु जब वह साँप के फण में होता है तो मूल्यवान होते हुए भी घातक होता है। इसी प्रकार जब भौतिकतावादी अभक्त विद्या तथा तपस्या में महान् सफलता प्राप्त कर लेता है तो वह सारे समाज के लिए घातक बन जाता है। उदाहरणार्थ, तथाकथित विद्वान वैज्ञानिकों ने परमाणु हथियारों का आविष्कार किया है जो सारी मानवता के लिए घातक है। अतएव कहा जाता है—*मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः।* मणिधारी सर्प मणिविहीन सर्प की ही तरह घातक होता है। दुर्वासा मुनि अत्यन्त विद्वान ब्राह्मण थे जिनके पास योगशक्ति थी, किन्तु भद्रपुरुष न होने के कारण उन्हें अपनी शक्ति का प्रयोग करना नहीं आता था। अतः वे अत्यन्त घातक थे। भगवान् कभी भी ऐसे घातक व्यक्ति की ओर प्रवृत्त नहीं होते जो किसी निजी कार्य के लिए अपनी योगशक्ति का प्रयोग करता है। अतः प्रकृति के नियमानुसार शक्ति का दुरुपयोग अन्ततः न केवल समाज के लिए घातक बनता है अपितु शक्ति का दुरुपयोग करने वाले व्यक्ति के लिए भी।

ब्रह्मंस्तद्गच्छ भद्रं ते नाभागतनयं नृपम् ।
क्षमापय महाभागं ततः शान्तिर्भविष्यति ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; तत्—अतएव; गच्छ—जाओ; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारा; नाभाग-तनयम्—महाराज नाभाग के पुत्र; नृपम्—राजा (अम्बरीष) को; क्षमापय—उसे जाकर शान्त करने का यत्न करो; महा-भागम्—महापुरुष, शुद्ध भक्त; ततः—तत्पश्चात्; शान्तिः—शान्ति; भविष्यति—हो जायेगी।

अतएव हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, तुम तुरन्त महाराज नाभाग के पुत्र राजा अम्बरीष के पास जाओ। मैं तुम्हारे कल्याण की कामना करता हूँ। यदि तुम महाराज अम्बरीष को प्रसन्न कर सके तो तुम्हें शान्ति मिल जायेगी।

तात्पर्य : इस प्रसंग मे मध्व मुनि ने *गरुड़ पुराण* से निम्नलिखित उद्धरण दिया है—

ब्रह्मादिभक्तिकोट्यंशाद् अंशो नैवाम्बरीषके।

नैवन्यस्य चक्रस्यापि तथापि हरिरीश्वर:॥

तात्कालिकोपचेयत्वात् तेषां यशस आदिराट्।

ब्रह्मादयश्च तत्कीर्तिं व्यञ्जयाम् आसुरुत्तमाम्॥

मोहनाय च दैत्यानां ब्रह्मादे निन्दनाय च।

अन्यार्थं च स्वयं विष्णुर्ब्रह्माद्याश्च निराशिष:॥

मानुषेषूत्तमात्वाच्च तेषां भक्त्यादिभिर्गुणै।

ब्रह्मादेर्विष्ण्वधीनत्वज्ञापनाय च केवलम्॥

दुर्वासाश्च स्वयं रुद्रस्तथाप्यन्यायामुक्तवान्।

तस्याप्यनुग्रहार्थाय दर्पनाशार्थमेव च॥

महाराज अम्बरीष तथा दुर्वासा मुनि विषयक इस कथा से यह शिक्षा ग्रहण की जा सकती है कि ब्रह्माजी तथा शिवजी समेत सारे देवता भगवान् विष्णु के अधीन हैं। अतएव जब किसी वैष्णव का अपमान होता है तो भगवान् विष्णु उस अपमानकर्ता को दण्ड देते हैं। ऐसे व्यक्ति को कोई भी बचा नहीं पाता, यहाँ तक कि ब्रह्माजी या शिवजी भी नहीं।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध के अन्तर्गत ''दुर्वासा मुनि द्वारा अम्बरीष महाराज का अपमान'' नामक चौथे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पाँच

दुर्वासा मुनि को जीवन-दान

इस अध्याय में महाराज अम्बरीष सुदर्शन चक्र की स्तुति करते हैं और हम देखते हैं कि किस तरह सुदर्शन चक्र दुर्वासा मुनि पर कृपालु हो उठा।

भगवान् विष्णु के आदेश से दुर्वासा मुनि अविलम्ब महाराज अम्बरीष के पास जाकर उनके चरणकमलों पर गिर पड़े। स्वभाव से अत्यन्त विनम्र होने के कारण महाराज अम्बरीष लज्जित हुए क्योंकि दुर्वासा मुनि उनके चरणों पर गिर पड़े थे, अतएव दुर्वासा को बचाने के लिए उन्होंने सुदर्शन चक्र की स्तुति करनी प्रारम्भ की। यह सुदर्शन चक्र क्या है ? यह भगवान् की दृष्टि है जिससे वे सारे भौतिक जगत की सृष्टि करते हैं। *स ऐक्षत स असृजत।* यह वेदवाक्य है। यह सुदर्शन चक्र सृष्टि का उत्स है और भगवान् को अत्यन्त प्रिय है। इसमें एक हजार अरे हैं। यह अन्य सारे हथियारों के पराक्रम को ध्वंस करने वाला, अंधकार का नाशक तथा भक्ति-बल को प्रकट करने वाला है। यह धर्म-स्थापना का साधन है और अधर्मों का विनाशक है। इसकी कृपा के बिना ब्रह्माण्ड स्थित नहीं रह सकता अतएव भगवान् इस चक्र को उपयोग में लाते हैं। जब महाराज अम्बरीष ने स्तुति की कि सुदर्शन चक्र कृपालु हो तो सुदर्शन चक्र शांत होकर दुर्वासा मुनि को मारने से विरत हुआ। इस तरह दुर्वासा को सुदर्शन चक्र की कृपा प्राप्त हो गई। फलस्वरूप दुर्वासा मुनि ने वैष्णव को सामान्य व्यक्ति समझने के अपने घृणित विचार को त्याग दिया (*वैष्णवे जातिबुद्धि*)। महाराज अम्बरीष क्षत्रिय जाति के थे अतएव दुर्वासा मुनि उन्हें ब्राह्मणों से निम्न मानते थे और इसीलिए उन पर ब्राह्मण शक्ति का प्रयोग करना चाहते थे। इस घटना से हर एक को यह सीख लेना चाहिए कि वैष्णवों की उपेक्षा का गर्हित विचार किस तरह त्याग देना चाहिए। इस घटना के बाद महाराज अम्बरीष ने दुर्वासा मुनि को अच्छा भोजन खिलाया और राजा ने भी, जो उस स्थान पर एक वर्ष से बिना कुछ खाये खड़े थे, प्रसाद ग्रहण किया। कालान्तर में महाराज अम्बरीष ने अपनी सम्पत्ति अपने पुत्रों में बाँट दी और वे भक्तिपूर्वक ध्यान करने के लिए मानस सरोवर के तट पर चले गये।

श्रीशुक उवाच

एवं भगवतादिष्टो दुर्वासाश्चक्रतापितः ।
अम्बरीषमुपावृत्य तत्पादौ दुःखितोऽग्रहीत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस तरह से; भगवता आदिष्टः—भगवान् द्वारा आदेशित होकर; दुर्वासाः—दुर्वासा; चक्र-तापितः—सुदर्शन चक्र के द्वारा अत्यन्त सताया जाकर; अम्बरीषम्—महाराज अम्बरीष के; उपावृत्य—पास पहुँचकर; तत्-पादौ—उसके चरणकमलों को; दुःखितः—अत्यन्त दुखी होकर; अग्रहीत्—पकड़ लिया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब भगवान् विष्णु ने दुर्वासा मुनि को इस प्रकार सलाह दी तो सुदर्शन चक्र से अत्यधिक उत्पीड़ित मुनि तुरन्त ही महाराज अम्बरीष के पास पहुँचे। उन्होंने अत्यन्त दुखित होने के कारण राजा के चरणकमलों पर गिरकर उन्हें पकड़ लिया।

तस्य सोद्यममावीक्ष्य पादस्पर्शविलज्जितः ।
अस्तावीत्तद्धरेरस्त्रं कृपया पीडितो भृशम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तस्य—दुर्वासा का; सः—महाराज अम्बरीष ने; उद्यमम्—प्रयत्न; आवीक्ष्य—देखकर; पाद-स्पर्श-विलज्जितः—दुर्वासा द्वारा अपने चरणकमल छुए जाने से लज्जित; अस्तावीत्—स्तुति की; तत्—उस; हरेः अस्त्रम्—भगवान् के अस्त्र की; कृपया—कृपापूर्वक; पीडितः—दुखित; भृशम्—अत्यधिक।

जब दुर्वासा मुनि ने महाराज अम्बरीष के पाँव छुए तो वे अत्यन्त लज्जित हो उठे और जब उन्होंने यह देखा कि दुर्वासा उनकी स्तुति करने का प्रयास कर रहे हैं तो वे दयावश और भी अधिक संतप्त हो उठे। अतः उन्होंने तुरन्त ही भगवान् के महान् अस्त्र की स्तुति करनी प्रारम्भ कर दी।

अम्बरीष उवाच
त्वमग्निर्भगवान्सूर्यस्त्वं सोमो ज्योतिषां पतिः ।
त्वमापस्त्वं क्षितिर्व्योम वायुर्मात्रेन्द्रियाणि च ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अम्बरीषः उवाच—महाराज अम्बरीष ने कहा; त्वम्—तुम (हो); अग्निः—अग्नि; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; सूर्यः—सूर्य; त्वम्—तुम (हो); सोमः—चन्द्रमा; ज्योतिषाम्—सारे नक्षत्रों के; पतिः—स्वामी; त्वम्—तुम (हो); आपः—जल; त्वम्—तुम (हो); क्षितिः—पृथ्वी; व्योम—आकाश; वायुः—वायु; मात्र—इन्द्रियों के विषय, तन्मात्रा; इन्द्रियाणि—तथा इन्द्रियाँ; च—भी।

महाराज अम्बरीष ने कहा : हे सुदर्शन चक्र, तुम अग्नि हो, तुम परम शक्तिमान सूर्य हो तथा तुम सारे नक्षत्रों के स्वामी चन्द्रमा हो। तुम जल, पृथ्वी तथा आकाश हो, तुम पाँचों इन्द्रियविषय (ध्वनि, स्पर्श, रूप, स्वाद तथा गंध) हो और तुम्हीं इन्द्रियाँ भी हो।

सुदर्शन नमस्तुभ्यं सहस्राराच्युतप्रिय ।
सर्वास्त्रघातिन्विप्राय स्वस्ति भूया इडस्पते ॥ ४॥

शब्दार्थ

सुदर्शन—हे भगवान् की मूल ज्योति; नमः—नमस्कार; तुभ्यम्—तुमको; सहस्र-अर—हे हजार अरों वाले; अच्युत-प्रिय—भगवान् अच्युत के अत्यन्त प्रिय; सर्व-अस्त्र-घातिन्—हे सभी अस्त्रों को नष्ट करने वाले; विप्राय—इस ब्राह्मण को; स्वस्ति—अत्यन्त शुभ; भूयाः—हो जाओ; इडस्पते—हे संसार के स्वामी।

हे भगवान् अच्युत के परम प्रिय, तुम एक हजार अरों वाले हो। हे संसार के स्वामी, समस्त अस्त्रों के विनाशकर्ता, भगवान् की आदि दृष्टि, मैं तुमको सादर नमस्कार करता हूँ। कृपा करके इस ब्राह्मण को शरण दो तथा इसका कल्याण करो।

त्वं धर्मस्त्वमृतं सत्यं त्वं यज्ञोऽखिलयज्ञभुक् ।
त्वं लोकपालः सर्वात्मा त्वं तेजः पौरुषं परम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; धर्मः—धर्म; त्वम्—तुम; ऋतम्—प्रेरणाप्रद कथन; सत्यम्—चरम सत्य; त्वम्—तुम; यज्ञः—यज्ञ; अखिल—सारे विश्व का; यज्ञ-भुक्—यज्ञ से उत्पन्न फलों का भोक्ता; त्वम्—तुम; लोक-पालः—विभिन्न लोकों के पालनकर्ता; सर्व-आत्मा—सर्वव्यापी; त्वम्—तुम; तेजः—तेज; पौरुषम्—भगवान् का; परम्—दिव्य।

हे सुदर्शन चक्र, तुम धर्म हो, तुम सत्य हो, तुम प्रेरणाप्रद कथन हो, तुम यज्ञ हो तथा तुम्हीं यज्ञ-फल के भोक्ता हो। तुम अखिल ब्रह्माण्ड के पालनकर्ता हो और तुम्हीं भगवान् के हाथों में परम दिव्य तेज हो। तुम भगवान् की मूल दृष्टि हो; अतएव तुम सुदर्शन कहलाते हो। सभी वस्तुएँ तुम्हारे कार्यकलापों से उत्पन्न की हुई हैं, अतएव तुम सर्वव्यापी हो।

तात्पर्य : *सुदर्शन* शब्द का अर्थ है ''शुभ दृष्टि।'' वैदिक आदेशों से पता चलता है कि यह संसार भगवान् की चितवन से उत्पन्न हुआ (*स ऐक्षत स असृजत*)। भगवान् ने महत्-तत्त्व पर दृष्टि डाली और जब वह विक्षुब्ध हुआ तो सारी वस्तुएँ उत्पन्न हो गईं। कभी-कभी पाश्चात्य दार्शनिक सोचते हैं कि सृष्टि का मूल कारण पिंड का विस्फोट था। यदि कोई इस पिंड को सम्पूर्ण भौतिक शक्ति या महत्-तत्त्व माने तो वह समझ सकता है कि यह पिंड भगवान् की चितवन से विक्षुब्ध हुआ और इस तरह भगवान् की चितवन ही इस सृष्टि का मूल कारण है।

नमः सुनाभाखिलधर्मसेतवे
ह्यधर्मशीलासुरधूमकेतवे ।

त्रैलोक्यगोपाय विशुद्धवर्चसे
मनोजवायाद्भुतकर्मणे गृणे ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

नमः—आपको सादर नमस्कार है; सु-नाभ—हे शुभ नाभि वाले; अखिल-धर्म-सेतवे—जिसके अरे समस्त ब्रह्माण्ड के सेतु समान हैं; हि—निस्सन्देह; अधर्म-शील—अधार्मिक; असुर—असुरों के लिए; धूम-केतवे—जो अग्नि या अशुभ पुच्छल तारे के समान हैं, उनको; त्रैलोक्य—तीनों संसारों के; गोपाय—पालक को; विशुद्ध—दिव्य; वर्चसे—जिसका तेज; मनः-जवाय—मन के समान गति वाला; अद्भुत—विचित्र; कर्मणे—इतना सक्रिय; गृणे—मैं बोलता हूँ।

हे सुदर्शन, तुम्हारी नाभि अत्यन्त शुभ है, अतएव तुम धर्म की रक्षा करने वाले हो। तुम अधार्मिक असुरों के लिए अशुभ पुच्छल तारे के समान हो। निस्सन्देह, तुम्हीं तीनों लोकों के पालक हो। तुम दिव्य तेज से पूर्ण हो, तुम मन के समान तीव्रगामी हो और अद्भुत कर्म करने वाले हो। मैं केवल नमः शब्द कहकर तुम्हें सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् का चक्र सुदर्शन कहलाता है क्योंकि यह उच्च तथा निम्न अपराधियों या असुरों में भेदभाव नहीं करता। दुर्वासा मुनि निश्चय ही शक्तिशाली ब्राह्मण थे, किन्तु उनके कार्यकलाप शुद्ध भक्त अम्बरीष महाराज के प्रति असुरों जैसे थे। शास्त्रों का वचन है—*धर्मं तु साक्षाद् भगवत्प्रणीतम्*—धर्म शब्द का अर्थ है भगवान् द्वारा दिये गये आदेश या नियम। *सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—असली धर्म तो भगवान् की शरण ग्रहण करना है। अतएव असली धर्म का अर्थ है भगवान् की भक्ति। इसीलिए सुदर्शन चक्र को यहाँ *धर्मसेतवे* अर्थात् धर्म का रक्षक कहा गया है। महाराज अम्बरीष सचमुच धार्मिक व्यक्ति थे अतएव उनकी रक्षा करने के लिए सुदर्शन चक्र दुर्वासा मुनि जैसे कठोर ब्राह्मण को भी दण्ड देने को उद्यत था क्योंकि उन्होंने असुर जैसा कर्म किया था। ब्राह्मणों के रूप में भी असुर मिलते हैं। अतएव सुदर्शन चक्र ब्राह्मण असुर तथा शूद्र असुर में भेद नहीं बरतता। जो कोई भी भगवान् तथा उनके भक्तों के विरुद्ध होता है वह असुर कहलाता है। शास्त्रों में ऐसे अनेक ब्राह्मण तथा क्षत्रिय असुरों की तरह कर्म करते पाये गए हैं अतएव उनका वर्णन असुरों की भाँति हुआ है। शास्त्रों के निर्णय के अनुसार किसी की पहचान उसके लक्षणों के अनुसार ही की जाती है। यदि कोई ब्राह्मण पिता से उत्पन्न है, किन्तु उसके लक्षण असुरों जैसे हैं तो वह असुर माना जाता है। सुदर्शन चक्र सदैव असुरों का ध्वंस करने के लिए है अतएव उसे *अधर्मशीलासुर धूमकेतवे* कहा गया है। जो भक्त नहीं हैं वे अधर्मशील कहलाते हैं। सुदर्शन चक्र ऐसे सारे असुरों के लिए अशुभ पुच्छल तारे की भाँति है।

त्वत्तेजसा धर्ममयेन संहृतं
तमः प्रकाशश्च दृशो महात्मनाम् ।
दुरत्ययस्ते महिमा गिरां पते
त्वद्रूपमेतत्सदसत्परावरम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

त्वत्-तेजसा—तुम्हारे तेज से; धर्म-मयेन—धार्मिक नियमों से पूर्ण; संहृतम्—दूर हो जाता है; तमः—अंधकार; प्रकाशः च—प्रकाश भी; दृशः—सभी दिशाओं का; महा-आत्मनाम्—महान् विद्वान पुरुषों का; दुरत्ययः—दुर्लंघ्य; ते—तुम्हारी; महिमा—महिमा; गिराम् पते—हे वाणी के स्वामी; त्वत्-रूपम्—तुम्हारा स्वरूप; एतत्—यह; सत्-असत्—प्रकट तथा अप्रकट; पर-अवरम्—उच्च तथा निम्न।

हे वाणी के स्वामी, धार्मिक सिद्धान्तों से पूर्ण तुम्हारे तेज से संसार का अंधकार दूर हो जाता है और विद्वान पुरुषों या महात्माओं का ज्ञान प्रकट होता है। निस्सन्देह, कोई तुम्हारे तेज का पार नहीं पा सकता क्योंकि सारी वस्तुएँ, चाहे प्रकट अथवा अप्रकट हों, स्थूल अथवा सूक्ष्म हों, उच्च अथवा निम्न हों, आपके तेज के द्वारा प्रकट होने वाले आपके विभिन्न रूप ही हैं।

तात्पर्य : प्रकाश के बिना इस भौतिक संसार में कुछ भी नहीं देखा जा सकता। इस संसार का प्रकाश उस सुदर्शन के तेज से उद्भूत होता है जो भगवान् की मूल दृष्टि है। सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि के प्रकाश-तत्त्व सुदर्शन से उद्भूत होते हैं। इसी प्रकार ज्ञान का प्रकाश भी सुदर्शन से ही आता है क्योंकि सुदर्शन का प्रकाश ऊँच तथा नीच में अन्तर बतला सकता है। सामान्यतया लोग दुर्वासा मुनि जैसे शक्तिशाली योगी को अद्भुत रूप से उच्च मानते हैं, किन्तु यदि ऐसे पुरुष का पीछा सुदर्शन चक्र करे तो हम उसकी असली पहचान पा सकते हैं और यह समझ सकते हैं कि वह भक्तों के साथ अपने व्यवहार में कितना निम्न है।

यदा विसृष्टस्त्वमनञ्जनेन वै
बलं प्रविष्टोऽजित दैत्यदानवम् ।
बाहूदरोर्वङ्घ्रिशिरोधराणि
वृश्चन्नजस्रं प्रधने विराजसे ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; विसृष्टः—भेजा; त्वम्—तुमने; अनञ्जनेन—दिव्य भगवान् द्वारा; वै—निस्सन्देह; बलम्—सैनिकों के; प्रविष्टः—बीच घुसकर; अजित—हे अजित; दैत्य-दानवम्—दैत्यों तथा दानवों का; बाहु—भुजाएँ; उदर—पेट; ऊरु—जाँघें; अङ्घ्रि—पाँव; शिरः-धराणि—गर्दन; वृश्चन्—पृथक् करने वाले; अजस्रम्—निरन्तर; प्रधने—युद्धभूमि में; विराजसे—रहते हो।

हे अजित, जब तुम भगवान् द्वारा दैत्यों तथा दानवों के सैनिकों के बीच घुसने के लिए भेजे जाते

हो तो तुम युद्धस्थल पर डटे रहते हो और निरन्तर उनके हाथों, पेटों, जाँघों, पाँवों तथा शिरों को विलग करते रहते हो।

स त्वं जगत्त्राण खलप्रहाणये
निरूपितः सर्वसहो गदाभृता ।
विप्रस्य चास्मत्कुलदैवहेतवे
विधेहि भद्रं तदनुग्रहो हि नः ॥ ९॥

शब्दार्थ

सः—वह व्यक्ति; त्वम्—तुम; जगत्-त्राण—हे सम्पूर्ण जगत के रक्षक; खल-प्रहाणये—ईर्ष्यालु शत्रुओं को मारने में; निरूपितः—लगे हुए; सर्व-सहः—सर्वशक्तिमान; गदा-भृता—भगवान् द्वारा; विप्रस्य—इस ब्राह्मण का; च—भी; अस्मत्—हमारा; कुल-दैव-हेतवे—वंश के सौभाग्य हेतु; विधेहि—कृपा करके करें; भद्रम्—शुभ, कल्याण; तत्—वह; अनुग्रहः—कृपा; हि—निस्सन्देह; नः—हमारा।

हे विश्व के रक्षक, तुमको ईर्ष्यालु शत्रुओं को मारने के लिए भगवान् अपने सर्वशक्तिशाली अस्त्र के रूप में प्रयोग करते हैं। हमारे सम्पूर्ण वंश के लाभ हेतु कृपया इस गरीब ब्राह्मण पर दया कीजिये। निश्चय ही, यह हम सब पर कृपा होगी।

यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा स्वधर्मो वा स्वनुष्ठितः ।
कुलं नो विप्रदैवं चेद्द्विजो भवतु विज्वरः ॥ १०॥

शब्दार्थ

यदि—अगर; अस्ति—है; दत्तम्—दान; इष्टम्—इष्टदेव की पूजा करना; वा—अथवा; स्व-धर्मः—वृत्तिपरक कार्य; वा—अथवा; सु-अनुष्ठितः—भलीभाँति सम्पन्न किया गया; कुलम्—वंश; नः—हमारा; विप्र-दैवम्—ब्राह्मणों द्वारा कृपा प्राप्त; चेत्—यदि ऐसा; द्विजः—यह ब्राह्मण; भवतु—हो सके; विज्वरः—जलन से (सुदर्शन चक्र से) मुक्त।

यदि हमारे परिवार ने सुपात्रों को दान दिया है, यदि हमने कर्मकांड तथा यज्ञ सम्पन्न किये हैं, यदि हमने अपने-अपने वृत्तिपरक कर्तव्यों को ठीक से पूरा किया है और यदि हम विद्वान ब्राह्मणों द्वारा मार्गदर्शन पाते रहे हैं तो मैं चाहूँगा कि उनके बदले में यह ब्राह्मण सुदर्शन चक्र के द्वारा उत्पन्न जलन से मुक्त कर दिया जाय।

यदि नो भगवान्प्रीत एकः सर्वगुणाश्रयः ।
सर्वभूतात्मभावेन द्विजो भवतु विज्वरः ॥ ११॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; नः—हम पर; भगवान्—भगवान्; प्रीतः—प्रसन्न है; एकः—एकमात्र; सर्व-गुण-आश्रयः—समस्त दिव्य गुणों का आगार; सर्व-भूत-आत्म-भावेन—समस्त जीवों के प्रति दया भाव होने से; द्विजः—यह ब्राह्मण; भवतु—हो जाये; विज्वरः—सारे ताप से मुक्त।

यदि समस्त दिव्य गुणों के आगार तथा समस्त जीवों के प्राण तथा आत्मा अद्वितीय परमेश्वर हम पर प्रसन्न हैं तो हम चाहेंगे कि यह ब्राह्मण दुर्वासा मुनि जलन की पीड़ा से मुक्त हो जाय।

श्रीशुक उवाच
इति संस्तुवतो राज्ञो विष्णुचक्रं सुदर्शनम् ।
अशाम्यत्सर्वतो विप्रं प्रदहद्राजयाच्ञया ॥ १२॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; संस्तुवतः—प्रार्थना किये जाने पर; राज्ञः—राजा द्वारा; विष्णु-चक्रम्—भगवान् विष्णु के चक्र को; सुदर्शनम्—सुदर्शन नामक; अशाम्यत्—शान्त हो गया; सर्वतः—सभी तरह से; विप्रम्—ब्राह्मण को; प्रदहत्—जलाता हुआ; राज—राजा की; याच्ञया—याचना द्वारा।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : जब राजा ने सुदर्शन चक्र एवं भगवान् विष्णु की स्तुति की तो स्तुतियों के कारण सुदर्शन चक्र शान्त हुआ और उसने दुर्वासा मुनि नामक ब्राह्मण को जलाना बन्द कर दिया।

स मुक्तोऽस्त्राग्नितापेन दुर्वासाः स्वस्तिमांस्ततः ।
प्रशशंस तमुर्वीशं युञ्जानः परमाशिषः ॥ १३॥

शब्दार्थ

सः—वह, दुर्वासा मुनि; मुक्तः—छूटकर; अस्त्र-अग्नि-तापेन—सुदर्शन चक्र की अग्नि के ताप से; दुर्वासाः—योगी दुर्वासा ने; स्वस्तिमान्—पूर्णतया संतुष्ट, ताप से मुक्त; ततः—तब; प्रशशंस—प्रशंसा की; तम्—उस; उर्वी-ईशम्—राजा को; युञ्जानः—करते हुए; परम-आशिषः—सर्वोच्च आशीर्वाद।

सुदर्शन चक्र की अग्नि से मुक्त किये जाने पर परम शक्तिशाली योगी दुर्वासा मुनि प्रसन्न हुए। तब उन्होंने महाराज अम्बरीष के गुणों की प्रशंसा की और उन्हें उत्तमोत्तम आशीष दिये।

दुर्वासा उवाच
अहो अनन्तदासानां महत्त्वं दृष्टमद्य मे ।
कृतागसोऽपि यद्राजन्मङ्गलानि समीहसे ॥ १४॥

शब्दार्थ

दुर्वासाः उवाच—दुर्वासा मुनि ने कहा; अहो—ओह; अनन्त-दासानाम्—भगवान् के सेवकों की; महत्त्वम्—महानता; दृष्टम्—देखी गई; अद्य—आज; मे—मेरे द्वारा; कृत-आगसः अपि—अपराधी होते हुए भी; यत्—फिर भी; राजन्—हे राजा; मङ्गलानि—सौभाग्य के लिए; समीहसे—तुम याचना कर रहे हो।

दुर्वासा मुनि ने कहा : हे राजा, आज मैंने भगवान् के भक्तों की महानता का अनुभव किया क्योंकि मेरे अपराधी होने पर भी आपने मेरे सौभाग्य के लिए प्रार्थना की है।

दुष्करः को नु साधूनां दुस्त्यजो वा महात्मनाम् ।
यैः सङ्गृहीतो भगवान्सात्वतामृषभो हरिः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

दुष्करः—कर पाना कठिन; कः—क्या; नु—निस्सन्देह; साधूनाम्—भक्तों का; दुस्त्यजः—छोड़ पाना असम्भव; वा—अथवा; महा-आत्मनाम्—महापुरुषों का; यैः—जिन पुरुषों के द्वारा; सङ्गृहीतः—(भक्ति द्वारा) प्राप्त किया गया; भगवान्—भगवान्; सात्वताम्—शुद्ध भक्तों का; ऋषभः—नायक; हरिः—भगवान्।

जिन लोगों ने शुद्ध भक्तों के स्वामी भगवान् को प्राप्त कर लिया है उनके लिए क्या करना असम्भव है और क्या त्यागना असम्भव है?

यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान्भवति निर्मलः ।
तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यत्-नाम—भगवान् का पवित्र नाम; श्रुति-मात्रेण—सुनने से ही; पुमान्—मनुष्य; भवति—हो जाता है; निर्मलः—शुद्ध; तस्य—उसका; तीर्थ-पदः—भगवान् जिनके चरण पवित्र स्थल हैं; किम् वा—क्या; दासानाम्—दासों के द्वारा; अवशिष्यते—करने को बचता है।

भगवान् के दासों के लिए क्या असम्भव है? भगवान् का पवित्र नाम सुनने मात्र से ही मनुष्य शुद्ध हो जाता है।

राजन्ननुगृहीतोऽहं त्वयातिकरुणात्मना ।
मदघं पृष्ठतः कृत्वा प्राणा यन्मेऽभिरक्षिताः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

राजन्—हे राजा; अनुगृहीतः—अत्यधिक दया प्राप्त; अहम्—मैं; त्वया—आपके द्वारा; अति-करुण-आत्मना—आपके अत्यन्त करुणामय होने से; मत्-अघम्—मेरे अपराध; पृष्ठतः—पीठ की ओर; कृत्वा—करके; प्राणाः—प्राण; यत्—जो; मे—मेरा; अभिरक्षिताः—बचाया।

हे राजन्, आपने मेरे अपराधों को अनदेखा करके मेरा जीवन बचाया है। इस तरह मैं आपका अत्यन्त अनुगृहीत हूँ क्योंकि आप इतने दयावान हैं।

राजा तमकृताहारः प्रत्यागमनकाङ्क्षया ।

चरणावुपसङ्गृह्य प्रसाद्य समभोजयत् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

राजा—राजा; तम्—उसको, दुर्वासा को; अकृत-आहारः—भोजन करने से विरत; प्रत्यागमन—वापसी; काङ्क्षया—चाहते हुए; चरणौ—पाँवों तक; उपसङ्गृह्य—पहुँच कर; प्रसाद्य—सभी प्रकार से तुष्ट करके; समभोजयत्—भोजन कराया।

राजा ने दुर्वासा मुनि की वापसी की आशा से स्वयं भोजन नहीं किया था। अतएव जब मुनि लौटे तो राजा उनके चरण-कमलों पर गिर पड़ा और उन्हें सभी प्रकार से तुष्ट करके भरपेट भोजन कराया।

सोऽशित्वाद्दतमानीतमातिथ्यं सार्वकामिकम् ।
तृप्तात्मा नृपतिं प्राह भुज्यतामिति सादरम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (दुर्वासा); अशित्वा—भरपेट भोजन करके; आद्दतम्—बड़े सत्कार के साथ; आनीतम्—स्वागत किया; आतिथ्यम्—तरह-तरह के व्यंजन प्रदान किये; सार्व-कामिकम्—सभी प्रकार से स्वादों को पूरा करने वाले; तृप्त-आत्मा—पूरी तरह से तुष्ट; नृपतिम्—राजा से; प्राह—कहा; भुज्यताम्—हे राजा, तुम भी खाओ; इति—इस प्रकार; स-आदरम्—आदरपूर्वक।

इस प्रकार राजा ने बड़े आदर के साथ दुर्वासा मुनि का स्वागत किया। वे नाना प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजन खाकर इतने सन्तुष्ट हुए कि उन्होंने बड़े ही स्नेह से राजा से भी खाने के लिए प्रार्थना की "कृपया भोजन ग्रहण करें।"

प्रीतोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि तव भागवतस्य वै ।
दर्शनस्पर्शनालापैरातिथ्येनात्ममेधसा ॥ २० ॥

शब्दार्थ

प्रीतः—अत्यधिक सन्तुष्ट; अस्मि—हूँ; अनुगृहीतः—अत्यन्त आभारी; अस्मि—हूँ; तव—तुम; भागवतस्य—शुद्ध भक्त का; वै—निस्सन्देह; दर्शन—तुम्हें देखकर; स्पर्शन—तथा तुम्हारे पाँवों का स्पर्श करके; आलापैः—तुमसे बातें करके; आतिथ्येन—तुम्हारे आतिथ्य से; आत्म-मेधसा—अपनी बुद्धि से।

दुर्वासा मुनि ने कहा : हे राजा, मैं आपसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ। पहले मैंने आपको एक सामान्य व्यक्ति समझकर आपका आतिथ्य स्वीकार किया था, किन्तु बाद में अपनी बुद्धि से मैं समझ सका कि आप भगवान् के अत्यन्त महान् भक्त हैं। इसलिए मात्र आपके दर्शन और आपके चरणस्पर्श से तथा आपसे बातें करके मैं सन्तुष्ट हो गया हूँ और आपका अत्यन्त कृतज्ञ हो गया हूँ।

तात्पर्य : कहा गया है—*वैष्णवेर क्रिया मुद्रा विज्ञेह ना बुझय*—शुद्ध वैष्णव के कार्यकलापों को बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति भी नहीं समझ सकता। अतएव महान् योगी दुर्वासा ने पहले महाराज अम्बरीष

को एक सामान्य व्यक्ति समझ कर उन्हें दण्ड देना चाहा। वैष्णव को समझने में ऐसी भूल हो जाती है। किन्तु जब दुर्वासा मुनि को सुदर्शन चक्र द्वारा सजा मिल चुकी तो उनकी बुद्धि जागी। इसीलिए *आत्ममेधसा* शब्द प्रयुक्त हुआ है जो सूचित करता है कि वे अपने निजी अनुभव से समझ सके कि राजा कितना महान् वैष्णव था। जब सुदर्शनचक्र ने दुर्वासा मुनि का पीछा करना प्रारम्भ किया तो उन्होंने ब्रह्माजी तथा शिवजी की शरण लेनी चाही और वे वैकुण्ठ धाम तक भी पहुँच गए जहाँ उन्होंने साक्षात् भगवान् से भी बातें कीं, किन्तु सुदर्शन चक्र के आक्रमण से उन्हें कोई बचा न सका। अतएव वे अपने निजी अनुभव से वैष्णव के प्रभाव को समझ सके। दुर्वासा मुनि निस्सन्देह महान् योगी तथा अत्यन्त विद्वान ब्राह्मण थे, किन्तु इतने बड़े योगी होते हुए भी वे वैष्णव के प्रभाव को नहीं समझ पाये थे। इसीलिए कहा जाता है—*वैष्णवेर क्रिया मुद्रा विज्ञेह ना बुझय।* जब भी तथाकथित ज्ञानी तथा योगी वैष्णव के चरित्र का अध्ययन करते हैं तो उसमें त्रुटि रहने की सम्भावना बनी रहती है। वैष्णव को इसीसे समझा जा सकता है कि अचिन्त्य कार्य करने में भगवान् की उस पर कितनी दया प्राप्त है।

कर्मावदातमेतत्ते गायन्ति स्वःस्त्रियो मुहुः ।
कीर्तिं परमपुण्यां च कीर्तयिष्यति भूरियम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कर्म—कार्य; अवदातम्—कल्मषरहित; एतत्—यह सारा; ते—तुम्हारा; गायन्ति—गायेंगे; स्वः-स्त्रियः—स्वर्ग की स्त्रियाँ; मुहुः—सदा; कीर्तिम्—कीर्ति, यश; परम-पुण्याम्—अत्यन्त पवित्र तथा महिमामय; च—भी; कीर्तयिष्यति—निरन्तर गान करेगा; भूः—सारा संसार; इयम्—यह।

स्वर्गलोक की सारी भाग्यशाली स्त्रियाँ प्रतिक्षण आपके निर्मल चरित्र का गान करेंगी और इस संसार के लोग भी आपकी महिमा का निरन्तर उच्चारण करेंगे।

श्रीशुक उवाच
एवं सङ्कीर्त्य राजानं दुर्वासाः परितोषितः ।
ययौ विहायसामन्त्र्य ब्रह्मलोकमहैतुकम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; सङ्कीर्त्य—महिमागान करके; राजानम्—राजा को; दुर्वासाः—महान् योगी दुर्वासा मुनि; परितोषितः—सभी प्रकार से संतुष्ट होकर; ययौ—वहाँ से चला गया; विहायसा—अन्तरिक्ष मार्ग से; आमन्त्र्य—अनुमति लेकर; ब्रह्मलोकम्—इस ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोक को; अहैतुकम्—शुष्क चिन्तन से विहीन।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : इस प्रकार सब तरह से सन्तुष्ट होकर महान् योगी दुर्वासा ने

अनुमति ली और वे राजा का निरन्तर यशोगान करते हुए वहाँ से चले गये। वे आकाश मार्ग से ब्रह्मलोक गये जो शुष्क ज्ञानियों से रहित है।

तात्पर्य : यद्यपि दुर्वासा मुनि आकाश मार्ग से ब्रह्मलोक गये, किन्तु उन्हें किसी विमान की आवश्यकता नहीं पड़ी क्योंकि महान् योगीजन बिना किसी यंत्र के एक लोक से दूसरे लोक की यात्रा कर सकते हैं। सिद्धलोक के निवासी किसी भी लोक की यात्रा कर सकते हैं क्योंकि उन्हें योग की सारी सिद्धियाँ सहज प्राप्त हैं। इस तरह महान् योगी दुर्वासा मुनि आकाश मार्ग से किसी लोक को, यहाँ तक कि ब्रह्मलोक को भी, जा सकते थे। ब्रह्मलोक में हर व्यक्ति स्वरूपसिद्ध है और परम सत्य को प्राप्त करने के लिए उसे किसी दार्शनिक चिन्तन की आवश्यकता नहीं पड़ती। ब्रह्मलोक जाने का उद्देश्य वहाँ के निवासियों को यह बताना था कि भक्त कितना शक्तिशाली होता है और इस भौतिक जगत के हर जीव से आगे निकल सकता है। तथाकथित ज्ञानी तथा योगी किसी भक्त की तुलना नहीं कर सकते।

संवत्सरोऽत्यगात्तावद्यावता नागतो गतः ।
मुनिस्तद्दर्शनाकाङ्क्षो राजाब्भक्षो बभूव ह ॥ २३॥

शब्दार्थ

संवत्सरः—पूरा एक वर्ष; अत्यगात्—बीत गया; तावत्—तब तक; यावता—जब तक; न—नहीं; आगतः—वापस आया; गतः—गया हुआ, दुर्वासा मुनि; मुनिः—मुनि; तत्-दर्शन-आकाङ्क्षः—उसे फिर से देखने की इच्छा करते हुए; राजा—राजा; अप्-भक्षः—केवल जल ग्रहण करके; बभूव—रहा; ह—निस्सन्देह।

दुर्वासा मुनि महाराज अम्बरीष के स्थान से चले गये थे और जब तक वे वापस नहीं लौटे—पूरे एक वर्ष तक—तब तक राजा केवल जल पीकर उपवास करते रहे।

गतेऽथ दुर्वाससि सोऽम्बरीषो
द्विजोपयोगातिपवित्रमाहरत् ।
ऋषेर्विमोक्षं व्यसनं च वीक्ष्य
मेने स्ववीर्यं च परानुभावम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

गते—वापस आने पर; अथ—तब; दुर्वाससि—महान् योगी दुर्वासा के; सः—वह राजा; अम्बरीषः—महाराज अम्बरीष; द्विज-उपयोग—शुद्ध ब्राह्मण के लिए सर्वोपयुक्त; अति-पवित्रम्—अत्यन्त शुद्ध भोजन; आहरत्—खाया और खाने को दिया; ऋषेः—ऋषि का; विमोक्षम्—मुक्ति, छूटना; व्यसनम्—सुदर्शन चक्र द्वारा भस्म किये जाने के महान् संकट से; च—तथा; वीक्ष्य—देखकर; मेने—विचार किया; स्व-वीर्यम्—अपने पौरुष के विषय में; च—भी; पर-अनुभावम्—भगवान् की शुद्ध भक्ति के कारण।

एक वर्ष बाद जब दुर्वासा मुनि लौटे तो राजा अम्बरीष ने उन्हें सभी प्रकार के व्यंजन भरपेट

खिलाये और तब स्वयं भी भोजन किया। जब राजा ने देखा कि दुर्वासा दग्ध होने के महान् संकट से मुक्त हो चुके हैं तो वे यह समझ सके कि भगवान् की कृपा से वे स्वयं भी शक्तिमान हैं, किन्तु उन्होंने इसका श्रेय अपने को नहीं दिया क्योंकि यह सब भगवान् ने किया था।

तात्पर्य : महाराज अम्बरीष जैसा भक्त नाना प्रकार के कार्यों में सदा व्यस्त रहता है। निस्सन्देह, यह संसार सभी प्रकार के संकटों से भरा पड़ा है जिन से मनुष्य का सामना होता रहता है, किन्तु भगवान् पर पूर्णत: आश्रित रहने के कारण भक्त तनिक भी विचलित नहीं होता। इसके प्रत्यक्ष उदाहरण महाराज अम्बरीष हैं। वे सारे जगत के सम्राट थे और उन्हें अनेक कार्य सम्पन्न करने होते थे और इन कार्यों के बीच में दुर्वासा मुनि जैसे व्यक्ति अनेक प्रकार के व्यवधान उपस्थित करते रहते थे लेकिन राजा इन सबको धैर्यपूर्वक सहता जाता था क्योंकि वह भगवान् की कृपा पर पूर्णत: निर्भर रहता था। किन्तु भगवान् सबके हृदयों में स्थित हैं (*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्ट:*) और वे अपनी इच्छानुसार कार्य चलाते हैं। अत: यद्यपि महाराज अम्बरीष को अनेक उपद्रवों का सामना करना पड़ा, किन्तु भगवान् उन पर दयालु थे; अतएव सारी बातें इस तरह से नियोजित हो सकीं कि अन्त में दुर्वासा मुनि तथा महाराज अम्बरीष महान् मित्र बन गये और उन्होंने भक्तियोग के आधार पर मैत्रीभाव से एक दूसरे से विदा ली। अन्तत: दुर्वासा मुनि को भक्तियोग की शक्ति पर विश्वास हो गया यद्यपि वे स्वयं महान् योगी थे। अतएव जैसा कि भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (६.४७) में कहा है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मत: ॥

''समस्त योगियों में से जो योगी श्रद्धापूर्वक मुझमें सदैव विश्वास करता है और दिव्य प्रेमाभक्ति से मेरी पूजा करता है वह योग द्वारा मुझसे भली भाँति संयुक्त हो जाता है और सबसे महान् होता है।'' इस तरह यह तथ्य है कि भक्त महानतम योगी होता है जैसा कि महाराज अम्बरीष द्वारा दुर्वासा मुनि के साथ किये गये व्यवहार से सिद्ध होता है।

एवं विधानेकगुण: स राजा
परात्मनि ब्रह्मणि वासुदेवे ।

क्रियाकलापैः समुवाह भक्तिं
ययाविरिञ्च्यान्निरयांश्चकार ॥ २५॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; विधा-अनेक-गुणः—अनेकानेक गुणों से युक्त; सः—वह महाराज अम्बरीष; राजा—राजा; पर-आत्मनि—परमात्मा में; ब्रह्मणि—ब्रह्म में; वासुदेवे—वासुदेव कृष्ण में; क्रिया-कलापैः—कार्यों से; समुवाह—सम्पन्न किया; भक्तिम्—भक्ति; यया—ऐसे कार्यों से; आविरिञ्च्यान्—सर्वोच्चलोक से लेकर; निरयान्—नरकलोकों तक; चकार—सर्वत्र संकट का अनुभव किया।

इस प्रकार अपनी भक्ति के कारण नाना प्रकार के दिव्य गुणों से युक्त महाराज अम्बरीष ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् से भलीभाँति अवगत हो गये और सम्यक् रीति से भक्ति करने लगे। अपनी भक्ति के कारण उन्हें इस भौतिक जगत का सर्वोच्चलोक भी नरक तुल्य लगने लगा।

तात्पर्य : महाराज अम्बरीष जैसा महान् एवं शुद्ध भक्त ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् से भलीभाँति परिचित रहता है। दूसरे शब्दों में, वासुदेव कृष्ण का भक्त परम सत्य के अन्य स्वरूपों से अवगत रहता है। परम सत्य की अनुभूति तीन रूपों में की जाती है—ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् (*ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते*)। भगवान् वासुदेव का भक्त सब जानता है (*वासुदेवः सर्वमिति*) क्योंकि वासुदेव कृष्ण में परमात्मा तथा ब्रह्म दोनों निहित रहते हैं। मनुष्य को योग क्रिया द्वारा परमात्मा की अनुभूति नहीं करनी होती क्योंकि सदैव वासुदेव का ध्यान करने वाला भक्त सर्वोच्च योगी हैं (*योगिनामपि सर्वेषां*)। जहाँ तक ज्ञान का सम्बन्ध है, यदि कोई वासुदेव का पूर्ण भक्त है तो वह सबसे बड़ा महात्मा होता है (*वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः*)। महात्मा वह है जिसे परम सत्य का पूरा ज्ञान हो। इस प्रकार महाराज अम्बरीष भगवान् का भक्त होने के कारण परमात्मा, ब्रह्म, माया, भौतिक जगत, आध्यात्मिक जगत तथा सर्वत्र घटित होने वाली घटनाओं से पूरी तरह अवगत थे। *यस्मिन् विज्ञाते सर्वमेवं विज्ञातं भवति।* वासुदेव को जानने के कारण उनका भक्त वासुदेव की सृष्टि के भीतर हर वस्तु को जानता है (*वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः*)। ऐसा भक्त इस भौतिक जगत के भीतर सुख के सर्वोच्च स्तर को कोई महत्त्व प्रदान नहीं करता।

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।

स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥

(भागवत ६.१७.२८)

भक्ति में स्थिर रहने के कारण भक्त इस जगत के किसी भी पद को महत्त्वपूर्ण नहीं मानता। इसीलिए श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती ने लिखा है (*चैतन्य चन्द्रामृत* ५)—

कैवल्यं नरकायते त्रिदशपूराकाश पुष्पायते

दुर्दान्तेन्द्रियकालसर्पपटली प्रोत्खातदंष्ट्रायते।

विश्वं पूर्णसुखायते विधिमहेन्द्रादिश्च कीटायते

यत्कारुण्यकटाक्षवैभववतां तं गौरमेव स्तुमः ॥

ऐसा व्यक्ति जो श्रीचैतन्य महाप्रभु जैसे महान् पुरुष की भक्ति के द्वारा शुद्ध भक्त बनता है, उसके लिए *कैवल्य* अर्थात् ब्रह्म में तल्लीन हो जाना नरक तुल्य है। भक्त के लिए स्वर्गलोक आकाश-पुष्प के समान है और सिद्धि की तो भक्त तनिक भी परवाह नहीं करता क्योंकि भक्त को योगसिद्धि का उद्देश्य स्वतः प्राप्त हो जाता है। ऐसा तभी सम्भव है जब मनुष्य श्रीचैतन्य महाप्रभु के आदेशों के माध्यम से भगवद्भक्त बन जाता है।

श्रीशुक उवाच

अथाम्बरीषस्तनयेषु राज्यं
समानशीलेषु विसृज्य धीरः ।
वनं विवेशात्मनि वासुदेवे
मनो दधद्ध्वस्तगुणप्रवाहः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—इस प्रकार; अम्बरीषः—राजा अम्बरीष; तनयेषु—अपने पुत्रों को; राज्यम्—राज्य; समान-शीलेषु—अपने पिता की ही भाँति योग्य; विसृज्य—बाँट करके; धीरः—अत्यन्त विद्वान पुरुष, महाराज अम्बरीष; वनम्—वन में; विवेश—प्रविष्ट हुए; आत्मनि—भगवान्; वासुदेवे—वासुदेव नाम से प्रसिद्ध कृष्ण में; मनः—मन को; दधत्—केन्द्रीभूत करते हुए; ध्वस्त—नष्ट; गुण-प्रवाहः—प्रकृति के गुणों की लहरें।

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : तत्पश्चात् भक्तिमय जीवन की उन्नत दशा के कारण अम्बरीष भौतिक वस्तुओं की किसी तरह से इच्छा न रखते हुए सक्रिय गृहस्थ जीवन से उपरत हो गये। उन्होंने अपनी सम्पत्ति अपने ही समान योग्य पुत्रों में बाँट दी और स्वयं वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार करके भगवान् वासुदेव में अपना मन पूर्णतः एकाग्र करने के लिए जंगल चले गये।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त होने के नाते महाराज अम्बरीष जीवन की किसी भी स्थिति में मुक्त थे। जैसा कि श्रील रूपगोस्वामी ने बतलाया है कि भक्त सदैव मुक्त होता है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

भक्तिरसामृत सिन्धु में श्रील रूप गोस्वामी इस तरह उपदेश देते हैं कि यदि किसी की एकमात्र इच्छा भगवान् की सेवा करने की है तो वह जीवन की किसी भी दशा में मुक्त होता है। निस्सन्देह, महाराज अम्बरीष किसी भी दशा में मुक्त थे, किन्तु आदर्श राजा के रूप में उन्होंने गृहस्थ जीवन से वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण किया। मनुष्य के लिए अत्यावश्यक है कि पारिवारिक जिम्मेदारियाँ त्याग करके वासुदेव के चरणकमलों में एकाग्र हो। इसीलिए महाराज अम्बरीष ने अपना राज्य अपने पुत्रों में बाँट दिया और फिर वे गृहस्थ जीवन से विरक्त हो गये।

इत्येतत्पुण्यमाख्यानमम्बरीषस्य भूपते ।
सङ्कीर्तयन्ननुध्यायन्भक्तो भगवतो भवेत् ॥ २७॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; एतत्—यह; पुण्यम् आख्यानम्—इतिहास का सर्वाधिक पुण्यकर्म; अम्बरीषस्य—महाराज अम्बरीष का; भूपते—हे राजा (परीक्षित); सङ्कीर्तयन्—दुहराने या कीर्तन करने से; अनुध्यायन्—ध्यान धरने से; भक्तः—भक्त; भगवतः—भगवान् का; भवेत्—बन सकता है।.

जो भी इस कथा को बार-बार पढ़ता है या महाराज अम्बरीष के कार्यकलापों से सम्बन्धित इस कथा का चिन्तन करता है वह अवश्य ही भगवान् का शुद्ध भक्त बन जाता है।

तात्पर्य : यहाँ पर श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने एक उत्तम उदाहरण दिया है। जब कोई मनुष्य धन के लिए उत्सुक रहता है तो वह लखपति या करोड़पति बन जाने पर भी सन्तुष्ट नहीं होता प्रत्युत येन-केन-प्रकारेण अधिकाधिक धन कमाना चाहता है। ऐसी ही मनोवृत्ति भक्त में भी पाई जाती है। भक्त यह सोचकर कभी सन्तुष्ट नहीं होता कि "मेरी भक्ति की यह सीमा है।" वह भगवान् की जितनी अधिक सेवा करता है, उतनी ही अधिक सेवा करने की उसकी इच्छा जगती है। यह एक भक्त की दशा है। महाराज अम्बरीष अपने गृहस्थ जीवन में सभी प्रकार से शुद्ध भक्त थे क्योंकि उनका मन तथा उनकी सारी इन्द्रियाँ भक्ति में लगी रहती थीं (*स वै मनः कृष्ण पदारविन्दयोः वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने*)। महाराज अम्बरीष आत्म-तुष्ट थे क्योंकि उनकी सारी इन्द्रियाँ भक्ति में लगी थीं (*सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्। हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते*)। महाराज अम्बरीष ने अपनी सारी इन्द्रियों को भक्ति में लगाये रखते हुए भी अपना घर त्याग दिया और अपने मन को श्रीकृष्ण के चरणकमलों पर एकाग्र करने के उद्देश्य से वे जंगल चले गये, ठीक वैसे ही जैसे एक व्यापारी धनधान्य से सम्पन्न होते हुए भी और अधिक धन कमाना चाहता

है। भक्ति में अधिकाधिक लगे रहने की यह प्रवृत्ति मनुष्य को महान् पद पर लाती है। कर्म स्तर पर जो व्यापारी अधिकाधिक धन चाहता है वह अधिकाधिक बन्धन में फँसता जाता है जबकि भक्त अधिकाधिक मुक्त होता जाता है।

अम्बरीषस्य चरितं ये शृण्वन्ति महात्मनः ।
मुक्तिं प्रयान्ति ते सर्वे भक्त्या विष्णोः प्रसादतः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अम्बरीषस्य—महाराज अम्बरीष का; चरितम्—चरित्र; ये—जो लोग; शृण्वन्ति—सुनते हैं; महा-आत्मनः—महात्मा या भक्त का; मुक्तिम्—मुक्ति; प्रयान्ति—अवश्य पाते हैं; ते—ऐसे लोग; सर्वे—सभी; भक्त्या—भक्ति से; विष्णोः—भगवान् विष्णु की; प्रसादतः—कृपा से।

भगवत्कृपा से जो लोग महान् भक्त महाराज अम्बरीष के कार्यकलापों के विषय में सुनते हैं, वे अवश्य ही मुक्त हो जाते हैं या तुरन्त भक्त बन जाते हैं।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध के अन्तर्गत "दुर्वासा मुनि को जीवन-दान" नामक पाँचवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छह

सौभरि मुनि का पतन

महाराज अम्बरीष के वंशजों का वर्णन करने के बाद शुकदेव गोस्वामी ने शशाद से लेकर मान्धाता तक सारे राजाओं का वर्णन किया और इस प्रसंग में उन्होंने यह भी वर्णन किया कि किस प्रकार सौभरि मुनि ने मान्धाता की पुत्रियों से विवाह किया।

महाराज अम्बरीष के तीन पुत्र थे—विरूप, केतुमान तथा शम्भु। विरूप का पुत्र पृषदश्व था, जिसका पुत्र रथीतर हुआ। रथीतर के कोई सन्तान नहीं थी, किन्तु अंगिरा ऋषि की कृपा याचना करने पर उसकी पत्नी के गर्भ से कई पुत्र हुए। इन पुत्रों के उत्पन्न होने पर वे अंगिरा ऋषि तथा रथीतर के वंशज कहलाये।

मनुपुत्र इक्ष्वाकु के एक सौ पुत्र हुए जिनमें से विकुक्षि, निमि तथा दण्डका सबसे बड़े थे। इक्ष्वाकु के पुत्र संसार के विभिन्न भागों के राजा बने। इनमें से विकुक्षि ने यज्ञ के विधि-विधानों का उल्लंघन किया जिससे उसे राज्य से निकाल दिया गया। वसिष्ठ की कृपा तथा योगशक्ति से महाराज इक्ष्वाकु को भौतिक शरीर-त्याग करने के बाद मोक्ष प्राप्त हुआ। महाराज इक्ष्वाकु की मृत्यु के बाद उसका पुत्र विकुक्षि वापस आया और उसने अपने राज्य की बागडोर सँभाली। उसने नाना प्रकार के यज्ञ किये और इस तरह भगवान् को प्रसन्न किया। बाद में यही विकुक्षि शशाद नाम से विख्यात हुआ।

विकुक्षि के पुत्र ने देवताओं के लिए असुरों से युद्ध किया और अपनी बहुमूल्य सेवा के कारण वह पुरञ्जय, इद्रवाह तथा ककुत्स्थ नाम से विख्यात हुआ। पुरञ्जय का पुत्र अनेना था और अनेना का पुत्र पृथु हुआ। पृथु का पुत्र विश्वगन्धि था। विश्वगन्धि का पुत्र चन्द्र हुआ, चन्द्र का पुत्र युवनाश्व और फिर उसका पुत्र श्रावस्त हुआ जिसने श्रावस्ती पुरी का निर्माण कराया। श्रावस्त का पुत्र बृहदाश्व हुआ। बृहदाश्व के पुत्र कुवलयाश्व ने धुन्धु नामक असुर का वध किया जिससे वह धुन्धुमार नाम से विख्यात हुआ। धुन्धुमार के पुत्रों के नाम थे दृढ़ाश्व, कपिलाश्व तथा भद्राश्व। इनके अतिरिक्त उसके हजारों पुत्र और भी थे लेकिन वे सभी धुन्धु से निकलने वाली अग्नि में जलकर राख हो गये थे। दृढ़ाश्व का पुत्र हर्यश्व हुआ, हर्यश्व का पुत्र निकुम्भ था और निकुम्भ का पुत्र बहुलाश्व तथा उसका पुत्र कृशाश्व हुआ। कृशाश्व का पुत्र सेनजित था और उसका पुत्र युवनाश्व हुआ।

युवनाश्व के एक सौ पत्नियाँ थीं, किन्तु उसके कोई सन्तान नहीं थी अतएव वह जंगल चला गया। जंगल में ऋषियों ने उसके लिए इन्द्रयज्ञ सम्पन्न किया। एक बार राजा जंगल में इतना प्यासा हुआ कि उसने यज्ञ के लिए रखा हुआ जल पी लिया। फलस्वरूप कुछ काल बाद उसकी दाहिनीकोख से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। यह पुत्र अत्यन्त सुन्दर था और स्तनपान करने के लिए रोने लगा अतएव इन्द्र ने उसे अपनी तर्जनी अँगुली चूसने को दे दी। इस तरह यह पुत्र मान्धाता कहलाया। कालान्तर में युवनाश्व ने तपस्या के बल पर सिद्धि प्राप्त की।

तत्पश्चात् मान्धाता सम्राट बना और उसने सप्तद्वीप वाली पृथ्वी पर राज्य किया। चोर तथा उचक्के इस बलशाली राजा से थर्राते थे इसलिए राजा त्रसद्दस्यु कहलाने लगा जिसका अर्थ है ''वह जिस से बदमाश और उचक्के भयभीत हों।'' मान्धाता की पत्नी बिन्दुमती के गर्भ से तीन पुत्र तथा पचास पुत्रियाँ उत्पन्न हुई। पुत्रों के नाम थे पुरुकुत्स, अम्बरीष तथा मुचुकुन्द। ये पचासों पुत्रियाँ सौभरि नामक ऋषि की पत्नियाँ बनीं।

इस प्रसंग में शुकदेव गोस्वामी ने सौभरि मुनि के इतिहास का वर्णन किया है जो मछली के प्रति ऐन्द्रिय विचलन के कारण अपने योग से पतित हुए और कामसुख के लिए मान्धाता की सभी पुत्रियों से विवाह करना चाहा। बाद में सौभरि मुनि को अत्यधिक पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार करके कठिन तपस्या की और इस तरह सिद्धि पाई। शुकदेव गोस्वामी ने यह भी वर्णन किया है कि किस तरह सौभरि मुनि की पत्नियाँ भी सिद्ध बनीं।

श्रीशुक उवाच
विरूपः केतुमाञ्छम्भुरम्बरीषसुतास्त्रयः ।
विरूपात्पृषदश्वोऽभूत्तत्पुत्रस्तु रथीतरः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; विरूपः—विरूप नामक; केतुमान्—केतुमान नामक; शम्भुः—शम्भु नामक; अम्बरीष—अम्बरीष महाराज के; सुताः त्रयः—तीन पुत्र; विरूपात्—विरूप से; पृषदश्वः—पृषदश्व नामक; अभूत्—था; तत्-पुत्रः—उसका पुत्र; तु—तथा; रथीतरः—रथीतर नामक।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे महाराज परीक्षित, अम्बरीष के तीन पुत्र हुए—विरूप, केतुमान तथा शम्भु। विरूप के पृषदश्व नामक पुत्र हुआ और पृषदश्व के रथीतर नामक पुत्र हुआ।

**रथीतरस्याप्रजस्य भार्यायां तन्तवेऽर्थितः ।
अङ्गिरा जनयामास ब्रह्मवर्चस्विनः सुतान् ॥ २॥**

शब्दार्थ

रथीतरस्य—रथीतर की; अप्रजस्य—निःसन्तान; भार्यायाम्—अपनी पत्नी के; तन्तवे—सन्तान वृद्धि के लिए; अर्थितः—प्रार्थना किये जाने पर; अङ्गिराः—अंगिरा ऋषि; जनयाम् आस—उत्पन्न किया; ब्रह्म-वर्चस्विनः—ब्राह्मण गुणों से युक्त; सुतान्—पुत्रों को।

रथीतर निःसन्तान था अतएव उसने अंगिरा ऋषि से पुत्र उत्पन्न करने के लिए प्रार्थना की। इस प्रार्थना के फलस्वरूप अंगिरा ने रथीतर की पत्नी के गर्भ से पुत्र उत्पन्न कराये। ये सारे पुत्र ब्राह्मण तेज से सम्पन्न थे।

तात्पर्य : वैदिक युग में कभी-कभी निम्न कुल वाले पुरुष की पत्नी से अच्छी सन्तान उत्पन्न करने के लिए किसी उच्च पुरुष को बुलाया जाता था। ऐसी स्थिति में स्त्री की तुलना खेत से की जाती है। खेत वाला व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को अन्न उपजाने का काम सौंप सकता है, किन्तु उस खेत से जो अन्न उपजता है वह खेत के स्वामी का होता है। इसी प्रकार स्त्री को कभी-कभी अपने पति के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष से गर्भ धारण करना होता था, किन्तु इस तरह से उत्पन्न पुत्र उसके पति के पुत्र कहलाते थे। ये पुत्र *क्षेत्र-जात* कहलाते थे। चूँकि रथीतर के कोई पुत्र न था अतएव उसने इस विधि का लाभ उठाया।

**एते क्षेत्रप्रसूता वै पुनस्त्वाङ्गिरसाः स्मृताः ।
रथीतराणां प्रवराः क्षेत्रोपेता द्विजातयः ॥ ३॥**

शब्दार्थ

एते—अंगिरा द्वारा उत्पन्न पुत्र; क्षेत्र-प्रसूताः—रथीतर की सन्तान बने और उसके कुल के कहलाये (क्योंकि वे उसकी पत्नी के गर्भ से हुए थे); वै—निस्सन्देह; पुनः—फिर; तु—लेकिन; आङ्गिरसाः—अंगिरा के वंश के; स्मृताः—कहलाये; रथीतराणाम्—रथीतर के सारे पुत्रों का; प्रवराः—प्रमुख; क्षेत्र-उपेताः—क्षेत्र से उत्पन्न होने के कारण; द्वि-जातयः—ब्राह्मण कहलाये (ब्राह्मण तथा क्षत्रिय का मिश्रण होकर)।

रथीतर की पत्नी से जन्म लेने के कारण ये सारे पुत्र रथीतर के वंशज कहलाये, किन्तु अंगिरा के वीर्य से उत्पन्न होने के कारण वे अंगिरा के वंशज भी कहलाये। रथीतर की सन्तानों में से ये पुत्र सबसे अधिक प्रसिद्ध थे क्योंकि अपने जन्म के कारण ये ब्राह्मण समझे जाते थे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *द्वि-जातयः* शब्द का अर्थ "मिश्रजाति" दिया है जो ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के मिश्रण का सूचक है।

क्षुवतस्तु मनोर्जज्ञे इक्ष्वाकुर्घ्राणतः सुतः ।
तस्य पुत्रशतज्येष्ठा विकुक्षिनिमिदण्डकाः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

क्षुवतः—छींकते समय; तु—लेकिन; मनोः—मनु के; जज्ञे—उत्पन्न हुआ; इक्ष्वाकुः—इक्ष्वाकु नामक; घ्राणतः—नथुनों से; सुतः—पुत्र; तस्य—इक्ष्वाकु के; पुत्र-शत—एक सौ पुत्र; ज्येष्ठाः—प्रमुख; विकुक्षि—विकुक्षि नामक; निमि—निमि नामक; दण्डकाः—दण्डका नामक।

मनु का पुत्र इक्ष्वाकु था। जब मनु छींक रहे थे तो इक्ष्वाकु उनके नथुनों से उत्पन्न हुआ था। राजा इक्ष्वाकु के एक सौ पुत्र थे जिनमें से विकुक्षि, निमि तथा दण्डका प्रमुख थे।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी के अनुसार यद्यपि *भागवत* में (९.१.११-१२) इक्ष्वाकु को मनु की पत्नी श्रद्धा से उत्पन्न दस पुत्रों में से एक माना गया है, किन्तु यह एक सामान्यीकरण है। यहाँ यह विशेष रूप से बतलाया गया है कि इक्ष्वाकु का जन्म मनु के छींकने मात्र से हुआ था।

तेषां पुरस्तादभवन्नार्यावर्ते नृपा नृप ।
पञ्चविंशतिः पश्चाच्च त्रयो मध्येऽपरेऽन्यतः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—इन पुत्रों में से; पुरस्तात्—पूर्व दिशा में; अभवन्—वे बने; आर्यावर्ते—आर्यावर्त में, जो हिमालय तथा विन्ध्याचल पर्वतों के बीच का स्थान था; नृपाः—राजा; नृप—हे राजा (परीक्षित); पञ्च-विंशतिः—पच्चीस; पश्चात्—पश्चिम दिशा में; च—भी; त्रयः—उनमें से तीन; मध्ये—मध्य में (पूर्व और पश्चिम के बीच); अपरे—अन्य; अन्यतः—अन्य स्थानों में।

सौ पुत्रों में से पच्चीस पुत्र हिमालय तथा विन्ध्याचल पर्वतों के मध्यवर्ती स्थान आर्यावर्त के पश्चिमी भाग के राजा बने, पच्चीस पुत्र पूर्वी आर्यावर्त के राजा बने और तीन प्रमुख पुत्र मध्यवर्ती प्रदेश के राजा बने। शेष पुत्र अन्य विविध स्थानों के राजा बने।

स एकदाष्टकाश्राद्धे इक्ष्वाकुः सुतमादिशत् ।
मांसमानीयतां मेध्यं विकुक्षे गच्छ मा चिरम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह राजा (महाराज इक्ष्वाकु); एकदा—एक बार; अष्टका-श्राद्धे—जनवरी, फरवरी तथा मार्च के महीनों मे जब पितरों की श्राद्ध की जाती है; इक्ष्वाकुः—राजा इक्ष्वाकु ने; सुतम्—अपने पुत्र को; आदिशत्—आज्ञा दी; मांसम्—मांस; आनीयताम्—ले आओ; मेध्यम्—शुद्ध (शिकार करके); विकुक्षे—हे विकुक्षि; गच्छ—तुरन्त जाओ; मा चिरम्—बिना देर लगाये।

जनवरी, फरवरी तथा मार्च के महीनों में पितरों को दिये जाने वाली भेंटें अष्टका श्राद्ध कहलाती है। श्राद्ध महीने के कृष्णपक्ष में सम्पन्न किया जाता है। जब महाराज इक्ष्वाकु श्राद्ध मनाते हुए भेंटें दे रहे थे तो उन्होंने अपने पुत्र विकुक्षि को आदेश दिया कि वह तुरन्त जंगल में जाकर कुछ शुद्ध मांस

ले आये।

तथेति स वनं गत्वा मृगान्हत्वा क्रियार्हणान् ।
श्रान्तो बुभुक्षितो वीरः शशं चाददपस्मृतिः ॥ ७॥

शब्दार्थ

तथा—आदेशानुसार; इति—इस प्रकार; सः—विकुक्षि; वनम्—जंगल में; गत्वा—जाकर; मृगान्—पशुओं को; हत्वा—मारकर; क्रिया-अर्हणान्—श्राद्ध में यज्ञ करने के उपयुक्त; श्रान्तः—थका हुआ; बुभुक्षितः—तथा भूखा; वीरः—वीर पुरुष; शशम्—खरहे को; च—भी; आदत्—खाया; अपस्मृतिः—यह भूल गया (कि यह मांस श्राद्ध में भेंट के लिए है)।

तत्पश्चात् इक्ष्वाकु पुत्र विकुक्षि जंगल में गया और उसने श्राद्ध में भेंट देने के लिए अनेक पशु मारे। किन्तु जब वह थक गया और भूखा हुआ तो भूल से उसने मारे हुए एक खरगोश को खा लिया।

तात्पर्य : स्पष्ट है कि क्षत्रिय लोग जंगल में जाकर पशुओं का वध करते थे क्योंकि पशुओं का मांस विशेष प्रकार के यज्ञों में भेंट चढ़ाया जाता था। श्राद्ध में पूर्वजों को भेंटें चढ़ाना भी एक प्रकार का यज्ञ है। इस यज्ञ में जंगल में किए गए शिकार से प्राप्त किया गया मांस भेंट किया जाता था। लेकिन अधुना कलियुग में ऐसी भेंट चढ़ाना वर्जित है। *ब्रह्मवैवर्त पुराण* से उद्धरण देते हुए श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा—

अश्वमेधं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्।
देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥

"इस कलिकाल में पाँच कर्म वर्जित हैं—यज्ञ में घोड़े की बलि, यज्ञ में गाय की बलि, संन्यास आश्रम ग्रहण करना, पितरों को श्राद्ध में मांस भेंट करना तथा अपने अनुज की पत्नी से सन्तान उत्पन्न करना।" *पल-पैतृकम्* शब्द पितरों के श्राद्ध में मांस की भेंट चढ़ाने का सूचक है। पहले ऐसी भेंट की अनुमति दी जाती थी, किन्तु इस युग में यह वर्जित है। कलियुग में हर व्यक्ति पशु का शिकार करने में पटु है, किन्तु अधिकांश लोग क्षत्रिय न होकर शूद्र हैं। वैदिक आदेशानुसार क्षत्रिय ही शिकार कर सकते हैं जबकि शूद्रों को देवी काली या अन्य देवताओं के अर्चाविग्रह के समक्ष बकरे या अन्य नगण्य पशुओं की बलि देकर मांस खाने की अनुमति प्राप्त है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मांस खाना सर्वथा वर्जित नहीं है; किसी विशेष श्रेणी के व्यक्तियों को विविध परिस्थितियों एवं आदेशों के अनुसार मांस खाने की अनुमति प्राप्त है। किन्तु जहाँ तक गोमांस खाने की बात है, यह सर्वथा वर्जित है। इसीलिए *भगवद्गीता* में कृष्ण

स्वयं गोरक्ष्यम् अर्थात् गोरक्षा की बात कहते हैं। मांस खाने वालों को विभिन्न स्थितियों एवं शास्त्रों के निर्देशानुसार मांस खाने की अनुमति मिली है लेकिन गोमांस की कदापि नहीं। गायों की पूरी तरह से रक्षा की जानी चाहिए।

शेषं निवेदयामास पित्रे तेन च तद्गुरुः ।
चोदितः प्रोक्षणायाह दुष्टमेतदकर्मकम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

शेषम्—उच्छिष्ट; निवेदयाम् आस—उसने प्रदान किया; पित्रे—अपने पिता को; तेन—उसके द्वारा; च—भी; तत्-गुरुः—उनके गुरु ने; चोदितः—आग्रह किये जाने पर; प्रोक्षणाय—शुद्ध करने के लिए; आह—कहा; दुष्टम्—प्रदूषित; एतत्—यह मांस; अकर्मकम्—श्राद्ध में अर्पित करने के अयोग्य।

विकुक्षि ने शेष मांस राजा इक्ष्वाकु को लाकर दे दिया जिन्होंने उसे शुद्ध करने के लिए वसिष्ठ को दे दिया। लेकिन वसिष्ठ यह तुरन्त समझ गये कि उस मांस का कुछ भाग विकुक्षि ने पहले ही ग्रहण कर लिया है; अतएव उन्होंने कहा कि यह मांस श्राद्ध में प्रयुक्त होने केलिए अनुपयुक्त है।

तात्पर्य : यज्ञ में प्रयुक्त की जाने वाली किसी भी वस्तु को अर्चाविग्रह को भेंट किये बिना चखा नहीं जा सकता। हमारे मन्दिरों में यह नियम लागू है। जब तक भोजन अर्चाविग्रह को अर्पित नहीं कर दिया जाता तब तक कोई व्यक्ति रसोई से भोजन खा नहीं सकता। यदि अर्चाविग्रह को भेंट करने के पूर्व कुछ भी निकाल लिया जाता है तो सारा भोजन दूषित हो जाता है और उसे अर्चाविग्रह पर नहीं चढ़ाया जाता। जो लोग अर्चाविग्रह की पूजा करते हैं उन्हें इसे ठीक से जान लेना चाहिए जिससे वे अर्चाविग्रह पूजा में अपराध करने से बचे रहें।

ज्ञात्वा पुत्रस्य तत्कर्म गुरुणाभिहितं नृपः ।
देशान्निःसारयामास सुतं त्यक्तविधिं रुषा ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ज्ञात्वा—जान लेने पर; पुत्रस्य—अपने पुत्र की; तत्—वह; कर्म—करनी; गुरुणा—गुरु (वसिष्ठ) द्वारा; अभिहितम्—सूचित किया गया; नृपः—राजा (इक्ष्वाकु) ने; देशात्—देश से; निःसारयाम् आस—निकाल दिया; सुतम्—पुत्र को; त्यक्त-विधिम्—क्योंकि उसने विधान का उल्लंघन किया था; रुषा—क्रोध में आकर।

जब राजा इक्ष्वाकु वसिष्ठ द्वारा बताये जाने पर समझ गये कि उनके पुत्र विकुक्षि ने क्या किया है तो वे अत्यन्त क्रुद्ध हुए। इस प्रकार उन्होंने विकुक्षि को देश छोड़ने की आज्ञा दे दी क्योंकि उसने

विधि-विधान का उल्लंघन किया था।

स तु विप्रेण संवादं ज्ञापकेन समाचरन् ।
त्यक्त्वा कलेवरं योगी स तेनावाप यत्परम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सः—महाराज इक्ष्वाकु; तु—निस्सन्देह; विप्रेण—ब्राह्मण (वसिष्ठ) के साथ; संवादम्—वार्तालाप; ज्ञापकेन—सूचना देने वाले के साथ; समाचरन्—तदनुसार करते हुए; त्यक्त्वा—त्यागकर; कलेवरम्—शरीर को; योगी—संन्यास लेकर भक्तियोगी बनकर; सः—राजा; तेन—ऐसे उपदेश से; अवाप—प्राप्त किया; यत्—वह पद जो; परम्—सर्वश्रेष्ठ।

महान् एवं विद्वान ब्राह्मण वसिष्ठ के साथ परम सत्य विषयक वार्तालाप के बाद उनके द्वारा उपदेश दिये जाने पर महाराज इक्ष्वाकु विरक्त हो गये। उन्होंने योगी के नियमों का पालन करते हुए भौतिक शरीर त्यागने के बाद परम सिद्धि प्राप्त की।

पितर्युपरतेऽभ्येत्य विकुक्षिः पृथिवीमिमाम् ।
शासदीजे हरिं यज्ञैः शशाद इति विश्रुतः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

पितरि—अपने पिता के; उपरते—राज्य छोड़ने पर; अभ्येत्य—वापस आकर; विकुक्षिः—विकुक्षि ने; पृथिवीम्—पृथ्वीलोक को; इमाम्—इस; शासत्—शासन करते हुए; ईजे—पूजा की; हरिम्—भगवान् की; यज्ञैः—यज्ञों के द्वारा; शश-अदः—शशाद (खरगोश खाने वाला); इति—इस प्रकार; विश्रुतः—विख्यात हुआ।

अपने पिता के चले जाने पर विकुक्षि अपने देश लौट आया और पृथ्वीलोक पर शासन करते हुए तथा भगवान् को प्रसन्न करने के लिए विविध यज्ञ करते हुए वह राजा बना। बाद में विकुक्षि शशाद नाम से विख्यात हुआ।

पुरञ्जयस्तस्य सुत इन्द्रवाह इतीरितः ।
ककुत्स्थ इति चाप्युक्तः शृणु नामानि कर्मभिः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

पुरम्-जयः—पुरञ्जय (पुर का विजेता); तस्य—उसका (विकुक्षि का); सुतः—पुत्र; इन्द्र-वाहः—इन्द्रवाह (इन्द्र जिसका वाहन है); इति—इस प्रकार; ईरितः—विख्यात; ककुत्स्थः—ककुत्स्थ (बैल के डिल्ले पर स्थित); इति—इस प्रकार; च—भी; अपि—निस्सन्देह; उक्तः—इस तरह ज्ञात; शृणु—सुनो; नामानि—सारे नाम; कर्मभिः—अपने-अपने कर्म के अनुसार।

शशाद का पुत्र पुरञ्जय हुआ जो इन्द्रवाह के रूप में और कभी-कभी ककुत्स्थ के नाम से विख्यात है। अब मुझसे यह सुनो कि उसने विभिन्न कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न नाम किस तरह प्राप्त किये।

कृतान्त आसीत्समरो देवानां सह दानवैः ।
पार्ष्णिग्राहो वृतो वीरो देवैर्दैत्यपराजितैः ॥ १३॥

शब्दार्थ

कृत-अन्तः—विनाशकारी युद्ध; आसीत्—था; समरः—युद्ध; देवानाम्—देवताओं के; सह—के साथ; दानवैः—असुरों; पार्ष्णिग्राहः—अच्छा सहायक; वृतः—स्वीकार किया; वीरः—वीर; देवैः—देवताओं के द्वारा; दैत्य—दैत्यों के द्वारा; पराजितैः—जो हराये जा चुके थे।

पूर्वकाल में देवताओं तथा असुरों के मध्य एक घमासान युद्ध हुआ। पराजित होकर देवताओं ने पुरञ्जय को अपना सहायक बनाया और तब वे असुरों को पराजित कर सके। अतएव यह वीर पुरञ्जय कहलाता है अर्थात् जिसने असुरों के निवासों को जीत लिया है।

वचनाद्देवदेवस्य विष्णोर्विश्वात्मनः प्रभोः ।
वाहनत्वे वृतस्तस्य बभूवेन्द्रो महावृषः ॥ १४॥

शब्दार्थ

वचनात्—आदेश या वचनों से; देव-देवस्य—समस्त देवताओं के स्वामी; विष्णोः—भगवान् विष्णु का; विश्व-आत्मनः—सम्पूर्ण सृष्टि के परमात्मा; प्रभोः—भगवान् या नियन्ता का; वाहनत्वे—वाहन बनने के कारण; वृतः—लगा हुआ; तस्य—पुरञ्जय की सेवा में; बभूव—बन गया; इन्द्रः—इन्द्र; महा-वृषः—बड़ा सा बैल।

पुरञ्जय ने सारे असुरों को इस शर्त पर मारना स्वीकार किया कि इन्द्र उसका वाहन बनेगा। किन्तु गर्ववश इन्द्र ने यह प्रस्ताव पहले अस्वीकार कर दिया, किन्तु बाद में भगवान् विष्णु के आदेश से उसने इसे स्वीकार कर लिया और पुरञ्जय की सवारी के लिए वह बड़ा सा बैल बन गया।

स सन्नद्धो धनुर्दिव्यमादाय विशिखाञ्छितान् ।
स्तूयमानस्तमारुह्य युयुत्सुः ककुदि स्थितः ॥ १५॥
तेजसाप्यायितो विष्णोः पुरुषस्य महात्मनः ।
प्रतीच्यां दिशि दैत्यानां न्यरुणत्त्रिदशैः पुरम् ॥ १६॥

शब्दार्थ

सः—पुरञ्जय; सन्नद्धः—पूरी तरह युक्त होकर; धनुः दिव्यम्—श्रेष्ठ या दिव्य धनुष; आदाय—लेकर; विशिखान्—तीरों को; शितान्—अत्यन्त पैने; स्तूयमानः—अत्यधिक प्रशंसित होकर; तम्—उस (बैल पर); आरुह्य—चढ़कर; युयुत्सुः—लड़ने के लिए तैयार होकर; ककुदि—बैल के डिल्ले पर; स्थितः—स्थित; तेजसा—बल से; आप्यायितः—कृपाप्राप्त; विष्णोः—विष्णु के; पुरुषस्य—परम पुरुष; महा-आत्मनः—परमात्मा; प्रतीच्याम्—पश्चिमी; दिशि—दिशा में; दैत्यानाम्—असुरों का; न्यरुणत्—कब्जे में कर लिया; त्रिदशैः—देवताओं को साथ लेकर; पुरम्—आवास को।

कवच से भलीभाँति सुरक्षित होकर और युद्ध करने की इच्छा से पुरञ्जय ने अपना दिव्य धनुष तथा अत्यन्त तीक्ष्ण बाण धारण किया और देवताओं द्वारा अत्यधिक प्रशंसित होकर वह बैल (इन्द्र)

की पीठ पर सवार हुआ तथा उसके डिल्ले पर बैठ गया। इसलिए वह ककुत्स्थ कहलाता है। परमात्मा तथा परम पुरुष भगवान् विष्णु से शक्ति प्राप्त करके पुरञ्जय उस बड़े बैल पर सवार हो गया, इसलिए वह इन्द्रवाह कहलाता है। देवताओं को साथ लेकर उसने पश्चिम में असुरों के निवासस्थानों पर आक्रमण कर दिया।

तैस्तस्य चाभूत्प्रधनं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
यमाय भल्लैरनयद्दैत्यानभियुर्मृधे ॥ १७॥

शब्दार्थ

तैः—असुरों के साथ; तस्य—उसकी; च—भी; अभूत्—हुई; प्रधनम्—लड़ाई; तुमुलम्—घनघोर; लोम-हर्षणम्—जिसे सुनकर रोमांच हो जाता है; यमाय—यमराज के घर के लिए; भल्लैः—तीरों से; अनयत्—भेज दिया; दैत्यान्—असुरों को; अभियुः—जो उसकी ओर आये; मृधे—उस युद्ध में।

असुरों तथा पुरञ्जय के मध्य घनघोर लड़ाई छिड़ गई। निस्सन्देह, यह इतनी भयानक थी कि सुनने वाले के रोंगटे खड़े हो जाते। जितने सारे असुर पुरञ्जय के समक्ष आने का साहस करते वे सभी उसके तीरों से तुरन्त यमराज के घर भेज दिये जाते।

तस्येषुपाताभिमुखं युगान्ताग्निमिवोल्बणम् ।
विसृज्य दुद्रुवुर्दैत्या हन्यमानाः स्वमालयम् ॥ १८॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके (पुरञ्जय के); इषु-पात—तीर फेंकने; अभिमुखम्—के समक्ष; युग-अन्त—युग के अन्त में; अग्निम्—ज्वाला; इव—सदृश; उल्बणम्—भयानक; विसृज्य—आक्रमण करना छोड़कर; दुद्रुवुः—भग गये; दैत्याः—सारे असुर; हन्यमानाः—मारे जाकर (पुरञ्जय द्वारा); स्वम्—अपने; आलयम्—घर को।

इन्द्रवाह के अग्नि उगलते तीरों से अपने को बचाने के लिए वे असुर, जो अपनी सेना के मारे जाने के बाद बचे थे, तेजी से अपने-अपने घरों को भाग खड़े हुए क्योंकि यह अग्नि युग के अन्त में उठने वाली प्रलयाग्नि के समान थी।

जित्वा परं धनं सर्वं सस्त्रीकं वज्रपाणये ।
प्रत्ययच्छत्स राजर्षिरिति नामभिराहृतः ॥ १९॥

शब्दार्थ

जित्वा—जीतकर; परम्—दुश्मनों को; धनम्—धन को; सर्वम्—हर वस्तु; स-स्त्रीकम्—उनकी पत्नियों समेत; वज्र-पाणये—इन्द्र को जो वज्र धारण करता है; प्रत्ययच्छत्—लौटाकर दे दिया; सः—वह; राज-ऋषिः—सन्त राजा (पुरञ्जय); इति—इस प्रकार; नामभिः—नामों से; आहृतः—पुकारा जाता था।

शत्रु को जीतने के बाद सन्त राजा पुरञ्जय ने वज्रधारी इन्द्र को सब कुछ लौटा दिया जिसमें शत्रु का धन तथा पत्नियाँ सम्मिलित थीं। इसी हेतु वह पुरञ्जय नाम से विख्यात है। इस तरह पुरञ्जय अपने विविध कार्यकलापों के कारण विभिन्न नामों से जाना जाता है।

पुरञ्जयस्य पुत्रोऽभूदनेनास्तत्सुतः पृथुः ।
विश्वगन्धिस्ततश्चन्द्रो युवनाश्वस्तु तत्सुतः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

पुरञ्जयस्य—पुरञ्जय का; पुत्रः—पुत्र; अभूत्—हुआ; अनेनाः—अनेना नामक; तत्-सुतः—उसका पुत्र; पृथुः—पृथु; विश्वगन्धिः—विश्वगन्धि नामक; ततः—उसका पुत्र; चन्द्रः—चन्द्र; युवनाश्वः—युवनाश्व नामधारी; तु—निस्सन्देह; तत्-सुतः—उसका पुत्र।

पुरञ्जय का पुत्र अनेना कहलाया। अनेना का पुत्र पृथु था और पृथु का पुत्र विश्वगन्धि। विश्वगन्धि का पुत्र चन्द्र हुआ और चन्द्र का पुत्र युवनाश्व था।

श्रावस्तस्तत्सुतो येन श्रावस्ती निर्ममे पुरी ।
बृहदश्वस्तु श्रावस्तिस्ततः कुवलयाश्वकः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्रावस्तः—श्रावस्त नामक; तत्-सुतः—युवनाश्व का पुत्र; येन—जिसके द्वारा; श्रावस्ती—श्रावस्ती नामक; निर्ममे—निर्मित कराई गई; पुरी—नगरी; बृहदश्वः—बृहदश्व; तु—किन्तु; श्रावस्तिः—श्रावस्त से उत्पन्न; ततः—उससे; कुवलयाश्वकः—कुवलयाश्व नामधारी।

युवनाश्व का पुत्र श्रावस्त था जिसने श्रावस्ती नामक पुरी का निर्माण कराया। श्रावस्त का पुत्र बृहदश्व था और उसका पुत्र कुवलयाश्व था। इस तरह यह वंश बढ़ता रहा।

यः प्रियार्थमुतङ्कस्य धुन्धुनामासुरं बली ।
सुतानामेकविंशत्या सहस्रैरहनद्वृतः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; प्रिय-अर्थम्—संतोष के लिए; उतङ्कस्य—उतंक नामक ऋषि का; धुन्धु-नाम—धुन्धु नाम के; असुरम्—असुर को; बली—अत्यन्त शक्तिशाली (कुवलयाश्व); सुतानाम्—पुत्रों को; एक-विंशत्या—इक्कीस; सहस्रैः—हजार; अहनत्—मार डाला; वृतः—घिरा हुआ।

उतंक ऋषि को संतुष्ट करने के लिए परम शक्तिशाली कुवलयाश्व ने धुन्धु नामक असुर का वध किया। उसने अपने इक्कीस हजार पुत्रों की सहायता से ऐसा किया।

धुन्धुमार इति ख्यातस्तत्सुतास्ते च जज्वलुः ।
धुन्धोर्मुखाग्निना सर्वे त्रय एवावशेषिताः ॥ २३ ॥

दृढाश्वः कपिलाश्वश्च भद्राश्व इति भारत ।
दृढाश्वपुत्रो हर्यश्वो निकुम्भस्तत्सुतः स्मृतः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

धुन्धु-मारः—धुन्धु को मारने वाला; इति—इस प्रकार; ख्यातः—प्रसिद्ध; तत्-सुताः—उसके पुत्रों ने; ते—उन सभी; च—भी; जज्वलुः—जला दिया; धुन्धोः—धुन्धु के; मुख-अग्निना—मुख से निकलती अग्नि से; सर्वे—वे सभी; त्रयः—तीन; एव—केवल; अवशेषिताः—जीवित बचे; दृढाश्वः—दृढ़ाश्व; कपिलाश्वः—कपिलाश्व; च—तथा; भद्राश्वः—भद्राश्व; इति—इस प्रकार; भारत—हे महाराज परीक्षित; दृढाश्व-पुत्रः—दृढ़ाश्व का पुत्र; हर्यश्वः—हर्यश्व; निकुम्भः—निकुम्भ; तत्-सुतः—उसका पुत्र; स्मृतः—विख्यात।

हे महाराज परीक्षित, इस कारण से कुवलयाश्व धुन्धुमार कहलाता है। किन्तु उसके तीन पुत्रों को छोड़कर शेष सभी धुन्धु के मुख से निकलने वाली अग्नि से जलकर राख हो गये। बचे हुए पुत्रों के नाम हैं—दृढ़ाश्व, कपिलाश्व तथा भद्राश्व। दृढ़ाश्व के हर्यश्व नामक पुत्र हुआ जिसका पुत्र निकुम्भ नाम से विख्यात है।

बहुलाश्वो निकुम्भस्य कृशाश्वोऽथास्य सेनजित् ।
युवनाश्वोऽभवत्तस्य सोऽनपत्यो वनं गतः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

बहुलाश्वः—बहुलाश्व का; निकुम्भस्य—निकुम्भ का; कृशाश्वः—कृशाश्व; अथ—तत्पश्चात्; अस्य—कृशाश्व का; सेनजित्—सेनजित; युवनाश्वः—युवनाश्व; अभवत्—उत्पन्न हुआ; तस्य—सेनजित के; सः—वह; अनपत्यः—निःसन्तान; वनम् गतः—वानप्रस्थी बनकर जंगल चला गया।

निकुम्भ का पुत्र बहुलाश्व था, बहुलाश्व का पुत्र कृशाश्व और कृशाश्व का पुत्र सेनजित हुआ। सेनजित का पुत्र युवनाश्व था। युवनाश्व के कोई सन्तान नहीं थी इसलिए वह गृहस्थ जीवन त्यागकर जंगल चला गया।

भार्याशतेन निर्विण्ण ऋषयोऽस्य कृपालवः ।
इष्टिं स्म वर्तयां चक्रुरैन्द्रीं ते सुसमाहिताः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

भार्या-शतेन—एक सौ पत्नियों के साथ; निर्विण्णः—अत्यन्त खिन्न; ऋषयः—ऋषिगण; अस्य—उस पर; कृपालवः—अत्यन्त कृपालु; इष्टिम्—एक अनुष्ठान; स्म—भूतकाल में; वर्तयाम् चक्रुः—सम्पन्न करने लगा; ऐन्द्रीम्—इन्द्रयज्ञ; ते—वे सभी; सु-समाहिताः—अत्यन्त सावधान।

यद्यपि युवनाश्व अपनी एक सौ पत्नियों सहित जंगल में चला गया, किन्तु वे सभी अत्यन्त खिन्न थीं। तथापि जंगल के ऋषि राजा पर अत्यन्त दयालु थे, अतएव वे मनोयोगपूर्वक इन्द्रयज्ञ करने लगे

जिससे राजा के पुत्र उत्पन्न हो सके।

तात्पर्य : यदि कोई चाहे तो अपनी पत्नी के साथ वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश हो सकता है, किन्तु वानप्रस्थ आश्रम का अर्थ है गृहस्थ जीवन से पूर्ण विरक्ति। यद्यपि युवनाश्व गृहस्थ जीवन से विरक्त हो चुका था, किन्तु वे और उसकी पत्नियाँ कोई सन्तान न होने के कारण सदा खिन्न रहती थीं।

राजा तद्यज्ञसदनं प्रविष्टो निशि तर्षितः ।
दृष्ट्वा शयानान्विप्रांस्तान्पपौ मन्त्रजलं स्वयम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

राजा—राजा (युवनाश्व); तत्-यज्ञ-सदनम्—यज्ञशाला में; प्रविष्टः—प्रवेश किया; निशि—रात में; तर्षितः—प्यासे होने के कारण; दृष्ट्वा—देखकर; शयानान्—लेटे हुए; विप्रान्—ब्राह्मणों को; तान्—उन सभी; पपौ—पी लिया; मन्त्र-जलम्—मंत्र द्वारा पवित्र किया हुआ जल; स्वयम्—खुद।

एक रात्रि को प्यासे होने के कारण राजा यज्ञशाला में घुस गया और जब उसने देखा कि सारे ब्राह्मण लेटे हुए हैं तो उसने अपनी पत्नी के पीने के लिए रखे हुए मंत्र से पवित्र किये गये जल को स्वयं पी लिया।

तात्पर्य : वैदिक अनुष्ठानों के अनुसार ब्राह्मणों द्वारा सम्पन्न यज्ञ इतने शक्तिशाली होते हैं कि वैदिक मंत्रों से पवित्र किया हुआ जल वांछित फल देने वाला हो सकता है। यहाँ पर ब्राह्मणों ने जल को पवित्र किया था जिससे राजा की पत्नी उसे यज्ञ में पी सके, किन्तु दैववश राजा रात में वहाँ गया और प्यासा होने के कारण वह वही जल पी गया।

उत्थितास्ते निशम्याथ व्युदकं कलशं प्रभो ।
पप्रच्छुः कस्य कर्मेदं पीतं पुंसवनं जलम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

उत्थिताः—जगने पर; ते—वे सभी; निशम्य—देखकर; अथ—तत्पश्चात्; व्युदकम्—रिक्त, खाली; कलशम्—जलपात्र को; प्रभो—हे राजा परीक्षित; पप्रच्छुः—पूछा; कस्य—किसका; कर्म—करतूत; इदम्—यह; पीतम्—पिया हुआ; पुंसवनम्—सन्तान उत्पन्न करने वाला; जलम्—जल।

जब सारे ब्राह्मण जगे और उन्होंने देखा कि जलपात्र खाली है तो उन्होंने पूछा कि संतान उत्पन्न करने वाले जल को किसने पिया है?

राज्ञा पीतं विदित्वा वै ईश्वरप्रहितेन ते ।
ईश्वराय नमश्चक्रुरहो दैवबलं बलम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

राज्ञा—राजा द्वारा; पीतम्—पिया गया; विदित्वा—यह जानकर; वै—निस्सन्देह; ईश्वर-प्रहितेन—विधाता द्वारा प्रेरित; ते—उन सबों ने; ईश्वराय—ईश्वर को; नमः चक्रुः—नमस्कार किया; अहो—ओह; दैव-बलम्—दैवी शक्ति; बलम्—वास्तविक बल है।

जब ब्राह्मणों को यह ज्ञात हुआ कि ईश्वर द्वारा प्रेरित होकर राजा ने जल पी लिया है तो उन्होंने विस्मित होकर कहा, "ओह! विधाता की शक्ति ही असली शक्ति है। ईश्वर की शक्ति का कोई भी निराकरण नहीं कर सकता।" इस तरह उन्होंने भगवान् को सादर नमस्कार किया।

ततः काल उपावृत्ते कुक्षिं निर्भिद्य दक्षिणम् ।
युवनाश्वस्य तनयश्चक्रवर्ती जजान ह ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; काले—समय; उपावृत्ते—पूरा हो जाने पर; कुक्षिम्—उदर का निचला भाग; निर्भिद्य—भेदकर; दक्षिणम्—दाहिनी ओर का; युवनाश्वस्य—राजा युवनाश्व का; तनयः—पुत्र; चक्रवर्ती—राजा के सारे उत्तम लक्षणों से युक्त; जजान—उत्पन्न किया; ह—भूतकाल में।

तत्पश्चात् कालक्रम से राजा युवनाश्व के उदर के दाहिनी ओर के निचले भाग से चक्रवर्ती राजा के उत्तम लक्षणों से युक्त एक पुत्र उत्पन्न हुआ।

कं धास्यति कुमारोऽयं स्तन्ये रोरूयते भृशम् ।
मां धाता वत्स मा रोदीरितीन्द्रो देशिनीमदात् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

कम्—किसके द्वारा; धास्यति—स्तन का दूध पिलाकर पाला जायेगा; कुमारः—बालक; अयम्—यह; स्तन्ये—स्तन का दूध पीने के लिए; रोरूयते—रो रहा है; भृशम्—अत्यधिक; माम् धाता—मुझको पियो; वत्स—प्यारे बेटे; मा रोदीः—मत रोओ; इति—इस प्रकार; इन्द्रः—इन्द्र ने; देशिनीम्—तर्जनी अँगुली; अदात्—चूसने के लिए दे दी।

वह बालक स्तन के दूध के लिए इतना अधिक रोया कि सारे ब्राह्मण चिन्तित हो उठे। उन्होंने कहा "इस बालक को कौन पालेगा?" तब उस यज्ञ में पूजित इन्द्र आये और उन्होंने बालक को सान्त्वना दी "मत रोओ।" फिर इन्द्र ने उस बालक के मुँह में अपनी तर्जनी अँगुली डालकर कहा "तुम मुझे पी सकते हो।"

न ममार पिता तस्य विप्रदेवप्रसादतः ।
युवनाश्वोऽथ तत्रैव तपसा सिद्धिमन्वगात् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ममार—मरा; पिता—पिता; तस्य—बालक का; विप्र-देव-प्रसादतः—ब्राह्मणों की कृपा तथा आशीर्वाद से; युवनाश्वः—राजा युवनाश्व; अथ—तत्पश्चात्; तत्र एव—वहीं; तपसा—तपस्या द्वारा; सिद्धिम्—सिद्धि; अन्वगात्—प्राप्त की।

चूँकि उस बालक के पिता युवनाश्व को ब्राह्मणों का आशीर्वाद प्राप्त था अतः वह मृत्यु का शिकार नहीं हुआ। इस घटना के बाद उसने कठिन तपस्या की और उसी स्थान पर सिद्धि प्राप्त की।

त्रसद्दस्युरितीन्द्रोऽङ्ग विदधे नाम यस्य वै ।
यस्मात्त्रसन्ति ह्युद्विग्ना दस्यवो रावणादयः ॥ ३३ ॥
यौवनाश्वोऽथ मान्धाता चक्रवर्त्यवनीं प्रभुः ।
सप्तद्वीपवतीमेकः शशासाच्युततेजसा ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

त्रसत्-दस्युः—त्रसद्दस्यु नाम का (जो चोरों उचक्कों को धमकाये); इति—इस प्रकार; इन्द्रः—इन्द्र; अङ्ग—हे राजा; विदधे—दिया; नाम—नाम; यस्य—जिसका; वै—निस्सन्देह; यस्मात्—जिससे; त्रसन्ति—डरे हुए; हि—निश्चय ही; उद्विग्नाः—चिन्ता का कारण; दस्यवः—चोर-उचक्के; रावण-आदयः—रावण इत्यादि राक्षस; यौवनाश्वः—युवनाश्व का पुत्र; अथ—इस प्रकार; मान्धाता—मान्धाता नाम से विख्यात; चक्रवर्ती—सारे विश्व का सम्राट; अवनीम्—पृथ्वी पर; प्रभुः—स्वामी; सप्त-द्वीप-वतीम्—सात द्वीपों वाली; एकः—एकमात्र; शशास—शासन किया; अच्युत-तेजसा—भगवान् की कृपा से अत्यन्त शक्तिशाली होने से।

युवनाश्व-पुत्र मान्धाता, रावण तथा चिन्ता उत्पन्न करने वाले अन्य चोर उचक्कों के लिए भय का कारण बना था। हे राजा परीक्षित, चूँकि वे सब उससे भयभीत रहते थे, अतएव युवनाश्व का पुत्र त्रसद्दस्यु कहलाता था। यह नाम इन्द्र द्वारा रखा गया था। भगवान् की कृपा से युवनाश्व-पुत्र इतना शक्तिशाली था कि जब वह सम्राट बना तो उसने सात द्वीपों से युक्त सारे विश्व पर शासन किया। वह अद्वितीय शासक था।

ईजे च यज्ञं क्रतुभिरात्मविद्भूरिदक्षिणैः ।
सर्वदेवमयं देवं सर्वात्मकमतीन्द्रियम् ॥ ३५ ॥
द्रव्यं मन्त्रो विधिर्यज्ञो यजमानस्तथर्त्विजः ।
धर्मो देशश्च कालश्च सर्वमेतद्यदात्मकम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

ईजे—उसने पूजा की; च—भी; यज्ञम्—यज्ञों के स्वामी की; क्रतुभिः—कर्मकाण्डों द्वारा; आत्म-वित्—आत्म-साक्षात्कार के द्वारा पूर्णतया अभिज्ञ; भूरि-दक्षिणैः—ब्राह्मणों को प्रचुर दक्षिणा देकर; सर्व-देव-मयम्—सारे देवताओं से युक्त; देवम्—भगवान् को; सर्व-आत्मकम्—सबों के परमात्मा; अति-इन्द्रियम्—दिव्य रूप से स्थित; द्रव्यम्—अवयव; मन्त्रः—वैदिक स्तोत्रों का उच्चारण; विधिः—विधान; यज्ञः—पूजन; यजमानः—यज्ञ करने वाला; तथा—सहित; ऋत्विजः—पुरोहित; धर्मः—धार्मिक नियम; देशः—देश; च—तथा; कालः—समय; च—भी; सर्वम्—हर वस्तु; एतत्—ये सब; यत्—जो है; आत्मकम्—आत्म-साक्षात्कार के लिए उपयुक्त।

भगवान् महान् यज्ञों के कल्याणकारी पक्षो से—यथा यज्ञ की सामग्री, वैदिक स्तोत्रों का

उच्चारण, विधि-विधान, यज्ञकर्ता, पुरोहित, यज्ञ-फल, यज्ञ-शाला, यज्ञ के समय, इत्यादि से भिन्न नहीं हैं। मान्धाता ने आत्म-साक्षात्कार के नियमों को जानते हुए दिव्य पद पर स्थित परमात्मा स्वरूप उन भगवान् विष्णु की पूजा की जो समस्त देवताओं से युक्त हैं। उसने ब्राह्मणों को भी प्रचुर दान दिया और इस तरह उसने भगवान् की पूजा करने के लिए यज्ञ किया।

यावत्सूर्य उदेति स्म यावच्च प्रतितिष्ठति ।
तत्सर्वं यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते ॥ ३७॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; सूर्यः—सूर्य; उदेति—उदय होता है; स्म—भूतकाल में; यावत्—जब तक; च—भी; प्रतितिष्ठति—रहता है; तत्—उपर्युक्त वस्तुएँ; सर्वम्—सभी; यौवनाश्वस्य—युवनाश्व के पुत्र; मान्धातुः—मान्धाता के; क्षेत्रम्—स्थान; उच्यते—कहलाता है।

क्षितिज में जहाँ से सूर्य उदय होकर चमकता है और जहाँ सूर्य अस्त होता है वे सारे स्थान युवनाश्व के पुत्र विख्यात मान्धाता के अधिकार में माने जाते हैं।

शशबिन्दोर्दुहितरि बिन्दुमत्यामधान्नृपः ।
पुरुकुत्समम्बरीषं मुचुकुन्दं च योगिनम् ।
तेषां स्वसारः पञ्चाशत्सौभरिं वव्रिरे पतिम् ॥ ३८॥

शब्दार्थ

शशबिन्दोः—शशबिन्दु राजा की; दुहितरि—पुत्री; बिन्दुमत्याम्—बिन्दुमती से; अधात्—उत्पन्न किया; नृपः—राजा (मान्धाता) ने; पुरुकुत्सम्—पुरुकुत्स को; अम्बरीषम्—अम्बरीष को; मुचुकुन्दम्—मुचुकुन्द को; च—तथा; योगिनम्—योगी; तेषाम्—उनमें से; स्वसारः—बहनों ने; पञ्चाशत्—पचास; सौभरिम्—सौभरि ऋषि को; वव्रिरे—स्वीकार किया; पतिम्—पति रूप में।

शशबिन्दु की पुत्री बिन्दुमती के गर्भ से मान्धाता को तीन पुत्र उत्पन्न हुए। इनके नाम थे पुरुकुत्स, अम्बरीष तथा महान् योगी मुचुकुन्द। इन तीनों भाइयों के पचास बहिनें थीं जिन्होंने सौभरि ऋषि को अपना पति चुना।

यमुनान्तर्जले मग्नस्तप्यमानः परं तपः ।
निर्वृतिं मीनराजस्य दृष्ट्वा मैथुनधर्मिणः ॥ ३९॥
जातस्पृहो नृपं विप्रः कन्यामेकामयाचत ।
सोऽप्याह गृह्यतां ब्रह्मन्कामं कन्या स्वयंवरे ॥ ४०॥

शब्दार्थ

यमुना-अन्तः-जले—यमुना नदी के गहरे जल में; मग्नः—पूरी तरह डूबकर; तप्यमानः—तपस्या करते हुए; परम्—असामान्य; तपः—तपस्या; निर्वृतिम्—आनन्द, सुख; मीन-राजस्य—बड़ी मछली का; दृष्ट्वा—देखकर; मैथुन-धर्मिणः—मैथुनरत; जात-स्पृहः—मन

चलायमान हो उठा; नृपम्—राजा (मान्धाता) के पास; विप्रः—ब्राह्मण (सौभरि ऋषि); कन्याम् एकाम्—इकलौती कन्या; अयाचत—माँगा; सः—उस, राजा ने; अपि—भी; आह—कहा; गृह्यताम्—आप ले सकते हैं; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; कामम्—चाहती है; कन्या—पुत्री; स्वयंवरे—स्वयं चुनाव में, स्वयंवर में।

सौभरि ऋषि यमुना नदी के गहरे जल में तपस्या में तल्लीन थे कि उन्होंने मछलियों के एक जोड़े को संभोगरत देखा। इस तरह उन्होंने विषयी जीवन का सुख अनुभव किया जिससे प्रेरित होकर वे राजा मान्धाता के पास गये और उनसे उनकी एक कन्या की याचना की। इस याचना के उत्तर में राजा ने कहा, ''हे ब्राह्मण, मेरी कोई भी पुत्री अपनी इच्छा से किसी को भी पति चुन सकती है।''

तात्पर्य : यहाँ सौभरि ऋषि की कहानी का शुभारम्भ होता है। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार मान्धाता मथुरा का राजा था और सौभरि ऋषि यमुना नदी के गहरे जल में तपस्या कर रहे थे। जब ऋषि में कामेच्छा जगी तो वे जल से बाहर निकले और राजा मान्धाता के पास जाकर उन्होंने कहा कि वे अपनी एक पुत्री का विवाह उनसे कर दें।

स विचिन्त्याप्रियं स्त्रीणां जरठोऽहमसन्मतः ।
वलीपलित एजत्क इत्यहं प्रत्युदाहृतः ॥ ४१ ॥
साधयिष्ये तथात्मानं सुरस्त्रीणामभीप्सितम् ।
किं पुनर्मनुजेन्द्राणामिति व्यवसितः प्रभुः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

सः—उस, सौभरि मुनि ने; विचिन्त्य—अपने आप सोचकर; अप्रियम्—अच्छा न लगने वाला; स्त्रीणाम्—स्त्रियों के द्वारा; जरठः—वृद्ध होने के कारण अशक्त; अहम्—मैं; असत्-मतः—उनके द्वारा अनिच्छित; वली—झुर्री पड़ा; पलितः—सफेद बालों वाला; एजत्-कः—सदा सिर हिलता हुआ; इति—इस प्रकार; अहम्—मैं; प्रत्युदाहृतः—त्यक्त; साधयिष्ये—मैं इस तरह करूँगा; तथा—जिस तरह; आत्मानम्—मेरा शरीर; सुर-स्त्रीणाम्—स्वर्ग की स्त्रियों की; अभीप्सितम्—इच्छित; किम्—क्या कहूँ; पुनः—फिर भी; मनुज-इन्द्राणाम्—संसार के राजाओं की कन्याओं का; इति—इस तरह; व्यवसितः—निश्चित; प्रभुः—शक्तिशाली योगी सौभरि ने।

सौभरि मुनि ने सोचा: मैं वृद्धावस्था के कारण अब निर्बल हो गया हूँ। मेरे बाल सफेद हो चुके हैं, मेरी चमड़ी झूल रही है और मेरा सिर सदा हिलता रहता है। इसके अतिरिक्त मैं योगी हूँ। अतएव ये स्त्रियाँ मुझे पसन्द नहीं करतीं। चूँकि राजा ने मुझे तिरस्कृत कर दिया है अतएव मैं अपने शरीर को ऐसा बनाऊँगा कि मैं संसारी राजाओं की कन्याओं का ही नहीं अपितु सुर-सुन्दरियों के लिए भी अभीष्ट बन जाऊँ।

मुनिः प्रवेशितः क्षत्रा कन्यान्तःपुरमृद्धिमत् ।

वृत: स राजकन्याभिरेकं पञ्चाशता वर: ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

मुनि:—सौभरि मुनि; प्रवेशित:—भीतर ले जाये गये; क्षत्रा—महल के दूत द्वारा; कन्या-अन्त:पुरम्—राजकुमारियों के रिहायशी मकान में; ऋद्धि-मत्—सभी प्रकार से अत्यन्त ऐश्वर्यमय; वृत:—स्वीकार किया; स:—उसने; राज-कन्याभि:—सारी राजकुमारियों द्वारा; एकम्—अकेला वह; पञ्चाशता—पचासों द्वारा; वर:—पति।

तत्पश्चात् जब सौभरि मुनि तरुण और रूपवान हो गये तब राजप्रासाद का दूत उन्हें राजकुमारियों के अन्त:पुर में ले गया जो अत्यन्त ऐश्वर्यमय था। तत्पश्चात् उन पचासों राजकुमारियों ने उस अकेले व्यक्ति को अपना पति बना लिया।

तासां कलिरभूद्भूयांस्तदर्थेऽपोह्य सौहृदम् ।
ममानुरूपो नायं व इति तद्गतचेतसाम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

तासाम्—सारी राजकुमारियों में; कलि:—कलह तथा वैर; अभूत्—हो गया; भूयान्—अत्यधिक; तत्-अर्थे—सौभरि मुनि को लेकर; अपोह्य—त्यागकर; सौहृदम्—अच्छे सम्बन्ध; मम—मेरे; अनुरूप:—उपयुक्त व्यक्ति; न—नहीं; अयम्—यह; व:—तुम्हारा; इति—इस प्रकार; तत्-गत-चेतसाम्—उससे आकृष्ट होकर।

तत्पश्चात् राजकुमारियाँ सौभरि मुनि द्वारा आकृष्ट होकर अपना बहिन का नाता भूल गईं और परस्पर यह कहकर झगड़ने लगीं ''यह व्यक्ति मेरे योग्य है, तुम्हारे योग्य नहीं।'' इस तरह से उन सबों में काफी विरोध उत्पन्न हो गया।

स बह्वृचस्ताभिरपारणीय
तप:श्रियानर्घ्यपरिच्छदेषु ।
गृहेषु नानोपवनामलाम्भ:
सर:सु सौगन्धिककाननेषु ॥ ४५ ॥
महार्हशय्यासनवस्त्रभूषण
स्नानानुलेपाभ्यवहारमाल्यकै: ।
स्वलङ्कृतस्त्रीपुरुषेषु नित्यदा
रेमेऽनुगायद्द्विजभृङ्गवन्दिषु ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

स:—वह, सौभरि ऋषि; बहु-ऋच:—वैदिक मंत्रों का उपयोग करने में पटु; ताभि:—अपनी पत्नियों के साथ; अपारणीय—असीम; तप:—तपस्या का फल; श्रिया—ऐश्वर्य से; अनर्घ्य—भोग की सामग्री; परिच्छदेषु—विभिन्न वस्त्रों से सज्जित; गृहेषु—घर में; नाना—तरह-तरह के; उपवन—पार्क; अमल—स्वच्छ; अम्भ:—जल; सर:सु—झीलों में; सौगन्धिक—अत्यन्त सुगन्धित; काननेषु—बगीचों में; महा-अर्ह—अत्यन्त कीमती; शय्या—बिस्तर; आसन—बैठने के स्थान; वस्त्र—वस्त्र; भूषण—गहने; स्नान—स्नानागार; अनुलेप—चंदन; अभ्यवहार—व्यंजन; माल्यकै:—तथा मालाओं से; सु-अलङ्कृत—भलीभाँति सज्जित; स्त्री—स्त्रियाँ; पुरुषेषु—

पुरुषों सहित; नित्यदा—निरन्तर; रेमे—भोग किया; अनुगायत्—गायन के साथ; द्विज—पक्षी; भृङ्ग—भौंरे; वन्दिषु—तथा बन्दीजन, पेशेवर गवैये।

चूँकि सौभरि मुनि मंत्रोचारण करने में पूर्णरूपेन पटु थे अतएव उनकी कठिन तपस्या से ऐश्वर्यशाली घर, वस्त्र, गहने, सुसज्जित दास तथा दासियाँ स्वच्छ जलवाली झीलें, उद्यानों से युक्त विविध बगीचे उत्पन्न हो गये। उद्यानों में विविध प्रकार के सुगन्धित फूल, चहकते पक्षी तथा गुनगुनाते भौंरे थे और मुनि पेशेवर गायकों से घिरे थे। सौभरि मुनि के घर में मूल्यवान बिस्तर, आसन, गहने, स्नानागार और तरह-तरह के चन्दनलेप, फूलमालाएँ तथा स्वादिष्ट व्यंजन थे। इस प्रकार ऐश्वर्यशाली साज-सामान से घिरे हुए सौभरि मुनि अपनी अनेक पत्नियों के साथ गृहकार्यों में व्यस्त हो गये।

तात्पर्य : सौभरि ऋषि महान् योगी थे। योग-सिद्धियों से आठ प्रकार के भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं—अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व तथा कामावसायिता। सौभरि मुनि ने अपनी योग-सिद्धियों के बल पर अतिश्रेष्ठ भौतिक ऐश्वर्य का भोग किया। *बह्वृच* शब्द का अर्थ है "मंत्रोचारण में पटु।" जिस प्रकार सामान्य भौतिक साधनों से भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त किया जा सकता है उसी प्रकार मंत्रों की सूक्ष्म विधि से भी ऐश्वर्य प्राप्त किया जा सकता है। सौभरि मुनि ने मंत्रोच्चार के बल पर भौतिक ऐश्वर्य की व्यवस्था कर दी, किन्तु यह जीवन की सिद्धि नहीं थी। जैसा कि आगे देखा जायेगा, सौभरि मुनि भौतिक ऐश्वर्य से ऊब उठे और हर वस्तु त्यागकर वे वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण कर फिर जंगल में चले गये। वहाँ उन्होंने अन्तिम सिद्धि प्राप्त की। जो लोग आत्मतत्त्ववित् नहीं हैं अर्थात् जीवन का आध्यात्मिक मूल्य नहीं जानते हैं, वे बाहरी भौतिक ऐश्वर्य से सन्तुष्ट हो सकते हैं, किन्तु आत्मतत्त्ववित् सन्तुष्ट नहीं होते। सौभरि मुनि के जीवन तथा कार्यों से हम यही शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं।

**यद्गार्हस्थ्यं तु संवीक्ष्य सप्तद्वीपवतीपतिः ।
विस्मितः स्तम्भमजहात्सार्वभौमश्रियान्वितम् ॥ ४७॥**

शब्दार्थ

यत्—जो; गार्हस्थ्यम्—गृहस्थ जीवन को; तु—लेकिन; संवीक्ष्य—देखकर; सप्त-द्वीप-वती-पतिः—सात द्वीप वाले समस्त जगत का राजा मान्धाता; विस्मितः—आश्चर्यचकित; स्तम्भम्—गौरवशाली पद के कारण घमंड; अजहात्—त्याग दिया; सार्व-भौम—सारे जगत का सम्राट; श्रिया-अन्वितम्—सभी प्रकार के ऐश्वर्यों से युक्त।

सप्तद्वीपमय जगत के राजा मान्धाता ने जब सौभरि मुनि के घरेलू ऐश्वर्य को देखा तो वे आश्चर्यचकित रह गये। उन्होंने जगत के सम्राट के रूप में अपनी झूठी प्रतिष्ठा छोड़ दी।

तात्पर्य : हर एक को अपने पद का गर्व होता है, किन्तु यहाँ पर एक विचित्र अनुभव हुआ। सम्पूर्ण जगत के एक सम्राट ने सौभरि मुनि के ऐश्वर्य को देखकर भौतिक सुखों में अपने आपको पराजित अनुभव किया।

एवं गृहेष्वभिरतो विषयान्विविधैः सुखैः ।
सेवमानो न चातुष्यदाज्यस्तोकैरिवानलः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; गृहेषु—घरेलू कार्यों में; अभिरतः—सदैव व्यस्त; विषयान्—भौतिक साज-सामग्री; विविधैः—नाना प्रकार के; सुखैः—सुख से; सेवमानः—सेवित होकर; न—नहीं; च—भी; अतुष्यत्—सन्तुष्ट हुआ; आज्य-स्तोकैः—घी की बूँदों से; इव—सदृश; अनलः—अग्नि।

इस प्रकार सौभरि मुनि इस भौतिक जगत में इन्द्रियतृप्ति करते रहे, किन्तु वे तनिक भी सन्तुष्ट नहीं थे जिस प्रकार निरन्तर घी की बूँदें पाते रहने से अग्नि कभी जलना बन्द नहीं करती।

तात्पर्य : भौतिक इच्छा जलती आग के समान है। यदि आग को निरन्तर घी की बूँदें मिलती रहें तो आग बढ़ती ही जायेगी, और कभी नहीं बुझेगी। अतएव भौतिक इच्छाओं की पूर्ति करते रहने की नीति से सफलता मिलने वाली नहीं है। आधुनिक सभ्यता में हर व्यक्ति आर्थिक विकास में लगा हुआ है जो भौतिक अग्नि को निरन्तर घी की बूँदें प्रदान करने के तुल्य है। पाश्चात्य देश भौतिक सभ्यता की पराकाष्ठा प्राप्त कर चुके हैं, किन्तु तो भी लोग असन्तुष्ट हैं। असली सन्तोष तो कृष्णभावनामृत है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (५.२९) में हुई है जहाँ कृष्ण यह कहते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

"साधुजन मुझे समस्त यज्ञों, तपस्याओं का चरम लक्ष्य, समस्त लोकों तथा देवताओं का परम प्रभु एवं समस्त जीवों का उपकारी एवं हितैषी जानकर भौतिक कष्टों से शान्ति प्राप्त करते हैं।" अतएव मनुष्य को चाहिए कि कृष्णभावनामृत ग्रहण करे और अनुष्ठानपूर्वक कार्य करते हए कृष्णभावनामृत में प्रगति करे। तभी मनुष्य को शान्ति तथा ज्ञानमय नित्य आनन्दपूर्ण जीवन प्राप्त हो सकता है।

स कदाचिदुपासीन आत्मापह्नवमात्मनः ।

ददर्श बह्वृचाचार्यो मीनसङ्गसमुत्थितम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, सौभरि मुनि; कदाचित्—एक दिन; उपासीनः—बैठा हुआ; आत्म-अपह्नवम्—तपस्या के पद से च्युत होकर; आत्मनः—स्वयं; ददर्श—देखा; बहु-ऋच-आचार्यः—मंत्रों के उच्चारण में पटु सौभरि मुनि; मीन-सङ्ग—मछली का मैथुन; समुत्थितम्—इस घटना से उत्पन्न।

तत्पश्चात् मंत्रोच्चार करने में पटु सौभरि मुनि एक दिन जब एकान्त स्थान में बैठे थे, तो उन्होंने अपने पतन के कारण के विषय में सोचा। कारण यही था कि उन्होंने एक मछली के मैथुन से अपने आपको सम्बद्ध कर दिया था।

तात्पर्य : विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि सौभरि मुनि का उनकी तपस्या से पतन *वैष्णव अपराध* के कारण हुआ था। कथा इस प्रकार है कि जब गरुड़ ने मछली को खाना चाहा तो सौभरि मुनि ने बिना कारण उस मछली को अपनी शरण में रख लिया। चूँकि गरुड़ उस मछली को न खा पाने से निराश हुआ, इसलिए सौभरि मुनि ने एक वैष्णव के प्रति एक घोर अपराध किया था। इस वैष्णव अपराध के कारण सौभरि मुनि का योग तपस्या के उच्च पद से पतन हुआ। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वैष्णव के कार्य में बाधा न डाले। हमें सौभरि मुनि से सम्बन्धित इस घटना से यही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

अहो इमं पश्यत मे विनाशं
तपस्विनः सच्चरितव्रतस्य ।
अन्तर्जले वारिचरप्रसङ्गात्
प्रच्यावितं ब्रह्म चिरं धृतं यत् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; इमम्—यह; पश्यत—जरा देखो तो; मे—मेरा; विनाशम्—पतन; तपस्विनः—तपस्वी; सत्-चरित—अच्छे चरित्र वाला; व्रतस्य—व्रत धारण करने वाले का; अन्तः-जले—जल के भीतर; वारि-चर-प्रसङ्गात्—जलचरों के मैथुन कार्य से; प्रच्यावितम्—गिरा हुआ; ब्रह्म—ब्रह्म-साक्षात्कार या तपस्या के कार्यों से; चिरम्—दीर्घकाल तक; धृतम्—किये गये; यत्—जो।

ओह! गम्भीर जल के भीतर तपस्या करने पर भी तथा साधु पुरुषों द्वारा अभ्यास किये जाने वाले सारे विधि-विधानों का पालन करते हुए भी मैंने मात्र मछली के मैथुन-सान्निध्य के कारण अपनी दीर्घकालीन तपस्या का फल हाथों से जाने दिया। हर एक को इस पतन को देखकर इससे सीख लेनी चाहिए।

सङ्गं त्यजेत मिथुनव्रतीनां मुमुक्षुः

सर्वात्मना न विसृजेद्बहिरिन्द्रियाणि ।
एकश्चरन्रहसि चित्तमनन्त ईशे
युञ्जीत तद्व्रतिषु साधुषु चेत्प्रसङ्गः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

सङ्गम्—संगति; त्यजेत—छोड़ देना चाहिए; मिथुन-व्रतीनाम्—वैध या अवैध मैथुन कार्यों में लगे रहने वाले व्यक्तियों का; मुमुक्षुः—मोक्ष चाहने वाले व्यक्ति; सर्व-आत्मना—सभी प्रकार से; न—नहीं; विसृजेत्—काम में लगाये; बहिः-इन्द्रियाणि—बाहरी इन्द्रियों को; एकः—अकेले; चरन्—घूमते हुए; रहसि—एकान्त स्थान में; चित्तम्—मन; अनन्ते ईशे—असीम भगवान् के चरणकमलों पर स्थिर; युञ्जीत—लगाये; तत्-व्रतिषु—एक ही कोटि के लोगों के साथ (जो भवबन्धन से मोक्ष के कामी हों); साधुषु—ऐसे पुरुषों की; चेत्—यदि; प्रसङ्गः—संगति।

भवबन्धन से मोक्ष की कामना करने वाले पुरुष को वासनामय जीवन में रुचि रखने वाले व्यक्तियों की संगति छोड़ देनी चाहिए और अपनी इन्द्रियों को किसी बाह्यकर्म में (देखने, सुनने, बोलने, चलने इत्यादि) नहीं लगाना चाहिए। उसे सदैव एकान्त स्थान में ठहरना चाहिए और मन को अनन्त भगवान् के चरणकमलों पर पूर्णतः स्थिर करना चाहिए। यदि कोई संगति करनी भी हो तो उसे उसी प्रकार के कार्य में लगे पुरुषों की संगति करनी चाहिए।

तात्पर्य : सौभरि मुनि अपने अनुभव से प्राप्त निष्कर्षों को हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हुए उपदेश देते हैं कि भवसागर को पार करने की इच्छा रखने वाले मनुष्यों को वासनामय जीवन और धन-संग्रह में व्यस्त रहने वाले मनुष्यों की संगति त्याग देनी चाहिए। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी यही उपदेश दिया है :

निष्किञ्चनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य

पारं परं जिगमिषोर्भवसागरस्य।

सन्दर्शनं विषयिणामथ योषितां च

हा हन्त हन्त विषभक्षणतोऽप्यसाधु॥

(चैतन्य चन्द्रोदय नाटक ८.२७)

"ओह! भवसागर को पार करने की तथा बिना किसी कामना के भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में व्यस्त रहने की सच्ची इच्छा रखने वाले के लिए इन्द्रियतृप्ति में लगे भौतिकतावादी को देखना तथा इसी प्रकार की रुचि वाली स्त्री को देखना जानबूझ कर विषपान करने से भी घृणित है।"

जो व्यक्ति भवबन्धन से पूर्ण छुटकारा पाना चाहता है उसे भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगना चाहिए। उसे विषयी पुरुषों की संगति नहीं करनी चाहिए। हर भौतिकतावादी व्यक्ति काम-वासना में रुचि

रखता है। इस तरह सीधे-सादे शब्दों में यह सलाह दी गई है कि उच्च साधुपुरुष को भौतिकतावादी प्रवृत्ति वाले लोगों की संगति से बचकर रहना चाहिए। श्रील नरोत्तम दास ठाकुर भी आचार्यों की सेवा करने के लिए संस्तुति करते हैं और यदि किसी की संगति करनी ही है तो भक्तों की संगति करनी चाहिए (*तांदेर चरण सेवि भक्त-सने वास*)। कृष्णभावनामृत आन्दोलन भक्त उत्पन्न करने के लिए अपने अनेक केन्द्रों की स्थापना कर रहा है जिससे ऐसे केन्द्रों के सदस्यों से सम्पर्क बढ़ाने से लोगों को भौतिक कार्यों में स्वत: अरुचि होने लगे। यद्यपि यह अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी प्रस्ताव है, किन्तु यह संघटन भगवान् चैतन्य महाप्रभु की दया से प्रभावशाली सिद्ध हो रहा है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्यों की क्रमश: संगति करने, केवल प्रसाद ग्रहण करने तथा हरे कृष्णमंत्र का कीर्तन करने से सामान्य लोग काफी ऊँचे उठ जाते हैं। सौभरि मुनि को पश्चात्ताप हो रहा है कि अत्यंत गहरे जल में भी वे बुरी संगति में रहे और मैथुनरत मछली की कुसंगति से उनका पतन हुआ। एकान्त स्थान भी तब तक सुरक्षित नहीं होता जब तक वहाँ अच्छी संगति न मिले।

एकस्तपस्व्यहमथाम्भसि मत्स्यसङ्गात्
पञ्चाशदासमुत पञ्चसहस्त्रसर्गः ।
नान्तं व्रजाम्युभयकृत्यमनोरथानां
मायागुणैर्हृतमतिर्विषयेऽर्थभावः ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

एकः—एकमात्र; तपस्वी—मुनि; अहम्—मैंने; अथ—इस प्रकार; अम्भसि—गहरे जल में; मत्स्य-सङ्गात्—मछली की संगति में रहने से; पञ्चाशत्—पचास; आसम्—पत्नियाँ प्राप्त कीं; उत—हर एक से सौ-सौ पुत्र उत्पन्न करना दूर रहा; पञ्च-सहस्त्र-सर्गः—पाँच हजार सन्ताने; न अन्तम्—कोई अन्त नहीं; व्रजामि—ढूँढ सकता हूँ; उभय-कृत्य—इस जन्म तथा अगले जन्म के कार्य; मनोरथानाम्—मनोरथ; माया-गुणैः—प्रकृति के गुणों द्वारा प्रभावित; हृत—खोया हुआ; मतिः विषये—भौतिक वस्तुओं के लिए विशेष आकर्षण; अर्थ-भावः—स्वार्थ की बातें।

शुरू में मैं अकेला था और योग की तपस्या करता रहता था, किन्तु बाद में मैथुनरत मछली की संगति के कारण मुझमें विवाह करने की इच्छा जगी। तब मैं पचास पत्नियों का पति बन गया और हर एक ने एक एक सौ पुत्र उत्पन्न किये। इस तरह मेरे परिवार में पाँच हजार सदस्य हो गये। प्रकृति के गुणों से प्रभावित होकर मेरा पतन हुआ और मैंने सोचा कि भौतिक जीवन में मैं सुखी रहूँगा। इस तरह इस जीवन तथा अगले जीवन में भोग के लिए मेरी इच्छाओं का कोई अन्त नहीं है।

एवं वसन्गृहे कालं विरक्तो न्यासमास्थितः ।

वनं जगामानुययुस्तत्पत्न्य: पतिदेवता: ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; वसन्—रहते हुए; गृहे—घर पर; कालम्—समय बिताकर; विरक्त:—विरक्त हो गया; न्यासम्—वानप्रस्थ आश्रम में; आस्थित:—स्थित हो गया; वनम्—जंगल में; जगाम—वह चला गया; अनुययु:—उसके पीछे-पीछे; तत्-पत्न्य:—उसकी सारी पत्नियाँ; पति-देवता:—क्योंकि पति ही उनका एकमात्र आराध्य था।

इस तरह उसने कुछ काल तक घरेलू कार्यों में अपना जीवन बिताया लेकिन बाद में वह भौतिक भोग से विरक्त हो गया। उसने भौतिक संगति का परित्याग करने के लिए वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण किया और फिर वह जंगल में चला गया। पतिपरायणा पत्नियों ने उसका अनुसरण किया क्योंकि अपने पति के अतिरिक्त उनका कोई आश्रय न था।

तत्र तप्त्वा तपस्तीक्ष्णमात्मदर्शनमात्मवान् ।
सहैवाग्निभिरात्मानं युयोज परमात्मनि ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

तत्र—जंगल में; तप्त्वा—तपस्या करते हुए; तप:—तपस्या के नियम; तीक्ष्णम्—अत्यन्त कठोर; आत्म-दर्शनम्—आत्म-साक्षात्कार में सहायक; आत्मवान्—आत्म से अभिज्ञ; सह—साथ में; एव—निश्चय ही; अग्निभि:—अग्नियों के; आत्मानम्—स्वयं को; युयोज—लगाया; परम-आत्मनि—परमात्मा में।

जब आत्मवान सौभरि मुनि जंगल में चले गये तो उन्होंने कठोर तपस्याएँ कीं। इस तरह अन्तत: मृत्यु के समय उन्होंने अग्नि में स्वयं को भगवान् की सेवा में लगा दिया।

तात्पर्य : मृत्यु के समय अग्नि स्थूल शरीर को जला डालती है और यदि भौतिक भोग की कोई इच्छा नहीं होती तो सूक्ष्म शरीर का भी अन्त हो जाता है, केवल शुद्ध आत्मा बचा रहता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है (*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति*)। यदि मनुष्य स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार के भौतिक देहों के बन्धन से मुक्त होता है और शुद्ध आत्मा बना रहता है तो वह भगवान् की सेवा करने के लिए भगवद्धाम वापस जाता है। *त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति*—वह भगवद्धाम को वापस जाता है। इस तरह ऐसा लगता है कि सौभरि मुनि को वह पूर्ण अवस्था प्राप्त हुई थी।

ता: स्वपत्युर्महाराज निरीक्ष्याध्यात्मिकीं गतिम् ।
अन्वीयुस्तत्प्रभावेण अग्निं शान्तमिवार्चिष: ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

ताः—सौभरि की सारी पत्नियाँ; स्व-पत्युः—अपने पति के साथ; महाराज—हे राजा परीक्षित; निरीक्ष्य—देखकर; अध्यात्मिकीम्—आध्यात्मिक; गतिम्—प्रगति; अन्वीयुः—अनुसरण किया; तत्-प्रभावेण—यद्यपि वे अयोग्य थीं किन्तु अपने पति के प्रभाव से, वे भी आध्यात्मिक लोक को चली गईं; अग्निम्—अग्नि; शान्तम्—पूर्णतया एकाकार; इव—सदृश; अर्चिषः—लपटें।

हे महाराज परीक्षित, अपने पति को आध्यात्मिक जगत की ओर प्रगति करते देखकर सौभरि मुनि की पत्नियाँ भी मुनि की आध्यात्मिक शक्ति से वैकुण्ठलोक में प्रवेश करने में समर्थ हुईं जिस तरह अग्नि बुझाने पर अग्नि की ज्वालाएँ शमित हो जाती हैं।

तात्पर्य : जैसा कि *भगवद्गीता* (९.३२) में कहा गया है—*स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्*। आध्यात्मिक नियमों का पालन करने में स्त्रियाँ पर्याप्त बलशाली नहीं मानी जातीं, किन्तु यदि कोई इतनी भाग्यशाली हो कि उसे ऐसा पति मिले जो अध्यात्म विद्या में बढ़ा-चढ़ा हो और यदि वह उसकी सेवा करती हो तो उसे भी अपने पति के समान लाभ मिलता है। यहाँ यह स्पष्ट तौर पर कहा गया है कि सौभरि मुनि की पत्नियाँ भी अपने पति के प्रभाव से वैकुण्ठलोक में प्रवेश कर गईं। सौभरि की पत्नियाँ अयोग्य थीं, किन्तु अपने पति की आज्ञाकारिणी होने से वे भी उसके साथ वैकुण्ठलोक में प्रविष्ट हुईं। इस तरह स्त्री को अपने पति की आज्ञाकारिणी दासी होना चाहिए और यदि पति आध्यात्मवादी है तो स्त्री को भी वैकुण्ठ जाने का अवसर स्वयमेव मिल जायेगा।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध के अन्तर्गत ''सौभरि मुनि का पतन'' नामक छठे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सात

राजा मान्धाता के वंशज

इस अध्याय में मान्धाता के वंशजों का वर्णन हुआ है और उसी प्रसंग में पुरुकुत्स तथा हरिश्चन्द्र की भी कथाएँ दी गई हैं।

मान्धाता का सबसे प्रसिद्ध पुत्र अम्बरीष था जिसका पुत्र यौवनाश्व हुआ और यौवनाश्व का पुत्र हारीत हुआ। ये तीनों पुरुष मान्धाता के वंश में सर्वश्रेष्ठ थे। मान्धाता के दूसरे पुत्र पुरुकुत्स ने सर्पगण की बहिन नर्मदा से विवाह किया। उसका पुत्र त्रसद्दस्यु हुआ जिसका पुत्र अनरण्य था। अनरण्य का पुत्र हर्यश्व हुआ और हर्यश्व का पुत्र प्रारुण था। प्रारुण का पुत्र त्रिबन्धन हुआ जिसका पुत्र सत्यव्रत हुआ जो त्रिशंकु भी कहलाता था। जब त्रिशंकु ने एक ब्राह्मणपुत्री का अपहरण किया तो उसके पिता ने इस पापकर्म के लिए उसे शाप दिया जिससे वह शूद्र से भी अधम एक चण्डाल बन गया। बाद में विश्वामित्र के प्रभाव से वह स्वर्ग लाया गया, किन्तु देवताओं के प्रभाव के कारण उसे पुन: नीचे गिरना पड़ा। तो भी विश्वामित्र ने उसे नीचे गिरते हुए बीच में ही रोक दिया। त्रिशंकु का पुत्र हरिश्चन्द्र था जिसने एक बार राजसूय यज्ञ किया, किन्तु विश्वामित्र ने चालाकी से उसकी सारी सम्पत्ति दक्षिणा में ले ली और उसे अनेक प्रकार से प्रताड़ित किया। इससे विश्वामित्र तथा वसिष्ठ में झगड़ा उठ खड़ा हुआ। हरिश्चन्द्र के कोई सन्तान न थी लेकिन नारद के कहने पर जब उसने वरुण की उपासना की तो उसके रोहित नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। हरिश्चन्द्र ने वचन दिया था कि वरुण यज्ञ के लिए रोहित की बलि दी जायेगी। वरुण ने हरिश्चन्द्र को इस यज्ञ के लिए बारम्बार स्मरण कराया, किन्तु पुत्र-स्नेह के कारण उसकी बलि देने से बचने के लिए वह बहाने बनाता रहा। इस तरह समय बीतता गया और उसका पुत्र धीरे-धीरे बड़ा हो गया। तब वह लड़का हाथ में धनुषबाण लेकर अपने जीवन की रक्षा करने के लिए जंगल चला गया। इसी बीच हरिश्चन्द्र को वरुण के आक्रमण के फलस्वरूप जलोदर हो गया। जब रोहित को अपने पिता की बीमारी का पता लगा तो वह राजधानी में वापस आना चाहता था, किन्तु इन्द्र ने ऐसा करने से मना कर दिया। इन्द्र के कहने से रोहित जंगल में छ: वर्षों तक रहा और फिर घर लौटा। उसने अजीगर्त के द्वितीय पुत्र शुन:शेफ को खरीदकर उसे अपने पिता को दे दिया जिससे उसकी पशु-बलि चढ़ सके। इस तरह यज्ञ सम्पन्न हुआ, वरुण तथा अन्य देवता शान्त

हुए और हरिश्चन्द्र रोगमुक्त हो गया। इस यज्ञ में विश्वामित्र होता पुरोहित थे, जमदग्नि अध्वर्यु थे, वसिष्ठ ब्रह्मा थे और अयास्य उद्गाता थे। इन्द्र ने इस यज्ञ से परम प्रसन्न होकरहरिश्चन्द्र को सुनहला रथ दिया और विश्वामित्र ने उसे दिव्य ज्ञान प्रदान किया। इस प्रकार शुकदेव गोस्वामी ने इसका वर्णन किया है कि हरिश्चन्द्र ने किस तरह सिद्धि प्राप्त की।

श्रीशुक उवाच
मान्धातुः पुत्रप्रवरो योऽम्बरीषः प्रकीर्तितः ।
पितामहेन प्रवृतो यौवनाश्वस्तु तत्सुतः ।
हारीतस्तस्य पुत्रोऽभून्मान्धातृप्रवरा इमे ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; मान्धातुः—मान्धाता का; पुत्र-प्रवरः—प्रमुख पुत्र; यः—जो; अम्बरीषः—अम्बरीष; प्रकीर्तितः—विख्यात; पितामहेन—अपने बाबा युवनाश्व द्वारा; प्रवृतः—स्वीकृत; यौवनाश्वः—यौवनाश्व; तु—तथा; तत्-सुतः—अम्बरीष का पुत्र; हारीतः—हारीत; तस्य—यौवनाश्व का; पुत्रः—पुत्र; अभूत्—हुआ; मान्धातृ—मान्धाता के वंश में; प्रवराः—अत्यन्त प्रमुख; इमे—ये सभी।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : मान्धाता का सर्वप्रमुख पुत्र अम्बरीष नाम से विख्यात हुआ। अम्बरीष को उसके बाबा युवनाश्व ने पुत्र रूप में स्वीकार किया। अम्बरीष का पुत्र यौवनाश्व हुआ और यौवनाश्व का पुत्र हारीत था। मान्धाता के वंश में अम्बरीष, हारीत तथा यौवनाश्व अत्यन्त प्रमुख थे।

नर्मदा भ्रातृभिर्दत्ता पुरुकुत्साय योरगैः ।
तया रसातलं नीतो भुजगेन्द्रप्रयुक्तया ॥ २ ॥

शब्दार्थ

नर्मदा—नर्मदा नामक; भ्रातृभिः—अपने भाइयों से; दत्ता—दान में दी गई; पुरुकुत्साय—पुरुकुत्स को; या—जो; उरगैः—सर्पों (सर्पगण) द्वारा; तया—उसके द्वारा; रसातलम्—ब्रह्माण्ड के निम्न भागों को; नीतः—ले जाया गया; भुजग-इन्द्र-प्रयुक्तया—सर्पों के राजा वासुकि द्वारा लगाया गया।

नर्मदा के सर्प-भाइयों ने उसे पुरुकुत्स को दे दिया। वासुकि द्वारा भेजे जाने पर नर्मदा पुरुकुत्स को ब्रह्माण्ड के निम्न भाग (रसातल) में ले गई।

तात्पर्य : शुकदेव गोस्वामी मान्धाता के पुत्र पुरुकुत्स के वंशजों का वर्णन करने से पूर्व सर्वप्रथम यह बतलाते हैं कि पुरुकुत्स नर्मदा से किस तरह ब्याहा गया जिसे उसे रसातल ले जाने के लिए प्रेरित किया गया।

गन्धर्वानवधीत्तत्र वध्यान्वै विष्णुशक्तिधृक् ।
नागाल्लब्धवरः सर्पादभयं स्मरतामिदम् ॥ ३॥

शब्दार्थ

गन्धर्वान्—गन्धर्वलोक के निवासियों को; अवधीत्—मार डाला; तत्र—वहाँ (रसातल में); वध्यान्—वध करने के योग्य; वै—निस्सन्देह; विष्णु-शक्ति-धृक्—भगवान् विष्णु द्वारा शक्ति प्रदत्त; नागात्—नागों से; लब्ध-वरः—वर प्राप्त करके; सर्पात्—सर्पों से; अभयम्—आश्वासन; स्मरताम्—स्मरण करने वालों को; इदम्—यह घटना।.

रसातल में भगवान् विष्णु द्वारा शक्ति प्रदान किये जाने के कारण पुरुकुत्स मारे जाने के योग्य सभी गन्धर्वों का वध करने में समर्थ हो गया। पुरुकुत्स को सर्पों से यह वर प्राप्त हुआ कि जो कोई नर्मदा द्वारा रसातल में उसके लाये जाने के इतिहास को स्मरण करेगा उसे सर्पों के आक्रमण से सुरक्षा प्रदान की जायेगी।

त्रसद्दस्युः पौरुकुत्सो योऽनरण्यस्य देहकृत् ।
हर्यश्वस्तत्सुतस्तस्मात्प्रारुणोऽथ त्रिबन्धनः ॥ ४॥

शब्दार्थ

त्रसद्दस्युः—त्रसद्दस्यु नामक; पौरुकुत्सः—पुरुकुत्स का पुत्र; यः—जो; अनरण्यस्य—अनरण्य का; देह-कृत्—पिता; हर्यश्वः—हर्यश्व; तत्-सुतः—अनरण्य का पुत्र; तस्मात्—उस (हर्यश्व) से; प्रारुणः—प्रारुण; अथ—तब, प्रारुण से; त्रिबन्धनः—उसका पुत्र त्रिबन्धन।.

पुरुकुत्स का पुत्र त्रसद्दस्यु हुआ जो अनरण्य का पिता था। अनरण्य का पुत्र हर्यश्व हुआ जो प्रारुण का पिता बना। प्रारुण का पुत्र त्रिबन्धन हुआ।

तस्य सत्यव्रतः पुत्रस्त्रिशङ्कुरिति विश्रुतः ।
प्राप्तश्चाण्डालतां शापाद्गुरोः कौशिकतेजसा ॥ ५॥
सशरीरो गतः स्वर्गमद्यापि दिवि दृश्यते ।
पातितोऽवाक्शिरा देवैस्तेनैव स्तम्भितो बलात् ॥ ६॥

शब्दार्थ

तस्य—त्रिबन्धन का; सत्यव्रतः—सत्यव्रत; पुत्रः—पुत्र; त्रिशङ्कुः—त्रिशंकु; इति—इस प्रकार; विश्रुतः—विख्यात; प्राप्तः—प्राप्त किया था; चाण्डालताम्—चण्डाल के गुण, जो शूद्र से भी अधम होता है; शापात्—शाप से; गुरोः—अपने गुरु के; कौशिक-तेजसा—कौशिक (विश्वामित्र) की शक्ति से; सशरीरः—इस शरीर सहित; गतः—गया; स्वर्गम्—स्वर्गलोक को; अद्य अपि—आज भी; दिवि—आकाश में; दृश्यते—देखा जा सकता है; पातितः—गिराया जाकर; अवाक्-शिराः—सिर नीचे किये लटकता हुआ; देवैः—देवताओं की शक्ति से; तेन—विश्वामित्र द्वारा; एव—निस्सन्देह; स्तम्भितः—स्थिर; बलात्—बल से।.

त्रिबन्धन का पुत्र सत्यव्रत था जो त्रिशंकु नाम से विख्यात है। चूँकि उसने विवाह-मण्डप से एक ब्राह्मणपुत्री का अपहरण कर लिया था इसलिए उसके पिता ने उसे चण्डाल बनने का शाप दे दिया जो शूद्र से भी नीचे होता है। तत्पश्चात् विश्वामित्र के प्रभाव से वह सदेह स्वर्गलोक गया, किन्तु

देवताओं के पराक्रम से वह पुनः नीचे गिर गया। तो भी विश्वामित्र की शक्ति से वह एकदम नीचे नहीं गिरा। आज भी वह आकाश में सिर के बल लटकता देखा जा सकता है।

त्रैशङ्कवो हरिश्चन्द्रो विश्वामित्रवसिष्ठयोः ।
यन्निमित्तमभूद्युद्धं पक्षिणोर्बहुवार्षिकम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

त्रैशङ्कवः—त्रिशंकु का पुत्र; हरिश्चन्द्रः—हरिश्चन्द्र; विश्वामित्र-वसिष्ठयोः—विश्वामित्र तथा वसिष्ठ के मध्य; यत्-निमित्तम्—हरिश्चन्द्र को लेकर; अभूत्—हुआ; युद्धम्—भीषण लड़ाई; पक्षिणोः—दोनों पक्षी के रूप में बदल दिये गये थे; बहु-वार्षिकम्—अनेक वर्षों तक।

त्रिशंकु का पुत्र हरिश्चन्द्र हुआ। हरिश्चन्द्र को लेकर विश्वामित्र तथा वसिष्ठ में युद्ध हुआ। वे दोनों पक्षी के रूप में बदले जाकर वर्षों तक लड़ते रहे।

तात्पर्य : विश्वामित्र तथा वसिष्ठ सदा एक दूसरे के शत्रु बने रहे। पहले विश्वामित्र क्षत्रिय थे और अपनी कठोर तपस्या द्वारा ब्राह्मण बनना चाहते थे, किन्तु वसिष्ठ उसे स्वीकार नहीं करना चाहते थे। इस तरह दोनों में नित्य विरोध उत्पन्न होता रहा। किन्तु बाद में विश्वामित्र के क्षमा माँगने पर वसिष्ठ ने उसे स्वीकार कर लिया। एक बार हरिश्चन्द्र ने एक यज्ञ किया जिसके पुरोहित विश्वामित्र बने। किन्तु अप्रसन्न होने के कारण विश्वामित्र ने हरिश्चन्द्र की सारी सम्पत्ति दक्षिणा के रूप में माँग ली। यह वसिष्ठ को अच्छा नहीं लगा अतएव वसिष्ठ तथा विश्वामित्र में युद्ध हुआ। इस घोर युद्ध में उन्होंने एक दूसरे को शाप दे डाला। एक ने कहा ''तुम पक्षी बन जाओ'' और दूसरे ने कहा ''तुम बत्तख बन जाओ।'' इस तरह दोनों पक्षी बनकर वर्षों तक हरिश्चन्द्र के कारण लड़ते रहे। हम देखते हैं कि सौभरि जैसा महान् योगी काम-वासना का शिकार बना और वसिष्ठ तथा विश्वामित्र जैसे महर्षि पक्षी बने। यही तो भौतिक संसार है। *आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।* इस भौतिक जगत में या इस ब्रह्माण्ड में कोई भौतिक गुणों में कितना ही महान् क्यों न हो उसे जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग सहने पड़ते हैं (*जन्ममृत्युजराव्याधि*)। इसीलिए कृष्ण कहते हैं कि यह संसार मात्र कष्टमय है (*दुःखालयमशाश्वतम्*)। *भागवत* का कथन है—*पदं पदं यद्विपदाम्*—यहाँ प्रत्येक पग पर संकट है। अतएव कृष्णभावनामृत आन्दोलन मनुष्य को हरे कृष्ण मंत्र के कीर्तन मात्र से इस भौतिक जगत से बाहर निकलने का अवसर प्रदान करने के कारण मानव समाज के लिए सर्वोच्च वर है।

सोऽनपत्यो विषण्णात्मा नारदस्योपदेशतः ।
वरुणं शरणं यातः पुत्रो मे जायतां प्रभो ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अनपत्यः—सन्तानहीन; विषण्ण-आत्मा—अत्यन्त खिन्न; नारदस्य—नारद के; उपदेशतः—उपदेश से; वरुणम्—वरुण की; शरणम् यातः—शरण में गया; पुत्रः—पुत्र; मे—मेरे; जायताम्—उत्पन्न हो; प्रभो—हे प्रभु।

हरिश्चन्द्र के कोई पुत्र न था; अतएव वह अत्यन्त खिन्न रहता था। अतएव एक बार नारद मुनि के उपदेश से उसने वरुण की शरण ग्रहण की और उनसे कहा "हे प्रभु, मेरे कोई पुत्र नहीं है। क्या आप मुझे एक पुत्र दे सकेंगे?"

यदि वीरो महाराज तेनैव त्वां यजे इति ।
तथेति वरुणेनास्य पुत्रो जातस्तु रोहितः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; वीरः—पुत्र होगा; महाराज—हे महाराज परीक्षित; तेन एव—उस पुत्र से भी; त्वाम्—तुमको; यजे—मैं यज्ञ करूँगा; इति—इस प्रकार; तथा—जैसी तुम्हारी इच्छा; इति—इस प्रकार स्वीकार किया गया; वरुणेन—वरुण द्वारा; अस्य—महाराज हरिश्चन्द्र का; पुत्रः—पुत्र; जातः—उत्पन्न हुआ; तु—निस्सन्देह; रोहितः—रोहित नामक।

हे राजा परीक्षित, हरिश्चन्द्र ने वरुण से याचना की, "हे प्रभु, यदि मेरे पुत्र उत्पन्न होगा तो मैं आपकी तुष्टि के लिए उसी से एक यज्ञ करूँगा।" जब हरिश्चन्द्र ने यह कहा तो वरुण ने उत्तर दिया "एवमस्तु," वरुण के आशीर्वाद से हरिश्चन्द्र के रोहित नाम का पुत्र हुआ।

जातः सुतो ह्यनेनाङ्ग मां यजस्वेति सोऽब्रवीत् ।
यदा पशुर्निर्दशः स्यादथ मेध्यो भवेदिति ॥ १० ॥

शब्दार्थ

जातः—उत्पन्न हो गया; सुतः—पुत्र; हि—निस्सन्देह; अनेन—इस पुत्र से; अङ्ग—हे हरिश्चन्द्र; माम्—मुझको; यजस्व—यज्ञ करना; इति—इस प्रकार; सः—वह (वरुण); अब्रवीत्—कहा; यदा—जब; पशुः—पशु; निर्दशः—दस दिन बीतें; स्यात्—हो जाये; अथ—तब; मेध्यः—यज्ञ में भेंट करने योग्य; भवेत्—हो जाये; इति—इस प्रकार (हरिश्चन्द्र ने कहा)।

अतः, जब पुत्र उत्पन्न हो गया तो वरुण ने हरिश्चन्द्र के पास आकर कहा "अब तुम्हारे पुत्र हो गया है। तुम इस पुत्र से मेरा यज्ञ कर सकते हो।" इसके उत्तर में हरिश्चन्द्र ने कहा "पशु अपने जन्म के दस दिन बाद ही यज्ञ (बलि दिये जाने) के योग्य होता है।"

निर्दशे च स आगत्य यजस्वेत्याह सोऽब्रवीत् ।
दन्ताः पशोर्यज्जायेरन्नथ मेध्यो भवेदिति ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

निर्दशे—दस दिन बाद; च—भी; सः—वह, वरुण; आगत्य—यहाँ आकर; यजस्व—अब यज्ञ करो; इति—इस प्रकार; आह—कहा; सः—उसने, हरिश्चन्द्र ने; अब्रवीत्—उत्तर दिया; दन्ताः—दाँत; पशोः—पशु के; यत्—जब; जायेरन्—प्रकट हो जाएँ; अथ—तब; मेध्यः—बलि देने के योग्य; भवेत्—हो जायेगा; इति—इस प्रकार।

दस दिन बाद वरुण पुनः आया और हरिश्चन्द्र से कहा "अब तुम यज्ञ कर सकते हो।" हरिश्चन्द्र ने उत्तर दिया, "जब पशु के दाँत आ जाते हैं तो वह बलि देने के योग्य शुद्ध बनता है।"

दन्ता जाता यजस्वेति स प्रत्याहाथ सोऽब्रवीत् ।
यदा पतन्त्यस्य दन्ता अथ मेध्यो भवेदिति ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

दन्ताः—दाँत; जाताः—उग आये; यजस्व—अब बलि दो; इति—इस प्रकार; सः—वह वरुण; प्रत्याह—बोला; अथ—तत्पश्चात्; सः—उसने, हरिश्चन्द्र ने; अब्रवीत्—उत्तर दिया; यदा—जब; पतन्ति—गिरते हैं; अस्य—उसके; दन्ताः—दाँत; अथ—तब; मेध्यः—बलि के योग्य; भवेत्—हो जायेगा; इति—इस प्रकार।

जब दाँत उग आये तो वरुण ने आकर हरिश्चन्द्र से कहा, "अब पशु के दाँत उग आये हैं। तुम यज्ञ कर सकते हो।" हरिश्चन्द्र ने उत्तर दिया, "जब इसके सारे दाँत गिर जायेंगे तो यह बलि के योग्य हो जायेगा।"

पशोर्निपतिता दन्ता यजस्वेत्याह सोऽब्रवीत् ।
यदा पशोः पुनर्दन्ता जायन्तेऽथ पशुः शुचिः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

पशोः—पशु के; निपतिताः—गिर चुके हैं; दन्ताः—दाँत; यजस्व—अब यज्ञ करो; इति—इस प्रकार; आह—कहा; सः—उसने, हरिश्चन्द्र ने; अब्रवीत्—उत्तर दिया; यदा—जब; पशोः—पशु के; पुनः—फिर; दन्ताः—दाँत; जायन्ते—उगते हैं; अथ—तब; पशुः—पशु; शुचिः—बलि देने के लिए पवित्र होता है।

जब दाँत गिर चुके तो वरुण फिर आया और हरिश्चन्द्र से बोला "अब पशु के दाँत गिर चुके हैं और तुम यज्ञ कर सकते हो।" किन्तु हरिश्चन्द्र ने उत्तर दिया, "जब पशु के दाँत फिर से उग आयेंगे तो वह बलि देने के लिए अत्यन्त शुद्ध होगा।"

पुनर्जाता यजस्वेति स प्रत्याहाथ सोऽब्रवीत् ।
सान्नाहिको यदा राजन्राजन्योऽथ पशुः शुचिः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

पुनः—फिर से; जाताः—उग आये हैं; यजस्व—बलि चढ़ाओ; इति—इस प्रकार; सः—उसने, वरुण ने; प्रत्याह—उत्तर दिया; अथ—तत्पश्चात्; सः—वह, हरिश्चन्द्र; अब्रवीत्—बोला; सान्नाहिकः—ढाल से अपने को सजाने में समर्थ; यदा—जब; राजन्—हे राजा वरुण; राजन्यः—क्षत्रिय; अथ—तब; पशुः—बलि पशु; शुचिः—पवित्र हो जाता है।

जब दाँत फिर से उग आये तो वरुण फिर आया और हरिश्चन्द्र से बोला, ''अब तुम यज्ञ कर सकते हो।'' किन्तु तब हरिश्चन्द्र ने कहा, ''हे राजा, जब बलि का पशु क्षत्रिय बन जाता है और वह अपने शत्रु से अपनी रक्षा करने में समर्थ हो जाता है, तभी वह शुद्ध बनेगा।''

इति पुत्रानुरागेण स्नेहयन्त्रितचेतसा ।
कालं वञ्चयता तं तमुक्तो देवस्तमैक्षत ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; पुत्र-अनुरागेण—अपने पुत्र-स्नेह के कारण; स्नेह-यन्त्रित-चेतसा—मन ऐसे स्नेह के वशीभूत होकर; कालम्—समय को; वञ्चयता—ठगते हुए; तम्—उसको; तम्—वह; उक्तः—कहा; देवः—वरुण देव; तम्—उसको, हरिश्चन्द्र को; ऐक्षत—अपना वचन पालन किये जाने की प्रतीक्षा करता रहा।

हरिश्चन्द्र अपने पुत्र के प्रति अत्यधिक अनुरक्त था। इस स्नेह के कारण उसने वरुण देव से प्रतीक्षा करने के लिए कहा। इस तरह वरुण समय आने की प्रतीक्षा करता रहा।

रोहितस्तदभिज्ञाय पितुः कर्म चिकीर्षितम् ।
प्राणप्रेप्सुर्धनुष्पाणिररण्यं प्रत्यपद्यत ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

रोहितः—हरिश्चन्द्र का पुत्र; तत्—यह तथ्य; अभिज्ञाय—ठीक से समझकर; पितुः—पिता का; कर्म—काम; चिकीर्षितम्—जिसे वह व्यावहारिक रूप से कर रहा था; प्राण-प्रेप्सुः—जीवन बचाने की इच्छा से; धनुः-पाणिः—अपना धनुष बाण लेते हुए; अरण्यम्—जंगल; प्रत्यपद्यत—चला गया।

रोहित समझ गया कि उसके पिता उसे बलि का पशु बनाना चाहते हैं। अतएव मृत्यु से बचने के लिए उसने धनुष-बाण से अपने आपको सज्जित किया और वह जंगल में चला गया।

पितरं वरुणग्रस्तं श्रुत्वा जातमहोदरम् ।
रोहितो ग्राममेयाय तमिन्द्रः प्रत्यषेधत ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

पितरम्—अपने पिता के विषय में; वरुण-ग्रस्तम्—वरुण द्वारा जलोदर रोग से आक्रमण किया गया; श्रुत्वा—सुनकर; जात—बढ़ गया था; महा-उदरम्—फूला पेट; रोहितः—उसके पुत्र रोहित ने; ग्रामम् एयाय—राजधानी आना चाहता था; तम्—उसको; इन्द्रः—राजा इन्द्र ने; प्रत्यषेधत—वहाँ जाने से मना कर दिया।

जब रोहित ने सुना कि वरुण के कारण उसके पिता को जलोदर रोग हो गया है और उसका पेट फूल गया है तो वह राजधानी लौट आना चाहता था लेकिन राजा इन्द्र ने ऐसा करने से उसे मना कर दिया।

भूमेः पर्यटनं पुण्यं तीर्थक्षेत्रनिषेवणैः ।
रोहितायादिशच्छक्रः सोऽप्यरण्येऽवसत्समाम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

भूमेः—संसार भर का; पर्यटनम्—भ्रमण; पुण्यम्—पवित्र स्थानों को; तीर्थ-क्षेत्र—तीर्थ स्थल; निषेवणैः—ऐसे स्थानों में सेवा करने या आने जाने से; रोहिताय—रोहित को; आदिशत्—आज्ञा दी; शक्रः—इन्द्र ने; सः—वह, रोहित; अपि—भी; अरण्ये—जंगल में; अवसत्—रहता रहा; समाम्—एक वर्ष तक।

राजा इन्द्र ने रोहित को सलाह दी कि वह विभिन्न तीर्थस्थानों तथा पवित्र स्थलों की यात्रा करे क्योंकि ऐसे कार्य पवित्र होते हैं। इस आदेश का पालन करते हुए रोहित एक वर्ष के लिए जंगल में चला गया।

एवं द्वितीये तृतीये चतुर्थे पञ्चमे तथा ।
अभ्येत्याभ्येत्य स्थविरो विप्रो भूत्वाह वृत्रहा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; द्वितीये—दूसरे वर्ष; तृतीये—तीसरे वर्ष; चतुर्थे—चौथे वर्ष; पञ्चमे—पाँचवें वर्ष; तथा—और; अभ्येत्य—उसके सामने आकर; अभ्येत्य—फिर से उसके सामने आकर; स्थविरः—अत्यन्त वृद्ध पुरुष; विप्रः—ब्राह्मण; भूत्वा—बनकर; आह—कहा; वृत्र-हा—इन्द्र ने।

इस तरह द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा पंचम वर्षों के अन्त में जब-जब रोहित अपनी राजधानी लौटना चाहता तो इन्द्र एक वृद्ध ब्राह्मण के वेश में उसके पास पहुँचता और वापस जाने के लिए उसे मना करता। वह गत वर्ष जैसे ही शब्दों को फिर से दुहराता।

षष्ठं संवत्सरं तत्र चरित्वा रोहितः पुरीम् ।
उपव्रजन्नजीगर्तादक्रीणान्मध्यमं सुतम् ।
शुनःशेफं पशुं पित्रे प्रदाय समवन्दत ॥ २० ॥

शब्दार्थ

षष्ठम्—छठवें; संवत्सरम्—वर्ष; तत्र—उस जंगल में; चरित्वा—घूमकर; रोहितः—हरिश्चन्द्र का पुत्र; पुरीम्—अपनी राजधानी में; उपव्रजन्—वहाँ जाकर; अजीगर्तात्—अजीगर्त से; अक्रीणात्—मोल लिया; मध्यमम्—दूसरा; सुतम्—पुत्र; शुनःशेफम्—जिसका नाम शुनःशेफ था; पशुम्—बलि-पशु के रूप में; पित्रे—अपने पिता को; प्रदाय—देते हुए; समवन्दत—सादर नमस्कार किया।

तत्पश्चात् छठे वर्ष जंगल में घूमने के बाद रोहित अपने पिता की राजधानी में लौट आया। उसने अजीगर्त से उसके दूसरे पुत्र शुनःशेफ को मोल लिया। फिर उसे लाकर अपने पिता हरिश्चन्द्र को भेंट किया जिससे वह बलि-पशु के रूप में प्रयुक्त किया जा सके। उसने हरिश्चन्द्र को सादर नमस्कार

किया।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि उन दिनों मनुष्य को किसी भी कार्य के लिए खरीदा जा सकता था। हरिश्चन्द्र को ऐसे व्यक्ति की खोज थी जिसकी बलि यज्ञ में पशु के रूप में दी जा सके और इस तरह वरुण को दिया गया वचन पूरा किया जा सके। इसके लिए किसी अन्य व्यक्ति से एक मनुष्य खरीदा गया। लाखों वर्ष पूर्व पशु-बलि तथा दास-व्यापार दोनों प्रचलित थे। वास्तव में ये अनन्त काल से चले आ रहे हैं।

ततः पुरुषमेधेन हरिश्चन्द्रो महायशाः ।
मुक्तोदरोऽयजद्देवान्वरुणादीन्महत्कथः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; पुरुष-मेधेन—यज्ञ में मनुष्य की बलि देने से; हरिश्चन्द्रः—राजा हरिश्चन्द्र; महा-यशाः—अत्यन्त विख्यात; मुक्त-उदरः—जलोदर रोग से मुक्त हो गया; अयजत्—यज्ञ किया; देवान्—देवताओं को; वरुण-आदीन्—वरुण तथा अन्यों को; महत्-कथः—अन्य महापुरुषों के साथ इतिहास प्रसिद्ध।

तत्पश्चात् इतिहास के महापुरुष एवं सुप्रसिद्ध राजा हरिश्चन्द्र ने एक मनुष्य की बलि देकर महान् यज्ञ सम्पन्न किया और सारे देवताओं को प्रसन्न किया। इस प्रकार वरुण द्वारा उत्पन्न किया गया उसका जलोदर रोग जाता रहा।

विश्वामित्रोऽभवत्तस्मिन्होता चाध्वर्युरात्मवान् ।
जमदग्निरभूद्ब्रह्मा वसिष्ठोऽयास्यः सामगः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

विश्वामित्रः—ऋषि तथा योगी विश्वामित्र; अभवत्—बना; तस्मिन्—उस महान् यज्ञ में; होता—आहुति डालने वाला मुख्य पुरोहित; च—भी; अध्वर्युः—यजुर्वेद से स्तोत्र गाने वाला तथा कर्मकाण्ड कराने वाला व्यक्ति; आत्मवान्—पूर्णतया स्वरूपसिद्ध; जमदग्निः—जमदग्नि; अभूत्—बना; ब्रह्मा—मुख्य ब्राह्मण के रूप में; वसिष्ठः—एक मुनि; अयास्यः—अयास्य मुनि; साम-गः—सामवेद मंत्रों को गाने में लगा हुआ।

उस पुरुषमेध यज्ञ में विश्वामित्र होता थे, आत्मवान जमदग्नि अध्वर्यु थे, वसिष्ठ ब्रह्मा थे और अयास्य मुनि साम-गायक थे।

तस्मै तुष्टो ददाविन्द्रः शातकौम्भमयं रथम् ।
शुनःशेफस्य माहात्म्यमुपरिष्टात्प्रचक्ष्यते ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तस्मै—राजा हरिश्चन्द्र को; तुष्टः—अत्यन्त प्रसन्न होकर; ददौ—प्रदान किया; इन्द्रः—इन्द्र ने; शातकौम्भ-मयम्—स्वर्णनिर्मित; रथम्—रथ; शुनःशेफस्य—शुनःशेफ का; माहात्म्यम्—ख्याति; उपरिष्टात्—विश्वामित्र के पुत्रों का वर्णन करते समय; प्रचक्ष्यते—वर्णन किया जायेगा।

हरिश्चन्द्र से अत्यन्त प्रसन्न होकर राजा इन्द्र ने उसे सोने का रथ दान में दिया। शुनःशेफ की महिमाओं का वर्णन विश्वामित्र के पुत्र के वर्णन के साथ-साथ प्रस्तुत किया जायेगा।

सत्यं सारं धृतिं दृष्ट्वा सभार्यस्य च भूपतेः ।
विश्वामित्रो भृशं प्रीतो ददावविहतां गतिम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

सत्यम्—सत्य; सारम्—दृढ़ता; धृतिम्—सहनशीलता; दृष्ट्वा—देखकर; स-भार्यस्य—अपनी पत्नी सहित; च—तथा; भूपतेः—महाराज हरिश्चन्द्र का; विश्वामित्रः—मुनि विश्वामित्र; भृशम्—अत्यधिक; प्रीतः—प्रसन्न होकर; ददौ—उसे दिया; अविहताम् गतिम्—अक्षय ज्ञान।

विश्वामित्र ने देखा कि महाराज हरिश्चन्द्र अपनी पत्नी सहित सत्यप्रिय, सहिष्णु तथा दृढ़ था। इस तरह उन्होंने मानव उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हें अक्षय ज्ञान प्रदान किया।

मनः पृथिव्यां तामद्भिस्तेजसापोऽनिलेन तत् ।
खे वायुं धारयंस्तच्च भूतादौ तं महात्मनि ।
तस्मिञ्ज्ञानकलां ध्यात्वा तयाज्ञानं विनिर्दहन् ॥ २५ ॥
हित्वा तां स्वेन भावेन निर्वाणसुखसंविदा ।
अनिर्देश्याप्रतर्क्येण तस्थौ विध्वस्तबन्धनः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

मनः—मन (जो खाने, सोने, मैथुन करने तथा रक्षा करने की इच्छाओं से पूर्ण रहता है); पृथिव्याम्—पृथ्वी में; ताम्—उस; अद्भिः—जल से; तेजसा—तथा अग्नि से; अपः—जल; अनिलेन—अग्नि से; तत्—उस; खे—आकाश में; वायुम्—हवा; धारयन्—मिलाकर; तत्—वह; च—भी; भूत-आदौ—मिथ्या अहंकार में, जो संसार का उद्गम है; तम्—उस (मिथ्या अहंकार); महा-आत्मनि—महत् तत्त्व में; तस्मिन्—समग्र भौतिक शक्ति (महत्-तत्त्व) में; ज्ञान-कलाम्—आध्यात्मिक ज्ञान तथा इसकी विभिन्न शाखाएँ; ध्यात्वा—ध्यान द्वारा; तया—इस विधि से; अज्ञानम्—अज्ञान को; विनिर्दहन्—विशेष रूप से दमित; हित्वा—त्यागकर; ताम्—भौतिक इच्छा को; स्वेन—आत्म-साक्षात्कार के द्वारा; भावेन—भक्ति में; निर्वाण-सुख-संविदा—संसार का अन्त करके दिव्य आनन्द द्वारा; अनिर्देश्य—अवर्णनीय; अप्रतर्क्येण—अचिन्त्य; तस्थौ—रहता रहा; विध्वस्त—पूर्णतया मुक्त; बन्धनः—भौतिक बन्धन से।

इस प्रकार महाराज हरिश्चन्द्र ने पहले भौतिक भोग से पूर्ण अपने मन को पृथ्वी के साथ मिलाकर शुद्ध किया। तब उसने पृथ्वी को जल के साथ, जल को अग्नि के साथ, अग्नि को वायु के साथ तथा वायु को आकाश के साथ मिला दिया। तत्पश्चात् उसने आकाश को महत्-तत्त्व से और महत्-तत्त्व को आध्यात्मिक ज्ञान से मिला दिया। यह आध्यात्मिक ज्ञान अपने आपको भगवान् के अंश रूप में अनुभव करना है। जब स्वरूपसिद्ध जीव भगवान् की सेवा में लगता है तो वह नित्य रूप से

अवर्णनीय तथा अचिन्त्य होता है। इस प्रकार आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हो जाने पर वह भव-बन्धन से पूर्णतः मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध के अन्तर्गत "राजा मान्धाता के वंशज" नामक सातवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter आठ

भगवान् कपिलदेव से सगर-पुत्रों की भेंट

इस अध्याय में रोहित के वंशजों का वर्णन मिलता है। रोहित के वंश में सगर नाम का एक राजा हुआ जिसकी कथा कपिलदेव तथा सगर के पुत्रों के विनाश के सम्बन्ध में वर्णित है।

रोहित का पुत्र हरित के नाम से जाना जाता था। हरित का पुत्र चम्प था जिसने चम्पापुरी नगरी का निर्माण कराया। चम्प का पुत्र सुदेव था, सुदेव का पुत्र विजय हुआ जिसका पुत्र भरुक था। भरुक का पुत्र वृक था। वृक का पुत्र बाहुक अपने शत्रुओं के कारण अत्यन्त क्षुब्ध था; अतएव उसने अपनी पत्नी सहित अपना घर छोड़ दिया और दोनों जंगल में चले गये। जब वहाँ उसकी मृत्यु हो गई तो उसकी पत्नी ने अपने पति के साथ सती होना चाहा, किन्तु जब वह मरने जा रही थी तो और्व नामक मुनि ने देखा कि वह गर्भवती है; अतएव उस मुनि ने उसे सती होने से मना किया। इस पत्नी की सौतों ने उसे भोजन के साथ विष खिला दिया, किन्तु फिर भी उसका पुत्र विष के साथ पैदा हुआ। इसलिए यह पुत्र सगर कहलाया *स*—सहित तथा *गर*—गरल (विष)। मुनि और्व के आदेशों का पालन करते हुए राजा सगर ने यवन, शक, हैहय तथा बर्बर जातियों का उद्धार किया। राजा ने इन सब जातियों का वध नहीं किया अपितु उनका सुधार किया। सगर ने और्व के आदेशों के अनुसार अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किये, किन्तु इस यज्ञ के लिए जिस घोड़े की आवश्यकता थी उसे इन्द्र ने चुरा लिया। राजा सगर के दो पत्नियाँ थीं—सुमति तथा केशिनी। इस घोड़े की खोज करते हुए सुमति के पुत्रों ने पृथ्वी की सतह बहुत दूर तक खोद डाली और इस तरह एक खाई बन गई जो बाद में सागर कहलायी। इस खोज के दौरान उनकी भेंट महापुरुष कपिलदेव से हुई। उन्होंने सोचा कि इसी व्यक्ति ने घोड़े को चुराया है। ऐसे अपराधपूर्ण विचार से उन्होंने उन पर आक्रमण कर दिया किन्तु वे सभी जलकर क्षार हो गये। राजा सगर की द्वितीय पत्नी केशिनी के एक पुत्र था जिस का नाम असमञ्जस था जिसके पुत्र अंशुमान ने बाद में घोड़े की खोज की और अपने चचेरे भाइयों को छुड़वाया। कपिलदेव के पास जाकर अंशुमान ने देखा कि एक ओर यज्ञ का घोड़ा है और दूसरी ओर राख का ढेर है। अंशुमान ने कपिलदेव की स्तुति की। इससे प्रसन्न होकर कपिलदेव ने उसका घोड़ा लौटा दिया। किन्तु घोड़ा वापस पाने के बाद भी अंशुमान कपिलदेव के समक्ष खड़ा रहा। कपिलदेव समझ गये कि अंशुमान अपने

पितरों के उद्धार के लिए प्रार्थना कर रहा है। इस प्रकार कपिलदेव ने उन्हें बताया कि वे गंगा के जल से उद्धार पा सकते हैं। तब अंशुमान ने कपिलदेव को सादर नमस्कार किया, उनकी प्रदक्षिणा की और घोड़ा लेकर यज्ञस्थल की ओर कूच किया। राजा सगर ने यज्ञ समाप्त करने के बाद अपना राज्य अंशुमान को सौंप दिया और और्व के उपदेशों का पालन करते हुए मोक्ष प्राप्त किया।

श्रीशुक उवाच
हरितो रोहितसुतश्चम्पस्तस्माद्विनिर्मिता ।
चम्पापुरी सुदेवोऽतो विजयो यस्य चात्मजः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; हरितः—हरित नामक; रोहित-सुतः—रोहित का पुत्र; चम्पः—चम्प नामक; तस्मात्—हरित से; विनिर्मिता—बनवाया गया; चम्पा-पुरी—चम्पापुरी नामक नगर; सुदेवः—सुदेव; अतः—तत्पश्चात् (चम्प से); विजयः—विजय नामक; यस्य—जिसका (सुदेव का); च—भी; आत्म-जः—पुत्र।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : रोहित का पुत्र हरित हुआ और हरित का पुत्र चम्प हुआ जिसने चम्पापुरी नामक नगर का निर्माण कराया। चम्प का पुत्र सुदेव हुआ और सुदेव का पुत्र विजय था।

भरुकस्तत्सुतस्तस्माद्वृकस्तस्यापि बाहुकः ।
सोऽरिभिर्हृतभू राजा सभार्यो वनमाविशत् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

भरुकः—भरुक नामक; तत्-सुतः—विजय का पुत्र; तस्मात्—उससे (बहक); वृकः—वृक; तस्य—उसका; अपि—भी; बाहुकः—बाहुक; सः—वह; अरिभिः—अपने शत्रुओं द्वारा; हृत-भूः—जिसकी धरती छीन ली गई है; राजा—राजा (बाहुक); स-भार्यः—पत्नी सहित; वनम्—जंगल में; आविशत्—प्रविष्ट हुआ।

विजय का पुत्र भरुक, भरुक का पुत्र वृक और उसका पुत्र बाहुक हुआ। राजा बाहुक के शत्रुओं ने उसकी सारी सम्पत्ति छीन ली जिससे उसने वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण कर लिया और अपनी पत्नी सहित वन में चला गया।

वृद्धं तं पञ्चतां प्राप्तं महिष्यनुमरिष्यती ।
और्वेण जानतात्मानं प्रजावन्तं निवारिता ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

वृद्धम्—वृद्ध को; तम्—उस; पञ्चताम्—मृत्यु; प्राप्तम्—प्राप्त हुए; महिषी—रानी; अनुमरिष्यती—सती होना चाहती थी; और्वेण—और्व मुनि द्वारा; जानता—समझते हुए; आत्मानम्—रानी का शरीर; प्रजा-वन्तम्—गर्भ में शिशु है; निवारिता—मना किया गया।

जब बाहुक वृद्ध होकर मर गया तो उसकी एक पत्नी उसके साथ सती होना चाहती थी। किन्तु

उस समय और्व मुनि ने यह जानते हुए कि वह गर्भवती है उसे सती होने से मना किया।

आज्ञायास्यै सपत्नीभिर्गरो दत्तोऽन्धसा सह ।
सह तेनैव सञ्जातः सगराख्यो महायशाः ।
सगरश्चक्रवर्त्यासीत्सागरो यत्सुतैः कृतः ॥ ४॥

शब्दार्थ

आज्ञाय—(यह) जानते हुए; अस्यै—गर्भवती रानी को; सपत्नीभिः—बाहुक की अन्य पत्नियों के द्वारा; गरः—विष; दत्तः—दिया गया; अन्धसा सह—उसके भोजन के साथ; सह तेन—उस विष के साथ; एव—भी; सञ्जातः—उत्पन्नहुआ; सगर-आख्यः—सगर नाम से विख्यात; महा-यशाः—अत्यन्त ख्याति वाला; सगरः—राजा सगर; चक्रवर्ती—सम्राट; आसीत्—हुआ; सागरः—गंगासागर नामक स्थान; यत्-सुतैः—जिसके पुत्रों द्वारा; कृतः—खोदा गया था।

यह जानते हुए कि वह गर्भवती थी, उसकी सौतों ने उसको भोजन के साथ विष देने की मंत्रणा की लेकिन यह फलीभूत नहीं हुई। किन्तु इस विष सहित एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो सगर (विष सहित) कहलाया। बाद में सगर सम्राट बना। गंगासागर नामक स्थान उसके पुत्रों द्वारा खोदा गया था।

यस्तालजङ्घान्यवनाञ्छकान्हैहयबर्बरान् ।
नावधीद्गुरुवाक्येन चक्रे विकृतवेषिणः ॥ ५ ॥
मुण्डाञ्छ्मश्रुधरान्कांश्चिन्मुक्तकेशार्धमुण्डितान् ।
अनन्तर्वाससः कांश्चिदबहिर्वाससोऽपरान् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो, महाराज सगर; तालजङ्घान्—तालजंघ नामक असभ्य जाति; यवनान्—वैदिक साहित्य को न मानने वाले; शकान्—अन्य नास्तिक जाति; हैहय—असभ्य; बर्बरान्—तथा बर्बरों को; न—नहीं; अवधीत्—मारा; गुरु-वाक्येन—अपने गुरु के आदेश से; चक्रे—उन्हें बनाया; विकृत-वेषिणः—बेढंगे वस्त्र पहने; मुण्डान्—सिर घुटवाये; श्मश्रु-धरान्—मूँछों वाले; कांश्चित्—उनमें से कुछ; मुक्त-केश—बिखरे बाल; अर्ध-मुण्डितान्—आधा सिर घुटवाये; अनन्तः-वाससः—बिना भीतरी वस्त्र के; कांश्चित्—उनमें से कुछ; अबहिः-वाससः—बाहरी वस्त्रों के बिना; अपरान्—अन्यों को।

सगर महाराज ने अपने गुरु और्व के आदेशानुसार तालजंघ, यवन, शक, हैहय तथा बर्बर जातियों के असभ्य लोगों का वध नहीं किया अपितु उनमें से कुछ को भद्दे वस्त्र पहनने को बाध्य कर दिया, कुछ के सिर घुटवा दिये लेकिन मूँछें रखने दीं, कुछ के बालों को खुलवा दिया, कुछ के सिर आधे घुटवा दिए, कुछ को बिना भीतरी वस्त्र के कर दिया और कुछ को निर्वस्त्र करा दिया। इस प्रकार ये जातियाँ भिन्न-भिन्न वस्त्र धारण करने के लिए बाध्य की गईं, किन्तु राजा सगर ने इन्हें मारा नहीं।

सोऽश्वमेधैरयजत सर्ववेदसुरात्मकम् ।
और्वोपदिष्टयोगेन हरिमात्मानमीश्वरम् ।
तस्योत्सृष्टं पशुं यज्ञे जहाराश्वं पुरन्दरः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने; अश्वमेधैः—अश्वमेध यज्ञ करके; अयजत—पूजा की; सर्व-वेद—सारे वैदिक ज्ञान का; सुर—तथा सारे विद्वान् साधुओं का; आत्मकम्—परमात्मा; और्व-उपदिष्ट-योगेन—और्व की योग विधि द्वारा; हरिम्—भगवान् को; आत्मानम्—परमात्मा को; ईश्वरम्—ईश्वर को; तस्य—उसका (सगर का); उत्सृष्टम्—बलि के निमित्त; पशुम्—बलि पशु को; यज्ञे—यज्ञ में; जहार—चुरा लिया; अश्वम्—घोड़े को; पुरन्दरः—स्वर्ग के राजा इन्द्रने।

और्व मुनि के आदेशानुसार सगर महाराज ने अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किया और इस तरह भगवान् को प्रसन्न किया जो परम नियन्ता, समस्त विद्वानों के परमात्मा तथा सभी वेदों के ज्ञाता हैं। किन्तु स्वर्ग के राजा इन्द्र ने यज्ञ में बलि दिये जाने वाले घोड़े को चुरा लिया।

सुमत्यास्तनया दृप्ताः पितुरादेशकारिणः ।
हयमन्वेषमाणास्ते समन्तान्न्यखनन्महीम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सुमत्याः तनयाः—रानी सुमति से उत्पन्न पुत्र; दृप्ताः—अपने पराक्रम तथा प्रभाव से गर्वित; पितुः—अपने पिता (सगर) का; आदेश-कारिणः—आदेश का पालन करते हुए; हयम्—(इन्द्र द्वारा चुराये) घोड़े को; अन्वेषमाणाः—ढूँढते हुए; ते—वे सब; समन्तात्—सर्वत्र; न्यखनन्—खोद डाला; महीम्—पृथ्वी को।

(राजा सगर के दो पत्नियाँ थीं—सुमति तथा केशिनी)। सुमति के पुत्रों ने, जिन्हें अपने पराक्रम तथा प्रभाव पर गर्व था, अपने पिता के आदेशानुसार खोये हुए घोड़े को सर्वत्र ढूँढा। ऐसा करते हुए उन्होंने पृथ्वी को बहुत दूर तक खोद डाला।

प्रागुदीच्यां दिशि हयं ददृशुः कपिलान्तिके ।
एष वाजिहरश्चौर आस्ते मीलितलोचनः ॥ ९ ॥
हन्यतां हन्यतां पाप इति षष्टिसहस्रिणः ।
उदायुधा अभिययुरुन्मिमेष तदा मुनिः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

प्राक्-उदीच्याम्—उत्तरपूर्व; दिशि—दिशा में; हयम्—घोड़े को; ददृशुः—देखा; कपिल-अन्तिके—कपिल के आश्रम के निकट; एषः—यह रहा; वाजि-हरः—घोड़ा चुराने वाला; चौरः—चोर; आस्ते—स्थित; मीलित-लोचनः—आँखें बन्द किये; हन्यताम् हन्यताम्—मारो मारो; पापः—पापी पुरुष; इति—इस प्रकार; षष्टि-सहस्रिणः—सगर के साठ हजार पुत्र; उदायुधाः—अपने-अपने हथियार लिए; अभिययुः—पास आये; उन्मिमेष—अपनी आँखें खोलीं; तदा—उस समय; मुनिः—कपिल मुनि ने।

तत्पश्चात् जब उन्होंने उत्तरपूर्व दिशा में कपिल मुनि के आश्रम के निकट घोड़े को देखा तो वे

बोल उठे "यह रहा घोड़ाचोर! यह आँखें बन्द किये बैठा है। यह निश्चय ही बड़ा पापी है। इसे मारो, मारो।" इस प्रकार चिल्लाते हुए सगर के साठ हजार पुत्रों ने एकसाथ अपने हथियार उठा लिये। जब वे मुनि के निकट पहुँचे तो मुनि ने अपनी आँखें खोलीं।

स्वशरीराग्निना तावन्महेन्द्रहृतचेतसः ।
महद्व्यतिक्रमहता भस्मसादभवन्क्षणात् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

स्व-शरीर-अग्निना—अपने शरीरों से निकली अग्नि से; तावत्—तुरन्त; महेन्द्र—इन्द्र की चाल से; हृत-चेतसः—जिनकी बुद्धि हर ली गई है; महत्—महापुरुष; व्यतिक्रम-हताः—अपमान के कारण पराजित; भस्मसात्—जलकर राख; अभवन्—हो गये; क्षणात्—क्षणभर में।

स्वर्ग के राजा इन्द्र के प्रभाव से सगर के पुत्रों की बुद्धि मारी गई जिससे उन्होंने एक महापुरुष का अपमान कर दिया। फलस्वरूप उनके शरीरों से अग्नि निकलने लगी और वे तुरन्त जलकर राख हो गये।

तात्पर्य : यह भौतिक शरीर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश का मेल है। शरीर के भीतर पहले से अग्नि रहती है और हमें इसका अनुभव है कि इस अग्नि का ताप घटता-बढ़ता रहता है। सगर महाराज के पुत्रों के शरीरों के भीतर की अग्नि इतनी दग्ध हो उठी कि वे सब भस्म हो गए। एक महापुरुष के प्रति दुर्व्यवहार के कारण अग्नि का ताप बढ़ गया था। ऐसा दुर्व्यवहार *महद्-व्यतिक्रम* कहलाता है। वे सभी अपने शरीरों की अग्नि से मर गए क्योंकि उन्होंने महापुरुष का अपमान किया था।

न साधुवादो मुनिकोपभर्जिता
नृपेन्द्रपुत्रा इति सत्त्वधामनि ।
कथं तमो रोषमयं विभाव्यते
जगत्पवित्रात्मनि खे रजो भुवः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; साधु-वादः—विद्वान पुरुषों का मत; मुनि-कोप—कपिल मुनि के क्रोध से; भर्जिताः—जल कर राख हो गए; नृपेन्द्र-पुत्राः—सगर महाराज के सारे पुत्र; इति—इस प्रकार; सत्त्व-धामनि—कपिल मुनि में, जिनमें सतोगुण प्रधान था; कथम्—कैसे; तमः—तमोगुण; रोष-मयम्—क्रोध के रूप में; विभाव्यते—प्रकट हो सकता है; जगत्-पवित्र-आत्मनि—उसमें, जिसका शरीर सारे संसार को पवित्र कर सकता है; खे—आकाश में; रजः—धूल; भुवः—पार्थिव।

कभी-कभी यह तर्क दिया जाता है कि राजा सगर के सारे पुत्र कपिल मुनि की आँखों से निकली अग्नि से भस्मसात् हुए थे। लेकिन विद्वान पुरुष इस मत की पुष्टि नहीं करते क्योंकि कपिल

मुनि का शरीर नितान्त सात्विक था अतएव उससे क्रोध के रूप में तमोगुण प्रकट नहीं हो सकता जिस तरह निर्मल आकाश को पृथ्वी की धूल दूषित नहीं कर सकती।

यस्येरिता साङ्ख्यमयी दृढेह नौ-
र्यया मुमुक्षुस्तरते दुरत्ययम् ।
भवार्णवं मृत्युपथं विपश्चितः
परात्मभूतस्य कथं पृथङ्मतिः ॥ १३॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके द्वारा; ईरिता—बतलाया गया; साङ्ख्य-मयी—भौतिक संसार का विश्लेषण करते हुए सांख्य दर्शन के रूप में; दृढा—अत्यन्त प्रबल (इस जगत से लोगों का उद्धार करने के लिए); इह—इस जगत में; नौः—नाव; यया—जिससे; मुमुक्षुः—मोक्ष की कामना करने वाला व्यक्ति; तरते—पार कर सकता है; दुरत्ययम्—दुर्लंघ्य; भव-अर्णवम्—अज्ञान के समुद्र को; मृत्यु-पथम्—बारम्बार जन्म-मृत्यु का जीवन; विपश्चितः—विद्वान पुरुष का; परात्म-भूतस्य—दिव्य पद को प्राप्त; कथम्—कैसे; पृथक्-मतिः—(मित्र तथा शत्रु का) भेदभाव।

कपिल मुनि ने इस जगत में सांख्य दर्शन का प्रवर्तन किया जो अज्ञानरूपी सागर को पार करने के लिए दृढ़ नाव है। निस्सन्देह, भवसागर को पार करने के इच्छुक व्यक्ति को इस दर्शन का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। ऐसे महापुरुष में, जो अध्यात्म के उच्चपद को प्राप्त हो, एक मित्र तथा शत्रु में कोई अन्तर कैसे हो सकता है?

तात्पर्य : जो दिव्य पद को प्राप्त होता है (*ब्रह्मभूत*) वह सदैव प्रसन्न रहता है (*प्रसन्नात्मा*)। वह इस संसार में अच्छे तथा बुरे के मिथ्या अन्तर से अप्रभावित रहता है। अतएव ऐसा महान् पुरुष *समः सर्वेषु भूतेषु* होता है। वह प्रत्येक व्यक्ति के साथ समता का व्यवहार करता है और मित्र एवं शत्रु के बीच भेदभाव नहीं बर्तता। चूँकि वह भौतिक कल्मष से रहित परम पद पर होता है इसलिए वह *परात्म-भूत* या *ब्रह्मभूत* कहलाता है। इसलिए कपिल मुनि महाराज सगर के पुत्रों पर तनिक भी क्रुद्ध नहीं थे; प्रत्युत वे सभी अपने शरीर के ताप से भस्मसात् हो गये।

योऽसमञ्जस इत्युक्तः स केशिन्या नृपात्मजः ।
तस्य पुत्रोऽंशुमान्नाम पितामहहिते रतः ॥ १४॥

शब्दार्थ

यः—सगर का एक पुत्र, जो; असमञ्जसः—असमंजस नामक; इति—इस तरह; उक्तः—ज्ञात; सः—वह; केशिन्याः—राजा सगर की अन्य पत्नी केशिनी के गर्भ से; नृप-आत्मजः—राजा का पुत्र; तस्य—उसका; पुत्रः—पुत्र; अंशुमान् नाम—अंशुमान के रूप में ज्ञात था; पितामह-हिते—अपने बाबा सगर महाराज के हित में; रतः—सदा लगा हुआ।

महाराज सगर के पुत्रों में एक का नाम असमंजस था जो राजा की दूसरी पत्नी केशिनी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। असंमजस का पुत्र अंशुमान था और वह अपने बाबा सगर महाराज के कल्याण-कार्य में सदैव लगा रहता था।

असमञ्जस आत्मानं दर्शयन्नसमञ्जसम् ।
जातिस्मरः पुरा सङ्गाद्योगी योगाद्विचालितः ॥ १५ ॥
आचरन्गर्हितं लोके ज्ञातीनां कर्म विप्रियम् ।
सरय्वां क्रीडतो बालान्प्रास्यदुद्वेजयञ्जनम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

असमञ्जसः—सगर महाराज का पुत्र; आत्मानम्—स्वयं; दर्शयन्—प्रकट करते हुए; असमञ्जसम्—अत्यन्त विक्षुब्धकारी; जाति-स्मरः—अपने विगत जीवन को स्मरण रखने में समर्थ; पुरा—प्राचीन काल में; सङ्गात्—बुरी संगति से; योगी—योगी होते हुए भी; योगात्—योग पथ से; विचालितः—नीचे गिर गया; आचरन्—आचरण; गर्हितम्—अशोभनीय; लोके—समाज में; ज्ञातीनाम्—अपने सम्बन्धियों का; कर्म—कार्य; विप्रियम्—अधिक अनुकूल नहीं; सरय्वाम्—सरयू नदी में; क्रीडतः—खेल में रत; बालान्—सारे लड़कों को; प्रास्यत्—फेंक देता; उद्वेजयन्—कष्ट देता हुआ; जनम्—सामान्य लोगों को।

पिछले जन्म में असमंजस एक महान् योगी था, किन्तु कुसंगति के कारण वह अपने उच्चपद से नीचे गिर गया था। अब, इस जन्म में वह राजपरिवार में उत्पन्न हुआ था और जाति-स्मर था अर्थात् वह अपने पूर्वजन्म को स्मरण करने में समर्थ था। फिर भी वह अपने आपको दुर्जन के रूप में दिखलाना चाहता था; अतएव वह ऐसा कार्य किया करता था जो जनता तथा उसके परिजनों की दृष्टि में गर्हित तथा प्रतिकूल होता। वह सरयू नदी में खेल करते बालकों को गहरे जल में फेंककर उन्हे तगं करता रहता था।

एवं वृत्तः परित्यक्तः पित्रा स्नेहमपोह्य वै ।
योगैश्वर्येण बालांस्तान्दर्शयित्वा ततो ययौ ॥ १७॥

शब्दार्थ

एवम् वृत्तः—इस प्रकार (गर्हित कार्यों में) व्यस्त; परित्यक्तः—निकाला हुआ; पित्रा—पिता द्वारा; स्नेहम्—स्नेह; अपोह्य—त्यागकर; वै—निस्सन्देह; योग-ऐश्वर्येण—योगशक्ति से; बालान् तान्—उन बालकों को जो जल में गिराए गए थे और मारे गए थे; दर्शयित्वा—उनके माता पिता को फिर से दिखलाकर; ततः ययौ—उस स्थान से चला गया।

चूँकि असमंजस ऐसे गर्हित कार्यों में लगा रहता था अतएव उसके पिता ने उससे स्नेह करना छोड़ दिया और उसे घर से निकाल दिया। तब असमंजस ने उन बालकों को जीवित करके उन्हें राजा तथा उनके माता-पिताओं को दिखलाकर अपनी योगशक्ति का प्रदर्शन किया। तत्पश्चात् असमंजस ने

अयोध्या छोड़ दिया।

तात्पर्य : असमंजस जातिस्मर था। उसे अपनी योगशक्ति से अपनी पूर्वचेतना भूली नहीं थी। अतएव वह मृत को जिला सकता था। मृत बालकों के प्रति अद्‍भुत कृत्य करके उसने निश्चय ही, राजा तथा जनता का ध्यान आकृष्ट किया और फिर तुरन्त वहाँ से चला गया।

अयोध्यावासिनः सर्वे बालकान्पुनरागतान् ।
दृष्ट्वा विसिस्मिरे राजन्राजा चाप्यन्वतप्यत ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अयोध्या-वासिनः—अयोध्या के निवासी; सर्वे—सारे; बालकान्—उनके पुत्र; पुनः—फिर; आगतान्—पुनः जीवित होकर; दृष्ट्वा—इसे देखकर; विसिस्मिरे—स्तम्भित हो गये; राजन्—हे राजा परीक्षित; राजा—राजा सगर ने; च—भी; अपि—निस्सन्देह; अन्वतप्यत—(अपने पुत्र की अनुपस्थिति के लिए) अत्यन्त शोक किया।.

हे राजा परीक्षित, जब सारे अयोध्यावासियों ने देखा कि उनके लड़के पुनः जीवित हो उठे हैं तो वे स्तम्भित रह गये और राजा सगर को अपने पुत्र की अनुपस्थिति पर अत्यधिक पश्चाताप हुआ।

अंशुमांश्चोदितो राज्ञा तुरगान्वेषणे ययौ ।
पितृव्यखातानुपथं भस्मान्ति ददृशे हयम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अंशुमान्—असमंजस का पुत्र; चोदितः—आदेश पाकर; राज्ञा—राजा से; तुरग—घोड़ा; अन्वेषणे—खोजने के लिए; ययौ—बाहर चला गया; पितृव्य-खात—जैसा कि चाचा लोगों ने वर्णन किया था; अनुपथम्—उस रास्ते से जाकर; भस्म-अन्ति—राख के ढेर के निकट; ददृशे—उसने देखा; हयम्—घोड़े को।.

तत्पश्चात् महाराज सगर ने अपने पौत्र अंशुमान को घोड़ा ढूँढ लाने का आदेश दिया। अंशुमान अपने चाचाओं के पथ से होकर धीरे-धीरे राख के ढेर तक पहुँचा और उसने उसी के निकट घोड़े को पाया।

तत्रासीनं मुनिं वीक्ष्य कपिलाख्यमधोक्षजम् ।
अस्तौत्समाहितमनाः प्राञ्जलिः प्रणतो महान् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; आसीनम्—आसन ग्रहण किये; मुनिम्—मुनि को; वीक्ष्य—देखकर; कपिल-आख्यम्—कपिल मुनि के रूप में ज्ञात; अधोक्षजम्—विष्णु के अवतार; अस्तौत्—प्रार्थना की; समाहित-मनाः—बड़े ध्यान से; प्राञ्जलिः—हाथ जोड़कर; प्रणतः—नीचे गिरकर, नमस्कार करते हुए; महान्—महापुरुष अंशुमान ने।.

महान् अंशुमान ने विष्णु अवतार कपिल नामक मुनि को देखा जो घोड़े के निकट आसीन थे।

अंशुमान ने उन्हें हाथ जोड़कर नमस्कार किया और दत्तचित्त होकर उनकी प्रार्थना की।

अंशुमानुवाच

न पश्यति त्वां परमात्मनोऽजनो
न बुध्यतेऽद्यापि समाधियुक्तिभिः ।
कुतोऽपरे तस्य मनःशरीरधी-
विसर्गसृष्टा वयमप्रकाशाः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अंशुमान् उवाच—अंशुमान ने कहा; न—नहीं; पश्यति—देख सकता है; त्वाम्—आपको; परम्—दिव्य; आत्मनः—हम जीवों का; अजनः—ब्रह्मा; न—नहीं; बुध्यते—समझ सकता है; अद्य अपि—आज भी; समाधि—ध्यान से; युक्तिभिः—या चिन्तन से; कुतः—कैसे; अपरे—अन्य; तस्य—उसका; मनः-शरीर-धी—जो शरीर या मन को स्वयं (आत्मा) मानते हैं; विसर्ग-सृष्टाः—इस संसार के प्राणी; वयम्—हम; अप्रकाशाः—दिव्य ज्ञान से रहित।

अंशुमान ने कहा : हे भगवान्, आज तक ब्रह्माजी भी आपके अगम्य पद को ध्यान या चिन्तन द्वारा समझ पाने में असमर्थ हैं तो हम जैसों की कौन कहे जो ब्रह्मा द्वारा देवता, पशु, मनुष्य, पक्षी तथा पशु इत्यादि के विविध रूपों में उत्पन्न किये गये हैं? हम पूरी तरह अज्ञान में हैं। अतएव हम साक्षात् ब्रह्म स्वरूप आपको कैसे जान सकते हैं?

तात्पर्य : इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।

सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥

"हे भरतवंशी (अर्जुन), हे शत्रु के विजेता! सारे जीव मोह में उत्पन्न होते हैं, वे इच्छा तथा घृणा के द्वैत से पराजित होते हैं।" (*भगवद्गीता* ७.२७)। इस जगत के सारे जीव प्रकृति के तीन गुणों से प्रभावित होते हैं। यहाँ तक कि ब्रह्माजी भी सतोगुणी हैं। इसी प्रकार देवता प्रायः रजोगुणी हैं तथा देवताओं से नीचे के जीव यथा मनुष्य तथा पशु तमोगुणी या सतो, रजो और तमो गुणों के मिश्रण होते हैं। अतएव अंशुमान बताना चाहता था कि उनके सारे चचा जो भस्म हो गये थे, प्रकृति के गुणों के अधीन होने के कारण कपिलदेव मुनि को समझ नहीं पाये। उसने प्रार्थना की "चूँकि आप ब्रह्माजी की प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष बुद्धि से भी परे हैं अतएव जब तक आप हमें ज्ञान न दें हम आपको समझने में असमर्थ हैं।"

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि।

जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥

"हे प्रभु! जिस पर आपके चरणकमलों की किञ्चिन्मात्र भी कृपा हो जाती है वह आपकी महानता को

समझ सकता है। किन्तु जो भगवान् को समझने के लिए चिन्तन करते हैं वे चाहे वेदों का वर्षों तक अध्ययन क्यों न करें आपको समझ नहीं पाते।'' (*भागवत* १०.१४.२९)। भगवान् को वही समझ सकता है जिस पर उनकी कृपा हो; अन्य लोग उन्हें नहीं समझ सकते।

ये देहभाजस्त्रिगुणप्रधाना
गुणान्विपश्यन्त्युत वा तमश्च ।
यन्मायया मोहितचेतसस्त्वां
विदुः स्वसंस्थं न बहिःप्रकाशाः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

ये—जिन पुरुषों ने; देह-भाजः—भौतिक शरीर धारण किया है; त्रि-गुण-प्रधानाः—भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा प्रभावित; गुणान्—तीनों गुणों की अभिव्यक्ति; विपश्यन्ति—केवल देख सकते हैं; उत—ऐसा कहा जाता है; वा—अथवा; तमः—तमोगुण; च—और; यत्-मायया—जिसकी माया से; मोहित—मोहित; चेतसः—जिनके हृदय; त्वाम्—आपको; विदुः—जानते हैं; स्व-संस्थम्—अपने शरीर में स्थित; न—नहीं; बहिः-प्रकाशाः—जो केवल बहिरंगा शक्ति के फलों को देख पाते हैं।

हे स्वामी, आप सबों के हृदयों मे भलीभाँति स्थित हैं, किन्तु भौतिक शरीर से आवृत सारे जीव आपको नहीं देख पाते क्योंकि वे त्रिगुणमयी माया द्वारा प्रेरित बहिरंगा शक्ति के द्वारा प्रभावित रहते हैं। उनकी बुद्धि सतो, रजो तथा तमो गुणों से ढकी होने से वे प्रकृतिके इन तीनों गुणों की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं को ही देख पाते हैं। तमोगुण की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के कारण जाग्रत या सुप्त जीव प्रकृति की कार्यविधि को ही देख पाते हैं; वे आप (भगवान्) को नहीं देख सकते।

तात्पर्य : भगवान् की प्रेमाभक्ति में स्थित हुए बिना प्रत्येक मनुष्य भगवान् को समझने में असमर्थ रहता है। भगवान् हरएक के हृदय में स्थित हैं। किन्तु बद्धजीव प्रकृति द्वारा प्रभावित होने के कारण उसके कर्मों तथा फलों को ही देख पाते हैं, भगवान् को नहीं। अतएव मनुष्य को भीतर-बाहर से अपने आपको पवित्र बनाना चाहिए।

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।

यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

अपने आप को बाहर से स्वच्छ रखने के लिए हमें तीन बार स्नान करना चाहिए और आन्तरिक शुद्धि के लिए हमें हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करके अपने हृदय को शुद्ध करना चाहिए। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सारे सदस्यों को इस नियम (*बाह्याभ्यन्तर शुचिः*) का सदैव पालन करना चाहिए। तभी एक दिन

भगवान् का साक्षात्कार हो सकेगा।

तं त्वां अहं ज्ञानघनं स्वभाव-
प्रध्वस्तमायागुणभेदमोहैः ।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिर्विभाव्यं
कथं विमूढः परिभावयामि ॥ २३॥

शब्दार्थ

तम्—उस; त्वाम्—आपको; अहम्—मैं; ज्ञान-घनम्—घनीभूत ज्ञान स्वरूप आप; स्वभाव—स्वभाव से; प्रध्वस्त—कल्मषरहित; माया-गुण—तीन गुणों से उत्पन्न; भेद-मोहैः—भेदरूपी मोह के प्रदर्शन द्वारा; सनन्दन-आद्यैः—चारों कुमारों जैसे व्यक्तियों द्वारा; मुनिभिः—ऐसे मुनियों द्वारा; विभाव्यम्—पूज्य; कथम्—कैसे; विमूढः—प्रकृति द्वारा मूर्ख बनाया गया; परिभावयामि—आपके विषय में सोच सकता हूँ।.

हे प्रभु, प्रकृति के तीनों गुणों के प्रभाव से मुक्त हुए साधुपुरुष, यथा चारों कुमार (सनत्, सनक, सनन्दन तथा सनातन) ही ज्ञान के पुंज आपके विषय में सोच सकते हैं। भला मुझ जैसा अज्ञानी व्यक्ति आपके विषय में कैसे सोच सकता है?

तात्पर्य : स्वभाव शब्द किसी के निजी आध्यात्मिक स्वभाव या मूल स्थिति को बताता है। अपनी मूल स्थिति पर रहकर जीव प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहता है। *स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते* (*भगवद्गीता* १४.२६)। तीनों गुणों के प्रभाव से मुक्त होते ही वह ब्रह्म पद पर आसीन हो जाता है। चारों कुमार तथा नारद इसी प्रकार के पद पर स्थित पुरुषों के स्पष्ट उदाहरण हैं। ऐसे महापुरुष स्वभाव से भगवान् की स्थिति को समझ सकते हैं लेकिन प्रकृति के प्रभाव से मुक्त न होने के कारण बद्धजीव ब्रह्म की अनुभूति नहीं कर सकता। इसीलिए *भगवद्गीता* (२.४५) में कृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं—*त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन*—मनुष्य को तीनों गुणों के प्रभाव से ऊपर उठना चाहिए। जो तीनों गुणों के प्रभाव में बना रहता है वह भगवान् को समझने में असमर्थ रहता है।

प्रशान्त मायागुणकर्मलिङ्ग-
मनामरूपं सदसद्विमुक्तम् ।
ज्ञानोपदेशाय गृहीतदेहं
नमामहे त्वां पुरुषं पुराणम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

प्रशान्त—हे पूर्णतया शान्त; माया-गुण—प्रकृति के गुण; कर्म-लिङ्गम्—सकाम कर्मों से जाना जाने वाला; अनाम-रूपम्—जिसके कोई नाम या रूप न हो; सत्-असत्-विमुक्तम्—प्रकृति के व्यक्त तथा अव्यक्त गुणों से परे; ज्ञान-उपदेशाय—दिव्य ज्ञान (यथा

भगवद्गीता का) वितरित करने के लिए; गृहीत-देहम्—जिसने शरीर धारण किया है; नमामहे—मैं नमस्कार करता हूँ; त्वाम्—तुमको; पुरुषम्—परमपुरुष को; पुराणम्—आदि।

हे परम शान्तिमय स्वामी, यद्यपि यह प्रकृति, सारे सकाम कर्म तथा उनके फलस्वरूप भौतिक नाम तथा रूप आपकी सृष्टि हैं, तथापि आप उनसे अप्रभावित रहते हैं। अतएव आपका दिव्य नाम भौतिक नामों से भिन्न है और आपका स्वरूप भौतिक स्वरूपों से भिन्न है। आप *भगवद्गीता* जैसे ज्ञान का हमें उपदेश देने के लिए ही भौतिक शरीर के ही समान रूप धारण करते हैं लेकिन वस्तुतः आप रहते हैं परम आदि पुरुष ही। अतएव मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : श्रील यामुनाचार्य ने अपने *स्तोत्र-रत्न* में (४३) निम्नलिखित श्लोक दिया है—

भवन्तम् एवानुचरन् निरन्तरः

प्रशान्तनिःशेषमनोरथान्तरः ।

कदाहमैकान्तिकनित्यकिंकरः

प्रहर्षयिष्यामि सनाथजीवितम् ॥

"आपकी नित्य सेवा करने से मनुष्य सभी भौतिक इच्छाओं से मुक्त हो जाता है और पूर्णतया शान्त रहता है। हे भगवान्! वह समय कब आयेगा जब मैं आपका स्थायी नौकर बनकर और आप जैसा उपयुक्त स्वामी पाकर सदैव प्रसन्न रह सकूँगा?"

मनोरथेनासति धावतो बहिः—जो मनोरथ स्तर पर कर्म करता है उसे भौतिक कार्यकलापों पर उतरकर आना होगा। किन्तु भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्तों में भौतिक कल्मष सर्वथा अनुपस्थित रहता है। इसीलिए भगवान् को *प्रशान्त*—भौतिक स्तर के अवरोधों से पूर्णतया मुक्त—कहकर सम्बोधित किया गया है। परमेश्वर का कोई भौतिक नाम या रूप नहीं है, केवल मूर्ख ही सोचते हैं कि भगवान् का नाम और रूप भौतिक है (*अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्*)। भगवान् की पहचान तो इतनी ही है कि वे आदि पुरुष हैं; तो भी अल्पज्ञानी सोचते हैं कि भगवान् रूपहीन हैं। वे भौतिक दृष्टि से रूपहीन हैं, किन्तु उनका रूप दिव्य है (*सच्चिदानन्दविग्रह*)।

त्वन्मायारचिते लोके वस्तुबुद्ध्या गृहादिषु ।
भ्रमन्ति कामलोभेर्ष्यामोहविभ्रान्तचेतसः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

त्वत्-माया—आपकी माया से; रचिते—निर्मित; लोके—इस जगत में; वस्तु-बुद्ध्या—वास्तविक मानते हुए; गृह-आदिषु—घर आदि में.; भ्रमन्ति—घूमते हैं; काम—विषयवासनाओं से; लोभ—लालच से; ईर्ष्या—द्वेष से; मोह—तथा मोह से; विभ्रान्त—मोहग्रस्त; चेतसः—जिनके हृदय।

हे भगवन्, जिनके मन काम, लोभ, ईर्ष्या तथा मोह से मोहित हैं वे आपकी माया द्वारा सृजित इस जगत में झूठे ही घर, गृहस्थी आदि में रुचि रखते हैं। वे घर, पत्नी तथा सन्तान में आसक्त रहकर इसी जगत में निरन्तर घूमते रहते हैं।

अद्य नः सर्वभूतात्मन्कामकर्मेन्द्रियाशयः ।
मोहपाशो दृढश्छिन्नो भगवंस्तव दर्शनात् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अद्य—आज; नः—हमारा; सर्व-भूत-आत्मन्—हे परमात्मा स्वरूप; काम-कर्म-इन्द्रिय-आशयः—कामवासनाओं तथा सकाम कर्मों के अधीन रहकर; मोह-पाशः—मोह की यह कठिन ग्रन्थि; दृढः—अत्यन्त प्रबल; छिन्नः—टूट गई; भगवन्—हे भगवान्; तव दर्शनात्—आपके दर्शन मात्र से।

हे समस्त जीवों के परमात्मा, हे भगवान्, मैं अब आपके दर्शनमात्र से सारी कामवासनाओं से मुक्त हो गया हूँ जो दुर्लंघ्य मोह तथा संसार-बन्धन के मूल कारण हैं।

श्रीशुक उवाच
इत्थं गीतानुभावस्तं भगवान्कपिलो मुनिः ।
अंशुमन्तमुवाचेदमनुग्राह्य धिया नृप ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इत्थम्—इस तरह; गीत-अनुभावः—जिनकी महिमा का वर्णन किया जाता है; तम्—उस; भगवान्—भगवान्; कपिलः—कपिल ने; मुनिः—महान् साधु; अंशुमन्तम्—अंशुमान से; उवाच—कहा; इदम्—यह; अनुग्राह्य—दयालु होकर; धिया—ज्ञान के मार्ग सहित; नृप—राजा परीक्षित।

हे राजा परीक्षित, जब अंशुमान ने भगवान् का इस प्रकार महिमागायन किया तो महामुनि कपिल ने, जो विष्णु के सशक्त अवतार हैं, उस पर कृपालु होकर उसे ज्ञान का मार्ग बतलाया।

श्रीभगवानुवाच
अश्वोऽयं नीयतां वत्स पितामहपशुस्तव ।
इमे च पितरो दग्धा गङ्गाम्भोऽर्हन्ति नेतरत् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—कपिल मुनि ने कहा; अश्वः—घोड़ा; अयम्—यह; नीयताम्—ले लो; वत्स—हे पुत्र; पितामह—अपने बाबा का; पशुः—यह पशु; तव—तुम्हारे; इमे—ये सारे; च—भी; पितरः—पूर्वजों के शरीर; दग्धाः—भस्म हुए; गङ्गा-अम्भः—गंगाजल; अर्हन्ति—उबारे जा सकते हैं; न—नहीं; इतरत्—किसी अन्य साधन से।

भगवान् कपिल ने कहा : हे प्रिय अंशुमान, यह रहा तुम्हारे बाबा द्वारा खोजा जा रहा यज्ञ-पशु। इसे लो। दग्ध हुए तुम्हारे इन पुरखों का उद्धार केवल गंगाजल से हो सकता है, किसी अन्य साधन से नहीं।

तं परिक्रम्य शिरसा प्रसाद्य हयमानयत् ।
सगरस्तेन पशुना यज्ञशेषं समापयत् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस मुनि की; परिक्रम्य—परिक्रमा लगाकर; शिरसा—सिर के बल (प्रणाम करके); प्रसाद्य—उसे सन्तुष्ट करके; हयम्—घोड़े को; आनयत्—वापस ले आया; सगरः—राजा सगर ने; तेन—उस; पशुना—पशु से; यज्ञ-शेषम्—यज्ञ का अन्तिम संस्कार; समापयत्—सम्पन्न किया।

तत्पश्चात् अंशुमान ने कपिल मुनि की परिक्रमा की और अपना सिर झुकाकर उन्हें सादर नमस्कार किया। इस तरह उन्हें पूरी तरह सन्तुष्ट करके अंशुमान यज्ञ-पशु को वापस ले आया और महाराज सगर ने इस घोड़े से यज्ञ का शेष अनुष्ठान सम्पन्न किया।

राज्यमंशुमते न्यस्य निःस्पृहो मुक्तबन्धनः ।
और्वोपदिष्टमार्गेण लेभे गतिमनुत्तमाम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

राज्यम्—अपना राज्य; अंशुमते—अंशुमान को; न्यस्य—देकर; निःस्पृहः—इच्छारहित; मुक्त-बन्धनः—भवबन्धन से पूरी तरह मुक्त; और्व-उपदिष्ट—और्व मुनि द्वारा आदेशित; मार्गेण—उस मार्ग का अनुसरण करके; लेभे—प्राप्त किया; गतिम्—गन्तव्य; अनुत्तमाम्—परम।

अंशुमान को अपने राज्य की बागडोर देकर तथा सारी भौतिक चिन्ता एवं बन्धन से मुक्त होकर सगर महाराज ने और्व मुनि के द्वारा उपदिष्ट साधनों का पालन करते हुए परम गति प्राप्त की।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध के अन्तर्गत "भगवान् कपिलदेव से सगरपुत्रों की भेंट" नामक आठवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter नौ

अंशुमान की वंशावली

इस अध्याय में अंशुमान से खट्वांग तक का इतिहास दिया गया है और यह भी बतलाया गया है कि भगीरथ किस तरह इस धरती पर गंगाजी को लाये।

महाराज अंशुमान का पुत्र दिलीप था जिसने गंगा को इस जगत में लाने का प्रयास किया, किन्तु वह बिना सफलता के चल बसा। दिलीप के बेटे भगीरथ ने गंगा को इस जगत में लाने का दृढ़ संकल्प किया जिसके लिए उसे कठोर तपस्या करनी पड़ी। माता गंगा उसकी तपस्या से पूर्णतया संतुष्ट हुईं तो उन्होंने उसे दर्शन दिया और वर देना चाहा। तब भगीरथ ने उनसे अपने पितरों का उद्धार करने की प्रार्थना की। माता गंगा ने पृथ्वी पर आने के लिए दो शर्तें रखीं—एक तो यह कि उनकी तरंगों को वश में करने वाला कोई उपयुक्त पुरुष हो और दूसरी यह कि सारे पापी गंगा में स्नान करके अपने पापकर्मों के फलों से तो मुक्त हो जायेंगे, किन्तु माता गंगा उन सबके पापकर्मों के फलों को अपने अन्दर रखना नहीं चाहती थीं। इन दोनों शर्तों पर विचार किया जाना था। भगीरथ ने माता गंगा से कहा, ‘‘भगवान् शिव आपके जल की लहरों को पूरी तरह वश में कर सकेंगे और जब शुद्ध भक्तगण आपके जल में स्नान करेंगे तो पापियों द्वारा छोड़े गये पापों के फलों का निराकरण हो जायेगा।’’ तत्पश्चात् भगीरथ ने शिवजी को प्रसन्न करने के लिए तपस्या की। शिवजी आशुतोष कहलाते हैं क्योंकि वे सरलता से प्रसन्न किये जा सकते हैं। शिवजी ने गंगा के वेग को रोकने का भगीरथ का प्रस्ताव मान लिया। इस तरह गंगा के स्पर्शमात्र से भगीरथ के पूर्वज तर गये और स्वर्गलोक को चले गये।

भगीरथ का पुत्र श्रुत था, श्रुत का पुत्र नाभ और नाभ का पुत्र सिंधुद्वीप हुआ। उसका पुत्र अयुतायु हुआ जिसका पुत्र ऋतूपर्ण था जो नल का मित्र था। ऋतूपर्ण ने ही नल को द्यूतविद्या सिखलाई और उससे अश्वविद्या सीखी। ऋतूपर्ण का पुत्र सर्वकाम, सर्वकाम का पुत्र सुदास और सुदास का पुत्र सौदास हुआ। सौदास की पत्नी का नाम दमयन्ती या मदयन्ती था। सौदास का अन्य नाम कल्माषपाद था। उसके सकाम कर्मों में किसी त्रुटि के कारण वसिष्ठ ने उसे राक्षस बनने का शाप दे दिया था। एक जंगल में से गुजरते हुए उसने एक ब्राह्मण और उसकी पत्नी को संभोगरत देखा। क्योंकि वह राक्षस बन चुका था, अत: उसने उस

ब्राह्मण को खा जाना चाहा। यद्यपि ब्राह्मणपत्नी ने सौदास से बहुत अनुनय-विनय की, किन्तु वह ब्राह्मण को खा गया। फलत: उसकी पत्नी ने उस राक्षस को शाप दिया, "तुम संभोगरत होते ही मर जाओगे।" इस तरह बारह वर्ष बाद वसिष्ठ के शाप से मुक्त होने पर भी सौदास नि:सन्तान रहा। तब सौदास की अनुमति से वसिष्ठ ने उसकी पत्नी मदयन्ती को गर्भवती बनाया। किन्तु जब वर्षों गर्भधारण करते रहने पर भी मदयन्ती के सन्तान नहीं हुई तो वसिष्ठ ने उसके उदर पर पत्थर से प्रहार किया। इस प्रकार एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम था अश्मक।

अश्मक का पुत्र बालिक कहलाया। वह परशुराम के शाप से इसलिए बच गया क्योंकि वह अनेक स्त्रियों से घिरा हुआ था। इसीलिए वह नारीकवच भी कहलाता है। जब सारा जगत क्षत्रियविहीन हो गया था तो उसने अनेक क्षत्रियों को जन्म दिया। इसीलिए वह कभी-कभी मूलक भी कहलाता है। बालिक का पुत्र दशरथ हुआ और दशरथ का पुत्र ऐडविडि हुआ जिसका पुत्र विश्वसह हुआ। इसी विश्वसह के पुत्र-रूप में महाराज खट्वांग हुए। उन्होंने देवताओं के साथ मिलकर असुरों से युद्ध किया और विजय प्राप्त की। फलत: देवताओं ने उन्हें वर देना चाहा। इस पर उन्होंने पूछा कि वे कितने काल तक जीवित रहेंगे? और जब उन्हें ज्ञात हुआ कि उनका जीवन कुछ ही क्षण बाकी है तो वे स्वर्ग छोड़कर विमान से अपने धाम चले आये। वे यह समझ गये कि इस जगत की हर वस्तु तुच्छ है अत: वे पूरी तरह से भगवान् हरि की पूजा में लग गये।

श्रीशुक उवाच

अंशुमांश्च तपस्तेपे गङ्गानयनकाम्यया ।
कालं महान्तं नाशक्नोत्ततः कालेन संस्थितः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अंशुमान्—अंशुमान राजा ने; च—भी; तपः तेपे—तपस्या की; गङ्गा—गंगा नदी; आनयन-काम्यया—अपने पूर्वजों का उद्धार करने के लिए गंगा को इस भौतिक जगत में लाने की इच्छा से; कालम्—काल; महान्तम्—दीर्घकाल तक; न—नहीं; अशक्नोत्—सफल हुआ; ततः—तत्पश्चात्; कालेन—समय आने पर; संस्थितः—मर गया।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : राजा अंशुमान ने अपने पितामह की तरह दीर्घकाल तक तपस्या की तो भी वह गंगा नदी को इस भौतिक जगत में न ला सका और उसके बाद कालक्रम में उसका देहान्त हो गया।

दिलीपस्तत्सुतस्तद्वदशक्तः कालमेयिवान् ।
भगीरथस्तस्य सुतस्तेपे स सुमहत्तपः ॥ २॥

शब्दार्थ

दिलीपः—दिलीप; तत्-सुतः—अंशुमान का पुत्र; तत्-वत्—अपने पिता की भाँति; अशक्तः—गंगा को इस जगत में ला सकने में असमर्थ; कालम् एयिवान्—काल का शिकार हुआ और मर गया; भगीरथः तस्य सुतः—उसके पुत्र भगीरथ ने; तेपे—तपस्या की; सः—वह; सु-महत्—बहुत बड़ी; तपः—तपस्या।

अंशुमान की भाँति उसका पुत्र दिलीप भी गंगा को इस भौतिक जगत में ला पाने में असमर्थ रहा और कालक्रम में उसकी भी मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् दिलीप के पुत्र भगीरथ ने गंगा को इस भौतिक जगत में लाने के लिए अत्यन्त कठिन तपस्या की।

दर्शयामास तं देवी प्रसन्ना वरदास्मि ते ।
इत्युक्तः स्वमभिप्रायं शशंसावनतो नृपः ॥ ३॥

शब्दार्थ

दर्शयाम् आस—प्रकट हुई; तम्—उसको, भगीरथ को; देवी—माता गंगा; प्रसन्ना—अत्यन्त प्रसन्न होकर; वरदा अस्मि—मैं वर दूँगी; ते—तुमको; इति उक्तः—इस प्रकार सम्बोधित करके; स्वम्—अपनी; अभिप्रायम्—इच्छा; शशंस—बतलायी; अवनतः—आदरपूर्वक झुककर प्रणाम करके; नृपः—राजा (भगीरथ) ने।

तत्पश्चात् माता गंगा राजा भगीरथ के समक्ष प्रकट होकर बोलीं, ''मैं तुम्हारी तपस्या से अत्यधिक प्रसन्न हूँ और तुम्हें मुँहमाँगा वर देने को तैयार हूँ।'' गंगादेवी द्वारा इस प्रकार सम्बोधित हुए राजा ने उनके समक्ष अपना सिर झुकाया और अपना मन्तव्य बतलाया।

तात्पर्य : राजा का मन्तव्य अपने उन पूर्वजों का उद्धार कराना था जो कपिल मुनि का अनादर करने के कारण भस्म हो गये थे।

कोऽपि धारयिता वेगं पतन्त्या मे महीतले ।
अन्यथा भूतलं भित्त्वा नृप यास्ये रसातलम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

कः—वह कौन व्यक्ति है; अपि—निस्सन्देह; धारयिता—धारण कर सकता है; वेगम्—तरंगों के वेग को; पतन्त्याः—नीचे गिरती हुई; मे—मेरे; मही-तले—पृथ्वी पर; अन्यथा—अन्यथा; भू-तलम्—पृथ्वी की सतह; भित्त्वा—भेदकर; नृप—हे राजा; यास्ये—नीचे चली जाऊँगी; रसातलम्—पाताल।

माता गंगा ने उत्तर दिया: जब मैं आकाश से पृथ्वीलोक के धरातल पर गिरूँगी तो मेरा जल अत्यन्त वेगवान होगा। इस वेग को कौन धारण कर सकेगा? यदि कोई मुझे धारण नहीं कर सकेगा

तो मैं पृथ्वी की सतह को भेदकर रसातल में अर्थात् ब्रह्माण्ड के पाताल क्षेत्र में चली जाऊँगी।

किं चाहं न भुवं यास्ये नरा मय्यामृजन्त्यघम् ।
मृजामि तदघं क्वाहं राजंस्तत्र विचिन्त्यताम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

किम् च—भी; अहम्—मैं; न—नहीं; भुवम्—पृथ्वीलोक को; यास्ये—जाऊँगी; नराः—लोग; मयि—मुझमें, मेरे जल में; आमृजन्ति—धोते हैं; अघम्—पापकर्मों के फल; मृजामि—धो सकूँ; तत्—वह; अघम्—पाकर्मों के फलों का संग्रह; क्व—किसको; अहम्—मैं; राजन्—हे राजा; तत्र—इस बात पर; विचिन्त्यताम्—ध्यान से विचार करके निर्णय करो।.

हे राजा, मैं पृथ्वीलोक पर नहीं उतरना चाहती क्योंकि सभी लोग अपने पापकर्मों के फलों को धोने के लिए मुझमें स्नान करेंगे। जब ये सारे पापकर्मों के फल मुझमें एकत्र हो जायेंगे तो मैं उनसे किस तरह मुक्त हो सकूँगी? तुम इस पर ध्यानपूर्वक विचार करो।

तात्पर्य : स्वंय भगवान् का कथन है (*भगवद्गीता* १८.६६)—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

"सारे धर्मों का परित्याग करके मेरी शरण में आओ। मैं सारे पापों से तुम्हारा उद्धार कर दूँगा। डरो मत।" भगवान् किसी भी व्यक्ति के पापों के फलों को ग्रहण करके उनका निराकरण कर सकते हैं क्योंकि वे सूर्य के समान पवित्र हैं जो कभी भी सांसारिक स्पर्श से दूषित नहीं होता। *तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा* (*भागवत* १०.३३.२९)। जो अत्यन्त शक्तिमान है वह किसी पापकर्म से दूषित नहीं होता। किन्तु यहाँ हम देखते हैं कि माता गंगा उन लोगों के पाप से बोझिल होने से भयभीत हैं जो गंगाजल में स्नान करेंगे। इससे सूचित होता है कि भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई भी व्यक्ति अपने या अन्यों के पापकर्मों के फलों को दूर करने में समर्थ नहीं है। कभी-कभी गुरु को शिष्य बनाने के बाद उस के विगत पापकर्मों का भार ग्रहण करना पड़ता है; फलस्वरूप पापों से बोझिल हो जाने के कारण उसे कष्ट भोगना पड़ता है—पूरी तरह नहीं तो आंशिक रूप में—अतएव शिष्य को चाहिए कि दीक्षा ग्रहण करने के बाद पापकर्म करने के प्रति सतर्क रहे। बेचारा गुरु शिष्य को स्वीकार करते समय अत्यन्त कृपालु रहता है और शिष्य के पापकर्मों को अंशतः भोगता है, किन्तु भगवान् अपने दास पर कृपालु होने के कारण उस दास के पापकृत्यों के फलों का निराकरण कर देते हैं जो उनकी महिमा का प्रचार करने में लगा रहता है। माता गंगा

भी लोगों के पापों के फलों से भयभीत होने के कारण चिन्तित थीं कि वे इन पापों के भार को किस तरह वहन कर सकेंगी।

श्रीभगीरथ उवाच

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः ।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात्तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगीरथः उवाच—भगीरथ ने कहा; साधवः—सन्तपुरुष; न्यासिनः—संन्यासीजन; शान्ताः—शान्त, भौतिक झंझटों से मुक्त; ब्रह्मिष्ठाः—वैदिक शास्त्रों के अनुष्ठानों का पालन करने में पटु; लोक-पावनाः—पतित अवस्था से लोगों का उद्धार करने में संलग्न; हरन्ति—दूर करेंगे; अघम्—पाप के फल; ते—तुम्हारा (गंगा का); अङ्ग-सङ्गात्—गंगाजल में नहाने से; तेषु—अपने में; आस्ते—है; हि—निस्सन्देह; अघ-भित्—सारे पापों को हरने वाले; हरिः—भगवान्।

भगीरथ ने कहा : जो भक्ति के कारण सन्त प्रकृति के हैं और भौतिक इच्छाओं से मुक्त संन्यासी बन चुके हैं, तथा जो वेदवर्णित अनुष्ठानों का पालन करने में पटु हैं और शुद्ध भक्त हैं वे सर्वदा महिमामंडित हैं और शुद्धाचरण वाले हैं तथा सभी पतितात्माओं का उद्धार करने में समर्थ हैं। जब ऐसे शुद्ध भक्त आपके जल में स्नान करेंगे तो अन्य लोगों के संचित पापों के फलों का निश्चय ही निराकरण हो सकेगा क्योंकि ऐसे भक्तगण उन भगवान् को अपने हृदयों में सदा धारण करते हैं जो सारे पापों को दूर कर सकते हैं।

तात्पर्य : माता गंगा स्नान के लिए सबों को सुलभ हैं। अतएव गंगाजल में न केवल पापी लोग स्नान करेंगे अपितु हरद्वार तथा अन्य तीर्थस्थलों में जहाँ से होकर गंगा बहती हैं, सन्तजन तथा भक्तगण भी गंगाजल में स्नान करेंगे। भक्तगण तथा संन्यासीजन गंगा तक का उद्धार कर सकतेहैं। *तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता* (*भागवत* १.१३.१०)। चूँकि सन्त भक्तजन सदैव भगवान् को अपने हृदय में धारण करते हैं अतएव वे तीर्थस्थानों को, सारे पापों के फलों को पूरी तरह धो कर, शुद्ध कर सकते हैं। अतएव सामान्य लोगों को चाहिए कि सन्तपुरुषों का सदैव आदर करें। ऐसा आदेश है कि किसी भी वैष्णव या संन्यासी का दर्शन होने पर उनका तुरंत आदर किया जाय। यदि आदर करने में भूल हो जाय तो उस दिन उपवास रखा जाय। यह वैदिक आदेश है। मनुष्य को चाहिए कि भक्त या सन्त के चरणकमलों के प्रति अपराध करने से अत्यन्त सतर्क रहे।

यद्यपि प्रायश्चित्त की विधियाँ हैं, किन्तु वे पापों के फलों को धोने में अपर्याप्त हैं। मनुष्य केवल भक्ति

द्वारा सारे पापों के फलों से छूट सकता है जैसा कि अजामिल की कथा में कहा गया है—

केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः ।

अघं धुन्वन्ति कात्स्न्येंन नीहारं इव भास्करः ॥

''केवल ऐसा व्यक्ति, जिसने कृष्ण की अनन्य भक्ति ग्रहण की होती है, पापकर्म रूपी खरपतवारों को समूल नष्ट कर सकता है ताकि वे पुनः न उभर आएँ। जिस तरह सूर्य अपनी किरणों से कुहरे को तुरन्त विनष्ट कर देता है उसी प्रकार मनुष्य भक्ति के द्वारा ऐसा कर सकता है।'' (*भागवत* ६.१.१५)। यदि कोई व्यक्ति किसी भक्त के प्रश्रय में रहता है और निष्ठापूर्वक उसकी सेवा करता है तो वह भक्तियोग के द्वारा सारे पापकर्मों के फलों को नष्ट कर सकने में समर्थ होता है।''

धारयिष्यति ते वेगं रुद्रस्त्वात्मा शरीरिणाम् ।
यस्मिन्नोतमिदं प्रोतं विश्वं शाटीव तन्तुषु ॥ ७॥

शब्दार्थ

धारयिष्यति—धारण करेगा; ते—तुम्हारे; वेगम्—तरंगों के वेग को; रुद्रः—शिवजी; तु—निस्सन्देह; आत्मा—परमात्मा; शरीरिणाम्—समस्त शरीरधारियों का; यस्मिन्—जिसमें; ओतम्—देशान्तर, ताना; इदम्—यह सारा ब्रह्माण्ड; प्रोतम्—अंक्षाश बाना; विश्वम्—सारा विश्व; शाटी—वस्त्र; इव—सदृश; तन्तुषु—डोरों में।

जिस प्रकार वस्त्र के सारे डोरे लम्बाई तथा चौाई में गुँथे रहते हैं, उसी तरह यह समग्र विश्व अपने अक्षांश-देशान्तरों सहित भगवान् की विभिन्न शक्तियों में स्थित है। शिवजी भी भगवान् के अवतार हैं अतएव वे देहधारी जीव में परमात्मा का प्रतिनिधित्व करते हैं।वे अपने सिर पर आपकी वेगवान तरंगों को धारण कर सकते हैं।

तात्पर्य : गंगाजल भगवान् शिव के सिर पर स्थित माना जाता है। शिवजी भगवान् के अवतार हैं जो विभिन्न शक्तियों से सारे विश्व को धारण करते हैं। *ब्रह्म-संहिता* में (५.४५) शिवजी का वर्णन इस प्रकार हुआ है—

क्षीरं यथा दधि विकारविशेषयोगात्

सञ्जायते न हि ततः पृथगस्ति हेतोः ।

यः शम्भुतामपि तथा समुपैति कार्याद्

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

"जब दूध में जामन डाला जाता है तो यह दही में बदल जाता है, किन्तु वास्तव में यह दही दूध के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। इसी प्रकार भगवान् गोविन्द भौतिक व्यवहार के निमित्त भगवान् शिव का रूप धारण करते हैं। मैं भगवान् गोविन्द के चरणकमलों को सादर नमस्कार करता हूँ।" शिवजी उसी प्रकार भगवान् हैं जिस प्रकार दही दूध भी है और नहीं भी है। भौतिक जगत के पालन हेतु ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर (शिव)—ये तीन अवतार हैं। शिवजी विष्णु के तमोगुणी अवतार हैं। यह जगत प्रधानतः तमोगुणी है। इसीलिए शिवजी की उपमा यहाँ सारे विश्व के अक्षांश-देशान्तर से दी गई है जो वस्त्र के तानों-बानों के समान होते हैं।

इत्युक्त्वा स नृपो देवं तपसातोषयच्छिवम् ।
कालेनाल्पीयसा राजंस्तस्येशश्चाश्वतुष्यत ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

इति उक्त्वा—यह कहकर; सः—उस; नृपः—राजा (भगीरथ) ने; देवम्—शिव को; तपसा—तपस्या द्वारा; अतोषयत्—प्रसन्न किया; शिवम्—सर्वकल्याणकारी शिव को; कालेन—समय आने पर; अल्पीयसा—अल्पकालीन; राजन्—हे राजा; तस्य—उस (भगीरथ) का; ईशः—शिवजी; च—निस्सन्देह; आशु—तुरन्त; अतुष्यत—तुष्ट हो गये।

ऐसा कहने के बाद भगीरथ ने तपस्या करके शिवजी को प्रसन्न किया। हे राजा परीक्षित, शिवजी शीघ्र ही भगीरथ से तुष्ट हो गये।

तात्पर्य : *आश्वतुष्यत* शब्द सूचित करता हैं कि शिवजी तुरन्त तुष्ट हो गये; इसीलिए शिवजी का अन्य नाम आशुतोष है। भौतिकतावादी लोग शिवजी के प्रति इतने अनुरक्त इसीलिए रहते हैं क्योंकि वे भक्तों के सुख-दुख का विचार किये बिना तुरन्त ही हर एक को वर दे देते हैं। यद्यपि भौतिकतावादी लोग यह जानते हैं कि भौतिक सुख एवं दुख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं फिर भी वे सुख की कामना करते हैं और इसे तुरन्त पाने के लिए शिवजी को पूजते हैं। हम देखते हैं कि ऐसे भौतिकतावादी लोग सामान्यतया अनेक देवताओं की, विशेष रूप से शिवजी तथा माता दुर्गा की, पूजा करते हैं। वे आध्यात्मिक सुख की कामना नहीं करते क्योंकि यह उनको लगभग अज्ञात है। किन्तु यदि कोई सचमुच आध्यात्मिक सुख चाहता है तो उसे भगवान् विष्णु की शरण ग्रहण करनी चाहिए क्योंकि स्वयं भगवान् चाहते हैं कि—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्ष्ययिष्यामि मा शुचः ॥

"सारे धर्मों का परित्याग करके मेरी शरण ग्रहण करो। मैं सारे पापों से तुम्हारा उद्धार करूँगा। तुम डरो मत।" (*भगवद्गीता* १८.६६)

तथेति राज्ञाभिहितं सर्वलोकहितः शिवः ।
दधारावहितो गङ्गां पादपूतजलां हरेः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तथा—एवमस्तु; इति—इस प्रकार; राज्ञा अभिहितम्—राजा द्वारा कहे जाने पर; सर्व-लोक-हितः—भगवान् जो सबों का कल्याण करने वाले हैं; शिवः—भगवान् शिव ने; दधार—धारण किया; अवहितः—ध्यानपूर्वक; गङ्गाम्—गंगा को; पाद-पूत-जलाम् हरेः—भगवान् विष्णु के अँगूठे से निकलने के कारण, जिसका जल दिव्य रूप से शुद्ध है।

जब राजा भगीरथ शिवजी के पास गये और उनसे गंगा की वेगवान लहरों को धारण करने के लिए प्रार्थना की तो शिवजी ने एवमस्तु कहते हुए प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। तब उन्होंने अत्यन्त ध्यानपूर्वक गंगा को अपने सिर पर धारण कर लिया क्योंकि भगवान् विष्णु के अँगूठे से निकलने के कारण गंगा का जल शुद्ध करने वाला है।

भगीरथः स राजर्षिर्निन्ये भुवनपावनीम् ।
यत्र स्वपितृणां देहा भस्मीभूताः स्म शेरते ॥ १० ॥

शब्दार्थ

भगीरथः—भगीरथ; सः—वह; राज-ऋषिः—सन्त राजा; निन्ये—ले गया या लाया; भुवन-पावनीम्—सारे ब्रह्माण्ड का उद्धार करने वाली गंगा को; यत्र—जिस स्थान पर; स्व-पितृणाम्—अपने पितरों के; देहाः—शरीर; भस्मीभूताः—जलकर राख हुए; स्म शेरते—पड़े हुए थे।

महान् एवं साधु राजा भगीरथ समस्त पतितात्माओं का उद्धार करने वाली गंगाजी को पृथ्वी पर उस स्थान में ले गये जहाँ उनके पितरों के शरीर भस्म होकर पड़े हुए थे।

रथेन वायुवेगेन प्रयान्तमनुधावती ।
देशान्पुनन्ती निर्दग्धानासिञ्चत्सगरात्मजान् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

रथेन—रथ पर; वायु-वेगेन—हवा की गति से चलते हुए; प्रयान्तम्—आगे-आगे चलते महाराज भगीरथ; अनुधावती—पीछे-पीछे दौड़ती; देशान्—सारे देशों को; पुनन्ती—पवित्र बनाती; निर्दग्धान्—जलकर राख हुए; आसिञ्चत्—ऊपर जल छिड़का; सगर-आत्मजान्—सगर के पुत्रों को।

भगीरथ एक तेज रथ पर सवार हुए और गंगा माता के आगे-आगे चले जो अनेक देशों को शुद्ध करती हुई उनके पीछे पीछे चलती हुई उस स्थान पर पहुँचीं जहाँ सगर के पुत्र भगीरथ के पितृगण की

भस्म पड़ी थी। इस पर गंगा का जल छिड़का गया।

**यज्जलस्पर्शमात्रेण ब्रह्मदण्डहता अपि ।
सगरात्मजा दिवं जग्मु: केवलं देहभस्मभि: ॥ १२॥**

शब्दार्थ

यत्-जल—जिसका पानी; स्पर्श-मात्रेण—केवल स्पर्श करने से; ब्रह्म-दण्ड-हता:—जो लोग ब्रह्म (आत्म) का अपमान करने के कारण दण्डित हुए; अपि—यद्यपि; सगर-आत्मजा:—सगर के पुत्र; दिवम्—स्वर्गलोक को; जग्मु:—गये; केवलम्—मात्र; देह-भस्मभि:—अपने भस्म हुए शरीरों की बची राख से।

चूँकि सगर महाराज के पुत्रों ने महापुरुष का अपमान किया था अतएव उनके शरीर का ताप बढ़ गया था और वे जलकर भस्म हो गये थे। किन्तु मात्र गंगाजल के छिड़कने से वे सभी स्वर्गलोक जाने के पात्र बन गये। अतएव जो लोग गंगा की पूजा करने के लिए गंगाजल का प्रयोग करते हैं उनके विषय में क्या कहा जाए? है?

तात्पर्य : गंगा मइया की पूजा गंगाजल से की जाती है—भक्त थोड़ा सा गंगाजल लेकर पुन: उस गंगा में चढ़ा देता है। जब भक्त गंगा में से जल लेता है तो गंगा मइया की न तो कुछ हानि होती है और न ही, जब भक्त उस जल को गंगा में डाल देता है, कोई वृद्धि होती है, किन्तु इस प्रकार गंगा के आराधक लाभान्वित होते हैं। इसी प्रकार जब भक्त भगवान् को भक्तिपूर्वक *पत्रं पुष्पं फलं तोयम्* अर्थात् पत्र, फूल, फल तथा जल चढ़ाता है तो हर वस्तु भगवान् की होने से, न तो कोई त्यागने का प्रश्न उठता है और न स्वीकारने का। मनुष्य को मात्र भक्तियोग का लाभ उठाना चाहिए क्योंकि इसका पालन करने से किसी का कुछ जाता नहीं प्रत्युत परमपुरुष की कृपा प्राप्त होती है।

**भस्मीभूताङ्गसङ्गेन स्वर्याता: सगरात्मजा: ।
किं पुन: श्रद्धया देवीं सेवन्ते ये धृतव्रता: ॥ १३॥**

शब्दार्थ

भस्मीभूत-अङ्ग—जलकर राख हुए शरीरों से; सङ्गेन—गंगाजल के स्पर्श से; स्व: याता:—स्वर्गलोक चले गये; सगर-आत्मजा:—सगर के पुत्र; किम्—क्या कहा जाय; पुन:—फिर; श्रद्धया—श्रद्धा तथा भक्ति से; देवीम्—माता गंगा की; सेवन्ते—पूजा करते हैं; ये—जो व्यक्ति; धृत-व्रता:—संकल्प लेकर।

भस्म शरीरों की राखों का गंगाजल के साथ सम्पर्क होने से सगर महाराज के पुत्र स्वर्गलोक चले गये। अतएव उन लोगों के विषय में क्या कहा जाय जो संकल्प लेकर श्रद्धापूर्वक गंगा मइया की

पूजा करते हैं? ऐसे भक्तों को मिलने वाले लाभ की मात्र कल्पना की जा सकती है।

न ह्येतत्परमाश्चर्यं स्वर्धुन्या यदिहोदितम् ।
अनन्तचरणाम्भोजप्रसूताया भवच्छिदः ॥ १४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; एतत्—यह; परम्—चरम; आश्चर्यम्—आश्चर्यजनक वस्तु; स्वर्धुन्याः—गंगाजल का; यत्—जो; इह—यहाँ पर; उदितम्—कहा गया है; अनन्त—भगवान् का; चरण-अम्भोज—चरणकमलों से; प्रसूतायाः—निकलने वाले का; भव-छिदः—भवबन्धन से छुड़ाने में समर्थ।

चूँकि गंगामाता भगवान् अनन्तदेव के चरणकमल के अँगूठे से निकलती हैं, अतएव वे मनुष्य को भवबन्धन से मुक्त करने में सक्षम हैं। इसलिए यहाँ पर उनके विषय में जो कुछ बतलाया जा रहा है वह तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं है।

तात्पर्य : यह वास्तव में देखा गया है कि जो व्यक्ति नियमित रूप से गंगास्नान करके गंगाजी की पूजा करता है उसका स्वास्थ्य ठीक रहता है और वह धीरे-धीरे भगवद्भक्त बन जाता है। यह गंगाजल में स्नान करने का प्रभाव है। सारे वैदिक शास्त्रों में गंगा में स्नान करने की संस्तुति की गई है; अतएव जो भी इस पथ को ग्रहण करेगा वह सारे पापफलों से पूर्णतया छूट जायेगा। इसके ज्वलन्त प्रमाण महाराज सगर के भस्मीभूत पुत्र हैं जो गंगाजल के स्पर्शमात्र से स्वर्गलोक को प्राप्त हुए।

सन्निवेश्य मनो यस्मिञ्छ्रद्धया मुनयोऽमलाः ।
त्रैगुण्यं दुस्त्यजं हित्वा सद्यो यातास्तदात्मताम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

सन्निवेश्य—पूरा ध्यान देकर; मनः—मन; यस्मिन्—जिसमें; श्रद्धया—श्रद्धा तथा भक्ति से; मुनयः—मुनिगण; अमलाः—पापों के कल्मष से मुक्त हुए; त्रैगुण्यम्—प्रकृति के तीनों गुण; दुस्त्यजम्—जिनको छोड़ पाना अत्यन्त कठिन है; हित्वा—फिर भी त्याग करके; सद्यः—शीघ्र; याताः—प्राप्त किया; तत्-आत्मताम्—भगवान् का आध्यात्मिक गुण, भगवत्स्वरूप।

मुनिगण भौतिक कामवासनाओं से सर्वथा मुक्त होकर, अपना ध्यान पूरी तरह भगवान् की सेवा में लगाते हैं। ऐसे व्यक्ति बिना किसी कठिनाई के भवबन्धन से छूट जाते हैं और वे भगवान् का आध्यात्मिक गुण प्राप्त करके दिव्यपद को प्राप्त होते हैं। भगवान् की यही महिमा है।

श्रुतो भगीरथाज्जज्ञे तस्य नाभोऽपरोऽभवत् ।
सिन्धुद्वीपस्ततस्तस्मादयुतायुस्ततोऽभवत् ॥ १६॥

ऋतूपर्णो नलसखो योऽश्वविद्यामयान्नलात् ।
दत्त्वाक्षहृदयं चास्मै सर्वकामस्तु तत्सुतम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्रुतः—श्रुत नामक पुत्र; भगीरथात्—भगीरथ से; जज्ञे—उत्पन्न हुआ; तस्य—श्रुत का; नाभः—नाभ नामक; अपरः—अन्य, पूर्णवर्णित नाम से भिन्न; अभवत्—उत्पन्न हुआ; सिन्धुद्वीपः—सिन्धुद्वीप नाम से; ततः—नाभ से; तस्मात्—सिन्धुद्वीप से; अयुतायुः—अयुतायु नामक पुत्र; ततः—तत्पश्चात्; अभवत्—पैदा हुआ; ऋतूपर्णः—ऋतूपर्ण नामक पुत्र; नल-सखः—नल का मित्र; यः—जो; अश्व-विद्याम्—घोड़ों को वश में करने की कला; अयात्—अर्जित की; नलात्—नल से; दत्त्वा—बदले में देकर; अक्ष-हृदयम्—द्यूतक्रीड़ा का रहस्य; च—तथा; अस्मै—नल को; सर्वकामः—सर्वकाम नामक; तु—निस्सन्देह; तत्-सुतम्—उसका (ऋतूपर्ण) पुत्र।

भगीरथ का पुत्र श्रुत था और श्रुत का पुत्र नाभ था। (यह नाभ पूर्ववर्णित नाभ से भिन्न है)। नाभ का पुत्र सिंधुद्वीप हुआ, जिसका पुत्र अयुतायु था और अयुतायु का पुत्र ऋतूपर्ण हुआ जो नल राजा का मित्र बन गया। ऋतूपर्ण ने नल राजा को द्यूतक्रीड़ा सिखलाई और बदले में उसने नल राजा से घोड़ों को वश में करना तथा उनकी देखरेख करना सीखा। ऋतूपर्ण का पुत्र सर्वकाम था।

तात्पर्य : जुआ खेलना (द्यूत) भी एक कला है। क्षत्रियों को द्यूतक्रीड़ा की कला में अपनी प्रतिभा दिखलाने की छूट है। कृष्ण की कृपा से पाण्डवों ने जुए में अपना सर्वस्व गवाँ दिया और वे अपने राज्य, पत्नी, परिवार तथा घर सबसे वंचित हो गये क्योंकि वे द्यूत कला में पटु न थे। दूसरे शब्दों में, हो सकता है कि भक्त भौतिकतावादी कार्यकलापों में दक्ष न हो सकता हो। अतएव शास्त्रों का उपदेश है कि जीवों के लिए, विशेष रूप से भक्तों के लिए, संसारी कार्यकलाप अनुकूल नहीं होते। अतएव भक्त को भगवान् द्वारा भेजे गये प्रसाद को खाकर ही सन्तुष्ट होना चाहिए। भक्त शुद्ध बना रहता है क्योंकि वह द्यूतक्रीड़ा, नशा, मांसाहार तथा अवैध यौन जैसे पापपूर्ण कृत्य नहीं करता।

ततः सुदासस्तत्पुत्रो दमयन्तीपतिर्नृपः ।
आहुर्मित्रसहं यं वै कल्माषाङ्घ्रिमुत क्वचित् ।
वसिष्ठशापाद्रक्षोऽभूदनपत्यः स्वकर्मणा ॥ १८॥

शब्दार्थ

ततः—सर्वकाम से; सुदासः—सुदास उत्पन्न हुआ; तत्-पुत्रः—सुदास का पुत्र; दमयन्ती-पतिः—दमयन्ती का पति; नृपः—राजा बना; आहुः—कहा जाता है; मित्रसहम्—मित्रसह; यम् वै—भी; कल्माषाङ्घ्रिम्—कल्माषपाद से; उत—ज्ञात; क्वचित्—कभी; वसिष्ठ-शापात्—वसिष्ठ के शाप से; रक्षः—मनुष्यभक्षक; अभूत्—बना; अनपत्यः—सन्तानहीन; स्व-कर्मणा—अपने पापपूर्ण कर्म से।

सर्वकाम के एक सुदास नामक पुत्र हुआ जिसका पुत्र सौदास कहलाया जो दमयन्ती का पति था। कभी-कभी सौदास मित्रसह या कल्माषपाद के नाम से जाना जाता है। अपने ही दुष्कर्मों के

कारण मित्रसह नि:सन्तान था और उसे वसिष्ठ द्वारा राक्षस बनने का शाप मिला।

श्रीराजोवाच
किं निमित्तो गुरोः शापः सौदासस्य महात्मनः ।
एतद्वेदितुमिच्छामः कथ्यतां न रहो यदि ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा परीक्षित ने कहा; किम् निमित्तः—किस कारण से; गुरोः—गुरु का; शापः—शाप; सौदासस्य—सौदास का; महा-आत्मनः—महान् आत्मा का; एतत्—यह; वेदितुम्—जानने के लिए; इच्छामः—इच्छा करता हूँ; कथ्यताम्—कृपया मुझसे कहें; न—नहीं; रहः—गोपनीय; यदि—यदि।

राजा परीक्षित ने कहा : हे शुकदेव गोस्वामी, सौदास के गुरु वसिष्ठ ने इस महापुरुष को शाप क्यों दिया? मैं इसे जानना चाहता हूँ। यदि यह गोपनीय विषय न हो तो कृपया कह सुनायें।

श्रीशुक उवाच
सौदासो मृगयां किञ्चिच्चरन्रक्षो जघान ह ।
मुमोच भ्रातरं सोऽथ गतः प्रतिचिकीर्षया ॥ २० ॥
सञ्चिन्तयन्नघं राज्ञः सूदरूपधरो गृहे ।
गुरवे भोक्तुकामाय पक्त्वा निन्ये नरामिषम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सौदासः—राजा सौदास ने; मृगयाम्—शिकार के लिए; किञ्चित्—किसी समय; चरन्—घूमते हुए; रक्षः—राक्षस, मानव भक्षी; जघान—मारा; ह—था; मुमोच—छोड़ दिया; भ्रातरम्—उस राक्षस के भाई को; सः—उसने; अथ—तत्पश्चात्; गतः—गया; प्रतिचिकीर्षया—बदला लेने के लिए; सञ्चिन्तयन्—उसने सोचा; अघम्—कुछ नुकसान करने के लिए; राज्ञः—राजा का; सूद-रूप-धरः—रसोइये का वेश धारण किया; गृहे—घर में; गुरवे—राजा के गुरु को; भोक्तु-कामाय—भोजन करने के लिए आया हुआ; पक्त्वा—भोजन बनाने के बाद; निन्ये—दिया; नर-आमिषम्—मनुष्य का मांस।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : एक बार सौदास जंगल में मृगया के लिए गया जहाँ उसने एक राक्षस को मार डाला, किन्तु राक्षस के भाई को क्षमा करके छोड़ दिया। किन्तु उस भाई ने बदला लेने का निश्चय किया। राजा को क्षति पहुँचाने के विचार से वह राजा के घर में रसोइया बन गया। एक दिन जब राजा के गुरु वसिष्ठ मुनि को भोजन करने के लिए आमंत्रित किया गया तो इस राक्षस रसोइये ने उन्हें मनुष्य का मांस परोस दिया।

परिवेक्ष्यमाणं भगवान्विलोक्याभक्ष्यमञ्जसा ।
राजानमशपत्क्रुद्धो रक्षो ह्येवं भविष्यसि ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

परिवेक्ष्यमाणम्—भोज्य पदार्थों का परीक्षण करते हुए; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; विलोक्य—देखकर; अभक्ष्यम्—खाने के लिए अनुपयुक्त; अञ्जसा—अपनी योग शक्ति से सरलतापूर्वक; राजानम्—राजा को; अशपत्—शाप दे दिया; क्रुद्धः—अत्यन्त क्रोधित होकर; रक्षः—मनुष्यभक्षी राक्षस; हि—निस्सन्देह; एवम्—इस प्रकार; भविष्यसि—हो जाओगे।.

वसिष्ठ मुनि, परोसे भोजन की परीक्षा करते हुए, अपने योगबल से समझ गये कि यह मनुष्य का मांस है अतएव अभक्ष्य है। फलतः वे अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उन्होंने तुरन्त ही सौदास को मनुष्यभक्षी (राक्षस) बनने का शाप दे डाला।

रक्षःकृतं तद्विदित्वा चक्रे द्वादशवार्षिकम् ।
सोऽप्यपोऽञ्जलिमादाय गुरुं शप्तुं समुद्यतः ॥ २३ ॥
वारितो मदयन्त्यापो रुशतीः पादयोर्जहौ ।
दिशः खमवनीं सर्वं पश्यञ्जीवमयं नृपः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

रक्षः-कृतम्—राक्षस द्वारा ही किया हुआ; तत्—वह मांस का परोसा जाना; विदित्वा—जानकर; चक्रे—वसिष्ठ ने सम्पन्न किया; द्वादश-वार्षिकम्—प्रायश्चित्त के लिए बारह वर्ष की तपस्या; सः—वह सौदास; अपि—भी; अपः-अञ्जलिम्—अंजुली भर पानी; आदाय—लाकर; गुरुम्—अपने गुरु वसिष्ठ को; शप्तुम्—शाप देने के लिए; समुद्यतः—तैयार; वारितः—मना किये जाने पर; मदयन्त्या—अपनी पत्नी मदयन्ती द्वारा; अपः—जल; रुशतीः—मंत्रोच्चार से सशक्त; पादयोः जहौ—अपने पाँवों पर फेंका; दिशः—सारी दिशाएँ; खम्—आकाश में; अवनीम्—पृथ्वी पर; सर्वम्—सर्वत्र; पश्यन्—देखते हुए; जीव-मयम्—जीवों से पूर्ण; नृपः—राजा ने।.

जब वसिष्ठ समझ गये कि यह मांस राजा द्वारा नहीं, अपितु राक्षस द्वारा ही परोसा गया है तो उन्होंने निर्दोष राजा को शाप देने के प्रायश्चित स्वरूप अपने को शुद्ध करने के लिए बारह वर्ष तक तपस्या की। तब राजा सौदास ने अंजुली में पानी लेकर वसिष्ठ को शाप देने के लिए शापमंत्र का उच्चारण करना चाहा, किन्तु उसकी पत्नी मदयन्ती ने उसे ऐसा करने से रोका। तब राजा ने देखा कि दसों दिशाओं, आकाश तथा पृथ्वी पर सर्वत्र जीव ही जीव थे।

राक्षसं भावमापन्नः पादे कल्माषतां गतः ।
व्यवायकाले ददृशे वनौकोदम्पती द्विजौ ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

राक्षसम्—मनुष्यभक्षक; भावम्—प्रवृत्ति; आपन्नः—प्राप्त करके; पादे—पाँव पर; कल्माषताम्—काला धब्बा; गतः—प्राप्त किया; व्यवाय-काले—मैथुन के समय; ददृशे—देखा; वन-ओकः—वनवासी; दम्-पती—पति-पत्नी; द्विजौ—ब्राह्मण।.

इस तरह सौदास ने मानवभक्षी प्रवृत्ति अर्जित कर ली और उसके पाँव में एक काला धब्बा हो गया जिससे वह कल्माषपाद कहलाया। एक बार कल्माषपाद ने एक ब्राह्मण दम्पति को जंगल में संभोगरत देखा।

क्षुधार्तो जगृहे विप्रं तत्पत्न्याहाकृतार्थवत् ।
न भवान्राक्षसः साक्षादिक्ष्वाकूणां महारथः ॥ २६ ॥
मदयन्त्याः पतिर्वीर नाधर्मं कर्तुमर्हसि ।
देहि मेऽपत्यकामाया अकृतार्थं पतिं द्विजम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

क्षुधा-आर्तः—भूख से पीड़ित; जगृहे—पकड़ लिया; विप्रम्—ब्राह्मण को; तत्-पत्नी—उसकी पत्नी ने; आह—कहा; अकृत-अर्थ-वत्—असंतुष्ट गरीब तथा भूखा; न—नहीं; भवान्—आप; राक्षसः—राक्षस; साक्षात्—प्रत्यक्ष; इक्ष्वाकूणाम्—महाराज इक्ष्वाकु के वंशजों में; महा-रथः—महान् योद्धा; मदयन्त्याः—मदयन्ती का; पतिः—पति; वीर—हे वीर; न—नहीं; अधर्मम्—अधर्म; कर्तुम्—करने के लिए; अर्हसि—तुम योग्य हो; देहि—उद्धार करिये; मे—मेरा; अपत्य-कामायाः—पुत्र प्राप्ति की इच्छा से; अकृत-अर्थम्—जिसकी इच्छा पूरी न हो; पतिम्—पति को; द्विजम्—ब्राह्मण।

राक्षस-वृत्ति से प्रभावित होने तथा अत्यन्त भूखा रहने के कारण राजा सौदास ने ब्राह्मण को पकड़ लिया। तब ब्राह्मण की बेचारी पत्नी ने राजा से कहा : हे वीर, तुम असली राक्षस नहीं हो, प्रत्युत तुम महाराज इक्ष्वाकु के वंशज हो। निस्सन्देह, तुम महान् योद्धा और मदयन्ती के पति हो। तुम्हें इस तरह पाप-कर्म नहीं करना चाहिए। मुझे पुत्र प्राप्त करने की इच्छा है अतएव मेरे पति को छोड़ दो, अभी उसने मुझे गर्भित नहीं किया है।

देहोऽयं मानुषो राजन्पुरुषस्याखिलार्थदः ।
तस्मादस्य वधो वीर सर्वार्थवध उच्यते ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

देहः—शरीर; अयम्—यह; मानुषः—मनुष्य का; राजन्—हे राजा; पुरुषस्य—जीव का; अखिल—समष्टि; अर्थ-दः—लाभकारी; तस्मात्—इसलिए; अस्य—मेरे पति के शरीर की; वधः—हत्या; वीर—हे वीर; सर्व-अर्थ-वधः—सारे लाभप्रद अवसरों की हत्या; उच्यते—कहा जाता है।

हे राजा, हे वीर, यह मानव शरीर सबों के लाभ के निमित्त है। यदि तुम इस शरीर का असमय वध कर दोगे तो तुम मानव जीवन के सारे लाभों की हत्या कर डालोगे।

तात्पर्य : श्रील नरोत्तम दास ठाकुर का गीत है—

हरि हरि विफले जनम गोंआइनु

मनुष्य-जनम पाइया, राधा-कृष्ण ना भजिया

जानिया शुनिया विष खाइनु

मनुष्य का शरीर अत्यन्त मूल्यवान है क्योंकि इसी शरीर से कृष्ण के उपदेशों को समझा जा सकता है

और चरमगति प्राप्त की जा सकती है। जीव इस भौतिक संसार में भगवद्धाम वापस जाने के उद्देश्य को पूरा करने के लिए आया है। भौतिक जगत में सुख की लालसा की जाती है लेकिन चरमलक्ष्य न जानने के कारण मनुष्य को एक शरीर त्यागकर दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है। यदि किसी को मनुष्य का शरीर धारण करने का अवसर मिले तो वह इसी शरीर में धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—इन चार सिद्धान्तों की पूर्ति कर सकता है और यदि वह नियमित रूप से रहता रहे तो मोक्ष से भी आगे बढ़कर राधा-कृष्ण की सेवा में लग सकता है। यही जीवन की सफलता है कि जन्म-मरण के चक्र को समाप्त कर के भगवद्धाम जाया जाय (*मामेति*) और राधा-कृष्ण की सेवा की जाए। अतएव यह मनुष्य शरीर जीवन की प्रगति को पूरा करने के लिए मिला है। पूरे मानव समाज में मनुष्य-वध को गंभीरता से लिया जाता है। यद्यपि कसाईघर में हजारों-लाखों पशुओं का वध किया जाता है और कोई तनिक भी परवाह नहीं करता, किन्तु एक भी मनुष्य का वध गम्भीरता से लिया जाता है। क्यों? क्योंकि मानव-जीवन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए मनुष्य-जीवन ही अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

एष हि ब्राह्मणो विद्वांस्तपःशीलगुणान्वितः ।
आरिराधयिषुर्ब्रह्म महापुरुषसंज्ञितम् ।
सर्वभूतात्मभावेन भूतेष्वन्तर्हितं गुणैः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; हि—निस्सन्देह; ब्राह्मणः—योग्य ब्राह्मण; विद्वान्—वैदिक ज्ञान में पारंगत; तपः—तपस्या; शील—सदाचरण; गुण-अन्वितः—सारे सद्गुणों से युक्त; आरिराधयिषुः—पूजा में लगने की इच्छा करता हुआ; ब्रह्म—परब्रह्म; महा-पुरुष—महापुरुष कृष्ण; संज्ञितम्—के नाम से विख्यात; सर्व-भूत—सारे जीवों का; आत्म-भावेन—परमात्मा रूप; भूतेषु—हर जीव में; अन्तर्हितम्—हृदय के भीतर; गुणैः—गुणों के द्वारा।

यह ब्राह्मण विद्वान अत्यन्त योग्य, तपस्या में रत तथा समस्त जीवों के हृदय में वास करने वाले परमात्मा परब्रह्म की पूजा करने के लिए परम उत्सुक है।

तात्पर्य : ब्राह्मण की पत्नी अपने पति को ऐसा दिखावटी ब्राह्मण नहीं मानती थी जो ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण कहलाता हो। प्रत्युत यह ब्राह्मण ब्राह्मण-लक्षणों से युक्त होने से सचमुच योग्य था। *यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तम्* (*भागवत* ७.११.३५)। ब्राह्मण के लक्षणों का उल्लेख शास्त्र में इस प्रकार हुआ है—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

"शान्ति, आत्मसंयम, तपस्या, शुद्धि, सहिष्णुता, निष्कपटता, ज्ञान, विज्ञान तथा धार्मिकता—ये गुण हैं जिनके द्वारा ब्राह्मण कर्म करता है।" (*भगवद्गीता* १८.४२) ब्राह्मण को न केवल सुयोग्य होना चाहिए अपितु उसे वास्तिवक ब्राह्मण-कर्म करने चाहिए। योग्यता ही पर्याप्त नहीं होगी, मनुष्य को ब्राह्मण के कर्तव्य भी करने चाहिए। ब्राह्मण का कर्तव्य है कि वह *परब्रह्म* कृष्ण को जाने (*परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्*)। चूँकि यह ब्राह्मण वास्तव में योग्य था और ब्रह्मकर्म में लगा था अतएव इसका वध करना अत्यन्त पापपूर्ण कृत्य होगा। ब्राह्मण की पत्नी ने अनुनय-विनय की कि उसके पति का वध न किया जाय।

सोऽयं ब्रह्मर्षिवर्यस्ते राजर्षिप्रवराद्विभो ।
कथमर्हति धर्मज्ञ वधं पितुरिवात्मजः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सः—वह ब्राह्मण; अयम्—यह; ब्रह्म-ऋषि-वर्यः—न केवल ब्राह्मण अपितु ऋषियों में श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि; ते—तथा तुमसे; राज-ऋषि-प्रवरात्—जो सारे राजर्षियों में सर्वश्रेष्ठ है; विभो—हे राज्य के स्वामी; कथम्—कैसे; अर्हति—योग्य है; धर्म-ज्ञ—हे धर्म के ज्ञाता; वधम्—वध; पितुः—पिता द्वारा; इव—सदृश; आत्मजः—पुत्र।

हे प्रभु, तुम धार्मिक सिद्धान्तों से पूर्णतया अवगत हो। जिस तरह पुत्र कभी भी अपने पिता द्वारा वध्य नहीं है, उसी तरह इस ब्राह्मण की राजा द्वारा रक्षा होनी चाहिए न कि वध। तुम जैसे राजर्षि द्वारा इसका वध किस तरह उचित है?

तात्पर्य : *राजर्षि* शब्द ऐसे राजा का सूचक है जो ऋषि तुल्य आचरण करता है। ऐसा राजा नरदेव भी कहलाता है क्योंकि वह परमेश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है। चूँकि राजा का कर्तव्य ब्राह्मण संस्कृति की रक्षा के लिए शासन करना है अतएव वह कभी भी ब्राह्मण का वध नहीं करना चाहता। सामान्यतया ब्राह्मण, स्त्री, शिशु, वृद्ध या गाय को दण्डनीय नहीं माना जाता। अतएव ब्राह्मण पत्नी ने राजा से प्रार्थना की कि वह इस पापकृत्य से बचे।

तस्य साधोरपापस्य भ्रूणस्य ब्रह्मवादिनः ।
कथं वधं यथा बभ्रोर्मन्यते सन्मतो भवान् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; साधोः—साधुपुरुष का; अपापस्य—निष्पापी; भ्रूणस्य—भ्रूण का; ब्रह्म-वादिनः—वैदिक ज्ञान में पारंगत; कथम्—कैसे; वधम्—वध; यथा—जिस तरह; बभ्रोः—गाय का; मन्यते—तुम सोचते हो; सत्-मतः—मान्य; भवान्—आप।

तुम विख्यात हो और विद्वानों में पूजित हो। तुम किस तरह इस ब्राह्मण का वध करने का साहस कर रहे हो जो साधु, निष्पाप तथा वैदिक ज्ञान में पटु है? उसका वध करना गर्भ के भीतर भ्रूण नष्ट करने या गोवध के तुल्य होगा।

तात्पर्य : जैसा कि *अमरकोश* में कहा गया है— *भ्रूणोऽर्भके बालगर्भे*—भ्रूण या तो गाय के लिए आता है या गर्भस्थ शिशु के लिए। वैदिक संस्कृति के अनुसार गर्भ में जीव के अविकसित भ्रूण को विनष्ट करना गाय या ब्राह्मण के वध के समान पापमय है। भ्रूण में जीव अविकसित अवस्था में रहता है। यह आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त कि जीवन रसायनों का संयोग है, निरर्थक है। विज्ञानीजन जीवों की रचना नहीं कर सकते, यहाँ तक कि अंडे से निकलने वाले जीव की भी। विज्ञानियों का यह विचार कि वे ऐसी रासायनिक परिस्थिति उत्पन्न कर सकते हैं जो अंडे के समान हो और फिर उसमें जीवन पैदा हो जाय, निरर्थक है। उनका यह सिद्धान्त कि रासायनिक संयोग में जीवन हो सकता है, इसे तो स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु ये धूर्त ऐसा संयोग ला नहीं सकते। इस श्लोक में *भ्रूणस्य वधम्* आया है जिसका अर्थ है भ्रूण-हत्या। यह वैदिक साहित्य से आई हुई चुनौती है। यह समझना कि जीव पदार्थ का संयोग है अत्यन्त भोंडा तथा नास्तिकतापूर्ण है और नितान्त अज्ञान का सूचक है।

यद्ययं क्रियते भक्ष्यस्तर्हि मां खाद पूर्वतः ।
न जीविष्ये विना येन क्षणं च मृतकं यथा ॥ ३२॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; अयम्—यह ब्राह्मण; क्रियते—स्वीकार किया जाता है; भक्ष्यः—खाद्य; तर्हि—तब तो; माम्—मुझको; खाद—खा लो; पूर्वतः—उसके पूर्व; न—नहीं; जीविष्ये—मैं जीवित रहूँगी; विना—बिना; येन—जिसके (पति); क्षणम् च—एक पल भी; मृतकम्—शव; यथा—सदृश।

मैं अपने पति के बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती। यदि तुम मेरे पति को खा जाना चाहते हो, तो अच्छा होगा कि पहले तुम मुझे खा लो क्योंकि मैं अपने पति के बिना मृतक तुल्य हूँ।

तात्पर्य : वैदिक संस्कृति में सती या सहमरण प्रथा है जिसमें स्त्री अपने पति के साथ मरती है। इस प्रथा के अनुसार यदि पति मर जाता है तो पत्नी जलती चिता में स्वेच्छा से कूद कर अपने पति के साथ जल जाती है। इस श्लोक में ब्राह्मण पत्नी द्वारा इस संस्कृति की अभिव्यक्ति हुई है। पतिविहीन स्त्री शव तुल्य है। अतएव वैदिक संस्कृति के अनुसार कन्या का विवाह होना आवश्यक है। यह उसके पिता का उत्तरदायित्व

है। भले ही कन्या को दान कर दिया जाय अथवा पति के एक से अधिक पत्नियाँ हों, किन्तु कन्या का विवाह होना ही चाहिए। यही वैदिक संस्कृति है। स्त्री को सदैव पराश्रित माना जाता है—बचपन में वह अपने पिता पर, युवावस्था में अपने पति पर और वृद्धावस्था में अपने सयाने पुत्रों पर आश्रित रहती है। *मनुसंहिता* के अनुसार वह कभी स्वतंत्र नहीं होती। स्त्री-स्वाधीनता का अर्थ हैकष्टमय जीवन। इस युग में कितनी ही लड़कियाँ अविवाहित हैं और वे झूठे ही अपने को स्वतंत्र समझती हैं, किन्तु उनका जीवन कष्टमय है। यहाँ एक ऐसा दृष्टान्त है जिसमें एक स्त्री यह अनुभव करती है कि अपने पति के बिना वह शवमात्र है।

एवं करुणभाषिण्या विलपन्त्या अनाथवत् ।
व्याघ्रः पशुमिवाखादत्सौदासः शापमोहितः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; करुण-भाषिण्याः—करुणभाव से बोलती वह ब्राह्मण की पत्नी; विलपन्त्याः—घोर विलाप करती; अनाथ-वत्—उस स्त्री के समान जिसका कोई रक्षक न हो; व्याघ्रः—बाघ; पशुम्—पशु; इव—सदृश; अखादत्—खा लिया; सौदासः—राजा सौदास ने; शाप—शाप से; मोहितः—शापित होने से।

वसिष्ठ के शापवश राजा सौदास उस ब्राह्मण को निगल गया, जिस तरह कोई बाघ अपने शिकार को निगल जाता है। यद्यपि ब्राह्मणपत्नी ने अत्यन्त कातरभाव से विनय की, किन्तु उसके विलाप से भी सौदास नहीं पसीजा।

तात्पर्य : यह भाग्य का उदाहरण है। राजा सौदास को वसिष्ठ ने शाप दे दिया था अतएव योग्य होते हुए भी वह व्याघ्र-सदृश राक्षस बनने से अपने को रोक नहीं पाया क्योंकि यही उसके भाग्य में बदा था। *तल्लभ्यते दुःखवद् अन्यतः सुखम्* (*भागवत* १.५.१८)। जिस तरह भाग्य के द्वारा मनुष्य संकट में फँसता है उसी तरह भाग्य से वह सुख भी प्राप्त कर सकता है। भाग्य (भावी) अत्यन्त प्रबल है, किन्तु यदि कृष्णभावनामृत को प्राप्त कर लिया जाय तो भाग्य को बदला जा सकता है। *कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजाम्* (*ब्रह्म-संहिता* ५.५४)।

ब्राह्मणी वीक्ष्य दिधिषुं पुरुषादेन भक्षितम् ।
शोचन्त्यात्मानमुर्वीशमशपत्कुपिता सती ॥ ३४॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणी—ब्राह्मण पत्नी; वीक्ष्य—देखकर; दिधिषुम्—गर्भाधान के लिए उद्यत पति को; पुरुष-अदेन—मनुष्यभक्षक (राक्षस) द्वारा; भक्षितम्—खाया जाकर; शोचन्ती—अत्यधिक विलाप करती; आत्मानम्—अपने लिए; उर्वीशम्—राजा को; अशपत्—शाप दे दिया; कुपिता—वृद्धा; सती—सती ने।

जब ब्राह्मण की सती पत्नी ने देखा कि उसका पति, जो गर्भाधान के लिए उद्यत ही था, उस मनुष्यभक्षक द्वारा खा लिया गया तो वह शोक तथा विलाप से अत्यधिक सन्तप्त हो उठी। इस तरह उसने क्रोध में आकर राजा को शाप दे दिया।

यस्मान्मे भक्षितः पाप कामार्तायाः पतिस्त्वया ।
तवापि मृत्युराधानादकृतप्रज्ञ दर्शितः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यस्मात्—चूँकि; मे—मेरा; भक्षितः—खाया गया; पाप—हे पापी; काम-आर्तायाः—कामेच्छा से विरहित स्त्री का; पतिः—पति; त्वया—तुम्हारे द्वारा; तव—तुम्हारी; अपि—भी; मृत्युः—मृत्यु; आधानात्—गर्भाधान करते समय; अकृत-प्रज्ञ—अरे मूर्ख धूर्त; दर्शितः—तुमको शाप दिया जाता है।

अरे मूर्ख पापी, चूँकि तूने मेरे पति को तब निगला जब मैं कामेच्छा से पीड़ित और गर्भाधान के लिए लालायित थी अतएव मैं तुझे भी तभी मरते देखना चाहती हूँ जब तू अपनी पत्नी में गर्भाधान करने को उद्यत हो। दूसरे शब्दों में, जब भी तू अपनी पत्नी से संभोग करना चाहेगा तू मर जाएगा।

एवं मित्रसहं शप्त्वा पतिलोकपरायणा ।
तदस्थीनि समिद्धेऽग्नौ प्रास्य भर्तुर्गतिं गता ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; मित्रसहम्—राजा सौदास को; शप्त्वा—शाप देकर; पति-लोक-परायणा—अपने पति के साथ जाने को उद्यत; तत्-अस्थीनि—अपने पति की हड्डियों को; समिद्धे अग्नौ—जलती अग्नि में; प्रास्य—रखकर; भर्तुः—अपने पति के; गतिम्—गन्तव्य को; गता—वह भी चली गई।

इस प्रकार ब्राह्मणपत्नी ने राजा सौदास को, जो मित्रसह के नाम से विख्यात है, शाप दे डाला। तत्पश्चात् अपने पति के साथ जाने के लिए सन्नद्ध उसने पति की अस्थियों में आग लगा दी, स्वयं वह उसमें कूद पड़ी और पति के साथ-साथ उसी गन्तव्य को प्राप्त हुई।

विशापो द्वादशाब्दान्ते मैथुनाय समुद्यतः ।
विज्ञाप्य ब्राह्मणीशापं महिष्या स निवारितः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

विशापः—शाप से छूटा; द्वादश-अब्द-अन्ते—बारह वर्ष बाद; मैथुनाय—अपनी पत्नी के साथ मैथुन करने के लिए; समुद्यतः—जब सौदास तैयार था; विज्ञाप्य—याद दिलाते हुए; ब्राह्मणी-शापम्—ब्राह्मणी द्वारा दिया गया शाप; महिष्या—रानी द्वारा; सः—वह (राजा); निवारितः—रोक लिया गया।

बारह वर्ष बाद जब राजा सौदास वसिष्ठ द्वारा दिये गये शाप से मुक्त हुआ तो उसने अपनी पत्नी के साथ सम्भोग करना चाहा। किन्तु रानी ने उसे ब्राह्मणी द्वारा दिये गये शाप का स्मरण कराया। इस तरह उसे सम्भोग करने से रोक दिया।

अत ऊर्ध्वं स तत्याज स्त्रीसुखं कर्मणाप्रजाः ।
वसिष्ठस्तदनुज्ञातो मदयन्त्यां प्रजामधात् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

अतः—इस प्रकार से; ऊर्ध्वम्—निकट भविष्य में; सः—उस राजा ने; तत्याज—छोड़ दिया; स्त्री-सुखम्—मैथुन-सुख; कर्मणा—भाग्य द्वारा; अप्रजाः—निस्सन्तान रहता रहा; वसिष्ठः—ऋषि वसिष्ठ ने; तत्-अनुज्ञातः—राजा की अनुमति से पुत्र उत्पन्न करने के लिए; मदयन्त्याम्—राजा सौदास की पत्नी मदयन्ती के गर्भ में; प्रजाम्—शिशु; अधात्—उत्पन्न किया।

इस प्रकार आदिष्ट होने पर राजा ने भावी संभोग-सुख त्याग दिया और भाग्यवश निस्सन्तान रहता रहा। बाद में राजा की अनुमति से ऋषि वसिष्ठ ने मदयन्ती के गर्भ से एक शिशु उत्पन्न किया।

सा वै सप्त समा गर्भमबिभ्रन्न व्यजायत ।
जघ्नेऽश्मनोदरं तस्याः सोऽश्मकस्तेन कथ्यते ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सा—वह रानी मदयन्ती; वै—निस्सन्देह; सप्त—सात; समाः—वर्ष; गर्भम्—गर्भ को; अबिभ्रत्—धारण किये रही; न—नहीं; व्यजायत—जन्म दिया; जघ्ने—प्रहार किया; अश्मना—पत्थर से; उदरम्—उदर पर; तस्याः—उसके; सः—पुत्र; अश्मकः—अश्मक; तेन—इसके कारण; कथ्यते—कहलाया।

मदयन्ती सात वर्षों तक बालक को गर्भ में धारण किये रही और उसने बच्चे को जन्म नहीं दिया। अतएव वसिष्ठ ने एक पत्थर से उसके पेट पर प्रहार किया जिससे बालक उत्पन्न हुआ। फलस्वरूप बच्चे का नाम अश्मक (पत्थर से उत्पन्न) पड़ा।

अश्मकाद्बालिको जज्ञे यः स्त्रीभिः परिरक्षितः ।
नारीकवच इत्युक्तो निःक्षत्रे मूलकोऽभवत् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

अश्मकात्—अश्मक से; बालिकः—बालिक नामक पुत्र; जज्ञे—उत्पन्न हुआ; यः—जो; स्त्रीभिः—स्त्रियों द्वारा; परिरक्षितः—रक्षा किया गया; नारी-कवचः—स्त्रियों की ढाल पहने; इति उक्तः—इस तरह से विख्यात; निःक्षत्रे—क्षत्रियविहीन होने पर (क्योंकि परशुराम ने क्षत्रियों को मार डाला था); मूलकः—क्षत्रियों का जनक, मूलक; अभवत्—बन गया।

अश्मक से बालिक उत्पन्न हुआ। चूँकि स्त्रियों से घिरा रहने के कारण बालिक परशुराम के क्रोध से बच गया था अतएव वह नारीकवच कहलाया। जब परशुराम ने सारे क्षत्रियों का विनाश कर दिया तो बालिक अन्य क्षत्रियों का जनक बना। इसीलिए वह मूलक अर्थात् क्षत्रिय वंश का मूल कहलाया।

ततो दशरथस्तस्मात्पुत्र ऐडविडिस्ततः ।
राजा विश्वसहो यस्य खट्वाङ्गश्चक्रवर्त्यभूत् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

ततः—बालिक से; दशरथः—दशरथ; तस्मात्—उससे; पुत्रः—पुत्र; ऐडविडिः—ऐडविडि; ततः—उससे; राजा विश्वसहः—सुप्रसिद्ध राजा विश्वसह उत्पन्न हुआ; यस्य—जिसके; खट्वाङ्गः—खट्वांग नामक राजा; चक्रवर्ती—सम्राट; अभूत्—बना।

बालिक का पुत्र दशरथ हुआ, दशरथ का पुत्र ऐडविडि तथा ऐडविडि का पुत्र राजा विश्वसह हुआ। विश्वसह का पुत्र सुप्रसिद्ध महाराज खट्वांग था।

यो देवैरर्थितो दैत्यानवधीद्युधि दुर्जयः ।
मुहूर्तमायुर्ज्ञात्वैत्य स्वपुरं सन्दधे मनः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

यः—राजा खट्वांग ने; देवैः—देवताओं द्वारा; अर्थितः—प्रार्थना किए जाने पर; दैत्यान्—असुरों को; अवधीत्—मार डाला; युधि—युद्ध में; दुर्जयः—अत्यन्त भीषण; मुहूर्तम्—एक पल के लिए; आयुः—उम्र; ज्ञात्वा—जानकर; एत्य—पहुँचा; स्व-पुरम्—अपने घर में; सन्दधे—स्थिर कर लिया; मनः—मन को।

राजा खट्वांग किसी भी युद्ध में दुर्जेय था। असुरों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए देवताओं द्वारा प्रार्थना करने पर उसने विजय प्राप्त की और एक ही मनुष्य जन्म में देवताओं ने प्रसन्न होकर उसे वर देना चाहा। जब राजा ने उनसे अपनी आयु के विषय में पूछा तो उसे बतलाया गया कि केवल एक मुहूर्त शेष है। अतएव उसने तुरन्त अपने घर जाकर भगवान् के चरणकमलों में अपना मन लगाया।

तात्पर्य : महाराज खट्वांग द्वारा भक्ति में लगने का उदाहरण अत्यन्त ज्वलन्त है। यद्यपि उन्होंने एक पल ही भगवान् की भक्ति की, किन्तु उन्हें भगवद्धाम प्राप्त हुआ। अतएव यदि कोई अपने जीवन के प्रारम्भ से ही भक्ति करे तो वह निश्चित रूप से (*असंशयम्*) भगवद्धाम जायेगा।

भगवद्गीता (७.१) में *असंशय* शब्द भक्त के प्रसंग में प्रयुक्त हुआ है। भगवान् आदेश देते हैं—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः।

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥

"हे पृथापुत्र (अर्जुन)! अब सुनो कि किस तरह मेरी भावना से भावित होकर योगाभ्यास द्वारा मुझमें मन को रमाकर तुम संशय से मुक्त होकर मुझे पूरी तरह जान सकते हो।"

भगवान् यह भी उपदेश देते हैं(*भगवद्गीता* ४.९)—

जन्म कर्म च मे दिव्यम् एवं यो वेत्ति तत्त्वत:।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"जो मेरे आविर्भाव एवं कार्यों की दिव्य प्रकृति को जानता है वह शरीर छोड़ने पर इस जगत में पुन: जन्म नहीं लेता अपितु, हे अर्जुन! वह मेरे नित्य धाम को प्राप्त होता है।"

अतएव मनुष्य को चाहिए कि जीवन के प्रारम्भ से ही भक्तियोग का अभ्यास करे जिससे कृष्ण के प्रति अनुराग बढ़े। यदि कोई नित्य मन्दिर जाकर अर्चाविग्रह का दर्शन करे, पूजा करके भेंट चढाए, भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करे और यथासम्भव भगवान् की महिमा का प्रचार करे तो वह कृष्ण से अनुरक्त हो जाता है। यह आसक्ति कहलाती है। जब मनुष्य का मन कृष्ण में आसक्त होता है (*मय्यासक्तमना:*) तो वह जीवन के उद्देश्य को एक ही मनुष्य जन्म में पूरा कर सकता है। यदि वह इस अवसर को हाथ से जाने देता है तो उसे पता नहीं रहता कि वह कहाँ जा रहा है, जन्म-मरण के चक्र में वह कब तक बँधा रहेगा, पुन: कब मनुष्य जीवन मिलेगा, और उसे कब भगवद्धाम जाने का अवसर प्राप्त होगा। अतएव बुद्धिमान व्यक्ति अपने जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग भगवान् की भक्ति करने में करता है।

न मे ब्रह्मकुलात्प्राणा: कुलदैवान्न चात्मजा: ।
न श्रियो न मही राज्यं न दाराश्चातिवल्लभा: ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; मे—मेरा; ब्रह्म-कुलात्—ब्राह्मण वृन्द की अपेक्षा; प्राणा:—प्राण; कुल-दैवात्—मेरे कुल द्वारा पूज्य पुरुषों की अपेक्षा; न—नहीं; च—भी; आत्मजा:—पुत्र तथा पुत्रियाँ; न—न तो; श्रिय:—ऐश्वर्य; न—न तो; मही—पृथ्वी; राज्यम्—राज्य; न—न तो; दारा:—पत्नी; च—भी; अति-वल्लभा:—अत्यन्त प्रिय।

महाराज खट्वांग ने सोचा: ब्राह्मण संस्कृति तथा मेरे कुलपूज्य ब्राह्मणों की अपेक्षा मेरा जीवन भी मुझे अधिक प्रिय नहीं है। तो फिर मेरे राज्य, भूमि, पत्नी, सन्तान तथा ऐश्वर्य के विषय में क्या कहा जा सकता है? मुझे ब्राह्मणों से अधिक प्रिय कुछ भी नहीं है।

तात्पर्य : महाराज खट्वांग ब्राह्मण-संस्कृति के पक्षपाती थे अतएव वे एक मुहूर्त के शेष समय को भी भगवान् की पूर्ण शरणागति में लगाना चाह रहे थे। भगवान् की पूजा इस स्तुति से की जाती है—

नमो ब्राह्मण्यदेवाय गो ब्राह्मणहिताय च।

जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नम: ॥

"मैं परम सत्य कृष्ण को सादर नमस्कार करता हूँ जो ब्राह्मणों, गायों तथा सारे जीवों के शुभचिन्तक हैं। मैं उन गोविन्द को बार-बार नमस्कार करता हूँ जो समस्त इन्द्रियों के आनन्द के आगार हैं।" कृष्णभक्त ब्राह्मण-संस्कृति के प्रति अत्यधिक आसक्त रहता है। निस्सन्देह, ऐसा दक्ष व्यक्ति, जो यह जानता है कि कृष्ण कौन हैं और वे क्या चाहते हैं, ही असली ब्राह्मण है। *ब्रह्म जानातीति ब्राह्मण:।* कृष्ण परब्रह्म हैं अतएव सारे कृष्ण-भक्त पूज्य ब्राह्मण हैं। खट्वांग महाराज कृष्ण-भक्तों को असली ब्राह्मण तथा मानव समाज के असली प्रकाश के रूप में मानते थे। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत तथा आध्यात्मिक ज्ञान में प्रगति करने का इच्छुक हो उसे ब्राह्मण संस्कृति को सर्वाधिक महत्त्व देना होगा और कृष्ण को समझना होगा (*कृष्णाय गोविन्दाय*)। तभी उसका जीवन सफल होगा।

न बाल्येऽपि मतिर्मह्यमधर्मे रमते क्वचित् ।
नापश्यमुत्तमश्लोकादन्यत्किञ्चन वस्त्वहम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; बाल्ये—बचपन में; अपि—निस्सन्देह; मति:—आकर्षण; मह्यम्—मुझको; अधर्मे—अधर्म में; रमते—भोगता है; क्वचित्—कभी भी; न—न तो; अपश्यम्—देखा; उत्तमश्लोकात्—भगवान् की अपेक्षा; अन्यत्—कोई अन्य वस्तु; किञ्चन—कोई; वस्तु—वस्तु; अहम्—मैंने।

अपने बचपन में भी मैं नगण्य वस्तुओं या अधार्मिक सिद्धान्तों के प्रति कभी आकृष्ट नहीं हुआ। मुझे भगवान् से बढ़कर तथ्यपूर्ण अन्य कोई वस्तु नहीं मिल पाई।

तात्पर्य : महाराज खट्वांग कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के विशिष्ट उदाहरण प्रतीत होते हैं। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति भगवान् की तुलना में न तो अन्य किसी वस्तु को महत्त्व देता है न ही इस संसार की किसी भी वस्तु को भगवान् से असम्बद्ध मानता है। जैसा कि *चैतन्य-चरितामृत* (*मध्य* ८.२७४) में कहा गया है—

स्थावरजंगम देखे, ना देखे तार मूर्ति

सर्वत्र हय निज इष्टदेवस्फूर्ति

''महाभागवत निश्चय ही, जड़ तथा चेतन सभी वस्तुएँ देखता है, किन्तु वह उनके स्वरूपों को ठीक रूप में नहीं देखता अपितु सर्वत्र भगवान् के स्वरूप का व्यापक दर्शन करता है।'' भक्त इस जगत में रहकर भी इससे कोई सम्बन्ध नहीं रखता। *निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे।* वह इस जगत को भगवान् से सम्बन्धित देखता है। भक्त धनार्जन में लगा रहने पर भी उस धन का उपयोग बड़े-बड़े मन्दिर बनाकर भगवान् का विग्रह स्थापित करके कृष्णभावनामृत आंदोलन को प्रसारित करने में करता है। अतएव खट्वांग महाराज भौतिकतावादी न थे। भौतिकतावादी अपनी पत्नी, सन्तान, घर, सम्पत्ति तथा इन्द्रियतृप्ति की अन्य वस्तुओं में सदैव लिप्त रहता है, किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, खट्वांग महराज ऐसी वस्तुओं में आसक्त न थे, न ही वे भगवान् के कार्य के बिना किसी वस्तु के अस्तित्व के बारे में सोचते थे। *ईशावास्यमृइदं सर्वम्*—हर वस्तु ईश्वर से सम्बन्धित है। निस्सन्देह, यह चेतना सामान्य व्यक्ति के लिए नहीं होती, किन्तु यदि वह भक्ति करता है जैसा कि *भक्तिरसामृतसिंधु* में निर्धारित है तो उसे इस चेतना में प्रशिक्षित किया जा सकता है और तब उसे पूर्ण ज्ञान मिल सकता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के लिए कृष्ण से असंबंधित कुछ भी नहीं सुहाता।

देवैः कामवरो दत्तो मह्यं त्रिभुवनेश्वरैः ।
न वृणे तमहं कामं भूतभावनभावनः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

देवैः—देवताओं के द्वारा; काम-वरः—इच्छित वर; दत्तः—दिया; मह्यम्—मुझको; त्रि-भुवन-ईश्वरैः—तीनों जगतों के रक्षक, देवताओं द्वारा (जो इस लोक में चाहें तो कुछ भी कर सकते हैं); न वृणे—स्वीकार नहीं किया; तम्—उस; अहम्—मैंने; कामम्—इस जगत के भीतर की प्रत्येक इच्छित वस्तु को; भूतभावन-भावनः—भगवान् में पूर्णतया निमग्न हुआ (अतएव किसी भी पदार्थ में रुचि न रखने वाला)।

तीनों लोकों के निदेशक देवतागण मुझे इच्छित वर देना चाहते थे, किन्तु मुझे उनके वर नहीं चाहिए थे क्योंकि मेरी रुचि भगवान् में है जिन्होंने इस संसार की सारी वस्तुओं को बनाया है। मेरी रुचि भौतिक वरों की अपेक्षा भगवान् में कहीं अधिक है।

तात्पर्य : भक्त सदैव दिव्य पद पर स्थित रहता है। *परं दृष्ट्वा निवर्तते*—जिसे भगवान् का दर्शन प्राप्त हो जाता है उसे भौतिक इन्द्रियभोग में कोई रुचि नहीं रह जाती। ध्रुव महाराज जैसे पूज्य भक्त भी भौतिक लाभ

के लिए जंगल गये थे, किन्तु जब उन्होंने भगवान् का दर्शन किया तो कोई भी वर लेना स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा—*स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे*—हे भगवान्! आपने जो दिया है या नहीं दिया उतने से ही मैं पूर्ण सन्तुष्ट हूँ। मुझे आपसे कुछ भी नहीं माँगना है क्योंकि मैं आपकी सेवा में लगा रहकर पूर्ण सन्तुष्ट हूँ। शुद्ध भक्त की मानसिकता यही है। वह भगवान् से कुछ भी नहीं चाहता, न भौतिक न आध्यात्मिक। इसीलिए हमारा आन्दोलन कृष्णभावनामृत संघ कहलाता है—यह ऐसे व्यक्तियों का संगठन है जो केवल कृष्ण के विचारों में खोये रहते हैं। कृष्ण के विचारों में खोये रहना न तो खर्चीला है न कष्टदायक है। कृष्ण कहते हैं—*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु*—अपने मन को मेरे विषय में सोचने, मुझे नमस्कार करने और मेरी पूजा करने में लगाओ (*भगवद्गीता* ९.३४)। कोई भी व्यक्ति बिना कठिनाई या अवरोध के कृष्ण का सदैव चिन्तन कर सकता है। यही कृष्णभावनामृत कहलाता है। जो कृष्णभावनामृत में लगा रहता है उसे कृष्ण से किसी भौतिक लाभ की कामना नहीं रहती। बल्कि ऐसा व्यक्ति भगवान् से यह प्रार्थना करता है कि वह सारे विश्व में भगवान् की महिमाओं का प्रसार करने में समर्थ हो। *मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि।* कृष्णभावनाभावित व्यक्ति जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होने की भी कामना नहीं करता। वह तो बस यही प्रार्थना करता है, ''आप जैसा भी चाहें, मैं वैसा जन्म लूँ, किन्तु मेरी इतनी ही प्रार्थना है कि मैं आपकी सेवा में लगा रहूँ।''

ये विक्षिप्तेन्द्रियधियो देवास्ते स्वहृदि स्थितम् ।
न विन्दन्ति प्रियं शश्वदात्मानं किमुतापरे ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

ये—जो महापुरुष; विक्षिप्त-इन्द्रिय-धियः—जिनकी इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि सदैव भौतिक अवस्थाओं के कारण विक्षुब्ध रहती हैं; देवाः—देवताओं की तरह; ते—ऐसे व्यक्ति; स्व-हृदि—अपने हृदय में; स्थितम्—स्थित; न—नहीं; विन्दन्ति—जानते हैं; प्रियम्—अत्यन्त प्रिय; शश्वत्—निरन्तर; आत्मानम्—भगवान् को; किम् उत—क्या कहा जाये; अपरे—अन्यों के विषय में।

यद्यपि देवताओं को स्वर्गलोक में स्थित होने का लाभ मिलता है, किन्तु उनके मन, इन्द्रियाँ तथा बुद्धि भौतिक अवस्थाओं से विक्षुब्ध रहती हैं। अतएव ऐसे महापुरुष भी हृदय में निरन्तर स्थित भगवान् का साक्षात्कार नहीं कर पाते। तो फिर अन्यों के विषय में, यथा मनुष्यों के विषय में, क्या कहा जाय जिन्हें बहुत ही कम लाभ प्राप्त हैं?

तात्पर्य : वस्तुतः भगवान् हर एक के हृदय में सदैव स्थित रहते हैं(*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन*

तिष्ठति)। लेकिन हम अपनी भौतिक चिन्ताओं के कारण जो इस भौतिक जगत में अनिवार्य हैं, भगवान् को समझ नहीं पाते, यद्यपि वह हमारे सन्निकट स्थित होते हैं। जो लोग सदैव भौतिक अवस्थाओं से विक्षुब्ध रहते हैं उनके लिए योग विधि की संस्तुति की जाती है जिससे वे अपने हृदय में स्थित भगवान् पर अपना मन क्रेन्द्रित कर सकें। *ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः।* चूँकि भौतिक जगत में मन तथा इन्द्रियाँ सदा विक्षुब्ध रहती हैं अतएव मनुष्य को धारणा, आसन तथा ध्यान जैसी योग की विधियों से मन को शान्त करके उसे भगवान् में केन्द्रित करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, योग की विधि ईशसाक्षात्कार का भौतिक प्रयास है जब कि भक्ति ईशसाक्षात्कार की आध्यात्मिक विधि है। महाराज खट्वांग ने आध्यत्मिक मार्ग ग्रहण किया अतएव उन्हें किसी भी भौतिक वस्तु में रुचि नहीं रह गई थी। *भगवद्गीता* (१८.५५) में कृष्ण कहते हैं— *भक्त्या मामभिजानाति*—केवल भक्ति के द्वारा मुझे जाना जा सकता है। केवल भक्ति के द्वारा परब्रह्म भगवान् कृष्ण को समझा जा सकता है। भगवान् यह कभी नहीं कहते कि उन्हें योगाभ्यास या दार्शनिक चिन्तन के द्वारा जाना जा सकता है। भक्ति ऐसे सारे भौतिक प्रयासों से ऊपर है। *अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।* भक्ति शुद्ध, होने के कारण ज्ञान या पुण्य कर्म से भी कलुषित नहीं होती।

अथेशमायारचितेषु सङ्गं
गुणेषु गन्धर्वपुरोपमेषु ।
रूढं प्रकृत्यात्मनि विश्वकर्तु-
र्भावेन हित्वा तमहं प्रपद्ये ॥ ४७॥

शब्दार्थ

अथ—अतएव; ईश-माया—भगवान् की माया के द्वारा; रचितेषु—रचे गये; सङ्गम्—अनुरक्ति; गुणेषु—प्रकृति के गुणों में; गन्धर्व-पुर-उपमेषु—जिनकी उपमा गन्धर्वपुर के भ्रम से दी जाती है, यह ऐसे नगर या मकान हैंजो जंगल या पर्वत पर दिखते हैं; रूढम्—अत्यन्त शक्तिशाली; प्रकृत्या—प्रकृति के द्वारा; आत्मनि—परमात्मा में; विश्व-कर्तुः—सारे ब्रह्माण्ड के स्रष्टा की; भावेन—भक्ति से; हित्वा—त्यागकर; तम्—उसकी (भगवान् की); अहम्—मैं; प्रपद्ये—शरण में जाता हूँ।.

अतएव मुझे अब भगवान् की बहिरंगा शक्ति अर्थात् माया द्वारा सृजित वस्तुओं से आसक्ति को त्याग देना चाहिए। मुझे भगवान् के ध्यान में संलग्न होना चाहिए और इस तरह उनकी शरण में जाना चाहिए। यह भौतिक सृष्टि भगवान् की माया से सृजित होने के कारण पर्वत पर या जंगल में स्थित काल्पनिक नगर के सदृश है। हर बद्धजीव को भौतिक वस्तुओं से प्राकृतिक आकर्षण एवं आसक्ति

होती है, किन्तु मनुष्य को चाहिए कि इन्हें त्यागकर भगवान् की शरण में जाये।

तात्पर्य : हवाई जहाज द्वारा किसी पर्वतीय क्षेत्र से गुजरते समय आकाश में मीनारों तथा महलों से युक्त कोई शहर दिख सकता है या फिर किसी जंगल में ऐसी वस्तुएँ दिख सकती हैं। यह गंधर्वपुर या मायाजाल कहलाता है। यह समग्र संसार ऐसे ही मायाजाल के सदृश है और हर एक संसारी पुरुष को इससे लगाव होता है। किन्तु कृष्णभावनामृत में उच्च प्रगति के कारण खट्वांग महाराज को ऐसी वस्तुओं में रुचि नहीं रह गई थी। भक्त भले ही ऊपर से संसारी कार्यकलापों में लगा रहे, किन्तु वह अपनी स्थिति को भलीभाँति जानता रहता है। *निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते*—यदि कोई ईश्वर की प्रेमाभक्ति से सम्बन्धित सारी भौतिक बातों में लगा रहता है तो वह युक्तवैराग्य में स्थित होता है। इस भौतिक जगत में अपनी इन्द्रियतुष्टि के लिए कुछ भी स्वीकार नहीं करना चाहिए—हर वस्तु भगवान् की सेवा के लिए होनी चाहिए। आध्यात्मिक जगत की यही मानसिकता है। महाराज खट्वांग उपदेश देते हैं कि मनुष्य भौतिक आसक्ति त्यागकर भगवान् की शरण ग्रहण करे। इस तरह जीवन में सफलता प्राप्त हो सकती है। यह शुद्ध भक्तियोग है जिसमें *वैराग्य-विद्या* अर्थात् विरक्ति तथा ज्ञान निहित हैं।

वैराग्यविद्यानिजभक्तियोग
शिक्षार्थमेकः पुरुषः पुराणः।
श्रीकृष्णचैतन्यशरीरधारी
कृपाम्बुधिर्यस्तमहं प्रपद्ये॥

"मैं उन भगवान् की शरण ग्रहण करता हूँ जो अब भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में प्रकट हुए हैं। वे कृपा के सिन्धु हैं और हमें विरक्ति, ज्ञान तथा अपनी भक्ति सिखलाने आये हैं।" (*चैतन्य चन्द्रोदय नाटक* ६.७४)। श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु ने इस वैराग्यविद्या के आन्दोलन का सूत्रपात किया जिससे मनुष्य अपने को भौतिक संसार से विरक्त करके प्रेमा-भक्ति में लगाता है। भक्ति का कृष्णभावनामृत आन्दोलन ही वह एकमात्र विधि है जो इस जगत में हमारे मिथ्या अहंकार का निराकरण कर सकती है।

इति व्यवसितो बुद्ध्या नारायणगृहीतया ।
हित्वान्यभावमज्ञानं ततः स्वं भावमास्थितः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; व्यवसितः—दृढ़ निश्चय करके; बुद्ध्या—बुद्धि से; नारायण-गृहीतया—नारायण की कृपा से पूर्णतया वशीभूत; हित्वा—त्यागकर; अन्य-भावम्—कृष्णभावनामृत के अतिरिक्त अन्य चेतना; अज्ञानम्—जो निरतंर अज्ञान तथा अंधकार ही है; ततः—तत्पश्चात्; स्वम्—अपनी मूल स्थिति, जो कृष्ण के नित्यदास के रूप में है; भावम्—भक्ति में; आस्थितः—स्थित।

इस तरह भगवान् की सेवा करने में अपनी उन्नत बुद्धि से महाराज खट्वांग ने अज्ञानमय शरीर से मिथ्या सम्बन्ध का परित्याग कर दिया। अपनी नित्य सेवक की मूल स्थिति में रहकर उन्होंने भगवान् की सेवा करने में अपने को संलग्न कर लिया।

तात्पर्य : जब वास्तव में कोई कृष्णभक्त बन जाता है तो उस पर किसी को शासन करने का अधिकार नहीं रह जाता। कृष्णभावनाभावित होने पर वह अज्ञान के अंधकार में नहीं रहता और ऐसे अज्ञान से मुक्त होने पर वह अपनी मूल स्थिति में आरूढ़ होता है। *जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्यदास'*। जीव भगवान् का नित्यदास होता है और जब वह सभी प्रकार से भगवान् की सेवा में लग जाता है तो उसे जीवन की सिद्धि प्राप्त होती है।

यत्तद्ब्रह्म परं सूक्ष्ममशून्यं शून्यकल्पितम् ।
भगवान्वासुदेवेति यं गृणन्ति हि सात्वताः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; तत्—वैसा; ब्रह्म परम्—परब्रह्म, भगवान् कृष्ण; सूक्ष्मम्—आध्यात्मिक, सारी भौतिक धारणाओं से परे; अशून्यम्—निर्विशेष या शून्य नहीं; शून्य-कल्पितम्—कम बुद्धिमान व्यक्तियों द्वारा शून्य करके कल्पित; भगवान्—भगवान्; वासुदेव—कृष्ण; इति—इस प्रकार; यम्—जिसको; गृणन्ति—गायन करते हैं; हि—निस्सन्देह; सात्वताः—शुद्ध भक्तगण।

वे बुद्धिहीन मनुष्य जो भगवान् के निर्विशेष या शून्य न होने पर भी, उन्हें ऐसा मानते हैंउनके लिए भगवान् वासुदेव कृष्ण को समझ पाना अत्यन्त कठिन है। अतएव शुद्ध भक्त ही भगवान् को समझते तथा उनका गान करते हैं।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में (१.२.११) कहा गया है—

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते॥

परम सत्य का साक्षात्कार तीन अवस्थाओं में किया जाता है—ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् रूप में। भगवान् हर वस्तु के उद्गम हैं। ब्रह्म भगवान् का आंशिक स्वरूप है और वासुदेव भी, जो सर्वत्र एवं प्रत्येक हृदय में स्थित परमात्मा है, भगवान् की प्रगत अनुभूति है। किन्तु जब कोई भगवान् को समझ जाता है

(*वासुदेव: सर्वमिति*) और जब कोई यह अनुभव करता है कि वासुदेव परमात्मा तथा निराकार ब्रह्म दोनों हैं तो उसे पूर्ण ज्ञान होता है। इसीलिए अर्जुन ने कृष्ण को *परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्* कहा है। *परं ब्रह्म* शब्द निर्विशेष ब्रह्म की तथा सर्वव्यापी परमात्मा की शरण का निर्देश करते हैं। जब कृष्ण कहते हैं *त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति* तो इसका अर्थ है कि सिद्ध भक्त पूर्ण साक्षात्कार के बाद भगवद्धाम को जाता है। महाराज खट्वांग ने भगवान् की शरण स्वीकार कर ली थी, फलस्वरूप उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कंध के अन्तर्गत "अंशुमान की वंशावली" नामक नवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दस

परम भगवान् रामचन्द्र की लीलाएँ

इस दसवें अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह महाराज खट्वांग के वंश में भगवान् रामचन्द्र उत्पन्न हुए। इसमें भगवान् के कार्यकलापों का भी वर्णन हुआ है जिसमें रावण को मारकर अपनी राजधानी अयोध्या लौटना भी सम्मिलित है।

महाराज खट्वांग के पुत्र दीर्घबाहु थे और उनके पुत्र रघु हुए। रघु के पुत्र अज थे और अज के पुत्र दशरथ थे जिनके पुत्र थे भगवान् श्रीरामचन्द्र। जब भगवान् इस धरा पर अपने पूर्ण चतुर्व्यूह स्वांश—रामचन्द्र, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न—समेत अवतरित हुए तो वाल्मीकि जैसे परम सत्य के वेत्ताओं ने उनकी दिव्य लीलाओं का वर्णन किया। श्रील शुकदेव गोस्वामी ने संक्षेप में इन लीलाओं का वर्णन किया है।

भगवान् रामचन्द्र ने विश्वामित्र के साथ जाकर मारीच जैसे राक्षसों को हताहत किया। फिर अत्यन्त दृढ़ एवं कठोर हरधनु नामक धनुष को तोड़कर सीतादेवी से व्याह किया और परशुराम का मान-मर्दन किया। फिर अपने पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए वे लक्ष्मण तथा सीता सहित जंगल में चले गये। वहाँ उन्होंने शूर्पणखा की नाक काटी और खर-दूषण जैसे रावण के पार्षदों का वध किया। रावण द्वारा सीता का अपहरण इस असुर के दुर्भाग्य का सूत्रपात बना। जब मारीच ने स्वर्णमृग का रूप धारण किया तो सीतादेवी को प्रसन्न करने के लिए भगवान् रामचन्द्र उस मृग को लाने गये, किन्तु इसी बीच में भगवान् की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर रावण सीताजी को हर ले गया। सीतादेवी का हरण होने पर भगवान् रामचन्द्र लक्ष्मण समेत जंगल में उनकी खोज करते रहे। खोज करते करते, उनकी भेंट जटायु से हो गई। तत्पश्चात् भगवान् ने असुर कबन्ध तथा सेनापति बालि को मारा और सुग्रीव से मैत्री स्थापित की। वानरों की सेना बनाकर तथा उनके साथ समुद्र तट पर पहुँचकर भगवान् ने साक्षात् समुद्र के आगमन की प्रतीक्षा की, किन्तु उसके न आने पर भगवान् समुद्र के राजा पर क्रुद्ध हुए। तब समुद्र दौा-दौ आया, उनकी शरण ग्रहण की और उनकी हर प्रकार से सहायता की। तब भगवान् ने समुद्र पर सेतु बाँधना चाहा और विभीषण की सलाह पर उन्होंने रावण की राजधानी लंका पर आक्रमण कर दिया। इसके पूर्व भगवान् के नित्य दास हनुमान ने लंका में आग लगा दी थी और अब लक्ष्मण की सहायता से भगवान् रामचन्द्र की सेना ने सारे राक्षस

सैनिकों का वध कर डाला। तन भगवान् ने स्वयं रावण को मारा। मन्दोदरी तथा अन्य पत्नियाँ रावण के लिए शोक करने लगीं और भगवान् रामचन्द्र के आदेशानुसार विभीषण ने परिवार के समस्त मृतकों का दाह-संस्कार किया। तत्पश्चात् भगवान् रामचन्द्र ने विभीषण को लंका पर राज्य करने का अधिकार सौंपा और उसे दीर्घायु भी दी। भगवान् ने अशोक वाटिका से सीतादेवी का उद्धार किया और उन्हें पुष्पक विमान में चढ़ाकर वे अपनी राजधानी अयोध्या ले गये जहाँ उनके भाई भरत ने उनका स्वागत किया। जब भगवान् रामचन्द्र अयोध्या में प्रविष्ट हुए तो भरत उनकी खड़ाऊँ ले आये। विभीषण और सुग्रीव चँवर तथा पंखा पकड़े थे, हनुमान छाता ताने थे, शत्रुघ्न भगवान् का धुनष तथा दो तरकस लिये थे और सीतादेवी पवित्र स्थानों से लाये गये जल से पूर्ण एक जलपात्र लिये थीं। अंगद ने तलवार ले रखी थी, (ऋक्षराज) जाम्बवन्त ढाल लिये थे। जब भगवान् रामचन्द्र लक्ष्मण तथा सीतादेवी समेत अपने सभी परिजनों से मिले तो वसिष्ठ महामुनि ने उन्हें राजा के रूप में सिंहासन प्रदान किया। यह अध्याय अयोध्या में भगवान् रामचन्द्र के राज्य केसंक्षिप्त वर्णन के साथ समाप्त होता है।

श्रीशुक उवाच
खट्वाङ्गाद्दीर्घबाहुश्च रघुस्तस्मात्पृथुश्रवाः ।
अजस्ततो महाराजस्तस्माद्दशरथोऽभवत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; खट्वाङ्गात्—महाराज खट्वांग से; दीर्घबाहुः—दीर्घबाहु नामक पुत्र; च—तथा; रघुः तस्मात्—उससे रघु उत्पन्न हुआ; पृथु-श्रवाः—साधु तथा विख्यात; अजः—अज नामक पुत्र; ततः—उससे; महा-राजः—महाराज; तस्मात्—अज से; दशरथः—दशरथ नामक; अभवत्—उत्पन्न हुआ।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : महाराज खट्वांग का पुत्र दीर्घबाहु हुआ और उसके पुत्र विख्यात महाराज रघु हुए। महाराज रघु से अज उत्पन्न हुए और अज से महापुरुष महाराज दशरथ हुए।

तस्यापि भगवानेष साक्षाद्ब्रह्ममयो हरिः ।
अंशांशेन चतुर्धागात्पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः ।
रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्ना इति संज्ञया ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तस्य—महाराज दशरथ के; अपि—भी; भगवान्—भगवान्; एषः—वे सभी; साक्षात्—प्रत्यक्ष; ब्रह्म-मयः—परब्रह्म या परम सत्य; हरिः—भगवान्; अंश-अंशेन—पूर्ण अंश के अंश से; चतुर्धा—चार प्रकार के विस्तार; अगात्—स्वीकार किया; पुत्रत्वम्—पुत्र

बनना; प्रार्थितः—प्रार्थना किये जाने पर; सुरैः—देवताओं के द्वारा; राम—भगवान् रामचन्द्र; लक्ष्मण—लक्ष्मण; भरत—भरत; शत्रुघ्नाः—तथा शत्रुघ्न; इति—इस प्रकार; संज्ञया—विभिन्न नामों से।

देवताओं द्वारा प्रार्थना करने पर भगवान् परम सत्य अपने अंश तथा अंशों के भी अंश के साथ साक्षात् प्रकट हुए। उनके पवित्र नाम थे राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न। ये विख्यात अवतार महाराज दशरथ के पुत्रों के रूप में चार स्वरूपों में प्रकट हुए।

तात्पर्य : भगवान् रामचन्द्र तथा उनके भाई लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्न—ये सभी जीव तत्त्व न होकर विष्णुतत्त्व हैं। भगवान् अनेकानेक रूपों में अपना विस्तार करते हैं। *अद्वैतम् अच्युतम् अनादिम् अनन्तरूपम्।* यद्यपि वे सभी एक ही हैं, किन्तु विष्णुतत्त्व के अनेक रूप एवं अवतार होते हैं। जैसा कि *ब्रह्म-संहिता* में (५.३९) पुष्टि की गई है—*रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्।* भगवान् अनेक रूपों में विद्यमान हैं यथा राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न और ये रूप उनकी सृष्टि के किसी भी कोने में स्थित हो सकते हैं। ये सभी रूप स्थायी रूप से, शाश्वत रूप से ईश्वर के व्यष्टि रूपों में विद्यमान रहते हैं और ये समान शक्तिशाली अनेक दीपकों के तुल्य होते हैं। भगवान् रामचन्द्र, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न—ये सभी विष्णुतत्त्व होने के कारण समान शक्तिशाली हैं। देवताओं के प्रार्थना करने पर ये महाराज दशरथ के पुत्र बने।

तस्यानुचरितं राजन्नृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
श्रुतं हि वर्णितं भूरि त्वया सीतापतेर्मुहुः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—भगवान् रामचन्द्र तथा उनके भाइयों का; अनुचरितम्—दिव्य कार्यकलाप; राजन्—हे राजा (महाराज परीक्षित); ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा; तत्त्व-दर्शिभिः—परम सत्य को जानने वाले; श्रुतम्—सुना गया; हि—निस्सन्देह; वर्णितम्—सुन्दर ढंग से वर्णित; भूरि—अनेक; त्वया—तुम्हारे द्वारा; सीता-पतेः—सीता के पति भगवान् रामचन्द्र के; मुहुः—बारम्बार।

हे राजा परीक्षित, भगवान् रामचन्द्र के दिव्य कार्यकलापों का वर्णन उन साधु पुरुषों द्वारा किया गया है जिन्होंने सत्य का दर्शन किया है। चूँकि आप सीतापति रामचन्द्र के विषय में बारम्बार सुन चुके हैं अतएव मैं इन कार्यकलापों का वर्णन संक्षेप में ही करूँगा। कृपया सुनें।

तात्पर्य : आधुनिक राक्षस जो डाक्टरेट डिग्रीधारी होने के कारण अपने को उन्नत रूप से शिक्षित मानते हैं, उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि रामचन्द्र भगवान् न होकर सामान्य व्यक्ति हैं। किन्तु जो विद्वान हैं और आध्यात्मिक ज्ञान से युक्त हैं वे ऐसे मतों को कभी स्वीकार नहीं करेंगे। वे तो उन तत्त्वदर्शियों द्वारा प्रस्तुत किये गये भगवान् रामचन्द्र एवं उनके कार्यकलापों के वर्णनों को ही स्वीकार करेंगे जो परम

सत्य को जानते हैं। *भगवद्गीता* (४.३४) में भगवान् उपदेश देते हैं—

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन: ॥

"गुरु के पास जाकर सत्य सीखने का प्रयास करो। विनीत होकर उससे प्रश्न करो और उसकी सेवा करो। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति तुम्हें ज्ञान प्रदान कर सकता है क्योंकि उसने सत्य का साक्षात्कार किया है।" तत्त्वदर्शी बने बिना कोई व्यक्ति भगवान् के कार्यकलापों का वर्णन नहीं कर सकता। अतएव कहने को तो अनेक रामायणें हैं, किन्तु उनमें से कई प्रामाणिक नहीं हैं। कभी-कभी भगवान् रामचन्द्र के कार्यकलापों का वर्णन अपनी कल्पना, चिन्तन या भौतिक भावों के आधार पर किया जाता है। किन्तु रामचन्द्रजी की विलक्षणताओं को काल्पनिक मानकर उनका वर्णन नहीं करना चाहिए। भगवान् रामचन्द्र की कथा का वर्णन करते समय शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को बतलाया, "आपने भगवान् रामचन्द्र के कार्यकलापों के विषय में पहले से सुन रखा है।" अतएव स्पष्ट है कि पाँच हजार वर्ष पूर्व भी रामचन्द्र की अनेक कथाएँ या रामायणें थीं और अब भी अनेक हैं। किन्तु हमें केवल तत्त्वदर्शियों द्वारा लिखित कथाओं को चुनना चाहिए (*ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन:*)। ऐसे तथाकथित पंडितों की किताबों को नहीं जो डाक्टरेट डिग्री के आधार पर ज्ञानी होने का दावा करते हैं। यह शुकदेव गोस्वामी द्वारा दी गई चेतावनी है। *ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिन:।* यद्यपि वाल्मीकि-रचित रामायण एक विशाल ग्रंथ है, किन्तु इन्हीं कार्यकलापों को शुकदेव गोस्वामी ने थोड़े से श्लोकों में सार रूप में प्रस्तुत किया है।

गुर्वर्थे त्यक्तराज्यो व्यचरदनुवनं पद्मपद्भ्यां प्रियाया:
पाणिस्पर्शाक्षमाभ्यां मृजितपथरुजो यो हरीन्द्रानुजाभ्याम् ।
वैरूप्याच्छूर्पणख्या: प्रियविरहरुषारोपितभ्रूविजृम्भ
त्रस्ताब्धिर्बद्धसेतु: खलदवदहन: कोसलेन्द्रोऽवतान्न: ॥ ४॥

शब्दार्थ

गुरु-अर्थे—अपने पिता के वचनों का पालन करने हेतु; त्यक्त-राज्य:—राजा का पद छोड़कर; व्यचरत्—घूमते रहे; अनुवनम्—एक जंगल से दूसरे जंगल में; पद्म-पद्भ्याम्—अपने चरणकमलों से; प्रियाया:—अपनी प्रिय पत्नी सीतादेवी के साथ; पाणि-स्पर्श-अक्षमाभ्याम्—जो इतने कोमल थे कि सीता की हथेलियों के स्पर्श को भी सहन नहीं कर सकते थे; मृजित-पथ-रुज:—मार्ग पर चलने से जिनकी थकावट घट जाती थी; य:—जो भगवान्; हरीन्द्र-अनुजाभ्याम्—वानर-राज हनुमान तथा अपने छोटे भाई लक्ष्मण को साथ लिए; वैरूप्यात्—कुरूप करने के कारण; शूर्पणख्या:—शूर्पणखा नामक राक्षसी का; प्रिय-विरह—अपनी पत्नी के वियोग से दुखी होकर; रुषा आरोपित-भ्रू-विजृम्भ—क्रोध में उठी अपनी भृकुटी के हिलने से; त्रस्त—डरा हुआ; अब्धि:—समुद्र; बद्ध-

सेतुः—समुद्र के ऊपर पुल बाँधने वाला; खल-दव-दहनः—दावाग्नि की तरह रावण जैसे ईर्ष्यालु पुरुषों का वध करने वाले; कोसल-इन्द्रः—अयोध्या के राजा; अवतात्—रक्षा करने के लिए प्रसन्न हों; नः—हमारी।.

अपने पिता के वचनों को अक्षत रखने के लिए भगवान् रामचन्द्र ने तुरन्त ही राजपद छोड़ दिया और अपनी पत्नी सीतादेवी के साथ एक जंगल से दूसरे जंगल में अपने उन चरणकमलों से घूमते रहे जो इतने कोमल थे कि वे सीता की हथेलियों का स्पर्श भी सहन नहीं कर सकते थे। भगवान् के साथ उनके अनुज लक्ष्मण तथा वानरों के राजा हनुमान (या एक अन्य वानर सुग्रीव) भी थे। ये दोनों जंगल में घूमते हुए राम-लक्ष्मण की थकान मिटाने में सहायक बने। शूर्पणखा की नाक तथा कान काटकर उसे कुरूप बनाकर भगवान् सीतादेवी से बिछुड़ गये। अतएव वे अपनी भौहें तानकर क्रुद्ध हुए और सागर को डराया जिसने भगवान् को अपने ऊपर से होकर पुल बनाने की अनुमति दे दी। तत्पश्चात् भगवान् रावण को मारने के लिए दावानल की भाँति उसके राज्य में प्रविष्ट हुए। ऐसे भगवान् रामचन्द्र हम सबों की रक्षा करें।

विश्वामित्राध्वरे येन मारीचाद्या निशाचराः ।
पश्यतो लक्ष्मणस्यैव हता नैर्ऋतपुङ्गवाः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

विश्वामित्र-अध्वरे—ऋषि विश्वामित्र की यज्ञशाला में; येन—जिसके (रामचन्द्रजी) द्वारा; मारीच-आद्याः—मारीच इत्यादि; निशा-चराः—अज्ञान के अंधकार में रात में घूमने वाले असभ्य व्यक्ति; पश्यतः लक्ष्मणस्य—लक्ष्मण द्वारा देखे जाकर; एव—निस्सन्देह; हताः—मारे गये; नैर्ऋत-पुङ्गवाः—राक्षसों के बड़े-बड़े सरदार।.

अयोध्यानरेश भगवान् रामचन्द्र ने विश्वामित्र द्वारा सम्पन्न किये गए यज्ञ के क्षेत्र में अनेक राक्षसों तथा असभ्य पुरुषों का वध किया जो तमोगुण से प्रभावित होकर रात में विचरण करते थे। ऐसे रामचन्द्र जिन्होंने लक्ष्मण की उपस्थिति में इन असुरों का वध किया हमारी रक्षा करने की कृपा करें।

यो लोकवीरसमितौ धनुरैशमुग्रं
सीतास्वयंवरगृहे त्रिशतोपनीतम् ।
आदाय बालगजलील इवेक्षुयष्टिं
सज्ज्यीकृतं नृप विकृष्य बभञ्ज मध्ये ॥ ६ ॥
जित्वानुरूपगुणशीलवयोऽङ्गरूपां
सीताभिधां श्रियमुरस्यभिलब्धमानाम् ।
मार्गे व्रजन्भृगुपतेर्व्यनयत्प्ररूढं

दर्पं महीमकृत यस्त्रिरराजबीजाम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

यः—जो रामचन्द्र; लोक-वीर-समितौ—समाज में या इस संसार के अनेक वीरों के मध्य; धनुः—धनुष; ऐशम्—शिवजी का; उग्रम्—अत्यन्त कठिन; सीता-स्वयंवर-गृहे—उस सभाभवन में जहाँ सीतादेवी अपना पति चुनने के लिए खड़ी थीं; त्रिशत-उपनीतम्—तीन सौ आदमियों द्वारा उठाकर लाया गया धनुष; आदाय—लेकर; बाल-गज-लीलः—गन्ने के जंगल में हाथी के बच्चे की भाँति कार्य करते हुए; इव—सदृश; इक्षु-यष्टिम्—गन्ने का खण्ड; सज्यी-कृतम्—धनुष की डोरी चढ़ा दी; नृप—हे राजा; विकृष्य—झुकाकर; बभञ्ज—तोड़ डाला; मध्ये—बीच से; जित्वा—जीतकर; अनुरूप—अपने पद तथा सौन्दर्य के अनुकूल; गुण—गुण; शील—आचरण; वयः—उम्र; अङ्ग—शरीर; रूपाम्—सौन्दर्य; सीता-अभिधाम्—सीता नामक; श्रियम्—लक्ष्मी को; उरसि—वक्षस्थल पर; अभिलब्धमानाम्—सदैव रहती हैं; मार्गे—पथ पर; व्रजन्—जाते हुए; भृगुपतेः—भृगुपति का; व्यनयत्—विनष्ट किया; प्ररूढम्—अत्यन्त गहरा; दर्पम्—घमंड; महीम्—पृथ्वी को; अकृत—विनष्ट; यः—जिसने; त्रिः—(सात गुणित) तीन बार; अराज—राज्यविहीन; बीजाम्—बीज।

हे राजन्, भगवान् रामचन्द्र की लीलाएँ हाथी के बच्चे के समान अत्यन्त अद्‌भुत थीं। उस सभाभवन में जिसमें सीतादेवी को अपने पति का चुनाव करना था, उन्होंने इस संसार के वीरों के बीच भगवान् शिव के धनुष को तोड़ दिया। यह धनुष इतना भारी था कि इसे तीन सौ व्यक्ति उठाकर लाए थे लेकिन भगवान् रामचन्द्र ने इसे मोड़कर डोरी चढ़ाई और बीच से उसे वैसे ही तोड़ डाला जिस तरह हाथी का बच्चा गन्ने को तोड़ देता है। इस तरह भगवान् ने सीतादेवी का पाणिग्रहण किया जो उन्हीं के समान दिव्य रूप, सौन्दर्य, आचरण, आयु तथा स्वभाव से युक्त थीं। निस्सन्देह, वे भगवान् के वक्षस्थल पर सतत विद्यमान लक्ष्मी थीं। प्रतियोगियों की सभा में से उसे जीतकर उस के मायके से लौटते हुए भगवान् रामचन्द्र को परशुराम मिले। यद्यपि परशुराम अत्यन्त घमंडी थे क्योंकि उन्होंने इस पृथ्वी को इक्कीस बार राजाओं से विहीन बनाया था, किन्तु वे क्षत्रियवंशी राजा भगवान् राम से पराजित हो गये।

यः सत्यपाशपरिवीतपितुर्निदेशं
स्त्रैणस्य चापि शिरसा जगृहे सभार्यः ।
राज्यं श्रियं प्रणयिनः सुहृदो निवासं
त्यक्त्वा ययौ वनमसूनिव मुक्तसङ्गः ॥ ८॥

शब्दार्थ

यः—जो रामचन्द्र; सत्य-पाश-परिवीत-पितुः—अपने पिता का जो अपनी पत्नी को दिये गये वचन से बँधे थे; निदेशम्—आदेश; स्त्रैणस्य—स्त्री-अनुरक्त; च—भी; अपि—निस्सन्देह; शिरसा—सिर पर; जगृहे—स्वीकार किया; स-भार्यः—अपनी पत्नी सहित; राज्यम्—राज्य; श्रियम्—ऐश्वर्य; प्रणयिनः—सम्बन्धीजन; सुहृदः—मित्रगण; निवासम्—निवास; त्यक्त्वा—त्यागकर; ययौ—चले गये; वनम्—वन को; असून्—प्राण; इव—सदृश; मुक्त-सङ्गः—मुक्त जीव।

अपनी पत्नी के वचनों से बँधे पिता का आदेश पालन करते हुए भगवान् रामचन्द्र ने उसी तरह

अपना राज्य, ऐश्वर्य, मित्र, शुभचिन्तक, निवास तथा अन्य सर्वस्व त्याग दिया जिस तरह मुक्तात्मा अपना जीवन त्याग देता है। तब वे सीता सहित जंगल में चले गये।

तात्पर्य : महाराज दशरथ के तीन पत्नियाँ थीं। इनमें से कैकेयी ने उनको अपनी सेवाओं से प्रसन्न कर लिया था अतएव उन्होंने उसे वर देना चाहा था। किन्तु कैकेयी ने कहा था कि उपयुक्त अवसर पर वह माँग लेगी। फलतः रामचन्द्रजी के राजतिलक के अवसर पर कैकेयी ने अपने पति से प्रार्थना की कि वे उसके पुत्र भरत को राजगद्दी और रामचन्द्र को वनवास दे दें। वचनबद्ध होने के कारण महाराज दशरथ ने अपनी प्रियतमा के कहने पर रामचन्द्र को जंगल जाने का आदेश दे दिया और भगवान् ने आज्ञाकारी पुत्र के रूप में तुरन्त ही आदेश मान लिया। उन्होंने बिना किसी संकोच के अपना सर्वस्व त्याग दिया जिस प्रकार कोई मुक्तात्मा या महान् योगी बिना किसी भौतिक आकर्षण के अपना जीवन त्याग देता है।

रक्षःस्वसुर्व्यकृत रूपमशुद्धबुद्धे-
स्तस्याः खरत्रिशिरदूषणमुख्यबन्धून् ।
जघ्ने चतुर्दशसहस्रमपारणीय-
कोदण्डपाणिरटमान उवास कृच्छ्रम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

रक्षः-स्वसुः—राक्षस (रावण) की बहन, शूर्पणखा के; व्यकृत—(राम द्वारा) कुरूप किये जाने पर; रूपम्—स्वरूप, मुख; अशुद्ध-बुद्धेः—क्योंकि कामवासना के कारण उसकी बुद्धि दूषित हो चुकी थी; तस्याः—उसके; खर-त्रिशिर-दूषण-मुख्य-बन्धून्—खर, त्रिशिर, दूषण इत्यादि अनेक दोस्तों को; जघ्ने—(भगवान् राम ने) मारा; चतुर्दश-सहस्रम्—चौदह हजार; अपारणीय—अकल्पनीय; कोदण्ड—धुनष-बाण; पाणिः—अपने हाथ में; अटमानः—जंगल में घूमते हुए; उवास—वहाँ निवास किया; कृच्छ्रम्—बड़ी कठिनाई से।.

जंगल में घूमते हुए, वहाँ पर अनेक कठिनाइयों को झेलते तथा अपने हाथ में महान् धनुष-बाण लिए भगवान् रामचन्द्र ने कामवासना से दूषित रावण की बहन के नाक-कान काटकर उसे कुरूप कर दिया। उन्होंने उसके चौदह हजार मित्रों को भी मार डाला जिनमें खर, त्रिशिर तथा दूषण मुख्य थे।

सीताकथाश्रवणदीपितहृच्छयेन
सृष्टं विलोक्य नृपते दशकन्धरेण ।
जघ्नेऽद्भुतैणवपुषाश्रमतोऽपकृष्टो
मारीचमाशु विशिखेन यथा कमुग्रः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सीता-कथा—सीता के विषय में बातें; श्रवण—सुनकर; दीपित—उत्तेजित; हृत्-शयेन—रावण के मन की कामवासना द्वारा; सृष्टम्—उत्पन्न; विलोक्य—देखकर; नृपते—हे राजा परीक्षित; दश-कन्धरेण—दस सिरों वाले रावण द्वारा; जघ्ने—भगवान् राम ने मारा; अद्भुत-एण-वपुषा—सोने के मृग द्वारा; आश्रमतः—अपने आश्रम से; अपकृष्टः—दूर भटकाकर; मारीचम्—असुर मारीच को जिसने सोने के मृग का रूप धारण किया था; आशु—तुरन्त; विशिखेन—तीक्ष्ण बाण से; यथा—जिस तरह; कम्—दक्ष को; उग्रः—शिवजी ने।.

हे परीक्षित, जब दस शिरों वाले रावण ने सीता के सुन्दर एवं आकर्षक स्वरूप के विषय में सुना तो उसका मन कामवासनाओं से उत्तेजित हो उठा और वह उनको हरने गया। रावण ने भगवान् रामचन्द्र को उनके आश्रम से दूर ले जाने के लिए सोने के मृग का रूप धारण किये मारीच को भेजा और जब भगवान् ने उस अद्भुत मृग को देखा तो उन्होंने अपना आश्रम छोड़कर उसका पीछा करना शुरू कर दिया। अन्त में उसे तीक्ष्ण बाण से उसी तरह मार डाला जिस तरह शिवजी ने दक्ष को मारा था।

रक्षोऽधमेन वृकवद्विपिनेऽसमक्षं
वैदेहराजदुहितर्यपयापितायाम् ।
भ्रात्रा वने कृपणवत्प्रियया वियुक्तः
स्त्रीसङ्गिनां गतिमिति प्रथयंश्चचार ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

रक्षः-अधमेन—अत्यन्त दुष्ट राक्षस रावण द्वारा; वृक-वत्—बाघ के समान; विपिने—जंगल में; असमक्षम्—असुरक्षित; वैदेह-राज-दुहितरि—विदेह राजा की पुत्री सीतादेवी की इस दशा के द्वारा; अपयापितायाम्—अपहरण करके; भ्रात्रा—अपने भाई के साथ; वने—जंगल में; कृपण-वत्—अत्यन्त सताये दीन व्यक्ति की तरह; प्रियया—अपनी प्रियतमा के द्वारा; वियुक्तः—विलग हुआ; स्त्री-सङ्गिनाम्—स्त्रियों में अनुरक्त पुरुषों का; गतिम्—गन्तव्य; इति—इस प्रकार; प्रथयन्—उदाहरण प्रस्तुत करते हुए; चचार—घूमने लगा।.

जब रामचन्द्रजी जंगल में प्रविष्ट हुए और लक्ष्मण भी वहाँ नहीं थे तो दुष्ट राक्षस रावण ने विदेह राजा की पुत्री सीतादेवी का उसी तरह अपहरण कर लिया जिस तरह गडरिये की अनुपस्थिति में बाघ किसी असुरक्षित भेड़ को पकड़ लेता है। तब श्रीरामचन्द्रजी अपने भाई लक्ष्मण के साथ जंगल में इस तरह घूमने लगे मानो कोई अत्यन्त दीन व्यक्ति अपनी पत्नी के वियोग में घूम रहा हो। इस तरह उन्होंने अपने व्यक्तिगत उदाहरण से एक स्त्री-अनुरक्त पुरुष जैसी दशा प्रदर्शित की।

तात्पर्य : इस श्लोक में *स्त्री-सङ्गिनाम् गतिमिति* शब्द बतलाते हैं कि भगवान् ने स्त्री-अनुरक्त व्यक्ति की सी दशा प्रदर्शित की। नैतिक उपदेशों के अनुसार—*गृहे नारीं विवर्जयेत्*—जब कोई यात्रा पर जाय तो अपनी

पत्नी साथ में न ले जाय। पुराने जमाने में लोग बिना सवारी के यात्रा करते थे लेकिन फिर भी जहाँ तक सम्भव हो जब कोई घर से बाहर जाए तो अपने साथ अपनी पत्नी न ले जाये, विशेष रूप से ऐसी स्थिति में जिसमें श्रीरामचन्द्रजी थे जब उन्हें उनके पिता द्वारा वनवास दे दिया गया था। कोई जंगलों में रहे या घर में रहे, स्त्री-अनुरक्ति आफत बन जाती है जैसा कि भगवान् ने अपने निजी दृष्टान्त से दिखला दिया है।

निस्सन्देह, यह *स्त्रीसंगी* का भौतिक पक्ष है लेकिन भगवान् की स्थिति आध्यात्मिक है क्योंकि वे भौतिक जगत के प्राणी नहीं हैं। *नारायण: परोऽव्यक्तात्*—नारायण भौतिक सृष्टि से परे हैं। चूँकि वे भौतिक जगत के स्रष्टा हैं अतएव उन्हें भौतिक जगत की दशाएँ नहीं सतातीं। सामान्यतया सीता से रामचन्द्र का वियोग विप्रलम्भ माना जाता है, जो भगवान् की ह्लादिनी शक्ति की क्रिया है जिसका सम्बन्ध शृंगार रस से है। आध्यात्मिक जगत में भगवान् में सारे प्रेम-व्यापार देखने को मिलते हैं—उनमें सात्त्विक, संचारी, विलाप, मूर्च्छा तथा उन्माद सभी अवस्थाओं के लक्षण प्रकट होते हैं। अतएव जब रामचन्द्रजी सीता से वियुक्त हुए तो ये सारे आध्यात्मिक लक्षण प्रकट हुए। भगवान् न तो निराकार हैं, न शक्तिहीन। प्रत्युत वे सच्चिदानन्द विग्रह हैं। अतएव उनमें आध्यात्मिक आनन्द के सारे लक्षण पाये जाते हैं। अपनी प्रियतमा से वियोग का अनुभव भी आध्यात्मिक आनन्द ही है। जैसा कि श्रील स्वरूप दामोदर गोस्वामी ने बतलाया है—*राधाकृष्ण प्रणय विकृतिर्ह्लादिनीशक्ति:*—राधाकृष्ण के प्रेम-व्यापार भगवान् की ह्लादिनी शक्ति के रूप में प्रदर्शित किये जाते हैं। भगवान् सारे आनन्द के मूल स्रोत हैं, वे आनन्द के आगार हैं। अतएव भगवान् रामचन्द्र ने आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों ही प्रकार से सत्य का प्रदर्शन किया। भौतिक दृष्टि से जो लोग स्त्री से अनुरक्त हैं उन्हें कष्ट मिलता है, किन्तु आध्यात्मिक रूप से जब भगवान् तथा उनकी ह्लादिनी शक्ति में वियोग भाव उत्पन्न होता है तो भगवान् का आनन्द बढ़ जाता है। इसकी आगे भी व्याख्या *भगवद्गीता* (९.११) में हुई है—

अवजानन्ति मां मूढा: मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

जो व्यक्ति भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति को नहीं जानता वह उन्हें सामान्य मानव प्राणी मानता है लेकिन भगवान् के मन, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ कभी भी भौतिकता से प्रभावित नहीं होतीं। *स्कन्द पुराण* में

इसकी विशद व्याख्या मिलती है, जिसका संदर्भ मध्वाचार्य ने दिया है—

नित्यपूर्णसुखज्ञानस्वरूपोऽसौ यतो विभुः।

अतोऽस्य राम इत्याख्या तस्य दुःखं कुतोऽण्वपि॥

तथापि लोकशिक्षार्थमदुःखो दुःखवर्तिवत्।

अन्तर्हितां लोकदृष्ट्या सीतामासीत् स्मरन्निव॥

ज्ञापनार्थं पुनर्नित्यसम्बन्धः स्वात्मनः श्रियाः।

अयोध्याया विनिर्गच्छन् सर्वलोकस्य चेश्वरः।

प्रत्यक्षं तु श्रिया सार्धं जगामानादिरव्ययः॥

नक्षत्रमासगणितं त्रयोदशसहस्रकम्।

ब्रह्मलोकसमं चक्रे समस्तं क्षितिमंडलम्॥

रामो रामो रामेति सर्वेषाम् अभवत् तदा।

सर्वोरममयो लोको यदा रामस्त्वयपालयत्॥

वस्तुतः रावण द्वारा सीता का अपहरण असम्भव था। रावण द्वारा हरी गई सीता *मायासीता* थीं—सीतादेवी का भ्रामक स्वरूप। जब सीता की अग्नि-परीक्षा हुई तो यह मायासीता भस्म हो गई और असली सीता अग्नि से बाहर आ गईं।

इस उदाहरण से एक दूसरी शिक्षा यह मिलती है कि इस जगत में कोई स्त्री कितनी ही बलवती क्यों न हो, उसको संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए अन्यथा असुरक्षित होने पर उसे रावण जैसा राक्षस भगा ले जायेगा। इस श्लोक में आगत *वैदेहराजदुहितरि* शब्द सूचित करते हैं कि भगवान् रामचन्द्र से व्याहे जाने के पूर्व सीता जी अपने पिता वैदेहराज द्वारा सुरक्षित थीं और विवाह हो जाने पर उन्हें अपने पति का संरक्षण प्राप्त था। अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्त्री की सुरक्षा सदैव होनी ही चाहिए। वैदिक नियमानुसार स्त्री के स्वतंत्र (*असमक्षम्*) होने की सम्भावना नहीं है क्योंकि वह स्वतंत्र रूप से अपनी रक्षा नहीं कर सकती।

दग्ध्वात्मकृत्यहतकृत्यमहन्कबन्धं
सख्यं विधाय कपिभिर्दयितागतिं तैः ।
बुद्ध्वाथ वालिनि हते प्लवगेन्द्रसैन्यै-
र्वेलामगात्स मनुजोऽजभवार्चिताङ्घ्रिः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

दग्ध्वा—जलाकर; आत्म-कृत्य-हत-कृत्यम्—अपने आत्मीय जटायु का दाहसंस्कार करने के बाद जो भगवान् के निमित्त मरा; अहन्—मारा; कबन्धम्—कबन्ध नामक असुर को; सख्यम्—दोस्ती, मैत्री; विधाय—करके; कपिभिः—वानर प्रधानों से; दयिता-गतिम्—सीता के उद्धार का प्रबन्ध; तैः—उनके द्वारा; बुद्ध्वा—जान करके; अथ—तत्पश्चात्; वालिनि हते—वालि का वध हो जाने पर; प्लवग-इन्द्र-सैन्यैः—वानर सैनिकों की सहायता से; वेलाम्—समुद्र तट पर; अगात्—गये; सः—वह, रामचन्द्रजी; मनु-जः—मनुष्य रूप में; अज—ब्रह्मा द्वारा; भव—तथा शिवजी द्वारा; अर्चित-अङ्घ्रिः—जिनके चरणकमल पूजित हैं।

भगवान् रामचन्द्रजी ने, जिनके चरणकमल ब्रह्माजी तथा शिवजी द्वारा पूजित हैं, मनुष्य का रूप धारण किया था। अतएव उन्होंने जटायु का दाहसंस्कार किया, जिसे रावण ने मारा था। तत्पश्चात् भगवान् ने कबन्ध नामक असुर को मारा और वानरराजों से मैत्री स्थापित करके बालि का वध किया तथा सीतादेवी के उद्धार की व्यवस्था करके वे समुद्र के तट पर गये।

तात्पर्य : जब रावण ने सीता का अपहरण किया तो मार्ग में पक्षिराज जटायु ने उसको रोका, किन्तु शक्तिशाली रावण ने युद्ध में जटायु को परास्त कर दिया और उसका पंख काट दिया। जब रामचन्द्रजी सीता की खोज कर रहे थे तो जटायु उन्हें मरणासन्न अवस्था में मिला जिसने जानकारी दी कि सीताजी को रावण ले गया है। जब जटायु मर गया तो रामचन्द्रजी ने दाहसंस्कार करके पुत्र का कर्तव्य निभाया और तब सीता का उद्धार करने के उद्देश्य से वानरों को अपना मित्र बनाया।

यद्रोषविभ्रमविवृत्तकटाक्षपात-
सम्भ्रान्तनक्रमकरो भयगीर्णघोषः ।
सिन्धुः शिरस्यर्हणं परिगृह्य रूपी
पादारविन्दमुपगम्य बभाष एतत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यत्-रोष—जिसका क्रोध; विभ्रम—प्रेरित; विवृत्त—बदल गया; कटाक्ष-पात—दृष्टिपात से; सम्भ्रान्त—विक्षुब्ध; नक्र—घड़ियाल; मकरः—तथा मगर; भय-गीर्ण-घोषः—जिसकी गम्भीर गर्जना भय से दब गयी; सिन्धुः—सागर; शिरसि—सिर पर; अर्हणम्—भगवान् की पूजा की सारी सामग्री; परिगृह्य—ले जाकर; रूपी—रूप धारण करके; पाद-अरविन्दम्—भगवान् के चरणकमलों में; उपगम्य—पहुँच कर; बभाष—कहा; एतत्—यह (निम्नलिखित)।

समुद्र तट पर पहुँच कर भगवान् रामचन्द्र ने तीन दिन तक उपवास किया और वे साक्षात् समुद्र के आने की प्रतीक्षा करते रहे। जब समुद्र नहीं आया तो भगवान् ने अपनी क्रोध लीला प्रकट की

और समुद्र पर दृष्टिपात करते ही समुद्र के सारे प्राणी, जिनमें घड़ियाल तथा मगर सम्मिलित थे, भय के मारे उद्विग्न हो उठे। तब शरीर धारण करके डरता हुआ समुद्र पूजा की सारी सामग्री लेकर भगवान् के पास पहुँचा। उसने भगवान् के चरणकमलों पर गिरते हुए इस प्रकार कहा।

न त्वां वयं जडधियो नु विदाम भूमन्
कूटस्थमादिपुरुषं जगतामधीशम् ।
यत्सत्त्वतः सुरगणा रजसः प्रजेशा
मन्योश्च भूतपतयः स भवान्गुणेशः ॥ १४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; त्वाम्—तुमको, भगवान् को; वयम्—हम; जड-धियः—मन्द बुद्धि वाले; नु—निस्सन्देह; विदामः—जानते हैं; भूमन्—हे श्रेष्ठ; कूट-स्थम्—हृदय के भीतर; आदि-पुरुषम्—आदि भगवान् को; जगताम्—जगतों के; अधीशम्—सर्वोच्च स्वामी को; यत्—आपके निर्देशानुसार; सत्त्वतः—सत्त्वगुण से; सुर-गणाः—ऐसे देवता; रजसः—रजोगुण से; प्रजा-ईशाः—प्रजापति; मन्योः—तमोगुण से प्रभावित; च—तथा; भूत-पतयः—भूतों के शासक; सः—ऐसा पुरुष; भवान्—आप; गुण-ईशः—तीनों गुणों के स्वामी।.

हे सर्वव्यापी परम पुरुष, हम लोग मन्द बुद्धि होने के कारण यह नहीं जान पाये कि आप कौन हैं, किन्तु अब हम जान पाये हैं कि आप सारे ब्रह्माण्ड के स्वामी, अक्षर तथा आदि परम पुरुष हैं। देवता लोग सतोगुण से, प्रजापति रजोगुण से तथा भूतों के ईश तमोगुण द्वारा अन्धे हो जाते हैं, किन्तु आप इन समस्त गुणों के स्वामी हैं।

तात्पर्य : *जड-धियः* शब्द पशु-बुद्धि का सूचक है। ऐसी बुद्धि वाला व्यक्ति भगवान् को नहीं समझ सकता। पशु बिना मार खाये मनुष्य के अभिप्राय को नहीं समझ सकता। इसी प्रकार जो जड़बुद्धि हैं वे भगवान् को नहीं समझ पाते, किन्तु तीनों गुणों के द्वारा बुरी तरह प्रताड़ित होने पर वे भगवान् को समझने लगते हैं। किसी हिन्दी कवि का कथन है—

दुख में सब हरि भजें सुख में भजे न कोइ।

सुख में जो हरि भजे दुख काहे को होइ॥

दुखी होने पर वह मन्दिर या गिरजाघर में भगवान् को पूजने जाता है, किन्तु ऐश्वर्यवान होने पर भगवान् को भूल जाता है। अतएव भौतिक प्रकृति द्वारा मानव समाज को दण्डित करना भगवान् के लिए अनिवार्य है क्योंकि इसके बिना मनुष्य अपनी मन्द बुद्धि के कारण भगवान् की श्रेष्ठता को भूल जाते हैं।

कामं प्रयाहि जहि विश्रवसोऽवमेहं
त्रैलोक्यरावणमवाप्नुहि वीर पत्नीम् ।
बध्नीहि सेतुमिह ते यशसो वितत्यै
गायन्ति दिग्विजयिनो यमुपेत्य भूपाः ॥ १५॥

शब्दार्थ

कामम्—इच्छानुसार; प्रयाहि—मेरे जल के ऊपर से होकर चले जायें; जहि—विजय प्राप्त करें; विश्रवसः—विश्रवा मुनि का; अवमेहम्—मूत्र जैसा प्रदूषण; त्रैलोक्य—तीनों जगतों के लिए; रावणम्—रावण जैसा व्यक्ति, जो रोदन का कारण है; अवाप्नुहि—फिर से प्राप्त करें; वीर—हे वीर पुरुष; पत्नीम्—अपनी पत्नी को; बध्नीहि—तैयार करो, बाँधो; सेतुम्—पुल; इह—यहाँ (इस जल में); ते—आपका; यशसः—यश; वितत्यै—विस्तार करने के लिए; गायन्ति—महिमा का गान करेंगे; दिक्-विजयिनः—सारी दिशाओं को जीतने वाले बड़े-बड़े योद्धा; यम्—जिसके (पुल के); उपेत्य—निकट आकर; भूपाः—बड़े-बड़े राजा।

हे प्रभु, आप इच्छानुसार मेरे जल का उपयोग कर सकते हैं। निस्सन्देह, आप इसे पार करके उस रावण की पुरी में जा सकते हैं जो उपद्रवी है और तीनों जगतों को रुलाने वाला है। वह विश्रवा का पुत्र है, किन्तु मूत्र के समान तिरस्कृत है। कृपया जाकर उसका वध करें और अपनी पत्नी सीतादेवी को फिर से प्राप्त करें। हे महान् वीर, यद्यपि मेरे जल के कारण आपको लंका जाने में कोई बाधा नहीं होगी लेकिन आप इसके ऊपर पुल बनाकर अपने दिव्य यश का विस्तार करें। आपके इस अद्भुत असामान्य कार्य को देखकर भविष्य में सारे महान् योद्धा तथा राजा आपकी महिमा का गान करेंगे।

तात्पर्य : कहा जाता है कि पुत्र तथा मूत्र एक ही स्रोत—जननेन्द्रिय से निकलते हैं। जब पुत्र भगवद्भक्त या बड़ा विद्वान होता है तो पुत्रजन्म के लिए वीर्य-स्खलन सार्थक होता है, किन्तु यदि वह अयोग्य हुआ और अपने कुल का नाम रोशन नहीं करता तो वह मूत्र के ही तुल्य व्यर्थ होता है। यहाँ पर रावण की उपमा मूत्र से दी गई है क्योंकि वह तीनों लोकों में उपद्रव कराने वाला था। इस तरह देहधारी समुद्र ने इच्छा व्यक्त की कि भगवान् उसको मारें।

भगवान् रामचन्द्र का एक गुण है उनकी सर्वशक्तिमत्ता। भगवान् चाहें तो भौतिक अवरोधों या असुविधाओं की परवाह न करते हुए कर्म करें, किन्तु यह सिद्ध करने के लिए कि वे ईश्वर हैं और ईश्वर के तौर पर मात्र विज्ञापित नहीं हुए थे या जनादेश पर निर्वाचित नहीं हुए थे, उन्होंने समुद्र के ऊपर एक अद्भुत पुल का निर्माण कराया। आजकल किसी ऐसे कृत्रिम ईश्वर को खड़ा करने का फैशन बन चुका है जो कोई असामान्य कार्य नहीं कर सकता। मूर्ख व्यक्ति थोड़े से जादू से ही चमत्कृत होकर कृत्रिम ईश्वर चुन बैठता है क्योंकि वह यह नहीं जानता कि ईश्वर कितना शक्तिशाली होता है। किन्तु भगवान् रामचन्द्र ने पत्थरों को

तैराकर समुद्र पर पत्थर का पुल बनवाया। यह प्रमाण है ईश्वर की असाधारण अद्भुत शक्ति का। ऐसे किसी भी व्यक्ति को जो सामान्य व्यक्ति के द्वारा न सम्पन्न हो सकने वाले असामान्य कार्य को करके अपनी असाधारण शक्ति प्रदर्शित न कर दे उसे ईश्वर क्यों माना जाय? हम रामचन्द्रजी को भगवान् इसलिए मानते हैं क्योंकि उन्होंने पुल बनाया और श्रीकृष्ण को भगवान् इसलिए मानते हैं क्योंकि उन्होंने सात वर्ष की आयु में ही गोवर्धन पर्वत उठा लिया था। हमें जिस किसी धूर्त को ईश्वर या ईश्वर का अवतार नहीं मान लेना चाहिए क्योंकि ईश्वर अपने विविध कार्यकलापों में विशिष्ट विलक्षणताएँ प्रकट करता है। अतएव भगवान् स्वयं ही *भगवद्गीता* (४.९) में कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत: ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो व्यक्ति मेरे जन्म तथा कर्म की दिव्य प्रकृति को जानता है वह इस शरीर को त्यागने के बाद फिर से इस जगत में जन्म नहीं लेता अपितु मेरे नित्यधाम को प्राप्त होता है।" भगवान् के कार्यकलाप सामान्य नहीं होते—वे दिव्य रूप से अद्भुत होते हैं और अन्य किसी जीवधारी द्वारा सम्पन्न नहीं किये जा सकते। भगवान् के कार्यकलापों के सारे लक्षण शास्त्रों में वर्णित हैं और उन्हें समझने के बाद ही भगवान् को यथारूप में ग्रहण किया जा सकता है।

बद्ध्वोदधौ रघुपतिर्विविधाद्रिकूटै:
सेतुं कपीन्द्रकरकम्पितभूरुहाङ्गै: ।
सुग्रीवनीलहनुमत्प्रमुखैरनीकै-
र्लङ्कां विभीषणदृशाविशदग्रदग्धाम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

बद्ध्वा—बाँधने के बाद; उदधौ—समुद्र के जल में; रघु-पति:—भगवान् रामचन्द्र ने; विविध—अनेक प्रकार की; अद्रि-कूटै:—पर्वतों की चोटियों से; सेतुम्—पुल; कपि-इन्द्र—शक्तिशाली बन्दरों के; कर-कम्पित—हाथों से हिलाये गये; भूरुह-अङ्गै:—वृक्षों से; सुग्रीव—सुग्रीव; नील—नील; हनुमत्—हनुमान; प्रमुखै:—इत्यादि; अनीकै:—ऐसे सैनिकों सहित; लङ्काम्—रावण के राज्य लंका में; विभीषण-दृशा—रावण के भाई विभीषण के निर्देश से; आविशत्—प्रवेश किया; अग्र-दग्धाम्—पहले ही (वानर सैनिक हनुमान द्वारा) जलाए गए।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जल में उन पर्वत शृंगों को फेंककर जिनके सारे वृक्ष बन्दरों द्वारा हाथ से हिलाये गये थे, समुद्र के ऊपर पुल बना चुकने के बाद भगवान् रामचन्द्र सीतादेवी को रावण के चंगुल से छुड़ाने के लिए लंका गये। रावण के भाई विभीषण की सहायता से भगवान् सुग्रीव,

नील, हनुमान इत्यादि वानर सैनिकों के साथ रावण के राज्य लंका में प्रविष्ट हुए जिसे हनुमान ने पहले ही भस्म कर दिया था।

तात्पर्य : बन्दर सैनिकों ने वृक्षों से ढके बड़े-बड़े पर्वतशृंगों को लाकर समुद्र में फेंका जो ईश्वर की परम इच्छा से तैरने लगे। भगवान् की इच्छा से ही आकाश में अनेक बड़े-बड़े ग्रह रुई के फाहों के समान भारहीन बनकर तैरते हैं। तो फिर महान् पर्वतशृंगों को जल में तैरने में कौन सी कठिनाई होगी? यह भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता है। वे जो भी चाहें कर सकते हैं क्योंकि वे भौतिक प्रकृति के अधीन नहीं हैं, प्रत्युत प्रकृति ही उनके वश में है। *मयाध्यक्षेण प्रकृति: सूयते सचराचरम्*—मेरे ही निर्देशानुसार प्रकृति कार्य करती है। *ब्रह्म-संहिता* में (५.५२) भी ऐसी ही जानकारी प्राप्त है—

यस्याज्ञया भ्रमति सम्भृतकालचक्रो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।

प्रकृति की कार्यशैली का वर्णन करते हुए *ब्रह्म-संहिता* कहती है कि सूर्य भगवान् की इच्छा से घूमता है। अतएव भगवान् रामचन्द्र के लिए हिन्द महासागर के ऊपर उन बन्दर सैनिकों की सहायता से जो बड़े-बड़े पर्वतशृंगों को लाकर जल में फेंक रहे थे पुल बनाना तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं है। यह केवल इसीलिए अद्भुत लगता है क्योंकि इस भगवान् रामचन्द्र के नाम तथा यश को अमरत्व प्रदान किया है।

सा वानरेन्द्रबलरुद्धविहारकोष्ठ-
श्रीद्वारगोपुरसदोवलभीविटङ्का ।
निर्भज्यमानधिषणध्वजहेमकुम्भ-
शृङ्गाटका गजकुलैर्ह्रदिनीव घूर्णा ॥ १७॥

शब्दार्थ

सा—वह लंका नगरी; वानर-इन्द्र—वानरों के बड़े-बड़े सेनापतियों के; बल—बल से; रुद्ध—घिरी हुई; विहार—क्रीड़ा स्थल; कोष्ठ—कोठार, अन्न के गोदामों; श्री—खजाने; द्वार—महलों के दरवाजे; गोपुर—नगरी के फाटक; सद:—सभाभवन; वलभी—बड़े-बड़े महलों के अग्रभाग, छज्जे; विटङ्का—कबूतरखाने; निर्भज्यमान—तोड़े जाने वाले; धिषण—चबूतरे; ध्वज—झंडे, पताकाएँ; हेम-कुम्भ—सोने के गुम्बद; शृङ्गाटका—तथा चौराहे; गज-कुलै:—हाथी के झुंडों से; ह्रदिनी—नदी; इव—सदृश; घूर्णा—क्षुब्ध, मथी हुई।

लंका में प्रवेश करने के बाद सुग्रीव, नील, हनुमान आदि वानर सेनापतियों के नेतृत्व में वानर सैनिकों ने सारे विहारस्थलों, अन्न के गोदामों, खजानों, महलों के द्वारों, नगर के फाटकों, सभाभवनों, महल के छज्जों और यहाँ तक कि कबूतरघरों में अधिकार कर लिया। जब नगरी के सारे

चौराहे, चबूतरे, झंडे तथा गुम्बदों पर रखे सुनहरे गमले ध्वस्त कर दिये गये तो समूची लंका नगरी उस नदी के सदृश प्रतीत हो रही थी जिसे हाथियों के झुंड ने मथ दिया हो।

रक्ष:पतिस्तदवलोक्य निकुम्भकुम्भ-
धूम्राक्षदुर्मुखसुरान्तकनरान्तकादीन् ।
पुत्रं प्रहस्तमतिकायविकम्पनादीन्
सर्वानुगान्समहिनोदथ कुम्भकर्णम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

रक्ष:-पति:—राक्षसों का स्वामी, रावण; तत्—ऐसे उपद्रव को; अवलोक्य—देखकर; निकुम्भ—निकुम्भ; कुम्भ—कुम्भ; धूम्राक्ष—धूम्राक्ष; दुर्मुख—दुर्मुख; सुरान्तक—सुरान्तक; नरान्तक—नरान्तक; आदीन्—इत्यादि को; पुत्रम्—अपने बेटे इन्द्रजित को; प्रहस्तम्—प्रहस्त को; अतिकाय—अतिकाय; विकम्पन—विकम्पन; आदीन्—आदि को; सर्व-अनुगान्—अपने सारे अनुयायियों को; समहिनोत्—आज्ञा दी (शत्रुओं से लड़ने के लिए); अथ—अन्तत:; कुम्भकर्णम्—अपने सबसे प्रसिद्ध भाई कुम्भकर्ण को।

जब राक्षसपति रावण ने वानर सैनिकों द्वारा किये जा रहे उपद्रवों को देखा तो उसने निकुम्भ, कुम्भ, धूम्राक्ष, दुर्मुख, सुरान्तक, नरान्तक तथा अन्य राक्षसों एवं अपने पुत्र इन्द्रजित को भी बुलवाया। तत्पश्चात् उसने प्रहस्त, अतिकाय, विकम्पन को और अन्त में कुम्भकर्ण को बुलवाया। इसके बाद उसने अपने सारे अनुयायियों को शत्रुओं से लड़ने के लिए प्रोत्साहित किया।

तां यातुधानपृतनामसिशूलचाप-
प्रासर्ष्टिशक्तिशरतोमरखड्गदुर्गाम् ।
सुग्रीवलक्ष्मणमरुत्सुतगन्धमाद-
नीलाङ्गदर्क्षपनसादिभिरन्वितोऽगात् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उन सब; यातुधान-पृतनाम्—राक्षसों के सैनिकों को; असि—तलवार से; शूल—भाला से; चाप—बाण से; प्रास-ऋष्टि—प्रास तथा ऋष्टि नामक हथियारों से; शक्ति-शर—शक्तिबाण; तोमर—तोमर नामक हथियार; खड्ग—तलवार की तरह के हथियार से; दुर्गाम्—दुर्जेय; सुग्रीव—सुग्रीव द्वारा; लक्ष्मण—रामचन्द्र के भाई लक्ष्मण द्वारा; मरुत्-सुत—हनुमान द्वारा; गन्धमाद—गन्धमाद नामक वानर द्वारा; नील—नील द्वारा; अङ्गद—अंगद; ऋक्ष—ऋक्ष; पनस—पनस; आदिभि:—इत्यादि के द्वारा; अन्वित:—घिरकर; अगात्—समक्ष (लड़ने) आया।

लक्ष्मण तथा सुग्रीव, हनुमान, गन्धमाद, नील, अंगद, जाम्बवन्त तथा पनस नामक वानर सैनिकों से घिरे हुए भगवान् रामचन्द्र ने उन राक्षस सैनिकों पर आक्रमण कर दिया जो विविध अजेय हथियारों से, यथा तलवारों, भालों, बाणों, प्रासों, ऋष्टियों, शक्तिबाणों, खड्गों तथा तोमरों से सज्जित थे।

तेऽनीकपा रघुपतेरभिपत्य सर्वे
द्वन्द्वं वरूथमिभपत्तिरथाश्वयोधैः ।
जघ्नुर्द्रुमैर्गिरिगदेषुभिरङ्गदाद्याः
सीताभिमर्षहतमङ्गलरावणेशान् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

ते—वे सब; अनीक-पाः—सैनिकों के सेनापति; रघुपतेः—भगवान् रामचन्द्र के; अभिपत्य—शत्रु का पीछा करते; सर्वे—सभी; द्वन्द्वम्—लड़ते हुए; वरूथम्—रावण के सैनिकों को; इभ—हाथी; पत्ति—पैदल सैना; रथ—रथ; अश्व—घोड़े; योधैः—योद्धाओं से; जघ्नुः—उन्हें मार डाला; द्रुमैः—बड़े-बड़े वृक्षों को फेंककर; गिरि—पर्वत की चोटियों; गदा—गदा; इषुभिः—बाणों से; अङ्गद-आद्याः—अंगद इत्यादि भगवान् रामचन्द्र के सारे सैनिक; सीता—सीता देवी का; अभिमर्ष—क्रोध से; हत—ध्वस्त; मङ्गल—जिसका कल्याण; रावण-ईशान्—रावण के अनुयायियों को।

अंगद तथा रामचन्द्र के अन्य सेनापतियों ने शत्रुओं के हाथियों, पैदल सैनिकों, घोड़ों तथा रथों का सामना किया और उन पर बड़े-बड़े वृक्ष, पर्वत-शृंग, गदा तथा बाण फेंके। इस तरह श्री रामचन्द्रजी के सैनिकों ने रावण के सैनिकों को जिनका सौभाग्य पहले ही लुट चुका था, मार डाला क्योंकि सीतादेवी के क्रोध से रावण पहले ही ध्वस्त हो चुका था।

तात्पर्य : भगवान् रामचन्द्र ने जंगल में जितने सैनिकों की भरती की, वे बन्दर थे और उनके पास रावण के सैनिकों से लड़ने के लिए समुचित साज-सामान न था क्योंकि रावण के सैनिकों के पास आधुनिक युद्धास्त्र थे जब कि बन्दरों के पास फेंकने के लिए पत्थर, पर्वतशृंग तथा वृक्ष थे। केवल भगवान् रामचन्द्र और लक्ष्मण कुछ बाण चला रहे थे। किन्तु क्योंकि रावण के सैनिक माता सीता के शाप से ध्वस्त हो चुके थे अतएव सारे बन्दर उन्हें केवल पत्थर एवं वृक्ष चलाकर मारने में समर्थ हो सके। बल दो प्रकार का होता है—दैव तथा पुरुषाकार। दैवबल अध्यात्म से प्राप्त किया जाता है और पुरुषाकार बल अपनी बुद्धि तथा शक्ति से प्राप्त किया जाता है। अध्यात्म बल भौतिकतावादी बल से सदैव श्रेष्ठ होता है। भगवान् की कृपा पर अवलम्बित होकर मनुष्य को अपने शत्रु से युद्ध करना चाहिए भले ही वह आधुनिक हथियारों से युक्त क्यों न हो। इसीलिए कृष्ण ने अर्जुन को आदेश दिया—*मामनुस्मर युध्य च*—मेरा चिन्तन करके युद्ध करो। हमें शत्रु से अपनी शक्तिभर लड़ना चाहिए, किन्तु विजय पाने के लिए भगवान् पर आश्रित रहना चाहिए।

रक्षःपतिः स्वबलनष्टिमवेक्ष्य रुष्ट
आरुह्य यानकमथाभिससार रामम् ।
स्वःस्यन्दने द्युमति मातलिनोपनीते
विभ्राजमानमहनन्निशितैः क्षुरप्रैः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

रक्षः-पतिः—राक्षसों का नायक, रावण; स्व-बल-नष्टिम्—अपने सैनिकों का विनाश; अवेक्ष्य—देखकर; रुष्टः—क्रुद्ध हुआ; आरुह्य—सवार होकर; यानकम्—अपने सुन्दर विमान में, जो पुष्पों से अलंकृत था; अथ—तत्पश्चात्; अभिससार—आगे बढ़ा; रामम्—राम की ओर; स्वः-स्यन्दने—इन्द्र के दिव्य रथ में; द्युमति—चमकता हुआ; मातलिना—इन्द्र के सारथी मातलि द्वारा; उपनीते—लाया जाकर; विभ्राजमानम्—रामचन्द्र, मानों तेज से दीप्त हों; अहनत्—रावण ने प्रहार किया; निशितैः—अत्यन्त तीक्ष्ण; क्षुरप्रैः—तीरों से।

तत्पश्चात् जब राक्षसराज रावण ने देखा कि उसके सारे सैनिक मारे जा चुके हैं तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। अतएव वह अपने विमान में सवार हुआ जो फूलों से सजाया हुआ था और रामचन्द्रजी की ओर बढ़ा जो इन्द्र के सारथी मातलि द्वारा लाये गये तेजस्वी रथ पर आसीन थे। तब रावण ने भगवान् रामचन्द्र पर तीक्ष्ण बाणों की वर्षा की।

रामस्तमाह पुरुषादपुरीष यन्नः
कान्तासमक्षमसतापहृता श्ववत्ते ।
त्यक्तत्रपस्य फलमद्य जुगुप्सितस्य
यच्छामि काल इव कर्तुरलङ्घ्यवीर्यः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

रामः—भगवान् रामचन्द्र ने; तम्—उससे (रावण से); आह—कहा; पुरुष-अद-पुरीष—तुम मनुष्यों के भक्षकों (राक्षसों) के मल हो; यत्—क्योंकि; नः—मेरी; कान्ता—पत्नी; असमक्षम्—मेरी अनुपस्थिति के कारण असहाय; असता—महान् पापी तुम्हारे द्वारा; अपहृता—अपहरण की गई; श्व-वत्—कुत्ते के समान, जो मालिक की अनुपस्थिति में रसोई से भोजन लेकर भाग जाता है; ते—तुम्हारा; त्यक्त-त्रपस्य—निर्लज्ज; फलम् अद्य—आज तुमको मजा चखा दूँगा; जुगुप्सितस्य—अत्यन्त नीच का; यच्छामि—तुम्हें दण्ड दूँगा; कालः इव—मृत्यु के समान; कर्तुः—सारे पापों के कर्ता तुमको; अलङ्घ्य-वीर्यः—किन्तु मैं सर्वशक्तिमान होने के कारण कभी अपने प्रयास में विफल नहीं होता।

भगवान् रामचन्द्र ने रावण से कहा : तुम मानवभक्षियों में अत्यन्त गर्हित हो। निस्सन्देह, तुम उनकी विष्ठा तुल्य हो। तुम कुत्ते के समान हो क्योंकि वह घर के मालिक के न होने पर रसोई से खाने की वस्तु चुरा लेता है। तुमने मेरी अनुपस्थिति में मेरी पत्नी सीतादेवी का अपहरण किया है। इसलिए जिस तरह यमराज पापी व्यक्तियों को दण्ड देता है उसी तरह मैं भी तुम्हें दण्ड दूँगा। तुम अत्यन्त नीच, पापी तथा निर्लज्ज हो। अतएव आज मैं तुम्हें दण्ड दूँगा क्योंकि मेरा वार कभी खाली नहीं जाता।

तात्पर्य : *न च दैवात् परं बलम्*—कोई भावी बल दिव्य शक्ति से पार नहीं पा सकता। रावण इतना पापी तथा निर्लज्ज था कि उसे इसका पता ही नहीं था कि रामचन्द्र की ह्लादिनी शक्ति माता सीता का अपहरण करने का क्या फल होगा। यही राक्षसों का अवगुण है। *असत्यम् अप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।* राक्षसों को इसका ज्ञान ही नहीं है कि भगवान् सृष्टि के शासक हैं। वे सोचते हैं कि सब कुछ संयोगवश उत्पन्न हुआ है

और उसका न तो कोई शासक या राजा है न नियन्ता। इसीलिए वे स्वतंत्र होकर स्वेच्छा से कर्म करते हैं और इस हद तक पहुँच जाते हैं कि लक्ष्मीजी तक का अपहरण कर बैठते हैं। रावण की यह नीति किसी भी भौतिकतावादी के लिए अत्यन्त घातक है। निस्सन्देह, इससे भौतिकतावादी सभ्यता का विनाश होता है। तो भी नास्तिक लोग राक्षस हैं अतएव वे घृणित से घृणित कर्म करते हैं जिसके लिए वे अवश्य ही दण्डित होते हैं। धर्म भगवान् के आदेशों से युक्त है अतएव जो भी इन आदेशों का पालन करता है वही धर्मी है। जो भगवान् के आदेशों का पालन नहीं करता वह अधर्मी है और उसे दण्डित होना पड़ता है।

एवं क्षिपन्धनुषि सन्धितमुत्ससर्ज
बाणं स वज्रमिव तद्धृदयं बिभेद ।
सोऽसृग्वमन्दशमुखैर्न्यपतद्विमाना-
द्धाहेति जल्पति जने सुकृतीव रिक्तः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; क्षिपन्—डाँटते हुए, धिक्कारते हुए; धनुषि—धनुष पर; सन्धितम्—तीर चढ़ाकर; उत्ससर्ज—उसकी ओर छोड़ा; बाणम्—बाण; सः—वह तीर; वज्रम् इव—वज्र की भाँति; तत्-हृदयम्—रावण के हृदय को; बिभेद—बेध डाला; सः—वह, रावण; असृक्—रक्त; वमन्—कै करता; दश-मुखैः—दसों मुँहों से; न्यपतत्—गिर पड़ा; विमानात्—अपने विमान से; हाहा—हाय-हाय, क्या हुआ; इति—इस प्रकार; जल्पति—दहाड़ते हुए; जने—सारे लोगों के सामने; सुकृती इव—पुण्यात्मा की तरह; रिक्तः—पुण्यों के चुक जाने पर।

इस प्रकार रावण को धिक्कारने के बाद भगवान् रामचन्द्र ने अपने धनुष पर बाण रखा और रावण को निशाना बनाकर बाण छोड़ा जो रावण के हृदय में वज्र के समान बेध गया। इसे देखकर रावण के अनुयायियों ने चिल्लाते हुए तुमुल ध्वनि की "हाय! हाय!" "क्या हो गया?" क्योंकि रावण अपने दसों मुखों से रक्त वमन करता हुआ अपने विमान से उसी तरह नीचे गिर पड़ा जिस प्रकार कोई पुण्यात्मा अपने पुण्यों के चुक जाने पर स्वर्ग से पृथ्वी पर आ गिरता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२१) में कहा गया है—*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*—जब पुण्यों के फलों का क्षय हो जाता है तो स्वर्ग का भोग करने वाले पुनः पृथ्वी पर आ गिरते हैं। इस जगत के सकाम कर्म ऐसे हैं कि कोई चाहे पुण्य करे या पाप, उसे इसी संसार के भीतर भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में रहना होता है क्योंकि पाप या पुण्य के द्वारा बारम्बार जन्म-मृत्यु की माया के चंगुल से छूटा नहीं जा सकता। रावण को किसी तरह समस्त ऐश्वर्यों से युक्त महान् साम्राज्य का राजपद मिल गया था, किन्तु सीतादेवी का अपहरण जैसा पापकर्म करने के कारण उसके सारे पुण्यकर्मों के फल विनष्ट हो गये थे। यदि कोई किसी महापुरुष

का, विशेष रूप से भगवान् का अपमान करता है तो वह निस्सन्देह अत्यन्त अधम हो जाता है और अपने पुण्यकर्मों के फल से विरहित होकर रावण तथा अन्य राक्षसों की भाँति नीचे गिर जाता है। इसीलिए सलाह दी जाती है कि मनुष्य पाप-पुण्य दोनों से ऊपर उठे और समस्त उपाधियों से रहित शुद्ध अवस्था में रहे (*सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्*)। जब कोई मनुष्य भक्ति में स्थिर हो जाता है तो वह भौतिक स्तर से ऊपर चला जाता है। भौतिक स्तर पर उच्च तथा निम्न दशाएँ होती हैं, किन्तु भौतिक स्तर से ऊपर होने पर मनुष्य आध्यात्मिक स्थिति में सदैव स्थिर रहता जाता है (*स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते*)। रावण या उस जैसे अन्य लोग भले ही इस भौतिक संसार में शक्तिशाली एवं ऐश्वर्यवान हों, किन्तु उनके पद सुरक्षित नहीं हैं क्योंकि अन्तत: वे अपने कर्मफलों से बँधे रहते हैं (*कर्मणा दैवनेत्रेण*)। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि हम प्रकृति के नियमों के पूर्णत: अधीन हैं—

प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वश:।

अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

"प्रकृति के तीन गुणों के प्रभाव के अन्तर्गत मोहग्रस्त जीव अपने को उन सारे कर्मों का कर्ता मान बैठता है जो वास्तव में प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं।" (*भगवद्गीता* ३.२७) किसी को न तो अपने उच्च स्थान का घमंड होना चाहिए और न ही अपने को प्रकृति के नियमों से स्वतंत्र मानकर रावण की तरह कर्म करना चाहिए।

ततो निष्क्रम्य लङ्काया यातुधान्य: सहस्रश: ।
मन्दोदर्या समं तत्र प्ररुदन्त्य उपाद्रवन् ॥ २४॥

शब्दार्थ

तत:—तत्पश्चात्; निष्क्रम्य—बाहर निकल कर; लङ्काया:—लंका से; यातुधान्य:—राक्षसों की पत्नियाँ; सहस्रश:—हजारों की संख्या में; मन्दोदर्या—रावण की पत्नी मन्दोदरी इत्यादि के; समम्—साथ; तत्र—वहाँ; प्ररुदन्त्य:—विलाप करती; उपाद्रवन्—(अपने मृत पतियों के) पास आईं।

तत्पश्चात् वे सारी स्त्रियाँ जिनके पति युद्ध में मारे जा चुके थे, रावण की पत्नी मन्दोदरी के साथ लंका से बाहर आईं। वे निरन्तर विलाप करती हुई रावण तथा अन्य राक्षसों के शवों के निकट पहुँचीं।

स्वान्स्वान्बन्धून्परिष्वज्य लक्ष्मणेषुभिरर्दितान् ।
रुरुदुः सुस्वरं दीना घ्नन्त्य आत्मानमात्मना ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

स्वान् स्वान्—अपने-अपने पतियों के; बन्धून्—मित्रों को; परिष्वज्य—आलिंगन करती हुई; लक्ष्मण-इषुभिः—लक्ष्मण के बाणों से; अर्दितान्—मारे गये; रुरुदुः—वे सभी पत्नियाँ करुण विलाप करने लगीं; सु-स्वरम्—मीठे स्वर में; दीनाः—अत्यन्त दयनीय; घ्नन्त्यः—पीटती हुई; आत्मानम्—अपनी छाती; आत्मना—अपने आप से।

लक्ष्मण के बाणों द्वारा मारे गये अपने-अपने पतियों के शोक में अपनी छाती पीटती हुई स्त्रियों ने अपने-अपने पतियों का आलिंगन किया और फिर वे कारुणिक स्वर में रोदन करने लगीं जो हर एक को द्रवित करने वाला था।

हा हताः स्म वयं नाथ लोकरावण रावण ।
कं यायाच्छरणं लङ्का त्वद्विहीना परार्दिता ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

हा—हाय; हताः स्म—मारी गईं; वयम्—हम सभी; नाथ—हे रक्षक; लोक-रावण—हे पति, जिसने इतने लोगों को रुलाया; रावण—हे रावण, जो अन्यों को रुला सकता है; कम्—किसकी; यायात्—जायेगा; शरणम्—शरण में; लङ्का—लंका का राज्य; त्वत्-विहीना—तुम्हारे न होने पर; पर-अर्दिता—शत्रुओं द्वारा पराजित।

हे नाथ! हे स्वामी! तुम अन्यों की मुसीबत की प्रतिमूर्ति थे; अतएव तुम रावण कहलाते थे। किन्तु अब जब तुम पराजित हो चुके हो, हम भी पराजित हैं क्योंकि तुम्हारे बिना इस लंका के राज्य को शत्रु ने जीत लिया है। बताओ न अब लङ्का किसकी शरण में जायेगी?

तात्पर्य : रावण की पत्नी मन्दोदरी तथा अन्य पत्नियाँ भलीभाँति जानती थीं कि रावण कितना क्रूर व्यक्ति है। "रावण" शब्द का अर्थ ही है "जो अन्यों को सताता है।" रावण निरन्तर अन्यों को मुसीबत में डालता रहा, किन्तु जब उसके पापकृत्यों की पराकाष्ठा सीतादेवी को कष्ट देने तक पहुँच गई तो वह भगवान् रामचन्द्र द्वारा मार डाला गया।

न वै वेद महाभाग भवान्कामवशं गतः ।
तेजोऽनुभावं सीताया येन नीतो दशामिमाम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वै—निस्सन्देह; वेद—जान पाया; महा-भाग—हे भाग्यशाली; भवान्—आप; काम-वशम्—काम के वशीभूत; गतः—होकर; तेजः—प्रभाव से; अनुभावम्—ऐसे प्रभाव के फलस्वरूप; सीतायाः—सीतादेवी के; येन—जिसके द्वारा; नीतः—ले जाया गया; दशाम्—स्थिति को; इमाम्—इस प्रकार की (विनाश की)।

हे परम सौभाग्यवान, तुम कामवासना के वशीभूत हो गये थे; अतएव तुम सीतादेवी के प्रभाव

(तेज) को नहीं समझ सके। तुम भगवान् रामचन्द्र द्वारा मारे जाकर सीताजी के शाप से इस दशा को प्राप्त हुए हो।

तात्पर्य : ऐसा नहीं है कि केवल सीतादेवी ही शक्तिशाली थीं अपितु कोई भी स्त्री सीतादेवी के पदचिह्नों पर चलकर ऐसी ही शक्तिशाली बन सकती है। वैदिक साहित्य के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। जहाँ भी हम आदर्श सती स्त्रियों का वर्णन पाते हैं सीताजी का नाम उसमें अवश्य मिलता है। रावण की पत्नी मन्दोदरी भी परम सती थी। इसी प्रकार द्रौपदी भी पाँच उच्च सतियों में से एक है। जिस प्रकार मनुष्य को ब्रह्मा, नारद जैसे महापुरुषों का अनुसरण करना चाहिए उसी प्रकार हर स्त्री को भी सीता, मन्दोदरी, द्रौपदी जैसी आदर्श स्त्रियों के पथ का अनुसरण करना चाहिए। सती रहकर तथा अपने पति के प्रति आज्ञाकारिणी बनकर स्त्री अपने को दैवी शक्ति से सम्पन्न करती है। यह नैतिक सिद्धान्त है कि मनुष्य को मन में पराई स्त्री के प्रति विषयवासना की भावना नहीं लानी चाहिए। *मातृवत् परदारेषु*—बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि पराई स्त्री को अपनी माता के तुल्य देखे। यही *चाणक्य श्लोक* का (१०) आदेश है—

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ट्रवत्।

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः॥

“जो कोई पराई स्त्री को अपनी माता की तरह, पराये धन को धूल के समान तथा सारे जीवों को अपने समान मानता है वह पण्डित माना जाता है।” इस तरह रावण न केवल भगवान् रामचन्द्र द्वारा अपितु अपनी ही पत्नी मन्दोदरी द्वारा भी धिक्कारा गया। चूँकि वह सती स्त्री थी अतएव वह अन्य सती की, विशेष रूप से सीतादेवी जैसी पत्नी की, शक्ति को जानती थी।

कृतैषा विधवा लङ्का वयं च कुलनन्दन ।
देहः कृतोऽन्नं गृध्राणामात्मा नरकहेतवे ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

कृता—तुम्हारे द्वारा की गई; एषा—इस समस्त; विधवा—संरक्षकविहीन; लङ्का—लंका-राज्य; वयम् च—हमें भी; कुल-नन्दन—हे राक्षसों के आनन्द; देहः—शरीर; कृतः—तुम्हारे द्वारा बनाई गई; अन्नम्—खाद्य पदार्थ; गृध्राणाम्—गीधों का; आत्मा—तथा तुम्हारी आत्मा; नरक-हेतवे—नरक जाने के लिए।

हे राक्षसकुल के हर्ष, तुम्हारे ही कारण अब लंका-राज्य तथा हम सबों का भी कोई संरक्षक नहीं रहा। तुमने अपने कृत्यों के ही कारण अपने शरीर को गीधों का आहार और अपनी आत्मा को नरक

जाने का पात्र बना दिया है।

तात्पर्य : जो भी रावण के मार्ग पर चलता है उसकी भर्त्सना दो प्रकार से की जाती है—उसका शरीर कुत्तों तथा गीधों के खाने योग्य रहता है तथा उसकी आत्मा नरक में जाती है। जैसा कि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (१६.१९) में कहा है—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

"जो लोग ईर्ष्यालु तथा शैतान हैं, जो मनुष्यों में सबसे नीच हैं उन्हें मैं भवसागर में विविध राक्षस-योनियों में डालता हूँ।" इस तरह रावण, हिरण्यकशिपु, कंस तथा दंतवक्र जैसे नास्तिकों की गति नारकीय जीवन में है। रावण की पत्नी मन्दोदरी सती होने के कारण सब कुछ जानती थी। यद्यपि वह अपने पति की मृत्यु पर विलाप कर रही थी, किन्तु वह जानती थी कि उसके शरीर और आत्मा का क्या होगा क्योंकि भले ही हमें भौतिक आँखों से यह न दिखे, किन्तु ज्ञान की आँखों से देखा जा सकता है (*पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः*)। वैदिक इतिहास में ऐसे कितने ही उदाहरण हैं जिनमें मनुष्य के ईश्वरविहीन होने पर प्रकृति के नियमों द्वारा भर्त्सित होना पड़ता है।

श्रीशुक उवाच

स्वानां विभीषणश्चक्रे कोसलेन्द्रानुमोदितः ।
पितृमेधविधानेन यदुक्तं साम्परायिकम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; स्वानाम्—स्वजनों का; विभीषणः—रावण के भाई तथा रामचन्द्र-भक्त विभीषण ने; चक्रे—सम्पन्न किया; कोसल-इन्द्र-अनुमोदितः—कोसल के राजा भगवान् रामचन्द्र द्वारा अनुमोदित; पितृ-मेध-विधानेन—पिता या किसी परिजन की मृत्यु के बाद पुत्र द्वारा सम्पन्न होने वाले अन्त्येष्टि कर्म द्वारा; यत् उक्तम्—निर्धारित; साम्परायिकम्—नरक जाने से बचाने के लिए व्यक्ति मृत्यु के बाद किए जाने वाले कर्म।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : रावण के पवित्र भाई तथा रामचन्द्र के भक्त विभीषण को कोसल के राजा भगवान् रामचन्द्र से अनुमति प्राप्त हो गई तो उसने अपने परिवार के सदस्यों को नरक जाने से बचाने के लिए आवश्यक अन्त्येष्टि कर्म सम्पन्न किये।

तात्पर्य : एक शरीर छोड़ने के बाद मनुष्य दूसरे शरीर को प्राप्त करता है, किन्तु कभी-कभी यदि वह अधिक पापी होता है तो उसे दूसरे शरीर में देहान्तरण करने नहीं दिया जाता जिससे वह प्रेत बन जाता है।

मृत व्यक्ति को प्रेतजीवन से बचाने के लिए शास्त्रविहित अन्त्येष्टि कर्म या श्राद्ध कर्म किया जाना चाहिए। रावण का वध भगवान् रामचन्द्र द्वारा हुआ था; अतएव उसे नरक में जाना था, किन्तु भगवान् रामचन्द्र की सलाह से रावण के भाई विभीषण ने मृतक के लिए निर्धारित सारे कर्म सम्पन्न किये। इस तरह भगवान् रामचन्द्र रावण की मृत्यु के बाद भी उस पर दयालु थे।

ततो ददर्श भगवानशोकवनिकाश्रमे ।
क्षामां स्वविरहव्याधिं शिंशपामूलमाश्रिताम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; ददर्श—देखा; भगवान्—भगवान् ने; अशोक-वनिक-आश्रमे—अशोक वृक्षों के वन में एक छोटी सी झोपड़ी में; क्षामाम्—अत्यन्त दुबली-पतली; स्व-विरह-व्याधिम्—अपने (भगवान् रामचन्द्र के) वियोग रोग से पीड़ित; शिंशपा—शिंशपा (शीशम) वृक्ष की; मूलम्—जड़ का; आश्रिताम्—सहारा लिए।

तत्पश्चात् भगवान् रामचन्द्र ने सीतादेवी को अशोकवन में शिंशपा नामक वृक्ष के नीचे एक छोटी सी कुटिया में बैठी पाया। वे राम के वियोग के कारण दुखी होने से अत्यन्त दुबली-पतली हो गई थीं।

रामः प्रियतमां भार्यां दीनां वीक्ष्यान्वकम्पत ।
आत्मसन्दर्शनाह्लादविकसन्मुखपङ्कजाम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

रामः—रामचन्द्र; प्रिय-तमाम्—अपनी अत्यन्त प्रिय; भार्याम्—पत्नी को; दीनाम्—दीन अवस्था में; वीक्ष्य—देखकर; अन्वकम्पत—अत्यन्त दयालु हो उठे; आत्म-सन्दर्शन—अपने प्रिय को देखने पर; आह्लाद—आनन्दमय जीवन का भाव; विकसत्—प्रकट करते हुए; मुख—मुँह; पङ्कजाम्—कमल सदृश।

अपनी पत्नी को उस दशा में देखकर भगवान् रामचन्द्र अत्यधिक दयार्द्र हो उठे। जब वे पत्नी के समक्ष आये तो वे भी अपने प्रियतम को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुईं और उनके कमल सदृश मुख से आह्लाद झलकने लगा।

आरोप्यारुरुहे यानं भ्रातृभ्यां हनुमद्युतः ।
विभीषणाय भगवान्दत्त्वा रक्षोगणेशताम् ।
लङ्कामायुश्च कल्पान्तं ययौ चीर्णव्रतः पुरीम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

आरोप्य—चढ़ाकर; आरुरुहे—स्वयं चढ़ गये; यानम्—विमान में; भ्रातृभ्याम्—अपने भाई लक्ष्मण तथा सेनापति सुग्रीव समेत; हनुमत्-युतः—हनुमान समेत; विभीषणाय—रावण के भाई विभीषण को; भगवान्—भगवान् ने; दत्त्वा—सौंप दिया; रक्षः-गण-ईशताम्—लंका के राक्षसों पर शासन करने का अधिकार; लङ्काम्—लंका-राज्य; आयुः च—तथा जीवन (आयु); कल्प-अन्तम्—एक कल्प के अन्त तक, अनेकानेक वर्षों के लिए; ययौ—घर चले गये; चीर्ण-व्रतः—वनवास की अवधि पूरी करके; पुरीम्—अयोध्या पुरी को।

भगवान् रामचन्द्र ने विभीषण को लंका के राक्षसों पर एक कल्प तक राज्य करने का अधिकार सौंपकर सीतादेवी को पुष्प से सज्जित विमान (पुष्पक विमान) में बैठाया और फिर वे स्वयं उसमें बैठ गये। अपने वनवास की अवधि समाप्त होने पर, हनुमान, सुग्रीव तथा अपने भाई लक्ष्मणसमेत, भगवान् अयोध्या लौट आये।

अवकीर्यमाणः सुकुसुमैर्लोकपालार्पितैः पथि ।
उपगीयमानचरितः शतधृत्यादिभिर्मुदा ॥ ३३॥

शब्दार्थ

अवकीर्यमाणः—बिखेरे गये; सु-कुसुमैः—सुगंधित सुन्दर फूलों से; लोक-पाल-अर्पितैः—राजाओं द्वारा भेंट किये गये; पथि—मार्ग पर; उपगीयमान-चरितः—अपने असामान्य कार्यों के लिए अभिवन्दित; शतधृति-आदिभिः—ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं के द्वारा; मुदा—अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक।

जब भगवान् रामचन्द्र अपनी राजधानी अयोध्या लौटे तो मार्ग पर लोकपालों ने उनके स्वागतार्थ उनके शरीर पर सुन्दर सुगन्धित फूलों की वर्षा की और ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं जैसे महापुरुषों ने परम प्रसन्न होकर भगवान् के कार्यों का गुणगान किया।

गोमूत्रयावकं श्रुत्वा भ्रातरं वल्कलाम्बरम् ।
महाकारुणिकोऽतप्यज्जटिलं स्थण्डिलेशयम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

गो-मूत्र-यावकम्—गाय के मूत्र में पकाये जौ को खाकर; श्रुत्वा—सुनकर; भ्रातरम्—अपने भाई भरत को; वल्कल-अम्बरम्—पेड़ों की छाल से आच्छादित; महा-कारुणिकः—अत्यन्त दयालु रामचन्द्रजी ने; अतप्यत्—अत्यधिक शोक व्यक्त किया; जटिलम्—सिर पर जटा बढ़ाये; स्थण्डिले-शयम्—कुशासन पर लेटते हुए।

अयोध्या पहुँचकर भगवान् रामचन्द्र ने सुना कि उनकी अनुपस्थिति में उनका भाई भरत गोमूत्र में पकाये जौ को खाता था, अपने शरीर को वृक्षों की छाल से ढकता था, सिर पर जटा बढ़ाये, कुशों की चटाई पर सोता था। अत्यन्त कृपालु भगवान् ने इस पर अत्यधिक सन्ताप व्यक्त किया।

भरतः प्राप्तमाकर्ण्य पौरामात्यपुरोहितैः ।

पादुके शिरसि न्यस्य रामं प्रत्युद्यतोऽग्रजम् ।
नन्दिग्रामात्स्वशिबिराद्गीतवादित्रनिःस्वनैः ॥ ३५ ॥

ब्रह्मघोषेण च मुहुः पठद्भिर्ब्रह्मवादिभिः ।
स्वर्णकक्षपताकाभिर्हैमैश्चित्रध्वजै रथैः ॥ ३६ ॥

सदश्वै रुक्मसन्नाहैर्भटैः पुरटवर्मभिः ।
श्रेणीभिर्वारमुख्याभिर्भृत्यैश्चैव पदानुगैः ॥ ३७ ॥

पारमेष्ठ्यान्युपादाय पण्यान्युच्चावचानि च ।
पादयोर्न्यपतत्प्रेम्णा प्रक्लिन्नहृदयेक्षणः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

भरतः—भरत ने; प्राप्तम्—घर वापसी; आकर्ण्य—सुनकर; पौर—सारे नागरिक; अमात्य—सारे मंत्री; पुरोहितैः—सारे पुरोहितों के साथ; पादुके—दो खड़ाऊँ; शिरसि—सिर पर; न्यस्य—रखकर; रामम्—रामचन्द्र को; प्रत्युद्यतः—अगवानी के लिए; अग्रजम्—अपने बड़े भाई; नन्दिग्रामात्—नन्दिग्राम से; स्व-शिबिरात्—अपने खेमे से; गीत-वादित्र—गायन-बाजन; निःस्वनैः—ऐसी ध्वनियों से युक्त; ब्रह्म-घोषेण—वैदिक मंत्रों के उच्चारण की ध्वनि से; च—तथा; मुहुः—सदैव; पठद्भिः—वेदों से पाठ करते हुए; ब्रह्म-वादिभिः—श्रेष्ठ ब्राह्मणों द्वारा; स्वर्ण-कक्ष-पताकाभिः—सुनहरे किनारे वाली झंडियों से अलंकृत; हैमैः—सुनहरे; चित्र-ध्वजैः—चित्रित पताकाओं से; रथैः—रथों से; सत्-अश्वैः—सुन्दर घोड़ों से; रुक्म—सुनहरे; सन्नाहैः—जिरहबख्तर या कवच से; भटैः—सैनिकों से; पुरट-वर्मभिः—सुनहरे कवच से ढका; श्रेणीभिः—जुलूस से; वार-मुख्याभिः—सुन्दर-सुसज्जित वेश्याओं के साथ; भृत्यैः—नौकरों के साथ; च—भी; एव—निस्सन्देह; पद-अनुगैः—पैदल सेना से; पारमेष्ठ्यानि—शाही स्वागत के उपयुक्त अन्य साज-सामान; उपादाय—लेकर; पण्यानि—बहुमूल्य रत्न.; उच्च-अवचानि—विभिन्न मूल्यों वाले; च—भी; पादयोः—भगवान् के चरणकमलों पर; न्यपतत्—गिर पड़े; प्रेम्णा—प्रेम से; प्रक्लिन्न—आर्द्र; हृदय—हृदय; ईक्षणः—आँखें।

जब भरतजी को पता चला कि भगवान् रामचन्द्र अपनी राजधानी अयोध्या लौट रहे हैं तो तुरन्त ही वे भगवान् की खड़ाऊँ अपने सिर पर रखे और नन्दिग्राम स्थित अपने खेमे से बाहर आ गये। भरतजी के साथ मंत्री, पुरोहित, अन्य भद्र नागरिक, मधुर गायन करते पेशेवर गवैये तथा वैदिक मंत्रों का उच्चस्वर से पाठ करने वाले विद्वान ब्राह्मण थे। उनके पीछे जुलूस में रथ थे जिनमें सुन्दर घोड़े जुते थे जिनकी लगामें सुनहरी रस्सियों की थीं। ये रथ सुनहरी किनारी वाली पताकाओं तथा अन्य विविध आकार-प्रकार की पताकाओं से सजाये गये थे। सैनिक सुनहरे कवचों से लैस थे, नौकर पान-सुपारी लिए थे और साथ में अनेक विख्यात सुन्दर वेश्याएँ थीं। अनेक नौकर पैदल चल रह थे और वे छाता, चामर, बहुमूल्य रत्न तथा उपयुक्त विविध राजसी सामान लिए हुए थे। इस तरह प्रेमानन्द से आर्द्र हृदय एवं अश्रुओं से पूरित नेत्रोंवाले भरतजी भगवान् रामचन्द्र के निकट पहुँचे और अत्यन्त भावविभोर होकर उनके चरणकमलों पर गिर गये।

पादुके न्यस्य पुरतः प्राञ्जलिर्बाष्पलोचनः ।
तमाश्लिष्य चिरं दोर्भ्यां स्नापयन्नेत्रजैर्जलैः ॥ ३९ ॥

रामो लक्ष्मणसीताभ्यां विप्रेभ्यो येऽर्हसत्तमाः ।
तेभ्यः स्वयं नमश्चक्रे प्रजाभिश्च नमस्कृतः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

पादुके—दोनों खड़ाओं को; न्यस्य—रखकर; पुरतः—भगवान् रामचन्द्र के सामने; प्राञ्जलिः—हाथ जोड़े; बाष्प-लोचनः—अश्रुपूरित आँखों से; तम्—भरत को; आश्लिष्य—आलिंगन करके; चिरम्—देर तक; दोर्भ्याम्—अपनी दोनों भुजाओं से; स्नापयन्—नहलाते हुए; नेत्र-जैः—नेत्रों से निकलते हुए; जलैः—जल से; रामः—रामचन्द्र; लक्ष्मण-सीताभ्याम्—लक्ष्मण तथा सीता समेत; विप्रेभ्यः—विद्वान ब्राह्मणों को; ये—तथा अन्य जो; अर्ह-सत्तमाः—पूजनीय; तेभ्यः—उनको; स्वयम्—स्वयं; नमः-चक्रे—नमस्कार किया; प्रजाभिः—नागरिकों द्वारा; च—तथा; नमः-कृतः—नमस्कार किया गया।.

भगवान् रामचन्द्र के समक्ष खड़ाओं को रखकर भरतजी आँखों में आँसू भरकर और दोनों हाथ जोड़कर खड़े रहे। भगवान् रामचन्द्र अपनी दोनों भुजाओं में भरत को भरकर दीर्घकाल तक आलिंगन करते रहे और उन्होंने उन्हें अपने आँसुओं से नहला दिया। तत्पश्चात् सीतादेवी तथा लक्ष्मण के साथ रामचन्द्र ने विद्वान ब्राह्मणों तथा परिवार के गुरुजनों को नमस्कार किया। समस्त अयोध्यावासियों ने भगवान् को सादर नमस्कार किया।

धुन्वन्त उत्तरासङ्गान्पतिं वीक्ष्य चिरागतम् ।
उत्तराः कोसला माल्यैः किरन्तो ननृतुर्मुदा ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

धुन्वन्तः—हिलाते हुए; उत्तर-आसङ्गान्—अपने उत्तरीय वस्त्रों को; पतिम्—भगवान् को; वीक्ष्य—देखकर; चिर-आगतम्—वनवास से अनेक वर्षों बाद लौटे; उत्तराः कोसलाः—अयोध्या के नागरिक; माल्यैः किरन्तः—मालाएँ अर्पित करते हुए; ननृतुः—नाचने लगे; मुदा—प्रसन्नता के मारे।.

अयोध्या के नागरिकों ने अपने राजा को दीर्घकाल के बाद लौटे देखकर उन्हें फूल की मालाएँ अर्पित कीं, अपने उत्तरीय वस्त्र (दुपट्टे) हिलाए और वे परम प्रसन्न होकर खूब नाचे।

पादुके भरतोऽगृह्णाच्चामरव्यजनोत्तमे ।
विभीषणः ससुग्रीवः श्वेतच्छत्रं मरुत्सुतः ॥ ४२ ॥
धनुर्निषङ्गाञ्छत्रुघ्नः सीता तीर्थकमण्डलुम् ।
अबिभ्रदङ्गदः खड्गं हैमं चर्मर्क्षराण्नृप ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

पादुके—दोनों खड़ाऊँ; भरतः—भरत; अगृह्णात्—लिये थे; चामर—चँवर; व्यजन—पंखा; उत्तमे—अत्यन्त ऐश्वर्यशाली; विभीषणः—रावण का भाई; स-सुग्रीवः—सुग्रीव के साथ; श्वेत-छत्रम्—सफेद छाता; मरुत्-सुतः—वायुपुत्र हनुमान; धनुः—धनुष; निषङ्गान्—दो तरकसों सहित; शत्रुघ्नः—रामचन्द्र के भाई; सीता—सीतादेवी; तीर्थ-कमण्डलुम्—तीर्थस्थानों के जल से भरा पात्र; अबिभ्रत्—लिये हुए; अङ्गदः—अंगद नामक वानर सेनापति; खड्गम्—तलवार; हैमम्—स्वर्णिम; चर्म—ढाल; ऋक्ष-राट्—ऋक्षराज जाम्बवान्; नृप—हे राजा।.

हे राजा, भरतजी भगवान् राम की खड़ाऊँ लिये थे, सुग्रीव तथा विभीषण चँवर तथा सुन्दर पंखा

लिये थे, हनुमान सफेद छाता लिये हुए थे, शत्रुघ्न धनुष तथा दो तरकस लिए थे तथा सीतादेवी तीर्थस्थानों के जल से भरा पात्र लिए थीं। अंगद तलवार लिए थे और ऋक्षराज जाम्बवान सुनहरी ढाल लिए थे।

पुष्पकस्थो नुतः स्त्रीभिः स्तूयमानश्च वन्दिभिः ।
विरेजे भगवान्राजन्ग्रहैश्चन्द्र इवोदितः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

पुष्पक-स्थः—पुष्पक विमान में आसीन; नुतः—पूजित; स्त्रीभिः—स्त्रियों द्वारा; स्तूयमानः—स्तुति किये गये; च—तथा; वन्दिभिः—बन्दीजनों के द्वारा; विरेजे—शोभायमान हुए; भगवान्—भगवान् रामचन्द्र; राजन्—हे राजा परीक्षित; ग्रहैः—ग्रहों के मध्य; चन्द्रः—चन्द्रमा; इव—सदृश; उदितः—उदित हुआ।

हे राजा परीक्षित, अपने पुष्पक विमान पर बैठे भगवान् रामचन्द्र स्त्रियों द्वारा स्तुति किये जाने पर तथा बन्दीजनों द्वारा गुणगान किये जाने पर ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों तारों तथा ग्रहों के बीच चन्द्रमा हो।

भ्रात्राभिनन्दितः सोऽथ सोत्सवां प्राविशत्पुरीम् ।
प्रविश्य राजभवनं गुरुपत्नीः स्वमातरम् ॥ ४५ ॥
गुरून्वयस्यावरजान्पूजितः प्रत्यपूजयत् ।
वैदेही लक्ष्मणश्चैव यथावत्समुपेयतुः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

भ्रात्रा—अपने भाई (भरत) द्वारा; अभिनन्दितः—स्वागत किये जाकर; सः—उसने, रामचन्द्र ने; अथ—तत्पश्चात्; स-उत्सवाम्—उत्सव के मध्य में; प्राविशत्—प्रवेश किया; पुरीम्—अयोध्या नगरी में; प्रविश्य—प्रवेश करके; राज-भवनम्—राजमहल में; गुरु-पत्नीः—कैकयी तथा अन्य विमाताओं; स्व-मातरम्—अपनी निजी माता (कौशल्या) को; गुरून्—गुरुओं को (श्री वसिष्ठ तथा अन्य); वयस्य—हम उम्र वाले मित्रों को; अवर-जान्—तथा अपने से छोटों को; पूजितः—उनके द्वारा पूजित होकर; प्रत्यपूजयत्—बदले में नमस्कार किया; वैदेही—सीतादेवी; लक्ष्मणः—लक्ष्मण; च एव—तथा; यथा-वत्—उपयुक्त ढंग से; समुपेयतुः—स्वागत किये जाकर महल में घुसे।

तत्पश्चात् अपने भाई भरत द्वारा स्वागत किये जाकर भगवान् रामचन्द्र एक उत्सव के बीच अयोध्या नगरी में प्रविष्ट हुए। जब वे महल में घुसे तो उन्होंने कैकेयी तथा महाराज दशरथ की अन्य पत्नी एवं अपनी माता कौशल्या—इन सभी माताओं को नमस्कार किया। उन्होंने अपने गुरुओं को, यथा वसिष्ठ को भी प्रणाम किया। उनके हमउम्र मित्रों तथा उनसे कम आयु वाले मित्रों ने उनकी पूजा की तो उन्होंने भी उनका अभिवादन किया। लक्ष्मण तथा सीतादेवी ने भी वैसा ही किया। इस प्रकार

वे सभी महल में प्रविष्ट हुए।

पुत्रान्स्वमातरस्तास्तु प्राणांस्तन्व इवोत्थिताः ।
आरोप्याङ्केऽभिषिञ्चन्त्यो बाष्पौघैर्विजहुः शुचः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

पुत्रान्—पुत्रों को; स्व-मातरः—अपनी माताएँ; ताः—वे, कौशल्या तथा कैकेयी; तु—लेकिन; प्राणान्—प्राण; तन्वः—शरीर; इव—सदृश; उत्थिताः—उठकर; आरोप्य—लेकर; अङ्के—गोद में; अभिषिञ्चन्त्यः—अपने पुत्रों के शरीरों को तर करते हुए; बाष्प—आँसुओं से; ओघैः—लगातार गिराते; विजहुः—बन्द कर दिया; शुचः—अपने पुत्रों के वियोग से जनित शोक।

अपने पुत्रों को देखकर राम, लक्ष्मण भरत तथा शत्रुघ्न की माताएँ तुरन्त उठ खड़ी हुई मानो निश्चेष्ट शरीर में चेतना आ गई हो। माताओं ने अपने पुत्रों को अपनी गोदों में भर लिया और उन्हें आँसुओं से नहलाकर अपने दीर्घकालीन विछोह के सन्ताप से छुटकारा पा लिया।

जटा निर्मुच्य विधिवत्कुलवृद्धैः समं गुरुः ।
अभ्यषिञ्चद्यथैवेन्द्रं चतुःसिन्धुजलादिभिः ॥ ४८॥

शब्दार्थ

जटाः—सिर पर बढ़ी जटा; निर्मुच्य—मुँड़वाकर, साफ करवा कर; विधि-वत्—विधि-विधान के अनुसार; कुल-वृद्धैः—परिवार के गुरुजनों के; समम्—साथ; गुरुः—गुरु वसिष्ठ ने; अभ्यषिञ्चत्—भगवान् रामचन्द्र का अभिषेक किया; यथा—जिस तरह; एव—सदृश; इन्द्रम्—इन्द्र को; चतुः-सिन्धु-जल—चारों समुद्रों का जल; आदिभिः—स्नान की अन्य सामग्रियों से।

कुलगुरु वसिष्ठ ने भगवान् रामचन्द्र के सिर की जटाएँ मुँड़वा दीं। तत्पश्चात् कुल के गुरुजनों के सहयोग से उन्होंने चारों समुद्रों के जल तथा अन्य सामग्रियों के द्वारा भगवान् रामचन्द्र का अभिषेक उसी तरह सम्पन्न किया जिस तरह राजा इन्द्र का हुआ था।

एवं कृतशिरःस्नानः सुवासाः स्रग्व्यलङ्कृतः ।
स्वलङ्कृतैः सुवासोभिर्भ्रातृभिर्भार्यया बभौ ॥ ४९॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; कृत-शिरः-स्नानः—सिर धोकर पूरी तरह स्नान कर चुकने के बाद; सु-वासाः—अच्छे वस्त्र पहने; स्रग्वि-अलङ्कृतः—माला से अलंकृत होकर; सु-अलङ्कृतैः—भलीभाँति सजकर; सु-वासोभिः—सुन्दर वस्त्रों से अलंकृत; भ्रातृभिः—अपने भाइयों सहित; भार्यया—अपनी पत्नी सीता समेत; बभौ—भगवान् अत्यन्त तेजोमय बन गये।

भलीभाँति स्नान करके तथा अपना सिर घुटा करके भगवान् रामचन्द्र ने अपने आपको सुन्दर वस्त्रों से सज्जित और एक माला तथा आभूषणों से अलंकृत किया। इस प्रकार वे अपने ही समान वस्त्र तथा आभूषण धारण किये अपने भाइयों तथा पत्नी के साथ अत्यन्त तेजोमय लग रहे थे।

अग्रहीदासनं भ्रात्रा प्रणिपत्य प्रसादितः ।
प्रजाः स्वधर्मनिरता वर्णाश्रमगुणान्विताः ।
जुगोप पितृवद्रामो मेनिरे पितरं च तम् ॥५०॥

शब्दार्थ

अग्रहीत्—स्वीकार किया; आसनम्—राजसिंहासन; भ्रात्रा—अपने भाई (भरत) द्वारा; प्रणिपत्य—पूर्णतया उनकी शरण में जाकर; प्रसादितः—प्रसन्न होकर; प्रजाः—तथा प्रजा; स्व-धर्म-निरताः—अपने-अपने वृत्तिपरक कार्यों में संलग्न; वर्णाश्रम—वर्ण तथा आश्रम के अनुसार; गुण-अन्विताः—गुणों से पूरित; जुगोप—भगवान् ने उनकी रक्षा की; पितृ-वत्—पिता की भाँति; रामः—रामचन्द्र ने; मेनिरे—उन्होंने माना; पितरम्—पिता के तुल्य; च—भी; तम्—उनको, रामचन्द्रजी को।

तब भरत की पूर्ण शरणागति से प्रसन्न होकर भगवान् रामचन्द्र ने राजसिंहासन स्वीकार किया। वे प्रजा की रक्षा पिता की भाँति करने लगे और प्रजा ने भी वर्ण तथा आश्रम के अनुसार अपने-अपने वृत्तिपरक कार्यों में लगकर उन्हें पितृतुल्य स्वीकार किया।

तात्पर्य : लोगों को रामराज्य जैसी व्यवस्था प्रिय है और आज भी राजनीतिक लोग कभी कभी रामराज्य नामक दल बना लेते है, किन्तु दुर्भाग्यवश उन्हें भगवान् राम में कोई श्रद्धा नहीं है। कभी-कभी कहा जाता है कि लोग ईशविहीन ईश-राज्य चाहते है। किन्तु ऐसी महत्त्वाकांक्षा कभी पूरी होने वाली नहीं है। अच्छी सरकार तभी विद्यमान रह सकती है जब नागरिकों तथा सरकार के मध्य वैसा ही सम्बन्ध हो जैसा कि रामचन्द्र तथा उनके नागरिकों ने प्रस्तुत किया। भगवान् रामचन्द्र ने अपने साम्राज्य पर वैसा ही शासन किया जिस तरह पिता अपनी सन्तान का पालन करता है और नागरिकों ने भी रामचन्द्र जी की अच्छी सरकार से कृतज्ञ होकर उन्हें पितृतुल्य मान लिया। नागरिकों तथा सरकार के मध्य पिता-पुत्र का सा सम्बन्ध होना चाहिए। जब परिवार में पुत्र अच्छा प्रशिक्षण पाते है तो वे माता-पिता के आज्ञाकारी होते है और जब पिता योग्य होता है तो वह सन्तानों की अच्छी देखभाल करता है। जैसा कि *स्वधर्मनिरता वर्णाश्रम गुणान्विताः* शब्दों से सूचित होता है, लोग अच्छे नागरिक थे क्योंकि उन्होंने वर्ण तथा आश्रम व्यवस्था स्वीकार की थी जिसके अनुसर समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र नाम के चार वर्ण तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास नामक चार आश्रम होते है। यह वास्तविक मानव-सभ्यता है। लोगों को विभिन्न वर्णाश्रम धर्मों के अनुसार प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। जैसा कि *भगवद्गीता* (४.१३) में पुष्टि की गई है— *चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः*—चार वर्णों की स्थापना भिन्न गुणों एवं कर्म के अनुसार की जानी चाहिए। अच्छी सरकार का पहला सिद्धान्त यह होना चाहिए कि वह इस वर्णाश्रम प्रणाली को लागू

करे। वर्णाश्रम का उद्देश्य लोगों को ईशभावनाभावित होन के लिए प्रेरित करना है। *वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् विष्णुराराध्यते।* समूची वर्णाश्रम प्रणाली लोगों को वैष्णव बनाने में समर्थ होने के लिए है। *विष्णुरस्य देवता।* जब लोग विष्णु को भगवान् मानकर पूजते है तो वे वैष्णव बनते है। अतएव लोगों को उसी तरह से वर्णाश्रम प्रणाली के माध्यम से वैष्णव बनने के लिए शिक्षा दी जानी चाहिए जिस तरह रामचन्द्रजी के राज्यकाल में प्रत्येक मनुष्य को वर्णाश्रम प्रणाली का पालन करने के लिए शिक्षित किया जाता था।

मात्र कानूनों और अध्यादेशों के बल पर नागरिकों को आज्ञाकारी और कानून पालक नहीं बनाया जा सकता। यह असम्भव है। विश्वभर में न जाने कितने राज्य, विधान सभाएँ तथा संसदें है, फिर भी लोग चोर तथा उचक्के है। अतएव अच्छी नागरिकता लादी नहीं जा सकती अपितु नागरिकों को प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। जिस तरह केमिकल इंजीनियर, वकील या अन्य ज्ञान के विभागों में विशेषज्ञ बनने के लिए छात्रों के प्रशिक्षणार्थ स्कूल तथा कालेज होते है उसी प्रकार विद्यार्थियों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी बनने की शिक्षा देने के लिए स्कूल तथा कालेज होने चाहिए। इससे अच्छी नागरिकता की प्रारम्भिक शर्त पूरी होगी (*वर्णाश्रम गुणान्विताः*)। सामान्य रूप से यदि राजा या राष्ट्रपति राजर्षि होता है तो प्रजा तथा मुख्य कार्यकारी के मध्य का सम्बन्ध स्पष्ट हो जायेगा और राज्य में किसी बिगाड़ की सम्भावना नहीं रहेगी क्योंकि चोर-उचक्कों की संख्या घट जायेगी। किन्तु कलियुग में वर्णाश्रम प्रणाली की उपेक्षा के कारण लोग सामान्यतया चोर और उचक्के हो जाते है। प्रजातांत्रिक प्रणाली में ऐसे चोर तथा उचक्के अन्य चोर-उचक्कों से पैसा इकट्ठा करते है जिससे हर सरकार में अव्यवस्था रहती है और कोई भी सुखी नहीं रहता। किन्तु भगवान् रामचन्द्र के राज्य में अच्छी सरकार का उदाहरण मिलता है। यदि लोग इस उदाहरण का अनुसरण करें तो सारे विश्व में अच्छी सरकार बन जायेगी।

त्रेतायां वर्तमानायां कालः कृतसमोऽभवत् ।
रामे राजनि धर्मज्ञे सर्वभूतसुखावहे ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

त्रेतायाम्—त्रेतायुग में; वर्तमानायाम्—यद्यपि उस काल में स्थित; कालः—समय; कृत—सत्ययुग; समः—समान; अभवत्—हुआ; रामे—रामचन्द्र की उपस्थिति के कारण; राजनि—राजा के रूप में; धर्म-ज्ञे—धार्मिक; सर्व-भूत—सारे जीवों को; सुख-आवहे—पूर्ण सुख देते हुए।

भगवान् रामचन्द्र त्रेतायुग में राजा बने थे, किन्तु उनकी सरकार अच्छी होने से वह युग सत्ययुग जैसा था। प्रत्येक व्यक्ति धार्मिक एवं पूर्ण सुखी था।

तात्पर्य : चारों युगों में से कलियुग सबसे निकृष्ट है, किन्तु यदि वर्णाश्रम धर्म की विधि लागू कर दी जाय तो इस कलियुग में भी सत्ययुग जैसी परिस्थिति लाई जा सकती है। हरे कृष्ण आन्दोलन या कृष्णभावनामृत आन्दोलन इसी प्रयोजन के निमित्त है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।

कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्।

"हे राजन! यद्यपि कलियुग दोषों से पूर्ण है फिर भी इस युग में एक उत्तम गुण यह है कि केवल हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करके मनुष्य भवबन्धन से छूट सकता है और दिव्य धाम को जा सकता है।" (*भागवत* १२.३.५१) यदि लोग 'हरे कृष्ण हरे राम' कीर्तन के इस आन्दोलन को स्वीकार कर लें तो वे अवश्य ही कलियुग के कल्मष से मुक्त हो जायेंगे और इस युग के लोग सत्ययुग जैसे ही सुखी हो सकेंगे। कोई भी व्यक्ति कहीं भी रहकर इस हरे कृष्ण आन्दोलन को ग्रहण कर सकता है; उसे केवल हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करना, विधि-विधानों को मानना तथा पापी जीवन के कल्मष से मुक्त होना होगा। यदि कोई पापी जीवन को तुरन्त नहीं छोड़ सकता किन्तु यदि वह भक्ति तथा श्रद्धापूर्वक हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करता है तो वह अवश्य ही सारे पापमय कर्मों से छूट जायेगा और उसका जीवन सफल हो जायेगा। *परं विजयते श्रीकृष्णसङ्कीर्तनम्।* यह भगवान् रामचन्द्र का आशीष है कि वे इस कलियुग में गौरसुन्दर रूप में प्रकट हुए है।

वनानि नद्यो गिरयो वर्षाणि द्वीपसिन्धवः ।
सर्वे कामदुघा आसन्प्रजानां भरतर्षभ ॥५२॥

शब्दार्थ

वनानि—सारे वन; नद्यः—नदियाँ; गिरयः—पर्वत; वर्षाणि—राज्य या पृथ्वी के विभिन्न भाग; द्वीप—द्वीप; सिन्धवः—सागर; सर्वे—ये सारे; काम-दुघाः—अपने-अपने ऐश्वर्यो से पूरित; आसन्—थे; प्रजानाम्—सारे जीवों का; भरत-ऋषभ—हे भरतवंश में श्रेष्ठ महाराज परीक्षित।

हे भरतश्रेष्ठ महाराज परीक्षित, भगवान् रामचन्द्र के राज में सारे वन, नदियाँ, पर्वत, राज्य, सातों द्वीप तथा सातों समुद्र सारे जीवों को जीवन की आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करने के लिए अनुकूल थे।

नाधिव्याधिजराग्लानिदु:खशोकभयक्लमाः ।
मृत्युश्चानिच्छतां नासीद्रामे राजन्यधोक्षजे ॥५३॥

शब्दार्थ

न—नहीं; आधि—आध्यात्मिक, अधिभौतिक तथा अधिदैविक कष्ट (अर्थात् शरीर तथा मन के, अन्य जीवों द्वारा पहुँचाये गये तथा प्रकृति द्वारा प्रदत्त कष्ट); व्याधि—रोग; जरा—बुढ़ापा; ग्लानि—विछोह; दु:ख—कष्ट; शोक—पश्चाताप; भय—डर; क्लमाः—थकावट; मृत्युः—मरण; च—भी; अनिच्छताम्—न चाहने वालों का; न आसीत्—नहीं था; रामे—भगवान् रामचन्द्र के शासन में; राजनि—राजा होने के कारण; अधोक्षजे—भगवान्, जो इस जगत से परे है।

जब भगवान् रामचन्द्र इस जगत के राजा थे तो सारे शारीरिक तथा मानसिक कष्ट, रोग, बुढ़ापा, विछोह, पश्चाताप, दुख, डर तथा थकावट का नामोनिशान न था। यहाँ तक कि न चाहने वालों के लिए मृत्यु भी नहीं थी।

तात्पर्य : इतनी सारी सुविधाएँ इसलिए विद्यमान थीं क्योंकि भगवान् रामचन्द्र सम्पूर्ण जगत के राजा थे। ऐसी ही परिस्थिति इस कलियुग में भी तुरन्त लागू की जा सकती है, भले ही यह युग समस्त युगों में निकृष्ट क्यों न हो। कहा गया है कि—*कलिकाले नामरूपे कृष्ण अवतार*—कृष्णजी इस कलियुग में केवल अपने पवित्र नाम—हरे कृष्ण हरे राम के रूप में अवतरित होते है। यदि हम अपराधरहित होकर कीर्तन करें तो इस युग में राम तथा कृष्ण अब भी उपस्थित है। रामराज्य अत्यधिक लोकप्रिय एवं लाभदायक था और इस कलियुग में भी इस हरे कृष्ण आन्दोलन के प्रसार से वैसी ही परिस्थिति तुरन्त लाई जा सकती है।

एकपत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः ।
स्वधर्मं गृहमेधीयं शिक्षयन्स्वयमाचरत् ॥५४॥

शब्दार्थ

एक-पत्नी-व्रत-धरः—दूसरी पत्नी स्वीकार न करने का अथवा किसी अन्य स्त्री से कोई सम्बन्ध न रखने का व्रत लेकर; राज-ऋषि—साधु-राजा की तरह; चरितः—जिसका चरित्र; शुचिः—शुद्ध; स्व-धर्मम्—अपने वृत्तिपरक कार्य को; गृह-मेधीयम्—गृहस्थ जीवन बिताने वाले पुरुषों को; शिक्षयन्—शिक्षा देते हुए (अपने आचरण से); स्वयम्—स्वयं; आचरत्—अपना कर्तव्य निभाया।

भगवान् रामचन्द्र ने एक पत्नी रखने का तथा किसी अन्य स्त्री से सम्बन्ध न रखने का व्रत ले रखा था। वे एक साधु राजा थे और उनका चरित्र उत्तम था; क्रोध उन्हें छू तक नहीं गया था। उन्होंने हर एक को, विशेष रूप से गृहस्थों को वर्णाश्रम धर्म के रूप में सदाचरण का पाठ पढ़ाया। इस तरह उन्होंने अपने निजी कार्यकलापों से सामान्य जनता को शिक्षा दी।

तात्पर्य : श्री रामचन्द्रजी ने एक-पत्नीव्रत का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किया। लोगों को एक से अधिक

पत्नी नहीं बनानी चाहिए। उन दिनों लोग एक से अधिक पत्नी से विवाह करते थे। यहाँ तक कि श्री रामचन्द्रजी के पिता के भी एक से अधिक पत्नियाँ थीं, किन्तु भगवान् रामचन्द्र ने आदर्श राजा के रूप में केवल एक पत्नी—सीतादेवी—को स्वीकार किया। जब रावण तथा अन्य राक्षसों के द्वारा सीताजी का अपहरण हो गया था तो भगवान् रामचन्द्र चाहते तो हजारों सीताओं से ब्याह कर सकते थे, किन्तु हमें यह शिक्षा देने के लिए कि वे अपनी पत्नी के प्रति कितने निष्ठावान थे उन्होंने रावण से युद्ध किया और अन्त में उसे मार डाला। उन्होंने रावण को दण्ड दिया और अपनी पत्नी की रक्षा लोगों को यह शिक्षा देने के लिए की कि वे एक-पत्नीव्रत बनें। भगवान् रामचन्द्रजी ने केवल एक पत्नी स्वीकार की और आदर्श चरित्र प्रकट किया। इस तरह उन्होंने गृहस्थों के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत किया। गृहस्थों को चाहिए कि भगवान् रामचन्द्र के आदर्श के अनुसार जीवन बितायें जिन्होंने यह दिखलाया कि किस तरह पूर्ण व्यक्ति बना जाय। गृहस्थ होकर या पत्नी तथा बच्चों के साथ रहने की कभी भर्त्सना नहीं की जाती बशर्ते कि वर्णाश्रम धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार जीवन व्यतीत किया जाय। जो लोग इन सिद्धान्तों के अनुसार जीवन बिताते है, वे चाहे गृहस्थ हों या ब्रह्मचारी अथवा वानप्रस्थ, सभी समान रूप से महत्त्वपूर्ण है।

प्रेम्णानुवृत्त्या शीलेन प्रश्रयावनता सती ।
भिया ह्रिया च भावज्ञा भर्तुः सीताहरन्मनः ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

प्रेम्णा अनुवृत्त्या—प्रेम तथा श्रद्धापूर्वक पति की सेवा करने के कारण; शीलेन—ऐसे उत्तम आचरण के द्वारा; प्रश्रय-अवनता—सदैव पति के प्रति विनीत एवं उसे संतुष्ट करने के लिए तैयार; सती—सती साध्वी; भिया—भयभीत होने के कारण; ह्रिया—लज्जा से; च—भी; भाव-ज्ञा—(पति के) भाव को समझकर; भर्तुः—अपने पति के; सीता—सीतादेवी ने; अहरत्—मोहित कर लिया; मनः—मन को।

सीतादेवी अत्यन्त विनीत, आज्ञाकारिणी, लज्जालु तथा सती थीं और सदा अपने पति के भाव को समझने वाली थीं। इस प्रकार अपने चरित्र एवं प्रेम तथा सेवा से वे भगवान् के मन को पूरी तरह मोह सकीं।

तात्पर्य : जिस तरह भगवान् राम आदर्श पति है (एकपत्नीव्रत) उसी तरह माता सीता आदर्श पत्नी है। ऐसे संयोग से पारिवारिक जीवन अत्यन्त सुखी बन जाता है। *यद् यद् आचरति श्रेष्ठस्तत् तदेवेतरो जनः*—महापुरुष जो भी उदाहरण प्रस्तुत करते है, सामान्य लोग उसी का अनुसरण करते है। यदि राजा, नेता तथा

ब्राह्मण शिक्षक, वैदिक साहित्य से प्राप्त उदाहरण प्रस्तुत करें तो सारा जगत स्वर्ग बन जाये। निस्सन्देह, इस जगत से नारकीय दशाओं का नामोनिशान मिट जाय।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध के अन्तर्गत ''परम भगवान् रामचन्द्र की लीलाएँ'' नामक दसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter ग्यारह

भगवान् रामचन्द्र का विश्व पर राज्य करना

इस अध्याय में बताया गया है कि भगवान् रामचन्द्र किस तरह अपने छोटे भाइयों सहित अयोध्या में रहे और उन्होंने किस तरह विभिन्न यज्ञों को सम्पन्न किया।

भगवान् रामचन्द्र ने अपनी पूजा करने वाले अनेक यज्ञ सम्पन्न किये और इन यज्ञों के अन्त में उन्होंने होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा पुरोहितों को दान में भूमि दी। उन्होंने उन्हें क्रमशः पूर्वी, पश्चिमी, उत्तरी तथा दक्षिणी दिशाएँ दे दीं और जो शेष रहा उसे आचार्य को दे दिया। सभी ब्राह्मणों ने भगवान् राम की ब्राह्मणों में श्रद्धा तथा अपने दासों के प्रति उनके वात्सल्य को देखा; अतएव उन्होंने भगवान् की स्तुति की और जो कुछ भी दान में उनसे लिया था उसे लौटा दिया। उन्होंने भगवान् द्वारा दिये गये ज्ञान को हृदय से स्वीकार किया तथा उसे ही पर्याप्त दान समझा। तब भगवान् सामान्य पुरुष का वेश बनाकर अपने प्रति लोगों की धारणा जानने के उद्देश्य से अपनी राजधानी में घूमने लगे। अकस्मात् एक रात उन्होंने एक व्यक्ति को अपनी पत्नी से बातें करते सुना जो पराये पुरुष के घर गई थी। उस व्यक्ति ने अपनी पत्नी को डाँटते हुए सीतादेवी के चरित्र पर सन्देह व्यक्त किया। भगवान् तुरन्त ही घर लौट आये और ऐसे लोकापवादों से डरकर उन्होंने सीतादेवी का संग ऊपरी मन से त्यागने का निश्चय किया। इस तरह उन्होंने सीतादेवी को वनवास दे दिया। वे गर्भिणी थीं अतएव उन्होंने वाल्मीकि मुनि के आश्रम में शरण ली जहाँ उनके जुड़वाँ पुत्र लव तथा कुश उत्पन्न हुए। अयोध्या में लक्ष्मण के दो पुत्र उत्पन्न हुए—अंगद तथा चित्रकेतु। इसी तरह भरत के तक्ष तथा पुष्कल और शत्रुघ्न के भी दो पुत्र सुबाहु तथा श्रुतसेन उत्पन्न हुए। जब भगवान् रामचन्द्र की ओर से भरत विभिन्न देशों पर विजय प्राप्त करने के लिए गये तो वे लाखों गन्धर्वों से लड़े। उन्हें युद्ध में मारकर उन्होंने अपार सम्पत्ति प्राप्त की जिसे वे घर ले आये। शत्रुघ्न ने मधुवन में लवण नामक असुर को मारा और मथुरा को राजधानी बनाया। तभी सीतादेवी अपने दोनों पुत्रों को वाल्मीकि के संरक्षण में छोड़कर पृथ्वी में समा गईं। यह समाचार पाकर रामचन्द्रजी अत्यन्त दुखी हुए और उन्होंने तेरह हजार वर्षों तक यज्ञ किया। इस तरह शुकदेव गोस्वामी भगवान् रामचन्द्र के तिरोधान की लीला का वर्णन करके और यह सिद्ध करके कि भगवान् केवल अपनी लीलाओं के लिए प्रकट होते हैं इस अध्याय का समापन रामचन्द्र के

कार्यकलापों के सुनने का फल बताकर और भगवान् के द्वारा प्रजा की रक्षा तथा अपने भाइयों के प्रति प्रेम-प्रदर्शन के वर्णन से करते हैं।

श्रीशुक उवाच
भगवानात्मनात्मानं राम उत्तमकल्पकैः ।
सर्वदेवमयं देवमीजेऽथाचार्यवान्मखैः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; भगवान्—भगवान्; आत्मना—अपने आप; आत्मानम्—स्वयं को; रामः—रामचन्द्र; उत्तम-कल्पकैः—अत्यन्त श्रेष्ठ साज-सामान से; सर्व-देव-मयम्—सारे देवताओं के आत्मा स्वरूप; देवम्—भगवान् ने स्वयं की; ईजे—पूजा की; अथ—इस प्रकार; आचार्यवान्—आचार्यों के मार्गदर्शन में; मखैः—यज्ञों को सम्पन्न करके।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : तत्पश्चात् भगवान् रामचन्द्र ने एक आचार्य स्वीकार करके श्रेष्ठ साज समान सहित बड़ी धूमधाम से यज्ञ सम्पन्न किये। इस तरह उन्होंने स्वयं ही अपनी पूजा की क्योंकि वे सभी देवताओं के परमेश्वर हैं।

तात्पर्य : *सर्वार्हणम् अच्युतेज्या*—यदि अच्युत पूजे जाते हैं तो हर एक की पूजा हो जाती है। जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में (४.३१.१४) में कहा गया है—

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।

प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥

"जिस तरह वृक्ष की जड़ को सींचने से तना, डालें तथा पत्तियों को जीवनदान मिलता है और जिस तरह उदर को भोजन देने से शरीर की इन्द्रियाँ तथा अंग-प्रत्यंग जीवित रहते हैं उसी प्रकार भगवान् की पूजा से भगवान् के अंश रूप देवता प्रसन्न होते हैं।" यज्ञ सम्पन्न करने का अर्थ है भगवान् की पूजा करना। यहाँ पर भगवान् ने भगवान् की पूजा की। अतएव कहा गया है— *भगवान् आत्मनात्मानम् ईजे*—भगवान् ने अपने द्वारा अपनी पूजा की। किन्तु इससे इस मायावाद दर्शन की पुष्टि नहीं होती जिसके अनुसार मनुष्य अपने को भगवान् मानता है। जीव भगवान् से सदैव भिन्न होता है। विभिन्नांश कभी भी भगवान् नहीं होते यद्यपि कभी-कभी मायावादी भगवान् द्वारा की गई अपनी पूजा का अनुकरण करते हैं। भगवान् कृष्ण हर प्रातः गृहस्थ के रूप में अपने आप का ध्यान करते थे और इसी तरह भगवान् रामचन्द्र ने स्वयं को तुष्ट करने के लिए यज्ञ सम्पन्न किये। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि सामान्य व्यक्ति *अहंग्रह उपासना* विधि के

अनुसार भगवान् का अनुकरण करे। यहाँ पर ऐसी अवैध पूजा की संस्तुति नहीं की गई।

होत्रेऽददाद्दिशं प्राचीं ब्रह्मणे दक्षिणां प्रभुः ।
अध्वर्यवे प्रतीचीं वा उत्तरां सामगाय सः ॥ २॥

शब्दार्थ

होत्रे—आहुति डालने वाले, होता पुरोहित को; अददात्—दे डाला; दिशम्—दिशा; प्राचीम्—समस्त पूर्व दिशा; ब्रह्मणे—ब्रह्मा पुरोहित को, जो यज्ञशाला में होने वाले कृत्यों का निरीक्षण करता है; दक्षिणाम्—दक्षिण दिशा; प्रभुः—भगवान् रामचन्द्र ने; अध्वर्यवे—अध्वर्यु पुरोहित को; प्रतीचीम्—पश्चिम दिशा; वा—भी; उत्तराम्—उत्तर दिशा; साम-गाय—उद्गाता पुरोहित को जो सामवेद का गान करता है; सः—उन्होंने (रामचन्द्र ने)।

भगवान् रामचन्द्र ने होता पुरोहित को सम्पूर्ण पूर्व दिशा, ब्रह्मा पुरोहित को सम्पूर्ण दक्षिण दिशा, अध्वर्यु पुरोहित को पश्चिम दिशा और सामवेद के गायक उद्गाता पुरोहित को उत्तर दिशा दे दी। इस प्रकार उन्होंने अपना सारा साम्राज्य दे डाला।

आचार्याय ददौ शेषां यावती भूस्तदन्तरा ।
मन्यमान इदं कृत्स्नं ब्राह्मणोऽर्हति निःस्पृहः ॥ ३॥

शब्दार्थ

आचार्याय—आचार्य या गुरु को; ददौ—दे डाला; शेषाम्—शेष बची हुई; यावती—जो भी; भूः—पृथ्वी; तत्-अन्तरा—चारों दिशाओं के बीच में स्थित; मन्यमानः—सोचते हुए; इदम्—यह सब; कृत्स्नम्—पूर्णतया; ब्राह्मणः—ब्राह्मणजन; अर्हति—पाने के योग्य हैं; निःस्पृहः—इच्छा न रखने वाले।

तत्पश्चात् यह सोचकर कि ब्राह्मण लोग निष्काम होते हैं अतएव उन्हें ही सारे जगत का स्वामी होना चाहिए, भगवान् रामचन्द्र ने पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण के बीच की भूमि आचार्य को दे दी।

इत्ययं तदलङ्कारवासोभ्यामवशेषितः ।
तथा राज्ञ्यपि वैदेही सौमङ्गल्यावशेषिता ॥ ४॥

शब्दार्थ

इति—इस तरह से (ब्राह्मणों को सर्वस्व देने के बाद); अयम्—भगवान् रामचन्द्र; तत्—उनके; अलङ्कार-वासोभ्याम्—अपने निजी आभूषणों तथा वस्त्रों सहित; अवशेषितः—शेष; तथा—और; राज्ञी—रानी (सीतादेवी); अपि—भी; वैदेही—राजा विदेह की पुत्री; सौमङ्गल्या—केवल नथुनी से युक्त; अवशेषिता—शेष रही।

ब्राह्मणों को सर्वस्व दान देने के बाद भगवान् रामचन्द्र के पास केवल उनके निजी वस्त्र तथा आभूषण बचे रहे और इसी तरह रानी सीतादेवी के पास उनकी नथुनी के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं

रहा।

ते तु ब्राह्मणदेवस्य वात्सल्यं वीक्ष्य संस्तुतम् ।
प्रीता: क्लिन्नधियस्तस्मै प्रत्यर्प्येदं बभाषिरे ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

ते—वे होता, ब्रह्मा तथा अन्य पुरोहित; तु—लेकिन; ब्राह्मण-देवस्य—ब्राह्मणों को अत्यन्त प्रेम करने वाले भगवान् रामचन्द्र का; वात्सल्यम्—पितृतुल्य स्नेह; वीक्ष्य—देखकर; संस्तुतम्—स्तुति की; प्रीता:—प्रसन्न होकर; क्लिन्न-धिय:—द्रवित हृदय वाले; तस्मै—उनको (रामचन्द्रजी को); प्रत्यर्प्य—लौटाते हुए; इदम्—यह प्राप्त हुई सारी भूमि; बभाषिरे—बोले।

यज्ञकार्य में संलग्न सारे ब्राह्मण भगवान् रामचन्द्र से अत्यधिक प्रसन्न हुए क्योंकि वे ब्राह्मणों के प्रति अत्यन्त वत्सल एवं अनुकूल थे। अत: उन्होंने द्रवित होकर दान में प्राप्त सारी सम्पत्ति उन्हें लौटा दी और इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि प्रजा दृढ़ता के साथ वर्णाश्रम धर्म का पालन करती थी। ब्राह्मण लोग ब्राह्मणों की भाँति ठीक तरह से कर्म करते थे और क्षत्रियजन बिल्कुल क्षत्रियों की तरह, इत्यादि। अतएव जब भगवान् रामचन्द्र ने ब्राह्मणों को दान में अपना सर्वस्व दे डाला तो योग्य तथा चतुर ब्राह्मणों ने विचार किया कि ब्राह्मण समुदाय सम्पत्ति प्राप्त करके उससे लाभ कमाने के लिए नहीं बना है। ब्राह्मणों के गुण *भगवद्गीता* (१८.४२) में दिये गये हैं—

शमो दमस्तप: शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

"शान्त स्वभाव, आत्मसंयम, तपस्या, शुद्धता, सहनशीलता, ईमानदारी, ज्ञान, बुद्धिमत्ता तथा धार्मिकता—ये गुण हैं जिनके द्वारा ब्राह्मण कर्म करते हैं।" ब्राह्मणों के चरित्र में भूस्वामी बनने तथा प्रजा पर शासन करने के लिए कोई गुंजायश नहीं है—ये तो क्षत्रियों के कर्म हैं। अतएव भले ही ब्राह्मणों ने भगवान् रामचन्द्र द्वारा प्रदत्त दान को अस्वीकार न किया हो, किन्तु स्वीकार करने के बाद उन्होंने उसे राजा को लौटा दिया। ब्राह्मण समुदाय अपने प्रति भगवान् के वात्सल्य से इतना प्रसन्न था कि उनके हृदय द्रवित हो उठे। उन्होंने देखा कि श्रीराम, भगवान् होने के अतिरिक्त, योग्य क्षत्रिय थे और उनका चरित्र आदर्श था। क्षत्रिय का एक गुण है दानशीलता। क्षत्रिय या शासक प्रजा से जो कर वसूल करता है वह अपनी निजी इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं करता अपितु सुपात्रों को दान देने के लिए करता है। *दानम् ईश्वरभाव: ।* एक ओर क्षत्रियों में

शासन करने की प्रबल प्रवृत्ति रहती है, किन्तु दूसरी ओर वे अत्यन्त उदार दानी होते हैं। जब महाराज युधिष्ठिर दान देते तो वे दान वितरण करने का कार्य कर्ण को सौंपते थे। कर्ण दाता कर्ण के रूप में विख्यात थे। *दाता* शब्द अत्यन्त उदार भाव से दान देने वाले का सूचक है। राजा लोग प्रचुर मात्रा में अन्न का संग्रह करते थे और जब भी अकाल पड़ता तो वे अन्न का दान देते थे। क्षत्रिय का कर्तव्य है कि वह दान दे और ब्राह्मण का कर्तव्य है कि दान ले, किन्तु शरीर-निर्वाह से अधिक मात्रा में नहीं। अतएव जब भगवान् ने ब्राह्मणों को इतनी अधिक भूमि दान में दे दी तो उन्होंने उसे लौटा दिया क्योंकि वे लालची नहीं थे।

अप्रत्तं नस्त्वया किं नु भगवन्भुवनेश्वर ।
यन्नोऽन्तर्हृदयं विश्य तमो हंसि स्वरोचिषा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अप्रत्तम्—न दी हुई; नः—हमको; त्वया—आपके द्वारा; किम्—क्या; नु—निस्सन्देह; भगवन्—हे भगवान्; भुवन-ईश्वर—हे सम्पूर्ण जगत के स्वामी; यत्—क्योंकि; नः—हमारा; अन्तः-हृदयम्—हृदय के भीतर; विश्य—प्रवेश कर; तमः—अज्ञान का अंधकार; हंसि—तुम नष्ट करते हो; स्व-रोचिषा—अपने तेज से।

हे प्रभु, आप सारे विश्व के स्वामी हैं। आपने हमें क्या नहीं दिया है? आपने हमारे हृदयों में प्रवेश करके अपने तेज से हमारे अज्ञान के अंधकार को दूर किया है। यही सबसे बड़ा उपहार है। हमें भौतिक दान की आवश्यकता नहीं है।

तात्पर्य : जब ध्रुव महाराज को भगवान् द्वारा वर दिया जा रहा था तो उन्होंने कहा, "हे प्रभु! मैं पूर्णरूपेण संतुष्ट हूँ। मुझे किसी प्रकार के भौतिक वर की आवश्यकता नहीं है।" इसी प्रकार जब प्रह्लाद महाराज को नृसिंहदेव वर दे रहे थे तो उन्होंने भी उसे लेने से मनाकर दिया और यह घोषित किया कि भक्त को उस वणिक अर्थात् बनिये की तरह नहीं होना चाहिए जो किसी लाभ के बदले कोई चीज देता है। जो व्यक्ति किसी लाभ के लिए भक्त बनता है वह शुद्ध भक्त नहीं है। भगवान् सदा से ब्राह्मणों को उनके हृदय में प्रकाश देते रहे हैं। (*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनम् च*)। चूँकि ब्राह्मण तथा वैष्णव सदा से भगवान् से मार्गदर्शन पाते रहे हैं अतएव वे भौतिक सम्पदा के कभी भी लालची नहीं रहे। जितने से उनका काम चल जाता है, वे उतना ही रखते हैं। वे विस्तृत साम्राज्य की कामना नहीं करते। इसका एक उदाहरण वामनदेव द्वारा प्रस्तुत किया गया था। ब्रह्मचारी के रूप में वामनदेव ने केवल तीन पग भूमि चाही थी। अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए अधिकाधिक की चाह करना निरा अज्ञान है। ब्राह्मण या वैष्णव के हृदय में

इस अज्ञान का स्पष्ट अभाव रहता है।

नमो ब्रह्मण्यदेवाय रामायाकुण्ठमेधसे ।
उत्तमश्लोकधुर्याय न्यस्तदण्डार्पिताङ्घ्रये ॥ ७॥

शब्दार्थ

नमः—हम सादर नमस्कार करते हैं; ब्रह्मण्य-देवाय—भगवान् को, जो ब्राह्मणों को अपना पूज्यदेव मानते हैं; रामाय—भगवान् रामचन्द्र को; अकुण्ठ-मेधसे—जिनकी स्मृति तथा ज्ञान कभी चिन्ता से ग्रस्त नहीं होते; उत्तमश्लोक-धुर्याय—सुप्रसिद्ध व्यक्तियों में सर्वश्रेष्ठ; न्यस्त-दण्ड-अर्पित-अङ्घ्रये—जिनके चरणकमलों की पूजा दण्ड के क्षेत्र से परे मुनियों द्वारा की जाती है।

हे प्रभु, आप भगवान् हैं और आपने ब्राह्मणों को अपना आराध्य देव स्वीकार किया है। आपका ज्ञान तथा स्मृति कभी चिन्ताग्रस्त नहीं होते। आप इस संसार के सभी विख्यात पुरुषों में प्रमुख हैं और आपके चरणों की पूजा अदण्डनीय मुनियों द्वारा की जाती है। हे भगवान् रामचन्द्र, हम आपको सादर नमस्कार करते हैं।

कदाचिल्लोकजिज्ञासुर्गूढो रात्र्यामलक्षितः ।
चरन्वाचोऽश‍ृणोद्रामो भार्यामुद्दिश्य कस्यचित् ॥ ८॥

शब्दार्थ

कदाचित्—एक बार; लोक-जिज्ञासुः—जनता के विषय में जानने की इच्छा से; गूढः—वेश बदल कर; रात्र्याम्—रात में; अलक्षितः—किसी अन्य द्वारा पहचाने गये बिना; चरन्—घूमते हुए; वाचः—बोली; अशृणोत्—सुनी; रामः—रामचन्द्रजी ने; भार्याम्—अपनी पत्नी को; उद्दिश्य—इंगित करते हुए; कस्यचित्—किसी का।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : एक बार जब भगवान् रामचन्द्र रात्रि में किसी को बताये बिना वेश बदलकर छिपकर अपने विषय में लोगों का अभिमत जानने के लिए घूम रहे थे तो उन्होंने एक व्यक्ति को अपनी पत्नी सीतादेवी के विषय में अनुचित बातें कहते सुना।

नाहं बिभर्मि त्वां दुष्टामसतीं परवेश्मगाम् ।
स्त्रैणो हि बिभृयात्सीतां रामो नाहं भजे पुनः ॥ ९॥

शब्दार्थ

न—न तो; अहम्—मैं; बिभर्मि—भार वहन कर सकता हूँ; त्वाम्—तुम्हारा; दुष्टाम्—दूषित होने के कारण; असतीम्—कुलटा; पर-वेश्म-गाम्—दूसरे पुरुष के घर में जाकर और परपति-गमन करके; स्त्रैणः—पत्नीभक्त, मेहरा; हि—निस्सन्देह; बिभृयात्—स्वीकार कर सकता है; सीताम्—सीता को; रामः—रामचन्द्र जैसा; न—न; अहम्—मैं; भजे—स्वीकार करूँगा; पुनः—दुबारा।

(वह व्यक्ति अपनी कुलटा पत्नी से कह रहा था) तुम दूसरे व्यक्ति के घर जाती हो; अतएव तुम कुलटा तथा दूषित हो। अब मैं और अधिक तुम्हारा भार नहीं वहन कर सकता। भले ही रामचन्द्र

जैसा स्त्रीभक्त पति सीता जैसी पत्नी को स्वीकार कर ले मैं उनकी तरह स्त्रीभक्त नहीं हूँ; अतएव मैं तुम्हें फिर से नहीं रख सकता।

इति लोकाद्बहुमुखाद्दुराराध्यादसंविदः ।
पत्या भीतेन सा त्यक्ता प्राप्ता प्राचेतसाश्रमम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; लोकात्—व्यक्तियों से; बहु-मुखात्—जो अनेक प्रकार से व्यर्थ की बातें कर सकते हैं; दुराराध्यात्—जिन्हें रोक पाना अत्यन्त कठिन है; असंविदः—पूर्णज्ञान से विहीन; पत्या—पति द्वारा; भीतेन—भयभीत; सा—सीता; त्यक्ता—त्यागी हुई; प्राप्ता—गई; प्राचेतस-आश्रमम्—(वाल्मीकि मुनि) के आश्रम में।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : अल्पज्ञ तथा घृणित चरित्र वाले व्यक्ति अंटशंट बकते रहते हैं। ऐसे धूर्तों के भय से भगवान् रामचन्द्रजी ने अपनी पत्नी सीतादेवी का परित्याग किया यद्यपि वे गर्भिणी थीं। इस तरह सीतादेवी वाल्मीकि मुनि के आश्रम में गईं।

अन्तर्वत्न्यागते काले यमौ सा सुषुवे सुतौ ।
कुशो लव इति ख्यातौ तयोश्चक्रे क्रिया मुनिः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अन्तर्वत्नी—गर्भिणी स्त्री; आगते—आई; काले—समय से; यमौ—जुड़वाँ; सा—सीतादेवी ने; सुषुवे—जन्म दिया; सुतौ—दो पुत्रों को; कुशः—कुश; लवः—लव; इति—इस प्रकार; ख्यातौ—विख्यात; तयोः—उन दोनों का; चक्रे—सम्पन्न किया; क्रियाः—जातकर्म संस्कार; मुनिः—वाल्मीकि ऋषि ने।

समय आने पर गर्भवती सीतादेवी ने जुड़वाँ पुत्रों को जन्म दिया जो बाद में लव तथा कुश नाम से विख्यात हुए। उनका जातकर्म संस्कार वाल्मीकि मुनि द्वारा सम्पन्न हुआ।

अङ्गदश्चित्रकेतुश्च लक्ष्मणस्यात्मजौ स्मृतौ ।
तक्षः पुष्कल इत्यास्तां भरतस्य महीपते ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अङ्गदः—अंगद; चित्रकेतुः—चित्रकेतु; च—भी; लक्ष्मणस्य—लक्ष्मणजी के; आत्मजौ—दो पुत्र; स्मृतौ—कहलाये; तक्षः—तक्ष; पुष्कलः—पुष्कल; इति—इस प्रकार; आस्ताम्—थे; भरतस्य—भरतजी के; महीपते—हे राजा परीक्षित।

हे महाराज परीक्षित, लक्ष्मणजी के दो पुत्र हुए जिनके नाम अंगद और चित्रकेतु थे और भरतजी के भी दो पुत्र हुए जिनके नाम तक्ष तथा पुष्कल थे।

सुबाहुः श्रुतसेनश्च शत्रुघ्नस्य बभूवतुः ।
गन्धर्वान्कोटिशो जघ्ने भरतो विजये दिशाम् ।
तदीयं धनमानीय सर्वं राज्ञे न्यवेदयत् ॥ १३ ॥

शत्रुघ्नश्च मधोः पुत्रं लवणं नाम राक्षसम् ।
हत्वा मधुवने चक्रे मथुरां नाम वै पुरीम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

सुबाहुः—सुबाहु; श्रुतसेनः—श्रुतसेन; च—भी; शत्रुघ्नस्य—शत्रुघ्न के; बभूवतुः—उत्पन्न हुए; गन्धर्वान्—गन्धर्वों से सम्बन्धित पुरुष, जो अधिकतर कपटी होते हैं; कोटिशः—करोड़ों की संख्या में; जघ्ने—मार डाला; भरतः—भरतजी ने; विजये—विजय करते हुए; दिशाम्—सारी दिशाएँ; तदीयम्—गन्धर्वों का; धनम्—धन; आनीय—लाकर; सर्वम्—हर वस्तु; राज्ञे—राजा (रामचन्द्र) को; न्यवेदयत्—भेंट किया; शत्रुघ्नः—शत्रुघ्न; च—तथा; मधोः—मधु के; पुत्रम्—पुत्र; लवणम्—लवण; नाम—नामक; राक्षसम्—मानवभक्षी को; हत्वा—मारकर; मधुवने—मधुवन नामक जंगल में; चक्रे—बनवाया; मथुराम्—मथुरा को; नाम—नामक; वै—निस्सन्देह; पुरीम्—बड़ा नगर।

शत्रुघ्न के सुबाहु तथा श्रुतसेन नामक दो पुत्र हुए। जब भरतजी सभी दिशाओं को जीतने गये तो उन्हें करोड़ों गन्धर्वों का वध करना पड़ा जो सामान्यतया कपटी होते हैं। उन्होंने उनकी सारी सम्पत्ति छीन ली और उसे लाकर भगवान् रामचन्द्र को अर्पित कर दिया। शत्रुघ्न ने भी लवण नामक एक राक्षस का वध किया जो मधु राक्षस का पुत्र था। इस तरह उन्होंने मधुवन नामक महान् जंगल में मथुरा नामक पुरी की स्थापना की।

मुनौ निक्षिप्य तनयौ सीता भर्त्रा विवासिता ।
ध्यायन्ती रामचरणौ विवरं प्रविवेश ह ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

मुनौ—वाल्मीकि मुनि को; निक्षिप्य—सौंप कर; तनयौ—लव तथा कुश दोनों पुत्र; सीता—सीतादेवी; भर्त्रा—अपने पति द्वारा; विवासिता—वनवास दी गई; ध्यायन्ती—ध्यान करती; राम-चरणौ—भगवान् राम के चरणकमल; विवरम्—पृथ्वी के भीतर; प्रविवेश—प्रवेश कर गई; ह—निस्सन्देह।

अपने पति द्वारा परित्यक्ता सीतादेवी ने अपने दोनों पुत्रों को वाल्मीकि मुनि की देखरेख में छोड़ दिया। तत्पश्चात् भगवान् रामचन्द्र के चरणकमलों का ध्यान करती हुईं वे पृथ्वी में प्रविष्ट हो गईं।

तात्पर्य : सीतादेवी के लिए रामचन्द्र से बिछुड़ कर रह पाना असम्भव था। अतएव वे अपने दोनों पुत्रों को वाल्मीकि मुनि के संरक्षण में छोड़कर पृथ्वी में समा गईं।

तच्छ्रुत्वा भगवान्रामो रुन्धन्नपि धिया शुचः ।
स्मरंस्तस्या गुणांस्तांस्तान्नाशक्नोद्रोद्धुमीश्वरः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तत्—यह (सीता का पृथ्वी में समाने का संदेश); श्रुत्वा—सुनकर; भगवान्—भगवान्; रामः—रामचन्द्र; रुन्धन्—त्यागने का प्रयत्न करते; अपि—यद्यपि; धिया—बुद्धि से; शुचः—शोक; स्मरन्—स्मरण करते हुए; तस्याः—उसके; गुणान्—गुण; तान् तान्—विभिन्न परिस्थितियों में; न—नहीं; अशक्नोत्—समर्थ था; रोद्धुम्—रोकने के लिए; ईश्वरः—परम नियन्ता होकर भी।

सीतादेवी के पृथ्वी में प्रविष्ट होने का समाचार सुनकर भगवान् निश्चित रूप से दुखी हुए। यद्यपि वे भगवान् हैं, किन्तु सीतादेवी के महान् गुणों का स्मरण करके वे दिव्य प्रेमवश अपने शोक को रोक न सके।

तात्पर्य : सीतादेवी द्वारा पृथ्वी में प्रवेश करने के समाचार से उत्पन्न भगवान् राम के शोक को भौतिक नहीं मानना चाहिए। आध्यात्मिक जगत में भी विरह-भाव होते हैं, किन्तु ऐसे भावों को आध्यात्मिक आनन्द माना जाता है। वियोग जनित शोक तो ब्रह्म में भी पाया जाता है, किन्तु आध्यात्मिक जगत में ऐसे वियोग-भावों को आनन्दमय माना जाता है। ऐसा भाव *तस्य प्रेमवश्यत्वस्वभाव* का लक्षण माना जाता है और यह ह्लादिनी शक्ति के प्रभाव में रहता है तथा प्रेम द्वारा नियंत्रित होता है। भौतिक जगत में ऐसे वियोग भाव केवल विकृत प्रतिबिम्ब होते हैं।

स्त्रीपुंप्रसङ्ग एतादृक्सर्वत्र त्रासमावहः ।
अपीश्वराणां किमुत ग्राम्यस्य गृहचेतसः ॥ १७॥

शब्दार्थ

स्त्री-पुम्-प्रसङ्गः—पति तथा पत्नी के मध्य अथवा पुरुष तथा स्त्री के मध्य आकर्षण; एतादृक्—इस प्रकार का; सर्वत्र—सभी जगह; त्रासम्-आवहः—भय का कारण; अपि—भी; ईश्वराणाम्—नियन्ताओं का; किम् उत—क्या कहा जाय; ग्राम्यस्य—इस भौतिक जगत के सामान्य मनुष्यों का; गृह-चेतसः—भौतिकतावादी गृहस्थ जीवन के प्रति आसक्त।

स्त्री तथा पुरुष अथवा नर और मादा के मध्य आकर्षण हर जगह और हर समय पाया जाता है जिससे हर व्यक्ति सदा भयभीत रहता है। यहाँ तक कि ब्रह्मा तथा शिवजी जैसे नियन्ताओं में भी ऐसी भावनाएँ पाई जाती हैं और उनके लिए भी ये भय के कारण हैं। तो फिर उन लोगों के विषय में क्या कहा जाय जो इस भौतिक जगत में गृहस्थ-जीवन के प्रति आसक्त हैं?

तात्पर्य : जैसा कि पहले बताया जा चुका है जब आध्यात्मिक जगत से प्रेम तथा दिव्य आनन्द के अनुभवों का इस जगत में विकृत प्रतिबिम्ब पड़ता है तो वे बन्धन का कारण बन जाते हैं। जब तक इस जगत में पुरुष स्त्रियों के प्रति और स्त्रियाँ पुरुषों के प्रति आकर्षित होती रहेंगी तब तक जन्म-मृत्यु का चक्र चलता रहेगा। किन्तु आध्यात्मिक जगत में जन्म-मृत्यु का कोई भय न होने से ऐसी वियोग की भावनाएँ

दिव्य आनन्द की कारण स्वरूपा हैं। वास्तव में अनुभवों की विविधता होती है, किन्तु वे सब दिव्य आनन्द के समान गुण वाले हैं।

तत ऊर्ध्वं ब्रह्मचर्यं धार्यन्नजुहोत्प्रभुः ।
त्रयोदशाब्दसाहस्रमग्निहोत्रमखण्डितम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; ऊर्ध्वम्—सीता द्वारा पृथ्वी में प्रविष्ट होन के बाद; ब्रह्मचर्यम्—पूर्ण ब्रह्मचर्य; धारयन्—धारण करते हुए; अजुहोत्—यज्ञ किये; प्रभुः—भगवान् रामचन्द्र ने; त्रयोदश-अब्द-साहस्रम्—तेरह हजार वर्षों तक; अग्निहोत्रम्—अग्निहोत्र यज्ञ; अखण्डितम्—अनवरत।

सीता द्वारा पृथ्वी में प्रवेश करने के बाद भगवान् रामचन्द्र ने पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया और तेरह हजार वर्षों तक वे अनवरत अग्निहोत्र यज्ञ करते रहे।

स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दण्डककण्टकैः ।
स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात्ततः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

स्मरताम्—जो उनका सदैव स्मरण करते हैं उन लोगों के; हृदि—हृदय में; विन्यस्य—रखकर; विद्धम्—चुभा हुआ; दण्डक-कण्टकैः—दण्डकारण्य में लगे काँटों द्वारा (जब रामचन्द्रजी वहाँ रह रहे थे); स्व-पाद-पल्लवम्—अपने चरणकमलों की पंखड़ियाँ; रामः—भगवान् रामचन्द्र ने; आत्म-ज्योतिः—ब्रह्मज्योति नामक उनकी शारीरिक कान्ति की किरणें; अगात्—प्रवेश किया; ततः—ब्रह्मज्योति के परे या अपने वैकुण्ठलोक में।

यज्ञ पूरा कर लेने के बाद दण्डकारण्य में रहते हुए भगवान् रामचन्द्र के जिन चरणकमलों में कभी-कभी काँटे चुभ जाते थे उन चरण-कमलों को उन्होंने उन लोगों के हृदयों में रख दिया जो उनका निरन्तर चिन्तन करते हैं। तत्पश्चात् वे ब्रह्मज्योति से परे अपने धाम वैकुण्ठलोक में प्रविष्ट हुए।

तात्पर्य : भगवान् के चरणकमल सदैव ही भक्तों द्वारा ध्यान करने योग्य हैं। जब रामचन्द्रजी दण्डकारण्य के जंगल में घूमते थे तो कभी-कभी उनके चरणकमलों में काँटे चुभ जाया करते थे। भक्तगण इसे सोचकर मूर्छित हो जाते हैं। भगवान् को इस जगत के किसी कार्य या कारण से किसी प्रकार की पीड़ा या हर्ष का अनुभव नहीं होता, किन्तु भक्तों को सह्य नहीं कि भगवान् के चरणकमलों में एक भी काँटा चुभे। गोपियाँ कृष्ण के विषय में ऐसा ही सोचती थीं, जब जंगल में घूमते हुए उनके पाँवों में कंकड़ तथा बालू के कण चुभ जाते थे। भक्तों के हृदय में उठने वाली पीड़ा को कर्मी, ज्ञानी या योगीजन नहीं समझ सकते। जिन भक्तों को यह सोचना भी सह्य नहीं था कि भगवान् के चरणकमलों में एक काँटा भी गड़े, उन्हें

भगवान् के तिरोधान के बारे में सोचने से उत्पन्न वेदना सहन करनी पड़ी क्योंकि भगवान् को इस जगत में अपनी लीलाएँ समाप्त करके अपने धाम वापस लौटना पड़ा।

आत्मज्योति शब्द महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्मज्योति जिसकी प्रशंसा वे ज्ञानी या एकेश्वरवादी दार्शनिक करते हैं जो मुक्ति के लिए उसमें प्रवेश करना चाहते हैं भगवान् के शरीर की किरणों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-

कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम् ।

तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो महान् शक्ति से युक्त हैं। उनके दिव्य स्वरूप का प्रखर तेज निर्विशेष ब्रह्म है जो परम, पूर्ण तथा असीम है और जो करोड़ों ब्रह्माण्डों में असंख्य लोकों के रूप में उनके विविध ऐश्वर्यों सहित दृश्य होता है।" (*ब्रह्म-संहिता* ५.४०)। ब्रह्मज्योति आध्यात्मिक जगत की शुरुआत है और इसके परे वैकुण्ठलोक हैं। दूसरे शब्दों में, ब्रह्मज्योति वैकुण्ठलोकों के बाहर रहती है जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सूर्य से बाहर रहता है। सूर्य में प्रवेश करने के लिए सूर्य के प्रकाश को पार करना होगा। इसी प्रकार जब भगवान् या उनके भक्त वैकुण्ठलोकों में जाते हैं तो उन्हें ब्रह्मज्योति पार करके जाना होता है। ज्ञानी या एकेश्वरवादी दार्शनिक निराकार ब्रह्म की धारणा रखने के कारण वैकुण्ठलोकों में प्रवेश नहीं कर सकते, किन्तु ब्रह्मज्योति में वे सदा के लिए रुके भी नहीं रह सकते। अतएव वे कुछ काल बाद पुनः इस जगत में आ गिरते हैं। आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः (*भागवत* १०.२.३२)। वैकुण्ठलोक ब्रह्मज्योति से घिरे हैं अतएव शुद्ध भक्त के बिना कोई यह ठीक से नहीं समझ सकता कि वैकुण्ठलोक हैं क्या।

नेदं यशो रघुपतेः सुरयाच्ञयात्त-
लीलातनोरधिकसाम्यविमुक्तधाम्नः ।
रक्षोवधो जलधिबन्धनमस्त्रपूगैः

किं तस्य शत्रुहनने कपयः सहायाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; इदम्—ये सब; यशः—यश; रघु-पतेः—भगवान् रामचन्द्र का; सुर-याच्ञया—देवताओं की स्तुतियों के द्वारा; आत्त-लीला-तनोः—जिनका आध्यात्मिक शरीर सदैव विभिन्न लीलाओं में लगा रहता है; अधिक-साम्य-विमुक्त-धाम्नः—कोई न तो उनके तुल्य है, न उनसे बढ़कर है; रक्षः-वधः—राक्षस (रावण) वध; जलधि-बन्धनम्—समुद्र पर पुल बाँधना; अस्त्र-पूगैः—धनुष बाण के द्वारा; किम्—क्या; तस्य—उसका; शत्रु-हनने—शत्रुओं का वध करने में; कपयः—सारे बन्दर; सहायाः—सहायक।

विभिन्न लीलाओं में सदैव संलग्न दिव्य देहधारी भगवान् रामचन्द्र का वास्तविक यश इसमें नहीं है कि उन्होंने देवताओं के आग्रह पर बाणों की वर्षा करके रावण का वध किया और समुद्र पर सेतु का निर्माण किया। न तो कोई भगवान् रामचन्द्र के तुल्य है न उनसे बढ़कर; अतएव उन्हें रावण पर विजय प्राप्त करने में वानरों से कोई सहायता लेने की आवश्यकता नहीं थी।

तात्पर्य : वेदों में कहा गया है (*श्वेताश्वतर उपनिषद* ६.८)—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते

न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

"भगवान् को कुछ भी नहीं करना होता और कोई भी न तो उनके तुल्य है न उनसे बढ़कर है क्योंकि उनकी विविध शक्तियों के द्वारा ही सब सहज भाव से और व्यवस्थित रूप से घटित होता है।" भगवान् को कुछ भी नहीं करना पड़ता (*न तस्य कार्यं करणं च विद्यते*)—वे जो भी करते हैं वह उनकी लीला है। भगवान् को किसी के अधीन रहकर कुछ भी कार्य नहीं करना पड़ता। फिर भी वे अपने भक्तों की रक्षा करने अथवा अपने शत्रुओं का वध करने के लिए प्रकट होते हैं। निस्सन्देह, भगवान् का कोई शत्रु नहीं हो सकता क्योंकि उनसे बढ़कर कौन अधिक शक्तिमान हो सकता है? अतएव किसी के उनके शत्रु होने का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु जब उन्हें लीलाओं का आनन्द लेना होता है तो वे इस भौतिक जगत में अवतरित होते हैं और मनुष्य की भाँति कर्म करते हैं और इस तरह अपने भक्तों को प्रसन्न करने के लिए अद्भुत महिमामय कार्यकलाप करते हैं। उनके भक्त उन्हें विविध कार्यों में सदा विजयी होते देखना चाहते हैं, अतएव स्वयं को तथा भक्तों को प्रसन्न करने के लिए भगवान् कभी-कभी मनुष्य की भाँति कर्म करने के लिए राजी होते हैं और भक्तों को सन्तुष्ट करने के लिए अद्भुत असाधारण लीलाएँ करते हैं।

यस्यामलं नृपसद:सु यशोऽधुनापि
गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम् ।
तं नाकपालवसुपालकिरीटजुष्ट-
पादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका (रामचन्द्र का); अमलम्—निष्कलंक, भौतिक गुणों से रहित; नृप-सद:सु—महाराज युधिष्ठिर जैसे सम्राटों की सभा में; यश:—ख्याति; अधुना अपि—आज भी; गायन्ति—गायन करते हैं; अघ-घ्नम्—सारे पापों को दूर करने वाला; ऋषय:—मार्कण्डेय जैसे ऋषिगण; दिक्-इभ-इन्द्र-पट्टम्—दिग्विजय करने वाले हाथी के ऊपर पड़ा अलंकृत झूल; तम्—उस; नाक-पाल—स्वर्ग के देवताओं के; वसु-पाल—पृथ्वी के राजाओं के; किरीट—मुकुटों द्वारा; जुष्ट—पूजा किये जाते हैं; पाद-अम्बुजम्—जिनके चरणकमल; रघु-पतिम्—भगवान् रामचन्द्र की; शरणम्—शरण में; प्रपद्ये—जाता हूँ।

भगवान् रामचन्द्र का निर्मल नाम तथा यश सारे पापों के फलों को नष्ट करने वाला है। सारी दिशाओं में वह उसी तरह विख्यात है जिस तरह समस्त दिशाओं पर विजय पाने वाले हाथी का लटकता अलंकृत झूल हो। मार्कण्डेय ऋषि जैसे महान् साधु पुरुष अब भी महाराज युधिष्ठिर जैसे सम्राटों की सभाओं में उनके गुणों का गान करते हैं। इसी तरह सारे ऋषि तथा देवता, जिनमें शिवजी तथा ब्रह्माजी भी सम्मिलित हैं, अपने-अपने मुकुटों को झुकाकर भगवान् की पूजा करते हैं। उन भगवान् के चरणकमलों को मैं नमस्कार करता हूँ।

स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा ।
कोसलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

स:—वे, भगवान् रामचन्द्र; यै:—जिन पुरुषों के द्वारा; स्पृष्ट:—स्पर्श किया गया; अभिदृष्ट:—देखा गया; वा—या तो; संविष्ट:—साथ भोजन और शयन करते हुए; अनुगत:—नौकरों की भाँति पीछे-पीछे चलते हुए; अपि वा—भी; कोसला:—कोसलवासी; ते—वे; ययु:—चले गये; स्थानम्—स्थान को; यत्र—जहाँ; गच्छन्ति—जाते हैं; योगिन:—सारे भक्तियोगी।

भगवान् रामचन्द्र अपने धाम को लौट आये जहाँ भक्तियोगी जाते हैं। यही वह स्थान है जहाँ अयोध्या के सारे निवासी भगवान् को उनकी प्रकट लीलाओं में नमस्कार करके, उनके चरणकमलों का स्पर्श करके, उन्हें पितृतुल्य राजा मानकर, उनकी बराबरी में बैठकर या लेटकर या मात्र उनके साथ रहकर, उनकी सेवा करने के बाद वापस गये।

तात्पर्य : भगवान् *भगवद्गीता* (४.९) कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यम् एवं यो वेत्ति तत्त्वत: ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"जो मेरे प्राकट्य की दिव्य प्रकति तथा मेरे कार्यकलापों को जानता है वह इस शरीर को त्यागने के बाद इस भौतिक जगत में फिर से जन्म नहीं लेता अपितु हे अर्जुन! वह मेरे नित्य धाम को प्राप्त होता है।" यहाँ इसकी पुष्टि हुई है। अयोध्या के सारे निवासी, जिन्होंने प्रजा के रूप में भगवान् रामचन्द्र का दर्शन किया, दास रूप में उनकी सेवा की, उनके साथ मित्र या अन्य रूप में बैठे-बोले या उनके शासनकाल में उपस्थित थे वे सभी भगवद्धाम वापस गये। जिस भक्त की भक्ति पूर्ण होती है वह इस शरीर को त्यागकर उस विशेष ब्रह्माण्ड में प्रवेश करता है जहाँ भगवान् रामचन्द्र या भगवान् कृष्ण अपनी लीलाओं में व्यस्त रहते हैं। तब उस प्रकट लीला में विभिन्न पदों पर रहकर भगवान् की सेवा करना सीखकर भक्त अन्त में सनातन धाम पहुँचता है। *भगवद्गीता* में इस सनातन धाम का भी उल्लेख मिलता है (*परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः*)। जो भगवान् की नित्य लीलाओं में प्रवेश पा जाता है वह *नित्य-लीला-प्रविष्ट* कहलाता है। यह स्पष्ट तौर पर समझने के लिए कि रामचन्द्रजी वापस क्यों गये, यहाँ यह उल्लेख हुआ है कि वे उस विशेष स्थान को गये जहाँ भक्तियोगी जाते हैं। निर्विशेषवादी *श्रीमद्भागवत* के कथन से इस भ्रम में पड़ जाते हैं कि इसका अर्थ यह है कि भगवान् अपने ही तेज में प्रविष्ट हुए; अतएव वे निराकार हो जाते हैं। किन्तु भगवान् तो पुरुष हैं और उनके भक्त भी पुरुष हैं। निस्सन्देह, सारे जीव भी भगवान् के समान भूतकाल में पुरुष थे, वर्तमान काल में भी पुरुष हैं और इस शरीर को त्यागने पर भी पुरुष बने रहेंगे। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में भी हुई है।

पुरुषो रामचरितं श्रवणैरुपधारयन् ।
आनृशंस्यपरो राजन्कर्मबन्धैर्विमुच्यते ॥ २३॥

शब्दार्थ

पुरुषः—कोई व्यक्ति; राम-चरितम्—भगवान् रामचन्द्र के कार्यकलापों से सम्बन्धित कथा को; श्रवणैः—कानों से; उपधारयन्—श्रवण करके; आनृशंस्य-परः—ईर्ष्या से पूरी तरह मुक्त हो जाता है; राजन्—हे राजा परीक्षित; कर्म-बन्धैः—कर्म के बन्धन से; विमुच्यते—मुक्त हो जाता है।

हे राजा परीक्षित, जो भी व्यक्ति भगवान् रामचन्द्र के गुणों से सम्बन्धित कथाओं को कानों से सुनता है वह अन्ततोगत्वा ईर्ष्या के रोग से मुक्त हो जायेगा और फलस्वरूप कर्मबन्धन से छूट जायेगा।

तात्पर्य : इस जगत में हर व्यक्ति किसी न किसी से ईर्ष्या करता है। यहाँ तक कि धार्मिक जीवन में भी यदि कोई भक्त आध्यात्मिक कार्यों में आगे बढ़ चुका होता है तो अन्य भक्त उससे ईर्ष्या करने लगते हैं। ऐसा ईर्ष्यालु भक्त जन्म-मृत्यु के कारण से पूर्णतया मुक्त नहीं हो पाता। जब तक कोई जन्मन्मरण के बन्धन से पूर्णतया मुक्त नहीं ही जाता, तब तक वह सनातन धाम में प्रविष्ट नहीं हो सकता। देह की उपाधियों से प्रभावित होकर मनुष्य ईर्ष्यालु बनता है, किन्तु मुक्त भक्त को शरीर से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता; अतएव वह दिव्य पद पर पूर्णतया स्थित रहता है। भक्त किसी से भी ईर्ष्या नहीं करता, यहाँ तक कि अपने शत्रु से भी नहीं। चूँकि भक्त यह जानता है कि भगवान् उसके परम रक्षक हैं अतएव वह सोचता है, "तथाकथित शत्रु मेरा क्या बिगाड़ सकता है।" इस तरह भक्त अपनी सुरक्षा के बारे में आश्वस्त रहता है। भगवान् कहते हैं—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*—जो जिस अनुपात में मेरी शरण में आता है उसी के अनुसार मैं उसकी रक्षा करता हूँ। अतएव भक्त को पूर्णतया ईर्ष्याविहीन होना चाहिए और विशेष रूप से अन्य भक्तों से। उन से ईर्ष्या करना महान् अपराध है और यह वैष्णव अपराध कहलाता है। जो भक्त निरन्तर श्रवण-कीर्तन में लगा रहता है वह निश्चित रूप से ईर्ष्या-रोग से मुक्त हो जाता है और इस तरह भगवद्धाम जाने का पात्र बन जाता है।

श्रीराजोवाच

कथं स भगवान्रामो भ्रातॄन्वा स्वयमात्मनः ।
तस्मिन्वा तेऽन्ववर्तन्त प्रजाः पौराश्च ईश्वरे ॥ २४॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—महाराज परीक्षित ने पूछा; कथम्—कैसे; सः—उन; भगवान्—भगवान्; रामः—रामचन्द्र ने; भ्रातॄन्—भाइयों (लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न) के प्रति; वा—अथवा; स्वयम्—स्वयं; आत्मनः—अपना विस्तार; तस्मिन्—भगवान् के प्रति; वा—अथवा; ते—उन (निवासी तथा भाइयों ने); अन्ववर्तन्त—बर्ताव किया; प्रजाः—सारे निवासियों; पौराः—नागरिकों ने; च—तथा; ईश्वरे—भगवान् के प्रति।

महाराज परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछाः भगवान् ने स्वयं किस तरह का बर्ताव किया और अपने विस्तार (अंश) स्वरूप अपने भाइयों के साथ कैसा बर्ताव किया? और उनके भाइयों ने तथा अयोध्यावासियों ने उनके साथ कैसा बर्ताव किया?

श्रीबादरायणिरुवाच

अथादिशद्दिग्विजये भ्रातृंस्त्रिभुवनेश्वरः ।
आत्मानं दर्शयन्स्वानां पुरीमैक्षत सानुगः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—तत्पश्चात् (भरत के आग्रह पर भगवान् के सिंहासनारूढ़ होने पर); आदिशत्—आज्ञा दी; दिक्-विजये—सारे संसार को जीतने के लिए; भ्रातृन्—अपने छोटे भाइयों को; त्रि-भुवन-ईश्वरः—ब्रह्माण्ड के स्वामी ने; आत्मानम्—स्वयं; दर्शयन्—दर्शन देते हुए; स्वानाम्—अपने परिजनों तथा नागरिकों को; पुरीम्—नगरी को; ऐक्षत—निरीक्षण किया; स-अनुगः—अपने सहायकों के साथ।

शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया: अपने छोटे भाई भरत के आग्रह पर राजसिंहासन स्वीकार करने के बाद भगवान् रामचन्द्र ने अपने छोटे भाइयों को आदेश दिया कि वे बाहर जाकर सारे विश्व को जीतें जबकि वे स्वयं राजधानी में रहकर सारे नागरिकों तथा प्रासाद के वासियों को दर्शन देते रहे तथा अपने अन्य सहायकों के साथ राजकाज की निगरानी करते रहे।

तात्पर्य : भगवान् अपने किसी भक्त या सहायक को इन्द्रियतृप्ति में तल्लीन रहने की अनुमति नहीं देते। भगवान् रामचन्द्रजी के छोटे भाई महल में भगवान् के दर्शनों का आनन्द ले रहे थे, किन्तु भगवान् ने उन्हें आदेश दिया कि वे बाहर जाकर सारे विश्व को जीतें। ऐसी प्रथा थी(और आज भी कहीं-कहीं है) कि अन्य सारे राजा सम्राट की श्रेष्ठता स्वीकार करें। यदि किसी छोटे राज्य का राजा सम्राट की श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करता था तो युद्ध होता था और उसे सम्राट की अधीनता स्वीकार करनी होती थी अन्यथा सम्राट के द्वारा पूरे देश में शासन चला पाना सम्भव नहीं हो सकता था।

भगवान् रामचन्द्र ने अपने भाइयों को बाहर जाने के लिए आज्ञा देकर उनके साथ दया दिखलाई। वृन्दावन में रहने वाले अनेक भगवद्भक्तों ने व्रत ले रखा है कि वे कृष्णभावनामृत का प्रचार करने के लिए वृन्दावन नहीं छोड़ेंगे। किन्तु भगवान् का कहना है कि कृष्णभावनामृत सारे विश्व में प्रत्येक गाँव और प्रत्येक नगर में प्रसारित हो। भगवान् चैतन्य महाप्रभु का यह खुला आदेश है—

पृथिवीते आछे यत नगरादि ग्राम

सर्वत्र प्रचार हैबे मोर नाम

अतएव शुद्ध भक्त को भगवान् के आदेश का पालन करना चाहिए न कि एक ही स्थान में बंधे रहकर इन्द्रिय-तृप्ति में लगे रहना चाहिए और यह सोचकर गर्वित नहीं होना चाहिए कि वह वृन्दावन नहीं छोड़ेगा और एकान्त में कीर्तन करेगा और वह महान् भक्त बन जाएगा। भक्त को तो भगवान् के आदेश को पूरा

करना चाहिए। चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*यारे देख, तारे कह 'कृष्ण'-उपदेश।* अतएव हर एक भक्त को चाहिए कि वह जिस किसी से भी मिले उससे भगवान् का आदेश मानने को कहे और इस प्रकार उपदेश द्वारा कृष्णभावनामृत का प्रसार करे। भगवान् कहते हैं—*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—सारे धर्मों को त्यागकर केवल मेरी शरण ग्रहण करो। यही भगवान् का आदेश है। हर एक को इस आदेश को मानना चाहिए क्योंकि यह दिग्विजय है। प्रत्येक सैनिक अर्थात् भक्त का यह धर्म है कि वह हर एक पर इस जीवन-दर्शन को ग्रहण करने के लिए जोर डाले।

निस्सन्देह, जो कनिष्ठ अधिकारी हैं वे उपदेश नहीं देते, किन्तु भगवान् उन पर भी कृपादृष्टि डालते हैं जैसे कि भगवान् ने अयोध्या में स्वयं ठहरकर लोगों को अपना दर्शन दिया। किसी को गल्ती से यह नहीं सोचना चाहिए कि भगवान् ने अपने भाइयों को अयोध्या छोड़ने के लिए आज्ञा इसलिए दी क्योंकि वे प्रजा पर विशेष कृपालु थे। भगवान् हर एक पर दयालु हैं और वे जानते हैं कि हर व्यक्ति पर उसकी क्षमता के अनुसार किस प्रकार दया की जाय। जो व्यक्ति भगवान् के आदेश का पालन करता है वह शुद्ध भक्त है।

आसिक्तमार्गां गन्धोदैः करिणां मदशीकरैः ।
स्वामिनं प्राप्तमालोक्य मत्तां वा सुतरामिव ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

आसिक्त-मार्गाम्—सड़कें सींची गई थीं; गन्ध-उदैः—सुगन्धित जल से; करिणाम्—हाथियों के; मद-शीकरैः—सुगन्धित तरल की बूँदों से; स्वामिनम्—स्वामी को; प्राप्तम्—उपस्थित; आलोक्य—साक्षात् देखकर; मत्ताम्—अत्यन्त ऐश्वर्यशाली; वा—अथवा; सुतराम्—अत्यधिक; इव—मानो।

भगवान् रामचन्द्र के शासन काल में अयोध्या की सड़कें सुगन्धित जल से तथा हाथियों द्वारा अपनी सूँडों से फेंके गये सुगन्धित तरल की बूँदों से सींची जाती थीं। जब नागरिकों ने देखा कि भगवान् स्वयं ही इतने वैभव के साथ शहर के मामलों की देखरेख कर रहे हैं तो उन्होंने इस वैभव की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

तात्पर्य : हमने रामचन्द्रजी के शासनकाल में रामराज्य के वैभव के विषय में सुन रखा है। यहाँ पर भगवान् के राज्य-वैभव का एक उदाहरण प्रस्तुत है। अयोध्या की सड़कें न केवल बुहारी जाती थीं वरन् सुगन्धित जल तथा हाथी की सूँडों द्वारा छिड़के गये सुगन्धित तरल से सींची जाती थीं। उस समय छिड़काव करने वाले यंत्रों की जरूरत नहीं पड़ती थी क्योंकि हाथियों में जल को अपनी सूंड में भरकर छिड़कने की

सहज शक्ति पाई जाती है। हम इसी एक उदाहरण से शहर के वैभव का पता लगा सकते हैं। इसे वास्तव में सुगंधित जल से छिड़का जाता था। यही नहीं, नागरिकों को भगवान् द्वारा राज्य के सारे मामलों की स्वयं निगरानी करते देखने का सौभाग्य प्राप्त था। वे आलसी सम्राट न थे, जैसा कि हम उनके कार्यों से देखते हैं कि राजधानी से दूर के मामलों की देखरेख करने तथा जो सम्राट के आदेशों का पालन न करे उसे दण्ड देने के लिए उन्होंने भाइयों को भेज रखा था। यह दिग्विजय कहलाती है। नागरिकों को शान्त जीवन बिताने की सारी सुविधाएँ प्राप्त थीं और वे वर्णाश्रम धर्म के अनुसार समुचित लक्षणों से सम्पन्न थे। जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं—*वर्णाश्रम गुणान्विताः*—नागरिकों को वर्णाश्रम प्रणाली के अनुसार प्रशिक्षण प्राप्त था। लोगों का एक वर्ग ब्राह्मण था, एक अन्य वर्ग क्षत्रिय था, एक तीसरा वर्ग वैश्यों का था और चौथा वर्ग शूद्रों का था। ऐसे वैज्ञानिक विभाजन के बिना अच्छी नागरिकता का प्रश्न ही नहीं उठता। राजा उदार तथा कर्तव्यपरायण होने के कारण अनेक यज्ञ करता था और प्रजा को पुत्रवत् मानता था। नागरिक भी वर्णाश्रम प्रणाली में प्रशिक्षित होने से अत्यन्त आज्ञाकारी एवं सुसंयमित थे। सम्पूर्ण राजतंत्र इतना वैभवशाली तथा शान्त था कि सरकार सड़कों पर भी सुगन्धित जल का छिड़काव करा सकती थी, अन्य व्यवस्था की बात तो छोड़ दें। चूँकि सारी नगरी में सुगंधित जल से छिड़काव हुआ था, अतएव हम अनुमान लगा सकते हैं कि अन्य मामलों में वह कितनी वैभवशाली थी। तो भला भगवान् रामचन्द्र के राज्य में लोग सुखी क्यों न रहे होंगे!

प्रासादगोपुरसभाचैत्यदेवगृहादिषु ।
विन्यस्तहेमकलशैः पताकाभिश्च मण्डिताम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

प्रासाद—महल; गोपुर—महल के द्वार; सभा—सभाभवन; चैत्य—चबूतरे; देव-गृह—मन्दिर जहाँ अर्चाविग्रहों की पूजा की जाती है; आदिषु—इत्यादि में; विन्यस्त—रखे; हेम-कलशैः—सुनहरे जल पात्रों सहित; पताकाभिः—झंडियों से; च—भी; मण्डिताम्—अलंकृत।

सारे महल, महलों के द्वार, सभाभवन, चबूतरे, मन्दिर तथा अन्य ऐसे स्थान सुनहरे जलपात्रों (कलशों) से सजाये और विभिन्न प्रकार की झंडियों से अलंकृत किये जाते थे।

पूगैः सवृन्तै रम्भाभिः पट्टिकाभिः सुवाससाम् ।

आदर्शैरंशुकैः स्रग्भिः कृतकौतुकतोरणाम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

पूगैः—सुपारी के पेड़ों से; स-वृन्तैः—फूलों तथा फलों के गुच्छों से; रम्भाभिः—केले के वृक्षों से; पट्टिकाभिः—पताकाओं से; सु-वाससाम्—रंगीन वस्त्र से सुसज्जित; आदर्शैः—शीशों से; अंशुकैः—वस्त्रों से; स्रग्भिः—मालाओं से; कृत-कौतुक—शुभ बनाये गये; तोरणाम्—स्वागत द्वारों से युक्त।

जहाँ कहीं भगवान् रामचन्द्र जाते, वहीं केले के वृक्षों तथा फल-फूलों से युक्त सुपारी के वृक्षों से स्वागत-द्वार बनाये जाते थे। इन द्वारों को रंगबिरंगे वस्त्र से बनी पताकाओं, बन्दनवारों, दर्पणों तथा मालाओं से सजाया जाता था।

तमुपेयुस्तत्र तत्र पौरा अर्हणपाणयः ।
आशिषो युयुजुर्देव पाहीमां प्राक्त्वयोद्धृताम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उनके; उपेयुः—पास गये; तत्र तत्र—जहाँ भी वे गये; पौराः—पड़ोस के निवासी; अर्हण-पाणयः—भगवान् के पूजन की सामग्री लिये; आशिषः—भगवान् से प्राप्त आशीर्वाद; युयुजुः—नीचे आया; देव—हे प्रभु; पाहि—पालन कीजिए; इमाम्—इस भूमि को; प्राक्—पहले की तरह; त्वया—आपके द्वारा; उद्धृताम्—रक्षा की गई (वराह अवतार लेकर समुद्र के नीचे से निकाला)।

भगवान् रामचन्द्र जहाँ कहीं भी जाते, लोग पूजा की सामग्री लेकर उनके पास पहुँचते और उनके आशीर्वाद की याचना करते। वे कहते, "हे प्रभु, जिस प्रकार आपने अपने सूकर अवतार में समुद्र के नीचे से पृथ्वी का उद्धार किया, उसी तरह अब आप उसका पालन करें। हम आपसे यही आशीष माँगते हैं।"

ततः प्रजा वीक्ष्य पतिं चिरागतं
दिदृक्षयोत्सृष्टगृहाः स्त्रियो नराः ।
आरुह्य हर्म्याण्यरविन्दलोचन-
मतृप्तनेत्राः कुसुमैरवाकिरन् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; प्रजाः—प्रजा; वीक्ष्य—देखकर; पतिम्—राजा को; चिर-आगतम्—दीर्घकाल के बाद आया हुआ; दिदृक्षया—देखने की इच्छा से; उत्सृष्ट-गृहाः—अपने-अपने घरों को त्यागकर; स्त्रियः—स्त्रियाँ; नराः—पुरुषगण; आरुह्य—चढ़कर; हर्म्याणि—विशाल महलों की छत पर; अरविन्द-लोचनम्—कमल की पँखुड़ी जैसे नेत्रों वाले भगवान् रामचन्द्र को; अतृप्त-नेत्राः—अतृप्त नेत्रों से; कुसुमैः—फूलों से; अवाकिरन्—भगवान् पर वर्षा की।

तत्पश्चात्, दीर्घकाल से भगवान् का दर्शन न किये रहने से, नर तथा नारी उन्हें देखने के लिए अत्यधिक उत्सुक होकर अपने-अपने घरों को त्यागकर महलों की छतों पर चढ़ गये। कमलनयन भगवान् रामचन्द्र के मुखमण्डल का दर्शन करके न अघाने के कारण वे उन पर फूलों की वर्षा करने

लगे।

अथ प्रविष्टः स्वगृहं जुष्टं स्वैः पूर्वराजभिः ।
अनन्ताखिलकोषाढ्यमनर्घ्योरुपरिच्छदम् ॥ ३१ ॥

विद्रुमोदुम्बरद्वारैर्वैदूर्यस्तम्भपङ्क्तिभिः ।
स्थलैर्मारकतैः स्वच्छैर्भ्राजत्स्फटिकभित्तिभिः ॥ ३२ ॥

चित्रस्रग्भिः पट्टिकाभिर्वासोमणिगणांशुकैः ।
मुक्ताफलैश्चिदुल्लासैः कान्तकामोपपत्तिभिः ॥ ३३ ॥

धूपदीपैः सुरभिभिर्मण्डितं पुष्पमण्डनैः ।
स्त्रीपुम्भिः सुरसङ्काशैर्जुष्टं भूषणभूषणैः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; प्रविष्टः—उन्होंने प्रवेश किया; स्व-गृहम्—अपने महल में; जुष्टम्—भरा हुआ; स्वैः—अपने परिजनों से; पूर्व-राजभिः—राजकुल में पूर्ववर्ती सदस्यों से; अनन्त—असीम; अखिल—सर्वत्र; कोष—खजाना; आढ्यम्—सम्पन्न; अनर्घ्य—अमूल्य; उरु—उच्च; परिच्छदम्—साज-सामान; विद्रुम—मूँगे का; उदुम्बर-द्वारैः—दरवाजे के दोनों पार्श्वों सहित; वैदूर्य-स्तम्भ—वैदूर्यमणि के बने ख भों से; पङ्क्तिभिः—पंक्तिबद्ध; स्थलैः—फर्शों से; मारकतैः—मरकत मणि से बने; स्वच्छैः—स्वच्छ, पालिश किये; भ्राजत्—चमचमाते; स्फटिक—संगमरमर; भित्तिभिः—नीवों से; चित्र-स्रग्भिः—नाना प्रकार की फूल मालाओं से; पट्टिकाभिः—झंडियों से; वासः—वस्त्र; मणि-गण-अंशुकैः—विविध तेजयुक्त तथा मूल्यवान मणियों से; मुक्ता-फलैः—मोतियों से; चित्-उल्लासैः—मन के आनन्द को बढ़ाने वाले; कान्त-काम—इच्छा को पूरी करने वाले; उपपत्तिभिः—ऐसे साज-सामान से; धूप-दीपैः—धूप तथा दीप से; सुरभिभिः—अत्यन्त सुगन्धित; मण्डितम्—सुसज्जित; पुष्प-मण्डनैः—फूलों के गुच्छों से; स्त्री-पुम्भिः—स्त्रियों तथा पुरुषों से; सुर-सङ्काशैः—देवताओं की तरह लगने वाले; जुष्टम्—से पूर्ण; भूषण-भूषणैः—जिनके शरीर आभूषणों को सुन्दर बना रहे थे।

तत्पश्चात् भगवान् रामचन्द्र अपने पूर्वजों के महल में गये। इस महल के भीतर विविध खजाने तथा मूल्यवान अल्मारियाँ थीं। प्रवेश द्वार के दोनों ओर की बैठकें मूँगे से बनी थीं, आँगन वैदूर्यमणि के ख भों से घिरा था, फर्श अत्यधिक पालिश की हुई मरकतमणि से बनी थी और नींव संगमरमर की बनी थी। सारा महल झंडियों तथा मालाओं से सजाया गया था एवं मूल्यवान, चमचमाते मणियों से अलंकृत किया गया था। महल पूरी तरह मोतियों से सजाया गया था और धूप-दीप से घिरा था। महल के भीतर के स्त्री-पुरुष देवताओं के समान थे और वे विविध आभूषणों से अलंकृत थे। ये आभूषण उनके शरीरों में पहने जाने के कारण सुन्दर लग रहे थे।

तस्मिन्स भगवान्रामः स्निग्धया प्रिययेष्टया ।
रेमे स्वारामधीराणामृषभः सीतया किल ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस महल में; सः—वह; भगवान्—भगवान्; रामः—रामचन्द्र; स्निग्धया—सदैव उसके व्यवहार से प्रसन्न होकर; प्रियया इष्टया—अपनी सर्व-प्रिय पत्नी समेत; रेमे—भोग किया; स्व-आराम—निजी आनन्द; धीराणाम्—महान् विद्वज्जनों का; ऋषभः—प्रमुख; सीतया—सीता सहित; किल—निस्सन्देह।

श्रेष्ठ विद्वान पंडितों में अग्रणी भगवान् रामचन्द्र ने उस महल में अपनी ह्लादिनी शक्ति सीतादेवी के साथ निवास किया और पूर्ण शान्ति का भोग किया।

बुभुजे च यथाकालं कामान्धर्ममपीडयन् ।
वर्षपूगान्बहून्नृणामभिध्याताङ्घ्रिपल्लवः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

बुभुजे—भोग किया; च—भी; यथा-कालम्—जब तक चाहा; कामान्—सारे भोग; धर्मम्—धर्म; अपीडयन्—उल्लंघन किये बिना; वर्ष-पूगान्—वर्षों की अवधि; बहून्—अनेक; नृणाम्—लोगों का; अभिध्यात—ध्यान किये जाने पर; अङ्घ्रि-पल्लवः—उनके चरणकमल।

धर्म के सिद्धान्तों का उल्लंघन किये बिना उन रामचन्द्र ने जिनके चरण-कमलों की पूजा भक्तगण ध्यान में करते हैं, जब तक चाहा, दिव्य आनन्द की सारी सामग्री का भोग किया।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध के अन्तर्गत ''भगवान् रामचन्द्र का विश्व पर राज्य करना'' नामक ग्यारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बारह

भगवान् रामचन्द्र के पुत्र कुश की वंशावली

इस अध्याय में भगवान् रामचन्द्र के पुत्र कुश के वंश का वर्णन हुआ है। इस वंश के सदस्य महाराज इक्ष्वाकु के पुत्र शशाद के उत्तराधिकारी (वंशज) हैं।

भगवान् रामचन्द्र के वंश में उनके पुत्र कुश के बाद क्रमशः अतिथि, निषध, नभ, पुण्डरीक, क्षेमधन्वा, देवानीक, अनीह, पारियात्र, बलस्थल, वज्रनाभ, सगण तथा विधृति उत्पन्न हुए। इन महापुरुषों ने सारे जगत पर शासन चलाया। विधृति से हिरण्यनाभ हुआ जो आगे चलकर जैमिनि का शिष्य बना और जिसने योगप्रणाली की स्थापना की जिसमें याज्ञवल्क्य दीक्षित हुए। इस वंश में पुष्प, ध्रुवसन्धि, सुदर्शन, अग्निवर्ण, शीघ्र तथा मरु हुए। मरु ने योगाभ्यास में सिद्धि प्राप्त की थी और वह अब भी कलाप नामक ग्राम में रह रहा है। इस कलियुग के अन्त में वह सूर्यवंश को पुनरुज्जीवित करेगा। इस वंश में आगे चलकर प्रसुश्रुत, सन्धि, अमर्षण, महश्वान, विश्वबाहु, प्रसेनजित, तक्षक तथा बृहद्बल हुए। बृहद्बल को अभिमन्यु ने मारा था। शुकदेव गोस्वामी ने बतलाया कि ये सारे राजा प्रयाण कर चुके थे। बृहद्बल के भावी वंशज होंगे: बृहद्रण, ऊरुक्रिय, वत्सवृद्ध, प्रतिव्योम, भानु, दिवाक, सहदेव, बृहदश्व, भानुमान, प्रतीकाश्व, सुप्रतीक, मरुदेव, सुनक्षत्र, पुष्कर, अन्तरिक्ष, सुतपा, अमित्रजित, बृहद्राज, बर्हि, कृतञ्जय, रणञ्जय, सञ्जय, शाक्य, शुद्धोद, लाङ्गल, प्रसेनजित, क्षुद्रक, रणक, सुरथ तथा सुमित्र। ये सभी एक के बाद एक राजा बनेंगे। इस कलियुग का अन्तिम इक्ष्वाकुवंशी राजा सुमित्र होगा और उसके बाद यह वंश समाप्त हो जायेगा।

श्रीशुक उवाच
कुशस्य चातिथिस्तस्मान्निषधस्तत्सुतो नभः ।
पुण्डरीकोऽथ तत्पुत्रः क्षेमधन्वाभवत्ततः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; कुशस्य—भगवान् रामचन्द्र के पुत्र कुश का; च—भी; अतिथिः—अतिथि; तस्मात्—उससे; निषधः—निषध; तत्-सुतः—उसका पुत्र; नभः—नभ; पुण्डरीकः—पुण्डरीक; अथ—तत्पश्चात्; तत्-पुत्रः—उसका पुत्र; क्षेमधन्वा—क्षेमधन्वा; अभवत्—हुआ; ततः—तत्पश्चात्।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : रामचन्द्र का पुत्र कुश हुआ, कुश का पुत्र अतिथि था, अतिथि का पुत्र निषध और निषध का पुत्र नभ था। नभ का पुत्र पुण्डरीक हुआ जिसके पुत्र का नाम क्षेमधन्वा

था।

देवानीकस्ततोऽनीहः पारियात्रोऽथ तत्सुतः ।
ततो बलस्थलस्तस्माद्वज्रनाभोऽर्कसम्भवः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

देवानीकः—देवानीक; ततः—क्षेमधन्वा से; अनीहः—देवानीक के पुत्र का नाम अनीह था; पारियात्रः—पारियात्र; अथ—तत्पश्चात्; तत्-सुतः—अनीह का पुत्र; ततः—पारियात्र से; बलस्थलः—बलस्थल; तस्मात्—बलस्थल से; वज्रनाभः—वज्रनाभ; अर्क-सम्भवः—सूर्यदेव से उत्पन्न।

क्षेमधन्वा का पुत्र देवानीक था और देवानीक का पुत्र अनीह हुआ जिसके पुत्र का नाम पारियात्र था। पारियात्र का पुत्र बलस्थल था, जिसका पुत्र वज्रनाभ हुआ जो सूर्यदेव के तेज से उत्पन्न बतलाया जाता है।

सगणस्तत्सुतस्तस्माद्विधृतिश्चाभवत्सुतः ।
ततो हिरण्यनाभोऽभूद्योगाचार्यस्तु जैमिनेः ॥ ३ ॥
शिष्यः कौशल्य आध्यात्मं याज्ञवल्क्योऽध्यगाद्यतः ।
योगं महोदयमृषिर्हृदयग्रन्थिभेदकम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

सगणः—सगण; तत्—उसका; सुतः—पुत्र; तस्मात्—उससे; विधृतिः—विधृति; च—भी; अभवत्—उत्पन्न हुआ; सुतः—उसका पुत्र; ततः—उससे; हिरण्यनाभः—हिरण्यनाभ; अभूत्—हुआ; योग-आचार्यः—योग दर्शन का संस्थापक; तु—लेकिन; जैमिनेः—जैमिनि को अपना गुरु मानने से; शिष्यः—शिष्य; कौशल्यः—कौशल्य; आध्यात्मम्—आध्यात्मिक; याज्ञवल्क्यः—याज्ञवल्क्य ने; अध्यगात्—अध्ययन किया; यतः—उससे (हिरण्यनाभ से); योगम्—योग की क्रियाएँ; महा-उदयम्—अत्यन्त महान; ऋषिः—याज्ञवल्क्य ऋषि; हृदय-ग्रन्थि-भेदकम्—योग, जो भौतिक अनुरक्ति की हृदय की गाँठ को खोल सकती हैं।

वज्रनाभ का पुत्र सगण हुआ और उसका पुत्र विधृति हुआ। विधृति का पुत्र हिरण्यनाभ था जो जैमिनि का शिष्य और फिर योग का महान् आचार्य बना। इन्हीं हिरण्यनाभ से ऋषि याज्ञवल्क्य ने अध्यात्म योग नामक योग की अत्युच्च प्रणाली सीखी जो हृदय की भौतिक आसक्ति की गाँठ को खोलने में समर्थ है।

पुष्यो हिरण्यनाभस्य ध्रुवसन्धिस्ततोऽभवत् ।
सुदर्शनोऽथाग्निवर्णः शीघ्रस्तस्य मरुः सुतः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

पुष्यः—पुष्य; हिरण्यनाभस्य—हिरण्यनाभ का पुत्र; ध्रुवसन्धिः—ध्रुवसन्धि; ततः—उससे; अभवत्—उत्पन्न हुआ; सुदर्शनः—सुदर्शन; अथ—तत्पश्चात्; अग्निवर्णः—सुदर्शन का पुत्र अग्निवर्ण; शीघ्रः—शीघ्र; तस्य—उसका; मरुः—मरु; सुतः—पुत्र।

हिरण्यनाभ के पुत्र का नाम पुष्य था जिससे ध्रुवसन्धि नामक पुत्र हुआ। ध्रुवसन्धि का पुत्र सुदर्शन और उसका पुत्र अग्निवर्ण था। अग्निवर्ण के पुत्र का नाम शीघ्र था और उसके पुत्र का नाम मरु था।

सोऽसावास्ते योगसिद्धः कलापग्राममास्थितः ।
कलेरन्ते सूर्यवंशं नष्टं भावयिता पुनः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; असौ—मरु नामक व्यक्ति; आस्ते—अब भी है; योग-सिद्धः—योगशक्ति में सिद्धिप्राप्त; कलाप-ग्रामम्—कलाप नामक गाँव में; आस्थितः—रह रहा है; कलेः—इस कलियुग के; अन्ते—अन्त में; सूर्य-वंशम्—सूर्यदेव के वंशज; नष्टम्—नष्ट होने पर; भावयिता—पुत्र उत्पन्न करके शुरु करेगा; पुनः—फिर से।

योगशक्ति में सिद्धि प्राप्त करके मरु अब भी कलाप ग्राम नामक गाँव में रह रहा है। वह कलियुग की समाप्ति पर पुत्र उत्पन्न करेगा जिससे विनष्ट सूर्यवंश पुनरुज्जीवित होगा।

तात्पर्य : कम से कम पाँच हजार वर्ष पूर्व श्रील शुकदेव गोस्वामी ने कलाप-ग्राम में मरु के अस्तित्व का निर्धारण किया था और कहा था कि मरु योगसिद्ध शरीर प्राप्त करके कलियुग के अन्त तक रहता रहेगा। इस कलियुग को ४,३२,००० वर्षों तक चलना है। ऐसी होती है योगशक्ति की सिद्धि। श्वास को रोक कर सिद्ध योगी जितने काल तक चाहे जीवित रह सकता है। कभी-कभी हम वैदिक साहित्य से यह सुनते हैं कि व्यासदेव तथा अश्वत्थामा जैसे कुछ वैदिककालीन महापुरुष अब भी जीवित हैं। यहाँ हमें यह पता चलता है कि मरु भी अभी जीवित है। कभी-कभी हमें आश्चर्य होता है कि क्या मर्त्य शरीर इतने दीर्घकाल तक जीवित रह सकता है? इस दीर्घ आयु की व्याख्या यहाँ *योगसिद्ध* शब्द में निहित है। योग विधि में सिद्ध हो जाने पर मनुष्य जितने काल तक जी चाहे जीवित रह सकता है। किन्तु तुच्छ *योगसिद्ध* के प्रदर्शनसिद्धि नहीं कहलाते। यहाँ पर सिद्धि का जीवन्त उदाहरण प्राप्त है—योगसिद्ध इच्छानुसार जितने समय तक चाहे जीवित रह सकता है।

तस्मात्प्रसुश्रुतस्तस्य सन्धिस्तस्याप्यमर्षणः ।
महस्वांस्तत्सुतस्तस्माद्विश्वबाहुरजायत ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—मरु से; प्रसुश्रुतः—उसका पुत्र प्रसुश्रुत; तस्य—उसका; सन्धिः—सन्धि नामक पुत्र; तस्य—उसका; अपि—भी; अमर्षणः—अमर्षण नामक पुत्र; महस्वान्—महस्वान; तत्—उसका; सुतः—पुत्र; तस्मात्—उससे (महस्वान से); विश्वबाहुः—विश्वबाहु; अजायत—उत्पन्न हुआ।

मरु से प्रसुश्रुत नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जिससे सन्धि, फिर सन्धि से अमर्षण और अमर्षण से महस्वान नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। महस्वान से विश्वबाहु का जन्म हुआ।

ततः प्रसेनजित्तस्मात्तक्षको भविता पुनः ।
ततो बृहद्बलो यस्तु पित्रा ते समरे हतः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

ततः—विश्वबाहु से; प्रसेनजित्—प्रसेनजित; तस्मात्—उससे; तक्षकः—तक्षक; भविता—जन्म लिया; पुनः—फिर; ततः—उससे; बृहद्बलः—बृहद्बल; यः—जो; तु—लेकिन; पित्रा—पिता के द्वारा; ते—तुम्हारे; समरे—युद्ध में; हतः—मारा गया।

विश्वबाहु से प्रसेनजित नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जिससे तक्षक और तक्षक से बृहद्बल हुआ जो तुम्हारे पिता द्वारा युद्ध में मारा गया।

एते हीक्ष्वाकुभूपाला अतीताः शृण्वनागतान् ।
बृहद्बलस्य भविता पुत्रो नाम्ना बृहद्रणः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एते—ये सभी; हि—निस्सन्देह; इक्ष्वाकु-भूपालाः—इक्ष्वाकु वंश के राजा; अतीताः—हो चुके हैं; शृणु—सुनो; अनागतान्—जो भविष्य में होंगे; बृहद्बलस्य—बृहद्बल का; भविता—होगा; पुत्रः—पुत्र; नाम्ना—नामक; बृहद्रणः—बृहद्रण।

ये सारे राजा इक्ष्वाकु वंश में हो चुके हैं। अब उन राजाओं के नाम सुनो जो भविष्य में होंगे। बृहद्बल से बृहद्रण का जन्म होगा।

ऊरुक्रियः सुतस्तस्य वत्सवृद्धो भविष्यति ।
प्रतिव्योमस्ततो भानुर्दिवाको वाहिनीपतिः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

ऊरुक्रियः—ऊरुक्रिय; सुतः—पुत्र; तस्य—उसका; वत्सवृद्धः—वत्सवृद्ध; भविष्यति—होगा; प्रतिव्योमः—प्रतिव्योम; ततः—उससे; भानुः—भानु; दिवाकः—भानु से दिवाक; वाहिनी-पतिः—सेनापति।

बृहद्रण का पुत्र ऊरुक्रिय होगा जिसके वत्सवृद्ध नामक पुत्र उत्पन्न होगा। वत्सवृद्ध के पुत्र का नाम प्रतिव्योम और उसके पुत्र का नाम भानु होगा जिससे महान् सेनापति दिवाक नाम का पुत्र जन्म लेगा।

सहदेवस्ततो वीरो बृहदश्वोऽथ भानुमान् ।
प्रतीकाश्वो भानुमतः सुप्रतीकोऽथ तत्सुतः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सहदेवः—सहदेव; ततः—दिवाक से; वीरः—वीर पुरुष; बृहदश्वः—बृहदश्व; अथ—उससे; भानुमान्—भानुमान; प्रतीकाश्वः—प्रतीकाश्व; भानुमतः—भानुमान से; सुप्रतीकः—सुप्रतीक; अथ—तत्पश्चात्; तत्-सुतः—प्रतीकाश्व का पुत्र।

तत्पश्चात् दिवाक का पुत्र सहदेव होगा और उसका पुत्र महान् वीर बृहदाश्व होगा। बृहदाश्व से भानुमान होगा जिससे प्रतीकाश्व नाम का पुत्र होगा। प्रतीकाश्व का पुत्र सुप्रतीक होगा।

भविता मरुदेवोऽथ सुनक्षत्रोऽथ पुष्करः ।
तस्यान्तरिक्षस्तत्पुत्रः सुतपास्तदमित्रजित् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

भविता—उत्पन्न होगा; मरुदेवः—मरुदेव; अथ—तत्पश्चात्; सुनक्षत्रः—सुनक्षत्र; अथ—तत्पश्चात्; पुष्करः—पुष्कर; तस्य—पुष्कर का; अन्तरिक्षः—अन्तरिक्ष; तत्-पुत्रः—उसका पुत्र; सुतपाः—सुतपा; तत्—उससे; अमित्रजित्—अमित्रजित।

तत्पश्चात् सुप्रतीक से मरुदेव, मरुदेव से सुनक्षत्र, सुनक्षत्र से पुष्कर और पुष्कर से अन्तरिक्ष होगा जिसका पुत्र सुतपा होगा। सुतपा का पुत्र अमित्रजित होगा।

बृहद्राजस्तु तस्यापि बर्हिस्तस्मात्कृतञ्जयः ।
रणञ्जयस्तस्य सुतः सञ्जयो भविता ततः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

बृहद्राजः—बृहद्राज; तु—लेकिन; तस्य अपि—अमित्रजित का; बर्हिः—बर्हि; तस्मात्—बर्हि से; कृतञ्जयः—कृतञ्जय; रणञ्जयः—रणञ्जय; तस्य—कृतञ्जय का; सुतः—पुत्र; सञ्जयः—सञ्जय; भविता—होगा; ततः—रणञ्जय से।

अमित्रजित से बृहद्राज होगा, बृहद्राज से बर्हि, बर्हि से कृतञ्जय, कृतञ्जय से रणञ्जय और रणञ्जय से सञ्जय नामक पुत्र उत्पन्न होगा।

तस्माच्छाक्योऽथ शुद्धोदो लाङ्गलस्तत्सुतः स्मृतः ।
ततः प्रसेनजित्तस्मात्क्षुद्रको भविता ततः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—सञ्जय से; शाक्यः—शाक्य; अथ—तत्पश्चात्; शुद्धोदः—शुद्धोद; लाङ्गलः—लांगल; तत्-सुतः—शुद्धोद का पुत्र; स्मृतः—सुप्रसिद्ध; ततः—उससे; प्रसेनजित्—प्रसेनजित; तस्मात्—उससे; क्षुद्रकः—क्षुद्रक; भविता—जन्म लेगा; ततः—तत्पश्चात्।

सञ्जय से शाक्य, शाक्य से शुद्धोद, शुद्धोद से लांगल और लांगल से प्रसेनजित तथा प्रसेनजित से क्षुद्रक उत्पन्न होगा।

रणको भविता तस्मात्सुरथस्तनयस्ततः ।
सुमित्रो नाम निष्ठान्त एते बार्हद्बलान्वयाः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

रणकः—रणक; भविता—होगा; तस्मात्—क्षुद्रक से; सुरथः—सुरथ; तनयः—पुत्र; ततः—तत्पश्चात्; सुमित्रः—सुमित्र; नाम—नामक; निष्ठ-अन्तः—वंश के अन्त में; एते—उपर्युक्त सारे राजा; बार्हद्बल-अन्वयाः—राजा बृहद्बल के वंश में।

क्षुद्रक का पुत्र रणक, रणक का सुरथ, सुरथ का पुत्र सुमित्र होगा और इस तरह वंश का अन्त हो जायेगा। यह बृहद्बल के वंश का वर्णन है।

इक्ष्वाकूणामयं वंशः सुमित्रान्तो भविष्यति ।
यतस्तं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

इक्ष्वाकूणाम्—राजा इक्ष्वाकु के वंश का; अयम्—यह; वंशः—वंशज; सुमित्र-अन्तः—सुमित्र इस वंश के अन्तिम राजा के रूप में; भविष्यति—होगा, कलियुग में ही; यतः—क्योंकि; तम्—उसको; प्राप्य—पाकर; राजानम्—उस वंश के राजा के रूप में; संस्थाम्—अन्त; प्राप्स्यति—प्राप्त होगा; वै—निस्सन्देह; कलौ—कलियुग के अन्त में।

इक्ष्वाकु वंश का अन्तिम राजा सुमित्र होगा; उसके बाद सूर्यदेव के वंश में और कोई पुत्र न होगा और इस वंश का अन्त हो जायेगा।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध के अन्तर्गत ''भगवान् रामचन्द्र के पुत्र कुश की वंशावली'' नामक बारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तेरह

महाराज निमि की वंशावली

इस अध्याय में उस वंश का वर्णन हुआ है जिसमें प्रकाण्ड विद्वान जनक पैदा हुए थे। यह महाराज निमि का वंश है जो इक्ष्वाकु के पुत्र बतलाये जाते हैं।

जब महाराज निमि ने महान् यज्ञों का शुभारम्भ किया तो उन्होंने वसिष्ठ को मुख्य पुरोहित बनाया। चूँकि उन्होंने इन्द्रदेव का यज्ञ सम्पन्न करना पहले ही स्वीकार कर लिया था अतएव उन्होंने इनकार कर दिया और कहा कि वे इन्द्र के यज्ञ की समाप्ति तक प्रतीक्षा करें। लेकिन महाराज निमि ने प्रतीक्षा नहीं की। उन्होंने सोचा, ''जीवन अल्प है अतएव प्रतीक्षा करना ठीक नहीं।'' अतएव उन्होंने यज्ञ कराने के लिए दूसरा पुरोहित नियुक्त कर लिया। इस पर वसिष्ठजी राजा निमि पर बहुत क्रुद्ध हो गये और उन्होंने शाप दे डाला, ''तुम्हारी मृत्यु हो जाए।'' इस पर निमि भी बहुत क्रुद्ध हुए और उन्होंने बदले में कहा, ''तुम भी मर जाओ।'' इस तरह शाप और प्रतिशाप के कारण वे दोनों मर गये। इस घटना के बाद उर्वशी द्वारा मित्र तथा वरुण को मोहित किये जाने के फलस्वरूप वसिष्ठ ने पुन: जन्म लिया।

जो पुरोहित राजा निमि का यज्ञ कराने वाले थे उन्होंने निमि के शरीर को सुगन्धित रसायनों से सुरक्षित रखा। जब यज्ञ समाप्त हुआ तो पुरोहितों ने यज्ञशाला में आये समस्त देवताओं से प्रार्थना की कि निमि को जीवनदान दें लेकिन महाराज निमि ने भौतिक शरीर धारण करके फिर से जन्म लेने से मना कर दिया क्योंकि वे भौतिक शरीर को दूषित मानते थे। तब ऋषियों ने निमि के शरीर का मंथन किया जिसके फलस्वरूप जनक उत्पन्न हुए।

जनक के पुत्र का नाम उदावसु था। उदावसु का पुत्र नन्दिवर्धन हुआ, उसका पुत्र सुकेतु हुआ जिसके बाद क्रमश: देवराट, बृहद्रथ, महावीर्य, सुधृति, धृष्टकेतु, हर्यश्व, मरु, प्रतीपक, कृतरथ, देवमीढ, विश्रुत, महाधृति, कृतिरात, महारोमा, स्वर्णरोमा, ह्रस्वरोमा तथा शीरध्वज हुए। ये सभी पुत्र इस वंश में एक दूसरे के बाद हुए। शीरध्वज से सीतादेवी का जन्म हुआ। शीरध्वज का पुत्र कुशध्वज हुआ और कुशध्वज का पुत्र धर्मध्वज था। धर्मध्वज के दो पुत्र हुए—कृतध्वज तथा मितध्वज। कृतध्वज का पुत्र केशिध्वज हुआ और मितध्वज का खाण्डिक्य। केशिध्वज स्वरूपसिद्ध व्यक्ति था। उसके पुत्र का नाम भानुमान था जिससे आगे

के वंशज इस प्रकार हुए—शतद्युम्न, शुचि, सनद्वाज, ऊर्जकेतु, अज, पुरुजित, अरिष्टनेमि, श्रुतायु, सुपार्श्वक, चित्ररथ, क्षेमाधि, समरथ, सत्यरथ, उपगुरु, उपगुप्त, वस्वनन्त, युयुध, सुभाषण, श्रुत, जय, विजय, ऋत, सुनक, वीतहव्य, धृति, बहुलाश्व, कृति तथा महावशी। ये पुत्र सभी महान् आत्मसंयमी पुरुष थे। यही सम्पूर्ण वंशावली है।

श्रीशुक उवाच

निमिरिक्ष्वाकुतनयो वसिष्ठमवृतर्त्विजम् ।
आरभ्य सत्रं सोऽप्याह शक्रेण प्राग्वृतोऽस्मि भोः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; निमिः—राजा निमि ने; इक्ष्वाकु-तनयः—महाराज इक्ष्वाकु के पुत्र; वसिष्ठम्—वसिष्ठ को; अवृत—नियुक्त किया; ऋत्विजम्—यज्ञ का प्रमुख पुरोहित; आरभ्य—प्रारम्भ करके; सत्रम्—यज्ञ; सः—उसने, वसिष्ठ ने; अपि—भी; आह—कहा; शक्रेण—इन्द्र द्वारा; प्राक्—पहले से; वृतः अस्मि—नियुक्त हो चुका हूँ; भोः—हे राजा निमि।

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने कहा : यज्ञों का शुभारम्भ कराने के बाद इक्ष्वाकु पुत्र महाराज निमि ने वसिष्ठ मुनि से प्रधान पुरोहित का पद ग्रहण करने के लिए अनुरोध किया। उस समय वसिष्ठ ने उत्तर दिया, "हे महाराज निमि, मैंने इन्द्र द्वारा प्रारम्भ किये गये एक यज्ञ में इसी पद को पहले से स्वीकार कर रखा है।"

तं निर्वर्त्यागमिष्यामि तावन्मां प्रतिपालय ।
तूष्णीमासीद्गृहपतिः सोऽपीन्द्रस्याकरोन्मखम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस यज्ञ को; निर्वर्त्य—समाप्त करने के बाद; आगमिष्यामि—वापस आ जाऊँगा; तावत्—तब तक; माम्—मेरी; प्रतिपालय—प्रतीक्षा करो; तूष्णीम्—चुप; आसीत्—हो गया; गृह-पतिः—महाराज निमि; सः—उसने, वसिष्ठ ने; अपि—भी; इन्द्रस्य—इन्द्र के; अकरोत्—सम्पन्न किया; मखम्—यज्ञ को।

"मैं इन्द्र का यज्ञ पूरा कराकर यहाँ वापस आ जाऊँगा। कृपया तब तक मेरी प्रतीक्षा करें।" महाराज निमि चुप हो गए और वसिष्ठ इन्द्र का यज्ञ सम्पन्न करने में लग गये।

निमिश्चलमिदं विद्वान्सत्रमारभतात्मवान् ।
ऋत्विग्भिरपरैस्तावन्नागमद्यावता गुरुः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

निमिः—महाराज निमि ने; चलम्—किसी भी क्षण समाप्त होने वाले; इदम्—इस (जीवन) को; विद्वान्—इस तथ्य से भलीभाँति अवगत होकर; सत्रम्—यज्ञ को; आरभत—शुरू किया; आत्मवान्—स्वरूपसिद्ध व्यक्ति; ऋत्विग्भिः—पुरोहितों द्वारा; अपरैः—वसिष्ठ के अतिरिक्त अन्य; तावत्—उस समय तक; न—नहीं; आगमत्—लौट आया; यावता—जब तक; गुरुः—गुरु (वसिष्ठ)।

महाराज निमि स्वरूपसिद्ध जीव थे अतएव उन्होंने सोचा कि यह जीवन क्षणिक है; अतएव दीर्घकाल तक वसिष्ठ की प्रतीक्षा न करके उन्होंने अन्य पुरोहितों से यज्ञ सम्पन्न कराना शुरू कर दिया।

तात्पर्य : चाणक्य पण्डित का कथन है— *शरीरं क्षणविध्वंसि कल्पान्तस्थायिनो गुणाः*—इस संसार में मनुष्य की आयु किसी भी क्षण समाप्त हो सकती है, किन्तु यदि कोई इसी जीवन में कुछ उल्लेखनीय कार्य करता है तो इस गुण का अंकन इतिहास में सदा-सदा के लिए हो जाता है। महाराज निमि इस तथ्य को जानते थे। मानव जीवन पाकर मनुष्य को इस तरह कर्म करना चाहिए जिससे वह अन्त में भगवद्धाम जा सके। यही आत्म-साक्षात्कार है।

शिष्यव्यतिक्रमं वीक्ष्य तं निर्वर्त्यागतो गुरुः ।
अशपत्पतताद्देहो निमेः पण्डितमानिनः ॥ ४॥

शब्दार्थ

शिष्य-व्यतिक्रमम्—शिष्य द्वारा गुरु के आदेश से विचलन को; वीक्ष्य—देखकर; तम्—इन्द्र द्वारा किया जाने वाले यज्ञ को; निर्वर्त्य—समाप्त करके; आगतः—लौटने पर; गुरुः—वसिष्ठ मुनि; अशपत्—निमि महाराज को शाप दे दिया; पततात्—पतन हो जाय, नष्ट हो जाय; देहः—भौतिक शरीर; निमेः—निमि का; पण्डित-मानिनः—जो अपने को इतना पण्डित मानता है (जिससे कि वह अपने गुरु की अवज्ञा कर रहा है)।

इन्द्र का यज्ञ सम्पन्न कर लेने के बाद गुरु वसिष्ठ वापस आये तो उन्होंने देखा कि उनके शिष्य महाराज निमि ने उनके आदेशों का उल्लंघन कर दिया है। अतएव उन्होंने निमि को शाप दिया, "अपने को पण्डित मानने वाले निमि का भौतिक शरीर तुरन्त ही नष्ट हो जाय।"

निमिः प्रतिददौ शापं गुरवेऽधर्मवर्तिने ।
तवापि पतताद्देहो लोभाद्धर्ममजानतः ॥ ५॥

शब्दार्थ

निमिः—निमि महाराज ने; प्रतिददौ शापम्—उलट कर शाप दे डाला; गुरवे—अपने गुरु वसिष्ठ को; अधर्म-वर्तिने—अधर्म को प्रोत्साहन देने वाले (क्योंकि उन्होंने अपने अपराधरहित शिष्य को शाप दे दिया था); तव—तुम्हारा; अपि—भी; पततात्—पतन हो जाय; देहः—शरीर का; लोभात्—लोभवश; धर्मम्—धर्म को; अजानतः—न जानते हुए।

महाराज निमि द्वारा किसी प्रकार का अपराध न किये जाने पर व्यर्थ ही गुरु द्वारा शापित होने पर

उन्होंने भी बदले में शाप दिया, ''स्वर्ग के राजा इन्द्र से भेंट पाने के निमित्त आपने अपनी धार्मिक बुद्धि खो दी है; अतएव मेरा शाप है कि आपका भी शरीरपात हो जाय।''

तात्पर्य : ब्राह्मण का धर्म है कि वह तनिक भी लोभी न हो। किन्तु यहाँ पर इन्द्र से अधिक पारिश्रमिक पाने के लिए वसिष्ठ ने इस लोक में महाराज निमि की प्रार्थना की उपेक्षा की और जब निमि ने अन्य पुरोहितों की सहायता से यज्ञ सम्पन्न करा लिया तो वसिष्ठ ने व्यर्थ ही उसे शाप दे डाला। जब कोई व्यक्ति दूषित कर्मों के सम्पर्क में आता है तो उसकी शक्ति चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक घट जाती है। यद्यपि वसिष्ठ महाराज निमि के गुरु थे, किन्तु लोभ के कारण उनका पतन हुआ।

इत्युत्ससर्ज स्वं देहं निमिरध्यात्मकोविदः ।
मित्रावरुणयोर्जज्ञे उर्वश्यां प्रपितामहः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उत्ससर्ज—त्याग दिया; स्वम्—अपना; देहम्—शरीर; निमिः—महाराज निमि ने; अध्यात्म-कोविदः—आध्यात्मिक ज्ञान से पूर्णतया अवगत; मित्रा-वरुणयोः—मित्र तथा वरुण के वीर्य से (उर्वशी को देखकर स्खलित); जज्ञे—उत्पन्न हुए; उर्वश्याम्—स्वर्गलोक की अप्सरा उर्वशी से; प्रपितामहः—वसिष्ठ, जो प्रपितामह कहलाते थे।

यह कहकर अध्यात्म में पटु महाराज निमि ने अपना शरीर छोड़ दिया। प्रपितामह वसिष्ठ ने भी अपना शरीर त्याग दिया, किन्तु मित्र तथा वरुण के वीर्य से उर्वशी के गर्भ से उन्होंने पुनः जन्म लिया।

तात्पर्य : मित्र तथा वरुण की भेंट स्वर्गलोक की परम सुन्दर अप्सरा उर्वशी से हुई तो वे दोनों कामासक्त हो उठे। मुनि होने के कारण उन्होंने भरसक अपनी कामवासना को रोकना चाहा, किन्तु वे ऐसा नहीं कर पाये अतएव उनका वीर्य स्खलित हो गया। यह वीर्य एक जलपात्र में रखा गया और इसीसे वसिष्ठ उत्पन्न हुए।

गन्धवस्तुषु तद्देहं निधाय मुनिसत्तमाः ।
समाप्ते सत्रयागे च देवानूचुः समागतान् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

गन्ध-वस्तुषु—सुगन्धित वस्तुओं में; तत्-देहम्—महाराज निमि के शरीर को; निधाय—सुरक्षित रखकर; मुनि-सत्तमाः—वहाँ एकत्र महान् ऋषियों ने; समाप्ते सत्र-यागे—सत्र नामक यज्ञ के समाप्त होने पर; च—भी; देवान्—देवताओं से; ऊचुः—बोले; समागतान्—वहाँ पर एकत्र हुए।

यज्ञ सम्पन्न करते समय महाराज निमि द्वारा त्यक्त शरीर को सुगन्धित वस्तुओं द्वारा सुरक्षित रखा गया और सत्रयाग के अन्त में मुनियों तथा ब्राह्मणों ने वहाँ एकत्रित सारे देवताओं से निम्नलिखित प्रार्थना की।

राज्ञो जीवतु देहोऽयं प्रसन्नाः प्रभवो यदि ।
तथेत्युक्ते निमिः प्राह मा भून्मे देहबन्धनम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

राज्ञः—राजा का; जीवतु—जीवित हो उठे; देहः अयम्—यह देह (जो सुरक्षित है); प्रसन्नाः—अत्यधिक प्रसन्न; प्रभवः—इसे करने में समर्थ; यदि—यदि; तथा—ऐसा ही हो; इति—इस प्रकार; उक्ते—(देवताओं द्वारा) कहा जाने पर; निमिः—निमि महाराज ने; प्राह—कहा; मा भूत्—मत करो; मे—मेरा; देह-बन्धनम्—भौतिक शरीर में बन्दी बनाना।

''यदि आप इस यज्ञ से संतुष्ट हैं और यदि वास्तव में आप ऐसा करने में समर्थ हों तो कृपया इस शरीर में महाराज निमि को फिर से जीवित कर दें।'' देवताओं ने मुनियों की यह प्रार्थना स्वीकर कर ली, किन्तु महाराज निमि ने कहा, ''कृपया मुझे भौतिक शरीर में पुनः बन्दी न बनाएँ।''

तात्पर्य : देवतागण मनुष्यों से कई गुना ऊँचे पद पर होते हैं। इसलिए ऋषियों तथा मुनियों ने अत्यन्त शक्तिशाली ब्राह्मण होते हुए भी देवताओं से प्रार्थना की कि वे महाराज निमि के शरीर को फिर से जीवित कर दें जिसे सुगन्धित लेपों में रखकर सुरक्षित किया गया था। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि देवतागण इन्द्रियभोग में ही बलशाली हैं प्रत्युत वे मृत शरीर को जीवित करने जैसा कार्य भी कर सकते हैं। वैदिक साहित्य में ऐसे कितने ही उदाहरण भरे पड़े हैं। उदाहरणार्थ, सावित्री-सत्यवान कथा में सत्यवान मर चुका था और उसे यमराज ले जा रहे थे, किन्तु पत्नी सावित्री के आग्रह पर सत्यवान का वही शरीर फिर से जीवित हो उठा था। यह देवताओं की शक्ति के बारे में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है।

यस्य योगं न वाञ्छन्ति वियोगभयकातराः ।
भजन्ति चरणाम्भोजं मुनयो हरिमेधसः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिस शरीर का; योगम्—स्पर्श; न—नहीं; वाञ्छन्ति—ज्ञानी चाहते; वियोग-भय-कातराः—शरीर को पुनः त्यागने से भयभीत; भजन्ति—दिव्य सेवा करते हैं; चरण-अम्भोजम्—भगवान् के चरणकमलों की; मुनयः—बड़े-बड़े मुनि; हरि-मेधसः—जिनकी चेतना सदैव हरि के विचारों मे मग्न रहती है।

महाराज निमि ने आगे कहा : सामान्य रूप से मायावादी लोग भौतिक शरीर धारण नहीं करना

चाहते हैं क्योंकि उन्हें उसका त्याग करने में भय लगता है। किन्तु जिन भक्तों की चेतना सदैव भगवान् की सेवा से पूरित रहती है वे भयभीत नहीं रहते। निस्सन्देह, वे इस शरीर का उपयोग भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में करते हैं।

तात्पर्य : महाराज निमि भौतिक शरीर ग्रहण करना नहीं चाह रह थे क्योंकि वह बन्धन का कारण बनता। भक्त होने के कारण वे ऐसा शरीर चाहते थे जिसका उपयोग भगवान् की भक्ति करने के लिए किया जा सके।

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर का गीत है—

जन्माओबि मोरे इच्छा यदि तोर

भक्तगृहे जनि जन्म हउ मोर

कीटजन्म हउ यथा तुया दास

''हे प्रभु! यदि आप चाहते हैं कि मैं जन्म लेकर पुनः भौतिक शरीर धारण करूँ तो मुझ पर यह कृपा कीजिए कि मैं आपसे दास, आपके भक्त, के घर में जन्म लूँ। तब मुझे कीट जैसे तुच्छ जीव के रूप में भी जन्म लेने में कोई आपत्ति नहीं होगी।'' श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी कहा है—

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।

मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

''हे ब्रह्माण्ड के स्वामी! मैं न तो धन चाहता हूँ, न अनुयायी, न सुन्दर पत्नी, न लच्छेदार भाषा में वर्णित सकाम कर्म। मेरी तो यही अभिलाषा है कि जन्म-जन्मांतर आपकी अहैतुकी भक्ति करता रहूँ।'' (*शिक्षाष्टक* ४) *जन्मनि जन्मनि* कहने से महाप्रभु का तात्पर्य सामान्य जन्म नहीं अपितु ऐसा जन्म है जिसमें वे भगवान् के चरणकमलों का स्मरण कर सकें। ऐसा शरीर वाञ्छनीय है। भक्त कभी भी योगियों तथा ज्ञानियों की तरह नहीं सोचता क्योंकि ये लोग भौतिक शरीर का बहिष्कार करके निर्विशेष ब्रह्मज्योति में समाहित होना चाहते हैं। भक्त को यह विचार-धारा पसन्द नहीं है। उल्टे, वह भौतिक या आध्यात्मिक शरीर में से किसी को भी स्वीकार करने को तैयार है क्योंकि वह भगवान् की सेवा करना चाहता है। यही असली मुक्ति है।

यदि कोई भगवान् की सेवा करने के लिए प्रबल इच्छुक है और यदि वह भौतिक शरीर स्वीकार भी कर ले तो कोई चिन्ता की बात नहीं रहती क्योंकि भक्त इसी भौतिक शरीर में मुक्त रहता है। इसकी पुष्टि श्रील रूप गोस्वामी द्वारा हुई है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्त: स उच्यते॥

''जो व्यक्ति मनसा, वाचा, कर्मणा कृष्णभावना में (या, दूसरे शब्दों में कृष्ण सेवा में) कर्म करता है वह इस जगत में रहते हुए भी मुक्तात्मा होता है भले ही वह तथाकथित अनेक भौतिक कार्यकलापों में व्यस्त क्यों न हो।'' भगवान् की सेवा करने की इच्छा मनुष्य को जीवन की किसी भी अवस्था में मुक्त बनाने वाली है चाहे वह आध्यात्मिक शरीर हो या भौतिक शरीर। आध्यात्मिक शरीर में भक्त भगवान् का प्रत्यक्ष संगी बन जाता है, किन्तु ऊपरी तौर पर भौतिक शरीर में रहते हुए भी भक्त सदैव मुक्त रहता है और भगवान् की सेवा में उसी तरह लगा रहता है जिस तरह वैकुण्ठलोक का भक्त। उनमें कोई अन्तर नहीं रहता। कहा गया है—*साधुर्जीवो वा मरो वा*—भक्त चाहे जीवित हो या मृत हो उसकी एकमात्र चिन्ता भगवान् की सेवा करना है। *त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति।* जब वह शरीर छोड़ता है तो वह सीधे भगवान् का संगी तथा सेवा करने वाला हो जाता है, यद्यपि भौतिक जगत में भी भौतिक शरीर से वह यही काम करता होता है।

भक्त के लिए पीड़ा, हर्ष या भौतिक सिद्धि कुछ नहीं हैं। कोई यह तर्क कर सकता है कि मृत्यु के समय भक्त को भी शरीर त्याग करने के कारण कष्ट मिलता है। इस प्रसंग में उस बिल्ली का उदाहरण दिया जा सकता है जो अपने मुँह में चूहा तथा अपना बच्चा दोनों को पकड़ कर ले जाती है। चूहा तथा बिल्ली का बच्चा दोनों ही उसी मुँह में पकड़े जाकर ले जाये जाते हैं, किन्तु चूहे की जो अनुभूति होती है वह बिल्ली के बच्चे से भिन्न होती है। जब भक्त शरीर छोड़ता है (*त्यक्त्वा देहम्*) तो वह भगवद्धाम जाने के लिए तैयार होता है। अतएव उसकी अनुभूति उस व्यक्ति से निश्चित रूप से भिन्न होती है जिसे यमराज दण्ड देने के लिए ले जाता है। जिस व्यक्ति की चेतना सदैव भगवान् की सेवा में केन्द्रित रहती है वह भौतिक शरीर धारण करने से घबराता नहीं, किन्तु जो अभक्त भगवान् की सेवा में नहीं लगा रहता वह भौतिक शरीर

ग्रहण करने या इस शरीर को छोड़ने से बहुत भयभीत रहता है। अतएव हमें महाप्रभु चैतन्य के उपदेश का सदैव पालन करना चाहिए—*मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि।* चाहे हम भौतिक शरीर प्राप्त करें या आध्यात्मिक शरीर, इस से कोई अन्तर नहीं पड़ता; हमारी एकमात्र अभिलाषा भगवान् की सेवा करना होनी चाहिए।

देहं नावरुरुत्सेऽहं दुःखशोकभयावहम् ।
सर्वत्रास्य यतो मृत्युर्मत्स्यानामुदके यथा ॥ १० ॥

शब्दार्थ

देहम्—भौतिक शरीर; न—नहीं; अवरुरुत्से—धारण करने की इच्छा करता हूँ; अहम्—मैं; दुःख-शोक-भय-आवहम्—जो सारे कष्ट, संताप तथा भय का कारण है; सर्वत्र—सभी जगह, विश्वभर में; अस्य—जीव का, जिसने शरीर धारण किया है; यतः—क्योंकि; मृत्युः—मृत्यु; मत्स्यानाम्—मछलियों को; उदके—जल के भीतर रहने वाली; यथा—सदृश।

मैं भौतिक शरीर पाने का इच्छुक नहीं हूँ क्योंकि ऐसा शरीर विश्वभर में सर्वत्र दुख, शोक तथा भय का कारण होता है जिस तरह कि जल में रहने वाली मछली मृत्यु के भय से सदैव चिन्ताग्रस्त रहती है।

तात्पर्य : चाहे उच्चलोक हो या अधोलोक, भौतिक शरीर की मृत्यु ध्रुव है। जीव जब अधोलोक में या निम्न योनि में होता है तो वह अल्पकाल में मर जाता है और उच्चलोक में या उच्च योनि में जीव दीर्घकाल तक जीवित रहता है, किन्तु मृत्यु निश्चित है। इस तथ्य को समझना चाहिए। मनुष्य-जीवन पाकर मानव को तपस्या द्वारा जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग को समाप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। मानव सभ्यता का उद्देश्य है *मृत्युसंसारवर्त्मनि* अर्थात् जन्म-मृत्यु के चक्कर को रोकना। यह तभी सम्भव है जब मनुष्य कृष्णभावनाभावित हो अर्थात् वह भगवान् के चरणकमलों की शरण में जा चुका हो। अन्यथा उसे इस भौतिक संसार में पड़े-पड़े सड़ना होगा और जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग से प्रभावित होने वाला भौतिक शरीर धारण करना होगा।

यहाँ पर जल में रहने वाली मछली का उदाहरण दिया गया है। यद्यपि जल मछली के रहने के लिए अत्यन्त उपयुक्त स्थान है, किन्तु मछली कभी भी मृत्यु की चिन्ता से मुक्त नहीं हो पाती क्योंकि बड़ी-बड़ी मछलियाँ छोटी-छोटी मछलियों को खाने के लिए सदा उत्सुक रहती हैं। *फल्गूनि तत्र महताम्*—सारे जीव अपने से बड़े जीवों के ग्रास बनते हैं। यही प्रकृति की रीति है।

अहस्तानि सहस्तानामपदानि चतुष्पदाम्।

फल्गूनि तत्र महतां जीवोजीवस्य जीवनम्॥

“जो बिना हाथ वाले जीव हैं वे हाथ वाले जीवों के शिकार बनते हैं, जो पावों से विहीन हैं वे चौपायों के शिकार होते हैं। निर्बल बलवानों के अधीन होते हैं और यह सामान्य नियम लागू होता है कि एक जीव दूसरे का आहार होता है।” (*भागवत* १.१३.४७) भगवान् ने इस संसार की ऐसी रचना की है कि एक जीव दूसरे का भोजन बना हुआ है। इस तरह जीवन-संघर्ष चल रहा है और यद्यपि हम योग्यतम की उत्तरजीविता की बातें करते हैं, किन्तु कोई भी जीव भगवद्भक्त हुए बिना मृत्यु से बच नहीं सकता। *हरिं विना नैव सृतिं तरन्ति*—भक्त बने बिना कोई भी जन्म-मृत्यु के चक्र से छूट नहीं सकता। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.३) में भी हुई है—*अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।* जिसे कृष्ण के चरणारविन्दों की शरण नहीं प्राप्त हो पाती उसे जन्म-मृत्यु के चक्र में ऊपर-नीचे घूमना पड़ता है।

देवा ऊचुः
विदेह उष्यतां कामं लोचनेषु शरीरिणाम् ।
उन्मेषणनिमेषाभ्यां लक्षितोऽध्यात्मसंस्थितः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

देवाः ऊचुः—देवताओं ने कहा; विदेहः—बिना भौतिक शरीर के; उष्यताम्—तुम जीवित रहो; कामम्—जैसी तुम्हारी इच्छा है; लोचनेषु—दृष्टि में; शरीरिणाम्—भौतिक शरीर वालों का; उन्मेषण-निमेषाभ्याम्—इच्छानुसार प्रकट तथा अप्रकट होओ; लक्षितः—देखे जाकर; अध्यात्म-संस्थितः—आध्यात्मिक शरीर में रहते हुए।

देवताओं ने कहा : महाराज निमि भौतिक शरीर से विहीन होकर रहें। वे आध्यात्मिक शरीर से भगवान् के निजी पार्षद बन कर रहें और वे अपनी इच्छानुसार जब चाहें सामान्य देहधारी लोगों को दिखें या न दिखें।

तात्पर्य : देवता चाहते थे कि महाराज निमि जीवित हो उठें, किन्तु वे दूसरा भौतिक शरीर धारण करना नहीं चाह रहे थे। ऐसी दशा में ऋषियों की प्रार्थना पर देवताओं ने निमि को वर दिया कि वे अपने आध्यात्मिक शरीर में रहते रहें। जैसा सामान्य रूप से आम लोग समझते हैं, आध्यात्मिक शरीर दो प्रकार के होते हैं। कभी-कभी वह प्रेतात्मक शरीर का द्योतक होता है। जब कोई दुरात्मा व्यक्ति पापकर्म करते हुए मरता है तो कभी कभी दण्ड मिलता है जिस से उसे पाँच तत्त्वों वाला स्थूल भौतिक शरीर नहीं प्राप्त होता

अपितु वह मन, बुद्धि तथा अहंकार वाले सूक्ष्म शरीर को प्राप्त होता है। किन्तु *भगवद्गीता* में बतलाया गया है कि भक्तगण भौतिक शरीर त्यागने के बाद समस्त भौतिक कलुषों से मुक्त आध्यात्मिक शरीर प्राप्त करते हैं (*त्यक्त्वां देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन*)—इस तरह देवताओं ने राजा निमि को वर दिया कि वे शुद्ध आध्यात्मिक शरीर में रह सकेंगे जो समस्त स्थूल तथा सूक्ष्म भौतिक कल्मष से रहित होता है।

भगवान् अपनी दिव्य इच्छानुसार दृश्य या अदृश्य रहते हैं। इसी प्रकार भक्त जीवन्मुक्त होकर अपनी इच्छानुसार दृश्य या अदृश्य रह सकता है। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*नाहं प्रकाश: सर्वस्य योगमायासमावृत:*—भगवान् कृष्ण हर किसी के लिए व्यक्त नहीं हैं। वे सामान्य व्यक्ति के लिए अदृश्य ही बने रहते हैं। अत: *श्रीकृष्ण-नामादि न भवेद् ग्राह्यम् इन्द्रियै*—कृष्ण तथा उनके नाम, यश, गुण एवं साज-सामान भौतिक रूप से समझ में नहीं आते। जब तक कोई आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ा हुआ न हो (*सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ*) तब तक वह कृष्ण को देख नहीं सकता। अतएव कृष्ण को देखने की शक्ति उन्हीं की कृपा पर निर्भर करती है। अपनी इच्छानुसार देखे जाने या न देखे जाने का यही विशेषाधिकार महाराज निमि को दिया गया। इस प्रकार वे अपने मूल आध्यात्मिक शरीर से भगवान् के पार्षद के रूप में बने रहे।

अराजकभयं नृणां मन्यमाना महर्षय: ।
देहं ममन्थु: स्म निमे: कुमार: समजायत ॥ १२॥

शब्दार्थ

अराजक-भयम्—अराजकता फैलने के भय से; नृणाम्—सामान्य लोगों के लिए; मन्यमाना:—इस स्थिति पर विचार करते हुए; महा-ऋषय:—महान् ऋषियों ने; देहम्—शरीर को; ममन्थु:—मथा; स्म—भूतकाल में; निमे:—महाराज निमि के; कुमार:—एक पुत्र; समजायत—उत्पन्न हुआ।

तत्पश्चात् लोगों को अराजकता के भय से बचाने के लिए ऋषियों ने निमि महाराज के भौतिक शरीर को मथा जिसके फलस्वरूप शरीर से एक पुत्र उत्पन्न हुआ।

तात्पर्य : *अराजक भयम्*—यदि सरकार अस्थिर एवं अनियमित रहे तो लोगों को भय बना रहता है। वर्तमान समय में यह भय निरन्तर बना हुआ है क्योंकि जनता की सरकार है। यहाँ हम देखते हैं कि ऋषियों ने निमि के भौतिक शरीर से एक पुत्र की प्राप्ति की जो जनता का सही ढंग से मार्गदर्शन कर सके क्योंकि क्षत्रिय राजा का यह धर्म है। क्षत्रिय वह है जो प्रजा को हानि से बचाता है। तथाकथित जनता की सरकार में कोई प्रशिक्षित क्षत्रिय राजा नहीं रहता। अतएव ज्योंही कोई व्यक्ति मतों को एकत्र करके प्रबल बन जाता है

त्योंही वह शास्त्रनिपुण विद्वान पण्डितों से प्रशिक्षण प्राप्त किये बिना ही मंत्री या राष्ट्रपति बन जाता है। हम देखते हैं कि कुछ देशों में तो सरकार एक दल से दूसरे दल की सरकार में बदल जाती है अतएव सरकार का भार सँभालने वाले लोग इसकी परवाह नहीं करते कि जनता सुखी है या नहीं, उन्हें तो अपनी कुर्सी बचाने की पड़ी रहती है। वैदिक सभ्यता राजतंत्र को वरीयता देती रही है। जनता को भगवान् रामचन्द्र की सरकार पसन्द थी, उसे महाराज युधिष्ठिर की सरकार पसन्द थी और महाराज परीक्षित, महाराज अम्बरीष तथा महाराज प्रह्लाद की सरकारें पसन्द थीं। राजा के अधीन उत्तमोत्तम सरकारों के उदाहरण मिलते हैं। धीरे-धीरे प्रजातांत्रिक सरकारें लोगों की आवश्यकताएँ पूरी करने में अक्षम होती जा रही हैं अतएव कुछ दल तानाशाह चुनने का प्रयत्न कर रहे हैं। तानाशाही भी राजतंत्र जैसी है, किन्तु प्रशिक्षित नेता से विहीन। वस्तुतः जनता तब सुखी होगी जब कोई प्रशिक्षित नेता, चाहे राजा या तानाशाह के रूप में, सरकार का भार ले और शास्त्रों के विधानों के अनुसार जनता पर शासन करे।

जन्मना जनकः सोऽभूद्वैदेहस्तु विदेहजः ।
मिथिलो मथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

जन्मना—जन्म से; जनकः—सामान्य विधि से नहीं अपितु असामान्य रूप से जन्मा; सः—वह; अभूत्—बना; वैदेहः—वैदेह; तु—लेकिन; विदेह-जः—महाराज निमि के शरीर से उत्पन्न, जिन्होंने भौतिक शरीर त्याग दिया था; मिथिलः—मिथिल नाम से भी विख्यात; मथनात्—अपने पिता के शरीर के मन्थन से; जातः—उत्पन्न; मिथिला—मिथिला नामक राज्य; येन—जिसके (जनक) द्वारा; निर्मिता—बनाया गया।

असामान्य विधि से उत्पन्न होने के कारण वह पुत्र जनक कहलाया और चूँकि वह अपने पिता के मृत शरीर से उत्पन्न हुआ था अतएव वह वैदेह कहलाया। अपने पिता के भौतिक शरीर के मन्थन से उत्पन्न होने से वह मिथिल कहलाया और उसने राजा मिथलि के रूप में जो नगर निर्मित किया वह मिथिला कहलाया।

तस्मादुदावसुस्तस्य पुत्रोऽभून्नन्दिवर्धनः ।
ततः सुकेतुस्तस्यापि देवरातो महीपते ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—मिथिल से; उदावसुः—उदावसु नाम का पुत्र; तस्य—उसका; पुत्रः—पुत्र; अभूत्—हुआ; नन्दिवर्धनः—नन्दिवर्धन; ततः—उससे; सुकेतुः—सुकेतु; तस्य—सुकेतु का; अपि—भी; देवरातः—देवरात; महीपते—हे राजा परीक्षित।

हे राजा परीक्षित, मिथिल से जो पुत्र उत्पन्न हुआ वह उदावसु कहलाया; उदावसु से नन्दिवर्धन; नन्दिवर्धन से सुकेतु और सुकेतु से देवरात उत्पन्न हुआ।

तस्माद्बृहद्रथस्तस्य महावीर्यः सुधृत्पिता ।
सुधृतेर्धृष्टकेतुर्वै हर्यश्वोऽथ मरुस्ततः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—देवरात से; बृहद्रथः—बृहद्रथ; तस्य—उसका; महावीर्यः—महावीर्य; सुधृत्-पिता—सुधृति का पिता बना; सुधृतेः—सुधृति से; धृष्टकेतुः—धृष्टकेतु; वै—निस्सन्देह; हर्यश्वः—हर्यश्व; अथ—तत्पश्चात्; मरुः—मरु; ततः—उसके बाद।

देवरात से बृहद्रथ नामक पुत्र हुआ और बृहद्रथ का पुत्र महावीर्य हुआ जो सुधृति का पिता बना। सुधृति का पुत्र धृष्टकेतु कहलाया और धृष्टकेतु से हर्यश्व हुआ। हर्यश्व का पुत्र मरु हुआ।

मरोः प्रतीपकस्तस्माज्जातः कृतरथो यतः ।
देवमीढस्तस्य पुत्रो विश्रुतोऽथ महाधृतिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

मरोः—मरु का; प्रतीपकः—प्रतीपक; तस्मात्—प्रतीपक से; जातः—उत्पन्न हुआ; कृतरथः—कृतरथ; यतः—जिससे; देवमीढः—देवमीढ; तस्य—उसका; पुत्रः—पुत्र; विश्रुतः—विश्रुत; अथ—उससे; महाधृतिः—महाधृति नामक पुत्र।

मरु का पुत्र प्रतीपक हुआ और प्रतीपक का पुत्र कृतरथ हुआ। कृतरथ से देवमीढ, देवमीढ से विश्रुत एवं विश्रुत से महाधृति हुआ।

कृतिरातस्ततस्तस्मान्महारोमा च तत्सुतः ।
स्वर्णरोमा सुतस्तस्य ह्रस्वरोमा व्यजायत ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

कृतिरातः—कृतिरात; ततः—महाधृति से; तस्मात्—कृतिरात से; महारोमा—महारोमा; च—भी; तत्-सुतः—उसका पुत्र; स्वर्णरोमा—स्वर्णरोमा; सुतः तस्य—उसका पुत्र; ह्रस्वरोमा—ह्रस्वरोमा; व्यजायत—उत्पन्न हुए।

महाधृति से कृतिरात नामक पुत्र हुआ, कृतिरात से महारोमा हुआ, महारोमा से स्वर्णरोमा और स्वर्णरोमा से ह्रस्वरोमा उत्पन्न हुआ।

ततः शीरध्वजो जज्ञे यज्ञार्थं कर्षतो महीम् ।
सीता शीराग्रतो जाता तस्मात्शीरध्वजः स्मृतः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ततः—ह्स्वरोमा से; शीरध्वजः—शीरध्वज; जज्ञे—उत्पन्न हुआ; यज्ञ-अर्थम्—यज्ञ करने के लिए; कर्षतः—भूमि जोतते समय; महीम्—पृथ्वी को; सीता—सीतादेवी, रामचन्द्र की पत्नी; शीर-अग्रतः—हल के अग्रभाग से; जाता—उत्पन्न हुई; तस्मात्—इसलिए; शीरध्वजः—शीरध्वज; स्मृतः—विख्यात हुआ।

ह्रस्वरोमा से शीरध्वज (जिसका नाम जनक भी था) नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। जब वह खेत जोत रहा था तो उसके हल (शीर) के अग्रभाग से सीतादेवी नामक कन्या प्रकट हुई जो बाद में भगवान् रामचन्द्र की पत्नी बनी। इस तरह वह शीरध्वज कहलाया।

कुशध्वजस्तस्य पुत्रस्ततो धर्मध्वजो नृपः ।
धर्मध्वजस्य द्वौ पुत्रौ कृतध्वजमितध्वजौ ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

कुशध्वजः—कुशध्वज; तस्य—उसका; पुत्रः—पुत्र; ततः—उससे; धर्मध्वजः—धर्मध्वज; नृपः—राजा; धर्मध्वजस्य—धर्मध्वज के; द्वौ—दो; पुत्रौ—पुत्र; कृतध्वज-मितध्वजौ—कृतध्वज तथा मितध्वज।

शीरध्वज का पुत्र कुशध्वज हुआ और कुशध्वज का पुत्र राजा धर्मध्वज हुआ जिसके कृतध्वज तथा मितध्वज नाम के दो पुत्र हुए।

कृतध्वजात्केशिध्वजः खाण्डिक्यस्तु मितध्वजात् ।
कृतध्वजसुतो राजन्नात्मविद्याविशारदः ॥ २० ॥
खाण्डिक्यः कर्मतत्त्वज्ञो भीतः केशिध्वजाद्द्रुतः ।
भानुमांस्तस्य पुत्रोऽभूच्छतद्युम्नस्तु तत्सुतः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कृतध्वजात्—कृतध्वज से; केशिध्वजः—केशिध्वज; खाण्डिक्यः तु—तथा खाण्डिक्य नामक पुत्र भी; मितध्वजात्—मितध्वज से; कृतध्वज-सुतः—कृतध्वज का पुत्र; राजन्—हे राजा; आत्म-विद्या-विशारदः—आत्मविद्या में पटु; खाण्डिक्यः—राजा खाण्डिक्य; कर्म-तत्त्व-ज्ञः—वैदिक कर्मकांड में पटु; भीतः—डरते हुए; केशिध्वजात्—केशिध्वज से; द्रुतः—भाग गया; भानुमान्—भानुमान; तस्य—केशिध्वज का; पुत्रः—पुत्र; अभूत्—था; शतद्युम्नः—शतद्युम्न; तु—लेकिन; तत्-सुतः—भानुमान का पुत्र।

हे महाराज परीक्षित, कृतध्वज का पुत्र केशिध्वज हुआ और मितध्वज का पुत्र खाण्डिक्य था। कृतध्वज का पुत्र आध्यात्मिक ज्ञान में पटु था और मितध्वज का पुत्र वैदिक कर्मकाण्ड में। खाण्डिक्य केशिध्वज के भय से भाग गया। केशिध्वज का पुत्र भानुमान था और भानुमान का पुत्र शतद्युम्न हुआ।

शुचिस्तु तनयस्तस्मात्सनद्वाजः सुतोऽभवत् ।
ऊर्जकेतुः सनद्वाजादजोऽथ पुरुजित्सुतः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

शुचिः—शुचि; तु—लेकिन; तनयः—पुत्र; तस्मात्—उससे; सनद्वाजः—सनद्वाज; सुतः—पुत्र; अभवत्—पैदा हुआ; ऊर्जकेतुः—ऊर्जकेतु; सनद्वाजात्—सनद्वाज से; अजः—अज; अथ—तत्पश्चात्; पुरुजित्—पुरुजित; सुतः—पुत्र।

शतद्युम्न के पुत्र का नाम शुचि था। शुचि से सनद्वाज उत्पन्न हुआ और सनद्वाज का पुत्र ऊर्जकेतु था। ऊर्जकेतु का पुत्र अज था और अज का पुत्र पुरुजित हुआ।

अरिष्टनेमिस्तस्यापि श्रुतायुस्तत्सुपार्श्वकः ।
ततश्चित्ररथो यस्य क्षेमाधिर्मिथिलाधिपः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अरिष्टनेमिः—अरिष्टनेमि; तस्य अपि—पुरुजित का भी; श्रुतायुः—श्रुतायु; तत्—उससे; सुपार्श्वकः—सुपार्श्वक; ततः—उससे; चित्ररथः—चित्ररथ; यस्य—जिसका; क्षेमाधिः—क्षेमाधि; मिथिला-अधिपः—मिथिला का राजा हुआ।

पुरुजित का पुत्र अरिष्टनेमि हुआ, जिसका पुत्र श्रुतायु हुआ, श्रुतायु का पुत्र सुपार्श्वक था और उसका पुत्र चित्ररथ था। चित्ररथ का पुत्र क्षेमाधि था जो मिथिला का राजा बना।

तस्मात्समरथस्तस्य सुतः सत्यरथस्ततः ।
आसीदुपगुरुस्तस्मादुपगुप्तोऽग्निसम्भवः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—क्षेमाधि से; समरथः—समरथ; तस्य—उसका; सुतः—पुत्र; सत्यरथः—सत्यरथ; ततः—उससे; आसीत्—हुआ; उपगुरुः—उपगुरु; तस्मात्—उससे; उपगुप्तः—उपगुप्त; अग्नि-सम्भवः—अग्निदेव का अंशरूप।

क्षेमाधि का पुत्र समरथ हुआ और उसका पुत्र सत्यरथ था। सत्यरथ का पुत्र उपगुरु हुआ और उपगुरु का पुत्र उपगुप्त हुआ जो अग्निदेव का अंशरूप था।

वस्वनन्तोऽथ तत्पुत्रो युयुधो यत्सुभाषणः ।
श्रुतस्ततो जयस्तस्माद्विजयोऽस्माद‍ृतः सुतः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

वस्वनन्तः—वस्वनन्त; अथ—तत्पश्चात्; तत्-पुत्रः—उसका पुत्र; युयुधः—युयुध नामक; यत्—जिससे; सुभाषणः—सुभाषण; श्रुतः ततः—तथा उससे श्रुत हुआ; जयः तस्मात्—उससे जय हुआ; विजयः—विजय; अस्मात्—जय से; ऋतः—ऋत; सुतः—पुत्र।

उपगुप्त का पुत्र वस्वनन्त था, जिसका पुत्र युयुध हुआ। युयुध का पुत्र सुभाषण, सुभाषण का पुत्र श्रुत, श्रुत का पुत्र जय और जय का पुत्र विजय था। विजय का पुत्र ऋत था।

शुनकस्तत्सुतो जज्ञे वीतहव्यो धृतिस्ततः ।

बहुलाश्वो धृतेस्तस्य कृतिरस्य महावशी ॥ २६॥

शब्दार्थ

शुनकः—शुनक; तत्-सुतः—ऋत का पुत्र; जज्ञे—उत्पन्न हुआ; वीतहव्यः—वीतहव्य; धृतिः—धृति; ततः—वीतहव्य का पुत्र; बहुलाश्वः—बहुलाश्व; धृतेः—धृति से; तस्य—उसका पुत्र; कृतिः—कृति; अस्य—इसका; महावशी—महावशी नाम का पुत्र था।

ऋत का पुत्र शुनक था, शुनक का वीतहव्य, वीतहव्य का धृति, धृति का बहुलाश्व, बहुलाश्व का कृति तथा उसका पुत्र महावशी था।

एते वै मैथिला राजन्नात्मविद्याविशारदाः ।
योगेश्वरप्रसादेन द्वन्द्वैर्मुक्ता गृहेष्वपि ॥ २७॥

शब्दार्थ

एते—ये सारे; वै—निस्सन्देह; मैथिलाः—मिथिल के वंशज; राजन्—हे राजा; आत्म-विद्या-विशारदाः—आध्यात्मिक ज्ञानों में पटु; योगेश्वर-प्रसादेन—भगवान् कृष्ण जो योगेश्वर हैं उनकी कृपा से; द्वन्द्वैः मुक्ताः—वे सब के सबभौतिक जगत के द्वैतभाव से मुक्त हो गये; गृहेषु अपि—घर पर रहते हुए भी।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा परीक्षित, मिथिल वंश के सारे राजा अध्यात्म ज्ञान में पटु थे। अतएव वे घर पर रहते हुए भी संसार के द्वन्द्वों से मुक्त हो गये।

तात्पर्य : यह भौतिक जगत *द्वैत* कहलाता है। *चैतन्य चरितामृत* (*अन्त्य* ४.१७६) का कथन है—

'द्वैते' भद्राभद्रज्ञान, सब—'मनोधर्म'।

'एइभाल, एइ मन्द'—एइ सब 'भ्रम'॥

द्वैत के जगत में अर्थात् भौतिक जगत में तथाकथित अच्छाई तथा बुराई दोनों एक सी हैं। अतएव इस संसार में अच्छा-बुरा या सुख-दुख में अन्तर करना व्यर्थ है क्योंकि ये दोनों *मनोधर्म* हैं। चूँकि यहाँ पर हर वस्तु दुखदायी है अतएव कृत्रिम परिस्थिति उत्पन्न करके उसे सुख से पूर्ण मानना कोरा भ्रम है। मुक्तात्मा, प्रकृति के तीनों गुणों के प्रभावों से ऊपर रहने के कारण, हर परिस्थिति में ऐसे द्वन्द्वों से अप्रभावित रहता है। वह तथाकथित सुख-दुख सहन करके कृष्ण भक्त बना रहता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (२.१४) में भी हुई है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदु:खदा: ।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

"हे कुन्तीपुत्र! सुख तथा दुख का अस्थायी प्रकट होना और कालक्रम से उनका अन्तर्धान होना जाड़े तथा गर्मी की ऋतुओं के आने-जाने के समान है। हे भरतपुत्र! ये इन्द्रियबोध से उत्पन्न होते हैं अत: मनुष्य

को अविचलित भाव से इन्हें सहन करना सीखना चाहिए।'' जो लोग मुक्त हैं वे भगवान् की सेवा करने के कारण दिव्यपद पर होने से, तथाकथित सुख-दुख की परवाह नहीं करते। वे जानते हैं कि ये परिवर्तनशील ऋतुओं के समान हैं जो शरीर के स्पर्श द्वारा अनुभूतिगम्य हैं। सुख तथा दुख आते जाते रहते हैं। अतएव पण्डित को अर्थात् विद्वान व्यक्ति को उनकी परवाह नहीं रहती। कहा गया है—*गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिता: ।* शरीर प्रारम्भ से मृत रहता है क्योंकि यह पदार्थ का पिंड है। इसमें सुख-दुख की अनुभूति नहीं होती। चूँकि शरीर के भीतर का आत्मा देहात्मबुद्धि में रहता है इसीलिए उसे दुख-सुख भोगना पड़ता है, किन्तु ये तो आते जाते रहते हैं। यहाँ यह ज्ञात होता है कि मिथिल वंश में उत्पन्न सारे राजा मुक्तात्मा पुरुष थे जो इस जगत के तथाकथित सुख-दुख से अप्रभावित थे।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध के अन्तर्गत ''महाराज निमि की वंशावली'' नामक तेरहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौदह

पुरुरवा का उर्वशी पर मोहित होना

इस चौदहवें अध्याय का सारांश इस प्रकार है—इस अध्याय में सोम का वर्णन है जिसने बृहस्पति की पत्नी का अपहरण किया और उसके गर्भ से बुध नामक पुत्र की प्राप्ति की। बुध से पुरुरवा उत्पन्न हुआ जिसने उर्वशी के गर्भ से छ: पुत्र उत्पन्न किए जिनमें सबसे बड़ा आयु था।

ब्रह्माजी का जन्म गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से निकले कमल से हुआ। ब्रह्मा का पुत्र अत्रि हुआ और अत्रि का पुत्र सोम हुआ जो समस्त ओषधियों और नक्षत्रों का राजा था। सोम चक्रवर्ती सम्राट बना तो गर्व के वशीभूत होकर उसने देवताओं के गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा का अपहरण कर लिया। फलत: देवताओं और असुरों में युद्ध छिड़ गया, किन्तु ब्रह्मा ने बृहस्पति की पत्नी की सोम के फंदे से रक्षा की। उसे सोम के चंगुल से छुड़ाकर उसके पति को दे दिया। इस तरह युद्ध शान्त हो गया। तारा के गर्भ से सोम को एक पुत्र की प्राप्ति हुई जिसका नाम बुध था। बुध को इला के गर्भ से ऐल या पुरुरवा नामक पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। उर्वशी इसी पुरुरवा के सौन्दर्य पर मोहित हो गई अतएव वह कुछ काल तक उसके साथ रही, किन्तु जब उसने पुरुरवा का संग छोड़ दिया तो वह विक्षिप्त सा रहने लगा। सारे विश्व का भ्रमण करते हुए कुरुक्षेत्र में उसकी भेंट पुन: उर्वशी से हुई तो वह इस बात के लिए राजी हुई कि वर्ष में केवल एक रात के लिए ही वह उसके साथ रहा करेगा।

फलत: एक वर्ष बाद पुरुरवा फिर उर्वशी से कुरुक्षेत्र में मिला और रात भर उसके साथ रहा, किन्तु जब उसे यह विचार आया कि उर्वशी उसे पुन: छोड़कर चली जायेगी तो वह अत्यधिक दुखी हो उठा। तब उर्वशी ने उसे सलाह दी कि वह गन्धर्वों की पूजा करे। गन्धर्वों ने प्रसन्न होकर पुरुरवा को अग्निस्थालि नामक एक स्त्री प्रदान की। पुरुरवा ने समझा कि यह उर्वशी ही है, किन्तु जंगल में घूमते समय उसका भ्रम दूर हो गया और उसने तुरन्त ही उस स्त्री की संगति छोड़ दी। वह घर लौटकर रात भर उर्वशी का ध्यान करता रहा और उसने अपनी इच्छापूर्ति के लिए एक वैदिक अनुष्ठान करना चाहा। तत्पश्चात् वह उसी स्थान में गया जहाँ पर उसने अग्निस्थालि को छोड़ा था। वहाँ उसने देखा कि शमी वृक्ष के भीतर से एक अश्वत्थ वृक्ष निकला हुआ है। उसने इस वृक्ष से दो डंडे काटे और उनसे अग्नि उत्पन्न की। ऐसी अग्नि से समस्त

कामवासनाएँ पूर्ण की जा सकती हैं। इस अग्नि को पुरुरवा का पुत्र मान लिया गया। सत्ययुग में केवल एक सामाजिक वर्ण था जो *हंस* कहलाता था, तब चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—न थे। तब वेद ओङ्कार था। विभिन्न देवताओं की पूजा नहीं होती थी क्योंकि एकमात्र भगवान् ही आराध्यदेव थे।

श्रीशुक उवाच
अथातः श्रूयतां राजन्वंशः सोमस्य पावनः ।
यस्मिन्नैलादयो भूपाः कीर्त्यन्ते पुण्यकीर्तयः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—अब (सूर्यवंश का इतिहास सुनने के बाद); अतः—अतएव; श्रूयताम्—मुझसे सुनो; राजन्—हे राजा परीक्षित; वंशः—वंश; सोमस्य—सोमदेव का; पावनः—पवित्र करने वाला; यस्मिन्—जिस (वंश) में; ऐल-आदयः—ऐल (पुरुरवा) इत्यादि; भूपाः—अनेक राजा; कीर्त्यन्ते—वर्णित किये जाते हैं; पुण्य-कीर्तयः—ऐसे व्यक्ति जिनके विषय में सुनना कीर्तिप्रद है।

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित से कहा : हे राजन्, अभी तक आपने सूर्यवंश का विवरण सुना है। अब सोमवंश का अत्यन्त कीर्तिप्रद एवं पावन वर्णन सुनिए। इसमें ऐल (पुरुरवा) जैसे राजाओं का उल्लेख है जिनके विषय में सुनना कीर्तिप्रद होता है।

सहस्रशिरसः पुंसो नाभिह्रदसरोरुहात् ।
जातस्यासीत्सुतो धातुरत्रिः पितृसमो गुणैः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सहस्र-शिरसः—एक हजार सिरों वाले; पुंसः—भगवान् विष्णु (गर्भोदकशायी विष्णु) की; नाभि-ह्रद-सरोरुहात्—नाभि रूपी सरोवर से उत्पन्न कमल से; जातस्य—प्रकट हुआ; आसीत्—था; सुतः—पुत्र; धातुः—ब्रह्माजी का; अत्रिः—अत्रि नामक; पितृ-समः—अपने पिता के ही समान; गुणैः—योग्य।

भगवान् विष्णु (गर्भोदकशायी विष्णु) सहस्रशीर्ष पुरुष भी कहलाते हैं। उनकी नाभि रूपी सरोवर से एक कमल निकला जिससे ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। ब्रह्मा का पुत्र अत्रि अपने पिता के ही समान योग्य था।

तस्य दृग्भ्योऽभवत्पुत्रः सोमोऽमृतमयः किल ।
विप्रौषध्युडुगणानां ब्रह्मणा कल्पितः पतिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—अत्रि के; दृग्भ्यः—हर्षाश्रुओं से; अभवत्—उत्पन्न हुआ; पुत्रः—पुत्र; सोमः—चन्द्रमा; अमृत-मयः—स्निग्ध किरणों से युक्त; किल—निस्सन्देह; विप्र—ब्राह्मणों का; ओषधि—दवाओं का; उडु-गणानाम्—तारों का; ब्रह्मणा—ब्रह्मा द्वारा; कल्पितः—नियुक्त किया गया; पतिः—परम निदेशक, संचालक।

अत्रि के हर्षाश्रुओं से सोम नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ जो स्निग्ध किरणों से युक्त था। ब्रह्माजी ने उसे ब्राह्मणों, ओषधियों तथा नक्षत्रों (तारों) का निदेशक नियुक्त किया।

तात्पर्य : वेदों के अनुसार सोम या चन्द्रदेव की उत्पत्ति भगवान् के मन से हुई (*चन्द्रमा मनसोजात:*), किन्तु यहाँ पर सोम को अत्रि के अश्रुओं से उत्पन्न बतलाया गया है। यह वैदिक सूचना के विपरीत प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं क्योंकि चन्द्रमा का यह जन्म किसी दूसरे कल्प में हुआ जान पड़ता है। जब आँखों में हर्ष के अश्रु आते हैं तो वे स्निग्ध होते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*दृग्भ्य आनन्दाश्रुभ्य अत एवामृतमय:*—यहाँ *दृग्भ्य* शब्द का अर्थ है 'आनन्द के अश्रुओं से।' इसीलिए चन्द्रमा *अमृतमय:* कहलाता है अर्थात् 'स्निग्ध किरणों से युक्त'। *श्रीमद्भागवत* के चतुर्थ स्कन्ध में (४.१.१५) यह श्लोक आया है।

अत्रे: पत्न्यनसूया त्रीञ् जज्ञे सुयशस: सुतान्।

दत्तं दुर्वाससं सोममात्मेशब्रह्मसम्भवान्॥

इस श्लोक से पता चलता है कि अत्रि-पत्नी अनसूया के गर्भ से तीन पुत्र उत्पन्न हुए—सोम, दुर्वासा तथा दत्तात्रेय। ऐसा कहा जाता है कि अनसूया अत्रि के अश्रुओं से गर्भवती हुई थी।

सोऽयजद्राजसूयेन विजित्य भुवनत्रयम् ।
पत्नीं बृहस्पतेर्दर्पात्तारां नामाहरद्बलात् ॥४॥

शब्दार्थ

स:—उस सोम ने; अयजत्—सम्पन्न किया; राजसूयेन—राजसूय यज्ञ द्वारा; विजित्य—जीतकर; भुवन-त्रयम्—तीनों लोक (स्वर्ग, मर्त्य तथा पाताल); पत्नीम्—पत्नी को; बृहस्पते:—बृहस्पति की, जो देवताओं के गुरु हैं; दर्पात्—गर्व से; ताराम्—तारा को; नाम—नामक; अहरत्—चुरा ले गया; बलात्—बलपूर्वक, जबरन।

तीनों लोकों को जीत लेने के बाद सोम ने राजसूय नामक महान् यज्ञ सम्पन्न किया। अत्यधिक गर्वित होने के कारण उसने बृहस्पति की पत्नी तारा का बलपूर्वक हरण कर लिया।

यदा स देवगुरुणा याचितोऽभीक्ष्णशो मदात् ।
नात्यजत्तत्कृते जज्ञे सुरदानवविग्रह: ॥५॥

शब्दार्थ

यदा—जब; सः—वह (सोम); देव-गुरुणा—देवताओं के गुरु बृहस्पति द्वारा; याचितः—माँगे जाने पर; अभीक्ष्णशः—बारम्बार; मदात्—मिथ्या गर्व के कारण; न—नहीं; अत्यजत्—छोड़ा; तत्-कृते—इसके कारण; जज्ञे—हुआ; सुर-दानव—देवताओं तथा असुरों के बीच; विग्रहः—युद्ध।

यद्यपि देवताओं के गुरु बृहस्पति ने सोम से बारम्बार अनुरोध किया कि वह तारा को लौटा दे, किन्तु उसने नहीं लौटाया। यह उसके मिथ्या गर्व के कारण हुआ। फलस्वरूप देवताओं तथा असुरों के बीच युद्ध छिड़ गया।

शुक्रो बृहस्पतेर्द्वेषादग्रहीत्सासुरोडुपम् ।
हरो गुरुसुतं स्नेहात्सर्वभूतगणावृतः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

शुक्रः—शुक्र नामक देवता; बृहस्पतेः—बृहस्पति की; द्वेषात्—शत्रुतावश; अग्रहीत्—ले लिया; स-असुर—असुरों सहित; उडुपम्—चन्द्रमा का पक्ष; हरः—शिवजी ने; गुरु-सुतम्—अपने गुरुपुत्र का पक्ष; स्नेहात्—स्नेहवश; सर्व-भूत-गण-आवृतः—सारे भूतप्रेतों को साथ लेकर।

बृहस्पति तथा शुक्र के मध्य शत्रुता होने से शुक्र ने सोम (चन्द्रमा) का पक्ष लिया और सारे असुर उनके साथ हो लिये। किन्तु अपने गुरु का पुत्र होने के कारण शिवजी स्नेहवश बृहस्पति के पक्ष में हो लिये और उनके साथ सारे भूत-प्रेत भी हो लिये।

तात्पर्य : यद्यपि सोम एक देवता है लेकिन अन्य देवताओं से युद्ध करने के लिए उसने असुरों की सहायता ली। बृहस्पति का शत्रु होने से शुक्र ने भी अपने क्रोध का बदला लेने के लिए चन्द्रमा का पक्ष ग्रहण किया। इस स्थिति को सँभालने के लिए शिवजी ने बृहस्पति के प्रति स्नेह के कारण उसका पक्ष ग्रहण किया। बृहस्पति का पिता अंगिरा था जिससे शिवजी ने ज्ञान प्राप्त किया था; अतएव शिवजी को बृहस्पति से थोड़ा स्नेह था। इसलिए वे इस युद्ध में उसकी ओर हो लिये। श्रीधरस्वामी टीका करते हैं—*अंगिरस: साक्षात् प्राप्तविद्यो हर इति प्रसिद्धः*—शिवजी ने अंगिरा से ज्ञान प्राप्त किया, यह प्रसिद्ध है।

सर्वदेवगणोपेतो महेन्द्रो गुरुमन्वयात् ।
सुरासुरविनाशोऽभूत्समरस्तारकामयः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सर्व-देव-गण—विभिन्न देवताओं द्वारा; उपेतः—साथ हो लेने पर; महेन्द्रः—इन्द्र; गुरुम्—गुरु का; अन्वयात्—साथ दिया; सुर—देवताओं का; असुर—तथा असुरों का; विनाशः—विनाशकारी; अभूत्—था; समरः—युद्ध; तारका-मयः—बृहस्पति की पत्नी तारा के कारण।

इन्द्र सभी देवताओं को साथ लेकर बृहस्पति के पक्ष में हो लिया। इस तरह महान् युद्ध हुआ

जिसमें बृहस्पति की पत्नी तारा के कारण ही असुरों तथा देवताओं का विनाश हो गया।

निवेदितोऽथाङ्गिरसा सोमं निर्भर्त्स्य विश्वकृत् ।
तारां स्वभर्त्रे प्रायच्छदन्तर्वत्नीमवैत्पतिः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

निवेदितः—पूरी तरह सूचित किया जाकर; अथ—इस प्रकार; अङ्गिरसा—अंगिरा मुनि द्वारा; सोमम्—सोम को; निर्भर्त्स्य—बुरी तरह भर्त्सना करके; विश्व-कृत्—ब्रह्माजी ने; ताराम्—तारा को; स्व-भर्त्रे—उसके पति को; प्रायच्छत्—दे दिया; अन्तर्वत्नीम्—गर्भिणी; अवैत्—समझ सका; पतिः—पति (बृहस्पति)।

जब अंगिरा ने ब्रह्माजी को सारी घटना की जानकारी दी तो उन्होंने सोम को बुरी तरह फटकारा। इस तरह ब्रह्माजी ने तारा को उसके पति को वापस दिलवा दिया जिसे यह ज्ञात हो गया कि उसकी पत्नी गर्भवती है।

त्यज त्यजाशु दुष्प्रज्ञे मत्क्षेत्रादाहितं परैः ।
नाहं त्वां भस्मसात्कुर्यां स्त्रियं सान्तानिकेऽसति ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

त्यज—बाहर करो; त्यज—बाहर करो; आशु—तुरन्त; दुष्प्रज्ञे—मूर्ख स्त्री; मत्-क्षेत्रात्—मेरे द्वारा गर्भित होने वाले क्षेत्र से; आहितम्—उत्पन्न हुआ; परैः—अन्यों के द्वारा; न—नहीं; अहम्—मैं; त्वाम्—तुमको; भस्मसात्—जलाकर राख; कुर्याम्—कर दूँगा; स्त्रियम्—तुम स्त्री को; सान्तानिके—सन्तान की इच्छुक; असति—दुराचारिणी।

बृहस्पति ने कहा : अरे मूर्ख स्त्री! जिस गर्भ को मेरे वीर्य से निषेचित होना था वह किसी अन्य के द्वारा निषेचित हो चुका है। तुम तुरन्त ही बच्चा जनो। तुरन्त जनो। आश्वस्त रहो कि इस बच्चे के जनने के बाद मैं तुम्हें भस्म नहीं करूँगा। मुझे पता है कि यद्यपि तुम दुराचारिणी हो, किन्तु तुम पुत्र की इच्छुक थी। अतएव मैं तुम्हें दण्ड नहीं दूँगा।

तात्पर्य : तारा का विवाह बृहस्पति से हुआ था अतएव सती स्त्री के रूप में उसे बृहस्पति से वीर्य-दान लेना था। किन्तु उसने सोम से वीर्य-दान लेना बेहतर समझा अतएव वह दुराचारिणी थी। यद्यपि बृहस्पति ने ब्रह्माजी के कहने पर तारा को स्वीकार कर लिया, किन्तु जब उन्होंने देखा कि वह गर्भवती है तो उन्होंने तुरन्त ही तारा से पुत्र जनने को कहा। तारा अपने पति से अत्यधिक डरी हुई थी और सोच रही थी कि पुत्र-जन्म देने के बाद उसे दण्ड दिया जायेगा। किन्तु बृहस्पति ने आश्वासन दिया कि वे उसे दण्डित नहीं करेंगे, भले ही वह दुराचारिणी बनकर अवैध रूप से गर्भवती हुई हो क्योंकि वह पुत्र की इच्छुक थी।

तत्याज व्रीडिता तारा कुमारं कनकप्रभम् ।
स्पृहामाङ्गिरसश्चक्रे कुमारे सोम एव च ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तत्याज—जन्म दिया; व्रीडिता—अत्यन्त लज्जित; तारा—तारा ने; कुमारम्—बालक को; कनक-प्रभम्—सोने के समान शारीरिक कान्ति वाला; स्पृहाम्—अभिलाषा; आङ्गिरसः—बृहस्पति ने; चक्रे—बनाया; कुमारे—कुमार को; सोमः—सोम; एव—निस्सन्देह; च—भी।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : बृहस्पति का आदेश पाकर अत्यन्त लज्जित हुई तारा ने तुरन्त ही बच्चे को जन्म दिया जो अत्यन्त सुन्दर था और जिसकी शारीरिक कान्ति सोने जैसी थी। बृहस्पति तथा सोम दोनों ने ही उस सुन्दर पुत्र को सराहा।

ममायं न तवेत्युच्चैस्तस्मिन्विवदमानयोः ।
पप्रच्छुॠषयो देवा नैवोचे व्रीडिता तु सा ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

मम—मेरा; अयम्—यह (पुत्र); न—नहीं; तव—तुम्हारा; इति—इस प्रकार; उच्चैः—उच्चस्वर से; तस्मिन्—बालक के लिए; विवदमानयोः—दो दलों के झगड़ने पर; पप्रच्छुः—पूछा (तारा से); ऋषयः—ऋषियों ने; देवाः—सारे देवताओं ने; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; उचे—कुछ कहा; व्रीडिता—लाजवश; तु—निस्सन्देह; सा—तारा ने।

फिर से बृहस्पति और सोम के बीच झगड़ा होने लगा क्योंकि दोनों दावा कर रहे थे, "यह मेरा पुत्र है, तुम्हारा नहीं है।" वहाँ पर उपस्थित सारे ऋषियों तथा देवताओं ने तारा से पूछा कि यह नवजात शिशु वास्तव में किसका है, किन्तु वह लज्जित होने के कारण तुरन्त कुछ भी उत्तर न दे पाई।

कुमारो मातरं प्राह कुपितोऽलीकलज्जया ।
किं न वचस्यसद्वृत्ते आत्मावद्यं वदाशु मे ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

कुमारः—बालक ने; मातरम्—अपनी माता से; प्राह—कहा; कुपितः—अत्यधिक क्रुद्ध; अलीक—वृथा; लज्जया—लाज से; किम्—क्यों; न—नहीं; वचसि—बोलती हो; असत्-वृत्ते—अरे दुराचारिणी स्त्री; आत्म-अवद्यम्—अपने दोष को; वद—कहो; आशु—तुरन्त; मे—मुझसे।

तब बालक अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने अपनी माता से तुरन्त सच-सच बतलाने के लिए कहा, "हे दुराचारिणी! तुम्हारे द्वारा यह लज्जा व्यर्थ है। तुम अपने दोष को स्वीकार क्यों नहीं कर लेती? तुम मुझसे अपने दोषी चरित्र के विषय में बतलाओ।"

ब्रह्मा तां रह आहूय समप्राक्षीच्च सान्त्वयन् ।
सोमस्येत्याह शनकैः सोमस्तं तावदग्रहीत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा—ब्रह्माजी ने; ताम्—उस (तारा) से; रहः—एकान्त में; आहूय—बुलाकर; समप्राक्षीत्—विस्तार से पूछा; च—तथा; सान्त्वयन्—शान्त करते हुए; सोमस्य—सोम का है; इति—इस प्रकार; आह—वह बोली; शनकैः—अत्यन्त धीमे; सोमः—सोम ने; तम्—बालक को; तावत्—तुरन्त; अग्रहीत्—स्वीकार कर लिया।

तत्पश्चात् ब्रह्माजी तारा को एकान्त में ले गये और सान्त्वना देने के बाद उससे पूछा कि वास्तव में यह पुत्र किसका है। उसने धीमे से उत्तर दिया "यह सोम का है।" तब सोम ने तुरन्त ही उस बालक को स्वीकार कर लिया।

तस्यात्मयोनिरकृत बुध इत्यभिधां नृप ।
बुद्ध्या गम्भीरया येन पुत्रेणापोडुराण्मुदम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उस बालक का; आत्म-योनिः—ब्रह्माजी ने; अकृत—बनाया; बुधः—बुध; इति—इस प्रकार; अभिधाम्—नाम; नृप—हे राजा, परीक्षित; बुद्ध्या—बुद्धि से; गम्भीरया—अत्यन्त गहराई पर स्थित; येन—जिस; पुत्रेण—पुत्र से; आप—उसने पाया; उडुराट्—सोम से; मुदम्—हर्ष।

हे महाराज परीक्षित, जब ब्रह्माजी ने देखा कि वह बालक अत्यधिक बुद्धिमान है तो उन्होंने उसका नाम बुध रख दिया। इस पुत्र के कारण नक्षत्रों के राजा सोम ने अत्यधिक हर्ष का अनुभव किया।

ततः पुरूरवा जज्ञे इलायां य उदाहृतः ।
तस्य रूपगुणौदार्यशीलद्रविणविक्रमान् ॥ १५ ॥
श्रुत्वोर्वशीन्द्रभवने गीयमानान्सुरर्षिणा ।
तदन्तिकमुपेयाय देवी स्मरशरार्दिता ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ततः—उस (बुध) से; पुरूरवाः—पुरुरवा; जज्ञे—उत्पन्न हुआ; इलायाम्—इला के गर्भ से; यः—जो; उदाहृतः—पूर्ववर्णित (नवम स्कन्ध के प्रारम्भ में); तस्य—उसका (पुरुरवा का); रूप—सौन्दर्य; गुण—गुण; औदार्य—उदारता; शील—आचरण; द्रविण—सम्पत्ति; विक्रमान्—शक्ति को; श्रुत्वा—सुनकर; उर्वशी—देवलोक की स्त्री (देवांगना), उर्वशी; इन्द्र-भवने—राजा इन्द्र के दरबार में; गीयमानान्—वर्णन किये जाते समय; सुर-ऋषिणा—नारद द्वारा; तत्-अन्तिकम्—उसके निकट; उपेयाय—पहुँचकर; देवी—उर्वशी; स्मर-शर—कामदेव के बाण से; अर्दिता—मारी गयी।

तत्पश्चात् इला के गर्भ से बुध को पुरुरवा नामक पुत्र की प्राप्ति हुई जिसका वर्णन नवम स्कन्ध के प्रारम्भ में किया जा चुका है। जब नारद ने इन्द्र के दरबार में पुरुरवा के सौन्दर्य, गुण, उदारता, आचरण, ऐश्वर्य तथा शक्ति का वर्णन किया तो देवांगना उर्वशी उसके प्रति आकृष्ट हो गई। वह

कामदेव के बाणों से बिंधकर उसके पास पहुँची।

मित्रावरुणयोः शापादापन्ना नरलोकताम् ।
निशम्य पुरुषश्रेष्ठं कन्दर्पमिव रूपिणम् ।
धृतिं विष्टभ्य ललना उपतस्थे तदन्तिके ॥ १७॥
स तां विलोक्य नृपतिर्हर्षेणोत्फुल्ललोचनः ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा देवीं हृष्टतनूरुहः ॥ १८॥

शब्दार्थ

मित्रा-वरुणयोः—मित्र तथा वरुण के; शापात्—शाप से; आपन्ना—प्राप्त हुई; नर-लोकताम्—मनुष्यों का स्वभाव; निशम्य—देखकर; पुरुष-श्रेष्ठम्—मनुष्यों में सर्वोत्तम; कन्दर्पम् इव—कामदेव की तरह; रूपिणम्—रूपवान; धृतिम्—धैर्य, सहनशीलता; विष्टभ्य—स्वीकार करके; ललना—वह स्त्री; उपतस्थे—निकट गई; तत्-अन्तिके—उसके पास; सः—वह पुरुरवा; ताम्—उसको; विलोक्य—देखकर; नृपतिः—राजा; हर्षेण—हर्ष से; उत्फुल्ल-लोचनः—चमकीली आँखों वाला; उवाच—बोला; श्लक्ष्णया—विनीत होकर; वाचा—शब्द; देवीम्—उस देवी से; हृष्ट-तनूरुहः—हर्ष से रोमांचित।

मित्र तथा वरुण से शापित उस देवांगना उर्वशी ने मानवीय गुण अर्जित कर लिए। अतएव पुरुषश्रेष्ठ, कामदेव के समान सुन्दर पुरुरवा को देखते ही उसने अपने को सँभाला। और वह उसके निकट पहुँची। जब राजा पुरुरवा ने उर्वशी को देखा तो उसकी आँखें हर्ष से चमक उठीं और उसको रोमांच हो आया। वह उससे विनीत एवं मधुर वचनों में इस प्रकार बोला।

श्रीराजोवाच
स्वागतं ते वरारोहे आस्यतां करवाम किम् ।
संरमस्व मया साकं रतिर्नौ शाश्वतीः समाः ॥ १९॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा (पुरुरवा) ने कहा; स्वागतम्—स्वागत; ते—तुम्हारा; वरारोहे—हे सर्व-सुन्दर स्त्री; आस्यताम्—कृपया आसन ग्रहण करें; करवाम किम्—आपके लिए क्या करूँ; संरमस्व—मेरी संगिनी बनो; मया साकम्—मेरे साथ; रतिः—कामकेलि, रतिक्रीडा; नौ—हमारे बीच; शाश्वतीः समाः—अनेक वर्षों तक।

राजा पुरुरवा ने कहा : हे श्रेष्ठ सुन्दरी, तुम्हारा स्वागत है। कृपा करके यहाँ बैठो और कहो कि मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूँ? तुम जब तक चाहो मेरे साथ भोग कर सकती हो। हम दोनों सुखपूर्वक दम्पति-जीवन व्यतीत करें।

उर्वश्युवाच
कस्यास्त्वयि न सज्जेत मनो दृष्टिश्च सुन्दर ।
यदङ्गान्तरमासाद्य च्यवते ह रिरंसया ॥ २०॥

शब्दार्थ

उर्वशी उवाच—उर्वशी ने उत्तर दिया; कस्याः—किस स्त्री का; त्वयि—तुम पर; न—नहीं; सज्जेत—आकृष्ट होगा; मनः—मन; दृष्टिः च—तथा दृष्टि; सुन्दर—हे रूपवान; यत्-अङ्गान्तरम्—जिसका वक्ष; आसाद्य—भोगकर; च्यवते—त्यागता है; ह—निस्सन्देह; रिरंसया—कामसुख के लिए।

उर्वशी ने उत्तर दिया: हे रूपवान, ऐसी कौन सी स्त्री होगी जिसका मन तथा दृष्टि आपके प्रति आकृष्ट न हो जाए? यदि कोई स्त्री आपके वक्षस्थल की शरण ले तो वह आपसे रमण किये बिना नहीं रह सकती।

तात्पर्य : जब कोई सुन्दर पुरुष तथा कोई सुन्दर स्त्री परस्पर मिलते हैं और एक दूसरे का आलिंगन करते हैं तो इन तीनों लोकों में भला वे किस प्रकार मैथुन के सम्बन्ध से बच सकते हैं? इसीलिए *श्रीमद्भागवत* (७.९.४५) का कथन है—*यन्मैथुनादिगृहमेधि सुखं हि तुच्छम्।*

एतावुरणकौ राजन्न्यासौ रक्षस्व मानद ।
संरंस्ये भवता साकं श्लाघ्यः स्त्रीणां वरः स्मृतः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

एतौ—इन दोनों को; उरणकौ—मेमने; राजन्—हे राजा पुरुरवा; न्यासौ—नीचे गिरे हुए; रक्षस्व—रक्षा करो; मान-द—अतिथि को सम्मान देने वाले; संरंस्ये—मैं रमण करूँगी; भवता साकम्—तुम्हारे संग रहकर; श्लाघ्यः—श्रेष्ठ; स्त्रीणाम्—स्त्री का; वरः—पति; स्मृतः—कहा गया है।

हे राजा पुरुरवा, आप इन दोनों मेमनों को शरण दें क्योंकि ये भी मेरे साथ गिर गए हैं। यद्यपि मैं स्वर्गलोक की हूँ और आप पृथ्वी लोक के हैं, किन्तु मैं निश्चय ही आपके साथ संभोग करूँगी। आपको पति रूप में स्वीकार करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि आप हर प्रकार से श्रेष्ठ हैं।

तात्पर्य : जैसा कि *ब्रह्म-संहिता* में (५.४०) कहा गया है—*यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्ड-कोटिकोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्।* इस ब्रह्माण्ड में अनेक लोक और अनेक आकाश हैं। जिस स्वर्ग लोक के आकाश से मित्र तथा वरुण द्वारा शापित होकर उर्वशी आयी थी वह इस पृथ्वी के आकाश से भिन्न था। निस्सन्देह, स्वर्ग लोकों के निवासी पृथ्वी के निवासियों से श्रेष्ठ हैं। फिर भी उर्वशी ने पुरुरवा की प्रेयसी बनना स्वीकार कर लिया यद्यपि वह श्रेष्ठतर समाज की थी। यदि स्त्री को उत्तम गुणों वाला कोई पुरुष मिल जाए तो वह उसे पति रूप में स्वीकार कर सकती है। इसी प्रकार यदि किसी मनुष्य की ऐसी स्त्री से भेंट हो, जो निम्नकुल की हो, किन्तु जिसमें उत्तम गुण पाये जाते हों तो वह ऐसी तेजस्वी पत्नी को स्वीकार कर सकता है जैसा कि चाणक्य पण्डित का उपदेश है (*स्त्रीरत्नं दुष्कुलाद् अपि*)। यदि नर तथा नारी के गुण

समान स्तर के हों तो उनका मिलन श्लाघनीय है।

घृतं मे वीर भक्ष्यं स्यान्नेक्षे त्वान्यत्र मैथुनात् ।
विवाससं तत्तथेति प्रतिपेदे महामनाः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

घृतम्—घी या अमृत; मे—मेरी; वीर—हे वीर पुरुष; भक्ष्यम्—खाद्य वस्तु; स्यात्—होगी; न—नहीं; ईक्षे—देखूँगी; त्वा—तुमको; अन्यत्र—किसी और समय; मैथुनात्—मैथुन काल के अतिरिक्त; विवाससम्—विवस्त्र, नग्न; तत्—वह; तथा इति—ऐसा ही हो; प्रतिपेदे—वचन दे दिया; महामनाः—राजा पुरुरवा ने।

उर्वशी ने कहा, "हे वीर, मैं केवल घी की बनी वस्तुएँ खाऊँगी और आपको मैथुन-समय के अतिरिक्त अन्य किसी समय नग्न नहीं देखना चाहूँगी।" विशालहृदय पुरुरवा ने इन प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया।

अहो रूपमहो भावो नरलोकविमोहनम् ।
को न सेवेत मनुजो देवीं त्वां स्वयमागताम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अहो—आश्चर्यजनक है; रूपम्—सौन्दर्य; अहो—अद्भुत है; भावः—भावभंगिमा, मुद्रा; नर-लोक—मानव समाज में या पृथ्वीलोक में; विमोहनम्—इतना आकर्षक; कः—कौन; न—नहीं; सेवेत—स्वीकार कर सकता है; मनुजः—मनुष्य; देवीम्—देवी को; त्वाम्—तुम जैसी; स्वयम् आगताम्—स्वयं चलकर आई हुई।

पुरुरवा ने कहा : हे सुन्दरी, तुम्हारा सौन्दर्य अद्भुत है और तुम्हारी भावभंगिमाएँ भी अद्भुत हैं। निस्सन्देह, तुम सारे मानव समाज के लिए आकर्षक हो। अतएव क्योंकि तुम स्वेच्छा से स्वर्ग लोक से यहाँ आई हो तो भला इस पृथ्वीलोक पर ऐसा कौन होगा जो तुम जैसी देवी की सेवा करने के लिए तैयार नहीं होगा?

तात्पर्य : उर्वशी के वचनों से ऐसा प्रतीत होता है कि स्वर्गलोकों में खाने, रहने, आचार-व्यवहार तथा बोलने का स्तर इस धरालोक से भिन्न है। स्वर्गलोक के वासी मांस तथा अंडे जैसी घृणित वस्तुएँ नहीं खाते; वे केवल घी से बनी वस्तुएँ खाते हैं। न ही वे पुरुषों या स्त्रियों को रतिकाल के अतिरिक्त अन्य समय नग्न देखने के इच्छुक रहते हैं। नग्न या नग्न सा रहना असभ्यतापूर्ण है, किन्तु आजकल इस लोक में अर्धनग्न रहना फैशन बन चुका है और कभी-कभी हिप्पियों जैसे लोग बिल्कुल नग्न रहते हैं। इस कार्य के लिए तो आजकल अनेक क्लब तथा सोसाइटियाँ बनी हुई हैं। किन्तु स्वर्गलोक में ऐसे आचरण के लिए अनुमति

नहीं है। स्वर्गलोक के निवासी शारीरिक रूप से तथा रंगरूप में सुन्दर होने के साथ ही अच्छे आचरण वाले और दीर्घजीवी होते हैं और वे उत्तम भोजन करने वाले हैं। स्वर्ग और मर्त्यलोक के वासियों के ये कुछ अन्तर हैं।

तया स पुरुषश्रेष्ठो रमयन्त्या यथार्हतः ।
रेमे सुरविहारेषु कामं चैत्ररथादिषु ॥ २४॥

शब्दार्थ

तया—उसके साथ; सः—वह; पुरुष-श्रेष्ठः—मनुष्यों में श्रेष्ठ, पुरुरवा; रमयन्त्या—रमण करते हुए; यथा-अर्हतः—यथाशक्ति; रेमे—भोग किया; सुर-विहारेषु—स्वर्गिक विहारस्थलों में; कामम्—इच्छानुसार; चैत्ररथ-आदिषु—चैत्ररथ इत्यादि जैसे श्रेष्ठ उद्यानों में।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : पुरुषश्रेष्ठ पुरुरवा उर्वशी के साथ मुक्त भाव से भोग करने लगा। वे दोनों चैत्ररथ, नन्दन कानन जैसे अनेक दैवी स्थलों में रतिक्रीड़ा में व्यस्त रहने लगे, जहाँ पर देवतागण भोग-विहार करते हैं।

रममाणस्तया देव्या पद्मकिञ्जल्कगन्धया ।
तन्मुखामोदमुषितो मुमुदेऽहर्गणान्बहून् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

रममाणः—रमण करते हुए; तया—उसके साथ; देव्या—देवी के साथ; पद्म—कमल; किञ्जल्क—केसर के समान; गन्धया—गन्ध से; तत्-मुख—उसका सुन्दर मुखमंडल; आमोद—सुगन्धि से; मुषितः—अधिकाधिक उत्तेजित होकर; मुमुदे—जीवन का आनन्द लिया; अहः-गणान्—दिन प्रतिदिन; बहून्—अनेक।

उर्वशी का शरीर कमल के केसर की भाँति सुगन्धित था। उसके मुख तथा शरीर की सुगन्ध से अनुप्राणित होकर पुरुरवा ने अत्यन्त उल्लासपूर्वक अनेक दिनों तक उसके साथ रमण किया।

अपश्यन्नुर्वशीमिन्द्रो गन्धर्वान्समचोदयत् ।
उर्वशीरहितं मह्यमास्थानं नातिशोभते ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अपश्यन्—न देखने से; उर्वशीम्—उर्वशी को; इन्द्रः—स्वर्ग के राजा इन्द्र ने; गन्धर्वान्—गन्धर्वों को; समचोदयत्—आदेश दिया; उर्वशी-रहितम्—बिना उर्वशी के; मह्यम्—मेरा; आस्थानम्—स्थान; न—नहीं; अतिशोभते—अच्छा लगता है।

उर्वशी को अपनी सभा में न देखकर स्वर्ग के राजा इन्द्र ने कहा, ''उर्वशी के बिना मेरी सभा सुन्दर नहीं लगती।'' यह सोचकर उसने गन्धर्वों से अनुरोध किया कि वे उसे पुनः स्वर्गलोक में ले आएँ।

ते उपेत्य महारात्रे तमसि प्रत्युपस्थिते ।
उर्वश्या उरणौ जह्रुर्न्यस्तौ राजनि जायया ॥ २७॥

शब्दार्थ

ते—वे गन्धर्वगण; उपेत्य—वहाँ जाकर; महा-रात्रे—आधीरात में; तमसि—अँधेरे में; प्रत्युपस्थिते—प्रकट हुए; उर्वश्या—उर्वशी द्वारा; उरणौ—दोनों मेमने; जह्रुः—चुरा लिया; न्यस्तौ—धरोहर रखे गये; राजनि—राजा के पास; जायया—पत्नी उर्वशी द्वारा।

इस तरह गन्धर्वगण पृथ्वी पर आये और अर्धरात्रि के अंधकार में पुरुरवा के घर में प्रकट हुए तथा उर्वशी द्वारा प्रदत्त दोनों मेमने चुरा लिए।

तात्पर्य : *महारात्रे* का अर्थ है अर्धरात्रि। *महानिशा द्वे घटिके रात्रेर् मध्यमयामयोः*—इस स्मृति मंत्र में महानिशा को अर्धरात्रि के बारह बजे बतलाया गया है।

निशम्याक्रन्दितं देवी पुत्रयोर्नीयमानयोः ।
हतास्म्यहं कुनाथेन नपुंसा वीरमानिना ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; आक्रन्दितम्—क्रन्दन, चीत्कार (चुराने के कारण); देवी—उर्वशी; पुत्रयोः—पुत्रस्वरूप दोनों मेमनों का; नीयमानयोः—ले जाये जाते हुए; हता—मारी गयी; अस्मि—हूँ; अहम्—मैं; कु-नाथेन—कुपति के संरक्षण में होने से; न-पुंसा—नपुंसक द्वारा; वीर-मानिना—अपने को वीर मानने वाला।

उर्वशी इन दोनों मेमनों को पुत्रस्वरूप मानती थी। अतएव जब उन्हें गन्धर्वगण लिए जा रहे थे और जब उन्होंने मिमियाना शुरू किया तो उर्वशी ने इसे सुना। उसने अपने पति को फटकारते हुए कहा, ''हाय! अब मैं ऐसे अयोग्य पति के संरक्षण में रहती हुई मारी जा रही हूँ जो कायर एवं नपुंसक है किन्तु अपने को परम वीर समझता है।

यद्विश्रम्भादहं नष्टा हृतापत्या च दस्युभिः ।
यः शेते निशि सन्त्रस्तो यथा नारी दिवा पुमान् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

यत्-विश्रम्भात्—जिस पर आश्रित रहने के कारण; अहम्—मैं; नष्टा—विनष्ट हो गई; हृत-अपत्या—अपने पुत्रों (मेमनों) से विहीन; च—भी; दस्युभिः—लुटेरों के द्वारा; यः—जो (मेरा तथाकथित पति); शेते—सोता है; निशि—रात में; सन्त्रस्तः—भयभीत; यथा—जिस तरह; नारी—स्त्री; दिवा—दिन में; पुमान्—पुरुष।

''चूँकि मैं उस (अपने पति) पर आश्रित थी, अतएव लुटेरों ने मुझसे मेरे दोनों पुत्रवत् मेमनों को छीन लिया है और अब मैं विनष्ट हो गई हूँ। मेरा पति रात्रि में डर के मारे उसी तरह सो रहा है जैसे

कोई स्त्री हो, यद्यपि दिन में वह पुरुष प्रतीत होता है।''

इति वाक्सायकैर्बिद्धः प्रतोत्त्रैरिव कुञ्जरः ।
निशि निस्त्रिंशमादाय विवस्त्रोऽभ्यद्रवद्रुषा ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; वाक्-सायकैः—कठोर शब्दों के बाणों से; बिद्धः—बींधकर; प्रतोत्त्रैः—अंकुश से; इव—सदृश; कुञ्जरः—हाथी; निशि—रात में; निस्त्रिंशम्—तलवार; आदाय—हाथ में लेकर; विवस्त्रः—नंगा; अभ्यद्रवत्—बाहर चला गया; रुषा—क्रोध से।

पुरुरवा उर्वशी के कर्कश शब्दों से आहत होने के कारण उसी तरह से अत्यधिक क्रुद्ध हुआ जिस तरह हाथी महावत के अंकुश से होता है। वह बिना उचित वस्त्र पहने, हाथ में तलवार लेकर मेमना चुराने वाले गन्धर्वों का पीछा करने के लिए नंगा बाहर चला गया।

ते विसृज्योरणौ तत्र व्यद्योतन्त स्म विद्युतः ।
आदाय मेषावायान्तं नग्नमैक्षत सा पतिम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

ते—वे, गन्धर्व; विसृज्य—छोड़कर; उरणौ—दोनो मेमनों को; तत्र—उसी स्थान पर; व्यद्योतन्त स्म—प्रकाशमान हो उठे; विद्युतः—बिजली के समान; आदाय—हाथ में लेकर; मेषौ—दोनों मेमने; आयान्तम्—लौटकर; नग्नम्—नंगा; ऐक्षत—देखा; सा—उर्वशी ने; पतिम्—अपने पति को।

उन दोनों मेमनों को छोड़कर गन्धर्वगण बिजली के समान प्रकाशमान हो उठे जिससे पुरुरवा का घर प्रकाशित हो उठा। तब उर्वशी ने देखा कि उसका पति दोनों मेमनों को हाथ में लिए लौट आया है, किन्तु वह नग्न है; अतएव उसने उसका परित्याग कर दिया।

ऐलोऽपि शयने जायामपश्यन्विमना इव ।
तच्चित्तो विह्वलः शोचन्बभ्रामोन्मत्तवन्महीम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

ऐलः—पुरुरवा; अपि—भी; शयने—बिस्तर में; जायाम्—अपनी पत्नी को; अपश्यन्—न देखकर; विमनाः—खिन्न; इव—सदृश; तत्-चित्तः—उसके प्रति अत्यधिक आसक्त होने से; विह्वलः—मन में क्षुब्ध; शोचन्—विलाप करते; बभ्राम—घूमने लगे; उन्मत्त-वत्—पागल व्यक्ति की तरह; महीम्—पृथ्वी पर।

उर्वशी को अपने बिस्तर पर न देखकर पुरुरवा अत्यधिक दुखित हो उठा। उसके प्रति अत्यधिक आसक्ति के कारण वह मन में क्षुब्ध था। तत्पश्चात् विलाप करते हुए वह पागल की तरह सारी पृथ्वी में भ्रमण करने लगा।

स तां वीक्ष्य कुरुक्षेत्रे सरस्वत्यां च तत्सखीः ।
पञ्च प्रहृष्टवदनः प्राह सूक्तं पुरूरवाः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

सः—पुरुरवा ने; ताम्—उर्वशी को; वीक्ष्य—देखकर; कुरुक्षेत्रे—कुरुक्षेत्र नामक स्थान पर; सरस्वत्याम्—सरस्वती नदी के तट पर; च—भी; तत्-सखीः—उसकी सखियाँ; पञ्च—पाँच; प्रहृष्ट-वदनः—अत्यन्त प्रसन्न एवं हँसमुख; प्राह—कहा; सूक्तम्—मीठे वचन; पुरूरवाः—राजा पुरुरवा ने।

एक बार विश्व का भ्रमण करते हुए पुरुरवा ने उर्वशी को उसकी पाँच सखियों सहित सरस्वती नदी के तट पर कुरुक्षेत्र में देखा। प्रसन्न-मुख होकर वह उस से मधुर शब्दों में इस प्रकार बोला।

अहो जाये तिष्ठ तिष्ठ घोरे न त्यक्तुमर्हसि ।
मां त्वमद्याप्यनिर्वृत्य वचांसि कृणवावहै ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; जाये—मेरी प्रिय पत्नी; तिष्ठ तिष्ठ—जरा ठहरो, जरा ठहरो; घोरे—अत्यन्त क्रूर; न—नहीं; त्यक्तुम्—छोड़ना; अर्हसि—तुम्हें चाहिए; माम्—मुझको; त्वम्—तुम; अद्य अपि—अभी तक; अनिर्वृत्य—मेरे साथ का सुख न पाने से; वचांसि—कुछ शब्द; कृणवावहै—कुछ क्षण बातें करें।

हे प्रिय पत्नी! हे क्रूर! जरा ठहरो तो। मैं जानता हूँ कि अभी तक मैं तुम्हें कभी भी सुखी नहीं बना पाया, किन्तु तुम्हें इस कारण से मेरा परित्याग नहीं करना चाहिए। यह तुम्हारे लिए उचित नहीं है। मान लो कि तुम मेरा साथ छोड़ने का निश्चय कर चुकी हो, किन्तु तो भी आओ कुछ क्षण बैठकर बातें करें।

सुदेहोऽयं पतत्यत्र देवि दूरं हृतस्त्वया ।
खादन्त्येनं वृका गृध्रास्त्वत्प्रसादस्य नास्पदम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सु-देहः—अत्यन्त सुन्दर शरीर; अयम्—यह; पतति—गिर जायेगा; अत्र—यहीं पर; देवि—हे उर्वशी; दूरम्—दूर, घर से दूर; हृतः—ले जाया गया; त्वया—तुम्हारे द्वारा; खादन्ति—खा जायें; एनम्—इस (शरीर) को; वृकाः—लोमड़ियाँ; गृध्राः—गीध; त्वत्—तुम्हारी; प्रसादस्य—कृपा का; न—नहीं; आस्पदम्—उपयुक्त।

हे देवी, चूँकि तुमने मुझे अस्वीकार कर दिया है अतएव मेरा यह सुन्दर शरीर यहीं धराशायी हो जायगा और चूँकि मैं तुम्हारे सुख के अनुकूल नहीं हूँ इसलिए इसे लोमड़ियाँ तथा गीध खा जायेंगे।

उर्वश्युवाच

मा मृथाः पुरुषोऽसि त्वं मा स्म त्वाद्युर्वृका इमे ।
क्वापि सख्यं न वै स्त्रीणां वृकाणां हृदयं यथा ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

उर्वशी उवाच—उर्वशी ने कहा; मा—मत; मृथाः—शरीर त्याग करो; पुरुषः—पुरुष; असि—हो; त्वम्—तुम; मा स्म—ऐसा न होने दो; त्वा—तुमको; अद्युः—खा सके; वृकाः—लोमड़ियाँ; इमे—इन इन्द्रियों को (अपनी इन्द्रियों के वश में न रहो); क्व अपि—कहीं भी; सख्यम्—मैत्री; न—नहीं; वै—निस्सन्देह; स्त्रीणाम्—स्त्रियों के; वृकाणाम्—लोमड़ियों की; हृदयम्—हृदय को; यथा—जिस तरह।

उर्वशी ने कहा : हे राजन, तुम पुरुष हो, वीर हो। अधीर मत होओ और अपने प्राणों को मत त्यागो। गम्भीर बनो और लोमड़ियों की भाँति अपनी इन्द्रियों के वश में मत होओ। तुम लोमड़ियों का भोजन मत बनो। दूसरे शब्दों में, तुम्हें अपनी इन्द्रियों के वशीभूत नहीं होना चाहिए। प्रत्युत तुम्हें स्त्री के हृदय को लोमड़ी जैसा जानना चाहिए। स्त्रियों से मित्रता करने से कोई लाभ नहीं।

तात्पर्य : चाणक्य पण्डित का उपदेश है—*विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च*—किसी स्त्री या राजनीतिज्ञ पर कभी भी विश्वास मत करो। आध्यात्मिक चेतना को प्राप्त किये बिना प्रत्येक व्यक्ति बद्ध और पतित है। फिर उन स्त्रियों के विषय में क्या कहा जाय जो मनुष्यों की अपेक्षा कम बुद्धिमान होती हैं। स्त्रियों की तुलना शूद्रों तथा वैश्यों से की जाती है (*स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः*)। किन्तु जब कोई आध्यात्मिक स्तर पर कृष्णभावनामृत पद को प्राप्त कर लेता है तो चाहे वह मनुष्य हो या स्त्री, शूद्र हो या अन्य कुछ, सभी बराबर होते हैं। अन्यथा उर्वशी, जो स्वयं स्त्री थी और स्त्री-स्वभाव को जानती थी, यह न कहती कि स्त्री का हृदय धूर्त लोमड़ी की तरह होता है। यदि मनुष्य अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर पाता तो वह ऐसी धूर्त लोमड़ियों का शिकार बन जाता है। किन्तु यदि वह इन्द्रियों को वश में कर लेता है तो वह धूर्त-लोमड़ी जैसी स्त्रियों का शिकार नहीं हो सकता। चाणक्य पण्डित ने यह भी उपदेश दिया है कि यदि किसी की पत्नी धूर्त लोमड़ी जैसी हो तो उसे तुरन्त ही गृहस्थ जीवन का परित्याग करके जंगल चले जाना चाहिए—

माता यस्य गृहे नास्ति भार्या चाप्रियवादिनी।

अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम्॥

(*चाणक्य-श्लोक* ५७)

कृष्णभावनाभावित गृहस्थों को धूर्त लोमड़ी जैसी स्त्रियों से अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता है। यदि घर में स्वामिभक्त पत्नी हो और वह कृष्णभावनामृत में पति का सहयोग करती हो तो वह घर धन्य है।

अन्यथा मनुष्य को चाहिए कि घर छोड़कर जंगल चला जाय।

हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं

वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत।

(भागवत ७.५.५)

मनुष्य को जंगल जाकर भगवान् हरि के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए।

स्त्रियो ह्यकरुणाः क्रूरा दुर्मर्षाः प्रियसाहसाः ।
घ्नन्त्यल्पार्थेऽपि विश्रब्धं पतिं भ्रातरमप्युत ॥ ३७॥

शब्दार्थ

स्त्रियः—स्त्रियाँ; हि—निस्सन्देह; अकरुणाः—करुणारहित; क्रूराः—चालाक, मक्कार; दुर्मर्षाः—असहिष्णु; प्रिय-साहसाः—अपने आनन्द के लिए कुछ भी करने वाली, दुस्साहसी; घ्नन्ति—मार डालती हैं; अल्प-अर्थे—छोटे से कारण के लिए; अपि—निस्सन्देह; विश्रब्धम्—आज्ञाकारी; पतिम्—पति को; भ्रातरम्—भाई को; अपि—भी; उत—कहा गया है।

स्त्रियों की जाति करुणाविहीन तथा चतुर होती है। वे थोड़ा सा भी अपमान सहन नहीं कर सकतीं। वे अपने आनन्द के लिए कुछ भी अधर्म कर सकती हैं; अतएव वे अपने आज्ञाकारी पति या भाई तक का वध करते हुए नहीं डरतीं।

तात्पर्य : राजा पुरुरवा उर्वशी पर आसक्त था किन्तु उसके पत्नीभक्त होने पर भी उर्वशी ने उसे छोड़ दिया था। अब यह विचार करते हुए कि राजा दुर्लभ मनुष्य-जीवन को गँवा रहा है, उर्वशी ने स्पष्ट शब्दों में स्त्री की प्रकृति बतला दी। स्त्री अपनी प्रकृतिवश थोड़े से भी अपराध पर अपने पति का न केवल परित्याग अपितु उस की हत्या भी कर देती है। यही नहीं, वह अपने भाई को भी मार सकती है। यह स्त्री की प्रकृति है। अतएव इस भौतिक जगत में जब तक स्त्रियों को सती तथा पतिपरायणा होने का प्रशिक्षण नहीं दिया जाता तब तक समाज में न तो शान्ति हो सकती है न सम्पन्नता।

विधायालीकविश्रम्भमज्ञेषु त्यक्तसौहृदाः ।
नवं नवमभीप्सन्त्यः पुंश्चल्यः स्वैरवृत्तयः ॥ ३८॥

शब्दार्थ

विधाय—स्थापित करके; अलीक—झूठा; विश्रम्भम्—विश्वास; अज्ञेषु—मूर्ख पुरुषों से; त्यक्त-सौहृदाः—जिन्होंने शुभचिन्तकों का साथ छोड़ दिया है; नवम्—नवीन; नवम्—नवीन; अभीप्सन्त्यः—चाहते हुए; पुंश्चल्यः—अन्य पुरुषों के द्वारा आसानी से आकृष्ट होने वाली स्त्रियाँ; स्वैर—स्वतंत्र रूप से; वृत्तयः—पेशेवर।

स्त्रियाँ पुरुषों द्वारा आसानी से ठग ली जाती हैं, अतएव दूषित स्त्रियाँ अपने शुभेच्छु पुरुष की मित्रता छोड़कर मूर्खों से झूठी दोस्ती स्थापित कर लेती हैं। निस्सन्देह, वे एक के बाद एक नित नये मित्रों की खोज में रहती हैं।

तात्पर्य : चूँकि स्त्रियाँ आसानी से ठग ली जाती हैं अतएव *मनु-संहिता* का आदेश है कि स्त्रियों को स्वतंत्रता न दी जाय। स्त्री की रक्षा उसके पिता, पति या बड़े पुत्र द्वारा की जानी चाहिए। यदि स्त्रियों को पुरुषों के साथ समान रूप से मिलने की छूट दे दी जाय, जैसा कि वे आजकल दावा करती हैं तो वे अपने सतीत्व को बनाये नहीं रह सकतीं। जैसा कि उर्वशी बयान करती है कि स्त्री का स्वभाव है पुरुष से झूठी मित्रता स्थापित करना और एक के बाद दूसरा पुरुष संगी खोजते रहना, भले ही इससे उसे अपने शुभचिन्तक को छोड़ना क्यों न पड़े।

संवत्सरान्ते हि भवानेकरात्रं मयेश्वरः ।
रंस्यत्यपत्यानि च ते भविष्यन्त्यपराणि भोः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

संवत्सर-अन्ते—हर एक साल के बाद; हि—निस्सन्देह; भवान्—आप; एक-रात्रम्—एक रात के लिए; मया—मेरे साथ; ईश्वरः—मेरे पति; रंस्यति—रमण करोगे; अपत्यानि—सन्तान; च—भी; ते—तुम्हारी; भविष्यन्ति—उत्पन्न होंगी; अपराणि—अन्य, एक के बाद एक; भोः—हे राजा।

हे राजा, तुम हर एक साल के बाद केवल एक रात के लिए मेरे साथ पति रूप में रमण कर सकोगे। इस तरह तुम्हें एक-एक करके अन्य सन्तानें भी मिलती रहेंगी।

तात्पर्य : यद्यपि उर्वशी ने स्त्री-स्वभाव को विपरीत ढंग का बतलाया था, किन्तु महाराज पुरुरवा उस पर अत्यधिक अनुरक्त था अतएव उसने राजा को कुछ छूट देनी चाही। इस तरह उसने हर वर्ष के अन्त में केवल एक रात के लिए उसकी पत्नी बनना स्वीकार कर लिया।

अन्तर्वत्नीमुपालक्ष्य देवीं स प्रययौ पुरीम् ।
पुनस्तत्र गतोऽब्दान्ते उर्वशीं वीरमातरम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

अन्तर्वत्नीम्—गर्भिणी; उपालक्ष्य—देखकर; देवीम्—उर्वशी को; सः—वह; प्रययौ—लौट आया; पुरीम्—अपने महल में; पुनः—फिर; तत्र—उसी स्थान पर; गतः—गया; अब्द-अन्ते—एक साल के बाद; उर्वशीम्—उर्वशी को; वीर-मातरम्—एक क्षत्रिय पुत्र की माता।

यह जानकर कि उर्वशी गर्भवती है, पुरुरवा अपने महल में वापस आ गया। एक वर्ष बाद कुरुक्षेत्र में ही उर्वशी से पुनः उसकी भेंट हुई; तब वह एक वीर पुत्र की माता थी।

उपलभ्य मुदा युक्तः समुवास तया निशाम् ।
अथैनमुर्वशी प्राह कृपणं विरहातुरम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

उपलभ्य—साथ पाकर; मुदा—अत्यधिक खुशी में; युक्तः—मिलकर; समुवास—संभोग किया; तया—उसके साथ; निशाम्—उस रात्रि; अथ—तत्पश्चात्; एनम्—राजा को; उर्वशी—उर्वशी ने; प्राह—कहा; कृपणम्—दुर्बल हृदय वाले; विरह-आतुरम्—विरह के विचारभाव से पीड़ित।

वर्ष के अन्त में उर्वशी को फिर से पाकर राजा पुरुरवा अत्यधिक हर्षित था और उसने एक रात उसके साथ संभोग में बिताई। किन्तु उससे विलग होने के विचार से वह अत्यधिक दुखी था; इसलिए उर्वशी ने उससे इस प्रकार कहा।

गन्धर्वानुपधावेमांस्तुभ्यं दास्यन्ति मामिति ।
तस्य संस्तुवतस्तुष्टा अग्निस्थालीं ददुर्नृप ।
उर्वशीं मन्यमानस्तां सोऽबुध्यत चरन्वने ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

गन्धर्वान्—गन्धर्वों की; उपधाव—जाकर शरण लो; इमान्—इन; तुभ्यम्—तुमको; दास्यन्ति—देंगे; माम् इति—मेरे ही जैसी; तस्य—उसके द्वारा; संस्तुवतः—स्तुति करने पर; तुष्टाः—प्रसन्न होकर; अग्नि-स्थालीम्—अग्नि से उत्पन्न कन्या; ददुः—दिया; नृप—हे राजा; उर्वशीम्—उर्वशी को; मन्य-मानः—सोचते हुए; ताम्—उसको; सः—वह (पुरुरवा); अबुध्यत—समझ गया; चरन्—विचरण करते हुए; वने—वन में।

उर्वशी ने कहा : हे राजन, तुम गन्धर्वों की शरण में जाओ क्योंकि वे मुझे पुनः तुम्हें दे सकेंगे। इन वचनों के अनुसार राजा ने स्तुतियों द्वारा गन्धर्वों को प्रसन्न किया और जब गन्धर्व प्रसन्न हुए तो उन्होंने उसे उर्वशी जैसी ही एक अग्निस्थाली कन्या प्रदान की। यह सोचकर कि यह कन्या उर्वशी ही है, वह राजा उसके साथ जंगल में विचरण करने लगा, किन्तु बाद में उसकी समझ में आ गया कि वह उर्वशी नहीं अपितु अग्निस्थाली है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टिप्पणी है कि पुरुरवा अत्यन्त कामी था। अग्निस्थाली को प्राप्त करते ही उसने उसके साथ संभोग करना चाहा, किन्तु संभोग के समय उसे पता चल गया कि वह कन्या उर्वशी नहीं अपितु अग्निस्थाली है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति, जिस स्त्री के प्रति

आसक्त रहता है उसके विशिष्ट लक्षणों को वह संभोग के समय जान लेता है। इस तरह पुरुरवा संभोग के समय समझ गया कि अग्निस्थाली कन्या उर्वशी नहीं थी।

स्थालीं न्यस्य वने गत्वा गृहानाध्यायतो निशि ।
त्रेतायां सम्प्रवृत्तायां मनसि त्रय्यवर्तत ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

स्थालीम्—अग्निस्थली को; न्यस्य—तुरन्त त्यागकर; वने—वन में; गत्वा—लौटने पर; गृहान्—घर पर; आध्यायतः—ध्यान करने लगा; निशि—सारी रात; त्रेतायाम्—त्रेतायुग में; सम्प्रवृत्तायाम्—प्रारम्भ होने को था; मनसि—मन में; त्रयी—तीन वेदों के सिद्धान्त; अवर्तत—प्रकट हुए।

तब राजा पुरुरवा ने अग्निस्थाली को जंगल में छोड़ दिया और स्वयं घर वापस चला आया जहाँ उसने रात भर उर्वशी का ध्यान किया। उसके ध्यान के ही समय त्रेतायुग का शुभारम्भ हो गया; अतएव वेदत्रयी के सारे सिद्धान्त, जिनमें कर्म की पूर्ति के लिए यज्ञ करने की विधियाँ भी सम्मिलित थीं, उसके हृदय के भीतर प्रकट हुए।

तात्पर्य : कहा गया है—*त्रेतायां यजतो मखैः*—यदि त्रेतायुग में कोई यज्ञ करता है तो उसे इन यज्ञों का फल प्राप्त होता है। विशेष रूप से यदि कोई *विष्णु यज्ञ* करे तो उसे भगवान् के चरणकमल तक प्राप्त हो सकते हैं। निस्सन्देह, यज्ञ भगवान् को तुष्ट करने के निमित्त किये जाते हैं। जब पुरुरवा उर्वशी के ध्यान में मग्न था तभी त्रेतायुग का शुभारम्भ हो गया; अतएव उसके हृदय में वैदिक यज्ञों का उदय हुआ। किन्तु पुरुरवा भौतिकतावादी था, विशेष रूप से, वह तो इन्द्रियों के भोग में रुचि रखता था। इन्द्रियभोग के लिए किये जानेवाले यज्ञ *कर्मकाण्डीय यज्ञ* कहलाते हैं। अतएव उसने अपनी विषयवासनाओं की पूर्ति के लिए कर्मकाण्डीय यज्ञ करने का निश्चय किया। दूसरे शब्दों में, *कर्मकाण्डीय यज्ञ* कामी पुरुषों के निमित्त हैं जब कि यज्ञ भगवान् को प्रसन्न करने के लिए। कलियुग में भगवान् को प्रसन्न करने के लिए *संकीर्तन यज्ञ* की संस्तुति की जाती है। *यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः*—जो लोग बुद्धिमान हैं केवल वे अपनी भौतिक तथा आध्यात्मिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए संकीर्तन यज्ञ करते हैं, किन्तु जो इन्द्रिय-भोग के लिए कामी हैं वे *कर्मकाण्डीय यज्ञ* करते हैं।

स्थालीस्थानं गतोऽश्वत्थं शमीगर्भं विलक्ष्य सः ।

तेन द्वे अरणी कृत्वा उर्वशीलोककाम्यया ॥ ४४॥
उर्वशीं मन्त्रतो ध्यायन्नधरारणिमुत्तराम् ।
आत्मानमुभयोर्मध्ये यत्तत्प्रजननं प्रभुः ॥ ४५॥

शब्दार्थ

स्थाली-स्थानम्—जहाँ अग्निस्थाली को छोड़ा था; गतः—वहाँ जाकर; अश्वत्थम्—अश्वत्थ वृक्ष; शमी-गर्भम्—शमी वृक्ष के भीतर से; विलक्ष्य—देखकर; सः—वह पुरुरवा; तेन—उससे; द्वे—दो; अरणी—यज्ञ की अग्नि जलाने के काम आने वाली लकड़ी के टुकड़े; कृत्वा—बनाकर; उर्वशी-लोक-काम्यया—उस लोक को जाने की इच्छा से जहाँ उर्वशी थी; उर्वशीम्—उर्वशी को; मन्त्रतः—मंत्रोच्चार द्वारा; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; अधर—नीचे के; अरणिम्—अरणिम् काष्ठ को; उत्तराम्—तथा ऊपर वाले को; आत्मानम्—अपने को; उभयोः मध्ये—दोनों के बीच में; यत् तत्—उसे (जिसका वह ध्यान कर रहा था); प्रजननम्—पुत्ररूप में; प्रभुः—राजा ने।

जब पुरुरवा के हृदय के कर्मकाण्डीय यज्ञ की विधि प्रकट हुई तो वह उसी स्थान पर गया जहाँ उसने अग्निस्थाली को छोड़ा था। वहाँ उसने देखा कि शमी वृक्ष के भीतर से एक अश्वत्थ वृक्ष उग आया है। उसने उस वृक्ष से लकड़ी का एक टुकड़ा लिया और उससे दो अरणियाँ बना लीं। उसने उर्वशी के रहने वाले लोक में जाने की इच्छा से, निचली अरणी में उर्वशी का और ऊपरी अरणी में अपना ध्यान तथा बीच के काष्ठ में अपने पुत्र का ध्यान करते हुए मंत्रोच्चार किया। इस तरह वह अग्नि प्रज्वलित करने लगा।

तात्पर्य : यज्ञ के लिए वैदिक अग्नि सामान्य दियासलाई से या ऐसी ही किसी वस्तु से नहीं जलाई जाती थी। वैदिक यज्ञ-अग्नि को अरणियों से जलाया जाता था। ये अरणियाँ लकड़ी के दो शुद्ध खंड होते थे जिन्हें तीसरे खंड में रगड़ने से अग्नि उत्पन्न होती थी। यज्ञ करने के लिए ऐसी अग्नि आवश्यक होती थी। यदि यज्ञ सफल होता था तो यज्ञकर्ता की मनोकामना पूरी होती थी। इस तरह पुरुरवा ने अपनी कामेच्छाओं को पूरा करने के लिए यज्ञ की प्रक्रिया का सहारा लिया। उसने निचली अरणी को उर्वशी मान लिया, ऊपरी अरणी को स्वयं मान लिया और बीच की लकड़ी को अपना पुत्र मान लिया। यहाँ पर विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने एक प्रासंगिक मंत्र उद्धृत किया है जो इस प्रकार है—*शमी गर्भाद् अग्निं मन्थ।* इसी प्रकार का एक और मंत्र है—*उर्वश्याम् उरसि पुरुरवाः।* पुरुरवा उर्वशी के गर्भ से निरन्तर सन्तान चाहता था। उसका एकमात्र ध्येय यह था कि वह उर्वशी से संभोग करे जिससे पुत्र उत्पन्न हो। दूसरे शब्दों में, उसके हृदय में इतनी वासना थी कि जब वह यह यज्ञ कर रहा था तो उसके मन में यज्ञेश्वर भगवान् विष्णु का ध्यान न होकर उर्वशी का ध्यान था।

तस्य निर्मन्थनाज्जातो जातवेदा विभावसुः ।
त्रय्या स विद्यया राज्ञा पुत्रत्वे कल्पितस्त्रिवृत् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

तस्य—पुरुरवा के; निर्मन्थनात्—मन्थन या घर्षण से; जातः—उत्पन्न हुआ; जात-वेदाः—वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार भौतिक भोग के निमित्त; विभावसुः—अग्नि; त्रय्या—वैदिक सिद्धान्तों का पालन करते हुए; सः—अग्नि; विद्यया—ऐसी विधि से; राज्ञा—राजा द्वारा; पुत्रत्वे—पुत्र उत्पन्न होना; कल्पितः—ऐसा हुआ कि; त्रि-वृत्—तीन अक्षर.

पुरुरवा द्वारा अरणियों के रगड़ने से अग्नि उत्पन्न हुई। ऐसी अग्नि से मनुष्य को भौतिक भोग में पूर्ण सफलता मिल सकती है और वह सन्तान उत्पत्ति, दीक्षा तथा यज्ञ करते समय शुद्ध हो सकता है जिन्हें अ, उ, म् (ओम्) शब्दों के द्वारा आवाहन किया जा सकता है। इस प्रकार वह अग्नि राजा पुरुरवा का पुत्र मान ली गई।

तात्पर्य : वैदिक विधि के अनुसार मनुष्य को वीर्य (*शुक्र*) द्वारा पुत्र प्राप्ति हो सकती है, दीक्षा द्वारा (*सावित्र*) प्रामाणिक शिष्य प्राप्त हो सकता है अथवा यज्ञ की अग्नि (*यज्ञ*) द्वारा पुत्र या शिष्य प्राप्त हो सकता है। इस तरह जब महाराज पुरुरवा ने अरणियों के मन्थन से अग्नि उत्पन्न की तो अग्नि उसका पुत्र बन गई। मनुष्य को वीर्य, दीक्षा अथवा यज्ञ द्वारा पुत्रलाभ हो सकता है। ओङ्कार या प्रणव वैदिक मंत्र में तीन अक्षर अ, उ, म् होते हैं जो इन तीनों विधियों का आवाहन कर सकते हैं। अतएव *निर्मन्थनाज्जातः* शब्द बतलाते हैं कि अरणियों के रगड़ने से पुत्र उत्पन्न हुआ।

तेनायजत यज्ञेशं भगवन्तमधोक्षजम् ।
उर्वशीलोकमन्विच्छन्सर्वदेवमयं हरिम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

तेन—ऐसी अग्नि उत्पन्न करने से; अयजत—पूजा की; यज्ञ-ईशम्—यज्ञ के स्वामी की; भगवन्तम्—भगवान्; अधोक्षजम्—इन्द्रियों की अनुभूति से परे; उर्वशी-लोकम्—वह लोक जहाँ उर्वशी रहती थी; अन्विच्छन्—जाना चाहते हुए; सर्व-देव-मयम्—सभी देवताओं का आगार; हरिम्—भगवान् को।.

उर्वशी-लोक जाने के इच्छुक पुरुरवा ने उस अग्नि के द्वारा एक यज्ञ किया जिससे उसने यज्ञफल के भोक्ता भगवान् हरि को तुष्ट किया। इस प्रकार उसने इन्द्रियानुभूति से परे एवं समस्त देवताओं के आगार भगवान् की पूजा की।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में आया है—*भोक्तारं यज्ञ तपसां सर्वलोकमहेश्वरम्*—चाहे जिस लोक को भी जाने की इच्छा की जाय वह यज्ञ के भोक्ता भगवान् की सम्पत्ति है। यज्ञ का उद्देश्य भगवान् को तुष्ट करना

है। इस युग में, जैसा हम ने कई बार बताया है भगवान् को तुष्ट करने के लिए एकमात्र यज्ञ हरे कृष्ण महामंत्र का संकीर्तन करना है। भगवान् के तुष्ट होने पर भौतिक या आध्यात्मिक कोई भी इच्छा पूरी की जा सकती है। *भगवद्गीता* (३.१४) का भी यह कथन है—*यज्ञाद् भवति पर्जन्यः*—भगवान् विष्णु को यज्ञ अर्पित करने से पर्याप्त वर्षा होती है। पर्याप्त वर्षा होने से भूमि से सब कुछ उत्पन्न हो सकता है (*सर्वकाम दुघा मही*)। तब भूमि का समुचित उपयोग हो सकता है, जिससे जीवन की सभी आवश्यकताएँ पूरी की जा सकती हैं—यथा अन्न, फल, फूल तथा तरकारियाँ। भौतिक सम्पत्ति की सारी वस्तुएँ भूमि से उत्पन्न होती हैं अतएव उसे *सर्वकाम दुघा मही* (*भागवत* १.१०.४) कहा गया है। यज्ञ सम्पन्न करने पर सभी कुछ सम्भव है। अतएव पुरुरवा ने भौतिक वस्तु चाहकर भी भगवान् को प्रसन्न करने के लिए यथार्थ में यज्ञ सम्पन्न किया।भगवान् अधोक्षज हैं—वे पुरुरवा तथा अन्य सबों की अनुभूति के परे हैं। फलस्वरूप जीव को अपनी इच्छापूर्ति के लिए कोई न कोई यज्ञ करना ही होता है। मानव समाज में यज्ञ तभी सम्भव है जब समाज वर्णाश्रम धर्म द्वारा चार वर्णों तथा चार आश्रमों में बँटा हो। ऐसे विधान के बिना कोई यज्ञ नहीं कर सकता और यज्ञ सम्पन्न किये बिना चाहे कितनी योजनाएँ क्यों न बनाई जाएँ; मानव समाज कभी सुखी नहीं हो सकता। अतएव हर एक को यज्ञ सम्पन्न करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। इस कलियुग में जिस यज्ञ की संस्तुति की जाती है वह संकीर्तन है, जो हरे कृष्ण महामंत्र का व्यक्तिगत या सामूहिक कीर्तन है। इससे मानव समाज की सारी आवश्यकताएँ पूरी हो सकेंगी।

एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः ।
देवो नारायणो नान्य एकोऽग्निर्वर्ण एव च ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

एकः—एकमात्र; एव—निस्सन्देह; पुरा—प्राचीन काल में; वेदः—दिव्य ज्ञान का ग्रंथ; प्रणवः—ओंकार; सर्व-वाक्-मयः—सारे वैदिक मंत्रों से युक्त; देवः—ईश्वर; नारायणः—एकमात्र नारायण (सत्ययुग में पूज्य थे); न अन्यः—अन्य कोई नहीं; एकः अग्निः—अग्नि का केवल एक विभाग; वर्णः—जीवन व्यवस्था, जाति; एव च—तथा निश्चय ही।

प्रथम युग, सत्ययुग में, सारे वैदिक मंत्र एक ही मंत्र प्रणव में सम्मिलित थे जो सारे वैदिक मंत्रों का मूल है। दूसरे शब्दों में अथर्ववेद ही समस्त वैदिक ज्ञान का स्त्रोत था। भगवान् नारायण ही एकमात्र आराध्य थे और देवताओं की पूजा की संस्तुति नहीं की जाती थी। अग्नि केवल एक थी और मानव समाज में केवल एक वर्ण था जो हंस कहलाता था।

तात्पर्य : सत्ययुग में चार वेद नहीं अपितु केवल एक वेद था। बाद में कलियुग शुरू होने के पूर्व यही एक वेद—अथर्ववेद (या उसे कुछ लोग यजुर्वेद कहते हैं) चार में विभक्त हो गया—साम, यजु, ऋग् तथा अथर्व। सत्ययुग में एकमात्र मंत्र ओंकार (ॐ तत् सत्) था। यही ओङ्कार नाम हरे कृष्ण महामंत्र में प्रकट है। जब तक कोई ब्राह्मण न हो वह ओङ्कार का उच्चारण नहीं कर सकता और वांछित फल नहीं पा सकता। किन्तु कलियुग में लगभग सभी शूद्र हैं, अतएव प्रणव या ओङ्कार का उच्चारण करने के अयोग्य हैं। फलत: शास्त्रों ने हरे कृष्ण महामंत्र कीर्तन करने की संस्तुति की है। ओङ्कार एक मंत्र या महामंत्र है और हरे कृष्ण भी महामंत्र है। ओङ्कार के उच्चारण का उद्देश्य भगवान् वासुदेव को सम्बोधित करना है (*ॐ नमो भगवते वासुदेवाय*) और हरे कृष्ण मंत्र उच्चारण करने का भी यही उद्देश्य है। *हरे* का अर्थ है हे भगवान् की शक्ति! *कृष्ण* का अर्थ है हे कृष्ण! *हरे* का अर्थ है हे भगवान् की शक्ति तथा *राम* का अर्थ है हे परम भोक्ता परमेश्वर। एकमात्र आराध्य भगवान् हरि हैं जो वेदों के गन्तव्य हैं (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:*)। देवताओं की पूजा करके मनुष्य भगवान् के विभिन्न अंशों की पूजा करता है जिस प्रकार कोई वृक्ष की टहनियों को सींचे। किन्तु सर्वेश्वर नारायण की पूजा उसी तरह है जिस तरह वृक्ष की जड़ को सींचना जिससे तने, शाखाओं, पत्तियों इत्यादि को पानी मिलता है। सत्ययुग में लोगों को पता था कि मात्र नारायण की पूजा करके जीवन की आवश्यकताएँ कैसे पूरी की जा सकती हैं। वही उद्देश्य इस कलियुग में हरे कृष्ण महामंत्र के कीर्तन से पूरा किया जा सकता है जैसा कि *भागवत* में निर्दिष्ट है। *कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्ग: परं व्रजेत्।* हरे कृष्ण महामंत्र के उच्चारण मात्र से मनुष्य भवबन्धन से छूट जाता है और भगवद्धाम वापस जाने का पात्र बनता है।

पुरूरवस एवासीत्त्रयी त्रेतामुखे नृप ।
अग्निना प्रजया राजा लोकं गान्धर्वमेयिवान् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

पुरूरवस:—राजा पुरुरवा से; एव—इस प्रकार; आसीत्—था; त्रयी—कर्म, ज्ञान तथा उपासना के वैदिक सिद्धान्त; त्रेता-मुखे—त्रेतायुग के प्रारम्भ में; नृप—हे राजा परीक्षित; अग्निना—यज्ञ की अग्नि उत्पन्न करने से ही; प्रजया—अपने पुत्र द्वारा; राजा—पुरुरवा ने; लोकम्—लोक को; गान्धर्वम्—गन्धर्वों के; एयिवान्—प्राप्त किया।

हे महाराज परीक्षित, त्रेतायुग के प्रारम्भ में राजा पुरुरवा ने एक कर्मकाण्ड यज्ञ का सूत्रपात किया। इस प्रकार यज्ञिक अग्नि को पुत्र मानने वाला पुरुरवा इच्छानुसार गन्धर्वलोक जाने में समर्थ हुआ।

तात्पर्य : सत्ययुग में नारायण की पूजा ध्यान द्वारा की जाती थी (*कृते यद् ध्यायतो विष्णुम्*)। निस्सन्देह, हर व्यक्ति सदैव विष्णु या नारायण का ध्यान करता था और इस ध्यान से उसे हर सफलता मिलती रहती थी। अगले युग, त्रेतायुग में, यज्ञ का प्रारम्भ हुआ (*त्रेतायां यजतो मुखै*)। इसीलिए इस श्लोक में *त्रयी त्रेता मुखे* आया है। कर्मकाण्ड वास्तव में सकाम कर्म कहलाते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि स्वायंभुव मन्वन्तर में प्रारम्भ त्रेतायुग में प्रियव्रत इत्यादि ने कर्मकाण्ड प्रारम्भ किया था।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध के अन्तर्गत ''पुरुरवा का उर्वशी पर मोहित होना'' नामक चौदहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पन्द्रह

भगवान् का योद्धा अवतार, परशुराम

इस अध्याय में ऐल के वंशज गाधि की कथा का वर्णन हुआ है।

उर्वशी के गर्भ से छः पुत्र उत्पन्न हुए जिनके नाम थे आयु, श्रुतायु, सत्यायु, रय, जय तथा विजय। श्रुतायु का पुत्र वसुमान था, सत्यायु का पुत्र श्रुतञ्जय हुआ, रय के पुत्र का नाम एक था, जय का पुत्र अमित था और विजय का पुत्र भीम हुआ। भीम के पुत्र का नाम कांचन था, उसके पुत्र का नाम होत्रक तथा होत्रक के पुत्र का नाम जह्नु था जो एक ही घूँट में गंगा का सारा पानी पी लेने के लिए विख्यात था। जह्नु के वंशजों के नाम क्रमशः पुरु, बलाक, अजक तथा कुश थे। कुश के पुत्रों के नाम थे कुशाम्बु, तनय, वसु तथा कुशनाभ। कुशाम्बु का पुत्र गाधि हुआ जिसके सत्यवती नाम की एक कन्या हुई। सत्यवती ने ऋचीक मुनि के साथ विवाह किया जब मुनि ने प्रचुर दहेज दिया और उन दोनों से जमदग्नि नामक पुत्र की उत्पत्ति हुई। जमदग्नि का पुत्र राम या परशुराम था। जब कार्तवीर्यार्जुन नामक राजा ने जमदग्नि की कामधेनु चुरा ली तो भगवान् के शक्त्यावेश अवतार परशुराम ने उसका वध किया। बाद में परशुराम ने इक्कीस बार क्षत्रिय वंश का संहार किया। जब परशुराम ने कार्तवीर्यार्जुन का वध कर दिया तो जमदग्नि ने उसे बताया कि राजा का वध पापपूर्ण होता है और उसे ब्राह्मण होने के नाते इस अपराध को सह लेना चाहिए था। अतएव जमदग्नि ने परशुराम को अपने पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए विविध तीर्थस्थानों की यात्रा करने की सलाह दी।

श्रीबादरायणिरुवाच
ऐलस्य चोर्वशीगर्भात्षडासन्नात्मजा नृप ।
आयुः श्रुतायुः सत्यायू रयोऽथ विजयो जयः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्रील शुकेदव गोस्वामी ने कहा; ऐलस्य—पुरुरवा के; च—भी; उर्वशी-गर्भात्—उर्वशी के गर्भ से; षट्—छः; आसन्—थे; आत्मजाः—पुत्र; नृप—हे राजा परीक्षित; आयुः—आयु; श्रुतायुः—श्रुतायु; सत्यायुः—सत्यायु; रयः—रय; अथ—तथा; विजयः—विजय; जयः—जय।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : हे राजा परीक्षित, पुरुरवा ने उर्वशी के गर्भ से छः पुत्र उत्पन्न किये। उनके नाम थे—आयु, श्रुतायु, सत्यायु, रय, विजय तथा जय।

श्रुतायोर्वसुमान्पुत्रः सत्यायोश्च श्रुतञ्जयः ।
रयस्य सुत एकश्च जयस्य तनयोऽमितः ॥ २॥

भीमस्तु विजयस्याथ काञ्चनो होत्रकस्ततः ।
तस्य जह्नुः सुतो गङ्गां गण्डूषीकृत्य योऽपिबत् ॥ ३॥

शब्दार्थ

श्रुतायोः—श्रुतायु का; वसुमान्—वसुमान; पुत्रः—पुत्र; सत्यायोः—सत्यायु का; च—भी; श्रुतञ्जयः—श्रुतञ्जय; रयस्य—रय का; सुतः—पुत्र; एकः—एक नामक; च—तथा; जयस्य—जय का; तनयः—पुत्र; अमितः—अमित; भीमः—भीम; तु—निस्सन्देह; विजयस्य—विजय का; अथ—तत्पश्चात्; काञ्चनः—काञ्चन, भीम का पुत्र; होत्रकः—होत्रक; ततः—तब; तस्य—होत्रक का; जह्नुः—जह्नु; सुतः—पुत्र; गङ्गाम्—गंगा के सारे जल को; गण्डूषी-कृत्य—एक ही घूँट में; यः—जिसने; अपिबत्—पी लिया।

श्रुतायु का पुत्र वसुमान हुआ, सत्यायु का पुत्र श्रुतञ्जय हुआ, रय के पुत्र का नाम एक था, जय का पुत्र अमित था और विजय का पुत्र भीम हुआ। भीम का पुत्र काञ्चन, काञ्चन का पुत्र होत्रक और होत्रक का पुत्र जह्नु था जिसने एक ही घूँट में गंगा का सारा पानी पी लिया था।

जह्नोस्तु पुरुस्तस्याथ बलाकश्चात्मजोऽजकः ।
ततः कुशः कुशस्यापि कुशाम्बुस्तनयो वसुः ।
कुशनाभश्च चत्वारो गाधिरासीत्कुशाम्बुजः ॥ ४॥

शब्दार्थ

जह्नोः—जह्नु का; तु—निस्सन्देह; पुरुः—पुरु नामक; तस्य—उसका; अथ—तत्पश्चात्; बलाकः—बलाक; च—तथा; आत्मजः—बलाक का पुत्र; अजकः—अजक; ततः—तत्पश्चात्; कुशः—कुश; कुशस्य—कुश का; अपि—तब; कुशाम्बुः—कुशाम्बु; तनयः—तनय; वसुः—वसु; कुशनाभः—कुशनाभ; च—तथा; चत्वारः—चार पुत्र; गाधिः—गाधि; आसीत्—था; कुशाम्बुजः—कुशाम्बुज का पुत्र।

जह्नु का पुत्र पुरु था, पुरु का बलाक, बलाक का अजक और अजक का पुत्र कुश हुआ। कुश के चार पुत्र हुए जिनके नाम थे कुशाम्बुज, तनय, वसु तथा कुशनाभ। कुशाम्बु का पुत्र गाधि था।

तस्य सत्यवतीं कन्यामृचीकोऽयाचत द्विजः ।
वरं विसदृशं मत्वा गाधिर्भार्गवमब्रवीत् ॥ ५॥

एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
सहस्रं दीयतां शुल्कं कन्यायाः कुशिका वयम् ॥ ६॥

शब्दार्थ

तस्य—उस (गाधि) की; सत्यवतीम्—सत्यवती; कन्याम्—पुत्री को; ऋचीकः—महामुनि ऋचीक ने; अयाचत—विवाह के लिए माँगा; द्विजः—ब्राह्मण; वरम्—पति रूप में; विसदृशम्—अनुपयुक्त; मत्वा—मानकर; गाधिः—राजा गाधि; भार्गवम्—ऋचीक से; अब्रवीत्—बोला; एकतः—एक; श्याम-कर्णानाम्—जिसका कान काला हो; हयानाम्—घोड़ों का; चन्द्र-वर्चसाम्—चाँदनी सा उज्ज्वल; सहस्रम्—एक हजार; दीयताम्—दें; शुल्कम्—दहेज के रूप में; कन्यायाः—मेरी कन्या को; कुशिकाः—कुश के परिवार में; वयम्—हम हैं।

गाधि के एक पुत्री थी जिसका नाम सत्यवती था जिससे विवाह करने के लिए ऋचीक नामक

ब्रह्मर्षि ने राजा से विनती की। किन्तु राजा गाधि ने इस ब्रह्मर्षि को अपनी पुत्री के लिए अयोग्य पति समझ कर उससे कहा, ''महोदय, मैं कुशवंशी हूँ। चूँकि हम लोग राजसी क्षत्रिय हैं अतएव आपको मेरी पुत्री के लिए कुछ दहेज देना होगा। अतः आप कम से कम एक हजार ऐसे घोड़े लायें जो चाँदनी की तरह उज्ज्वल हों और जिनके एक कान, दायाँ या बायाँ, काला हो।''

तात्पर्य : राजा गाधि का पुत्र विश्वामित्र हुआ जो ब्राह्मण तथा क्षत्रिय का मिश्रित रूप कहा जाता था। विश्वामित्र ने ब्रह्मर्षि का पद प्राप्त किया जैसा कि आगे बताया गया है। ऋचीक मुनि के साथ सत्यवती का विवाह होने से उनका जो पुत्र होगा वह क्षत्रिय गुणों वाला होगा। राजा गाधि ने कहा कि वह अपनी पुत्री की शादी ऋचीक ब्राह्मण से तभी कर सकता है जब उसकी एक असाधारण माँग पूरी हो जाय।

इत्युक्तस्तन्मतं ज्ञात्वा गतः स वरुणान्तिकम् ।
आनीय दत्त्वा तानश्वानुपयेमे वराननाम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

इति—इस तरह; उक्तः—कहे जाने पर; तत्-मतम्—उसका विचार; ज्ञात्वा—जानकर; गतः—चला गया; सः—वह; वरुण-अन्तिकम्—वरुण लोक को; आनीय—लाकर; दत्त्वा—तथा देकर; तान्—उन; अश्वान्—घोड़ों को; उपयेमे—विवाह कर लिया; वर-आननाम्—राजा गाधि की सुमुखी पुत्री का।

जब राजा गाधि ने यह माँग पेश की तो महर्षि ऋचीक को राजा के मन की बात समझ में आ गई। अतएव वह वरुणदेव के पास गया और वहाँ से गाधि द्वारा माँगे गये एक हजार घोड़े ले आया। इन घोड़ों को भेंट करके मुनि ने राजा की सुन्दर पुत्री के साथ विवाह कर लिया।

स ऋषिः प्रार्थितः पत्न्या श्वश्र्वा चापत्यकाम्यया ।
श्रपयित्वोभयैर्मन्त्रैश्चरुं स्नातुं गतो मुनिः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (ऋचीक); ऋषिः—ऋषि; प्रार्थितः—प्रार्थना किये जाने पर; पत्न्या—अपनी पत्नी द्वारा; श्वश्र्वा—अपनी सास द्वारा; च—भी; अपत्य-काम्यया—पुत्र की इच्छा से; श्रपयित्वा—पकाकर; उभयैः—दोनों; मन्त्रैः—विशेष मंत्रोच्चार से; चरुम्—यज्ञ में आहुति देने के लिए खीर; स्नातुम्—स्नान करने के लिए; गतः—चला गया; मुनिः—मुनि।

तत्पश्चात् ऋचीक मुनि की पत्नी तथा सास दोनों ने पुत्र की इच्छा से मुनि से प्रार्थना की कि वह चरु (आहुति) तैयार करे। तब मुनि ने अपनी पत्नी के लिए ब्राह्मण मंत्र से एक चरु और क्षत्रिय मंत्र से अपनी सास के लिए एक अन्य चरु तैयार किया। फिर वह स्नान करने चला गया।

तावत्सत्यवती मात्रा स्वचरुं याचिता सती ।
श्रेष्ठं मत्वा तयायच्छन्मात्रे मातुरदत्स्वयम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तावत्—इसी बीच; सत्यवती—ऋचीक पत्नी सत्यवती; मात्रा—अपनी माता से; स्व-चरुम्—अपने लिए तैयार की गई चरु; याचिता—माँगे जाने पर; सती—होने से; श्रेष्ठम्—उत्तम; मत्वा—सोचकर; तया—उसके द्वारा; अयच्छत्—प्रदान किया गया; मात्रे—माता का; मातुः—माता का; अदत्—खाया; स्वयम्—स्वयं, खुद।

इसी बीच सत्यवती की माता ने सोचा कि उसकी पुत्री के लिए तैयार की गई चरु अवश्य ही श्रेष्ठ होगी अतएव उसने अपनी पुत्री से वह चरु माँग ली। सत्यवती ने वह चरु अपनी माता को दे दी और स्वयं अपनी माता की चरु खा ली।

तात्पर्य : पति में अपनी पत्नी के लिए कुछ स्नेह होना स्वाभाविक है। अतएव सत्यवती की माता ने सोचा कि ऋषि ने सत्यवती के लिए जो चरु तैयार की है वह अवश्य ही उसकी चरु से श्रेष्ठ होगी। फलत: ऋचीक की अनुपस्थिति में माता ने सत्यवती से श्रेष्ठ चरु लेकर खा ली।

तद्विदित्वा मुनिः प्राह पत्नीं कष्टमकारषीः ।
घोरो दण्डधरः पुत्रो भ्राता ते ब्रह्मवित्तमः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तत्—यह तथ्य; विदित्वा—जानकर; मुनिः—मुनि ने; प्राह—कहा; पत्नीम्—अपनी पत्नी से; कष्टम्—अत्यन्त दुखद; अकारषीः—तुमने कर डाला; घोरः—भयानक; दण्ड-धरः—महापुरुष जो अन्यों को दण्ड दे सकता है; पुत्रः—ऐसा पुत्र; भ्राता—भाई; ते—तुम्हारा; ब्रह्म-वित्तमः—अध्यात्म विद्या में पंडित।

जब ऋषि ऋचीक स्नान करके घर लौटे और उन्हें यह पता लगा कि उनकी अनुपस्थिति में क्या घटना घटी है तो उन्होंने अपनी पत्नी सत्यवती से कहा, ''तुमने बहुत बड़ी भूल की है। तुम्हारा पुत्र घोर क्षत्रिय होगा, जो हर एक को दण्ड दे सकेगा और तुम्हारा भाई अध्यात्म विद्या का पण्डित होगा।''

तात्पर्य : वही ब्राह्मण योग्य कहलाता है जो अपनी इन्द्रियों तथा मन को वश में रख सकता हो, जो अध्यात्म विद्या का पण्डित हो और जो सहिष्णु तथा क्षमावान हो। किन्तु क्षत्रिय वही योग्य है जो अपराधियों को कड़ा से कड़ा दण्ड दे। *भगवद्गीता* (१८.४२-४३) में इन गुणों का उल्लेख है। चूँकि सत्यवती ने अपनी चरु न खाकर अपनी माता की चरु खा ली थी अतएव उससे जो पुत्र होगा वह क्षत्रिय

गुणों से सम्पन्न होगा। यह अवांछनीय था। सामान्यतया ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण के गुणों वाला होना चाहिए, किन्तु यदि वह क्षत्रिय की भाँति खूँख्वार हो जाय तो उसका नामकरण *भगवद्गीता* में वर्णित चारों वर्णों के अनुसार होगा (*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः*)। यदि ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण-जैसा आचरण नहीं करता तो उसे उसकी योग्यता के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कहा जायेगा। समाज को विभाजित करने का मूल सिद्धान्त मनुष्य का जन्म नहीं अपितु उसके गुण तथा कर्म हैं।

प्रसादितः सत्यवत्या मैवं भूरिति भार्गवः ।
अथ तर्हि भवेत्पौत्रो जमदग्निस्ततोऽभवत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

प्रसादितः—शान्त किया गया; सत्यवत्या—सत्यवती द्वारा; मा—नहीं; एवम्—इस प्रकार; भूः—हो; इति—इस प्रकार; भार्गवः—ऋषि; अथ—यदि तुम्हारा पुत्र ऐसा न हुआ; तर्हि—तो; भवेत्—होगा; पौत्रः—पोता; जमदग्निः—जमदग्नि; ततः—तत्पश्चात्; अभवत्—उत्पन्न हुआ।

किन्तु सत्यवती ने मधुर वचनों से ऋचीक मुनि को शान्त किया और प्रार्थना की कि उसका पुत्र क्षत्रिय की तरह भयंकर न हो। ऋचीक मुनि ने उत्तर दिया, ''तो तुम्हारा पौत्र क्षत्रिय गुणवाला होगा।'' इस प्रकार सत्यवती के पुत्र रूप में जमदग्नि का जन्म हुआ।

तात्पर्य : ऋषि ऋचीक अत्यधिक कुपित थे, किन्तु सत्यवती ने उन्हें किसी तरह मनाया और उसकी प्रार्थना पर उन्होंने अपना विचार बदल लिया। यहाँ इसका संकेत है कि जमदग्नि के पुत्र रूप में परशुराम का जन्म होगा।

सा चाभूत्सुमहत्पुण्या कौशिकी लोकपावनी ।
रेणोः सुतां रेणुकां वै जमदग्निरुवाह याम् ॥ १२ ॥
तस्यां वै भार्गवऋषेः सुता वसुमदादयः ।
यवीयाञ्जज्ञ एतेषां राम इत्यभिविश्रुतः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सा—वह (सत्यवती); च—भी; अभूत्—हो गई; सुमहत्-पुण्या—अत्यन्त महान् एवं पवित्र; कौशिकी—कौशिकी नामक नदी; लोक-पावनी—समस्त संसार को पवित्र करने वाली; रेणोः—रेणु की; सुताम्—कन्या; रेणुकाम्—रेणुका को; वै—निस्सन्देह; जमदग्निः—सत्यवती-पुत्र जमदग्नि ने; उवाह—विवाह कर लिया; याम्—जिससे; तस्याम्—रेणुका के गर्भ से; वै—निस्सन्देह; भार्गव-ऋषेः—जमदग्नि मुनि के वीर्य से; सुताः—कई पुत्र; वसुमत्-आदयः—वसुमान इत्यादि; यवीयान्—सबसे छोटा; जज्ञे—उत्पन्न हुआ; एतेषाम्—उनमें से; रामः—परशुराम; इति—इस प्रकार; अभिविश्रुतः—विश्वविख्यात।

बाद में सत्यवती समस्त संसार को पवित्र करने वाली कौशिकी नामक पुण्य नदी बन गई और

उसके पुत्र जमदग्नि ने रेणु की पुत्री रेणुका से विवाह किया। जमदग्नि के वीर्य से रेणुका की कुक्षि से वसुमान इत्यादि कई पुत्र हुए जिनमें से राम या परशुराम सबसे छोटा था।

यमाहुर्वासुदेवांशं हैहयानां कुलान्तकम् ।
त्रिःसप्तकृत्वो य इमां चक्रे निःक्षत्रियां महीम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको; आहुः—सारे विद्वान कहते हैं; वासुदेव-अंशम्—भगवान् वासुदेव का अवतार; हैहयानाम्—हैहयों के; कुल-अन्तकम्—कुल का विनाशकर्ता; त्रिः-सप्त-कृत्वः—इक्कीस बार; यः—जिसने (परशुराम); इमाम्—इस; चक्रे—बनाया; निःक्षत्रियाम्—क्षत्रियविहीन; महीम्—पृथ्वी को।

विद्वान लोग इस परशुराम को भगवान् वासुदेव का विख्यात अवतार मानते हैं जिसने कार्तवीर्य के वंश का विनाश किया। परशुराम ने पृथ्वी के सभी क्षत्रियों का इक्कीस बार वध किया।

दृप्तं क्षत्रं भुवो भारमब्रह्मण्यमनीनशत् ।
रजस्तमोवृतमहन्फल्गुन्यपि कृतेऽंहसि ॥ १५॥

शब्दार्थ

दृप्तम्—अत्यन्त गर्वित; क्षत्रम्—क्षत्रियों को; भुवः—पृथ्वी के; भारम्—भार को; अब्रह्मण्यम्—पापी, ब्राह्मणों के बनाये धार्मिक नियमों की परवाह न करने वाले; अनीनशत्—निकाल दिया या विनष्ट कर दिया; रजः-तमः—रजो तथा तमो गुणों से; वृतम्—ढके हुए; अहन्—मार डाला; फल्गुनि—बहुत बड़े नहीं; अपि—यद्यपि; कृते—किया गया; अंहसि—अपराध।

जब राजवंश रजो तथा तमो गुणों के कारण अत्यधिक गर्वित होकर अधार्मिक बन गया और ब्राह्मणों द्वारा बनाये गये नियमों की परवाह न करने लगा तो परशुराम ने उन सबको मार डाला। यद्यपि उनके अपराध बहुत बड़े न थे, किन्तु धरती का भार कम करने के लिए उन्होंने उन्हें मार डाला।

तात्पर्य : क्षत्रियों या शासक वर्ग को महान् ब्राह्मणों तथा साधु पुरुषों द्वारा बनाये गये विधि-विधानों के अनुसार संसार पर शासन करना चाहिए। ज्यों ही शासक वर्ग धार्मिक नियमों की अवहेलना करने लगता है त्योंही वह पृथ्वी के लिए भार बन जाता है। जैसा कि यहाँ पर कहा गया है—*रजस्तमोवृतं, भारम् अब्रह्मण्यम्*—जब शासक वर्ग रजो तथा तमो गुणों से प्रभावित हो जाता है तो वह विश्व के लिए भार बन जाता है और तब उसे महती शक्ति द्वारा विनष्ट किया जाना चाहिए। हम आधुनिक इतिहास में स्पष्ट देखते हैं कि राजतंत्रों को विभिन्न क्रान्तियों ने विनष्ट किया है, किन्तु दुर्भाग्यवश राजतंत्रों के विनाश के बाद तृतीय

तथा चतुर्थ श्रेणी के व्यक्तियों का प्रभुत्व स्थापित हो गया है। यद्यपि राजतंत्रों को रजो तथा तमो गुणों ने परास्त कर दिया है और विश्व से उनका लोप हो गया है, किन्तु विश्व के वासी अब भी दुखी हैं क्योंकि यद्यपि इन राजाओं के गुण तमोगुण के कारण क्षीण हो गए थे, इनका स्थान व्यापारी तथा श्रमिक वर्ग के लोगों ने ले लिया है जो और भी गिरे हुए हैं। जब सरकार का मार्गदर्शन ब्राह्मण या ईश्वरभक्त लोग करते हैं तभी लोग वास्तव में सुखी रह सकते हैं। अतएव प्राचीन काल में जब शासक वर्ग रजो तथा तमो गुणों के स्तर पर पतित हो गया तो परशुराम जैसे क्षत्रियतुल्य ब्राह्मणों ने उनका इक्कीस बार वध किया।

जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में (१२.२.१३) कहा गया है कलियुग में—*दस्यु प्रायेषु राजसु*—शासक वर्ग (राजन्य) लुटेरों (दुस्युओं) की तरह होगा क्योंकि सरकारी राजकाज में तृतीय तथा चतुर्थ श्रेणी के लोगों का प्राधान्य हो जायेगा। वे धार्मिक नियमों तथा ब्राह्मणों के द्वारा निर्मित विधि-विधानों की अवहेलना करते हुए नागरिकों की सम्पत्ति को मनमाना ढंग से लूटने का प्रयास करेंगे। जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में (१२.१.४०) अन्यत्र आया है—

असंस्कृताः क्रियाहीना रजसा तमसावृताः।

प्रजास्ते भक्षयिष्यन्ति म्लेच्छा राजन्यरूपिणः॥

अशुद्ध होने, मानव कर्तव्यों को ठीक से न करने एवं रजो तथा तमो गुणों से प्रभावित होने के कारण, अशुद्ध लोग (म्लेच्छ) सरकारी कर्मचारी बनकर (*राजन्यरूपिणः*) नागरिकों को निगल जायेंगे (*प्रजास्ते भक्षयिष्यन्ति*)। एक अन्य स्थान पर भी *श्रीमद्भागवत* में (१२.२.७-८) कहा गया है—

एवं प्रजाभिर्दुष्टाभिराकीर्णे क्षितिमण्डले।

ब्रह्मविट्क्षत्रशूद्राणां यो बली भविता नृपः॥

प्रजा हि लुब्धै राजन्यैर्निघृणैर्दस्युधर्मभिः।

आच्छिन्नदारद्रविणा यास्यन्ति गिरिकाननम्॥

जैसा कि *भगवद्गीता* में बतलाया गया है मानव समाज चार विभागों में बँटा है (*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम् गुणकर्म विभागशः*), किन्तु यदि इस तंत्र की अवहेलना की जाती है और समाज के गुण एवं विभागों पर ध्यान नहीं दिया जाता तो इसका परिणाम होगा—*ब्रह्म विट्क्षत्रशूद्राणां यो बली भविता नृपः*—अर्थात्

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की तथाकथित जाति-प्रथा निरर्थक होगी। फलस्वरूप जो भी येनकेन प्रकारेण शक्तिशाली होगा वही राजा या राष्ट्रपति बन जायेगा और इस प्रकार प्रजा को इतना सताया जायेगा कि लोग घरबार छोड़कर जंगल चले जायेंगे (*यास्यन्ति गिरिकाननम्*) जिससे वे उन सरकारी अफसरों के उत्पीड़न से बच सकें जो निर्दय एवं लुटेरों-जैसी वृत्ति के हैं। इसलिए प्रजा को कृष्णभावनामृत आन्दोलन या हरे कृष्ण आन्दोलन को ग्रहण करना चाहिए क्योंकि यह भगवान् का शब्द अवतार है। *कलि-काले नाम-रूपे कृष्ण-अवतार*—अब अपने पवित्र नाम के अवतार रूप में कृष्ण प्रकट हुए हैं। अतएव जब प्रजा कृष्णभावनाभावित हो जायेगी तभी वह अच्छी सरकार, अच्छा समाज, पूर्ण जीवन तथा भवबन्धन से मुक्ति की आशा रख सकती है।

श्रीराजोवाच

किं तदंहो भगवतो राजन्यैरजितात्मभिः ।
कृतं येन कुलं नष्टं क्षत्रियाणामभीक्ष्णशः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—महाराज परीक्षित ने पूछा; किम्—क्या; तत् अंहः—वह अपराध; भगवतः—भगवान् के प्रति; राजन्यैः—राज परिवार द्वारा; अजित-आत्मभिः—जो अपनी इन्द्रियों को वश में न कर सकने के कारण पतित हो गये; कृतम्—किया गया; येन—जिससे; कुलम्—कुल; नष्टम्—नष्ट हो गया; क्षत्रियाणाम्—राजवंश का; अभीक्ष्णशः—पुनः पुनः।

राजा परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछाः अपनी इन्द्रियों को वश में न रख सकने वाले राजाओं का वह कौन सा अपराध था जिसके कारण भगवान् के अवतार परशुराम ने क्षत्रियवंश का बारम्बार विनाश किया?

श्रीबादरायणिरुवाच

हैहयानामधिपतिरर्जुनः क्षत्रियर्षभः ।
दत्तं नारायणांशांशमाराध्य परिकर्मभिः ॥ १७॥

बाहून्दशशतं लेभे दुर्धर्षत्वमरातिषु ।
अव्याहतेन्द्रियौजः श्रीतेजोवीर्ययशोबलम् ॥ १८ ॥

योगेश्वरत्वमैश्वर्यं गुणा यत्राणिमादयः ।
चचाराव्याहतगतिर्लोकेषु पवनो यथा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया; हैहयानाम् अधिपतिः—हैहयों का राजा; अर्जुनः—कार्तवीर्यार्जुन; क्षत्रिय-ऋषभः—क्षत्रियों में सर्वश्रेष्ठ; दत्तम्—दत्तात्रेय को; नारायण-अंश-अंशम्—नारायण के अंशांश को; आराध्य—पूजा करके;

परिकर्मभिः—विधि-विधान के अनुसार पूजा द्वारा; बाहून्—बाँहें; दश-शतम्—एक हजार (दस सौ); लेभे—प्राप्त कीं; दुर्धर्षत्वम्—कठिनाई से जीते जाने का गुण; अरातिषु—शत्रुओं के मध्य; अव्याहत—अपराजेय; इन्द्रिय-ओजः—इन्द्रियों की शक्ति; श्री—सौन्दर्य; तेजः—प्रताप प्रभाव; वीर्य—शक्ति; यशः—यश; बलम्—शारीरिक बल; योग-ईश्वरत्वम्—योगशक्ति के द्वारा अर्जित ईश्वरत्व; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; गुणाः—गुण; यत्र—जहाँ; अणिमा-आदयः—आठ सिद्धियाँ (अणिमा, लघिमा इत्यादि).); चचार—गया; अव्याहत-गतिः—जिसकी प्रगति न थकने वाली थी; लोकेषु—सारे विश्व में; पवनः—वायु; यथा—के समान।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : क्षत्रियश्रेष्ठ हैहयराज कार्तवीर्यार्जुन ने भगवान् नारायण के स्वांश दत्तात्रेय की पूजा करके एक हजार भुजाएँ प्राप्त कीं। वह शत्रुओं द्वारा अपराजेय बन गया और उसे अव्याहत इन्द्रिय शक्ति, सौन्दर्य, प्रभाव, बल, यश तथा अणिमा, लघिमा जैसी आठ योग सिद्धियाँ प्राप्त करने की योग शक्ति मिल गई। इस तरह पूर्ण ऐश्वर्यशाली बनकर वह सारे संसार में वायु की तरह बेजोड़ बनकर घूमने लगा।

स्त्रीरत्नैरावृतः क्रीडन्रेवाम्भसि मदोत्कटः ।
वैजयन्तीं स्रजं बिभ्रद्रुरोध सरितं भुजैः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

स्त्री-रत्नैः—सुन्दर स्त्रियों द्वारा; आवृतः—घिरा हुआ; क्रीडन्—भोगरत; रेवा-अम्भसि—रेवा या नर्मदा नदी के जल में; मद-उत्कटः—ऐश्वर्य से अत्यन्त गर्वित होकर; वैजयन्तीम् स्रजम्—विजय की माला से; बिभ्रत्—सुशोभित; रुरोध—प्रवाह को रोक दिया; सरितम्—नदी के; भुजैः—अपनी भुजाओं से।

एक बार नर्मदा नदी के जल में क्रीड़ा करते हुए सुन्दरी स्त्रियों से घिरे एवं विजय की माला धारण किये हुए गर्वोन्नत कार्तवीर्यार्जुन ने अपनी बाँहों से जल के प्रवाह को रोक दिया।

विप्लावितं स्वशिबिरं प्रतिस्रोतःसरिज्जलैः ।
नामृष्यत्तस्य तद्वीर्यं वीरमानी दशाननः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

विप्लावितम्—जलमग्न करके; स्व-शिबिरम्—अपने ही खेमे को; प्रतिस्रोतः—विपरीत दिशा में बहने वाले; सरित्-जलैः—नदी के जल से; न—नहीं; अमृष्यत्—सहन कर सका; तस्य—कार्तवीर्यार्जुन का; तत् वीर्यम्—वह प्रभाव; वीरमानी—अपने को वीर मानने वाला; दश-आननः—दस शिरों वाला रावण।

चूँकि कार्तवीर्यार्जुन ने जलप्रवाह की दिशा पलट दी थी अतः नर्मदा नदी के तट पर महिष्मती नगर के निकट रावण का लगा खेमा जलमग्न हो गया। यह दससिरों वाले रावण के लिए असह्य हो उठा क्योंकि वह अपने को महान् वीर मानता था और वह कार्तवीर्यार्जुन के बल को सहन नहीं कर सका।

तात्पर्य : रावण दिग्विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से भ्रमण कर रहा था और नर्मदा नदी के तट पर

माहिष्मती नगर के निकट खेमा डाले हुए था।

गृहीतो लीलया स्त्रीणां समक्षं कृतकिल्बिषः ।
माहिष्मत्यां सन्निरुद्धो मुक्तो येन कपिर्यथा ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

गृहीतः—बलपूर्वक बन्दी बनाया गया; लीलया—आसानी से; स्त्रीणाम्—स्त्रियों की; समक्षम्—उपस्थिति में; कृत-किल्बिषः—अपराधी होने के कारण; माहिष्मत्याम्—माहिष्मती नामक नगर में; सन्निरुद्धः—बन्दी बनाया गया; मुक्तः—छोड़ा गया; येन—जिसके (कार्तवीर्यार्जुन के) द्वारा; कपिः यथा—जिस प्रकार बन्दर छोड़ दिया जाय।

जब रावण ने स्त्रियों के समक्ष कार्तवीर्यार्जुन का अपमान करना चाहा और उसे नाराज कर दिया तो उसने रावण को खेल-खेल में उसी प्रकार बन्दी बनाकर माहिष्मती नगर के कारागार में डाल दिया जिस प्रकार कोई बन्दर को पकड़ ले। बाद में उसने परवाह किए बिना उसे मुक्त कर दिया।

स एकदा तु मृगयां विचरन्विजने वने ।
यदृच्छयाश्रमपदं जमदग्नेरुपाविशत् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, कार्तवीर्यार्जुन; एकदा—एक बार; तु—लेकिन; मृगयाम्—शिकार करते हुए; विचरन्—घूमते हुए; विजने—एकान्त; वने—वन में; यदृच्छया—किसी कार्यक्रम के बिना; आश्रम-पदम्—रिहायशी स्थान में; जमदग्नेः—जमदग्नि मुनि के; उपाविशत्—घुस गया।

एक बार जब कार्तवीर्यार्जुन बिना किसी कार्यक्रम के एकान्त जंगल में घूमकर शिकार कर रहा था तो वह जमदग्नि के निवास के निकट पहुँचा।

तात्पर्य : कार्तवीर्यार्जुन को जमदग्नि के आवास तक जाने का कोई कारण न था, किन्तु अपनी अद्वितीय शक्ति से गर्वित होकर वह वहाँ गया और उसने परशुराम का अपमान किया। परशुराम द्वारा उसके मारे जाने की यही पूर्वपीठिका थी।

तस्मै स नरदेवाय मुनिरर्हणमाहरत् ।
ससैन्यामात्यवाहाय हविष्मत्या तपोधनः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उस; सः—उस (जमदग्नि); नरदेवाय—राजा कार्तवीर्यार्जुन को; मुनिः—मुनि ने; अर्हणम्—पूजा की सामग्री; आहरत्—प्रदान की; स-सैन्य—सेना समेत उसको; अमात्य—उसके मंत्रियों को; वाहाय—तथा रथों, हाथियों, घोड़ों या पालकी वाहकों को; हविष्मत्या—कामधेनु रखने के कारण; तपः-धनः—मुनि, जिसकी तपस्या ही उसका धन था, अथवा जो तपस्या में लगा था।

जंगल में कठिन तपस्या में रत ऋषि जमदग्नि ने सैनिकों, मंत्रियों तथा पालकी वाहकों समेत

राजा का अच्छी तरह स्वागत किया। उन्होंने इन अतिथियों को पूजा करने की सारी सामग्री जुटाई क्योंकि उनके पास कामधेनु गाय थी जो हर वस्तु प्रदान करने में सक्षम थी।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* से हमें जानकारी मिलती है कि वैकुण्ठ लोक, विशेष रूप से कृष्ण का निवासस्थल गोलोक वृन्दावन सुरभि गायों से पूर्ण है (*सुरभीरभिपालयन्तम्*)। सुरभि गाय को कामधेनु भी कहते हैं। यद्यपि जमदग्नि के पास एक ही कामधेनु थी, किन्तु वे उससे कोई भी इच्छित वस्तु प्राप्त कर सकते थे। इस तरह वे राजा के अनेक अनुचरों, मंत्रियों, सैनिकों, पशुओं तथा कहारों समेत राजा का स्वागत कर सके। जब हम राजा की बात करते हैं तो इसका अर्थ होता है कि उसके साथ अनेक अनुचर होंगे। जमदग्नि उस सबों का ठीक से स्वागत कर सके और उन्हें घी में बना पेट भर कर भोजन खिला सके। राजा आश्चर्यचकित था कि जमदग्नि केवल एक गाय के होने से ही कितना ऐश्वर्यशाली है अतएव उसे इस ऋषि से ईर्ष्या होने लगी। उसके अपराध की यही शुरुआत है। भगवान् के अवतार परशुराम ने कार्तवीर्यार्जुन को मार डाला क्योंकि वह अत्यधिक घमंडी था। इस भौतिक जगत में किसी के पास कितना ही धन क्यों न हो, किन्तु यदि वह गर्वित होकर मनमाना कार्य करता है तो भगवान् उसे दण्ड देते हैं। इस कथा से यही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, जिसमें परशुराम ने कार्तवीर्यार्जुन पर क्रुद्ध होकर उसे मार डाला और फिर २१ बार सारे संसार को क्षत्रियविहीन कर दिया।

स वै रत्नं तु तद्दृष्ट्वा आत्मैश्वर्यातिशायनम् ।
तन्नाद्रियताग्निहोत्र्यां साभिलाषः सहैहयः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (कार्तवीर्यार्जुन); वै—निस्सन्देह; रत्नम्—सम्पत्ति के स्रोत को; तु—निस्सन्देह; तत्—जमदग्नि की कामधेनु; दृष्ट्वा—देखकर; आत्म-ऐश्वर्य—निजी ऐश्वर्य; अति-शायनम्—अतिशय; तत्—वह; न—नहीं; आद्रियत—अत्यधिक प्रशंसा की; अग्निहोत्र्याम्—उस गाय में जो अग्निहोत्र यज्ञ करने के लिए अत्यन्त लाभदायक थी; स-अभिलाषः—इच्छुक; स-हैहयः—हैहयवंशी, अपने व्यक्तियों सहित।

कार्तवीर्यार्जुन ने सोचा कि जमदग्नि उसकी तुलना में अधिक शक्तिशाली एवं सम्पन्न है क्योंकि उसके पास कामधेनु रूपी रत्न है अतएव उसने तथा उसके हैहयजनों ने जमदग्नि के सत्कार की अधिक प्रशंसा नहीं की। उल्टे, वे उस कामधेनु को लेना चाहते थे जो अग्निहोत्र यज्ञ के लिए लाभदायक थी।

तात्पर्य : जमदग्नि कार्तवीर्यार्जुन की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली थे क्योंकि वे कामधेनु से प्राप्त घी से अग्निहोत्र यज्ञ करते थे। ऐसी गाय हर किसी के पास होनी सम्भव नहीं। तो भी एक सामान्य व्यक्ति एक सामान्य गाय रखकर उसकी रक्षा करते हुए उससे प्रचुर दूध प्राप्त कर सकता है जिससे वह अग्निहोत्र यज्ञ के लिए घी बना सकता है। यह हर एक के लिए सम्भव है। इस तरह हम देखते हैं कि *भगवद्गीता* में कृष्ण *गोरक्ष्य* अर्थात् गोरक्षा का उपदेश देते हैं। यह अत्यावश्यक है क्योंकि यदि गायों की ठीक से देखभाल की जाय तो उनसे प्रचुर दूध मिल सकता है। हमें अमरीका में इसका व्यावहारिक अनुभव हुआ है जहाँ हम इस्कॉन के विविध फार्मों में गायों को ठीक से सुरक्षा प्रदान करके पर्याप्त दूध प्राप्त कर रहे हैं। अन्य फार्मों की गाएँ उतना दूध नहीं देतीं जितना कि हमारी गाएँ देती हैं। क्योंकि हमारी गाएँ जानती हैं कि हम उनका वध नहीं करेंगे अतएव वे सुखी हैं और पर्याप्त दूध देती हैं। अतएव कृष्ण जी द्वारा दिया गया गोरक्ष्य का उपदेश अत्यन्त सार्थक है। सारे विश्व को कृष्ण से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि किस प्रकार मात्र अन्न उत्पादन करके (*अन्नाद् भवन्ति भूतानि*) तथा गायों को सुरक्षा प्रदान करके (*गोरक्ष्य*) लोग बिना किसी अभाव के सुखपूर्वक रह सकते हैं। *कृषि-गोरक्ष्य-वाणिज्यं वैश्य कर्म स्वभावजम्।* मानव समाज के तृतीय श्रेणी के लोगों अर्थात् व्यापारी वर्ग को अन्नोत्पादन तथा गायों की रक्षा के लिए भूमि अवश्य रखनी चाहिए। यह *भगवद्गीता* का आदेश है। गायों की सुरक्षा के प्रश्न पर मांसाहारियों को आपत्ति होगी; अतएव इसके जवाब में हमें उनसे कहना चाहिए कि चूँकि कृष्ण गोरक्षा पर बल देते हैं अतएव जो मांस खाना ही चाहते हैं वे कूकरों-सूकरों, भेड़-बकरियों का मांस खायें, किन्तु वे गायों के जीवन पर आँच न आने दें क्योंकि यह मानव समाज की आध्यात्मिक प्रगति को विनष्ट करने वाला है।

हविर्धानीमृषेर्दर्पान्नरान्हर्तुमचोदयत् ।
ते च माहिष्मतीं निन्युः सवत्सां क्रन्दतीं बलात् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

हविः-धानीम्—कामधेनु को; ऋषेः—ऋषि जमदग्नि की; दर्पात्—भौतिक शक्ति से गर्वित होने से; नरान्—अपने सारे आदमियों (सैनिकों) को; हर्तुम्—चुरा या ले जाने के लिए; अचोदयत्—प्रोत्साहित किया; ते—वे; च—भी; माहिष्मतीम्—कार्तवीर्यार्जुन की राजधानी में; निन्युः—ले आये; स-वत्साम्—उसके बछड़े समेत; क्रन्दतीम्—रोती हुई को; बलात्—बलपूर्वक, जबरन।

भौतिक शक्ति से गर्वित कार्तवीर्यार्जुन ने अपने व्यक्तियों को जमदग्नि की कामधेनु चुरा लेने के लिए प्रेरित किया। फलतः वे व्यक्ति रोती-विलपती कामधेनु को उसके बछड़े समेत बलपूर्वक

कार्तवीर्यार्जुन की राजधानी माहिष्मती ले आये।

तात्पर्य : इस श्लोक में *हविर्धानीम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है यज्ञ के अनुष्ठानों को सम्पन्न करने के लिए हवि या घी प्रदान करने वाली गाय। मनुष्य को इस जीवन में यज्ञ सम्पन्न करने की शिक्षा दी जानी चाहिए। जैसा कि हमें *भगवद्गीता* से (३.९) जानकारी मिलती है—*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*—यदि हम यज्ञ नहीं करते तो हम इन्द्रियतृप्ति के लिए कूकरों-सूकरों की तरह कठिन श्रम करते रहेंगे। यह सभ्यता नहीं है। मनुष्य को यज्ञ करने की शिक्षा दी जानी चाहिए। *यज्ञाद् भवति पर्जन्यः*। यदि यज्ञ नियमित रूप से सम्पन्न होते रहें तो समुचित वर्षा होती रहेगी और ठीक से वर्षा होने पर भूमि उपजाऊ होगी तथा जीवन की समस्त आवश्यकताओं को पूरा कर सकेगी। अतएव यज्ञ आवश्यक है। यज्ञ के लिए घी चाहिए और घी के लिए गाय की सुरक्षा होनी चाहिए।इसलिए यदि हम वैदिक सभ्यता की उपेक्षा करेंगे तो हमें अवश्य ही कष्ट मिलेगा। तथाकथित विद्वान तथा दार्शनिक जीवन में सफलता के रहस्य को नहीं जानते अतएव उन्हें प्रकृति के हाथों में पड़कर कष्ट सहना पड़ता है (*प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वशः*)*।* कष्ट सहन करने पर विवश होने पर भी वे सोचते हैं कि वे सभ्यता में आगे बढ़ रहे हैं (*अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते*)। अतएव कृष्णभावनामृत आन्दोलन उस सभ्यता को पुनर्जीवित करने के लिए है जिसमें हर व्यक्ति सुखी रह सके। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन का यही उद्देश्य है। *यज्ञे सुखेन भवन्तु।*

अथ राजनि निर्याते राम आश्रम आगतः ।
श्रुत्वा तत्तस्य दौरात्म्यं चुक्रोधाहिरिवाहतः ॥ २७॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; राजनि—राजा के; निर्याते—चले जाने पर; रामः—जमदग्नि का सबसे छोटा पुत्र परशुराम; आश्रमे—आश्रम में; आगतः—वापस आया; श्रुत्वा—सुनकर; तत्—जो; तस्य—कार्तवीर्यार्जुन का; दौरात्म्यम्—दुष्कर्म; चुक्रोध—अत्यन्त क्रुद्ध हुआ; अहिः—साँप; इव—सदृश; आहतः—कुचले जाने पर या चोट खाने पर।

जब कामधेनु सहित कार्तवीर्यार्जुन चला गया तो जमदग्नि का सबसे छोटा पुत्र परशुराम आश्रम में लौटा। जब उसने कार्तवीर्यार्जुन के दुष्कर्म के विषय में सुना तो वह कुचले हुए साँप की तरह क्रुद्ध हो उठा।

घोरमादाय परशुं सतूणं वर्म कार्मुकम् ।
अन्वधावत दुर्मर्षो मृगेन्द्र इव यूथपम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

घोरम्—अत्यन्त भयानक; आदाय—हाथ में लेकर; परशुम्—फरसा; स-तूणम्—तूणीर सहित; वर्म—ढाल; कार्मुकम्—धनुष; अन्वधावत—पीछा किया; दुर्मर्षः—अत्यधिक क्रोध में भरे परशुराम ने; मृगेन्द्रः—सिंह; इव—सदृश; यूथपम्—हाथी पर (आक्रमण करने के लिए)।

अपना भयानक फरसा, ढाल, धनुष तथा तरकस लेकर अत्यधिक क्रुद्ध परशुराम ने कार्तवीर्यार्जुन का पीछा किया जिस तरह सिंह हाथी का पीछा करता है।

तमापतन्तं भृगुवर्यमोजसा
धनुर्धरं बाणपरश्वधायुधम् ।
ऐणेयचर्माम्बरमर्कधामभि-
र्युतं जटाभिर्ददृशे पुरीं विशन् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; आपतन्तम्—पीछा करते; भृगु-वर्यम्—भृगुवंशी भगवान् परशुराम को; ओजसा—अत्यन्त दारुण; धनुः-धरम्—धनुष धारण किये; बाण—बाण; परश्वध—फरसा; आयुधम्—इन सारे हथियारों को; ऐणेय-चर्म—श्याम हिरन की खाल; अम्बरम्—अपने शरीर को ढके; अर्क-धामभिः—सूर्यप्रकाश की भाँति प्रकट होकर; युतम् जटाभिः—जटाओं से युक्त; ददृशे—उसने देखा; पुरीम्—राजधानी में; विशन्—प्रवेश करते हुए।

अभी राजा कार्तवीर्यार्जुन अपनी राजधानी माहिष्मती पुरी में प्रवेश कर ही रहा था कि उसने भृगुवंशियों में श्रेष्ठ भगवान् परशुराम को फरसा, ढाल, धनुष तथा बाण लिए अपना पीछा करते देखा। परशुरामजी ने काले हिरन की खाल पहन रखी थी और उनका जटाजूट सूर्य के तेज जैसा प्रतीत हो रहा था।

अचोदयद्धस्तिरथाश्वपत्तिभि-
र्गदासिबाणर्ष्टिशतघ्निशक्तिभिः ।
अक्षौहिणीः सप्तदशातिभीषणा-
स्ता राम एको भगवानसूदयत् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अचोदयत्—लड़ने के लिए भेजा; हस्ति—हाथी; रथ—रथ; अश्व—घोड़े; पत्तिभिः—पैदल सेना समेत; गदा—गदा; असि—तलवार; बाण—बाण; ऋष्टि—ऋष्टि नामक औजार; शतघ्नि—शतघ्नि नामक हथियार; शक्तिभिः—तथा शक्ति नामक हथियार से; अक्षौहिणीः—अक्षौहिणी; सप्त-दश—सत्रह; अति-भीषणाः—अत्यन्त भयानक; ताः—उन सबों को; रामः—परशुराम ने; एकः—अकेले; भगवान्—भगवान्; असूदयत्—मार डाला।

परशुराम को देखते ही कार्तवीर्यार्जुन डर गया और उसने तुरन्त ही उनसे युद्ध करने के लिए

अनेक हाथी, रथ, घोड़े तथा पैदल सैनिक भेजे जो गदा, तलवार, बाण, ऋष्टि, शतघ्नि, शक्ति इत्यादि विविध हथियारों से युक्त थे। उसने परशुराम को रोकने के लिए पूरे सत्रह अक्षौहिणी सैनिक भेजे, किन्तु भगवान् परशुराम ने अकेले ही सबों का सफाया कर दिया।

तात्पर्य : *अक्षौहिणी* शब्द २१८७० रथ तथा इतने हाथी, १०९३५० पैदल सैनिक तथा ६५६१० घोड़ों से युक्त सैन्य व्यूह है। इसका सही-सही वर्णन *महाभारत* के आदिपर्व के द्वितीय अध्याय में दिया हुआ है—

एको रथो गजश्चैकः नराः पञ्च पदातयः।
त्रयश्च तुरगास्तज्ज्ञै पत्तिरित्यभिधीयते॥
पत्तिं तु त्रिगुणाम् एतां विदुः सेनामुखं बुधाः।
त्रीणि सेनामुखान्येको गुल्म इत्यभिधीयते॥
त्रयोगुल्मा गणो नाम वाहिनी तु गणास्त्रयः।
श्रुतास्तिस्रस्तु वाहिन्यः पृतनेति विचक्षणै॥
चमूस्तु पृतनास्तिस्रश्चंवस्तिस्रस्त्वनीकिनी।
अनीकिनीं दशगुणामाहुरक्षौहिणीं बुधाः॥
अक्षौहिण्यस्तु संख्याता रथानां द्विज सत्तमाः।
संख्यागणिततत्त्वज्ञै सहस्राण्येकविशंति॥
शतान्युपरि चाष्टौ च भूयस्तथा च सप्ततिः।
गजानां तु परीमाणं तावदेवात्र निर्दिशेत्॥
ज्ञेयं शतसहस्रं तु सहस्राणि तथा नव।
नराणामधि पञ्चाशच्छतानि त्रीणि चानघाः॥
पञ्चषष्टिसहस्राणि तथाश्वानां शतानि च।
दशोत्तराणि षट् चाहुर्यथावद् अभिसंख्यया।
एतामक्षणौहिणीं प्राहुः संख्यातत्त्वविदो जनाः॥

''ज्ञाताओं का कहना है कि एक रथ, एक हाथी, पाँच पैदल सैनिक तथा तीन घोड़े मिलकर एक पत्ति

कहलाते हैं। चतुर व्यक्ति यह भी जानते हैं कि ऐसे तीन पत्ति का एक सेनामुख होता है। तीन सेनामुख मिलकर एक गुल्म बनाते हैं, तीन गुल्म मिलकर एक गण एवं तीन गण मिलकर एक वाहिनी कहलाते हैं। विद्वान लोग तीन वाहिनियों को एक पृतना, तीन पृतनाओं को एक चमू, तीन चमुओं को एक अनीकिनी कहते हैं। ऐसी दस अनीकिनियों से एक अक्षौहिणी बनती है। हे द्विज! एक अक्षौहिणी में रथों की संख्या २१८७० होती है और हाथियों की संख्या भी इतनी ही है। पैदल सैनिकों की संख्या १०९३५० है और घोड़ों की संख्या ६५६१० है। यह एक अक्षौहिणी कहलाती है।''

यतो यतोऽसौ प्रहरत्परश्वधो
मनोऽनिलौजाः परचक्रसूदनः ।
ततस्ततश्छिन्नभुजोरुकन्धरा
निपेतुरुर्व्यां हतसूतवाहनाः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

यतः—जहाँ; यतः—जहाँ; असौ—भगवान् परशुराम; प्रहरत्—प्रहार करते हुए; परश्वधः—परशु नामक हथियार चलाने में निपुण; मनः—मन की तरह; अनिल—वायु की तरह; ओजाः—शक्तिशाली; पर-चक्र—शत्रु की सैन्य शक्ति का; सूदनः—वध करने वाला; ततः—वहाँ; ततः—वहाँ; छिन्न—कटकर तितर-बितर; भुज—बाहें; ऊरु—पाँव; कन्धराः—धड़; निपेतुः—गिर पड़े; उर्व्याम्—पृथ्वी पर; हत—मारे हुए; सूत—सारथी; वाहनाः—घोड़े तथा हाथी की सवारियाँ।

शत्रु की सेना को मारने में कुशल भगवान् परशुराम ने मन तथा वायु की गति से काम करते हुए अपने फरसे से शत्रुओं के टुकड़े कर दिये। वे जहाँ-जहाँ गये सारे शत्रु खेत होते रहे, उनके पाँव, हाथ तथा धड़ अलग-अलग हो गये, उनके सारथी मार डाले गये और उनके वाहन, हाथी तथा घोड़े सभी विनष्ट कर दिये गये।

तात्पर्य : प्रारम्भ में जब शत्रुसेना युद्ध करने वाले सैनिकों, हाथियों तथा घोड़ों से भरी थी तो भगवान् परशुराम मन के वेग से उनके बीच उनका वध करने के लिए आगे बढ़े। जब वे कुछ थक गए तो उनकी गति वायु जैसी हो गई और फिर वे तेजी से शत्रुओं का वध करते रहे। मन का वेग वायु के वेग से अधिक है।

दृष्ट्वा स्वसैन्यं रुधिरौघकर्दमे
रणाजिरे रामकुठारसायकैः ।
विवृक्णवर्मध्वजचापविग्रहं

निपातितं हैहय आपतद्रुषा ॥ ३२॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; स्व-सैन्यम्—अपने सैनिकों को; रुधिर-ओघ-कर्दमे—रक्त बहने से गँदले हुए; रण-अजिरे—युद्धभूमि में; राम-कुठार—भगवान् परशुराम के फरसे से; सायकैः—बाणों से; विवृक्ण—तितर-बितर; वर्म—ढाल; ध्वज—ध्वजा; चाप—धनुष; विग्रहम्—शरीर; निपातितम्—गिरे हुए; हैहयः—कार्तवीर्यार्जुन; आपतत्—तेजी से वहाँ आया; रुषा—क्रोध से।

अपने फरसे तथा बाणों को व्यवस्थित करके परशुराम ने कार्तवीर्यार्जुन के सिपाहियों की ढालों, उनके झंडों, धनुषों तथा उनके शरीरों के टुकड़े-टुकड़े कर डाले जो युद्धभूमि में गिर गये और जिनके रक्त से भूमि पंकिल हो गई। अपनी पराजय होते देखकर अत्यन्त क्रुद्ध होकर कार्तवीर्यार्जुन युद्धभूमि की ओर लपका।

अथार्जुनः पञ्चशतेषु बाहुभिर्
धनुःषु बाणान्युगपत्स सन्दधे ।
रामाय रामोऽस्त्रभृतां समग्रणी-
स्तान्येकधन्वेषुभिराच्छिनत्समम् ॥ ३३॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; अर्जुनः—कार्तवीर्यार्जुन; पञ्च-शतेषु—पाँच सौ; बाहुभिः—अपनी बाहुओं से; धनुःषु—धनुषों पर; बाणान्—बाणों को; युगपत्—एकसाथ; सः—उसने; सन्दधे—स्थिर किया; रामाय—परशुराम को मारने के लिए; रामः—परशुराम ने; अस्त्र-भृताम्—अस्त्र प्रयोग करने वाले सारे सैनिकों में से; समग्रणीः—सर्वप्रमुख; तानि—कार्तवीर्यार्जुन के सारे बाण; एक-धन्वा—एक धनुषधारी; इषुभिः—बाणों से; आच्छिनत्—टुकड़े कर डाले; समम्—के साथ।

तब कार्तवीर्यार्जुन ने परशुराम को मारने के लिए एक हजार भुजाओं में एकसाथ पाँच सौ धनुषों पर बाण चढ़ा लिए। किन्तु श्रेष्ठ लड़ाकू भगवान् परशुराम ने एक ही धनुष से इतने बाण छोड़े कि कार्तवीर्यार्जुन के हाथों के सारे धनुष तथा बाण तुरन्त कटकर टुकड़े-टुकड़े हो गये।

पुनः स्वहस्तैरचलान्मृधेऽङ्घ्रिपा-
नुत्क्षिप्य वेगादभिधावतो युधि ।
भुजान्कुठारेण कठोरनेमिना
चिच्छेद रामः प्रसभं त्वहेरिव ॥ ३४॥

शब्दार्थ

पुनः—फिर; स्व-हस्तैः—अपने हाथों से; अचलान्—पर्वतों को; मृधे—युद्धभूमि में; अङ्घ्रिपान्—वृक्षों को; उत्क्षिप्य—उखाड़ कर; वेगात्—वेग से; अभिधावतः—तेजी से दौते हुए; युधि—युद्धभूमि में; भुजान्—सारी भुजाएँ; कुठारेण—अपने फरसे से; कठोर-नेमिना—अत्यन्त तीक्ष्ण; चिच्छेद—काट डाला; रामः—परशुराम ने; प्रसभम्—अत्यन्त वेग से; तु—लेकिन; अहेः इव—सर्प के फनों की भाँति।

जब कार्तवीर्यार्जुन के बाण छिन्न-भिन्न हो गये तो उसने अपने हाथों से अनेक वृक्ष तथा पर्वत

उखाड़ लिये और वह फिर से परशुरामजी को मारने के लिए उनकी ओर तेजी से दौा। किन्तु परशुराम ने अपने फरसे से अत्यन्त वेग से कार्तवीर्यार्जुन की भुजाएँ काट लीं जिस तरह कोई सर्प के फनों को काट ले।

कृत्तबाहोः शिरस्तस्य गिरेः शृङ्गमिवाहरत् ।
हते पितरि तत्पुत्रा अयुतं दुद्रुवुर्भयात् ॥ ३५ ॥
अग्निहोत्रीमुपावर्त्य सवत्सां परवीरहा ।
समुपेत्याश्रमं पित्रे परिक्लिष्टां समर्पयत् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

कृत्त-बाहोः—बाँह कटे कार्तवीर्यार्जुन का; शिरः—शिर; तस्य—उसका; गिरेः—पर्वत की; शृङ्गम्—चोटी; इव—सदृश; आहरत्—(परशुराम ने) उसके शरीर से काट लिया; हते पितरि—अपने पिता के मारे जाने पर; तत्-पुत्राः—उसके पुत्र; अयुतम्—दस हजार; दुद्रुवुः—भाग गये; भयात्—डर के मारे; अग्निहोत्रीम्—कामधेनु को; उपावर्त्य—पास लाकर; स-वत्साम्—बछडे सहित; पर-वीर-हा—शत्रुओं के वीरों को मारने वाले परशुराम; समुपेत्य—लौटकर; आश्रमम्—अपने पिता के आवास में; पित्रे—पिता को; परिक्लिष्टाम्—अत्यधिक कष्ट पाई हुई; समर्पयत्—लाकर दे दिया।

तत्पश्चात् परशुराम ने बाँह-कटे कार्तवीर्यार्जुन के सिर को पर्वतशृंग के समान काट लिया। जब कार्तवीर्यार्जुन के दस हजार पुत्रों ने अपने पिता को मारा गया देखा तो वे सब डर के मारे भाग गये। तब शत्रु का वध करके परशुराम ने कामधेनु को छुड़ाया, जिसे काफी कष्ट मिल चुका था और वे उसे बछड़े समेत अपने घर ले आये तथा उसे अपने पिता जमदग्नि को दे दिया।

स्वकर्म तत्कृतं रामः पित्रे भ्रातृभ्य एव च ।
वर्णयामास तच्छ्रुत्वा जमदग्निरभाषत ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

स्व-कर्म—अपना कार्य; तत्—वे सारे कर्म; कृतम्—जो किये जा चुके थे; रामः—परशुराम ने; पित्रे—अपने पिता से; भ्रातृभ्यः—अपने भाइयों से; एव च—तथा; वर्णयाम् आस—वर्णन किया; तत्—वह; श्रुत्वा—सुनकर; जमदग्निः—परशुराम के पिता ने; अभाषत—इस प्रकार कहा।

परशुराम ने कार्तवीर्यार्जुन के वध सम्बन्धी अपने कार्यकलापों का वर्णन अपने पिता तथा भाइयों से किया। इन कार्यों को सुनकर जमदग्नि अपने पुत्र से इस प्रकार बोले।

राम राम महाबाहो भवान्पापमकारषीत् ।
अवधीन्नरदेवं यत्सर्वदेवमयं वृथा ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

राम राम—हे प्रिय पुत्र परशुराम; महाबाहो—हे महान् वीर; भवान्—तुमने; पापम्—पापपूर्ण कृत्य; अकारषीत्—किया है; अवधीत्—मार डाला है; नरदेवम्—राजा को; यत्—जो; सर्व-देव-मयम्—सारे देवताओं के मूर्तरूप; वृथा—व्यर्थ ही।

हे वीर, हे पुत्र परशुराम, तुमने व्यर्थ ही राजा को मार डाला है क्योंकि वह सारे देवताओं का मूर्तरूप माना जाता है। इस प्रकार तुमने पाप किया है।

वयं हि ब्राह्मणास्तात क्षमयार्हणतां गताः ।
यया लोकगुरुर्देवः पारमेष्ठ्यमगात्पदम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

वयम्—हम; हि—निस्सन्देह; ब्राह्मणाः—योग्य ब्राह्मण हैं; तात—हे पुत्र; क्षमया—क्षमा के गुण से; अर्हणताम्—पूजनीय होने का पद; गताः—हमने प्राप्त किया है; यया—इस योग्यता से; लोक-गुरुः—इस ब्रह्माण्ड के गुरु; देवः—ब्रह्मा ने; पारमेष्ठ्यम्—इस संसार के भीतर परम पुरुष; अगात्—प्राप्त किया; पदम्—पद को।

हे पुत्र, हम सभी ब्राह्मण हैं और अपनी क्षमाशीलता के कारण जनसामान्य के लिए पूज्य बने हुए हैं। इस गुण के कारण ही इस ब्रह्माण्ड के परम गुरु ब्रह्माजी को उनका पद प्राप्त हुआ है।

क्षमया रोचते लक्ष्मीर्ब्राह्मी सौरी यथा प्रभा ।
क्षमिणामाशु भगवांस्तुष्यते हरिरीश्वरः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

क्षमया—केवल क्षमा के कारण; रोचते—रोचक बनता है; लक्ष्मीः—लक्ष्मी जी; ब्राह्मी—ब्राह्मणों के गुणों से; सौरी—सूर्यदेव; यथा—जिस तरह; प्रभा—प्रकाश; क्षमिणाम्—क्षमाशील ब्राह्मणों से; आशु—शीघ्र ही; भगवान्—भगवान्; तुष्यते—प्रसन्न हो जाते हैं; हरिः—हरि; ईश्वरः—परम नियन्ता।

ब्राह्मणों का कर्तव्य है कि वे क्षमाशीलता के गुण का संवर्धन करें क्योंकि यह सूर्य के समान तेजवान है। भगवान् हरि क्षमाशील व्यक्तियों से प्रसन्न होते हैं।

तात्पर्य : विभिन्न व्यक्ति विभिन्न गुणों के कारण सुन्दर बनते हैं। चाणक्य पंडित कहते हैं कि यद्यपि कोयल काली होती है, किन्तु अपनी मीठी वाणी के कारण सुन्दर है। इसी प्रकार स्त्री अपने सतीत्व तथा पति के प्रति आज्ञाकारिता से सुन्दर बनती है और कुरूप व्यक्ति पंडित बनने पर सुन्दर बनता है। इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र अपने-अपने गुणों के कारण सुन्दर होते हैं। ब्राह्मण तब सुन्दर बनते हैं जब वे क्षमाशील होते है, क्षत्रिय तब जब वे वीर हों और युद्ध से मुख न मोड़ें, वैश्य तब जब वे सांस्कृतिक कार्योंको समृद्ध करते हैं और गायों की रक्षा करते हैं तथा शूद्र तब जब वे अपने स्वामियों को प्रसन्न करते हुए अपने कर्तव्यों का विश्वासपूर्वक पालन करते हैं। इस तरह व्यक्ति अपने विशिष्ट गुणों से सुन्दर बन जाता

है और जैसा कि यहाँ वर्णन हुआ है, ब्राह्मण का विशिष्ट गुण क्षमाशीलता है।

राज्ञो मूर्धाभिषिक्तस्य वधो ब्रह्मवधाद्गुरुः ।
तीर्थसंसेवया चांहो जह्यङ्गाच्युतचेतनः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

राज्ञः—राजा का; मूर्ध-अभिषिक्तस्य—जो सम्राट के नाम से विख्यात है; वधः—वध, हत्या; ब्रह्म-वधात्—ब्राह्मण की हत्या की अपेक्षा; गुरुः—अत्यन्त कठोर; तीर्थ-संसेवया—तीर्थस्थानों की पूजा करके; च—भी; अंहः—पापकर्म; जहि—धो डालो; अङ्ग—हे प्रिय पुत्र; अच्युत-चेतनः—पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होकर।

हे प्रिय पुत्र, एक सम्राट का वध ब्राह्मण की हत्या से भी अधिक पापमय है। किन्तु अब यदि तुम कृष्णभावनाभावित होकर तीर्थस्थानों की पूजा करो तो इस महापाप का प्रायश्चित हो सकता है।

तात्पर्य : जो पूर्णतया भगवान् की शरण में चला जाता है वह सारे पापों से मुक्त हो जाता है (*अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि*)। जिस दिन या जिस क्षण से कोई श्रीकृष्ण को आत्मसमर्पण कर देता है, तो वह कितना ही बड़ा पापी क्यों न हो मुक्त हो जाता है। फिर भी, उदाहरण के रूप में, जमदग्नि ने अपने पुत्र परशुराम को तीर्थस्थानों की पूजा करने की सलाह दी। चूँकि सामान्य व्यक्ति तुरन्त ही भगवान् को आत्मसमर्पण नहीं कर पाता अतएव उसे तीर्थस्थानों को जाने की सलाह दी जाती है जिससे वह साधु पुरुषों को खोजे और धीरे-धीरे अपने पापकर्मों के फल से मुक्त हो जाय।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कंध के अन्तर्गत "भगवान् का योद्धा अवतार, परशुराम" नामक पंद्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सोलह

भगवान् परशुराम द्वारा विश्व के क्षत्रियों का विनाश

जैसा कि इस अध्याय में वर्णन हुआ है, जब कार्तवीर्यार्जुन के पुत्रों ने जमदग्नि को मार डाला तो परशुराम ने सम्पूर्ण संसार को इक्कीस बार क्षत्रियों से विहीन किया। इस अध्याय में विश्वामित्र के वंशजों का भी वर्णन हुआ है।

एक बार जब जमदग्नि की पत्नी रेणुका गंगा नदी से जल लेने गई तो वह गन्धर्वों के राजा को अप्सराओं के साथ विहार करते देखकर मोहित हो गई और उसने मन ही मन उसके साथ रमण करने की इच्छा की। इस पापपूर्ण इच्छा के कारण वह अपने पति द्वारा दंडित हुई। परशुराम ने अपनी माता तथा भाइयों को मार डाला, किन्तु बाद में जमदग्नि की तपस्या से वे सब जीवित हो उठे। उधर कार्तवीर्यार्जुन के पुत्र अपने पिता की मृत्यु का बदला भगवान् परशुराम से लेना चाहते थे; अतएव जब परशुराम आश्रम से बाहर गये हुए थे तो उन्होंने ध्यान में मग्न जमदग्नि को मार डाला। जब परशुराम आश्रम लौटे और उन्होंने अपने पिता को मरा पाया, तो वे अत्यन्त दुखी हुए। अपने भाइयों को मृत शरीर की रखवाली करने के लिए कह कर उन्होंने स्वयं इस पृथ्वी पर के सारे क्षत्रियों का विनाश करने का संकल्प किया और वे बाहर चले गये। वे अपना फरसा लेकर कार्तवीर्यार्जुन की राजधानी माहिष्मतीपुर गये और उसके सभी पुत्रों को मार डाला जिसके रक्त से एक बड़ी नदी बह चली। वे केवल कार्तवीर्याजुन के पुत्रों को मार कर ही संतुष्ट नहीं हुए; बाद में जब क्षत्रिय उत्पात करने लगे तो उन्होंने उनका इक्कीस बार वध किया जिससे पृथ्वी पर एक भी क्षत्रिय नहीं बच पाया। तत्पश्चात् परशुराम ने अपने पिता के सिर को मृत शरीर से जोड़कर भगवान् को प्रसन्न करने के लिए अनेक यज्ञ किये। इस प्रकार जमदग्नि के शरीर में फिर से प्राण का संचार हुआ और बाद में वे सप्तर्षि मंडल को प्राप्त हुए। जमदग्नि के पुत्र परशुराम आज भी महेन्द्र पर्वत में निवास करते हैं। अगले मन्वन्तर में वे वैदिक ज्ञान के प्रचारक होंगे।

गाधिवंश में अत्यन्त पराक्रमी विश्वामित्र ने जन्म लिया। वह अपनी तपस्या से ब्राह्मण बन गया। उसके १०१ पुत्र हुए जो मधुच्छन्दा नाम से विख्यात थे। हरिश्चन्द्र की यज्ञशाला में अजीगर्त के पुत्र शुन:शेफ की बलि होनी थी, किन्तु प्रजापतियों ने दया करके उसे मुक्त करा दिया। तत्पश्चात् वह गाधिवंश में देवराट के

नाम से विख्यात हुआ। किन्तु विश्वामित्र के पचास ज्येष्ठ पुत्रों ने शुन:शेफ को अपना अग्रज नहीं स्वीकार किया, अतएव विश्वामित्र ने उन्हें म्लेच्छ बनने का शाप दे दिया जो वैदिक सभ्यता के विरोधी थे। तब विश्वामित्र के इक्यावनवें पुत्र तथा उसके अन्य छोटे भाइयों ने शुन:शेफ को अग्रज स्वीकार किया। इस तरह उनके पिता विश्वामित्र ने प्रसन्न होकर उन्हें आशीर्वाद दिया। इस प्रकार देवराट को कौशिक कुल का वंशज मान लिया गया; फलस्वरूप उस वंश के अनेक विभाग हो गये।

श्रीशुक उवाच

पित्रोपशिक्षितो रामस्तथेति कुरुनन्दन ।
संवत्सरं तीर्थयात्रां चरित्वाश्रममाव्रजत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; पित्रा—अपने पिता द्वारा; उपशिक्षितः—शिक्षा दिये जाने पर; रामः—परशुराम; तथा इति—एवमस्तु; कुरु-नन्दन—हे कुरुवंशी महाराज परीक्षित; संवत्सरम्—एक वर्ष तक; तीर्थ-यात्राम्—सारे तीर्थस्थलों की यात्रा; चरित्वा—सम्पन्न करके; आश्रमम्—अपने आश्रम में; आव्रजत्—लौटा।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे महाराज परीक्षित, हे कुरुवंशी, जब भगवान् परशुराम को उनके पिता ने यह आदेश दिया तो उन्होंने तुरन्त ही यह कहते हुए उसे स्वीकार किया, "ऐसा ही होगा।" वे एक वर्ष तक तीर्थस्थलों की यात्रा करते रहे। तत्पश्चात् वे अपने पिता के आश्रम में लौट आये।

कदाचिद्रेणुका याता गङ्गायां पद्ममालिनम् ।
गन्धर्वराजं क्रीडन्तमप्सरोभिरपश्यत ॥ २ ॥

शब्दार्थ

कदाचित्—एक बार; रेणुका—परशुराम की माता एवं जमदग्नि की पत्नी; याता—गई; गङ्गायाम्—गंगा नदी के तट पर; पद्म-मालिनम्—कमल के फूल की माला से अलंकृत; गन्धर्व-राजम्—गन्धर्वों के राजा; क्रीडन्तम्—विहार करते; अप्सरोभिः—अप्सराओं के साथ; अपश्यत—देखा।

एक बार जब जमदग्नि की पत्नी रेणुका गंगा नदी के तट पर पानी भरने गई तो उन्होंने कमल-फूल की माला से अलंकृत तथा अप्सराओं के साथ गंगा में विहार करते गन्धर्वों के राजा को देखा।

विलोकयन्ती क्रीडन्तमुदकार्थं नदीं गता ।
होमवेलां न सस्मार किञ्चिच्चित्ररथस्पृहा ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

विलोकयन्ती—देखते हुए; क्रीडन्तम्—क्रीड़ा करते हुए; उदक-अर्थम्—कुछ जल लेने के लिए; नदीम्—नदी पर; गता—गई; होम-वेलाम्—होम करने की वेला में; न सस्मार—याद नहीं रही; किञ्चित्—थोड़ा; चित्ररथ—गन्धर्व राज चित्ररथ; स्पृहा—संसर्ग की इच्छा की।

वह गंगा नदी से जल लाने गई थी, किन्तु जब उसने गन्धर्वराज चित्ररथ को अप्सराओं के साथ विहार करते देखा तो वह उसकी ओर उन्मुख सी हुई और यह भूल ही गई कि अग्निहोत्र का समय बीत रहा है।

कालात्ययं तं विलोक्य मुनेः शापविशङ्किता ।
आगत्य कलशं तस्थौ पुरोधाय कृताञ्जलिः ॥ ४॥

शब्दार्थ

काल-अत्ययम्—समय बिताते; तम्—उसको; विलोक्य—देखकर; मुनेः—जमदग्नि के; शाप-विशङ्किता—शाप के भय से; आगत्य—लौटकर; कलशम्—जल के पात्र को; तस्थौ—खड़ी हो गई; पुरोधाय—मुनि के सामने रखकर; कृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़कर।

तत्पश्चात् यह समझकर कि यज्ञ करने का समय बीत चुका है, रेणुका अपने पति द्वारा शापित होने से भयभीत हो उठी। अतएव जब वह लौटकर आई तो वह उनके समक्ष जलपात्र रखकर हाथ जोड़कर खड़ी हो गई।

व्यभिचारं मुनिर्ज्ञात्वा पत्न्याः प्रकुपितोऽब्रवीत् ।
घ्नतैनां पुत्रकाः पापामित्युक्तास्ते न चक्रिरे ॥ ५॥

शब्दार्थ

व्यभिचारम्—व्यभिचार; मुनिः—जमदग्नि मुनि ने; ज्ञात्वा—जानकर; पत्न्याः—अपनी पत्नी का; प्रकुपितः—क्रुद्ध होकर; अब्रवीत्—बोला; घ्नत—मार डालो; एनाम्—इसको; पुत्रकाः—मेरे बेटो; पापाम्—पापी स्त्री को; इति उक्ताः—ऐसा कहे जाने पर; ते—उन पुत्रों ने; न—नहीं; चक्रिरे—आज्ञा का पालन किया।

मुनि जमदग्नि अपनी पत्नी के मन के पाप को समझ गये। अतएव वे अत्यन्त कुपित हुए और अपने बेटों से बोले, "पुत्रो, इस पापिनी स्त्री को मार डालो।" लेकिन बेटों ने उनकी आज्ञा का पालन नहीं किया।

रामः सञ्चोदितः पित्रा भ्रातृन्मात्रा सहावधीत् ।
प्रभावज्ञो मुनेः सम्यक्समाधेस्तपसश्च सः ॥ ६॥

शब्दार्थ

रामः—परशुराम ने; सञ्चोदितः—(अपनी माता तथा भाइयों को मारने के लिए) प्रोत्साहित किये जाने पर; पित्रा—अपने पिता द्वारा; भ्रातृन्—सारे भाइयों को; मात्रा सह—माता समेत; अवधीत्—तुरन्त मारा डाला; प्रभाव-ज्ञः—पराक्रम से अवगत; मुनेः—मुनि के; सम्यक्—पूर्णतया; समाधेः—ध्यान से; तपसः—तपस्या से; च—भी; सः—वह।

तब जमदग्नि ने अपने सबसे छोटे पुत्र परशुराम को अवज्ञाकारी भाइयों तथा मानसिक रूप से पाप करने वाली उसकी माता को मार डालने की आज्ञा दी। परशुराम ने तुरन्त ही अपनी माता तथा भाइयों का वध कर दिया क्योंकि उन्हें ध्यान तथा तपस्या द्वारा अर्जित अपने पिता के पराक्रम का ज्ञान था।

तात्पर्य : *प्रभावज्ञः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। परशुराम को अपने पिता के पराक्रम का ज्ञान था अतएव उन्होंने अपने पिता की आज्ञा का पालन करने की हामी भर दी। उन्होंने सोचा कि यदि वे उनकी आज्ञा नहीं मानते तो वे शाप दे देंगे, किन्तु आज्ञा पालने पर वे प्रसन्न हो जायेंगे और उनके प्रसन्न होने पर परशुराम अपनी माता तथा भाइयों को वर माँग कर पुनः जीवन दिला सकेंगे। उन्हें इसका विश्वास था इसीलिए उन्होंने अपनी माता तथा भाइयों का वध करने की हामी भर दी।

वरेण च्छन्दयामास प्रीतः सत्यवतीसुतः ।
वव्रे हतानां रामोऽपि जीवितं चास्मृतिं वधे ॥ ७॥

शब्दार्थ

वरेण च्छन्दयाम् आस—इच्छानुसार वर माँगने के लिए कहा; प्रीतः—उससे प्रसन्न होकर; सत्यवती-सुतः—सत्यवती-पुत्र जमदग्नि ने; वव्रे—कहा; हतानाम्—मेरी मृत माता तथा भाई; रामः—परशुराम; अपि—भी; जीवितम्—उन्हें जीवित कर दें; च—भी; अस्मृतिम्—कोई स्मरण नहीं; वधे—मेरे द्वारा मारे हुओं का।

सत्यवती-पुत्र जमदग्नि परशुराम से अत्यधिक प्रसन्न हुए और उनसे इच्छानुसार वर माँगने के लिए कहा। परशुराम ने कहा, "मेरी माता तथा मेरे भाइयों को फिर से जीवित हो जाने दें और उन्हें यह स्मरण न रहे कि मैंने उन्हें मारा था। मैं आपसे इतना ही वर माँगता हूँ।"

उत्तस्थुस्ते कुशलिनो निद्रापाय इवाञ्जसा ।
पितुर्विद्वांस्तपोवीर्यं रामश्चक्रे सुहृद्वधम् ॥ ८॥

शब्दार्थ

उत्तस्थुः—तुरन्त उठ खड़े हुए; ते—परशुराम की माता तथा भाई; कुशलिनः—कुशलपूर्वक; निद्रा-अपाये—गहरी नींद के अन्त में; इव—सदृश; अञ्जसा—तुरन्त; पितुः—अपने पिता का; विद्वान्—अवगत; तपः—तपस्या; वीर्यम्—बल; रामः—परशुराम ने; चक्रे—सम्पन्न किया; सुहृत्-वधम्—अपने परिजनों का वध।

तत्पश्चात् जमदग्नि के वर से भगवान् परशुराम की माता तथा उनके सारे भाई तुरन्त जीवित हो

उठे और वे सभी अत्यन्त प्रसन्न हुए मानो गहरी नींद से जगे हों। परशुराम ने अपने पिता के आदेश पर अपने परिजनों का वध कर दिया था क्योंकि वे अपने पिता के बल, तपस्या तथा विद्वत्ता से परिचित थे।

येऽर्जुनस्य सुता राजन्स्मरन्तः स्वपितुर्वधम् ।
रामवीर्यपराभूता लेभिरे शर्म न क्वचित् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ये—जो; अर्जुनस्य—कार्तवीर्यार्जुन के; सुताः—पुत्र; राजन्—हे महाराज परीक्षित; स्मरन्तः—सदैव स्मरण करते हुए; स्व-पितुः वधम्—(परशुराम द्वारा) अपने पिता के वध; राम-वीर्य-पराभूताः—भगवान् परशुराम की श्रेष्ठ शक्ति द्वारा पराजित; लेभिरे—प्राप्त किया; शर्म—सुख; न—नहीं; क्वचित्—कभी।

हे राजा परीक्षित, परशुराम की श्रेष्ठ शक्ति द्वारा पराजित कार्तवीर्यार्जुन के पुत्रों को कभी सुख नहीं मिल पाया क्योंकि उन्हें अपने पिता का वध सदैव याद आता रहा।

तात्पर्य : जमदग्नि सचमुच अपनी तपस्या के कारण अत्यन्त शक्तिशाली थे, किन्तु अपनी पत्नी रेणुका के थोड़े से अपराध के लिए उन्होंने उसके वध किये जाने का आदेश दे डाला। यह निश्चय ही पापपूर्ण कृत्य था; अतएव कार्तवीर्यार्जुन के पुत्रों ने जमदग्नि को मार डाला, जैसा कि यहाँ पर बतलाया गया है। भगवान् परशुराम को भी कार्तवीर्यार्जुन के वध का थोड़ा पाप लगा, किन्तु यह इतना बड़ा पाप न था। अतएव चाहे कोई कार्तवीर्यार्जुन हो, भगवान् परशुराम हो, जमदग्नि हो या अन्य कोई, उसे सावधानी तथा बुद्धिमत्ता से कर्म करना चाहिए अन्यथा उसे पापकृत्यों का फल भुगतना पड़ता है। वैदिक साहित्य से हमें यही शिक्षा मिलती है।

एकदाश्रमतो रामे सभ्रातरि वनं गते ।
वैरं सिषाधयिषवो लब्धच्छिद्रा उपागमन् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; आश्रमतः—जमदग्नि के आश्रम से; रामे—जब परशुराम; स-भ्रातरि—अपने भाइयों के साथ; वनम्—वन में; गते—गये थे; वैरम्—पुरानी दुश्मनी; सिषाधयिषवः—पूरा करने के लिए; लब्ध-छिद्राः—अवसर का लाभ उठाकर; उपागमन्—आश्रम के निकट आये।

एकबार जब परशुराम वसुमान तथा अन्य भाइयों के साथ आश्रम से जंगल गये हुए थे तो कार्तवीर्यार्जुन के पुत्र अवसर का लाभ उठा कर अपनी शत्रुता का बदला लेने के उद्देश्य से जमदग्नि

के आश्रम में गये।

दृष्ट्वाग्न्यागार आसीनमावेशितधियं मुनिम् ।
भगवत्युत्तमश्लोके जघ्नुस्ते पापनिश्चयाः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; अग्नि-आगारे—उस स्थान पर जहाँ अग्नियज्ञ सम्पन्न किया जाता था; आसीनम्—बैठे हुए; आवेशित—पूर्णतया मग्न; धियम्—बुद्धि से; मुनिम्—मुनि जमदग्नि को; भगवति—भगवान् में; उत्तम-श्लोके—उत्तम श्लोकों से प्रशंसित; जघ्नुः—मार डाला; ते—कार्तवीर्यार्जुन के पुत्रों ने; पाप-निश्चयाः—महान् पापकृत्य करने के लिए कृतसंकल्प।

कार्तवीर्यार्जुन के पुत्र पापकृत्य करने के लिए कृतसंकल्प थे। अतएव जब उन्होंने जमदग्नि को अग्नि के निकट यज्ञ करते एवं उत्तमश्लोक भगवान् का ध्यान करते देखा तो उन्होंने इस अवसर का लाभ उठाकर उसे मार डाला।

याच्यमानाः कृपणया राममात्रातिदारुणाः ।
प्रसह्य शिर उत्कृत्य निन्युस्ते क्षत्रबन्धवः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

याच्यमानाः—अपने पति के जीवन की याचना करती हुई; कृपणया—बेचारी असुरक्षित स्त्री द्वारा; राम-मात्रा—भगवान् परशुराम की माता द्वारा; अति-दारुणाः—अत्यन्त क्रूर; प्रसह्य—बलपूर्वक; शिरः—जमदग्नि का सिर; उत्कृत्य—विलग करके; निन्युः—ले गये; ते—कार्तवीर्यार्जुन के पुत्र; क्षत्र-बन्धवः—क्षत्रिय नहीं अपितु क्षत्रियों में सबसे नीच।

परशुराम की माता तथा जमदग्नि की पत्नी रेणुका ने अपने पति के जीवन की भीख माँगी, किन्तु कार्तवीर्यार्जुन के पुत्र क्षत्रिय गुणों से रहित होने के कारण इतने क्रूर निकले कि उसकी याचना के बावजूद उन्होंने उसका सिर काट लिया और उसे अपने साथ लेते गये।

रेणुका दुःखशोकार्ता निघ्नन्त्यात्मानमात्मना ।
राम रामेति तातेति विचुक्रोशोच्चकैः सती ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

रेणुका—जमदग्नि-पत्नी रेणुका; दुःख-शोक-अर्ता—(अपने पति की मृत्यु के) शोक से अत्यन्त दुखी; निघ्नन्ती—पीटते हुए; आत्मानम्—अपने शरीर को; आत्मना—स्वयं; राम—हे परशुराम; राम—हे परशुराम; इति—इस प्रकार; तात—हे पुत्र; इति—इस प्रकार; विचुक्रोश—रोने लगी; उच्चकैः—जोर जोर से; सती—वह सती स्त्री।

अपने पति की मृत्यु के कारण शोक से विलाप करती सती रेणुका अपने ही हाथों से अपने शरीर को पीट रही थी और जोर जोर से चिल्ला रही थी, "हे राम, मेरे पुत्र राम।"

तदुपश्रुत्य दूरस्था हा रामेत्यार्तवत्स्वनम् ।
त्वरयाश्रममासाद्य ददृशुः पितरं हतम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

तत्—वह क्रन्दन; उपश्रुत्य—सुनकर; दूर-स्थाः—दूरी पर स्थित; हा राम—हे राम, हे राम; इति—इस प्रकार; आर्त-वत्—अत्यन्त दुखी; स्वनम्—शब्द; त्वरया—तेजी से; आश्रमम्—जमदग्नि के आश्रम में; आसाद्य—आकर; ददृशुः—देखा; पितरम्—अपने पिता को; हतम्—मारा हुआ।

यद्यपि परशुराम सहित जमदग्नि के सारे पुत्र घर से बहुत दूरी पर थे, किन्तु ज्योंही उन्होंने रेणुका की "हे राम! हे पुत्र!" की तेज पुकार सुनी, वे तुरन्त आश्रम लौट आये जहाँ उन्होंने अपने पिता को मरा हुआ पाया।

ते दुःखरोषामर्षार्तिशोकवेगविमोहिताः ।
हा तात साधो धर्मिष्ठ त्यक्त्वास्मान्स्वर्गतो भवान् ॥ १५॥

शब्दार्थ

ते—वे, जमदग्नि के सारे पुत्र; दुःख—दुख; रोष—क्रोध; अमर्ष—अपमान; आर्ति—सन्ताप; शोक—तथा शोक का; वेग—वेग के साथ; विमोहिताः—मोहग्रस्त; हा तात—पिता; साधो—साधु; धर्मिष्ठ—अत्यन्त धर्मात्मा; त्यक्त्वा—छोड़कर; अस्मान्—हमको; स्वः-गतः—स्वर्ग चले गये; भवान्—आप।

शोक, क्रोध, अपमान, सन्ताप तथा शोक से ग्रस्त जमदग्नि के सारे पुत्र चिल्ला पड़े, "हे साधु एवं धर्मात्मा पिता, आप हमें छोड़कर स्वर्ग लोक को चले गये हैं।"

विलप्यैवं पितुर्देहं निधाय भ्रातृषु स्वयम् ।
प्रगृह्य परशुं रामः क्षत्रान्ताय मनो दधे ॥ १६॥

शब्दार्थ

विलप्य—विलाप करते हुए; एवम्—इस प्रकार; पितुः—अपने पिता के; देहम्—शरीर को; निधाय—सौंपकर; भ्रातृषु—भाइयों को; स्वयम्—खुद; प्रगृह्य—लेकर; परशुम्—फरसा; रामः—भगवान् परशुराम; क्षत्र-अन्ताय—सारे क्षत्रियों का अन्त करने के लिए; मनः—मन; दधे—निश्चय कर लिया।

इस प्रकार विलाप करते हुए परशुराम ने अपने पिता का शव अपने भाइयों को सौंप दिया और स्वयं पृथ्वी तल से सारे क्षत्रियों का अन्त करने का निश्चय करते हुए अपना फरसा ग्रहण किया।

गत्वा माहिष्मतीं रामो ब्रह्मघ्नविहतश्रियम् ।
तेषां स शीर्षभी राजन्मध्ये चक्रे महागिरिम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

गत्वा—जाकर; माहिष्मतीम्—माहिष्मती में; रामः—परशुराम; ब्रह्म-घ्न—ब्राह्मण का वध करने वाले; विहत-श्रियम्—सारे ऐश्वर्य से विहीन, विनष्ट; तेषाम्—उन सबों का (कार्तवीर्यार्जुन के पुत्रों तथा अन्य क्षत्रियों का); सः—परशुराम ने; शीर्षभिः—शरीर से छिन्न सिरों से; राजन्—हे महाराज परीक्षित; मध्ये—माहिष्मती के बीचोंबीच; चक्रे—बना दिया; महा-गिरिम्—विशाल पर्वत।

हे राजन, तब परशुराम उस माहिष्मती नगरी में गये जो एक ब्राह्मण के पापपूर्ण वध के कारण पहले ही विनष्ट हो चुकी थी। उन्होंने उस नगरी के बीचोंबीच कार्तवीर्यार्जुन के पुत्रों के शरीरों से छिन्न किये गये सिरों का एक पर्वत बना दिया।

तद्रक्तेन नदीं घोरामब्रह्मण्यभयावहाम् ।
हेतुं कृत्वा पितृवधं क्षत्रेऽमङ्गलकारिणि ॥ १८ ॥
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः ।
समन्तपञ्चके चक्रे शोणितोदान्ह्रदान्नव ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तत्-रक्तेन—कार्तवीर्यार्जुन के पुत्रों के रक्त से; नदीम्—नदी को; घोराम्—भयानक; अब्रह्मण्य-भय-आवहाम्—उन राजाओं को भय दिखाती हुई जिन्हें ब्राह्मण संस्कृति के लिए कोई सम्मान नहीं है; हेतुम्—कारण; कृत्वा—स्वीकार करके; पितृ-वधम्—पिता का वध; क्षत्रे—जब सम्पूर्ण राज वर्ग; अमङ्गल-कारिणि—अत्यन्त अशुभ ढंग से कार्य कर रहा था; त्रिः-सप्त-कृत्वः—इक्कीस बार; पृथिवीम्—पृथ्वी को; कृत्वा—करके; निःक्षत्रियाम्—क्षत्रियविहीन; प्रभुः—भगवान् परशुराम; समन्त-पञ्चके—समन्त पञ्चक नामक स्थान पर; चक्रे—बनाया; शोणित-उदान्—जल के बजाय रक्त से पूरित; ह्रदान्—झीलें; नव—नौ।

इन पुत्रों के रक्त से भगवान् परशुराम ने एक वीभत्स नदी तैयार कर दी जिससे उन राजाओं को बड़ा खतरा उत्पन्न हो गया जिनमें ब्राह्मण संस्कृति के प्रति आदरभाव नहीं था। चूँकि सरकार के अधिकारी लोग अर्थात् क्षत्रिय पापकर्म कर रहे थे अतएव परशुराम ने अपने पिता की हत्या का बदला लेने के बहाने सारे क्षत्रियों का इक्कीस बार पृथ्वी से सफाया कर दिया। निस्सन्देह, उन्होंने समन्तपञ्चक नामक स्थान पर उन सबों के रक्त से नौ झीलें उत्पन्न कर दीं।

तात्पर्य : परशुराम भगवान् हैं और उनका शाश्वत ध्येय है—*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*—भक्तों की रक्षा और दुष्टों का विनाश करना। भगवान् के अवतार लेने के कार्यों में से एक है सभी पापी लोगों का वध करना। भगवान् परशुराम ने सारे क्षत्रियों का क्रमशः इक्कीस बार वध किया क्योंकि वे ब्राह्मण संस्कृति के पालक नहीं थे। यह तो बहाना था कि क्षत्रियों ने उनके पिता का वध कर डाला था। वास्तविकता तो यह थी कि राजन्य वर्ग या क्षत्रिय दूषित हो चुके थे और उनकी स्थिति अशुभ थी। शास्त्र में, विशेष रूप से *भगवद्गीता* में ब्राह्मण संस्कृति के लिए आदेश है (*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम् गुणकर्मविभागशः*)। प्रकृति के नियमानुसार चाहे वह परशुराम का युग हो या वर्तमान युग, यदि सरकार

निकम्मी तथा पापमय हो जाती है और वह ब्राह्मण संस्कृति की परवाह नहीं करती तो परशुराम के समान ईश्वर का अवतार अवश्यम्भावी है जो अग्नि, अकाल, बीमारी या अन्य विपदा से प्रलय उत्पन्न कर देगा। जब भी सरकार ईश्वर की सर्वश्रेष्ठता का अनादर करती है और *वर्णाश्रम धर्म* की रक्षा नहीं करती तो उसे उसी प्रकार की तबाही सहनी पड़ेगी जैसी कि पहले परशुराम द्वारा उत्पन्न की जा चुकी है।

पितुः कायेन सन्धाय शिर आदाय बर्हिषि ।
सर्वदेवमयं देवमात्मानमयजन्मखैः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

पितुः—पिता के; कायेन—शरीर के साथ; सन्धाय—जोड़कर; शिरः—सिर को; आदाय—रखकर; बर्हिषि—कुशा के ऊपर; सर्व-देव-मयम्—समस्त देवताओं के स्वामी, सर्वव्यापी भगवान्; देवम्—भगवान् वासुदेव को; आत्मानम्—जो सर्वत्र परमात्मा रूप में विद्यमान हैं; अयजत्—पूजा की; मखैः—यज्ञों के द्वारा।

तत्पश्चात् परशुराम ने अपने पिता के सिर को मृत शरीर से जोड़ दिया और पूरे शरीर एवं सिर को कुशों के ऊपर रख दिया। वे यज्ञों के द्वारा भगवान् वासुदेव की पूजा करने लगे जो समस्त देवताओं तथा हर जीव के सर्वव्यापी परमात्मा हैं।

ददौ प्राचीं दिशं होत्रे ब्रह्मणे दक्षिणां दिशम् ।
अध्वर्यवे प्रतीचीं वै उद्गात्रे उत्तरां दिशम् ॥ २१ ॥
अन्येभ्योऽवान्तरदिशः कश्यपाय च मध्यतः ।
आर्यावर्तमुपद्रष्ट्रे सदस्येभ्यस्ततः परम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

ददौ—दान में दिया; प्राचीम्—पूर्वी; दिशम्—दिशा; होत्रे—होता को; ब्रह्मणे—ब्रह्मा को; दक्षिणाम्—दक्षिणी; दिशम्—दिशा; अध्वर्यवे—अध्वर्यु को; प्रतीचीम्—पश्चिमी दिशा; वै—निस्सन्देह; उद्गात्रे—उद्गाता को; उत्तराम्—उत्तरी; दिशम्—दिशा; अन्येभ्यः—अन्यों को; अवान्तर-दिशः—विभिन्न कोने (उत्तर पूर्व, दक्षिण पूर्व, उत्तर पश्चिम तथा दक्षिण पश्चिम); कश्यपाय—कश्यप मुनि को; च—भी; मध्यतः—बीच का भाग; आर्यावर्तम्—आर्यावर्त नाम से विख्यात; उपद्रष्ट्रे—उपद्रष्टा को, मंत्र को सुनकर उस पर निगरानी रखने वाले पुरोहित को; सदस्येभ्यः—सदस्य या सहयोगी पुरोहितों को; ततः परम्—जो भी शेष था।

यज्ञ-समाप्ति पर परशुराम ने पूर्वी दिशा होता को, दक्षिणी दिशा ब्रह्मा को, पश्चिमी दिशा अध्वर्यु को, उत्तरी दिशा उद्गाता को एवं चारों कोने—उत्तर पूर्व, दक्षिण पूर्व, उत्तर पश्चिम तथा दक्षिण पश्चिम—अन्य पुरोहितों को दान में दे दिये। उन्होंने मध्य भाग कश्यप को तथा आर्यावर्त उपद्रष्टा को दे दिया। शेष भाग सदस्यों अर्थात् सहयोगी पुरोहितों में बाँट दिया।

तात्पर्य : भारत में हिमालय पर्वत तथा विन्ध्याचल पर्वत के मध्य का भूभाग आर्यावर्त कहलाता है।

ततश्चावभृथस्नानविधूताशेषकिल्बिषः ।
सरस्वत्यां महानद्यां रेजे व्यब्भ्र इवांशुमान् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; च—भी; अवभृथ-स्नान—यज्ञ सम्पन्न करने के बाद स्नान करके; विधूत—धो डाला; अशेष—असीम; किल्बिषः—पापकर्मों के फल; सरस्वत्याम्—सरस्वती नदी के तट पर; महा-नद्याम्—भारत की महान् नदी; रेजे—परशुराम प्रकट हुए; व्यब्भ्रः—निरभ्र, बादलों से रहित; इव अंशुमान्—सूर्यप्रकाश।.

तत्पश्चात् भगवान् परशुराम ने यज्ञ-अनुष्ठान पूरा करके अवभृथ स्नान किया। महान् नदी सरस्वती के तट पर खड़े समस्त पापों से विमुक्त परशुराम जी बादलरहित आकाश में सूर्य के समान लग रहे थे।

तात्पर्य : जैसा कि *भगवद्गीता* (३.९) में कहा गया है—*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*—विष्णु के लिए यज्ञ रूप में कर्म करना होता है अन्यथा कर्म मनुष्य को इस भौतिक जगत से बाँध देता है। *कर्मबन्धनः* एक के बाद दूसरा भौतिक शरीर ग्रहण करते रहने का द्योतक है। यह जन्म-मृत्यु का चक्र ही जीवन की सारी समस्या है। इसीलिए सलाह दी जाती है कि विष्णु को तुष्ट करने के लिए यज्ञ करने का कर्म किया जाय। यद्यपि परशुराम भगवान् के अवतार थे, किन्तु अपने पापकर्मों के लिए उन्हें प्रायश्चित्त करना पड़ा। इस भौतिक जगत में कोई कितना ही जागरूक क्यों न रहे, कुछ न कुछ पापकर्म करता ही है, भले ही वह पाप न करना चाहता हो। उदाहरणार्थ, सड़क पर चलते हुए उसके पाँव के नीचे अनेक चीटियाँ तथा कीड़े कुचले जा सकते हैं और अनजाने ही अनेक जीवों की हत्या हो सकती है। इसीलिए *पञ्चयज्ञ* का वैदिक सिद्धान्त अनिवार्य है। किन्तु इस कलियुग में लोगों को बहुत बड़ी छूट मिली हुई है। *यज्ञै संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः*—हम कृष्ण के प्रच्छन्न अवतार भगवान् चैतन्य की पूजा कर सकते हैं। *कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्*—यद्यपि वे साक्षात् कृष्ण हैं, किन्तु वे सदैव हरे कृष्ण कीर्तन करते रहते हैं और कृष्णभावनामृत का प्रचार करते हैं। मनुष्य को सलाह दी जाती है कि वह *संकीर्तन यज्ञ* द्वारा इस अवतार की पूजा करे। संकीर्तन यज्ञ सम्पन्न करना मानव समाज के लिए विशेष छूट है जिससे लोगों को ज्ञात या अज्ञात पापकर्मों से प्रभावित होने से बचाया जा सकता है। हम अनन्त पापों से घिरे हैं अतएव हमारे लिए अनिवार्य है कि हम कृष्णभावनामृत स्वीकार करके हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करें।

स्वदेहं जमदग्निस्तु लब्ध्वा संज्ञानलक्षणम् ।
ऋषीणां मण्डले सोऽभूत्सप्तमो रामपूजितः ॥ २४॥

शब्दार्थ

स्व-देहम्—अपना शरीर; जमदग्निः—मुनि जमदग्नि; तु—लेकिन; लब्ध्वा—फिर से पाकर; संज्ञान-लक्षणम्—जीवन, ज्ञान तथा स्मृति के सारे लक्षणों से युक्त; ऋषीणाम्—ऋषियों के; मण्डले—सात नक्षत्रों के समूह में; सः—वह, जमदग्नि; अभूत्—बन गया; सप्तमः—सातवाँ; राम-पूजितः—परशुराम द्वारा पूजित होकर।

इस प्रकार परशुराम द्वारा पूजा किये जाने पर जमदग्नि को अपनी पूर्ण स्मृति सहित पुनः जीवन प्राप्त हो गया और वे सात नक्षत्रों के समूह में सातवें ऋषि बन गये।

तात्पर्य : ध्रुवतारा के चारों ओर चक्कर लगाने वाले सात नक्षत्र *सप्तर्षि मण्डल* कहलाते हैं। हमारे लोक के सबसे ऊपरी भाग में स्थित इन सातों नक्षत्रों में सात ऋषि निवास करते हैं, जिनके नाम हैं कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि तथा भरद्वाज। ये सातों नक्षत्र रात में रोज दिखते हैं और चौबीस घण्टों में ध्रुवतारा की एक परिक्रमा कर लेते हैं। इन सात नक्षत्रों के साथ अन्य नक्षत्र भी पूर्व से पश्चिम की ओर चक्कर लगाते हैं। ब्रह्माण्ड का ऊपरी भाग उत्तर कहलाता है और निचला भाग दक्षिण। हम लोग अपने सामान्य व्यवहार में यहाँ तक कि मानचित्र का अध्ययन करते समय भी ऊपरी भाग को उत्तर मानते हैं।

जामदग्न्योऽपि भगवान्रामः कमललोचनः ।
आगामिन्यन्तरे राजन्वर्तयिष्यति वै बृहत् ॥ २५॥

शब्दार्थ

जामदग्न्यः—जमदग्नि का पुत्र; अपि—भी; भगवान्—भगवान्; रामः—परशुराम; कमल-लोचनः—कमल की पँखड़ियों जैसे नेत्र वाला; आगामिनि—आगमन; अन्तरे—मन्वन्तर में; राजन्—हे राजा परीक्षित; वर्तयिष्यति—स्थापित करेगा; वै—निस्सन्देह; बृहत्—वैदिक ज्ञान।

हे परीक्षित, अगले मन्वन्तर में जमदग्निपुत्र कमलनेत्र भगवान् परशुराम वैदिक ज्ञान के महान् संस्थापक होंगे। दूसरे शब्दों में, वे सप्तर्षियों में से एक होंगे।

आस्तेऽद्यापि महेन्द्राद्रौ न्यस्तदण्डः प्रशान्तधीः ।
उपगीयमानचरितः सिद्धगन्धर्वचारणैः ॥ २६॥

शब्दार्थ

आस्ते—विद्यमान है; अद्य अपि—अब भी; महेन्द्र-अद्रौ—महेन्द्र नामक पहाड़ी प्रदेश में; न्यस्त-दण्डः—क्षत्रिय के हथियार (बाण, धनुष तथा फरसा) त्याग कर; प्रशान्त—ब्राह्मण के समान पूरी तरह तुष्ट; धीः—बुद्धि; उपगीयमान-चरितः—अपने उच्च चरित्र तथा कार्यों के लिए पूजित एवं वन्दित; सिद्ध-गन्धर्व-चारणैः—सिद्धों, गन्धर्वों तथा चारणों के द्वारा।

आज भी भगवान् परशुराम महेन्द्र नामक पहाड़ी प्रदेश में बुद्धिमान ब्राह्मण के रूप में रह रहे हैं।

पूर्ण तुष्ट एवं क्षत्रिय के सारे हथियारों को त्याग कर वे अपने उच्च चरित्र तथा कार्यों के लिए सदैव सिद्धों, गन्धर्वों एवं चारणों के द्वारा पूजित, वन्दित एवं प्रशंसित हैं।

एवं भृगुषु विश्वात्मा भगवान्हरिरीश्वरः ।
अवतीर्य परं भारं भुवोऽहन्बहुशो नृपान् ॥ २७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; भृगुषु—भृगुवंश में; विश्व-आत्मा—परमात्मा; भगवान्—भगवान्; हरिः—हरि; ईश्वरः—परम नियन्ता; अवतीर्य—अवतार लेकर; परम्—महान; भारम्—भार को; भुवः—पृथ्वी के; अहन्—मारा; बहुशः—अनेक बार; नृपान्—राजाओं को।.

इस तरह परमात्मा भगवान् हरि तथा ईश्वर ने भृगुवंश में अवतार लिया और अवाञ्छित राजाओं को अनेक बार मारकर उनके भार से पृथ्वी को उबारा।

गाधेरभून्महातेजाः समिद्ध इव पावकः ।
तपसा क्षात्रमुत्सृज्य यो लेभे ब्रह्मवर्चसम् ॥ २८॥

शब्दार्थ

गाधेः—महाराज गाधि से; अभूत्—उत्पन्न हुआ; महा-तेजाः—अत्यन्त तेजस्वी; समिद्धः—प्रज्ज्वलित; इव—सदृश; पावकः—अग्नि; तपसा—तपस्या से; क्षात्रम्—क्षत्रिय पद; उत्सृज्य—त्याग कर; यः—जो (विश्वामित्र); लेभे—प्राप्त किया; ब्रह्म-वर्चसम्—ब्राह्मण का गुण।.

महाराज गाधि का पुत्र विश्वामित्र अग्नि की लपटों के समान शक्तिशाली था; उसने तपस्या द्वारा क्षत्रिय पद से तेजस्वी ब्राह्मण का पद प्राप्त किया।

तात्पर्य : परशुराम का वृत्तान्त बताने के बाद शुकदेव गोस्वामी विश्वामित्र की कथा प्रारम्भ करते हैं। परशुराम के इतिहास से पता चलता है कि यद्यपि वे ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे, किन्तु परिस्थितिवश उन्हें क्षत्रिय के रूप में कार्य करना पड़ा। क्षत्रिय का कार्य पूरा कर लेने के बाद वे पुनः ब्राह्मण बन गये और महेन्द्र पर्वत लौट आये। इसी प्रकार हम देख सकते हैं कि यद्यपि विश्वामित्र क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए थे, किन्तु तपस्या के द्वारा उन्होंने ब्राह्मण पद प्राप्त किया था। इन इतिहासों से शास्त्रों के इन कथनों की पुष्टि होती है कि वांछित गुण अर्जित करके ब्राह्मण क्षत्रिय बन सकता है, क्षत्रिय ब्राह्मण या वैश्य बन सकता है और वैश्य ब्राह्मण बन सकता है। किसी का पद उसके जन्म पर निर्भर नहीं करता। *श्रीमद्भागवत* में (७.११.३५) नारद मुनि ने पुष्टि की है—

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।

यदन्यत्रापि दृश्येत तत् तेनैव विनिर्दिशेत्॥

"यदि किसी में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र के लक्षण दिखें तो भले ही वह अन्य जाति में क्यों न पैदा हुआ हो, उसे उन लक्षणों के अनुसार ही स्वीकार करना चाहिए।" यह जानने के लिए कि कौन ब्राह्मण है और कौन क्षत्रिय है, मनुष्य के गुण तथा कर्म पर विचार करना चाहिए। यदि सारे अयोग्य शूद्र तथाकथित ब्राह्मण तथा क्षत्रिय बन जायँ तो सामाजिक व्यवस्था बनाये रखना असम्भव हो जाय। इस तरह अनेक त्रुटियाँ आ जायेंगी और मानव समाज पशु समाज बन जायेगा जिससे सारे संसार में नारकीय स्थिति उत्पन्न हो जायेगी।

विश्वामित्रस्य चैवासन्पुत्रा एकशतं नृप ।
मध्यमस्तु मधुच्छन्दा मधुच्छन्दस एव ते ॥ २९॥

शब्दार्थ

विश्वामित्रस्य—विश्वामित्र के; च—भी; एव—निस्सन्देह; आसन्—थे; पुत्राः—पुत्र; एक-शतम्—एक सौ एक, १०१; नृप—हे राजा परीक्षित; मध्यमः—बीच का; तु—निस्सन्देह; मधुच्छन्दाः—मधुच्छन्दा नामक; मधुच्छन्दसः—मधुच्छन्दा; एव—निस्सन्देह; ते—वे सभी।

हे राजा परीक्षित, विश्वामित्र के १०१ पुत्र थे जिनमें से बीच के पुत्र का नाम मधुच्छन्दा था। उसके कारण अन्य सारे पुत्र मधुच्छन्दा नाम से विख्यात हुए।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर वेदों का यह कथन उद्धृत करते हैं—*तस्य ह विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्राः आसुः पञ्चाशदेव ज्यायांसो मधुच्छन्दसः पञ्चाशत् कनीयांसः*—विश्वामित्र के एक सौ एक पुत्र थे। इनमें पचास मधुच्छन्दा से बड़े थे और पचास छोटे थे।

पुत्रं कृत्वा शुनःशेफं देवरातं च भार्गवम् ।
आजीगर्तं सुतानाह ज्येष्ठ एष प्रकल्प्यताम् ॥ ३०॥

शब्दार्थ

पुत्रम्—पुत्र; कृत्वा—स्वीकार करके; शुनःशेफम्—शुनःशेफ को; देवरातम्—देवरात, जिसके प्राणों की रक्षा देवताओं ने की थी; च—भी; भार्गवम्—भृगुवंशी; आजीगर्तम्—अजीगर्त का पुत्र; सुतान्—अपने पुत्रों को; आह—आदेश दिया; ज्येष्ठः—सबसे बड़ा; एषः—शुनःशेफ; प्रकल्प्यताम्—इसी रूप में स्वीकार किया।

विश्वामित्र ने अजीगर्त के पुत्र शुनःशेफ को अपने पुत्र रूप में स्वीकार कर लिया जो भृगुवंश में उत्पन्न हुआ था और देवरात नाम से भी विख्यात था। विश्वामित्र ने अपने अन्य पुत्रों को आज्ञा दी कि

वे शुन:शेफ को अपना सबसे बड़ा भाई मान लें।

यो वै हरिश्चन्द्रमखे विक्रीत: पुरुष: पशु: ।
स्तुत्वा देवान्प्रजेशादीन्मुमुचे पाशबन्धनात् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

य:—जो (शुन:शेफ); वै—निस्सन्देह; हरिश्चन्द्र-मखे—राजा हरिश्चन्द्र द्वारा सम्पन्न यज्ञ में; विक्रीत:—बेचा गया; पुरुष:—व्यक्ति; पशु:—बलिपशु; स्तुत्वा—स्तुति करके; देवान्—देवताओं को; प्रजा-ईश-आदीन्—ब्रह्मा इत्यादि; मुमुचे—छोड़ दिया गया; पाश-बन्धनात्—पशु की भाँति रस्सी के बन्धन से।

शुन:शेफ के पिता ने शुन:शेफ को राजा हरिश्चन्द्र के यज्ञ में बलिपशु के रूप में बलि दिये जाने के लिए बेच दिया। जब शुन:शेफ को यज्ञशाला में लाया गया तो उसने देवताओं से प्रार्थना की कि वे उसे छुड़ा दें और वह उनकी कृपा से छुड़ा दिया गया।

तात्पर्य : शुन:शेफ का वर्णन इस प्रकार है : हरिश्चन्द्र को अपने पुत्र रोहित की बलि देनी थी, किन्तु रोहित ने अपने प्राण की रक्षा करने के लिए शुन:शेफ के पिता से शुन:शेफ को यज्ञ में बलि दिए जाने के लिए खरीद लिया था। शुन:शेफ इसलिए हरिश्चन्द्र महाराज को बेच दिया गया क्योंकि वह मझला बेटा था। ऐसा प्रतीत होता है कि यज्ञ में मनुष्य की पशु रूप में बलि की प्रथा बहुत काल से चली आ रही थी।

यो रातो देवयजने देवैर्गाधिषु तापस: ।
देवरात इति ख्यात: शुन:शेफस्तु भार्गव: ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

य:—जो; रात:—रक्षित; देव-यजने—देवताओं के पूजा स्थल में; देवै:—उन्हीं देवताओं द्वारा; गाधिषु—गाधि कुल में; तापस:—आध्यात्मिक जीवन में बढ़ा-चढ़ा; देव-रात:—देवताओं द्वारा रक्षित; इति—इस प्रकार; ख्यात:—प्रसिद्ध; शुन:शेफ: तु—तथा शुन:शेफ; भार्गव:—भृगुवंश में।

यद्यपि शुन:शेफ भार्गव कुल में उत्पन्न हुआ था, किन्तु आध्यात्मिक जीवन में बढ़ा-चढ़ा होने के कारण यज्ञ में सम्बधित देवताओं ने उसकी रक्षा की। फलत: वह देवरात नाम से गाधि के वंशज के रूप में भी विख्यात हुआ।

ये मधुच्छन्दसो ज्येष्ठा: कुशलं मेनिरे न तत् ।
अशपत्तान्मुनि: क्रुद्धो म्लेच्छा भवत दुर्जना: ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ये—जो; मधुच्छन्दसः—विश्वामित्र के पुत्र जो मधुछन्दा कहलाये; ज्येष्ठाः—सबसे बड़ा; कुशलम्—अच्छे स्वभाव का; मेनिरे—स्वीकार करके; न—नहीं; तत्—वह; अशपत्—शाप दे दिया; तान्—उन सबों को; मुनिः—विश्वामित्र मुनि ने; क्रुद्धः—कुपित; म्लेच्छाः—वैदिक सिद्धान्तों का उल्लंघन करने वाले; भवत—तुम सभी हो जाओ; दुर्जनाः—बुरे पुत्र।

जब विश्वामित्र ने शुनःशेफ को सबसे बड़ा पुत्र स्वीकार करने के लिए कहा तो विश्वामित्र के पचास ज्येष्ठ मधुच्छन्दा पुत्र इसके लिए राजी नहीं हुए। फलतः विश्वामित्र क्रुद्ध हो गये और उन्होंने उन सबों को शाप दे दिया, ''निकम्मे पुत्रो! तुम सारे म्लेच्छ बन जाओ क्योंकि तुम वैदिक संस्कृति के नियमों के विरुद्ध हो।''

तात्पर्य : वैदिक साहित्य में म्लेच्छ तथा यवन जैसे शब्द मिलते हैं। म्लेच्छ वे हैं जो वैदिक सिद्धान्तों का पालन नहीं करते। पुराने जमाने में म्लेच्छों की संख्या कम थी और विश्वामित्र ने अपने पुत्रों को शाप दिया कि वे म्लेच्छ बन जाएँ। किन्तु कलियुग में शाप देने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि लोग स्वयं में म्लेच्छ हैं। अभी तो कलियुग की शुरुआत है, किन्तु कलियुग के अन्त तक सारे लोग म्लेच्छ हो जायेंगे क्योंकि कोई भी व्यक्ति वैदिक नियमों का पालन नहीं करेगा। तब कल्कि अवतार होगा। *म्लेच्छनिवहनिधने कलयसि करबालम्*—वह अपनी तलवारों से सभी म्लेच्छों का अंधाधुंध विनाश करेगा।

स होवाच मधुच्छन्दाः सार्धं पञ्चाशता ततः ।
यन्नो भवान्सञ्जानीते तस्मिंस्तिष्ठामहे वयम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

सः—विश्वामित्र के बीच के पुत्र ने; ह—निस्सन्देह; उवाच—कहा; मधुच्छन्दाः—मधुच्छन्दा; सार्धम्—साथ; पञ्चाशता—अन्य पचास पुत्र, जो मधुच्छन्दा कहलाते थे; ततः—तब, जब पहले पचास पुत्रों को शाप मिल गया; यत्—जो; नः—हमको; भवान्—हे पिता; सञ्जानीते—आप जैसा चाहें; तस्मिन्—उसमें; तिष्ठामहे—रहेंगे; वयम्—हम सब।

जब बड़े पचास मधुच्छन्दाओं को शाप मिल गया तो मधुच्छन्दा समेत छोटे पचास पुत्र अपने पिता के पास गये और उनके प्रस्ताव को यह कहकर स्वीकार किया, ''हे पिता, आप जैसा चाहेंगे हम उसी को मानेंगे।''

ज्येष्ठं मन्त्रदृशं चक्रुस्त्वामन्वञ्चो वयं स्म हि ।
विश्वामित्रः सुतानाह वीरवन्तो भविष्यथ ।
ये मानं मेऽनुगृह्णन्तो वीरवन्तमकर्त माम् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

ज्येष्ठम्—बड़ा, ज्येष्ठ; मन्त्र-दृशम्—मंत्रद्रष्टा; चक्रुः—स्वीकार कर लिया; त्वाम्—तुमको; अन्वञ्चः—पालन करने के लिए राजी हो गये हैं; वयम्—हम; स्म—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही; विश्वामित्रः—विश्वामित्र मुनि ने; सुतान्—आज्ञाकारी पुत्रों से; आह—कहा; वीर-वन्तः—पुत्रों के पिता; भविष्यथ—भविष्य में बनो; ये—जो; मानम्—मान, सम्मान; मे—मेरा; अनुगृह्णन्तः—स्वीकार किया; वीर-वन्तम्—अच्छे पुत्रों के पिता; अकर्त—तुमने बनाया है; माम्—मुझको।

इस तरह छोटे मधुच्छान्दाओं ने शुन:शेफ को अपना बड़ा भाई मान लिया और उससे कहा "हम आपके आदेशों का पालन करेंगे।" तब विश्वामित्र ने अपने इन आज्ञाकारी पुत्रों से कहा "चूँकि तुम लोगों ने शुन:शेफ को अपना बड़ा भाई मान लिया है अतएव मैं सन्तुष्ट हूँ। तुम लोगों ने मेरे आदेश को स्वीकार करके मुझे योग्य पुत्रों का पिता बना दिया है अतएव मैं तुम सबों को आशीर्वाद देता हूँ कि तुम भी पुत्रों के पिता बनो।"

तात्पर्य : विश्वामित्र के एक सौ पुत्रों में आधों ने शुन:शेफ को बड़ा भाई नहीं माना, किन्तु आधों ने उनके आदेश को मान लिया; अतएव पिता ने आज्ञाकारी पुत्रों को पुत्रवान होने का आशीर्वाद दिया। अन्यथा उन्हें भी पुत्रविहीन म्लेच्छ बनने का शाप दे दिया होता।

एष वः कुशिका वीरो देवरातस्तमन्वित ।
अन्ये चाष्टकहारीतजयक्रतुमदादयः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह (शुन:शेफ); वः—तुम्हारी तरह; कुशिकाः—हे कुशिको; वीरः—मेरा पुत्र; देवरातः—देवरात; तम्—उसकी; अन्वित—आज्ञा पालन करो; अन्ये—अन्य; च—भी; अष्टक—अष्टक; हारीत—हारीत; जय—जय; क्रतुमत्—क्रतुमान; आदयः—इत्यादि।

विश्वामित्र ने कहा "हे कुशिको, यह देवरात मेरा पुत्र है और तुममें से एक है। उसकी आज्ञा का पालन करो।" हे परीक्षित, विश्वामित्र के अन्य अनेक पुत्र थे—अष्टक, हारीत, जय तथा क्रतुमान इत्यादि।

एवं कौशिकगोत्रं तु विश्वामित्रैः पृथग्विधम् ।
प्रवरान्तरमापन्नं तद्धि चैवं प्रकल्पितम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार (कुछ शापित होकर और कुछ आशीर्वाद पाकर); कौशिक-गोत्रम्—कौशिक का वंश; तु—निस्सन्देह; विश्वामित्रैः—विश्वामित्र के पुत्रों द्वारा; पृथक्-विधम्—विभिन्न प्रकार से; प्रवर-अन्तरम्—एक दूसरे में अन्तर; आपन्नम्—प्राप्त किया; तत्—वह; हि—निस्सन्देह; च—भी; एवम्—इस प्रकार; प्रकल्पितम्—निश्चित किया।

विश्वामित्र ने कुछ पुत्रों को शाप दिया और अन्यों को आशीर्वाद दिया और एक पुत्र को गोद भी लिया। इस तरह कौशिक वंश में काफी विविधता थी, किन्तु सारे पुत्रों में देवरात ही ज्येष्ठ माना गया।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध के अन्तर्गत ''भगवान् परशुराम द्वारा विश्व के क्षत्रियों का विनाश'' नामक सोलहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सत्रह

पुरूरवा के पुत्रों की वंशावली

पुरूरवा के ज्येष्ठ पुत्र आयु से पाँच पुत्र हुए। इस अध्याय में क्षत्रवृद्ध से लेकर चार पुत्रों के वंशों का वर्णन है।

पुरूरवा के पुत्र आयु से पाँच पुत्र हुए—नहुष, क्षत्रवृद्ध, रजी, राभ तथा अनेना। क्षत्रवृद्ध का पुत्र सुहोत्र था, जिसके तीन पुत्र हुए—काश्य, कुश तथा गृत्समद। गृत्समद का पुत्र शुनक था और उसका पुत्र था शौनक। काश्य का पुत्र काशि था। काशि के पुत्र-पौत्रों के नाम थे राष्ट्र, दीर्घतम तथा धन्वन्तरि। धन्वन्तरि आयुर्वेद विज्ञान का सूत्रपात करने वाला था और भगवान् वासुदेव का शक्त्यावेश अवतार था। धन्वन्तरि के वंशजों में केतुमान, भीमरथ, दिवोदास तथा द्युमान हुए। द्युमान के अन्य नाम प्रतर्दन, शत्रुजित, वत्स, ऋतध्वज तथा कुवलयाश्व थे। द्युमान का पुत्र अलर्क था जिसने अनेकानेक वर्षों तक राज्य किया। अलर्क के ही वंश में सन्तति, सुनीथ, निकेतन, धर्मकेतु, सत्यकेतु, धृष्टकेतु, सुकुमार, वीतिहोत्र, भर्ग तथा भार्गभूमि हुए। ये सभी क्षत्रवृद्ध के वंशज काशी के कुल से सम्बद्ध थे।

राभ का पुत्र रभस हुआ जिसके पुत्र का नाम गम्भीर था। गम्भीर का पुत्र अक्रिय हुआ और उसका पुत्र ब्रह्मवित हुआ। अनेना का पुत्र शुद्ध था और उसका पुत्र शुचि था। शुचि के पुत्र का नाम चित्रकृत था जिसका पुत्र शान्तरज हुआ। रजी के पाँच सौ पुत्र हुए जो एक से एक बढ़कर महाबली थे। रजी स्वयं अत्यन्त बलवान था जिसे इन्द्र ने स्वर्ग का राज्य सौंपा था। रजी की मृत्यु के बाद जब उसके पुत्रों ने इन्द्र को साम्राज्य वापस देने से मना कर दिया, बृहस्पति की योजना से वे मूर्ख बन गये उन्हें मूर्ख बना दिया और तब इन्द्र ने उन्हें पराजित किया।

क्षत्रवृद्ध के पौत्र कुश से प्रति नाम का पुत्र हुआ जिससे सञ्जय, फिर उससे जय, जय से कृत और कृत से हर्यबल हुआ। हर्यबल के पुत्र का नाम सहदेव था, उसके पुत्र का नाम हीन, हीन के पुत्र का नाम जयसेन, जयसेन के पुत्र का नाम संकृति तथा संकृति के पुत्र का नाम जय था।

श्रीबादरायणिरुवाच

यः पुरूरवसः पुत्र आयुस्तस्याभवन्सुताः ।
नहुषः क्षत्रवृद्धश्च रजी राभश्च वीर्यवान् ॥ १ ॥

अनेना इति राजेन्द्र शृणु क्षत्रवृधोऽन्वयम् ।
क्षत्रवृद्धसुतस्यासन्सुहोत्रस्यात्मजास्त्रयः ॥ २ ॥

काश्यः कुशो गृत्समद इति गृत्समदादभूत् ।
शुनकः शौनको यस्य बह्वृचप्रवरो मुनिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; यः—जो; पुरूरवसः—पुरूरवा का; पुत्रः—पुत्र; आयुः—आयु; तस्य—उसका; अभवन्—हुए; सुताः—पुत्र; नहुषः—नहुष; क्षत्रवृद्धः च—तथा क्षत्रवृद्ध; रजी—रजी; राभः—राभ; च—भी; वीर्यवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; अनेनाः—अनेना; इति—इस प्रकार; राज-इन्द्र—हे महाराज परीक्षित; शृणु—सुनो; क्षत्रवृधः—क्षत्रवृध का; अन्वयम्—वंश; क्षत्रवृद्ध—क्षत्रवृद्ध के; सुतस्य—पुत्र के; आसन्—थे; सुहोत्रस्य—सुहोत्र के; आत्मजाः—पुत्र; त्रयः—तीन; काश्यः—काश्य; कुशः—कुश; गृत्समदः—गृत्समद; इति—इस प्रकार; गृत्समदात्—गृत्समद से; अभूत्—हुए; शुनकः—शुनक; शौनकः—शौनक; यस्य—जिसका (शुनक का); बहु-ऋच-प्रवरः—ऋग्वेद में सर्वाधिक पटु; मुनिः—मुनि।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : पुरूरवा से आयु नामक पुत्र हुआ जिससे नहुष, क्षत्रवृद्ध, रजी, राभ तथा अनेना नाम के अत्यन्त शक्तिशाली पुत्र उत्पन्न हुए। हे महाराज परीक्षित, अब क्षत्रवृद्ध के वंश के विषय में सुनो। क्षत्रवृद्ध का पुत्र सुहोत्र था जिसके तीन पुत्र हुए—काश्य, कुश तथा गृत्समद। गृत्समद से शुनक हुआ और शुनक से शौनक मुनि उत्पन्न हुए जो ऋग्वेद में सर्वाधिक पटु थे।

काश्यस्य काशिस्तत्पुत्रो राष्ट्रो दीर्घतमःपिता ।
धन्वन्तरिर्दीर्घतमस आयुर्वेदप्रवर्तकः ।
यज्ञभुग्वासुदेवांशः स्मृतमात्रार्तिनाशनः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

काश्यस्य—काश्य का; काशिः—काशि; तत्-पुत्रः—उसका पुत्र; राष्ट्रः—राष्ट्र; दीर्घतमः-पिता—जो दीर्घतम का पिता बना; धन्वन्तरिः—धन्वन्तरि; दीर्घतमसः—दीर्घतम से; आयुः-वेद-प्रवर्तकः—आयुर्वेद के जनक; यज्ञ-भुक्—यज्ञफलों का भोक्ता; वासुदेव-अंशः—भगवान् वासुदेव का अवतार; स्मृत-मात्र—नाम लेने से ही; आर्ति-नाशनः—सारे रोग विनष्ट हो जाते हैं।

काश्य का पुत्र काशि था और उसका पुत्र राष्ट्र हुआ जो दीर्घतम का पिता था। दीर्घतम के धन्वन्तरि नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जो आयुर्वेद का जनक तथा समस्त यज्ञफलों के भोक्ता भगवान् वासुदेव का अवतार था। जो धन्वन्तरि का नाम याद करता है उसके सारे रोग दूर हो सकते हैं।

तत्पुत्रः केतुमानस्य जज्ञे भीमरथस्ततः ।
दिवोदासो द्युमांस्तस्मात्प्रतर्दन इति स्मृतः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तत्-पुत्रः—उसका (धन्वन्तरि का) पुत्र; केतुमान्—केतुमान; अस्य—उसका; जज्ञे—जन्म लिया; भीमरथः—भीमरथ नाम के पुत्र ने; ततः—उससे; दिवोदासः—दिवोदास; द्युमान्—द्युमान; तस्मात्—उससे; प्रतर्दनः—प्रतर्दन; इति—इस प्रकार; स्मृतः—ज्ञात।

धन्वन्तरि का पुत्र केतुमान हुआ और उसका पुत्र भीमरथ था। भीमरथ का पुत्र दिवोदास था और उसका पुत्र द्युमान हुआ जो प्रतर्दन भी कहलाता था।

स एव शत्रुजिद्वत्स ऋतध्वज इतीरितः ।
तथा कुवलयाश्वेति प्रोक्तोऽलर्कादयस्ततः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, द्युमान; एव—निस्सन्देह; शत्रुजित्—शत्रुजित; वत्सः—वत्स; ऋतध्वजः—ऋतध्वज; इति—इस तरह; ईरितः—विख्यात; तथा—और; कुवलयाश्व—कुवलयाश्व; इति—इस प्रकार; प्रोक्तः—विख्यात; अलर्क-आदयः—अलर्क तथा अन्य पुत्र; ततः—उससे।

द्युमान शत्रुजित, वत्स, ऋतध्वज तथा कुवलयाश्व नामों से भी विख्यात था। उससे अलर्क तथा अन्य पुत्र उत्पन्न हुए।

षष्टिं वर्षसहस्राणि षष्टिं वर्षशतानि च ।
नालर्कादपरो राजन्बुभुजे मेदिनीं युवा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

षष्टिम्—साठ; वर्ष-सहस्राणि—हजार वर्ष; षष्टिम्—साठ; वर्ष-शतानि—सैकड़ों वर्ष; च—भी; न—नहीं; अलर्कात्—अलर्क के अलावा; अपरः—कोई दूसरा; राजन्—हे राजा परीक्षित; बुभुजे—भोग किया; मेदिनीम्—पृथ्वी का; युवा—युवक पुरुष की भाँति।

हे राजा परीक्षित, द्युमान के पुत्र अलर्क ने पृथ्वी पर छियाछठ हजार वर्षों से भी अधिक समय तक राज्य किया। इस पृथ्वी पर उनके अतिरिक्त किसी अन्य ने युवक के रूप में इतने दीर्घकाल तक राज्य नहीं भोगा।

अलर्कात्सन्ततिस्तस्मात्सुनीथोऽथ निकेतनः ।
धर्मकेतुः सुतस्तस्मात्सत्यकेतुरजायत ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अलर्कात्—अलर्क से; सन्ततिः—सन्तति; तस्मात्—उससे; सुनीथः—सुनीथ; अथ—उससे; निकेतनः—निकेतन; धर्मकेतुः—धर्मकेतु; सुतः—पुत्र; तस्मात्—तथा धर्मकेतु से; सत्यकेतुः—सत्यकेतु; अजायत—उत्पन्न हुआ।

अलर्क से सन्तति नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका पुत्र सुनीथ हुआ। सुनीथ का पुत्र निकेतन था। निकेतन का पुत्र धर्मकेतु हुआ और धर्मकेतु का पुत्र सत्यकेतु था।

धृष्टकेतुस्ततस्तस्मात्सुकुमारः क्षितीश्वरः ।
वीतिहोत्रोऽस्य भर्गोऽतो भार्गभूमिरभून्नृप ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

धृष्टकेतुः—धृष्टकेतु; ततः—तत्पश्चात्; तस्मात्—धृष्टकेतु से; सुकुमारः—सुकुमार; क्षिति-ईश्वरः—सारे संसार का सम्राट; वीतिहोत्रः—वीतिहोत्र; अस्य—उसका पुत्र; भर्गः—भर्ग; अतः—उससे; भार्गभूमिः—भार्गभूमि; अभूत्—उत्पन्न हुआ; नृप—हे राजा।

हे राजा परीक्षित, सत्यकेतु का पुत्र धृष्टकेतु हुआ और धृष्टकेतु का पुत्र सुकुमार हुआ जो पूरे विश्व का सम्राट था। सुकुमार का पुत्र वीतिहोत्र हुआ, जिसका पुत्र भर्ग था और भर्ग का पुत्र भार्गभूमि हुआ।

इतीमे काशयो भूपाः क्षत्रवृद्धान्वयायिनः ।
राभस्य रभसः पुत्रो गम्भीरश्चाक्रियस्ततः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; इमे—ये सभी; काशयः—काशि के वंश में उत्पन्न; भूपाः—राजा; क्षत्रवृद्ध-अन्वय-आयिनः—क्षत्रवृद्ध के वंश के भीतर भी; राभस्य—राभ का; रभसः—रभस; पुत्रः—पुत्र; गम्भीरः—गम्भीर; च—भी; अक्रियः—अक्रिय; ततः—उससे।

हे महाराज परीक्षित, ये सारे राजा काशि के वंशज थे और इन्हें क्षत्रवृद्ध के उत्तराधिकारी भी कहा जा सकता है। राभ का पुत्र रभस हुआ, रभस का पुत्र गम्भीर और गम्भीर का पुत्र अक्रिय कहलाया।

तद्गोत्रं ब्रह्मविज्जज्ञे शृणु वंशमनेनसः ।
शुद्धस्ततः शुचिस्तस्माच्चित्रकृद्धर्मसारथिः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तत्-गोत्रम्—अक्रिय का उत्तराधिकारी; ब्रह्मवित्—ब्रह्मवित ने; जज्ञे—जन्म लिया; शृणु—सुनो; वंशम्—वंश वालों को; अनेनसः—अनेना का; शुद्धः—शुद्ध; ततः—उससे; शुचिः—शुचि; तस्मात्—उससे; चित्रकृत्—चित्रकृत; धर्म-सारथिः—धर्मसारथि।

हे राजा, अक्रिय का पुत्र ब्रह्मवित कहलाया। अब अनेना के वंशजों के विषय में सुनो। अनेना का पुत्र शुद्ध था और उसका पुत्र शुचि था। शुचि का पुत्र धर्मसारथि था जो चित्रकृत भी कहलाता था।

ततः शान्तरजो जज्ञे कृतकृत्यः स आत्मवान् ।
रजेः पञ्चशतान्यासन्पुत्राणाममितौजसाम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ततः—चित्रकृत से; शान्तरजः—शान्तरज; जज्ञे—उत्पन्न हुआ; कृत-कृत्यः—सारे अनुष्ठान सम्पन्न किये; सः—उसने; आत्मवान्—स्वरूपसिद्ध; रजेः—रजी के; पञ्च-शतानि—पाँच सौ; आसन्—थे; पुत्राणाम्—पुत्रों का; अमित-ओजसाम्—अत्यन्त शक्तिशाली।

चित्रकृत के शान्तरज नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जो स्वरूपसिद्ध व्यक्ति था जिसने समस्त वैदिक कर्मकाण्ड सम्पन्न किये। फलतः उसने कोई सन्तान उत्पन्न नहीं की। रजी के पाँच सौ पुत्र हुए जो सारे के सारे अत्यन्त शक्तिशाली थे।

देवैरभ्यर्थितो दैत्यान्हत्वेन्द्रायाददाद्दिवम् ।
इन्द्रस्तस्मै पुनर्दत्त्वा गृहीत्वा चरणौ रजेः ।
आत्मानमर्पयामास प्रह्लादाद्यरिशङ्कितः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

देवैः—देवताओं द्वारा; अभ्यर्थितः—प्रार्थना किये जाने पर; दैत्यान्—दैत्यों को; हत्वा—मारकर; इन्द्राय—स्वर्ग के राजा इन्द्र को; अददात्—प्रदान किया; दिवम्—स्वर्ग का राज्य; इन्द्रः—इन्द्र ने; तस्मै—उसको, रजी को; पुनः—फिर से; दत्त्वा—लौटाते हुए; गृहीत्वा—ग्रहण करके; चरणौ—दोनों पाँव; रजेः—रजी के; आत्मानम्—स्वयं को; अर्पयाम् आस—समर्पित कर दिया; प्रह्लाद-आदि—प्रह्लाद इत्यादि; अरि-शङ्कितः—ऐसे शत्रुओं से डर कर।

देवताओं की प्रार्थना पर रजी ने दैत्यों का वध किया और स्वर्ग का राज्य इन्द्रदेव को लौटा दिया। किन्तु इन्द्र ने प्रह्लाद जैसे दैत्यों के डर से स्वर्ग का राज्य रजी को लौटा दिया और स्वयं उसके चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली।

पितर्युपरते पुत्रा याचमानाय नो ददुः ।
त्रिविष्टपं महेन्द्राय यज्ञभागान्समाददुः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

पितरि—जब उनका पिता; उपरते—दिवंगत हो गया; पुत्राः—लड़कों ने; याचमानाय—माँगने पर; नो—नहीं; ददुः—लौटाया; त्रिविष्टपम्—स्वर्ग का राज्य; महेन्द्राय—महेन्द्र को; यज्ञ-भागान्—यज्ञ के भाग; समाददुः—दिया।

रजी की मृत्यु के बाद इन्द्र ने रजी के पुत्रों से स्वर्ग का राज्य लौटाने के लिए याचना की। किन्तु उन्होंने नहीं लौटाया, यद्यपि वे इन्द्र का यज्ञ-भाग लौटाने के लिए राजी हो गये।

तात्पर्य : रजी ने स्वर्ग का राज्य जीता था; अतएव जब इन्द्र ने रजी के पुत्रों से राज्य लौटाने के लिए याचना की तो उन्होंने मना कर दिया। चूँकि उन्होंने स्वर्ग का राज्य इन्द्र से नहीं लिया था, अपितु इसे अपने पिता से उत्तराधिकार में प्राप्त किया था अतएव वे इसे पैतृक सम्पत्ति मानते थे। तो फिर वे इसे देवताओं को क्यों लौटाते?

गुरुणा हूयमानेऽग्नौ बलभित्तनयान्रजेः ।
अवधीद्भ्रंशितान्मार्गान्न कश्चिदवशेषितः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

गुरुणा—गुरु (बृहस्पति) द्वारा; हूयमाने अग्नौ—अग्नि में आहुति डालते समय; बलभित्—इन्द्र ने; तनयान्—पुत्रों को; रजेः—रजी के; अवधीत्—मार डाला; भ्रंशितान्—गिरे हुए; मार्गात्—नैतिक सिद्धान्तों से; न—नहीं; कश्चित्—कोई; अवशेषितः—जीवित रहा।

तत्पश्चात् देवताओं के गुरु बृहस्पति ने अग्नि में आहुति डाली जिससे रजी के पुत्र नैतिक सिद्धान्तों से नीचे गिर सकें। जब वे गिर गये तो इन्द्र ने उनके पतन के कारण उन्हें सरलता से मार डाला। उनमें से एक भी नहीं बच पाया।

कुशात्प्रतिः क्षात्रवृद्धात्सञ्जयस्तत्सुतो जयः ।
ततः कृतः कृतस्यापि जज्ञे हर्यबलो नृपः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

कुशात्—कुश से; प्रतिः—प्रति नामक पुत्र; क्षात्रवृद्धात्—क्षत्रवृद्ध का पौत्र; सञ्जयः—सञ्जय; तत्-सुतः—उसका पुत्र; जयः—जय; ततः—उससे; कृतः—कृत; कृतस्य—कृत का; अपि—भी; जज्ञे—उत्पन्न हुआ; हर्यबलः—हर्यबल; नृपः—राजा।

क्षत्रवृद्ध के पौत्र कुश से प्रति नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। प्रति का पुत्र सञ्जय, सञ्जय का पुत्र जय, जय का पुत्र कृत और कृत का पुत्र राजा हर्यबल हुआ।

सहदेवस्ततो हीनो जयसेनस्तु तत्सुतः ।
सङ्कृतिस्तस्य च जयः क्षत्रधर्मा महारथः ।
क्षत्रवृद्धान्वया भूपा इमे शृण्वथ नाहुषान् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

सहदेवः—सहदेव; ततः—उससे; हीनः—हीन नामक; जयसेनः—जयसेन; तु—भी; तत्-सुतः—हीन का पुत्र; सङ्कृतिः—संकृति; तस्य—उसका; च—भी; जयः—जय; क्षत्र-धर्मा—क्षत्रिय के कर्तव्यों में पटु; महा-रथः—अत्यन्त शक्तिशाली योद्धा; क्षत्रवृद्ध-अन्वयाः—क्षत्रवृद्ध के वंश में; भूपाः—राजा; इमे—ये सारे; शृणु—सुनो; अथ—अब; नाहुषान्—नहुष के उत्तराधिकारियों के बारे में।

हर्यबल का पुत्र सहदेव, सहदेव का पुत्र हीन, हीन का पुत्र जयसेन और जयसेन का पुत्र संकृति हुआ। संकृति का पुत्र जय अत्यन्त शक्तिशाली एवं निपुण योद्धा था। ये सभी राजा क्षत्रवृद्ध वंश के सदस्य थे। अब मैं नहुष के वंश का वर्णन करूँगा।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध के अन्तर्गत ''पुरूरवा के पुत्रों की वंशावली'' नामक सत्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अठारह

राजा ययाति को यौवन की पुनःप्राप्ति

इस अध्याय में नहुष के पुत्र राजा ययाति की कथा का वर्णन हुआ है। ययाति के पाँच पुत्रों में से सबसे छोटे पूरु ने ययाति की वृद्धावस्था स्वीकार की।

जब नहुष को अजगर बनने का शाप मिल गया तो उसके छः पुत्रों में सबसे बड़े पुत्र यति ने संन्यास ले लिया। फलस्वरूप बाकी पुत्रों में से बड़े पुत्र ययाति को राजगद्दी पर बैठाया गया। दैववश ययाति ने शुक्राचार्य की बेटी से व्याह कर लिया। शुक्राचार्य ब्राह्मण था और ययाति क्षत्रिय था; तो भी ययाति ने उसकी बेटी से शादी कर ली। शुक्राचार्य की बेटी देवयानी की सखी का नाम शर्मिष्ठा था जो वृषपर्वा की पुत्री थी। राजा ययाति ने शर्मिष्ठा के साथ भी विवाह कर लिया। इस विवाह की कथा इस प्रकार है—

एक बार शर्मिष्ठा अपनी हजारों सखियों के साथ जलविहार कर रही थी और देवयानी भी वहीं थी। जब युवतियों ने शिवजी को उमा समेत बैल पर सवार देखा तो उन्होंने तुरन्त अपने वस्त्र पहन लिये, किन्तु शर्मिष्ठा भूल से देवयानी के कपड़े पहन बैठी। इस पर देवयानी अत्यन्त क्रुद्ध हुई और उसने शर्मिष्ठा को खूब झिड़का। फलतः वह भी क्रुद्ध होकर गाली देने लगी और देवयानी को उसने एक कुएँ में धकेल दिया। दैवयोग से राजा ययाति उस कुएँ पर पानी पीने आये और देवयानी को देखकर उसे बाहर निकाला। फलतः देवयानी ने महाराज ययाति को पति रूप में स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् देवयानी रोती पीटती अपने पिता के पास गई और उसने शर्मिष्ठा की करतूत कह सुनाई। यह घटना सुनकर शुक्राचार्य अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उन्होंने शर्मिष्ठा के पिता वृषपर्वा को दण्डित करना चाहा, किन्तु वृषपर्वा ने शर्मिष्ठा को देवयानी की दासी बनाकर भेंट करके शुक्राचार्य को शान्त किया। इस तरह शर्मिष्ठा दासी बनकर देवयानी की ससुराल में गई। जब उसकी सखी देवयानी को पुत्र-प्राप्ति हुई तो उसे भी पुत्र पाने की इच्छा हुई। अतएव गर्भाधान का उचित अवसर पाकर उसने ययाति से संभोग करने की प्रार्थना की। जब शर्मिष्ठा भी गर्भवती हो गई तो देवयानी को ईर्ष्या हुई। क्रोध में आकर वह तुरन्त अपने मायके चली गई और वहाँ अपने पिता से सारी बातें कह सुनाईं। शुक्राचार्य पुनः कुपित हुए और उन्होंने ययाति को वृद्ध होने का शाप दे दिया, किन्तु जब ययाति ने दयाकी भीख माँगी तो शुक्राचार्य ने उसे यह वर दिया कि वह अपनी वृद्धावस्था तथा अशक्तता को

किसी युवक से बदल सकता है। ययाति ने अपने सबसे छोटे पुत्र पूरु से यौवन लेकर अपनी वृद्धावस्था उसे दे दी और इस तरह वह युवतियों के साथ भोग-विलास करने लगा।

श्रीशुक उवाच
यतिर्ययातिः संयातिरायतिर्वियतिः कृतिः ।
षडिमे नहुषस्यासन्निन्द्रियाणीव देहिनः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; यतिः—यति; ययातिः—ययाति; संयातिः—संयाति; आयतिः—आयति; वियतिः—वियति; कृतिः—कृति; षट्—छः; इमे—ये सभी; नहुषस्य—राजा नहुष के; आसन्—थे; इन्द्रियाणि—छः इन्द्रियों; इव—सदृश; देहिनः—देहधारी का।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा परीक्षित, जिस तरह देहधारी आत्मा के छह इन्द्रियाँ होती हैं उसी तरह राजा नहुष के छह पुत्र थे जिनके नाम थे यति, ययाति, संयाति, आयति, वियति तथा कृति।

राज्यं नैच्छद्यतिः पित्रा दत्तं तत्परिणामवित् ।
यत्र प्रविष्टः पुरुष आत्मानं नावबुध्यते ॥ २ ॥

शब्दार्थ

राज्यम्—राज्य; न ऐच्छत्—स्वीकार नहीं किया; यतिः—ज्येष्ठ पुत्र, यति ने; पित्रा—अपने पिता द्वारा; दत्तम्—दिया गया; तत्-परिणाम-वित्—राजा के शक्तिशाली होने का फल जानते हुए; यत्र—जहाँ; प्रविष्टः—घुसकर; पुरुषः—व्यक्ति; आत्मानम्—आत्म-साक्षात्कार; न—नहीं; अवबुध्यते—गम्भीरतापूर्वक ग्रहण करके समझेगा।

जब कोई मनुष्य राजा या सरकार के अध्यक्ष के पद को ग्रहण करता है तो वह आत्म-साक्षात्कार का अर्थ नहीं समझ पाता। यह जानकर, नहुष के सबसे बड़े पुत्र यति ने शासन सँभालना स्वीकार नहीं किया यद्यपि उसके पिता ने राज्य को उसे ही सौंपा था।

तात्पर्य : आत्म-साक्षात्कार मानव सभ्यता का मूल उद्देश्य है और जो लोग सतोगुणी हैं तथा जिनमें ब्राह्मण-गुणों का विकास हुआ होता है वे इसे गम्भीरतापूर्वक ग्रहण करते हैं। सामान्यतया क्षत्रिय उन भौतिक गुणों से सम्पन्न होते हैं जो भौतिक सम्पत्ति प्राप्त करने तथा इन्द्रियतृप्ति भोगने के अनुकूल होते हैं, किन्तु जो लोग आध्यात्मिक रूप से बढ़े-चढ़े रहते हैं वे भौतिक ऐश्वर्य के प्रति कोई रुचि नहीं दिखलाते। निस्सन्देह, वे आत्म-साक्षात्कार में आध्यात्मिक जीवन-विकास के लिए न्यूनतम आवश्यकताएँ स्वीकार करते हैं। यहाँ विशेष उल्लेख हुआ है कि यदि कोई राजनीतिक जीवन में प्रवेश करता है, विशेषकर वर्तमान

युग में, तो मानव सिद्धि उसके हाथ से जाती रहती है। तो भी यदि कोई *श्रीमद्भागवत* को सुने तो वह सर्वोच्च सिद्धि पा सकता है। यह सुनना *नित्यं भागवतसेवया* कहा गया है। महाराज परीक्षित राजनीति में लिप्त थे, किन्तु चूँकि अपने जीवन के अन्तकाल में उन्होंने शुकदेव गोस्वामी से *श्रीमद्भागवत* सुनी अतएव उन्हें सरलता से सिद्धि मिल गई। इसीलिए श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सुझाव दिया है—

स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिः

ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्

(भागवत *१०.१४.३*)

कोई चाहे सतोगुणी हो या रजोगुणी अथवा तमोगुणी, यदि वह नियमपूर्वक किसी स्वरूपसिद्ध व्यक्ति से *श्रीमद्भागवत* सुनता है तो वह भवबन्धन से छूट जाता है।

पितरि भ्रंशिते स्थानादिन्द्राण्या धर्षणाद्द्विजैः ।
प्रापितेऽजगरत्वं वै ययातिरभवन्नृपः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

पितरि—पिता के; भ्रंशिते—पतित किए जाने पर; स्थानात्—स्वर्गलोक से; इन्द्राण्याः—इन्द्र की पत्नी शची का; धर्षणात्—अपमान करने से; द्विजैः—ब्राह्मणों से (शिकायत करने पर उनके द्वारा); प्रापिते—नीचे गिराये जाने पर; अजगरत्वम्—अजगर का जीवन; वै—निस्सन्देह; ययातिः—ययाति नामक पुत्र; अभवत्—हुआ; नृपः—राजा।

चूँकि ययाति के पिता नहुष ने इन्द्र की पत्नी शची को छेड़ा था, अतएव शची के अगस्त्य तथा अन्य ब्राह्मणों से शिकायत करने पर इन ब्राह्मणों ने नहुष को शाप दिया कि वह स्वर्ग से गिरकर अजगर बन जाय। फलतः ययाति राजा बना।

चतसृष्वादिशद्दिक्षु भ्रातॄन्भ्राता यवीयसः ।
कृतदारो जुगोपोर्वीं काव्यस्य वृषपर्वणः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

चतसृषु—चारों; आदिशत्—शासन करने की अनुमति दी; दिक्षु—दिशाओं में; भ्रातॄन्—चारों भाइयों को; भ्राता—ययाति; यवीयसः—तरुण; कृत-दारः—विवाह किया; जुगोप—शासन किया; ऊर्वीम्—संसार पर; काव्यस्य—शुक्राचार्य की लड़की; वृषपर्वणः—वृषपर्वा की पुत्री।

राजा ययाति के चार छोटे भाई थे जिन्हें उसने चारों दिशाओं में शासन चलाने की अनुमति दे दी थी। ययाति ने शुक्राचार्य की बेटी देवयानी से एवं वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा से विवाह किया और वह

सारी पृथ्वी पर शासन करने लगा।

श्रीराजोवाच

ब्रह्मर्षिर्भगवान्काव्यः क्षत्रबन्धुश्च नाहुषः ।
राजन्यविप्रयोः कस्माद्विवाहः प्रतिलोमकः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—महाराज परीक्षित ने जिज्ञासा की; ब्रह्म-ऋषिः—ब्राह्मणों में श्रेष्ठ; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; काव्यः—शुक्राचार्य; क्षत्र-बन्धुः—क्षत्रिय जाति से सम्बन्धित; च—भी; नाहुषः—राजा ययाति; राजन्य-विप्रयोः—ब्राह्मण तथा क्षत्रिय का; कस्मात्—कैसे; विवाहः—विवाह; प्रतिलोमकः—प्रथा के विपरीत।

महाराज परीक्षित ने कहा : शुक्राचार्य अत्यन्त शक्तिशाली ब्राह्मण थे और महाराज ययाति क्षत्रिय थे। अतएव मैं यह जानने का इच्छुक हूँ कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के बीच यह प्रतिलोम विवाह कैसे सम्पन्न हुआ?

तात्पर्य : वैदिक पद्धति के अनुसार परस्पर क्षत्रियों में या परस्पर ब्राह्मणों में विवाह होना सर्वसामान्य प्रथा है। यदि कभी विभिन्न वर्णों के बीच विवाह होते हैं तो ये दो प्रकार के होते हैं—*अनुलोम* तथा *प्रतिलोम*। एक ब्राह्मण तथा क्षत्रियपुत्री के मध्य विवाह की अनुमति है। यह अनुलोम है, किन्तु एक क्षत्रिय तथा ब्राह्मणपुत्री के मध्य विवाह प्रतिलोम है और सामान्यतया इसकी अनुमति नहीं है। इसीलिए महाराज परीक्षित जानने को उत्सुक थे कि शुक्राचार्य जैसे शक्तिशाली ब्राह्मण ने प्रतिलोम विवाह किस प्रकार स्वीकार किया। वे इस असामान्य विवाह के कारण को जानने के लिए उत्सुक थे।

श्रीशुक उवाच

एकदा दानवेन्द्रस्य शर्मिष्ठा नाम कन्यका ।
सखीसहस्रसंयुक्ता गुरुपुत्र्या च भामिनी ॥ ६ ॥
देवयान्या पुरोद्याने पुष्पितद्रुमसङ्कुले ।
व्यचरत्कलगीतालिनलिनीपुलिनेऽबला ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एकदा—एकबार; दानव-इन्द्रस्य—वृषपर्वा की; शर्मिष्ठा—शर्मिष्ठा; नाम—नामक; कन्यका—कन्या; सखी-सहस्र-संयुक्ता—अपनी हजारों सखियों के साथ-साथ; गुरु-पुत्र्या—गुरु शुक्राचार्य की पुत्री सहित; च—भी; भामिनी—सरलता से चिढ़ने वाली; देवयान्या—देवयानी सहित; पुर-उद्याने—महल के बगीचे में; पुष्पित—फूलों से युक्त; द्रुम—सुन्दर वृक्ष; सङ्कुले—सँटे हुए; व्यचरत्—टहल रही थी; कल-गीत—मधुर ध्वनि से; अलि—भौंरा; नलिनी—कमलिनियों से युक्त; पुलिने—ऐसे बगीचे में; अबला—निर्दोष।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : एकबार वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा, जो अबोध, किन्तु स्वभाव से

क्रोधी थी, शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी तथा उसकी सैकड़ों सखियों के साथ राजमहल के बगीचे में घूम रही थी। यह बगीचा कमलिनियों तथा फूल-फल के वृक्षों से पूर्ण था और उसमें मधुर गीत गाते पक्षी तथा भौंरें निवास कर रहे थे।

ता जलाशयमासाद्य कन्या: कमललोचना: ।
तीरे न्यस्य दुकूलानि विजह्रु: सिञ्चतीर्मिथ: ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

ता:—वे; जल-आशयम्—झील पर; आसाद्य—पहुँच कर; कन्या:—सारी लड़कियाँ; कमल-लोचना:—कमल की पंखुड़ियों जैसे नेत्रों वाली; तीरे—किनारे पर; न्यस्य—रख कर; दुकूलानि—अपने-अपने वस्त्र; विजह्रु:—खेलने लगीं; सिञ्चती:—जल फेंककर; मिथ:—परस्पर।

जब तरुणी, कमलनयनी लड़कियाँ जलाशय के तीर पर आईं तो उन्होंने स्नान का आनन्द लेना चाहा। फलत: किनारे पर अपने वस्त्र रखकर वे एक दूसरे पर जल उछाल कर जल-क्रीड़ा करने लगीं।

वीक्ष्य व्रजन्तं गिरिशं सह देव्या वृषस्थितम् ।
सहसोत्तीर्य वासांसि पर्यधुर्व्रीडिता: स्त्रिय: ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

वीक्ष्य—देखकर; व्रजन्तम्—जाते हुए; गिरिशम्—शिवजी को; सह—साथ; देव्या—पार्वती के; वृष-स्थितम्—बैल के ऊपर आसीन; सहसा—एकाएक; उत्तीर्य—जल से निकल कर; वासांसि—वस्त्र; पर्यधु:—शरीर पर पहन लिया; व्रीडिता:—लज्जित होकर; स्त्रिय:—युवतियों ने।

जलक्रीड़ा करते हुए लड़कियों ने सहसा शिवजी को ऊपर से जाते देखा जो अपने बैल की पीठ पर अपनी पत्नी पार्वती समेत आसीन थे। नंगी होने के कारण लज्जित वे लड़कियाँ तुरन्त जल से बाहर निकल आईं और उन्होंने अपने वस्त्रों से अपने-अपने शरीर ढक लिये।

शर्मिष्ठाजानती वासो गुरुपुत्र्या: समव्ययत् ।
स्वीयं मत्वा प्रकुपिता देवयानीदमब्रवीत् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

शर्मिष्ठा—वृषपर्वा की पुत्री ने; अजानती—अनजाने; वास:—वस्त्र; गुरु-पुत्र्या:—अपने गुरु की पुत्री देवयानी का; समव्ययत्—पहन लिया; स्वीयम्—अपना; मत्वा—मानकर; प्रकुपिता—क्रुद्ध; देवयानी—शुक्राचार्य की पुत्री ने; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा।

शर्मिष्ठा ने अनजाने ही देवयानी का वस्त्र पहन लिया जिससे देवयानी को क्रोध आ गया और वह

इस प्रकार बोली।

अहो निरीक्ष्यतामस्या दास्याः कर्म ह्यसाम्प्रतम् ।
अस्मद्धार्यं धृतवती शुनीव हविरध्वरे ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अहो—अरे; निरीक्ष्यताम्—देखो तो; अस्याः—इसका (शर्मिष्ठा का); दास्याः—हमारी दासी की तरह; कर्म—कार्य; हि—निस्सन्देह; असाम्प्रतम्—बिना किसी शिष्टाचार के; अस्मत्-धार्यम्—मेरे वस्त्र को; धृतवती—उसने पहन लिया; शुनी इव—कुत्ते की तरह; हविः—घी; अध्वरे—यज्ञ में डालने के निमित्त।

अरे जरा देखो न इस दासी शर्मिष्ठा की करतूतों को, इसने सारे शिष्टाचार को ताक पर रखकर मेरे वस्त्र धारण कर लिये हैं मानो यज्ञ के निमित्त रखे घी को कोई कुत्ता छीन ले।

यैरिदं तपसा सृष्टं मुखं पुंसः परस्य ये ।
धार्यते यैरिह ज्योतिः शिवः पन्थाः प्रदर्शितः ॥ १२ ॥
यान्वन्दन्त्युपतिष्ठन्ते लोकनाथाः सुरेश्वराः ।
भगवानपि विश्वात्मा पावनः श्रीनिकेतनः ॥ १३ ॥
वयं तत्रापि भृगवः शिष्योऽस्या नः पितासुरः ।
अस्मद्धार्यं धृतवती शूद्रो वेदमिवासती ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

यैः—जिन व्यक्तियों के द्वारा; इदम्—यह सारा विश्व; तपसा—तपस्या से; सृष्टम्—उत्पन्न हुआ था; मुखम्—मुँह; पुंसः—परम पुरुष का; परस्य—दिव्य; ये—जो (हैं); धार्यते—सदैव उत्पन्न होता है; यैः—जिन व्यक्तियों के द्वारा; इह—यहाँ; ज्योतिः—ब्रह्मज्योति; शिवः—शुभ; पन्थाः—मार्ग; प्रदर्शितः—दिखलाया गया; यान्—जिनको; वन्दन्ति—वन्दना करते हैं; उपतिष्ठन्ते—सम्मान करते तथा अनुगमन करते हैं; लोक-नाथाः—विभिन्न लोकों के निर्देशक; सुर-ईश्वराः—देवतागण; भगवान्—भगवान्; अपि—भी; विश्व-आत्मा—परमात्मा; पावनः—पवित्र करने वाला; श्री-निकेतनः—लक्ष्मी के पति; वयम्—हम (हैं); तत्र अपि—अन्य ब्राह्मणों से भी बड़े; भृगवः—भृगवंशी; शिष्यः—शिष्य; अस्याः—उसका; नः—हमारा; पिता—पिता; असुरः—असुर; अस्मत्-धार्यम्—हमारे पहनने के निमित्त; धृतवती—पहन लिया है; शूद्रः—अब्राह्मण सेवक; वेदम्—वेद; इव—सदृश; असती—जो सती न हो, कुलटा।

हम उन योग्य ब्राह्मणों में से हैं जिन्हें भगवान् का मुख माना गया है। ब्राह्मणों ने अपनी तपस्या से समग्र विश्व को उत्पन्न किया है और वे परम सत्य को अपने अन्तःकरण में सदैव धारण करते हैं। उन्होंने सौभाग्य के पथ का निर्देशन किया है जो कि वैदिक सभ्यता का पथ है। वे इस जगत में एकमात्र पूजनीय हैं अतएव उनकी स्तुति की जाती है और विभिन्न लोकों के नायक बड़े से बड़े देवता भी उनकी पूजा करते हैं—यहाँ तक कि सब को पवित्र करने वाले, लक्ष्मी देवी के पति, परमात्मा द्वारा भी वे पूजित हैं और हम तो इसलिए भी अधिक पूज्य हैं क्योंकि हम भृगुवंशी हैं। यद्यपि इस स्त्री का पिता असुर होकर हमारा शिष्य है तो भी इसने मेरे वस्त्र को उसी तरह धारण कर

लिया है जिस तरह कोई शूद्र वैदिक ज्ञान का भार सँभाले।

एवं क्षिपन्तीं शर्मिष्ठा गुरुपुत्रीमभाषत ।
रुषा श्वसन्त्युरङ्गीव धर्षिता दष्टदच्छदा ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; क्षिपन्तीम्—अपमानित की गई; शर्मिष्ठा—वृषपर्वा की पुत्री ने; गुरु-पुत्रीम्—गुरु शुक्राचार्य की पुत्री से; अभाषत—कहा; रुषा—क्रुद्ध हाने से; श्वसन्ती—गहरी साँस लेती; उरङ्गी इव—सर्पिणी की तरह; धर्षिता—कुचली हुई, अपमानित; दष्ट-दत्-छदा—अपने दाँतों से अपने होठ चबाती।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : शर्मिष्ठा को जब इस तरह कठोर शब्दों से डाँटा गया तो वह अत्यधिक क्रुद्ध हो उठी। सर्पिणी की तरह गहरी साँस छोड़ती और अपने निचले होठ को अपने दाँतों से चबाती वह शुक्राचार्य की पुत्री से इस तरह बोली।

आत्मवृत्तमविज्ञाय कत्थसे बहु भिक्षुकि ।
किं न प्रतीक्षसेऽस्माकं गृहान्बलिभुजो यथा ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

आत्म-वृत्तम्—अपनी स्थिति; अविज्ञाय—न समझकर; कत्थसे—तुम पागलों की तरह बातें कर रही हो; बहु—अधिक; भिक्षुकि—भिखारिन; किम्—क्या; न—नहीं; प्रतीक्षसे—प्रतीक्षा करती हो; अस्माकम्—हमारे; गृहान्—घर पर; बलिभुजः—कौवे; यथा—जिस तरह।

अरे भिखारिन, जब तुम्हें अपनी स्थिति का पता नहीं है तो व्यर्थ ही क्यों इतना बोल रही हो? क्या तुम लोग अपनी जीविका के लिए हम पर आश्रित रहकर कौवों की भाँति हमारे घर पर प्रतीक्षा नहीं करते हो?

तात्पर्य : कौवे का कोई स्वतंत्र जीवन नहीं होता; वे गृहस्थों द्वारा कूड़ादानों में फेंके गये जूठन पर पूरी तरह आश्रित होते हैं। ब्राह्मण अपने शिष्यों पर आश्रित रहते हैं अतएव जब शर्मिष्ठा देवयानी द्वारा बुरी तरह अपमानित की गई तो उसने देवयानी को कौवे-जैसे भिक्षुकों के परिवार से सम्बन्धित बतलाया। स्त्रियों का स्वभाव है कि थोड़ा सा उकसाने पर भी वे वाक्युद्ध करने लगती हैं। जैसा हम इस घटना में देख सकते हैं, उनका ऐसा स्वभाव बहुत लम्बे समय से चला आ रहा है।

एवंविधैः सुपरुषैः क्षिप्त्वाचार्यसुतां सतीम् ।
शर्मिष्ठा प्राक्षिपत्कूपे वासश्चादाय मन्युना ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

एवम्-विधैः—इस प्रकार से; सु-परुषैः—अत्यन्त अप्रिय वचनों द्वारा; क्षिप्त्वा—अपमानित होकर; आचार्य-सुताम्—शुक्राचार्य की पुत्री को; सतीम्—देवयानी को; शर्मिष्ठा—शर्मिष्ठा ने; प्राक्षिपत्—फेंक दिया; कूपे—कुएँ में; वासः—वस्त्र; च—तथा; आदाय—लेकर; मन्युना—क्रोध में आकर।

ऐसे अप्रिय वचनों का उपयोग करते हुए शर्मिष्ठा ने शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी को फटकारा। उसने क्रोध में आकर देवयानी के वस्त्र छीन लिए और उसे एक कुएँ में धकेल दिया।

तस्यां गतायां स्वगृहं ययातिर्मृगयां चरन् ।
प्राप्तो यदृच्छया कूपे जलार्थी तां ददर्श ह ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उसके; गतायाम्—चले जाने पर; स्व-गृहम्—अपने घर; ययातिः—राजा ययाति; मृगयाम्—शिकार करने; चरन्—घूमते हुए; प्राप्तः—आया; यदृच्छया—संयोगवश; कूपे—कुएँ में; जल-अर्थी—जल पीने की इच्छा से; ताम्—उसको (देवयानी को); ददर्श—देखा; ह—निस्सन्देह।

देवयानी को कुएँ में धकेल कर शर्मिष्ठा अपने घर चली गई। तभी शिकार के लिए निकला राजा ययाति उस कुएँ पर पानी पीने के लिए आया और संयोगवश देवयानी को देखा।

दत्त्वा स्वमुत्तरं वासस्तस्यै राजा विवाससे ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिमुज्जहार दयापरः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

दत्त्वा—देकर; स्वम्—अपना; उत्तरम्—उत्तरीय, ऊपरी; वासः—वस्त्र; तस्यै—उस (देवयानी) को; राजा—राजा; विवाससे—नग्न होने के कारण; गृहीत्वा—पकड कर; पाणिना—हाथ से; पाणिम्—उसके हाथ को; उज्जहार—उद्धार किया; दया-परः—अत्यन्त दयालु।

देवयानी को कुएँ में नग्न देखकर राजा ययाति ने तुरन्त ही अपना ऊपरी वस्त्र उसे दे दिया। उस पर अत्यन्त दयालु होकर उसने अपने हाथ से उसका हाथ पकड़ कर उसे बाहर निकाला।

तं वीरमाहौशनसी प्रेमनिर्भरया गिरा ।
राजंस्त्वया गृहीतो मे पाणिः परपुरञ्जय ॥ २० ॥
हस्तग्राहोऽपरो मा भूद्गृहीतायास्त्वया हि मे ।
एष ईशकृतो वीर सम्बन्धो नौ न पौरुषः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; वीरम्—वीर ययाति से; आह—कहा; औशनसी—उशना कवि या शुक्राचार्य की पुत्री ने; प्रेम-निर्भरया—प्रेम तथा दया से सिक्त; गिरा—वाणी से; राजन्—हे राजा; त्वया—तुम्हारे द्वारा; गृहीतः—अंगीकृत; मे—मेरा; पाणिः—हाथ; पर-पुरञ्जय—अन्यों के राज्यों का विजेता; हस्त-ग्राहः—मेरा हाथ थामने वाला; अपरः—दूसरा; मा—मत; भूत्—होये; गृहीतायाः—स्वीकृत; त्वया—तुम्हारे

द्वारा; हि—निस्सन्देह; मे—मेरा; एषः—यह; ईश-कृतः—दैव द्वारा नियोजित; वीर—हे वीर; सम्बन्धः—सम्बन्ध; नौ—हमारा; न—नहीं; पौरुषः—मानवनिर्मित।

देवयानी प्रेमसिक्त शब्दों में राजा ययाति से बोली "हे परम वीर! हे राजा! हे शत्रुओं के नगरों के विजेता! आपने मेरा हाथ थामकर मुझे अपनी विवाहिता पत्नी के रूप में स्वीकार किया है। अब मुझे कोई दूसरा नहीं छूने पाये क्योंकि हमारा यह पति-पत्नी का सम्बन्ध भाग्य द्वारा सम्भव हो सका है, किसी व्यक्ति द्वारा नहीं।

तात्पर्य : देवयानी को कुएँ से निकालते हुए राजा ययाति ने उसके सौन्दर्य तथा जवानी की अवश्य प्रशंसा की होगी अतएव उसने यह भी पूछा होगा कि तुम किस जाति की हो। तब देवयानी ने तुरन्त उत्तर दिया होगा, "हमारा पहले ही विवाह हो चुका है क्योंकि आपने मेरा हाथ थामा है।" पति तथा पत्नी के हाथों को मिलाना सभी समाजों की स्थायी प्रथा है। अतएव ज्योंही ययाति ने उसका हाथ थामा होगा त्योंही दोनों को विवाहित मान लिया जा सकता है। चूँकि देवयानी वीर ययाति पर मुग्ध थी अतएव उसने प्रार्थना की कि वह न तो अपना मन बदले न किसी अन्य से उसका विवाह होने दे।

यदिदं कूपमग्नाया भवतो दर्शनं मम ।
न ब्राह्मणो मे भविता हस्तग्राहो महाभुज ।
कचस्य बार्हस्पत्यस्य शापाद्यमशपं पुरा ॥ २२॥

शब्दार्थ

यत्—चूँकि; इदम्—इस; कूप-मग्नायाः—कुएँ में गिरी; भवतः—आपकी; दर्शनम्—भेंट; मम—मुझसे; न—नहीं; ब्राह्मणः—योग्य ब्राह्मण; मे—मेरा; भविता—हो सकोगे; हस्त-ग्राहः—पति; महा-भुज—हे शक्तिशाली भुजावाले; कचस्य—कच का; बार्हस्पत्यस्य—विद्वान ब्राह्मण एवं देवों के पुरोहित बृहस्पति के पुत्र के; शापात्—शाप से; यम्—जिसको; अशपम्—मैंने शाप दिया; पुरा—भूतकाल में।

"कुएँ में गिर जाने के कारण मैं आपसे मिली। निस्सन्देह, यह विधि का विधान था। जब मैंने प्रकाण्ड विद्वान बृहस्पति के पुत्र कच को शाप दिया तो उसने मुझे यह शाप दिया कि तुझे ब्राह्मण पति नहीं प्राप्त हो सकेगा। अतएव हे महाभुज! मेरे किसी ब्राह्मण की पत्नी बनने की कोई सम्भावना नहीं है।"

तात्पर्य : विद्वान पुरोहित बृहस्पति का पुत्र कच शुक्राचार्य का शिष्य था। उसने अपने गुरु से अकाल मृत्युप्राप्त व्यक्ति को जिलाने की कला सीखी थी। यह कला *मृतसञ्जीवनी* कहलाती है और विशेष रूप से युद्ध के समय काम में लाई जाती थी। जब युद्ध होता था तो योद्धाओं की अकाल मृत्यु हो जाती थी, किन्तु

यदि किसी योद्धा का शरीर अक्षत रहता तो वह इस मृतसञ्जीवनी कला के द्वारा फिर से जीवित किया जा सकता था। यह कला शुक्राचार्य तथा अन्य बहुत से लोगों को ज्ञात थी और बृहस्पति का पुत्र कच इसे सीखने के लिए ही शुक्राचार्य का शिष्य बना था। देवयानी कच को अपना पति बनाना चाहती थी, किन्तु कच, शुक्रचार्य के प्रति सम्मान के कारण, उसे गुरु-पुत्री समझ कर अपने से श्रेष्ठ समझता था अतएव उसने विवाह करने से मना कर दिया। देवयानी ने क्रुद्ध होकर कच को यह शाप दिया कि तुमने मेरे पिता से जो मृतसंजीवनी विद्या सीखी है वह व्यर्थ हो जाय। कच ने भी पलट कर शाप दिया कि उसे ब्राह्मण पति कभी न मिले। चूँकि देवयानी ययाति को चाहती थी, जो क्षत्रिय था अतएव उसने प्रार्थना की कि वह उसे अपनी प्रामाणिक पत्नी के रूप में स्वीकार कर ले। यद्यपि यह प्रतिलोम विवाह था, अर्थात् उच्च कुल की कन्या का निम्न कुल के लड़के से विवाह था, किन्तु उसने कहा कि यह विधाता का विधान है।

ययातिरनभिप्रेतं दैवोपहृतमात्मनः ।
मनस्तु तद्‍गतं बुद्‍ध्वा प्रतिजग्राह तद्वचः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

ययातिः—राजा ययाति; अनभिप्रेतम्—न चाहते हुए; दैव-उपहृतम्—विधाता द्वारा की गई व्यवस्था को; आत्मनः—निजी हित; मनः—मन; तु—फिर भी; तत्-गतम्—उससे आकृष्ट होकर; बुद्‍ध्वा—ऐसी बुद्धि द्वारा; प्रतिजग्राह—स्वीकार कर लिया; तत्-वचः—देवयानी के शब्द।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : चूँकि शास्त्रों द्वारा ऐसे विवाह की अनुमति नहीं है अतएव राजा ययाति को यह अच्छा नहीं लगा, किन्तु विधाता द्वारा व्यवस्थित होने तथा देवयानी के सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होने से उसने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

तात्पर्य : वैदिक पद्धति में जिस लड़के तथा लड़की की शादी होनी होती है उनकी कुंडलियों पर उनके माता-पिता विचार करते हैं। यदि ज्योतिष-गणना के अनुसार लड़के तथा लड़की के बीच हर प्रकार का मेल बैठ जाए तो यह संयोग योटक कहलाता था और विवाह हो जाता था। यहाँ तक कि पचास वर्ष पूर्व भी यह पद्धति हिन्दू समाज में प्रचलित थी। कोई लड़का चाहे कितना धनवान क्यों न हो या कोई लड़की चाहे कितनी रूपवती क्यों न हो, इस ज्योतिष-मेल के बिना विवाह नहीं हो सकता था। मनुष्य का जन्म तीन कोटियों में से किसी एक में होता है। ये हैं—*देवगण, मनुष्यगण* तथा *राक्षसगण*। विश्व के विभिन्न भागों में देवता तथा राक्षस हैं और मानव समाज में भी कुछ लोग देवताओं के समान हैं तो कुछ राक्षस जैसे हैं।

यदि ज्योतिष-गणना के अनुसार देव तथा राक्षस प्रकृति (गण) में विरोध होता था तो ऐसा विवाह नहीं होता था। इसी प्रकार प्रतिलोम तथा अनुलोम की भी गणनाएँ थीं। मूल-भाव यह था कि यदि लड़का तथा लड़की समान स्तर के हों तो विवाह सुखमय होगा, किन्तु असमानता से दुख ही मिलेगा। चूँकि अब विवाह में इस पर ध्यान नहीं दिया जाता इसीलिए अनेक विवाह-विच्छेद होते हैं। निस्सन्देह, अब तो विवाह-विच्छेद सामान्य बात बन चुकी है जब कि प्राचीन काल में विवाह आजीवन चलता था और स्त्री तथा पुरुष में इतना प्रेम होता था कि पति के मर जाने पर पत्नी अपने पति के साथ स्वेच्छा से मर जाती थी या आजीवन स्वामिभक्त विधवा बनी रहती थी। किन्तु अब ऐसा सम्भव नहीं रह गया क्योंकि मानव समाज पतित होकर पशु-समाज की स्थिति को प्राप्त हो गया है। अब तो केवल समझौते से विवाह सम्पन्न होते हैं। *दाम्पत्येऽभिरुचिर्हेतुः* (*भागवत* १२.२.३) *अभिरुचि* का अर्थ है समझौता या स्वीकृति। यदि लड़के तथा लड़की को विवाह स्वीकार हो तो वह विवाह सम्पन्न हो जाता है, किन्तु वैदिक पद्धति का दृढ़ता से पालन न होने पर विवाह का अन्त प्राय: विवाह-विच्छेद में होता है।

गते राजनि सा धीरे तत्र स्म रुदती पितुः ।
न्यवेदयत्ततः सर्वमुक्तं शर्मिष्ठया कृतम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

गते राजनि—राजा के चले जाने के बाद; सा—उस (देवयानी) ने; धीरे—विद्वान; तत्र स्म—अपने घर लौटकर; रुदती—रोती हुई; पितुः—अपने पिता के समक्ष; न्यवेदयत्—कह सुनाया; ततः—तत्पश्चात्; सर्वम्—सारा; उक्तम्—कहा गया; शर्मिष्ठया—शर्मिष्ठा द्वारा; कृतम्—किया गया।

तत्पश्चात् जब विद्वान राजा अपने महल को वापस चला गया तो देवयानी रोती हुई घर लौटी और उसने अपने पिता शुक्राचार्य को शर्मिष्ठा के कारण घटी सारी घटना कह सुनाई। उसने बतलाया कि वह किस तरह कुएँ में धकेली गयी थी किन्तु एक राजा द्वारा बचा ली गई।

दुर्मना भगवान्काव्यः पौरोहित्यं विगर्हयन् ।
स्तुवन्वृत्तिं च कापोतीं दुहित्रा स ययौ पुरात् ॥ २५॥

शब्दार्थ

दुर्मनाः—अत्यन्त अप्रसन्न होकर; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; काव्यः—शुक्राचार्य ने; पौरोहित्यम्—पुरोहिती कर्म को; विगर्हयन्—धिक्कारते हुए; स्तुवन्—प्रशंसा करते हुए; वृत्तिम्—पेशे को; च—तथा; कापोतीम्—खेत से अन्न बीनने के; दुहित्रा—अपनी पुत्री समेत; सः—वह (शुक्राचार्य); ययौ—गया; पुरात्—अपने आवास से।

जब शुक्राचार्य ने देवयानी के साथ घटी घटना सुनी तो वे मन में अत्यन्त दुखी हुए। पुरोहिती वृत्ति को धिक्कारते एवं उञ्छवृत्ति (खेत से अन्न बीनने) की प्रशंसा करते हुए उन्होंने पुत्री सहित अपना घर छोड़ दिया।

तात्पर्य : जब ब्राह्मण कपोत अर्थात् कबूतर की वृत्ति ग्रहण करता है तो वह खेत से अन्न बीन कर जीवन-निर्वाह करता है। यह *उञ्छवृत्ति* कहलाती है। जो ब्राह्मण उञ्छवृत्ति अपनाता है वह सर्वश्रेष्ठ माना जाता है क्योंकि वह भगवान् की कृपा पर पूर्णतया निर्भर रहता है और किसी से कुछ नहीं माँगता। यद्यपि ब्राह्मण या संन्यासी को भिक्षा माँगने की अनुमति प्राप्त है, किन्तु यदि इससे वह बच सके और अपने उदर-भरण के लिए भगवान् की कृपा पर पूर्णतया निर्भर रहे तो वह अच्छा माना जाता है। शुक्राचार्य निश्चय ही अत्यन्त दुखी थे क्योंकि अपनी पुत्री द्वारा शिकायत किये जाने के कारण उन्हें अपने शिष्य के यहाँ भिक्षा माँगने के लिए बाध्य होना पड़ा क्योंकि उन्होंने पुरोहिती वृत्ति स्वीकार कर रखी थी। शुक्राचार्य मन से इस वृत्ति को पसन्द नहीं करते थे, किन्तु चूँकि उन्होंने इसे स्वीकार कर रखा था अतएव अनिच्छित रूप से उन्हें अपने शिष्य के पास अपनी पुत्री की शिकायत का निबटारा करने के लिए जाना पड़ रहा था।

वृषपर्वा तमाज्ञाय प्रत्यनीकविवक्षितम् ।
गुरुं प्रसादयन्मूर्ध्ना पादयोः पतितः पथि ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

वृषपर्वा—असुरों का राजा; तम् आज्ञाय—शुक्राचार्य का मन्तव्य समझकर; प्रत्यनीक—कोई शाप; विवक्षितम्—कहने की इच्छा करते हुए; गुरुम्—गुरु शुक्राचार्य को; प्रसादयत्—तुरन्त प्रसन्न कर लिया; मूर्ध्ना—अपने सिर से; पादयोः—चरणों पर; पतितः—गिर पड़ा; पथि—मार्ग पर।

राजा वृषपर्वा समझ गया कि शुक्राचार्य उसे प्रताड़ित करने या शाप देने आ रहे हैं। फलस्वरूप, इसके पूर्व कि शुक्राचार्य उसके महल में आयें, वृषपर्वा बाहर आ गया और मार्ग में ही अपने गुरु के चरणों पर गिर पड़ा तथा उनके रोष को रोकते हुए उन्हें प्रसन्न कर लिया।

क्षणार्धमन्युर्भगवाञ्शिष्यं व्याचष्ट भार्गवः ।
कामोऽस्याः क्रियतां राजन्नैनां त्यक्तुमिहोत्सहे ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

क्षण-अर्ध—कुछ ही क्षण; मन्युः—क्रोध; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; शिष्यम्—अपने शिष्य वृषपर्वा से; व्याचष्ट—कहा; भार्गवः—भृगुवंशी शुक्राचार्य से; कामः—इच्छा; अस्याः—इस देवयानी की; क्रियताम्—पूरी करो; राजन्—हे राजा; न—नहीं; एनाम्—इस लड़की को; त्यक्तुम्—त्यागने के लिए; इह—इस संसार में; उत्सहे—समर्थ हूँ।.

शक्तिशाली शुक्राचार्य कुछ क्षणों तक क्रुद्ध रहे, किन्तु प्रसन्न हो जाने पर उन्होंने वृषपर्वा से कहा: हे राजन, देवयानी की इच्छा पूरी कीजिये क्योंकि वह मेरी पुत्री है और मैं इस संसार में न तो उसे छोड़ सकता हूँ न उसकी उपेक्षा कर सकता हूँ।

तात्पर्य : कभी-कभी शुक्राचार्य जैसा महापुरुष अपने पुत्र-पुत्रियों की अवहेलना नहीं कर सकता क्योंकि पुत्र-पुत्रियाँ स्वभावतः पिता पर आश्रित रहती हैं और पिता का उन पर स्नेह होता है। यद्यपि शुक्राचार्य जानते थे कि देवयानी तथा शर्मिष्ठा का झगड़ा बचकाना है लेकिन देवयानी के पिता के रूप में उन्हें अपनी पुत्री का पक्ष लेना पड़ रहा था। यद्यपि वे ऐसा करना नहीं चाहते थे, किन्तु स्नेहवश विवश थे। उन्होंने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि उन्हें राजा की कृपा की याचना नहीं करनी चाहिए थी, किन्तु पुत्री-स्नेह के कारण वे ऐसा करने से अपने को बचा नहीं पाये।

तथेत्यवस्थिते प्राह देवयानी मनोगतम् ।
पित्रा दत्ता यतो यास्ये सानुगा यातु मामनु ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तथा इति—जब राजा वृषपर्वा ने शुक्राचार्य के प्रस्ताव को मान लिया; अवस्थिते—जब इस तरह मामला तय हो गया; प्राह—कहा; देवयानी—शुक्राचार्य की पुत्री ने; मनोगतम्—अपनी इच्छा; पित्रा—पिता द्वारा; दत्ता—दिया गया; यतः—चाहे जिस किसी को; यास्ये—मैं जाऊँगी; स-अनुगा—अपनी सखियों सहित; यातु—जाऊँ; माम् अनु—मेरी दासी के रूप में।.

शुक्राचार्य के निवेदन को सुनकर वृषपर्वा देवयानी की मनोकामना पूरी करने के लिए राजी हो गया और वह उसके वचनों की प्रतीक्षा करने लगा। तब देवयानी ने अपनी इच्छा इस प्रकार व्यक्त की, ''जब भी मैं अपने पिता की आज्ञा से विवाह करूँ तो मेरी सखी शर्मिष्ठा अपनी सखियों समेत मेरी दासी के रूप में मेरे साथ चले।''

पित्रा दत्ता देवयान्यै शर्मिष्ठा सानुगा तदा ।
स्वानां तत्सङ्कटं वीक्ष्य तदर्थस्य च गौरवम् ।
देवयानीं पर्यचरत्स्त्रीसहस्रेण दासवत् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

पित्रा—पिता द्वारा; दत्ता—दी गई; देवयान्यै—देवयानी को; शर्मिष्ठा—वृषपर्वा की पुत्री; स-अनुगा—अपनी सखियों सहित; तदा—उस समय; स्वानाम्—अपनी; तत्—वह; सङ्कटम्—कठिन परिस्थिति को; वीक्ष्य—देखकर; तत्—उससे; अर्थस्य—लाभ का; च—भी; गौरवम्—महानता; देवयानीम्—देवयानी को; पर्यचरत्—सेवा की; स्त्री-सहस्रेण—अन्य हजारों स्त्रियों सहित; दास-वत्—दासी के समान।

वृषपर्वा ने बुद्धिमानी के साथ सोचा कि शुक्राचार्य की अप्रसन्नता से संकट आ सकता है और उनकी प्रसन्नता से भौतिक लाभ प्राप्त हो सकता है। अतएव उसने शुक्राचार्य का आदेश शिरोधार्य किया और दास की तरह उनकी सेवा की। उसने अपनी पुत्री शर्मिष्ठा को देवयानी को सौंप दिया और शर्मिष्ठा ने अपनी अन्य हजारों सखियों सहित दासी की तरह उसकी सेवा की।

तात्पर्य : प्रारम्भ में हम शर्मिष्ठा तथा देवयानी के विषय में देख चुके हैं कि शर्मिष्ठा की अनेक सखियाँ थीं। अब ये सखियाँ देवयानी की दासी बन गईं। जब किसी लड़की की शादी क्षत्रिय राजा से होती थी तो उसकी सारी सखियों को उसके साथ ससुराल जाने की प्रथा थी। उदाहरणार्थ, जब वसुदेव ने कृष्ण की माता देवकी से विवाह किया तो उन्होंने उसकी छहों बहनों से शादी की और उनकी जितनी सखियाँ थीं वे भी साथ-साथ ससुराल गई थीं। राजा को न केवल अपनी पत्नी का भरण करना होता था अपितु अपनी पत्नी की अनेक सखियों तथा दासियों का भी पोषण करना पड़ता था। इनमें से कुछ दासियाँ गर्भवती हो जाती थीं तो उनके बच्चे उत्पन्न होते थे। ऐसे बालकों को दासीपुत्र के रूप में स्वीकार किया जाता था और राजा उनका भी भरण करता था। स्त्रियों की जनसंख्या सदैव पुरुषों से अधिक रही है, किन्तु स्त्री को पुरुष द्वारा सुरक्षा प्रदान किए जाने की आवश्यकता होती है अतएव राजा उन अनेक लड़कियों का भरण करता था जो रानी की सखियाँ या दासियाँ होती थीं। कृष्ण को गृहस्थ जीवन में हम १६१०८ पत्नियों से विवाहित पाते हैं। ये दासियाँ नहीं थीं अपितु रानियाँ थीं और कृष्ण ने इनमें से प्रत्येक के भरण-पोषण के लिए उतने ही रूपों में अपना विस्तार किया था। यह सामान्य लोगों के लिए सम्भव नहीं है। अतएव भले ही राजाओं को अनेक दासियों तथा पत्नियों का पालन करना पड़ता रहा हो लेकिन उन सबों के पृथक्-पृथक् निवास नहीं होते थे।

नाहुषाय सुतां दत्त्वा सह शर्मिष्ठयोशना ।
तमाह राजञ्छर्मिष्ठामाधास्तल्पे न कर्हिचित् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

नाहुषाय—नहुष के पुत्र ययाति को; सुताम्—पुत्री; दत्त्वा—विवाह में देकर; सह—साथ; शर्मिष्ठया—वृषपर्वा की पुत्री तथा देवयानी की दासी शर्मिष्ठा के; उशना—शुक्राचार्य ने; तम्—उस (राजा से); आह—कहा; राजन्—हे राजा; शर्मिष्ठाम्—वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा को; आधाः—अनुमति दें; तल्पे—अपने बिस्तर में; न—नहीं; कर्हिचित्—कभी भी।

जब शुक्राचार्य ने देवयानी का विवाह ययाति से कर दिया तो उसने शर्मिष्ठा को भी उसके साथ जाने दिया लेकिन राजा को चेतावनी दी ''हे राजन, इस शर्मिष्ठा को कभी अपनी सेज में अपने साथ शयन करने की अनुमति मत देना।''

विलोक्यौशनसीं राजञ्छर्मिष्ठा सुप्रजां क्वचित् ।
तमेव वव्रे रहसि सख्याः पतिमृतौ सती ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

विलोक्य—देखकर; औशनसीम्—शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी को; राजन्—हे राजा परीक्षित; शर्मिष्ठा—वृषपर्वा की पुत्री ने; सु-प्रजाम्—सुन्दर सन्तान वाली; क्वचित्—किसी समय; तम्—उस (राजा ययाति) से; एव—निस्सन्देह; वव्रे—प्रार्थना की; रहसि—एकान्त में; सख्याः—अपनी सखी के; पतिम्—पति को; ऋतौ—उपयुक्त समय पर; सती—उस स्थिति में रहकर।

हे राजा परीक्षित, देवयानी के सुन्दर पुत्र को देखकर एक बार शर्मिष्ठा संभोग के लिए उचित अवसर पर राजा ययाति के पास पहुँची। उसने एकान्त में अपनी सखी देवयानी के पति राजा ययाति से प्रार्थना की कि उसे भी पुत्रवती बनायें।

राजपुत्र्यार्थितोऽपत्ये धर्मं चावेक्ष्य धर्मवित् ।
स्मरञ्छुक्रवचः काले दिष्टमेवाभ्यपद्यत ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

राज-पुत्र्या—शर्मिष्ठा से जो एक राजा की पुत्री थी; अर्थितः—अनुरोध किए जाने पर; अपत्ये—पुत्र लाभ के लिए; धर्मम्—धर्म को; च—भी; अवेक्ष्य—विचार करके; धर्म-वित्—धर्म का ज्ञाता; स्मरन्—स्मरण करते हुए; शुक्र-वचः—शुक्राचार्य की चेतावनी; काले—समय पर; दिष्टम्—संयोगवश; एव—निस्सन्देह; अभ्यपद्यत—(शर्मिष्ठा की इच्छा पूरी करने के लिए) स्वीकार कर लिया।

जब राजकुमारी शर्मिष्ठा ने राजा ययाति से पुत्र के लिए याचना की तो अपने धर्म से अवगत राजा उसकी इच्छा पूरी करने के लिए राजी हो गया। यद्यपि उसे शुक्राचार्य की चेतावनी स्मरण थी, किन्तु इस मिलन को परमेश्वर की इच्छा मानकर उसने शर्मिष्ठा के साथ संभोग किया।

तात्पर्य : राजा ययाति को क्षत्रिय-धर्म का पूरा-पूरा ज्ञान था। यदि कोई स्त्री क्षत्रिय के पास पहुँचे तो वह उसे ना नहीं कर सकता। यही धर्म का नियम है। इसीलिए जब धर्मराज युधिष्ठिर ने देखा कि द्वारका से लौटने पर अर्जुन अप्रसन्न है तो उन्होंने पूछा कि कहीं उसने पुत्र की कामना से आई हुई किसी स्त्री को ना तो नहीं की। यद्यपि महाराज ययाति को शुक्राचार्य की चेतावनी स्मरण थी, किन्तु वे शर्मिष्ठा से ना नहीं कर

पाये। उन्होंने सोचा कि उसे पुत्र-दान देना बुद्धिमानी होगी; अतएव उन्होंने उसके मासिक-धर्म के बाद उससे संभोग किया। इस प्रकार की भोगेच्छा धर्म के विरुद्ध नहीं है। जैसा कि *भगवद्गीता* (७.११) में कहा गया है—*धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि*—ऐसा विषयी जीवन जो धर्म के विरुद्ध न हो उसकी छूट कृष्ण देते हैं। चूँकि राजपुत्री शर्मिष्ठा ने ययाति से पुत्र-प्राप्ति की इच्छा व्यक्त की थी इसलिए उनका संयोग विषय-सुख के लिए नहीं था अपितु वह धर्म-कार्य था।

यदुं च तुर्वसुं चैव देवयानी व्यजायत ।
द्रुह्युं चानुं च पूरुं च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यदुम्—यदु को; च—तथा; तुर्वसुम्—तुर्वसु को; च एव—तथा; देवयानी—देवयानी ने; व्यजायत—जन्म दिया; द्रुह्युम्—द्रुह्यु को; च—तथा; अनुम्—अनु को; च—भी; पूरुम्—पुरु को; च—भी; शर्मिष्ठा—शर्मिष्ठा ने; वार्षपर्वणी—वृषपर्वा की पुत्री।

देवयानी ने यदु तथा तुर्वसु को जन्म दिया और शर्मिष्ठा ने द्रुह्यु, अनु तथा पुरु को जन्म दिया।

गर्भसम्भवमासुर्या भर्तुर्विज्ञाय मानिनी ।
देवयानी पितुर्गेहं ययौ क्रोधविमूर्छिता ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

गर्भ-सम्भवम्—गर्भ-धारण; आसुर्याः—शर्मिष्ठा का; भर्तुः—अपने पति से सम्भव बनाया गया; विज्ञाय—जानकर (ब्राह्मण ज्योतिषियों से); मानिनी—अत्यन्त गर्वीली; देवयानी—शुक्राचार्य की पुत्री; पितुः—अपने पिता के; गेहम्—घर को; ययौ—गई; क्रोध-विमूर्छिता—क्रोध से मूर्छित।

जब गर्वीली देवयानी बाहरी स्त्रोतों से जान गई कि शर्मिष्ठा उसके पति से गर्भवती हुई है तो वह क्रोध से मूर्छित हो उठी और वह अपने पिता के घर (मायके) चली गई।

प्रियामनुगतः कामी वचोभिरुपमन्त्रयन् ।
न प्रसादयितुं शेके पादसंवाहनादिभिः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

प्रियाम्—अपनी प्रियतमा के; अनुगतः—पीछे-पीछे जाकर; कामी—अत्यन्त विषयी; वचोभिः—शब्दों से; उपमन्त्रयन्—खुश करने; न—नहीं; प्रसादयितुम्—प्रसन्न करने के लिए; शेके—समर्थ था; पाद-संवाहन-आदिभिः—उसके पाँव दबाकर के भी।

चूँकि राजा ययाति अत्यन्त विषयी था अतएव वह अपनी पत्नी के पीछे-पीछे हो लिया। उसने उसे पकड़ कर मीठे शब्द कहे तथा उसके पाँव दबाकर उसे प्रसन्न करने का प्रयास किया, किन्तु वह उसे किसी भी तरह मना न पाया।

शुक्रस्तमाह कुपितः स्त्रीकामानृतपूरुष ।
त्वां जरा विशतां मन्द विरूपकरणी नृणाम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

शुक्रः—शुक्राचार्य; तम्—उस (राजा ययाति) से; आह—बोला; कुपितः—उस पर क्रुद्ध होकर; स्त्री-काम—स्त्रियों से विषय-भोग की इच्छा करने वाले; अनृत-पूरुष—हे झूठे व्यक्ति; त्वाम्—तुमको; जरा—वृद्धावस्था, अशक्तता; विशताम्—प्रवेश करे; मन्द—अरे मूर्ख; विरूप-करणी—कुरूप बनाने वाली; नृणाम्—मनुष्यों के शरीरों को।

शुक्राचार्य अत्यन्त क्रुद्ध थे। उन्होंने कहा, ''अरे झूठे! मूर्ख! स्त्रीकामी! तुमने बहुत बड़ी गलती की है। अतएव मैं शाप देता हूँ कि तुम पर बुढ़ापा तथा अशक्तता का आक्रमण हो जिससे तुम कुरूप बन जाओ।''

श्रीययातिरुवाच
अतृप्तोऽस्म्यद्य कामानां ब्रह्मन्दुहितरि स्म ते ।
व्यत्यस्यतां यथाकामं वयसा योऽभिधास्यति ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

श्री-ययातिः उवाच—राजा ययाति ने कहा; अतृप्तः—असंतुष्ट; अस्मि—मैं हूँ; अद्य—आज तक; कामानाम्—अपनी विषयवासनाओं को तृप्त करने के लिए; ब्रह्मन्—हे विद्वान ब्राह्मण; दुहितरि—पुत्री के सम्बन्ध में; स्म—भूतकाल में; ते—तुम्हारी; व्यत्यस्यताम्—आदान-प्रदान करो; यथा-कामम्—जब तक तुम विषयी हो; वयसा—युवावस्था (जवानी) से; यः अभिधास्यति—जो तुम्हारी वृद्धावस्था से अपनी युवावस्था को बदलने के लिए इच्छुक हो।

राजा ययाति ने कहा : ''हे विद्वान पूज्य ब्राह्मण, अभी भी तुम्हारी पुत्री के साथ मेरी कामेच्छाएँ पूरी नहीं हुईं।'' तब शुक्राचार्य ने उत्तर दिया, ''चाहो तो तुम अपने बुढ़ापे को किसी ऐसे व्यक्ति से बदल लो जो तुम्हें अपनी युवावस्था देने को तैयार हो।''

तात्पर्य : जब राजा ययाति ने कहा कि उसकी विषय-वासनाएँ शुक्राचार्य की पुत्री के साथ भोग करने से पूरी नहीं हुईं तो शुक्राचार्य ने देखा कि यह तो उनकी पुत्री के अहित में है कि ययाति वृद्धावस्था में रहने लगे क्योंकि तब उनकी कामिनी पुत्री की भोगेच्छा पूरी नहीं होगी। अतएव शुक्राचार्य ने अपने दामाद को यह वर दिया कि वह अपने बुढ़ापे को किसी की जवानी से बदल ले। उन्होंने संकेत किया कि यदि ययाति का पुत्र अपनी जवानी देकर ययाति का बुढ़ापा स्वीकार कर ले तो ययाति देवयानी के साथ संभोग कर सकता है।

इति लब्धव्यवस्थानः पुत्रं ज्येष्ठमवोचत ।
यदो तात प्रतीच्छेमां जरां देहि निजं वयः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; लब्ध-व्यवस्थानः—अपना बुढ़ापा बदलने का अवसर पाकर; पुत्रम्—अपने बेटे से; ज्येष्ठम्—सबसे बड़े; अवोचत—प्रार्थना की; यदो—हे यदु; तात—तुम मेरे प्रिय पुत्र हो; प्रतीच्छ—बदल लो; इमाम्—इस; जराम्—बुढ़ापे को, अशक्तता को; देहि—तथा दे दो; निजम्—अपनी; वयः—जवानी।

जब ययाति को शुक्राचार्य से यह वर प्राप्त हो गया तो उसने अपने सबसे बड़े पुत्र से अनुरोध किया, ''हे पुत्र यदु, तुम मेरी वृद्धावस्था तथा अशक्तता के बदले में मुझे अपनी जवानी दे दो।''

मातामहकृतां वत्स न तृप्तो विषयेष्वहम् ।
वयसा भवदीयेन रंस्ये कतिपयाः समाः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

मातामह-कृताम्—तुम्हारे नाना शुक्राचार्य द्वारा प्रदत्त; वत्स—मेरे बेटे; न—नहीं; तृप्तः—सन्तुष्ट; विषयेषु—विषयी जीवन में, इन्द्रियतृप्ति में; अहम्—मैं; वयसा—उम्र से; भवदीयेन—तुम्हारी; रंस्ये—विषयभोग का आनन्द लूँगा; कतिपयाः—कुछ; समाः—वर्ष।

''हे पुत्र, मैं अपनी विषयेच्छाओं से अभी भी तुष्ट नहीं हो पाया। किन्तु यदि तुम मुझ पर दया करो तो अपने नाना द्वारा प्रदत्त बुढ़ापे को ले सकते हो तथा अपनी जवानी मुझे दे सकते हो जिससे मैं कुछ वर्ष और जीवन का भोग कर लूँ।''

तात्पर्य : विषय-वासनाओं की यही प्रकृति है। *भगवद्गीता* (७.२०) में कहा गया है *कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना:* जब कोई इन्द्रियतृप्ति के प्रति अत्यधिक अनुरक्त रहता है तो वह वास्तव में अपना ज्ञान खो देता है। *हृतज्ञाना:* शब्द ज्ञान खोने वाले का सूचक है। यहाँ ऐसा उदाहरण है जिसमें एक पिता ने निर्लज्जतापूर्वक अपने पुत्र से वृद्धावस्था के बदले अपनी जवानी देने के लिए कहा। निस्सन्देह, सारा संसार ऐसे ही मोह से ग्रस्त है। इसीलिए कहा गया है कि हर व्यक्ति *प्रमत्त:* या पागल है। *नूनं प्रमत्त: कुरुते विकर्म* जब मनुष्य उन्मत्त जैसा हो जाता है तो वह विषय-भोग तथा इन्द्रियतृप्ति में लिप्त रहने लगता है। किन्तु विषयभोग तथा इन्द्रियतृप्ति को वश में किया जा सकता है और जब विषयभोग की इच्छा नहीं रह जाती तो मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है। ऐसा तभी सम्भव है जब कोई पूरी तरह कृष्णभावनाभावित हो

यदवधि मम चेत: कृष्णपादारविन्दे

नवनवरसधामन्युद्यतं रन्तुमासीत्।

तदवधि बत नारीसङ्गमे स्मर्यमाने

भवति मुखविकारः सुष्ठुनिष्ठीवनं च॥

"जब से मैं कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा हूँ और नित्य नये आनन्द का अनुभव करने लगा हूँ तब से जब भी मैं विषय-सुख के बारे में सोचता हूँ तो इस विचार पर थूकता हूँ और मेरे होठ घृणा से टेढ़े हो जाते हैं।" विषय-भोग की इच्छा तभी रोकी जा सकती है जब कोई पूरी तरह कृष्णभावनाभावित हो, अन्यथा ऐसा सम्भव नहीं है। जब तक मनुष्य में भोगेच्छा रहती है तब तक उसे शरीर बदल कर विभिन्न योनियों में विषय-सुख भोगने के लिए देहान्तर करना पड़ता है। भले ही योनियाँ या रूप बदल जाए, किन्तु विषय-व्यापार तो जैसे का तैसा रहता है। इसीलिए कहा गया है *पुनःपुनश्चर्वितचर्वणानाम्।* जो लोग विषय-भोग में अत्यधिक लिप्त रहते हैं वे देहान्तर करते रहते हैं और उनका एक ही व्यापार रहता है चर्वित-चर्वण करना, अर्थात् कूकरों-सूकरों या देवताओं की तरह विषय-सुख का स्वाद लेना।

श्रीयदुरुवाच
नोत्सहे जरसा स्थातुमन्तरा प्राप्तया तव ।
अविदित्वा सुखं ग्राम्यं वैतृष्ण्यं नैति पूरुषः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

श्री-यदुः उवाच—ययाति के ज्येष्ठ पुत्र यदु ने उत्तर दिया; न उत्सहे—मैं उत्सुक नहीं हूँ; जरसा—आपके बुढ़ापे तथा अशक्तता से; स्थातुम्—रहने के लिए; अन्तरा—जवानी में; प्राप्तया—स्वीकार किया हुआ; तव—आपका; अविदित्वा—बिना अनुभव किये; सुखम्—सुख; ग्राम्यम्—भौतिक या शारीरिक; वैतृष्ण्यम्—भौतिक सुख से विरक्ति; न—नहीं; एति—प्राप्त करता है; पूरुषः—व्यक्ति।

यदु ने उत्तर दियाः हे पिताजी, यद्यपि आप भी तरुण पुरुष थे, किन्तु आपने वृद्धावस्था प्राप्त कर ली है। किन्तु मुझे आपका बुढ़ापा तथा जर्जरता तनिक भी मान्य नहीं है क्योंकि भौतिक सुख का भोग किये बिना कोई विरक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

तात्पर्य : भौतिक भोग से विरक्ति ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। इसीलिए वर्णाश्रम व्यवस्था अत्यन्त वैज्ञानिक है। इसका लक्ष्य मनुष्य को भगवद्धाम वापस जाने की सुविधा प्रदान करना है जिसे समस्त सांसारिक सम्बन्धों का परित्याग किये बिना प्राप्त कर सकना असम्भव है। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा था *निष्किञ्चनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य* जो भगवद्धाम वापस जाना चाहता है उसे *निष्किञ्चन* होना चाहिए अर्थात् भौतिक भोग के सारे आकर्षणों से मुक्त होना चाहिए। *ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्पू* पूर्ण विरक्त हुए बिना ब्रह्म में या

भक्ति में स्थिर नहीं हुआ जा सकता। ब्रह्मपद पर ही भक्ति की जा सकती है। अतएव जब तक मनुष्य ब्रह्मपद को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक वह भक्ति में नहीं लग सकता। अथवा दूसरे शब्दों में, भक्ति में संलग्न व्यक्ति पहले से ब्रह्मपद पर रहता है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो पूरी तरह भक्ति में लगा रहता है, जो किसी भी परिस्थिति में पतित नहीं होता वह तुरन्त ही प्रकृति के गुणों को पार करके ब्रह्मपद को प्राप्त होता है।" (*भगवद्गीता* १४.२६) अतएव जिसे भक्ति प्राप्त हो जाती है वह निश्चित रूप से मुक्त हो जाता है। सामान्यतया जब तक कोई व्यक्ति भौतिक सुख का भोग न कर ले तब तक वह वैराग्य प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए *वर्णाश्रम* क्रमशः उत्थान के लिए अवसर प्रदान करता है। महाराज ययाति के पुत्र यदु ने बतलाया कि वह अपनी जवानी त्याग पाने में असमर्थ है क्योंकि वह इसका उपयोग भविष्य में संन्यास आश्रम प्राप्त करने के लिए करना चाहता है।

महाराज यदु अपने भाइयों से भिन्न थे। जैसा कि अगले श्लोक में कहा गया है*तुर्वसुश्चोदितः पित्रा द्रुह्युश्चानुश्च भारत। प्रत्याचख्युरधर्मज्ञाः।* महाराज यदु के भाइयों ने अपने पिता के प्रस्ताव को मानने से इसलिए मना कर दिया क्योंकि वे धर्म से भलीभाँति अवगत न थे। उन आदेशों को स्वीकार करना जो धर्म का अनुसरण करते हैं, विशेष रूप से पिता के आदेशों का पालन, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतएव जब महाराज यदु के भाइयों ने अपने पिता के आदेश को नहीं माना तो यह सचमुच धर्मविरुद्ध था। किन्तु महाराज यदु द्वारा निषेध धर्मसम्मत था। जैसा कि दशम स्कन्ध मे कहा गया है *यदोश्च धर्मशीलस्य* महाराज यदु धर्म के सिद्धान्तों से पूरी तरह अवगत थे। धर्म का चरम सिद्धान्त अपने को भगवान् की भक्ति में लगाना है। महाराज यदु स्वयं को भगवान् की सेवा में लगाने के लिए अत्यधिक उत्सुक थे, किन्तु एक अवरोध था जवानी में भौतिक इन्द्रियों के भोगने की इच्छा, निश्चय ही, होती है और जब तक इन इच्छाओं को जवानी में पूरी तरह तुष्ट नहीं कर लिया जाता तब तक भगवान् की सेवा करने में विघ्न उत्पन्न होने की सम्भावना बनी रहती है। हम ने वास्तव में देखा है कि ऐसे अनेक संन्यासी जो अपरिपक्वावस्था में संन्यास ग्रहण कर लेते हैं अपनी भौतिक इच्छाओं को तुष्ट न किये रहने के कारण विचलित होकर भ्रष्ट हो जाते हैं। इसलिए

सामान्य नियम यह है कि संन्यास के पूर्व गृहस्थ-जीवन तथा वानप्रस्थ-जीवन बिताया जाये और अन्त में संन्यास ग्रहण करके भगवान् की सेवा मे पूरी तरह संलग्न हुआ जाये। महाराज यदु अपने पिता के आदेश को मानने और वृद्धावस्था के बदले जवानी देने के लिए तैयार थे क्योंकि उन्हें विश्वास था कि यह जवानी उनके पिता लौटा देंगे। लेकिन इस आदान-प्रदान से उनकी अनन्य भक्ति में विलम्ब होता। अतएव वे अपने पिता की वृद्धावस्था को स्वीकार नहीं करना चाहते थे क्योंकि वे निर्विघ्न स्वतंत्रता चाहते थे। साथ ही, यदुवंशियों में ही भगवान् कृष्ण को जन्म लेना था और महाराज यदु उत्सुक थे कि भगवान् का प्राकट्य यथासम्भव शीघ्रातिशीघ्र हो। इसीलिए उन्होंने अपने पिता के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। यह धर्म-विहीन नहीं था क्योंकि यदु का उद्देश्य भगवान् की सेवा करना था। चूँकि यदु भगवान् के आज्ञाकारी दास थे, इसलिए कृष्ण ने उनके वंश में जन्म लिया। जैसा कि कुन्ती की प्रार्थना से पुष्टि होती है*यदोः प्रियस्यान्ववाये।* यदु कृष्ण को अत्यन्त प्रिय थे अतएव वे यदु वंश में अवतार लेने के लिए उत्सुक थे। निष्कर्षतः महाराज यदु को अधर्म-ज्ञ नहीं मानना चाहिए जैसा कि अगले श्लोक में उनके भाइयों के लिए कहा गया है। वे (यदु) चार सनक कुमारों (*चतुःसन*) की भाँति थे जिन्होंने उत्तम कार्य के लिए अपने पिता ब्रह्मा के आदेशों को ठुकरा दिया। चूँकि चारों कुमार ब्रह्मचारी के रूप में भगवान् की सेवा करना चाहते थे अतएव उनके द्वारा पिता की आज्ञा को न मानना अधर्म नहीं था।

तुर्वसुश्चोदितः पित्रा द्रुह्युश्चानुश्च भारत ।
प्रत्याचख्युरधर्मज्ञा ह्यनित्ये नित्यबुद्धयः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

तुर्वसुः—तुर्वसु, दूसरा पुत्र; चोदितः—निवेदन किये जाने पर; पित्रा—पिता द्वारा (बुढ़ापे और अशक्तता को जवानी से बदलने के लिए); द्रुह्युः—द्रुह्यु एक और पुत्र; च—तथा; अनुः—एक और पुत्र अनु ने; च—भी; भारत—हे राजा परीक्षित; प्रत्याचख्युः—मानने से मना कर दिया; अधर्म-ज्ञाः—धर्म के सिद्धान्तों को न जानने वाले; हि—निस्सन्देह; अ-नित्ये—नाशवान जवानी; नित्य-बुद्धयः—नित्य मानकर।

हे महाराज परीक्षित, ययाति ने इसी तरह अन्य पुत्रों सेतुर्वसु, द्रुह्यु तथा अनु से वृद्धावस्था के बदले अपनी जवानी देने के लिए निवेदन किया लेकिन वे सभी अधर्मज्ञ थे इसलिए उन्होंने सोचा कि उनकी नाशवान जवानी शाश्वत है अतएव उन्होंने अपने पिता के आदेश को मानने से मना कर दिया।

अपृच्छत्तनयं पूरुं वयसोनं गुणाधिकम् ।
न त्वमग्रजवद्वत्स मां प्रत्याख्यातुमर्हसि ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

अपृच्छत्—निवेदन किया; तनयम्—पुत्र; पूरुम्—पूरु से; वयसा—आयु से; ऊनम्—यद्यपि कम; गुण-अधिकम्—किन्तु गुणों में अन्यों से बढ़कर; न—नहीं; त्वम्—तुम; अग्रज-वत्—अपने बड़े भाइयों के समान; वत्स—हे पुत्र; माम्—मुझको; प्रत्याख्यातुम्—मना करना; अर्हसि—चाहिए।

तत्पश्चात् राजा ययाति ने पूरु से, जो अपने इन तीनों भाइयों से उम्र में छोटा था किन्तु अधिक योग्य था, इस तरह निवेदन किया, "हे पुत्र, तुम अपने बड़े भाइयों की तरह अवज्ञाकारी मत बनो क्योंकि यह तुम्हारा कर्तव्य नहीं है।"

श्रीपूरुरुवाच
को नु लोके मनुष्येन्द्र पितुरात्मकृतः पुमान् ।
प्रतिकर्तुं क्षमो यस्य प्रसादाद्विन्दते परम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

श्री-पूरुः उवाच—पूरु ने कहा; कः—क्या; नु—निस्सन्देह; लोके—इस संसार में; मनुष्य-इन्द्र—मनुष्यों में श्रेष्ठ, हे महाराज; पितुः—पिता; आत्म-कृतः—इस शरीर को देने वाले; पुमान्—व्यक्ति; प्रतिकर्तुम्—चुकता करने के लिए; क्षमः—समर्थ है; यस्य—जिसकी; प्रसादात्—कृपा से; विन्दते—भोगता है; परम्—श्रेष्ठ जीवन।

पूरु ने उत्तर दिया, "हे महाराज, ऐसा कौन होगा जो अपने पिता के ऋण से उऋण हो सके? पिता की ही कृपा से मनुष्य को मनुष्य-जीवन प्राप्त होता है जिससे वह भगवान् का संगी बनने में सक्षम हो सकता है।

तात्पर्य : पिता शरीर का बीजदाता है और यह बीज क्रमशः विकसित होकर मनुष्य का विकसित रूप धारण करता है जिसमें पशुओं की अपेक्षा उच्चतर चेतना होती है। इस मनुष्य-शरीर से मनुष्य स्वर्ग जा सकता है और यदि कोई कृष्णभावनामृत का विकास करे तो वह भगवद्धाम वापस जा सकता है। यह महत्त्वपूर्ण मानव शरीर पिता के अनुग्रह से प्राप्त होता है; अतएव हर व्यक्ति अपने पिता का ऋणी होता है। निस्सन्देह, दूसरी योनियों में भी उसे माता-पिता मिलते हैं, यहाँ तक कि कुत्ते-बिल्लियों के भी माता-पिता होते हैं। किन्तु मनुष्य-जीवन में पुत्र के माता-पिता जो सबसे बड़ा वर दे सकते हैं वह उसे भक्त बनने की शिक्षा है। जब कोई भक्त बन जाता है तो उसे सबसे बड़ा वर प्राप्त होता है क्योंकि वह जन्म-मरण के चक्कर से बच जाता है। अतएव जो पिता अपनी सन्तान को कृष्णभक्त बनने का प्रशिक्षण देता है वही इस संसार में सबसे बड़ा उपकारी पिता है। कहा गया है :

जनमे जनमे सबे पितामाता पाय।

कृष्ण गुरु नहि मिले भज हरि एइ॥

माता पिता तो हर एक को मिलते हैं, किन्तु यदि मनुष्य को कृष्ण तथा गुरु का वर प्राप्त हो जाय तो वह भौतिक प्रकृति को जीत सकता है और भगवद्धाम वापस जा सकता है।

उत्तमश्चिन्तितं कुर्यात्प्रोक्तकारी तु मध्यमः ।
अधमोऽश्रद्धया कुर्यादकर्तोच्चरितं पितुः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

उत्तमः—सर्वश्रेष्ठ; चिन्तितम्—पिता के विचार को मानते हुए; कुर्यात्—तदनुसार कर्म करता है; प्रोक्त-कारी—जो अपने पिता के आदेशानुसार कार्य करता है; तु—निस्सन्देह; मध्यमः—बीच की कोटि के; अधमः—निम्न श्रेणी के; अश्रद्धया—श्रद्धाविहीन; कुर्यात्—करता है; अकर्ता—न करने की इच्छा से युक्त; उच्चरितम्—मल के समान; पितुः—पिता के।

''जो पुत्र अपने पिता की इच्छा को जानकर उसी के अनुसार कर्म करता है वह प्रथम श्रेणी का (उत्तम) होता है; जो अपने पिता की आज्ञा पाकर कार्य करता है वह द्वितीय श्रेणी का (मध्यम) होता है और जो पुत्र अपने पिता के आदेश का पालन अनादरपूर्वक करता है वह तृतीय श्रेणीका (अधम) होता है। किन्तु जो पुत्र अपने पिता की आज्ञा का उल्लंघन करता है वह अपने पिता के मल के समान है।''

तात्पर्य : ययाति के सबसे छोटे पुत्र पूरु ने तुरन्त ही अपने पिता के प्रस्ताव को मान लिया क्योंकि वह छोटा होने पर भी अत्यन्त योग्य था। पूरु ने सोचा, ''मुझे तो पिता के प्रस्ताव को उनके कहने के पूर्व ही मान लेना चाहिए था, किन्तु मैंने ऐसा नहीं किया। अतएव मैं उत्तमश्रेणी का पुत्र नहीं हूँ, मैं तो मध्यम कोटि का पुत्र हूँ। किन्तु मैं अधमतम श्रेणी का पुत्र नहीं बनना चाहता जो पिता के मल के समान होता है।'' एक भारतीय कवि ने पुत्र और मूत्र के बारे में कहा है। 'पुत्र' का अर्थ होता है 'बेटा' और 'मूत्र' का अर्थ हैं 'पेशाब'। पुत्र तथा मूत्र दोनों एक ही अंग से निकलते हैं। यदि पुत्र भगवान् का आज्ञाकारी भक्त हो तो वह पुत्र अर्थात् असली बेटा है अन्यथा अविद्वान तथा अभक्त पुत्र मूत्र के तुल्य होता है।

इति प्रमुदितः पूरुः प्रत्यगृह्णाज्जरां पितुः ।
सोऽपि तद्वयसा कामान्यथावज्जुजुषे नृप ॥ ४५॥

शब्दार्थ

इति—इस तरह; प्रमुदितः—अत्यन्त हर्षित; पूरुः—पूरु ने; प्रत्यगृह्णात्—स्वीकार कर लिया; जराम्—वृद्धावस्था को; पितुः—पिता की; सः—उस पिता ने; अपि—भी; तत्-वयसा—अपने पुत्र की जवानी से; कामान्—सारी इच्छाओं को; यथा-वत्—आवश्यकतानुसार; जुजुषे—तुष्ट किया; नृप—हे महाराज परीक्षित।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा: हे महाराज परीक्षित, इस तरह पूरु अपने पिता ययाति की वृद्धावस्था को ग्रहण करके अत्यन्त हर्षित था। पिता ने अपने पुत्र की जवानी ग्रहण कर ली और फिर इच्छानुसार इस भौतिक जगत का भोग किया।

सप्तद्वीपपतिः संयक्पितृवत्पालयन्प्रजाः ।
यथोपजोषं विषयाञ्जुजुषेऽव्याहतेन्द्रियः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

सप्त-द्वीप-पतिः—सात द्वीपों वाले समस्त विश्व का स्वामी; संयक्—पूरी तरह; पितृ-वत्—पिता के समान; पालयन्—शासन करते हुए; प्रजाः—प्रजा; यथा-उपजोषम्—जी भरकर; विषयान्—भौतिक सुख को; जुजुषे—भोगा; अव्याहत—किसी व्यवधान के बिना; इन्द्रियः—अपनी इन्द्रियों को।

तत्पश्चात् राजा ययाति सात द्वीपों वाले विश्व का शासक बन गया और प्रजा पर पिता के समान शासन करने लगा। चूँकि उसने अपने पुत्र की जवानी ले ली थी अतएव उसकी इन्द्रियाँ अक्षत थीं और उसने जी भरकर भौतिक सुख का भोग किया।

देवयान्यप्यनुदिनं मनोवाग्देहवस्तुभिः ।
प्रेयसः परमां प्रीतिमुवाह प्रेयसी रहः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

देवयानी—महाराज ययाति की पत्नी, शुक्राचार्य की बेटी ने; अपि—भी; अनुदिनम्—दिन प्रति दिन, चौबीसों घंटे; मनः-वाक्—अपने मन तथा वाणी; देह—शरीर; वस्तुभिः—सारी आवश्यक वस्तुओं से; प्रेयसः—अपने प्रिय पति का; परमाम्—दिव्य; प्रीतिम्—आनन्द; उवाह—सम्पन्न किया; प्रेयसी—अपने पति की अत्यन्त प्यारी; रहः—एकान्त में, बिना किसी उत्पात के।

महाराज ययाति की प्रेयसी देवयानी अपने मन, वचन, शरीर तथा विविध सामग्री से सदैव एकान्त में अपने पति को यथासम्भव दिव्य परमानन्द प्रदान करती रही।

अयजद्यज्ञपुरुषं क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
सर्वदेवमयं देवं सर्ववेदमयं हरिम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

अयजत्—पूजा की; यज्ञ-पुरुषम्—यज्ञपुरुष या भगवान् की; क्रतुभिः—विविध यज्ञों द्वारा; भूरि-दक्षिणैः—ब्राह्मणों को प्रभूत दक्षिणा देकर; सर्व-देव-मयम्—सारे देवताओं के आगार; देवम्—परमेश्वर को; सर्व-वेद-मयम्—सारे वैदिक ज्ञान के परम लक्ष्य; हरिम्—भगवान् हरि को।

राजा ययाति ने विविध यज्ञ सम्पन्न किये और उनमें उन्होंने समस्त देवताओं के आगार एवं समस्त वैदिक ज्ञान के लक्ष्य भगवान् हरि को तुष्ट करने के लिए ब्राह्मणों को प्रचुर दक्षिणाएँ दीं।

यस्मिन्निदं विरचितं व्योम्नीव जलदावलिः ।
नानेव भाति नाभाति स्वप्नमायामनोरथः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; इदम्—यह पूरा विशाल जगत; विरचितम्—उत्पन्न; व्योम्नि—आकाश में; इव—सदृश; जलद-आवलिः—बादल; नाना इव—मानों विभिन्न प्रकार के; भाति—प्रकट होता है; न आभाति—प्रकट नहीं होता है; स्वप्न-माया—मोह जो स्वप्न की तरह है; मनः-रथः—मन रूपी रथ द्वारा चलने वाला।

भगवान् वासुदेव, जिन्होंने विराट जगत की सृष्टि की है, अपने को सर्वव्यापक रूप में प्रकट करते हैं जिस तरह आकाश बादलों को धारण करता है। जब इस सृष्टि का संहार हो जाता है तब सारी वस्तुएँ भगवान् विष्णु में प्रवेश करती हैं और सारे भेद-प्रभेद समाप्त हो जाते हैं।

तात्पर्य : जैसा कि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा है :

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

"अनेकानेक जन्म-मरण के बाद जो वास्तव में ज्ञानी है वह मुझी को समस्त कारणों का कारण जानते हुए मेरी शरण में आता है। ऐसा महापुरुष अत्यन्त विरला होता है।" भगवान् वासुदेव परब्रह्म हैं। प्रारम्भ में सारी वस्तुएँ उन्हीं में रहती हैं और अन्त में सब कुछ उन्हीं में प्रवेश कर जाता है। वे हर एक के हृदय में स्थित हैं (*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः*)। उन्हीं से सारी वस्तुएँ उद्भूत हैं। (*जन्माद्यस्य यतः*), किन्तु सारी भौतिक वस्तुएँ क्षणिक या नाशवान हैं। स्वप्न, माया तथा मनोरथ क्षणिक हैं। इसी प्रकार सारी भौतिक सृष्टि भी क्षणिक है लेकिन भगवान् वासुदेव, जो परब्रह्म हैं, शाश्वत हैं।

तमेव हृदि विन्यस्य वासुदेवं गुहाशयम् ।
नारायणमणीयांसं निराशीरयजत्प्रभुम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

तम् एव—उसको ही; हृदि—हृदय में; विन्यस्य—रखकर; वासुदेवम्—भगवान् वासुदेव को; गुह-आशयम्—सबके हृदय में विद्यमान रहने वाले; नारायणम्—नारायण या नारायण के अंश को; अणीयांसम्—सर्वत्र उपस्थित रहकर भी आँखों से अदृश्य; निराशीः—बिना किसी भौतिक इच्छा के ययाति ने; अयजत्—पूजा की; प्रभुम्—परमेश्वर की।

महाराज ययाति ने उन भगवान् की निष्काम भाव से पूजा की जो हर एक के हृदय में नारायण रूप में स्थित हैं और सर्वत्र विद्यमान रहकर भी आँखों से अदृश्य रहते हैं।

तात्पर्य : यद्यपि राजा ययाति ऊपर से भौतिक भोग के परम इच्छुक प्रतीत होते थे, किन्तु भीतर भीतर वे भगवान् का नित्य दास बनने के इच्छुक थे।

एवं वर्षसहस्राणि मनःषष्ठैर्मनःसुखम् ।
विदधानोऽपि नातृप्यत्सार्वभौमः कदिन्द्रियैः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह से; वर्ष-सहस्राणि—एक हजार वर्षों तक; मनः-षष्ठैः—पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा मन के द्वारा; मनः-सुखम्—मन द्वारा उत्पन्न क्षणिक सुख; विदधानः—सम्पन्न करते हुए; अपि—यद्यपि; न अतृप्यत्—संतुष्ट नहीं हुए; सार्व-भौमः—सारे जगत का राजा होकर भी; कत्-इन्द्रियैः—अशुद्ध इन्द्रियों के कारण।

यद्यपि महाराज ययाति सारे विश्व के राजा थे और उन्होंने एक हजार वर्षों तक अपने मन तथा पाँच इन्द्रियों को भौतिक सम्पत्ति को भोगने में लगाया, किन्तु वे सन्तुष्ट नहीं हो सके।

तात्पर्य : *कद्-इन्द्रिय* अर्थात् अशुद्ध इन्द्रियों को शुद्ध किया जा सकता है यदि इन्द्रियों और मन को कृष्णभावनामृत में लगाया जाय। *सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।* मनुष्य को समस्त उपाधियों से मुक्त हो जाना चाहिए। जब तक वह अपने को भौतिक जगत का भोक्ता मानता है तब तक उसकी इन्द्रियाँ अशुद्ध रहती हैं। किन्तु जिस क्षण से उसे आध्यात्मिक अनुभूति हो जाती है और वह अपने को भगवान् के दास के रूप में पहचानता है तो उसकी इन्द्रियाँ तुरन्त शुद्ध हो जाती हैं। शुद्ध की हुई इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाना भक्ति कहलाता है। *हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते।* कोई भले ही हजारों वर्षों तक इन्द्रियों का भोग क्यों न करे, जब तक वह इन्द्रियों को शुद्ध नहीं कर लेता तब तक वह सुखी नहीं हो सकता।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध के अन्तर्गत "राजा ययाति को यौवन की पुनःप्राप्ति" नामक अठारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter उन्नीस

राजा ययाति को मुक्ति-लाभ

इस अध्याय में बताया गया है कि जब महाराज ययाति ने बकरे तथा बकरी की प्रतीकात्मक कहानी सुनाई तो उन्हें किस प्रकार मुक्ति प्राप्त हुई।

भौतिक संसार में अनेकानेक वर्षों तक संभोगादि करने के बाद राजा ययाति को अन्तत: ऐसे भौतिक सुख से वितृष्णा हो गई। जब वे भौतिक भोग से ऊब चुके तो उन्होंने बकरे-बकरी की एक कहानी बनाई जो उनके निजी जीवन पर आधारित थी और इसे अपनी प्रियतमा देवयानी को सुनाया। यह कहानी इस प्रकार है।

एक बार जब एक बकरा जंगल में चरने के लिए विविध प्रकार की सब्जियों की तलाश में घूम रहा था तो उसे दैववशात् एक कुँआ मिला जिसके भीतर उसने एक बकरी देखी। वह उस बकरी पर आसक्त हो गया; अतएव उसने किसी तरह से उसे कुएँ से बाहर निकाला और इस तरह वे दोनों मिल गये। उसके बाद एक दिन जब बकरी ने उस बकरे को एक अन्य बकरी के साथ संभोग करते देखा तो वह क्रुद्ध हो उठी और उसने बकरे को त्याग दिया। वह अपने ब्राह्मण मालिक के पास लौट आई और उसने अपने पति के आचरण के विषय में उसे कह सुनाया। ब्राह्मण अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने बकरे को शाप दे दिया कि वह संभोग-शक्ति से विहीन हो जाय। तत्पश्चात् बकरे ने ब्राह्मण से क्षमा माँगी तो उसे संभोग-शक्ति फिर से मिल गई। तब बकरा वर्षों तक बकरी के साथ संभोगरत रहा, किन्तु फिर भी वह अतृप्त रहा। यदि कोई कामी तथा लोभी हो तो विश्व का सारा सोना भी उसकी कामेच्छाओं को तृप्त नहीं कर सकता। ये इच्छाएँ अग्नि के समान हैं। यदि कोई प्रज्ज्वलित अग्नि पर घी डाले तो इससे अग्नि बुझने की आशा नहीं की जा सकती। अग्नि बुझाने के लिए कोई दूसरी विधि अपनानी होगी। इसीलिए शास्त्रों का उपदेश है कि बुद्धि से मनुष्य भोगमय जीवन का परित्याग कर दे। जो लोग अल्पज्ञ हैं वे महान् प्रयास के बिना इन्द्रिय-भोग, और वह भी विषय-भोग, नहीं त्याग सकते क्योंकि सुन्दर स्त्री बड़े से बड़े विद्वान को भी मोहित कर लेती है। किन्तु राजा ययाति ने सांसारिक जीवन का परित्याग कर दिया और अपनी सम्पत्ति अपने पुत्रों में बाँट दी। सारे भौतिक भोगों का आकर्षण त्याग कर संन्यासी का जीवन ग्रहण करके वह भगवान् की सेवा में दत्तचित्त

रहने लगा। इस तरह उसे सिद्धि प्राप्त हो गई। बाद में जब उसकी प्रिय पत्नी देवयानी भ्रमपूर्ण जीवन से मुक्त हुई तो वह भी भगवान् की भक्ति में लग गई।

श्रीशुक उवाच

स इत्थमाचरन्कामान्स्त्रैणोऽपह्नवमात्मनः ।
बुद्ध्वा प्रियायै निर्विण्णो गाथामेतामगायत ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सः—महाराज ययाति; इत्थम्—इस तरह से; आचरन्—आचरण करते हुए; कामान्—कामेच्छाओं को; स्त्रैणः—स्त्री से अत्यधिक लिप्त; अपह्नवम्—प्रतिक्रिया; आत्मनः—अपने कल्याण के लिए; बुद्ध्वा—बुद्धि से समझते हुए; प्रियायै—अपनी प्रिया देवयानी को; निर्विण्णः—वितृष्णा से भरकर; गाथाम्—कहानी; एताम्—यह; अगायत—सुनायी।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे महाराज परीक्षित, ययाति स्त्री पर अत्यधिक अनुरक्त था। किन्तु कालक्रम से जब वह विषय-भोग तथा इसके बुरे प्रभावों से ऊब गया तो उसने यह जीवन-शैली त्याग दी और अपनी प्रिय पत्नी को निम्नलिखित कहानी सुनाई।

शृणु भार्गव्यमूं गाथां मद्विधाचरितां भुवि ।
धीरा यस्यानुशोचन्ति वने ग्रामनिवासिनः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

शृणु—सुनो; भार्गवि—हे शुक्राचार्य की पुत्री; अमूम्—इस; गाथाम्—कहानी को; मत्-विधा—मेरे आचरण से मिलते-जुलते; आचरिताम्—आचरण के; भुवि—इस संसार में; धीराः—धीर व्यक्ति; यस्य—जिसका; अनुशोचन्ति—पछताते हैं; वने—जंगल में; ग्राम-निवासिनः—भौतिक भोग के प्रति अत्यधिक अनुरक्त।

हे मेरी प्रिय पत्नी एवं शुक्राचार्य की बेटी, इस संसार में बिल्कुल मेरी ही तरह का कोई था। तुम मेरे द्वारा कही जा रही उसके जीवन की कथा सुनो। ऐसे गृहस्थ के जीवन के विषय में सुनकर वे लोग सदैव पछताते हैं जिन्होंने गृहस्थ जीवन से वैराग्य ले लिया है।

तात्पर्य : जो लोग गाँव में रहते हैं वे ग्राम निवासी कहलाते हैं और जो जंगल में रहते हैं वे वनवासी या वानप्रस्थ कहलाते हैं। गृहस्थ जीवन से वैराग्य ग्रहण करने वाले वानप्रस्थ सामान्यतया अपने विगत पारिवारिक जीवन के विषय में पछतावा करते हैं क्योंकि उसके कारण वे कामेच्छाओं की पूर्ति में लगे रहे। प्रह्लाद महाराज ने कहा है कि मनुष्य को चाहिए कि जितनी जल्दी हो सके गृहस्थ जीवन से विरक्त हो ले। उन्होंने गृहस्थ जीवन को अन्धकूप कहा है (*हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपम्*)। यदि कोई लगातार या स्थायी

रूप से अपने परिवार के साथ रहने पर बल देता है तो यह समझना चाहिए कि वह आत्मघात कर रहा है। इसीलिए वैदिक सभ्यता में संस्तुति की गई है कि मनुष्य को चाहिए कि पचास वर्ष समाप्त होने पर पारिवारिक जीवन से विरक्त हो ले और वन में चला जाय। जब वह वन में रहने का अभ्यस्त हो ले या वानप्रस्थ में पटु हो जाय तो वह संन्यास ग्रहण कर ले। *वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत। संन्यास* का अर्थ है भगवान् की सेवा में अनन्य तल्लीनता स्वीकार करना। इसीलिए वैदिक सभ्यता में जीवन की चार अवस्थाओं की संस्तुति की गई है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। मनुष्य को गृहस्थ जीवन में ही बने रहने एवं दो उच्चतर अवस्थाओं—वानप्रस्थ तथा संन्यास तक न उठ पाने के लिए लज्जित होना चाहिए।

बस्त एको वने कश्चिद्विचिन्वन्प्रियमात्मनः ।
ददर्श कूपे पतितां स्वकर्मवशगामजाम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

बस्तः—बकरा; एकः—एक; वने—वन में; कश्चित्—किसी; विचिन्वन्—भोजन की तलाश करता; प्रियम्—प्रिय; आत्मनः—अपने लिए; ददर्श—संयोगवश देखा; कूपे—कुएँ के भीतर; पतिताम्—गिरी हुई; स्व-कर्म-वश-गाम्—अपने कर्मों के फल के प्रभाव से; अजाम्—बकरी को।

एक बकरा अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करने के लिए चरते हुए किसी जंगल में घूमते-घूमते अचानक एक कुएँ के पास आया जिसके भीतर उसने एक बकरी को निस्सहाय खड़ी देखा जो अपने सकाम कर्मों के प्रभाव से कुएँ में गिर गई थी।

तात्पर्य : यहाँ पर महाराज ययाति अपनी तुलना बकरे से और देवयानी की तुलना एक बकरी से करते हैं तथा पुरुष और स्त्री के स्वभाव का वर्णन करते हैं। मनुष्य बकरे की तरह इधर उधर भटकता हुआ इन्द्रियतृप्ति की खोज करता है और स्त्री, पुरुष या पति के आश्रय के बिना, उस बकरी के समान है जो कुएँ में गिर गई है। पुरुष की देखभाल के बिना स्त्री कभी भी सुखी नहीं रह सकती। निस्सन्देह, वह कुएँ के भीतर गिरी हुई बकरी के समान है जो जीवन-संघर्ष कर रही है। अतएव स्त्री को चाहिए कि वह अपने पिता का संरक्षण ग्रहण करे जैसा कि देवयानी ने शुक्राचार्य की देखरेख में रहते हुए किया था। तब पिता को चाहिए कि अपनी पुत्री का दान उपयुक्त व्यक्ति को कर दे या वह उपयुक्त व्यक्ति स्त्री को पति की निगरानी में रख दे। देवयानी के जीवन से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है। जब राजा ययाति ने देवयानी को कुएँ से निकाला था तो उसे बड़े आराम का अनुभव हुआ था और उसने ययाति से उसे अपनी पत्नी बनाने की

प्रार्थना की थी, किन्तु जब महाराज ययाति ने देवयानी को स्वीकार कर लिया तो वह इतना लिप्त रहने लगा कि वह न केवल उसी से संभोग करता अपितु शर्मिष्ठा जैसी अन्य स्त्रियों से भी करने लगा। तो भी वह असंतुष्ट रहा। अतएव मनुष्य को चाहिए कि ययाति जैसे गृहस्थ जीवन से जबरन विरक्त हो जाय। जब मनुष्य को यह पूरा पूरा विश्वास हो जाय कि सांसारिक गृहस्थ जीवन अधम है तो उसे ऐसा जीवन पूर्णतया त्याग कर संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए और भगवान् की सेवा में पूरी तरह लग जाना चाहिए। तभी मनुष्य का जीवन सफल होगा।

तस्या उद्धरणोपायं बस्तः कामी विचिन्तयन् ।
व्यधत्त तीर्थमुद्धृत्य विषाणाग्रेण रोधसी ॥ ४॥

शब्दार्थ

तस्याः—बकरी का; उद्धरण-उपायम्—(कुएँ से) उद्धार का उपाय; बस्तः—बकरे ने; कामी—विषयी; विचिन्तयन्—योजना बनाते हुए; व्यधत्त—सम्पन्न किया; तीर्थम्—बाहर निकालने का उपाय; उद्धृत्य—पृथ्वी खोदकर; विषाण-अग्रेण—पैने सींगों से; रोधसी—कुएँ के किनारे।

बकरी को कुएँ से बाहर निकालने की योजना बनाकर, विषयी बकरे ने अपने तीखे सींगों से कुएँ के किनारे की मिट्टी खोद डाली जिससे वह बकरी कुएँ से बाहर सरलता से निकल सकी।

तात्पर्य : स्त्री के प्रति आकर्षण ही इस संसार में सुखपूर्वक रहने के लिए आर्थिक विकास, आवास तथा अन्य वस्तुओं के प्रोत्साहन का कारण है। बकरी को बाहर निकालने के लिए मिट्टी खोदना अत्यन्त श्रमसाध्य कार्य था, किन्तु बकरी प्राप्त करने के पहले बकरे को यह श्रम करना पड़ा। *अहो गृहक्षेत्रसुताप्त वित्तैर्जनस्य मोहोऽयम् अहं ममेति।* नर तथा नारी के संयोग से अच्छा मकान, अच्छा वेतन, सन्तान तथा मित्र प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। इस तरह मनुष्य इस भौतिक जगत में फँस जाता है।

सोत्तीर्य कूपात्सुश्रोणी तमेव चकमे किल ।
तया वृतं समुद्वीक्ष्य बह्व्योऽजाः कान्तकामिनीः ।
पीवानं श्मश्रुलं प्रेष्ठं मीढ्वांसं याभकोविदम् ॥ ५॥
स एकोऽजवृषस्तासां बह्वीनां रतिवर्धनः ।
रेमे कामग्रहग्रस्त आत्मानं नावबुध्यत ॥ ६॥

शब्दार्थ

सा—वह बकरी; उत्तीर्य—बाहर निकलकर; कूपात्—कुएँ से; सु-श्रोणी—अच्छे पुट्ठों वाली; तम्—बकरे को; एव—निस्सन्देह; चकमे—पति रूप में पाना चाहा; किल—निस्सन्देह; तया—उसके द्वारा; वृतम्—स्वीकृत; समुद्वीक्ष्य—देखकर; बह्व्यः—अन्य

अनेक; अजाः—बकरियाँ; कान्त-कामिनीः—बकरे को अपना पति बनाने की इच्छुक; पीवानम्—अत्यन्त बलिष्ठ; श्मश्रुलम्—अच्छी मूछों तथा दाढ़ी वाले; प्रेष्ठम्—उच्चकोटि का; मीढ्वांसम्—वीर्यस्खलित करने में पटु; याभ-कोविदम्—मैथुन-क्रिया में पटु; सः—वह बकरा; एकः—अकेला; अज-वृषः—बकरियों का नायक; तासाम्—सारी बकरियों का; बह्वीनाम्—अनेक; रति-वर्धनः—कामेच्छा को बढ़ाने में समर्थ; रेमे—भोग किया; काम-ग्रह-ग्रस्तः—कामेच्छा के भूत से सताया हुआ; आत्मानम्—अपने आपको; न—नहीं; अवबुध्यत—समझ सका।

जब सुन्दर पुट्ठों वाली बकरी कुएँ से बाहर आ गई और उसने अत्यन्त सुन्दर बकरे को देखा तो उसने उसे अपना पति बनाना चाहा। जब उसने ऐसा कर लिया तो अन्य अनेक बकरियों ने भी उस बकरे को अपना पति बनाना चाहा क्योंकि उसका शारीरिक गठन अत्यन्त सुन्दर था, उसकी मूँछ तथा दाढ़ी सुन्दर थी और वह वीर्यस्खलन करने तथा संभोग कला में पटु था। अतएव, जिस तरह भूत से सताया गया मनुष्य पागलपन दिखलाता है उसी तरह वह श्रेष्ठ बकरा अनेक बकरियों से आकृष्ट होकर तथा अश्लील कार्यों में लिप्त रहने के कारण आत्म-साक्षात्कार के अपने असली कार्य को भूल गया।

तात्पर्य : भौतिकतावादी सचमुच ही संभोग के प्रति अत्यधिक आकृष्ट रहते हैं। *यन्मैथुनादि गृहमेधि सुखं हि तुच्छम्।* यद्यपि मनुष्य जी भरकर विषयी जीवन बिताने के लिए गृहस्थ बनता है लेकिन वह कभी भी तुष्ट नहीं होता। ऐसा विषयी भौतिकतावादी व्यक्ति बकरे के समान होता है क्योंकि यह कहा जाता है कि वध के लिए ले जाये जाने वाले बकरे को यदि संभोग करने का अवसर मिल जाय तो मरने के पूर्व भी वह संभोग कर लेता है, किन्तु मनुष्य-जीवन तो आत्म-साक्षात्कार के निमित्त है—

तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं

शुद्ध्येद् यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम्।

मनुष्य-जीवन आत्म-साक्षात्कार के लिए है, उस आत्मा के लिए जो शरीर के भीतर है (*देहिनोऽस्मिन् यथा देहे*)। भौतिकतावादी मूढ़ यह नहीं जानता कि वह शरीर नहीं, अपितु शरीर के भीतर का आत्मा है। फिर भी मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी वास्तविक स्थिति को समझे और ज्ञान का अनुशीलन करे जिससे वह इस शारीरिक बन्धन से मुक्त हो सके। जिस प्रकार कोई अभागा मनुष्य भूतप्रेत से सताये जाने पर पागल की तरह कार्य करता है उसी तरह भौतिकतावादी मनुष्य काम रूपी भूतप्रेत से सताये जाने पर अपने असली कार्य को भूल जाता है जिससे वह देहात्मबुद्धि में तथाकथित सुख को भोग सके।

तमेव प्रेष्ठतमया रममाणमजान्यया ।
विलोक्य कूपसंविग्ना नामृष्यद्बस्तकर्म तत् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तम्—बकरे को; एव—निस्सन्देह; प्रेष्ठतमया—प्यारी, प्रियतमा द्वारा; रममाणम्—रमण की जाती हुई; अजा—बकरी; अन्यया—दूसरी बकरी से; विलोक्य—देखकर; कूप-संविग्ना—कुएँ में गिरी बकरी; न—नहीं; अमृष्यत्—सहन कर सकी; बस्त-कर्म—बकरे के कार्य को; तत्—वह (मैथुन ही बकरे का व्यापार माना गया है)।

जब उस बकरी ने, जो कुएँ में गिरी थी, देखा कि उसका प्रियतम बकरा किसी दूसरी बकरी से संभोग कर रहा है तो वह बकरे के इस कार्य को सहन नहीं कर पाई।

तं दुर्हृदं सुहृद्रूपं कामिनं क्षणसौहृदम् ।
इन्द्रियाराममुत्सृज्य स्वामिनं दु:खिता ययौ ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस (बकरे) को; दुर्हृदम्—अत्यन्त क्रूर हृदय; सुहृत्-रूपम्—मित्र बनने वाले; कामिनम्—अत्यन्त कामी; क्षण-सौहृदम्—क्षण भर की मित्रता; इन्द्रिय-आरामम्—केवल इन्द्रियतृप्ति या विलासिता में रुचि रखने वाला; उत्सृज्य—छोड़कर; स्वामिनम्—अपने इस पति को या अपने पूर्व पालक को; दु:खिता—अत्यन्त दुखी; ययौ—वह चली गई।

अन्य बकरी के साथ अपने पति के इस आचरण से दुखी उस बकरी ने सोचा कि यह बकरा उसका वास्तविक मित्र नहीं अपितु कठोरहृदय वाला तथा कुछ क्षण के लिए ही मित्र है। अतएव अपने पति के कामी होने के कारण उस बकरी ने उसका साथ छोड़ दिया और अपने पहले वाले स्वामी के पास लौट गई।

तात्पर्य : *स्वामिनम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है । स्वामी का अर्थ है रखवाली करने वाला अथवा पति। देवयानी का पालन विवाह के पूर्व शुक्राचार्य द्वारा हो रहा था और विवाह के बाद ययाति द्वारा, किन्तु यहाँ पर स्वामिनम् शब्द बताता है कि देवयानी ने अपने पति ययाति का संरक्षण त्याग दिया और वह अपने पहले वाले रक्षक शुक्राचार्य के यहाँ लौट गई। वैदिक सभ्यता की संस्तुति है कि स्त्री पुरुष के संरक्षण में रहे। बचपन में उसकी रक्षा पिता द्वारा की जानी चाहिए, युवावस्था में उसके पति द्वारा और बुढ़ापे में वयस्क पुत्र द्वारा ।किसी भी अवस्था में स्त्री को स्वतंत्रता नहीं दी जानी चाहिए।

सोऽपि चानुगत: स्त्रैण: कृपणस्तां प्रसादितुम् ।
कुर्वन्निडविडाकारं नाशक्नोत्पथि सन्धितुम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह बकरा; अपि—भी; च—भी; अनुगतः—बकरी का पीछा करता; स्त्रैणः—स्त्री-प्रेमी; कृपणः—अत्यन्त गरीब; ताम्—उसको; प्रसादितुम्—प्रसन्न करने के लिए; कुर्वन्—करते हुए; इडविडा-कारम्—बकरी की भाषा में बोलते हुए; न—नहीं; अशक्नोत्—समर्थ था; पथि—मार्ग में; सन्धितुम्—प्रसन्न करने के लिए।

वह बकरा अत्यन्त दुखी होकर अपनी पत्नी का चाटुकार होने के कारण मार्ग में उसके पीछे-पीछे हो लिया और उसने उसकी भरसक चाटुकारी करनी चाही, किन्तु वह उसे मना नहीं पाया।

तस्य तत्र द्विजः कश्चिदजास्वाम्यच्छिनद्रुषा ।
लम्बन्तं वृषणं भूयः सन्दधेऽर्थाय योगवित् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तस्य—बकरे का; तत्र—तत्पश्चात्; द्विजः—ब्राह्मण; कश्चित्—कोई; अजा-स्वामी—दूसरी बकरी के मालिक ने; अच्छिनत्—बधिया कर दिया; रुषा—क्रोध में आकर; लम्बन्तम्—लम्बे; वृषणम्—फोते, अण्डकोष को; भूयः—फिर; सन्दधे—जोड़ दिया; अर्थाय—अपने हित में; योग-वित्—योगशक्ति में पटु।

बकरी उस ब्राह्मण के घर गई जो एक दूसरी बकरी का मालिक था और उस ब्राह्मण ने गुस्से में आकर बकरे के लम्बे लटकते अण्डकोष काट लिये। किन्तु बकरे द्वारा प्रार्थना किये जाने पर उस ब्राह्मण ने योगशक्ति से उन्हें फिर से जोड़ दिया।

तात्पर्य : यहाँ पर शुक्राचार्य को आलंकारिक रूप में दूसरी बकरी का पति बताया गया है। इससे सूचित होता है कि किसी भी समाज में चाहे वह मानव समाज से उच्चतर हो या निम्नतर, बकरी बकरे जैसा ही सम्बन्ध होता है क्योंकि पुरुष और स्त्री का भौतिक सम्बन्ध संभोग का है। *यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छम्।* शुक्राचार्य पारिवारिक मामलों के आचार्य थे जिसमें बकरे के वीर्य को बकरी में स्थानान्तरित करना होता है। *कश्चिद् अजास्वामी* शब्द निश्चित रूप से बताते हैं कि शुक्राचार्य किसी भी तरह ययाति से श्रेष्ठ न थे क्योंकि दोनों ही शुक्र या वीर्य द्वारा उत्पन्न पारिवारिक मामलों में रुचि रखते थे। शुक्राचार्य ने सर्वप्रथम ययाति को शाप दिया था कि वह वृद्ध हो जाय जिससे वह संभोग न कर सके, किन्तु जब उन्होंने देखा कि इससे उन्हीं की पुत्री को दण्ड मिलेगा तो उन्होंने अपनी योगशक्ति से ययाति के पुंसत्व को फिर से स्थापित कर दिया। चूँकि उन्होंने अपनी योगशक्ति का प्रयोग पारिवारिक मामलों में किया था, भगवान् की अनुभूति प्राप्त करने के लिए नहीं, अतएव यह योग के जादू का अभ्यास बकरा-बकरी के संभोग के समान था। योगशक्ति का समुचित प्रयोग भगवान् के साक्षात्कार करने में होना चाहिए जैसा कि साक्षात् भगवान् ने *भगवद्गीता* (६.४७) में संस्तुति की है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

"समस्त योगियों में से जो योगी श्रद्धापूर्वक मुझमें विश्वास करता है और दिव्य प्रेमाभक्ति से मेरी पूजा करता है वह योग में मुझसे भलीभाँति युक्त रहता है और सबों में श्रेष्ठ है।"

सम्बद्धवृषणः सोऽपि ह्यजया कूपलब्धया ।
कालं बहुतिथं भद्रे कामैर्नाद्यापि तुष्यति ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सम्बद्ध-वृषणः—जिसके अण्डकोषों को जोड़ दिया गया हो; सः—वह; अपि—भी; हि—निस्सन्देह; अजया—बकरी के साथ; कूप-लब्धया—कुएँ से मिली; कालम्—समय के लिए; बहु-तिथम्—दीर्घकालीन; भद्रे—हे प्रिय पत्नी; कामैः—कामेच्छाओं सहित; न—नहीं; अद्य अपि—आज तक; तुष्यति—संतुष्ट होता है।

हे प्रिये, जब बकरे के अण्डकोष जुड़ गये तो उसने कुएँ से मिली बकरी के साथ सम्भोग किया और यद्यपि वह अनेकानेक वर्षों तक भोग करता रहा, किन्तु आज भी वह पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हो पाया है।

तात्पर्य : जब कोई अपनी पत्नी के स्नेह में आबद्ध होता है तो वह संभोग-वासनाओं से लिप्त रहता है जिन्हें जीत पाना अत्यन्त कठिन है। अतएव वैदिक सभ्यता के अनुसार मनुष्य को चाहिए कि स्वेच्छा से अपने तथाकथित घर को छोड़कर जंगल चला जाय। *पञ्चाशोर्ध्वं वनं व्रजेत्।* मनुष्य जीवन ऐसी ही तपस्या के लिए है। घर पर संभोग के जीवन को स्वेच्छा से त्याग कर और जंगल जाकर भक्तों की संगति में आध्यात्मिक कार्यों में लगकर मनुष्य मानव जीवन के असली उद्देश्य को प्राप्त करता है।

तथाहं कृपणः सुभ्रु भवत्याः प्रेमयन्त्रितः ।
आत्मानं नाभिजानामि मोहितस्तव मायया ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तथा—बकरे की तरह; अहम्—मैं; कृपणः—कंजूस, जिसे जीवन के महत्त्व का कोई ज्ञान नहीं है; सु-भ्रु—हे सुन्दर भौहों वाली; भवत्याः—तुम्हारे साथ; प्रेम-यन्त्रितः—मानों प्रेम में बँधा हूँ जो कि वास्तव में विषयवासना है; आत्मानम्—आत्मसाक्षात्कार (जो मैं हूँ और जो मेरा धर्म है); न अभिजानामि—अभी तक समझ नहीं पाया; मोहितः—मोहित होकर; तव—तुम्हारे; मायया—आकर्षक भौतिक स्वरूप के द्वारा।

हे सुन्दर भौहों वाली प्रिये, मैं उसी बकरे के सदृश हूँ क्योंकि मैं इतना मन्दबुद्धि हूँ कि मैं तुम्हारे सौन्दर्य से मोहित होकर आत्म-साक्षात्कार के असली कार्य को भूल गया हूँ।

तात्पर्य : यदि कोई अपनी पत्नी के तथाकथित सौन्दर्य में फँसा रहता है तो उसका गृहस्थ-जीवन अन्धकूप के तुल्य है। *हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपम्।* ऐसे अन्धकूप में रहना निश्चित रूप से आत्मघात है। यदि कोई दयनीय भौतिक जीवन से छुटकारा चाहता है तो उसे स्वेच्छापूर्वक अपनी पत्नी के साथ अपने विषय-भोगों को त्यागना होगा अन्यथा आत्म-साक्षात्कार का प्रश्न ही नहीं उठता। जब तक कोई आध्यात्मिक चेतना में बहुत आगे न बढ़ा-चढ़ा हो तब तक गृहस्थ जीवन अन्धकूप के सिवा कुछ भी नहीं है जिसमें उसे आत्मघात करना होता है। इसीलिए महाराज प्रह्लाद ने संस्तुति की है कि यथासमय, कम से कम जब मनुष्य पचास वर्ष का हो जाय तो उसे घरबार छोड़कर वन में चले जाना चाहिए। *वनं गतो यद्धरिम् आश्रयेत।* वहाँ उसे हरि के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए।

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते ॥ १३॥

शब्दार्थ

यत्—जो भी; पृथिव्याम्—इस संसार के भीतर; व्रीहि—अन्न, धान; यवम्—जौ; हिरण्यम्—सोना; पशवः—पशु; स्त्रियः—स्त्रियाँ, पत्नियाँ; न दुह्यन्ति—नहीं देती हैं; मनः-प्रीतिम्—मन की तुष्टि; पुंसः—पुरुष को; काम-हतस्य—विषयवासनाओं के शिकार होने के कारण; ते—वे।

कामी पुरुष का मन कभी तुष्ट नहीं होता भले ही उसे इस संसार की हर वस्तु प्रचुर मात्रा में उपलब्ध क्यों न हो, जैसेकि धान, जौ, अन्य अनाज, सोना, पशु तथा स्त्रियाँ इत्यादि। उसे किसी वस्तु से संतोष नहीं होता।

तात्पर्य : भौतिकतावादी का लक्ष्य अपनी आर्थिक दशा को सुधारना है, किन्तु इस आर्थिक विकास का कोई अन्त नहीं है क्योंकि यदि मनुष्य अपनी कामेच्छाओं को वश में नहीं करता तो वह कभी भी सन्तुष्ट नहीं होगा, भले ही उसे विश्व भर की सम्पत्ति क्यों न मिल जाये। इस युग में हमें पर्याप्त भौतिक विकास दिखता है तो भी लोग अधिकाधिक भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिए संघर्षरत हैं। *मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।* यद्यपि प्रत्येक जीव परम पुरुष का अंश है, किन्तु कामेच्छाओं के कारण वह अपनी तथाकथित आर्थिक दशा को सुधारने के नाम पर निरन्तर संघर्षशील रहता है। मनस्तुष्टि प्राप्त करने के लिए कामेच्छाओं के मनो-रोग को त्यागना होगा। यह तभी हो सकता है जब कोई कृष्णभावनाभावित हो।

भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं

हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः

(भागवत १०.३३.३९)

कृष्णभावनाभावित होने पर मनोरोग जाता रहता है अन्यथा कामेच्छाओं का यह रोग चलता रहेगा और मनुष्य को कभी भी मन:शान्ति प्राप्त नहीं हो सकेगी।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शांयति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ १४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; जातु—किसी भी समय; कामः—कामेच्छा; कामानाम्—कामी पुरुषों की; उपभोगेन—कामेच्छाओं के भोग द्वारा; शांयति—शान्त की जा सकती है; हविषा—घी द्वारा; कृष्ण-वर्त्मा—अग्नि; इव—सदृश; भूयः—बार बार; एव—निस्सन्देह; अभिवर्धते—अधिकाधिक बढ़ती है।

जिस तरह अग्नि में घी डालने से अग्नि शान्त नहीं होती अपितु अधिकाधिक बढ़ती जाती है उसी प्रकार निरन्तर भोग द्वारा कामेच्छाओं को रोकने का प्रयास कभी भी सफल नहीं हो सकता। (तथ्य तो यह है कि मनुष्य को स्वेच्छा से भौतिक इच्छाएँ समाप्त करनी चाहिए।)

तात्पर्य : इन्द्रियों की तृप्ति के लिए मनुष्य के पास प्रचुर धन तथा साधन प्राप्त होने पर भी वह कभी तुष्ट नहीं हो पाता क्योंकि भोग द्वारा कामेच्छाओं को रोक पाने में सफलता नहीं मिल सकती। यहाँ पर दिया गया दृष्टान्त अत्यन्त उपयुक्त है। कोई व्यक्ति घी डालकर प्रज्ज्वलित अग्नि को बुझा नहीं सकता।

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेष्वमङ्गलम् ।
समदृष्टेस्तदा पुंसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥ १५॥

शब्दार्थ

यदा—जब; न—नहीं; कुरुते—करता है; भावम्—अनुरक्ति या द्वेष से भिन्न मनोवृत्ति; सर्व-भूतेषु—सारे जीवों पर; अमङ्गलम्—अशुभ; सम-दृष्टेः—समदृष्टि होने से; तदा—उस समय, तब; पुंसः—पुरुष का; सर्वाः—सारी; सुख-मयाः—सुखी अवस्था में; दिशः—दिशाएँ।

जब मनुष्य द्वेष-रहित होता है और किसी का बुरा नहीं चाहता तो वह समदर्शी होता है। ऐसे व्यक्ति के लिए सारी दिशाएँ सुखमय प्रतीत होती हैं।

तात्पर्य : प्रबोधानन्द सरस्वती ने कहा है—*विश्वं पूर्णसुखायते*—जब मनुष्य भगवान् चैतन्य के अनुग्रह से कृष्णभावनाभावित बनता है तो उसे सारा संसार सुखी दिखता है और उसे किसी वस्तु की लालसा नहीं

रह जाती। *ब्रह्म-भूत* अवस्था में या दिव्य-साक्षात्कार के पद पर न कोई संताप रहता है न कोई भौतिक आकांक्षा। (*न शोचति न कांक्षति*) जब तक मनुष्य इस जगत में रहता है तब तक कर्म-फल चलते रहते हैं, किन्तु जब मनुष्य कर्म तथा फल से अप्रभावित हो जाता है तो वह भौतिक इच्छाओं का शिकार बनने के खतरे से बच जाता है। इस श्लोक में उन लोगों के लक्षणों का वर्णन हुआ है जो कामेच्छाओं से ऊब गए हैं। जैसा कि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने बतलाया है जब मनुष्य अपने शत्रु से भी द्वेष नहीं रखता, जब वह किसी से सम्मान नहीं चाहता, उल्टे वह अपने शत्रु तक का भला चाहता है तो वह *परमहंस* कहा जाता है अर्थात् जिसने अपनी कामवासनाओं को पूरी तरह दमित कर लिया है।

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते ।
तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

या—जो; दुस्त्यजा—जिसको छोड़ पाना अत्यन्त कठिन है; दुर्मतिभिः—भौतिक भोगों में अत्यधिक आसक्त व्यक्तियों द्वारा; जीर्यतः—वृद्धावस्था के कारण अत्यन्त अशक्तों द्वारा भी; या—जो; न—नहीं; जीर्यते—नष्ट होती है; ताम्—ऐसी; तृष्णाम्—इच्छा को; दुःख-निवहाम्—सारे दुखों का मूल कारण; शर्म-कामः—अपने सुख का इच्छुक व्यक्ति; द्रुतम्—शीघ्र ही; त्यजेत्—छोड़ दे।

जो लोग भौतिक भोग में अत्यधिक लिप्त रहते हैं उनके लिए इन्द्रियतृप्ति को त्याग पाना अत्यन्त कठिन है। यहाँ तक कि वृद्धावस्था के कारण अशक्त व्यक्ति भी इन्द्रियतृप्ति की ऐसी इच्छाओं को नहीं त्याग पाता। अतएव जो सचमुच सुख चाहता है उसे ऐसी अतृप्त इच्छाओं को त्याग देना चाहिए क्योंकि ये सारे कष्टों की जड़ हैं।

तात्पर्य : हमने पश्चिमी देशों में वास्तव में देखा है कि जो लोग अस्सी वर्ष के हो चुके हैं वे भी नाइटक्लबों में जाते हैं और शराब पीने तथा स्त्रियों की संगति करने में काफी धन व्यय करते हैं। यद्यपि ऐसे लोग किसी भी वस्तु का भोग करने के लिए पर्याप्त वृद्ध रहते हैं, किन्तु उनकी इच्छाएँ (तृष्णाएँ) नहीं मरती हैं। समय शरीर को भी जर्जर बना देता है जो ऐन्द्रिय तुष्टि का साधन है, किन्तु वृद्ध तथा अशक्त होने पर भी मनुष्य की इच्छाएँ इतनी प्रबल होती हैं कि वह अपनी इन्द्रियों की इच्छापूर्ति के लिए इधर-उधर मारा-मारा फिरने पर विवश हो जाता है। अतएव भक्तियोग के अभ्यास से मनुष्य को अपनी कामेच्छाएँ त्याग देनी चाहिए। जैसा कि श्री यामुनाचार्य ने बतलाया है—

यदवधि मम चेतः कृष्णपादारविन्दे

नवनवरसधामन्युद्यतं रन्तुमासीत्।

तदवधि बत नारीसंगमे स्मर्यमाने

भवति मुखविकारः सुष्ठुनिष्ठीवनं च॥

जब मनुष्य कृष्णभावनाभावित बन जाता है तो उसे कृष्ण के लिए कार्य करने से अधिकाधिक सुख मिलता है। ऐसा व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति पर, विशेष रूप से विषय-भोग पर, थूकता है। अनुभवी प्रगत भक्त की रुचि विषयी जीवन में नहीं रहती। कृष्णभावनामृत में प्रगति के द्वारा ही संभोग की प्रबल इच्छा को दमित किया जा सकता है।

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ १७॥

शब्दार्थ

मात्रा—माता के साथ; स्वस्रा—बहन के साथ; दुहित्रा—पुत्री के साथ; वा—अथवा; न—नहीं; अविविक्त-आसनः—एक ही आसन पर सटकर बैठे; भवेत्—हो; बलवान्—अत्यन्त प्रबल; इन्द्रिय-ग्रामः—इन्द्रियसमूह; विद्वांसम्—अत्यन्त विद्वान व्यक्ति को; अपि—भी; कर्षति—उत्तेजित करता है।

मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी माता, बहन या पुत्री के साथ एक ही आसन पर न बैठे क्योंकि इन्द्रियाँ इतनी प्रबल होती हैं कि बड़े से बड़ा विद्वान भी यौन द्वारा आकृष्ट हो सकता है।

तात्पर्य : स्त्रियों के साथ बर्ताव करने का शिष्टाचार सीख लेने से कोई यौन-आकर्षण से मुक्त नहीं हो सकता। जैसा कि यहाँ पर विशेष उल्लेख हुआ है, ऐसा आकर्षण अपनी माता, बहन या पुत्री से भी हो सकता है। सामान्यतया कोई अपनी माता, बहन या पुत्री के प्रति विषयभोग की दृष्टि से आकृष्ट नहीं होता, किन्तु यदि कोई इनके सन्निकट बैठता है तो वह आकृष्ट हो सकता है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है। ऐसा कहा जा सकता है कि यदि कोई सभ्य जीवन में बढ़ा-चढ़ा नहीं है तो वह आकृष्ट हो सकता है, किन्तु जैसा कि यहाँ विशेष रूप से उल्लेख हुआ है *विद्वांसमपि कर्षति*—विद्वान भी, चाहे वह भौतिक या आध्यात्मिक दृष्टि से कितना ही बढ़ा-चढ़ा क्यों न हो, विषयवासनाओं द्वारा आकृष्ट हो सकता है। आकर्षण की वस्तु उसकी माता, बहन या पुत्री तक हो सकती है। अतएव स्त्रियों के साथ व्यवहार करते समय मनुष्य को अत्यधिक सावधान रहना चाहिए। चैतन्य महाप्रभु ऐसे व्यवहार में, विशेष रूप से संन्यास ग्रहण करने के बाद, अत्यन्त कठोर थे। उनके पास कोई भी स्त्री प्रणाम करने के लिए नहीं जा पाती थी। यहाँ पर भी यह चेतावनी दी गई

है कि मनुष्य को स्त्रियों के साथ व्यवहार करते हुए अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए। ब्रह्मचारी को तो अपनी गुरुपत्नी को भी, यदि वह युवती हो, देखना मना है। कभी-कभी गुरुपत्नी अपने पति के शिष्य से कुछ काम ले सकती है, जिस तरह कि वह अपने पुत्र से ले सकती है, किन्तु यदि गुरुपत्नी युवती हो तो ब्रह्मचारी को उसकी सेवा करना वर्जित है।

पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयान्सेवतोऽसकृत् ।
तथापि चानुसवनं तृष्णा तेषूपजायते ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

पूर्णम्—पूरे; वर्ष-सहस्रम्—एक हजार वर्ष; मे—मेरा; विषयान्—इन्द्रियतृप्ति; सेवतः—भोग करते हुए; असकृत्—निरन्तर; तथा अपि—फिर भी; च—निस्सन्देह; अनुसवनम्—अधिकाधिक; तृष्णा—कामेच्छाएँ; तेषु—इन्द्रियतृप्ति में; उपजायते—बढ़ती जाती है।

मैंने इन्द्रियतृप्ति के भोगने में पूरे एक हजार वर्ष बिता दिये हैं फिर भी ऐसे आनन्द को भोगने की मेरी इच्छा नित्य बढ़ती जाती है।

तात्पर्य : महाराज ययाति अपने वास्तविक अनुभव के आधार पर बताते हैं कि वृद्धावस्था में भी विषयवासनाएँ कितनी प्रबल होती हैं।

तस्मादेतामहं त्यक्त्वा ब्रह्मण्यध्याय मानसम् ।
निर्द्वन्द्वो निरहङ्कारश्चरिष्यामि मृगैः सह ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; एताम्—ऐसी प्रबल इच्छाओं को; अहम्—मैं; त्यक्त्वा—त्याग कर; ब्रह्मणि—परब्रह्म में; अध्याय—स्थिर करके; मानसम्—मन को; निर्द्वन्द्वः—द्वन्द्व रहित; निरहङ्कारः—मिथ्या अहंकार से रहित; चरिष्यामि—जंगल में विचरण करूँगा; मृगैः सह—जंगली पशुओं के साथ।

अतएव अब मैं इन सारी इच्छाओं को त्याग दूँगा और भगवान् का ध्यान करूँगा। मनोरथों के द्वन्द्वों से तथा मिथ्या अहंकार से रहित होकर मैं जंगल में पशुओं के साथ विचरण करूँगा।

तात्पर्य : जंगल जाकर पशुओं के साथ रहना और भगवान् का ध्यान करना ही कामवासनाओं को त्यागने का एकमात्र उपाय है। जब तक मनुष्य इन कामेच्छाओं को त्याग नहीं देता तब तक उसका मन भौतिक कल्मष से मुक्त नहीं हो सकता। अतएव यदि कोई जन्म, मरण, जरा तथा व्याधि के बन्धन से छूटना चाहता है तो उसे एक निश्चित आयु के बाद जंगल चले जाना चाहिए। *पञ्चाशोर्ध्वं वनं व्रजेत्।* पचास वर्ष के बाद मनुष्य को स्वेच्छा से पारिवारिक जीवन छोड़कर जंगल चले जाना चाहिए। सर्वश्रेष्ठ जंगल वृन्दावन है

जहाँ उसे पशुओं के साथ रहने की आवश्यकता नहीं अपितु वहाँ वह भगवान् के साथ रह सकता है क्योंकि वे वृन्दावन कभी नहीं छोड़ते। वृन्दावन में कृष्णभावनामृत का अनुशीलन करना भौतिक बंधन से मुक्त होने का सर्वोत्तम उपाय है क्योंकि वृन्दावन में मनुष्य स्वत: कृष्ण का ध्यान कर सकता है। वृन्दावन में अनेक मन्दिर हैं और इनमें से किसी न किसी में राधाकृष्ण या कृष्णबलराम के रूप में भगवान् के स्वरूप का दर्शन किया जा सकता है और इस स्वरूप का ध्यान किया जा सकता है। जैसा कि यहाँ *ब्रह्मण्यध्याय* शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है, मनुष्य को अपना मन परब्रह्म में केन्द्रित करना चाहिए। यह परब्रह्म कृष्ण है जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में अर्जुन द्वारा की गई है (*परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्*)। कृष्ण तथा उनका धाम वृन्दावन पृथक् नहीं हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनम्।* वृन्दावन कृष्ण के ही समान है। अतएव यदि किसी को वृन्दावन में रहने का सौभाग्य प्राप्त हो और यदि वह धूर्त न हो अपितु वृन्दावन में केवल रहता ही हो तथा अपना मन कृष्ण में एकाग्र करता हो तो वह भवबन्धन से छूट जाता है। किन्तु उस का मन वृन्दावन में भी शुद्ध नहीं हो पाता, यदि वह कामेच्छाओं से विचलित हो। मनुष्य को वृन्दावन में रहते हुए अपराध नहीं करना चाहिए क्योंकि वृन्दावन में अपराधी जीवन बन्दरों तथा सूअरों के जीवन के तुल्य होगा। वृन्दावन में अनेक बंदर तथा सूअर रहते हैं और उन्हें संभोग की इच्छा बनी रहती है। जो लोग वृन्दावन जा करके भी संभोग के लिए लालायित रहते हैं उन्हें तुरन्त ही वृन्दावन छोड़ देना चाहिए और भगवान् के चरणकमलों पर किये जाने वाले गम्भीर अपराधों को रोक देना चाहिए। ऐसे अनेक दिग्भ्रमित व्यक्ति हैं जो अपनी कामेच्छा की पूर्ति के लिए वृन्दावन में रहते हैं, किन्तु वे बन्दरों तथा सूअरों के ही समान हैं। जो लोग माया के अधीन हैं और विशेष रूप से कामेच्छाओं के वशीभूत हैं वे *मायामृग* कहलाते हैं। निस्सन्देह, सभी लोग भौतिक जीवन की बद्ध अवस्था में मायामृग ही होते हैं। कहा गया है—*मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्*—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने इस संसार के मायामृगों अर्थात् उन मनुष्यों पर, जो कामेच्छाओं के कारण कष्ट पा रहे हैं, अपनी अहैतुकी कृपा दिखाने के लिए संन्यास ग्रहण किया। लोगों को श्रीचैतन्य महाप्रभु के सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए और पूर्ण कृष्णभावनामृत में कृष्ण का सदैव चिन्तन करना चाहिए। तभी वे वृन्दावन में रहने के योग्य होंगे और उनका जीवन सफल हो सकेगा।

दृष्टं श्रुतमसद्बुद्ध्वा नानुध्यायेन्न सन्दिशेत् ।
संसृतिं चात्मनाशं च तत्र विद्वान्स आत्मदृक् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

दृष्टम्—हमारे द्वारा वर्तमान जीवन में अनुभूत भौतिक भोग; श्रुतम्—भौतिक भोग जो सकाम कर्मियों को भावी सुख के लिए मिलना है (वर्तमान या अगले जीवन में या स्वर्गलोक आदि में); असत्—जो क्षणिक तथा निकृष्ट है; बुद्ध्वा—जानकर; न—नहीं; अनुध्यायेत्—सोचना चाहिए; न—न तो; सन्दिशेत्—वास्तव में भोग करना चाहिए; संसृतिम्—भौतिक जीवन का दीर्घ होना; च—तथा; आत्म-नाशम्—अपनी स्वाभाविक स्थिति का विस्मरण; च—भी; तत्र—ऐसे विषय में; विद्वान्—पूर्णतया अवगत; सः—ऐसा व्यक्ति; आत्म-दृक्—स्वरूपसिद्ध।

जो यह जानता है कि भौतिक सुख चाहे अच्छा हो या बुरा, इस जीवन में हो या अगले जीवन में, इस लोक में हो या स्वर्गलोक में हो, क्षणिक तथा व्यर्थ है और यह जानता है कि बुद्धिमान पुरुष को ऐसी वस्तुओं को भोगने या सोचने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। वह मनुष्य आत्मज्ञानी है। ऐसा स्वरूपसिद्ध व्यक्ति भलीभाँति जानता है कि भौतिक सुख बारम्बार जन्म एवं अपनी स्वाभाविक स्थिति के विस्मरण का एकमात्र कारण है।

तात्पर्य : जीव आत्मा है और भौतिक शरीर उसका बन्धन है। यही आध्यात्मिक ज्ञान का शुभारम्भ है।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

"जिस तरह इस शरीर में देहधारी आत्मा निरन्तर बालपन से युवावस्था और फिर वृद्धावस्था को प्राप्त होता है उसी प्रकार मृत्यु के समय आत्मा दूसरे शरीर में चला जाता है। जो स्वरूपसिद्ध व्यक्ति है वह ऐसे परिवर्तन से मोहग्रस्त नहीं होता।" (*भगवद्गीता* २.१३) मानव जीवन का असली उद्देश्य भौतिक शरीर के बन्धन से मुक्त होना है। इसीलिए कृष्ण बद्ध आत्मा को आत्म-साक्षात्कार सिखाने तथा भवबन्धन से मुक्त होने की विधि बताने के लिए अवतरित होते हैं। *यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। धर्मस्य ग्लानिः* का अर्थ है "जीवन का प्रदूषण।" हमारा जीवन अब प्रदूषित है। इसे शुद्ध किया जाना चाहिए (*सत्त्वं शुद्ध्येत*)। मानव जीवन इसी शुद्धि के लिए है न कि बाह्य शरीर के रूप में सुख का चिन्तन करने के लिए जो भवबन्धन का कारण है। अतएव इस श्लोक में महाराज ययाति उपदेश दे रहे हैं कि हमें जितना भी भौतिक सुख दिखता है तथा जितने की हमें आशा बँधाई जाती है वह सब केवल क्षणिक एवं नश्वर है। *आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।* यदि कोई ब्रह्मलोक भी चला जाय, किन्तु यदि वह भवबन्धन से

मुक्त नहीं है तो वह इस पृथ्वी लोक पर लौट आता है और संसार में दुखमय स्थिति में रहता जाता है (*भूत्वा भूत्वा प्रलीयते*)। मनुष्य को चाहिए कि वह इस जानकारी को सदा मन में रखे ताकि वह इस जीवन में या अगले जीवन में किसी प्रकार के इन्द्रियभोग के प्रति आकृष्ट न हो। जो इस सत्य से पूर्णतया अवगत रहता है वह स्वरूपसिद्ध है (*स आत्मदृक्*), किन्तु उसके अतिरिक्त अन्य सारे लोग जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसे रहते हैं (*मृत्युसंसारवर्त्मनि*)। ऐसा ज्ञान असली बुद्धि का है और इसके विरुद्ध जो कुछ भी है वह दुख का कारण है। *कृष्ण भक्त—निष्काम, अतएव 'शान्त'*। केवल कृष्ण भक्त ही शान्त है क्योंकि वह जीवन के लक्ष्य को जानता है। अन्य सारे लोग, चाहे कर्मी हों या ज्ञानी अथवा योगी, अशान्त रहते हैं और असली शान्ति नहीं भोग पाते।

इत्युक्त्वा नाहुषो जायां तदीयं पूरवे वयः ।
दत्त्वा स्वजरसं तस्मादाददे विगतस्पृहः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

इति उक्त्वा—ऐसा कहकर; नाहुषः—नहुष पुत्र महाराज ययाति; जायाम्—अपनी पत्नी देवयानी से; तदीयम्—उसका; पूरवे—अपने पुत्र पूरु को; वयः—जवानी; दत्त्वा—देकर; स्व-जरसम्—अपने बुढ़ापे को; तस्मात्—उससे; आददे—वापस ले लिया; विगत-स्पृहः—सारी वासनाओं से मुक्त होकर, निस्पृह।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : अपनी पत्नी देवयानी से इस प्रकार कहकर समस्त इच्छाओं से मुक्त हुए राजा ययाति ने अपने सबसे छोटे पुत्र पूरु को बुलाया और उसे उसकी जवानी लौटाकर अपना बुढ़ापा वापस ले लिया।

दिशि दक्षिणपूर्वस्यां द्रुह्युं दक्षिणतो यदुम् ।
प्रतीच्यां तुर्वसुं चक्र उदीच्यामनुमीश्वरम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

दिशि—दिशा में; दक्षिण-पूर्वस्याम्—दक्षिण पूर्व; द्रुह्युम्—अपने बेटे द्रुह्यु को; दक्षिणतः—संसार की दक्षिण दिशा में; यदुम्—यदु को; प्रतीच्याम्—पश्चिम दिशा में; तुर्वसुम्—अपने पुत्र तुर्वसु को; चक्रे—बना दिया; उदीच्याम्—उत्तर दिशा में; अनुम्—अपने पुत्र अनु को; ईश्वरम्—राजा।

राजा ययाति ने अपने पुत्र द्रुह्यु को दक्षिण पूर्व की दिशा, अपने पुत्र यदु को दक्षिण की दिशा, अपने पुत्र तुर्वसु को पश्चिमी दिशा और अपने चौथे पुत्र अनु को उत्तरी दिशा दे दी। इस तरह उन्होंने राज्य का बँटवारा कर दिया।

भूमण्डलस्य सर्वस्य पूरुमर्हत्तमं विशाम् ।
अभिषिच्याग्रजांस्तस्य वशे स्थाप्य वनं ययौ ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

भू-मण्डलस्य—सारे पृथ्वीलोक का; सर्वस्य—सारी सम्पत्ति का; पूरुम्—अपने सब से छोटे पुत्र पूरु को; अर्हत्-तमम्—सर्वाधिक पूज्य व्यक्ति, राजा; विशाम्—प्रजा का; अभिषिच्य—अभिषेक करके; अग्रजान्—यदु से लेकर अपने बड़े भाइयों को; तस्य—पूरु के; वशे—नियंत्रण में; स्थाप्य—रखकर; वनम्—वन; ययौ—चला गया।

ययाति ने अपने सबसे छोटे पुत्र पूरु को सारे विश्व का सम्राट तथा सारी सम्पत्ति का स्वामी बना दिया और पूरु से बड़े अपने अन्य सारे पुत्रों को पूरु के अधीन कर दिया।

आसेवितं वर्षपूगान्षड्वर्गं विषयेषु सः ।
क्षणेन मुमुचे नीडं जातपक्ष इव द्विजः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

आसेवितम्—सदैव संलग्न रहकर; वर्ष-पूगान्—अनेकानेक वर्षों तक; षट्-वर्गम्—मन समेत छहों इन्द्रियों को; विषयेषु—इन्द्रियभोग में; सः—राजा ययाति ने; क्षणेन—एक ही क्षण के भीतर; मुमुचे—छोड़ दिया; नीडम्—नीड़, घोसला; जात-पक्षः—पंख उग आये हैं; इव—सदृश; द्विजः—पक्षी।

हे राजा परीक्षित, ययाति ने अनेकानेक वर्षों तक विषयवासनाओं का भोग किया, क्योंकि वे इसके आदी थे, किन्तु उन्होंने एक क्षण के भीतर अपना सर्वस्व त्याग दिया जिस तरह पंख उगते ही पक्षी अपने घोंसले से उड़ जाता है।

तात्पर्य : महाराज ययाति बद्धजीवन के बन्धन से तुरन्त मुक्त हो गये, यह सचमुच आश्चर्यजनक है। लेकिन यहाँ पर जो दृष्टान्त दिया गया है वह उपयुक्त है। पक्षी का एक छोटा-सा बच्चा, जो खाने पीने के लिए भी अपने माता-पिता पर निर्भर रहता है, पंख उगते ही सहसा घोंसले से उड़ जाता है। इसी प्रकार यदि कोई पूर्णतया भगवान् के शरणागत हो जाता है तो वह तुरन्त बद्ध-जीवन के बन्धन से मुक्त हो जाता है जैसा कि स्वयं भगवान् ने वचन दिया है (*अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि*)। *श्रीमद्भागवत* में (२.४.१८) कहा गया है—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कशा

आभीरशुम्भा यवनाः खसादयः ।

येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः

शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥

“किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कश, आभीर, शुम्भ, यवन तथा खस जातियाँ तथा पापकर्मों में लिप्त रहने वाले अन्य लोग भी भगवान् के भक्तों की शरण ग्रहण करने पर शुद्ध हो जाते हैं क्योंकि भगवान् सर्वोच्च शक्ति हैं। मैं उन्हें सादर नमस्कार करता हूँ।” भगवान् विष्णु इतने शक्तिशाली हैं कि यदि वे चाहें तो किसी का भी तुरन्त उद्धार कर सकते हैं और भगवान् विष्णु या कृष्ण को तो तुरन्त प्रसन्न किया जा सकता है यदि हम ययाति की भाँति भगवान् के आदेश को मानकर उनकी शरण ग्रहण कर लें। महाराज ययाति वासुदेव कृष्ण की सेवा करना चाहते थे अतएव ज्यों ही उन्होंने गृहस्थ जीवन से विरक्त होना चाहा त्योंही भगवान् वासुदेव ने उनकी सहायता की। अतएव भगवान् के चरणकमलों में अपने आपको समर्पित करते समय हमें अत्यन्त निष्ठावान होना चाहिए। तब हम बद्धजीवन के सारे बन्धन से तुरन्त छूट सकेंगे। अगले श्लोक में इसकी स्पष्ट व्याख्या की गई है।

स तत्र निर्मुक्तसमस्तसङ्ग
आत्मानुभूत्या विधुतत्रिलिङ्गः ।
परेऽमले ब्रह्मणि वासुदेवे
लेभे गतिं भागवतीं प्रतीतः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सः—महाराज ययाति; तत्र—ऐसा करके; निर्मुक्त—तुरन्त मुक्त हो गया; समस्त-सङ्गः—सारा कल्मष; आत्म-अनुभूत्या—अपनी स्वाभाविक स्थिति को समझने मात्र से; विधुत—स्वच्छ; त्रि-लिङ्गः—प्रकृति के तीन गुणों (सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण) से उत्पन्न कल्मष; परे—ब्रह्म में; अमले—मलरहित; ब्रह्मणि—परमेश्वर में; वासुदेवे—भगवान् वासुदेव परम सत्य में; लेभे—प्राप्त किया; गतिम्—लक्ष्य; भागवतीम्—भगवान् के पार्षद रूप में; प्रतीतः—सुप्रसिद्ध।

चूँकि राजा ययाति ने भगवान् वासुदेव के चरणकमलों में पूरी तरह अपने को समर्पित कर दिया था अतएव वे प्रकृति के गुणों के सारे कल्मष से मुक्त हो गये। अपने आत्मसाक्षात्कार के कारण वे अपने मन को परब्रह्म वासुदेव में स्थिर कर सके और इस तरह अन्ततः उन्हें भगवान् के पार्षद का पद प्राप्त हुआ।

तात्पर्य : *विधुत्* का अर्थ है ‘स्वच्छ’ और यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस जगत में प्रत्येक प्राणी कल्मषग्रस्त है (*कारणं गुणसंगोऽस्य*)। क्योंकि हम भौतिक अवस्था में हैं, इस जगत में हम सतोगुण या रजोगुण या तमोगुण से कलुषित होते हैं। यदि कोई सतोगुण के कारण योग्य ब्राह्मण बन भी जाय तो भी वह

भौतिक दृष्टि से कल्मषग्रस्त ही रहता है। उसे सतोगुण पार करके *शुद्ध सत्त्व* पद प्राप्त करना होता है। तभी वह *विधुत-त्रिलिंग* होता है अर्थात् तीनों गुणों से उत्पन्न कल्मष से स्वच्छ बनता है। यह कृष्ण की कृपा से ही सम्भव है। जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में (१.२.१७) कहा गया है—

शृण्वतां स्वकथा: कृष्ण: पुण्यश्रवणकीर्तन: ।

हृद्यन्त:स्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥

"भगवान् श्रीकृष्ण जो कि हर एक के हृदय में परमात्मास्वरूप स्थित हैं और सच्चे भक्त का उपकार करने वाले हैं, उस भक्त के हृदय की भौतिक भोग की इच्छा को मिटा देते हैं जो उनके उन सन्देशों को सुनने के लिए उत्सुक है जो ठीक से सुनने और उच्चरित होने पर स्वयं वैभवशाली होते हैं।" जो व्यक्ति *श्रीमद्भागवत* या *भगवद्गीता* से कृष्ण के शब्दों को सुनकर पूर्णतया कृष्णभक्त बनने का प्रयास करता है उसके हृदय से निश्चित रूप से सारा मल दूर हो जाता है। चैतन्य महाप्रभु भी कहते हैं— *चेतोदर्पणमार्जनम्*— भगवान् की महिमा का श्रवण तथा कीर्तन करने से हृदय में जमा सारा मल धुल जाता है। ज्योंही मनुष्य भौतिक कल्मष के मल से मुक्त हो जाता है, जैसा कि महाराज ययाति हुए, तो उसे भगवान् के पार्षद का मूलपद प्राप्त हो जाता है। यह स्वरूपसिद्धि कहलाती है।

श्रुत्वा गाथां देवयानी मेने प्रस्तोभमात्मन: ।
स्त्रीपुंसो: स्नेहवैक्लव्यात्परिहासमिवेरितम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर; गाथाम्—कथा; देवयानी—महाराज ययाति की पत्नी देवयानी; मेने—समझ गई; प्रस्तोभम् आत्मन:—अपने आत्म-साक्षात्कार के लिए उपदेश दिये जाने पर; स्त्री-पुंसो:—पति तथा पत्नी के बीच; स्नेह-वैक्लव्यात्—प्रेम तथा स्नेह के विनिमय से; परिहासम्—मजाक या कहानी; इव—सदृश; ईरितम्—कही गई (ययाति द्वारा)।

जब देवयानी ने महाराज ययाति द्वारा कही गई बकरे-बकरी की कथा सुनी तो वह समझ गयी कि हास-परिहास के रूप में पति-पत्नी के मध्य मनोरंजनार्थ कही गई यह कथा उसमें उसकी स्वाभाविक स्थिति को जागृत करने के निमित्त थी।

तात्पर्य : जब मनुष्य भौतिक जीवन के प्रति वास्तव में सजग होता है तो उसे कृष्ण के नित्य दास के रूप में अपनी असली स्थिति का ज्ञान होता है। यह मुक्ति कहलाती है। *मुक्तिर्हित्वान्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थिति:* (*भागवत* २.१०.६)। माया के वशीभूत इस जगत में हर जीव अपने को हर वस्तु का स्वामी

मानता है (*अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते*)। मनुष्य सोचता है कि न ईश्वर है, न कोई नियंत्रक और वह कुछ भी करने के लिए स्वतंत्र है। यह भौतिक दशा है और जब मनुष्य इस अज्ञान से जागता है तो वह मुक्त कहलाता है।महाराज ययाति ने देवयानी को कुएँ से निकाला था और अन्त में कर्तव्यनिष्ठ पति की तरह बकरे-बकरी की कथा सुनाकर उसे उपदेश देकर भौतिक सुख की भ्रान्त धारणा से मुक्त किया। देवयानी अपने मुक्त पति को समझ सकने में पूर्णतया सक्षम थी अतएव उसने आज्ञाकारिणी पत्नी के रूप में उसका अनुगमन करने का निश्चय किया।

सा सन्निवासं सुहृदां प्रपायामिव गच्छताम् ।
विज्ञायेश्वरतन्त्राणां मायाविरचितं प्रभोः ॥ २७॥
सर्वत्र सङ्गमुत्सृज्य स्वप्नौपम्येन भार्गवी ।
कृष्णे मनः समावेश्य व्यधुनोल्लिङ्गमात्मनः ॥ २८॥

शब्दार्थ

सा—देवयानी; सन्निवासम्—साथ में रहते हुए; सुहृदाम्—मित्रों तथा सम्बन्धियों के; प्रपायाम्—प्याऊ में; इव—सदृश; गच्छताम्—एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करने वालों का; विज्ञाय—जानकर; ईश्वर-तन्त्राणाम्—प्रकृति के कठोर नियमों के अन्तर्गत; माया-विरचितम्—माया द्वारा लागू नियमों को; प्रभोः—भगवान् के; सर्वत्र—इस जगत में सब जगह; सङ्गम्—साथ; उत्सृज्य—छोड़कर; स्वप्न-औपम्येन—स्वप्न के सदृश; भार्गवी—शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी; कृष्णे—कृष्ण में; मनः—पूर्ण ध्यान; समावेश्य—स्थिर करके; व्यधुनोत्—त्याग दिया; लिङ्गम्—स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों को; आत्मनः—आत्मा के।

तत्पश्चात् शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी समझ गई कि पति, मित्रों तथा सम्बन्धियों का सांसारिक साथ प्याऊ में यात्रियों की संगति के समान है। भगवान् की माया से समाज के सम्बन्ध, मित्रता तथा प्रेम ठीक स्वप्न की ही भाँति उत्पन्न होते हैं। कृष्ण के अनुग्रह से देवयानी ने भौतिक जगत की अपनी काल्पनिक स्थिति छोड़ दी। उसने अपने मन को पूरी तरह कृष्ण में स्थिर कर दिया और स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों से मोक्ष प्राप्त कर लिया।

तात्पर्य : मनुष्य को आश्वस्त होना चाहिए कि वह परब्रह्म कृष्ण का अंश दिव्य आत्मा है, किन्तु न जाने किस तरह वह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार से रचित स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर के भौतिक आवरण में बन्दी हो गया है। मनुष्य को जान लेना चाहिए कि समाज का साथ, मित्रता, प्रेम, राष्ट्रीयता, धर्म इत्यादि माया की सृष्टियाँ हैं। मनुष्य का एकमात्र व्यापार कृष्णभक्त बनना और यथासम्भव कृष्ण की अधिकाधिक सेवा करना है। इस तरह मनुष्य भवबन्धन से छूटता है। कृष्ण के अनुग्रह

से देवयानी को यह स्थिति अपने पति के उपदेशों से प्राप्त हुई।

नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे ।
सर्वभूताधिवासाय शान्ताय बृहते नमः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार करती हूँ; तुभ्यम्—तुमको; भगवते—भगवान्; वासुदेवाय—वासुदेव को; वेधसे—स्रष्टा; सर्व-भूत-अधिवासाय—सर्वव्यापी (प्रत्येक जीव के हृदय में तथा प्रत्येक अणु में भी); शान्ताय—शान्त, मानो पूर्णतया निष्क्रिय हो; बृहते—सबों में विशालतम; नमः—नमस्कार करती हूँ।

हे भगवान् वासुदेव, हे पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर, आप समस्त विराट जगत के स्रष्टा हैं। आप सबों के हृदय में परमात्मा रूप में निवास करते हैं और सूक्ष्मतम से सूक्ष्मतर होते हुए भी बृहत्तम से बृहत्तर हैं तथा सर्वव्यापक हैं। आप परम शान्त लगते हैं मानो आपको कुछ करना-धरना न हो लेकिन ऐसा आपके सर्वव्यापक स्वभाव एवं सर्व ऐश्वर्य से पूर्ण होने के कारण है। अतएव मैं आपको सादर नमस्कार करती हूँ।

तात्पर्य : यहाँ पर इस बात का वर्णन किया गया है कि अपने महान् पति के अनुग्रह से देवयानी किस तरह स्वरूपसिद्ध बन सकी। ऐसे साक्षात्कार का वर्णन करना भक्ति सम्पन्न करने की दूसरी विधि है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।

''भगवान् विष्णु के पवित्र नाम, रूप, गुण, साज-सामान तथा लीलाओं को सुनना और उनका कीर्तन करना, उनका स्मरण करना, भगवान् के चरणकमलों की सेवा करना, भगवान् की पूजा करना, प्रार्थना करना, उनका दास बनना, उन्हें अपना सर्वश्रेष्ठ मित्र मानना तथा उन्हें सर्वस्व अर्पित करना—शुद्ध भक्ति की ये नौ विधियाँ हैं। (*भागवत* ७.५.२३)। इनमें से *श्रवणं कीर्तनं* विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। अपने पति से भगवान् वासुदेव की महानता के विषय में श्रवण करके देवयानी निश्चित रूप से आश्वस्त हो गई और उसने भगवान् के चरणकमलों में अपने को समर्पित कर दिया (*ॐ नमो भगवते वासुदेवाय*)। यही ज्ञान है *बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।* भगवान् वासुदेव की शरणागति जन्मजन्मातंरों तक उनके विषय में श्रवण करने का परिणाम होती है। ज्योंही मनुष्य भगवान् वासुदेव की शरण में चला जाता है त्योंही वह मुक्त हो जाता है। देवयानी अपने महान् पति महाराज ययाति की संगति से शुद्ध हो गई, उसने भक्तियोग ग्रहण किया

और इस तरह वह मोक्ष को प्राप्त हुई।

इस तरह *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध के अन्तर्गत ''राजा ययाति को मुक्ति-लाभ'' नामक उन्नीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बीस

पूरु का वंश

इस अध्याय में पूरु तथा उसके वंशज दुष्मन्त का इतिहास दिया गया है। पूरु का पुत्र जनमेजय हुआ और उसका पुत्र था प्रचिन्वान। प्रचिन्वान की परम्परा में क्रमश: प्रवीर, मनुस्यु, चारुपद, सुद्यु, बहुगव, संयाति, अहंयाति तथा रौद्राश्व हुए। रौद्राश्व के दस पुत्र थे—ऋतेयु, कक्षेयु, स्थण्डिलेयु, कृतेयुक, जलेयु, सन्नतेयु, धर्मेयु, सत्येयु, व्रतेयु तथा वनेयु। ऋतेयु का पुत्र रन्तिनाव था जिसके तीन पुत्र थे—सुमति, ध्रुव तथा अप्रतिरथ। अप्रतिरथ का पुत्र कण्व था और कण्व का पुत्र मेधातिथि था। मेधातिथि के प्रस्कन्न आदि सभी पुत्र ब्राह्मण थे। रन्तिनाव के पुत्र सुमति से रेभि नामक पुत्र हुआ और रेभि का पुत्र था दुष्मन्त।

एक बार जंगल में शिकार करते हुए दुष्मन्त महर्षि कण्व के आश्रम में पहुँचा जहाँ उसने एक सुन्दर स्त्री को देखा जिस पर वह मोहित हो गया। यह स्त्री विश्वामित्र की पुत्री थी और उसका नाम था शकुन्तला। उसकी माता मेनका थी जिसने उसे जंगल में छोड़ दिया था जहाँ कण्व मुनि को वह मिली थी। कण्व मुनि उसे अपने आश्रम में ले आये और वहाँ उन्होंने उसका पालन-पोषण किया। जब शकुन्तला ने महाराज दुष्मन्त को पति रूप में स्वीकार कर लिया तो महाराज ने गन्धर्व विधि से उसके साथ विवाह कर लिया। बाद में जब शकुन्तला गर्भवती हो गई तो वे उसे कण्व मुनि के आश्रम में छोड़कर अपने राज्य में वापस चले गये।

समयानुसार शकुन्तला ने एक वैष्णव पुत्र को जन्म दिया, किन्तु दुष्मन्त अपनी राजधानी लौटकर सब कुछ भूल गये। अतएव जब शकुन्तला अपने नव-प्रसूत बालक के साथ दुष्मन्त के यहाँ गई, तो उन्होंने उसे अपनी पत्नी तथा पुत्र रूप में स्वीकार करने से मना कर दिया। किन्तु बाद में एक रहस्यपूर्ण शुभ शकुन होने पर राजा ने उसे स्वीकार कर लिया। दुष्मन्त की मृत्यु के बाद शकुन्तलापुत्र भरत राजगद्दी पर बैठा। उसने अनेक महा-यज्ञ किये और ब्राह्मणों को प्रचुर दान दिया। इस अध्याय का अन्त भरद्वाज के जन्म के वर्णन एवं महाराज भरत द्वारा उसे पुत्र रूप में अपनाये जाने के साथ होता है।

श्रीबादरायणिरुवाच

पूरोर्वंशं प्रवक्ष्यामि यत्र जातोऽसि भारत ।
यत्र राजर्षयो वंश्या ब्रह्मवंश्याश्च जज्ञिरे ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; पूरोः वंशम्—महाराज पूरु का वंश; प्रवक्ष्यामि—अब वर्णन करूँगा; यत्र—जिस वंश में; जातः असि—तुम उत्पन्न हुए हो; भारत—हे महाराज भरत के वंशज; यत्र—जिस वंश में; राज-ऋषयः—सारे राजा, जो ऋषि तुल्य थे; वंश्याः—एक के बाद एक; ब्रह्म-वंश्याः—अन्य ब्राह्मण वंश; च—भी; जज्ञिरे—निकले हैं।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे महाराज भरत के वंशज महाराज परीक्षित, अब मैं पूरु के वंश का वर्णन करूँगा जिसमें तुम उत्पन्न हुए हो, जिसमें अनेक राजर्षि हुए हैं, जिनसे अनेक ब्राह्मण वंशों का प्रारम्भ हुआ है।

तात्पर्य : इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हैं जिनसे हमें ज्ञात होता है कि क्षत्रियों से अनेक ब्राह्मण उत्पन्न हुए और ब्राह्मणों से अनेक क्षत्रिय उत्पन्न हुए। स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (४.१३) में कहा है—*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः*—मैंने प्रकृति के तीनों गुणों तथा उनके कार्यों के अनुसार मानव समाज को चार विभागों में बाँटा है। अतएव कोई चाहे जिस कुल में जन्म ले, जब वह किसी विशेष वर्ग के लक्षणों से युक्त होता है तो उसका वर्णन उसी के अनुसार किया जाता है। *यल्लक्षणं प्रोक्तम्।* समाज के किसी वर्ण में मनुष्य का स्थान उसके लक्षणों या गुणों के अनुसार निश्चित होता है। शास्त्रों में सर्वत्र यही कथन मिलता है। जन्म तो गौण है; पहले तो मनुष्य के गुण तथा कर्म पर विचार किया जाता है।

जनमेजयो ह्यभूत्पूरोः प्रचिन्वांस्तत्सुतस्ततः ।
प्रवीरोऽथ मनुस्युर्वै तस्माच्चारुपदोऽभवत् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

जनमेजयः—राजा जनमेजय; हि—निस्सन्देह; अभूत्—उत्पन्न हुआ; पूरोः—पूरु से; प्रचिन्वान्—प्रचिन्वान; तत्—उसका; सुतः—पुत्र; ततः—उससे (प्रचिन्वान से); प्रवीरः—प्रवीर; अथ—तत्पश्चात्; मनुस्युः—प्रवीर का पुत्र मनुस्यु; वै—निस्सन्देह; तस्मात्—उससे; चारुपदः—राजा चारुपद; अभवत्—हुआ।

पूरु के ही इस वंश में राजा जनमेजय उत्पन्न हुआ। उसका पुत्र प्रचिन्वान था और उसका पुत्र था प्रवीर। तत्पश्चात् प्रवीर का पुत्र मनुस्यु हुआ जिसका पुत्र चारुपद था।

तस्य सुद्युरभूत्पुत्रस्तस्माद्बहुगवस्ततः ।
संयातिस्तस्याहंयाती रौद्राश्वस्तत्सुतः स्मृतः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उस (चारुपद) का; सुद्युः—सुद्यु; अभूत्—उत्पन्न हुआ; पुत्रः—पुत्र; तस्मात्—उससे; बहुगवः—बहुगव नाम का पुत्र; ततः—उससे; संयातिः—संयाति; तस्य—तथा उसका पुत्र; अहंयातिः—अहंयाति; रौद्राश्वः—रौद्राश्व; तत्-सुतः—उसका पुत्र; स्मृतः—विख्यात।

चारुपद का पुत्र सुद्यु था और सुद्यु का पुत्र बहुगव था। बहुगव का पुत्र संयाति था, जिससे अहंयाति नामक पुत्र हुआ और फिर उससे रौद्राश्व उत्पन्न हुआ।

ऋतेयुस्तस्य कक्षेयुः स्थण्डिलेयुः कृतेयुकः ।
जलेयुः सन्नतेयुश्च धर्मसत्यव्रतेयवः ॥ ४॥
दशैतेऽप्सरसः पुत्रा वनेयुश्चावमः स्मृतः ।
घृताच्यामिन्द्रियाणीव मुख्यस्य जगदात्मनः ॥ ५॥

शब्दार्थ

ऋतेयुः—ऋतेयु; तस्य—उसका (रौद्राश्व) का; कक्षेयुः—कक्षेयु; स्थण्डिलेयुः—स्थण्डिलेयु; कृतेयुकः—कृतेयुक; जलेयुः—जलेयु; सन्नतेयुः—सन्नतेयु; च—भी; धर्म—धर्मेयु; सत्य—सत्येयु; व्रतेयवः—तथा व्रतेयु; दश—दस; एते—ये सभी; अप्सरसः—अप्सरा से उत्पन्न; पुत्राः—पुत्र; वनेयुः—वनेयु; च—तथा; अवमः—सबसे छोटा; स्मृतः—विख्यात; घृताच्याम्—घृताची; इन्द्रियाणि इव—दस इन्द्रियों के समान; मुख्यस्य—प्राण का; जगत्-आत्मनः—सारे विश्व का प्राण।

रौद्राश्व के दस पुत्र थे जिनके नाम ऋतेयु, कक्षेयु, स्थण्डिलेयु, कृतेयुक, जलेयु, सन्नतेयु, धर्मेयु, सत्येयु, व्रतेयु तथा वनेयु थे। इन दसों में वनेयु सबसे छोटा था। ये दसों पुत्र रौद्राश्व के पूर्ण नियंत्रण में उसी प्रकार कार्य करते थे जिस तरह विश्वात्मा से उत्पन्न दसों इन्द्रियाँ प्राण के नियंत्रण में कार्य करती हैं। ये सभी घृताची नामक अप्सरा से उत्पन्न हुए थे।

ऋतेयो रन्तिनावोऽभूत्त्रयस्तस्यात्मजा नृप ।
सुमतिर्ध्रुवोऽप्रतिरथः कण्वोऽप्रतिरथात्मजः ॥ ६॥

शब्दार्थ

ऋतेयोः—ऋतेयु से; रन्तिनावः—रन्तिनाव नामक पुत्र; अभूत्—प्रकट हुआ; त्रयः—तीन; तस्य—उसके (रन्तिनाव के); आत्मजाः—पुत्र; नृप—हे राजा; सुमतिः—सुमति; ध्रुवः—ध्रुव; अप्रतिरथः—अप्रतिरथ; कण्वः—कण्व; अप्रतिरथ-आत्मजः—अप्रतिरथ का बेटा।

ऋतेयु से रन्तिनाव नामक पुत्र हुआ जिसके तीन पुत्र हुए जिनके नाम थे सुमति, ध्रुव तथा अप्रतिरथ। अप्रतिरथ के एकमात्र पुत्र का नाम कण्व था।

तस्य मेधातिथिस्तस्मात्प्रस्कन्नाद्या द्विजातयः ।
पुत्रोऽभूत्सुमते रेभिर्दुष्मन्तस्तत्सुतो मतः ॥ ७॥

शब्दार्थ

तस्य—कण्व का; मेधातिथिः—मेधातिथि; तस्मात्—उससे; प्रस्कन्न-आद्याः—प्रस्कन्न आदि; द्विजातयः—सभी ब्राह्मण; पुत्राः—पुत्र; अभूत्—हुए; सुमतेः—सुमति से; रेभिः—रेभि; दुष्मन्तः—महाराज दुष्मन्त; तत्-सुतः—रेभि का पुत्र; मतः—विख्यात है।

कण्व का पुत्र मेधातिथि था जिसके सारे पुत्र ब्राह्मण थे और उनमें प्रमुख प्रस्कन्न था। रन्तिनाव का पुत्र सुमति, सुमति का पुत्र रेभि और रेभि का पुत्र था महाराज दुष्मन्त।

दुष्मन्तो मृगयां यातः कण्वाश्रमपदं गतः ।
तत्रासीनां स्वप्रभया मण्डयन्तीं रमामिव ॥ ८ ॥

विलोक्य सद्यो मुमुहे देवमायामिव स्त्रियम् ।
बभाषे तां वरारोहां भटैः कतिपयैर्वृतः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

दुष्मन्तः—महाराज दुष्मन्त; मृगयाम् यातः—शिकार करने के लिए गया हुआ; कण्व-आश्रम-पदम्—कण्व के आश्रम में; गतः—आया; तत्र—वहाँ; आसीनाम्—बैठी हुई; स्व-प्रभया—अपने सौन्दर्य से; मण्डयन्तीम्—प्रकाशित करती हुई; रमाम् इव—लक्ष्मी जी की तरह; विलोक्य—देखकर; सद्यः—तुरन्त; मुमुहे—मोहित हो गया; देव-मायाम् इव—भगवान् की माया के सदृश; स्त्रियम्—सुन्दर स्त्री को; बभाषे—सम्बोधित किया; ताम्—उसको; वर-आरोहाम्—सुन्दर स्त्रियों में सर्वश्रेष्ठ; भटैः—सैनिकों द्वारा; कतिपयैः—कुछ; वृतः—घिरा हुआ।

एक बार जब राजा दुष्मन्त शिकार करने जंगल गया और अत्यधिक थक गया तो वह महाराज कण्व के आश्रम में जा पहुँचा। वहाँ उसने एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री देखी जो लक्ष्मी जी के समान लग रही थी और वहाँ अपने तेज से सारे आश्रम को प्रकाशित करती हुई बैठी थी। स्वभावतः राजा उसके सौन्दर्य से आकृष्ट हो गया अतएव वह अपने कुछ सैनिकों के साथ उसके पास गया और उससे बोला।

तद्दर्शनप्रमुदितः सन्निवृत्तपरिश्रमः ।
पप्रच्छ कामसन्तप्तः प्रहसञ्श्लक्ष्णया गिरा ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तत्-दर्शन-प्रमुदितः—सुन्दर स्त्री को देखकर अत्यन्त प्रफुल्लित; सन्निवृत्त-परिश्रमः—शिकार करने की थकान से निवृत्त होकर; पप्रच्छ—उससे पूछा; काम-सन्तप्तः—कामेच्छाओं से उद्विग्न होकर; प्रहसन्—हँसी करते हुए; श्लक्ष्णया—सुन्दर तथा सुहावने; गिरा—शब्दों से।

उस सुन्दर स्त्री को देखकर राजा अत्यधिक हर्षित हुआ और शिकार-भ्रमण से उत्पन्न उसकी सारी थकावट जाती रही। वह निस्सन्देह कामेच्छाओं के कारण अत्यधिक आकृष्ट था अतएव उसने हँसी-हँसी में उससे इस प्रकार पूछा।

का त्वं कमलपत्राक्षि कस्यासि हृदयङ्गमे ।
किं स्विच्चिकीर्षितं तत्र भवत्या निर्जने वने ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

का—कौन; त्वम्—तुम हो; कमल-पत्र-अक्षि—हे कमलनेत्री; कस्य असि—तुम किससे सम्बन्धित हो; हृदयम्-गमे—हृदय को सुहावनी लगने वाली अतीव सुन्दरी; किम् स्वित्—कौन सा काम; चिकीर्षितम्—सोच रही हो; तत्र—वहाँ; भवत्याः—तुम्हारे द्वारा; निर्जने—एकान्त; वने—वन में।

हे सुन्दर कमल नयनों वाली, तुम कौन हो? तुम किसकी पुत्री हो? इस एकान्त वन में तुम्हारा क्या कार्य है? तुम यहाँ क्यों रह रही हो?

व्यक्तं राजन्यतनयां वेद्‍म्यहं त्वां सुमध्यमे ।
न हि चेतः पौरवाणामधर्मे रमते क्वचित् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

व्यक्तम्—ऐसा लगता है; राजन्य-तनयाम्—क्षत्रिय की पुत्री; वेद्मि—अनुभव कर सकता हूँ; अहम्—मैं; त्वाम्—तुमको; सु-मध्यमे—हे अतीव सुन्दरी; न—नहीं; हि—निश्चय ही; चेतः—मन; पौरवाणाम्—पूरुवंशी लोगों का; अधर्मे—अधर्म में; रमते—भोग करता है; क्वचित्—कभी भी।

हे अतीव सुन्दरी, मुझे ऐसा लगता है कि तुम किसी क्षत्रिय की पुत्री हो। चूँकि मैं पूरुवंशी हूँ अतएव मेरा मन कभी भी अधार्मिक रीति से किसी वस्तु का भोग करने की चेष्टा नहीं करता।

तात्पर्य : महाराज दुष्मन्त ने अप्रत्यक्ष रूप से शकुन्तला से विवाह करने की अपनी इच्छा व्यक्त की क्योंकि उसे लगा कि शकुन्तला किसी क्षत्रिय राजा की पुत्री है।

श्रीशकुन्तलोवाच
विश्वामित्रात्मजैवाहं त्यक्ता मेनकया वने ।
वेदैतद्भगवान्कण्वो वीर किं करवाम ते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शकुन्तला उवाच—श्री शकुन्तला ने कहा; विश्वामित्र-आत्मजा—विश्वामित्र की पुत्री; एव—निस्सन्देह; अहम्—मैं (हूँ); त्यक्ता—छोड़ी गई; मेनकया—मेनका द्वारा; वने—वन में; वेद—जानता है; एतत्—इन सारी घटनाओं को; भगवान्—शक्तिशाली ऋषि; कण्वः—कण्व मुनि; वीर—हे वीर; किम्—क्या; करवाम—कर सकती हूँ; ते—तुम्हारे लिए।

शकुन्तला ने कहा : मैं विश्वामित्र की पुत्री हूँ। मेरी माता मेनका ने मुझे जंगल में छोड़ दिया था। हे वीर, अत्यन्त शक्तिशाली सन्त कण्व मुनि इसके विषय में सब कुछ जानते हैं। अब आप कहिए कि मैं आपकी किस तरह सेवा करूँ?

तात्पर्य : शकुन्तला ने महाराज दुष्मन्त को बतलाया कि यद्यपि उसने अपने पिता या माता को न तो

कभी देखा है, न उनके विषय में वह कुछ जानती है लेकिन कण्व मुनि उसके विषय में पूरी तरह जानते हैं। उसने उन्हीं से जाना है कि वह विश्वामित्र की पुत्री है और मेनका उसकी माता है जिसने उसे जंगल में छोड़ दिया था।

आस्यतां ह्यरविन्दाक्ष गृह्यतामर्हणं च नः ।
भुज्यतां सन्ति नीवारा उष्यतां यदि रोचते ॥ १४॥

शब्दार्थ

आस्यताम्—कृपया यहाँ बैठें; हि—निस्सन्देह; अरविन्द-अक्ष—कमल जैसे नेत्रों वाले वीर; गृह्यताम्—स्वीकार करें; अर्हणम्—आतिथ्य; च—तथा; नः—हमारा; भुज्यताम्—कृपया भोजन करें; सन्ति—जो कुछ है; नीवाराः—नीवार चावल; उष्यताम्—यहाँ पर रुकें; यदि—यदि; रोचते—आपको अच्छा लगे।

हे कमल जैसे नेत्रों वाले राजा, कृपया बैठ जायें और हमारे यथासम्भव आतिथ्य को स्वीकार करें। हमारे पास नीवार चावल हैं जिन्हें आप ग्रहण कर सकते हैं और यदि आप चाहें तो बिना किसी हिचक के यहाँ रुक सकते हैं।

श्रीदुष्मन्त उवाच
उपपन्नमिदं सुभ्रु जातायाः कुशिकान्वये ।
स्वयं हि वृणुते राज्ञां कन्यकाः सदृशं वरम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

श्री-दुष्मन्तः उवाच—राजा दुष्मन्त ने कहा; उपपन्नम्—तुम्हारी स्थिति के अनुरूप; इदम्—यह; सु-भ्रु—हे सुन्दर भौहों वाली शकुन्तला; जातायाः—अपने जन्म के कारण; कुशिक-अन्वये—विश्वामित्र के कुल में; स्वयम्—स्वयं; हि—निस्सन्देह; वृणुते—चुनती हैं; राज्ञाम्—राज परिवार की; कन्यकाः—लड़कियाँ; सदृशम्—समान स्तर के; वरम्—पति को।

राजा दुष्मन्त ने उत्तर दिया: हे सुन्दर भौहों वाली शकुन्तला, तुमने महर्षि विश्वामित्र के कुल में जन्म लिया है और तुम्हारा आतिथ्य तुम्हारे कुल के अनुरूप है। इसके अतिरिक्त राजा की कन्याएँ सामान्यतया अपना वर स्वयं चुनती हैं।

तात्पर्य : महाराज दुष्मन्त का स्वागत करते हुए शुकन्तला ने स्पष्ट कहा, "आप यहाँ रुक सकते हैं और हमारा यथासम्भव आतिथ्य ग्रहण कर सकते हैं।" इस तरह उसने इंगित कर दिया कि वह महाराज दुष्मन्त को पति रूप में चाहती है। जहाँ तक दुष्मन्त की बात थी, वह तो प्रारम्भ से ही, जब से उसने देखा था, शकुन्तला को पत्नी के रूप में चाह रहा था; अतएव पति-पत्नी के रूप में मिलने की स्वीकृति स्वाभाविक थी। शकुन्तला को विवाह के लिए प्रोत्साहित करने के लिए ही महाराज दुष्मन्त ने उसे स्मरण कराया कि

राजकन्या के नाते उसे अपना वर खुली सभा में चुनना चाहिए (स्वयंवर)। आर्य सभ्यता के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें सुप्रसिद्ध राजकुमारियों ने स्वयंवर द्वारा पति का चुनाव किया है। उदाहरणार्थ, सीतादेवी ने रामचन्द्र जी को ऐसी ही प्रतियोगिता में, पति रूप में चुना और द्रौपदी ने अर्जुन को चुना था। ऐसे और बहुत से उदाहरण हैं। अतएव सहमति से या खुली प्रतियोगिता में अपना वर चुनने की छूट थी। विवाह आठ प्रकार के होते हैं जिनमें पारस्परिक सहमति द्वारा विवाह करना *गान्धर्व* विवाह कहलाता है। सामान्यतया माता-पिता अपने पुत्र-पुत्री के लिए वर-कन्या का चुनाव करते हैं परन्तु गंधर्व-विवाह स्वयंवर से होता है। यद्यपि भूतकाल में स्वयंवर द्वारा या सहमति से विवाह होते थे, किन्तु विवाह-विच्छेद जैसी वस्तु नहीं पाई जाती थी। निस्सन्देह, निम्न जातियों में असहमति होने पर विवाह-विच्छेद होता था, किन्तु सहमति से विवाह की प्रथा उच्चतम जातियों में भी थी, और राजसी क्षत्रिय परिवारों में यह विशेष रूप से प्रचलित थी। महाराज दुष्मन्त द्वारा शकुन्तला को पत्नी रूप में ग्रहण करना वैदिक संस्कृति के अनुरूप था। यह विवाह जिस रूप में हुआ उसका वर्णन अगले श्लोक में हुआ है।

ओमित्युक्ते यथाधर्ममुपयेमे शकुन्तलाम् ।
गान्धर्वविधिना राजा देशकालविधानवित् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ओम् इति उक्ते—वैदिक प्रणव का उच्चारण करके भगवान् को विवाह के साक्षी के रूप में आह्वान करते हुए; यथा-धर्मम्—धार्मिक नियमों के अनुकूल (क्योंकि सामान्य धार्मिक विवाहों में भी नारायण साक्षी बनते है); उपयेमे—विवाह कर लिया; शकुन्तलाम्—शकुन्तला से; गान्धर्व-विधिना—गान्धर्व विधि से, धार्मिक नियमानुसार; राजा—महाराज दुष्मन्त ने; देश-काल-विधान-वित्—समय, स्थान तथा लक्ष्य के अनुसार कर्तव्यों से पूर्णतया अवगत।

जब शकुन्तला महाराज दुष्मन्त के प्रस्ताव पर मौन रही तो सहमति पूर्ण हो गई। तब विवाह के नियमों को जानने वाले राजा ने तुरन्त ही वैदिक प्रणव (ओङ्कार) का उच्चारण किया, जैसा कि गन्धर्वों में विवाह के अवसर पर किया जाता है।

तात्पर्य : ओङ्कार या प्रणव भगवान् का शब्द रूप है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि अ, उ, म ये तीन अक्षर मिलकर ओम् द्वारा भगवान् का प्रतिनिधित्व करते हैं। धार्मिक सिद्धान्तों का अभिप्राय भगवान् कृष्ण के आशीर्वाद तथा अनुग्रह का आह्वान करना है क्योंकि *भगवद्गीता* में कृष्ण स्वयं कहते हैं कि जो कामेच्छाएँ धर्म के विरुद्ध नहीं हैं, उनमें वे स्वयं उपस्थित रहते हैं। *विधिना* शब्द का अर्थ "धार्मिक

सिद्धान्तों के अनुसार।'' वैदिक संस्कृति में धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार स्त्री तथा पुरुष के संयोग की अनुमति है। हम अपने कृष्णभावनामृत आन्दोलन में धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार विवाह करने की अनुमति प्रदान करते हैं, किन्तु मित्रों के रूप में स्त्रियाँ तथा पुरुषों का यौन संयोग अधार्मिक है और इसकी अनुमति नहीं दी जाती।

अमोघवीर्यो राजर्षिर्महिष्यां वीर्यमादधे ।
श्वोभूते स्वपुरं यातः कालेनासूत सा सुतम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

अमोघ-वीर्यः—ऐसा व्यक्ति जिसका वीर्य व्यर्थ नहीं बहता अर्थात् जिसके वीर्य से सन्तान उत्पन्न होती है; राज-ऋषिः—साधु प्रकृति वाला राजा दुष्मन्त; महिष्याम्—रानी शकुन्तला में (विवाह के बाद वह रानी हो गई); वीर्यम्—वीर्य; आदधे—स्थापित किया; श्वः-भूते—सबेरा होने पर; स्व-पुरम्—अपने स्थान को; यातः—चला गया; कालेन—समय पर; असूत—जन्म दिया; सा—उसने (शकुन्तला) ने; सुतम्—पुत्र को।

अमोघवीर्य राजा दुष्मन्त ने रात्रि में अपनी रानी शकुन्तला के गर्भ में वीर्य स्थापित किया और प्रातः होते ही अपने महल को लौट गया। तत्पश्चात् समयानुसार शकुन्तला ने एक पुत्र को जन्म दिया।

कण्वः कुमारस्य वने चक्रे समुचिताः क्रियाः ।
बद्ध्वा मृगेन्द्रं तरसा क्रीडति स्म स बालकः ॥ १८॥

शब्दार्थ

कण्वः—कण्व मुनि ने; कुमारस्य—शकुन्तला से उत्पन्न बालक का; वने—जंगल में; चक्रे—सम्पन्न किया; समुचिताः—विहित; क्रियाः—संस्कार; बद्ध्वा—पकड़ कर; मृग-इन्द्रम्—शेर को; तरसा—बलपूर्वक; क्रीडति—खेलता; स्म—था; सः—वह; बालकः—बालक।

कण्व मुनि ने वन में नवजात शिशु के सारे संस्कार सम्पन्न किये। बाद में यह बालक इतना बलवान बन गया कि वह किसी सिंह को पकड़ कर उसके साथ खेलता था।

तं दुरत्ययविक्रान्तमादाय प्रमदोत्तमा ।
हरेरंशांशसम्भूतं भर्तुरन्तिकमागमत् ॥ १९॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; दुरत्यय-विक्रान्तम्—जिसकी शक्ति को दबाया नहीं जा सकता था; आदाय—अपने साथ लेकर; प्रमदा-उत्तमा—स्त्रियों में श्रेष्ठ शकुन्तला; हरेः—ईश्वर का; अंश-अंश-सम्भूतम्—अंशावतार; भर्तुः अन्तिकम्—अपने पति के पास; आगमत्—गई।

सुन्दरियों में श्रेष्ठ शकुन्तला अपने पुत्र को, जो दुर्दमनीय था तथा भगवान् का अंशावतार था, अपने साथ लेकर अपने पति दुष्मन्त के पास गई।

यदा न जगृहे राजा भार्यापुत्रावनिन्दितौ ।
शृण्वतां सर्वभूतानां खे वागाहाशरीरिणी ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; न—नहीं; जगृहे—स्वीकार किया; राजा—राजा ने; भार्या-पुत्रौ—अपनी असली स्त्री तथा असली पुत्र को; अनिन्दितौ—जो निर्दोष थे, अनिन्दित; शृण्वताम्—सुनते हुए; सर्व-भूतानाम्—सारे लोगों के; खे—आकाश में; वाक्—शब्द ध्वनि ने; आह—घोषणा की; अशरीरिणी—शरीरविहीन।

जब राजा ने अपनी निर्दोष पत्नी तथा पुत्र दोनों को स्वीकार करने से इनकार कर दिया तो आकाश से शकुन के रूप में एक अदृश्य आवाज सुनाई दी जिसे वहाँ उपस्थित सबों ने सुना।

तात्पर्य : महाराज दुष्मन्त जानते थे कि शकुन्तला उनकी पत्नी और छोटा बालक उनका पुत्र है, किन्तु बाहर से आने और प्रजा को ज्ञान न होने से, दुष्मन्त ने उन्हे पहले स्वीकार नहीं किया। किन्तु शकुन्तला इतनी सती थी कि आकाशवाणी ने सारी सचाई बतला दी जिसे दूसरे लोग सुन सके। जब सब लोगों को पता चल गया कि शकुन्तला तथा उसका पुत्र राजा के ही पत्नी एवं पुत्र हैं तो राजा ने बाद में उन्हें स्वीकार कर लिया।

माता भस्त्रा पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः ।
भरस्व पुत्रं दुष्मन्त मावमंस्थाः शकुन्तलाम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

माता—माता; भस्त्रा—धौंकनी की तरह; पितुः—पिता का; पुत्रः—पुत्र; येन—जिसके द्वारा; जातः—उत्पन्न; सः—पिता; एव—निश्चित; सः—पुत्र; भरस्व—पालो; पुत्रम्—अपने पुत्र को; दुष्मन्त—हे महाराज दुष्मन्त; मा—मत; अवमंस्थाः—अपमानित करो; शकुन्तलाम्—शकुन्तला को।

आकाशवाणी ने कहाः हे महाराज दुष्मन्त, पुत्र वास्तव में अपने पिता का ही होता है जब कि माता मात्र चमड़े की धौंकनी के समान धारक होती है। वैदिक आदेशानुसार पिता पुत्र रूप में उत्पन्न होता है। अतएव तुम अपने पुत्र का पालन करो और शकुन्तला का अपमान न करो।

तात्पर्य : वैदिक आदेशों के अनुसार *आत्मा वै पुत्र नामासि*—पिता ही पुत्र बनता है। माता तो मात्र संग्राहक है क्योंकि वह वीर्य को गर्भ में धारण करती है, किन्तु पिता ही सन्तान के पालन-पोषण के लिए उत्तरदायी होता है। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि वे सारे जीवों के वीर्यदाता पिता हैं (*अहं बीजप्रदः पिता*) इसीलिए वे उनके पालन-पोषण के लिए उत्तरदायी हैं। वेदों से भी इसकी पुष्टि होती है। *एको बहूनां*

यो विदधाति कामान्—यद्यपि ईश्वर एक है, किन्तु वह सारे जीवों की आवश्यकताओं को पूरा करने वाला है। सारे जीव विविध रूपों में भगवान् के पुत्र हैं अतएव पिता के रूप में वे उन्हें विभिन्न शरीरों के अनुसार भोजन प्रदान करते हैं। चींटी को चीनी का एक कण प्रदान किया जाता है और हाथी को प्रभूत भोजन दिया जाता है, किन्तु हर एक जीव को खाने के लिए भोजन मिलता है। अतएव अधिक जनसंख्या कोई प्रश्न नहीं। चूँकि हमारे पिता कृष्ण पूर्णत: ऐश्वर्यवान हैं इसलिए भोजन के अभाव का प्रश्न ही नहीं उठता और जब भोजन का अभाव नहीं है तो अधिक जनसंख्या का जो प्रचार हो रहा है वह मिथ्या है। वास्तव में किसी को भोजन की कमी तब होती है जब पिता के आदेश से प्रकृति भोजन देना बन्द कर देती है। जीव की स्थिति के अनुसार ही यह बात तय की जाती है कि भोजन मिलेगा या नहीं। जब किसी रोगी व्यक्ति को खाने से मना किया जाता है तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि भोजन की कमी है अपितु रोगी को भोजन न देना ही रोग का उपचार होता है। *भगवद्गीता* (७.१०) में भी भगवान् कहते हैं—*बीजं मां सर्वभूतानाम्*—मैं सारे जीवों का बीज हूँ। जब कोई विशेष बीज पृथ्वी में बोया जाता है तो एक विशेष प्रकार का वृक्ष या पौंधा निकलता है। माता पृथ्वी के तुल्य है और जब पिता द्वारा एक विशेष तरह का बीज बो दिया जाता है तो एक विशेष प्रकार का शरीर जन्म लेता है।

रेतोधा: पुत्रो नयति नरदेव यमक्षयात् ।
त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला ॥ २२॥

शब्दार्थ

रेत:-धा:—वीर्य स्थापित करने वाला पुरुष; पुत्र:—पुत्र; नयति—बचाता है; नर-देव—हे राजा; यम-क्षयात्—यमराज के दण्ड से; त्वम्—तुम; च—तथा; अस्य—इस बालक का; धाता—स्रष्टा; गर्भस्य—गर्भ का; सत्यम्—सत्य; आह—कहा; शकुन्तला—तुम्हारी पत्नी शकुन्तला ने।.

हे राजा दुष्मन्त, वीर्य स्थापित करने वाला ही असली पिता है और उसका पुत्र उसे यमराज के चंगुल से छुड़ाता है। आप इस बालक के असली स्रष्टा (जन्मदाता) हैं। शकुन्तला निस्सन्देह सत्य कह रही है।

तात्पर्य : आकाशवाणी सुनकर महाराज दुष्मन्त ने अपनी पत्नी तथा पुत्र को स्वीकार कर लिया। वैदिक स्मृति के अनुसार—

पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुत: ।

तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा॥

अपने पिता को *पुत्* नामक नरक के दण्ड से बचाने के कारण पुत्र पुत्र कहलाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार जब भी पिता तथा माता में कोई विरोध होता है तो पुत्र द्वारा, माता का नहीं, अपितु पिता का उद्धार होता है। किन्तु यदि पत्नी अपने पति की आज्ञाकारिणी हो तो पिता का उद्धार हो जाने पर माता का भी उद्धार हो जाता है। अतएव वैदिक साहित्य में विवाह-विच्छेद का नामोनिशान नहीं है। पत्नी को सदैव सती तथा पति की आज्ञाकारिणी बनने का प्रशिक्षण दिया जाता है क्योंकि इससे किसी भी अत्यन्त दुरावस्था में उसका उद्धार हो जाता है। यह श्लोक स्पष्ट कहता है—*पुत्रो नयति नरदेव यमक्षयात्*—पुत्र अपने पिता को यमराज के चंगुल से बचाता है। इसमें यह नहीं कहा गया—*पुत्रो नयति मातरम्*—पुत्र अपनी माता को बचाता है। बीजप्रदाता पिता का उद्धार होता है, संग्राहक माता का नहीं। अतएव पति-पत्नी को किसी भी परिस्थिति में विलग नहीं होना चाहिए क्योंकि यदि उनसे सन्तान हो जिसे वे वैष्णव बना सकें तो वह माता-पिता दोनों को यमराज के चंगुल से छुड़ा सकता है और नारकीय जीवन के दण्ड से उबार सकता है।

पितर्युपरते सोऽपि चक्रवर्ती महायशाः ।
महिमा गीयते तस्य हरेरंशभुवो भुवि ॥ २३॥

शब्दार्थ

पितरि—अपने पिता के; उपरते—दिवगंत हो जाने पर; सः—वह राजपुत्र; अपि—भी; चक्रवर्ती—सम्राट; महा-यशाः—अत्यन्त विख्यात; महिमा—यश; गीयते—गाया जाता है; तस्य—उसका; हरेः—भगवान् का; अंश-भुवः—अंश रूप; भुवि—पृथ्वी पर।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब महाराज दुष्मन्त इस पृथ्वी से चले गये तो उनका पुत्र सातों द्वीपों का स्वामी चक्रवर्ती राजा बना। वह इस संसार में भगवान् का अंशावतार बतलाया जाता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१०.४१) में कहा गया है—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमद् ऊर्जितमेव वा।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशंसम्भवम्॥

जो कोई अद्वितीय शक्तिशाली होता है उसे भगवान् के ऐश्वर्य का अंश रूप मानना चाहिए। अतएव जब महाराज दुष्मन्त का पुत्र सारे विश्व का सम्राट बन गया तो वह इसी तरह विख्यात हुआ।

चक्रं दक्षिणहस्तेऽस्य पद्मकोशोऽस्य पादयोः ।
ईजे महाभिषेकेण सोऽभिषिक्तोऽधिराड्विभुः ।
पञ्चपञ्चाशता मेध्यैर्गङ्गायामनु वाजिभिः ॥ २४॥

मामतेयं पुरोधाय यमुनामनु च प्रभुः ।
अष्टसप्ततिमेध्याश्वान्बबन्ध प्रददद्वसु ॥ २५॥

भरतस्य हि दौष्मन्तेरग्निः साचीगुणे चितः ।
सहस्रं बद्वशो यस्मिन्ब्राह्मणा गा विभेजिरे ॥ २६॥

शब्दार्थ

चक्रम्—कृष्ण-चक्र का चिह्न; दक्षिण-हस्ते—दाहिने हाथ में; अस्य—उसके (भरत) के; पद्म-कोशः—कमल गुच्छ का चिह्न; अस्य—उसके; पादयोः—पैरों के तलवों पर; ईजे—भगवान् की पूजा की; महा-अभिषेकेण—विशाल वैदिक अनुष्ठान द्वारा; सः—वह (भरत); अभिषिक्तः—पदोन्नत किया गया; अधिराट्—शासक के सर्वोच्च पद पर; विभुः—स्वामी; पञ्च-पञ्चाशता—पचपन; मेध्यैः—यज्ञों के लिए उपयुक्त; गङ्गायाम् अनु—स्रोत से लेकर गंगा के मुहाने तक; वाजिभिः—घोड़ों से; मामतेयम्—भृगु मुनि को; पुरोधाय—पुरोहित बनाकर; यमुनाम्—यमुना तट पर; अनु—क्रमबद्ध; च—भी; प्रभुः—स्वामी, महाराज भरत; अष्ट-सप्तति—अठहत्तर; मेध्य-अश्वान्—यज्ञ के योग्य घोड़ों को; बबन्ध—बाँधा; प्रददत्—दान में दिया; वसु—धन; भरतस्य—भरत का; हि—निस्सन्देह; दौष्मन्तेः—महाराज दुष्मन्त के पुत्र; अग्निः—यज्ञ की आग; साची-गुणे—सर्वोत्तम स्थान पर; चितः—स्थापित; सहस्रम्—एक हजार; बद्वशः—एक बद्व जो १३०८४ के तुल्य है; यस्मिन्—जिन यज्ञों में; ब्राह्मणाः—सारे उपस्थित ब्राह्मण; गाः—गाएँ; विभेजिरे—अपना अपना भाग प्राप्त किया।

दुष्मन्त-पुत्र महाराज भरत के दाहिने हाथ की हथेली पर भगवान् कृष्ण के चक्र का चिन्ह था और उसके पैरों के तलवों में कमल कोश का चिन्ह था। वह महान् अनुष्ठान के द्वारा भगवान् की पूजा करके सारे विश्व का अधिपति तथा सम्राट बन गया। तब उसने मामतेय अर्थात् भृगु मुनि के पौरोहित्य में गंगा नदी के तट पर गंगा के अंतिम स्थान से लेकर उद्गम तक पचपन अश्वमेध यज्ञ किये। इसी तरह यमुना नदी के तट पर प्रयागराज के संगम से लेकर उद्गम स्थान तक अठहत्तर अश्वमेध यज्ञ किये। उसने सर्वोत्तम स्थान पर यज्ञ की अग्नि स्थापित की और अपनी विपुल सम्पत्ति ब्राह्मणों में वितरित कर दी। उसने इतनी गाएँ दान में दीं कि हजारों ब्राह्मणों में से हर एक को एक बद्व (१३०८४) गाएँ अपने हिस्से में मिलीं।

तात्पर्य : जैसा कि *दौष्मन्तेरग्निः साचीगुणे चितः* शब्दों से सूचित होता है दुष्मन्त कुमार भरत ने सारे विश्व में, विशेष रूप से भारत भर में गंगा तथा यमुना नदी के किनारों पर, अन्त से लेकर उद्गम तक अनेक अनुष्ठान किये और ये सारे यज्ञ अत्यन्त प्रसिद्ध स्थानों में सम्पन्न किये गये। जैसा कि *भगवद्गीता* (३.९) में कहा गया है—*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*—विष्णु के यज्ञ रूप में किया गया कर्म करना चाहिए अन्यथा यह कर्म मनुष्य को इस भौतिक संसार से बाँध देता है। हर व्यक्ति को यज्ञ करना चाहिए

और यज्ञ-अग्नि सर्वत्र जलाई जानी चाहिए। इसका एकमात्र अभिप्राय लोगों को सुखी, समृद्ध तथा आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर बनाना है। निस्सन्देह, ये सारी बातें कलियुग आने के पूर्व सम्भव थीं क्योंकि ऐसे यज्ञों को सम्पन्न करने वाले योग्य ब्राह्मण उपलब्ध थे। किन्तु वर्तमान समय के लिए *ब्रह्मवैवर्त पुराण* का आदेश है—

अश्वमेधं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्।

देवरेण सुतोप्तत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥

"इस कलियुग में पाँच कार्यों की मनाही है—यज्ञ में घोड़े की बलि, यज्ञ में गाय की बलि, संन्यास आश्रम ग्रहण करना, पितरों को मांस का तर्पण तथा भाई की पत्नी से पुत्र उत्पन्न करना।" इस युग में अश्वमेध यज्ञ तथा गोमेध यज्ञ कर पाना असम्भव है क्योंकि न तो पर्याप्त धन है न योग्य ब्राह्मण हैं। इस श्लोक में *मामतेयं पुरोधाय*—अर्थात् महाराज भरत ने ममतापुत्र भृगु मुनि को इस यज्ञ को सम्पन्न कराने का भार सौंपा था। किन्तु अब ऐसे ब्राह्मणों को खोज पाना असम्भव है। अतएव शास्त्रों का अनुमोदन है—*यज्ञै सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः*—बुद्धिमान लोगों को चाहिए कि श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रवर्तित संकीर्तन यज्ञ सम्पन्न करें।

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।

यज्ञै सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥

"इस कलियुग में जो लोग काफी बुद्धिमान हैं वे भगवान् की पूजा उनके पार्षदों सहित संकीर्तन यज्ञ सम्पन्न करके करेंगे।" (*भागवत* ११.५.३२) यज्ञ तो सम्पन्न होने ही चाहिए अन्यथा लोग पापकर्मों में फँसकर काफी कष्ट भोगेंगे। इसीलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन ने विश्व भर में हरे कृष्ण कीर्तन का प्रचार करने का बीड़ा उठाया है। यह हरे कृष्ण आन्दोलन भी यज्ञ है, किन्तु इसमें साज-सामग्री तथा योग्य ब्राह्मण जुटाने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता। यह सामूहिक कीर्तन कभी भी और कहीं भी किया जा सकता है। यदि किसी तरह लोग एकत्र हो जायें और उन्हें 'हरे कृष्ण हरे राम' कीर्तन करने के लिए प्रेरित किया जा सके तो यज्ञ का सारा प्रयोजन पूरा हो जाएगा। यज्ञ का पहला प्रयोजन है कि प्रचुर वर्षा हो अन्यथा पर्याप्त अन्न उत्पन्न नहीं होगा (*अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्याद् अन्नसम्भवः*)। हमारी सारी आवश्यक वस्तुएँ एकमात्र

वर्षा से उत्पन्न हो सकती हैं (*कामं ववर्ष पर्जन्यः*) और धरती सभी आवश्यकताओं का मूल स्रोत है (*सर्वकामदुघामही*)। अतएव निष्कर्ष यह है कि इस कलियुग में विश्व भर के लोगों को जीवन के चार पापों से बचना चाहिए—ये हैं अवैध यौन-सम्बन्ध, मांसाहार, नशा तथा द्यूत क्रीड़ा। उन्हें शुद्ध अवस्था में हरे कृष्ण महामंत्र के कीर्तन का सरल यज्ञ सम्पन्न करना चाहिए। तब पृथ्वी से जीवन की सारी आवश्यकताएँ उत्पन्न हो सकेंगी और सारे लोग आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से सुखी होंगे। तब सारी वस्तुएँ स्वयमेव व्यवस्थित हो जायेंगी।

त्रयस्त्रिंशच्छतं ह्यश्वान्बद्ध्वा विस्मापयन्नृपान् ।
दौष्मन्तिरत्यगान्मायां देवानां गुरुमाययौ ॥ २७॥

शब्दार्थ

त्रयः—तीन; त्रिंशत्—तीस; शतम्—सौ; हि—निस्सन्देह; अश्वान्—घोड़ों को; बद्ध्वा—यज्ञ में बन्दी करके; विस्मापयन्—आश्चर्यचकित करते हुए; नृपान्—सारे राजाओं को; दौष्मन्तिः—महाराज दुष्मन्त का पुत्र; अत्यगात्—बाजी मार ले गया; मायाम्—भौतिक ऐश्वर्य को; देवानाम्—देवताओं का; गुरुम्—गुरु; आययौ—प्राप्त किया।

महाराज दुष्मन्त के पुत्र भरत ने उन यज्ञों के लिए ३३०० घोड़े बाँधकर अन्य सारे राजाओं को विस्मय में डाल दिया। उसने देवताओं के ऐश्वर्य को भी मात कर दिया क्योंकि उसे परम गुरु हरि प्राप्त हो गये थे।

तात्पर्य : जिसे भगवान् के चरणारविन्द प्राप्त हो जाते हैं वह स्वर्गलोक के देवताओं के ऐश्वर्य से भी आगे बढ़ जाता है। *यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।* भगवान् के चरणकमलों की प्राप्ति जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

मृगाञ्छुक्लदतः कृष्णान्हिरण्येन परीवृतान् ।
अदात्कर्मणि मष्णारे नियुतानि चतुर्दश ॥ २८॥

शब्दार्थ

मृगान्—उत्तम कोटि के हाथियों; शुक्ल-दतः—सफेद दाँत वाले; कृष्णान्—काले शरीर वाले; हिरण्येन—सोने के आभूषणों से युक्त; परीवृतान्—पूरी तरह ढके; अदात्—दान में दिया; कर्मणि—यज्ञ में; मष्णारे—मष्णार नामक यज्ञ अथवा मष्णार नामक स्थान में; नियुतानि—लाख; चतुर्दश—चौदह।

जब महाराज भरत ने मष्णार नामक यज्ञ (या मष्णार नामक स्थान में यज्ञ) सम्पन्न किया तो उन्होंने दान में चौदह लाख श्रेष्ठ हाथी दिये जिनके दाँत सफेद थे और शरीर काले थे जो सुनहरे

आभूषणों से ढके थे।

भरतस्य महत्कर्म न पूर्वे नापरे नृपाः ।
नैवापुर्नैव प्राप्स्यन्ति बाहुभ्यां त्रिदिवं यथा ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

भरतस्य—महाराज भरत का; महत्—महान; कर्म—कार्य; न—न तो; पूर्वे—इसके पहले; न—न तो; अपरे—उसके बाद; नृपाः—राजागण; न—न तो; एव—निश्चय ही; आपुः—प्राप्त किया; न—न तो; एव—निश्चय ही; प्राप्स्यन्ति—पायेंगे; बाहुभ्याम्—अपने बाहुबल से; त्रि-दिवम्—स्वर्ग को; यथा—जिस तरह।

जिस तरह कोई व्यक्ति मात्र अपने बाहुबल से स्वर्ग नहीं पहुँच सकता (क्योंकि अपने बाहुओं से कोई स्वर्ग को कैसे छू सकता है?) उसी तरह कोई व्यक्ति महाराज भरत के अद्भुत कार्यों का अनुकरण नहीं कर सकता। कोई न तो भूतकाल में ऐसे कार्य कर सका है, न ही भविष्य में कोई ऐसा कर सकेगा।

किरातहूणान्यवनान्पौण्ड्रान्कङ्कान्खशाञ्छकान् ।
अब्रह्मण्यनृपांश्चाहन्म्लेच्छान्दिग्विजयेऽखिलान् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

किरात—काले काले लोग, जो किरात कहलाते थे (अधिकांशतः अफ्रीकी); हूणान्—दूर उत्तर की जातियों, हूणों; यवनान्—मांसाहारियों; पौण्ड्रान्—पौण्ड्र; कङ्कान्—कंकों; खशान्—मंगोलों; शकान्—शकों; अब्रह्मण्य—ब्राह्मण संस्कृति के विरोधी; नृपान्—राजाओं को; च—तथा; अहन्—उसने मार डाला; म्लेच्छान्—ऐसे नास्तिकों को जिन्हें वैदिक सभ्यता के प्रति कोई आदर नहीं था; दिक्-विजये—दिशाओं को जीतते समय; अखिलान्—समस्त।

जब भरत महाराज दौरे पर थे तो उन्होंने सारे किरातों, हूणों, यवनों, पौण्ड्रों, कंकों, खशों, शकों तथा ब्राह्मण संस्कृति के वैदिक नियमों के विरोधी राजाओं को परास्त किया या मार डाला।

जित्वा पुरासुरा देवान्ये रसौकांसि भेजिरे ।
देवस्त्रियो रसां नीताः प्राणिभिः पुनराहरत् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

जित्वा—जीतकर; पुरा—प्राचीन काल में; असुराः—असुरगण; देवान्—देवताओं को; ये—जो; रस-ओकांसि—रसातल लोक में; भेजिरे—शरण ग्रहण की; देव-स्त्रियः—देवताओं की स्त्रियाँ तथा कन्याएँ; रसाम्—अधोलोक में; नीताः—लाई गई; प्राणिभिः—अपने प्रिय संगियों समेत; पुनः—फिर; आहरत्—उनके पूर्व स्थानों में पहुँचा दिया।

प्राचीन काल में सारे असुरों ने देवताओं को जीतकर रसातल नामक अधोलोक में शरण ले रखी थी और वे सारे देवताओं की स्त्रियों एवं कन्याओं को भी वहीं ले आये थे। किन्तु भरत महाराज ने

इन सभी स्त्रियों को उनके संगियों समेत असुरों के चुंगल से छुड़ाया और उन्हें देवताओं को वापस कर दिया।

सर्वान्कामान्दुदुहतुः प्रजानां तस्य रोदसी ।
समास्त्रिणवसाहस्त्रीर्दिक्षु चक्रमवर्तयत् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

सर्वान् कामान्—सारी आवश्यकताओं या इच्छित वस्तुओं को; दुदुहतुः—पूरा किया; प्रजानाम्—प्रजा की; तस्य—उसकी; रोदसी—यह पृथ्वी तथा स्वर्गलोक; समाः—वर्ष; त्रि-नव-साहस्त्रीः—नौ हजार के तीन गुने (२७ हजार); दिक्षु—सारी दिशाओं में; चक्रम्—सैनिक या आदेश; अवर्तयत्—बँटवा दिया।

महाराज भरत ने २७ हजार वर्षों तक इस पृथ्वी पर तथा स्वर्गलोकों में अपनी प्रजा की सारी आवश्यकताएँ पूरी कीं। उन्होंने सभी दिशाओं में अपने आदेश प्रसारित कर दिए और अपने सैनिक तैनात कर दिए।

स संराड्लोकपालाख्यमैश्वर्यमधिराट्श्रियम् ।
चक्रं चास्खलितं प्राणान्मृषेत्युपरराम ह ॥ ३३॥

शब्दार्थ

सः—वह (महाराज भरत); संराट्—सम्राट; लोक-पाल-आख्यम्—समस्त लोकों के शासक के रूप में; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; अधिराट्—पूरी तरह अधिकार में; श्रियम्—राज्य; चक्रम्—सैनिक या आदेश; च—तथा; अस्खलितम्—बिना चूके; प्राणान्—जीवन अथवा पुत्र तथा परिवार को; मृषा—मिथ्या; इति—इस प्रकार; उपरराम—भोग करना बन्द कर दिया; ह—भूतकाल में।

समस्त विश्व के शासक के रूप में सम्राट भरत के पास महान् राज्य एवं अजेय सैनिकों का ऐश्वर्य था। उनके पुत्र तथा उनका परिवार उन्हें उनका जीवन प्रतीत होता था। किन्तु अन्ततः उन्होंने इन सबों को आध्यात्मिक प्रगति में बाधक समझा अतएव उन्होंने इनका भोग बन्द कर दिया।

तात्पर्य : महाराज भरत के पास प्रभूत ऐश्वर्य, सैनिक, पुत्र, पुत्रियाँ तथा भौतिक भोग की सारी वस्तुएँ थीं, किन्तु जब उन्हें यह लगा कि ऐसा सारा ऐश्वर्य आध्यात्मिक प्रगति के लिए व्यर्थ है तो उन्होंने भौतिक भोग से विरक्ति ग्रहण कर ली। वैदिक सभ्यता में एक विशेष आयु के बाद मनुष्य को महाराज भरत की ही तरह भौतिक ऐश्वर्य का भोग त्याग कर वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करने का आदेश है।

तस्यासन्नृप वैदर्भ्यः पत्न्यस्तिस्त्रः सुसम्मताः ।
जघ्नुस्त्यागभयात्पुत्रान्नानुरूपा इतीरिते ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तस्य—उसकी (भरत की); आसन्—थीं; नृप—हे राजा परीक्षित; वैदर्भ्यः—विदर्भ की कन्याएँ; पत्न्यः—पत्नियाँ; तिस्रः—तीन; सु-सम्मताः—अत्यन्त मनोहर तथा उपयुक्त; जघ्नुः—मार डाला; त्याग-भयात्—त्यागे जाने के भय से; पुत्रान्—अपने पुत्रों को; न अनुरूपाः—अपने पिता की तरह न होने से; इति—इस तरह; ईरिते—विचार करते हुए।

हे राजा परीक्षित, महाराज भरत की तीन मनोहर पत्नियाँ थीं जो विदर्भ के राजा की पुत्रियाँ थीं। जब तीनों के सन्तानें हुईं तो वे राजा के समान नहीं निकलीं, अतएव इन पत्नियों ने यह सोचकर कि राजा उन्हें कृतघ्न रानियाँ समझकर त्याग देंगे, उन्होंने अपने अपने पुत्रों को मार डाला।

तस्यैवं वितथे वंशे तदर्थं यजतः सुतम् ।
मरुत्स्तोमेन मरुतो भरद्वाजमुपाददुः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके; एवम्—इस प्रकार; वितथे—परेशान होकर; वंशे—सन्तान उत्पन्न करने में; तत्-अर्थम्—पुत्र प्राप्ति के लिए; यजतः—यज्ञ सम्पन्न करते हुए; सुतम्—एक पुत्र; मरुत्-स्तोमेन—मरुत्स्तोम यज्ञ करने से; मरुतः—मरुत्गण देवता; भरद्वाजम्—भरद्वाज को; उपाददुः—भेंट कर दिया।

सन्तान के लिए जब राजा का प्रयास इस तरह विफल हो गया तो उसने पुत्रप्राप्ति के लिए मरुत्स्तोम नामक यज्ञ किया। सारे मरुत्गण उससे पूर्णतया सन्तुष्ट हो गये तो उन्होंने उसे भरद्वाज नामक पुत्र उपहार में दिया।

अन्तर्वत्न्यां भ्रातृपत्न्यां मैथुनाय बृहस्पतिः ।
प्रवृत्तो वारितो गर्भं शप्त्वा वीर्यमुपासृजत् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

अन्तः-वत्न्याम्—गर्भवती; भ्रातृ-पत्न्याम्—भाई की पत्नी से; मैथुनाय—संभोग की इच्छा से; बृहस्पतिः—बृहस्पति नामक देवता; प्रवृत्तः—प्रवृत्त; वारितः—मना किया गया; गर्भम्—गर्भ के भीतर के पुत्र को; शप्त्वा—शाप देकर; वीर्यम्—वीर्य; उपासृजत्—स्खलित किया।

बृहस्पति देव ने अपने भाई की पत्नी ममता पर मोहित होने पर उसके गर्भवती होते हुए भी उसके साथ संभोग करना चाहा। उसके गर्भ के भीतर के पुत्र ने मना किया लेकिन बृहस्पति ने उसे शाप दे दिया और बलात् ममता के गर्भ में वीर्य स्थापित कर दिया।

तात्पर्य : इस संसार में संभोग की इच्छा इतनी प्रबल होती है कि देवताओं के गुरु तथा अत्यन्त पंडित बृहस्पति ने भी अपने भाई की गर्भवती पत्नी के साथ संभोग करना चाहा। जब उच्चतर देवताओं के समाज में ऐसा हो सकता है तो मानव समाज के विषय में क्या कहा जाये? संभोग की इच्छा इतनी प्रबल है कि

बृहस्पति जैसा विद्वान व्यक्ति भी विचलित हो सकता है।

तं त्यक्तुकामां ममतां भर्तुस्त्यागविशङ्किताम् ।
नामनिर्वाचनं तस्य श्लोकमेनं सुरा जगुः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

तम्—नवजात शिशु को; त्यक्तु-कामाम्—त्यागने की इच्छा से; ममताम्—ममता को; भर्तुः त्याग-विशङ्किताम्—अवैध पुत्र उत्पन्न करने के कारण अपने पति द्वारा छोड़े जाने से अत्यन्त भयभीत; नाम-निर्वाचनम्—नामकरण संस्कार; तस्य—उस बालक का; श्लोकम्—श्लोक; एनम्—इस; सुराः—देवतागण ने; जगुः—घोषित किया।

ममता अत्यन्त भयभीत थी कि अवैध पुत्र उत्पन्न करने के कारण उसका पति उसे छोड़ सकता है अतएव उसने बालक को त्याग देने का विचार किया। लेकिन तब देवताओं ने उस बालक का नामकरण करके सारी समस्या हल कर दी।

तात्पर्य : वैदिक शास्त्र के अनुसार जब भी बालक उत्पन्न होता है तो जातकर्म तथा नामकरण संस्कार किये जाते हैं जिनमें विद्वान ब्राह्मण ज्योतिषगणना के अनुसार कुण्डली बनाते हैं। किन्तु ममता ने जिस पुत्र को जन्म दिया था वह बृहस्पति द्वारा उत्पन्न अवैध पुत्र था क्योंकि ममता तो उतथ्य की पत्नी थी, किन्तु बृहस्पति ने बलपूर्वक उसे गर्भवती बना दिया था। अतएव बृहस्पति को *भर्ता* बनना पड़ा। वैदिक संस्कृति के अनुसार पत्नी पति की सम्पत्ति होती है और अवैध मैथुन द्वारा उत्पन्न पुत्र *द्वाज* कहलाता है। हिन्दू समाज में ऐसे पुत्र को *दोगला* कहा जाता है। ऐसी स्थिति में बालक को उचित संस्कार द्वारा नाम दे पाना कठिन होता है। इसीलिए ममता चिन्तित थी, किन्तु देवताओं ने बालक को एक उपयुक्त नाम भरद्वाज प्रदान किया जिसका अर्थ था कि यह बालक अवैध रूप से उत्पन्न है और इसका पालन ममता तथा बृहस्पति दोनों को करना चाहिए।

मूढे भर द्वाजमिमं भर द्वाजं बृहस्पते ।
यातौ यदुक्त्वा पितरौ भरद्वाजस्ततस्त्वयम् ॥ ३८॥

शब्दार्थ

मूढे—हे मूर्ख स्त्री; भर—पालन करो; द्वाजम्—दोनों के बीच अवैध सम्बन्ध से उत्पन्न; इमम्—इस बालक को; भर—पालो; द्वाजम्—अवैध जन्म लेने के कारण; बृहस्पते—हे बृहस्पति; यातौ—छोड़कर चले गये; यत्—क्योंकि; उक्त्वा—कहकर; पितरौ—माता पिता दोनों; भरद्वाजः—भरद्वाज नामक; ततः—तत्पश्चात्; तु—निस्सन्देह; अयम्—यह बालक।

बृहस्पति ने ममता से कहा, "अरी मूर्ख! यद्यपि यह बालक अन्य पुरुष की पत्नी और किसी

दूसरे पुरुष के वीर्य से उत्पन्न हुआ है, किन्तु तुम इसका पालन करो।'' यह सुनकर ममता ने उत्तर दिया, ''अरे बृहस्पति, तुम इसको पालो।'' ऐसा कहकर बृहस्पति तथा ममता उसे छोड़कर चले गये। इस तरह बालक का नाम भरद्वाज पड़ा।

चोद्यमाना सुरैरेवं मत्वा वितथमात्मजम् ।
व्यसृजन्मरुतोऽबिभ्रन्दत्तोऽयं वितथेऽन्वये ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

चोद्यमाना—प्रोत्साहित किये जानेपर (कि बालक को पालो); सुरैः—देवताओं द्वारा; एवम्—इस प्रकार; मत्वा—मानकर; वितथम्—निष्प्रयोजन; आत्मजम्—अपने पुत्र को; व्यसृजत्—त्याग दिया; मरुतः—मरुत्गण ने; अबिभ्रन्—बच्चे का पालन किया; दत्तः—दिया गया; अयम्—यह; वितथे—निराश; अन्वये—महाराज भरत का वंश।

यद्यपि देवताओं ने बालक को पालने के लिए प्रोत्साहित किया था, किन्तु ममता ने अवैध जन्म के कारण उस बालक को व्यर्थ समझ कर उसे छोड़ दिया। फलस्वरूप, मरुत्गण देवताओं ने बालक का पालन किया और जब महाराज भरत सन्तान के अभाव से निराश हो गए तो उन्हें यही बालक पुत्र-रूप में भेंट किया गया।

तात्पर्य : इस श्लोक से यह समझ में आता है कि जिन्हें स्वर्गलोक में त्याग दिया जाता है उन्हें इस धरालोक में अत्यन्त उच्च परिवारों में जन्म लेने का अवसर दिया जाता है।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध के अन्तर्गत ''पूरु का वंश'' नामक बीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter इक्कीस

भरत का वंश

इस इक्कीसवें अध्याय में महाराज दुष्मन्त के पुत्र महाराज भरत के वंश का वर्णन हुआ है। इसमें रन्तिदेव, अजमीढ तथा अन्यों की महिमाओं का भी वर्णन आया है।

भरद्वाज का पुत्र मन्यु था। मन्यु के पाँच पुत्र थे—बृहत्क्षत्र, जय, महावीर्य, नर तथा गर्ग। इनमें से नर के पुत्र का नाम संस्कृति था जिसके दो पुत्र हुए—गुरु तथा रन्तिदेव। महान् भक्त होने के नाते रन्तिदेव हर जीव को भगवान् से सम्बन्धित देखते थे और वे मनसा-वाचा-कर्मणा भगवान् तथा उनके भक्तों की सेवा में पूरी तरह लगे रहते थे। वे इतने महान् थे कि कभी-कभी अपना भोजन भी दान दे देते थे और वे अपने परिवारसहित भूखे रह जाते थे। एक बार जब रन्तिदेव अड़तालीस दिनों तक निर्जल उपवास कर चुके तो उनके समीप घी से बना उत्तम भोजन लाया गया, किन्तु जैसे ही वे कौर तोड़ने वाले थे कि एक ब्राह्मण अतिथि आ धमका। अतएव रन्तिदेव ने भोजन नहीं किया अपितु इसका एक भाग तुरन्त उस ब्राह्मण को दे दिया। जब ब्राह्मण चला गया और रन्तिदेव बचा हुआ भोजन करने जा रहे थे तो एक शूद्र आया। अतएव रन्तिदेव ने इस बचे हुए भोजन को अपने तथा शूद्र के बीच में बाँट दिया। पुन: जब वे यह बचा भोजन करने जा रहे थे तो एक दूसरा अतिथि आ गया। अतएव रन्तिदेव ने यह भोजन इस नए अतिथि को दे दिया और स्वयं प्यास बुझाने के लिए पानी पीकर संतुष्ट होने की ठानी। किन्तु इस में भी व्यवधान पड़ गया। तभी एक प्यासा अतिथि आ गया और रन्तिदेव ने उसे वह जल भी दे दिया। यह सब भगवान् द्वारा अपने भक्त की महिमा बढ़ाने और यह दिखलाने के लिए पहले से नियोजित था कि भगवान् की सेवा करते समय भक्त कितना सहिष्णु होता है। रन्तिदेव पर भगवान् अत्यधिक प्रसन्न हुए और उन्हें अत्यन्त गोपनीय सेवा का भार सौंप दिया। ऐसा सेवा-भार शुद्ध भक्त को ही दिया जाता है, सामान्य भक्तों को नहीं।

भरद्वाज के पुत्र गर्ग के एक पुत्र हुआ जिसका नाम शिनि था जिसका पुत्र गार्ग्य हुआ। यद्यपि गार्ग्य जन्म से क्षत्रिय था, किन्तु उसके पुत्र ब्राह्मण हो गए। महावीर्य का पुत्र दुरितक्षय था जिसके पुत्र थे त्रय्यारुणि, कवि तथा पुष्करारुणि। यद्यपि ये तीनों पुत्र क्षत्रिय राजा से उत्पन्न हुए थे, किन्तु इन्हें ब्राह्मण पद प्राप्त हुए। बृहत्क्षत्र के पुत्र ने हस्तिनापुर नामक नगरी बनवाई और हस्ती नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसके पुत्रों

के नाम थे अजमीढ, द्विमीढ तथा पुरुमीढ।

अजमीढ से प्रियमेध तथा अन्य ब्राह्मणों के अतिरिक्त बृहदिषु नामक पुत्र भी हुआ। बृहदिषु के पुत्र, पौत्र आदि वंशजों में बृहद्धनु, बृहत्काय, जयद्रथ, विशद तथा श्येनजित हुए। श्येनजित के चार पुत्र हुए—रुचिराश्व, दृढधनु, काश्य तथा वत्स। रुचिराश्व से पार नामक पुत्र हुआ जिसके दो पुत्र हुए पृथुसेन तथा नीप। नीप के एक सौ पुत्र हुए। नीप का एक और पुत्र ब्रह्मदत्त था जिससे विष्वक्सेन तथा विष्वक्सेन से उदक्सेन और उदक्सेन से भल्लाट हुए।

द्विमीढ का पुत्र यवीनर था जिसके कई पुत्र तथा पौत्र हुए—यथा कृतिमान, सत्यधृति, दृढनेमि, सुपार्श्व, सुमति, सन्नतिमान, कृती, नीप, उद्ग्रायुध, क्षेम्य, सुवीर, रिपुञ्जय तथा बहुरथ। पुरुमीढ के कोई पुत्र नहीं था, किन्तु अजमीढ़ के अन्य पुत्रों के अतिरिक्त नील नाम का पुत्र हुआ जिसके पुत्र का नाम शान्ति था। शान्ति के वंशज थे सुशान्ति, पुरुज, अर्क तथा भर्म्याश्व। भर्म्याश्व के पाँच पुत्र थे जिनमें से मुद्गल ने ब्राह्मण वंश को जन्म दिया। मुद्गल की जुड़वा सन्तान में दिवोदास पुत्र तथा अहल्या पुत्री थी। अहल्या का पति गौतम था जिनसे शतानन्द का जन्म हुआ। शतानन्द का पुत्र सत्यधृति हुआ और उसका पुत्र शरद्वान था। शरद्वान का पुत्र कृप था और पुत्री का नाम कृपी था जो बाद में द्रोणाचार्य की पत्नी बनी।

श्रीशुक उवाच
वितथस्य सुतान्मन्योर्बृहत्क्षत्रो जयस्ततः ।
महावीर्यो नरो गर्गः सङ्कतिस्तु नरात्मजः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; वितथस्य—वितथ (भरद्वाज) का, जिसे भरत ने निराशा की विशेष परिस्थिति में गोद लिया था; सुतात्—पुत्र से; मन्योः—मन्यु; बृहत्क्षत्रः—बृहत्क्षत्र; जयः—जय; ततः—उससे; महावीर्यः—महावीर्य; नरः—नर; गर्गः—गर्ग; सङ्कतिः—संकृति; तु—निश्चय ही; नर-आत्मजः—नर का पुत्र।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा: चूँकि मरुत्गणों ने भरद्वाज को लाकर दिया था इसलिए वह वितथ कहलाया। वितथ के पुत्र का नाम मन्यु था जिसके पाँच पुत्र हुए—बृहत्क्षत्र, जय, महावीर्य, नर तथा गर्ग। इन पाँचों में से नर के पुत्र का नाम संकृति था।

गुरुश्च रन्तिदेवश्च सङ्कतेः पाण्डुनन्दन ।
रन्तिदेवस्य महिमा इहामुत्र च गीयते ॥ २ ॥

शब्दार्थ

गुरुः—गुरु नामक पुत्र; च—तथा; रन्तिदेवः च—तथा रन्तिदेव; सङ्कृतेः—संकृति से; पाण्डु-नन्दन—हे पाण्डु के वंशज, महाराज परीक्षित; रन्तिदेवस्य—रन्तिदेव की; महिमा—ख्याति; इह—इस संसार में; अमुत्र—तथा परलोक में; च—भी; गीयते—गाई जाती है।.

हे महाराज परीक्षित, हे पाण्डु वंशज, संकृति के दो पुत्र थे—गुरु तथा रन्तिदेव। रन्तिदेव इस लोक में तथा परलोक दोनों में ही विख्यात हैं क्योंकि उनकी महिमा का गान न केवल मानव समाज में अपितु देव समाज में भी होता है।

वियद्वित्तस्य ददतो लब्धं लब्धं बुभुक्षतः ।
निष्किञ्चनस्य धीरस्य सकुटुम्बस्य सीदतः ॥ ३ ॥
व्यतीयुरष्टचत्वारिंशदहान्यपिबतः किल ।
घृतपायससंयावं तोयं प्रातरुपस्थितम् ॥ ४ ॥
कृच्छ्रप्राप्तकुटुम्बस्य क्षुत्तृड्भ्यां जातवेपथोः ।
अतिथिर्ब्राह्मणः काले भोक्तुकामस्य चागमत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

वियत्-वित्तस्य—रन्तिदेव का, जिसे विधाता से वस्तुएँ प्राप्त होती थीं जिस तरह चातक पक्षी आकाश से जल प्राप्त करता है; ददतः—अन्यों को बाँट दिया; लब्धम्—जो कुछ प्राप्त हुआ; लब्धम्—ऐसे प्राप्त पदार्थ; बुभुक्षतः—भोग किया; निष्किञ्चनस्य—सदैव धनहीन; धीरस्य—फिर भी अत्यन्त धीर; स-कुटुम्बस्य—अपने परिवार के साथ भी; सीदतः—अत्यधिक कष्ट भोगता; व्यतीयुः—बीत गये; अष्ट-चत्वारिंशत्—अड़तालीस; अहानि—दिन; अपिबतः—जल पिये बिना; किल—निस्सन्देह; घृत-पायस—घी तथा दूध से बना भोजन; संयावम्—व्यंजन; तोयम्—जल; प्रातः—प्रातःकाल; उपस्थितम्—संयोगवश आ गया; कृच्छ्र-प्राप्त—कष्ट पाते हुए; कुटुम्बस्य—कुटुम्बियों का; क्षुत्-तृड्भ्याम्—भूख तथा प्यास से; जात—हो गया; वेपथोः—कम्पित; अतिथिः—अतिथि; ब्राह्मणः—ब्राह्मण; काले—उस समय; भोक्तु-कामस्य—कुछ खाने के लिए इच्छुक रन्तिदेव का; च—भी; आगमत्—वहाँ आ गया।.

रन्तिदेव ने कभी कुछ भी कमाने का यत्न नहीं किया। उसे भाग्य से जो मिल जाता उसे ही भोगता, किन्तु जब अतिथि आ जाते तो वह हर वस्तु उन्हें दे देता था। इस तरह उसे तथा उसके साथ उसके परिवार के सदस्यों को काफी कष्ट सहना पड़ा। वह तथा उसके परिवार के लोग अन्न तथा जल के अभाव से गंभीर रहते थे फिर भी रन्तिदेव धीर बना रहता। एक बार अड़तालीस दिनों तक उपवास करने के बाद रन्तिदेव को प्रातःकाल थोड़ा जल तथा घी और दूध से बने कुछ व्यंजन प्राप्त हुए, किन्तु जब वह तथा उसके परिवार वाले भोजन करने ही वाले थे तो एक ब्राह्मण अतिथि आ धमका।

तस्मै संव्यभजत्सोऽन्नमादृत्य श्रद्धयान्वितः ।
हरिं सर्वत्र सम्पश्यन्स भुक्त्वा प्रययौ द्विजः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उस (ब्राह्मण) को; संव्यभजत्—बाँट कर अपना हिस्सा दे दिया; सः—उसने; अन्नम्—भोजन; आहृत्य—आदरपूर्वक; श्रद्धया अन्वितः—अत्यन्त श्रद्धापूर्वक; हरिम्—भगवान् को; सर्वत्र—सभी जगह, हर जीव के हृदय में; सम्पश्यन्—देखते हुए; सः—वह; भुक्त्वा—भोजन करके; प्रययौ—उस स्थान से चला गया; द्विजः—ब्राह्मण।

चूँकि रन्तिदेव को सर्वत्र एवं हर जीव में भगवान् की उपस्थिति का बोध होता था अतएव वह बड़े ही श्रद्धा-सम्मान से अतिथि का स्वागत करता और उसे भोजन का अंश देता था। उस ब्राह्मण अतिथि ने अपना भाग खाया और फिर चला गया।

तात्पर्य : रन्तिदेव को हर जीव में भगवान् के दर्शन होते थे, किन्तु वह कभी यह नहीं सोचता था कि चूँकि भगवान् हर जीव में हैं अतएव हर जीव भगवान् है। इसी तरह वह जीव जीव में भेद नहीं मानता था। उसे ब्राह्मण तथा चण्डाल दोनों में भगवान् की उपस्थिति प्रतीत होती थी। यह असली समदृष्टि है जैसा कि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (५.१८) में पुष्टि की है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

"असली ज्ञान होने से विनीत साधु, विद्वान तथा नम्र ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते तथा चण्डाल को समान दृष्टि से देखता है।" पण्डित अर्थात् विद्वान व्यक्ति हर जीव में भगवान् की उपस्थिति देखता है। यद्यपि आजकल तथाकथित दरिद्रनारायण को वरीयता देने की प्रथा बन चुकी है, किन्तु रन्तिदेव के पास किसी एक को वरीयता देने का कोई कारण नहीं था। यह विचार कि चूँकि नारायण दरिद्र अर्थात् गरीब के हृदय में उपस्थित है अतएव गरीब को दरिद्रनारायण कहा जाय, भ्रान्त धारणा है। ऐसे तर्क से तो कूकर-सूकर भी नारायण बन जाएँगे क्योंकि भगवान् उन सबों के हृदयों में भी रहते हैं। हमें ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि रन्तिदेव की विचारधारा ऐसी थी। वे तो हर एक को भगवान् का अंश मानते थे (*हरि सम्बन्धिवस्तुनः*)। ऐसा नहीं है कि हर कोई भगवान् है। ऐसा सिद्धान्त मायावादियों का है जो सदा भ्रामक है और रन्तिदेव ने इसे कभी भी स्वीकार नहीं किया।

अथान्यो भोक्ष्यमाणस्य विभक्तस्य महीपतेः ।
विभक्तं व्यभजत्तस्मै वृषलाय हरिं स्मरन् ॥७॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; अन्यः—दूसरा अतिथि; भोक्ष्यमाणस्य—बस खाने ही जा रहे थे; विभक्तस्य—परिवार के लिए हिस्सा अलग करते हुए; महीपतेः—राजा का; विभक्तम्—परिवार के लिए नियत भोजन; व्यभजत्—हिस्से लगाकर बाँट दिया; तस्मै—उस; वृषलाय—शूद्र को; हरिम्—भगवान् का; स्मरन्—स्मरण करते हुए।

तत्पश्चात् शेष भोजन को अपने परिवार वालों मे बाँट देने के बाद रन्तिदेव अपना हिस्सा खाने जा ही रहे थे कि एक शूद्र अतिथि वहाँ आ गया। इस शूद्र को भगवान् से सम्बन्धित देखकर राजा रन्तिदेव ने उसे भी भोजन में से एक अंश दिया।

तात्पर्य : चूँकि राजा रन्तिदेव हर एक को भगवान् के अंश रूप में देखते थे अतएव वे कभी ब्राह्मण और शूद्र तथा दरिद्र और धनी में अन्तर नहीं रखते थे। ऐसी समदृष्टि *समदर्शिनः* कहलाती है (*पण्डिताः समदर्शिनः*)। जिसे यह अनुभूति हो चुकी है कि भगवान् सबों के हृदय में स्थित है और सारे जीव भगवान् के अंश हैं वह ब्राह्मण तथा शूद्र, दरिद्र तथा धनी में कोई अन्तर नहीं करता। ऐसा व्यक्ति सभी जीवों को समान रूप से देखता है और बिना भेदभाव के उनके साथ समान आचरण करता है।

याते शूद्रे तमन्योऽगादतिथिः श्वभिरावृतः ।
राजन्मे दीयतामन्नं सगणाय बुभुक्षते ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

याते—चले जाने पर; शूद्रे—शूद्र अतिथि के; तम्—राजा के पास; अन्यः—दूसरा; अगात्—वहाँ आया; अतिथिः—मेहमान; श्वभिः आवृतः—कुत्तों से घिरा हुआ; राजन्—हे राजा; मे—मुझको; दीयताम्—दीजिये; अन्नम्—खाद्य पदार्थ; स-गणाय—कुत्तों समेत; बुभुक्षते—भूखा होने के कारण।

जब शूद्र चला गया तो एक दूसरा मेहमान आया जिसके साथ कुत्ते थे। उसने कहा, "हे राजा, मैं तथा मेरे साथ के ये कुत्ते अत्यन्त भूखे हैं। कृपया हमें कुछ खाने को दें।"

स आदृत्यावशिष्टं यद्बहुमानपुरस्कृतम् ।
तच्च दत्त्वा नमश्चक्रे श्वभ्यः श्वपतये विभुः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (राजा रन्तिदेव); आदृत्य—आदरपूर्वक; अवशिष्टम्—ब्राह्मण तथा शूद्र को खिलाने के बाद बचा हुआ भोजन; यत्—जितना भी; बहु-मान-पुरस्कृतम्—अत्यन्त आदर करते हुए; तत्—वह; च—भी; दत्त्वा—देकर; नमः-चक्रे—नमस्कार किया; श्वभ्यः—कुत्तों के साथ; श्व-पतये—कुत्तों के मालिक को; विभुः—शक्तिशाली राजा।

राजा रन्तिदेव ने अतिथि रूप में आये कुत्तों और कुत्तों के मालिक को अत्यन्त आदरपूर्वक बचा हुआ भोजन दे दिया। राजा ने उनका सभी प्रकार से आदर किया और नमस्कार किया।

पानीयमात्रमुच्छेषं तच्चैकपरितर्पणम् ।
पास्यतः पुल्कसोऽभ्यागादपो देह्यशुभाय मे ॥ १० ॥

शब्दार्थ

पानीय-मात्रम्—केवल पीने का जल; उच्छेषम्—उच्छिष्ट भोजन; तत् च—वह भी; एक—एक के लिए; परितर्पणम्—तुष्ट करते हुए; पास्यतः—ज्योंही राजा पीने को हुआ; पुल्कसः—चण्डाल; अभ्यागात्—वहाँ आया; अपः—जल; देहि—कृपया दें; अशुभाय—अधम चण्डाल होने पर भी; मे—मुझको।

तत्पश्चात् केवल पीने का जल ही बच रहा जो केवल एक व्यक्ति को संतुष्ट करने के लिए ही पर्याप्त था। किन्तु ज्योंही राजा जल पीने को हुआ कि एक चण्डाल वहाँ आया और कहने लगा, "हे राजा, मैं निम्नकुल में उत्पन्न (नीच) हूँ। कृपा करके मुझे पीने के लिए थोड़ा जल दें।"

तस्य तां करुणां वाचं निशम्य विपुलश्रमाम् ।
कृपया भृशसन्तप्त इदमाहामृतं वचः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका (चण्डाल) का; ताम्—उन; करुणाम्—दयनीय; वाचम्—शब्दों को; निशम्य—सुनकर; विपुल—अत्यधिक; श्रमाम्—थका हुआ; कृपया—दया करके; भृश-सन्तप्तः—अत्यन्त दुखी; इदम्—ये सब; आह—बोला; अमृतम्—मधुर; वचः—शब्द।

बेचारे थके चण्डाल के दयनीय वचनों को सुनकर दुखित महाराज रन्तिदेव ने इस प्रकार के अमृततुल्य वचन कहे।

तात्पर्य : महाराज रन्तिदेव के शब्द अमृततुल्य थे; अतएव दुखी व्यक्ति की शारीरिक सेवा करने के अतिरिक्त वे अपनी वाणी से ही सुनने वाले के जीवन को बचा सकते थे।

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्पराम्
अष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजाम्
अन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

न कामये—नहीं चाहता; अहम्—मैं; गतिम्—गन्तव्य; ईश्वरात्—भगवान् से; पराम्—महान; अष्ट-ऋद्धि-युक्ताम्—आठ प्रकार की सिद्धियों से रचित; अपुनः-भवम्—बारम्बार जन्म का अन्त (मोक्ष); वा—अथवा; आर्तिम्—कष्ट; प्रपद्ये—स्वीकार करता हूँ; अखिल-देह-भाजाम्—सारे जीवों के; अन्तः-स्थितः—भीतर स्थित; येन—जिससे; भवन्ति—होते हैं; अदुःखाः—दुखरहित।

मैं ईश्वर से न तो योग की अष्ट सिद्धियों के लिए प्रार्थना करता हूँ न जन्म-मृत्यु के चक्र से मोक्ष की कामना करता हूँ। मैं सारे जीवों के बीच निवास करके उनके लिए सारे कष्टों को भोगना चाहता हूँ जिससे वे कष्ट से मुक्त हो सकें।

तात्पर्य : वासुदेव दत्त ने भी श्रीचैतन्य महाप्रभु से इसी प्रकार प्रार्थना की थी कि वे अपनी उपस्थिति में सारे जीवों को मुक्त कर दें। उसने कहा कि यदि ये जीव मुक्त होने लायक न हों तो वह उन सबों के पापफलों को अपने ऊपर ले सकता है और स्वयं कष्ट भोग सकता है जिससे भगवान् उन सबका उद्धार कर सकें। इसीलिए वैष्णव को *परदुखदुखी* कहा गया है। इस तरह वैष्णव व्यक्ति मानव समाज के वास्तविक कल्याण-कार्यों में अपने आपको लगाता है।

क्षुत्तृट्श्रमो गात्रपरिभ्रमश्च
दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः ।
सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तोर्
जिजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

क्षुत्—भूख; तृट्—तथा प्यास से; श्रमः—थकावट; गात्र-परिभ्रमः—शरीर का काँपना; च—भी; दैन्यम्—गरीबी; क्लमः—कष्ट; शोक—संताप; विषाद—खिन्नता; मोहाः—तथा मोह; सर्वे—सभी; निवृत्ताः—समाप्त; कृपणस्य—गरीब; जन्तोः—जीव (चण्डाल) की; जिजीविषोः—जीने की इच्छा; जीव—प्राण बचाने के लिए हुए; जल—जल; अर्पणात्—प्रदान करने से; मे—मेरा।

जीवन के लिए संघर्ष करते हुए बेचारे चण्डाल की जान बचाने के लिए अपना जल देकर मैं सारी भूख, प्यास, थकान, शरीर-कम्पन, खिन्नता, क्लेश, संताप तथा मोह से मुक्त हो गया हूँ।

इति प्रभाष्य पानीयं म्रियमाणः पिपासया ।
पुल्कसायाददाद्धीरो निसर्गकरुणो नृपः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

इति—इस तरह; प्रभाष्य—यह कह कर; पानीयम्—पीने का जल; म्रियमाणः—मरणासन्न; पिपासया—प्यास के कारण; पुल्कसाय—चण्डाल को; अददात्—दे दिया; धीरः—धीर; निसर्ग-करुणः—स्वभाव से दयालु; नृपः—राजा ने।

इस तरह कहकर प्यास के मारे मरते हुए राजा रन्तिदेव ने बिना किसी हिचक के अपने हिस्से का जल चण्डाल को दे दिया क्योंकि राजा स्वभाव से अत्यन्त दयालु तथा शान्त था।

तस्य त्रिभुवनाधीशाः फलदाः फलमिच्छताम् ।
आत्मानं दर्शयां चक्रुर्माया विष्णुविनिर्मिताः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके समक्ष; त्रि-भुवन-अधीशाः—तीनों लोकों के नियन्ता (यथा ब्रह्मा, शिव जैसे देवतागण); फलदाः—फल देने वाले; फलम् इच्छताम्—भौतिक लाभ की इच्छा रखने वाले; आत्मानम्—अपना स्वरूप; दर्शयाम् चक्रुः—प्रकट किया; मायाः—मोहक शक्ति; विष्णु—विष्णु द्वारा; विनिर्मिताः—उत्पन्न।

तत्पश्चात् लोगों को इच्छित फल देकर उनकी सारी भौतिक इच्छाओं को पूरा करने वाले ब्रह्माजी तथा शिवजी जैसे देवताओं ने राजा रन्तिदेव के समक्ष अपना स्वरूप प्रकट किया क्योंकि वे ही ब्राह्मण, शूद्र, चण्डाल इत्यादि के रूप में उनके पास आये थे।

स वै तेभ्यो नमस्कृत्य निःसङ्गो विगतस्पृहः ।
वासुदेवे भगवति भक्त्या चक्रे मनः परम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (राजा रन्तिदेव); वै—निस्सन्देह; तेभ्यः—ब्रह्माजी, शिवजी इत्यादि अन्य देवताओं को; नमः-कृत्य—नमस्कार करके; निःसङ्गः—निष्काम; विगत-स्पृहः—किसी प्रकार की भौतिक सम्पत्ति की इच्छा न करते हुए; वासुदेवे—वासुदेव में; भगवति—भगवान्; भक्त्या—भक्ति के द्वारा; चक्रे—स्थिर किया; मनः—मन को; परम्—चरम लक्ष्य के रूप में।

राजा रन्तिदेव को देवताओं से किसी प्रकार का भौतिक लाभ प्राप्त करने की कोई आकांक्षा न थी। उसने उन्हें प्रणाम किया, किन्तु भगवान् विष्णु या वासुदेव में अनुरक्त होने के कारण उसने अपने मन को भगवान् विष्णु के चरणकमलों में स्थिर कर लिया।

तात्पर्य : श्रील नरोत्तम दास ठाकुर का गीत है—

अन्य देवाश्रय नाइ, तोमारे कहिनु भाइ

एइ भक्ति परम करण

यदि कोई भगवान् का शुद्ध भक्त बनना चाहता है तो उसे देवताओं से किसी वर की लालसा नहीं रखनी चाहिए। जैसा कि *भगवद्गीता* (७.२०) में कहा गया है—*कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना: प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता:*—माया के मोह से मूर्ख बने लोग भगवान् को छोड़कर अन्य देवताओं की पूजा करते हैं। इसीलिए यद्यपि रन्तिदेव ब्रह्माजी तथा शिवजी का साक्षात् दर्शन कर रहे थे, किन्तु उन्हें उनसे किसी भौतिक लाभ की कोई लालसा नहीं थी। उल्टे, उन्होंने अपने मन को भगवान् वासुदेव में स्थिर कर दिया और उनकी भक्ति की। यह उस शुद्ध भक्त का लक्षण है जिसका हृदय भौतिक इच्छाओं से कलुषित नहीं होता।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

"मनुष्य को सकाम कर्म या दार्शनिक चिन्तन के द्वारा भौतिक लाभ की इच्छा किये बिना भगवान् कृष्ण की अनुकूल दिव्य सेवा करनी चाहिए। यही शुद्ध भक्ति कहलाती है।"

ईश्वरालम्बनं चित्तं कुर्वतोऽनन्यराधसः ।
माया गुणमयी राजन्स्वप्नवत्प्रत्यलीयत ॥ १७॥

शब्दार्थ

ईश्वर-आलम्बनम्—भगवान् के चरणकमलों में पूरी तरह शरण लेना; चित्तम्—चेतना; कुर्वतः—स्थिर करके; अनन्य-राधसः—रन्तिदेव के लिए जो अविचल था और भगवान् की सेवा के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहता था; माया—भ्रामक शक्ति; गुण-मयी—प्रकृति के तीन गुणों से युक्त; राजन्—हे महाराज परीक्षित; स्वप्न-वत्—सपने के समान; प्रत्यलीयत—नष्ट हो गई।.

हे महाराज परीक्षित, चूँकि राजा रन्तिदेव शुद्ध भक्त, सदैव कृष्णभावनाभावित तथा पूर्णरूपेण निष्काम था अतएव भगवान् की माया उसके समक्ष प्रकट नहीं हो सकी। उल्टे, माया स्वप्न के समान पूरी तरह नष्ट हो गई।

तात्पर्य : जैसे कहा गया है कि—

कृष्ण—सूर्य-सम, माया हय अंधकार।
याहाँ कृष्ण, ताहाँ नाहि मायार अधिकार॥

जिस तरह सूर्य के प्रकाश में अंधकार के होने की कोई सम्भावना नहीं रहती, उसी तरह शुद्ध कृष्ण भक्त में माया का अस्तित्व नहीं रह पाता। भगवान् स्वयं *भगवद्गीता* (७.१४) में कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

"भौतिक प्रकृति के तीन गुणों वाली मेरी इस दैवी शक्ति को जीत पाना कठिन है। किन्तु जिन्होंने मेरी शरण ग्रहण कर ली है वे इसे आसानी से पार कर सकते हैं।" जो कोई भ्रामक शक्ति अर्थात् माया के प्रभाव से मुक्त होना चाहता है उसे कृष्णभक्त बनकर कृष्ण को सदैव अपने हृदय में धारण करना चाहिए। *भगवद्गीता* (९.३४) में भगवान् उपदेश देते हैं कि मनुष्य सदैव उनका चिन्तन करे (*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु*)। इस तरह सदा कृष्णभावनाभावित रहते हुए मनुष्य माया के प्रभाव को पार कर सकता है (*मायामेतां तरन्ति ते*)। चूँकि रन्तिदेव कृष्णभक्त थे अतएव वे माया के वशीभूत नहीं थे। इस प्रसंग में *स्वप्नवत्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। चूँकि भौतिक जगत में मन भौतिक कार्यों में मग्न रहता है अतएव सो जाने पर स्वप्न में बहुत से विरोधी कार्य दिखते हैं। किन्तु जब मनुष्य जगता है तो ये सारे कार्य मन में समा जाते हैं। इसी प्रकार जब तक मनुष्य माया के वश में रहता है तब तक वह नाना प्रकार की योजनाएँ एवं

कार्यक्रम बनाता है, किन्तु कृष्णभक्त होने पर स्वप्न जैसी ये योजनाएँ स्वत: दूर हो जाती हैं।

तत्प्रसङ्गानुभावेन रन्तिदेवानुवर्तिनः ।
अभवन्योगिनः सर्वे नारायणपरायणाः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तत्-प्रसङ्ग-अनुभावेन—राजा रन्तिदेव की संगति के कारण (उनसे भक्तियोग के विषय में बातें करते हुए); रन्तिदेव-अनुवर्तिनः—राजा रन्तिदेव के अनुयायी (उनके नौकर, परिवार वाले, मित्र, इत्यादि); अभवन्—हो गये; योगिनः—श्रेष्ठ भक्तियोगी; सर्वे—सभी; नारायण-परायणाः—भगवान् नारायण के भक्त।

जिन लोगों ने राजा रन्तिदेव के सिद्धान्तों का पालन किया उन सबों को उनकी कृपा प्राप्त हुई और वे भगवान् नारायण के शुद्ध भक्त बन गये। इस तरह वे सभी श्रेष्ठ योगी बन गये।

तात्पर्य : श्रेष्ठ योगीजन भक्त होते हैं जिसकी पुष्टि भगवान् स्वयं *भगवद्गीता* (६.४७) में करते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।

''समस्त योगियों में से जो योगी श्रद्धापूर्वक मेरी दिव्य भक्ति में रहते हुए मेरी पूजा करता है वह योग में मुझसे भलीभाँति युक्त हो जाता है और सबों में उच्च होता है।'' सर्वश्रेष्ठ योगी वह है जो निरन्तर अपने हृदय में भगवान् का चिन्तन करता है। चूँकि रन्तिदेव राज्य के प्रमुख कार्यकारी और राजा थे अतएव राज्य के सारे निवासी राजा के दिव्य संसर्ग से भगवान् के भक्त बन गये। शुद्ध भक्त का यह प्रभाव है। यदि एक भी शुद्ध भक्त हो तो उसकी संगति से सैकड़ों-हजारों शुद्ध भक्त बन सकते हैं। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने कहा है कि वैष्णव जितने भक्त बनाता है उसी के अनुपात में वह महान् होता है। वैष्णव वाग्जाल से नहीं अपितु अपने द्वारा बनाये गये भगवद्भक्तों की संख्या से श्रेष्ठ बनता है। यहाँ पर *रन्तिदेवानुवर्तिनः* शब्द इस बात का सूचक है कि रन्तिदेव के अफसर, मित्र, परिजन तथा प्रजा उनके संसर्ग से उच्चकोटि के वैष्णव बन गये। दूसरे शब्दों में, यहाँ पर रन्तिदेव के महाभागवत अर्थात् प्रथम श्रेणी के भक्त होने की पुष्टि की गई है। *महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः*—मनुष्य को ऐसे महात्माओं की सेवा करनी चाहिए क्योंकि तब इसे स्वत: भवबन्धन से मुक्त होने का लक्ष्य प्राप्त हो जायेगा। श्रील नरोत्तमदास ठाकुर ने यह भी कहा है—*छाडिया वैष्णव-सेवा निस्तार पायेछे केबा*—मनुष्य को अपने प्रयत्न से मुक्ति-लाभ नहीं होता, किन्तु यदि वह शुद्ध वैष्णव की अधीनता स्वीकार कर ले तो मुक्ति का द्वार खुल जाता है।

गर्गाच्छिनिस्ततो गार्ग्यः क्षत्राद्ब्रह्म ह्यवर्तत ।
दुरितक्षयो महावीर्यात्तस्य त्रय्यारुणिः कविः ॥ १९ ॥
पुष्करारुणिरित्यत्र ये ब्राह्मणगतिं गताः ।
बृहत्क्षत्रस्य पुत्रोऽभूद्धस्ती यद्धस्तिनापुरम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

गर्गात्—गर्ग से (भरद्वाज के अन्य पौत्र से); शिनिः—शिनि नामक पुत्र; ततः—उससे (शिनि से); गार्ग्यः—गार्ग्य नामक पुत्र; क्षत्रात्—क्षत्रिय होते हुए भी; ब्रह्म—ब्राह्मण; हि—निस्सन्देह; अवर्तत—हो सका; दुरितक्षयः—दुरितक्षय नामक पुत्र; महावीर्यात्—महावीर्य से (भरद्वाज के अन्य पौत्र से); तस्य—उसका; त्रय्यारुणिः—त्रय्यारुणि नामक पुत्र; कविः—कवि नामक पुत्र; पुष्करारुणिः—पुष्करारुणि नामक पुत्र; इति—इस प्रकार; अत्र—यहाँ; ये—वे सभी; ब्राह्मण-गतिम्—ब्राह्मणों का पद; गताः—प्राप्त हुआ; बृहत्क्षत्रस्य—बृहत्क्षत्र का, जो भरद्वाज का पौत्र था; पुत्रः—पुत्र; अभूत्—हुआ; हस्ती—हस्ती; यत्—जिससे; हस्तिनापुरम्—हस्तिनापुर (नई दिल्ली) की स्थापना हुई।

गर्ग से शिनि नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका पुत्र गार्ग्य हुआ। यद्यपि गार्ग्य क्षत्रिय था, किन्तु उससे ब्राह्मण कुल की उत्पत्ति हुई। महावीर्य का पुत्र दुरितक्षय हुआ, जिसके तीन पुत्र थे—त्रय्यारुणि, कवि तथा पुष्करारुणि। यद्यपि दुरितक्षय के ये पुत्रक्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए थे, किन्तु उन्हें भी ब्राह्मण पद प्राप्त हुआ। बृहत्क्षत्र का एक पुत्र हस्ती था जिसने हस्तिनापुर नामक नगर (आज की नई दिल्ली) की स्थापना की।

अजमीढो द्विमीढश्च पुरुमीढश्च हस्तिनः ।
अजमीढस्य वंश्याः स्युः प्रियमेधादयो द्विजाः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अजमीढः—अजमीढ; द्विमीढः—द्विमीढ; च—भी; पुरुमीढः—पुरुमीढ; च—भी; हस्तिनः—हस्ती के पुत्र बने; अजमीढस्य—अजमीढ के; वंश्याः—वंशज; स्युः—हैं; प्रियमेध-आदयः—प्रियमेध इत्यादि; द्विजाः—ब्राह्मण।

राजा हस्ती के तीन पुत्र हुए—अजमीढ, द्विमीढ, तथा पुरुमीढ। अजमीढ के वंशजों में प्रियमेध प्रमुख था और उन सबों ने ब्राह्मण पद प्राप्त किया।

तात्पर्य : इस श्लोक में ऐसा प्रमाण मिलता है जो *भगवद्गीता* के इस कथन की पुष्टि करता है कि समाज के वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—गुणों तथा कर्मों के आधार पर परिगणित होते हैं (*गुणकर्मविभागशः*)। क्षत्रिय वर्ण के अजमीढ के सभी वंशज ब्राह्मण बन गये। ऐसा उनके गुणों तथा कर्मों के आधार पर हुआ। इसी प्रकार कभी-कभी ब्राह्मण या क्षत्रिय के पुत्र वैश्य बन जाते हैं (*ब्राह्मणा वैश्यतां गताः*)। जब क्षत्रिय या ब्राह्मण वैश्य के व्यवसाय या कर्म को ग्रहण करता है (*कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यम्*) तो

वह निश्चित रूप से वैश्य गिना जाता है। दूसरी ओर वैश्य कुल में उत्पन्न व्यक्ति अपने व्यवसाय से ब्राह्मण बन सकता है। इसकी पुष्टि नारद मुनि ने की है। *यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तम्*। विविध वर्णों के सदस्यों की पुष्टि उनके लक्षणों से की जानी चाहिए, जन्म से नहीं। जन्म महत्त्वपूर्ण नहीं, गुण आवश्यक है।

अजमीढाद्बृहदिषुस्तस्य पुत्रो बृहद्धनुः ।
बृहत्कायस्ततस्तस्य पुत्र आसीज्जयद्रथः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अजमीढात्—अजमीढ से; बृहदिषुः—बृहदिषु नामक पुत्र; तस्य—उसका; पुत्रः—पुत्र; बृहद्धनुः—बृहद्धनु; बृहत्कायः—बृहत्काय; ततः—तत्पश्चात्; तस्य—उसका; पुत्रः—पुत्र; आसीत्—था; जयद्रथः—जयद्रथ।

अजमीढ का पुत्र बृहदिषु था, बृहदिषु का पुत्र बृहद्धनु था, बृहद्धनु का पुत्र बृहत्काय था और बृहत्काय से जयद्रथ नामक पुत्र हुआ।

तत्सुतो विशदस्तस्य स्येनजित्समजायत ।
रुचिराश्वो दृढहनुः काश्यो वत्सश्च तत्सुताः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तत्-सुतः—जयद्रथ का पुत्र; विशदः—विशद; तस्य—उसका; स्येनजित्—स्येनजित; समजायत—उत्पन्न हुआ; रुचिराश्वः—रुचिराश्व; दृढहनुः—दृढहनु; काश्यः—काश्य; वत्सः—वत्स; च—भी; तत्-सुताः—स्येनजित के पुत्र।

जयद्रथ का पुत्र विशद था और उसका पुत्र स्येनजित था। स्येनजित के पुत्रों के नाम थे रुचिराश्व, दृढहनु, काश्य तथा वत्स।

रुचिराश्वसुतः पारः पृथुसेनस्तदात्मजः ।
पारस्य तनयो नीपस्तस्य पुत्रशतं त्वभूत् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

रुचिराश्व-सुतः—रुचिराश्व का पुत्र; पारः—पार; पृथुसेनः—पृथुसेन; तत्—उसका; आत्मजः—पुत्र; पारस्य—पार का; तनयः—पुत्र; नीपः—नीप; तस्य—उसके; पुत्र-शतम्—एक सौ पुत्र; तु—निस्सन्देह; अभूत्—उत्पन्न हुए।

रुचिराश्व का पुत्र पार था और पार के पुत्र पृथुसेन तथा नीप थे। नीप के एक सौ पुत्र थे।

स कृत्व्यां शुककन्यायां ब्रह्मदत्तमजीजनत् ।
योगी स गवि भार्यायां विष्वक्सेनमधात्सुतम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने (नीप); कृत्व्याम्—कृत्वी नामक पत्नी से; शुक-कन्यायाम्—शुक की कन्या से; ब्रह्मदत्तम्—ब्रह्मदत्त नामक पुत्र; अजीजनत्—उत्पन्न किया; योगी—योगी; सः—वह ब्रह्मदत्त; गवि—गौ या सरस्वती नाम की; भार्यायाम्—पत्नी के गर्भ से; विष्वक्सेनम्—विष्वक्सेन को; अधात्—उत्पन्न किया; सुतम्—पुत्र।

शुक की पुत्री अर्थात् नीप की पत्नी कृत्वी के गर्भ से राजा नीप के ब्रह्मदत्त नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। ब्रह्मदत्त महान् योगी था। उसकी पत्नी सरस्वती के गर्भ से विष्वक्सेन नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ।

तात्पर्य : यहाँ पर जिस शुक का वर्णन है वह *भागवत* के वक्ता शुकदेव गोस्वामी से भिन्न है। व्यासदेव के पुत्र शुकदेव गोस्वामी का वर्णन *ब्रह्मवैवर्त पुराण* में विस्तार से पाया जाता है। उसमें बतलाया गया है कि व्यासदेव ने जाबालि की पुत्री को अपनी पत्नी बनाया और दोनों ने अनेक वर्षों तक इकट्ठे तपस्या की। तब व्यासदेव के वीर्य से उसे गर्भ रह गया। यह बालक अपनी माता के गर्भ में बारह वर्षों तक रहा और जब पिता ने बालक से गर्भ से बाहर आने के लिए कहा तो उसने उत्तर दिया कि वह तब तक बाहर नहीं आयेगा जब तक उसे माया के प्रभाव से पूरी तरह मुक्त न कर दिया जाय। तब व्यासदेव ने बालक को आश्वस्त किया कि वह माया से पूरी तरह मुक्त हो जायेगा, किन्तु बालक को विश्वास नहीं हुआ क्योंकि पिता अब भी अपनी पत्नी तथा बच्चों में लिप्त था। तब व्यासदेव द्वारका गये और भगवान् को अपनी समस्या बतलाई। व्यासदेव की प्रार्थना पर भगवान् उनकी कुटिया में आये और गर्भस्थ बालक को आश्वस्त किया कि वह माया से मुक्त रहेगा। इस पर बालक गर्भ से बाहर आया और तुरन्त ही *परिव्राजकाचार्य* के रूप में घर से बाहर चला गया। जब पिता व्याकुल होकर अपने साधुपुत्र शुकदेव गोस्वामी का पीछा करने लगा तो उसके साधु पुत्र ने एक दूसरा नकली शुकदेव उत्पन्न कर दिया जो बाद में गृहस्थ बना। इसीलिए इस श्लोक में वर्णित शुक कन्या इसी नकली शुकदेव की कन्या थी। मूल शुकदेव तो आजीवन ब्रह्मचारी बने रहे।

जैगीषव्योपदेशेन योगतन्त्रं चकार ह ।
उदक्सेनस्ततस्तस्माद्भल्लाटो बार्हदीषवाः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

जैगीषव्य—जैगीषव्य नामक महान् ऋषि के; उपदेशेन—उपदेश से; योग-तन्त्रम्—योगविधि का विस्तृत वर्णन; चकार—संकलित किया; ह—भूतकाल में; उदक्सेनः—उदक्सेन; ततः—उससे (विष्वक्सेन से); तस्मात्—उससे (उदक्सेन से); भल्लाटः—भल्लाट नामक पुत्र; बार्हदीषवाः—बृहदिषु के वंशज।

जैगीषव्य ऋषि के उपदेशानुसार विष्वक्सेन ने योगपद्धति का विस्तृत वर्णन संकलित किया। विष्वक्सेन से उदक्सेन उत्पन्न हुआ और उदक्सेन से भल्लाट। ये सभी पुत्र बृहदिषु के वंशज थे।

यवीनरो द्विमीढस्य कृतिमांस्तत्सुतः स्मृतः ।
नाम्ना सत्यधृतिस्तस्य दृढनेमिः सुपार्श्वकृत् ॥ २७॥

शब्दार्थ

यवीनरः—यवीनर; द्विमीढस्य—द्विमीढ का पुत्र; कृतिमान्—कृतिमान; तत्-सुतः—यवीनर का पुत्र; स्मृतः—विख्यात है; नाम्ना—नाम से; सत्यधृतिः—सत्यधृति; तस्य—उसका; दृढनेमिः—दृढनेमि; सुपार्श्व-कृत्—सुपार्श्व का पिता।

द्विमीढ का पुत्र यवीनर था और उसका पुत्र कृतिमान था। कृतिमान का पुत्र सत्यधृति के नाम से विख्यात था। सत्यधृति से दृढनेमि नाम का पुत्र हुआ जो सुपार्श्व का पिता बना।

सुपार्श्वात्सुमतिस्तस्य पुत्रः सन्नतिमांस्ततः ।
कृती हिरण्यनाभाद्यो योगं प्राप्य जगौ स्म षट् ॥ २८॥
संहिताः प्राच्यसाम्नां वै नीपो ह्युद्ग्रायुधस्ततः ।
तस्य क्षेम्यः सुवीरोऽथ सुवीरस्य रिपुञ्जयः ॥ २९॥

शब्दार्थ

सुपार्श्वात्—सुपार्श्व से; सुमतिः—सुमति नामक पुत्र; तस्य पुत्रः—उसका बेटा (सुमति का बेटा); सन्नतिमान्—सन्नतिमान; ततः—उससे; कृती—कृती नामक पुत्र; हिरण्यनाभात्—ब्रह्मा से; यः—जो; योगम्—योगशक्ति; प्राप्य—प्राप्त करके; जगौ—पढ़ाया; स्म—भूतकाल में; षट्—छः; संहिताः—संहिताएँ; प्राच्यसाम्नाम्—सामवेद के प्राच्यसाम नामक श्लोकों का; वै—निस्सन्देह; नीपः—नीप; हि—निस्सन्देह; उद्ग्रायुधः—उद्ग्रायुध; ततः—उससे; तस्य—उसका; क्षेम्यः—क्षेम्य; सुवीरः—सुवीर; अथ—तत्पश्चात्; सुवीरस्य—सुवीर का; रिपुञ्जयः—रिपुञ्जय नामक पुत्र।

सुपार्श्व से सुमति नाम का पुत्र, सुमति से सन्नतिमान तथा सन्नतिमान से कृती उत्पन्न हुआ जिसने ब्रह्मा से योगशक्ति प्राप्त की और सामवेद के प्राच्यसाम नामक श्लोकों की छह संहिताएँ पढ़ाईं। कृती का पुत्र नीप था, नीप का पुत्र उद्ग्रायुध हुआ, उद्ग्रायुध का पुत्र क्षेम्य हुआ, क्षेम्य से सुवीर नामक पुत्र हुआ तथा सुवीर का पुत्र रिपुञ्जय था।

ततो बहुरथो नाम पुरुमीढोऽप्रजोऽभवत् ।
नलिन्यामजमीढस्य नीलः शान्तिस्तु तत्सुतः ॥ ३०॥

शब्दार्थ

ततः—उससे (रिपुञ्जय से); बहुरथः—बहुरथ; नाम—नामक; पुरुमीढः—पुरुमीढ, द्विमीढ का छोटा भाई; अप्रजः—निःसन्तान; अभवत्—हुआ; नलिन्याम्—नलिनी से; अजमीढस्य—अजमीढ की; नीलः—नील; शान्तिः—शान्ति; तु—तब; तत्-सुतः—नील का पुत्र।

रिपुञ्जय का पुत्र बहुरथ हुआ। पुरुमीढ निःसन्तान था। अजमीढ को अपनी पत्नी नलिनी से नील नामक पुत्र की प्राप्ति हुई। नील का पुत्र शान्ति था।

शान्तेः सुशान्तिस्तत्पुत्रः पुरुजोऽर्कस्ततोऽभवत् ।
भर्म्याश्वस्तनयस्तस्य पञ्चासन्मुद्गलादयः ॥ ३१ ॥

यवीनरो बृहद्विश्वः काम्पिल्लः सञ्जयः सुताः ।
भर्म्याश्वः प्राह पुत्रा मे पञ्चानां रक्षणाय हि ॥ ३२ ॥

विषयाणामलमिमे इति पञ्चालसंज्ञिताः ।
मुद्गलाद्ब्रह्मनिर्वृत्तं गोत्रं मौद्गल्यसंज्ञितम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

शान्तेः—शान्ति का; सुशान्तिः—सुशान्ति; तत्-पुत्रः—उसका पुत्र; पुरुजः—पुरुज; अर्कः—अर्क; ततः—उससे; अभवत्—उत्पन्न हुए; भर्म्याश्वः—भर्म्याश्व; तनयः—पुत्र; तस्य—उसके; पञ्च—पाँच पुत्र; आसन्—थे; मुद्गल-आदयः—मुद्गल इत्यादि; यवीनरः—यवीनर; बृहद्विश्वः—बृहद्विश्व; काम्पिल्लः—काम्पिल्ल; सञ्जयः—सञ्जय; सुताः—पुत्र; भर्म्याश्वः—भर्म्याश्व ने; प्राह—कहा; पुत्राः—पुत्र; मे—मेरे; पञ्चानाम्—पाँचों की; रक्षणाय—सुरक्षा के लिए; हि—निस्सन्देह; विषयाणाम्—विभिन्न राज्यों का; अलम्—दक्ष; इमे—ये सभी; इति—इस प्रकार; पञ्चाल—पञ्चाल; संज्ञिताः—नामधारी; मुद्गलात्—मुद्गल से; ब्रह्म-निर्वृत्तम्—ब्राह्मणों से युक्त; गोत्रम्—गोत्र; मौद्गल्य—मोद्गल; संज्ञितम्—नामधारी।

शान्ति का पुत्र सुशान्ति था, सुशान्ति का पुत्र पुरुज हुआ, पुरुज का अर्क और अर्क का पुत्र भर्म्याश्व था। भर्म्याश्व के पाँच पुत्र हुए—मुद्गल, यवीनर, बृहद्विश्व, काम्पिल्ल तथा संजय। भर्म्याश्व ने अपने बेटों से कहा : मेरे बेटो, तुम लोग मेरे पाँचों राज्यों का भार सँभालो क्योंकि तुम ऐसा करने के लिए पर्याप्त सक्षम हो। इस तरह उसके पाँचों पुत्र पञ्चाल कहलाये। मुद्गल से ब्राह्मणों का गोत्र चला जो मौद्गल्य कहलाया।

मिथुनं मुद्गलाद्भार्म्याद्दिवोदासः पुमानभूत् ।
अहल्या कन्यका यस्यां शतानन्दस्तु गौतमात् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

मिथुनम्—जोड़ा, एक पुत्र और एक पुत्री; मुद्गलात्—मुद्गल से; भार्म्यात्—भार्म्याश्व का पुत्र; दिवोदासः—दिवोदास; पुमान्—पुरुष; अभूत्—उत्पन्न हुआ; अहल्या—अहल्या; कन्यका—कन्या; यस्याम्—जिससे; शतानन्दः—शतानन्द; तु—निस्सन्देह; गौतमात्—गौतम से, जो उसका पति था।

भर्म्याश्व के पुत्र मुद्गल के जुड़वाँ सन्तान हुई जिसमें एक पुत्र था और एक कन्या। पुत्र का नाम दिवोदास रखा गया और कन्या का नाम अहल्या। अहल्या के गर्भ और उसके पति गौतम मुनि के वीर्य से शतानन्द नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

तस्य सत्यधृतिः पुत्रो धनुर्वेदविशारदः ।
शरद्वांस्तत्सुतो यस्मादुर्वशीदर्शनात्किल ।

शरस्तम्बेऽपतद्रेतो मिथुनं तदभूच्छुभम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका (शतानंद का); सत्यधृतिः—सत्यधृति; पुत्रः—पुत्र; धनुः-वेद-विशारदः—धनुर्विद्या में पटु; शरद्वान्—शरद्वान; तत्-सुतः—उसका (सत्यधृति का) पुत्र; यस्मात्—जिससे; उर्वशी-दर्शनात्—उर्वशी अप्सरा के दर्शन मात्र से; किल—निस्सन्देह; शर-स्तम्बे—शर नामक घास (सरपत) के गुच्छे में; अपतत्—गिर पड़ा; रेतः—वीर्य; मिथुनम्—नर नारी का जोड़ा; तत् अभूत्—वहाँ उत्पन्न हुआ; शुभम्—शुभ।

शतानन्द का पुत्र सत्यधृति था जो धनुर्विद्या में अत्यन्त पटु था। सत्यधृति का पुत्र शरद्वान हुआ। जब शरद्वान की भेंट उर्वशी से हुई तो शर नामक घास के गुच्छे पर उसका वीर्यपात हो गया। इस वीर्य से दो शुभ शिशु उत्पन्न हुए जिनमें से एक लड़का था और दूसरा लड़की।

तद्दृष्ट्वा कृपयागृह्णाच्छान्तनुर्मृगयां चरन् ।
कृपः कुमारः कन्या च द्रोणपत्न्यभवत्कृपी ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस जुड़वे को; दृष्ट्वा—देखकर; कृपया—दयावश; अगृह्णात्—ले लिया; शान्तनुः—राजा शान्तनु ने; मृगयाम्—जंगल में शिकार करते समय; चरन्—घूमते हुए; कृपः—कृप; कुमारः—बालक; कन्या—बालिका; च—भी; द्रोण-पत्नी—द्रोणाचार्य की पत्नी; अभवत्—बनी; कृपी—कृपी।

जब महाराज शान्तनु शिकार करने गये तो उन्होंने जंगल में जुड़वाँ शिशुओं को पड़ा देखा। वे दयावश उन्हें अपने घर ले आये। फलस्वरूप, बालक कृप नाम से विख्यात हुआ और बालिका का नाम कृपी पड़ा। बाद में कृपी द्रोणाचार्य की पत्नी बनी।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध के अन्तर्गत "भरत का वंश" नामक इक्कीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बाईस

अजमीढ के वंशज

इस अध्याय में दिवोदास के वंशजों का वर्णन है। साथ ही ऋक्षवंशी जरासन्ध तथा दुर्योधन, अर्जुन इत्यादि का वर्णन हुआ है।

दिवोदास का पुत्र मित्रायु था जिसके चार पुत्र हुए—च्यवन, सुदास, सहदेव तथा सोमक। सोमक के एक सौ पुत्र हुए जिनमें सबसे छोटा पृषत था जिससे द्रुपद उत्पन्न हुआ। द्रुपद की पुत्री द्रौपदी थी और पुत्रों में धृष्टद्युम्न सबसे बड़े थे। धृष्टद्युम्न का पुत्र धृष्टकेतु था।

अजमीढ का एक अन्य पुत्र ऋक्ष था। ऋक्ष का पुत्र संवरण हुआ। संवरण से कुरु हुआ जो कुरुक्षेत्र का राजा बना। कुरु के चार पुत्र थे—परीक्षी, सुधनु, जह्नु तथा निषध। सुधनु के वंश में सुहोत्र, च्यवन, कृती तथा उपरिचर वसु हुए। उपरिचर वसु के पुत्रों में बृहद्रथ, कुशाम्ब, मत्स्य, प्रत्यग्र तथा चेदिप चेदि राज्य के राजा बने। बृहद्रथ के वंश में कुशाग्र, ऋषभ, सत्यहित, पुष्पवान तथा जह्नु हुए। बृहद्रथ की दूसरी पत्नी की कुक्षि से जरासन्ध हुआ। उसके बाद सहदेव, सोमापि तथा श्रुतश्रवा हुए। कुरु-पुत्र परीक्षि नि:सन्तान रहा। जह्नु के वंशजों में सुरथ, विदूरथ, सार्वभौम, जयसेन, राधिक, अयुतायु, अक्रोधन, देवातिथि, ऋक्ष, दिलीप तथा प्रतीप हुए।

प्रतीप के पुत्र थे देवापि, शान्तनु तथा बाह्लीक। देवापि के जंगल चले जाने पर उसका छोटा भाई शान्तनु राजा हुआ। छोटा होने के कारण शान्तनु राजसिंहासन का अधिकारी नहीं था, किन्तु उसने बड़े भाई की कोई परवाह न की। फलस्वरूप, बारह वर्षों तक वर्षा नहीं हुई। अतएव ब्राह्मणों के कहने पर शान्तनु देवापि को राज्य लौटाने को तैयार हो गया लेकिन शान्तनु के मंत्री की चाल से देवापि राजा होने के अयोग्य हो गया। इसलिए शान्तनु ने पुन: राज्यभार ग्रहण किया और तब उसके राज्यकाल में ठीक से वर्षा हुई। देवापि अपनी योगशाक्ति से आज भी कलाप-ग्राम नामक गाँव में रहता है। इस कलियुग में जब सोम के वंशज, जो चन्द्रवंशी कहलाते हैं, मर जायेंगे तो सत्ययुग के प्रारम्भ में देवापि पुन: सोमवंश की स्थापना करेगा। शान्तनु की पत्नी गंगा ने भीष्म को जन्म दिया जो बारह महाजनों में से हैं। शान्तनु के दो पुत्र और भी हुए—चित्रांगद तथा विचित्रवीर्य। ये सत्यवती के गर्भ से शान्तनु के वीर्य से उत्पन्न हुए थे। पराशर के वीर्य से

सत्यवती के गर्भ से व्यासदेव ने जन्म लिया। व्यासदेव ने *भागवत* की कथा अपने पुत्र शुकदेव से कही। विचित्रवीर्य की दो पत्नियों तथा उसकी दासी से व्यासदेव ने धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा विदुर को जन्म दिया।

धृतराष्ट्र के दुर्योधनादि एक सौ पुत्र तथा दु:शला नाम की एक कन्या हुई। पाण्डु के पाँच पुत्र थे जिनमें युधिष्ठिर प्रमुख थे और इन पाँचों से द्रौपदी ने एक-एक पुत्र उत्पन्न किया। द्रौपदी के पाँचों पुत्रों के नाम थे प्रतिविन्ध्य, श्रुतसेन, श्रुतकीर्ति, शतानीक तथा श्रुतकर्मा। इन पाँच पुत्रों के अतिरिक्त पाण्डवों की अन्य पत्नियों से भी कई पुत्र हुए—यथा देवक, घटोत्कच, सर्वगत, सुहोत्र, नरमित्र, इरावान, बभ्रुवाहन तथा अभिमन्यु। अभिमन्यु से महाराज परीक्षित उत्पन्न हुए और परीक्षित से चार पुत्र उत्पन्न हुए—जनमेजय, श्रुतसेन, भीमसेन तथा उग्रसेन।

इसके बाद शुकदेव गोस्वामी ने पाण्डुवंश के भावी पुत्रों का वर्णन किया। उन्होंने बतलाया कि जनमेजय का पुत्र शतानीक होगा जिसके वंश में सहस्रानीक, अश्वमेधज, असीमकृष्ण, नेमिचक्र, चित्ररथ, शुचिरथ, वृष्टिमान, सुषेण, सुनीथ, नृचक्षु, सुखीनल, परिप्लव, सुनय, मेधावी, नृपञ्जय, दूर्व, तिमि, बृहद्रथ, सुदास, शतानीक, दुर्दमन, महीनर, दण्डपाणि, निमि तथा क्षेमक होंगे।

तत्पश्चात् शुकदेव गोस्वामी ने मागधवंश के राजाओं की भविष्यवाणी की। जरासन्ध के पुत्र सहदेव से मार्जारि, फिर उससे श्रुतश्रवा होगा। इसके बाद इस वंश में युतायु, निरमित्र, सुनक्षत्र, बृहत्सेन, कर्मजित, सुतञ्जय, विप्र, शुचि, क्षेम, सुव्रत, धर्मसूत्र, सम, द्युमत्सेन, सुमति, सुबल, सुनीथ, सत्यजित, विश्वजित तथा रिपुञ्जय होंगे।

श्रीशुक उवाच
मित्रायुश्च दिवोदासाच्च्यवनस्तत्सुतो नृप ।
सुदासः सहदेवोऽथ सोमको जन्तुजन्मकृत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; मित्रायुः—मित्रायु; च—तथा; दिवोदासात्—दिवोदास से उत्पन्न; च्यवनः—च्यवन; तत्-सुतः—मित्रायु का पुत्र; नृप—हे राजा; सुदासः—सुदास; सहदेवः—सहदेव; अथ—तत्पश्चात्; सोमकः—सोमक; जन्तु-जन्म-कृत्—जन्तु का पिता।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा, दिवोदास का पुत्र मित्रायु था और मित्रायु के चार पुत्र हुए जिनके नाम थे च्यवन, सुदास, सहदेव तथा सोमक। सोमक जन्तु का पिता था।

तस्य पुत्रशतं तेषां यवीयान्पृषतः सुतः ।
स तस्माद्द्रुपदो जज्ञे सर्वसम्पत्समन्वितः ॥ २॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके (सोमक के); पुत्र-शतम्—एक सौ पुत्र; तेषाम्—उन सबों के; यवीयान्—सबसे छोटा; पृषतः—पृषत; सुतः—पुत्र; सः—वह; तस्मात्—उससे (पृषत से); द्रुपदः—द्रुपद; जज्ञे—उत्पन्न हुआ; सर्व-सम्पत्—सारे ऐश्वर्य से; समन्वितः—अलंकृत।

सोमक के एक सौ पुत्र थे जिनमें सबसे छोटा पृषत था। पृषत से राजा द्रुपद उत्पन्न हुआ जो सभी प्रकार से ऐश्वर्यवान था।

द्रुपदाद्द्रौपदी तस्य धृष्टद्युम्नादयः सुताः ।
धृष्टद्युम्नाद्धृष्टकेतुर्भार्म्याः पाञ्चालका इमे ॥ ३॥

शब्दार्थ

द्रुपदात्—द्रुपद से; द्रौपदी—पाण्डवों की विख्यात पत्नी द्रौपदी; तस्य—उसके (द्रुपद के); धृष्टद्युम्न-आदयः—धृष्टद्युम्न इत्यादि; सुताः—पुत्र; धृष्टद्युम्नात्—धृष्टद्युम्न से; धृष्टकेतुः—धृष्टकेतु नामक पुत्र; भार्म्याः—भर्म्याश्व के सारे वंशज; पाञ्चालकाः—पाञ्चालक कहलाते हैं; इमे—ये सभी।

महाराज द्रुपद से द्रौपदी उत्पन्न हुई। महाराज द्रुपद के कई पुत्र भी थे जिनमें धृष्टद्युम्न प्रमुख था। उसके पुत्र का नाम धृष्टकेतु था। ये सारे पुरुष भर्म्याश्व के वंशज या पाञ्चालवंशी कहलाते हैं।

योऽजमीढसुतो ह्यन्य ऋक्षः संवरणस्ततः ।
तपत्यां सूर्यकन्यायां कुरुक्षेत्रपतिः कुरुः ॥ ४॥
परीक्षिः सुधनुर्जह्नुर्निषधश्च कुरोः सुताः ।
सुहोत्रोऽभूत्सुधनुषश्च्यवनोऽथ ततः कृती ॥ ५॥

शब्दार्थ

यः—जो; अजमीढ-सुतः—अजमीढ का पुत्र; हि—निस्सन्देह; अन्यः—दूसरा; ऋक्षः—ऋक्ष; संवरणः—संवरण; ततः—उससे (ऋक्ष से); तपत्याम्—तपती; सूर्य-कन्यायाम्—सूर्यदेव की पुत्री के गर्भ से; कुरुक्षेत्र-पतिः—कुरुक्षेत्र का राजा; कुरुः—कुरु का जन्म हुआ; परीक्षिः सुधनुः जह्नुः निषधः च—परीक्षि, सुधनु, जह्नु तथा निषध; कुरोः—कुरु के; सुताः—पुत्र; सुहोत्रः—सुहोत्र; अभूत्—उत्पन्न हुआ; सुधनुषः—सुधनु से; च्यवनः—च्यवन; अथ—सुहोत्र से; ततः—च्यवन से; कृती—कृती नामक पुत्र।

अजमीढ का दूसरा पुत्र ऋक्ष नाम से विख्यात था। ऋक्ष से संवरण, संवरण के उसकी पत्नी सूर्यपुत्री तपती के गर्भ से कुरु हुआ जो कुरुक्षेत्र का राजा बना। कुरु के चार पुत्र थे—परीक्षि, सुधनु, जह्नु तथा निषध। सुधनु से सुहोत्र, सुहोत्र से च्यवन और च्यवन से कृती उत्पन्न हुआ।

वसुस्तस्योपरिचरो बृहद्रथमुखास्ततः ।

कुशाम्बमत्स्यप्रत्यग्रचेदिपाद्याश्च चेदिपाः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

वसुः—वसु नामक पुत्र; तस्य—उसका (कृती का); उपरिचरः—वसु का उपनाम; बृहद्रथ-मुखाः—बृहद्रथ इत्यादि; ततः—उससे (वसु से); कुशाम्ब—कुशाम्ब; मत्स्य—मत्स्य; प्रत्यग्र—प्रत्यग्र; चेदिप-आद्याः—चेदिप आदि; च—भी; चेदि-पाः—चेदि राज्य के सभी शासक।

कृती का पुत्र उपरिचर वसु था और उसके पुत्रों में, जिनमें बृहद्रथ प्रमुख था, कुशाम्ब, मत्स्य, प्रत्यग्र तथा चेदिप थे। उपरिचर वसु के सारे पुत्र चेदि राज्य के शासक बने।

बृहद्रथात्कुशाग्रोऽभूदृषभस्तस्य तत्सुतः ।
जज्ञे सत्यहितोऽपत्यं पुष्पवांस्तत्सुतो जहुः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

बृहद्रथात्—बृहद्रथ से; कुशाग्रः—कुशाग्र; अभूत्—उत्पन्न हुआ; ऋषभः—ऋषभ; तस्य—उसका (कुशाग्र का); तत्-सुतः—उसका (ऋषभ का) पुत्र; जज्ञे—उत्पन्न हुआ; सत्यहितः—सत्यहित; अपत्यम्—सन्तान; पुष्पवान्—पुष्पवान; तत्-सुतः—उसका (पुष्पवान का) पुत्र; जहुः—जहु।

बृहद्रथ से कुशाग्र उत्पन्न हुआ, कुशाग्र से ऋषभ, ऋषभ से सत्यहित, सत्यहित से पुष्पवान तथा पुष्पवान से जहु उत्पन्न हुआ।

अन्यस्यामपि भार्यायां शकले द्वे बृहद्रथात् ।
ये मात्रा बहिरुत्सृष्टे जरया चाभिसन्धिते ।
जीव जीवेति क्रीडन्त्या जरासन्धोऽभवत्सुतः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अन्यस्याम्—दूसरी; अपि—भी; भार्यायाम्—पत्नी के; शकले—भाग; द्वे—दो; बृहद्रथात्—बृहद्रथ से; ये—जो; मात्रा—माता द्वारा; बहिः उत्सृष्टे—छोड़ दिये जाने पर; जरया—जरा नामक राक्षसी; च—तथा; अभिसन्धिते—जोड़ दिये गये; जीव जीव इति—हे जीव, तुम जी उठो; क्रीडन्त्या—खेलते हुए; जरासन्धः—जरासन्ध; अभवत्—उत्पन्न हुआ; सुतः—पुत्र।

बृहद्रथ की दूसरी पत्नी के गर्भ से दो आधे आधे खण्डों में एक पुत्र उत्पन्न हुआ। जब माता ने इन दो आधे आधे खण्डों को देखा तो उसने इन्हें फेंक दिया, किन्तु बाद में जरा नाम की एक राक्षसी ने खेल-खेल में उन्हें जोड़ते हुए कहा, ''जीवित हो उठो, जीवित हो उठो।'' इस तरह जरासन्ध नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

ततश्च सहदेवोऽभूत्सोमापिर्यच्छ्रुतश्रवाः ।
परीक्षिरनपत्योऽभूत्सुरथो नाम जाह्नवः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ततः च—तथा उससे (जरासंध से); सहदेवः—सहदेव; अभूत्—उत्पन्न हुआ; सोमापिः—सोमापि; यत्—उसके (सोमापि); श्रुतश्रवाः—श्रुतश्रवा नामक पुत्र; परीक्षिः—कुरु को परीक्षि नामक पुत्र; अनपत्यः—निःसन्तान; अभूत्—रह गया; सुरथः—सुरथ; नाम—नामक; जाह्नवः—जह्नु का पुत्र।

जरासन्ध से सहदेव नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। फिर सहदेव से सोमापि और सोमापि से श्रुतश्रवा हुआ। कुरु के पुत्र परीक्षि के कोई पुत्र नहीं था, किन्तु कुरुपुत्र जह्नु के एक पुत्र था जिसका नाम सुरथ था।

ततो विदूरथस्तस्मात्सार्वभौमस्ततोऽभवत् ।
जयसेनस्तत्तनयो राधिकोऽतोऽयुताय्वभूत् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

ततः—उससे (सुरथ से); विदूरथः—विदूरथ नामक पुत्र; तस्मात्—उससे (विदूरथ से); सार्वभौमः—सार्वभौम नाम का पुत्र; ततः—उससे (सार्वभौम से); अभवत्—उत्पन्न हुआ; जयसेनः—जयसेन; तत्-तनयः—जयसेन का पुत्र; राधिकः—राधिक; अतः—और उससे (राधिक से); अयुतायुः—अयुतायु; अभूत्—उत्पन्न हुआ।

सुरथ के विदूरथ नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ और विदूरथ से सार्वभौम हुआ। सार्वभौम से जयसेन, जयसेन से राधिक तथा राधिक से अयुतायु उत्पन्न हुआ।

ततश्चाक्रोधनस्तस्माद्देवातिथिरमुष्य च ।
ऋक्षस्तस्य दिलीपोऽभूत्प्रतीपस्तस्य चात्मजः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ततः—उससे; च—भी; अक्रोधनः—अक्रोधन नामक पुत्र; तस्मात्—उससे; देवातिथिः—देवातिथि; अमुष्य—उसका; च—भी; ऋक्षः—ऋक्ष; तस्य—उसके; दिलीपः—दिलीप; अभूत्—उत्पन्न हुआ; प्रतीपः—प्रतीप; तस्य—उसका; च—तथा; आत्म-जः—पुत्र।

अयुतायु का पुत्र अक्रोधन, अक्रोधन का देवातिथि, देवातिथि का ऋक्ष, ऋक्ष का दिलीप और दिलीप का पुत्र प्रतीप हुआ।

देवापिः शान्तनुस्तस्य बाह्लीक इति चात्मजाः ।
पितृराज्यं परित्यज्य देवापिस्तु वनं गतः ॥ १२ ॥
अभवच्छान्तनू राजा प्राङ्महाभिषसंज्ञितः ।
यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णं यौवनमेति सः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

देवापिः—देवापि; शान्तनुः—शान्तनु; तस्य—उसके (प्रतीप के); बाह्लीकः—बाह्लीक; इति—इस प्रकार; च—भी; आत्म-जाः—पुत्र; पितृ-राज्यम्—पिता की सम्पत्ति या राज्य को; परित्यज्य—छोड़कर; देवापिः—देवापि, जो सबसे बड़ा पुत्र था; तु—निस्सन्देह; वनम्—वन में; गतः—चला गया; अभवत्—था; शान्तनुः—शान्तनु; राजा—राजा; प्राक्—पहले; महाभिष—महाभिष; संज्ञितः—

सुप्रसिद्ध; यम् यम्—जिस जिसको; कराभ्याम्—अपने हाथों से; स्पृशति—छूता था; जीर्णम्—यद्यपि अत्यन्त वृद्ध; यौवनम्—युवावस्था को; एति—प्राप्त हुआ; सः—वह।

प्रतीप के तीन पुत्र थे—देवापि, शान्तनु तथा बाह्लीक। देवापि अपने पिता का राज्य त्याग कर जंगल चला गया अतएव शान्तनु राजा हुआ। शान्तनु अपने पूर्वजन्म में महाभिष नाम से विख्यात था। उसमें किसी को भी अपने हाथों के स्पर्श द्वारा बूढ़े से जवान में बदलने की शक्ति थी।

शान्तिमाप्नोति चैवाछ्यां कर्मणा तेन शान्तनुः ।
समा द्वादश तद्राज्ये न ववर्ष यदा विभुः ॥ १४॥
शान्तनुर्ब्राह्मणैरुक्तः परिवेत्तायमग्रभुक् ।
राज्यं देह्यग्रजायाशु पुरराष्ट्रविवृद्धये ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

शान्तिम्—इन्द्रियतृप्ति के लिए जवानी; आप्नोति—प्राप्त करता है; च—भी; एव—निस्सन्देह; अछ्याम्—मुख्यतः; कर्मणा—अपने हाथ के स्पर्श से; तेन—उसके कारण; शान्तनुः—शान्तनु; समाः—वर्षों; द्वादश—बारह; तत्-राज्ये—उसके राज्य में; न—नहीं; ववर्ष—पानी बरसा; यदा—जब; विभुः—वर्षा का स्वामी इन्द्र; शान्तनुः—शान्तनु ने; ब्राह्मणैः—ब्राह्मणों के द्वारा; उक्तः—सलाह दिये जाने पर; परिवेत्ता—शोषक होने के कारण दोषमय; अयम्—यह; अग्र-भुक्—बड़े भाई के होते हुए भी भोग करते हुए; राज्यम्—राज्य; देहि—दे दो; अग्रजाय—अपने बड़े भाई को; आशु—तुरन्त; पुर-राष्ट्र—अपने घर तथा राज्य की; विवृद्धये—उन्नति के लिए।

चूँकि यह राजा अपने हाथ के स्पर्श मात्र से ही सबों की इन्द्रियतृप्ति करके सुखी बनाने में समर्थ था इसीलिए इसका नाम शान्तनु था। एक बार जब राज्य में बारह वर्षों तक वर्षा नहीं हुई तो राजा ने विद्वान ब्राह्मणों से परामर्श किया। उन्होंने कहा, ''तुम अपने बड़े भाई की सम्पत्ति भोगने के दोषी हो। तुम अपने राज्य तथा अपने घर की उन्नति के लिए यह राज्य उसे लौटा दो।''

तात्पर्य : अपने बड़े भाई के होते हुए कोई न तो राजा बन सकता है न अग्निहोत्र यज्ञ सम्पन्न कर सकता है अन्यथा वह परिवेत्ता कहलाता है।

एवमुक्तो द्विजैर्ज्येष्ठं छन्दयामास सोऽब्रवीत् ।
तन्मन्त्रिप्रहितैर्विप्रैर्वेदाद्विभ्रंशितो गिरा ॥ १६ ॥
वेदवादातिवादान्वै तदा देवो ववर्ष ह ।
देवापिर्योगमास्थाय कलापग्राममाश्रितः ॥ १७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; उक्तः—सलाह दिये जाने पर; द्विजैः—ब्राह्मणों द्वारा; ज्येष्ठम्—बड़े भाई देवापि को; छन्दयाम् आस—राज्य ग्रहण करने के लिए प्रार्थना की; सः—उसने; अब्रवीत्—कहा; तत्-मन्त्रि—शान्तनु के मंत्री द्वारा; प्रहितैः—बहकाये जाने पर; विप्रैः—ब्राह्मणों द्वारा; वेदात्—वेदों के नियमों से; विभ्रंशितः—गिरा हुआ; गिरा—ऐसी वाणी से; वेद-वाद-अतिवादान्—वैदिक आदेशों की

निन्दा करने वाले शब्द; वै—निस्सन्देह; तदा—उस समय; देवः—देवता ने; ववर्ष—वर्षा की; ह—भूतकाल में; देवापिः—देवापि ने; योगम् आस्थाय—योगविधि स्वीकार करके; कलाप-ग्रामम्—कलाप नामक गाँव में; आश्रितः—शरण ले ली (और आज भी जीवित है)।

जब ब्राह्मणों ने यह कहा तो महाराज शान्तनु जंगल चला गया और उसने अपने बड़े भाई देवापि से प्रार्थना की कि वह राज्य का भार ग्रहण करे क्योंकि प्रजा का पालन करना राजा का धर्म है। किन्तु इसके पूर्व शान्तनु के मंत्री अश्ववार ने कुछ ब्राह्मणों को फुसलाकर देवापि से वेदों के आदेशों का उल्लंघन करने के लिए प्रेरित किया था जिससे वह शासक पद के अयोग्य हो गया था। ब्राह्मणों ने देवापि को वैदिक सिद्धान्तों के मार्ग से विचलित कर दिया था अतएव जब शान्तनु ने शासक पद ग्रहण करने के लिए कहा तो उसने मना कर दिया। उल्टे, वह वैदिक सिद्धान्तों की निन्दा करने लगा अतएव पतित हो गया। ऐसी परिस्थिति में शान्तनु पुनः राजा बन गया और इन्द्र ने प्रसन्न होकर वर्षा की। बाद में देवापि ने अपने मन तथा इन्द्रियों का दमन करने के लिए योगमार्ग का अनुसरण किया और वह कलापग्राम नामक गाँव में चला गया जहाँ वह अब भी जीवित है।

सोमवंशे कलौ नष्टे कृतादौ स्थापयिष्यति ।
बाह्लीकात्सोमदत्तोऽभूद्भूरिर्भूरिश्रवास्ततः ॥ १८ ॥
शलश्च शान्तनोरासीद्गङ्गायां भीष्म आत्मवान् ।
सर्वधर्मविदां श्रेष्ठो महाभागवतः कविः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सोम-वंशे—सोमवंश के; कलौ—कलियुग में; नष्टे—नष्ट होने पर; कृत-आदौ—अगले सत्ययुग के प्रारम्भ में; स्थापयिष्यति—स्थापना करेगा; बाह्लीकात्—बाह्लीक से; सोमदत्तः—सोमदत्त; अभूत्—उत्पन्न हुआ; भूरिः—भूरि; भूरि-श्रवाः—भूरिश्रवा; ततः—तत्पश्चात्; शलः च—शल; शान्तनोः—शान्तनु से; आसीत्—उत्पन्न हुआ; गङ्गायाम्—शान्तनु की पत्नी गंगा के गर्भ से; भीष्मः—भीष्म; आत्मवान्—स्वरूपसिद्ध; सर्व-धर्म-विदाम्—सारे धार्मिक व्यक्तियों का; श्रेष्ठः—श्रेष्ठ; महा-भागवतः—महान् भक्त; कविः—तथा विद्वान।

इस कलियुग में सोमवंश के समाप्त होने पर और अगले सतयुग के प्रारम्भ में देवापि पुनः इस संसार में सोमवंश की स्थापना करेगा। (शान्तनु के भाई) बाह्लीक से सोमदत्त नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसके तीन पुत्र हुए—भूरि, भूरिश्रवा तथा शल। शान्तनु की दूसरी पत्नी गंगा के गर्भ से भीष्म उत्पन्न हुआ जो स्वरूपसिद्ध, सभी धार्मिक व्यक्तियों में श्रेष्ठ, महान् भक्त एवं विद्वान था।

वीरयूथाग्रणीर्येन रामोऽपि युधि तोषितः ।

शान्तनोर्दासकन्यायां जज्ञे चित्राङ्गदः सुतः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

वीर-यूथ-अग्रणीः—सारे योद्धाओं में अग्रणी, भीष्मदेव; येन—जिससे; रामः अपि—भगवान् के अवतार परशुराम भी; युधि—युद्ध में; तोषितः—सन्तुष्ट हुआ (भीष्मदेव के हराने पर); शान्तनोः—शान्तनु से; दास-कन्यायाम्—एक शूद्र की कन्या सत्यवती के गर्भ से; जज्ञे—उत्पन्न हुआ; चित्राङ्गदः—चित्रांगद; सुतः—पुत्र।

भीष्मदेव सारे योद्धाओं में सर्वश्रेष्ठ था। जब उसने भगवान् परशुराम को युद्ध में हरा दिया तो परशुराम उससे अत्यन्त संतुष्ट हुए। शान्तनु के वीर्य से धीवर की कन्या सत्यवती के गर्भ से चित्रांगद ने जन्म लिया।

तात्पर्य : सत्यवती वास्तव में उपरिचर वसु की पुत्री थी जो मत्स्यगर्भा नामक मछुवारिन के गर्भ से उत्पन्न हुई थी। बाद में सत्यवती का पालन एक मछुवारे ने किया था।

परशुराम तथा भीष्मदेव में जो युद्ध हुआ वह काशिराज की तीन कन्याओं—अम्बिका, अम्बालिका और अम्बा को लेकर हुआ क्योंकि भीष्मदेव ने अपने भाई विचित्रवीर्य के लिए इन तीन कन्याओं का अपहरण किया था। अम्बा ने सोचा था कि भीष्मदेव उससे विवाह कर लेगा अतएव वह उस पर अनुरक्त हो गई लेकिन भीष्मदेव ने ब्रह्मचर्य का व्रत ले रखा था अतएव उसने विवाह करने से मना कर दिया। फलतः अम्बा भीष्मपितामह के सैन्य गुरु परशुराम के पास गई जिन्होंने भीष्मदेव से कहा कि वह उसके साथ विवाह कर ले। किन्तु भीष्मदेव ने मना कर दिया अतएव परशुराम ने उससे युद्ध किया ताकि वह विवाह करना स्वीकार कर ले। लेकिन परशुराम हार गये अतः वे भीष्म से प्रसन्न हो गए।

विचित्रवीर्यश्चावरजो नाम्ना चित्राङ्गदो हतः ।
यस्यां पराशरात्साक्षादवतीर्णो हरेः कला ॥ २१ ॥
वेदगुप्तो मुनिः कृष्णो यतोऽहमिदमध्यगाम् ।
हित्वा स्वशिष्यान्पैलादीन्भगवान्बादरायणः ॥ २२ ॥
मह्यं पुत्राय शान्ताय परं गुह्यमिदं जगौ ।
विचित्रवीर्योऽथोवाह काशीराजसुते बलात् ॥ २३ ॥
स्वयंवरादुपानीते अम्बिकाम्बालिके उभे ।
तयोरासक्तहृदयो गृहीतो यक्ष्मणा मृतः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

विचित्रवीर्यः—शान्तनु पुत्र विचित्रवीर्य; च—तथा; अवरजः—छोटा भाई; नाम्ना—नामक; चित्राङ्गदः—चित्रांगद नामक गंधर्व द्वारा; हतः—मारा गया; यस्याम्—शान्तनु से विवाह होने के पूर्व सत्यवती के गर्भ में; पराशरात्—पराशर मुनि के वीर्य से; साक्षात्—प्रत्यक्ष; अवतीर्णः—अवतार लेकर; हरेः—भगवान् का; कला—अंश; वेद-गुप्तः—वेदों का रक्षक; मुनिः—मुनि; कृष्णः—कृष्ण द्वैपायन;

यत:—जिससे; अहम्—मैंने (शुकदेव गोस्वामी); इदम्—इस श्रीमद्भागवत को; अध्यगाम्—गहन अध्ययन किया; हित्वा—त्याग कर; स्व-शिष्यान्—अपने शिष्यों को; पैल-आदीन्—पैल इत्यादि को; भगवान्—भगवान् का अवतार; बादरायण:—व्यासदेव ने; मह्यम्—मुझ; पुत्राय—पुत्र को; शान्ताय—इन्द्रियतृप्ति को दमित करने वाले; परम्—परम; गुह्यम्—अत्यन्त गोपनीय; इदम्—इस वैदिक ग्रंथ (श्रीमद्भागवत) को; जगौ—उपदेश दिया; विचित्रवीर्य:—विचित्रवीर्यने; अथ—तत्पश्चात्; उवाह—विवाह ली; काशीराज-सुते—काशिराज की दो कन्याएँ; बलात्—बलपूर्वक; स्वयंवरात्—स्वयंवर स्थल से; उपानीते—लाई जाकर; अम्बिका-अम्बालिके—अम्बिका तथा अम्बालिका; उभे—दोनों; तयो:—उनके प्रति; आसक्त—अनुरक्त; हृदय:—हृदय; गृहीत:—कलुषित; यक्ष्मणा—यक्ष्मा (तपेदिक) से; मृत:—मर गया।

चित्रांगद, जिसका छोटा भाई विचित्रवीर्य था, चित्रागंद नाम के ही गन्धर्व द्वारा मारा गया। सत्यवती ने शान्तनु से विवाह होने के पूर्व वेदों के ज्ञाता व्यासदेव को जन्म दिया था। ये कृष्ण द्वैपायन कहलाये और पराशर मुनि के वीर्य से उत्पन्न हुए थे। व्यासदेवसे मैं (शुकदेव गोस्वामी) उत्पन्न हुआ और मैंने उनसे इस महान् ग्रंथ श्रीमद्भागवत का अध्ययन किया। भगवान् के अवतार वेदव्यास ने पैल इत्यादि अपने शिष्यों को छोड़कर मुझे श्रीमद्भागवत पढ़ाया क्योंकि मैं सभी भौतिक कामनाओं से मुक्त था। जब काशीराज की दो कन्याओं, अम्बिका और अम्बालिका का बलपूर्वक अपहरण हो गया तो विचित्रवीर्य ने उनसे विवाह कर लिया, किन्तु इन दोनों पत्नियों से अत्यधिक आसक्त रहने के कारण उसे तपेदिक हो गया जिससे वह मर गया।

क्षेत्रेऽप्रजस्य वै भ्रातुर्मात्रोक्तो बादरायण: ।
धृतराष्ट्रं च पाण्डुं च विदुरं चाप्यजीजनत् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

क्षेत्रे—पत्नियों तथा दासियों में; अप्रजस्य—नि:सन्तान विचित्रवीर्य की; वै—निस्सन्देह; भ्रातु:—भाई की; मात्रा उक्त:—माता के आदेश से; बादरायण:—वेदव्यास ने; धृतराष्ट्रम्—धृतराष्ट्र को; च—तथा; पाण्डुम्—पाण्डु को; च—भी; विदुरम्—विदुर को; च—भी; अपि—निस्सन्देह; अजीजनत्—उत्पन्न किया।

बादरायण, श्री व्यासदेव, ने अपनी माता सत्यवती के आदेशानुसार तीन पुत्र उत्पन्न किये—दो पुत्र अपने भाई विचित्रवीर्य की पत्नियों अम्बिका तथा अम्बालिका के गर्भ से और तीसरा विचित्रवीर्य की दासी से। तीनों पुत्रों के नाम थे धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा विदुर।

तात्पर्य : विचित्रवीर्य की मृत्यु तपेदिक से हो गई और उसकी पत्नियों—अम्बिका तथा अम्बालिका से कोई सन्तान न थी। अत: विचित्रवीर्य की मृत्यु के बाद उसकी माता सत्यवती ने, जो कि व्यासदेव की भी माता थीं, व्यासदेव से कहा कि वह विचित्रवीर्य की पत्नियों से सन्तान उत्पन्न करे। उन दिनों पति का भाई (देवर) अपनी भाभी से सन्तान उत्पन्न कर सकता था। यह *देवरेण सुतोत्पत्ति* कहलाती थी। यदि किसी

कारणवश पति सन्तान उत्पन्न करने में अक्षम होता था तो उसका भाई अपनी भाभी से सन्तान उत्पन्न कर सकता था। कलियुग में यह *देवरेण सुतोत्पत्ति* तथा अश्वमेध और गोमेध यज्ञ वर्जित हैं।

अश्वमेधं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्।

देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥

"इस कलियुग में पाँच कार्य करने की मनाही है—अश्वमेध यज्ञ, गोमेध यज्ञ, संन्यास आश्रम ग्रहण करना, पूर्वजों को मांस की भेंट तथा देवर द्वारा भाभी से सन्तानोत्पत्ति।" (*ब्रह्मवैवर्त पुराण*)।

गान्धार्यां धृतराष्ट्रस्य जज्ञे पुत्रशतं नृप ।
तत्र दुर्योधनो ज्येष्ठो दु:शला चापि कन्यका ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

गान्धार्याम्—गान्धारी के गर्भ में; धृतराष्ट्रस्य—धृतराष्ट्र का; जज्ञे—उत्पन्न हुए; पुत्र-शतम्—एक सौ पुत्र; नृप—हे राजा परीक्षित; तत्र—उन पुत्रों में; दुर्योधन:—दुर्योधन नामक पुत्र; ज्येष्ठ:—सबसे बड़ा; दु:शला—दु:शला; च अपि—भी; कन्यका—एक पुत्री।

हे राजा, धृतराष्ट्र की पत्नी गांधारी ने एक सौ पुत्र तथा एक कन्या को जन्म दिया। सबसे बड़ा पुत्र दुर्योधन था और कन्या का नाम दु:शला था।

शापान्मैथुनरुद्धस्य पाण्डो: कुन्त्यां महारथा: ।
जाता धर्मानिलेन्द्रेभ्यो युधिष्ठिरमुखास्त्रय: ॥ २७॥
नकुल: सहदेवश्च माद्र्यां नासत्यदस्रयो: ।
द्रौपद्यां पञ्च पञ्चभ्य: पुत्रास्ते पितरोऽभवन् ॥ २८॥

शब्दार्थ

शापात्—शाप से; मैथुन-रुद्धस्य—विषयी जीवन रोक देने से; पाण्डो:—पाण्डु का; कुन्त्याम्—कुन्ती के गर्भ में; महा-रथा:—बड़े-बड़े वीर; जाता:—उत्पन्न हुए; धर्म—महाराज धर्म या धर्मराज; अनिल—वायुदेव; इन्द्रेभ्य:—तथा वर्षा के देवता इन्द्र के द्वारा; युधिष्ठिर—युधिष्ठिर; मुखा:—इत्यादि; त्रय:—तीन पुत्र (युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन); नकुल:—नकुल; सहदेव:—सहदेव; च—भी; माद्र्याम्—माद्री के गर्भ से; नासत्य-दस्रयो:—नासत्य और दस्र अश्विनीकुमारों द्वारा; द्रौपद्याम्—द्रौपदी के गर्भ से; पञ्च—पाँच; पञ्चभ्य:—पाँचों भाइयों युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव द्वारा; पुत्रा:—पुत्र; ते—वे; पितर:—चाचा; अभवन्—बने।

एक मुनि के द्वारा शापित होने से पाण्डु का विषयी जीवन अवरुद्ध हो गया अतएव उसकी पत्नी कुन्ती के गर्भ से तीन पुत्र युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन उत्पन्न हुए जो क्रमश: धर्मराज, वायुदेव तथा इन्द्रदेव के पुत्र थे। पाण्डु की दूसरी पत्नी माद्री ने नकुल तथा सहदेव को जन्म दिया जो दोनों अश्विनीकुमारों द्वारा उत्पन्न थे। युधिष्ठिर इत्यादि पाँचों भाइयों ने द्रौपदी के गर्भ से पाँच पुत्र उत्पन्न किये। ये पाँचों पुत्र तुम्हारे चाचा थे।

युधिष्ठिरात्प्रतिविन्ध्यः श्रुतसेनो वृकोदरात् ।
अर्जुनाच्छ्रुतकीर्तिस्तु शतानीकस्तु नाकुलिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

युधिष्ठिरात्—महाराज युधिष्ठिर से; प्रतिविन्ध्यः—प्रतिविन्ध्य; श्रुतसेनः—श्रुतसेन; वृकोदरात्—भीम से; अर्जुनात्—अर्जुन से; श्रुतकीर्तिः—श्रुतकीर्ति; तु—निस्सन्देह; शतानीकः—शतानीक; तु—निस्सन्देह; नाकुलिः—नकुल के।

युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, भीम से श्रुतसेन, अर्जुन से श्रुतकीर्ति तथा नकुल से शतानीक नामक पुत्र हुए।

सहदेवसुतो राजञ्छ्रुतकर्मा तथापरे ।
युधिष्ठिरात्तु पौरव्यां देवकोऽथ घटोत्कचः ॥ ३० ॥
भीमसेनाद्धिडिम्बायां काल्यां सर्वगतस्ततः ।
सहदेवात्सुहोत्रं तु विजयासूत पार्वती ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

सहदेव-सुतः—सहदेव का पुत्र; राजन्—हे राजा; श्रुतकर्मा—श्रुतकर्मा; तथा—और; अपरे—अन्य; युधिष्ठिरात्—युधिष्ठिर से; तु—निस्सन्देह; पौरव्याम्—पौरवी के गर्भ से; देवकः—देवक; अथ—तथा; घटोत्कचः—घटोत्कच; भीमसेनात्—भीमसेन से; हिडिम्बायाम्—हिडिम्बा के गर्भ से; काल्याम्—काली के गर्भ से; सर्वगतः—सर्वगत; ततः—तत्पश्चात्; सहदेवात्—सहदेव से; सुहोत्रम्—सुहोत्र; तु—निस्सन्देह; विजया—विजया ने; असूत—जन्म दिया; पार्वती—हिमालय राज की पुत्री।

हे राजा, सहदेव का पुत्र श्रुतकर्मा था। यही नहीं, युधिष्ठिर तथा उनके भाइयों की अन्य पत्नियों से और भी पुत्र उत्पन्न हुए। युधिष्ठिर ने पौरवी के गर्भ से देवक को और भीमसेन ने अपनी पत्नी हिडिम्बा के गर्भ से घटोत्कच तथा अपनी अन्य पत्नी काली के गर्भ से सर्वगत नामक पुत्रों को जन्म दिया। इसी प्रकार सहदेव को उसकी पत्नी विजया से सुहोत्र नाम का पुत्र प्राप्त हुआ। विजया पर्वतों के राजा की पुत्री थी।

करेणुमत्यां नकुलो नरमित्रं तथार्जुनः ।
इरावन्तमुलुप्यां वै सुतायां बभ्रुवाहनम् ।
मणिपुरपतेः सोऽपि तत्पुत्रः पुत्रिकासुतः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

करेणुमत्याम्—करेणुमती नामक पत्नी से; नकुलः—नकुल ने; नरमित्रम्—नरमित्र को; तथा—भी; अर्जुनः—अर्जुन ने; इरावन्तम्—इरावान को; उलुप्याम्—नागकन्या उलुपी के गर्भ से; वै—निस्सन्देह; सुतायाम्—पुत्री से; बभ्रुवाहनम्—बभ्रुवाहन; मणिपुर-पतेः—मणिपुर के राजा की; सः—वह; अपि—यद्यपि; तत्-पुत्रः—अर्जुन का पुत्र; पुत्रिका-सुतः—अपने नाना का पुत्र।

नकुल की पत्नी करेणुमती से नरमित्र नामक पुत्र हुआ। इसी प्रकार अर्जुन को नागकन्या उलुपी

नामक अपनी पत्नी से इरावान नामक पुत्र तथा मणिपुर की राजकुमारी के गर्भ से बभ्रुवाहन नामक पुत्र की प्राप्ति हुई। बभ्रुवाहन मणिपुर के राजा का दत्तक पुत्र बन गया।

तात्पर्य : यह समझ लेना चाहिए कि पार्वती मणिपुर नामक अत्यन्त प्राचीन पहाड़ी देश के राजा की कन्या थी। अतएव पाँच हजार वर्ष पूर्व जब पाण्डव शासन कर रहे थे तो मणिपुर का अस्तित्व था और इसका राजा भी होता था। अतएव मणिपुर राज्य अत्यन्त प्राचीन राजतंत्र वैष्णव राज्य था। यदि इसे वैष्णव राज्य के रूप में फिर से संगठित किया जाय तो महान् सफलता प्राप्त हो सकती है क्योंकि यह राज्य पाँच हजार वर्षों से अपनी पहचान बनाये हुए है। यदि यहाँ वैष्णव वृत्ति का पुनर्जागरण हो तो यह सारे विश्व में अद्‌भुत स्थान सिद्ध हो सकता है। वैष्णव समाज में मणिपुरी वैष्णव अत्यन्त विख्यात हैं। वृन्दावन एवं नवद्वीप में मणिपुर के राजा के बनवाये अनेक मन्दिर हैं। हमारे कुछ भक्त मणिपुर के हैं। अतएव कृष्णभक्तों के सहयोग से मणिपुर राज्य में कृष्णभावनामृत आन्दोलन का भलीभाँति प्रसार हो सकता है।

तव तातः सुभद्रायामभिमन्युरजायत ।
सर्वातिरथजिद्वीर उत्तरायां ततो भवान् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तव—तुम्हारा; तातः—पिता; सुभद्रायाम्—सुभद्रा के गर्भ से; अभिमन्युः—अभिमन्यु; अजायत—उत्पन्न हुआ था; सर्व-अतिरथ-जित्—अतिरथों को पराजित करने वाला महान् योद्धा; वीरः—वीर; उत्तरायाम्—उत्तरा के गर्भ में; ततः—अभिमन्यु से; भवान्—आप।

हे राजा परीक्षित, तुम्हारे पिता अभिमन्यु अर्जुन के पुत्र रूप में सुभद्रा के गर्भ से उत्पन्न हुए। वे सभी अतिरथों (जो एक हजार रथवानों से युद्ध कर सके) के विजेता थे। उनके द्वारा विराड्राज की पुत्री उत्तरा के गर्भ से तुम उत्पन्न हुए।

परिक्षीणेषु कुरुषु द्रौणेर्ब्रह्मास्त्रतेजसा ।
त्वं च कृष्णानुभावेन सजीवो मोचितोऽन्तकात् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

परिक्षीणेषु—कुरुक्षेत्र युद्ध में विनष्ट हो जाने पर; कुरुषु—कुरुवंशियों, यथा दुर्योधन के; द्रौणेः—द्रोणाचार्य का पुत्र अश्वत्थामा द्वारा; ब्रह्मास्त्र-तेजसा—ब्रह्मास्त्र की गर्मी से; त्वम् च—तुम भी; कृष्ण-अनुभावेन—कृष्ण के अनुग्रह से; सजीवः—जीवित; मोचितः—छुड़ा लिये गये; अन्तकात्—मृत्यु से।

जब कुरुक्षेत्र के युद्ध में कुरुवंश का विनाश हो गया तो तुम भी द्रोणाचार्य के पुत्र द्वारा छोड़े

गये ब्रह्मास्त्र के द्वारा विनष्ट होने वाले थे, किन्तु भगवान् कृष्ण की कृपा से तुम्हें मृत्यु से बचा लिया गया।

तवेमे तनयास्तात जनमेजयपूर्वकाः ।
श्रुतसेनो भीमसेन उग्रसेनश्च वीर्यवान् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

तव—तुम्हारे; इमे—ये सभी; तनयाः—पुत्र; तात—हे राजा परीक्षित; जनमेजय—जनमेजय; पूर्वकाः—प्रमुख, इत्यादि; श्रुतसेनः—श्रुतसेन; भीमसेनः—भीमसेन; उग्रसेनः—उग्रसेन; च—भी; वीर्यवान्—शक्तिमान।

हे राजा, तुम्हारे चारों पुत्र—जनमेजय, श्रुतसेन, भीमसेन तथा उग्रसेन अत्यन्त शक्तिशाली हैं। जनमेजय उनमें सबसे बड़ा है।

जनमेजयस्त्वां विदित्वा तक्षकान्निधनं गतम् ।
सर्पान्वै सर्पयागाग्नौ स होष्यति रुषान्वितः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

जनमेजयः—जनमेजय; त्वाम्—तुमको; विदित्वा—जानकर; तक्षकात्—तक्षक नाग द्वारा; निधनम्—मृत्यु को; गतम्—प्राप्त हुआ; सर्पान्—साँपों को; वै—निस्सन्देह; सर्प-याग-अग्नौ—सर्पों को मारने के लिए यज्ञ अग्नि में; सः—वह (जनमेजय); होष्यति—आहुति डालेगा; रुषा-अन्वितः—अत्यन्त क्रोधित होने के कारण।

तक्षक सर्प द्वारा तुम्हारी मृत्यु हो जाने के कारण तुम्हारा पुत्र जनमेजय अत्यन्त क्रुद्ध होगा और संसार के सारे सर्पों को मारने के लिए यज्ञ करेगा।

कालषेयं पुरोधाय तुरं तुरगमेधषाट् ।
समन्तात्पृथिवीं सर्वां जित्वा यक्ष्यति चाध्वरैः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

कालषेयम्—कलष के पुत्र को; पुरोधाय—पुरोहित के रूप में मानकर; तुरम्—तुर को; तुरग-मेधषाट्—तुरग-मेधषाट् के नाम से (अनेक तुरग यज्ञ करने वाला) जाना जायेगा; समन्तात्—सारे भागों सहित; पृथिवीम्—संसार को; सर्वाम्—सर्वत्र; जित्वा—जीतकर; यक्ष्यति—यज्ञ करेगा; च—तथा; अध्वरैः—अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करके।

सारे संसार को जीतने के बाद और कलष के पुत्र तुर को अपना पुरोहित बनाकर, जनमेजय अश्वमेध यज्ञ करेगा जिसके कारण वह तुरग-मेधषाट् कहलायेगा।

तस्य पुत्रः शतानीको याज्ञवल्क्यात्त्रयीं पठन् ।
अस्त्रज्ञानं क्रियाज्ञानं शौनकात्परमेष्यति ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; पुत्रः—पुत्र; शतानीकः—शतानीक; याज्ञवल्क्यात्—ऋषि याज्ञवल्क्य से; त्रयीम्—तीनों वेद (साम, यजुर तथा ऋग्); पठन्—भलीभाँति अध्ययन करते हुए; अस्त्र-ज्ञानम्—सैनिक शासन कला; क्रिया-ज्ञानम्—कर्मकाण्ड सम्पन्न करने की कला; शौनकात्—शौनक ऋषि से; परम्—दिव्य ज्ञान; एष्यति—प्राप्त करेगा।

जनमेजय का पुत्र शतानीक ऋषि याज्ञवल्क्य से तीनों वेद और कर्मकाण्ड सम्पन्न करने की कला को सीखेगा। वह कृपाचार्य से सैन्य कला भी सीखेगा तथा शौनक मुनि से दिव्य ज्ञान प्राप्त करेगा।

सहस्रानीकस्तत्पुत्रस्ततश्चैवाश्वमेधजः ।
असीमकृष्णस्तस्यापि नेमिचक्रस्तु तत्सुतः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सहस्रानीकः—सहस्रानीक; तत्-पुत्रः—शतानीक का पुत्र; ततः—सहस्रानीक से; च—भी; एव—निस्सन्देह; अश्वमेधजः—अश्वमेधज; असीमकृष्णः—असीमकृष्ण; तस्य—उसका (अश्वमेधज); अपि—भी; नेमिचक्रः—नेमिचक्र; तु—निस्सन्देह; तत्-सुतः—उसका पुत्र।

शतानीक का पुत्र सहस्रानीक होगा और उसके पुत्र का नाम अश्वमेधज होगा। अश्वेमधज से असीमकृष्ण उत्पन्न होगा और उसका पुत्र नेमिचक्र होगा।

गजाह्वये हृते नद्या कौशाम्ब्यां साधु वत्स्यति ।
उक्तस्ततश्चित्ररथस्तस्माच्छुचिरथः सुतः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

गजाह्वये—हस्तिनापुर नगरी (नई दिल्ली) में; हृते—जलमग्न होने पर; नद्या—नदी के द्वारा; कौशाम्ब्याम्—कौशाम्बी नामक स्थान में; साधु—भलीभाँति; वत्स्यति—वहाँ निवास करेगा; उक्तः—विख्यात; ततः—तत्पश्चात्; चित्ररथः—चित्ररथ; तस्मात्—उससे; शुचिरथः—शुचिरथ; सुतः—पुत्र।

जब हस्तिनापुर नगरी (नई दिल्ली) नदी की बाढ़ से जलमग्न हो जायेगी तो नेमिचक्र कौशाम्बी नामक स्थान में निवास करेगा। उसका पुत्र चित्ररथ नाम से विख्यात होगा और चित्ररथ का पुत्र शुचिरथ होगा।

तस्माच्च वृष्टिमांस्तस्य सुषेणोऽथ महीपतिः ।
सुनीथस्तस्य भविता नृचक्षुर्यत्सुखीनलः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—उससे (शुचिरथ); च—भी; वृष्टिमान्—वृष्टिमान; तस्य—उसका पुत्र; सुषेणः—सुषेण; अथ—तत्पश्चात्; मही-पतिः—सारे संसार का सम्राट; सुनीथः—सुनीथ; तस्य—उसका; भविता—होगा; नृचक्षुः—पुत्र नृचक्षु; यत्—उससे; सुखीनलः—सुखीनल।

शुचिरथ का पुत्र वृष्टिमान होगा और उसका पुत्र सुषेण नाम का चक्रवर्ती राजा होगा। सुषेण का पुत्र सुनीथ होगा, उसका पुत्र नृचक्षु होगा और नृचक्षु का पुत्र सुखीनल होगा।

परिप्लवः सुतस्तस्मान्मेधावी सुनयात्मजः ।
नृपञ्जयस्ततो दूर्वस्तिमिस्तस्माज्जनिष्यति ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

परिप्लवः—परिप्लव; सुतः—पुत्र; तस्मात्—उससे (परिप्लव); मेधावी—मेधावी; सुनय-आत्मजः—सुनय का पुत्र; नृपञ्जयः—नृपञ्जय; ततः—उससे; दूर्वः—दूर्व; तिमिः—तिमि; तस्मात्—उससे; जनिष्यति—जन्म लेगा।

सुखीनल का पुत्र परिप्लव, परिप्लव का सुनय और सुनय का पुत्र मेधावी होगा। मेधावी से नृपञ्जय, नृपञ्जय से दूर्व तथा दूर्व से तिमि का जन्म होगा।

तिमेर्बृहद्रथस्तस्माच्छतानीकः सुदासजः ।
शतानीकाद्दुर्दमनस्तस्यापत्यं महीनरः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तिमेः—तिमि का; बृहद्रथः—बृहद्रथ; तस्मात्—उससे; शतानीकः—शतानीक; सुदास-जः—सुदास का पुत्र; शतानीकात्—शतानीक से; दुर्दमनः—दुर्दमन; तस्य अपत्यम्—उसका पुत्र; महीनरः—महीनर।

तिमि का पुत्र बृहद्रथ, बृहद्रथ का सुदास, सुदास का शतानीक, शतानीक का दुर्दमन और दुर्दमन का पुत्र महीनर होगा।

दण्डपाणिर्निमिस्तस्य क्षेमको भविता यतः ।
ब्रह्मक्षत्रस्य वै योनिर्वंशो देवर्षिसत्कृतः ॥ ४४ ॥
क्षेमकं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ ।
अथ मागधराजानो भाविनो ये वदामि ते ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

दण्डपाणिः—दण्डपाणि; निमिः—निमि; तस्य—उसका (महीनर के); क्षेमकः—क्षेमक; भविता—जन्म लेगा; यतः—जिससे; ब्रह्म-क्षत्रस्य—ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों का; वै—निस्सन्देह; योनिः—स्रोत; वंशः—वंश; देव-ऋषि-सत्कृतः—ऋषियों तथा देवताओं द्वारा सम्मानित; क्षेमकम्—राजा क्षेमक को; प्राप्य—यहाँ तक; राजानम्—राजा को; संस्थाम्—उन तक; प्राप्स्यति—हो जायेगा; वै—निस्सन्देह; कलौ—इस कलियुग में; अथ—तत्पश्चात्; मागध-राजानः—मागध वंशी राजा; भाविनः—भावी; ये—जो; वदामि—कहूँगा; ते—तुमसे।

महीनर का पुत्र दण्डपाणि होगा और उसका पुत्र निमि होगा जिससे राजा क्षेमक की उत्पत्ति होगी। मैंने अभी तुमसे सोमवंश का वर्णन किया है जो ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों का उद्गम है और देवताओं तथा ऋषियों-मुनियों द्वारा पूजित है। इस कलियुग में क्षेमक अन्तिम राजा होगा। अब मैं

तुमसे मागध वंश का भविष्य बतलाऊँगा। उसे सुनो।

भविता सहदेवस्य मार्जारिर्यच्छ्रुतश्रवाः ।
ततो युतायुस्तस्यापि निरमित्रोऽथ तत्सुतः ॥ ४६ ॥
सुनक्षत्रः सुनक्षत्राद्बृहत्सेनोऽथ कर्मजित् ।
ततः सुतञ्जयाद्विप्रः शुचिस्तस्य भविष्यति ॥ ४७ ॥
क्षेमोऽथ सुव्रतस्तस्माद्धर्मसूत्रः समस्ततः ।
द्युमत्सेनोऽथ सुमतिः सुबलो जनिता ततः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

भविता—जन्म लेगा; सहदेवस्य—सहदेव का पुत्र; मार्जारिः—मार्जारि; यत्—उसका पुत्र; श्रुतश्रवाः—श्रुतश्रवा; ततः—उससे; युतायुः—युतायु; तस्य—उसका पुत्र; अपि—भी; निरमित्रः—निरमित्र; अथ—तत्पश्चात्; तत्-सुतः—उसका पुत्र; सुनक्षत्रः—सुनक्षत्र; सुनक्षत्रात्—सुनक्षत्र से; बृहत्सेनः—बृहत्सेन; अथ—उससे; कर्मजित्—कर्मजित; ततः—उससे; सुतञ्जयात्—सुतञ्जय से; विप्रः—विप्र; शुचिः—शुचि; तस्य—उसका; भविष्यति—होगा; क्षेमः—क्षेम; अथ—तत्पश्चात्; सुव्रतः—सुव्रत; तस्मात्—उससे; धर्मसूत्रः—धर्मसूत्र; समः—सम; ततः—उससे; द्युमत्सेनः—द्युमत्सेन; अथ—तत्पश्चात्; सुमतिः—सुमति; सुबलः—सुबल; जनिता—जन्म लेगा; ततः—तत्पश्चात्।

जरासन्धपुत्र सहदेव के पुत्र का नाम मार्जारि होगा। मार्जारि से श्रुतश्रवा, श्रुतश्रवा से युतायु, युतायु से निरमित्र, निरमित्र से सुनक्षत्र, सुनक्षत्र से बृहत्सेन, बृहत्सेन से कर्मजित, कर्मजित से सुतञ्जय, सुतञ्जय से विप्र, विप्र से शुचि, शुचि से क्षेम, क्षेम से सुव्रत, सुव्रत से धर्मसूत्र, धर्मसूत्र से सम, सम से द्युमत्सेन, द्युमत्सेन से सुमति और सुमति से सुबल नाम का पुत्र उत्पन्न होगा।

सुनीथः सत्यजिदथ विश्वजिद्यद्रिपुञ्जयः ।
बार्हद्रथाश्च भूपाला भाव्याः साहस्रवत्सरम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

सुनीथः—सुबल से सुनीथ उत्पन्न होगा; सत्यजित्—सत्यजित; अथ—उससे; विश्वजित्—विश्वजित; यत्—उससे; रिपुञ्जयः—रिपुञ्जय; बार्हद्रथाः—बृहद्रथ की वंशावली में; च—भी; भूपालाः—सारे राजा; भाव्याः—होंगे; साहस्र-वत्सरम्—एक हजार वर्षों तक लगातार।

सुबल से सुनीथ, सुनीथ से सत्यजित, सत्यजित से विश्वजित एवं विश्वजित से रिपुञ्जय उत्पन्न होगा। ये सभी पुरुष बृहद्रथवंशी होंगे और ये संसार पर एक हजार वर्षों तक राज्य करेंगे।

तात्पर्य : यह जरासन्ध से प्रारम्भ होकर एक हजार वर्षों तक पृथ्वी पर राज्य करने वाले उपर्युक्त राजाओं का इतिहास है।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध के अन्तर्गत "अजमीढ के वंशज" नामक बाईसवें अध्याय के

भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तेईस

ययाति के पुत्रों की वंशावली

इस तेईसवें अध्याय में अनु, द्रुह्यु, तुर्वसु तथा यदु के वंशों के साथ साथ ज्यामघ की कथा का भी वर्णन हुआ है।

ययाति के चतुर्थ पुत्र अनु के तीन पुत्र थे—सभानर, चक्षु तथा परेष्णु। इन तीनों में से सभानर के पुत्र तथा पौत्र क्रमश: कालनर, सृञ्जय, जनमेजय, महाशाल तथा महामना थे। महामना के दो पुत्र थे उशीनर तथा तितिक्षु। उशीनर के चार पुत्र थे—शिबि, वर, कृमि तथादक्ष। शिबि के भी चार पुत्र हुए—वृषादर्भ, सुधीर, मद्र तथा केकय। तितिक्षु का पुत्र रुषद्रथ था जिससे होम नामक पुत्र हुआ। होम का पुत्र सुतपा था और सुतपा का पुत्र बलि था। इस तरह यह वंश चलता रहा। बलि की पत्नी के गर्भ से दीर्घतमा के वीर्य से अंग, वंग, कलिंग, सुह्म, पुण्ड्र तथा ओड्र नामक पुत्र उत्पन्न हुए। ये सभी राजा बने।

अंग से खलपान नाम का पुत्र हुआ जिसके वंश में क्रमश: दिविरथ, धर्मरथ तथा चित्ररथ जिसे रोमपाद भी कहा जाता था, हुए। महाराज दशरथ ने शान्ता नामक अपनी पुत्री को अपने मित्र रोमपाद को दान में दे दिया था क्योंकि रोमपाद नि:सन्तान था। रोमपाद ने शान्ता को पुत्री रूप में स्वीकार किया और ऋष्यशृंग मुनि ने उसके साथ विवाह किया। ऋष्यशृंग के अनुग्रह से रोमपाद के चतुरंग नाम का पुत्र हुआ। चतुरंग का पुत्र पृथुलाक्ष था जिसके तीन पुत्र हुए—बृहद्रथ, बृहत्कर्मा तथा बृहद्‌भानु। बृहद्रथ से बृहद्मना नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसके पुत्रों तथा पौत्रों के नाम क्रमश: जयद्रथ, विजय, धृति, धृतव्रत, सत्कर्मा तथा अधिरथ थे। अधिरथ ने कुन्ती द्वारा त्यक्त पुत्र कर्ण को पाला-पोसा। कर्ण का पुत्र वृषसेन था।

ययाति के तीसरे पुत्र द्रुह्यु से बभ्रु नामक पुत्र हुआ और बभ्रु के पुत्र तथा पौत्र थे सेतु, आरब्ध, गान्धार, धर्म, धृत, दुर्मद तथा प्रचेता।

ययाति का दूसरा पुत्र तुर्वसु था जिसके पुत्र का नाम वह्नि पड़ा और उसके वंश में भर्ग, भानुमान, त्रिभानु, करन्धम तथा मरुत हुए। मरुत नि:सन्तान था अतएव उसने पूरुवंशी दुष्मन्त को गोद ले लिया। महाराज दुष्मन्त अपना राज्य वापस चाहते थे अतएव वे पूरुवंश में लौट गये।

यदु के चारों पुत्रों में से सहस्रजित सबसे बड़ा था। उसके पुत्र का नाम शतजित था। उसके तीन पुत्र थे

जिनमें एक का नाम हैहय था। हैहय वंश के पुत्रों तथा पौत्रों के नाम थे धर्म, नेत्र, कुन्ति, सोहञ्जि, महिष्मान, भद्रसेनक, धनक, कृतवीर्य, अर्जुन, जयध्वज, तालजंघ तथा वीतिहोत्र।

वीतिहोत्र का पुत्र मधु था जिसका ज्येष्ठ पुत्र वृष्णि था। यदु, मधु तथा वृष्णि के कारण उनके वंश क्रमशः यादव, माधव तथा वृष्णि कहलाये। यदु का अन्य पुत्र क्रोष्टा था जिससे वृजिनवान, स्वाहित, विषद्गु, चित्ररथ, शशविन्दु, पृथुश्रवा, धर्म, उशना तथा रुचक हुए। रुचक के पाँच पुत्र हुए जिनमें से एक ज्यामघ कहलाया। वह नि:सन्तान था, किन्तु देव-अनुग्रह से उसकी सन्तानहीन पत्नी के विदर्भ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

श्रीशुक उवाच
अनोः सभानरश्चक्षुः परेष्णुश्च त्रयः सुताः ।
सभानरात्कालनरः सृञ्जयस्तत्सुतस्ततः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; अनोः—अनु का, जो ययाति के चार पुत्रों में से चौथा बेटा था; सभानरः—सभानर; चक्षुः—चक्षु; परेष्णुः—परेष्णु; च—भी; त्रयः—तीन; सुताः—बेटे; सभानरात्—सभानर से; कालनरः—कालनर; सृञ्जयः—सृञ्जय; तत्-सुतः—कालनर का पुत्र; ततः—तत्पश्चात्।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : ययाति के चतुर्थ पुत्र अनु के तीन पुत्र हुए जिनके नाम थे—सभानर, चक्षु तथा परेष्णु। हे राजा, सभानर के कालनर नाम का एक पुत्र हुआ और कालनर से सृञ्जय नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

जनमेजयस्तस्य पुत्रो महाशालो महामनाः ।
उशीनरस्तितिक्षुश्च महामनस आत्मजौ ॥ २ ॥

शब्दार्थ

जनमेजयः—जनमेजय; तस्य—उसका; पुत्रः—पुत्र; महाशालः—महाशाल; महामनाः—महामना; उशीनरः—उशीनर; तितिक्षुः—तितिक्षु; च—तथा; महामनसः—महामना से; आत्मजौ—दो पुत्र।

सृञ्जय का पुत्र जनमेजय हुआ, जनमेजय का पुत्र महाशाल, महाशाल का पुत्र महामना और महामना के दो पुत्र उशीनर तथा तितिक्षु हुए।

शिबिर्वरः कृमिर्दक्षश्चत्वारोशीनरात्मजाः ।
वृषादर्भः सुधीरश्च मद्रः केकय आत्मवान् ॥ ३ ॥

शिबेश्चत्वार एवासंस्तितिक्षोश्च रुषद्रथः ।
ततो होमोऽथ सुतपा बलिः सुतपसोऽभवत् ॥ ४॥

शब्दार्थ

शिबिः—शिबि; वरः—वर; कृमिः—कृमि; दक्षः—दक्ष; चत्वारः—चार; उशीनर-आत्मजाः—उशीनर के पुत्र; वृषादर्भः—वृषादर्भ; सुधीरः च—तथा सुधीर; मद्रः—मद्र; केकयः—केकय; आत्मवान्—स्वरूपसिद्ध; शिबेः—शिबि के; चत्वारः—चार; एव—निस्सन्देह; आसन्—थे; तितिक्षोः—तितिक्षु का; च—भी; रुषद्रथः—रुषद्रथ; ततः—उससे (रुषद्रथ); होमः—होम; अथ—उससे (होम); सुतपाः—सुतपा; बलिः—बलि; सुतपसः—सुतपा के; अभवत्—हुआ।

उशीनर के चार पुत्र थे—शिबि, वर, कृमि तथा दक्ष। शिबि के भी चार पुत्र हुए—वृषादर्भ, सुधीर, मद्र तथा आत्मतत्त्ववित् केकय। तितिक्षु का पुत्र रुषद्रथ था; रुषद्रथ का पुत्र होम था; होम का सुतपा और सुतपा का पुत्र बलि था।

अङ्गवङ्गकलिङ्गाद्याः सुह्मपुण्ड्रौड्रसंज्ञिताः ।
जज्ञिरे दीर्घतमसो बलेः क्षेत्रे महीक्षितः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अङ्ग—अंग; वङ्ग—वंग; कलिङ्ग—कलिंग; आद्याः—इत्यादि; सुह्म—सुह्म; पुण्ड्र—पुण्ड्र; ओड्र—ओड्र; संज्ञिताः—नाम से विख्यात; जज्ञिरे—उत्पन्न हुए; दीर्घतमसः—दीर्घतमा के वीर्य से; बलेः—बलि की; क्षेत्रे—पत्नी से; मही-क्षितः—जगत के राजा।

चक्रवर्ती राजा बलि की पत्नी से दीर्घतमा के वीर्य से छह पुत्रों ने जन्म लिया जिनके नाम थे अंग, वंग, कलिंग, सुह्म, पुण्ड्र तथा ओड्र।

चक्रुः स्वनाम्ना विषयान्षडिमान्प्राच्यकांश्च ते ।
खलपानोऽङ्गतो जज्ञे तस्माद्दिविरथस्ततः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

चक्रुः—उत्पन्न किया; स्व-नाम्ना—अपने-अपने नामों से; विषयान्—विभिन्न राज्य; षट्—छः; इमान्—ये सभी; प्राच्यकान् च—भारत की पूर्व दिशा में; ते—वे (छह राजा); खलपानः—खलपान; अङ्गतः—राजा अंग से; जज्ञे—जन्म लिया; तस्मात्—उससे; दिविरथः—दिविरथ; ततः—तत्पश्चात्।

बाद में अंगादि ये छहों पुत्र भारत की पूर्व दिशा में छः राज्यों के राजा बने। ये राज्य अपने-अपने राजा के नाम के अनुसार विख्यात हुए। अंग से खलपान नामक पुत्र हुआ जिससे दिविरथ उत्पन्न हुआ।

सुतो धर्मरथो यस्य जज्ञे चित्ररथोऽप्रजाः ।
रोमपाद इति ख्यातस्तस्मै दशरथः सखा ॥ ७॥
शान्तां स्वकन्यां प्रायच्छदृष्यशृङ्ग उवाह याम् ।

देवेऽवर्षति यं रामा आनिन्युर्हरिणीसुतम् ॥ ८ ॥

नाट्यसङ्गीतवादित्रैर्विभ्रमालिङ्गनार्हणैः ।
स तु राज्ञोऽनपत्यस्य निरूप्येष्टिं मरुत्वते ॥ ९ ॥

प्रजामदाद्दशरथो येन लेभेऽप्रजाः प्रजाः ।
चतुरङ्गो रोमपादात्पृथुलाक्षस्तु तत्सुतः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सुतः—पुत्र; धर्मरथः—धर्मरथ; यस्य—जिसके; जज्ञे—उत्पन्न हुआ; चित्ररथः—चित्ररथ; अप्रजाः—निःसन्तान; रोमपादः—रोमपाद; इति—इस प्रकार; ख्यातः—विख्यात; तस्मै—उसको; दशरथः—दशरथ; सखा—मित्र; शान्ताम्—शान्ता को; स्व-कन्याम्—अपनी पुत्री; प्रायच्छत्—दे दिया; ऋष्यशृङ्गः—ऋष्यशृंग ने; उवाह—विवाह कर लिया; याम्—जिससे; देवे—वर्षा के देवता ने; अवर्षति—वर्षा नहीं की; यम्—जिसको (ऋष्यशृंग को); रामाः—वेश्याएँ; आनिन्युः—ले आईं; हरिणी-सुतम्—हरिणी पुत्र ऋष्यशृंग को; नाट्य-सङ्गीत-वादित्रैः—नाच, गाना तथा वाद्ययंत्रों के द्वारा; विभ्रम—मोहित करके; आलिङ्गन—आलिगंन करके; अर्हणैः—पूजा द्वारा; सः—वह (ऋष्यशृंग); तु—निस्सन्देह; राज्ञः—महाराज दशरथ से; अनपत्यस्य—सन्तानहीन; निरूप्य—स्थापित करके; इष्टिम्—यज्ञ; मरुत्वते—मरुत्वान नामक देवता की; प्रजाम्—सन्तान; अदात्—प्रदान किया; दशरथः—दशरथ ने; येन—जिससे (यज्ञ के फलस्वरूप); लेभे—प्राप्त किया; अप्रजाः—निस्संतान होते हुए; प्रजाः—पुत्र; चतुरङ्गः—चतुरंग; रोमपादात्—चित्ररथ से; पृथुलाक्षः—पृथुलाक्ष; तु—निस्सन्देह; तत्-सुतः—चतुरंग का पुत्र।

दिविरथ का पुत्र धर्मरथ हुआ और उसका पुत्र चित्ररथ था जो रोमपाद के नाम से विख्यात था। किन्तु रोमपाद के कोई सन्तान न थी अतएव उसके मित्र महाराज दशरथ ने उसे अपनी पुत्री शान्ता दे दी। रोमपाद ने उसे पुत्री रूप में स्वीकार किया। तत्पश्चात् उस पुत्री ने ऋष्यशृंग से विवाह कर लिया। जब स्वर्गलोक के देवताओं ने वर्षा नहीं की तो ऋष्यशृंग को वेश्याओं के द्वारा आकर्षित करके जंगल से लाया गया और उसे एक यज्ञ सम्पन्न करने के लिए पुरोहित नियुक्त किया गया। ये वेश्याएँ नाचकर तथा संगीत के साथ नाटक करके और उनका आलिंगन तथा पूजन करके उन्हें ले आईं थीं। ऋष्यशृंग के आने के बाद वर्षा हुई। तत्पश्चात् ऋष्यशृंग ने महाराज दशरथ के लिए पुत्र-यज्ञ किया क्योंकि उनका कोई पुत्र न था। इससे महाराज दशरथ को पुत्र-प्राप्ति हुई। ऋष्यशृंग की कृपा से रोमपाद के एक पुत्र चतुरंग हुआ और चतुरंग से पृथुलाक्ष का जन्म हुआ।

बृहद्रथो बृहत्कर्मा बृहद्भानुश्च तत्सुताः ।
आद्याद्बृहन्मनास्तस्माज्जयद्रथ उदाहृतः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

बृहद्रथः—बृहद्रथ; बृहत्कर्मा—बृहत्कर्मा; बृहद्भानुः—बृहद्भानु; च—भी; तत्-सुताः—पृथुलाक्ष के पुत्र; आद्यात्—सबसे बड़े (बृहद्रथ) से; बृहन्मनाः—बृहद्मना उत्पन्न हुआ; तस्मात्—उससे; जयद्रथः—जयद्रथ; उदाहृतः—उसके पुत्र के रूप में विख्यात हुआ।

पृथुलाक्ष के पुत्र थे बृहद्रथ, बृहत्कर्मा तथा बृहद्भानु। ज्येष्ठ पुत्र बृहद्रथ से बृहद्मना नाम का पुत्र हुआ और बृहद्मना से जयद्रथ हुआ।

विजयस्तस्य सम्भूत्यां ततो धृतिरजायत ।
ततो धृतव्रतस्तस्य सत्कर्माधिरथस्ततः ॥ १२॥

शब्दार्थ

विजयः—विजय; तस्य—उसका; सम्भूत्याम्—पत्नी के गर्भ से; ततः—तत्पश्चात्; धृतिः—धृति; अजायत—उत्पन्न हुआ; ततः—उससे (धृति से); धृतव्रतः—धृतव्रत; तस्य—उसका; सत्कर्मा—सत्कर्मा; अधिरथः—अधिरथ; ततः—उससे (सत्कर्मा से)।

जयद्रथ की पत्नी सम्भूति के गर्भ से विजय उत्पन्न हुआ, विजय से धृति, धृति से धृतिव्रत, धृतिव्रत से सत्कर्मा तथा सत्कर्मा से अधिरथ हुआ।

योऽसौ गङ्गातटे क्रीडन्मञ्जूषान्तर्गतं शिशुम् ।
कुन्त्यापविद्धं कानीनमनपत्योऽकरोत्सुतम् ॥ १३॥

शब्दार्थ

यः असौ—वह जो (अधिरथ); गङ्गा-तटे—गंगा नदी के किनारे; क्रीडन्—खेलते समय; मञ्जूष-अन्तःगतम्—टोकरी के भीतर बन्द; शिशुम्—बालक को; कुन्त्या अपविद्धम्—कुन्ती द्वारा परित्यक्त; कानीनम्—कुमारी होने पर उत्पन्न; अनपत्यः—अधिरथ के निःसन्तान होने से; अकरोत्—शिशु को स्वीकार कर लिया; सुतम्—अपने पुत्र रूप में।

गंगा नदी के तट पर खेलते समय अधिरथ को एक टोकरी में बंद एक शिशु प्राप्त हुआ। इस शिशु को कुन्ती ने छोड़ दिया था क्योंकि यह उसके विवाह होने के पूर्व ही उत्पन्न हुआ था। चूँकि अधिरथ के कोई पुत्र न था अतएव उसने इस शिशु को अपने ही पुत्र की तरह पाला पोसा। (बाद में यही पुत्र कर्ण कहलाया)

वृषसेनः सुतस्तस्य कर्णस्य जगतीपते ।
द्रुह्योश्च तनयो बभ्रुः सेतुस्तस्यात्मजस्ततः ॥ १४॥

शब्दार्थ

वृषसेनः—वृषसेन; सुतः—पुत्र; तस्य कर्णस्य—उसी कर्ण का; जगती पते—हे महाराज परीक्षित; द्रुह्योः च—ययाति के तृतीय पुत्र द्रुह्य का; तनयः—पुत्र; बभ्रुः—बभ्रु; सेतुः—सेतु; तस्य—उसका; आत्मजः ततः—तत्पश्चात् उसका पुत्र।

हे राजा, कर्ण का एकमात्र पुत्र वृषसेन था। ययाति के तृतीय पुत्र द्रुह्यु का पुत्र बभ्रु था और बभ्रु का पुत्र सेतु था।

आरब्धस्तस्य गान्धारस्तस्य धर्मस्ततो धृतः ।
धृतस्य दुर्मदस्तस्मात्प्रचेताः प्राचेतसः शतम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

आरब्धः—आरब्ध (सेतु का पुत्र); तस्य—उसका (आरब्ध का); गान्धारः—गान्धार; तस्य—उसका पुत्र; धर्मः—धर्म; ततः—उससे; धृतः—धृत; धृतस्य—धृत का; दुर्मदः—दुर्मद; तस्मात्—उससे; प्रचेताः—प्रचेता; प्राचेतसः—प्रचेता के; शतम्—एक सौ पुत्र थे।

सेतु का पुत्र आरब्ध था, आरब्ध का पुत्र गान्धार हुआ और गान्धार का पुत्र धर्म था। धर्म का पुत्र धृत, धृत का दुर्मद और दुर्मद का पुत्र प्रचेता था जिसके एक सौ पुत्र हुए।

म्लेच्छाधिपतयोऽभूवन्नुदीचीं दिशमाश्रिताः ।
तुर्वसोश्च सुतो वह्निर्वह्नेर्भर्गोऽथ भानुमान् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

म्लेच्छ—म्लेच्छ देश के (जहाँ वैदिक सभ्यता नहीं पाई जाती); अधिपतयः—राजा; अभूवन्—बने; उदीचीम्—भारत की उत्तरी; दिशम्—दिशा को; आश्रिताः—सीमा मानकर; तुर्वसोः च—महाराज ययाति के द्वितीय पुत्र तुर्वसु का; सुतः—पुत्र; वह्निः—वह्नि; वह्नेः—वह्नि का; भर्गः—भर्ग नाम का पुत्र; अथ—तत्पश्चात् उसका पुत्र; भानुमान्—भानुमान।

प्रचेताओं (प्रचेता के पुत्रों) ने भारत की उत्तरी दिशा में कब्जा कर लिया जो वैदिक सभ्यता से विहीन थी और वे वहाँ के राजा बन गये। ययाति का दूसरा पुत्र तुर्वसु था। तुर्वसु का पुत्र वह्नि था, वह्नि का पुत्र भर्ग था और भर्ग का पुत्र भानुमान था।

त्रिभानुस्तत्सुतोऽस्यापि करन्धम उदारधीः ।
मरुतस्तत्सुतोऽपुत्रः पुत्रं पौरवमन्वभूत् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

त्रिभानुः—त्रिभानु; तत्-सुतः—भानुमान का पुत्र; अस्य—उसका (त्रिभानु का); अपि—भी; करन्धमः—करन्धम; उदार-धीः—अत्यन्त उदार बुद्धिवाला; मरुतः—मरुत; तत्-सुतः—करन्धम का पुत्र; अपुत्रः—निःसन्तान; पुत्रम्—पुत्र के रूप में; पौरवम्—पूरुवंश का पुत्र महाराज दुष्मन्त; अन्वभूत्—गोद ले लिया।

भानुमान का पुत्र त्रिभानु था और उसका पुत्र उदारचेता करन्धम था। करन्धम का पुत्र मरुत था जिसके कोई पुत्र न था अतएव उसने पूरुवंशी पुत्र (महाराज दुष्मन्त) को पुत्र रूप में गोद ले लिया।

दुष्मन्तः स पुनर्भेजे स्ववंशं राज्यकामुकः ।
ययातेर्ज्येष्ठपुत्रस्य यदोर्वंशं नरर्षभ ॥ १८ ॥
वर्णयामि महापुण्यं सर्वपापहरं नृणाम् ।
यदोर्वंशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

दुष्मन्तः—महाराज दुष्मन्त ने; सः—उस; पुनः भेजे—फिर से स्वीकार किया; स्व-वंशम्—अपने मूलवंश (पूरुवंश) को; राज्य-कामुकः—राजसिंहासन का इच्छुक होने के कारण; ययातेः—महाराज ययाति के; ज्येष्ठ-पुत्रस्य—पहले पुत्रयदु का; यदोः वंशम्—यदुवंश; नर-ऋषभ—हे मनुष्यों में श्रेष्ठ महाराज परीक्षित; वर्णयामि—वर्णन करूँगा; महा-पुण्यम्—अत्यन्त पवित्र; सर्व-पाप-हरम्—

सारे पापकर्मों के फलों को दूर करने वाला; नृणाम्—मनुष्यों का; यदोः वंशम्—यदुवंश का वर्णन; नरः—कोई व्यक्ति; श्रुत्वा—केवल सुनने से; सर्व-पापैः—सारे पापपूर्ण कर्मों के फलों से; प्रमुच्यते—मुक्त हो जाता है।

महाराज दुष्मन्त सिंहासन में बैठने की इच्छा से अपने मूलवंश (पूरुवंश) में लौट गये यद्यपि वे मरुत को अपना पिता स्वीकार कर चुके थे। हे महाराज परीक्षित, अब मैं महाराज ययाति के ज्येष्ठ पुत्र यदु के वंश का वर्णन करता हूँ। यह वर्णन अत्यन्त पवित्र है और मानवसमाज के सारे पापों के फलों को दूर करने वाला है। इस वर्णन को सुनने मात्र से मनुष्य सारे पापों के फलों से मुक्त हो जाता है।

यत्रावतीर्णो भगवान्परमात्मा नराकृतिः ।
यदोः सहस्रजित्क्रोष्टा नलो रिपुरिति श्रुताः ॥ २० ॥
चत्वारः सूनवस्तत्र शतजित्प्रथमात्मजः ।
महाहयो रेणुहयो हैहयश्चेति तत्सुताः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जिस वंश में; अवतीर्णः—अवतार लिया; भगवान्—भगवान् कृष्ण; परमात्मा—सारे जीवों के परमात्मा; नर-आकृतिः—मनुष्य के रूप में; यदोः—यदु का; सहस्रजित्—सहस्रजित; क्रोष्टा—क्रोष्टा; नलः—नल; रिपुः—रिपु; इति श्रुताः—इस प्रकार से विख्यात; चत्वारः—चारों; सूनवः—पुत्र; तत्र—वहाँ; शतजित्—शतजित; प्रथम-आत्मजः—पहला पुत्र; महाहयः—महाहय; रेणुहयः—रेणुहय; हैहयः—हैहय; च—तथा; इति—इस प्रकार; तत्-सुताः—उसके पुत्र।

भगवान् कृष्ण, जो सारे जीवों के हृदयों में परमात्मा स्वरूप हैं, मनुष्य के अपने आदि रूप में यदु कुल में अवतरित हुए। यदु के चार पुत्र थे—सहस्रजित्, क्रोष्टा, नल तथा रिपु। इन चारों में से सबसे बड़े सहस्रजित के एक पुत्र था जिसका नाम शतजित था। उसके तीन पुत्र हुए—महाहय, रेणुहय तथा हैहय।

तात्पर्य : जैसा कि *श्रीमद्भागवत* (१.२.११) में पुष्टि हुई है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

"विद्वान आध्यात्मवादी जो परम सत्य को जानते हैं, इस अद्वय ज्ञान को ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् कहते हैं।" अधिकांश आध्यात्मवादी केवल निराकार ब्रह्म या अन्तर्यामी परमात्मा को समझते हैं क्योंकि भगवान् को समझ पाना अत्यन्त कठिन है। भगवान् ने *भगवद्गीता* (७.३) में कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

''हजारों व्यक्तियों में से कोई एक व्यक्ति सिद्धि के लिए प्रयास करता है और जिन्होंने सिद्धि पा ली है उनमें से मुश्किल से एक मुझे जानता है।'' योगी तथा ज्ञानी अर्थात् मायावादी और निर्विशेषवादी परम सत्य को निराकार या अन्तर्यामी रूप में समझ सकते हैं और ऐसे स्वरूपसिद्ध व्यक्ति यद्यपि सामान्य पुरुषों से बढ़कर होते हैं फिर भी वे यह नहीं समझ सकते कि परमेश्वर किस तरह एक व्यक्ति हो सकता है। इसीलिए कहा गया है कि अनेक सिद्धों में से जिन्होंने परम सत्य का साक्षात्कार किया है कोई एक सिद्ध नर-रूप (*नराकृति*) कृष्ण को समझ सकता है। स्वयं कृष्ण ने इस मनुष्य रूप की व्याख्या विराट रूप प्रदर्शित करने के बाद की है। विराट रूप भगवान् का आदि रूप नहीं है। उनका आदि रूप तो द्विभुज श्यामसुन्दर मुरलीधर का है जो दो हाथों वाले हैं और मुरली बजा रहे हैं (*यं श्यामसुन्दरम् अचिन्त्यगुणस्वरूपम्*)। भगवान् के स्वरूप उनके अकल्पनीय गुणों के प्रमाण हैं। यद्यपि भगवान् अपने एक श्वास काल में असंख्य ब्रह्माण्डों का पालन करते हैं, किन्तु वे मनुष्य की भाँति वेश धारण किये रहते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि वे हू-बहू मनुष्य हैं। यह उनका आदि रूप है लेकिन चूँकि वे मनुष्य की तरह दिखते हैं अतएव अल्पज्ञानी उन्हें सामान्य मनुष्य मानते हैं। भगवान् कहते हैं (*भगवद्गीता* ९.११)

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

''जब मैं मनुष्य रूप में अवतरित होता हूँ तो मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। वे मेरी दिव्य प्रकृति एवं मेरे परम ईश्वरत्व को नहीं जानते।'' भगवान् अपने परं भावम् अर्थात् दिव्य स्वभाव से सारे जीवों के हृदयों में स्थित सर्वव्यापी परमात्मा हैं; फिर भी वे मनुष्य की तरह लगते हैं। मायावादी दर्शन कहता है कि भगवान् मूलतः निराकार हैं, किन्तु जब वे अवतरित होते हैं तो मनुष्य तथा अनेक अन्य रूप धारण करते हैं। किन्तु वस्तुतः वे मूलतः मनुष्य जैसे हैं और निराकार ब्रह्म उनके शरीर की किरणों से युक्त होता है (*यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि*)।

धर्मस्तु हैहयसुतो नेत्रः कुन्तेः पिता ततः ।
सोहञ्जिरभवत्कुन्तेर्महिष्मान्भद्रसेनकः ॥ २२॥

शब्दार्थ

धर्मः तु—किन्तु धर्म; हैहय-सुतः—हैहय का पुत्र बना; नेत्रः—नेत्र; कुन्तेः—कुन्ति का; पिता—पिता; ततः—उससे; सोहञ्जिः—सोहञ्जि; अभवत्—हुआ; कुन्तेः—कुन्ति पुत्र; महिष्मान्—महिष्मान; भद्रसेनकः—भद्रसेनक।

हैहय का पुत्र धर्म था और धर्म का पुत्र नेत्र था जो कुन्ति का पिता था। कुन्ति से सोहञ्जि, सोहञ्जि से महिष्मान तथा महिष्मान से भद्रसेनक उत्पन्न हुए।

दुर्मदो भद्रसेनस्य धनकः कृतवीर्यसूः ।
कृताग्निः कृतवर्मा च कृतौजा धनकात्मजाः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

दुर्मदः—दुर्मद; भद्रसेनस्य—भद्रसेन का; धनकः—धनक; कृतवीर्य-सूः—कृतवीर्य को जन्म देने वाला; कृताग्निः—कृताग्नि नामक; कृतवर्मा—कृतवर्मा; च—भी; कृतौजाः—कृतौजा; धनक-आत्मजाः—धनक के पुत्र।

भद्रसेन के पुत्र दुर्मद तथा धनक कहलाये। धनक कृतवीर्य के अतिरिक्त कृताग्नि, कृतवर्मा तथा कृतौजा का भी पिता था।

अर्जुनः कृतवीर्यस्य सप्तद्वीपेश्वरोऽभवत् ।
दत्तात्रेयाद्धरेरंशात्प्राप्तयोगमहागुणः ॥ २४॥

शब्दार्थ

अर्जुनः—अर्जुन; कृतवीर्यस्य—कृतवीर्य का; सप्त-द्वीप—सातों द्वीपों (पूरे संसार) का; ईश्वरः अभवत्—सम्राट बन गया; दत्तात्रेयात्—दत्तात्रेय से; हरेः अंशात्—भगवान् के अंशावतार से; प्राप्त—प्राप्त; योग-महागुणः—योगशक्ति का गुण।

कृतवीर्य का पुत्र अर्जुन था। वह (कार्तवीर्यार्जुन) सातों द्वीप वाले सारे संसार का सम्राट बन गया। उसे भगवान् के अवतार दत्तात्रेय से योगशक्ति प्राप्त हई थी। इस तरह उसने अष्ट सिद्धियाँ प्राप्त कर लीं।

न नूनं कार्तवीर्यस्य गतिं यास्यन्ति पार्थिवाः ।
यज्ञदानतपोयोगैः श्रुतवीर्यदयादिभिः ॥ २५॥

शब्दार्थ

न—नहीं; नूनम्—निस्सन्देह; कार्तवीर्यस्य—कार्तवीर्य के; गतिम्—कार्यकलाप; यास्यन्ति—समझ या प्राप्त कर सकते थे; पार्थिवाः—पृथ्वी के रहने वाले; यज्ञ—यज्ञ; दान—दान; तपः—तपस्या; योगैः—योगशक्ति से; श्रुत—शिक्षा; वीर्य—बल; दया—दया; आदिभिः—इन गुणों से।

इस संसार का कोई भी राजा यज्ञ, दान, तपस्या, योगशक्ति, शिक्षा, बल या दया में कार्तवीर्यार्जुन की बराबरी नहीं कर सकता था।

पञ्चाशीति सहस्राणि ह्यव्याहतबलः समाः ।
अनष्टवित्तस्मरणो बुभुजेऽक्षय्यषड्वसु ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

पञ्चाशीति—पचासी; सहस्राणि—हजार; हि—निस्सन्देह; अव्याहत—न चुकने वाला; बलः—जिसका बल; समाः—वर्ष; अनष्ट—नष्ट हुए बिना; वित्त—भौतिक ऐश्वर्य; स्मरणः—तथा स्मरण शक्ति; बुभुजे—भोग किया; अक्षय्य—अक्षय; षट्-वसु—छः प्रकार का भोग्य भौतिक ऐश्वर्य।.

कार्तवीर्यार्जुन ने लगातार पचासी हजार वर्षों तक पूर्ण शारीरिक बल तथा त्रुटिरहित स्मरण शक्ति से भौतिक ऐश्वर्यों का भोग किया। दूसरे शब्दों में, उसने अपनी छहों इन्द्रियों से अक्षय भौतिक ऐश्वर्यों का भोग किया।

तस्य पुत्रसहस्रेषु पञ्चैवोर्वरिता मृधे ।
जयध्वजः शूरसेनो वृषभो मधुरूर्जितः ॥ २७॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके (कार्तवीर्यार्जुन के); पुत्र-सहस्रेषु—एक हजार पुत्रों में; पञ्च—पाँच; एव—केवल; उर्वरिताः—जीवित रहे; मृधे—(परशुराम के साथ हुए) युद्ध में; जयध्वजः—जयध्वज; शूरसेनः—शूरसेन; वृषभः—वृषभ; मधुः—मधु; ऊर्जितः—तथा ऊर्जित।.

कार्तवीर्यार्जुन के एक हजार पुत्रों में से परशुराम से युद्ध करने के बाद केवल पाँच पुत्र जीवित बचे। उनके नाम थे जयध्वज, शूरसेन, वृषभ, मधु तथा ऊर्जित।

जयध्वजात्तालजङ्घस्तस्य पुत्रशतं त्वभूत् ।
क्षत्रं यत्तालजङ्घाख्यमौर्वतेजोपसंहृतम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

जयध्वजात्—जयध्वज से; तालजङ्घः—तालजंघ नाम का पुत्र; तस्य—उसके; पुत्र-शतम्—एक सौ पुत्र; तु—निस्सन्देह; अभूत्—उत्पन्न हुए; क्षत्रम्—क्षत्रिय वंश; यत्—जो; तालजङ्घ-आख्यम्—तालजंघ नाम से विख्यात; और्व-तेजः—अत्यन्त शक्तिशाली होने से; उपसंहृतम्—महाराज सगर द्वारा मार डाले गये।.

जयध्वज के तालजंघ नाम का एक पुत्र था जिसके एक सौ पुत्र उत्पन्न हुए। उस तालजंघ नामक वंश के सारे क्षत्रियों का विनाश महाराज सगर द्वारा किया गया जिन्हें और्व ऋषि से महान् शक्ति प्राप्त हुई थी।

तेषां ज्येष्ठो वीतिहोत्रो वृष्णिः पुत्रो मधोः स्मृतः ।
तस्य पुत्रशतं त्वासीद्वृष्णिज्येष्ठं यतः कुलम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उन सबों में; ज्येष्ठः—सबसे बड़ा पुत्र; वीतिहोत्रः—वीतिहोत्र; वृष्णिः—वृष्णि; पुत्रः—पुत्र; मधोः—मधु का; स्मृतः—विख्यात था; तस्य—वृष्णि के; पुत्र-शतम्—एक सौ पुत्र; तु—लेकिन; आसीत्—हुए; वृष्णि—वृष्णि; ज्येष्ठम्—ज्येष्ठ; यतः—जिससे; कुलम्—वंश।

तालजंघ के पुत्रों में से वीतिहोत्र सबसे बड़ा था। वीतिहोत्र का पुत्र मधु था जिसका पुत्र वृष्णि विख्यात था। मधु के एक सौ पुत्र हुए जिनमें वृष्णि सबसे बड़ा था। यादव, माधव तथा वृष्णि नामक वंशों का उद्गम यदु, मधु तथा वृष्णि से हुआ।

माधवा वृष्णयो राजन्यादवाश्चेति संज्ञिताः ।
यदुपुत्रस्य च क्रोष्टोः पुत्रो वृजिनवांस्ततः ।
स्वाहितोऽतो विषद्गुर्वै तस्य चित्ररथस्ततः ॥ ३० ॥
शशबिन्दुर्महायोगी महाभागो महानभूत् ।
चतुर्दशमहारत्नश्चक्रवर्त्यपराजितः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

माधवाः—मधु से चलने वाला वंश; वृष्णयः—वृष्णि से चलने वाला वंश; राजन्—हे राजा (महाराज परीक्षित); यादवाः—यदुवंशी; च—और; इति—इस प्रकार; संज्ञिताः—इन विभिन्न पुरुषों के कारण ऐसा कहलाते हैं; यदु-पुत्रस्य—यदु के पुत्र का; च—भी; क्रोष्टोः—क्रोष्टा का; पुत्रः—पुत्र; वृजिनवान्—जिसका नाम वृजिनवान था; ततः—उससे; स्वाहितः—स्वाहित; अतः—तत्पश्चात्; विषद्गुः—विषद्गु; वै—निस्सन्देह; तस्य—उसका; चित्ररथः—चित्ररथ; ततः—उससे; शशबिन्दुः—शशबिन्दु; महा-योगी—महान् योगी; महा-भागः—अत्यधिक भाग्यशाली; महान्—महापुरुष; अभूत्—हुआ; चतुर्दश-महारत्नः—चौदह प्रकार के महान् ऐश्वर्य; चक्रवर्ती—सम्राट के रूप में; अपराजितः—न हराया जा सकने वाला।

हे महाराज परीक्षित, चूँकि यदु, मधु तथा वृष्णि में से हर एक ने वंश चलाये अतएव उनके वंश यादव, माधव तथा वृष्णि कहलाते हैं। यदु के पुत्र क्रोष्टा के वृजिनवान नाम का एक पुत्र हुआ। वृजिनवान का पुत्र स्वाहित था, स्वाहित का विषद्गु, विषद्गु का चित्ररथ और चित्ररथ का पुत्र शशबिन्दु हुआ जो महान् योगी था और चौदहों ऐश्वर्यों से युक्त था तथा वह चौदह महान् रत्नों का स्वामी था। इस तरह वह संसार का सम्राट बना।

तात्पर्य : *मार्कण्डेय पुराण* में चौदह प्रकार के महारत्नों का वर्णन इस प्रकार हुआ है (१) हाथी (२) घोड़ा (३) रथ (४) पत्नी (५) बाण (६) सम्पत्तिकोश (७) माला (८) बहुमूल्य वस्त्र (९) वृक्ष (१०) भाला (११) पाश (१२) मणि (१३) छाता (१४) विधान। सम्राट होने के लिए इन चौदहों एश्वर्यों का होना आवश्यक है। शशबिन्दु के पास ये सभी थे।

तस्य पत्नीसहस्राणां दशानां सुमहायशाः ।
दशलक्षसहस्राणि पुत्राणां तास्वजीजनत् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तस्य—शशबिन्दु की; पत्नी—पत्नियाँ; सहस्राणाम्—हजारों में से; दशानाम्—दस; सु-महा-यशाः—अत्यन्त विख्यात; दश—दस; लक्ष—लाख; सहस्राणि—हजार; पुत्राणाम्—पुत्रों का; तासु—उनमें; अजीजनत्—उसने उत्पन्न किया।

सुप्रसिद्ध शशबिन्दु के दस हजार पत्नियाँ थीं और उनमें से हर एक से एक लाख पुत्र उत्पन्न हुए। इसलिए उसके पुत्रों की संख्या एक अरब थी।

तेषां तु षट्प्रधानानां पृथुश्रवस आत्मजः ।
धर्मो नामोशना तस्य हयमेधशतस्य याट् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उन पुत्रों में से; तु—लेकिन; षट् प्रधानानाम्—जिसमें छह प्रमुख थे; पृथुश्रवसः—पृथुश्रवा का; आत्मजः—पुत्र; धर्मः—धर्म; नाम—नामक; उशना—उशना; तस्य—उसका; हयमेध-शतस्य—एक सौ अश्वमेघ यज्ञों का; याट्—सम्पन्न करने वाला।

इन अनेक पुत्रों में से छह अग्रणी थे यथा पृथुश्रवा तथा पृथुकीर्ति। पृथुश्रवा का पुत्र धर्म कहलाया और उसका पुत्र उशना कहलाया। उशना ने एक सौ अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किये।

तत्सुतो रुचकस्तस्य पञ्चासन्नात्मजाः शृणु ।
पुरुजिद्रुक्मरुक्मेषुपृथुज्यामघसंज्ञिताः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

तत्-सुतः—उशना का पुत्र; रुचकः—रुचक; तस्य—उसके; पञ्च—पाँच; आसन्—थे; आत्मजाः—पुत्र; शृणु—सुनो (उनके नाम); पुरुजित्—पुरुजित; रुक्म—रुक्म; रुक्मेषु—रुक्मेषु; पृथु—पृथु; ज्यामघ—ज्यामघ; संज्ञिताः—नाम वाले।

उशना का पुत्र रुचक था जिसके पाँच पुत्र थे—पुरुजित, रुक्म, रुक्मेषु, पृथु तथा ज्यामघ। कृपया मुझसे इनके विषय में सुनें।

ज्यामघस्त्वप्रजोऽप्यन्यां भार्यां शैब्यापतिर्भयात् ।
नाविन्दच्छत्रुभवनाद्भोज्यां कन्यामहारषीत् ।
रथस्थां तां निरीक्ष्याह शैब्या पतिममर्षिता ॥ ३५ ॥
केयं कुहक मत्स्थानं रथमारोपितेति वै ।
स्नुषा तवेत्यभिहिते स्मयन्ती पतिमब्रवीत् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

ज्यामघः—ज्यामघ; तु—निस्सन्देह; अप्रजः अपि—यद्यपि निःसन्तान; अन्याम्—दूसरी; भार्याम्—पत्नी; शैब्या-पतिः—शैब्या का पति होने के कारण; भयात्—भय से; न अविन्दत्—स्वीकार नहीं किया; शत्रु-भवनात्—शत्रु के खेमे से; भोज्याम्—वेश्या को; कन्याम्—कन्या; अहारषीत्—ले आया; रथ-स्थाम्—रथ में बैठी; ताम्—उसको; निरीक्ष्य—देखकर; आह—कहा; शैब्या—ज्यामघ

की पत्नी शैब्या ने; पतिम्—पति पर; अमर्षिता—अत्यन्त क्रुद्ध; का इयम्—यह कौन है; कुहक—अरे धूर्त; मत्-स्थानम्—मेरा स्थान; रथम्—रथ पर; आरोपिता—बैठने के लिए अनुमति प्राप्त; इति—इस प्रकार; वै—निस्सन्देह; स्नुषा—बहू; तव—तुम्हारी; इति—इस प्रकार; अभिहिते—सूचित किये जाने पर; स्मयन्ती—हँसती हुई; पतिम्—पति से; अब्रवीत्—बोली।

ज्यामघ के कोई पुत्र न था, किन्तु क्योंकि वह अपनी पत्नी शैब्या से डरता था अतएव उसने दूसरा विवाह नहीं किया। एक बार ज्यामघ किसी शत्रु राजा के खेमे से एक लड़की ले आया जो एक वेश्या थी। किन्तु उसे देखकर शैब्या अत्यन्त क्रुद्ध हुई और उसने अपने पति से कहा "क्यों रे धूर्त! यह लड़की कौन है जो रथ में मेरे आसन पर बैठी है?" तब ज्यामघ ने उत्तर दिया "यह लड़की तुम्हारी बहू (पुत्रवधू) होगी।" इन विनोदपूर्ण शब्दों को सुनकर शैब्या ने हँसते हुए उत्तर दिया।

अहं बन्ध्यासपत्नी च स्नुषा मे युज्यते कथम् ।
जनयिष्यसि यं राज्ञि तस्येयमुपयुज्यते ॥ ३७॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; बन्ध्या—बाँझ; अस-पत्नी—सौत रहित; च—भी; स्नुषा—बहू; मे—मेरी; युज्यते—हो सकती है; कथम्—किस तरह; जनयिष्यसि—तुम जन्म दोगी; यम्—जो पुत्र; राज्ञि—हे रानी; तस्य—उसके; इयम्—यह लड़की; उपयुज्यते—उपयुक्त होगी।

शैब्या ने कहा, "मैं बाँझ हूँ और मेरी कोई सौत भी नहीं है। भला यह लड़की मेरी बहू (पुत्रवधू) कैसे बन सकती है?" ज्यामघ ने उत्तर दिया, "मेरी रानी! मैं देखूँगा कि तुम्हारे सचमुच पुत्र होगा और यह लड़की तुम्हारी बहू बनेगी।"

अन्वमोदन्त तद्विश्वेदेवाः पितर एव च ।
शैब्या गर्भमधात्काले कुमारं सुषुवे शुभम् ।
स विदर्भ इति प्रोक्त उपयेमे स्नुषां सतीम् ॥ ३८॥

शब्दार्थ

अन्वमोदन्त—स्वीकार कर लिया; तत्—यह भविष्यवाणी कि उसके पुत्र होगा; विश्वेदेवाः—विश्वेदेव देवतागण; पितरः—पितृगण; एव—निस्सन्देह; च—भी; शैब्या—शैब्या ने; गर्भम्—गर्भ; अधात्—धारण किया; काले—समय आने पर; कुमारम्—पुत्र को; सुषुवे—जन्म दिया; शुभम्—अत्यन्त शुभ; सः—वह पुत्र; विदर्भः—विदर्भ; इति—इस प्रकार; प्रोक्तः—विख्यात हुआ; उपयेमे—बाद में विवाह कर लिया; स्नुषाम्—बहू रूप में स्वीकृत; सतीम्—सती साध्वी लड़की को।

बहुत काल पूर्व ज्यामघ ने देवताओं तथा पितरों की पूजा करके उन्हें प्रसन्न कर लिया था। अब उन्हीं की दया से ज्यामघ के शब्द सही उतरे। यद्यपि शैब्या बाँझ थी लेकिन देवताओं की कृपा से वह गर्भिणी हुई और समय आने पर उसने विदर्भ नामक शिशु को जन्म दिया। चूँकि शिशु के जन्म के पूर्व ही उस लड़की को बहू रूप में स्वीकार किया जा चुका था अतएव जब विदर्भ सयाना हुआ तो

उसने उसके साथ विवाह कर लिया।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध के अन्तर्गत ''ययाति के पुत्रों की वंशावली'' नामक तेईसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौबीस

भगवान् श्रीकृष्ण

विदर्भ के तीन पुत्र थे—कुश, क्रथ तथा रोमपाद। इन तीनों में से रोमपाद का वंश फैला जिसमें बभ्रु, कृति, उशिक, चेदि तथा चैद्य नामक पुत्र एवं पौत्र हुए। ये सभी आगे चलकर राजा बने। विदर्भ के पुत्र क्रथ के कुन्ति नामक पुत्र हुआ जिसके वंश में वृष्णि, निर्वृति, दशार्ह, व्योम, जीमूत, विकृति, भीमरथ, नवरथ, दशरथ, शकुनि, करम्भि, देवरात, देवक्षत्र, मधु, कुरुवश, अनु, पुरुहोत्र, अयु तथा सात्वत हुए। सात्वत के सात पुत्र थे जिनमें से देवावृध एक था और उसके पुत्र का नाम बभ्रु था। सात्वत के दूसरे पुत्र महाभोज से भोजवंश चला। सात्वत के अन्य पुत्र वृष्णि के पुत्र का नाम युधाजित था। युधाजित से अनमित्र तथा शिनि हुए और अनमित्र से निघ्न तथा एक अन्य शिनि उत्पन्न हुए। शिनि के बाद क्रम से सत्यक, युयुधान, जय, कुणि तथा युगन्धर हुए। अनमित्र का एक अन्य पुत्र वृष्णि था। वृष्णि से श्वफल्क हुआ जिससे अक्रूर तथा अन्य बारह पुत्र उत्पन्न हुए। अक्रूर के दो पुत्र हुए देववान तथा उपदेव। अन्धक का पुत्र कुकुर था जिसके वंशज वह्नि, विलोमा, कपोतरोमा, अनु, अन्धक, दुन्दुभि, अविद्योत, पुनर्वसु तथा आहुक हुए। आहुक के दो पुत्र थे—देवक तथा उग्रसेन। देवक के चार पुत्र हुए—देववान, उपदेव, सुदेव तथा देववर्धन। उसके सात कन्याएँ भी थीं—धृतदेवा, शान्तिदेवा, उपदेवा, श्रीदेवा, देवरक्षिता, सहदेवा, तथा देवकी। वसुदेव ने इन सातों कन्याओं से व्याह किया। उग्रसेन के नौ पुत्र थे—कंस, सुनामा, न्यग्रोघ, कंक, शंकु, सुहू, राष्ट्रपाल, धृष्टि तथा तुष्टिमान। उसके पाँच पुत्रियाँ भी हुईं जिनके नाम कंसा, कंसवती, कंका, शूरभू तथा राष्ट्रपालिका थे। वसुदेव के छोटे भाइयों ने उग्रसेन की सारी पुत्रियों से ब्याह कर लिया।

चित्ररथ के पुत्र विदूरथ के शूर नाम का पुत्र हुआ। शूर के दस और पुत्र थे जिनमें वसुदेव मुख्य था। शूर ने अपनी पाँच पुत्रियों में से एक पुत्री पृथा को अपने मित्र कुन्ति को दे दिया इसलिए वह कुन्ती भी कहलाई। उसने कुमारी रहते हुए कर्ण नामक पुत्र को जन्म दिया, और बाद में उसने महाराज पाण्डु से विवाह कर लिया।

वृद्धशर्मा ने शूर की पुत्री श्रुतदेवा से विवाह किया जिसके गर्भ से दन्तवक्र का जन्म हुआ। धृष्टकेतु ने शूर की पुत्री श्रुतकीर्ति से विवाह किया जिससे पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। जयसेन ने शूर की पुत्री राजाधिदेवी के

साथ विवाह किया। चेदि देश के राजा दमघोष ने शूर की पुत्री श्रुतश्रवा से शादी की जिससे शिशुपाल ने जन्म लिया।

देवभाग ने कंसा के गर्भ से चित्रकेतु तथा बृहद्बल को जन्म दिया। देवश्रवा ने कंसावती के गर्भ से सुवीर तथा इषुमान को उत्पन्न किया। कंक ने कंका से बक, सत्यजित तथा पुरुजित को उत्पन्न किया। सृञ्जय ने राष्ट्रपालिका से वृष तथा दुर्मर्षण को जन्म दिया। श्यामक ने शूरभूमि से हरिकेश तथा हिरण्याक्ष को जन्म दिया। वत्सक ने मिश्रकेशी से वृक को उत्पन्न किया। वृक के तीन पुत्र हुए—तक्ष, पुष्कर तथा शाल। समीक से सुमित्र तथा अर्जुनपाल हुए और आनक से ऋतधामा तथा जय हुए।

वसुदेव के अनेक पत्नियाँ थी जिनमें से देवकी तथा रोहिणी प्रमुख थीं। रोहिणी के गर्भ से बलदेव ने जन्म लिया। इनके अतिरिक्त गद, शारण, दुर्मद, विपुल, ध्रुव, कृत तथा अन्य पुत्र भी हुए। वसुदेव की अन्य पत्नियों से भी अनेक पुत्र हुए। देवकी के गर्भ से उत्पन्न होने वाले आठवें पुत्र भगवान् थे जिन्होंने असुरों के बोझ से सारे संसार का उद्धार किया। यह अध्याय भगवान् वासुदेव के महिमागान के साथ समाप्त होता है।

श्रीशुक उवाच
तस्यां विदर्भोऽजनयत्पुत्रौ नाम्ना कुशक्रथौ ।
तृतीयं रोमपादं च विदर्भकुलनन्दनम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; तस्याम्—उस लड़की से; विदर्भः—विदर्भ ने; अजनयत्—जन्म दिया; पुत्रौ—दो पुत्रों को; नाम्ना—नामक; कुश-क्रथौ—कुश तथा क्रथ; तृतीयम्—तथा तीसरे पुत्र; रोमपादम् च—रोमपाद को भी; विदर्भ-कुल-नन्दनम्—विदर्भ वंश का प्रिय।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : अपने पिता द्वारा लाई गई उस लड़की के गर्भ से विदर्भ को तीन पुत्र प्राप्त हुए—कुश, क्रथ तथा रोमपाद। रोमपाद विदर्भ कुल का अत्यन्त प्रिय था।

रोमपादसुतो बभ्रुर्बभ्रोः कृतिरजायत ।
उशिकस्तत्सुतस्तस्माच्चेदिश्चैद्यादयो नृपाः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

रोमपाद-सुतः—रोमपाद का पुत्र; बभ्रुः—बभ्रु; बभ्रोः—बभ्रु से; कृतिः—कृति; अजायत—उत्पन्न हुआ; उशिकः—उशिक; तत्-सुतः—कृति का पुत्र; तस्मात्—उससे; चेदिः—चेदि; चैद्य—चैद्य (दमघोष); आदयः—इत्यादि; नृपाः—राजा।

रोमपाद का पुत्र बभ्रु हुआ जिससे कृति नामक पुत्र की उत्पत्ति हुई। कृति का पुत्र उशिक हुआ

और उशिक का पुत्र चेदि था। चेदि से चैद्य तथा अन्य राजा पुत्र उत्पन्न हुए।

क्रथस्य कुन्तिः पुत्रोऽभूद्वृष्णिस्तस्याथ निर्वृतिः ।
ततो दशार्हो नाम्नाभूत्तस्य व्योमः सुतस्ततः ॥ ३॥
जीमूतो विकृतिस्तस्य यस्य भीमरथः सुतः ।
ततो नवरथः पुत्रो जातो दशरथस्ततः ॥ ४॥

शब्दार्थ

क्रथस्य—क्रथ का; कुन्तिः—कुन्ति; पुत्रः—पुत्र; अभूत्—हुआ; वृष्णिः—वृष्णि; तस्य—उसका; अथ—तब; निर्वृतिः—निर्वृति; ततः—उससे; दशार्हः—दशार्ह; नाम्ना—नामक; अभूत्—उत्पन्न हुआ; तस्य—उसका; व्योमः—व्योम; सुतः—पुत्र; ततः—उससे; जीमूतः—जीमूत; विकृतिः—विकृति; तस्य—उसका; यस्य—जिसका (विकृति का); भीमरथः—भीमरथ; सुतः—पुत्र; ततः—उससे (भीमरथ); नवरथः—नवरथ; पुत्रः—पुत्र; जातः—उत्पन्न हुआ; दशरथः—दशरथ; ततः—उससे।

क्रथ का पुत्र कुन्ति, कुन्ति का पुत्र वृष्णि, वृष्णि का निर्वृति, निर्वृति का दशार्ह, दशार्ह का व्योम, व्योम का जीमूत, जीमूत का विकृति, विकृति का भीमरथ, भीमरथ का नवरथ तथा नवरथ का पुत्र दशरथ हुआ।

करम्भिः शकुनेः पुत्रो देवरातस्तदात्मजः ।
देवक्षत्रस्ततस्तस्य मधुः कुरुवशादनुः ॥ ५॥

शब्दार्थ

करम्भिः—करम्भि; शकुनेः—शकुनि से; पुत्रः—पुत्र; देवरातः—देवरात; तत्-आत्मजः—उसका पुत्र (करम्भि); देवक्षत्रः—देवक्षत्र; ततः—तत्पश्चात्; तस्य—उसका; मधुः—मधु; कुरुवशात्—कुरुवश से; अनुः—अनु।

दशरथ का पुत्र शकुनि हुआ और शकुनि का पुत्र करम्भि था। करम्भि का पुत्र देवरात हुआ जिसका पुत्र देवक्षत्र था। देवक्षत्र का पुत्र मधु था और उसका पुत्र कुरुवश था जिसके अनु नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ।

पुरुहोत्रस्त्वनोः पुत्रस्तस्यायुः सात्वतस्ततः ।
भजमानो भजिर्दिव्यो वृष्णिर्देवावृधोऽन्धकः ॥ ६॥
सात्वतस्य सुताः सप्त महाभोजश्च मारिष ।
भजमानस्य निम्लोचिः किङ्कणो धृष्टिरेव च ॥ ७॥
एकस्यामात्मजाः पत्न्यामन्यस्यां च त्रयः सुताः ।
शताजिच्च सहस्राजिदयुताजिदिति प्रभो ॥ ८॥

शब्दार्थ

पुरुहोत्रः—पुरुहोत्र; तु—निस्सन्देह; अनोः—अनु का; पुत्रः—पुत्र; तस्य—पुरुहोत्र का; अयुः—अयु; सात्वतः—सात्वत; ततः—उससे (अयु); भजमानः—भजमान; भजिः—भजि; दिव्यः—दिव्य; वृष्णिः—वृष्णि; देवावृधः—देवावृध; अन्धकः—अन्धक; सात्वतस्य—सात्वत के; सुताः—पुत्र; सप्त—सात; महाभोजः च—तथा महाभोज; मारिष—हे महान् राजा; भजमानस्य—भजमान के; निम्लोचिः—निम्लोचि; किङ्कणः—किंकण; धृष्टिः—धृष्टि; एव—निस्सन्देह; च—भी; एकस्याम्—एक पत्नी से; आत्मजाः—पुत्र; पत्न्याम्—पत्नी से; अन्यस्याम्—दूसरी; च—भी; त्रयः—तीन; सुताः—पुत्र; शताजित्—शताजित; च—भी; सहस्राजित्—सहस्राजित; अयुताजित्—अयुताजित; इति—इस प्रकार; प्रभो—हे राजा।

अनु का पुत्र पुरुहोत्र हुआ जिसके पुत्र अयु का पुत्र सात्वत था। हे महान् आर्य राजा, सात्वत के सात पुत्र थे—भजमान, भजि, दिव्य, वृष्णि, देवावृध, अन्धक तथा महाभोज। भजमान की एक पत्नी से निम्लोचि, किंकण तथा धृष्टि नामक तीन पुत्र हुए और दूसरी पत्नी से शताजित, सहस्राजित तथा अयुताजित—ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए।

बभ्रुर्देवावृधसुतस्तयोः श्लोकौ पठन्त्यमू ।
यथैव शृणुमो दूरात्सम्पश्यामस्तथान्तिकात् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

बभ्रुः—बभ्रु; देवावृध—देवावृध; सुतः—पुत्र; तयोः—उनके; श्लोकौ—दो श्लोक; पठन्ति—पुरानी पीढ़ी के लोग सुनाते हैं; अमू—वे; यथा—जिस तरह; एव—निस्सन्देह; शृणुमः—हमने सुना है; दूरात्—दूर से; सम्पश्यामः—वास्तव में देख रहे हैं; तथा—उसी तरह; अन्तिकात्—आज भी।

देवावृध का पुत्र बभ्रु था। देवावृध तथा बभ्रु से सम्बन्धित दो प्रसिद्ध प्रार्थनामय गीत हैं जिन्हें हमारे पूर्वज गाते रहे हैं और जिन्हें हमने दूर से सुना है। आज भी मैं वही गीत उनके गुणों के विषय में सुनता हूँ (क्योंकि जो पहले सुना गया है, अभी भी लगातार गाया जाता है)।

बभ्रुः श्रेष्ठो मनुष्याणां देवैर्देवावृधः समः ।
पुरुषाः पञ्चषष्टिश्च षट्सहस्राणि चाष्ट च ॥ १० ॥
येऽमृतत्वमनुप्राप्ता बभ्रोर्देवावृधादपि ।
महाभोजोऽतिधर्मात्मा भोजा आसंस्तदन्वये ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

बभ्रुः—राजा बभ्रु; श्रेष्ठः—सब राजाओं में श्रेष्ठ; मनुष्याणाम्—सारे मनुष्यों में; देवैः—देवताओं समेत; देवावृधः—राजा देवावृध; समः—समदर्शी; पुरुषाः—पुरुष; पञ्च-षष्टिः—पैसठ; च—भी; षट्-सहस्राणि—छह हजार; च—भी; अष्ट—आठ हजार; च—भी; ये—जो; अमृतत्वम्—भवबन्धन से मोक्ष; अनुप्राप्ताः—प्राप्त; बभ्रोः—बभ्रु की संगति के फलस्वरूप; देवावृधात्—तथा देवावृध की संगति से; अपि—निस्सन्देह; महाभोजः—राजा महाभोज; अति-धर्म-आत्मा—अत्यन्त धार्मिक; भोजाः—भोज नाम के राजा; आसन्—हुए; तत्-अन्वये—उसके (महाभोज के) कुल में।

"यह निश्चय हुआ कि मनुष्यों में बभ्रु सर्वश्रेष्ठ है और देवावृध देवता तुल्य है। बभ्रु तथा देवावृध की संगति से उनके सारे वंशज, जिनकी संख्या १४०६५ थी, मोक्ष के भागी हुए।" राजा महाभोज

अत्यन्त धर्मात्मा था और उसके कुल में भोज राजा हुए।

वृष्णेः सुमित्रः पुत्रोऽभूद्युधाजिच्च परन्तप ।
शिनिस्तस्यानमित्रश्च निघ्नोऽभूदनमित्रतः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

वृष्णेः—सात्वत पुत्र वृष्णि का; सुमित्रः—सुमित्र; पुत्रः—पुत्र; अभूत्—हुआ; युधाजित्—युधाजित; च—भी; परम्-तप—हे शत्रुओं का दमन करने वाले राजा; शिनिः—शिनि; तस्य—उसका; अनमित्रः—अनमित्र; च—तथा; निघ्नः—निघ्न; अभूत्—प्रकट हुआ; अनमित्रतः—अनमित्र से।

हे शत्रुओं के दमन करने वाले राजा परीक्षित, वृष्णि के पुत्र सुमित्र तथा युधाजित थे। युधाजित से शिनि तथा अनमित्र उत्पन्न हुए। अनमित्र के एक पुत्र था जिसका नाम निघ्न था।

सत्राजितः प्रसेनश्च निघ्नस्याथासतुः सुतौ ।
अनमित्रसुतो योऽन्यः शिनिस्तस्य च सत्यकः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सत्राजितः—सत्राजित; प्रसेनः च—तथा प्रसेन; निघ्नस्य—निघ्न के पुत्र; अथ—इस प्रकार; असतुः—थे; सुतौ—दो पुत्र; अनमित्र-सुतः—अनमित्र का बेटा; यः—जो; अन्यः—दूसरा; शिनिः—शिनि; तस्य—उसका; च—भी; सत्यकः—सत्यक।

निघ्न के दो पुत्र हुए—सत्राजित तथा प्रसेन। अनमित्र का दूसरा पुत्र एक अन्य शिनि था जिसका पुत्र सत्यक था।

युयुधानः सात्यकिर्वै जयस्तस्य कुणिस्ततः ।
युगन्धरोऽनमित्रस्य वृष्णिः पुत्रोऽपरस्ततः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

युयुधानः—युयुधान; सात्यकिः—सत्यक का पुत्र; वै—निस्सन्देह; जयः—जय; तस्य—उसका (युयुधान); कुणिः—कुणि; ततः—उससे (जय); युगन्धरः—युगन्धर; अनमित्रस्य—अनमित्र का पुत्र; वृष्णिः—वृष्णि; पुत्रः—पुत्र; अपरः—दूसरा; ततः—उससे।

सत्यक का पुत्र युयुधान था जिसका पुत्र जय हुआ। जय के एक पुत्र हुआ जिसका नाम कुणि था। कुणि का पुत्र युगन्धर था। अनमित्र का दूसरा पुत्र वृष्णि था।

श्वफल्कश्चित्ररथश्च गान्दिन्यां च श्वफल्कतः ।
अक्रूरप्रमुखा आसन्पुत्रा द्वादश विश्रुताः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

श्वफल्कः—श्वफल्क; चित्ररथः च—तथा चित्ररथ; गान्दिन्याम्—गान्दिनी नामक पत्नी से; च—तथा; श्वफल्कतः—श्वफल्क से; अक्रूर—अक्रूर; प्रमुखाः—इत्यादि; आसन्—थे; पुत्राः—पुत्र; द्वादश—बारह; विश्रुताः—विख्यात।

वृष्णि से श्वफल्क तथा चित्ररथ नाम के दो पुत्र हुए। श्वफल्क की पत्नी गान्दिनी से अक्रूर उत्पन्न हुआ। अक्रूर सबसे बड़ा था, किन्तु उसके अतिरिक्त बारह पुत्र और थे जो सभी विख्यात थे।

आसङ्गः सारमेयश्च मृदुरो मृदुविद्गिरिः ।
धर्मवृद्धः सुकर्मा च क्षेत्रोपेक्षोऽरिमर्दनः ॥ १६ ॥
शत्रुघ्नो गन्धमादश्च प्रतिबाहुश्च द्वादश ।
तेषां स्वसा सुचाराख्या द्वावक्रूरसुतावपि ॥ १७ ॥
देववानुपदेवश्च तथा चित्ररथात्मजाः ।
पृथुर्विदूरथाद्याश्च बहवो वृष्णिनन्दनाः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

आसङ्गः—आसंग; सारमेयः—सारमेय; च—भी; मृदुरः—मृदुर; मृदुवित्—मृदुवित; गिरिः—गिरि; धर्मवृद्धः—धर्मवृद्ध; सुकर्मा—सुकर्मा; च—भी; क्षेत्रोपेक्षः—क्षेत्रोपेक्ष; अरिमर्दनः—अरिमर्दन; शत्रुघ्नः—शत्रुघ्न; गन्धमादः—गन्धमाद; च—भी; प्रतिबाहुः—प्रतिबाहु; च—तथा; द्वादश—बारह; तेषाम्—उनकी; स्वसा—बहन; सुचारा—सुचारा; आख्या—विख्यात; द्वौ—दो; अक्रूर—अक्रूर के; सुतौ—बेटे; अपि—भी; देववान्—देववान; उपदेवः च—तथा उपदेव; तथा—तत्पश्चात्; चित्ररथ-आत्मजाः—चित्ररथ के पुत्र; पृथुः विदूरथ—पृथु तथा विदूरथ; आद्याः—आदि; च—भी; बहवः—अनेक; वृष्णि-नन्दनाः—वृष्णि के पुत्र।

इन बारहों के नाम थे—आसंग, सारमेय, मृदुर, मृदुवित, गिरि, धर्मवृद्ध, सुकर्मा, क्षेत्रोपेक्ष, अरिमर्दन, शत्रुघ्न, गन्धमाद तथा प्रतिबाहु। इन भाइयों के एक बहन भी थी जिसका नाम सुचारा था। अक्रूर के दो पुत्र हुए जिनके नाम देववान तथा उपदेव थे। चित्ररथ के पृथु, विदूरथ इत्यादि कई पुत्र थे। ये सभी वृष्णिवंशी कहलाये।

कुकुरो भजमानश्च शुचिः कम्बलबर्हिषः ।
कुकुरस्य सुतो वह्निर्विलोमा तनयस्ततः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

कुकुरः—कुकुर; भजमानः—भजमान; च—भी; शुचिः—शुचि; कम्बलबर्हिषः—कम्बलबर्हिष; कुकुरस्य—कुकुर का; सुतः—पुत्र; वह्निः—वह्नि; विलोमा—विलोमा; तनयः—पुत्र; ततः—उससे (वह्नि)।

अन्धक के चार पुत्र हुए—कुकुर, भजमान, शुचि तथा कम्बलबर्हिष। कुकुर का पुत्र वह्नि था और वह्नि का पुत्र विलोमा हुआ।

कपोतरोमा तस्यानुः सखा यस्य च तुम्बुरुः ।
अन्धकाद्दुन्दुभिस्तस्मादविद्योतः पुनर्वसुः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

कपोतरोमा—कपोतरोमा; तस्य—उसका (पुत्र); अनुः—अनु; सखा—मित्र; यस्य—जिसका; च—भी; तुम्बुरुः—तुम्बुरु; अन्धकात्—अन्धक (अनुपुत्र) से; दुन्दुभिः—दुन्दुभि नामक पुत्र; तस्मात्—उससे (दुन्दुभि); अविद्योतः—अविद्योत नामक पुत्र; पुनर्वसुः—पुनर्वसु नामक पुत्र।

विलोमा का पुत्र कपोतरोमा था जिसका पुत्र अनु हुआ और उसका मित्र तुम्बुरु था। अनु से अन्धक का जन्म हुआ, अन्धक से दुन्दुभि, दुन्दुभि से अविद्योत और अविद्योत से पुनर्वसु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

तस्याहुकश्चाहुकी च कन्या चैवाहुकात्मजौ ।
देवकश्चोग्रसेनश्च चत्वारो देवकात्मजाः ॥ २१ ॥

देववानुपदेवश्च सुदेवो देववर्धनः ।
तेषां स्वसारः सप्तासन्धृतदेवादयो नृप ॥ २२ ॥

शान्तिदेवोपदेवा च श्रीदेवा देवरक्षिता ।
सहदेवा देवकी च वसुदेव उवाह ताः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके; आहुकः—आहुक; च—तथा; आहुकी—आहुकी; च—भी; कन्या—पुत्री; च—भी; एव—निस्सन्देह; आहुक—आहुक के; आत्मजौ—दो पुत्र; देवकः—देवक; च—तथा; उग्रसेनः—उग्रसेन; च—भी; चत्वारः—चार; देवक-आत्मजाः—देवक के पुत्र; देववान्—देववान; उपदेवः—उपदेव; च—तथा; सुदेवः—सुदेव; देववर्धनः—देववर्धन; तेषाम्—उन सब में से; स्वसारः—बहनें; सप्त—सात; आसन्—थीं; धृतदेवा-आदयः—धृतदेवा आदि; नृप—हे राजा परीक्षित; शान्तिदेवा—शान्तिदेवा; उपदेवा—उपदेवा; च—भी; श्रीदेवा—श्रीदेवा; देवरक्षिता—देवरक्षिता; सहदेवा—सहदेवा; देवकी—देवकी; च—तथा; वसुदेवः—कृष्ण के पिता वसुदेव ने; उवाह—विवाह लिया; ताः—उनको।

पुनर्वसु के एक पुत्र आहुक तथा एक पुत्री आहुकी थी। आहुक के दो पुत्र थे—देवक तथा उग्रसेन। देवक के चार पुत्र हुए—देववान्, उपदेव, सुदेव तथा देववर्धन। उसके सात कन्याएँ भी थीं जिनके नाम शान्तिदेवा, उपदेवा, श्रीदेवा, देवरक्षिता, सहदेवा, देवकी तथा धृतदेवा थे। इनमें धृतदेवा सबसे बड़ी थी। कृष्ण के पिता वसुदेव ने इन सबों के साथ विवाह किया।

कंसः सुनामा न्यग्रोधः कङ्कः शङ्कुः सुहूस्तथा ।
राष्ट्रपालोऽथ धृष्टिश्च तुष्टिमानौग्रसेनयः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

कंसः—कंस; सुनामा—सुनामा; न्यग्रोधः—न्यग्रोध; कङ्कः—कंक; शङ्कुः—शंकु; सुहूः—सुहू; तथा—और; राष्ट्रपालः—राष्ट्रपाल; अथ—तत्पश्चात्; धृष्टिः—धृष्टि; च—भी; तुष्टिमान्—तुष्टिमान; औग्रसेनयः—उग्रसेन के पुत्र।

उग्रसेन के पुत्रों के नाम थे—कंस, सुनामा, न्यग्रोध, कंक, शंकु, सुहू, राष्ट्रपाल, धृष्टि तथा तुष्टिमान।

कंसा कंसवती कङ्का शूरभू राष्ट्रपालिका ।
उग्रसेनदुहितरो वसुदेवानुजस्त्रियः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

कंसा—कंसा; कंसवती—कंसवती; कङ्का—कंका; शूरभू—शूरभू; राष्ट्रपालिका—राष्ट्रपालिका; उग्रसेन-दुहितरः—उग्रसेन की पुत्रियाँ; वसुदेव-अनुज—वसुदेव के छोटे भाइयों की; स्त्रियः—पत्नियाँ।

उग्रसेन की पुत्रियाँ कंसा, कंसावती, कंका, शूरभू तथा राष्ट्रपालिका थीं। वे वसुदेव के छोटे भाइयों की पत्नियाँ बनीं।

शूरो विदूरथादासीद्भजमानस्तु तत्सुतः ।
शिनिस्तस्मात्स्वयं भोजो हृदिकस्तत्सुतो मतः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

शूरः—शूर; विदूरथात्—विदूरथ से, जो चित्ररथ का पुत्र था; आसीत्—उत्पन्न हुआ; भजमानः—भजमान; तु—तथा; तत्-सुतः—उस (शूर) का पुत्र; शिनिः—शिनि; तस्मात्—उससे; स्वयम्—स्वयं; भोजः—प्रसिद्ध राजा भोज; हृदिकः—हृदिक; तत्-सुतः—उस (भोज) का पुत्र; मतः—विख्यात है।

चित्ररथ का पुत्र विदूरथ था, जिसका पुत्र शूर था और शूर का पुत्र भजमान था। भजमान का पुत्र शिनि हुआ, शिनि का पुत्र भोज था और भोज का पुत्र हृदिक था।

देवमीढः शतधनुः कृतवर्मेति तत्सुताः ।
देवमीढस्य शूरस्य मारिषा नाम पत्न्यभूत् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

देवमीढः—देवमीढ; शतधनुः—शतधनु; कृतवर्मा—कृतवर्मा; इति—इस प्रकार; तत्-सुताः—उस (हृदिक) के पुत्र; देवमीढस्य—देवमीढ का; शूरस्य—शूर का; मारिषा—मारिषा; नाम—नामक; पत्नी—पत्नी; अभूत्—थी।

हृदिक के तीन पुत्र हुए—देवमीढ, शतधनु तथा कृतवर्मा। देवमीढ का पुत्र शूर था जिसकी पत्नी का नाम मारिषा था।

तस्यां स जनयामास दश पुत्रानकल्मषान् ।
वसुदेवं देवभागं देवश्रवसमानकम् ॥ २८ ॥
सृञ्जयं श्यामकं कङ्कं शमीकं वत्सकं वृकम् ।
देवदुन्दुभयो नेदुरानका यस्य जन्मनि ॥ २९ ॥
वसुदेवं हरेः स्थानं वदन्त्यानकदुन्दुभिम् ।
पृथा च श्रुतदेवा च श्रुतकीर्तिः श्रुतश्रवाः ॥ ३० ॥

राजाधिदेवी चैतेषां भगिन्यः पञ्च कन्यकाः ।
कुन्तेः सख्युः पिता शूरो ह्यपुत्रस्य पृथामदात् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उससे (मारिषा) से; सः—उस (शूर) ने; जनयाम् आस—उत्पन्न किया; दश—दस; पुत्रान्—पुत्रों को; अकल्मषान्—निष्कलंक; वसुदेवम्—वसुदेव को; देवभागम्—देवभाग को; देवश्रवसम्—देवश्रवा को; आनकम्—आनक को; सृञ्जयम्—सृञ्जय को; श्यामकम्—श्यामक; कङ्कम्—कंक; शमीकम्—शमीक; वत्सकम्—वत्सक; वृकम्—वृक को; देव-दुन्दुभयः—देवताओं द्वारा दुन्दुभियाँ; नेदुः—बजाई गईं; आनकाः—एक प्रकार की दुन्दुभी; यस्य—जिसके; जन्मनि—जन्म होने पर; वसुदेवम्—वसुदेव को; हरेः—भगवान् का; स्थानम्—स्थान; वदन्ति—लोग कहते हैं; आनकदुन्दुभिम्—आनक-दुन्दुभि; पृथा—पृथा; च—तथा; श्रुतदेवा—श्रुतदेवा; च—भी; श्रुतकीर्तिः—श्रुतकीर्ति; श्रुतश्रवाः—श्रुतश्रवा; राजाधिदेवी—राजाधिदेवी; च—भी; एतेषाम्—इन सबों की; भगिन्यः—बहनें; पञ्च—पाँच; कन्यकाः—शूर की पुत्रियाँ; कुन्तेः—कुन्ति का; सख्युः—मित्र; पिता—पिता; शूरः—शूर; हि—निस्सन्देह; अपुत्रस्य—पुत्रविहीन; पृथाम्—पृथा को; अदात्—दे दिया।

राजा शूर को अपनी पत्नी मारिषा से वसुदेव, देवभाग, देवश्रवा, आनक, सृञ्जय, श्यामक, कंक, शमीक, वत्सक तथा वृक नामक दस पुत्र उत्पन्न हुए। ये विशुद्ध पवित्र पुरुष थे। जब वसुदेव का जन्म हुआ था तो देवताओं ने स्वर्ग से दुन्दुभियां बजाई थीं। इसीलिए वसुदेव का नाम आनक-दुन्दुभि पड़ गया। इन्होंने भगवान् कृष्ण के प्राकट्य के लिए समुचित स्थान प्रदान किया। शूर के पाँच कन्याएँ भी जन्मीं, जिनके नाम थे पृथा, श्रुतदेवा, श्रुतकीर्ति, श्रुतश्रवा तथा राजाधिदेवी। ये वसुदेव की बहनें थीं। शूर ने अपने मित्र कुन्ति को अपनी पुत्री पृथा दे दी क्योंकि उसके कोई सन्तान नहीं थी; इसलिए पृथा का दूसरा नाम कुन्ती था।

साप दुर्वाससो विद्यां देवहूतीं प्रतोषितात् ।
तस्या वीर्यपरीक्षार्थमाजुहाव रविं शुचिः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

सा—उसने (पृथा ने); आप—प्राप्त किया; दुर्वाससः—दुर्वासा मुनि से; विद्याम्—योगशक्ति; देव-हूतीम्—किसी भी देवता का आवाहन करने की; प्रतोषितात्—प्रसन्न होकर; तस्याः—उस (योगशक्ति) से; वीर्य—प्रभाव; परीक्ष-अर्थम्—परीक्षा करने के लिए; आजुहाव—आवाहित किया; रविम्—सूर्यदेव को; शुचिः—पवित्र (पृथा)।

एक बार जब दुर्वासा पृथा के पिता कुन्ति के घर पर अतिथि बने तो पृथा ने अपनी सेवा से उन्हें प्रसन्न कर लिया। अतएव उसे ऐसी योगशक्ति प्राप्त हुई जिससे वह किसी भी देवता का आवाहन कर सकती थी। पवित्र कुन्ती ने इस योगशक्ति के प्रभाव की परीक्षा करने के लिए तुरन्त ही सूर्यदेव का आवाहन किया।

तदैवोपागतं देवं वीक्ष्य विस्मितमानसा ।

प्रत्ययार्थं प्रयुक्ता मे याहि देव क्षमस्व मे ॥ ३३॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; एव—निस्सन्देह; उपागतम्—(अपने समक्ष) प्रकट हुआ; देवम्—सूर्यदेव को; वीक्ष्य—देखकर; विस्मित-मानसा—अत्यधिक चकित; प्रत्यय-अर्थम्—योग की शक्ति को देखने के लिए; प्रयुक्ता—मैंने प्रयोग किया है; मे—मुझे; याहि—कृपया लौट जाइये; देव—हे देवता; क्षमस्व—क्षमा कीजिये; मे—मुझको।

ज्योंही कुन्ती ने सूर्यदेव का आवाहन किया वे तुरन्त उसके समक्ष प्रकट हो गये। इस पर वह अत्यधिक चकित हो गई। उसने सूर्यदेव से कहा "मैं तो इस योगशक्ति के प्रभाव की परीक्षा ही कर रही थी। खेद है कि मैंने आपको व्यर्थ ही बुलाया है। कृपया वापस जाएँ और मुझे क्षमा कर दें।"

अमोघं देवसन्दर्शमादधे त्वयि चात्मजम् ।
योनिर्यथा न दुष्येत कर्ताहं ते सुमध्यमे ॥ ३४॥

शब्दार्थ

अमोघम्—व्यर्थ न होने वाला; देव-सन्दर्शम्—देवताओं से भेंट; आदधे—मैं (वीर्य) दूँगा; त्वयि—तुममें; च—भी; आत्मजम्—पुत्र; योनिः—योनि मार्ग; यथा—जिस तरह; न—नहीं; दुष्येत—दूषित हो; कर्ता—व्यवस्था करूँगा; अहम्—मैं; ते—तुम्हारी; सुमध्यमे—हे सुन्दरी।

सूर्यदेव ने कहा : हे सुन्दरी पृथा, देवताओं से तुम्हारी भेंट व्यर्थ नहीं जा सकती। अतएव मैं तुम्हारे गर्भ में वीर्य स्थापित करता हूँ जिससे तुम एक पुत्र उत्पन्न कर सको। मैं तुम्हारे कौमार्य को अक्षत रखने की व्यवस्था कर दूँगा क्योंकि तुम अब भी अविवाहिता लड़की हो।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता के अनुसार यदि विवाह के पूर्व कोई लड़की शिशु को जन्म दे तो उसके साथ कोई विवाह नहीं करता। इसीलिए जब सूर्यदेव ने पृथा के समक्ष उपस्थित होकर उसे शिशु देना चाहा तो पृथा को उलझन हुई क्योंकि वह कुमारी थी। किन्तु सूर्यदेव ने उसके कौमार्य को अक्षत रखने के लिए उसे ऐसा शिशु देने की व्यवस्था की जो कान से उत्पन्न हुआ। इसीलिए इसका नाम कर्ण पड़ा। यह प्रथा है कि अक्षतयोनि रहते लड़की विवाही जाय अर्थात् उसका कौमार्य भंग न हो। विवाह के पूर्व कुमारी को शिशु उत्पन्न नहीं करना चाहिए।

इति तस्यां स आधाय गर्भं सूर्यो दिवं गतः ।
सद्यः कुमारः सञ्जज्ञे द्वितीय इव भास्करः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; तस्याम्—उसमें (पृथा में); सः—उसने (सूर्यदेव ने); आधाय—वीर्य स्थापित करके; गर्भम्—गर्भ; सूर्यः—सूर्यदेव; दिवम्—स्वर्गलोक को; गतः—लौट गये; सद्यः—तुरन्त; कुमारः—बालक; सञ्जज्ञे—उत्पन्न हुआ; द्वितीयः—दूसरा; इव—सदृश; भास्करः—सूर्यदेव।

यह कहकर सूर्यदेव ने पृथा के गर्भ में अपना वीर्य स्थापित किया और वे स्वर्गलोक वापस चले गये। उसके तुरन्त बाद कुन्ती ने एक पुत्र को जन्म दिया जो दूसरे सूर्य की तरह था।

तं सात्यजन्नदीतोये कृच्छ्राल्लोकस्य बिभ्यती ।
प्रपितामहस्तामुवाह पाण्डुर्वै सत्यविक्रमः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस बालक को; सा—उसने (कुन्ती ने); अत्यजत्—छोड़ दिया; नदी-तोये—नदी के जल में; कृच्छ्रात्—पश्चाताप सहित; लोकस्य—लोगों के; बिभ्यती—डरते हुए; प्रपितामहः—(तुम्हारे) परबाबा; ताम्—उसको (कुन्ती को); उवाह—विवाह किया; पाण्डुः—पाण्डु ने; वै—निस्सन्देह; सत्य-विक्रमः—अत्यन्त पवित्र तथा पराक्रमी।

चूँकि कुन्ती लोगों की आलोचनाओं से भयभीत थी अतएव उसे बड़ी कठिनाई से पुत्र-स्नेह छोड़ना पड़ा। अनचाहे उसने बालक को एक मंजूषा (टोकरी) में बन्द करके नदी के जल में प्रवाहित कर दिया। हे महाराज परीक्षित, बाद में पवित्र तथा पराक्रमी तुम्हारे बाबा पाण्डु ने कुन्ती से विवाह कर लिया।

श्रुतदेवां तु कारूषो वृद्धशर्मा समग्रहीत् ।
यस्यामभूद्दन्तवक्र ऋषिशप्तो दितेः सुतः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

श्रुतदेवाम्—कुन्ती की बहन श्रुतदेवा को; तु—लेकिन; कारूषः—करूष का राजा; वृद्धशर्मा—वृद्धशर्मा ने; समग्रहीत्—विवाह लिया; यस्याम्—जिससे; अभूत्—उत्पन्न हुआ; दन्तवक्रः—दन्तवक्र; ऋषि-शप्तः—सनक तथा सनातन ऋषियों द्वारा शाप प्राप्त; दितेः—दिति का; सुतः—पुत्र।

करूष के राजा वृद्धशर्मा ने कुन्ती की बहन श्रुतदेवा के साथ विवाह किया और उसके गर्भ से दन्तवक्र उत्पन्न हुआ। सनकादि मुनियों से शापित होने के कारण दन्तवक्र पूर्वजन्म में दिति के पुत्र हिरण्याक्ष के रूप में उत्पन्न हुआ था।

कैकेयो धृष्टकेतुश्च श्रुतकीर्तिमविन्दत ।
सन्तर्दनादयस्तस्यां पञ्चासन्कैकयाः सुताः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

कैकेयः—केकय देश का राजा; धृष्टकेतुः—धृष्टकेतु ने; च—भी; श्रुतकीर्तिम्—कुन्ती की बहन श्रुतकीर्ति को; अविन्दत—ब्याह लिया; सन्तर्दन-आदयः—सन्तर्दन इत्यादि; तस्याम्—उससे (श्रुतकीर्ति से); पञ्च—पाँच; आसन्—हुए; कैकयाः—केकय के राजा के; सुताः—पुत्र।

केकयराज धृष्टकेतु ने कुन्ती की अन्य बहिन श्रुतकीर्ति के साथ विवाह किया। श्रुतकीर्ति के सन्तर्दन इत्यादि पाँच पुत्र उत्पन्न हुए।

राजाधिदेव्यामावन्त्यौ जयसेनोऽजनिष्ट ह ।
दमघोषश्चेदिराजः श्रुतश्रवसमग्रहीत् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

राजाधिदेव्याम्—राजाधिदेवी (कुन्ती की दूसरी बहन) से; आवन्त्यौ—दो पुत्र (विन्द तथा अनुविन्द); जयसेनः—जयसेन; अजनिष्ट—जन्म दिया; ह—भूतकाल में; दमघोषः—दमघोष ने; चेदि-राजः—चेदि राज्य का राजा; श्रुतश्रवसम्—श्रुतश्रवा को; अग्रहीत्—ब्याह लिया।

कुन्ती की अन्य बहन राजाधिदेवी के गर्भ से जयसेन ने विन्द तथा अनुविन्द नामक दो पुत्रों को जन्म दिया। इसी प्रकार चेदि राज्य के राजा दमघोष ने श्रुतश्रवा से विवाह किया।

शिशुपालः सुतस्तस्याः कथितस्तस्य सम्भवः ।
देवभागस्य कंसायां चित्रकेतुबृहद्बलौ ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

शिशुपालः—शिशुपाल; सुतः—पुत्र; तस्याः—श्रुतश्रवा का; कथितः—पहले ही कहा जा चुका है (सातवें स्कन्ध में); तस्य—उसका; सम्भवः—जन्म; देवभागस्य—वसुदेव के भाई देवभाग से; कंसायाम्—उसकी पत्नी कंसा के गर्भ से; चित्रकेतु—चित्रकेतु; बृहद्बलौ—तथा बृहद्बल।

श्रुतश्रवा का पुत्र शिशुपाल था जिसके जन्म का वर्णन पहले ही (*श्रीमद्भागवत* के सातवें स्कन्ध में) किया जा चुका है। वसुदेव के भाई देवभाग की पत्नी कंसा ने दो पुत्रों को जन्म दिया जिनके नाम थे चित्रकेतु तथा बृहद्बल।

कंसवत्यां देवश्रवसः सुवीर इषुमांस्तथा ।
बकः कङ्कात्तु कङ्कायां सत्यजित्पुरुजित्तथा ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

कंसवत्याम्—कंसवती के गर्भ में; देवश्रवसः—वसुदेव के भाई देवश्रवा ने; सुवीरः—सुवीर; इषुमान्—इषुमान; तथा—और; बकः—बक; कङ्कात्—कंक से; तु—निस्सन्देह; कङ्कायाम्—कंका से; सत्यजित्—सत्यजित; पुरुजित्—पुरुजित; तथा—और।

वसुदेव के भाई देवश्रवा ने कंसावती से विवाह किया जिसने सुवीर तथा इषुमान दो पुत्रों को जन्म दिया। कंक को अपनी पत्नी कंका से तीन पुत्र प्राप्त हुए जिनके नाम थे बक, सत्यजित तथा

पुरुजित।

सृञ्जयो राष्ट्रपाल्यां च वृषदुर्मर्षणादिकान् ।
हरिकेशहिरण्याक्षौ शूरभूम्यां च श्यामकः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

सृञ्जयः—सृंजय ने; राष्ट्रपाल्याम्—राष्ट्रपालिका नामक पत्नी से; च—तथा; वृष-दुर्मर्षण-आदिकान्—वृष, दुर्मर्षण इत्यादि को उत्पन्न किया; हरिकेश—हरिकेश; हिरण्याक्षौ—तथा हिरण्याक्ष; शूरभूम्याम्—शूरभूमि के गर्भ से; च—तथा; श्यामकः—राजा श्यामक ने।.

राजा सृञ्जय के उसकी पत्नी राष्ट्रपालिका से वृष, दुर्मर्षण इत्यादि पुत्र हुए। राजा श्यामक के उसकी पत्नी शूरभूमि से दो पुत्र उत्पन्न हुए जिनके नाम थे हरिकेश तथा हिरण्याक्ष।

मिश्रकेश्यामप्सरसि वृकादीन्वत्सकस्तथा ।
तक्षपुष्करशालादीन्दुर्वाक्ष्यां वृक आदधे ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

मिश्रकेश्याम्—मिश्रकेशी के गर्भ से; अप्सरसि—जो अप्सरा थी; वृक-आदीन्—वृक तथा अन्य पुत्र; वत्सकः—वत्सक; तथा—और; तक्ष-पुष्कर-शाल-आदीन्—तक्ष, पुष्कर, शाल इत्यादि पुत्र; दुर्वाक्ष्याम्—दुर्वाक्षी के गर्भ से; वृकः—वृक ने; आदधे—उत्पन्न किया।.

तत्पश्चात् राजा वत्सक की पत्नी मिश्रकेशी नाम की अप्सरा से वृक इत्यादि पुत्र उत्पन्न हुए। वृक की पत्नी दुर्वाक्षी ने तक्षक, पुष्कर, शाल इत्यादि पुत्रों को जन्म दिया।

सुमित्रार्जुनपालादीन्समीकात्तु सुदामनी ।
आनकः कर्णिकायां वै ऋतधामाजयावपि ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

सुमित्र—सुमित्र; अर्जुनपाल—अर्जुनपाल; आदीन्—इत्यादि; समीकात्—समीक राजा से; तु—निस्सन्देह; सुदामनी—सुदामनी के गर्भ से; आनकः—आनक; कर्णिकायाम्—कर्णिका के गर्भ से; वै—निस्सन्देह; ऋतधामा—ऋतधामा; जयौ—तथा जय; अपि—निस्सन्देह।.

समीक की पत्नी सुदामिनी ने अपने गर्भ से सुमित्र, अर्जुनपाल तथा अन्य पुत्रों को जन्म दिया। राजा आनक ने अपनी पत्नी कर्णिका के गर्भ से ऋतधामा तथा जय नामक दो पुत्र उत्पन्न किये।

पौरवी रोहिणी भद्रा मदिरा रोचना इला ।
देवकीप्रमुखाश्चासन्पत्न्य आनकदुन्दुभेः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

पौरवी—पौरवी; रोहिणी—रोहिणी; भद्रा—भद्रा; मदिरा—मदिरा; रोचना—रोचना; इला—इला; देवकी—देवकी; प्रमुखा:—प्रधान; च—तथा; आसन्—थीं; पत्न्य:—पत्नियाँ; आनकदुन्दुभे:—आनकदुन्दुभि अर्थात् वसुदेव की।

देवकी, पौरवी, रोहिणी, भद्रा, मदिरा, रोचना, इला इत्यादि आनकदुन्दुभि (वसुदेव) की पत्नियाँ थीं। इनमें देवकी प्रमुख थी।

बलं गदं सारणं च दुर्मदं विपुलं ध्रुवम् ।
वसुदेवस्तु रोहिण्यां कृतादीनुदपादयत् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

बलम्—बल को; गदम्—गद को; सारणम्—सारण को; च—भी; दुर्मदम्—दुर्मद को; विपुलम्—विपुल को; ध्रुवम्—ध्रुव को; वसुदेव:—वसुदेव (कृष्ण के पिता) ने; तु—निस्सन्देह; रोहिण्याम्—रोहिणी के गर्भ से; कृत-आदीन्—कृत आदि पुत्रों को; उदपादयत्—उत्पन्न किया।

वसुदेव ने अपनी पत्नी रोहिणी के गर्भ से बल, गद, सारण, दुर्मद, विपुल, ध्रुव, कृत तथा अन्य पुत्रों को उत्पन्न किया।

सुभद्रो भद्रबाहुश्च दुर्मदो भद्र एव च ।
पौरव्यास्तनया ह्येते भूताद्या द्वादशाभवन् ॥ ४७ ॥
नन्दोपनन्दकृतकशूराद्या मदिरात्मजा: ।
कौशल्या केशिनं त्वेकमसूत कुलनन्दनम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

सुभद्र:—सुभद्र; भद्रबाहु:—भद्रबाहु; च—तथा; दुर्मद:—दुर्मद; भद्र:—भद्र; एव—निस्सन्देह; च—भी; पौरव्या:—पौरवी नामक पत्नी के; तनया:—पुत्र; हि—निस्सन्देह; एते—ये सभी; भूत-आद्या:—भूत इत्यादि; द्वादश—बारह; अभवन्—उत्पन्न हुए; नन्द-उपनन्द-कृतक-शूर-आद्या:—नन्द, उपनन्द, कृतक, शूर इत्यादि; मदिरा-आत्मजा:—मदिरा के पुत्र; कौशल्या—कौशल्या ने; केशिनम्—केशी नामक पुत्र को; तु एकम्—एकमात्र; असूत—जन्म दिया; कुल-नन्दनम्—पुत्र को।

पौरवी के गर्भ से बारह पुत्र हुए जिनमें भूत, सुभद्र, भद्रबाहु, दुर्मद तथा भद्र के नाम आते हैं। मदिरा के गर्भ से नन्द, उपनन्द, कृतक, शूर इत्यादि पुत्र उत्पन्न हुए। कौशल्या (भद्रा) ने केवल एक पुत्र उत्पन्न किया जिसका नाम था केशी।

रोचनायामतो जाता हस्तहेमाङ्गदादय: ।
इलायामुरुवल्कादीन्यदुमुख्यानजीजनत् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

रोचनायाम्—रोचना नाम की दूसरी पत्नी से; अत:—तत्पश्चात्; जाता:—उत्पन्न हुए; हस्त—हस्त; हेमाङ्गद—हेमांगद; आदय:—इत्यादि; इलायाम्—इला नामक दूसरी पत्नी से; उरुवल्क-आदीन्—उरुवल्क इत्यादि; यदु-मुख्यान्—यदुवंश के मुख्य पुरुषों को; अजीजनत्—जन्म दिया।

वसुदेव ने रोचना नामक पत्नी से हस्त, हेमांगद इत्यादि पुत्रों को उत्पन्न किया और इला नामक पत्नी से उरुवल्क इत्यादि पुत्रों को उत्पन्न किया जो यदुवंश के प्रधान पुरुष थे।

विपृष्ठो धृतदेवायामेक आनकदुन्दुभेः ।
शान्तिदेवात्मजा राजन्प्रशमप्रसितादयः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

विपृष्ठः—विपृष्ठ; धृतदेवायाम्—धृतदेवा नामक पत्नी के गर्भ से; एकः—एक पुत्र; आनकदुन्दुभेः—आनकदुन्दुभि अर्थात् वसुदेव के; शान्तिदेवा-आत्मजाः—दूसरी पत्नी शान्तिदेवा के पुत्र; राजन्—हे राजा परीक्षित; प्रशम-प्रसित-आदयः—प्रशम, प्रसित इत्यादि।

धृतदेवा पत्नी के गर्भ से आनकदुन्दुभि (वसुदेव) को विपृष्ठ नामक पुत्र की प्राप्ति हुई। वसुदेव की दूसरी पत्नी शान्तिदेवा के गर्भ से प्रशम, प्रसित इत्यादि पुत्रों ने जन्म लिया।

राजन्यकल्पवर्षाद्या उपदेवासुता दश ।
वसुहंससुवंशाद्याः श्रीदेवायास्तु षट्सुताः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

राजन्य—राजन्य; कल्प—कल्प; वर्ष-आद्याः—वर्ष इत्यादि; उपदेवा-सुताः—वसुदेव की दूसरी पत्नी उपदेवा के पुत्र; दश—दस; वसु—वसु; हंस—हंस; सुवंश—सुवंश; आद्याः—इत्यादि; श्रीदेवायाः—श्रीदेवा के; तु—लेकिन; षट्—छ; सुताः—पुत्र।

वसुदेव के उपदेवा नामक पत्नी थी जिससे राजन्य, कल्प, वर्ष इत्यादि दस पुत्र उत्पन्न हुए। अन्य पत्नी श्रीदेवा से वसु, हंस, सुवंश इत्यादि छः पुत्र जन्मे।

देवरक्षितया लब्धा नव चात्र गदादयः ।
वसुदेवः सुतानष्टावादधे सहदेवया ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

देवरक्षितया—देवरक्षिता नामक पत्नी से; लब्धाः—प्राप्त किया; नव—नौ; च—भी; अत्र—यहाँ; गदा-आदयः—गदा इत्यादि; वसुदेवः—श्रील वसुदेव ने; सुतान्—पुत्रों को; अष्टौ—आठ; आदधे—उत्पन्न किया; सहदेवया—सहदेवा नामक पत्नी से।

वसुदेव के वीर्य एवं देवरक्षिता के गर्भ से नौ पुत्र उत्पन्न हुए जिनमें गदा प्रमुख था। साक्षात् धर्मस्वरूप वसुदेव की अन्य पत्नी सहदेवा के गर्भ से श्रुत, प्रवर इत्यादि आठ पुत्र उत्पन्न हुए।

प्रवरश्रुतमुख्यांश्च साक्षाद्धर्मो वसूनिव ।
वसुदेवस्तु देवक्यामष्ट पुत्रानजीजनत् ॥ ५३ ॥
कीर्तिमन्तं सुषेणं च भद्रसेनमुदारधीः ।

ऋजुं सम्मर्दनं भद्रं सङ्कर्षणमहीश्वरम् ॥ ५४॥
अष्टमस्तु तयोरासीत्स्वयमेव हरिः किल ।
सुभद्रा च महाभागा तव राजन्पितामही ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

प्रवर—प्रवर या पौवर; श्रुत—श्रुत; मुख्यान्—प्रमुख, इत्यादि; च—तथा; साक्षात्—साक्षात्; धर्मः—धर्म रूप; वसून् इव—स्वर्ग लोक के प्रमुख वसुओं की तरह; वसुदेवः—कृष्ण के पिता वसुदेव ने; तु—निस्सन्देह; देवक्याम्—देवकी के गर्भ से; अष्ट—आठ; पुत्रान्—पुत्रों को; अजीजनत्—उत्पन्न किया; कीर्तिमन्तम्—कीर्तिमान को; सुषेणम् च—तथा सुषेण को; भद्रसेनम्—भद्रसेन को; उदार-धीः—सभी योग्य; ऋजुम्—ऋजु को; सम्मर्दनम्—सम्मर्दन को; भद्रम्—भद्र को; सङ्कर्षणम्—संकर्षण को; अहि-ईश्वरम्—परम नियन्ता एवं नाग के अवतार; अष्टमः—आठवाँ; तु—लेकिन; तयोः—दोनों के (देवकी तथा वसुदेव के); आसीत्—प्रकट हुए; स्वयम् एव—साक्षात्; हरिः—भगवान्; किल—क्या कहा जाय; सुभद्रा—सुभद्रा बहिन; च—तथा; महाभागा—सौभाग्यशालिनी; तव—तुम्हारी; राजन्—हे महाराज परीक्षित; पितामही—दादी।

सहदेवा से उत्पन्न प्रवर और श्रुत इत्यादि आठों पुत्र स्वर्ग के आठों वसुओं के हूबहू अवतार थे। वसुदेव ने देवकी के गर्भ से भी आठ योग्य पुत्र उत्पन्न किये। इनमें कीर्तिमान, सुषेण, भद्रसेन, ऋजु, सम्मर्दन, भद्र तथा शेषावतार संकर्षण सम्मिलित हैं। आठवें पुत्र साक्षात् भगवान् कृष्ण थे। परम सौभाग्यवती सुभद्रा एकमात्र कन्या तुम्हारी दादी थी।

तात्पर्य : ५५ वें श्लोक में कहा गया है—*स्वयमेव हरिः किल,* जिससे सूचित होता है कि देवकी का आठवाँ पुत्र कृष्ण भगवान् हैं। कृष्ण अवतार नहीं हैं। यद्यपि भगवान् हरि एवं उनके अवतार में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु कृष्ण आदि परम पुरुष हैं, वे पूर्ण ईश्वर हैं। अवतारों में ईश्वर की कुछ ही प्रतिशत शक्तियाँ पाई जाती हैं, किन्तु कृष्ण तो स्वयं पूर्ण ईश्वर हैं जो देवकी के आठवें पुत्र के रूप में प्रकट हुए।

यदा यदा हि धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः ।
तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरिः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; यदा—जब; हि—निस्सन्देह; धर्मस्य—धर्म की; क्षयः—हानि; वृद्धिः—बढ़ोतरी; च—तथा; पाप्मनः—पापकृत्यों की; तदा—तब; तु—निस्सन्देह; भगवान्—भगवान्; ईशः—परम नियन्ता; आत्मानम्—साक्षात्, स्वयं; सृजते—अवतरित होते हैं; हरिः—भगवान् हरि।

जब जब धर्म की हानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है तब तब परम नियन्ता भगवान् श्री हरि स्वेच्छा से प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : जिन नियमों से भगवान् इस धरा पर अवतरित होते हैं उनकी व्याख्या इस श्लोक में हुई है। इन्हीं नियमों की व्याख्या स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (४.७) में भी की है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

"हे भारत! जब जब और जहाँ जहाँ धर्म का ह्रास होता है और अधर्म का प्राधान्य होता है तब तब मैं अवतार ग्रहण करता हूँ।"

वर्तमान युग में श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में हरे कृष्ण आन्दोलन का सूत्रपात करने के लिए भगवान् प्रकट हुए हैं। वर्तमान समय में, कलियुग में लोग अत्यन्त पापी तथा मन्द-बुद्धि हैं। उन्हें आध्यात्मिक जीवन का कोई ज्ञान नहीं है और वे मानव रूप के लाभों का दुरुपयोग कुत्तों-बिल्लियों की तरह जीवन बिताने में कर रहे हैं। ऐसी परिस्थितियों में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने हरे कृष्ण आन्दोलन का सूत्रपात किया जो कृष्ण से अभिन्न है। यदि कोई इस आन्दोलन से सम्बन्ध जोड़ता है तो वह भगवान् के सान्निध्य में आता है। लोगों को हरे कृष्ण मंत्र कीर्तन का लाभ उठाना चाहिए और इस कलियुग में उत्पन्न सारी समस्याओं से छुटकारा पाना चाहिए।

न ह्यस्य जन्मनो हेतुः कर्मणो वा महीपते ।
आत्ममायां विनेशस्य परस्य द्रष्टुरात्मनः ॥५७॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अस्य—उनका (भगवान् का); जन्मनः—जन्म लेना; हेतुः—कोई कारण है; कर्मणः—या कर्म करने का; वा—अथवा; महीपते—हे राजा (परीक्षित); आत्म-मायाम्—पतितात्माओं के लिए उनका परम अनुग्रह; विना—बिना, रहित; ईशस्य—परम नियन्ता का; परस्य—भगवान् का, जो भौतिक संसार से परे है; द्रष्टुः—परमात्मा का, जो हर एक के कर्मों के साक्षी हैं; आत्मनः—हर एक के परमात्मा का।

हे महाराज परीक्षित, भगवान् के प्राकट्य, तिरोधान या कर्मों का एकमात्र कारण उनकी निजी इच्छा है, कोई अन्य कारण नहीं है। परमात्मा रूप में वे सर्वज्ञ हैं फलस्वरूप ऐसा कोई कारण नहीं जो उन्हें प्रभावित करता हो, यहाँ तक कि सकाम कर्मों के फल भी नहीं।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् तथा एक सामान्य जीव का अन्तर बताया गया है। सामान्य जीव को अपने विगत कर्मों के अनुसार विशेष प्रकार का शरीर प्राप्त होता है (*कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये*)। जीव कभी भी स्वतंत्र नहीं होता और स्वतंत्र रूप से कभी भी प्रकट नहीं हो सकता। प्रत्युत उसे अपने पूर्वकर्मों के अनुसार माया द्वारा उस पर थोपे गये शरीर को स्वीकार करना होता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (१८.६१) में कहा गया है—*यन्त्रारूढानि मायया।* यह शरीर एक प्रकार का यंत्र है जिसे माया ने भगवान् के

निर्देशन में जीव को प्रदान किया है। अतएव जीव को अपने कर्म के अनुसार माया द्वारा प्रदत्त शरीर को स्वीकार करना पड़ता है। कोई स्वतंत्र रूप से यह नहीं कह सकता कि मुझे इस तरह का या उस तरह का शरीर दिया जाय। माया जो भी शरीर प्रदान करती है मनुष्य को वही स्वीकार करना पड़ता है। ऐसी है सामान्य जीव की स्थिति।

किन्तु जब कृष्ण अवतरित होते हैं तो वे पतितात्माओं पर अनुग्रहवश ऐसा करते हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* (४.८) में भगवान् कहते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

"मैं साधुओं का उद्धार करने तथा दुष्टों का विनाश करने और धर्म की फिर से स्थापना करने के लिए युग युग में अवतार लेता हूँ।" भगवान् को प्रकट होने के लिए बाध्य नहीं किया जाता। निस्सन्देह, उन्हें कोई बाध्य नहीं कर सकता क्योंकि वे भगवान् हैं। हर व्यक्ति उनके अधीन है, किन्तु वे किसी अन्य के अधीन नहीं हैं। जो मूर्ख लोग अज्ञान के कारण सोचते हैं कि वे कृष्ण के समकक्ष हैं या कृष्ण बन सकते हैं उनकी हर तरह से निन्दा की जाती है। कोई न तो कृष्ण के तुल्य है, न उनसे बढ़कर; इसीलिए उन्हें *असमौर्ध्व* कहा गया है। विश्वकोश के अनुसार माया शब्द का प्रयोग मिथ्या अहंकार के रूप में किया जाता है और दया के रूप में भी। सामान्य जीव जिस शरीर में प्रकट होता है वह उसके लिए एक प्रकार से दण्ड है। जैसा कि भगवान् *भगवद्गीता* (७.१४) में कहते हैं—*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया*—मेरी इस दैवी शक्ति को, जो तीन भौतिक गुणों से बनी है, पार कर पाना दुष्कर है। लेकिन जब श्रीकृष्ण अवतरित होते हैं तो माया का अर्थ होता है भक्तों तथा पतितात्माओं पर कृष्ण की कृपा या अनुग्रह। भगवान् अपनी शक्ति से हर एक का भी उद्धार कर सकते हैं चाहे वह पापी हो या पुण्यात्मा।

यन्मायाचेष्टितं पुंसः स्थित्युत्पत्त्यप्ययाय हि ।
अनुग्रहस्तन्निवृत्तेरात्मलाभाय चेष्यते ॥५८॥

शब्दार्थ

यत्—जो भी; माया-चेष्टितम्—भगवान् द्वारा बनाये गये प्रकृति के नियम; पुंसः—जीवों की; स्थिति—जीवन अवधि; उत्पत्ति—जन्म; अप्यय—संहार के लिए; हि—निस्सन्देह; अनुग्रहः—कृपा; तत्-निवृत्तेः—जन्म-मृत्यु के चक्र को रोकने के लिए विराट शक्ति की सृष्टि तथा प्राकट्य; आत्म-लाभाय—भगवद्धाम जाने के लिए; च—निस्सन्देह; इष्यते—इसी उद्देश्य से सृष्टि हुई है।

भगवान् अपनी माया के माध्यम से इस विराट जगत के सृजन, पालन तथा संहार का कार्य करते हैं जिससे वे अपनी दया से जीव का उद्धार कर सकें और जीव के जन्म, मृत्यु तथा भौतिक जीवन की अवधि को रोक सकें। इस तरह वे जीव को भगवद्धाम लौटने में सक्षम बनाते हैं।

तात्पर्य : भौतिकतावादी लोग कभी-कभी पूछते हैं कि ईश्वर ने जीवों के कष्ट के लिए भौतिक जगत की सृष्टि क्यों की? भौतिक सृष्टि निश्चय ही उन बद्धजीवों को कष्ट पहुँचाने के लिए है जो भगवान् के अंश स्वरूप हैं जैसा कि भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* (१५.७) में पुष्टि की है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:।

मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

"इस बद्ध जगत में जीव मेरे नित्य अंश हैं। बद्ध जीवन के कारण वे मन समेत छहों इन्द्रियों से कठिन संघर्ष कर रहे हैं।" सारे जीव भगवान् के अंश रूप हैं और गुणात्मक रूप से भगवान् के ही समान हैं, किन्तु मात्रात्मक रूप से उनमें महान् अन्तर है क्योंकि भगवान् असीम हैं और जीव सीमित है। इस प्रकार भगवान् में असीम ह्लादिनी शक्ति होती है, किन्तु जीव में यह सीमित होती है। *आनन्दमयोऽभ्यासात्* (*वेदान्त सूत्र* १.१.१२)। भगवान् तथा जीव दोनों ही गुणात्मक दृष्टि से आत्मा होने के कारण शान्तिपूर्ण भोग करना चाहते हैं, किन्तु जब भगवान् का अंश दुर्भाग्यवश स्वतंत्र रूप से कृष्ण के बिना भोग करना चाहता है तो उसे भौतिक जगत में डाल दिया जाता है जहाँ वह अपना जीवन ब्रह्मा से प्रारम्भ करके धीरे-धीरे एक चींटी या मल के कीट के पद तक उतार दिया जाता है। यही *मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति* है। जीवन के लिए महान् संघर्ष चलता है क्योंकि माया द्वारा बद्ध किया गया जीव पूरी तरह प्रकृति के वश में रहता है (*प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वश:*)। मनुष्य अपने सीमित ज्ञान के कारण सोचता है कि वह इस भौतिक जगत में भोग कर रहा है। *मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।* वास्तव में वह प्रकृति के पूर्ण वशीभूत रहता है; फिर भी वह अपने को स्वतंत्र मानता है (*अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते*)। जब वह चिन्तनपरक ज्ञान के द्वारा ऊपर उठकर ब्रह्म से तदाकार होना चाहता है तो भी यही रोग चलता रहता है। *आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं तत: पतन्त्यध:* (*भागवत* १०.२.३२)। उस *परं पदम्* को प्राप्त करके तथा निर्विशेष ब्रह्म में तल्लीन होकर भी वह पुन: भौतिक जगत में आ गिरता है।

इस तरह बद्धजीव इस जीवन के लिए इस जगत में महान् संघर्ष करता है; अतएव भगवान् उस पर अनुग्रह के कारण इस जगत में प्रकट होते हैं और उसे शिक्षा देते हैं। इस प्रकार भगवान् *भगवद्गीता* (४.७) में कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

"हे भारत! जब-जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म का प्राधान्य होता है तब-तब मैं स्वयं अवतरित होता हूँ।" असली धर्म कृष्ण की शरण ग्रहण करना है लेकिन विद्रोही जीव, कृष्ण की शरण न ग्रहण करके, कृष्ण जैसा बनने के लिए संघर्ष के दौरान अधर्म में लग जाता है। अतएव कृष्ण अनुग्रहवश जीव को अपनी असली स्थिति समझने के लिए अवसर प्रदान करने हेतु इस सृष्टि की रचना करते हैं। *भगवद्गीता* तथा ऐसे ही वैदिक ग्रंथ इसीलिए भेंट किये जाते हैं कि जीव कृष्ण से अपने सम्बन्ध को समझ सके। *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः* (*भगवद्गीता* १५.१५)। ये सारे वैदिक ग्रंथ मनुष्य को यह समझाने के लिए हैं कि वह क्या है, उसकी असली स्थिति क्या है और भगवान् से उसका क्या सम्बन्ध है। यही *ब्रह्मजिज्ञासा* है। हर बद्ध आत्मा संघर्षरत है, किन्तु मानव जीवन उसे सबसे अच्छा अवसर प्रदान करता है कि वह अपनी स्थिति को समझे। इसीलिए इस श्लोक में *अनुग्रहस्तन्निवृत्तेः* कहा गया है जो सूचित करता है कि जन्म-मृत्यु के चक्र के मिथ्या जीवन को समाप्त हो जाना चाहिए और बद्ध आत्मा को शिक्षा दी जानी चाहिए। सृष्टि का यही प्रयोजन है।

जैसा कि नास्तिक सोचते हैं यह सृष्टि मनमाने ढंग से नहीं उत्पन्न हुई—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।

अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्॥

"उनका कहना है कि यह जगत असत्य है, इसका कोई आधार नहीं है तथा इसका नियंत्रण करने वाला कोई ईश्वर नहीं है। यह तो कामेच्छा से उत्पन्न होता है और कामवासना के अतिरिक्त इसका कोई अन्य कारण नहीं है।" (*भगवद्गीता* १६.८)। नास्तिक धूर्त सोचते हैं कि ईश्वर नहीं है और यह सृष्टि वैसे ही (संयोगवश) बन गई है जिस तरह स्त्री तथा पुरुष का मिलन संयोग की बात होती है और तब स्त्री गर्भवती

हो जाती है और शिशु को जन्म देती है। लेकिन वास्तव में यह तथ्य नहीं है। तथ्य तो यह है कि इस सृष्टि के पीछे एक प्रयोजन है—वह है बद्धजीव को उसकी मूल चेतना, कृष्णभावनामृत, तक लौटने का अवसर प्रदान करना जिससे वह भगवद्धाम वापस जाकर आध्यात्मिक जगत में पूर्णतया सुखी रह सके। इस जगत में बद्धजीव को अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करने का अवसर प्रदान किया जाता है, किन्तु साथ ही उसे वैदिक ज्ञान द्वारा सावधान किया जाता है कि यह भौतिक संसार उसके सुख का असली स्थान नहीं है। *जन्ममृत्युजराव्याधिदु:खदोषानुदर्शनम्* (*भगवद्गीता* १३.९)। मनुष्य को जन्म-मृत्यु के चक्र को बन्द करना होगा। अतएव हर मनुष्य को चाहिए कि इस सृष्टि में आकर कृष्ण को तथा कृष्ण से अपने सम्बन्ध को समझे और इस तरह भगवद्धाम को वापस जाए।

अक्षौहिणीनां पतिभिरसुरैर्नृपलाञ्छनै: ।
भुव आक्रम्यमाणाया अभाराय कृतोद्यम: ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

अक्षौहिणीनाम्—महान् सैन्य शक्ति से युक्त राजाओं की; पतिभि:—ऐसे राजाओं या सरकार के द्वारा; असुरै:—असुर (उन्हें ऐसी सैन्य शक्ति की आवश्यकता नहीं रहती फिर भी वे व्यर्थ में ही सेना रखते हैं); नृप-लाञ्छनै:—जो राजा बनने योग्य नहीं हैं (यद्यपि उन्होंने किसी तरह सरकार हथिया रखी है); भुव:—पृथ्वी पर; आक्रम्यमाणाया:—एक दूसरे पर आक्रमण करने का लक्ष्य बनाकर; अभाराय—पृथ्वी से असुरों की संख्या कम करने का मार्ग प्रशस्त करते हुए; कृत-उद्यम:—उत्साही (वे सैन्य शक्ति बढ़ाने में ही सारी पूँजी व्यय कर देते हैं)।

यद्यपि सरकार हथियाने वाले असुरगण सरकारी व्यक्तियों का वेश बनाये रहते हैं, किन्तु उन्हें सरकार के कर्तव्यों का ज्ञान नहीं होता। फलस्वरूप ईश्वर की व्यवस्था से ऐसे महान् सैन्य शक्तिसम्पन्न असुर एक दूसरे से लड़ते-भिड़ते हैं और इस तरह पृथ्वी की सतह से असुरों का महान् भार घटता है। ये असुर भगवान् की इच्छा से अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाते हैं जिससे उनकी संख्या घट जाए और भक्तों को कृष्णभावनामृत में प्रगति करने का अवसर प्राप्त हो।

तात्पर्य : जैसा कि *भगवद्गीता* (४.८) में कहा गया है *परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*। साधुजन अर्थात् भगवान् के भक्त कृष्णभावनामृत को अग्रसर करने के लिए सदैव इच्छुक रहते हैं जिससे बद्धजीव जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो सके। किन्तु असुरगण कृष्णभावनामृत आन्दोलन में बाधक बनते हैं; अतएव कृष्ण ऐसे विभिन्न असुरों को समय-समय पर परस्पर लड़ाते रहते हैं जो अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाने में अत्यधिक रुचि रखते हैं। सरकार अथवा राजा का कर्तव्य, बिना आवश्यकता के, सैन्य शक्ति

बढ़ाना नहीं है। उनका असली कर्तव्य तो यह देखना है कि प्रजा कृष्णभावनामृत में अग्रसर हो। इसीलिए कृष्ण *भगवद्गीता* (४.१३) में कहते हैं— *चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः*—प्रकृति के तीन गुणों तथा निर्दिष्ट कार्य के अनुसार मैंने मानव समाज के चार विभाग किये हैं। मनुष्यों का एक आदर्श वर्ग होना चाहिए जो प्रामाणिक ब्राह्मण हों और उन्हें सभी तरह का संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए। *नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मण-हिताय च।* कृष्ण को ब्राह्मण तथा गौवें अत्यन्त प्रिय हैं। ब्राह्मण कृष्णभावनामृत को अग्रसर कराने वाले हैं और गौवें शरीर को सतोगुणी बनाये रखने के लिए पर्याप्त दूध देती हैं। क्षत्रियों को तथा सरकार को ब्राह्मणों के द्वारा ही सलाह दी जानी चाहिए। वैश्यों को पर्याप्त अन्न उत्पन्न करना चाहिए और शूद्रों को, जो अपने आप कोई लाभप्रद कार्य नहीं कर सकते, चाहिए कि वे तीनों उच्च वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) की सेवा करें। यह भगवान् की व्यवस्था है जिससे बद्धजीव भौतिक जगत से छूटकर भगवद्धाम वापस जा सकें। कृष्ण द्वारा पृथ्वी पर अवतार लेने का यही प्रयोजन है (*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*)।

हर व्यक्ति को चाहिए कि कृष्ण के कार्यकलापों को समझे (*जन्म कर्म च मे दिव्यम्*)। यदि वह इस पृथ्वी पर कृष्ण के आगमन और उनके कार्यकलापों के उद्देश्य को समझ लेता है तो वह तुरन्त मुक्त हो जाता है। यह मुक्ति ही सृष्टि-निर्माण और कृष्ण द्वारा इस पृथ्वी पर अवतार ग्रहण करने का प्रयोजन है। असुरगण ऐसी योजना बनाने में सदैव रुचि दिखलाते हैं जिसमें लोगों को कुत्तों, बिल्लियों तथा शूकरों की तरह कठिन श्रम करना पड़े, किन्तु कृष्ण के भक्तगण तो लोगों को कृष्णभावनामृत सिखलाना चाहते हैं जिससे वे सरल जीवन से एवं कृष्णभावनाभावित प्रगति से तुष्ट रहें। यद्यपि असुरों ने उद्योग तथा कठोर श्रम के लिए अनेक योजनाओं की सृष्टि की है, जिससे लोग दिन-रात पशुओं की तरह काम करें, किन्तु सभ्यता का उद्देश्य यह नहीं है। ऐसे प्रयास तो *जगतोऽहितः* अर्थात् जनता के दुर्भाग्य के निमित्त हैं। *क्षयाय*—ऐसे कार्यों से विनाश होता है। जो भगवान् कृष्ण के प्रयोजन को समझता है उसे चाहिए कि कृष्णभावनामृत आन्दोलन की महत्ता को अच्छी तरह समझे और उसमें गम्भीरता से सम्मिलित हो। मनुष्य को उग्रकर्म अर्थात् इन्द्रियतृप्ति के लिए अनावश्यक कार्य करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। *नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति* (*भागवत* ५.५.४)। लोग केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए भौतिक सुख की योजना

बनाते हैं। *मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान्* (*भागवत* ७.९.४३) । वे ऐसा इसलिए करते हैं क्योंकि वे सभी *विमूढ* हैं। लोग क्षणिक सुख के लिए अपनी मानव शक्ति का अपव्यय करते हैं और कृष्णभावनामृत आन्दोलन की महत्ता को न समझ कर सीधे-सादे भक्तों पर दोषारोपण करते हैं कि वे 'मस्तिष्क धुलाई' कर रहे हैं। असुरगण कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रचारकों पर झूठा आरोप लगा सकते हैं लेकिन कृष्ण असुरों को इस तरह लड़ाएँगे कि उनकी सारी सैन्य शक्ति उधर ही लग जाएगी और दोनों पक्ष के असुरों का संहार हो जाएगा।

कर्माण्यपरिमेयाणि मनसापि सुरेश्वरैः ।
सहसङ्कर्षणश्चक्रे भगवान्मधुसूदनः ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

कर्माणि—कार्यकलाप; अपरिमेयाणि—असीम; मनसा अपि—यहाँ तक कि मन के भीतर सोची गई योजनाओं से भी; सुर-ईश्वरैः—ब्रह्मा तथा शिव जैसे ब्रह्माण्ड के नियन्ताओं द्वारा; सह-सङ्कर्षणः—संकर्षण (बलदेव) समेत; चक्रे—सम्पन्न किया; भगवान्—भगवान्; मधु-सूदनः—मधु नामक असुर को मारने वाले ने।

भगवान् कृष्ण ने संकर्षण बलराम के सहयोग से ऐसे कार्यकलाप कर दिखलाये जो ब्रह्माजी तथा शिवजी जैसे पुरुषों की भी समझ के परे हैं (उदाहरणार्थ कृष्ण ने सारे संसार को राक्षसों से छुटकारा दिलाने के लिए असुरों का वध करने के लिए कुरुक्षेत्र युद्ध की आयोजना की)।

कलौ जनिष्यमाणानां दुःखशोकतमोनुदम् ।
अनुग्रहाय भक्तानां सुपुण्यं व्यतनोद्यशः ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

कलौ—कलियुग में; जनिष्यमाणानाम्—ऐसे बद्धजीवों का जो भविष्य में जन्म लेंगे; दुःख-शोक-तमः-नुदम्—उनके असीम दुख तथा शोक को कम करने के लिए जो अज्ञान के कारण उत्पन्न हैं; अनुग्रहाय—दया दिखाने के लिए; भक्तानाम्—भक्तों के प्रति; सु-पुण्यम्—अत्यन्त पवित्र दिव्य कार्यकलाप; व्यतनोत्—विस्तार किया; यशः—महिमा या ख्याति।

भगवान् ने इस कलियुग में भविष्य में जन्म लेने वाले भक्तों पर अहैतुकी कृपा दर्शाने के लिए इस तरह से कार्य किया कि मात्र उनका स्मरण करने से मनुष्य संसार के सारे शोक-संताप से मुक्त हो जायेगा। (दूसरे शब्दों में, उन्होंने इस तरह कार्य किया जिससे सारे भावी भक्तजन भगवद्गीता में कथित कृष्णभावनामृत के उपदेशों को ग्रहण करके संसार के कष्टों से छुटकारा पा सकें)।

तात्पर्य : भक्तों की रक्षा एवं असुरों का वध—भगवान् के दोनों ही कार्य साथ-साथ चलते हैं

(*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*)। कृष्ण वस्तुत: साधुओं या भक्तों के उद्धार करने के लिए प्रकट होते हैं, किन्तु असुरों को मारकर वे उन पर दया भी दिखाते हैं क्योंकि जो भी भगवान् के हाथों से मरता है उसको मुक्ति मिलती है। अतएव भगवान् चाहे मारें या रक्षा करें, वे असुर तथा भक्त दोनों पर ही दयालु होते हैं।

यस्मिन्सत्कर्णपीयुषे यशस्तीर्थवरे सकृत् ।
श्रोत्राञ्जलिरुपस्पृश्य धुनुते कर्मवासनाम् ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—धरा पर कृष्ण के दिव्य कार्यकलापों के इतिहास में; **सत्-कर्ण-पीयुषे**—जो दिव्य एवं शुद्ध कानों की आवश्यकताओं को पूरा करता है; **यश:-तीर्थ-वरे**—भगवान् के दिव्य कार्यकलापों का श्रवण करके पवित्र स्थानों में रखते हुए; **सकृत्**—एक बार ही, तुरन्त; **श्रोत्र-अञ्जलि:**—दिव्य संदेश का श्रवण करते हुए; **उपस्पृश्य**—स्पर्श करके (जिस तरह गंगाजल को); **धुनुते**—नष्ट कर देता है; **कर्म-वासनाम्**—सकाम कर्मों के लिए प्रबल इच्छा को।.

शुद्ध हुए दिव्य कानों से भगवान् के यश को ग्रहण करने मात्र से भक्तगण प्रबल भौतिक इच्छाओं एवं सकाम कर्मों की व्यस्तता से तुरन्त ही मुक्त हो जाते हैं।

तात्पर्य : जब भक्तगण *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* में वर्णित भगवान् के कार्यकलापों का श्रवण करते हैं तो उन्हें तुरन्त ही दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है जिसके पश्चात् वे भौतिकतावादी कार्यकलापों में तनिक भी रुचि नहीं रखते। इस तरह उन्हें भौतिक जगत से मुक्ति मिल जाती है। लगभग हर व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति के लिए भौतिकतावादी कार्यकलापों में लगा रहता है जिससे *जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि* की प्रक्रिया बढ़ती जाती है, किन्तु भक्त मात्र *भगवद्गीता* का सन्देश सुनकर तथा *श्रीमद्भागवत* की कथाओं का स्वाद लेकर इतना शुद्ध बन जाता है कि उसे भौतिकतावादी कार्यकलापों के प्रति कोई रुचि नहीं रहती। इस समय पश्चिमी देशों में भक्तगण कृष्णभावनामृत द्वारा आकृष्ट हो रहे हैं और भौतिकतावादी कार्यकलापों से विकृष्ट हो रहे हैं; इसीलिए लोग इस आन्दोलन का विरोध करने का प्रयत्न कर रहे हैं। किन्तु यूरोप तथा अमरीका में भक्तों के कार्यकलापों पर कृत्रिम रोक लगाकर वे इस आन्दोलन को रोक नहीं सकते। यहाँ पर *श्रोताञ्जलिरुपस्पृश्य* शब्द बताते हैं कि भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के श्रवण मात्र से भक्तगण इतने शुद्ध हो जाते हैं कि उन्हें सांसारिक सकाम कार्यकलापों का दूषण व्यापता नहीं। *अन्याभिलाषिताशून्यम्।* आत्मा के लिए भौतिकतावादी कार्यकलाप व्यर्थ हैं; अतएव भक्तगण ऐसे कार्यों से मुक्त हो जाते हैं। भक्तगण मुक्ति

में स्थित रहते हैं (*ब्रह्मभूयाय कल्पते*) अतएव उन्हें उनके भौतिक घरों तथा कार्यों में फिर से वापस नहीं बुलाया जा सकता।

भोजवृष्ण्यन्धकमधुशूरसेनदशार्हकैः ।
श्लाघनीयेहितः शश्वत्कुरुसृञ्जयपाण्डुभिः ॥ ६३॥
स्निग्धस्मितेक्षितोदारैर्वाक्यैर्विक्रमलीलया ।
नृलोकं रमयामास मूर्त्या सर्वाङ्गरम्यया ॥ ६४॥

शब्दार्थ

भोज—भोज; वृष्णि—तथा वृष्णि वंश द्वारा; अन्धक—तथा अन्धकों द्वारा; मधु—तथा मधुवंशियों द्वारा; शूरसेन—तथा शूरसेनों द्वारा; दशार्हकैः—तथा दशार्हकों द्वारा; श्लाघनीय—प्रशंसनीय; ईहितः—प्रयास करते हुए; शश्वत्—सदैव; कुरु-सृञ्जय-पाण्डुभिः—पांडवों, कौरवों तथा सृञ्जयों की सहायता से; स्निग्ध—स्नेहिल; स्मित—हँसी; ईक्षित—माने जाने वाले; उदारैः—उदार; वाक्यैः—वचनों द्वारा; विक्रम-लीलया—वीरतापूर्ण लीलाऐं; नृ-लोकम्—मानव समाज को; रमयाम् आस—प्रसन्न किया; मूर्त्या—अपने साकार रूप से; सर्व-अङ्ग-रम्यया—ऐसा स्वरूप जो अपने सारे शारीरिक अंगों से हर एक को प्रमुदित करता है।.

भगवान् कृष्ण ने भोज, वृष्णि, अन्धक, मधु, शूरसेन, दशार्ह, कुरु, सृञ्जय तथा पाण्डु के वंशजों की सहायता से विविध कार्यकलाप सम्पन्न किये। अपनी मोहक मुस्कान, अपने स्नेहिल आचरण, अपने उपदेशों और गोवर्धन पर्वत धारण करने जैसी अलौकिक लीलाओं के द्वारा भगवान् ने अपने दिव्य शरीर में प्रकट होकर सारे मानव समाज को प्रमुदित किया।

तात्पर्य : *नृलोकं रमयामास मूर्त्या सर्वाङ्गरम्यया* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। कृष्ण आदि रूप हैं अतएव भगवान् को यहाँ पर *मूर्त्या* शब्द से बतलाया गया है। मूर्ति का अर्थ है 'रूप'। कृष्ण या ईश्वर कभी निराकार नहीं होते। निराकार स्वरूप तो उनके दिव्य शरीर की अभिव्यक्ति है (*यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्ड कोटि*)। भगवान् नराकृति हैं—मनुष्य के स्वरूप से ठीक मिलते-जुलते, किन्तु उनका स्वरूप हमसे भिन्न होता है। अतएव *सर्वांगरम्यया* शब्द बतलाते हैं कि उनके शरीर का अंग-प्रत्यंग देखने में सभी को मनोहर लगता है। उनके हँसते हुए मुख के अतिरिक्त उनके शरीर का हर अंग—उनके हाथ, उनके पाँव, उनकी छाती—भक्तों को मनोहर लगने वाले हैं जो भगवान् के सुन्दर रूप को देखते हुए कभी भी टकटकी नहीं लगा सकते।

यस्याननं मकरकुण्डलचारुकर्ण-
भ्राजत्कपोलसुभगं सविलासहासम् ।
नित्योत्सवं न ततृपुर्दृशिभिः पिबन्त्यो
नार्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेश्च ॥ ६५॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; आननम्—मुखमंडल; मकर-कुण्डल-चारु-कर्ण—मगर जैसे कुण्डलों से आभूषित तथा सुन्दर कानों से; भ्राजत्—चमचमाते हुए; कपोल—मस्तक; सुभगम्—सारे ऐश्वर्य की घोषणा करने वाले; स-विलास-हासम्—भोग की हँसी से युक्त; नित्य-उत्सवम्—जब भी कोई उन्हें देखता है उत्सव जैसा अनुभव होता है; न ततृपुः—सन्तुष्ट नहीं हुआ; दृशिभिः—भगवान् के स्वरूप को देखकर; पिबन्त्यः—आँखों से मानो पी रही हों; नार्यः—वृन्दावन की सारी स्त्रियाँ; नराः—सारे पुरुष भक्त; च—भी; मुदिताः—पूर्णतया सन्तुष्ट; कुपिताः—क्रुद्ध; निमेः—आँखे झपकने के कारण होनेवाले व्यवधान से; च—भी।

कृष्ण का मुखमण्डल मकराकृति के कुण्डलों से सुसज्जित है। उनके कान सुन्दर हैं, उनके गाल चमकीले हैं और उनकी हँसी हर एक को आकृष्ट करने वाली है। जो भी कृष्ण का दर्शन करता है मानो उत्सव देख रहा हो। उनका मुख तथा शरीर देखने में हर एक को पूर्णतया तुष्ट करनेवाले हैं लेकिन भक्तगण स्त्रष्टा से क्रुद्ध हैं कि उन्होंने भक्तोंकी आँखों के झपकने में व्यवधान उत्पन्न कर दिया है।

तात्पर्य : जैसा कि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (७.३) में कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

"हजारों मनुष्यों में से कोई एक सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है और जिन्होंने सिद्धि प्राप्त कर ली है उनमें से मुश्किल से कोई एक मुझे वास्तव में जानता है।" जब तक कोई कृष्ण को समझने के योग्य नहीं होता तब तक वह पृथ्वी पर कृष्ण की उपस्थिति को समझ नहीं पाता। भोज, वृष्णि, अन्धक, पाण्डव तथा कृष्ण से सम्बन्धित अनेक अन्य राजाओं में से कृष्ण एवं वृन्दावन के निवासियों के घनिष्ठ सम्बन्ध विशेष तौर पर विचार करने योग्य हैं। इस सम्बन्ध को इस श्लोक में *नित्योत्सवं न ततृपुर्दृशिभिः पिबन्त्यः* शब्दों द्वारा बतलाया गया है। विशेषतया वृन्दावन के निवासी यथा गोप, गाएँ, बछड़े, गोपियाँ, कृष्ण के माता-पिता कभी भी तुष्ट नहीं हुए यद्यपि वे कृष्ण के सुन्दर मुखमण्डल का निरन्तर दर्शन करते थे। यहाँ पर कृष्ण के दर्शन को *नित्य-उत्सव* कहा गया है। वृन्दावन के निवासी लगभग हर क्षण उनका दर्शन करते थे, किन्तु जब वे गाँव से चरागाह में गायों तथा बछड़ों को चराने जाते तो गोपियाँ अत्यन्त दुखित होती थीं क्योंकि वे देखतीं कि कृष्ण रेत पर नंगे पाँव चल रहा है और उसके चरणकमलों में कंकड़ गड़ रहे हैं जिन्हें वे अपने वक्ष:स्थलों पर इसलिए नहीं धारण करती थीं क्योंकि वे सोचती थी कि उनके वक्ष:स्थल पर्याप्त मात्रा में मृदु नहीं हैं। ऐसा सोच-सोचकर ही गोपियाँ प्रभावित हो जातीं और अपने घरों में रो पड़ती थीं। कृष्ण की

ये मित्रतुल्य गोपियाँ कृष्ण को निरन्तर देखती थीं लेकिन पलकें कृष्ण को देखने में बाधा डालती थीं अतएव वे स्रष्टा ब्रह्माजी को कोसती रहती थीं। इसलिए यहाँ पर कृष्ण के मुख की सुन्दरता का विशेष वर्णन हुआ है। नवम स्कन्ध के अन्तिम इस चौबीसवें अध्याय में हम कृष्ण के सौन्दर्य के विषय में संकेत पाते हैं। अब हम दशम स्कन्ध की ओर बढ़ रहे हैं जो कृष्ण का शीर्ष माना जाता है। सम्पूर्ण *श्रीमद्भागवत* पुराण साक्षात् कृष्ण का स्वरूप है और दशम स्कन्ध उनका मुखमंडल है। इस श्लोक से यह संकेत मिलता है कि उनका मुख कितना सुन्दर है। कृष्ण का हँसीला मुख, उनके गाल, होठ, कान के आभूषण, उनका पान चबाना—गोपियाँ इन सबका सूक्ष्म निरीक्षण करती थीं और इस तरह दिव्य आनन्द प्राप्त करती थीं यहाँ तक कि वे कभी भी कृष्ण का मुख देखकर सन्तुष्ट नहीं होती थीं अपितु वे शरीर बनाने वाले की भर्त्सना करती थीं कि उसने पलकें क्यों बनाईं जिनसे उनकी दृष्टि में रुकावट आती थी। इस तरह गोपमित्रों या कृष्ण के मुखमंडल को सजाने में रुचि रखने वाली यशोदा माता से भी बढ़कर गोपियाँ कृष्ण के मुख-सौन्दर्य की प्रशंसा करती थीं।

जातो गतः पितृगृहाद्व्रजमेधितार्थो
हत्वा रिपून्सुतशतानि कृतोरुदारः ।
उत्पाद्य तेषु पुरुषः क्रतुभिः समीजे
आत्मानमात्मनिगमं प्रथयञ्जनेषु ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

जातः—वसुदेव के पुत्र रूप में जन्म लेकर; गतः—चला गया; पितृ-गृहात्—अपने पिता के घर से; व्रजम्—वृन्दावन को; एधित-अर्थः—वृन्दावन के पद को ऊँचा बनाने; हत्वा—मारकर; रिपून्—अनेक असुरों को; सुत-शतानि—सैकड़ों पुत्र; कृत-उरुदारः—हजारों श्रेष्ठ स्त्रियों को पत्नी रूप में स्वीकार करके; उत्पाद्य—उत्पन्न किया; तेषु—उनमें; पुरुषः—परम पुरुष, जो मनुष्य के समान है; क्रतुभिः—अनेक यज्ञों द्वारा; समीजे—पूजा की; आत्मानम्—अपनी (क्योंकि सभी यज्ञों में उन्हीं की पूजा की जाती है); आत्म-निगमम्—वेदों के अनुष्ठानों के अनुसार; प्रथयन्—वैदिक नियमों का विस्तार करते हुए; जनेषु—जनता में।

भगवान् कृष्ण लीला पुरुषोत्तम कहलाते हैं। वे वसुदेव के पुत्र रूप में उत्पन्न हुए, किन्तु तुरन्त ही अपने पिता का घर छोड़कर अपने विश्वासपात्र भक्तों के साथ प्रेम व्यवहार बढ़ाने के लिए वृन्दावन चले गये। वृन्दावन में उन्होंने अनेक असुरों का वध किया और फिर द्वारका लौट गये जहाँ उन्होंने वैदिक नियमों के अनुसार अनेक श्रेष्ठतम स्त्रियों के साथ विवाह किये, उनसे सैकड़ों पुत्र उत्पन्न किये और गृहस्थ जीवन के सिद्धान्तों को स्थापित करने के लिए अपनी ही पूजा के लिए अनेक यज्ञ सम्पन्न किये।

तात्पर्य : जैसा कि *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—सारे वेदों के द्वारा कृष्ण को ही जाना जाता है। भगवान् कृष्ण ने अपने आचरण से एक आदर्श स्थापित करते हुए वेदवर्णित अनेक अनुष्ठान संपन्न किये और अनेक पत्नियों के साथ विवाह करके तथा उनसे सन्तानें उत्पन्न करके लोगों को यह दिखलाने के लिए कि वैदिक नियमों के अनुसार रहकर किस तरह सुखी बना जा सकता है, गृहस्थ जीवन के नियमों की स्थापना की। कृष्ण वैदिक यज्ञ के केन्द्रबिन्दु हैं (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*)। मनुष्य जीवन में प्रगति करने के लिए मानव समाज को स्वयं भगवान् कृष्ण द्वारा गृहस्थ जीवन में प्रदर्शित वैदिक सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए। किन्तु भगवान् कृष्ण के प्राकट्य का असली उद्देश्य तो यह दिखलाना था कि मनुष्य भगवान् के साथ प्रेम व्यापार में किस तरह भाग ले सकता है। भावावेश में प्रेम-व्यापार का आदान-प्रदान वृन्दावन में ही सम्भव है। इसीलिए वसुदेव के पुत्र रूप में प्रकट होते ही उन्होंने तुरन्त वृन्दावन के लिए प्रस्थान किया। वृन्दावन में उन्होंने न केवल अपने माता-पिता, गोपों तथा गोपियों के प्रेम-व्यापार में भाग लिया अपितु अनेक असुरों को मारकर उन्हें मोक्ष प्रदान किया। जैसा कि *भगवद्गीता* (४.८) में कहा गया है—*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*—भगवान् भक्तों की रक्षा करने एवं असुरों का वध करने के लिए प्रकट होते हैं। उन्होंने अपने आचरण से इसे भलीभाँति दिखला दिया। *भगवद्गीता* में अर्जुन भगवान् को *पुरुषं शाश्वतं दिव्यम्* के रूप में समझता है। यहाँ भी हमें *उत्पाद्य तेषु पुरुषः* शब्द मिलते हैं। इसलिए हमें यह निष्कर्ष निकालना होगा कि परब्रह्म एक पुरुष हैं। निराकार रूप तो उनके व्यक्तित्व का एक प्रकार है। अन्ततोगत्वा वे *पुरुष* हैं, वे निराकार नहीं हैं। वे न केवल *पुरुष* ही हैं अपितु लीलापुरुषोत्तम हैं और सभी पुरुषों में श्रेष्ठ हैं।

पृथ्व्याः स वै गुरुभरं क्षपयन्कुरूणा-
मन्तःसमुत्थकलिना युधि भूपचम्वः ।
दृष्ट्या विधूय विजये जयमुद्विघोष्य
प्रोच्योद्धवाय च परं समगात्स्वधाम ॥ ६७॥

शब्दार्थ

पृथ्व्याः—पृथ्वी पर; सः—वह (कृष्ण); वै—निस्सन्देह; गुरु-भरम्—बहुत बड़ा भार; क्षपयन्—पूरी तरह हटाने में; कुरूणाम्—कुरुवंशियों का; अन्तः-समुत्थ-कलिना—भाइयों में मनमुटाव द्वारा शत्रुता उत्पन्न करके; युधि—कुरुक्षेत्र के युद्ध में; भूप-चम्वः—सारे असुर राजा; दृष्ट्या—अपने दृष्टिपात से; विधूय—उनके पापकर्मों को शुद्ध करके; विजये—विजय में; जयम्—विजय;

उद्घिघोष्य—घोषणा करके (अर्जुन की विजय); प्रोच्य—उपदेश देकर; उद्धवाय—उद्धव को; च—भी; परम्—दिव्य; समगात्—वापस गया; स्व-धाम—अपने धाम को।.

तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण ने संसार का भार कम करने के लिए पारिवारिक सदस्यों के बीच मनमुटाव उत्पन्न किया। उन्होंने अपनी चितवन मात्र से कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में सारे आसुरी राजाओं का संहार कर दिया और अर्जुन को विजयी घोषित किया। अन्त में वे उद्धव को दिव्य जीवन तथा भक्ति के विषय में उपदेश देकर अपने आदि रूप में अपने धाम को वापस चले गये।

तात्पर्य : *परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।* कृष्ण का कार्य कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में पूरा हुआ क्योंकि भगवान् की कृपा से अर्जुन विजयी हुआ। वह उनका महान् भक्त था और अन्य लोग भगवान् की चितवन मात्र से मारे गये जिससे उनके सारे पापकर्म धुल गये और वे *सारूप्य* को प्राप्त हो सके। अन्त में भगवान् कृष्ण ने उद्धव को भक्ति के दिव्य जीवन का उपदेश दिया और समय आने पर वे अपने धाम लौट गये। *भगवद्गीता* के रूप में भगवान् के उपदेश ज्ञान तथा वैराग्य से पूर्ण हैं। मनुष्य जीवन में ये दो बातें सीख लेनी चाहिए कि भौतिक जगत से किस प्रकार विरक्त हुआ जाय और आध्यात्मिक जीवन में किस प्रकार पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जाय। यही भगवान् का प्रयोजन है (*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*)। अपना कार्य समाप्त करने के बाद भगवान् अपने धाम गोलोक वृन्दावन लौट गये।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध के अन्तर्गत 'भगवान् कृष्ण' नामक चौबीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

भुवनेश्वर (उड़ीसा, भारत) में कृष्णबलराम मन्दिर की स्थापना के अवसर पर नवम स्कंध पूर्ण हुआ।

36312/3/98Preliminary page 1

श्री श्रीगुरु–गौराङ्गौ जयत:

कृष्णद्वैपायन व्यास

कृत

श्रीमद्भागवतम्

स वै मन: कृष्णपदारविन्दयो–

र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।

करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु

श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥१८॥

(श्रीमद्भागवत ९.४.१८)

preliminary page 2

कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद द्वारा विरचित वैदिक ग्रंथरत्न :

श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप

श्रीमद्भागवतम् स्कन्ध १-१२ (१८ खण्ड)

श्रीचैतन्य-चरितामृत (७ खण्ड)

भगवान् चैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु

श्रीउपदेशामृत

श्रीईशोपनिषद्

अन्य लोकों की सुगम यात्रा

कृष्णभावनामृत सर्वोत्तम योगपद्धति

लीला पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण

पूर्ण प्रश्न पूर्ण उत्तर

द्वन्द्वात्मक अध्यात्मवाद:पाश्चात्य दर्शन का वैदिक दृष्टिकोण

देवहूतिनन्दन भगवान् कपिल का शिक्षामृत

प्रह्लाद महाराज की दिव्य शिक्षा

रसराज श्रीकृष्ण

जीवन का स्रोत जीवन

योग की पूर्णता

जन्म-मृत्यु से परे

श्रीकृष्ण की ओर

कृष्णभावनामृत : अनुपम भेंट

राजविद्या

कृष्णभावनामृत की प्राप्ति

पुनरागमन:पुनर्जन्म का विज्ञान

गीतार गान (बंगला)

भगवद्दर्शन (मासिक पत्रिका) :संस्थापक

अधिक जानकारी तथा सूचीपत्र के लिए लिखें

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट,

हरे कृष्ण धाम, जुहू, मुंबई–४०००४९

preliminary page 3

श्रीमद्भागवतम्

(भगवत्–सन्देश)

नवम स्कन्ध

''मुक्ति''

मूल संस्कृत पाठ, शब्दार्थ,

तथा विस्तृत तात्पर्य द्वारा

कृष्णकृपामूर्ति

श्री श्रीमद् अभयचरणारविन्द भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

संस्थापकाचार्य: अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

लॉस एंजिलिसलंदनस्टॉकहोमसिडनीहाँगकाँगमुंबई

preliminary page 4

इस ग्रंथ की विषयवस्तु में जिज्ञासु पाठकगण अपने निकटस्थ किसी भी इस्कॉन केन्द्र से अथवा निम्नलिखित पते पर पत्र–व्यवहार करने के लिए आमंत्रित हैं

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

हरे कृष्ण धाम,

जुहू, मुंबई–४०००४९

अनुवादक

(अंग्रेजी–हिन्दी)

डॉ. शिवगोपाल मिश्र

पुनरीक्षक

वधीकाराम अग्रवाल अवकाशप्राप्त निदेशक आकाशवाणी मथुरा

हिन्दी संपादक

श्रीनिवास आचार्य दास

पहला अंग्रेजी संस्करण, १९७५, २०,००० प्रतियाँ

पहला हिन्दी संस्करण, जुलाई, १९९२, २,००० प्रतियाँ

द्वितीय हिन्दी संस्करण, जुलाई, १९९६, २,००० प्रतियाँ

Printer:

' १९७५१९९६ भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, सर्वाधिकार सुरक्षित

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट के लिए श्रील गोपालकृष्ण गोस्वामी द्वारा हरे कृष्ण धाम, जुहू, मुंबई४०००४९ से प्रकाशित

preliminary page 5

विषय–सूची

श्रीमद्भागवतम्

विषय–सूची

आमुख

प्रस्तावना

अध्याय एक

राजा सुद्युम्न का स्त्री बनना

अध्याय का सारांश

प्रलय के बाद कृष्ण का अस्तित्व बने रहना

हरे कृष्ण कीर्तन : समस्त मानवता के लिए राहत

व्यक्ति द्वारा नए वस्त्र पहनने की तरह आत्मा द्वारा

नवीन शरीर धारण करना

सुद्युम्न को अपना नर शरीर प्राप्त होना

अध्याय दो

मनु के पुत्रों की वंशावलियाँ

अध्याय का सारांश

पृषध्र की दुर्घटना : गोरक्षा अनिवार्य

कर्म के नियमों से छुटकारा

मस्तिष्कविहीन मानव समाज

अध्याय तीन

सुकन्या तथा च्यवन मुनि का विवाह

अध्याय का सारांश

शान्त घर : वैदिक वैवाहिक आचरण

वैदिक संस्कृति के उच्च मूल्य

ब्रह्मा द्वारा रेवती का पति चुना जाना

अध्याय चार

दुर्वासा मुनि द्वारा अम्बरीष महाराज का अपमान

अध्याय का सारांश

गुरुकुल से नाभाग का घर वापस आना

भौतिकतावादियों द्वारा क्षणिक सुख को सर्वस्व माना जाना

राजा अम्बरीष की पूर्ण भक्ति

अध्यात्मवादी मुख्य कार्यकारी के रूप में

कृष्ण भक्तों की योग में अरुचि

भगवान् की महिमा के प्रसार हेतु भौतिक सम्पदा का उपयोग

अनामंत्रित अतिथि दुर्वासा मुनि

प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा प्राय: भक्तों को प्रताड़ना

भगवान् के चक्र का दुर्वासा का पीछा करना

भगवान् अपने भक्तों के वश में क्यों रहते है ?

मुक्ति भक्तों की सेवा करने के लिए स्वत: प्रतीक्षारत

अध्याय पाँच

दुर्वासा मुनि को जीवन-दान

अध्याय का सारांश

अम्बरीष द्वारा भगवान् के चक्र की स्तुति

भगवान् के ज्वलित चक्र से दुर्वासा की रक्षा

अन्तरिक्षयान के बिना अन्तरिक्ष-यात्रा

इस भौतिक जगत में कोई भी पद महत्त्वपूर्ण नहीं

अध्याय छह

सौभरि मुनि का पतन

अध्याय का सारांश

गो–मांसाहार का पूर्ण निषेध

पुरञ्जय द्वारा असुरों पर विजय

राजा युवनाश्व के उदर से पुत्रोत्पत्ति

संभोग के लिए सौभरि मुनि द्वारा अपनी योग–तपस्या का परित्याग

भौतिक इच्छा की ज्वलित अग्नि को बढ़ाना

अध्यात्मवादियों तथा भौतिकतावादियों का परस्पर न मिलना

अध्याय सात

राजा मान्धाता के वंशज

अध्याय का सारांश

इस भौतिक जगत में कष्टभोग अपरिहार्य

अपने पुत्र की रक्षा के लिए हरिश्चन्द्र का संघर्ष

अध्याय आठ

भगवान् कपिलदेव से सगर–पुत्रों की भेंट

अध्याय का सारांश

अपने ही शारीरिक ताप से सगर पुत्रों का मारा जाना

सारे जीव मोहग्रस्त उत्पन्न होते हैं

भगवान् का कोई भौतिक नाम या रूप नहीं

अध्याय नौ

अंशुमान की वंशावली

अध्याय का सारांश

पापमय कर्मफलों का निरस्तीकरण

भगीरथ द्वारा इस संसार में गंगानदी का अवतरण

सुदास को मानव–भक्षी (राक्षस) बनने का शाप

बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्र से छुटकारा

जीवन केवल रसायनों का संयोग नहीं

खट्वांग महाराज को सिद्धि-प्राप्ति

भौतिक जगत के भीतर दिव्य चेतना

परमेश्वर न तो निराकार हैं न शून्य

अध्याय दस

भगवान् रामचन्द्र की लीलाएँ

अध्याय का सारांश

भगवान् का अनेक अवतारों में विस्तार

रामचन्द्र को पिता द्वारा वनवास दिया जाना

भगवान् का दंड आवश्यक क्यों?

भगवान् रामचन्द्र द्वारा अपनी सर्वशक्तिमत्ता का प्रमाण

दिव्य शक्ति बनाम भौतिक शक्ति

राक्षस रावण का अन्त

सतीत्व का पथ

भगवान् रामचन्द्र का विजयी होकर अयोध्या लौटना

ईश्वरविहीन भगवद्धाम एक व्यर्थ आशा

कृष्ण अपने नाम के रूप में उपलब्ध

अध्याय ग्यारह

भगवान् रामचन्द्र का विश्व पर राज्य करना

अध्याय का सारांश

भौतिक लाभ पाने के लिए भगवान् की सेवा

वैकुण्ठ में अनुभूतियाँ

भगवान् असाधारण लीलाएँ क्यों करते हैं?

भगवान् के आदेशों की पूर्ति

भगवान् के राज्य में अयोध्यापुरी का वैभव

अध्याय बारह

भगवान् रामचन्द्र के पुत्र कुश की वंशावली

अध्याय का सारांश

पूर्ण योगी इच्छित समय तक जीवित रह सकता है

अध्याय तेरह

महाराज निमि की वंशावली

अध्याय का सारांश

महाराज निमि द्वारा भौतिक शरीर धारण करने से इनकार

नश्वर देह समस्त समस्याओं का स्रोत

अस्थायी अनियमित सरकारों का प्रभाव

अच्छाई तथा बुराई दोनों एक क्यों?

अध्याय चौदह

उर्वशी पर पुरूरवा का मोहित होना

अध्याय का सारांश

अत्रि के हर्ष-अश्रुओं से सोम का जन्म

बृहस्पति की कुलटा पत्नी तारा

उर्वशी तथा पुरूरवा की भेंट

स्वर्गलोक का रहन-सहन पृथ्वी से भिन्न

उर्वशी द्वारा पुरूरवा का परित्याग

भौतिक जगत में स्त्रैण आचरण

त्रेता युग का शुभारम्भ

हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन

अध्याय पन्द्रह

भगवान् का योद्धा-अवतार, परशुराम

अध्याय का सारांश

ऋचीक द्वारा असाधारण दहेज का दिया जाना

अधार्मिक सरकारें नागरिकों को निगल जाती हैं

गोरक्षा पर बल क्यों ?

परशुराम द्वारा कार्तवीर्यार्जुन की सेनाओं का संहार

परशुराम द्वारा कार्तवीर्यार्जुन का वध

क्षमा: ब्राह्मण का विशेष गुण

अध्याय सोलह

भगवान् परशुराम द्वारा विश्व के क्षत्रियों का विनाश

अध्याय का सारांश

परशुराम द्वारा अपनी माता तथा भाइयों का वध

जमदग्नि की क्रूर हत्या

परमेश्वर का शाश्वत संदेश

विश्वामित्र का इतिहास: पद जन्म पर निर्भर नहीं

वर्तमान युग में सामूहिक ह्रास

अध्याय सत्रह

पुरूरवा के पुत्रों की वंशावलियाँ

अध्याय का सारांश

औषधि-विज्ञान के उद्घाटक धन्वन्तरि

राजी के पुत्रों द्वारा इन्द्र के स्वर्गलोक के प्रत्यावर्तन से इनकार

अध्याय अठारह

राजा ययाति को यौवन की पुनः प्राप्ति

अध्याय का सारांश

श्रीमद्भागवत सुनने से भवबन्धन कटता है

देवयानी तथा शर्मिष्ठा में झगड़ा

ज्योतिष संमेल तथा वैदिक विवाह

ययाति को अकाल वृद्धावस्था भोगने का शाप

ययाति का अपने पुत्रों से बुढ़ापे के बदले यौवन की माँग

पुरु द्वारा अपने पिता की वृद्धावस्था तथा अशक्तता स्वीकार्य

सुख मन तथा इन्द्रिय-शुद्धि पर आश्रित

अध्याय उन्नीस

राजा ययाति को मुक्ति-लाभ

अध्याय का सारांश

बकरा तथा बकरी का रूपक

जब पारिवारिक जीवन अंधकूप बन जाता है

उच्च आत्मविज्ञानी की यौन में अरुचि

बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्र में कष्ट भोगना

देवयानी को अपने पति की कृपा से मोक्ष की प्राप्ति

अध्याय बीस

पूरु का वंश

अध्याय का सारांश

शकुन्तला के सौन्दर्य से राजा दुष्मन्त आकृष्ट

यौन जीवन तथा वैदिक धर्म के सिद्धान्त

कृष्ण—समस्त जीवों के बीज

महाराज भरत का राज्य

भरद्वाज का अवैध जन्म

अध्याय इक्कीस

भरत की वंशावली

अध्याय का सारांश

महाभागवत रन्तिदेव

मानव समाज के असली कल्याण-कार्यकर्ता

मोह के प्रभाव को लाँघना

नकली शुकदेव गोस्वामी

अध्याय बाईस

अजमीढ के वंशज

अध्याय का सारांश

महान-तम योद्धा भीष्मदेव

पाँचों पाण्डव-भ्राता

पाण्डु वंश के भावी पुत्रों का वर्णन

मागध वंश का भविष्य

अध्याय तेईस

ययाति के पुत्रों की वंशावलियाँ

अध्याय का सारांश

यदुवंश का वर्णन

परब्रह्म पुरुष हैं—यह तथ्य कुछ ही लोगों को ज्ञात

अध्याय चौबीस

भगवान् कृष्ण

अध्याय का सारांश

कुन्ती द्वारा सूर्यदेव का आवाहन

वसुदेव की पत्नियाँ तथा सन्ताने

भगवान् के अवतार क्यों ?

पृथ्वी को आसुरी भार से छुटकारा दिलाना

भौतिक कल्मष से मुक्ति

भगवान् के सौन्दर्य का दर्शन नित्य उत्सव

परिशिष्ट लेखक परिचय

दशवें स्कन्ध का सारांश

इस दशवें स्कन्ध के प्रत्येक अध्याय का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है : प्रथम अध्याय में ६९ श्लोक हैं। इसमें भगवान् कृष्ण द्वारा अवतार लेने के बारे में जानने की महाराज परीक्षित की उत्सुकता तथा कंस द्वारा देवकी की आठवीं संतान से मारे जाने के भय से उसके छह पुत्रों के वध का वर्णन हुआ है। दूसरे अध्याय में ४२ श्लोक हैं। इसमें कंस को मारने के लिए भगवान् कृष्ण का देवकी के गर्भ में प्रवेश करने का उल्लेख हुआ है। जब भगवान् कृष्ण देवकी के गर्भ में थे तो ब्रह्मा आदि सारे देवताओं ने उनकी स्तुति की। तीसरे अध्याय में ५३ श्लोक हैं। इसमें भगवान् के यथारूप आविर्भाव का वर्णन हुआ है। भगवान् के माता-पिता ने यह जानकर कि भगवान् प्रकट हो रहे हैं उनकी स्तुति की। कंस के भय से भगवान् के पिता इस शिशु को मथुरा से गोकुल वृन्दावन ले गये। चौथे अध्याय में ४६ श्लोक हैं जिसमें देवी चण्डिका की भविष्यवाणी दी गई है। अपने असुर मित्रों से परामर्श करके कंस उस समय उत्पन्न सारे बच्चों को मारने लगा क्योंकि उसने सोचा कि इससे उसे लाभ हो सकता है।

पाँचवें अध्याय में ३२ श्लोक हैं। इसमें नन्द महाराज द्वारा कृष्ण के जन्मोत्सव मनाने तथा उनके मथुरा जाने का वर्णन हुआ है जहाँ वसुदेव से उनकी भेंट हुई। छठे अध्याय में ४४ श्लोक हैं। इसमें नन्द महाराज अपने मित्र वसुदेव की सलाह मानकर गोकुल लौट आते हैं। रास्ते में वे पूतना के मृत शरीर को देखते हैं और यह जानकर आश्चर्यचकित होते हैं कि इसका वध कृष्ण ने किया है। सातवें अध्याय में ३७ श्लोक हैं। इसमें महाराज परीक्षित द्वारा भगवान् कृष्ण की बाल लीलाओं के विषय में सुनने की उत्कण्ठा का वर्णन है। इसमें कृष्ण द्वारा शकटासुर तथा तृणासुर का वध और अपने मुख के भीतर सम्पूर्ण विश्व दिखलाने का उल्लेख है। आठवें अध्याय में ५२ श्लोक हैं। इसमें गर्गमुनि द्वारा कृष्ण तथा बलराम के नामकरण संस्कार का तथा उनकी बालक्रीड़ाओं का वर्णन हुआ है कि वे किस तरह जमीन पर घुटनों के बल चलते, अपने छोटे-छोटे पाँवों से चलने का प्रयास करते, मक्खन चुराते तथा बर्तन-भांडे तोड़ते थे। इस अध्याय में विश्वरूप की झाँकी का भी वर्णन है।

नवें अध्याय में २३ श्लोक हैं। इसमें कृष्ण द्वारा मक्खन के लिए दही मथती अपनी माता को तंग करने का वर्णन हुआ है। कृष्ण की माता आग पर उबलते दूध को देखने के लिए कृष्ण को छोड़ कर चली गई थी और उन्हें अपना दूध नहीं पिला रही थीं। इससे कृष्ण बहुत क्रुद्ध थे और उन्होंने दही की

मटकी तोड़ डाली। उद्दण्ड बालक को दण्ड देने के लिए माता यशोदा ने रस्सी से उन्हें बाँधना चाहा, किन्तु गाँठ देते समय रस्सी छोटी पड़ जाने से वे उन्हें बाँध न पाईं। दशवें अध्याय में ४३ श्लोक हैं। इसमें वर्णन हुआ है कि दामोदर कृष्ण ने किस तरह जुड़वाँ यमलार्जुन वृक्षों को गिराया और किस तरह वृक्षों के भीतर के दोनों देवताओं का उद्धार कृष्ण की कृपा से हुआ। ग्यारहवें अध्याय में ५९ श्लोक हैं। इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह नन्द महाराज ने कृष्ण की रस्सियाँ खोलीं, किस तरह कृष्ण ने फल बेचने वाले को फल के बदले अनाज लेते समय कृपा की और किस तरह नन्द महाराज तथा अन्य ग्वालों ने गोकुल छोड़कर वृन्दावन जाने का निश्चय किया जहाँ कृष्ण ने वत्सासुर तथा बकासुर का वध किया।

बारहवें अध्याय में ४४ श्लोक हैं। इसमें जंगल में ग्वालबालों के साथ कृष्ण की लीलाओं का तथा अघासुर-वध का वर्णन हुआ है। तेरहवें अध्याय में ६४ श्लोक हैं जिनमें बतलाया गया है कि ब्रह्मा ने किस तरह कृष्ण के बछड़ों को तथा उनके ग्वाल-मित्रों को चुरा लिया। कृष्ण ने एक वर्ष तक अपनी लीलाओं का विस्तार किया और अपने को बछड़ों तथा बालकों के सही रूपों में प्रकट किए रखा। इस तरह ब्रह्मा चकरा गये और अन्त में जब उन्होंने कृष्ण की शरण ग्रहण की तो यह मोह समाप्त हुआ। चौदहवें अध्याय में ६१ श्लोक हैं। इस अध्याय में यह अच्छी तरह जान लेने पर कि कृष्ण भगवान् हैं, ब्रह्मा उनकी स्तुति करते हैं। पन्द्रहवें अध्याय में ५२ श्लोक हैं। इस अध्याय में बलराम के साथ कृष्ण का तालवन में प्रवेश, बलराम द्वारा धेनुकासुर का वध तथा कालिय के विष से ग्वालों तथा गौवों की कृष्ण द्वारा रक्षा किये जाने का वर्णन मिलता है।

सोलहवें अध्याय में ६७ श्लोक हैं। इसमें कृष्ण द्वारा कालिय को दण्ड दिये जाने तथा कालिय की पत्नियों द्वारा कृष्ण की स्तुति किये जाने का वर्णन हुआ है। सत्रहवें अध्याय में २५ श्लोक हैं। इस अध्याय में बतलाया गया है कि कालिय ने नागालय नामक द्वीप के अपने वासस्थान को (जो फिजी द्वीपसमूह है) त्यागकर यमुना नदी में क्यों प्रवेश किया, किस तरह गरुड़ को सौभरि ऋषि ने शाप दिया, किस तरह कृष्ण के मित्र ग्वालबालों को यमुना से कृष्ण के प्रकट होने पर जीवनदान मिला और किस तरह कृष्ण ने व्रज के सो रहे वासियों की दावानल रोक कर रक्षा की।

अठारहवें अध्याय में ३२ श्लोक हैं जिनमें कृष्ण तथा बलराम का वन-भ्रमण, वृन्दावन में ग्रीष्म

तथा वसन्तऋतु का वर्णन तथा बलराम द्वारा प्रलम्बासुर के वध किये जाने का वर्णन मिलता है। उन्नीसवें अध्याय में १६ श्लोक हैं जिनमें कृष्ण द्वारा मुञ्जारण्य नामक वन में प्रवेश, ग्वालों तथा गौवों को दावानल से बचाने और उन्हें भाण्डीरवन लाने का वर्णन मिलता है। अध्याय बीस में ४९ श्लोक हैं। इसमें वर्षाऋतु में ग्वालबालों के साथ बलराम तथा कृष्ण द्वारा जंगल में आनन्द मनाने का वर्णन है। इसमें वर्षाऋतु तथा शरद की उपमाओं के माध्यम से अनेक उपदेश दिये गये हैं।

इक्कीसवें अध्याय में २० श्लोक हैं जिसमें कृष्ण द्वारा शरत् ऋतु में वृन्दावन के जंगलों में जाकर बाँसुरी बजाने तथा उनका गुणगान करने वाली गोपियों को आकृष्ट करने का वर्णन है। बाइसवें अध्याय में ३८ श्लोक हैं। इनमें बतलाया गया है कि किस तरह गोपियों ने कृष्ण को पति रूप में पाने के लिए देवी कात्यायनी से प्रार्थना की और बाद में किस तरह कृष्ण ने यमुना में स्नान करती गोपियों का चीर हरण किया। तेइसवें अध्याय में ५२ श्लोक हैं जिनमें भूखे ग्वालबालों द्वारा कृष्ण के आदेशानुसार यज्ञ कर रहे ब्राह्मणों के पास जाकर उनके लिए तथा अपने लिए भोजन माँगने का वर्णन है। उन ब्राह्मणों ने ग्वालबालों द्वारा माँगे जाने पर भी कृष्ण तथा बलराम के लिए भोजन नहीं दिया, किन्तु उनकी पत्नियाँ भोजन देने के लिए तैयार हो गईं अतएव कृष्ण ने उन्हें अपनी कृपा प्रदान की।

चौबीसवें अध्याय में ३८ श्लोक हैं। इसमें वर्णन हुआ है कि किस तरह कृष्ण ने इन्द्र-यज्ञ रोककर उसके स्थान पर गोवर्धन पूजा करके राजा इन्द्र के प्रतिष्ठापूर्ण पद के बावजूद उनका तिरस्कार किया। पच्चीसवें अध्याय में ३३ श्लोक हैं। इसमें बतलाया गया है कि *इन्द्र-यज्ञ* बन्द किये जाने से इन्द्र अत्यन्त कुपित हुआ और वृन्दावन और व्रज के वासियों को मार डालने के लिए उसने सारे क्षेत्र को वर्षा-जल से आप्लावित कर दिया। किन्तु कृष्ण ने राजा इन्द्र की चुनौती स्वीकार की और वृन्दावन तथा समस्त गौवों की रक्षा करने के लिए गोवर्धन पर्वत को छाते की तरह उठा लिया। छब्बीसवें अध्याय में २५ श्लोक हैं जिनमें कृष्ण के असाधारण कृत्यों को देखकर नन्द के आश्चर्य तथा उनके द्वारा ग्वालों से कृष्ण के ऐश्वर्य की गर्गमुनि द्वारा पूर्वकथित सारी कथा सुनाये जाने का वर्णन हुआ है। सत्ताइसवें अध्याय में २८ श्लोक हैं। इसमें कृष्ण की असीम शक्ति को देखकर राजा इन्द्र द्वारा उनकी पूजा किये जाने का वर्णन हुआ है जिनका इन्द्र ने सुरभि के दूध से प्रक्षालन किया और वे तब से गोविन्द कहलाये। अट्ठाइसवें अध्याय में १७ श्लोक हैं। इसमें कृष्ण द्वारा अपने पिता महाराज नन्द को

वरुण से छुड़ाकर लाये जाने तथा ग्वालबालों को वैकुण्ठलोक का दर्शन कराने का वर्णन हुआ है।

उन्तीसवें अध्याय में ४८ श्लोक हैं जिसमें रासलीला शुरू करने के पूर्व गोपियों से कृष्ण की वार्ता तथा रासलीला प्रारम्भ होने पर उस स्थान से कृष्ण के अदृश्य होने का वर्णन हुआ है। तीसवें अध्याय में ४४ श्लोक हैं। इसमें बतलाया गया है कि किस तरह गोपियाँ कृष्ण से विलग होने से पागल होकर उन्हें ढूँढने के लिए जंगल में घूमती रहीं। गोपियों की भेंट वृषभानुजा श्रीमती राधारानी से हुई और वे सब मिलकर यमुना तट पर कृष्ण को ढूँढ़ती रहीं। इकतीसवें अध्याय में १९ श्लोक हैं जिसमें कृष्ण से मिलने के लिए वियुक्त गोपियों की प्रतीक्षा का वर्णन हुआ है। अध्याय बत्तीस में २२ श्लोक हैं। इसमें कृष्ण गोपियों के मध्य प्रकट होते हैं और गोपियाँ उनके प्रेमभाव से पूर्ण तुष्ट हो जाती हैं। अध्याय तैंतीस में ३९ श्लोक हैं। इसमें कृष्ण नाना वेशों में गोपियों के बीच प्रकट होते हैं और उनके साथ रास नृत्य करते हैं। तत्पश्चात् वे सभी यमुना नदी में स्नान करते हैं। इसी अध्याय में शुकदेवमुनि परीक्षित के मन में रासलीला विषयक उठने वाले सन्देहों को दूर करते हैं।

चौंतीसवें अध्याय में ३२ श्लोक हैं। इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह कृष्ण के पिता नन्द एक अजगर द्वारा निगल लिये गये थे। यह अजगर विद्याधर नामक देवता था, किन्तु अंगिरा ऋषि ने इसे शाप दिया था। कृष्ण ने अपने पिता को बचाया तथा इस देवता को एकसाथ शापमुक्त किया। पैंतीसवें अध्याय में २६ श्लोक हैं जिसमें कृष्ण द्वारा गौवें लेकर चरागाहों में जाने और उनके वियोग में गोपियों के गीत का वर्णन हुआ है।

छत्तीसवें अध्याय में ४० श्लोक हैं। इसमें कृष्ण द्वारा अरिष्टासुर का वध तथा नारद द्वारा कंस से कृष्ण तथा राम का वसुदेव के पुत्र होने के रहस्योद्घाटन का वर्णन मिलता है। इस रहस्योद्घाटन के फलस्वरूप कंस इन दोनों को मारने की योजना बनाता है। वह अपने सहायक केशी को वृन्दावन भेजता है और बाद में राम तथा कृष्ण को मथुरा लाने के लिए अक्रूर को भेजता है। अध्याय सैंतीस में ३३ श्लोक हैं। इसमें कृष्ण द्वारा केशी असुर के वध, कृष्ण की भावी लीलाओं का वर्णन करते हुए नारद द्वारा उनकी पूजा तथा कृष्ण द्वारा व्योमासुर-वध का वर्णन हुआ है। अड़तीसवें अध्याय में ४३ श्लोक हैं। इसमें अक्रूर का वृन्दावन-गमन एवं राम-कृष्ण तथा नन्द द्वारा उनके स्वागत का वर्णन हुआ है। उन्तालीसवें अध्याय में ५७ श्लोक हैं। इसमें कंस द्वारा आमंत्रित किये जाने पर राम तथा कृष्ण का

मथुरा के लिए प्रस्थान बताया गया है। जब वे रथ पर सवार हुए तो गोपियाँ बिलखने लगीं और कृष्ण ने उन्हें सान्त्वना देने के लिए अपना दूत भेजा। तभी वे मथुरा के लिए प्रस्थान कर पाये। रास्ते में अक्रूर को यमुना के जल के भीतर सम्पूर्ण विष्णुलोक का दर्शन हुआ।

चालीसवें अध्याय में ३० श्लोक हैं जिनमें अक्रूर द्वारा की गई स्तुतियों का वर्णन हैं। इकतालीसवें अध्याय में ५२ श्लोक हैं और इनमें राम तथा कृष्ण द्वारा मथुरापुरी में प्रवेश करने का वर्णन हुआ है। वहाँ की स्त्रियाँ इन दोनों भाइयों को देखकर अत्यधिक हर्षित थीं। कृष्ण ने एक धोबी को मारा, सुदामा का गुणगान किया और उसे वर दिया। बयालीसवें अध्याय में ३८ श्लोक हैं। इसमें कृष्ण द्वारा कुब्जा–उद्धार तथा कंस के विशाल धनुष को तोड़ने और इसके संरक्षकों को मारने का वर्णन है। इस तरह कंस और कृष्ण की भेंट हुई। अध्याय तैंतालीस में ४० श्लोक हैं। कंस की रंगभूमि के बाहर कृष्ण ने कुवलयापीड़ नामक हाथी को मारा, फिर रंगभूमि में प्रविष्ट होकर चाणूर से बातें कीं। चवालीसवें अध्याय में ५१ श्लोक हैं जिनमें कृष्ण तथा बलराम द्वारा चाणूर तथा मुष्टिक नामक मल्लों के मारे जाने और इसके बाद कंस तथा उसके आठों भाइयों के मारे जाने का वर्णन हुआ है। किन्तु कृष्ण ने कंस की पत्नियों तथा अपने माता–पिता देवकी तथा वसुदेव को सान्त्वना दी।

पैंतालीसवें अध्याय में ५० श्लोक हैं। इसमें कृष्ण द्वारा अपने माता–पिता को सान्त्वना देने और अपने नाना उग्रसेन के सिंहासनारूढ़ कराने का वर्णन है। वृन्दावनवासियों को यह वचन देने के बाद कि वे शीघ्र ही वृन्दावन लौटेंगे, कृष्ण का क्षत्रिय–संस्कार सम्पन्न हुआ। वे ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर गुरुकुल में रहे जहाँ उन्होंने नियमित रूप से अध्ययन किया। पञ्चजन नामक असुर का वध करने पर उन्हें पाञ्चजन्य शंख प्राप्त हुआ। कृष्ण ने अपने गुरु–पुत्र को यमराज के पाश से छुड़ाकर गुरु को लाकर सौंपा। इस तरह गुरु का ऋण उतारने के लिए गुरु–दक्षिणा देकर भगवान् कृष्ण मथुरापुरी लौट आये। छियालीसवें अध्याय में ४९ श्लोक हैं। इसमें कृष्ण ने अपने माता–पिता, यशोदा तथा नन्द महाराज को ढाढ़स बँधाने के उद्देश्य से उद्धव को वृन्दावन भेजा। सैंतालीसवें अध्याय में ६९ श्लोक हैं जिनमें कृष्ण के आदेशानुसार उद्धव गोपियों को सान्त्वना देने जाते हैं और तब मथुरा लौट आते हैं। इस तरह उद्धव को वृन्दावनवासियों द्वारा कृष्ण के लिए अनुभूत परम आनन्ददायक प्रेम का पता चलता है।

अड़तालीसवें अध्याय में ३६ श्लोक हैं। इसमें बतलाया गया है कि कृष्ण ने किस प्रकार कुब्जा के

घर जाकर उसकी इच्छा पूरी की। इसके बाद कृष्ण अक्रूर के घर गये। अक्रूर की प्रार्थनाओं से प्रसन्न होकर उसकी प्रशंसा की और पाण्डवों का समाचार लाने के लिए उसे हस्तिनापुर भेज दिया। उञ्चासवें अध्याय में ३१ श्लोक हैं। इसमें बताया गया है कि अक्रूर कृष्ण का आदेश पाकर हस्तिनापुर गया जहाँ उसने विदुर तथा कुन्ती से भेंट की और उनसे पाण्डवों के साथ धृतराष्ट्र द्वारा किये गये दुर्व्यवहार के बारे में सुना। कृष्ण के प्रति पाण्डवों की श्रद्धा से परिचित होने पर उसने धृतराष्ट्र को उचित सलाह दी और फिर धृतराष्ट्र के मन की बात जानकर मथुरा लौट आया। यहाँ उसने हस्तिनापुर की स्थिति का सारा समाचार कह सुनाया।

पचासवें अध्याय में ५७ श्लोक हैं। इसमें जरासन्ध द्वारा मथुरा पर आक्रमण करने का उल्लेख है। जब जरासन्ध ने सुना कि उसका दामाद कंस मारा गया तो उसने राम तथा कृष्ण को मार डालने के लिए मथुरा पर आक्रमण कर दिया, किन्तु उसे सत्रह बार मुँह की खानी पड़ी। जब अठारहवीं बार जरासंध मथुरा पर आक्रमण करने वाला था, तो नारद के कहने से कालयवन ने भी मथुरा पर धावा बोल दिया। इस तरह यादववंश जल के बीच बने किले में प्रविष्ट हुआ और योगशक्ति द्वारा वहाँ रहा। यादववंश की सुरक्षा का प्रबन्ध करके तथा बलदेव से परामर्श करने के बाद भगवान् कृष्ण द्वारका से बाहर आये। अध्याय इक्यावन में ६३ श्लोक हैं जिसमें मुचकुन्द द्वारा मात्र दृष्टिपात करने से कालयवन के मारे जाने का उल्लेख मिलता है।

अध्याय बावन में ४४ श्लोक हैं। इस अध्याय में मुचकुन्द कृष्ण की स्तुति करता है और कृष्ण कालयवन के सारे सैनिकों को मारकर उनके द्वारा लूटी हुई सारी सामग्री लेकर द्वारका लौट आते हैं। जब जरासन्ध फिर से मथुरा पर आक्रमण करता है, तो राम तथा कृष्ण भगकर पहाड़ की चोटी पर चढ़ जाते हैं मानो डर गये हों जिसके बाद जरासन्ध पर्वत में आग लगा देता है। जरासन्ध के देखे बिना कृष्ण तथा बलराम पर्वत की चोटी से नीचे कूदकर द्वारका पहुँचते हैं, जो चारों ओर से समुद्र से घिरा है। जरासन्ध समझता है कि वे दोनों मर गये हैं अत: वह अपनी सेना लेकर अपने देश लौट जाता है और कृष्ण द्वारका में रहने लगते हैं। विदर्भराज की कन्या रुक्मिणी कृष्ण के प्रति अत्यधिक आकृष्ट थी। उसने एक ब्राह्मण के हाथ कृष्ण के पास एक पत्र भेजा। अध्याय तिरपन में ५७ श्लोक हैं। रुक्मिणी की विनती पर कृष्ण विदर्भ जाकर जरासन्ध जैसे शत्रुओं की उपस्थिति में रुक्मिणी का हरण

कर लाते हैं। अध्याय चौवन, जिसमें ६० श्लोक हैं बतलाता है कि कृष्ण ने सारे विपक्षी राजकुमारों को हराकर रुक्मिणी के भाई रुक्मी को कुरूप बना दिया। फिर वे रुक्मिणी समेत द्वारका लौट आये जहाँ आकर उन दोनों ने औपचारिक विवाह कर लिया। किन्तु रुक्मी अपने बहनोई कृष्ण से क्रुद्ध होकर भोजकट नामक स्थान में रहने लगा। पचपनवें अध्याय में ४० श्लोक हैं जिसमें प्रद्युम्न-जन्म, शम्बरासुर द्वारा प्रद्युम्न-अपहरण तथा बाद में किस तरह प्रद्युम्न के द्वारा शम्बरासुर वध और अपनी पत्नी रति देवी के साथ द्वारका लौट आने का वर्णन मिलता है।

छप्पनवें अध्याय में ४५ श्लोक हैं। इसमें बतलाया गया है कि किस तरह सूर्यदेव की कृपा से राजा सत्राजित को स्यमंतक मणि की प्राप्ति हुई। बाद में यह मणि चोरी चली गयी तो सत्राजित को कृष्ण पर व्यर्थ ही सन्देह हुआ, किन्तु कृष्ण ने अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए उस मणि को पुनः प्राप्त किया और साथ में जाम्बवान की पुत्री को भी। बाद में कृष्ण ने सत्राजित की पुत्री से विवाह किया और प्रचुर दहेज प्राप्त किया। सत्तावनवें अध्याय में, जिसमें ४२ श्लोक हैं, बतलाया गया है कि पाण्डवों के लाक्षागृह में अग्निकाण्ड की घटना सुनने के बाद बलराम तथा कृष्ण दोनों हस्तिनापुर गये। जब अक्रूर तथा कृतवर्मा के बहकावे में आकर शतधन्वा द्वारा सत्राजित मारा गया तो बलराम और कृष्ण द्वारका लौट आये। स्यमन्तक मणि को अक्रूर के पास छोड़कर शतधन्वा जंगल की ओर भाग गया। इस तरह शतधन्वा का वध करके भी कृष्ण स्यमन्तक मणि नहीं पा सके। अन्त में मणि ढूँढ़ निकाली गयी और अक्रूर को दे दी गयी। अट्ठावनवें अध्याय में ५८ श्लोक हैं। जब पाण्डवों का अज्ञातवास समाप्त हुआ तो कृष्ण उनसे भेंट करने इन्द्रप्रस्थ गये। इसके बाद उन्होंने कालिन्दी आदि पाँच पत्नियों से विवाह किया। जब कृष्ण तथा अर्जुन ने खाण्डवबन में आग लगा दी तो अर्जुन को गाण्डीव धनुष प्राप्त हुआ। मयदानव असुर ने पाण्डवों के लिए सभा भवन बनाया। इससे दुर्योधन अत्यन्त व्यथित हो गया।

उनसठवें अध्याय में ४५ श्लोक हैं। इस अध्याय में कृष्ण ने इन्द्र की प्रार्थना पर साक्षात् पृथ्वी के पुत्र नरकासुर तथा मुर इत्यादि उसके असुर संगियों का वध किया। साक्षात् पृथ्वी ने कृष्ण की प्रार्थना की और नरकासुर द्वारा चुराई हुई सारी वस्तुएँ लाकर कृष्ण को लौटा दीं। तब कृष्ण ने नरकासुर के पुत्र को अभयदान दिया और नरकासुर द्वारा बन्दी बनाई गई सोलह हजार राजकुमारियों के साथ अपना

विवाह किया। इसी अध्याय में कृष्ण स्वर्ग से पारिजात पौधा लाते हैं तथा इन्द्र आदि की मूर्खता का भी इसी में उल्लेख मिलता है।

साठवें अध्याय में ५९ श्लोक हैं। कृष्ण अपने परिहास से रुक्मिणी को क्रुद्ध करते हैं, दोनों के बीच प्रेम-कलह होता है और रुक्मिणी को कृष्ण मनाते हैं। इकसठवें अध्याय में ४० श्लोक हैं। इसमें कृष्ण के पुत्रों-पौत्रों का वर्णन हुआ है। अनिरुद्ध के विवाह के समय बलराम रुक्मी का वध करते हैं और कलिंगराज के दाँत तोड़ते हैं।

बासठवें अध्याय में ३३ श्लोक हैं। इस अध्याय का शुभारम्भ बाणासुर की पुत्री उषा के हरण की वार्ता एवं उषा तथा अनिरुद्ध के प्रेमालाप से होता है। इसमें अनिरुद्ध तथा बाणासुर के बीच युद्ध का तथा बाणासुर द्वारा अनिरुद्ध को नागपाश में बाँधे जाने का भी वर्णन हुआ है। तिरसठवें अध्याय में ५३ श्लोक हैं। इसमें बाणासुर तथा यादवों के बीच छिड़ने वाले संग्राम में शिवजी की पराजय का वर्णन हुआ है। जब रुद्रज्वर वैष्णवज्वर से हार गया तो उसने कृष्ण की प्रार्थना की। कृष्ण ने बाणासुर की हजार भुजाओं में से केवल चार भुजाएँ छोड़कर और शेष सभी को काट कर उस पर कृपा की। तत्पश्चात् वे उषा तथा अनिरुद्ध को साथ लेकर द्वारका लौट आये।

चौंसठवें अध्याय में ४४ श्लोक हैं। इसमें कृष्ण इक्ष्वाकुपुत्र राजा नृग का शाप से उद्धार करते हैं और सभी राजाओं को उपदेश देते हैं कि ब्राह्मण की सम्पत्ति का हरण-करण एक दोष है। राजा नृग के उद्धार के प्रसंग में उन यादवों के लिए भी आदेश हैं, जो सम्पत्ति-भोग ऐश्वर्य, विलास इत्यादि के कारण गर्वित हो उठे थे।

अध्याय पैंसठ में ३४ श्लोक हैं। भगवान् बलदेव अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों से भेंट करने गोकुल जाते हैं। चैत और बैसाख के महीनों में यमुना के तटवर्ती कुंजों में अपनी गोपियों के साथ वे रासोत्सव तथा यमुना-कर्षण लीलाएँ सम्पन्न करते हैं।

छियासठवें अध्याय में ४३ श्लोक हैं। इसमें कृष्ण काशी जाते हैं और वहाँ पौण्ड्रक तथा उसके मित्र काशी नरेश सुदक्षिण तथा अन्यों का वध करते हैं। अध्याय सड़सठ में २८ श्लोक हैं जिनमें रैवतक पर्वत में अनेक युवतियों के साथ बलदेवजी द्वारा भोग-विलास करने एवं मैन्द के भाई तथा नरकासुर के मित्र द्विविद नामक उपद्रवी लंगूर के मारे जाने का वर्णन मिलता है।

अध्याय अड़सठ में ५४ श्लोक हैं जिसमें जाम्बवती के पुत्र साम्ब द्वारा दुर्योधन की पुत्री लक्ष्मणा के हरण एवं कौरवों से युद्ध करते हुए उसके बन्दी बनाये जाने का उल्लेख है। उसे छुड़ाने तथा शान्ति स्थापित किये जाने के लिए भगवान् बलदेव एक शुभचिन्तक के रूप में हस्तिनापुर जाते हैं किन्तु कौरवगण असहयोग दिखलाते हैं अत: उनके अहंकार को देखकर भगवान् बलराम अपने हल से हस्तिनापुर को खींचने लगते हैं। इस पर दुर्योधन समेत सारे कौरव बलदेव की स्तुति करते हैं और वे साम्ब तथा लक्ष्मणा समेत द्वारका लौट जाते हैं।

उनहत्तरवें अध्याय में ४५ श्लोक हैं। इसमें कृष्ण अपनी सोलह हजार रानियों के साथ गृहस्थ-जीवन बिताते हैं। महर्षि नारद तक को आश्चर्य होता है कि कृष्ण किस प्रकार सोलह हजार रूपों में विस्तारित होकर गृहस्थ-जीवन बिताते हैं। फलत: नारद भी कृष्ण की स्तुति करते हैं जिससे कृष्ण उन पर अत्यधिक प्रसन्न होते हैं।

सत्तरवें अध्याय में ४७ श्लोक हैं जिनमें कृष्ण के दैनिक कर्मकाण्ड तथा जरासंध द्वारा बन्दी बनाये गये राजाओं को मुक्त किये जाने का वर्णन हुआ है। जब भगवान् कृष्ण इन राजाओं द्वारा भेजे गये दूत से भेंट कर रहे थे तभी नारद ने आकर पाण्डवों की जानकारी दी। उन्होंने कृष्ण को बताया कि पाण्डव लोग राजसूय यज्ञ करना चाहते हैं, तो कृष्ण ने उसमें सम्मिलित होने की हामी भर दी, किन्तु उन्होंने पहले उद्धव का निर्णय जानना चाहा कि क्या राजा जरासन्ध के वध को प्राथमिकता दी जाय या राजसूय यज्ञ सम्पन्न कराने को। इकहत्तरवें अध्याय में ४५ श्लोक हैं जिसमें कृष्ण के इन्द्रप्रस्थ पहुँचने पर पाण्डवों की प्रसन्नता का वर्णन हुआ है। कृष्ण की अकल्पनीय इच्छा थी कि जरासन्ध का वध हो और महाराज युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ भी सम्पन्न करें।

बहत्तरवें अध्याय में ४६ श्लोक हैं। कृष्ण द्वारा राजसूय यज्ञ सम्पन्न कराने की स्वीकृति दिये जाने पर महाराज युधिष्ठिर अत्यधिक प्रसन्न हुए। इस अध्याय में जरासन्ध के वध, उसके पुत्र का सिंहासन पर बैठना तथा जरासन्ध द्वारा कैदी बनाये गये राजाओं की मुक्ति का भी वर्णन हुआ है। तिहत्तरवें अध्याय में ३५ श्लोक हैं। जब कृष्ण ने राजाओं को छुड़ा दिया और उन्हें अपनी राजसत्ता मिल गई तो जरासन्ध के पुत्र सहदेव ने कृष्ण की पूजा की और कृष्ण भीम तथा अर्जुन समेत इन्द्रप्रस्थ लौट आये। चौहत्तरवें अध्याय में ५४ श्लोक हैं। महाराज युधिष्ठिर ने कृष्ण की स्तुति की और राजसूय यज्ञ में

उनकी अग्रपूजा की। भगवान् को इस प्रकार सम्मान देना प्रत्येक मनुष्य का सर्वोपरि कर्तव्य है, किन्तु चेदि नरेश शिशुपाल के लिए यह असह्य था। वह कृष्ण की निन्दा करने लग पड़ा। अत: कृष्ण ने उसका सिर धड़ से अलग कर दिया और उसे सारूप्य मुक्ति प्रदान की। राजसूय यज्ञ के समाप्त होने के बाद कृष्ण अपनी रानियों समेत द्वारका लौट आये। पचहत्तरवें अध्याय में ४० श्लोक हैं। इसमें राजसूय यज्ञ सम्पन्न होने के बाद युधिष्ठिर द्वारा अन्तिम स्नान-कर्म सम्पन्न किये जाने का वर्णन है। दुर्योधन मय दानव द्वारा बनाये गये राजमहल को देखकर मोहित हो गया फलत: उसने अपने को अपमानित हुआ समझा।

छिहत्तरवें अध्याय में ३३ श्लोक हैं। इसमें रुक्मिणी का हरण करते समय कृष्ण द्वारा हराये गये राजा साल्व के संकल्प का वर्णन हुआ है कि किस प्रकार उसने संसार से यादवों का विनाश करने का निर्णय किया। यादवों को हराने के लिए उसने शिवजी की पूजा की जिन्होंने उसे सौभ नामक विमान दिया। जब साल्व वृष्णियों से युद्ध कर रहा था, तो प्रद्युम्न ने मय दानव द्वारा निर्मित विमान को चकनाचूर कर दिया, किन्तु साल्व के भाई द्युमान ने उस पर आक्रमण कर दिया। उसकी गदा से चोट खाकर बेहोश हुए प्रद्युम्न को उसका सारथी युद्ध-स्थल से कुछ दूर तक ले आया, किन्तु बाद में उसे पश्चात्ताप हुआ कि उसे युद्ध-स्थल से दूर क्यों ले जाया गया। सतहत्तरवें अध्याय में ३७ श्लोक हैं। इसमें प्रद्युम्न होश आने पर साल्व से फिर युद्ध करता है। इन्द्रप्रस्थ से द्वारका लौटने पर तुरन्त ही कृष्ण युद्ध-स्थल पर पहुँचे जहाँ प्रद्युम्न और साल्व युद्ध कर रहे थे। वहाँ कृष्ण ने साल्व का वध कर डाला यद्यपि वह मायाजनित अस्त्रों को धारण किये था।

अठहत्तरवें अध्याय में ४० श्लोक हैं। इसमें साल्व का मित्र दन्तवक्र तथा उसका भाई विदूरथ कृष्ण द्वारा मारे जाते हैं। कौरवों तथा पाण्डवों के युद्ध में भाग लेने के बजाए बलदेव जो द्वारकापुरी में रह रहे थे, तीर्थ-भ्रमण करने चले जाते हैं। नैमिषारण्य में रोमहर्षण के दुर्व्यवहार के कारण बलदेव उसे मारकर उसके पुत्र उग्रश्रवा अर्थात् सूत गोस्वामी को *श्रीमद्भागवत* का वाचक नियुक्त करते हैं जिससे पुराणों पर प्रवचन चलता रहे। उन्यासीवें अध्याय में ३४ श्लोक हैं। इसमें नैमिषारण्य के ब्राह्मणों द्वारा बलदेव को रोमहर्षण की मृत्यु के लिए प्रायश्चित्त करने के लिए कहा जाता है। बल्वल नामक असुर को मारने के बाद बलदेव यात्रा करते रहे और तीर्थस्थानों में स्नान करते हुए अन्तत: कुरुक्षेत्र की

युद्धभूमि पहुँचे, जहाँ भीम तथा दुर्योधन लड़ रहे थे। तत्पश्चात् वे द्वारका लौट आये और एक बार फिर नैमिषारण्य गये जहाँ उन्होंने ऋषियों को उपदेश दिया। तत्पश्चात् वे अपनी पत्नी रेवती समेत वहाँ से चले गये।

अध्याय अस्सी में ४५ श्लोक हैं जिनमें बतलाया गया है कि किस तरह कृष्ण का मित्र विप्र सुदामा कृष्ण के पास धन माँगने आया और कृष्ण द्वारा पूजित हुआ। कृष्ण ने गुरुकुल में अपने बाल्यकाल के संस्मरण सुनाये। इक्यासीवें अध्याय में ४१ श्लोक हैं। इसमें कृष्ण तथा उनके मित्र सुदामा के बीच मैत्री की बातों का उल्लेख मिलता है। कृष्ण ने सुदामा विप्र से चावल की भेंट बड़े हर्ष सहित स्वीकार की। जब सुदामा विप्र अपने घर लौटा तो उसे वहाँ हर वस्तु ऐश्वर्यपूर्ण दिखी। फलत: उसने भगवान् की मित्रता की सराहना की। उसने भगवान् द्वारा दी गई भेंट से भौतिक ऐश्वर्य का भोग किया और बाद में भगवद्धाम गया।

बयासीवें अध्याय में ४८ श्लोक हैं। इसमें यादवों द्वारा सूर्य ग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र जाने तथा वहाँ अन्य राजाओं द्वारा कृष्ण के विषय में बातें करने का वर्णन मिलता है। इस भेंट में कृष्ण ने नन्द महाराज तथा वहाँ आये वृन्दावनवासियों को तुष्ट किया। तिरासीवें अध्याय में ४३ श्लोक हैं जिसमें कुरुक्षेत्र में एकत्र हुई स्त्रियों के बीच कृष्ण की बातें चलने तथा द्रौपदी द्वारा कृष्ण की रानियों से उनके विवाह की बात पूछने का वर्णन हुआ है। चौरासीवें अध्याय में ७१ श्लोक हैं। जब बड़े-बड़े ऋषिमुनि कृष्ण का दर्शन करने कुरुक्षेत्र आये तो कृष्ण ने उन सबकी बड़ी प्रशंसा की। इस अवसर पर वसुदेव बहुत बड़ा यज्ञ करना चाह रहे थे अतएव ऋषियों ने सलाह दी कि कृष्ण की पूजा की जाय। यज्ञ सम्पन्न होने पर वहाँ आये समस्त जन अपने-अपने घरों को चले गये। पचासीवें अध्याय में ५९ श्लोक हैं। कृष्ण ने अपनी माता-पिता के अनुरोध पर अपनी कृपा से उनके मृत पुत्रों को लौटा दिया और उन सबका उद्धार हो गया। छियासीवें अध्याय में भी ५९ श्लोक हैं। इस अध्याय में महान् युद्ध के पश्चात् अर्जुन द्वारा सुभद्रा-हरण का वर्णन हुआ है। इसमें यह भी बतलाया गया है कि किस प्रकार कृष्ण अपने भक्त बहुलाश्व पर कृपा करने मिथिला गये और श्रुतदेव के मकान पर ठहरे तथा उनकी आध्यात्मिक प्रगति के विषय में उपदेश दिया।

सत्तासीवें अध्याय में ५० श्लोक हैं जिसमें वेदों द्वारा नारायण की स्तुति का वर्णन है। अट्ठासीवें

अध्याय में ४० श्लोक हैं जिनमें यह बतलाया गया है कि किस प्रकार विष्णु की पूजा करके वैष्णवजन दिव्य बनते हैं और भगवद्धाम वापस जाते हैं। देवताओं की पूजा से भौतिक शक्ति भले मिलती हो, किन्तु इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह इस भौतिक जगत में सामान्य जीव पर श्रीकृष्ण की कृपा हो सकती है। इस तरह ब्रह्मा तथा शिव के ऊपर भगवान् विष्णु की श्रेष्ठता स्थापित होती है। नवासीवें अध्याय में ६५ श्लोक हैं जिनमें यह उद्घाटित हुआ है कि भौतिक अर्चाविग्रहों में कौन सर्वश्रेष्ठ है। यद्यपि विष्णु त्रिदेवों—ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर—में से एक हैं किन्तु वे दिव्य तथा सर्वोच्च हैं। इसी अध्याय में इसका भी वर्णन मिलता है कि कृष्ण तथा अर्जुन द्वारका के किसी ब्राह्मण-पुत्र का उद्धार करने महाकालपुर गये और किस तरह अर्जुन अचम्भित हुए। नब्बेवें अध्याय में ५० श्लोक हैं। इसमें कृष्ण की लीलाओं का सारांश दिया गया है और *मधुरेण समापयेत्* का तर्क प्रस्तुत किया गया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि हर बात दिव्य आनंद में अच्छी तरह समाप्त होती है।

Chapter एक

भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार: परिचय

प्रथम अध्याय का सारांश इस प्रकार है। इस अध्याय में बताया गया है कि देवकी के आठवें पुत्र द्वारा मारे जाने के अपशकुन को सुनकर डरे हुए कंस ने किस तरह देवकी के पुत्रों को एक-एक करके मार डाला।

जब शुकदेव गोस्वामी यदुवंश तथा उसी के साथ चन्द्र देव तथा सूर्य देव के वंशों का वर्णन कर चुके तो महाराज परीक्षित ने उनसे प्रार्थना की कि वे यदुवंश में बलदेव के साथ प्रकट होने वाले भगवान् कृष्ण का तथा इस जगत में उनके द्वारा सम्पन्न कार्यकलापों का वर्णन करें। राजा ने कहा कि कृष्ण दिव्य हैं अतएव उनके कार्यकलापों को समझना मुक्तात्माओं का कार्य है। कृष्ण-लीला का श्रवण ऐसी नाव है, जिससे जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। कसाई या आत्मघाती व्यक्ति को छोड़कर प्रत्येक बुद्धिमान मनुष्य को कृष्ण तथा उनके कार्यकलापों को समझने का प्रयास करना चाहिए।

पाण्डवों के एकमात्र आराध्यदेव कृष्ण थे। जब महाराज परीक्षित अपनी माता उत्तरा के गर्भ में थे

तो कृष्ण ने उन्हें ब्रह्म-शस्त्र के प्रहार से बचाया था। अब महाराज परीक्षित शुकदेव गोस्वामी से पूछते हैं कि रोहिणी-पुत्र भगवान् बलदेव किस तरह देवकी के गर्भ से प्रकट हो सके, कृष्ण मथुरा से वृन्दावन क्यों स्थानान्तरित हुए और वे वहाँ अपने परिवार वालों के साथ किस तरह रहे? कृष्ण ने मथुरा तथा वृन्दावन में क्या किया और उन्होंने अपने मामा कंस का वध क्यों किया? कृष्ण कितने वर्षों तक द्वारका में रहे और उनके कितनी रानियाँ थीं? महाराज परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से ये सारे प्रश्न पूछे। उन्होंने शुकदेव गोस्वामी से यह भी अनुरोध किया कि वे कृष्ण के उन अन्य कार्यों का भी वर्णन करें जिन्हें उन्होंने नहीं पूछा।

जब शुकदेव गोस्वामी कृष्णभावनामृत के विषय में बताने लगे तो महाराज परीक्षित को अपने उपवास से उत्पन्न थकान भूल गई। कृष्ण का वर्णन करने के लिए उत्सुक शुकदेव गोस्वामी ने बतलाया, ''कृष्ण के कार्यों का वर्णन गंगाजल के समान समस्त ब्रह्माण्ड को शुद्ध बनाने वाला है। वक्ता, प्रश्नकर्ता तथा श्रोता सभी शुद्ध हो जाते हैं।''

एक बार जब समस्त विश्व आसुरी राजाओं की बढ़ती सैन्य शक्ति से बोझिल हो उठा तो पृथ्वी माता ने गाय का रूप धारण किया और उनसे छुटकारा पाने के लिए ब्रह्माजी के पास पहुँची। माता पृथ्वी के सन्ताप पर दया करके ब्रह्माजी शिवजी तथा अन्य देवताओं समेत गाय रूपी धरती को अपने साथ लेकर क्षीर सागर के तट पर पहुँचे और भगवान् विष्णु को, जो दिव्य परमानन्द में एक द्वीप पर शयन कर रहे थे, प्रसन्न करने के लिए स्तुतियाँ कीं। तत्पश्चात् ब्रह्माजी ने महाविष्णु की सलाह समझ कर सूचित किया कि असुरों का भार हटाने के लिए विष्णु पृथ्वी पर प्रकट होंगे। देवताओं को चाहिए कि अपनी अपनी पत्नियों सहित यदुवंश की जनसंख्या बढ़ाने के लिए कृष्ण के संगियों के रूप में प्रकट हों। कृष्ण-कृपा से सबसे पहले अनन्तदेव बलराम के रूप में प्रकट होंगे और कृष्ण की शक्ति योगमाया भी प्रकट होंगी। ब्रह्माजी ने माता पृथ्वी को इसके विषय में सबकुछ बताया और तब वे अपने धाम लौट गये।

जब वसुदेव देवकी से विवाह करके देवकी के भाई कंस द्वारा हाँके जा रहे रथ पर सवार होकर अपने घर लौट रहे थे तभी आकाशवाणी सुनाई पड़ी कि देवकी का आठवाँ पुत्र कंस का वध करेगा। यह अपशकुन सुनकर कंस देवकी को तत्क्षण मार डालने के लिए उद्यत हुआ किन्तु वसुदेव ने

व्यवहारकुशलता उसे यह कहकर समझाया कि उसे अपनी छोटी बहन को, विशेषत: विवाह के समय पर, नहीं मारना चाहिए। हर देहधारी की मृत्यु अवश्य होगी। हर जीव एक शरीर में कुछ काल तक जीवित रहता है और तब वह दूसरे शरीर में स्थानान्तरित होता है किन्तु दुर्भाग्यवश वह शरीर को आत्मा मान बैठता है। यदि इस भ्रान्त धारणा से कोई व्यक्ति अन्य व्यक्ति को मारना चाहता है, तो उसकी नारकीय के तौर पर निन्दा होती है।

चूँकि कंस को वसुदेव के उपदेशों से सन्तोष नहीं हुआ इसलिए वसुदेव ने एक युक्ति निकाली। उन्होंने यह प्रस्ताव रखा कि वे देवकी की सारी सन्तानों को लाकर कंस को सौंप दिया करेंगे जिन्हें वह मार डाले। तो फिर देवकी को अब मारने से क्या लाभ? कंस को यह प्रस्ताव भा गया। समय आने पर जब देवकी के बच्चा उत्पन्न हुआ तो वसुदेव उस नवजात शिशु को लेकर कंस के पास पहुँचे जो वसुदेव की वदान्यता देखकर चकित रह गया। जब वसुदेव ने वह शिशु कंस को दे दिया तो कुछ बुद्धि दिखाते हुए कंस ने कहा कि चूँकि उसका वध आठवीं सन्तान के द्वारा होना है, तो फिर पहली सन्तान को मारने से क्या लाभ? यद्यपि वसुदेव को कंस के कहने पर विश्वास नहीं हो रहा था किन्तु कंस ने वसुदेव से बालक को वापस ले जाने के लिए कहा परन्तु बाद में जब नारदमुनि कंस के पास पहुँचे और उसे यह रहस्य बताया कि देवतागण यदु तथा वृष्णिवंशों में उत्पन्न होकर उसे मारने का षडयंत्र रच रहे हैं, तो कंस ने इन वंशों में जन्म लेने वाले समस्त बालकों को मार डालने का निश्चय किया और उसने यह भी तय किया कि देवकी के गर्भ से उत्पन्न सारे बालकों को मार डाला जाय। अतएव उसने वसुदेव तथा देवकी दोनों ही को बन्दी बना लिया और एक-एक करके उनके छह पुत्रों को मारता रहा। नारद ने कंस को यह भी सूचित किया कि कंस अपने पूर्वजन्म में कालनेमि नामक असुर था जिसका वध विष्णु ने किया था। फलस्वरूप कंस यदुवंशियों का महान् शत्रु बन गया। यहाँ तक कि उसने अपने पिता उग्रसेन को भी बन्दी बना लिया क्योंकि वह अकेले राज्य-भोग करना चाहता था।

कृष्ण की लीलाएँ तीन प्रकार की हैं—व्रज लीला, मथुरा लीला तथा द्वारका लीला। जैसाकि पहले उल्लेख किया जा चुका है, *श्रीमद्‌भागवत* के दसवें स्कंध में ९० अध्याय हैं जिनमें इन लीलाओं का वर्णन हुआ है। प्रथम चार अध्यायों में पृथ्वी का भार हटाने के लिए ब्रह्मा द्वारा की गई स्तुतियाँ हैं और भगवान् के प्राकट्य का भी वर्णन है। अध्याय ५ से लेकर ३९वें अध्याय तक कृष्ण की वृन्दावन

लीलाओं का वर्णन है। चालीसवें अध्याय में बतलाया गया है कि कृष्ण ने किस तरह यमुना-जल का आनन्द लूटा और अक्रूर ने किस तरह स्तुतियाँ कीं। अध्याय ४१ से लेकर ५१ तक के ग्यारह अध्यायों में कृष्ण की मथुरा लीलाएँ हैं और अध्याय ५२ से ९० तक के ३९ अध्यायों में कृष्ण की द्वारका लीलाएँ हैं।

उन्तीस से लेकर तैंतीसवें अध्याय तक गोपियों के साथ कृष्ण के नाचने का, अर्थात् *रासलीला* का वर्णन है। अतएव इन पाँच अध्यायों को *रास पञ्चाध्याय* कहा जाता है। और सैंतालीसवाँ अध्याय *भ्रमर गीता* कहलाता है।

श्रीराजोवाच

कथितो वंशविस्तारो भवता सोमसूर्ययोः ।
राज्ञां चोभयवंश्यानां चरितं परमाद्भुतम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा परीक्षित ने कहा; **कथितः**—पहले ही वर्णित हो चुका है, जो; **वंश-विस्तारः**—वंश का विस्तार से वर्णन; **भवता**—आपके द्वारा; **सोम-सूर्ययोः**—चन्द्रदेव तथा सूर्यदेव के; **राज्ञाम्**—राजाओं का; **च**—तथा; **उभय**—दोनों; **वंश्यानाम्**—वंश के सदस्यों का; **चरितम्**—चरित्र; **परम**—श्रेष्ठ; **अद्भुतम्**—तथा अद्भुत।

राजा परीक्षित ने कहा : हे प्रभु, आपने चन्द्रदेव तथा सूर्यदेव दोनों के वंशों का, उनके राजाओं के महान् तथा अद्भुत चरित्रों सहित विशद वर्णन किया है।

तात्पर्य : नवम स्कन्ध के अन्त में चौबीसवें अध्याय में शुकदेव गोस्वामी ने कृष्ण के कार्यकलापों का सार दे दिया है। उन्होंने बतलाया कि कृष्ण किस प्रकार धरती का बोझ कम करने के लिए स्वयं प्रकट हुए थे, किस तरह उन्होंने गृहस्थ के रूप में लीलाएँ कीं और किस तरह जन्म के तुरन्त बाद उन्हें उनकी व्रजभूमिलीला में ले जाया गया। परीक्षित महाराज कृष्ण-भक्त होने के कारण भगवान् कृष्ण के विषय में और अधिक सुनना चाह रहे थे। इसीलिए कृष्ण के विषय में कथा कहते रहने तथा विस्तृत जानकारी देने के लिए प्रोत्साहित करने की दृष्टि से उन्होंने शुकदेव गोस्वामी का आभार प्रकट किया कि उन्होंने कृष्ण के कार्यकलापों का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया है। शुकदेव गोस्वामी ने कहा था—

जातो गतः पितृ-गृहाद् व्रजमेधितार्थो

हत्वा रिपून् सुतशतानि कृतोरुदारः ।

उत्पाद्य तेषु पुरुषः क्रतुभिः समीजे

आत्मानमात्मनिगमं प्रथयाञ्जनेषु ॥

"लीलापुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण वसुदेव के पुत्र रूप में प्रकट तो हुए, किन्तु वे तुरन्त ही अपने पिता का घर छोड़कर वृन्दावन चले गये जिससे वहाँ अपने विश्वस्त भक्तों के साथ अपने स्नेहमय सम्बन्धों का विस्तार कर सकें। उन्होंने वृन्दावन में अनेक असुरों का वध किया और बाद में वे द्वारका चले गये जहाँ उन्होंने वैदिक विधि से अनेक पत्नियों के साथ विवाह किया जो स्त्रीरत्न थीं। उनसे सैकड़ों पुत्र उत्पन्न किये और गृहस्थ जीवन के नियमों की स्थापना करने के लिए अपनी पूजा हेतु अनेक यज्ञ सम्पन्न किये।" (भागवत ९.२४.६६)

यदुवंश सोम अर्थात् चन्द्रदेव से चले आ रहे कुल से सम्बन्धित था। यद्यपि ग्रहों की ऐसी व्यवस्था है कि सूर्य चन्द्रमा से पहले आता है, किन्तु परीक्षित महाराज ने चन्द्रवंश अर्थात् *सोमवंश* को अधिक सम्मान दिया क्योंकि चन्द्रमा से चले आ रहे यादववंश में कृष्ण अवतीर्ण हुए थे। दो पृथक् क्षत्रिय राजवंश हैं चन्द्रग्रह के राजा से चला आने वाला वंश तथा सूर्यग्रह के राजा से चला आने वाला वंश। जब भी भगवान् अवतीर्ण होते हैं, तो सामान्यतया वे क्षत्रियवंश में प्रकट होते हैं क्योंकि वे धर्म के सिद्धान्तों तथा सत्यमय जीवन की स्थापना करने आते हैं। वैदिक प्रणाली के अनुसार क्षत्रियवंश मानव जाति का रक्षक होता है। जब भगवान् श्रीरामचन्द्र के रूप में प्रकट हुए तो वे सूर्य देवता से चले आ रहे सूर्यवंश में अवतरित हुए थे, किन्तु जब वे कृष्ण के रूप में प्रकट हुए तो वे चन्द्रदेवता से चले आ रहे यदुवंश में अवतीर्ण हुए। *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध के चौबीसवें अध्याय में यदुवंशी राजाओं की लम्बी सूची दी हुई है। सोमवंश तथा सूर्यवंश के सारे राजा महान् तथा शक्तिशाली थे और महाराज परीक्षित ने सबकी बड़ी प्रशंसा की थी (*राज्ञां चोभयवंश्यानां चरितं परमाद्भुतम्*)। फिर भी वे सोमवंश के विषय में और अधिक सुनना चाह रहे थे क्योंकि इसी वंश में कृष्ण अवतीर्ण हुए थे।

ब्रह्म-संहिता में भगवान् कृष्ण के परम धाम को चिन्तामणि धाम कहा गया है— *चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्षलक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्।* इस धरा पर वृन्दावन धाम उसी धाम का प्रतिरूप है। जैसाकि *भगवद्गीता* (८.२०) में कहा गया है वैकुण्ठलोक में एक अन्य नित्य प्रकृति होती है, जो व्यक्त तथा अव्यक्त पदार्थ से परे होती है। व्यक्त जगत को अनेक नक्षत्रों तथा ग्रहों यथा चन्द्रमा तथा सूर्य के रूप में देखा जा सकता है, किन्तु इसके परे अव्यक्त है, जो देहधारियों के लिए अदृश्य होता है। इस अव्यक्त पदार्थ के परे आध्यात्मिक लोक है, जिसे *भगवद्गीता* में परम तथा नित्य

कहा गया है। इस लोक का कभी संहार नहीं होता। यद्यपि भौतिक प्रकृति का बारम्बार सृजन तथा संहार होता रहता है, किन्तु आध्यात्मिक प्रकृति शाश्वत रहती है। *श्रीमद्भागवत* के दशम स्कन्ध में उस आध्यात्मिक प्रकृति, उस आध्यात्मिक जगत का वर्णन वृन्दावन, गोलोक वृन्दावन या व्रजधाम के रूप में हुआ है। नवम स्कन्ध के उपर्युक्त श्लोक *जातोगत: पितृगृहाद्* का विस्तृत वर्णन इस दशम स्कन्ध में मिलेगा।

यदोश्च धर्मशीलस्य नितरां मुनिसत्तम ।
तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्याणि शंस नः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यदोः—यदु या यदुवंश का; च—भी; धर्म-शीलस्य—जो धर्मनिष्ठ हैं; नितराम्—अत्यन्त योग्य; मुनि-सत्तम—हे मुनियों में श्रेष्ठ अथवा मुनियों के राजा (शुकदेव गोस्वामी); तत्र—उस वंश में; अंशेन—अपने अंश बलदेव के साथ; अवतीर्णस्य—अवतार रूप में प्रकट; विष्णोः—भगवान् विष्णु के; वीर्याणि—महिमामय कार्यकलाप; शंस—कृपया वर्णन करें; नः—हमसे।

हे मुनिश्रेष्ठ, आप परम पवित्र तथा धर्मशील यदुवंशियों का भी वर्णन कर चुके हैं। अब हो सके तो कृपा करके उन भगवान् विष्णु या कृष्ण के अद्भुत महिमामय कार्यकलापों का वर्णन करें जो यदुवंश में अपने अंश बलदेव के साथ प्रकट हुए हैं।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* (५.१) में बतलाया गया है कि *विष्णुतत्त्व* के उद्गम कृष्ण ही हैं :

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।

अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

"गोविन्द कहे जाने वाले कृष्ण ही परम नियन्ता हैं। उनका शरीर नित्य, आनन्दमय तथा आध्यात्मिक है। वे सबके उद्गम हैं। उनका कोई अन्य उद्गम नहीं क्योंकि वे समस्त कारणों के कारण हैं।"

यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य

जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः।

विष्णुर्महान स इह यस्य कलाविशेषो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"असंख्य ब्रह्माण्डों के प्रधान ब्रह्मागण महाविष्णु के एक श्वास की अवधि के बराबर जीवित रहते हैं। महाविष्णु जिन आदि भगवान् गोविन्द के अंशमात्र हैं, मैं उनकी पूजा करता हूँ।" (*ब्रह्म-संहिता*

५.४८)।

गोविन्द या कृष्ण आदि भगवान् हैं। *कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।* यहाँ तक कि वे महाविष्णु, जिनकी श्वास से करोड़ों ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं, कृष्ण के *कला विशेष* अर्थात् अंश के भी अंश हैं। महाविष्णु संकर्षण के अंश (कला) हैं, जो नारायण के अंश हैं। नारायण *चतुर्व्यूह* के और चतुर्व्यूह कृष्ण के प्रथम प्राकट्य बलदेव के अंश हैं। अत: जब बलदेव समेत कृष्ण आविर्भूत हुए तो उनके साथ सारे के सारे विष्णुतत्त्व प्रकट हुए।

महाराज परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से प्रार्थना की कि वे कृष्ण तथा उनके महिमामय कार्यकलापों का वर्णन करें। इस श्लोक का एक दूसरा भी अर्थ निकलता है। यद्यपि शुकदेव गोस्वामी सबसे बड़े मुनि थे तो भी वे कृष्ण का आंशिक (*अंशेन*) वर्णन ही कर सके क्योंकि कृष्ण का पूरा-पूरा वर्णन कोई नहीं कर सकता। कहा जाता है कि अनन्तदेव के हजारों सिर हैं और यद्यपि वे अपनी हजारों जीभों से कृष्ण का वर्णन करने का प्रयत्न करते हैं, तो भी यह वर्णन अधूरा ही रहता है।

अवतीर्य यदोर्वंशे भगवान्भूतभावन: ।
कृतवान्यानि विश्वात्मा तानि नो वद विस्तरात् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अवतीर्य—अवतार लेकर; यदो: वंशे—यदुवंश में; भगवान्—भगवान्; भूत-भावन:—विराट जगत के कारणस्वरूप; कृतवान्—सम्पन्न किया; यानि—जो भी (कार्य); विश्व-आत्मा—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के परमात्मा; तानि—उन सभी (कार्यों) को; न:—हमसे; वद—कहें; विस्तरात्—विस्तार से।

परमात्मा अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण, जो विराट जगत के कारण हैं, यदुवंश में प्रकट हुए। आप कृपा करके मुझे उनके यशस्वी कार्यकलापों तथा उनके चरित्र का आदि से लेकर अन्त तक वर्णन करें।

तात्पर्य : इस श्लोक में आये *कृतवान् यानि* शब्द सूचित करते हैं कि इस धरा में रहते हुए कृष्ण ने जितने भी कार्यकलाप किये वे मानव समाज के लिए लाभप्रद हैं। यदि धर्मवेत्ता, दार्शनिक तथा सामान्य लोग कृष्ण के कार्यकलापों का केवल श्रवण करें तो उनको मुक्ति मिल सकती है। हमने कई बार कहा है कि कृष्णकथा दो प्रकार की है—एक तो *भगवद्गीता* जिसे भगवान् कृष्ण ने अपने विषय में कहा है और दूसरी *श्रीमद्भागवत* जिसे शुकदेव गोस्वामी ने कृष्ण की महिमा के विषय में कहा है। जो भी व्यक्ति कृष्णकथा में थोड़ी सी भी रुचि दिखलाता है, वह मुक्ति प्राप्त करता है। *कीर्तनाद् एव कृष्णस्य*

मुक्तसंग: परं व्रजेत् (*भागवत* १२.३.५१)। केवल कीर्तन करने अथवा बारम्बार कृष्णकथा कहने से मनुष्य कलियुग के कल्मष से मुक्त हो जाता है। इसीलिए चैतन्य महाप्रभु ने उपदेश दिया है— *यारे देख, तारे कह 'कृष्ण' उपदेश* (*चैतन्य-चरितामृत,* मध्य ७.१२८)। कृष्णभावनामृत का उद्देश्य है—कृष्ण के विषय में सुनकर भवबन्धन से निवृत्त हो जाना।

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्
भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् ।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्
पुमान्विरज्येत विना पशुघ्नात् ॥ ४॥

शब्दार्थ

निवृत्त—मुक्त; तर्षैः—काम या भौतिक कार्यों से; उपगीयमानात्—वर्णित या गाया जाने वाला; भव-औषधात्—भौतिक रोग की सही औषधि से; श्रोत्र—कानों से सुनने की विधि; मनः—मन के लिए विचार का विषय; अभिरामात्—ऐसे महिमा-वर्णन की सुहावनी ध्वनि से; कः—कौन; उत्तमश्लोक—भगवान् का; गुण-अनुवादात्—ऐसे कार्यों का वर्णन करने से; पुमान्—मनुष्य; विरज्येत—अपने को विलग रख सकता है; विना—रहित; पशु-घ्नात्—कसाई अथवा अपने आप का ही वध करने वाले से।.

भगवान् की महिमा का वर्णन परम्परा-पद्धति से किया जाता है अर्थात् यह अध्यात्मिक गुरु से शिष्य तक पहुँचाया जाता है। ऐसे वर्णन का आनन्द उन लोगों को मिलता है, जो इस जगत के मिथ्या, क्षणिक वर्णन में रुचि नहीं रखते। भगवान् का गुणगान जन्म-मृत्यु के चक्कर में फँसे बद्धजीवों के लिए उपयुक्त औषधि है। अतएव कसाई (पशुघाती) या अपने को ही मारने वाले (आत्मघाती) के अतिरिक्त भगवान् की महिमा को सुनना कौन नहीं चाहेगा?

तात्पर्य : भारत में सामान्य लोगों के बीच यह आम प्रथा है कि बारम्बार जन्म-मरण के रोग से छुटकारा पाने के लिए वे *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* से कृष्ण के विषय में सुनते हैं। यद्यपि अब भारत पतित हो चुका है, किन्तु यह समाचार मिलते ही कि अमुक व्यक्ति *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* पर बोलेगा, अब भी हजारों लोग सुनने के लिए एकत्र हो जाते हैं। किन्तु यह श्लोक इंगित करता है कि *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* का ऐसा पाठ ऐसे व्यक्तियों द्वारा किया जाना चाहिए जो भौतिक इच्छाओं से पूरी तरह मुक्त हो चुके हों (*निवृत्ततर्षै*)। इस जगत में ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक सारे जीव इन्द्रियभोग की भौतिक इच्छा से पूर्ण हैं और हर प्राणी इन्द्रियतृप्ति में लगा हुआ है, किन्तु इस तरह लगे रहने पर कृष्णकथा के महत्त्व को, चाहे वह *भगवद्गीता* के रूप में हो, चाहे

श्रीमद्भागवत के रूप में, पूरी तरह नहीं समझा जा सकता।

यदि हम मुक्तपुरुषों के मुख से भगवान् की महिमा के विषय में सुनें तो इससे भवबन्धन से अवश्य छूट सकते हैं, किन्तु *श्रीमद्भागवत* के पेशेवर वाचकों से सुनने पर वास्तव में मुक्ति-प्राप्ति में कोई सहायता नहीं मिल सकती है। कृष्णकथा अतीव सरल है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि कृष्ण परमेश्वर हैं। वे स्वयं बतलाते हैं—*मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय*—हे अर्जुन! मुझसे श्रेष्ठ कोई सत्य नहीं है (*भगवद्गीता* ७.७)। केवल इतना ही जान लेने से कि कृष्ण परमेश्वर हैं, मुक्त हुआ जा सकता है। किन्तु इस कलियुग में लोग असली लाभ से वंचित रहते हैं क्योंकि वे ऐसे धूर्त व्यक्तियों से *भगवद्गीता* सुनना पसन्द करते हैं, जो *भगवद्गीता* को यथारूप में प्रस्तुत न करके उसे अपनी इच्छानुसार तोड़ते-मरोड़ते हैं। बड़े-बड़े विद्वान, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक तथा वैज्ञानिक अपने ही दूषित तरीके से *भगवद्गीता* पर प्रवचन करते हैं और सामान्य लोग इन्हीं से सुनते हैं क्योंकि वे किसी भक्त से भगवान् के गुणानुवाद को सुनने में रुचि नहीं रखते। भक्त वह है, जो भगवान् की सेवा करने के अतिरिक्त *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* का पाठ करते हुए कोई अन्य प्रयोजन नहीं रखता। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने हम सबको सलाह दी है कि स्वरूपसिद्ध व्यक्ति से ही भगवान् का गुणानुवाद सुना जाय (*भागवत परो दिय भागवत स्थाने*)। जब तक कोई कृष्णभावनामृत विज्ञान में सिद्धात्मा न हो तब तक नवदीक्षित को चाहिए कि वह उससे भगवान् के विषय में सुनाने के लिए न कहे क्योंकि श्रील सनातन गोस्वामी ने *पद्मपुराण* से निम्नलिखित उद्धरण देते हुए ऐसा करने से मना किया है—

अवैष्णव मुखोद्गीर्णं पूतं हरिकथामृतम्।

श्रवणं नैव कर्तव्यं सर्पोच्छिष्टं यथा पयः॥

जो वैष्णव-आचरण वाला न हो उससे कथा नहीं सुननी चाहिए। वैष्णव तो *निवृत्त-तृष्ण* होता है—उसका कोई भौतिक उद्देश्य नहीं होता क्योंकि उसका एकमात्र उद्देश्य कृष्णभावनामृत का प्रचार करना होता है। तथाकथित विद्वान, दार्शनिक तथा राजनीतिज्ञ स्वार्थवश *भगवद्गीता* के अर्थ को तोड़-मरोड़ कर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। इसीलिए यह श्लोक सावधान करता है कि कृष्णकथा का वाचन वही करे जो *निवृत्त-तृष्ण* हो। शुकदेव गोस्वामी *श्रीमद्भागवत* के आदर्श उपयुक्त वाचक हैं और मृत्यु का सामना करने के पूर्व अपना राज्य तथा परिवार को किसी उद्देश्य से छोड़ने वाले परीक्षित

महाराज आदर्श श्रोता हैं। *श्रीमद्भागवत* का सुयोग्य वाचक बद्धजीवों को सही औषधि (*भवौषधि*) प्रदान करता है। इसीलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन ऐसे योग्य प्रचारकों को प्रशिक्षित करने में प्रयत्नशील है, जो सारे जगत में *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* का वाचन कर सकें जिससे विश्वभर के सामान्यजन इस आन्दोलन का लाभ उठा सकें और भौतिक संसार के तीनों तापों से छूट सकें।

भगवद्गीता के आदेश तथा *श्रीमद्भागवत* के वर्णन इतने मनोहारी हैं कि भौतिक संसार के तीनों तापों से तप्त प्राय: प्रत्येक व्यक्ति इन ग्रंथों में से भगवान् की महिमा को सुनना चाहेगा और मुक्ति के मार्ग में लाभ उठाना चाहेगा। किन्तु दो प्रकार के लोग कभी-भी *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के सन्देश को सुनने में रुचि नहीं लेंगे—एक वे जो आत्महत्या करने पर तुले हैं और दूसरे वे जो अपने स्वाद के लिए गौवों तथा अन्य पशुओं का वध करने पर तुले हुए हैं। यद्यपि ऐसे लोग भागवत-सप्ताह के समय *श्रीमद्भागवत* सुनने का दिखावा करते हैं, किन्तु यह कर्मीजनों की दूसरी सृष्टि है जिन्हें ऐसे कृत्य से कोई लाभ नहीं मिल सकता। इस सम्बन्ध में *पशुघ्नात्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *पशुघ्न* का अर्थ है ''कसाई।'' उच्चत्तर लोकों में जाने के लिए कर्मकाण्डी व्यक्तियों को यज्ञ करते समय पशुओं का वध करना होता है इसीलिए भगवान् बुद्धदेव ने वेदों के प्रमाण का तिरस्कार किया क्योंकि वे पशुबलि को रोकना चाहते थे जिनकी वैदिक अनुष्ठानों में संस्तुति की गई है।

निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातं

सदयहृदय दर्शितपशुघातं

केशव धृतबुद्धशरीर जय जगदीश हरे

(*गीत गोविन्द*)

यद्यपि वैदिक उत्सवों में पशुबलि को मान्यता प्राप्त है, किन्तु ऐसे उत्सवों के लिए जो व्यक्ति पशुओं का वध करते हैं, वे कसाई (*पशुघ्न*) माने जाते हैं। भला कसाइयों को कृष्णभावनामृत में कैसे रुचि हो सकती है जब उन्हें भौतिक आकर्षण मिला रहता है? उनकी एकमात्र रुचि नश्वर शरीर के लिए सुविधाएँ उत्पन्न करने में होती है—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।

व्यवसायात्मिका बुद्धि: समाधौ न विधीयते॥

"जो लोग इन्द्रियभोग तथा भौतिक ऐश्वर्य के प्रति आसक्त हैं और जो ऐसी वस्तुओं से मोहग्रस्त रहते हैं उनके मन में भगवान् की भक्ति के लिए दृढ़ संकल्प नहीं बन पाता।" (भगवद्गीता २.४४) श्रील नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं—

मनुष्य जन्म पाइया, राधा-कृष्ण ना भजिया

जानिया शुनिया विष खाइनु

जो कृष्णभावनाभावित नहीं है और इस तरह जो भगवान् की सेवा में अपने को नहीं लगाता वह भी *पशुघ्न* है क्योंकि वह जानबूझ कर विष पीता है। ऐसे व्यक्ति को कृष्णकथा में रुचि नहीं होती क्योंकि उसमें इन्द्रियतृप्ति की लालसा शेष रहती है। वह *निवृत्ततृष्ण* नहीं होता। जैसाकि कहा गया है—*त्रैवर्गिकास्ते पुरुषा विमुखा हरिमेधसः।* जिन्हें *त्रिवर्ग* अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम में रुचि रहती है वे भौतिक पद प्राप्त करने तथा उसके द्वारा इन्द्रियतृप्ति के लिए अच्छी-अच्छी सुविधाएँ प्राप्त करने के निमित्त धार्मिक होते हैं। ऐसे लोग अपने को जानबूझ कर जन्म-मरण के चक्र में डालकर अपनी हत्या करते हैं। वे कृष्णभावनामृत में कभी-भी रुचि नहीं ले सकते।

कृष्णकथा के लिए वक्ता तथा श्रोता होना चाहिए और ये दोनों कृष्णभावनामृत में तभी रुचि ले सकेंगे जब उन्हें भौतिक कथाओं में रुचि न हो। वास्तव में यह हर कोई देख सकता है कि जो लोग कृष्णभावनाभावित हैं उनमें यह प्रवृत्ति स्वतः उत्पन्न होती है। यद्यपि कृष्णभावनामृत आन्दोलन के भक्तगण तरुण व्यक्ति हैं, किन्तु वे भौतिकतावादी अखबार, पत्रिकाएँ इत्यादि नहीं पढ़ते क्योंकि उन्हें ऐसी कथाओं में कोई रुचि नहीं होती (*निवृत्ततर्षै*)। वे देहात्मबुद्धि का सर्वथा परित्याग कर देते हैं। गुरु उत्तमश्लोक अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विषयक कथाओं को कहता है और शिष्य ध्यान से उन्हें सुनता है। जब तक दोनों भौतिक इच्छाओं से मुक्त नहीं हो लेते, तब तक उन्हें कृष्णभावनामृत की कथाओं में रुचि नहीं हो सकती। गुरु तथा शिष्य को कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ समझने की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि कृष्ण को समझने तथा कृष्ण के विषय में बातें करने मात्र से ही व्यक्ति पूर्णतया विद्वान बन सकता है (*यस्मिन् विज्ञाते सर्वमेवं विज्ञातं भवति*)। भगवान् हर एक के हृदय में आसीन रहता है और उनकी कृपा से भक्त तो भगवान् से ही सीधे आदेश प्राप्त करता है जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में भगवान् ने कहा है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्॥

"मैं हर एक के हृदय में आसीन हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होते हैं। सारे वेदों के द्वारा मैं ही वेद्य हूँ। मैं ही वेदान्त का रचयिता और वेदों का ज्ञाता हूँ।" कृष्णभावनामृत इतना उच्च है कि कृष्णभावनाभावित व्यक्ति गुरु के निर्देशन से *श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक साहित्य में प्राप्य कृष्णकथा को पढ़कर तुष्ट रहता है। जब कृष्ण के विषय में केवल बातें करना इतना सुहावना लगता है, तो फिर कृष्ण की सेवा करना कितना सुहावना होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है।

जब मुक्तगुरु तथा उसके शिष्य के मध्य कृष्णकथा पर वार्ताएँ होती हैं, तो अन्य लोग भी कभी कभी इन कथाओं को सुनकर लाभ उठाते हैं। ये कथाएँ जन्म तथा मृत्यु के चक्र को रोकने में रामबाण औषधि का कार्य करती हैं। बारम्बार जन्म तथा मृत्यु का चक्र, जिससे मनुष्य को पुनः-पुनः विभिन्न शरीर ग्रहण करने पड़ते हैं, *भव* या *भवरोग* कहलाता है। यदि कोई व्यक्ति इच्छा या अनिच्छा से कृष्णकथा सुनता है, तो उसका भवरोग अर्थात् जन्म-मरण का रोग निश्चय ही जाता रहता है। इसलिए कृष्णकथा को *भवौषधि*—जन्म-मृत्यु के चक्र को रोकने की औषधि—कहा गया है। कर्मीजन जो भौतिक इन्द्रियतृप्ति में आसक्त हैं, सामान्यतया अपनी भौतिक इच्छाओं का परित्याग नहीं कर सकते, किन्तु कृष्णकथा ऐसी रामबाण औषधि है कि कृष्णकथा सुनने के लिए प्रेरित होने पर वह इस रोग से निश्चित रूप से मुक्त हो जाता है। इसके ज्वलन्त उदाहरण ध्रुव महाराज हैं, जो अपनी तपस्या के बाद अत्यन्त तुष्ट थे। जब भगवान् ने उन्हें वर देना चाहा तो ध्रुव ने वर लेने से मना कर दिया। *स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे*—हे प्रभु! मैं पूरी तरह से तुष्ट हो गया हूँ, मुझे इन्द्रियतृप्ति के लिए कोई वर नहीं चाहिए। हम देख रहे हैं कि कृष्णभावनामृत आन्दोलन में युवकों तथा युवतियों तक ने अपनी बुरी से बुरी आदतें जैसे अवैध यौन, मांसाहार, नशा तथा जुआ खेलना छोड़ दी हैं। चूँकि कृष्णभावनामृत इतना प्रबल है कि इससे उन्हें पूर्ण सन्तोष मिलता है अतएव वे भौतिक इन्द्रियतृप्ति में रुचि नहीं लेते।

पितामहा मे समरेऽमरञ्जयै-

देवव्रताद्यातिरथैस्तिमिङ्गिलैः ।
दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं
कृत्वातरन्वत्सपदं स्म यत्प्लवाः ॥ ५ ॥
द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गं
सन्तानबीजं कुरुपाण्डवानाम् ।
जुगोप कुक्षिं गत आत्तचक्रो
मातुश्च मे यः शरणं गतायाः ॥ ६ ॥
वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजा-
मन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः ।
प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतं च
मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

पितामहाः—पाँचों पाण्डव, जो मेरे बाबा हैं; मे—मेरे; समरे—कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में; अमरम् जयैः—युद्धभूमि में देवताओं पर विजय प्राप्त करने वाले योद्धाओं समेत; देवव्रत-आद्य—भीष्मदेव तथा अन्य; अतिरथैः—महा सेनापतियों के साथ; तिमिङ्गिलैः—तिमिंगिल (बड़ी मछली) के समान; दुरत्ययम्—दुर्लंघ्य; कौरव-सैन्य-सागरम्—कौरवों के एकत्र सैनिकों के सागर को; कृत्वा—मानकर; अतरन्—पार कर लिया; वत्स-पदम्—गो खुर के समान; स्म—था; यत्-प्लवाः—कृष्ण की चरणकमल रूपी नाव का आश्रय; द्रौणि—अश्वत्थामा के; अस्त्र—ब्रह्मास्त्र से; विप्लुष्टम्—आक्रमण करके जलाया गया; इदम्—यह; मत्-अङ्गम्—मेरा शरीर; सन्तान-बीजम्—एकमात्र बचा हुआ बीज, वंश का अन्तिम उत्तराधिकारी; कुरु-पाण्डवानाम्—कौरवों तथा पाण्डवों का (कुरुक्षेत्र में मेरे अतिरिक्त सभी लोग मारे जा चुके हैं); जुगोप—शरण दी; कुक्षिम्—गर्भ में; गतः—स्थापित; आत्त-चक्रः—हाथ में चक्र लिए; मातुः—माता का; च—भी; मे—मेरी; यः—जो भगवान्; शरणम्—शरण; गतायाः—ग्रहण कर ली है; वीर्याणि—दिव्य गुणों का गान; तस्य—उस (भगवान्) का; अखिल-देह-भाजाम्—समस्त देहधारी जीवों का; अन्तः बहिः—भीतर तथा बाहर; पूरुष—परम पुरुष का; काल-रूपैः—नित्य समय के रूपों में; प्रयच्छतः—देने वाला; मृत्युम्—मृत्यु को; उत—ऐसा कहा जाता है; अमृतम् च—तथा शाश्वत जीवन; माया-मनुष्यस्य—भगवान् का, जो अपनी शक्ति से मनुष्य रूप में प्रकट हुए हैं; वदस्व—कृपा करके कहें; विद्वन्—हे विद्वान (शुकदेव गोस्वामी)।

कृष्ण के चरणकमल रूपी नाव को लेकर मेरे बाबा अर्जुन तथा अन्यों ने उस कुरुक्षेत्र युद्धस्थल रूपी सागर को पार कर लिया जिसमें भीष्मदेव जैसे सेनापति उन बड़ी-बड़ी मछलियों के तुल्य थे, जो उन्हें आसानी से निगल गई होतीं। मेरे पितामहों ने भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से इस दुर्लंघ्य सागर को इतनी सरलता से पार कर लिया मानो कोई गोखुर का चिन्ह हो। चूँकि मेरी माता ने सुदर्शन चक्रधारी भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण की थी अतः उन्होंने उनके गर्भ में प्रवेश करके मुझे बचा लिया जो कौरवों तथा पाण्डवों का अन्तिम बचा हुआ उत्तराधिकारी था और जिसे अश्वत्थामा ने अपने ब्रह्मास्त्र से नष्टप्राय कर दिया था। भगवान् कृष्ण ने समस्त देहधारी जीवों के भीतर तथा बाहर शाश्वत काल के रूपों में—यथा परमात्मा तथा विराट रूपों में—अपनी शक्ति से प्रकट होकर हर एक को क्रूर मृत्यु के रूप में या जीवन के रूप में मोक्ष प्रदान किया। कृपया उनके दिव्य गुणों का वर्णन करके मुझे प्रबुद्ध कीजिए।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (.१४.५८) में में कहा गया है—

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं

महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः।

भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं

पदं पदं यद् विपदां न तेषाम्॥

''जिसने विराट जगत के आश्रय तथा मुरारि अर्थात् मुर नामक असुर के शत्रु, भगवान् के चरणकमल रूपी नाव को पकड़ लिया है उसके लिए यह भवसागर गोखुर में भरे जल के समान है। उसका लक्ष्य *परं पदं* अर्थात् वैकुण्ठ होता है जहाँ भौतिक कष्टों का नामोनिशान नहीं रहता, न कि वह स्थान जहाँ पग-पग पर संकट है।''

जो व्यक्ति भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों की शरण लेता है उसे तुरन्त ही भगवान् सुरक्षा प्रदान करते हैं। *भगवद्गीता* (१८.६६) में भगवान् वचन देते हैं—*अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः*—मैं तुम्हें सारे पापों से उबार लूँगा; तुम डरो मत—भगवान् कृष्ण की शरण में आने से मनुष्य सबसे सुरक्षित आश्रय प्राप्त कर लेता है। इस तरह जब पाण्डवों ने कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली तो वे कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में सुरक्षित दल में आ गये। इसीलिए परीक्षित महाराज अपने जीवन के अन्तिम दिनों में कृष्ण का चिन्तन करते हुए कृतज्ञता का अनुभव कर रहे थे। कृष्णभावनामृत का यह आदर्श फल है—*अन्ते नारायणस्मृतिः।* यदि मृत्यु के समय कोई कृष्ण का स्मरण कर सके तो उसका जीवन सफल हो जाता है। इसीलिए परीक्षित महाराज ने अपने जीवन के अन्तिम दिनों में कृष्ण की अनेक कृतज्ञताओं के कारण कृष्ण का निरन्तर चिन्तन करने की बुद्धिमानी की। कृष्ण ने महाराज परीक्षित के बाबाओं को कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में बचाया था और कृष्ण ने स्वयं महाराज परीक्षित की उस समय रक्षा की थी जब अश्वत्थामा ने ब्रह्मास्त्र से उन पर आक्रमण किया था। पाण्डव परिवार के लिए कृष्ण एक मित्र तथा आराध्यदेव के तुल्य थे। भगवान् कृष्ण का पाण्डवों के साथ व्यक्तिगत संपर्क होने के अतिरिक्त, कृष्ण सारे जीवों के परमात्मा हैं और हर एक को मुक्ति प्रदान करने वाले हैं—भले ही कोई शुद्ध भक्त हो या न हो। उदाहरणार्थ, कंस बिलकुल भक्त नहीं था फिर भी उसे मारने के बाद कृष्ण ने उसे मोक्ष प्रदान किया। कृष्णभावनामृत हर एक के लिए लाभप्रद है, चाहे वह शुद्ध भक्त हो या

अभक्त। कृष्णभावनामृत की यही महिमा है। यह विचार कर भला कौन ऐसा होगा जो कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं करेगा? इस श्लोक में कृष्ण को *मायामनुष्य* कहा गया है क्योंकि वे बिलकुल मनुष्य की ही तरह अवतरित होते हैं। वे कर्मियों या सामान्य जीवों की तरह यहाँ आने के लिए बाध्य नहीं हैं प्रत्युत वे अपनी अन्तरंगा शक्ति के द्वारा (*सम्भवाम्यात्ममायया*) पतित बद्धजीवों पर कृपा दिखाने के लिए प्रकट होते हैं। कृष्ण अपने *सच्चिदानन्द विग्रह* रूप में सदैव स्थित रहते हैं और जो कोई उनकी सेवा करता है, वह भी अपने मूल आध्यात्मिक स्वरूप में स्थित हो जाता है (*स्वरूपेण व्यवस्थितिः*)। यही मानव जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है।

रोहिण्यास्तनयः प्रोक्तो रामः सङ्कर्षणस्त्वया ।
देवक्या गर्भसम्बन्धः कुतो देहान्तरं विना ॥ ८॥

शब्दार्थ

रोहिण्याः—बलदेव की माता रोहिणी देवी का; तनयः—पुत्र; प्रोक्तः—विख्यात; रामः—बलराम; सङ्कर्षणः—संकर्षण और कोई नहीं, बलराम हैं, जो चतुर्व्यूह (संकर्षण, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न तथा वासुदेव) में प्रथम हैं; त्वया—आपके द्वारा (ऐसा कहा जाता है); देवक्याः—कृष्ण की माता, देवकी का; गर्भ-सम्बन्धः—गर्भ सम्बन्धी; कुतः—कैसे; देह-अन्तरम्—शरीरों के स्थानान्तरण के; विना—बिना.

हे शुकदेव गोस्वामी, आप पहले ही बता चुके हैं कि द्वितीय चतुर्व्यूह से सम्बन्धित संकर्षण रोहिणी के पुत्र बलराम के रूप में प्रकट हुए। यदि बलराम को एक शरीर से दूसरे शरीर में स्थानान्तरित न किया गया होता तो यह कैसे सम्भव हो पाता कि वे पहले देवकी के गर्भ में रहते और बाद में रोहिणी के गर्भ में? कृपया मुझसे इसकी व्याख्या कीजिए।

तात्पर्य : यहाँ पर एक प्रश्न उठाया गया है, जो विशेष रूप से साक्षात् संकर्षण, बलराम को समझने की ओर लक्ष्यित है। यह प्रसिद्ध है कि बलराम रोहिणी के पुत्र थे, किन्तु यह भी ज्ञात है कि वे देवकी के पुत्र थे। परीक्षित महाराज इस रहस्य को जानना चाहते थे कि बलराम देवकी तथा रोहिणी दोनों ही के पुत्र किस तरह थे?

कस्मान्मुकुन्दो भगवान्पितुर्गेहाद्व्रजं गतः ।
क्व वासं ज्ञातिभिः सार्धं कृतवान्सात्वतां पतिः ॥ ९॥

शब्दार्थ

कस्मात्—क्यों; मुकुन्दः—हर एक को मोक्ष देने वाले कृष्ण; भगवान्—भगवान्; पितुः—अपने पिता (वसुदेव) के; गेहात्—घर से; व्रजम्—व्रजधाम या व्रजभूमि; गतः—गये; क्व—कहाँ; वासम्—रहने के लिए रखा; ज्ञातिभिः—उनके सम्बन्धियों के; सार्धम्—साथ; कृतवान्—कर दिया; सात्वताम् पतिः—समस्त वैष्णव भक्तों के स्वामी।

भगवान् कृष्ण ने अपने पिता वसुदेव का घर क्यों छोड़ा और अपने को वृन्दावन में नन्द के घर क्यों स्थानान्तरित किया? यदुवंश के स्वामी अपने सम्बन्धियों के साथ वृन्दावन में कहाँ रहे?

तात्पर्य : ये कृष्ण के परिभ्रमण-विषयक प्रश्न हैं। मथुरा में वसुदेव के घर में जन्म लेने के तुरन्त बाद कृष्ण यमुना के उस पार गोकुल गाँव चले गये और कुछ दिनों के बाद वे अपने पिता, माता तथा अन्य सम्बन्धियों के साथ नन्द गाँव, वृन्दावन चले गये। महाराज परीक्षित कृष्ण की वृन्दावन लीलाओं को सुनने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे। *श्रीमद्भागवत* का यह सम्पूर्ण स्कन्ध वृन्दावन तथा द्वारका में सम्पन्न लीलाओं से भरा पड़ा है। प्रथम चालीस अध्यायों में कृष्ण के वृन्दावन के कार्यकलापों का वर्णन हुआ है और अगले पचास अध्यायों में कृष्ण की द्वारका लीलाओं का वर्णन है। महाराज परीक्षित ने कृष्ण के विषय में सुनने की अपनी इच्छापूर्ति के लिए शुकदेव गोस्वामी से प्रार्थना की कि वे इन लीलाओं का विस्तार से वर्णन करें।

व्रजे वसन्किमकरोन्मधुपुर्यां च केशवः ।
भ्रातरं चावधीत्कंसं मातुरद्धातदर्हणम् ॥ ॥

शब्दार्थ

व्रजे—वृन्दावन में; वसन्—रहते हुए; किम् अकरोत्—उन्होंने क्या किया; मधुपुर्याम्—मथुरा में; च—तथा; केशवः—केशी के संहार करने वाले, कृष्ण ने; भ्रातरम्—भाई; च—तथा; अवधीत्—मारा; कंसम्—कंस को; मातुः—अपनी माता के; अद्धा—प्रत्यक्ष; अ-तत्-अर्हणम्—शास्त्र जिसकी अनुमति नहीं देते।.

भगवान् कृष्ण वृन्दावन तथा मथुरा दोनों जगह रहे तो वहाँ उन्होंने क्या किया? उन्होंने अपनी माता के भाई (मामा) कंस को क्यों मारा जबकि शास्त्र ऐसे वध की रंचमात्र भी अनुमति नहीं देते?

तात्पर्य : मामा का पद पिता के तुल्य होता है। मामा के सन्तान न होने पर भाञ्जा ही उसकी संपत्ति का वैध उत्तराधिकारी बनता है। तो फिर कृष्ण ने अपनी माता के भाई को क्यों मारा? महाराज परीक्षित को ये बातें जानने की अत्यन्त उत्सुकता थी।

देहं मानुषमाश्रित्य कति वर्षाणि वृष्णिभिः ।
यदुपुर्यां सहावात्सीत्पत्न्यः कत्यभवन्प्रभोः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

देहम्—शरीर; मानुषम्—मनुष्य की ही तरह; आश्रित्य—स्वीकार करके; कति वर्षाणि—कितने वर्षों तक; वृष्णिभिः—वृष्णि वंश में उत्पन्न होने वालों के साथ में; यदु-पुर्याम्—यदुओं के आवास-स्थानों में, द्वारका में; सह—साथ; अवात्सीत्—भगवान् रहे; पत्न्यः—पत्नियाँ; कति—कितनी; अभवन्—हुईं; प्रभोः—भगवान् के.

भगवान् कृष्ण का शरीर भौतिक नहीं है, फिर भी वे मानव के रूप में प्रकट होते हैं। वे वृष्णि के वंशजों के साथ कितने वर्षों तक रहे? उनके कितनी पत्नियाँ थीं? वे द्वारका में कितने वर्षों तक रहे?

तात्पर्य : अनेक स्थलों पर भगवान् को *सच्चिदानन्द विग्रह* अर्थात् दिव्य आनन्दमय शरीर वाले कहा गया है। उनका स्वरूप *नराकृति* अर्थात् मनुष्य जैसा है। यहाँ पर इसी भाव को *मानुषम् आश्रित्य* द्वारा दुहराया गया है, जो इस बात का सूचक है कि वे मनुष्य जैसा ही शरीर धारण करते हैं। सर्वत्र इसकी पुष्टि हुई है कि कृष्ण *निराकार* नहीं हैं। उनका स्वरूप मनुष्य जैसा है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

एतदन्यच्च सर्वं मे मुने कृष्णविचेष्टितम् ।
वक्तुमर्हसि सर्वज्ञ श्रद्दधानाय विस्तृतम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

एतत्—ये सारी बातें; अन्यत् च—तथा अन्य बातें भी; सर्वम्—सारी बातें; मे—मुझको; मुने—हे मुनि; कृष्ण-विचेष्टितम्—भगवान् कृष्ण के कार्यकलापों को; वक्तुम्—बतलाने में; अर्हसि—समर्थ हैं; सर्व-ज्ञ—सब कुछ जानने वाले; श्रद्दधानाय—श्रद्धावान होने के कारण; विस्तृतम्—विस्तार से।.

हे महामुनि, आप कृष्ण के विषय में सब कुछ जानते हैं अतएव उन सारे कार्यकलापों का वर्णन विस्तार से करें जिनके बारे में मैंने पूछा है तथा उनके बारे में भी जिनके विषय में मैंने नहीं पूछा क्योंकि उन पर मेरा पूर्ण विश्वास है और मैं उन सबको सुनने के लिए अत्यन्त उत्सुक हूँ।

नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते ।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एषा—यह सब; अति-दुःसहा—सहने में अत्यन्त कठिन; क्षुत्—भूख; माम्—मुझको; त्यक्त-उदम्—जल ग्रहण करना छोड़ देने के बाद; अपि—भी; बाधते—बाधा नहीं डालता; पिबन्तम्—पीते रहने पर; त्वत्-मुख-अम्भोज-च्युतम्—आपके कमलमुख से निकला हुआ; हरि-कथा-अमृतम्—कृष्ण कथा का अमृत।.

मृत्यु द्वार पर होते हुए अपने व्रत के कारण मैंने जल ग्रहण करना भी छोड़ दिया है फिर भी आपके कमलमुख से निकले कृष्ण-कथा रूपी अमृत का पान करने से मेरी असह्य भूख तथा प्यास मुझे किसी तरह भी बाधा नहीं पहुँचा रही।

तात्पर्य : सात दिनों के भीतर मरने की तैयारी करने के उद्देश्य से महाराज परीक्षित ने भोजन तथा जल ग्रहण करना छोड़ दिया था। मनुष्य होने के नाते उनको भूख तथा प्यास लगनी स्वाभाविक थी इसलिए शुकदेव गोस्वामी कृष्णकथा बन्द करना चाह रहे होंगे, किन्तु महाराज परीक्षित उपवास रखने के बावजूद भी थके हुए नहीं थे। उन्होंने कहा, ''मेरे उपवास से उत्पन्न भूख तथा प्यास मुझे नहीं सतातीं। एक बार मैं अत्यन्त प्यासा था, तो जल पीने के लिए शमीक मुनि के आश्रम गया था, किन्तु मुनि ने मुझे जल नहीं दिया। अतएव मैंने उस मुनि के कन्धे पर एक मृत सर्प लपेट दिया था जिसके फलस्वरूप ब्राह्मण बालक ने मुझे शाप दे डाला। किन्तु अब मैं स्वस्थ हूँ। मैं भूख तथा प्यास से तनिक भी विचलित नहीं हूँ।'' इससे सूचित होता है कि यद्यपि भौतिक स्तर पर भूख तथा प्यास बाधक बनती हैं, किन्तु आध्यात्मिक स्तर पर थकान जैसी कोई वस्तु नहीं होती।

सारा संसार आध्यात्मिक प्यास के कारण कष्ट उठा रहा है। हर जीव ब्रह्म या आध्यात्मिक आत्मा है और उसे अपनी भूख-प्यास बुझाने के लिए आध्यात्मिक भोजन की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु दुर्भाग्य ही कहेंगे कि संसार कृष्णकथा के अमृत से सर्वथा अनजान है। इसलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन दार्शनिकों, धर्मविदों तथा सामान्य लोगों के लिए वरदान तुल्य है। कृष्ण तथा कृष्णकथा में निश्चित रूप में विशेष आकर्षण है। इसीलिए परब्रह्म कृष्ण अर्थात् सर्वाधिक आकर्षक कहलाते हैं।

अमृत शब्द चन्द्रमा का भी द्योतक है और *अम्बुज* का अर्थ है ''कमल''। सुहावनी चाँदनी तथा कमल की सुहावनी सुगन्ध मिलकर शुकदेव गोस्वामी के मुख से कृष्णकथा सुनने में आनन्द प्रदान कर रही थी। कहा भी गया है—

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा

मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।

अदान्त गोभिर्विशतां तमिस्रं

पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्॥

''भौतिकतावादी जीवन के प्रति अत्यन्त आसक्त व्यक्ति अपनी अनियंत्रित इन्द्रियों के कारण नारकीय स्थिति की ओर बढ़ते जाते हैं और एक बार चबाये हुए को पुनः-पुनः चबाते रहते हैं। उनमें न तो किसी के उपदेश से, न अपने आप, न ही इन दोनों के द्वारा कृष्ण के प्रति रुचि जागृत होती है।''

(श्रीमद्भागवत ७.५.३०) सम्प्रति सारा मानव समाज चर्वितचर्वण करने में लगा है (*पुन: पुनश्चर्वितचर्वणानाम्*)। लोग एक शरीर में जन्म लेकर मरने और पुन: दूसरा शरीर धारण कर फिर मृत्यु भोगने के लिए तैयार रहते हैं (*मृत्युसंसार-वर्त्मनि*)। इस जन्म-मृत्यु के चक्र को रोकने के लिए कृष्णकथा अथवा कृष्णभावनामृत नितान्त आवश्यक है। किन्तु जब तक शुकदेव गोस्वामी जैसे स्वरूपसिद्ध व्यक्ति से कृष्णकथा नहीं सुनी जाती तब तक सारी भौतिक थकान को दूर करने वाली कृष्णकथा के अमृत का न तो आनन्द लिया जा सकता है न ही आध्यात्मिक अस्तित्व में आनन्दमय जीवन भोगा जा सकता है। जब हम कृष्णभावनामृत आन्दोलन के बारे में सोचते हैं, तो हम देखते हैं कि जिन्होंने कृष्ण-कथा रूपी अमृत का आस्वादन कर लिया है वे सारी भौतिक इच्छाओं का परित्याग कर देते हैं, किन्तु जो कृष्ण या कृष्णकथा को नहीं समझते वे कृष्णभावनाभावित जीवन को ''मस्तिष्क धुलाई'' या ''मन-नियंत्रण'' मानते हैं। एक ओर जहाँ भक्तगण आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव करते हैं वहीं अभक्तों को यह देखकर हैरानी होती है कि भक्तों ने भौतिक लालसाओं का परित्याग कर दिया है!

सूत उवाच

एवं निशम्य भृगुनन्दन साधुवादं
वैयासकि: स भगवानथ विष्णुरातम् ।
प्रत्यर्च्य कृष्णचरितं कलिकल्मषघ्नं
व्याहर्तुमारभत भागवतप्रधान: ॥ १४॥

शब्दार्थ

सूत: उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; निशम्य—सुनकर; भृगु-नन्दन—हे भृगुवंशी, शौनक; साधु-वादम्—शुभ प्रश्न; वैयासकि:—व्यासदेव के पुत्र, शुकदेव गोस्वामी; स:—वह; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; अथ—इस प्रकार; विष्णु-रातम्—विष्णु द्वारा सुरक्षित परीक्षित महाराज को; प्रत्यर्च्य—सादर नमस्कार करके; कृष्ण-चरितम्—कृष्णकथा को; कलि-कल्मष-घ्नम्—इस कलियुग के कष्टों को कम करने वाली; व्याहर्तुम्—वर्णन करने के लिए; आरभत—शुरू किया; भागवत-प्रधान:—शुद्ध भक्तों में प्रमुख शुकदेव गोस्वामी ने।

सूत गोस्वामी ने कहा : हे भृगुपुत्र (शौनक ऋषि), परम आदरणीय व्यासपुत्र भक्त शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित के शुभ प्रश्नों को सुनकर राजा को सादर धन्यवाद दिया। फिर उन्होंने कृष्णकथा के विषय में वार्ता प्रारम्भ की जो इस कलियुग के समस्त कष्टों के लिए औषधि है।

तात्पर्य : *कृष्णचरितं कलिकल्मषघ्नम्* पद सूचित करता है कि विशेषकर इस कलियुग के लिए

कृष्ण के कार्यकलाप समस्त कष्टों की रामबाण औषधि हैं। कहा जाता है कि कलियुग के लोग अल्पायु होते हैं और उनमें कृष्णभावनामृत की संस्कृति नहीं पाई जाती। यदि कदाचित् किसी की रुचि आध्यात्मिक संस्कृति में होती भी है, तो उसे विभिन्न प्रकार के अप्रामाणिक स्वामी तथा योगी भ्रान्त करते रहते हैं, जो कृष्णकथा का नाम भी नहीं लेते। इसीलिए अधिकांश लोग अभागे तथा अनेक विपदाओं से ग्रस्त रहते हैं। श्रील व्यासदेव ने इस युग के कष्ट भोग रहे लोगों को छुटकारा दिलाने के लिए (*कलि कल्मषघ्नम्*) नारदमुनि के आग्रह पर *श्रीमद्भागवत* लिखा। कृष्णभावनामृत आन्दोलन *श्रीमद्भागवत* की मनोहारी कथाओं के माध्यम से लोगों को प्रबुद्ध करने में जी-जान से लगा है। *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* का सन्देश सारे विश्व में, सारे क्षेत्रों में, विशेष रूप से प्रगत शिक्षित लोगों के बीच मान्य हो रहा है ।

इस श्लोक में श्रील शुकदेव गोस्वामी को *भागवत-प्रधान* कहा गया है और महाराज परीक्षित को *विष्णुरातम्*। इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है अर्थात् महाराज परीक्षित कृष्ण के महान् भक्त थे और शुकदेव गोस्वामी भी महान् साधु पुरुष तथा कृष्ण के महान् भक्त थे। इन दोनों ने मिलकर कृष्णकथा प्रस्तुत करके कष्ट में फँसी मानवता को बड़ी राहत दी है।

अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्ति-योगमधोक्षजे।

लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम्॥

''जीव के भौतिक कष्ट, जो उसे व्यर्थ लगने वाले हैं, यदि भक्ति के साथ जोड़ दें तो कम किये जा सकते हैं। किन्तु लोग इसे समझ नहीं पाते इसीलिए विद्वान व्यासदेव ने इस वैदिक ग्रंथ *श्रीमद्भागवत* की रचना की जो परम सत्य के विषय में है।'' (*श्रीमद्भागवत* १.७.६) अधिकांश लोग इस तथ्य से अवगत नहीं होते कि *श्रीमद्भागवत* का सन्देश कलियुग के कष्टों से मानव समाज को छुटकारा दिला सकता है (*कलिकल्मषघ्नम्*)।

श्रीशुक उवाच

सम्यग्व्यवसिता बुद्धिस्तव राजर्षिसत्तम ।

वासुदेवकथायां ते यज्जाता नैष्ठिकी रतिः ॥ १५॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सम्यक्—पूरी तरह; व्यवसिता—स्थिर; बुद्धिः—बुद्धि; तव—आपकी; राज-ऋषि-सत्तम—हे राजर्षियों में श्रेष्ठ; वासुदेव-कथायाम्—वासुदेव कृष्ण विषयक कथाओं के सुनने में; ते—आपका; यत्—क्योंकि; जाता—उत्पन्न; नैष्ठिकी—अनवरत; रतिः—आकर्षण या भावमय भक्ति।.

श्रील शुकदेव गोस्वामी के कहा : हे राजर्षियों में श्रेष्ठ, चूँकि आप वासुदेव की कथाओं के प्रति अत्यधिक आकृष्ट हैं अतः निश्चित रूप से आपकी बुद्धि आध्यात्मिक ज्ञान में स्थिर है, जो मानवता का एकमात्र असली लक्ष्य है। चूँकि यह आकर्षण अनवरत रहता है अतएव निश्चितरूप से उत्कृष्ट है।

तात्पर्य : *राजर्षि* अर्थात् प्रमुख प्रशासक के लिए कृष्णकथा अनिवार्य है। *भगवद्गीता* में भी यही कहा गया है (*इमं राजर्षयो विदुः*)। किन्तु दुर्भाग्यवश इस युग में सरकारी शक्ति धीरे-धीरे ऐसे निकृष्ट लोगों के हाथ में जा रही है जिन्हें कोई आध्यात्मिक ज्ञान नहीं है। इसीलिए समाज का तेजी से पतन हो रहा है। सरकार के प्रशासकों को कृष्णकथा समझनी चाहिए अन्यथा प्रजा कैसे सुखी हो सकती है और किस तरह उसे भौतिकतावादी जीवन के कष्टों से छुटकारा मिल सकता है? जिसका मन कृष्णभावनामृत में स्थिर हो चुका हो, समझिए कि जीवन-मूल्यों के विषय में उसे प्रखर बुद्धि प्राप्त है। महाराज परीक्षित *राजर्षि-सत्तम्* अर्थात् समस्त राजर्षियों में श्रेष्ठ थे और शुकदेव गोस्वामी *मुनि-सत्तम्* थे अर्थात् सारे मुनियों में श्रेष्ठ थे। दोनों ही कृष्णकथा में एक सी रुचि के कारण उच्च पद को प्राप्त थे। अगले श्लोक में वक्ता तथा श्रोता के उच्च पद की बहुत सुन्दर व्याख्या की गई है। कृष्णकथा इतनी उत्साहदायक है कि महाराज परीक्षित समस्त भौतिक बातों को, यहाँ तक कि खाने-पीने सम्बन्धी निजी सुविधाओं को भी भूल गये। यह इसका प्रमाण है कि कृष्णभावनामृत आन्दोलन को वक्ता तथा श्रोता दोनों को एकसमान दिव्य स्तर पर लाने तथा भगवद्धाम ले जाने के लिए सारे विश्व में किस तरह फैल जाना चाहिए।

वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन्पुनाति हि ।
वक्तारं प्रच्छकं श्रोतृंस्तत्पादसलिलं यथा ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

वासुदेव-कथा-प्रश्नः—वासुदेव कृष्ण की लीलाओं तथा गुणों के विषय में प्रश्न; पुरुषान्—पुरुषों को; त्रीन्—तीनों; पुनाति—पवित्र करते हैं; हि—निश्चय ही; वक्तारम्—वक्ता को, यथा शुकदेव गोस्वामी; प्रच्छकम्—जिज्ञासु श्रोता को, यथा महाराज परीक्षित; श्रोतृन्—तथा कथा को सुनने वालों को; तत्-पाद-सलिलम् यथा—जिस तरह भगवान् विष्णु के अँगूठे से निकलने वाले गंगा जल से सम्पूर्ण संसार पवित्र हो जाता है।.

भगवान् विष्णु के चरणों के अँगूठे से निकलने वाली गंगा तीनों लोकों—ऊपरी, मध्य तथा

अध: लोकों—को पवित्र बनाने वाली है। इसी तरह जब कोई व्यक्ति भगवान् वासुदेव कृष्ण की लीलाओं तथा गुणों के विषय में प्रश्न करता है, तो तीन प्रकार के व्यक्ति—वक्ता या उपदेशक, प्रश्नकर्ता तथा सुनने वाले मनुष्य—शुद्ध हो जाते हैं।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में ही (११.३.२१) कहा गया है *तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासु: श्रेय उत्तमम्।* जो लोग जीवन का लक्ष्य जैसा दिव्य विषय जानना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि प्रामाणिक आध्यात्मिक गुरु के पास जाँए। *तस्माद् गुरुं प्रपद्येत।* मनुष्य को चाहिए कि ऐसे गुरु की शरण में जाये जो कृष्ण के विषय में उसे सही जानकारी दे सके। यहाँ पर महाराज परीक्षित ने वासुदेव कथा के विषय में जानने के लिए प्रामाणिक व्यक्ति शुकदेव गोस्वामी की शरण ग्रहण की है। वासुदेव आदि भगवान् हैं जिनके अनन्त आध्यात्मिक कार्यकलाप हैं। *श्रीमद्भागवत* इन कार्यकलापों का संग्रह है और *भगवद्गीता* वासुदेव द्वारा स्वयं दिए गए प्रवचन का संग्रह है। चूँकि कृष्णभावनामृत आन्दोलन वासुदेव कथा से ओतप्रोत है अतएव जो भी इसमें शामिल होता है, जो भी सुनता है और जो भी प्रचार करता है, वह शुद्ध हो जाएगा।

भूमिर्दृप्तनृपव्याजदैत्यानीकशतायुतैः ।
आक्रान्ता भूरिभारेण ब्रह्माणं शरणं ययौ ॥ १७॥

शब्दार्थ

भूमिः—पृथ्वी माता; दृप्त—गर्वित; नृप-व्याज—राजाओं का स्वांग भरते हुए अथवा राज्य में साक्षात् परम शक्ति; दैत्य—असुरों की; अनीक—सैनिकों की सेना; शत-अयुतैः—सैकड़ों हजारों में, असंख्य; आक्रान्ता—बोझिल होकर; भूरि-भारेण—व्यर्थ की सेना के बोझ से; ब्रह्माणम्—ब्रह्मा के पास; शरणम्—शरण खोजने; ययौ—गयी।

एक बार माता पृथ्वी राजाओं के वेश में गर्वित लाखों असुरों की सेना से बोझिल हो उठी तो वह इससे छुटकारा पाने के लिए ब्रह्मा के पास पहुँची।

तात्पर्य : जब भी संसार अनावश्यक सैनिक व्यवस्थाओं से बोझिल हो उठता है और जब भी विविध आसुरी राजाओं का शासन होता है, तो इस बोझ के कारण भगवान् को प्रकट होना पड़ता है। *भगवद्गीता* (४.७) में भगवान् कहते हैं :

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

“हे भरतवंशी! जब-जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म का प्राबल्य होता है तब-तब मैं

अवतीर्ण होता हूँ।'' जब इस धरा के निवासी नास्तिक तथा ईश्वरविहीन हो जाते हैं, तो वे कूकरों-सूकरों की स्थिति को प्राप्त होते हैं और उनका एक ही कार्य रह जाता है, वह है परस्पर भूँकना। यही *धर्मस्य ग्लानि* अर्थात् जीवन लक्ष्य से विचलन है। मनुष्य जीवन तो कृष्णभावनामृत में सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने के निमित्त है, किन्तु जब लोग ईश्वरविहीन हो जाते हैं और राज्याध्यक्ष या राजा अपनी सैन्यशक्ति पर अनावश्यक गर्व करने लगते हैं, तो उनका कार्य युद्ध करना तथा अपने विभिन्न राज्यों की सैन्य शक्ति को बढ़ाना रह जाता है। इसीलिए आजकल ऐसा प्रतीत होता है कि हर राज्य तृतीय विश्व-युद्ध की तैयारी के लिए परमाणु हथियार बनाने में व्यस्त है। ऐसी तैयारी व्यर्थ है और इससे राज्य के प्रधानों का मिथ्या अहंकार प्रतिबिम्बित होता है। प्रधान शासक का असली कार्य तो जीवन के विभिन्न विभागों में सामान्य लोगों को कृष्णभावनामृत का प्रशिक्षण देकर उन्हें सुखी बनाना है। *चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः* (*भगवद्गीता* ४.१३)। नेता को चाहिए कि लोगों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र का प्रशिक्षण दे और उन्हें अनेक वृत्तिपरक कार्यों में लगाये जिससे वे कृष्णभावनामृत की दिशा में प्रगति कर सकें। किन्तु हो यह रहा है कि चोर तथा उचक्के रक्षक के वेश में मतदान-पद्धति की व्यवस्था करते हैं और प्रजातंत्र के नाम पर वे येन-केन प्रकारेण सत्ता में आकर प्रजा का शोषण करते हैं। यहाँ तक कि बहुत पुराने जमाने में असुरगण, जो कि ईशभावनामृत से विहीन थे, राज्य के प्रधान बन गए थे और अब फिर से वैसा ही हो रहा है। संसार के विभिन्न राज्य सैन्यशक्ति को व्यवस्थित करने में लगे हुए हैं। कभी-कभी तो वे इस कार्य के लिए सरकार की आय का ६५ प्रतिशत खर्च कर देते हैं। किन्तु लोगों की कठिन कमाई को इस तरह क्यों फूँका जाए? वर्तमान विश्व परिस्थिति को देखते हुए कृष्णभावनामृत आन्दोलन के रूप में कृष्ण अवतरित हुए हैं। यह स्वाभाविक ही है क्योंकि कृष्णभावनामृत आन्दोलन के बिना विश्व में शान्ति और सुख स्थापित नहीं हो सकता।

गौर्भूत्वाश्रुमुखी खिन्ना क्रन्दन्ती करुणं विभोः ।
उपस्थितान्तिके तस्मै व्यसनं समवोचत ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

गौः—गाय; भूत्वा—बनकर; अश्रु-मुखी—आँखों में आँसू भरकर; खिन्ना—अत्यन्त दुखी; क्रन्दन्ती—रोती हुई; करुणम्—बेचारी; विभोः—ब्रह्मा के; उपस्थिता—प्रकट हुई; अन्तिके—समक्ष; तस्मै—उनसे (ब्रह्मा से); व्यसनम्—अपनी विपदा; समवोचत—निवेदन किया।

माता पृथ्वी ने गाय का रूप धारण किया। वह अत्यन्त दुखियारी, अपनी आँखों में आँसू भर

कर भगवान् ब्रह्मा के समक्ष प्रकट हुई और उसने उनसे अपनी विपदा कह सुनायी।

ब्रह्मा तदुपधार्याथ सह देवैस्तया सह ।
जगाम सत्रिनयनस्तीरं क्षीरपयोनिधेः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा—ब्रह्माजी; तत्-उपधार्य—हर बात को ठीक से समझ कर; अथ—तत्पश्चात्; सह—साथ; देवैः—देवताओं के; तया सह—माता पृथ्वी के साथ; जगाम—निकट गए; स-त्रि-नयनः—तीन नेत्रों वाले शिवजी के साथ; तीरम्—तट पर; क्षीर-पयः-निधेः—क्षीर सागर के।

माता पृथ्वी की विपदा सुनकर ब्रह्माजी, माता पृथ्वी तथा शिवजी एवं अन्य समस्त देवताओं के साथ क्षीरसागर के तट पर जा पहुँचे।

तात्पर्य : जब ब्रह्माजी पृथ्वी की संकटमय स्थिति को समझ गये तो सबसे पहले वे इस ब्रह्माण्ड के विविध कार्यों का भार सँभालने वाले भगवान् इन्द्र तथा संहार के लिए उत्तरदायी शिवजी के पास गये। सृजन और संहार कार्य भगवान् के आदेशानुसार निरन्तर चलता रहता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.८) में कहा गया है *परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।* जो लोग ईश्वर के नियमों का पालन करने वाले हैं उनकी रक्षा विभिन्न सेवकों तथा देवताओं द्वारा की जाती है, किन्तु जो अवांछित हैं, शिवजी उनका संहार कर देते हैं। सर्वप्रथम ब्रह्माजी शिवजी समेत सारे देवताओं से मिले। तब माता पृथ्वी को साथ लेकर वे क्षीर सागर के किनारे गये जहाँ विष्णु भगवान् श्वेतद्वीप में शयन करते हैं।

तत्र गत्वा जगन्नाथं देवदेवं वृषाकपिम् ।
पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ (क्षीरसागर के तट पर); गत्वा—जाकर; जगन्नाथम्—समग्र ब्रह्माण्ड के स्वामी को; देव-देवम्—सारे देवताओं के भी परम ईश्वर को; वृषाकपिम्—परम पुरुष विष्णु को जो हर एक का पालन करने वाले तथा सबके कष्टों को दूर करने वाले हैं; पुरुषम्—परम पुरुष को; पुरुष-सूक्तेन—पुरुषसूक्त नामक वैदिक मंत्र से; उपतस्थे—पूजा किया; समाहितः—पूर्ण मनोयोग से।

क्षीर सागर के तट पर पहुँच कर सारे देवताओं ने समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी, समस्त देवताओं के परम ईश तथा हर एक का पालन करने वाले और उनके दुखों को दूर करने वाले भगवान् विष्णु की पूजा की। उन्होंने बड़े ही मनोयोग से पुरुषसूक्त नामक वैदिक मंत्रों के पाठ द्वारा क्षीर सागर में शयन करने वाले भगवान् विष्णु की पूजा की।

तात्पर्य : सारे देवता यथा ब्रह्माजी, शिवजी, देवराज इन्द्र, चन्द्र तथा सूर्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के

अधीन हैं। देवताओं के अतिरिक्त मानव समाज में भी अनेक प्रभावशाली व्यक्ति हैं, जो विविध व्यापारों या प्रतिष्ठानों का अधीक्षण करते हैं। किन्तु भगवान् विष्णु तो देवताओं के भी ईश्वर (*परमेश्वर*) हैं। वे *परम पुरुष* परमात्मा हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.१) में पुष्टि हुई है—*ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः*—"गोविन्द नाम से विख्यात कृष्ण परम नियन्ता हैं। उनका शरीर सत्, चित् तथा आनन्द से युक्त है।" न तो कोई भगवान् के तुल्य है, न ही उनसे बढ़कर है इसीलिए यहाँ पर *जगन्नाथ, देव-देव, वृषाकपि* तथा *पुरुष* जैसे शब्दों से उनका वर्णन किया गया है। भगवान् विष्णु की श्रेष्ठता की पुष्टि *भगवद्गीता* (.१२) में अर्जुन के नि म्नलिखित कथन से भी होती है—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।

पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥

"आप परम ब्रह्म, परम धाम, शुद्धकर्ता, परम सत्य तथा नित्य दैवी पुरुष हैं। आप आदि भगवान् हैं, दिव्य और शाश्वत हैं और अजन्मा हैं तथा सर्वव्यापक सौन्दर्य हैं।" कृष्ण *आदि पुरुष* (*गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि*) हैं। विष्णु भगवान् कृष्ण के स्वांश हैं और सारे *विष्णुतत्त्व परमेश्वर* तथा *देवदेव* हैं।

गिरं समाधौ गगने समीरितां
निशम्य वेधास्त्रिदशानुवाच ह ।
गां पौरुषीं मे शृणुतामराः पुन-
र्विधीयतामाशु तथैव मा चिरम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

गिरम्—शब्दों की ध्वनि; समाधौ—समाधि में; गगने—आकाश में; समीरिताम्—ध्वनित; निशम्य—सुनकर; वेधाः—ब्रह्मा ने; त्रिदशान्—देवताओं को; उवाच—कहा; ह—ओह; गाम्—आदेश; पौरुषीम्—परम पुरुष से प्राप्त; मे—मुझको; शृणुत—सुनिए; अमराः—हे देवताओ; पुनः—फिर; विधीयताम्—सम्पन्न करो; आशु—तुरन्त; तथा एव—उसी तरह; मा—मत; चिरम्—विलम्ब।

ब्रह्माजी जब समाधि में थे, भगवान् विष्णु के शब्दों को आकाश में ध्वनित होते सुना। तब उन्होंने देवताओं से कहा, "अरे देवताओ! मुझसे परम पुरुष क्षीरोदकशायी विष्णु का आदेश सुनो और बिना देर लगाए उसे ध्यानपूर्वक पूरा करो।"

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् के शब्दों को सक्षम व्यक्ति समाधि में सुन सकते हैं। आधुनिक विज्ञान ने हमें टेलीफोन प्रदान किया है, जिसकी सहायता से हम सुदूर स्थान की ध्वनियाँ

सुन सकते हैं। इसी तरह, यद्यपि अन्य लोग भगवान् विष्णु के शब्दों को नहीं सुन सकते, किन्तु ब्रह्माजी अपने अभ्यंतर में भगवान् के शब्दों को सुन सकते हैं। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में ही (१.१.१) *तेने ब्रह्महृदा य आदि कवये* के द्वारा हुई है। *आदि कवि* ब्रह्माजी हैं। ब्रह्माजी ने सृष्टि के आदि में अपने हृदय के माध्यम से (*हृदा*) भगवान् विष्णु से वैदिक ज्ञान का आदेश प्राप्त किया। यहाँ उसी सिद्धान्त की पुष्टि हुई है। ब्रह्मा ने समाधिस्थ अवस्था में क्षीरोदकशायी विष्णु के शब्द सुने और भगवान् के सन्देश को देवताओं तक पहुँचाया। इसी तरह ब्रह्मा ने सृष्टि के आदि में अपने हृदय के भीतर भगवान् से वैदिक ज्ञान प्राप्त किया। दोनों ही अवसरों पर ब्रह्माजी तक सन्देश ले जाने में एक ही विधि प्रयुक्त हुई। दूसरे शब्दों में, यद्यपि भगवान् विष्णु ब्रह्माजी को भी नहीं दिख रहे थे, किन्तु वे अपने हृदय के माध्यम से भगवान् विष्णु के शब्द सुन सके। ब्रह्माजी तक को नहीं दिखते फिर भी वे इस धरा पर अवतरित होते हैं और सामान्य जनता को दृष्टिगोचर होते हैं। यह उनकी अहैतुकी कृपावश ही होता है, किन्तु मूर्ख तथा अभक्त यही सोचते हैं कि कृष्ण सामान्य ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। चूँकि वे भगवान् को अपने ही जैसा सामान्य व्यक्ति सोचते हैं इसलिए उन्हें *मूढ* कहा गया है (*अवजानन्ति मां मूढा:*)। ऐसे असुरगण जो *भगवद्गीता* के उपदेशों को नहीं समझ पाते और जो इसीलिए उन उपदेशों की गलत व्याख्या करते हैं, वे भगवान् की अहैतुकी कृपा की उपेक्षा करते हैं।

पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरो
भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम् ।
स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः
स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद्भुवि ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

पुरा—इससे भी पहले; एव—निस्सन्देह; पुंसा—भगवान् द्वारा; अवधृतः—ज्ञात था; धरा-ज्वरः—पृथ्वी पर संकट; भवद्भिः—आपके; अंशैः—अंशों द्वारा; यदुषु—राजा यदु के वंश में; उपजन्यताम्—जन्म लेकर; सः—वह (भगवान्); यावत्—जब तक; उर्व्याः—पृथ्वी का; भरम्—भार; ईश्वर-ईश्वरः—ईश्वरों के ईश्वर; स्व-काल-शक्त्या—अपनी ही काल शक्ति द्वारा; क्षपयन्—घटाने के लिए; चरेत्—गति करें; भुवि—पृथ्वी की सतह पर।

भगवान् ब्रह्माजी ने देवताओं को बतलाया: हमारे द्वारा याचना करने के पूर्व ही भगवान् पृथ्वी के संकट से अवगत हो चुके थे। फलतः जब तक भगवान् अपनी काल शक्ति के द्वारा पृथ्वी का भार कम करने के लिए पृथ्वी पर गतिशील रहें तब तक तुम सभी देवताओं को यदुओं के परिवार में उनके पुत्रों तथा पौत्रों के अंश के रूप में अवतीर्ण होना होगा।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* (५.३९) में कहा गया है—

रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्

नानावतारमकरोद् भुवनेषु किन्तु।

कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यो

गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन गोविन्द की पूजा करता हूँ जो राम, नृसिंह अवतारों तथा अन्य उप-अवतारों के रूप में सदैव स्थित रहते हैं, किन्तु जो आदि भगवान् हैं और कृष्ण कहलाते हैं और जो स्वयं भी अवतरित होते हैं।''

श्रीमद्भागवत के इस श्लोक में *पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरः* शब्द आये हैं। *पुंसा* कृष्ण का द्योतक है, जो पहले से अवगत थे कि सारा संसार असुरों की बाढ़ से किस तरह पीड़ित था। भगवान् की परम शक्ति का उल्लेख किये बिना असुरगण अपने आपको स्वतंत्र राजा तथा राष्ट्रपति बतलाते हैं और इस तरह अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाकर उत्पात मचाते हैं। जब ऐसे उत्पात अत्यधिक मुखर हो उठते हैं, तो कृष्ण प्रकट होते हैं। इस समय भी विश्वभर में अनेक आसुरी राज्य अनेक प्रकार से अपनी-अपनी सैन्य शक्ति बढ़ा रहे हैं जिससे सारी स्थिति पीड़ाजनक हो उठी है। इसीलिए कृष्ण अपने नाम से हरे कृष्ण आन्दोलन में प्रकट हुए हैं, जो निश्चय ही विश्व के भार को कम करेगा। दार्शनिकों, धर्मज्ञों तथा सामान्य जनों को गम्भीरतापूर्वक इस आन्दोलन में भाग लेना चाहिए क्योंकि मानवनिर्मित योजनाओं तथा युक्तियों से पृथ्वी पर शान्ति लाने में सहायक नहीं हो सकती। हरे कृष्ण की दिव्य ध्वनि पुरुष कृष्ण से भिन्न नहीं है।

नाम चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।

पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान् नामनामिनोः॥

(*पद्म पुराण*)

हरे कृष्ण ध्वनि तथा पुरुष कृष्ण में कोई अन्तर नहीं है।

वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान्पुरुषः परः ।

जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

वसुदेव-गृहे—वसुदेव (कृष्ण के पिता) के घर में; साक्षात्—साकार रूप में; भगवान्—पूर्ण शक्तिमान भगवान्; पुरुषः—आदि पुरुष; परः—दिव्य; जनिष्यते—उत्पन्न होगा; तत्-प्रिय-अर्थम्—उसकी तुष्टि के लिए; सम्भवन्तु—जन्म लेना होगा; सुर-स्त्रियः—देवताओं की स्त्रियों को।

सर्वशक्तिमान भगवान् कृष्ण वसुदेव के पुत्र रूप में स्वयं प्रकट होंगे। अतः देवताओं की सारी स्त्रियों को भी उन्हें प्रसन्न करने के लिए प्रकट होना चाहिए।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (४.९) में भगवान् कहते हैं—*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति*—भौतिक शरीर त्यागने के बाद भगवद्भक्त भगवान् के पास वापस लौट आता है। इसका अर्थ यह होता है कि भक्त पहले उस ब्रह्माण्ड विशेष में भेजा जाता है जहाँ भगवान् उस समय अपनी लीलाएँ करते होते हैं। ब्रह्माण्ड असंख्य हैं और हर क्षण भगवान् इनमें से किसी एक में प्रकट होते रहते हैं। इसीलिए उनकी लीलाएँ *नित्यलीला* कहलाती हैं। शिशुओं के रूप में देवकी के घर भगवान् का प्राकटय निरन्तर एक के बाद दूसरे ब्रह्माण्ड में होता रहता है। इसलिए भक्त को सर्वप्रथम वहाँ भेजा जाता है जहाँ उस समय भगवान् की अपनी लीलाएँ चल रही होती हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है कि यदि भक्त की भक्ति पूरी नहीं भी हो पाती तो भी वह स्वर्ग का सुख भोगता है जहाँ अत्यन्त पवित्र लोग निवास करते हैं और तब वह किसी *शुचि* या *श्रीमान्* अर्थात् पवित्र ब्राह्मण या धनी वैश्य के घर में जन्म लेता है। (*शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते*)। इस तरह शुद्ध भक्त यदि भक्ति को पूरा करने में असमर्थ रहता है, तो भी वह स्वर्ग में भेज दिया जाता है जहाँ पुण्यात्मा रहते हैं। यदि उसकी भक्ति पूरी हो जाती है, तो वहाँ से ऐसा भक्त ऐसे स्थान को भेज दिया जाता है जहाँ भगवान् की लीलाएँ चल रही होती हैं। यहाँ पर *सम्भवन्तु सुरस्त्रियः* कहा गया है। *सुरस्त्री* अर्थात् स्वर्ग की स्त्रियों को वृन्दावन में यदुवंशियों के यहाँ जन्म लेकर कृष्ण की लीलाओं को समृद्ध बनाने का आदेश दिया गया। ये *सुरस्त्रियाँ* कृष्ण के साथ रहने का और अधिक प्रशिक्षण पाने के बाद आदि गोलोक वृन्दावन भेज दी जाएँगी। इस जगत में कृष्ण की लीलाओं के समय सुरस्त्रियों को विभिन्न परिवारों में विभिन्न प्रकारों से कृष्ण को आनन्द प्रदान करने के लिए प्रकट होना था जिससे नित्य गोलोक वृन्दावन भेजे जाने के पूर्व वे पूरी तरह प्रशिक्षित हो जाँय। वे द्वारकापुरी, मथुरापुरी या वृन्दावन में कृष्ण की संगति से निश्चय ही भगवद्धाम वापस जाएँगी। सुरस्त्रियों में अनेक भक्तिनें हैं यथा कृष्ण के उपेन्द्र अवतार की माता। ऐसी ही अनुरक्त

स्त्रियों का इस प्रसंग में बुलाया गया था।

वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट् ।
अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया ॥ २४॥

शब्दार्थ

वासुदेव-कला अनन्तः—भगवान् कृष्ण का अंश जो अनन्तदेव या संकर्षण अनन्त के नाम से प्रसिद्ध हैं, भगवान् का सर्वव्यापक अवतार; सहस्र-वदनः—हजार फनों वाला; स्वराट्—पूर्णतया स्वतंत्र; अग्रतः—इसके पूर्व; भविता—प्रकट होगा; देवः—भगवान्; हरेः—कृष्ण का; प्रिय-चिकीर्षया—आनन्द के लिए कार्य करने की इच्छा से।

कृष्ण का सबसे अग्रणी स्वरूप संकर्षण है, जो अनन्त कहलाता है। वह इस भौतिक जगत में सारे अवतारों का उद्गम है। भगवान् कृष्ण के प्राकटय के पूर्व यह आदि संकर्षण कृष्ण को उनकी दिव्य लीलाओं में प्रसन्न करने के लिए बलदेव के रूप में प्रकट होगा।

तात्पर्य : श्री बलदेव साक्षात् भगवान् हैं। वे श्रेष्ठता में ईश्वर के ही समान हैं, फिर भी जहाँ कहीं कृष्ण प्रकट होते हैं, श्रीबलदेव उनके भाई के रूप में, कभी बड़े भाई के रूप में तो कभी छोटे भाई के रूप में प्रकट होते हैं। जब कृष्ण अवतीर्ण होते हैं, तो उनके सारे स्वांश तथा अन्य अवतार भी उन्हीं के साथ प्रकट होते हैं। *श्रीचैतन्य-चरितामृत* में इसकी विस्तृत रूप में व्याख्या की गई है। इस बार बलदेव कृष्ण से पहले उनके बड़े भाई के रूप में प्रकट होंगे।

विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत् ।
आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे सम्भविष्यति ॥ २५॥

शब्दार्थ

विष्णोः माया—भगवान् विष्णु की शक्ति; भगवती—भगवान् के ही समकक्ष अतएव भगवती नाम से जानी जाने वाली; यया—जिससे; सम्मोहितम्—मोहित; जगत्—सारे जगत, भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों; आदिष्टा—आदेश पाकर; प्रभुणा—स्वामी के द्वारा; अंशेन—अपने विभिन्न शक्तिशाली कारकों के साथ; कार्य-अर्थे—पूरा काम करने के लिए; सम्भविष्यति—जन्म लेगी।

विष्णु माया कहलाने वाली भगवान् की शक्ति जो भगवान् के ही समान है, भगवान् कृष्ण के साथ-साथ ही प्रकट होगी। यह शक्ति विभिन्न पदों पर कार्य करती हुई भौतिक तथा आध्यात्मिक सभी जगतों को मोहने वाली है। वह अपने स्वामी के आग्रह पर भगवान् का कार्य सम्पन्न करने के लिए अपनी विविध शक्तियों सहित प्रकट होगी।

तात्पर्य : *परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते* (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.८)। वेदों में कहा गया है कि भगवान् की शक्तियाँ विविध नामों से पुकारी जाती हैं यथा *योगमाया* तथा *महामाया*। किन्तु अन्ततोगत्वा

भगवान् की शक्ति एक है, ठीक उसी तरह जिस तरह कि विद्युत् शक्ति एक है यद्यपि वह शीतल करने तथा गरम करने दोनों का ही कार्य करती है। भगवान् की शक्ति आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों जगतों में कार्य करती है। आध्यात्मिक जगत में यह *योगमाया* के रूप में कार्य करती है, तो भौतिक जगत में वही *महामाया* के रूप में कार्य करती है उसी तरह जिस तरह विद्युत् शक्ति हीटर तथा कूलर दोनों में काम करती है। भौतिक जगत में यह शक्ति महामाया के रूप में कार्य करती हुई बद्धजीवों को भक्ति से अधिकाधिक वंचित कराने वाली है। कहा गया है *यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्।* बद्धजीव भौतिक जगत में अपने को तीन गुणों (*त्रिगुण*) की उपज मानता है। यह देहात्मबुद्धि है। हर व्यक्ति भौतिक शक्ति के तीन गुणों से अपने को सम्बद्ध करने के ही कारण अपने को अपना शरीर मानता है। कोई अपने को ब्राह्मण तो कोई अपने को क्षत्रिय मानता है और कोई वैश्य या शूद्र। वास्तव में न तो कोई ब्राह्मण है, न क्षत्रिय, न वैश्य और न शूद्र। वह तो भगवान् का अंश है (*ममैवांश:*) किन्तु भौतिक शक्ति महामाया से प्रच्छन्न होने के कारण वह भिन्न-भिन्न ढंगों से अपनी पहचान करता है। किन्तु जब बद्धजीव मुक्त हो जाता है, तो वह अपने को कृष्ण का नित्य दास मानता है। *जीवेर 'स्वरूप' हयकृष्णेर 'नित्य-दास'।* जब वह इस पद को प्राप्त कर लेता है, तो वही शक्ति योगमाया उसे शुद्ध बनने और अपनी शक्ति भगवान् की सेवा में लगाने में अधिकाधिक सहायक बनती है।

जीव चाहे बद्ध हो या मुक्त, भगवान् प्रत्येक अवस्था में सर्वोपरि हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.) में कहा गया है— *मयाध्यक्षेण प्रकृति: सूयते सचराचरम्*—भगवान् के ही आदेश से महामाया बद्धजीव पर अपना प्रभाव दिखलाती है।

प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वश: ।
अहंकार-विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

''मोहग्रस्त जीव प्रकृति के तीनों गुणों के वशीभूत होकर अपने को उन कार्यों का कर्ता मान बैठता है, जो वास्तव में प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं।'' (*भगवद्गीता* ३.२७) बद्धजीव में किसी को स्वतंत्रता प्राप्त नहीं, किन्तु मनुष्य मोहग्रस्त होने तथा महामाया के वशीभूत होने से मूर्खतावश अपने को स्वतंत्र मान बैठता है (*अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते*)। किन्तु जब भक्ति करने के कारण बद्धजीव मुक्त बनता है, तो उसे विभिन्न रसों में यथा दास्य-रस, सख्य-रस, वात्सल्य-रस तथा माधुर्य-रस में

भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध का आस्वादन करने का अधिकाधिक अवसर प्राप्त होता है।

इस तरह से भगवान् की शक्ति *विष्णुमाया* के दो स्वरूप हैं—*आवरणिका* तथा *उन्मुख*। जब भगवान् अवतीर्ण हुए तो उनकी शक्ति उनके साथ आई और उसने अनेक प्रकार से कार्य किये। उसने यशोदा, देवकी तथा भगवान् के अन्य घनिष्ठ सम्बन्धियों के साथ *योगमाया* के रूप में कार्य किया, किन्तु कंस, शाल्व तथा अन्य असुरों के साथ उसने भिन्न रूप से कार्य किया। भगवान् कृष्ण के आदेश से उनकी शक्ति योगमाया उनके साथ आई और उसने देश तथा काल के अनुसार विविध कार्यकलाप प्रदर्शित किये—*कार्यार्थे सम्भविष्यति।* योगमाया ने भगवान् के द्वारा इच्छित विविध प्रयोजनों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकारों से कार्य किया। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.१३) में पुष्टि हुई है—*महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।* भगवान् के चरणकमलों में पूर्णतया शरणागत महात्मा-जन योगमाया द्वारा निर्देशित होते हैं जबकि भक्ति से रहित दुरात्मा-जन महामाया द्वारा निर्देशित होते हैं।

श्रीशुक उवाच

इत्यादिश्यामरगणान्प्रजापतिपतिर्विभुः ।
आश्वास्य च महीं गीर्भिः स्वधाम परमं ययौ ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; आदिश्य—सूचना देकर; अमर-गणान्—देवताओं को; प्रजापति-पतिः—प्रजापतियों के स्वामी ब्रह्माजी; विभुः—सर्वशक्तिमान; आश्वास्य—आश्वासन देकर; च—भी; महीम्—माता पृथ्वी को; गीर्भिः—मधुर शब्दों से; स्व-धाम—अपने धाम, ब्रह्मलोक; परमम्—सर्वश्रेष्ठ (ब्रह्माण्ड के भीतर); ययौ—लौट गये।.

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : इस तरह देवताओं को सलाह देकर तथा माता पृथ्वी को आश्वस्त करते हुए अत्यन्त शक्तिशाली ब्रह्माजी, जो समस्त प्रजापतियों के स्वामी होने से प्रजापति-पति कहलाते हैं, अपने धाम ब्रह्मलोक लौट गये।

शूरसेनो यदुपतिर्मथुरामावसन्पुरीम् ।
माथुराञ्छूरसेनांश्च विषयान्बुभुजे पुरा ॥ २७॥

शब्दार्थ

शूरसेनः—राजा शूरसेन; यदु-पतिः—यदुवंश का मुखिया; मथुराम्—मथुरा नामक स्थान में; आवसन्—जाकर रहने लगा; पुरीम्—नगरी में; माथुरान्—माथुर जिले के नाम से विख्यात स्थान में; शूरसेनान् च—तथा शूरसेन नामक स्थान में; विषयान्—ऐसे राज्यों का; बुभुजे—भोग किया; पुरा—प्राचीन काल में।.

प्राचीन काल में यदुवंश का मुखिया शूरसेन मथुरा नामक नगरी में रहने के लिए गया। वहाँ

उसने माथुर तथा शूरसेन नामक स्थानों का भोग किया।

राजधानी ततः साभूत्सर्वयादवभूभुजाम् ।
मथुरा भगवान्यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

राजधानी—राजधानी; ततः—उस समय से; सा—वह (मथुरा नामक नगरी तथा देश); अभूत्—बन गया; सर्व-यादव-भूभुजाम्—यदुवंश में होने वाले सारे राजाओं की; मथुरा—मथुरा नामक स्थान; भगवान्—भगवान्; यत्र—जहाँ; नित्यम्—शाश्वत रूप से; सन्निहितः—घनिष्टतापूर्वक सम्बद्ध, नित्यवास करते हुए; हरिः—भगवान्।

उस समय से मथुरा नगरी सारे यदुवंशी राजाओं की राजधानी बनी रही। मथुरा नगरी तथा मथुरा जनपद कृष्ण से घनिष्टतापूर्वक जुड़े हैं क्योंकि वहाँ कृष्ण का नित्य वास है।

तात्पर्य : ऐसा ज्ञात होता है कि मथुरा नगरी भगवान् कृष्ण का नित्य धाम है। यह कोई सामान्य भौतिक नगरी नहीं क्योंकि यह सदा से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से जुड़ी हुई है। वृन्दावन मथुरा की सीमा के अन्तर्गत है और आज भी विद्यमान है। चूँकि मथुरा तथा वृन्दावन का कृष्ण से शाश्वत सम्बन्ध है इसलिए कहा जाता है कि कृष्ण वृन्दावन को कभी नहीं छोड़ते (*वृन्दावनं परित्यज्य पदमेकं न गच्छति*)। सम्प्रति मथुरा जिले के अन्तर्गत वृन्दावन दिव्य स्थान के रूप में मान्य है और जो भी वहाँ जाता है, शुद्ध बन जाता है। नवद्वीप धाम भी व्रजभूमि से घनिष्टतापूर्वक सम्बद्ध है। इसीलिए श्रील नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं—

श्रीगौडमण्डल भूमि, येबा जाने चिन्तामणि

ताऽर हय व्रजभूमे वास

"व्रजभूमि" द्योतक है मथुरा-वृन्दावन का और गौड़ मण्डल भूमि के अन्तर्गत नवद्वीप आता है। ये दोनों स्थान अभिन्न हैं। इसलिए नवद्वीप धाम का कोई भी वासी जो कृष्ण तथा चैतन्य महाप्रभु को एक रूप में जानता है, वह व्रजभूमि मथुरा-वृन्दावन में वास करता है। महाप्रभु ने बद्धजीवों को मथुरा, वृन्दावन तथा नवद्वीप में वास करना और भगवान् से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करना आसान बना दिया है। इन स्थानों में रहने से ही मनुष्य भगवान् के सम्पर्क में आ सकता है। ऐसे अनेक भक्त हैं, जो वृन्दावन तथा मथुरा छोड़कर अन्यत्र न जाने का व्रत लेते हैं। यह अच्छी बात है, किन्तु यदि कोई व्यक्ति भगवान् की सेवा करने के लिए वृन्दावन, मथुरा या नवद्वीप धाम को छोड़ता है, तो उसका सम्बन्ध भगवान् से टूटता नहीं। जो हो, हमें चाहिए कि मथुरा-वृन्दावन तथा नवद्वीप धाम के दिव्य

महत्त्व को समझना चाहिए। जो व्यक्ति इन स्थानों में रहकर भक्ति करता है, वह शरीर त्यागने के बाद निश्चित रूप से भगवद्धाम जाता है। इस प्रकार *मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः*—ये वचन विशेष महत्त्व रखते हैं। भक्त को चाहिए कि इस उपदेश का पूरा-पूरा लाभ उठाए। जब भी भगवान् अवतीर्ण होते हैं, तो मथुरा में ही अवतीर्ण होते हैं क्योंकि इस स्थान से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए मथुरा तथा वृन्दावन इस धराधाम में स्थित होते हुए भी भगवान् के दिव्य धाम हैं।

तस्यां तु कर्हिचिच्छौरिर्वसुदेवः कृतोद्वहः ।
देवक्या सूर्यया सार्धं प्रयाणे रथमारुहत् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उस मथुरा नामक स्थान में; तु—निस्सन्देह; कर्हिचित्—कुछ समय बीता; शौरिः—शूर का वंशज, देवता; वसुदेवः—वसुदेव रूप में प्रकट; कृत-उद्वहः—विवाह करने के बाद; देवक्या—देवकी से; सूर्यया—अपनी नवविवाहिता पत्नी के; सार्धम्—साथ; प्रयाणे—घर लौटने के लिए; रथम्—रथ पर; आरुहत्—चढ़ा।

कुछ समय पूर्व देववंश (या शूरवंश) के वसुदेव ने देवकी से विवाह किया। विवाह के बाद वह अपनी नवविवाहिता पत्नी के साथ घर लौटने के लिए अपने रथ पर आरूढ़ हुआ।

उग्रसेनसुतः कंसः स्वसुः प्रियचिकीर्षया ।
रश्मीन्हयानां जग्राह रौक्मै रथशतैर्वृतः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

उग्रसेन-सुतः—उग्रसेन का बेटा; कंसः—कंस ने; स्वसुः—अपनी बहिन देवकी के; प्रिय-चिकीर्षया—विवाह के अवसर पर उसे प्रसन्न करने के लिए; रश्मीन्—लगामों को; हयानाम्—घोड़ों की; जग्राह—पकड़ लिया; रौक्मैः—सोने की बनी; रथ-शतैः—सैकड़ों रथों से; वृतः—घिरा हुआ।

राजा उग्रसेन के पुत्र कंस ने अपनी बहन देवकी को उसके विवाह के अवसर पर प्रसन्न करने की दृष्टि से घोड़ों की लगामें अपने हाथ में थाम लीं और स्वयं रथचालक (सारथी) बन गया। वह सैकड़ों सुनहरे रथों से घिरा था।

चतुःशतं पारिबर्हं गजानां हेममालिनाम् ।
अश्वानामयुतं सार्धं रथानां च त्रिषट्शतम् ॥ ३१ ॥
दासीनां सुकुमारीणां द्वे शते समलङ्कृते ।
दुहित्रे देवकः प्रादाद्याने दुहितृवत्सलः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

चतुः-शतम्—चार सौ; पारिबर्हम्—दहेज; गजानाम्—हाथियों के; हेम-मालिनाम्—सोने के हारों से सजे; अश्वानाम्—घोड़ों के; अयुतम्—दस हजार; सार्धम्—साथ में; रथानाम्—रथों के; च—तथा; त्रि-षट्-शतम्—छह सौ का तिगुना, अठारह सौ;

दासीनाम्—दासियों के; सु-कुमारीणाम्—अत्यन्त जवान तथा सुन्दर अविवाहित लड़कियाँ; द्वे—दो; शते—सौ; समलङ्कृते—गहनों से सज्जित; दुहित्रे—अपनी पुत्री को; देवकः—राजा देवक; प्रादात्—भेंट स्वरूप दिया; याने—जाते समय; दुहितृ-वत्सलः—अपनी पुत्री देवकी को अत्यधिक चाहने वाला।

देवकी का पिता राजा देवक अपनी पुत्री को अत्यधिक स्नेह था। अतएव जब देवकी तथा उसका पति घर से विदा होने लगे तो उसने दहेज में सोने के हारों से सुसज्जित चार सौ हाथी दिए। साथ ही दस हजार घोड़े, अठारह हजार रथ तथा दो सौ अत्यन्त सुन्दर तथा गहनों से अच्छी तरह अलंकृत युवा दासियाँ दीं।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता में अपनी पुत्री को दहेज देने की प्रथा दीर्घकाल से चली आ रही है। आज भी, उसी प्रथा का पालन करते हुए धनवान पिता अपनी पुत्री को भरपूर दहेज देता है। चूँकि पुत्री को पिता की सम्पत्ति में अधिकार नहीं मिलता इसलिए वत्सल पिता अपनी पुत्री के विवाह के अवसर पर यथाशक्ति दहेज देता है। इसलिए वैदिक प्रथा के अनुसार दहेज अवैध नहीं है। किन्तु देवक ने देवकी को जो दहेज दिया वह सामान्य नहीं था। चूँकि देवक राजा था अतएव अपने राजसी-पद के अनुसार उसने उपयुक्त दहेज दिया। यहाँ तक कि सामान्य व्यक्ति, विशेष रूप से कुलीन ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य से आशा की जाती है कि वह दिल खोल कर यथेष्ठ दहेज दे। विवाह के तुरन्त बाद पुत्री अपने ससुराल जाती है और यह भी प्रथा है कि अपनी बहन के प्रति प्रेमभाव दर्शाने के लिए दुलहिन का भाई उसके तथा बहनोई के साथ-साथ जाय। कंस इसी प्रथा का पालन कर रहा था। *वर्णाश्रम धर्म* समाज में, जिसे आज गलती से हिन्दू समाज कहा जाता है, ये पुराने रीति-रिवाज पाए जाते हैं। इन पुराने रीति-रिवाजों का यहाँ पर सुन्दर ढंग से वर्णन हुआ है।

शङ्खतूर्यमृदङ्गाश्च नेदुर्दुन्दुभयः समम् ।
प्रयाणप्रक्रमे तात वरवध्वोः सुमङ्गलम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

शङ्ख—शंख; तूर्य—तुरही; मृदङ्गाः—मृदंग; च—भी; नेदुः—बजने लगे; दुन्दुभयः—नगाड़े; समम्—एकसाथ; प्रयाण-प्रक्रमे—विदाई के समय; तात—हे पुत्र; वर-वध्वोः—दूल्हा तथा दुल्हन की; सु-मङ्गलम्—शुभ विदाई के लिए।

हे प्रिय पुत्र महाराज परीक्षित, जब दूल्हा तथा दुल्हन विदा होने लगे तो उनकी शुभ विदाई पर शंख, तुरही, मृदंग तथा नगाड़े एकसाथ बजने लगे।

पथि प्रग्रहिणं कंसमाभाष्याहाशरीरवाक् ।

अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता यां वहसेऽबुध ॥ ३४॥

शब्दार्थ

पथि—रास्ते में; प्रग्रहिणम्—घोड़ों की लगाम थामे हुए; कंसम्—कंस को; आभाष्य—सम्बोधित करते हुए; आह—कहा; अ-शरीर-वाक्—अदृश्य शरीर से आने वाली आवाज ने; अस्याः—इस (देवकी) का; त्वाम्—तुमको; अष्टमः—आठवाँ; गर्भः—गर्भ; हन्ता—मारने वाला; याम्—जिसको; वहसे—लिए जा रहे हो; अबुध—हे मूर्ख।

जब कंस घोड़ों की लगाम थामे मार्ग पर रथ हाँक रहा था, तो किसी अशरीरी आवाज ने उसको सम्बोधित किया, "अरे मूर्ख दुष्ट! तुम जिस स्त्री को लिए जा रहे हो उसकी आठवीं सन्तान तुम्हारा वध करेगी।"

तात्पर्य : इस भविष्यवाणी में *अष्टमोगर्भः* की बात थी, किन्तु स्पष्ट नहीं बतलाया गया था कि वह लड़का होगा या लड़की। यदि कंस यह भी देख सकता कि देवकी की आठवीं सन्तान लड़की होगी तो भी उसे सन्देह नहीं रहता कि आठवीं सन्तान से उसका वध होना है। 'विश्वकोश' के अनुसार *गर्भ* तथा *अर्भक* दोनों ही शिशु के द्योतक हैं। कंस अपनी बहन के प्रति वत्सल था इसीलिए वह अपनी बहन तथा बहनोई को उनके घर पहुँचाने के लिए रथचालक का काम कर रहा था। किन्तु देवतागण नहीं चाहते थे कि कंस देवकी के प्रति वत्सल रहे अतएव उन्होंने अदृश्य स्थान से कंस को उसके प्रति उकसाने के लिए प्रोत्साहित किया। यही नहीं, मरीचि के छहों पुत्रों को शाप मिला था कि वे देवकी के गर्भ से जन्म लें और कंस द्वारा वध किए जाने पर उनका उद्धार हो। जब देवकी को पता चला कि कंस उसके गर्भ से जन्म लेने वाले भगवान् के द्वारा मारा जाएगा तो वह अत्यधिक प्रसन्न हुई। *वहसे* शब्द भी सार्थक है क्योंकि यह सूचित करता है कि उस भविष्यवाणी ने कंस को धिक्कारा कि तुम अपने शत्रु की माता को ले जाने वाले वाहक पशु का कार्य कर रहे हो।

इत्युक्तः स खलः पापो भोजानां कुलपांसनः ।
भगिनीं हन्तुमारब्धं खड्गपाणिः कचेऽग्रहीत् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

इति उक्तः—इस तरह कहे जाने पर; सः—वह (कंस); खलः—दुष्ट, ईर्ष्यालु; पापः—पापी; भोजानाम्—भोज कुल का; कुल-पांसनः—अपने कुल की ख्याति को नीचे गिराने वाला; भगिनीम्—अपनी बहन को; हन्तुम् आरब्धम्—मारने के लिए उद्यत; खड्ग-पाणिः—हाथ में तलवार लेकर; कचे—बाल; अग्रहीत्—पकड़ लिया।

कंस भोजवंश का अधम व्यक्ति था क्योंकि वह ईर्ष्यालु तथा पापी था। इसलिए उसने जब यह आकाशवाणी सुनी तो उसने बाएँ हाथ से अपनी बहन के बाल पकड़ लिए और उसके सिर को धड़ से अलग करने के लिए दाहिने हाथ से अपनी तलवार निकाली।

तात्पर्य : कंस रथ हाँक रहा था और बाएँ हाथ से लगामें थामे था, किन्तु ज्योंही उसने यह आकाशवाणी सुनी कि उसकी बहन की आठवीं सन्तान उसका वध करेगी तो उसने लगाम छोड़ दी, तुरन्त अपनी बहन के बाल पकड़ लिए और दाहिने हाथ में तलवार लेकर उसका वध करना चाहा। इसके पूर्व वह इतना वत्सल था कि अपनी बहन का रथ हाँक रहा था, किन्तु ज्योंही उसने स्वार्थ की बात सुनी अथवा यह सुना कि उसके प्राण संकट में हैं, तो वह सारा वात्सल्य भूल गया और तुरन्त महान् शत्रु बन गया। यही असुरों का स्वभाव है। असुर चाहे कितना ही वत्सल क्यों न हो उस पर विश्वास नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त राजा, राजनीतिज्ञ या स्त्री पर भी कभी विश्वास नहीं करना चाहिए क्योंकि वे निजी हित के लिए घृणित से घृणित कार्य कर सकते हैं। इसीलिए चाणक्य पण्डित कहता है—*विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च।*

तं जुगुप्सितकर्माणं नृशंसं निरपत्रपम् ।
वसुदेवो महाभाग उवाच परिसान्त्वयन् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस (कंस) को; जुगुप्सित-कर्माणम्—जो ऐसा घृणित कर्म करने के लिए तैयार था; नृशंसम्—अत्यन्त क्रूर; निरपत्रपम्—बेहया, निर्लज्ज; वसुदेवः—वसुदेव ने; महा-भागः—वासुदेव का अत्यन्त भाग्यशाली पिता; उवाच—कहा; परिसान्त्वयन्—सान्त्वना देते हुए।

कंस इतना क्रूर तथा ईर्ष्यालु था कि वह निर्लज्जतापूर्वक अपनी बहन को मारने के लिए तैयार था अतः उसे शान्त करने के लिए कृष्ण के होने वाले पिता महात्मा वसुदेव ने उससे निम्नलिखित शब्द कहे।

तात्पर्य : कृष्ण के होने वाले पिता वसुदेव को *महाभाग* अत्यंत ईमानदार तथा गम्भीर व्यक्ति बतलाया गया है क्योंकि यद्यपि कंस उनकी पत्नी को मारने जा रहा था, किन्तु वसुदेव गम्भीर तथा अविचल थे। वसुदेव ने शान्त मुद्रा में युक्तियुक्त तर्क प्रस्तुत करते हुए कंस को सम्बोधित किया। वसुदेव महाभाग या महापुरुष थे क्योंकि वे क्रूर व्यक्ति को शान्त करना तथा कट्टर से कट्टर शत्रु को क्षमा करना जानते थे। जो भाग्यशाली होता है उसे बाघ या साँप भी नहीं पकड़ पाते।

श्रीवसुदेव उवाच
श्लाघनीयगुणः शूरैर्भवान्भोजयशस्करः ।
स कथं भगिनीं हन्यात्स्त्रियमुद्वाहपर्वणि ॥ ३७॥

शब्दार्थ

श्री-वसुदेवः उवाच—महाभाग वसुदेव ने कहा; श्लाघनीय-गुणः—प्रशंसनीय गुणों से युक्त; शूरैः—शूरवीरों के द्वारा; भवान्—आप; भोज-यशः-करः—भोजवंश का दैदीप्यमान नक्षत्र; सः—आप जैसा; कथम्—किस तरह; भगिनीम्—अपनी बहन को; हन्यात्—मार सकता है; स्त्रियम्—विशेष रूप से स्त्री को; उद्वाह-पर्वणि—विवाहोत्सव के समय।

वसुदेव ने कहा : हे साले महाशय, तुम्हारे भोज परिवार को तुम पर गर्व है और बड़े-बड़े शूरवीर तुम्हारे गुणों की प्रशंसा करते हैं। भला तुम्हारे जैसा योग्य व्यक्ति एक स्त्री को, जो उसी की बहन है, विशेष रूप से उसके विवाह के अवसर पर, मार कैसे सकता है?

तात्पर्य : वैदिक नियमों के अनुसार ब्राह्मण, वृद्ध व्यक्ति, स्त्री, बालक या गाय का किसी भी स्थिति में वध नहीं करना चाहिए। वसुदेव ने इस बात पर बल दिया कि देवकी स्त्री ही नहीं अपितु कंस के परिवार की ही सदस्या है। वसुदेव से अब विवाहित होने के कारण वह *परस्त्री* थी और यदि ऐसी स्त्री का वध किया जाए तो उससे कंस को न केवल पाप लगेगा अपितु भोजवंश के राजा के रूप में उसकी कीर्ति पर कलंक चढ़ेगा। इस तरह वसुदेव ने अनेक प्रकार से कंस को आश्वासन दिलाने का प्रयास किया कि वह देवकी का वध न करे।

मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते ।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

मृत्युः—मृत्यु; जन्म-वताम्—जन्म लेने वाले जीवों के; वीर—हे वीर; देहेन सह—शरीर के साथ; जायते—उत्पन्न होती है; अद्य—आज; वा—चाहे; अब्द-शत—सौ वर्षों के; अन्ते—अन्त में; वा—अथवा; मृत्युः—मृत्यु; वै—निस्सन्देह; प्राणिनाम्—सारे जीवों की; ध्रुवः—निश्चित है।

हे शूरवीर, जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु निश्चित है, क्योंकि शरीर के ही साथ मृत्यु का उद्भव होता है। कोई चाहे आज मरे या सौ वर्षों बाद, किन्तु प्रत्येक जीव की मृत्यु निश्चित है।

तात्पर्य : वसुदेव कंस को यह बतलाना चाह रहे थे कि यद्यपि वह मृत्यु से भयभीत है इसलिए स्त्री तक का वध करना चाह रहा है, किन्तु वह मृत्यु से बच नहीं सकता। मृत्यु ध्रुव है। तो फिर कंस ऐसा कुछ क्यों करे जो उसकी कीर्ति तथा उसके परिवार के लिए अशोभनीय हो? जैसाकि *भगवद्गीता* (२.२७) में पुष्टि हुई है—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥

"जिसने भी जन्म लिया है उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मर चुका है उसका जन्म भी निश्चित

है। अत: अपने अपरिहार्य कार्य को करने में तुम्हें शोच नहीं करना चाहिए।'' मनुष्य को मृत्यु से डरना नहीं चाहिए प्रत्युत अपने आप को अगले जन्म के लिए तैयार करना चाहिए। उसे अपने इस मनुष्य जीवन के समय का उपयोग जन्म-मृत्यु की क्रिया को समाप्त करने में करना चाहिए। ऐसा नहीं है कि मृत्यु से अपने को बचाने के लिए पापकर्म किए जाँय। यह अच्छी बात नहीं है।

देहे पञ्चत्वमापन्ने देही कर्मानुगोऽवशः ।
देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

देहे—जब शरीर; पञ्चत्वम् आपन्ने—पाँच तत्त्वों में बदल जाता है; देही—देहधारी, जीव; कर्म-अनुगः—अपने सकाम कर्मों के फलों का पालन करता हुआ; अवशः—स्वतः; देह-अन्तरम्—दूसरा शरीर (भौतिक तत्त्वों से निर्मित); अनुप्राप्य—फल के रूप में प्राप्त करके; प्राक्तनम्—पहले वाला; त्यजते—छोड़ देता है; वपुः—शरीर।

जब यह शरीर मिट्टी बन जाता है और फिर से पाँच तत्त्वों में—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश—परिणत हो जाता है, तो शरीर का स्वामी जीव स्वत: अपने सकाम कर्मों के अनुसार भौतिक तत्त्वों से बना दूसरा शरीर प्राप्त करता है। अगला शरीर प्राप्त होने पर वह वर्तमान शरीर को त्याग देता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (२.१३) में इसकी पुष्टि हुई है, जिससे आध्यात्मिक ज्ञान के शुभारम्भ का पता चलता है—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

"जिस तरह इस शरीर में देहधारी आत्मा बालपन से युवावस्था और फिर वृद्धावस्था को प्राप्त होता है उसी तरह मृत्यु के समय आत्मा दूसरे शरीर में चला जाता है। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति ऐसे परिवर्तन से मोहग्रस्त नहीं होता।'' व्यक्ति या पशु भौतिक देह नहीं, प्रत्युत भौतिक देह जीवात्मा का आवरण है। *भगवद्गीता* में शरीर की तुलना वस्त्र से की गई है और विस्तार से बतलाया गया है कि मनुष्य किस प्रकार अपने वस्त्र एक के बाद एक बदलता रहता है। उसी वैदिक ज्ञान की यहाँ पुष्टि हुई है। जीव अर्थात् आत्मा निरन्तर एक के बाद एक शरीर बदलता रहता है। यहाँ तक कि वर्तमान जीवन में भी शरीर बालकपन से कुमारावस्था, कुमारावस्था से युवावस्था और युवावस्था से वृद्धावस्था में बदलता जाता है। इसी कारण जब शरीर काफी वृद्ध हो जाता है, तो जीव इस शरीर को त्याग देता है और

प्रकृति के नियमानुसार अपने सकाम कर्मों, इच्छाओं तथा महत्त्वाकांक्षाओं पर आधारित दूसरा शरीर पाता है। प्रकृति के नियम इस अनुक्रम को नियंत्रित करते हैं अत: जीव जब तक बहिरंगा भौतिक शक्ति के नियंत्रण में रहता है तब तक सकाम कर्मों के अनुसार शारीरिक परिवर्तन स्वत: होते रहते हैं। इसलिए वसुदेव कंस को यह बताना चाह रहे थे कि यदि वह स्त्री को मारने का यह पापकर्म करता है, तो अगले जन्म में उसे भौतिक शरीर तो मिलेगा, किन्तु उसे और कष्ट झेलने होंगे। इस तरह वसुदेव ने कंस को सलाह दी कि वह पापकर्म न करे।

जो व्यक्ति अपने अज्ञान अर्थात् तमोगुण के कारण पापकर्म करता है उसे निम्नतर शरीर मिलता है। *कारणं गुण-संगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु* (*भगवद्गीता* १३.२२)। जीवन की लाखों योनियाँ हैं। तो फिर उच्चतर तथा निम्नतर शरीर क्यों मिलते हैं? जीव को ये शरीर प्रकृति के दूषणों के कारण प्राप्त होते हैं। यदि कोई इस जीवन में तमोगुण तथा पापकर्मों (*दुष्कृती*) से संदूषित हो जाता है, तो अगले जीवन में उसे निश्चय ही कष्टमय शरीर प्राप्त होगा यह प्रकृति का नियम है। प्रकृति के नियम बद्धजीव की कल्पनाजनक इच्छाओं के अधीन नहीं रहते। अतएव हमारा प्रयास यही होना चाहिए कि सदैव *सत्त्वगुण* के साथ चले और रजोगुण या तमोगुण में लिप्त न हों (*रजस्तमोभावा:*)। कामेच्छाएँ तथा लोभ जीव को लगातार अज्ञान में रखते हैं और सत्त्वगुण या शुद्ध सत्त्वगुण के पद तक पहुँचने से रोकते हैं। मनुष्य को सलाह दी जाती है कि वह शुद्ध सत्त्वगुण अर्थात् भक्ति के पद को प्राप्त हो क्योंकि तभी वह भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के फल से प्रतिरक्षित रहेगा।

व्रजंस्तिष्ठन्पदैकेन यथैवैकेन गच्छति ।
यथा तृणजलौकैवं देही कर्मगतिं गत: ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

व्रजन्—रास्ते पर चलते हुए कोई व्यक्ति; तिष्ठन्—खड़े होकर; पदा एकेन—एक पाँव पर; यथा—जिस तरह; एव—निस्सन्देह; एकेन—दूसरे पाँव से; गच्छति—जाता है; यथा—जिस तरह; तृण-जलौका—तिनके पर बैठा कीड़ा; एवम्—इस तरह; देही—जीव; कर्म-गतिम्—सकाम कर्मों के फल; गत:—भोगता है।

जिस तरह रास्ते पर चलते हुए मनुष्य अपना एक पाँव जमीन पर टेकता है और फिर दूसरे पाँव को उठाता है या जिस तरह वनस्पति का एक कीड़ा पहले एक पत्ती पर बैठता है और फिर इसे छोड़ कर दूसरी पत्ती पर जाता है उसी तरह जब बद्धजीव दूसरे शरीर का आश्रय ग्रहण करता है तब पिछले शरीर को त्याग देता है।

तात्पर्य : यह विधि है आत्मा द्वारा एक शरीर से दूसरे में देहान्तरण की। मृत्यु के समय, जीव अपनी मानसिक अवस्था के अनुसार सूक्ष्म शरीर द्वारा, जिसमें मन, बुद्धि तथा अहंकार सम्मिलित हैं, दूसरे स्थूल शरीर में ले जाया जाता है। जब उच्च अधिकारी यह निश्चित कर देते हैं कि जीव को किस तरह का स्थूल शरीर मिलेगा तो उसे बाध्य होकर उस शरीर में प्रवेश करना पड़ता है और इस तरह वह पिछले शरीर को स्वयमेव त्याग देता है। जो मन्दबुद्धि लोग देहान्तर की इस विधि को नहीं समझते वे यह मान बैठते हैं कि स्थूल शरीर के समाप्त होते ही जीवन हमेशा के लिए समाप्त हो जाता है। ऐसे लोगों के पास मस्तिष्क होता ही नहीं जिससे देहान्तरण की विधि को समझें। सम्प्रति हरे कृष्ण आन्दोलन का काफी विरोध हो रहा है इसे ''मस्तिष्क धुलाई'' आन्दोलन बतलाया जाता है। किन्तु वास्तविकता यह है कि पाश्चात्य देशों के तथाकथित वैज्ञानिकों, दार्शनिकों तथा अन्य नेताओं के तनिक भी मस्तिष्क नहीं हैं। हरे कृष्ण आन्दोलन ऐसे मूर्ख लोगों की बुद्धि को चेतन करके उन्हें ऊपर उठाने के लिए प्रयत्न कर रहा है, जिससे वे मानव शरीर का लाभ उठा सकें। दुर्भाग्यवश, निपट अज्ञान के कारण ही वे हरे कृष्ण आन्दोलन को मस्तिष्क धुलाई आन्दोलन कहते हैं। वे यह नहीं जानते कि ईशभावनामृत के बिना मनुष्य को एक शरीर से दूसरे शरीर में स्थानान्तरण करते रहना पड़ता है। अपने शैतानी मस्तिष्क के कारण उन्हें आगे गर्हित जीवन स्वीकार करना होगा और वे इस भौतिक जगत के बद्ध जीवन से अपने को कभी भी मुक्त नहीं कर पाएँगे। इस श्लोक में आत्मा के देहान्तरण की स्पष्ट व्याख्या हुई है।

स्वप्ने यथा पश्यति देहमीदृशं
मनोरथेनाभिनिविष्टचेतनः ।
दृष्टश्रुताभ्यां मनसानुचिन्तयन्
प्रपद्यते तत्किमपि ह्यपस्मृतिः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

स्वप्ने—सपने में; यथा—जिस तरह; पश्यति—देखता है; देहम्—शरीर का प्रकार; ईदृशम्—उसी तरह; मनोरथेन—मानसिक चिन्तन द्वारा; अभिनिविष्ट—पूरी तरह लीन; चेतनः—चेतना से युक्त; दृष्ट—आँखों से देखकर जो अनुभव किया गया हो; श्रुताभ्याम्—तथा सुन करके; मनसा—मन से; अनुचिन्तयन्—सोचते, अनुभव करते तथा इच्छा करते हुए; प्रपद्यते—शरण में आता है; तत्—उस अवस्था तक; किम् अपि—क्या कहा जा सकता है; हि—निस्सन्देह; अपस्मृतिः—वर्तमान शरीर का विस्मरण।.

किसी परिस्थिति को देखकर या सुनकर ही मनुष्य उसके बारे में चिन्तन-मनन करता है और

अपने इस शरीर का विचार न करते हुए उसके वशीभूत हो जाता है। इसी तरह मानसिक संतुलन द्वारा वह रात में भिन्न शरीरों तथा भिन्न परिस्थितियों में रहकर सपना देखता है और अपनी वास्तविक स्थिति को भूल जाता है। उसी प्रक्रिया के अन्तर्गत वह अपना वर्तमान शरीर त्यागकर दूसरा शरीर ग्रहण करता है (*तथा देहान्तरप्राप्तिः*)।

तात्पर्य : इस श्लोक में आत्मा के देहान्तर की स्पष्ट व्याख्या हुई है। मनुष्य कभी-कभी अपने वर्तमान शरीर को भूल जाता है और अपने बचपन के शरीर के विषय में विगत शरीर के बारे में सोचता है कि वह किस तरह खेलता, कूदता और बातें इत्यादि किया करता था। जब भौतिक शरीर काम के लायक नहीं रह जाता तो मिट्टी बन जाता है, ''तुम माटी हो और अन्त में माटी में मिल जाओगे।'' किन्तु जब शरीर फिर से पाँच भौतिक तत्त्वों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश—में मिल जाता है, तो मन तब भी कार्य करता रहता है। मन सूक्ष्म तत्त्व है, जिससे शरीर बनता है जैसाकि हम अपने स्वप्न में और जग जाने पर चिन्तन के समय अनुभव करते हैं। हमें यह समझना होगा कि मानसिक चिन्तन की विधि ऐसे नए-नए प्रकार के शरीर उत्पन्न करती रहती है जिनका वास्तविक अस्तित्व ही नहीं होता। यदि हम मन की प्रकृति (*मनोरथेन*) तथा इसके सोचने, अनुभव करने तथा चाहने को समझ सकें तो हम यह आसानी से समझ सकते हैं कि किस तरह मन से विभिन्न प्रकार के शरीर उत्पन्न होते हैं।

अतएव कृष्णभावनामृत आन्दोलन दिव्य कार्यकलापों की ऐसी विधि प्रस्तुत करता है, जिसमें मन कृष्ण सम्बन्धी कार्यों में पूरी तरह लीन रहता है। आत्मा की उपस्थिति चेतना द्वारा अनुभव की जाती है और मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी चेतना को शुद्ध करके भौतिक से आध्यात्मिक बना ले अथवा दूसरे शब्दों में कृष्णभावनामृत में परिणत कर ले। जो आध्यात्मिक है, वह शाश्वत है और जो भौतिक है, वह अनित्य या नश्वर है। कृष्णभावनामृत के बिना मनुष्य की चेतना सदैव नश्वर वस्तुओं में लीन रहती है। इसीलिए कृष्ण ने *भगवद्गीता* (९.३४) में हर एक के लिए संस्तुति की है—*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।* मनुष्य को चाहिए कि वह सदैव कृष्ण के विचारों में लीन रहे, उन्हीं का भक्त बने, सदा उनकी सेवा करे और उन्हें ही सबसे बड़ा मानकर पूजे तथा नमस्कार करे। भौतिक जगत में मनुष्य किसी न किसी बड़े व्यक्ति का दास होता है और आध्यात्मिक जगत में हमारी वैधानिक

स्थिति *परब्रह्म* की सेवा करने की है। यही श्री चैतन्य महाप्रभु का उपदेश है। *जीवेर 'स्वरूप' हयकृष्णेर 'नित्य दास'* (*चैतन्य-चरितामृत, मध्य* २०.८)।

कृष्णभावनामृत में कार्य करना जीवन की सिद्धि और योग की सर्वोच्च सिद्धि है। भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (६.४७) में कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

''समस्त योगियों में जो अत्यन्त श्रद्धापूर्वक दिव्य प्रेमाभक्ति में मेरी पूजा करते हुए सदैव मुझमें ही रहता है, वह योग में मुझसे घनिष्टतापूर्वक संयुक्त होता है और सर्वोच्च होता है।''

संकल्प तथा *विकल्प* के बीच डगमगाने वाले अर्थात् किसी को स्वीकार करने और फिर उसी को अस्वीकार करने वाले की दशा मृत्यु के समय एक भौतिक शरीर से दूसरे में आत्मा के स्थानान्तरण में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

''शरीर त्यागते समय मनुष्य जैसी दशा का स्मरण करता है उसे अवश्यमेव वैसी ही दशा प्राप्त होती है।'' (*भगवद्गीता* ८.६) अतः मनुष्य को चाहिए कि वह अपने मन को भक्तियोग पद्धति में प्रशिक्षित करे जैसाकि सदा कृष्णभावनामृत में रहने वाले महाराज अम्बरीष ने किया था। *स वै मनः कृष्ण पदारविन्दयोः।* मनुष्य को चाहिए कि चौबीसों घंटे अपने मन को कृष्ण के चरणकमलों पर स्थिर रखे। ऐसा करने से अन्य इन्द्रियों के कार्यकलाप भी कृष्ण की सेवा में लगे रहेंगे। *हृषीकेण हृषीकेश-सेवनं भक्तिरुच्यते*—शुद्ध इन्द्रियों द्वारा इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश की सेवा करना *भक्ति* है। जो लोग निरन्तर भक्ति में लगे रहते हैं, वे प्रकृति के भौतिक गुणों से ऊपर दिव्य पद पर स्थित होते हैं। जैसाकि कृष्ण ने *भगवद्गीता* (१४.२६) में कहा है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

''जो पूर्णतया भक्ति में लगा रहता है, जो किसी भी परिस्थिति में च्युत नहीं होता वह तीनों गुणों

को तत्क्षण पार करके ब्रह्म के स्तर पर आ जाता है।'' मनुष्य को वैदिक साहित्य से, विशेष रूप से जब वैदिक ज्ञान का नवनीत *भगवद्गीता* यथारूप में प्रस्तुत किया गया है, सफलता की कुंजी प्राप्त कर लेनी चाहिए।

चूँकि मन अन्ततोगत्वा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण द्वारा नियंत्रित होता है अतएव *अपस्मृतिः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। अपनी ही पहचान को भूल जाना *अपस्मृतिः* है। यह अपस्मृति भगवान् द्वारा नियंत्रित हो सकती है क्योंकि भगवान् कहते हैं—*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होते हैं। कृष्ण मनुष्य को अपनी असली स्थिति भूलने न देकर मृत्यु के समय उसकी मूल पहचान को जागृत कर सकते हैं यद्यपि मन चंचल होता है। भले ही मृत्यु के समय मन ठीक से काम न करे, कृष्ण अपने भक्त को अपने चरणकमलों में शरण देते हैं। अतः जब भक्त अपना शरीर त्यागता है, तो मन उसे दूसरे भौतिक शरीर में नहीं ले जाता (*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति*) प्रत्युत भक्त को कृष्ण ऐसी जगह ले जाते हैं जहाँ वे अपनी लीलाएँ करते हैं (*माम् एति*) जैसाकि हम पिछले श्लोकों में बतला चुके हैं। अतः मनुष्य की चेतना सदा कृष्ण में लीन रहे तो उसका जीवन सफल हो जाएगा। अन्यथा मन आत्मा को किसी अन्य भौतिक शरीर में ले जाएगा। यह आत्मा पिता के वीर्य में प्रस्थापित होकर माता के गर्भ में स्खलित होगा। वीर्य तथा रज से माता-पिता के स्वरूप के अनुसार विशेष प्रकार का शरीर उत्पन्न करते हैं और जब शरीर परिपक्व हो जाता है, तो आत्मा उसमें प्रस्फुटित होता है और नवीन जीवन का सूत्रपात होता है। एक शरीर से दूसरे शरीर में आत्मा के देहान्तरण की विधि यही है (*तथा देहान्तरप्राप्तिः*)। दुर्भाग्यवश अल्पबुद्धि वाले लोग यह सोचते हैं कि शरीर के लुप्त होने पर सब समाप्त हो जाता है। सारा संसार ऐसे मूर्खों तथा मूढ़ों द्वारा भ्रान्त हो रहा है। किन्तु *भगवद्गीता* (२.२०) में कहा गया है—*न हन्यते हन्यमाने शरीरे।* शरीर के नष्ट होने पर भी आत्मा नष्ट नहीं होता। यह आत्मा दूसरा शरीर ग्रहण करता है।

यतो यतो धावति दैवचोदितं
मनो विकारात्मकमाप पञ्चसु ।
गुणेषु मायारचितेषु देह्यसौ
प्रपद्यमानः सह तेन जायते ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

यतः यतः—एक स्थान से दूसरे स्थान को या एक पद से दूसरे पद को; धावति—चिन्तन करता है; दैव-चोदितम्—भाग्य द्वारा प्रेरित; मनः—मन; विकार-आत्मकम्—एक प्रकार के भावों से दूसरे प्रकार में बदलते हुए; आप—अन्त में प्राप्त करता है (प्रवृत्ति); पञ्चसु—मृत्यु के समय (जब भौतिक शरीर भौतिक पदार्थों में परिणत हो जाता है); गुणेषु—(मुक्त न होने से मन संलग्न रहता है) भौतिक गुणों से; माया-रचितेषु—जहाँ माया वैसा ही शरीर रचती है; देही—ऐसा शरीर धारण करने वाला आत्मा; असौ—वह; प्रपद्यमानः—शरणागत (ऐसी स्थिति को); सह—साथ; तेन—वैसे ही शरीर के द्वारा; जायते—जन्म लेता है।.

मृत्यु के समय मनुष्य सकाम कर्मों में निहित मन के सोचने, अनुभव करने और चाहने के अनुसार ही शरीर-विशेष प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में, मन के कार्यकलापों के अनुसार ही शरीर विकास करता है। शरीर के परिवर्तन मन की चंचलता के कारण हैं अन्यथा आत्मा तो मूल आध्यात्मिक शरीर में रह सकता है।

तात्पर्य : मनुष्य यह आसानी से समझ सकता है कि मन निरन्तर चलायमान रहता है, वह अपने सोचने, अनुभव करने तथा चाहने की गुणवत्ता को बदलता रहता है। *भगवद्गीता* (६.३४) में अर्जुन ने इसकी व्याख्या की है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

मन चञ्चल है और बड़े जोर से बदलता है। इसलिए अर्जुन ने स्वीकार किया कि मन को वश में करना बिलकुल सम्भव नहीं है यह कार्य उतना ही कठिन है जितना कि वायु को वश में करना। उदाहरणार्थ, यदि कोई नदी या समुद्र में नाव में बैठकर वायु के सहारे जा रहा हो और वायु नियंत्रण से बाहर हो तो नाव डगमगाने लगेगी और उसे संभाल पाना मुश्किल हो जाएगा। हो सकता है, वह उलट भी जाए। अतः *भव-सागर* अर्थात् मनोरथों एवं विभिन्न शरीरों में स्थानान्तरण के सागर में सर्वप्रथम मन को वश में करना चाहिए।

मन को सतत अभ्यास से वश में किया जा सकता है और योग पद्धति का यही उद्देश्य है (*अभ्यासयोगयुक्तेन*)। किन्तु इस कलियुग में योग पद्धति असफल होने की संभावना रहती है क्योंकि इसमें कृत्रिम विधियाँ प्रयुक्त होती हैं। किन्तु यदि मन भक्तियोग में लगा रहे तो कृष्ण की कृपा से इसे आसानी से वश में किया जा सकता है। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने संस्तुति की है—*हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।* मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के पवित्र नाम का निरन्तर कीर्तन करे क्योंकि भगवान् का नाम परम पुरुष हरि से अभिन्न है।

मनुष्य चाहे तो हरे कृष्ण मंत्र का निरंतर कीर्तन करते हुए अपने मन को कृष्ण के चरणकमलों में स्थिर कर सकता है (*स वै मन: कृष्ण पदारविन्दयो:*) और इस तरह योग-सिद्धि प्राप्त कर सकता है। अन्यथा मन तो इन्द्रियभोग के लिए चंचल होता रहेगा और मनुष्य को एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करते रहना होगा क्योंकि मन केवल भौतिक तत्त्वों या दूसरे शब्दों में मिथ्या इन्द्रियतृप्ति का अभ्यस्त होता है। *मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान्* (*भागवत* ७.९.४३)। मनोरथ के द्वारा नियंत्रित होने के कारण मूढ़ लोग जीवन का क्षणिक आनन्द लेने के लिए वृहद् आयोजन करते हैं, किन्तु मृत्यु के समय उन्हें अपना यह शरीर त्यागना होगा, जब कृष्ण की बहिरंगा शक्ति सब कुछ छीन लेती है (*मृत्यु: सर्वहरश्चाहम्*)। उस समय जीवन भर में जो कुछ अर्जित किया हुआ रहता है, वह सब नष्ट हो जाता है और भौतिक प्रकृति द्वारा बाध्य होकर नया शरीर स्वत: धारण करना होता है। इस जीवन में भले ही किसी ने गगनचुम्बी महल क्यों न बनाया हो, किन्तु अगले जीवन में अपनी मानसिकता के कारण उसे बिल्ली, कुत्ता या वृक्ष अथवा, हो सकता है, देवता का शरीर धारण करना पड़े। इस तरह भौतिक प्रकृति के नियमों के द्वारा शरीर प्रदत्त होता है। *कारणं गुण संगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु* (*भगवद्गीता* १३.२२)। भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के सम्पर्क से ही आत्मा उच्च तथा निम्न योनियों में जन्म लेता है।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसा: ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसा: ॥

"जो सतोगुणी हैं, वे क्रमश: स्वर्गलोक को जाते हैं, जो रजोगुणी हैं, वे पृथ्वीलोक में रहते हैं और जो तमोगुणी हैं, वे नरकलोक में जाते हैं।" (*भगवद्गीता* १४.१८)

कहने का तात्पर्य यह है कि कृष्णभावनामृत आन्दोलन मानव समाज के लिए सर्वोत्कृष्ट कल्याण कार्य प्रदान करता है। अत: समाज के विज्ञ लोगों को चाहिए कि समस्त मानवता के लाभ के लिए इस आन्दोलन को गंभीरतापूर्वक समझें। अपने को जन्म-मृत्यु चक्र से बचाने के लिए अपनी चेतना को शुद्ध बनाना होगा। *सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।* मनुष्य को ऐसी सारी उपाधियों से कि—मैं अमरीकी हूँ, मैं भारतीय हूँ, मैं यह हूँ, मैं वह हूँ—मुक्त होना चाहिए और इस भावभूमि पर आना चाहिए कि कृष्ण आदि-स्वामी हैं और हम सब उनके नित्यदास हैं। जब इन्द्रियाँ निर्मल होकर कृष्ण

की सेवा में लगी रहती हैं, तो सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त होती है। *हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते।* कृष्णभावनामृत आन्दोलन भक्तियोग का आन्दोलन है। *वैराग्यविद्या निजभक्तियोग।* इस आन्दोलन के नियमों पर चलकर मनुष्य भौतिक मनोरथों से विलग हो जाता है और जीव तथा परमेश्वर के सेवक-सेव्य के नित्य सम्बन्ध वाले मूल पद पर स्थित हो जाता है। संक्षेप में, कृष्णभावनामृत आन्दोलन का यही उद्देश्य है।

ज्योतिर्यथैवोदकपार्थिवेष्वदः
समीरवेगानुगतं विभाव्यते ।
एवं स्वमायारचितेष्वसौ पुमान्
गुणेषु रागानुगतो विमुह्यति ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

ज्योतिः—आकाश में सूर्य, चन्द्रमा तथा तारे; यथा—जिस तरह; एव—निस्सन्देह; उदक—जल में; पार्थिवेषु—या अन्य तरल पदार्थ यथा तैल में; अदः—प्रत्यक्ष रूप से; समीर-वेग-अनुगतम्—वायु के वेग से ठेला जाकर; विभाव्यते—विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं; एवम्—उसी तरह; स्व-माया-रचितेषु—अपने मनोरथों से उत्पन्न परिस्थिति में; असौ—जीव; पुमान्—मनुष्य; गुणेषु—प्रकृति के गुणों द्वारा प्रकट, भौतिक जगत में; राग-अनुगतः—अपनी आसक्ति के अनुसार; विमुह्यति—पहचान के द्वारा मोहग्रस्त होता है।

जब आकाश में स्थित नक्षत्र जैसे सूर्य, चन्द्रमा तथा तारे तेल या जल जैसे तरल पदार्थों में प्रतिबिम्बित होते हैं, तो वायु के वेग के कारण वे विभिन्न आकारों के लगते हैं कभी गोल, कभी लम्बे तो कभी और कुछ। इसी तरह जब जीवात्मा भौतिकतावादी विचारों में मग्न रहता है, तो वह अज्ञान के कारण विविध रूपों को अपनी पहचान के रूप में ग्रहण करता है। दूसरे शब्दों में, प्रकृति के भौतिक गुणों से विचलित होने के कारण वह मनोरथों के द्वारा मोहग्रस्त हो जाता है।

तात्पर्य : यह श्लोक एक उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है, जिससे यह समझा जा सकता है कि भौतिक जगत में नित्य आत्मा किस तरह विभिन्न पदों और विभिन्न शरीरों को ग्रहण करता है (*देहान्तरप्राप्तिः*)। चन्द्रमा स्थिर है और एक है, किन्तु जब इसका प्रतिबिम्ब जल या तेल में पड़ता है, तो हवा चलने से यह विभिन्न आकार ग्रहण करता है। इसी तरह आत्मा कृष्ण का नित्यदास है, किन्तु जब उसे प्रकृति के भौतिक गुणों में रखा जाता है, तो वह विभिन्न शरीर धारण करता है कभी देवता का, कभी मनुष्य का तो कभी कुत्ते, वृक्ष इत्यादि का। जीव भगवान् की भ्रामक शक्ति अर्थात् माया के वशीभूत होकर सोचता है कि वह अमुक-अमुक व्यक्ति—अमरीकी, भारतीय, अथवा बिल्ली, कुत्ता,

वृक्ष इत्यादि है। इसे ही *माया* कहते हैं। जब मनुष्य इस मोह से छूट जाता है और समझता है कि आत्मा इस भौतिक जगत के किसी स्वरूप से सम्बन्धित नहीं है, तो वह आध्यात्मिक पद पर (*ब्रह्मभूतो*) स्थित होता है।

इस अनुभूति को कभी-कभी *निराकार* कहा जाता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मा का कोई रूप नहीं होता। आत्मा का रूप होता है, किन्तु भौतिक कल्मष के कारण उसे जो बाह्य-उद्वेलित रूप प्राप्त होता है, वह मिथ्या होता है। इसी तरह ईश्वर को भी *निराकार* कहा जाता है, जिसका अर्थ है कि ईश्वर के कोई स्वरूप नहीं होता, किन्तु वह *सच्चिदानन्द विग्रह* है। जीव इसी परम सच्चिदानन्द विग्रह का अंश है, किन्तु उसके भौतिक स्वरूप नश्वर या भ्रामक होते हैं। जीव तथा परमेश्वर दोनों के आदि आध्यात्मिक स्वरूप (*सच्चिदानन्द विग्रह*) होते हैं लेकिन परमेश्वर अपना स्वरूप नहीं बदलता। परमेश्वर उसी रूप में रहता है, किन्तु जीव को प्रकृति से बाध्य होकर विभिन्न रूप धारण करने पड़ते हैं। जब जीव को ये विभिन्न स्वरूप प्राप्त होते हैं, तो वह उन्हें अपना स्वरूप मान बैठता है न कि अपने मूल आध्यात्मिक स्वरूप को। ज्यों ही जीव अपने मूल आध्यात्मिक स्वरूप तथा ज्ञान को फिर से पा लेता है त्यों ही वह परम स्वरूप परमेश्वर की शरण में चला जाता है। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* (७.१९) में हुई है। *बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।* जब जीव अनेकानेक जन्मों में विभिन्न स्वरूपों के पश्चात् अपने मूल कृष्णभावनामृत स्वरूप में लौटता है, तो वह तुरन्त परम स्वरूप कृष्ण के चरणकमलों में अपने को समर्पित कर देता है। यही मुक्ति है। *भगवद्गीता* (१८.५४) में भगवान् कहते हैं—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

"जो दिव्य पद पर स्थित है उसे परब्रह्म की अनुभूति तुरन्त ही हो जाती है और वह परम प्रसन्न हो जाता है। वह न तो कभी शोक करता है न किसी वस्तु की इच्छा करता है। वह हर जीव को सम-भाव से देखता है। उस अवस्था में वह मेरी शुद्ध भक्ति प्राप्त करता है।" परमस्वरूप के प्रति समर्पण भक्ति का प्रतिफल है। यह भक्ति अथवा अपनी स्थिति का ज्ञान ही पूर्ण मुक्ति है। जब तक मनुष्य परम सत्य को निराकार मानता है तब तक उसे शुद्ध ज्ञान नहीं होता किन्तु फिर भी उसे शुद्ध ज्ञान के लिए

संघर्ष करना चाहिए। *क्लेशोऽधिकतरस्तेषां अव्यक्तासक्तचेतसाम्* (*भगवद्गीता* १२.५)। भले ही कोई आध्यात्मिक दृष्टि से कितना ही उन्नत क्यों न हो यदि वह परम सत्य के निराकार स्वरूप के प्रति आसक्त है, तो उसे और अधिक श्रम करने की आवश्यकता रहती है जैसाकि *क्लेशोऽधिकतर:* शब्दों से सूचित होता है जिनका अर्थ है और अधिक कष्ट। किन्तु भक्त को अपना आदि आध्यात्मिक स्वरूप प्राप्त करने में कठिनाई नहीं होती और वह भगवान् के आदि रूप को समझ लेता है।

स्वयं कृष्ण *भगवद्गीता* के द्वितीय अध्याय में जीवों के विविध रूपों का वर्णन करते हुए अर्जुन को बतलाते हैं कि वे, अर्जुन तथा अन्य सारे जीव, जो इसके पूर्व अपने मूल रूप में थे अब पृथक्-पृथक् पहचान रखते हैं। वे भूतकाल में वैयक्तिक अस्तित्व वाले थे, अब भी हैं और भविष्य में भी अपना-अपना स्वरूप रखते होंगे। अन्तर इतना ही है कि बद्धजीव विविध भौतिक स्वरूपों में प्रकट होता है, जबकि कृष्ण अपने मूल आध्यात्मिक रूप में प्रकट होते हैं। दुर्भाग्यवश जिनका आध्यात्मिक ज्ञान अल्प है वे सोचते हैं कि कृष्ण उनके ही जैसे हैं और कृष्ण का स्वरूप भौतिक स्वरूपों जैसा है। *अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्* (*भगवद्गीता* ९.११)। कृष्ण कभी भी भौतिक ज्ञान से गर्वित नहीं होते इसीलिए उन्हें अच्युत कहा जाता है, जबकि जीव नीचे गिरते हैं (च्युत) और प्रकृति द्वारा विक्षुब्ध होते हैं। परमेश्वर तथा जीवों में यही अन्तर है।

इस प्रसंग में यह ध्यान देने की बात है कि दिव्य पद पर स्थित होने के कारण वसुदेव ने कंस को सलाह दी कि वह और आगे पापकर्म न करे। असुरों का प्रतिनिधि कंस कृष्ण या ईश्वर को मारने के लिए सदा तैयार रहता था जबकि वसुदेव ऐसे दिव्य पद प्राप्त पुरुष का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनके यहाँ कृष्ण जन्म लेते हैं (वासुदेव पुत्र हैं वसुदेव के)। वसुदेव चाहते थे कि उनका साला कंस अपनी बहन की हत्या का पापकर्म न करे क्योंकि भौतिक प्रकृति द्वारा विक्षुब्ध किये जाने पर कंस को ऐसा शरीर धारण करना होगा जिसमें उसे बारम्बार कष्ट सहना पड़ेगा। *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र (५.५.४) ऋषभदेव भी कहते हैं—

न साधुमन्ये यत आत्मनोऽयम्

असन्नपि क्लेशद आस देह:।

जब तक जीव तथाकथित सुख-दुख के सकाम-कर्मों में फँसा रहता है तब तक उसे ऐसा विशेष

शरीर प्राप्त होता रहेगा जिसमें भौतिक प्रकृति के कारण उसे तीन प्रकार के तापों को सहन करना होगा (*त्रितापयन्त्रणा*)। अत: बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने को भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के प्रभाव से मुक्त कर ले और भगवान् कृष्ण की सेवा में लग कर अपने मूल आध्यात्मिक शरीर को फिर से प्राप्त करे। संसार में आसक्त रहने पर मनुष्य को जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग स्वीकार करने होंगे। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि तथाकथित अच्छे तथा बुरे सकाम कर्मों के फेर में न पड़कर वह अपने जीवन को कृष्णभावनामृत में प्रगति करने में लगाए जिससे उसे दूसरा शरीर न धारण करना पड़े (*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति*) और वह भगवद्धाम वापस जा सके।

तस्मान्न कस्यचिद्द्रोहमाचरेत्स तथाविधः ।
आत्मनः क्षेममन्विच्छन्द्रोग्धुर्वै परतो भयम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अत:; न—नहीं; कस्यचित्—किसी की; द्रोहम्—ईर्ष्या; आचरेत्—आचरण करे; सः—पुरुष (कंस); तथा-विधः—(वसुदेव द्वारा) इस प्रकार से उपदेश दिया गया; आत्मनः—अपना; क्षेमम्—कल्याण; अन्विच्छन्—चाहे तो; द्रोग्धुः—अन्यों से ईर्ष्या रखने वाले का; वै—निस्सन्देह; परतः—अन्यों से; भयम्—भय का कारण होता है।.

चूँकि ईर्ष्यालु एवं अपवित्र कार्य ऐसे शरीर का कारण बनते हैं जिससे अगले जीवन में कष्ट भोगना पड़ता है इसलिए मनुष्य अपवित्र कार्य करे ही क्यों? अपने कल्याण को ध्यान में रखते हुए मनुष्य को चाहिए कि वह किसी से ईर्ष्या न करे क्योंकि ईर्ष्यालु व्यक्ति को इस जीवन में या अगले जीवन में अपने शत्रुओं से सदा हानि का भय बना रहता है।

तात्पर्य : अन्य जीवों के प्रति शत्रु भाव रखने के बजाय मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की सेवा में लगकर पवित्र कार्य करे जिससे इस जीवन तथा अगले दोनों जीवनों में भयापूर्ण स्थिति से बच सके। इस सम्बन्ध में, महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य पण्डित का निम्नलिखित नैतिक उपदेश अत्यन्त सार्थक है—

त्यज दुर्जनसंसर्गं भज साधु समागमम्।

कुरु पुण्यमहो रात्रं स्मर नित्यमनित्यताम्॥

मनुष्य को चाहिए कि खलों, असुरों तथा अभक्तों की संगति का त्याग करे और सदैव भक्तों तथा सन्त पुरुषों की संगति करे। उसे चाहिए कि इस जीवन को नश्वर मानकर पुण्यकर्म करे और क्षणिक सुख तथा दुख में लिप्त न हो। कृष्णभावनामृत आन्दोलन सारे मानव समाज को कृष्णभावनाभावित होने के इसी सिद्धान्त की शिक्षा देता है और इस तरह उनके जीवन की समस्याओं को सदा-सदा के

लिए हल कर देता है। (*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन*)

एषा तवानुजा बाला कृपणा पुत्रिकोपमा ।
हन्तुं नार्हसि कल्याणीमिमां त्वं दीनवत्सलः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

एषा—यह; तव—तुम्हारी; अनुजा—छोटी बहन; बाला—अबोध स्त्री; कृपणा—तुम पर आश्रित; पुत्रिका-उपमा—तुम्हारी ही पुत्री के समान; हन्तुम्—उसे मारना; न—नहीं; अर्हसि—तुम्हें चाहिए; कल्याणीम्—तुम्हारे स्नेहाधीन; इमाम्—इसको; त्वम्—तुम; दीन-वत्सलः—गरीब तथा अबोध पर अत्यन्त दयालु।

तुम्हारी छोटी बहन बेचारी देवकी तुम्हारी पुत्री के समान है और वह लाड़-प्यार से पाले जाने योग्य है। तुम दयालु हो, अतः तुम्हें इसका वध नहीं करना चाहिए। निस्संदेह यह तुम्हारे स्नेह की पात्र है।

श्रीशुक उवाच
एवं स सामभिर्भेदैर्बोध्यमानोऽपि दारुणः ।
न न्यवर्तत कौरव्य पुरुषादाननुव्रतः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस तरह; सः—वह (कंस को); सामभिः—समझाने-बुझाने के प्रयासों से; भेदैः—नैतिक उपदेश द्वारा कि वह अन्यों के प्रति क्रूर न बने; बोध्यमानः अपि—किये जाने पर भी; दारुणः—अत्यन्त क्रूर; न न्यवर्तत—नहीं माना (जघन्य कार्य करने से); कौरव्य—हे महाराज परीक्षित; पुरुष-अदान्—राक्षसों का; अनुव्रतः—अनुयायी।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे कुरुवंश में श्रेष्ठ, कंस अत्यंत क्रूर था और वास्तव में राक्षसों का अनुयायी था। अतएव वसुदेव के सदुपदेशों से उसे न तो समझाया-बुझाया जा सकता था, न ही भयभीत किया जा सकता था। उसे इस जीवन में या अगले जीवन में पापकर्मों के फलों की कोई चिन्ता नहीं थी।

निर्बन्धं तस्य तं ज्ञात्वा विचिन्त्यानकदुन्दुभिः ।
प्राप्तं कालं प्रतिव्योढुमिदं तत्रान्वपद्यत ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

निर्बन्धम्—करने के संकल्प को; तस्य—उस (कंस) का; तम्—उस (संकल्प) को; ज्ञात्वा—जानकर; विचिन्त्य—गहराई से सोचकर; आनकदुन्दुभिः—वसुदेव; प्राप्तम्—आया हुआ; कालम्—आसन्न मृत्यु-संकट को; प्रतिव्योढुम्—ऐसे कार्यों से रोकने के लिए; इदम्—यह; तत्र—वहाँ; अन्वपद्यत—अन्य उपायों को सोचा।

जब वसुदेव ने देखा कि कंस अपनी बहन देवकी को मार डालने पर तुला हुआ है, तो उसने अपने मन में गम्भीरतापूर्वक सोचा। मृत्यु को आया हुआ देखकर उसने कंस को रोकने का दूसरा

उपाय सोचा।

तात्पर्य : यद्यपि वसुदेव ने देखा कि उसकी पत्नी देवकी के मारे जाने का संकट उपस्थित है, किन्तु उसे अपने कल्याण का भरोसा था क्योंकि उसके जन्म के समय देवताओं ने दुन्दुभियाँ बजाई थीं अत: उसने देवकी को बचाने की दूसरी युक्ति सोची।

मृत्युर्बुद्धिमतापोह्यो यावद्बुद्धिबलोदयम् ।
यद्यसौ न निवर्तेत नापराधोऽस्ति देहिनः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

मृत्युः—मृत्यु; बुद्धि-मता—बुद्धिमान व्यक्ति द्वारा; अपोह्यः—दूर रहना चाहिए; यावत्—जब तक; बुद्धि-बल-उदयम्—बुद्धि तथा शारीरिक शक्ति रहते हुए; यदि—यदि; असौ—वह (मृत्यु); न निवर्तेत—रोकी नहीं जा सकती; न—नहीं; अपराधः—अपराध; अस्ति—है; देहिनः—मृत्यु संकट में फँसे व्यक्ति का।

बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि जब तक बुद्धि तथा शारीरिक पराक्रम रहे, तब तक मृत्यु से बचने का प्रयास करता रहे। हर देहधारी का यही कर्तव्य है। यदि उद्यम करने पर भी मृत्यु को टाला नहीं जा सके, तो मृत्यु को वरण करने वाला मनुष्य अपराधी नहीं है।

तात्पर्य : असामयिक मृत्यु का सामना करने वाले व्यक्ति के लिए स्वाभाविक है कि वह अपनी रक्षा का पूरा प्रयत्न करे। यद्यपि मृत्यु निश्चित है, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि उससे बचे और बिना विरोध के मृत्यु को वरण न करे क्योंकि प्रत्येक जीव नित्य आत्मा है। चूँकि मृत्यु इस जगत में निन्दनीय जीवन पर थोपा गया दण्ड होती है, अत: वैदिक संस्कृति मृत्यु से बचने पर आधारित है (*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति*)। हर व्यक्ति को चाहिए कि आध्यात्मिक जीवन का अनुशीलन करके मृत्यु तथा पुनर्जन्म से बचने का प्रयास करे और जीवित रहने के लिए संघर्ष किए बिना मृत्यु के सामने घुटने न टेके। जो व्यक्ति मृत्यु को रोकने का प्रयास नहीं करता वह बुद्धिमान मनुष्य नहीं है। चूँकि देवकी को आसन्न मृत्यु का सामना करना पड़ रहा था अतएव वसुदेव का कर्तव्य था कि उसे प्राणपण से बचाते। अत: उन्होंने कंस को फुसलाने का दूसरा तरीका सोचा जिससे देवकी को बचाया जा सके।

प्रदाय मृत्यवे पुत्रान्मोचये कृपणामिमाम् ।
सुता मे यदि जायेरन्मृत्युर्वा न म्रियेत चेत् ॥ ४९ ॥
विपर्ययो वा किं न स्याद्गतिर्धातुर्दुरत्यया ।
उपस्थितो निवर्तेत निवृत्तः पुनरापतेत् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

प्रदाय—देने का वादा करके; मृत्यवे—देवकी के लिए कालस्वरूप कंस को; पुत्रान्—पुत्रों को; मोचये—आसन्न संकट से छुड़ाने के लिए; कृपणाम्—निर्दोष; इमाम्—देवकी को; सुताः—पुत्र; मे—मेरे; यदि—यदि; जायेरन्—उत्पन्न होंगे; मृत्युः—कंस; वा—अथवा; न—नहीं; म्रियेत—मरना होगा; चेत्—यदि; विपर्ययः—इसके विपरीत; वा—अथवा; किम्—क्या; न—नहीं; स्यात्—हो सकता है; गतिः—गति; धातुः—प्रारब्ध की; दुरत्यया—समझना मुश्किल है; उपस्थितः—अभी प्राप्त होने वाला; निवर्तेत—रुक सकता है; निवृत्तः—देवकी की मृत्यु को रोकने पर; पुनः आपतेत्—भविष्य में फिर हो सके (तो मैं क्या कर सकता हूँ)।

वसुदेव ने विचार किया: मैं मृत्यु रूपी कंस को अपने सारे पुत्र देकर देवकी के प्राण बचा सकता हूँ। हो सकता है कि कंस मेरे पुत्रों के जन्म के पूर्व ही मर जाए, या फिर जब उसे मेरे पुत्र के हाथों से मरना लिखा है, तो मेरा कोई पुत्र उसे मारे ही। इस समय मुझे चाहिए कि मैं कंस को अपने सारे पुत्रों को सौंपने की प्रतिज्ञा कर लूँ जिससे कंस अपनी यह धमकी त्याग दे और यदि आगे चलकर कंस मर जाता है, तो फिर मुझे डरने की कोई बात नहीं रह जाती।

तात्पर्य : अपने पुत्रों को कंस को सौंपने का वचन देकर वसुदेव अपनी पत्नी देवकी के प्राण बचाना चाह रहे थे। उन्होंने सोचा, "हो सकता है भविष्य में कंस मर जाए या हो सकता है कि मेरे पुत्र ही न हों। यदि पुत्र उत्पन्न भी हो और मैं उसे कंस को दे दूँ तो कंस उसके हाथों मर सकता है क्योंकि दैववश कुछ भी हो सकता है। यह समझ सकना बहुत कठिन है कि विधाता द्वारा किस तरह व्यवस्था की जाती है।" इस तरह वसुदेव ने निश्चय किया कि मैं देवकी को मृत्यु के आसन्न संकट से उबारने के लिए अपने पुत्रों को कंस के हाथों सौंप देने का वचन दे दूँ।

अग्नेर्यथा दारुवियोगयोगयो-
रदृष्टतोऽन्यन्न निमित्तमस्ति ।
एवं हि जन्तोरपि दुर्विभाव्यः
शरीरसंयोगवियोगहेतुः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

अग्नेः—जंगल की आग का; यथा—जिस तरह; दारु—लकड़ी का; वियोग-योगयोः—संयोग तथा वियोग दोनों का; अदृष्टतः—अदृश्य प्रारब्ध की अपेक्षा; अन्यत्—कोई अन्य कारण या संयोग; न—नहीं; निमित्तम्—कारण; अस्ति—है; एवम्—इस प्रकार; हि—निश्चय ही; जन्तोः—जीव का; अपि—निस्सन्देह; दुर्विभाव्यः—पाया नहीं जा सकता; शरीर—शरीर का; संयोग—स्वीकृति; वियोग—परित्याग; हेतुः—कारण।

जब किसी अदृश्य कारण से आग लकड़ी के एक टुकड़े से लपक कर दूसरे खंड को जला देती है, तो इसका कारण प्रारब्ध है। इसी तरह जब जीव एक प्रकार का शरीर स्वीकार करके दूसरे का परित्याग करता है, तो इसमें अदृश्य प्रारब्ध के अतिरिक्त कोई अन्य कारण नहीं होता।

तात्पर्य : जब किसी गाँव में आग लगती है, तो कभी-कभी वह एक घर को फाँद कर दूसरे घर को जला देती है। इसी तरह जब जंगल में आग लगती है, तो वह कभी-कभी एक वृक्ष से फाँद कर दूसरे में लग जाती है। ऐसा क्यों होता है, यह कोई नहीं जानता। यह कल्पना ही की जा सकती है कि पास के घर या वृक्ष को छोड़कर दूर के घर या वृक्ष में आग क्यों लगी, किन्तु इसका असली कारण प्रारब्ध है। यही बात आत्मा के देहान्तरण पर भी लागू होती है, जिसके फलस्वरूप इस जीवन का प्रधानमंत्री अगले जीवन में कुत्ता बन सकता है। अदृश्य प्रारब्ध के कार्य को किसी व्यावहारिक प्रयोगात्मक ज्ञान से निश्चित नहीं किया जा सकता अत: इस तर्क से ही सन्तोष करना होगा कि सारे कार्य प्रारब्ध द्वारा ही सम्पन्न होते हैं।

एवं विमृश्य तं पापं यावदात्मनिदर्शनम् ।
पूजयामास वै शौरिर्बहुमानपुर:सरम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार से; विमृश्य—सोच विचार कर; तम्—कंस को; पापम्—अत्यन्त पापी; यावत्—यथासम्भव; आत्मनि-दर्शनम्—अपनी बुद्धि भर, भरसक; पूजयाम् आस—प्रशंसा की; वै—निस्सन्देह; शौरि:—वसुदेव ने; बहु-मान—सत्कार करते हुए; पुर:सरम्—उसके सामने।

इस तरह इस विषय पर अपनी बुद्धिसे भरपूर विचार करने के बाद वसुदेव ने पापी कंस के समक्ष बड़े ही आदरपूर्वक अपना प्रस्ताव रखा।

प्रसन्नवदनाम्भोजो नृशंसं निरपत्रपम् ।
मनसा दूयमानेन विहसन्निदमब्रवीत् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

प्रसन्न-वदन-अम्भोज:—वसुदेव, जो बाहर से परम प्रसन्न लग रहे थे; नृशंसम्—अत्यन्त क्रूर; निरपत्रपम्—निर्लज्ज कंस को; मनसा—मन से; दूयमानेन—चिन्ता तथा दुख से पूर्ण; विहसन्—बाहर से हँसते हुए; इदम् अब्रवीत्—इस प्रकार बोले।

वसुदेव का मन चिन्ता से पूर्ण था क्योंकि उनकी पत्नी संकट में थीं, किन्तु क्रूर, निर्लज्ज तथा पापी कंस को प्रसन्न करने के उद्देश्य से बनावटी हँसी लाते हुए वे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : कभी-कभी संकटकालीन स्थिति में कपट से काम चलाना पड़ता है जैसाकि वसुदेव ने अपनी पत्नी को बचाने के लिए किया। यह भौतिक जगत बहुत ही जटिल है और अपना कर्तव्य निभाने के लिए ऐसी दोहरी चाल अपनानी पड़ती है। वसुदेव ने कृष्ण को जन्म देने के लिए अपनी पत्नी को बचाने के लिए हर सम्भव प्रयास किए। इससे सूचित होता है कि कृष्ण तथा उनके हितों की

रक्षा के लिए दोहरी चाल से काम लिया जा सकता है। पूर्व-घोषित व्यवस्था के अनुसार कंस का वध करने के लिए कृष्ण को वसुदेव तथा देवकी से जन्म लेना था। अत: वसुदेव को इस स्थिति से निपटने के लिए हर प्रयत्न करना पड़ा। यद्यपि सारी घटनाएँ कृष्ण द्वारा पूर्वनियोजित होती हैं, किन्तु भक्त को कृष्ण की सेवा के लिए हर सम्भव प्रयास करना होता है। कृष्ण स्वयं सर्वशक्तिमान हैं किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि भक्त को हाथ पर हाथ धरकर बैठ जाना चाहिए और सबकुछ कृष्ण पर ही छोड़ देना चाहिये। *भगवद्गीता* से भी यही उपदेश प्राप्त होता है। यद्यपि अर्जुन के लिए कृष्ण सब कुछ कर रहे थे, किन्तु अर्जुन कभी अहिंसक की तरह आलसी बन कर बैठा नहीं। वह युद्ध में यथाशक्ति लड़ने और विजयी बनने का प्रयास करता रहा।

श्रीवसुदेव उवाच

न ह्यस्यास्ते भयं सौम्य यद्वै साहाशरीरवाक् ।
पुत्रान्समर्पयिष्येऽस्या यतस्ते भयमुत्थितम् ॥ ५४॥

शब्दार्थ

श्री-वसुदेवः उवाच—श्री वसुदेव ने कहा; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अस्याः—इससे (देवकी से); ते—तुम्हारा; भयम्—भय; सौम्य—हे शालीन; यत्—जो; वै—निस्सन्देह; सा—वह; आह—बोली; अ-शरीर-वाक्—बिना शरीर के वाणी; पुत्रान्—अपने सारे पुत्रों को; समर्पयिष्ये—तुम्हें सौंप दूँगा; अस्याः—इस देवकी के; यतः—जिससे; ते—तुम्हारा; भयम्—भय; उत्थितम्—उत्पन्न हुआ है।.

वसुदेव ने कहा : हे भद्र-श्रेष्ठ, तुमने अदृश्यवाणी से जो भी सुना है उसके लिए तुम्हें अपनी बहन देवकी से तनिक भी डरने की कोई बात नहीं है। तुम्हारी मृत्यु का कारण उसके पुत्र होंगे अत: मैं तुम्हें वचन देता हूँ कि जब उसके पुत्र उत्पन्न होंगे, जिनसे तुम्हें डर है, तो उन सबको लाकर मैं तुम्हें सौंप दिया करूँगा।

तात्पर्य : कंस को देवकी से भय था कि उसके आठवें गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा वही उसका वध करेगा। इसलिए वसुदेव ने अपने साले को सर्वाधिक सुरक्षा का वचन दिया कि वह सारे पुत्रों को लाकर उसे दे दिया करेगा। आठवें पुत्र की प्रतीक्षा न करके वह प्रारम्भ से ही देवकी के गर्भ से उत्पन्न सारे पुत्रों को कंस के हाथों सौंप देगा। वसुदेव ने कंस के समक्ष यह सबसे उदार प्रस्ताव प्रस्तुत किया।

श्रीशुक उवाच

स्वसुर्वधान्निववृते कंसस्तद्वाक्यसारवित् ।
वसुदेवोऽपि तं प्रीत: प्रशस्य प्राविशद्गृहम् ॥ ५५॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; स्वसुः—अपनी बहन के (देवकी के); वधात्—वध से; निववृते—कुछ काल के लिए रुक गया; कंसः—कंस; तत्-वाक्य—वसुदेव के वचन; सार-वित्—सही जानकर; वसुदेवः—वसुदेव; अपि—भी; तम्—उसको (कंस को); प्रीतः—तुष्ट होकर; प्रशस्य—अधिक सान्त्वना देकर; प्राविशत् गृहम्—अपने घर में प्रवेश किया।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : कंस वसुदेव के तर्कों से सहमत हो गया और वसुदेव के वचनों पर पूरा भरोसा करके उसने अपनी बहन को मारने का विचार छोड़ दिया। वसुदेव ने कंस से प्रसन्न होकर उसे और भी सान्त्वना दी और अपने घर में प्रवेश किया।

तात्पर्य : यद्यपि कंस पापी असुर था, किन्तु उसे विश्वास था कि वसुदेव अपने वचनों से कभी डिगेगा नहीं। वसुदेव जैसे शुद्ध भक्त का चरित्र ऐसा था कि कंस जैसे महान् असुर को भी उसके वचनों पर दृढ़ विश्वास था और वह सन्तुष्ट हो गया। *यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः* (*भागवत* ५.१८.१२)। भक्त में सारे अच्छे गुण विद्यमान रहते हैं यहाँ तक कि कंस तक को भी वसुदेव के वचनों पर विश्वास था।

अथ काल उपावृत्ते देवकी सर्वदेवता ।
पुत्रान्प्रसुषुवे चाष्टौ कन्यां चैवानुवत्सरम् ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; काले—समय बीतने पर; उपावृत्ते—परिपक्व होने पर; देवकी—कृष्ण के पिता वसुदेव की पत्नी ने; सर्व-देवता—देवकी, जिसके लिए सारे देवता तथा स्वयं भगवान् प्रकट हुए; पुत्रान्—पुत्रों को; प्रसुषुवे—उत्पन्न किया; च—तथा; अष्टौ—आठ; कन्यां च—तथा एक कन्या सुभद्रा को भी; एव—निस्सन्देह; अनुवत्सरम्—वर्षानुवर्ष, प्रतिवर्ष।

तत्पश्चात् प्रति-वर्ष समय आने पर ईश्वर तथा अन्य देवताओं की माता देवकी ने एक शिशु को जन्म दिया। इस तरह एक के बाद एक उनके आठ पुत्र तथा सुभद्रा नामक एक कन्या उत्पन्न हुई।

तात्पर्य : गुरु को कभी-कभी *सर्वदेवमयोगुरु* कहकर महिमामंडित किया जाता है (*भागवत* ११.७.२७)। आध्यात्मिक गुरु की कृपा से विभिन्न प्रकार के देवों को समझा जा सकता है। *देव* शब्द ईश्वर का सूचक है, जो समस्त देवताओं (देवों) का मूल उद्गम है। *भगवद्गीता* (.२) में भगवान् कहते हैं—*अहं आदिर्हि देवानाम्*—मैं समस्त देवों का उद्गम हूँ। आदि पुरुष भगवान् विष्णु अपने विभिन्न रूपों में विस्तार करते हैं। *तदैक्षत बहुस्याम्* (*छान्दोग्य उपनिषद्* ६.२.३)। वे ही अनेक रूपों में विस्तीर्ण हो गए। *अद्वैतम् अच्युतम् अनादिम् अनन्तरूपम्* (*ब्रह्म-संहिता* ५.३३)। स्वरूप की विभिन्न

कोटियाँ *स्वांश* तथा *विभिन्नांश* कहलाती हैं। *स्वांश* अथवा *विष्णु-तत्त्व* भगवान् होते हैं और *विभिन्नांश जीवतत्त्व* होते हैं, जो भगवान् के अंश हैं (*ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:*)। यदि हम कृष्ण को भगवान् मानकर उनकी पूजा करते हैं, तो भगवान् के सारे अंश स्वत: पुज जाते हैं। *सर्वार्हणमच्युतेज्या* (*भागवत* ४.३१.१४)। कृष्ण अच्युत कहलाते हैं (*सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत*)। अच्युत कृष्ण की पूजा करने से सारे देवताओं की स्वत: पूजा हो लेती है। तब न तो विष्णु-तत्त्व न ही जीव-तत्त्व को अलग-अलग पूजने की आवश्यकता रह जाती है। यदि कृष्ण पर ध्यान एकाग्र किया जाए तो हर एक की पूजा हो जाती है। अत: कृष्ण को जन्म देने के कारण माता देवकी को *सर्वदेवता* कहा गया है।

कीर्तिमन्तं प्रथमजं कंसायानकदुन्दुभिः ।
अर्पयामास कृच्छ्रेण सोऽनृतादतिविह्वलः ॥५७॥

शब्दार्थ

कीर्तिमन्तम्—कीर्तिमान नाम से; प्रथम-जम्—पहले पहल जन्मा शिशु; कंसाय—कंस को; आनकदुन्दुभिः—वसुदेव द्वारा; अर्पयाम् आस—दे दिया गया; कृच्छ्रेण—बड़ी मुश्किल से; सः—वह (वसुदेव); अनृतात्—झूठा बनने के भय से, वचन भंग करने से; अति-विह्वलः—अत्यन्त भयभीत।

वसुदेव अत्यधिक विह्वल थे कि कहीं उनका वचन भंग हुआ तो वे झूठे साबित होंगे। इस तरह उन्होंने बड़ी ही वेदना के साथ अपने प्रथम पुत्र कीर्तिमान को कंस के हाथों में सौंप दिया।

तात्पर्य : वैदिक पद्धति में, ज्यों ही कोई बच्चा, विशेषकर पुत्र, उत्पन्न होता है, तो पिता विद्वान ब्राह्मणों को बुलवाता है और बच्चे की कुंडली के अनुसार उसका नामकरण किया जाता है। इसे *नामकरण संस्कार* कहते हैं। इस तरह वर्णाश्रम धर्म पद्धति में दस *संस्कार* होते हैं जिनमें से नामकरण संस्कार एक है। यद्यपि वसुदेव के प्रथम पुत्र को कंस के हाथों सौंप दिया जाना था, किन्तु उसका नामकरण संस्कार सम्पन्न हुआ और उसका नाम कीर्तिमान रखा गया। ऐसे नाम जन्म के तुरन्त बाद रखे जाते हैं।

किं दुःसहं नु साधूनां विदुषां किमपेक्षितम् ।
किमकार्यं कदर्याणां दुस्त्यजं किं धृतात्मनाम् ॥५८॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; दुःसहम्—पीड़ाप्रद है; नु—निस्सन्देह; साधूनाम्—साधु पुरुषों के लिए; विदुषाम्—विद्वान पुरुषों के लिए; किम् अपेक्षितम्—क्या निर्भरता है; किम् अकार्यम्—क्या मना है; कदर्याणाम्—अधम पुरुषों के लिए; दुस्त्यजम्—छोड़ पाना अत्यन्त कठिन; किम्—क्या; धृत-आत्मनाम्—स्वरूपसिद्ध व्यक्तियों के लिए।

वे साधु पुरुष जो सत्य पर अटल रहते हैं, उनके लिए क्या पीड़ादायक है? उन शुद्ध भक्तों के लिए जो भगवान् को तत्त्व के रूप में जानते हैं, भला स्वतंत्रता क्यों नहीं होती? निम्नचरित्र वाले पुरुषों के लिए कौन से कार्य वर्जित हैं? जिन्होंने भगवान् कृष्ण के चरणकमलों पर अपने को पूरी तरह समर्पित कर दिया है वे कृष्ण के लिए भला कौन सी वस्तु नहीं त्याग सकते?

तात्पर्य : चूँकि देवकी के आठवें पुत्र द्वारा कंस का वध होना था अत: यह प्रश्न किया जा सकता है कि वसुदेव को पहले पुत्र को ले जाकर देने की क्या आवश्यकता थी? इसका उत्तर यह है कि वसुदेव ने कंस को वचन दिया था कि वह देवकी से उत्पन्न सारे पुत्रों को लाकर सौंप देगा। असुर होने के कारण कंस को विश्वास नहीं हो पा रहा था कि आठवीं सन्तान ही उसका वध करेगी। उसने यह मान लिया था कि वह देवकी की किसी भी सन्तान के द्वारा मारा जा सकता है। इसीलिए देवकी को बचाने के लिए वसुदेव ने कंस को हर सन्तान, चाहे वह लड़का हो या लड़की, देने का वचन दिया था। दूसरी दृष्टि से, वसुदेव तथा देवकी दोनों परम प्रसन्न थे कि भगवान् कृष्ण आठवें पुत्र के रूप में उनके यहाँ उत्पन्न होंगे। भगवान् का शुद्ध भक्त होने से वसुदेव कृष्ण को देवकी के आठवें गर्भ से उत्पन्न होते देखने के लिए लालायित थे। इसीलिए वे सारी सन्तानों को तुरन्त सौंपना चाहते थे जिससे आठवीं सन्तान की बारी आए और कृष्ण प्रकट हों। इसीलिए प्रतिवर्ष वे एक सन्तान उत्पन्न करते रहे जिससे कृष्ण यथासम्भव शीघ्र ही उत्पन्न हों।

दृष्ट्वा समत्वं तच्छौरेः सत्ये चैव व्यवस्थितिम् ।
कंसस्तुष्टमना राजन्प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; समत्वम्—सुख या दुख से अविचलित, समभाव से; तत्—उस; शौरेः—वसुदेव के; सत्ये—सत्य में; च—निस्सन्देह; एव—निश्चय ही; व्यवस्थितिम्—दृढ़ परिस्थिति; कंसः—कंस ने; तुष्ट-मनाः—अत्यन्त संतुष्ट होकर (अपना वचन निभाने के लिए पहली संतान लाकर सौंपने के वसुदेव के आचरण से); राजन्—हे महाराज परीक्षित; प्रहसन्—हँसते हुए; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा।

हे राजा परीक्षित, जब कंस ने देखा कि वसुदेव सत्य में स्थिर रहते हुए अपनी सन्तान उसे सौंपने में समभाव बने रहे, तो वह अत्यधिक प्रसन्न हुआ और उसने हँसते हुए यह कहा।

तात्पर्य : इस श्लोक में *समत्वम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *समत्वम्* सूचक है ऐसे व्यक्ति का जो

सुख या दुख से अप्रभावित रहते हुए सदैव समरस रहता है। वसुदेव इतने समरस थे कि अपने प्रथम जातपुत्र को कंस के हाथों मारे जाने के लिए सौंपते हुए भी तनिक भी विचलित नहीं हुए। *भगवद्गीता* (२.५६) में कहा गया है—*दु:खेष्वनुद्विग्नमना: सुखेषु विगतस्पृह: ।* भौतिक जगत में न तो किसी को सुखी रहने के लिए अत्यन्त उत्सुक होना चाहिए, न ही भौतिक दुख से अधिक दुखी होना चाहिए। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया कि(*भगवद्गीता* २.१४)—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदु:खदा: ।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

"हे कुन्तीपुत्र! सुख तथा दुख का अस्थायी प्राकट्य और कालक्रम में उनका अदृश्य हो जाना शीत तथा ग्रीष्म ऋतुओं के आने तथा जाने के तुल्य है। हे भरतवंशी! ये इन्द्रियबोध से उत्पन्न होते हैं और मनुष्य को चाहिए कि विचलित हुए बिना इन्हें सहना सीखे।" स्वरूपसिद्ध व्यक्ति तथाकथित दुख या सुख से कभी भी विचलित नहीं होता और वसुदेव जैसे महान् भक्त पर तो यह बात विशेष रूप से लागू होती है जिन्होंने अपने व्यावहारिक उदाहरण द्वारा ऐसा कर दिखलाया। वे कंस के हाथों अपनी पहली संतान मारे जाने के लिए सौंपते समय तनिक भी उद्विग्न नहीं थे।

प्रतियातु कुमारोऽयं न ह्यस्मादस्ति मे भयम् ।
अष्टमाद्युवयोर्गर्भान्मृत्युर्मे विहित: किल ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

प्रतियातु—हे वसुदेव, अपने बच्चे को घर ले जाओ; कुमार:—नवजात शिशु; अयम्—यह; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अस्मात्—उससे; अस्ति—है; मे—मेरा; भयम्—भय; अष्टमात्—आठवें से; युवयो:—तुम पति-पत्नी दोनों के; गर्भात्—गर्भ से; मृत्यु:—मृत्यु; मे—मेरा; विहित:—जो होना है; किल—निस्सन्देह।

हे वसुदेव, तुम अपने बच्चे को वापस ले सकते हो और घर जा सकते हो। मुझे तो तुम्हारी और देवकी की आठवीं सन्तान से चिन्तित हूँ, जिसके हाथों मेरी मृत्यु लिखी है।

तथेति सुतमादाय ययावानकदुन्दुभि: ।
नाभ्यनन्दत तद्वाक्यमसतोऽविजितात्मन: ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

तथा—बहुत अच्छा; इति—इस प्रकार; सुतम् आदाय—अपने पुत्र को वापस लाकर; ययौ—उस स्थान से चला गया; आनकदुन्दुभि:—वसुदेव; न अभ्यनन्दत—बहुत महत्त्व नहीं दिया; तत्-वाक्यम्—उसके (कंस के) वचनों पर; असत:—चरित्रविहीन; अविजित-आत्मन:—तथा आत्मसंयमविहीन।

वसुदेव मान गये और वे अपना पुत्र घर वापस ले आए, किन्तु कंस चरित्रहीन तथा आत्मसंयमविहीन व्यक्ति था अतएव वसुदेव जानते थे कि कंस के शब्दों का कोई भरोसा नहीं।

नन्दाद्या ये व्रजे गोपा याश्चामीषां च योषितः ।
वृष्णयो वसुदेवाद्या देवक्याद्या यदुस्त्रियः ॥ ६२ ॥
सर्वे वै देवताप्राया उभयोरपि भारत ।
ज्ञातयो बन्धुसुहृदो ये च कंसमनुव्रताः ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

नन्द-आद्याः—नन्द महाराज तथा अन्य लोग; ये—ये सभी; व्रजे—वृन्दावन में; गोपाः—ग्वाले; याः—जो; च—तथा; अमीषाम्—उन सबका (वृन्दावनवासियों का); च—भी; योषितः—स्त्रियाँ; वृष्णयः—वृष्णिवंश के सदस्य; वसुदेव-आद्याः—वसुदेव इत्यादि; देवकी-आद्याः—देवकी इत्यादि; यदु-स्त्रियः—यदुवंश की स्त्रियाँ; सर्वे—सभी; वै—निस्सन्देह; देवता-प्रायाः—स्वर्ग के निवासी थे; उभयोः—नन्द महाराज तथा वसुदेव दोनों के; अपि—निस्सन्देह; भारत—हे महाराज परीक्षित; ज्ञातयः—सम्बन्धीगण; बन्धु—सारे मित्र; सुहृदः—शुभेच्छु जन; ये—जो; च—तथा; कंसम् अनुव्रताः—कंस के अनुयायी होते हुए भी।

हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ, महाराज परीक्षित, नन्द महाराज तथा उनके संगी ग्वाले तथा उनकी स्त्रियाँ स्वर्गलोक की ही वासी थीं। इसी तरह वसुदेव आदि वृष्णिवंशी तथा देवकी एवं यदुवंश की अन्य स्त्रियाँ भी स्वर्गलोक की वासी थीं। नन्द महाराज तथा वसुदेव के मित्र, सम्बन्धी, शुभचिन्तक तथा ऊपर से कंस के अनुयायी लगने वाले व्यक्ति सभी देवता ही थे।

तात्पर्य : जैसा पहले बतलाया जा चुका है, भगवान् विष्णु ने ब्रह्माजी को बतला दिया था कि धरती का कष्ट हरने के लिए कृष्ण स्वयं अवतरित होंगे। भगवान् ने स्वर्ग लोंको के समस्त निवासियों को आदेश दिया था कि वे यदु तथा वृष्णि वंश के विभिन्न परिवारों में तथा वृन्दावन में जाकर जन्म लें। इस श्लोक से पता चलता है कि यदुवंश, वृष्णिवंश, नन्द महाराज के सारे मित्र तथा गोप भगवान् की लीलाओं को देखने के लिए स्वर्गलोक से अवतरित हुए थे। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.८) में पुष्टि की गई है भगवान् की लीलाओं में भक्तों की रक्षा करना तथा असुरों का वध करना सम्मिलित है—*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।* इन लीलाओं के प्रदर्शनार्थ भगवान् ने ब्रह्माण्ड के विभिन्न भागों के भक्तों को बुलाया।

ऐसे अनेक भक्त हैं, जो स्वर्गलोक को भेजे जाते हैं।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकान् उषित्वा शाश्वती समाः।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥

"असफल योगी अनेकानेक वर्षों तक पवित्र जीवों के लोकों में भोग करने के बाद पवित्र लोगों के परिवार में या किसी धनवान व्यक्ति के घर में जन्म लेता है (भगवद्गीता ६.४१)। कुछ भक्त अपनी भक्ति के विफल हो जाने पर उस स्वर्गलोक को भेजे जाते हैं जहाँ पुण्यात्मा जाते हैं और वहाँ पर भोग करने के बाद उन्हें उस स्थान को भेजा जा सकता है जहाँ भगवान् की लीलाएँ हो रही हों। जब कृष्ण को अवतीर्ण होना था, तो स्वर्गवासियों को भगवान् की लीलाएँ देखने के लिए आमंत्रित किया गया था इसीलिए यहाँ पर यह कहा गया है कि यदु तथा वृष्णिवंशी एवं वृन्दावन के निवासी देवता थे या देवताओं के ही तुल्य थे। यहाँ तक कि ऊपर ऊपर से कंस के कार्यकलापों की सहायता करने वाले भी स्वर्ग लोक से सम्बद्ध थे। वसुदेव को बन्दी बनाना और उनका छोड़ा जाना तथा विविध असुरों का वध—ये सब भगवान् की लीलाओं की अभिव्यक्तियाँ थीं और चूँकि भक्तगण इन लीलाओं को देखकर प्रसन्न होंगे इसलिए उन्हें इन परिवारों के मित्रों तथा सम्बन्धियों के रूप में जन्म लेने के लिए आमंत्रित किया गया था। कुन्ती की स्तुति (श्रीमद्भागवत १.८.१९) में पुष्टि की गई है *नटो नाटयधरो यथा।* भगवान् को असुर संहारक की और अपने भक्तों के मित्र, पुत्र तथा भाई की भूमिका अदा करनी थी इसीलिए इन सारे भक्तों को बुलाया गया था।

एतत्कंसाय भगवाञ्छशंसाभ्येत्य नारदः ।
भूमेर्भारायमाणानां दैत्यानां च वधोद्यमम् ॥६४॥

शब्दार्थ

एतत्—यदु तथा वृष्णि वंशों के विषय में ये शब्द; कंसाय—कंस के लिए; भगवान्—परमेश्वर का अत्यन्त शक्तिशाली प्रतिनिधि; शशंस—सूचना दी (कंस को, जो संशय में था); अभ्येत्य—निकट जाकर; नारदः—नारद मुनि ने; भूमेः—भूमिपर; भारायमाणानाम्—जो भारस्वरूप हैं उनके; दैत्यानाम् च—तथा असुरों के; वध-उद्यमम्—वध करने का प्रयास।

एक बार नारद मुनि कंस के पास गए और उसे यह बतलाया कि पृथ्वी के अत्यंत भारस्वरूप असुर व्यक्तियों का किस प्रकार वध किया जाने वाला है। इस तरह कंस अत्यधिक भय तथा संशय में पड़ गया।

तात्पर्य : यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि माता पृथ्वी ने ब्रह्माजी से भारस्वरूप असुरों से उत्पन्न कष्ट से छुटकारा पाने के लिए याचना की थी और ब्रह्माजी ने उसे बतलाया कि साक्षात् कृष्ण अवतीर्ण होने वाले हैं। *भगवद्गीता* (४.८) में कृष्ण कहते हैं—

परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

जब भी असुरों द्वारा भार उत्पन्न होता है और जब भी निर्दोष भक्तों को आसुरी शासक पीड़ित करते हैं, तो भगवान् समय आने पर अपने असली प्रतिनिधियों जो पारिभाषिक शब्द में देवता कहलाते हैं, की सहायता से असुरों का वध करने के लिए प्रकट होते हैं। उपनिषदों में कहा गया है कि देवतागण भगवान् के विभिन्न अंग हैं। जिस तरह शरीर के अंगों का पूरे शरीर की सेवा करना कर्तव्य है उसी तरह कृष्ण के भक्तों का कृष्ण की इच्छानुरूप उनकी सेवा करना कर्तव्य है। कृष्ण का कार्य है असुरों का वध करना अतएव भक्तों का भी यही कार्य होना चाहिए। किन्तु कलियुग के लोग पतित हैं अत: श्री चैतन्य महाप्रभु ने उन पर कृपा करके उन्हें मारने के लिए कोई हथियार ग्रहण नहीं किया। प्रत्युत कृष्णभावनामृत (कृष्ण-प्रेम) का प्रसार करके उन्होंने उनके बुरे आसुरी कृत्यों को मारना चाहा। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का यही उद्देश्य है। जब तक इस पृथ्वी के ऊपर से आसुरी कृत्यों का सफाया नहीं किया जाता तब तक कोई सुखी नहीं रह सकता। बद्धजीव के लिए पूरी योजना का वर्णन भगवद्गीता में किया गया है। मनुष्य को केवल उसका पालन करके सुखी बनना चाहिए। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने संस्तुति की है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

लोगों को चाहिए कि हरे कृष्ण मंत्र का निरन्तर कीर्तन करें। तभी उनकी आसुरी प्रवृत्तियाँ नष्ट होंगी और वे उत्तम भक्त बन सकेंगे तथा इस जीवन में तथा अगले जीवन में सुखी रह सकेंगे।

ऋषेर्विनिर्गमे कंसो यदून्मत्वा सुरानिति ।
देवक्या गर्भसम्भूतं विष्णुं च स्ववधं प्रति ॥ ६५ ॥
देवकीं वसुदेवं च निगृह्य निगडैर्गृहे ।
जातं जातमहन्पुत्रं तयोरजनशङ्कया ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

ऋषेः—नारद ऋषि के; विनिर्गमे—चले जाने पर; कंसः—कंस ने; यदून्—समस्त यदुवंशियों को; मत्वा—सोचकर; सुरान्—देवता के रूप में; इति—इस तरह; देवक्याः—देवकी के; गर्भ-सम्भूतम्—गर्भ से उत्पन्न संतानें; विष्णुम्—विष्णु के रूप में स्वीकार करते हुए; च—तथा; स्व-वधम् प्रति—विष्णु से अपनी मृत्यु के भय से; देवकीम्—देवकी को; वसुदेवम् च—तथा उसके पति वसुदेव को; निगृह्य—बन्दी बनाकर; निगडैः—लोहे की जंजीरों से; गृहे—घर पर ही; जातम् जातम्—एक के बाद एक उत्पन्न होने वाले; अहन्—मार डाला; पुत्रम्—पुत्रों को; तयोः—वसुदेव तथा देवकी के; अजन-शङ्कया—इस भय से कि वे विष्णु न हों।

नारद ऋषि के चले जाने पर कंस ने सोचा कि यदुवंश के सारे लोग देवता हैं और देवकी के गर्भ से जन्म लेने वाली कोई भी सन्तान विष्णु हो सकती है। अतः अपनी मृत्यु के भय से कंस ने वसुदेव तथा देवकी को बन्दी बना लिया और उनके लोहे की जंजीरें डाल दीं। कंस ने इस भविष्यवाणी से सशंकित होकर कि विष्णु उसका वध करेंगे, हर सन्तान को इस आशंका से कि वह कहीं विष्णु न हो, एक एक करके मार डाला।

तात्पर्य : इस श्लोक की टीका करते हुए श्रील जीव गोस्वामी ने उल्लेख किया है कि नारद मुनि ने कंस को यह जानकारी कैसे दी। यह घटना 'हरिवंश' में वर्णित है। दैवयोग से नारद मुनि कंस को देखने गये तो कंस ने उनका स्वागत किया। इसलिए नारद ने उसे बतलाया कि देवकी का कोई एक पुत्र विष्णु होगा। चूँकि कंस का वध विष्णु द्वारा होना था इसलिए नारदमुनि ने सलाह दी कि देवकी के किसी भी पुत्र को जीवित न छोड़ा जाए। नारद का उद्देश्य था कि इन संतानों की हत्या करने से कंस के पापकर्म बढ़ेंगे जिससे शीघ्र ही उसे मारने के लिए कृष्ण अवतरित होंगे। नारदमुनि से आदेश पाकर कंस ने एक-एक करके देवकी के सारे पुत्रों को मार डाला।

अजन-शंकया शब्द सूचित करता है कि विष्णु कभी जन्म नहीं लेते (*अजन*) अतः कृष्ण के रूप में उन्होंने सामान्य मनुष्य की तरह जन्म लिया (*मानुषीं तनुमाश्रितम्*)। कंस ने देवकी तथा वसुदेव से उत्पन्न सारे शिशुओं को मारने का प्रयास किया यद्यपि वह जानता था कि यदि विष्णु उत्पन्न हुए तो उनका वध नहीं हो सकता। वास्तव में हुआ भी ऐसा कि जब विष्णु कृष्ण के रूप में प्रकट हुए तो कंस उन्हें मार नहीं पाया; प्रत्युत भविष्यवाणी के अनुसार वह उन्हीं के द्वारा मारा गया। यह सच्चाई जान लेनी चाहिए कि कृष्ण का जन्म दिव्य विधि से होता है और वे असुरों को मारने के लिए लीला करते हैं, किन्तु उनका वध नहीं किया जा सकता। जब शास्त्रों के माध्यम से कृष्ण को इस तरह समझ लिया जाता है, तो मनुष्य अमर हो जाता है। भगवान् ने *भगवद्गीता* (४.९) में कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो मेरे प्रादुर्भाव तथा कार्यों की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह शरीर त्यागने के बाद इस भौतिक संसार में फिर से जन्म नहीं लेता अपितु मेरे धाम को प्राप्त होता है।"

मातरं पितरं भ्रातृन्सर्वांश्च सुहृदस्तथा ।
घ्नन्ति ह्यसुतृपो लुब्धा राजान: प्रायशो भुवि ॥ ६७॥

शब्दार्थ

मातरम्—माता को; पितरम्—पिता को; भ्रातृन्—भाइयों को; सर्वान् च—सबको; सुहृद:—मित्रगण; तथा—भी; घ्नन्ति—मारते हैं; हि—निस्सन्देह; असु-तृप:—जो अपनी इन्द्रियों के लिए अन्यों से ईर्ष्या करते हैं; लुब्धा:—लालची; राजान:—ऐसे राजा; प्रायश:—प्राय:; भुवि—पृथ्वी पर।

इस पृथ्वी पर इन्द्रियतृप्ति के लालची राजा प्राय: सदा अपने शत्रुओं का अंधाधुंध वध करते हैं। वे अपनी सनक की पूर्ति के लिए किसी का भी, यहाँ तक कि अपनी माता, पिता, भाइयों या मित्रों का भी वध कर सकते हैं।

तात्पर्य : भारत के इतिहास में हम पाते हैं कि औरंगजेब ने अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए अपने भाई तथा भतीजों को मार डाला और अपने पिता को बन्दी बना लिया। इस तरह के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं और कंस ऐसा ही राजा था। कंस को अपने भांजों को मारने तथा अपनी बहन तथा पिता को बन्दी बनाने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं हुई। असुरों के लिए ऐसे कार्य करना कोई आश्चर्य की बात नहीं। यद्यपि कंस असुर था, किन्तु उसे पता था कि विष्णु का वध नहीं किया जा सकता और इस तरह उसे मोक्ष प्राप्त हुआ। भगवान् विष्णु के कार्यों की थोड़ी सी भी जानकारी से मोक्ष मिल सकता है। कंस कृष्ण के विषय में थोड़ा-बहुत जानता था कि उनका वध नहीं किया जा सकता अत: विष्णु या कृष्ण को अपना शत्रु मानते हुए भी उसे मोक्ष मिल सका। भला जो व्यक्ति *भगवद्गीता* जैसे शास्त्रों के विवरणों द्वारा कृष्ण को पूरी तरह जानता है उसके बारे में क्या कहा जाए? अत: हर एक का कर्तव्य है कि वह *भगवद्गीता* पढ़े और कृष्ण को पूरी तरह समझे। इससे उसका जीवन सफल हो सकेगा।

आत्मानमिह सञ्जातं जानन्प्राग्विष्णुना हतम् ।
महासुरं कालनेमिं यदुभि: स व्यरुध्यत ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—स्वयं; इह—इस संसार में; सञ्जातम्—पुन: जन्म लेकर; जानन्—भलीभाँति जानते हुए; प्राक्—इस जन्म के पूर्व; विष्णुना—भगवान् विष्णु द्वारा; हतम्—मारा गया था; महा-असुरम्—बड़े असुर; कालनेमिम्—कालनेमि को; यदुभि:—यदुवंश के सदस्यों के साथ; स:—उस (कंस) ने; व्यरुध्यत—शत्रुवत् व्यवहार किया।

पूर्व जन्म में कंस कालनेमि नाम का महान् असुर था और विष्णु द्वारा मारा गया था। नारद से

यह जानकर कंस यदुवंश से सम्बन्धित हर किसी से द्वेष करने लगा।

तात्पर्य : जो व्यक्ति राक्षस होते हैं और भगवान् के शत्रु होते हैं, वे *असुर* कहलाते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् के प्रति शत्रुता के कारण असुरगण जन्म-जन्मांतर असुर परिवारों में जन्म लेते हैं और घोर अंधकारमय नरक को जाते हैं।

उग्रसेनं च पितरं यदुभोजान्धकाधिपम् ।
स्वयं निगृह्य बुभुजे शूरसेनान्महाबलः ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

उग्रसेनम्—उग्रसेन को; च—तथा; पितरम्—अपने पिता को; यदु—यदुवंशी; भोज—भोजवंशी; अन्धक—अन्धकवंशी; अधिपम्—राजा को; स्वयम्—स्वयं; निगृह्य—दमन करके; बुभुजे—भोग किया; शूरसेनान्—शूरसेन कहलाने वाले समस्त राज्य; महा-बलः—अत्यन्त बलशाली कंस ने।

उग्रसेन के अत्यन्त बलशाली पुत्र कंस ने अपने पिता तक को, जो यदु, भोज तथा अंधक वंशों का राजा था, बन्दी बना लिया और शूरसेन नामक राज्यों का शासन स्वयं चलाने लगा।

तात्पर्य : शूरसेन नामक राज्यों के अन्तर्गत मथुरा भी सम्मिलित था।

इस अध्याय के लिए अतिरिक्त टिप्पणियाँ

आत्मा के देहान्तरण के विषय में श्रील मध्वाचार्य ने निम्नलिखित टिप्पणियाँ दी हैं। जब मनुष्य जगा रहता है, तो वह जो कुछ देखता या सुनता है उसका अंकन मन पर होता रहता है, जो बाद में स्वप्न में भिन्न अनुभव दर्शाता है यद्यपि स्वप्न में मनुष्य भिन्न शरीर में प्रकट-सा होता है। उदाहरणार्थ, जब मनुष्य जगा रहता है, तो वह कामकाज करता है और ग्राहकों से बातें करता है। इसी तरह स्वप्न में भी कई ग्राहकों से मिलता है, उनसे व्यापार की बातें करता है और चीजों के मूल्य बताता है। इसलिए मध्वाचार्य कहते हैं कि मनुष्य जो भी देखता, सुनता और स्मरण करता है उसी के हिसाब से स्वप्न देखता है। किन्तु जब वह फिर जग जाता है, तो स्वप्न के शरीर को भूल जाता है। यह विस्मरण *अपस्मृति* कहलाती है। इस तरह हम शरीर बदलते रहते हैं क्योंकि कभी हम सपना देखते हैं, तो कभी जगे रहते हैं और कभी भूल जाते हैं। अपने पूर्वसृजित शरीर की विस्मृति मृत्यु कहलाती है और वर्तमान देह में किया जाने वाला कार्य जीवन कहलाता है। मृत्यु के बाद कोई अपने पूर्व शरीर के कार्यों को स्मरण नहीं रख सकता चाहे वे काल्पनिक हों या वास्तविक।

उत्तेजित मन की उपमा क्षुब्ध जल से दी जाती है, जो सूर्य और चन्द्रमा को प्रतिबिम्बित करता है।

वास्तव में जल में प्रतिबिम्बित सूर्य और चन्द्रमा का अस्तित्व नहीं रहता फिर भी जल की गतियों के अनुसार उनका प्रतिबिम्ब पड़ता रहता है। इसी तरह जब हमारे मन विक्षुब्ध रहते हैं, तो हम विभिन्न भौतिक परिवेशों में विचरण करते हैं और तरह-तरह के शरीर प्राप्त करते हैं। *भगवद्गीता* में इसे *गुण-सङ्ग* कहा गया है। *कारणं गुण-संगोऽस्य।* मध्वाचार्य का कथन है—*गुणानुबद्धःसन्।* और श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—*ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान जीव* (*चैतन्य-चरितामृत* १९.१५१)। जीव ब्रह्माण्ड भर में चक्कर लगाता रहता है कभी स्वर्गलोक में तो कभी मध्यलोक और निम्नलोकों में, कभी मनुष्य रूप में तो कभी देवता, कुत्ता, वृक्ष इत्यादि के रूप में। यह मन की चंचलता के कारण है। इसलिए मन को स्थिर बनाना चाहिए। जैसाकि कहा जाता है—*स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः।* मनुष्य को चाहिए कि वह कृष्ण के चरणकमलों में मन को स्थिर करे। तब वह चंचलता से छुटकारा पा सकता है। यह *गरुड़ पुराण* का उपदेश है और *नारदीय पुराण* में भी यही बात दुहराई गई है। *भगवद्गीता* में *यान्ति देवव्रता देवान्* कहा गया है। चंचल मन विभिन्न लोकों को चला जाता है क्योंकि वह भिन्न-भिन्न देवताओं के प्रति अनुरक्त रहता है। किन्तु इन देवताओं की पूजा करके वह भगवद्धाम नहीं जा सकता क्योंकि किसी भी वैदिक साहित्य द्वारा इसकी पुष्टि नहीं होती। मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता होता है। इस मनुष्य जीवन में उसे यह सुविधा प्राप्त है कि वह अपनी वास्तविक स्थिति को समझे और यह निर्धारित करे कि उसे ब्रह्माण्ड भर में निरन्तर चक्कर लगाते रहना है अथवा भगवद्धाम लौट जाना है। *भगवद्गीता* में इसकी भी पुष्टि हुई है (*अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि*)।

संयोग नाम की कोई वस्तु नहीं है। यदि दावाग्नि से कोई वृक्ष जल रहा हो और दूर के वृक्ष में आग लग जाए, किन्तु पास का वृक्ष बच जाए तो यह संयोग जैसा लगता है। इसी तरह मनुष्य को संयोगवश विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त होते दिखते हैं, किन्तु वास्तव में उसे ये शरीर मन के कारण प्राप्त होते हैं। मन स्वीकृति और अस्वीकृति के बीच दोलायमान रहता है और मन द्वारा इस स्वीकृति-अस्वीकृति के अनुसार ही हमें विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त होते हैं यद्यपि ऊपर से ऐसा प्रतीत होता है कि संयोगवश ही ऐसा होता है। यदि हम इस संयोग-सिद्धान्त को मान भी लें तो शरीर परिवर्तन होने का तात्कालिक कारण मन की चंचलता होगी।

अंश के सम्बन्ध में टिप्पणी—इस अध्याय में वर्णन हुआ है कि कृष्ण *अंशेन* अर्थात् अपने अंशों

के साथ या आंशिक अभिव्यक्ति के साथ प्रकट हुए। इस सम्बन्ध में श्रीधर स्वामी कहते हैं कि कृष्ण शत प्रतिशत भगवान् हैं (*कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*)। यह तो हमारी अपूर्णता है कि हम कृष्ण को पूर्णरूपेण समझ नहीं पाते अत: इस धरा पर उपस्थित होकर कृष्ण ने जो कुछ भी प्रदर्शित किया वह उनके ऐश्वर्य की आंशिक अभिव्यक्ति थी। पुन: कृष्ण अपने स्वांश बलदेव के साथ प्रकट हुए। फिर भी कृष्ण पूर्ण हैं। उनके अंश रूप में प्रकट होने का प्रश्न ही नहीं उठता। *वैष्णव तोषणी* में श्रील सनातन गोस्वामी कहते हैं कि यदि हम यह मान लें कि कृष्ण अंश रूप में प्रकट हुए तो *कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*—यह कथन झूठा पड़ जाएगा। श्रील जीव गोस्वामी का कथन है कि *अंशेन* शब्द का अर्थ यह है कि कृष्ण अपने समस्त स्वांशों समेत प्रकट हुए। *अंशेन विष्णो:* शब्दों का अर्थ यह नहीं है कि कृष्ण भगवान् विष्णु के आंशिक प्रतिनिधि हैं प्रत्युत कृष्ण पूर्ण रूप में प्रकट हुए और वे वैकुण्ठ लोकों में अंशत: प्रकट होते हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् विष्णु कृष्ण की आंशिक अभिव्यक्ति हैं, कृष्ण उनके नहीं। *चैतन्य-चरितामृत* (आदि. अध्याय ४) में इसकी स्पष्ट व्याख्या की गई है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की भी टिप्पणी है कि कृष्ण का पूर्णतया वर्णन नहीं किया जा सकता। *श्रीमद्‌भागवत* में जो भी वर्णन मिलता है, वह कृष्ण का आंशिक विवेचन है। सारांश यह है कि *अंशेन* शब्द सूचित करता है कि भगवान् विष्णु कृष्ण की आंशिक अभिव्यक्ति हैं न कि कृष्ण विष्णु की।

श्रील सनातन गोस्वामी ने *वैष्णव तोषणी* में *धर्मशीलस्य* शब्द की व्याख्या की है। *धर्मशील* का असली अर्थ है "विशुद्ध भक्त।" असली *धर्म* तो पूर्णतया भगवान् कृष्ण की शरण में जाना है (*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*)। जो पूर्णतया कृष्ण की शरणागत है, वही वास्तव में धर्मशील है। ऐसे ही धर्मशील थे महाराज परीक्षित। जो भी व्यक्ति अन्य सारे धर्मों को त्यागकर भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने के सिद्धान्त का पालन करता है, वही वास्तविक धर्मशील है।

निवृत्त-तर्षै शब्द द्योतक है ऐसे व्यक्ति का जो सारी भौतिक इच्छाओं से रहित है (*सर्वोपाधिविनिर्मुक्तम्*)। इस भौतिक जगत के कल्मष के कारण मनुष्य में नाना प्रकार की भौतिक इच्छाएँ हो सकती हैं, किन्तु जब वह सारी भौतिक इच्छाओं से मुक्त हो जाता है, तो उसे *निवृत्त-तृष्ण* कहते हैं जिसका अर्थ है कि वह भौतिक तृप्ति के लिए अब कोई तृष्णा नहीं रखता। *स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे* (*हरिभक्ति सुधोदय*)। भौतिकतावादी व्यक्ति भक्ति सम्पन्न करने के बदले में

कुछ भौतिक लाभ चाहते हैं, किन्तु भक्ति का उद्देश्य यह नहीं है। भक्ति की पूर्णता तो कृष्ण के चरणकमलों में बिना भौतिक इच्छाओं के समर्पण है। जो इस प्रकार शरणागत होता है, वह पहले से मुक्त होता है। *जीवन्मुक्तः स उच्यते।* जो व्यक्ति, चाहे किसी भी स्थिति में क्यों न रहे सदैव कृष्ण की सेवा में लगा रहता है, वह इसी जीवन में ही मुक्त हुआ माना जाता है। ऐसा व्यक्ति शुद्ध भक्त होता है और उसे अपना शरीर बदलने की आवश्यकता नहीं होती। निस्सन्देह उसका भौतिक शरीर रहता ही नहीं क्योंकि उसका शरीर पहले ही आध्यात्मिक बन चुका होता है। आग में रखा लोहे का डंडा अन्ततः आग बन जाता है और वह जिसे भी छूता है, वह जल जाता है। इसी प्रकार शुद्ध भक्त आध्यात्मिक जगत रूपी अग्नि में रहता है, अतः उसका शरीर चिन्मय अर्थात् आध्यात्मिक, न कि भौतिक, होता है क्योंकि शुद्ध भक्त को भगवान् की दिव्य सेवा करने के अतिरिक्त अन्य कोई इच्छा नहीं सताती। चतुर्थ श्लोक में *उपगीयमानात्* शब्द प्रयुक्त हुआ है—*निवृत्ततर्षैरुपगीयमानात्।* भला भक्त हुए बिना भगवान् की महिमा का कीर्तन कौन करेगा? अतः *निवृत्त-तर्षै* शब्द भक्त का ही सूचक है और किसी का नहीं। वीरराघव आचार्य तथा विजयध्वज जैसे आचार्यों का यही मत है। भक्ति के बजाय किसी और की इच्छा करना भौतिक इच्छाओं से मुक्ति को कम कर देगा किन्तु जब कोई ऐसी सभी इच्छाओं से मुक्त हो जाता है, तो वह निवृत्त-तर्षै कहलाता है।

विना पशुघ्नात् पशुघ्न अर्थात् पशु का वध करने वाले को कभी भी कृष्णभावनामृत प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिए हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में पशु-वध का पूर्ण निषेध है।

उत्तमश्लोक-गुणानुवादात् उत्तमश्लोक का अर्थ है "उत्तमों में सर्वश्रेष्ठ।" भगवान् सभी परिस्थितियों में उत्तम हैं। यही उनकी सहज ख्याति है। उनकी अच्छाई (उत्तमता) असीम है और वे इसका उपयोग असीमित रूप में करते हैं। कभी-कभी भक्त को भी उत्तमश्लोक कहा जाता है, जिसका अर्थ होता है कि वह भगवान् या भगवान् के भक्तों का गुणानुवाद करने के लिए उत्सुक रहता है। भगवान् का गुणानुवाद तथा भगवान् के भक्तों का गुणानुवाद एक है। अथवा भक्त का गुणानुवाद भगवान् के प्रत्यक्ष गुणानुवाद से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। नरोत्तमदास ठाकुर ने इस तथ्य की व्याख्या की है—*छाड़िया वैष्णवसेवा, निस्तार पायेछे केबा।* कृष्ण भक्त की सच्चे मन से सेवा किए बिना मनुष्य भवजाल से मुक्त नहीं हो सकता।

भवौषधात् शब्द का अर्थ है, ''विश्व औषधि से।'' नाम कीर्तन तथा भगवान् का गुणानुवाद ये भौतिकतावादी जीवन के कष्टों की रामबाण औषधियाँ हैं। जो लोग इस भौतिक जगत से मुक्त होना चाहते हैं, वे *मुमुक्षु* कहलाते हैं। ऐसे लोग भौतिकतावादी जीवन के कष्टों को समझते हैं और वे भगवान् के कार्यकलापों का गुणानुवाद करके इन कष्टों से छुटकारा पा सकते हैं। भगवान् के नाम, यश, रूप, गुण तथा साज-सामान विषयक दिव्य ध्वनियाँ भगवान् से अभिन्न होती हैं। इसलिए भगवान् के गुणानुवाद और नाम की ध्वनि कानों को आनन्ददायी लगती हैं और भक्त भगवान् के नाम, रूप तथा गुण की परम प्रकृति को समझकर हर्षित होता है। यहाँ तक कि जो भक्त नहीं हैं, वे भी भगवान् के दिव्य कार्यकलापों की मोहक कथाओं का आनन्द लेते हैं। यहाँ तक कि ऐसे सामान्य व्यक्ति जो कृष्णभावनामृत में बढ़े-चढ़े नहीं होते वे *श्रीमद्‌भागवत* में अंकित कथाओं के वर्णन में आनन्द प्राप्त करते हैं। जब कोई भौतिकतावादी व्यक्ति इस तरह से शुद्ध हो जाता है, तो वह भगवान् की महिमा सुनने और कीर्तन करने में लग जाता है। चूँकि भगवान् की लीलाओं का गुणानुवाद भक्त के कानों तथा हृदय के लिए अत्यन्त मोहक होता है, अत: यह विषय एवं विषयी दोनों बन जाता है।

इस जगत में तीन प्रकार के लोग हैं मुक्त, मुमुक्षु तथा इन्द्रियभोग में लिप्त। इन तीनों में से मुक्त लोग भगवान् के नाम का कीर्तन तथा श्रवण करते हैं क्योंकि वे भलीभाँति जानते हैं कि केवल भगवान् के गुणानुवाद से ही दिव्य पद पर रहा जा सकता है। दूसरी प्रकार के लोग जो मुक्ति पाने का प्रयास कर रहे हैं भगवन्नाम कीर्तन तथा श्रवण को मुक्ति की विधि मानते हैं अत: उन्हें भी इस कीर्तन में दिव्य आनन्द मिलता है। जहाँ तक कर्मियों तथा विषयी लोगों की बात है वे भी भगवान् की लीलाओं यथा कुरुक्षेत्र में भगवान् द्वारा युद्ध करने तथा वृन्दावन में गोपियों के साथ नृत्य को सुनने में आनन्द ले सकते हैं।

उत्तमश्लोकगुणानुवाद शब्द भगवान् के दिव्य गुणों का द्योतक है यथा माता यशोदा तथा ग्वालों के प्रति उनका स्नेह तथा गोपियों के प्रति प्रेमभाव। भगवान् के भक्तों को भी उत्तमश्लोकगुणानुवाद की पदवी दी जाती है यथा महाराज युधिष्ठिर को। *अनुवाद* शब्द भगवान् या उनके भक्तों के गुणों के वर्णन का सूचक है। जब इन गुणों का वर्णन किया जाता है, तो अन्य भक्त भी उन्हें सुनने में रुचि दिखलाते हैं। जो इन दिव्य गुणों को सुनने में जितनी अधिक रुचि लेता है उसे उतना ही आनन्द प्राप्त होता है।

इसलिए *मुमुक्षों, विमुक्तों* तथा *कर्मियों* समेत हर एक को भगवान् की महिमा का कीर्तन और श्रवण करके लाभान्वित होना चाहिए।

यद्यपि भगवान् के दिव्य गुणों की ध्वनि सबको समान रूप से लाभप्रद होती है, किन्तु जो *मुक्त* हैं उन्हें यह विशेष रूप से प्रिय है। *श्रीमद्भागवत* (८.३.२०) में बतलाया गया है कि शुद्ध भक्त जिनकी भौतिक इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं और जो भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर लेते हैं, भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन एवं श्रवण करके आनन्दसागर में निरन्तर मग्न रहते हैं। इस श्लोक के अनुसार नारद तथा श्वेतद्वीप के अन्य निवासियों जैसे भक्त सदैव भगवन्नाम का कीर्तन करते देखे जाते हैं क्योंकि ऐसा करने से वे ब्राह्यत: तथा आन्तरिक रूप से आनन्दित रहते हैं। मुमुक्षगण जो मुक्त होना चाहते हैं, इन्द्रियों के सुख पर आश्रित नहीं रहते अपितु भगवन्नाम कीर्तन करके मुक्त होने पर ध्यान लगाए रहते हैं। कर्मीजन अपने कानों तथा हृदयों को अच्छे लगने वाले कार्य करना चाहते हैं, किन्तु कभी-कभी वे भी भगवान् का गुणानुवाद करना-सुनना चाहते हैं फिर भी वे इसे प्रत्यक्ष रूप में नहीं करते। किन्तु भक्तगण सदैव भगवान् के कार्यों का श्रवण, कीर्तन और स्मरण स्वेच्छा से करते हैं और इस तरह वे पूर्णत: सन्तुष्ट रहते हैं भले ही ये इन्द्रियतृप्ति के विषय दिखाई दें। परीक्षित महाराज तो भगवान् के कार्यकलापों की दिव्य कथाएँ सुनने मात्र से मुक्त हो गए। अत: वे *श्रोत्रमनोऽभिराम* थे अर्थात् उन्होंने श्रवण विधि को अपनाया। सारे जीवों को यही विधि अपनानी चाहिए।

इन दिव्य आनन्दों से विहीन व्यक्तियों को पृथक् करने के लिए परीक्षित महाराज ने *विरज्येत पुमान्* शब्दों का प्रयोग किया है। *पुमान्* किसी भी व्यक्ति का चाहे नर हो या नारी या इन दोनों के बीच का, सूचक है। देहात्मबुद्धि के कारण हम शोक करते हैं, किन्तु देहात्मबुद्धि से रहित व्यक्ति आध्यात्मिक श्रवण तथा कीर्तन में आनन्द का अनुभव करता है। इसलिए देहात्मबुद्धि में मग्न व्यक्ति आध्यात्मिक उन्नति न कर सकने के कारण निश्चय ही अपने आपको मारता रहता है। ऐसा व्यक्ति *पशुघ्न* कहलाता है। पशुओं के शिकारी(आखेटक) जो भगवान् के पवित्र नाम के श्रवण और कीर्तन में रुचि नहीं रखते, आध्यात्मिक जीवन से विलग रहते हैं। ऐसे आखेटक इस जीवन में और अगले जीवन में भी सदैव दुखी रहते हैं। इसीलिए कहा गया है कि आखेटक को न तो मरना चाहिए न ही जीवित रहना चाहिए क्योंकि मरना तथा जीना दोनों ही उसके लिए कष्टकारक होते हैं। ये पशु आखेटक सामान्य

कर्मियों से सर्वथा भिन्न होते हैं इसीलिए इन्हें श्रवण तथा कीर्तन विधि में सम्मिलित नहीं किया जाता। *विना पशुघ्नात्।* उन्हें भगवन्नाम के कीर्तन और श्रवण में कोई दिव्य आनन्द नहीं मिलता।

महारथ शब्द उस महावीर का सूचक है, जो १ ००० अन्य योद्धाओं से अकेले लड़ सकता है। श्लोक ५ में आया *अतिरथ* शब्द ऐसे व्यक्ति का सूचक है, जो असंख्य योद्धाओं से लड़ सकता है। *महाभारत* में इसका वर्णन इस प्रकार हुआ है—

एकादशोसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम्

अस्त्रशस्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृत:

अमितान् योधयेद्यस्तु सम्प्रोक्तोऽतिरथस्तु स:॥

श्रील सनातन गोस्वामी ने *वृहद् वैष्णवतोषणी* में यह विवरण दिया है।

माया-मनुष्यस्य (.१.१७)। योगमाया द्वारा आवृत होने के कारण (*नाहं प्रकाश: सर्वस्य योगमायासमावृत:*) कृष्ण कभी-कभी *मायामनुष्य* कहलाते हैं, जो यह बतलाता है कि भगवान् होते हुए भी वे सामान्य मनुष्य की तरह प्रकट होते हैं। चूँकि जनता की दृष्टि पर योगमाया का पर्दा पड़ा रहता है इसीलिए भ्रम उत्पन्न होता है। यद्यपि भगवान् सामान्य व्यक्ति की तरह उत्पन्न होते हैं, किन्तु उनका पद सामान्य व्यक्ति से सर्वथा भिन्न होता है। वे सदैव दिव्य हैं। *माया* शब्द कभी ''दया'' तो कभी ''ज्ञान'' को सूचित करता है। भगवान् समस्त दिव्य ज्ञान से पूर्ण रहते हैं अतएव मनुष्य की भाँति कर्म करते हुए भी वे ज्ञान से पूर्ण भगवान् होते हैं। उनका मूल स्वरूप माया के अधीक्षक (*मयाध्यक्षेण प्रकृति: सूयते सचराचरम्*) के रूप में होता है। इसीलिए भगवान् को एक सामान्य मनुष्य की भाँति कार्य करने के कारण *मायामनुष्य* कहा जा सकता है यद्यपि वे भौतिक और आध्यात्मिक दोनों शक्तियों के नियन्ता हैं। भगवान् पुरुषोत्तम हैं, किन्तु योगमाया द्वारा हमारे छले जाने के कारण वे सामान्य व्यक्ति की तरह प्रकट होते हैं। किन्तु अन्ततोगत्वा योगमाया अभक्त को भी प्रेरित करती है कि वह परम पुरुष को पुरुषोत्तम रूप में समझे। *भगवद्गीता* में भगवान् के दो कथन प्राप्य हैं। भक्तों के विषय में उनका कथन है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

''जो लोग निरन्तर मेरी भक्ति करते हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं उन्हें मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकें।'' *भगवद्गीता .*)। इस तरह चाहने वाले भक्त को भगवान् बुद्धि देते हैं जिससे वह उन्हें समझ सके और भगवद्धाम वापस जासके। अभक्तों के लिए भगवान् का कथन है—*मृत्यु: सर्वहरश्चाहम्*—मैं सब कुछ हरण करने वाली अनिवार्य मृत्यु हूँ। प्रह्लाद जैसा भक्त भगवान् नृसिंहदेव के कार्यकलापों में आनन्द पाता है और प्रह्लाद के पिता हिरण्यकशिपु जैसा अभक्त भगवान् नृसिंह के समक्ष मृत्यु को प्राप्त होता है। इसलिए भगवान् दो तरह से कार्य करते हैं कुछ को तो वे जन्म-मरण के चक्र में डाल देते हैं और कुछ को भगवद्धाम वापस भेज देते हैं।

काल शब्द का अर्थ ''काला'' है, जो भगवान् कृष्ण के रंग का सूचक है। भगवान् कृष्ण तथा रामचन्द्र दोनों ही श्याम रंग के दिखते हैं। वे अपने भक्तों को मुक्ति तथा दिव्य आनन्द प्रदान करते हैं। भौतिक शरीर धारण करने वाले कुछ व्यक्ति कभी-कभी इच्छामृत्यु भोगते हैं। ऐसे व्यक्ति के लिए मृत्यु असम्भव है क्योंकि कोई भी मरना नहीं चाहता। यद्यपि भीष्मदेव में यह शक्ति थी, किन्तु भगवान् की परम इच्छा से वे भगवान् के समक्ष बड़ी ही आसानी से मर गए। ऐसे अनेक असुर भी हो चुके हैं, जिन्हें मोक्ष की कोई आशा नहीं थी फिर भी भगवान् की परम इच्छा से कंस को मोक्ष मिला। कंस ही नहीं, पूतना को भी मोक्ष मिला और वह भगवान् की माता के समान पद प्राप्त कर सकी। इसीलिए परीक्षित महाराज उन भगवान् के विषय में सुनने के लिए अत्यधिक उत्सुक थे, जो अपने अचिन्त्य गुणों के द्वारा किसी को भी मुक्ति प्रदान कर सकते हैं। अपनी मृत्यु के निकट परीक्षित महाराज निश्चय ही अपनी मुक्ति के विषय में उत्सुक थे। जब भगवान् जैसा महान् मनुष्य अचिन्त्य गुणों से सम्पन्न होकर सामान्य मनुष्य की तरह व्यवहार करता है, तो उसका वह व्यवहार *माया* कहलाता है। इसीलिए भगवान् को *मायामनुष्य* कहा गया है। यह श्रील जीव गोस्वामी का मत है। *मु* सूचक है *मुक्ति* का और *कु* बुरे अर्थ में आता है। अत: *मुकु* भगवान् का सूचक है, जो मनुष्य को भौतिक संसार की बुरी स्थिति से बचाता है। भगवान् को *मुकुन्द* इसीलिए कहा गया है क्योंकि वे भक्त को न केवल भौतिक संसार से बचाते हैं अपितु उसे सेवा में दिव्य प्रेममय आनन्द प्रदान करते हैं।

केशव (क+ईश) में *क* का अर्थ है ब्रह्मा तथा *ईश* का अर्थ है शिवजी। भगवान् अपने दिव्य गुणों से ब्रह्मा तथा शिव दोनों का मन मोह लेते हैं इसीलिए वे केशव कहलाते हैं। यह मत श्रील सनातन

गोस्वामी ने ''वैष्णव तोषणी'' टीका में व्यक्त किया है।

कहा जाता है कि त्रिनयन अर्थात् शिव समेत सारे देवता क्षीर सागर के तट पर गए और *पुरुष-सूक्त* मंत्र द्वारा विष्णु की स्तुति की। इस कथन से पता चलता है कि देवता न तो क्षीरशायी विष्णु के पास सीधे जा सकते हैं न उनके धाम में प्रवेश कर सकते हैं। *महाभारत* के *मोक्षधर्म* तथा *श्रीमद्भागवत* के अगले अध्याय में भी यह स्पष्ट कहा गया है : भगवान् कृष्ण का धाम गोलोक में है (*गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य*)। भगवान् कृष्ण से उत्पन्न है चतुर्व्यूहसंकर्षण, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न तथा वासुदेव। ब्रह्माण्डों की संख्या अनन्त है और वे सब कारणोदकशायी विष्णु के रोमकूपों से उद्‌भूत होते हैं और हर ब्रह्माण्ड में एक गर्भोदकशायी विष्णु होता है, जो अनिरुद्ध का आंशिक विस्तार होता है। अनिरुद्ध अंश हैं प्रद्युम्न के, जो आंशिक क्षीरोदकशायी विष्णु हैं और सारे जीवों में परमात्मा के रूप में हैं। ये विष्णु अंश उन कृष्ण से भिन्न हैं, जो गोलोक वृन्दावन में निवास करते हैं। जब यह कहा जाता है कि देवताओं ने पुरुष सूक्त द्वारा भगवान् की स्तुति की तो इसका यही अर्थ होता है कि उन्होंने भक्तिमयी स्तुतियों के द्वारा भगवान् को प्रसन्न किया।

वृषाकपि शब्द उस व्यक्ति का सूचक है, जो अपने भक्तों को हर तरह से तुष्ट करता है और उन्हें सारी भौतिक चिन्ताओं से मुक्त करता है। *वृष* यज्ञ जैसे धार्मिक कृत्यों का सूचक है। भगवान् यज्ञ किए बिना ही स्वर्ग के सारे भोग प्राप्त कर सकते हैं। यह कथन कि पुरुषोत्तम या जगन्नाथ वसुदेव के घर में प्रकट होंगे, भगवान् को सामान्य पुरुषों से विभेदित करता है। उनका कथन कि वे स्वयं प्रकट हुए यह बतलाता है कि उन्होंने अपने अंश को नहीं भेजा। *प्रियार्थम्* शब्द सूचित करता है कि वे रुक्मिणी तथा राधारानी को प्रसन्न करने के लिए प्रकट हुए। *प्रिया* का अर्थ है, ''सर्वाधिक प्रिय।''

श्री वीरराघव आचार्य ने अपनी टीका में श्लोक २३ के बाद निम्नलिखित अतिरिक्त श्लोक स्वीकार किया है—

ऋषयोऽपि तदादेशात् कल्पयन्तां पशुरूपिण: ।

पयोदानमुखेनापि विष्णुं तर्पयितुं सुरा: ॥

''हे देवताओ! बड़े-बड़े मुनि तक विष्णु का आदेश पाकर भगवान् को दूध देकर प्रसन्न करने के लिए गौवों तथा बछड़ों के रूप में प्रकट हुए।''

रामानुजाचार्य कभी-कभी बलदेव को *शक्त्यावेश अवतार* स्वीकार करते हैं, किन्तु श्रील जीव गोस्वामी ने बतलाया है कि बलदेव कृष्ण के अंश हैं और बलदेव के भी अंश हैं संकर्षण। यद्यपि बलदेव तथा संकर्षण अभिन्न हैं, किन्तु बलदेव संकर्षण के उद्‌गम हैं। इसीलिए यह बताने के लिए कि बलदेव की स्वतंत्र सत्ता है, *स्वराट्* शब्द प्रयुक्त हुआ है। *स्वराट्* शब्द यह भी सूचित करता है कि बलदेव इस संसार की भौतिक कल्पना से परे हैं। माया उन्हें आकृष्ट नहीं कर सकती क्योंकि वे पूर्ण स्वतंत्र हैं और वे कहीं भी अपनी आत्मशक्ति से प्रकट हो सकते हैं। माया विष्णु के अधीन है। चूँकि भौतिक शक्ति तथा योगमाया भगवान् के प्राकट्य में घुलमिल जाती हैं अत: उन्हें *एकानंशा* कहा गया है। कभी-कभी *एकानंशा* का अर्थ "बिना अन्तर" लगाया जाता है। संकर्षण तथा शेषनाग अभिन्न हैं। यमुना देवी ने कहा है, "हे राम, हे संसार के महाभुज स्वामी! आपने अपने एक स्वांश से अपने को सारे विश्व में फैला दिया है। भला आपको कौन पूरी तरह समझ सकता है।" इसलिए *एकांशा* शेषनाग का द्योतक है। दूसरे शब्दों में, बलदेव अपने अंश से सारे विश्व को धारण करते हैं।

कार्यार्थे शब्द उस व्यक्ति का द्योतक है, जिसने देवकी के गर्भ को आकृष्ट किया तथा यशोदा माता को मोहित किया। ये लीलाएँ परम गुह्य हैं। भगवान् ने योगमाया को आदेश दिया कि वह उनके संगियों को लीलाओं में और कंस जैसे असुर को मोहित करे। जैसाकि पहले कहा जा चुका है—*योगमायां समादिशत्।* भगवान् की सेवा करने के लिए योगमाया महामाया के साथ प्रकट हुई। *महामाया* द्योतक है *यया सम्मोहितं जगत्*—"जो सारे भौतिक जगत को मोहित करने वाली है।" इस कथन से यह समझना चाहिए कि योगमाया अपने अंश रूप में महामाया बनती है और सारे बद्धजीवों को मोहती है। दूसरे शब्दों में, सम्पूर्ण सृष्टि के दो विभाग हैं दिव्य या आध्यात्मिक तथा भौतिक। योगमाया आध्यात्मिक जगत की व्यवस्था करती हैं और वह अपने अंश महामाया के रूप में इस भौतिक जगत का भार संभालती हैं। जैसा *नारद पञ्चरात्र* में कहा गया है महामाया अंश है योगमाया का। उस ग्रंथ में स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् के केवल एक शक्ति होती है, जो कभी-कभी दुर्गा कहलाती है। *ब्रह्म-संहिता* कहती है—*छायेव यस्य भुवनानिबिभर्ति दुर्गा।* दुर्गा योगमाया से भिन्न नहीं है। दुर्गा को भलीभाँति जान लेने पर मनुष्य तुरन्त ही मुक्त हो जाता है क्योंकि दुर्गा आदि ह्लादिनी शक्ति है, जिसकी कृपा से भगवान् को बहुत आसानी से जाना जा सकता है। *राधाकृष्ण प्रणयविकृतिर्ह्लादिनीशक्तिरस्माद्।*

महामाया शक्ति योगमाया की आवरण है इसीलिए उसे आवृता शक्ति कहा गया है। इसी आवृता शक्ति से सारा भौतिक जगत मोहित है (*यया सम्मोहितं जगत्*)। निष्कर्ष यह निकला कि बद्धजीवों को मोहित करना तथा भक्तों को मुक्ति देना ये दोनों कार्य योगमाया के हैं। देवकी के गर्भ का स्थानान्तरण और यशोदा को गहरी निद्रा में रखना ये दोनों कार्य योगमाया द्वारा किए गए। महामाया ऐसे भक्तों पर अपना असर नहीं दिखा सकती क्योंकि वे सदैव मुक्त रहते हैं। यद्यपि महामाया मुक्तात्माओं या भगवान् को अपने वश में नहीं कर सकती, किन्तु कंस को मोहित किया ही। योगमाया का स्वयं को कंस के सामने प्रस्तुत करना महामाया का कार्य था, योगमाया का नहीं। योगमाया कंस जैसे दूषित व्यक्ति को देख या छू भी नहीं सकती। *मार्कण्डेय पुराण* में चण्डी नामक ग्यारहवें अध्याय में महामाया कहती हैं, "वैवस्वत मनु के काल में अट्ठाइसवें युग में मैं यशोदा की पुत्री के रूप में जन्म लूँगी और विन्ध्याचलवासिनी के नाम से जानी जाऊँगी।"

इन दोनों मायाओं, योगमाया तथा महामाया का अन्तर इस प्रकार बतलाया जाता है। गोपियों के साथ कृष्ण की रासलीला करना तथा गोपियों द्वारा अपने पतियों, ससुरों तथा अन्य सम्बन्धियों से संभ्रमित होना ये सब योगमाया के काम थे जिनमें महामाया का कोई प्रभाव नहीं था। *श्रीमद्भागवत* में इसका पर्याप्त प्रमाण मिलता है जब यह स्पष्ट कहा जाता है *योगमायामुपाश्रित:।* दूसरी ओर साल्व आदि असुर तथा दुर्योधन जैसे क्षत्रिय थे, जो कृष्ण के वाहन गरुड़ तथा उनके विश्वरूप को देखकर भी भक्ति से विहीन थे और जो कृष्ण को भगवान् के रूप में समझ ही नहीं पाए। यह भी मोह था, किन्तु यह महामाया के कारण था। अत: जो माया मनुष्य को भगवान् से दूर खींच ले जाती है, वह *जड़माया* और दिव्य स्तर पर कार्य करने वाली माया योगमाया है। जब नन्द महाराज को वरुण ले गया तो उन्होंने कृष्ण का वैभव देखा, किन्तु तो भी उन्हें अपना पुत्र ही समझा। आध्यात्मिक जगत में इस तरह का वात्सल्य प्रेम योगमाया का कार्य है, जड़माया या महामाया का नहीं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का ऐसा मत है।

शूरसेनांश्च। कार्तवीर्यार्जुन का पुत्र शूरसेन था और जिन देशों में वह शासन चलाता था वे भी शूरसेन कहलाते थे। ऐसी टिप्पणी सनातन गोस्वामी कृत *वैष्णव तोषणी* टीका में है।

मथुरा के विषय में निम्नलिखित उद्धरण आया है—

मथ्यते तु जगत् सर्वं ब्रह्मज्ञानेन येन वा।

तत्सारभूतं यद्यस्यां मथुरा सा निगद्यते॥

जब कोई स्वरूपसिद्ध अपने दिव्य पद पर स्थित होकर कर्म करता है, तो उसका पद मथुरा कहलाता है। दूसरे शब्दों में, जब कोई व्यक्ति भक्तियोग की विधि से कर्म करता है, तो वह चाहे जहाँ रहे, किन्तु वास्तव में वह मथुरा-वृन्दावन में होता है। नन्द महाराज के पुत्र कृष्ण की भक्ति ही समस्त ज्ञान का सार है और ऐसा ज्ञान जहाँ भी प्रकट किया जाता है उस स्थान को मथुरा कहा जाता है। अपरंच, जब कोई व्यक्ति अन्य विधियों को छोड़कर भक्तियोग की स्थापना करता है, तो उसकी स्थिति मथुरा कहलाती है। *यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः*—जिस स्थान में भगवान् नित्य रहते हैं वह मथुरा कहलाता है। भगवान् नित्य हैं और उनका धाम नित्य है। *गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः।* यद्यपि भगवान् अपने धाम गोलोक वृन्दावन में नित्यवास करते हैं, किन्तु वे सर्वत्र पूर्ण रूप से विद्यमान रहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जब भगवान् इस विश्व पर अवतरित होते हैं, तो उनका आदि धाम रिक्त नहीं रहता क्योंकि वे अपने मूलधाम में रहते हुए मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या इत्यादि स्थानों में एकसाथ अवतरित हो सकते हैं। उन्हें अवतरित होने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती क्योंकि वे पहले से वहाँ विद्यमान रहते हैं। बस, उन्हें अपने आपको प्रकट करना होता है।

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को *तात* अर्थात् "प्रिय पुत्र" कहकर सम्बोधित किया है। अपने अंत:करण में वात्सल्य प्रेम होने के कारण ही शुकदेव गोस्वामी ने इस शब्द का प्रयोग किया है। चूँकि शीघ्र ही वसुदेव तथा देवकी के पुत्र रूप में कृष्ण उत्पन्न होने वाले थे इसलिए शुकदेव गोस्वामी ने वात्सल्य प्रेम के कारण महाराज परीक्षित को *तात* कहा है।

विश्वकोश में *गर्भ* शब्द की व्याख्या इस प्रकार है—*गर्भो भ्रूणे अर्भके कुक्षावित्यादि।* जब कंस देवकी को मारने वाला था, तो वसुदेव ने उसे रोकने के लिए *साम* तथा *भेद* कूटनीति का सहारा लिया। *साम* का अर्थ है "सान्त्वना देना।" वसुदेव ने कंस को सम्बन्ध, लाभ, कल्याण, पहचान तथा गुणानुवाद द्वारा सान्त्वना देनी चाही। इन पाँचों का सन्दर्भ *साम* के अन्तर्गत आता है। वसुदेव द्वारा इस जीवन तथा अगले जीवन में भय प्रस्तुत करना *भेद* था। इस तरह वसुदेव ने कंस को सान्त्वना देने के लिए साम तथा भेद का प्रयोग किया। कंस के गुणों की प्रशंसा करना गुणानुवाद था और भोजवंश का

उत्तराधिकारी कहना *सम्बन्ध* का द्योतक था। "तुम्हारी बहन" से पहचान का बोध कराना था। स्त्री की हत्या के उल्लेख से यश तथा कल्याण विषयक प्रश्न उठते हैं और विवाह के समय अपनी बहन की हत्या का पापपूर्ण कृत्य भय उत्पन्न करता है, जो *भेद* का एक पक्ष है। भोज वंश उन लोगों का द्योतक है, जो एकमात्र इन्द्रियतृप्ति में लगे रहते थे अतएव अधिक कुलीन नहीं थे। *भोज* का अन्य अर्थ है "युद्ध करना।" ये सभी कंस के अपयश के लक्षण थे। जब वसुदेव ने कंस को *दीनवत्सल* कहा तो यह अतिशय प्रशंसा थी। चूँकि कंस अपने गरीब राज्यों से कर के रूप में बछड़े लिया करता था इसलिए भी वह *दीनवत्सल* कहलाता था। वसुदेव को पता था कि वे बल-प्रयोग से देवकी को आसन्न संकट से नहीं बचा सकेंगे। देवकी वास्तव में कंस के चाचा की लड़की थी इसीलिए देवकी को *सुहृत्* अर्थात् "सम्बन्धी" कहा गया है। कहा जाता है कि कंस ने अपने निकट सम्बन्धी देवकी की हत्या इसीलिए नहीं की क्योंकि तब परिवार के अन्य सदस्यों में महान् युद्ध छिड़ जाता। कंस इस संकट से बचना चाह रहा था क्योंकि इससे अनेक लोगों की जानें चली जातीं।

पूर्व काल में कालनेमि नामक असुर के छह पुत्र हुए जिनके नाम थे हंस, सुविक्रम, क्राथ, दमन, रिपुर्मर्दन तथा क्रोधहन्ता। ये *षड्गर्भ* कहलाए। ये छहों समान बलशाली तथा युद्धकला में निपुण थे। इन छहों ने अपने बाबा हिरण्यकशिपु का साथ छोड़ दिया और ब्रह्मा को प्रसन्न करने के लिए कठिन तपस्या की। ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर मुँहमाँगा वर देने के लिए कहा। इस पर षड्गर्भों ने कहा, "हे ब्रह्माजी! यदि आप हमें वर देना ही चाहते हैं, तो हमें यह आशीर्वाद दीजिए कि हम किसी देवता, महारोग, यक्ष, गन्धर्वपति, सिद्ध, चारण या मनुष्य अथवा अपनी तपस्याओं में पूर्ण किसी भी महर्षि द्वारा मारे न जा सकें।" ब्रह्मा उनके मनोभाव जान गए अत: उन्होंने उनकी इच्छा पूरी कर दी। किन्तु जब हिरण्यकशिपु को इसका पता चला तो वह अपने पौत्रों पर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। उसने कहा, "मेरा साथ छोड़कर तुम लोग ब्रह्मा की पूजा करने गए। अत: अब मैं तुमसे नाता तोड़ता हूँ। तुम लोगों ने अपने आपको देवताओं से बचने का प्रयत्न किया है लेकिन मैं तुम लोगों को शाप देता हूँ कि तुम्हारा पिता कंस के रूप में जन्म लेगा और तुम छहों देवकी के गर्भ से उत्पन्न होने पर कंस द्वारा मारे जाओ। इसी शाप के कारण हिरण्यकशिपु के पौत्रों को देवकी के गर्भ से जन्म लेना पड़ा और कंस द्वारा उनका वध होना ही था, भले ही पूर्वजन्म में वह उनका पिता क्यों न रहा हो। यह वर्णन हरिवंश के विष्णुपर्व

के द्वितीय अध्याय में मिलता है। ''वैष्णवतोषणी'' टीका के अनुसार कीर्तिमान नामक देवकी का पुत्र तीसरा अवतार था। अपने पहले अवतार में वह मरीचि का पुत्र स्मर था, जो बाद में कालनेमि का पुत्र बना। पुराणों में इसका उल्लेख मिलता है।

श्रीमद्भागवत के इस अध्याय में मध्वाचार्य सम्प्रदाय द्वारा स्वीकृत जिसका प्रतिनिधित्व विजय ध्वज तीर्थ करते हैं, एक अतिरिक्त श्लोक मिलता है, जो इस प्रकार है—

अथ कंसं उपागम्य नारदो ब्रह्मनन्दन: ।

एकान्तमुपसंगम्य वाक्यमेतदुवाच ह ॥

अथ—इस प्रकार; **कंसम्**—कंस के पास; **उपागम्य**—जाकर; **नारद:**—महामुनि नारद; **ब्रह्मनन्दन:**—ब्रह्माजी के पुत्र; **एकान्तमुपसंगम्य**—एकान्त स्थान में जाकर; **वाक्यम्**—सूचना; **एतत्**—यह; **उवाच**—कहा; **ह**—निश्चित रूप से।

''तत्पश्चात् ब्रह्मा के मानस पुत्र नारद कंस के पास गये और एकान्त स्थान में उन्होंने उसे निम्नलिखित जानकारी दी।''

महान् मुनि नारद स्वर्ग से मथुरा आए और उन्होंने कंस के पास अपना दूत भेजा। जब दूत ने कंस के पास जाकर नारद के आने की जानकारी दी तो असुरों का मुखिया कंस अत्यन्त प्रसन्न हुआ और वह तुरन्त ही उनके स्वागतार्थ अपने महल से बाहर आया। नारद मुनि सूर्य जैसे तेजस्वी थे, अग्नि जैसे शक्तिशाली थे और सभी प्रकार के पाप-कृत्यों से रहित थे। कंस ने अतिथि के रूप में सत्कार करते हुए उन्हें सादर नमस्कार किया और सूर्य सदृश देदीप्यमान सोने के सिंहासन पर बिठाया। नारद स्वर्ग के राजा के मित्र थे अतएव उन्होंने उग्रसेन के पुत्र कंस से कहा, ''हे शूरवीर! मैं तुम्हारे आतिथ्य से प्रसन्न हूँ अतएव मैं तुमसे कुछ गुप्त बातें कहूँगा। जब मैं नन्दन कानन के चैत्ररथ जंगल से होकर यहाँ आ रहा था, तो मैंने देवताओं की एक विशाल सभा देखी और ये देवता मेरे साथ सुमेरु पर्वत तक आए। हम अनेक तीर्थस्थलों में गए और अन्त में हमने पवित्र गंगा नदी का दर्शन किया। जब ब्रह्माजी अन्य देवताओं के साथ सुमेरु पर्वत पर मंत्रणा कर रहे थे तो मैं भी अपनी वीणा के साथ वहाँ उपस्थित था। मैं तुम्हें गुप्त रूप से बतलाऊँगा कि यह सभा तुम समेत सारे असुरों को मार डालने की योजना बनाने के लिए की गई थी। तुम्हारी छोटी बहन देवकी है न! और यह तथ्य है कि उसका आठवाँ पुत्र तुम्हारा वध करेगा। (*हरिवंश, विष्णु पर्व,* १.२१६)

नारद पर कोई यह दोषारोपण नहीं कर सकता कि उन्होंने देवकी के पुत्रों का वध करने के लिए

कंस को प्रोत्साहित किया। नारद मुनि तो मानव समाज के सतत् शुभचिन्तक हैं। वे चाहते थे कि जितनी जल्दी हो सके, कृष्ण इस धरा पर अवतरित हों जिससे देवताओं का समाज प्रसन्न हो और कंस तथा उसके मित्रों का कृष्ण द्वारा वध देखें। कंस को भी अपने कुकृत्यों से मोक्ष प्राप्त हो सके। इससे देवताओं तथा उनके अनुयायियों को परम प्रसन्नता होगी। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टिप्पणी है कि नारदमुनि कभी-कभी ऐसे कार्य करते थे, जो देवताओं तथा असुरों को एक साथ लाभप्रद होते थे। इस प्रसंग में श्री वीरराघव आचार्य ने अपनी टीका में निम्नलिखित आधा श्लोक सम्मिलित किया है—

असुरा: सर्व एवैत लोकोपद्रवकारिण:

असुरगण सदा-सदा ही मानव समाज के लिए उपद्रवी तत्त्व रहे हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार:परिचय'' नामक प्रथम अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दो

देवताओं द्वारा गर्भस्थ कृष्ण की स्तुति

इस अध्याय में बताया गया है कि कंस का वध करने के लिए जब भगवान् ने देवकी के गर्भ में प्रवेश किया, तो सारे देवता समझ गये कि भगवान् देवकी के गर्भ में वास कर रहे हैं अत: देवताओं उनके सम्मान में *गर्भस्तुति* की।

कंस अपने ससुर जरासंध के संरक्षण में प्रलम्ब, बक, चाणूर, तृणावर्त, अघासुर, मुष्टिक, बाण तथा भौमासुर जैसे असुर मित्रों की सहायता से यदुवंशियों को सताने लगा। इसलिए यदुवंशी अपने अपने घर छोड़ कर कुरु, पञ्चाल, केकय, शाल्व तथा विदर्भ जैसे राज्यों की शरण में चले गये। उनमें से कुछ ही, जो नाममात्र के मित्र थे, कंस के साथ रहते रहे।

जब कंस ने एक एक करके देवकी के छ: पुत्रों (*षड्गर्भ*) को मार डाला तो अनन्तदेव ने देवकी के गर्भ में प्रवेश किया और भगवान् के आदेश का पालन करने वाली योगमाया की युक्ति से वे रोहिणी के गर्भ में स्थानान्तरित कर दिये गये। देवकी के आठवें पुत्र के रूप में शीघ्र प्रकट होने वाले स्वयं

भगवान् ने योगमाया को आदेश दिया कि वह यशोदादेवी के गर्भ से जन्म ले। चूँकि कृष्ण तथा उनकी शक्ति योगमाया एकसाथ भाई-बहन के रूप में प्रकट हुए इसलिए यह संसार वैष्णवों तथा शाक्तों से परिपूर्ण है और उनके बीच निश्चय ही कुछ प्रतिद्वन्द्विता है। वैष्णव जन परमेश्वर की पूजा करते हैं और शाक्तगण योगमाया की पूजा अपनी अपनी इच्छा के अनुसार दुर्गा, भद्रकाली तथा चण्डिका जैसे रूपों में करते हैं। योगमाया ने भगवान् के आदेशानुसार देवकी के सातवें पुत्र बलदेव या संकर्षण को देवकी के गर्भ से रोहिणी के गर्भ में स्थानान्तरित कर दिया। चूँकि संकर्षण कृष्ण के प्रेम को बढ़ाने के लिए प्रकट होते हैं इसलिए वे बलदेव कहलाते हैं। भगवद्‌भक्त बनने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह इन्हीं से शुभ शक्ति ग्रहण करे इसीलिए वे बलभद्र भी कहलाते हैं।

जब योगमाया ने देवकी की सातवीं सन्तान को रोहिणी के गर्भ में स्थानान्तरित कर दिया तो वसुदेव के हृदय में स्वंय भगवान् प्रकट हुए और तब अपने को देवकी के हृदय में स्थानान्तरित कर लिया। चूँकि भगवान् देवकी के हृदय में उपस्थित थे अत: ज्यों-ज्यों गर्भ की अवधि बढ़ती गई त्यों-त्यों देवकी तेजवान प्रतीत होने लगीं। इस तेज को देखकर कंस चिन्तित था किन्तु पारिवारिक सम्बन्ध के कारण देवकी को नुकसान नहीं पहुँचा सकता था। इस तरह वह कृष्ण के विषय में अप्रत्यक्ष रूप से सोचने लगा और पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हो गया।

इसी बीच में देवकी के गर्भ में भगवान् की उपस्थिति के कारण सारे देवता उनकी स्तुति करने आये। उन्होंने कहा कि भगवान् परम सत्य हैं। आत्मा स्थूल शरीर की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है और परमात्मा आत्मा से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। भगवान् परम स्वतंत्र हैं और उनके अवतार दिव्य हैं। देवताओं की स्तुतियाँ भक्तों की महिमा को द्योतित करती हैं और उन व्यक्तियों के भाग्य का बखान करती हैं, जो अपने को भौतिक प्रकृति की परिस्थितियों से ऊपरी तौर पर मुक्त मानते हैं। भक्त सदैव सुरक्षित रहते हैं। जब भक्त भगवान् के चरणकमलों पर पूरी तरह शरण ले लेता है, तो वह भौतिक संसार के भय से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। देवताओं की स्तुतियाँ भगवान् के अवतरित होने के कारण को बतलाती हैं। वे *भगवद्‌गीता* (४.७) में भगवान् के कथन की पुष्टि करती हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम॥

“हे भरतवंशी! जब जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म का प्राधान्य होने लगता है तब तब मैं अवतार लेता हूँ।”

श्रीशुक उवाच

प्रलम्बबकचाणूरतृणावर्तमहाशनैः ।
मुष्टिकारिष्टद्विविदपूतनाकेशीधेनुकैः ॥ १ ॥
अन्यैश्चासुरभूपालैर्बाणभौमादिभिर्युतः ।
यदूनां कदनं चक्रे बली मागधसंश्रयः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; प्रलम्ब—प्रलम्ब नामक असुर; बक—बक नामक असुर; चाणूर—चाणूर नामक असुर; तृणावर्त—तृणावर्त नामक असुर; महाशनैः—अघासुर द्वारा; मुष्टिक—मुष्टिक नामक असुर; अरिष्ट—अरिष्ट असुर; द्विविद—द्विविद असुर जैसे; पूतना—पूतना; केशी—केशी; धेनुकैः—धेनुक द्वारा; अन्यैः च—तथा अन्यों द्वारा; असुर-भूपालैः—पृथ्वी पर असुर राजाओं द्वारा; बाण—बाण असुर; भौम—भौमासुर; आदिभिः—इत्यादि के द्वारा; युतः—से सहायता प्राप्त करके; यदूनाम्—यदुवंश के राजाओं का; कदनम्—उत्पीड़न; चक्रे—किया; बली—अत्यन्त शक्तिशाली; मागध-संश्रयः—मगध के राजा जरासन्ध के संरक्षण में।.

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : मगधराज जरासंध के संरक्षण में शक्तिशाली कंस द्वारा यदुवंशी राजाओं को सताया जाने लगा। इसमें उसे प्रलम्ब, बक, चाणूर, तृणावर्त, अघासुर, मुष्टिक, अरिष्ट, द्विविद, पूतना, केशी, धेनुक, बाणासुर, नरकासुर तथा पृथ्वी के अनेक दूसरे असुर राजाओं का सहयोग प्राप्त था।

तात्पर्य : इस श्लोक से *भगवद्गीता* (४.७-८) में आये भगवान् के निम्नलिखित कथन की पुष्टि होती है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

“हे भरतवंशी! जब जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म की प्रधानता हो जाती है तब तब मैं अवतार लेता हूँ। मैं पुण्यात्माओं का उद्धार करने, दुष्टों का विनाश करने एवं धर्म की फिर से स्थापना करने के लिए युग-युग में अवतरित होता हूँ।”

इस भौतिक जगत का पालन करने के पीछे भगवान् का उद्देश्य है कि वे हर एक को भगवद्धाम

वापस जाने का अवसर प्रदान करें किन्तु दुर्भाग्यवश राजा तथा राजनेता भगवान् के उद्देश्य में बाधक बनते हैं। अत: सबकुछ ठीक करने के लिए भगवान् स्वयं या अपने अंशों के साथ प्रकट होते हैं। इसीलिए कहा गया है—

गर्भं संचार्य रोहिण्यां देवक्या योगमायया।

तस्या: कुक्षिं गत: कृष्णो द्वितीयोविबुधै स्तुत: ॥

''योगमाया की शक्ति से बलदेव को रोहिणी के गर्भ में स्थानान्तरित करने के बाद कृष्ण देवकी के गर्भ में प्रकट हुए।'' *यदुभि: स व्यरुध्यत।* यदुवंशी सारे राजा भक्त थे किन्तु शाल्व जैसे अनेक शक्तिशाली असुर उन्हें सताने लगे। उस समय कंस का श्वसुर जरासन्ध अत्यधिक शक्तिशाली था अत: कंस ने यदुवंशी राजाओं को सताने में उसके संरक्षण का तथा असुरों की सहायता का लाभ उठाया। ये असुर स्वभावत: देवताओं की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली प्रतीत होते थे किन्तु अन्तत: भगवान् से सहायता प्राप्त होने से ये असुर पराजित हो गये और देवता विजयी रहे।

ते पीडिता निविविशु: कुरुपञ्चालकेकयान् ।
शाल्वान्विदर्भान्निषधान्विदेहान्कोशलानपि ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ते—यदुवंशी राजा; पीडिता:—सताये हुए; निविविशु:—राज्यों में घुस आये; कुरु-पञ्चाल—कुरुओं तथा पंचालों द्वारा अधिकृत देशों में; केकयान्—केकयों के देश; शाल्वान्—शाल्वों द्वारा अधिकृत देश; विदर्भान्—विदर्भों द्वारा अधिकृत देश; निषधान्—निषधों द्वारा अधिकृत देश; विदेहान्—विदेहों का देश; कोशलान् अपि—कोशलों द्वारा अधिकृत देशों में भी।

असुर राजाओं द्वारा सताये जाने पर यादवों ने अपना राज्य छोड़ दिया और कुरुओं, पञ्चालों, केकयों, शाल्वों, विदर्भों, निषधों, विदेहों तथा कोशलों के राज्य में प्रविष्ट हुए।

एके तमनुरुन्धाना ज्ञातय: पर्युपासते ।
हतेषु षट्सु बालेषु देवक्या औग्रसेनिना ॥ ४॥
सप्तमो वैष्णवं धाम यमनन्तं प्रचक्षते ।
गर्भो बभूव देवक्या हर्षशोकविवर्धन: ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

एके—कुछ; तम्—उस कंस को; अनुरुन्धाना:—अपनी नीति का पालन करने वाले; ज्ञातय:—सम्बन्धीजन; पर्युपासते—उसकी हाँ में हाँ मिलाने लगे; हतेषु—मारे जाकर; षट्सु—छ:; बालेषु—बालक; देवक्या:—देवकी द्वारा उत्पन्न; औग्रसेनिना—उग्रसेन के पुत्र (कंस) द्वारा; सप्तम:—सातवाँ; वैष्णवम्—भगवान् विष्णु के; धाम—अंश; यम्—जिसको; अनन्तम्—अनन्त नाम से; प्रचक्षते—विख्यात है; गर्भ:—गर्भ; बभूव—था; देवक्या:—देवकी का; हर्ष-शोक-विवर्धन:—एकसाथ हर्ष तथा शोक को बढ़ाने वाला।

किन्तु उनके कुछ सम्बन्धी कंस के इशारों पर चलने लगे और उसकी नौकरी करने लगे। जब उग्रसेन का पुत्र कंस देवकी के छह पुत्रों का वध कर चुका तो देवकी के गर्भ में कृष्ण का स्वांश प्रविष्ट हुआ जिससे उसमें कभी सुख की तो कभी दुख की वृद्धि होती। यह स्वांश महान् मुनियों द्वारा अनन्त नाम से जाना जाता है और कृष्ण के द्वितीय चतुर्व्यूह से सम्बन्धित है।

तात्पर्य : कुछ प्रमुख भक्तगण, यथा अक्रूर कंस के साथ उसकी तुष्टि के लिए रहते रहे। ऐसा उन्होंने कई उद्देश्यों से किया। उन सबों को आशा थी कि कंस द्वारा देवकी के अन्य पुत्रों के वध के पश्चात् आठवें पुत्र के रूप में भगवान् प्रकट होंगे अत: वे उत्सुकतापूर्वक उनके प्राकट्य की प्रतीक्षा करने लगे। कंस के साथ रहने से वे भगवान् को जन्म लेते तथा बाललीलाएँ करते देख सकेंगे और बाद में अक्रूर कृष्ण तथा बलराम को वृन्दावन से मथुरा ले जाने के लिए जाएँगे। *पर्युपासते* शब्द महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह सूचित करता है कि कुछ भक्त कंस के पास इसीलिए रुकना चाहते थे कि वे भगवान् की इन सब लीलाओं को देख सकें। कंस ने जिन छह बालकों का वध किया था वे पूर्वजन्म में मरीचि के पुत्र थे किन्तु एक ब्राह्मण के शापवश उन्हें हिरण्यकशिपु के नातियों के रूप में जन्म लेना पड़ा। कंस ने कालनेमि के रूप में जन्म लिया था और अब वह अपने ही पुत्रों को मारने के लिए विवश था। यही वह रहस्यपूर्ण बात थी। ज्योंही देवकी के पुत्र मारे जाते, वे अपने मूल स्थान लौट जाते। भक्तगण इसे भी देखना चाहते थे। सामान्यतया कोई भी व्यक्ति अपने भांजों को नहीं मारता किन्तु कंस इतना क्रूर था कि बिना किसी झिझक के ऐसा करता था। अनन्त या संकर्षण द्वितीय चतुर्व्यूह से सम्बन्धित हैं। यह अनुभवी टीकाकारों का मत है।

भगवानपि विश्वात्मा विदित्वा कंसजं भयम् ।
यदूनां निजनाथानां योगमायां समादिशत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—श्रीकृष्ण ने; अपि—भी; विश्वात्मा—हर एक का परमात्मा; विदित्वा—यदुओं तथा उनके अन्य भक्तों की स्थिति जानकर; कंस-जम्—कंस के कारण; भयम्—डर; यदूनाम्—यदुओं के; निज-नाथानाम्—अपने परम आश्रय स्वरूप; योगमायाम्—कृष्ण की आध्यात्मिक शक्ति योगमाया को; समादिशत्—आदेश दिया।

कंस के आक्रमण से अपने निजी भक्त, यदुओं, की रक्षा करने के लिए विश्वात्मा भगवान् ने योगमाया को इस प्रकार आदेश दिया।

तात्पर्य : श्रील सनातन गोस्वामी ने *भगवान् अपि विश्वात्मा विदित्वा कंसजं भयम्* की टीका इस

प्रकार की है। भगवान् स्वयम् श्रीकृष्ण हैं। *कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।* वे विश्वात्मा हैं क्योंकि उनका स्वांश परमात्मा के रूप में विस्तार करता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१३.३) से होती है। *क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।* भगवान् कृष्ण सभी जीवों के *क्षेत्रज्ञ* अर्थात् परमात्मा हैं। वे भगवान् के समस्त अंशों के आदि उद्गम हैं। विष्णु के लाखों अंश हैं यथा संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा वासुदेव किन्तु इस भौतिक जगत में विश्वात्मा तो क्षीरोदकशायी विष्णु हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६१) में कहा गया है—*ईश्वरः सर्वभूतेषु हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*—हे अर्जुन! परमेश्वर समस्त जीवों के हृदय में स्थित हैं। अपने अंश *विष्णुतत्त्व* के रूप में कृष्ण वस्तुतः विश्वात्मा हैं फिर भी अपने भक्तों के स्नेहवश वे उन्हें निर्देश देने के लिए परमात्मा का कार्य करते हैं (*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*)।

परमात्मा के कार्य क्षीरोदकशायी विष्णु से सम्बन्धित होते हैं किन्तु कृष्ण ने अपनी भक्त देवकी पर कृपा की क्योंकि वे जानते थे कि कंस द्वारा सतायी जाने के कारण देवकी डरी हुई है। शुद्ध भक्त भौतिक अस्तित्व से सदैव डरता रहता है। कोई यह नहीं जानता कि आगे क्या होगा क्योंकि उसे किसी भी क्षण अपना शरीर बदलना पड़ सकता है (*तथा देहान्तर-प्राप्तिः*)। यह जानकर शुद्ध भक्त इस तरह कार्य करता है कि कहीं उसे दूसरा शरीर धारण करके संसार के कष्ट न भोगने पड़ें जिससे उसका जीवन दूषित हो जाए। यही *भयम्* अर्थात् डर है। *भयं द्वितीयाभिनिवेशतःस्यात्* (*भागवत* ११.२.३७)। यह भय संसार के कारण है। ठीक ठीक कहें तो हर एक को इस संसार से सतर्क और भयभीत रहना चाहिए। इस तरह संसार को न जानने से हर व्यक्ति प्रभावित होता है किन्तु भगवान् कृष्ण अपने भक्तों की रक्षा के लिए सदैव सतर्क रहते हैं। अपने भक्तों की रक्षा करने के लिए कृष्ण अपने भक्तों के प्रति इतने दयालु तथा वत्सल हैं कि वे उन्हें बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वे उन्हें एक क्षण भी भुलाये बिना भौतिक जगत में रहते रहें। भगवान् ने *भगवद्गीता* (.११) में कहा है—

तेषां एवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

‘‘मैं उन पर कृपा के कारण उनके हृदयों में रहकर ज्ञान रूपी दीपक से अज्ञान से उत्पन्न अंधकार को दूर करता हूँ।’’

योग शब्द का अर्थ है "कड़ी"। कोई भी योग पद्धति भगवान् से अपने टूटे सम्बन्ध को पुन: जोड़ने का प्रयास है। योग के अनेक भेद हैं जिनमें से *भक्तियोग* सर्वश्रेष्ठ है। अन्य योग पद्धतियों में सिद्धि के पूर्व विविध प्रकार की विधियाँ अपनानी पड़ती हैं किन्तु भक्तियोग तो प्रत्यक्ष होता है। *भगवद्गीता* (६.४७) में भगवान् कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मत: ॥

"समस्त योगियों में से जो योगी श्रद्धापूर्वक मेरी पूजा करते हुए मुझमें निष्ठा रखता है, वह योग में मुझसे भलीभाँति जुड़ा रहता है और वही सर्वोच्च है।" भक्तियोगी के लिए अगले जन्म में मनुष्य-शरीर मिलना निश्चित है जैसाकि कृष्ण ने कहा है (*शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते*)। *योगमाया* भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति है। भगवान् अपने भक्तों पर स्नेह के कारण निरंतर उनके सम्पर्क में रहते हैं अन्यथा उनकी *माया* शक्ति इतनी प्रबल है कि वह ब्रह्मा जैसे बड़े बड़े देवताओं को भी मोहित कर देती है। अत: भगवान् की शक्ति योगमाया कहलाती है। चूँकि भगवान् विश्वात्मा हैं अतएव उन्होंने योगमाया को आदेश दिया कि वह देवकी की रक्षा करे।

गच्छ देवि व्रजं भद्रे गोपगोभिरलङ्कृतम् ।
रोहिणी वसुदेवस्य भार्यास्ते नन्दगोकुले ।
अन्याश्च कंससंविग्ना विवरेषु वसन्ति हि ॥ ७॥

शब्दार्थ

गच्छ—अब जाओ; देवि—हे समस्त जगत की पूज्या; व्रजम्—व्रज भूमि में; भद्रे—हे समस्त जीवों का कल्याण करनेवाली; गोप-गोभि:—ग्वालों तथा गायों के साथ; अलङ्कृतम्—अलंकृत, सज्जित; रोहिणी—रोहिणी; वसुदेवस्य—कृष्ण के पिता वसुदेव की; भार्या—पत्नियों में से एक; आस्ते—रह रही है; नन्द-गोकुले—गोकुल नाम से विख्यात महाराज नन्द के राज्य में जहाँ लाखों गायें पाली जाती हैं; अन्या: च—तथा अन्य पत्नियाँ; कंस-संविग्ना:—कंस के भय से; विवरेषु—एकान्त स्थानों में; वसन्ति—रह रही हैं; हि—निस्सन्देह।

भगवान् ने योगमाया को आदेश दिया: हे समस्त जगत द्वारा पूज्या तथा समस्त जीवों को सौभाग्य प्रदान करने वाली शक्ति, तुम व्रज जाओ जहाँ अनेक ग्वाले तथा उनकी पत्नियाँ रहती हैं। उस सुन्दर प्रदेश में जहाँ अनेक गौवें निवास करती हैं, वसुदेव की पत्नी रोहिणी नन्द महाराज के घर में रह रही हैं। वसुदेव की अन्य पत्नियाँ भी कंस के भय से वहीं अज्ञातवास कर रही हैं। कृपा करके वहाँ जाओ।

तात्पर्य : राजा नन्द का आवास नन्दगोकुल स्वयं अत्यन्त सुन्दर था और जब योगमाया को वहाँ जाकर भक्तों को अभय प्रदान करने के लिए आदेश दिया गया तो यह और भी सुन्दर तथा सुरक्षित हो गया। चूँकि योगमाया में ऐसा वातावरण उत्पन्न करने की क्षमता थी इसलिए उसे नन्दगोकुल के यहाँ जाने का आदेश दिया गया।

देवक्या जठरे गर्भं शेषाख्यं धाम मामकम् ।
तत्सन्निकृष्य रोहिण्या उदरे सन्निवेशय ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

देवक्याः—देवकी के; जठरे—गर्भ में; गर्भम्—भ्रूण; शेष-आख्यम्—कृष्ण के अंश, शेष नाम से विख्यात; धाम—अंश; मामकम्—मेरा; तत्—उसको; सन्निकृष्य—निकाल करके; रोहिण्याः—रोहिणी के; उदरे—गर्भ के भीतर; सन्निवेशय—बिना कठिनाई के स्थानान्तरित करो।

देवकी के गर्भ में संकर्षण या शेष नाम का मेरा अंश है। तुम उसे बिना किसी कठिनाई के रोहिणी के गर्भ में स्थानान्तरित कर दो।

तात्पर्य : कृष्ण के प्रथम अंश बलदेव हैं, जो शेष भी कहलाते हैं। भगवान् का शेष अवतार सारे ब्रह्मांड को धारण करता है और इस अवतार की शाश्वत माता हैं माता रोहिणी। भगवान् ने योगमाया से कहा, ''चूँकि मैं देवकी के गर्भ में जा रहा हूँ अतः शेष अवतार पहले ही वहाँ पहुँच चुके हैं और उन्होंने वहाँ मेरे रहने की पूरी व्यवस्था कर दी है। अब उन्हें अपनी माता रोहिणी के गर्भ में प्रवेश करना चाहिए।''

इस सम्बन्ध में कोई पूछ सकता है कि भगवान् जो सदैव दिव्य रूप में स्थित हैं, किस तरह देवकी के उस गर्भ में प्रवेश पा सके जिसमें पहले ही छह असुर (*षड्गर्भ*) वास कर चुके थे। तो क्या इसका यह अर्थ हुआ कि ये षड्गर्भासुर भगवान् के दिव्य शरीर के तुल्य थे? इसका उत्तर श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने दिया है, जो इस प्रकार है—

समग्र सृष्टि तथा इसके व्यष्टि अंश भी भगवान् की शक्ति के विस्तार हैं। इसलिए भौतिक जगत में भगवान् प्रवेश करके भी ऐसा नहीं करते। इसकी व्याख्या भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* (९.४-५) में की है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।

भूत-भृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

"यह समग्र ब्रह्माण्ड मेरे अप्रकट रूप में मुझसे व्याप्त है। सारे जीव मुझमें हैं किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ। फिर भी हर सृजित वस्तु मुझमें टिकी नहीं है। मेरे योग-ऐश्वर्य को तो देखो! यद्यपि मैं सारे जीवों का पालक हूँ और सर्वत्र रहता हूँ किन्तु मेरी आत्मा सृष्टि का उद्‌गम है।" *सर्वं खल्विदं ब्रह्म।* हर वस्तु ब्रह्म अर्थात् भगवान् का अंश है फिर भी हर वस्तु ईश्वर नहीं है और ईश्वर सर्वत्र हैं भी नहीं। हर वस्तु उन पर टिकी है और नहीं भी टिकी है। इसे केवल *अचिन्त्य भेदाभेद* दर्शन द्वारा समझाया जा सकता है। फिर भी ऐसे सत्य को शुद्ध भक्त के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं समझ सकता क्योंकि *भगवद्‌गीता* (१८.५५) में भगवान् कहते हैं—*भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः*—भगवान् को उनके असली रूप में केवल भक्ति द्वारा समझा जा सकता है। यद्यपि सामान्य व्यक्ति भगवान् को नहीं समझ सकते किन्तु इस सिद्धान्त को शास्त्रों के कथन से समझा जा सकता है।

शुद्ध भक्त भक्तियोग की नौ विभिन्न विधियाँ सम्पन्न करके (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद-सेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्*) दिव्य पद पर आसीन रहता है। इस तरह भक्ति को प्राप्त भक्त इस भौतिक जगत में रहते हुए भी उसमें नहीं रहता। इतने पर भी भक्त सदा डरता रहता है कि भौतिक जगत से सान्निध्य होने से उसे अनेक कल्मष प्रभावित कर सकते हैं। इसलिए वह सदैव भय के कारण चौकन्ना रहता है, जिससे उसका भौतिक सान्निध्य क्रमशः घटता जाता है।

प्रतीक रूप में माता देवकी का कंस से निरन्तर डरना उन्हें शुद्ध बना रहा था। शुद्ध भक्त को सदैव भौतिक सान्निध्य से डरते रहना चाहिए। इससे भौतिक सान्निध्य में रहनेवाले सारे असुरों का वध हो जाएगा जिस तरह कंस के द्वारा षड्‌गर्भासुरों का वध हुआ था। ऐसा कहा जाता है कि मरीचि मन से प्रकट होता है। दूसरे शब्दों में, मरीचि मन का अवतार है। मरीचि के छह पुत्र हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य। भगवान् शुद्ध भक्ति से प्रकट होते हैं। इसकी पुष्टि वेदों द्वारा हुई है—*भक्तिरेवैनं दर्शयति।* केवल भक्ति से ही मनुष्य को भगवान् का सान्निध्य प्राप्त हो सकता है। भगवान् देवकी के गर्भ से प्रकट हुए इसलिए देवकी भक्ति की प्रतीक हैं और कंस भौतिक भय का प्रतीक है। जब भक्त भौतिक सान्निध्य से डरता रहता है, तो उसका असली पद—भक्ति—प्रकट होता है, जिससे उसमें

भौतिक भोग के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है। जब मरीचि के छहों पुत्रों का ऐसे भय द्वारा वध हो जाता है और मनुष्य भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है, तो भक्ति के गर्भ से भगवान् उत्पन्न होते हैं। इस तरह देवकी का सातवाँ गर्भ भगवान् के प्राकटय को सूचित करता है। जब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्य—ये छह पुत्र मार डाले जाते हैं, तो भगवान् के प्राकट्य हेतु शेष अवतार उपयुक्त परिस्थिति उत्पन्न करता है। दूसरे शब्दों में, जब मनुष्य में उसकी सहज कृष्णचेतना जागृत होती है, तो भगवान् कृष्ण प्रकट होते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने यही व्याख्या की है।

अथाहमंशभागेन देवक्याः पुत्रतां शुभे ।
प्राप्स्यामि त्वं यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; अहम्—मैं; अंश-भागेन—अपने अंश द्वारा; देवक्याः—देवकी का; पुत्रताम्—पुत्र; शुभे—हे कल्याणी योगमाया; प्राप्स्यामि—बनूँगा; त्वम्—तुम; यशोदायाम्—माता यशोदा के गर्भ में; नन्द-पत्न्याम्—महाराज नन्द की पत्नी; भविष्यसि—तुम भी प्रकट होगी।

हे सर्व-कल्याणी योगमाया, तब मैं अपने छहों ऐश्वर्यों से युक्त होकर देवकी के पुत्र रूप में प्रकट होऊँगा और तुम महाराज नन्द की महारानी माता यशोदा की पुत्री के रूप में प्रकट होगी।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अंश-भागेन* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *भगवद्गीता* (.४२) में भगवान् कहते हैं—

अथवा बहुनैतेन किम् ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

"लेकिन हे अर्जुन! इस विस्तृत ज्ञान की क्या आवश्यकता है? मैं अपने एक अंश से ही इस सारे विश्व में व्याप्त हूँ और इसको धारण करता हूँ।" भगवान् की शक्ति के अंश रूप में ही हर वस्तु है। देवकी के गर्भ में भगवान् कृष्ण के आने के लिए ब्रह्मा ने भूमिका निभाई क्योंकि उन्होंने क्षीरसागर के तट पर भगवान् से प्रार्थना की कि वे प्रकट हों। भगवान् के प्रथम अंश बलदेव ने भी भूमिका निभाई। इसी तरह यशोदा की पुत्री रूप में उत्पन्न योगमाया ने भी भूमिका निभाई। इस तरह से *जीवतत्त्व, विष्णुतत्त्व* तथा *शक्तितत्व*—ये तीनों भगवान् से मिल गये और जब कृष्ण प्रकट होते हैं, तो अपने इन संयुक्त अंशों के समेत प्रकट होते हैं। जैसाकि पिछले श्लोकों में बतलाया जा चुका है योगमाया से कहा गया कि वह देवकी के गर्भ से संकर्षण, बलदेव, को निकाल करके रोहिणी के गर्भ में

स्थानान्तरित करे और यह उसके लिए भारी कार्य था। वह समझ ही नहीं पा रही थी कि संकर्षण को किस तरह खींचे। इसीलिए कृष्ण ने उसे *शुभे* कह कर सम्बोधित किया, ''तुम्हारा कल्याण हो, तुम मुझसे शक्ति प्राप्त करो और तुम इस काम को कर सकोगी।'' भगवत्कृपा होने पर कोई भी व्यक्ति कोई भी कार्य कर सकता है क्योंकि भगवान् हर वस्तु में अपने अंशों से (*अंशभागेन*) उपस्थित रहते हैं और उसे अपनी परम इच्छा से घटाते-बढ़ाते रहते हैं। बलराम कृष्ण से केवल पन्द्रह दिन बड़े थे। कृष्ण के आशीर्वाद से योगमाया माता यशोदा की पुत्री बनी किन्तु परमेश्वर की इच्छा से वह अपने पिता-माता का प्रेम न पा सकी। यद्यपि कृष्ण माता यशोदा के गर्भ से उत्पन्न नहीं हुए थे फिर भी उन्हें माता यशोदा तथा नन्द का प्रेम प्राप्त हुआ। कृष्ण के आशीर्वाद से योगमाया को माता यशोदा की पुत्री होने का गौरव प्राप्त हो सका। यशोदा भी कृष्ण के आशीर्वाद से प्रसिद्ध हो गईं। यशोदा का अर्थ है ''यश देने वाली।''

अर्चिष्यन्ति मनुष्यास्त्वां सर्वकामवरेश्वरीम् ।
धूपोपहारबलिभिः सर्वकामवरप्रदाम् ॥ ॥

शब्दार्थ

अर्चिष्यन्ति—पूजा करेंगे; **मनुष्याः**—मानव समाज; **त्वाम्**—तुम को; **सर्व-काम-वर-ईश्वरीम्**—सारी भौतिक इच्छाओं को पूरा करने वाले देवताओं में सर्वश्रेष्ठ होने से; **धूप**—सुगन्धित द्रव्य से; **उपहार**—भेंट से; **बलिभिः**—यज्ञ द्वारा विविध प्रकार की पूजा से; **सर्व-काम**—सारी भौतिक इच्छाओं में से; **वर**—आशीर्वाद; **प्रदाम्**—प्रदान कर सकने वाली।.

सामान्य लोग पशुओं की बलि करके विविध सामग्री से तुम्हारी भव्य पूजा करेंगे क्योंकि तुम हर एक की भौतिक इच्छाएँ पूरी करने में सर्वोपरि हो।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (७.२०) में कहा गया है—*कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना: प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता:*—जिनके मन भौतिक इच्छाओं से विकृत हो चुके होते हैं, वे देवताओं की शरण में जाते हैं।'' अत: *मनुष्य* शब्द सामान्य व्यक्ति के लिए आया है, जो जीवन के असली लक्ष्य को नहीं जानता। ऐसा व्यक्ति उच्च परिवार में जन्म लेकर भौतिक आनन्द उठाना चाहता है जहाँ शिक्षा, सौन्दर्य तथा प्रचुर ऐश्वर्य भोगा जा सकता है, जो इस भौतिक संसार में वांछनीय हैं। जीवन के असली लक्ष्य को जो भूल चुका है वैसा व्यक्ति *मायाशक्ति* अर्थात् देवी दुर्गा की पूजा विविध कार्यों के लिए विविध स्थानों तथा नामों से कर सकता है। जिस तरह कृष्ण की पूजा हेतु भारत में अनेक पवित्र स्थान हैं उसी तरह दुर्गा देवी या यशोदा की पुत्री के रूप में उत्पन्न मायादेवी की पूजा के भी अनेक पवित्र स्थल हैं।

कंस को छलने के बाद मायादेवी सामान्य लोगों से नियमित पूजा कराने के लिए अनेक स्थानों में, विशेष रूप से विन्ध्याचल में विकीर्ण हो गईं। मनुष्य को तो वास्तव में *आत्मतत्त्व* अर्थात् आत्मा का सत्य तथा परमात्मा को जानने में रुचि रखनी चाहिए। जो लोग आत्मतत्त्व में रुचि रखते हैं, वे भगवान् की पूजा करते हैं (*यस्मिन् विज्ञाते सर्वमेवं विज्ञातं भवति*)। फिर भी जैसाकि इस अध्याय के अगले श्लोक में बताया गया है, जो लोग आत्मतत्त्व को नहीं समझ सकते (*अपश्यताम् आत्मतत्त्वम्*) वे योगमाया के विभिन्न रूपों की पूजा करते हैं। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* (२.१.२) में कहा गया है—

श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रश:।

अपश्यताम् आत्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम्॥

"हे राजन्! जो लोग भौतिक संसार में फँसे हैं, वे परम सत्य के ज्ञान के प्रति अंधे होने से मानव समाज में अनेक प्रकार के विषयों को सुनते रहते हैं।" जो लोग इस भौतिक संसार में बने रहना चाहते हैं और आध्यात्मिक मुक्ति में रुचि नहीं रखते उनके पास करने के लिए अनेक कार्य होते हैं किन्तु जो आध्यात्मिक मुक्ति में रुचि रखता है उसका एकमात्र कर्तव्य होता है कि वह पूरी तरह कृष्ण की शरण ग्रहण कर ले (*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*)। ऐसा व्यक्ति भौतिक भोग में रुचि नहीं रखता।

नामधेयानि कुर्वन्ति स्थानानि च नरा भुवि ।
दुर्गेति भद्रकालीति विजया वैष्णवीति च ॥ ११ ॥
कुमुदा चण्डिका कृष्णा माधवी कन्यकेति च ।
माया नारायणीशानी शारदेत्यम्बिकेति च ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

नामधेयानि—विभिन्न नाम; कुर्वन्ति—देंगे; स्थानानि—विभिन्न स्थानों में; च—भी; नराः—भौतिक भोग में रुचि रखने वाले लोग; भुवि—पृथ्वी पर; दुर्गा इति—दुर्गा नाम; भद्रकाली इति—भद्रकाली नाम; विजया—विजया नाम; वैष्णवी इति—वैष्णवी नाम; च—भी; कुमुदा—कुमुदा; चण्डिका—चण्डिका; कृष्णा—कृष्णा; माधवी—माधवी; कन्यका इति—कन्यका या कन्याकुमारी; च—भी; माया—माया; नारायणी—नारायणी; ईशानी—ईशानी; शारदा—शारदा; इति—इस प्रकार; अम्बिका—अम्बिका; इति—भी; च—तथा।

भगवान् कृष्ण ने मायादेवी को यह कहकर आशीर्वाद दिया: लोग तुम्हें पृथ्वी पर विभिन्न स्थानों में विभिन्न नामों से पुकारेंगे—यथा दुर्गा, भद्रकाली, विजया, वैष्णवी, कुमुदा, चण्डिका, कृष्णा, माधवी, कन्यका, माया, नारायणी, ईशानी, शारदा तथा अम्बिका।

तात्पर्य : चूँकि कृष्ण तथा उनकी शक्ति साथ साथ प्रकट हुए अत: लोगों ने सामान्यतया दो समूह

बना रखे हैं—शाक्त तथा वैष्णव—और कभी कभी दोनों में स्पर्धा चलती है। अनिवार्य रूप से, जो लोग भौतिक भोग में रुचि रखते हैं, वे शाक्त हैं और जो आध्यात्मिक मोक्ष तथा आध्यात्मिक धाम प्राप्त करने में रुचि रखते हैं, वे वैष्णव हैं। चूँकि लोग सामान्यतया भौतिक भोग में रुचि रखते हैं अतएव वे भगवान् की शक्ति मायादेवी की पूजा करते हैं। किन्तु वैष्णव जन *शुद्धशाक्त* अथवा शुद्ध भक्त होते हैं क्योंकि हरे कृष्ण महामंत्र भगवान् की शक्ति हरा की पूजा को सूचित करता है। प्रत्येक वैष्णव भगवान् की शक्ति से प्रार्थना करता है कि वह ऐसा अवसर प्रदान करे जिससे वह भगवान् की सेवा उनकी आध्यात्मिक शक्ति समेत कर सके। इसलिए सभी वैष्णव जन राधा-कृष्ण, सीता-राम, लक्ष्मी-नारायण तथा रुक्मिणी-द्वारिकाधीश जैसे अर्चाविग्रहों की पूजा करते हैं किन्तु दुर्गाशाक्त लोग भौतिकशक्ति की पूजा विविध नामों से करते हैं।

मायादेवी जिन-जिन नामों से विभिन्न स्थानों में जानी जाती हैं उसकी सूची वल्लभाचार्य ने दी है। वे वाराणसी में दुर्गा, अवन्ती में भद्रकाली, उड़ीसा में विजया और कुलहापुर में वैष्णवी या महालक्ष्मी कही जाती हैं। (महालक्ष्मी तथा अम्बिका की प्रतिनिधि मुम्बई में हैं) वे कामरूप प्रदेश में चण्डिका, उत्तर भारत में शारदा तथा कुमारी अन्तरीप में कन्यका कहलाती हैं। इस तरह वे विभिन्न स्थानों में विभिन्न नामों के अनुसार जानी जाती हैं।

श्रील विजयध्वज तीर्थपाद ने *पद-रत्नावली टीका* में विभिन्न नामों की व्याख्या की है। *माया* को दुर्गा इसलिए कहते हैं क्योंकि उन्हें कठिनाई से प्राप्त किया जाता है। उन्हें शुभ होने से भद्रा और गहरे नीले रंग की होने से काली कहा जाता है। अत्यन्त शक्तिशाली होने से विजया और विष्णु की विभिन्न शक्तियों में से एक होने के कारण वे वैष्णवी कहलाती हैं। भौतिक जगत का भोग करने तथा भोग की सुविधाएँ प्रदान करने के कारण कुमुदा, शत्रुओं (असुरों) के प्रति कठोर होने के कारण चण्डिका और समस्त भौतिक सुविधाएँ प्रदान करने के कारण वे कृष्णा कहलाती हैं। इस तरह भौतिक शक्ति के विविध नाम हैं और वे पृथ्वी पर विभिन्न स्थानों में स्थित हैं।

गर्भसङ्कर्षणात्तं वै प्राहुः सङ्कर्षणं भुवि ।
रामेति लोकरमणाद्बलभद्रं बलोच्छ्रयात् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

गर्भ-सङ्कर्षणात्—देवकी के गर्भ से निकाल कर रोहिणी के गर्भ में पहुँचाये जाने के कारण; तम्—उसको (रोहिणीनन्दन को); वै—निस्सन्देह; प्राहुः—लोग कहेंगे; सङ्कर्षणम्—संकर्षण को; भुवि—संसार में; राम इति—राम कहलाएगा; लोक-रमणात्—लोगों को भक्त बनने में समर्थ बनाने से; बलभद्रम्—बलभद्र कहलाएगा; बल-उच्छ्रयात्—प्रचुर बल के कारण।

देवकी के गर्भ से निकाल कर रोहिणी के गर्भ में भेजे जाने के कारण रोहिणी का पुत्र संकर्षण भी कहलाएगा। वह गोकुल के सारे निवासियों को प्रसन्न रखने की क्षमता होने के कारण राम कहलाएगा और अपनी प्रचुर शारीरिक शक्ति के कारण बलभद्र कहलाएगा।

तात्पर्य : बलराम को संकर्षण, बलराम या कभी-कभी राम नाम से विख्यात होने के ये कुछ कारण हैं। महामंत्र—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/ हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—में जब राम को बलराम कहा जाता है, तो कुछ लोग आपत्ति करते हैं। भले ही भगवान् राम के भक्तों को इसमें आपत्ति हो किन्तु बलराम तथा भगवान् राम में कोई अन्तर नहीं है। *श्रीमद्भागवत* के इस स्थल में बलराम को राम भी कहा गया है (*रामेति*)। अत: भगवान् बलराम को भगवान् राम कहना बनावटी नहीं है। जयदेव गोस्वामी ने भी तीन रामों का—परशुराम, रघुपति राम तथा बलराम का—उल्लेख किया है। ये सभी राम हैं।

सन्दिष्टैवं भगवता तथेत्योमिति तद्वचः ।
प्रतिगृह्य परिक्रम्य गां गता तत्तथाकरोत् ॥ १४॥

शब्दार्थ

सन्दिष्टा—आदेश दिये जाने पर; एवम्—इस प्रकार; भगवता—भगवान् द्वारा; तथा इति—ऐसा ही हो; ॐ—ॐ मंत्र; इति—इस प्रकार; तत्-वचः—उनके शब्द; प्रतिगृह्य—मानकर; परिक्रम्य—उनकी परिक्रमा करके; गाम्—पृथ्वी पर; गता—तुरन्त चली गई; तत्—भगवान् द्वारा दिया गया आदेश; तथा—उसी तरह; अकरोत्—किया।

भगवान् से इस तरह आदेश पाकर योगमाया ने उसे तुरन्त स्वीकार कर लिया। उसने वैदिक मंत्र ॐ के साथ पुष्टि की कि उससे जो कहा गया है उसे वह करेगी। इसके बाद उसने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की परिक्रमा की और वह पृथ्वी पर स्थित नन्दगोकुल नामक स्थान के लिए चल पड़ी। वहाँ उसने वैसा ही किया जैसा कि उसे आदेश मिला था।

तात्पर्य : भगवान् का आदेश पाकर योगमाया ने अपनी दोहरी सहमति ''हाँ मैं आपका कहना करूँगी'' तथा ॐ कहकर व्यक्त की। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि ॐ वैदिक पुष्टि का सूचक है। इस तरह योगमाया ने भगवान् के आदेश को वैदिक आदेश के रूप में ग्रहण किया। यह तथ्य है कि भगवान् जो भी कहते हैं वह वैदिक आदेश होता है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।

वैदिक आदेशों में न तो कोई त्रुटि है न कोई भ्रान्ति और न धोखा-धड़ी। इसलिए वैदिक प्रमाण को समझे बिना शास्त्र का उद्धरण देना निरर्थक है। वैदिक आदेशों की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए प्रत्युत वेदों में दिये गये आदेशों को दृढ़ता से पूरा करना चाहिए। *भगवद्गीता* (१६.२४) में कहा गया हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

ज्ञात्वा शास्त्र-विधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

"मनुष्य को चाहिए कि शास्त्रों के नियमों के द्वारा कर्तव्य तथा अकर्तव्य को समझे। ऐसे विधि-विधानों को जानते हुए मनुष्य को चाहिए उनके अनुसार कार्य करे जिससे वह क्रमशः ऊपर उठ सके।"

गर्भे प्रणीते देवक्या रोहिणीं योगनिद्रया ।
अहो विस्त्रंसितो गर्भ इति पौरा विचुक्रुशुः ॥ १५॥

शब्दार्थ

गर्भे—जब गर्भ; प्रणीते—ले जाया गया; देवक्याः—देवकी का; रोहिणीम्—रोहिणी के गर्भ में; योग-निद्रया—योगमाया द्वारा; अहो—हाय; विस्त्रंसितः—नष्ट हो गया; गर्भः—गर्भ; इति—इस प्रकार; पौराः—घर के रहने वाले; विचुक्रुशुः—विलाप करने लगे।

जब योगमाया द्वारा देवकी का बालक खींच करके रोहिणी के गर्भ में स्थानान्तरित कर दिया गया तो देवकी को लगा कि उसे गर्भपात हो गया। फलतः महल के सारे निवासी जोर-जोर से यह कहकर विलाप करने लगे, "हाय! देवकी का बच्चा जाता रहा।"

तात्पर्य : महल के सारे वासियों में कंस भी सम्मिलित था। जब सारे लोग विलाप कर रहे थे तो दयावश कंस भी यह सोचकर उनके साथ विलाप करने लगा कि हो न हो दवाओं के कारण या अन्य किसी बाहरी कारण से देवकी का यह गर्भपात हो गया। किन्तु *हरिवंश* में योगमाया द्वारा देवकी के गर्भ से बालक को खींच करके रोहिणी के सात मास के गर्भ में स्थापित करने की पूरी कथा वर्णित है। अर्धरात्रि में गहरी नींद में सोते सोते रोहिणी को लगा मानो सपने में उसे गर्भपात हो गया है। कुछ समय बाद जब वह जगी तो उसने देखा कि सचमुच ऐसा ही हो चुका है अतएव वह बहुत चिन्तित थी। किन्तु योगमाया ने उसे बतलाया, "हे शुभे! तुम्हारे बालक को पुनर्स्थापित किया जा रहा है। मैं देवकी के गर्भ से बालक खींच रही हूँ इसलिए तुम्हारे बालक का नाम संकर्षण होगा।"

योगनिद्रा शब्द महत्त्वपूर्ण है। जब आत्म-साक्षात्कार द्वारा मनुष्य अध्यात्म से पुनः जुड़ता है, तो

मनुष्य अपने जीवन को स्वप्नवत् मानता है। भगवद्गीता (२.६९) में कहा गया है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

"जो सभी जीवों के लिए रात है, वह संयमी पुरुषों के लिए जगने का समय है और जो सारे जीवों के जगने का समय है, वही मुनियों के लिए रात होती है।" आत्म-साक्षात्कार की अवस्था *योगनिद्रा* कहलाती है। इस अवस्था में सारे भौतिक कार्यकलाप स्वप्नवत् प्रतीत होते हैं। इस तरह *योगनिद्रा* की व्याख्या योगमाया के रूप में की जा सकती है।

भगवानपि विश्वात्मा भक्तानामभयङ्करः ।
आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; अपि—भी; विश्वात्मा—सारे जीवों के परमात्मा; भक्तानाम्—अपने भक्तों के; अभयम्-करः—भय के कारण को मारने वाले; आविवेश—प्रविष्ट हो गये; अंश-भागेन—अपने सारे ऐश्वर्यों के साथ (षडैश्वर्यपूर्ण); मनः—मन में; आनकदुन्दुभेः—वसुदेव के मन में।

इस तरह समस्त जीवों के परमात्मा तथा अपने भक्तों के भय को दूर करने वाले पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वसुदेव के मन में अपने पूर्ण ऐश्वर्य के समेत प्रविष्ट हो गये।

तात्पर्य : *विश्वात्मा* शब्द द्योतक है उसका जो हर एक हृदय में स्थित हो (*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*)। विश्वात्मा का दूसरा अर्थ है, "हर एक की एकमात्र प्रिय वस्तु"। इस वस्तु को भूल जाने से ही लोग इस भौतिक जगत में कष्ट भोग रहे हैं किन्तु यदि कोई कृष्ण प्रेम करने की अपनी पुरानी चेतना को जागृत कर लेता है और विश्वात्मा से अपने को जोड़ लेता है, तो वह पूर्ण बन जाता है। तृतीय स्कंध (३.२.१५) में भगवान् का वर्णन इस प्रकार हुआ है—*परावरेशो महदंशयुक्तो ह्यजोऽपि जातो भगवान्।* अजन्मा होकर भी सबके प्रभु भगवान् भक्त के मन में प्रविष्ट होकर शिशु की तरह प्रकट हुए लगते हैं। प्रभु पहले से ही मन के भीतर रहते हैं अतएव भक्त के शरीर से उनका उत्पन्न होना आश्चर्यजनक नहीं लगता। *आविवेश* शब्द बताता है कि वे वसुदेव के मन के भीतर प्रकट हुए। वीर्यस्खलन की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। श्रीपाद् श्रीधरस्वामी तथा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का यही मत है। *वैष्णवतोषणी* में श्रील सनातन गोस्वामी कहते हैं कि वसुदेव के मन के भीतर चेतना जगी। श्रील वीरराघव आचार्य भी कहते हैं कि वसुदेव देवताओं में से एक थे और चेतना जागृत होने

के रूप में भगवान् उनके मन के भीतर प्रकट हुए।

स बिभ्रत्पौरुषं धाम भ्राजमानो यथा रविः ।
दुरासदोऽतिदुर्धर्षो भूतानां सम्बभूव ह ॥ १७॥

शब्दार्थ

सः—वह (वसुदेव); बिभ्रत्—धारण किये हुए; पौरुषम्—परम पुरुष सम्बन्धी; धाम—आध्यात्मिक तेज; भ्राजमानः—प्रकाशमान; यथा—जिस तरह; रविः—सूर्य-प्रकाश; दुरासदः—देखे जाने में भी अत्यन्त कठिन; अति-दुर्धर्षः—अत्यन्त कठिनाई से पास पहुँचने योग्य; भूतानाम्—समस्त जीवों में; सम्बभूव—बन गया; ह—निश्चित रुप से।

वसुदेव अपने हृदय के भीतर भगवान् के स्वरूप को धारण किये हुए भगवान् के दिव्य प्रकाशमान तेज को वहन कर रहे थे जिसके कारण वे सूर्य के समान चमकीले बन गये। अतः उनकी ओर लौकिक दृष्टि द्वारा देखना या उन तक पहुँचना कठिन था, यहाँ तक कि वे कंस जैसे पराक्रमी व्यक्ति के लिए ही नहीं, अपितु सारे जीवों के लिए भी दुर्धर्ष थे।

तात्पर्य : *धाम* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *धाम* सूचक है भगवान् के रहने के स्थान का। *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में ही (१.१.१) कहा गया है—*धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि।* भगवान् के धाम में भौतिक शक्ति का कोई प्रभाव नहीं रहता (*धाम्नास्वेन सदा निरस्तकुहकम्*)। जहाँ कहीं भी भगवान् अपने नाम रूप, गुण या परिकर के साथ रहते हैं, वही तुरन्त *धाम* बन जाता है—उदाहरणार्थ, वृन्दावन धाम, द्वारका धाम, मथुरा धाम क्योंकि इन स्थानों में भगवान् का नाम, यश, गुण तथा परिकर सदैव उपस्थित रहते हैं। इसी तरह यदि भगवान् किसी को कुछ करने के लिए शक्ति प्रदान करते हैं, तो उसका हृदय *धाम* बन जाता है और वह इतना शक्तिशाली बन जाता है कि न केवल उसके शत्रु अपितु सारे लोग उसके कार्यकलापों को देखकर चकित रह जाते हैं। दुर्धर्ष होने के कारण उसके शत्रु चकित हुए बिना नहीं रहते जैसाकि *दुरासदोऽतिदुर्धर्षः* शब्दों के द्वारा बतलाया गया है।

पौरुषं धाम की व्याख्या अनेक आचार्यों ने की है। श्रीवीरराघव आचार्य कहते हैं कि ये शब्द भगवान् के तेज के सूचक हैं। विजयध्वज का कहना है कि ये शब्द *विष्णुतेज* के सूचक हैं और शुकदेव इसे *भगवत्स्वरूप* कहते हैं। *वैष्णवतोषणी* के अनुसार ये शब्द परमेश्वर के तेज के प्रभाव को सूचित करते हैं तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि ये भगवान् के प्राकट्य के सूचक हैं।

ततो जगन्मङ्गलमच्युतांशं

समाहितं शूरसुतेन देवी ।
दधार सर्वात्मकमात्मभूतं
काष्ठा यथानन्दकरं मनस्तः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; जगत्-मङ्गलम्—ब्रह्माण्ड भर के जीवों के लिए मंगल; अच्युत-अंशम्—भगवान् जो अपने अंशों में उपस्थित छह ऐश्वर्यों से कभी वियुक्त नहीं होते; समाहितम्—पूरी तरह स्थानान्तरित; शूर-सुतेन—शूरसेन के पुत्र वसुदेव द्वारा; देवी—देवकी देवी ने; दधार—वहन किया; सर्व-आत्मकम्—सबों के परमात्मा; आत्म-भूतम्—समस्त कारणों के कारण; काष्ठा—पूर्व दिशा; यथा—जिस तरह; आनन्द-करम्—आनन्दमय (चन्द्रमा); मनस्तः—मन के भीतर स्थित होने से।

तत्पश्चात् परम तेजस्वी, सम्पूर्ण जगत के लिए सर्वमंगलमय समस्त ऐश्वर्यों से युक्त भगवान् अपने स्वांशों समेत वसुदेव के मन से देवकी के मन में स्थानान्तरित कर दिये गये। इस तरह वसुदेव से दीक्षा प्राप्त करने से देवकी सबों की आदि चेतना, समस्त कारणों के कारण भगवान् कृष्ण को अपने अन्तःकरण में धारण करने के कारण सुन्दर बन गईं जिस तरह उदित चन्द्रमा को पाकर पूर्व दिशा सुन्दर बन जाती है।

तात्पर्य : *मनस्तः* शब्द बताता है कि भगवान् को वसुदेव के मन से देवकी के हृदय में स्थानान्तरित किया गया। हमें ध्यान देना होगा कि भगवान् को देवकी के हृदय में किसी सामान्य विधि के द्वारा नहीं अपितु *दीक्षा* द्वारा स्थानान्तरित किया गया। इस तरह यहाँ पर दीक्षा की महत्ता का उल्लेख हुआ है। जब तक अपने हृदय में भगवान् को वहन करने वाले उपयुक्त व्यक्ति द्वारा मनुष्य दीक्षित नहीं होता तब तक उसे अपने हृदय के भीतर भगवान् को वहन करने की शक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

अच्युतांशम् शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है क्योंकि भगवान् *षडैश्वर्यपूर्ण*—धन, बल, यश, ज्ञान, सौन्दर्य तथा त्याग से पूर्ण हैं, वे कभी भी अपने निजी ऐश्वर्यों से विलग नहीं होते। *ब्रह्म-संहिता* (५.३९) में ठीक ही कहा गया है—*रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्*—भगवान् अपने सारे अंशों-यथा राम, नृसिंह, वराह आदि के सहित सदैव स्थित होते हैं। इसीलिए यहाँ पर *अच्युतम्* शब्द का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। इससे सूचित होता है कि भगवान् सदैव अपने अंशों तथा ऐश्वर्यों के साथ उपस्थित रहते हैं। तब योगीजन जिस रूप में उनका कृत्रिम ढंग से चिन्तन करते हैं उसकी आवश्यकता नहीं रह जाती। *ध्यानावस्थित-तद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः* (*भागवत* १२.१३.१)। योगीजन अपने मन के भीतर परम पुरुष का ध्यान करते हैं। किन्तु भक्त के लिए भगवान् उपस्थित रहते हैं—उनकी उपस्थिति को प्रामाणिक गुरु द्वारा दीक्षा के माध्यम से जागृत किये जाने की ही आवश्यकता पड़ती है। भगवान् को देवकी के गर्भ के भीतर रहने की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि देवकी के हृदय

में उनकी उपस्थिति ही उनको धारण करने के लिए पर्याप्त थी। यहाँ पर यह सोचने के लिए मना किया गया है कि वसुदेव द्वारा देवकी के गर्भ से कृष्ण उत्पन्न किये गये और वे उन्हें अपने गर्भ में धारण किये रहीं।

जब वसुदेव भगवान् को अपने हृदय में धारण किये हुए थे तो वे उस चमकते सूर्य जैसे लग रह थे जिसकी चमचमाती किरणें सामान्य व्यक्ति के लिए सदा असह्य तथा झुलसाने वाली होती हैं। वसुदेव के शुद्ध हृदय में भगवान् का जो रूप स्थित था वह कृष्ण के आदि रूप से भिन्न नहीं है। कृष्ण के रूप का कहीं भी और विशेष रूप से हृदय में प्राकट्य *धाम* कहलाता है। *धाम* न केवल कृष्ण के रूप का अपितु उनके नाम, रूप, गुण तथा परिकर का भी द्योतक है। सब कुछ एकसाथ प्रकट होता है।

इस तरह अपनी पूर्ण शक्तियों समेत भगवान् का नित्य रूप वसुदेव के मन से देवकी के मन में उसी तरह स्थानान्तरित किया गया जिस तरह डूबते सूर्य की किरणें पूर्व में उदय होने वाले चन्द्रमा में स्थानान्तरित हो जाती हैं।

भगवान् कृष्ण वसुदेव के शरीर से देवकी के शरीर में प्रविष्ट हुए। वे सामान्य जीव की परिस्थितियों से परे थे। कृष्ण कहीं भी रहें वे नारायण जैसे अपने अंशों तथा भगवान् नृसिंह, वराह जैसे अवतारों के साथ रहते हैं। इस तरह वे जगत की सामान्य परिस्थितियों से परे होते हैं। इस तरह देवकी अद्वितीय एवं सृष्टि के कारणस्वरूप भगवान् का धाम बन गईं। किन्तु कंस के घर में होने से वे दबी हुई अग्नि या अप्रयुक्त विद्या की तरह दिख रही थीं। जब आग को किसी पात्र की दीवारों से ढक दिया जाता है या किसी लोटे में रख दिया जाता है, तो अग्नि की प्रकाशमान किरणें नहीं दिखतीं। इसी तरह जिस ज्ञान से जनता को लाभ नहीं पहुँचता वह श्लाघनीय नहीं। चूँकि देवकी को कंस के बन्दीगृह की चहारदीवारियों के भीतर रखा गया था अतएव उनके उस दिव्य सौन्दर्य को कोई नहीं देख सकता था, जो उनमें भगवान् को धारण करने से उत्पन्न था।

इस श्लोक की टीका करते हुए श्री वीरराघव आचार्य लिखते हैं—*वसुदेवदेवकी-जठरयोर्हृदयोर्भगवतः सम्बन्धः।* वसुदेव के हृदय से देवकी के गर्भ में भगवान् का प्रवेश दो हृदयों का मिलन था।

सा देवकी सर्वजगन्निवास-
निवासभूता नितरां न रेजे ।
भोजेन्द्रगेहेऽग्निशिखेव रुद्धा
सरस्वती ज्ञानखले यथा सती ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सा देवकी—वह देवकी देवी; सर्व-जगत्-निवास—सारे ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले भगवान् का (मत्स्थानि सर्वभूतानि); निवास-भूता—देवकी की कुक्षि अब निवास बनी हुई है; नितराम्—विस्तार से; न—नहीं; रेजे—प्रकाशमान हो उठा; भोजेन्द्र-गेहे—कंस के घर की चहारदीवारी के भीतर; अग्नि-शिखा इव—आग की लपटों के समान; रुद्धा—ढकी हुई; सरस्वती—विद्या; ज्ञान-खले—ज्ञान-खल नामक व्यक्ति में, ऐसे व्यक्ति में जो ज्ञान होने पर भी उसको वितरित नहीं करता; यथा—जिस तरह; सती—होकर भी।.

तब देवकी ने समस्त कारणों के कारण, समग्र ब्रह्माण्ड के आधार भगवान् को अपने भीतर रखा किन्तु कंस के घर के भीतर बन्दी होने से वे किसी पात्र की दीवालों से ढकी हुई अग्नि की लपटों की तरह या उस व्यक्ति की तरह थीं जो अपने ज्ञान को जनसमुदाय के लाभ हेतु वितरित नहीं करता।

तात्पर्य : इस श्लोक में *ज्ञान-खल* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ज्ञान तो वितरण के लिए होता है। यद्यपि पहले से ही पर्याप्त ज्ञान है किन्तु जब भी विज्ञानियों या दार्शनिकों को कोई नया ज्ञान सूझता है, तो वे उसे विश्वभर में वितरित कर देना चाहते हैं अन्यथा वह ज्ञान क्रमश: सूख जाता है और उससे कोई भी व्यक्ति लाभ नहीं उठा पाता। भारत के पास *भगवद्गीता* का ज्ञान है किन्तु दुर्भाग्यवश किसी न किसी कारणवश इस दिव्य भगवद्ज्ञान का विश्वभर में वितरण नहीं हो पाया यद्यपि यह सारे मानव समाज के निमित्त है। इसीलिए कृष्ण स्वयं श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में प्रकट हुए और उन्होंने सारे भारतीयों को आदेश दिया कि वे *भगवद्गीता* के ज्ञान का सारे विश्व में वितरण करने का भार अपने हाथ में लें।

यारे देख, तारे कह 'कृष्ण'-उपदेश।
आमार आज्ञाय गुरु हञा तार एइ देश॥

"*भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* में दिये गये भगवान् श्रीकृष्ण के आदेशों का पालन करने के लिए हर एक को उपदेश दो। इस तरह आध्यात्मिक गुरु बनकर इस देश के हर व्यक्ति को मुक्त करने का प्रयास करो।" (*चैतन्यचरितामृत मध्य* ७.१२८) यद्यपि भारत के पास *भगवद्गीता* का दिव्य ज्ञान है किन्तु भारतीयों ने इसे वितरित करने का अपना कर्तव्य नहीं निभाया। इसीलिए अब इस ज्ञान को

यथारूप में बिना किसी विकार के वितरित करने के लिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन की स्थापना की गई है। यद्यपि इससे पूर्व भी *भगवद्गीता* के ज्ञान का वितरण करने के प्रयास हुए हैं किन्तु इन प्रयासों में विकृति तथा संसारी ज्ञान से समझौता किया जाता रहा है। लेकिन अब कृष्णभावनामृत आन्दोलन *भगवद्गीता* यथारूप का वितरण कर रहा है और लोग इस ज्ञान का लाभ उठाकर कृष्णभावनामृत की ओर जग रहे हैं और कृष्ण के भक्त बन रहे हैं। इस तरह ज्ञान के समुचित वितरण के शुभारम्भ से न केवल सारा विश्व लाभान्वित होगा अपितु मानव समाज में भारत की कीर्ति बढ़ेगी। कंस ने कृष्णभावनामृत को अपने घर के भीतर (*भोजेन्द्रगृहे*) बन्दी बनाने का प्रयास किया जिसका परिणाम यह हुआ कि वह अपने सारे ऐश्वर्य समेत नष्ट हो गया। इसी तरह दुराग्रही भारतीय नेताओं द्वारा *भगवद्गीता* के असली ज्ञान का गला घोंटा जा रहा था और परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति तथा भगवद्ज्ञान नष्ट हो रहा था। किन्तु अब कृष्णभावनामृत के प्रसार के साथ ही *भगवद्गीता* का सही उपयोग होने लगा है।

तां वीक्ष्य कंसः प्रभयाजितान्तरां
विरोचयन्तीं भवनं शुचिस्मिताम् ।
आहैष मे प्राणहरो हरिर्गुहां
ध्रुवं श्रितो यन्न पुरेयमीदृशी ॥ २० ॥

शब्दार्थ

ताम्—उस देवकी को; वीक्ष्य—देखकर; कंसः—उसके भाई कंस ने; प्रभया—उसके सौन्दर्य और प्रभाव के बढ़ने से; अजित-अन्तराम्—अजित या भगवान् विष्णु को अपने भीतर रखने के कारण; विरोचयन्तीम्—प्रकाशित करती हुई; भवनम्—घर के समूचे वातावरण को; शुचि-स्मिताम्—हँसती हुई तथा तेजस्वी; आह—अपने आप कहा; एषः—यह (परम पुरुष); मे—मेरा; प्राण-हरः—मेरी जान लेनेवाले; हरिः—भगवान् विष्णु ने; गुहाम्—देवकी के गर्भ में; ध्रुवम्—निश्चित रूप से; श्रितः—शरण ली है; यत्—क्योंकि; न—नहीं थी; पुरा—पहले; इयम्—देवकी; ईदृशी—इस तरह।

गर्भ में भगवान् के होने से देवकी जिस स्थान में बन्दी थीं वहाँ के सारे वातावरण को वे आलोकित करने लगीं। उसे प्रसन्न, शुद्ध तथा हँसमुख देखकर कंस ने सोचा, "इसके भीतर स्थित भगवान् विष्णु अब मेरा वध करेंगे। इसके पूर्व देवकी कभी भी इतनी तेजवान तथा प्रसन्न नहीं दिखी।"

तात्पर्य : भगवान् ने *भगवद्गीता* (४.७) में कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

''हे भरतवंशी! जब जब धर्म की हानि होती है और अधर्म की प्रधानता हो जाती है तब तब मैं अवतार लेता हूँ!'' इस युग में सम्प्रति मानव कर्तव्यों के पालन में असाधारण गलतियाँ हो रही हैं। मानवजीवन ईश-साक्षात्कार के निमित्त है किन्तु दुर्भाग्यवश भौतिकतावादी सभ्यता शरीर की इन्द्रियों पर जोर देती है शरीर के भीतर की प्राणशक्ति को समझने पर नहीं। जैसाकि *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है (*देहिनोऽस्मिन यथा देहे*), शरीर के भीतर शरीर का स्वामी, प्राणशक्ति है, जो अधिक महत्त्वपूर्ण है। किन्तु मानव समाज इतना पतित हो चुका है कि शरीर के भीतर की प्राणशक्ति को न समझकर मनुष्य बाहरी वस्तुओं में व्यस्त रहता है। मानव कर्तव्यों में यह एक त्रुटि है। इसीलिए कृष्ण ने कृष्णभावनामृत आन्दोलन के गर्भ में जन्म या शरण ले रखी है। इसलिए कंस जैसे लोग अत्यन्त भयभीत हैं और इस आन्दोलन को विशेष रूप से पश्चिमी देशों में रोकने में लगे हुए हैं। एक राजनीतिज्ञ ने तो यहाँ तक कहा है कि कृष्णभावनामृत आन्दोलन महामारी की तरह फैल रहा है और यदि इसे तुरन्त नहीं रोका गया तो यह दस वर्षों में सरकारी शक्ति को हथिया सकता है। निस्सन्देह कृष्णभावनामृत आन्दोलन में ऐसी शक्ति है। जैसाकि अधिकृत लोगों ने कहा है (*चैतन्यचरितामृत, आदि* १७.२२) -*कलिकाले नामरूपे कृष्ण-अवतार*—इस युग में कृष्ण हरे कृष्ण महामंत्र में प्रकट हुए हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन जंगल की आग की तरह सारे विश्व में फैल रहा है और इसी तरह फैलता रहेगा। कंस जैसे व्यक्ति इस आन्दोलन की प्रगति से तथा तरुण पीढ़ी द्वारा इसकी स्वीकृति से भयभीत हैं। किन्तु जिस तरह कृष्ण को कंस नहीं मार पाया उसी तरह यह आन्दोलन कंस सरीखे व्यक्तियों के रोके नहीं रुकेगा। यह आन्दोलन अधिकाधिक बढ़ता रहेगा, यदि इस आन्दोलन के नेता विधि-विधानों का पालन करते हुए और हरे कृष्ण महामंत्र का नियमित कीर्तन करते हुए कृष्णभावनाभावित बने रहें।

किमद्य तस्मिन्करणीयमाशु मे
यदर्थतन्त्रो न विहन्ति विक्रमम् ।
स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या वधोऽयं
यशः श्रियं हन्त्यनुकालमायुः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; अद्य—अब तुरन्त; तस्मिन्—इस स्थिति में; करणीयम्—करने योग्य; आशु—बिना बिलम्ब किये; मे—मेरा कर्तव्य; यत्—क्योंकि; अर्थ-तन्त्रः—भगवान्, जो साधुओं की रक्षा करने तथा असाधुओं का वध करने के लिए कृतसंकल्प हैं; न—नहीं; विहन्ति—त्यागते हैं; विक्रमम्—अपने पराक्रम को; स्त्रियाः—स्त्री का; स्वसुः—बहन का; गुरु-मत्याः—विशेषरूप से जब वह गर्भवती है; वधः अयम्—वध; यशः—यश; श्रियम्—ऐश्वर्य; हन्ति—नष्ट हो जाएगा; अनुकालम्—हमेशा के लिए; आयुः—तथा उम्र।

कंस ने सोचाः अब मुझे क्या करना चाहिए? अपना लक्ष्य जानने वाले भगवान् (*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*) अपना पराक्रम त्यागने वाले नहीं हैं। देवकी स्त्री है, वह मेरी बहन है और गर्भवती भी है। यदि मैं उसे मार डालूँ तो मेरे यश, ऐश्वर्य तथा आयु निश्चित रूप से नष्ट हो जाएँगे।

तात्पर्य : वैदिक नियमों के अनुसार किसी स्त्री, ब्राह्मण, वृद्ध, शिशु तथा गाय का कभी भी वध नहीं किया जाना चाहिए। ऐसा लगता है कि भगवान् का परम शत्रु होते हुए भी कंस वैदिक संस्कृति से अवगत था और इस तथ्य के प्रति जागरूक था कि आत्मा एक शरीर से दूसरे में देहान्तर करता है और मनुष्य इस जीवन के कर्मों के अनुसार अगले जीवन में कष्ट भोगता है। इसलिए वह देवकी का वध करने से डर रहा था क्योंकि वह स्त्री थी, फिर उसकी बहन थी और तिस पर वह गर्भवती थी। क्षत्रिय वीरतापूर्ण कार्य करके विख्यात होता है। किन्तु ऐसी स्त्री को मारने में कौन सी बहादुरी होगी जो उसकी शरण में थी? इसलिए वह देवकी का वध करने का जघन्य कार्य नहीं करना चाहता था। कंस का शत्रु तो देवकी के गर्भ के भीतर था किन्तु शत्रु का ऐसी अज्ञान की स्थिति में वध करना बहादुरी नहीं होगी। क्षत्रिय नियमों के अनुसार शत्रु से आमने-सामने तथा उचित हथियारों के साथ युद्ध करना चाहिए। और यदि शत्रु मारा जाता है, तो जीतने वाला विख्यात बनता है। कंस ने इन बातों पर बड़े विवेक से तर्क-वितर्क किया और यह पूरी तरह जानते हुए भी कि देवकी के गर्भ में उसका शत्रु प्रकट हो चुका है, वह उसका वध करने से अपने को रोकता रहा।

स एष जीवन्खलु सम्परेतो
वर्तेत योऽत्यन्तनृशंसितेन ।
देहे मृते तं मनुजाः शपन्ति
गन्ता तमोऽन्धं तनुमानिनो ध्रुवम् ॥ २२॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—वह ईर्ष्यालु व्यक्ति; जीवन्—जीवित रहते हुए; खलु—भी; सम्परेतः—मृत है; वर्तेत—जीवित रह रहा है; यः—जो; अत्यन्त—अत्यधिक; नृशंसितेन—क्रूर कर्मों द्वारा; देहे—शरीर होने पर; मृते—समाप्त हो जाता है; तम्—उसको;

मनुजाः—सारे मनुष्य; शपन्ति—निन्दा करते हैं; गन्ता—जाएगा; तमः अन्धम्—नारकीय जीवन को; तनु-मानिनः—देहात्मबोध वाले व्यक्ति के; ध्रुवम्—कोई सन्देह नहीं।

अत्यधिक क्रूर व्यक्ति को जीवित रहते हुए भी मृत माना जाता है क्योंकि उसके जीवित रहते हुए या उसकी मृत्यु के बाद भी हर कोई उसकी निन्दा करता है। देहात्मबुद्धिवाला व्यक्ति मृत्यु के बाद भी अन्धतम नरक को भेजा जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

तात्पर्य : कंस ने विचार किया कि यदि वह अपनी बहन को मारता है, तो जब तक वह जीवित रहेगा तब तक लोग उसकी निन्दा करेंगे और मृत्यु के बाद उसे अपनी इस क्रूरता के लिए अन्धतम नरक में जाना पड़ेगा। कहा गया है कि कसाई जैसे क्रूर व्यक्ति को सलाह दी जाती है कि वह न तो जिये और न ही मरे। जीवित अवस्था में ऐसा क्रूर व्यक्ति अपने अगले जीवन के लिए नारकीय स्थिति उत्पन्न करता है अतएव उसे जीवित नहीं रहना चाहिए। किन्तु उसे मरने की भी सलाह नहीं दी जाती क्योंकि मृत्यु के बाद उसे अन्धतम नरक में जाना पड़ेगा। इस तरह वह दोनों तरह से निन्दनीय है। इसीलिए आत्मा के देहान्तरण का ज्ञान होने के कारण कंस ने जानबूझ कर देवकी का वध करने से अपने को रोका।

इस श्लोक में *गन्ता तमोऽन्धं तनुमानिनो ध्रुवम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और उनकी विस्तृत जानकारी आवश्यक है। श्रील जीव गोस्वामी ने *वैष्णव तोषणी टीका* में कहा है—*तत्र तनुमानिनः पापिन इति देहात्माबुद्ध्यैव पापाभिनिवेशो भवति।* जो व्यक्ति यह सोचते हुए कि "मैं यह शरीर हूँ" देहात्मबोध में जीता है, वह अपने को इस विचार मात्र के आधार पर पापमय कृत्यों में डालता है। इस विचार के अन्तर्गत जीने वाला कोई भी व्यक्ति नरक का भागी समझा जाना चाहिये।

अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं

पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्

(*भागवत* ७.५.३०)

देहात्मबुद्धि वाला व्याक्ति अपनी इन्द्रियतृप्ति पर अंकुश नहीं लगा पाता। ऐसा व्यक्ति खाने, पीने, आनन्द मनाने तथा इन्द्रियतृप्ति के लिए कुछ भी कर सकता है। उसे इसका ज्ञान नहीं रहता कि आत्मा का देहान्तरण एक शरीर से दूसरे में होता है। ऐसा व्यक्ति जो चाहता है, जो सोचता है, वही करता है, जिसके कारण प्रकृति के नियमों के अनुसार वह विभिन्न भौतिक शरीरों में घोर कष्ट भोगता है।

यावत् क्रियास्तावदिदं मनो वै

कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः।

(*भागवत* ५.५.५)

देहात्मबुद्धि के कारण मनुष्य *कर्मानुबन्ध* अर्थात् कर्म द्वारा बद्ध रहता है और जब तक उसका मन कर्म में लीन रहता है तब तक उसे शरीर ग्रहण करना पड़ता है। यह *शरीरबन्ध* कष्ट का कारण (*क्लेश-द*) है।

न साधु मन्ये यत आत्मनोऽयम्

असन्नपि क्लेशद आस देहः।

यद्यति शरीर क्षणभंगुर है यह अनेक प्रकार से कष्ट दिया करता है किन्तु दुर्भाग्यवश्य मानव सभ्यता *तनुमानी* अर्थात् देहात्मबुद्धि पर आश्रित है, जिसमें मनुष्य सोचता है, ''मैं अमुक राष्ट्र से सम्बद्ध हूँ, मैं इस समुदाय का हूँ, उस समुदाय का हूँ'' इत्यादि इत्यादि। हममें से हर एक के अपने अपने विचार हैं और हम व्यक्तिगत, सामाजिक, जातिगत तथा राष्ट्रगत रूप से *कर्मानुबन्ध* की पापमयी जटिलताओं में बँधते जा रहे हैं। शरीर के निर्वाह हेतु लोग अन्य शरीरों का वध करते हैं और कर्मानुबन्ध में फँसते जाते हैं। इसीलिए श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि *तनुमानी* पापी होते हैं। ऐसे पापियों का अन्तिम गन्तव्य अन्धतम नरक होता है (*गन्ता तमोऽन्धम्*)। विशेषतया, जो व्यक्ति पशुओं को मार कर अपना शरीर पालना चाहता है, वह सबसे बड़ा पापी है और वह आध्यात्मिक जीवन के महत्त्व को नहीं समझ सकता। *भगवद्गीता* (१६.१९-२०) में भगवान् कहते हैं—

तान् अहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्रमशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

''जो लोग ईर्षालु तथा ऊत्पाती हैं, जो पुरुषों में अधम हैं उन्हें मैं इस भवसागर में विभिन्न आसुरी योनियों में डाल देता हूँ। ऐसे व्यक्ति आसुरी जीवन की योनियों में बारम्बार जन्म ग्रहण करते हुए मेरे पास कभी नहीं पहुँच पाते। ऐसे लोग क्रमशः अत्यन्त निन्दनीय स्थिति में नीचे चले जाते हैं।'' यह

मानव जीवन एक वरदान है, जो अनेकानेक जन्मों के बाद मिला है, जिसके मूल्य को मनुष्य को समझना चाहिए। अत: मनुष्य को *तनुमानी* अर्थात् देहात्मबुद्धि से मुक्त होकर भगवान् का साक्षात्कार करना चाहिए।

इति घोरतमाद्भावात्सन्निवृत्तः स्वयं प्रभुः ।
आस्ते प्रतीक्षंस्तज्जन्म हरेर्वैरानुबन्धकृत् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस तरह उपर्युक्त विधि से सोचते हुए; घोर-तमात् भावात्—अपनी बहन को किस तरह मारे इस अत्यन्त जघन्य विचार से; सन्निवृत्तः—विलग रहकर; स्वयम्—स्वयं विचार करके; प्रभुः—पूर्णज्ञान में (कंस); आस्ते—रहता रहा; प्रतीक्षन्—उस क्षण की प्रतीक्षा करते हुए; तत्-जन्म—उसका जन्म होने तक; हरेः—भगवान् हरि के; वैर-अनुबन्ध-कृत्—ऐसा वैर चलाते रहने के लिए दृढ़।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह तर्क-वितर्क करते हुए कंस यद्यपि भगवान् के प्रति शत्रुता बनाये रखने के लिए दृढ़ था किन्तु अपनी बहन का जघन्य वध करने से कतराता रहा। उसने भगवान् के जन्म लेने तक प्रतीक्षा करने और तब जो आवश्यक हो, करने का निश्चय किया।

आसीनः संविशंस्तिष्ठन्भुञ्जानः पर्यटन्महीम् ।
चिन्तयानो हृषीकेशमपश्यत्तन्मयं जगत् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

आसीनः—कमरे या सिंहासन पर आराम से बैठे हुए; संविशन्—अथवा अपने बिस्तर पर लेटे हुए; तिष्ठन्—या अन्यत्र ठहरे हुए; भुञ्जानः—खाते; पर्यटन्—घूमते; महीम्—पृथ्वी पर, इधर-उधर जाते हुए; चिन्तयानः—सदैव शत्रु-भाव से चिन्तन करते; हृषीकेशम्—सबों के नियन्ता भगवान् को; अपश्यत्—देखा; तत्-मयम्—उससे (कृष्ण से) ही युक्त; जगत्—सारा संसार।

सिंहासन पर अथवा अपने कमरे में बैठे, बिस्तर पर लेटे या कहीं भी रहते हुए, खाते, सोते या घूमते हुए कंस केवल अपने शत्रु भगवान् हृषीकेश को ही देखता था। दूसरे शब्दों में, अपने सर्वव्यापक शत्रु का चिन्तन करते करते कंस प्रतिकूल भाव से कृष्णभावनाभावित हो गया था।

तात्पर्य : श्रील रूप गोस्वामी ने भक्ति के सर्वोत्तम प्रकार को *आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्* कहा है। निस्सन्देह कंस भी कृष्णभावनाभावित था किन्तु वह कृष्ण को शत्रु मानता था। अत: कृष्णभावनामृत में निमग्न रहते हुए भी उसका कृष्णभावनामृत उसके जीवन के अनुकूल न था। यदि कृष्णभावनामृत का अनुकूल अनुशीलन किया जाय तो मनुष्य इतना सुखी हो सकता है कि कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को *कैवल्यसुखं* अर्थात् कृष्ण में तादात्म्य भी कोई बहुत बड़ा लाभ नहीं लगता। *कैवल्यमं नरकायते।*

कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के लिए निर्विशेषवादियों द्वारा अभीष्ट, कृष्ण अथवा ब्रह्म में तादात्म्य असुविधाजनक लगता है। *कैवल्यं नरकायते त्रिदशपूराकाशपुष्पायते।* कर्मीजन स्वर्ग जाने की लालसा करते हैं किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति इसे व्यर्थ का मायाजाल ही मानते हैं। *दुर्दान्तेन्द्रिय कालसर्पपटली प्रोत्खातदंष्ट्रायते।* योगी इन्द्रियों को वश में करने का प्रयास करते हैं और सुखी बनते हैं किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति योग विधि की उपेक्षा करते हैं। वह इन्द्रियरूपी बड़े-बड़े शत्रुओं की परवाह नहीं करता जो सर्पों के समान हैं। किन्तु कृष्णभावनामृत का अनुकूल भाव से अनुशीलन करने वाले व्यक्ति कर्मियों, ज्ञानियों तथा योगियों द्वारा अनुभव किये जानेवाले सुख की लेशमात्र भी परवाह नहीं करते। पर कंस भिन्न प्रकार से—शत्रुता के भाव से—कृष्णभावनामृत का अनुशीलन कर रहा था, अत: अपने जीवन के सारे कार्यकलापों में—बैठते, सोते, घूमते, अथवा खाते बेचैनी का अनुभव करता था और अपने आपको सदा संकट में पाता था। भक्त तथा अभक्त का यही अन्तर है। अभक्त या नास्तिक भी ईशचेतना का अनुशीलन करता है—किन्तु हर वस्तु में ईश्वर को नकारते हुए। उदाहरणार्थ तथाकथित विज्ञानी जो रसायनों के संयोग से जीवन का सृजन करना चाहते हैं, वे बाह्य भौतिक तत्त्वों को सर्वोपरि मानते हैं। ऐसे विज्ञानियों को यह विचार रास नहीं आता कि जीव भगवान् का अंश है। जैसाकि *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है (*ममैवांशो जीवलोकेजीवभूत:*) जीव—पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि जैसे भौतिक तत्त्वों के संयोग से नहीं बनते अपितु भगवान् के भिन्नांशों से बने होते हैं। भगवान् के भिन्नांश रूप में जीवों की स्थिति समझ लेने पर, जीव की प्रकृति के अध्ययन द्वारा भगवान् की प्रकृति को समझा जा सकता है क्योंकि जीव भगवान् का अंश-रूप है। किन्तु नास्तिकों की रुचि ईशभावनामृत में नहीं होती, अत: वे प्रतिकूल ढंगों से कृष्णभावनामृत का अनुशीलन करके सुखी बनना चाहते हैं।

यद्यपि कंस हरि के विचारों में सदैव डूबा रहता था किन्तु वह सुखी नहीं था। पर भक्त चाहे सिंहासनारूढ़ हो या वृक्ष के नीचे बैठा हो, सदैव सुखी रहता है। श्रील रूप गोस्वामी ने वृक्ष के नीचे बैठने के लिए सरकार के मंत्रीपद से त्यागपत्र दे दिया था; फिर भी वे सुखी थे। *त्यक्त्वा तूर्णमशेषमण्डलपतिश्रेणीं सदा तुच्छवत्* (*षड्गोस्वाम्यष्टक* ४)। उन्होंने मंत्री के सुखदायक पद की परवाह नहीं की। वे वृन्दावन में एक वृक्ष के नीचे ही भगवान् की अनुकूल सेवा करते हुए सुखी थे।

एक भक्त तथा अभक्त में यही अन्तर है। अभक्त के लिए संसार समस्याओं से पूर्ण है जब कि भक्त के लिए सारा जगत सुखमय है।

विश्वं पूर्णसुखायते विधिमहेन्द्रादिश्च कीटायते।

यत्कारुण्यकटाक्षवैभववतां तं गौरमेव स्तुमः॥

(*चैतन्यचन्द्रामृत* ९५)

भक्त की यह सुखमय स्थिति भगवान् चैतन्य महाप्रभु की कृपा से स्थापित हो सकती है। *यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।* (*भगवद्गीता* ६.२२) भक्त ऊपरी तौर पर महान् संकट में पड़ कर भी कभी उद्विग्न नहीं होता।

ब्रह्मा भवश्च तत्रैत्य मुनिभिर्नारदादिभिः ।
देवैः सानुचरैः साकं गीर्भिर्वृषणमैडयन् ॥ २५॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा—चतुर्मुख सर्वोच्च देवता; भवः च—तथा शिवजी; तत्र—वहाँ; एत्य—आकर; मुनिभिः—मुनियों; नारद-आदिभिः—नारद इत्यादि के साथ; देवैः—तथा इन्द्र, चन्द्र, वरुण इत्यादि देवताओं के साथ; स-अनुचरैः—अपने अपने अनुयायियों के साथ; साकम्—साथ; गीर्भिः—अपनी स्तुतियों से; वृषणम्—किसी को भी वर देने वाले भगवान्; ऐडयन्—प्रसन्न किया।

ब्रह्माजी तथा शिवजी, नारद, देवल तथा व्यास जैसे महामुनियों एवं इन्द्र, चन्द्र तथा वरुण जैसे देवताओं के साथ अदृश्य रूप में देवकी के कक्ष में पहुँचे जहाँ सबों ने मिलकर वरदायक भगवान् को प्रसन्न करने के लिए सादर स्तुतियाँ कीं।

तात्पर्य : *द्वौ भूत-सर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च* (*पद्मपुराण*)। मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—*दैव* तथा *असुर*—और इन दोनों में बड़ा भारी अन्तर है। असुर होने के कारण कंस लगातार भगवान् या उनकी माता देवकी को मार डालने के लिए तरह तरह की योजनाएँ बनाता रहता था। इस तरह वह भी कृष्णभावनाभावित था। किन्तु भक्तगण अनुकूल रूप से कृष्णभावनाभावित होते हैं (*विष्णु भक्तः स्मृतो दैवः*)। ब्रह्माजी इतने शक्तिशाली हैं कि उन्हें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के सृजन का कार्य दिया गया है फिर भी वे भगवान् का स्वागत करने स्वंय आये। भव अर्थात् शिवजी भगवान् के नाम का कीर्तन करके सदा हर्षित होते हैं। और नारद का तो कहना ही क्या? *नारदमुनि, बाजाय वीणा, राधिका-रमण-नामे।* नारदमुनि सदैव भगवान् का गुणगान करते रहते हैं और उनका कार्य है पूरे विश्व का भ्रमण करके भक्त की खोज करना या किसी को भक्त बनाना। नारद की कृपा से शिकारी भी भक्त बन गया। श्रील

सनातन गोस्वामी ने *तोषणी टीका* में लिखा है कि *नारद-आदिभि:* शब्द का अर्थ है कि नारद तथा देवताओं के साथ सनक तथा सनातन मुनि भी थे और वे सभी अपनी बधाई देने तथा भगवान् का स्वागत करने आये थे। यद्यपि कंस देवकी को मारने की योजना बना रहा था किन्तु वह भी भगवान् के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा था (प्रतीक्षंस्तज्जन्म)।

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सत्य-व्रतम्—भगवान् जो अपने व्रत से कभी विचलित नहीं होते; * सत्य-परम्—परम सत्य (जैसाकि श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में कहा गया है, सत्यं परं धीमहि); त्रि-सत्यम्—वे इस जगत की सृष्टि, पालन तथा इसके संहार के बाद भी परम सत्य के रूप में विद्यमान रहते हैं; सत्यस्य—परम सत्य कृष्ण से उद्भूत सारे सत्यों के; योनिम्—कारण; निहितम्—प्रविष्ट; **च—तथा; सत्ये—इस जगत को उत्पन्न करने वाले कारणों (पंचतत्वों-क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर); सत्यस्य—सत्य माने जाने वाले का; सत्यम्—भगवान् जो आदि सत्य हैं; ऋत-सत्य-नेत्रम्—अच्छे लगने वाले सत्य के उद्गम (सुनेत्रम्); सत्य-आत्मकम्—भगवान् से सम्बद्ध हर वस्तु सत्य है (सच्चिदानन्द) (उनका शरीर सत्य है, उनका ज्ञान सत्य है और उनका आनन्द सत्य है); त्वाम्—तुम्हारी, हे भगवान्; शरणम्—शरण में; प्रपन्नाः—आपके संरक्षण में हम सभी।

footnote starts here

* भगवान् का व्रत है—यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् (भगवद्गीता ४.७)। इसी व्रत को निभाने के लिए भगवान् प्रकट हुए।

** भगवान् सारी वस्तुओं में यहाँ तक कि परमाणु के भीतर भी हैं—*अण्डान्तरस्थ परमाणुचयान्तरस्थम्* (*ब्रह्म-संहिता* ५.४४)। इसीलिए वे अन्तर्यामी कहलाते हैं।

footnote ends here

देवताओं ने प्रार्थना की; हे प्रभो, आप अपने व्रत से कभी भी विचलित नहीं होते जो सदा ही पूर्ण रहता है क्योंकि आप जो भी निर्णय लेते हैं वह पूरी तरह सही होता है और किसी के द्वारा रोका नहीं जा सकता। सृष्टि, पालन तथा संहार—जगत की इन तीन अवस्थाओं में वर्तमान रहने से आप परम सत्य हैं। कोई तब तक आपकी कृपा का भाजन नहीं बन सकता जब तक वह पूरी तरह आज्ञाकारी न हो अतः इसे दिखावटी लोग प्राप्त नहीं कर सकते। आप सृष्टि के सारे अवयवों में असली सत्य हैं इसीलिए आप अन्तर्यामी कहलाते हैं। आप सबों पर समभाव रखते हैं

और आपके आदेश प्रत्येक काल में हर एक पर लागू होते हैं। आप आदि सत्य हैं अतः हम नमस्कार करते हैं और आपकी शरण में आए हैं। आप हमारी रक्षा करें।

तात्पर्य : देवता या भक्तगण भलीभाँति जानते हैं कि चाहे यह भौतिक जगत हो या वैकुण्ठलोक, असली वस्तु तो भगवान् ही हैं। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* का आरम्भ *ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ...* सत्यं परं धीमहि *से होता है। वासुदेव, कृष्ण ही* परं सत्य *हैं। परम सत्य तक परम विधि द्वारा ही पहुँचा जा सकता है जैसा कि परम सत्य ने घोषित किया है*—भक्त्यामामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः (भगवद्गीता १८.५५)। *परम सत्य को समझने का एकमात्र ढंग है* भक्ति। इसीलिए देवतागण अपनी रक्षा के लिए परम सत्य की ही शरण में आते हैं सापेक्ष सत्य की नहीं। ऐसे अनेक लोग हैं, जो देवताओं की पूजा करते हैं किन्तु परम सत्य कृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.२३) में कहा है—*अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्*—अल्पज्ञ लोग देवताओं की पूजा करते हैं और उनके फल सीमित तथा क्षणिक होते हैं। देवताओं की पूजा सीमित समय के लिए लाभदायक हो सकती है किन्तु परिणाम नाशवान होता है। यह संसार नश्वर है और देवता भी नश्वर हैं। देवताओं से प्राप्त होने वाले वर भी नश्वर होते हैं जब कि जीव शाश्वत है (*नित्योनित्यानाम् चेतनश्चेतनानाम्*)। इसलिए हर जीव को नश्वर सुख नहीं अपितु शाश्वत सुख की खोज करनी चाहिए। *सत्यं परं धीमहि* सूचित करता है कि मनुष्य को सत्य की खोज करनी चाहिए सापेक्ष सत्य की नहीं।

भगवान् नृसिंहदेव की प्रार्थना करते हुए प्रह्लाद महाराज ने कहा था—

बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह

नार्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः।

सामान्यतया यह समझा जाता है कि बच्चे के रक्षक उसके माता-पिता होते हैं किन्तु यह यथार्थ नहीं है। असली रक्षक तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं।

तप्तस्य तत्प्रतिविधिर्य इहाञ्जसेष्टस्

तावद्विभो तनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम्।

(*भागवत* ७.९.१९)

यदि किसी बालक की उपेक्षा भगवान् द्वारा होती है, वह अपने मातापिता के होते हुए भी कष्ट

भोगता है। इसी तरह रोगी व्यक्ति सारी चिकित्सा होने पर भी मर जाता है। इस भौतिक संसार में, जहाँ जीवन-संघर्ष चल रहा है, लोगों ने रक्षा के अनेक साधन ढूँढ निकाले हैं किन्तु यदि भगवान् इनका तिरस्कार कर देते हैं, तो ये व्यर्थ हो जाते हैं। इसलिए देवताओं ने जानबूझ कर कहा—*सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्ना:*—हे प्रभु! आप ही असली रक्षा कर सकते हैं अतएव हम आपकी शरण ग्रहण करते हैं।

भगवान् चाहते हैं कि लोग उनकी शरण में आएँ (*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*) और वे आगे कहते हैं—

सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च याचते।

अभयंसर्वदातस्मैददाम्येतद्व्रतं मम॥

"यदि कोई निष्ठापूर्वक यह कहकर मेरी शरण में आता है कि 'हे प्रभो! आज से मैं आपकी शरण में हूँ' तो मैं उसे सदैव सुरक्षा प्रदान करता हूँ। यह मेरा व्रत है।" (*रामायण, युद्ध काण्ड* १८.३३)। देवताओं ने भगवान् की स्तुति की क्योंकि कंस तथा उसके सहयोगियों द्वारा सताये गये सारे भक्तों की रक्षा करने के लिए भगवान् अपनी भक्त देवकी के गर्भ में अब प्रकट हो चुके थे। इस तरह भगवान् *सत्यव्रत* की भूमिका अदा करते हैं। भगवान् द्वारा की जाने वाली रक्षा की तुलना देवताओं द्वारा दी जाने वाली रक्षा से नहीं की जा सकती। कहा जाता है कि रावण शिवजी का महान् भक्त था किन्तु जब भगवान् रामचन्द्र जी उसे मारने गये तो शिवजी उसे सुरक्षा प्रदान नहीं कर सके।

ब्रह्माजी तथा शिव, नारद जैसे महान् ऋषियों तथा अनेक अन्य देवताओं के साथ कंस के घर में अदृश्य होकर आये। वे भगवान् की स्तुति ऐसे चुने हुए श्लोकों से करने लगे जो भक्तों को प्रिय हैं और इच्छाओं को पूरा करने वाले होते हैं। प्रारम्भिक शब्दों में उन्होंने कहा है कि भगवान् अपने व्रत के पक्के हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, कृष्ण पुण्यात्माओं की रक्षा करने तथा अधर्मियों का विनाश करने के लिए ही इस भौतिक संसार में अवतरित होते हैं। यही उनका व्रत है। देवता समझ गये थे कि भगवान् अपने इस व्रत को पूरा करने के लिए ही देवकी के गर्भ में वास कर चुके हैं। वे परम प्रसन्न थे कि भगवान् अपना ध्येय पूरा करने के लिए प्रकट हो रहे हैं और उन्होंने उन्हें *सत्यं परम्* कह कर सम्बोधित किया।

हर व्यक्ति सत्य की खोज में रहता है। यही जीवन की दार्शनिक शैली है। देवता यह जानकारी देते

हैं कि परम सत्य कृष्ण हैं। जो पूर्णतया कृष्णभावनाभावित है, वह परम सत्य को प्राप्त कर सकता है। कृष्ण परम सत्य हैं। सापेक्ष सत्य काल की तीनों अवस्थाओं में सत्य नहीं है। काल को भूत, वर्तमान तथा भविष्य में विभाजित किया जाता है। कृष्ण भूत, वर्तमान तथा भविष्य सबों में सत्य हैं। भौतिक जगत में हर वस्तु का नियंत्रण परम काल द्वारा भूत, वर्तमान तथा भविष्य के रूप में होता है। सृष्टि के पहले भी कृष्ण विद्यमान थे और सृष्टि की रचना हो जाने पर हर वस्तु कृष्ण पर टिकी है और इस सृष्टि के नष्ट होने पर कृष्ण बने रहेंगे। अत: वे समस्त परिस्थितियों में परम सत्य हैं। यदि इस जगत में कोई सत्य है, तो वह परम सत्य कृष्ण से उद्‌भूत है। यदि इस जगत में कोई ऐश्वर्य है, तो उस ऐश्वर्य का कारण कृष्ण हैं। यदि इस जगत में कोई यश है, तो उसके कारणस्वरूप कृष्ण हैं। यदि इस जगत में कोई पराक्रम है, तो उसका कारण कृष्ण हैं। यदि इस जगत में कोई बुद्धि तथा विद्या है, तो उसका कारण कृष्ण हैं। अत: कृष्ण समस्त सापेक्ष सत्यों के उद्‌गम हैं।

इसीलिए भक्तगण ब्रह्माजी का अनुसरण करते हुए प्रार्थना करते हैं—*गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि*—कि हम आदि पुरुष परम सत्य गोविन्द की पूजा करते हैं। सर्वत्र सारे कार्य *ज्ञान-बल-क्रिया* इन तीन सिद्धान्तों के रूप में सम्पन्न होते हैं। यदि हर क्षेत्र में पूर्ण ज्ञान, पूर्ण बल तथा पूर्ण क्रिया नहीं होती तो कोई प्रयास कभी सफल नहीं होता। अत: यदि कोई व्यक्ति हर काम में सफलता चाहता है उसे इन तीन सिद्धान्तों का आधार मिलना चाहिए। वेदों में (*श्वेताश्वतर उपनिषद* ६.८) भगवान् सम्बन्धी निम्नलिखित कथन पाया जाता है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते

न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

भगवान् को स्वयं कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि उनके पास ऐसी शक्तियाँ हैं कि वे जो भी करवाना चाहते हैं वह भौतिक प्रकृति के नियंत्रण द्वारा भलीभाँति सम्पन्न हो जाता है (*स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च*)। इसी तरह जो लोग भगवान् की सेवा में लगे है वे जीवन-संघर्ष करने के निमित्त नहीं होते। इस समय कृष्णभावनामृत आन्दोलन का प्रसार करने में जो दस हजार से

भी अधिक नर–नारी विश्वभर में लगे हुए हैं उनके पास कोई स्थायी वृत्ति नहीं है फिर भी हम देखते हैं कि वास्तव में उनका पालन अत्यन्त ठाट–बाट से होता है। *भगवद्गीता* (९.२२) में भगवान् कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनः पर्युपासते।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

''जो लोग भक्तिपूर्वक मेरी पूजा करते हैं और मेरे दिव्य रूप का ध्यान धरते हैं उन्हें मैं वह देता हूँ जो उनके पास नहीं है तथा जो उनके पास है उसकी सुरक्षा करता हूँ।'' भक्तों को इसकी चिन्ता नहीं रहती कि आगे क्या होगा, वे कहाँ ठहरेंगे या क्या खायेंगे क्योंकि उनके लिए वे भगवान् हर वस्तु बनाये रखते हैं और पूर्ति करते हैं जिन्होंने वचन दिया है—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*—हे कुन्तीपुत्र! तू निर्भीक होकर घोषित कर दे कि मेरा भक्त कभी विनष्ट नहीं होता है। (*भगवद्गीता* ९.३१) इसलिए सभी दृष्टियों से, सभी परिस्थितियों में यदि कोई पूरी तरह भगवान् की शरण में चला जाता है, तो फिर उसके जीवन–संघर्ष करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस सम्बन्ध में श्रीपाद मध्वाचार्य की टीका सार्थक है, जिसमें *तन्त्र भागवत* से उद्धरण दिये गये हैं—

सच्छब्द उत्तमं ब्रूयाद् आनन्दन्तीति वै वदेत्॥

येतिज्ञानं समुद्दिष्टं पूर्णानन्ददृशिस्ततः॥

अत्तृत्वाच्च तदा दानात्

सत्यात्त्य चोच्यते विभुः।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर *सत्यस्य योनिम्* शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि कृष्ण *अवतारी* अर्थात् सारे अवतारों के उद्गम हैं। सारे अवतार परम सत्य हैं फिर भी भगवान् कृष्ण ही समस्त अवतारों के उद्गम हैं। *दीपार्चिरेव हि दशान्तरमभ्युपेत्य दीपायते* (*ब्रह्म–संहिता* ५.४६)। मान लीजिये कि अनेक दीपक हैं, जो समान शक्तिवाले हैं फिर भी पहला, दूसरा, तीसरा इत्यादि–इत्यादि दीपक होते हैं। इसी तरह अवतार अनेक हैं जिनकी तुलना दीपकों से की जाती है लेकिन पहला दीपक आदि भगवान् कृष्ण है। *गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।*

देवताओं को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की आज्ञा पालन करने के लिए पूजा करनी चाहिए किन्तु यह

तर्क किया जा सकता है कि भगवान् देवकी के गर्भ के भीतर थे अत: वे भी भौतिक देह में प्रकट होने वाले थे। तो फिर उनकी पूजा क्यों की जाए? किसी सामान्य जीव तथा भगवान् में अन्तर क्यों करें? इन प्रश्नों का उत्तर अगले श्लोकों में दिया गया हैं।

एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूल-
श्चतूरस: पञ्चविध: षडात्मा ।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो
दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्ष: ॥ २७॥

शब्दार्थ

एक-अयन:—सामान्यजीव का शरीर भौतिक तत्त्वों पर पूरी तरह आश्रित है; असौ—वह; द्वि-फल:—इस शरीर में हमें सुख तथा दुख मिलते रहते हैं, जो कर्मों से प्रतिफलित होते हैं; त्रि-मूल:—तीन जड़ों वाली प्रकृति के तीन गुण (सतो, रजो तथा तमोगुण) जिनसे शरीर बना है; चतु:-रस: *—चार रस या आस्वाद; पञ्च-विध:—ज्ञान प्राप्त करने की पाँच इन्द्रियों (आँख, कान, नाक, जीभ तथा स्पर्श) से युक्त; षट्-आत्मा—छ: परिस्थितियाँ (शोक, मोह, जरा, मृत्यु, भूख, प्यास); सप्त-त्वक्—सात आवरण (त्वचा, रक्त, पेशी, वसा, अस्थि, मज्जा तथा वीर्य) वाला; अष्ट-विटप:—आठ शाखाएँ (पाँच स्थूल तत्त्व पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा मन, बुद्धि एवं अहंकार); नव-अक्ष:—नौ दरवाजे; दश-छदी—दस प्रकार की प्राण वायु जो वृक्ष के पत्तों के सदृश है; द्वि-खग:—दो पक्षी (आत्मा तथा परमात्मा); हि—निस्सन्देह; आदि-वृक्ष:—यही आदि वृक्ष या शरीर की बनावट है।

शरीर को अलंकारिक रूप में "आदि वृक्ष" कहा जा सकता है। यह वृक्ष भौतिक प्रकृति की भूमि पर आश्रित होता है और उसमें दो प्रकार के—सुख भोग के तथा दुख भोग के—फल लगते हैं। इसकी तीन जड़ें तीन गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुणों के साथ इस वृक्ष के कारणस्वरूप हैं। शारीरिक सुख रूपी फलों के स्वाद चार प्रकार के होते हैं—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष जो पाँच ज्ञान इन्द्रियों द्वारा छ: प्रकार की परिस्थितियों—शोक, मोह, जरा, मृत्यु, भूख तथा प्यास के माध्यम से अनुभव किये जाते हैं। इस वृक्ष की छाल में सात परतें होती हैं—त्वचा, रक्त, पेशी, वसा, अस्थि, मज्जा तथा वीर्य। इस वृक्ष की आठ शाखाएँ हैं जिनमें से पाँच स्थूल तत्त्व तथा तीन सूक्ष्मतत्त्व हैं—क्षिति, जल, पावक, समीर, गगन, मन, बुद्धि तथा अहंकार। शरीर रूपी वृक्ष में नौ छिद्र (कोठर) हैं—आँखें, कान, नथुने, मुँह, गुदा तथा जननेन्द्रिय। इसमें दस पत्तियाँ हैं, जो शरीर से निकलने वाली दस वायु हैं। इस शरीररूपी वृक्ष में दो पक्षी हैं—एक आत्मा तथा दूसरा परमात्मा।

तात्पर्य : यह शरीर पाँच प्रधान तत्त्वों—क्षिति, जल, पावक, समीर तथा गगन—से बना है। ये सारे तत्त्व कृष्ण से उद्भूत हैं। यद्यपि भौतिकतावादी विज्ञानी इन पाँच मूल तत्त्वों को भौतिक जगत का

कारण मानते हैं किन्तु ये तत्त्व स्थूल तथा सूक्ष्म अवस्थाओं में कृष्ण द्वारा ही उत्पन्न हैं जिनकी तटस्था शक्ति से भौतिक जगत में जीव भी उत्पन्न होते हैं। *भगवद्गीता* के सप्तम अध्याय में बतलाया गया है कि समग्र विश्व कृष्ण की दो शक्तियों—परा तथा अपरा शक्तियों—का मेल है। सारे जीव परा शक्ति हैं और निर्जीव तत्त्व उनकी अपरा शक्ति हैं। सुषुप्त अवस्था में हर वस्तु कृष्ण पर टिकी रहती है।

footnote starts here

* जिस तरह वृक्ष की जड़ पृथ्वी से जल (रस) खींचती है उसी तरह शरीर धर्म अर्थ, काम तथा मोक्ष का आस्वादन करता है। ये ही चार प्रकार के रस हैं।

footnote ends here

भौतिक विज्ञानी शरीर की भौतिक रचना का ऐसा पूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत नहीं कर पाते। भौतिक विज्ञानी केवल निर्जीव पदार्थ का विश्लेषण करते हैं किन्तु यह अपर्याप्त है क्योंकि जीव भौतिक शारीरिक संरचना से पूर्णतया भिन्न होता है। *भगवद्गीता* (७.५) में भगवान् कहते हैं—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

''इस अपरा प्रकृति के अतिरिक्त हे महाबाहु अर्जुन! मेरी एक परा प्रकृति है, जिसमें भौतिक प्रकृति से संघर्ष करने वाले तथा विश्व को बनाये रखने वाले सारे जीव पाये जाते हैं।'' यद्यपि सारे भौतिक तत्त्व पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण से उद्भूत होते हैं किन्तु वे पृथक् हुए तत्त्व हैं और जीवित तत्त्वों द्वारा धारण किये जाते हैं।

द्विखग: शब्द से सूचित होता है कि शरीर के भीतर के जीवित तत्त्व वृक्ष में बैठे दो पक्षियों के समान हैं। *ख* का अर्थ है ''आकाश'' तथा '*ग*' का अर्थ है, ''गमन करने वाले अत: *द्वि-खग:* दो पक्षियों का द्योतक है। इस शरीर रूपी वृक्ष में दो पक्षी अर्थात् दो सजीव तत्त्व हैं और वे दोनों सदैव पृथक्-पृथक् होते हैं। *भगवद्गीता* (१३.३) में भगवान् कहते हैं—*क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत*—हे भारत! तुम यह भी जान लो कि मैं सारे शरीरों का ज्ञाता भी हूँ। *क्षेत्रज्ञ* अर्थात् शरीर का स्वामी भी *खग* अर्थात् जीव कहलाता है। शरीर के भीतर ऐसे दो क्षेत्रज्ञ हैं—आत्मा तथा परमात्मा। आत्मा अपने शरीर का स्वामी है किन्तु परमात्मा सारे जीवों के शरीरों के भीतर उपस्थित रहता है।

शारीरिक संरचना का ऐसा सम्यक विश्लेषण तथा ज्ञान वैदिक साहित्य के अतिरिक्त अन्यत्र दुर्लभ है।

जब दो पक्षी किसी वृक्ष में प्रवेश करते हैं, तो मूर्खतावश कोई यह सोच सकता है कि दोनों पक्षी एक हो गये या वृक्ष से तदाकार हो गये किन्तु ऐसा होता नहीं। प्रत्युत हर पक्षी की अपनी व्यष्टि (निजी) पहचान बनी रहती है। इसी तरह आत्मा तथा परमात्मा कभी एक नहीं होते, न ही पदार्थ से उनका तादात्म्य होता है। जीव सदैव पदार्थ के निकट रहता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह उससे एकाकार हो जाता है (*असंगो ह्ययं पुरुष:*) यद्यपि भौतिक विज्ञानी जैव तथा अजैव या जड़ तथा चेतन को गलती से मिलाजुला मानते हैं।

वैदिक ज्ञान को बंदी बनाकर अथवा गुप्त रखा गया है किन्तु हर व्यक्ति को इसे समझने की आवश्यकता है। अज्ञान की आधुनिक सभ्यता केवल शरीर का विश्लेषण करने में व्यस्त है, अत: लोग इस गलत परिणाम को प्राप्त होते हैं कि शरीर के भीतर की जीवनी शक्ति किन्हीं भौतिक अवस्थाओं में उत्पन्न होती है। लोगों को आत्मा विषयक कोई जानकारी नहीं है किन्तु इस श्लोक में पूरी पूरी व्याख्या दी हुई है कि जीवनी शक्तियाँ दो हैं (*द्वि-खग*)—आत्मा तथा परमात्मा। परमात्मा हर शरीर में उपस्थित है (*ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*) जबकि आत्मा केवल अपने ही शरीर में (*देही*) स्थित है और एक शरीर से दूसरे में स्थानान्तरण करता रहता है।

त्वमेक एवास्य सतः प्रसूति-
स्त्वं सन्निधानं त्वमनुग्रहश्च ।
त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वां
पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम (हे प्रभु); एकः—अकेले, आप ही सर्वस्व हैं; एव—निस्सन्देह; अस्य सतः—इस दृश्य जगत का; प्रसूतिः—मूल स्रोत; त्वम्—आप; सन्निधानम्—सर्वस्व विनष्ट हो जाने पर ऐसी सारी शक्ति का संरक्षण; त्वम्—आप; अनुग्रहः च—तथा पालक; त्वत्-मायया—आपकी माया से; संवृत-चेतसः—उनका, जिनकी बुद्धि ऐसी माया से आवृत है; त्वाम्—आपको; पश्यन्ति—देखते हैं; नाना—अनेक प्रकार; न—नहीं; विपश्चितः—विद्वान या भक्तगण; ये—जो।

हे प्रभु, आप ही कई रूपों में अभिव्यक्त इस भौतिक जगत रूपी मूल वृक्ष के प्रभावशाली कारणस्वरूप हैं। आप ही इस जगत के पालक भी हैं और संहार के बाद आप ही ऐसे हैं जिसमें सारी वस्तुएँ संरक्षण पाती हैं। जो लोग माया से आवृत हैं, वे इस जगत के पीछे आपका दर्शन नहीं कर पाते क्योंकि उनकी दृष्टि विद्वान भक्तों जैसी नहीं होती।

तात्पर्य : अनेक देवता, यथा ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु इस भौतिक जगत के स्रष्टा, पालक तथा संहारक माने जाते हैं किन्तु वास्तव में वे हैं नहीं। यथार्थ तो यह है कि भगवान् अपनी विविध शक्तियों के रूप में हर वस्तु में प्रकट हैं। *एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म*—और कोई दूसरा अस्तित्व नहीं है। जो लोग सचमुच *विपश्चित्* अर्थात् विद्वान हैं, वे जीवन की किसी भी अवस्था में भगवान् को समझने तथा देखने में समर्थ होते हैं। *प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति* (*ब्रह्म-संहिता* ५.३८)। विद्वान भक्त कष्ट को भी भगवान् की उपस्थिति के रूप में स्वीकार करते हैं। जब कोई भक्त कष्ट में होता है, तो वह देखता है कि भगवान् तो भौतिक जगत के कल्मष से उसे छुटकारा दिलाने या शुद्ध करने के लिए कष्ट के रूप में प्रकट हुए हैं। इस जगत में रहते हुए मनुष्य विविध अवस्थाओं में रहता है, अतः भक्त कष्ट की अवस्था को भी भगवान् का दूसरा स्वरूप ही स्वीकार करता है। *तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणः* (*भागवत .१४.८*)। अतः भक्त कष्ट को भगवान् का महान् अनुग्रह मानता है क्योंकि वह समझता है कि उसके कल्मष धोये जा रहे हैं। *तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्* (*भगवद्गीता* १२.७)। कष्ट का उदय निषेधात्मक विधि है, जिससे भक्त को इस मृत्यु संसार से अथवा भौतिक संसार से अर्थात् जन्म-मृत्यु की निरन्तर पुनरावृत्ति से छुटकारा दिलाया जाता है। शरणागत को पुनः पुनः जन्म-मृत्यु से बचाने के लिए ही भगवान् उसे थोड़ा कष्ट देकर उसके कल्मष को धो देते हैं। अभक्त इसे नहीं समझ सकता किन्तु भक्त *विपश्चित्* अर्थात् विद्वान होने के कारण इसे देख सकता है। इसलिए अभक्त कष्ट में परेशान हो जाता है किन्तु भक्त इस कष्ट को भगवान् का दूसरा रूप जानकर स्वागत करता है। *सर्वं खल्विदं ब्रह्म।* भक्त वास्तव में देख सकता है कि भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरी सत्ता नहीं है। *एकमेवाद्वितीयम्।* भगवान् केवल एक है, जो अपने को विभिन्न शक्तियों के रूप में प्रस्तुत करता है।

जिन्हें असली ज्ञान नहीं है, वे सोचते हैं कि ब्रह्मा स्रष्टा हैं, विष्णु पालक हैं और शिव संहारकर्ता हैं और विभिन्न देवतागण विविध कार्यों की पूर्ति के निमित्त हैं। इस तरह वे लोग तरह तरह के प्रयोजन निर्मित करते हैं और इन कार्यों की पूर्ति के लिए विविध देवताओं की पूजा करते हैं। *कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना: प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता:*)। किन्तु भक्त जानता है कि विविध देवता भगवान् के ही अंग हैं और इन अंशों के पूजे जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। भगवान् *भगवद्गीता* (९.२३) में कहते

हैं—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

"हे कुन्तीपुत्र! मनुष्य जो कुछ भी अन्य देवताओं को अर्पित करता है, वह वास्तव में केवल मेरे निमित्त होता है किन्तु इसे बिना सही ज्ञान के अर्पण किया जाता है।" देवताओं के पूजन की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि यह *अविधि* है। मात्र कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने से मनुष्य के सारे कार्य पूरे हो जाते हैं और विविध अर्चाविग्रहों या देवताओं को पूजने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। केवल *मूढ* इन सब देवताओं को मानते हैं क्योंकि वे भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा मोहित होते हैं। (*त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्*) ऐसे मूढ़ इतना भी नहीं समझ सकते कि हर वस्तु के असली स्रोत तो भगवान् हैं (*मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्*)। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के विविध स्वरूपों से विचलित न हो अपितु परमेश्वर में ध्यान एकाग्र करके उन्हीं की पूजा करे (*मामेकं शरणं व्रज*)। मनुष्य-जीवन का यही आदर्श सिद्धान्त होना चाहिए।

बिभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मा
क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य ।
सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि
सतामभद्राणि मुहुः खलानाम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

बिभर्षि—आप स्वीकार करें; रूपाणि—अनेक रूप यथा मत्स्य, कूर्म, वराह, राम, नृसिंह आदि; अवबोधः आत्मा—विभिन्न अवतारों के बावजूद आप परम ज्ञाता बने रहते हैं; क्षेमाय—हर एक के और विशेषतया भक्तों के लाभ के लिए; लोकस्य—सारे जीवों के; चर-अचरस्य—जड़ तथा चेतन का; सत्त्व-उपपन्नानि—ऐसे सारे अवतार दिव्य होते हैं (शुद्ध सत्त्व); सुख-अवहानि—दिव्य आनन्द से पूरित; सताम्—भक्तों का; अभद्राणि—सारा अशुभ या संहार; मुहुः—पुनः पुनः; खलानाम्—अभक्तों का।

हे ईश्वर, आप सदैव ज्ञान से पूर्ण रहने वाले हैं और सारे जीवों का कल्याण करने के लिए आप विविध रूपों में अवतरित होते हैं, जो भौतिक सृष्टि के परे होते हैं। जब आप इन अवतारों के रूप में प्रकट होते हैं, तो आप पुण्यात्माओं तथा धार्मिक भक्तों के लिए मोहक लगते हैं किन्तु अभक्तों के लिए आप संहारकर्ता हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में बतलाया गया है कि भगवान् पुनः पुनः क्यों अवतरित होते हैं। भगवान् के

सारे अवतार अलग-अलग कार्य करते हैं किन्तु उनका एक प्रधान कार्य होता है भक्तों की रक्षा और दुष्टों का संहार (*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*)। इन दुराग्रहियों का संहार भी उनके लिए अन्ततोगत्वा शुभ ही होता है।

त्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि
समाधिनावेशितचेतसैके ।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन
कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

त्वयि—आप में; अम्बुज-अक्ष—हे कमल जैसे नेत्रवाले प्रभु; अखिल-सत्त्व-धाम्नि—जगत के आदि कारण जिससे हर वस्तु उद्भूत होती है और जिसमें समस्त शक्तियाँ नवास करती हैं; समाधिना—स्थायी ध्यान तथा पूर्ण तल्लीनता (आपके विचारों में) द्वारा; आवेशित—पूर्णतया तल्लीन, संलग्न; चेतसा—चेतना द्वारा; एके—आपके चरणकमलों के विषय में चिन्तन की एक विधि; त्वत्-पाद-पोतेन—आपके चरणकमल रूपी नाव में चढ़कर; महत्-कृतेन—ऐसे कार्य द्वारा जो अत्यन्त शक्तिशाली माना जाता है या जो महाजनों द्वारा सम्पन्न किया जाता है; कुर्वन्ति—करते हैं; गोवत्स-पदम्—बछड़े के खुर के निशान तुल्य; भव-अब्धिम्—संसार सागर को।.

हे कमलनयन प्रभु, सम्पूर्ण सृष्टि के आगार रूप आपके चरणकमलों में अपना ध्यान एकाग्र करके तथा उन्हीं चरणकमलों को संसार-सागर को पार करने वाली नाव मानकर मनुष्य महाजनों (महान् सन्तों, मुनियों तथा भक्तों) के चरणचिन्हों का अनुसरण करता है। इस सरल सी विधि से वह अज्ञान सागर को इतनी आसानी से पार कर लेता है मानो कोई बछड़े के खुर का चिन्ह पार कर रहा हो।

तात्पर्य : जीवन का असली उद्देश्य बारम्बार जन्म-मुत्यु के अज्ञान-सागर को पार करना है। किन्तु अज्ञान के अंधकार में रहने वाले इस उद्देश्य को नहीं जानते। उल्टे वे भौतिक प्रकृति की तरंगों द्वारा बहा ले जाये जाने के कारण (*प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वश:*) बारम्बार जन्म-मृत्यु के कष्टों को झेलते रहते हैं (*मृत्युसंसारवर्त्मनि*)। किन्तु जिन व्यक्तियों ने भक्तों की संगति से ज्ञान प्राप्त कर लिया है वे महाजनों का (*महत्कृतेन*) अनुसरण करते हैं। ऐसे लोग अपने चित्त को भगवान् के चरणकमलों पर केन्द्रित करते हैं और नवधा भक्ति में से एक या अधिक को (*श्रवणं कीर्तनं विष्णो: स्मरणं पादसेवनम्*) ग्रहण करते हैं। केवल इसी विधि से मनुष्य अज्ञान के दुर्लंघ्य संसार को पार कर सकता है।

भक्ति चाहे जिस रूप में हो, शक्तिशाली होती है। *श्रीविष्णो: श्रवणे परीक्षिद् अभवद् वैयासकि:*

कीर्तने (*भक्तिरसामृत सिन्धु* १.२.२६५)। इस श्लोक के अनुसार महाराज परीक्षित अपने मन को भगवान् के नाम, गुण तथा लीलाओं के श्रवण में एकाग्र करने के कारण मुक्त हुए। इसी तरह शुकदेव गोस्वामी भी केवल भगवान् के गुणगान से तथा श्रीकृष्ण के ही विषय में प्रवचन करके मुक्त बने जिससे संपूर्ण श्रीमद्‌भागवतम् की रचना हुई। कोई भी व्यक्ति भगवान् के सख्य—भगवान् की सखा-भाव से भक्ति—द्वारा भी मुक्त हो सकता है। भक्ति में ऐसी शक्ति है जैसाकि भगवान् के अनेक शुद्ध भक्तों द्वारा प्रस्तुत किये गये दृष्टान्तों से हम सीखते हैं।

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मुनिः।

प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥

(*श्रीमद्‌भागवत* ६.३.२०)

हमें ऐसे ही भक्तों के चरणचिह्नों का अनुसरण करना है क्योंकि इस एक सरल विधि से ही मनुष्य अज्ञान के सागर को उसी तरह से पार कर सकता है, जिस तरह बछड़े के खुर से उत्पन्न एक छोटे चिह्न को।

यहाँ पर भगवान् को *अम्बुजाक्ष* अर्थात् कमलनेत्र कहा गया है। भगवान् के कमल जैसे नेत्रों को देखकर मनुष्य इतना तुष्ट हो जाता है कि वह अन्य किसी वस्तु की ओर अपनी दृष्टि उठाना नहीं चाहता। भगवान् के दिव्य स्वरूप को देख करके ही भक्त अपने हृदय में स्थित भगवान् में तल्लीन हो जाता है। यह तल्लीनता ही *समाधि* कहलाती है। *ध्यानावस्थित तद्‌गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः* (*भागवत १२.१३.१*)। योगी भगवान् के विचारों में लीन रहता है क्योंकि उसके हृदय में स्थित भगवान् के चिन्तन के अतिरिक्त उसके पास कोई अन्य कार्य नहीं रहता। कहा भी गया है—

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं

महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः।

भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं

पदं पदं यद् विपदां न तेषाम्॥

"जिसने उन भगवान् के चरणकमल रूपी नौका ग्रहण कर ली है, जो संसार के आश्रय हैं और मुर राक्षस के शत्रु, मुरारी नाम से विख्यात हैं, उसके लिए यह भवसागर बछड़े के खुर में भरे हुए जल के

समान है। उसका लक्ष्य *परं पदम्* अर्थात् वैकुण्ठ है जहाँ न तो भौतिक क्लेश हैं और न पग पग पर विपदा है। (*भागवत* .१४.५८) ब्रह्माजी तथा शिव जैसे महाजनों ने (*स्वयम्भूर्नारद:शम्भु:*) इस विधि की संस्तुति की है, अत: अज्ञान को लाँघने के लिए हमें इसी विधि को ग्रहण करना चाहिए। यह अत्यन्त सरल है किन्तु हमें महाजनों के पदचिह्नों का अनुसरण करना चाहिए तभी सफलता मिल सकती है।

महत्कृतेन शब्द के विषय में यह भी महत्त्वपूर्ण बात है कि बड़े-बड़े भक्तों द्वारा दिखलाई गई विधि उन्हीं के लिए नहीं अपितु अन्यों के लिए भी होती है। जो वस्तुओं को इस तरह सरल बनाते हैं उससे न केवल उन्हें ही अपितु उनके अनुसरण करने वालों को भी आसानी होती है। इस श्लोक में अज्ञान-सागर को पार करने के लिए जो विधि बतलाई गई है, वह न केवल एक भक्त के लिए अपितु भक्त का अनुसरण करने वाले किसी सामान्य व्यक्ति के लिए भी है (*महाजनो यने गत: स पन्था:*)।

स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन्
भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः ।
भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते
निधाय याताः सदनुग्रहो भवान् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

स्वयम्—खुद, आप; समुत्तीर्य—पार करके; सु-दुस्तरम्—दुर्लंघ्य; द्युमन्—अज्ञान के इस लोक के अंधकार में सूर्य के समान चमकने वाले हे प्रभु; भव-अर्णवम्—संसार सागर को; भीमम्—भयानक; अदभ्र-सौहृदाः—भक्तगण जो पतितात्माओं के प्रति सदैव मैत्रीभाव रखते हैं; भवत्-पद-अम्भोरुह—आपके चरणकमल; नावम्—पार करने के लिए नाव को; अत्र—इस संसार में; ते—वे (वैष्णवजन); निधाय—पीछे छोड़कर; याताः—चरम लक्ष्य, वैकुण्ठ; सत्-अनुग्रहः—भक्तों पर सदैव कृपालु तथा दयालु; भवान्—आप।

हे द्युतिपूर्ण प्रभु, आप अपने भक्तों की इच्छा पूरी करने के लिए सदा तैयार रहते हैं इसीलिए आप वांछा-कल्पतरु कहलाते हैं। जब आचार्यगण अज्ञान के भयावह भवसागर को तरने के लिए आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण करते हैं, तो वे अपने पीछे अपनी वह विधि छोड़े जाते हैं जिससे वे पार करते हैं। चूँकि आप अपने अन्य भक्तों पर अत्यन्त कृपालु रहते हैं अतएव उनकी सहायता करने के लिए आप इस विधि को स्वीकार करते हैं।

तात्पर्य : इस कथन से पता चलता है कि किस तरह दयालु आचार्यगण तथा कृपालु भगवान् मिलकर उस गंभीर भक्त की सहायता करते हैं, जो भगवद्धाम वापस जाना चाहता है। श्री चैतन्य

महाप्रभु ने श्रील रूप गोस्वामी को शिक्षा देते हुए कहा था—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज॥

(*चै.च. मध्य* १९.१५१)

गुरु तथा कृष्ण की दया से ही मनुष्य को *भक्तिलता बीज* प्राप्त हो सकता है। गुरु का कर्तव्य है कि काल, परिस्थिति तथा पात्र के अनुसार साधनों की खोज करे जिससे मनुष्य को भक्ति करने के लिए प्रेरित किया जा सके क्योंकि भगवद्धाम वापस जाने वाले व्यक्ति से कृष्ण यह भक्ति स्वीकार करते हैं। भाग्यवान व्यक्ति सारे ब्रह्माण्ड का भ्रमण करने के बाद इस भौतिक जगत में ऐसे गुरु या आचार्य की शरण खोजता है, जो भक्त को परिस्थिति के अनुसार सेवा करने की उपयुक्त विधियों का प्रशिक्षण दे सके जिससे भगवान् उसकी सेवा स्वीकार कर लें। इससे पात्र को अपने चरम गन्तव्य तक पहुँचने में सुविधा होती है। अत: आचार्य का कर्तव्य है कि वह ऐसे साधन खोजे जिससे भक्त शास्त्रोक्त विधि से भक्ति कर सके। उदाहरणार्थ, रूप गोस्वामी ने आगे आने वाले भक्तों की सहायता करने के लिए '*भक्तिरसामृतसिन्धु*' जैसे ग्रंथ का प्रकाशन किया। इस तरह आचार्यों का कर्तव्य है कि वे भावी पात्रों को भक्ति करने में सहायक पुस्तकें प्रकाशित करें जिससे लोग परमेश्वर के कृपा से भगवद्धाम वापस जा सकें। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में इसी मार्ग की संस्तुति की जाती है और इसीका पालन किया जाता है। इस तरह भक्तों को सलाह दी गई है कि वे चार पापकर्मों से बचें। ये हैं—अवैध यौन, नशा, मांसाहार तथा जुआ। उन्हें प्रति दिन सोलह मालाएँ जप करने की भी सलाह दी गई है। ये प्रामाणिक आदेश हैं। चूँकि पाश्चात्य देशों में सतत कीर्तन संभव नहीं है अत: बनावटी तरीके से हरिदास ठाकुर की नकल नहीं करनी चाहिए किन्तु इसी विधि का पालन करना चाहिए। जो लोग अधिकारियों द्वारा प्रकाशित विविध पुस्तकों में संस्तुत विधि-विधानों का पालन करते हैं, कृष्ण उन्हें भक्त के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। अज्ञान के सागर को पार करने के लिए भगवान् के चरणकमलों की नौका बनाने की उपयुक्त विधि आचार्य द्वारा बतलाई जाती है और यदि पालनकर्ता इस विधि का दृढ़ता से पालन करता है, तो वह भगवद्कृपा से गन्तव्य तक अवश्य पहुँच जाता है। यह विधि *आचार्य सम्प्रदाय* कहलाती है। इसीलिए कहा गया है कि *सम्प्रदायविहीना येमन्त्रास्ते निष्फला मता:* (*पद्मपुराण*)।

आचार्य-सम्प्रदाय नितान्त प्रामाणिक है। इसलिए इस सम्प्रदाय को स्वीकार करना चाहिए अन्यथा सारा प्रयास व्यर्थ जाएगा। इसीलिए श्रील नरोत्तमदास ने गीत गाया है—

ताँदेर चरण सेवि भक्त सने वास।

जनमे जनमे हय, एइ अभिलाष॥

मनुष्य को चाहिए कि आचार्य के चरणकमलों की सेवा करे और भक्तों के समाज में रहे। तब भवसागर पार करने का प्रयास सार्थक होगा।

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥ ३२॥

शब्दार्थ

ये अन्ये—कोई या अन्य सभी; अरविन्द-अक्ष—हे कमलनेत्र; विमुक्त-मानिनः—भव-कल्मष के बन्धन से अपने को झूठे ही मुक्त मानने वाले; त्वयि—तुम में; अस्त-भावात्—विविध रूप से सोचते हुए किन्तु आपके चरणकमलों के विषय में अधिक न जानने की इच्छा रखते हुए; अविशुद्ध-बुद्धयः—जिनकी बुद्धि अब भी शुद्ध नहीं है और जो जीवन-लक्ष्य को नहीं जानते; आरुह्य—प्राप्त करके भी; कृच्छ्रेण—कठिन तपस्या तथा श्रम के द्वारा; परम् पदम्—सर्वोच्च पद (अपनी कल्पना के अनुसार); ततः—उस पद से; पतन्ति—गिरते हैं; अधः—पुनः नीचे भवसागर में; अनादृत—उपेक्षा किया हुआ; युष्मत्—आपके; अङ्घ्रयः—चरणकमल।

(कोई कह सकता है कि भगवान् के चरणकमलों की शरण खोजने वाले भक्तों के अतिरिक्त भी ऐसे लोग हैं, जो भक्त नहीं हैं किन्तु जिन्होंने मुक्ति प्राप्त करने के लिए भिन्न विधियाँ अपना रखी हैं। तो उनका क्या होता है? इसके उत्तर में ब्रह्माजी तथा अन्य देवता कहते हैं) हे कमलनयन भगवान्, भले ही कठिन तपस्याओं से परम पद प्राप्त करने वाले अभक्तगण अपने को मुक्त हुआ मान लें किन्तु उनकी बुद्धि अशुद्ध रहती है। वे कल्पित श्रेष्ठता के अपने पद से नीचे गिर जाते हैं, क्योंकि उनके मन में आपके चरणकमलों के प्रति कोई श्रद्धाभाव नहीं होता।

तात्पर्य : भक्तों के अलावा अन्य अभक्त भी हैं, जो कर्मी, ज्ञानी, योगी, परमार्थवादी, उपकारी, राजनीतिज्ञ, निर्विशेषवादी तथा शून्यवादी कहलाते हैं। अभक्तों के अनेक भेद हैं जिनके मुक्ति के मार्ग अलग-अलग हैं किन्तु भगवान् के चरणकमलों के आश्रय को न जानने से वे अपने को मुक्त तथा परमपद प्राप्त हुआ सोचते हुए भी नीचे गिरते हैं। *भगवद्गीता* (९.३) में भगवान् ने स्पष्ट कहा हैं—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।

अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

"हे शत्रुओं के विजेता! जो लोग भक्ति के पथ के प्रति श्रद्धावान् नहीं हैं, वे मुझे नहीं प्राप्त कर सकते। वे इस भौतिक जगत में जन्म तथा मृत्यु के लिए वापस लौट आते हैं।" चाहे कोई कर्मी हो या ज्ञानी, योगी, उपकारी, राजनीतिज्ञ या अन्य कुछ हो, यदि उसके मन में भगवान् के चरणकमलों के प्रति प्रेम नहीं होता तो वह नीचे गिरता है। इस श्लोक में ब्रह्माजी ने यही निणर्य दिया है।

कुछ लोग ऐसे हैं, जो कहते हैं कि चाहे जिस विधि को अपनाया जाय उसी लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है किन्तु इस श्लोक में इसका परिहार किया गया है और ऐसे व्याक्तियों को *विमुक्तमानिनः* कहा गया है, जो इसका सूचक है कि यद्यपि ऐसे लोग अपने को परम सिद्धि प्राप्त हुआ समझते हैं किन्तु यह यथार्थ नहीं होता। सम्प्रति संसार के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ ऐसा सोचते हैं कि योजना बनाकर वे राष्ट्रपति या प्रधान मंत्री जैसे सर्वोच्च राजनीतिक पद पर प्रतिष्ठित हो सकते हैं किन्तु हम देखते हैं कि ऐसे राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री अभक्त होने के कारण इसी जीवन में नीचे गिर जाते हैं (*पतन्त्यधः*)। राष्ट्रपति या प्रधान मंत्री बनना सरल नहीं है। उस पद को प्राप्त करने के लिए कठिन श्रम करना होता है (*आरुह्य कृच्छ्रेण*)। और यदि अपने लक्ष्य तक कोई पहुँच भी जाता है, तो किसी भी समय भौतिक प्रकृति उसे ठुकरा सकती है। मानव समाज में ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलते हैं जब बड़े बड़े राजनीतिज्ञ सरकार से पदच्युत होकर विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गये। इसका कारण है अविशुद्ध बुद्धयः— उनकी बुद्धि अशुद्ध है। शास्त्र का कथन है—*न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुम्* (*भागवत* ७.५.३१)। विष्णु भक्त होकर जीवन-सिद्धि प्राप्त की जा सकती है लेकिन लोग इसे जानते नहीं। इसीलिए *भगवद्गीता* (१२.५) में कहा गया है—*क्लेशोऽधिकतरस्तेषां अव्यक्तासक्त चेतसाम्।* जो लोग अन्ततोगत्वा भगवान् को स्वीकार नहीं करते और भक्ति नहीं करते प्रत्युत निर्विशेषवाद और शून्यवाद में लिप्त रहते हैं उन्हें अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिए बहुत श्रम करना पड़ता है—

श्रेयःसृतिंभक्तिमुदस्यतेविभो

क्लिश्यन्ति ये केवल-बोध-लब्धये।

(*भागवत* .१४.४)

ज्ञान प्राप्त करने के लिए ऐसे लोग अत्यधिक श्रम करते हैं और घोर तप करते हैं किन्तु उससे श्रम तथा तपस्या की उपलब्धि भले हो किन्तु इनसे जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती।

ध्रुव महाराज पहले अपने पिता से भी बड़ा साम्राज्य तथा भौतिक सम्पत्ति प्राप्त करना चाहते थे किन्तु जब भगवान् वर देने के लिए उनके समक्ष प्रकट हुए तो ध्रुव महाराज ने यह कहकर मना कर दिया—*स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे*—अब मैं पूरी तरह सन्तुष्ट हूँ। मुझे कोई भौतिक वर नहीं चाहिए। (*हरि भक्ति सुधोदय* ७.२८) यही जीवनसिद्धि हैं। यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः (*भगवद्गीता* ६.२२)। भगवान् के चरणकमलों की शरण प्राप्त हो जाने पर मनुष्य पूर्णरूपेण संतुष्ट हो जाता है और उसे कोई भौतिक वर माँगने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

रात्रि में कमल नहीं दिखते क्योंकि कमल दिन में ही खिलते हैं। *अतःअरविन्दाक्ष* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जो व्यक्ति भगवान् के कमलनयनों अथवा उनके दिव्य रूप से मोहित नहीं होता वह उसी तरह अंधकार में रहता है जैसे कमल को न देखने वाला। जिसने श्यामसुन्दर के कमलनेत्रों तथा उनके दिव्य रूप को नहीं देखा उसका जीवन व्यर्थ है। *प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्तिविलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।* जो लोग भगवान् के प्रेम में अनुरक्त हैं, वे सदैव उनके कमलनेत्रों तथा कमल-चरणों का दर्शन करते हैं किन्तु अन्य लोग भगवान् के सौन्दर्य का दर्शन नहीं कर पाते अतः वे *अनादृत युष्मदङ्घ्रयः* अर्थात् आपके साकार स्वरूप की उपेक्षा करने वाले कहलाते हैं। जो लोग भगवान् के स्वरूप का अनादर करते हैं उनको जीवन-पथ में पग-पग पर असफलता मिलती है किन्तु यदि कोई नाममात्र को भी भगवत्प्रेम उत्पन्न कर लेता है, तो वह अनायास ही मुक्त हो जाता है (*स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्*)। इसीलिए भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.३४) में संस्तुति की है—*मन्मना भव मदभक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु*—केवल मेरा चिन्तन करो, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो और मुझे ही नमस्कार करो। केवल इसी विधि से मनुष्य भगवद्धाम वापस जा सकता है और चरम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। भगवान् आगे भी पुष्टि करते हैं (*भगवद्गीता* १८.५४-५५)

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

"इस तरह दिव्य पद को प्राप्त व्यक्ति तुरन्त परब्रह्म का साक्षात्कार करता है और पूर्ण रूप से प्रसन्न रहता है। वह न शोक करता है न किसी वस्तु की इच्छा करता है। वह हर जीव पर समभाव रखता है। ऐसी स्थिति में उसे मेरी शुद्ध भक्ति प्राप्त होती है। केवल भक्ति द्वारा भगवान् के यथारूप को जाना जा सकता है। जब वह ऐसी भक्ति द्वारा पूर्णतया ईशभावनाभावित हो जाता है, तो वह भगवद्धाम में प्रवेश कर सकता है।"

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्
भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः ।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तथा—उनकी (अभक्तों की) तरह; न—नहीं; ते—वे (भक्तगण); माधव—हे लक्ष्मीपति भगवान्; तावकाः—भक्तिमार्ग के अनुयायी, भक्तगण; क्वचित्—किसी भी परिस्थिति में; भ्रश्यन्ति—नीचे गिरते हैं; मार्गात्—भक्ति मार्ग से; त्वयि—आप में; बद्ध-सौहृदाः—आपके चरणकमलों में पूरी तरह से अनुरक्त होने के कारण; त्वया—आपके द्वारा; अभिगुप्ताः—सारे संकटों से सुरक्षित; विचरन्ति—विचरण करते हैं; निर्भयाः—निर्भीक होकर; विनायक-अनीकप—शत्रु जो भक्ति विचारधारा का विरोध करने के लिए साज-सामान रखते हैं; मूर्धसु—अपने सिरों पर; प्रभो—हे प्रभु.

हे माधव, पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर, हे लक्ष्मीपति भगवान्, यदि आपके प्रेमी भक्तगण कभी भक्तिमार्ग से च्युत होते हैं, तो वे अभक्तों की तरह नहीं गिरते क्योंकि आप तब भी उनकी रक्षा करते हैं। इस तरह वे निर्भय होकर अपने प्रतिद्वन्द्वियों के मस्तकों को झुका देते हैं और भक्ति में प्रगति करते रहते हैं।

तात्पर्य : सामान्यतया भक्तों का पतन नहीं होता किन्तु यदि परिस्थितिवश ऐसा हो भी जाय तो भगवान् उनकी प्रबल अनुरक्ति के कारण सभी परिस्थितियों में उन्हें संरक्षण प्रदान करते हैं। भक्तगण गिरकर भी इतने प्रबल रहते हैं कि अपने शत्रुओं के मस्तकों पर चल सकें। हमने वास्तव में देखा है कि हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन के अनेक विरोधी हैं, जैसे "डीप्रोग्रामर्स" जिन्होंने हमारे भक्तों के विरुद्ध एक भारी मुकद्दमा चला रखा था। हमने सोच रखा था कि इस मुकद्दमा के तय होने में काफी समय लगेगा किन्तु भक्तों की रक्षा भगवान् करते हैं अतः हम आशा के विपरीत एक दिन में ही मुकद्दमा जीत गये। इस तरह जो मुकद्दमा सालों चलने वाला था वह भगवान् के संरक्षण के कारण एक

ही दिन में तय हो गया क्योंकि *भगवद्गीता* (९.३१) में भगवान् ने वादा किया है—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*—हे कुन्तीपुत्र! तुम निर्भय होकर घोषित कर दो कि मेरा भक्त कभी विनष्ट नहीं होता। इतिहास में भक्तों के ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं—यथा चित्रकेतु, इन्द्रद्युम्न तथा महाराज भरत जो परिस्थितिवश च्युत हुए किन्तु फिर भी उनकी रक्षा हुई। उदाहरणार्थ, महाराज भरत एक हिरन के प्रति अपनी अनुरक्ति के कारण अगले जन्म में हिरन बने क्योंकि मरते समय उन्होंने हिरन का ही चिन्तन किया था (*यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्*)। भगवान् की सुरक्षा पाने से हिरन ने भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को स्मरण रखा जिससे अगले जन्म में उसका जन्म एक अच्छे ब्राह्मण परिवार में हुआ और उसने भक्ति सम्पन्न की (*शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते*)। इसी तरह चित्रकेतु का पतन हुआ और वह राक्षस वृत्रासुर बना किन्तु उसकी भी रक्षा की गई। इस तरह यदि कोई भक्ति योग के मार्ग से नीचे गिरता भी है, तो अन्ततोगत्वा उसकी रक्षा होती है। यदि कोई भक्त दृढ़ रूप से भक्तियोग में स्थित है, तो भगवान् उसकी सुरक्षा का वचन देते हैं (*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*)। किन्तु यदि परिस्थितिवश भक्त का पतन हो भी जाय तो माधव उसकी रक्षा करते हैं।

माधव शब्द सार्थक है। *मा,* लक्ष्मी, सभी ऐश्वर्यों की माता सदैव भगवान् के साथ रहती हैं और यदि भक्त भगवान् के सम्पर्क में रहता है, तो भगवान् के सारे ऐश्वर्य उसकी सहायता के लिए तैयार रहते हैं।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

(*भगवद्गीता* १८.७८)

जहाँ भगवान् कृष्ण तथा उनका भक्त अर्जुन अर्थात् पार्थ रहते हैं वहाँ विजय, ऐश्वर्य, असाधारण शक्ति तथा नैतिकता रहते हैं। भक्त का ऐश्वर्य *कर्मकाण्डविचार* का प्रतिफल नहीं होता। भक्त सदैव भगवान् के सारे ऐश्वर्यों द्वारा सुरक्षित रहता है। कोई भी उससे उन्हें वंचित नहीं कर सकता (*तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्*)। इस तरह भक्त अपने किसी भी विरोधी द्वारा परास्त नहीं किया जा सकता। इसलिए भक्त को चाहिए कि जानबूझ कर भक्ति के मार्ग से विचलित न हो। दृढ़ भक्त की

सुरक्षा भगवान् द्वारा निश्चित है।

सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान्स्थितौ
शरीरिणां श्रेयउपायनं वपुः ।
वेदक्रियायोगतपःसमाधिभि-
स्तवार्हणं येन जनः समीहते ॥ ३४॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—अस्तित्व; विशुद्धम्—दिव्य, तीन गुणों से अतीत; श्रयते—स्वीकार करता है; भवान्—आप; स्थितौ—इस जगत के पालन के समय; शरीरिणाम्—सारे जीवों के; श्रेयः—परम कल्याण का; उपायनम्—लाभ के लिए; वपुः—दिव्य शरीर; वेद-क्रिया—वेदविहित अनुष्ठानों के द्वारा; योग—भक्ति द्वारा; तपः—तपस्या द्वारा; समाधिभिः—समाधि द्वारा; तव—तुम्हारी; अर्हणम्—पूजा; येन—ऐसे कार्यों से; जनः—मानव समाज; समीहते—कृतज्ञता प्रकट करता है।.

हे परमेश्वर, पालन करते समय आप त्रिगुणातीत दिव्य शरीर वाले अनेक अवतारों को प्रकट करते हैं। जब आप इस तरह प्रकट होते हैं, तो जीवों को वैदिक कर्म—यथा अनुष्ठान, योग, तपस्या, समाधि आपके चिंतन में भावपूर्ण तल्लीनता—में युक्त होने की शिक्षा देकर उन्हें सौभाग्य प्रदान करते हैं। इस तरह आपकी पूजा वैदिक नियमों के अनुसार की जाती है।

तात्पर्य : ' *भगवद्गीता* (१८.३) में कहा गया है कि वैदिक कर्मकाण्ड, दान, तपस्या तथा अन्य संस्तुत कार्यों का परित्याग नहीं करना चाहिए (*यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यम्*)। जो आत्मासाक्षात्कार में बहुत उन्नत हो उसे भी वैदिक नियमों का पालन करना चाहिए (१८.५)—*यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।* यहाँ तक कि निम्नतम अवस्था में भी कर्मियों को सलाह दी जाती है कि वे भगवान् के निमित्त कार्य करें।

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र
लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

(*भगवद्गीता* ३.९)

''विष्णु के लिए यज्ञ कर्म करना होता है अन्यथा कर्म मनुष्य को इस भौतिक जगत से बाँध देता है।'' *यज्ञार्थात् कर्मणः* शब्द सूचित करते हैं कि सभी प्रकार के कर्म करते हुए मनुष्य को स्मरण रखना चाहिए कि ये कर्म भगवान् को तुष्ट करने के लिए किये जाँय (*स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य*)। वैदिक नियमों के अनुसार मानव समाज का विभाजन होना चाहिए (*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्*)। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों में से हर एक को भगवान् की पूजा करनी सीखना चाहिए (*तमभ्यर्च्य*)। यही असली मानव

समाज है और इस प्रणाली के बिना हम पशु-समाज में रह जाते हैं।

मानव समाज के आधुनिक कार्यों का वर्णन *श्रीमद्भागवत* में *गोखर* (गौओं और गधों) के कार्यों के रूप में हुआ है—*स एव गोखरः।* हर व्यक्ति देहात्मबुद्धि से कार्य करता है, जिसमें समाज, मैत्री तथा आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों में सुधार के प्रति प्रेम निहित रहता है। इस तरह सारे कार्यकलाप अविद्या में सम्पन्न होते हैं। इसलिए भगवान् हमें सिखलाने के लिए आते हैं कि किस तरह वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार कर्म करना चाहिए। इस कलियुग में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में प्रकट हुए और यह उपदेश दिया कि इस युग में वैदिक कार्यकलापों को ठीक से सम्पन्न नहीं किया जा सकता क्योंकि लोग अत्यन्त पतित हो चुके हैं। उन्होंने शास्त्रों के आधार पर यह संस्तुति की—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

"कलह तथा दिखावे के इस युग में उद्धार का एकमात्र साधन है भगवन्नाम का कीर्तन। इसके अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं है।" इसीलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन विश्वभर के लोगों को सिखा रहा है कि हरे कृष्ण मंत्र का किस तरह कीर्तन किया जाय और यह सभी स्थानों तथा सभी समयों में अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। हमें वैदिक सिद्धान्तों की शिक्षा देने के लिए भगवान् प्रकट होते हैं जिससे हम उन्हें समझ सकें (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*)। हमें यह जानना चाहिए कि जब कृष्ण तथा श्री चैतन्य महाप्रभु प्रकट हुए थे तो वे अपने शुद्धसत्त्व शरीरों के साथ प्रकट हुए थे। हमें कृष्ण अथवा चैतन्य महाप्रभु के शरीरों को अपने जैसा भौतिक मानने की भूल नहीं करनी चाहिए क्योंकि वे समस्त मानव समाज के लाभ हेतु प्रकट हुए थे। भगवान् अहैतुकी कृपावश विभिन्न युगों में अपने शुद्धसत्त्व दिव्य शरीर के साथ मानव समाज के दिव्य स्तर तक उत्थान हेतु प्रकट होते हैं। दुर्भाग्यवश आधुनिक राजनेता तथा अन्य नेता जीवन की स्थूल सुविधाओं (*यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके*) पर बल देते हैं और इस या उस वाद के कार्यकलापों पर अपना ध्यान एकाग्र करते हैं, जिन्हें वे कई प्रकार की पुष्पित सुन्दर भाषा में वर्णन करते हैं। मूलतः ऐसे कार्यकलाप पशुओं के कार्यकलाप हैं (*स एव गोखरः*)। हमें *भगवद्गीता* से कर्म करना सीखना चाहिए जो मानव ज्ञान के हेतु सब कुछ बताती है। इस प्रकार

हम इस कलियुग में भी सुखी बन सकते हैं।

सत्त्वं न चेद्धातरिदं निजं भवेद्
विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम् ।
गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान्
प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—शुद्धसत्त्व, दिव्य; न—नहीं; चेत्—यदि; धातः—समस्त कारणों के कारण; इदम्—यह; निजम्—मेरा, आध्यात्मिक; भवेत्—हो जाता; विज्ञानम्—दिव्य ज्ञान; अज्ञान-भिदा—तमोगुण को भगाने वाला; अपमार्जनम्—पूर्णतया से विलुप्त; गुण-प्रकाशैः—ऐसा दिव्य ज्ञान जागृत करके; अनुमीयते—प्रकट होता है; भवान्—आप; प्रकाशते—प्रकट होते हैं; यस्य—जिसके; च—तथा; येन—जिससे; वा—अथवा; गुणः—गुण या बुद्धि।

हे कारणों के कारण ईश्वर, यदि आपका दिव्य शरीर गुणातीत न होता तो मनुष्य पदार्थ तथा अध्यात्म के अन्तर को न समझ पाता। आपकी उपस्थिति से ही आपके दिव्य स्वभाव को जाना जा सकता है क्योंकि आप प्रकृति के नियन्ता हैं। आपके दिव्य स्वरूप की उपस्थिति से प्रभावित हुए बिना आपके दिव्य स्वभाव को समझना कठिन है।

तात्पर्य : कहा गया है—*त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।* अध्यात्म को जाने बिना भगवान् के दिव्य स्वभाव को नहीं जाना जा सकता। *श्रीमद्भागवत* (.१४.२९) में कहा गया है—

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय

प्रसादलेशानुगृहीत एव हि।

जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो

नचान्यएकोऽपिचिरं विचिन्वन्॥

भगवान् की कृपा होने पर ही उन्हें समझा जा सकता है। प्रकृति के गुणों में स्थित रह कर हजारों वर्षों के चिन्तन के बाद भी उन्हें नहीं समझा जा सकता। भगवान् के असंख्य रूप हैं (*रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्*) और यदि भगवान् रामचन्द्र, नृसिंहदेव, कृष्ण तथा बलराम जैसे रूप दिव्य न होते तो अनन्तकाल से भक्तों द्वारा इनकी पूजा क्यों चली आ रही होती? *भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वत:* (भगवद्गीता १८.५५)। जो लोग भगवान् की उपस्थिति में अपने दिव्य स्वभाव को जागृत कर लेते हैं और भक्ति के नियमों का पालन करते हैं, वे ही भगवान् कृष्ण, भगवान् रामचन्द्र तथा अन्य अवतारों को, जो इस भौतिक जगत के नहीं होते अपितु जनता के हितार्थ वैकुण्ठ से आते

हैं, समझ सकते हैं। जो इस विधि का पालन नहीं करता वह प्रकृति के अनुसार मनमाने ढंग से ईश्वर के किसी रूप की कल्पना कर लेता है और भगवान् के प्रति असली ज्ञान को कभी जागृत नहीं कर सकता। *भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वत:* कथन इस बात का द्योतक है कि भक्ति के विधानों के अनुसार भगवान् की पूजा किये बिना दिव्य स्वभाव को जागृत नहीं किया सकता। भगवान् की अनुपस्थिति में भी मूर्तिपूजा भक्त के दिव्य स्वभाव को जागृत करनेवाली है, जिससे भक्त भगवान् के चरणकमलों में और अधिक अनुरक्त हो जाता है।

कृष्ण के प्रादुर्भाव से भगवान् की समस्त काल्पनिक मूर्तिकला का उत्तर मिल जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने गुणानुसार भगवान् के स्वरूप की कल्पना करता है। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि भगवान् सबसे प्राचीन पुरुष हैं। इसलिए कुछ धार्मिक समुदाय ईश्वर को अत्यन्त प्राचीन मानते हैं अत: वे ईश्वर का अंकन एक अत्यन्त वृद्ध पुरुष के रूप में करते हैं। किन्तु उसी *ब्रह्म-संहिता* में इसका विरोध हुआ है—यद्यपि ईश्वर समस्त जीवों में प्राचीन हैं किन्तु साथ ही वे नित्य युवा हैं। *श्रीमद्‌भागवत* में उनका यथार्थ वर्णन इस प्रकार हुआ है—*विज्ञानम् अज्ञानभिदापमार्जनम्। विज्ञान* का अर्थ है ईश्वर का दिव्य ज्ञान। *विज्ञान* अनुभूत ज्ञान भी है। दिव्य ज्ञान को शिष्य-प्रणाली की परम्परा से उसी तरह ग्रहण किया जाता है, जिस तरह ब्रह्मा ने कृष्ण के ज्ञान को *ब्रह्म-संहिता* में प्रस्तुत किया है। *ब्रह्म-संहिता* विज्ञान है, जो ब्रह्मा द्वारा अनुभव किया गया दिव्य अनुभव है। इस तरह उन्होंने दिव्य धाम में कृष्ण की लीलाओं को तथा उनके स्वरूप को प्रस्तुत किया। *अज्ञानभिदा* का अर्थ है "जो समस्त प्रकार की कल्पनाओं का सामना कर सके"। लोग अज्ञानवश भगवान् के स्वरूप की कल्पना करते हैं। इस तरह उनकी कल्पनाओं के अनुसार कभी उनका स्वरूप होता है, तो कभी नहीं भी होता। लेकिन *ब्रह्म-संहिता* में कृष्ण की प्रस्तुति एक विज्ञान है—विशिष्ट अनुभूत ज्ञान जिसे ब्रह्मा ने अनुभव करके प्रस्तुत किया और महाप्रभु चैतन्य ने स्वीकार किया। इसके विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। श्रीकृष्ण का स्वरूप, श्रीकृष्ण की बाँसुरी, श्रीकृष्ण का रंग—सभी वास्तविकताएँ हैं। यहाँ यह कहा गया है कि यह *विज्ञानम्* सभी प्रकार की कल्पनाओं को सदा पराजित करने वाला है। इसीलिए देवताओं ने स्तुति की कि जब तक आप कृष्ण रूप में प्रकट नहीं होते तब तक न तो *अज्ञानभिदा* (*काल्पनिक ज्ञान की अविद्या*) न ही *विज्ञानम्* की अनुभूति होगी। *अज्ञानभिदापमार्जनम्*—आपके प्राकट्य से अज्ञान की

कल्पना लुप्त हो जाएगी और ब्रह्माजी जैसे महाजनों का असली अनुभूत ज्ञान स्थापित हो सकेगा। लोग तीन गुणों से प्रभावित होकर अपनी प्रकृति के अनुसार विभिन्न प्रकारों में ईश्वर की कल्पना करते हैं। इस तरह ईश्वर को विभिन्न प्रकारों से प्रस्तुत किया जाता है किन्तु आपके प्राकट्य से इसका सत्यापन हो जाएगा कि ईश्वर का असली स्वरूप क्या है।''

निर्विशेषवादी सबसे बड़ी भूल यह सोचने की करते हैं कि जब भगवान् अवतरित होते हैं, तो सतोगुणी पदार्थ का रूप स्वीकार करते हैं। वस्तुत: कृष्ण या नारायण का स्वरूप किसी भी भौतिक विचार से परे होता है। यहाँ तक कि सबसे बड़े निर्विशेषवादी शंकराचार्य ने भी स्वीकार किया है—*नारायण: परोऽव्यक्तात्*—यह भौतिक सृष्टि *अव्यक्त* द्वारा की जाती है और कृष्ण किसी भी भौतिक विचार से परे हैं। *श्रीमद्भागवतम्* में इसे ही *शुद्धसत्त्व* या दिव्य कहा गया है। भगवान् सतोगुणी नहीं हैं क्योंकि वे भौतिक सतोगुण पद से ऊपर हैं। वे सच्चिदानन्दस्वरूप हैं।

देवताओं ने स्तुति की, ''हे प्रभु! जब आप विभिन्न अवतारों में प्रकट होते हैं, तो परिस्थितियों के अनुसार भिन्न भिन्न नाम तथा स्वरूप धारण करते हैं। आपका नाम भगवान् कृष्ण है क्योंकि आप सर्व आकर्षक हैं। आप श्यामसुन्दर कहाते हैं क्योंकि आपका सौन्दर्य दिव्य है। *श्याम* का अर्थ साँवला है फिर भी वे कहते हैं कि आप हजारों कामदेवों से अधिक सुन्दर हैं। *कन्दर्प कोटि कमनीय।* यद्यपि आप श्याममेघ जैसे रंग वाले हैं किन्तु आप परम ब्रह्म हैं अतएव आपका सौन्दर्य कामदेव के कोमल शरीर से भी अधिक आकर्षक है। आप कभी कभी गिरिधारी कहलाते हैं क्योंकि आपने गोवर्धन पर्वत को उठाया था। आप कभी कभी नन्दनन्दन या वासुदेव या देवकीनन्दन कहलाते हैं क्योंकि आप महाराज नन्द, देवकी या वसुदेव के पुत्र रूप में प्रकट होते हैं। निर्विशेषवादी सोचते हैं कि आपके अनेक नाम या स्वरूप आपके कार्य विशेष के अनुसार होते हैं क्योंकि वे आपको भौतिक दृष्टि से देखते हैं।''

''हे भगवन्! आपको समझने की विधि यह नहीं है कि आपके परम स्वभाव, रूप या कार्यकलापों की कल्पना की जाए। भक्ति में संलग्न होने पर ही आपके स्वभाव, आपके दिव्य स्वरूप, नाम तथा गुण को समझा जा सकता है। वास्तव में जिसे आपके चरणकमलों की सेवा करने में तनिक भी रुचि होती है, वह आपके दिव्य स्वभाव, रूप तथा गुण को समझ सकता है। अन्य लोग हजारों वर्षों तक चिन्तन करने के बाद भी आपके एक अंश को भी नहीं जान सकते।'' दूसरे शब्दों में, भगवान् कृष्ण

कभी भी अभक्तों की समझ में नहीं आते क्योंकि कृष्ण का वास्तविक स्वरूप *योगमाया* के आवरण से ढका रहता है। *भगवद्गीता* से (७.२५) पुष्टि होती है—*नाहं प्रकाशः सर्वस्य*—मैं हर एक को दर्शन नहीं देता। जब कृष्ण आये तो वे कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में वास्तव में उपस्थित हुए और सबों ने उन्हें देखा। किन्तु सभी लोग यह नहीं समझ पाये थे कि वे भगवान् हैं। तथापि जो भी उनके सामने मरा उसे भवबन्धन से पूर्ण मुक्ति प्राप्त हुई और वह वैकुण्ठ लोक को गया।

चूँकि मूढ़ लोग अपनी आध्यात्मिक प्रकृति को जागृत नहीं करते इसलिए वे कृष्ण या राम को नहीं समझ पाते (*अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्*)। यहाँ तक कि बड़े बड़े विद्वान कृष्ण को काल्पनिक मानते हैं क्योंकि वे उन आचार्यों के प्रयासों पर विचार नहीं करते जिन्होंने अपने भाष्यों तथा लेखों में भक्ति की संस्तुति की है। दिव्य ज्ञान के अभाव तथा कृष्णभावनामृत जागृत करने की असफलता के कारण ऐसा होता है। मनुष्य को प्रश्न करने का इतना सामान्य बोध होना चाहिए कि यदि कृष्ण या राम काल्पनिक होते तो श्रीधर स्वामी, रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी, वीर राघव, विजयध्वज, वल्लभाचार्य जैसे प्रकाण्ड विद्वान एवं गण्यमान्य आचार्य *श्रीमद्भागवत* का भाष्य लिखने तथा कृष्ण के विषय में रचना करने में इतना समय क्यों गँवाते।

न नामरूपे गुणजन्मकर्मभि-
र्निरूपितव्ये तव तस्य साक्षिणः ।
मनोवचोभ्यामनुमेयवर्त्मनो
देव क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हि ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; नाम-रूपे—नाम तथा रूप; गुण—गुण; जन्म—जन्म; कर्मभिः—कार्यकलापों या लीलाओं से; निरूपितव्ये—निश्चित नहीं किये जा सकते; तव—आपके; तस्य—उसके; साक्षिणः—साक्षी; मनः—मन का; वचोभ्याम्—शब्दों द्वारा; अनुमेय—धारणा; वर्त्मनः—रास्ता; देव—हे प्रभु; क्रियायाम्—भक्तिकार्यों में; प्रतियन्ति—अनुभव करते हैं; अथ अपि—फिर भी; हि—निस्सन्देह (भक्तों द्वारा आप अनुभवगम्य हैं)।.

हे परमेश्वर, आपके दिव्य नाम तथा स्वरूप का उन व्यक्तियों को पता नहीं लग पाता, मात्र जो केवल कल्पना के मार्ग पर चिन्तन करते हैं। आपके नाम, रूप तथा गुणों का केवल भक्ति द्वारा ही पता लगाया जा सकता है।

तात्पर्य : *पद्म पुराण* में कहा गया है—

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।

सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यद: ॥

''मनुष्य अपनी भौतिकता से दूषित इन्द्रियों के द्वारा श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण तथा लीलाओं की दिव्य प्रकृति को नहीं समझ सकता। जब वह भगवान् के प्रति दिव्य सेवाभाव से संतृप्त हो जाता है तभी उसे भगवान् के दिव्य नाम, रूप, गुण तथा लीलाएँ प्रकाशित होती हैं। चूँकि कृष्ण और उनके नाम, रूप तथा कार्यकलाप सभी दिव्य हैं अत: सामान्यव्यक्ति, या जिन्हें अत्यल्प ज्ञान है वे उन्हें नहीं समझ सकते। अभक्त विद्वान तक कृष्ण को काल्पनिक मानते हैं। यद्यपि तथाकथित विद्वान एवं भाष्यकार कृष्ण को ऐसा ऐतिहासिक पुरुष नहीं मानते जो महाभारत में अंकित कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में उपस्थित थे फिर भी वे *भगवद्गीता* तथा अन्य ऐतिहासिक ग्रंथों पर भाष्य लिखने को बाध्य होते हैं। *सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यद:*—कृष्ण की पूर्ण भावनाभावित सेवा में प्रवृत्त होने पर ही कृष्ण के नाम, रूप, गुण तथा कार्य स्वत: प्रकाशित होते हैं। इसकी पुष्टि कृष्ण के ही शब्दों में *भगवद्गीता* द्वारा (१८.५५) होती है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वत: ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

''केवल भक्ति के द्वारा भगवान् को यथारूप में जाना जा सकता है। इस तरह कृष्णभावनाभावित होने पर ही भगवद्धाम में प्रवेश किया जा सकता है।'' *सेवोन्मुख* होकर ही भगवान् के नाम, रूप तथा गुणों की अनुभूति हो सकती है।

देवताओं ने कहा, ''हे प्रभु! निर्विशेषवादी अभक्त यह नहीं समझ सकते कि आपका नाम आपके स्वरूप से अभिन्न है।'' ब्रह्म होने से भगवान् के नाम और वास्तविक स्वरूप में कोई अन्तर नहीं रहता। भौतिक जगत में स्वरूप और नाम में अन्तर होता है। आम का फल आम के नाम से भिन्न होता है। केवल ''आम, आम, आम'' कहने से किसी को आम का स्वाद नहीं मिल सकता। किन्तु भक्त जानता है कि भगवान् के नाम तथा रूप में कोई अन्तर नहीं होता इसीलिए वह हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे का कीर्तन करता है और अनुभव करता है कि वह सदैव कृष्ण के साथ है।

जो भगवद् ज्ञान में बढ़े-चढ़े नहीं हैं, उन्हें कृष्ण अपनी दिव्य लीलाएँ दिखलाते हैं। ऐसे लोग

भगवान् की लीलाओं के चिन्तन मात्र से लाभ उठा सकते हैं। चूँकि भगवान् के दिव्य नाम और स्वरूप में कोई अन्तर नहीं होता इसलिए भगवान् की दिव्य लीलाओं और उनके स्वरूप में भी कोई अन्तर नहीं होता। अल्पज्ञों के लिए (यथा स्त्रियाँ, श्रमिक, या व्यापारी) महर्षि वेदव्यास ने *महाभारत* की रचना की। *महाभारत* में कृष्ण अपने विभिन्न कार्यकलापों में विद्यमान हैं। *महाभारत* इतिहास है और कृष्ण के दिव्य कार्यकलापों के अध्ययन, श्रवण तथा स्मरण से अल्पज्ञों को भी शुद्ध भक्तों का पद प्राप्त हो सकता है।

कृष्ण के चरणकमलों के ध्यान में निरन्तर लीन रहने वाले और कृष्णभावनामृत में रहते हुए भक्ति में मग्न रहने वाले शुद्ध भक्तों को कभी भी भौतिक जगत में रहने वाले नहीं मानना चाहिए। श्रील रूप गोस्वामी ने बतलाया है कि मनसा-वाचा-कर्मणा कृष्ण-भक्ति में लगे रहने वाले लोग इसी शरीर में मुक्त माने जाते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में भी हुई है—जो लोग भगवान् की सेवा में संलग्न होते हैं, वे पहले से ही भौतिक स्थिति को पार कर चुके होते हैं।

भगवान् भक्तों तथा अभक्तों को जीवन के चरमलक्ष्य की अनुभूति के लिए समान अवसर प्रदान करते हैं। भक्तों को भगवान् का दर्शन करने और उनकी पूजा करने का प्रत्यक्ष अवसर प्राप्त होता है। जो लोग इस पद को प्राप्त नहीं होते उन्हें भगवान् के कार्यकलापों से परिचित होने और उसी पद तक पहुँचने का अवसर मिलता है।

ब्रह्म-संहिता (५.३८) में कहा गया हैं—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्ति विलोचनेन

सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

यद्यपि कृष्ण का दिव्य स्वरूप श्यामल है किन्तु भगवान् से प्रेम करने वाले भक्त श्यामसुन्दर के रूप में उनका गुणगान करते हैं। भगवान् का स्वरूप इतना सुन्दर है कि *ब्रह्म-संहिता* (५.३०) में भी कहा गया है—

वेणुं क्वणन्तमरविन्ददलायताक्षं

बर्हावतंसमसिताम्बुदसुन्दरांगम् ।

कन्दर्पकोटिकमनीयविशेषशोभं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

''मैं आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो दिव्य बाँसुरी का वादन करते हैं। उनके नेत्र कमलपुष्पों के समान हैं। वे मोरपंखों से सुशोभित हैं और उनका वर्ण स्वच्छ श्यामल बादलों के समान है। उनका यह स्वरूप करोड़ों कामदेवों को लजाने वाला है।'' भगवान् का यह सौन्दर्य उन भक्तों के द्वारा देखा जाता है, जो उनसे प्रेम करते हैं, वे भक्त जिनकी आँखों में भगवत्प्रेम रूपी अंजन लगा रहता है। (*प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन*)

भगवान् को गिरिधारी या गिरिवरधारी भी कहा जाता है। चूँकि कृष्ण ने भक्तों के लिए गोवर्धन पर्वत उठा लिया था अत: भक्तगण उनकी अचिन्त्य शक्ति की प्रशंसा करते हैं किन्तु अभक्तगण भगवान् की अचिन्त्य शक्ति को देख करके भी उनके कार्यकलापों को काल्पनिक मानते हैं। एक भक्त और अभक्त में यही अन्तर होता है। अभक्तगण भगवान् को कोई नाम नहीं दे सकते फिर भी वे श्यामसुन्दर तथा गिरिधारी कहलाते हैं। इसी तरह भगवान् देवकीनन्दन तथा यशोदानन्दन कहलाते हैं, क्योंकि उन्होंने माता देवकी तथा माता यशोदा के पुत्र रूप में भूमिका निभाई। वे गायों तथा बछड़ों का पालन करने के कारण गोपाल कहलाते हैं। इसीलिए कोई संसारी नाम न होने पर भी वे भक्तों द्वारा देवकीनन्दन, यशोदानन्दन, गोपाल तथा श्यामसुन्दर कहकर सम्बोधित किये जाते हैं। ये सभी दिव्य नाम हैं जिनकी महिमा भक्तगण ही जानते हैं, अभक्तजन नहीं।

पुरुष रूप में कृष्ण के इतिहास को देखा तो सबों ने है किन्तु जो भक्त हैं और भगवान् से प्रेम करते हैं, वे ही इस इतिहास की प्रशंसा करते हैं जबकि अभक्तगण, प्रेम से वंचित होने के कारण, भगवान् के कार्यों, स्वरूप तथा गुणों को काल्पनिक मानते हैं। अत: इस श्लोक में *न नामरूपे गुणजन्मकर्मभिर्निरूपितव्ये तव तस्य साक्षिण:* की व्याख्या हुई है। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने दृष्टान्त दिया है कि पीलिया रोग से पीड़ित व्यक्तियों को मिश्री की मिठास का स्वाद नहीं मिल पाता यद्यपि उन्हें पता है कि मिश्री मीठी होती है। इसी तरह अभक्त भवरोग के कारण भगवान् के नाम, रूप, गुण तथा कार्यों को नहीं समझ पाते यद्यपि वे महाजनों या इतिहास के माध्यम

से भगवान् के कार्यों का अवलोकन करते रहते हैं। पुराण प्राचीन प्रामाणिक इतिहास-ग्रंथ हैं किन्तु अभक्तगण, उन्हें, विशेषतया वैदिक ज्ञान के सार *श्रीमद्भागवतम्* को नहीं समझ पाते। यहाँ तक कि वे *भगवद्गीता* के दिव्य ज्ञान के प्रारम्भिक अध्ययन को भी नहीं समझ पाते। वे मात्र चिन्तन द्वारा बेतुके विकारों से युक्त मनमाना भाष्य लिखते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि *भक्तियोग* का अभ्यास किये बिना और दिव्य पद तक उठे बिना भगवान् को या उनके नाम, रूप, गुणों या कार्यों को नहीं समझा जा सकता। किन्तु यदि भाग्यवश भक्तों की संगति मिल जाय और मनुष्य भगवान् तथा उनके स्वरूप को वास्तव में समझ ले तो वह तुरन्त मुक्त हो जाता है। *भगवद्गीता* (४.९) में भगवान् कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो मेरे प्राकट्य तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह इस शरीर को त्यागने के बाद इस भौतिक जगत में पुनः जन्म नहीं लेता अपितु मेरे दिव्य धाम को प्राप्त होता है।"

इसीलिए श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है कि भगवान् के प्रति स्नेह तथा प्रेम से भक्तगण अपने शब्द द्वारा उनसे अपने मन की बात व्यक्त करते हैं। किन्तु अन्य लोग ऐसा नहीं कर पाते जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है। (*भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः*)

शृण्वन्गृणन्संस्मरयंश्च चिन्तयन्
नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते ।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयो-
राविष्टचेता न भवाय कल्पते ॥ ३७॥

शब्दार्थ

शृण्वन्—निरन्तर भगवान् के विषय में सुनते हुए (श्रवणं कीर्तनं विष्णोः); गृणन्—कीर्तन करते हुए या सुनाते हुए; संस्मरयन्—स्मरण करते हुए (भगवान् के चरणकमलों तथा उनके स्वरूप के विषय में निरन्तर चिन्तन करते हुए); च—तथा; चिन्तयन्—चिन्तन करते हुए (भगवान् के कार्यकलापों का); नामानि—उनके दिव्य नाम; रूपाणि—उनके दिव्य स्वरूप; च—भी; मङ्गलानि—दिव्य होने से शुभ; ते—आपके; क्रियासु—भक्ति में लगे रहने पर; यः—जो; त्वत्-चरण-अरविन्दयोः—आपके चरण कमलों पर; आविष्ट-चेताः—पूर्णतया लीन रहनेवाला भक्त; न—नहीं; भवाय—भौतिक पद के लिए; कल्पते—योग्य है।

विविध कार्यों में लगे रहने पर भी जिन भक्तों के मन आपके चरणकमलों में पूरी तरह लीन रहते हैं और जो निरन्तर आपके दिव्य नामों तथा रूपों का श्रवण, कीर्तन, चिन्तन करते हैं तथा अन्यों को स्मरण कराते हैं, वे सदैव दिव्य पद पर स्थित रहते हैं और इस प्रकार से पूर्ण पुरुषोत्तम

भगवान् को समझ सकते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में बतलाया गया है कि भक्तियोग का किस तरह अभ्यास किया जा सकता है। श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है कि जिस किसी ने मन से, वचन से तथा कर्म से (*कर्मणामनसा गिरा*) भगवान् की सेवा में अपना जीवन समर्पित कर दिया है (*ईहा यस्य हरेर्दास्ये*) वह चाहे जीवन की किसी भी स्थिति में क्यों न हो, (*निखिलास्वप्यवस्थासु*) वह बद्ध न रहकर मुक्त हो जाता है (*जीवन्मुक्तः स उच्यते*)। ऐसा भक्त भौतिक शरीर धारण करते हुए भी अध्यात्म में स्थित होता है। *नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति*—दिव्य कार्यों में लगे रहने के कारण वह भौतिक देहधारी बनने से भयभीत नहीं रहता। (*भागवत्* ६.१७.२८) इस जीवन्मुक्त अवस्था का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए श्री चैतन्य महाप्रभु ने प्रार्थना की है—*मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि*—मैं तो जन्म-जन्मांतर केवल आपकी अहैतुकी भक्ति की कामना करता हूँ (शिक्षाष्टक, ४)। यदि भगवान् की इच्छा से कोई भक्त इस भौतिक जगत में जन्म लेता भी है, तो भी उसकी भक्ति में अवरोध नहीं आता। जब राजा भरत से भूल हो गई और अगले जन्म में वे हिरन बन गये तो उनकी भक्ति में अवरोध नहीं आया यद्यपि उन्हें उपेक्षा के लिए थोड़ा दण्ड मिला। नारदमुनि कहते हैं कि यदि कोई भक्तिपथ से च्युत भी होता है, तो उसका विनाश नहीं होता किन्तु अभक्तों का सर्वनाश हो जाता है क्योंकि वे भक्ति नहीं करते। इसीलिए *भगवद्गीता* (९.१४) में संस्तुति की गई है कि मनुष्य को चाहिए कि कम से कम हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन तो किया करे।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।

नमस्त्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

''महात्मा लोग सदैव मेरे यश का कीर्तन करके दृढ़ संकल्पपूर्वक प्रयास करके मेरे समक्ष नतमस्तक होकर भक्तिपूर्वक मेरी पूजा करते हैं।''

मनुष्य को चाहिए कि नौ प्रकार के भक्तियोग का परित्याग न करे (*श्रवणं कीर्तनं विष्णो स्मरणं पादसेवनम्...*)। इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण विधि है गुरु, साधु तथा शास्त्र से श्रवण करना (*श्रवणम्*)। *साधु-शास्त्र-गुरु-वाक्य, चित्तेते करिया ऐक्य।* हमें अभक्तों की टीकाएँ तथा व्याख्याएँ नहीं सुननी चाहिए क्योंकि श्रील सनातन गोस्वामी ने *पद्मपुराण* से उद्धरण देते हुए इसका निषेध किया है—

अवैष्णवमुखोद्गीर्णं पूतं हरिकथामृतम् ।

श्रवणं नैव कर्तव्यं सर्पोच्छिष्टं यथा पय: ॥

हमें चाहिए कि दृढ़तापूर्वक इस आदेश का पालन करें और मायावादियों, निर्विशेषवादियों, शून्यवादियों, राजनीतिज्ञों अथवा तथाकथित विद्वानों से श्रवण करने का प्रयास न करें। हमें ऐसे अशुभ संग से पूरी तरह बचते हुए शुद्ध भक्तों से ही सुनना चाहिए। इसीलिए श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है—*श्रीगुरुपदाश्रय:*—अर्थात् मनुष्य को चाहिए कि शुद्ध भक्त के चरणकमलों की शरण खोजे क्योंकि वही गुरु बन सकता है। श्री चैतन्य महाप्रभु का उपदेश है कि जो *भगवद्गीता* के आदेशों का दृढ़तापूर्वक पालन करता है, वही गुरु है—*यारेदेखा तारे कह, 'कृष्ण'—उपदेश* (*चैतन्यचरितामृत, मध्य* ७.१२८)। वावदूक या मदारी या जादूगर कभी गुरु नहीं होता। गुरु तो वह है, जो *भगवद्गीता* प्रस्तुत करता है, कृष्ण के उपदेशों को यथारूप में प्रस्तुत करता है। *श्रवण* बहुत महत्त्वपूर्ण है, अत: वैष्णव साधु, गुरु तथा शास्त्र से ही श्रवण करना चाहिए।

इस श्लोक का *क्रियासु* शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है ''शारीरिक श्रम द्वारा'' या ''कार्य द्वारा।'' मनुष्य को भगवान् की व्यावहारिक सेवा करनी चाहिए। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में हमारा सारा कार्य कृष्णसाहित्य के वितरण पर केन्द्रित रहता है। यह अत्यावश्यक है। किसी के पास भी पहुँच कर उससे कृष्णसाहित्य पढ़ने के लिए प्रेरित किया जा सकता है, जिससे भविष्य में वह भक्त बन सके। इस श्लोक में ऐसे ही कार्यों की संस्तुति की गई है। *क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयो: ।* ऐसे कार्य भक्त को भगवान् के चरणकमलों का सदा स्मरण दिलाते रहेंगे। कृष्णविषयक पुस्तकों के वितरण में चित्त एकाग्र करने से मनुष्य कृष्ण में लीन रहता है। यही *समाधि* है।

दिष्ट्या हरेऽस्या भवत: पदो भुवो
भारोऽपनीतस्तव जन्मनेशितु: ।
दिष्ट्याङ्किता‌ं त्वत्पदकै: सुशोभनै-
र्द्रक्ष्याम गां द्यां च तवानुकम्पिताम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

दिष्ट्या—भाग्यवश; हरे—हे भगवान्; अस्या:—इस (संसार) के; भवत:—आपके; पद:—स्थान का; भुव:—इस धरा पर; भार:—असुरों द्वारा उत्पन्न बोझ; अपनीत:—दूर हुआ; तव—आपके; जन्मना—अवतार लेने से; ईशितु:—सबके नियन्ता आप; दिष्ट्या—तथा भाग्य से; अङ्किताम्—चिन्हित; त्वत्-पदकै:—आपके चरणकमलों से; सु-शोभनै:—शंख, चक्र, पद्म तथा गदा

चिह्नों से अलंकृत; द्रक्ष्याम—हम देखेंगे; गाम्—इस पृथ्वी पर; द्याम् च—तथा स्वर्ग में भी; तव अनुकम्पिताम्—हम पर आपकी अहैतुकी कृपा होने से।.

हे प्रभु, हम भाग्यशाली हैं कि आपके प्राकट्य से इस धरा पर असुरों के कारण जो भारी बोझा है, वह शीघ्र ही दूर हो जाता है। निस्सन्देह हम अत्यन्त भाग्यशाली हैं क्योंकि हम इस धरा में तथा स्वर्गलोक में भी आपके चरणकमलों को अलंकृत करने वाले शंख, चक्र, पद्म तथा गदा के चिन्हों को देख सकेंगे।

तात्पर्य : भगवान् के चरणकमलों के तलवे शंख, चक्र, गदा, पद्म चिह्नों से अंकित होते हैं। साथ ही ध्वजा तथा वज्र भी अंकित रहते हैं। कृष्ण जब इस धराधाम में या स्वर्गलोक में विचरण करते हैं, तो ये चिह्न दृष्टिगोचर होते रहते हैं। वृन्दावन धाम दिव्य स्थान है क्योंकि यहाँ कृष्ण कई बार विचरण करते हैं। वृन्दावनवासी भाग्यशाली थे कि उन्होंने इन चिह्नों को जगह जगह देखा। जब अक्रूर कृष्ण तथा बलराम को कंस द्वारा आयोजित उत्सव में ले जाने के लिए वृन्दावन गये तो वे वृन्दावन की भूमि पर कृष्ण के चरणचिह्नों को देख कर भूमि पर लोटकर कराहने लगे। ये चिह्न उन्हीं भक्तों को दिखते हैं जिन पर भगवान् की अहैतुकी कृपा होती है (*तवानुकम्पिताम्*)। देवतागण केवल इसलिए हर्षित नहीं थे कि भगवान् असुरों का भार दूर कर देंगे अपितु इसलिए भी कि वे भगवान् के चरणों पर अंकित चिह्नों को भी भूमि पर देख सकेंगे। गोपियाँ चरागाहों में विचरण करते कृष्ण के चरणकमलों का सदैव चिन्तन करती रहती थीं और जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, केवल कृष्ण के चरणकमलों के चिन्तन से गोपियाँ अध्यात्म में लीन रहती थीं (*आविष्टचेता न भवाय कल्पते*)। गोपियों की ही तरह जो भगवान् के विचार में सदैव लीन रहता है, वह भौतिक स्तर से ऊपर स्थित रहता है और फिर इस भौतिक जगत में नहीं आता। अत: हमारा कर्तव्य है कि हम सदैव भगवान् के चरणकमलों के विषय में सुनें, कीर्तन करें और चिन्तन करें जिस तरह कि वृन्दावन में रहने वाले वैष्णवजन अहर्निश भगवान् के ही चरणकमलों का चिन्तन करते रहते हैं।

न तेऽभवस्येश भवस्य कारणं
विना विनोदं बत तर्कयामहे ।
भवो निरोध: स्थितिरप्यविद्यया
कृता यतस्त्वय्यभयाश्रयात्मनि ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ते—आपके; अभवस्य—जो जैसे कि सामान्य जीव, उसका जन्म, मृत्यु, पालन पोषण से परे है, जो, उसका; ईश—हे ईश्वर; भवस्य—आपके जन्म का; कारणम्—कारण; विना—रहित; विनोदम्—लीलाएँ (आपको विवश होकर इस जगत में नहीं आना पड़ता है); बत—फिर भी; तर्कयामहे—हम तर्क-वितर्क नहीं कर सकते (लेकिन इन्हें अपकी लीला ही समझें); भवः—जन्म; निरोधः—मृत्यु; स्थितिः—पालन; अपि—भी; अविद्यया—माया द्वारा; कृताः—किया गया; यतः—क्योंकि; त्वयि—तुममें; अभय-आश्रय—हे सबों के निर्भय आश्रय; आत्मनि—सामान्य जीवन का।

हे परमेश्वर, आप कोई सामान्य जीव नहीं जो सकाम कर्मों के अधीन इस भौतिक जगत में उत्पन्न होता है। अतः इस जगत में आपका प्राकट्य या जन्म एकमात्र ह्लादिनी शक्ति के कारण होता है। इसी तरह आपके अंश रूप सारे जीवों के कष्टों—यथा जन्म, मृत्यु तथा जरा का कोई दूसरा कारण नहीं सिवाय इसके कि ये सभी आपकी बहिरंगा शक्ति द्वारा संचालित होते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.७) में कहा गया है—*ममैवंशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:*—सारे जीव भगवान् के अंश रूप हैं अतएव गुणात्मक रूप में वे भगवान् से अभिन्न हैं। हम यह समझ सकते हैं जब भगवान् अवतार के रूप में प्रकट होते हैं या अन्तर्धान होते हैं, तो इसका कारण उनकी ह्लादिनी शक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। हम भगवान् को प्रकट होने के लिए बाध्य नहीं कर सकते। वे *भगवद्गीता* (४.७) में कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

"हे भारत! जब जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का प्राधान्य होता है तब तब मैं अवतरित होता हूँ।" जब असुरों द्वारा उत्पन्न भार को कम करने की आवश्यकता होती है, तो भगवान् इसे कई प्रकार से कर सकते हैं क्योंकि उनके पास नानाविध शक्तियाँ हैं। उन्हें अवतार के रूप में आने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वे सामान्य जीवों की तरह किसी काम को करने के लिए बाध्य नहीं किये जा सकते। सारे जीव इस जगत में भोग करने की अभिलाषा से आते हैं किन्तु वे कृष्ण के बिना भोग करना चाहते हैं (*कृष्ण-बहिर्मुख हैया भोज-वाञ्छा करे*) इसलिए उन्हें माया के अधीन जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा तथा रोग भोगना पड़ता है। किन्तु जब भगवान् प्रकट होते हैं, तो ऐसे कारण निहित नहीं रहते। उनका अवतरण उनकी ह्लादिनी शक्ति का कार्य होता है। हमें भगवान् तथा सामान्य जीव के बीच इस अन्तर को सदैव स्मरण रखना चाहिए और व्यर्थ ही यह तर्क-विर्तक नहीं करना चाहिए कि भगवान् आ नहीं सकते। ऐसे दार्शनिक हैं, जो भगवान् के अवतार में विश्वास नहीं करते और प्रश्न करते हैं "भगवान् को आने की क्या आवश्यकता है?" किन्तु इसका उत्तर यह है "उन्हें क्यों नहीं आना

चाहिए? वे जीव की इच्छा से नियंत्रित क्यों हों?'' भगवान् इच्छानुसार कार्य करने के लिए मुक्त हैं। इसीलिए इस श्लोक में कहा गया है—*विना विनोदं बत तर्कयामहे।* वे विनोदवश ही आते हैं अन्यथा उन्हें आने की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

जब जीव इस जगत में भौतिक भोग करने आता है, तो वह भगवान् की माया द्वारा *कर्म* तथा *कर्म-फल* में बँध जाता है। किन्तु यदि कोई भगवान् के चरणकमलों की शरण खोज लेता है, तो वह पुन: अपनी आदि मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है। जैसाकि यहाँ पर कहा गया है—*कृता यतस्त्वय्यभयाश्रयात्मनि*—जो भगवान् के चरणकमलों का आश्रय खोज लेता है, वह सदा निर्भय रहता है। चूँकि हम भगवान् पर आश्रित हैं अतएव हमें यह विचार त्याग देना चाहिए कि इस जगत में हम कृष्ण के बिना स्वतंत्रता भोग सकते हैं। इसी विचार के कारण हम बँधे हुए हैं। अब हमारा कर्तव्य है कि हम पुन: भगवान् के चरणकमलों की शरण खोजें। यह शरण *अभय* बतलायी गयी है। चूँकि कृष्ण को जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग नहीं सताते और चूँकि हम कृष्ण के ही अंश हैं अत: हम भी जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के अधीन नहीं हैं किन्तु हम इन मोहमय समस्याओं में इसलिए जकड़ गये हैं क्योंकि हमने कृष्ण को तथा उनके नित्य दास रूप में अपनी स्थिति को भुला दिया है (*जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्यदास'*)। अत: यदि हम सदैव भगवान् का चिन्तन, उनका गुणगान उनका कीर्तन करते हुए उनकी सेवा करें जैसाकि श्लोक ३७ में कहा गया है (*श्रवणं गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन्*) तो हमें अपनी आदि स्वाभाविक स्थिति प्राप्त हो सकती है और हमारा बचाव हो सकता है। इसलिए देवताओं ने देवकी को विश्वास दिलाया कि वे कंस से डरे नहीं अपितु उन भगवान् का चिन्तन करें जो पहले ही उनके गर्भ में आ चुके हैं।

मत्स्याश्वकच्छपनृसिंहवराहहंस-
राजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतार: ।
त्वं पासि नस्त्रिभुवनं च यथाधुनेश
भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनं ते ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

मत्स्य—मत्स्यावतार; अश्व—घोड़े का अवतार; कच्छप—कूर्मावतार; नृसिंह—नृसिंह अवतार; वराह—वराह अवतार; हंस—हंस अवतार; राजन्य—रामचन्द्र तथा अन्य क्षत्रियों के रूप में अवतार; विप्र—वामनदेव जैसे ब्राह्मणों के रूप में अवतार; विबुधेषु—देवताओं के बीच; कृत-अवतार:—अवतारों के रूप में प्रकट हुए; त्वम्—आपको; पासि—कृपया बचायें; न:—

हमें; त्रि-भुवनम् च—तथा तीनों लोकों को; यथा—तथा; अधुना—अब; ईश—हे भगवान्; भारम्—भार; भुवः—पृथ्वी का; हर—कृपया कम करें; यदु-उत्तम—हे यदुओं में श्रेष्ठ, हे कृष्ण; वन्दनम् ते—हम आपकी वन्दना करते हैं।

हे परम नियन्ता, आप इसके पूर्व अपनी कृपा से सारे विश्व की रक्षा करने के लिए मत्स्य, अश्व, कच्छप, नृसिंहदेव, वराह, हंस, भगवान् रामचन्द्र, परशुराम का तथा देवताओं में से वामन के रूप में अवतरित हुए हैं। अब आप इस संसार का उत्पातों कम करके अपनी कृपा से पुनः हमारी रक्षा करें। हे यदुश्रेष्ठ कृष्ण, हम आपको सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक अवतार में भगवान् को किसी न किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति करनी होती है और यदुवंश में देवकी के पुत्र रूप में उनका आविर्भाव इसकी पुष्टि करता है। अतः सारे देवताओं ने नतमस्तक होकर भगवान् की प्रार्थना की और उनसे प्रार्थना की कि जैसी आवश्यकता समझें करें। हम भगवान् को हमारे लिए कुछ करने का आदेश नहीं दे सकते। हम उन्हें केवल नमस्कार कर सकते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* का उपदेश है (*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु*) और उनसे प्रार्थना कर सकते हैं कि विघ्नों का संहार करें।

दिष्ट्याम्ब ते कुक्षिगतः परः पुमा-
नंशेन साक्षाद्भगवान्भवाय नः ।
माभूद्भयं भोजपतेर्मुमूर्षो-
र्गोप्ता यदूनां भविता तवात्मजः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

दिष्ट्या—भाग्यवश; अम्ब—हे माता; ते—तुम्हारी; कुक्षि-गतः—कोख में; परः—परमात्मा; पुमान्—भगवान्; अंशेन—अपनी समस्त शक्तियों सहित; साक्षात्—प्रत्यक्ष रूप से; भगवान्—भगवान्; भवाय—कल्याण के लिए; नः—हम सबों के; मा अभूत्—कभी न हों; भयम्—भयभीत; भोज-पतेः—भोजवंश के राजा कंस से; मुमूर्षोः—जिसने भगवान् के हाथों से मरने की ठान ली है; गोप्ता—रक्षक; यदूनाम्—यदुवंश का; भविता—होगा; तव आत्मजः—तुम्हारा पुत्र।

हे माता देवकी, आपके तथा हमारे सौभाग्य से भगवान् अपने सभी स्वांशों यथा बलदेव समेत अब आपके गर्भ में हैं। अतएव आपको उस कंस से भयभीत नहीं होना है, जिसने भगवान् के हाथों से मारे जाने की ठान ली है। आपका शाश्वत पुत्र कृष्ण सारे यदुवंश का रक्षक होगा।

तात्पर्य : *परः पुमान् अंशेन* पद द्योतित करता है कि कृष्ण आदि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। यह शास्त्र का निर्णय है (*कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*)। अतः देवताओं ने देवकी को सान्त्वना दिलाई, "आपका पुत्र भगवान् है और वह अपने स्वांश बलदेव के साथ प्रकट होने वाला है। वह आपकी पूरी रक्षा करेगा और उस कंस का वध करेगा जिसने भगवान् के प्रति शत्रुता बनाये रखने का निश्चय कर

रखा है। इसलिए वह उनके हाथों से मारा जायेगा।''

श्रीशुक उवाच
इत्यभिष्टूय पुरुषं यद्रूपमनिदं यथा ।
ब्रह्मेशानौ पुरोधाय देवाः प्रतियर्युर्दिवम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; अभिष्टूय—स्तुति करके; पुरुषम्—परम पुरुष की; यत्-रूपम्—जिसका स्वरूप; अनिदम्—दिव्य; यथा—जिस प्रकार; ब्रह्म—ब्रह्माजी; ईशानौ—तथा शिवजी; पुरोधाय—आगे करके; देवाः—सारे देवता; प्रतिययुः—लौट गये; दिवम्—अपने स्वर्ग निवास को।.

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु की इस तरह स्तुति करने के बाद सारे देवता ब्रह्माजी तथा शिवजी को आगे करके अपने अपने स्वर्ग-आवासों को लौट गये।

तात्पर्य : कहा गया है कि—

अद्यापिह चैतन्य ए सब लीला करे।
याँऽर भाग्ये थाके, से देखये निरन्तरे॥

(*चैतन्य भागवत, मध्य* २३.५१३)

भगवान् के अवतार नदी या समुद्र की तरंगों के समान सतत प्रकट होते रहते हैं। भगवान् के अवतार असीम हैं किन्तु भाग्यशाली भक्त ही उन्हें देख सकते हैं। सौभाग्यवश देवतागण भगवान् के अवतार को जान गये थे इसीलिए उन्होंने स्तुतियाँ कीं। अपने अपने निवासो को लौटती बार शिवजी तथा ब्रह्माजी ने अगुवाई की।

कुक्षि-गतः का अर्थ है ''देवकी की कोख में''। श्रील जीव गोस्वामी ने *क्रमसन्दर्भ* भाष्य में इसकी व्याख्या की है। चूँकि यह पहले कहा जा चुका है कि कृष्ण वसुदेव के हृदय में विद्यमान थे और तब देवकी के हृदय में स्थानान्तरित किये गये अतः श्रील जीव गोस्वामी लिखते हैं कि यह कैसे हुआ कि कृष्ण अब कुक्षि में हैं? वे कहते हैं कि इसमें कोई विरोधाभास नहीं है। भगवान् हृदय से कुक्षि में या कुक्षि से हृदय में जा सकते हैं। वे कहीं भी जा या रुक सकते हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.३५) में पुष्टि हुई है—*अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थं गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि*)। भगवान् इच्छानुसार कहीं भी रुक सकते हैं अतः अपने पूर्व-जन्म की इच्छानुसार देवकी को वरदान स्वरुप भगवान् देवकीनन्दन को पुत्र रूप में प्राप्त करने का अवसर मिला।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध के अन्तर्गत ''देवताओं द्वारा गर्भस्थ कृष्ण की स्तुति'' नामक द्वितीय अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तीन

कृष्ण जन्म

इस अध्याय में बतलाया गया है कि भगवान् कृष्ण जिनका आदि रूप हरि है विष्णु रूप में प्रकट हुए जिससे उनके माता-पिता यह समझ लें कि उनका पुत्र भगवान् है। चूँकि वे कंस से भयभीत थे अत: जब भगवान् सामान्य बालक के रूप में प्रकट हुए तो वे उन्हें नन्द महाराज के घर गोकुल ले गए।

माता देवकी *सच्चिदानन्द* होने के कारण इस भौतिक जगत से सम्बद्ध नहीं है। भगवान् चार हाथों से युक्त प्रकट हुए मानो उनके गर्भ से उत्पन्न हुए हों। भगवान् के इस विष्णु रूप में देखकर वसुदेव विस्मित रह गए और उन्होंने देवकी समेत दिव्य हर्ष में आकर मन ही मन ब्राह्मणों को दस हजार गाएँ दान में दे डालीं। फिर वसुदेव ने भगवान् की स्तुति परम पुरुष, परब्रह्म, परमात्मा के सम्बोधनों से की जो द्वैत से परे हैं और भीतर तथा बाहर से सर्वव्यापक हैं। समस्त कारणों के कारण भगवान् भौतिक जगत से परे हैं यद्यपि वे ही इस भौतिक जगत के स्रष्टा हैं। जब वे इस जगत में परमात्मा रूप में प्रविष्ट होते हैं, तो वे सर्वव्यापक होते हुए (*अण्डान्तरस्थ परमाणुचयान्तरस्थम्*) भी दिव्य बने रहते हैं। इस भौतिक जगत के सृजन, पालन तथा संहार के लिए वे *गुणावतारों*—यथा ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर के रूप में प्रकट होते हैं। इस तरह वसुदेव ने भगवान् की सार्थक प्रार्थना की। उनके बाद देवकी ने भी भगवान् की दिव्य प्रकृति का वर्णन करते हुए प्रार्थना की। कंस के डर से तथा इस अभिलाषा से कि नास्तिक तथा अभक्तजन भगवान् को समझ न पाएँ देवकी ने भगवान् से प्रार्थना की कि वे इस चतुर्भुज रूप को त्यागकर दो हाथ वाले सामान्य बालक के रूप में प्रकट हों।

भगवान् ने वसुदेव तथा देवकी को उन दो अन्य अवतारों का स्मरण कराया जो पहले ही उनके पुत्र रूप में प्रकट हो चुके थे। वे पृश्निगर्भ तथा वामनदेव के रूप में प्रकट हो चुके थे और अब तीसरी बार वे उनकी इच्छा-पूर्ति के लिए देवकी के पुत्र रूप में प्रकट हो रहे थे। तब भगवान् ने कंस के

कारागार में बन्दी वसुदेव तथा देवकी के आवास को छोड़ने का निश्चय किया और ठीक उसी समय योगमाया ने यशोदा की पुत्री के रूप में जन्म लिया। योगमाया की ही व्यवस्था द्वारा वसुदेव बन्दीगृह को त्यागने एवं कंस के हाथों से बालक को बचाने में समर्थ हो सके। जब वसुदेव कृष्ण को नन्द महाराज के घर लाए तो उन्होंने देखा कि योगमाया की व्यवस्था से यशोदा तथा दूसरे सारे लोग सोए हुए थे। इस तरह उन्होंने योगमाया को यशोदा की गोद से लेकर बदले में कृष्ण को रख दिया। फिर वे योगमाया को अपनी पुत्री के रूप में लेकर वापस लौट आए। उन्होंने योगमाया को देवकी के बिस्तर में रख दिया और पूर्ववत् बन्दी बन गए। गोकुल में यशोदा को यह पता नहीं चल पाया कि उन्हें लड़का हुआ या लड़की।

श्रीशुक उवाच

अथ सर्वगुणोपेतः कालः परमशोभनः ।
यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षं शान्तर्क्षग्रहतारकम् ॥ १ ॥
दिशः प्रसेदुर्गगनं निर्मलोडुगणोदयम् ।
मही मङ्गलभूयिष्ठपुरग्रामव्रजाकरा ॥ २ ॥
नद्यः प्रसन्नसलिला ह्रदा जलरुहश्रियः ।
द्विजालिकुलसन्नादस्तवका वनराजयः ॥ ३ ॥
ववौ वायुः सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवहः शुचिः ।
अग्नयश्च द्विजातीनां शान्तास्तत्र समिन्धत ॥ ४ ॥
मनांस्यासन्प्रसन्नानि साधूनामसुरद्रुहाम् ।
जायमानेऽजने तस्मिन्नेदुर्दुन्दुभयः समम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—भगवान् के आविर्भाव के समय; सर्व—चारों ओर; गुण-उपेतः—भौतिक गुणों से सम्पन्न; कालः—उपयुक्त समय; परम-शोभनः—अत्यन्त शुभ तथा सभी दृष्टियों से उपयुक्त; यर्हि—जब; एव—निश्चित रूप से; अजन जन्म-ऋक्षम्—रोहिणी नक्षत्र समूह; शान्त-ऋक्ष—सारे नक्षत्र शान्त थे; ग्रह-तारकम्—तथा ग्रह एवं तारे (यथा अश्विनी); दिशः—सारी दिशाएँ; प्रसेदुः—अत्यन्त शुभ तथा शान्त प्रतीत हुईं; गगनम्—आकाश; निर्मल-उडु-गण-उदयम्—जिसमें सारे शुभ नक्षत्र दृष्टिगोचर थे; मही—पृथ्वी; मङ्गल-भूयिष्ठ-पुर-ग्राम-व्रज-आकराः—जिसके अनेक नगर, ग्राम, गोचर भूमि तथा खानें शुभ तथा निर्मल हो गईं; नद्यः—नदियाँ; प्रसन्न-सलिलाः—जल स्वच्छ हो गया; ह्रदाः—झीलें या जलाशय; जलरुह-श्रियः—चारों ओर कमलों के खिलने से अत्यन्त सुन्दर लगने लगा; द्विज-अलि-कुल-सन्नाद-स्तवकाः—पक्षियों (विशेषतया कोयल) तथा मधुमक्खियों का समूह मधुर ध्वनि में कीर्तन करने लगा, मानो भगवान् की स्तुति कर रहे हों; वन-राजयः—हरे वृक्ष भी देखने में मनोहर लग रहे थे; ववौ—बहने लगी; वायुः—वायु, मन्द हवा; सुख-स्पर्शः—छूने में सुहावनी; पुण्य-गन्ध-वहः—सुगन्ध से पूरित; शुचिः—धूल से रहित; अग्नयः च—तथा यज्ञस्थलों की अग्नियाँ; द्विजातीनाम्—ब्राह्मणों की; शान्ताः—शान्त; तत्र—वहाँ; समिन्धत—जलती हुई; मनांसि—ब्राह्मणों के मन (जो कंस से भयभीत थे); आसन्—हो गए; प्रसन्नानि—पूर्ण तुष्ट तथा उत्पात से रहित; साधूनाम्—ब्राह्मणों के, जो सबके सब वैष्णव भक्त थे; असुर-द्रुहाम्—जो धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न करते समय कंस तथा अन्य असुरों द्वारा सताए गए थे; जायमाने—जन्म होने से; अजने—अजन्मे, भगवान् विष्णु के; तस्मिन्—उस स्थान में; नेदुः—बज उठीं; दुन्दुभयः—दुन्दुभियाँ; समम्—एकसाथ (ऊपरी लोकों से)।

तत्पश्चात् भगवान् के आविर्भाव की शुभ बेला में सारा ब्रह्माण्ड सतोगुण, सौन्दर्य तथा शान्ति से युक्त हो गया। रोहिणी नक्षत्र तथा अश्विनी जैसे तारे निकल आए। सूर्य, चन्द्रमा तथा अन्य नक्षत्र एवं ग्रह अत्यन्त शान्त थे। सारी दिशाएँ अत्यन्त सुहावनी लगने लगीं और मनभावन नक्षत्र निरभ्र आकाश में टिमटिमाने लगे। नगरों, ग्रामों, खानों तथा चरागाहों से अलंकृत पृथ्वी सर्व-मंगलमय प्रतीत होने लगी। निर्मल जल से युक्त नदियाँ प्रवाहित होने लगीं और सरोवर तथा विशाल जलाशय कमलों तथा कुमुदिनियों से पूर्ण होकर अत्यधिक सुन्दर लगने लगे। फूलों-पत्तियों से पूर्ण एवं देखने में सुहावने लगने वाले वृक्षों और हरे पौधों में कोयलों जैसे पक्षी तथा भौरों के झुण्ड देवताओं के लिए मधुर ध्वनि में गुंजार करने लगे। निर्मल मन्द वायु बहने लगी जिसका स्पर्श सुखद था और जो फूलों की गन्ध से युक्त थी। जब कर्मकाण्ड में लगे ब्राह्मणों ने वैदिक नियमानुसार अग्नि प्रज्वलित की तो अग्नि इस वायु से अविचलित रहती हुई स्थिर भाव से जलने लगी। इस तरह जब अजन्मा भगवान् विष्णु प्रकट होने को हुए तो कंस जैसे असुरों तथा उसके अनुचरों द्वारा सताए गए साधुजनों तथा ब्राह्मणों को अपने हृदयों के भीतर शान्ति प्रतीत होने लगी और उसी समय स्वर्ग में दुन्दुभियाँ बज उठीं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि ''मेरा जन्म तथा कार्यकलाप सभी दिव्य हैं। जो मुझे यथार्थतः समझ लेता है, वह तुरन्त वैकुण्ठ जाने के योग्य बन जाता है।'' भगवान् का जन्म सामान्य व्यक्ति जैसा नहीं होता, जिसे अपने पूर्वकर्म के अनुसार भौतिक शरीर धारण करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। भगवान् के प्राकटय की व्याख्या पिछले अध्याय में हो चुकी है वे स्वेच्छा से प्रकट होते हैं।

जब भगवान् के प्राकट्य का समय आ गया तो नक्षत्र शुभ हो गए। रोहिणी नक्षत्र का ज्योतिष-फल भी प्रधान था क्योंकि यह नक्षत्र अत्यन्त शुभ माना जाता है। रोहिणी ब्रह्मा के अधीन है और ब्रह्मा विष्णु से उत्पन्न हैं। रोहिणी अजन्मा विष्णु के जन्म के समय विष्णु से ही जन्म लेकर प्रकट होता है। ज्योतिष के अनुसार नक्षत्रों की स्थिति के अतिरिक्त विभिन्न ग्रहों की विभिन्न स्थितियों के कारण शुभ तथा अशुभ क्षण होते हैं। कृष्ण-जन्म के समय सारे ग्रहों का अपने आप ऐसा तालमेल बैठा कि सब कुछ शुभ बन गया।

उस समय पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण सभी दिशाओं में शान्ति तथा सम्पन्नता का वातावरण था। आकाश में शुभ नक्षत्र दिख रहे थे और पृथ्वी पर सारे नगरों, सारे ग्रामों या चरागाहों में तथा हर प्राणी के मन के भीतर सौभाग्य के लक्षण प्रकट हो रहे थे। नदियाँ जल से पूर्ण थीं और सरोवर सुन्दर कमलों से सुशोभित थे। जंगल सुन्दर पक्षियों तथा मोरों से पूर्ण थे। जंगल के सारे पक्षी मधुर ध्वनि से गाने लगे और मोर मोरनियों के साथ नाचने लगे। सुखद मन्द वायु विभिन्न फूलों की गन्ध लेकर प्रवाहित होने लगी जिसका स्पर्श अत्यन्त सुखद था। अग्नि यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों को यज्ञ करने के लिए अपने घर अत्यन्त सुखद प्रतीत होने लगे। आसुरी राजाओं के उत्पातों के कारण ब्राह्मणों के घरों की यज्ञ-अग्नि प्रायः बुझ चुकी थी, किन्तु वही अब पुनः शान्तिपूर्वक जलने लगी। यज्ञों पर पाबन्दी लगाए जाने से ब्राह्मण मन, बुद्धि तथा कर्म से अत्यन्त संतप्त थे। किन्तु कृष्ण के आविर्भाव के समय उनके मन स्वतः प्रसन्नता से भर उठे क्योंकि आकाश में भगवान् के प्राकट्य को घोषित करने वाली दिव्य ध्वनि जोर से सुनाई पड़ने लगी थी।

कृष्ण-जन्म के अवसर पर समस्त ब्रह्माण्ड में ऋतु-परिवर्तन हो गया। यद्यपि कृष्ण भादों (सितम्बर) मास में उत्पन्न हुए थे, किन्तु ऐसा लग रहा था मानो वसन्त हो। वायुमण्डल शीतल था और नदियाँ तथा जलाशय ऐसे लग रहे थे मानो शरद ऋतु हो। कमल तथा कुमुदिनियाँ दिन में खिलती हैं, किन्तु जब कृष्ण प्रकट हुए तो आधी रात में भी वे खिली थीं और सुगन्धित वायु बह रही थी। कंस के उत्पातों के कारण सारे वैदिक कर्मकाण्ड बन्द हो चुके थे। ब्राह्मण तथा साधुगण शान्त चित्त होकर वैदिक अनुष्ठान नहीं कर पा रहे थे, किन्तु अब वे ही ब्राह्मण बिना उत्पात के दैनिक अनुष्ठान करके अत्यन्त प्रसन्न थे। असुरों का कार्य है सुरों, भक्तों तथा ब्राह्मणों को सताना, किन्तु कृष्ण के आविर्भाव के समय ये भक्त तथा ब्राह्मण व्यवधानरहित थे।

जगुः किन्नरगन्धर्वास्तुष्टुवुः सिद्धचारणाः ।
विद्याधर्यश्च ननृतुरप्सरोभिः समं मुदा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

जगुः—शुभ गीत गाए; किन्नर-गन्धर्वाः—विभिन्न लोकों के निवासी किन्नर तथा गन्धर्व; तुष्टुवुः—स्तुतियाँ कीं; सिद्ध-चारणाः—स्वर्ग के अन्य निवासी सिद्ध तथा चारणों ने; विद्याधर्यः च—और विद्याधरियाँ, स्वर्गलोक के अन्य निवासी; ननृतुः—आनन्दपूर्वक नृत्य किया; अप्सरोभिः—अप्सराओं के, स्वर्ग की सुन्दर नर्तिकाएँ; समम्—साथ; मुदा—प्रमुदित होकर।

किन्नर तथा गन्धर्व शुभ गीत गाने लगे, सिद्धों तथा चारणों ने शुभ प्रार्थनाएँ कीं तथा

अप्सराओं के साथ विद्याधरियाँ प्रसन्नता से नाचने लगीं।

मुमुचुर्मुनयो देवाः सुमनांसि मुदान्विताः ।
मन्दं मन्दं जलधरा जगर्जुरनुसागरम् ।
निशीथे तमउद्भूते जायमाने जनार्दने ॥ ७॥
देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः ।
आविरासीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः ॥ ८॥

शब्दार्थ

मुमुचुः—बरसाया; मुनयः—मुनियों ने; देवाः—तथा देवताओं ने; सुमनांसि—सुन्दर तथा सुगन्धित फूल; मुदा अन्विताः—प्रसन्नचित्त होकर; मन्दम् मन्दम्—धीरे-धीरे; जल-धराः—बादल; जगर्जुः—गरजने लगे; अनुसागरम्—समुद्र की लहरों की ध्वनि के साथ; निशीथे—अर्धरात्रि में; तमः-उद्भूते—घना अंधकार होने पर; जायमाने—प्रकट होने पर; जनार्दने—भगवान् विष्णु के; देवक्याम्—देवकी के गर्भ में; देव-रूपिण्याम्—भगवान् के रूप में (आनन्दचिन्मय रस प्रतिभाविताभिः); विष्णुः—भगवान् विष्णु; सर्व-गुहा-शयः—हर एक के हृदय में स्थित; आविरासीत्—प्रकट हुए; यथा—जिस प्रकार; प्राच्याम् दिशि—पूर्व दिशा में; इन्दुः इव—पूर्ण चन्द्रमा के समान; पुष्कलः—सब प्रकार से पूर्ण।

देवताओं तथा महान् साधु पुरुषों ने प्रसन्न होकर फूलों की वर्षा की और आकाश में बादल उमड़ आए तथा मन्द स्वर से गर्जन करने लगे मानो समुद्र की लहरों की ध्वनि हो। तब हर हृदय में स्थित पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु रात्रि के गहन अंधकार में देवकी के हृदय से उसी तरह प्रकट हुए जिस तरह पूर्वी क्षितिज में पूर्ण चन्द्रमा उदय हुआ हो क्योंकि देवकी श्रीकृष्ण की ही कोटि की थीं।

तात्पर्य : जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.३७) में कहा गया है—

आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभिस्

ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः ।

गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

इस श्लोक से पता चलता है कि कृष्ण तथा उनके परिकर एक ही आध्यात्मिक शक्ति (*आनन्दचिन्मयरस*) के होते हैं। कृष्ण के पिता, उनकी माता, उनके गोपमित्र तथा गाएँ—सभी कृष्ण के अंश हैं जैसाकि 'ब्रह्मविमोहन लीला' में बतलाया जाएगा। जब ब्रह्मा ने भगवान् कृष्ण की सर्वश्रेष्ठता की परीक्षा करने के लिए कृष्ण के संगियों का हरण कर लिया तो भगवान् ने अनेक ग्वालों तथा बछड़ों के रूप में अपना पुनः विस्तार कर लिया और ब्रह्मा ने देखा कि ये सभी *विष्णुमूर्तियाँ* हैं। देवकी भी कृष्ण की अंश हैं इसीलिए इस श्लोक में कहा गया है *देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः*।

भगवान् के आविर्भाव के समय सारे मुनि तथा देवता प्रसन्न होकर फूलों की वर्षा करने लगे। समुद्रतट पर मन्द लहरों की ध्वनि हो रही थी और समुद्र के ऊपर आकाश में बादल थे, जो अत्यन्त मनोहारी गर्जना करने लगे।

जब इस तरह का वातावरण बन गया तो प्रत्येक जीव के हृदय में निवास करने वाले भगवान् विष्णु अँधेरी रात में देवीस्वरूपा देवकी के समक्ष प्रकट हुए। उस समय भगवान् विष्णु के प्राकट्य की उपमा पूर्वी अन्तरिक्ष में पूर्ण चन्द्रमा के उदय होने से दी जा सकती है। यहाँ यह आक्षेप किया जा सकता है कि कृष्ण तो कृष्णपक्ष की अष्टमी के दिन उत्पन्न हुए तो फिर पूर्ण चन्द्रोदय कैसे हुआ? इसका उत्तर यह हुआ कि कृष्ण चन्द्र वंश में उत्पन्न हुए थे अत: भले ही उस रात चन्द्रमा अपूर्ण रहा हो, किन्तु भगवान् जिस कुल में प्रकट हुए उसमें चन्द्रमा साक्षात् आदि पुरुष हैं, अत: चन्द्रमा अत्यधिक प्रसन्न था और कृष्णकृपा से वह पूर्णरूप में प्रकट हो सका। भगवान् का स्वागत करने के लिए कृष्णपक्ष का चाँद हर्ष के मारे पूर्ण चन्द्रमा बन गया।

श्रीमद्भागवत के अनेक पाठों में *देवरूपिण्याम्* शब्द के स्थान पर *विष्णुरूपिण्याम्* पाठ मिलता है। प्रत्येक दशा में अर्थ यही है कि देवकी का स्वरूप भगवान् के ही सदृश आध्यात्मिक है। भगवान् सच्चिदानन्द विग्रह हैं और देवकी भी वही हैं। अत: जिस विधि से सच्चिदानन्दविग्रह भगवान् देवकी के गर्भ से प्रकट हुए उसके विषय में कोई त्रुटि नहीं निकाली जा सकती।

जिन्हें यह पूरी तरह समझ नहीं है कि भगवान् का प्राकट्य तथा तिरोधान दिव्य होते हैं (*जन्म कर्म च मे दिव्यम्*) वे कभी-कभी आश्चर्यचकित रह जाते हैं कि भगवान् सामान्य बालक की तरह जन्म ले सकते हैं। किन्तु वास्तविकता यही है कि भगवान् का जन्म कभी भी सामान्य नहीं होता। भगवान् पहले से हर प्राणी के हृदय में अन्तर्यामी परमात्मा के रूप में स्थित हैं। अत: देवकी के हृदय में संपूर्ण शक्ति के साथ उपस्थित रहने से वे उनके शरीर के बाहर भी प्रकट होने में समर्थ थे।

बारह महाजनों में से भीष्म-देव भी एक हैं (*स्वयम्भूर्नारद: शम्भु: कुमार: कपिलो मनु: प्रह्लादो जनको भीष्म:*)। *श्रीमद्भागवत* (१.९.४२) में भीष्म जो भक्तों द्वारा अनुसरणीय हैं कहते हैं कि भगवान् हर व्यक्ति के हृदय में उसी प्रकार स्थित हैं जिस प्रकार हर व्यक्ति के सिर के ऊपर सूर्य रहता है। भले ही सूर्य करोड़ों व्यक्तियों के सिर के ऊपर हो, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सूर्य अलग-

अलग स्थित है। इसी तरह अचिन्त्य शक्तियों के कारण भगवान् भले ही हर एक के हृदय में स्थित हों, किन्तु वे अलग-अलग नहीं हैं। *एकत्वमनुपश्यत:* (*ईषोपनिषद्* ७)। भगवान् एक हैं, किन्तु वे अपनी अचिन्त्य शक्ति के द्वारा हर प्राणी के हृदय में प्रकट हो सकते हैं। इस तरह भगवान् देवकी के हृदय में रहते हुए भी उनके पुत्र रूप में प्रकट हुए। इसीलिए *विष्णु-पुराण* के अनुसार जैसाकि *वैष्णव-तोषणी* में उद्धृत किया है, भगवान् सूर्य के समान प्रकट हुए (*अनुग्रहासय*)। *ब्रह्म-संहिता* (५.३५) पुष्टि करती है कि भगवान् प्रत्येक परमाणु के भीतर भी स्थित हैं (*अण्डान्तरस्थ परमाणुचयान्तरस्थम्*)। वे मथुरा में, वैकुण्ठ में तथा हृदय में स्थित हैं। अत: हमें स्पष्ट समझ लेना होगा कि वे देवकी के हृदय या गर्भ में सामान्य बालक की तरह नहीं रहे थे। न ही वे सामान्य मानवी शिशु की तरह उत्पन्न हुए यद्यपि कंस जैसे असुरों को मोहित करने के लिए ऐसा करते हुए प्रतीत हुए। असुरगण व्यर्थ ही सोचते हैं कि कृष्ण ने सामान्य बालक की तरह जन्म लिया और सामान्य व्यक्ति की भाँति इस संसार से चले गए। भगवत्-ज्ञानी व्यक्ति ऐसी आसुरी धारणाओं का खंडन करते हैं। *अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानाम् ईश्वरोऽपि सन्* (*भगवद्गीता* ४.६)। भगवान् *अज* अर्थात् अजन्मा हैं और सबके परम नियन्ता हैं। फिर भी वे देवकी के पुत्र रूप में प्रकट हुए। इस श्लोक में पूर्ण-चन्द्रस्वरूप प्रकट होने वाले भगवान् की अचिन्त्य शक्ति का वर्णन हुआ है। भगवान् के आविर्भाव की विशिष्ट महत्ता को समझते हुए भगवान् को कभी भी सामान्य बालक की तरह जन्म लेते नहीं मानना चाहिए।

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं
चतुर्भुजं शङ्खगदाद्युदायुधम् ।
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं
पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम् ॥ ९ ॥
महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डल
त्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम् ।
उद्दामकाञ्च्यङ्गदकङ्कणादिभिर्
विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत ॥ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; अद्भुतम्—अद्भुत; बालकम्—बालक को; अम्बुज-ईक्षणम्—कमल जैसी आँखों वाले; चतु:-भुजम्—चार भुजाओं वाले; शङ्ख-गदा-आदि—चार हाथों में शंख, चक्र, गदा तथा कमल लिए हुए; उदायुधम्—विभिन्न आयुध; श्रीवत्स-लक्ष्मम्—श्रीवत्स से अलंकृत, बालों का विशेष प्रकार श्रीवत्स कहलाता है और यह भगवान् के वक्षस्थल पर ही उगता है; गल-शोभि-कौस्तुभम्—उनके गले में वैकुण्ठ-लोक में प्राप्त होने वाला कौस्तुभ मणि था; पीत-अम्बरम्—पीला वस्त्र; सान्द्र-पयोद-सौभगम्—अत्यन्त सुन्दर तथा श्यामल रंग का; महा-अर्ह-वैदूर्य-किरीट-कुण्डल—उनका मुकुट तथा उनके कुण्डल

मूल्यवान वैदूर्य मणि से जड़े थे; त्विषा—सौन्दर्य द्वारा; परिष्वक्त-सहस्र-कुन्तलम्—बिखरे बड़े-बड़े बालों के द्वारा चमचमाता; उद्दाम-काञ्ची-अङ्गद-कङ्कण-आदिभिः—कमर में चमकीली पेटी, भुजाओं में बलय, कलाइयों में कंकण इत्यादि से युक्त.; विरोचमानम्—अत्यन्त सुन्दर ढंग से अलंकृत; वसुदेवः—कृष्ण के पिता वसुदेव ने; ऐक्षत—देखा।

तब वसुदेव ने उस नवजात शिशु को देखा जिनकी अद्भुत आँखें कमल जैसी थीं और जो अपने चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा तथा पद्म चार आयुध धारण किये थे। उनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिह्न था और उनके गले में चमकीला कौस्तुभ मणि था। वह पीताम्बर धारण किए थे, उनका शरीर श्याम घने बादल की तरह, उनके बिखरे बाल बड़े-बड़े तथा उनका मुकुट और कुण्डल असाधारण तौर पर चमकते वैदूर्यमणि के थे। वे करधनी, बाजूबंद, कंगन तथा अन्य आभूषणों से अलंकृत होने के कारण अत्यन्त अद्भुत लग रहे थे।

तात्पर्य : *अद्भुतम्* शब्द के समर्थन में नवजात शिशु के अलंकरण तथा ऐश्वर्य का वर्णन हुआ है। *ब्रह्म-संहिता* (५.३०) में पुष्टि हुई है—*बर्हावतंसमसिताम्बुद सुन्दरांगम्*—भगवान् का सुन्दर स्वरूप श्याम रंग के घने बादलों जैसा (*असित*—श्याम तथा *अम्बुद्*—बादल) है। *चतुर्भुज* शब्द से स्पष्ट है कि कृष्ण पहले चार हाथों सहित भगवान् विष्णु के रूप में प्रकट हुए। मानव समाज में कोई भी सामान्य शिशु आज तक चार हाथों वाला उत्पन्न नहीं हुआ और क्या पूरी तरह बड़े बालों से युक्त कभी कोई शिशु उत्पन्न हुआ है? इसलिए भगवान् का अवतरण सामान्य शिशु के जन्म से सर्वथा भिन्न है। वैदूर्यमणि कभी नीला, कभी पीला तो कभी लाल दिखता है और वैकुण्ठलोक में उपलब्ध है। भगवान् का मुकुट तथा कुंडल इसी विशेष मणि से अलंकृत थे।

स विस्मयोत्फुल्लविलोचनो हरिं
सुतं विलोक्यानकदुन्दुभिस्तदा ।
कृष्णावतारोत्सवसम्भ्रमोऽस्पृशन्
मुदा द्विजेभ्योऽयुतमाप्लुतो गवाम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (वसुदेव, जो आनकदुन्दुभि कहलाते हैं); विस्मय-उत्फुल्ल-विलोचनः—भगवान् के सुन्दर स्वरूप को देखने से आश्चर्यचकित आँखें; हरिम्—भगवान् हरि को; सुतम्—पुत्र रूप में; विलोक्य—देखकर; आनकदुन्दुभिः—वसुदेव द्वारा; तदा—उस समय; कृष्ण-अवतार-उत्सव—कृष्ण के आविर्भाव पर उत्सव मनाने के लिए; सम्भ्रमः—सम्मान के साथ भगवान् का स्वागत करने की इच्छा; अस्पृशत्—बाँटने का अवसर प्राप्त किया; मुदा—अत्यधिक हर्ष के साथ; द्विजेभ्यः—ब्राह्मणों को; अयुतम्—दस हजार; आप्लुतः—विभोर; गवाम्—गाएँ।

जब वसुदेव ने अपने विलक्षण पुत्र को देखा तो उनकी आँखें आश्चर्य से विस्फारित रह गईं। उन्होंने परम हर्ष में मन ही मन दस हजार गाएँ एकत्र कीं और उन्हें ब्राह्मणों में वितरित कर दिया

मानो कोई दिव्य उत्सव हो।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने वसुदेव को अपने विलक्षण पुत्र को देखे जाने पर जो आश्चर्य हुआ उसका विश्लेषण किया है। वसुदेव नवजात शिशु को बहुमूल्य वस्त्रों तथा रत्नों से आभूषित देखकर आश्चर्य से काँप रहे थे। वे तुरन्त समझ गए कि यह कोई सामान्य बालक नहीं अपितु चतुर्भुजी भगवान् हैं, जो अपने आदि रूप में पूरी तरह अलंकृत होकर प्रकट हुए हैं। पहला आश्चर्य यह था कि कंस के उस बन्दीगृह में जन्म लेने से भगवान् डरे नहीं जिसमें वसुदेव तथा देवकी बन्द थे। दूसरा यह कि सर्वव्यापी परम ब्रह्म होते हुए भी वे देवकी की कोख से पैदा हुए। तीसरा आश्चर्य यह कि कोख से जन्म लेने वाला बालक इतनी अच्छी तरह अलंकृत था। चौथा यह कि भगवान् तो वसुदेव के आराध्यदेव थे फिर भी वे उनके पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। इन्हीं कारणों से वसुदेव अत्यधिक हर्षित थे अतएव वे क्षत्रियों की तरह पुत्र का जन्मोत्सव मनाना चाह रहे थे, किन्तु बन्दी होने के कारण प्रत्यक्ष रूप में ऐसा करपाने में असमर्थ थे इसीलिए उन्होंने यह उत्सव मन में ही मना लिया। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ा। यदि कोई भगवान् की सेवा बाह्यत: नहीं कर सकता है, तो वह मन में भी उनकी सेवा कर सकता है क्योंकि मन के कार्य अन्य इन्द्रियों के कार्यों के ही समान होते हैं। यह *अद्वय ज्ञान* कहलाता है। लोग सामान्यतया पुत्र-जन्म पर कर्मकाण्डीय उत्सव मनाते हैं। तो फिर वसुदेव ऐसा उत्सव क्यों नहीं मना सकते थे जबकि भगवान् ही उनके पुत्र रूप में प्रकट हुए हों?

अथैनमस्तौदवधार्य पूरुषं
परं नताङ्गः कृतधीः कृताञ्जलिः ।
स्वरोचिषा भारत सूतिकागृहं
विरोचयन्तं गतभीः प्रभाववित् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; एनम्—बालक को; अस्तौत्—स्तुति अर्पित किया; अवधार्य—यह निश्चय करके कि बालक भगवान् था; पूरुषम्—परम पुरुष को; परम्—परम दिव्य; नत-अङ्गः—गिरकर; कृत-धीः—एकाग्र होकर; कृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़कर; स्व-रोचिषा—अपने शारीरिक सौन्दर्य के तेज से; भारत—हे महाराज परीक्षित; सूतिका-गृहम्—वह स्थान, जहाँ भगवान् का जन्म हुआ; विरोचयन्तम्—चारों ओर से प्रकाशित करते हुए; गत-भीः—भय से रहित होकर; प्रभाव-वित्—(भगवान् के) प्रभाव को जान सका।.

हे भरतवंशी, महाराज परीक्षित, वसुदेव यह जान गए कि यह बालक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् नारायण है। इस निष्कर्ष पर पहुँचते ही वे निर्भय हो गए। हाथ जोड़े, मस्तक नवाये तथा

एकाग्रचित्त होकर वे उस बालक की स्तुति करने लगे जो अपने सहज प्रभाव के द्वारा अपने जन्म-स्थान को जगमग कर रहा था।

तात्पर्य : इतने महान् आश्चर्य से चकित वसुदेव ने अब अपना ध्यान भगवान् पर एकाग्र किया। वे भगवान् के प्रभाव को समझकर निर्भय हो गए क्योंकि वे जान गए कि मेरी रक्षा के लिए भगवान् प्रकट हुए हैं (*गतभीः प्रभाववित्*)। यह जानकर कि साक्षात् भगवान् उपस्थित हैं उन्होंने इस प्रकार यथोचित रूप में स्तुति की।

श्रीवसुदेव उवाच

विदितोऽसि भवान्साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः ।
केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

श्री-वसुदेवः उवाच—श्री वसुदेव ने प्रार्थना की; विदितः असि—अब मैं आपसे अवगत हूँ; भवान्—आप; साक्षात्—प्रत्यक्ष; पुरुषः—परम पुरुष; प्रकृतेः—प्रकृति से; परः—दिव्य, परे; केवल-अनुभव-आनन्द-स्वरूपः—आपका स्वरूप सच्चिदानन्द विग्रह है और जो भी आपका अनुभव करता है, वह आनन्द से पूरित हो जाता है; सर्व-बुद्धि-दृक्—परम प्रेक्षक, परमात्मा, प्रत्येक की बुद्धि।

वसुदेव ने कहा : हे भगवान्, आप इस भौतिक जगत से परे परम पुरुष हैं और आप परमात्मा हैं। आपके स्वरूप का अनुभव उस दिव्य ज्ञान द्वारा हो सकता है, जिससे आप भगवान् के रूप में समझे जा सकते हैं। अब आपकी स्थिति मेरी समझ में भलीभाँति आ गई है।

तात्पर्य : वसुदेव के हृदय के भीतर अपने पुत्र के प्रति स्नेह तथा भगवान् की दिव्य प्रकृति का ज्ञान दोनों जागृत हुए। प्रारम्भ में तो वासुदेव ने सोचा, "ऐसे सुन्दर बालक ने जन्म लिया है, जिसे कंस आकर मार डालेगा।" किन्तु जब उनकी समझ में यह बात आ गई कि यह सामान्य बालक नहीं अपितु साक्षात् भगवान् हैं, तो वे निर्भय हो गए। वे अपने पुत्र को हर तरह से अद्‌भुत एवं भगवान् समझकर भगवानोचित स्तुति करने लगे। कंस के उत्पीड़नों से निर्भीक होकर उन्होंने एक ही समय उस बालक को स्नेह का पात्र तथा स्तुति द्वारा पूजा का पात्र स्वीकार किया।

स एव स्वप्रकृत्येदं सृष्ट्वाग्रे त्रिगुणात्मकम् ।
तदनु त्वं ह्यप्रविष्टः प्रविष्ट इव भाव्यसे ॥ १४॥

शब्दार्थ

सः—वह (भगवान्); एव—निस्सन्देह; स्व-प्रकृत्या—अपनी ही शक्ति से (मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्); इदम्—यह भौतिक जगत; सृष्ट्वा—सृजन करके; अग्रे—प्रारम्भ में; त्रि-गुण-आत्मकम्—प्रकृति के तीन गुणों से बने (सत्त्वरजस्तमोगुण); तत् अनु—तत्पश्चात्; त्वम्—आप; हि—निस्सन्देह; अप्रविष्टः—प्रवेश न करने पर; प्रविष्टः इव—ऐसा प्रतीत होता है कि प्रवेश किया है; भाव्यसे—ऐसा समझा जाता है।

हे भगवन्, आप वही पुरुष हैं जिसने प्रारम्भ में अपनी बहिरंगा शक्ति से इस भौतिक जगत की सृष्टि की। तीन गुणों (सत्त्व, रजस् तथा तमस्) वाले इस जगत की सृष्टि के बाद ऐसा लगता है कि आपने उसके भीतर प्रवेश किया है यद्यपि यथार्थ तो यह है कि आपने प्रवेश नहीं किया।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.४) में भगवान् स्पष्ट बतलाते हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

तीन गुणों सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण—वाला यह भौतिक जगत पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, मन, बुद्धि तथा अहंकार से बना है और ये सभी कृष्ण से निकलने वाली शक्तियाँ हैं, किन्तु दिव्य होने के कारण कृष्ण सदैव इस भौतिक जगत से पृथक् हैं। जिन्हें शुद्धज्ञान नहीं है वे कृष्ण को पदार्थ की उपज मानते हैं और उनके शरीर को अपने जैसा भौतिक सोचते हैं (*अवजानन्ति मां मूढाः*)। फिर भी कृष्ण इस भौतिक जगत से सदैव विलग रहते हैं।

वैदिक वाङ्मय में सृष्टि का सम्बन्ध महाविष्णु से बतलाया जाता है। *ब्रह्म-संहिता* (५.३५) में कहा गया है—

एकोऽप्यसौ रचयितुं जगदण्ड कोटिं

यच्छक्तिरस्ति जगदण्डचया यदन्तः।

अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ। वे महाविष्णु के अंशरूप में भौतिक प्रकृति में प्रवेश करते हैं। फिर वे गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश करते हैं और वे सारे तत्त्वों में, यहाँ तक कि प्रत्येक अणु के भीतर, क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में प्रवेश कर जाते हैं। सृष्टि की ऐसी अभिव्यक्तियाँ अनन्त हैं, जो ब्रह्माण्डों तथा व्यष्टि परमाणुओं में प्रकट होती हैं।" गोविन्द का

अंशत: प्राकट्य *अन्तर्यामी* अर्थात् परमात्मा के रूप में होता है, जो इस भौतिक जगत में प्रवेश करते हैं (*अण्डान्तरस्थ*) और जो परमाणु के भी भीतर हैं। *ब्रह्म-संहिता* (५.४८) में आगे भी कहा गया है—

यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य

जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथा: ।

विष्णुर्महान स इह यस्य कलाविशेषो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

इस श्लोक में महाविष्णु को कृष्ण का स्वांश बतलाया गया है। महाविष्णु कारणार्णव में शयन करते हैं और जब वे साँस छोड़ते हैं, तो लाखों ब्रह्माण्ड उनके शरीर के छिद्रों से बाहर निकल आते हैं। जब वे श्वास खींचते हैं, तो ये सारे ब्रह्माण्ड विलुप्त हो जाते हैं। इस तरह लाखों ब्रह्माण्डों के नियन्ता, ब्रह्मा और अन्य देवता, महाविष्णु के साँस लेते समय भौतिक संसार में भीतर-बाहर आते-जाते रहते हैं।

मूर्ख व्यक्ति सोचते हैं कि जब कृष्ण वसुदेव के पुत्र रूप में प्रकट होते हैं, तो वे सामान्य बालक की तरह सीमित शक्तिवाले होते हैं। किन्तु वसुदेव यह जानते थे कि भगवान् उनके पुत्र रूप में उत्पन्न हुए हैं, परन्तु वे न तो देवकी के गर्भ में प्रविष्ट हुए और न उससे बाहर आए। प्रत्युत भगवान् सदैव वहाँ विद्यमान थे। भगवान् भीतर और बाहर सर्वत्र उपस्थित रहते हैं, सर्वव्यापी हैं। *प्रविष्ट इव भाव्यसे* ऐसा लगता है कि वे देवकी के गर्भ में प्रविष्ट हुए और अब वसुदेव के पुत्र रूप में प्रकट हुए हैं। वसुदेव द्वारा इस ज्ञान की अभिव्यक्ति संकेत करती है कि वसुदेव को पता था कि ये घटनाएँ किस तरह घटीं। वसुदेव निश्चित ही भगवान् के परम भक्त थे और हमें ऐसे ही भक्त से शिक्षा लेनी चाहिए। इसीलिए *भगवद्गीता* की (४.३४) संस्तुति है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन: ॥

''जरा आध्यात्मिक गुरु के समीप जाकर सत्य सीखने का प्रयास तो करो। विनीत भाव से उनसे प्रश्न करो और उनकी सेवा करो। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति ही तुम्हें ज्ञान प्रदान कर सकता है क्योंकि उसने सत्य को देखा है।'' वसुदेव ने भगवान् को जन्म दिया फिर भी उन्हें इसका पूर्ण ज्ञान था कि भगवान्

किस तरह प्रकट तथा अप्रकट होते हैं। अतएव वे *तत्त्वदर्शी* थे क्योंकि उन्होंने स्वयं देखा था कि परम सत्य किस तरह उनके पुत्र रूप में प्रकट हुए थे। वसुदेव अज्ञानी न थे जिससे वे यह सोचते कि उनके पुत्र रूप में उत्पन्न होने से भगवान् सीमित हो गए हैं। भगवान् असीम हैं और भीतर-बाहर सर्वव्यापी हैं। अत: उनके प्रकट होने या अदृश्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

यथेमेऽविकृता भावास्तथा ते विकृतैः सह ।
नानावीर्याः पृथग्भूता विराजं जनयन्ति हि ॥ १५ ॥
सन्निपत्य समुत्पाद्य दृश्यन्तेऽनुगता इव ।
प्रागेव विद्यमानत्वान्न तेषामिह सम्भवः ॥ १६ ॥
एवं भवान्बुद्ध्यनुमेयलक्षणैर्
ग्राह्यैर्गुणैः सन्नपि तद्गुणाग्रहः ।
अनावृतत्वाद्बहिरन्तरं न ते
सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुनः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; इमे—भौतिक शक्ति से बनी ये भौतिक सृष्टियाँ; अविकृताः—छिन्न-भिन्न नहीं; भावाः—ऐसी विचारधारा से; तथा—उसी प्रकार; ते—वे; विकृतैः सह—सम्पूर्ण भौतिकशक्ति से उत्पन्न इन विभिन्न तत्त्वों के साथ; नाना-वीर्याः—प्रत्येक तत्त्व विभिन्न शक्तियों से पूर्ण है; पृथक्—विलग; भूताः—होकर; विराजम्—सम्पूर्ण विश्व को; जनयन्ति—उत्पन्न करते हैं; हि—निस्सन्देह; सन्निपत्य—आध्यात्मिक शक्ति का साथ होने से; समुत्पाद्य—उत्पन्न किए जाने के बाद; दृश्यन्ते—प्रकट होते हैं; अनुगताः—उसके भीतर प्रविष्ट हुए; इव—मानो; प्राक्—शुरू से, इस जगत की सृष्टि के पूर्व से; एव—निस्सन्देह; विद्यमानत्वात्—भगवान् के अस्तित्व के कारण; न—नहीं; तेषाम्—इन भौतिक तत्त्वों का; इह—इस जगत में; सम्भवः—प्रवेश करना सम्भव हुआ होता; एवम्—इस प्रकार; भवान्—हे प्रभु; बुद्धि-अनुमेय-लक्षणैः—असली बुद्धि से तथा ऐसे लक्षणों से; ग्राह्यैः—इन्द्रिय विषयों से; गुणैः—गुणों से; सन् अपि—यद्यपि सम्पर्क में हैं; तत्-गुण-अग्रहः—उन गुणों के द्वारा स्पर्श नहीं किए जाते; अनावृतत्वात्—सर्वत्र उपस्थित होने से; बहिः अन्तरम्—बाहर-भीतर; न ते—ऐसी कोई बात नहीं है; सर्वस्य—हर वस्तु का; सर्व-आत्मनः—सभी वस्तुओं के मूल स्वरूप; आत्म-वस्तुनः—हर वस्तु आपकी है, किन्तु आप हर वस्तु के बाहर तथा भीतर हैं।.

सम्पूर्ण भौतिक शक्ति (महत् तत्त्व) अविभाज्य है, किन्तु भौतिक गुणों के कारण यह पृथ्वी जल, अग्नि, वायु तथा आकाश में विलग होती सी प्रतीत होती है। ये विलग हुई शक्तियाँ जीवभूत के कारण मिलकर विराट जगत को दृश्य बनाती हैं, किन्तु तथ्य तो यह है कि विराट जगत की सृष्टि के पहले से ही महत् तत्त्व विद्यमान रहता है। अतः महत् तत्त्व का वास्तव में सृष्टि में प्रवेश नहीं होता है। इसी तरह यद्यपि आप अपनी उपस्थिति के कारण हमारी इन्द्रियों द्वारा अनुभवगम्य हैं, किन्तु आप न तो हमारी इन्द्रियों द्वारा अनुभवगम्य हो पाते हैं न ही हमारे मन या वचनों द्वारा अनुभव किए जाते हैं (*अवाङ्मनसागोचर*)। हम अपनी इन्द्रियों से कुछ ही वस्तुएँ देख पाते हैं, सारी वस्तुएँ नहीं। उदाहरणार्थ, हम अपनी आँखों का प्रयोग देखने के लिए कर

सकते हैं, आस्वाद के लिए नहीं। फलस्वरूप आप इन्द्रियों के परे हैं। यद्यपि आप प्रकृति के तीनों गुणों से संबद्ध हैं, आप उनसे अप्रभावित रहते हैं। आप हर वस्तु के मूल कारण हैं, सर्वव्यापी अविभाज्य परमात्मा हैं। अतएव आपके लिए कुछ भी बाहरी या भीतरी नहीं है। आपने कभी भी देवकी के गर्भ में प्रवेश नहीं किया प्रत्युत आप पहले से वहाँ उपस्थित थे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.४) में स्वयं भगवान् ने यही बात बतलाई है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

"मेरे अव्यक्त रूप से यह सारा ब्रह्माण्ड परिव्याप्त है। सारे जीव मुझमें हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।"

भगवान् की अनुभूति स्थूल इन्द्रियों के माध्यम से नहीं हो पाती। कहा गया है कि भगवान् कृष्ण के नाम, यश, लीलाएँ इत्यादि भौतिक इन्द्रियों द्वारा नहीं जाने जा सकते। जो समुचित निर्देशन के अन्तर्गत शुद्ध भक्ति में लगा हुआ है केवल वही उनका साक्षात्कार कर सकता है। *ब्रह्म-संहिता* (५.३८) में कहा गया है—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन

सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।

जिसने भगवान् के प्रति दिव्य प्रेमभाव उत्पन्न कर लिया है, वह सदैव भगवान् गोविंद को अपने भीतर और बाहर देख सकता है। इस तरह वे सर्वसामान्य को दृष्टिगोचर नहीं होते। अतः *भगवद्गीता* के इस श्लोक में यह कहा गया है कि यद्यपि भगवान् सर्वव्यापी हैं, किन्तु भौतिक इन्द्रियों द्वारा वे विचारणीय नहीं हैं। यद्यपि हम उन्हें देख नहीं सकते, किन्तु वास्तव में सारी वस्तुएँ उन्हीं पर टिकी हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* के सातवें अध्याय में कहा गया है, यह सम्पूर्ण विराट जगत उनकी दो विभिन्न शक्तियों परा तथा अपरा अर्थात् आध्यात्मिक तथा भौतिक शक्तियों का मेल है। जिस तरह सूर्य का प्रकाश सारे ब्रह्माण्ड के ऊपर फैलता है उसी तरह भगवान् की शक्ति सृष्टि भर में फैली है और सारी वस्तुएँ उसी शक्ति पर टिकी हैं।

किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि वे सर्वव्यापी होने के कारण अपना निजी अस्तित्व खो चुके

हैं। ऐसे तर्कों का खण्डन करने के लिए भगवान् कहते हैं, ''मैं सर्वत्र हूँ और सारी वस्तुएँ मुझमें हैं, फिर भी मैं पृथक् हूँ।'' उदाहरणार्थ, राजा सरकार का मुखिया होता है और यह सरकार राजा की शक्ति की अभिव्यक्ति ही है। सरकार के विविध विभाग राजा की शक्तियाँ होते हैं और हर विभाग राजा की शक्ति पर आश्रित रहता है। इतने पर भी राजा से यह आशा करना कि वह हर विभाग में व्यक्तिगत रूप में उपस्थित हो सकेगा, व्यर्थ है। यह तो भोंडा उदाहरण हुआ। इसी तरह हम जो कुछ भी देखते हैं और जितनी भी वस्तुएँ विद्यमान हैं चाहे वे इस भौतिक जगत में हों या वैकुण्ठ लोक में, वे सब भगवान् की शक्ति पर आश्रित हैं। भगवान् की विभिन्न शक्तियों के विसरण से ही सृष्टि बनती है और जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है वे अपने साकार रूप में सर्वत्र उपस्थित हैं, जो उनकी विभिन्न शक्तियों का विसरण है।

यह तर्क दिया जा सकता है कि जो भगवान् केवल अपनी चितवन से सारे ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं, वे भला वसुदेव की पत्नी देवकी के गर्भ के भीतर कैसे आ सकते हैं। इस तर्क का खण्डन करने के लिए ही वसुदेव ने कहा, ''हे प्रभु! यह कोई बहुत बड़ा आश्चर्य नहीं है कि आप देवकी के गर्भ के भीतर प्रकट हुए हैं क्योंकि सृष्टि भी तो इसी तरह बनी थी। आप महाविष्णु के रूप में कारणार्णव में लेटे हुए थे और आपकी श्वास से असंख्य ब्रह्माण्ड उत्पन्न हो गए। तब आप हर ब्रह्माण्ड के भीतर गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में प्रविष्ट हुए। इसके बाद आपने पुन: अपना विस्तार क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में किया और सारे जीवों के हृदयों में, यहाँ तक कि हर परमाणु के भी भीतर प्रविष्ट कर गए। अत: आपका देवकी के गर्भ में प्रवेश इसी तरह समझ में आ जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आपने प्रवेश किया है किन्तु इसके साथ साथ आप सर्वव्यापी भी बने रहते हैं। हम भौतिक उदाहरणों से आपके प्रवेश तथा अप्रवेश को समझ सकते हैं। कुल भौतिक शक्ति (महत् तत्त्व) सोलह तत्त्वों में विभाजित होकर भी जैसी की तैसी (अक्षत)बनी रहती है। यह भौतिक शरीर पाँच स्थूल तत्त्वों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश का मेल ही तो है। जब भी कोई भौतिक शरीर उपस्थित होता है, तो लगता है कि उन तत्त्वों का नए सिरे से सृजन हुआ है, किन्तु ये सारे तत्त्व शरीर के बाहर सदैव विद्यमान रहते हैं। इसी तरह यद्यपि आप देवकी के गर्भ में शिशु रूप में प्रकट हो रहे हैं, आप बाहर भी विद्यमान हैं। आप सदैव अपने धाम में रहते हैं, किन्तु आप एक ही समय लाखों रूपों में अपना

विस्तार कर सकते हैं।

''आपके प्राकट्य को काफी बुद्धि लगाकर समझना पड़ता है क्योंकि आपसे भौतिक शक्ति भी उद्भूत होती रहती है। आप भौतिक शक्ति के उसी प्रकार से मूल स्रोत हैं जिस तरह सूर्य-प्रकाश का स्रोत सूर्य है। न तो सूर्य-प्रकाश सूर्यमण्डल को आच्छादित कर सकता है, न ही आपसे उद्भूत भौतिक शक्ति आपको आच्छादित कर सकती है। आप भौतिक शक्ति के तीन गुणों में प्रतीत होते हैं, किन्तु ये तीनों गुण आपको आच्छादित नहीं कर सकते। अत्यन्त बुद्धिजीवी दार्शनिक इसे समझते हैं। दूसरे शब्दों में, यद्यपि आप भौतिक शक्ति के भीतर प्रतीत होते हैं, किन्तु आप इसके द्वारा कभी आच्छादित नहीं होते।''

वेदों का कथन है कि परब्रह्म का अपना तेज प्रकट होता रहता है, जिससे हर वस्तु प्रकाशित होती है। *ब्रह्म-संहिता* से हमें पता चलता है कि *ब्रह्मज्योति* या ब्रह्मतेज भगवान् के शरीर से उद्भूत होता है। इसी ब्रह्मतेज से सारी सृष्टि उत्पन्न होती है। *भगवद्गीता* में यह भी कहा गया है कि भगवान् ब्रह्मतेज के आश्रय हैं। मूलत: वे ही सारी वस्तुओं के मूल कारण हैं। किन्तु अल्पज्ञ यह सोचते हैं कि जब भगवान् इस भौतिक जगत में आते हैं, तो वे भौतिक गुणों को स्वीकार करते हैं। ऐसा निष्कर्ष परिपक्व नहीं अपितु यह अल्पज्ञ का निष्कर्ष होता है।

य आत्मनो दृश्यगुणेषु सन्निति
व्यवस्यते स्वव्यतिरेकतोऽबुधः ।
विनानुवादं न च तन्मनीषितं
सम्यग्यतस्त्यक्तमुपाददत्पुमान् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यः—जो भी; आत्मनः—आत्मा का; दृश्य-गुणेषु—शरीर इत्यादि दृश्य पदार्थों में से; सन्—उस अवस्था को प्राप्त; इति—इस प्रकार; व्यवस्यते—कर्म करता रहता है; स्व-व्यतिरेकतः—मानो शरीर आत्मा से स्वतंत्र है; अबुधः—धूर्त, मूढ़; विना अनुवादम्—समुचित अध्ययन के बिना; न—नहीं; च—भी; तत्—शरीर तथा अन्य दृश्य वस्तुएँ; मनीषितम्—विवेचना किया हुआ; सम्यक्—पूरी तरह; यतः—मूर्ख होने के कारण; त्यक्तम्—तिरस्कृत कर दिए जाते हैं; उपाददत्—इस शरीर को वास्तविकता मान बैठता है; पुमान्—मनुष्य।

जो व्यक्ति प्रकृति के तीन गुणों से बने अपने दृश्य शरीर को आत्मा से स्वतंत्र मानता है, वह अस्तित्व के आधार से ही अनजान होता है और इसलिए वह मूढ़ है। जो विद्वान हैं, वे इस निर्णय को नहीं मानते क्योंकि विवेचना द्वारा यह समझा जा सकता है कि आत्मा से निराश्रित दृश्य

शरीर तथा इन्द्रियाँ सारहीन हैं। यद्यपि इस निर्णय को अस्वीकार कर दिया गया है, किन्तु मूर्ख व्यक्ति इसे सत्य मानता है।

तात्पर्य : आत्मा के मूलाधार के बिना शरीर उत्पन्न नहीं हो सकता। यद्यपि तथाकथित विज्ञानियों ने अपनी-अपनी रासायनिक प्रयोगशालाओं में सजीव प्राणी को उत्पन्न करने के नानाविध प्रयास किए हैं, किन्तु वे ऐसा कर नहीं पाए क्योंकि जब तक आत्मा विद्यमान नहीं होता तब तक भौतिक तत्त्वों से शरीर निर्मित नहीं किया जा सकता। चूँकि विज्ञानी शरीर की रासायनिक रचना के विषय में जो सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं उनके प्रति अब मुग्ध हैं, अत: हमने अनेक विज्ञानियों को ललकारा है कि वे एक छोटा सा अंडा तो बनाकर दिखला दें। अंडे के रासायनिक पदार्थ सरलता से उपलब्ध किए जा सकते हैं। उसमें एक सफेद अंश होता है और एक पीला अंश। ये एक आवरण से ढके रहते हैं और आधुनिक विज्ञानी सरलता से इसकी नकल कर सकते हैं। माना कि वे ऐसा अंडा बना भी लें, किन्तु जब उसे वे इनकुबेटर के भीतर रखते हैं, तो इस मनुष्यनिर्मित रासायनिक अंडे से मुर्गी के चूजे नहीं निकलते। इसमें आत्मा का योग होना ही चाहिए क्योंकि जीव केवल रासायनिक संयोग नहीं है। अत: जो लोग सोचते हैं कि आत्मा के बिना जीवन का अस्तित्व हो सकता है उन्हें *अबुध:* या मूर्ख कहा गया है।

पुन: कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो शरीर को अपर्याप्त समझकर शरीर का तिरस्कार करते हैं। वे भी मूर्खों की ही श्रेणी में आते हैं। इस शरीर का न तो तिरस्कार किया जा सकता है न ही इसे पर्याप्त कहकर स्वीकार किया जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान् तथा शरीर एवं आत्मा, भगवान् की ही शक्तियाँ हैं जिनका वर्णन स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (७.४-५) में किया है—

भूमिरापोऽनलोवायु: खं मनो बुद्धिरेव च।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

''पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार ये मेरी आठ विभिन्न भौतिक शक्तियाँ हैं। किन्तु हे महाबाहु अर्जुन! इस अपरा शक्ति के अतिरिक्त भी मेरी एक पराशक्ति है, जो उन

समस्त जीवों से युक्त है, जो भौतिक प्रकृति से संघर्ष कर रहे हैं और ब्रह्माण्ड को बनाये रखे हुए हैं।''

अतएव शरीर का भगवान् से वैसा ही सम्बन्ध होता है जैसा आत्मा का होता है। चूँकि दोनों ही भगवान् की शक्तियाँ हैं अतएव इनमें से कोई भी मिथ्या नहीं है क्योंकि उनका आगम वास्तव में हुआ होता है। जो जीवन के इस रहस्य को नहीं जानता वह *अबुध:* कहा जाता है। वैदिक आदेशों के अनुसार—*ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्, सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—सारी वस्तुएँ परब्रह्म हैं। अतएव शरीर तथा आत्मा दोनों ही ब्रह्म हैं क्योंकि पदार्थ तथा आत्मा ब्रह्म से उद्भूत हैं।

वेदों के निर्णयों से ज्ञात न होने के कारण कुछ लोग भौतिक प्रकृति को पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं और कुछ लोग आत्मा को पदार्थ मानते हैं, किन्तु वास्तव में ब्रह्म ही पदार्थ है। ब्रह्म समस्त कारणों का कारण है। इस जगत के अवयव तथा कारण ब्रह्म है और इस जगत के अवयवों को हम ब्रह्म से स्वतंत्र नहीं रख सकते। साथ ही, चूँकि इस भौतिक जगत के अवयव तथा इसका कारण ब्रह्म ही है अतएव ये दोनों ही *सत्य* हैं अत: *ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या* वक्तव्य की कोई वैधता नहीं है। यह जगत मिथ्या नहीं है।

ज्ञानी लोग इस जगत का निषेध करते हैं और मूर्ख लोग इसे ही सत्य मानते हैं। इस तरह दोनों ही दिग्भ्रमित रहते हैं। यद्यपि आत्मा की तुलना में शरीर महत्त्वपूर्ण नहीं है, किन्तु हम यह तो नहीं कह सकते कि वह मिथ्या है। फिर भी शरीर नश्वर है और जो मूर्ख भौतिकतावादी व्यक्ति हैं, जिन्हें आत्मा का पूरा-पूरा ज्ञान नहीं है, नश्वर शरीर को सत्य मानकर उसको सजाने-सँवारने में लगे रहते हैं। शरीर को मिथ्या मानकर उसका निषेध तथा शरीर को सर्वस्व मानना इन दोनों दोषों से—बचा जा सकता है यदि कृष्णभावनामृत पद को प्राप्त कर लिया जाए। यदि हम इस जगत को मिथ्या मानते हैं, तो *असुरों* की कोटि में आ जाते हैं, जो यह कहते हैं कि यह जगत मिथ्या है, इसका कोई आधार नहीं है और ईश्वर इसका नियंत्रक नहीं है (*असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्*)। *भगवद्गीता* के सोलहवें अध्याय में इसे असुरों का निर्णय कहा गया है।

त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान्विभो
वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात् ।
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते

त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

त्वत्तः—आपसे; अस्य—सम्पूर्ण जगत की; जन्म—सृष्टि; स्थिति—पालन; संयमान्—तथा संहार; विभो—हे प्रभु; वदन्ति—विद्वान वैदिक पंडित कहते हैं; अनीहात्—प्रयत्न से मुक्त; अगुणात्—प्रकृति के गुणों से अप्रभावित; अविक्रियात्—आपकी दिव्य स्थिति में स्थिर रहने वाले; त्वयि—आप में; ईश्वरे—भगवान् में; ब्रह्मणि—परब्रह्म में; नो—नहीं; विरुध्यते—विरोध होता है; त्वत्-आश्रयत्वात्—आपके द्वारा नियंत्रित होने से; उपचर्यते—अपने आप चलती हैं; गुणैः—गुणों के कार्यशील होने से।

हे प्रभु, विद्वान वैदिक पंडित कहते हैं कि सम्पूर्ण विश्व का सृजन, पालन एवं संहार आपके द्वारा होता है तथा आप प्रयास से मुक्त, प्रकृति के गुणों से अप्रभावित तथा अपनी दिव्य स्थिति में अपरिवर्तित रहते हैं। आप परब्रह्म हैं और आप में कोई विरोध नहीं है। प्रकृति के तीनों गुण—सतो, रजो तथा तमोगुण आपके नियंत्रण में हैं अतः सारी घटनाएँ स्वतः घटित होती हैं।

तात्पर्य : वेदों में कहा गया है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते

न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

"भगवान् को न तो कुछ करना होता है और न कोई उनके तुल्य है, न उनसे बढ़कर ही है क्योंकि सारी घटनाएँ उनकी अनेक शक्तियों द्वारा स्वतः सुचारु रूप से घटती रहती हैं।" (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.८) सृजन, पालन तथा संहार इन तीनों का संचालन भगवान् स्वयं करते हैं और इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में की गई है (*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*)। अन्ततोगत्वा भगवान् को कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं पड़ती इसीलिए वे *निर्विकार* अर्थात् अपरिवर्तनीय कहलाते हैं। चूँकि हर घटना उनके निर्देशानुसार होती है, अतः वे *सृष्टिकर्ता* कहलाते हैं। इसी तरह वे संहार के स्वामी हैं। जब स्वामी एक स्थान पर आसीन रहता है और उनके नौकर विभिन्न कार्य करते रहते हैं, तो वे जो भी काम करते हैं वह अन्ततः स्वामी का कार्य होता है यद्यपि वह कुछ भी नहीं करता (*न तस्य कार्यं करणं च विद्यते*)। भगवान् की शक्तियाँ असंख्य हैं अतः सारी घटनाएँ सुचारु रूप से घटती रहती हैं। भगवान् स्थिर हैं और इस भौतिक जगत में किसी भी वस्तु के प्रत्यक्ष कर्ता नहीं हैं।

स त्वं त्रिलोकस्थितये स्वमायया

बिभर्षि शुक्लं खलु वर्णमात्मनः ।
सर्गाय रक्तं रजसोपबृंहितं
कृष्णं च वर्णं तमसा जनात्यये ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सः त्वम्—आप, जो वही व्यक्ति अर्थात् ब्रह्म हैं; त्रि-लोक-स्थितये—तीनों लोकों उच्च, मध्य तथा अधः लोकों का पालन करने के लिए; स्व-मायया—अपनी निजी शक्ति से (आत्ममायया); बिभर्षि—धारण करते हैं; शुक्लम्—सतोगुणी विष्णु के श्वेत रूप में; खलु—भी; वर्णम्—रंग; आत्मनः—आपकी ही कोटि का (विष्णुतत्त्व); सर्गाय—सम्पूर्ण जगत की सृष्टि के लिए; रक्तम्—रजोगुण के रंग का लाल; रजसा—रजोगुण से युक्त; उपबृंहितम्—आविष्ट; कृष्णम् च—तथा अंधकार का गुण; वर्णम्—रंग; तमसा—अज्ञान से आवृत; जन-अत्यये—सम्पूर्ण सृष्टि के विनाश हेतु।

हे भगवन्, आपका स्वरूप तीनों भौतिक गुणों से परे है फिर भी तीनों लोकों के पालन हेतु आप सतोगुणी विष्णु का श्वेत रंग धारण करते हैं, सृजन के समय जो रजोगुण से आवृत होता है आप लाल प्रतीत होते हैं और अन्त में अज्ञान से आवृत संहार के समय आप श्याम प्रतीत होते हैं।

तात्पर्य : वसुदेव ने भगवान् से प्रार्थना की, ''आप *शुक्लम्* कहलाते हैं। *शुक्लम्* अथवा श्वेत परम सत्य का प्रतीक है क्योंकि यह भौतिक गुणों से अप्रभावित रहता है। ब्रह्माजी *रक्त* कहलाते हैं क्योंकि वे सृष्टि के रजोगुण के द्योतक हैं। तमोगुण (अंधकार) शिवजी के अधिकार में है क्योंकि वे विश्व का संहार करते हैं। इस जगत की सृष्टि, संहार और पालन आपकी शक्तियों द्वारा संचालित हैं, किन्तु आप इन गुणों से सदा अप्रभावित रहते हैं।'' जैसी कि वेदों में पुष्टि हुई है—*हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्*—भगवान् सारे भौतिक गुणों से मुक्त होते हैं। यह भी कहा जाता है कि भगवान् के शरीर में रजो तथा तमोगुण नहीं पाए जाते हैं।

हमें अपनी इन्द्रियों के अनुभव के अनुसार में इस श्लोक में उल्लिखित तीन रंगों *शुक्ल, रक्त* तथा *कृष्ण* का शाब्दिक अर्थ नहीं ग्रहण करना चाहिए अपितु ये *सत्त्वगुण, रजोगुण* तथा *तमोगुण* का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं। कभी-कभी हमें तमोगुणी बगुला श्वेत दिखता है। *बकान्ध न्याय* के अनुसार मूर्ख बगुला बैलों के अंडकोषों को लटकती मछलियाँ समझकर उसके पीछे दौड़ता है ताकि जैसे ही वे गिरें, उसी समय वह उन्हें पकड़ ले। इस तरह बगुला सदैव अंधकार में रहता है। यद्यपि वैदिक साहित्य के प्रणेता व्यासदेव श्याम रंग के थे, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे तमोगुणी थे। वे तो प्रकृति के भौतिक गुणों के परे सत्त्वगुण के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित थे। कभी-कभी ये रंग (*शुक्लरक्तस्तथापीतः*) ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों को बतलाने वाले होते हैं। क्षीरोदकशायी भगवान् विष्णु श्याम रंग के हैं, शिवजी श्वेत और ब्रह्मा लाल रंग के, किन्तु श्रील सनातन गोस्वामी ने *वैष्णव तोषणी टीका* में

लिखा है कि इन रंगों का प्रदर्शन इस तरह की अभिव्यक्ति के लिए नहीं होता।

शुक्ल, रक्त तथा कृष्ण का सही ज्ञान इस प्रकार होता है। भगवान् सदैव दिव्य हैं, किन्तु सृष्टि करने के लिए वे ब्रह्मा का रक्त रंग धारण करते हैं। पुनः कभी-कभी भगवान् क्रुद्ध होते हैं। *भगवद्गीता* (१६.१९) में भगवान् कहते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्रमशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु॥

"जो लोग ईर्ष्यालु तथा क्रूर हैं और नराधम हैं उन्हें मैं भवसागर में विविध असुर योनियों में डाल देता हूँ।" इन असुरों का विनाश करने के लिए भगवान् क्रुद्ध होते हैं और तब वे शिवजी का रूप ग्रहण करते हैं। संक्षेप में, भगवान् तीनों गुणों से परे हैं। हमें इन्द्रिय अनुभूति के कारण अन्यथा सोचकर दिग्भ्रमित नहीं होना चाहिए। हमें महाजनों के माध्यम से भगवान् की स्थिति को समझना चाहिए। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.३.२८) में कहा गया है—*एते चांश कलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।*

त्वमस्य लोकस्य विभो रिरक्षिषु-
गृहेऽवतीर्णोऽसि ममाखिलेश्वर ।
राजन्यसंज्ञासुरकोटियूथपै-
र्निर्व्यूह्यमाना निहनिष्यसे चमूः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—आप; अस्य—इस जगत के; लोकस्य—विशेषतया इस मर्त्यलोक के; विभो—हे परमेश्वर; रिरक्षिषुः—(असुरों के उत्पात से) सुरक्षा के इच्छुक; गृहे—इस घर में; अवतीर्णः असि—अब प्रकट हुए हो; मम—मेरे; अखिल-ईश्वर—यद्यपि आप सम्पूर्ण सृष्टि के स्वामी हैं; राजन्य-संज्ञ-असुर-कोटि-यूथ-पैः—राजनीतिज्ञों तथा राजाओं के रूप में लाखों असुरों तथा उनके अनुयायियों समेत; निर्व्यूह्यमानाः—सारे संसार में विचरण कर रहे; निहनिष्यसे—मारेगा; चमूः—सेना, साज-सामान, सैनिक।

हे परमेश्वर, हे समस्त सृष्टि के स्वामी, आप इस जगत की रक्षा करने की इच्छा से मेरे घर में प्रकट हुए हैं। मुझे विश्वास है कि आप क्षत्रियों का बाना धारण करने वाले राजनीतिज्ञों के नायकत्व में जो असुरों की सेनाएँ संसार भर में विचरण कर रही हैं उनका वध करेंगे। निर्दोष जनता की सुरक्षा के लिए आपके द्वारा इनका वध होना ही चाहिए।

तात्पर्य : कृष्ण इस जगत में दो कारणों से प्रकट होते हैं—*परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्*—निर्दोष धार्मिक भक्तों की रक्षा करने तथा उन अशिक्षित असभ्य असुरों का वध करने के लिए जो राजनीतिक सत्ता के लिए कुत्तों की तरह भौंकते हैं और परस्पर झगड़ते रहते हैं। कहा गया

है— *कलिकाले नामरूपे कृष्ण अवतार।* हरे कृष्ण आन्दोलन भी नाम रूप में कृष्ण का अवतार ही है। हममें से हर व्यक्ति को जो आसुरी शासकों तथा राजनीतिज्ञों से भयभीत है कृष्ण के इस अवतार हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, रामराम, हरे हरे का स्वागत करना चाहिए। तभी हम इन आसुरी शासकों के उत्पीड़न से सुरक्षित रह सकेंगे। सम्प्रति ये शासक इतने शक्तिशाली हैं कि येनकेनप्रकारेण सरकार के उच्च पदों को अपने कब्जे में करके असंख्य लोगों को राष्ट्रीय सुरक्षा या किसी आपात्काल के बहाने सताया करते हैं। तब फिर से एक असुर दूसरे असुर को पछाड़ता है, किन्तु इसमें जनता उसी तरह सतायी जाती है। अत: सारा विश्व एक संकटपूर्ण स्थिति में है और एकमात्र आशा बँधी हुई है इस हरे कृष्ण आन्दोलन पर। भगवान् नृसिंहदेव का अवतार तब हुआ जब प्रह्लाद अपने आसुरी पिता द्वारा अत्यधिक सताये जा चुके थे। ऐसे ही आसुरी पिताओं—शासक राजनीतिज्ञों—के कारण ही हरे कृष्ण आन्दोलन को आगे बढ़ा पाना कठिन हो रहा है। किन्तु अब जब कि कृष्ण अपने नाम के रूप में इस आन्दोलन के माध्यम से प्रकट हो चुके हैं, तो हमें आशा करनी चाहिए कि इन आसुरी पिताओं का विनाश होकर रहेगा और सारे विश्व में ईश्वर का साम्राज्य स्थापित होगा। आज सारा विश्व राजनीतिज्ञों, गुरुओं, साधुओं, योगियों तथा अवतारों के भेष में असंख्य असुरों से भरा हुआ है और वे मानव समाज को सही लाभ देने वाले कृष्णभावनामृत के बारे में जनता को भ्रमित कर रहे हैं।

अयं त्वसभ्यस्तव जन्म नौ गृहे
श्रुत्वाग्रजांस्ते न्यवधीत्सुरेश्वर ।
स तेऽवतारं पुरुषैः समर्पितं
श्रुत्वाधुनैवाभिसरत्युदायुधः ॥ २२॥

शब्दार्थ

अयम्—इस (धूर्त) ने; तु—लेकिन; असभ्यः—तनिक भी सभ्य नहीं (असुर का अर्थ ही होता है असभ्य और सुर का सभ्य); तव—आपका; जन्म—जन्म; नौ—हमारे; गृहे—घर में; श्रुत्वा—सुनकर; अग्रजान् ते—आपसे पहले उत्पन्न हुए भाइयों को; न्यवधीत्—मार डाला; सुर-ईश्वर—हे सभ्य पुरुषों अर्थात् देवताओं के ईश्वर; सः—वह (असभ्य कंस); ते—तुम्हारे, आपके; अवतारम्—प्राकट्य को; पुरुषैः—अपने सेनापतियों द्वारा; समर्पितम्—सूचना दिया हुआ; श्रुत्वा—सुनकर; अधुना—अब; एव—निस्सन्देह; अभिसरति—तुरन्त आएगा; उदायुधः—हथियार उठाए हुए।

हे परमेश्वर, हे देवताओं के स्वामी, यह भविष्यवाणी सुनकर कि आप हमारे घर में जन्म लेंगे और उसका वध करेंगे, इस असभ्य कंस ने आपके कई अग्रजों को मार डाला है। वह ज्योंही

अपने सेनानायकों से सुनेगा कि आप प्रकट हुए हैं, वह आपको मारने के लिए हथियार समेत तुरन्त ही आ धमकेगा।

तात्पर्य : यहाँ पर कंस को *असभ्य* कहा गया है, जिसका अर्थ है जंगली ''महाक्रूर'' क्योंकि वह अपनी बहन की कई सन्तानों को मार चुका था। जब उसने यह भविष्यवाणी सुनी कि उसका वध देवकी के आठवें पुत्र द्वारा होगा तो वह असभ्य पुरुष कंस तुरन्त ही अपनी नवविवाहिता बहन को मार डालने के लिए उद्यत हो गया। असभ्य व्यक्ति अपनी इन्द्रियों की तुष्टि के लिए कुछ भी कर सकता है। वह शिशुओं का, गायों का, ब्राह्मणों का और वृद्धों तक का वध कर सकता है। उसे किसी पर दया नहीं आती। वैदिक सभ्यता के अनुसार यदि गाएँ, स्त्रियाँ, बच्चे, बृद्ध तथा ब्राह्मण दोषी भी हों तो उन्हें क्षमा कर दिया जाना चाहिए। किन्तु असुरगण—असभ्यजन—इसकी परवाह नहीं करते। सम्प्रति गायों का तथा बच्चों का वध बिना रोकटोक के चल रहा है, अत: यह सभ्यता रंचभर भी मानवीय नहीं है और जो लोग इस निंदनीय सभ्यता का संचालन कर रहे हैं, वे असभ्य असुर हैं।

ऐसे असभ्य असुर कृष्णभावनामृत आन्दोलन के पक्ष में नहीं हैं। जन अधिकारी के रूप में वे बेहिचक घोषणा करते हैं कि हरे कृष्ण आन्दोलन का कीर्तन एक ऊधम है, यद्यपि *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है—*सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रता:।* इस श्लोक के अनुसार महात्माओं का कर्तव्य है कि वे हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करें और यथाशक्ति सारे विश्व में इसका प्रसार करने का प्रयत्न करें। दुर्भाग्यवश समाज ऐसी असभ्य अवस्था में है कि इसमें ऐसे तथाकथित महात्मा भरे पड़े हैं, जो गायों तथा बच्चों को मारने के लिए तथा हरे कृष्ण आन्दोलन को रोकने के लिए तैयार रहते हैं। ऐसी असभ्य कार्यवाहियाँ हरे कृष्ण आन्दोलन के मुम्बई केन्द्र, हरे कृष्ण धाम के विरोध में वास्तव में प्रदर्शित की गईं। जिस तरह कंस से यह आशा नहीं की जाती थी कि वह देवकी तथा वसुदेव के सुन्दर बालक का वध करे, उसी तरह असभ्य समाज से, भले ही वह कृष्णभावनामृत आंदोलन की प्रगति से अप्रसन्न है, यह आशा नहीं की जाती कि वह इस आन्दोलन को रोके। तो भी हमें अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना होगा। यद्यपि कृष्ण का वध नहीं किया जा सकता, किन्तु कृष्ण का पिता होने के कारण वसुदेव काँप रहे थे क्योंकि स्नेहवश उन्होंने सोचा कि तुरन्त ही कंस आएगा और उनके पुत्र को मार डालेगा। इसी तरह यद्यपि कृष्णभावनामृत आन्दोलन तथा कृष्ण विलग नहीं और उन्हें असुरगण रोक

नहीं सकते, किन्तु हम भयभीत हैं कि ये असुर किसी भी समय विश्व के किसी भी भाग में इस आन्दोलन को रोक सकते हैं।

श्रीशुक उवाच
अथैनमात्मजं वीक्ष्य महापुरुषलक्षणम् ।
देवकी तमुपाधावत्कंसाद्भीता सुविस्मिता ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—वसुदेव द्वारा प्रार्थना करने के बाद; एनम्—इस कृष्ण को; आत्मजम्—अपने पुत्र; वीक्ष्य—देखकर; महा-पुरुष-लक्षणम्—भगवान् विष्णु के समस्त लक्षणों से युक्त; देवकी—कृष्ण की माता; तम्—उन (कृष्ण) की; उपाधावत्—प्रार्थना की; कंसात्—कंस से; भीता—भयभीत; सु-विस्मिता—ऐसा अद्भुत बालक देखकर आश्चर्यचकित।.

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : तत्पश्चात् यह देखकर कि उनके पुत्र में भगवान् के सारे लक्षण हैं, कंस से अत्यधिक भयभीत तथा असामान्य रूप से विस्मित देवकी भगवान् से प्रार्थना करने लगीं।

तात्पर्य : इस श्लोक का *सुविस्मिता* शब्द महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है, "चकित।" देवकी तथा उनके पति वसुदेव को आश्वासन दिया गया था कि उनका पुत्र भगवान् है अतएव कंस द्वारा अवध्य है, किन्तु स्नेह के वशीभूत होकर तथा कंस की पूर्व नृशंसता को सोचकर वे भयभीत हो रहे थे कि कृष्ण का कहीं वध न हो जाए। इसीलिए *सुविस्मिता* शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार हम भी यह सोचकर हैरान हो जाते हैं कि यह आन्दोलन असुरों द्वारा कुचल डाला जाएगा या निर्भय होकर आगे बढ़ता जाएगा।

श्रीदेवक्युवाच
रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यं
ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम् ।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं
स त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

श्री-देवकी उवाच—श्री देवकी ने कहा; रूपम्—स्वरूप; यत् तत्—क्योंकि आप वही रूप हैं; प्राहुः—कहलाते हैं; अव्यक्तम्—अव्यक्त, भौतिक इन्द्रियों द्वारा अनुभूत न होने वाले (अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियै); आद्यम्—आदि कारण; ब्रह्म—ब्रह्म; ज्योतिः—प्रकाश; निर्गुणम्—भौतिक गुणों से रहित; निर्विकारम्—बिना परिवर्तन के विष्णु का शाश्वत स्वरूप; सत्ता-मात्रम्—आदि तत्त्व, सबका कारण; निर्विशेषम्—परमात्मा के रूप में सर्वत्र विद्यमान; निरीहम्—इच्छारहित; सः—वह परम पुरुष; त्वम्—आपको; साक्षात्—प्रत्यक्ष; विष्णुः—भगवान् विष्णु; अध्यात्म-दीपः—समस्त दिव्य ज्ञान के लिए दीपक (आपको जान लेने पर सब कुछ जाना जा सकता है.

श्रीदेवकी ने कहा : हे भगवन, वेद अनेक हैं। उसमें से कुछ आपको शब्दों तथा मन द्वारा अव्यक्त बतलाते हैं फिर भी आप सम्पूर्ण विश्व के उद्गम हैं। आप ब्रह्म हैं, सभी वस्तुओं से बड़े और सूर्य के समान तेज से युक्त। आपका कोई भौतिक कारण नहीं, आप परिवर्तन तथा विचलन से मुक्त हैं और आपकी कोई भौतिक इच्छाएँ नहीं हैं। इस तरह वेदों का कथन है कि आप ही सार हैं। अतः हे प्रभु, आप समस्त वैदिक कथनों के उद्गम हैं और आपको समझ लेने पर मनुष्य हर वस्तु धीरे धीरे समझ जाता है। आप ब्रह्मज्योति तथा परमात्मा से भिन्न हैं फिर भी आप उनसे भिन्न नहीं हैं। आपसे ही सब वस्तुएँ उद्भूत हैं। दरअसल आप ही समस्त कारणों के कारण हैं, आप समस्त दिव्य ज्ञान की ज्योति भगवान् विष्णु हैं।

तात्पर्य : हर वस्तु के उद्गम विष्णु हैं और भगवान् विष्णु तथा भगवान् कृष्ण में कोई अन्तर नहीं क्योंकि दोनों ही *विष्णु-तत्त्व* हैं। ऋग्वेद से पता चलता है—*ॐ तद् विष्णोः परमं पदम्*—मूल तत्त्व तो सर्वव्यापी भगवान् विष्णु हैं, जो परमात्मा तथा तेजोमय ब्रह्म हैं। सारे जीव भी उन विष्णु के अंश हैं जिनकी शक्तियाँ विविध हैं (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बलक्रिया च*)। इसलिए विष्णु या कृष्ण सर्वस्व हैं। *भगवद्गीता* (.८) में भगवान् कृष्ण कहते हैं— *अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते*—मैं सारे आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों का उद्गम हूँ। सारी वस्तुएँ मुझी से उद्भूत हैं। अतएव कृष्ण हर वस्तु के आदि कारण हैं (*सर्वकारणकारणम्*)। जब विष्णु अपने विश्वव्यापी रूप में विस्तार करते हैं, तो हमें समझना चाहिए कि वे *निराकार निर्विशेष ब्रह्मज्योति* रूप में हैं।

यद्यपि सारी वस्तुएँ कृष्ण से उद्भूत होती हैं, किन्तु अन्ततोगत्वा वे एक पुरुष हैं। *अहं आदिर्हि देवानाम्* वे ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर के उद्गम हैं और उन सबसे अनेक अन्य देवता प्रकट होते हैं। इसीलिए कृष्ण ने *भगवद्गीता* (१४.२७) में कहा है—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*—ब्रह्म मुझ पर आश्रित है। भगवान् यह भी कहते हैं (*भगवद्गीता* ९.२३)—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

"हे कुन्तीपुत्र! अन्य देवताओं को मनुष्य चाहे जो कुछ भी अर्पित क्यों न करे, किन्तु वास्तव में वह एकमात्र मेरे निमित्त होता है परन्तु वह असली समझ के बिना सम्पन्न किया जाता है।" ऐसे अनेक

लोग हैं, जो भिन्न-भिन्न देवताओं की पूजा, उन्हें पृथक् देवता मानकर करते हैं, किन्तु वास्तव में वे पृथक् होते नहीं। यथार्थ तो यह है कि हर देवता तथा हर जीव कृष्ण का अंश है (*ममैवांशो जीवलोके जीवभूत:*)। देवता भी जीव की कोटि में आते हैं, वे पृथक् देवता नहीं होते। किन्तु अपरिपक्व बुद्धि वाले तथा भौतिक प्रकृति के गुणों से कलुषित व्यक्ति अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार विविध देवताओं की पूजा करते हैं। इसीलिए *भगवद्गीता* में इनकी भर्त्सना की गई है (*कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना: प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता:*)। चूँकि लोग बुद्धिविहीन तथा बहुत कम प्रगत होते हैं और उन्हें सत्य का समुचित ज्ञान नहीं रहता इसलिए वे या तो विविध देवताओं की पूजा करते हैं या विभिन्न दर्शनों के अनुसार यथा मायावादी दर्शन के अनुसार चिन्तन करते हैं।

कृष्ण या विष्णु ही हर वस्तु के वास्तविक उद्गम हैं। वेदों में कहा गया है—*यस्य भाषा सर्वमिदं विभाति।* परम सत्य का वर्णन *श्रीमद्भागवत* (.२८.१५) में *सत्यं ज्ञानमनन्तम् यद्ब्रह्मज्योति सनातनम्* के रूप में हुआ है। यह ब्रह्मज्योति सनातन है फिर भी कृष्ण पर आश्रित है (*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*)। *ब्रह्म-संहिता* का कथन है कि भगवान् सर्वव्यापी हैं। *अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थम्।* वे इस ब्रह्माण्ड के भीतर हैं और परमाणु के भीतर परमात्मा रूप में हैं। *यस्य प्रभा प्रभवतोजगदण्डकोटि-कोटि ष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्*—ब्रह्म भी भगवान् से स्वतंत्र नहीं। अत: दार्शनिक जो कुछ भी वर्णन करता है, वह अन्ततोगत्वा कृष्ण या विष्णु ही है (*सर्वं खल्विदं ब्रह्म, परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्*)। ज्ञान की विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार भगवान् विष्णु का वर्णन भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जाता है, किन्तु यथार्थत: वे हर वस्तु के उद्गम हैं।

अनन्य भक्त होने के कारण देवकी जान चुकी थीं कि वही भगवान् विष्णु उनके पुत्र-रूप में प्रकट हुए हैं। इसीलिए वसुदेव की प्रार्थना के बाद देवकी ने प्रार्थना की। वे अपने भाई की क्रूरता के कारण अत्यधिक डरी हुई थीं। देवकी ने कहा, ‘‘हे प्रभु! नारायण, भगवान् राम, शेष, वराह, नृसिंह, वामन, बलदेव तथा विष्णु से उद्भूत ऐसे ही असंख्य अवतार जो आपके नित्य रूप हैं उन्हें वेदों ने मूल रूप माना है। आप मूल रूप हैं क्योंकि अवतार के रूप में आपके सभी स्वरूप इस भौतिक सृष्टि के परे हैं। आपका स्वरूप इस जगत की सृष्टि के पहले भी विद्यमान था। आपके स्वरूप नित्य तथा सर्वव्यापी हैं। ये स्वतोतेजस्वी, परिवर्तनरहित तथा भौतिक गुणों द्वारा अकलुषित हैं। ऐसे नित्य रूप ज्ञान से तथा

आनन्द से पूर्ण हैं—वे सतोगुणी हैं और विभिन्न लीलाओं में लगे रहते हैं। आप किसी एक रूप तक ही सीमित नहीं हैं—ऐसे दिव्य शाश्वत स्वरूप आत्माराम हैं। मैं अब समझ गई हूँ कि आप भगवान् विष्णु हैं।'' इस तरह हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भगवान् विष्णु ही सब कुछ हैं यद्यपि वे सारी वस्तुओं से भिन्न भी हैं। यही *अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्व* दर्शन है।

नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने
महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु ।
व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते
भवानेकः शिष्यतेऽशेषसंज्ञः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

नष्टे—संहार के बाद; लोके—विश्व के; द्वि-परार्ध-अवसाने—लाखों वर्षों के बाद (ब्रह्मा की आयु); महा-भूतेषु—पाँच प्रारम्भिक तत्त्वों (क्षिति, जल, पावक, गगन तथा समीर) में; आदि-भूतम् गतेषु—इन्द्रिय-बोध के सूक्ष्म तत्त्वों के भीतर प्रवेश करते हैं; व्यक्ते—प्रकट होने पर; अव्यक्तम्—अव्यक्त में; काल-वेगेन—काल के वेग से; याते—प्रवेश करता है; भवान्—आप; एकः—केवल एक; शिष्यते—रहता है; अशेष-संज्ञः—विभिन्न नामों से युक्त वही एक।

लाखों वर्षों बाद विश्व-संहार के समय जब सारी व्यक्त तथा अव्यक्त वस्तुएँ काल के वेग से नष्ट हो जाती हैं, तो पाँचों स्थूल तत्त्व सूक्ष्म स्वरूप ग्रहण करते हैं और व्यक्त वस्तुएँ अव्यक्त बन जाती हैं। उस समय आप ही रहते हैं और आप अनन्त शेष-नाग कहलाते हैं।

तात्पर्य : संहार के समय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश ये पाँच स्थूल तत्त्व मन, बुद्धि तथा अहंकार में प्रवेश कर जाते हैं और सारा विश्व उन भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति में प्रवेश करता है, जो हर वस्तु के उद्‌गम होने के कारण, बचे रहते हैं। इसीलिए भगवान् शेष-नाग, आदि पुरुष तथा अन्य अनेक नामों से जाने जाते हैं।

इसलिए देवकी ने प्रार्थना की, ''लाखों वर्षों बाद जब ब्रह्मा की आयु पूरी हो जाती है, तो इस विराट जगत का संहार होता है। उस समय पाँचों तत्त्व—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश *महत् तत्त्व* में प्रवेश करते हैं। यह महत् तत्त्व समय के वेग से अव्यक्त सम्पूर्ण भौतिक शक्ति में प्रवेश करता है और यह सम्पूर्ण भौतिक शक्ति शक्तिमान *प्रधान* में तथा यह प्रधान आप में प्रवेश करता है। इसलिए सम्पूर्ण जगत के संहार के बाद केवल आप अपने दिव्य नाम, रूप, गुण तथा साज-सामान के साथ रहते हैं।

हे प्रभु! मैं आपको नमस्कार करती हूँ क्योंकि आप अव्यक्त सम्पूर्ण शक्ति के निर्देशक हैं और

भौतिक प्रकृति के चरम आगार हैं। हे प्रभु! यह समूचा विराट जगत क्षण से लेकर वर्षपर्यन्त की अवधिकाल के प्रभाव के अन्तर्गत है। सबके सब आपके निर्देशानुसार कार्य करते हैं। आप सभी के आदि निर्देशक हैं और समस्त शक्तियों के आगार हैं।''

योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो
चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वम् ।
निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयां-
स्तं त्वेशानं क्षेमधाम प्रपद्ये ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; अयम्—यह; कालः—काल (मिनट, घंटा, सेकंड); तस्य—उसका; ते—तुम्हारा; अव्यक्त-बन्धो—हे प्रभु! आप अव्यक्त के प्रारम्भकर्ता हैं (महत् तत्त्व या प्रकृति); चेष्टाम्—प्रयास या लीलाएँ; आहुः—कहा जाता है; चेष्टते—कार्य करता है; येन—जिससे; विश्वम्—सम्पूर्ण सृष्टि; निमेष-आदिः—काल के सूक्ष्म अंश आदि; वत्सर-अन्तः—वर्ष के अन्त तक; महीयान्—शक्तिशाली; तम्—आपको; त्वा ईशानम्—परम नियंत्रक आपको; क्षेम-धाम—समस्त शुभ के आगार; प्रपद्ये—मैं पूरी तरह आपकी शरणागत में हूँ।.

हे भौतिक शक्ति के प्रारम्भकर्ता, यह अद्‌भुत सृष्टि शक्तिशाली काल के नियंत्रण में कार्य करती है, जो सेकंड, मिनट, घंटा तथा वर्षों में विभाजित है। यह काल तत्त्व, जो लाखों वर्षों तक फैला हुआ है, भगवान् विष्णु का ही अन्य रूप है। आप अपनी लीलाओं के लिए काल के नियंत्रक की भूमिका अदा करते हैं, किन्तु आप समस्त सौभाग्य के आगार हैं। मैं पूरी तरह आपकी शरणागत हूँ।

तात्पर्य : जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.५२) में कहा गया है—

यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणां
राजा समस्तसुरमूर्तिरशेषतेजाः ।
यस्याज्ञया भ्रमति संभृतकालचक्रो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

''सूर्य समस्त ग्रहों का राजा है, जिसमें ऊष्मा तथा प्रकाश की असीमित शक्ति रहती है। मैं उन आदि भगवान् गोविंद की पूजा करता हूँ जिनके वशीभूत होकर भगवान् के चक्षुरूप सूर्य भी नित्य काल की स्थिर धुरी में चक्कर लगाता है।'' यद्यपि हम विश्व (प्रकृति) को विराट तथा अद्‌भुत देखते हैं, किन्तु यह काल की सीमाओं के भीतर है। इस काल पर भी भगवान् का नियंत्रण रहता है, जिसकी

पुष्टि *भगवद्गीता* द्वारा होती है (*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*)। प्रकृति काल के अधीन है। असल में हर वस्तु काल के अधीन है और काल पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के वश में है। अतः भगवान् को समय के घातक आक्रमणों से कोई भय नहीं रहता। काल का मापन सूर्य (*सविता*) की गति से किया जाता है। यहाँ तक कि हर मिनट, सेकंड, हर दिन, हर रात, हर मास तथा हर वर्ष की गणना सूर्य की गति से की जा सकती है। किन्तु सूर्य स्वतंत्र नहीं है क्योंकि वह काल के अधीन है। *भ्रमति संभृतकालचक्रः*—सूर्य कालचक्र के भीतर घूमता रहता है। सूर्य काल के नियंत्रण में है और काल भगवान् के द्वारा नियंत्रित होता है। अतः भगवान् को काल का तनिक भी डर नहीं रहता।

यहाँ पर भगवान् को *अव्यक्तबन्धु* अर्थात् सम्पूर्ण जगत की गतियों के प्रारम्भकर्ता कहकर सम्बोधित किया गया है। कभी-कभी प्रकृति की तुलना कुम्हार के चाक से की जाती है। जब चाक घूमता रहता है, तो उसे कौन गति देता है? उत्तर होगा कुम्हार। यद्यपि कभी-कभी चाक की गति ही दिखती है, किन्तु कुम्हार नहीं दिखता। इसीलिए भगवान् जो विराट जगत की गति के लिए उत्तरदायी हैं *अव्यक्तबन्धु* कहलाते हैं। सारी वस्तुएँ काल की सीमाओं के अन्तर्गत हैं, किन्तु काल भगवान् के निर्देश पर चलता है, अतः भगवान् काल की सीमाओं से बँधे हुए नहीं हैं।

मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्
लोकान्सर्वान्निर्भयं नाध्यगच्छत् ।
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य
सुस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति ॥ २७॥

शब्दार्थ

मर्त्यः—जीव, जिनकी मृत्यु निश्चित है; मृत्यु-व्याल-भीतः—मृत्यु रूपी सर्प से भयभीत; पलायन्—भागते हुए; लोकान्—विभिन्न लोकों को; सर्वान्—सभी; निर्भयम्—निर्भीकता; न अध्यगच्छत्—प्राप्त नहीं करता; त्वत्-पाद-अब्जम्—आपके चरणकमलों की; प्राप्य—शरण पाकर; यदृच्छया—सौभाग्यवश, भगवान् तथा गुरु की कृपा से (गुरुकृपा, कृष्णकृपा); अद्य—इस समय; सु-स्थः—अविचलित तथा शान्त; शेते—सो रहे हैं; मृत्युः—मृत्यु; अस्मात्—उन लोगों से; अपैति—दूर भागता है।

इस भौतिक जगत में कोई भी व्यक्ति जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा तथा रोग—इन चार नियमों से छूट नहीं पाया भले ही वह विविध लोकों में क्यों न भाग जाए। किन्तु हे प्रभु, अब चूँकि आप प्रकट हो चुके हैं अतः मृत्यु आपके भय से दूर भाग रही है और सारे जीव आपकी दया से आपके चरणकमलों की शरण प्राप्त करके पूर्ण मानसिक शान्ति की नींद सो रहे हैं।

तात्पर्य : जीवों की विभिन्न कोटियाँ हैं, किन्तु सभी जीव मृत्यु से भयभीत रहते हैं। कर्मियों का सर्वोच्च लक्ष्य स्वर्गलोक को जाना है जहाँ दीर्घायु प्राप्त होती है। जैसाकि *भगवद्गीता* (८.१७) में कहा गया है—*सहस्रयुग पर्यन्तम् अहर्यद् ब्रह्मणो विदुः*—ब्रह्मा का एक दिन ०० युगों के बराबर होता है और प्रत्येक युग में ४३,००,००० वर्ष होते हैं। इसी तरह ब्रह्मा की रात्रि ०० गुणित ४३,००,००० वर्ष के बराबर होती है। इस विधि से हम ब्रह्मा के मास तथा वर्ष की गणना कर सकते हैं, किन्तु करोड़ों वर्षों तक जीवित रहने वाले (*द्विपरार्धकाल*) ब्रह्मा को भी मरना पड़ता है। वैदिक शास्त्र के अनुसार स्वर्गलोक के वासी ००० वर्ष तक जीवित रहते हैं । और जिस तरह ब्रह्मा का एक दिन हमारे ४,३०,००,००,००० सालों के बराबर गिना जाता है, स्वर्गलोक में एक दिन हमारे ६ मास के तुल्य होता है। इसीलिए कर्मीजन स्वर्गलोक जाने की इच्छा रखते हैं, किन्तु इससे वे मृत्यु से मुक्त नहीं हो सकते। इस जगत में ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक को मरना होता है। इसीलिए यह जगत *मर्त्यलोक* कहलाता है। *भगवद्गीता* (८.१६) में कृष्ण कहते हैं—*आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन*—जब तक मनुष्य इस लोक में या ब्रह्मलोक अथवा इस ब्रह्माण्ड के अन्य किसी लोक में रहता है तब तक उसे जन्म-जन्मांतर *कालचक्र* के वशीभूत होना होता है (*भूत्वा भूत्वा प्रलीयते*)। किन्तु यदि मनुष्य भगवद्धाम वापस लौट जाता है (*यद्गत्वा न निवर्तन्ते*) तो उसे काल की सीमा में फिर से प्रवेश नहीं करना पड़ता। अतः जिन भक्तों ने भगवान् के चरणकमलों में शरण ले रखी है उन्हें भगवान् के इस आश्वासन के अन्तर्गत सुख की नींद सोना चाहिए। *भगवद्गीता* (४.९) में पुष्टि की गई है *त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति* इस शरीर को त्यागने के बाद कृष्ण-भक्त को इस जगत में फिर से आने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

जीव की वैधानिक स्थिति शाश्वत है (*न हन्यते हन्यमाने शरीरे, नित्यः शाश्वतोऽयम्*)। प्रत्येक जीव नित्य है। इस जगत में आ गिरने के कारण ही वह इस ब्रह्माण्ड में घूमता रहता है और लगातार एक के बाद दूसरा शरीर धारण करता रहता है। श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।

गुरु-कृष्ण प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज॥

(चै.च. *मध्य*, १९.१५१)

इस ब्रह्माण्ड में सारे लोग ऊपर-नीचे घूम रहे हैं, किन्तु जो भाग्यशाली होता है, वह गुरु-कृपा से कृष्णभावनामृत के सम्पर्क में आता है और भक्तिमार्ग पर अग्रसर होता है। तब उसे मृत्यु का भय नहीं रह जाता उसका जीवन शाश्वत हो जाता है। जब कृष्ण प्रकट होते हैं, तो प्रत्येक व्यक्ति के मन से मृत्यु का भय जाता रहता है फिर भी देवकी को लगा, ''यद्यपि आप हमारे पुत्र रूप में उत्पन्न हुए हैं, तो भी हम कंस से भयभीत हैं।'' वे थोड़ा-कुछ मोहग्रस्त थीं। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि ऐसा क्यों हो रहा है, अत: उन्होंने भगवान् से निवेदन किया कि वे उन्हें तथा वसुदेव को इस भय से मुक्त करें।

इस प्रसंग में ध्यान देना होगा कि चन्द्रमा स्वर्ग का एक लोक है। वेदों से ज्ञात होता है कि जो चन्द्रमा को जाता है उसे दस हजार वर्ष की आयु प्राप्त होती है, जिसमें वह अपने पुण्यों के फलों का भोग करता है। यदि हमारे तथाकथित वैज्ञानिक चन्द्रलोक जा रहे हैं, तो उन्हें यहाँ वापस नहीं आना चाहिए। अत: हम निस्संदेह इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे चन्द्रलोक तक पहुँचे ही नहीं। चन्द्रमा तक जाने के लिए पुण्यकर्मों की योग्यता चाहिए। तभी कोई वहाँ जाकर रह सकता है। यदि कोई व्यक्ति चन्द्रमा तक गया है, तो भला वह इस लोक को फिर से क्यों लौटने लगा जहाँ जीवन-अवधि इतनी कम है?

स त्वं घोरादुग्रसेनात्मजान्न-
स्त्राहि त्रस्तान्भृत्यवित्रासहासि ।
रूपं चेदं पौरुषं ध्यानधिष्ण्यं
मा प्रत्यक्षं मांसदृशां कृषीष्ठाः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; त्वम्—आप; घोरात्—अत्यन्त क्रूर; उग्रसेन-आत्मजात्—उग्रसेन के पुत्र से; नः—हमारी; त्राहि—रक्षा कीजिए; त्रस्तान्—अत्यधिक भयभीत; भृत्य-वित्रास-हा असि—आप अपने दासों के भय को दूर करने वाले हैं; रूपम्—अपने विष्णु रूप में; च—भी; इदम्—इस; पौरुषम्—भगवान् रूप को; ध्यान-धिष्ण्यम्—ध्यान के द्वारा अनुभव किया गया; मा—नहीं; प्रत्यक्षम्—प्रत्यक्ष; मांस-दृशाम्—अपनी भौतिक आँखों से देखने वालों को; कृषीष्ठाः—होइए।

हे प्रभु, आप अपने भक्तों के भय को दूर करने वाले हैं अतएव आपसे मेरी प्रार्थना है कि आप कंस के विकराल भय से हमें बचाइए और हमें संरक्षण प्रदान कीजिए। योगीजन आपके विष्णु रूप का ध्यान में अनुभव करते हैं। कृपया इस रूप को उनके लिए अदृश्य बना दीजिए जो केवल भौतिक आँखों से देख सकते हैं।''

तात्पर्य : इस श्लोक में *ध्यान-धिष्ण्यम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि भगवान् विष्णु के

स्वरूप का ध्यान योगीजन करते हैं (*ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिन:*)। देवकी ने विष्णुरूप में प्रकट भगवान् से प्रार्थना की कि वे इस रूप को छिपा लें क्योंकि वे भगवान् को एक सामान्य शिशु के रूप में देखना चाहती हैं—एक शिशु-रूप में जिसे सभी लोग भौतिक आँखों से प्रत्यक्ष देख सकते हैं। देवकी यह देखना चाह रही थीं कि क्या सचमुच भगवान् प्रकट हुए हैं अथवा वे विष्णु स्वरूप का स्वप्न देख रहीं हैं। वे सोचने लगीं कि यदि कंस आ जाए तो वह विष्णु रूप को देखकर तुरन्त ही बालक का वध कर देगा, किन्तु यदि वह मानवी बालक को देखे तो हो सकता है कि कुछ विचार करे। देवकी उग्रसेन आत्मज से भयभीत थीं अर्थात् उग्रसेन तथा उनके अनुचरों से नहीं अपितु उग्रसेन के पुत्र से। इस तरह उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की कि वे इस भय को दूर करें क्योंकि वे अपने भक्तों को सदैव संरक्षण प्रदान करने के लिए (*अभयम्*) उद्यत रहते हैं। उन्होंने प्रार्थना की, ''हे प्रभु! आप उग्रसेन के पुत्र कंस के क्रूर हाथों से मुझे बचाइए। आपसे मैं इस भयावह स्थिति से उबारने के लिए प्रार्थना कर रही हूँ क्योंकि आप अपने सेवकों को संरक्षण देने के लिए सदैव तैयार रहते हैं।'' भगवान् ने *भगवद्गीता* में इस कथन की पुष्टि यह कहकर की है, ''हे अर्जुन! तुम संसार को घोषित कर सकते हो कि मेरा भक्त कभी भी विनष्ट नहीं हो सकता।''

भगवान् से रक्षा करने की इस प्रकार प्रार्थना करते हुए देवकी ने अपना मातृ-स्नेह व्यक्त किया, ''मैं जानती हूँ कि आपके इस दिव्य रूप की अनुभूति प्राय: बड़े-बड़े ऋषियों के ध्यान में होती है, किन्तु मैं अब भी डर रही हूँ क्योंकि ज्योंही कंस को पता चल जाएगा कि आप प्रकट हो चुके हैं, तो वह आपको क्षति पहुँचा सकता है। इसलिए मेरी प्रार्थना है कि इस समय आप भौतिक आँखों से अदृश्य हो जाँए।'' दूसरे शब्दों में, उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की कि वे सामान्य बालक का रूप धारण कर लें। ''मुझे अपने भाई कंस से डरने का एक ही कारण है और वह है आपका प्राकट्य। हे भगवान् मधुसूदन! कंस को पता चल सकता है कि आप पहले ही जन्म ले चुके हैं। इसलिए मेरी प्रार्थना है कि आप अपने इस चतुर्भुज रूप को छिपा लें जो विष्णु के चार चिह्नों अर्थात् शंख, चक्र, गदा और कमल को धारण किए हुए है। हे प्रभु! विराट जगत के संहार के बाद आप सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को उदरस्थ करने वाले हैं फिर भी आप अपनी अनन्य कृपा से मेरे उदर से उत्पन्न हुए हैं। मुझे आश्चर्य है कि आप अपने भक्त को प्रसन्न करने के लिए सामान्य मनुष्यों जैसा कार्य करते हैं।''

देवकी कंस से इतनी भयभीत थीं कि उन्हें विश्वास ही नहीं हो पा रहा था कि कंस प्रत्यक्ष भगवान् विष्णु को मारने में असमर्थ होगा। इसीलिए मातृस्नेहवश उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की कि वे अन्तर्धान हो जाँय। यद्यपि भगवान् के अन्तर्धान होने से कंस यह सोचकर देवकी को अधिक सताएगा कि उसने अपने नवजात शिशु को कहीं छिपा दिया है, किन्तु वे नहीं चाहती थीं कि दिव्य बालक को सताया और मारा जाए। इसीलिए उन्होंने भगवान् विष्णु से प्रार्थना की कि वे अन्तर्धान हो जाँय। बाद में, जब उन्हें सताया जाएगा तो वे अपने मन में उनके विषय में सोचेंगी।

जन्म ते मय्यसौ पापो मा विद्यान्मधुसूदन ।
समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

जन्म—जन्म; ते—तुम्हारा, भगवान् का; मयि—मेरे (गर्भ) में; असौ—वह कंस; पापः—पापी; मा विद्यात्—हो सकता है कि समझ न पाए; मधुसूदन—हे मधुसूदन; समुद्विजे—चिन्ता से पूर्ण मैं; भवत्-हेतोः—आपके प्रकट होने से; कंसात्—कंस से, जिसका मुझे कटु अनुभव है; अहम्—मैं; अधीर-धीः—अधिकाधिक उद्विग्न हूँ।

हे मधुसूदन, आपके प्रकट होने से मैं कंस के भय से अधिकाधिक अधीर हो रही हूँ। अतः कुछ ऐसा कीजिए कि वह पापी कंस यह न समझ पाए कि आपने मेरे गर्भ से जन्म लिया है।

तात्पर्य : देवकी ने भगवान् को मधुसूदन नाम से सम्बोधित किया। उन्हें ज्ञात था कि भगवान् ने मधु जैसे अनेक असुरों का वध किया है, जो कंस से सैकड़ों-हजारों गुना बलशाली थे तो भी दिव्य बालक के स्नेहवश उन्हें आशंका हो रही थी कि कंस उसका वध कर देगा। भगवान् की असीम शक्ति को न सोचकर वे स्नेहवश भगवान् के विषय में सोच रही थीं इसीलिए उन्होंने दिव्य बालक से अन्तर्धान होने की प्रार्थना की।

उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम् ।
शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

उपसंहर—वापस ले लीजिए; विश्वात्मन्—हे विश्वव्यापी भगवान्; अदः—उस; रूपम्—स्वरूप को; अलौकिकम्—इस जगत में अप्राकृतिक; शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म—शंख, चक्र, गदा तथा कमल से युक्त; श्रिया—इन ऐश्वर्यों से युक्त; जुष्टम्—अलंकृत; चतुः-भुजम्—चार हाथों वाले।

हे प्रभु, आप सर्वव्यापी भगवान् हैं और आपका यह चतुर्भुज रूप, जिसमें आप शंख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण किए हुए हैं, इस जगत के लिए अप्राकृत है। कृपया इस रूप को समेट

लीजिए (और सामान्य मानवी बालक बन जाइए जिससे मैं आपको कहीं छिपाने का प्रयास कर सकूँ)।

तात्पर्य : देवकी भगवान् को छिपाने की सोच रही थीं। वे अन्य बालकों की तरह इन्हें कंस के हाथों सौंपना नहीं चाह रही थीं। यद्यपि वसुदेव ने वचन दिया था कि वे कंस को हर बालक दे दिया करेंगे, किन्तु इस बार वे अपना वचन भंग करके बालक को कहीं छिपा देना चाहते थे। किन्तु इस अद्भुत चतुर्भुज रूप के कारण उन्हें छिपा सकना असम्भव हो रहा था।

विश्वं यदेतत्स्वतनौ निशान्ते
यथावकाशं पुरुषः परो भवान् ।
बिभर्ति सोऽयं मम गर्भगोऽभू-
दहो नृलोकस्य विडम्बनं हि तत् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

विश्वम्—सम्पूर्ण विश्व को; यत् एतत्—चर तथा अचर सृष्टियों से युक्त; स्व-तनौ—अपने शरीर के भीतर; निशा-अन्ते—संहार के समय; यथा-अवकाशम्—बिना कठिनाई के आपके शरीर में शरण; पुरुषः—भगवान्; परः—दिव्य; भवान्—आप; बिभर्ति—पालन करते हैं; सः—वही (भगवान्); अयम्—वह रूप; मम—मेरा; गर्भ-गः—मेरे गर्भ में आया; अभूत्—हुआ; अहो—ओह; नृ-लोकस्य—जीवों के इस जगत का; विडम्बनम्—सोच पाना कठिन है; हि—निस्सन्देह; तत्—वह (गर्भ)।

संहार के समय चर तथा अचर जीवों से युक्त सारी सृष्टियाँ आपके दिव्य शरीर में प्रवेश कर जाती हैं और बिना कठिनाई के वहीं ठहरी रहती हैं। किन्तु अब वही दिव्य रूप मेरे गर्भ से जन्म ले चुका है। लोग इस पर विश्वास नहीं करेंगे और मैं हँसी की पात्र बन जाऊँगी।

तात्पर्य : *चैतन्य-चरितामृत* में बतलाया गया है कि भगवान् की प्रेमा-भक्ति दो प्रकार की होती है *ऐश्वर्यपूर्ण* तथा *ऐश्वर्य शिथिल*। असली ईशप्रेम ऐश्वर्य शिथिल भक्ति से—शुद्ध प्रेम के बल पर—प्रारम्भ होता है।

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन

सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

(*ब्रह्म-संहिता* ५.३८)

शुद्ध भक्तजन अपनी आँखों में प्रेम का अंजन लगाकर भगवान् श्यामसुन्दर, मुरलीधर को दोनों

हाथों में बाँसुरी झुलाते हुए देखना चाहते हैं। यह स्वरूप वृन्दावनवासियों के लिए उपलब्ध है, जो भगवान् के उस विष्णु अथवा नारायण रूप से प्रेम नहीं करते जो वैकुण्ठ में पूजित हैं जहाँ भक्तगण उनके ऐश्वर्य की प्रशंसा करते हैं अपितु वे उनके श्यामसुन्दर स्वरूप से प्रेम करते हैं। यद्यपि देवकी को वृन्दावन पद प्राप्त नहीं है, किन्तु वे वृन्दावन पद के निकट हैं। वृन्दावन पद पर कृष्ण की माता यशोदा हैं जबकि मथुरा तथा द्वारका पद पर कृष्ण की माता देवकी हैं। मथुरा तथा द्वारका में भगवान् का प्रेम ऐश्वर्य से मिश्रित रहता है, किन्तु वृन्दावन में भगवान् का ऐश्वर्य प्रदर्शित नहीं होता।

भगवान् की प्रेमाभक्ति की पाँच अवस्थाएँ हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य। देवकी वात्सल्य पद पर हैं। वे अपने शाश्वत पुत्र कृष्ण के साथ प्रेमव्यापार करना चाहती थीं इसीलिए वे चाहती थीं कि भगवान् अपना विष्णु का ऐश्वर्यशाली स्वरूप समेट लें। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक की टीका में इस तथ्य पर विशेष प्रकाश डाला है।

भक्ति, भगवान् तथा *भक्त*—ये भौतिक जगत से सम्बद्ध नहीं रहते। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.२६) में हुई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो अनन्य भक्ति के आध्यात्मिक कार्यों में अपने को लगाता है, वह तुरन्त ही प्रकृति के गुणों को लाँघकर आध्यात्मिक पद पर उठ जाता है।" भक्ति में मनुष्य प्रारम्भ से ही दिव्य पद पर स्थित हो जाता है। अतएव वसुदेव तथा देवकी शुद्ध भक्ति पद पर स्थित होने से इस भौतिक जगत से परे हैं और उन्हें भौतिक भय नहीं सताता। किन्तु दिव्य जगत में शुद्ध भक्ति के कारण, गहन प्रेम के फलस्वरूप ऐसा ही भय बना रहता है।

जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वत:*) तथा *श्रीमद्भागवत* में भी पुष्टि हुई है (*भक्त्याहमेकया ग्राह्य:*) भक्ति के बिना भगवान् की आध्यात्मिक स्थिति को समझा नहीं जा सकता। भक्ति की तीन अवस्थाएँ मानी जा सकती हैं—*गुणीभूत, प्रधानीभूत* तथा *केवल* और इनके भी तीन विभेद हैं—*ज्ञान, ज्ञानमयी* तथा *रति* या *प्रेमा* अर्थात् सामान्य ज्ञान, ज्ञान-मिश्रित प्रेम तथा शुद्ध प्रेम। ज्ञान से, बिना किसी परिवर्तन के, केवल दिव्य आनन्द का अनुभव किया

जा सकता है। यह अनुभूति *मानभूति* कहलाती है। ज्ञानमयी अवस्था में भगवान् के दिव्य ऐश्वर्यों का अनुभव होता है। किन्तु शुद्ध प्रेम या रति अवस्था में पहुँच कर भगवान् के कृष्ण या राम रूप की अनुभूति होती है। यही वांछनीय है। माधुर्य रस में तो मनुष्य भगवान् से अनुरक्त हो जाता है (*श्रीविग्रहनिष्ठरूपादि*)। तब भगवान् तथा भक्त में प्रेम-व्यापार चालू होता है।

व्रजभूमि या वृन्दावन में अपने हाथ में बाँसुरी लिए हुए कृष्ण की विशेष महत्ता *माधुरी... विराजते* द्वारा वर्णित है। हाथ में बाँसुरी लिए भगवान् का स्वरूप अत्यन्त आकर्षक है और इस स्वरूप से श्रीमती राधारानी या राधिका विशेष आकृष्ट होती हैं। वे कृष्ण के साथ आनन्दमय सान्निध्य का भोग करती हैं। कभी-कभी लोग यह नहीं समझ पाते कि *श्रीमद्भागवत* में राधिका के नाम का उल्लेख क्यों नहीं हुआ। वास्तव में राधिका को *आराधन* शब्द से समझा जा सकता है, जिसका अर्थ है कि वह कृष्ण के साथ उच्चतम प्रेमालाप का आनन्द भोग करती हैं।

देवकी नहीं चाहती थीं कि विष्णु को जन्म देने के कारण उनका उपहास हो अत: वे दो भुजाओं वाले कृष्ण को चाह रहीं थीं। इसीलिए उन्होंने भगवान् से अपना स्वरूप बदलने के लिए प्रार्थना की।

श्रीभगवानुवाच
त्वमेव पूर्वसर्गेऽभूः पृश्निः स्वायम्भुवे सति ।
तदायं सुतपा नाम प्रजापतिरकल्मषः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने देवकी से कहा; त्वम्—तुम; एव—निस्सन्देह; पूर्व-सर्गे—पूर्व युग में; अभूः—थीं; पृश्निः—पृश्नि नामक; स्वायम्भुवे—स्वायम्भुव मनु के युग में; सति—हे सती; तदा—उस समय; अयम्—यह वसुदेव; सुतपा—सुतपा; नाम—नामक; प्रजापतिः—प्रजापति; अकल्मषः—निर्मल व्यक्ति।

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया: हे सती माता, आप अपने पूर्व जन्म में स्वायंभुव मनु कल्प में पृश्नि नाम से विख्यात थीं और वसुदेव सुतपा नामक अत्यन्त पवित्र प्रजापति थे।

तात्पर्य : भगवान् ने यह स्पष्ट कर दिया कि देवकी पहली बार ही उन की माता नहीं बनीं प्रत्युत वे इसके पूर्व भी उनकी माता थीं। कृष्ण शाश्वत हैं और वे अपने भक्तों में से ही शाश्वत रूप से अपने माता-पिता का चुनाव करते रहते हैं। इसके पूर्व भी देवकी भगवान् की माता और वसुदेव उनके पिता थे। तब उनके नाम क्रमश: पृश्नि तथा सुतपा थे। जब भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण प्रकट होते हैं, तो वे माता-पिता का चुनाव करते हैं और वे भी कृष्ण को पुत्र रूप में स्वीकार करते हैं। यह लीला

निरन्तर चलती रहती है इसलिए *नित्यलीला* कहलाती है। इस तरह यह आश्चर्य या उपहास की बात न थी। भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* (४.९) में स्पष्ट किया है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो मेरे प्राकट्य तथा कार्यों की दिव्य प्रकृति को जान लेता है, वह इस शरीर को त्यागने के बाद इस भौतिक जगत में फिर से जन्म नहीं लेता अपितु मेरे नित्य धाम को प्राप्त करता है।" मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के प्राकट्य तथा तिरोधान को वैदिक महाजनों से समझे, कल्पना से नहीं। जो भगवान् के विषय में कल्पना का अनुसरण करता है, वह निन्दनीय है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

परं भावम् अजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

(*भगवद्गीता* ९.११)

भगवान् अपने *परं भावम्* के द्वारा अपने भक्त के पुत्र रूप में प्रकट होते हैं। *भाव* शब्द शुद्ध प्रेम अवस्था का द्योतक है, जिसका भौतिक व्यापारों से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

युवां वै ब्रह्मणादिष्टौ प्रजासर्गे यदा ततः ।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तेपाथे परमं तपः ॥ ३३॥

शब्दार्थ

युवाम्—तुम दोनों (पृश्नि तथा सुतपा); वै—निस्सन्देह; ब्रह्मणा आदिष्टौ—ब्रह्मा (जो पितामह या प्रजापतियों के पिता कहलाते हैं) की आज्ञा से; प्रजा-सर्गे—सन्तान उत्पन्न करने में; यदा—जब; ततः—तत्पश्चात्; सन्नियम्य—पूर्ण नियंत्रण में रखते हुए; इन्द्रिय-ग्रामम्—इन्द्रियों को; तेपाथे—की; परमम्—महान; तपः—तपस्या।

जब भगवान् ब्रह्मा ने तुम दोनों को सन्तान उत्पन्न करने का आदेश दिया तो तुम दोनों ने पहले अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हुए कठोर तपस्या की।

तात्पर्य : यहाँ पर यह आदेश है कि सन्तान उत्पत्ति करते समय इन्द्रियों का किस तरह उपयोग किया जाए। वैदिक नियमों के अनुसार संतान उत्पन्न करने से पहले इन्द्रियों का पूर्ण नियंत्रण करना चाहिये। यह नियंत्रण *गर्भाधान संस्कार* के माध्यम से पूरा होता है। भारत में विविध यांत्रिक विधियों से गर्भ निरोध करने पर बड़ा आन्दोलन छिड़ा हुआ है, किन्तु जन्म पर कभी यांत्रिक विधि से नियंत्रण नहीं किया जा सकता। जैसाकि *भगवद्गीता* (१३.९) में कहा गया है—*जन्ममृत्युजराव्याधि*

दु:खदोषानुदर्शनम्—जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा तथा रोग ये इस भौतिक जगत के प्रमुख दुख हैं। लोग जन्म को नियंत्रित करना चाह रहे हैं, किन्तु मृत्यु पर नियंत्रण करने में असमर्थ हैं और यदि हम मृत्यु को नियंत्रण में नहीं कर सकते तो जन्म को भी नियंत्रण में नहीं ला सकते। दूसरे शब्दों में, जन्म को कृत्रिम ढंग से नियंत्रित करना मृत्यु पर कृत्रिम नियंत्रण करने से सुलभ नहीं है।

वैदिक सभ्यता के अनुसार गर्भाधान को धार्मिक नियमों के प्रतिकूल नहीं होना चाहिए। तभी जन्म दर पर नियंत्रण हो सकता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.११) में कहा गया है—*धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि*—जो काम (यौन) धर्म के विरुद्ध नहीं है, वह भगवान् का स्वरूप है। लोगों को शिक्षा दी जानी चाहिए कि किस तरह संस्कारों के द्वारा वे उत्तम सन्तान उत्पन्न करें। गर्भ को कृत्रिम साधनों से नहीं रोका जाना चाहिए क्योंकि इससे पशु-सभ्यता का जन्म होगा। धार्मिक नियमों का पालन करने वाला स्वत: गर्भ-निरोध का पालन करता है क्योंकि आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति जानता है कि काम का दुष्प्रभाव विविध प्रकार के दुखों के रूप में होता है (*बहुदु:खभाज*)। जो आध्यात्मिक रूप से उन्नत है, वह अनियंत्रित यौन में लिप्त नहीं होता। अत: काम को या अधिक सन्तान के जन्म को बलपूर्वक रोके जाने की बजाय लोगों को आध्यात्मिक शिक्षा दी जानी चाहिए। तभी गर्भ निरोध स्वत: होने लगेगा।

यदि कोई आध्यात्मिक प्रगति करने पर तुल जाए तो वह तब तक सन्तान उत्पन्न नहीं करेगा जब तक वह उस सन्तान को भक्त न बना सके। *श्रीमद्भागवत* (५.५.१८) में कहा गया है—*पिता न स स्यात्*—जब तक मनुष्य अपनी सन्तान को *मृत्यु* से अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से बचा पाने में समर्थ न हो तब तक उसे पिता नहीं बनना चाहिए। किन्तु इसकी शिक्षा कहाँ दी जाती है? उत्तरदायी पिता कुत्तों और बिल्लियों की तरह सन्तानें नहीं उत्पन्न करता। लोगों को गर्भनिरोध के कृत्रिम साधनों को अपनाने के स्थान पर उन्हें कृष्णभावनामृत का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए क्योंकि तभी वे अपनी सन्तानों के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझ सकेंगे। यदि ऐसी सन्तानें उत्पन्न की जा सकें जो भक्त बनें और जिन्हें जन्म-मृत्यु के मार्ग से पृथक् रहने की शिक्षा दी जा सके (*मृत्यु:संसारवर्त्मनि*) तो गर्भनिरोध की कोई आवश्यकता नहीं रहती बल्कि संतान उत्पन्न करने के लिए मनुष्य को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। गर्भनिरोध की कृत्रिम विधियाँ निरर्थक हैं। कोई सन्तान उत्पन्न करे या नहीं, किन्तु कुत्तों और

बिल्लियों जैसी जनसंख्या से मानव समाज कभी भी सुखी नहीं रह सकता। इसलिए लोगों को आध्यात्मिक शिक्षा दिए जाने की आवश्यकता है, जिससे कुत्तों-बिल्लियों की तरह सन्तानें उत्पन्न करने के स्थान पर वे तपस्या करके भक्तों को जन्म दें। इससे उनके जीवन सफल हो जाएँगे।

वर्षवातातपहिमघर्मकालगुणाननु ।
सहमानौ श्वासरोधविनिर्धूतमनोमलौ ॥ ३४॥
शीर्णपर्णानिलाहारावुपशान्तेन चेतसा ।
मत्तः कामानभीप्सन्तौ मदाराधनमीहतुः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

वर्ष—वर्षा; वात—तेज हवा; आतप—तेज धूप; हिम—कड़ाके की ठंड; घर्म—घाम; काल-गुणान् अनु—ऋतु परिवर्तनों के अनुसार; सहमानौ—सहन करके; श्वास-रोध—साँस रोककर, योगाभ्यास द्वारा; विनिर्धूत—मन में जमी मैल धुल जाती है; मनः-मलौ—मन भौतिक कल्मष से मुक्त होकर शुद्ध बन गया; शीर्ण—शुष्क, त्यक्त; पर्ण—पेड़ों के पत्ते; अनिल—तथा वायु; आहारौ—खाकर; उपशान्तेन—शान्त; चेतसा—पूर्ण संयमित मन से; मत्तः—मुझसे; कामान् अभीप्सन्तौ—कुछ वर माँगने की इच्छा से; मत्—मेरी; आराधनम्—पूजा; ईहतुः—तुम दोनों ने सम्पन्न की।

हे माता-पिता, तुम लोगों ने विभिन्न ऋतुओं के अनुसार वर्षा, तूफान, कड़ी धूप तथा कड़ाके की ठंड सभी प्रकार की असुविधाएँ सही थीं। तुमने शरीर के भीतर वायु रोकने के लिए प्राणायाम करके तथा केवल हवा और वृक्षों से गिरे सूखे पत्ते खाकर अपने मन से सारे मैल को साफ कर दिया था। इस तरह मेरे वर की इच्छा से तुम लोगों ने शान्त चित्त से मेरी पूजा की थी।

तात्पर्य : वसुदेव तथा देवकी को पुत्र रूप में भगवान् आसानी से नहीं मिले थे, न ही भगवान् यों ही किसी को अपना माता-पिता बनाते हैं। यहाँ हम देख सकते हैं कि वसुदेव तथा देवकी ने किस तरह अपने दिव्य पुत्र को प्राप्त किया। हमें भी अच्छी सन्तान प्राप्त करने के लिए यहाँ पर दिए गए नियमों का पालन करना चाहिए। हाँ, यह हर एक के लिए सम्भव नहीं कि उसे पुत्र-रूप में कृष्ण प्राप्त हों, किन्तु मानव समाज के लाभ के लिए अच्छे पुत्र तथा पुत्रियाँ तो उत्पन्न किए ही जा सकते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि यदि मनुष्य आध्यात्मिक जीवन-शैली का पालन नहीं करते तो कुत्ते-बिल्लियों की तरह जन्मी *वर्णसंकर* जनसंख्या में वृद्धि होगी और सारा जगत नरक तुल्य बन जाएगा। कृष्णभावनामृत का अभ्यास किए बिना मात्र कृत्रिम ढंग से जनसंख्या की वृद्धि रोकने के प्रयास व्यर्थ होंगे। इससे जनसंख्या बढ़ेगी जो वर्णसंकर होगी, अवांछित सन्तानें होंगी। अतः लोगों को यह शिक्षा देना श्रेयस्कर होगा कि किस तरह संयमपूर्वक सन्तानें उत्पन्न की जाँए न कि कुत्ते-बिल्लियों की तरह।

मानव जीवन शूकर या कूकर जैसा बनने के लिए नहीं अपितु *तपो दिव्यम्* अर्थात् दिव्य तप के लिए है। हर एक को *तपस्या* की शिक्षा दी जानी चाहिए। यद्यपि पृश्नि तथा सुतपा की तरह तपस्या कर पाना सम्भव नहीं रह गया, किन्तु शास्त्र में तपस्या की सरलतम विधि बतलाई गई है और वह है संकीर्तन आन्दोलन। कृष्ण जैसी सन्तान पाने के लिए तपस्या करने की किसी से आशा नहीं की जा सकती, किन्तु हरे कृष्ण महामंत्र के कीर्तन मात्र से (*कीर्तनाद् एव कृष्णस्य*) वह इतना पवित्र बन सकता है कि इस जगत के सारे कल्मष से मुक्त होकर (*मुक्तसंग:*) भगवद्धाम वापस जा सके (*परं व्रजेत*)। अतएव कृष्णभावनामृत आन्दोलन लोगों को सुख के कृत्रिम साधन अपनाने की शिक्षा नहीं देता अपितु शास्त्र द्वारा संस्तुत सुख का असली मार्ग—हरे कृष्ण मंत्र कीर्तन—अपनाने और भौतिक जीवन में हर प्रकार से पूर्ण बनने की शिक्षा देता है।

एवं वां तप्यतोस्तीव्रं तपः परमदुष्करम् ।
दिव्यवर्षसहस्राणि द्वादशेयुर्मदात्मनोः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह से; वाम्—तुम दोनों को; तप्यतोः—तपस्या करते; तीव्रम्—अत्यन्त कठोर; तपः—तपस्या; परम-दुष्करम्—सम्पन्न करना कठिन; दिव्य-वर्ष—स्वर्गलोक के अनुसार काल गणना; सहस्राणि—हजार; द्वादश—बारह; ईयुः—बीत गए; मत्-आत्मनोः—मेरी चेतना में लगे रहकर।

इस तरह तुम दोनों ने मेरी चेतना (कृष्णभावना) में कठिन तपस्या करते हुए बारह हजार दिव्य वर्ष बिता दिए।

तदा वां परितुष्टोऽहममुना वपुषानघे ।
तपसा श्रद्धया नित्यं भक्त्या च हृदि भावितः ॥ ३७॥
प्रादुरासं वरदराड्युवयोः कामदित्सया ।
व्रियतां वर इत्युक्ते माद‍ृशो वां वृतः सुतः ॥ ३८॥

शब्दार्थ

तदा—तब (बारह हजार दिव्य वर्ष बीत जाने पर); वाम्—तुम दोनों के साथ; परितुष्टः अहम्—मैं संतुष्ट हुआ; अमुना—इससे; वपुषा—कृष्ण के रूप में; अनघे—हे निष्पाप माता; तपसा—तपस्या के द्वारा; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; नित्यम्—निरन्तर (लगे रहकर); भक्त्या—भक्ति के द्वारा; च—भी; हृदि—हृदय के भीतर; भावितः—स्थिर (संकल्प); प्रादुरासम्—तुम्हारे समक्ष (उसी तरह) प्रकट हुआ; वर-द-राट्—श्रेष्ठ वरदायक; युवयोः—तुम दोनों का; काम-दित्सया—इच्छा पूरी करने के लिए; व्रियताम्—तुमसे मन की बात कहने के लिए पूछा; वरः—वरदान के लिए; इति उक्ते—इस तरह अनुरोध किए जाने वाले; माद‍ृशः—मेरी ही तरह; वाम्—तुम दोनों का; वृतः—पूछा गया था; सुतः—तुम्हारे पुत्र रूप में (तुमने मेरे जैसा पुत्र चाहा था)।

हे निष्पाप माता देवकी, उन बारह हजार दिव्य वर्षों के बीत जाने पर, जिनमें तुम अपने हृदय में परम श्रद्धा, भक्ति तथा तपस्यापूर्वक निरन्तर मेरा ध्यान करती रही, मैं तुम से अत्यन्त प्रसन्न

हुआ था। चूँकि मैं वर देने वालों में सर्वश्रेष्ठ हूँ, अतः मैं इसी कृष्ण रूप में प्रकट हुआ कि तुम मनवाञ्छित वर माँगो। तब तुमने मेरे सदृश पुत्र-प्राप्ति की इच्छा प्रकट की थी।

तात्पर्य : जो लोग स्वर्गलोक में रहते हैं उनके लिए बारह हजार दिव्य वर्ष दीर्घ काल नहीं है भले ही इस लोक के रहने वालों के लिए यह सुदीर्घ अन्तराल लगे। सुतपा ब्रह्मा का पुत्र था। *भगवद्गीता* से (८.१७) ज्ञात है कि ब्रह्मा का एक दिन हमारी गणना के लाखों वर्षों के तुल्य होता है (*सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः*)। हमें ध्यान रखना होगा कि कृष्ण जैसा पुत्र पाने के लिए कितनी महान् तपस्या करनी होती है। यदि हम चाहते हैं कि भगवान् हमारे बीच इस भौतिक जगत में प्रकट हों तो इसके लिए कठिन तपस्या की आवश्यकता होगी, किन्तु यदि हम कृष्ण के पास वापस जाना चाहें (*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेतिऽर्जुन*) तो हमें केवल कृष्ण को समझना तथा उनसे प्रेम करना होगा। प्रेम के द्वारा ही हम भगवद्धाम वापस जा सकते हैं। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने घोषित किया—*प्रेमा पुमर्थो महान्*—भगवत्प्रेम किसी के लिए भी सर्वोच्च उपलब्धि है।

जैसाकि बतलाया जा चुका है, भगवान् की पूजा की तीन अवस्थाएँ होती हैं—*ज्ञान, ज्ञानमयी* तथा *रति*। सुतपा तथा उसकी पत्नी पृश्नि ने ज्ञान के आधार पर भक्ति कार्यों का शुभारम्भ किया था। धीरे-धीरे उनमें भगवान् के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ और जब यह प्रेम प्रौढ़ हो चुका तो भगवान् विष्णु रूप में प्रकट हुए। यद्यपि देवकी ने तब उनसे कृष्ण रूप धारण करने की प्रार्थना की थी। भगवान् से अधिक प्रेम करने के लिए हमें कृष्ण या राम रूप में भगवान् की कामना करनी चाहिए। हम कृष्ण के साथ प्रेम का आदान-प्रदान विशेष रूप से कर सकते हैं।

इस युग में हम सभी अधम हैं, किन्तु भगवान्, श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में, हम पर भगवत्प्रेम की वर्षा करने के लिए प्रकट हुए हैं। इसे श्री चैतन्य महाप्रभु के संगी समझते थे। रूप गोस्वामी ने कहा है—

नमो महावदान्याय कृष्णप्रेमप्रदायते।

कृष्णाय कृष्णचैतन्यनाम्ने गौरत्विषे नमः॥

इस श्लोक में श्री चैतन्य महाप्रभु को *महावदान्य* अर्थात् सर्वाधिक दानी व्यक्ति कहा गया है क्योंकि वे इतनी आसानी से कृष्ण का दान देते हैं कि हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करने मात्र से मनुष्य

कृष्ण-प्राप्ति कर सकता है। अतएव हमें श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रदत्त वर का लाभ उठाना चाहिए और जब हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करने से हम सारे मैल से शुद्ध हो जाँय (*चेतोदर्पणमार्जनम्*) तो हम बड़ी आसानी से समझ सकेंगे कि कृष्ण ही एकमात्र प्रेम के लक्ष्य हैं (*कीर्तनाद् एव कृष्णस्य मुक्तसंग: परं व्रजेत्*)।

अत: मनुष्य को हजारों वर्षों तक घोर तपस्या करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। उसे कृष्ण से प्रेम करना सीखना होता है और उन्हीं की सेवा में सदा लगे रहना होता है (*सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यद:*)। तभी मनुष्य सरलता से भगवद्धाम वापस जा सकता है। यदि पुत्र रूप में या अन्य रूप में किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए अपने भौतिक कार्य हेतु भगवान् को यहाँ न बुलाकर हम स्वयं भगवद्धाम वापस चले जाते हैं, तो भगवान् के साथ हमारा असली सम्बन्ध प्रकट हो जाएगा और हम शाश्वत सम्बन्ध बनाए रख सकते हैं। हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करके हम धीरे-धीरे परम पुरुष के साथ शाश्वत सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं और हमें *स्वरूपसिद्धि* प्राप्त हो जाती है। हमें चाहिए कि इस वर का लाभ उठाकर भगवद्धाम वापस जाँय। इसीलिए श्रील नरोत्तमदास ठाकुर ने गाया है—*पतितपावनहेतु तव अवतार*—श्री चैतन्य महाप्रभु का अवतार हम जैसे पतितात्माओं का उद्धार करने और भगवत्प्रेम प्रदान करने के लिए हुआ। हमें भगवान् के इस महान् वर का लाभ उठाना चाहिए।

अजुष्टग्राम्यविषयावनपत्यौ च दम्पती ।
न वव्राथेऽपवर्गं मे मोहितौ देवमायया ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

अजुष्ट-ग्राम्य-विषयौ—विषयी जीवन तथा मुझ जैसा बालक उत्पन्न करने के लिए; अनपत्यौ—सन्तानविहीन होने के कारण; च—भी; दम्-पती—पति-पत्नी दोनों; न—कभी नहीं; वव्राथे—माँगा (कोई वर); अपवर्गम्—इस जगत से मोक्ष; मे—मुझसे; मोहितौ—अत्यधिक आकर्षित होकर; देव-मायया—मेरे लिए दिव्य प्रेम के कारण (मुझे अपने पुत्र रूप में चाहकर)।

पति-पत्नी रूप में सन्तानहीन होने से आप लोग विषयी-जीवन के प्रति आकृष्ट हुए क्योंकि देवमाया के प्रभाव अर्थात् दिव्य प्रेम से तुम लोग मुझे अपने पुत्र के रूप में प्राप्त करना चाह रहे थे इसलिए तुम लोगों ने इस जगत से कभी भी मुक्त होना नहीं चाहा।

तात्पर्य : वसुदेव तथा देवकी सुतपा तथा पृश्नि के समय से ही पति-पत्नी (*दम्पति*) थे और वे भगवान् को पुत्र रूप में प्राप्त करने के उद्देश्य से पति-पत्नी बने रहना चाह रहे थे। यह अनुरक्ति *देवमाया* के प्रभाव से उत्पन्न हुई। कृष्ण से पुत्र रूप में प्रेम करना वैदिक सिद्धान्त है। वसुदेव तथा

देवकी ने कृष्ण को पुत्र रूप में पाने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहा फिर भी इस उद्देश्य के लिए भोग-विलास करने के लिए वे सामान्य गृहस्थ बने रहना चाहते थे। यद्यपि यह आध्यात्मिक शक्ति का विनिमय था, किन्तु उनकी इच्छा गृहस्थ जीवन में कामवासना के प्रति अनुरक्ति जैसी थी। जो व्यक्ति भगवद्धाम वापस जाना चाहता है उसे ऐसी इच्छाएँ त्याग देनी चाहिए। ऐसा तभी सम्भव है जब वह भगवान् के प्रति प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न कर ले। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

निष्किञ्चनस्य भगवद्जनोन्मुखस्य

पारं परं जिगमिषोर्भवसागरस्य।

(*चैतन्य-चरितामृत मध्य,* ११.८)

जो भगवद्धाम वापस जाना चाहता है उसे *निष्किंचन* अर्थात् समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त होना चाहिए। इसलिए यह चाहने के बदले कि भगवान् यहाँ आकर उसके पुत्र बनें, उसे समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त हो जाने की अभिलाषा करनी चाहिए (*अन्याभिलाषिता शून्यम्*) और भगवद्धाम वापस जाना चाहिए। श्री चैतन्य महाप्रभु ने *शिक्षाष्टक* में हमें शिक्षा दी है—

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।

मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

"हे सर्वशक्तिमान! मैं न तो धन एकत्र करना चाहता हूँ, न सुन्दर स्त्रियाँ चाहता हूँ, न ही अनेक अनुयायी चाहता हूँ। मैं तो जन्म-जन्मांतर आपकी केवल अहैतुकी भक्ति चाहता हूँ।" मनुष्य को चाहिए कि वह भौतिकता से रंजित इच्छाओं को पूरी करने के लिए भगवान् से याचना न करे।

गते मयि युवां लब्ध्वा वरं मत्सदृशं सुतम् ।
ग्राम्यान्भोगानभुञ्जाथां युवां प्राप्तमनोरथौ ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

गते मयि—मेरे चले जाने पर; युवाम्—तुम दोनों को (दम्पतियों को); लब्ध्वा—पाकर; वरम्—वरदान (पुत्र प्राप्ति का); मत्-सदृशम्—मेरी ही तरह के; सुतम्—पुत्र को; ग्राम्यान् भोगान्—भोग-विलास में व्यस्त रहना; अभुञ्जाथाम्—भोग किया; युवाम्—तुम दोनों को; प्राप्त—प्राप्त करके; मनोरथौ—अभिलाषाएँ।.

जब तुम वर प्राप्त कर चुके और मैं अन्तर्धान हो गया तो तुम मुझ जैसा पुत्र प्राप्त करने के उद्देश्य से विषयभोग में लग गए और मैंने तुम्हारी इच्छा पूरी कर दी।

तात्पर्य : संस्कृत के शब्दकोश *अमरकोश* के अनुसार विषयी जीवन *ग्राम्य धर्म* कहलाता है

लेकिन आध्यात्मिक जीवन में इस ग्राम्य धर्म को अत्यधिक सराहा नहीं जाता। यदि किसी में भोजन करने, सोने, मैथुन करने तथा रक्षा करने की रंचभर भी लालसा रहती है, तो वह निष्किञ्चन नहीं रहता। किन्तु मनुष्य को निष्किंचन होना चाहिए। अत: संभोग द्वारा कृष्ण जैसा पुत्र उत्पन्न करने के लिए इच्छा से उसे मुक्त होना चाहिए। इस श्लोक में अपरोक्ष रूप में यही इंगित किया गया है।

अदृष्ट्वान्यतमं लोके शीलौदार्यगुणैः समम् ।
अहं सुतो वामभवं पृश्निगर्भ इति श्रुतः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

अदृष्ट्वा—न पाकर; अन्यतमम्—किसी अन्य को; लोके—इस जगत में; शील-औदार्य-गुणैः—शील तथा उदारता के गुणों से युक्त; समम्—तुम्हारे तुल्य; अहम्—मैं; सुतः—पुत्र; वाम्—तुम दोनों का; अभवम्—बना; पृश्नि-गर्भः—पृश्नि से उत्पन्न हुआ; इति—इस प्रकार; श्रुतः—प्रसिद्ध हुआ।

चूँकि मुझे सरलता तथा शील के दूसरे गुणों में तुम जैसा बढ़ा-चढ़ा अन्य कोई व्यक्ति नहीं मिला अत: मैं पृश्नि-गर्भ के रूप में उत्पन्न हुआ।

तात्पर्य : त्रेतायुग में भगवान् पृश्निगर्भ के रूप में प्रकट हुए। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*पृश्निगर्भ इति सोऽयं त्रेतायुगावतारो लक्ष्यते।*

तयोर्वां पुनरेवाहमदित्यामास कश्यपात् ।
उपेन्द्र इति विख्यातो वामनत्वाच्च वामनः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तयोः—तुम पति-पत्नी दोनों का; वाम्—दोनों में; पुनः एव—फिर से ही; अहम्—मैं; अदित्याम्—अदिति के गर्भ में; आस—प्रकट हुआ; कश्यपात्—कश्यपमुनि के वीर्य से; उपेन्द्रः—उपेन्द्र नाम से; इति—इस प्रकार; विख्यातः—सुप्रसिद्ध; वामनत्वात् च—तथा बौना बनने से; वामनः—वामन नाम से विख्यात।

मैं अगले युग में तुम दोनों से, माता अदिति तथा पिता कश्यप से पुन: प्रकट हुआ। मैं उपेन्द्र नाम से विख्यात हुआ और बौना होने के कारण मैं वामन भी कहलाया।

तृतीयेऽस्मिन्भवेऽहं वै तेनैव वपुषाथ वाम् ।
जातो भूयस्तयोरेव सत्यं मे व्याहृतं सति ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तृतीये—तीसरी बार; अस्मिन् भवे—इस रूप में (कृष्ण रूप के); अहम्—मैं; वै—निस्सन्देह; तेन—उसी व्यक्ति से; एव—इस तरह; वपुषा—रूप द्वारा; अथ—जिस तरह; वाम्—तुम दोनों के; जातः—उत्पन्न; भूयः—फिर से; तयोः—तुम दोनों का; एव—निस्सन्देह; सत्यम्—सत्य मानकर; मे—मेरे; व्याहृतम्—शब्द; सति—हे सती।

हे परम सती माता, मैं वही व्यक्ति अब तीसरी बार तुम दोनों के पुत्र रूप में प्रकट हुआ हूँ।

मेरे वचनों को सत्य मानें।

तात्पर्य : भगवान् अपने माता-पिता का चुनाव स्वयं करते हैं जिनसे उन्हें बारम्बार जन्म लेना पड़ता है। सर्वप्रथम भगवान् ने सुतपा तथा पृश्नि से, फिर कश्यप तथा अदिति से और अब उन्हीं माता-पिता वसुदेव-देवकी से जन्म लिया। भगवान् ने कहा, "अन्य जन्मों में भी मैंने तुम लोगों का पुत्र बनने के लिए ही सामान्य शिशु का रूप धारण किया जिससे हम प्रेम का आदान-प्रदान कर सकें।" श्रील जीव गोस्वामी ने *कृष्ण सन्दर्भ* (९६.३७) में बतलाया है कि *अमुना वपुषा* का अर्थ है "उसी रूप के द्वारा।" दूसरे शब्दों में, भगवान् ने देवकी से कहा, "इस बार मैं अपने मूल श्रीकृष्ण-रूप में उत्पन्न हुआ हूँ।" श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि अन्य रूप तो भगवान् के आदि रूप के अंश थे, किन्तु पृश्नि तथा सुतपा द्वारा जो प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न हुआ था उसके फलस्वरूप कृष्ण-रूप में भगवान् अपने समस्त ऐश्वर्यों समेत देवकी तथा वसुदेव से प्रकट हुए। इस श्लोक में भगवान् पुष्टि करते हैं, "मैं वही भगवान् हूँ, किन्तु समस्त ऐश्वर्य समेत कृष्ण रूप में प्रकट हुआ हूँ।" "तेनैव वपुषा" का यही तात्पर्य है। जब भगवान् ने पृश्नि-गर्भ का उल्लेख किया, तो उन्होंने—*तेनैव वपुषा* नहीं कहा, किन्तु उन्होंने देवकी को विश्वास दिलाया कि तीसरे जन्म में भगवान् कृष्ण प्रकट हुए हैं, उनका अंश नहीं। पृश्नि-गर्भ तथा वामन कृष्ण के अंशावतार थे, किन्तु तीसरे जन्म में साक्षात् कृष्ण प्रकट हुए। श्रील जीव गोस्वामी ने *कृष्ण सन्दर्भ* में यही व्याख्या दी है।

एतद्वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे ।
नान्यथा मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिङ्गेन जायते ॥ ४४॥

शब्दार्थ

एतत्—विष्णु का यह रूप; वाम्—तुम दोनों को; दर्शितम्—दिखलाया गया; रूपम्—चतुर्भुज भगवान् के रूप में मेरा स्वरूप; प्राक्-जन्म—पूर्व जन्मों का; स्मरणाय—तुमको स्मरण दिलाने के लिए; मे—मेरा; न—नहीं; अन्यथा—अन्यथा; मत्-भवम्—विष्णु का प्राकट्य; ज्ञानम्—यह दिव्य ज्ञान; मर्त्य-लिङ्गेन—मानवी शिशु की तरह जन्म लेकर; जायते—उत्पन्न होता है।.

मैंने तुम लोगों को यह विष्णु-रूप मात्र अपने पूर्वजन्मों का स्मरण कराने के लिए दिखलाया है। अन्यथा यदि मैं सामान्य बालक की तरह प्रकट होता तो तुम लोगों को विश्वास न हो पाता कि भगवान् विष्णु सचमुच प्रकट हुए हैं।

तात्पर्य : देवकी को यह बताए जाने की आवश्यकता नहीं थी कि भगवान् विष्णु उनके पुत्र रूप में प्रकट हुए थे, वे इसे पहले से स्वीकार कर चुकी थीं। फिर भी वे चिन्तित थीं कि यदि पड़ोसी सुनेंगे

कि उसके पुत्ररूप में विष्णु प्रकट हुए हैं, तो इस पर कोई विश्वास नहीं करेगा। इसलिए वे चाह रही थीं कि भगवान् विष्णु मानवी बालक का रूप धारण कर लें। दूसरी ओर भगवान् भी चिन्तित थे कि यदि वे सामान्य बालक के रूप में प्रकट हुए तो उनकी माता को विश्वास नहीं होगा कि भगवान् विष्णु प्रकट हुए हैं। भक्त तथा भगवान् के मध्य ऐसे ही व्यापार चलते हैं। भगवान् भक्तों के साथ मनुष्यों जैसा ही व्यवहार करते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे मनुष्य होते हैं क्योंकि ऐसा निर्णय तो अभक्तों का होता है (*अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्*)। भक्तगण भगवान् को हर परिस्थिति में पहचान लेते हैं। भक्त तथा अभक्त में यही अन्तर होता है। भगवान् कहते हैं—*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु*—अपने मन को मेरे चिन्तन में लगाओ, मेरे भक्त बनो, मुझे ही नमस्कार करो तथा मेरी पूजा करो। अभक्त को यह विश्वास ही नहीं हो पाता कि किसी व्यक्ति का चिन्तन करने मात्र से इस भौतिक संसार से मुक्ति मिल सकती है और वह भगवद्धाम वापस जा सकता है। किन्तु यह यथार्थ है। भगवान् मनुष्य के रूप में आते हैं और यदि कोई भगवान् के साथ प्रेमाभक्ति द्वारा जुड़ जाता है, तो उसका वैकुण्ठ लोक जाना निश्चित हो जाता है।

युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत् ।
चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

युवाम्—तुम दोनों (पति-पत्नी); माम्—मुझको; पुत्र-भावेन—अपने पुत्र रूप में; ब्रह्म-भावेन—मुझे भगवान् के रूप में जानते हुए; च—तथा; असकृत्—निरन्तर; चिन्तयन्तौ—इस तरह सोचते हुए; कृत-स्नेहौ—प्रेम का बर्ताव करते हुए; यास्येथे—दोनों को प्राप्त होगा; मत्-गतिम्—मेरा परम धाम; पराम्—दिव्य।

तुम पति-पत्नी निरन्तर अपने पुत्र के रूप में मेरा चिन्तन करते हो, किन्तु तुम यह जानते रहते हो कि मैं भगवान् हूँ। इस तरह निरन्तर स्नेहपूर्वक मेरा चिन्तन करते हुए तुम लोग सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करोगे अर्थात् भगवद्धाम वापस जाओगे।

तात्पर्य : भगवान् द्वारा अपने माता-पिता को जो उनसे शाश्वत रूप से सम्बन्धित हैं, दिया गया यह उपदेश विशेष तौर पर उन व्यक्तियों के लिए है, जो भगवद्धाम वापस जाना चाहते हैं। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् को कभी भी सामान्य मनुष्य न समझे जैसा अभक्त करते हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण सशरीर प्रकट हुए थे और उन्होंने मानव समाज के लाभ के लिए अपने उपदेश छोड़े, किन्तु मूर्ख तथा मूढ़ उन्हें दुर्भाग्यवश सामान्य मनुष्य मानते हैं और *भगवद्गीता* के उपदेशों को मनमाने ढंग से

अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए तोड़ते मरोड़ते हैं। जो भी *भगवद्गीता* पर भाष्य लिखता है, एक तरह से वह अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए व्याख्या करता है। आजकल आधुनिक विद्वानों तथा राजनीतिज्ञों में यह विशेष रूप से फैशन बन चुका है कि वे *भगवद्गीता* की व्याख्या इस तरह करते हैं मानो वह कपोलकल्पित हो। वे अपनी गलत व्याख्याओं से अपना जीवन तो बिगाड़ते ही हैं अन्यों के भी जीवन को बिगाड़ते हैं। किन्तु कृष्णभावनामृत आन्दोलन इस आरोप के विरुद्ध लड़ रहा है कि कृष्ण काल्पनिक पुरुष हैं और कुरुक्षेत्र का युद्ध नहीं हुआ था; हर बात सांकेतिक है एवं *भगवद्गीता* में कुछ भी सत्य नहीं है। कुछ भी हो, यदि कोई सचमुच सफल बनना चाहता है, तो उसे *भगवद्गीता* यथारूप का पाठ करना चाहिए। श्री चैतन्य महाप्रभु *भगवद्गीता* के उपदेशों पर विशेष बल देते थे—*यारे देख, तारे कह 'कृष्ण'-उपदेश।* यदि कोई व्यक्ति जीवन में सर्वोच्च सफलता चाहता है, तो उसे *भगवद्गीता* को जिस प्रकार से श्रीकृष्ण ने कहा है उसी प्रकार से ग्रहण करना चाहिए। *भगवद्गीता* को इस रूप में स्वीकार करने से सारा मानव समाज पूर्ण तथा सुखी बन सकता है।

इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि चूँकि देवकी तथा वसुदेव कृष्ण को नन्द महाराज के निवासस्थान गोकुल ले जाने पर उनसे विलग हो जाएँगे, इसलिए साक्षात् भगवान् ने उन्हें आदेश दिया कि वे उन्हें अपने पुत्र तथा भगवान् के रूप में स्मरण किया करें। इससे वे उनके सम्पर्क में बने रहेंगे। भगवान् ११ वर्षों के बाद उनके पुत्र रूप में मथुरा लौटेंगे अतः उनके वियुक्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

श्रीशुक उवाच
इत्युक्त्वासीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया ।
पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति उक्त्वा—इस तरह उपदेश देकर; आसीत्—रहे; हरिः—भगवान्; तूष्णीम्—मौन; भगवान्—भगवान् विष्णु; आत्म-मायया—अपनी आध्यात्मिक शक्ति से कार्य करते हुए; पित्रोः सम्पश्यतोः—यथार्थ रूप में माता-पिता द्वारा देखे जाकर; सद्यः—तुरन्त; बभूव—हो गये; प्राकृतः—सामान्य व्यक्ति की तरह; शिशुः—बालक।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : अपने माता-पिता को इस तरह उपदेश देने के बाद भगवान् कृष्ण मौन रहे। तब उन्हीं के सामने अपनी अंतरंगा शक्ति से उन्होंने अपने आप को एक छोटे शिशु के रूप में बदल लिया। (दूसरे शब्दों में, उन्होंने स्वयं को अपने आदि रूप में रूपान्तरित

कर दिया—*कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*)।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (४.६) में कहा गया है—*सम्भवाम्यात्ममायया*—भगवान् जो भी करते हैं अपनी आध्यात्मिक शक्ति से करते हैं, उन पर भौतिक शक्ति से किसी प्रकार का दबाव नहीं पड़ता। भगवान् तथा सामान्य जीव में यही अन्तर है। वेदों का कथन है (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.८) :

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते

स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च।

यह स्वाभाविक है कि भगवान् भौतिक गुणों के द्वारा रंजित नहीं होते और चूँकि उनकी आध्यात्मिक शक्ति में हर वस्तु सुचारु ढंग से उपस्थित रहती है अतएव वे जो भी इच्छा करते हैं, वह तुरन्त हो जाता है। भगवान् *प्राकृत शिशु* अर्थात् इस जगत के शिशु नहीं हैं, अपितु अपनी आत्मशक्ति से वे उस रूप में प्रकट हुए। सामान्य लोगों को परम नियन्ता भगवान् को मनुष्य रूप में स्वीकार करने में कठिनाई हो सकती है क्योंकि वे भूल जाते हैं कि भगवान् *आत्ममायया* अर्थात् आध्यात्मिक शक्ति से कुछ भी कर सकते हैं। अविश्वासी लोग कहते हैं "परम नियन्ता किस तरह सामान्य व्यक्ति के रूप में अवतरित हो सकता है?" ऐसी विचारधारा भौतिकतावादी सोच है। श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि भगवान् की शक्ति को हमारे शब्दों और मन की कल्पना के परे अर्थात् अचिन्त्य माने बिना हम उन्हें समझ नहीं सकते। जिन्हें इसमें सन्देह है कि भगवान् अपने को मानव रूप में अवतरित होकर, शिशु के रूप में उपस्थित कर सकते हैं, वे मूर्ख हैं क्योंकि वे कृष्ण के शरीर को भौतिक शरीर मानकर यह सोचते हैं कि वे जन्म लेते हैं और मरते भी हैं।

श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध के चौथे अध्याय (४.२८-२९) में कृष्ण द्वारा शरीर परित्याग का वर्णन मिलता है। महाराज परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा, "जब यदुवंश के सारे लोगों का अन्त हो गया तो कृष्ण ने भी अपना अन्त कर लिया और उनके परिवार में एकमात्र बचा रहने वाला व्यक्ति उद्धव था। ऐसा किस तरह सम्भव हुआ?" शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया कि कृष्ण ने आत्मशक्ति से सारे परिवार को विनष्ट कर दिया और तब अपने शरीर को अन्तर्धान करने का विचार किया। इस सम्बन्ध में शुकदेव गोस्वामी ने बतलाया है कि भगवान् ने किस तरह अपना शरीर छोड़ा। किन्तु यह कृष्ण के शरीर का विनाश नहीं था प्रत्युत यह भगवान् की आत्मशक्ति द्वारा उनका अन्तर्धान होना था।

वास्तव में भगवान् अपने शरीर का परित्याग नहीं करते क्योंकि वे शाश्वत हैं। जिस तरह वे विष्णु रूप से सामान्य शिशु का रूप धारण कर सकते हैं उसी तरह वे इच्छानुसार अपना शरीर किसी भी रूप में बदल सकते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि वे अपने शरीर का परित्याग करते हैं। वे अपनी दिव्य शक्ति से काष्ठ या पत्थर के बने विग्रह में प्रकट हो सकते हैं। वे अपने शरीर को किसी भी वस्तु में बदल सकते हैं क्योंकि हर वस्तु उन्हीं की शक्ति है (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*)। *भगवद्गीता* (७.४) में स्पष्ट कहा गया है—*भिन्ना प्रकृतिरष्टधा*—सारे भौतिक तत्त्व भगवान् की भिन्ना शक्तियाँ हैं। यदि वे अपने शरीर को *अर्चामूर्ति* में परिणत कर देते हैं जिसे हम पत्थर या काष्ठ के रूप में देखते हैं, तो भी वे कृष्ण हैं। इसीलिए शास्त्र आगाह करता है—*अर्च्ये विष्णौ शिलाधीर्गुरुषु नरमतिः।* जो व्यक्ति अर्चाविग्रह को काष्ठ या पत्थर का बना सोचता है, जो वैष्णव गुरु को सामान्य व्यक्ति मानता है या जो वैष्णव को भौतिक रूप में किसी विशेष जाति का मानता है, वह *नारकी* है अर्थात् नरक में वास करता है। भगवान् हमारे समक्ष इच्छानुसार अनेक रूपों में प्रकट हो सकते हैं, किन्तु हमें वास्तविकता जाननी चाहिए—*जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः* (*भगवद्गीता* ४.९)। साधु, गुरु तथा शास्त्र के उपदेशों का पालन करने से ही कृष्ण को समझा जा सकता है और मनुष्य भगवद्धाम वापस जाकर अपने जीवन को सफल बना सकता है।

ततश्च शौरिर्भगवत्प्रचोदितः
सुतं समादाय स सूतिकागृहात् ।
यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्ह्यजा
या योगमायाजनि नन्दजायया ॥ ४७॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; च—निस्सन्देह; शौरिः—वसुदेव; भगवत्-प्रचोदितः—भगवान् से आज्ञा पाकर; सुतम्—अपने पुत्र को; समादाय—सावधानी से ले जाकर; सः—उसने; सूतिका-गृहात्—प्रसूतिगृह से, सौरी से; यदा—जब; बहिः गन्तुम्—बाहर जाने के लिए; इयेष—चाहा; तर्हि—तब, उस समय; अजा—न जन्म लेने वाली दिव्य शक्ति; या—जो; योगमाया—योगमाया ने; अजनि—जन्म लिया; नन्द-जायया—नन्द महाराज की पत्नी से।

तत्पश्चात् भगवान् की प्रेरणा से जब वसुदेव नवजात शिशु को सूतिकागृह से ले जाने वाले थे तो बिलकुल उसी क्षण भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति योगमाया ने महाराज नन्द की पत्नी की पुत्री के रूप में जन्म लिया।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि कृष्ण एक ही समय देवकी के पुत्र तथा

यशोदा के पुत्र के रूप में आत्मशक्ति योगमाया के साथ उत्पन्न हुए। देवकी के पुत्र रूप में वे सर्वप्रथम विष्णु रूप में प्रकट हुए और वसुदेव ने अपने पुत्र की पूजा भगवान् विष्णु के रूप में की क्योंकि वे कृष्ण से शुद्ध स्नेह दिखला पाने की स्थिति में नहीं थे। किन्तु यशोदा अपने पुत्र कृष्ण को ईश्वर माने बिना ही प्रसन्न रखती थीं। यशोदा के पुत्र तथा देवकी के पुत्र कृष्ण में यही अन्तर है। *हरिवंश* के प्रमाण पर विश्वनाथ चक्रवर्ती ने यह व्याख्या की है।

तया हृतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु
द्वाःस्थेषु पौरेष्वपि शायितेष्वथ ।
द्वारश्च सर्वाः पिहिता दुरत्यया
बृहत्कपाटायसकीलशृङ्खलैः ॥ ४८ ॥
ताः कृष्णवाहे वसुदेव आगते
स्वयं व्यवर्यन्त यथा तमो रवेः ।
ववर्ष पर्जन्य उपांशुगर्जितः
शेषोऽन्वगाद्वारि निवारयन्फणैः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

तया—योगमाया के प्रभाव से; हृत-प्रत्यय—सारी अनुभूति से रहित; सर्व-वृत्तिषु—अपनी समस्त इन्द्रियों सहित; द्वाः-स्थेषु—सारे द्वारपाल; पौरेषु अपि—तथा घर के सारे लोग भी; शायितेषु—गहरी नींद में मग्न; अथ—जब वसुदेव ने अपने पुत्र को बन्दीगृह से बाहर ले जाने का प्रयास किया; द्वारः च—तथा दरवाजे भी; सर्वाः—सारे; पिहिताः—निर्मित; दुरत्यया—अत्यन्त कठोर तथा दृढ़; बृहत्-कपाट—तथा बड़े दरवाजे पर; आयस-कील-शृङ्खलैः—लोहे के काँटों से बने तथा लोहे की जंजीरों से बन्द किए गए; ताः—वे सब; कृष्ण-वाहे—कृष्ण को लिए हुए; वसुदेवे—जब वसुदेव; आगते—प्रकट हुए; स्वयम्—स्वयं; व्यवर्यन्त—खुल गए; यथा—जिस तरह; तमः—अँधेरा; रवेः—सूर्य के उदय होने पर; ववर्ष—पानी बरसे हुए; पर्जन्यः—आकाश में बादल; उपांशु-गर्जितः—मन्द गर्जना करते और रिमझिम बरसते; शेषः—अनन्त नाग; अन्वगात्—पीछे-पीछे चला; वारि—वर्षा की झड़ी; निवारयन्—रोकते हुए; फणैः—अपने फनों को फैलाकर।

योगमाया के प्रभाव से सारे द्वारपाल गहरी नींद में सो गए, उनकी इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो गईं और घर के अन्य लोग भी गहरी नींद में सो गए। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर अंधकार स्वतः छिप जाता है उसी तरह वसुदेव के प्रकट होने पर लोहे की कीलों से जड़े तथा भीतर से लोहे की जंजीरों से जकड़े हुए बंद दरवाजे स्वतः खुल गए। चूँकि आकाश में बादल मन्द गर्जना कर रहे थे और झड़ी लगाए हुए थे अतः भगवान् के अंश अनन्त नाग दरवाजे से ही वसुदेव तथा दिव्य शिशु की रक्षा करने के लिए अपने फण फैलाकर वसुदेव के पीछे लग लिए।

तात्पर्य : शेषनाग भगवान् के अंश हैं और उनका काम है सारे साज-सामान के साथ भगवान् की सेवा करना। जब वसुदेव शिशु को लिए जा रहे थे तो शेषनाग भगवान् की सेवा करने तथा वर्षा की

हल्की-हल्की बूँदों से उन्हें बचाने के लिए प्रकट हुआ।

मघोनि वर्षत्यसकृद्यमानुजा
गम्भीरतोयौघजवोर्मिफेनिला ।
भयानकावर्तशताकुला नदी
मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रियः पतेः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

मघोनि वर्षति—इन्द्र की वर्षा के कारण; असकृत्—निरन्तर; यम-अनुजा—यमुना नदी, जिसे यमराज की बहन माना जाता है; गम्भीर-तोय-ओघ—गहरे जल के; जव—वेग से; ऊर्मि—लहरों से; फेनिला—फेन से पूर्ण; भयानक—भयानक; आवर्त-शत—भँवरों से; आकुला—क्षुब्ध; नदी—नदी ने; मार्गम्—रास्ता; ददौ—दे दिया; सिन्धुः इव—समुद्र के समान; श्रियः पतेः—देवी सीता के पति भगवान् रामचन्द्र को।

इन्द्र द्वारा बरसायी गयी निरन्तर वर्षा के कारण यमुना नदी में पानी चढ़ आया था और उसमें भयानक भँवरों के साथ फेन उठ रहा था। किन्तु जिस तरह पूर्वकाल में हिन्द महासागर ने भगवान् रामचन्द्र को सेतु बनाने की अनुमति देकर रास्ता प्रदान किया था उसी तरह यमुना नदी ने वसुदेव को रास्ता देकर उन्हें नदी पार करने दी।

नन्दव्रजं शौरिरुपेत्य तत्र तान्
गोपान्प्रसुप्तानुपलभ्य निद्रया ।
सुतं यशोदाशयने निधाय त-
त्सुतामुपादाय पुनर्गृहानगात् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

नन्द-व्रजम्—नन्द महाराज के गाँव या घर तक; शौरिः—वसुदेव; उपेत्य—पहुँचकर; तत्र—वहाँ; तान्—सारे लोगों को; गोपान्—सारे ग्वालों को; प्रसुप्तान्—सोया हुआ; उपलभ्य—जानकर; निद्रया—गहरी निद्रा में; सुतम्—पुत्र को (वसुदेव के पुत्र को); यशोदा-शयने—उस बिस्तर पर जिसमें यशोदा सो रही थीं; निधाय—रखकर; तत्-सुताम्—उसकी पुत्री को; उपादाय—लेकर; पुनः—फिर; गृहान्—अपने घर को; अगात्—लौट आया।

जब वसुदेव नन्द महाराज के घर पहुँचे तो देखा कि सारे ग्वाले गहरी नींद में सोए हुए थे। उन्होंने अपने पुत्र को यशोदा के पलँग में रख दिया, उसकी पुत्री को, जो योगमाया की अंश थी, उठाया और अपने घर कंस के बंदीगृह वापस लौट आए।

तात्पर्य : वसुदेव जानते थे कि ज्यों ही पुत्री कंस के बन्दीगृह में पहुँचेगी वह तुरन्त उसे मार डालेगा, किन्तु अपने पुत्र की रक्षा करने के लिए उन्हें अपने मित्र की सन्तान का वध कराना पड़ा। यद्यपि नन्द महाराज उनके मित्र थे, किन्तु अपने पुत्र के प्रति गहन स्नेह तथा अनुराग के कारण ही उन्होंने जानबूझ कर ऐसा होने दिया। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि किसी अन्य के

बालक की बलि देकर अपने बच्चे की रक्षा करने के लिए किसी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। साथ ही वसुदेव पर निर्दयता का दोष नहीं मढ़ा जा सकता क्योंकि वे जो कुछ कर रहे थे वह सब योगमाया के वशीभूत होकर कर रहे थे।

देवक्याः शयने न्यस्य वसुदेवोऽथ दारिकाम् ।
प्रतिमुच्य पदोर्लोहमास्ते पूर्ववदावृतः ॥५२॥

शब्दार्थ

देवक्याः—देवकी के; शयने—विस्तर पर; न्यस्य—रखकर; वसुदेवः—वसुदेव ने; अथ—इस प्रकार; दारिकाम्—लड़की को; प्रतिमुच्य—पुनः पहन कर; पदोः लोहम्—पाँवों की बेड़ियाँ; आस्ते—हो गया; पूर्व-वत्—पहले की तरह; आवृतः—बँधा हुआ।.

वसुदेव ने लड़की को देवकी के पलँग पर रख दिया और अपने पाँवों में बेड़ियाँ पहन लीं तथा पहले की तरह बन गए।

यशोदा नन्दपत्नी च जातं परमबुध्यत ।
न तल्लिङ्गं परिश्रान्ता निद्रयापगतस्मृतिः ॥५३॥

शब्दार्थ

यशोदा—यशोदा, गोकुल में कृष्ण की माता; नन्द-पत्नी—नन्द महाराज की पत्नी; च—भी; जातम्—उत्पन्न शिशु; परम्—परम पुरुष को; अबुध्यत—समझ गई; न—नहीं; तत्-लिङ्गम्—कि बालक नर है या मादा; परिश्रान्ता—अत्यधिक प्रसव पीड़ा के कारण; निद्रया—नींद के वशीभूत; अपगत-स्मृतिः—चेतना खोकर।.

शिशु जनने की पीड़ा से थककर यशोदा नींद के वशीभूत हो गई और यह नहीं समझ पाईं कि उन्हें लड़का हुआ है या लड़की।

तात्पर्य : नन्द महाराज तथा वसुदेव घनिष्ठ मित्र थे तथा उनकी पत्नियाँ यशोदा तथा देवकी भी घनिष्ठ मित्र थीं। यद्यपि उनके नाम भिन्न थे, किन्तु एक तरह से वे अभिन्न थीं। अन्तर था तो इतना ही कि देवकी जानती थीं कि भगवान् उनसे जन्मे हैं और अब कृष्ण बन गए हैं, किन्तु यशोदा को यह भी पता नहीं था कि उसे लड़का हुआ है या लड़की। यशोदा इतनी महान् भक्त थीं कि उन्होंने कृष्ण को कभी भगवान् करके माना ही नहीं। वे तो उन्हें अपने पुत्र की तरह प्यार करती रहीं। किन्तु देवकी शुरू से ही जानती रहीं कि कृष्ण कहने को तो उनके पुत्र हैं, किन्तु हैं भगवान्। वृन्दावन में कृष्ण को कोई भी व्यक्ति भगवान् नहीं मानता था। जब कृष्ण कोई अनहोनी घटना कर बैठते तो वृन्दावन के सारे वासी—ग्वाले, ग्वालबाल, नन्द महाराज, यशोदा इत्यादि आश्चर्यचकित हो उठते, किन्तु उन्होंने अपने

पुत्र को कभी भी भगवान् नहीं माना। कभी-कभी वे यह कहते कि कृष्ण रूप में कोई बड़ा देवता प्रकट हुआ है। भक्ति की ऐसी चरमावस्था में भक्त कृष्ण के पद को भूल जाता है और भगवान् के पद को समझे बिना उनसे प्रगाढ़ प्रेम करता है। यह *केवल भक्ति* कहलाती है और ज्ञान तथा ज्ञानमयी भक्ति अवस्थाओं से सर्वथा भिन्न होती है।

इस तरह श्रीमद्भागवतम् के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''कृष्ण जन्म'' नामक तृतीय अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चार

राजा कंस के अत्याचार

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस प्रकार कंस अपने असुर मित्रों के कहने पर छोटे-छोटे बच्चों पर अत्याचार करने को ही अत्यन्त व्यवहार-कुशलता समझने लगा।

जब वसुदेव ने पहले की तरह बेड़ी-हथकड़ी पहन लीं तो योगमाया के प्रभाव से बन्दीगृह के सारे दरवाजे बन्द हो गए और योगमाया नवजात शिशु की तरह रोदन करने लगी। उसके रोने से द्वारपाल जाग गए और उन्होंने तुरन्त ही कंस को जानकारी दी कि देवकी के शिशु उत्पन्न हुआ है। यह समाचार सुनकर कंस बड़ी तेजी से सूतिकागृह में चला आया और उस शिशु को बचाने के लिए देवकी के लाख प्रार्थना करने पर भी उस असुर ने बलपूर्वक उस शिशु को देवकी के हाथों से छीनकर शिला पर पटक दिया। कंस का दुर्भाग्य था कि वह शिशु उसके हाथ से छिटककर उसके सिर के ऊपर अष्टभुजा दुर्गा के रूप में प्रकट हो गया। तब दुर्गा ने कंस से कहा, ''तुम जिस शत्रु का मन में ध्यान करते हो वह अन्यत्र जन्म ले चुका है। अतएव सारे शिशुओं को क्रूरतापूर्वक मारने की तुम्हारी योजना व्यर्थ सिद्ध होगी।''

भविष्यवाणी के अनुसार देवकी की आठवीं सन्तान को कंस का वध करना था अत: जब कंस ने देखा कि आठवीं सन्तान कन्या है और जब उसने यह सुना कि उसका तथाकथित शत्रु अन्यत्र जन्म ले चुका है, तो उसे अत्यधिक आश्चर्य हुआ। उसने देवकी तथा वसुदेव को छोड़ देने का निश्चय किया और उनके समक्ष अपनी क्रूरताओं की गलती स्वीकार की। उसने देवकी तथा वसुदेव के चरणों पर

गिरकर क्षमा–याचना की और उन्हें आश्वस्त करने का प्रयास किया कि जो कुछ घट चुका है उसे घटना ही था। अतएव उसके द्वारा वध की गईं अपनी अनेक सन्तानों के लिए वे दुखी न हों। चूँकि देवकी तथा वसुदेव अत्यन्त पवित्र थे अतएव उन्होंने कंस को उसके अत्याचारों के लिए तुरन्त क्षमा कर दिया और यह देखकर कि उसकी बहन तथा बहनोई प्रसन्न थे कंस अपने घर लौट गया।

किन्तु रात बीत जाने पर कंस ने अपने मंत्रियों को बुलाकर उन्हें जो कुछ घटा था कह सुनाया। ये सारे मंत्री असुर थे अत: उन्होंने कंस को सलाह दी कि चूँकि उसका शत्रु अन्यत्र जन्म ले चुका है, अत: विगत दस दिनों में कंस के राज्य के गाँवों में जितने भी बालक उत्पन्न हुए हों उन्हें मार डाला जाए। यद्यपि देवतागण कंस से सदैव भयभीत रहते हैं, किन्तु उनके साथ नर्मी नहीं बरतनी चाहिए। क्योंकि आखिरकार हैं तो वे शत्रु ही, अत: कंस को चाहिए कि वह उनका समूल विनाश करने का भरसक प्रयत्न करे। उन असुर मंत्रियों ने यह भी सलाह दी कि कंस को चाहिए कि वह विष्णु के प्रति अपनी शत्रुता बनाए रखे क्योंकि विष्णु ही सारे देवताओं के आदि पुरुष हैं। ब्राह्मण, गाय, वेद, तपस्या, सच्चाई, इन्द्रियों तथा मन का संयम, आज्ञाकारिता तथा दया विष्णु के शरीर के विभिन्न अंग हैं, जो ब्रह्माजी तथा शिवजी समेत सभी देवताओं के आदिदेव हैं। अत: मंत्रियों ने सलाह दी कि देवताओं, सन्त पुरुषों, गायों तथा ब्राह्मणों को ठीक से दण्डित किया जाए। अपने असुर मित्र–मंत्रीगणों द्वारा इस तरह की कठोर सलाह दिए जाने पर कंस ने उनकी बातों को मान लिया और यही लाभप्रद समझा कि वह ब्राह्मणों से ईर्ष्या बनाए रखे। अत: कंस के आदेशानुसार असुरों ने पूरी व्रजभूमि में अपने अत्याचार शुरू कर दिए।

श्रीशुक उवाच
बहिरन्त:पुरद्वार: सर्वा: पूर्ववदावृता: ।
ततो बालध्वनिं श्रुत्वा गृहपाला: समुत्थिता: ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; बहि:-अन्त:-पुर-द्वार:—घर के भीतरी तथा बाहरी दरवाजे; सर्वा:—सारे; पूर्व-वत्—पहले की तरह; आवृता:—बन्द; तत:—तत्पश्चात्; बाल-ध्वनिम्—नवजात शिशु का रोदन; श्रुत्वा—सुनकर; गृह-पाला:—घर के सारे वासी विशेषतया द्वारपाल; समुत्थिता:—जग गए।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा परीक्षित, घर के भीतरी तथा बाहरी दरवाजे पूर्ववत् बन्द हो गए। तत्पश्चात् घर के रहने वालों ने, विशेष रूप से द्वारपालों ने, नवजात शिशु का

क्रन्दन सुना और अपने बिस्तरों से उठ खड़े हुए।

तात्पर्य : इस अध्याय में योगमाया के कार्यकलाप प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं देवकी तथा वसुदेव कंस के भ्रामक नृशंस कार्यों को क्षमा कर देते हैं और कंस पश्चात्ताप करता हुआ उनके चरणों पर गिर पड़ता है। बंदीगृह के द्वारपालों तथा अन्य लोगों के जगने के पूर्व अनेक घटनाएँ घटीं। कृष्ण का जन्म हुआ और वे गोकुल में यशोदा के घर पहुँचा दिए गए, सुदृढ़ दरवाजे खुले और फिर बन्द हो गए और वसुदेव पुनः लोहे की शृंखलाओं में जकड़ गए। किन्तु द्वारपाल यह सब नहीं जान पाए। वे तो तब जगे जब उन्होंने नवजात शिशु योगमाया को चिल्लाते सुना।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है कि ये द्वारपाल कुत्तों के तुल्य थे। रात में कुत्ते सड़कों पर द्वारपाल जैसा कार्य करते हैं। यदि एक कुत्ता भूँकता है, तो सब कुत्ते उसी समय भूँकने लगते हैं। यद्यपि इन कुत्तों को द्वारपाल का कार्य करने के लिए कोई नियुक्त नहीं करता, किन्तु वे अपने पड़ोस की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझते हैं और ज्योंही कोई अज्ञात व्यक्ति प्रवेश करता है, तो वे तुरन्त भूँकने लगते हैं। योगमाया तथा महामाया दोनों ही अनेक भौतिक कार्यकलापों में काम करती हैं (*प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वशः*) किन्तु यद्यपि भगवान् की शक्ति उनके अपने निर्देशानुसार कार्य करती है (*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*) किन्तु कुत्ते-सदृश राजनीतिज्ञ तथा कूटनीतिज्ञ सोचते हैं कि वे बाह्यजगत के खतरों से अपने पड़ोस को सुरक्षित रखते हैं। ये *माया* के कार्य हैं। किन्तु जो कृष्ण शरण में चला जाता है, वह इस जगत के इन कुत्तों तथा कुत्तों जैसे अभिभावकों द्वारा प्रदत्त संरक्षण से मुक्ति पा लेता है।

ते तु तूर्णमुपव्रज्य देवक्या गर्भजन्म तत् ।
आचख्युर्भोजराजाय यदुद्विग्नः प्रतीक्षते ॥ २॥

शब्दार्थ

ते—वे सारे द्वारपाल; तु—निस्सन्देह; तूर्णम्—शीघ्र; उपव्रज्य—राजा के समक्ष जाकर; देवक्याः—देवकी का; गर्भ-जन्म—गर्भ से बाहर आना; तत्—उस (शिशु); आचख्युः—प्रस्तुत किया; भोज-राजाय—भोजराज कंस को; यत्—जिससे; उद्विग्नः—अत्यधिक चिन्तित; प्रतीक्षते—प्रतीक्षा कर रहा था (शिशु जन्म की)।

तत्पश्चात् सारे द्वारपाल जल्दी से भोजवंश के शासक राजा कंस के पास गये और उसे देवकी से शिशु के जन्म लेने का समाचार बतलाया। अत्यन्त उत्सुकता से इस समाचार की प्रतीक्षा कर रहे कंस ने तुरन्त ही कार्यवाही की।

तात्पर्य : इस भविष्यवाणी के कारण कि देवकी की आठवीं सन्तान कंस का वध करेगी, कंस अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहा था। इस बार वह जगकर प्रतीक्षा कर रहा था अत: जब द्वारपाल उसके निकट गए तो वह शिशु को मारने को तुरन्त उद्यत हुआ।

स तल्पात्तूर्णमुत्थाय कालोऽयमिति विह्वलः ।
सूतीगृहमगात्तूर्णं प्रस्खलन्मुक्तमूर्धजः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (कंस); तल्पात्—बिस्तर से; तूर्णम्—शीघ्र ही; उत्थाय—उठकर; कालः अयम्—यह रही मेरी मृत्यु, परम काल; इति—इस प्रकार; विह्वलः—उद्विग्न; सूती-गृहम्—सौर को; अगात्—गया; तूर्णम्—देरी लगाए बिना; प्रस्खलन्—बिखेरे हुए; मुक्त—खुले; मूर्ध-जः—सिर के बाल।

कंस तुरन्त ही बिस्तर से यह सोचते हुए उठ खड़ा हुआ, ''यह रहा काल, जिसने मेरा वध करने के लिए जन्म लिया है।'' इस तरह उद्विग्न एवं अपने सिर के बाल बिखराए कंस तुरन्त ही उस स्थान पर पहुँचा जहाँ शिशु ने जन्म लिया था।

तात्पर्य : *कालः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि यह बालक कंस का वध करने के लिए उत्पन्न हुआ था, किन्तु कंस ने सोचा कि इस बालक का वध करने का यह उपयुक्त समय है, जिससे स्वयं उसका जीवन बच जाए। वास्तव में काल भगवान् का ही दूसरा नाम है जब वे वध करने के उद्देश्य से प्रकट होते हैं। जब अर्जुन ने विराट रूप कृष्ण से पूछा, ''आप कौन हैं?'' तो भगवान् ने कहा कि मैं साक्षात् काल हूँ। प्रकृति का नियम है कि जब अवांछित रीति से जनसंख्या में वृद्धि होती है, तो *काल* प्रकट होता है और भगवान् की ऐसी व्यवस्था बनती है कि लोग बड़ी संख्या में युद्ध, महामारी, दुर्भिक्ष इत्यादि नाना कारणों से मारे जाते हैं। उस समय नास्तिक राजनीतिक नेता भी गिरिजाघर, मसजिद या मन्दिर जाकर ईश्वर से कृपा माँगते हैं। किन्तु इसके पूर्व वे भगवान् को या उनकी इच्छा को जानने का कोई प्रयास नहीं करते। काल के प्रकट होने पर ही वे कृपा माँगते हैं। मृत्यु परम काल अर्थात् भगवान् का एक दूसरा गुण है। मृत्यु के समय नास्तिक को काल के समक्ष घुटने टेकने पड़ते हैं और तब भगवान् उसकी सारी सम्पत्ति हर लेते हैं (*मृत्युः सर्व हरश्चाहम्*) और उसे दूसरा शरीर धारण करने के लिए बाध्य कर देते हैं (*तथा देहान्तरप्राप्तिः*)। नास्तिक लोग इसे नहीं जानते और यदि जानते भी हैं, तो उपेक्षा करते हैं जिससे वे अपना सामान्य जीवन बिता सकें। कृष्णभावनामृत आन्दोलन उन्हें सिखलाने का प्रयास कर रहा है कि भले ही वे कुछ वर्षों तक महान् रक्षक या प्रहरी बने रहें, किन्तु

काल के प्रकट होते ही उन्हें दूसरा शरीर धारण करना होगा। यही प्रकृति का नियम है। इसे न जानने के कारण वे प्रहरी बनकर अपना समय व्यर्थ गँवाते हैं और भगवान् की कृपा प्राप्त करने का प्रयास नहीं करते। स्पष्ट कहा गया है—*अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि*—कृष्णभावनामृत के बिना मनुष्य को जन्म-मृत्यु में भटकते रहना पड़ता है और इसका पता नहीं चल पाता है कि अगले जन्म में क्या होगा।

तमाह भ्रातरं देवी कृपणा करुणं सती ।
स्नुषेयं तव कल्याण स्त्रियं मा हन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

तम्—कंस से; आह—कहा; भ्रातरम्—अपने भाई; देवी—माता देवकी ने; कृपणा—असहाय; करुणम्—कातर; सती—सती; स्नुषा इयम् तव—यह शिशु तुम्हारी भावी पुत्र-वधू बनेगी; कल्याण—हे शुभ; स्त्रियम्—स्त्री को; मा—नहीं; हन्तुम्—वध करना; अर्हसि—तुम्हें शोभा देता है।

असहाय तथा कातर भाव से देवकी ने कंस से विनती की : मेरे भाई, तुम्हारा कल्याण हो। तुम इस बालिका को मत मारो। यह तुम्हारी पुत्र-वधू बनेगी। तुम्हें शोभा नहीं देता कि एक कन्या का वध करो।

तात्पर्य : इसके पूर्व कंस ने यह सोचकर देवकी को क्षमा कर दिया था कि स्त्री का वध नहीं करना चाहिए, विशेष रूप से यदि वह गर्भिणी हो। किन्तु अब यही कंस माया के प्रभाव से स्त्री को, न केवल स्त्री, वरन् नवजात असहाय कन्या को मार डालने के लिए उद्यत था। देवकी अपने भाई को इस पापपूर्ण जघन्य कृत्य से बचाना चाह रही थीं अतएव उन्होंने उससे कहा, "तुम कन्या को मारने का नृशंसता पूर्ण पाप मत करो। तुम्हारा कल्याण हो।" असुरजन अपने स्वार्थ के लिए पाप-पुण्य का विचार किए बिना कुछ भी कर सकते हैं। किन्तु इसके विपरीत, देवकी यद्यपि सुरक्षित थीं और अपने पुत्र कृष्ण को जन्म दे चुकी थीं, किन्तु वे पराई कन्या को बचाने के लिए चिन्तित थीं। यह उनके लिए स्वाभाविक ही था।

बहवो हिंसिता भ्रातः शिशवः पावकोपमाः ।
त्वया दैवनिसृष्टेन पुत्रिकैका प्रदीयताम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

बहवः—अनेक; हिंसिताः—ईर्ष्यावश मारे गए; भ्रातः—हे भाई; शिशवः—अनेक शिशु; पावक-उपमाः—तेज और सौन्दर्य में अग्नि के समान; त्वया—तुम्हारे द्वारा; दैव-निसृष्टेन—भविष्यवाणी से; पुत्रिका—कन्या; एका—एक; प्रदीयताम्—तुम मुझे उपहार स्वरूप दे दो।.

हे भ्राता, तुम दैववश मेरे अनेक सुन्दर तथा अग्नि जैसे तेजस्वी शिशुओं को पहले ही मार चुके हो। किन्तु कृपा करके इस कन्या को छोड़ दो। इसे उपहार स्वरूप मुझे दे दो।

तात्पर्य : यहाँ हम यह देखते हैं कि देवकी ने सर्वप्रथम कंस के क्रूर कर्मों—उसके द्वारा अपने अनेक पुत्रों के वध की ओर ध्यान दिलाया। इसके बाद वे उससे यह कहकर समझौता करना चाहती थीं कि उसने जो भी किया वह उसका दोष न था अपितु विधाता का रचा था। इसके बाद उन्होंने उससे याचना की कि वे उन्हें इस पुत्री को उपहार के रूप में दे दें। देवकी क्षत्रिय की पुत्री थीं अतएव राजनैतिक दावपेंच जानती थीं। राजनीति में सफलता प्राप्त करने की अनेक विधियाँ हैं—दम, साम तथा दान। कंस की क्रूरता द्वारा मारे गए अपने पुत्रों के लिए उस पर सीधा आक्षेप करने की दम नीति का देवकी ने पहले आश्रय लिया। किन्तु इसके बाद यह कहकर समझौता कर लिया कि यह उसका दोष नहीं था और उसी के बाद उन्होंने उससे एक वर माँगा। *महाभारत* के इतिहास से हमें पता चलता है कि क्षत्रियों अर्थात् शासकों की पत्नियाँ तथा पुत्रियाँ राजनीतिक दाँवपेंच जानती थीं, किन्तु हम यह भी जानते हैं कि किसी भी स्त्री को मुख्य शासक का पद प्रदान नहीं हुआ। यह *मनुसंहिता* के आदेश के अनुसार है, किन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि *मनुसंहिता* का भी अब उपहास किया जा रहा है और वैदिक समाज के सदस्य, आर्य लोग कुछ भी नहीं कर सकते। कलियुग की ऐसी स्थिति है। विधि के विधान बिना कुछ भी नहीं हो सकता।

तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो

न लभ्यते यद् भ्रमतामुपर्यधः।

तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं

कालेन सर्वत्र गभीररंहसा॥

(*भागवत* १.५.१८)

देवकी अच्छी तरह जानती थीं कि उनके अनेक पुत्रों का वध विधि द्वारा निर्दिष्ट था अतः कंस को दोषी नहीं ठहराया जा सकता था। कंस को अच्छी शिक्षा देना भी व्यर्थ था। *उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये* (चाणक्य पंडित)। मूर्ख व्यक्ति को अच्छा उपदेश देने पर वह अधिकाधिक क्रोध

प्रकट करता है। यही नहीं, क्रूर व्यक्ति साँप से भी अधिक घातक होता है। साँप तथा क्रूर व्यक्ति दोनों ही क्रूर होते हैं, किन्तु क्रूर व्यक्ति अधिक घातक होता है क्योंकि सर्प को तो मंत्रों या औषधियों से मुग्ध जा सकता है, किन्तु क्रूर व्यक्ति का दमन किसी प्रकार नहीं किया जा सकता। कंस का स्वभाव ऐसा ही था।

नन्वहं ते ह्यवरजा दीना हतसुता प्रभो ।
दातुमर्हसि मन्दाया अङ्गेमां चरमां प्रजाम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ननु—किन्तु; अहम्—मैं; ते—तुम्हारी; हि—निश्चय ही; अवरजा—छोटी बहन; दीना—दीन; हत-सुता—सन्तान से विहीन की गई; प्रभो—हे प्रभु; दातुम् अर्हसि—तुम देने में समर्थ हो; मन्दायाः—इस अभागिन को; अङ्ग—मेरे भाई; इमाम्—इस; चरमाम्—अन्तिम; प्रजाम्—बालक को।

हे प्रभु, हे मेरे भाई, मैं अपने सारे बालकों से विरहित होकर अत्यन्त दीन हूँ, फिर भी मैं तुम्हारी छोटी बहन हूँ अतएव यह तुम्हारे अनुरूप ही होगा कि तुम इस अन्तिम शिशु को मुझे भेंट में दे दो।

श्रीशुक उवाच
उपगुह्यात्मजामेवं रुदत्या दीनदीनवत् ।
याचितस्तां विनिर्भर्त्स्य हस्तादाचिच्छिदे खलः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; उपगुह्य—आलिंगन करके; आत्मजाम्—अपनी पुत्री को; एवम्—इस प्रकार; रुदत्या—रुदन करती देवकी द्वारा; दीन-दीन-वत्—एक गरीब स्त्री की भाँति अत्यन्त दीनतापूर्वक; याचितः—माँगे जाने पर; ताम्—उसे (देवकी को); विनिर्भर्त्स्य—भर्त्सना करके; हस्तात्—हाथ से; आचिच्छिदे—बलपूर्वक छीन लिया; खलः—उस दुष्ट कंस ने।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : अपनी पुत्री को दीनतापूर्वक सीने से लगाये हुए तथा बिलखते हुए देवकी ने कंस से अपनी सन्तान के प्राणों की भीख माँगी, किन्तु वह इतना निर्दयी था कि उसने देवकी को फटकारते हुए उसके हाथों से उस बालिका को बलपूर्वक झपट लिया।

तात्पर्य : यद्यपि देवकी एक दीन स्त्री की तरह बिलख रही थीं किन्तु वास्तव में वे दीन नहीं थीं इसीलिए *दीनवत्* शब्द का प्रयोग हुआ है। वे पहले ही कृष्ण को जन्म दे चुकी थीं अतएव उनसे बढ़कर धनवान और कौन हो सकता था? यहाँ तक कि देवतागण भी उनकी स्तुति करने आये थे, किन्तु देवकी ने एक निर्धन सताई हुई स्त्री की भूमिका इसीलिए निभाई क्योंकि वे यशोदा की कन्या को

बचाना चाह रही थीं।

तां गृहीत्वा चरणयोर्जातमात्रां स्वसुः सुताम् ।
अपोथयच्छिलापृष्ठे स्वार्थोन्मूलितसौहृदः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

ताम्—शिशु को; गृहीत्वा—बलपूर्वक लेकर; चरणयोः—दोनों पाँवों से; जात-मात्राम्—नवजात शिशु को; स्वसुः—अपनी बहन की; सुताम्—कन्या को; अपोथयत्—पछाड़ दिया; शिला-पृष्ठे—पत्थर के ऊपर; स्व-अर्थ-उन्मूलित—विकट स्वार्थ के वशीभूत होकर जड़ से उखाड़ फेंका; सौहृदः—सारे मित्र या पारिवारिक सम्बन्ध।

अपने विकट स्वार्थ के कारण अपनी बहन से सारे सम्बन्ध तोड़ते हुए घुटनों के बल बैठे कंस ने नवजात शिशु के पाँवों को पकड़ा और उसे पत्थर पर पटकना चाहा।

सा तद्धस्तात्समुत्पत्य सद्यो देव्यम्बरं गता ।
अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहाभुजा ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सा—वह कन्या; तत्-हस्तात्—कंस के हाथ से; सम्-उत्पत्य—छूटकर; सद्यः—तुरन्त; देवी—देवी के रूप में; अम्बरम्—आकाश में; गता—चली गई; अदृश्यत—देखी गई; अनुजा—छोटी बहन; विष्णोः—भगवान् की; स-आयुधा—हथियारों सहित; अष्ट—आठ; महा-भुजा—बड़ी-बड़ी भुजाओं वाली।

वह कन्या, योगमाया देवी जो भगवान् विष्णु की छोटी बहन थी, कंस के हाथ से छूट कर ऊपर की ओर चली गई और आकाश में हथियारों से युक्त आठ भुजाओं वाली देवी—देवी दुर्गा—के रूप में प्रकट हुई।

तात्पर्य : कंस ने कन्या को नीचे पत्थर पर पटकना चाहा, किन्तु वह तो भगवान् विष्णु की छोटी बहन योगमाया थी अतः हाथ से छूटकर ऊपर चली गई और देवी दुर्गा का रूप धारण कर लिया। *अनुजा* शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है, "छोटी बहन।" जब विष्णु या कृष्ण ने देवकी से जन्म लिया तो उसी समय उन्होंने यशोदा के गर्भ से भी जन्म लिया होगा। अन्यथा योगमाया भगवान् की छोटी बहन कैसे बनती ?

दिव्यस्रगम्बरालेपरत्नाभरणभूषिता ।
धनुःशूलेषुचर्मासिशङ्खचक्रगदाधरा ॥ ॥
सिद्धचारणगन्धर्वैरप्सरःकिन्नरोरगैः ।
उपाहृतोरुबलिभिः स्तूयमानेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

दिव्य-स्रक्-अम्बर-आलेप—तब उसने चन्दन लेप, फूल-माला तथा सुन्दर वस्त्रों से आभूषित देवी का रूप धारण कर लिया; रत्न-आभरण-भूषिता—बहुमूल्य रत्नों वाले आभूषणों से सज्जित; धनुः-शूल-इषु-चर्म-असि—धनुष, त्रिशूल, तीर, ढाल तथा तलवार से युक्त; शङ्ख-चक्र-गदा-धरा—तथा शंख, चक्र और गदा धारण किए हुए; सिद्ध-चारण-गन्धर्वैः—सिद्ध, चारण तथा गन्धर्वों के द्वारा; अप्सरः-किन्नर-उरगैः—अप्सराओं, किन्नरों तथा उरगों द्वारा; उपाहृत-उरु-बलिभिः—सभी उसके लिए भेंटें लेकर आए; स्तूयमाना—प्रशंसित होकर; इदम्—ये शब्द; अब्रवीत्—उसने कहे।

देवी दुर्गा फूल की मालाओं से सुशोभित थीं, वे चन्दन का लेप किए थीं और सुन्दर वस्त्र पहने तथा बहुमूल्य रत्नों से जटित आभूषणों से युक्त थीं। वे अपने हाथों में धनुष, त्रिशूल, बाण, ढाल, तलवार, शंख, चक्र तथा गदा धारण किए हुए थीं। अप्सराएँ, किन्नर, उरग, सिद्ध, चारण तथा गन्धर्व तरह-तरह की भेंट अर्पित करते हुए उनकी प्रशंसा और पूजा कर रहे थे। ऐसी देवी दुर्गा इस प्रकार बोलीं।

किं मया हतया मन्द जातः खलु तवान्तकृत् ।
यत्र क्व वा पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणान्वृथा ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या लाभ; मया—मुझे; हतया—मारने में; मन्द—अरे मूर्ख; जातः—पहले ही जन्म ले चुका है; खलु—निस्सन्देह; तव अन्त-कृत्—जो तुम्हारा वध करेगा; यत्र क्व वा—अन्यत्र कहीं; पूर्व-शत्रुः—तुम्हारा पहले का शत्रु; मा—मत; हिंसीः—मारो; कृपणान्—अन्य बेचारे बालक; वृथा—व्यर्थ ही।

अरे मूर्ख कंस, मुझे मारने से तुझे क्या मिलेगा? तेरा जन्मजात शत्रु तथा वध करने वाला पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अन्यत्र कहीं जन्म ले चुका है। अतः तू व्यर्थ ही अन्य बालकों का वध मत कर।

इति प्रभाष्य तं देवी माया भगवती भुवि ।
बहुनामनिकेतेषु बहुनामा बभूव ह ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस तरह; प्रभाष्य—कहकर; तम्—कंस से; देवी—देवी दुर्गा; माया—योगमाया; भगवती—भगवान् जैसी शक्ति से सम्पन्न; भुवि—पृथ्वी पर; बहु-नाम—अनेक नामों वाले; निकेतेषु—विभिन्न स्थानों में; बहु-नामा—अनेक नामों वाली; बभूव—हुई; ह—निस्सन्देह।

कंस से इस तरह कहकर देवी दुर्गा अर्थात् योगमाया वाराणसी इत्यादि जैसे विभिन्न स्थानों में प्रकट हुईं और अन्नपूर्णा, दुर्गा, काली तथा भद्रा जैसे विभिन्न नामों से विख्यात हुईं।

तात्पर्य : देवी दुर्गा कलकत्ता में काली, मुम्बई में मुम्बादेवी, वाराणसी में अन्नपूर्णा, कटक में भद्रकाली तथा अहमदाबाद में भद्रा कहलाती हैं। इस तरह अलग-अलग जगहों में वे अलग-अलग नामों से जानी जाती हैं। उनके भक्त *शाक्त* अर्थात् भगवान् की शक्ति के उपासक कहलाते हैं जबकि पूर्ण

पुरुषोत्तम भगवान् के भक्त वैष्णव कहलाते हैं। वैष्णवों का दिव्य लोक अर्थात् वैकुण्ठ जाना निश्चित है, जबकि शाक्तों को इसी भौतिक जगत में रहकर तरह-तरह के भोग-विलास करना नियत है। भौतिक जगत में जीव को नाना प्रकार के शरीर धारण करने पड़ते हैं। *भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया* (*भगवद्गीता* १८.६१)। योगमाया या माया दुर्गादेवी जीव की इच्छा के अनुसार उसे विशेष प्रकार का शरीर प्रदान करती हैं, जिसे *यन्त्र* अर्थात् मशीन कहा गया है। किन्तु जो जीव वैकुण्ठलोक चले जाते हैं उन्हें पुन: इस भौतिक शरीर रूपी बन्दीगृह में लौटना नहीं होता (*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन*)। *जन्म न एति*—ये शब्द सूचित करते हैं कि सारे जीव भगवान् की संगति का आनन्द उठाने के लिए वैकुण्ठ तथा वृन्दावन के दिव्य धामों में अपने मूल आध्यात्मिक शरीरों में रहते हैं।

तयाभिहितमाकर्ण्य कंसः परमविस्मितः ।
देवकीं वसुदेवं च विमुच्य प्रश्रितोऽब्रवीत् ॥ १४॥

शब्दार्थ

तया—दुर्गा देवी द्वारा; अभिहितम्—कहे गए शब्दों को; आकर्ण्य—सुनकर; कंसः—कंस; परम-विस्मितः—अत्यधिक आश्चर्यचकित था; देवकीम्—देवकी को; वसुदेवम् च—तथा वसुदेव को; विमुच्य—तुरन्त विमुक्त करके; प्रश्रितः—अत्यन्त दीनतापूर्वक; अब्रवीत्—इस प्रकार बोला।

देवीदुर्गा के शब्दों को सुनकर कंस अत्यन्त विस्मित हुआ। तब वह अपनी बहन देवकी तथा बहनोई वसुदेव के निकट गया, उन्हें बेड़ियों से विमुक्त कर दिया तथा अति विनीत भाव में इस प्रकार बोला।

तात्पर्य : कंस को आश्चर्य हुआ क्योंकि देवी दुर्गा तो देवकी की कन्या निकलीं। देवकी तो मानव जाति की थी, भला देवी दुर्गा उसकी पुत्री किस तरह हो सकती है? उसके आश्चर्य का यही कारण था। यही नहीं, देवकी की आठवीं सन्तान कन्या कैसे हो गई? इससे भी उसे आश्चर्य हुआ। असुरगण सामान्यतया माता दुर्गा अर्थात् शक्ति या फिर देवताओं के, विशेष रूप से शिवजी के, भक्त होते हैं। अपने आदि अष्टभुजी रूप में हथियार धारण किए हुए दुर्गा के प्राकट्य ने तुरन्त ही कंस की इस धारणा को बदल दिया कि देवकी मानव है। अवश्य ही उसमें कोई न कोई दिव्य गुण होंगे अन्यथा देवी दुर्गा उसके गर्भ से क्यों जन्म लेतीं? ऐसी परिस्थिति में आश्चर्यचकित कंस ने अपनी बहन देवकी के प्रति की गई नृशंसताओं की प्रतिपूर्ति कर देनी चाही।

अहो भगिन्यहो भाम मया वां बत पाप्मना ।
पुरुषाद इवापत्यं बहवो हिंसिताः सुताः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; भगिनि—मेरी बहन; अहो—ओह; भाम—मेरे बहनोई; मया—मेरे द्वारा; वाम्—तुम दोनों को; बत—निस्सन्देह; पाप्मना—पापपूर्ण कार्यों से; पुरुष-अदः—मानव-भक्षी, राक्षस; इव—सदृश; अपत्यम्—शिशु को; बहवः—अनेक; हिंसिताः—मारे गए; सुताः—पुत्रगण।

हाय मेरी बहन! हाय मेरे बहनोई! मैं सचमुच उस मानव-भक्षी (राक्षस) के तुल्य पापी हूँ जो अपने ही शिशु को मारकर खा जाता है क्योंकि मैंने तुमसे उत्पन्न अनेक पुत्रों को मार डाला है।

तात्पर्य : ऐसा माना जाता है कि राक्षसगण अपने ही पुत्रों को खा जाने के आदी होते हैं जिस तरह साँप तथा अन्य अनेक जानवर कभी कभी करते हैं। सम्प्रति कलियुग में राक्षस पिता तथा माता अपने शिशुओं को गर्भ में ही मार रहे हैं और कुछ तो भ्रूण को भी बड़े चाव से खाते हैं। इस तरह तथाकथित सभ्यता राक्षसों को उत्पन्न करके क्रमशः प्रगति कर रही है।

स त्वहं त्यक्तकारुण्यस्त्यक्तज्ञातिसुहृत्खलः ।
कान्लोकान्वै गमिष्यामि ब्रह्महेव मृतः श्वसन् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह व्यक्ति (कंस); तु—निस्सन्देह; अहम्—मैं; त्यक्त-कारुण्यः—सारी दया से विहीन; त्यक्त-ज्ञाति-सुहृत्—जिसने अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों का भी परित्याग कर रखा है; खलः—क्रूर; कान् लोकान्—कौन से लोकों में; वै—निस्सन्देह; गमिष्यामि—जाऊँगा; ब्रह्म-हा इव—ब्राह्मण का वध करने वाले के समान; मृतः श्वसन्—मरने के बाद या जीते ही जीते।

मैंने दयाविहीन तथा क्रूर होने के कारण अपने सारे सम्बन्धियों तथा मित्रों का परित्याग कर दिया है। अतः मैं नहीं जानता कि ब्राह्मण का वध करने वाले व्यक्ति के समान मृत्यु के बाद या इस जीवित अवस्था में मैं किस लोक को जाऊँगा?

दैवमप्यनृतं वक्ति न मर्त्या एव केवलम् ।
यद्विश्रम्भादहं पापः स्वसुर्निहतवाञ्छिशून् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

दैवम्—विधाता; अपि—भी; अनृतम्—झूठ; वक्ति—कहते हैं; न—नहीं; मर्त्याः—मनुष्यगण; एव—निश्चय ही; केवलम्—केवल; यत्-विश्रम्भात्—उस भविष्यवाणी में विश्वास करने के कारण; अहम्—मैंने; पापः—अत्यन्त पापी; स्वसुः—अपनी बहन के; निहतवान्—मार डाले; शिशून्—अनेक बालकों को।

हाय! कभी-कभी न केवल मनुष्य झूठ बोलते हैं अपितु विधाता भी झूठ बोलता है। और मैं इतना पापी हूँ कि मैंने विधाता की भविष्यवाणी को मानते हुए अपनी ही बहन के इतने बच्चों का वध कर दिया।

मा शोचतं महाभागावात्मजान्स्वकृतं भुजः ।
जान्तवो न सदैकत्र दैवाधीनास्तदासते ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

मा शोचतम्—(इसके पहले जो हो गया उसके लिए) अब दुखी न हों; महा-भागौ—हे आत्मज्ञानी तथा भाग्यशालिनी; आत्मजान्—अपने पुत्रों के लिए; स्व-कृतम्—अपने कर्मों के ही कारण; भुजः—भोग कर रहे हैं; जान्तवः—सारे जीव-जन्तु; न—नहीं; सदा—सदैव; एकत्र—एक स्थान में; दैव-अधीनाः—जो भाग्य के वश में है; तदा—अतएव; आसते—जीवित रहते हैं।

हे महान् आत्माओ, तुम दोनों के पुत्रों को अपने ही दुर्भाग्य का फल भोगना पड़ा है। अतः तुम उनके लिए शोक मत करो। सारे जीव परमेश्वर के नियंत्रण में होते हैं और वे सदैव एकसाथ नहीं रह सकते।

तात्पर्य : कंस ने अपनी बहन तथा बहनोई को *महाभागौ* कहकर सम्बोधित किया क्योंकि यद्यपि वह उनके सामान्य बच्चों का वध कर चुका था, किन्तु अब देवी दुर्गा इन दोनों से उत्पन्न हो चुकी थीं। चूँकि देवकी ने दुर्गादेवी को अपने गर्भ में धारण किया इसलिए उसने देवकी तथा उसके पति की प्रशंसा की। असुरगण देवी दुर्गा, काली इत्यादि के प्रति अत्यधिक समर्पित होते हैं। इसीलिए विस्मित कंस ने अपनी बहन तथा बहनोई के उच्च पद की प्रशंसा की। दुर्गा प्रकृति के नियमों के अधीन नहीं क्योंकि वे ही प्रकृति के नियमों की नियंत्रक हैं। किन्तु सामान्य जीव तो इन्हीं नियमों द्वारा विनियमित होते हैं (*प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वशः*) फलस्वरूप हममें से किसी को भी अधिक काल तक साथ-साथ रहने नहीं दिया जाता। कंस इस तरह की बातों से अपने बहन तथा बहनोई को सान्त्वना देना चाह रहा था।

भुवि भौमानि भूतानि यथा यान्त्यपयान्ति च ।
नायमात्मा तथैतेषु विपर्येति यथैव भूः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

भुवि—पृथ्वी पर; भौमानि—पृथ्वी से बने सारे भौतिक पदार्थ यथा घड़े आदि; भूतानि—उत्पन्न; यथा—जिस तरह; यान्ति—प्रकट होते हैं; अपयान्ति—विलीन होते हैं (खंडित होकर मिट्टी में मिल जाते हैं); च—तथा; न—नहीं; अयम् आत्मा—आत्मा या आध्यात्मिक स्वरूप; तथा—उसी तरह; एतेषु—इन सब (भौतिक तत्त्वों से बने पदार्थों) में से; विपर्येति—बदल जाता है या टूट जाता है; यथा—जिस तरह; एव—निश्चय ही; भूः—पृथ्वी।

इस संसार में हम देखते हैं कि बर्तन, खिलौने तथा पृथ्वी के अन्य पदार्थ प्रकट होते हैं, टूटते हैं और फिर पृथ्वी में मिलकर विलुप्त हो जाते हैं। ठीक इसी तरह बद्धजीवों के शरीर

विनष्ट होते रहते हैं, किन्तु पृथ्वी की ही तरह ये जीव अपरिवर्तित रहते हैं और कभी विनष्ट नहीं होते (*न हन्यते हन्यमाने शरीरे*)।

तात्पर्य : यद्यपि कंस को असुर कहा गया है, किन्तु *आत्म-तत्त्व* का उसे अच्छा ज्ञान था। पाँच हजार वर्ष पूर्व, कंस जैसे राजाओं को असुर कहा जाता था, किन्तु कंस आधुनिक राजनीतिज्ञों तथा कूटनीतिज्ञों से कहीं उत्तम था क्योंकि इन्हें *आत्म-तत्त्व* विषयक कोई ज्ञान नहीं है। वेदों में कहा गया है—*असङ्गो ह्ययं पुरुषः*—आत्मा का भौतिक शरीर के परिवर्तनों से कोई नाता नहीं होता। शरीर में छह परिवर्तन होते हैं—जन्म, वृद्धि, स्थिति, उप-जात, ह्रास तथा संहार—किन्तु ये परिवर्तन आत्मा में नहीं देखे जाते। किसी शरीर के विनाश के बाद भी शरीर के तत्त्वों का मूल स्रोत बदलता नहीं। जीव भौतिक शरीर का भोग करता है, जो प्रकट होता है और विलुप्त होता रहता है, किन्तु पंचतत्त्व—क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर—वैसे के वैसे रहते हैं। यहाँ पर मिट्टी से बने पात्रों तथा खिलौनों का दृष्टान्त दिया गया है। ये टूटने पर अपने मूल अवयवों में मिल जाते हैं। कुछ भी हो, वस्तुओं का मूल स्रोत वही रहता है।

जैसाकि पहले बतलाया जा चुका है, शरीर का निर्माण आत्मा की इच्छाओं के अनुसार होता है। आत्मा जैसी इच्छा करता है, वैसा शरीर बनता है। इसीलिए *भगवद्गीता* (१८.६१) में कृष्ण कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

"हे अर्जुन! भगवान् हर प्राणी के हृदय में स्थित हैं और उन सारे जीवों को घुमाते रहते हैं, जो मानो भौतिक शक्ति से बने यंत्र पर आरूढ़ हैं।" न तो परमात्मा, न ही आत्मा अपने मूल आध्यात्मिक स्वरूप को बदलता है। आत्मा का न तो जन्म होता है, न मृत्यु, न शरीर की तरह उसमें परिवर्तन होते हैं। इसीलिए वेदसूक्ति है—*असङ्गो ह्ययं पुरुषः*—यद्यपि आत्मा इस भौतिक जगत में बद्ध है, किन्तु भौतिक शरीरों में होने वाले परिवर्तनों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं होता।

यथानेवंविदो भेदो यत आत्मविपर्ययः ।

देहयोगवियोगौ च संसृतिर्न निवर्तते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अन्-एवम्-विदः—ऐसे व्यक्ति का जिसे (आत्म-तत्त्व तथा आत्मा के स्थायित्व का) शरीर के परिवर्तनों के बावजूद कोई ज्ञान नहीं होता; भेदः—शरीर तथा आत्मा का अन्तर; यतः—जिससे; आत्म-विपर्ययः—यह मूर्खतापूर्ण ज्ञान कि वह शरीर है; देह-योग-वियोगौ च—तथा विभिन्न शरीरों में सम्बन्ध तथा वियोगों को उत्पन्न करता है; संसृतिः—बद्ध जीवन की निरन्तरता; न—नहीं; निवर्तते—रुकती है।.

जो व्यक्ति शरीर तथा आत्मा की स्वाभाविक स्थिति को नहीं समझता वह देहात्मबुद्धि के प्रति अत्यधिक अनुरक्त रहता है। फलस्वरूप शरीर तथा उसके प्रतिफलों के प्रति अनुरक्ति के कारण वह अपने परिवार, समाज तथा राष्ट्र के साथ संयोग तथा वियोग का अनुभव करता है। जब तक ऐसा बना रहता है तब तक वह भौतिक जीवन बिताता है (अन्यथा मुक्त है)।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* (१.२.६) में पुष्टि की गई है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥

धर्म का अर्थ है "काम में लगना।" जो व्यक्ति भगवान् की सेवा में अविराम तथा निरवरोध लगा रहता है (*यतो भक्तिरधोक्षजे*) वह अपनी मूल आध्यात्मिक अवस्था को प्राप्त हुआ समझा जाता है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर वह सदैव दिव्य आनन्द का अनुभव करता है। अन्यथा देहात्मबुद्धि के कारण उसे भौतिक कष्ट भोगने पड़ते। *जन्ममृत्युजराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम्।* शरीर में जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग लगे ही रहते हैं, किन्तु जिसका जीवन आध्यात्मिक है (*यतो भक्तिरधोक्षजे*) उसे जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग नहीं सताते। कोई यह तर्क कर सकता है कि चौबीसों घण्टे अध्यात्म में लगा रहने वाला व्यक्ति भी रोग से पीड़ित देखा जा सकता है। तथ्य तो यह है कि वह न तो कष्ट भोग रहा होता है, न रोगी होता है अन्यथा वह चौबीसों घण्टे आध्यात्मिक कार्यों में कैसे लगा रह सकता है? उदाहरणार्थ, कभी-कभी गंगा के जल के ऊपर गन्दा फेन या कूड़ा-करकट तैरता दिखता है। यह *नीर धर्म* कहलाता है। किन्तु जो गंगा में स्नान करने आता है, वह जल में तैरती हुई फेन तथा गंदगी की परवाह नहीं करता। वह इन गंदगियों को हाथ से हटाकर गंगा में स्नान करके स्नान का लाभ उठाता है। अतः आध्यात्मिक जीवन बिताने वाला व्यक्ति फेन तथा कूड़ा-करकट या अन्य ऊपरी गन्दी बातों से अप्रभावित रहता है। इसकी पुष्टि श्रील रूप गोवस्वामी ने की है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

"मनसा, वाचा, कर्मणा कृष्ण की सेवा में लगा हुआ व्यक्ति इस जगत में रहते हुए भी मुक्त होता है।" (*भक्तिरसामृत सिन्धु* १.२.१८७)। अतः गुरु को कभी भी सामान्य मनुष्य नहीं मानना चाहिए (*गुरुषु नरमतिर्... नारकी सः*)। आध्यात्मिक गुरु या आचार्य जीवन में सदैव आध्यात्मिक पद पर रहता है। उसे जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि नहीं सताते। अतएव *हरिभक्तिविलास* के अनुसार आचार्य के तिरोधान होने पर उसके शरीर को भस्मीभूत नहीं किया जाता क्योंकि वह आध्यात्मिक होता है। आध्यात्मिक शरीर भौतिक दशाओं से सदैव अप्रभावित रहता है।

तस्माद्भद्रे स्वतनयान्मया व्यापादितानपि ।
मानुशोच यतः सर्वः स्वकृतं विन्दतेऽवशः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतः; भद्रे—मेरी बहन (तुम्हारा कल्याण हो); स्व-तनयान्—अपने पुत्रों के लिए; मया—मेरे द्वारा; व्यापादितान्—दुर्भाग्यवश मारे गए; अपि—यद्यपि; मा अनुशोच—दुखी मत होओ; यतः—क्योंकि; सर्वः—हर एक व्यक्ति; स्व-कृतम्—अपने कर्मों के ही सकाम फलों को; विन्दते—भोगता है; अवशः—विधना के वशीभूत होकर।

मेरी बहन देवकी, तुम्हारा कल्याण हो। हर व्यक्ति प्रारब्ध के अधीन अपने ही कर्मों के फल भोगता है। अतएव, दुर्भाग्यवश मेरे द्वारा मारे गए अपने पुत्रों के लिए शोक मत करो।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* (५.५४) में कहा गया है—

यस्त्विन्द्रगोपमथवेन्द्रमहो स्वकर्म-

बन्धानुरूपफलभाजनमातनोति ।

कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजां

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

इन्द्रगोप नामक क्षुद्र कीट से लेकर स्वर्गलोक के राजा इन्द्र तक सारे प्राणियों को अपने सकाम कर्मों के फल भोगने पड़ते हैं। हमें ऊपर से दिखलाई पड़ सकता है कि कोई व्यक्ति किन्हीं बाह्य कारणों से कष्ट भोग रहा है या सुख उठा रहा है, किन्तु असली कारण तो उसके अपने सकाम कर्म होते हैं। यहाँ तक कि जब कोई किसी को मार डालता है, तो यह माना जाता है कि मारे जाने वाले व्यक्ति को अपने ही कर्म का फल मिला है और मारने वाला व्यक्ति भौतिक प्रकृति का कारण मात्र था। इस तरह कंस ने इस विषय का गंभीरता से विवेचन करते हुए देवकी से क्षमा याचना की। देवकी के पुत्रों

की मृत्यु का कारण कंस नहीं अपितु उन पुत्रों का अपना भाग्य था। ऐसी अवस्था में देवकी को चाहिए था कि कंस को क्षमा कर दे और बिना शोक किए उसकी विगत करतूतों को भूल जाए। कंस ने अपना दोष स्वीकार किया, किन्तु उसने जो कुछ किया था वह प्रारब्ध के अधीन था। भले ही कंस देवकी के पुत्रों की मृत्यु का तत्कालिक प्रत्यक्ष कारण रहा हो, किन्तु सुदूर कारण तो उनके विगत कर्म ही थे। यथार्थ यही था।

यावद्धतोऽस्मि हन्तास्मीत्यात्मानं मन्यतेऽस्वदृक् ।
तावत्तदभिमान्यज्ञो बाध्यबाधकतामियात् ॥ २२॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; हतः अस्मि—(दूसरों द्वारा) मारा जा रहा हूँ; हन्ता अस्मि—(अन्यों का) मारने वाला हूँ; इति—इस प्रकार; आत्मानम्—अपने को; मन्यते—मानता है; अ-स्व-दृक्—जो अपने आप को नहीं देखता है (देहात्मबुद्धि के अँधेरे के कारण); तावत्—तब तक; तत्-अभिमानी—अपने को मारा गया या मारने वाला मानते हुए; अज्ञः—मूर्ख व्यक्ति; बाध्य-बाधकताम्—कुछ उत्तरदायित्व लेने के लिए बाध्य सांसारिक व्यवहार; इयात्—रहता है।

देहात्मबुद्धि होने पर आत्म-साक्षात्कार के अभाव में मनुष्य यह सोचकर अँधेरे में रहता है कि ''मुझे मारा जा रहा है'' अथवा ''मैंने अपने शत्रुओं को मार डाला है।'' जब तक मूर्ख व्यक्ति इस प्रकार अपने को मारने वाला या मारा गया सोचता है तब तक वह भौतिक बन्धनों में रहता है और उसे सुख-दुख भोगना पड़ता है।

तात्पर्य : भगवान् की कृपा से कंस को हार्दिक खेद की अनुभूति हुई कि उसने व्यर्थ ही देवकी तथा वसुदेव जैसे वैष्णवों को सताया और इस तरह वह ज्ञान की दिव्य अवस्था को प्राप्त हुआ। कंस ने कहा, चूँकि मुझे ज्ञान हो चुका है कि मैं तुम दोनों के पुत्रों को मारने वाला (हत्यारा) नहीं हूँ अतः मैं उनकी मृत्यु के लिए उत्तरदायी नहीं हूँ। जब तक मैं यह सोचता रहा कि मैं तुम्हारे पुत्रों द्वारा मारा जाऊँगा तब तक मैं अज्ञान में था, किन्तु अब मैं देहात्मबुद्धि जनित इस अज्ञान से मुक्त हूँ। *भगवद्गीता* (१८.१७) में कहा गया है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

''जो मिथ्या अहंकार से प्रेरित नहीं है, जिसकी बुद्धि उलझी हुई नहीं है, वह इस जगत में मनुष्यों का वध करते हुए भी हत्यारा नहीं है। न ही वह अपने कर्मों से बँधा है।'' इस स्वयंसिद्ध सत्य के

अनुसार कंस ने याचना की कि वह देवकी तथा वसुदेव के पुत्रों का वध करने के लिए उत्तरदायी नहीं है। उसने कहा, ''कृपया ऐसे मिथ्या बाह्य कार्यों के लिए मुझे क्षमा करें और इसी ज्ञान से शान्त हों।''

क्षमध्वं मम दौरात्म्यं साधवो दीनवत्सलाः ।
इत्युक्त्वाश्रुमुखः पादौ श्यालः स्वस्त्रोरथाग्रहीत् ॥ २३॥

शब्दार्थ

क्षमध्वम्—कृपया क्षमा कर दें; मम—मेरे; दौरात्म्यम्—क्रूर कर्मों को; साधवः—तुम दोनों साधु व्यक्ति; दीन-वत्सलाः—गरीबों पर अत्यन्त कृपालु; इति उक्त्वा—ऐसा कहकर; अश्रु-मुखः—आँसुओं से भरा मुख; पादौ—पाँवों को; श्यालः—उसका साला कंस; स्वस्त्रः—अपनी बहन तथा बहनोई के; अथ—इस प्रकार; अग्रहीत्—पकड़ लिया।

कंस ने याचना की, ''हे मेरी बहन तथा मेरे बहनोई, मुझ जैसे क्षुद्र-हृदय व्यक्ति पर कृपालु होयें क्योंकि तुम दोनों ही साधु सदृश व्यक्ति हो। मेरी क्रूरताओं को क्षमा कर दें।'' यह कहकर खेद के साथ आँखों में अश्रु भरकर कंस वसुदेव तथा देवकी के चरणों पर गिर पड़ा।

तात्पर्य : यद्यपि कंस ने असली ज्ञान के विषय में सुन्दर-सुन्दर बातें कहीं, किन्तु उसके विगत कर्म निन्दनीय तथा नृशंस थे इसलिए उसने अपनी बहन और बहनोई के चरणों पर गिरकर उनसे क्षमा माँगी और स्वीकार किया कि वह घोर पापी है।

मोचयामास निगडाद्विश्रब्धः कन्यकागिरा ।
देवकीं वसुदेवं च दर्शयन्नात्मसौहृदम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

मोचयाम् आस—कंस ने उन्हें मुक्त कर दिया; निगडात्—लोहे की जंजीरों से; विश्रब्धः—पूर्ण विश्वास के साथ; कन्यका-गिरा—देवी दुर्गा की वाणी में; देवकीम्—अपनी बहन देवकी के प्रति; वसुदेवम् च—तथा वसुदेव को; दर्शयन्—प्रदर्शित करते हुए; आत्म-सौहृदम्—आत्मीयता।

देवी दुर्गा की वाणी में पूरी तरह विश्वास करते हुए कंस ने देवकी तथा वसुदेव को तुरन्त ही लोहे की शृंखलाओं से मुक्त करते हुए पारिवारिक स्नेह का प्रदर्शन किया।

भ्रातुः समनुतप्तस्य क्षान्तरोषा च देवकी ।
व्यसृजद्वसुदेवश्च प्रहस्य तमुवाच ह ॥ २५॥

शब्दार्थ

भ्रातुः—अपने भाई कंस के प्रति; समनुतप्तस्य—खेद व्यक्त करने के कारण; क्षान्त-रोषा—क्रोध शान्त हुआ; च—भी; देवकी—कृष्ण की माता, देवकी ने; व्यसृजत्—छोड़ दिया; वसुदेवः च—तथा वसुदेव ने भी; प्रहस्य—हँसकर; तम्—कंस से; उवाच—कहा; ह—विगत में।

जब देवकी ने देखा कि उसका भाई पूर्वनिर्धारित घटनाओं की व्याख्या करते हुए वास्तव में

पश्चात्ताप व्यक्त कर रहा है, तो उनका सारा क्रोध जाता रहा। इसी प्रकार, वसुदेव भी क्रोध मुक्त हो गए। उन्होंने हँसकर कंस से कहा।

तात्पर्य : साधु सदृश व्यक्ति होने के कारण देवकी तथा वसुदेव ने कंस द्वारा प्रस्तुत यह सत्य स्वीकार कर लिया कि प्रारब्ध द्वारा हर बात पूर्व निर्धारित होती है। भविष्यवाणी के अनुसार कंस का वध देवकी के आठवें पुत्र द्वारा होना था। अतएव वसुदेव तथा देवकी को लगा कि इन सारी घटनाओं के पीछे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की बहुत बड़ी योजना थी। चूँकि भगवान् ने पहले ही सामान्य बालक की तरह जन्म ले लिया था और वे यशोदा के संरक्षण में सुरक्षित थे अतएव हर कार्य एक योजना के अनुसार घटित हो रहा था। फलत: कंस के प्रति दुर्भावना बनाए रखने की आवश्यकता नहीं थी। इस तरह उन्होंने कंस की बात मान ली।

एवमेतन्महाभाग यथा वदसि देहिनाम् ।
अज्ञानप्रभवाहंधी: स्वपरेति भिदा यत: ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—हाँ, यह ठीक है; एतत्—तुमने जो कहा है; महा-भाग—हे महापुरुष; यथा—जिस तरह; वदसि—तुम बोल रहे हो; देहिनाम्—जीवों के विषय में; अज्ञान-प्रभवा—अज्ञानवश; अहम्-धी:—यह मेरा स्वार्थ (मिथ्या अहंकार) है; स्व-परा इति—यह दूसरे का स्वार्थ है; भिदा—भेद; यत:—ऐसी देहात्मबुद्धि के कारण।.

हे महापुरुष कंस, केवल अज्ञान के प्रभाव के ही कारण मनुष्य भौतिक देह तथा अभिमान स्वीकार करता है। आपने इस दर्शन के विषय में जो कुछ कहा वह सही है। आत्म-ज्ञान से रहित देहात्म-बुद्धि वाले व्यक्ति ''यह मेरा है,'' ''ये पराया है'' के रूप में भेदभाव बरतते हैं।

तात्पर्य : भगवान् के निर्देशानुसार कार्य करने वाली प्रकृति के नियमों के द्वारा हर कार्य स्वत: होता रहता है। स्वतंत्र रूप से किसी द्वारा कुछ किए जाने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि इस भौतिक वातावरण में रहने वाला व्यक्ति प्रकृति के नियमों के अधीन है। अतएव हमारा मुख्य कार्य यह होना चाहिये कि हम इस बद्ध जीवन से अपने को छुड़ाएँ और आध्यात्मिक जगत में जाँय। मनुष्य केवल अज्ञानवश यह सोचता है कि ''मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं कुत्ता हूँ, मैं बिल्ली हूँ'' या फिर यदि अज्ञान और भी अधिक बढ़ जाता है, तो वह अपने को ईश्वर मानने लगता है। आत्म-साक्षात्कार प्राप्त हुए बिना मनुष्य का तामसी जीवन चलता रहता है।

शोकहर्षभयद्वेषलोभमोहमदान्विताः ।
मिथो घ्नन्तं न पश्यन्ति भावैर्भावं पृथग्दृशः ॥ २७॥

शब्दार्थ

शोक—शोक; हर्ष—प्रसन्नता; भय—डर; द्वेष—ईर्ष्या; लोभ—लालच; मोह—मोह; मद—पागलपन, उन्मत्तता; अन्विताः—से युक्त; मिथः—परस्पर; घ्नन्तम्—मारने में व्यस्त; न पश्यन्ति—नहीं देखते; भावैः—भेदभाव के कारण; भावम्—भगवान् के प्रति अपनी स्थिति को; पृथक्-दृशः—ऐसे व्यक्ति जो हर वस्तु को भगवान् के नियंत्रण से पृथक् मानते हैं।

भेदभाव की दृष्टि रखने वाले व्यक्ति शोक, हर्ष, भय, द्वेष, लोभ, मोह तथा मद जैसे भौतिक गुणों से समन्वित होते हैं। वे उस आसन्न (उपादान) कारण से प्रभावित होते हैं जिसका निराकरण करने में वे लगे रहते हैं क्योंकि उन्हें दूरस्थ परम कारण (निमित्त कारण) अर्थात् भगवान् का कोई ज्ञान नहीं होता।

तात्पर्य : कृष्ण समस्त कारणों के कारण हैं (*सर्वकारणकारणं*), किन्तु जो कृष्ण से कोई सम्बन्ध नहीं बनाये रखता, वह आसन्न कारणों से विचलित हो उठता है और भेद या भिन्नता की अपनी दृष्टि को रोक नहीं पाता। जब कोई निपुण चिकित्सक किसी रोगी का उपचार करता है, तो वह रोग के मूल कारण को खोजने का प्रयत्न करता है और उस मूल कारण के लक्षणों से भ्रमित नहीं होता। इसी तरह एक भक्त जीवन की पराजयों से कभी विचलित नहीं होता। *तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाण:* (*भागवत* .१४.८)। भक्त जब किसी विपद ा में होता है, तो वह जानता है कि यह उसके अपने विगत दुष्कर्मों के कारण है, जो अब प्रतिक्रियाओं के रूप में प्रकट हो रहे हैं यद्यपि भगवान् की कृपा से ये मामूली ही हैं। *कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजाम्* (*ब्रह्म-संहिता* ५.५४)। जब भगवान् के संरक्षण में रहने वाला भक्त अपने पूर्वकर्मों की त्रुटियों के कारण कष्ट भोगता है, तो भगवत्कृपा से उसे थोड़ा ही कष्ट मिलता है। यद्यपि भक्त का रोग पूर्वजन्म में कभी की गई भूलों के कारण रहता है, किन्तु भक्त ऐसे कष्टों को सहन करता है और भगवान् पर पूरी तरह आश्रित रहता है। इस तरह उसे भौतिक शोक, हर्ष, भय इत्यादि कभी प्रभावित नहीं कर सकते। भक्त किसी भी कार्य को भगवान् से असम्बद्ध नहीं मानता। श्रील मध्वाचार्य ने *भविष्य पुराण* से उद्धरण देते हुए कहा है—

भगवद्दर्शनाद् यस्य विरोधाद्दर्शनं पृथक्।
पृथक् दृष्टिः स विज्ञेयो न तु सद्भेददर्शनः॥

श्रीशुक उवाच

कंस एवं प्रसन्नाभ्यां विशुद्धं प्रतिभाषितः ।
देवकीवसुदेवाभ्यामनुज्ञातोऽविशद्गृहम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; कंसः—राजा कंस ने; एवम्—इस प्रकार; प्रसन्नाभ्याम्—अत्यन्त प्रसन्न; विशुद्धम्—विशुद्ध; प्रतिभाषितः—उत्तर दिए जाने पर; देवकी-वसुदेवाभ्याम्—देवकी तथा वसुदेव द्वारा; अनुज्ञातः—अनुमति से; अविशत्—प्रवेश किया; गृहम्—अपने महल में।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : शान्तमना देवकी तथा वसुदेव द्वारा शुद्धभाव से इस तरह सम्बोधित किए जाने पर कंस अत्यंत हर्षित हुआ और उनकी अनुमति लेकर वह अपने घर चला गया।

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां कंस आहूय मन्त्रिणः ।
तेभ्य आचष्ट तत्सर्वं यदुक्तं योगनिद्रया ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उस; रात्र्याम्—रात को; व्यतीतायाम्—बिताकर; कंसः—कंस ने; आहूय—बुलाकर; मन्त्रिणः—सारे मंत्रियों को; तेभ्यः—उन्हें; आचष्ट—सूचित किया; तत्—वह; सर्वम्—सब; यत् उक्तम्—जो कहा गया था (कि कंस का वध करने वाला अन्यत्र कहीं है); योग-निद्रया—योगमाया, देवी दुर्गा द्वारा।

रात बीत जाने पर कंस ने अपने सारे मंत्रियों को बुलाकर वह सब उन्हें बतलाया जो योगमाया ने कहा था (जिसने यह रहस्य बताया था कि कंस को मारने वाला कहीं अन्यत्र उत्पन्न हो चुका है)।

तात्पर्य : *चंडी* नामक वैदिक शास्त्र में भगवान् की शक्ति *माया* को *निद्रा* कहा गया है—*दुर्गादेवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण समास्थित: ।* योगमाया तथा महामाया की शक्ति जीवों को इस जगत के अज्ञान रूपी गहन अंधकार में सुलाए रखती है। योगमाया अर्थात् देवी दुर्गा ने कंस को कृष्ण के जन्म के विषय में अंधकार में रखा और यह कहकर उसे भ्रान्त किया कि उसका शत्रु कृष्ण अन्यत्र जन्म ले चुका है। कृष्ण तो देवकी के पुत्र रूप में उत्पन्न हुए थे, किन्तु भगवान् की पूर्वयोजना के अनुसार, जिसकी भविष्यवाणी ब्रह्मा को की थी, वे माता यशोदा तथा नन्द महाराज एवं अन्य घनिष्ठ मित्रों तथा भक्तों को ग्यारह वर्षों तक आनन्द प्रदान करने के लिए वृन्दावन गए। इसके बाद वे कंस का वध करने लौटे। चूँकि कंस इसे नहीं जानता था इसीलिए उसने योगमाया के इस कथन पर विश्वास कर लिया कि कृष्ण अन्यत्र जन्म ले चुके हैं, देवकी से उत्पन्न नहीं हुए।

आकर्ण्य भर्तुर्गदितं तमूचुर्देवशत्रवः ।
देवान्प्रति कृतामर्षा दैतेया नातिकोविदाः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

आकर्ण्य—सुनकर; भर्तुः—अपने स्वामी के; गदितम्—कथन को; तम् ऊचुः—उससे कहा; देव-शत्रवः—देवताओं के शत्रु, सारे असुर; देवान्—देवताओं के; प्रति—प्रति; कृत-अमर्षाः—ईर्ष्यालु; दैतेयाः—असुरगण; न—नहीं; अति-कोविदाः—अत्यन्त कार्यकुशल।

अपने स्वामी की बात सुनकर, देवताओं के शत्रु तथा अपने कामकाज में अकुशल, ईर्ष्यालु असुरों ने कंस को यह सलाह दी।

तात्पर्य : मनुष्यों के दो भिन्न-भिन्न प्रकार हैं—असुर तथा सुर।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।

विष्णुभक्त स्मृतो दैव आसुरस्तद् विपर्यय: ॥

(*पद्म पुराण*)

भगवान् विष्णु या कृष्ण के भक्त सुर या देवता हैं और भक्तों के विरोधी लोग असुर हैं। भक्तगण सारे व्यवहारों में पटु होते हैं (*यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुरा:*)। इसलिए वे *कोविद* अर्थात् "पटु" कहलाते हैं। किन्तु असुरगण ऊपर से कामुक वृत्तियों में पटुता दिखलाते हुए भी पूरी तरह मूर्ख होते हैं। न तो वे गम्भीर होते हैं, न कोविद। वे जो भी करते हैं वह अपूर्ण होता है। *मोघाशा मोघकर्माण:।* यह विवरण असुरों के विषय में *भगवद्गीता* (९.१२) में पाया जाता है, जिसके अनुसार वे जो भी करते हैं उससे उन्हें निराशा ही मिलती है। कंस को मंत्रणा देने वाले ऐसे ही व्यक्ति थे, जो उनके प्रधान मित्र तथा मंत्री थे।

एवं चेत्तर्हि भोजेन्द्र पुरग्रामव्रजादिषु ।
अनिर्दशान्निर्दशांश्च हनिष्यामोऽद्य वै शिशून् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; चेत्—यदि ऐसा है; तर्हि—तो; भोज-इन्द्र—हे भोजराज; पुर-ग्राम-व्रज-आदिषु—सारे नगरों, गाँवों तथा चरागाहों में; अनिर्दशान्—दस दिन से कम आयु वाले; निर्दशान् च—तथा जो दस दिन पूरा कर चुके हैं; हनिष्यामः—हम मार डालेंगे; अद्य—आज से; वै—निस्सन्देह; शिशून्—बच्चों को।

हे भोजराज, यदि ऐसी बात है, तो हम आज से उन सारे बालकों को जो पिछले दस या उससे कुछ अधिक दिनों में सारे गाँवों, नगरों तथा चरागाहों में उत्पन्न हुए हैं, मार डालेंगे।

किमुद्यमैः करिष्यन्ति देवाः समरभीरवः ।
नित्यमुद्विग्नमनसो ज्याघोषैर्धनुषस्तव ॥ ३२॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; उद्यमैः—अपने प्रयासों से; करिष्यन्ति—करेंगे; देवाः—सारे देवता; समर-भीरवः—लड़ने से भयभीत; नित्यम्—सदैव; उद्विग्न-मनसः—व्याकुल चित्त वाले; ज्या-घोषैः—डोरी की ध्वनि से; धनुषः—धनुष की; तव—तुम्हारी।

सारे देवता आपकी धनुष की डोरी (प्रत्यंचा) की आवाज से सदैव भयभीत रहते हैं। वे सदैव चिन्तित रहते हैं और लड़ने से डरते हैं। अतः वे अपने प्रयत्नों से आपको किस प्रकार हानि पहुँचा सकते हैं?

अस्यतस्ते शरव्रातैर्हन्यमानाः समन्ततः ।
जिजीविषव उत्सृज्य पलायनपरा ययुः ॥ ३३॥

शब्दार्थ

अस्यतः—आपके द्वारा छोड़े गए तीरों से छेदे जाने से; ते—आपके; शर-व्रातैः—बाणों के समूह से; हन्यमानाः—मारे गए; समन्ततः—चारों ओर; जिजीविषवः—जीने की कामना करते हुए; उत्सृज्य—युद्धभूमि छोड़कर; पलायन-पराः—बचकर भागने की इच्छा वाले; ययुः—भाग गए।

आपके द्वारा चारों दिशाओं में छोड़े गए बाणों के समूहों से छिदकर कुछ सुरगण जो घायल हो चुके थे, किन्तु जिन्हें जीवित रहने की उत्कण्ठा थी युद्धभूमि छोड़कर अपनी जान लेकर भाग निकले।

केचित्प्राञ्जलयो दीना न्यस्तशस्त्रा दिवौकसः ।
मुक्तकच्छशिखाः केचिद्भीताः स्म इति वादिनः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

केचित्—उनमें से कुछ; प्राञ्जलयः—आपको प्रसन्न करने के लिए अपने हाथ जोड़े हुए; दीनाः—अत्यन्त निरीह; न्यस्त-शस्त्राः—सारे हथियारों से विहीन; दिवौकसः—देवतागण; मुक्त-कच्छ-शिखाः—अपने वस्त्र तथा बाल खोले और बिखेरे हुए; केचित्—कुछ; भीताः—हम अत्यन्त भयभीत हैं; स्म—हुए थे; इति वादिनः—उन्होंने इस तरह कहा।

हार जाने पर तथा सारे हथियारों से विहीन होकर कुछ देवताओं ने लड़ना छोड़ दिया और हाथ जोड़कर आपकी प्रशंसा करने लगे और उनमें से कुछ अपने वस्त्र तथा केश खोले हुए आपके समक्ष कहने लगे, ''हे प्रभु, हम आपसे अत्यधिक भयभीत हैं।''

न त्वं विस्मृतशस्त्रास्त्रान्विरथान्भयसंवृतान् ।
हंस्यन्यासक्तविमुखान्भग्नचापानयुध्यतः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

न—नहीं; त्वम्—आप; विस्मृत-शस्त्र-अस्त्रान्—जो अपने हथियार चलाना भूल चुके हैं; विरथान्—रथविहीन; भय-संवृतान्—भय से भौंचक्के; हंसि—मारते हो; अन्य-आसक्त-विमुखान्—जो लड़ने में अनुरक्त न रहकर कुछ अन्य कार्य में लगे रहते हैं; भग्न-चापान्—टूटे धनुषों वाले; अयुध्यतः—अतः युद्ध न करते हुए।

जब देवतागण रथविहीन हो जाते हैं, जब वे अपने हथियारों का प्रयोग करना भूल जाते हैं, जब वे भयभीत रहते हैं या लड़ने के अलावा किसी दूसरे काम में लगे रहते हैं या जब अपने धनुषों के टूट जाने के कारण युद्ध करने की शक्ति खो चुके होते हैं, तो आप उनका वध नहीं करते।

तात्पर्य : युद्ध करने के भी कुछ नियम होते हैं। जब शत्रु के पास रथ नहीं होता, वह भय के कारण युद्धकला भूल जाता है या फिर युद्ध नहीं करना चाहता तो उसका वध नहीं करना चाहिए। कंस के मंत्री उसे स्मरण दिला रहे थे कि अपनी शक्ति के बावजूद भी वह युद्ध के नियमों से अवगत था इसीलिए उसने देवताओं को उनकी अक्षमता के कारण क्षमा कर दिया था। मंत्रियों ने कहा, "किन्तु प्रस्तुत आपत्ति में ऐसी दया या सैन्य शिष्टता दिखाने की घड़ी नहीं रह गई। अब तो आपको हर हालत में लड़ने के लिए तैयार हो जाना चाहिए।" इस तरह मंत्रियों ने कंस को सलाह दी कि लड़ाई के परम्परागत शिष्टाचार को त्यागकर वह किसी भी मूल्य पर शत्रु को प्रताड़ित करे।

किं क्षेमशूरैर्विबुधैरसंयुगविकत्थनैः ।
रहोजुषा किं हरिणा शम्भुना वा वनौकसा ।
किमिन्द्रेणाल्पवीर्येण ब्रह्मणा वा तपस्यता ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

किम्—किस बात का भय; क्षेम—ऐसे स्थान में जहाँ लड़ने की क्षमता का अभाव है; शूरैः—देवताओं द्वारा; विबुधैः—ऐसे शक्तिशाली पुरुषों द्वारा; असंयुग-विकत्थनैः—वृथा डींग मारने से, लड़ने से दूर रहने; रहः-जुषा—हृदय के कोने में रहने वाला; किम् हरिणा—भगवान् विष्णु से क्या डरना; शम्भुना—शिव से; वा—अथवा; वन-ओकसा—बनवासी; किम् इन्द्रेण—इन्द्र से क्या भय; अल्प-वीर्येण—वह तनिक भी शक्तिशाली नहीं है (कि आपसे लड़ सके); ब्रह्मणा—और ब्रह्मा से डरने की तो कोई बात ही नहीं; वा—अथवा; तपस्यता—जो सदैव ध्यान में मग्न रहता हो।

देवतागण युद्धभूमि से दूर रहकर व्यर्थ ही डींग मारते हैं। वे वहीं अपने पराक्रम का प्रदर्शन कर सकते हैं जहाँ युद्ध नहीं होता। अतएव ऐसे देवताओं से हमें किसी प्रकार का भय नहीं है। जहाँ तक भगवान् विष्णु की बात है, वे तो केवल योगियों के हृदय में एकान्तवास करते हैं और भगवान् शिव, वे तो जंगल चले गये हैं। ब्रह्मा सदैव तपस्या तथा ध्यान में ही लीन रहते हैं। इन्द्र इत्यादि अन्य सारे देवता पराक्रमविहीन हैं। अतः आपको कोई भय नहीं है।

तात्पर्य : कंस के मंत्रियों ने उससे कहा कि सारे बड़े-बड़े देवता उसके भय से भाग गए थे। एक

जंगल को गया, एक हृदय के भीतर चला गया है और एक तपस्या में लगा है। उन्होंने कहा, "अतएव आप देवताओं से किसी प्रकार भयभीत न हों, बस लड़ने के लिए तैयार हो जाँए।"

तथापि देवाः सापत्न्यान्नोपेक्ष्या इति मन्महे ।
ततस्तन्मूलखनने नियुङ्क्ष्वास्माननुव्रतान् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

तथा अपि—फिर भी; देवाः—देवतागण; सापत्न्यात्—शत्रुता के कारण; न उपेक्ष्याः—उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए; इति मन्महे—यह हमारा मत है; ततः—इसलिए; तत्-मूल-खनने—उन्हें समूल नष्ट करने के लिए; नियुङ्क्ष्व—नियुक्त कीजिए; अस्मान्—हमें; अनुव्रतान्—आपका अनुगमन करने के लिए तत्पर।

फिर भी हमारा मत है कि उनकी शत्रुता के कारण देवताओं के साथ लापरवाही नहीं की जानी चाहिए। अतएव उनको समूल नष्ट करने के लिए आप हमें उनके साथ युद्ध में लगाइए क्योंकि हम आपका अनुगमन करने के लिए तैयार हैं।

तात्पर्य : नैतिक उपदेशों के अनुसार अग्नि को पूरी तरह बुझाने में, रोग का पूरा-पूरा निवारण करने तथा ऋण पूरा अदा करने में किसी तरह की लापरवाही नहीं बरतनी चाहिए। अन्यथा ये बढ़ते जाएँगे और बाद में इनका शमन कर पाना कठिन होगा। इसलिए मंत्रियों ने कंस को सलाह दी कि वह अपने शत्रुओं का समूल विनाश कर दे।

यथामयोऽङ्गे समुपेक्षितो नृभि-
र्न शक्यते रूढपदश्चिकित्सितुम् ।
यथेन्द्रियग्राम उपेक्षितस्तथा
रिपुर्महान्बद्धबलो न चाल्यते ॥ ३८॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; आमयः—रोग; अङ्गे—शरीर में; समुपेक्षितः—उपेक्षा किए जाने से; नृभिः—मनुष्यों द्वारा; न—नहीं; शक्यते—समर्थ होता है; रूढ-पदः—गम्भीर होने पर; चिकित्सितुम्—उपचार के योग्य; यथा—जिस तरह; इन्द्रिय-ग्रामः—इन्द्रियाँ; उपेक्षितः—प्रारम्भ में वश में न रखने से; तथा—उसी तरह; रिपुः महान्—बड़ा शत्रु; बद्ध-बलः—बलवान हुआ तो; न—नहीं; चाल्यते—वश में किया जा सकता है।

जिस तरह शुरू में रोग की उपेक्षा करने से वह गम्भीर तथा दुःसाध्य हो जाता है या जिस तरह प्रारम्भ में नियंत्रित न करने से, बाद में इन्द्रियाँ वश में नहीं रहतीं उसी तरह यदि आरम्भ में शत्रु की उपेक्षा की जाती है, तो बाद में वह दर्जेय हो जाता है।

मूलं हि विष्णुर्देवानां यत्र धर्मः सनातनः ।

तस्य च ब्रह्मगोविप्रास्तपो यज्ञाः सदक्षिणाः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

मूलम्—आधार; हि—निस्सन्देह; विष्णुः—भगवान् विष्णु हैं; देवानाम्—देवताओं के; यत्र—जहाँ; धर्मः—धर्म; सनातनः—शाश्वत, परम्परागत; तस्य—उस (आधार) का; च—भी; ब्रह्म—ब्रह्म सभ्यता; गो—गो-रक्षा; विप्राः—ब्राह्मणगण; तपः—तपस्या; यज्ञाः—यज्ञ; स-दक्षिणाः—समुचित पारिश्रमिक (दक्षिणा) समेत।

समस्त देवताओं के आधार भगवान् विष्णु हैं जिनका वास वहीं होता है जहाँ धर्म, परम्परागत संस्कृति, वेद, गौवें, ब्राह्मण, तपस्या तथा दक्षिणायुत यज्ञ होते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर *सनातन* धर्म का वर्णन किया गया है, जिसमें ब्रह्मी संस्कृति, ब्राह्मण, यज्ञ तथा धर्म निहित होते हैं। ये मिलकर विष्णु साम्राज्य की स्थापना करते हैं। विष्णु साम्राज्य के बिना कोई भी सुखी नहीं हो सकता। *न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुम्*—इस आसुरी सभ्यता में दुर्भाग्यवश लोग यह नहीं समझ पाते कि मानव समाज का स्वार्थ विष्णु में निहित है। दुराशया ये बहिरर्थमानिनः—अतः वे निराशापूर्ण आशा में लगे हैं। लोग ईशभावनामृत या कृष्णभावनामृत के बिना ही सुखी रहना चाहते हैं क्योंकि उनका मार्गदर्शन ऐसे अज्ञानी नेता करते हैं, जो मानव समाज में अव्यवस्था उत्पन्न करते हैं। कंस के असुर अनुयायी मानव सुख की परम्परागत स्थिति को भंग करके देवताओं और भक्तों को हराना चाह रहे थे। जब तक देवताओं तथा भक्तों का प्राधान्य नहीं होगा, तब तक असुरगण बढ़ेंगे और मानव समाज अस्त-व्यस्त होता रहेगा।

तस्मात्सर्वात्मना राजन्ब्राह्मणान्ब्रह्मवादिनः ।
तपस्विनो यज्ञशीलान्गाश्च हन्मो हविर्दुघाः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; सर्व-आत्मना—हर तरह से; राजन्—हे राजन्; ब्राह्मणान्—ब्राह्मणों को; ब्रह्म-वादिनः—विष्णु-केन्द्रित ब्रह्मी संस्कृति को बनाए रखने वालों; तपस्विनः—तपस्वी जनों; यज्ञ-शीलान्—यज्ञ में लगे रहने वालों को; गाः च—गौवों तथा गौवों की रक्षा करने वालों को; हन्मः—हम वध करेंगे; हविः-दुघाः—जिनके दूध से यज्ञ में डालने के लिए घी मिलता है।

हे राजन्, हम आपके सच्चे अनुयायी हैं, अतः वैदिक ब्राह्मणों, यज्ञ तथा तपस्या में लगे व्यक्तियों तथा उन गायों का, जो अपने दूध से यज्ञ के लिए घी प्रदान करती हैं, वध कर डालेंगे।

विप्रा गावश्च वेदाश्च तपः सत्यं दमः शमः ।
श्रद्धा दया तितिक्षा च क्रतवश्च हरेस्तनूः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

विप्राः—ब्राह्मण; गावः च—तथा गाएँ; वेदाः च—तथा वैदिक ज्ञान; तपः—तपस्या; सत्यम्—सत्यता; दमः—इन्द्रिय संयम; शमः—मन का संयम; श्रद्धा—श्रद्धा; दया—दया; तितिक्षा—सहिष्णुता; च—भी; क्रतवः च—तथा यज्ञ भी; हरेः तनूः—भगवान् विष्णु के शरीर के विभिन्न अंग हैं।

ब्राह्मण, गौवें, वैदिक ज्ञान, तपस्या, सत्य, मन तथा इन्द्रियों का संयम, श्रद्धा, दया, सहिष्णुता तथा यज्ञ—ये भगवान् विष्णु के शरीर के विविध अंग हैं और दैवी सभ्यता के ये ही साज-सामान हैं।

तात्पर्य : भगवान् को नमस्कार करते समय हम कहते हैं—

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।

जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥

जब कृष्ण सामाजिक व्यवस्था में वास्तविक पूर्णता स्थापित करने आते हैं, तो वे गौवों तथा ब्राह्मणों को अपना संरक्षण प्रदान करते हैं (*गोब्राह्मणहिताय च*)। यह उनकी पहली अभिरुचि रहती है क्योंकि ब्राह्मणों तथा गौवों की सुरक्षा के बिना मानव सभ्यता असम्भव है और सुखी शान्त जीवन का प्रश्न ही नहीं उठता। इसीलिए असुरगण सदा ब्राह्मणों तथा गौवों का वध करने की ताक में रहते हैं। विशेष रूप से इस कलियुग में गौवें विश्वभर में मारी जा रही हैं और ज्योंही ब्रह्मी सभ्यता को स्थापित करने के लिए आन्दोलन होता है त्योंही आम जनता से विद्रोह करा दिया जाता है। वे कृष्णभावनामृत आन्दोलन को एक तरह की ''दिमागी धुलाई'' मानते हैं। ऐसे ईर्ष्यालु लोग ईश्वरविहीन सभ्यता में किस तरह सुखी हो सकते हैं? भगवान् ऐसे लोगों को जन्म-जन्मांतर अंधकार में रखकर दण्ड देते हैं और उन्हें निम्न से निम्नतम नरक के जीवन में धकेल देते हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन ने ब्रह्मी सभ्यता का शुभारम्भ किया है, किन्तु विशेष रूप से जब पाश्चात्य देशों में इसका सूत्रपात हो रहा है, तो असुरगण अनेक प्रकार से इसे रोकने के प्रयास कर रहे हैं। इतने पर भी मानव समाज के लाभ के लिए हमें इस आन्दोलन को सहिष्णुतापूर्वक आगे बढ़ाना चाहिए।

स हि सर्वसुराध्यक्षो ह्यसुरद्विड्गुहाशयः ।
तन्मूला देवताः सर्वाः सेश्वराः सचतुर्मुखाः ।
अयं वै तद्वधोपायो यदृषीणां विहिंसनम् ॥ ४२॥

शब्दार्थ

सः—वह (विष्णु); हि—निस्सन्देह; सर्व-सुर-अध्यक्षः—सारे देवताओं का अगुवा; हि—निस्सन्देह; असुर-द्विट्—असुरों का शत्रु; गुहा-शयः—हर एक के हृदय के भीतर का परमात्मा; तत्-मूलाः—उसके चरणकमलों में शरण लेकर; देवताः—सारे

देवता जीवित हैं; सर्वाः—वे सभी; स-ईश्वराः—शिव समेत; स-चतुः-मुखाः—तथा चार मुखों वाले ब्रह्मा भी; अयम्—यह है; वै—निस्सन्देह; तत्-वध-उपायः—उसके (विष्णु के) मारने का एकमात्र उपाय; यत्—जो; ऋषीणाम्—ऋषियों-मुनियों अथवा वैष्णवों का; विहिंसनम्—सभी प्रकार के दण्ड द्वारा दमन।

प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में वास करने वाले परमात्मा स्वरूप भगवान् विष्णु असुरों के परम शत्रु हैं और इसीलिए वे असुरद्विट् कहलाते हैं। वे सारे देवताओं के अगुआ हैं क्योंकि भगवान् शिव तथा भगवान् ब्रह्मा समेत सारे देवता उन्हीं के संरक्षण में रह रहे हैं। बड़े-बड़े ऋषि, साधु तथा वैष्णव भी उन्हीं पर आश्रित रहते हैं। अतः वैष्णवों का उत्पीड़न करना ही विष्णु को मारने का एकमात्र उपाय है।

तात्पर्य : विशेष रूप से देवता तथा वैष्णवजन भगवान् विष्णु के अंग हैं क्योंकि वे उनकी आज्ञा का सदैव पालन करते हैं (*ॐ तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः*)। कंस के असुर अनुयायियों ने सोचा कि यदि वैष्णवों, साधु-पुरुषों तथा ऋषियों को सताया जाएगा तो विष्णु का मूल शरीर सहज ही विनष्ट हो जाएगा। इस तरह उन्होंने वैष्णववाद का दमन करने का निश्चय किया। असुरगण नहीं चाहते कि वैष्णववाद फैले इसलिए वे वैष्णवों को निरन्तर सताते रहने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। वैष्णवजन एकमात्र भक्ति का प्रचार करते हैं। वे कर्मियों, ज्ञानियों तथा योगियों को किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं देते क्योंकि यदि कोई अपने को भवबन्धन से छुड़ाना चाहता है, तो अन्ततोगत्वा उसे वैष्णव बनना होगा। हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन इसी ओर उन्मुख है इसीलिए असुरगण इसे दबाने में सदैव लगे रहते हैं।

श्रीशुक उवाच
एवं दुर्मन्त्रिभिः कंसः सह सम्मन्त्र्य दुर्मतिः ।
ब्रह्महिंसां हितं मेने कालपाशावृतोऽसुरः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; दुर्मन्त्रिभिः—अपने बुरे मंत्रियों के; कंसः—राजा कंस; सह—साथ; सम्मन्त्र्य—विस्तार से विचार-विमर्श करके; दुर्मतिः—बुद्धिहीन; ब्रह्म-हिंसाम्—ब्राह्मणों के उत्पीड़न को; हितम्—सर्वोत्कृष्ट उपाय के रूप में; मेने—मान लिया; काल-पाश-आवृतः—यमराज के विधि-विधानों से बँधा हुआ; असुरः—असुर होने के कारण।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : इस प्रकार अपने बुरे मंत्रियों की सलाह पर विचार करके यमराज के नियमों से बँधा हुआ होने तथा असुर होने से बुद्धिहीन उस कंस ने सौभाग्य प्राप्त करने के उद्देश्य से साधु-पुरुषों तथा ब्राह्मणों को सताने का निश्चय किया।

तात्पर्य : श्रील लोचनदास ठाकुर का गीत है—*आपन करम, भुञ्जाये शमन, कहये लोचनदास।* ईश्वरविहीन अभक्तगण ऋषियों तथा शास्त्रों से सदुपदेश ग्रहण न करके मनमाने ढंग से कार्य करते हैं। किन्तु वास्तव में किसी की अपनी कोई योजना नहीं होती क्योंकि सभी प्रकृति के नियमों से बँधे होने के कारण बद्ध जीवन की अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कर्म करेंगे। अत: मनुष्य को अपना निर्णय बदलकर कृष्ण तथा कृष्ण भक्तों के निर्णय का पालन करना होगा। तभी वह यमराज के दण्ड से बच सकता है। कंस अनपढ़ न था। वसुदेव तथा देवकी के साथ उसकी बातों से ऐसा लगता है कि वह प्रकृति के नियमों के बारे में सब जानता था। किन्तु अपने बुरे मंत्रियों की संगति के कारण वह अपने कल्याण के विषय में कोई स्पष्ट निर्णय नहीं ले सका। इसीलिए *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (मध्य २२.५४) में कहा गया है—

'साधु-संग' 'साधु-संग'—सर्व-शास्त्रे कय।
लव-मात्र साधु-संगे सर्व-सिद्धि हय॥

यदि कोई अपना असली कल्याण चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह साधु पुरुषों तथा भक्तों की संगति करे और इस तरह अपने जीवन की भौतिक दशा को सुधारे।

सन्दिश्य साधुलोकस्य कदने कदनप्रियान् ।
कामरूपधरान्दिक्षु दानवान्गृहमाविशत् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

सन्दिश्य—अनुमति देकर; साधु-लोकस्य—साधु पुरुषों के; कदने—सताने में; कदन-प्रियान्—अन्यों को सताने में प्रिय असुरों को; काम-रूप-धरान्—अपनी इच्छानुसार कोई भी रूप धारण करने में समर्थ; दिक्षु—सारी दिशाओं में; दानवान्—असुरों को; गृहम् आविशत्—कंस अपने महल में चला गया।

कंस के अनुयायी ये राक्षसगण अन्यों को, विशेष रूप से वैष्णवों को सताने में दक्ष थे और इच्छानुसार कोई भी रूप धर सकते थे। इन असुरों को सभी दिशाओं में जाकर साधु पुरुषों को सताने की अनुमति देकर कंस अपने महल के भीतर चला गया।

ते वै रज:प्रकृतयस्तमसा मूढचेतस: ।
सतां विद्वेषमाचेरुरारादागतमृत्यव: ॥ ४५॥

शब्दार्थ

ते—वे असुर मंत्रीगण; वै—निस्सन्देह; रजः-प्रकृतयः—रजोगुणी प्रकृति के कारण; तमसा—तमोगुण से परिपूर्ण; मूढ-चेतसः—मूर्ख व्यक्ति; सताम्—साधु पुरुषों को; विद्वेषम्—सताना, उत्पीड़न; आचेरुः—सम्पन्न किया; आरात् आगत-मृत्यवः—मृत्यु पहले से ही जो उनके निकट थी।

रजो तथा तमोगुण से पूरित तथा अपने हित या अहित को न जानते हुए उन असुरों ने, जिनकी मृत्यु उनके सिर पर नाच रही थी, साधु पुरुषों को सताना प्रारम्भ कर दिया।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (२.१३) में कहा गया है—

देहिनोऽस्मिन यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

"जिस प्रकार इस शरीर में देहधारी जीवात्मा बालपन से युवावस्था तथा फिर वृद्धावस्था को प्राप्त होता है उसी तरह मृत्यु के समय आत्मा दूसरे शरीर में चला जाता है। स्वरुप सिद्ध पुरुष ऐसे परिवर्तन से मोहित नहीं होता।" रजो तथा तमोगुण से पूर्ण गैरजिम्मेदार व्यक्ति मूर्खता से ऐसे काम करते रहते हैं, जिन्हें नहीं किया जाना चाहिए (*नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म*)। किन्तु ऐसे गैरजिम्मेदार कर्मों का फल भी जानना चाहिए जैसाकि अगले श्लोक में कहा गया है।

आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिष एव च ।
हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

आयुः—उम्र; श्रियम्—सौन्दर्य; यशः—यश; धर्मम्—धर्म; लोकान्—स्वर्गलोक को जाना; आशिषः—आशीर्वाद; एव—निस्सन्देह; च—भी; हन्ति—विनष्ट करता है; श्रेयांसि—वर; सर्वाणि—सारे; पुंसः—किसी व्यक्ति के; महत्-अतिक्रमः—महापुरुषों के विरुद्ध जाना।

हे राजन्, जब कोई व्यक्ति महापुरुषों को सताता है, तो उसकी दीर्घायु, सौन्दर्य, यश, धर्म, आशीर्वाद तथा उच्चलोकों को जाने के सारे वर विनष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध के अन्तर्गत "राजा कंस के अत्याचार" नामक चौथे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पाँच

नन्द महाराज तथा वसुदेव की भेंट

इस अध्याय में बतलाया गया है कि नन्द महाराज ने अपने नवजात शिशु का जन्मोत्सव बड़े ही

धूमधाम के साथ मनाया। इसके बाद वे कंस को कर देने गए तथा अपने घनिष्ठ मित्र वसुदेव से मिले।

कृष्ण-जन्म से सारे वृन्दावन में अत्यधिक उल्लास था। हर व्यक्ति खुशी से फूला नहीं समा रहा था। इसलिए व्रजराज महाराज नन्द ने इस शिशु का जन्मोत्सव मनाना चाहा और उन्होंने इसे मनाया भी। इस महोत्सव में उन्होंने उपस्थित लोगों को मुँहमाँगी भेंटें दीं। उत्सव के बाद नन्द महाराज ग्वालों के ऊपर गोकुल की रक्षा का भार सौंपकर कंस को कर चुकाने के लिए स्वयं मथुरा गए। मथुरा में नन्द महाराज की भेंट वसुदेव से हुई। वे दोनों भाई-भाई थे। वसुदेव ने नन्द महाराज के भाग्य की सराहना की क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि कृष्ण ने नन्द महाराज को अपना पिता मान लिया है। जब वसुदेव ने शिशु की कुशलता के विषय में नन्द महाराज से पूछा तो उन्होंने वृन्दावन के विषय में सारी बातें बतलाईं। वसुदेव यह सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए यद्यपि कंस द्वारा देवकी के अनेक शिशुओं के मारे जाने का शोक भी उन्होंने व्यक्त किया। नन्द महाराज ने वसुदेव को यह कहकर ढाढस बँधाया कि हर कार्य प्रारब्ध के अनुसार होता है, अत: जो इसे जानता है, वह दुखी नहीं होता। वसुदेव को गोकुल में अनेक उत्पातों की आशंका थी इसलिए उन्होंने नन्द महाराज को सलाह दी कि वे मथुरा में अधिक न रुकें अपितु जितनी जल्दी हो सके वृन्दावन लौट जाँए। इस प्रकार नन्द महाराज ने वसुदेव से विदा ली और ग्वालों समेत अपनी-अपनी बैल-गाड़ियों में चढ़कर वृन्दावन लौट गए।

श्रीशुक उवाच

नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः ।
आहूय विप्रान्वेदज्ञान्स्नातः शुचिरलङ्कृतः ॥ १ ॥
वाचयित्वा स्वस्त्ययनं जातकर्मात्मजस्य वै ।
कारयामास विधिवत्पितृदेवार्चनं तथा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; नन्दः—महाराज नन्द; तु—निस्सन्देह; आत्मजे—अपने पुत्र के; उत्पन्ने—उत्पन्न होने में; जात—अभिभूत हुए; आह्लादः—अत्यधिक हर्ष; महा-मनाः—विशाल मन वाले; आहूय—बुलाया; विप्रान्—ब्राह्मणों को; वेद-ज्ञान्—वेदों के ज्ञाता; स्नातः—स्नान करके; शुचिः—अपने को शुद्ध करके; अलङ्कृतः—सुन्दर आभूषणों तथा नए वस्त्रों से सज्जित; वाचयित्वा—पाठ करके; स्वस्ति-अयनम्—(ब्राह्मणों द्वारा) वैदिक मंत्र; जात-कर्म—जन्मोत्सव; आत्मजस्य—अपने लड़के का; वै—निस्सन्देह; कारयाम् आस—सम्पन्न कराया; विधि-वत्—वैदिक विधान के अनुसार; पितृ-देव-अर्चनम्—पूर्वजों तथा देवताओं की पूजा; तथा—साथ ही साथ।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : नन्द महाराज स्वभाव से अत्यन्त उदार थे अत: जब भगवान् श्रीकृष्ण ने उनके पुत्र रूप में जन्म लिया तो वे हर्ष के मारे फूले नहीं समाए। अतएव स्नान द्वारा

अपने को शुद्ध करके तथा समुचित ढंग से वस्त्र धारण करके उन्होंने वैदिक मंत्रों का पाठ करने वाले ब्राह्मणों को बुला भेजा। जब ये योग्य ब्राह्मण शुभ वैदिक स्तोत्रों का पाठ कर चुके तो नन्द ने अपने नवजात शिशु के जात-कर्म को विधिवत् सम्पन्न किए जाने की व्यवस्था की। उन्होंने देवताओं तथा पूर्वजों की पूजा का भी प्रबन्ध किया।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *नन्दस्तु* शब्दों के महत्त्व की व्याख्या की है। उनका कहना है कि *तु* शब्द वाक्य की पूर्ति के लिए नहीं आया क्योंकि यह वाक्य *तु* शब्द के बिना भी पूर्ण है। अत: *तु* का प्रयोग किसी भिन्न प्रयोजन से किया गया है। यद्यपि कृष्ण देवकी पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए, किन्तु वसुदेव तथा देवकी *जातकर्म* का आनन्द नहीं उठा पाए थे। उल्टे, इसका आनन्द लिया नन्द महाराज ने जैसाकि यहाँ बतलाया गया है (*नन्दस्तु आत्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामना:*)। जब नन्द महाराज वसुदेव से मिले तो वसुदेव ने यह प्रकट नहीं किया कि ''तुम्हारा पुत्र कृष्ण तो वास्तव में मेरा पुत्र है। तुम तो आध्यात्मिक रूप से उसके पिता हो।'' कंस के भय के कारण वसुदेव कृष्ण का जातकर्म नहीं मना सके। किन्तु नन्द महाराज ने इस अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाया।

जातकर्म नवजात शिशु के नाल काटते समय का उत्सव है। किन्तु कृष्ण को तो नन्द महाराज के घर ले जाया गया था अतएव इसके लिए कहाँ अवसर था! इस प्रसंग में विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर अनेक शास्त्रों के प्रमाणों से यह सिद्ध करना चाहते हैं कि कृष्ण ने यशोदा की कोख से योगमाया के पहले ही जन्म ले लिया था इसीलिए योगमाया उनकी छोटी बहन कही जाती हैं। भले ही नाल काटने के बारे में कुछ शंकाएँ हों और भले ही कृष्ण का नाल न काटा गया हो किन्तु जब भगवान् प्रकट होते हैं, तो ऐसी घटनाएँ यथार्थ मानी जाती हैं। कृष्ण ब्रह्मा के नथुनों से वराहदेव के रूप में प्रकट हुए तो ब्रह्मा को वराहदेव का पिता कहा जाता है। *कारयाम् आस विधिवत्* शब्द भी महत्त्वपूर्ण हैं। पुत्र-जन्म के हर्षातिरेक के कारण नन्द महाराज ने देखा ही नहीं कि पुत्र का नाल कटा अथवा नहीं। इस तरह उन्होंने बड़ी ही धूमधाम से उत्सव मनाया। कुछ विद्वानों के अनुसार कृष्ण वास्तव में यशोदा के पुत्र रूप में उत्पन्न हुए थे। जो भी हो, हम इस पचड़े में न पड़कर यह मान सकते हैं कि नन्द महाराज द्वारा कृष्ण के जन्म पर किया गया यह उत्सव उचित था। इसीलिए यह उत्सव हर जगह नन्दोत्सव कहलाता है।

धेनूनां नियुते प्रादाद्विप्रेभ्यः समलङ्कृते ।
तिलाद्रीन्सप्त रत्नौघशातकौम्भाम्बरावृतान् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

धेनूनाम्—दुधारू गायों का; नियुते—बीस लाख; प्रादात्—दान में दिया; विप्रेभ्यः—ब्राह्मणों को; समलङ्कृते—पूरी तरह सज्जित; तिल-अद्रीन्—तिल (अन्न) के पहाड़; सप्त—सात; रत्न-ओघ-शात-कौम्भ-अम्बर-आवृतान्—रत्नों तथा सुनहरे किनारे वाले वस्त्रों से ढके।

नन्द महाराज ने ब्राह्मणों को वस्त्रों तथा रत्नों से अलंकृत बीस लाख गौवें दान में दीं। उन्होंने रत्नों तथा सुनहरे गोटे वाले वस्त्रों से ढके तिल से बनाये गये सात पहाड़ भी दान में दिए।

कालेन स्नानशौचाभ्यां संस्कारैस्तपसेज्यया ।
शुध्यन्ति दानैः सन्तुष्ट्या द्रव्याण्यात्मात्मविद्यया ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

कालेन—समय आने पर (स्थल तथा अन्य वस्तुएँ पवित्र हो जाने पर); स्नान-शौचाभ्याम्—स्नान तथा सफाई के द्वारा (शरीर तथा मलिन वस्तुएँ शुद्ध होती हैं); संस्कारैः—संस्कार द्वारा (जन्म शुद्ध होता है); तपसा—तपस्या द्वारा (इन्द्रियाँ शुद्ध होती हैं); इज्यया—पूजा द्वारा (ब्राह्मण शुद्ध बनते हैं); शुध्यन्ति—शुद्ध बनते हैं; दानैः—दान द्वारा (सम्पत्ति शुद्ध होती है); सन्तुष्ट्या—सन्तोष से (मन शुद्ध होता है); द्रव्याणि—सारी सम्पत्ति यथा गौवें, भूमि तथा सोना; आत्मा—आत्मा (शुद्ध बनता है); आत्म-विद्यया—आत्म-साक्षात्कार द्वारा।

हे राजन्, समय बीतने के साथ ही, धरती तथा अन्य सम्पत्ति शुद्ध हो जाती हैं; स्नान से शरीर शुद्ध होता है और सफाई करने से मलिन वस्तुएँ शुद्ध होती हैं। संस्कार अनुष्ठानों से जन्म शुद्ध होता है, तपस्या से इन्द्रियाँ शुद्ध होती हैं तथा पूजा से और ब्राह्मणों को दान देने से भौतिक सम्पत्ति शुद्ध होती है। सन्तोष से मन शुद्ध होता है और आत्मज्ञान अर्थात् कृष्णभावनामृत से आत्मा शुद्ध होता है।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता के अनुसार वस्तुओं को किस तरह शुद्ध किया जाए, इसके विषय में ही ये आदेश हैं। शुद्ध किए बिना प्रयोग की जाने वाली हर वस्तु हमें कल्मषग्रस्त कर देगी। भारत में पाँच हजार वर्ष पूर्व, गाँवों तक में, यथा नन्द महाराज के गाँव में भी लोग जानते थे कि वस्तुओं को किस तरह शुद्ध किया जाता है, जिसके कारण वे कल्मषरहित जीवन बिताते थे।

सौमङ्गल्यगिरो विप्राः सूतमागधवन्दिनः ।
गायकाश्च जगुर्नेदुर्भेर्यो दुन्दुभयो मुहुः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सौमङ्गल्य-गिरः—जिनकी वाणी से निकले मंत्र तथा स्तोत्र वातावरण को शुद्ध करते थे; विप्राः—ब्राह्मणगण; सूत—इतिहास गाने में पटु लोग; मागध—राजपरिवारों के इतिहास गाने में पटु लोग; वन्दिनः—सामान्य वाचक; गायकाः—गवैये; च—भी; जगुः—उच्चारण किया; नेदुः—बजाया; भेर्यः—एक प्रकार का वाद्य यंत्र; दुन्दुभयः—एक प्रकार का बाजा; मुहुः—निरन्तर।.

ब्राह्मणों ने मंगलकारी वैदिक स्तोत्र सुनाए जिनकी ध्वनि से वातावरण शुद्ध हो गया। प्राचीन इतिहासों या पुराणों को सुनाने वाले, राजपरिवारों के इतिहास सुनाने वाले तथा सामान्य वाचकों ने गायन किया जबकि गवैयों ने भेरी, दुन्दुभी आदि अनेक प्रकार के वाद्य यंत्रों की संगत में गाया।

व्रजः सम्मृष्टसंसिक्तद्वाराजिरगृहान्तरः ।
चित्रध्वजपताकास्रक्चैलपल्लवतोरणैः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

व्रजः—नन्द महाराज के अधिकार वाला भू-क्षेत्र; सम्मृष्ट—अत्यन्त स्वच्छ की गई; संसिक्त—अच्छी तरह धोई गई; द्वार—दरवाजे; अजिर—आँगन; गृह-अन्तरः—घर के भीतर की सारी वस्तुएँ; चित्र—रंग-बिरंगी; ध्वज—झंडियाँ; पताका—झंडे; स्रक्—फूलों के हार; चैल—कपड़े के; पल्लव—आम की पत्तियों के; तोरणैः—विभिन्न स्थानों पर बनाए गए द्वारों के द्वारा (अलंकृत)।.

नन्द महाराज का निवास व्रजपुर रंग-बिरंगी झंडियों तथा झंडों से पूरी तरह सजाया गया था और विभिन्न स्थानों पर नाना प्रकार के फूलों की मालाओं, वस्त्रों तथा आम की पत्तियों से तोरण बनाए गए थे। आँगन, सड़कों के पास के दरवाजे तथा घरों के कमरों के भीतर की सारी वस्तुएँ अच्छी तरह से झाड़ बुहार कर पानी से धोई गई थीं।

गावो वृषा वत्सतरा हरिद्रातैलरूषिताः ।
विचित्रधातुबर्हस्रग्वस्त्रकाञ्चनमालिनः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

गावः—गौवें; वृषाः—बैल; वत्सतराः—बछड़े; हरिद्रा—हल्दी; तैल—तेल; रूषिताः—लेप किए गए; विचित्र—तरह-तरह के; धातु—रंगीन खनिज; बर्ह-स्रक्—मोरपंख के हार; वस्त्र—कपड़े; काञ्चन—सुनहरे गहने; मालिनः—मालाओं से सजाए हुए।.

गौवों, बैलों तथा बछड़ों के सारे शरीर में हल्दी तथा तेल के साथ नाना प्रकार के खनिजों का लेप किया गया था। उनके मस्तकों को मोर पंखों से सजाया गया था, उन्हें मालाएँ पहनाई गई थीं और ऊपर से वस्त्र तथा सुनहरे गहनों से आच्छादित किया गया था।

तात्पर्य : भगवान् के *भगवद्गीता* (१८.४४) में आदेश दिया है—*कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्मस्वभावजम्*—खेती करना, गो-रक्षा तथा व्यापार वैश्यों के गुण हैं। नन्द महाराज *वैश्य* जाति के—खेतिहर—थे। किस तरह गायों की रक्षा करनी चाहिए और यह वैश्य जाति कितनी सम्पन्न थी

इसी का वर्णन इन श्लोकों में हुआ है। हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि गौवें, बैल तथा बछड़ों की इतने सुन्दर ढंग से देखभाल की जाती होगी और उन्हें वस्त्रों तथा बहुमूल्य सुनहरी गहनों से इस तरह सजाया जाता होगा। वे लोग कितने सुखी थे। *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र वर्णन आया है कि महाराज युधिष्ठिर के काल में गौवें इतनी सुखी थीं कि उनके दूध से गोचर भूमि सिक्त हो जाती थी। यह है भारतीय सभ्यता। फिर भी उसी भारतवर्ष में न जाने कितने लोग वैदिक जीवन-शैली छोड़ने तथा *भगवद्गीता* की शिक्षाएँ न समझने के कारण कष्ट भोग रहे हैं।

महार्हवस्त्राभरणकञ्चुकोष्णीषभूषिताः ।
गोपाः समाययू राजन्नानोपायनपाणयः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

महा-अर्ह—अत्यन्त मूल्यवान; वस्त्र-आभरण—कपड़ों तथा गहनों से; कञ्चुक—वृन्दावन में पहना जाने वाला विशेष वस्त्र, अँगरखा; उष्णीष—पगड़ी से; भूषिताः—अच्छी तरह सजे; गोपाः—सारे ग्वाले; समाययुः—वहाँ आए; राजन्—हे राजन् (महाराज परीक्षित); नाना—अनेक प्रकार की; उपायन—भेंटें; पाणयः—हाथ में लिए हुए।

हे राजा परीक्षित, ग्वाले अत्यन्त मूल्यवान गहने तथा कंचुक और पगड़ी जैसे वस्त्रों से खूब सजे-धजे थे। इस तरह से सजधज कर तथा अपने हाथों में तरह-तरह की भेंटें लेकर वे नन्द महाराज के घर आए।

तात्पर्य : जब हम देहात के खेतिहर की पुरानी दशा पर विचार करते हैं, तो पता चलता है कि मात्र कृषि-उपज तथा गौवों की सुरक्षा के बल पर वह कितना समृद्ध था। किन्तु वर्तमान समय में कृषि की उपेक्षा की जा रही है और गो-रक्षा का परित्याग हो चुका है, जिससे खेतिहर की स्थिति दयनीय है और वह फटे-पुराने वस्त्र पहने रहता है। प्राचीन भारत और वर्तमान-कालीन भारत में यही अन्तर है। *उग्रकर्म* के अन्तर्गत उग्र कार्यकलापों द्वारा हम मानव सभ्यता के सुअवसर को खो रहे हैं।

गोप्यश्चाकर्ण्य मुदिता यशोदायाः सुतोद्भवम् ।
आत्मानं भूषयां चक्रुर्वस्त्राकल्पाञ्जनादिभिः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

गोप्यः—ग्वालों की पत्नियाँ, गोपियाँ; च—भी; आकर्ण्य—सुनकर; मुदिताः—अत्यंत्र प्रसन्न हुए; यशोदायाः—यशोदा माता के; सुत-उद्भवम्—पुत्र जन्म को; आत्मानम्—स्वयं; भूषयाम् चक्रुः—उत्सव में जाने के लिए अच्छी तरह से सज गईं; वस्त्र-आकल्प-अञ्जन-आदिभिः—उपयुक्त वस्त्रों, गहनों, काजल इत्यादि से।

गोपियाँ यह सुनकर अत्यधिक प्रसन्न थीं कि माता यशोदा ने पुत्र को जन्म दिया है, अतः वे

उपयुक्त वस्त्रों, गहनों, काजल आदि से अपने को सजाने लगीं।

नवकुङ्कुमकिञ्जल्कमुखपङ्कजभूतयः ।
बलिभिस्त्वरितं जग्मुः पृथुश्रोण्यश्चलत्कुचाः ॥ ॥

शब्दार्थ

नव-कुङ्कुम-किञ्जल्क—केसर तथा नव-विकसित कुंकुम फूल से; मुख-पङ्कज-भूतयः—अपने कमल जैसे मुखों में असाधारण सौन्दर्य प्रकट करते हुए; बलिभिः—अपने हाथों में भेंटें लिए हुए; त्वरितम्—जल्दी से; जग्मुः—(माता यशोदा के घर) गईं; पृथु-श्रोण्यः—स्त्रीयोचित सौन्दर्य के अनुरूप भारी नितम्बों वाली; चलत्-कुचाः—हिल रहे बड़े-बड़े स्तन।

अपने कमल जैसे असाधारण सुन्दर मुखों को केसर तथा नव-विकसित कुंकुम से अलंकृत करके गोपियाँ अपने हाथों में भेंटें लेकर माता यशोदा के घर के लिए तेजी से चल पड़ीं। प्राकृतिक सौन्दर्य के कारण उनके नितम्ब बड़े-बड़े थे तथा तेजी से चलने के कारण उनके बड़े-बड़े स्तन हिल रहे थे।

तात्पर्य : ग्वाले तथा ग्वालिनें देहातों में प्राकृतिक जीवन बिताते थे और स्त्रियों में सहज स्त्रियोचित सौन्दर्य विकसित होता था जिससे उनके नितम्ब और स्तन बड़े-बड़े होते थे। चूँकि आधुनिक सभ्यता में स्त्रियाँ प्राकृतिक जीवन नहीं बितातीं इसलिए उनके नितम्ब तथा स्तन प्राकृतिक ढंग से परिपुष्ट नहीं होते। बनावटी जीवन बिताने से स्त्रियों ने अपना प्राकृतिक सौन्दर्य खो दिया है भले ही वे अपने को स्वतंत्र तथा भौतिक सभ्यता में पुरःसर क्यों न मानती हों। ग्रामीण स्त्रियों का यह विवरण प्राकृतिक जीवन और गर्हित समाज के कृत्रिम जीवन के अन्तर का एक स्पष्ट उदाहरण है—विशेष रूप से पाश्चात्य देशों में जहाँ नग्न सौन्दर्य को क्लबों तथा दुकानों में तथा आम विज्ञापन के लिए सहज ही खरीदा जा सकता है। *बलिभिः* शब्द बतलाता है कि स्त्रियाँ स्वर्णमुद्राएँ, रत्नजटित मालाएँ, सुन्दर वस्त्र, दूर्वा, चन्दन लेप, पुष्प मालाएँ तथा स्वर्ण की थालों में विविध भेंटें लेकर गई थीं। ऐसी भेंटें *बलि* कहलाती हैं। *त्वरितं जग्मुः* शब्द सूचित करते हैं कि ग्रामीण स्त्रियाँ कितनी जल्दी समझ गईं कि माता यशोदा ने कृष्ण नामक अद्‌भुत बालक को जन्म दिया और वे कितनी प्रसन्न थीं!

गोप्यः सुमृष्टमणिकुण्डलनिष्ककण्ठ्य-
श्चित्राम्बराः पथि शिखाच्युतमाल्यवर्षाः ।
नन्दालयं सवलया व्रजतीर्विरेजु-
र्व्यालोलकुण्डलपयोधरहारशोभाः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

गोप्यः—गोपियाँ; सु-मृष्ट—अत्यन्त चमकीले; मणि—रत्नों से बने; कुण्डल—कान की बालियाँ पहने; निष्क-कण्ठ्यः—गले में पहना गया हार; चित्र-अम्बराः—रंगीन किनारे वाली पोशाकें पहने; पथि—यशोदा माई के घर के रास्ते में; शिखा-च्युत—उनके बालों से गिरे हुए; माल्य-वर्षाः—फूलों की मालाओं की वर्षा; नन्द-आलयम्—महाराज नन्द के घर को; स-वलयाः—हाथों में चूड़ियाँ पहने; व्रजतीः—जाती हुई; विरेजुः—अत्यधिक सुन्दर लग रही थीं; व्यालोल—हिलते; कुण्डल—कान की बालियों से युक्त; पयोधर—स्तन वाली; हार—फूलों के हारों से युक्त; शोभाः—अत्यन्त सुन्दर लगने वाली।

गोपियों के कानों में चमचमाते रत्नजटित बालियाँ थी और उनके गले में धातुओं के हँस लटक रहे थे। उनके हाथ चूड़ियों से विभूषित थे, उनकी वेशभूषाएँ विविध रंगों की थीं और उनके बालों में लगे फूल रास्तों पर गिर रहे थे मानो वर्षा हो रही हो। इस प्रकार नन्द महाराज के घर जाते समय गोपियाँ, उनके कुंडल, उनके हिलते स्तन तथा मालाएँ अतीव सुन्दर लग रही थीं।

तात्पर्य : कृष्ण का स्वागत करने के लिए महाराज नन्द के घर जा रही गोपियों का वर्णन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। गोपियाँ सामान्य स्त्रियाँ नहीं थीं अपितु वे कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति की अंश थीं, जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—

आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभि-
स्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

(*ब्रह्म-संहिता* ५.३७)

चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्ष-
लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्।
लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रम सेव्यमानं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

(*ब्रह्म-संहिता* ५.२९)

कृष्ण जहाँ भी जाते हैं, सदा ही गोपियों द्वारा पूजे जाते हैं। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* में कृष्ण का इतना विशद् वर्णन हुआ है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी कृष्ण का वर्णन इस प्रकार किया है—*रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।* सारी गोपियाँ अपनी-अपनी भेंटें लेकर कृष्ण के पास जा रही थीं क्योंकि वे भगवान् की नित्य संगिनी हैं। अब गोपियाँ वृन्दावन में कृष्ण के आविर्भाव का समाचार

पाकर इतनी अधिक प्रफुल्लित थीं।

ता आशिषः प्रयुञ्जानाश्चिरं पाहीति बालके ।
हरिद्राचूर्णतैलाद्भिः सिञ्चन्त्योऽजनमुज्जगुः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ताः—सारी स्त्रियाँ, ग्वालों की पत्नियाँ तथा पुत्रियाँ; आशिषः—आशीर्वाद; प्रयुञ्जानाः—भेंट; चिरम्—दीर्घकाल तक; पाहि—आप व्रज के राजा बनें और इसके सारे निवासियों का पालन करें; इति—इस प्रकार; बालके—नवजात शिशु को; हरिद्रा-चूर्ण—हल्दी का चूर्ण; तैल-अद्भिः—तेल से मिश्रित; सिञ्चन्त्यः—छिड़काव करते हुए; अजनम्—अजन्मा भगवान् की; उज्जगुः—स्तुतियाँ कीं।

ग्वालों की पत्नियों तथा पुत्रियों ने नवजात शिशु, कृष्ण, को आशीर्वाद देते हुए कहा, ''आप व्रज के राजा बनें और यहाँ के सारे निवासियों का दीर्घकाल तक पालन करें।'' उन्होंने अजन्या भगवान् पर हल्दी, तेल तथा जल का मिश्रण छिड़का और प्रार्थनाएँ कीं।

अवाद्यन्त विचित्राणि वादित्राणि महोत्सवे ।
कृष्णे विश्वेश्वरेऽनन्ते नन्दस्य व्रजमागते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अवाद्यन्त—वसुदेव के पुत्रोत्सव पर बजाया; विचित्राणि—विविध प्रकार के; वादित्राणि—वाद्ययंत्र; महा-उत्सवे—महान् उत्सव में; कृष्णे—जब भगवान् कृष्ण; विश्व-ईश्वरे—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्वामी; अनन्ते—असीम; नन्दस्य—महाराज नन्द के; व्रजम्—चरागाह में; आगते—आए हुए।

चूँकि अब सर्वव्यापी, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्वामी, अनन्त भगवान् कृष्ण महाराज नन्द की पुरी में पदार्पण कर चुके थे, अतएव इस महान् उत्सव के उपलक्ष्य में नाना प्रकार के वाद्ययंत्र बजाये गये।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (४.७) में भगवान् कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

''जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का प्राधान्य होता है तब-तब हे भरतवंशी! मैं स्वयं अवतरित होता हूँ।'' ब्रह्मा के एक दिन में, जब भी कृष्ण अवतरित होते हैं, तो वे वृन्दावन में नन्द महाराज के घर में ही आते हैं। कृष्ण सारी सृष्टि के स्वामी हैं (*सर्वलोकमहेश्वरम्*)। अत: न केवल नंद महाराज के व्रज के पड़ोस में अपितु सारे ब्रह्माण्ड में तथा अन्य सभी ब्रह्माण्डों में भगवान् के शुभ आगमन पर वाद्ययंत्र बज उठे।

गोपाः परस्परं हृष्टा दधिक्षीरघृताम्बुभिः ।
आसिञ्चन्तो विलिम्पन्तो नवनीतैश्च चिक्षिपुः ॥ १४॥

शब्दार्थ

गोपाः—ग्वाले; परस्परम्—एक दूसरे से; हृष्टाः—प्रसन्न होकर; दधि—दही; क्षीर—औंटाया दूध (खीर); घृत-अम्बुभिः—घी के साथ मिले जल से; आसिञ्चन्तः—छिड़कते हुए; विलिम्पन्तः—लेप करके; नवनीतैः च—तथा मक्खन से; चिक्षिपुः—एक दूसरे पर फेंकने लगे।

ग्वालों ने प्रसन्न होकर एक दूसरे के शरीरों में दही, खीर, मक्खन तथा जल का घोल छिड़ककर इस महोत्सव का आनन्द लिया। उन्होंने एक दूसरे पर मक्खन फेंका और एक दूसरे के शरीरों में पोता भी।

तात्पर्य : इस कथन से हम समझ सकते हैं कि पाँच हजार वर्ष पूर्व दूध, दही तथा मक्खन की इतनी प्रचुरता थी कि न केवल खाने, पीने तथा भोजन बनाने के लिए पर्याप्त था अपितु उत्सव के अवसर पर बिना रोकटोक के ऐसे फेंका भी जाता था। मानव समाज में दूध, दही, मक्खन तथा ऐसे दूसरे पदार्थों की चाहे जितनी मात्रा प्रयुक्त की जाए इस पर कोई रोक न थी। हर व्यक्ति के पास दूध का प्रचुर संग्रह होता था और इससे विविध व्यंजन बनाकर लोग प्राकृतिक ढंग से स्वस्थ रहते और कृष्णभावनामृत में जीवन बिताते थे।

नन्दो महामनास्तेभ्यो वासोऽलङ्कारगोधनम् ।
सूतमागधवन्दिभ्यो येऽन्ये विद्योपजीविनः ॥ १५ ॥
तैस्तैः कामैरदीनात्मा यथोचितमपूजयत् ।
विष्णोराराधनार्थाय स्वपुत्रस्योदयाय च ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

नन्दः—महाराज नन्द; महा-मनाः—जो ग्वालों में सर्वाधिक न्यायशील तथा माननीय पुरुष थे; तेभ्यः—ग्वालों को; वासः—वस्त्र; अलङ्कार—गहने; गो-धनम्—तथा गाएँ; सूत-मागध-वन्दिभ्यः—सूतों (प्राचीन गाथा गाने वालों), मागधों(राजवंशों की गाथा गाने वालों) तथा वन्दीजनों (सामान्य स्तुति गायकों) को; ये अन्ये—तथा अन्यों को; विद्या-उपजीविनः—विद्या के बल पर जीविका चलाने वाले; तैः तैः—उन उन; कामैः—इच्छाओं से; अदीन-आत्मा—महाराज नन्द, जो इतने वदान्य थे; यथा-उचितम्—जो उपयुक्त था; अपूजयत्—उनकी पूजा की अथवा उन्हें तुष्ट किया; विष्णोः आराधन-अर्थाय—भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के उद्देश्य से; स्व-पुत्रस्य—अपने पुत्र के; उदयाय—सर्वतोमुखी प्रगति के लिए; च—तथा।

उदारचेता महाराज नन्द ने भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के लिए ग्वालों को वस्त्र, आभूषण तथा गाएँ दान में दीं। इस तरह उन्होंने अपने पुत्र की दशा को सभी प्रकार से सँवारा। उन्होंने सूतों, मागधों, वन्दीजनों तथा अन्य वृत्ति वाले लोगों को उनकी शैक्षिक योग्यता के अनुसार दान दिया और हर एक की इच्छाओं को तुष्ट किया।

तात्पर्य : यद्यपि *दरिद्रनारायण* की चर्चा चलाना फैशन बन चुका है, किन्तु *विष्णोराराधनार्थाय* शब्दों का अर्थ यह नहीं है कि इस महान् उत्सव में नन्द महाराज ने जितने सारे लोगों को तुष्ट किया वे सब विष्णु थे। वे न तो *दरिद्र* थे न ही नारायण। प्रत्युत वे नारायण के भक्त थे और वे अपनी-अपनी शैक्षिक योग्यताओं द्वारा नारायण को तुष्ट करने वाले थे। अत: उन्हें तुष्ट करना भगवान् विष्णु को तुष्ट करने का अप्रत्यक्ष तरीका था। *मद्भक्तपूजाभ्यधिका* (*भागवत* ११.१९.२१) मेरे भक्तों की पूजा करना मेरी प्रत्यक्ष पूजा से बढ़कर है। वर्णाश्रम प्रणाली *विष्णु आराधना* के ही निमित्त है। *वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण पर: पुमान् विष्णुराराध्यते* (*विष्णुपुराण* ३.८.९)। जीवन का चरम लक्ष्य भगवान् विष्णु या परमेश्वर को तुष्ट करना है। किन्तु असभ्य व्यक्ति या भौतिकवादी व्यक्ति जीवन के इस लक्ष्य को नहीं जानता। *न ते विदु: स्वार्थगतिम् हि विष्णुम्* (*भागवत ७.५.३१*) मनुष्य का असली स्वार्थ भगवान् विष्णु को तुष्ट करने में है। विष्णु को तुष्ट न करके अन्य भौतिक समझौतों द्वारा सुखी बनने का प्रयास (*बहिरर्थमानिन:*) सुख का गलत तरीका है। चूँकि विष्णु हर वस्तु के मूल हैं अत: यदि विष्णु प्रसन्न हो जाते हैं, तो हर व्यक्ति प्रसन्न होता है विशेष कर मनुष्य के बाल-बच्चे तथा कुटुम्बी सभी प्रकार से सुखी रहते हैं। नन्द महाराज अपने नवजात शिशु को सुखी देखना चाहते थे। यही उनका उद्देश्य था। इसीलिए वे विष्णु को प्रसन्न करना चाहते थे और विष्णु को प्रसन्न करने के लिए उनके भक्तों को यथा विद्वान ब्राह्मणों, मागधों और सूतों को प्रसन्न करना आवश्यक था। इस तरह घुमा-फिरा कर उनका उद्देश्य अन्तत: भगवान् विष्णु को ही प्रसन्न करना था।

रोहिणी च महाभागा नन्दगोपाभिनन्दिता ।
व्यचरद्दिव्यवासस्रक्कण्ठाभरणभूषिता ॥ १७॥

शब्दार्थ

रोहिणी—बलदेव की माता, रोहिणी; च—भी; महा-भागा—परम भाग्यशालिनी (कृष्ण तथा बलराम को साथ-साथ पालने के कारण); नन्द-गोपा-अभिनन्दिता—नन्द महाराज तथा माता यशोदा द्वारा सम्मानित; व्यचरत्—इधर-उधर विचरण करने में व्यस्त; दिव्य—सुन्दर; वास—वेशभूषा; स्रक्—माला; कण्ठ-आभरण—गले के गहने से; भूषिता—विभूषित।

बलदेव की माता अति-भाग्यशालिनी रोहिणी नन्द महाराज तथा यशोदा द्वारा अभिनन्दित हुईं। उन्होंने भी शानदार वस्त्र पहन रखे थे और गले के हार, माला तथा अन्य गहनों से अपने को सजा रखा था। वे उस उत्सव में अतिथि-स्त्रियों का स्वागत करने के लिए इधर-उधर आ-जा रही थीं।

तात्पर्य : वसुदेव की दूसरी पत्नी रोहिणी को भी उनके पुत्र बलदेव समेत नन्द महाराज की देखरेख में रखा गया था। चूँकि उनके पति को कंस ने बन्दी बना लिया था अतएव वे अधिक प्रसन्न न थीं, किन्तु कृष्ण जन्माष्टमी अर्थात् नन्दोत्सव पर, जब नन्द महाराज अन्यों को वस्त्र तथा गहने दान में दे रहे थे तो उन्होंने रोहिणी को भी शानदार वस्त्र तथा गहने दिए जिससे वे उत्सव में सम्मिलित हो सकें। इस तरह वे भी अतिथि रूप में आयीं स्त्रियों का स्वागत करने में व्यस्त थीं। कृष्ण तथा बलराम का एकसाथ पालन-पोषण करने का सौभाग्य पाने के कारण उन्हें *महाभागा* कहा गया है।

तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान् ।
हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीडमभून्नृप ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ततः आरभ्य—उस समय से लेकर; नन्दस्य—महाराज नन्द का; व्रजः—व्रजभूमि, गौवों को पालने तथा संरक्षण प्रदान करने की भूमि; सर्व-समृद्धिमान्—सभी प्रकार के धन से ऐश्वर्यवान; हरेः निवास—भगवान् के निवास स्थान का; आत्म-गुणैः—दिव्य गुणों से; रमा-आक्रीडम्—लक्ष्मी की लीलास्थली; अभूत्—बनी; नृप—हे राजा (परीक्षित)।

हे महाराज परीक्षित, नन्द महाराज का घर पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तथा उनके दिव्य गुणों का शाश्वत धाम है फलतः उसमें समस्त सम्पदाओं का ऐश्वर्य सदैव निहित है। फिर भी कृष्ण के आविर्भाव के दिन से ही वह घर देवी लक्ष्मी की क्रीड़ास्थली बन गया।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* (५.२९) में कहा गया है—*लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानं गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि।* कृष्ण के धाम में लाखों लक्ष्मियाँ सेवा करती हैं। कृष्ण जहाँ भी जाते हैं, लक्ष्मी जी उनके साथ-साथ रहती हैं। लक्ष्मियों में प्रमुख हैं श्रीमती राधारानी। अतः व्रजभूमि में कृष्ण के आविर्भाव से यह सूचित हुआ कि प्रमुख लक्ष्मी राधारानी भी शीघ्र ही वहाँ प्रकट होंगी। नन्द महाराज का धाम पहले ही ऐश्वर्यवान था और जब से कृष्ण प्रकट हुए थे, वह सभी प्रकार से ऐश्वर्ययुक्त बन गया है।

गोपान्गोकुलरक्षायां निरूप्य मथुरां गतः ।
नन्दः कंसस्य वार्षिक्यं करं दातुं कुरूद्वह ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

गोपान्—ग्वालों को; गोकुल-रक्षायाम्—गोकुल मण्डल की रक्षा के लिए; निरूप्य—नियुक्त करके; मथुराम्—मथुरा; गतः—गए; नन्दः—नन्द महाराज; कंसस्य—कंस का; वार्षिक्यम्—वार्षिक कर; करम्—लाभांश; दातुम्—भुगतान करने के लिए; कुरु-उद्वह—हे कुरु वंश के रक्षक, महाराज परीक्षित।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : हे महाराज परीक्षित, हे कुरुवंश के सर्वश्रेष्ठ रक्षक, उसके बाद नन्द महाराज ने स्थानीय ग्वालों को गोकुल की रक्षा के लिए नियुक्त किया और स्वयं राजा कंस को वार्षिक कर देने मथुरा चले गए।

तात्पर्य : चूँकि बालकों का वध किया जा रहा था और यह सबको ज्ञात हो चुका था अत: नन्द महाराज अपने नवजात शिशु के लिए अत्यधिक डरे हुए थे। इसलिए उन्होंने अपने घर तथा शिशु की रक्षा के लिए स्थानीय ग्वालों को नियुक्त कर दिया। वे तुरन्त ही मथुरा जाकर कर भुगतान करना चाह रहे थे और अपने नवजात शिशु के उपलक्ष्य में कुछ भेंट भी देना चाहते थे। वे शिशु के संरक्षण के लिए विभिन्न देवताओं तथा पितरों की पूजा कर चुके थे और सब को जी भर कर दान भी दे चुके थे। इसी तरह नन्द महाराज कंस को न केवल वार्षिक कर चुकता करना चाह रहे थे अपितु कुछ भेंट भी देना चाह रहे थे जिससे कंस भी तुष्ट हो जाए। उनकी एकमात्र चिन्ता यही थी कि अपने दिव्य शिशु कृष्ण की किस तरह रक्षा करें।

वसुदेव उपश्रुत्य भ्रातरं नन्दमागतम् ।
ज्ञात्वा दत्तकरं राज्ञे ययौ तदवमोचनम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

वसुदेवः—वसुदेव; उपश्रुत्य—सुनकर; भ्रातरम्—अपने मित्र तथा भाई; नन्दम्—नन्द महाराज को; आगतम्—मथुरा आया हुआ; ज्ञात्वा—जानकर; दत्त-करम्—पहले ही कर चुकता किया जा चुका था; राज्ञे—राजा के पास; ययौ—गया; तत्-अवमोचनम्—नन्द महाराज के डेरे तक।

जब वसुदेव ने सुना कि उनके अत्यन्त प्रिय मित्र तथा भाई नन्द महाराज मथुरा पधारे हैं और वे कंस को कर भुगतान कर चुके हैं, तो वे नन्द महाराज के डेरे में गए।

तात्पर्य : वसुदेव तथा नन्द महाराज का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ था कि वे भाइयों की तरह रहते थे। यही नहीं, श्रीपाद मध्वाचार्य की टिप्पणियों से ज्ञात होता है कि वसुदेव तथा नन्द महाराज सौतेले भाई थे। वसुदेव के पिता शूरसेन ने एक वैश्य लड़की से शादी की जिससे नन्द महाराज उत्पन्न हुए। बाद में स्वयं नन्द महाराज ने एक वैश्य लड़की यशोदा से शादी की। इसलिए उनका परिवार वैश्य परिवार के नाम से विख्यात है। कृष्ण ने उनके पुत्र के रूप में वैश्य कर्मों को सँभाला (*कृषि गोरक्ष्य वाणिज्यम्*)। बलराम कृषि के लिए भूमि जोतने का प्रतिनिधित्व करते हैं इसीलिए वे अपने हाथ में सदैव हल लिए रहते हैं। कृष्ण गौवें चराते हैं अतएव वे अपने हाथ में बाँसुरी लिए रहते हैं। इस तरह दोनों भाई

कृषिरक्ष्य तथा *गोरक्ष्य* का प्रतिनिधित्व करते हैं।

तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय देहः प्राणमिवागतम् ।
प्रीतः प्रियतमं दोर्भ्यां सस्वजे प्रेमविह्वलः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (वसुदेव को); दृष्ट्वा—देखकर; सहसा—अचानक; उत्थाय—उठकर; देहः—वही शरीर; प्राणम्—प्राण; इव—मानो; आगतम्—लौट आया हो; प्रीतः—इतना प्रसन्न; प्रिय-तमम्—अपने प्रिय मित्र तथा भाई; दोर्भ्याम्—अपनी दोनों बाहुओं द्वारा; सस्वजे—गले मिले; प्रेम-विह्वलः—प्रेम तथा स्नेह से अभिभूत।

जब नन्द महाराज ने सुना कि वसुदेव आए हैं, तो वे प्रेम तथा स्नेह से अभिभूत हो उठे और इतने प्रसन्न हुए मानो उन्हें पुनः जीवन पा लिया हो। वसुदेव को अचानक उपस्थित देखकर वे उठ खड़े हुए और अपनी दोनों भुजाओं में लेकर गले लगा लिया।

तात्पर्य : नन्द महाराज वसुदेव से बड़े थे। इसीलिए उन्होंने वसुदेव को गले लगा लिया और वसुदेव ने उन्हें नमस्कार किया।

पूजितः सुखमासीनः पृष्ट्वानामयमादृतः ।
प्रसक्तधीः स्वात्मजयोरिदमाह विशाम्पते ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

पूजितः—इस तरह प्रेम पूर्वक स्वागत किए गए वसुदेव; सुखम् आसीनः—सुखपूर्वक बैठने के लिए स्थान दिए गए; पृष्ट्वा—पूछकर; अनामयम्—शुभ प्रश्न; आदृतः—समादरित; प्रसक्त-धीः—अत्यन्त आसक्त होने के कारण; स्व-आत्मजयोः—अपने दोनों पुत्रों (कृष्ण तथा बलराम); इदम्—इस प्रकार; आह—पूछा; विशाम्-पते—हे महाराज परीक्षित।

हे महाराज परीक्षित, नन्द महाराज द्वारा, इस प्रकार आदरपूर्वक सत्कार एवं स्वागत किए जाने पर वसुदेव बड़ी ही शान्ति से बैठ गए और अपने दोनों पुत्रों के प्रति अगाध-प्रेम के कारण उनके विषय में पूछा।

दिष्ट्या भ्रातः प्रवयस इदानीमप्रजस्य ते ।
प्रजाशाया निवृत्तस्य प्रजा यत्समपद्यत ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

दिष्ट्या—सौभाग्यवश; भ्रातः—हे भाई; प्रवयसः—अधिक आयु वाले आपका; इदानीम्—इस समय; अप्रजस्य—सन्तानहीन का; ते—आपका; प्रजा-आशायाः निवृत्तस्य—जिसे इस अवस्था में पुत्र प्राप्ति की आशा न रह गई हो, उसका; प्रजा—पुत्र; यत्—जो भी; समपद्यत—भाग्यवश प्राप्त हो गया।

मेरे भाई नन्द महाराज, इस वृद्धावस्था में भी आपका कोई पुत्र न था और आप निराश हो चुके थे। अतः अब जबकि आपको पुत्र प्राप्त हुआ है, तो यह अत्यधिक सौभाग्य का लक्षण है।

तात्पर्य : सामान्यतया वृद्धावस्था में पुत्र उत्पन्न नहीं किया जा सकता। यदि भाग्यवश कोई सन्तान उत्पन्न भी हो तो वह लड़की होती है। इस तरह वसुदेव ने अप्रत्यक्ष रूप से नन्द महाराज से पूछा कि उन्हें पुत्र उत्पन्न हुआ है या पुत्री। वसुदेव जानते थे कि यशोदा को कन्या उत्पन्न हुई है, जिसे वे चुरा लाए थे और उसके स्थान में पुत्र छोड़ आए थे। यह एक बहुत बड़ा रहस्य था और वसुदेव जानना चाहते थे कि नन्द महाराज को पहले से इसका भान है अथवा नहीं। किन्तु पूछने पर उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया कि कृष्ण-जन्म तथा यशोदा की देखरेख में उनके छोड़े जाने का रहस्य अब भी गुप्त है। इससे किसी प्रकार का खतरा न था क्योंकि कंस को पता नहीं था कि इससे पहले क्या हो चुका है।

दिष्ट्या संसारचक्रेऽस्मिन्वर्तमानः पुनर्भवः ।
उपलब्धो भवानद्य दुर्लभं प्रियदर्शनम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

दिष्ट्या—सौभाग्य से ही; संसार-चक्रे अस्मिन्—इस जन्म-मृत्यु वाले जगत में; वर्तमानः—विद्यमान होकर; पुनः-भवः—आपकी मेरी भेंट दूसरे जन्म की तरह है; उपलब्धः—मेरे द्वारा प्राप्त होकर; भवान्—आप; अद्य—आज; दुर्लभम्—यद्यपि इसे कभी घटित नहीं होना था; प्रिय-दर्शनम्—हे मित्र, आपको पुनः देखने के लिए।

यह मेरा सौभाग्य ही है कि मैं आपके दर्शन कर रहा हूँ। इस अवसर को प्राप्त करके मुझे ऐसा लग रहा है मानो मैंने फिर से जन्म लिया हो। इस जगत में उपस्थित रह कर भी मनुष्य के लिए अपने घनिष्ठ मित्रों तथा प्रिय सम्बन्धियों से मिल पाना अत्यन्त कठिन होता है।

तात्पर्य : चूँकि कंस ने वसुदेव को बंदी बना कर रखा था इसलिए मथुरा में होते हुए भी वे अनेक वर्षों तक नन्द महाराज का दर्शन नहीं कर सके थे। अतः जब वे फिर से मिले तो वसुदेव ने इस मिलन को दूसरा जन्म माना।

नैकत्र प्रियसंवासः सुहृदां चित्रकर्मणाम् ।
ओघेन व्यूह्यमानानां प्लवानां स्रोतसो यथा ॥ २५॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एकत्र—एक स्थान में; प्रिय-संवासः—अपने प्रिय मित्रों तथा सम्बन्धियों के साथ रहना; सुहृदाम्—मित्रों का; चित्र-कर्मणाम्—हम सबका जिन्हें अपने विगत कर्म के कारण नाना प्रकार के फल भोगने होते हैं; ओघेन—बल के द्वारा; व्यूह्यमानानाम्—ले जाया जाकर; प्लवानाम्—जल में तैरने वाले तिनके तथा अन्य पदार्थों का; स्रोतसः—लहरों का; यथा—जिस तरह।

लकड़ी के फट्टे और छड़ियाँ एकसाथ रुकने में असमर्थ होने से नदी की लहरों के वेग से बहा लिए जाते हैं। इसी तरह हम अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हुए भी

अपने नाना प्रकार के विगत कर्मों तथा काल की लहरों के कारण एकसाथ रहने में असमर्थ होते हैं।

तात्पर्य : वसुदेव दुख जता रहे थे क्योंकि वे तथा नन्द महाराज कभी एक-साथ नहीं रह पाये। फिर भी वे एकसाथ कैसे रह सकते थे? वसुदेव सावधान करते हैं कि घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर भी हम सभी काल की लहरों के द्वारा अपने विगत कर्म-फलों के अनुसार दूर बहा लिए जाते हैं।

कच्चित्पशव्यं निरुजं भूर्यम्बुतृणवीरुधम् ।
बृहद्वनं तदधुना यत्रास्से त्वं सुहृद्वृतः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—चाहे; पशव्यम्—गौवों की सुरक्षा; निरुजम्—बिना कष्ट या रोग के; भूरि—पर्याप्त; अम्बु—जल; तृण—घास; वीरुधम्—पौधे; बृहत् वनम्—विशाल जंगल; तत्—ये सारे प्रबन्ध वहाँ हैं; अधुना—अब; यत्र—जहाँ; आस्से—रह रहे हैं; त्वम्—तुम, आप; सुहृत्-वृतः—मित्रों से घिरे हुए।

हे मित्र नन्द महाराज, आप जिस स्थान में रह रहे हैं क्या वहाँ का जंगल पशुओं-गौवों के लिए अनुकूल है? आशा है कि वहाँ रोग या कोई असुविधा नहीं होगी। वह स्थान जल, घास तथा अन्य पौधों से भरा-पुरा होगा।

तात्पर्य : मानव सुख के लिए पशुओं, विशेष रूप से गौवों की देखभाल करनी चाहिए। इसीलिए वसुदेव ने पूछा कि क्या जहाँ नन्द महाराज रहते हैं वहाँ पशुओं के लिए अच्छा प्रबन्ध है? समुचित मानव सुख के लिए गौवों की रक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए। इसका अर्थ हुआ कि जंगल तथा घास और जल से पूर्ण पर्याप्त चरागाह होने चाहिए। यदि जानवर सुखी रहेंगे तो प्रचुर दूध मिलेगा जिससे मनुष्यों को तरह-तरह की वस्तुएँ प्राप्त हो सकेंगी जिनसे वे सुखपूर्वक जीवन बिता सकेंगे। *भगवद्गीता* (१८.४४) में आदेश है—*कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।* भला पशुओं को समुचित सुविधाएँ प्रदान किए बिना मानव समाज किस तरह सुखी बन सकता है? यह बहुत बड़ा पाप है कि लोग कसाईघर चलाने के लिए पशु-पालन कर रहे हैं। इस आसुरी कृत्य से लोग वास्तविक मानव जीवन का अपना अवसर विनष्ट कर रहे हैं। चूँकि वे कृष्ण के उपदेशों को कोई महत्त्व नहीं दे रहे इसलिए उनकी तथाकथित सभ्यता की प्रगति पागलखाने के लोगों के पागलपूर्ण प्रयासों की तरह है।

भ्रातर्मम सुतः कच्चिन्मात्रा सह भवद्व्रजे ।
तातं भवन्तं मन्वानो भवद्भ्यामुपलालितः ॥ २७॥

शब्दार्थ

भ्रातः—मेरे भाई; मम—मेरे; सुतः—पुत्र (रोहिणी पुत्र बलदेव); कच्चित्—क्या; मात्रा सह—अपनी माता रोहिणी के साथ; भवत्-व्रजे—अपने घर में; तातम्—पिता तुल्य; भवन्तम्—आपको; मन्वानः—सोचते हुए; भवद्भ्याम्—आप तथा आपकी पत्नी यशोदा द्वारा; उपलालितः—ठीक से पाले जाने से।

आप तथा यशोदा देवी के द्वारा पाले जाने के कारण मेरा पुत्र बलदेव आप दोनों को अपना माता-पिता मानता तो है न, वह आपके घर में अपनी असली माता रोहिणी के साथ शान्तिपूर्वक रह रहा है न!

पुंसस्त्रिवर्गो विहितः सुहृदो ह्यनुभावितः ।
न तेषु क्लिश्यमानेषु त्रिवर्गोऽर्थाय कल्पते ॥ २८॥

शब्दार्थ

पुंसः—मनुष्य का; त्रि-वर्गः—जीवन के तीन उद्देश्य (धर्म, अर्थ और काम); विहितः—वैदिक संस्कारों के अनुसार आदिष्ट; सुहृदः—सम्बन्धियों तथा मित्रों के प्रति; हि—निस्सन्देह; अनुभावितः—सही मार्ग में होने पर; न—नहीं; तेषु—उनमें; क्लिश्यमानेषु—क्लेश में पड़े हुए; त्रि-वर्गः—जीवन के तीन उद्देश्य; अर्थाय—किसी प्रयोजन के लिए; कल्पते—ऐसा हो जाता है।

जब किसी के मित्र तथा सम्बन्धीगण अपने-अपने पदों पर ठीक तरह से बने रहते हैं, तो वैदिक साहित्य में उल्लिखित उनके धर्म, अर्थ तथा काम लाभप्रद होते हैं। अन्यथा, मित्रों तथा सम्बन्धियों के क्लेशग्रस्त होने पर इन तीनों से कोई सुख नहीं मिल पाता।

तात्पर्य : वसुदेव ने नन्द महाराज से खेद व्यक्त किया कि पत्नी तथा सन्तानें होने पर भी वे उनका पालन करने का अपना कर्तव्य नहीं निभा पा रहे हैं अतएव वे दुखी हैं।

श्रीनन्द उवाच
अहो ते देवकीपुत्राः कंसेन बहवो हताः ।
एकावशिष्टावरजा कन्या सापि दिवं गता ॥ २९॥

शब्दार्थ

श्री-नन्दः उवाच—नन्द महाराज ने कहा; अहो—हाय; ते—तुम्हारे; देवकी-पुत्राः—तुम्हारी पत्नी के सारे पुत्र; कंसेन—कंस द्वारा; बहवः—अनेक; हताः—मारे गए; एका—एक; अवशिष्टा—बची हुई; अवरजा—सबसे छोटी; कन्या—कन्या; सा अपि—वह भी; दिवम् गता—स्वर्गलोक को चली गई।

नन्द महाराज ने कहा : हाय! राजा कंस ने देवकी से उत्पन्न तुम्हारे अनेक बालकों को मार डाला। और तुम्हारी सन्तानों में सबसे छोटी एक कन्या स्वर्गलोक को चली गई।

तात्पर्य : जब वसुदेव ने नन्द महाराज से यह जान लिया कि कृष्ण के जन्म तथा यशोदा की कन्या

से उनके बदले जाने का रहस्य अब भी खुला नहीं है, तो वे प्रसन्न थे कि सब कुछ ठीक से चल रहा है। यह कहकर कि वसुदेव की सबसे छोटी सन्तान उनकी पुत्री स्वर्गलोक चली गई, नन्द महाराज ने यह इंगित किया कि उन्हें यह ज्ञात नहीं कि यह कन्या यशोदा से जन्मी है और वसुदेव ने उसे कृष्ण से बदल लिया है। इस तरह वसुदेव की शंकाओं का निराकरण हो गया।

नूनं ह्यदृष्टनिष्ठोऽयमदृष्टपरमो जनः ।
अदृष्टमात्मनस्तत्त्वं यो वेद न स मुह्यति ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निश्चय ही; हि—निस्सन्देह; अदृष्ट—अनदेखा; निष्ठः अयम्—यही अन्त है; अदृष्ट—अदृष्ट प्रारब्ध; परमः—परम; जनः—संसार का हर जीव; अदृष्टम्—वही प्रारब्ध; आत्मनः—अपना ही; तत्त्वम्—परम सत्य; यः—जो; वेद—जानता है; न—नहीं; सः—वह; मुह्यति—मोहग्रस्त होता है।.

प्रत्येक व्यक्ति निश्चय ही प्रारब्ध द्वारा नियंत्रित होता है क्योंकि उसी से मनुष्य के सकाम कर्मों के फल निर्धारित होते हैं। दूसरे शब्दों में, अदृष्ट प्रारब्ध के कारण ही मनुष्य को पुत्र या पुत्री प्राप्त होती है और जब पुत्र या पुत्री नहीं रहते, तो वह भी अदृष्ट प्रारब्ध के ही कारण होता है। प्रारब्ध ही हर एक का अनन्तिम नियंत्रक है। जो इसे जानता है, वह कभी मोहग्रस्त नहीं होता।

तात्पर्य : नन्द महाराज ने अपने छोटे भाई वसुदेव को यह कहकर ढाढस बंधाया कि अंततोगत्वा प्रारब्ध ही प्रत्येक बात के लिए उत्तरदायी है। वसुदेव को इस बात से दुखी नहीं होना चाहिए कि उसकी अनेक संतानें कंस द्वारा मार दी गई हैं अथवा इसलिए कि उनकी अन्तिम संतान जो एक कन्या थी, स्वर्गलोक को चली गई है।

श्रीवसुदेव उवाच

करो वै वार्षिको दत्तो राज्ञे दृष्टा वयं च वः ।
नेह स्थेयं बहुतिथं सन्त्युत्पाताश्च गोकुले ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-वसुदेवः उवाच—श्री वसुदेव ने उत्तर दिया; करः—कर; वै—निस्सन्देह; वार्षिकः—वार्षिक (सालाना); दत्तः—दिया हुआ; राज्ञे—राजा को; दृष्टाः—देखा गया; वयम् च—हम दोनों; वः—तुम्हारा; न—नहीं; इह—इस स्थान में; स्थेयम्—रुकना, ठहरना; बहु-तिथम्—बहुत दिनों तक; सन्ति—हो सकते हैं; उत्पाताः च—अनेक उपद्रव; गोकुले—आपके घर गोकुल में।.

वसुदेव ने नन्द महाराज से कहा : मेरे भाई, अब तो आपने कंस को वार्षिक कर चुका दिया है और मुझसे भी भेंट कर ली है, अतः इस स्थान पर अब अधिक दिन मत रुको। गोकुल लौट

जाना बेहतर है क्योंकि मैं जानता हूँ कि वहाँ कुछ उपद्रव हो सकते हैं।

श्रीशुक उवाच
इति नन्दादयो गोपा: प्रोक्तास्ते शौरिणा ययु: ।
अनोभिरनडुद्युक्तैस्तमनुज्ञाप्य गोकुलम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; नन्द-आदय:—नन्द महाराज तथा उनके साथी; गोपा:—ग्वाले; प्रोक्ता:—सलाह दिए जाने पर; ते—वे; शौरिणा—वसुदेव द्वारा; ययु:—उस स्थान से रवाना हो गए; अनोभि:—बैलगाड़ियों द्वारा; अनडुत्-युक्तै:—बैलों से जुती; तम् अनुज्ञाप्य—वसुदेव से अनुमति लेकर; गोकुलम्—गोकुल के लिए।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब वसुदेव ने नन्द महाराज को इस प्रकार सलाह दी तो नन्द महाराज तथा उनके संगी ग्वालों ने वसुदेव से अनुमति ली, अपनी-अपनी गाड़ियों में बैल जोते और सवार होकर गोकुल के लिए प्रस्थान कर गये।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''नन्द महाराज तथा वसुदेव की भेंट'' नामक पाँचवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छह

पूतना वध

छठे अध्याय का सारांश इस प्रकार है—

जब नन्द महाराज वसुदेव के आदेशानुसार घर लौट रहे थे तो उन्होंने मार्ग पर एक विशाल राक्षसी को पड़े देखा और बाद में उसकी मृत्यु के बारे में भी सुना।

जब व्रज के राजा नन्द महाराज गोकुल में होने वाले उत्पातों के बारे में वसुदेव के शब्दों पर विचार कर रहे थे तो वे कुछ भयभीत थे और उन्होंने श्री हरि के चरणकमलों में शरण ग्रहण की। उसी बीच कंस ने गोकुल गाँव में पूतना नाम की एक राक्षसी भेजी जो इधर-उधर घूम-घूमकर छोटे-छोटे बच्चों को मार डालती थी। निस्सन्देह जहाँ कृष्णभावनामृत नहीं है, वहाँ ऐसी राक्षसिनियों का खतरा रहता है, किन्तु जिस गोकुल में साक्षात् भगवान् हों वहाँ पूतना को अपनी ही मृत्यु के अतिरिक्त और क्या मिल सकता था!

एक दिन पूतना बाह्य आकाश से नन्द महाराज के घर गोकुल में पहुँची और अपनी योगशक्ति से

अति सुन्दर स्त्री का रूप धारण कर लिया। वह साहस करके बिना किसी की अनुमति लिए सीधे कृष्ण के शयन–कक्ष में घुस गई। कृष्णकृपा से उसे किसी ने घर में या कमरे में घुसने से मना नहीं किया क्योंकि कृष्ण की ऐसी ही इच्छा थी। बालक कृष्ण ने जो राख से ढकी अग्नि के समान थे, पूतना को देखा और सोचा कि मुझे इस सुन्दर स्त्री के रूप वाली राक्षसिनी का वध करना होगा। योगमाया तथा भगवान् के प्रभाव से मोहित होकर पूतना ने कृष्ण को अपनी गोद में ले लिया तो न तो रोहिणी ने मना किया, न ही यशोदा ने। तब पूतना कृष्ण को अपने स्तन पिलाने लगी, किन्तु उनमें विष चुपड़ा हुआ था। इसलिए बालक कृष्ण ने उसके स्तन इतनी जोर–जोर से चूसे कि उसे असह्य पीड़ा हुई जिससे वह अपना असली रूप में आकर भूमि पर गिर पड़ी। तब कृष्ण उसके स्तन पर एक छोटे शिशु की तरह खेलने लगे। उन्हें खेलता हुआ देखकर गोपियों को राहत हुई और उन्होंने बच्चे को अपनी गोद में उठा लिया। इस घटना के बाद गोपियाँ चौकन्नी रहने लगीं जिससे कोई राक्षसिनी आक्रमण न करे। तब माता यशोदा ने बालक को अपना दूध पिलाया और बिस्तर पर लिटा दिया।

तब तक नन्द तथा उनके संगी ग्वाले मथुरा से लौट आए थे और जब उन्होंने पूतना के विशाल मृत शरीर को देखा तो वे हक्के–बक्के रह गए। हर एक को आश्चर्य हो रहा था कि वसुदेव ने इस दुर्घटना का पूर्वानुमान लगा लिया था। अत: सारे लोग वसुदेव की दूरदृष्टि की प्रशंसा करने लगे। व्रजवासियों ने पूतना के शरीर के खंड–खंड कर डाले, किन्तु कृष्ण द्वारा स्तनपान किए जाने से उसके सारे पाप दूर हो चुके थे अत: जब ग्वालों ने उन टुकड़ों का अग्निदाह किया, तो उससे उठे धुएँ से चारों ओर की वायु आनंदमय सुगंध से भर गई। इस तरह यद्यपि पूतना ने कृष्ण को मार डालना चाहा था वह भगवद्धाम पहुँच गई। इस घटना से हमें यह शिक्षा मिलती है कि यदि कोई व्यक्ति कृष्ण से थोड़ा–बहुत भी लगाव रखता है, चाहे वह शत्रुभाव से क्यों न हो, तो उसे सफलता अवश्य मिलती है। भला उन भक्तों के विषय में क्या कहा जाए जो कृष्ण प्रेम में सहज ही अनुरक्त रहते हैं? जब व्रजवासियों ने पूतना–वध तथा शिशु की कुशलता का समाचार सुना तो वे अत्यधिक प्रसन्न हुए। नन्द महाराज ने बालक को अपनी गोद में उठा लिया और सन्तोष की साँस ली।

श्रीशुक उवाच

नन्दः पथि वचः शौरेर्न मृषेति विचिन्तयन् ।

हरिं जगाम शरणमुत्पातागमशङ्कितः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; नन्दः—नन्द महाराज ने; पथि—घर आते हुए, रास्ते में; वचः—शब्द; शौरेः—वसुदेव के; न—नहीं; मृषा—निरर्थक; इति—इस प्रकार; विचिन्तयन्—अपने पुत्र के अशुभ के विषय में सोच कर; हरिम्—भगवान्, नियन्ता की; जगाम—ग्रहण की; शरणम्—शरण; उत्पात—उपद्रवों की; आगम—आशा से; शङ्कितः—भयभीत हुए।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्! जब नन्द महाराज घर वापस आ रहे थे तो उन्होंने विचार किया कि वसुदेव ने जो कुछ कहा था वह असत्य या निरर्थक नहीं हो सकता। अवश्य ही गोकुल में उत्पातों के होने का कुछ खतरा रहा होगा। ज्योंही नन्द महाराज ने अपने सुन्दर पुत्र कृष्ण के लिए खतरे के विषय में सोचा त्योंही वे भयभीत हो उठे और उन्होंने परम नियन्ता के चरणकमलों में शरण ली।

तात्पर्य : जब कभी कोई संकट आ पड़ता है, तो शुद्ध भक्त सदैव भगवान् द्वारा दी जाने वाली संरक्षण तथा आश्रया के विषय में सोचता है। *भगवद्गीता* में भी (९.३३) इसी का उपदेश है—*अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।* इस जगत में पग पग पर संकट (विपदा) है (*पदं पदं यद्विपदाम्*)। अतएव भक्त के लिए पद-पद पर भगवान् की शरण में जाने के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं रहता।

कंसेन प्रहिता घोरा पूतना बालघातिनी ।
शिशूंश्चचार निघ्नन्ती पुरग्रामव्रजादिषु ॥ २ ॥

शब्दार्थ

कंसेन—कंस द्वारा; प्रहिता—पहले से लगाई गई; घोरा—अत्यन्त भयानक; पूतना—पूतना नामक; बाल-घातिनी—राक्षसी; शिशून्—छोटे छोटे बच्चों को; चचार—घूमती रहती थी; निघ्नन्ती—मारती हुई; पुर-ग्राम-व्रज-आदिषु—नगरों, गाँवों में इधर उधर।

जब नन्द महाराज गोकुल लौट रहे थे तो वही विकराल पूतना, जिसे कंस ने बच्चों को मारने के लिए पहले से नियुक्त कर रखा था, नगरों तथा गाँवों में घूम घूम कर अपना नृशंस कृत्य कर रही थी।

न यत्र श्रवणादीनि रक्षोघ्नानि स्वकर्मसु ।
कुर्वन्ति सात्वतां भर्तुर्यातुधान्यश्च तत्र हि ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यत्र—जहाँ; श्रवण-आदीनि—श्रवण, कीर्तन इत्यादि भक्तियोग के कार्य; रक्षः-घ्नानि—समस्त विपदाओं तथा अशुभों को मारने की ध्वनि; स्व-कर्मसु—अपने काम में लगी; कुर्वन्ति—ऐसे कार्य किये जाते हैं; सात्वताम् भर्तुः—भक्तों के रक्षक के; यातुधान्यः—बुरे लोग, उत्पाती; च—भी; तत्र हि—हो न हो।.

हे राजन्! जहाँ भी लोग कीर्तन तथा श्रवण द्वारा भक्तिकार्यों की अपनी वृत्तियों में लगे रहते हैं (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*) वहाँ बुरे लोगों से किसी प्रकार का खतरा नहीं रहता। जब साक्षात् भगवान् वहाँ विद्यमान हों तो गोकुल के विषय में किसी प्रकार की चिन्ता की आवश्यकता नहीं थी।

तात्पर्य : शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित की चिन्ता दूर करने के लिए ही यह श्लोक कहा। चूँकि महाराज परीक्षित कृष्णभक्त थे अतएव जब उन्होंने समझा कि गोकुल में पूतना उत्पात मचा रही थी तो वे कुछ कुछ उद्विग्न हो उठे। इसलिए शुकदेव गोस्वामी ने उन्हें आश्वस्त किया कि गोकुल में कोई खतरा नहीं था। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर का गीत है : *नामाश्रय करिऽ यतने तुमि, थाकह आपन काजे।* इसलिए हर एक को सलाह दी जाती है कि वह हरे कृष्ण महामंत्र कीर्तन का आश्रय ग्रहण करे और अपने कार्य में लगा रहे। इसमें कोई हानि नहीं किन्तु लाभ अथाह है। यहाँ तक कि भौतिक दृष्टि से भी सभी प्रकार के खतरों से बचने के लिए हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करना चाहिए। यह जगत खतरे से पूर्ण है (*पदं पदं यद्विपदाम्*)। इसलिए हमें हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करने के लिए प्रोत्साहित होना चाहिए जिससे हमारे परिवार, समाज, पड़ोस तथा देश के सारे काम आसानी से चलें और कोई खतरा न रहे।

सा खेचर्येकदोत्पत्य पूतना नन्दगोकुलम् ।
योषित्वा माययात्मानं प्राविशत्कामचारिणी ॥ ४॥

शब्दार्थ

सा—वह (पूतना); खे-चरी—आकाश मार्ग में यात्रा करने वाली; एकदा—एक बार; उत्पत्य—उड़ते हुए; पूतना—पूतना; नन्द-गोकुलम्—नन्द महाराज के स्थान, गोकुल में; योषित्वा—सुन्दर स्त्री का वेश धारण करके; मायया—योगशक्ति से; आत्मानम्—अपने आपको; प्राविशत्—प्रवेश किया; काम-चारिणी—इच्छानुसार विचरण करने वाली।.

एक बार स्वेच्छा से विचरण करने वाली पूतना राक्षसी बाह्य आकाश (अन्तरिक्ष) में घूम रही थी तो वह अपनी योगशक्ति से अपने को अति सुन्दर स्त्री के रूप में बदलकर नन्द महाराज के स्थान गोकुल में प्रविष्ट हुई।

तात्पर्य : राक्षसी याँ ऐसी योगशक्ति जानती हैं जिनसे वे यंत्रों के बिना ही बाह्य आकाश में यात्रा

कर सकती हैं। आज भी भारत के कुछ भागों में ऐसी डाइनें (जादूगरनियाँ) हैं, जो डंडे पर बैठकर पलक मारते एक स्थान से दूसरे स्थान पहुँच जाती हैं। पूतना को यह कला आती थी। उसने सुन्दर स्त्री का वेश धारण कर नन्द महाराज के धाम गोकुल में प्रवेश किया।

तां केशबन्धव्यतिषक्तमल्लिकां
बृहन्नितम्बस्तनकृच्छ्रमध्यमाम् ।
सुवाससं कल्पितकर्णभूषण-
त्विषोल्लसत्कुन्तलमण्डिताननाम् ॥ ५ ॥
वल्गुस्मितापाङ्गविसर्गवीक्षितै-
र्मनो हरन्तीं वनितां व्रजौकसाम् ।
अमंसताम्भोजकरेण रूपिणीं
गोप्यः श्रियं द्रष्टुमिवागतां पतिम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उसको; केश-बन्ध-व्यतिषक्त-मल्लिकाम्—जिसके जूड़े मल्लिका के फूलों की मालाओं से सजाये गये थे; बृहत्—बहुत बड़े; नितम्ब-स्तन—अपने कूल्हों तथा दृढ़ स्तनों से; कृच्छ्र-मध्यमाम्—पतली कमर के भार से नत; सु-वाससम्—अच्छे वस्त्रों से सज्जित; कल्पित-कर्ण-भूषण—कानों में पहने कुण्डलों की; त्विषा—चमक से; उल्लसत्—अत्यन्त आकर्षक; कुन्तल-मण्डित-आननाम्—काले बालों से घिरे सुन्दर मुखमण्डल वाली; वल्गु-स्मित-अपाङ्ग-विसर्ग-वीक्षितैः—हास्ययुक्त चितवन से; मनः हरन्तीम्—मन को हरती हुई; वनिताम्—अत्यन्त आकर्षक स्त्री ने; व्रज-ओकसाम्—गोकुलवासियों को; अमंसत—सोचा; अम्भोज—कमल लिये हुए; करेण—हाथ से; रूपिणीम्—अत्यन्त सुन्दर; गोप्यः—गोकुल की रहने वाली गोपियाँ; श्रियम्—लक्ष्मी; द्रष्टुम्—देखने के लिए; इव—मानो; आगताम्—आई हो; पतिम्—पति को।

उसके नितम्ब भारी थे, उसके स्तन सुदृढ़ तथा विशाल थे जिससे उसकी पतली कमर पर अधिक बोझ पड़ता प्रतीत हो रहा था। वह अत्यन्त सुन्दर वस्त्र धारण किये थी। उसके केश मल्लिका फूल की माला से सुसज्जित थे जो उसके सुन्दर मुख पर बिखरे हुए थे। उसके कान के कुण्डल चमकीले थे। वह हर व्यक्ति पर दृष्टि डालते हुए आकर्षक ढंग से मुसका रही थी। उसकी सुन्दरता ने व्रज के सारे निवासियों का विशेष रूप से पुरुषों का ध्यान आकृष्ट कर रखा था। जब गोपियों ने उसे देखा तो उन्होंने सोचा कि हाथ में कमल का फूल लिए लक्ष्मी जी अपने पति कृष्ण को देखने आई हैं।

बालग्रहस्तत्र विचिन्वती शिशून्
यदृच्छया नन्दगृहेऽसदन्तकम् ।
बालं प्रतिच्छन्ननिजोरुतेजसं
ददर्श तल्पेऽग्निमिवाहितं भसि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

बाल-ग्रहः—डाइन, जिसका काम छोटे-छोटे बच्चों को मारना है; तत्र—वहाँ खड़ी; विचिन्वती—सोचती हुई, ढूँढती हुई; शिशून्—बालकों के; यदृच्छया—स्वतंत्र रूप से; नन्द-गृहे—नन्द महाराज के घर में; असत्-अन्तकम्—सारे असुरों को मारने में समर्थ; बालम्—बालक को; प्रतिच्छन्न—ढकी; निज-उरु-तेजसम्—अपनी असीम शक्ति को; ददर्श—देखा; तल्पे—बिस्तर पर (लेटा); अग्निम्—अग्नि को; इव—सदृश्य; आहितम्—ढकी; भसि—राख के भीतर।

छोटे छोटे बालकों को ढूँढती हुई बच्चों का वध करने वाली पूतना बिना किसी रोकटोक के नन्द महाराज के घर में घुस गई क्योंकि वह भगवान् की परा शक्ति द्वारा भेजी गई थी। वह किसी से पूछे बिना नन्द महाराज के उस कमरे में घुस गई जहाँ उसने बालक को बिस्तरे पर सोते देखा जो राख में ढकी अग्नि के समान असीम शक्ति-सम्पन्न था। वह समझ गई कि यह बालक कोई साधारण बालक नहीं है, अपितु सारे असुरों का वध करने के हेतु आया है।

तात्पर्य : असुरगण सदैव उत्पात मचाते और हत्या करते रहते हैं, किन्तु नन्द महाराज के घर में बिस्तर पर लेटा बालक असुरों का वध करने के लिए उत्पन्न हुआ था।

विबुध्य तां बालकमारिकाग्रहं
चराचरात्मा स निमीलितेक्षणः ।
अनन्तमारोपयदङ्कमन्तकं
यथोरगं सुप्तमबुद्धिरज्जुधीः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

विबुध्य—समझ कर; ताम्—उसको (पूतना को); बालक-मारिका-ग्रहम्—बालकों को मारने में पटु डाइन को; चर-अचर-आत्मा—सर्वव्यापक परमात्मा कृष्ण; सः—उसने; निमीलित-ईक्षणः—अपनी आँखें बन्द कर लीं; अनन्तम्—असीम; आरोपयत्—रख लिया; अङ्कम्—अपनी गोद में; अन्तकम्—अपने विनाश के लिए; यथा—जिस तरह; उरगम्—साँप को; सुप्तम्—सोये हुए; अबुद्धि—बुद्धिहीन व्यक्ति; रज्जु-धीः—साँप को रस्सी समझने वाला।

बिस्तर पर लेटे सर्वव्यापी परमात्मा कृष्ण ने समझ लिया कि छोटे बालकों को मारने में पटु यह डाइन पूतना मुझे मारने आई है। अतएव उन्होंने अपनी आँखें बन्द कर लीं मानो उससे डर गये हों। तब पूतना ने अपने विनाश-रूप कृष्ण को अपनी गोद में ले लिया जिस तरह कि बुद्धिहीन मनुष्य सोते साँप को रस्सी समझ कर अपनी गोद में ले लेता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में दो जटिलताएँ हैं। जब कृष्ण ने देखा कि पूतना मुझे मारने आई है, तो उन्होंने सोचा कि क्योंकि यह स्त्री मातृ-स्नेह दिखाने आई है भले ही वह कृत्रिम ही क्यों न हो अत: उसे वर देना चाहिए। फलत: उन्होंने कुछ चिन्ता से उसे देखा और फिर अपनी आँखें बन्द कर लीं। पूतना राक्षसी भी सकपकाई थी। वह इतनी बुद्धिमान न थी जो समझ पाती कि वह सोते सर्प को अपनी

गोद में ले रही है; उसने सर्प को सामान्य रस्सी समझा। *अन्तकम्* तथा *अनन्तम्*—ये दोनों शब्द परस्पर विरोधी हैं। बुद्धिमान न होने के कारण पूतना ने सोचा कि वह अपने *अन्तकम्* अर्थात् काल को मार सकती है किन्तु *अनन्त* होने से उस बालक को कोई नहीं मार सकता था।

तां तीक्ष्णचित्तामतिवामचेष्टितां
वीक्ष्यान्तरा कोषपरिच्छदासिवत् ।
वरस्त्रियं तत्प्रभया च धर्षिते
निरीक्ष्यमाणे जननी ह्यतिष्ठताम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उस (पूतना राक्षसी को); तीक्ष्ण-चित्ताम्—बच्चों का वध करने के लिए अत्यन्त पाषाण हृदय वाली; अति-वाम-चेष्टिताम्—यद्यपि वह बच्चे के साथ माता से भी अधिक अच्छा बर्ताव करने का प्रयास कर रही थी; वीक्ष्य अन्तरा—कमरे के भीतर उसे देख कर; कोष-परिच्छद-असि-वत्—मुलायम म्यान के भीतर तेज तलवार की तरह; वर-स्त्रियम्—सुन्दर स्त्री के; तत्-प्रभया—उसके प्रभाव से; च—भी; धर्षिते—अभिभूत, विह्वल; निरीक्ष्यमाणे—देख रही थीं; जननी—दोनों माताएँ; हि—निश्चय ही; अतिष्ठताम्—वे मौन रह गईं।

पूतना राक्षसी का हृदय कठोर एवं क्रूर था किन्तु ऊपर से वह अत्यन्त स्नेहमयी माता सदृश लग रही थी। वह मुलायम म्यान के भीतर तेज तलवार जैसी थी। यद्यपि यशोदा तथा रोहिणी ने उसे कमरे के भीतर देखा किन्तु उसके सौन्दर्य से अभिभूत होने के कारण उन्होंने उसे रोका नहीं अपितु वे मौन रह गईं क्योंकि वह बच्चे के साथ मातृवत् व्यवहार कर रही थी।

तात्पर्य : यद्यपि पूतना बाहरी स्त्री थी और साक्षात् भयानक काल थी क्योंकि उसके हृदय में बालक को मार डालने का संकल्प था किन्तु जब वह आई और उसने बालक को अपनी गोद में ले लिया तो बालक की माताएँ उसके सौन्दर्य पर इतनी मुग्ध हो गईं कि उन्होंने उसे ऐसा करने से रोका भी नहीं। कभी-कभी सुन्दर स्त्री अत्यन्त घातक होती है क्योंकि लोग उसकी ब्राह्य सुन्दरता पर मोहित होकर (*मायामोहित*) यह नहीं समझ पाते कि उसके मन में आखिर है क्या! जो लोग बहिरंगा शक्ति के सौन्दर्य द्वारा मुग्ध हो जाते हैं, वे *मायामोहित* कहलाते हैं। *मोहितं नाभिजानाति मामेभ्य: परमव्ययम्* (*भगवद्गीता* ७.१३)। *न ते विदु:स्वार्थगतिं हि विष्णुंदुराशया ये बहिरर्थमानिन:* (*श्रीमद्भागवत* ७.५.३१)। यहाँ पर रोहिणी तथा यशोदा दोनों माताएँ बाह्य शक्ति से मुग्ध अर्थात् मायामोहित न थीं अपितु भगवान् की लीला के विकास हेतु योगमाया द्वारा वे मुग्ध कर दी गईं। योगमाया का कार्य ही है ऐसा *मायामोह*।

तस्मिन्स्तनं दुर्जरवीर्यमुल्बणं
घोराङ्कमादाय शिशोर्ददावथ ।
गाढं कराभ्यां भगवान्प्रपीड्य तत्-
प्राणैः समं रोषसमन्वितोऽपिबत् ॥ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस स्थान में; स्तनम्—स्तन; दुर्जर-वीर्यम्—विष से मिश्रित अत्यन्त शक्तिशाली हथियार; उल्बणम्—भयंकर; घोरा—अत्यन्त खूँखार पूतना; अङ्कम्—अपनी गोद में; आदाय—रखकर; शिशोः—बालक के मुख में; ददौ—दिया; अथ—तत्पश्चात्; गाढम्—अत्यन्त कठोर; कराभ्याम्—दोनों हाथों से; भगवान्—भगवान्; प्रपीड्य—पीड़ा पहुँचाते हुए; तत्-प्राणैः—उसके प्राण; समम्—के साथ; रोष-समन्वितः—उस पर क्रुद्ध होकर; अपिबत्—स्तनपान किया।

उसी जगह भयानक तथा खूँख्वार राक्षसी ने कृष्ण को अपनी गोद में ले लिया और उनके मुँह में अपना स्तन दे दिया। उसके स्तन के चूँचुक में घातक एवं तुरन्त प्रभाव दिखाने वाला विष चुपड़ा हुआ था किन्तु भगवान् कृष्ण उस पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उसके स्तन को पकड़ कर अपने हाथों से कड़ाई से निचोड़ा और विष तथा उसके प्राण दोनों चूस डाले।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण पूतना पर अपने लिए क्रुद्ध नहीं थे प्रत्युत इसलिए कि उस राक्षसी ने व्रजभूमि के अनेक नन्हें बालकों को मार डाला था। इसलिए उन्होंने निश्चय किया कि उसके प्राण लेकर उसे दण्ड दिया जाय।

सा मुञ्च मुञ्चालमिति प्रभाषिणी
निष्पीड्यमानाखिलजीवमर्मणि ।
विवृत्य नेत्रे चरणौ भुजौ मुहु:
प्रस्विन्नगात्रा क्षिपती रुरोद ह ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सा—वह (पूतना); मुञ्च—छोड़ो; मुञ्च—छोड़ो; अलम्—बस! बस!; इति—इस प्रकार; प्रभाषिणी—चिल्लाती; निष्पीड्यमाना—बुरी तरह दबाई जाकर; अखिल-जीव-मर्मणि—सारे मर्मस्थलों में; विवृत्य—खोल कर; नेत्रे—दोनों आँखें; चरणौ—दोनों पाँव; भुजौ—दोनों हाथ; मुहुः—पुनः पुनः; प्रस्विन्न-गात्रा—पसीने से तर शरीर; क्षिपती—फेंकते हुए; रुरोद—जोर से चिल्लाई; ह—निस्सन्देह।

प्रत्येक मर्मस्थल में असह्य दबाव से पूतना चिल्ला उठी, ''मुझे छोड़ दो, मुझे छोड़ दो! अब मेरा स्तनपान मत करो।'' पसीने से तर, फटी हुई आँखें तथा हाथ और पैर पटकती हुई वह बार-बार जोर जोर से चिल्लाने लगी।

तात्पर्य : कृष्ण ने इस राक्षसी को बुरी तरह दण्ड दिया। वह हाथ-पैर इधर-उधर पटकने लगी और अपने दुष्कर्मों का दण्ड देने के लिए कृष्ण भी उसे लतियाने लगे।

तस्याः स्वनेनातिगभीररंहसा
साद्रिर्मही द्यौश्च चचाल सग्रहा ।
रसा दिशश्च प्रतिनेदिरे जनाः
पेतुः क्षितौ वज्रनिपातशङ्कया ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तस्याः—विकट राक्षसी पूतना की; स्वनेन—ध्वनि से; अति—अत्यन्त; गभीर—गहन; रंहसा—शक्तिशाली; स-अद्रिः—पर्वतों समेत; मही—पृथ्वी; द्यौः च—तथा आकाश; चचाल—हिलने लगे; स-ग्रहा—तारों समेत; रसा—पृथ्वी लोक के नीचे; दिशः च—तथा सारी दिशाएँ; प्रतिनेदिरे—गूँजने लगीं; जनाः—लोग; पेतुः—गिर पड़े; क्षितौ—पृथ्वी पर; वज्र-निपात-शङ्कया—इस आशंका से कि वज्रपात हुआ है।

पूतना की गहन तथा जोरदार चीत्कार से पर्वतों समेत पृथ्वी तथा ग्रहों समेत आकाश डगमगाने लगा। नीचे के लोक तथा सारी दिशाएँ थरथरा उठीं और लोग इस आशंका से गिर पड़े कि उन पर बिजली गिर रही हो।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की टिप्पणी है कि इस श्लोक में *रसा* शब्द पृथ्वी के नीचे के लोकों का—रसातल, अतल, वितल, सुतल तथा तलातल का द्योतक है।

इशाचरीत्थं व्यथितस्तना व्यसुर्
व्यादाय केशांश्चरणौ भुजावपि ।
प्रसार्य गोष्ठे निजरूपमास्थिता
वज्राहतो वृत्र इवापतन्नृप ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

निशा-चरी—राक्षसी ने; इत्थम्—इस तरह; व्यथित-स्तना—स्तन पर दबाब पड़ने से दुखी; व्यसुः—प्राण छोड़ दिया; व्यादाय—मुँह फैला कर; केशान्—बालों का गुच्छा; चरणौ—दोनों पाँव; भुजौ—दोनों हाथ; अपि—भी; प्रसार्य—पसार कर; गोष्ठे—गोचर में; निज-रूपम् आस्थिता—अपने मूल आसुरी रूप में स्थित; वज्र-आहतः—इन्द्र के वज्र से मरा हुआ; वृत्रः—वृत्रासुर; इव—सदृश; अपतत्—गिर पड़ी; नृप—हे राजन्।

इस तरह कृष्ण द्वारा स्तन पर दबाव डालने से अत्यन्त व्यथित पूतना ने अपने प्राण त्याग दिये। हे राजा परीक्षित, वह अपना मुँह फैलाये तथा अपने हाथ, पाँव पसारे और बाल फैलाये अपने मूल राक्षसी रूप में गोचर में गिर पड़ी मानो इन्द्र के वज्र से आहत वृत्रासुर गिरा हो।

तात्पर्य : पूतना दुर्दांत राक्षसी थी जिसे योगशक्ति द्वारा अपने मूल रूप को छिपाने की कला ज्ञात थी किन्तु जब वह मर गई तो उसकी योगशक्ति उसे छिपा न पाई जिससे वह अपने मूल रूप में प्रकट हो गई।

अतमानोऽपि तद्देहस्त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमान् ।
चूर्णयामास राजेन्द्र महदासीत्तदद्भुतम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

पतमानः अपि—गिरते हुए भी; तत्-देहः—उसका विशाल शरीर; त्रि-गव्यूति-अन्तर—बारह मील की सीमा के भीतर; द्रुमान्—सारे वृक्षों को; चूर्णयाम् आस—चूर चूर कर दिये; राजेन्द्र—हे राजा परीक्षित; महत् आसीत्—बहुत विशाल था; तत्—वह शरीर; अद्भुतम्—तथा अत्यन्त विचित्र।

हे राजा परीक्षित, जब पूतना का विशाल शरीर भूमि पर गिरा तो उससे बारह मील के दायरे के सारे वृक्ष चूर चूर हो गये। अपने विशाल शरीर में प्रकट होने से वह सचमुच असामान्य थी।

तात्पर्य : कृष्ण द्वारा स्तनपान किये जाने से जो पीड़ा हुई उससे मरते समय पूतना ने न केवल मकान छोड़ दिया अपितु उसने वह गाँव भी छोड़ दिया और उसका विशाल शरीर चरागाह में गिर पड़ा।

ईषामात्रोग्रदंष्ट्रास्यं गिरिकन्दरनासिकम् ।
गण्डशैलस्तनं रौद्रं प्रकीर्णारुणमूर्धजम् ॥ १५॥
अन्धकूपगभीराक्षं पुलिनारोहभीषणम् ।
बद्धसेतुभुजोर्वङ्घ्रि शून्यतोयह्रदोदरम् ॥ १६॥
सन्तत्रसुः स्म तद्वीक्ष्य गोपा गोप्यः कलेवरम् ।
पूर्वं तु तन्निःस्वनितभिन्नहृत्कर्णमस्तकाः ॥ १७॥

शब्दार्थ

ईषा-मात्र—हल के फाल की तरह; उग्र—भयानक; दंष्ट्र—दाँत; आस्यम्—मुँह के भीतर; गिरि-कन्दर—पर्वत की गुफा के समान; नासिकम्—नाक के छेद; गण्ड-शैल—पत्थर की बड़ी शिला की तरह; स्तनम्—स्तन; रौद्रम्—अत्यन्त विकराल; प्रकीर्ण—बिखरे हुए; अरुण-मूर्ध-जम्—ताम्र रंग के बालों वाली; अन्ध-कूप—भूपट्ट कुओं की तरह; गभीर—गहरे; अक्षम्—आँख के गड्ढे; पुलिन-आरोह-भीषणम्—जिसकी जाँघें नदी के किनारों की तरह भयावनी थीं; बद्ध-सेतु-भुज-उरु-अङ्घ्रि—जिसकी भुजाएँ, जाँघें तथा पैर मजबूत बने पुलों के समान थे; शून्य-तोय-ह्रद-उदरम्—जिसका पेट जलविहीन झील की तरह था; सन्तत्रसुः स्म—डर गये; तत्—उस; वीक्ष्य—देखकर; गोपाः—सारे ग्वाले; गोप्यः—तथा ग्वालिनें; कलेवरम्—ऐसे विशाल शरीर को; पूर्वम् तु—इसके पहले; तत्-निःस्वनित—उसकी पुकार से; भिन्न—दहले हुए, कटे; हृत्—जिनके हृदय; कर्ण—कान; मस्तकाः—तथा सिर।

राक्षसी के मुँह में दाँत हल के फाल (कुशी) जैसे थे; उसके नथुने पर्वत-गुफाओं की तरह गहरे थे और उसके स्तन पर्वत से गिरे हुए बड़े बड़े शिलाखण्डों के समान थे। उसके बिखरे बाल ताम्र रंग के थे। उसकी आँखों के गड्ढे गहरे अंधे (भूपट्ट) कुँओं जैसे थे, उसकी भयानक जाँघें नदी के किनारों जैसी थीं; उसके बाजू, टाँगें तथा पाँव बड़े बड़े पुलों की तरह थीं तथा उसका पेट सूखी झील की तरह लग रहा था। राक्षसी की चीख से ग्वालों तथा उनकी पत्नियों के हृदय, कान तथा सिर पहले ही दहल चुके थे और जब उन्होंने उसके अद्भुत शरीर को देखा तो वे और

भी ज्यादा सहम गये।

बालं च तस्या उरसि क्रीडन्तमकुतोभयम् ।
गोप्यस्तूर्णं समभ्येत्य जगृहुर्जातसम्भ्रमाः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

बालम् च—बालक भी; तस्याः—उस (पूतना) के; उरसि—छाती पर; क्रीडन्तम्—खेलने में व्यस्त; अकुतोभयम्—निडर होकर; गोप्यः—सारी गोपियाँ; तूर्णम्—तुरन्त; समभ्येत्य—पास आकर; जगृहुः—उठा लिया; जात-सम्भ्रमाः—उसी स्नेह के साथ।.

बालक कृष्ण भी निडर होकर पूतना की छाती के ऊपरी भाग पर खेल रहा था और जब गोपियों ने बालक के अद्भुत कार्यकलाप को देखा तो उन्होंने अत्यन्त हर्षित होकर आगे बढ़ते हुए उसे उठा लिया।

तात्पर्य : ये हैं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण। यद्यपि योगशक्ति से पूतना अपने शरीर को घटा-बढ़ा सकती थी और उसी के अनुसार शक्ति प्राप्त करती थी किन्तु भगवान् चाहे जिस भी रूप में क्यों न हों, समान रूप से शक्तिशाली रहते हैं। कृष्ण असली भगवान् हैं क्योंकि चाहे वे बालक हों या युवक, वे रहते हैं वही पुरुष, उन्हें ध्यान या किसी अन्य बाह्य प्रयास से शक्तिशाली बनने की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए जब बिकट शक्तिशालिनी पूतना ने अपना शरीर बढ़ाया तो कृष्ण वैसे ही नन्हें बालक बने रहे और निडर होकर उसकी छाती के ऊपरी भाग पर खेलते रहे। *षडैश्वर्य-पूर्ण।* भगवान् चाहे जिस रूप में हों अपनी समस्त शक्तियों से सदैव पूर्ण रहते हैं। उनकी शक्तियाँ सदैव पूर्ण रहती हैं। *परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।* वे किसी भी परिस्थिति में अपनी सारी शक्तियों का प्रदर्शन कर सकते हैं।

यशोदारोहिणीभ्यां ताः समं बालस्य सर्वतः ।
रक्षां विदधिरे सम्यग्गोपुच्छभ्रमणादिभिः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यशोदा-रोहिणीभ्याम्—यशोदा तथा रोहिणी माताओं के साथ जिन्होंने मुख्यतः बालक की चिम्मेदारी ली; ताः—अन्य गोपियाँ; समम्—यशोदा तथा रोहिणी की ही तरह महत्त्वपूर्ण; बालस्य—बालक के; सर्वतः—सारे खतरों से; रक्षाम्—रक्षा; विदधिरे—सम्पन्न किया; सम्यक्—भलीभाँति; गो-पुच्छ-भ्रमण-आदिभिः—चँवर डुला कर ।.

तत्पश्चात् माता यशोदा तथा रोहिणी ने अन्य प्रौढ़ गोपियों समेत बालक श्रीकृष्ण की पूर्ण संरक्षण देने के लिए चँवर डुलाया।

तात्पर्य : जब कृष्ण इतने बड़े खतरे से बच गये तो माता यशोदा तथा रोहिणी को मुख्य रूप से

चिन्ता हो गई। अन्य वृद्धा गोपियों ने भी जो उन्हीं की तरह व्याकुल थीं, माता यशोदा तथा रोहिणी का अनुकरण किया। यहाँ हम पाते हैं कि घरेलू कार्यों में स्त्रियाँ बालक की रक्षा गाय की सहायता से ही करती थीं। वे जानती थीं कि बच्चे को सभी प्रकार के खतरों से बचाने के लिए किस प्रकार चँवर डुलायी जाती है। गोरक्षा से अनेक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं किन्तु लोग इन बातों को भूल चुके हैं। इसीलिए कृष्ण *भगवद्गीता* में गायों की सुरक्षा पर बल देते हैं (*कृषिगोरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्*)। आज भी वृन्दावन के आसपास के गाँवों के निवासी गाय की रक्षा करके सुखपूर्वक जीवन बिताते हैं। वे गोबर को अच्छे से सँभालकर रखते हैं और सुखा कर ईंधन की तरह उसका प्रयोग करते हैं। उनके पास पर्याप्त अन्न-भण्डार रहता है और गायों की रक्षा करने से उनके पास पर्याप्त दूध तथा दूध से बनने वाले पदार्थ होते हैं जिनसे सारी आर्थिक समस्याएँ हल हो जाती हैं। मात्र गोरक्षा से ग्रामीण लोग बड़ी शान्ति से रहते हैं। यहाँ तक कि गोमूत्र तथा गोबर के औषधीय उपयोग भी हैं।

गोमूत्रेण स्नापयित्वा पुनर्गोरजसार्भकम् ।
रक्षां चक्रुश्च शकृता द्वादशाङ्गेषु नामभिः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

गो-मूत्रेण—गायों के पेशाब से; स्नापयित्वा—नहला कर; पुनः—फिर से; गो-रजसा—गोधूलि से; अर्भकम्—छोटे बालक को; रक्षाम्—रक्षा; चक्रुः—सम्पन्न किया; च—भी; शकृता—गोबर से; द्वादश-अङ्गेषु—बारह जगहों में (द्वादश तिलक); नामभी:—भगवान् का नाम अंकित करके।

बालक को गोमूत्र से अच्छी तरह नहलाया गया और फिर गोधूलि से उसको लेप किया गया। फिर उनके शरीर में बारह अंगों पर, तिलक लगाने की भाँति माथे से शुरु करके, गोबर से भगवान् के विभिन्न नाम अंकित किये गये। इस तरह बालक को सुरक्षा प्रदान की गई।

गोप्यः संस्पृष्टसलिला अङ्गेषु करयोः पृथक् ।
न्यस्यात्मन्यथ बालस्य बीजन्यासमकुर्वत ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

गोप्यः—गोपियों ने; संस्पृष्ट-सलिलाः—जल के प्याले को छूकर तथा पीकर (आचमन करके); अङ्गेषु—अपने शरीरों पर; करयोः—दोनों हाथों पर; पृथक्—अलग अलग; न्यस्य—मंत्र के अक्षरों को रख कर; आत्मनि—अपने ऊपर; अथ—तब; बालस्य—बालक के; बीज-न्यासम्—मंत्रन्यास की विधि; अकुर्वत—सम्पन्न की।

गोपियों ने सर्वप्रथम अपने दाहिने हाथ से जल का एक घूँट पी कर आचमन किया। उन्होंने अपने शरीरों तथा हाथों को न्यास-मंत्र से शुद्ध बनाया और तब उन्होंने बालक के शरीर को भी

उसी मंत्र से परिशुद्ध किया।

तात्पर्य : *न्यासमन्त्र* में दाहिने हाथ में जल लेकर उसे पी कर आचमन किया जाता है। शरीर को शुद्ध करने के लिए भिन्न-भिन्न *विष्णुमन्त्र* हैं। गोपियाँ तथा वास्तव में सारे गृहस्थ वैदिक मंत्रों का उच्चारण करके शुद्ध बनने की विधि जानते थे। इस विधि से गोपियों ने सर्वप्रथम स्वयं को शुद्ध बनाया और फिर बालक कृष्ण को। *अंगन्यास* तथा *करन्यास* की विधि में थोड़ा जल पी कर मंत्र पढ़ा जाता है। मंत्र के पूर्व *ॐ नम:* उच्चारण किया जाता है—*ॐ नमोऽजस्तवाङ्घ्री अव्यात्, मं मनो मणिमांस्तव जानुनी अव्यात्।* भारतीय संस्कृति खो देने से भारतीय गृहस्थ यह भूल चुके हैं कि किस तरह अंगन्यास किया जाता है। वे एकमात्र इन्द्रियतृप्ति में लगे रहते हैं। उन्हें मानव सभ्यता का किसी तरह का उन्नत ज्ञान नहीं है।

अव्यादजोऽङ्घ्रि मणिमांस्तव जान्वथोरू
यज्ञोऽच्युत: कटितटं जठरं हयास्य: ।
हृत्केशवस्त्वदुर ईश इनस्तु कण्ठं
विष्णुर्भुजं मुखमुरुक्रम ईश्वर: कम् ॥ २२॥
चक्र्यग्रत: सहगदो हरिरस्तु पश्चात्
त्वत्पार्श्वयोर्धनुरसी मधुहाजनश्च ।
कोणेषु शङ्ख उरुगाय उपर्युपेन्द्रस्
तार्क्ष्य: क्षितौ हलधर: पुरुष: समन्तात् ॥ २३॥

शब्दार्थ

अव्यात्—रक्षा करे; अज:—भगवान् अज; अङ्घ्रि—पाँव; मणिमान्—भगवान् मणिमान; तव—तुम्हारे; जानु—घुटने; अथ—तत्पश्चात्; उरू—जाँघें; यज्ञ:—यज्ञदेव; अच्युत:—भगवान् अच्युत; कटि-तटम्—कमर का ऊपरी हिस्सा; जठरम्—उदर; हयास्य:—भगवान् हयग्रीव; हृत्—हृदय; केशव:—भगवान् केशव; त्वत्—तुम्हारा; उर:—वक्षस्थल, सीना; ईश:—परमनियन्ता, भगवान् ईश; इन:—सूर्य देव; तु—लेकिन; कण्ठम्—गला; विष्णु:—भगवान् विष्णु; भुजम्—बाहें; मुखम्—मुँह; उरुक्रम:—भगवान् उरुक्रम; ईश्वर:—भगवान् ईश्वर; कम्—सिर; चक्री—चक्र धारण करने वाला; अग्रत:—सामने; सह-गद:—गदाधारी; हरि:—भगवान् हरि; अस्तु—रहता रहे; पश्चात्—पीछे, पीठ पर; त्वत्-पार्श्वयो:—तुम्हारी दोनों बगलों में; धनु:-असी—धनुष तथा तलवार धारण करने वाला; मधु-हा—मधु असुर का वध करने वाला; अजन:—विष्णु; च—तथा; कोणेषु—कोनों में; शङ्ख:—शंखधारी; उरुगाय:—पूजित; उपरि—ऊपर; उपेन्द्र:—भगवान् उपेन्द्र; तार्क्ष्य:—गरुड़; क्षितौ—पृथ्वी पर; हलधर:—भगवान् हलधर; पुरुष:—परम पुरुष; समन्तात्—सभी दिशाओं में।

(शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को बतलाया कि गोपियों ने कृष्ण की रक्षा उपयुक्त विधि के अनुसार निम्नलिखित मंत्र द्वारा की)—अज तुम्हारी पाँवों की, मणिमान तुम्हारे घुटनों की, यज्ञ तुम्हारी जाँघों की, अच्युत तुम्हारी कमर के ऊपरी भाग की तथा हयग्रीव तुम्हारे उदर की रक्षा करें। केशव तुम्हारे हृदय की, ईश तुम्हारे वक्षस्थल की, सूर्यदेव तुम्हारे गले की, विष्णु

तुम्हारे भुजाओं की, उरुक्रम तुम्हारे मुँह की तथा ईश्वर तुम्हारे सिर की रक्षा करें। चक्री आगे से, गदाधारी हरि पीछे से तथा धनुर्धर मधुहा एवं खड्ग् भगवान् विष्णु दोनों ओर से तुम्हारी रक्षा करें। शंखधारी उरुगाय समस्त कोणों से तुम्हारी रक्षा करें। उपेन्द्र ऊपर से, गरुड़ धरती पर तथा परम पुरुष हलधर चारों ओर से तुम्हारी रक्षा करें।

तात्पर्य : खेतिहरों के घरों में भी जो सभ्यता की आधुनिक विधियों में बढ़े-चढ़े नहीं थे, स्त्रियाँ गोबर तथा गोमूत्र के द्वारा मंत्र पढ़कर बच्चों की रक्षा करना जानती थी। बड़े से बड़े खतरों से महती सुरक्षा प्रदान करने की यह एक सरल तथा व्यावहारिक विधि थी। इसे कैसे करना है लोगों को जानना चाहिए क्योंकि यह वैदिक सभ्यता का अंग है।

इन्द्रियाणि हृषीकेशः प्राणान्नारायणोऽवतु ।
श्वेतद्वीपपतिश्चित्तं मनो योगेश्वरोऽवतु ॥ २४॥

शब्दार्थ

इन्द्रियाणि—सारी इन्द्रियों को; हृषीकेशः—सभी इन्द्रियों के रक्षक भगवान् हृषीकेश; प्राणान्—सारे प्राणों को; नारायणः—भगवान् नारायण; अवतु—रक्षा करें; श्वेतद्वीप-पतिः—श्वेतद्वीप के स्वामी, विष्णु; चित्तम्—हृदय को; मनः—मन को; योगेश्वरः—भगवान् योगेश्वर; अवतु—संरक्षण प्रदान करें।

हृषीकेश तुम्हारी इन्द्रियों की तथा नारायण तुम्हारे प्राणवायु की रक्षा करें। श्वेतद्वीप के स्वामी तुम्हारे चित्त की तथा योगेश्वर तुम्हारे मन की रक्षा करें।

पृश्निगर्भस्तु ते बुद्धिमात्मानं भगवान्परः ।
क्रीडन्तं पातु गोविन्दः शयानं पातु माधवः ॥ २५॥
व्रजन्तमव्याद्वैकुण्ठ आसीनं त्वां श्रियः पतिः ।
भुञ्जानं यज्ञभुक्पातु सर्वग्रहभयङ्करः ॥ २६॥

शब्दार्थ

पृश्निगर्भः—भगवान् पृश्निगर्भ; तु—निस्सन्देह; ते—तुम्हारी; बुद्धिम्—बुद्धि को; आत्मानम्—आत्मा को; भगवान्—भगवान; परः—दिव्य; क्रीडन्तम्—खेलते हुए; पातु—रक्षा करें; गोविन्दः—गोविन्द; शयानम्—सोते समय; पातु—रक्षा करें; माधवः—भगवान् माधव; व्रजन्तम्—चलते हुए; अव्यात्—रक्षा करें; वैकुण्ठः—भगवान् वैकुण्ठ; आसीनम्—बैठे हुए; त्वाम्—तुमको; श्रियः पतिः—लक्ष्मीपति, नारायण; भुञ्जानम्—जीवन का भोग करते हुए; यज्ञभुक्—यज्ञभुक; पातु—रक्षा करें; सर्व-ग्रह-भयम्-करः—जो सारे दुष्ट ग्रहों को भय देने वाले।

भगवान् प्रश्निगर्भ तुम्हारी बुद्धि की तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तुम्हारे आत्मा की रक्षा करें। तुम्हारे खेलते समय गोविन्द तथा तुम्हारे सोते समय माधव तुम्हारी रक्षा करें। भगवान् वैकुण्ठ तुम्हारे चलते समय तथा लक्ष्मीपति नारायण तुम्हारे बैठते समय तुम्हारी रक्षा करें। इसी

तरह भगवान् यज्ञभुक, जिनसे सारे दुष्टग्रह भयभीत रहते हैं तुम्हारे भोग के समय सदैव तुम्हारी रक्षा करें।

डाकिन्यो यातुधान्यश्च कुष्माण्डा येऽर्भकग्रहाः ।
भूतप्रेतपिशाचाश्च यक्षरक्षोविनायकाः ॥ २७॥
कोटरा रेवती ज्येष्ठा पूतना मातृकादयः ।
उन्मादा ये ह्यपस्मारा देहप्राणेन्द्रियद्रुहः ॥ २८॥
स्वप्नदृष्टा महोत्पाता वृद्धा बालग्रहाश्च ये ।
सर्वे नश्यन्तु ते विष्णोर्नामग्रहणभीरवः ॥ २९॥

शब्दार्थ

डाकिन्यः यातुधान्यः च कुष्माण्डाः—डाइनें, चुडैलें, बच्चों की दुश्मनें; ये—जो हैं; अर्भक-ग्रहाः—बच्चों के लिए अशुभ नक्षत्रों तुल्य; भूत—दुष्टात्माएँ; प्रेत—प्रेत; पिशाचाः—भूतों के ही तुल्य दुष्टात्माएँ; च—भी; यक्ष—यक्षगण; रक्षः—राक्षसगण; विनायकाः—विनायक नाम के; कोटरा—कोटरा नामक; रेवती—रेवती नामक; ज्येष्ठा—ज्येष्ठा नामक; पूतना—पूतना नामक; मातृका-आदयः—मातृका इत्यादि दुष्टिनें; उन्मादाः—उन्माद उत्पन्न करने वाली; ये—जो अन्य; हि—निस्सन्देह; अपस्माराः—स्मृति हानि करने वाली; देह-प्राण-इन्द्रिय—शरीर, प्राण तथा इन्द्रियों को; द्रुहः—कष्ट देने वाली; स्वप्न-दृष्टाः—बुरे सपने लाने वाले, दुष्टात्मा; महा-उत्पाताः—महान् उत्पात मचाने वाले; वृद्धाः—अनुभवी; बाल-ग्रहाः च—तथा बालकों पर आक्रमण करने वाले; ये—जो; सर्वे—सभी; नश्यन्तु—विनष्ट हों; ते—वे; विष्णोः—भगवान् विष्णु के; नाम-ग्रहण—नाम लेने से; भीरवः—डर जाते हैं।.

डाकिनी, यातुधानी तथा कुष्माण्ड नामक दुष्ट डाइनें बच्चों की सबसे बड़ी शत्रु हैं तथा भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षस तथा विनायक जैसे दुष्टात्माओं के साथ कोटरा, रेवती, ज्येष्ठा, पूतना तथा मातृका जैसी डाइनें भी सदैव शरीर, प्राण तथा इन्द्रियों को कष्ट पहुँचाने के लिए तैयार रहती हैं जिससे स्मृति की हानि, उन्माद तथा बुरे स्वप्न उत्पन्न होते हैं। वे दुष्ट अनुभवी वृद्धों की तरह बच्चों के लिए विशेष रूप से भारी उत्पात खड़ा करते हैं। किन्तु भगवान् विष्णु के नामोच्चार से ही उन्हें नष्ट किया जा सकता है क्योंकि जब भगवान् विष्णु का नाम प्रतिध्वनित होता है, तो वे सब डर जाते हैं और दूर भाग जाते हैं।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* (५.३३) में कहा गया है—

अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्

आद्यं पुराणपुरुषं नव यौवनं च।

वेदेषु दुर्लभमदुर्लभमात्मभक्तौ

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो आदि पुरुष हैं, अद्वैत हैं, अच्युत हैं और अनादि

हैं। यद्यपि वे अनन्त रूपों में विस्तार करते हैं फिर भी वे भौतिक हैं और सबसे वृद्ध पुरुष होकर भी वे सदैव युवक लगते हैं। ऐसे नित्य, आनन्दमय तथा सर्व रूपों वाले भगवान् को वेदों के पुस्तकीय ज्ञान से नहीं जाना जा सकता अपितु वे स्वत: शुद्ध अनन्य भक्तों के समक्ष प्रकट होते हैं।''

हम शरीर को तिलक से सजाते समय विष्णु के बारह नामों का उच्चारण करके शरीर को सुरक्षा प्रदान करते हैं। यद्यपि गोविन्द या भगवान् विष्णु एक हैं किन्तु उनके विभिन्न नाम तथा रूप हैं जिनसे वे भिन्न भिन्न कार्य करते हैं। किन्तु यदि किसी को एकसाथ सारे नाम स्मरण नहीं रहते तो वह एकमात्र 'भगवान् विष्णु' 'भगवान् विष्णु' 'भगवान् विष्णु' नामोच्चारण और भगवान् विष्णु का सदैव चिन्तन कर सकता है। *विष्णोराराधनं परम्*—पूजा का यही सर्वोच्च रूप है। यदि कोई निरन्तर विष्णु का स्मरण करे तो भले ही उसे दुष्टात्माएँ सताती हों किन्तु उसकी रक्षा निस्सन्देह हो सकती है। *आयुर्वेदशास्त्र* की संस्तुति है—*औषधि चिन्तयेत् विष्णुम्*—यहाँ तक कि दवा खाते समय भी विष्णु का स्मरण करे क्योंकि दवा ही सब कुछ नहीं। भगवान् विष्णु असली रक्षक हैं। यह भौतिक जगत विपदाओं से भरा हुआ है (*पदं पदं यद् विपदाम्*)। अत: मनुष्य को वैष्णव बनकर निरन्तर विष्णु का चिन्तन करना चाहिए। हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करने से यह अधिक सुगम हो जाता है। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने संस्तुति की है—*कीर्तनीय:सदा हरि:, परं विजयते श्रीकृष्णसङ्कीर्तनम् तथा कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंग: परं व्रजेत्।*

श्रीशुक उवाच

इति प्रणयबद्धाभिर्गोपीभि: कृतरक्षणम् ।
पाययित्वा स्तनं माता सन्न्यवेशयदात्मजम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस तरह; प्रणय-बद्धाभि:—मातृस्नेह से बँधे हुए; गोपीभि:—यशोदा आदि प्रौढ़ गोपियों के द्वारा; कृत-रक्षणम्—बालक की रक्षा करने के लिए सभी उपाय किये गये; पाययित्वा—इसके बाद बालक को पिला कर; स्तनम्—स्तन; माता—माता यशोदा ने; सन्न्यवेशयत्—बिस्तर पर लिटा दिया; आत्मजम्—अपने बेटे को।

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : माता यशोदा समेत सारी गोपियाँ मातृस्नेह से बँधी हुई थीं। इस तरह बालक की रक्षा के लिए मंत्रोच्चारण के बाद माता यशोदा ने बच्चे को अपना दूध पिलाया और उसे बिस्तर पर लिटा दिया।

तात्पर्य : जब बालक अपनी माता के स्तनों का दूध पीता है, तो यह स्वस्थता का शुभ लक्षण है।

इसलिए वृद्धा गोपियाँ कृष्ण को सुरक्षा प्रदान करने के लिए केवल मंत्रोच्चारण से ही संतुष्ट नहीं हुईं अपितु उन्होंने इसकी भी परीक्षा की कि उनके बालक का स्वास्थ्य ठीक है कि नहीं। जब बालक ने स्तन से दूध चूसा तो इससे पुष्टि हो गई कि बालक स्वस्थ है और जब गोपियाँ पूरी तरह तुष्ट हो गईं तो उन्होंने बालक को उसके बिस्तरे पर लिटा दिया।

तावन्नन्दादयो गोपा मथुराया व्रजं गताः ।
विलोक्य पूतनादेहं बभूवुरतिविस्मिताः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब तक, इस बीच; नन्द-आदयः—नन्द महाराज इत्यादि; गोपाः—सारे ग्वाले; मथुरायाः—मथुरा से; व्रजम्—वृन्दावन; गताः—वापस आ गये; विलोक्य—देखकर; पूतना-देहम्—पूतना के मृत विशाल शरीर को; बभूवुः—हो गये; अति—अत्यन्त; विस्मिताः—आश्चर्यचकित।

तब तक नन्द महाराज समेत सारे ग्वाले मथुरा से लौट आये और जब उन्होंने रास्ते में पूतना के विशाल काम शरीर को मृत पड़ा देखा तो वे अत्यन्त आश्चर्यचकित हुए।

तात्पर्य : नन्द महाराज के आश्चर्य को कई प्रकार से समझा जा सकता है। पहला तो यह कि ग्वालों ने इसके पूर्व वृन्दावन में इतना विशाल शरीर नहीं देखा था इसलिए सभी लोग आश्चर्यचकित थे। फिर वे विचार करने लगे कि आखिर इतना विशाल शरीर आया कहाँ से? क्या यह आकाश से गिरा था या क्या किसी भूल से या किसी योगिनी की शक्ति से वे वृन्दावन की बजाय किसी दूसरे स्थान पहुँच गये हैं? वे ठीक से अनुमान नहीं लगा सके कि क्या हुआ इसीलिए वे आश्चर्यचकित थे।

नूनं बतर्षिः सञ्जातो योगेशो वा समास सः ।
स एव दृष्टो ह्युत्पातो यदाहानकदुन्दुभिः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निश्चय ही; बत—मेरे दोस्तो; ऋषिः—सन्त पुरुष; सञ्जातः—बन गया है; योग-ईशः—योग शक्ति का स्वामी; वा—अथवा; समास—बन गया है; सः—उसने (वसुदेव ने); सः—वही; एव—निस्सन्देह; दृष्टः—देखा गया; हि—क्योंकि; उत्पातः—उत्पात; यत्—जो; आह—भविष्यवाणी की गई; आनकदुन्दुभिः—वसुदेव द्वारा।

नन्द महाराज तथा अन्य ग्वाले चिल्ला पड़े: मित्रो, जान लो कि आनकदुन्दुभि अर्थात् वसुदेव बहुत बड़ा सन्त या योगेश्वर बन चुका है। अन्यथा वह इस उत्पात को पहले से कैसे देख सकता था और हमसे इसकी भविष्य वाणी कैसे कर सकता था?

तात्पर्य : इस श्लोक से क्षत्रियों तथा बेचारे वैश्यों का अन्तर प्रकट होता है। वसुदेव राजनीतिक

स्थिति का अध्ययन करके देख सकते थे कि क्या होने वाला है जबकि खेतिहरों के राजा नन्द महाराज इतना ही अनुमान लगा सकते थे कि वसुदेव महाराज परम सन्त हैं और उन्हें योगशक्ति प्राप्त हो चुकी है। वास्तव में वसुदेव के अधीन सारी योगशक्तियाँ थीं अन्यथा वे कृष्ण के पिता कैसे बनते? किन्तु वास्तविकता तो यह थी कि कंस की राजनैतिक हलचलों का अध्ययन करके ही उन्होंने उत्पातों को पहले ही देख लिया था और नन्द महाराज को सतर्कता बरतने के लिए सावधान किया था। नन्द महाराज इस घटना की भविष्यवाणी को वसुदेव की आश्चर्यजनक योगशक्ति से सम्भव मान रह थे। हठयोग के अभ्यास द्वारा प्राप्त योगशक्ति से मनुष्य भविष्य को जान सकता है।

कलेवरं परशुभिश्छित्त्वा तत्ते व्रजौकसः ।
दूरे क्षिप्त्वावयवशो न्यदहन्काष्ठवेष्टितम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

कलेवरम्—पूतना के विशाल शरीर को; परशुभिः—कुल्हाड़ियों या फरसों से; छित्त्वा—खण्ड खण्ड करके; तत्—उस (शरीर को); ते—वे सभी; व्रज-ओकसः—व्रजवासी; दूरे—बहुत दूर; क्षिप्त्वा—फेंक कर; अवयवशः—शरीर के विभिन्न खंड; न्यदहन्—जला दिया; काष्ठ-वेष्टितम्—लकड़ी से ढका हुआ।

व्रजवासियों ने पूतना के शरीर को फरसों से खण्ड खण्ड कर डाला। फिर उन खण्डों को दूर फेंक दिया और उन्हें लकड़ी से ढक कर भस्मीभूत कर डाला।

तात्पर्य : यह प्रथा है कि साँप को मारने के बाद उसके शरीर को खंड खंड कर दिया जाता है कि कहीं हवा के संसर्ग से वह पुनः जीवित न हो उठे। साँप को मार देना ही काफी नहीं है, मारने के बाद इसे खंड खंड करके जला देना चाहिए। इससे खतरा जाता रहेगा। पूतना एक विशाल सर्प की तरह थी इसलिए ग्वालों ने इन्हीं सावधानियों को ध्यान में रखकर उसके शरीर को जला कर क्षार कर डाला।

दह्यमानस्य देहस्य धूमश्चागुरुसौरभः ।
उत्थितः कृष्णनिर्भुक्तसपद्याहतपाप्मनः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

दह्यमानस्य—जलाकर क्षार करते समय; देहस्य—पूतना के शरीर का; धूमः—धुँआ; च—तथा; अगुरु-सौरभः—अगुरु जैसा सुगन्धित धुँआ; उत्थितः—शरीर से उठा हुआ; कृष्ण-निर्भुक्त—कृष्ण द्वारा स्तन चूसे जाने से; सपदि—तुरन्त; आहत-पाप्मनः—उसका भौतिक शरीर आध्यात्मिक बन गया अथवा वह भवबन्धन से छूट गया।

चूँकि कृष्ण ने उस राक्षसी पूतना का स्तनपान किया था, इसतरह जब कृष्ण ने उसे मारा तो वह तुरन्त समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त हो गई। उसके सारे पाप स्वतः ही दूर हो गये अतएव

जब उसके विशाल शरीर को जलाया जा रहा था, तो उसके शरीर से निकलने वाला धुँआ अगुरु की सुगन्ध सा महक रहा था।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत का ऐसा ही प्रभाव होता है। यदि कोई व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगा कर किसी तरह कृष्णभावनाभावित हो जाता है, तो वह सारे भौतिक कल्मष से तुरन्त मुक्त हो जाता है। *शृण्वतां स्वकथा: कृष्ण: पुण्यश्रवणकीर्तन:* (*भागवत* १.२.१७)। कृष्ण की लीलाओं को सुनना शुद्ध जीवन की शुरुआत है। *पुण्यश्रवणकीर्तन:*—केवल सुनने तथा कीर्तन करने से मनुष्य शुद्ध बन जाता है। अत: भक्ति करते समय *श्रवणकीर्तन* अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तब मनुष्य शुद्ध इन्द्रियों से भगवान् की सेवा करना शुरू करता है (*हृषीकेण हृषीकेशसेवनम्*)। *भक्तिरुच्यते*—यह भक्ति कहलाती है। जब येन केन प्रकारेण, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से पूतना से स्तनपान करा कर भगवान् की सेवा में उसे लगाया गया तो वह तुरन्त शुद्ध बन गई, यहाँ तक कि जब उसका दुष्ट भौतिक शरीर जलकर क्षार हो गया तो उससे अगुरु की सी सुगन्ध निकली जो कि अत्यन्त अच्छी लगने वाली सुगंधित जड़ी-बूटी है।

पूतना लोकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना ।
जिघांसयापि हरये स्तनं दत्त्वाप सद्‌गतिम् ॥ ३५॥
किं पुन: श्रद्धया भक्त्या कृष्णाय परमात्मने ।
यच्छन्प्रियतमं किं नु रक्तास्तन्मातरो यथा ॥ ३६॥

शब्दार्थ

पूतना—पेशेवर राक्षसी पूतना; लोक-बाल-घ्नी—जो मनुष्यों के बालकों को मार डालती थी; राक्षसी—राक्षसी; रुधिर-अशना—खून की प्यासी; जिघांसया—कृष्ण को मार डालने की इच्छा से (कृष्ण से ईर्ष्या करने तथा कंस द्वारा आदेश दिये जाने से); अपि—भी; हरये—भगवान् को; स्तनम्—अपने स्तन; दत्त्वा—प्रदान करके; आप—प्राप्त किया; सत्-गतिम्—वैकुण्ठ का सर्वोच्च पद; किम्—क्या कहा जाय; पुन:—फिर; श्रद्धया—श्रद्धायुत; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; कृष्णाय—कृष्ण को; परमात्मने—परम पुरुष; यच्छन्—भेंट करते हुए; प्रिय-तमम्—अत्यन्त प्रिय; किम्—कुछ; नु—निस्सन्देह; रक्ता:—सम्बन्धी; तत्-मातर:—कृष्ण की स्नेहमयी माताएँ; यथा—जिस तरह।

पूतना सदा ही मानव शिशुओं के खून की प्यासी रहती थी और इसी अभिलाषा से वह कृष्ण को मारने आई थी। किन्तु कृष्ण को स्तनपान कराने से उसे सर्वोच्च पद प्राप्त हो गया। तो भला उनके विषय में क्या कहा जाय जिनमें माताओं के रूप में कृष्ण के लिए सहज भक्ति तथा स्नेह था और जिन्होंने अपना स्तनपान कराया या कोई अत्यन्त प्रिय वस्तु भेंट की थी जैसा कि माताएँ करती रहती हैं।

तात्पर्य : पूतना को कृष्ण से कोई स्नेह न था, प्रत्युत वह उनसे ईर्ष्या करती थी और उन्हें मार डालना चाहती थी। फिर भी जाने-अनजाने उसने उन्हें स्तनपान करा कर परमगति प्राप्त की। किन्तु वात्सल्य प्रेम में अनुरक्त भक्तों की भेंट अत्यन्त निष्ठायुक्त होती है। माता अपने पुत्र को स्नेह तथा प्रेम से कोई वस्तु भेंट करना चाहती है, तो उसमें ईर्ष्या का लेशमात्र भी नहीं रहता। अत: हम यहाँ तुलनात्मक अध्ययन कर सकते हैं। यदि पूतना उपेक्षा भाव से ईर्ष्यापूर्वक स्तनपान करा कर आध्यात्मिक जीवन का ऐसा सर्वोच्च पद प्राप्त कर सकती है, तो भला माता यशोदा तथा अन्य गोपियों के विषय में क्या कहा जाय जिन्होंने कृष्ण की सेवा लाड़-प्यार के साथ की और कृष्ण की तुष्टि के लिए हर वस्तु अर्पित कर दी? गोपियों को स्वत: परम पद प्राप्त हुआ। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने वात्सल्य प्रेम या माधुर्य प्रेम में गोपियों के स्नेह को ही जीवन की सर्वोच्च सिद्धि बतलाया (*रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता*)।

पद्भ्यां भक्तहृदिस्थाभ्यां वन्द्याभ्यां लोकवन्दितैः ।
अङ्गं यस्याः समाक्रम्य भगवानपि तत्स्तनम् ॥ ३७॥
यातुधान्यपि सा स्वर्गमवाप जननीगतिम् ।
कृष्णभुक्तस्तनक्षीराः किमु गावोऽनुमातरः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

पद्भ्याम्—दोनों चरणकमलों से; भक्त-हृदि-स्थाभ्याम्—जिनके हृदय में भगवान् निरन्तर स्थित रहते हैं; वन्द्याभ्याम्—जिनकी सदैव वन्दना की जानी चाहिए; लोक-वन्दितैः—ब्रह्मा तथा शिव द्वारा, जो तीनों लोकों के वासियों द्वारा प्रशंसित हैं; अङ्गम्—शरीर को; यस्याः—जिस (पूतना) का; समाक्रम्य—आलिंगन करके; भगवान्—भगवान्; अपि—भी; तत्-स्तनम्—उस स्तन को; यातुधानी अपि—यद्यपि वह भूतनी थी; सा—उसने; स्वर्गम्—दिव्य धाम को; अवाप—प्राप्त किया; जननी-गतिम्—माता के पद को; कृष्ण-भुक्त-स्तन-क्षीराः—चूँकि उनके स्तनों का पान कृष्ण ने किया था; किम् उ—क्या कहा जाय; गावः—गौवें; अनुमातरः—माताओं की ही तरह जिन्होंने कृष्ण को अपना स्तन-पान कराया।.

भगवान् कृष्ण शुद्ध भक्तों के हृदय में सदैव स्थित रहते हैं और ब्रह्माजी तथा भगवान् शिवजी जैसे पूज्य पुरूषों द्वारा सदैव वन्दनीय हैं। चूँकि कृष्ण ने पूतना के शरीर का आलिंगन अत्यन्त प्रेमपूर्वक किया था और भूतनी होते हुए भी उन्होंने उसका स्तनपान किया था इसलिए उसे दिव्य लोक में माता की गति और सर्वोच्च सिद्धि मिली। तो भला उन गौवों के विषय में क्या कहा जाय जिनका स्तनपान कृष्ण बड़े ही आनन्द से करते थे और जो बड़े ही प्यार से माता के ही समान कृष्ण को अपना दूध देती थीं?

तात्पर्य : ये श्लोक बतलाते हैं कि भगवान् की भक्ति चाहे प्रत्यक्ष की जाय या अप्रत्यक्ष, ज्ञान से

की जाय या अनजाने, वह सफल होती है। पूतना न भक्त थी न ही अभक्त, वह तो कृष्ण को मारने के लिए कंस द्वारा भेजी गई राक्षसी थी। फिर भी पहले उसने अत्यन्त सुन्दर स्त्री का वेश धारण किया और कृष्ण के पास उसी तरह पहुँची जैसे स्नेहमयी माता जाती है, जिससे माता यशोदा और रोहिणी ने उसकी निष्कपटता पर सन्देह नहीं किया। भगवान् ने इन सब बातों को ध्यान में रखा। अत: उसे माता यशोदा जैसा ही पद प्राप्त हुआ। जैसाकि श्रील विश्वाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने बतलाया है, ऐसी स्थिति में कोई व्यक्ति अनेक भूमिकाएँ निभा सकता है। पूतना को तुरन्त वैकुण्ठ लोक भेज दिया गया जिसे कभी कभी स्वर्ग भी कह दिया जाता है। इस श्लोक में वर्णित स्वर्ग कोई भौतिक लोक नहीं अपितु दिव्य लोक है। वैकुण्ठ लोक में पूतना को धाय का पद प्राप्त हुआ (*धात्र्युचिताम्*) जैसाकि उद्धव ने बतलाया है। गोलोक वृन्दावन में माता यशोदा की सहायता करने के लिए उसे धाय तथा दासी का पद दिया गया।

पयांसि यासामपिबत्पुत्रस्नेहस्नुतान्यलम् ।
भगवान्देवकीपुत्रः कैवल्याद्यखिलप्रदः ॥ ३९ ॥
तासामविरतं कृष्णे कुर्वतीनां सुतेक्षणम् ।
न पुनः कल्पते राजन्संसारोऽज्ञानसम्भवः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

पयांसि—दूध (शरीर से निकला); यासाम्—उन सबों का; अपिबत्—कृष्ण ने पिया; पुत्र-स्नेह-स्नुतानि—मातृ स्नेह के कारण, न कि बनावटी ढंग से, गोपियों के शरीर से निकला दूध; अलम्—पर्याप्त; भगवान्—भगवान्; देवकी-पुत्रः—देवकी के पुत्र रूप में प्रकट हुए; कैवल्य-आदि—यथा मुक्ति या ब्रह्म तेज में लीन होना; अखिल-प्रदः—ऐसे समस्त वरों के प्रदाता; तासाम्—उन सारी गोपियों का; अविरतम्—निरन्तर; कृष्णे—कृष्ण में; कुर्वतीनाम्—करते हुए; सुत-ईक्षणम्—माता द्वारा अपने शिशु को निहारना; न—कभी नहीं; पुनः—फिर; कल्पते—कल्पना की जा सकती है; राजन्—हे राजा परीक्षित; संसारः—जन्म-मृत्यु का भौतिक बन्धन; अज्ञान-सम्भवः—सुखी बनने की कामना करने वाले मूर्ख व्यक्तियों द्वारा अनजाने में स्वीकृत किया गया।

भगवान् कृष्ण अनेक वरों के प्रदाता हैं जिनमें कैवल्य अर्थात् ब्रह्म तेज में तादात्म्य भी सम्मिलित है। उन भगवान् के लिए गोपियों ने सदैव मातृ-प्रेम का अनुभव किया और कृष्ण ने पूर्ण संतोष के साथ उनका स्तन-पान किया। अतएव अपने माता-पुत्र के सम्बन्ध के कारण विविध पारिवारिक कार्यों में संलग्न रहने पर भी किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि अपना शरीर त्यागने पर वे इस भौतिक जगत में लौट आईं।

तात्पर्य : यहाँ कृष्णभावनामृत के लाभ का वर्णन हुआ है। कृष्णभावनामृत क्रमश: दिव्य स्तर पर

विकसित होता है। मनुष्य परम पुरुष, परम स्वामी, परम मित्र, परम पुत्र या परम युगल प्रेमी के रूप में कृष्ण का चिन्तन कर सकता है। यदि कृष्ण से किसी का इनमें से किसी रूप में दिव्य सम्बन्ध होता है, तो समझिये कि उसके भौतिक जीवन का अन्त हो गया है। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.९) में पुष्टि हुई है—*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति*—ऐसे भक्तों के लिए भगवद्धाम वापस जाना सुनिश्चित है। *न पुनः कल्पते राजन् संसारोऽज्ञानसम्भवः।* यह श्लोक इस बात की भी पुष्टि होती है कि जो भक्त कृष्ण से किसी विशेष सम्बन्ध में बँध कर निरन्तर ध्यान करते हैं, वे इस जगत में फिर नहीं लौटते। इस संसार में भी वही सम्बन्ध हैं। मनुष्य सोचता हैं 'यह मेरा पुत्र है', 'यह मेरी पत्नी है' 'यह मेरा प्रेमी है' या 'यह मेरा मित्र है।' किन्तु ये सम्बन्ध क्षणिक माया हैं। *अज्ञानसम्भवः*—ऐसी चेतना अज्ञान के कारण उत्पन्न होती है। किन्तु जब यही चेतना कृष्णभावनामृत में जागृत होती है, तो उसे पुनः आध्यात्मिक जीवन प्राप्त होता है और वह निश्चित रूप से भगवद्धाम वापस जाता है। यद्यपि गोपियाँ रोहिणी तथा माता यशोदा की सखियाँ थीं और कृष्ण को अपना स्तनपान कराती थीं परन्तु प्रत्यक्षतः कृष्ण की माताएँ न थीं। किन्तु उन्हें भगवद्धाम जाने का तथा कृष्ण की सासें, दासियाँ आदि बनने का वैसा ही अवसर प्राप्त हुआ जैसाकि रोहिणी तथा यशोदा को मिला। *संसार* शब्द अपने शरीर, घर, पति या पत्नी तथा बच्चों के प्रति अनुरक्ति का द्योतक है, किन्तु गोपियाँ तथा वृन्दावन के अन्य वासी अपने पति तथा घर के प्रति वैसा ही स्नेह तथा अनुरक्ति रखते हुए भी कृष्ण को अपने स्नेह का केन्द्र बनाये हुए थे। इसीलिए अगले जन्म में उन्हें गोलोक वृन्दावन जाने तथा कृष्ण के साथ रहकर शाश्वत दिव्य सुख-भोग की प्राप्ति निश्चित है। इस भौतिक जगत से छूट कर दिव्य पद को प्राप्त करने और भगवद्धाम जाने का सरलतम मार्ग भक्तिविनोद ठाकुर ने सुझाया है—*कृष्णेर संसार कर छाडिऽअनाचार*—सारे पाप कर्मों को त्याग कर कृष्ण के परिवार में रहना चाहिए। तभी मुक्ति निश्चित है।

कटधूमस्य सौरभ्यमवघ्राय व्रजौकसः ।
किमिदं कुत एवेति वदन्तो व्रजमाययुः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

कट-धूमस्य—पूतना के शरीर के विभिन्न अंगों के जलने से उत्पन्न धुँए की; सौरभ्यम्—सुगन्धि; अवघ्राय—सूँघ कर; व्रज-ओकसः—दूर दूर के व्रजवासी; किम् इदम्—यह सुगन्धि कैसी है; कुतः—कहाँ से आ रही है; एव—निस्सन्देह; इति—इस तरह; वदन्तः—बातें करते; व्रजम्—व्रजभूमि में; आययुः—पहुँचे।

पूतना के जलते शरीर से निकले धुँए की सुगन्ध को सूँघ कर दूर दूर के अनेक व्रजवासी

आश्चर्यचकित थे और पूछ रहे थे, ''यह सुगन्धि कहाँ से आ रही है?'' इस तरह वे उस स्थान तक गये जहाँ पर पूतना का शरीर जलाया जा रहा था।

तात्पर्य : शव के जलने से निकले धुँए की गन्ध रुचिकर नहीं होती। इसीलिए ऐसी अद्भुत सुगंधि से व्रज के निवासी चकित थे।

ते तत्र वर्णितं गोपैः पूतनागमनादिकम् ।
श्रुत्वा तन्निधनं स्वस्ति शिशोश्चासन्सुविस्मिताः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

ते—आये हुए सारे लोग; तत्र—वहाँ (नन्द महाराज के राज्य के पड़ोस में); वर्णितम्—वर्णित; गोपैः—ग्वालों द्वारा; पूतना-आगमन-आदिकम्—किस तरह पूतना आई तथा उसने उत्पात मचाया इन सबके विषय में; श्रुत्वा—सुनकर; तत्-निधनम्—तथा उसके मरने के विषय में; स्वस्ति—मंगल हो; शिशोः—बालक का; च—तथा; आसन्—अर्पित किया; सु-विस्मिताः—जो कुछ घटा था उससे आश्चर्यचकित होकर।

जब दूर दूर से आये व्रजवासियों ने पूरी कथा सुनी कि किस तरह पूतना आई और फिर कृष्ण द्वारा मारी गई तो वे हत्प्रभ रह गये और उन्होंने पूतना के मारने के अद्भुत कार्य के लिए उस बालक को आशीर्वाद दिया। निस्सन्देह नन्द महाराज वसुदेव के अत्यन्त कृतज्ञ थे जिन्होंने इस घटना को पहले ही देख लिया था। उन्होंने यह सोचकर वसुदेव को धन्यवाद दिया कि वे कितने अद्भुत हैं।

नन्दः स्वपुत्रमादाय प्रेत्यागतमुदारधीः ।
मूर्ध्न्युपाघ्राय परमां मुदं लेभे कुरूद्वह ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

नन्दः—महाराज नन्द; स्व-पुत्रम् आदाय—अपने पुत्र कृष्ण को अपनी गोद में लेकर; प्रेत्य-आगतम्—मानो कृष्ण मृत्यु के मुख से लौट आये हों (कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि बालक ऐसे संकट से बच जाएगा); उदार-धीः—उदार तथा सरल होने से; मूर्ध्नि—कृष्ण के सिर पर; उपाघ्राय—सूँघ कर; परमाम्—सर्वोच्च; मुदम्—शान्ति; लेभे—प्राप्त किया; कुरु-उद्वह—हे महाराज परीक्षित।

हे कुरुश्रेष्ठ महाराज परीक्षित, नन्द महाराज अत्यन्त उदार एवं सरल स्वभाव के थे। उन्होंने तुरन्त अपने पुत्र कृष्ण को अपनी गोद में उठा लिया मानो कृष्ण मृत्यु के मुख से लौटे हों और अपने पुत्र के सिर को सूँघ कर निस्सन्देह दिव्य आनन्द का अनुभव किया।

तात्पर्य : नन्द महाराज यह नहीं समझ पाये कि उनके घर के लोगों ने किस तरह पूतना को घर में घुसने दिया, न ही वे इस स्थिति की गम्भीरता का अनुमान लगा सके। वे यह नहीं समझ पाये कि कृष्ण

ने पूतना को मारना चाहा था और उनकी लीलाएँ योगमाया द्वारा सम्पन्न की गईं। नन्द महाराज ने तो केवल इतना ही सोचा कि किसी ने उनके घर में घुस कर उत्पात मचा दिया है। यही नन्द महाराज का भोलापन था।

य एतत्पूतनामोक्षं कृष्णस्यार्भकमद्भुतम् ।
शृणुयाच्छ्रद्धया मर्त्यो गोविन्दे लभते रतिम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; एतत्—यह; पूतना-मोक्षम्—पूतना का मोक्ष; कृष्णस्य—कृष्ण का; आर्भकम्—बाल-लीला; अद्भुतम्—अद्भुत; शृणुयात्—सुने; श्रद्धया—श्रद्धा तथा भक्ति पूर्वक; मर्त्यः—इस लोक का कोई भी व्यक्ति; गोविन्दे—आदि पुरुष गोविन्द के प्रति; लभते—पाता है; रतिम्—अनुरक्ति।

जो कोई भी भगवान् कृष्ण द्वारा पूतना के मारे जाने के विषय में श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक श्रवण करता है और कृष्ण की ऐसी बाल लीलाओं के सुनने में अपने को लगाता है उसे निश्चय ही आदि पुरुष रूप गोविन्द के प्रति अनुरक्ति प्राप्त होती है।

तात्पर्य : यह घटना, जिसमें उस डाइन ने बच्चे को मारने का प्रयास किया किन्तु स्वयं मारी गई, निश्चय ही अद्भुत है। इसीलिए इस श्लोक में *अद्भुतम्* शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है विशेष रूप से आश्चर्यजनक। कृष्ण अपने विषय में अनेक अद्भुत कथाएँ छोड़ गये हैं। 'कृष्ण' नामक ग्रन्थ में इन कथाओं को पढ़ने मात्र से मनुष्य को इस भौतिक जगत से मुक्ति प्राप्त हो जाती है और वह आदि पुरुष गोविन्द के प्रति क्रमशः अनुरक्ति तथा भक्ति उत्पन्न कर लेता है।

इस तरह श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत 'पूतना वध' नामक छठे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सात

तृणावर्त का वध

इस अध्याय में शकट भंजन, तृणावर्त असुर का वध तथा श्रीकृष्ण द्वारा अपने मुख के भीतर सारे ब्रह्माण्ड का प्रदर्शन नामक श्रीकृष्ण लीलाओं का वर्णन किया गया है।

जब शुकदेव गोस्वामी ने देखा कि महाराज परीक्षित भगवान् कृष्ण की बाल-लीलाओं को सुनने के लिए उत्सुक हैं, तो वे परम प्रसन्न हुए और उनका वर्णन करते रहे। जब कृष्ण केवल तीन मास के

थे और पलटने का प्रयत्न कर रहे थे तथा अभी घुटनों के बल में भी असमर्थ थे तो माता यशोदा ने अपनी सखियों के साथ बच्चे के सौभाग्य के लिए अनुष्ठान करना चाहा। ऐसा अनुष्ठान प्राय: बच्चों वाली स्त्रियों के साथ मिल कर किया जाता है। जब माता यशोदा ने देखा कि बालक कृष्ण सोने वाला है, तो अन्य कार्यों में व्यस्त होने के कारण वे उसे घरेलू छकड़े (*शकट*) के नीचे सुलाकर शुभ अनुष्ठान विषयक कार्य करने लगीं। इस छकड़े के नीचे एक पालना था और यशोदा ने इसी पालने में कृष्ण को सुलाया था। बालक सो रहा था किन्तु सहसा जग जाने से वह अपने नन्हें-नन्हें पाँव चलाने लगा। इससे छकड़ा हिल गया और बड़े धमाके के साथ टूट कर चूर चूर हो गया और इसमें रखी सभी वस्तुएँ बिखर गईं। पास ही खेल रहे बालकों ने माता यशोदा को फौरन बतलाया कि छकड़ा टूट गया है, अत: माता यशोदा अन्य गोपियों के साथ अत्यन्त चिन्तित होकर वहाँ पहुँचीं। माता यशोदा ने तुरन्त बच्चे को अपनी गोद में उठा लिया और उसे अपना स्तन-पान कराया। इसके बाद ब्राह्मणों ने अनेक प्रकार के वैदिक अनुष्ठान कराये। उन ब्राह्मणों ने बच्चे की असली पहचान न जानते हुए भी बच्चे को आशीर्वाद दिया।

एक अन्य दिन, जब माता यशोदा बच्चे को गोद में लिए बैठी थीं तो उन्हें सहसा लगा कि बच्चे में सारे ब्रह्माण्ड का भार समा गया है। वे इतनी अचम्भित हुईं कि बच्चे को नीचे बैठाना पड़ा। तभी कंस का एक दास तृणावर्त चक्रवात (अंधड़) के रूप में वहाँ आया और बच्चे को उड़ा ले गया। गोकुल का सारा प्रदेश धूल से भर गया और कोई भी यह न देख पाया कि बालक कहाँ ले जाया गया। सारी गोपियाँ विह्वल थीं क्योंकि बालक धूलभरी आँधी द्वारा उड़ा ले जाया गया था लेकिन वह असुर बालक के भार के कारण आकाश में उसे दूर तक नहीं ले जा सका। वह बालक को नीचे गिरा भी नहीं पा रहा था क्योंकि बालक ने उसे मजबूती से पकड़ रखा था। अत: स्वयं तृणावर्त काफी ऊँचाई से नीचे गिर पड़ा और तुरन्त मर गया। बालक उसके कन्धे को मजबूती से पकड़े हुए था। जब वह असुर गिर पड़ा तो गोपियों ने बच्चे को उठा लिया और उसे माता यशोदा की गोद में लाकर दे दिया। यशोदा माता आश्चर्यचकित थीं किन्तु योगमाया के प्रभाव से कोई यह नहीं जान पाया कि आखिर कृष्ण है कौन और असल में घटना क्या घटी। प्रत्युत प्रत्येक व्यक्ति बच्चे के भाग्य की सराहना करने लगा कि वह ऐसी विपदा से बच गया है। हाँ, नन्द महाराज तो वसुदेव की अद्‌भुत भविष्यवाणी के विषय में ही सोच रहे

थे और वे उस महान् योगी की प्रशंसा करने लगे। बाद में जब बालक माता यशोदा की गोद में अँगड़ाई लेने लगा तो माता यशोदा ने उसके मुख के भीतर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड देखा।

श्रीराजोवाच
येन येनावतारेण भगवान्हरिरीश्वरः ।
करोति कर्णरम्याणि मनोज्ञानि च नः प्रभो ॥ १ ॥
यच्छृण्वतोऽपैत्यरतिर्वितृष्णा
सत्त्वं च शुद्ध्यत्यचिरेण पुंसः ।
भक्तिर्हरौ तत्पुरुषे च सख्यं
तदेव हारं वद मन्यसे चेत् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने (शुकदेव गोस्वामी से) पूछा; येन येन अवतारेण—जिन जिन अवतारों के द्वारा प्रदर्शित लीलाएँ; भगवान्—भगवान्; हरिः—हरि; ईश्वरः—नियन्ता; करोति—प्रस्तुत करता है; कर्ण-रम्याणि—कानों को सुनने में सुखद; मनः-ज्ञानि—मन के लिए आकर्षक; च—भी; नः—हम सबों के; प्रभो—हे प्रभु, शुकदेव गोस्वामी; यत्-शृण्वतः—इन कथाओं को सुनने वाले का; अपैति—दूर हो जाता है; अरतिः—अनाकर्षण; वितृष्णा—मन के भीतर का मैल जो हमें कृष्णभावनामृत में अरुचि उत्पन्न कराता है; सत्त्वम् च—हृदय के भीतर अस्तित्व; शुद्ध्यति—शुद्ध बनाता है; अचिरेण—तुरन्त; पुंसः—किसी भी व्यक्ति का; भक्तिः हरौ—भगवान् के प्रति भक्ति; तत्-पुरुषे—वैष्णवों के साथ; च—भी; सख्यम्—संगति के लिए आकर्षण; तत् एव—केवल वह; हारम्—भगवान् के कार्यकलाप जिन्हें सुनना चाहिये और गले में माला के समान रखना चाहिए; वद—कृपा करके कहें; मन्यसे—आप उचित समझते हैं; चेत्—यदि।

राजा परीक्षित ने कहा : हे प्रभु शुकदेव गोस्वामी, भगवान् के अवतारों द्वारा प्रदर्शित विविध लीलाएँ निश्चित रूप से कानों को तथा मन को सुहावनी लगने वाली हैं। इन लीलाओं के श्रवणमात्र से मनुष्य के मन का मैल तत्क्षण धुल जाता है। सामान्यतया हम भगवान् की लीलाओं को सुनने में आनाकानी करते हैं किन्तु कृष्ण की बाल-लीलाएँ इतनी आकर्षक हैं कि वे स्वतःही मन तथा कानों को सुहावनी लगती हैं। इस तरह भौतिक वस्तुओं के विषय में सुनने की अनुरक्ति, जो भवबन्धन का मूल कारण है, समाप्त हो जाती है। मनुष्य में धीरे धीरे भगवान् के प्रति भक्ति एवं अनुरक्ति उत्पन्न होती है और भक्तों के साथ जो हमें कृष्णभावनामृत का योगदान देते हैं, मैत्री बढ़ती है। यदि आप उचित समझते हैं, तो कृपा करके भगवान् की इन लीलाओं के विषय में कहें।

तात्पर्य : जैसाकि *प्रेम-विवर्त* में कहा गया है—

कृष्ण-बहिर्मुख हैया भोग-वाञ्छा करे।
निकटस्थ माया तारे जापटिया धरे॥

हमारा भौतिक जगत माया है, जिसमें हम तरह तरह के भौतिक भोगों की अभिलाषा करते हैं इसलिए हम तरह तरह के शरीर धारण करते रहते हैं (*भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया*)।*असन्नपि क्लेशद आस देहः*—जब तक हमारी यह नश्वर देह रहेगी तब तक अनेक प्रकार के—आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक—क्लेश मिलते रहते हैं। सारे कष्टों का मूल कारण यही है, जिसे कृष्णभावनामृत को जागृत करके ही दूर किया जा सकता है। इसलिये व्यासदेव तथा अन्य मुनियों द्वारा प्रस्तुत सारा वैदिक साहित्य हममें कृष्णभावनामृत को जागृत करने के उद्देश्य से लिखा गया है। यह *श्रवणं कीर्तनं* के जागरण से प्रारम्भ होता है। *शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः* (*भागवत* १.२.१७)। *श्रीमद्भागवत* तथा अन्य वैदिक ग्रंथ केवल कृष्ण के विषय में श्रवण करने के लिए अवसर प्रदान करने के निमित्त हैं। कृष्ण के विभिन्न अवतार हैं। वे सभी अद्भुत हैं अतएव वे हमारी उत्कंठा को जागृत करने वाले हैं किन्तु मत्स्य, कूर्म तथा वराह जैसे अवतार कृष्ण के समान आकर्षक नहीं हैं। चूँकि सर्वप्रथम, हममें कृष्ण के विषय में सुनने के लिए कोई आकर्षण नहीं होता इसीलिए यह हमारे कष्टों की जड़ बन जाता है।

किन्तु परीक्षित महाराज विशेष रूप से उल्लेख करते हैं कि बाल कृष्ण की अद्भुत लीलाएँ, जो माता यशोदा तथा अन्य व्रजवासियों को विस्मित करने वाली थीं, विशेष रूप से आकर्षक हैं। कृष्ण ने अपने बाल्यकाल से ही पूतना, तृणावर्त तथा शकटासुर का वध किया और अपने मुख के भीतर समूचा ब्रह्माण्ड दिखलाया। इस तरह एक एक करके कृष्ण की लीलाएँ माता यशोदा तथा समस्त व्रजवासियों को अत्यन्त आश्चर्यचकित करती रहीं। कृष्णभावनामृत को जगाने की विधि है—*आदौ श्रद्धा ततः साधुसंगः* (*भक्तिरसामृतसिंधु* १.४.१५)। कृष्ण की लीलाएँ भक्तों से उचित रूप से सुनी जा सकती हैं। यदि वैष्णवों से कृष्ण-लीलाओं के विषय में श्रवण करके थोड़ी-सी भी कृष्ण-भक्ति उत्पन्न की जा सके तो वैष्णवों के प्रति अनुरक्त हुआ जा सकता है क्योंकि वे कृष्णभावनामृत में ही रुचि रखते हैं। इसीलिए परीक्षित महाराज मनुष्यों के लिए संस्तुति करते हैं कि वे कृष्ण की बाल-लीलाओं को सुनें क्योंकि ये लीलाएँ मत्स्य, कूर्म, वराह आदि अवतारों की लीलाओं की अपेक्षा अधिक आकर्षक हैं। शुकदेव गोस्वामी से अधिकाधिक सुनने की इच्छा से महाराज परीक्षित ने उनसे अनुरोध किया कि वे कृष्ण की बाल-लीलाओं का आगे वर्णन करें क्योंकि वे सुनने में सरल हैं तथा अधिकाधिक उत्सुकता

जागृत करने वाली हैं।

अथान्यदपि कृष्णस्य तोकाचरितमद्भुतम् ।
मानुषं लोकमासाद्य तज्जातिमनुरुन्धतः ॥ ३॥

शब्दार्थ

अथ—भी; अन्यत् अपि—अन्य लीलाएँ भी; कृष्णस्य—बालक कृष्ण की; तोक-आचरितम् अद्भुतम्—वे भी अद्भुत बाल-लीलाएँ; मानुषम्—मानो मानवी बालक हों; लोकम् आसाद्य—इस पृथ्वीलोक में मानव समाज में प्रकट होकर; तत्-जातिम्—मानवी बालक की ही तरह; अनुरुन्धतः—अनुकरण किया।

कृपया भगवान् कृष्ण की अन्य लीलाओं का वर्णन करें जो मानवी बालक का अनुकरण करके और पूतना वध जैसे अद्भुत कार्यकलाप करते हुए इस पृथ्वी-लोक में प्रकट हुए।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से विनती की कि वे मानवी बालक के रूप में कृष्ण द्वारा प्रदर्शित बाल्यकाल की लीलाएँ कह सुनायें। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् भिन्न भिन्न कालों में विभिन्न लोकों तथा विभिन्न ब्रह्माण्डों में अवतरित होते हैं और उन स्थानों की प्रकृति के अनुसार वे अपनी असीम शक्ति प्रदर्शित करते हैं। अपनी माता की गोद में बैठने वाला बालक विशालकाय पूतना का वध कर सकता है, यह इस लोक के वासियों के लिए अत्यन्त अद्भुत लगने वाला है किन्तु अन्य लोकों के लोग और भी उन्नत हैं अतएव उन लोकों में कृष्ण इनसे भी अधिक अद्भुत लीलाएँ करते हैं। इस लोक में मानव रूप में कृष्ण का प्राकट्य हमें उच्च लोकें के देवताओं से भी अधिक भाग्यशाली बनाने वाला है। इसीलिए महाराज परीक्षित उनके विषय में सुनने के लिए अधिक उत्सुक थे।

श्रीशुक उवाच
कदाचिदौत्थानिककौतुकाप्लवे
जन्मर्क्षयोगे समवेतयोषिताम् ।
वादित्रगीतद्विजमन्त्रवाचकै-
श्चकार सूनोरभिषेचनं सती ॥ ४॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी आगे बोलते गये; कदाचित्—उस समय (जब कृष्ण तीन मास के थे); औत्थानिक-कौतुक-आप्लवे—जब कृष्ण ३-४ मास के थे तो उनका शरीर बढ़ रहा था और वे इधर-उधर पलटने का प्रयास कर रहे थे तो इस अवसर पर स्नानोत्सव मनाया गया; जन्म-ऋक्ष-योगे—उस समय चन्द्रमा तथा शुभ नक्षत्र रोहिणी का संयोग था; समवेत-योषिताम्—एकत्र स्त्रियों के बीच (यह उत्सव मनाया गया); वादित्र-गीत—नाना प्रकार का संगीत तथा गायन; द्विज-मन्त्र-वाचकैः—योग्य ब्राह्मणों द्वारा वैदिक स्तोत्रों के उच्चारण के साथ; चकार—सम्पन्न किया; सूनोः—अपने पुत्र का; अभिषेचनम्—स्नान उत्सव; सती—माता यशोदा ने।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : जब यशोदा का नन्हा शिशु उठने तथा करवट बदलने का प्रयत्न करने लगा तो वैदिक उत्सव मनाया गया। ऐसे उत्सव में, जिसे उत्थान कहा जाता है और जो बालक द्वारा घर से पहली बार बाहर निकलने के अवसर पर मनाया जाता है, बालक को ठीक से नहलाया जाता है। जब कृष्ण तीन मास के पूरे हुए तो माता यशोदा ने पड़ोस की अन्य औरतों के साथ इस उत्सव को मनाया। उस दिन चन्द्रमा तथा रोहिणी नक्षत्र का योग था। इस महोत्सव को माता यशोदा ने ब्राह्मणों द्वारा वैदिक मन्त्र के उच्चारण तथा पेशेवर गायकों के सहयोग से सम्पन्न किया।

तात्पर्य : वैदिक समाज में जनसंख्या की बाढ़ या बच्चे का अपने माता-पिता पर भार बनने का प्रश्न ही नहीं था। ऐसा समाज इतना सुव्यवस्थित होता है और लोग आध्यात्मिक दिशा में इतने उन्नत होते हैं कि शिशु-जन्म को कभी बोझ या चिन्ता नहीं माना जाता। शिशु ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों त्यों माता-पिता अधिक हर्षित होते हैं और शिशु द्वारा करवट लेना भी हर्ष का स्रोत बनता है। शिशु के जन्म के पूर्व भी जब माता गर्भिणी रहती है, तो अनेक अनुष्ठान सम्पन्न करने की संस्तुति की गई है। उदाहरणार्थ, जब शिशु माता के गर्भ में तीन महीने तथा सात महीने का हो जाता है, तो माता पड़ोस के बालकों के साथ भोजन करके उत्सव मनाती है। इसे *स्वादभक्षण* कहते हैं। इसी प्रकार शिशु-जन्म के पूर्व *गर्भाधान* उत्सव होता है। वैदिक सभ्यता में शिशु-जन्म या गर्भधारण कभी भार नहीं माना जाता प्रत्युत यह हर्ष का कारण बनता है। इसके विपरीत आधुनिक सभ्यता को गर्भधारण या शिशु-जन्म पसन्द नहीं है और यदि शिशु जन्म लेता है, तो कभी कभी लोग उसे मार भी डालते हैं। इससे हम सोच सकते हैं कि कलियुग के आगमन से मानव समाज कितना पतित हुआ है। यद्यपि वर्तमान समय में भी लोग अपने को सभ्य घोषित करते हैं किन्तु यथार्थतः अब मानव सभ्यता नहीं रही—केवल दो पाँव वाले पशुओं की भीड़ रह गई है।

नन्दस्य पत्नी कृतमज्जनादिकं
विप्रैः कृतस्वस्त्ययनं सुपूजितैः ।
अन्नाद्यवासःस्त्रगभीष्टधेनुभिः
सञ्जातनिद्राक्षमशीशयच्छनैः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

नन्दस्य—नन्द महाराज की; पत्नी—पत्नी (यशोदा); कृत-मज्जन-आदिकम्—जब वे तथा घर के अन्य लोग नहा चुके और बालक को भी नहला दिया गया उसके बाद; विप्रैः—ब्राह्मणों के द्वारा; कृत-स्वस्त्ययनम्—शुभ वैदिक मंत्रों के पाठ करने में लगाकर; सु-पूजितैः—जिनका ठीक से स्वागत तथा पूजन किया गया; अन्न-आद्य—उन्हें पर्याप्त अनाज तथा अन्य भोज्य वस्तुएँ देकर; वासः—वस्त्र; स्रक्-अभीष्ट-धेनुभिः—फूलों की मालाएँ तथा उपयुक्त गौवें भेंट करके; सञ्जात-निद्रा—उनींदी; अक्षम्—आँखें; अशीशयत्—बच्चे को लिटा दिया; शनैः—उस समय।

बच्चे का स्नान उत्सव पूरा हो जाने के बाद माता यशोदा ने ब्राह्मणों का स्वागत किया और उनको प्रचुर अन्न तथा अन्य भोज्य पदार्थ, वस्त्र, वांछित गौवें तथा मालाएँ भेंट करके उनकी उचित सम्मान के साथ पूजा की। ब्राह्मणों ने इस शुभ उत्सव पर उचित रीति से वैदिक मंत्र पढ़े। जब मंत्रोच्चार समाप्त हुआ और माता यशोदा ने देखा कि बालक उनींदा हो रहा है, तो वे उसे लेकर बिस्तर पर तब तक लेटी रहीं जब तक वह शान्त होकर सो नहीं गया।

तात्पर्य : स्नेहमयी माता अपने बच्चे का काफी ध्यान रखती है और यह देखती रहती है कि उसका बच्चा क्षण-भर भी विचलित न हो। बच्चा जब तक माता के पास रहना चाहता है, माता उसके पास रहती है और बच्चा अपने को काफी आरामदेह अनुभव करता है। माता यशोदा ने देखा कि उनका बच्चा उनींदा हो रहा है, तो उसे सोने की पूरी सुविधाएँ देने के लिए वे स्वयं बालक के साथ लेट गईं और जब वह शान्त हो गया तो वे उठ कर घर के दूसरे काम-काज करने लगीं।

औत्थानिकौत्सुक्यमना मनस्विनी
समागतान्पूजयती व्रजौकसः ।
नैवाशृणोद्वै रुदितं सुतस्य सा
रुदन्स्तनार्थी चरणावुदक्षिपत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

औत्थानिक-औत्सुक्य-मनाः—माता यशोदा बच्चे का उत्थान उत्सव मनाने में अत्यधिक व्यस्त थीं; मनस्विनी—भोजन, वस्त्र, आभूषण तथा गौवें बाँटने में अत्यन्त उदार; समागतान्—एकत्र मेहमानों को; पूजयती—उन्हें तुष्ट करने के लिए; व्रज-ओकसः—व्रजवासियों को; न—नहीं; एव—निश्चय ही; अशृणोत्—सुना; वै—निस्सन्देह; रुदितम्—रोना; सुतस्य—बच्चे का; सा—यशोदा; रुदन्—रोना; स्तन-अर्थी—कृष्ण जो माता के स्तन का दूध पीना चाह रहे थे; चरणौ उदक्षिपत्—क्रोध के मारे अपने दोनों पाँव इधर-उधर उछाल रहे थे।

उत्थान उत्सव मनाने में मग्न उदार माता यशोदा मेहमानों का स्वागत करने, आदर-सहित उनकी पूजा करने तथा उन्हें वस्त्र, गौवें, मालाएँ और अन्न भेंट करने में अत्यधिक व्यस्त थीं। अतः वे बालक के रोने को नहीं सुन पाईं। उस समय बालक कृष्ण अपनी माता का दूध पीना चाहता था अतः क्रोध में आकर वह अपने पाँव ऊपर की ओर उछालने लगा।

तात्पर्य : कृष्ण घरेलू छकड़े के नीचे लिटाये गये थे किन्तु यह छकड़ा वास्तव में शकटासुर का

अन्य रूप था—यह असुर बालक को मारने के लिए वहाँ आया था। कृष्ण ने अपनी माता का स्तनपान करने के बहाने इस असुर का वध करने का अवसर प्राप्त किया। उन्होंने शकटासुर को लात मारी जिससे सारा भेद खुल जाये। यद्यपि कृष्ण की माता मेहमानों के स्वागत में लगी थीं किन्तु भगवान् कृष्ण शकटासुर को मार कर उनका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करना चाहते थे इसलिए उन्होंने छकड़े के आकार वाले असुर को लात से मारा। कृष्ण की लीलाएँ ऐसी ही हैं। वे अपनी माता का ध्यान आकृष्ट करना चाह रहे थे किन्तु ऐसा करते समय उन्होंने ऐसा उत्पात खड़ा कर दिया जिसे सामान्य लोग समझ नहीं सके। ये कथाएँ अद्‍भुत एवं आनन्द देने वाली हैं और जो भाग्यशाली हैं, वे भगवान् की इन असाधारण लीलाओं को सुनकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं। यद्यपि अल्पज्ञ इन्हें मिथ्या कथाएँ मानते हैं क्योंकि उनकी बुद्धि में भूसा भरा रहता है किन्तु ये कथाएँ वास्तविक हैं। ये कथाएँ इतनी रोचक तथा प्रबुद्ध करने वाली हैं कि महाराज परीक्षित तथा शुकदेव गोस्वामी को इनमें आनन्द आया और उनके चरणचिह्नों में चलने वाले अन्य मुक्त पुरुष भी भगवान् की अद्‍भुत लीलाओं को सुनकर अत्यन्त हर्षित होते हैं।

अध:शयानस्य शिशोरनोऽल्पक-
प्रवालमृद्वङ्घ्रिहतं व्यवर्तत ।
विध्वस्तनानारसकुप्यभाजनं
व्यत्यस्तचक्राक्षविभिन्नकूबरम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

अध:-शयानस्य—गाड़ी (छकड़े) के नीचे सोये; शिशो:—बालक का; अन:—गाड़ी; अल्पक—अधिक बड़ा नहीं; प्रवाल—नई पत्ती की तरह; मृदु-अङ्घ्रि-हतम्—उनके सुन्दर मुलायम पाँवों से मारी गई; व्यवर्तत—उलट कर गिर गई; विध्वस्त—बिखर गई; नाना-रस-कुप्य-भाजनम्—धातुओं के बने बर्तन-भांडे; व्यत्यस्त—इधर-उधर हटे हुए; चक्र-अक्ष—दोनों पहिये तथा धुरी; विभिन्न—टूटे हुए; कूबरम्—शकट का कूबर (लट्ठा), जिसमें जुआ लगा रहता है।

श्रीकृष्ण आँगन के एक कोने में छकड़े के नीचे लेटे हुए थे और यद्यपि उनके पाँव कोंपलों की तरह कोमल थे किन्तु जब उन्होंने अपने पाँवों से छकड़े पर लात मारी तो वह भड़भड़ा कर उलटने से टूट-फूट गया। पहिए धुरे से विलग हो गये और बिखर गये और गाड़ी का लट्ठा टूट गया। इस गाड़ी पर रखे सब छोटे-छोटे धातु के बर्तन-भांडे इधर-उधर छितरा गये।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है—जब कृष्ण अत्यन्त सुकुमार थे तो उनके हाथ-पाँव कोंपलों के समान थे फिर भी उनके पाँवों के छूने से ही गाड़ी

खण्ड-खण्ड हो गई। ऐसा उनके लिए बिलकुल सम्भव था और इसमें उन्हें अधिक परिश्रम भी नहीं करना पड़ा। अपने वामन अवतार में भगवान् को अपने पाँव को इतनी ऊँचाई तक बढ़ाना पड़ा था जिससे वह ब्रह्माण्ड के आवरण में प्रवेश कर सके। इसी तरह जब भगवान् ने हिरण्यकशिपु को मारा तो उन्हें नृसिंहदेव के रूप में विशेष स्वरूप धारण करना पड़ा था। किन्तु कृष्ण अवतार में भगवान् को इतनी शक्ति व्यय नहीं करनी पड़ी। इसीलिए—*कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*—कृष्ण स्वयं भगवान् हैं। अन्य अवतारों में भगवान् को देश तथा काल के अनुसार कुछ शक्ति व्यय करनी पड़ी किन्तु इस अवतार में उन्होंने असीम शक्ति का प्रदर्शन किया। इसीलिए छकड़ा चूर चूर हो गया, उसके जोड़ टूट गये और उसके ऊपर रखे धातु के बर्तन-भांडे छितरा गये।

वैष्णव-तोषणी की टीका में लिखा है कि यद्यपि छकड़ा बच्चे से ऊँचा था किन्तु बालक आसानी से पहिए छू सकता था और इतना ही पर्याप्त था असुर को पृथ्वी पर नीचे फेंकने के लिए। भगवान् ने एक ही साथ असुर को पृथ्वी पर फेंका और छकड़े को तोड़ डाला।

दृष्ट्वा यशोदाप्रमुखा व्रजस्त्रिय
औत्थानिके कर्मणि याः समागताः ।
नन्दादयश्चाद्भुतदर्शनाकुलाः
कथं स्वयं वै शकटं विपर्यगात् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; यशोदा-प्रमुखाः—माता यशोदा इत्यादि; व्रज-स्त्रियः—व्रज की सारी स्त्रियाँ; औत्थानिके कर्मणि—उत्थान उत्सव मनाते समय; याः—जो; समागताः—वहाँ एकत्र हुए; नन्द-आदयः च—तथा नन्द महाराज इत्यादि सारे पुरुष; अद्भुत-दर्शन—अद्‌भुत विपत्ति देखकर (कि लदी हुई गाड़ी बच्चे के ऊपर टूट कर गिर गई थी फिर भी बालक के चोट नहीं आई थी); आकुलाः—अत्यन्त विचलित थे कि यह सब कैसे घटित हो गया; कथम्—कैसे; स्वयम्—अपने से; वै—निस्सन्देह; शकटम्—छकड़ा; विपर्यगात्—बुरी तरह क्षत-विक्षत हो गया।

जब यशोदा तथा उत्थान उत्सव के अवसर पर जुटी स्त्रियों तथा नन्द महाराज इत्यादि सभी पुरुषों ने यह अद्‌भुत दृश्य देखा तो वे आश्चर्य करने लगे कि यह छकड़ा किस तरह अपने आप चूर चूर हो गया है। वे इसका कारण ढूँढने के लिए इधर-उधर घूमने लगे किन्तु कुछ भी तय न कर पाये।

ऊचुरव्यवसितमतीन्गोपान्गोपीश्च बालकाः ।
रुदतानेन पादेन क्षिप्तमेतन्न संशयः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ऊचुः—कहा; अव्यवसित-मतीन्—वर्तमान स्थिति में जिनकी बुद्धि काम नहीं कर रही थी; गोपान्—ग्वालों को; गोपीः च—तथा गोपियों को; बालकाः—बच्चे; रुदता अनेन—ज्योंही बच्चा रोया; पादेन—एक पाँव से; क्षिप्तम् एतत्—यह गाड़ी दूर जा गिरी और छितर-बितर हो गई; न संशयः—इसमें कोई सन्देह नहीं है।.

वहाँ पर जुटे ग्वाले तथा गोपियाँ सोचने लगे कि यह घटना कैसे घटी? वे पूछने लगे, "कहीं यह किसी असुर या अशुभ ग्रह का काम तो नहीं है?" उस समय वहाँ पर उपस्थित बालकों ने स्पष्ट कहा कि बालक कृष्ण ने ही इस छकड़े को लात से मार कर दूर फेंका है। रोते बालक ने ज्योंही छकड़े के पहिये पर अपने पाँव मारे त्योंही पहिये सहित छकड़ा ध्वस्त हो गया। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

तात्पर्य : हमने यह सुना है कि लोगों को भूत-प्रेत सताते हैं। स्थूल शरीर प्राप्त न होने से भूत स्थूल शरीर को ढूँढ़ कर उसी में अड्डा जमाता है। शकटासुर ऐसा ही भूत था जिसने छकड़े में शरण ले रखी थी और कृष्ण को क्षति पहुँचाने की ताक में था। जब कृष्ण ने अपने छोटे-छोटे मुलायम पैरों से छकड़े पर प्रहार किया, तो जैसा वर्णन किया जा चुका है भूत पृथ्वी पर नीचे आ पड़ा और उसका आश्रय भंग हो गया। पूर्ण शक्तिमान होने के कारण ही कृष्ण ऐसा कर सके, जिसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* से (५.३२) होती है—

अङ्गानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति
पश्यन्ति पान्ति कलयन्ति चिरं जगन्ति।
आनन्दचिन्मयसदुज्ज्वलविग्रहस्य
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"कृष्ण का शरीर *सच्चिदानन्द विग्रह* या *आनन्द चिन्मय रसविग्रह* है। अर्थात् उनके आनन्द चिन्मय शरीर का कोई भी अंग किसी अन्य अंग की तरह कार्य कर सकता है। भगवान् की अचिन्त्य शक्तियाँ ऐसी हैं। भगवान् को ये शक्तियाँ अर्जित नहीं करनी होतीं, वे उनके पास ही रहती हैं। इस तरह कृष्ण ने अपने नन्हें-नन्हें पाँवों से प्रहार किया, तो सारा कार्य सम्पन्न हो गया। यही नहीं, यदि कोई सामान्य बालक होता तो छकड़े के टूटने से उसे बुरी तरह चोट खा जाता किन्तु कृष्ण तो भगवान् हैं। अतएव उन्हें छकड़े के टूटने में आनंद मिला और उनका बाल भी बाँका नहीं हुआ। उनके द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य *आनन्द चिन्मय रस*—अर्थात् दिव्य आनन्द से पूर्ण होता है। इसमें कृष्ण को बड़ा आनन्द

आया।

पास खेल रहे बालकों ने देखा था कि कृष्ण ने ही छकड़े के पहिये पर लात मारी थी जिससे यह दुर्घटना घटी थी। योगमाया की योजना से सारे गोप-गोपियों ने सोचा कि यह घटना किसी अशुभ ग्रह या असुर की करामात है किन्तु वास्तव में यह सब कृष्ण द्वारा किया गया था और उन्होंने इसका आनन्द लिया था। जो कृष्ण की लीलाओं का रस लेते हैं, वे भी आनन्द चिन्मय रस पद को प्राप्त होते हैं—वे भौतिक पद से मुक्त हो जाते हैं। जब कोई व्यक्ति *कृष्णकथा* सुनने की आदत बना लेता है, तो निश्चय ही वह इस भौतिक जगत से परे चला जाता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* द्वारा होती है (*स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते*)। आध्यात्मिक पद को प्राप्त किये बिना भगवान् की दिव्य लीलाओं का आनन्द नहीं उठाया जा सकता। अथवा दूसरे शब्दों मे, जो कोई भी कृष्ण की दिव्य लीलाओं का श्रवण करता है, वह भौतिक पद पर स्थित नहीं होता वरन् दिव्य आध्यात्मिक पद पर स्थित होता है।

न ते श्रद्दधिरे गोपा बालभाषितमित्युत ।
अप्रमेयं बलं तस्य बालकस्य न ते विदुः ॥ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ते—उन; श्रद्दधिरे—विश्वास किया; गोपाः—ग्वाले तथा गोपियों ने; बाल-भाषितम्—एकत्र बालकों की बचकाना बात पर; इति उत—इस तरह कहा गया; अप्रमेयम्—असीम, अचिन्त्य; बलम्—शक्ति; तस्य बालकस्य—उस छोटे-से बालक कृष्ण की; न—नहीं; ते—वे, गोप तथा गोपियाँ; विदुः—अवगत थे।

वहाँ एकत्र गोपियों तथा गोपों को यह विश्वास नहीं हुआ कि बालक कृष्ण में इतनी अचिन्त्य शक्ति हो सकती है क्योंकि वे इस तथ्य से अवगत नहीं थे कि कृष्ण सदैव असीम हैं। उन्हें बालकों की बातों पर विश्वास नहीं हुआ अतएव उन्हें बच्चों की भोली-भाली बातें जानकर, उन्होंने उनकी उपेक्षा की।

रुदन्तं सुतमादाय यशोदा ग्रहशङ्किता ।
कृतस्वस्त्ययनं विप्रैः सूक्तैः स्तनमपाययत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

रुदन्तम्—रोता हुआ; सुतम्—पुत्र को; आदाय—उठाकर; यशोदा—माता यशोदा ने; ग्रह-शङ्किता—बुरे ग्रह से भयभीत; कृत-स्वस्त्ययनम्—तुरन्त ही सौभाग्य के लिए अनुष्ठान किया; विप्रैः—ब्राह्मणों को बुलाकर; सूक्तैः—वैदिक स्तुतियों द्वारा; स्तनम्—अपना स्तन; अपाययत्—बच्चे को पिलाया।

यह सोच कर कि कृष्ण पर किसी अशुभ ग्रह का आक्रमण हुआ है, माता यशोदा ने रोते बालक को उठा लिया और उसे अपना स्तन-पान कराया। तब उन्होंने वैदिक स्तुतियों का उच्चारण करने के लिए तथा शुभ अनुष्ठान सम्पन्न करने के लिए अनुभवी ब्राह्मणों को बुला भेजा।

तात्पर्य : जब भी कोई संकट आ पड़ता है या कोई अशुभ घटना घट जाती है, तो वैदिक सभ्यता की यह प्रथा है कि उसके प्रतिकार के लिए वैदिक स्तुतियाँ कराने हेतु योग्य ब्राह्मण बुलाये जाते हैं। माता यशोदा ने इसे ठीक प्रकार से किया और अपने बच्चे को स्तन-पान कराने लगीं।

पूर्ववत्स्थापितं गोपैर्बलिभिः सपरिच्छदम् ।
विप्रा हुत्वार्चयां चक्रुर्दध्यक्षतकुशाम्बुभिः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

पूर्व-वत्—जिस तरह छकड़ा पहले रखा था; स्थापितम्—फिर से बर्तन-भांडे सजा कर; गोपैः—ग्वालों द्वारा; बलिभिः—बली, बलवान; स-परिच्छदम्—सारे साज-सामान सहित; विप्राः—ब्राह्मणों ने; हुत्वा—अग्नि उत्सव करके; अर्चयाम् चक्रुः—अनुष्ठान सम्पन्न किया; दधि—दही; अक्षत—चावल; कुश—कुश घास; अम्बुभिः—जल से।.

जब बलिष्ठ गठीले ग्वालों ने बर्तन-भांडे तथा अन्य सामग्री को छकड़े के ऊपर पहले की भाँति व्यवस्थित कर दिया, तो ब्राह्मणों ने बुरे ग्रह को शान्त करने के लिए अग्नि-यज्ञ का अनुष्ठान किया और तब चावल, कुश, जल तथा दही से भगवान् की पूजा की।

तात्पर्य : छकड़े पर भारी भारी बर्तन-भांडे तथा अन्य सामग्री रखी हुई थी। इस छकड़े को पूर्व स्थिति में लाने के लिए काफी बल की आवश्यकता थी किन्तु ग्वालों ने इसे सरलता से सम्पन्न कर लिया। फिर गोप-जाति की प्रथा के अनुसार संकटमयी स्थिति के शमन हेतु विविध वैदिक अनुष्ठान किये गये।

येऽसूयानृतदम्भेर्षाहिंसामानविवर्जिताः ।
न तेषां सत्यशीलानामाशिषो विफलाः कृताः ॥ १३ ॥
इति बालकमादाय सामर्ग्यजुरुपाकृतैः ।
जलैः पवित्रौषधिभिरभिषिच्य द्विजोत्तमैः ॥ १४ ॥
वाचयित्वा स्वस्त्ययनं नन्दगोपः समाहितः ।
हुत्वा चाग्निं द्विजातिभ्यः प्रादादन्नं महागुणम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

ये—जो ब्राह्मण; असूय—असूया; अनृत—झूठ; दम्भ—मिथ्या अहंकार; ईर्षा—ईर्ष्या; हिंसा—अन्यों के वैभव को देखकर विचलित होना; मान—मिथ्या प्रतिष्ठा; विवर्जिताः—से पूर्णतया रहित; न—नहीं; तेषाम्—ऐसे ब्राह्मणों का; सत्य-शीलानाम्—ब्राह्मण योग्यताओं (सत्य, शम, दम इत्यादि) से युक्त; आशिषः—आशीर्वाद; विफलाः—व्यर्थ; कृताः—किये गये; इति—इन बातों पर विचार करते हुए; बालकम्—बालक को; आदाय—लाकर; साम—सामवेद के अनुसार; ऋक्—ऋग्वेद के अनुसार; यजुः—तथा यजुर्वेद के अनुसार; उपाकृतैः—ऐसे उपायों से शुद्ध किया हुआ; जलैः—जल से; पवित्र-औषधिभिः—शुद्ध जड़ी-बूटियाँ मिलाकर; अभिषिच्य—(बालक को) नहलाने के बाद; द्विज-उत्तमैः—उच्च कोटि के योग्य ब्राह्मणों द्वारा; वाचयित्वा—उच्चारण करने के लिए प्रार्थना किये गये; स्वस्ति-अयनम्—शुभ स्तुतियाँ; नन्द-गोपः—गोपों के मुखिया नन्द महाराज ने; समाहितः—उदार तथा उत्तम; हुत्वा—आहुति करके; च—भी; अग्निम्—अग्नि में; द्विजातिभ्यः—उन उच्च कोटि के ब्राह्मणों को; प्रादात्—दान में दिया; अन्नम्—अन्न; महा-गुणम्—सर्वोत्तम।

जब ब्राह्मणजन ईर्ष्या, झूठ, मिथ्या अहंकार, द्वेष, अन्यों के वैभव को देखकर मचलने तथा मिथ्या प्रतिष्ठा से मुक्त होते हैं, तो उनके आशीर्वाद व्यर्थ नहीं जाते। यह सोचकर नन्द महाराज ने गम्भीर होकर कृष्ण को अपनी गोद में ले लिया और इन सत्यनिष्ठ ब्राह्मणों को साम, ऋग् तथा यजुर्वेद के पवित्र स्तोत्रों के अनुसार अनुष्ठान सम्पन्न करने के लिए आमंत्रित किया। जब मंत्रोच्चार हो रहा था, तो नन्द ने बच्चे को शुद्ध जड़ी-बूटियों से मिश्रित जल से स्नान कराया और अग्नि-यज्ञ करने के बाद सभी ब्राह्मणों को उत्तम अन्न तथा अन्य प्रकार के पदार्थों का स्वादिष्ट भोजन कराया।

तात्पर्य : नन्द महाराज को ब्राह्मणों की योग्यता एवं उनके आशीर्वाद पर पूरा-पूरा भरोसा था। उन्हें पूरा विश्वास था कि यदि उत्तम ब्राह्मण केवल अपना आशीर्वाद दें तो बालक कृष्ण सुखी रहेगा। योग्य ब्राह्मणों के आशीर्वाद न केवल भगवान् कृष्ण को, अपितु हर एक को सुख प्रदान करने वाले होते हैं। पूर्ण स्वावलम्बी होने के कारण कृष्ण को किसी के आशीर्वाद की आवश्यकता नहीं है फिर भी नन्द महाराज ने सोचा कि कृष्ण को ब्राह्मणों के आशीर्वाद की जरूरत है। तो फिर अन्यों के लिए क्या कहा जाय? अतः मानव समाज में पुरुषों का एक आदर्श वर्ग, ब्राह्मण वर्ग, होना चाहिए जो अन्यों को अर्थात् क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों को—आशीर्वाद दे सके जिससे हर कोई सुखी हो सके। इसीलिए *भगवद्गीता* (४.१३) में कृष्ण कहते हैं कि मानव समाज में चार वर्ग होने चाहिए (*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः*)। ऐसा नहीं है कि हर कोई शूद्र या वैश्य बन जाय तो मानव समाज समृद्ध होगा। जैसाकि *भगवद्गीता* में स्थापना की गई है सत्य, शम, दम तथा तितिक्षा जैसे गुणों से युक्त ब्राह्मणों का एक वर्ग होना चाहिए।

यहाँ *भागवत* में भी नन्द महाराज योग्य ब्राह्मणों को बुलवाते हैं। कोई जाति से ब्राह्मण हो सकते हैं

और हमारे मन में ब्राह्मण जाति के लिए आदर है किन्तु ब्राह्मण परिवारों में जन्म लेने से ही वे मानव समाज के अन्य सदस्यों को आशीर्वाद देने के योग्य नहीं बन जाते। यह शास्त्रों का निर्णय है। कलियुग में ब्राह्मण जाति में जन्मे मानव को ही ब्राह्मण मान लिया गया है। *विप्रत्वे सूत्रमेव हि* (भागवत १२.२.३)। कलियुग में दो पैसे का जनेऊ धारण करके कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण बन जाता है। नन्द महाराज ने ऐसे ब्राह्मणों को नहीं बुलवाया था। जैसाकि नारदमुनि ने कहा है (भागवत ७.११.३५)—*यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तम्।* शास्त्र में ब्राह्मण के लक्षण दिये हुए हैं और उसे इन लक्षणों से सम्पन्न होना चाहिए।

ऐसे ब्राह्मण जो ईर्ष्यालु नहीं हैं, गर्व से फूले नहीं रहते तथा अहंकार और मिथ्या प्रतिष्ठा नहीं दिखलाते और सतोगुण से युक्त होते हैं, वे ही उपयोगी होते हैं। इसलिए मनुष्यों के एक वर्ग को शुरू से ही ब्राह्मण बनने की शिक्षा दी जानी चाहिए। *ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन् दान्तो गुरोर्हितम्* (भागवत ७.१२.१)। *दान्तः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह ऐसे व्यक्ति का सूचक है, जो ईर्ष्यालु नहीं होता और झूठी प्रतिष्ठा के बल पर इतराता नहीं। हम कृष्णभावनामृत आन्दोलन के द्वारा समाज में ऐसे ब्राह्मणों का समावेश करने का प्रयास कर रहे हैं। ब्राह्मणों को अन्ततः वैष्णव हो जाना चाहिए और यदि कोई वैष्णव है, तो उसने पहले ही ब्राह्मण के गुण अर्जित कर लिये हैं। *ब्रह्म-भूतः प्रसन्नात्मा* (भगवद्गीता १८.५४)। *ब्रह्मभूतः* शब्द ब्राह्मण बनने या ब्रह्म क्या है उसे समझने का सूचक है (*ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः*)। जो ब्रह्मभूत है, वह सदैव प्रसन्न रहता है (*प्रसन्नात्मा*)। *न शोचति न कांक्षति*—वह कभी भौतिक आवश्यकताओं से विचलित नहीं होता। *समः सर्वेषु भूतेषुः*—वह हर एक को समान रूप से आशीर्वाद देने को तैयार रहता है। *मद्-भक्तिं लभते पराम्*—तब वह वैष्णव बनता है। इस युग में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने अपने वैष्णव शिष्यों के लिए यज्ञोपवीत संस्कार का सूत्रपात इस विचार से किया कि लोग समझें कि जब कोई वैष्णव बनता है, तो वह पहले से ही ब्राह्मण के गुणों को अर्जित कर चुका होता है। इसलिए जो लोग अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ में हैं और जो ब्राह्मण बनने के लिए दो बार दीक्षा प्राप्त करते हैं उन्हें सत्य, मन तथा इन्द्रियदमन, सहिष्णुता इत्यादि से युक्त होने के परम उत्तरदायित्व को सदैव ध्यान में रखना चाहिए। तभी उनका जीवन सफल होगा। ऐसे ही ब्राह्मणों को नन्द महाराज ने वैदिक स्तोत्रों का उच्चारण करने के लिए बुलाया था, सामान्य ब्राह्मणों को नहीं।

श्लोक १३ में *हिंसामान* का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। *मान* शब्द मिथ्या प्रतिष्ठा या मिथ्या अहंकार का द्योतक है। जिन्हें ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने के कारण अपने को ब्राह्मण मानने का मिथ्या अहंकार था, नन्द महाराज ने उन्हें ऐसे अवसरों पर नहीं बुलाया।

श्लोक १४ में *पवित्रौषधि* का उल्लेख हुआ है। किसी भी संस्कार के अवसर पर अनेक जड़ी-बूटियों तथा पत्तियों की आवश्यकता पड़ती थी। ये *पवित्र पत्र* कहलाती थीं। कभी नीम की पत्तियाँ, कभी बेल पत्र, आम की पत्तियाँ, अश्वत्थ की या आँवले की पत्तियाँ काम में आती थीं। इसी तरह *पञ्च गव्य, पञ्च शस्य* तथा *पञ्च रत्न* थे। वैश्य जाति के होते हुए भी नन्द महाराज को यह सब पता था।

इन श्लोकों का सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द है *महा-गुणम्* जो सूचित करता है कि ब्राह्मणों को उच्च कोटि का स्वादिष्ट भोजन प्रदान किया जाता था। ऐसे स्वादिष्ट व्यंजन प्रायः अन्न तथा दुग्ध इन दो वस्तुओं से तैयार किये जाते थे। इसीलिए *भगवद्गीता* का (१८.४४) आदेश है कि मानव समाज को गौओं को संरक्षण प्रदान करना चाहिए और कृषि को प्रोत्साहन देना चाहिए (*कृषि गोरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्*)। केवल पटु पाकविद्या द्वारा कृषि उपज तथा दुग्ध उत्पादनों से हजारों प्रकार के व्यंजन तैयार किये जा सकते हैं। इसे *अन्नं महागुणम्* शब्दों से व्यक्त किया गया है। आज भी भारत में दूध और अन्न से हजारों प्रकार के व्यंजन तैयार करके भगवान् को अर्पित किये जाते हैं (*चतुर्विधश्रीभगवत्प्रसाद। पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति*)। तब प्रसाद वितरित किया जाता है। आज भी जगन्नाथ-क्षेत्र तथा अन्य बड़े बड़े मन्दिरों में अर्चाविग्रह को अत्यन्त स्वादिष्ट व्यंजन भेंट किये जाते हैं और प्रचुर मात्रा में प्रसाद वितरित किया जाता है। उच्च कोटि के ब्राह्मणों द्वारा दक्षता के साथ पकाया गया और फिर जनता में बाँटा जाने वाला यह प्रसाद भी ब्राह्मणों या वैष्णवों से प्राप्त आशीर्वाद होता है। प्रसाद चार प्रकार का होता है (*चतुर्विध*)। नमकीन, मीठा, चटपटा तथा खट्टा स्वाद विभिन्न प्रकार के मसालों से प्राप्त किया जाता है और भोजन चार विभागों में तैयार होता है—*चर्व्य, चूष्य, लेह्य तथा पेय*—अर्थात् चबाकर खाये जाने वाले, चाटने वाले, जीभ से स्वाद लिये जाने वाले तथा पिये जाने वाले प्रसाद। इस तरह अन्न तथा घी से नाना प्रकार के प्रसाद तैयार किये जाते हैं, फिर अर्चाविग्रह पर भेंट किये जाते हैं और तब ब्राह्मणों तथा वैष्णवों में और अन्त में सामान्य जनता में वितरित किये जाते हैं। मानव समाज का यह तरीका है। गो-वध तथा भूमि के विनाश से भोजन-

समस्या हल होने वाली नहीं। यह सभ्यता नहीं है। असभ्य जंगली लोग कृषि द्वारा अन्न उत्पादन तथा गो-रक्षा से अनजान होने के कारण पशुओं को खा सकते हैं किन्तु ज्ञान में अग्रणी पूर्ण मानव समाज को कृषि से तथा गो-रक्षा से उत्तम कोटि का भोजन बनाना अवश्य सीखना चाहिए।

गावः सर्वगुणोपेता वासःस्रग्रुक्ममालिनीः ।
आत्मजाभ्युदयार्थाय प्रादात्ते चान्वयुञ्जत ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

गावः—गौवें; सर्व-गुण-उपेताः—पर्याप्त दूध देने से अत्यन्त गुणी होने; वासः—अच्छे वस्त्र पहने; स्रक्—माला से युक्त; रुक्म-मालिनीः—तथा सोने के हार पहने; आत्मज-अभ्युदय-अर्थाय—अपने पुत्र के अभ्युदय हेतु; प्रादात्—दान में दिया; ते—उन ब्राह्मणों ने; च—भी; अन्वयुञ्जत—उन्हें स्वीकार किया।

नन्द महाराज ने अपने पुत्र के धन-वैभव हेतु ब्राह्मणों को गौवें दान में दीं जो वस्त्रों, फूल-मालाओं तथा सुनहरे हारों से सजाई गई थीं। ये गौवें जो प्रचुर दूध देने वाली थीं ब्राह्मणों को दान में दी गई थीं और ब्राह्मणों ने उन्हें स्वीकार किया। बदले में उन्होंने समूचे परिवार को तथा विशेष रूप से कृष्ण को आशीर्वाद दिया।

तात्पर्य : नन्द महाराज ने पहले ब्राह्मणों को भव्य दावत दी और तब सुनहरे हारों, वस्त्रों और फूल की मालाओं से सजी उत्तम कोटि की गौवें दान में दीं।

विप्रा मन्त्रविदो युक्तास्तैर्याः प्रोक्तास्तथाशिषः ।
ता निष्फला भविष्यन्ति न कदाचिदपि स्फुटम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

विप्राः—ब्राह्मणगण; मन्त्र-विदः—वैदिक मंत्रोच्चारण में पटु; युक्ताः—पूर्ण योगी; तैः—उनके द्वारा; याः—जो; प्रोक्ताः—कहा गया; तथा—वैसा ही हो जाता है; आशिषः—सारे आशीर्वाद; ताः—ऐसे शब्द; निष्फलाः—व्यर्थ, विफल; भविष्यन्ति न—कभी नहीं होंगे; कदाचित्—किसी समय; अपि—निस्सन्देह; स्फुटम्—यथार्थ।

वैदिक मंत्रों के उच्चारण में पूरी तरह से पटु ब्राह्मण योगशक्तियों से सम्पन्न योगी थे। वे जो भी आशीर्वाद देते वह कभी निष्फल नहीं जाता था।

तात्पर्य : ब्रह्मी गुणों से युक्त ब्राह्मण सदा योगशक्ति-सम्पन्न योगी होते हैं। उनके शब्द व्यर्थ नहीं जाते। समाज के अन्य सदस्यों के साथ अपने प्रत्येक व्यवहार में ब्राह्मण निश्चित रूप से विश्वसनीय होते हैं। किन्तु इस युग में ध्यान रखना चाहिए कि ब्राह्मण अपनी योग्यताओं के विषय में अनिश्चित हैं। याज्ञिक ब्राह्मणों के न होने से सारे यज्ञ वर्जित हैं। इस युग में एकमात्र संकीर्तन यज्ञ की संस्तुति की गई

है। *यज्ञै सङ्कीर्तन प्रायैर्यजन्ति हि सुमेधस:* (*भागवत* ११.५.३२)। यज्ञ विष्णु को तुष्ट करने के निमित्त किया जाता है (*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन:*)। इस युग में योग्य ब्राह्मणों के न होने से मनुष्यों को चाहिए कि हरे कृष्ण-मंत्र के कीर्तन द्वारा यज्ञ करें (*यज्ञै सङ्कीर्तन प्रायैर्यजन्ति हि सुमेधस:*)। यह जीवन यज्ञ के निमित्त है और यज्ञ हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे कीर्तन द्वारा सम्पन्न किया जाता है।

एकदारोहमारूढं लालयन्ती सुतं सती ।
गरिमाणं शिशोर्वोढुं न सेहे गिरिकूटवत् ॥ १८॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार (सम्भवत: जब कृष्ण एक साल के थे); आरोहम्—अपनी माता की गोद में; आरूढम्—बैठे हुए; लालयन्ती—लाड़-प्यार करती हुई, दुलारती हुई; सुतम्—अपने पुत्र को; सती—माता यशोदा; गरिमाणम्—भार बढ़ने से; शिशो:—बालक के; वोढुम्—सहन कर पाने; न—नहीं; सेहे—समर्थ थी; गिरि-कूट-वत्—पर्वत की चोटी के भार जैसा लगने वाला।

एक दिन, कृष्ण के आविर्भाव के एक वर्ष बाद, माता यशोदा अपने पुत्र को अपनी गोद में दुलार रही थीं। तभी सहसा उन्हें वह बालक पर्वत की चोटी से भी भारी लगने लगा, जिससे वे उसका भार सहन नहीं कर पाईं।

तात्पर्य : *लालयन्ती*—कभी कभी माता अपने बच्चे को उछालती है और जब वह उसके हाथ में गिरता है, तो हँसता है। इससे माता को भी आनन्द आता है। यशोदा ऐसा ही करती थीं किन्तु इस बार कृष्ण बहुत भारी हो गये जिससे वे उनका भार नहीं सह सकीं। ऐसी परिस्थिति में हमें यह समझना चाहिए कि कृष्ण उस तृणावर्त के आगमन से अवगत थे, जो उन्हें उनकी माता से दूर उड़ा ले जाने वाला था। कृष्ण जानते थे कि जब तृणावर्त आकर उन्हें माता की गोद से ले जायेगा तो माता यशोदा अत्यन्त विरहाकुल होंगी। वे नहीं चाहते थे कि माता को असुर के कारण कोई कष्ट सहना पड़े। चूँकि वे प्रत्येक वस्तु के उद्गम हैं (*जन्माद्यस्य यत:*) अतएव उन्होंने सारे ब्रह्माण्ड का भार अपने में धारण कर लिया। बालक यशोदा की गोद में था जिसका संसार की हर वस्तु पर स्वामित्व था, किन्तु जब बालक भारी हो गया तो यशोदा को उसे गोद से नीचे रखना पड़ा जिससे तृणावर्त को अवसर मिले कि वह उसे ले जाय और बालक के माता की गोद में लौटने तक कुछ काल तक उनके साथ खेले।

भूमौ निधाय तं गोपी विस्मिता भारपीडिता ।
महापुरुषमादध्यौ जगतामास कर्मसु ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

भूमौ—जमीन पर; निधाय—रख कर; तम्—उस बालक को; गोपी—माता यशोदा; विस्मिता—चकित; भार-पीडिता—बच्चे के भार से दुखित; महा-पुरुषम्—विष्णु या नारायण को; आदध्यौ—शरण ली; जगताम्—मानो सारे जगत का भार हो; आस—अपने को व्यस्त किया; कर्मसु—घर के अन्य कामों में।

बालक को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के बराबर भारी अनुभव करते हुए अतएव यह सोचते हुए कि बालक को कोई दूसरा भूत-प्रेत या असुर सता रहा है, चकित माता यशोदा ने बालक को जमीन पर रख दिया और नारायण का चिंतन करने लगीं। उत्पात की आशंका से उन्होंने इस भारीपन के शमन हेतु ब्राह्मणों को बुला भेजा और फिर घर के कामकाज में लग गईं। उनके पास नारायण के चरणकमलों को स्मरण करने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प न था क्योंकि वे यह नहीं समझ पाईं कि कृष्ण ही हर वस्तु के मूल स्रोत हैं।

तात्पर्य : माता यशोदा यह नहीं समझ पाईं कि कृष्ण वस्तुओं में से सबसे भारी हैं और वे सबों के भीतर निवास करते हैं (*मत्स्थानि सर्वभूतानि*)। *भगवद्गीता* (९.४) में पुष्टि की गई है—*मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना*—कृष्ण अपने निर्विशेष रूप में सर्वत्र विद्यमान हैं और सारी वस्तुएँ उन्हीं पर टिकी हैं। फिर भी—*न चाहं तेष्ववस्थित:*—कृष्ण सर्वत्र नहीं रहते। माता यशोदा इस दर्शन को नहीं समझती थीं क्योंकि योगमाया की योजनानुसार वे कृष्ण की माता के रूप में उनके साथ व्यवहार कर रही थीं। कृष्ण की महत्ता को न समझ सकने से वे कृष्ण की सुरक्षा के लिए केवल नारायण की शरण ले सकती थीं और इस दशा के शमन हेतु ब्राह्मणों को बुला सकती थीं।

दैत्यो नाम्ना तृणावर्त: कंसभृत्य: प्रणोदित: ।
चक्रवातस्वरूपेण जहारासीनमर्भकम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

दैत्य:—दूसरा असुर; नाम्ना—नाम वाला; तृणावर्त:—तृणावर्त; कंस-भृत्य:—कंस का दास; प्रणोदित:—उसके द्वारा प्रेरित; चक्रवात-स्वरूपेण—बवंडर के रूप में; जहार—उड़ा ले गया; आसीनम्—बैठे हुए; अर्भकम्—बालक को।

जब बालक जमीन पर बैठा हुआ था, तो तृणावर्त नामक असुर, जो कंस का दास था, वहाँ पर कंस के बहकाने पर बवंडर के रूप में आया और बड़ी आसानी से बालक को अपने साथ उड़ाकर आकाश में ले गया।

तात्पर्य : कृष्ण का भारीपन माता के लिए असह्य था किन्तु जब तृणावर्तासुर आया तो वह उन्हें

तुरन्त उड़ा ले गया। यह कृष्ण की अचिन्त्य शक्ति का दूसरा प्रदर्शन था। जब तृणावर्त आया तो कृष्ण तिनके से भी अधिक हल्के हो गये जिससे वह उन्हें उड़ा ले जा सके। यह उनका *आनन्दचिन्मय रस* था।

गोकुलं सर्वमावृण्वन्मुष्णंश्चक्षूंषि रेणुभिः ।
ईरयन्सुमहाघोरशब्देन प्रदिशो दिशः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

गोकुलम्—गोकुल मंडल को; सर्वम्—समूचे; आवृण्वन्—प्रच्छन्न करते हुए; मुष्णन्—हरते हुए; चक्षूंषि—देखने की शक्ति; रेणुभिः—धूल के कणों से; ईरयन्—कँपाते हुए; सु-महा-घोर—अत्यन्त भयानक तथा भारी; शब्देन—आवाज से; प्रदिशः दिशः—सारी दिशाओं में घुस गया।

उस असुर ने प्रबल बवंडर के रूप में सारे गोकुल प्रदेश को धूल के कणों से ढकते हुए सभी लोगों की दृष्टि ढक ही ली और भयावनी आवाज करता हुआ सारी दिशाओं को कँपाने लगा।

तात्पर्य : तृणावर्त ने बवंडर का रूप धारण कर लिया और समूचे गोकुल प्रदेश को धूल भरे अंधड़ से ढक दिया जिससे निकट की भी वस्तु नहीं दिखती थी।

मुहूर्तमभवद्गोष्ठं रजसा तमसावृतम् ।
सुतं यशोदा नापश्यत्तस्मिन्न्यस्तवती यतः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

मुहूर्तम्—क्षण-भर के लिए; अभवत्—हो गया; गोष्ठम्—समूचे चरागाह में; रजसा—धूल-कणों से; तमसा आवृतम्—अंधकार से प्रच्छन्न; सुतम्—अपने पुत्र को; यशोदा—माता यशोदा ने; न अपश्यत्—नहीं देखा; तस्मिन्—उसी स्थान में; न्यस्तवती—रखा था; यतः—जहाँ।

क्षण-भर के लिए समूचा चरागाह धूल भरी अंधड़ के घने अंधकार से ढक गया और माता यशोदा अपने पुत्र को उस स्थान में न पा सकीं जहाँ उसे बिठाया था।

नापश्यत्कश्चनात्मानं परं चापि विमोहितः ।
तृणावर्तनिसृष्टाभिः शर्कराभिरुपद्रुतः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अपश्यत्—देखा; कश्चन—किसी को; आत्मानम्—अपने को; परम् च अपि—या दूसरे को; विमोहितः—मोहित होकर; तृणावर्त-निसृष्टाभिः—तृणावर्त द्वारा फेंके गये; शर्कराभिः—बालू के कणों से; उपद्रुतः—और विचलित किया जाकर।

तृणावर्त द्वारा फेंके गये बालू के कणों के कारण लोग न तो स्वयं को देख सकते थे न

अन्य किसी और को। इस तरह वे मोहित तथा विचलित थे।

इति खरपवनचक्रपांशुवर्षे
सुतपदवीमबलाविलक्ष्य माता ।
अतिकरुणमनुस्मरन्त्यशोचद्
भुवि पतिता मृतवत्सका यथा गौः ॥ २४॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; खर—अत्यन्त प्रचंड; पवन-चक्र—बवंडर से; पांशु-वर्षे—धूल-कणों की वर्षा होने पर; सुत-पदवीम्—अपने पुत्र के स्थान को; अबला—बेचारी स्त्री; अविलक्ष्य—न देखकर; माता—उसकी माता होने से; अति-करुणम्—अत्यन्त कारुणिक; अनुस्मरन्ती—अपने पुत्र का चिन्तन करती हुई; अशोचत्—अत्यधिक विलाप किया; भुवि—भूमि पर; पतिता—गिर गई; मृत-वत्सका—अपने बछड़े को खोकर; यथा—जिस तरह; गौः—गाय।

प्रबल बवंडर से उठे अंधड़ के कारण माता यशोदा न तो अपने पुत्र का कोई पता लगा सकीं, न ही कोई कारण समझ पाईं। वे जमीन पर इस तरह गिर पड़ीं मानों किसी गाय ने अपना बछड़ा खो दिया हो। वे अत्यन्त करुण-भाव से विलाप करने लगीं।

रुदितमनुनिशम्य तत्र गोप्यो
भृशमनुतप्तधियोऽश्रुपूर्णमुख्यः ।
रुरुदुरनुपलभ्य नन्दसूनुं
पवन उपारतपांशुवर्षवेगे ॥ २५॥

शब्दार्थ

रुदितम्—करुणापूर्वक रोती हुई माता यशोदा; अनुनिशम्य—सुनकर; तत्र—वहाँ; गोप्यः—अन्य गोपियाँ; भृशम्—अत्यधिक; अनुतप्त—माता यशोदा के साथ विलाप करती; धियः—ऐसी भावनाओं से; अश्रु-पूर्ण-मुख्यः—तथा आँसुओं से पूरित मुखों वाली अन्य गोपियाँ; रुरुदुः—रो रही थीं; अनुपलभ्य—न पाकर; नन्द-सूनुम्—नन्द महाराज के पुत्र, कृष्ण को; पवने—बवंडर के; उपारत—बन्द हो जाने पर; पांशु-वर्ष-वेगे—धूल की वर्षा के वेग से।

जब अंधड़ तथा बवंडर का वेग घट गया, तो यशोदा का करुण क्रन्दन सुनकर उनकी सखियाँ—गोपियाँ—उनके पास आईं। किन्तु वे भी कृष्ण को वहाँ न देखकर अत्यन्त उद्विग्न हुईं और आँखों में आँसू भर कर माता यशोदा के साथ वे भी रोने लगीं।

तात्पर्य : कृष्ण के प्रति गोपियों की अनुरक्ति विलक्षण तथा दिव्य है। गोपियों के सारे कार्यकलापों के केन्द्र कृष्ण थे। कृष्ण के रहने पर वे सुखी रहती थीं किन्तु उनके पास न होने पर वे दुखी थीं। इस तरह जब माता यशोदा कृष्ण के जाने से विलाप कर रही थीं तो अन्य स्त्रियाँ भी रोने लगीं।

तृणावर्तः शान्तरयो वात्यारूपधरो हरन् ।

कृष्णं नभोगतो गन्तुं नाशक्नोद्भूरिभारभृत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तृणावर्तः—तृणावर्त असुर; शान्त-रयः—झोंके का वेग घट गया; वात्या-रूप-धरः—जिसने प्रबल बवंडर का रूप धारण कर लिया था; हरन्—तथा ले गया था; कृष्णम्—कृष्ण को; नभः-गतः—आकाश में ऊँचे चला गया; गन्तुम्—आगे जाने के लिए; न अशक्नोत्—समर्थ न था; भूरि-भार-भृत्—क्योंकि कृष्ण असुर से भी अधिक शक्तिशाली तथा भारी थे।

तृणावर्त असुर वेगवान बवंडर का रूप धारण करके कृष्ण को आकाश में बहुत ऊँचाई तक ले गया किन्तु जब कृष्ण असुर से भारी हो गये तो असुर का वेग रुक गया जिससे वह और आगे नहीं जा सका।

तात्पर्य : यहाँ पर कृष्ण तथा तृणावर्त की योगशक्ति में प्रतियोगिता दिखाई गई है। योगाभ्यास द्वारा असुरगण सामान्यतया आठ सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं—ये हैं अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व तथा कामावसायिता। यद्यपि असुर कुछ हद तक ऐसी शक्तियाँ प्राप्त कर सकते हैं किन्तु वे कृष्ण की योगशक्ति से स्पर्धा नहीं कर सकते क्योंकि कृष्ण योगेश्वर हैं (*यत्र योगेश्वरो हरिः*)। कृष्ण से कोई होड़ नहीं ले सकता। निस्सन्देह, कभी कभी कृष्ण की योगशक्ति का एक अंश पाकर ये असुर अपनी शक्ति का प्रदर्शन मूर्ख जनता के समक्ष करते हैं और अपने को ईश्वर बतलाते हैं। वे यह नहीं जानते कि ईश्वर तो परम योगेश्वर हैं। यहाँ भी हम देखते हैं कि तृणावर्त *महिमा सिद्धि* प्राप्त करके कृष्ण को सामान्य बालक के रूप में उड़ा ले गया। किन्तु कृष्ण भी *महिमासिद्ध* योगी बन गये। जब माता यशोदा उन्हें लिये थीं तो वे इतने भारी हो गये कि माता जिन्हें कृष्ण को गोद में उठाने का अभ्यास था, यह भार सहन नहीं कर पाईं जिससे उन्हें नीचे जमीन पर रखना पड़ा। इस तरह तृणावर्त माता यशोदा की उपस्थिति में कृष्ण को ले जा सका। किन्तु जब कृष्ण ने आकाश में ऊँचाई पर महिमासिद्धि धारण की तो वह असुर आगे न जा सका अतः उसे अपनी शक्ति रोकनी ही पड़ी और कृष्ण की इच्छा के अनुसार नीचे आना पड़ा। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह कृष्ण की योगशक्ति की बराबरी न करे।

भक्तों में सारी योगशक्ति स्वतः रहती है किन्तु वे कृष्ण से बराबरी नहीं करना चाहते। बल्कि वे कृष्ण को पूर्ण समर्पण कर देते हैं और उनकी योगशक्ति कृष्ण की कृपा से प्रदर्शित होती है। भक्तगण इतनी प्रबल योगशक्ति प्रदर्शित कर सकते हैं जिसकी कोई असुर कल्पना भी नहीं कर सकता। किन्तु वे अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए कभी प्रदर्शन नहीं करना चाहते। वे जो कुछ भी करते हैं, भगवान् की

सेवा के लिए करते हैं फलत: वे असुरों से श्रेष्ठतर पद पर होते हैं। ऐसे अनेक कर्मी, योगी तथा ज्ञानी होते हैं, जो बनावटी तौर पर कृष्ण की बराबरी करना चाहते हैं अत: ऐसे सामान्य मूर्ख लोग जो विद्वानों से *श्रीमद्भागवत* सुनने की परवाह नहीं करते, किसी धूर्त योगी को भगवान् मानने लगते हैं। सम्प्रति ऐसे अनेक तथाकथित बाबा हैं, जो कोई तुच्छ योगशक्ति दिखाकर अपने को ईश्वर का अवतार बतलाते हैं। मूर्ख लोग कृष्ण विषयक ज्ञान के अभाव में इन बाबाओं को ईश्वर मान लेते हैं।

तमश्मानं मन्यमान आत्मनो गुरुमत्तया ।
गले गृहीत उत्स्रष्टुं नाशक्नोदद्भुतार्भकम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

तम्—कृष्ण को; अश्मानम्—लोहे की तरह के भारी पत्थर; मन्यमानः—इस तरह सोचते हुए; आत्मनः गुरु-मत्तया—अनुमान से भी अधिक भारी होने के कारण; गले—उसकी गर्दन में; गृहीते—अपनी बाँहों से बँधा या आलिंगन किया जाकर; उत्स्रष्टुम्—छोड़ने के लिए; न अशक्नोत्—समर्थ नहीं था; अद्भुत-अर्भकम्—अद्भुत बालक को जो सामान्य बालक से भिन्न था।

कृष्ण के भार के कारण तृणावर्त उन्हें विशाल पर्वत या लोह का पिंड मान रहा था। किन्तु कृष्ण ने असुर की गर्दन पकड़ रखी थी इसलिए वह उन्हें फेंक नहीं पा रहा था। इसलिए उसने सोचा कि यह बालक अद्भुत है, जिसके कारण मैं न तो उसे ले जा सकता हूँ न ही इस भार को दूर फेंक सकता हूँ।

तात्पर्य : तृणावर्त कृष्ण को आकाश में ले जाकर मारना चाहता था किन्तु कृष्ण को तृणावर्त के शरीर पर सवारी करने और कुछ देर तक आकाश में यात्रा करने में आनन्द आ रहा था। इस तरह कृष्ण को मारने का उसका प्रयास असफल रहा किन्तु *आनन्दचिन्मय रस विग्रह* कृष्ण को इस लीला में खूब आनन्द आया। अब जबकि तृणावर्त कृष्ण के भार से नीचे गिरने लगा तो उसने अपने आप को बचाने के लिए कृष्ण को अपने गले से छुड़ाकर नीचे पटकना चाहा किन्तु वह ऐसा न कर पाया क्योंकि कृष्ण उसे बड़ी मजबूती से पकड़े थे। फलस्वरूप यह तृणावर्त की योगशक्ति की अन्तिम घड़ी थी। अब वह कृष्ण की योजना से मृत्यु के मुख में जा रहा था।

गलग्रहणनिश्चेष्टो दैत्यो निर्गतलोचनः ।
अव्यक्तरावो न्यपतत्सहबालो व्यसुर्व्रजे ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

गल-ग्रहण-निश्चेष्टः—कृष्ण द्वारा गला पकड़े रहने से तृणावर्त का गला घुट रहा था और वह कुछ भी नहीं कर सका; दैत्यः—असुर; निर्गत-लोचनः—दबाव से आँखें बाहर निकल आईं; अव्यक्त-रावः—गला घुटने से उसकी कराह भी नहीं निकल पायी; न्यपतत्—गिर पड़ा; सह-बालः—बालक सहित; व्यसुः व्रजे—व्रज की भूमि पर निर्जीव।

कृष्ण ने तृणावर्त को गले से पकड़ रखा था इसलिए उसका दम घुट रहा था जिससे वह न तो कराह सकता था, न ही अपने हाथ-पैर हिला-डुला सकता था। उसकी आँखें बाहर निकल आईं थी, उसके प्राण निकल गये और वह उस छोटे बालक सहित व्रज की भूमि पर नीचे आ गिरा।

तमन्तरिक्षात्पतितं शिलायां
विशीर्णसर्वावयवं करालम् ।
पुरं यथा रुद्रशरेण विद्धं
स्त्रियो रुदत्यो ददृशुः समेताः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस असुर को; अन्तरिक्षात्—आकाश से; पतितम्—गिरा हुआ; शिलायाम्—चट्टान पर; विशीर्ण—बिखरा, छिन्न-भिन्न; सर्व-अवयवम्—शरीर के सारे अंग; करालम्—अत्यन्त विकराल हाथ-पाँव; पुरम्—त्रिपुरासुर का स्थान; यथा—जिस तरह; रुद्र-शरेण—शिवजी के बाण से; विद्धम्—बेधा गया; स्त्रियः—सारी स्त्रियाँ, गोपियाँ; रुदत्यः—कृष्ण वियोग के कारण रोती हुईं; ददृशुः—अपने सामने ही देखा; समेताः—एकसाथ।

जब वहाँ एकत्र गोपियाँ कृष्ण के लिए रो रही थीं तो वह असुर आकाश से पत्थर की एक बड़ी चट्टान पर आ गिरा, जिससे उसके सारे अंग छिन्न-भिन्न हो गये मानो भगवान् शिवजी के बाण से बेधा गया त्रिपुरासुर हो।

तात्पर्य : दिव्य भक्ति में ज्योंही भगवद्भक्त शोकाकुल हो जाते हैं, तो उन्हें भगवान् के दिव्य कार्यकलापों का अनुभव होने लगता है और वे दिव्य आनन्द में मग्न हो जाते हैं। वास्तव में ऐसे भक्त सदैव दिव्य आनन्द को प्राप्त रहते हैं और ऐसी ऊपरी विपदाएँ उस आनन्द को और अधिक वर्धित करती हैं।

प्रादाय मात्रे प्रतिहृत्य विस्मिताः
कृष्णं च तस्योरसि लम्बमानम् ।
तं स्वस्तिमन्तं पुरुषादनीतं
विहायसा मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ।
गोप्यश्च गोपाः किल नन्दमुख्या
लब्ध्वा पुनः प्रापुरतीव मोदम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

प्रादाय—उठाकर; मात्रे—उनकी माता को; प्रतिहृत्य—हाथों में सौंप दिया; विस्मिताः—सारे लोग अचंभित थे; कृष्णम् च—तथा कृष्ण को; तस्य—असुर की; उरसि—छाती पर; लम्बमानम्—स्थित; तम्—कृष्ण को; स्वस्तिमन्तम्—समस्त कल्याण से युक्त; पुरुषाद-नीतम्—मानवभक्षी असुर द्वारा ले जाया गया; विहायसा—आकाश में; मृत्यु-मुखात्—मृत्यु के मुँह से; प्रमुक्तम्—अब मुक्त हुए; गोप्यः—गोपियाँ; च—तथा; गोपाः—ग्वाले; किल—निस्सन्देह; नन्द-मुख्याः—नन्द महाराज इत्यादि; लब्ध्वा—पाकर; पुनः—फिर (उनका पुत्र); प्रापुः—प्राप्त किया; अतीव—अत्यधिक; मोदम्—आनन्द।

गोपियों ने तुरन्त ही कृष्ण को असुर की छाती से उठाकर माता यशोदा को लाकर सौंप दिया। वे समस्त अशुभों से मुक्त थे। चूँकि बालक को असुर द्वारा आकाश में ले जाये जाने पर भी किसी प्रकार की चोट नहीं आई थी और वह अब सारे खतरों तथा दुर्भाग्य से मुक्त था इसलिए नन्द महाराज समेत सारे ग्वाले तथा गोपियाँ अत्यन्त प्रसन्न थे।

तात्पर्य : असुर आकाश से पीठ के बल गिरा और कृष्ण उसकी छाती पर बिना चोट खाये और किसी दुर्घटना से ग्रस्त हुए बिना खेल रहे थे। आकाश में असुर द्वारा दूर तक ले जाये जाने पर भी कृष्ण तनिक भी विचलित नहीं थे। कृष्ण से खेल रहे थे और आनंद ले रहे थे। यही है *आनन्दचिन्मय रस विग्रह।* वे हर हालत में *सच्चिदानन्द विग्रह* हैं। उन्हें कोई दुख नहीं सताता। अन्यों ने भले ही सोचा हो कि वे संकट में थे लेकिन असुर की छाती इतनी चौड़ी थी कि वे प्रसन्नतापूर्वक उसी पर खेल रहे थे। यह सबसे अधिक आश्चर्य की बात थी कि यद्यपि असुर आकाश में बहुत ऊँचाई तक उन्हें ले गया था किन्तु वे गिरे नहीं। इस तरह बालक कृष्ण एक तरह से मृत्यु के मुँह से बाल-बाल बचे थे। उनके सुरक्षित रहने से वृन्दावन के सारे निवासी अत्यन्त प्रसन्न थे।

अहो बतात्यद्भुतमेष रक्षसा
बालो निवृत्तिं गमितोऽभ्यगात्पुनः ।
हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः
साधुः समत्वेन भयाद्विमुच्यते ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; बत—निस्सन्देह; अति—अत्यन्त; अद्भुतम्—यह घटना बड़ी अद्भुत है; एषः—यह (बालक); रक्षसा—मानवभक्षी असुर के द्वारा; बालः—अबोध बालक कृष्ण; निवृत्तिम्—मार कर खाये जाने के लिए ले जाया गया; गमितः—दूर चला गया; अभ्यगात् पुनः—किन्तु वह बिना चोट लगे वापस आ गया; हिंस्रः—ईर्ष्यालु; स्व-पापेन—अपने ही पापपूर्ण कार्यों से; विहिंसितः—अब (वही असुर) मारा जा चुका है; खलः—दुष्ट होने के कारण; साधुः—पाप से रहित तथा निर्दोष व्यक्ति; समत्वेन—समान होने से; भयात्—सभी प्रकार के भय से; विमुच्यते—छूट जाता है।

यह सबसे अधिक आश्चर्य की बात है कि यह अबोध बालक इस राक्षस द्वारा खाये जाने के लिए दूर ले जाया जाकर भी बिना मारे या चोट खाये वापस लौट आया। चूँकि राक्षस ईर्ष्यालु, क्रूर तथा पापी था, इसलिए वह अपने पापपूर्ण कृत्यों के लिए मारा गया। यही प्रकृति का नियम

है। निर्दोष भक्त की रक्षा सदैव भगवान् द्वारा की जाती है और पापी व्यक्ति को अपने पापमय जीवन के लिए दण्ड दिया जाता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित जीवन का अर्थ है निष्पाप भक्तिमय जीवन। *साधु* वह है, जो पूरी तरह कृष्ण में अनुरक्त हो। कृष्ण ने *भगवद्गीता* (९.३०) में पुष्टि की है—*भजते मां अनन्य-भाक् साधुरेव स मन्तव्य:*—कृष्ण के प्रति पूर्णरूपेण अनुरक्त व्यक्ति *साधु* है। नन्द महाराज, गोपियाँ तथा अन्य ग्वाले यह समझ ही नहीं सके कि कृष्ण भगवान् होकर मानवी बालक की भूमिका अदा कर रहे हैं और उनका जीवन किसी भी परिस्थिति में खतरे में नहीं था। प्रत्युत कृष्ण के प्रति उत्कट वात्सल्य-प्रेम के कारण वे कृष्ण को अबोध बालक मान रहे थे जिसे भगवान् ने बचा लिया था।

इस भौतिक जगत में अतीव काम तथा भोगेच्छा के कारण मनुष्य अधिकाधिक पापपूर्ण जीवन में फँसता जाता है (*काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव:*)। इसलिए भौतिक जीवन के पक्षों में से भय एक है (*आहारनिद्राभयमैथुनं च*)। किन्तु कृष्णभावनाभावित होने पर भक्ति की विधि अर्थात् *श्रवणं कीर्तनं* इस जगत के कलुषित जीवन को घटा देते हैं। इससे वह शुद्ध बनकर भगवान् द्वारा संरक्षित हो जाता है। *शृण्वतां स्वकथा: कृष्ण: पुण्यश्रवणकीर्तन: ।* भक्तिमय जीवन में मनुष्य की इस विधि में श्रद्धा रहती है। ऐसी श्रद्धा छ: प्रकार की शरणागतियों में से एक है। *रक्षिष्यतीति विश्वास:* (*हरि भक्ति* ११.६७६)। शरणागति की एक विधि यह भी है कि मनुष्य इस विश्वास से एकमात्र कृष्ण पर आश्रित रहे कि वे उसकी सभी प्रकार से रक्षा करेंगे। कृष्ण अपने भक्त की रक्षा करते हैं—यह तथ्य है और नन्द महाराज तथा वृन्दावन के अन्य निवासियों ने इसे सहज ही स्वीकार कर लिया, यद्यपि उन्हें ज्ञात न था कि साक्षात् भगवान् उनके समक्ष हैं। ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं जिनमें प्रह्लाद महाराज या ध्रुव महाराज जैसे भक्त को उसके पिता ने सताया किन्तु तो भी सभी परिस्थितियों में उसकी रक्षा हुई। अत: हमारा एकमात्र यह धर्म है कि हम कृष्णभावनाभावित होकर रक्षा के लिए कृष्ण पर पूरी तरह से आश्रित रहें।

किं नस्तपश्चीर्णमधोक्षजार्चनं
पूर्तेष्टदत्तमुत भूतसौहृदम् ।
यत्सम्परेत: पुनरेव बालको
दिष्ट्या स्वबन्धून्प्रणयन्नुपस्थित: ॥ ३२॥

शब्दार्थ

किम्—किस तरह की; नः—हमारे द्वारा; तपः—तपस्या; चीर्णम्—दीर्घकाल तक की गई; अधोक्षज—भगवान् की; अर्चनम्—पूजा; पूर्त—सड़कें बनवाना इत्यादि.; इष्ट—जनकल्याण कार्य; दत्तम्—दान देना; उत—अथवा और कुछ; भूत-सौहृदम्—जनता के प्रति प्रेम होने से; यत्—जिसके कारण; सम्परेतः—मृत्यु को प्राप्त होने पर भी; पुनः एव—फिर से, अपने पुण्यों के कारण; बालकः—बालक; दिष्ट्या—भाग्य द्वारा; स्व-बन्धून्—निजी सम्बन्धियों को; प्रणयन्—प्रसन्न करने के लिए; उपस्थितः—यहाँ उपस्थित है।

नन्द महाराज तथा अन्य लोगों ने कहा : हमने अवश्य ही पूर्वजन्म में दीर्घकाल तक तपस्या की होगी, भगवान् की पूजा की होगी, जनता के लिए सड़कें तथा कुएँ बनवाकर पुण्य कर्म किये होंगे और दान भी दिया होगा जिसके फलस्वरूप मृत्यु के मुख में गया हुआ यह बालक अपने सम्बन्धियों को आनन्द प्रदान करने के लिए लौट आया है।

तात्पर्य : नन्द महाराज ने पुष्टि की कि पुण्य कर्मों से मनुष्य साधु बन सकता है, जिससे वह घर में सुखी रह सकता है और उसके बाल-बच्चे सुरक्षित रह सकते हैं। शास्त्र में कर्मियों तथा ज्ञानियों के लिए, विशेष रूप से कर्मियों के लिए अनेक आदेश हैं जिनसे वह पवित्र बन सकते हैं और भौतिक जीवन में भी सुखी हो सकते हैं। वैदिक सभ्यता के अनुसार मनुष्य को चाहिए कि जनता के लाभ के लिए कार्य करे—यथा सड़कें बनवाये, सड़कों के दोनों ओर वृक्ष लगवाये जिससे लोग छाया में चल सकें, सार्वजनिक कुँए खुदवाये जिससे हर एक को बिना किसी कठिनाई के जल मिल सके। अपनी इच्छाओं को वश में रखने के लिए मनुष्य को तपस्या करनी चाहिए और उसी के साथ साथ भगवान् की पूजा करनी चाहिए। इस तरह वह पवित्र बन जाता है और उसी के फलस्वरूप वह भौतिक जीवन में भी सुखी हो सकता है।

दृष्ट्वाद्भुतानि बहुशो नन्दगोपो बृहद्वने ।
वसुदेववचो भूयो मानयामास विस्मितः ॥ ३३॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; अद्भुतानि—अतीव अद्‌भुत घटनाओं को; बहुशः—अनेक बार; नन्द-गोपः—गोपों के मुखिया नन्द महाराज; बृहद्वने—बृहद्वन में; वसुदेव-वचः—वसुदेव के वचन, जो उन्होंने मथुरा में नन्द से कहे थे; भूयः—बारम्बार; मानयाम् आस—मान लिया कि कितने सच थे; विस्मितः—अतीव विस्मय में।

बृहद्वन में इन सारी घटनाओं को देखकर नन्द महाराज अधिकाधिक आश्चर्यचकित हुए और उन्हें वसुदेव के वे शब्द स्मरण हो आये जो उन्होंने मथुरा में कहे थे।

एकदार्भकमादाय स्वाङ्कमारोप्य भामिनी ।
प्रस्नुतं पाययामास स्तनं स्नेहपरिप्लुता ॥ ३४॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; अर्भकम्—बालक को; आदाय—लेकर; स्व-अङ्कम्—अपनी गोद में; आरोप्य—तथा बैठाकर; भामिनी—माता यशोदा ने; प्रस्नुतम्—स्तनों से दूध बहता हुआ; पाययाम् आस—बच्चे को पिलाया; स्तनम्—अपने स्तन; स्नेह-परिप्लुता—अतीव स्नेह तथा प्रेम से युक्त।

एक दिन माता यशोदा कृष्ण को अपनी गोद में बैठाकर उन्हें मातृ-स्नेह के कारण अपने स्तन से दूध पिला रही थीं। दूध उनके स्तन से चू रहा था और बालक उसे पी रहा था।

पीतप्रायस्य जननी सुतस्य रुचिरस्मितम् ।
मुखं लालयती राजञ्जृम्भतो ददृशे इदम् ॥ ३५ ॥
खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशाः
सूर्येन्दुवह्निश्वसनाम्बुधींश्च ।
द्वीपान्नगांस्तद्दुहितृर्वनानि
भूतानि यानि स्थिरजङ्गमानि ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

पीत-प्रायस्य—स्तन-पान करते तथा संतुष्ट बालक कृष्ण की; जननी—माता यशोदा; सुतस्य—अपने पुत्र की; रुचिर-स्मितम्—तुष्ट मुसकान को देखती; मुखम्—मुँह को; लालयती—दुलारती हुई; राजन्—हे राजा; जृम्भतः—बच्चे को अँगड़ाई लेते; ददृशे—उसने देखा; इदम्—यह; खम्—आकाश; रोदसी—स्वर्ग तथा पृथ्वी दोनों; ज्योतिः-अनीकम्—ज्योतिपुंज; आशाः—दिशाएँ; सूर्य—सूर्य; इन्दु—चंद्रमा; वह्नि—अग्नि; श्वसन—वायु; अम्बुधीन्—समुद्र; च—तथा; द्वीपान्—द्वीप; नगान्—पर्वत; तत्-दुहितृः—पर्वतों की पुत्रियाँ (नदियाँ); वनानि—जंगल; भूतानि—सारे जीव; यानि—जो हैं; स्थिर-जङ्गमानि—अचर तथा चर।

हे राजा परीक्षित, जब बालक कृष्ण अपनी माता का दूध पीना लगभग बन्द कर चुके थे और माता यशोदा उनके सुन्दर कान्तिमान हँसते मुख को छू रही थीं और निहार रही थीं तो बालक ने जम्हाई ली और माता यशोदा ने देखा कि उनके मुँह में पूरा आकाश, उच्च लोक तथा पृथ्वी, सभी दिशाओं के तारे, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, समुद्र, द्वीप, पर्वत, नदी, जंगल तथा चर-अचर सभी प्रकार के जीव समाये हुए हैं।

तात्पर्य : योगमाया की व्यवस्था से माता यशोदा के साथ कृष्ण की लीलाएँ सामान्य मानी जाती थीं। इसलिए कृष्ण के हाथ अच्छा अवसर आया कि वे अपनी माता को दिखा दें कि सारा ब्रह्माण्ड उनके भीतर स्थित है। कृष्ण ने अपने नन्हें रूप में ही अपनी माता को *विराट् रूप* का दर्शन कराना चाहा जिससे उन्हें यह देखकर आनन्द आ सके कि जिस बालक को वे गोद में लिये हैं वह किस तरह का बालक है। यहाँ पर नदियों को पर्वतों की पुत्रियाँ (*नगांश्च तद्दुहितृ*) कहा गया है। नदियों के बहने से ही विशाल जंगल बनते हैं। जीव सर्वत्र हैं जिनमें से कुछ चर हैं और कुछ अचर। कोई भी स्थान शून्य नहीं। ईश्वर की सृष्टि की यह एक विशेषता है।

सा वीक्ष्य विश्वं सहसा राजन्सञ्जातवेपथुः ।
सम्मील्य मृगशावाक्षी नेत्रे आसीत्सुविस्मिता ॥ ३७॥

शब्दार्थ

सा—माता यशोदा; वीक्ष्य—देखकर; विश्वम्—सम्पूर्ण विश्व को; सहसा—अचानक अपने पुत्र के मुँह के भीतर; राजन्—हे राजा (महाराज परीक्षित); सञ्जात-वेपथुः—उनका हृदय धक् धक् करने लगा; सम्मील्य—खोल कर; मृगशाव-अक्षी—मृगनैनी; नेत्रे—उसकी दोनों आँखें; आसीत्—हो गईं; सु-विस्मिता—आश्चर्यचकित।

जब यशोदा माता ने अपने पुत्र के मुखारविन्द में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड देखा तो उनका हृदय धक् धक् करने लगा तथा आश्चर्यचकित होकर वे अपने अधीर नेत्र बन्द करना चाह रहती थीं।

तात्पर्य : माता यशोदा ने शुद्ध मातृ-प्रेम के कारण सोचा कि यह अद्‌भुत बालक जो तरह-तरह के खेल कर रहा है अवश्य ही रोगग्रस्त है। उन्होंने बालक द्वारा प्रदर्शित आश्चर्यों की प्रशंसा नहीं की प्रत्युत वे अपनी आँखें मूँद लेना चाहती थीं। उन्हें अन्य खतरे की सम्भावना थी इसलिए उनकी आँखें मृगी के बच्चे की आँखों के समान अधीर हो रही थीं। यह सब योगमाया की व्यवस्था थी। माता यशोदा तथा कृष्ण के बीच शुद्ध मातृ-प्रेम का सम्बन्ध है। इसी प्रेम के कारण माता यशोदा भगवान् के ऐश्वर्य-प्रदर्शन को ठीक से समझ नहीं पाईं।

इस अध्याय के प्रारम्भ में कहीं कहीं दो अतिरिक्त श्लोक प्रकट होते हैं—

एवं बहूनि कर्माणि गोपानां शं सयोषिताम्।

नन्दस्य गेहे ववृधे कुर्वन् विष्णुजनार्दनः॥

"इस तरह असुरों को दण्ड देने और उनका वध करने के लिए बालक कृष्ण ने नन्द महाराज के घर में अनेक लीलाएँ प्रदर्शित कीं और व्रजवासियों ने इन घटनाओं का आनन्द लिया।"

एवं स ववृधे विष्णुर्नन्दगेहे जनार्दनः।

कुर्वन् अनिशमानन्दं गोपालानां स-योषिताम्॥

"गोपों तथा गोपियों के दिव्य आनन्दवर्धन के लिए समस्त असुरों के वधकर्ता कृष्ण अपने पिता तथा माता, नन्द एवं यशोदा द्वारा इस तरह पाले गये।"

श्रीपाद विजयध्वज तीर्थ ने इस अध्याय के तीसरे श्लोक के बाद एक अन्य श्लोक जोड़ दिया है :

विस्तरेणेह कारुण्यात् सर्वपापप्रणाशनम्।

वक्तुमर्हसि धर्मज्ञ दयालुस्त्वमिति प्रभो॥

''तब परीक्षित महाराज ने शुकदेव गोस्वामी से कृष्ण-लीलाओं से सम्बन्धित ऐसी कथाएँ कहते रहने का अनुरोध किया जिससे राजा उनसे दिव्य आनन्द प्राप्त कर सकें।''

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''तृणावर्त का वध'' नामक सातवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter आठ

भगवान् कृष्ण द्वारा अपने मुख के भीतर विराट रूप का प्रदर्शन

आठवें अध्याय का सारांश निम्नवत् है—

इस अध्याय में कृष्ण के नामकरण-संस्कार का वर्णन हुआ है। इसमें उनका घुटनों के बल सरकना, गौवों के साथ खेलना, मिट्टी खाना तथा एक बार फिर अपनी माता को विराट रूप दिखलाने का भी वर्णन मिलता है।

एक दिन वसुदेव ने यदुवंश के कुल-पुरोहित गर्गमुनि को बुलावा भेजा और जब गर्गमुनि नन्द महाराज के घर पहुँचे तो उन्होंने उनकी भलीभाँति आवभगत की और उनसे प्रार्थना की कि वे कृष्ण तथा बलराम का नामकरण कर दें। गर्गमुनि ने नन्द महाराज को याद दिलाया कि कंस देवकी के पुत्र की ताक में है, अत: यदि यह नामकरण संस्कार धूमधाम से मनाया जायेगा तो कंस का ध्यान इधर जायेगा और उसे सन्देह हो सकता है कि कृष्ण देवकी के पुत्र हैं। फलत: नन्द महाराज ने गर्गमुनि से प्रार्थना की कि वे किसी के जाने बिना यह संस्कार सम्पन्न करें और उन्होंने वैसा ही किया गया। चूँकि रोहिणी-पुत्र बलराम अन्यों के दिव्य आनन्द में वृद्धि करने वाला है इसलिए उसका नाम राम है और अपने असाधारण बल के कारण वह बलदेव कहलाता है। चूँकि वह यदुओं को अपने आदेशों का पालन करने के लिए आकृष्ट करता है इसलिए उसका नाम संकर्षण है। यशोदा-पुत्र कृष्ण इसके पूर्व कई रंगों में—यथा श्वेत, लाल तथा पीले रंगों में प्रकट हो चुका है और अब उसने श्याम रंग धारण किया है। चूँकि कभी वह वसुदेव का पुत्र था अतएव उसका नाम वासुदेव है। अपने विविध कार्यों तथा गुणों के अनुसार उसके अन्य कई नाम हैं। इस तरह नन्द को सूचित करके तथा नामकरण-संस्कार पूरा

करके गर्गमुनि ने उन्हें अपने पुत्र की सावधानीपूर्वक रक्षा करने की सलाह दी और विदा ली।

इसके बाद शुकदेव गोस्वामी ने वर्णन किया है कि किस तरह दोनों बालक अपने नन्हें-नन्हें पाँवों पर रेंगने, गौवों तथा बछड़ों के साथ खेलने, मक्खन तथा अन्य दुग्ध-पदार्थ चुराने और भांडे तोड़ने लगे। इस तरह उन्होंने कृष्ण तथा बलराम के अनेक नटखटतापूर्ण कार्यकलापों का वर्णन किया है। इनमें सबसे अद्भुत लीला वह है जब कृष्ण के साथियों ने माता यशोदा से यह शिकायत की कि कृष्ण मिट्टी खा रहा है। माता यशोदा इसके प्रमाण के लिए कृष्ण का मुँह खोलना चाहती थीं जिससे वे उन्हें दण्ड दे सकें। कभी वे दण्ड देने वाली माता का रूप धारण कर लेती थीं, तो अगले ही क्षण मातृ-प्रेम से विह्वल हो उठती थीं। इन सबका वर्णन कर चुकने के बाद शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित के अनुरोध पर माता यशोदा तथा नन्द के भाग्य की सराहना की। पूर्व जन्म में नन्द तथा यशोदा क्रमशः द्रोण तथा धरा थे और ब्रह्मा के आदेश से वे पृथ्वीलोक पर आये थे और उन्हें पुत्र रूप में भगवान् प्राप्त हुए।

श्रीशुक उवाच

गर्गः पुरोहितो राजन्यदूनां सुमहातपाः ।
व्रजं जगाम नन्दस्य वसुदेवप्रचोदितः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; गर्गः—गर्गमुनि; पुरोहितः—पुरोहित; राजन्—हे राजा परीक्षित; यदूनाम्—यदुकुल के; सु-महा-तपाः—तपस्या में बढ़े चढ़े; व्रजम्—व्रजभूमि में; जगाम—गये; नन्दस्य—नन्द महाराज के; वसुदेव-प्रचोदितः—वसुदेव की प्रेरणा से।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे महाराज परीक्षित, तब यदुकुल के पुरोहित एवं तपस्या में बढ़े चढ़े गर्गमुनि को वसुदेव ने प्रेरित किया कि वे नन्द महाराज के घर जाकर उन्हें मिलें।

तं दृष्ट्वा परमप्रीतः प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः ।
आनर्चाधोक्षजधिया प्रणिपातपुरःसरम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तम्—उन्हें (गर्गमुनि को); दृष्ट्वा—देखकर; परम-प्रीतः—नन्द महाराज अत्यन्त प्रसन्न हुए; प्रत्युत्थाय—स्वागत करने के लिए खड़े होकर; कृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़े हुए; आनर्च—पूजा की; अधोक्षज-धिया—यद्यपि गर्गमुनि इन्द्रियों द्वारा दृष्टिगोचर थे किन्तु नन्द महाराज उनके प्रति अपार सम्मान रखते थे; प्रणिपात-पुरःसरम्—नन्द महाराज ने उनके सामने गिर कर नमस्कार किया।

जब नन्द महाराज ने गर्गमुनि को अपने घर में उपस्थित देखा तो वे इतने प्रसन्न हुए कि उनके

स्वागत में दोनों हाथ जोड़े उठ खड़े हुए। यद्यपि गर्गमुनि को नन्द महाराज अपनी आँखों से देख रहे थे किन्तु वे उन्हें अधोक्षज मान रहे थे अर्थात् वे भौतिक इन्द्रियों से दिखाई पड़ने वाले सामान्य पुरुष न थे।

सूपविष्टं कृतातिथ्यं गिरा सूनृतया मुनिम् ।
नन्दयित्वाब्रवीद्ब्रह्मन्पूर्णस्य करवाम किम् ॥ ३॥

शब्दार्थ

सु-उपविष्टम्—जब गर्गमुनि ठीक से बैठ गये; कृत-आतिथ्यम्—तथा अतिथि के रूप में उनका स्वागत हो जाने पर; गिरा—शब्दों से; सूनृतया—अत्यन्त मधुर; मुनिम्—गर्गमुनि को; नन्दयित्वा—इस तरह प्रसन्न करके; अब्रवीत्—कहा; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; पूर्णस्य—सभी प्रकार से पूर्ण; करवाम किम्—मैं आपके लिए क्या कर सकता हूँ (कृपया आज्ञा दें)।

जब अतिथि रूप में गर्गमुनि का स्वागत हो चुका और वे ठीक से आसन ग्रहण कर चुके तो नन्द महाराज ने भद्र तथा विनीत शब्दों में निवेदन किया: महोदय, भक्त होने के कारण आप सभी प्रकार से परिपूर्ण हैं। फिर भी आपकी सेवा करना मेरा कर्तव्य है। कृपा करके आज्ञा दें कि मैं आपके लिए क्या करूँ?

महद्विचलनं नृणां गृहिणां दीनचेतसाम् ।
निःश्रेयसाय भगवन्कल्पते नान्यथा क्वचित् ॥ ४॥

शब्दार्थ

महत्-विचलनम्—महापुरुषों की गति; नृणाम्—सामान्य पुरुषों के घरों में; गृहिणाम्—विशेषतया गृहस्थों की; दीन-चेतसाम्—जो परिवार के भरण में लगे रहने के कारण सरल चित्त हैं; निःश्रेयसाय—महापुरुष को गृहस्थ के घर जाने का कारण केवल उसे लाभ पहुँचाना है; भगवन्—हे शक्तिशाली भक्त; कल्पते—इस तरह समझना चाहिए; न अन्यथा—और किसी प्रयोजन के लिए नहीं; क्वचित्—किसी भी समय।

हे महानुभाव, हे महान् भक्त, आप जैसे पुरुष अपने स्वार्थ के लिए नहीं अपितु दीनचित्त गृहस्थों के लिए ही स्थान-स्थान पर जाते रहते हैं। अन्यथा इस तरह जगह-जगह घूमने में उन्हें कोई रुचि नहीं रहती।

तात्पर्य : नन्द महाराज ने यथार्थ बात कही है कि भक्त होने के कारण गर्गमुनि को किसी प्रकार की कोई आवश्यकता नहीं थी। इसी तरह जब कृष्ण आते हैं, तो उन्हें कोई आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वे *पूर्ण, आत्माराम* हैं। फिर भी वे भक्तों की रक्षा करने तथा दुष्टों का विनाश करने के लिए इस भौतिक जगत में अवतरित होते हैं (*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*)। भगवान् का यही व्रत है और भक्तों का भी यही सेवाव्रत होता है। *पर-उपकार* का यह कार्य जो कोई पूरा करता है, वह

भगवान् कृष्ण को अत्यधिक प्रिय होता है (*नच तस्मान् मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः*)। इसी तरह चैतन्य महाप्रभु ने इस पर-उपकार का उपदेश दिया है विशेष रूप से भारतवासियों को—

भारत-भूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार।

जन्म सार्थक करिऽकर पर-उपकार॥

"जिसने भारतभूमि में मनुष्य के रूप में जन्म लिया है उसे अपना जीवन सफल बनाना चाहिए और अन्यों के लाभ के लिए (पर-उपकार) कार्य करना चाहिए।" (*चैतन्यचरितामृत, आदि* ९.४१)। कुल मिलाकर शुद्ध वैष्णव भक्त का कर्तव्य है कि दूसरों के कल्याण के लिए कार्य करे।

नन्द महाराज समझ गये थे कि गर्गमुनि इसी काम के लिए आये हुए हैं अतः अब उनका कर्तव्य था कि वे गर्गमुनि के उपदेश के अनुसार कार्य करें। अतः उन्होंने कहा, "कृपा करके मुझे मेरा कर्तव्य बतलायें।" हर एक की, विशेष रूप से हर गृहस्थ की, ऐसी ही मनोवृत्ति होनी चाहिए। वर्णाश्रम समाज आठ विभागों में संगठित है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास। नन्द महाराज स्वयं *गृहिणाम्* अर्थात् गृहस्थ का प्रतिनिधित्व करते थे। वस्तुतः ब्रह्मचारी को किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती किन्तु *गृही* तो इन्द्रिय-तृप्ति में लगे रहते हैं। *भगवद्गीता* (२.४४) में कहा गया है— *भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।* हर व्यक्ति इस जगत में अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए आया है, अतः जो लोग इन्द्रिय-तृप्ति में बहुत अधिक लिप्त हैं और जिन्होंने *गृहस्थ आश्रम* स्वीकार किया है उनकी स्थिति बड़ी गम्भीर है। चूँकि इस जगत में हर व्यक्ति इन्द्रिय-तृप्ति की खोज में लगा रहता है, अतः गृहस्थों को *महत्* अर्थात् *महात्मा* बनने का प्रशिक्षण मिलना चाहिए। इसलिए नन्द महाराज ने विशेष रूप से *महद्-विचलनम्* शब्द का प्रयोग किया है। गर्गमुनि को नन्द महाराज के यहाँ जाने में कोई स्वार्थ न था अपितु गृहस्थ होने के कारण नन्द महाराज जीवन का असली लाभ उठाने के लिए किसी भी महात्मा से उपदेश ग्रहण करने के लिए सदैव तैयार रहते थे। इस तरह वे गर्गमुनि के आदेश को पूरा करने के लिए तैयार थे।

ज्योतिषामयनं साक्षाद्यत्तज्ज्ञानमतीन्द्रियम् ।
प्रणीतं भवता येन पुमान्वेद परावरम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

ज्योतिषाम्—ज्योतिष ज्ञान (मानव समाज में संस्कृति के अन्य पक्षों के साथ साथ ज्योतिष ज्ञान भी आवश्यक है); अयनम्—नक्षत्रों तथा ग्रहों की गतियाँ; साक्षात्—प्रत्यक्ष; यत् तत् ज्ञानम्—ऐसा ज्ञान; अति-इन्द्रियम्—सामान्य व्यक्ति की दृष्टि से परे; प्रणीतम् भवता—आपके द्वारा रचित ज्ञान का सम्यक ग्रंथ; येन—जिससे; पुमान्—कोई भी व्यक्ति; वेद—समझ सकता है; पर-अवरम्—अपने भाग्य का कारण तथा कार्य।

हे सन्त पुरुष, आपने ज्योतिष ज्ञान को संकलित किया है, जिससे कोई भी मनुष्य अदृश्य भूत और वर्तमान बातों को समझ सकता है। इस ज्ञान के बल पर कोई भी मनुष्य यह समझ सकता है कि पिछले जीवन में उसने क्या किया और वर्तमान जीवन पर उसका कैसा प्रभाव पड़ेगा। आप इसे जानते हैं।

तात्पर्य : अब "भाग्य" की परिभाषा दी जाती है। ऐसे बुद्धिहीन व्यक्ति जो जीवन का अर्थ नहीं समझते वे पशुतुल्य हैं। पशु न तो जीवन के भूत, वर्तमान तथा भविष्य को जानते हैं न ही इसे समझ सकते हैं। किन्तु धीर मनुष्य इसे समझ सकता है। इसलिए जैसाकि *भगवद्गीता* (२.१३) में कहा गया है—*धीरस्तत्र न मुह्यति*—धीर व्यक्ति मोहित नहीं होता। सचाई तो यह है कि जीवन शाश्वत है फिर भी इस भौतिक जगत में मनुष्य को एक शरीर बदलकर दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है। इस युग में तो मूर्ख लोग इस सचाई को भी नहीं समझ पाते। कृष्ण कहते हैं (*भगवद्गीता* २.१३)।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तर प्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

"जिस तरह देहधारी आत्मा इस शरीर में निरन्तर बालपन से युवावस्था और फिर वृद्धावस्था से होकर गुजरता है उसी तरह मृत्यु के समय आत्मा दूसरे शरीर में चला जाता है। जो स्वरूपसिद्ध है, वह ऐसे परिवर्तन से मोहग्रस्त नहीं होता।" परम अधिकारी कृष्ण कहते हैं कि शरीर परिवर्तनशील है और ज्योंही शरीर बदलता है मनुष्य के सारे कार्यक्रम भी बदल जाते हैं। आज मैं एक मनुष्य हैं या कोई महान् व्यक्ति हूँ किन्तु प्रकृति के नियमों में थोड़े से भी परिवर्तन से मुझे भिन्न प्रकार का शरीर स्वीकार करना होगा। आज मैं मनुष्य हूँ किन्तु कल मैं कुत्ता बन सकता हूँ और तब इस जीवन में मैंने जो भी कार्य किये होंगे वे सब विफल हो जायेंगे। इस सचाई को विरले ही समझ पाते हैं किन्तु जो *धीर* है, वह इसे समझ सकता है। जो लोग इस भौतिक जगत में भौतिक भोग के लिए आये हैं उन्हें समझ लेना चाहिए कि क्योंकि उनका वर्तमान पद समाप्त होकर ही रहेगा अत: उन्हें अपने कर्म करने के प्रति सावधान रहना चाहिए। यही बात ऋषभदेव ने भी कही है। *न साधु मन्ये यत आत्मनोऽयमसन्नपि*

क्लेशद आसं देह: (*भागवत* ५.५.४)। यद्यपि यह शरीर नश्वर है किन्तु जब तक हम जीवित रहते हैं तब तक कष्ट सहना ही पड़ता है। चाहे जीवन अल्प हो या दीर्घ, हर एक को भौतिक जीवन के तीन ताप सहने ही होंगे। इसलिए *धीर* पुरुष को ज्योतिष में रुचि लेनी चाहिए।

नन्द महाराज गर्गमुनि की उपस्थिति का लाभ उठाना चाह रहे थे क्योंकि गर्गमुनि ज्योतिष ज्ञान के प्रकाण्ड पंडित थे जिससे मनुष्य भूत, वर्तमान और भविष्य की अदृश्य घटनाएँ देख सकता है। पिता का कर्तव्य है कि वह अपनी सन्तानों की ज्योतिष-दशा जाने और उनके सुख के लिए जो भी आवश्यक हो करे। फलत: गर्गमुनि की उपस्थिति का लाभ उठाने की दृष्टि से नन्द महाराज ने सुझाव रखा कि गर्गमुनि उनके दोनों पुत्रों, कृष्ण तथा बलराम, की जन्मकुण्डली तैयार कर दें।

त्वं हि ब्रह्मविदां श्रेष्ठ: संस्कारान्कर्तुमर्हसि ।
बालयोरनयोर्नृणां जन्मना ब्राह्मणो गुरु: ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—आप; हि—निस्सन्देह; ब्रह्म-विदाम्—ब्रह्म को जानने वाले समस्त ब्राह्मणों में; श्रेष्ठः—श्रेष्ठ; संस्कारान्—शुद्धि के लिए किये गये उत्सव (इन संस्कारों से मनुष्य को दूसरा जन्म मिलता है, संस्काराद्भवेद् द्विज:); कर्तुम् अर्हसि—आप कृपा करके पधारे हैं, तो सम्पन्न करें; बालयो:—इन दोनों पुत्रों (कृष्ण तथा बलराम) का; अनयो:—इन दोनों का; नृणाम्—न केवल उनका अपितु सारे मानव समाज का; जन्मना—जन्म ग्रहण करते ही; ब्राह्मण:—तुरन्त ब्राह्मण बन जाता है; गुरु:—मार्गदर्शक।*.

हे प्रभु, आप ब्राह्मणों में श्रेष्ठ हैं विशेषतया, क्योंकि आप ज्योतिष शास्त्र से भलीभाँति अवगत हैं। अतएव आप सहज ही हर व्यक्ति के आध्यात्मिक गुरु हैं। ऐसा होते हुए चूँकि आप कृपा करके मेरे घर आये हैं अतएव आप मेरे दोनों पुत्रों का संस्कार सम्पन्न करें।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (४.१३) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-कर्मविभागश:*—समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इन चारों वर्णों को होना ही चाहिए। सारे समाज के मार्गदर्शन के लिए ब्राह्मणों की आवश्यकता पड़ती है। यदि वर्णाश्रम धर्म जैसा कोई संस्थान नहीं होता है और यदि मानव समाज में ब्राह्मण जैसा कोई मार्गदर्शक नहीं होता है, तो वह मानव समाज नरक बन जाता है। कलियुग में, विशेष रूप से वर्तमान समय में, असली ब्राह्मण जैसा कोई रह ही नहीं गया है, अत: समाज अस्त-व्यस्त है। पहले योग्य ब्राह्मण होते थे किन्तु वर्तमान समय में यद्यपि अपने को ब्राह्मण कहलाने वाले लोग तो हैं किन्तु उनमें समाज का मार्गदर्शन करने की क्षमता नहीं है। इसीलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन मानव समाज में वर्णाश्रम प्रणाली का पुन: सूत्रपात कराने

के लिए उत्सुक है, जिससे जो लोग मोहग्रस्त हैं अथवा कम बुद्धिमान हैं, वे योग्य ब्राह्मणों से मार्गदर्शन प्राप्त कर सकें।

footnote starts here

*शास्त्रों का आदेश है, *तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्* (*मुण्डक उपनिषद १.२.१२*)। हर एक का कर्तव्य है कि ब्राह्मण को गुरु मान कर उसके पास पहुँचे।

footnote ends here

ब्राह्मण का अर्थ है वैष्णव। ब्राह्मण बनने के बाद मानव समाज में विकास की अगली अवस्था वैष्णव बनने की है। जीवन-लक्ष्य तक पहुँचने के लिए सामान्य लोगों का मार्गदर्शन किया जाना चाहिए अतएव उन्हें विष्णु या भगवान् को समझना चाहिए। वैदिक ज्ञान की समूची पद्धति इसी सिद्धान्त पर आधारित है किन्तु अब लोग लक्ष्य खो चुके हैं (*न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुम्*) और वे एकमात्र इन्द्रिय-तृप्ति में लगे रहते हैं जिसमें उन्हें जीवन के निम्न स्तर में चले जाने का भय बना रहता है (*मृत्युसंसारवर्त्मनि*)। इससे अन्तर नहीं पड़ता कि कोई ब्राह्मण के रूप में जन्मा है अथवा नहीं। कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण के रूप में जन्म नहीं लेता, वह शूद्र के रूप में जन्मता है। लेकिन ब्राह्मण द्वारा मार्गदर्शन से तथा संस्कार से वह *द्विज* बनता है और धीरे-धीरे ब्राह्मण बन जाता है। ब्राह्मणवाद कोई प्रणाली नहीं जिससे किसी वर्ग विशेष का एकाधिपत्य स्थापित हो सके। हर एक को शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे वह ब्राह्मण बन सके। हर व्यक्ति को इतना तो अवसर मिलना ही चाहिए कि वह जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सके। कोई चाहे ब्राह्मण कुल में जन्म ले या क्षत्रिय अथवा शूद्र परिवार में, उसे उचित ब्राह्मण का मार्गदर्शन मिलना चाहिए और उसे वैष्णव के सर्वोच्च पद तक पहुँचना चाहिए। इस तरह कृष्णभावनामृत आन्दोलन मानव समाज के सही भाग्य को विकसित करने का अवसर प्रदान करता है। नन्द महाराज ने गर्गमुनि की उपस्थिति का लाभ उठाते हुए उनसे प्रार्थना की कि वे उनके दोनों पुत्रों का संस्कार सम्पन्न करके उन्हें जीवन-लक्ष्य की ओर अग्रसर कराने में मार्गदर्शन करें।

श्रीगर्ग उवाच

यदूनामहमाचार्यः ख्यातश्च भुवि सर्वदा ।

सुतं मया संस्कृतं ते मन्यते देवकीसुतम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

श्री-गर्गः उवाच—गर्गमुनि ने कहा; यदूनाम्—यदुकुल का; अहम्—मैं हूँ; आचार्यः—पुरोहित; ख्यातः च—पहले से यह ज्ञात है; भुवि—सर्वत्र; सर्वदा—सदैव; सुतम्—पुत्र को; मया—मेरे द्वारा; संस्कृतम्—संस्कार सम्पन्न; ते—तुम्हारे; मन्यते—माना जायेगा; देवकी-सुतम्—देवकी-पुत्र।

गर्गमुनि ने कहा : हे नन्द महाराज, मैं यदुकुल का पुरोहित हूँ। यह सर्वविदित है। अतः यदि मैं आपके पुत्रों का संस्कार सम्पन्न कराता हूँ तो कंस समझेगा कि वे देवकी के पुत्र हैं।

तात्पर्य : गर्गमुनि ने अप्रत्यक्ष रूप से बतला दिया कि कृष्ण यशोदा के नहीं बल्कि देवकी के पुत्र हैं। चूँकि कंस पहले से ही कृष्ण की खोज में था, अतः यदि गर्गमुनि संस्कार कराते तो कंस को पता चल सकता था और इससे महान् संकट उत्पन्न हो जाता। यह तर्क किया जा सकता है कि यद्यपि गर्गमुनि यदुवंश के पुरोहित थे और नन्द महाराज भी यदुवंशी थे किन्तु नन्द महाराज क्षत्रिय कर्म नहीं कर रहे थे। इसीलिए गर्गमुनि ने कहा, "यदि मैं आपके पुरोहित के रूप में कर्म करूँ तो इससे पुष्टि होगी कि कृष्ण देवकी-पुत्र हैं।"

कंसः पापमतिः सख्यं तव चानकदुन्दुभेः ।
देवक्या अष्टमो गर्भो न स्त्री भवितुमर्हति ॥ ८॥
इति सञ्चिन्तयञ्छ्रुत्वा देवक्या दारिकावचः ।
अपि हन्ता गताशङ्कस्तर्हि तन्नोऽनयो भवेत् ॥ ९॥

शब्दार्थ

कंसः—राजा कंस; पाप-मतिः—दूषित मन वाला, अत्यन्त पापी; सख्यम्—मित्रता; तव—तुम्हारी; च—भी; आनक-दुन्दुभेः—वसुदेव की; देवक्याः—देवकी का; अष्टमः गर्भः—आठवाँ गर्भ; न—नहीं; स्त्री—औरत; भवितुम् अर्हति—होना सम्भव है; इति—इस तरह; सञ्चिन्तयन्—विचार करते हुए; श्रुत्वा—(यह समाचार) सुनकर; देवक्याः—देवकी की; दारिका-वचः—पुत्री की वाणी; अपि—यद्यपि थी; हन्ता गत-आशङ्कः—हो सकता है कंस इस बालक को मार डालने का प्रयत्न करे; तर्हि—इसलिए; तत्—वह घटना; नः—हमारे लिए; अनयः भवेत्—बहुत अच्छा न हो।

"कंस बहुत बड़ा कूटनीतिज्ञ होने के साथ ही अत्यन्त पापी है। अतः देवकी की पुत्री योगमाया से यह सुनने के बाद कि उसके मारने वाला बालक अन्यत्र कहीं जन्म ले चुका है और यह सुन चुकने पर कि देवकी के आठवें गर्भ से पुत्री उत्पन्न नहीं हो सकती और यह जानते हुए कि वसुदेव से आपकी मित्रता है जब कंस यह सुनेगा कि यदुकुल के पुरोहित मेरे द्वारा संस्कार कराया गया है, तो इन सब बातों से उसे निश्चित रूप से सन्देह हो जायेगा कि कृष्ण देवकी तथा वसुदेव का पुत्र है। तब वह कृष्ण को मार डालने के उपाय करेगा और यह महान् विपत्ति सिद्ध होगी।

तात्पर्य : कंस जानता था कि योगमाया आखिर कृष्ण तथा विष्णु की दासी है, अत: भले ही वह देवकी की पुत्री रूप में उत्पन्न हुई हो किन्तु हो सकता है उसे यह तथ्य प्रकट करने के लिए मना किया गया हो। वस्तुत: ऐसा ही हुआ था। गर्गमुनि ने बड़ी ही गम्भीरतापूर्वक तर्क किया कि कृष्ण का संस्कार उनके द्वारा कराने से बहुत से सन्देह उठ सकते हैं जिससे कंस इस बालक को मार डालने के लिए अत्यन्त कठोर कदम उठा सकता है। कंस पहले ही इस बालक को जान से मार डालने के लिए कई असुर भेज चुका था किन्तु उनमें से कोई भी जीवित नहीं बचा। यदि गर्गमुनि यह संस्कार कराते तो कंस के सन्देह की पूरी तरह पुष्टि हो जाती और वह अधिक कड़े कदम उठाता। गर्गमुनि ने नन्द महाराज को यह चेतावनी दी।

श्रीनन्द उवाच
अलक्षितोऽस्मिन्रहसि मामकैरपि गोव्रजे ।
कुरु द्विजातिसंस्कारं स्वस्तिवाचनपूर्वकम् ॥ ॥

शब्दार्थ

श्री-नन्द: उवाच—नन्द महाराज ने (गर्गमुनि से) कहा; अलक्षित:—कंस के जाने बिना; अस्मिन्—इस; रहसि—एकान्त स्थान में; मामकै:—यहाँ तक कि मेरे सम्बन्धियों द्वारा; अपि—इससे भी एकान्त स्थान; गो-व्रजे—गोशाला में; कुरु—सम्पन्न कीजिये; द्विजाति-संस्कारम्—द्विज बनने का संस्कार (संस्काराद् भवेद् द्विज:); स्वस्ति-वाचन-पूर्वकम्—संस्कार कराने के लिए वैदिक स्तोत्र के उच्चारण द्वारा।.

नन्द महाराज ने कहा : हे महामुनि, यदि आप सोचते हैं कि आपके द्वारा संस्कार विधि सम्पन्न कराये जाने से कंस सशंकित होगा तो चुपके से वैदिक मंत्रोच्चार करें और मेरे घर की इस गोशाला में ही यह द्विज संस्कार पूरा करें जिससे और तो और मेरे सम्बन्धी तक न जान पायें क्योंकि यह संस्कार अत्यावश्यक है।

तात्पर्य : नन्द महाराज को संस्कार टालने की बात अच्छी नहीं लगी। अनेक अवरोधों के बावजूद वे चाहते थे कि गर्गमुनि की उपस्थिति का लाभ उठाया जाय और जो आवश्यक हो उसे किया जाय। यह संस्कार ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों के लिए विशेष रूप से अनिवार्य है। और चूँकि नन्द महाराज वैश्य थे इसलिए यह संस्कार अनिवार्य था। पूर्वकाल में ऐसे कर्म अनिवार्य थे। *चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागश:* (*भगवद्गीता* ४.१३)। इन संस्कारों के बिना समाज पशुओं का समाज माना जायेगा। गर्गमुनि की उपस्थिति से लाभ उठाने के लिए नन्द महाराज नामकरण संस्कार को बिना तड़क-भड़क के गुप्त रूप से ही सम्पन्न कराना चाह रहे थे। अत: संस्कार के अवसर को मानव समाज का अनिवार्य

कर्तव्य मानना चाहिये। किन्तु कलियुग में लोग इस अनिवार्यता को भूल चुके हैं। *मन्दा: सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुता:* (*भागवत* १.१.)। इस युग में लोग बुरे और अभागे हैं। वे अपने जीवन को सफल बनाने के लिए वैदिक आदेशों को स्वीकार नहीं करते। किन्तु नन्द महाराज किसी बात की उपेक्षा नहीं करना चाहते थे। उन्होंने सुखी समाज को आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नत बनाये रखने के लिए गर्गमुनि की उपस्थिति का पूरा लाभ आवश्यक कार्य सम्पन्न करने के लिए उठाया। पाँच हजार वर्षों के भीतर समाज कितना पतित हुआ है! *मन्दा: सुमन्दमतयो मन्दभाग्या: ।* मनुष्य जीवन लाखों जन्मों के बाद मिलता है और यह शुद्धि (संस्कार) के निमित्त होता है। प्राचीन काल में पिता अपनी सन्तानों को उच्च पद पर उठाने के लिए सभी प्रकार से सहायता करने में उत्सुक रहता था। किन्तु वर्तमान में दिग्भ्रमित होने से लोग अपने बच्चों तक का वध करने के लिए तैयार रहते हैं जिससे उन्हें बच्चों के पालन-पोषण के उत्तरदायित्व से बच जाएँ।

श्रीशुक उवाच

एवं सम्प्रार्थितो विप्रः स्वचिकीर्षितमेव तत् ।
चकार नामकरणं गूढो रहसि बालयोः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; सम्प्रार्थितः—प्रार्थना किये जाने पर; विप्रः—ब्राह्मण, गर्गमुनि, ने; स्व-चिकीर्षितम् एव—जिसे वे पहले से करना चाह रहे थे और जिसके लिए वहाँ गये थे; तत्—वह; चकार—सम्पन्न किया; नाम-करणम्—नामकरण उत्सव; गूढः—गुप्त रूप से; रहसि—एकान्त में; बालयोः—दोनों बालकों (कृष्ण तथा बलराम) का।.

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : जब नन्द महाराज ने गर्गमुनि से विशेष प्रार्थना की कि वे जो कुछ पहले से करना चाहते थे उसे करें, तो उन्होंने एकान्त स्थान में कृष्ण तथा बलराम का नामकरण संस्कार सम्पन्न किया।

श्रीगर्ग उवाच

अयं हि रोहिणीपुत्रो रमयन्सुहृदो गुणैः ।
आख्यास्यते राम इति बलाधिक्याद्बलं विदुः ।
यदूनामपृथग्भावात्सङ्कर्षणमुशन्त्यपि ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

श्री-गर्गः उवाच—गर्गमुनि ने कहा; अयम्—यह; हि—निस्सन्देह; रोहिणी-पुत्रः—रोहिणी का पुत्र; रमयन्—प्रसन्न करते हुए; सुहृदः—अपने सारे मित्रों तथा सम्बन्धियों को; गुणैः—दिव्य गुणों से; आख्यास्यते—कहलायेगा; रामः—परम भोक्ता, राम नाम से; इति—इस तरह; बल-आधिक्यात्—असाधारण बल होने से; बलम् विदुः—बलराम नाम से विख्यात होगा; यदूनाम्—

यदुवंश का; अपृथक्-भावात्—आपसे पृथक् न हो सकने के कारण; सङ्कर्षणम्—संकर्षण नाम से अथवा दो परिवारों को जोड़ने वाला; उशन्ति—आकर्षित करता है; अपि—भी।

गर्गमुनि ने कहा : यह रोहिणी-पुत्र अपने दिव्य गुणों से अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों को सभी तरह का सुख प्रदान करेगा। अतः यह राम कहलायेगा। और असाधारण शारीरिक बल का प्रदर्शन करने के कारण यह बलराम भी कहलायेगा। चूँकि यह दो परिवारों—वसुदेव तथा नन्द महाराज के परिवारों—को जोड़ने वाला है, अतः यह संकर्षण भी कहलायेगा।

तात्पर्य : बलदेव वस्तुतः देवकी-पुत्र थे किन्तु उन्हें देवकी के गर्भ से रोहिणी के गर्भ में स्थानान्तरित कर दिया गया था। यह तथ्य प्रकट नहीं किया गया था। *हरिवंश* के अनुसार—

प्रत्युवाच ततो रामः सर्वांस्तानभितः स्थितान्।

यादवेष्वपि सर्वेषु भवन्तो मम वल्लभाः॥

गर्गमुनि ने तो नन्द महाराज के सामने यह प्रकट कर दिया कि बलराम संकर्षण कहलायेगा क्योंकि वह दो परिवारों—यदुवंश तथा नन्दवंश—को जोड़ने वाला है जिनमें से एक क्षत्रिय वंश है और दूसरा वैश्य वंश। दोनों परिवारों के पूर्वज एक थे, अन्तर इतना ही था कि नन्द वैश्य पत्नी से उत्पन्न हुए थे और वसुदेव क्षत्रिय पत्नी से। बाद में नन्द महाराज ने वैश्य कन्या से विवाह किया और वसुदेव ने क्षत्रिय कन्या से। इस तरह एक ही पिता से दोनों उत्पन्न थे किन्तु वे क्षत्रिय तथा वैश्य परिवारों में बँट गये। अब बलदेव ने उन दोनों को जोड़ दिया, इसलिए वे संकर्षण कहलाये।

आसन्वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः ।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

आसन्—थे; वर्णाः त्रयः—तीन रंग; हि—निस्सन्देह; अस्य—तुम्हारे पुत्र कृष्ण के; गृह्णतः—स्वीकार करते हुए; अनुयुगम् तनूः—विभिन्न युगों के अनुसार दिव्य शरीर; शुक्लः—कभी गौर (श्वेत); रक्तः—कभी लाल; तथा—और; पीतः—कभी पीला; इदानीम् कृष्णताम् गतः—सम्प्रति उन्होंने श्याम (काला) रंग धारण किया है।

आपका यह पुत्र कृष्ण हर युग में अवतार के रूप में प्रकट होता है। भूतकाल में उसने तीन विभिन्न रंग—गौर, लाल तथा पीला—धारण किये और अब वह श्याम (काले) रंग में उत्पन्न हुआ है [अन्य द्वापर युग में वह शुक (तोता) के रंग में (भगवान् रामचन्द्र के रूप में) उत्पन्न हुआ। अब ऐसे सारे अवतार कृष्ण में एकत्र हो गये हैं]।

तात्पर्य : गर्गमुनि ने कृष्ण की स्थिति कुछ-कुछ बतलाते हुए और कुछ-कुछ छिपाते हुए संकेत

किया, ''आपका पुत्र महापुरुष है और वह विभिन्न युगों में अपने शरीर का रंग बदल सकता है।'' *गृह्णत:* शब्द सूचित करता है कि कृष्ण स्वेच्छानुसार चुनाव कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में, वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं अतएव जो चाहें सो कर सकते हैं। वैदिक साहित्य में विभिन्न युगों में भगवान् द्वारा धारण किये जाने वाले रंगों की व्याख्या की गई है अतएव जब गर्गमुनि ने यह कहा कि ''आपका पुत्र ये रंग धारण कर चुका है'' तो अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने यह कहा, ''वह भगवान् है।'' कंस के अत्याचारों के कारण गर्गमुनि यह तथ्य प्रकट नहीं करना चाहते थे किन्तु परोक्ष रूप में उन्होंने नन्द महाराज को बतला दिया कि उनका पुत्र कृष्ण वास्तव में भगवान् है।

श्रील जीव गोस्वामी ने *क्रमसन्दर्भ* नामक पुस्तक में इस श्लोक का तात्पर्य दिया है। प्रत्येक युग में भगवान् या तो श्वेत (शुक्ल), या लाल या पीले रंग में प्रकट होते हैं किन्तु इस बार वे अपने मूल काले (श्याम) रूप में साक्षात् प्रकट हुए हैं और जैसाकि गर्गमुनि ने भविष्यवाणी की है उन्होंने नारायण की शक्ति प्रदर्शित की। चूँकि इस रूप में भगवान् पूर्णरूपेण स्वयं का प्रदर्शन करते हैं अतएव उनका नाम श्रीकृष्ण अर्थात् सर्व-आकर्षक है।

वस्तुत: कृष्ण सारे अवतारों के स्रोत हैं अतएव विभिन्न अवतारों के भिन्न भिन्न स्वरूप कृष्ण में निहित रहते हैं। जब कृष्ण अवतरित होते हैं, तो अन्य अवतारों के सारे गुण उनमें पहले से वर्तमान रहते हैं। अन्य अवतार कृष्ण के आंशिक स्वरूप होते हैं किन्तु कृष्ण स्वयं परम पुरुष के पूर्ण अवतार हैं। यह समझ लेना चाहिए कि परम पुरुष चाहे शुक्ल रूप में प्रकट हों चाहे रक्त या पीत रूप में, वे रहते वही पुरुष हैं। जब वे विभिन्न अवतारों में प्रकट होते हैं, तो वे विभिन्न रंग धारण करते हैं, जिस तरह कि सूर्य प्रकाश में सात रंग होते हैं। कभी कभी ये रंग पृथक्-पृथक् प्रकट होते हैं अन्यथा सूर्य प्रकाश चमकीले प्रकाश जैसा दिखता है। कृष्ण अवतार में विभिन्न अवतार—यथा मन्वन्तर अवतार, लीला अवतार तथा दश अवतार—सम्मिलित रहते हैं। जब कृष्ण प्रकट होते हैं, तो अन्य सारे अवतार उनके साथ साथ प्रकट होते हैं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.३.२६) में वर्णन आया है—

अवतार ह्यसंख्येय हरे: सत्त्वनिधेर्द्विजा:।

यथाविदासिन: कुल्या: सरस: स्यु: सहस्रश:॥

विभिन्न अवतार सतत प्रवाहित जल की तरह लगातार प्रकट होते रहते हैं। जिस तरह प्रवाहित जल

में लहरों की संख्या की गणना नहीं की जा सकती उसी तरह अवतारों की कोई सीमा नहीं है। और कृष्ण सभी अवतारों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं क्योंकि वे समस्त अवतारों के स्रोत हैं। कृष्ण *अंशी* हैं और अन्य *अंश* हैं। सारे जीव जिसमें हम सभी सम्मिलित है; *अंश* हैं (*ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:*)। ये अंश विभिन्न माप के हैं। मनुष्य (जो क्षुद्र अंश हैं) तथा देवता, *विष्णुतत्त्व* तथा अन्य सारे जीव परमेश्वर के अंश हैं। *नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्* (*कठ उपनिषद* २.२.१३)। कृष्ण सारे जीवों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं और जब कृष्ण विद्यमान रहते हैं, तो सारे अवतार उनमें निहित रहते हैं।

श्रीमद्‌भागवत के ग्यारहवें स्कंध में प्रत्येक युग के अवतारों का क्रमानुसार वर्णन हुआ है। भागवत का कथन है—*कृते शुक्लश्चतुर्बाहु, त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ, द्वापरे भगवान् श्याम: तथा कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्।* हम देखते हैं कि कलियुग में भगवान् पीतवर्ण में गौर-सुन्दर के रूप में प्रकट हुए यद्यपि भागवत में उन्हें कृष्णवर्णम् कहा गया है। इन सब कथनों में समन्वय स्थापित करने के लिए यह समझना चाहिए कि यद्यपि कुछ युगों में कुछ रंगों का प्राधान्य रहता है किन्तु प्रत्येक युग में, जब जब कृष्ण प्रकट होते हैं, तो सारे रंग उपस्थित रहते हैं। कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्—यद्यपि चैतन्य महाप्रभु कृष्ण या काले रंग से रहित प्रकट होते हैं किन्तु उन्हें साक्षात् कृष्ण माना जाता है। इदानीं कृष्णतां गत:। विभिन्न वर्णों में प्रकट होने वाला वही आदि कृष्ण अब प्रकट हुआ है। आसन् शब्द बतलाता है कि वे सदैव विद्यमान रहते हैं। जब भी भगवान् अपने पूर्ण स्वरूप में प्रकट होते हैं, तो वे कृष्ण-वर्ण के रहते हैं यद्यपि वे विभिन्न रंगों में प्रकट होते हैं। प्रह्लाद महाराज कहते हैं कि चैतन्य महाप्रभु छन्न हैं अर्थात् वे कृष्ण होकर भी पीले रंग से आवृत रहते हैं। इसलिए गौड़ीय वैष्णव इस निष्कर्ष को मानते हैं कि यद्यपि चैतन्य महाप्रभु पीत रंग में प्रकट हुए किन्तु वे कृष्ण हैं।

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।
यज्ञै संकीतर्नप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधस:॥

(*भागवत* ११.५.३२)

प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मज: ।

वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञा: सम्प्रचक्षते ॥ १४॥

शब्दार्थ

प्राक्—पहले; अयम्—यह बालक; वसुदेवस्य—वसुदेव का; क्वचित्—कभी कभी; जात:—उत्पन्न हुआ था; तव—तुम्हारा; आत्मज:—पुत्र कृष्ण; वासुदेव:—अतएव उसका नाम वासुदेव रखा जा सकता है; इति—इस प्रकार; श्रीमान्—अत्यन्त सुन्दर; अभिज्ञा:—विद्वान; सम्प्रचक्षते—कृष्ण को वासुदेव भी कहते हैं।

अनेक कारणों से आपका यह सुन्दर पुत्र पहले कभी वसुदेव के पुत्र रूप में प्रकट हुआ था। अतएव जो विद्वान हैं, वे इस बालक को कभी कभी वासुदेव कहते हैं।

तात्पर्य : गर्गमुनि ने अप्रत्यक्ष रीति से यह बतला दिया, "मूलत: यह बालक वसुदेव के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ था, यद्यपि अब यह आपके पुत्र की भाँति कार्य कर रहा है। सामान्यतया यह आपका पुत्र है किन्तु कभी कभी यह वसुदेव का पुत्र रहता है।"

बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते ।
गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जना: ॥ १५॥

शब्दार्थ

बहूनि—विविध; सन्ति—हैं; नामानि—नाम; रूपाणि—रूप; च—भी; सुतस्य—पुत्र के; ते—तुम्हारे; गुण-कर्म-अनु-रूपाणि—उसके गुणों तथा कर्मों के अनुसार; तानि—उनको; अहम्—मैं; वेद—जानता हूँ; नो जना:—सामान्य व्यक्ति नहीं।

तुम्हारे इस पुत्र के अपने दिव्य गुणों एवं कर्मों के अनुसार विविध रूप तथा नाम हैं। ये सब मुझे ज्ञात हैं किन्तु सामान्य लोग उन्हें नहीं जानते।

तात्पर्य : *बहूनि*—भगवान् के अनेक नाम हैं। *अद्वैतम् अच्युतम् अनादिम् अनन्तरूपम् आद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च। ब्रह्म-संहिता* (५.३३) में कहा गया है कि भगवान् एक हैं किन्तु उनके रूप तथा नाम अनेक हैं। ऐसा नहीं है कि गर्गमुनि ने बालक का जो नाम कृष्ण रखा वही उनका एकमात्र नाम था। उनके अन्य नाम भी हैं। यथा—भक्तवत्सल, गिरिधारी, गोविन्द तथा गोपाल। यदि हम कृष्ण शब्द की निरुक्ति पर ध्यान दें तो *न* सूचित करता है कि वे जन्म तथा मृत्यु के चक्र को रोकने वाले हैं और *कृष्* का अर्थ है *सत्तार्थ* अर्थात् जगत (कृष्ण सम्पूर्ण जगत हैं)। *कृष्* का अर्थ "आकर्षण" तथा *न* का अर्थ *आनन्द* भी होता है। कृष्ण को मुकुन्द कहते हैं क्योंकि वे हर एक को आध्यात्मिक, नित्य तथा आनन्दपूर्ण जीवन प्रदान करने वाले हैं। दुर्भाग्य की बात तो यह है कि जीव को जो थोड़ी-सी स्वतंत्रता मिली है उससे वह कृष्ण के कार्यक्रम को ध्वस्त करना चाहता है। यही "भौतिक रोग" है। इतने पर भी कृष्ण सारे जीवों को दिव्य आनन्द प्रदान करने के लिए इच्छुक रहते हैं फलत: वे विभिन्न

रूपों में प्रकट होते हैं। इसीलिए वे कृष्ण कहलाते हैं। चूँकि गर्गमुनि ज्योतिषाचार्य थे अतएव वे वह सब जानते थे, जो अन्य लोग नहीं जानते थे। फिर भी कृष्ण के इतने नाम हैं कि गर्गमुनि भी उन सबों को नहीं जानते थे। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि कृष्ण के दिव्य कार्यकलापों के अनुसार उनके अनेक नाम तथा रूप हैं।

एष वः श्रेय आधास्यद्गोपगोकुलनन्दनः ।
अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह बालक; वः—तुम सबों के लिए; श्रेयः—अत्यन्त शुभ; आधास्यत्—शुभ कार्य करेगा; गोप-गोकुल-नन्दनः—जैसे एक ग्वालबाल ग्वालों के परिवार में गोकुल के पुत्र रूप में पैदा हुआ हो; अनेन—इसके द्वारा; सर्व-दुर्गाणि—सभी प्रकार के कष्ट; यूयम्—तुम सभी; अञ्जः—सरलता से; तरिष्यथ—पार कर लोगे, लाँघ लोगे।

यह बालक गोकुल के ग्वालों के दिव्य आनन्द को बढ़ाने हेतु तुम्हारे लिए सदैव शुभ कर्म करेगा। इसकी ही कृपा से तुम लोग सारी कठिनाइयों को पार कर सकोगे।

तात्पर्य : कृष्ण ग्वाल-समूहों तथा गौवों के परम मित्र हैं इसीलिए उनकी स्तुति *नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च* की प्रार्थना के रूप में की जाती है। उनके धाम गोकुल में उनकी लीलाएँ ब्राह्मणों तथा गौवों के अनुकूल होती हैं। उनका सर्वोपरि कार्य है गौवों तथा ब्राह्मणों को सारे सुख देना। वस्तुतः ब्राह्मणों के निमित्त सुखभी गौण है, गौवें ही सर्वोपरि हैं। उनकी उपस्थिति से सारे लोगों की कठिनाइयाँ दूर होंगी और वे दिव्य आनन्द प्राप्त करेंगे।

पुरानेन व्रजपते साधवो दस्युपीडिताः ।
अराजके रक्ष्यमाणा जिग्युर्दस्यून्समेधिताः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

पुरा—पूर्वकाल में; अनेन—इसके (कृष्ण) द्वारा; व्रज-पते—हे व्रजराज; साधवः—ईमानदार; दस्यु-पीडिताः—चोर-उचक्कों द्वारा सताये हुए; अराजके—अनियमित सरकार होने पर; रक्ष्यमाणाः—सुरक्षित थे; जिग्युः—जीत लिया; दस्यून्—चोर-उचक्कों को; समेधिताः—उन्नति की।

हे नन्द महाराज, जैसा कि इतिहास बतलाता है जब अनियमित अशक्त शासन था और इन्द्र को अपदस्थ कर दिया गया था और लोग चोरों द्वारा सताये जा रहे थे उस समय लोगों की रक्षा करने तथा उनकी समृद्धि के लिए यह बालक प्रकट हुआ और इसने चोर-उचक्कों का दमन कर दिया।

तात्पर्य : इन्द्र ब्रह्माण्ड का राजा है। असुर, चोर तथा उचक्के सदैव इन्द्र को सताते हैं (*इन्द्रारिव्याकुलं लोकम्*) किन्तु जब इन्द्र के शत्रुओं (*इन्द्रारि*) का प्राधान्य हो जाता है, तो कृष्ण प्रकट होते हैं। *कृष्णस्तु भगवान् स्वयं। इन्दारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे* (*भागवत* १.३.२८)।

य एतस्मिन्महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः ।
नारयोऽभिभवन्त्येतान्विष्णुपक्षानिवासुराः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ये—जो लोग; एतस्मिन्—इस बालक से; महा-भागाः—अत्यन्त भाग्यशाली; प्रीतिम्—स्नेह; कुर्वन्ति—करते हैं; मानवाः—ऐसे व्यक्ति; न—नहीं; अरयः—शत्रुगण; अभिभवन्ति—जीत पाते हैं; एतान्—कृष्ण के प्रति अनुरक्त लोगों को; विष्णु-पक्षान्—विष्णु के पक्ष वाले देवताओं को; इव—सदृश; असुराः—असुरगण।

देवताओं के पक्ष में सदैव भगवान् विष्णु के रहने से असुरगण देवताओं को हानि नहीं पहुँचा सकते। इसी तरह कोई भी व्यक्ति या समुदाय जो कृष्ण के प्रति अनुरक्त है अत्यन्त भाग्यशाली है। चूँकि ऐसे लोग कृष्ण से अत्यधिक स्नेह रखते हैं अतएव वे कंस के संगियों यथा असुरों (या आन्तरिक शत्रु तथा इन्द्रियों) द्वारा कभी परास्त नहीं किये जा सकते।

तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते नारायणसमो गुणैः ।
श्रिया कीर्त्यानुभावेन गोपायस्व समाहितः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; नन्द—हे नन्द महाराज; आत्मजः—आपका पुत्र; अयम्—यह; ते—तुम्हारा; नारायण-समः—नारायण के सदृश (जो दिव्य गुण वाला है); गुणैः—गुणों से; श्रिया—ऐश्वर्य से; कीर्त्या—अपने नाम और यश से; अनुभावेन—तथा अपने प्रभाव से; गोपायस्व—इस बालक का पालन करो; समाहितः—अत्यन्त ध्यानपूर्वक तथा सावधानी से।

अतएव हे नन्द महाराज, निष्कर्ष यह है कि आपका यह पुत्र नारायण के सदृश है। यह अपने दिव्य गुण, ऐश्वर्य, नाम, यश तथा प्रभाव से नारायण के ही समान है। आप इस बालक का बड़े ध्यान से और सावधानी से पालन करें।

तात्पर्य : इस श्लोक में *नारायण-सम:* शब्द महत्त्वपूर्ण है। नारायण की कोई समता नहीं। वे *असमौर्ध्व* हैं—कोई न तो उनके समान है और न उनसे बढ़कर। शास्त्र में कहा गया है—

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदैवतै।

समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद् ध्रुवम्॥

जो कोई नारायण की समता बड़े से बड़े देवता यहाँ तक कि शिवजी या ब्रह्माजी से भी करता है,

वह *पाषण्डी* है। नारायण की समता कोई नहीं कर सकता। फिर भी गर्गमुनि ने *सम* शब्द का प्रयोग किया क्योंकि वे कृष्ण को भगवान् बतलाना चाह रहे थे, जो नन्द महाराज के पुत्र बन चुके थे। वे नन्द महाराज के मन में इस बात पर जोर देना चाहते थे कि "आपका आराध्य देव नारायण आप पर इतना प्रसन्न है कि उसने आपके लिए ऐसा पुत्र भेजा है, जो गुणों में लगभग उन्हीं के समान है। इसलिए आप उसका नाम उनसे मिलता-जुलता जैसे मुकुन्द या मधुसूदन रख सकते हैं। किन्तु सदा याद रखें कि जब भी आप कोई उत्तम कार्य करना चाहेंगे तो अनेक बाधाएँ आयेंगी। अतएव आप इस बालक का पालन तथा रक्षा बड़ी ही सावधानी से करें। यदि आप इस बालक की रक्षा सावधानी के साथ करेंगे तो जिस तरह नारायण सदैव आपकी रक्षा करता है उसी तरह यह बालक नारायण जैसा ही होगा।" गर्गमुनि ने यह भी इंगित किया कि यद्यपि यह बालक नारायण के समान ही गुणवान है, किन्तु यह *रास विहारी* के रूप में नारायण से भी बढ़कर आनन्द भोगेगा। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—*लक्ष्मीसहस्त्रशतसम्भ्रमसेव्यमानम्*—उनकी सेवा अनेक गोपियाँ करेंगी जो लक्ष्मी के ही समान होंगी।

श्रीशुक उवाच
इत्यात्मानं समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते ।
नन्दः प्रमुदितो मेने आत्मानं पूर्णमाशिषाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; आत्मानम्—परम सत्य परमात्मा को; समादिश्य—पूर्णतया आदेश देकर; गर्गे—जब गर्गमुनि; च—भी; स्व-गृहम्—अपने घर; गते—चले गये; नन्दः—नन्द महाराज ने; प्रमुदितः—अत्यन्त प्रसन्न; मेने—विचार किया; आत्मानम्—अपने आपको; पूर्णम् आशिषाम्—परम भाग्यशाली।

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : जब नन्द महाराज को कृष्ण के विषय में उपदेश देकर गर्गमुनि अपने घर चले गये तो नन्द महाराज अत्यधिक प्रसन्न हुए और अपने को परम भाग्यशाली समझने लगे।

तात्पर्य : कृष्ण परमात्मा हैं और नन्द महाराज जीवात्मा। गर्गमुनि के उपदेश से दोनों ही धन्य हो गये। नन्द महाराज पूतना तथा शकटासुर जैसे असुरों से कृष्ण की सुरक्षा की बात सोचते रहते थे और चूँकि उन्हें ऐसा पुत्र प्राप्त हुआ था इसलिए उन्होंने अपने को परम भाग्यशाली माना।

कालेन व्रजताल्पेन गोकुले रामकेशवौ ।
जानुभ्यां सह पाणिभ्यां रिङ्गमाणौ विजह्रतुः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कालेन—समय के; व्रजता—बीतने पर; अल्पेन—अल्प अवधि; गोकुले—गोकुल या व्रजधाम में; राम-केशवौ—बलराम तथा कृष्ण ने; जानुभ्याम्—घुटनों के बल; सह पाणिभ्याम्—हाथों के सहारे; रिङ्गमाणौ—रेंगते हुए; विजहतुः—खिलवाड़ किया।

कुछ समय बीतने के बाद राम तथा कृष्ण दोनों भाई अपने घुटनों तथा हाथों के बल व्रज के आँगन में रेंगने लगे और इस तरह बालपन के खेल का आनंद उठाने लगे।

तात्पर्य : एक ब्राह्मण भक्त कहता है—

श्रुतिं अपरे स्मृतिं इतरे भारतम् अन्ये भजन्तु भवभीतः अहं इह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म।

"भले ही अन्य लोग भवसागर से डर कर वेदों, पुराणों तथा महाभारत की पूजा करें किन्तु मैं नन्द महाराज की पूजा करूँगा जिनके आँगन में परब्रह्म रेंगते हैं।" महाभागवत को *कैवल्य* अर्थात् भगवान् ब्रह्मज्योति में समा जाना नरक के समान लगता है (*नरकायते*)। किन्तु यहाँ पर मनुष्य नन्द महाराज के आँगन में कृष्ण तथा बलराम के रेंगने का चिन्तन मात्र करके ही दिव्य आनन्द में लीन रह सकता है। जब तक कोई कृष्ण-लीला के, विशेष रूप से कृष्ण की बाल-लीलाओं के विचार में मग्न रहता है जैसाकि महाराज परीक्षित चाह रहे थे तब तक वह वास्तविक कैवल्य में लीन रहता है। इसीलिए व्यासदेव ने *श्रीमद्भागवत* की रचना की। *लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम्* (*भागवत* १.७.६)। व्यासदेव ने नारदमुनि के आदेशानुसार श्रीमद्भागवत की रचना की जिससे कोई भी इस ग्रंथ का लाभ उठा सके, कृष्ण की लीलाओं का चिन्तन कर सके और सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाय।

श्रुतिं अपरे स्मृतिं इतरे भारतं अन्ये भजन्तु भवभीतः अहम् इह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म।

तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ
घोषप्रघोषरुचिरं व्रजकर्दमेषु ।
तन्नादहृष्टमनसावनुसृत्य लोकं
मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रोः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तौ—कृष्ण तथा बलराम दोनों; अङ्घ्रि-युग्मम् अनुकृष्य—अपने दोनों पाँवों को घसीटते हुए; सरीसृपन्तौ—सरी सृपों की तरह रेंगते; घोष-प्रघोष-रुचिरम्—अपने घुंघरुओं से आवाज करते जो अत्यन्त मधुर थी; व्रज-कर्दमेषु—व्रजभूमि की धरती पर गोबर तथा गोमूत्र से उत्पन्न कीचड़ में; तत्-नाद—उन घुंघरुओं की आवाज से; हृष्ट-मनसौ—अत्यन्त प्रसन्न होकर; अनुसृत्य—पीछे पीछे चलते हुए; लोकम्—अन्य लोगों को; मुग्ध—मोहित होकर; प्रभीत-वत्—उनसे बारम्बार डरते हुए; उपेयतुः—तुरन्त लौट आये; अन्ति मात्रोः—अपनी माताओं की ओर।

जब कृष्ण तथा बलराम अपने पैरों के बल व्रजभूमि में गोबर तथा गोमूत्र से उत्पन्न कीचड़ वाली जगहों में रेंगते थे तो उनका रेंगना सरी सृपों के रेंगने जैसा लगता था और उनके पैरों के

घुंघरुओं की आवाज अत्यन्त मनोहर लगती थी। वे अन्य लोगों के घुंघरुओं की आवाज से अत्यधिक प्रसन्न होकर उनके पीछे पीछे चल देते मानो अपनी माताओं के पास जा रहे हों। किन्तु जब वे यह देखते कि वे दूसरे लोग हैं, तो भयभीत होकर अपनी असली माताओं, यशोदा तथा रोहिणी, के पास लौट आते।

तात्पर्य : व्रजभूमि में रेंगते हुए कृष्ण तथा बलराम घुंघरुओं की आवाज से मुग्ध हो जाते थे। इससे कभी कभी अन्य लोगों के पीछे-पीछे लगते। उन लोगों को कृष्ण तथा बलराम का रेंगना अत्यधिक आनन्द देता अत: वे चिल्ला पड़ते, ''ओह! देखो न! कृष्ण तथा बलराम किस तरह रेंग रहे हैं!'' यह सुनकर कृष्ण तथा बलराम समझ जाते कि वे लोग, जिनके पीछे वे जा रहे हैं, उनकी माताएँ नहीं हैं अत: वे अपनी असली माताओं के पास लौट आते। इस तरह कृष्ण तथा बलराम का रेंगना पड़ोस के लोगों के साथ साथ माता यशोदा तथा रोहिणी और दोनों बालकों को भी आनन्द प्रदान करता।

तन्मातरौ निजसुतौ घृणया स्नुवन्त्यौ
पङ्काङ्गरागरुचिरावुपगृह्य दोर्भ्याम् ।
दत्त्वा स्तनं प्रपिबतो: स्म मुखं निरीक्ष्य
मुग्धस्मितात्पदशनं ययतु: प्रमोदम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तत्-मातरौ—उनकी माताएँ (रोहिणी तथा यशोदा); निज-सुतौ—अपने अपने पुत्रों को; घृणया—अत्यन्त प्रेमपूर्वक; स्नुवन्त्यौ—अपने स्तनों का दूध पिलातीं; पङ्क-अङ्ग-राग-रुचिरौ—जिनके दिव्य शरीर गोबर तथा गोमूत्र के कीचड़ से सने हुए थे; उपगृह्य—रखवाली करते हुए; दोर्भ्याम्—अपनी भुजाओं से; दत्त्वा—देकर; स्तनम्—स्तन; प्रपिबतो:—दूध पीते हुए; स्म—निस्सन्देह; मुखम्—मुँह को; निरीक्ष्य—देखकर; मुग्ध-स्मित-अल्प-दशनम्—मुखों से बाहर निकली दँतुलियों से हँसते; ययतु:—प्राप्त किया; प्रमोदम्—दिव्य आनन्द।

दोनों बालक गोबर तथा गोमूत्र मिले कीचड़ से सने हुए अत्यन्त सुन्दर लग रहे थे और जब वे दोनों अपनी माताओं के पास गये तो यशोदा तथा रोहिणी दोनों ने बड़े प्यार से उन्हें उठा लिया, छाती से लगाया और अपने स्तनों से बहता दूध पिलाया। स्तन-पान करते हुए दोनों बालक मुसका रहे थे और उनकी दँतुलियाँ दिख रही थीं। उनके सुन्दर छोटे-छोटे दाँत देखकर उनकी माताओं को परम आनन्द हुआ।

तात्पर्य : चूँकि माताएँ अपने अपने बच्चों की देखरेख करती थीं इसलिए योगमाया की

व्यवस्थानुसार बच्चों ने सोचा, "ये रहीं हमारी माताएँ" और माताएँ सोचतीं, "ये रहे हमारे पुत्र।" स्नेह के कारण स्वभावतः माताओं के स्तन से स्वतः दूध निकलने लगा और बच्चे उसे पीने लगे। जब माताओं ने बच्चों के दाँत आते देखे तो वे उन्हें गिनतीं और प्रसन्न होतीं। जब बच्चों ने देखा कि माताएँ उन्हें दूध पीने दे रही हैं, तो उन्हें भी दिव्य आनन्द की अनुभूति हुई। ज्यों ज्यों रोहिणी तथा बलराम के और यशोदा तथा कृष्ण के बीच यह स्नेह बढ़ता गया त्यों त्यों उनका दिव्य आनन्द भी बढ़ता रहा।

यर्ह्यङ्गनादर्शनीयकुमारलीला-
वन्तर्व्रजे तदबलाः प्रगृहीतपुच्छैः ।
वत्सैरितस्तत उभावनुकृष्यमाणौ
प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहा जहृषुर्हसन्त्यः ॥ २४॥

शब्दार्थ

यर्हि—जब; अङ्गना-दर्शनीय—घर के भीतर की स्त्रियों के द्वारा ही दृश्य; कुमार-लीलौ—कृष्ण तथा बलराम द्वारा प्रदर्शित बाल-लीलाएँ; अन्तः-व्रजे—व्रज के भीतर, नन्द के घर में; तत्—उस समय; अबलाः—सारी स्त्रियाँ; प्रगृहीत-पुच्छैः—कृष्ण तथा बलराम द्वारा गौवों की पूँछ पकड़ने पर; वत्सैः—बछड़ों द्वारा; इतः ततः—यहाँ वहाँ; उभौ—कृष्ण तथा बलराम दोनों; अनुकृष्यमाणौ—खींच जाने पर; प्रेक्षन्त्यः—ऐसी दृश्य देखती हुई; उज्झित—छोड़ा हुआ; गृहाः—घर के कामकाज; जहृषुः—अत्यन्त हर्षित हुईं; हसन्त्यः—हँसती हुई।

ग्वालबालाएँ नन्द महाराज के घर के भीतर राम तथा कृष्ण दोनों बालकों की लीलाएँ देखकर हर्षित होतीं। बच्चे बछड़ों की पूछों के पिछले भाग पकड़ लेते तो बछड़े उन्हें इधर-उधर घसीटते। जब स्त्रियाँ ये लीलाएँ देखतीं, तो निश्चय ही अपना कामकाज करना बन्द कर देतीं और हँसने लगतीं तथा इन घटनाओं का आनन्द लूटतीं।

तात्पर्य : उत्सुकतावश रेंगते हुए कृष्ण तथा बलराम कभी कभी बछड़ों की पूँछों के सिरे पकड़ लेते। तब बछड़े यह अनुभव करके कि किसी ने उन्हें पकड़ लिया है इधर-उधर भागने लगते तब बच्चे बछड़ों के भागने से डर कर और दृढ़ता से उन्हें पकड़े रहते। बछड़े भी यह देखकर कि बच्चे पूँछ दृढ़ता से पकड़े हैं, भयभीत हो उठते। तब स्त्रियाँ बच्चों को बचाने आ जातीं और प्रसन्न होकर हँसतीं। यही उनका मनोरंजन था।

शृङ्ग्यग्निदंष्ट्र्यसिजलद्विजकण्टकेभ्यः
क्रीडापरावतिचलौ स्वसुतौ निषेद्धुम् ।
गृह्याणि कर्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ
शेकात आपतुरलं मनसोऽनवस्थाम् ॥ २५॥

शब्दार्थ

शृङ्गी—गाय; अग्नि—आग; दंष्ट्री—बन्दर तथा कुत्ते; असि—तलवार; जल—पानी; द्विज—पक्षी; कण्टकेभ्यः—तथा काँटों के साथ; क्रीडा-परौ अति-चलौ—दोनों बच्चे खेल में व्यस्त तथा अतीव चंचल; स्व-सुतौ—अपने दोनों पुत्रों को; निषेद्धुम्—रोकने के लिए; गृह्याणि—घर के कामकाज; कर्तुम् अपि—करके; यत्र—जब; न—नहीं; तत्-जनन्यौ—उनकी माताएँ (रोहिणी तथा यशोदा); शेकाते—समर्थ; आपतुः—प्राप्त किया; अलम्—निस्सन्देह; मनसः—मन का; अनवस्थाम्—सन्तुलन।

जब माता यशोदा तथा रोहिणी बच्चों को सींग वाली गायों से, आग से, पंजे तथा दाँत वाले पशुओं यथा बन्दरों, कुत्तों तथा बिल्लियों से एवं काँटों से, जमीन पर रखी तलवारों तथा अन्य हथियारों से होने वाली दुर्घटनाओं से रक्षा करने में अपने को असमर्थ पातीं तो वे सदा चिन्ताग्रस्त हो जातीं जिससे उनके घरेलू कामकाज में बाधा पहुँचती। उस समय वे भौतिक स्नेह के कष्ट नामक दिव्य भाव से सन्तुलन प्राप्त करतीं क्योंकि यह उनके मनों के भीतर से उठता था।

तात्पर्य : कृष्ण की ये सारी लीलाएँ तथा माताओं द्वारा प्रदर्शित खुशियाँ दिव्य हैं, उनमें कुछ भी भौतिक नहीं है। *ब्रह्म-संहिता* में इन्हें *आनन्दचिन्मय रस* कहा गया है। आध्यात्मिक जगत में भी भौतिक जगत की ही तरह चिंता, रोदन तथा अन्य भावनाएँ पाई जाती हैं किन्तु इनकी यथार्थता दिव्य जगत में ही होती है, जिसकी यह जगत अनुकृति ही है इसलिए माता यशोदा तथा रोहिणी को इनमें दिव्य आनन्द मिलता था।

कालेनाल्पेन राजर्षे रामः कृष्णश्च गोकुले ।
अघृष्टजानुभिः पद्भिर्विचक्रमतुरञ्जसा ॥ २६॥

शब्दार्थ

कालेन अल्पेन—थोड़े समय में ही; राजर्षे—हे राजा (महाराज परीक्षित); रामः कृष्णः च—राम तथा कृष्ण दोनों; गोकुले—गोकुल गाँव में; अघृष्ट-जानुभिः—घुटने के बल रेंगे बिना ही; पद्भिः—अपने पाँवों के बल; विचक्रमतुः—चलने लगे; अञ्जसा—आसानी से।

हे राजा परीक्षित, थोड़े समय में ही राम तथा कृष्ण दोनों अपने पाँवों के बल, रेंगे बिना ही अपने आप गोकुल में सरलता से चलने-फिरने लगे।

तात्पर्य : अब दोनों बालक घुटनों के बल न रेंग कर किसी चीज को पकड़ कर खड़े होने लगे और बिना कठिनाई के अपने पाँवों के बल थोड़ा-थोड़ा चलने-फिरने लगे।

ततस्तु भगवान्कृष्णो वयस्यैर्व्रजबालकैः ।
सहरामो व्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन्मुदम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; तु—लेकिन; भगवान्—भगवान्; कृष्णः—कृष्ण; वयस्यैः—अपने साथियों के साथ; व्रज-बालकैः—व्रज के छोटे-छोटे बालकों के साथ; सह-रामः—बलराम के साथ; व्रज-स्त्रीणाम्—व्रज की सारी स्त्रियों के; चिक्रीडे—प्रसन्नतापूर्वक खेलने लगे; जनयन्—उत्पन्न करते हुए; मुदम्—दिव्य आनन्द।

तत्पश्चात् भगवान् कृष्ण, बलराम सहित, ग्वालों के अन्य बच्चों के साथ खेलने लगे और इस तरह ग्वालों की स्त्रियों में दिव्य आनन्द उत्पन्न करने लगे।

तात्पर्य : *सह-रामः* शब्द महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है "बलराम के साथ"। ऐसी दिव्य-लीलाओं में कृष्ण ही मुख्य नायक हैं और बलराम उनके सहायक होते हैं।

कृष्णस्य गोप्यो रुचिरं वीक्ष्य कौमारचापलम् ।
शृण्वन्त्याः किल तन्मातुरिति होचुः समागताः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

कृष्णस्य—कृष्ण का; गोप्यः—सारी गोपियों ने; रुचिरम्—अत्यन्त आकर्षक; वीक्ष्य—देखकर; कौमार-चापलम्—बाल-लीलाओं की चपलता; शृण्वन्त्याः—बारम्बार सुनने के लिए; किल—निस्सन्देह; तत्-मातुः—माता की उपस्थिति में; इति—इस प्रकार; ह—निस्सन्देह; ऊचुः—कहा; समागताः—एकत्र हुईं।

कृष्ण की अति आकर्षक बाल-सुलभ चञ्चलता को देखकर पड़ोस की सारी गोपियाँ कृष्ण की क्रीड़ाओं के विषय में बारम्बार सुनने के लिए माता यशोदा के पास पहुँचतीं और उनसे इस प्रकार कहतीं।

तात्पर्य : कृष्ण की क्रीड़ाएँ भक्तों को सदैव अत्यधिक आकर्षक लगती हैं। अतः यशोदा की पड़ोसी सखियाँ माता यशोदा को वे सारी बातें बतलातीं जिन्हें वे पड़ोस में कृष्ण को करते देखतीं। माता यशोदा अपने पुत्र की क्रीड़ाएँ सुनने के लिए अपने घर के कामकाज बन्द कर देतीं और पड़ोसी सखियों द्वारा दी गई जानकारी का आनन्द लेतीं।

वत्सान्मुञ्चन्क्वचिदसमये क्रोशसञ्जातहासः
स्तेयं स्वाद्वत्त्यथ दधिपयः कल्पितैः स्तेययोगैः ।
मर्कान्भोक्ष्यन्विभजति स चेन्नात्ति भाण्डं भिन्नत्ति
द्रव्यालाभे सगृहकुपितो यात्युपक्रोश्य तोकान् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

वत्सान्—बछड़ों को; मुञ्चन्—खाले देने; क्वचित्—कभी; असमये—विषम अवसरों पर; क्रोश-सञ्जात-हासः—इसके बाद जब घर का मुखिया अप्रसन्न होता तो कृष्ण हँसने लगता है; स्तेयम्—चोरी करने से प्राप्त; स्वादु—स्वादिष्ट; अत्ति—खाता है; अथ—इस प्रकार; दधि-पयः—दही तथा दूध के बर्तन (मटकी); कल्पितैः—ढूँढ़ निकाली गई; स्तेय-योगैः—चोरी करने की विधि के द्वारा; मर्कान्—बन्दरों को; भोक्ष्यन्—खिलाते हुए; विभजति—बाँट-बाँट कर देता है; सः—वह बन्दर; चेत्—यदि; न—नहीं; अत्ति—खाता है; भाण्डम्—बर्तन; भिन्नत्ति—तोड़ डालता है; द्रव्य-अलाभे—खाने को कुछ न मिलने पर; स-गृह-

कुपितः—वह घर के रहने वालों पर गुस्साता है; याति—चला जाता है; उपक्रोश्य—चिढ़ाते हुए; तोकान्—छोटे-छोटे बच्चों को।

''हे सखी यशोदा, आपका बेटा कभी कभी हमारे घरों में गौवें दुहने के पहले आ जाता है और बछड़ों को खोल देता है और जब घर का मालिक क्रोध करता है, तो आपका बेटा केवल मुसका देता है। कभी कभी वह कोई ऐसी युक्ति निकालता है, जिससे वह स्वादिष्ट दही, मक्खन तथा दूध चुरा लेता है और तब उन्हें खाता-पीता है। जब बन्दर एकत्र होते हैं, तो वह उनमें ये सब बाँट देता है और जब उनके पेट भर जाते हैं और वे अधिक नहीं खा पाते तो वह बर्तनों को तोड़ जाता है। कभी कभी, यदि उसे घर से मक्खन या दूध चुराने का अवसर नहीं मिलता तो वह घरवालों पर क्रोधित होता है और बदला लेने के लिए वह छोटे-छोटे बच्चों को चिकुटी काट कर भड़का जाता है। और जब बच्चे रोने लगते हैं, तो कृष्ण भाग लेता है।

तात्पर्य : कृष्ण के बचपन के उपद्रवों का वर्णन माता यशोदा के सामने शिकायत के रूप में किया जाता था। कृष्ण कभी कभी अपने किसी पड़ोसी के घर में घुस जाते और यदि वहाँ किसी को न देखते तो गायों के दुहे जाने के समय से पहले ही उनके बछड़ों को खोल देते। वस्तुत: बछड़े तब खोले जाते हैं जब उनकी माताओं को दुहना होता है किन्तु कृष्ण उससे पहले ही बछड़े खोल देते जिससे वे अपनी माताओं का सारा दूध पी जाते। जब ग्वाले इसे देखते तो वे कृष्ण का पीछा करते और उन्हें पकड़ने का प्रयत्न यह कहते हुए करते, ''यह रहा उत्पाती कृष्ण'' किन्तु वे भाग कर दूसरे घर में घुस जाते जहाँ वे मक्खन तथा दही चुराने की कोई तरकीब ढूँढ निकालते। तब ग्वाले पुन: उन्हें पकड़ने का प्रयास यह कहते हुए करते, ''यह रहा माखन चोर। पकड़ो इसे।'' और वे क्रोधित होते। किन्तु कृष्ण केवल हँस देते और वे सारी बातें भूल जाते। कभी कभी कृष्ण उनकी उपस्थिति में दही तथा मक्खन खाने लगते। कृष्ण को दही-मक्खन खाने की आवश्यकता नहीं रहती थी क्योंकि पेट भरा रहता था फिर भी वे खाने का प्रयास करते अथवा बर्तन तोड़ देते और उनके भीतर जो कुछ रहता उसे बन्दरों में बाँट देते। इस तरह कृष्ण हमेशा ऊधम मचाने में लगे रहते। यदि उन्हें किसी घर में चुराने के लिए मक्खन या दही नहीं मिलता था, तो वे कमरे में घुस कर सोते हुए बालकों को चिकोटी काटते और जब बच्चे रोने लगते तो स्वयं भाग लेते।

हस्ताग्राह्ये रचयति विधिं पीठकोलूखलाद्यै-
शिछद्रं ह्यन्तर्निहितवयुनः शिक्यभाण्डेषु तद्वित् ।
ध्वान्तागारे धृतमणिगणं स्वाङ्गमर्थप्रदीपं
काले गोप्यो यर्हि गृहकृत्येषु सुव्यग्रचित्ताः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

हस्त-अग्राह्ये—हाथ न पहुँचने पर; रचयति—बनाता है; विधिम्—उपाय; पीठक—पीढ़ा, लकड़ी की चौकी; उलूखल-आद्यैः—तथा ओखली इत्यादि से; छिद्रम्—छेद; हि—निस्सन्देह; अन्तः-निहित—बर्तन के भीतर की वस्तुएँ; वयुनः—ऐसे ज्ञान से; शिक्य—शिकहरा, छींका से टांग कर; भाण्डेषु—बर्तनों के भीतर; तत्-वित्—उस ज्ञान में दक्ष; ध्वान्त-आगारे—अँधेरे कमरे में; धृत-मणि-गणम्—मूल्यवान मोतियों से सजाया होने के कारण; स्व-अङ्गम्—अपने शरीर को; अर्थ-प्रदीपम्—अँधेरे में देखने के लिए आवश्यक प्रकाश में; काले—उसके बाद; गोप्यः—वृद्धा गोपियाँ; यर्हि—ज्योंही; गृह-कृत्येषु—घर के कामकाज करने में; सु-व्यग्र-चित्ताः—बुरी तरह लगी रहने से।.

''जब दूध तथा दही की मटकी को छत से लटकते छींके में ऊँचा रख दिया जाता है और कृष्ण तथा बलराम उस छींके तक नहीं पहुँच पाते तो वे पीढ़ों को जुटाकर तथा मसाले पीसने की ओखली को उलट कर उस पर चढ़ कर उस तक पहुँच जाते हैं। बर्तन के भीतर क्या है, वे अच्छी तरह जानते हैं अतः उसमें छेद कर देते हैं। जब सयानी गोपिकाएँ कामकाज में लगी रहती हैं, तो कभी कभी कृष्ण तथा बलराम अँधेरी कोठरी में चले जाते हैं और अपने शरीर में पहने हुए मूल्यवान आभूषणों की मणियों की चमक से उस स्थान को प्रकाशित करके चोरी कर ले जाते हैं।

तात्पर्य : पुराने समय में घर घर में दही तथा मक्खन रखा रहता था ताकि आवश्यकता पड़ने पर काम आ सके। किन्तु कृष्ण तथा बलराम इतने पीढ़े एक के ऊपर एक रख लेते कि बर्तनों तक पहुँच सकें और तब अपने हाथों से बर्तनों में छेद कर लेते जिससे उनके भीतर की सामग्री चू कर नीचे आये और वे उसे पी सकें। मक्खन तथा दूध चुराने की यह दूसरी विधि थी। यदि मक्खन तथा दूध किसी अँधेरे कमरे में रखा होता तो कृष्ण और बलराम वहाँ जाते और अपने शरीरों में धारण किये गये बहुमूल्य मणियों से उस स्थान को प्रकाशित कर लेते। कहने का तात्पर्य यह कि कृष्ण तथा बलराम पड़ोस के घरों से दूध तथा मक्खन कई विधियों से चुराया करते थे।

एवं धार्ष्ट्यान्युशति कुरुते मेहनादीनि वास्तौ
स्तेयोपायैर्विरचितकृतिः सुप्रतीको यथास्ते ।
इत्थं स्त्रीभिः सभयनयनश्रीमुखालोकिनीभि-
र्व्याख्यातार्था प्रहसितमुखी न ह्युपालब्धुमैच्छत् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; धाष्टर्यानि—उपद्रव; उशति—स्वच्छ स्थान में; कुरुते—कभी कभी करता है; मेहन-आदीनि—टट्टी पेशाब करना; वास्तौ—घरों में; स्तेय-उपायै:—दूध तथा मक्खन चुराने की विविध युक्तियाँ ढूँढ़कर; विरचित-कृति:—अत्यन्त दक्ष है; सु-प्रतीक:—अब अच्छे, शिष्ट बालक की तरह बैठा हुआ है; यथा आस्ते—यहाँ रहते हुए; इत्थम्—ये बातें; स्त्रीभि:—गोपियों के द्वारा; स-भय-नयन—अब डरी हुई आँखों से बैठा; श्री-मुख—ऐसा सुन्दर चेहरा; आलोकिनीभि:—गोपियाँ देखने का आनन्द ले रही थीं; व्याख्यात-अर्था—माता यशोदा से उसकी शिकायत करते हुए; प्रहसित-मुखी—हँसती और आनन्द लूटतीं; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; उपालब्धुम्—डराने-धमकाने के लिए; ऐच्छत्—उसकी इच्छा हुई, चाहा।

''जब कृष्ण नटखटपन करते पकड़े जाते हैं, तो घर के मालिक उससे कहते, ''अरे चोर'' और उस पर बनावटी क्रोध प्रकट करते। तब कृष्ण उत्तर देते, ''मैं चोर नहीं हूँ। चोर तुम हो।'' कभी कभी कृष्ण क्रोध में आकर हमारे साफ-सुथरे घरों में मल-मूत्र विसर्जन कर देता है। किन्तु हे सखी यशोदा, अब वही दक्ष चोर तुम्हारे सामने अच्छे लड़के की तरह बैठा है।'' कभी कभी सभी गोपियाँ कृष्ण को भयातुर आँखों किए बैठे देखती थीं, ताकि माता डांटे फटकारे नहीं और जब वे कृष्ण का सुन्दर मुखड़ा देखतीं तो उसे डाँटने की बजाय वे उनके मुखड़े को देखती ही रह जातीं और दिव्य आनन्द का अनुभव करतीं। माता यशोदा इस खिलवाड़ पर मन्द-मन्द मुसकातीं और उनका मन अपने भाग्यशाली दिव्य बालक को डाँटने को करता ही नहीं था।

तात्पर्य : कृष्ण अपने पड़ोस में चोरी ही नहीं करते थे अपितु कभी कभी स्वच्छ घरों में मल-मूत्र विसर्जित कर दिया करते थे। जब घर का कोई मालिक पकड़ता तो कृष्ण ''तुम्हीं चोर हो'' कह कर उसे डाँटते। अपनी बाल-लीलाओं में चोर होने के अतिरिक्त भी कृष्ण युवावस्था में युवतियों को आकृष्ट करके उनके साथ रास-नृत्य करने की चोरी भी करते थे। यही कृष्ण के कार्य हैं। वे अनेक असुरों के वध करने वाले हिंसक भी हैं। यद्यपि संसारी लोगों को अहिंसा तथा अन्य सद्‌गुण पसन्द आते हैं किन्तु ईश्वर सदा एकसा होते हुए कुछ तथाकथित अनैतिक कार्यों में—यथा चुराने, मारने तथा हिंसा में भी पटु होते हैं। कृष्ण सदैव शुद्ध हैं और परम सत्य हैं। वे भौतिक जीवन का निन्दनीय से निन्दनीय समझा जाने वाला काम कर सकते हैं फिर भी वे आकर्षक हैं। इसलिए उनका नाम कृष्ण है। ऐसे ही स्तर पर दिव्य प्रेम-व्यवहार तथा सेवा का विनिमय होता है। कृष्ण के मुखमण्डल से माताएँ इतनी आकृष्ट होतीं कि वे उन्हें डाँट नहीं सकती थीं प्रत्युत वे हँसतीं और कृष्ण की करतूतों को सुन-सुन कर आनन्दित होतीं। इस तरह गोपियाँ तुष्ट रहती रहीं और कृष्ण उनकी प्रसन्नता का आनन्द लूटते। इसीलिए उनका दूसरा नाम गोपी-जन-वल्लभ है क्योंकि वे गोपियों को प्रसन्न करने के लिए ऐसी

क्रीड़ाओं को खोज लेते थे।

एकदा क्रीडमानास्ते रामाद्या गोपदारकाः ।
कृष्णो मृदं भक्षितवानिति मात्रे न्यवेदयन् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; क्रीडमानाः—बड़े होकर भी अपनी उम्र वाले अन्य बालकों के साथ खेलते; ते—वे; राम-आद्याः—बलराम तथा अन्य; गोप-दारकाः—ग्वालों के पड़ोस में पैदा हुए अन्य बालक; कृष्णः मृदम् भक्षितवान्—हे माता! कृष्ण ने मिट्टी खाई है; इति—इस प्रकार; मात्रे—माता यशोदा से; न्यवेदयन्—निवेदन किया।

एक दिन जब कृष्ण अपने छोटे साथियों के साथ बलराम तथा अन्य गोप-पुत्रों सहित खेल रहे थे तो उनके सारे साथियों ने एकत्र होकर माता यशोदा से शिकायत की कि ''कृष्ण ने मिट्टी खाई है।''

तात्पर्य : यहाँ पर कृष्ण की एक अन्य दिव्य क्रीड़ा है, जिसे गोपियों को प्रसन्न करने के लिए ढूँढ़ निकाला गया। पहले तो कृष्ण द्वारा चोरी करने की शिकायत माता यशोदा से की गई किन्तु उन्होंने कृष्ण को नहीं डाँटा। अब एक और प्रयास में जिससे माता यशोदा क्रोध करें और उसे डाँटें, दूसरी शिकायत ढूँढ़ निकाली गई—कि कृष्ण ने मिट्टी खाई है।

सा गृहीत्वा करे कृष्णमुपालभ्य हितैषिणी ।
यशोदा भयसम्भ्रान्तप्रेक्षणाक्षमभाषत ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

सा—माता यशोदा; गृहीत्वा—पकड़ कर; करे—हाथ में; कृष्णम्—कृष्ण को; उपालभ्य—डाँटना चाहा; हित-एषिणी—कृष्ण का कल्याण चाहने के कारण वे क्षुब्ध थीं कि इस कृष्ण ने मिट्टी कैसे खाई?; यशोदा—माता यशोदा ने; भय-सम्भ्रान्त-प्रेक्षण-अक्षम्—कृष्ण के मुँह के भीतर सावधानी से देखने लगी, यह देखने के लिए कि कोई खतरनाक वस्तु तो नहीं भर ली; अभाषत—कृष्ण से कहा।

कृष्ण के साथियों से यह सुनकर, हितैषिणी माता यशोदा ने कृष्ण के मुख के भीतर देखने तथा डाँटने के लिए उन्हें अपने हाथों से ऊपर उठा लिया। वे डरी डरी आँखों से अपने पुत्र से इस प्रकार बोलीं।

कस्मान्मृदमदान्तात्मन्भवान्भक्षितवान्रहः ।
वदन्ति तावका ह्येते कुमारास्तेऽग्रजोऽप्ययम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

कस्मात्—क्यों; मृदम्—मिट्टी; अदान्त-आत्मन्—अरे चंचल बालक; भवान्—तुमने; भक्षितवान्—खाई है; रहः—एकान्त स्थान में; वदन्ति—यह शिकायत कर रहे हैं; तावकाः—तुम्हारे दोस्त; हि—निस्सन्देह; एते—वे सभी; कुमाराः—बालक; ते—तुम्हारे; अग्रजः—बड़ा भाई; अपि—भी (पुष्टि करता है); अयम्—यह।

हे कृष्ण, तुम इतने चंचल क्यों हो कि एकान्त स्थान में तुमने मिट्टी खा ली? यह शिकायत तुम्हारे बड़े भाई बलराम समेत तुम्हारे संगी-साथियों ने की है। यह क्योंकर हुआ?

तात्पर्य : माता यशोदा कृष्ण के चंचल स्वभाव से क्षुब्ध थीं। उनका घर मिठाइयों से भरा पड़ा था, तो फिर चंचल बालक ने एकान्त स्थान में मिट्टी क्यों खाई? कृष्ण ने उत्तर दिया, ''हे माता! सबों ने षड्यंत्र करके मेरे विरुद्ध शिकायत की है, जिससे आप मुझे दण्ड दें। मेरे बड़े भइया बलराम उनसे मिल गये हैं। वास्तव में मैंने यह काम नहीं किया। मेरी बात सत्य मानें। मुझ पर नाराज न हों और मुझे डाँटे नहीं।''

नाहं भक्षितवानम्ब सर्वे मिथ्याभिशंसिनः ।
यदि सत्यगिरस्तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैंने; भक्षितवान्—मिट्टी खाई है; अम्ब—हे माता; सर्वे—वे सभी; मिथ्य-अभिशंसिनः—सभी झूठे हैं, केवल मेरी शिकायत करते हैं कि आप मुझे डाँटें; यदि—यदि यह यथार्थ है; सत्य-गिरः—कि उन्होंने सच बोला है; तर्हि—तो; समक्षम्—प्रत्यक्ष; पश्य—देखिये; मे—मेरा; मुखम्—मुँह।

श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया, ''हे माता, मैंने मिट्टी कभी नहीं खाई। मेरी शिकायत करने वाले मेरे सारे मित्र झूठे हैं। यदि आप सोचती हैं कि वे सच बोल रहे हैं, तो आप मेरे मुँह के भीतर प्रत्यक्ष देख सकती हैं।

तात्पर्य : मातृ-स्नेह के दिव्य आनन्द को बढ़ाने के लिए कृष्ण ने अपने आप को निर्दोष रूप में प्रस्तुत किया। शास्त्र में वर्णन हुआ है—*ताडनभयान् मिथ्योक्तिर्वात्सल्यरसपोषिका।* इसका अर्थ है कि छोटा बालक कभी कभी झूठ बोलता है। उदाहरणार्थ, वह किसी वस्तु को चुराने पर या कुछ खाने पर भी इनकार करता है कि उसने ऐसा नहीं किया। सामान्यतया भौतिक जगत में ऐसा देखा जाता है किन्तु कृष्ण के साथ बात और ही है। ऐसी क्रीड़ाएँ भक्तों को दिव्य आनन्द प्रदान करने के निमित्त हैं। भगवान् झूठे की भूमिका अदा कर रहे थे और अन्य भक्तों पर झूठा होने का आरोप लगा रहे थे। *श्रीमद्भागवत* (.१२.११) में कहा गया है— *कृतपुण्यपुञ्जाः*—अनेकानेक जन्मों तक भक्ति करने के बाद भक्त को ऐसी आनन्दानुभूति हो सकती है। जिन लोगों ने प्रचुर पुण्यकर्मों के फल संचित कर रखे

हैं उन्हें ही कृष्ण का सान्निध्य और उनके साथ सामान्य खिलाड़ियों की तरह खेलने का अवसर प्राप्त होता है। इन दिव्य सेवा-कार्यकलापों को झूठे आरोप नहीं समझना चाहिए। ऐसे भक्तों पर सामान्य बालकों की तरह झूठ बोलने का कभी आरोप नहीं लगाना चाहिए क्योंकि कृष्ण का ऐसा सान्निध्य प्राप्त करने के लिए उन्होंने बड़ी तपस्या की है (*तपसा ब्रह्मचर्येण शमेन च दमेन च*)।

यद्येवं तर्हि व्यादेहीत्युक्तः स भगवान्हरिः ।
व्यादत्ताव्याहतैश्वर्यः क्रीडामनुजबालकः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; एवम्—ऐसा है; तर्हि—तो; व्यादेहि—अपना मुख खोलो (मैं देखना चाहती हूँ); इति उक्तः—माता यशोदा द्वारा ऐसा आदेश दिये जाने पर; सः—उस; भगवान्—भगवान्; हरिः—परमेश्वर ने; व्यादत्त—अपना मुँह खोल दिया; अव्याहत-ऐश्वर्यः—ऐश्वर्य भक्ति में बिना किसी कमी के (ऐश्वर्यस्य समग्रस्य); क्रीडा—लीला या खिलवाड़; मनुज-बालकः—मनुष्य के लड़के की तरह।

माता यशोदा ने कृष्ण को धमकाया : ''यदि तुमने मिट्टी नहीं खाई है, तो अपना मुँह पूरी तरह खोलो।'' इस पर नन्द तथा यशोदा के पुत्र कृष्ण ने मानवी बालक की तरह लीला करने के लिए अपना मुँह खोला। यद्यपि समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी भगवान् कृष्ण ने अपनी माता के वात्सल्य-प्रेम को ठेस नहीं लगाई, फिर भी उनका ऐश्वर्य स्वतः प्रदर्शित हो गया क्योंकि कृष्ण का ऐश्वर्य किसी भी स्थिति में विनष्ट नहीं होता अपितु उचित समय पर प्रकट होता है।

तात्पर्य : अपनी माता के स्नेह भाव को डिगाये बिना ही कृष्ण ने अपना मुँह खोल दिया और अपने प्राकृतिक ऐश्वर्यों को प्रदर्शित कर दिया। जब किसी व्यक्ति को भाँति-भाँति का भोजन परोसा जाता है, तो उसमें सैकड़ों व्यंजन हो सकते हैं किन्तु यदि किसी को साधारण शाक पालक ही पसन्द है, तो वह उसी को खाना चाहेगा। इसी तरह यद्यपि कृष्ण समस्त ऐश्वर्यों से पूर्ण थे किन्तु अब जब उन्हें अपनी माता के आदेश से बालक की तरह अपना मुँह खोलना पड़ा तो उन्होंने वात्सल्य रस के दिव्य विनोद की उपेक्षा नहीं की।

सा तत्र ददृशे विश्वं जगत्स्थास्नु च खं दिशः ।
साद्रिद्वीपाब्धिभूगोलं सवाय्वग्नीन्दुतारकम् ॥ ३७॥
ज्योतिश्चक्रं जलं तेजो नभस्वान्वियदेव च ।
वैकारिकाणीन्द्रियाणि मनो मात्रा गुणास्त्रयः ॥ ३८ ॥
एतद्विचित्रं सहजीवकाल-

स्वभावकर्माशयलिङ्गभेदम् ।
सूनोस्तनौ वीक्ष्य विदारितास्ये
व्रजं सहात्मानमवाप शङ्काम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सा—माता यशोदा ने; तत्र—कृष्ण के खुले मुख के भीतर; ददृशे—देखा; विश्वम्—सारे ब्रह्माण्ड को; जगत्—चर-प्राणी; स्थास्नु—अचर, जड़ प्राणी; च—तथा; खम्—आकाश; दिशः—दिशाएँ; स-अद्रि—पर्वतों सहित; द्वीप—द्वीप; अब्धि—समुद्र; भू-गोलम्—पृथ्वी की सतह; स-वायु—बहती हवा के समेत; अग्नि—आग; इन्दु—चन्द्रमा; तारकम्—तारे; ज्योतिः-चक्रम्—ग्रह नक्षत्र; जलम्—जल; तेजः—प्रकाश; नभस्वान्—अन्तरिक्ष; वियत्—आकाश; एव—भी; च—तथा; वैकारिकाणि—अहंकार के रूपांतर से बनी सृष्टि; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; मनः—मन; मात्राः—तन्मात्रा; गुणाः त्रयः—तीनों गुण (सत्त्व, रजस् तथा तमस); एतत्—ये सारे; विचित्रम्—तरह तरह के; सह—समेत; जीव-काल—सारे जीवों की आयु; स्वभाव—स्वभाव; कर्म-आशय—कर्म तथा भौतिक भोग की इच्छा (वासना); लिङ्ग-भेदम्—इच्छानुसार शरीरों के भेद; सूनोः तनौ—अपने पुत्र के शरीर में; वीक्ष्य—देखकर; विदारित-आस्ये—खुले मुँह के भीतर; व्रजम्—व्रज-धाम को; सह-आत्मानम्—अपने समेत; अवाप—हतप्रभ रह गई; शङ्काम्—शंका तथा आश्चर्य से युक्त।

जब कृष्ण ने माता यशोदा के आदेश से अपना पूरा मुँह खोला तो उन्होंने कृष्ण के मुख के भीतर सभी चर-अचर प्राणी, बाह्य आकाश, सभी दिशाएँ, पर्वत, द्वीप, समुद्र, पृथ्वीतल, बहती हवा, अग्नि, चन्द्रमा तथा तारे देखे। उन्होंने ग्रह, जल, प्रकाश, वायु, आकाश तथा अहंकार के रूपान्तर द्वारा सृष्टि देखी। उन्होंने इन्द्रियाँ, मन, तन्मात्राएँ, तीनों गुण (सतो, रजो तथा तमो) भी देखे। उन्होंने जीवों की आयु, प्राकृतिक स्वभाव तथा कर्मफल देखे। उन्होंने इच्छाएँ और विभिन्न प्रकार के चर-अचर शरीर देखे। विराट जगत के इन विविध पक्षों के साथ ही स्वयं को तथा वृन्दावन-धाम को देखकर वे अपने पुत्र के स्वभाव से सशंकित तथा भयभीत हो उठीं।

तात्पर्य : स्थूल तथा सूक्ष्म तत्त्वों पर स्थित सारे विराट जगत, उनकी उत्तेजना के साधन, तीनों गुण, जीव, सृष्टि, पालन, संहार तथा भगवान् की बहिरंगा शक्ति से चल रही सारी क्रियाएँ—ये सभी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् गोविन्द से उद्भूत हैं। सारी वस्तुएँ उनके नियंत्रण में हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* से भी (९.) होती है। *मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स-चराचरम्*—भौतिक प्रकृति की सारी वस्तुएँ उनके नियंत्रण में हैं। चूँकि ये सारी अभिव्यक्तियाँ गोविन्द से उद्भूत हैं अतएव वे सब की सब गोविन्द के मुख में दिख सकती थीं। आश्चर्य की बात तो यह है कि माता यशोदा गहन मातृ-स्नेह के कारण भयभीत थीं। उन्हें विश्वास ही नहीं हो पा रहा था कि उनके पुत्र के मुख में ऐसी वस्तुएँ दिख सकती हैं। फिर भी उन्होंने देखा और इसीलिए वे भय तथा आश्चर्य से हक्की-बक्की रह गईं।

किं स्वप्न एतदुत देवमाया

किं वा मदीयो बत बुद्धिमोहः ।
अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य
यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; स्वप्नः—सपना; एतत्—यह; उत—अथवा; देव-माया—बहिरंगा शक्ति द्वारा मोहमयी अभिव्यक्ति; किम् वा—अथवा; मदीयः—मेरा निजी; बत—निस्सन्देह; बुद्धि-मोहः—बुद्धि का मोह; अथो—अन्यथा; अमुष्य—ऐसे; एव—निस्सन्देह; मम अर्भकस्य—मेरे बालक का; यः—जो; कश्चन—कोई; औत्पत्तिकः—प्राकृतिक; आत्म-योगः—निजी योगशक्ति।

[माता यशोदा अपने में ही तर्क करने लगीं]: क्या यह सपना है या बहिरंगा शक्ति की मोहमयी सृष्टि है? कहीं यह मेरी ही बुद्धि से तो प्रकट नहीं हुआ? अथवा यह मेरे बालक की कोई योगशक्ति है?

तात्पर्य : जब माता यशोदा ने अपने बालक के मुख के भीतर यह अद्भुत दृश्य देखा तो वे अपने मन में तर्क करने लगीं कि कहीं यह स्वप्न तो नहीं। तब उन्होंने विचार किया, "मैं स्वप्न नहीं देख रही क्योंकि मेरी आँखें खुली हैं। जो कुछ हो रहा है मैं वही देख रही हूँ। न तो मैं सो रही हूँ, न ही मैं सपना देख रही हूँ। तो फिर यह *देवमाया* से उत्पन्न मोह हो सकता है। किन्तु यह भी सम्भव नहीं। ऐसी वस्तुएँ देवतागण मुझे क्यों दिखला रहे हैं? मैं तो साधारण सी स्त्री हूँ जिसका देवताओं से कोई सम्बन्ध नहीं। वे देवमाया में मुझे क्यों डालना चाहते हैं? ऐसा सम्भव नहीं।" तब माता यशोदा ने सोचा कि यह दृश्य मोह (माया) के कारण है, "मैं ठीक-ठाक हूँ, मुझे कोई रोग नहीं। तो फिर मोह क्यों? ऐसा नहीं कि मेरा मस्तिष्क विकृत हो क्योंकि मैं सामान्य रूप से सोच सकती हूँ। अवश्य ही यह दृश्य मेरे पुत्र की योगशक्ति के कारण है जैसाकि गर्गमुनि ने भविष्यवाणी की है।" इस तरह वे इस निष्कर्ष पर पहुँचीं कि यह दृश्य उन्हीं के पुत्र की ही रचना है, यह और कुछ भी नहीं है।

अथो यथावन्न वितर्कगोचरं
चेतोमनःकर्मवचोभिरञ्जसा ।
यदाश्रयं येन यतः प्रतीयते
सुदुर्विभाव्यं प्रणतास्मि तत्पदम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

अथो—इसलिए उसने भगवान् की शरण में जाने का निश्चय किया; यथा-वत्—जितनी पूर्णता से कोई अनुभव कर सकती है; न—नहीं; वितर्क-गोचरम्—समस्त तर्क, इन्द्रिय बोध से परे; चेतः—चेतना से; मनः—मन से; कर्म—कर्म से; वचोभिः—अथवा शब्दों से; अञ्जसा—सबको मिलकर भी हम उन्हें नहीं समझ सकते; यत्-आश्रयम्—जिसके नियंत्रण में; येन—जिसके द्वारा; यतः—जिससे; प्रतीयते—अनुभव किया जा सकता है कि हर वस्तु उन्हीं से उद्भूत है; सु-दुर्विभाव्यम्—हमारी चेतना से परे; प्रणता अस्मि—शरणागत हूँ; तत्-पदम्—उनके चरणों में।

अतएव मैं उन भगवान् की शरण ग्रहण करती हूँ और उन्हें नमस्कार करती हूँ जो मनुष्य की कल्पना, मन, कर्म, विचार तथा तर्क से परे हैं, जो इस विराट जगत के आदि-कारण हैं, जिनसे यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पालित है और जिनसे हम इस जगत के अस्तित्व का अनुभव करते हैं। मैं उन्हें सादर नमस्कार ही कर सकती हूँ क्योंकि वे मेरे चिन्तन, अनुमान तथा ध्यान से परे हैं। वे मेरे समस्त भौतिक कर्मों से भी परे हैं।

तात्पर्य : मनुष्य को भगवान् की महानता का केवल अनुभव करना होता है। उसे स्थूल या सूक्ष्म किसी भी भौतिक उपाय से उन्हें समझने का प्रयास नहीं करना चाहिए। सरल स्वभाव की स्त्री होने के कारण माता यशोदा इस दृश्य का असली कारण नहीं समझ पाईं अतएव मातृ-स्नेहवश उन्होंने भगवान् को केवल नमस्कार किया कि वे उनके बालक की रक्षा करें। वे उन्हें नमस्कार करने के अतिरिक्त कर ही क्या सकती थीं? कहा गया है—*अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्* (*महाभारत भीष्म पर्व* ५.२२)। तर्क से परम कारण को समझने का प्रयास नहीं करना चाहिए। जब हम किसी ऐसी समस्या से घिर जाते हैं जिसका कोई कारण ढूँढे नहीं मिलता तो हमारे पास भगवान् की शरण में जाने और उन्हें सादर नमस्कार करने के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प नहीं रह जाता। तभी हम सुरक्षित रह सकते हैं। इस स्थिति में माता यशोदा ने भी यही विधि अपनाई। जो कुछ घटता है उसका मूल कारण भगवान् होता है (*सर्वकारण कारणम्*)। जब कारण का पता न चले तो हमें भगवान् के चरणकमलों पर नमस्कार मात्र करना चाहिए। माता यशोदा इसी निष्कर्ष पर पहुँचीं कि अपने पुत्र के मुख में जो अद्भुत वस्तुएँ उन्होंने देखीं वे उसी बालक के कारण थीं, भले ही वे कारण सुनिश्चित नहीं कर पाईं। अतएव जब भक्त को किसी कष्ट का कारण निश्चित नहीं हो पाता तो वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है—

तत्तेऽनुकम्पा सुसमीक्षसमाणो

भुञ्जन एवात्मकृतं विपाकम्।

हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते

जीवेत यो मुक्ति पदे स दायभाक्॥

(*भागवत* .१४.८)

भक्त यह स्वीकार करता है कि उसे अपने विगत दुष्कर्मों के कारण ही भगवान् ने यह किञ्चित कष्ट

दिया है। इस तरह वह भगवान् को बारम्बार नमस्कार करता है। ऐसा भक्त *मुक्ति पदे स दायभाक्* कहलाता है अर्थात् इस भौतिक जगत से उसकी मुक्ति सुनिश्चित है। *भगवद्गीता* (२.१४) में कहा गया है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदु:खदा:।

आगमापायिनो नित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

हमें जानना चाहिए कि भौतिक शरीर से उत्पन्न भौतिक कष्ट आते-जाते रहते हैं अतएव हमें चाहिए कि कष्ट सहन करें और आध्यात्मिक गुरु द्वारा आदिष्ट अपना कर्तव्य निबाहें।

अहं ममासौ पतिरेष मे सुतो
व्रजेश्वरस्याखिलवित्तपा सती ।
गोप्यश्च गोपा: सहगोधनाश्च मे
यन्माययेत्थं कुमति: स मे गति: ॥ ४२॥

शब्दार्थ

अहम्—मेरा अस्तित्व (मैं कुछ हूँ); मम—मेरा; असौ—नन्द महाराज; पति:—पति; एष:—यह (कृष्ण); मे सुत:—मेरा पुत्र है; व्रज-ईश्वरस्य—मेरे पति नन्द महाराज का; अखिल-वित्त-पा—मैं असीम ऐश्वर्य और सम्पत्ति की मालकिन हूँ; सती—उनकी पत्नी होने से; गोप्य: च—तथा सारी गोपियाँ; गोपा:—सारे ग्वाले (जो मेरे अधीन हैं); सह-गोधना: च—गौवों तथा बछड़ों समेत; मे—मेरा; यत्-मायया—ऐसी सारी वस्तुएँ जिन्हें मैं कहती हूँ आखिर भगवान् की कृपा से प्राप्त हैं; इत्थम्—इस प्रकार; कुमति:—मैं झूठे ही सोचती हूँ कि मेरी सम्पत्ति हैं; स: मे गति:—अतएव वे ही मेरी एकमात्र शरण हैं (मैं तो निमित्त मात्र हूँ)।

यह तो भगवान् की माया का प्रभाव है, जो मैं मिथ्या ही सोचती हूँ कि नन्द महाराज मेरे पति हैं, कृष्ण मेरा पुत्र है और चूँकि मैं नन्द महाराज की महारानी हूँ इसलिए गौवों तथा बछड़ों की सम्पत्ति मेरे अधिकार में है और सारे ग्वाले तथा उनकी पत्नियाँ मेरी प्रजा हैं। वस्तुत: मैं भी भगवान् के नित्य अधीन हूँ। वे ही मेरे अनन्तिम आश्रय हैं।

तात्पर्य : माता यशोदा के चरणचिह्नों का अनुसरण करते हुए हर व्यक्ति को इस त्याग-वृत्ति का पालन करना चाहिए। हमारे पास जितनी भी सम्पत्ति, ऐश्वर्य अथवा जो कुछ भी होता है, वह हमारा नहीं अपितु भगवान् का है, जो हर एक का अनन्तिम आश्रय तथा स्वामी है। *भगवद्गीता* (५.२९) में स्वयं भगवान् कहते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

सुहृदं सर्वभूतानाम् ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

''साधु जन मुझे ही समस्त यज्ञों तथा तपस्याओं का चरम कारण, समस्त लोकों तथा देवताओं का परमेश्वर तथा समस्त जीवों का शुभचिन्तक जान कर भौतिक दुखों से शान्ति प्राप्त करते हैं।''

हमें अपनी सम्पत्ति पर गर्वित नहीं होना चाहिए। जैसाकि माता यशोदा ने यहाँ पर कहा है, ''मैं न तो सम्पत्ति की स्वामिनी हूँ न नन्द महाराज की ऐश्वर्यवान् पत्नी। राज्य, सम्पत्ति, गौवें, बछड़े तथा गोपियों जैसी प्रजा एवं ग्वाले मुझे दिये गये हैं।'' मनुष्य को ''मेरी सम्पत्ति, मेरा पुत्र तथा मेरा पति'' इस प्रकार का विचार त्याग देना चाहिए (*जनस्यमोहोऽयमहं ममेति*)।

हर वस्तु भगवान् की है और किसी की नहीं। केवल मोहवश हम गलत सोचते हैं ''मैं हूँ या हर वस्तु मेरी है।'' इस तरह माता यशोदा पूर्णरूपेण भगवान् की शरणागत हो गईं। क्षण-भर के लिए वे निराश होकर सोचने लगीं, ''दान तथा अन्य पुण्यकर्मों द्वारा अपने पुत्र की रक्षा करने के मेरे सारे प्रयास व्यर्थ हैं। भगवान् ने मुझे बहुत सारी वस्तुएँ प्रदान की हैं किन्तु जब तक वे हर वस्तु का भार अपने ऊपर नहीं ले लेते तब तक सुरक्षा की कोई गारंटी नहीं है इसलिए अन्ततोगत्वा मुझे भगवान् की शरण लेनी चाहिए।'' जैसाकि प्रह्लाद महाराज ने (*भागवत* ७.९.१९) कहा है—*बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह*—माता-पिता, अन्ततः अपने बच्चों की रक्षा नहीं कर सकते। *अतो गृहक्षेत्र सुताप्तवित्तैर्जनस्य मोहोऽयमहं ममेति* (*भागवत* ५.५.८)। मनुष्य की भूमि, घर, सम्पत्ति तथा उसके पास जो कुछ भी है, वह सब भगवान् का है यद्यपि हम भूलवश सोचते हैं कि ''यह मैं हूँ'' और ''ये सारी वस्तुएँ मेरी हैं।''

इत्थं विदिततत्त्वायां गोपिकायां स ईश्वरः ।
वैष्णवीं व्यतनोन्मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस तरह; विदित-तत्त्वायाम्—हर वस्तु के सत्य को दार्शनिक रूप से समझ जाने पर; गोपिकायाम्—माता यशोदा के प्रति; सः—उस, भगवान् ने; ईश्वरः—परम नियन्ता; वैष्णवीम्—विष्णु-माया या योगमाया का; व्यतनोत्—विस्तार किया; मायाम्—योगमाया की; पुत्र-स्नेह-मयीम्—अपने पुत्र-स्नेह के कारण अत्यन्त अनुरक्त; विभुः—परमेश्वर ने।

माता यशोदा भगवान् की कृपा से असली सत्य को समझ गईं। लेकिन अन्तरंगा शक्ति, योगमाया के प्रभाव से परम प्रभु ने उन्हें प्रेरित किया कि वे अपने पुत्र के गहन मातृ-प्रेम में लीन हो जाँय।

तात्पर्य : यद्यपि माता यशोदा को समस्त जीवन-दर्शन समझ में आ गया था किन्तु दूसरे ही क्षण

वे योगमाया के प्रभाव से स्नेहवश अभिभूत हो गईं। उन्होंने सोचा कि जब तक वे अपने पुत्र की देखरेख नहीं करेंगीं तब तक वह सुरक्षित कैसे रह सकता है? वे अन्यथा न सोच पाईं और अपना सारा दर्शन भूल गईं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस विस्मृति को योगमाया का प्रभाव बतलाया है (*मोहनसाधर्म्यान् मायाम्*)। भौतिकतावादी व्यक्ति महामाया द्वारा मुग्ध हो जाते हैं किन्तु भक्तगण दिव्य-शक्ति की व्यवस्था के अन्तर्गत योगमाया द्वारा मुग्ध होते हैं।

सद्यो नष्टस्मृतिर्गोपी सारोप्यारोहमात्मजम् ।
प्रवृद्धस्नेहकलिलहृदयासीद्यथा पुरा ॥ ४४॥

शब्दार्थ

सद्यः—इन सारे दार्शनिक चिन्तनों के बाद माता यशोदा ने भगवान् की शरण ग्रहण की; नष्ट-स्मृतिः—कृष्ण के मुँह के भीतर विश्व रूप देखने से नष्ट हुई स्मरणशक्ति; गोपी—माता यशोदा; सा—वह; आरोप्य—बैठाकर; आरोहम्—गोद में; आत्मजम्—अपने पुत्र को; प्रवृद्ध—बढ़ा हुआ; स्नेह—स्नेह से; कलिल—प्रभावित; हृदया—हृदय से; आसीत्—हो गई; यथा पुरा—जैसी पहले थी।.

कृष्ण ने अपने मुँह के भीतर जिस विराट रूप को दिखलाया था योगमाया के उस भ्रम को तुरन्त ही भूलकर माता यशोदा ने अपने पुत्र को पूर्ववत् अपनी गोद में ले लिया और अपने दिव्य बालक के प्रति उनके हृदय में और अधिक स्नेह उमड़ आया।

तात्पर्य : माता यशोदा ने कृष्ण के मुँह के भीतर विराट रूप के दृश्य को योगमाया की व्यवस्था माना जो स्वप्न के समान थी। जिस प्रकार स्वप्न के बाद सारी बातें भूल जाती हैं वैसे ही माता यशोदा तुरन्त ही पूरी घटना भूल गईं। ज्योंही स्नेह का प्राकृतिक भाव बढ़ा त्योंही उन्होंने निश्चय किया, "अब इस घटना को भुलाये देती हूँ। यह मेरा पुत्र है। मैं इसको चुम लूँ।"

त्रय्या चोपनिषद्भिश्च साङ्ख्ययोगैश्च सात्वतैः ।
उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामन्यतात्मजम् ॥ ४५॥

शब्दार्थ

त्रय्या—तीन वेदों (साम, यजुर् तथा अथर्व) के अध्ययन से; च—भी; उपनिषद्भिः च—तथा उपनिषदों के अध्ययन से; साङ्ख्य-योगैः—तथा सांख्य योग विषयक साहित्य के अध्ययन से; च—तथा; सात्वतैः—बड़े बड़े ऋषियों-मुनियों द्वारा अथवा वैष्णव तंत्र पञ्चरात्र का अध्ययन करने से; उपगीयमान-माहात्म्यम्—जिनकी महिमा की पूजा (इन वैदिक ग्रंथों द्वारा) की जाती है; हरिम्—भगवान् को; सा—उसने; अमन्यत—(सामान्य) मान लिया; आत्मजम्—अपना पुत्र।.

भगवान् की महिमा का अध्ययन तीनों वेदों, उपनिषदों, सांख्य योग के ग्रंथों तथा अन्य वैष्णव साहित्य के माध्यम से किया जाता है। फिर भी माता यशोदा परम पुरुष को अपना

सामान्य बालक मानती रहीं।

तात्पर्य : जैसाकि भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा है वेदों के अध्ययन का उद्देश्य भगवान् को समझना है (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*)। श्री चैतन्य महाप्रभु ने सनातन गोस्वामी को बतलाया कि वेदों के तीन उद्देश्य हैं। पहला—कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को समझना (*सम्बन्ध*), दूसरा—उस सम्बन्ध के अनुसार कार्य करना (*अभिधेय*) और तीसरा चरम लक्ष्य तक पहुँचना (*प्रयोजन*)। *प्रयोजन* का अर्थ है ''आवश्यकताएँ'' और परम आवश्यकता की व्याख्या श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा की गई है। *प्रेमा पुमर्थो महान्*—मनुष्य की सबसे बड़ी आवश्यकता है भगवान् के लिए प्रेम की प्राप्ति। यहाँ हम देखते हैं कि माता यशोदा आवश्यकता के सर्वोच्च पद पर हैं क्योंकि वे कृष्ण के प्रेम में पूर्णतया लीन हैं।

प्रारम्भ में वैदिक उद्देश्य का पालन तीन प्रकार से (*त्रयी*) किया जाता है—कर्म-काण्ड, ज्ञान-काण्ड तथा उपासना-काण्ड द्वारा। जब कोई व्यक्ति उपासना-काण्ड की पूर्णावस्था को प्राप्त होता है, तो वह नारायण या भगवान् विष्णु की पूजा करने लगता है। जब पार्वती ने भगवान् महादेव से पूछा कि *उपासना* की सर्वोत्तम विधि क्या है, तो शिवजी ने उत्तर दिया—*आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्।* *विष्णूपासना* या *विष्ण्वाराधन* सिद्धि की सर्वोच्च अवस्था है, जिसका अनुभव देवकी ने किया। किन्तु यशोदा यहाँ पर कोई उपासना नहीं करतीं क्योंकि उनमें कृष्ण के प्रति दिव्य प्रेम भाव उत्पन्न हो चुका है। अतएव उनकी दशा देवकी की दशा से श्रेष्ठतर है। यह दिखाने के लिए श्रील व्यासदेव लिखते हैं—*त्रय्या चोपनिषद्भिः...।*

जब कोई व्यक्ति वेदों का अध्ययन *विद्या* (ज्ञान) प्राप्त करने के लिए करता है, तो वह मानव सभ्यता में भाग लेने लगता है। इसके बाद वह *ब्रह्मज्ञान* प्राप्त करने के लिए उपनिषदों का अध्ययन करता है और तब परम नियन्ता को समझने के लिए सांख्य योग की ओर अग्रसर होता है जिन्हें भगवद्गीता में बताया गया है (*परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्। पुरुषं शाश्वतं...*)। जब मनुष्य उस पुरुष को परम नियंता परमात्मा के रूप में समझ लेता है, तो वह योग विधि में लग जाता है (*ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः*)। लेकिन माता यशोदा इन सारी अवस्थाओं को पार कर चुकी हैं। वे कृष्ण को अपने प्रिय पुत्र के रूप में मान चुकी हैं इसलिए उन्हें आत्म-साक्षात्कार की

सर्वोच्च अवस्था पर स्थित माना जाता है। परम सत्य की अनुभूति तीन रूपों में होती है (*ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते*) किन्तु वे ऐसे भाव को प्राप्त हैं कि वे ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् को समझने की परवाह भी नहीं करतीं। भगवान् उनका प्रिय पुत्र बनने के लिए स्वयं अवतरित हुए हैं। अतएव माता यशोदा के सौभाग्य की कोई बराबरी नहीं की जा सकती जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने् कहा है (*रम्या काचिद् उपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता*)। परम सत्य अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की अनुभूति विभिन्न अवस्थाओं में की जा सकती है। *भगवद्गीता* (४.११) में भगवान् कहते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

"मनुष्य जिस तरह मेरी शरण में आते हैं उन्हें मैं उसी तरह से पुरस्कृत करता हूँ। हे पृथा-पुत्र! हर व्यक्ति मेरे मार्ग का सभी प्रकार से अनुसरण करता है"। मनुष्य पहले कर्मी, फिर ज्ञानी, फिर योगी और तब भक्त या प्रेम-भक्त होता है। किन्तु साक्षात्कार की चरम अवस्था *प्रेम-भक्ति* है, जो वास्तविक अर्थों में माता यशोदा द्वारा प्रदर्शित की गई है।

श्रीराजोवाच

नन्दः किमकरोद्ब्रह्मन्श्रेय एवं महोदयम् ।

यशोदा च महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरिः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—महाराज परीक्षित ने और आगे पूछा; नन्दः—महराज नन्द ने; किम्—क्या; अकरोत्—किया; ब्रह्मन्—हे विद्वान ब्राह्मण; श्रेयः—पुण्यकर्म यथा तपस्या; एवम्—जिस तरह उन्होंने प्रकट किया; महा-उदयम्—जिससे उन्हें सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त हुई; यशोदा—माता यशोदा; च—भी; महा-भागा—अत्यन्त भाग्यशालिनी; पपौ—पिया; यस्याः—जिसका; स्तनम्—स्तन का दूध; हरिः—भगवान् ने।

माता यशोदा के परम सौभाग्य को सुनकर परीक्षित महाराज ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा : हे विद्वान ब्राह्मण, भगवान् द्वारा माता यशोदा का स्तन-पान किया गया। उन्होंने तथा नन्द महाराज ने भूतकाल में कौन-से पुण्यकर्म किये जिनसे उन्हें ऐसी प्रेममयी सिद्धि प्राप्त हुई?

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.१६) में कहा गया है—*चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। सुकृति* अर्थात् पुण्यकर्मों के बिना कोई भी व्यक्ति भगवान् की शरण में नहीं आ सकता। भगवान् के पास चार प्रकार के पुण्यात्मा पहुँचते हैं (*आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च*) किन्तु यहाँ हम देखते हैं कि नन्द महाराज तथा यशोदा इन सबों से बढ़कर थे। इसीलिए परीक्षित महाराज ने पूछा, "उन्होंने पूर्वजन्म

में किस तरह के पुण्यकर्म किये थे जिसके कारण उन्हें ऐसी सिद्धि-अवस्था प्राप्त हो सकी?" यद्यपि नन्द महाराज तथा यशोदा को कृष्ण के माता-पिता के रूप में स्वीकार किया गया है फिर भी माता यशोदा कृष्ण के पिता नन्द महाराज से अधिक भाग्यशालिनी थीं क्योंकि नन्द महाराज कभी कभी कृष्ण से बिछुड़ते भी हैं जबकि कृष्ण की माता यशोदा क्षण-भर के लिए भी कृष्ण से विलग नहीं हुईं। कृष्ण के शिशुकाल से बाल्यकाल तथा बाल्यकाल से युवावस्था तक माता यशोदा कृष्ण की संगति में ही रहीं। जब कृष्ण बड़े हो गये थे तब भी वे वृन्दावन जाते थे और माता यशोदा की गोद में बैठ जाया करते थे। अत: माता यशोदा के भाग्य की कोई तुलना नहीं की जा सकती। इसीलिए परीक्षित महाराज ने सहज में पूछा—*यशोदा च महाभागा।*

पितरौ नान्वविन्देतां कृष्णोदारार्भकेहितम् ।
गायन्त्यद्यापि कवयो यल्लोकशमलापहम् ॥ ४७॥

शब्दार्थ

पितरौ—कृष्ण के असली पिता तथा माता ने; न—नहीं; अन्वविन्देताम्—आनन्द प्राप्त किया; कृष्ण—कृष्ण का; उदार—वदान्य; अर्भक-ईहितम्—उसके द्वारा सम्पन्न बाल-लीलाएँ; गायन्ति—महिमा का गान करते हैं; अद्य अपि—आज भी; कवय:—बड़े बड़े ऋषि-मुनि; यत्—जो; लोक-शमल-अपहम्—जिसके सुनने से सारे जगत का कल्मष दूर हो जाता है।

यद्यपि कृष्ण वसुदेव तथा देवकी से इतने प्रसन्न थे कि वे उनके पुत्र रूप में अवतरित हुए किन्तु वे दोनों ही कृष्ण की उदार बाल-लीलाओं का आनन्द नहीं उठा पाये। ये लीलाएँ इतनी महान् हैं कि इनका उच्चार करने मात्र से संसार का कल्मष दूर हो जाता है। किन्तु नन्द महाराज तथा यशोदा ने इन लीलाओं का पूर्ण आनन्द प्राप्त किया अतएव उनकी स्थिति वसुदेव तथा देवकी से सदैव श्रेष्ठतर है।

तात्पर्य : कृष्ण का जन्म वस्तुत: देवकी की कोख से हुआ था किन्तु जन्म होते ही उन्हें माता यशोदा के घर पहुँचा दिया गया। यहाँ तक कि देवकी कृष्ण को अपना स्तन-पान तक न करा पाईं। इसलिए परीक्षित महाराज आश्चर्यचकित थे कि यशोदा तथा नन्द महाराज किस तरह इतने भाग्यशाली बन सके कि उन्होंने कृष्ण की उन पूर्ण बाल-लीलाओं का आनन्द प्राप्त किया जिनकी महिमा का गान आज भी सन्त पुरुष करते हैं? उन्होंने पूर्वजन्म में आखिर क्या किया था जिससे उन्हें इतना उच्च पद प्राप्त हो सका।

श्रीशुक उवाच

द्रोणो वसूनां प्रवरो धरया भार्यया सह ।
करिष्यमाण आदेशान्ब्रह्मणस्तमुवाच ह ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; द्रोणः—द्रोण नामक; वसूनाम्—आठ वसुओं में; प्रवरः—सर्वश्रेष्ठ; धरया—धरा के; भार्यया—अपनी पत्नी; सह—साथ; करिष्यमाणः—सम्पन्न करने के लिए; आदेशान्—आदेश; ब्रह्मणः—ब्रह्मा का; तम्—उससे; उवाच—कहा; ह—भूतकाल में।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् ब्रह्माजी के आदेश का पालन करने के लिए वसुओं में श्रेष्ठ द्रोण ने अपनी पत्नी धरा समेत ब्रह्मा से इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* (५.३७) में कहा गया है—

आनन्दचिन्मय रस प्रतिभाविताभि-

स्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः ।

गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो

गोविन्दमादिपुरुषंतमहं भजामि ॥

जब कृष्ण कहीं भी अवतरित होते हैं, तो वे अपने पार्षदों समेत आते हैं। ये पार्षद सामान्य जीव नहीं होते। कृष्ण की लीलाएँ नित्य हैं और जब वे अवतरित होते हैं, तो अपने पार्षदों समेत आते हैं। इसलिए नन्द तथा माता यशोदा कृष्ण के नित्य पिता तथा माता हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जब कभी कृष्ण अवतरित होते हैं, तो नन्द तथा यशोदा के साथ-साथ वसुदेव तथा देवकी भी भगवान् के माता-पिता के रूप में अवतरित होते हैं। ये व्यक्ति भगवान् कृष्ण के निजी शरीर के अंश होते हैं। ये सामान्य जीव नहीं होते। महाराज परीक्षित इसे जानते थे किन्तु वे शुकदेव गोस्वामी से जानने के लिए इच्छुक थे कि क्या सामान्य व्यक्ति *साधनसिद्धि* के द्वारा इस अवस्था को प्राप्त हो सकते हैं? सिद्धि दो प्रकार की होती है—*नित्यसिद्धि* तथा *साधनसिद्धि*। *नित्यसिद्ध* वह है, जो कृष्ण का नित्य पार्षद है—कृष्ण के शरीर का अंश है, जबकि *साधनसिद्ध* सामान्य मनुष्य होता है, जो पुण्यकर्म करके तथा भक्ति के नियमों का पालन करके इसी अवस्था को प्राप्त करता है। इस तरह महाराज परीक्षित के पूछने का उद्देश्य यह था कि क्या सामान्य व्यक्ति माता यशोदा तथा नन्द महाराज के पद को प्राप्त कर सकते हैं? शुकदेव गोस्वामी ने इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया।

जातयोर्नौ महादेवे भुवि विश्वेश्वरे हरौ ।
भक्तिः स्यात्परमा लोके ययाञ्जो दुर्गतिं तरेत् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

जातयोः—जन्म लेकर; नौ—पति-पत्नी दोनों, द्रोण तथा धरा; महादेवे—परम पुरुष, भगवान् में; भुवि—पृथ्वी पर; विश्व-ईश्वरे—सभी लोकों के स्वामी में; हरौ—हरि में; भक्तिः—भक्ति; स्यात्—फैलेगी; परमा—जीवन का चरम लक्ष्य; लोके—संसार में; यया—जिससे; अञ्जः—आसानी से; दुर्गतिम्—दुखमय जीवन से; तरेत्—बच सकता है और उद्धार हो सकता है।

द्रोण तथा धरा ने कहा : कृपा करके हमें अनुमति दें कि हम पृथ्वी पर जन्म लें जिससे परब्रह्म परम नियन्ता तथा समस्त लोकों के स्वामी भगवान् भी प्रकट हों और भक्ति का प्रसार करें जो जीवन का चरम लक्ष्य है और जिसे ग्रहण करके इस भौतिक जगत में उत्पन्न होने वाले लोग सरलता से भौतिकतावादी जीवन की दुखमय स्थिति से उबर सकें।

तात्पर्य : द्रोण के इस कथन से स्पष्टतया इंगित होता है कि द्रोण तथा धरा कृष्ण के नित्य पिता तथा माता हैं। जब भी कृष्ण के आविर्भाव की आवश्यकता होती है, तो पहले द्रोण तथा धरा प्रकट होते हैं और तब कृष्ण प्रकट होते हैं। *भगवद्गीता* (४.६) में कृष्ण कहते हैं कि उनका जन्म सामान्य नहीं होता (*जन्म कर्म च मे दिव्यम्*)

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

"यद्यपि मैं अजन्मा हूँ और मेरा दिव्य शरीर कभी विनष्ट नहीं होता और समस्त जीवों का स्वामी मैं ही हूँ किन्तु फिर भी मैं प्रत्येक युग में अपने आदि दिव्य-शरीर में प्रकट होता हूँ।" कृष्ण के प्रकट होने के पूर्व द्रोण तथा धरा उत्पन्न होते हैं जिससे वे उनके पिता-माता बन सकें। ये ही नन्द महाराज और उनकी पत्नी यशोदा के रूप में प्रकट हुए। दूसरे शब्दों में, *साधनसिद्ध* जीव कभी भी कृष्ण के पिता या माता नहीं बन सकते क्योंकि कृष्ण के माता-पिता पहले से निर्दिष्ट हैं। किन्तु नन्द महाराज तथा माता यशोदा और उनके संगियों के द्वारा प्रदर्शित नियमों का अनुसरण करके वृन्दावनवासी, जो कि सामान्य जीव हैं, उन्हीं जैसा स्नेह प्राप्त कर सकते हैं।

जब द्रोण तथा धरा से सन्तान उत्पन्न करने के लिए कहा गया तो उन्होंने इस संसार में आने और भगवान् कृष्ण को पुत्र रूप पाने के लिए चुना। कृष्ण के प्राकट्य का अर्थ है—*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।* अर्थात् भक्तों की रक्षा तथा दुष्टों का विनाश जब भी कृष्ण आते हैं, तो वे जीवन के परम लक्ष्य, भक्ति का वितरण करते हैं। वे इस कार्य के लिए चैतन्य महाप्रभु के रूप में प्रकट होते

हैं क्योंकि भक्ति को प्राप्त किये बिना कोई भी व्यक्ति भौतिक जगत (*दु:खालयम् अशाश्वतम्*) के कष्टों से छुटकारा नहीं पा सकता जहाँ जीव अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करते हैं। भगवान् *भगवद्गीता* (१५.७) में कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत सनातन: ।

मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

''इस बद्ध जगत के सारे जीव मेरे नित्य अंश हैं। बद्ध जीवन के कारण वे मन समेत छहों इन्द्रियों के साथ कठिन संघर्ष करते रहते हैं।'' सारे जीव सुखी बनने के लिए संघर्ष करते रहते हैं किन्तु भक्ति ग्रहण किये बिना यह सुख सम्भव नहीं। कृष्ण ने *भगवद्गीता* (९.३) में स्पष्ट कहा है :

अश्रद्दधाना: पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।

अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥

''हे शत्रुओं के विजेता! जो भक्ति के मार्ग में श्रद्धावान नहीं हैं, वे मुझे प्राप्त नहीं कर सकते बल्कि इस भौतिक जगत में जन्म और मृत्यु के लिए लौट आते हैं।''

मूर्ख लोगों को पता नहीं रहता कि यदि कृष्ण के उपदेशों का पालन नहीं किया गया तो यहाँ पर जीवन कितना खतरनाक है। इसलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन का शुभारम्भ किया गया है, जिससे लोग कृष्णभावनामृत का अभ्यास करके इस भौतिक जगत के खतरनाक जीवन से बच सकें। कृष्णभावनामृत को मानने या न मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह ऐच्छिक नहीं है अपितु अनिवार्य है। यदि हम कृष्णभावनामृत स्वीकार नहीं करते तो हमारा जीवन अत्यन्त संकटमय है। *भगवद्गीता* में हर बात ठीक से बतलाई गई है। अत: संसार की दुखमय अवस्था से छूटने के लिए *भगवद्गीता* यथारूप का प्राथमिक अध्ययन करना होगा। *भगवद्गीता* समझ लेने के बाद *श्रीमद्भागवत* और तब *श्रीचैतन्य-चरितामृत* का अध्ययन करना चाहिए। इसीलिए हम इन अमूल्य ग्रंथों को सारे जगत के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे लोग इन्हें पढ़कर दुखमय बद्ध जीवन से छुटकारा पाकर सुखी बनें।

अस्त्वित्युक्त: स भगवान्व्रजे द्रोणो महायशा: ।
जज्ञे नन्द इति ख्यातो यशोदा सा धराभवत् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

अस्तु—ब्रह्मा ने स्वीकार किया, ''हाँ, ठीक है''; इति उक्तः—उनसे ऐसा आदेश पाकर; सः—उसने (द्रोण ने); भगवान्—कृष्ण के पिता (भगवान् का पिता भगवान् होता है); व्रजे—व्रजभूमि वृन्दावन में; द्रोणः—द्रोण, अत्यन्त शक्तिशाली वसु ने; महा-यशाः—परम प्रसिद्ध अध्यात्मवादी; जज्ञे—प्रकट हुआ; नन्दः—नन्द महाराज के रूप में; इति—इस प्रकार; ख्यातः—विख्यात है; यशोदा—माता यशोदा के रूप में; सा—वह; धरा—धरा; अभवत्—प्रकट हुई।

जब ब्रह्मा ने कहा, ''हाँ, ऐसा ही हो'' तो परम भाग्यशाली द्रोण जो भगवान् के समान था, व्रजपुर वृन्दावन में विख्यात नन्द महाराज के रूप में और उनकी पत्नी धरा माता यशोदा के रूप में प्रकट हुए।

तात्पर्य : क्योंकि जब भी इस धरा में कृष्ण प्रकट होते हैं उन्हें पिता-माता—द्रोण तथा धरा उनके शाश्वत पिता-माता—तो चाहिए ही जो नन्द तथा यशोदा के रूप में हों। इन्हें सुतपा तथा पृश्निगर्भ की तरह कृष्ण के माता-पिता बनने के लिए कठिन तपस्या नहीं करनी पड़ी। नित्यसिद्ध तथा साधनसिद्ध में यही अन्तर होता है।

ततो भक्तिर्भगवति पुत्रीभूते जनार्दने ।
दम्पत्योर्नितरामासीद्गोपगोपीषु भारत ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; भक्तिः भगवति—भगवान् की भक्ति, भक्ति सम्प्रदाय; पुत्री-भूते—भगवान् के रूप में जो माता यशोदा के पुत्र रूप में उत्पन्न हुए; जनार्दने—भगवान् कृष्ण में; दम्-पत्योः—पति-पत्नी दोनों का; नितराम्—निरन्तर; आसीत्—था; गोप-गोपीषु—गोप तथा गोपियाँ, जो वृन्दावन के वासी तथा नन्द महाराज तथा यशोदा के सान्निध्य में थे; भारत—हे महाराज परीक्षित।

हे भारत श्रेष्ठ महाराज परीक्षित, तत्पश्चात् जब भगवान् कृष्ण नन्द महाराज तथा यशोदा के पुत्र बने तो उन दोनों ने निरन्तर, अचल दिव्य वात्सल्य-प्रेम बनाये रखा तथा उनके सान्निध्य में वृन्दावन के अन्य सभी निवासी, गोप तथा गोपियों ने कृष्ण-भक्ति-संस्कृति का विकास किया।

तात्पर्य : यद्यपि पड़ोसी गोपों तथा गोपियों के यहाँ से कृष्ण द्वारा मक्खन, दही, दूध का चुराना ऊपर ऊपर से दुखदायी प्रतीत होता था किन्तु वस्तुतः यह भक्तिभाव में स्नेह का आदान-प्रदान था। गोप तथा गोपियाँ भगवान् के साथ जितना ही अधिक स्नेह-विनिमय करतीं उनकी भक्ति उतनी ही बढ़ती जाती। कभी कभी हम बाहरी तौर से देखते हैं कि भक्ति में लगा हुआ होने के कारण भक्त कष्ट में रहता है किन्तु तथ्य इससे भिन्न होता है। जब भक्त कृष्ण के लिए कष्ट उठाता है, तो यह कष्ट दिव्य आनन्द होता है। इसे भक्त बने बिना नहीं समझा जा सकता। जब कृष्ण अपनी बाल-लीला प्रकट करते तो न केवल नन्द महाराज तथा माता यशोदा की भक्ति बढ़ती अपितु उनके साथ रहने वालों में भी

भक्ति बढ़ती। दूसरे शब्दों में, जो लोग वृन्दावन के कार्यकलापों का अनुसरण करते हैं, वे सर्वोच्च सिद्धि में भक्ति भी विकसित करेंगे।

कृष्णो ब्रह्मण आदेशं सत्यं कर्तुं व्रजे विभुः ।
सहरामो वसंश्चक्रे तेषां प्रीतिं स्वलीलया ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

कृष्णः—भगवान् कृष्ण ने; ब्रह्मणः—ब्रह्माजी का; आदेशम्—आदेश; सत्यम्—सच; कर्तुम्—बनाने के लिए; व्रजे—व्रजभूमि वृन्दावन में; विभुः—परम शक्तिशाली; सह-रामः—बलराम के साथ; वसन्—निवास करते हुए; चक्रे—बढ़ाया; तेषाम्—वृन्दावनवासियों का; प्रीतिम्—आनन्द; स्व-लीलया—अपनी दिव्य लीलाओं से।

इस तरह ब्रह्मा के वर को सत्य करने के लिए भगवान् कृष्ण बलराम समेत व्रजभूमि वृन्दावन में रहे। उन्होंने विभिन्न बाल-लीलाएँ प्रदर्शित करते हुए नन्द तथा वृन्दावन के अन्य वासियों के दिव्य आनन्द को वर्धित किया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''कृष्ण द्वारा अपने मुख के भीतर विराट रूप का प्रदर्शन'' नामक आठवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter नौ

माता यशोदा द्वारा कृष्ण का बाँधा जाना

माता यशोदा कृष्ण को स्तन-पान करा रहीं थीं किन्तु उन्होंने देखा कि आग के ऊपर दूध उबल रहा है। चूँकि दासियाँ अन्य कार्य में व्यस्त थीं, अत: दूध पिलाना बन्द करके माता यशोदा तुरन्त बाहर गिरते हुए दूध के पास गईं। इस पर कृष्ण क्रुद्ध हो गये और उन्होंने दही की मटकी तोड़ने का उपाय निकाला। जब कृष्ण ने यह उत्पात मचाया तो यशोदा ने उन्हें बाँधना चाहा। इस अध्याय में इन्हीं घटनाओं का वर्णन किया गया है।

एक दिन, जब दासियाँ कुछ अन्य काम कर रही थीं तब माता यशोदा दही मथ कर मक्खन निकाल रही थीं। तभी कृष्ण वहाँ आये और अपनी माता को स्तन-पान कराने के लिए आग्रह किया। माता ने तुरन्त दूध पिलाना शुरू तो कर दिया किन्तु जब उन्होंने देखा कि आग के ऊपर रखा दूध उफनकर बाहर गिर रहा है, तो तुरन्त कृष्ण को दूध पिलाना बन्द करके दूध को गिरने से बचाने के लिए चली गईं। दूध पीना बन्द हो जाने से कृष्ण बहुत क्रुद्ध हुए। उन्होंने एक कंकड़ उठाया, मटकी

तोड़ डाली और कमरे में घुस कर ताजा मक्खन खाने लगे। जब माता यशोदा उफनते दूध को सँभालने के पश्चात् लौटीं और उन्होंने देखा कि मटकी टूट गई है, तो उन्हें समझते देर न लगी कि यह तो कृष्ण की करतूत है। अत: वे उन्हें खोजने लगीं। जब वे कमरे में घुसीं तो देखा कि कृष्ण *उलूखल* (ओखली) के ऊपर खड़े हैं। वे ओखली को उलटा खड़ा करके छींके से टँगा मक्खन निकाल निकाल कर बन्दरों को बाँटते जा रहे थे। ज्योंही कृष्ण ने माता को आते देखा वे तुरन्त भागने लगे और माता यशोदा उनका पीछा करने लगीं। थोड़ी दूर जाकर यशोदा कृष्ण को पकड़ पाईं तो वे अपने अपराध के कारण रोने लगे। माता यशोदा ने डराया-धमकाया कि यदि ऐसा फिर से किया, तो वे उसे दण्ड देंगीं। फिर उन्होंने कृष्ण को रस्सी से बाँधने का निश्चय किया। दुर्भाग्यवश जब रस्सी में गाँठ लगाने का समय आया तो बाँधने वाली रस्सी दो अंगुल छोटी पड़ गई। इस पर उन्होंने दूसरी रस्सी उसमें जोड़ दी किन्तु वह भी दो अंगुल छोटी पड़ गई। उन्होंने बारम्बार गाँठ लगाने का प्रयास किया किन्तु रस्सी हर बार छोटी पड़ती रही। जब वे थक गईं और कृष्ण ने अपनी स्नेहमयी माता को काफी थका देखा तो उन्होंने अपने को रस्सी से बँधवा लिया। दयावश उन्होंने अपनी असीम शक्ति उन्हें नहीं दिखलाई। जब यशोदा ने कृष्ण को बाँध दिया और पुन: किसी घरेलू काम में लग गईं, तब कृष्ण ने दो यमल-अर्जुन वृक्ष देखे जो वास्तव में कुवेर के पुत्र नलकूवर तथा मणिग्रीव थे किन्तु नारद मुनि के शाप से वृक्ष बन गये थे। अब कृष्ण दयावश इन दोनों वृक्षों की ओर बढ़े जिससे नारदमुनि की इच्छा पूरी हो सके।

श्रीशुक उवाच

एकदा गृहदासीषु यशोदा नन्दगेहिनी ।
कर्मान्तरनियुक्तासु निर्ममन्थ स्वयं दधि ॥ १ ॥
यानि यानीह गीतानि तद्बालचरितानि च ।
दधिनिर्मन्थने काले स्मरन्ती तान्यगायत ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एकदा—एक दिन; गृह-दासीषु—जब घर की नौकरानियाँ काम में लगी हुई थीं; यशोदा—माता यशोदा; नन्द-गेहिनी—नन्द महाराज की रानी; कर्म-अन्तर—अन्य कामकाजों में; नियुक्तासु—लगी हुई; निर्ममन्थ—मथने लगी; स्वयम्—स्वयं, खुद; दधि—दही; यानि—जो; यानि—जो; इह—इस सम्बन्ध में; गीतानि—गीत; तत्-बाल-चरितानि—जिसमें अपने बालक के कार्यकलापों का वर्णन था; च—तथा; दधि-निर्मन्थने—दही मथने के; काले—समय; स्मरन्ती—स्मरण करती; तानि—उन्हें; अगायत—गाने लगीं।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा: एक दिन जब माता यशोदा ने देखा कि सारी नौकरानियाँ अन्य घरेलू कामकाजों में व्यस्त हैं, तो वे स्वयं दही मथने लगीं। दही मथते समय

उन्होंने कृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं का स्मरण किया और स्वयं उन क्रीड़ाओं के विषय में गीत बनाते हुए उन्हें गुनगुनाकर आनन्द लेने लगीं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर श्रील सनातन गोस्वामी कृत *वैष्णव तोषणी* से उद्धरण देते हुए कहते हैं कि कृष्ण द्वारा दही की मटकी तोड़ना और माता यशोदा द्वारा उनका बाँधा जाना दीपावली या दीपमालिका के दिन घटित हुआ। आज भी भारत में विशेषतया मुम्बई में यह त्यौहार बड़ी ही धूमधाम से कार्तिक के महीने में फुलझड़ियों तथा दीपों को जलाकर मनाया जाता है। यह माना जाता है कि नन्द महाराज की सारी गायों में से माता यशोदा की कुछ गौवें ऐसी सुगन्धित घासें खाती थीं जिससे उनका दूध भी सुगन्धित हो जाता था। माता यशोदा इन्हीं गायों का दूध एकत्र करके दही बनाकर स्वयं मक्खन निकालना चाहती थीं क्योंकि उन्होंने सोचा कि यह बालक कृष्ण पड़ोसी गोपों तथा गोपियों के घरों में जाकर मक्खन चुराता है क्योंकि उसे दूध तथा सामान्य रीति से तैयार किया गया दही अच्छा नहीं लगता था।

दही मथते समय माता यशोदा कृष्ण की बाल-लीलाओं के विषय में गीत गाते जा रही थीं। पुराने जमाने में यह प्रथा थी कि यदि कोई किसी बात को लगातार स्मरण रखना चाहता है, तो वह या तो उसे स्वयं कविता में ढाल दे या पेशेवर कवि से ऐसा करवा ले। ऐसा लगता है कि माता यशोदा कृष्ण की लीलाओं को किसी भी समय भूलना नहीं चाहती थीं। इसलिए उन्होंने कृष्ण के बाल्यकाल की सारी क्रीड़ाओं को—यथा पूतना, अघासुर, शकटासुर तथा तृणावर्त वध को—कविता में ढाल लिया था और दही मथते समय वे कवित्व-मय गीतों को गाती रहती थीं। जो लोग चौबीसों घंटे कृष्णभावनाभावित रहना चाहते हैं उन्हें ऐसा ही करना चाहिए। यह घटना बतलाती है कि यशोदा कितनी अधिक कृष्णभावनाभावित थीं। कृष्णभावनामृत में रहने के लिए ऐसे ही व्यक्तियों का अनुसरण किया जाना चाहिए।

क्षौमं वासः पृथुकटितटे बिभ्रती सूत्रनद्धं
पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं जातकम्पं च सुभ्रूः ।
रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत्कङ्कणौ कुण्डले च
स्विन्नं वक्त्रं कबरविगलन्मालती निर्ममन्थ ॥ ३॥

शब्दार्थ

क्षौमम्—केसरिया तथा पीला मिश्रित; वासः—माता यशोदा की साड़ी; पृथु-कटि-तटे—चौड़ी कमर के चारों ओर; बिभ्रती—हिलती हुई; सूत्र-नद्धम्—पेटी से बँधी; पुत्र-स्नेह-स्नुत—प्रगाढ़ पुत्र-प्रेम के कारण दूध से तर; कुच-युगम्—उसके दोनों स्तन; जात-कम्पम् च—क्योंकि वे सुन्दर ढंग से हिल-डुल रहे थे; सु-भ्रूः—सुन्दर भौंहों वाली; रज्जु-आकर्ष—मथानी की रस्सी को खींचने से; श्रम—परिश्रम के कारण; भुज—हाथों पर; चलत्-कङ्कणौ—हिलते हुए दोनों कड़े; कुण्डले—कान के दोनों कुण्डल; च—भी; स्विन्नम्—बादल जैसे काले बालों से वर्षा की तरह चूता हुआ पसीना; वक्त्रम्—पूरे मुखमण्डल में; कबर-विगलत्-मालती—उसके बालों से मालती के फूल गिर रहे थे; निर्ममन्थ—माता यशोदा दही मथ रही थीं।.

केसरिया-पीली साड़ी पहने, अपनी स्थूल कमर में करधनी बाँधे, माता यशोदा मथानी की रस्सी खींचने में काफी परिश्रम कर रही थीं, उनकी चूड़ियाँ तथा कान के कुण्डल हिल-डुल रहे थे और उनका पूरा शरीर हिल रहा था। अपने पुत्र के प्रति प्रगाढ़ प्रेम के कारण उनके स्तन दूध से गीले थे। उनकी भौंहें अत्यन्त सुन्दर थीं और उनका मुखमण्डल पसीने से तर था। उनके बालों से मालती के फूल गिर रहे थे।

तात्पर्य : जो कोई मातृ या पितृ-स्नेह में कृष्णभावनाभावित होने का इच्छुक हो उसे माता यशोदा के शारीरिक स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए। हाँ, उसे यशोदा जैसा बनने की कामना नहीं करनी चाहिए क्योंकि ऐसा करना मायावाद है। हमें वात्सल्य-प्रेम या माधुर्य-प्रेम, सख्य या दास्य—किसी रूप में वृन्दावनवासियों के पदचिह्नों का अनुसरण करना चाहिए, उनके समान बनने का प्रयास नहीं करना चाहिये। इसीलिए यह विवरण यहाँ दिया गया है। उन्नत हो चुके भक्तों को इस वर्णन का स्मरण करना चाहिए और सदैव माता यशोदा के स्वरूप का, कि वे क्या पहने थीं, कैसे काम कर रही थीं तो पसीना निकल रहा था, किस तरह फूलों से उनके बाल सजे थे आदि आदि का चिन्तन करना चाहिए। कृष्ण के लिए मातृ-स्नेह में माता यशोदा का चिन्तन करते हुए इस विवरण का लाभ उठाना चाहिए।

तां स्तन्यकाम आसाद्य मथ्नन्तीं जननीं हरिः ।
गृहीत्वा दधिमन्थानं न्यषेधत्प्रीतिमावहन् ॥ ४॥

शब्दार्थ

ताम्—माता यशोदा को; स्तन्य-कामः—स्तन-पान के अभिलाषी कृष्ण; आसाद्य—उनके समक्ष प्रकट होकर; मथ्नन्तीम्—मथती हुई; जननीम्—माता को; हरिः—कृष्ण ने; गृहीत्वा—पकड़ कर; दधि-मन्थानम्—मथानी; न्यषेधत्—मना किया, रोक दिया; प्रीतिम् आवहन्—प्रेम की परिस्थिति उत्पन्न करते हुए।.

जब यशोदा दही मथ रही थीं तो उनका स्तन-पान करने की इच्छा से कृष्ण उनके सामने प्रकट हुए और उनके दिव्य आनन्द को बढ़ाने के लिए उन्होंने मथानी पकड़ ली और दही मथने से उन्हें रोकने लगे।

तात्पर्य : कृष्ण कमरे के भीतर सो रहे थे और ज्योंही वे जगे तो उन्हें भूख लगी अत: वे अपनी

माता के पास गये। उन्होंने माता को दही मथने से रोकने तथा उनका स्तन-पान करने के लिए उन्हें मथानी चलाने से रोका।

तमङ्कमारूढमपाययत्स्तनं
स्नेहस्नुतं सस्मितमीक्षती मुखम् ।
अतृप्तमुत्सृज्य जवेन सा यया-
वुत्सिच्यमाने पयसि त्वधिश्रिते ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तम्—कृष्ण को; अङ्कम् आरूढम्—बड़े ही स्नेह से उन्हें अपनी गोद में बैठाकर; अपाययत्—पिलाया; स्तनम्—अपना स्तन; स्नेह-स्नुतम्—अगाध स्नेह के कारण दूध बहता हुआ; स-स्मितम् ईक्षती मुखम्—यशोदा ने हँसते हुए एवं कृष्ण के हँसते मुख को देखते हुए; अतृप्तम्—माता का दूध पीकर भी अतृप्त थे; उत्सृज्य—एक तरफ बैठाकर; जवेन—जल्दी में; सा—माता यशोदा ने; ययौ—वह स्थान छोड़ दिया; उत्सिच्यमाने पयसि—दूध बहते देखकर; तु—लेकिन; अधिश्रिते—आग पर चढ़ी दुधहंडी में।.

तब माता यशोदा ने कृष्ण को सीने से लगाया, उन्हें अपनी गोद में बैठाया और बड़े स्नेह से भगवान् का मुँह देखने लगीं। अगाध स्नेह के कारण उनके स्तन से दूध बह रहा था। किन्तु जब उन्होंने देखा कि आग के ऊपर रखी कड़ाही से दूध उबल कर बाहर गिर रहा है, तो वे बच्चे को दूध पिलाना छोड़ कर उफनते दूध को बचाने के लिए तुरन्त चली गईं यद्यपि बच्चा अपनी माता के स्तनपान से अभी तृप्त नहीं हुआ था।

तात्पर्य : माता यशोदा घर का हर कामकाज कृष्ण के निमित्त था। यद्यपि कृष्ण अपनी माता का स्तन-पान कर रहे थे किन्तु जब माता ने देखा कि रसोईघर में दूध उफन रहा है, तो तुरन्त उसे सँभालने के लिए उन्हें वहाँ जाना पड़ा। इस तरह वे अपने पुत्र को छोड़ गईं जो जी भर कर स्तन-पान न कर सकने से क्रुद्ध हो गया। कभी कभी एक ही साथ एक से अधिक महत्त्वपूर्ण कार्यों को देखना पड़ता है। इसीलिए माता यशोदा अपने पुत्र को छोड़ कर यदि दूध बचाने चली गईं तो कुछ अनुचित नहीं किया। प्रेम के स्तर पर भक्त का कर्तव्य है कि पहले वह एक काम करे और तब दूसरा। जिस उचित विवेक से ऐसा किया जाना चाहिए उसे कृष्ण ने *भगवद्गीता* (.) में इस प्रकार बतलाया है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

कृष्णभावनामृत में हर वस्तु गतिशील है। भक्त का मार्गदर्शन करने वाले कृष्ण हैं कि परम सत्य के

स्तर पर क्या पहले किया जाय और क्या बाद में।

सञ्जातकोपः स्फुरितारुणाधरं
सन्दश्य दद्भिर्दधिमन्थभाजनम् ।
भित्त्वा मृषाश्रुर्दृषदश्मना रहो
जघास हैयङ्गवमन्तरं गतः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सञ्जात-कोपः—इस तरह कृष्ण अत्यन्त क्रुद्ध होकर; स्फुरित-अरुण-अधरम्—सूजे हुए लाल-लाल होंठ; सन्दश्य—काटते हुए; दद्भिः—अपने दाँतों से; दधि-मन्थ-भाजनम्—मटकी को; भित्त्वा—तोड़ते हुए; मृषा-अश्रुः—आँखों में नकली आँसू भर कर; दृषत्-अश्मना—कंकड़ से; रहः—एकान्त स्थान में; जघास—खाने लगे; हैयङ्गवम्—ताजा मक्खन; अन्तरम्—कमरे के भीतर; गतः—जाकर।

अत्यधिक क्रुद्ध होकर तथा अपने लाल-लाल होंठों को अपने दाँतों से काटते हुए और आँखों में नकली आँसू भरते हुए कृष्ण ने एक कंकड़ मार कर मटकी तोड़ दी। इसके बाद वे एक कमरे में घुस गये और एकान्त स्थान में ताजा मक्खन खाने लगे।

तात्पर्य : यह स्वाभाविक है कि जब कोई बच्चा क्रुद्ध होता है, तो वह आँखों में नकली आँसू भर कर चिल्लाने लगता है। कृष्ण ने भी वही किया और अपने लाल-लाल होंठों को अपने दाँतों से काटते हुए उन्होंने कंकड़ से मटकी तोड़ डाली और कमरे में घुस कर ताजा मक्खन खाने लगे।

उत्तार्य गोपी सुशृतं पयः पुनः
प्रविश्य संदृश्य च दध्यमत्रकम् ।
भग्नं विलोक्य स्वसुतस्य कर्म त-
ज्जहास तं चापि न तत्र पश्यती ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

उत्तार्य—अँगीठी से उतार कर; गोपी—माता यशोदा; सु-शृतम्—अत्यन्त गर्म; पयः—दूध; पुनः—फिर से; प्रविश्य—मथने के स्थान में घुस कर; संदृश्य—देख कर; च—भी; दधि-अमत्रकम्—दहेंड़ी; भग्नम्—टूटी हुई; विलोक्य—देख कर; स्व-सुतस्य—अपने बालक की; कर्म—करतूत; तत्—वह; जहास—हँसने लगीं; तम् च—कृष्ण को भी; अपि—साथ ही; न—नहीं; तत्र—वहाँ; पश्यती—ढूँढ़ती हुई।

गर्म दूध को अँगीठी से उतार कर माता यशोदा मथने के स्थान पर लौटीं और जब देखा कि मटकी टूटी पड़ी है और कृष्ण वहाँ नहीं हैं, तो वे जान गईं कि यह कृष्ण की ही करतूत है।

तात्पर्य : बिलोवनी को टूटी हुई तथा कृष्ण को अनुपस्थित देखकर यशोदा बिल्कुल समझ गईं कि मटकी फोड़ना कृष्ण की ही करतूत है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

उलूखलाङ्घ्रेरुपरि व्यवस्थितं
मर्काय कामं ददतं शिचि स्थितम् ।
हैयङ्गवं चौर्यविशङ्कितेक्षणं
निरीक्ष्य पश्चात्सुतमागमच्छनैः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

उलूखल-अङ्घ्रेः—उलटी रखी ओखली के; उपरि—ऊपर; व्यवस्थितम्—बैठे हुए कृष्ण; मर्काय—बन्दरों को; कामम्—जी-भरकर; ददतम्—बाँटते हुए; शिचि स्थितम्—छींके में रखी; हैयङ्गवम्—मक्खन तथा दूध से बनी अन्य वस्तुएँ; चौर्य-विशङ्कित—चुराने के कारण सशंकित; ईक्षणम्—जिसकी आँखें; निरीक्ष्य—इन कार्यों को देखकर; पश्चात्—पीछे से; सुतम्—अपने पुत्र को; आगमत्—आ गई; शनैः—धीरे-धीरे, सावधानी से।

कृष्ण उस समय मसाला पीसने वाली लकड़ी की ओखली को उलटा करके उस पर बैठे हुए थे और मक्खन तथा दही जैसी दूध की बनी वस्तुएँ अपनी इच्छानुसार बन्दरों को बाँट रहे थे। चोरी करने के कारण वे चिन्तित होकर चारों ओर देख रहे थे कि कहीं उनकी माता आकर उन्हें डाँटें नहीं। माता यशोदा ने उन्हें देखा तो वे पीछे से चुपके से उनके पास पहुँचीं।

तात्पर्य : माता यशोदा ने कृष्ण के मक्खन सने पदचिह्नों के सहारे उनका पता लगाया। उन्होंने देखा कि कृष्ण मक्खन चुरा रहा है, अतः वे हँसने लगीं। तभी कौवे भी कमरे के भीतर घुसे किन्तु डर के मारे बाहर निकल गये। इस तरह माता यशोदा ने कृष्ण को मक्खन चुराते तथा सहमे-सहमे इधर-उधर ताकते देखा।

तामात्तयष्टिं प्रसमीक्ष्य सत्वर-
स्ततोऽवरुह्यापससार भीतवत् ।
गोप्यन्वधावन्न यमाप योगिनां
क्षमं प्रवेष्टुं तपसेरितं मनः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ताम्—माता यशोदा को; आत्त-यष्टिम्—हाथ में छड़ी लिए; प्रसमीक्ष्य—इस मुद्रा में उन्हें देखकर कृष्ण; सत्वरः—तेजी से; ततः—वहाँ से; अवरुह्य—उतर कर; अपससार—भगने लगा; भीत-वत्—मानो डरा हुआ हो; गोपी—माता यशोदा; अन्वधावत्—उनका पीछा करने लगीं; न—नहीं; यम्—जिसको; आप—पहुँच पाने में असफल; योगिनाम्—बड़े बड़े योगियों का; क्षमम्—उन तक पहुँचने में समर्थ; प्रवेष्टुम्—ब्रह्म तेज या परमात्मा में प्रवेश करने के लिए प्रयत्नशील; तपसा—तपस्या से; ईरितम्—उस कार्य के लिए प्रयत्नशील; मनः—ध्यान से।

जब भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी माता को छड़ी लिए हुए देखा तो वे तेजी से ओखली के ऊपर से नीचे उतर आये और इस तरह भागने लगे मानो अत्यधिक भयभीत हों। जिन्हें योगीजन बड़ी बड़ी तपस्याएँ करके ब्रह्म-तेज में प्रवेश करने की इच्छा से परमात्मा के रूप में ध्यान के द्वारा पकड़ने का प्रयत्न करने पर भी उन तक नहीं पहुँच पाते उन्हीं भगवान् कृष्ण को अपना पुत्र

समझ कर पकड़ने के लिए यशोदा उनका पीछा करने लगीं।

तात्पर्य : योगीजन कृष्ण को परमात्मा रूप में पा लेना चाहते हैं और बड़ी बड़ी तपस्याओं द्वारा उन तक पहुँचना चाहते हैं किन्तु वे ऐसा कर नहीं पाते। किन्तु यहाँ हम देख रहे हैं कि कृष्ण यशोदा द्वारा पकड़े जाने वाले हैं और वे भय के मारे दूर भाग रहे हैं। इससे भक्त तथा योगी का अन्तर पता चलता है। योगी कृष्ण तक नहीं पहुँच सकता किन्तु माता यशोदा जैसे भक्तों द्वारा कृष्ण पहले से ही पकड़े हुए हैं। कृष्ण तो यशोदा जी की छड़ी तक से भयभीत थे। इसका उल्लेख महारानी कुन्ती ने अपनी स्तुति में किया है (*भागवत* १.८.३१)—*भयभावनया स्थितस्य।* कृष्ण अपनी माता यशोदा से भयभीत हैं और योगीजन कृष्ण से। योगीजन ज्ञानयोग तथा अन्य योगों द्वारा कृष्ण तक पहुँचने का प्रयास करते हैं किन्तु उन तक पहुँच नहीं पाते। माता यशोदा के स्त्री होते हुए भी कृष्ण उनसे भयभीत हैं, जैसाकि इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है।

अन्वञ्चमाना जननी बृहच्चल-
च्छ्रोणीभराक्रान्तगतिः सुमध्यमा ।
जवेन विस्रंसितकेशबन्धन
च्युतप्रसूनानुगतिः परामृशत् ॥ ॥

शब्दार्थ

अन्वञ्चमाना—तेजी से कृष्ण का पीछा करती हुई; जननी—माता यशोदा; बृहत्-चलत्-श्रोणी-भर-आक्रान्त-गतिः—अपने बड़े बड़े स्तनों के भार से बोझिल होने से वे थक गईं जिससे उनकी चाल मन्द पड़ गई; सु-मध्यमा—अपनी पतली कमर के कारण; जवेन—तेजी से जाने के कारण; विस्रंसित-केश-बन्धन—ढीले हुए केश-सज्जा से; च्युत-प्रसून-अनुगतिः—उनके पीछे पीछे फूल गिर रहे थे; परामृशत्—अन्त में कृष्ण को पकड़ ही लिया।

कृष्ण का पीछा करते हुए भारी स्तनों के भार से बोझिल पतली कमर वाली माता यशोदा को अपनी चाल मन्द करनी ही पड़ी। तेजी से कृष्ण का पीछा करने के कारण उनके बाल शिथिल पड़ गये थे और उनमें लगे फूल उनके पीछे पीछे गिर रहे थे। फिर भी वे अपने पुत्र कृष्ण को पकड़ने में सफल हुईं।

तात्पर्य : यद्यपि योगीजन कठिन तपस्या द्वारा कृष्ण को पकड़ नहीं पाते किन्तु इतने अवरोधों के बावजूद माता यशोदा अन्ततः कृष्ण को पकड़ पाने में समर्थ हो गईं। योगी तथा भक्त में यही अन्तर है। योगीजन कृष्ण के तेज तक में प्रवेश नहीं कर पाते। *यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटिकोटिषु* (*ब्रह्म-संहिता* ५.४०)। उस तेज में लाखों ब्रह्माण्ड रहते हैं किन्तु योगी तथा ज्ञानीजन अनेकानेक वर्षों तक

कठिन तपस्या करने पर भी उस तेज में प्रविष्ट नहीं हो पाते जबकि भक्तजन मात्र प्रेम तथा स्नेह द्वारा कृष्ण को बन्दी बना सकते हैं। माता यशोदा यहाँ ऐसा ही उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। अत: कृष्ण इसकी पुष्टि करते हैं कि जो उन्हें पकड़ना चाहता है उसे भक्ति करनी चाहिए।

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वत: ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

(*भगवद्गीता* १८.५५)

भक्तजन तो कृष्ण-लोक में भी आसानी से प्रवेश कर जाते हैं किन्तु अल्पज्ञ योगी तथा ज्ञानीजन अपने ध्यान के द्वारा कृष्ण के पीछे पीछे दौड़ते रहते हैं। यदि वे कृष्ण तेज में प्रवेश भी करते हैं, तो भी नीचे गिर पड़ते हैं।

कृतागसं तं प्ररुदन्तमक्षिणी
कषन्तमञ्जन्मषिणी स्वपाणिना ।
उद्वीक्षमाणं भयविह्वलेक्षणं
हस्ते गृहीत्वा भिषयन्त्यवागुरत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

कृत-आगसम्—अपराधी; तम्—कृष्ण को; प्ररुदन्तम्—रोते हुए; अक्षिणी—उनकी आँखें; कषन्तम्—मलते हुए; अञ्जत्-मषिणी—जिसकी आँखों में लगा काजल आँसुओं के साथ सारे मुँह में फैल गया; स्व-पाणिना—अपने हाथ से; उद्वीक्षमाणम्—जो माता यशोदा द्वारा इस मुद्रा में देखे गये; भय-विह्वल-ईक्षणम्—अपनी माता के भय से जिसकी आँखें भयभीत दिखाई दीं; हस्ते—हाथ से; गृहीत्वा—पकड़ कर; भिषयन्ती—धमकाती हुई; अवागुरत्—बहुत धीमे से डाँटा।

माता यशोदा द्वारा पकड़े जाने पर कृष्ण और अधिक डर गये और उन्होंने अपनी गलती स्वीकार कर ली। ज्योंही माता यशोदा ने कृष्ण पर दृष्टि डाली तो देखा कि वे रो रहे थे। उनके आँसू आँखों के काजल से मिल गये और हाथों से आँखें मलने के कारण उनके पूरे मुखमण्डल में वह काजल पुत गया। माता यशोदा ने अपने सलोने पुत्र का हाथ पकड़ते हुए धीरे से डाँटना शुरू किया।

तात्पर्य : माता यशोदा तथा कृष्ण के इन व्यवहारों से हम भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगे शुद्ध भक्त की उच्च स्थिति को समझ सकते हैं। योगी, ज्ञानी, कर्मी तथा वेदान्तीजन कृष्ण के पास फटक भी नहीं पाते, उन्हें उनसे बहुत दूर दूर रह कर उनके शारीरिक तेज में प्रवेश करने का प्रयास करना होता है। किन्तु वे ऐसा भी कर पाने में असमर्थ रहते हैं। ब्रह्माजी तथा शिवजी जैसे बड़े बड़े देवता हमेशा ध्यान

तथा सेवा द्वारा भगवान् की पूजा करते हैं। यहाँ तक कि सर्वाधिक शक्तिशाली यमराज भी कृष्ण से डरता है। अत:, जैसाकि अजामिल की कथा से ज्ञात है कि यमराज ने अपने सेवकों को भक्तों के पास तक न फटकने का आदेश दिया, उन्हें पकड़ने की बात तो दूर रही। दूसरे शब्दों में, यमराज भी कृष्ण तथा कृष्ण–भक्तों से डरता है। फिर भी वही कृष्ण अपनी माता यशोदा पर इतने आश्रित हो गये कि उनके हाथ में सोटी देखकर उन्होंने अपने को अपराधी मान लिया और सामान्य बालक की तरह रोने लगे। माता यशोदा अपने प्रिय पुत्र को अधिक डाँटना भी नहीं चाह रही थीं अतएव तुरन्त ही छड़ी फेंकते हुए उन्होंने केवल इतना ही डाँटा, "अब मैं तुम्हें बाँध दूँगी जिससे तुम और उपद्रव न कर सको। न ही तुम अपने संगियों के साथ कुछ समय के लिए खेल पाओ।" इससे ज्ञानियों, योगियों तथा वैदिक अनुष्ठान के अनुयायियों से विपरीत शुद्ध भक्त की परम सत्य में दिव्य स्थिति प्रदर्शित होती है।

त्यक्त्वा यष्टिं सुतं भीतं विज्ञायार्भकवत्सला ।
इयेष किल तं बद्धुं दाम्नातद्वीर्यकोविदा ॥ १२॥

शब्दार्थ

त्यक्त्वा—फेंकते हुए; यष्टिम्—अपने हाथ की छड़ी (सोटी) को; सुतम्—पुत्र को; भीतम्—अपने पुत्र के भय पर विचार करते हुए; विज्ञाय—समझते हुए; अर्भक-वत्सला—कृष्ण की स्नेहमयी माता ने; इयेष—इच्छा की; किल—निश्चय ही; तम्—उसको; बद्धुम्—बाँधने के लिए; दाम्ना—रस्सी से; अ-तत्-वीर्य-कोविदा—अत्यन्त शक्तिमान भगवान् को जाने बिना (कृष्ण के तीव्र प्रेम के कारण)।

यह जाने बिना कि कृष्ण कौन हैं या वे कितने शक्तिमान हैं, माता यशोदा कृष्ण के अगाध प्रेम में सदैव विह्वल रहती थीं। कृष्ण के लिए मातृ-स्नेह के कारण उन्हें इतना तक जानने की परवाह नहीं रहती थी कि कृष्ण हैं कौन? अतएव जब उन्होंने देखा कि उनका पुत्र अत्यधिक डर गया है, तो अपने हाथ से छड़ी फेंक कर उन्होंने उसे बाँधना चाहा जिससे और आगे उद्दण्डता न कर सके।

तात्पर्य : माता यशोदा कृष्ण को इसलिए नहीं बाँधना चाहती थीं कि वे उन्हें डाँटें अपितु इस भय से कि इतना नटखट होने से यह बालक डर कर कहीं घर न छोड़ दे। तब यह दूसरा ही उत्पात होगा। अत: स्नेह से पूरित होने और कृष्ण को घर छोड़ने से रोकने के लिए उन्होंने उसे रस्सी से बाँधना चाहा। माता यशोदा कृष्ण को बता देना चाहती थीं कि यदि वह उनकी छड़ी देखने मात्र से इतना भयभीत है, तो उसे दही तथा मक्खन के पात्र तोड़ने और उनमें रखी वस्तुओं को बन्दरों में बाँटने जैसे

ऊधम नहीं करना चाहिए। माता यशोदा ने यह समझने की परवाह ही नहीं की कि कृष्ण कौन हैं और उनकी शक्ति किस तरह सर्वत्र फैलती है। कृष्ण के प्रति शुद्ध प्रेम का यह एक उदाहरण है।

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् ।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः ॥ १३ ॥
तं मत्वात्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम् ।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; च—भी; अन्तः—भीतरी; न—न तो; बहिः—बाह्य; यस्य—जिसका; न—न तो; पूर्वम्—आदि; न—न; अपि—निस्सन्देह; च—भी; अपरम्—अन्त; पूर्व-अपरम्—आदि तथा अन्त; बहिः च अन्तः—बाहरी तथा भीतरी; जगतः—सम्पूर्ण विश्व का; यः—जो है; जगत् च यः—तथा जो समग्र सृष्टि में सर्वस्व है; तम्—उसको; मत्वा—मान कर; आत्मजम्—अपना पुत्र; अव्यक्तम्—अव्यक्त; मर्त्य-लिङ्गम्—मनुष्य रूप में प्रकट; अधोक्षजम्—इन्द्रिय बोध से परे; गोपिका—यशोदा ने; उलूखले—ओखली में; दाम्ना—रस्सी से; बबन्ध—बाँध दिया; प्राकृतम् यथा—जैसे सामान्य मानवी बालक के साथ किया जाता है।.

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का न आदि है, न अन्त, न बाह्य है न भीतर, न आगा है न पीछा। दूसरे शब्दों में, वे सर्वव्यापी हैं। चूँकि वे काल तत्त्व के वशीभूत नहीं हैं अतएव उनके लिए भूत, वर्तमान तथा भविष्य में कोई अन्तर नहीं है। वे सदा-सर्वदा अपने दिव्य स्वरूप में रहते हैं। सर्वोपरि तथा परम होने के कारण सभी वस्तुओं के कारण-कार्य होते हुए भी वे कारण-कार्य के अन्तरों से मुक्त रहते हैं। वही अव्यक्त पुरुष, जो इन्द्रियातीत हैं, अब मानवीय बालक के रूप में प्रकट हुए थे और माता यशोदा ने उन्हें सामान्यसा अपना ही बालक समझ कर रस्सी के द्वारा ओखली से बाँध दिया।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (.१२) में कृष्ण को पर ब्रह्म कहा गया है (*परं ब्रह्म परं धाम*)। *ब्रह्म* शब्द का अर्थ है ''सबसे बड़ा।'' कृष्ण महानतम से भी महान् हैं क्योंकि वे असीम तथा सर्वव्यापक हैं। अत: ऐसे सर्वव्यापक को किस तरह मापा या बाँधा जा सकता है? यही नहीं, कृष्ण साक्षात् काल हैं। अतएव वे न केवल देश में अपितु काल में भी सर्वव्याप्त हैं। काल की भी माप है और हम भूत, वर्तमान तथा भविष्य द्वारा सीमित हैं किन्तु कृष्ण के लिए ऐसा कुछ नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति की माप हो सकती है किन्तु कृष्ण पहले ही प्रदर्शित कर चुके हैं कि व्यक्ति होकर भी वे अपने मुख के भीतर सम्पूर्ण विश्व को समाहित कर सकते हैं। इन सब बातों पर विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि कृष्ण को मापा नहीं जा सकता। तो फिर यशोदा ने किस तरह उन्हें मापना और बाँधना चाहा? हमें यह

निष्कर्ष निकालना होगा कि यह सब दिव्य शुद्ध प्रेम के स्तर पर हुआ। यही एकमात्र कारण था।

अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्

आद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च।

वेदेषु दुर्लभमदुर्लभमात्मभक्तौ

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

(*ब्रह्म-संहिता* ५.३३)

सारी वस्तुएँ अद्वैत हैं क्योंकि कृष्ण ही सभी वस्तुओं के परम कारण हैं। वैदिक ज्ञान द्वारा न तो कृष्ण की माप की जा सकती है, न गणना (*वेदेषु दुर्लभम्*)। वे एकमात्र भक्तों को उपलब्ध होते हैं (*अदुर्लभमात्मभक्तौ*)। भक्त ही उन्हें सँभाल सकते हैं क्योंकि वे प्रेमाभक्ति के आधार पर कर्म करते हैं (*भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वत:*)। इसीलिए माता यशोदा उन्हें बाँधना चाह रही थीं।

तद्दाम बध्यमानस्य स्वार्भकस्य कृतागसः ।
द्व्यङ्गुलोनमभूत्तेन सन्दधेऽन्यच्च गोपिका ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तत् दाम—बाँधने की वह रस्सी; बध्यमानस्य—माता यशोदा द्वारा बाँधा जाने वाला; स्व-अर्भकस्य—अपने पुत्र का; कृत-आगस:—अपराध करने वाले; द्वि-अङ्गुल—दो अंगुल; ऊनम्—छोटी, कम; अभूत्—हो गई; तेन—उस रस्सी से; सन्दधे—जोड़ दिया; अन्यत् च—दूसरी रस्सी; गोपिका—माता यशोदा ने।

जब माता यशोदा उत्पाती बालक को बाँधने का प्रयास कर रही थीं तो उन्होंने देखा कि बाँधने की रस्सी दो अंगुल छोटी पड़ रही थी। अत: उसमें जोड़ने के लिए वे दूसरी रस्सी ले आईं।

तात्पर्य : कृष्ण द्वारा माता यशोदा को अपनी अनन्त शक्ति प्रदर्शित करने का यह पहली शुरुआत है, जब माता यशोदा कृष्ण को बाँधने का प्रयास कर रही थीं तो रस्सी छोटी पड़ गई। वे पहले ही पूतना, शकटासुर तथा तृणावर्त का वध करके अपनी असीम शक्ति का प्रदर्शन कर चुके थे। अब कृष्ण अपनी माता यशोदा को अन्य *विभूति* या शक्ति का प्रदर्शन दिखला रहे थे। वे यह दिखला देना चाहते थे कि "जब तक मैं नहीं चाहूँगा आप मुझे बाँध नहीं सकतीं।" इस तरह कृष्ण को बाँधने के प्रयास में माता यशोदा ने एक के बाद दूसरी रस्सी लाकर जोड़ी किन्तु अंत तक वे असफल ही रहीं। किन्तु जब कृष्ण सहमत हो गये तो वे सफल हो गईं। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को कृष्ण से दिव्य प्रेम करना चाहिए किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह कृष्ण को वश में कर सकता है। जब कृष्ण किसी की भक्ति

से तुष्ट हो जाते हैं, तो वे सारा कार्य स्वयं कर देते हैं। *सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यद: ।* ज्यों ज्यों भक्त सेवा में आगे बढ़ता रहता है त्यों त्यों वे अपने को प्रकट करते रहते हैं। *जिह्वादौ:* यह सेवा जीभ से—कीर्तन से तथा प्रसाद प्राप्त करने से—शुरू होती है।

अत: श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियै।

सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यद: ॥

(*भक्तिरसामृत सिन्धु* १.२.२३४)

यदासीत्तदपि न्यूनं तेनान्यदपि सन्दधे ।
तदपि द्व्यङ्गुलं न्यूनं यद्यदादत्त बन्धनम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; आसीत्—हो गया; तत् अपि—नई रस्सी जोड़ने पर भी; न्यूनम्—तब भी छोटी; तेन—तब दूसरी रस्सी से; अन्यत् अपि—और दूसरी रस्सी भी; सन्दधे—जोड़ी; तत् अपि—वह भी; द्वि-अङ्गुलम्—दो अंगुल; न्यूनम्—छोटी होती जाती; यत् यत् आदत्त—इस तरह उन्होंने एक के बाद एक जितनी भी रस्सियाँ जोड़ीं; बन्धनम्—कृष्ण को बाँधने के लिए।

यह नई रस्सी भी दो अंगुल छोटी पड़ गई और जब इसमें दूसरी रस्सी लाकर जोड़ दी गई तब भी वह दो अंगुल छोटी ही पड़ी। उन्होंने जितनी भी रस्सियाँ जोड़ीं, वे व्यर्थ गईं—वे छोटी की छोटी पड़ती गईं।

एवं स्वगेहदामानि यशोदा सन्दधत्यपि ।
गोपीनां सुस्मयन्तीनां स्मयन्ती विस्मिताभवत् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; स्व-गेह-दामानि—अपने घर की सारी रस्सियाँ; यशोदा—माता यशोदा; सन्दधति अपि—जोड़ती रहने पर भी; गोपीनाम्—जब माता यशोदा की अन्य सारी बुजुर्ग गोपी सखियाँ; सु-स्मयन्तीनाम्—इस तमाशे में आनन्द ले रही थीं; स्मयन्ती—माता यशोदा भी मुसका रही थीं; विस्मिता अभवत्—वे सारी की सारी आश्चर्यचकित थीं।

इस तरह माता यशोदा ने घर-भर की सारी रस्सियों को जोड़ डाला किन्तु तब भी वे कृष्ण को बाँध न पाईं। पड़ोस की वृद्धा गोपिकाएँ, जो माता यशोदा की सखियाँ थीं मुसका रही थीं और इस तमाशे का आनन्द ले रही थीं। इसी तरह माता यशोदा श्रम करते हुए भी मुसका रही थीं। वे सभी आश्चर्यचकित थीं।

तात्पर्य : वास्तव में यह विचित्र घटना थी क्योंकि कृष्ण छोटे छोटे हाथों वाले बालक मात्र थे। उन्हें बाँधने के लिए दो फुट से अधिक लम्बी रस्सी की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए थी। घर-भर

की सारी रस्सियाँ मिल कर सैकड़ों फुट लम्बी रही होंगी फिर भी सारी रस्सियाँ मिलाकर छोटी पड़ गईं और कृष्ण बाँधे नहीं जा सके। स्वाभाविक था कि माता यशोदा तथा उनकी सखी गोपियाँ सोचतीं, "यह कैसे हो सकता है?" यह तमाशा देख कर वे सभी मुसका रही थीं। पहली रस्सी दो अंगुल कम पड़ी थी और जब इसमें दूसरी रस्सी जोड़ दी गई तो भी वह दो अंगुल छोटी पड़ गई। यदि सभी रस्सियों की छोटाई की गणना की जाय तो यह कई सौ अंगुल हो जाती है। यह निश्चय ही आश्चर्यजनक बात थी। अपनी माता तथा उनकी सखियों के सम्मुख यह कृष्ण की अचिन्त्य शक्ति का एक और प्रदर्शन था।

स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः ।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयासीत्स्वबन्धने ॥ १८॥

शब्दार्थ

स्व-मातुः—अपनी माता (यशोदादेवी) का; स्विन्न-गात्रायाः—वृथा श्रम के कारण पसीने से लथपथ शरीर; विस्रस्त—गिर रहे; कबर—उनके बालों से; स्रजः—फूल; दृष्ट्वा—देखकर; परिश्रमम्—अधिक काम करने से थकी का अनुभव करती हुई अपनी माता को; कृष्णः—भगवान् ने; कृपया—अपने भक्त तथा माता पर अहैतुकी कृपा द्वारा; आसीत्—राजी हो गये; स्व-बन्धने—अपने को बँधाने के लिए।

माता यशोदा द्वारा कठिन परिश्रम किये जाने से उनका सारा शरीर पसीने से लथपथ हो गया और उनके केशों में लगी कंघी और गूँथे हुए फूल गिरे जा रहे थे। जब बालक कृष्ण ने अपनी माता को इतना थका-हारा देखा तो वे दयार्द्र हो उठे और अपने को बँधाने के लिए राजी हो गये।

तात्पर्य : जब अंत में माता यशोदा तथा अन्य स्त्रियों ने देखा कि अनेक कंगनों तथा रत्नजटित आभूषणों से सज्जित कृष्ण को घर-भर की रस्सियों से भी नहीं बाँधा जा सका तो उन्होंने निर्णय लिया कि कृष्ण इतना भाग्यशाली है कि उसे किसी भौतिक वस्तु से बाँधा नहीं जा सकता। अतएव उन्होंने उन्हें बाँधने का विचार त्याग दिया। किन्तु कभी कभी कृष्ण अपने भक्तों से प्रतियोगिता करते हुए हारने के लिए राजी हो जाते हैं। इस तरह कृष्ण की अन्तरंगा शक्ति योगमाया काम कर गई और कृष्ण ने माता यशोदा के हाथों से बाँधा जाना स्वीकार कर लिया।

एवं सन्दर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भृत्यवश्यता ।
स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे ॥ १९॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सन्दर्शिता—प्रदर्शित किया गया; हि—निस्सन्देह; अङ्ग—हे महाराज परीक्षित; हरिणा—भगवान् द्वारा; भृत्य-वश्यता—अपने सेवक या भक्त की अधीनता स्वीकार करने का गुण; स्व-वशेन—जो केवल अपने वश में रहे; अपि—निस्सन्देह; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; यस्य—जिसके; इदम्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड; स-ईश्वरम्—शिव तथा ब्रह्मा जैसे शक्तिशाली देवताओं सहित; वशे—वश में।.

हे महाराज परीक्षित, शिवजी, ब्रह्माजी तथा इन्द्र जैसे महान् एवं उच्चस्थ देवताओं समेत यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भगवान् के वश में हैं। फिर भी भगवान् का एक दिव्य गुण यह है कि वे अपने भक्तों के वश में हो जाते हैं। यही बात इस लीला में कृष्ण द्वारा दिखलाई गई है।

तात्पर्य : कृष्ण की इस लीला को समझ पाना दुष्कर है किन्तु भक्तगण इसे समझ सकते हैं। इसीलिए कहा गया है—*दर्शयंस्तद्विदां लोक आत्मनो भक्तवश्यताम्* (भागवत .११.९)—भगवान् अपने भक्तों के वश में होने का गुण प्रदर्शित करते हैं। *ब्रह्म-संहिता* (५.३५) में कहा गया है—

एकोऽप्यसौ रचयितुं जगदण्डकोटिं

यच्छक्तिरस्ति जगदण्डचया यदन्तः।

अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

अपने एक अंश परमात्मा से भगवान् असंख्य ब्रह्माण्डों एवं उनके देवताओं को नियंत्रित करते हैं फिर भी वे अपने भक्त द्वारा नियंत्रित होने के लिए राजी हो जाते हैं। उपनिषदों में कहा गया है कि भगवान् मन से भी अधिक वेग से दौड़ सकते हैं किन्तु यहाँ हम देखते हैं कि अपनी माता द्वारा पकड़े जाने से बचने की इच्छा रखते हुए भी कृष्ण पराजित हुए और माता यशोदा द्वारा पकड़ लिये गये। *लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानम्*—कृष्ण की सेवा लाखों लक्ष्मियाँ करती हैं। फिर भी वे मक्खन की चोरी इस तरह करते हैं जैसे कि कोई भूख का मारा हो। यद्यपि सारे जीवों का नियंत्रक यमराज कृष्ण से भयभीत रहता है फिर भी कृष्ण अपनी माता की सोटी से भयभीत हैं। इन विरोधाभासों को अभक्त नहीं समझ सकता किन्तु भक्त समझ सकता है कि कृष्ण की अनन्य भक्ति कितनी बलवान है। यह इतनी बलवान् है कि कृष्ण को एक शुद्ध भक्त द्वारा नियंत्रण में रखा जा सकता है। इस *भृत्यवश्यता* का अर्थ यह नहीं है कि वे अपने दास के वश में हैं प्रत्युत वे दास के शुद्ध प्रेम के वश में रहते हैं। *भगवद्गीता* (१.२१) में कहा गया है कि कृष्ण अर्जुन के सारथी बने। अर्जुन ने उन्हें आदेश दिया—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत—हे कृष्ण! आपने मेरा सारथी बनना और मेरे आदेशों का पालन करना स्वीकार किया है। अत: मेरे रथ को दोनों सेनाओं के मध्य खड़ा करो। कृष्ण ने तुरन्त इस आदेश का पालन किया। अतएव यह तर्क दिया जा सकता है कि कृष्ण भी सदैव पूर्ण स्वतंत्र नहीं रहते। किन्तु यह तो मनुष्य का अपना *अज्ञान* है। कृष्ण सदा ही पूर्ण स्वतंत्र हैं। जब वे अपने भक्तों के वशीभूत हो जाते हैं, तो यह *आनन्दचिन्मय-रस* का प्रदर्शन होता है, जो उनके दिव्य आनन्द को बढ़ाने वाला होता है। हर व्यक्ति कृष्ण की पूजा भगवान् के रूप में करता है अतएव कभी कभी वे किसी अन्य द्वारा नियंत्रित होने की इच्छा करते हैं। ऐसा नियंत्रक एक शुद्ध भक्त के अतिरिक्त भला अन्य कोई कैसे हो सकता है?

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया ।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदात् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; इमम्—यह उच्च पद; विरिञ्चः—ब्रह्मा; न—न तो; भवः—शिव; न—न तो; श्रीः—लक्ष्मी; अपि—निस्सन्देह; अङ्ग-संश्रया—भगवान् की अर्धांगिनी होकर भी; प्रसादम्—कृपा; लेभिरे—प्राप्त किया; गोपी—माता यशोदा; यत् तत्—जो जैसा है; प्राप—प्राप्त किया; विमुक्ति-दात्—इस जगत से मुक्ति दिलाने वाले कृष्ण से।

इस भौतिक जगत से मोक्ष दिलाने वाले भगवान् की ऐसी कृपा न तो कभी ब्रह्माजी, न शिवजी, न ही भगवान् की अर्धांगिनी लक्ष्मी ही प्राप्त कर सकती हैं, जैसी माता यशोदा ने प्राप्त की।

तात्पर्य : यह माता यशोदा तथा अन्य भगवद्भक्तों का एक तुलनात्मक अध्ययन है। *चैतन्य-चरितामृत* (आदि ५.१४२) में कहा गया है—*एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य*—कृष्ण ही एकमात्र ईश्वर हैं, शेष सब उनके दास हैं। कृष्ण में *भृत्यवश्यता* अर्थात् अपने भृत्य या दास के अधीन होने का दिव्य गुण पाया जाता है। यद्यपि सभी भृत्य हैं और कृष्ण में भृत्यवश्यता का गुण पाया जाता है किन्तु माता यशोदा का पद सर्वोच्च है। ब्रह्माजी कृष्ण के *भृत्य* तथा *आदि कवि* हैं (*तेने ब्रह्म हृदा य आदि कवये*)। फिर भी उन्हें माता यशोदा जैसी कृपा प्राप्त नहीं हो पाई। शिवजी तो सर्वश्रेष्ठ वैष्णव हैं (*वैष्णवानां यथा शम्भुः*)। ब्रह्माजी तथा शिवजी की कौन कहे, भगवान् की नित्य संगिनी लक्ष्मी को भी जो सदैव उनके शरीर के साथ रहती हैं, ऐसी कृपा प्राप्त नहीं हो सकी। इसीलिए महाराज परीक्षित यह सोच कर चकित थे कि, "आखिर माता यशोदा तथा नन्द महाराज ने अपने पूर्वजन्मों में क्या किया

जिससे उन्हें कृष्ण के वत्सल माता-पिता बनने का सौभाग्य प्राप्त हो सका?''

इसी श्लोक में तीन *न* आये हैं। जब किसी बात को तीन बार कहा जाय तो समझना चाहिए कि उस पर बल दिया जा रहा है। इस श्लोक में तीन बार *न लेभिरे, न लेभिरे, न लेभिरे* आया है। फिर भी माता यशोदा को सर्वोच्च पद प्राप्त है और इसीलिए कृष्ण पूरी तरह उनके वश में हो गये हैं।

विमुक्तिदात् शब्द भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मुक्ति कई प्रकार की होती है—*सायुज्य, सालोक्य, सारूप्य, सार्ष्टि* तथा *सामीप्य*। किन्तु *विमुक्ति* का अर्थ है ''विशेष मुक्ति।'' जब कोई व्यक्ति मुक्ति पाप्त करके *प्रेमभक्ति* के पद पर होता है, तो वह *विमुक्ति* प्राप्त कहा जाता है। इसीलिए *न* शब्द आया है। *प्रेमा* के उस उच्च पद को श्री चैतन्य महाप्रभु ने *प्रेमा पुमर्थो महान्* कहा है और माता यशोदा प्रेम-व्यापार में ऐसे ही उच्च पद पर कार्य करती हैं। इसीलिए वे *नित्यसिद्ध* भक्त हैं—कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति की अंशरूप अर्थात् अपने विशेष भक्त रूपी अंशों द्वारा अपने दिव्य आनंद को भोगने की शक्ति (*आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभिः*)। ऐसे भक्त *साधनसिद्ध* नहीं होते।

नायं सुखापो भगवान्देहिनां गोपिकासुतः ।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अयम्—यह; सुख-आपः—सरलता से प्राप्य अथवा सुख का लक्ष्य; भगवान्—भगवान्; देहिनाम्—देहात्मबुद्धि को प्राप्त पुरुषों का, विशेषतया कर्मियों का; गोपिका-सुतः—माता यशोदा का पुत्र कृष्ण (वसुदेव-पुत्र होने से कृष्ण वासुदेव और यशोदा-पुत्र होने से कृष्ण कहलाते हैं); ज्ञानिनाम् च—तथा भवबन्धन से मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील ज्ञानियों का; आत्म-भूतानाम्—आत्मनिर्भर योगियों का; यथा—जैसे; भक्ति-मताम्—भक्तों का; इह—इस जगत में।

माता यशोदा के पुत्र भगवान् कृष्ण स्वतः स्फूर्त प्रेमाभक्ति में लगे भक्तों के लिए सुलभ हैं किन्तु वे मनोधर्मियों, घोर तपों द्वारा आत्म-साक्षात्कार के लिये प्रयास करने वालों अथवा शरीर को ही आत्मा मानने वालों के लिए सुलभ नहीं होते।

तात्पर्य : माता यशोदा के पुत्र रूप में कृष्ण भक्तों के लिए सरलता से उपलब्ध होते हैं किन्तु तपस्वियों, योगियों, ज्ञानियों तथा देहात्मबुद्धि वालों को नहीं। यद्यपि इन्हें कभी कभी *शान्त* भक्त कहा जाता है किन्तु असली भक्ति तो *दास्य रस* से प्रारम्भ होती है। *भगवद्गीता* (४.११) में कृष्ण कहते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

''हे पार्थ! सारे जीव जिस तरह से मेरी शरण में आते हैं मैं उन्हें उसी तरह पुरस्कृत करता हूँ। हर व्यक्ति सभी तरह से मेरे पथ का अनुसरण करता है।'' हर व्यक्ति कृष्ण को खोजता है क्योंकि वे सारे जीवात्माओं के परमात्मा हैं। हर व्यक्ति को अपना शरीर प्रिय है और वह उसकी रक्षा करना चाहता है क्योंकि वह शरीर के भीतर आत्मा रूप में रहता है और हर व्यक्ति आत्मा से प्रेम करता है क्योंकि यह आत्मा परमात्मा का अंश है। अतएव हर व्यक्ति परमात्मा के साथ अपने सम्बन्ध को पुनरुज्जीवित करके सुख की खोज में लगा हुआ है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में भगवान् कहते हैं—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—सारे वेदों के द्वारा मुझे ही जाना जाता है। इसीलिए सारे कर्मी, ज्ञानी, योगी तथा सन्त पुरुष कृष्ण की खोज करते हैं। किन्तु कृष्ण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखने वाले भक्तों के चरणचिह्नों का, विशेष रूप से वृन्दावनवासियों का, अनुसरण करते हुए मनुष्य कृष्ण के सान्निध्य के परम पद तक पहुँच सकता है। जैसाकि कहा गया है—*वृन्दावनं परित्यज्य पदमेकं न गच्छति*—कृष्ण वृन्दावन को क्षण-भर के लिए भी नहीं छोड़ते। वृन्दावनवासी—माता यशोदा, कृष्ण के मित्र तथा कृष्ण की युगल प्रेमिकाएँ—वे तरुण गोपियाँ जिनके साथ वे नाचते हैं—कृष्ण के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले हैं और यदि कोई व्यक्ति इन भक्तों के चरणचिह्नों का अनुसरण करता है, तो उसे कृष्ण अवश्य प्राप्त होते हैं। यद्यपि कृष्ण के नित्यसिद्ध अंश सदैव कृष्ण के साथ रहते हैं किन्तु यदि साधनसिद्धि में लगे लोग कृष्ण के इन नित्यसिद्ध संगियों के चरणचिह्नों का अनुसरण करते हैं, तो वे भी बिना किसी कठिनाई के कृष्ण को प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु ऐसे भी लोग हैं, जो देहात्मबुद्धि में लिप्त रहते हैं। उदाहरणार्थ, ब्रह्माजी तथा शिवजी को अत्यन्त प्रतिष्ठित पद प्राप्त हैं और इस तरह वे परम पूज्य ईश्वर हैं। दूसरे शब्दों में, ब्रह्माजी तथा शिवजी *गुण अवतार* होने तथा उच्च पद प्राप्त होने से अपने को कुछ कुछ कृष्ण जैसा अनुभव करते हैं, किन्तु वृन्दावन में रहने वाले शुद्ध भक्तों में देहात्मबुद्धि नहीं रहती। वे भगवान् की शुद्ध प्रेमाभक्ति में समर्पित रहते हैं। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने संस्तुति की है कि *प्रेमा पुमर्थो महान्*—जीवन की सर्वोच्च सिद्धि *प्रेमा* अर्थात् कृष्ण के प्रति शुद्ध प्रेम है। और माता यशोदा उन सर्वोच्च भक्तों में से हैं जिन्होंने यह सिद्धि प्राप्त कर ली है।

कृष्णस्तु गृहकृत्येषु व्यग्रायां मातरि प्रभुः ।
अद्राक्षीदर्जुनौ पूर्वं गुह्यकौ धनदात्मजौ ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

कृष्णः तु—इस बीच; गृह-कृत्येषु—गृहकार्य में लगी; व्यग्रायाम्—अत्यन्त व्यस्त; मातरि—जब उनकी माता; प्रभुः—भगवान्; अद्राक्षीत्—देखा; अर्जुनौ—यमल अर्जुन वृक्ष; पूर्वम्—उसके पूर्व; गुह्यकौ—जो पूर्वजन्म में देवता थे; धनद-आत्मजौ—देवताओं के कोषाध्यक्ष कुवेर के पुत्र।

जब माता यशोदा घरेलू कार्यों में अत्यधिक व्यस्त थीं तभी भगवान् कृष्ण ने दो जुड़वाँ वृक्ष देखे, जिन्हें यमलार्जुन कहा जाता था। ये पूर्व युग में कुवेर के देव-पुत्र थे।

पुरा नारदशापेन वृक्षतां प्रापितौ मदात् ।
नलकूवरमणिग्रीवाविति ख्यातौ श्रियान्वितौ ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

पुरा—पूर्वकाल में; नारद-शापेन—नारदमुनि के शाप द्वारा; वृक्षताम्—वृक्षों का रूप; प्रापितौ—प्राप्त किया; मदात्—पागलपन के कारण; नलकूवर—इनमें एक नलकूवर था; मणिग्रीवौ—दूसरा मणिग्रीव था; इति—इस प्रकार; ख्यातौ—विख्यात; श्रिया अन्वितौ—अत्यन्त ऐश्वर्यवान्।

पूर्वजन्म में नलकूवर तथा मणिग्रीव नामक ये दोनों पुत्र अत्यन्त ऐश्वर्यवान तथा भाग्यशाली थे। किन्तु गर्व तथा मिथ्या प्रतिष्ठा के कारण उन्होंने किसी की परवाह नहीं की इसलिए नारदमुनि ने उन्हें वृक्ष बन जाने का शाप दे डाला।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''माता यशोदा द्वारा कृष्ण का बाँधा जाना'' नामक नवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दस

यमलार्जुन वृक्षों का उद्धार

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस प्रकार कृष्ण ने यमलार्जुन वृक्षों को गिरा दिया जिनसे नलकूवर तथा मणिग्रीव नामक कुवेर के दो पुत्र प्रकट हुए।

नलकूवर तथा मणिग्रीव शिवजी के महान् भक्त थे किन्तु भौतिक ऐश्वर्य के कारण वे इतने बहुव्ययी तथा विवेकहीन हो गये कि एक दिन वे सरोवर में नग्न युवतियों के साथ किलोलें कर रहे थे और निर्लज्जतापूर्वक इधर-उधर विचरण करने लगे। सहसा नारदमुनि उधर से निकले किन्तु वे दोनों अपने ऐश्वर्य और मिथ्या प्रतिष्ठा से इतने मदान्ध हो चुके थे कि नारदमुनि को देखकर भी वे नंगे ही रहे और तनिक भी नहीं लजाये। दूसरे शब्दों में, वे ऐश्वर्य तथा झूठी प्रतिष्ठा के कारण सामान्य शिष्टाचार भी

भूल गये। वस्तुत: भौतिक गुणों की प्रकृति ही ऐसी होती है कि जब मनुष्य धन और प्रतिष्ठा की दृष्टि से अत्यन्त ऐश्वर्यवान हो जाता है, तब वह शिष्टाचार भूल जाता है और नारदमुनि जैसे मुनियों की भी परवाह नहीं करता। ऐसे मोहग्रस्त व्यक्तियों के लिए (*अहंकार विमूढात्मा*), विशेष रूप से जो भक्तों का उपहास करते हैं, उचित दण्ड यही है कि वे फिर से दरिद्र बन जाँय। वैदिक विधि-विधान बतलाते हैं कि किस प्रकार यम, नियम इत्यादि के अभ्यास से मिथ्या प्रतिष्ठा के भाव पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता है (*तपसा ब्रह्मचर्येण शमेन च दमेन च*)। एक निर्धन व्यक्ति को आसानी से आश्वस्त किया जा सकता है कि इस भौतिक जगत में ऐश्वर्यशाली पद क्षणिक होता है किन्तु धनी व्यक्ति को नहीं। अत: नारदमुनि ने इन दोनों व्यक्तियों—नलकूवर तथा मणिग्रीव—को वृक्षों की तरह अचेतन बनने का शाप देकर एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया। यह बहुत ही उपयुक्त दण्ड था। किन्तु कृष्ण अतीव कृपालु हैं। अत: दण्डित होने पर भी दोनों भाई इतने भाग्यशाली निकले कि उन्हें भगवान् का साक्षात्कार हो सका। अत: वैष्णवों द्वारा दिया गया दण्ड, दण्ड नहीं प्रत्युत दया का अन्य रूप होता है। देवर्षि के शाप से नलकूवर तथा मणिग्रीव यमल अर्जुन वृक्ष बन गये और माता यशोदा तथा नन्द महाराज के आँगन में कृष्ण का प्रत्यक्ष दर्शन करने की प्रतीक्षा करते रहे। भगवान् कृष्ण ने अपने भक्त की इच्छा से इन यमलार्जुन वृक्षों को गिरा दिया और जब ० वर्षों के बाद नलकूवर तथा मणिग्रीव का इस तरह उद्धार हो गया तो उनकी पुरानी चेतना जागृत हो उठी और उन्होंने देवोचित विधि से स्तुति की। इस प्रकार कृष्ण का साक्षात्कार करने का अवसर पाकर ही वे यह समझ सके कि नारदमुनि कितने कृपालु थे। फलत: उन्होंने उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की और उन्हें धन्यवाद दिया। इसके बाद भगवान् कृष्ण की परिक्रमा करके वे अपने अपने धाम चले गये।

श्रीराजोवाच
कथ्यतां भगवन्नेतत्तयो: शापस्य कारणम् ।
यत्तद्विगर्हितं कर्म येन वा देवर्षेस्तम: ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने आगे पूछा; कथ्यताम्—कृपया कहें; भगवन्—हे परम शक्तिमान; एतत्—यह; तयो:—उन दोनों के; शापस्य—शाप का; कारणम्—कारण; यत्—जो; तत्—वह; विगर्हितम्—निन्दनीय; कर्म—कर्म; येन—जिससे; वा—अथवा; देवर्षे: तम:—नारदमुनि इतने क्रुद्ध हो उठे।

राजा परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा: हे महान् एवं शक्तिशाली सन्त, नारदमुनि द्वारा

नलकूवर तथा मणिग्रीव को शाप दिये जाने का क्या कारण था? उन्होंने ऐसा कौन-सा निन्दनीय कार्य किया कि देवर्षि नारद तक उन पर क्रुद्ध हो उठे? कृपया मुझे कह सुनायें।

श्रीशुक उवाच
रुद्रस्यानुचरौ भूत्वा सुदृप्तौ धनदात्मजौ ।
कैलासोपवने रम्ये मन्दाकिन्यां मदोत्कटौ ॥ २ ॥
वारुणीं मदिरां पीत्वा मदाघूर्णितलोचनौ ।
स्त्रीजनैरनुगायद्भिश्चेरतुः पुष्पिते वने ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया; रुद्रस्य—शिवजी के; अनुचरौ—दो भक्त या पार्षद; भूत्वा—बन कर; सु-दृप्तौ—अपने पद तथा अपने सुन्दर रूप-रंग से गर्वित होकर; धनद-आत्मजौ—देवों के कोषाध्यक्ष कुवेर के दोनों पुत्र; कैलास-उपवने—शिवजी के निवास कैलाश पर्वत से लगे एक छोटे बाग में; रम्ये—सुन्दर स्थान में; मन्दाकिन्याम्—मन्दाकिनी नदी के तट पर; मद-उत्कटौ—अत्यधिक गर्वित तथा उन्मत्त; वारुणीम्—वारुणी को; मदिराम्—नशीले द्रव को; पीत्वा—पी पी कर; मद-आघूर्णित-लोचनौ—नशे से आँखें घुमाते हुए; स्त्री-जनैः—स्त्रियों के साथ; अनुगायद्भिः—उनके द्वारा गाये गये गीतों से गुञ्जरित; चेरतुः—घूम रहे थे; पुष्पिते वने—सुन्दर फूल के बाग में।.

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा परीक्षित, चूँकि कुवेर के दोनों पुत्रों को भगवान् शिवजी के पार्षद होने का गौरव प्राप्त था, फलतः वे अत्यधिक गर्वित हो उठे थे। उन्हें मन्दाकिनी नदी के तट पर कैलाश पर्वत से सटे हुए बाग में विचरण करने की अनुमति प्राप्त थी। इसका लाभ उठाकर वे दोनों वारुणी नाम की मदिरा पिया करते थे। वे अपने साथ गायन करती स्त्रियों को लेकर उस फूलों के बाग में घूमा करते थे। उनकी आँखें नशे से सदैव घूमती रहती थीं।

तात्पर्य : इस श्लोक में शिवजी के भक्तों या पार्षदों को प्राप्त कतिपय भौतिक सुविधाओं का उल्लेख हुआ है। यदि कोई व्यक्ति शिवजी के अतिरिक्त किसी अन्य देवता का भी भक्त होता है, तो उसे कुछ भौतिक सुविधाएँ मिलती हैं। इसलिए मूर्ख लोग देवताओं के भक्त बन जाते हैं। भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.२०) में इसका संकेत करते हुए इसकी आलोचना की है—*कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना: प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता:*)। जो कृष्णभक्त नहीं हैं उन्हें स्त्रियों, मदिरा इत्यादि का व्यसन लग जाता है इसलिए उन्हें *हृतज्ञान* अर्थात् विवेकशून्य कहा गया है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन ऐसे मूर्ख लोगों को तुरन्त पहचान लेता है क्योंकि *भगवद्गीता* (७.१५) में उनका संकेत किया गया है जहाँ कृष्ण कहते हैं—

न माम् दुष्कृतिनो मूढा: प्रपद्यन्ते नराधमा: ।

माययापहृतज्ञाना आसुरं भावं आश्रित: ॥

"ऐसे दुष्ट जो निपट मूर्ख हैं, मनुष्यों में अधम हैं, जिनका ज्ञान मोह द्वारा अपहृत हो चुका है और जो आसुरी नास्तिक प्रकृति वाले हैं, वे मेरी शरण में नहीं आते।" जो व्यक्ति कृष्णभक्त नहीं है और उनकी शरण में नहीं जाता उसे *नराधम* अर्थात् मनुष्यों में सबसे नीच तथा *दुष्कृती* अर्थात् पापकर्मों को करने वाला माना जाना चाहिए। अधम व्यक्ति को ढूँढ लेना कोई कठिन काम नहीं है क्योंकि उसकी स्थिति का पता केवल इसी एक कसौटी से लग जाता है कि वह कृष्ण का भक्त है अथवा नहीं।

आखिर देवताओं के भक्तों की संख्या वैष्णवों से अधिक क्यों है? इसका उत्तर यहाँ दिया गया है। वैष्णवजन न तो वारुणी तथा स्त्रियों जैसी निम्न कोटि के मनोरंजनों में रुचि लेते हैं, न ही कृष्ण ऐसी सुविधाओं की अनुमति देते हैं।

अन्त: प्रविश्य गङ्गायामम्भोजवनराजिनि ।
चिक्रीडतुर्युवतिभिर्गजाविव करेणुभि: ॥ ४॥

शब्दार्थ

अन्त:—भीतर; प्रविश्य—घुस कर; गङ्गायाम्—गंगा अर्थात् मन्दाकिनी में; अम्भोज—कमलों का; वन-राजिनि—जहाँ घना जंगल था; चिक्रीडतु:—दोनों क्रीड़ा किया करते थे; युवतिभि:—युवतियों के साथ में; गजौ—दो हाथी; इव—सदृश; करेणुभि:—हथिनियों के साथ।

कमल के फूलों के उद्यानों से आवृत मन्दाकिनी गंगा के जल के भीतर कुवेर के ये दोनों पुत्र युवतियों के साथ उसी तरह क्रीड़ा करते थे जिस तरह पानी के भीतर दो हाथी हथिनियों के साथ क्रीड़ा करते हैं।

तात्पर्य : सामान्यतया लोग अपने पापों से शुद्ध होने के लिए गंगा में स्नान करने जाते हैं किन्तु यहाँ पर इसका दृष्टान्त प्रस्तुत हुआ है कि किस तरह मूर्ख लोग पापमय कार्य करने के लिए गंगा में प्रवेश करते हैं। ऐसा नहीं है कि गंगा में प्रवेश करने से हर कोई शुद्ध होता हो। आध्यात्मिक अथवा भौतिक कार्य तो मनुष्य की मानसिक दशा पर निर्भर करता है।

यदृच्छया च देवर्षिर्भगवांस्तत्र कौरव ।
अपश्यन्नारदो देवौ क्षीबाणौ समबुध्यत ॥ ५॥

शब्दार्थ

यदृच्छया—संयोगवश, सारे ब्रह्माण्ड का भ्रमण करते हुए; च—तथा; देव-ऋषिः—देवताओं में परम सन्त-पुरुष; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; तत्र—वहाँ (जहाँ कुवेर के पुत्र क्रीड़ा कर रहे थे); कौरव—हे महराज परीक्षित; अपश्यत्—देखा; नारदः—परम सन्त ने; देवौ—देवताओं के दोनों बालकों को; क्षीबाणौ—नशे से उन्मत्त आँखों वाले; समबुध्यत—समझ गये।

हे महाराज परीक्षित, उन दोनों बालकों के सौभाग्य से एक बार देवर्षि नारद संयोगवश वहाँ प्रकट हो गये। उन्हें नशे में उन्मत्त तथा आँखें घुमाते हुए देख कर नारद उनकी दशा समझ गये।

तात्पर्य : कहा गया है (*चैतन्य-चरितामृत मध्य* २२.५४)

'साधुसंग' 'साधुसंग'—सर्वशास्त्रे कय।

लवमात्र साधुसंगे सर्वसिद्धि हय॥

नारदमुनि जहाँ भी जाते हैं और जिस मुहूर्त में वे प्रकट होते हैं उसे अत्यन्त शुभ माना जाता है। कहा भी गया है (*चैतन्य-चरितामृत मध्य* (१९.१५१)

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान जीव।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्तिलता-बीज॥

"सारे जीव अपने अपने कर्मों के अनुसार सारे ब्रह्माण्ड में भटकते रहते हैं। इनमें से कुछ स्वर्ग जाते हैं, तो कुछ नरक जाते हैं। भटकने वाले ऐसे लाखों जीवों में से जो अत्यन्त भाग्यशाली होता है उसे ही कृष्ण की कृपा से प्रामाणिक आध्यात्मिक गुरु का सान्निध्य प्राप्त हो पाता है। कृष्ण तथा गुरु दोनों की कृपा से ऐसे व्यक्ति को भक्तिलता का बीज प्राप्त हो पाता है।" उस बाग में कुवेर के दोनों पुत्रों को भक्ति का बीज प्रदान करने के लिए ही नारद प्रकट हुए, यद्यपि वे दोनों नशे में उन्मत्त थे। सन्त-पुरुष जानते हैं कि पतितात्माओं पर किस तरह कृपा की जाती है।

तं दृष्ट्वा व्रीडिता देव्यो विवस्त्राः शापशङ्किताः ।
वासांसि पर्यधुः शीघ्रं विवस्त्रौ नैव गुह्यकौ ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तम्—नारदमुनि को; दृष्ट्वा—देखकर; व्रीडिताः—लज्जित; देव्यः—देव कुमारियाँ; विवस्त्राः—नंगी; शाप-शङ्किताः—शापित होने से भयभीत; वासांसि—वस्त्र; पर्यधुः—अपना शरीर ढक लिया; शीघ्रम्—तुरन्त; विवस्त्रौ—वे भी नंगे थे; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; गुह्यकौ—कुवेर के दोनों पुत्र।

नारद को देखकर नग्न देव-कुमारियाँ अत्यन्त लज्जित हुईं। उन्होंने शापित होने से भयभीत होकर अपने शरीर को अपने-अपने वस्त्रों से ढक लिया। किन्तु कुवेर के दोनों पुत्रों ने ऐसा नहीं किया। उलटे, नारद की परवाह न करते हुए वे नंगे ही रहे।

तौ दृष्ट्वा मदिरामत्तौ श्रीमदान्धौ सुरात्मजौ ।
तयोरनुग्रहार्थाय शापं दास्यन्निदं जगौ ॥ ७॥

शब्दार्थ

तौ—देवताओं के दोनों बालकों को; दृष्ट्वा—देखकर; मदिरा-मत्तौ—शराब पीने के कारण नशे में मस्त उन्मत्त; श्री-मद-अन्धौ—झूठी प्रतिष्ठा तथा ऐश्वर्य के कारण अन्धे हुए; सुर-आत्मजौ—देवताओं के दोनों पुत्र; तयो:—उनके; अनुग्रह-अर्थाय—विशेष कृपा करने के प्रयोजन से; शापम्—श्राप; दास्यन्—देने की इच्छा से; इदम्—यह; जगौ—उच्चारित किया।

देवताओं के दोनों पुत्रों को नंगा तथा ऐश्वर्य और झूठी प्रतिष्ठा गर्व के नशे में उन्मत्त देखकर देवर्षि नारद ने उन पर विशेष कृपा करने हेतु उन्हें विशेष शाप देना चाहा। अत: वे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : यद्यपि प्रारम्भ में अत्यन्त क्रुद्ध होने के कारण नारद ने शाप दे डाला किन्तु अन्त में नलकूवर तथा मणिग्रीव दोनों को भगवान् कृष्ण का साक्षात् दर्शन हो सका। इस तरह शाप अन्ततोगत्वा शुभ सिद्ध हुआ। हमें यह देखना होगा कि नारद ने उन्हें किस तरह का शाप दिया। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने एक सुन्दर उदाहरण दिया है। जब पिता देखता है कि बच्चा गहरी नींद में सोया हुआ है किन्तु उसे किसी बीमारी के इलाज के लिए कोई दवा पीनी है, तो पिता चिकोटी काट कर बच्चे को उठाता है, जिससे वह दवा पी सके। इसी तरह नारदमुनि ने नलकूवर तथा मणिग्रीव के भौतिक-अन्धता के रोग को ठीक करने के लिए उन्हें शाप दिया।

श्रीनारद उवाच
न ह्यन्यो जुषतो जोष्यान्बुद्धिभ्रंशो रजोगुण: ।
श्रीमदादाभिजात्यादिर्यत्र स्त्री द्यूतमासव: ॥ ८॥

शब्दार्थ

श्री-नारद: उवाच—नारदमुनि ने कहा; न—नहीं है; हि—निस्सन्देह; अन्य:—दूसरा भोग; जुषत:—भोगने वाले का; जोष्यान्—भौतिक जगत की आकर्षक वस्तुएँ (खाने, सोने, मैथुन करने इत्यादि की विभिन्न किस्में); बुद्धि-भ्रंश:—बुद्धि को आकर्षित करने वाले ऐसे भोग; रज:-गुण:—रजोगुण द्वारा नियंत्रित; श्री-मदात्—सम्पत्ति की अपेक्षा; आभिजात्य-आदि:—चार भौतिक नियमों में से (सुन्दर स्वरूप, राजसी परिवार में जन्म, विद्वत्ता तथा धन-धान्य); यत्र—जहाँ; स्त्री—स्त्रियाँ; द्यूतम्—जुआ खेलना; आसव:—शराब।

नारदमुनि ने कहा : भौतिक भोग के समस्त आकर्षणों में से एक धन के प्रति आकर्षण सुन्दर शारीरिक रूप, उच्च कुल में जन्म तथा विद्वत्ता इन सब में से धन का आकर्षण, बुद्धि को अधिक भ्रमित करने वाला है। यदि कोई अशिक्षित व्यक्ति धन से गर्वित हो जाता है, तो वह अपना सारा धन शराब, स्त्रियों तथा जुआ खेलने के आनन्द में लगा देता है।

तात्पर्य : प्रकृति के तीनों गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुणों—में से लोग रजो तथा तमो गुणों द्वारा और विशेष रूप से रजोगुण द्वारा संचालित होते हैं। रजोगुण से संचालित होने पर मनुष्य इस भौतिक जगत में अधिकाधिक लिप्त होता जाता है। इसीलिए मानव जीवन रजो तथा तमो गुणों का दमन करने और सतो गुण को वर्धित करने के लिए मिला है।

तदा रजस्तमोभावा: कामलोभादयश्च ये।

चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति॥

(*भागवत* १.२.१९)

यही संस्कृति है कि रजो तथा तमो गुणों का दमन किया जाय। रजोगुण में जब मनुष्य को अपने धन का झूठा गर्व हो आता है, तो वह अपना धन केवल तीन चीजों में लगाता है—शराब में, स्त्रियों में तथा जुआ खेलने में। इस युग में विशेष रूप से देखा जा सकता है कि जिनके पास अनावश्यक धन है वे इन्हीं तीन वस्तुओं में उसे खर्चते हैं। पाश्चात्य सभ्यता में धन में अनावश्यक वृद्धि के कारण ये तीनों वस्तुएँ अत्यन्त प्रधान हैं। नारदमुनि ने मणिग्रीव तथा नलकूवर के विषय में इन सभी बातों पर विचार किया क्योंकि उन्होंने देखा कि वे अपने पिता कुवेर के धन पर इतना इतरा रहे हैं।

हन्यन्ते पशवो यत्र निर्दयैरजितात्मभि: ।
मन्यमानैरिमं देहमजरामृत्यु नश्वरम् ॥ ९॥

शब्दार्थ

हन्यन्ते—कई प्रकार से मारे जाते हैं (विशेषतया कसाईखानों में); पशव:—पशु, जानवर (चार पैर वाले); यत्र—जहाँ; निर्दयै:—रजोगुण वाले निर्दय व्यक्तियों द्वारा; अजित-आत्मभि:—अपनी इन्द्रियों को वश में न कर पाने वालों द्वारा; मन्यमानै:—सोचते हैं; इमम्—इस; देहम्—शरीर को; अजर—जो न तो कभी बूढ़ा होगा, न रोगी होगा; अमृत्यु—कभी मृत्यु नहीं होगी; नश्वरम्—नाशवान शरीर को।

अपनी इन्द्रियों को वश में करने में असमर्थ धूर्त लोग, जिन्हें अपने धन पर मिथ्या गर्व रहता है या जो राजसी परिवार में जन्म लिये रहते हैं इतने निष्ठुर होते हैं कि वे अपने नश्वर शरीरों को बनाये रखने के लिए, उन्हें अजर-अमर सोचते हुए, बेचारे पशुओं का निर्दयतापूर्वक वध करते हैं। कभी कभी वे केवल अपनी मौज-मस्ती के लिए पशुओं को मार डालते हैं।

तात्पर्य : जब मानव समाज में रजो तथा तमो गुणों की वृद्धि होती है, तो अनावश्यक आर्थिक विकास होता है, जिसका परिणाम होता है लोगों का मदिरा, स्त्रियों तथा जुए में आसक्त होना। तब वे

मदोन्मत्त होकर बड़े बड़े कसाईखाने चलाते हैं या फिर पशुओं का वध करने के लिए पर्यटन पर जाते हैं। वे भूल जाते हैं कि शरीर को बनाये रखने के लिए चाहे जो भी प्रयास किये जाँय, यह शरीर जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग से पीड़ित होता रहेगा। वे मूर्ख एक के बाद एक पापकर्म करते जाते हैं। *दुष्कृती* होने के कारण वे प्रत्येक हृदय में वास करने वाले परमनियन्ता के अस्तित्व को पूरी तरह से भूल जाते हैं (*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*)। परम नियन्ता उनकी हर गतिविधि को देखता रहता है और हर एक को प्रकृति द्वारा निर्मित उपयुक्त शरीर प्रदान करके पुरस्कृत या दंडित करता है (*भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया*)। इस तरह पापी व्यक्ति विभिन्न शरीरों में स्वतः दण्ड पाते रहते हैं। इस दण्ड का मूल कारण यह है कि जब मनुष्य अनावश्यक रीति से धन का संचय करता है, तो वह अधिक पतित हो जाता है और उसे यह ज्ञान नहीं रह जाता है कि उसका धन अगले जन्म अर्थात् मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जायेगा।

न साधुमन्ये यत आत्मनोऽयम्
असन्नपि क्लेशद आस देहः।

(*भागवत* ५.५.४)

पशु-हत्या वर्जित है। किन्तु हर व्यक्ति को कुछ न कुछ खाना पड़ता है (*जीवो जीवस्य जीवनम्*)। इसीलिए उसे यह शिक्षा मिलनी चाहिए कि वह किस तरह का भोजन करे। ईशोपनिषद का आदेश है—*तेन त्यक्तेन भुञ्जीथ*—मनुष्यों के लिए जो भी नियत है, वही खाना चाहिए। *भगवद्गीता* (९.२६) में कृष्ण कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः॥

"यदि कोई मुझे भक्ति तथा प्रेम से एक पत्ती, फूल, फल या जल अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।" इसलिए भक्त कभी ऐसी कोई भी वस्तु नहीं खाता जिसके लिए बेचारे पशुओं के लिए कसाईघर स्थापित करने पड़ें। प्रत्युत भक्तगण कृष्ण का *प्रसाद* ग्रहण करते हैं (*तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः*)। कृष्ण कहते हैं कि उन्हें *पत्रं पुष्पं फलं तोयं* प्रदान किया जाय। मनुष्यों के लिए पशु-भोजन की संस्तुति कभी नहीं की जाती, प्रत्युत मनुष्य को कृष्ण-प्रसाद लेने की संस्तुति की जाती है। *यज्ञ*

शिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषै (*भगवद्गीता* ३.१३)। यदि प्रसाद खाना प्रारम्भ कर दिया जाय तो थोड़े-बहुत पापकर्म करने पर भी मनुष्य पापकर्मों के फल से छूट जाता है।

देवसंज्ञितमप्यन्ते कृमिविड्भस्मसंज्ञितम् ।
भूतध्रुक्तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः ॥ ॥

शब्दार्थ

देव-संज्ञितम्—शरीर जो अब अत्यन्त महान् पुरुष यथा राष्ट्रपति, मंत्री या देवता कहलाता है; अपि—इतना महान् होते हुए भी; अन्ते—मृत्यु के बाद; कृमि—कीड़ा बन जाता है; विट्—या मल में परिणत हो जाता है; भस्म-संज्ञितम्—या राख में बदल जाता है; भूत-ध्रुक्—शास्त्रों के आदेशों को न मानने वाला तथा अन्य जीवों से ईर्ष्या करने वाला व्यक्ति; तत्-कृते—इस तरह कर्म करते हुए; स्व-अर्थम्—स्वार्थ; किम्—क्या है; वेद—जो जानता है; निरयः यतः—क्योंकि ऐसे पापकर्मों से नारकीय दशा भोगनी होगी।.

जीवित रहते हुए मनुष्य अपने को बड़ा आदमी, मंत्री, राष्ट्रपति या देवता सोचते हुए अपने शरीर पर गर्व कर सकता है किन्तु वह चाहे जो भी हो, मृत्यु के बाद उसका शरीर कीट, मल या राख में परिणत हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति अपने शरीर की क्षणिक इच्छाओं की तुष्टि के लिए निरीह पशुओं का वध करता है, तो वह यह नहीं जानता कि उसे अगले जीवन में कष्ट भोगना होगा क्योंकि ऐसे पापी को नरक जाना पड़ेगा और अपने कर्मफल भोगने पड़ेंगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *कृमि-विड्-भस्म*—ये तीन शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। यदि मृत्यु के बाद शरीर को जलाया नहीं जाता तो वह *कृमि* बन जाता है अर्थात् उसे कीड़े खा जाते हैं या फिर उसे चील तथा गीदड़ जैसे पशु खाकर मल बना देते हैं। जो अधिक सभ्य हैं, वे मृत शरीर को जलाते हैं जिससे वह भस्म बन जाता है (*भस्म संज्ञितम्*)। भले ही यह शरीर कृमि, मल या राख में क्यों न बदल जाय, मूर्ख व्यक्ति उसे बनाये रखने के लिए अनेक पापकर्म करते हैं। यह निश्चय ही शोचनीय है। मनुष्य का शरीर *जीवस्य तत्त्व जिज्ञासा* के लिए अर्थात् आध्यात्मिक मूल्यों के ज्ञान का प्रकाश पाने के लिए मिला है। अतः मनुष्य को चाहिए कि प्रामाणिक आध्यात्मिक गुरु की शरण में जाये। *तस्माद् गुरुं प्रपद्येत*—वह गुरु के पास जाये। गुरु कौन है? *शाब्दे परे च निष्णातम्* (*भागवत* ११.३.२१)—गुरु वह है, जिसे पूर्ण दिव्य ज्ञान हो। आध्यात्मिक गुरु के पास गये बिना मनुष्य अज्ञान में रहता जाता है। *आचार्यवान् पुरुषो वेद* (*छान्दोग्य उपनिषद* ६.१४.२)—जब कोई आचार्य द्वारा नियंत्रित होता है अर्थात् *आचार्यवान्* होता है, तो उसे जीवन विषयक पूरा-पूरा ज्ञान रहता है। किन्तु जब वह रजोगुण तथा तमोगुण द्वारा संचालित होता है, तो वह किसी बात की परवाह नहीं करता, उलटे वह मूर्ख पशु की भाँति अपने

जीवन को संकट में डाल कर कर्म करता है (*मृत्युसंसारवर्त्मनि*)। फलत: वह एक न एक कष्ट भोगता रहता है। *न ते विदु: स्वार्थगतिं हि विष्णुम्* (*भागवत* ७.५.३१)। ऐसा मूर्ख व्यक्ति यह नहीं जानता कि इस शरीर को पाकर किस प्रकार अपने आपको ऊपर उठाया जाये। उलटे वह पापकर्मों में लिप्त होकर नीचे- नीचे की ओर नारकीय जीवन में फँसता जाता है।

देह: किमन्नदातु: स्वं निषेक्तुर्मातुरेव च ।
मातु: पितुर्वा बलिन: क्रेतुरग्ने: शुनोऽपि वा ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

देह:—यह शरीर; किम् अन्न-दातु:—क्या यह मेरे स्वामी का है, जो मुझे इसके पालन के लिए धन देता है; स्वम्—या यह स्वयं मेरा है; निषेक्तु:—(या यह) वीर्य स्खलित करने वाले का है; मातु: एव—या (इसे) गर्भ में धारण करने वाली माता का है; च—तथा; मातु: पितु: वा—यह माता के पिता अर्थात् नाना का है क्योंकि कभी कभी नाना अपने नाती को गोद ले लेता है; बलिन:—या उसका है, जो बलपूर्वक इस शरीर को छीन लेता है; क्रेतु:—या इस शरीर को बँधुए मजदूर की तरह खरीद लेता है; अग्ने:—या अग्नि में (जला देता है); शुन:—या कुत्तों तथा गीधों का है, जो उसे खा जाते हैं; अपि—भी; वा—अथवा।

जीवित रहते हुए यह शरीर उसके अन्नदाता का होता है, या स्वयं का, अथवा पिता, माता या नाना का? क्या यह बलपूर्वक ले जाने वाले का, इसे खरीदने वाले स्वामी का या उन पुत्रों का होता है, जो इसे अग्नि में जला देते हैं? और यदि शरीर जलाया नहीं जाता तो क्या यह उन कुत्तों का होता है, जो इसे खाते हैं? आखिर इतने सारे दावेदारों में असली दावेदार कौन है? इसका पता लगाने के बजाय, पापकर्मों द्वारा इस शरीर का पालन करना अच्छा नहीं है।

एवं साधारणं देहमव्यक्तप्रभवाप्ययम् ।
को विद्वानात्मसात्कृत्वा हन्ति जन्तूनृतेऽसत: ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; साधारणम्—सामान्य सम्पत्ति; देहम्—शरीर को; अव्यक्त—अव्यक्त प्रकृति से; प्रभव—इस प्रकार से व्यक्त; अप्ययम्—पुन: अव्यक्त में लीन होकर ("क्योंकि, तू मिट्टी है और तुम्हें मिट्टी में ही वापस मिल जाना है"); क:—कौन है; विद्वान्—ज्ञानी; आत्मसात् कृत्वा—अपना कहते हुए; हन्ति—मारता है; जन्तून्—बेचारे पशुओं को; ऋते—सिवाय; असत:—धूर्त तथा मूढ़ जिन्हें कोई ज्ञान नहीं है।

यह शरीर आखिर अव्यक्त प्रकृति द्वारा उत्पन्न किया जाता है और नष्ट होकर पुन: प्राकृतिक तत्त्वों में विलीन हो जाता है। अतएव यह सबों का सर्वसामान्य गुण है। ऐसी परिस्थितियों में जो धूर्त होगा वही इस सम्पत्ति को अपनी होने का दावा करेगा और उसे बनाये रखते हुए अपनी इच्छाओं की तुष्टि के लिए पशुओं की हत्या जैसे पापकर्म करता रहता है। केवल मूढ़ ही ऐसे पापकर्म कर सकता है।

तात्पर्य : नास्तिक लोग आत्मा में विश्वास नहीं करते। तो भी, जब तक कोई निष्ठुर नहीं हो तब तक वह पशुओं की व्यर्थ हत्या क्यों करेगा? शरीर पदार्थ के संयोग की अभिव्यक्ति है। प्रारम्भ में यह कुछ नहीं था किन्तु पदार्थ के संयोग से इसका अस्तित्व हुआ। पुन: जब यह संयोग छिन्न-भिन्न होगा तो इस शरीर का अस्तित्व नहीं रहेगा। आदि में यह शरीर कुछ नहीं था और अन्त में भी यह कुछ नहीं रह जायेगा। तो फिर जब वह व्यक्त रूप में आता है, तो कोई पापकर्म क्यों करे? जब तक कोई धूर्त न हो तब तक ऐसा कर पाना सम्भव नहीं।

असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्र्‌यं परमञ्जनम् ।
आत्मौपम्येन भूतानि दरिद्रः परमीक्षते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

असतः—ऐसे मूर्ख धूर्त व्यक्ति का; श्री-मद-अन्धस्य—धन तथा ऐश्वर्य के कारण अन्धा हुआ; दारिद्र्‌यम्—गरीबी; परम् अञ्जनम्—आँखों का सर्वोत्तम अंजन है, जिससे वस्तुएँ यथारूप में देखी जा सकती हैं; आत्म-औपम्येन—अपने से तुलना करके; भूतानि—जीवों को; दरिद्रः—गरीब व्यक्ति; परम्—पूर्णतया; ईक्षते—देख सकता है।

नास्तिक मूर्ख तथा धूर्त धन के मद के कारण वस्तुओं को यथारूप में नहीं देख पाते। अतएव उन्हें दरिद्र बनाना ही सर्वोत्तम काजल है, जिसे वे आँखों में लगा कर वस्तुओं को उनके वास्तविक रूप में देख सकते हैं। और कुछ नहीं तो, जो दरिद्र है, वह इसका तो अनुभव कर ही सकता है कि दरिद्रता कितनी दुखद होती है। अतएव वह कभी नहीं चाहेगा कि अन्य लोग उसकी तरह दुखमय स्थिति में रहें।

तात्पर्य : आज भी वे लोग जो पहले दरिद्र थे अपने धन का सदुपयोग परोपकार के कार्यों में—यथा अशिक्षितों के लिए स्कूल खोलने तथा रोगियों के लिए अस्पताल खोलने में—करना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में एक शिक्षाप्रद कथा है, जो *पुनर्मूषिको भव* "फिर से चूहा बन जाओ" नाम से प्रसिद्ध है। एक चूहा बिल्ली से अत्यंत तंग आ चुका था अत: वह एक साधु के पास पहुँचा कि उसे बिल्ली बना दे। जब वह चूहा बिल्ली बन गया तो उसे कुत्ता सताने लगा और जब कुत्ता बन गया तो शेर सताने लगा। किन्तु जब वह शेर बन गया तो उसने साधु की ओर घूरने लगा घूरा और जब साधु ने पूछा कि तुम क्या चाहते हो तो उस शेर ने कहा, "मैं तुम्हें खाना चाहता हूँ।" तब उस साधु ने उसे शाप दिया, "तुम फिर से चूहा बन जाओ।" ऐसी ही बात सारे विश्व में चल रही है। मनुष्य कभी ऊपर जाता है, तो कभी नीचे, कभी चूहा बनता है, तो कभी शेर। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है (*चैतन्य-*

चरितामृत मध्य १९.१५१)—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज॥

जीवों का उत्कर्ष-अपकर्ष प्रकृति के नियमों द्वारा होता है किन्तु अगर कोई बहुत ही भाग्यशाली होता है, तो उसे साधु की संगति में रहने से भक्ति का बीज मिल जाता है और उसका जीवन सफल हो जाता है। नारदमुनि दरिद्रता के माध्यम से नलकूवर तथा मणिग्रीव को भक्ति के मार्ग पर लाना चाहते थे इसीलिए उन्हें शाप दिया। वैष्णवों की कृपा ऐसी ही होती है। वैष्णव पद को प्राप्त किये बिना मनुष्य नेक नहीं बन सकता। *हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणाः* (*भागवत* ५.१८.१२)। किन्तु अवैष्णव को कितना ही दण्ड क्यों न दिया जाय वह कभी नेक व्यक्ति नहीं बन सकता।

यथा कण्टकविद्धाङ्गो जन्तोर्नेच्छति तां व्यथाम् ।
जीवसाम्यं गतो लिङ्गैर्न तथाविद्धकण्टकः ॥ १४॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; कण्टक-विद्ध-अङ्गः—वह पुरुष जिसका शरीर काँटों से बिंध चुका हो; जन्तोः—ऐसे पशु को; न—नहीं; इच्छति—चाहता है; ताम्—उस; व्यथाम्—पीड़ा को; जीव-साम्यम् गतः—जब वह समझ लेता है कि हर एक की दशा एकसी है; लिङ्गैः—विशेष प्रकार का शरीर धारण करने से; न—नहीं; तथा—उसी तरह; अविद्ध-कण्टकः—जो व्यक्ति काँटों से नहीं बिंधा।

जिसके शरीर में काँटे चुभ चुके हैं वह दूसरों के चेहरों को ही देखकर उनकी पीड़ा समझ सकता है कि उन्हें काँटे चुभ रहे हैं। वह यह अनुभव करते हुए कि यह पीड़ा सबों के लिए एकसमान है, यह नहीं चाहता कि अन्य लोग इस तरह से कष्ट भोगें। किन्तु जिसे कभी काँटे गड़े ही नहीं वह इस पीड़ा को नहीं समझ सकता।

तात्पर्य : कहावत है कि "जिसने गरीबी का कष्ट झेला है, वही सम्पत्ति के सुख को भोग सकता है।" एक अन्य कहावत भी है *बन्ध्या कि बुझिबे प्रसव-वेदना*—"बाँझ क्या जाने प्रसव की पीड़ा"। वास्तविक अनुभव किये बिना मनुष्य को इस भौतिक जगत में दुख और सुख की अनुभूति नहीं हो पाती। प्रकृति के नियम इसी प्रकार से कार्य करते हैं। यदि किसी ने किसी पशु का वध किया है, तो वह उसी पशु के द्वारा मारा जायेगा। यह *मांस* कहलाता है। *माम्* का अर्थ है "मुझको" तथा *स* का अर्थ है "वह।" जिस तरह मैं पशु को खाता हूँ उसी तरह वह पशु मुझको खाने का अवसर पायेगा।

इसीलिए प्रत्येक राज सत्ता में हत्या करने वाले को फाँसी देने का विधान है।

दरिद्रो निरहंस्तम्भो मुक्तः सर्वमदैरिह ।
कृच्छ्रं यदृच्छयाप्नोति तद्धि तस्य परं तपः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

दरिद्रः—गरीब; निर्-अहम्-स्तम्भः—सारी झूठी प्रतिष्ठा से स्वयमेव छूट जाता है; मुक्तः—मुक्त; सर्व—सभी; मदैः—मिथ्या अहंकार से; इह—इस संसार में; कृच्छ्रम्—मुश्किल से; यदृच्छया आप्नोति—भाग्यवश जो उसे प्राप्त होता है; तत्—वह; हि—निस्सन्देह; तस्य—उसकी; परम्—पूर्ण; तपः—तपस्या।.

दरिद्र व्यक्ति को स्वतः तपस्या करनी पड़ती है क्योंकि उसके पास अपना कहने के नाम पर कोई सम्पत्ति नहीं होती। इस तरह उसकी मिथ्या प्रतिष्ठा समाप्त हो जाती है। वह सदैव भोजन, आश्रय तथा वस्त्र की आवश्यकता अनुभव करता रहता है, अतः दैव-कृपा से जो भी उसे मिल जाता है उसी से उसे सन्तुष्ट रहना पड़ता है। अनिवार्यतः इस तरह की तपस्या करते रहना उसके लिए अच्छा है क्योंकि इससे उसकी शुद्धि हो जाती है और वह मिथ्या अहंकार से मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : सन्त-पुरुष भौतिक मिथ्या प्रतिष्ठा से छुटकारा पाने के लिए स्वेच्छा से गरीबी स्वीकार कर लेता है। अनेक बड़े बड़े राजा लोग अपना राजसी ठाट-बाट छोड़कर वैदिक संस्कृति के अनुसार तपस्या करने के लिए वन में इसलिए चले गये कि वे शुद्ध हो सकें। किन्तु जो स्वेच्छा से ऐसा नहीं करता वह यदि दरिद्र बन जाता है, तो स्वतः तपस्या करने लगता है। तपस्या हर एक के लिए श्रेयस्कर है क्योंकि इससे भव-बंधन से छुटकारा मिल जाता है। अतः जिसे अपनी भौतिक स्थिति का बहुत गर्व हो तो उसकी मूर्खता ठीक करने के लिए सर्वोत्तम उपाय है कि उसे दरिद्र बना दिया जाय। *दारिद्र्य-दोषो गुण-राशि-नाशि*—जब मनुष्य दरिद्र होता है, तो धन, शिक्षा तथा सौन्दर्य में उसका मिथ्या अहंकार चूर-चूर हो जाता है। इस तरह राह में लाने पर वह मुक्ति के योग्य बन जाता है।

नित्यं क्षुत्क्षामदेहस्य दरिद्रस्यान्नकाङ्‌क्षिणः ।
इन्द्रियाण्यनुशुष्यन्ति हिंसापि विनिवर्तते ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

नित्यम्—सदैव; क्षुत्—भूख से; क्षाम—निर्बल; देहस्य—शरीर का; दरिद्रस्य—गरीब व्यक्ति के; अन्न-काङ्‌क्षिणः—सदैव पर्याप्त भोजन की इच्छा रखने वाला; इन्द्रियाणि—इन्द्रियों को, जिनकी उपमा सर्पों से दी जाती है; अनुशुष्यन्ति—धीरे धीरे क्षीण से क्षीणतर होती जाती हैं; हिंसा अपि—अन्यों से ईर्ष्या करने की प्रवृत्ति भी; विनिवर्तते—कम हो जाती है।.

दरिद्र व्यक्ति सदैव भूखा रहने और पर्याप्त भोजन की चाह करने के कारण धीरे धीरे क्षीण होता जाता है। अतिरिक्त बल न रहने से उसकी इन्द्रियाँ स्वतः शान्त पड़ जाती हैं। इसलिए दरिद्र मनुष्य हानिप्रद ईर्ष्यापूर्ण कार्य करने में अशक्त होता है। दूसरे शब्दों में, ऐसे व्यक्ति को उन तपस्याओं का फल स्वतः प्राप्त हो जाता है, जिसे सन्त-पुरुष स्वेच्छा से करते हैं।

तात्पर्य : अनुभवी डाक्टरों का मत है कि मधुमेह रोग अत्यधिक खाने से और क्षय रोग अत्यल्प खाने से होता है। हमें न तो मधुमेही बनने, न ही यक्ष्माग्रस्त होने की कामना करनी चाहिए। *यादव् अर्थ-प्रयोजनम्।* हमें कम खाना चाहिए और इस शरीर को कृष्णभावनामृत में अग्रसर होने के लिए दुरुस्त रखना चाहिए। *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र (१.२.) कहा गया है—

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।

जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥

मानव जीवन का असली कार्य अपने को आत्म-साक्षात्कार के लिए स्वस्थ रखना है। मानव जीवन इन्द्रियों को वृथा हट्टा-कट्टा बनाने के लिए नहीं है, जिससे वह रोगग्रस्त हो और लड़ाई-झगड़े की भावना लेकर ईर्ष्यालु बने। किन्तु इस कलियुग में मानव सभ्यता का इतना विपथन हुआ है कि लोग व्यर्थ ही अर्थ-विकास में वृद्धि करके अधिकाधिक कसाईघर, मदिरालय तथा वेश्यालय खोल रहे हैं। इस तरह सारी सभ्यता चौपट हो रही है।

दरिद्रस्यैव युज्यन्ते साधवः समदर्शिनः ।
सद्भिः क्षिणोति तं तर्षं तत आराद्विशुद्ध्यति ॥ १७॥

शब्दार्थ

दरिद्रस्य—दरिद्र व्यक्ति का; एव—निस्सन्देह; युज्यन्ते—सरलता से संगति कर सकते हैं; साधवः—साधु पुरुष; सम-दर्शिनः—यद्यपि साधु पुरुष दरिद्र तथा धनी दोनों पर समान दृष्टि रखने वाले हैं किन्तु दरिद्र व्यक्ति उनकी संगति का लाभ उठा सकते हैं; सद्भिः—ऐसे साधु पुरुषों की संगति से; क्षिणोति—कम करता है; तम्—भौतिक कष्ट के मूल कारण; तर्षम्—भौतिक मोक्ष की अभिलाषा को; ततः—तत्पश्चात्; आरात्—शीघ्र ही; विशुद्ध्यति—उसका भौतिक कल्मष धुल जाता है।

सन्त-पुरुष दरिद्रों के साथ बिना रोकटोक के घुलमिल सकते हैं किन्तु धनी व्यक्तियों के साथ नहीं। दरिद्र व्यक्ति ऐसे साधु पुरुषों की संगति से तुरन्त ही भौतिक इच्छाओं से विमुख हो जाता है और उसके मन का सारा मैल धुल जाता है।

तात्पर्य : कहा गया है—*महद्विचलनं नणां गृहिणां दीनचेतसाम्* (*भागवत* .८.४)। साधु-पुरुष

या संन्यासी का एकमात्र कार्य है कि वह कृष्णभावनामृत का प्रचार करे। यद्यपि साधु-पुरुष निर्धन तथा धनी दोनों को उपदेश देना चाहते हैं किन्तु निर्धन लोग उनके उपदेशों से धनी लोगों की अपेक्षा अधिक लाभ उठाते हैं। निर्धन व्यक्ति साधुओं का तुरन्त स्वागत करता है, उन्हें नमस्कार करता है और उनकी उपस्थिति का लाभ उठाना चाहता है किन्तु धनी व्यक्ति अपने दरवाजे पर एक बड़ा शिकारी कुत्ता रखता है, जिससे कोई उसके घर में घुस न सके। वह दरवाजे पर "कुत्ते से सावधान" लिखी तख्ती टाँग देता है और साधु-पुरुषों की संगति से कतराता है, जबकि निर्धन उनके लिए अपना द्वार खुला रखता है। इस तरह निर्धन लोग धनी लोगों की अपेक्षा उनसे अधिक लाभ उठाते हैं। नारद मुनि पूर्वजन्म में दासी के निर्धन पुत्र थे किन्तु सन्त-पुरुषों की संगति से बाद में स्वयं सुप्रतिष्ठित नारदमुनि बन गये। यह उनका वास्तविक अनुभव था। इसलिए वे अब निर्धन व्यक्ति की अवस्था की तुलना धनी व्यक्ति की अवस्था से कर रहे हैं।

सतां प्रसङ्गान् मम वीर्यसंविदो

भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।

तज्जोषनादाश्वपवर्गवर्त्मनि

श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

(*भागवत* ३.२५.२५)

यदि किसी को सन्त-पुरुषों की संगति का लाभ हो सके तो वह उनके उपदेशों से भौतिक इच्छाओं से अधिकाधिक रहित हो जाता है।

कृष्णबहिर्मुख हैया भोग-वाञ्छा करे।

निकटस्थ माया तारे जापटिया धरे॥

(*प्रेमविवर्त*)

भौतिक जीवन का अर्थ ही है कि कृष्ण को भूल कर इन्द्रिय-तृप्ति की अधिकाधिक इच्छा करना। किन्तु यदि मनुष्य को सन्त-पुरुषों के उपदेशों का लाभ प्राप्त हो जाता है और वह भौतिक इच्छाओं की महत्ता को भूल जाता है, तो वह अपने आप शुद्ध हो जाता है। *चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्नि निर्वापनम्* (*शिक्षाष्टक* १)। जब तक भौतिकवादी व्यक्ति का हृदय शुद्ध नहीं हो जाता वह

भवमहादावाग्नि के कष्ट से छुटकारा नहीं पा सकता।

साधूनां समचित्तानां मुकुन्दचरणैषिणाम् ।
उपेक्ष्यैः किं धनस्तम्भैरसद्भिरसदाश्रयैः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

साधूनाम्—साधु-पुरुषों का; सम-चित्तानाम्—उनका जो सबों को समान रूप में देखते हैं; मुकुन्द-चरण-एषिणाम्—जिनका एकमात्र कार्य है भगवान् मुकुन्द की सेवा करना और जो उसी सेवा की आंकाक्षा करते हैं; उपेक्ष्यैः—संगति की उपेक्षा करके; किम्—क्या; धन-स्तम्भैः—धनी तथा गर्वित; असद्भिः—अवांछित व्यक्तियों की संगति से; असत्-आश्रयैः—असतों अर्थात् अभक्तों की शरण लेकर।

सन्त-पुरुष (साधुजन) चौबीसों घण्टे कृष्ण का चिन्तन करते रहते हैं। उनकी और कोई रूचि नहीं रहती। तो फिर लोग ऐसे आध्यात्मिक पुरुषों की संगति की उपेक्षा करके क्यों उन भौतिकतावादियों की संगति करने का प्रयास करते हैं तथा उन अभक्तों की शरण लेते हैं जिनमें से अधिकांश अभिमानी तथा धनी हैं?

तात्पर्य : *साधु* वह है, जो विचलित हुए बिना भगवद्भक्ति में लगा रहता है (*भजते माम् अनन्यभाक्*)

तितिक्षस्व: कारुणिका: सुहृद: सर्वदेहिनाम्।

अजातशत्रव: शान्ता: साधव: साधु-भूषणा: ॥

''साधु के लक्षण हैं—वह सभी जीवों के प्रति सहिष्णु, दयालु तथा मित्र-भाव रखने वाला होता है। उसका कोई शत्रु नहीं होता। वह शान्त रहता है, शास्त्रों का पालन करता है और उसके सारे गुण उदात्त होते हैं। (*भागवत* ३.२५.२१)। साधु सबों का मित्र होता है(*सुहृद: सर्वदेहिनाम्*), तो फिर धनी लोग साधुओं की संगति न करके उन अन्य धनी व्यक्तियों की संगति में अपना बहुमूल्य समय क्यों गँवाते हैं, जिन्हें आध्यात्मिक जीवन से वितृष्णा है? निर्धन तथा धनी दोनों ही प्रकार के लोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन का लाभ उठा सकते हैं अत: सबों को यही सलाह दी जाती है कि वे ऐसा करें। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्यों की संगति से आनाकानी से कोई लाभ नहीं होगा। नरोत्तम दास ठाकुर ने कहा है—

सत्संग छाडिऽकैनु असते विलास।

ते-कारणे लागिल ये कर्म-बन्ध-फांस॥

यदि हम कृष्णभावनाभावित साधुओं की संगति छोड़कर इन्द्रिय-तृप्ति में व्यस्त रहने वाले तथा इसी कार्य के लिए धन संचय करने वाले लोगों से संगति करेंगे तो हमारा जीवन चौपट हो जायेगा। *असत्* शब्द *अवैष्णव* अर्थात् जो कृष्ण-भक्त नहीं है, का द्योतक है तथा *सत्* शब्द *वैष्णव* अर्थात् कृष्ण-भक्त का। मनुष्य को चाहिए कि वैष्णवों की संगति करे और अवैष्णवों के साथ मेल-जोल कर के अपना जीवन बर्बाद न करे। *भगवद्गीता* (७.१५) में वैष्णव तथा अवैष्णव का अन्तर बतलाया गया है—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।

माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

जो कृष्ण की शरण में नहीं गया वह सर्वाधिक पापी (*दुष्कृती*), धूर्त (*मूढ*) तथा सबसे नीच (*नराधम*) व्यक्ति है। अतः मनुष्यों को चाहिए कि कृष्णभावनामृत आन्दोलन के रूप में विश्व-भर में प्राप्य वैष्णवों की संगति से कतरायें नहीं।

तदहं मत्तयोर्माध्व्या वारुण्या श्रीमदान्धयोः ।
तमोमदं हरिष्यामि स्त्रैणयोरजितात्मनोः ॥ १९॥

शब्दार्थ

तत्—अतएव; अहम्—मैं; मत्तयोः—इन दोनों उन्मत्त पुरुषों के; माध्व्या—शराब पीने के कारण; वारुण्या—वारुणी नामक; श्री-मद-अन्धयोः—जो दैवी सम्पदा से अन्धे हो चुके हैं; तमः-मदम्—तमोगुण के कारण इस मिथ्या प्रतिष्ठा को; हरिष्यामि—छीन लूँगा; स्त्रैणयोः—स्त्रियों पर अनुरक्त होने के कारण; अजित-आत्मनोः—इन्द्रियों को वश में न कर पाने के कारण।

इसलिए ये दोनों व्यक्ति वारुणी या माध्वी नामक शराब पीकर तथा अपनी इन्द्रियों को वश में न रख सकने के कारण स्वर्ग के ऐश्वर्य-गर्व से अन्धे और स्त्रियों के प्रति अनुरक्त हो चुके हैं। मैं उनको इस झूठी प्रतिष्ठा से विहीन कर दूँगा।

तात्पर्य : जब कोई साधु किसी को डाँटता या दंड देता है, तो वह बदले की भावना से ऐसा नहीं करता। महाराज परीक्षित ने पूछा था कि नारदमुनि में किस तरह बदले की भावना (*तमः*) उठी। किन्तु यह *तमः* नहीं था क्योंकि नारदमुनि को पूर्ण ज्ञान था कि इन दोनों भाइयों का हित किसमें हैं इसलिए उन्होंने विचार किया कि उन्हें किस तरह मार्ग पर लाया जाय। वैष्णवजन अच्छे वैद्य होते हैं। वे जानते हैं कि भवरोग से मनुष्यों को कैसे बचाया जाय। अतः वे कभी भी *तमोगुणी* नहीं होते। *स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते* (*भगवद्गीता* १४.२६)। वैष्णवजन सदा ही ब्रह्म-पद पर स्थित होते

हैं। वे न तो कभी कोई गलती करते हैं, न ही भौतिक गुणों के वशीभूत होते हैं। पूरी तरह सोच-विचार कर वे जो भी करते हैं वह सबों को भगवद्धाम ले जाने के लिए मार्गदर्शक होता है।

यदिमौ लोकपालस्य पुत्रौ भूत्वा तमःप्लुतौ ।
न विवाससमात्मानं विजानीतः सुदुर्मदौ ॥ २० ॥
अतोऽर्हतः स्थावरतां स्यातां नैवं यथा पुनः ।
स्मृतिः स्यान्मत्प्रसादेन तत्रापि मदनुग्रहात् ॥ २१ ॥
वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा दिव्यशरच्छते ।
वृत्ते स्वर्लोकतां भूयो लब्धभक्ती भविष्यतः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यत्—चूँकि; इमौ—ये दोनों तरुण देवता; लोक-पालस्य—महान् देवता कुवेर के; पुत्रौ—पुत्र; भूत्वा—होकर; तमः-प्लुतौ—तमोगुण में बुरी तरह से मग्न; न—नहीं; विवाससम्—बिना किसी वस्त्र के, पूरी तरह नंगे; आत्मानम्—अपने शरीरों को; विजानीतः—जानते हुए कि नंगे हैं; सु-दुर्मदौ—मिथ्या अहंकार के कारण अत्यन्त पतित; अतः—इसलिए; अर्हतः—पात्र हैं; स्थावरताम्—वृक्ष जैसी गतिहीनता; स्याताम्—हो जायें; न—नहीं; एवम्—इस तरह; यथा—जिस तरह; पुनः—फिर; स्मृतिः—याद; स्यात्—बनी रहे; मत्-प्रसादेन—मेरी कृपा से; तत्र अपि—इसके अतिरिक्त; मत्-अनुग्रहात्—मेरे विशेष अनुग्रह से; वासुदेवस्य—भगवान् का; सान्निध्यम्—संगति, साक्षात्कार; लब्ध्वा—प्राप्त कर; दिव्य-शरत्-शते वृत्ते—देवताओं के एक सौ वर्ष बीतने के बाद; स्वर्लोकताम्—स्वर्गलोक में रहने की इच्छा; भूयः—पुनः; लब्ध-भक्ती—अपनी भक्ति को पुनः प्राप्त करके; भविष्यतः—हो जोयेंगे।.

ये दोनों युवक, नलकूवर तथा मणिग्रीव, भाग्यवश महान् देवता कुवेर के पुत्र हैं किन्तु मिथ्या प्रतिष्ठा तथा शराब पीने से उत्पन्न उन्मत्तता के कारण ये इतने पतित हो चुके हैं कि नंगे होकर भी यह नहीं समझ पा रहे कि वे नंगे हैं। अतः वृक्षों की तरह रहने वाले (वृक्ष नंगे होते हैं किन्तु चेतन नहीं होते) इन दोनों युवकों को वृक्षों का शरीर मिलना चाहिए। यही इनके लिए समुचित दण्ड होगा। फिर भी वृक्ष बनने से लेकर अपने उद्धार के समय तक इन्हें मेरी कृपा से अपने विगत पापकर्मों की याद बनी रहेगी। यही नहीं, मेरी विशेष कृपा से, देवताओं के सौ वर्ष बीतने के बाद ये भगवान् वासुदेव का दर्शन कर सकेंगे और भक्तों के रूप में अपना असली स्वरूप प्राप्त कर सकेंगे।

तात्पर्य : वृक्ष में चेतना नहीं होती क्योंकि जब काटा जाता है, तो उसे पीड़ा का अनुभव नहीं होता। परन्तु नारदमुनि चाहते थे कि नलकूवर तथा मणिग्रीव की चेतना (स्मृति) बनी रहे जिससे वृक्ष-जीवन से मुक्ति पाने के बाद भी वे उस परिस्थिति को न भूल सकें जिसके कारण उन्हें दण्डित होना पड़ा था। अतः उन पर विशेष कृपा करने के लिए नारदमुनि ने ऐसा किया कि मुक्त होने के बाद वे वृन्दावन में कृष्ण का दर्शन कर सकें और अपनी सुप्त भक्ति को फिर से प्राप्त कर सकें।

स्वर्गलोक का एक दिन हमारे छह महीनों के बराबर होता है। यद्यपि स्वर्ग के देवता भोगी हैं किन्तु वे सब भक्त हैं इसीलिए देवता कहलाते हैं। व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं—देव तथा असुर। असुरगण कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाते हैं (*आसुरं भावमाश्रिताः*) किन्तु देवता नहीं भूलते।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।

विष्णुभक्तः स्मृतो दैव आसुरस्तद्विपर्ययः॥

(*पद्म पुराण*)

शुद्ध भक्त तथा *कर्ममिश्र* भक्त का अन्तर इस प्रकार है—शुद्ध भक्त भौतिक भोग के लिए किसी वस्तु की कामना नहीं करता जबकि कर्ममिश्र भक्त इस जगत का सर्वोपरि भोक्ता बनने के लिए भक्त बनता है। भगवान् की भक्ति के कारण प्रत्यक्ष सम्पर्क में रहने से भक्त शुद्ध तथा भौतिक इच्छाओं से अकलुषित रहता है (*अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्*)।

कर्ममिश्र भक्ति से मनुष्य स्वर्गलोक जाता है, *ज्ञानमिश्र भक्ति* से ब्रह्मतेज को प्राप्त होता है और *योगमिश्र भक्ति* से वह भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता से परिचित होता है। किन्तु शुद्ध भक्ति कर्म, ज्ञान या योग पर आश्रित नहीं रहती क्योंकि यह एकमात्र प्रेम-व्यापार से युक्त होती है। इसलिए भक्त की मुक्ति मात्र *मुक्ति* नहीं अपितु *विमुक्ति* कहलाती है और पाँचों प्रकार की मुक्तियों—सायुज्य, सारूप्य, सालोक्य, सार्ष्टि तथा सामीप्य को पार कर जाती है। शुद्ध भक्त सदैव शुद्ध सेवा में अपने को लगाता है (*आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा*)। देवता के रूप में स्वर्ग में जन्म लेने से अधिकाधिक शुद्ध भक्त बनने का तथा भगवद्धाम जाने का अवसर प्राप्त होता है। नारदमुनि ने प्रकारान्तर से मणिग्रीव तथा नलकूवर को अपने तथाकथित शाप से बहुत बड़ा अवसर प्रदान किया।

श्रीशुक उवाच

एवमुक्त्वा स देवर्षिर्गतो नारायणाश्रमम् ।
नलकूवरमणिग्रीवावासतुर्यमलार्जुनौ ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; **एवम् उक्त्वा**—ऐसा कह कर; **सः**—वह; **देवर्षिः**—परम सन्त-पुरुष नारद; **गतः**—वहाँ से चला गया; **नारायण-आश्रमम्**—अपने आश्रम, जिसे नारायण-आश्रम कहते हैं; **नलकूवर**—नलकूवर; **मणिग्रीवौ**—तथा मणिग्रीव; **आसतुः**—वहाँ रह रहे; **यमल-अर्जुनौ**—जुड़वाँ अर्जुन वृक्ष बनने के लिए।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : इस तरह कह कर देवर्षि नारद अपने आश्रम, नारायण-आश्रम को लौट गये और नलकूवर तथा मणिग्रीव जुड़वाँ अर्जुन वृक्ष (यमलार्जुन) बन गये।

तात्पर्य : आज भी अनेक जंगलों में अर्जुन वृक्ष पाये जाते हैं जिनकी छाल हृदय-व्यथा होने पर डाक्टरों द्वारा दवाई तैयार करने के काम आती है। इसका अर्थ यह हुआ कि वृक्ष होने पर भी चिकित्सा-विज्ञान के लिए छाल निकालने पर उन्हें सताया जाता है।

ऋषेर्भागवतमुख्यस्य सत्यं कर्तुं वचो हरिः ।
जगाम शनकैस्तत्र यत्रास्तां यमलार्जुनौ ॥ २४॥

शब्दार्थ

ऋषेः—ऋषि नारद का; भागवत-मुख्यस्य—भक्तों में प्रमुख; सत्यम्—सत्य, सही; कर्तुम्—सिद्ध करने के लिए; वचः—शब्द; हरिः—भगवान् कृष्ण; जगाम—गये; शनकैः—धीरे-धीरे; तत्र—वहाँ; यत्र—जहाँ; आस्ताम्—थे; यमल-अर्जुनौ—दोनों अर्जुन वृक्ष।

सर्वोच्च भक्त नारद के वचनों को सत्य बनाने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण धीरे धीरे उस स्थान पर गये जहाँ दोनों अर्जुन वृक्ष खड़े थे।

देवर्षिर्मे प्रियतमो यदिमौ धनदात्मजौ ।
तत्तथा साधयिष्यामि यद्गीतं तन्महात्मना ॥ २५॥

शब्दार्थ

देवर्षिः—परम सन्त देवर्षि नारद; मे—मेरा; प्रिय-तमः—सर्वाधिक प्रिय भक्त; यत्—यद्यपि; इमौ—ये दोनों (नलकूवर तथा मणिग्रीव); धनद-आत्मजौ—धनी पिता की सन्तान तथा अभक्त; तत्—देवर्षि के वचन; तथा—जिस प्रकार; साधयिष्यामि—सम्पन्न करूँगा (वे चाहते थे कि मैं यमलार्जुन के समक्ष आऊँ तो मैं ऐसा ही करूँगा); यत् गीतम्—जैसा कहा जा चुका है; तत्—वैसा; महात्मना—नारदमुनि द्वारा।

"यद्यपि ये दोनों युवक अत्यन्त धनी कुवेर के पुत्र हैं और उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है परन्तु देवर्षि नारद मेरा अत्यन्त प्रिय तथा वत्सल भक्त है और क्योंकि उसने चाहा था कि मैं इनके समक्ष आऊँ अतएव इनकी मुक्ति के लिए मुझे ऐसा करना चाहिए।"

तात्पर्य : नलकूवर तथा मणिग्रीव को वास्तव में न तो भक्ति से, न ही भगवान् के साक्षात्कार से कोई प्रयोजन था, क्योंकि यह कोई ऐसा-वैसा साधारण अवसर नहीं था। ऐसा नहीं है कि यदि कोई धनी हो, या विद्वान या उच्च कुल में जन्मा हो तो उसे भगवान् का साक्षात्कार हो ही जायगा। ऐसा असम्भव है। किन्तु, इस मामले में नारदमुनि की इच्छा थी कि नलकूवर तथा मणिग्रीव वासुदेव का प्रत्यक्ष दर्शन करें अतएव भगवान् ने अपने प्रिय भक्त नारदमुनि के वचनों को पूरा करना चाहा। यदि

सीधे भगवान् से वर माँगने की बजाय किसी भक्त की कृपा प्राप्त की जाय तो बड़ी आसानी से सफलता प्राप्त हो सकती है। इसीलिए श्रील भक्तिविनोद ठाकुर की संस्तुति है—*वैष्णव ठाकुर तोमार कुकुर भुलिया जानह मोरे, कृष्ण से तोमार कृष्ण दिते पार।* मनुष्य को चाहिए कि भक्त के पीछे निरन्तर कुत्ते के समान चलने की कामना करे। कृष्ण तो भक्त के हाथ बिके हुए हैं। *अदुर्लभम् आत्मभक्तौ।* अत: भक्त की कृपा के बिना कृष्ण तक सीधे पहुँचा भी नहीं जा सकता, उनकी सेवा करना तो दूर रहा। इसीलिए नरोत्तम दास ठाकुर ने गाया है—*छाडिया वैष्णव-सेवा निस्तार पायेछे केबा*—शुद्ध भक्त का दास बने बिना भवसागर से उद्धार नहीं हो सकता। हमारे गौड़ीय वैष्णव समाज में, रूप गोस्वामी का अनुसरण करते हुए हमारा पहला कार्य होता है प्रामाणिक आध्यात्मिक गुरु की शरण में जाना (*आदौ गुर्वाश्रय:*)।

इत्यन्तरेणार्जुनयोः कृष्णस्तु यमयोर्ययौ ।
आत्मनिर्वेशमात्रेण तिर्यग्गतमुलूखलम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

इति—ऐसा निश्चय करके; अन्तरेण—बीच में; अर्जुनयो:—दोनों अर्जुन वृक्षों के; कृष्ण: तु—भगवान् कृष्ण; यमयो: ययौ—दोनों वृक्षों के बीच प्रविष्ट हुए; आत्म-निर्वेश-मात्रेण—घुसते ही; तिर्यक्—तिरछी; गतम्—हो गई; उलूखलम्—ओखली।.

इस तरह कह कर कृष्ण तुरन्त ही दो अर्जुन वृक्षों के बीच प्रविष्ट हुए जिससे वह बड़ी ओखली जिससे वे बाँधे गये थे तिरछी हो गई और उनके बीच फँस गई।

बालेन निष्कर्षयतान्वगुलूखलं तद्
दामोदरेण तरसोत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ ।
निष्पेततु: परमविक्रमितातिवेप-
स्कन्धप्रवालविटपौ कृतचण्डशब्दौ ॥ २७॥

शब्दार्थ

बालेन—बालक कृष्ण द्वारा; निष्कर्षयता—घसीटते हुए; अन्वक्—पीछा करती; उलूखलम्—ओखली; तत्—वह; दाम-उदरेण—पेट से बँधे कृष्ण द्वारा; तरसा—बलपूर्वक; उत्कलित—उखड़ आईं; अङ्घ्रि-बन्धौ—दोनों वृक्षों की जड़ें; निष्पेततु:—गिर पड़े; परम-विक्रमित—परम शक्ति द्वारा; अति-वेप—बुरी तरह हिलते-डुलते हुए; स्कन्ध—तना; प्रवाल—पत्तियों के गुच्छे; विटपौ—दोनों वृक्ष; कृत—करते हुए; चण्ड-शब्दौ—भयानक शब्द।.

अपने पेट से बँधी ओखली को बलपूर्वक अपने पीछे घसीटते हुए बालक कृष्ण ने दोनों वृक्षों को उखाड़ दिया। परम पुरुष की महान् शक्ति से दोनों वृक्ष अपने तनों, पत्तों तथा टहनियों समेत बुरी तरह से हिले और तड़तड़ाते हुए भूमि पर गिर पड़े।

तात्पर्य : कृष्ण की यह लीला *दामोदर लीला* कहलाती है। इसीलिए कृष्ण का एक अन्य नाम दामोदर है। *हरिवंश* में कहा गया है—

स च तेनैव नाम्ना तु कृष्णो वै दामबन्धनात्।
गोष्ठे दामोदर इति गोपीभिः परिगीयते॥

तत्र श्रिया परमया ककुभः स्फुरन्तौ
सिद्धावुपेत्य कुजयोरिव जातवेदाः ।
कृष्णं प्रणम्य शिरसाखिललोकनाथं
बद्धाञ्जली विरजसाविदमूचतुः स्म ॥ २८॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ, जहाँ अर्जुन वृक्ष गिरे थे; श्रिया—सजायी गयी; परमया—अत्यधिक; ककुभः—सारी दिशाएँ; स्फुरन्तौ—तेज से प्रकाशित; सिद्धौ—दो सिद्ध पुरुष; उपेत्य—निकल कर; कुजयोः—दोनों वृक्षों के बीच से; इव—सदृश; जात-वेदाः—साक्षात् अग्नि; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण को; प्रणम्य—प्रणाम करके; शिरसा—सिर के बल; अखिल-लोक-नाथम्—परम पुरुष को, जो सबों के स्वामी हैं; बद्ध-अञ्जली—हाथ जोड़े हुए; विरजसौ—तमोगुण धुल जाने पर; इदम्—यह; ऊचतुः स्म—कहा।

तत्पश्चात् जिस स्थान पर दोनों अर्जुन वृक्ष गिरे थे वहीं पर दोनों वृक्षों से दो महान् सिद्ध पुरुष, जो साक्षात् अग्नि जैसे लग रहे थे, बाहर निकल आये। उनके सौन्दर्य का तेज चारों ओर प्रकाशित हो रहा था। उन्होंने नतमस्तक होकर कृष्ण को नमस्कार किया और हाथ जोड़ कर निम्नलिखित शब्द कहे।

कृष्ण कृष्ण महायोगिंस्त्वमाद्यः पुरुषः परः ।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते ब्राह्मणा विदुः ॥ २९॥

शब्दार्थ

कृष्ण कृष्ण—हे कृष्ण, हे कृष्ण; महा-योगिन्—हे योगेश्वर; त्वम्—तुम; आद्यः—मूल कारण; पुरुषः—परम पुरुष; परः—इस सृष्टि से परे; व्यक्त-अव्यक्तम्—यह विराट जगत जो कार्य-कारण अथवा स्थूल-सूक्ष्म रूपों से बना है; इदम्—यह; विश्वम्—सारा जगत; रूपम्—रूप; ते—तुम्हारा; ब्राह्मणाः—विद्वान ब्राह्मण; विदुः—जानते हैं।

हे कृष्ण, हे कृष्ण, आपकी योगशक्ति अचिन्त्य है। आप सर्वोच्च आदि-पुरुष हैं, आप समस्त कारणों के कारण हैं, आप पास रह कर भी दूर हैं और इस भौतिक सृष्टि से परे हैं। विद्वान ब्राह्मण जानते हैं (सर्वं खल्विदं ब्रह्म—इस वैदिक कथन के आधार पर) कि आप सर्वेसर्वा हैं और यह विराट विश्व अपने स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों में आपका ही स्वरूप है।

तात्पर्य : नलकूवर तथा मणिग्रीव नामक दोनों देवता अपनी निरन्तर स्मृति के कारण नारद की कृपा से कृष्ण की श्रेष्ठता को समझ सके। अब उन्होंने स्वीकार किया, ''यह आपकी योजना थी कि

नारदमुनि के आशीर्वाद से हमारा उद्धार हो। अत: आप परम योगी हैं। आप भूत, वर्तमान तथा भविष्य—सबके जानने वाले हैं। आपने ऐसी सुन्दर योजना बनाई थी कि यद्यपि हम यहाँ पर जुड़वाँ अर्जुन वृक्ष के रूप में खड़े रहे किन्तु हमारे उद्धार के लिए छोटे बालक के रूप में आप प्रकट हुए हैं। यह आपकी ही अचिन्त्य योजना थी। आप परम पुरुष होने के कारण कुछ भी कर सकते हैं।''

त्वमेक: सर्वभूतानां देहास्वात्मेन्द्रियेश्वर: ।
त्वमेव कालो भगवान्विष्णुरव्यय ईश्वर: ॥ ३० ॥
त्वं महान्प्रकृति: सूक्ष्मा रज:सत्त्वतमोमयी ।
त्वमेव पुरुषोऽध्यक्ष: सर्वक्षेत्रविकारवित् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—आप; एक:—एक; सर्व-भूतानाम्—सारे जीवों के; देह—शरीर के; असु—प्राण के; आत्म—आत्मा के; इन्द्रिय—इन्द्रियों के; ईश्वर:—परमात्मा, नियंत्रक; त्वम्—आप; एव—निस्सन्देह; काल:—काल; भगवान्—भगवान्; विष्णु:—सर्वव्यापी; अव्यय:—अनश्वर; ईश्वर:—नियन्ता; त्वम्—आप; महान्—सबसे बड़े; प्रकृति:—भौतिक जगत; सूक्ष्मा—सूक्ष्म; रज:-सत्त्व-तम:-मयी—प्रकृति के तीन गुणों (रजो, सतो तथा तमो (गुणों) से युक्त; त्वम् एव—आप सचमुच हैं; पुरुष:—परम पुरुष; अध्यक्ष:—स्वामी; सर्व-क्षेत्र—सारे जीवों के; विकार-वित्—चंचल मन को जानने वाले।

आप हर वस्तु के नियन्ता भगवान् हैं। आप ही हर जीव का शरीर, प्राण, अहंकार तथा इन्द्रियाँ हैं। आप परम पुरुष, अक्षय नियन्ता विष्णु हैं। आप काल, तात्कालिक कारण और तीन गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुणों—वाली भौतिक प्रकृति हैं। आप इस भौतिक जगत के आदि कारण हैं। आप परमात्मा हैं। अतएव आप हर एक जीव के हृदय की बात को जानने वाले हैं।

तात्पर्य : श्रीपाद मध्वाचार्य ने *वामन पुराण* से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

रूप्यत्वात् तु जगद् रूपं विष्णो: साक्षात् सुखात्मकम्।

नित्यपूर्णं समुद्दिष्टं स्वरूपं परमात्मन: ॥

गृह्यमाणैस्त्वमग्राह्यो विकारै: प्राकृतैर्गुणै: ।
को न्विहार्हति विज्ञातुं प्राक्सिद्धं गुणसंवृत: ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

गृह्यमाणै:—दृश्य होने के कारण प्रकृति से बने शरीर को स्वीकार करने से; त्वम्—आप; अग्राह्य:—प्रकृति से निर्मित शरीर में ही सीमित न रह कर; विकारै:—मन द्वारा विचलित; प्राकृतै: गुणै:—प्रकृति के गुणों द्वारा (सत्त्व गुण, रजोगुण तथा तमो गुण); क:—कौन है; नु—उसके बाद; इह—इस जगत में; अर्हति—योग्य होता है; विज्ञातुम्—जानने के लिए; प्राक् सिद्धम्—सृष्टि के पूर्व उपस्थित; गुण-संवृत:—भौतिक गुणों से आच्छन्न होने के कारण।

हे प्रभु, आप सृष्टि के पूर्व से विद्यमान हैं। अत: इस जगत में भौतिक गुणों वाले शरीर में बन्दी रहने वाला ऐसा कौन है, जो आपको समझ सके?

तात्पर्य : कहा गया है (*भक्तिरसामृत सिन्धु* १.२.२३४)

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।

सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥

कृष्ण के नाम, गुण तथा रूप परम सत्य हैं, जो सृष्टि के प्रारम्भ से विद्यमान हैं। अतः जो सृजित किये गये हैं—जो भौतिक तत्त्वों से बने शरीरों में बन्दी हैं—भला वे कृष्ण को किस तरह भलीभाँति समझ सकते हैं? ऐसा सम्भव नहीं। किन्तु, *सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः*—जो भक्ति में लगे हैं उनके समक्ष कृष्ण प्रकट होते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१८.१५) में भी स्वयं भगवान् ने की है— *भक्त्या मामभिजानाति।* कभी कभी *श्रीमद्भागवत* में दिये गये कृष्ण विषयक विवरणों का मन्द बुद्धि वाले अल्पज्ञ लोग गलत अर्थ लगाते हैं। अतः उन्हें जानने का सर्वोत्तम उपाय है कि शुद्ध भक्ति में प्रवृत्त हुआ जाय। भक्ति में जो जितनी प्रगति करता है, वह उन्हें यथार्थ रूप में उतना ही अधिक समझ सकता है। यदि भौतिक पद से कृष्ण को समझा जा सकता तो क्योंकि कृष्णा ही सबकुछ है (सर्वं खलु इदं ब्रह्म) इस संसार की किसी भी वस्तु को देखकर कृष्ण को समझा जा सकता था। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

(*भगवद्गीता* ८.४)

सारी वस्तुएँ कृष्ण पर टिकी हैं और सारी वस्तुएँ कृष्ण हैं किन्तु भौतिक पद पर स्थित व्यक्तियों को इसकी अनुभूति नहीं हो पाती।

तस्मै तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे ।
आत्मद्योतगुणैश्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः ॥ ३३॥

शब्दार्थ

तस्मै—उसको; तुभ्यम्—आपको; भगवते—भगवान् को; वासुदेवाय—संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के उद्गम वासुदेव को; वेधसे—सृष्टि के उद्गम को; आत्म-द्योत-गुणैः छन्न-महिम्ने—आपको, जिसका यश अपनी ही शक्ति से आच्छादित है; ब्रह्मणे—परब्रह्म को; नमः—हमारा नमस्कार।

अपनी ही शक्ति से आच्छादित महिमा वाले हे प्रभु, आप भगवान् हैं। आप सृष्टि के उद्गम, संकर्षण, हैं और चतुर्व्यूह के उद्गम, वासुदेव, हैं। आप सर्वस्व होने से परब्रह्म हैं अतएव हम

आपको सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : कृष्ण को विस्तार से जानने का प्रयास करने की अपेक्षा श्रेयस्कर यही होगा कि हम उन्हें सादर नमस्कार करें क्योंकि वे हर वस्तु के उद्‍गम हैं और सर्वस्व हैं। चूँकि हम प्रकृति के गुणों से प्रच्छन्न हैं अतएव जब तक वे हमारे समक्ष प्रकट न हों तब तक हमारे लिए उन्हें समझ पाना अत्यन्त कठिन है। इसलिए यह स्वीकार करना श्रेयस्कर है कि वे ही सर्वस्व हैं और हम उनके चरणकमलों में नमस्कार करें।

यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिण: ।
तैस्तैरतुल्यातिशयैर्वीर्यैर्देहिष्वसङ्गतै: ॥ ३४॥
स भवान्सर्वलोकस्य भवाय विभवाय च ।
अवतीर्णोऽंशभागेन साम्प्रतं पतिराशिषाम् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; अवतारा:—विभिन्न अवतार यथा मत्स्य, कूर्म, वराह; ज्ञायन्ते—कल्पित किये जाते हैं; शरीरेषु—भिन्न भिन्न प्रकार से दृश्य विभिन्न शरीरों में; अशरीरिण:—सामान्य शरीर नहीं अपितु दिव्य हैं; तै: तै:—उन्हीं उन्हीं कर्मों द्वारा; अतुल्य—अतुलनीय; अति-शयै:—असीम; वीर्यै:—बल द्वारा; देहिषु—शरीरधारियों द्वारा; असङ्गतै:—विभिन्न अवतारों में जो कार्य कर पाना असम्भव है; स:—वही परमेश्वर; भवान्—आप; सर्व-लोकस्य—हर एक की; भवाय—उन्नति के लिए; विभवाय—मुक्ति के लिए; च—तथा; अवतीर्ण:—अवतरित हुए हैं; अंश-भागेन—अंश समेत पूर्ण शक्ति में; साम्प्रतम्—इस क्षण; पति: आशिषाम्—आप समस्त शुभ के स्वामी भगवान् हैं।.

आप मत्स्य, कूर्म, वराह जैसे शरीरों में प्रकट होकर ऐसे प्राणियों द्वारा सम्पन्न न हो सकने वाले कार्यकलाप—असामान्य, अतुलनीय, असीम शक्ति वाले दिव्य कार्य—प्रदर्शित करते हैं। अतएव आपके ये शरीर भौतिक तत्त्वों से नहीं बने होते अपितु आपके अवतार होते हैं। आप वही भगवान् हैं, जो अब अपनी पूर्ण शक्ति के साथ इस जगत के सारे जीवों के लाभ के लिए प्रकट हुए हैं।

तात्पर्य : *भगवद्‍गीता* (४.७-८) में कहा गया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

जब असली आध्यात्मिक जीवन का ह्रास होता है और जब संसार में उत्पात मचाने के लिए धूर्तों

तथा चोरों की वृद्धि होती है, तो कृष्ण प्रकट होते हैं। अभागे, अल्पज्ञ, भक्तिहीन लोग भगवान् के कार्यकलापों को नहीं समझ सकते अत: ऐसे व्यक्ति ऐसे कार्यों को *कल्पना* बतलाते हैं क्योंकि वे धूर्त तथा अधम होते हैं (*न मां दुष्कृतिनो मूढा: प्रपद्यन्ते नराधमा:*)। ऐसे लोग यह नहीं समझ पाते कि पुराणों तथा अन्य शास्त्रों में व्यासदेव ने जिन घटनाओं का वर्णन किया है वे काल्पनिक नहीं अपितु यथार्थ हैं।

कृष्ण अपनी असीमपूर्ण शक्ति से प्रदर्शित करते हैं कि वे भगवान् हैं क्योंकि दोनों वृक्ष इतने विशाल तथा सुदृढ़ थे कि कई हाथी मिल कर भी उन्हें हिला नहीं सकते थे। पर बालकरूप कृष्ण ने ऐसी असामान्य शक्ति दिखलाई कि वे धमाके के साथ भूमि पर गिर पड़े। प्रारम्भ से ही पूतना, शकटासुर तथा तृणावर्त को मार कर, वृक्षों को गिराकर तथा अपने मुख के भीतर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड दिखलाकर कृष्ण ने सिद्ध कर दिया था कि वे भगवान् हैं। पापकर्मों के कारण अधमाधम (*मूढ*) इसे नहीं समझ सकता किन्तु भक्तगण इसे किसी शंका के बिना स्वीकार कर लेते हैं। इस तरह भक्त का स्थान अभक्त से भिन्न है।

नम: परमकल्याण नम: परममङ्गल ।
वासुदेवाय शान्ताय यदूनां पतये नम: ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

नम:—हम नमस्कार करते हैं; परम-कल्याण—आप परम कल्याण हैं; नम:—हमारा आपको नमस्कार; परम-मङ्गल—आप जो भी करते हैं वह उत्तम है; वासुदेवाय—वासुदेव को; शान्ताय—अत्यन्त शान्त को; यदूनाम्—यदुवंश के; पतये—नियन्ता को; नम:—हमारा नमस्कार है।

हे परम कल्याण, हम आपको सादर नमस्कार करते हैं क्योंकि आप परम शुभ हैं। हे यदुवंश के प्रसिद्ध वंशज तथा नियन्ता, हे वसुदेव-पुत्र, हे परम शान्त, हम आपके चरणकमलों में सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : *परम-कल्याण* शब्द महत्त्वपूर्ण है क्योंकि कृष्ण अपने किसी भी अवतार में साधुओं की रक्षा करने के लिए ही प्रकट होते हैं (*परित्राणाय साधूनाम्*)। साधुगण अर्थात् सन्त-पुरुष या भक्तगण सदैव असुरों द्वारा सताये जाते हैं और कृष्ण विविध अवतारों में प्रकट होकर उन्हें राहत दिलाते हैं। उनका यह पहला कार्य है। यदि हम कृष्ण के जीवन का इतिहास पढ़ें तो पायेंगे कि अधिकांश जीवन में वे एक एक करके असुरों का वध करने में ही लगे रहे।

अनुजानीहि नौ भूमंस्तवानुचरकिङ्करौ ।
दर्शनं नौ भगवत ऋषेरासीदनुग्रहात् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

अनुजानीहि—आप अनुमति दें; नौ—हमें; भूमन्—हे विराट रूप; तव अनुचर-किङ्करौ—हम आपके विश्वस्त भक्त नारदमुनि के दास हैं; दर्शनम्—साक्षात् देखने के लिए; नौ—हमारा; भगवतः—आपका; ऋषेः—नारद ऋषि का; आसीत्—था (शाप के रूप में); अनुग्रहात्—कृपा से।

हे परम रूप, हम सदैव आपके दासों के, विशेष रूप से नारदमुनि के दास हैं। अब आप हमें अपने घर जाने की अनुमति दें। यह तो नारदमुनि की कृपा है कि हम आपका साक्षात् दर्शन कर सके।

तात्पर्य : भक्त का आशीर्वाद पाये बिना मनुष्य को अनुभूति नहीं हो पाती कि कृष्ण भगवान् हैं। *मनुष्याणां सहस्रेषु, कश्चिद् यतति सिद्धये। भगवद्गीता* के इस श्लोक (७.३) के अनुसार, ऐसे अनेक सिद्ध या योगी हैं, जो कृष्ण को नहीं समझ पाते। उल्टे वे उनका गलत अर्थ लगाते हैं। किन्तु यदि नारद की परम्परा से चले आ रहे (*स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः*) भक्त की शरण ग्रहण की जाय तो यह समझ में आ सकता है कि कौन व्यक्ति भगवान् का अवतार है। इस युग में अनेक छद्म अवतार इसलिए विज्ञापित किये जाते हैं कि वे कुछ जादूगरी दिखला चुके हैं किन्तु नारद के दासों तथा कृष्ण के अन्य दासों के अतिरिक्त अन्य कोई भी यह नहीं समझ सकता कि कौन ईश्वर है और कौन नहीं है। इसकी पुष्टि नरोत्तम दास ठाकुर ने की है। *छाडिया वैष्णवसेवा निस्तार पायेछे केबा*—जब तक किसी वैष्णव की कृपा नहीं होती तब तक जीवन के भौतिक बोध से कोई छुटकारा नहीं पाता। अन्य लोग न तो कल्पना से न ही शारीरिक या मानसिक आसनों से कभी समझ सकेंगे।

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम् ॥ ३८॥

शब्दार्थ

वाणी—शब्द, बोलने की शक्ति; गुण-अनुकथने—सदैव आपकी लीलाओं के विषय में बातें करने में व्यस्त; श्रवणौ—कान; कथायाम्—आपकी तथा आपकी लीलाओं के विषय में बातें करने में; हस्तौ—हाथ, पैर तथा अन्य इन्द्रियाँ; च—भी; कर्मसु—आपका आदेश पालन करने में लगाकर; मनः—मन; तव—आपका; पादयोः—चरणकमलों का; नः—हमारी; स्मृत्याम्—ध्यान में लगी स्मृति में; शिरः—सिर; तव—आपका; निवास-जगत्-प्रणामे—चूँकि आप सर्वव्यापी हैं और सर्वस्व हैं तथा हमारे

सिरों को नत होना चाहिए, भोग के लिए नहीं; दृष्टिः—देखने की शक्ति; सताम्—वैष्णवों के; दर्शने—दर्शन करने में; अस्तु—इसी तरह लगे रहें; भवत्-तनूनाम्—जो आपसे अभिन्न हैं।

अब से हमारे सभी शब्द आपकी लीलाओं का वर्णन करें, हमारे कान आपकी महिमा का श्रवण करें, हमारे हाथ, पाँव तथा अन्य इन्द्रियाँ आपको प्रसन्न करने के कार्यों में लगें तथा हमारे मन सदैव आपके चरणकमलों का चिन्तन करें। हमारे सिर इस संसार की हर वस्तु को नमस्कार करें क्योंकि सारी वस्तुएँ आपके ही विभिन्न रूप हैं और हमारी आँखें आपसे अभिन्न वैष्णवों के रूपों का दर्शन करें।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् को समझने की विधि दी गई है। यह विधि *भक्ति* है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(*भागवत* ७.५.२३)

हर वस्तु को भगवान् की सेवा में लगाना चाहिए। *हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते* (नारद पञ्चरात्र)। भगवान् कृष्ण की सेवा में हर वस्तु को—मन, शरीर तथा सारी इन्द्रियों को—लगाना चाहिए। इसे नारद, स्वयम्भू तथा शम्भु जैसे दक्ष भक्तों से सीखना होगा। यही विधि है। हम भगवान् को समझने की अपनी विधि नहीं गढ़ सकते क्योंकि ऐसा नहीं है कि हम जो भी कल्पना कर लें या मन से गढ़ लें उससे भगवान् का ज्ञान हो जायेगा। ऐसा विचार—*यत मत, तत पथ*—मूर्खतापूर्ण होता है। कृष्ण कहते हैं—*भक्त्याहमेकया ग्राह्यः*—केवल भक्ति के कार्यों द्वारा मुझे समझा जा सकता है (*भागवत* ११.१४.२१)। यह *आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्* अर्थात् भगवान् की सेवा में अनुकूल भाव से लगे रहना कहलाता है।

श्रीशुक उवाच

इत्थं सङ्कीर्तितस्ताभ्यां भगवान्गोकुलेश्वरः ।
दाम्ना चोलूखले बद्धः प्रहसन्नाह गुह्यकौ ॥ ३९॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इत्थम्—इस प्रकार, जैसाकि पहले कहा जा चुका है; सङ्कीर्तितः—महिमा का गायन किये जाने तथा प्रशंसित होने पर; ताभ्याम्—दोनों देवताओं द्वारा; भगवान्—भगवान्; गोकुल-ईश्वरः—गोकुल के स्वामी (क्योंकि वे सर्व-लोक-महेश्वर हैं); दाम्ना—रस्सी से; च—भी; उलूखले—ओखली में; बद्धः—बँधे हुए; प्रहसन्—हँसते हुए; आह—कहा; गुह्यकौ—दोनों देवताओं से।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : इस तरह दोनों देवताओं ने भगवान् की स्तुति की। यद्यपि

भगवान् कृष्ण सबों के स्वामी हैं और गोकुलेश्वर थे किन्तु वे गोपियों की रस्सियों द्वारा लकड़ी की ओखली से बाँध दिये गये थे इसलिए उन्होंने हँसते हुए कुवेर के पुत्रों से ये शब्द कहे।

तात्पर्य : कृष्ण इसलिए मुसका रहे थे क्योंकि वे सोच रहे थे, "ये दोनों युवा देवता स्वर्गलोक से इस लोक में गिरे हैं और यद्यपि दीर्घकाल से वृक्षों के रूप में खड़े इन दोनों को मैंने बन्धन से छुटकारा दिला दिया है किन्तु मैं स्वयं गोपियों की रस्सियों से बँधा हुआ हूँ और उनकी डाँटे सह रहा हूँ।" दूसरे शब्दों में, कृष्ण शुद्ध प्रेमवश जो भक्त द्वारा कई विधियों से प्रशंसनीय है, गोपियों द्वारा डाँटे तथा बाँधे जाने को अंगीकार करते हैं।

श्रीभगवानुवाच
ज्ञातं मम पुरैवैतदृषिणा करुणात्मना ।
यच्छ्रीमदान्धयोर्वाग्भिर्विभ्रंशोऽनुग्रहः कृतः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; ज्ञातम्—ज्ञात है; मम—मुझको; पुरा—भूतकाल में; एव—निस्सन्देह; एतत्—यह घटना; ऋषिणा—नारद ऋषि से; करुणा-आत्मना—तुम पर अत्यधिक कृपालु होने के कारण; यत्—जो; श्री-मद-अन्धयोः—जो भौतिक ऐश्वर्य के पीछे उन्मत्त हो चुके थे फलतः अंधे बन गये थे; वाग्भिः—वाणी से या शाप से; विभ्रंशः—स्वर्गलोक से गिर कर यहाँ पर अर्जुन वृक्ष बनने के लिए; अनुग्रहः कृतः—तुम पर उन्होंने बहुत अनुग्रह किया है।

भगवान् ने कहा : परम सन्त नारदमुनि अत्यन्त कृपालु हैं। उन्होंने अपने शाप से तुम दोनों पर बहुत बड़ा अनुग्रह किया है क्योंकि तुम दोनों भौतिक ऐश्वर्य के पीछे उन्मत्त होकर अन्धे बन चुके थे। यद्यपि तुम दोनों स्वर्गलोक से गिर कर वृक्ष बने थे किन्तु उन्होंने तुम दोनों पर सर्वाधिक कृपा की। मैं प्रारम्भ से ही इन घटनाओं को जानता था।

तात्पर्य : अब भगवान् द्वारा इसकी पुष्टि हो जाती है कि भक्त का शाप अनुग्रह भी माना जाता है। जिस तरह कृष्ण अर्थात् ईश्वर सर्वमंगल रूप हैं उसी तरह वैष्णव भी होता है। वह जो भी करता है, वह हर एक के लिए शुभ होता है। इसकी व्याख्या अगले श्लोक में की गई है।

साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम् ।
दर्शनान्नो भवेद्बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

साधूनाम्—सारे भक्तों का; सम-चित्तानाम्—जो हर एक के प्रति समभाव रखते हैं; सुतराम्—पूर्णतया; मत्-कृत-आत्मनाम्—उन व्यक्तियों का जो पूर्ण शरणागत हैं या मेरी सेवा करने के लिए कृतसंकल्प हैं; दर्शनात्—मात्र दर्शन करने से; नो भवेत् बन्धः—सारे भौतिक बन्धन से मुक्ति; पुंसः—व्यक्ति का; अक्ष्णोः—आँखों का; सवितुः यथा—मानो सूर्य के समक्ष हो।

जब कोई व्यक्ति सूर्य के समक्ष होता है, तो उसकी आँखों में अँधेरा नहीं रह जाता। इसी तरह जब कोई व्यक्ति ऐसे साधु या भक्त के समक्ष होता है, जो पूर्णतया दृढ़ तथा भगवान् के शरणागत होता है, तो उसका भव-बन्धन छूट जाता है।

तात्पर्य : चैतन्य महाप्रभु ने (*चैतन्य-चरितामृ, मध्य* २२.५४) कहा है—

'साधु-संग' 'साधु-संग'—सर्व-शास्त्रे कय।

लव-मात्र साधु-संगे सर्वसिद्धि हय॥

यदि संयोगवश किसी की साधु अर्थात् भक्त से भेंट हो जाती है, तो उसका जीवन तत्क्षण सफल हो जाता है और वह भव-बन्धन से छूट जाता है। यह तर्क किया जा सकता है कि जहाँ एक व्यक्ति साधु का अत्यधिक आदर करता है, वहाँ दूसरा व्यक्ति साधु का उतना आदर नहीं कर पाता। किन्तु साधु हर व्यक्ति पर सम-दृष्टि रखता है। शुद्ध भक्त होने से साधु सदैव भेदभाव भूल कर कृष्णभावनामृत प्रदान करने के लिए उद्यत रहता है। साधु का दर्शन करने से ही मनुष्य मुक्त हो जाता है। तो भी जो लोग अत्यधिक अपराधी हैं, जो *वैष्णव अपराध* करते हैं या साधु अपराध करते हैं, उन्हें सुधरने में कुछ समय लगता है। इसका भी इसमें संकेत है।

तद्गच्छतं मत्परमौ नलकूवर सादनम् ।
सञ्जातो मयि भावो वामीप्सितः परमोऽभवः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तत् गच्छतम्—अब तुम दोनों जा सकते हो; मत्-परमौ—मुझे अपने जीवन का परम लक्ष्य मान कर; नलकूवर—हे नलकूवर तथा मणिग्रीव; सादनम्—अपने घर; सञ्जातः—सम्पृक्त; मयि—मुझमें; भावः—भक्ति; वाम्—तुम्हारे द्वारा; ईप्सितः—अभिलषित; परमः—सर्वोच्च, सारी इन्द्रियों से सदैव संलग्न; अभवः—जिससे जगत में आना न हो।

हे नलकूवर तथा मणिग्रीव, अब तुम दोनों अपने घर वापस जा सकते हो। चूँकि तुम मेरी भक्ति में सदैव लीन रहना चाहते हो अतः मेरे प्रति प्रेम उत्पन्न करने की तुम दोनों की इच्छा पूरी होगी और अब तुम उस पद से कभी भी नीचे नहीं गिरोगे।

तात्पर्य : जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है भक्ति-पद को प्राप्त करना और भक्ति कार्यों में सदैव लगे रहना। ऐसा जान कर ही नलकूवर तथा मणिग्रीव ने उस पद को प्राप्त करना चाहा और भगवान् ने उनकी वह दिव्य अभिलाषा पूरी होने का आशीर्वाद दिया।

श्रीशुक उवाच
इत्युक्तौ तौ परिक्रम्य प्रणम्य च पुनः पुनः ।
बद्धोलूखलमामन्त्र्य जग्मतुर्दिशमुत्तराम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति उक्तौ—इस तरह भगवान् द्वारा आदेश दिये जाने पर; तौ—नलकूवर तथा मणिग्रीव; परिक्रम्य—परिक्रमा करके; प्रणम्य—नमस्कार करके; च—भी; पुनः पुनः—फिर फिर, बारम्बार; बद्ध-उलूखलम् आमन्त्र्य—ओखली से बँधे भगवान् से अनुमति लेकर; जग्मतुः—विदा हो गये; दिशम् उत्तराम्—अपने अपने गन्तव्यों को।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार कहे जाने पर, उन दोनों देवताओं ने लकड़ी की ओखली से बँधे भगवान् की परिक्रमा की और उनको नमस्कार किया। भगवान् कृष्ण से अनुमति लेने के बाद वे अपने अपने धामों को वापस चले गये।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के अन्तर्गत ''यमलार्जुन वृक्षों का उद्धार'' नामक दसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter ग्यारह

कृष्ण की बाल-लीलाएँ

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह गोकुलवासी गोकुल छोड़ कर वृन्दावन चले गये और किस तरह कृष्ण ने वत्सासुर तथा बकासुर का वध किया।

जब यमल अर्जुन वृक्ष धम्म से गिरे तो वज्रपात की भाँति जोरदार शोर हुआ। चकित हुए कृष्ण के पिता नन्द तथा गोकुल के अन्य वृद्ध निवासी उस स्थान पर गये जहाँ उन्होंने वृक्षों को गिरे हुए तथा लकड़ी की उलूखल से बँधे कृष्ण को उनके बीच खड़ा पाया। उन्हें वृक्षों के गिरने तथा वहाँ पर कृष्ण के होने का कोई कारण नहीं दिखा। उन्होंने सोचा कि यह किसी अन्य असुर की करतूत हो सकती है, जो कृष्ण से वहाँ पर मिला होगा। उन्होंने कृष्ण के संगियों से पूछा कि यह घटना किस तरह घटी? बालकों ने पूरी घटना ठीक तरह कह सुनाई किन्तु वृद्धजनों को इस कथा पर विश्वास नहीं हुआ। कुछ लोगों ने सोचा कि यह घटना सच हो सकती है क्योंकि इसके पूर्व वे कृष्ण के साथ अनेक अद्भुत घटनाएँ देख चुके थे। खैर, नन्द महाराज ने तुरन्त ही कृष्ण की रस्सियाँ खोल दीं।

इस तरह कृष्ण प्रतिदिन और प्रतिक्षण नन्द महाराज तथा यशोदा के वात्सल्य-प्रेम को बढ़ाने के लिए एक से एक अद्भुत घटनाओं का प्रदर्शन करते रहे जिससे उनको आश्चर्य तथा हर्ष का अनुभव

होता रहा। यमलार्जुन का गिराना ऐसी अद्‌भुत लीलाओं में से एक थी।

एक दिन एक फल बेचने वाली स्त्री नन्द महाराज के घर के निकट आयी तो कृष्ण घर से अपनी छोटी-सी अंजुली में थोड़ा अन्न लेकर उसके बदले में फल लेने के लिए उसके पास पहुँचे। रास्ते में उनकी हथेली से लगभग सारा अन्न गिर गया था केवल एक या दो दाने मुश्किल से बचे होंगे। किन्तु फल बेचने वाली स्त्री ने स्नेहवश इन दानों के बदले कृष्ण की इच्छानुसार फल दे दिये। ज्योंही उसने ऐसा किया, उसकी डलिया सोने तथा रत्नों से भर गई।

तत्पश्चात् सारे गोपों ने गोकुल छोड़ने का निश्चय कर लिया क्योंकि उन्होंने देखा कि गोकुल में नित्य ही उपद्रव होते रहते थे। उन्होंने वृन्दावन अथवा व्रजधाम जाने का निश्चय किया और अगले ही दिन वे वहाँ से रवाना हो गये। कृष्ण तथा बलराम ने अपनी बाल-लीलाएँ समाप्त करके वृन्दावन में बछड़ों का भार सँभाल लिया और उन्हें चरागाहों (गो चरण) तक चराने ले जाने लगे। इस अवधि में वत्सासुर नामक राक्षस बछड़ों के बीच में घुस आया जिसका कृष्ण ने वध कर दिया। एक अन्य असुर जो बड़े बगुले की आकृति का था (बकासुर), मारा गया। जब कृष्ण के साथियों ने ये कथाएँ अपनी अपनी माताओं को सुनाईं तो वे इन पर विश्वास नहीं कर पाईं किन्तु स्नेह से पूर्ण होने के कारण उन्होंने कृष्ण के कार्यकलापों की इन कथाओं का आनन्द अवश्य लिया।

श्रीशुक उवाच

गोपा नन्दादयः श्रुत्वा द्रुमयोः पततो रवम् ।
तत्राजग्मुः कुरुश्रेष्ठ निर्घातभयशङ्किताः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; गोपाः—सारे ग्वाले; नन्द-आदयः—नन्द महाराज इत्यादि; श्रुत्वा—सुन कर; द्रुमयोः—दोनों वृक्षों के; पततोः—गिरने की; रवम्—तेज आवाज, वज्रपात जैसी; तत्र—वहाँ, उस स्थान पर; आजग्मुः—गये; कुरु-श्रेष्ठ—हे महाराज परीक्षित; निर्घात-भय-शङ्किताः—वज्रपात होने से भयभीत।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : हे महाराज परीक्षित, जब यमलार्जुन वृक्ष गिर पड़े तो आसपास के सारे ग्वाले भयानक शब्द सुन कर वज्रपात की आशंका से उस स्थान पर गये।

भूम्यां निपतितौ तत्र ददृशुर्यमलार्जुनौ ।
बभ्रमुस्तदविज्ञाय लक्ष्यं पतनकारणम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

भूम्याम्—भूमि पर; निपतितौ—गिरे हुए; तत्र—वहाँ; ददृशुः—सबों ने देखा; यमल-अर्जुनौ—अर्जुन वृक्ष के जोड़े को; बभ्रमुः—मोहग्रस्त हो गये; तत्—वह; अविज्ञाय—पता न लगा सके; लक्ष्यम्—यह देखते हुए भी कि वृक्ष गिरे हैं; पतन-कारणम्—गिरने का कारण (सहसा ऐसा कैसे हुआ?)।

वहाँ उन सबों ने यमलार्जुन वृक्षों को जमीन पर गिरे हुए तो देखा किन्तु वे विमोहित थे क्योंकि वे आँखों के सामने वृक्षों को गिरे हुए तो देख रहे थे किन्तु उनके गिरने के कारण का पता नहीं लगा पा रहे थे।

तात्पर्य : सभी परिस्थितियों पर विचार करने पर प्रश्न उठता है कि क्या यह कृष्ण की करतूत है? वे तो उसी स्थान पर खड़े थे और उनके साथियों ने कह सुनाया कि यह सब कुछ कृष्ण ने किया था। क्या सचमुच कृष्ण ने ऐसा किया था या वह मनगढंत कहानी थी? विमोहित होने का कारण यही था।

उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं च बालकम् ।
कस्येदं कुत आश्चर्यमुत्पात इति कातराः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

उलूखलम्—ओखली को; विकर्षन्तम्—खींचते हुए; दाम्ना—रस्सी से; बद्धम् च—तथा उदर से बँधी; बालकम्—कृष्ण को; कस्य—किसका; इदम्—यह; कुतः—कहाँ से; आश्चर्यम्—ये अद्भुत घटनाएँ; उत्पातः—उपद्रव; इति—इस प्रकार; कातराः—अत्यधिक क्षुब्ध।

कृष्ण रस्सी द्वारा ओखली से बँधे थे जिसे वे खींच रहे थे। किन्तु उन्होंने वृक्षों को किस तरह गिरा लिया? वास्तव में किसने यह किया? इस घटना का स्रोत कहाँ है? इन आश्चर्यजनक बातों को सोच सोच कर सारे ग्वाले सशंकित तथा मोहग्रस्त थे।

तात्पर्य : सारे ग्वाले अत्यन्त क्षुब्ध थे क्योंकि बालक कृष्ण दोनों वृक्षों के बीच खड़ा था और यदि संयोगवश ये वृक्ष उस पर गिर जाते तो वह चटनी हो जाता। किन्तु वह जैसे का तैसा खड़ा था और फिर भी घटना घट गई। तो फिर यह सब किसने किया? ये सारी घटनाएँ इस आश्चर्यमय ढंग से कैसे घटीं? उनके क्षुब्ध तथा मोहित होने का कारण यही शंकाएँ थीं। किन्तु उन्होंने सोचा कि दैववश कृष्ण सुरक्षित है, अतः उसे कुछ भी नहीं हुआ।

बाला ऊचुरनेनेति तिर्यग्गतमुलूखलम् ।
विकर्षता मध्यगेन पुरुषावप्यचक्ष्महि ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

बालाः—सारे बालकों ने; ऊचुः—कहा; अनेन—उसके (कृष्ण) द्वारा; इति—इस प्रकार; तिर्यक्—टेढ़ी; गतम्—हुई; उलूखलम्—ओखली; विकर्षता—कृष्ण द्वारा खींचे जाने से; मध्य-गेन—दोनों वृक्षों के बीच जाकर; पुरुषौ—दो सुन्दर व्यक्ति; अपि—भी; अचक्ष्महि—हमने अपनी आँखों से देखा है।

तब सारे ग्वालबालों ने कहा : इसे तो कृष्ण ने ही किया है। जब यह दो वृक्षों के बीच में था, तो ओखली तिरछी हो गई। कृष्ण ने ओखली को खींचा तो दोनों वृक्ष गिर गये। इसके बाद इन वृक्षों से दो सुन्दर व्यक्ति निकल आये। हमने इसे अपनी आँखों से देखा है।

तात्पर्य : कृष्ण के साथी कृष्ण के पिता को यह कह कर पूरी स्थिति बताना चाह रहे थे कि न केवल वृक्ष ही टूट कर गिरे अपितु इन टूटे वृक्षों से दो सुन्दर व्यक्ति निकल आये। उन्होंने बतलाया, "ये सारी बातें घटीं हैं और इन्हें हमने आँखों से देखा है।"

न ते तदुक्तं जगृहुर्न घटेतेति तस्य तत् ।
बालस्योत्पाटनं तर्वोः केचित्सन्दिग्धचेतसः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ते—सारे गोप; तत्-उक्तम्—बालकों द्वारा कहे गये; जगृहुः—स्वीकार करेंगे; न घटेत—ऐसा नहीं हो सकता; इति—इस प्रकार; तस्य—कृष्ण का; तत्—काम; बालस्य—कृष्ण जैसे बालक का; उत्पाटनम्—जड़ समेत उखाड़ना; तर्वोः—दोनों वृक्षों का; केचित्—किसी ने; सन्दिग्ध-चेतसः—क्या किया जा सकता है इसके विषय में सशंकित (क्योंकि गर्गमुनि ने भविष्यवाणी की थी कि यह बालक नारायण के समान होगा)।

तीव्र पितृ-स्नेह के कारण नन्द इत्यादि ग्वालों को विश्वास ही नहीं हुआ कि कृष्ण ने इतने आश्चर्यमय ढंग से वृक्षों को उखाड़ा है। अतएव उन्हें बच्चों के कहने पर विश्वास नहीं हुआ। किन्तु उनमें से कुछ को सन्देह था। वे सोच रहे थे, "चूँकि कृष्ण के लिए भविष्यवाणी की गई थी कि वह नारायण के तुल्य है अतएव हो सकता है कि उसी ने यह किया हो।"

तात्पर्य : एक विचार यह था कि वृक्षों को गिराने जैसा कार्य ऐसे छोटे बालक के लिए असम्भव था। किन्तु कुछेक को सन्देह था कि कृष्ण को नारायण के तुल्य बतलाया जा चुका है। अतएव ग्वाले दुविधा में थे।

उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं स्वमात्मजम् ।
विलोक्य नन्दः प्रहसद्वदनो विमुमोच ह ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

उलूखलम्—ओखली को; विकर्षन्तम्—खींचते हुए; दाम्ना—रस्सी से; बद्धम्—बँधा हुआ; स्वम् आत्मजम्—अपने पुत्र कृष्ण को; विलोक्य—देख कर; नन्दः—नन्द महाराज; प्रहसत्-वदनः—इस अद्‌भुत बालक को देखकर मुसकाते चेहरे से; विमुमोच ह—उसे बन्धन से मुक्त कर दिया।

जब नन्द महाराज ने अपने पुत्र को रस्सी द्वारा लकड़ी की ओखली से बँधा और ओखली को घसीटते देखा तो वे मुसकाने लगे और उन्होंने कृष्ण को बन्धन से मुक्त कर दिया।

तात्पर्य : नन्द महाराज को आश्चर्य हो रहा था कि कृष्ण की माता यशोदा ने अपने प्यारे बेटे को इस तरह से बाँधा हो। कृष्ण तो उससे प्रेम का आदान-प्रदान करता है, तो फिर वह इतनी क्रूर कैसे बन गई कि उसे लकड़ी की ओखली से बाँध दिया? इस प्रेम-व्यापार को समझ कर नन्द हँस पड़े और उन्होंने कृष्ण को मुक्त कर दिया। दूसरे शब्दों में, जिस तरह भगवान् कृष्ण जीव को सकाम कर्मों से बाँधते हैं उसी तरह वे माता यशोदा तथा नन्द महाराज को वात्सल्य-प्रेम में बाँधते हैं। यही उनकी लीला है।

गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यद्भगवान्बालवत्क्वचित् ।
उद्गायति क्वचिन्मुग्धस्तद्वशो दारुयन्त्रवत् ॥ ७॥

शब्दार्थ

गोपीभिः—गोपियों के द्वारा; स्तोभितः—प्रोत्साहित, प्रेरित; अनृत्यत्—बालक कृष्ण नाचता; भगवान्—भगवान् होकर के भी; बाल-वत्—मानवी बालक के ही समान; क्वचित्—कभी; उद्गायति—जोर से गाता है; क्वचित्—कभी; मुग्धः—चकित होकर; तत्-वशः—उनके वशीभूत होकर; दारु-यन्त्र-वत्—कठपुतली की तरह।

गोपियाँ कहतीं, "हे कृष्ण, यदि तुम नाचोगे तो तुम्हें आधी मिठाई मिलेगी। ऐसे शब्द कह कर या तालियाँ बजा-बजा कर सारी गोपियाँ कृष्ण को तरह-तरह से प्रेरित करतीं। ऐसे अवसरों पर वे परम शक्तिशाली भगवान् होते हुए भी मुसका देते और उनकी इच्छानुसार नाचते मानों वे उनके हाथ की कठपुतली हों। कभी कभी वे उनके कहने पर जोर-जोर से गाते। इस तरह कृष्ण पूरी तरह से गोपियों के वश में आ गये।"

बिभर्ति क्वचिदाज्ञप्तः पीठकोन्मानपादुकम् ।
बाहुक्षेपं च कुरुते स्वानां च प्रीतिमावहन् ॥ ८॥

शब्दार्थ

बिभर्ति—कृष्ण खड़े हो जाते और वस्तुओं को इस तरह छूते मानों उठा नहीं पाते; क्वचित्—कभी; आज्ञप्तः—आदेश दिये जाने पर; पीठक-उन्मान—पीढ़ा (लकड़ी का) तथा काठ का नपना; पादुकम्—खड़ाऊँ को; बाहु-क्षेपम् च—तथा शरीर पर हाथ मारते, ताल ठोंकते; कुरुते—करता है; स्वानाम् च—तथा अपने सम्बन्धियों, गोपियों तथा अन्य मित्रों का; प्रीतिम्—आनन्द; आवहन्—बुलाते हुए।

कभी कभी माता यशोदा तथा उनकी गोपी सखियाँ कृष्ण से कहतीं, "जरा यह वस्तु लाना, जरा वह वस्तु लाना।" कभी वे उनको पीढ़ा लाने, तो कभी खड़ाऊँ या काठ का नपना लाने के

लिए आदेश देतीं और कृष्ण माताओं द्वारा इस तरह आदेश दिये जाने पर उन वस्तुओं को लाने का प्रयास करते। किन्तु कभी कभी वे उन वस्तुओं को इस तरह छूते मानो उठाने में असमर्थ हों और वहीं खड़े रहते। अपने सम्बन्धियों का हर्ष बढ़ाने के लिए वे दोनों हाथों से ताल ठोंक कर दिखाते कि वे काफी बलवान् हैं।

दर्शयंस्तद्विदां लोक आत्मनो भृत्यवश्यताम् ।
व्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान्बालचेष्टितैः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

दर्शयन्—दिखलाते हुए; तत्-विदाम्—कृष्ण के कार्यों को समझने वाले पुरुषों को; लोके—सारे जगत में; आत्मनः—अपने आप को; भृत्य-वश्यताम्—अपने दासों या भक्तों के आदेशों का पालन करने के लिए तैयार रहने वाले; व्रजस्य—व्रजभूमि के; उवाह—सम्पन्न किया; वै—निस्सन्देह; हर्षम्—आनन्द; भगवान्—भगवान्; बाल-चेष्टितैः—बच्चों के जैसे कार्यों द्वारा।

भगवान् कृष्ण ने अपने कार्यकलापों को समझने वाले संसार-भर के शुद्ध भक्तों को दिखला दिया कि किस तरह वे अपने भक्तों अर्थात् दासों द्वारा वश में किये जा सकते हैं। इस तरह अपनी बाल-लीलाओं से उन्होंने व्रजवासियों के हर्ष में वृद्धि की।

तात्पर्य : यह एक अन्य दिव्य हास्य-रस है कि कृष्ण अपने भक्तों के आनन्द-वर्धन के लिए बाल-लीलाएँ करते थे। वे इन लीलाओं को न केवल व्रजभूमि के निवासियों को दिखलाते थे अपितु अन्यों को भी जो उनकी बहिरंगा शक्ति तथा ऐश्वर्य पर मुग्ध हो जाते थे। किन्तु अन्तरंगी भक्तों को जो केवल कृष्ण-प्रेम में निमग्न रहते थे तथा बाह्य भक्तों को जो उनकी असीम शक्ति पर मुग्ध रहते थे कृष्ण की अपने दासों के वश में रहने की इच्छा का पता चला।

क्रीणीहि भोः फलानीति श्रुत्वा सत्वरमच्युतः ।
फलार्थी धान्यमादाय ययौ सर्वफलप्रदः ॥ ॥

शब्दार्थ

क्रीणीहि—आकर खरीदें; भोः—हे पड़ोसियो; फलानि—पके फलों को; इति—इस प्रकार; श्रुत्वा—सुन कर; सत्वरम्—शीघ्र; अच्युतः—कृष्ण; फल-अर्थी—मानो उन्हें फल चाहिए; धान्यम् आदाय—कुछ धान लाकर; ययौ—फल बेचने वाली के पास गये; सर्व-फल-प्रदः—हर एक को सभी फल प्रदान करने वाले भगवान् को अब फल चाहिए थे।

एक बार एक फल बेचने वाली स्त्री पुकार रही थी, "हे व्रजभूमिवासियो, यदि तुम लोगों को फल खरीदने हैं, तो मेरे पास आओ।" यह सुन कर तुरन्त ही कृष्ण ने कुछ अन्न लिया और सौदा करने पहुँच गये मानो उन्हें कुछ फल चाहिए थे।

तात्पर्य : सामान्यतया आदिवासी लोग गाँवों में फल बेचने जाते हैं। यहाँ पर बताया गया है कि आदिवासी कृष्ण से कितने अनुरक्त थे। आदिवासियों पर अनुग्रह करने के लिए वे तुरन्त अंजुरी में धान लेकर फल खरीदने चले आये क्योंकि अन्यों को ऐसा करते उन्होंने देखा था।

फलविक्रयिणी तस्य च्युतधान्यकरद्वयम् ।
फलैरपूरयद्रत्नैः फलभाण्डमपूरि च ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

फल-विक्रयिणी—फल बेचने वाली आदिवासिनी; तस्य—कृष्ण का; च्युत-धान्य—बदलने के लिए जो धान लाये थे वह गिर गया; कर-द्वयम्—अँजुली; फलैः अपूरयत्—फलवाली ने उनकी छोटी हथेलियों को फलों से भर दिया; रत्नैः—रत्नों तथा सोने के बदले में; फल-भाण्डम्—फल की टोकरी; अपूरि च—भर गई।

जब कृष्ण तेजी से फलवाली के पास जा रहे थे तो उनकी अँजुली में भरा बहुत-सा अन्न गिर गया। फिर भी फलवाली ने उनके दोनों हाथों को फलों से भर दिया। उधर उसकी फल की टोकरी तुरन्त रत्नों तथा सोने से भर गई।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२६) में कृष्ण कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः ॥

कृष्ण इतने कृपालु हैं कि यदि कोई उन्हें एक पत्ती, एक फल, एक फूल या थोड़ा जल भी अर्पित करता है, तो वे उसे तुरन्त स्वीकार कर लेते हैं। शर्त केवल इतनी ही है कि ये चीजें भक्तिपूर्वक समर्पित की जाँय (*यो मे भक्त्या प्रयच्छति*)। अन्यथा यदि कोई यह सोच कर मिथ्या प्रतिष्ठा से फूल कर कुप्पा हुआ रहे कि मेरे पास इतना ऐश्वर्य है और मैं कृष्ण को थोड़ा दे रहा हूँ तो कृष्ण इस भेंट को स्वीकार नहीं करते। फल बेचने वाली ने, निर्धन आदिवासी होते हुए भी कृष्ण से बहुत ही स्नेहपूर्ण बर्ताव किया और कहा, "कृष्ण! तुम अन्न के बदले मुझसे फल लेने आये हो। तुमने सारा अन्न गिरा दिया है फिर भी तुम जो चाहो सो ले लो।" इस तरह उसने कृष्ण की हथेली में उतने फल रख दिये जितने उसमें आ सकते थे। बदले में कृष्ण ने उसकी सारी डलिया को रत्नों तथा सोने से भर दिया।

इस घटना से हमें यह सीख लेनी चाहिए कि कृष्ण को स्नेह के साथ अर्पित की गई वस्तु के बदले वे भौतिक तथा आध्यात्मिक रूप में लाखों गुना बढ़ाकर दे सकते हैं। मूल बात है प्रेम का विनिमय। इसीलिए *भगवद्गीता* (९.२७) में कृष्ण शिक्षा देते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

"हे कुन्ती-पुत्र! तुम जो भी करते हो, जितना खाते हो, जितना भी होम करते हो, या दान में देते हो तथा जितनी भी तपस्या करते हो वह सब मुझे भेंट स्वरूप दो।" मनुष्य को चाहिए कि अपनी आमदनी में से कुछ कुछ कृष्ण को प्रेमपूर्वक अर्पित करे। तभी मनुष्य का जीवन सफल होगा। कृष्ण समस्त ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं, उन्हें किसी से कुछ भी नहीं चाहिए। किन्तु यदि कोई कृष्ण को कुछ देना चाहता है, तो इसमें उसी का लाभ है। इस सम्बन्ध में यह दृष्टान्त दिया जाता है कि जब किसी का मुख सजा होता है, तो उसके मुख का प्रतिबिम्ब स्वतः सजा होता है। इसी प्रकार यदि हम अपने ऐश्वर्य से कृष्ण की सेवा करें तो बदले में कृष्ण के अंश या प्रतिबिम्ब रूप हम सुखी होंगे। कृष्ण सदा सुखी रहते हैं क्योंकि वे *आत्माराम* हैं अर्थात् अपने ही ऐश्वर्य से पूरी तरह संतुष्ट।

सरित्तीरगतं कृष्णं भग्नार्जुनमथाह्वयत् ।
रामं च रोहिणी देवी क्रीडन्तं बालकैर्भृशम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सरित्-तीर—नदी के किनारे; गतम्—गये हुए; कृष्णम्—कृष्ण को; भग्न-अर्जुनम्—यमलार्जुन खंडित करने की लीला के बाद; अथ—तब; आह्वयत्—बुलाया; रामम् च—तथा बलराम को; रोहिणी—बलराम की माता ने; देवी—लक्ष्मी; क्रीडन्तम्—खेल में व्यस्त; बालकैः—अनेक बालकों के साथ; भृशम्—अत्यन्त मनोयोग से।

यमलार्जुन वृक्षों के उखड़ जाने के बाद एक बार रोहिणीदेवी राम तथा कृष्ण को, जो नदी के किनारे गये हुए थे और अन्य बालकों के साथ बड़े ध्यान से खेल रहे थे, बुलाने गईं।

तात्पर्य : यद्यपि रोहिणीदेवी बलराम की माता थीं किन्तु माता यशोदा रोहिणी की अपेक्षा कृष्ण तथा बलराम से अधिक अनुरक्त थीं। माता यशोदा ने रोहिणी को भेजा कि वे राम तथा कृष्ण को उनके खेल से बुला लायें क्योंकि दोपहर के भोजन का समय हो चुका था। अतः रोहिणीदेवी उन्हें अपना खेलना छोड़ कर आने के लिए बुलाने गईं।

नोपेयातां यदाहूतौ क्रीडासङ्गेन पुत्रकौ ।
यशोदां प्रेषयामास रोहिणी पुत्रवत्सलाम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

न उपेयाताम्—लौटे नहीं; यदा—जब; आहूतौ—खेल से बुला भेजे गये; क्रीडा-सङ्गेन—अन्य बालकों के साथ खेलने में इतना अनुरक्त होने के कारण; पुत्रकौ—दोनों पुत्र (कृष्ण तथा बलराम); यशोदाम् प्रेषयाम् आस—उन्हें बुलाने के लिए यशोदा को भेजा; रोहिणी—माता रोहिणी ने; पुत्र-वत्सलाम्—क्योंकि माता यशोदा कृष्ण तथा बलराम के प्रति अधिक वत्सल थीं।

अन्य बालकों के साथ खेलने में अत्यधिक अनुरक्त होने के कारण वे रोहिणी के बुलाने पर वापस नहीं आये। अतः रोहिणी ने उन्हें वापस बुलाने के लिए माता यशोदा को भेजा क्योंकि वे कृष्ण तथा बलराम के प्रति अत्यधिक स्नेहिल थीं।

तात्पर्य : *यशोदां प्रेषयाम् आस*—ये शब्द यह दिखलाते हैं कि जब रोहिणी के आदेश पर कृष्ण तथा बलराम ने लौटने की परवाह नहीं की तो रोहिणी ने सोचा कि यदि यशोदा बुलातीं तो वे लौट आये होते क्योंकि यशोदा उन दोनों को अधिक चाहती हैं।

क्रीडन्तं सा सुतं बालैरतिवेलं सहाग्रजम् ।
यशोदाजोहवीत्कृष्णं पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी ॥ १४॥

शब्दार्थ

क्रीडन्तम्—खेल में व्यस्त; सा—उस; सुतम्—अपने पुत्र को; बालैः—अन्य बालकों के साथ; अति-वेलम्—विलम्ब से; सह-अग्रजम्—अपने बड़े भाई बलराम के साथ खेल रहे; यशोदा—माता यशोदा ने; अजोहवीत्—बुलाया (अरे कृष्ण तथा बलराम आओ!); कृष्णम्—कृष्ण को; पुत्र-स्नेह-स्नुत-स्तनी—उन्हें बुलाते हुए स्नेह के कारण उनके स्तनों से दूध बहने लगा।

यद्यपि बहुत देर हो चुकी थी किन्तु कृष्ण तथा बलराम अपने खेल में अनुरक्त होने के कारण अन्य बालकों के साथ खेलते रहे। इसलिए अब माता यशोदा ने भोजन करने के लिए उन्हें बुलाया। कृष्ण तथा बलराम के प्रति उत्कट प्रेम तथा स्नेह होने से उनके स्तनों से दूध बहने लगा।

तात्पर्य : *अजोहवीत्* शब्द का अर्थ है "बारम्बार पुकारना।" उन्होंने पुकारा, "कृष्ण तथा बलराम! वापस आ जाओ। खाने को देर हो रही है। अब बहुत खेल चुके हो। वापस आओ।"

कृष्ण कृष्णारविन्दाक्ष तात एहि स्तनं पिब ।
अलं विहारैः क्षुत्क्षान्तः क्रीडाश्रान्तोऽसि पुत्रक ॥ १५॥

शब्दार्थ

कृष्ण कृष्ण अरविन्द-अक्ष—हे कृष्ण, मेरे बेटे, कमल जैसे नेत्रों वाले कृष्ण; तात—हे प्रिय; एहि—यहाँ आओ; स्तनम्—मेरे स्तन के दूध को; पिब—पियो; अलम् विहारैः—इसके बाद खेलने की कोई आवश्यकता नहीं है; क्षुत्-क्षान्तः—भूख से थका; क्रीडा-श्रान्तः—खेलने से थका हुआ; असि—तुम हो; पुत्रक—हे पुत्र।

माता यशोदा ने कहा : हे प्रिय पुत्र कृष्ण, कमलनयन कृष्ण, यहाँ आओ और मेरा दूध पियो। हे प्यारे, तुम भूख से तथा इतनी देर तक खेलने से बहुत थक गये होगे। अब और अधिक

खेलना जरूरी नहीं।

हे रामागच्छ ताताशु सानुजः कुलनन्दन ।
प्रातरेव कृताहारस्तद्भवान्भोक्तुमर्हति ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

हे राम—मेरे प्यारे बलराम; आगच्छ—आओ; तात—मेरे प्रिय; आशु—शीघ्र; स-अनुजः—अपने छोटे भाई सहित; कुल-नन्दन—हमारे परिवार की महान् आशा; प्रातः एव—सुबह के ही; कृत-आहारः—कलेवा किये हुए; तत्—इसलिए; भवान्—तुम; भोक्तुम्—अधिक खाने के लिए; अर्हति—योग्य हो।

हमारे परिवार के सर्वश्रेष्ठ मेरे प्यारे बलदेव, तुरन्त अपने छोटे भाई कृष्ण सहित आ जाओ। तुम दोनों ने सुबह ही खाया था और अब तुम्हें कुछ और खाना चाहिए।

प्रतीक्षते त्वां दाशार्ह भोक्ष्यमाणो व्रजाधिपः ।
एह्यावयोः प्रियं धेहि स्वगृहान्यात बालकाः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

प्रतीक्षते—प्रतीक्षा कर रही है; त्वाम्—तुम दोनों की; दाशार्ह—हे बलराम; भोक्ष्यमाणः—खाने की इच्छा रखते हुए; व्रज-अधिपः—व्रज का राजा, नन्द महाराज; एहि—यहाँ आओ; आवयोः—हमारा; प्रियम्—हर्ष; धेहि—जरा विचार करो; स्व-गृहान्—अपने अपने घरों को; यात—जाने दो; बालकाः—अन्य बालक।

अब व्रज के राजा नन्द महाराज खाने के लिए तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। हे मेरे बेटे बलराम, वे तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं अतः हमारी प्रसन्नता के लिए तुम वापस आ जाओ। तुम्हारे साथ तथा कृष्ण के साथ खेल रहे सारे बालकों को अपने अपने घर जाना चाहिए।

तात्पर्य : ऐसा लगता है कि नन्द महाराज नियमित रूप से अपने दोनों पुत्रों, कृष्ण तथा बलराम के साथ भोजन करते थे। यशोदा ने अन्य बालकों से कहा, "अब तुम सब अपने अपने घर जाओ।" सामान्यतया पिता तथा पुत्र साथ साथ बैठते हैं इसलिए माता यशोदा ने कृष्ण तथा बलराम से लौट आने की विनती की। उन्होंने अन्य बालकों को सलाह दी कि वे भी अपने अपने घर जाँय जिससे उनके माता-पिता को उनकी प्रतीक्षा न करनी पड़े।

धूलिधूसरिताङ्गस्त्वं पुत्र मज्जनमावह ।
जन्मर्क्षं तेऽद्य भवति विप्रेभ्यो देहि गाः शुचिः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

धूलि-धूसरित-अङ्गः त्वम्—तुम्हारा पूरा शरीर धूल से ढक गया है; पुत्र—मेरे बेटे; मज्जनम् आवह—आओ, स्नान करो तथा अपनी सफाई करो; जन्म-ऋक्षम्—जन्म का शुभ नक्षत्र; ते—तुम्हारे; अद्य—आज; भवति—है; विप्रेभ्यः—शुद्ध ब्राह्मणों को; देहि—दान में दो; गाः—गाएँ; शुचिः—शुद्ध होकर।

माता यशोदा ने आगे भी कृष्ण से कहा : हे पुत्र, दिन-भर खेलते रहने से तुम्हारा सारा शरीर धूल तथा रेत से भर गया है। अतः वापस आ जाओ, स्नान करो और अपनी सफाई करो। आज तुम्हारे जन्म के शुभ नक्षत्र से चाँद मेल खा रहा है, अतः शुद्ध होकर ब्राह्मणों को गौवों का दान करो।

तात्पर्य : वैदिक संस्कृति की यह एक प्रथा है कि जब भी कोई शुभ उत्सव होता है, तो ब्राह्मणों को दान में बहुमूल्य गौवें दी जाती हैं। इसलिए माता यशोदा ने कृष्ण से प्रार्थना की कि खेलने में अधिक मन न लगा कर अब घर आकर दान देने में मन लगायें। *यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।* जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५) में सलाह दी गई है यज्ञ, दान तथा तपस्या का कभी भी परित्याग नहीं करना चाहिए। *यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्*—आध्यात्मिक जीवन में अत्यधिक बढ़े-चढ़े व्यक्ति को भी ये तीन कर्म नहीं छोड़ने चाहिए। अपना जन्मोत्सव मनाने के लिए इन तीनों (यज्ञ, दान या तप) में से एक या तीनों करना चाहिए।

पश्य पश्य वयस्यांस्ते मातृमृष्टान्स्वलङ्कृतान् ।
त्वं च स्नातः कृताहारो विहरस्व स्वलङ्कृतः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

पश्य पश्य—जरा देखो तो; वयस्यान्—समान उम्र के बालक; ते—तुम्हारी; मातृ-मृष्टान्—अपनी माताओं द्वारा नहलाये-धुलाये गये; सु-अलङ्कृतान्—सुन्दर आभूषणों से सज्जित; त्वम् च—तुम भी; स्नातः—नहाकर; कृत-आहारः—तथा भोजन करने के बाद; विहरस्व—उनके साथ खेलो-कूदो; सु-अलङ्कृतः—अच्छी तरह सजधज कर।

जरा अपनी उम्र वाले अपने सारे साथियों को तो देखो कि वे किस तरह अपनी माताओं द्वारा नहलाये-धुलाये तथा सुन्दर आभूषणों से सजाये गये हैं। तुम यहाँ आओ और स्नान करने, भोजन खाने तथा आभूषणों से अलंकृत होने के बाद फिर अपने सखाओं के साथ खेल सकते हो।

तात्पर्य : सामान्यतया बालकों में स्पर्धा होती है। यदि एक मित्र कुछ कर लेता है, तो दूसरा भी कुछ करना चाहता है। इसलिए माता यशोदा ने कृष्ण से कहा कि तुम्हारे साथी सजेधजे हैं जिससे वे भी अपने को उन्हीं की तरह सजा सकें।

इत्थं यशोदा तमशेषशेखरं

मत्वा सुतं स्नेहनिबद्धधीर्नृप ।
हस्ते गृहीत्वा सहराममच्युतं
नीत्वा स्ववाटं कृतवत्यथोदयम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस तरह; यशोदा—यशोदा; तम् अशेष-शेखरम्—कृष्ण को, जो हर शुभ वस्तु की पराकाष्ठा थे, जिनमें गंदगी या अशुद्धता का प्रश्न ही नहीं था; मत्वा—मान कर; सुतम्—अपने पुत्र; स्नेह-निबद्ध-धीः—अत्यधिक प्रेम-भाव के कारण; नृप—हे राजा (महाराज परीक्षित); हस्ते—हाथ में; गृहीत्वा—लेकर; सह-रामम्—बलराम समेत; अच्युतम्—कृष्ण को; नीत्वा—लाकर; स्व-वाटम्—अपने घर; कृतवती—किया; अथ—अब; उदयम्—नहलाने-धुलाने, वस्त्र पहनाने और आभूषणों से अलंकृत करने के बाद की चमक।

हे महाराज परीक्षित, अत्यधिक प्रेमवश माता यशोदा ने समस्त ऐश्वर्यों के शिखर पर आसीन कृष्ण को अपना पुत्र माना। इस तरह वे बलराम के साथ कृष्ण को हाथ से पकड़ कर घर ले आईं जहाँ उन्हें नहलाने-धुलाने, वस्त्र पहनाने तथा भोजन खिलाने का उन्होंने अपना काम पूरा किया।

तात्पर्य : कृष्ण सदैव स्वच्छ तथा ऐश्वर्यवान हैं। उन्हें नहाने-धोने, सजने-धजने की कोई आवश्यकता नहीं है फिर भी माता यशोदा ने स्नेहवश उन्हें सामान्य बालक समझा और अपने पुत्र को साफ-सुथरा और चमकीला रखने का अपना काम पूरा किया।

श्रीशुक उवाच
गोपवृद्धा महोत्पाताननुभूय बृहद्वने ।
नन्दादयः समागम्य व्रजकार्यममन्त्रयन् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; गोप-वृद्धाः—बूढ़े ग्वालों ने; महा-उत्पातान्—बड़े बड़े उपद्रव; अनुभूय—अनुभव करके; बृहद्वने—बृहद्वन नामक स्थान में; नन्द-आदयः—नन्द महाराज तथा अन्य ग्वाले; समागम्य—एकत्र हुए; व्रज-कार्यम्—व्रजभूमि का कार्य; अमन्त्रयन्—महावन में लगातार होने वाले उत्पातों को रोकने पर विचार-विमर्श किया।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : तब एक बार बृहद्वन में बड़े बड़े उपद्रव देख कर नन्द महाराज तथा वृद्ध ग्वाले एकत्र हुए और विचार करने लगे कि व्रज में लगातार होने वाले उपद्रवों को रोकने के लिए क्या किया जाय।

तत्रोपानन्दनामाह गोपो ज्ञानवयोऽधिकः ।
देशकालार्थतत्त्वज्ञः प्रियकृद्रामकृष्णयोः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तत्र—उस सभा में; उपनन्द-नामा—उपानन्द नामक (नन्द महाराज का बड़ा भाई) ने; आह—कहा; गोपः—ग्वाला; ज्ञान-वयः-अधिकः—जो ज्ञान तथा आयु में सबसे बड़ा था; देश-काल-अर्थ-तत्त्व-ज्ञः—देश, काल तथा परिस्थितियों के अनुसार अत्यन्त अनुभवी; प्रिय-कृत्—लाभ के लिए; राम-कृष्णयोः—भगवान् बलराम तथा भगवान् कृष्ण के।

गोकुलवासियों की इस सभा में, उपानन्द नामक एक ग्वाले ने, जो आयु तथा ज्ञान में सर्वाधिक प्रौढ़ था और देश, काल तथा परिस्थिति के अनुसार अत्यधिक अनुभवी था, राम तथा कृष्ण के लाभ हेतु यह प्रस्ताव रखा।

उत्थातव्यमितोऽस्माभिर्गोकुलस्य हितैषिभिः ।
आयान्त्यत्र महोत्पाता बालानां नाशहेतवः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

उत्थातव्यम्—इस स्थान को छोड़ देना चाहिए; इतः—यहाँ (गोकुल) से; अस्माभिः—हम सबों के द्वारा; गोकुलस्य—गोकुल के; हित-एषिभिः—इस स्थान के हितैषियों द्वारा; आयान्ति—हो रहे हैं; अत्र—यहाँ पर; महा-उत्पाताः—अनेक बड़े बड़े उपद्रव; बालानाम्—राम तथा कृष्ण जैसे बालकों के; नाश-हेतवः—विनष्ट करने के उद्देश्य से।

उसने कहा : मेरे ग्वालमित्रो, इस गोकुल नामक स्थान की भलाई के लिए हमें इसे छोड़ देना चाहिए क्योंकि यहाँ पर राम तथा कृष्ण को मारने के उद्देश्य से सदैव अनेकानेक उपद्रव होते ही रहते हैं।

मुक्तः कथञ्चिद्राक्षस्या बालघ्न्या बालको ह्यसौ ।
हरेरनुग्रहान्नूनमनश्चोपरि नापतत् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

मुक्तः—छूटा था; कथञ्चित्—किसी तरह; राक्षस्याः—राक्षसी पूतना के हाथों से; बाल-घ्न्याः—बालकों को मारने पर तुली; बालकः—विशेषतया बालक कृष्ण; हि—क्योंकि; असौ—वह; हरेः अनुग्रहात्—भगवान् की दया से; नूनम्—निस्सन्देह; अनः च—तथा छकड़ा; उपरि—बालक के ऊपर; न—नहीं; अपतत्—गिरा।

यह बालक कृष्ण, एकमात्र भगवान् की दया से किसी न किसी तरह राक्षसी पूतना के हाथों से बच सका क्योंकि वह उन्हें मारने पर उतारू थी। फिर यह भगवान् की कृपा ही थी कि वह छकड़ा इस बालक पर नहीं गिरा।

चक्रवातेन नीतोऽयं दैत्येन विपदं वियत् ।
शिलायां पतितस्तत्र परित्रातः सुरेश्वरैः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

चक्र-वातेन—बवंडर के रूप में असुर (तृणावर्त) द्वारा; नीतः अयम्—यह कृष्ण उड़ा ले जाया गया; दैत्येन—असुर द्वारा; विपदम्—भयानक; वियत्—आकाश में; शिलायाम्—पत्थर पर; पतितः—गिरा हुआ; तत्र—वहाँ; परित्रातः—बचा लिया गया; सुर-ईश्वरैः—भगवान् विष्णु या उनके संगियों द्वारा।

इसके बाद बवंडर के रूप में आया तृणावर्त असुर इस बालक को मार डालने के लिए संकटमय आकाश में ले गया किन्तु वह असुर पत्थर की एक शिला पर गिर पड़ा। तब भी भगवान् विष्णु या उनके संगियों की कृपा से यह बालक बच गया था।

यन्न म्रियेत द्रुमयोरन्तरं प्राप्य बालकः ।
असावन्यतमो वापि तदप्यच्युतरक्षणम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यत्—पुनः; न म्रियेत—नहीं मरा; द्रुमयोः अन्तरम्—दो वृक्षों के बीच; प्राप्य—बीच में होते हुए; बालकः असौ—वह बालक, कृष्ण; अन्यतमः—दूसरा बालक; वा अपि—अथवा; तत् अपि अच्युत-रक्षणम्—तब भी भगवान् द्वारा बचा लिया गया।

यहाँ तक कि किसी और दिन, न तो कृष्ण न ही उनके खिलाड़ी साथी उन दोनों वृक्षों के गिरने से मरे यद्यपि ये बालक वृक्षों के निकट या उनके बीच ही में थे। इसे भी भगवान् का अनुग्रह मानना चाहिये।

यावदौत्पातिकोऽरिष्टो व्रजं नाभिभवेदितः ।
तावद्बालानुपादाय यास्यामोऽन्यत्र सानुगाः ॥ २७॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; औत्पातिकः—उत्पात मचाने वाले; अरिष्टः—असुर; व्रजम्—यह गोकुल व्रजभूमि; न—नहीं; अभिभवेत् इतः—इस स्थान से चले जाँय; तावत्—तब तक; बालान् उपादाय—बालकों के लाभ के लिए; यास्यामः—हम चले जाँय; अन्यत्र—किसी दूसरी जगह; स-अनुगाः—अपने अनुयायियों समेत।

ये सारे उत्पात कुछ अज्ञात असुर द्वारा किये जा रहे हैं। इसके पूर्व कि वह दूसरा उत्पात करने आये, हमारा कर्तव्य है कि हम तब तक के लिए इन बालकों समेत कहीं और चले जायँ जब तक कि ये उत्पात बन्द न हो जायँ।

तात्पर्य : उपानन्द ने प्रस्ताव रखा, ''भगवान् विष्णु की कृपा से कृष्ण अनेकानेक घातक घटनाओं से सदा बचता रहा है। अब हमको चाहिए कि किसी और आक्रमणकारी असुर से मृत्यु का कारण उत्पन्न होने से पहले, हम इस स्थान को छोड़ कर किसी दूसरे स्थान चले जाँय जहाँ हम अविचलित रह कर विष्णु की पूजा कर सकें।'' भक्त की यही अभिलाषा रहती है कि वह अविचल-भाव से भक्ति करता रहे। किन्तु हम देखते हैं कि नन्द महाराज तथा अन्य ग्वालों के बीच भगवान् कृष्ण के होते हुए भी उत्पात हो रहे थे। हाँ, यह दूसरी बात है कि हर बार कृष्ण विजयी होते रहे। इससे हमें यही शिक्षा मिलती है कि तथाकथित उत्पातों से हमें विचलित नहीं होना चाहिए। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन

के साथ अनेक उत्पात होते रहे हैं किन्तु हम अपना आगे बढ़ना नहीं छोड़ सकते। उल्टे, संसार-भर में लोग इस आन्दोलन का बड़े उत्साह से स्वागत कर रहे हैं और दूने उत्साह से कृष्णभावनामृत विषयक साहित्य खरीद रहे हैं। इस तरह प्रोत्साहन तथा उत्पात दोनों रहते हैं। कृष्ण के समय में भी ऐसा ही था।

वनं वृन्दावनं नाम पशव्यं नवकाननम् ।
गोपगोपीगवां सेव्यं पुण्याद्रितृणवीरुधम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

वनम्—दूसरा वन; वृन्दावनम् नाम—वृन्दावन नामक; पशव्यम्—गौवों तथा अन्य पशुओं के पालन के लिए उपयुक्त स्थान; नव-काननम्—कई नये बगीचों जैसे स्थान हैं; गोप-गोपी-गवाम्—सारे ग्वालों, उनके परिवार वालों तथा गौवों के लिए; सेव्यम्—अत्यन्त उपयुक्त स्थान; पुण्य-अद्रि—सुन्दर पर्वत हैं; तृण—पौधे; वीरुधम्—तथा लताएँ।.

नन्देश्वर तथा महावन के मध्य वृन्दावन नामक एक स्थान है। यह स्थान अत्यन्त उपयुक्त है क्योंकि इसमें गौवों तथा अन्य पशुओं के लिए रसीली घास, पौधे तथा लताएँ हैं। वहाँ सुन्दर बगीचे तथा ऊँचे पर्वत हैं और वह स्थान गोपों, गोपियों तथा हमारे पशुओं के सुख के लिए सारी सुविधाओं से युक्त है।

तात्पर्य : वृन्दावन वह स्थान है, जो नन्देश्वर तथा महावन के बीच में है। पहले ग्वाले महावन चले गये थे फिर भी उत्पात होते रहते थे। अत: ग्वालों ने वृन्दावन को चुना जो दो गाँवों के बीच है और वहीं जाने का निश्चय किया।

तत्तत्राद्यैव यास्याम: शकटान्युङ्क्त मा चिरम् ।
गोधनान्यग्रतो यान्तु भवतां यदि रोचते ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; तत्र—वहाँ; अद्य एव—आज ही; यास्याम:—चले चलें; शकटान्—सारी बैलगाड़ियों को; युङ्क्त —जोत कर; मा चिरम्—देरी लगाये बिना; गो-धनानि—सारी गौवों को; अग्रत:—आगे आगे; यान्तु—चलने दें; भवताम्—आप सबों को; यदि—यदि; रोचते—अच्छा लगे।.

अतएव हम आज ही तुरन्त चल दें। अब और अधिक प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। यदि आप सबों को मेरा प्रस्ताव मान्य हो तो हम अपनी सारी बैलगाड़ियाँ तैयार कर लें और गौवों को आगे करके वहाँ चले जायें।

तच्छ्रुत्वैकधियो गोपाः साधु साध्विति वादिनः ।
व्रजान्स्वान्स्वान्समायुज्य ययू रूढपरिच्छदाः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तत् श्रुत्वा—उपानन्द की यह सलाह सुन कर; एक-धियः—एकमत होकर; गोपाः—सारे ग्वालों ने; साधु साधु—अति उत्तम, अति उत्तम; इति—इस प्रकार; वादिनः—घोषित करते हुए; व्रजान्—गौवों को; स्वान् स्वान्—अपनी अपनी; समायुज्य—एकत्र करके; ययुः—रवाना हो गये; रूढ-परिच्छदाः—सारा साज-सामान गाड़ियों में रख कर।

उपानन्द की यह सलाह सुन कर ग्वालों ने इसे एकमत से स्वीकार कर लिया और कहा, "बहुत अच्छा, बहुत अच्छा।" इस तरह उन्होंने अपने घरेलू मामलों की छान-बीन की और अपने वस्त्र तथा अन्य सामान गाड़ियों पर रख लिये और तुरन्त वृन्दावन के लिए प्रस्थान कर दिया।

वृद्धान्बालान्स्त्रियो राजन्सर्वोपकरणानि च ।
अनःस्वारोप्य गोपाला यत्ता आत्तशरासनाः ॥ ३१ ॥
गोधनानि पुरस्कृत्य शृङ्गाण्यापूर्य सर्वतः ।
तूर्यघोषेण महता ययुः सहपुरोहिताः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

वृद्धान्—सर्वप्रथम सारे बूढ़ों को; बालान्—बालकों को; स्त्रियः—स्त्रियों को; राजन्—हे राजा परीक्षित; सर्व-उपकरणानि च—तथा सारी आवश्यक एवं घरेलू वस्तुएँ; अनःसु—बैलगाड़ियों पर; आरोप्य—लाद कर; गोपालाः—सारे ग्वाले; यत्ताः—सावधानीपूर्वक; आत्त-शर-असनाः—तीरों तथा धनुषों से लैस होकर; गो-धनानि—सारी गौवों को; पुरस्कृत्य—आगे रख कर; शृङ्गाणि—सींग की बनी तुरही; आपूर्य—बजाकर; सर्वतः—चारों ओर; तूर्य-घोषेण—तुरही की ध्वनि से; महता—उच्च; ययुः—रवाना हो गये; सह-पुरोहिताः—पुरोहितों सहित।

सारे बूढ़ों, स्त्रियों, बालकों तथा घरेलू सामग्री को बैलगाड़ियों में लाद कर एवं सारी गौवों को आगे करके, ग्वालों ने सावधानी से अपने अपने तीर-कमान ले लिये और सींग के बने बिगुल बजाये। हे राजा परीक्षित, इस तरह चारों ओर बिगुल बज रहे थे तभी ग्वालों ने अपने पुरोहितों सहित अपनी यात्रा के लिए प्रस्थान किया।

तात्पर्य : इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि गोकुल के वासी अधिकांशतः ग्वाले तथा कृषक थे किन्तु वे संकट से अपनी रक्षा करना तथा स्त्रियों, वृद्धों, बालकों एवं ब्राह्मण पुरोहितों को संरक्षण प्रदान करना जानते थे।

गोप्यो रूढरथा नूत्नकुचकुङ्कुमकान्तयः ।
कृष्णलीला जगुः प्रीत्या निष्ककण्ठ्यः सुवाससः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

गोप्यः—सारी गोपियाँ; रूढ-रथाः—बैलगाड़ियों पर चढ़ी हुई; नूत्न-कुच-कुङ्कुम-कान्तयः—उनके शरीर, विशेषतया उनके स्तन ताजे कुंकुम से सजाये गये; कृष्ण-लीलाः—कृष्ण-लीलाएँ; जगुः—उच्चारण कर रही थीं; प्रीत्या—बड़े हर्ष से; निष्क-कण्ठ्यः—अपने गलों में लाकेट पहने; सु-वाससः—अच्छे वस्त्रों से सज्जित।

बैलगाड़ियों में चढ़ी हुई गोपियाँ उत्तम से उत्तम वस्त्रों से सुसज्जित थीं और उनके शरीर, विशेषतया स्तन ताजे कुंकुम-चूर्ण से अलंकृत थे। बैलगाड़ियों पर चढ़ते समय वे अत्यन्त हर्षपूर्वक कृष्ण की लीलाओं का कीर्तन करने लगीं।

तथा यशोदारोहिण्यावेकं शकटमास्थिते ।
रेजतुः कृष्णरामाभ्यां तत्कथाश्रवणोत्सुके ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तथा—और; यशोदा-रोहिण्यौ—यशोदा तथा रोहिणी दोनों; एकम् शकटम्—एक बैलगाड़ी पर; आस्थिते—बैठी; रेजतुः—अत्यन्त सुन्दर; कृष्ण-रामाभ्याम्—अपनी माताओं के साथ कृष्ण तथा बलराम; तत्-कथा—कृष्ण तथा बलराम की लीलाओं का; श्रवण-उत्सुके—बड़ी ही उत्सुकता से सुनते हुए।

इस तरह माता यशोदा तथा रोहिणीदेवी कृष्ण तथा बलराम की लीलाओं को बड़े हर्ष से सुनती हुईं, जिससे वे क्षण-भर के लिए भी उनसे वियुक्त न हों, एक बैलगाड़ी में उन दोनों के साथ चढ़ गईं। इस दशा में वे सभी अत्यन्त सुन्दर लग रहे थे।

तात्पर्य : ऐसा लगता है कि माता यशोदा तथा रोहिणी क्षण-भर भी कृष्ण तथा बलराम से विलग नहीं की जा सकतीं थीं। वे या तो कृष्ण तथा बलराम के पालन-पोषण में अथवा उनकी लीलाओं का कीर्तन करने में अपना समय बिताती थीं। इस तरह माता यशोदा तथा रोहिणी अत्यन्त सुन्दर दिखती थीं।

वृन्दावनं सम्प्रविश्य सर्वकालसुखावहम् ।
तत्र चक्रुर्व्रजावासं शकटैरर्धचन्द्रवत् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

वृन्दावनम्—वृन्दावन नामक पवित्र स्थान में; सम्प्रविश्य—प्रविष्ट होकर; सर्व-काल-सुख-आवहम्—जहाँ सभी ऋतुओं में रहना सुहावना लगता है; तत्र—वहाँ; चक्रुः—बनाया; व्रज-आवासम्—व्रज का निवास; शकटैः—बैलगाड़ियों से; अर्ध-चन्द्रवत्—आधे चन्द्रमा जैसा अर्धवृत्त बनाकर।

इस तरह वे वृन्दावन में प्रविष्ट हुए जहाँ सभी ऋतुओं में रहना सुहावना लगता है। उन्होंने अपनी बैलगाड़ियों से अर्धचन्द्राकार अर्धवृत्त बनाकर अपने रहने के लिए अस्थायी निवास बना लिया।

तात्पर्य : *विष्णु पुराण* में कहा गया है—

शकटीवाटपर्यन्तश्चन्द्रार्धकार संस्थिते

और हरिवंश में कहा गया है—

कण्टकीभिः प्रवृद्धाभिस्तथा कण्टकीभिर्द्रुमैः।

निखातोच्छ्रितशाखाभिरभिगुप्तं समन्ततः॥

चारों ओर बाड़ा बनाने की आवश्यकता न थी। एक ओर पहले से ही कँटीले वृक्ष थे। इस तरह कँटीले वृक्ष, बैलगाड़ियाँ तथा पशुओं से उनके अस्थायी निवास घिर गये।

वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च ।
वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृप ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

वृन्दावनम्—वृन्दावन नामक स्थान; गोवर्धनम्—गोवर्धन पर्वत; यमुना-पुलिनानि च—तथा यमुना नदी के किनारे; वीक्ष्य—देखकर; आसीत्—हो उठे; उत्तमा प्रीती—उच्च कोटि का हर्ष; राम-माधवयोः—कृष्ण तथा बलराम का; नृप—हे राजा परीक्षित।

हे राजा परीक्षित, जब राम तथा कृष्ण ने वृन्दावन, गोवर्धन तथा यमुना नदी के तट देखे तो दोनों को बड़ा आनन्द आया।

एवं व्रजौकसां प्रीतिं यच्छन्तौ बालचेष्टितैः ।
कलवाक्यैः स्वकालेन वत्सपालौ बभूवतुः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; व्रज-ओकसाम्—सारे व्रजवासियों को; प्रीतिम्—हर्ष; यच्छन्तौ—प्रदान करते हुए; बाल-चेष्टितैः—बाल-लीलाओं से; कल-वाक्यैः—मीठी तोतली बोली से; स्व-कालेन—समयानुसार; वत्स-पालौ—बछड़ों की रखवाली करने के लिए; बभूवतुः—बड़े हो गये।

इस तरह कृष्ण और बलराम छोटे बालकों की तरह क्रीड़ाएँ करते तथा तोतली बोली बोलते हुए व्रज के सारे निवासियों को दिव्य आनन्द देने लगे। समय आने पर वे बछड़ों की देखभाल करने के योग्य हो गये।

तात्पर्य : ज्योंही कृष्ण तथा बलराम कुछ बड़े हुए त्योंही उन्हें बछड़ों की रखवाली का काम सौंप दिया गया। यद्यपि वे समृद्ध परिवार में उत्पन्न हुए थे तो भी उन्हें बछड़ों की रखवाली करनी पड़ती थी। यह शिक्षा की पद्धति थी। जो ब्राह्मण परिवारों में जन्म नहीं लेते थे उन्हें उच्च शिक्षा नहीं दी जाती थी। ब्राह्मणों को साहित्यिक उच्च शिक्षा दी जाती थी; क्षत्रियों को राज्य की रक्षा करने का प्रशिक्षण मिलता

था और वैश्यों को खेती करने तथा गौवों-बछड़ों की रखवाली करना सिखलाया जाता था। उन्हें झूठी शिक्षा प्राप्त करने के लिए स्कूल जाने और समय बर्बाद करने की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि इससे बाद में बेरोजगारी ही बढ़ती। कृष्ण तथा बलराम ने अपने निजी आचरण से हमें शिक्षा दी। कृष्ण गायों की रखवाली करते और अपनी बाँसुरी बजाते तथा बलराम अपने हाथ में हल लेकर कृषि कार्यों की देखरेख करते।

अविदूरे व्रजभुवः सह गोपालदारकैः ।
चारयामासतुर्वत्सान्नानाक्रीडापरिच्छदौ ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

अविदूरे—व्रजवासियों के आवासीय घरों से अधिक दूर नहीं; व्रज-भुवः—व्रजभूमि से; सह गोपाल-दारकैः—उसी व्यवसाय वाले अन्य बालकों (ग्वालों) के साथ; चारयाम् आसतुः—चराया करते; वत्सान्—बछड़ों को; नाना—तरह तरह के; क्रीडा—खेल; परिच्छदौ—भाँति-भाँति की सुन्दर वेशभूषाओं से युक्त तथा औजारों से लैस।

कृष्ण तथा बलराम अपने मकान के पास ही सभी तरह के खिलौनों से युक्त होकर अन्य ग्वालों के साथ खेलने लगे एवं छोटे-छोटे बछड़ों को चराने लगे।

क्वचिद्वादयतो वेणुं क्षेपणैः क्षिपतः क्वचित् ।
क्वचित्पादैः किङ्किणीभिः क्वचित्कृत्रिमगोवृषैः ॥ ३९ ॥
वृषायमाणौ नर्दन्तौ युयुधाते परस्परम् ।
अनुकृत्य रुतैर्जन्तूंश्चेरतुः प्राकृतौ यथा ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; वादयतः—बजाते हुए; वेणुम्—बाँसुरी को; क्षेपणैः—फेंकने की रस्सी (गुलेल) से; क्षिपतः—फल पाने के लिए पत्थर फेंकते; क्वचित्—कभी; क्वचित् पादैः—कभी पाँवों से; किङ्किणीभिः—पैजनियों की आवाज से; क्वचित्—कभी; कृत्रिम-गो-वृषैः—नकली गाय तथा बैल बन कर; वृषायमाणौ—पशुओं की नकल उतारते; नर्दन्तौ—नादते, जोर से शब्द करते; युयुधाते—लड़ने लगते; परस्परम्—एक-दूसरे से; अनुकृत्य—नकल करके; रुतैः—आवाज निकालते हुए; जन्तून्—सारे पशुओं की; चेरतुः—घूमा करते; प्राकृतौ—दो सामान्य बालकों; यथा—की तरह।

कृष्ण और बलराम कभी अपनी बाँसुरी बजाते, कभी वृक्षों से फल गिराने के लिए गुलेल चलाते, कभी केवल पत्थर फेंकते और कभी पाँवों के घुँघरुओं के बजते रहने के साथ साथ, वे बेल तथा आमलकी जैसे फलों से फुटबाल खेलते। कभी कभी वे अपने ऊपर कम्बल डाल कर गौवों तथा बैलों की नकल उतारते और जोर-जोर से शब्द करते हुए एक-दूसरे से लड़ते। कभी वे पशुओं की बोलियों की नकल करते। इस तरह वे दोनों सामान्य मानवी बालकों की तरह खेल का आनन्द लेते।

तात्पर्य : वृन्दावन मोरों से भरा हुआ है। *कूजत्-कोकिल-हंस-सारस-गणाकीर्णे मयूराकुले।* वृन्दावन का जंगल कोयलों, बत्तखों, हंसों, सारसों, मोरों तथा बन्दरों, बैलों और गौवों से भरा-पुरा था। अत: कृष्ण तथा बलराम इन पशुओं की बोली की नकल उतारते तथा खेल का आनन्द लेते।

कदाचिद्यमुनातीरे वत्सांश्चारयतो: स्वकै: ।
वयस्यै: कृष्णबलयोर्जिघांसुर्दैत्य आगमत् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

कदाचित्—कभी; यमुना-तीरे—यमुना के तट पर; वत्सान्—बछड़ों को; चारयतो:—चराते हुए; स्वकै:—अपने; वयस्यै:—अन्य साथियों के साथ; कृष्ण-बलयो:—कृष्ण तथा बलराम दोनों को; जिघांसु:—मारने की इच्छा से; दैत्य:—अन्य असुर; आगमत्—आ पहुँचा।

एक दिन जब राम तथा कृष्ण अपने साथियों के साथ यमुना नदी के किनारे अपने बछड़े चरा रहे थे तो उन्हें मारने की इच्छा से वहाँ एक अन्य असुर आया।

तं वत्सरूपिणं वीक्ष्य वत्सयूथगतं हरि: ।
दर्शयन्बलदेवाय शनैर्मुग्ध इवासदत् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तम्—असुर को; वत्स-रूपिणम्—बछड़े का वेश धारण किये; वीक्ष्य—देख कर; वत्स-यूथ-गतम्—जब वह असुर अन्य बछड़ों के समूह के बीच घुसा; हरि:—भगवान् कृष्ण; दर्शयन्—सूचित करते हुए; बलदेवाय—बलदेव को; शनै:—अत्यन्त धीमे धीमे; मुग्ध: इव—मानो कुछ समझ ही न रहे हों; आसदत्—पास आये।

जब भगवान् ने देखा कि असुर बछड़े का वेश धारण करके अन्य बछड़ों के समूह के बीच घुस आया है, तो उन्होंने बलदेव को इङ्गित किया, ''यह रहा दूसरा असुर।'' फिर वे उस असुर के पास धीरे-धीरे पहुँच गये मानो वे असुर के मनोभावों को समझ नहीं रहे थे।

तात्पर्य : *मुग्ध इव* शब्दों का आशय यह है कि यद्यपि कृष्ण सब जानते हैं किन्तु यहाँ वे ऐसा बन रहे थे जैसे वे यह नहीं जानते कि असुर बछड़ों के बीच में क्यों घुस आया है, अत: उन्होंने बलदेव को संकेत से बताया।

गृहीत्वापरपादाभ्यां सहलाङ्गूलमच्युत: ।
भ्रामयित्वा कपित्थाग्रे प्राहिणोद्गतजीवितम् ।
स कपित्थैर्महाकाय: पात्यमानै: पपात ह ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

गृहीत्वा—पकड़ कर; अपर-पादाभ्याम्—पिछले पाँव से; सह—साथ; लाङ्गूलम्—पूँछ को; अच्युत:—भगवान् कृष्ण ने; भ्रामयित्वा—तेजी से घुमाकर; कपित्थ-अग्रे—कैथे के पेड़ की चोटी पर; प्राहिणोत्—फेंक दिया; गत-जीवितम्—प्राणहीन

शरीर; सः—वह असुर; कपित्थैः—कैथे के वृक्ष समेत; महा-कायः—विशाल शरीर धारण किये; पात्यमानैः—गिरता हुआ वृक्ष; पपात ह—मृत होकर भूमि पर गिर पड़ा।

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण ने उस असुर की पिछली टाँगें तथा पूँछ पकड़ ली और वे उसके शरीर को तब तक तेजी से घुमाते रहे जब तक वह मर नहीं गया। फिर उसे कैथे के पेड़ की चोटी पर फेंक दिया। वह वृक्ष उस असुर द्वारा धारण किये गये विशाल शरीर को लेकर भूमि पर गिर पड़ा।

तात्पर्य : कृष्ण ने असुर को इस तरह मारा कि उससे कैथे के फल नीचे गिरें जिन्हें बलराम, वे तथा अन्य बालक उस अवसर का लाभ उठाकर, खा सकें। *कपित्थ* को कभी कभी *क्षतबेलफल* भी कहा जाता है। इसका गूदा बहुत स्वादिष्ट होता है—मीठा तथा खट्टा अत: इसे हर कोई पसंद करता है।

तं वीक्ष्य विस्मिता बालाः शशंसुः साधु साध्विति ।
देवाश्च परिसन्तुष्टा बभूवुः पुष्पवर्षिणः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

तम्—इस घटना को; वीक्ष्य—देखकर; विस्मिताः—चकित; बालाः—सारे बालक; शशंसुः—खूब प्रशंसा की; साधु साधु इति—"बहुत अच्छा बहुत अच्छा" चिल्लाते हुए; देवाः च—तथा स्वर्गलोक से सारे देवता; परिसन्तुष्टाः—अत्यन्त संतुष्ट; बभूवुः—हो गये; पुष्प-वर्षिणः—कृष्ण पर फूलों की वर्षा की।

असुर के मृत शरीर को देखकर सारे ग्वालबाल चिल्ला उठे, "बहुत खूब कृष्ण, बहुत अच्छे, बहुत अच्छे, धन्यवाद," स्वर्गलोक में सारे देवता प्रसन्न थे अत: उन्होंने भगवान् पर फूल बरसाये।

तौ वत्सपालकौ भूत्वा सर्वलोकैकपालकौ ।
सप्रातराशौ गोवत्सांश्चारयन्तौ विचेरतुः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तौ—कृष्ण तथा बलराम; वत्स-पालकौ—मानो बछड़ों की रखवाली करने वाले; भूत्वा—बन कर; सर्व-लोक-एक-पालकौ—यद्यपि वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के जीवों के पालनकर्ता हैं; स-प्रातः-आशौ—सुबह का नाश्ता करके; गो-वत्सान्—सारे बछड़ों को; चारयन्तौ—चराते हुए; विचेरतुः—इधर-उधर विचरण करने लगे।

असुर को मारने के बाद कृष्ण तथा बलराम ने अपना सुबह का नाश्ता (कलेवा) किया और बछड़ों की रखवाली करते हुए वे इधर-उधर टहलते रहे। भगवान् कृष्ण तथा बलराम ने जो सम्पूर्ण सृष्टि के पालक हैं, ग्वालबालों की तरह बछड़ों का भार सँभाला।

तात्पर्य : *परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।* इस भौतिक जगत में कृष्ण का नित्य कार्य था दुष्कृतियों को मारना। इससे उनके दैनिक कार्य में बाधा नहीं आती थी क्योंकि यह नित्य कर्म था। जब

वे यमुना के तट पर बछड़े चराते तो नित्य ही दो-तीन घटनाएँ घटतीं किन्तु गम्भीर होने पर भी असुरों का वध उनका नित्य का कार्य बन गया था।

स्वं स्वं वत्सकुलं सर्वे पाययिष्यन्त एकदा ।
गत्वा जलाशयाभ्याशं पाययित्वा पपुर्जलम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

स्वम् स्वम्—अपने अपने; वत्स-कुलम्—बछड़ों के समूह को; सर्वे—सारे लड़के तथा कृष्ण एवं बलराम; पाययिष्यन्तः—पानी पिलाने की इच्छा से; एकदा—एक दिन; गत्वा—जाकर; जल-आशय-अभ्याशम्—तालाब के निकट; पाययित्वा—पशुओं को पानी पिला कर; पपुः जलम्—स्वयं भी जल पिया।

एक दिन कृष्ण तथा बलराम समेत सारे बालक, अपने अपने बछड़ों का समूह लेकर, जलाशय के पास बछड़ों को पानी पिलाने लाये। जब पशु जल पी चुके तो बालकों ने भी वहाँ पानी पिया।

ते तत्र ददृशुर्बाला महासत्त्वमवस्थितम् ।
तत्रसुर्वज्रनिर्भिन्नं गिरेः शृङ्गमिव च्युतम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

ते—उन; तत्र—वहाँ; ददृशुः—देखा; बालाः—बालकों ने; महा-सत्त्वम्—विशाल शरीर; अवस्थितम्—स्थित; तत्रसुः—डर गये; वज्र-निर्भिन्नम्—वज्र से टूटा; गिरेः शृङ्गम्—पर्वत की चोटी; इव—सदृश; च्युतम्—वहाँ पर गिरी हुई।

जलाशय के पास ही बालकों ने एक विराट शरीर देखा जो उस पर्वत की चोटी के समान था, जो वज्र के द्वारा टूट पड़ी हो। वे ऐसे विशाल जीव को देखखर ही भयभीत थे।

स वै बको नाम महानसुरो बकरूपधृक् ।
आगत्य सहसा कृष्णं तीक्ष्णतुण्डोऽग्रसद्बली ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह प्राणी; वै—निस्सन्देह; बकः नाम—बकासुर नामक; महान् असुरः—विशाल असुर; बक-रूप-धृक्—बगुले का शरीर धारण करके; आगत्य—वहाँ आकर; सहसा—अचानक; कृष्णम्—कृष्ण को; तीक्ष्ण-तुण्डः—तेज चोंच वाला; अग्रसत्—निगल गया; बली—अत्यन्त बलशाली।

वह विशालकाय असुर बकासुर था। उसने अत्यन्त तेज चोंच वाले बगुले का शरीर धारण कर लिया था। वहाँ आकर उसने तुरन्त ही कृष्ण को निगल लिया।

कृष्णं महाबकग्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोऽर्भकाः ।
बभूवुरिन्द्रियाणीव विना प्राणं विचेतसः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

कृष्णम्—कृष्ण को; महा-बक-ग्रस्तम्—विशाल बगुले द्वारा निगला हुआ; दृष्ट्वा—देखकर; राम-आदयः अर्भकाः—बलराम इत्यादि सारे बालक; बभूवुः—हो गए; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; इव—सदृश; विना—रहित; प्राणम्—प्राण; विचेतसः—अत्यधिक मोहग्रस्त, प्रायः अचेत।

जब बलराम तथा अन्य बालकों ने देखा कि कृष्ण विशाल बगुले द्वारा निगले जा चुके हैं, तो वे बेहोश जैसे हो गये मानों प्राणरहित इन्द्रियाँ हों।

तात्पर्य : यद्यपि बलराम सब कुछ कर सकते हैं किन्तु अपने भाई के लिए उत्कट स्नेह के कारण वे क्षण-भर के लिए मोहित हो गये। ऐसी ही घटना रुक्मिणी-हरण के समय हुई बतलाई जाती है। रुक्मिणी-हरण करने के बाद कृष्ण पर सारे राजाओं ने आक्रमण कर दिया तो रुक्मिणी क्षण-भर के लिए मोहग्रस्त हो गई थीं जब तक कि भगवान् ने उचित कदम नहीं उठाये।

तं तालुमूलं प्रदहन्तमग्निवद्
गोपालसूनुं पितरं जगद्गुरोः ।
चच्छर्द सद्योऽतिरुषाक्षतं बक-
स्तुण्डेन हन्तुं पुनरभ्यपद्यत ॥५०॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; तालु-मूलम्—गले के नीचे; प्रदहन्तम्—जलाते हुए; अग्नि-वत्—आग की तरह; गोपाल-सूनुम्—ग्वाल-पुत्र, कृष्ण को; पितरम्—पिता को; जगत्-गुरोः—ब्रह्मा के; चच्छर्द—उसके मुँह से निकल आये; सद्यः—तुरन्त; अति-रुषा—अत्यधिक क्रोध से; अक्षतम्—बिना किसी तरह चोट खाये; बकः—बकासुर; तुण्डेन—तेज चोंच से; हन्तुम्—मार डालने के लिए; पुनः—फिर; अभ्यपद्यत—प्रयास किया।

कृष्ण जो ब्रह्मा के पिता हैं किन्तु ग्वाले के पुत्र की भूमिका निभा रहे थे, अग्नि के समान बन कर असुर के गले के निचले भाग को जलाने लगे जिससे बकासुर ने तुरन्त ही उन्हें उगल दिया। जब असुर ने देखा कि निगले जाने पर भी कृष्ण को कोई क्षति नहीं पहुँची तो तुरन्त ही उसने अपनी तेज चोंच से कृष्ण पर फिर वार कर दिया।

तात्पर्य : यद्यपि कृष्ण कमल की भाँति कोमल हैं किन्तु बकासुर के गले में उन्होंने अग्नि से भी बढ़कर जलन उत्पन्न कर दी। यद्यपि कृष्ण का सारा शरीर मिश्री से भी मीठा है किन्तु वह बकासुर को इतना कड़ुवा लगा कि उसने तुरन्त ही कृष्ण को उगल दिया। *भगवद्गीता* (४.११) में ठीक ही कहा गया है—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।* जब कृष्ण को शत्रु मान लिया जाता है, तो वे अभक्त के लिए असह्य बन जाते है और वह उन्हें भीतर-बाहर से सहन नहीं कर सकता है। यहाँ पर बकासुर इसका साक्षात् प्रमाण है।

तमापतन्तं स निगृह्य तुण्डयो-
दोर्भ्यां बकं कंससखं सतां पतिः ।
पश्यत्सु बालेषु ददार लीलया
मुदावहो वीरणवद्दिवौकसाम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

तम्—बकासुर को; आपतन्तम्—उन पर आक्रमण करने के लिए पुनः उद्यत; सः—भगवान् कृष्ण ने; निगृह्य—पकड़ कर; तुण्डयोः—चोंच; दोर्भ्याम्—अपनी बाहुओं से; बकम्—बकासुर को; कंस-सखम्—कंस के संगी; सताम् पतिः—वैष्णवों के स्वामी कृष्ण ने; पश्यत्सु—देखते देखते; बालेषु—ग्वालबालों के; ददार—दो टुकड़े कर दिये; लीलया—आसानी से; मुदा-आवहः—मनमोहक कार्य; वीरण-वत्—वीरण घास के तुल्य; दिवौकसाम्—स्वर्ग के निवासियों केलिए।.

जब वैष्णवों के नायक कृष्ण ने यह देखा कि कंस का मित्र बकासुर उन पर आक्रमण करने का प्रयास कर रहा है, तो उन्होंने अपने हाथों से उसकी चोंच के दोनों भागों (ठोरों) को पकड़ लिया और सारे ग्वालबालों की उपस्थिति में उसे उसी प्रकार चीर डाला जिस तरह वीरण घास (गाँडर) के डंठल को बच्चे चीर डालते हैं। कृष्ण द्वारा इस प्रकार असुर के मारे जाने से स्वर्ग के निवासी अत्यन्त प्रसन्न हुए।

तदा बकारिं सुरलोकवासिनः
समाकिरन्नन्दनमल्लिकादिभिः ।
समीडिरे चानकशङ्खसंस्तवै-
स्तद्वीक्ष्य गोपालसुता विसिस्मिरे ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; बक-अरिम्—बकासुर के शत्रु को; सुर-लोक-वासिनः—स्वर्गलोक के वासियों ने; समाकिरन्—फूल बरसाये; नन्दन-मल्लिका-आदिभिः—नन्दन कानन में उत्पन्न मल्लिका आदि फूलों से; समीडिरे—उनको बधाई भी दी; च—तथा; आनक-शङ्ख-संस्तवैः—दुन्दुभी, शंख तथा स्तुतियों द्वारा; तत् वीक्ष्य—यह देखकर; गोपाल-सुताः—ग्वालबाल; विसिस्मिरे—आश्चर्यचकित थे।.

उस समय स्वर्गलोक के वासियों ने बकासुर के शत्रु कृष्ण पर नन्दन-कानन में उगी मल्लिका के फूलों की वर्षा की। उन्होंने दुन्दुभी तथा शंख बजाकर एवं स्तुतियों द्वारा उनको बधाई दी। यह देखकर सारे ग्वालबाल आश्चर्यचकित थे।

मुक्तं बकास्यादुपलभ्य बालका
रामादयः प्राणमिवेन्द्रियो गणः ।
स्थानागतं तं परिरभ्य निर्वृताः
प्रणीय वत्सान्व्रजमेत्य तज्जगुः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

मुक्तम्—इस प्रकार छूटा हुआ; बक-आस्यात्—बकासुर के मुख से; उपलभ्य—वापस पाकर; बालकाः—सारे बालक, संगी; राम-आदयः—बलराम इत्यादि; प्राणम्—प्राण; इव—के समान; इन्द्रियः—इन्द्रियाँ; गणः—समूह; स्थान-आगतम्—अपने अपने स्थान पर जाकर; तम्—कृष्ण को; परिरभ्य—चूमते हुए; निर्वृताः—संकट से मुक्त हुए; प्रणीय—एकत्र करके; वत्सान्—बछड़ों को; व्रजम् एत्य—व्रजभूमि लौट कर; तत् जगुः—घटना का जोर-जोर से बखान किया।

जिस प्रकार चेतना तथा प्राण वापस आने पर इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं उसी तरह जब कृष्ण इस संकट से उबर आये तो बलराम समेत सारे बालकों ने सोचा मानो उन्हें फिर से जीवन प्राप्त हुआ हो। उन्होंने कृष्ण का पूरी चेतना के साथ आलिंगन किया और अपने बछड़ों को समेट कर वे व्रजभूमि लौट आये जहाँ उन्होंने जोर-जोर से इस घटना का बखान किया।

तात्पर्य : जब भी कृष्ण असुरों को मारने की विभिन्न लीलाएँ करते तो व्रजभूमि के वासी जंगल में हुई घटनाओं पर कविता बनाते। वे सारी कहानियाँ पद्यबद्ध कर लेते या पेशेवर कवियों से करवा लेते और तब इन घटनाओं को गाया करते। अत: इस श्लोक में कहा गया है कि लड़के जोर-जोर से गा रहे थे।

श्रुत्वा तद्विस्मिता गोपा गोप्यश्चातिप्रियादृताः ।
प्रेत्यागतमिवोत्सुक्यादैक्षन्त तृषितेक्षणाः ॥ ५४॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुन कर; तत्—वह घटना; विस्मिताः—आश्चर्यचकित; गोपाः—ग्वाले; गोप्यः च—तथा गोपियाँ; अति-प्रिय-आदृताः—समाचार को बड़े आदर से सुना; प्रेत्य आगतम् इव—मानों ये बालक मृत्यु के मुख से लौट कर आये हों; उत्सुक्यात्—बड़ी उत्सुकता से; ऐक्षन्त—बालकों पर दृष्टि डालते हुए; तृषित-ईक्षणाः—पूर्ण सन्तोष से, कृष्ण तथा बालकों से आँखें फेरने का मन नहीं हो रहा था।

जब ग्वालों तथा गोपियों ने जंगल में बकासुर के मारे जाने का समाचार सुना तो वे अत्यधिक विस्मित हो उठे। कृष्ण को देखकर तथा उनकी कहानी सुन कर उन्होंने कृष्ण का स्वागत बड़ी उत्सुकता से यह सोचते हुए किया कि कृष्ण तथा अन्य बालक मृत्यु के मुख से वापस आ गये हैं। अत: वे कृष्ण तथा उन बालकों को मौन नेत्रों से देखते रहे। अब जबकि बालक सुरक्षित थे, उनकी आँखें उनसे हटना नहीं चाह रही थीं।

तात्पर्य : कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेम के कारण ग्वाले तथा गोपियाँ यह सोचते हुए कि कृष्ण तथा अन्य बालक किस तरह बच कर आये हैं, शान्त रह गईं। वे सब उन्हें देखते ही रहे तथा उन्होंने अपनी आँखों को दूसरी ओर घुमाना नहीं चाहा।

अहो बतास्य बालस्य बहवो मृत्यवोऽभवन् ।
अप्यासीद्विप्रियं तेषां कृतं पूर्वं यतो भयम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

अहो बत—यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है; अस्य—इस; बालस्य—कृष्ण का; बहवः—अनेक; मृत्यवः—मृत्यु के कारण; अभवन्—आये; अपि—फिर भी; आसीत्—था; विप्रियम्—मृत्यु का कारण; तेषाम्—सबों का; कृतम्—किया हुआ; पूर्वम्—पहले; यतः—जिससे; भयम्—मृत्यु-भय था।

नन्द महाराज तथा अन्य ग्वाले विचार करने लगे: यह बड़े आश्चर्य की बात है कि यद्यपि इस बालक कृष्ण ने अनेक बार मृत्यु के विविध कारणों का सामना किया है किन्तु भगवान् की कृपा से भय के इन कारणों का ही विनाश हो गया और उसका बाल बाँका भी नहीं हुआ।

तात्पर्य : ग्वालों ने सहज भाव से सोचा, ''क्योंकि हमारा कृष्ण निर्दोष है, अतः मृत्यु के वे कारण ही विनष्ट हो गये जो उनके समक्ष उपस्थित हुए। कृष्ण का बाल बाँका भी नहीं हुआ। यह भगवान् की सबसे बड़ी कृपा है।''

अथाप्यभिभवन्त्येनं नैव ते घोरदर्शनाः ।
जिघांसयैनमासाद्य नश्यन्त्यग्नौ पतङ्गवत् ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

अथ अपि—यद्यपि उन्होंने आक्रमण करना चाहा; अभिभवन्ति—मारने में सक्षम हैं; एनम्—इस बालक को; न—नहीं; एव—निश्चय ही; ते—वे सब; घोर-दर्शनाः—देखने में भयावने; जिघांसया—ईर्ष्या के कारण; एनम्—कृष्ण के; आसाद्य—पास आकर; नश्यन्ति—नष्ट हो जाते हैं (आक्रामक की मृत्यु होती है); अग्नौ—अग्नि में; पतङ्ग-वत्—कीटों के समान।

यद्यपि मृत्यु के कारणरूप दैत्यगण अत्यन्त भयावने थे किन्तु वे इस बालक कृष्ण को मार नहीं पाये। चूँकि वे निर्दोष बालकों को मारने आये थे इसलिए ज्योंही वे उनके निकट पहुँचे त्योंही वे उसी तरह मारे गये जिस तरह अग्नि पर आक्रमण करने वाले पतङ्गे मारे जाते हैं।

तात्पर्य : नन्द महाराज ने सहज भाव से सोचा, ''शायद इस बालक ने पूर्वजन्म में इन असुरों को मारा हो इसलिए इस जीवन में वे उससे ईर्ष्या करके उस पर आक्रमण कर रहे हैं। लेकिन कृष्ण अग्नि हैं और वे पतङ्गे हैं और अग्नि तथा पतङ्गों की लड़ाई में अग्नि ही विजयी होती है।'' असुरों तथा भगवान् की शक्ति के बीच सदैव युद्ध चलता रहता है। *परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्* (*भगवद्गीता* ४.८)। जो भी भगवान् के नियंत्रण के विरुद्ध हो उसका वध जन्म-जन्मांतर किया जाना चाहिए। सामान्य प्राणी कर्म के वशीभूत हैं किन्तु भगवान् सदा ही असुरों पर विजय पाते हैं।

अहो ब्रह्मविदां वाचो नासत्याः सन्ति कर्हिचित् ।
गर्गो यदाह भगवानन्वभावि तथैव तत् ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

अहो—कितना आश्चर्यजनक है; ब्रह्म-विदाम्—ब्रह्म-ज्ञान से युक्त व्यक्तियों के; वाचः—शब्द; न—कभी नहीं; असत्याः—झूठ; सन्ति—होते हैं; कर्हिचित्—किसी भी समय; गर्गः—गर्गमुनि ने; यत्—जो भी; आह—भविष्यवाणी की थी; भगवान्—परम शक्तिशाली; अन्वभावि—वही हो रहा है; तथा एव—जैसा; तत्—वह।

ब्रह्म-ज्ञान से युक्त पुरुषों के शब्द कभी झूठे नहीं निकलते। यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि गर्गमुनि ने जो भी भविष्यवाणी की थी उसे ही हम विस्तार से वस्तुतः अनुभव कर रहे हैं।

तात्पर्य : मानव जीवन के उद्देश्य का ब्रह्मसूत्र में संकेत किया है—*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।* अपना जीवन पूर्ण बनाने के लिए—चाहे भूत हो, वर्तमान या भविष्य—मनुष्य को ब्रह्म के विषय में जानना चाहिए। तीव्र स्नेह के कारण नन्द महाराज कृष्ण को यथार्थ रूप में नहीं समझ पाये। गर्गमुनि वेदों का अध्ययन करने से भूत, वर्तमान तथा भविष्य की हर बात जान सकते थे किन्तु नन्द महाराज कृष्ण को सीधे नहीं समझ पाये। कृष्ण के प्रति गहन प्रेम के कारण वे भूल गये कि कृष्ण कौन हैं और वे कृष्ण की शक्ति को समझ नहीं पाये। यद्यपि कृष्ण साक्षात् नारायण हैं किन्तु गर्गमुनि ने इसको प्रकट नहीं किया। इसलिए नन्द महाराज को गर्गमुनि के शब्द अच्छे लगे किन्तु गहन प्रेम के कारण वे यह नहीं समझ पाये कि कृष्ण कौन हैं यद्यपि गर्गमुनि ने कहा था कि कृष्ण के सारे गुण नारायण के ही समान होंगे।

इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा ।
कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन्भववेदनाम् ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; नन्द-आदयः—नन्द महाराज इत्यादि; गोपाः—ग्वाले; कृष्ण-राम-कथाम्—भगवान् कृष्ण तथा राम सम्बन्धी घटनाओं की कथा को; मुदा—बड़े ही आनन्द से; कुर्वन्तः—करते हुए; रममाणाः च—आनन्द लेते हुए तथा कृष्ण के प्रति प्रेम बढ़ाते हुए; न—नहीं; अविन्दन्—अनुभव किया; भव-वेदनाम्—इस संसार के कष्टों को।

इस तरह नन्द समेत सारे ग्वालों को कृष्ण तथा बलराम की लीलाओं सम्बन्धी कथाओं में बड़ा ही दिव्य आनन्द आया और उन्हें भौतिक कष्टों का पता तक नहीं चला।

तात्पर्य : यहाँ पर *श्रीमद्भागवत* में आई कृष्ण-लीलाओं के अध्ययन या विचार-विमर्श करने के परिणाम के विषय में शिक्षा है। *सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्* (भागवत १.१.२)। नन्द महाराज तथा यशोदा का प्राकट्य वृन्दावन में इस भौतिक जगत के सामान्य व्यक्तियों की ही तरह

हुआ किन्तु उन्हें इस जगत के कष्टों का कभी अनुभव नहीं हुआ, भले ही उन्हें कभी कभी असुरों के उत्पातों का सामना करना पड़ा हो। यह व्यावहारिक उदाहरण है। यदि हम नन्द महाराज तथा गोपों के चरणचिह्नों का अनुसरण करें तो हम कृष्ण-लीलाओं के विषय में विचार-विमर्श करने से ही सुखी बन सकते हैं।

अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगमधोक्षजे।

लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम्॥

(*भागवत* १.७.६)

व्यासदेव ने यह ग्रंथ इसीलिए लिखा है कि हर व्यक्ति *भागवत-कथा* की विवेचना करने से ही अपने दिव्य पद को समझ सके। आज भी *श्रीमद्भागवत* का अनुसरण करके प्रत्येक व्यक्ति कहीं रह कर भी भौतिक कष्टों से मुक्त हो सकता है। उसके लिए किसी प्रकार की तपस्या करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि इस युग में तपस्या करना अत्यन्त कठिन है। इसीलिए चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसङ्कीर्तनम्।* हम अपने कृष्णभावनामृत आन्दोलन द्वारा *श्रीमद्भागवत* का वितरण करने में लगे हैं जिससे संसार के किसी भी कोने में रहने वाला व्यक्ति कृष्ण की लीलाओं के विषय में कीर्तन एवं श्रवण करके कृष्णभावनामृत आन्दोलन में समा सके तथा समस्त भौतिक तापों से मुक्त हो सके।

एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे ।
निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः ॥५९॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विहारैः—विभिन्न लीलाओं द्वारा; कौमारैः—बाल्योचित; कौमारम्—बाल्यावस्था; जहतुः—बिताई; व्रजे—व्रजभूमि में; निलायनैः—आँख-मिचौनी खेलते हुए; सेतु-बन्धैः—समुद्र में नकली पुल बनाते हुए; मर्कट—वानरों की तरह; उत्प्लवन-आदिभिः—इधर-उधर कूदते-फाँदते।

इस तरह कृष्ण तथा बलराम ने व्रजभूमि में बच्चों के खेलों में, यथा आँख-मिचौनी खेलने, समुद्र में पुल बनाने का स्वांग करने तथा बन्दरों की तरह इधर-उधर कूदने-फाँदने में अपनी बाल्यावस्था व्यतीत की।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध के अन्तर्गत ''कृष्ण की बाल-लीलाएँ'' नामक ग्यारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बारह

अघासुर का वध

इस अध्याय में अघासुर वध नामक कृष्ण–लीला का विस्तार से वर्णन हुआ है।

एक दिन कृष्ण ने जंगल में विहार गोष्ठी (पिकनिक) करनी चाही अतएव वे प्रात:काल ही अन्य ग्वालबालों के साथ अपने अपने बछड़ों की टोली समेत जंगल में चले गये। जब वे भोजन–पान कर रहे थे तभी पूतना तथा बकासुर का भाई अघासुर कृष्ण तथा उनके संगियों को मारने के उद्देश्य से प्रकट हुआ। कंस द्वारा भेजे गये इस असुर ने अजगर का रूप बनाया और उसने अपना विस्तार आठ मील तक कर लिया। उसकी ऊँचाई पर्वत जैसी हो गई, उसका मुँह पृथ्वी से लेकर आकाश तक फैल गया। अघासुर ऐसा वेश बनाकर रास्ते में लेट गया। कृष्ण के मित्रों ने सोचा कि यह असुर–रूप वृन्दावन का कोई रमणीक स्थल है। इस तरह वे इस विशाल अजगर के मुख के भीतर घुसने के लिए इच्छुक हो उठे। उनके लिए अजगर का विशाल रूप खिलवाड़ बन गया। वे हँसने लग पड़े क्योंकि वे आश्वस्त थे कि यदि यह रूप खतरनाक भी हो तो उन्हें डरने की कोई बात नहीं क्योंकि कृष्ण उनकी रक्षा करने के लिए साथ हैं। इस तरह वे विशाल आकृति के मुख की ओर बढ़ने लगे।

कृष्ण अघासुर के बारे में अच्छी तरह जानते थे अतएव वे अपने मित्रों को असुर के मुख में घुसने से मना करना चाह रहे थे किन्तु तब तक सारे ग्वाले अपने अपने बछड़ों की टोलियों समेत उस विशाल आकृति के मुख में घुस चुके थे। कृष्ण बाहर प्रतीक्षा कर रहे थे और अघासुर यह सोच कर कृष्ण की प्रतीक्षा में था कि ज्योंही वे घुसें कि वह अपना मुँह बन्द कर ले तो सारे लोग मर जायेंगे। कृष्ण की प्रतीक्षा में उसने बालकों को नहीं निगला। तभी कृष्ण सोच में थे कि किस तरह बालकों को बचाया जाय और अघासुर का वध किया जाये। अत: वे भी उस विशाल असुर के मुँह में घुस गये और जब वे अपने मित्रों समेत उस असुर के मुख में थे तो उन्होंने अपने शरीर को इतना बढ़ाया कि असुर का श्वास रुक गया और वह मर गया। इसके बाद कृष्ण ने अमृत–दृष्टि फेर कर अपने मित्रों को जीवित किया जिससे सभी हँसते–खेलते बाहर आ गये। इस तरह कृष्ण ने देवताओं को प्रोत्साहित किया और उन्होंने परम प्रसन्नता व्यक्त की। दुष्ट तथा पापी व्यक्ति के लिए *सायुज्यमुक्ति* की कोई गुंजाईश नहीं

रहती किन्तु कृष्ण द्वारा अघासुर के शरीर में प्रविष्ट होने तथा उनके स्पर्शमात्र से उस असुर को सायुज्य मुक्ति प्राप्त हुई।

जब यह लीला सम्पन्न हुई तो कृष्ण अभी केवल पाँच वर्ष के थे। एक वर्ष बाद जब वे छः वर्ष के हुए और उन्होंने *पौगण्ड* अवस्था में प्रवेश किया तब व्रजवासियों को यह लीला बतलाई गई। परीक्षित महाराज ने पूछा, ''क्या कारण है कि यह लीला एक वर्ष बाद प्रकट की गई फिर भी व्रजवासियों ने सोचा कि यह उसी दिन घटित हुई है?'' इसी प्रश्न के साथ बारहवें अध्याय का अन्त होता है।

श्रीशुक उवाच
क्वचिद्वनाशाय मनो दधद्व्रजात्
प्रातः समुत्थाय वयस्यवत्सपान् ।
प्रबोधयञ्छृङ्गरवेण चारुणा
विनिर्गतो वत्सपुरःसरो हरिः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; क्वचित्—एक दिन; वन-आशाय—जंगल में विहार करने हेतु; मनः—मन; दधत्—ध्यान दिया; व्रजात्—व्रजभूमि से बाहर गये; प्रातः—सुबह होते ही; समुत्थाय—जग कर; वयस्य-वत्स-पान्—ग्वालबालों तथा बछड़ों को; प्रबोधयन्—जगाकर बतलाते हुए; शृङ्ग-रवेण—सींग के बने बिगुल से आवाज करते हुए; चारुणा—अत्यन्त सुन्दर; विनिर्गतः—व्रजभूमि से बाहर आये; वत्स-पुरःसरः—बछड़ों को आगे करके; हरिः—भगवान्।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, एक दिन कृष्ण ने जंगल में विहार करते हुए कलेवा करना चाहा। उन्होंने बड़े सुबह उठ कर सींग का बिगुल बजाया तथा उसकी मधुर आवाज से ग्वालबालों तथा बछड़ों को जगाया। फिर कृष्ण तथा सारे बालक अपने अपने बछड़ों के समूहों को आगे करके व्रजभूमि से जंगल की ओर बढ़े।

तेनैव साकं पृथुकाः सहस्रशः
स्निग्धाः सुशिग्वेत्रविषाणवेणवः ।
स्वान्स्वान्सहस्रोपरिसङ्ख्ययान्वितान्
वत्सान्पुरस्कृत्य विनिर्ययुर्मुदा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तेन—उनके; एव—निस्सन्देह; साकम्—साथ; पृथुकाः—बालक; सहस्रशः—हजारों; स्निग्धाः—अत्यन्त आकर्षक; सु—सुन्दर; शिक्—कलेवा की पोटली; वेत्र—बछड़े हाँकने के लिए लाठियाँ; विषाण—सींग के बने बिगुल; वेणवः—बाँसुरियाँ; स्वान् स्वान्—अपनी अपनी; सहस्र-उपरि-सङ्ख्यया अन्वितान्—संख्या में एक हजार से ऊपर; वत्सान्—बछड़ों को; पुरः-कृत्य—आगे करके; विनिर्ययुः—बाहर आ गये; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक।

उस समय लाखों ग्वालबाल व्रजभूमि में अपने अपने घरों से बाहर आ गये और अपने साथ

के लाखों बछड़ों की टोलियों को अपने आगे करके कृष्ण से आ मिले। ये बालक अतीव सुन्दर थे। उनके पास कलेवा की पोटली, बिगुल, वंशी तथा बछड़े चराने की लाठियाँ थीं।

कृष्णवत्सैरसङ्ख्यातैर्यूथीकृत्य स्ववत्सकान् ।
चारयन्तोऽर्भलीलाभिर्विजह्रुस्तत्र तत्र ह ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

कृष्ण—कृष्ण का; वत्सैः—बछड़ों के साथ; असङ्ख्यातैः—अनन्त; यूथी-कृत्य—उन्हें एकत्र करके; स्व-वत्सकान्—अपने बछड़ों को; चारयन्तः—चराते हुए; अर्भ-लीलाभिः—बाल-लीलाओं द्वारा; विजह्रुः—आनन्द मनाया; तत्र तत्र—यहाँ वहाँ; ह—निस्सन्देह।

कृष्ण ग्वालबालों तथा उनके बछड़ों के समूहों के साथ बाहर निकले तो असंख्य बछड़े एकत्र हो गये। तब सारे लड़कों ने जंगल में परम प्रसन्न होकर खेलना प्रारम्भ कर दिया।

तात्पर्य : इस श्लोक में *कृष्णवत्सैरसंख्यातै* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *असंख्यात्* का अर्थ है "अनन्त।" कृष्ण के बछड़े अनन्त थे। अनन्त का अर्थ है सौ, हजार, लाख, करोड़ नहीं अपितु इन सबसे अधिक। कृष्ण अनन्त हैं और उनकी शक्ति अनन्त है। उनकी गौवें तथा बछड़े अनन्त हैं और उनका स्थान भी अनन्त है। इसीलिए *भगवद्गीता* में उन्हें परब्रह्म कहा गया है। *ब्रह्मन्* का अर्थ ही है "अनन्त।" कृष्ण परब्रह्म हैं अतएव हमें इस श्लोक के कथनों को काल्पनिक नहीं मानना चाहिए। वे यथार्थ हैं किन्तु हैं अचिन्त्य। कृष्ण असंख्य बछड़ों को तथा असंख्य स्थानों को सँभाल सकते हैं। यह न तो काल्पनिक है, न मिथ्या किन्तु यदि हम अपने सीमित ज्ञान से कृष्ण की शक्ति को जानना चाहें तो यह शक्ति कभी समझ में नहीं आयेगी। *अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद्ग्राह्यमिन्द्रियै* (*भक्तिरसामृत सिन्धु* १.२.९)। हमारी इन्द्रियाँ इसका अनुमान ही नहीं लगा सकतीं कि कृष्ण ने किस तरह असंख्य बछड़ों तथा गौवों को सँभाला होगा और ऐसा करने के लिए उनके पास असीम स्थान रहा होगा। किन्तु इसका उत्तर *बृहद् भागवतामृत* में मिलता है—

एवं प्रभोः प्रियानां च धाम्नश्च समयस्य च।
अविचिन्त्यप्रभावत्वाद् अत्र किञ्चिन्न दुर्घटम्॥

श्री सनातन गोस्वामी ने *बृहद् भागवतामृत* में बतलाया है कि कृष्ण विषयक हर वस्तु असीम है अतएव उनके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। हमें इसी परिप्रेक्ष्य में इस श्लोक को समझना चाहिए।

फलप्रबालस्तवकसुमनःपिच्छधातुभिः ।
काचगुञ्जामणिस्वर्णभूषिता अप्यभूषयन् ॥ ४॥

शब्दार्थ

फल—जंगल के फल; प्रबाल—हरी पत्तियाँ; स्तवक—गुच्छे; सुमनः—सुन्दर फूल; पिच्छ—मोरपंख; धातुभिः—रंगीन खनिज पदार्थ, गेरू द्वारा; काच—एक प्रकार का पत्थर; गुञ्जा—छोटे छोटे शंख; मणि—मोती; स्वर्ण—सोना; भूषिताः—अलंकृत; अपि अभूषयन्—माताओं द्वारा सजाये जाने पर भी स्वयं इन वस्तुओं से अपने को सजाने लगे।

यद्यपि इन बालकों की माताओं ने पहले से इन्हें काच, गुञ्जा, मोती तथा सोने के आभूषणों से सजा रखा था किन्तु फिर भी जंगल में जाकर उन्होंने फलों, हरी पत्तियों, फूलों के गुच्छों, मोरपंखों तथा गेरू से अपने को सजाया।

मुष्णन्तोऽन्योन्यशिक्यादीन्ज्ञातानाराच्च चिक्षिपुः ।
तत्रत्याश्च पुनर्दूराद्धसन्तश्च पुनर्ददुः ॥ ५॥

शब्दार्थ

मुष्णन्तः—चुराते हुए; अन्योन्य—एक-दूसरे से; शिक्य-आदीन्—कलेवा के डिब्बे तथा अन्य वस्तुएँ; ज्ञातान्—उसके असली मालिक द्वारा जान लिये जाने पर; आरात् च—दूर स्थान को; चिक्षिपुः—फेंक दिया; तत्रत्याः च—जो उस स्थान पर थे, वे भी; पुनः दूरात्—और आगे; हसन्तः च पुनः ददुः—हँसते हुए फिर से मालिक को लौटा दिया।

सारे ग्वालबाल एक-दूसरे की कलेवा की पोटली चुराने लगे। जब कोई बालक जान जाता कि उसकी पोटली चुरा ली गयी है, तो दूसरे लड़के उसे दूर फेंक देते और वहाँ पर खड़े बालक उसे और दूर फेंक देते। जब पोटली का मालिक निराश हो जाता तो दूसरे बालक हँस पड़ते और मालिक रो देता तब वह पोटली उसे लौटा दी जाती।

तात्पर्य : इस तरह का खेल और चोरी अब भी भौतिक जगत में पाई जाती है क्योंकि इस प्रकार का मनोरंजन आध्यात्मिक जगत में विद्यमान है जहाँ से यह आनन्द का भाव प्रस्तुत होता है। *जन्माद्यस्य यतः* (*वेदान्त सूत्र* १.१.२)। यही भाव आध्यात्मिक जगत में कृष्ण तथा उनके संगियों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है किन्तु वहाँ का यह उल्लास शाश्वत है, जबकि भौतिक जगत में वही क्षणिक होता है। वहाँ का उल्लास ब्रह्म होता है और यहाँ का *जड़*। कृष्णभावनामृत आन्दोलन मनुष्य को यह शिक्षा देने के लिए है कि वह किस तरह अपने को जड़ से ब्रह्म में स्थानान्तरित कर सकता है क्योंकि मनुष्य जीवन इसी के निमित्त है। *अथातो ब्रह्मजिज्ञासा* (*वेदान्त सूत्र* १.१.१)। कृष्ण हमें यह शिक्षा देने के लिए अवतरित होते हैं कि हम किस तरह आध्यात्मिक जगत में उनके साथ आध्यात्मिक पद पर आनन्द पा सकते हैं। वे न केवल आते हैं अपितु वृन्दावन में लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं और लोगों

को आध्यात्मिक भोग के प्रति आकृष्ट करते हैं।

यदि दूरं गतः कृष्णो वनशोभेक्षणाय तम् ।
अहं पूर्वमहं पूर्वमिति संस्पृश्य रेमिरे ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; दूरम्—दूर स्थान को; गतः—गये; कृष्णः—कृष्ण; वन-शोभ—जंगल का सौन्दर्य; ईक्षणाय—देखने तथा आनन्द लेने के लिए; तम्—कृष्ण को; अहम्—मैं; पूर्वम्—प्रथम; अहम्—मैं; पूर्वम्—प्रथम; इति—इस प्रकार; संस्पृश्य—उन्हें छू कर; रेमिरे—जीवन का आनन्द लेते।

कभी कभी कृष्ण जंगल की शोभा देखने के लिए दूर तक निकल जाते। तो सारे बालक उनके साथ जाने के लिए, यह कहते हुए दौते, ''दौड़ कर कृष्ण को छूने वाला मैं पहला हूँगा! मैं कृष्ण को सबसे पहले छुऊँगा।'' इस तरह वे कृष्ण को बारम्बार छू-छू कर जीवन का आनन्द लेते।

केचिद्वेणून्वादयन्तो ध्मान्तः शृङ्गाणि केचन ।
केचिद्भृङ्गैः प्रगायन्तः कूजन्तः कोकिलैः परे ॥ ७ ॥
विच्छायाभिः प्रधावन्तो गच्छन्तः साधुहंसकैः ।
बकैरुपविशन्तश्च नृत्यन्तश्च कलापिभिः ॥ ८ ॥
विकर्षन्तः कीशबालानारोहन्तश्च तैर्द्रुमान् ।
विकुर्वन्तश्च तैः साकं प्लवन्तश्च पलाशिषु ॥ ९ ॥
साकं भेकैर्विलङ्घन्तः सरितः स्त्रवसम्प्लुताः ।
विहसन्तः प्रतिच्छायाः शपन्तश्च प्रतिस्वनान् ॥ ॥
इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या
दास्यं गतानां परदैवतेन ।
मायाश्रितानां नरदारकेण
साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

केचित्—उनमें से कोई; वेणून्—बाँसुरियों को; वादयन्तः—बजाते हुए; ध्मान्तः—बजाते; शृङ्गाणि—सींग का बिगुल; केचन—अन्य कोई; केचित्—कोई; भृङ्गैः—भौंरों के साथ; प्रगायन्तः—गाते हुए; कूजन्तः—कूजते हुए; कोकिलैः—कोयलों के साथ; परे—अन्य; विच्छायाभिः—दौड़ती परछाइयों के साथ; प्रधावन्तः—चिड़ियों के पीछे दौते हुए; गच्छन्तः—साथ साथ जाते हुए; साधु—सुन्दर; हंसकैः—हंसों के साथ; बकैः—एक स्थान पर बैठे बगुलों के साथ; उपविशन्तः च—उन्हीं के समान चुपचाप बैठते हुए; नृत्यन्तः च—तथा नाचते हुए; कलापिभिः—मोरों के साथ; विकर्षन्तः—आकर्षित करते हुए; कीश-बालान्—बन्दरों के बच्चों को; आरोहन्तः च—चढ़ते हुए; तैः—बन्दरों के साथ; द्रुमान्—वृक्षों पर; विकुर्वन्तः च—उनकी नकल करते हुए; तैः—उनके; साकम्—के साथ; प्लवन्तः च—कूदते हुए; पलाशिषु—वृक्षों पर; साकम्—साथ; भेकैः—मेंढ़कों के; विलङ्घन्तः—उन्हीं की तरह कूदते हुए; सरितः—जल; स्त्रव-सम्प्लुताः—नदी के जल में भीग गये; विहसन्तः—हँसते हुए; प्रतिच्छायाः—परछाईं पर; शपन्तः च—निन्दा करते हुए; प्रतिस्वनान्—अपनी प्रतिध्वनि की आवाज; इत्थम्—इस प्रकार; सताम्—अध्यात्मवादियों का; ब्रह्म-सुख-अनुभूत्या—ब्रह्म-सुख के उद्गम, कृष्ण के साथ; दास्यम्—दास्यभाव; गतानाम्—भक्तों का जिन्होंने स्वीकार किया है; पर-दैवतेन—भगवान् के साथ; माया-आश्रितानाम्—माया के वशीभूतों के लिए; नर-

दारकेण—जिन्होंने सामान्य बालक के सदृश उनके साथ; साकम्—साथ में; विजह्रुः—आनन्द लूटा; कृत-पुण्य-पुञ्जाः—ये सारे बालक जिन्होंने जन्म-जन्मांतर के पुण्यकर्मों के फल एकत्र कर रखे थे।.

सारे बालक भिन्न भिन्न कार्यों में व्यस्त थे। कुछ अपनी बाँसुरियाँ बजा रहे थे, कुछ सींग का बिगुल बजा रहे थे। कुछ भौरों की गुंजार की नकल तो अन्य बालक कोयल की कुहू कुहू की नकल कर रहे थे। कुछ बालक उड़ती चिड़ियों की भूमि पर पड़ने वाली परछाइयों के पीछे दौड़ कर उनकी नकल कर रहे थे, तो कुछ हंसों की सुन्दर गति तथा उनकी आकर्षक मुद्राओं की नकल उतार रहे थे। कुछ चुपचाप बगुलों के पास बैठ गये और अन्य बालक मोरों के नाच की नकल करने लगे। कुछ बालकों ने वृक्षों के बन्दरों को आकृष्ट किया, कुछ इन बन्दरों की नकल करतेहुए पेड़ों पर कूदने लगे। कुछ बन्दरों जैसा मुँह बनाने लगे और कुछ एक डाल से दूसरी डाल पर कूदने लगे। कुछ बालक झरने के पास गये और उन्होंने मेंढ़कों के साथ उछलते हुए नदी पार की और पानी में अपनी परछाईं देख कर वे हँसने लगे। वे अपनी प्रतिध्वनि की आवाज की निन्दा करते। इस तरह सारे बालक उन कृष्ण के साथ खेला करते जो ब्रह्मज्योति में लीन होने के इच्छुक ज्ञानियों के लिए उसके उद्गम हैं और उन भक्तों के लिए भगवान् हैं जिन्होंने नित्यदासता स्वीकार कर रखी है किन्तु सामान्य व्यक्तियों के लिए वे ही एक सामान्य बालक हैं। ग्वालबालों ने अनेक जन्मों के पुण्यकर्मों का फल संचित कर रखा था फलतः वे इस तरह भगवान् के साथ रह रहे थे। भला उनके इस महाभाग्य का वर्णन कौन कर सकता है?

तात्पर्य : श्रील रूप गोस्वामी ने संस्तुति की है (*भक्तिरसामृत सिन्धु* १.२.४)—*तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्।* कृष्ण को कोई चाहे सामान्य बालक समझे, चाहे ब्रह्मतेज का उद्गम, चाहे परमात्मा का उत्स या भगवान् माने, उसे चाहिए कि वह कृष्ण के चरणकमलों में अपना ध्यान पूरी तरह से केन्द्रित करे। यही *भगवद्गीता* का भी (१८.६६) उपदेश है—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।* कृष्ण तक सीधे पहुँचने का सरलतम साधन *श्रीमद्भागवत* है। *ईश्वरः सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्* (*भागवत* १.१.२)। यदि मनुष्य अपना थोड़ा भी ध्यान कृष्ण तथा उनके कार्यकलापों की ओर लगाये तो उसे जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त हो सकती है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का यही उद्देश्य है। *लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम्* (*भागवत* १.७.६)। सफलता का रहस्य सामान्य लोगों को ज्ञात नहीं इसीलिए इस जगत के दीनजनों के प्रति

दया-भाव से, विशेष रूप से इस कलियुग में, श्रील व्यासदेव ने हमें *श्रीमद्भागवत* प्रदान किया है। *श्रीमद्भागवतं पुराणं अमलं यद् वैष्णवानां प्रियम्* (*भागवत* १२.१३.१८)। वे वैष्णवजन, जो कुछ बढ़े-चढ़े हैं या जो भगवान् की महिमा तथा शक्ति से भलीभाँति परिचित हैं उनके लिए *श्रीमद्भागवत* प्रिय वैदिक ग्रंथ है। अन्ततः हमें इस शरीर को बदलना होगा (*तथा देहान्तरप्राप्तिः*)। यदि हम *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* की परवाह नहीं करेंगे तो न जाने हमें अगला शरीर कैसा मिले। किन्तु जो व्यक्ति इन दोनों ग्रंथों पर अटल रहता है उसे अगले जीवन में अवश्य ही कृष्ण की संगति प्राप्त होगी। (*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मां एति सोऽर्जुन*)। अतः सारे विश्व में *श्रीमद्भागवत* का वितरण धर्मज्ञों, दार्शनिकों, अध्यात्मवादियों तथा योगियों, यहाँ तक कि आम जनता के लिए एक महान् कल्याण-कार्य है। (*योगिनां अपि सर्वेषाम्*)। *जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः* (*भागवत* २.१.६)—यदि हम अपने जीवन के अन्तिम क्षण में कृष्ण या नारायण का येनकेन प्रकारेण स्मरण कर सकें तो हमारा जीवन सफल हो जायेगा।

यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो
धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः ।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः
किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; पाद-पांसुः—चरणकमलों की धूल; बहु-जन्म—अनेक जन्मों में; कृच्छ्रतः—योग, ध्यान आदि के लिए कठिन तपस्या करने से.; धृत-आत्मभिः—मन को वश में रखने वालों के द्वारा; योगिभिः—ऐसे योगियों द्वारा (ज्ञानयोगी, राजयोगी, ध्यानयोगी इत्यादि); अपि—निस्सन्देह; अलभ्यः—प्राप्त न किया जा सकने वाली; सः—भगवान्; एव—निस्सन्देह; यत्-दृक्-विषयः—साक्षात् दर्शन की वस्तु बन गया है; स्वयम्—स्वयं; स्थितः—उनके समक्ष उपस्थित; किम्—क्या; वर्ण्यते—वर्णन किया जा सकता है; दिष्टम्—भाग्य के विषय में; अतः—इसलिए; व्रज-ओकसाम्—व्रजभूमि वृन्दावन के वासियों के।.

भले ही योगी अनेक जन्मों तक यम, नियम, आसन तथा प्राणायाम द्वारा जिनमें से कोई भी सरलता से नहीं किया जा सकता है, कठोर से कठोर तपस्या करें फिर भी समय आने पर जब इन योगियों को मन पर नियंत्रण करने की सिद्धि प्राप्त हो जाती है, तो भी वे भगवान् के चरणकमलों की धूल के एक कण तक का आस्वाद नहीं कर सकते। तो भला व्रजभूमि वृन्दावन के निवासियों के महाभाग्य के विषय में क्या कहा जाय जिनके साथ साथ साक्षात् भगवान् रहे और जिन्होंने उनका प्रत्यक्ष दर्शन किया?

तात्पर्य : हम वृन्दावनवासियों के महाभाग्य का केवल अनुमान लगा सकते हैं। यह वर्णन कर पाना असम्भव है कि किस तरह अनेकानेक जन्मों के पुण्यकर्मों के परिणामस्वरूप वे इतने भाग्यशाली बन सके।

अथाघनामाभ्यपतन्महासुर-
स्तेषां सुखक्रीडनवीक्षणाक्षमः ।
नित्यं यदन्तर्निजजीवितेप्सुभिः
पीतामृतैरप्यमरैः प्रतीक्ष्यते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; अघ-नाम—अघ नामक शक्तिशाली असुर; अभ्यपतत्—उस स्थान पर प्रकट हुआ; महा-असुरः—महान, अत्यन्त शक्तिशाली असुर; तेषाम्—ग्वालबालों की; सुख-क्रीडन—दिव्य लीलाओं का आनन्द; वीक्षण-अक्षमः—देख कर सहन कर पाने में अक्षम; नित्यम्—शाश्वत; यत्-अन्तः—अघासुर का अन्त; निज-जीवित-ईप्सुभिः—अघासुर द्वारा बिना सताये हुए जीने के लिए; पीत-अमृतैः अपि—प्रतिदिन अमृत-पान करते हुए भी; अमरैः—देवताओं द्वारा; प्रतीक्ष्यते—प्रतीक्षा की जा रही थी (देवता भी अघासुर के वध की प्रतीक्षा कर रहे थे)।

हे राजा परीक्षित, तत्पश्चात् वहाँ पर एक विशाल असुर प्रकट हुआ जिसका नाम अघासुर था और देवता तक जिसकी मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे थे। यद्यपि देवता प्रतिदिन अमृत-पान करते थे फिर भी वे इस महान् असुर से डरते थे और उसकी मृत्यु की प्रतीक्षा में थे। यह असुर जंगल में ग्वालबालों द्वारा मनाये जा रहे दिव्य आनन्द को सहन नहीं कर सका।

तात्पर्य : यह प्रश्न किया जा सकता है कि किसी असुर द्वारा कृष्ण-लीलाओं में विघ्न कैसे पहुँचाया जा सकता है? श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इस प्रश्न का उत्तर यह कहते हुए देते हैं कि यद्यपि ग्वालबालों द्वारा मनाया जा रहा दिव्य आनन्द रोका नहीं जा सकता था किन्तु यदि उन्हें रोका न जाता तो वे अपना कलेवा न खा पाते। अतः उनके कलेवा के समय योगमाया की व्यवस्थानुसार वह अघासुर प्रकट हुआ जिससे वे थोड़ी देर के लिए अपनी क्रीड़ाएँ छोड़ कर कलेवा खा सकें। आनन्द तो परिवर्तन से आता है। ग्वालबाल लगातार खेलते रहते, फिर रुक जाते और तब दूसरी प्रकार से आनन्द मनाते। इसीलिए प्रतिदिन एक असुर आता और उनकी क्रीड़ाओं में बाधा डालता। तब वह असुर मारा जाता और बच्चे फिर से अपनी दिव्य लीलाओं में लग जाते।

दृष्ट्वार्भकान्कृष्णमुखानघासुरः
कंसानुशिष्टः स बकीबकानुजः ।

अयं तु मे सोदरनाशकृत्तयो-
द्वयोर्ममैनं सबलं हनिष्ये ॥ १४॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देख कर; अर्भकान्—सारे ग्वालबालों को; कृष्ण-मुखान्—कृष्ण आदि; अघासुरः—अघासुर नामक राक्षस; कंस-अनुशिष्टः—कंस द्वारा भेजा गया; सः—वह (अघासुर); बकी-बक-अनुजः—पूतना तथा बकासुर का छोटा भाई; अयम्—यह कृष्ण; तु—निस्सन्देह; मे—मेरा; सोदर-नाश-कृत्—भाई तथा बहिन का मारने वाला; तयोः—अपने भाई तथा बहिन के लिए; द्वयोः—दोनों के लिए; मम—मेरा; एनम्—कृष्ण को; स-बलम्—उसके सहायक ग्वालबालों समेत; हनिष्ये—जान से मारूँगा।

कंस द्वारा भेजा गया अघासुर पूतना तथा बकासुर का छोटा भाई था। अतएव जब वह आया और उसने देखा कि कृष्ण सारे ग्वालबालों का मुखिया है, तो उसने सोचा, "इस कृष्ण ने मेरी बहन पूतना तथा मेरे भाई बकासुर का वध किया है। अतएव इन दोनों को तुष्ट करने के लिए मैं इस कृष्ण को इसके सहायक अन्य ग्वालबालों समेत मार डालूँगा।"

एते यदा मत्सुहृदोस्तिलापः
कृतास्तदा नष्टसमा व्रजौकसः ।
प्राणे गते वर्ष्मसु का नु चिन्ता
प्रजासवः प्राणभृतो हि ये ते ॥ १५॥

शब्दार्थ

एते—यह कृष्ण तथा उसके संगी ग्वालबाल; यदा—जब; मत्-सुहृदोः—मेरे भाई तथा बहिन का; तिल-आपः कृताः—तिल तथा जल से अन्तिम संस्कार हो; तदा—उस समय; नष्ट-समाः—प्राणविहीन; व्रज-ओकसः—व्रजभूमि वृन्दावन के सारे निवासी; प्राणे—प्राण के; गते—निकल जाने पर; वर्ष्मसु—जहाँ तक शरीर का सम्बन्ध है; का—क्या; नु—निस्सन्देह; चिन्ता—सोच-विचार; प्रजा-असवः—अपने बच्चों के लिए जिनका प्रेम अपने जीवन के प्रति प्रेम जैसा ही है; प्राण-भृतः—वे जीव; हि—निस्सन्देह; ये ते—ये सारे व्रजभूमिवासी।

अघासुर ने सोचाः यदि मैं किसी तरह कृष्ण तथा उनके संगियों को अपने भाई तथा बहिन की दिवंगत आत्माओं के लिए तिल तथा जल की अन्तिम भेंट बना सकूँ तो व्रजभूमि के सारे वासी, जिनके लिए ये बालक प्राणों के तुल्य हैं, स्वयमेव मर जायेंगे। यदि प्राण नहीं रहेंगे तो फिर शरीर की क्या आवश्यकता? फलस्वरूप अपने अपने पुत्रों के मरने पर व्रज के सारे वासी स्वतः मर जायेंगे।

इति व्यवस्याजगरं बृहद्वपुः
स योजनायाममहाद्रिपीवरम् ।
धृत्वाद्भुतं व्यात्तगुहाननं तदा
पथि व्यशेत ग्रसनाशया खलः ॥ १६॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; व्यवस्य—निश्चय करके; आजगरम्—अजगर; बृहत् वपुः—अत्यन्त भारी शरीर; सः—अघासुर ने; योजन-आयाम—आठ मील भूमि घेरने वाला; महा-अद्रि-पीवरम्—विशाल पर्वत के समान मोटा; धृत्वा—रूप धारण कर; अद्भुतम्—अद्भुत; व्यात्त—फैला दिया; गुहा-आननम्—विशाल पर्वत-गुफा जैसे मुँह वाला; तदा—उस समय; पथि—रास्ते में; व्यशेत—घेर लिया; ग्रसन-आशया—सारे ग्वालबालों को निगलने की आशा से; खलः—दुष्ट।

यह निश्चय करने के बाद उस दुष्ट अघासुर ने एक विशाल अजगर का रूप धारण कर लिया, जो विशाल पर्वत की तरह मोटा तथा आठ मील तक लम्बा था। इस तरह अद्भुत अजगर का शरीर धारण करने के बाद उसने अपना मुँह पर्वत की एक बड़ी गुफा के तुल्य फैला दिया और रास्ते में कृष्ण तथा उनके संगी ग्वालबालों को निगल जाने की आशा से लेट गया।

धराधरोष्ठो जलदोत्तरोष्ठो
दर्याननान्तो गिरिशृङ्गदंष्ट्रः ।
ध्वान्तान्तरास्यो वितताध्वजिह्वः
परुषानिलश्वासदवेक्षणोष्णः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

धरा—पृथ्वी; अधर-ओष्ठः—जिसका निचला होंठ; जलद-उत्तर-ओष्ठः—जिसका ऊपरी होंठ बादलों को छू रहा था; दरी-आनन-अन्तः—जिसका मुँह पर्वत-गुफा के समान चौड़ाई में फैल गया था; गिरि-शृङ्ग—पर्वत की चोटी के समान; दंष्ट्रः—दाँत; ध्वान्त-अन्तः-आस्यः—मुँह के भीतर का वायुमण्डल यथासम्भव अंधकारपूर्ण था; वितत-अध्व-जिह्वः—जिसकी जीभ चौ रास्ते की भाँति थी; परुष-अनिल-श्वास—जिसकी श्वास गर्म हवा की तरह थी; दव-ईक्षण-उष्णः—जिसकी चितवन आग की लपटों जैसी थी।

उसका निचला होठ पृथ्वी पर था और ऊपरी होठ आकाश के बादलों को छू रहा था। उसके मुख की बगलें पर्वत की विशाल गुफाओं के समान थीं और मुख का मध्य भाग अत्यन्त अंधकारमय था। उसकी जीभ चौ मार्ग के तुल्य थी, उसकी श्वास गर्म हवा जैसी थी और उसकी आँखें आग की लपटों जैसी जल रही थीं।

दृष्ट्वा तं तादृशं सर्वे मत्वा वृन्दावनश्रियम् ।
व्यात्ताजगरतुण्डेन ह्युत्प्रेक्षन्ते स्म लीलया ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देख कर; तम्—उस अघासुर को; तादृशम्—उस अवस्था में; सर्वे—कृष्ण तथा सारे बालकों ने; मत्वा—सोचा कि; वृन्दावन-श्रियम्—वृन्दावन की सुन्दर मूर्ति; व्यात्त—फैला हुआ; अजगर-तुण्डेन—अजगर के मुँह जैसा; हि—निस्सनदेह; उत्प्रेक्षन्ते—मानों देख रहा हो; स्म—भूतकाल में; लीलया—लीला के रूप में।

इस असुर का अद्भुत रूप विशाल अजगर के समान था। इसे देख कर बालकों ने सोचा कि हो न हो यह वृन्दावन का कोई रम्य स्थल है। तत्पश्चात् उन्होंने कल्पना की कि यह विशाल अजगर के मुख के समान है। दूसरे शब्दों में, निर्भीक बालकों ने सोचा कि विशाल अजगर रूपी

यह मूर्ति उनके क्रीड़ा-आनन्द के लिए बनाई गई है।

तात्पर्य : इस अद्भुत दृश्य को देख कर कुछ बालकों ने सोचा कि यह सचमुच का अजगर है, अत: वे वहाँ से भागने लगे। किन्तु अन्यों ने कहा, "क्यों भाग रहे हो? ऐसा नहीं हो सकता कि कोई अजगर यहाँ रह सके। यह तो खेलने का रमणीक स्थल है।" उन सबों ने ऐसी ही कल्पना की।

अहो मित्राणि गदत सत्त्वकूटं पुर: स्थितम् ।
अस्मत्सङ्ग्रसनव्यात्तव्यालतुण्डायते न वा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; मित्राणि—सारे मित्र; गदत—हमें बताओ तो; सत्त्व-कूटम्—मृत अजगर; पुर: स्थितम्—पहले से पड़ा हुआ; अस्मत्—हम सबों को; सङ्ग्रसन—निगलने के लिए; व्यात्त-व्याल-तुण्डा-यते—अजगर ने मुख फैला रखा है; न वा—यह तथ्य है अथवा नहीं।

बालकों ने कहा : मित्रो, क्या यह मृत है या सचमुच यह जीवित अजगर है, जिसने हम सबों को निगलने के लिए अपना मुँह फैला रखा है? इस सन्देह को दूर करो न!

तात्पर्य : सारे मित्र अपने समक्ष पड़े हुए उस अद्भुत जीव की सत्यता के विषय में परस्पर विचार-विमर्श करने लगे। क्या यह मृत है या उन्हें निगलने का प्रयास कर रहा जीवित अजगर है?

सत्यमर्ककरारक्तमुत्तराहनुवद्घनम् ।
अधराहनुवद्रोधस्तत्प्रतिच्छाययारुणम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सत्यम्—यह सचमुच जीवित अजगर है; अर्क-कर-आरक्तम्—धूप जैसा लगने वाला; उत्तरा-हनुवत् घनम्—बादल पर ऊपरी होंठ की तरह; अधरा-हनुवत्—निचले होंठ की तरह; रोध:—विशाल किनारा; तत्-प्रतिच्छायया—धूप के प्रतिबिम्ब से; अरुणम्—लाल-लाल।

तत्पश्चात् उन्होंने निश्चय किया : मित्रो, यह निश्चित रूप से हम सबों को निगल जाने के लिए यहाँ बैठा हुआ कोई पशु है। इसका ऊपरी होंठ सूर्य की धूप से रक्तिम हुए बादल की तरह है और निचला होंठ बादल की लाल-लाल परछाईं-सा लगता है।

प्रतिस्पर्धेते सृक्कभ्यां सव्यासव्ये नगोदरे ।
तुङ्गश‍ृङ्गालयोऽप्येतास्तद्दंष्ट्राभिश्च पश्यत ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

प्रतिस्पर्धेते—के सदृश; सृक्कभ्याम्—मुँह की बगलें, गलफड़; सव्य-असव्ये—बाएँ-दाएँ; नग-उदरे—पर्वत की गुफाएँ; तुङ्ग-श‍ृङ्ग-आलय:—उच्च पर्वत-चोटियाँ; अपि—यद्यपि ऐसा है; एता: तत्-दंष्ट्राभि:—पशु के दाँतों के ही सदृश; च—तथा; पश्यत—देखो न।

बाएँ तथा दाएँ दो खड्ड जैसी पर्वत-गुफाएँ दिखती हैं, वे इसकी गलफड़ें हैं और पर्वत की ऊँची चोटियाँ इसके दाँत हैं।

आस्तृतायाममार्गोऽयं रसनां प्रतिगर्जति ।
एषां अन्तर्गतं ध्वान्तमेतदप्यन्तराननम् ॥ २२॥

शब्दार्थ

आस्तृत-आयाम—लम्बाई तथा चौड़ाई; मार्गः अयम्—चौड़ा रास्ता; रसनाम्—जीभ; प्रतिगर्जति—के सदृश है; एषाम् अन्तः-गतम्—पर्वतों के भीतर; ध्वान्तम्—अँधेरा; एतत्—यह; अपि—निस्सन्देह; अन्तः-आननम्—मुँह के भीतर।

इस पशु की जीभ की लम्बाई-चौड़ाई चौ मार्ग जैसी है और इसके मुख का भीतरी भाग अत्यन्त अंधकारमय है मानो पर्वत के भीतर की गुफा हो।

दावोष्णखरवातोऽयं श्वासवद्भाति पश्यत ।
तद्दग्धसत्त्वदुर्गन्धोऽप्यन्तरामिषगन्धवत् ॥ २३॥

शब्दार्थ

दाव-उष्ण-खर-वातः अयम्—अग्नि के समान गर्म श्वास बाहर निकल रही है; श्वास-वत् भाति पश्यत—देखो न उसकी श्वास के सदृश है; तत्-दग्ध-सत्त्व—जलते अस्थिपंजरों की; दुर्गन्धः—बुरी महक; अपि—निस्सन्देह; अन्तः-आमिष-गन्ध-वत्—मानों भीतर से आ रही मांस की दुर्गंध हो।

यह अग्नि जैसी गर्म हवा उसके मुँह से निकली हुई श्वास है, जिससे जलते हुए मांस की दुर्गंध आ रही है क्योंकि उसने बहुत शव खा रखे हैं।

अस्मान्किमत्र ग्रसिता निविष्टा-
नयं तथा चेद्बकवद्विनङ्क्ष्यति ।
क्षणादनेनेति बकार्युशन्मुखं
वीक्ष्योद्धसन्तः करताडनैर्ययुः ॥ २४॥

शब्दार्थ

अस्मान्—हम सबों को; किम्—क्या; अत्र—यहाँ; ग्रसिता—निगल जायेगा; निविष्टान्—प्रवेश करने का प्रयत्न करने वाले; अयम्—यह पशु; तथा—अतः; चेत्—यदि; बक-वत्—बकासुर के समान; विनङ्क्ष्यति—विनष्ट कर दिया जायेगा; क्षणात्—तुरन्त; अनेन—इस कृष्ण के द्वारा; इति—इस प्रकार; बक-अरि-उशत्-मुखम्—बकासुर के शत्रु कृष्ण के सुन्दर मुखमंडल को; वीक्ष्य—देखकर; उद्धसन्तः—जोर से हँसते हुए; कर-ताडनैः—ताली बजा-बजा कर; ययुः—मुँह के भीतर चले गये।

तब बालकों ने कहा, ''क्या यह प्राणी हम लोगों को निगलने आया है? यदि वह निगलेगा तो तुरन्त ही बकासुर की भाँति मार डाला जायेगा।'' इस तरह उन्होंने बकासुर के शत्रु कृष्ण के सुन्दर मुख की ओर निहारा और ताली बजा कर जोर-जोर से हँसते हुए वे अजगर के मुँह में प्रविष्ट हो गये।

तात्पर्य : इस भीषण पशु के विषय में तर्क-वितर्क करने के बाद उन्होंने असुर के मुख में प्रवेश करने का निश्चय किया। उन्हें कृष्ण पर पूरा-पूरा विश्वास था क्योंकि उन्हें अनुभव हो चुका था कि कृष्ण ने किस प्रकार उन सबों को बकासुर के मुख से बचाया था। अब यह दूसरा असुर अघासुर था। अत: वे इस असुर के मुख में घुस कर खेल का आनन्द लेना और बकासुर के शत्रु कृष्ण द्वारा बचाया जाना चाहते थे।

इत्थं मिथोऽतथ्यमतज्ज्ञभाषितं
श्रुत्वा विचिन्त्येत्यमृषा मृषायते ।
रक्षो विदित्वाखिलभूतहृत्स्थितः
स्वानां निरोद्धुं भगवान्मनो दधे ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; मिथः—अथवा दूसरा; अतथ्यम्—जो तथ्य नहीं है, ऐसा विषय; अ-तत्-ज्ञ—बिना जाने; भाषितम्—जब वे बातें कर रहे थे; श्रुत्वा—कृष्ण ने सुन कर; विचिन्त्य—सोच कर; इति—इस प्रकार; अमृषा—सचमुच; मृषायते—जो झूठा लग रहा था (वस्तुतः वह पशु अघासुर था किन्तु अल्प-ज्ञान के कारण वे उसे मृत अजगर समझ रहे थे); रक्षः—(किन्तु कृष्ण समझ गये थे कि) वह असुर है; विदित्वा—जान कर; अखिल-भूत-हृत्-स्थितः—अन्तर्यामी अर्थात् हर एक के हृदय में स्थित होने के कारण; स्वानाम्—अपने संगियों का; निरोद्धुम्—उन्हें मना करने के लिए; भगवान्—भगवान् ने; मनः दधे—संकल्प किया।

हर व्यक्ति के हृदय में स्थित अन्तर्यामी परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने बालकों को परस्पर नकली अजगर के विषय में बातें करते सुना। वे नहीं जानते थे कि यह वास्तव में अघासुर था, जो अजगर के रूप में प्रकट हुआ था। यह जानते हुए कृष्ण अपने मित्रों को असुर के मुख में प्रवेश करने से रोकना चाहते थे।

तावत्प्रविष्टास्त्वसुरोदरान्तरं
परं न गीर्णाः शिशवः सवत्साः ।
प्रतीक्षमाणेन बकारिवेशनं
हतस्वकान्तस्मरणेन रक्षसा ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब तक; प्रविष्टाः—सभी बालक घुस गये; तु—निस्सन्देह; असुर-उदर-अन्तरम्—उस असुर के पेट के भीतर; परम्—लेकिन; न गीर्णाः—निगले नहीं जा सके; शिशवः—सारे बालक; स-वत्साः—अपने अपने बछड़ों समेत; प्रतीक्षमाणेन—प्रतीक्षारत; बक-अरि—बकासुर के शत्रु का; वेशनम्—प्रवेश; हत-स्व-कान्त-स्मरणेन—वह असुर अपने मृत सम्बन्धियों के बारे में सोच रहा था और तब तक संतुष्ट नहीं होगा जब तक कृष्ण मर न जाय; रक्षसा—असुर द्वारा।

जब तक कि कृष्ण सारे बालकों को रोकने के बारे में सोचें, तब तक वे सभी असुर के मुख में घुस गये। किन्तु उस असुर ने उन्हें निगला नहीं क्योंकि वह कृष्ण द्वारा मारे गये अपने

सम्बन्धियों के विषय में सोच रहा था और अपने मुख में कृष्ण के घुसने की प्रतीक्षा कर रहा था।

तान्वीक्ष्य कृष्णः सकलाभयप्रदो
ह्यनन्यनाथान्स्वकरादवच्युतान् ।
दीनांश्च मृत्योर्जठराग्निघासान्
घृणार्दितो दिष्टकृतेन विस्मितः ॥ २७॥

शब्दार्थ

तान्—उन बालकों को; वीक्ष्य—देखकर; कृष्णः—भगवान् कृष्ण; सकल-अभय-प्रदः—जो सबों को अभय प्रदान करने वाले हैं; हि—निस्सन्देह; अनन्य-नाथान्—विशेषतया उन ग्वालबालों के लिए जो कृष्ण के अतिरिक्त और किसी को नहीं जानते थे; स्व-करात्—अपने हाथ से; अवच्युतान्—गये हुए; दीनान् च—तथा असहाय; मृत्योः जठर-अग्नि-घासान्—जो अघासुर के पेट की अग्नि में तिनकों की तरह प्रविष्ट हो चुके थे और जो असुर बहुत दिलेर और साक्षात् मृत्यु की तरह भूखा था (विशाल शरीर धारण करने से असुर काफी भूखा रहा होगा); घृणा-अर्दितः—अहैतुकी कृपा के कारण दयालु; दिष्ट-कृतेन—भगवान् की अन्तरंगा शक्ति से नियोजित वस्तुओं द्वारा; विस्मितः—वे भी क्षण-भर के लिए आश्चर्यचकित थे।.

कृष्ण ने देखा कि सारे ग्वालबाल, जो उन्हें ही अपना सर्वस्व मानते थे, उनके हाथ से निकल कर साक्षात् मृत्यु रूपी अघासुर के उदर की अग्नि में तिनकों जैसे प्रविष्ट हो जाने से असहाय हैं। कृष्ण के लिए अपने इन ग्वालबाल मित्रों से विलग होना असह्य था। अतएव यह देखते हुए कि यह सब उनकी अन्तरंगा शक्ति द्वारा नियोजित किया प्रतीत होता है, कृष्ण आश्चर्यचकित हो उठे और निश्चय न कर पाये कि क्या किया जाय।

कृत्यं किमत्रास्य खलस्य जीवनं
न वा अमीषां च सतां विहिंसनम् ।
द्वयं कथं स्यादिति संविचिन्त्य
ज्ञात्वाविशत्तुण्डमशेषदृग्घरिः ॥ २८॥

शब्दार्थ

कृत्यम् किम्—क्या किया जाय; अत्र—इस दशा में; अस्य खलस्य—इस ईर्ष्यालु असुर का; जीवनम्—जीवन; न—नहीं; वा—अथवा; अमीषाम् च—तथा निर्दोषों का; सताम्—भक्तों का; विहिंसनम्—मृत्यु; द्वयम्—दोनों कार्य (असुर वध तथा बालकों की रक्षा); कथम्—कैसे; स्यात्—सम्भव हो सकता है; इति संविचिन्त्य—इस विषय के बारे में भलीभाँति सोच कर; ज्ञात्वा—और यह निश्चय करके कि क्या करना है; अविशत्—घुस गये; तुण्डम्—असुर के मुख में; अशेष-दृक् हरिः—कृष्ण, जो अपनी असीम शक्ति से भूत, वर्तमान तथा भविष्य को जान सकते हैं।.

अब क्या करना होगा? इस असुर का वध और भक्तों का बचाव—एकसाथ दोनों को किस तरह सम्पन्न किया जाय? असीम शक्तिशाली होने से कृष्ण ने ऐसी बुद्धिगम्य युक्ति निकल आने तक प्रतीक्षा करने का निश्चय किया जिसके द्वारा वे बालकों को बचाने के साथ साथ उस असुर का वध भी कर सकें। तत्पश्चात् वे अघासुर के मुख में घुस गये।

तात्पर्य : कृष्ण *अनन्तवीर्यसर्वज्ञ* कहे जाते हैं क्योंकि उन्हें हर बात ज्ञात है। हर बात पूर्णतया जानने के कारण उनके लिए ऐसी युक्ति ढूँढ़ लेना कोई कठिन काम न था जिससे वे बालकों को बचाने के साथ ही असुर को भी मार सकते। इसलिए उन्होंने भी असुर के मुख में घुसने का निश्चय किया।

तदा घनच्छदा देवा भयाद्धाहेति चुक्रुशुः ।
जहृषुर्ये च कंसाद्याः कौणपास्त्वघबान्धवाः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; घन-छदाः—बादलों के पीछे; देवाः—सारे देवता; भयात्—असुर के मुँह में कृष्ण के घुस जाने से डर कर; हा-हा—हाय, हाय; इति—इस प्रकार; चुक्रुशुः—पुकारने लगे; जहृषुः—प्रसन्न हुए; ये—जो; च—भी; कंस-आद्याः—कंस तथा अन्य लोग; कौणपाः—असुरगण; तु—निस्सन्देह; अघ-बान्धवाः—अघासुर के मित्र।.

जब कृष्ण अघासुर के मुख में घुस गये तो बादलों के पीछे छिपे देवतागण हाय हाय करने लगे। किन्तु अघासुर के मित्र, यथा कंस तथा अन्य असुरगण अत्यन्त हर्षित थे।

तच्छ्रुत्वा भगवान्कृष्णस्त्वव्ययः सार्भवत्सकम् ।
चूर्णीचिकीर्षोरात्मानं तरसा ववृधे गले ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तत्—वह हाय हाय की पुकार; श्रुत्वा—सुन कर; भगवान्—भगवान्; कृष्णः—कृष्ण; तु—निस्सन्देह; अव्ययः—कभी विनष्ट न होने वाले; स-अर्भ-वत्सकम्—ग्वालबालों तथा बछड़ों समेत; चूर्णी-चिकीर्षोः—उस राक्षस का जो उन्हें अपने पेट के भीतर चूर्ण कर देना चाहता था; आत्मानम्—स्वयं; तरसा—जल्दी से; ववृधे— ; गले—.

तत्—वह हाय हाय की पुकार; श्रुत्वा—सुन कर; भगवान्—भगवान्; कृष्णः—कृष्ण; तु—निस्सन्देह; अव्ययः—कभी विनष्ट न होने वाले; स-अर्भ-वत्सकम्—ग्वालबालों तथा बछड़ों समेत; चूर्णी-चिकीर्षोः—उस राक्षस का जो उन्हें अपने पेट के भीतर चूर्ण कर देना चाहता था; आत्मानम्—स्वयं; तरसा—जल्दी से; विवृधे—बढ़ा लिया; गले—गले के भीतर।

जब अजेय भगवान् कृष्ण ने देवताओं को बादलों के पीछे से हाय हाय पुकारते सुना तो तुरन्त ही उन्होंने स्वयं तथा अपने संगी ग्वालबालों को असुर से बचाने के लिए, जिन्हें वह चूर्ण-चूर्ण कर देना चाहता था, उसके गले के भीतर अपना विस्तार कर लिया।

तात्पर्य : कृष्ण के कार्य ऐसे ही होते हैं। *परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्* (*भगवद्गीता* ४.८)। कृष्ण ने असुर के गले में अपना विस्तार करके उसकी श्वास अवरुद्ध कर दी और उसे मार डाला। इस तरह उन्होंने अपनी तथा अपने संगियों की आसन्न मृत्यु से रक्षा की तथा देवताओं को भी उनके संताप से मुक्त किया।

ततोऽतिकायस्य निरुद्धमार्गिणो
ह्युद्गीर्णदृष्टेर्भ्रमतस्त्वितस्ततः ।
पूर्णोऽन्तरङ्गे पवनो निरुद्धो
मूर्धन्विनिर्भिद्य विनिर्गतो बहिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्, असुर के गले में शरीर बढ़ा कर मारने के बाद; अति-कायस्य—विशाल शरीर वाले असुर का; निरुद्ध-मार्गिणः—दम घुट जाने से, सारे निकास मार्ग रुकने से; हि उद्गीर्ण-दृष्टेः—आँखें बाहर निकल आई हुईं; भ्रमतः तु इतः ततः—पुतलियाँ या प्राणवायु इधर-उधर चलती हुईं; पूर्णः—पूरी तरह मरा; अन्तः-अङ्गे—शरीर के भीतर; पवनः—प्राणवायु; निरुद्धः—रुका हुआ; मूर्धन्—सिर के ऊपर का छेद; विनिर्भिद्य—तोड़ कर; विनिर्गतः—निकल गया; बहिः—बाहर।

चूँकि कृष्ण ने अपने शरीर का आकार बढ़ा दिया था इसलिए असुर ने अपने शरीर को काफी बड़ा कर लिया। फिर भी उसकी श्वास रुक गई उसका दम घुट गया और उसकी आँखें इधर-उधर भटकने लगीं तथा बाहर निकल आईं। किन्तु असुर के प्राण किसी भी छेद से निकल नहीं पा रहे थे अतः अन्त में उसके सिर के ऊपरी छेद से बाहर फूट पड़े।

तेनैव सर्वेषु बहिर्गतेषु
प्राणेषु वत्सान्सुहृदः परेतान् ।
दृष्ट्या स्वयोत्थाप्य तदन्वितः पुन-
र्वक्त्रान्मुकुन्दो भगवान्विनिर्ययौ ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तेन एव—उसी ब्रह्मरन्ध्र अर्थात् सिर के ऊपरी छेद से; सर्वेषु—शरीर के भीतर की सारी वायु; बहिः गतेषु—बाहर जाने से; प्राणेषु—प्राणों के; वत्सान्—बछड़े; सुहृदः—ग्वालबाल मित्र; परेतान्—जो भीतर मर चुके थे; दृष्ट्या स्वया—कृष्ण की चितवन से; उत्थाप्य—पुनः जीवित करके; तत्-अन्वितः—उनके साथ; पुनः—फिर; वक्त्रात्—मुख से; मुकुन्दः—भगवान्; भगवान्—कृष्ण; विनिर्ययौ—बाहर आ गये।

जब उस असुर के सिर के ऊपरी छेद से सारी प्राणवायु निकल गई तो कृष्ण ने मृत बछड़ों तथा ग्वालबालों पर अपनी दृष्टि फेर कर उन्हें फिर से जीवित कर दिया। तब मुकुन्द जो किसी को भी मुक्ति दे सकते हैं अपने मित्रों तथा बछड़ों समेत उस असुर के मुख से बाहर आ गये।

पीनाहिभोगोत्थितमद्भुतं मह-
ज्ज्योतिः स्वधाम्ना ज्वलयद्दिशो दश ।
प्रतीक्ष्य खेऽवस्थितमीशनिर्गमं
विवेश तस्मिन्मिषतां दिवौकसाम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

पीन—अत्यन्त विशाल; अहि-भोग-उत्थितम्—भौतिक भोग के लिए बने सर्प के शरीर के निकलने वाली; अद्भुतम्—विचित्र; महत्—महान्; ज्योतिः—तेज; स्व-धाम्ना—अपने प्रकाश से; ज्वलयत्—चमकाता हुआ; दिशः दश—दशों दिशाएँ; प्रतीक्ष्य—

प्रतीक्षा करके; खे—आकाश में; अवस्थितम्—स्थित; ईश-निर्गमम्—भगवान् के बाहर आने तक; विवेश—प्रवेश किया; तस्मिन्—कृष्ण के शरीर में; मिषताम्—देखते देखते; दिवौकसाम्—देवताओं के।

उस विराट अजगर के शरीर से सारी दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ एक प्रकाशमान तेज निकला और आकाश में अकेले तब तक रुका रहा जब तक कृष्ण उस शव के मुख से बाहर नहीं आ गये। तत्पश्चात् सारे देवताओं ने इस तेज को कृष्ण के शरीर में प्रवेश करते देखा।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि अघासुर नामक सर्प को कृष्ण के शरीर में प्रवेश करने और उनकी संगति प्राप्त होने से मुक्ति मिली। कृष्ण के शरीर में प्रवेश करना *सायुज्यमुक्ति* कहलाती है किन्तु अगले श्लोकों से सिद्ध होता है कि दन्तवक्र तथा अन्यों की तरह अघासुर को *सारूप्यमुक्ति* प्राप्त हुई। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने श्रील जीव गोस्वामी कृत *वैष्णव तोषणी* से उद्धरण देते हुए इसका विशद वर्णन किया है। अघासुर को सारूप्यमुक्ति मिली अर्थात् विष्णु जैसे चतुर्भुज शरीर के साथ वैकुण्ठ लोक में रहने का अवसर मिला। ऐसा कैसे हुआ इसकी व्याख्या संक्षेप में इस प्रकार है—

जो तेज अजगर के शरीर से निकला वह आध्यात्मिक *शुद्धसत्त्व* पाकर और भौतिक कल्मष से मुक्त होकर शुद्ध बन गया क्योंकि उसकी मृत्यु के बाद भी कृष्ण उसके शरीर के भीतर रहते रहे। यह सन्देह व्यक्त किया जा सकता है कि ऐसे उत्पाती असुर को *सारूप्य* या *सायुज्य* मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकी ? और इस पर आश्चर्य भी होता है किन्तु कृष्ण इतने कृपालु हैं कि ऐसे संशयों को दूर करने के लिए उन्होंने अजगर के प्राण को तेज रूप में सभी देवताओं की उपस्थिति में कुछ काल तक प्रतीक्षा करने दिया।

कृष्ण पूर्ण तेज हैं और हर जीव उस तेज का अंश है। जैसाकि यहाँ सिद्ध है हर जीव का अपना अपना तेज होता है। असुर का तेज कुछ काल तक उसके शरीर के बाहर रहता रहा और वह पूर्ण तेज अर्थात् *ब्रह्मज्योति* से मिल नहीं पाया। यह ब्रह्मज्योति भौतिक आँखों को दिखाई नहीं पड़ती किन्तु यह सिद्ध करने के लिए हर व्यक्ति व्यष्टि है, कृष्ण ने व्यष्टि तेज को असुर के शरीर से बाहर कुछ समय तक खड़ा रहने दिया जिससे हर कोई उसे देख सके। तब कृष्ण ने यह सिद्ध किया कि जो भी उनके द्वारा मारा जाता है उसे मुक्ति मिलती है, चाहे वह सायुज्य हो, सारूप्य हो, सामीप्य हो या अन्य कुछ।

जो लोग प्रेम के दिव्य पद को प्राप्त हैं उनकी मुक्ति विशेष प्रकार की—*विमुक्ति*—होती है। इस तरह सर्प सर्वप्रथम कृष्ण के शरीर में प्रविष्ट हुआ और तब ब्रह्मज्योति से मिल गया। यह विलय

सायुज्यमुक्ति कहलाती है। किन्तु बाद के श्लोकों में हम देखते हैं कि अघासुर को *सारूप्यमुक्ति* मिली। श्लोक ३८ में बतलाया गया है कि अघासुर को विष्णु जैसा शरीर प्राप्त हुआ और अगले श्लोक में स्पष्ट तौर पर यह भी बताया गया है कि उसे नारायण जैसा पूरी तरह आध्यात्मिक शरीर प्राप्त हुआ। अतएव *भागवत* में दो-तीन स्थानों पर इसकी पुष्टि हुई है कि अघासुर को *सारूप्यमुक्ति* मिली। पुन: यह तर्क किया जा सकता है कि वह ब्रह्मज्योति में कैसे मिल गया? इसका उत्तर यह है कि जय तथा विजय को तीन जन्मों के बाद पुन: सारूप्यमुक्ति मिली और अघासुर को भी भगवान् के सान्निध्य के कारण ऐसी ही मुक्ति मिली।

ततोऽतिहृष्टाः स्वकृतोऽकृतार्हणं
पुष्पैः सुगा अप्सरसश्च नर्तनैः ।
गीतैः सुरा वाद्यधराश्च वाद्यकैः
स्तवैश्च विप्रा जयनिःस्वनैर्गणाः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; अति-हृष्टाः—अत्यन्त प्रसन्न; स्व-कृतः—अपना अपना कार्य; अकृत—पूरा किया; अर्हणम्—भगवान् की पूजा रूप में; पुष्पैः—नन्दन कानन में उगे फूलों की वर्षा से; सु-गाः—दैवी गायक; अप्सरसः च—देवलोक की नर्तकियाँ; नर्तनैः—नाच से; गीतैः—देवलोक के गीत गाने से; सुराः—सारे देवता; वाद्य-धराः च—तथा ढोल बजाने वाले; वाद्यकैः—बाजा बजा करके; स्तवैः च—तथा स्तुतियों द्वारा; विप्राः—ब्राह्मणगण; जय-निःस्वनैः—भगवान् की महिमा गायन से; गणाः—हर कोई।.

तत्पश्चात् हर एक के प्रसन्न होने पर देवता लोग नन्दन कानन से फूल बरसाने लगे, अप्सराएँ नाचने लगीं और गायन के लिए प्रसिद्ध गन्धर्वगण स्तुति गाने लगे। ढोलकिये दुन्दुभी बजाने लगे तथा ब्राह्मण वैदिक स्तुतियाँ करने लगे। इस प्रकार स्वर्ग तथा पृथ्वी दोनों पर हर व्यक्ति भगवान् की महिमा का गायन करते हुए अपना अपना कार्य करने लगा।

तात्पर्य : हर एक का विशेष कार्य होता है। शास्त्रों ने निरूपित किया है कि हर व्यक्ति अपनी अपनी योग्यताओं के अनुसार भगवान् की महिमाओं का गायन करे। यदि आप गायक हैं, तो अच्छी तरह गा कर भगवान् का गुणगान करें। यदि आप संगीतज्ञ हैं, तो वाद्ययंत्रों द्वारा उनका गुणगान करें। *स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरि तोषणम्* (*भागवत* १.२.१३)। जीवन का साफल्य भगवान् को तुष्ट करने में है। इसलिए पृथ्वी से लेकर देवलोक तक हर व्यक्ति भगवान् का गुणगान करने में लगा हुआ है। सभी महान् सन्त-पुरुषों का यही निर्णय है कि मनुष्य जो भी योग्यताएँ अर्जित कर चुका है उनका

उपयोग भगवान् का गुणगान करने में करे।

इदं हि पुंसस्तपस: श्रुतस्य वा

स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयो:।

अविच्युतोऽर्थ: कविभिर्निरूपितो

यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥

"विद्वान मुनियों ने निश्चित निष्कर्ष निकाला है कि ज्ञान, तप, वैदिक अध्ययन, यज्ञ, स्तुति तथा दान की उन्नति का अमोघ उद्देश्य भगवान् के गुणों का उत्तम श्लोकों में दिव्य वर्णन करना है।" (*भागवत* १.५.२२)। यही जीवन की सिद्धि है। मनुष्य को उसके अपने गुणों के अनुसार भगवान् के गुणगान करने की शिक्षा दी जानी चाहिए। शिक्षा, तप या आधुनिक जगत में व्यापार, उद्योग, शिक्षा आदि—इन सबको भगवान् के गुणगान में लगाना चाहिए। तभी संसार का हर व्यक्ति सुखी हो सकेगा।

इसलिए कृष्ण अपनी दिव्य क्रीड़ाएँ प्रदर्शित करने हेतु आते हैं जिससे लोगों को हर तरह से उनका गुणगान करने का अवसर मिल सके। किन्तु भगवान् का गुणगान किस तरह किया जाय यह समझ पाना शोध का विषय है। ऐसा नहीं है कि ईश्वर के बिना हर बात समझी जा सके। इसकी निन्दा की जाती है।

भगवद्भक्तिहीनस्य जाति: शास्त्रं जपस्तप:।

अप्राणस्यैव देहस्य मण्डनं लोकरञ्जनम्॥

(*हरिभक्ति सुधोदय* ३.११)

भगवद्भक्ति अथवा भगवान् के गुणगान के बिना हमारे पास जो भी है, वह शव को सजाने के समान है।

तदद्भुतस्तोत्रसुवाद्यगीतिका-
जयादिनैकोत्सवमङ्गलस्वनान् ।
श्रुत्वा स्वधाम्नोऽन्त्यज आगतोऽचिराद्
दृष्ट्वा महीशस्य जगाम विस्मयम् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

तत्—उस (स्वर्गलोक में देवताओं द्वारा मनाया गया उत्सव); **अद्भुत**—विचित्र; **स्तोत्र**—स्तुति; **सु-वाद्य**—अच्छे अच्छे बाजे; **गीतिका**—दैवी गीत; **जय-आदि**—जयजयकार इत्यादि.; **न-एक-उत्सव**—भगवान् के गुणगान के लिए ही उत्सव; **मङ्गल-**

स्वनान्—हर एक के लिए शुभ दिव्य ध्वनियाँ; श्रुत्वा—ऐसी ध्वनि सुन कर; स्व-धाम्नः—अपने धाम से; अन्ति—पास ही; अजः—ब्रह्मा; आगतः—वहाँ आ गये; अचिरात्—तुरन्त; दृष्ट्वा—देखकर; महि—गुणगान; ईशस्य—कृष्ण का; जगाम विस्मयम्—विस्मित हो गये।

जब भगवान् ब्रह्मा ने अपने लोक के निकट ही ऐसा अद्भुत उत्सव होते सुना, जिसके साथ साथ संगीत, गीत तथा जयजयकार हो रहा था, तो वे तुरन्त उस उत्सव को देखने चले आये। कृष्ण का ऐसा गुणगान देखकर वे अत्यन्त विस्मित थे।

तात्पर्य : *अन्ति* का अर्थ है ''निकट'' जिससे सूचित होता है कि उच्च लोकों में भी ब्रह्मलोक के निकट महर्लोक, जनलोक, तपोलोक इत्यादि में भी कृष्ण के गुणगान का उत्सव चल रहा था।

राजन्नाजगरं चर्म शुष्कं वृन्दावनेऽद्भुतम् ।
व्रजौकसां बहुतिथं बभूवाक्रीडगह्वरम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

राजन्—हे महाराज परीक्षित; आजगरम् चर्म—अघासुर का शुष्क शरीर जो बड़े चमड़े के रूप में बचा था; शुष्कम्—सूखा; वृन्दावने अद्भुतम्—वृन्दावन में विचित्र अजायबघर की तरह; व्रज-ओकसाम्—व्रजभूमि के निवासियों के लिए; बहु-तिथम्—काफी दिनों तक; बभूव—बन गया; आक्रीड—क्रीड़ा स्थल; गह्वरम्—गुफा।

हे राजा परीक्षित, जब अघासुर का अजगर के आकार का शरीर सूख कर विशाल चमड़ा बन गया तो यह वृन्दावनवासियों के देखने जाने के लिए अद्भुत स्थान बन गया और ऐसा बहुत समय तक बना रहा।

एतत्कौमारजं कर्म हरेरात्माहिमोक्षणम् ।
मृत्योः पौगण्डके बाला दृष्ट्वोचुर्विस्मिता व्रजे ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

एतत्—अघासुर तथा कृष्ण के संगियों के उद्धार की यह घटना; कौमार-जम् कर्म—कौमार (५ वर्ष की) अवस्था में सम्पन्न; हरेः—भगवान् की; आत्म—भक्तजन भगवान् की आत्मा हैं; अहि-मोक्षणम्—उनका मोक्ष तथा अजगर का मोक्ष; मृत्योः—जन्म-मरण के मार्ग से; पौगण्डके—पौगण्ड अवस्था में (जो ५ वर्ष के एक वर्ष बाद शुरू होती है); बालाः—सारे बालक; दृष्ट्वा ऊचुः—एक वर्ष बाद यह बात प्रकट की; विस्मिताः—मानो उसी दिन की घटना हो; व्रजे—वृन्दावन में।

स्वयं तथा अपने साथियों को मृत्यु से बचाने तथा अजगर रूप अघासुर को मोक्ष देने की घटना तब घटी जब कृष्ण पाँच वर्ष के थे। इसका उद्घाटन व्रजभूमि में एक वर्ष बाद हुआ मानो यह उसी दिन की घटना हो।

तात्पर्य : *मोक्षणम्* शब्द का अर्थ है ''मोक्ष।'' कृष्ण के साथियों के लिए तथा कृष्ण के अपने लिए, मोक्ष का प्रश्न ही नहीं उठता, वे आध्यात्मिक जगत में होने से पहले से मुक्त हैं। भौतिक जगत

में जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग होते हैं किन्तु आध्यात्मिक जगत में ऐसा कुछ नहीं है। वहाँ तो हर वस्तु शाश्वत है। किन्तु अघासुर ने भी कृष्ण तथा उनके भक्तों के सान्निध्य से शाश्वत जीवन की वही सुविधाएँ प्राप्त कर लीं। इसीलिए *आत्माहिमोक्षणम्* शब्द से इंगित किया गया है कि यदि अघासुर को भगवान् का सान्निध्य प्राप्त हो सका तो उनके विषय में क्या कहा जाय जो पहले से ही भगवान् के संगी हैं? *साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः* (*भागवत* .१२.११)। यहाँ पर इसका प्रमाण है कि ईश्वर हर एक के लिए शुभ हैं। यहाँ तक कि जब वे किसी को मारते हैं, तो उसे मुक्ति मिल जाती है, अतः उनके विषय में क्या कहा जाये जो पहले से भगवान् की संगति में हैं।

नैतद्विचित्रं मनुजार्भमायिनः
परावराणां परमस्य वेधसः ।
अघोऽपि यत्स्पर्शनधौतपातकः
प्रापात्मसाम्यं त्वसतां सुदुर्लभम् ॥ ३८॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतत्—यह; विचित्रम्—अद्भुत है; मनुज-अर्भ-मायिनः—कृष्ण के लिए जो नन्द तथा यशोदा पर दयालु होने के कारण उनके पुत्र रूप में प्रकट हुए; पर-अवराणाम्—समस्त कार्यों तथा कारणों का; परमस्य वेधसः—परम स्रष्टा का; अघः अपि—अघासुर भी; यत्-स्पर्शन—जिनके स्पर्श मात्र से; धौत-पातकः—संसार के सारे कल्मषों से मुक्त हो गया; प्राप—प्राप्त किया; आत्म-साम्यम्—नारायण जैसा शरीर; तु—लेकिन; असताम् सुदुर्लभम्—जो कलुषित आत्माओं के लिए संभव नहीं है किन्तु भगवान् की दया से सबकुछ संभव हो सकता है।

कृष्ण समस्त कारणों के कारण हैं। भौतिक जगत—उच्च तथा निम्न जगत—के कार्य-कारण आदि नियन्ता भगवान् द्वारा ही सृजित होते हैं। जब कृष्ण नन्द महाराज तथा यशोदा के पुत्र रूप में प्रकट हुए तो उन्होंने अपनी अहैतुकी कृपा से ऐसा किया। अतः उनके लिए अपने असीम ऐश्वर्य का प्रदर्शन कोई विचित्र बात न थी। हाँ, उन्होंने ऐसी महती कृपा प्रदर्शित की कि सर्वाधिक पापी दुष्ट अघासुर भी ऊपर उठ गया और उनके संगियों में से एक बन गया और उसने सारूप्य मुक्ति प्राप्त की जो वस्तुतः भौतिक कलुषों से युक्त पुरुषों के लिए प्राप्त कर पाना असम्भव है।

तात्पर्य : प्रेम के प्रसंग में *माया* शब्द भी व्यवहृत किया जाता है। मायावश ही पिता अपने पुत्र से प्रेम करता है। अतः *मायिनः* शब्द सूचित करता है कि कृष्ण प्रेमवश नन्द महाराज के पुत्र रूप में प्रकट हुए और मानवी शिशु (*मनुजार्भ*) का रूप धारण कर लिया। कृष्ण समस्त कारणों के कारण हैं। वे

कार्य–कारण के स्रष्टा हैं और परम नियन्ता हैं। उनके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। अत: अघासुर जैसे जीव को भी उन्होंने *सारूप्य मुक्ति* प्रदान की। कृष्ण के लिए यह तनिक भी विचित्र नहीं है। कृष्ण को अपने संगियों के साथ साथ अघासुर के मुँह में प्रवेश करने में आनन्द आया। अत: जब अघासुर को उनकी इस क्रीड़ा का सान्निध्य जो आध्यात्मिक जगत में होता है, प्राप्त हुआ तो उसके सारे कल्मष धुल गये और कृष्ण की कृपा से उसे सारुप्य मुक्ति तथा विमुक्ति प्राप्त हुई। कृष्ण के लिए यह कोई अनोखी बात न थी।

सकृद्यदङ्गप्रतिमान्तराहिता
मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम् ।
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभि-
व्युदस्तमायोऽन्तर्गतो हि किं पुनः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सकृत्—केवल एक बार; यत्—जिसका; अङ्ग-प्रतिमा—भगवान् का स्वरूप (वैसे रूप अनेक हैं किन्तु कृष्ण आदि रूप है); अन्तः-आहिता—अपने अन्तर में रखते हुए; मनः-मयी—बलपूर्वक उनका चिन्तन करते हुए; भागवतीम्—जो भगवान् की भक्ति प्रदान करने में सक्षम है; ददौ—कृष्ण ने प्रदान किया; गतिम्—सर्वोत्तम स्थान; सः—वे (भगवान्); एव—निस्सन्देह; नित्य—सदैव; आत्म—सारे जीवों का; सुख-अनुभूति—उनके चिन्तन मात्र से दिव्य आनन्द प्राप्त होता है; अभिव्युदस्त-मायः—क्योंकि वे सारे मोह को दूर कर देते हैं; अन्तः-गतः—हृदय के भीतर सदैव स्थित रहने वाले; हि—निस्सन्देह; किम् पुनः—क्या कहा जाय।

यदि कोई केवल एक बार या बलपूर्वक भी अपने मन में भगवान् के स्वरूप को लाता है, तो उसे कृष्ण की दया से परम मोक्ष प्राप्त हो सकता है, जिस प्रकार अघासुर को प्राप्त हुआ। तो फिर उन लोगों के विषय में क्या कहा जाय जिनके हृदयों में भगवान् अवतार लेकर प्रविष्ट होते हैं अथवा उनका जो सदैव भगवान् के चरणकमलों का ही चिन्तन करते रहते हैं, जो सारे जीवों के लिए दिव्य आनन्द के स्रोत हैं और जो सारे मोह को पूरी तरह हटा देते हैं?

तात्पर्य : यहाँ भगवान् की कृपा प्राप्त करने की विधि बतलाई गई है। *यत्पादपंकजपलाश विलासभक्त्या* (*भागवत* ४.२२.३९)। कृष्ण का चिन्तन करने मात्र से उन्हें बड़ी आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। यह भी बतलाया गया है कि कृष्ण के चरणकमल सदैव भक्तों के हृदयों में स्थित रहते हैं (*भगवान् भक्तहृदि स्थित:*)। अघासुर के बारे में यह तर्क किया जा सकता है कि वह भक्त न था। इसका उत्तर यह है कि उसने क्षण-भर भक्तिपूर्वक कृष्ण का चिन्तन किया। *भक्त्याहम् एकया ग्राह्य:।* बिना भक्ति के कोई कृष्ण का चिन्तन नहीं कर सकता, इसके विपरीत जब कोई कृष्ण का चिन्तन

करता है, तो उसमें निश्चित रूप से भक्ति होती है। यद्यपि अघासुर का उद्देश्य कृष्ण को मार डालना था किन्तु क्षण-भर उसने कृष्ण का चिन्तन भक्तिपूर्वक किया और कृष्ण तथा उनके संगियों ने अघासुर के मुख के भीतर क्रीड़ा करनी चाही। इसी तरह पूतना कृष्ण को विष देकर मारना चाहती थी किन्तु कृष्ण ने उसे माता का आदर किया क्योंकि उन्होंने उसका स्तन-पान किया था। *स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्* (*भगवद्गीता* २.४०)। विशेष रूप से जब कृष्ण अवतार के रूप में प्रकट होते हैं और जो कोई व्यक्ति कृष्ण के इन विविध अवतारों का (*रामादि मूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्*) चिन्तन करता है, विशेष रूप से उनके आदि रूप कृष्ण का तो उसे मुक्ति प्राप्त होती है। इसके अनेक दृष्टान्त हैं जिनमें से अघासुर भी है, जिसने सारूप्य मुक्ति प्राप्त की। अतएव विधि यह है—*सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः* (*भगवद्गीता* ९.१४)। अत: भक्त लोग सदैव कृष्ण का गुणगान करने में लगे रहते हैं। *अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्*—जब हम कृष्ण का उल्लेख करते हैं, तो हम उनके सारे अवतारों यथा कृष्ण, गोविन्द, नारायण, विष्णु, चैतन्य, कृष्ण-बलराम तथा श्यामसुन्दर का उल्लेख करते हैं। जो सदैव कृष्ण का चिन्तन करता है उसे विमुक्ति जो भगवान् के निजी संगी के तौर पर विशेष मुक्ति होती है, प्राप्त होनी चाहिए, भले ही वह वृन्दावन में न हो, कम से कम वैकुण्ठ लोक में तो हो। यह *सारूप्य मुक्ति* कहलाती है।

श्रीसूत उवाच

इत्थं द्विजा यादवदेवदत्तः
श्रुत्वा स्वरातुश्चरितं विचित्रम् ।
पप्रच्छ भूयोऽपि तदेव पुण्यं
वैयासकिं यन्निगृहीतचेताः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

श्री-सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने नैमिषारण्य में एकत्र सन्तों से कहा; इत्थम्—इस प्रकार; द्विजाः—हे विद्वान ब्राह्मणो; यादव-देव-दत्तः—महाराज परीक्षित (या युधिष्ठिर) जिसकी रक्षा यादवदेव कृष्ण ने की थी; श्रुत्वा—सुन कर; स्व-रातुः—माता के गर्भ में अपने रक्षक कृष्ण का; चरितम्—कार्यकलाप; विचित्रम्—अत्यन्त अद्भुत; पप्रच्छ—पूछा; भूयः अपि—पुनः पुनः; तत् एव—ऐसे कार्यकलाप; पुण्यम्—पुण्यकर्मों से पूर्ण (शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः, कृष्ण का श्रवण करना सदैव पुण्य है); वैयासकिम्—शुकदेव गोस्वामी को; यत्—क्योंकि; निगृहीत-चेताः—परीक्षित महाराज पहले ही कृष्ण का स्थिर मन से श्रवण कर रहे थे।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : हे विद्वान सन्तो, श्रीकृष्ण की बाल्यकाल की लीलाएँ अत्यन्त अद्भुत हैं। महाराज परीक्षित अपनी माता के गर्भ में उन्हें बचाने वाले कृष्ण की उन लीलाओं के

विषय में सुन कर स्थिरचित्त हो गये और उन्होंने शुकदेव गोस्वामी से फिर कहा कि वे उन पुण्य लीलाओं को सुनायें।

श्रीराजोवाच
ब्रह्मन्कालान्तरकृतं तत्कालीनं कथं भवेत् ।
यत्कौमारे हरिकृतं जगुः पौगण्डकेऽर्भकाः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—महाराज परीक्षित ने पूछा; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण (शुकदेव गोस्वामी); काल-अन्तर-कृतम्—भूतकाल में भिन्न अवस्था में (कौमार अवस्था) किये गये कर्म; तत्-कालीनम्—उसे अब घटित होते वर्णन किया (पौगण्ड अवस्था में); कथम् भवेत्—यह कैसे हो सकता है; यत्—जो लीला; कौमारे—कौमार अवस्था में; हरि-कृतम्—कृष्ण द्वारा की गई; जगुः—वर्णन किया; पौगण्डके—पौगण्ड अवस्था में (एक वर्ष बाद); अर्भकाः—सारे बालकों ने।

महाराज परीक्षित ने पूछाः हे मुनि, भूतकाल में घटित इन घटनाओं को वर्तमान में घटित होते क्यों वर्णन किया गया है? भगवान् कृष्ण ने अघासुर को मारने का कार्य तो अपनी कौमारावस्था में सम्पन्न किया था। तो फिर बालकों ने, उनकी पौगण्ड अवस्था में, इस घटना को अभी घटित क्यों बतलाया?

तद्ब्रूहि मे महायोगिन्परं कौतूहलं गुरो ।
नूनमेतद्धरेरेव माया भवति नान्यथा ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तत् ब्रूहि—अतः आप बतलायें; मे—मुझको; महा-योगिन्—हे महान् योगी; परम्—अत्यन्त; कौतूहलम्—उत्सुकता; गुरो—हे गुरु; नूनम्—अन्यथा; एतत्—यह घटना; हरेः—भगवान् की; एव—निस्सन्देह; माया—माया; भवति—है; न अन्यथा—और कुछ नहीं।

हे महायोगी, मेरे आध्यात्मिक गुरु, कृपा करके बतलायें कि यह कैसे हुआ? मैं यह जानने के लिए परम उत्सुक हूँ। मैं सोचता हूँ कि यह कृष्ण की अन्य माया के अतिरिक्त और कुछ न था।

तात्पर्य : कृष्ण की अनेक शक्तियाँ हैं—*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते* (*श्वेताश्वतर उपनिषद* ६.८)। अघासुर का वृतान्त एक वर्ष के बाद प्रकट किया गया। इसमें कृष्ण की कोई शक्ति निहित होगी। इसीलिए महाराज परीक्षित इसके विषय में जानने के लिए परम उत्सुक थे और उन्होंने शुकदेव गोस्वामी से इसे बतलाने के लिए प्रार्थना की।

वयं धन्यतमा लोके गुरोऽपि क्षत्रबन्धवः ।
वयं पिबामो मुहुस्त्वत्तः पुण्यं कृष्णकथामृतम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

वयम्—हम हैं; धन्य-तमाः—सर्वाधिक धन्य; लोके—इस जगत में; गुरो—हे प्रभु, हे मेरे आध्यात्मिक गुरु; अपि—यद्यपि; क्षत्र-बन्धवः—क्षत्रियों में निम्नतम (क्योंकि हमने क्षत्रियों जैसा कार्य नहीं किया); वयम्—हम है; पिबामः—पी रहे हैं; मुहुः—सदैव; त्वत्तः—तुमसे; पुण्यम्—पवित्र; कृष्ण-कथा-अमृतम्—कृष्ण-कथा का अमृत।

हे प्रभु, हे मेरे आध्यात्मिक गुरु, यद्यपि हम क्षत्रियों में निम्नतम हैं, फिर भी हमारा अहोभाग्य है कि हम लाभान्वित हुए हैं क्योंकि हमें आपसे भगवान् के अमृतमय पवित्र कार्यकलापों का निरन्तर श्रवण करते रहने का अवसर प्राप्त हुआ है।

तात्पर्य : भगवान् के पुण्य कार्यकलाप अत्यन्त गुह्य हैं। साधारणतया इन कार्यकलापों को सुन पाना संभव नहीं होता। जो अत्यन्त भाग्यशाली होता है, वही इन्हें सुन पाता है। परीक्षित महाराज ने अपने को *क्षत्रबन्धवः* माना है, जिसका अर्थ है "क्षत्रियों में निम्नतम।" क्षत्रियों के गुणों का वर्णन *भगवद्गीता* में हुआ है यद्यपि क्षत्रिय का सामान्य गुण *ईश्वर भाव* है अर्थात् शासन करने की प्रवृत्ति किन्तु ब्राह्मण के ऊपर शासन चलाने की उससे आशा नहीं की जाती। इस तरह महाराज परीक्षित पश्चाताप कर रहे थे कि उन्होंने ब्राह्मणों के ऊपर शासन करना चाहा इसीलिए उन्हें शापित होना पड़ा। वे अपने को क्षत्रियों में निम्नतम मानते थे। *दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्* (*भगवद्गीता* १८.४३)। इसमें संशय नहीं है कि महाराज परीक्षित में क्षत्रिय के अच्छे गुण थे किन्तु भक्त के रूप में उन्होंने दीनतावश तथा विनम्रतावश अपने को क्षत्रियों में निम्नतम रूप में प्रस्तुत किया क्योंकि उन्हें ब्राह्मण के गले में मृत सर्प डालने का अपना कार्य स्मरण था। विद्यार्थी तथा शिष्य को अधिकार है कि वह गुरु से किसी गुह्य सेवा के लिए पूछे और गुरु का कर्तव्य है कि वह अपने शिष्य को इन गुह्य विषयों को बतलाये।

श्रीसूत उवाच
इत्थं स्म पृष्टः स तु बादरायणि-
स्तत्स्मारितानन्तहृताखिलेन्द्रियः ।
कृच्छ्रात्पुनर्लब्धबहिर्दृशिः शनैः
प्रत्याह तं भागवतोत्तमोत्तम ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

श्री-सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; इत्थम्—इस प्रकार; स्म—भूतकाल में; पृष्टः—पूछे जाने पर; सः—उसने; तु—निस्सन्देह; बादरायणिः—शुकदेव गोस्वामी; तत्—उनसे (शुकदेव गोस्वामी से); स्मारित-अनन्त—कृष्ण का स्मरण किये जाते

ही; हृत—भाव में लीन; अखिल-इन्द्रियः—बाह्य इन्द्रियों के सारे कार्य; कृच्छ्रात्—बड़ी मुश्किल से; पुनः—फिर; लब्ध-बहिः-दृशिः—बाह्य अनुभूति के जागृत होने पर; शनैः—धीरे धीरे; प्रत्याह—उत्तर दिया; तम्—महाराज परीक्षित को; भागवत-उत्तम-उत्तम—हे महान् सन्त-पुरुष, समस्त भक्तों में श्रेष्ठ (शौनक)।

सूत गोस्वामी ने कहा, "हे सन्तों तथा भक्तों में सर्वश्रेष्ठ शौनक, जब महाराज परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से इस तरह पूछा तो तुरन्त अपने अन्तःकरण में कृष्ण-लीलाओं का स्मरण करते हुए अपनी इन्द्रियों के कार्यों से उनका बाह्य सम्पर्क टूट गया। तत्पश्चात् बड़ी मुश्किल से उनकी बाह्य चेतना वापस आयी और वे कृष्ण-कथा के विषय में महाराज परीक्षित से बातें करने लगे।

इस तरह श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध के अन्तर्गत "अघासुर का वध" नामक बारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तेरह

ब्रह्मा द्वारा बालकों तथा बछड़ों की चोरी

इस अध्याय में ब्रह्माजी द्वारा ग्वालबालों तथा बछड़ों को चुराने के प्रयास के वर्णन के साथ ही ब्रह्माजी के मोहित होने तथा मोह के हटने का वर्णन हुआ है।

यद्यपि अघासुर सम्बन्धी घटना एक वर्ष पूर्व घट चुकी थी जब ग्वालबाल पाँच वर्ष के थे किन्तु जब वे छह वर्ष के हुए तो उन्होंने कहा, "यह घटना तो आज घटी है।" जो हुआ था वह इस प्रकार है। अघासुर को मारने के बाद कृष्ण तथा उनके संगी जंगल में विहार करने चले गये। बछड़े हरी घास से आकृष्ट होकर चरते-चरते जब दूर चले गये तो कृष्ण के संगी कुछ-कुछ क्षुब्ध हुए और उन्होंने अपने बछड़ों को वापस लाना चाहा। किन्तु कृष्ण ने ग्वालबालों को यह कह कर प्रोत्साहित किया, "तुम क्षुब्ध हुए बिना अपना भोजन करो। बछड़ों को ढूँढ़ने मैं जाऊँगा।" इस तरह कृष्ण वहाँ से चले गये। तब कृष्ण की शक्ति की परीक्षा लेने के लिए ही ब्रह्माजी सारे बछड़ों तथा ग्वालबालों को चुरा ले गये और ले जाकर उन्हें एकान्त स्थान में रख दिया।

जब कृष्ण बछड़ों तथा बालकों को न ढूँढ़ पाये तो वे समझ गये कि यह ब्रह्मा की चाल है। फिर समस्त कारणों के कारण भगवान् ने ब्रह्माजी को तथा अपने संगियों और उनकी माताओं को प्रसन्न करने के लिए अपना विस्तार किया जिससे वे पूर्ववत् बछड़े तथा बालक बन जाँय। इस तरह उन्होंने

अन्य लीला खोज निकाली। इस लीला की विशेषता यह थी कि ग्वालबालों की माताएँ अपने अपने पुत्रों से और अधिक अनुरक्त हो गईं और गाएँ अपने बछड़ों से। लगभग एक वर्ष बाद बलदेव ने देखा कि सारे ग्वालबाल तथा सारे बछड़े कृष्ण के विस्तार हैं तब उन्होंने कृष्ण से पूछा और उन्होंने जो कुछ हुआ था बतला दिया।

पूरा एक वर्ष बीतने पर जब ब्रह्मा लौटे तो देखा कि कृष्ण पूर्ववत् अपने मित्रों, अपनी गौओं तथा बछड़ों के साथ खेल रहे थे। कृष्ण ने सारे बछड़ों तथा ग्वालबालों को नारायण के चतुर्भज रूप में प्रदर्शित किया। तब जाकर ब्रह्मा को कृष्ण की शक्ति का पता लग सका और वे अपने आराध्यदेव कृष्ण की लीलाओं पर आश्चर्यचकित रह गये। किन्तु कृष्ण ने ब्रह्मा को अपनी अहैतुकी कृपा प्रदान की और उन्हें मोह से मुक्त किया। इस तरह ब्रह्माजी भगवान् का गुणगान करने के लिए स्तुति करने लगे।

श्रीशुक उवाच
साधु पृष्टं महाभाग त्वया भागवतोत्तम ।
यन्नूतनयसीशस्य शृण्वन्नपि कथां मुहुः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; साधु पृष्टम्—आपके प्रश्न से मैं सम्मानित हुआ हूँ; महा-भाग—परम भाग्यशाली व्यक्ति; त्वया—तुम्हारे द्वारा; भागवत-उत्तम—हे सर्वश्रेष्ठ भक्त; यत्—क्योंकि; नूतनयसि—तुम नया से नया कर रहे हो; ईशस्य—भगवान् के; शृण्वन् अपि—निरन्तर सुनते हुए भी; कथाम्—लीलाओं को; मुहुः—बारम्बार।

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे भक्त शिरोमणि, परम भाग्यशाली परीक्षित, तुमने बहुत सुन्दर प्रश्न किया है क्योंकि भगवान् की लीलाओं को निरन्तर सुनने पर भी तुम उनके कार्यों को नित्य नूतन रूप में अनुभव कर रहे हो।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत में प्रौढ़ हुए बिना भगवान् की लीलाओं का निरन्तर श्रवण कर पाना कठिन है। *नित्यं नवनवायमानम्*—यद्यपि अग्रगण्य भक्त भगवान् के विषय में वर्षों तक निरन्तर श्रवण करते हैं किन्तु तो भी उन्हें ये कथाएँ नित्य नूतन लगती हैं। अतएव ऐसे भक्त भगवान् कृष्ण की लीलाओं का श्रवण करना त्याग नहीं सकते। *प्रमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति। सन्तः* शब्द उस व्यक्ति के लिए आया है, जिसमें कृष्ण-प्रेम उत्पन्न हो चुका है। *यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि* (ब्रह्म-संहिता ५.३८)। इसीलिए परीक्षित महाराज को *भागवतोत्तम* कह कर सम्बोधित किया गया है क्योंकि भक्ति में अग्रसर हुए बिना

अधिकाधिक श्रवण करने का आनन्द अनुभव नहीं हो सकता और कथाएँ नित्य नूतन नहीं लग सकतीं।

सतामयं सारभृतां निसर्गो
यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि ।
प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्य यत्
स्त्रिया विटानामिव साधु वार्ता ॥ २॥

शब्दार्थ

सताम्—भक्तों का; अयम्—यह; सार-भृताम्—परमहंसों का, जिन्होंने जीवन सार स्वीकार किया है; निसर्ग:—लक्षण या गुण; यत्—जो; अर्थ-वाणी—जीवन का लक्ष्य, लाभ का लक्ष्य; श्रुति—समझने का उद्देश्य; चेतसाम् अपि—जिन्होंने दिव्य विषयों के आनन्द को ही जीवन लक्ष्य स्वीकार कर रखा है; प्रति-क्षणम्—हर क्षण; नव्य-वत्—मानो नवीन से नवीनतर हो; अच्युतस्य—भगवान् कृष्ण का; यत्—क्योंकि; स्त्रिया:—स्त्रियों या यौन की (कथाएँ); विटानाम्—स्त्रियों से अनुरक्तों या लम्पटों के; इव—सदृश; साधु वार्ता—वास्तविक वार्तालाप।

जीवन-सार को स्वीकार करने वाले परमहंस भक्त अपने अन्त:करण से कृष्ण के प्रति अनुरक्त होते हैं और कृष्ण ही उनके जीवन के लक्ष्य रहते हैं। प्रतिक्षण कृष्ण की ही चर्चा करना उनका स्वभाव होता है, मानो ये कथाएँ नित्य नूतन हों। वे इन कथाओं के प्रति उसी तरह अनुरक्त रहते हैं जिस तरह भौतिकतावादी लोग स्त्रियों तथा विषय-वासना की चर्चाओं में रस लेते हैं।

तात्पर्य : *सारभृताम्* का अर्थ है "परमहंस।" "हंस" दूध तथा पानी के मिश्रण में से दूध ग्रहण कर लेता है और जल को अस्वीकार कर देता है। इसी तरह जो व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन तथा कृष्णभावनामृत स्वीकार कर लेते हैं और कृष्ण को ही हर एक के प्राणाधार समझते हैं, वे स्वभावत: क्षण-भर के लिए भी *कृष्ण-कथा* का परित्याग नहीं कर सकते। ऐसे परमहंस सदैव अपने अन्त:करण में कृष्णदर्शन करते हैं (*सन्त: सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति*)। काम, क्रोध तथा भय इस जगत में तो सदैव बने रहते हैं किन्तु आध्यात्मिक जगत में इनका उपयोग कृष्ण के लिए ही किया जाता है। *कामं कृष्णकर्मार्पणे।* अतएव परमहंसों की यही अभिलाषा रहती है कि वे सदैव कृष्ण के लिए कर्म करें। *क्रोधं भक्तद्वेषि जने।* वे क्रोध का उपयोग अभक्तों के विरुद्ध करते हैं और भय को कृष्णभावनामृत से विचलित होने के भय में रूपान्तरित करते हैं। इस तरह परमहंस-भक्त का जीवन पूर्णतया कृष्ण के लिए प्रयुक्त होता है, जिस तरह भौतिक जगत में लिप्त व्यक्ति का जीवन एकमात्र स्त्रियों तथा धन के लिए होता है। भौतिकतावादी व्यक्ति के लिए जो दिन है, वही अध्यात्मवादी के लिए रात है। भौतिकतावादी के लिए जो मधुर है—स्त्रियाँ तथा धन—वही अध्यात्मवादी के द्वारा विष माना जाता है।

सन्दर्शनं विषयिनामथ योषितां च

हा हन्त हन्त विषभक्षणतोऽप्यसाधु।

यह श्री चैतन्य महाप्रभु का आदेश है। परमहंस के लिए कृष्ण ही सर्वस्व हैं किन्तु भौतिकतावादी के लिए स्त्रियाँ तथा धन ही सब कुछ हैं।

शृणुष्वावहितो राजन्नपि गुह्यं वदामि ते ।
ब्रूयु: स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत ॥ ३॥

शब्दार्थ

शृणुस्व—कृपया सुनें; अवहितः—ध्यानपूर्वक; राजन्—हे राजा (महाराज परीक्षित); अपि—यद्यपि; गुह्यम्—अत्यन्त गोपनीय (क्योंकि सामान्य व्यक्ति कृष्ण-लीलाओं को नहीं समझ सकते); वदामि—मैं कहूँगा; ते—तुमसे; ब्रूयुः—बताते हैं; स्निग्धस्य—विनीत; शिष्यस्य—शिष्य के; गुरवः—गुरुजन; गुह्यम्—अत्यन्त गोपनीय; अपि उत—ऐसा होने पर भी।

हे राजन्, मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनें। यद्यपि भगवान् की लीलाएँ अत्यन्त गुह्य हैं और सामान्य व्यक्ति उन्हें नहीं समझ सकता किन्तु मैं तुमसे उनके विषय में कहूँगा क्योंकि गुरुजन विनीत शिष्य को गुह्य से गुह्य तथा कठिन से कठिन विषयों को भी बता देते हैं।

तथाघवदनान्मृत्यो रक्षित्वा वत्सपालकान् ।
सरित्पुलिनमानीय भगवानिदमब्रवीत् ॥ ४॥

शब्दार्थ

तथा—तत्पश्चात्; अघ-वदनात्—अघासुर के मुख से; मृत्योः—साक्षात् मृत्यु; रक्षित्वा—रक्षा करके; वत्स-पालकान्—सारे ग्वालबालों तथा बछड़ों को; सरित्-पुलिनम्—नदी के तट पर; आनीय—लाकर; भगवान्—भगवान् कृष्ण ने; इदम्—ये शब्द; अब्रवीत्—कहे।

मृत्यु रूप अघासुर के मुख से बालकों तथा बछड़ों को बचाने के बाद भगवान् कृष्ण उन सब को नदी के तट पर ले आये और उनसे निम्नलिखित शब्द कहे।

अहोऽतिरम्यं पुलिनं वयस्याः
स्वकेलिसम्पन्मृदुलाच्छबालुकम् ।
स्फुटत्सरोगन्धहृतालिपत्रिक-
ध्वनिप्रतिध्वानलसद्द्रुमाकुलम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; अति-रम्यम्—अतीव सुन्दर; पुलिनम्—नदी का किनारा; वयस्याः—मेरे मित्रो; स्व-केलि-सम्पत्—खेलने की सामग्री से युक्त; मृदुल-अच्छ-बालुकम्—मुलायम तथा साफ बालूदार किनारा; स्फुटत्—खिला हुआ; सरः-गन्ध—कमल की गंध से; हृत—आकृष्ट; अलि—भौंरें का; पत्रिक—तथा पक्षियों की; ध्वनि-प्रतिध्वान—उनकी चहचहाहट तथा उसकी प्रतिध्वनि; लसत्—गतिशील; द्रुम-आकुलम्—सुन्दर वृक्षों से पूर्ण।

मित्रो, देखो न, यह नदी का किनारा अपने मोहक वातावरण के कारण कितना रम्य लगता है! देखो न, खिले कमल किस तरह अपनी सुगन्ध से भौरों तथा पक्षियों को आकृष्ट कर रहे हैं। भौरों की गुनगुनाहट तथा पक्षियों की चहचहाहट जंगल के सभी सुन्दर वृक्षों से प्रतिध्वनित हो रही है। और यहाँ की बालू साफ तथा मुलायम है। अतः हमारे खेल तथा हमारी लीलाओं के लिए यह सर्वोत्तम स्थान है।

तात्पर्य : वृन्दावन के जंगल का यह वर्णन पाँच हजार वर्ष पूर्व कृष्ण द्वारा किया गया था और यही स्थिति ३००-४०० वर्ष पूर्व वैष्णव आचार्यों के समय तक बनी रही। *कूजत्कोकिलहंससारसगणाकीर्णे मयूराकुले।* वृन्दावन का जंगल सदैव कोकिल, हंस, सारस जैसे पक्षियों की चहक तथा कुहू-कुहू से पूरित रहता है और इसमें मोर भी रहते हैं (*मयूराकुले*)। आज भी वही ध्वनि तथा वातावरण उस क्षेत्र में विद्यमान हैं जहाँ हमारा कृष्ण-बलराम मन्दिर स्थित है। जो भी इस मन्दिर को देखने आता है, वह यहाँ पर वर्णित पक्षियों के कलरव को सुन कर प्रसन्न हो जाता है (*कूजत्कोकिल-हंससारस*)।

अत्र भोक्तव्यमस्माभिर्दिवारूढं क्षुधार्दिताः ।
वत्साः समीपेऽपः पीत्वा चरन्तु शनकैस्तृणम् ॥ ६॥

शब्दार्थ

अत्र—यहाँ, इस स्थान पर; भोक्तव्यम्—भोजन किया जाय; अस्माभिः—हम लोगों के द्वारा; दिव-आरूढम्—काफी देर हो चुकी है; क्षुधा अर्दिताः—भूख से थके; वत्साः—बछड़े; समीपे—पास ही; अपः—जल; पीत्वा—पीकर; चरन्तु—चरने दें; शनकैः—धीरे धीरे; तृणम्—घास।

मेरे विचार में हम यहाँ भोजन करें क्योंकि विलम्ब हो जाने से हम भूखे हो उठे हैं। यहाँ बछड़े पानी पी सकते हैं और धीरे धीरे इधर-उधर जाकर घास चर सकते हैं।

तथेति पाययित्वार्भा वत्सानारुध्य शाद्वले ।
मुक्त्वा शिक्यानि बुभुजुः समं भगवता मुदा ॥ ७॥

शब्दार्थ

तथा इति—कृष्ण के प्रस्ताव को ग्वालबालों ने स्वीकार कर लिया; पाययित्वा अर्भाः—पानी पीने दिया; वत्सान्—बछड़ों को; आरुध्य—वृक्षों में बाँध कर चरने दिया; शाद्वले—हरी मुलायम घास में; मुक्त्वा—खोल कर; शिक्यानि—पोटली, जिनमें खाने की तथा अन्य वस्तुएँ थीं; बुभुजुः—जाकर आनन्द मनाया; समम्—समान रूप से; भगवता—भगवान् के साथ; मुदा—दिव्य आनन्द में।

भगवान् कृष्ण के प्रस्ताव को मान कर ग्वालबालों ने बछड़ों को नदी में पानी पीने दिया

और फिर उन्हें वृक्षों से बाँध दिया जहाँ हरी मुलायम घास थी। तब बालकों ने अपने भोजन की पोटलियाँ खोलीं और दिव्य आनन्द से पूरित होकर कृष्ण के साथ खाने लगे।

कृष्णास्य विष्वक्पुरुराजिमण्डलै-
रभ्याननाः फुल्लदृशो व्रजार्भकाः ।
सहोपविष्टा विपिने विरेजु-
श्छदा यथाम्भोरुहकर्णिकायाः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

कृष्णस्य विष्वक्—कृष्ण को घेर कर; पुरु-राजि-मण्डलैः—संगियों के विभिन्न घेरों से; अभ्याननाः—बीचोबीच देखते हुए, जहाँ कृष्ण बैठे थे; फुल्ल-दृशः—दिव्य आनन्द से प्रफुल्लित चेहरे; व्रज-अर्भकाः—व्रजभूमि के सारे ग्वालबाल; सह-उपविष्टाः—कृष्ण के साथ बैठे हुए; विपिने—जंगल में; विरेजुः—सुन्दर ढंग से बनाये गये; छदाः—पंखड़ियाँ तथा पत्तियाँ; यथा—जिस प्रकार; अम्भोरुह—कमल के फूल की; कर्णिकायाः—कोश की।

जिस तरह पंखड़ियों तथा पत्तियों से घिरा हुआ कोई कमल-पुष्प कोश हो उसी तरह बीच में कृष्ण बैठे थे और उन्हें घेर कर पंक्तियों में उनके मित्र बैठे थे। वे सभी अत्यन्त सुन्दर लग रहे थे। उनमें से हर बालक यह सोच कर कृष्ण की ओर देखने का प्रयास कर रहा था कि शायद कृष्ण भी उसकी ओर देखें। इस तरह उन सबों ने जंगल में भोजन का आनन्द लिया।

तात्पर्य : जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है (*सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति*) कृष्ण अपने शुद्ध भक्तों को सदैव दिखते हैं। *भगवद्गीता* में भी कृष्ण ने इसी ओर संकेत किया है (*सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्*)। यदि पुण्यकर्मों को संचित करके (*कृतपुण्यपुञ्जाः*) कोई व्यक्ति शुद्ध भक्ति पा लेता है, तो उसके हृदय में कृष्ण सदैव दृष्टिगोचर होते हैं। जिसने ऐसी सिद्धि पा ली है, वह दिव्य आनन्द में परम सुन्दर बन जाता है। वर्तमान कृष्णभावनामृत आन्दोलन कृष्ण को केन्द्र में रखने का एक प्रयास है क्योंकि यदि ऐसा किया जाता है, तो सारे कार्य स्वयमेव सुन्दर तथा आनन्दमय बन जाते हैं।

केचित्पुष्पैर्दलैः केचित्पल्लवैरङ्कुरैः फलैः ।
शिग्भिस्त्वग्भिर्दृषद्भिश्च बुभुजुः कृतभाजनाः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

केचित्—कोई; पुष्पैः—फूलों पर; दलैः—फूलों की सुन्दर पत्तियों पर; केचित्—कोई; पल्लवैः—पत्तियों के गुच्छों पर; अङ्कुरैः—फूलों के अंकुरों पर; फलैः—तथा कोई फलों पर; शिग्भिः—कोई डलिया-से डिब्बे में; त्वग्भिः—पेड़ की छाल से; दृषद्भिः—चट्टानों पर; च—और; बुभुजुः—आनन्द मनाया; कृत-भाजनाः—खाने की प्लेटें बनाकर।

ग्वालबालों में से किसी ने अपना भोजन फूलों पर, किसी ने पत्तियों, फलों या पत्तों के गुच्छों पर, किसी ने वास्तव में ही अपनी डलिया में, तो किसी ने पेड़ की खाल पर तथा किसी ने

चट्टानों पर रख लिया। बालकों ने खाते समय इन्हें ही अपनी प्लेटें (थालियाँ) मान लिया।

सर्वे मिथो दर्शयन्तः स्वस्वभोज्यरुचिं पृथक् ।
हसन्तो हासयन्तश्चाभ्यवजह्रुः सहेश्वराः ॥ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—सभी ग्वालबाल; मिथः—परस्पर; दर्शयन्तः—दिखाते हुए; स्व-स्व-भोज्य-रुचिम् पृथक्—घर से लाये गये भोज्य पदार्थों की भिन्न भिन्न किस्में तथा उनके पृथक्-पृथक् स्वाद; हसन्तः—चखने के बाद सभी हँसते हुए; हासयन्तः च—तथा हँसाते हुए; अभ्यवजह्रुः—भोजन का आनन्द लिया; सह-ईश्वराः—कृष्ण के साथ।.

अपने अपने घर से लाये गये भोजन की किस्मों के भिन्न भिन्न स्वादों को एक-दूसरे को बतलाते हुए सारे ग्वालों ने कृष्ण के साथ भोजन का आनन्द लिया। वे एक-दूसरे का भोजन चख-चख कर हँसने तथा हँसाने लगे।

तात्पर्य : कभी कोई मित्र कहता, "कृष्ण! देखो मेरा भोजन कितना स्वादिष्ट है" तो कृष्ण थोड़ा-सा ले लेते तथा हँसते। इसी प्रकार बलराम, सुदामा तथा अन्य मित्र एक-दूसरे का भोजन चख-चख कर हँसते। इस तरह सारे मित्र परम हर्षित होकर घर से लाया हुआ अपना अपना भोजन करने लगे।

बिभ्रद्वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु ।
तिष्ठन्मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन्नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग्बालकेलिः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

बिभ्रत् वेणुम्—वंशी को रख कर; जठर-पटयोः—कसे हुए चुस्त वस्त्र तथा पेट के बीच; शृङ्ग-वेत्रे—सींग का बना बिगुल तथा गाय हाँकने की छड़ी; च—भी; कक्षे—कमर में; वामे—बाएँ; पाणौ—हाथ में लेकर; मसृण-कवलम्—चावल तथा दही से बना सुन्दर भोजन; तत्-फलानि—बेल जैसे फल; अङ्गुलीषु—अँगुलियों के बीच; तिष्ठन्—इस प्रकार रखी; मध्ये—बीच में; स्व-परि-सुहृदः—अपने निजी संगी; हासयन्—हँसाते हुए; नर्मभिः—हास्य; स्वैः—अपने; स्वर्गे लोके मिषति—स्वर्गलोक के निवासी इस अद्भुत दृश्य को देख रहे थे; बुभुजे—कृष्ण ने आनन्द लिया; यज्ञ-भुक् बाल-केलिः—यद्यपि वे यज्ञ की आहुति स्वीकार करते हैं किन्तु बाल-लीला हेतु वे अपने ग्वालबाल मित्रों के साथ बड़ी ही प्रसन्नतापूर्वक भोजन कर रहे थे।.

कृष्ण यज्ञ-भुक् हैं—अर्थात् वे केवल यज्ञ की आहुतियाँ ही खाते हैं किन्तु अपनी बाल-लीलाएँ प्रदर्शित करने के लिए वे अपनी वंशी को अपनी कमर तथा दाहिनी ओर कसे वस्त्र के बीच तथा सींग के बिगुल और गाय चराने की लाठी को बाईं ओर खोंस कर बैठ गये। वे अपने हाथ में दही तथा चावल का बना सुन्दर व्यंजन लेकर और अपनी अँगुलियों के बीच में उपयुक्त फलों के टुकड़े पकड़कर इस तरह बैठे थे जैसे कमल का कोश हो। वे आगे की ओर अपने सभी मित्रों को देख रहे थे और खाते-खाते उनसे उपहास करते जाते थे जिससे सभी ठहाका

लगा रहे थे। उस समय स्वर्ग के निवासी देख रहे थे और आश्चर्यचकित थे कि किस तरह यज्ञ-भुक् भगवान् अब अपने मित्रों के साथ जंगल में बैठ कर खाना खा रहे हैं।

तात्पर्य : जब कृष्ण अपने मित्रों के साथ बैठ कर खाना खा रहे थे तो एक भौंरा उड़ कर खाने में हिस्सा बँटाने के लिए वहाँ आ गया। इस पर कृष्ण ने उपहास किया, ''तुम मेरे ब्राह्मण मित्र मधुमंगल को तंग करने क्यों आये हो? क्या उस ब्राह्मण को मारना चाहते हो? यह अच्छी बात नहीं।'' खाते समय ऐसे परिहासपूर्ण शब्द बोलने से सारे बालक हँस रहे थे और खूब आनन्द ले रहे थे। इस प्रकार स्वर्ग के निवासी चकित थे कि जो भगवान् केवल यज्ञ में अर्पित भोजन करते हैं, वे अब किस तरह सामान्य बालक की तरह अपने मित्रों के साथ जंगल में भोजन कर रहे हैं।

भारतैवं वत्सपेषु भुञ्जानेष्वच्युतात्मसु ।
वत्सास्त्वन्तर्वने दूरं विविशुस्तृणलोभिताः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

भारत—हे महाराज परीक्षित; एवम्—इस प्रकार (भोजन करते हुए); वत्स-पेषु—बछड़े चराने वाले बालकों के साथ; भुञ्जानेषु—भोजन करने में व्यस्त; अच्युत-आत्मसु—अच्युत अर्थात् कृष्ण के अभिन्न होने से; वत्साः—बछड़े; तु—फिर भी; अन्तः-वने—गहन जंगल के भीतर; दूरम्—काफी दूर; विविशुः—घुस गये; तृण-लोभिताः—हरी घास से लुब्ध होकर।

हे महाराज परीक्षित, एक ओर जहाँ अपने हृदय में कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी को न जानने वाले ग्वालबाल जंगल में भोजन करने में इस तरह व्यस्त थे वहीं दूसरी ओर बछड़े हरी घास से ललचाकर दूर घने जंगल में चरने निकल गये।

तान्दृष्ट्वा भयसन्त्रस्तानूचे कृष्णोऽस्य भीभयम् ।
मित्राण्याशान्मा विरमतेहानेष्ये वत्सकानहम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तान्—उन दूर जा रहे बछड़ों को; दृष्ट्वा—देखकर; भय-सन्त्रस्तान्—उन ग्वालबालों को जो भय से क्षुब्ध थे कि गहन वन के भीतर बछड़ों पर कोई खूनी जानवर आक्रमण न कर दे; ऊचे—कृष्ण ने कहा; कृष्णः अस्य भी-भयम्—कृष्ण, जो स्वयं सभी प्रकार के भय का भी भय हैं (कृष्ण के रहने पर कोई भय नहीं रहता); मित्राणि—हे मित्रो; आशात्—भोजन के आनन्द से; मा विरमत—मत रुको; इह—इस स्थान में; आनेष्ये—वापस लाये देता हूँ; वत्सकान्—बछड़ों को; अहम्—मैं।

जब कृष्ण ने देखा कि उनके ग्वालबाल मित्र डरे हुए हैं, तो भय के भी भीषण नियन्ता उन्होंने उनके भय को दूर करने के लिए कहा, ''मित्रो, खाना मत बन्द करो। मैं स्वयं जाकर तुम्हारे बछड़ों को इसी स्थान में वापस लाये दे रहा हूँ।''

तात्पर्य : कृष्ण की मैत्री होने पर भक्त को कोई भय नहीं रह जाता। कृष्ण परम नियन्ता हैं, यहाँ

तक कि वे मृत्यु के भी नियन्ता हैं, जो इस जगत के लिए परम भय है। *भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्* (भागवत ११.२.३७)। यह भय कृष्णभावनामृत के अभाव के कारण उदय होता है अन्यथा भय हो ही नहीं सकता। जिसने कृष्ण के चरणकमलों में शरण ले रखी है उसे इस भय-रूपी जगत में कुछ भी भयावह नहीं है।

भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं

पदं पदं यद् विपदां न तेषाम्।

भवाम्बुधिः अर्थात् भय का भौतिक सागर परम नियन्ता की कृपा से आसानी से पार किया जा सकता है। इस भौतिक जगत में पग पग पर भय तथा विपदा है (*पदं पदं यद् विपदाम्*) किन्तु जो लोग भगवान् कृष्ण के चरणकमलों में शरणागत हैं उनके लिए ऐसा नहीं है। ऐसे व्यक्ति इस भयावह जगत से मुक्त कर दिये जाते हैं—

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं

महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः।

भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं

पंद पदं यद् विपदां न तेषाम्॥

(*भागवत* .१४.५८)

अतएव हर व्यक्ति को चाहिए कि निर्भीकता के स्रोत भगवान् की शरण ग्रहण करे और इस तरह सुरक्षित हो ले।

इत्युक्त्वाद्रिदरीकुञ्जगह्वरेष्वात्मवत्सकान् ।
विचिन्वन्भगवान्कृष्णः सपाणिकवलो ययौ ॥ १४॥

शब्दार्थ

इति उक्त्वा—यह कह कर (कि मुझे बछड़े लाने दो); अद्रि-दरी-कुञ्ज-गह्वरेषु—पर्वतों, पर्वत की गुफाओं, झाड़ियों तथा सँकरी जगहों में; आत्म-वत्सकान्—अपने मित्रों के बछड़ों को; विचिन्वन्—ढूँढ़ते हुए; भगवान्—भगवान्; कृष्णः—कृष्ण; स-पाणि-कवलः—दही तथा चावल अपने हाथ में लिए; ययौ—चल पड़े।

कृष्ण ने कहा, ''मुझे जाकर बछड़े ढूँढ़ने दो। अपने आनन्द में खलल मत डालो।'' फिर हाथ में दही तथा चावल लिए, भगवान् कृष्ण तुरन्त ही अपने मित्रों के बछड़ों को खोजने चल पड़े। वे अपने मित्रों को तुष्ट करने के लिए सारे पर्वतों, गुफाओं, झाड़ियों तथा सँकरे मार्गों में

खोजने लगे।

तात्पर्य : वेद (*श्वेताश्वतर उपनिषद* ६.८) बलपूर्वक कहते हैं कि भगवान् को अपने लिए कुछ भी नहीं करना होता (*न तस्य कार्यं करणं च विद्यते*) क्योंकि वे अपनी शक्तियों के द्वारा हर कार्य करते रहते हैं (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*)। फिर भी हम यहाँ देखते हैं कि वे अपने मित्रों के बछड़ों को ढूँढ़ने स्वयं जाते हैं। यह कृष्ण की अहैतुकी कृपा है। *मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*—सारे जगत और समस्त ब्रह्माण्ड के जितने भी कार्य हैं, वे उन्हीं के निर्देशन में उन्हीं की विभिन्न शक्तियों द्वारा सम्पन्न होते हैं। तो भी जब अपने मित्रों की रखवाली करने की आवश्यकता होती है वे उसे स्वयं करते हैं। कृष्ण ने अपने मित्रों को आश्वासन दिया, ''डरो नहीं, मैं स्वयं तुम लोगों के बछड़ों को ढूँढ़ने जा रहा हूँ।'' यह कृष्ण की अहैतुकी कृपा थी।

अम्भोजन्मजनिस्तदन्तरगतो मायार्भकस्येशितु-
र्द्रष्टुं मञ्जु महित्वमन्यदपि तद्वत्सानितो वत्सपान् ।
नीत्वान्यत्र कुरूद्वहान्तरदधात्खेऽवस्थितो यः पुरा
दृष्ट्वाघासुरमोक्षणं प्रभवतः प्राप्तः परं विस्मयम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अम्भोजन्म-जनिः—कमल से उत्पन्न ब्रह्माजी; तत्-अन्तर-गतः—ग्वालबालों के साथ भोजन कर रहे कृष्ण के कार्यों में फँस गये; माया-अर्भकस्य—कृष्ण की माया से बनाए गये बालकों के; ईशितुः—परम नियन्ता का; द्रष्टुम्—दर्शन करने के लिए; मञ्जु—अत्यन्त रोचक; महित्वम् अन्यत् अपि—भगवान् की अन्य महिमाओं को भी; तत्-वत्सान्—उनके बछड़ों को; इतः—जहाँ थे उसकी अपेक्षा; वत्स-पान्—तथा बछड़ों की रखवाली करने वाले ग्वालबालों को; नीत्वा—लाकर; अन्यत्र—दूसरे स्थान पर; कुरूद्वह—हे महाराज परीक्षित; अन्तर-दधात्—छिपा दिया; खे अवस्थितः यः—यह पुरुष ब्रह्मा, जो आकाश में स्वर्गलोक में स्थित था; पुरा—प्राचीनकाल में; दृष्ट्वा—देख कर; अघासुर-मोक्षणम्—अघासुर के अद्भुत वध तथा उद्धार को; प्रभवतः—सर्वशक्तिमान परम पुरुष का; प्राप्तः परम् विस्मयम्—अत्यन्त विस्मित था।.

हे महाराज परीक्षित, स्वर्गलोक में वास करने वाले ब्रह्मा ने अघासुर के वध करने तथा मोक्ष देने के लिए सर्वशक्तिमान कृष्ण के कार्यकलापों को देखा था और वे अत्यधिक चकित थे। अब वही ब्रह्मा कुछ अपनी शक्ति दिखाना और उस कृष्ण की शक्ति देखना चाह रहे थे, जो मानो सामान्य ग्वालबालों के साथ खेलते हुए अपनी बाल-लीलाएँ कर रहे थे। इसलिए कृष्ण की अनुपस्थिति में ब्रह्मा सारे बालकों तथा बछड़ों को किसी दूसरे स्थान पर लेकर चले गये। इस तरह वे फँस गये क्योंकि निकट भविष्य में वे देखेंगे कि कृष्ण कितने शक्तिशाली हैं।

तात्पर्य : जब कृष्ण अघासुर का वध कर रहे थे तो वे अपने मित्रों के साथ थे। ब्रह्मा अघासुर का

वध देख कर चकित थे किन्तु जब उन्होंने देखा कि कृष्ण भोजन-लीला में मस्त हैं, तो वे और भी चकित हो उठे अत: उन्होंने परीक्षा लेनी चाही कि कृष्ण वहाँ वास्तव में हैं कि नहीं। इस तरह वे कृष्ण की माया में फँस गये। कुछ भी हो ब्रह्मा का जन्म भौतिक रूप से हुआ था—जैसा यहाँ वर्णित है *अम्भोजन्मजनि:—अम्भोज* अर्थात् वे कमल से जन्मे थे। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि वे कमल से उत्पन्न हुए थे, किसी मनुष्य, पशु या भौतिक पिता से नहीं। कमल भी भौतिक होता है और जो भी भौतिक शक्ति के माध्यम से उत्पन्न होता है उसमें चार भौतिक दोष होंगे—भ्रम (त्रुटियाँ करने की प्रवृत्ति), प्रमाद (भ्रान्त होने की प्रवृत्ति), विप्रलिप्सा (छल-कपट करने की प्रवृत्ति) तथा करणापाटव (अपूर्ण इन्द्रियाँ)। इस तरह ब्रह्मा भी फँस गये।

ब्रह्मा ने अपनी माया द्वारा यह परीक्षा लेनी चाही कि कृष्ण वहाँ वास्तव में उपस्थित हैं या नहीं। ये ग्वालबाल तो कृष्ण के स्वांश हैं ही (*आनन्दचिन्मय-रसप्रतिभाविताभि:*)। बाद में कृष्ण ब्रह्मा को यह दिखलायेंगे कि किस प्रकार वे अपना विस्तार हर वस्तु में अपनी ह्लादिनी शक्ति के रूप में करते हैं—*आनन्दचिन्मयरस। ह्लादिनी शक्तिरस्मात*—कृष्ण की एक दिव्य शक्ति है, जो ह्लादिनी शक्ति कहलाती है। वे भौतिक शक्ति से उत्पन्न किसी भी वस्तु का भोग नहीं करते। अत: ब्रह्मा देखेंगे कि भगवान् कृष्ण किस तरह अपनी शक्ति का विस्तार करते हैं।

ब्रह्माजी कृष्ण के संगियों को उठा ले जाना चाहते थे किन्तु धोखे से वे अन्य बालकों तथा बछड़ों को लेते गये। रावण सीताजी को ले जाना चाहता था किन्तु यह असम्भव था अतएव वह माया सीता को ले गया। इसी प्रकार ब्रह्माजी *मायार्भका:*—कृष्ण की माया द्वारा प्रकट बालकों को ले गये। ब्रह्मा इन मायार्भकों को तो कोई अद्वितीय ऐश्वर्य दिखला सकते थे किन्तु वे कृष्ण के संगियों को कोई अद्वितीय शक्ति नहीं दिखला सकते थे। इसे वे स्वयं आगे देखेंगे। *मायार्भकस्य ईशितु:।* यह माया परम नियन्ता—*प्रभवत:*—सर्वशक्तिमान परम पुरुष कृष्ण द्वारा उत्पन्न की गई थी और इसका परिणाम हम आगे देखेंगे। भौतिक जगत में उत्पन्न कोई भी व्यक्ति माया के वश में रहता है। इसीलिए यह लीला *ब्रह्मविमोहन लीला* कहलाती है। *मोहितं नाभिजानाति मामेभ्य: परमव्ययम्* (भगवद्गीता ७.१३)। भौतिक विधि से उत्पन्न व्यक्ति कृष्ण को पूरी तरह नहीं समझ पाते। यहाँ तक कि देवता भी उन्हें नहीं समझ पाते (*मुह्यन्ति यत् सूरय:*)। *तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये* (भागवत १.१.१)। ब्रह्मा से लेकर

छोटे से छोटे कीट तक को कृष्ण से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य पुलिनेऽपि च वत्सपान् ।
उभावपि वने कृष्णो विचिकाय समन्ततः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; वत्सान्—बछड़ों को; अदृष्ट्वा—जंगल में न देख कर; एत्य—बाद में; पुलिने अपि—यमुना के तट में भी; च—भी; वत्सपान्—ग्वालबालों को; उभौ अपि—दोनों ही को (बछड़ों तथा बालकों को); वने—जंगल में; कृष्णः—भगवान् कृष्ण ने; विचिकाय—सर्वत्र ढूँढ़ा; समन्ततः—इधर-उधर।

तत्पश्चात् जब कृष्ण बछड़ों को खोज न पाये तो वे यमुना के तट पर लौट आये किन्तु वहाँ भी उन्होंने ग्वालबालों को नहीं देखा। इस तरह वे बछड़ों तथा बालकों को ऐसे ढूँढ़ने लगे, मानों उनकी समझ में न आ रहा हो कि यह क्या हो गया।

तात्पर्य : कृष्ण तुरन्त समझ गये कि ब्रह्मा ही बालकों तथा बछड़ों को चुरा ले गये हैं किन्तु वे अबोध बालक की तरह उन्हें इधर-उधर ढूँढ़ने लगे जिससे ब्रह्मा कृष्ण की माया को न समझ सकें। यह सब नाटकीय ढंग से हुआ। नाटक का पात्र हर बात जानता रहता है किन्तु मंच पर वह इस तरह कार्य करता है कि लोग उसे समझ नहीं पाते।

क्वाप्यदृष्ट्वान्तर्विपिने वत्सान्पालांश्च विश्ववित् ।
सर्वं विधिकृतं कृष्णः सहसावजगाम ह ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

क्व अपि—कहीं भी; अदृष्ट्वा—न देखकर; अन्तः-विपिने—जंगल के भीतर; वत्सान्—बछड़ों को; पालान् च—तथा उनकी रक्षा करने वाले ग्वालबालों को; विश्व-वित्—इस जगत में हो रही प्रत्येक बात को जानने वाले कृष्ण; सर्वम्—हर वस्तु को; विधि-कृतम्—ब्रह्मा द्वारा सम्पन्न; कृष्णः—कृष्ण; सहसा—तुरन्त; अवजगाम ह—समझ गये।

जब कृष्ण बछड़ों तथा उनके पालक ग्वालबालकों को जंगल में कहीं भी ढूँढ़ न पाये तो वे तुरन्त समझ गये कि यह ब्रह्मा की ही करतूत है।

तात्पर्य : यद्यपि कृष्ण *विश्ववित्*—सारे ब्रह्माण्ड में घटने वाली प्रत्येक बात को जानते हैं किन्तु उन्होंने अबोध बालक की तरह ब्रह्मा की करतूत के प्रति अनभिज्ञता प्रकट की, यद्यपि वे तुरन्त ही जान गये थे कि यह सब ब्रह्मा की करनी-धरनी है। यह लीला *ब्रह्मविमोहन* कहलाती है। ब्रह्मा पहले से ही अबोध बालक कृष्ण की क्रीड़ाओं से मोहित थे और अब तो वे और भी अधिक मोहित हो गये।

ततः कृष्णो मुदं कर्तुं तन्मातॄणां च कस्य च ।
उभयायितमात्मानं चक्रे विश्वकृदीश्वरः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; कृष्णः—भगवान्; मुदम्—आनन्द; कर्तुम्—उत्पन्न करने के लिए; तत्-मातॄणाम् च—ग्वालबालों तथा बछड़ों की माताओं के; कस्य च—तथा ब्रह्मा के (आनन्द के लिए); उभयायितम्—बछड़ों तथा बालकों, दोनों के रूप में विस्तार; आत्मानम्—स्वयं; चक्रे—किया; विश्व-कृत् ईश्वरः—सम्पूर्ण जगत के स्रष्टा होने के कारण उनके लिए यह कठिन न था।

तत्पश्चात् ब्रह्मा को तथा बछड़ों एवं ग्वालबालों की माताओं को आनन्दित करने के लिए, समस्त ब्रह्माण्ड के स्रष्टा कृष्ण ने बछड़ों तथा बालकों के रूप में अपना विस्तार कर लिया।

तात्पर्य : यद्यपि ब्रह्मा पहले ही माया में फँस चुके थे किन्तु वे ग्वालबालों को अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहते थे। जब वे बालकों तथा बछड़ों को चुरा कर अपने घर पहुँचे तो कृष्ण ने ब्रह्मा के लिए तथा बालकों की माताओं के लिए दूसरा चमत्कार उत्पन्न कर दिया—उन्होंने फिर से जंगल में भोजन-लीला स्थापित कर दी और उसी तरह बालकों को भोजन करते और बछड़ों को चरते प्रकट कर दिया। वेदों के अनुसार *एकं बहुस्याम्*—भगवान् अपने आपको असंख्य बछड़ों तथा बालकों में बदल सकते हैं जैसाकि ब्रह्मा को मोहित करने के लिए उन्होंने किया।

यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्कराङ्‌घ्र्यादिकं
यावद्यष्टिविषाणवेणुदलशिग्यावद्विभूषाम्बरम् ।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद्विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यावत् वत्सप—ग्वालबालों की ही तरह के; वत्सक-अल्पक-वपुः—तथा बछड़ों के कोमल शरीरों जैसे ही; यावत् कर-अङ्‌घ्रि-आदिकम्—वैसी ही नाप के हाथ-पैर वाले; यावत् यष्टि-विषाण-वेणु-दल-शिक्—जैसे उनके बिगुल, वंशी, लाठियाँ, भोजन के छींके आदि थे ठीक वैसे ही; यावत् विभूषा-अम्बरम्—जैसे उनके गहने तथा वस्त्र थे ठीक वैसे ही; यावत् शील-गुण-अभिधा-आकृति-वयः—वैसे ही गुण, आदत, स्वरूप, लक्षण तथा शारीरिक स्वरूप वाले; यावत् विहार-आदिकम्—वैसी ही रुचि या मनोरंजन वाले; सर्वम्—हर वस्तु; विष्णु-मयम्—विष्णु या वासुदेव के अंश; गिरः अङ्ग-वत्—उन्हीं की तरह की वाणी; अजः—कृष्ण ने; सर्व-स्वरूपः बभौ—स्वयं हर वस्तु उत्पन्न कर दी।

अपने वासुदेव रूप में कृष्ण ने खोये हुए ग्वाल-बालकों तथा बछड़ों की जितनी संख्या थी, उतने ही वैसे ही शारीरिक स्वरूपों, उसी तरह के हाथों, पाँवों तथा अन्य अंगों वाले, उनकी लाठियों, तुरहियों तथा वंशियों, उनके भोजन के छींकों, विभिन्न प्रकार से पहनी हुईं उनकी विशेष वेशभूषाओं तथा गहनों, उनके नामों, उम्रों तथा विशेष कार्यकलापों एवं गुणों से युक्त स्वरूपों में अपना विस्तार कर लिया। इस प्रकार अपना विस्तार करके सुन्दर कृष्ण ने यह उक्ति सिद्ध कर दी—*समग्र जगद् विष्णुमयम्*—भगवान् विष्णु सर्वव्यापी हैं।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* (५.३३) में कहा गया है—

अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्

आद्यम् पुराणपुरुषं नवयौवनं च॥

कृष्ण *परं ब्रह्म* तथा *आद्यम्*—हर वस्तु के आदि हैं। वे आदि पुरुष, सर्वदा यौवन से पूर्ण रहने वाले हैं। वे कल्पना से अधिक रूपों में विस्तार कर सकते हैं फिर भी वे अपने आदि रूप से नहीं गिरते इसलिए वे अच्युत हैं। यही भगवान् हैं। *सर्वं विष्णुमयं जगत्। सर्वं खल्विदं ब्रह्म।* इस तरह कृष्ण ने सिद्ध कर दिया कि वे सर्वस्व हैं और वे कुछ भी बन सकते हैं फिर भी वे हर वस्तु से भिन्न रहते हैं (*मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थित:*)। ऐसे कृष्ण *अचिन्त्य भेदाभेद तत्त्व* दर्शन द्वारा जाने जाते हैं। *पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते*—कृष्ण पूर्ण हैं और सभी ऐश्वर्यों से पूर्ण लाखों ब्रह्माण्डों की सृष्टि करने पर भी वे बिना किसी परिवर्तन के पूर्ववत् ऐश्वर्यवान बने रहते हैं (*अद्वैतम्*)। विभिन्न वैष्णव आचार्य विशुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा द्वैताद्वैत दर्शनों के माध्यम से इसी की व्याख्या करते हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि आचार्यों से कृष्ण के विषय में जानें। *आचार्यवान् पुरुषो वेद*—जो व्यक्ति आचार्यों के मार्ग का अनुसरण करता है, वह वस्तुओं को यथारूप में जानता है। ऐसा व्यक्ति कृष्ण को यथारूप में जान सकता है, चाहे कुछ हद तक ही सही और कृष्ण को समझ लेने पर (*जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:*) वह भवबन्धन से मुक्त हो जाता है (*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन*)।

स्वयमात्मात्मगोवत्सान्प्रतिवार्यात्मवत्सपै: ।
क्रीडन्नात्मविहारैश्च सर्वात्मा प्राविशद्व्रजम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

स्वयम् आत्मा—परमात्मा स्वरूप कृष्ण; आत्म-गो-वत्सान्—अपने ही स्वरूप बछड़ों में अपना विस्तार कर लिया; प्रतिवार्य आत्म-वत्सपै:—पुन: उन्होंने बछड़ों को चराने वाले ग्वालों में परिणत कर लिया; क्रीडन्—इस तरह उन लीलाओं में होने वाली हर वस्तु स्वयं बन गये; आत्म-विहारै: च—स्वयं ही अनेक प्रकार से आनन्द लेने लगे; सर्व-आत्मा—परमात्मा, कृष्ण; प्राविशत्—प्रविष्ट किया; व्रजम्—व्रजभूमि में जो महाराज नन्द तथा यशोदा की भूमि है।.

इस तरह अपना विस्तार करने के बाद जिससे वे सभी बछड़ों तथा बालकों की तरह लगें और साथ ही उनके अगुवा भी लगें, कृष्ण ने अब अपने पिता नन्द महाराज की व्रजभूमि में इस तरह प्रवेश किया जिस तरह वे उन सबके साथ आनन्द मनाते हुए सामान्यतया किया करते थे।

तात्पर्य : अपने संगी ग्वालबालों के साथ बछड़ों तथा गौवों की रखवाली करते हुए कृष्ण सामान्यतया जंगल तथा चरागाह में रहा करते थे। अब जबकि उस असली टोली को ब्रह्मा चुरा ले गये थे कृष्ण ने ही उन सबों का रूप धारण कर लिया था। इसे कोई भी, यहाँ तक कि बलदेव भी, नहीं जान पाये और वे अपना काम करते रहे। वे अपने मित्रों को काम करने के लिए आदेश देते जा रहे थे, वे बछड़ों पर नियंत्रण रख रहे थे और जब नई घास के लोभ में वे इधर-उधर चले जाते तो उन्हें जंगल में ढूँढ़ने भी स्वयं जाते। वे ही बछड़े और ग्वालबाल बने हुए थे। यह कृष्ण की अचिन्त्य शक्ति थी। श्रील जीव गोस्वामी ने कहा है—*राधाकृष्णप्रणयविकृतिर्ह्लादिनी शक्तिरस्मात्।* राधा और कृष्ण एक हैं। कृष्ण अपनी ह्लादिनी शक्ति का विस्तार करके राधारानी बन जाते हैं। वही ह्लादिनी शक्ति (*आनन्दचिन्मयरस*) तब भी विस्तृत हुई जब वे स्वयं बछड़े तथा बालक बन गए और व्रजभूमि में आनन्द-मंगल मनाने लगे। यह सब *योगमाया* शक्ति द्वारा किया गया था। जो महामाया शक्ति के अधीन हैं उनके लिए यह अचिन्त्य है।

तत्तद्वत्सान्पृथङ्नीत्वा तत्तद्गोष्ठे निवेश्य सः ।
तत्तदात्माभवद्राजंस्तत्तत्सद्म प्रविष्टवान् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तत्-तत्-वत्सान्—जिन जिन गायों के जो जो बछड़े थे, उन्हें; पृथक्—अलग अलग; नीत्वा—ले जाकर; तत्-तत्-गोष्ठे—उनकी अपनी अपनी गोशालाओं में; निवेश्य—भीतर करके; सः—कृष्ण ने; तत्-तत्-आत्मा—पहले जैसे विभिन्न व्यक्तियों के रूप में; अभवत्—अपना विस्तार कर लिया; राजन्—हे राजा परीक्षित; तत्-तत्-सद्म—उन उन घरों में; प्रविष्टवान्—घुस गये (इस तरह कृष्ण सर्वत्र थे)।

हे महाराज परीक्षित, जिन कृष्ण ने अपने को विभिन्न बछड़ों तथा भिन्न भिन्न ग्वालबालों में विभक्त कर लिया था वे अब बछड़ों के रूप में विभिन्न गोशालाओं में और फिर विभिन्न बालकों के रूपों में विभिन्न घरों में घुसे।

तात्पर्य : कृष्ण के अनेकानेक मित्र थे जिनमें से श्रीदामा, सुदामा तथा सुबल प्रमुख थे। इस तरह कृष्ण स्वयं श्रीदामा, सुदामा तथा सुबल बन कर उनके घरों में उनके ही बछड़ों समेत घुसे।

तन्मातरो वेणुरवत्वरोत्थिता
उत्थाप्य दोर्भिः परिरभ्य निर्भरम् ।
स्नेहस्नुतस्तन्यपयःसुधासवं

मत्वा परं ब्रह्म सुतानपाययन् ॥ २२॥

शब्दार्थ

तत्-मातरः—उन उन ग्वालबालों की माताएँ; वेणु-रव—ग्वालबालों द्वारा वंशी तथा बिगुल बजाये जाने की ध्वनि से; त्वर—तुरन्त; उत्थिताः—अपने गृहकार्यों को छोड़ कर उठ गईं; उत्थाप्य—तुरन्त अपने पुत्रों को उठाकर; दोर्भिः—दोनों बाँहों से; परिरभ्य—आलिंगन करके; निर्भरम्—किसी प्रकार का भार अनुभव किये बिना; स्नेह-स्नुत—प्रगाढ़ प्रेम से बहते हुए; स्तन्य-पयः—अपने स्तन का दूध; सुधा-आसवम्—अमृतमय प्रेम की तरह सुस्वादु; मत्वा—मान कर; परम्—परम्; ब्रह्म—कृष्ण; सुतान् अपाययन्—अपने पुत्रों को पिलाया।

बालकों की माताओं ने अपने अपने पुत्रों की वंशियों तथा बिगुलों की ध्वनि सुन कर अपना अपना गृहकार्य छोड़ कर उन्हें गोदों में उठा लिया, दोनों बाँहों में भर कर उनका आलिंगन किया और प्रगाढ़ प्रेम के कारण, विशेष रूप से कृष्ण के प्रति प्रेम के कारण स्तनों से बह रहा दूध वे उन्हें पिलाने लगीं। वस्तुतः कृष्ण सर्वस्व हैं लेकिन उस समय अत्यधिक स्नेह व्यक्त करती हुई वे परब्रह्म कृष्ण को दूध पिलाने में विशेष आनन्द का अनुभव करने लगीं और कृष्ण ने उन माताओं का क्रमशः दूध पिया मानो वह अमृतमय पेय हो।

तात्पर्य : यद्यपि सारी वृद्धा गोपियाँ जानती थीं कि कृष्ण तो यशोदा के पुत्र हैं फिर भी उनकी अभिलाषा थी, "यदि कृष्ण मेरा पुत्र होता तो मैं भी यशोदा की तरह उसकी देख-भाल करती।" यही उनकी आन्तरिक इच्छा थी। इसीलिए उन्हें तुष्ट करने के लिए अब उनका पुत्र रूप धारण करके कृष्ण ने उनकी अभिलाषा पूरी की। उन्होंने कृष्ण का आलिंगन करके तथा दूध पिलाकर कृष्ण के लिए अपने विशेष प्रेम को बढ़ाया और कृष्ण ने उनका स्तन-पान अमृतमय पेय के रूप में किया। इस तरह ब्रह्मा को मोहित करते हुए स्वयं उन्होंने अन्य माताओं तथा अपने बीच योगमाया द्वारा उत्पन्न दिव्य आनन्द का भोग किया।

ततो नृपोन्मर्दनमज्जलेपना-
लङ्काररक्षातिलकाशनादिभिः ।
संलालितः स्वाचरितैः प्रहर्षयन्
सायं गतो यामयमेन माधवः ॥ २३॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; नृप—हे राजा (महाराज परीक्षित); उन्मर्दन—उनकी तेल से मालिश करके; मज्ज—स्नान कराकर; लेपन—शरीर में उबटन लगाकर; अलङ्कार—आभूषणों से सजाकर; रक्षा—रक्षा-मंत्रों का उच्चारण करके; तिलक—शरीर में बारह स्थानों पर तिलक लगाकर; अशन-आदिभिः—तथा खूब खिलाकर; संलालितः—इस तरह माताओं द्वारा लाड़-प्यार से; स्व-आचरितैः—उनके अपने आचरण से; प्रहर्ष-यन्—माताओं को प्रसन्न करते हुए; सायम्—संध्या समय; गतः—आ गये; याम-यमेन—हर काम के लिए समय पूरा होने पर; माधवः—भगवान् कृष्ण।

तत्पश्चात्, हे महाराज परीक्षित, अपनी लीलाओं के कार्यक्रमानुसार कृष्ण शाम को लौटते,

हर ग्वालबाल के घर घुसते और असली बच्चों की तरह कार्य करते जिससे उनकी माताओं को दिव्य आनन्द प्राप्त होता। माताएँ अपने बालकों की देखभाल करतीं, उन्हें तेल लगातीं, उन्हें नहलातीं, चन्दन का लेप लगातीं, गहनों से सजातीं, रक्षा-मंत्र पढ़तीं, उनके शरीर पर तिलक लगातीं और उन्हें भोजन करातीं। इस तरह माताएँ अपने हाथों से कृष्ण की सेवा करतीं।

गावस्ततो गोष्ठमुपेत्य सत्वरं
हुङ्कारघोषैः परिहूतसङ्गतान् ।
स्वकान्स्वकान्वत्सतरानपाययन्
मुहुर्लिहन्त्यः स्रवदौधसं पयः ॥ २४॥

शब्दार्थ

गावः—बछड़े; ततः—तत्पश्चात्; गोष्ठम्—गोशालाओं में; उपेत्य—पहुँच कर; सत्वरम्—शीघ्र ही; हुङ्कार-घोषैः—रँभाती हुई; परिहूत-सङ्गतान्—गाएँ बुलाने के लिए; स्वकान् स्वकान्—अपनी अपनी माताओं को; वत्सतरान्—अपने अपने बछड़ों को; अपाययन्—पिलाती हुईं; मुहुः—बारम्बार; लिहन्त्यः—बछड़ों को चाटतीं; स्रवत् औधसम् पयः—उनके थनों से प्रचुर दूध बहता हुआ।

तत्पश्चात् सारी गौवें अपने अपने गोष्ठों में घुसतीं और अपने अपने बछड़ों को बुलाने के लिए जोर से रँभाने लगतीं। जब बछड़े आ जाते तो माताएँ उनके शरीरों को बारम्बार चाटतीं और उन्हें अपने थनों से बह रहा प्रचुर दूध पिलातीं।

तात्पर्य : बछड़ों तथा उनकी माताओं के बीच के सारे कार्यकलाप स्वयं कृष्ण चला रहे थे।

गोगोपीनां मातृतास्मिन्नासीत्स्नेहर्धिकां विना ।
पुरोवदास्वपि हरेस्तोकता मायया विना ॥ २५॥

शब्दार्थ

गो-गोपीनाम्—गौवों तथा गोपियों दोनों के लिए; मातृता—मातृ-स्नेह; अस्मिन्—कृष्ण के प्रति; आसीत्—सामान्यतया था; स्नेह—स्नेह की; ऋधिकाम्—वृद्धि; विना—रहित; पुरः-वत्—पहले की तरह; आसु—गौवों तथा गोपियों के बीच था; अपि—यद्यपि; हरेः—कृष्ण का; तोकता—मेरा पुत्र कृष्ण है; मायया विना—बिना माया के।

प्रारम्भ से ही गोपियों का कृष्ण के प्रति मातृवत स्नेह था। कृष्ण के प्रति उनका यह स्नेह अपने पुत्रों के प्रति स्नेह से भी अधिक था। इस तरह अपने स्नेह-प्रदर्शन में वे कृष्ण तथा अपने पुत्रों में भेद बरतती थीं किन्तु अब वह भेद दूर हो चुका था।

तात्पर्य : अपने तथा पराये पुत्र के बीच भेद होना अस्वाभाविक नहीं है। अनेक वृद्धा महिलाएँ अन्यों के पुत्रों से मातृवत् स्नेह रखती हैं। किन्तु वे भी अपने तथा परायों में भेद बरतती हैं। किन्तु अब वृद्धा गोपिकाएँ अपने पुत्रों तथा कृष्ण में यह भेद नहीं बरत पाईं क्योंकि उनके पुत्रों को तो ब्रह्मा चुरा

ले गये थे और कृष्ण ही उनके पुत्र बने हुए थे। अतएव अपने पुत्रों के लिए जो अब कृष्ण स्वयं ही थे, यह अधिक स्नेह मोह के कारण था, जो ब्रह्मा जैसा ही था। पहले श्रीदामा, सुदामा, सुबल और कृष्ण के अन्य मित्रों की माताएँ एक-दूसरे के पुत्रों से ऐसा स्नेह नहीं करती थीं किन्तु अब गोपियाँ सारे बालकों को अपना ही पुत्र मान रही थीं। इसीलिए शुकदेव गोस्वामी स्नेह की इस वृद्धि को ब्रह्मा, गोपियों, गौवों इत्यादि के मोह के रूप में बतलाना चाहते थे।

व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्ल्याब्दमन्वहम् ।
शनैर्निःसीम ववृधे यथा कृष्णे त्वपूर्ववत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

व्रज-ओकसाम्—व्रज के सारे निवासियों का; स्व-तोकेषु—अपने अपने पुत्रों के लिए; स्नेह-वल्ली—स्नेह रूपी लता; आ-अब्दम्—एक वर्ष तक; अनु-अहम्—प्रतिदिन; शनैः—धीरे धीरे; निःसीम—अपार; ववृधे—बढ़ता गया; यथा कृष्णे—कृष्ण को पुत्र रूप मानने से; तु—निस्सन्देह; अपूर्व-वत्—जैसाकि पहले कभी न था।

यद्यपि व्रजभूमि के सारे निवासियों—ग्वालों तथा गोपियों—में पहले से ही कृष्ण के लिए अपने निजी पुत्रों से अधिक स्नेह था किन्तु अब एक वर्ष तक उनके अपने पुत्रों के प्रति यह स्नेह लगातार बढ़ता ही गया क्योंकि अब कृष्ण उनके पुत्र बन चुके थे। अब अपने पुत्रों के प्रति, जो कि कृष्ण ही थे, उनके प्रेम की वृद्धि का कोई वारापार न था। नित्य ही उन्हें अपने पुत्रों से कृष्ण जितना प्रेम करने की नई प्रेरणा प्राप्त हो रही थी।

इत्थमात्मात्मनात्मानं वत्सपालमिषेण सः ।
पालयन्वत्सपो वर्षं चिक्रीडे वनगोष्ठयोः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; आत्मा—परमात्मा, कृष्ण ने; आत्मना—अपने आप से; आत्मानम्—पुनः अपने को; वत्स-पाल-मिषेण—ग्वालों तथा बछड़ों के वेश में; सः—साक्षात् कृष्ण; पालयन्—पालन करते हुए; वत्स-पः—बछड़ों को चराते हुए; वर्षम्—लगातार एक वर्ष तक; चिक्रीडे—क्रीडाओं का आनन्द लिया; वन-गोष्ठयोः—वृन्दावन तथा जंगल दोनों में ही।

इस तरह अपने को ग्वालबालों तथा बछड़ों का समूह बना लेने के बाद भगवान् श्रीकृष्ण अपने को उसी रूप में बनाये रहे। वे उसी प्रकार से वृन्दावन तथा जंगल दोनों ही जगहों में एक वर्ष तक अपनी लीलाएँ करते रहे।

तात्पर्य : जो कुछ था वह कृष्ण था। बछड़े, ग्वालबाल तथा उनके पालक स्वयं सभी कृष्ण थे। दूसरे शब्दों में, कृष्ण ने अपना विस्तार नाना प्रकार के बछड़ों तथा ग्वालबालों में कर लिया था और

एक वर्ष तक वे अनवरत अपनी क्रीडाएँ करते रहे। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि कृष्ण का विस्तार (अंश) हर एक के हृदय में परमात्मा रूप में विद्यमान है। इसी तरह अपने को परमात्मा रूप में विस्तार न देकर उन्होंने बछड़ों तथा ग्वालबालों के अंश रूप में लगातार एक वर्ष के लिए विस्तार कर लिया।

एकदा चारयन्वत्सान्सरामो वनमाविशत् ।
पञ्चषासु त्रियामासु हायनापूरणीष्वजः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक दिन; चारयन् वत्सान्—बछड़ों को चराते हुए; स-रामः—बलराम समेत; वनम्—वन में; आविशत्—घुसे; पञ्च-षासु—पाँच या छह; त्रि-यामासु—रातें; हायन—पूरा वर्ष; अपूरणीषु—पूरी न होने पर (एक वर्ष में पाँच-छह दिन शेष रहने पर); अजः—भगवान् श्रीकृष्ण।

एक दिन जबकि वर्ष पूरा होने में अभी पाँच-छः रातें शेष थीं कृष्ण बलराम सहित बछड़ों को चराते हुए जंगल में प्रविष्ट हुए।

तात्पर्य : इस समय तक बलराम भी ब्रह्मा जैसे मोह से आवृत थे। बलराम भी यह नहीं जानते थे कि ये सारे बछड़े तथा ग्वालबाल कृष्ण के ही विस्तार हैं या स्वयं वे भी कृष्ण के विस्तार हैं। बलराम को यह बात वर्ष पूरा होने के केवल पाँच-छः दिन पूर्व बतलाई गई।

ततो विदूराच्चरतो गावो वत्सानुपव्रजम् ।
गोवर्धनाद्रिशिरसि चरन्त्यो ददृशुस्तृणम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; विदूरात्—अधिक दूर स्थान से नहीं; चरतः—चरती हुईं; गावः—सारी गौवें; वत्सान्—तथा उनके बछड़े; उपव्रजम्—वृन्दावन के निकट चरते हुए; गोवर्धन-अद्रि-शिरसि—गोवर्धन पर्वत की चोटी पर; चरन्त्यः—चरती हुईं; ददृशुः—देखा; तृणम्—पास ही मुलायम घास।

तत्पश्चात् गोवर्धन पर्वत की चोटी पर चरती हुई गौवों ने कुछ हरी घास खोजने के लिए नीचे देखा तो उन्होंने अपने बछड़ों को वृन्दावन के निकट चरते देखा जो अधिक दूरी पर नहीं था।

दृष्ट्वाथ तत्स्नेहवशोऽस्मृतात्मा
स गोव्रजोऽत्यात्मपदुर्गमार्गः ।
द्विपात्ककुद्ग्रीव उदास्यपुच्छो
'गाद्धुङ्कृतैरास्रुपया जवेन ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देख कर; अथ—तत्पश्चात्; तत्-स्नेह-वशः—अपने बछड़ों के लिए बढ़े हुए स्नेह के कारण; अस्मृत-आत्मा—मानों अपने आप को भूल गईं; सः—वह; गो-व्रजः—गौवों का समूह; अति-आत्म-प-दुर्ग-मार्गः—मार्ग के अत्यन्त दुर्गम होते हुए भी

बछड़ों के लिए अति स्नेह के कारण चराने वालों से बिछड़ कर दूर निकल आईं; द्वि-पात्—पैरों की जोड़ी; ककुत्-ग्रीवः—उनकी गर्दन के साथ ही उनके डिल्ले (कूबड़) हिल रहे थे; उदास्य-पुच्छः—अपने सिर तथा पूछें उठाये; अगात्—आईं; हुङ्कृतैः—हुंकार करती; आस्रु-पयाः—उनके थनों से दूध बह रहा था; जवेन—बलपूर्वक।

जब गायों ने गोवर्धन पर्वत की चोटी से अपने अपने बछड़ों को देखा तो वे अधिक स्नेहवश अपने आप को तथा अपने चराने वालों को भूल गईं और दुर्गम मार्ग होते हुए भी वे अपने बछड़ों की ओर अतीव चिन्तित होकर दौंीं मानो वे दो ही पाँवों से दौड़ रही हों। उनके थन दूध से भरे थे और उनमें से दूध बह रहा था, उनके सिर तथा पूछें उठी हुई थीं और उनके डिल्ले (कूबड़) उनकी गर्दन के साथ साथ हिल रहे थे। वे तब तक तेजी से दौड़ती रहीं जब तक वे अपने बच्चों के पास दूध पिलाने पहुँच नहीं गईं।

तात्पर्य : सामान्यतया गाय तथा बछड़े अलग-अलग चराये जाते हैं। बड़े लोग गौवों की रखवाली करते हैं और छोटे लड़के बछड़ों की। किन्तु इस बार गौवों ने ज्योंही गोवर्धन पर्वत के नीचे अपने बछड़ों को देखा वे अपनी स्थिति भूल गईं और तेजी से अपनी पूँछ उठाये, अगले तथा पिछले पैर जोड़े दौड़ती रहीं जब तक वे अपने बछड़ों के पास पहुँच नहीं गईं।

समेत्य गावोऽधो वत्सान्वत्सवत्योऽप्यपाययन् ।
गिलन्त्य इव चाङ्गानि लिहन्त्यः स्वौधसं पयः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

समेत्य—एकत्र करके; गावः—सारी गौवें; अधः—नीचे, गोवर्धन पर्वत के नीचे; वत्सान्—अपने बछड़ों को; वत्स-वत्यः—मानों उन्हें नये बछड़े उत्पन्न हुए हों; अपि—यद्यपि नये बछड़े उपस्थित थे; अपाययन्—उन्हें पिलाया; गिलन्त्यः—निगलते हुए; इव—मानो; च—भी; अङ्गानि—उनके शरीरों को; लिहन्त्यः—चाटते हुए मानो नवजात बछड़े हों; स्व-ओधसम् पयः—अपने थन से बहता हुआ दूध।

गौवों ने नये बछड़ों को जन्म दिया था किन्तु गोवर्धन पर्वत से नीचे आते हुए, अपने पुराने बछड़ों के लिए अतीव स्नेह के कारण इन्हीं बछड़ों को अपने थन का दूध पीने दिया। वे चिन्तित होकर उनका शरीर चाटने लगीं मानो उन्हें निगल जाना चाहती हों।

गोपास्तद्रोधनायासमौघ्यलज्जोरुमन्युना ।
दुर्गाध्वकृच्छ्रतोऽभ्येत्य गोवत्सैर्ददृशुः सुतान् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

गोपाः—ग्वाले; तत्-रोधन-आयास—गायों को बछड़ों की ओर जाने से रोकने के अपने प्रयास का; मौघ्य—निराशा के कारण; लज्जा—लज्जित होकर; उरु-मन्युना—साथ ही काफी क्रुद्ध होकर; दुर्ग-अध्व-कृच्छ्रतः—बड़ी कठिनाई से दुर्गम मार्ग पार करते हुए; अभ्येत्य—वहाँ पहुँच कर; गो-वत्सैः—बछड़ों समेत; ददृशुः—देखा; सुतान्—अपने अपने पुत्रों को।

गौवों को उनके बछड़ों के पास जाने से रोकने में असमर्थ ग्वाले लज्जित होने के साथ साथ क्रुद्ध भी हुए। उन्होंने बड़ी कठिनाई से दुर्गम मार्ग पार किया किन्तु जब वे नीचे आये और अपने अपने पुत्रों को देखा तो वे अत्यधिक स्नेह से अभिभूत हो गये।

तात्पर्य : हर एक में कृष्ण के लिए स्नेह बढ़ रहा था। जब ग्वालों ने पर्वत से नीचे आकर अपने अपने पुत्रों को देखा, जो कृष्ण के अतिरिक्त अन्य कोई न थे, तो उनका स्नेह बढ़ गया।

तदीक्षणोत्प्रेमरसाप्लुताशया
जातानुरागा गतमन्यवोऽर्भकान् ।
उदुह्य दोर्भिः परिरभ्य मूर्धनि
घ्राणैरवापुः परमां मुदं ते ॥ ३३॥

शब्दार्थ

तत्-ईक्षण-उत्प्रेम-रस-आप्लुत-आशयाः—ग्वालों के सारे विचार अपने पुत्रों को देख कर उठने वाले वात्सल्य-प्रेम में लीन हो गये; जात-अनुरागाः—अत्यधिक आकर्षण का अनुभव करते हुए; गत-मन्यवः—क्रोध दूर हो जाने से; अर्भकान्—अपने पुत्रों को; उदुह्य—उठाकर; दोर्भिः—अपनी बाँहों से; परिरभ्य—आलिंगन करके; मूर्धनि—सिर पर; घ्राणैः—सूँघ कर; अवापुः—प्राप्त किया; परमाम्—सर्वोच्च; मुदम्—आनन्द; ते—उन ग्वालों ने।

उस समय ग्वालों के सारे विचार अपने अपने पुत्रों को देखने से उत्पन्न वात्सल्य-प्रेम रस में विलीन हो गये। अत्यधिक आकर्षण का अनुभव करने से उनका क्रोध छू-मन्तर हो गया। उन्होंने अपने पुत्रों को उठाकर बाँहों में भर कर आलिंगन किया और उनके सिरों को सूँघ कर सर्वोच्च आनन्द प्राप्त किया।

तात्पर्य : ब्रह्मा द्वारा असली ग्वालबालों तथा बछड़ों के चुरा लिए जाने के बाद कृष्ण अपना विस्तार करके स्वयं ग्वालबाल तथा बछड़े बन गये थे। क्योंकि बालक वस्तुतः कृष्ण के अंश थे, इसलिए ग्वाले इन बच्चों के प्रति अत्यधिक आकृष्ट हुए। पहले ये ग्वाले जब पर्वत की चोटी पर थे तो अत्यन्त क्रुद्ध थे। किन्तु कृष्ण होने के कारण उनके बालक अत्यधिक आकर्षक थे इसलिए विशेष प्रेमवश ग्वाले तुरन्त ही पर्वत से नीचे उतर आये।

ततः प्रवयसो गोपास्तोकाश्लेषसुनिर्वृताः ।
कृच्छ्राच्छनैरपगतास्तदनुस्मृत्युदश्रवः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; प्रवयसः—वयस्क; गोपाः—ग्वाले; तोक-आश्लेष-सुनिर्वृताः—अपने पुत्रों का आलिंगन करके परम प्रसन्न हुए; कृच्छ्रात्—कठिनाई से; शनैः—धीरे धीरे; अपगताः—आलिंगन करना छोड़ कर जंगल लौट गये; तत्-अनुस्मृति-उद-श्रवः—अपने पुत्रों का स्मरण करने पर उनकी आँखों से आँसू आ गये।.

तत्पश्चात् प्रौढ़ ग्वाले अपने पुत्रों के आलिंगन से अत्यन्त तुष्ट होकर बड़ी कठिनाई और अनिच्छा से उनका आलिंगन धीरे धीरे छोड़ कर जंगल लौट आये। किन्तु जब उन्हें अपने पुत्रों का स्मरण हुआ तो उनकी आँखों से आँसू लुढ़क आये।

तात्पर्य : प्रारम्भ में ग्वाले क्रुद्ध थे कि गौवें बछड़ों से आकृष्ट हो रही हैं लेकिन जब वे ग्वाले पहाड़ी से नीचे आए, तो वे स्वयं अपने पुत्रों से आकृष्ट हो गये और इसलिए उन्होंने अपने पुत्रों का आलिंगन किया। अपने पुत्र का आलिंगन करना और उसके सिर को सूँघना स्नेह के लक्षण हैं।

व्रजस्य रामः प्रेमर्धेर्वीक्ष्यौत्कण्ठ्यमनुक्षणम् ।
मुक्तस्तनेष्वपत्येष्वप्यहेतुविदचिन्तयत् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

व्रजस्य—गायों के झुंड का; रामः—बलराम; प्रेम-ऋधेः—स्नेह बढ़ने के कारण; वीक्ष्य—देख कर; औत्-कण्ठ्यम्—अनुरक्ति; अनु-क्षणम्—निरन्तर; मुक्त-स्तनेषु—बड़े हो जाने के कारण अपनी माताओं का स्तन-पान छोड़ चुके थे; अपत्येषु—उन बछड़ों को; अपि—भी; अहेतु-वित्—कारण न समझने से; अचिन्तयत्—इस प्रकार सोचने लगे।.

स्नेहाधिक्य के कारण गौवों को उन बछड़ों से भी निरन्तर अनुराग था, जो बड़े होने के कारण उनका दूध पीना छोड़ चुके थे। जब बलदेव ने यह अनुराग देखा तो इसका कारण उनकी समझ में नहीं आया अतः वे इस प्रकार सोचने लगे।

तात्पर्य : कुछ गायों के छोटे बछड़े थे, जो उनका दूध पीना शुरू कर चुके थे और कुछ ने अभी अभी बच्चे दिये थे किन्तु प्रेमवश गौवें भावावेश में आकर उन पुराने बछड़ों के प्रति भी स्नेह प्रदर्शित करने लगीं जिन्होंने दूध पीना छोड़ रखा था। ये बछड़े बड़े हो चुके थे किन्तु फिर भी माताएँ उन्हें दूध पिलाना चाह रही थीं। इसलिए बलराम को कुछ-कुछ आश्चर्य हुआ और उन्होंने कृष्ण से उनके इस व्यवहार का कारण पूछना चाहा। गौवें नए बछड़ों के उपस्थित होते हुए भी, अपने बड़े बछड़ों को दूध पिलाने के लिए अधिक उत्सुक थीं क्योंकि पुराने बछड़े कृष्ण के अंश थे। ये आश्चर्यजनक घटनाएँ योगमाया के प्रबन्ध से हो रही थीं। कृष्ण के निर्देशन में दो तरह की मायाएँ कार्य करती हैं—*महामाया* जो भौतिक जगत की शक्ति है तथा *योगमाया* जो आध्यात्मिक जगत की शक्ति है। ये असामान्य घटनाएँ *योगमाया* के प्रभाव से घट रही थीं। जिस दिन से ब्रह्मा ने बछड़ों तथा ग्वालबालों को चुराया था उसी

दिन से योगमाया इस तरह कार्य कर रही थी कि वृन्दावन के वासी, जिसमें भगवान् बलराम भी सम्मिलित थे, यह नहीं समझ पाये कि योगमाया किस तरह से इन असामान्य घटनाओं को घटित कर रही है। किन्तु ज्यों ज्यों योगमाया धीरे धीरे कार्य करने लगी, तो विशेषकर बलराम समझ गये कि क्या हो रहा है अतएव उन्होंने कृष्ण से पूछा।

किमेतदद्भुतमिव वासुदेवेऽखिलात्मनि ।
व्रजस्य सात्मनस्तोकेष्वपूर्वं प्रेम वर्धते ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; एतत्—यह; अद्भुतम्—अद्भुत; इव—जैसा; वासुदेवे—वासुदेव कृष्ण में; अखिल-आत्मनि—सारे जीवों के परमात्मा; व्रजस्य—सारे व्रजवासियों का; स-आत्मनः—मेरे समेत; तोकेषु—इन बालकों में; अपूर्वम्—अपूर्व; प्रेम—प्रेम; वर्धते—बढ़ रहा है।

यह विचित्र घटना क्या है? सभी व्रजवासियों का, मुझ समेत. इन बालकों तथा बछड़ों के प्रति अपूर्व प्रेम उसी तरह बढ़ रहा है, जिस तरह सब जीवों के परमात्मा भगवान् कृष्ण के प्रति हमारा प्रेम बढ़ता है।

तात्पर्य : प्रेम की यह वृद्धि माया नहीं थी। चूँकि कृष्ण ने अपना विस्तार प्रत्येक वस्तु के रूप में कर लिया था तथा वृन्दावन के हर वासी का संपूर्ण जीवन कृष्ण के निमित्त था, सारी गौवें कृष्ण-प्रेम के कारण नये बछड़ों की अपेक्षा पुराने बछड़ों में अधिक स्नेह दिखा रही थीं। इसी तरह पुरुष अपने पुत्रों के प्रति स्नेह में वृद्धि कर रहे थे। वृन्दावन के सारे वासियों में अपने अपने बच्चों के प्रति कृष्ण जैसा ही प्रेम देख कर बलराम चकित थे। इसी तरह गौवें अपने अपने बछड़ों के प्रति उतनी ही स्नेहिल हो उठी थीं जितनी कृष्ण के प्रति थीं। योगमाया का कार्य देख कर बलराम चकित थे। इसीलिए उन्होंने कृष्ण से पूछा, “यह क्या हो रहा है? यह रहस्य क्या है?”

केयं वा कुत आयाता दैवी वा नार्युतासुरी ।
प्रायो मायास्तु मे भर्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनी ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

का—कौन; इयम्—यह; वा—अथवा; कुतः—कहाँ से; आयाता—आयी है; दैवी—देवी; वा—अथवा; नारी—स्त्री; उत—अथवा; आसुरी—राक्षसी; प्रायः—अधिकांशतः; माया—माया; अस्तु—हो सकती है; मे—मेरे; भर्तुः—प्रभु, कृष्ण के; न—नहीं; अन्या—कोई दूसरा; मे—मेरा; अपि—निश्चित रूप से; विमोहिनी—मोहग्रस्त करने वाली।

यह योगशक्ति कौन है और वह कहाँ से आई है? क्या वह देवी है या कोई राक्षसी है?

अवश्य ही वह मेरे प्रभु कृष्ण की माया होगी क्योंकि उसके अतिरिक्त मुझे और कौन मोह सकता है?

तात्पर्य : बलराम चकित थे। उन्होंने सोचा कि प्रेम का यह असाधारण प्रदर्शन या तो देवताओं की या किसी अद्‌भुत व्यक्ति की माया है। अन्यथा ऐसा परिवर्तन कैसे होता? उन्होंने सोचा, "यह माया कोई *राक्षसी माया* हो सकती है किन्तु वह मुझे कैसे वशीभूत कर सकती है? ऐसा सम्भव नहीं। अत: यह अवश्य ही कृष्ण की माया है।" इसलिए उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि यह कृष्ण द्वारा उत्पन्न है, जिसे वे अपना आराध्यदेव मानते थे। उन्होंने सोचा, "यह कृष्ण की करनी है और मैं भी इसकी योगशक्ति को रोक नहीं पाया।" इस तरह बलराम समझ गये कि सारे लड़के तथा बछड़े कृष्ण के ही अंश हैं।

इति सञ्चिन्त्य दाशार्हो वत्सान्सवयसानपि ।
सर्वानाचष्ट वैकुण्ठं चक्षुषा वयुनेन सः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

इति सञ्चिन्त्य—इस प्रकार सोच कर; दाशार्हः—बलदेव ने; वत्सान्—बछड़ों को; स-वयसान्—अपने साथियों समेत; अपि—भी; सर्वान्—सारे; आचष्ट—देखा; वैकुण्ठम्—केवल श्रीकृष्ण रूप में; चक्षुषा वयुनेन—दिव्य ज्ञान के चक्षुओं द्वारा; सः—उसने (बलदेव ने)।

इस प्रकार सोचते हुए बलराम अपने दिव्य ज्ञान के चक्षुओं से देख सके कि ये सारे बछड़े तथा कृष्ण के साथी श्रीकृष्ण के ही अंश हैं।

तात्पर्य : हर व्यक्ति भिन्न होता है। यहाँ तक कि जुड़वों में भी भेद होता है। फिर भी जब कृष्ण ने अपना विस्तार बालकों तथा बछड़ों के रूप में किया, तो हर बालक तथा हर बछड़ा अपने मूल रूप में प्रकट हुआ और हर एक में अपनी अपनी वही चाल-ढाल, वही रंग, वेश इत्यादि था क्योंकि कृष्ण इन सारे भेदों के साथ प्रकट हुए थे। यही कृष्ण का ऐश्वर्य था।

नैते सुरेशा ऋषयो न चैते
त्वमेव भासीश भिदाश्रयेऽपि ।
सर्वं पृथक्त्वं निगमात्कथं वदे-
त्युक्तेन वृत्तं प्रभुणा बलोऽवैत् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एते—ये लड़के; सुर-ईशाः—देवताओं में श्रेष्ठ; ऋषयः—ऋषिगण; न—नहीं; च—तथा; एते—ये बछड़े; त्वम्—तुम (कृष्ण); एव—केवल; भासि—प्रकट हो रहे हो; ईश—हे परम नियन्ता; भित्-आश्रये—नाना प्रकार के भेद में; अपि—होते हुए भी; सर्वम्—प्रत्येक वस्तु; पृथक्—विद्यमान; त्वम्—तुम (कृष्ण); निगमात्—संक्षेप में; कथम्—कैसे; वद—बतलाओ; इति—इस प्रकार; उक्तेन—(बलदेव द्वारा) प्रार्थना किये जाने पर; वृत्तम्—स्थिति; प्रभुणा—कृष्ण द्वारा (कही जाने पर); बलः—बलदेव; अवैत्—समझ गये।

भगवान् बलदेव ने कहा, ''हे परम नियन्ता, मेरे पहले सोचने के विपरीत ये बालक महान् देवता नहीं हैं न ही ये बछड़े नारद जैसे महान् ऋषि हैं। अब मैं देख सकता हूँ कि तुम्हीं अपने को नाना प्रकार के रूप में प्रकट कर रहे हो। एक होते हुए भी तुम बछड़ों तथा बालकों के विविध रूपों में विद्यमान हो। कृपा करके मुझे यह विस्तार से बतलाओ।'' बलदेव द्वारा इस प्रकार प्रार्थना किये जाने पर कृष्ण ने सारी स्थिति समझा दी और बलदेव उसे समझ भी गये।

तात्पर्य : कृष्ण से असली स्थिति जानने के लिए बलराम ने पूछा, ''हे कृष्ण! पहले तो मैं समझ रहा था कि ये सारी गौवें, बछड़े तथा ग्वालबाल या तो महान् ऋषि या साधु-संत हैं अथवा देवता हैं किन्तु इस समय ऐसा लग रहा है कि वास्तव में ये तुम्हारे ही अंश हैं। ये सब तुम्हारे रूप हैं—तुम्हीं बछड़ों, गौवों और बालकों की भूमिका अदा कर रहे हो। इसका क्या रहस्य है? वे दूसरे बछड़े, गौवें तथा ग्वालबाल कहाँ गये? तुमने इन सब में अपना विस्तार क्यों किया? इसका कारण बतलाओ।'' बलराम के इस अनुरोध पर कृष्ण ने संक्षेप में सारी बात बतला दी—किस तरह ब्रह्मा ने बछड़ों और ग्वालबालों को चुराया और किस तरह कृष्ण अपना विस्तार करके इस घटना को छिपाये रहे जिससे लोग यह न जान पायें कि असली गौवें, बछड़े तथा लड़के खो गये हैं। इसलिए बलराम समझ गये कि यह माया नहीं अपितु कृष्ण का ऐश्वर्य है। कृष्ण सर्व-ऐश्वर्ययुक्त हैं और यह कृष्ण का एक और ऐश्वर्य ही था।

बलराम ने कहा, ''पहले तो मैंने समझा कि ये लड़के तथा बछड़े नारद जैसे महान् ऋषियों की शक्ति का प्रदर्शन हैं किन्तु अब मैं देख रहा हूँ कि ये लड़के तथा बछड़े तुम्हारे ही रूप हैं।'' कृष्ण से पूछने पर भगवान् बलराम को पता चला कि कृष्ण ही अनेक रूपों में उपस्थित थे। भगवान् ऐसा कर सकते हैं इसका उल्लेख *ब्रह्म-संहिता* (५.३३) में हुआ है—*अद्वैतं अच्युतं अनादिं अनन्तरूपम्*—यद्यपि वे एक हैं किन्तु अनेक रूपों में विस्तार कर सकते हैं। वैदिक प्रमाण के अनुसार *एकं बहु स्याम्*—वे करोड़ों रूपों में विस्तार करके भी एक बने रहते हैं। इस दृष्टि से हर वस्तु आध्यात्मिक है क्योंकि वह कृष्ण का विस्तार (अंश) होती है अर्थात् सारी वस्तुएँ स्वयं कृष्ण या उनकी शक्ति की ही विस्तार हैं।

चूँकि शक्ति शक्तिमान से अभिन्न है, अत: शक्ति तथा शक्तिमान एक ही हैं (*शक्तिशक्तिमतोरभेद:*)। लेकिन मायावादियों का कहना है—*चिदचित्समन्वय:*—आत्मा तथा पदार्थ एक हैं। यह धारणा गलत है। आत्मा (*चित्*) पदार्थ (*अचित्*) से भिन्न है जैसाकि स्वयं कृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.४-५) में कहा है—

भूमिरापोऽनलो वायु: खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अप्रमेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

"भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार—ये आठों मिलकर मेरी भिन्न भौतिक प्रकृति बनती हैं। किन्तु इस अपरा प्रकृति के अतिरिक्त भी, हे महाबाहु अर्जुन! एक पराशक्ति है, जो उन सारे जीवों से बनी हुई है, जो भौतिक प्रकृति से संघर्ष कर रहे हैं और ब्रह्माण्ड को धारण करते हैं।" आत्मा तथा पदार्थ को एक नहीं किया जा सकता क्योंकि वे परा तथा अपरा शक्तियाँ हैं। फिर भी मायावादी अथवा अद्वैतवादी उन्हें एक बनाने का प्रयास करते हैं। यह ठीक नहीं है। यद्यपि आत्मा तथा पदार्थ अन्तत: एक ही स्रोत से आते हैं किन्तु उन्हें एक नहीं बनाया जा सकता। उदाहरणार्थ, ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं, जो हमारे शरीर से निकलती हैं किन्तु एक ही स्रोत से आने पर भी उन्हें एक नहीं कहा जा सकता। हमें ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि परम स्रोत एक है किन्तु इस स्रोत से निकलने वाली वस्तुओं को अपर तथा पर मानना चाहिए। मायावाद तथा वैष्णव दर्शनों का अन्तर इतना ही है कि वैष्णव दर्शन में इस तथ्य को मान्यता दी जाती है। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु का दर्शन *अचिन्त्य भेदाभेद* कहलाता है। उदाहरणास्वरूप, अग्नि तथा उष्मा को विलग नहीं किया जा सकता क्योंकि जहाँ अग्नि है, वहीं उष्मा है और जहाँ उष्मा है, वहीं अग्नि है। तो भी जहाँ हम अग्नि को छू नहीं सकते वहीं उष्मा को हम सहन कर लेते हैं। इस तरह वे एक हो करके भी भिन्न भिन्न हैं।

तावदेत्यात्मभूरात्ममानेन त्रुट्यनेहसा ।
पुरोवदाब्दं क्रीडन्तं ददृशे सकलं हरिम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब तक; एत्य—लौट कर; आत्म-भूः—ब्रह्मा ने; आत्म-मानेन—अपनी माप के अनुसार; त्रुटि-अनेहसा—क्षण-भर में; पुरः-वत्—पहले की तरह; आ-अब्दम्—एक वर्ष तक; क्रीडन्तम्—खेलते हुए; ददृशे—देखा; स-कलम्—अपने अंशों सहित; हरिम्—भगवान् हरि (श्रीकृष्ण) को।.

जब ब्रह्मा एक क्षण के बाद (अपनी गणना के अनुसार) वहाँ लौटे तो उन्होंने देखा कि यद्यपि मनुष्य की माप के अनुसार पूरा एक वर्ष बीत चुका है, तो भी कृष्ण उतने समय बाद भी उसी तरह अपने अंशरूप बालकों तथा बछड़ों के साथ खेलने में व्यस्त हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा तो अपने समय के अनुसार क्षण-भर के लिए गये थे किन्तु जब वे लौटे तो मनुष्य की माप के अनुसार एक वर्ष बीत चुका था। विभिन्न लोकों में काल की गणना भिन्न भिन्न होती है। उदाहरणार्थ, मनुष्य द्वारा निर्मित अन्तरिक्षयान एक घंटा पच्चीस मिनट में पृथ्वी का चक्कर लगा सकता है—और इस तरह एक दिन पूरा कर सकता है, जबकि पृथ्वी पर रहने वाले लोगों के लिए दिन में चौबीस घण्टे होते हैं। इसलिए ब्रह्मा का एक क्षण पृथ्वी पर एक वर्ष के तुल्य था। कृष्ण पूरे एक वर्ष इतने रूपों में अपना विस्तार किये रहे किन्तु योगमाया की योजना के फलस्वरूप बलराम के अतिरिक्त अन्य कोई इसे जान नहीं पाया।

ब्रह्मा अपनी गणना के अनुसार एक क्षण बाद यह देखने के लिए लौटे कि उनके द्वारा बालकों तथा बछड़ों को चुराने से कैसा कौतुक हुआ होगा। किन्तु साथ ही वे भयभीत थे कि यह तो आग के साथ खिलवाड़ करना है। कृष्ण उनके स्वामी हैं और कौतुक के लिए उन्होंने कृष्ण के बछड़ों तथा मित्रों को चुराकर शैतानी की है। वे सचमुच उत्सुक थे इसीलिए उन्होंने देरी नहीं की, अपने हिसाब से क्षण-भर बाद ही वे लौट आये। जब ब्रह्मा लौटे तो उन्होंने देखा कि सारे बालक, बछड़े और गौवें कृष्ण के साथ पूर्ववत् खेल रहे हैं। कृष्ण की योगमाया से वही क्रीड़ाएँ बिना किसी परिवर्तन के चल रही थीं।

जिस दिन ब्रह्मा पहले पहल आये थे उस दिन कृष्ण तथा ग्वालबालों के साथ बलराम नहीं जा सके क्योंकि उस दिन उनका जन्मदिन था और उनकी माता ने *शान्तिक स्नान* के लिए उन्हें घर पर रोक लिया था। इसलिए ब्रह्माजी बलराम को चुरा नहीं पाये थे। अब एक वर्ष बाद ब्रह्मा लौटे, तो यह भी ठीक वही दिन था अतः उस दिन भी बलराम अपनी वर्षगाँठ मनाने के लिए घर पर ही थे। इसीलिए इस श्लोक में यद्यपि उल्लेख है कि ब्रह्मा ने कृष्ण तथा ग्वालबालों को देखा किन्तु बलदेव का उल्लेख नहीं है। यह तो पाँच-छह दिन पूर्व की बात है कि बलदेव ने कृष्ण से गौवों तथा ग्वालों के विलक्षण

स्नेह के विषय में पूछा था किन्तु अब जब ब्रह्मा लौट कर आये तो उन्होंने कृष्ण के साथ सारे ग्वालों तथा बछड़ों को उनके अंशरूप में खेलते देखा किन्तु उन्होंने बलदेव को नहीं देखा। पिछले वर्ष की तरह भगवान् बलदेव उस दिन जंगल नहीं गये जब ब्रह्माजी फिर से वहाँ प्रकट हुए थे।

यावन्तो गोकुले बालाः सवत्साः सर्व एव हि ।
मायाशये शयाना मे नाद्यापि पुनरुत्थिताः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

यावन्तः—उतने ही; गोकुले—गोकुल में; बालाः—बालक; स-वत्साः—अपने अपने बछड़ों के साथ; सर्वे—सभी; एव—निस्सन्देह; हि—क्योंकि; माया-आशये—माया की सेज पर; शयानाः—सो रहे हैं; मे—मेरी; न—नहीं; अद्य—आज; अपि—भी; पुनः—फिर से; उत्थिताः—उठे हैं।

भगवान् ब्रह्मा ने सोचाः गोकुल के जितने भी बालक तथा बछड़े थे उन्हें मैंने अपनी योगशक्ति की सेज पर सुला रखा है और आज के दिन तक वे जगे नहीं हैं।

तात्पर्य : ब्रह्माजी ने अपनी योगशक्ति से सारे बछड़ों तथा बालकों को गुफा में एक वर्ष तक सुला रखा था। अतः जब ब्रह्मा ने अब भी भगवान् कृष्ण को सारी गौवों तथा बछड़ों के साथ खेलते देखा तो जो कुछ हो रहा था वे उसका कारण जानने का प्रयास करने लगे। उन्होंने सोचा, "यह क्या है ? हो सकता है कि मैं जिन बछड़ों तथा ग्वालों को चुरा ले गया था वे ही गुफा से पुनः यहाँ पर ला दिये गये हों। क्या ऐसा ही हुआ है ? क्या कृष्ण उन्हें वापस ले आया है ?" किन्तु फिर ब्रह्माजी ने देखा कि जिन बछड़ों तथा बालकों को वे चुरा ले गये थे वे अब भी उसी योगमाया में हैं जिनमें उन्हें रखा गया था। अतः उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि कृष्ण के साथ अब खेल रहे बछड़े तथा ग्वालबाल गुफा वाले बछड़ों तथा बालकों से भिन्न हैं। वे समझ गये कि असली बछड़े तथा बालक गुफा में ही हैं जहाँ वे उन्हें रख आये थे किन्तु कृष्ण ने अपना विस्तार कर लिया है और सामने दिखने वाले ये बछड़े तथा बालक उन्हीं के अंश हैं। इन अंशों के वैसे ही स्वरूप थे, वही प्रवृत्ति और वही विचारधारा थी किन्तु थे वे भी कृष्ण ही।

इत एतेऽत्र कुत्रत्या मन्मायामोहितेतरे ।
तावन्त एव तत्राब्दं क्रीडन्तो विष्णुना समम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

इतः—इस कारण से; एते—अपने अपने बछड़ों समेत ये सारे बालक; अत्र—यहाँ पर; कुत्रत्याः—कहाँ से आये हैं; मत्-माया-मोहित-इतरे—मेरी माया से मोहित हुओं के अतिरिक्त; तावन्तः—उतने ही बालक; एव—निस्सन्देह; तत्र—वहाँ पर; आ-अब्दम्—एक वर्ष तक; क्रीडन्तः—खेल रहे हैं; विष्णुना समम्—कृष्ण के साथ।

यद्यपि पूरे एक वर्ष तक कृष्ण के साथ उतने ही बालक तथा बछड़े खेलते रहे फिर भी ये मेरी योगशक्ति से मोहित बालकों से भिन्न हैं। ये कौन हैं? ये कहाँ से आये?

तात्पर्य : यद्यपि वे बछड़ों, गौवों तथा ग्वालबालों जैसे लग रहे थे किन्तु वे सभी विष्णु थे। वस्तुतः वे *विष्णुतत्त्व* थे, *जीवतत्त्व* नहीं थे। ब्रह्मा को आश्चर्य हुआ। उन्होंने सोचा, "असली बालक तथा गौवें तो अब भी वहीं हैं जहाँ उन्हें मैंने पिछले वर्ष रखा था। तो फिर वह कौन है, जो पूर्ववत् कृष्ण के साथ हैं? वे कहाँ से आये?" ब्रह्मा को आश्चर्य हो रहा था कि मेरी योगशक्ति की उपेक्षा हुई है। कृष्ण ने ब्रह्मा द्वारा ले जाई गई गौवों तथा बालकों को बिना छुये ही बछड़ों तथा बालकों की दूसरी पूरी टोली उत्पन्न कर दी है, जो विष्णुतत्त्व के अंश हैं। इस तरह ब्रह्मा की योगशक्ति परास्त हुई।

एवमेतेषु भेदेषु चिरं ध्यात्वा स आत्मभूः ।
सत्याः के कतरे नेति ज्ञातुं नेष्टे कथञ्चन ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; एतेषु भेदेषु—इन बालकों के बीच, जो पृथक् विद्यमान हैं; चिरम्—दीर्घकाल तक; ध्यात्वा—सोच कर; सः—वह; आत्म-भूः—ब्रह्मा; सत्याः—असली; के—कौन; कतरे—कौन; न—नहीं हैं; इति—इस प्रकार; ज्ञातुम्—जानने के लिए; न—नहीं; इष्टे—समर्थ था; कथञ्चन—किसी भी तरह से।

इस तरह दीर्घकाल तक विचार करते करते भगवान् ब्रह्मा ने उन दो प्रकार के बालकों में अन्तर जानने का प्रयास किया जो एक-दूसरे से पृथक् रह रहे थे। वे यह जानने का प्रयास करते रहे कि कौन असली है और कौन नकली है किन्तु वे कुछ भी नहीं समझ पाये।

तात्पर्य : ब्रह्मा किंकर्तव्यविमूढ़ थे। उन्होंने सोचा, "असली लड़के तथा बछड़े तो वैसे ही सो रहे हैं जिस तरह मैंने उन्हें रखा था किन्तु कृष्ण के साथ यहाँ दूसरा समूह खेल रहा है। यह कैसे हुआ?" ब्रह्मा समझ नहीं पाये कि क्या हो रहा है। कौन से बालक असली हैं और कौन से नकली हैं? ब्रह्मा किसी ठोस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पा रहे थे। वे इस विषय पर दीर्घकाल तक मनन करते रहे—"बछड़ों तथा बालकों के एक ही समय दो समूह कैसे हो सकते हैं? क्या कृष्ण ने इन बालकों तथा बछड़ों को उत्पन्न किया है? या जो सोये हुए हैं उन्हें कृष्ण ने उत्पन्न किया है? या दोनों ही कृष्ण की सृष्टियाँ हैं?" ब्रह्मा ने इस विषय पर कई प्रकार से सोचा। "यदि मैं गुफा जाकर यह देखूँ कि बालक

तथा बछड़े वहाँ अब भी हैं, तो क्या कृष्ण वहाँ जाकर उन सबों को यहाँ लाकर रख देंगे जिससे मैं उन्हें यहाँ देख सकूँ और पुनः उन्हें यहाँ से वहाँ रख आयेंगे?" ब्रह्मा यह पता नहीं लगा पाये कि एक-जैसे बालकों तथा बछड़ों के एक ही साथ दो समूह कैसे सम्भव हैं। यद्यपि वे सोचते रहे, सोचते रहे किन्तु वे कुछ भी न समझ पाये।

एवं सम्मोहयन्विष्णुं विमोहं विश्वमोहनम् ।
स्वयैव माययाजोऽपि स्वयमेव विमोहितः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह से; सम्मोहयन्—मोहित करने की इच्छा से; विष्णुम्—सर्वव्यापी भगवान् कृष्ण को; विमोहम्—जो कभी मोहित नहीं किये जा सकते; विश्व-मोहनम्—किन्तु जो सारे ब्रह्माण्ड को मोहित करने वाले हैं; स्वया—अपने ही द्वारा; एव—निस्सन्देह; मायया—योगशक्ति द्वारा; अजः—ब्रह्मा; अपि—भी; स्वयम्—स्वयं; एव—निश्चय ही; विमोहितः—मोहित हो गये।.

चूँकि ब्रह्मा ने सर्वव्यापी भगवान् कृष्ण को, जो कभी मोहित नहीं किये जा सकते अपितु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को मोहित करने वाले हैं, मोहित करना चाहा इसलिए वे स्वयं ही अपनी योगशक्ति द्वारा मोह में फँस गये।

तात्पर्य : ब्रह्मा ने उन कृष्ण को मोहित करना चाहा जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को मोहित करते हैं। सारा ब्रह्माण्ड कृष्ण की योगशक्ति के अधीन है (*मम माया दुरत्यया*) किन्तु ब्रह्मा ने उन्हें ही मोहित करना चाहा। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्रह्मा स्वयं मोहित हो गये जिस तरह कि किसी अन्य को मारने का इच्छुक व्यक्ति स्वयं मार डाला जाय। दूसरे शब्दों में, ब्रह्मा अपनी ही चाल से पराजित हो गये। ऐसी ही स्थिति उन वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों की है, जो कृष्ण की योगशक्ति पर विजय पाना चाहते हैं। वे यह कह कर कृष्ण को ललकारते हैं, "ईश्वर क्या है? हम यह कर सकते हैं, हम वह कर सकते हैं।" किन्तु वे जितना ही अधिक कृष्ण को ललकारते हैं उतना ही अधिक कष्ट पाते हैं। हमें यहाँ यही शिक्षा मिलती है कि हम कृष्ण को पछाड़ने का प्रयत्न न करें। उन्हें पछाड़ने का प्रयास करने के बजाय हम उनकी शरण में जाँय (*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*)।

ब्रह्मा चाहते थे कृष्ण को हराना किन्तु स्वयं हार गये क्योंकि वे यह नहीं जान पाये कि कृष्ण क्या कर रहे हैं। जब इस ब्रह्माण्ड के मुख्य पुरुष ब्रह्मा इस तरह मोहित हों तो फिर तथाकथित वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों के विषय में क्या कहा जाये? *सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।* हमें चाहिए कि कृष्ण की व्यवस्था की अवज्ञा करने वाले अपने लघु प्रयासों को हम त्याग दें। हमें चाहिए कि वे जैसी

व्यवस्था करें उसे हम स्वीकार कर लें। यह सदैव श्रेयस्कर होता है क्योंकि इससे हम सुखी बन सकेंगे। हम उनकी व्यवस्था को पराजित करने का जितना ही अधिक प्रयास करेंगे उतना ही अधिक कृष्ण की माया में फँसते जायेंगे (*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया*) किन्तु जो व्यक्ति भगवान् कृष्ण के आदेशों को मान कर शरण में जाते हैं (*मामेव ये प्रपद्यन्ते*) वे *कृष्ण-माया* से छूट जाते हैं (*मायाम् एतां तरन्ति ते*)। कृष्ण की शक्ति उस सरकारी शक्ति के समान है, जिसे जीता नहीं जा सकता। सर्वप्रथम सरकार के नियम होते हैं, तब पुलिस बल होता है और उसके ऊपर सैन्य बल होता है। अतएव सरकारी बल को पराजित करने से क्या लाभ? इसी तरह कृष्ण को ललकारने से क्या लाभ?

अगले श्लोक से स्पष्ट हो जायेगा कि कृष्ण को किसी भी प्रकार की माया-शक्ति से पराजित नहीं किया जा सकता। यदि किसी को थोड़ी भी वैज्ञानिक ज्ञान की शक्ति प्राप्त हो जाती है, तो वह ईश्वर की अवज्ञा करने का प्रयत्न करता है किन्तु कृष्ण को मोहित करने में कोई भी समर्थ नहीं होता। जब इस ब्रह्माण्ड के प्रधान पुरुष ब्रह्मा ने कृष्ण को मोहित करना चाहा तो वे स्वयं मोहित और आश्चर्यचकित हो गये। बद्धजीव की स्थिति ऐसी ही है। ब्रह्मा कृष्ण को मोहित करने चले तो स्वयं मोहित हो गये।

इस श्लोक में *विष्णु* शब्द महत्त्वपूर्ण है। विष्णु सम्पूर्ण भौतिक संसार में व्याप्त हैं किन्तु ब्रह्मा उनके अधीन एक पद पर नियुक्त हैं।

यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य

जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथा:॥

(*ब्रह्म-संहिता* ५.४८)

नाथा: शब्द ब्रह्माजी के लिए आया है किन्तु है बहुवचन में क्योंकि ब्रह्माण्ड असंख्य हैं और ब्रह्मा भी असंख्य हैं। ब्रह्मा तो एक क्षुद्र शक्ति मात्र हैं। इस तथ्य का प्राकट्य द्वारका में हुआ था जब कृष्ण ने ब्रह्मा को बुला भेजा था। एक दिन जबब्रह्मा कृष्ण का दर्शन करने द्वारका आये तो द्वारपाल ने भगवान् कृष्ण के आदेश से यह पूछा, ‘‘आप कौन से ब्रह्मा हैं?’’ बाद में जब ब्रह्मा ने कृष्ण से पूछा कि क्या इसका अर्थ यह है कि हमारे अतिरिक्त और भी ब्रह्मा हैं, तो कृष्ण मुसकाये और तुरन्त ही अनेक

ब्रह्माण्डों के अनेक ब्रह्माओं को बुला भेजा। तब इस ब्रह्माण्ड के चतुरानन ब्रह्मा ने कृष्ण के पास असंख्य अन्य ब्रह्माओं को आते और कृष्ण को नमस्कार करते देखा। उनमें से कुछ के दस सिर थे, किसी के बीस, किसी के सौ और किसी के लाख लाख। यह अद्‌भुत दृश्य देख कर चतुरानन ब्रह्मा शिथिल हो गये और अपने को अनेक हाथियों के बीच में एक क्षुद्र मच्छर के बराबर समझने लगे। अत: ब्रह्मा कृष्ण को मोहित करके क्या कर सकते हैं ?

तम्यां तमोवन्नैहारं खद्योतार्चिरिवाहनि ।
महतीतरमायैश्यं निहन्त्यात्मनि युञ्जतः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तम्याम्—अँधेरी रात में; तमः-वत्—अंधकार के समान; नैहारम्—बर्फ से उत्पन्न; खद्योत-अर्चिः—जुगनू का प्रकाश; इव—सदृश; अहनि—दिन के समय, सूर्य-प्रकाश में; महति—महापुरुष में; इतर-माया—अपरा शक्ति; ऐश्यम्—सामर्थ्य; निहन्ति—नष्ट करती है; आत्मनि—अपने को; युञ्जतः—प्रयोग करने वाले व्यक्ति को।

जिस तरह अँधेरी रात में बर्फ का अँधेरा तथा दिन के समय जुगनू के प्रकाश का कोई महत्व नहीं होता, उसी तरह निकृष्ट व्यक्ति की योगशक्ति महान् शक्तिशाली व्यक्ति के विरुद्ध प्रयोग किये जाने पर कुछ भी नहीं कर पाती, उलटे उस निकृष्ट व्यक्ति की शक्ति कम हो जाती है।

तात्पर्य : जब कोई व्यक्ति अपने से श्रेष्ठ शक्तिशाली को पछाड़ना चाहता है, तो उस निकृष्ट की अपनी शक्ति उपहासास्पद बन जाती है। जिस तरह दिन में जुगनू तथा रात में बर्फ का कोई मूल्य नहीं होता, उसी तरह कृष्ण के सामने ब्रह्मा की योगशक्ति व्यर्थ हो गई क्योंकि महान् योगशक्ति क्षुद्र योगशक्ति को व्यर्थ कर देती है। अँधेरी रात में बर्फ से उत्पन्न अँधेरे का कोई अर्थ नहीं होता। रात में तो जुगनू अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहता है किन्तु दिन में उसके प्रकाश का कोई मूल्य नहीं रहता—इसका रहा-सहा मूल्य भी जाता रहता है। उसी तरह कृष्ण की योगशक्ति के समक्ष ब्रह्मा प्रभावहीन हो गये। कृष्ण की माया का तो महत्त्व नहीं घटा किन्तु ब्रह्मा की माया उपहासास्पद बन गई। इसलिए महान् शक्ति के समक्ष अपना क्षुद्र ऐश्वर्य प्रदर्शित करने का प्रयास नहीं करना चाहिए।

तावत्सर्वे वत्सपालाः पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात् ।
व्यदृश्यन्त घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

तावत्—इतने लम्बे समय से; सर्वे—सभी; वत्स-पालाः—बछड़े तथा उन्हें चराने वाले बालक दोनों ही; पश्यतः—देखते हुए; अजस्य—ब्रह्मा के; तत्-क्षणात्—तुरन्त; व्यदृश्यन्त—दिखलाई पड़े; घन-श्यामाः—श्याम बादलों के स्वरूप वाले; पीत-कौशेय-वाससः—पीला रेशमी वस्त्र पहने हुए।

जब ब्रह्मा देख रहे थे तो तुरन्त ही सारे बछड़े तथा उन्हें चराने वाले बालक नीले बादलों के रंग वाले स्वरूप में पीले रेशमी वस्त्र पहने हुए प्रकट होने लगे।

तात्पर्य : जब ब्रह्मा मनन कर रहे थे तो सारे बछड़े तथा बालक तुरन्त ही *विष्णु मूर्तियों* में बदल गये। उनकी आकृतियाँ नीले रंग की थीं और वे पीले वस्त्र पहने थे। ब्रह्मा अपनी शक्ति तथा कृष्ण की अत्यधिक असीम शक्ति के विषय में सोच-विचार कर रहे थे किन्तु कोई भी निर्णय कर पाने के पूर्व उन्होंने यह अविलम्ब रूपान्तर देखा।

चतुर्भुजाः शङ्खचक्रगदाराजीवपाणयः ।
किरीटिनः कुण्डलिनो हारिणो वनमालिनः ॥ ४७ ॥
श्रीवत्साङ्गददोरत्नकम्बुकङ्कणपाणयः ।
नूपुरैः कटकैर्भाताः कटिसूत्राङ्गुलीयकैः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

चतुः-भुजाः—चार भुजाओं वाले; शङ्ख-चक्र-गदा-राजीव-पाण-यः—अपने हाथों में शंख, चक्र, गदा तथा कमल का फूल धारण किये; किरीटिनः—अपने सिरों पर मुकुट पहने; कुण्डलिनः—कानों में कुण्डल पहने; हारिणः—मोती के हार पहने; वन-मालिनः—जंगल के फूलों की मालाएँ पहने; श्रीवत्स-अङ्गद-दो-रत्न-कम्बु-कङ्कण-पाणयः—अपने वक्षस्थलों में लक्ष्मी का चिह्न, भुजाओं में बाजूबन्द, गलों में कौस्तुभ मणि, जिसमें शंख जैसी तीन रेखाएँ अंकित थीं तथा हाथों में कंगन पहने हुए; नूपुरैः—पाँवों में घुंघुरू से युक्त; कटकैः—टखनों में चूड़ों से युक्त; भाताः—सुन्दर लग रहे थे; कटि-सूत्र-अङ्गुली-यकैः—कमर में पवित्र करधनी तथा अंगुलियों में अँगूठियों समेत।

इन सबों के चार हाथ थे जिनमें शंख, चक्र, गदा तथा कमल धारण किये थे। वे अपने सिरों पर मुकुट पहने थे, उनके कानों में कुंडल और गलों में जंगली फूलों के हार थे। उनके वक्षस्थलों के दाहिनी ओर के ऊपरी भाग में लक्ष्मी का चिन्ह था। वे अपनी बाहों में बाजूबन्द, शंख जैसी तीन रेखाओं से अंकित गलों में कौस्तुभ मणि तथा कलाइयों में कंगन पहने थे। उनके टखनों में पायजेब थीं, पाँवों में आभूषण और कमर में पवित्र करधनी थी। वे सभी अत्यन्त सुन्दर लग रहे थे।

तात्पर्य : सभी विष्णु रूपों के चार हाथ थे जिनमें शंख, चक्र आदि थे किन्तु ये लक्षण उनमें भी पाये जाते हैं जिन्होंने वैकुण्ठ में सारूप्य मुक्ति प्राप्त की है और जिनके रूप भगवान् जैसे ही हैं। किन्तु ब्रह्मा के समक्ष विष्णु के जो रूप प्रकट हुए थे उनमें श्रीवत्स का चिह्न तथा कौस्तुभ मणि भी थे, जो

केवल भगवान् के विशेष लक्षण हैं। इससे सिद्ध है कि ये सारे बालक तथा बछड़े यथार्थ में भगवान् विष्णु के अंश थे, केवल उनके वैकुण्ठ संगी नहीं। विष्णु स्वयं कृष्ण में समाहित हैं। विष्णु के सारे ऐश्वर्य कृष्ण में पहले से विद्यमान हैं फलतः इतने विष्णु-रूपों का प्रदर्शन कृष्ण के लिए कोई आश्चर्यजनक कार्य नहीं था।

वैष्णव तोषणी में श्रीवत्स चिह्न को भगवान् विष्णु के वक्षस्थल की दाहिनी ओर के ऊपरी भाग में सुन्दर पीले बालों का छल्ला (कुंचन) बतलाया गया है। यह चिह्न साधारण भक्तों के लिए नहीं है। यह विष्णु या कृष्ण का विशेष चिह्न है।

आङ्घ्रिमस्तकमापूर्णास्तुलसीनवदामभिः ।
कोमलैः सर्वगात्रेषु भूरिपुण्यवदर्पितैः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

आ-अङ्घ्रि-मस्तकम्—पाँव से लेकर सिर तक; आपूर्णाः—पूरी तरह सजा; तुलसी-नव-दामभिः—तुलसी की ताजी पत्तियों से बने हारों से; कोमलैः—कोमल; सर्व-गात्रेषु—पूरे शरीर में; भूरि-पुण्यवत्-अर्पितैः—पुण्यकर्मों में लगे भक्तों द्वारा अर्पित किये गये।

पाँव से लेकर सिर तक उनके शरीर के सारे अंग तुलसी दल से बने ताजे मुलायम हारों से पूरी तरह सज्जित थे जिन्हें पुण्यकर्मों (श्रवण तथा कीर्तन) द्वारा भगवान् की पूजा में लगे भक्तों ने अर्पित किया था।

तात्पर्य : *भूरि-पुण्यवद्-अर्पितै*—यह इस श्लोक का महत्त्वपूर्ण पद है। विष्णु के इन रूपों की पूजा उन भक्तों द्वारा की गई थी जिन्होंने अनेक जन्मों तक पुण्यकर्म (*सुकृतिभिः*) किये थे और जो भक्ति में निरन्तर लगे हुए थे (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*)। भक्ति उन लोगों द्वारा की जाती है जिन्होंने अत्यन्त उच्च कोटि के पुण्यकर्म किये हों। *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र भी (. १२.११) पुण्यकर्मों के संचय का उल्लेख हुआ है जहाँ शुकदेव गोस्वामी कहते हैं—

इत्थं सतां ब्रह्मसखानुभूत्या

दास्यं गतानां परदैवतेन।

मायाश्रितानां नरदारकेण

साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः॥

"जो लोग भगवान् के ब्रह्मतेज की अनुभूति करते हुए आत्म-साक्षात्कार में लगे हैं और जो लोग

भगवान् को स्वामी मान कर भक्ति में लगे हुए हैं तथा वे लोग जो भगवान् को सामान्य व्यक्ति मानते हुए माया के वशीभूत हैं, वे यह नहीं समझ सकते कि पुण्यकर्म संचित किये हुए ऐसे कुछ महापुरुष हैं, जो भगवान् के साथ ग्वालबालों के रूप में मित्र बनकर खेल रहे हैं।''

वृन्दावन के हमारे कृष्ण-बलराम मन्दिर में एक तमाल वृक्ष है, जो आँगन के पूरे एक कोने में छाया हुआ है। जब तक मन्दिर नहीं बना था, यह वृक्ष उपेक्षित रहता था किन्तु अब इसकी इतनी बाढ़ हो गई है कि इसने आँगन के पूरे कोने को घेर लिया है। यह *भूरिपुण्य* कहलाता है।

चन्द्रिकाविशदस्मेरैः सारुणापाङ्गवीक्षितैः ।
स्वकार्थानामिव रजःसत्त्वाभ्यां स्रष्टृपालकाः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

चन्द्रिका-विशद-स्मेरैः—पूर्ण वर्द्धमान चन्द्रमा की तरह शुद्ध मुसकान से; **स-अरुण-अपाङ्ग-वीक्षितैः**—अपनी लाल-लाल आँखों की स्वच्छ चितवन से; **स्वक-अर्थानाम्**—अपने भक्तों की इच्छाओं के; **इव**—सदृश; **रजः-सत्त्वाभ्याम्**—रजो तथा सतो गुणों से; **स्रष्टृ-पालकाः**—स्रष्टा तथा पालनकर्ता थे।

वे विष्णु रूप जो चंद्रमा के बढ़ते हुए प्रकाश के तुल्य थे, अपनी शुद्ध मुस्कान तथा अपनी लाल-लाल आँखों की तिरछी चितवन के द्वारा, अपने भक्तों की इच्छाओं को, मानो रजोगुण एवं तमोगुण से, उत्पन्न करते तथा पालते थे।

तात्पर्य : ये विष्णुस्वरूप पूर्ण चन्द्रमा के बढ़ते हुए प्रकाश के समान अपनी निर्मल कटाक्षों तथा मुसकानों से भक्तों को आशीर्वाद दे रहे थे (*श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणम्*)। पालनकर्ताओं के रूप में वे अपने भक्तों पर कटाक्ष कर रहे थे और उनका आलिंगन कर रहे थे और अपनी मुसकान से उनकी रक्षा कर रहे थे। उनकी हँसी सतो गुण के तुल्य भक्तों की समस्त इच्छाओं को पूर्ण करने वाली थी और उनके कटाक्ष रजोगुण के समान थे। वस्तुतः इस श्लोक में आया हुआ *रजः* शब्द ''काम'' का नहीं अपितु ''स्नेह'' का सूचक है। भौतिक जगत में रजोगुण काम का सूचक है किन्तु आध्यात्मिक जगत में यही स्नेह होता है। भौतिक जगत में रजोगुण तथा तमोगुण से स्नेह कलुषित होता है किन्तु *शुद्ध सत्त्व* में भक्तों को पालन करने वाला स्नेह दिव्य होता है।

स्वकार्थानाम् सूचक है महती इच्छाओं का। जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख है, भगवान् विष्णु की चितवन भक्तों में इच्छाओं को उत्पन्न करने वाली है। किन्तु शुद्ध भक्त में तो कोई इच्छा ही नहीं रहती। इसीलिए सनातन गोस्वामी की टीका है कि जिन भक्तों का ध्यान कृष्ण में लगा है ऐसे भक्तों की

इच्छाएँ पहले से पूरी हुई रहती हैं। अत: उनमें भगवान् के कटाक्षों से कृष्ण तथा भक्ति के प्रति तरह-तरह की इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। भौतिक जगत में इच्छा तो रजोगुण तथा तमोगुण की उपज होती है किन्तु आध्यात्मिक जगत में इच्छा से तरह-तरह की शाश्वत दिव्य भक्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार *स्वकार्थानाम्* शब्द कृष्ण की सेवा करने की उत्सुकता को प्रदर्शित करता है।

वृन्दावन में एक स्थान है जहाँ पर कोई मन्दिर नहीं था किन्तु एक भक्त ने चाहा कि यहाँ एक मन्दिर हो जाय और सेवा हो। अतएव जो कभी वीरान स्थान था वही अब तीर्थस्थान बन गया है। भक्तों की इच्छाएँ ऐसी ही होती हैं।

आत्मादिस्तम्बपर्यन्तैर्मूर्तिमद्भिश्चराचरैः ।
नृत्यगीताद्यनेकार्हैः पृथक्पृथगुपासिताः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

आत्म-आदि-स्तम्ब-पर्यन्तैः—ब्रह्मा से लेकर क्षुद्र जीव तक; मूर्ति-मद्भिः—वही रूप धारण करके; चर-अचरैः—चल तथा अचल प्राणियों द्वारा; नृत्य-गीत-आदि-अनेक-अर्हैः—पूजा के विविध साधनों द्वारा, यथा नाच और गाने से; पृथक् पृथक्—अलग अलग; उपासिताः—पूजित होकर।

चतुर्मुख ब्रह्मा से लेकर क्षुद्र से क्षुद्र जीव, चाहे वे चर हों या अचर, सबों ने स्वरूप प्राप्त कर रखा था और वे अपनी अपनी क्षमताओं के अनुसार नाच तथा गायन जैसी पूजा विधियों से उन विष्णु मूर्तियों की अलग अलग पूजा कर रहे थे।

तात्पर्य : असंख्य जीव अपनी अपनी शक्तियों तथा कर्म के अनुसार पुरुषोत्तम की विभिन्न प्रकार की उपासना में लगे हुए हैं—हर प्राणी व्यस्त है (*जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर नित्यदास*)। कोई ऐसा नहीं मिलेगा जो सेवा न कर रहा हो। इसलिए जो *महाभागवत* है, वह हर एक को कृष्ण-भक्ति में लगा हुआ देखता है—केवल अपने को ही वह उसमें नहीं लगा हुआ पाता। हमें अपने को निम्न पद से उच्च पद तक उठाना होगा और उच्च पद वह है, जिसमें वृन्दावन में प्रत्यक्ष सेवा की जाती है। लेकिन हर व्यक्ति सेवा में लगा हुआ है। भगवान् की सेवा का निषेध करना ही *माया* है।

एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य।
यारे यैछे नाचाय, से तैछे करे नृत्य॥

''केवल कृष्ण सर्वोच्च प्रभु हैं, शेष सभी लोग उनके दास हैं। कृष्ण जैसा चाहते हैं उसी के अनुसार हर व्यक्ति नाचता है।'' (*चैतन्य चरितामृत आदि* ५.१४२)।

जीव दो प्रकार के हैं—चर तथा अचर। उदाहरणार्थ, वृक्ष एक स्थान पर खड़े रहते हैं जबकि चींटियाँ चलती-फिरती हैं। ब्रह्मा ने देखा कि क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी भी विभिन्न रूप धारण करके भगवान् विष्णु की सेवा में लगे हुए हैं।

जो जिस विधि से भगवान् की पूजा करता है, उसी के अनुसार उसे रूप मिलता है। भौतिक जगत में जीव को जो शरीर मिलता है, वह देवताओं द्वारा नियंत्रित होता है। इसी को कभी कभी नक्षत्रों का प्रभाव कहा जाता है। *भगवद्गीता* (३.२७) में इसे ही *प्रकृतेः क्रियमाणानि* शब्दों के द्वारा सूचित किया गया है, जिसका अर्थ है कि प्रकृति के नियमानुसार प्राणी का नियंत्रण देवताओं द्वारा होता है।

सारे जीव कृष्ण की सेवा विविध प्रकारों से करते हैं किन्तु जब वे कृष्णभावनाभावित रहते हैं, तो उनकी सेवा पूरी तरह प्रकट होती है। जिस प्रकार कली में छिपा फूल क्रमशः खिल कर अपनी सुगन्ध तथा सुन्दरता बिखेरता है उसी तरह जब जीव कृष्णभावनामृत पद तक पहुँच जाता है, तो उसके असली स्वरूप का सौन्दर्य पूरी तरह खिल उठता है। यही चरम सौन्दर्य तथा चरम इच्छापूर्ति है।

अणिमाद्यैर्महिमभिरजाद्याभिर्विभूतिभिः ।
चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वैः परीता महदादिभिः ॥५२॥

शब्दार्थ

अणिमा-आद्यैः—अणिमा इत्यादि; **महिमभिः**—महिमा आदि; **अजा-आद्याभिः**—अजा आदि; **विभूतिभिः**—शक्तियों से; **चतुः-विंशतिभिः**—चौबीस; **तत्त्वैः**—जगत की सृष्टि के तत्त्वों द्वारा; **परीताः**—(सारी विष्णु मूर्तियाँ) घिरी हुई; **महत्-आदिभिः**—महत् तत्त्व इत्यादि से।

वे सारी विष्णु मूर्तियाँ अणिमा इत्यादि सिद्धियों, अजा इत्यादि योगसिद्धियों तथा महत तत्त्व आदि सृष्टि के २४ तत्त्वों से घिरी हुई थीं।

तात्पर्य : इस श्लोक में आये *महिमभिः* शब्द का अर्थ *ऐश्वर्य* है। भगवान् जो चाहे सो कर सकता है। यही उसका ऐश्वर्य है। उस पर कोई आज्ञा नहीं चला सकता है किन्तु वह हर एक को आज्ञा दे सकता है। *षड्ऐश्वर्य पूर्णम्*—भगवान् छहों ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं। योगसिद्धियाँ—जिनके अन्तर्गत अणिमा या महिमा सिद्धि आती हैं विष्णु में उपस्थित रहती हैं। *षड् ऐश्वर्यै पूर्णो य इह भगवान्* (*चैतन्य-चरितामृत आदि* १.३)। *अजा* का अर्थ है माया। समस्त मायामय वस्तुएँ विष्णु में निहित होती हैं।

जिन २४ तत्त्वों का उल्लेख हुआ है वे हैं—पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच महाभूत, पाँच तन्मात्रा, मन, अहंकार, महत् तत्त्व तथा प्रकृति। इस भौतिक जगत की अभिव्यक्ति में इन सारे चौबीस

तत्त्वों का प्रयोग हुआ है। महत् तत्त्व के भी विभिन्न सूक्ष्म विभाग किये जाते हैं किन्तु मूल रूप से इसे महत् तत्त्व कहा जाता है।

कालस्वभावसंस्कारकामकर्मगुणादिभिः ।
स्वमहिध्वस्तमहिभिर्मूर्तिमद्भिरुपासिताः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

काल—समय; स्वभाव—स्वभाव; संस्कार—संस्कार; काम—इच्छा; कर्म—सकाम कर्म; गुण—तीन गुण; आदिभिः—इत्यादि के द्वारा; स्व-महि-ध्वस्त-महिभिः—जिसकी स्वतंत्रता भगवान् की शक्ति के अधीन थी; मूर्ति-मद्भिः—स्वरूप वाली; उपासिताः—पूजित हो रहे थे।.

तब भगवान् ब्रह्मा ने देखा कि काल, स्वभाव, संस्कार, काम, कर्म तथा गुण—ये सभी अपनी स्वतंत्रता खो कर पूर्णतया भगवान् की शक्ति के अधीन होकर स्वरूप धारण किये हुए थे और उन विष्णु मूर्तियों की पूजा कर रहे थे।

तात्पर्य : केवल विष्णु को स्वतंत्रता प्राप्त है। यदि हममें यह चेतना जागृत हो सके तो हम यथार्थ में कृष्णभावनाभावित हैं। हमें सदैव स्मरण रखना चाहिए कि कृष्ण ही एकमात्र परम स्वामी हैं और अन्य हर व्यक्ति उनका दास है (*एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य*)। चाहे कोई नारायण हो या शिवजी, प्रत्येक जीव कृष्ण के अधीन है (*शिवविरिञ्चिनुतम्*)। यहाँ तक कि बलदेव भी कृष्ण के अधीन हैं। यह तथ्य है।

एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य।
यारे यैछे नाचाय, से तैछे करे नृत्य॥

(*चैतन्य-चरितामृत आदि* ५.१४२)

मनुष्य को यह समझना चाहिए कि कोई भी स्वतंत्र नहीं है क्योंकि हर कोई कृष्ण का अंश है और कृष्ण की इच्छानुसार काम करता और चलता-फिरता है। यही समझ या चेतना कृष्णभावनामृत है।

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदैवतै।
समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद् ध्रुवम्॥

"जो व्यक्ति ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवताओं को नारायण के समकक्ष मानता है, वह निश्चित रूप से अपराधी समझा जाना चाहिए।" नारायण या कृष्ण की समता कोई भी नहीं कर सकता। कृष्ण ही नारायण हैं और नारायण ही कृष्ण हैं क्योंकि कृष्ण आदि नारायण हैं। कृष्ण को स्वयंब्रह्मा *नारायणस्त्वं*

न हि सर्वदेहिनाम् कह कर सम्बोधित करते हैं जिसका अर्थ है कि तुम नारायण भी हो, तुम्हीं आदि नारायण हो (*भागवत* .१४.१४)।

काल के अनेक सहायक हैं यथा स्वभाव, संस्कार, काम, कर्म तथा गुण। *स्वभाव* भौतिक गुणों के मेल के अनुसार बनता है। *कारणं गुण-संगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु* (*भगवद्गीता* १३.२२)। *सत्* तथा *असत्* स्वभाव का निर्माण विभिन्न गुणों—सत्त्व गुण, रजोगुण तथा तमो गुण—के मेल से होता है। हमें क्रमश: सत्त्व गुण प्राप्त करना चाहिए जिससे दो निम्न गुणों से बचा जा सके। यदि हम श्रीमद्‌भागवत का नित्य मनन करें और कृष्ण के कार्यकलापों को सुनें तो ऐसा हो सकता है। *नष्ट प्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया* (*भागवत* १.२.१८)। *श्रीमद्‌भागवत* में वर्णित कृष्ण की पूतना सम्बन्धी लीला से लेकर सारी लीलाएँ दिव्य हैं। अतएव *श्रीमद्‌भागवत* पर विचार-विमर्श करने तथा इसका श्रवण करने से रजो तथा तमो गुणों का दमन हो जाता है और एकमात्र सत्त्वगुण बच रहता है। तब रजो तथा तमोगुण हमें हानि नहीं पहुँचा पाते।

इसीलिए *वर्णाश्रम धर्म* अनिवार्य है क्योंकि इससे लोग सत्त्व गुण प्राप्त कर सकते हैं। *तदा रजस्तमोभावा: कामलोभादयश्च ये* (*भागवत* १.२.१९)। तमोगुण तथा रजोगुण काम तथा लोभ को बढ़ाने वाले हैं जिससे जीव इस तरह बँध जाता है कि उसे अनेकानेक रूपों में इस जगत में रहना पड़ता है। यह बहुत ही घातक है। इसलिए वर्णाश्रम धर्म की स्थापना करके मनुष्य को सत्त्व गुण प्राप्त कराना होगा। उसमें शुद्ध तथा स्वच्छ रहने, प्रात:काल जल्दी उठने तथा मंगल आरात्रिक देखने जैसे ब्राह्मण-गुणों को विकसित करना होगा। इस तरह सत्त्व गुण प्राप्त होने पर मनुष्य तमोगुण तथा रजोगुण द्वारा प्रभावित नहीं हो सकेगा।

तदा रजस्तमोभावा: कामलोभादयश्च ये।

चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति॥

(*भागवत* १.२.१९)

इस शुद्धि का सुअवसर मानव जीवन का विशेष अंग है, दूसरे जीवनों में यह सम्भव नहीं। ऐसी शुद्धि *राधा-कृष्ण भजन* द्वारा भी आसानी से प्राप्त की जा सकती है। इसीलिए नरोत्तमदास ठाकुर ने गाया है—*हरि हरि विफले जन्म गँवाइनु*—जिसका अर्थ है कि जब तक राधा-कृष्ण की पूजा नहीं की

जाती यह मनुष्य-जीवन व्यर्थ हो जाता है। *वासुदेवे भगवति भक्ति-योग:प्रयोजित: ।जनयत्याशु वैराग्यम्* (*भागवत* १.२.७)। वासुदेव की सेवा में लगने पर मनुष्य को इस भौतिक जीवन से शीघ्र ही विरक्ति हो जाती है। उदाहरणार्थ, कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्य वासुदेव-भक्ति में लगे रहने से तुरन्त ही अच्छे वैष्णव बन जाते हैं—यहाँ तक कि लोगों को यह देख कर आश्चर्य होता है कि म्लेच्छ तथा यवन इस अवस्था को प्राप्त हो सके हैं। यह वासुदेव-भक्ति से सम्भव है। किन्तु यदि हम इस मनुष्य जीवन में सत्त्व गुण प्राप्त नहीं कर पाते तो जैसाकि नरोत्तमदास ठाकुर गाते हैं—*हरि हरि विफले जन्म गँवाइनु*—तो इस मनुष्य जीवन को प्राप्त करने से कोई लाभ नहीं है।

श्री वीरराघव आचार्य की टीका है कि इस श्लोक के प्रथम पद में उल्लिखित एक एक बात भवबन्धन की कारण है। काल प्रकृति के गुणों को क्षुब्ध करता है और स्वभाव इन गुणों के मेल का प्रतिफल होता है। इसलिए नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं— *भक्तसने वास।* यदि भक्तों की संगति की जाती है, तो मनुष्य का स्वभाव बदल जाता है। हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन लोगों को सत्संगति प्रदान करने के हेतु है, जिससे यह परिवर्तन आ सके और हम देख रहे हैं कि इस विधि से सारे विश्व के लोग धीरे-धीरे भक्त बन रहे हैं।

जहाँ तक *संस्कार* का सम्बन्ध है यह अच्छी संगति से संभव है, क्योंकि अच्छी संगति से अच्छी आदतें बनती हैं और आदत ही द्वितीय स्वभाव बन जाती है। इसलिए *भक्तसने वास*—लोगों को भक्तों के साथ रहने का अवसर मिलना चाहिए। तभी उनकी आदतें बदलेंगी। मनुष्य जीवन में यह अवसर मिलता है किन्तु नरोत्तमदास ठाकुर गाते हैं—*हरि हरि विफले जनम गँवाइनु*—यदि लोग इस अवसर का लाभ उठाने में विफल रहते हैं, तो उनका मनुष्य-जीवन व्यर्थ जाता है। इसलिए मानव समाज को नीचे जाने से बचाने का और लोगों को वास्तव में ऊपर उठाने का हम प्रयास कर रहे हैं।

जहाँ तक काम तथा कर्म की बात है, यदि मनुष्य अपने को भक्ति में लगाता है, तो उसका स्वभाव इन्द्रिय-भोग में अपने को लगाने से बने स्वभाव की अपेक्षा भिन्न होता है। इसका परिणाम भी निस्संदेह भिन्न होता है। मनुष्य को विभिन्न स्वभावों की संगति के अनुसार ही विशेष प्रकार का शरीर प्राप्त होता है। *कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनि जन्मसु* (*भगवद्गीता* १३.२२)। इसलिए हमें अच्छी संगति—भक्तों की संगति—खोजनी चाहिए। तभी हमारा जीवन सार्थक होगा। मनुष्य की पहचान उसकी संगति से

होती है। यदि मनुष्य को भक्तों की सत्संगति में रहने का अवसर मिलता है, तो वह ज्ञान का अनुशीलन करने में समर्थ होता है और उसका चरित्र अथवा स्वभाव भी उसी के अनुसार उसके स्थायी लाभ के लिए बदल जाता है।

सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः ।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम् ॥५४॥

शब्दार्थ

सत्य—शाश्वत; ज्ञान—ज्ञान से युक्त; अनन्त—असीम; आनन्द—आनन्द से पूर्ण; मात्र—केवल; एक-रस—सदैव स्थित; मूर्तयः—स्वरूप; अस्पृष्ट-भूरि-माहात्म्याः—जिसकी महती महिमा छू तक नहीं जाती; अपि—भी; हि—क्योंकि; उपनिषत्-दृशाम्—उपनिषदों का अध्ययन करने वाले ज्ञानियों द्वारा।

वे समस्त विष्णु मूर्तियाँ शाश्वत, असीम स्वरूपों वाली, ज्ञान तथा आनन्द से पूर्ण एवं काल के प्रभाव से परे थीं। उपनिषदों के अध्ययन में रत ज्ञानीजन भी उनकी महती महिमा का स्पर्श तक नहीं कर सकते थे।

तात्पर्य : केवल शास्त्र-ज्ञान से भगवान् को समझने में सहायता नहीं मिल सकती। जिस पर भगवान् की कृपा होती है, वही उन्हें समझ पाता है। उपनिषदों में (*मुण्डक उपनिषद* ३.२.३) भी इसकी व्याख्या की गई है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधसा न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष
आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

"परमेश्वर की प्राप्ति न तो दक्ष व्याख्याओं द्वारा, न ही विशाल बुद्धि द्वारा न ही अधिक श्रवण करने से होती है। वे तो उसे प्राप्त होते हैं जिसे वे स्वयं चुनते हैं। ऐसे व्यक्ति को वे अपना स्वरूप प्रदर्शित करते हैं।"

ब्रह्म का एक वर्णन है—*सत्यं ब्रह्म, आनन्दरूपम्*—ब्रह्म परम सत्य तथा पूर्ण आनन्द है। यद्यपि विष्णु अर्थात् परब्रह्म के स्वरूप एक थे किन्तु वे भिन्न भिन्न प्रकार से व्यक्त थे। किन्तु उपनिषदों के अनुयायी ब्रह्म द्वारा प्रकट नाना रूपों को नहीं समझ पाते। इसका अर्थ यह हुआ कि ब्रह्म तथा परमात्मा को केवल भक्ति द्वारा जाना जा सकता है, जिसकी पुष्टि भगवान् ने *श्रीमद्भागवत* (११.१४.२१) में की

है—*भक्त्याहमेकया ग्राह्यः।* ब्रह्म के दिव्य स्वरूप की स्थापना हेतु श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर शास्त्रों से विविध उद्धरण देते हैं। *श्वेताश्वतर उपनिषद* (३.८) में ब्रह्म को *आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्*—जिनका स्वरूप सूर्य के समान ज्योतिमान तथा अज्ञान के अंधकार से परे है। *आनन्दमात्रम् अजरं पुराणमेकं सन्तं बहुधा दृश्यमानम्*—ब्रह्म आनन्दपूर्ण हैं, उनमें दुख का लेश नहीं। वे सबसे पुराने होकर भी कभी बूढ़े नहीं होते हैं और एक होते हुए भी अनेक रूपों में अनुभव किये जाते हैं *सर्वे नित्याः शाश्वताश् च देहास् तस्य परात्मानः।* उन परम पुरुष के सभी रूप शाश्वत हैं (*महावराह पुराण*)। परम पुरुष का रूप हाथ-पाँव आदि से युक्त होता है लेकिन उनके हाथ-पाँव भौतिक नहीं होते। भक्तगण जानते हैं कि ब्रह्म अथवा कृष्ण का स्वरूप रंच-भर भी भौतिक नहीं होता प्रत्युत ब्रह्म दिव्य स्वरूप वाले हैं और जब कोई व्यक्ति भक्तिपूर्वक उनमें लीन होता है तभी वह उन्हें समझ सकता है (*प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन*)। किन्तु मायावादी इस दिव्य रूप को नहीं समझ सकते क्योंकि वे इसे भौतिक मानते हैं।

भगवान् के साकार दिव्य रूप इतने महान् हैं कि उपनिषदों के निर्विशेष अनुयायी उन्हें समझने के लिये ज्ञान के उस पद तक पहुँच नहीं सकते। विशेष रूप से भगवान् के दिव्य रूप उन निर्विशेषवादियों की पहुँच के परे होते हैं, जो उपनिषदों के अध्ययन के द्वारा इतना ही समझ पाते हैं कि परब्रह्म पदार्थ नहीं है और वह सीमित शक्ति द्वारा बँधा नहीं है।

यद्यपि कृष्ण का दर्शन उपनिषदों के माध्यम से नहीं किया जा सकता किन्तु कहीं कहीं ऐसा कहा गया है कि इस विधि से वस्तुतः कृष्ण को जाना जा सकता है। *औपनिषदं पुरुषम्*—वह उपनिषदों के द्वारा जाना जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वैदिक ज्ञान से शुद्ध होने पर मनुष्य को भक्ति ज्ञान में प्रविष्ट होने दिया जाता है (*मद्भक्तिं लभते पराम्*)।

तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञान वैराग्ययुक्तया।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया॥

"एक जिज्ञासु अथवा मुनि, जो ज्ञान तथा वैराग्य से भलीभाँति युक्त होता है, वह परब्रह्म की अनुभूति वेदान्त श्रुति से सुनी हुई भक्ति करके करता है।" (*भागवत* १.२.१२)। *श्रुतगृहीतया* सूचक है वेदान्त ज्ञान का, किसी भावना या अनुभूति का नहीं। *श्रुतगृहीत* गम्भीर ज्ञान होता है।

इस प्रकार ब्रह्मा को लगा कि भगवान् विष्णु सत्य, ज्ञान तथा आनन्द के आगार हैं। वे इन तीन दिव्य स्वरूपों से युक्त हैं और उपनिषदों के अनुयायियों के आराध्य हैं। ब्रह्मा ने अनुभव किया कि गौवों, बछड़ों तथा लड़कों को जो विष्णु रूप प्राप्त हुए हैं, वे किसी योगी या देवता में निहित विशेष शक्ति के प्रदर्शन नहीं हैं। विष्णु मूर्तियों के रूप में ये गौवें, बछड़े तथा बालक विष्णु-माया के प्रदर्शन न होकर साक्षात् विष्णु हैं। विष्णु तथा विष्णु माया के क्रमिक गुण अग्नि तथा उष्मा जैसे हैं। उष्मा में अग्नि का गुणहै किन्तु वह अग्नि नहीं है। बछड़ों, गौवों तथा बालकों के रूप में विष्णु स्वरूपों की अभिव्यक्ति उष्मा के तुल्य नहीं अपितु अग्नि के तुल्य थी—वे सचमुच विष्णु थे। यथार्थरूप में विष्णु तो सच्चिदानन्द विग्रह हैं। दूसरा उदाहरण भौतिक पदार्थों से दिया जा सकता है, जो कई रूपों में प्रतिबिम्बित होते हैं। इसी तरह सूर्य अनेक जलपात्रों में प्रतिबिम्बित होता है किन्तु पात्रों में दिखने वाले प्रतिबिम्ब सूर्य नहीं होते। इन प्रतिबिम्बों में सूर्य का वास्तविक प्रकाश तथा उष्मा नहीं रहते यद्यपि यह सूर्य की भाँति ही दिखाई देता है। किन्तु कृष्ण ने जितने सारे स्वरूप धारण कर रखे थे वे सबके सब विष्णु थे।

हमें चाहिए कि यथासम्भव हम प्रतिदिन *श्रीमद्भागवत* के बारे में चर्चा करें जिससे हर बात स्पष्ट हो सके क्योंकि *भागवत* समस्त वैदिक वाङ्मय का सार है (*निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्*)। इसे व्यासदेव ने तब लिखा जब वे आत्मज्ञान प्राप्त कर चुके थे (*महामुनिकृते*)। अतः हम *भागवत* का जितना ही अध्ययन करेंगे, ज्ञान उतना ही स्पष्ट होता जायेगा। इसका प्रत्येक श्लोक दिव्य है।

एवं सकृद्ददर्शाजः परब्रह्मात्मनोऽखिलान् ।
यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सकृत्—एक ही साथ; ददर्श—देखा; अजः—ब्रह्मा ने; पर-ब्रह्म—परम सत्य के; आत्मनः—अंश; अखिलान्—सारे बछड़ों तथा बालकों को.; यस्य—जिसके; भासा—प्रकट होने से; सर्वम्—सभी; इदम्—यह; विभाति—व्यक्त है; स-चर-अचरम्—जो कुछ भी चर तथा अचर है।

इस प्रकार भगवान् ब्रह्मा ने परब्रह्म को देखा जिसकी शक्ति से यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड सारे चर तथा अचर प्राणियों समेत व्यक्त होता है। उन्होंने उसी के साथ ही सारे बछड़ों तथा बालकों को भगवान् के अंशों के रूप में देखा।

तात्पर्य : इस घटना से ब्रह्माजी यह देख सके कि किस तरह कृष्ण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का नाना

प्रकार से भरण करते हैं। चूँकि वे हर वस्तु को प्रकट करते हैं इसलिए हर वस्तु दिखती है।

ततोऽतिकुतुकोद्वृत्यस्तिमितैकादशेन्द्रियः ।
तद्धाम्नाभूदजस्तूष्णीं पूर्देव्यन्तीव पुत्रिका ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; अतिकुतुक-उद्वृत्य-स्तिमित-एकादश-इन्द्रियः—जिनकी ग्यारह इन्द्रियाँ आश्चर्य के कारण क्षुब्ध हो चुकी थीं और दिव्य आनन्द के कारण स्तम्भित हो गई थीं; तद्-धाम्ना—उन विष्णु मूर्तियों के तेज से; अभूत्—हो गया; अजः—ब्रह्मा; तूष्णीम्—मौन; पूः-देवी-अन्ति—ग्राम्य देवता की उपस्थिति में; इव—जिस तरह; पुत्रिका—बच्चे द्वारा बनाया गया मिट्टी का खिलौना।.

तब उन विष्णु मूर्तियों की तेज शक्ति से ब्रह्मा की ग्यारहों इन्द्रियाँ आश्चर्य से क्षुब्ध तथा दिव्य आनन्द से स्तब्ध हो चुकी थीं अतः वे मौन हो गये मानो ग्राम्य देवता की उपस्थिति में किसी बच्चे की मिट्टी की बनी गुड़िया हो।

तात्पर्य : दिव्य आनन्द से ब्रह्मा स्तब्ध थे (*मुह्यन्ति यत् सूरयः*)। आश्चर्यचकित होने से उनकी सारी इन्द्रियाँ स्तब्ध हो गई थीं और वे कुछ भी कह पाने में असमर्थ थे। ब्रह्मा ने अपने आपको एकमात्र शक्तिमान देवता मान कर सर्वोच्च समझ रखा था किन्तु उनका वह गर्व अब चूर-चूर हो गया और वे पुनः मात्र एक देवता रह गये। अतः ब्रह्मा कभी ईश्वर—कृष्ण या नारायण—की समता नहीं कर सकते। नारायण की तुलना ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवताओं से भी करना वर्जित है, तो अन्य देवताओं से तुलना तो की ही नहीं जा सकती।

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदैवतै।

समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद्ध्रुवम्॥

"जो व्यक्ति ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवताओं को नारायण के समकक्ष मानता है उसे निस्संदेह अपराधी समझना चाहिए।" हमें चाहिए कि नारायण की समता किसी देवता से न करें क्योंकि शंकराचार्य तक ने इसके लिए वर्जित किया है (*नारायणः परोऽव्यक्तात्*)। यही नहीं, वेदों में भी उल्लेख है—*एको नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः*—सृष्टि के प्रारम्भ में केवल नारायण थे। ब्रह्मा या शिव का अस्तित्व तक न था—इसीलिए जो भी अपने जीवन के अन्त समय में नारायण का स्मरण करता है उसे जीवन-सिद्धि प्राप्त होती है (*अन्ते नारायणस्मृतिः*)।

इतीरेशेऽतर्क्ये निजमहिमनि स्वप्रमितिके
परत्राजातोऽतन्निरसनमुखब्रह्मकमितौ ।
अनीशेऽपि द्रष्टुं किमिदमिति वा मुह्यति सति
चच्छादाजो ज्ञात्वा सपदि परमोऽजाजवनिकाम् ॥ ५७॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; इरा-ईशे—इरा अर्थात् सरस्वती के स्वामी, ब्रह्मा के; अतर्क्ये—परे; निज-महिमनि—अपनी महिमा; स्व-प्रमितिके—स्वतः व्यक्त तथा आनन्दमय के; परत्र—परे; अजातः—भौतिक शक्ति (प्रकृति); अतत्—अप्रासंगिक; निरसन-मुख—अप्रासंगिक के परित्याग द्वारा; ब्रह्मक—वेदान्त द्वारा; मितौ—ज्ञानवान; अनीशे—असमर्थ होने से; अपि—भी; द्रष्टुम्—देखने के लिए; किम्—क्या; इदम्—यह; इति—इस प्रकार; वा—अथवा; मुह्यति सति—मोहित होकर; चच्छाद—हटा दिया; अजः—भगवान् कृष्ण ने; ज्ञात्वा—जान कर; सपदि—तुरन्त; परमः—सर्वश्रेष्ठ; अजा-जवनिकाम्—माया का पर्दा।

परब्रह्म मानसिक तर्क के परे है। वह स्वतः व्यक्त, अपने ही आनन्द में स्थित तथा भौतिक शक्ति के परे है। वह वेदान्त के द्वारा अप्रासंगिक ज्ञान के निरसन करने पर जाना जाता है। इस तरह जिस भगवान् की महिमा विष्णु के सभी चतुर्भुज स्वरूपों की अभिव्यक्ति से प्रकट हुई थी उससे सरस्वती के प्रभु ब्रह्माजी मोहित थे। उन्होंने सोचा, "यह क्या है?" और उसके बाद वे देख भी नहीं पाये। तब भगवान् कृष्ण ने ब्रह्मा की स्थिति समझते हुए तुरन्त ही अपनी योगमाया का परदा हटा दिया।

तात्पर्य : ब्रह्मा पूरी तरह मोहित थे। वे यह समझ नहीं पाये कि वे क्या देख रहे हैं और उसके बाद तो वे देख भी नहीं सके। तब भगवान् कृष्ण ने ब्रह्मा की स्थिति समझ कर उस योगमाया के आवरण को हटा लिया। इस श्लोक में ब्रह्मा को *इरेश* कहा गया है। *इरा* का अर्थ है सरस्वती अर्थात् विद्या की देवी और इरेश हुए उनके पति ब्रह्मा। अतः ब्रह्मा अत्यन्त बुद्धिमान हैं। किन्तु सरस्वती-पति ब्रह्मा तक कृष्ण के विषय में मोहग्रस्त हो गये। प्रयास करने पर भी वे कृष्ण को नहीं समझ पाये। प्रारम्भ में बालक, बछड़े तथा स्वयं कृष्ण योगमाया द्वारा आच्छादित थे। इस योगमाया ने बछड़ों तथा बालकों की दूसरी जोड़ी प्रकट कर दी थी जो कृष्ण के अंश थे और इसके बाद उसने अनेक चतुर्भुज रूप दिखलाये। अब ब्रह्मा के मोह को देखते हुए भगवान् कृष्ण ने उस माया को अदृश्य कर दिया। हो सकता है कि कोई यह सोचे कि कृष्ण ने जिस माया को समेट लिया वह *महामाया* रही हो किन्तु श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि वह *योगमाया* थी—वह शक्ति जिससे कृष्ण कभी प्रकट दिखते हैं और कभी नहीं। जो माया वास्तविकता को आवृत करके अवास्तविक वस्तुएँ दिखलाती है, वह महामाया होती है किन्तु जिस माया से परम सत्य कभी प्रकट दिखते हैं और कभी नहीं वह

योगमाया है। इसलिए इस श्लोक में *अजा* शब्द *योगमाया* का सूचक है।

कृष्ण की शक्ति—उनकी मायाशक्ति या स्वरूपशक्ति—एक है किन्तु विविध रूपों में प्रकट होती है। *परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते* (*श्वेताश्वतर उपनिषद* ६.८)। वैष्णवों तथा मायावादियों में अन्तर यही है कि मायावादी इस माया को एक बतलाते हैं जबकि वैष्णव इसकी विविधता को मान्यता प्रदान करते हैं। विविधता में एकता है। उदाहरणार्थ, एक वृक्ष में अनेक प्रकार की पत्तियाँ, फल तथा फूल लगते हैं। सृष्टि में नाना प्रकार के कार्यों को करने के लिए नाना प्रकार की शक्तियों की आवश्यकता पड़ती है। दूसरा उदाहरण लें। किसी मशीन के सारे अंग लोहे के हो सकते हैं किन्तु मशीन के अन्तर्गत विविध कार्य आते हैं। यद्यपि सारी मशीन लोहे की है किन्तु उसका एक अंग एक प्रकार से चलता है, तो दूसरे अंग दूसरी तरह से। जो मशीन की कार्य-प्रणाली को नहीं समझता वह तब भी कह सकता है कि यह तो लोहा ही है। लोहा होने के बावजूद भी मशीन में विभिन्न अंग होते हैं, जो भिन्न भिन्न ढंग से चल कर उस उद्देश्य को पूरा करते हैं जिसके लिए मशीन बनाई गई थी। एक पहिया इधर घूमता है, तो दूसरा पहिया दूसरी ओर किन्तु वे इस तरह चलते हैं कि मशीन का कार्य चलता रहता है। इसीलिए हम मशीन के विभिन्न अंगों को भिन्न-भिन्न नाम प्रदान करते हैं—यह पहिया है, यह पेंच है, यह धुरी है, यह स्नेहक है, आदि आदि। इसी तरह वेदों में बतलाया गया है—

परास्य शक्तिविविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

कृष्ण की शक्ति विविधरूपा है अतएव वही शक्ति विविध प्रकार से कार्य करती है। *विविधा* का अर्थ है ''विविधता।'' विविधता में एकता है। इस तरह योगमाया तथा महामाया एक ही शक्ति के विविध अंग हैं और ये शक्तियाँ अपने अपने विभिन्न ढंगों से कार्य करती हैं। संवित, सन्धिनी तथा आह्लादिनी शक्तियाँ—कृष्ण की अस्तित्व-शक्ति, उनकी ज्ञान-शक्ति तथा उनकी आनंद-शक्ति—योगमाया से पृथक् हैं। इनमें से हर एक व्यष्टि शक्ति है। आह्लादिनी शक्ति राधारानी है। स्वरूप दामोदर गोस्वामी ने बतलाया है—*राधा कृष्णप्रणयविकृतिर्ह्लादिनी शक्तिरस्मात्* (*चैतन्य-चरितामृत आदि* १.५)। आह्लादिनी शक्ति राधारानी के रूप में प्रकट होती है किन्तु कृष्ण तथा राधारानी एक हैं यद्यपि इनमें से एक शक्तिमान है, तो दूसरी शक्ति है।

ब्रह्मा को कृष्ण के ऐश्वर्य के विषय में (*निजमहिमनि*) मोह था क्योंकि यह ऐश्वर्य *अतर्क्य* अर्थात् अचिन्त्य था। अपनी सीमित इन्द्रियों से कोई अतर्क्य के विषय में तर्क नहीं कर सकता है। इसीलिए वह *अचिन्त्य* भी कहलाता है अर्थात् जो हमारे विचारों तथा तर्कों द्वारा चिन्त्य नहीं है। अचिन्त्य सूचक है उसका जिसको हम सोच नहीं पाते अपितु जिसे स्वीकार करना पड़ता है। श्रील जीव गोस्वामी ने कहा है कि जब तक हम ब्रह्म को अचिन्त्य स्वीकार नहीं कर लेते तब तक ईश्वर की धारणा बन नहीं पाती। इसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। इसीलिए हम कहते हैं कि शास्त्र के वचनों को बिना किसी परिवर्तन के उसी रूप में मान लिया जाय क्योंकि वे अतर्क्य हैं। *अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्*—जो अचिन्त्य है उसे तर्क द्वारा नहीं जाना जा सकता। सामान्यतया लोग तर्क करते हैं किन्तु हमारी विधि तर्क करने की न होकर वैदिक ज्ञान को यथारूप में स्वीकार कर लेने की है। जब कृष्ण कहते हैं, ''यह परा तथा यह अपरा है'' तो हम उनके कहे हुए को मान लेते हैं। ऐसा नहीं है कि हम तर्क करें ''यह परा क्यों है और वह अपरा क्यों है ?'' जो तर्क करता है, उसके लिए ज्ञान नहीं है।

स्वीकार करने का यह पंथ *अवरोहपन्था* कहलाता है। *अवरोह* शब्द का सम्बन्ध *अवतार* शब्द से है, जिसका अर्थ है ''जो नीचे आता है।'' भौतिकतावादी तर्क के द्वारा अर्थात् *आरोहपन्था* द्वारा हर वस्तु को जानना चाहता है किन्तु दिव्य विषयों को इस तरह से नहीं जाना जा सकता। इसके लिए *अवरोहपन्था* का अनुसरण करना होता है। इसीलिए *परम्परा* पद्धति स्वीकार करनी चाहिए। सर्वश्रेष्ठ परम्परा वह है, जो कृष्ण से आगे की ओर चलती है (*एवं परम्पराप्राप्तम्*)। हमें चाहिए कि कृष्ण जो भी कहते हैं उसे स्वीकार करें (*इमं राजर्षयो विदुः*)। यही *अवरोहपन्था* है।

किन्तु ब्रह्मा ने *आरोहपन्था* ग्रहण किया। वे अपनी सीमित चिन्त्य शक्ति से कृष्ण की माया को समझना चाह रहे थे इसलिए वे स्वयं मोहित हो गये। हर व्यक्ति को अपने ज्ञान में आनन्द आता है। वह सोचता है, ''मैं कुछ जानता हूँ।'' लेकिन कृष्ण के सामने यह धारणा नहीं चल सकती क्योंकि कृष्ण को प्रकृति की सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता। मनुष्य को समर्पण करना ही होगा। इसका कोई विकल्प नहीं है। *न तांस्तर्केण योजयेत्।* यही समर्पण कृष्णवादियों तथा मायावादियों का अन्तर है।

अतन्-निरसन सूचक है अप्रासंगिक का निराकरण (*अतत्* का अर्थ है ''जो तथ्य नहीं है'')।

कभी कभी ब्रह्म को *अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्* कहा जाता है अर्थात् "जो न दीर्घ है, न सूक्ष्म, न छोटा, न लम्बा" (*बृहदारण्यक उपनिषद* ५.८.८)। *नेति नेति*—"यह नहीं है, वह नहीं है" परन्तु वह है क्या? एक कलम का वर्णन करने में कोई कह सकता है कि "यह यह नहीं है; यह वह नहीं है," पर इससे यह ज्ञात नहीं होता है कि कलम है क्या। इसे ही निषेध द्वारा परिभाषा करना कहते हैं। *भगवद्गीता* में कृष्ण ने भी निषेधात्मक परिभाषाएँ देकर आत्मा की व्याख्या की है। *न जायते म्रियते वा*—यह न जन्म लेता है, न मरता है। इससे अधिक और कुछ नहीं समझा जा सकता। किन्तु यह है क्या? यह शाश्वत है। *अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे*—यह अजन्मा, शाश्वत, पुरातन, न मरने वाला तथा सनातन है। जब शरीर की हत्या कर दी जाती है, तो इसकी हत्या नहीं होती—(*भगवद्गीता* २.२०)। प्रारम्भ में आत्मा को समझ पाना कठिन है इसीलिए कृष्ण ने निषेधात्मक परिभाषाएँ दी हैं—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

"आत्मा को न तो किसी हथियार से खण्ड खण्ड किया जा सकता है, न ही आग में जलाया जा सकता है, न पानी से भिगोया जा सकता है न हवा से सुखाया जा सकता है।" (*भगवद्गीता* २.२३)। कृष्ण कहते हैं, "इसे अग्नि से जलाया नहीं जा सकता।" इसलिए यह कल्पना करनी होती है कि ऐसा क्या है, जो अग्नि से जलता नहीं। यह निषेधात्मक परिभाषा है।

ततोऽर्वाक्प्रतिलब्धाक्षः कः परेतवदुत्थितः ।
कृच्छ्रादुन्मील्य वै दृष्टीराचष्टेदं सहात्मना ॥५८॥

शब्दार्थ

ततः—तब; अर्वाक्—बाह्य; प्रतिलब्ध-अक्षः—चेतना जागृत होने पर; कः—ब्रह्मा; परेत-वत्—मृत व्यक्ति की तरह; उत्थितः—उठ खड़े हुए; कृच्छ्रात्—कठिनाई से; उन्मील्य—खोल कर; वै—निस्सन्देह; दृष्टीः—अपनी आँखें; आचष्ट—देखा; इदम्—इस ब्रह्माण्ड को; सह-आत्मना—अपने सहित।

तब ब्रह्मा की बाह्य चेतना वापस लौटी और वे इस तरह उठ खड़े हुए मानो मृत व्यक्ति जीवित हो उठा हो। बड़ी मुश्किल से अपनी आँखें खोलते हुए उन्होंने अपने सहित ब्रह्माण्ड को देखा।

तात्पर्य : वास्तव में हम मरते नहीं। मृत्यु के समय हम कुछ समय तक निश्चल रहते हैं जैसे नींद

में हों। रात्रि में जब हम सोते हैं, तो हमारे सारे कार्य ठप्प हो जाते हैं किन्तु ज्योंही हम जग जाते हैं, तो हमारी स्मृति तत्क्षण लौट आती है और हम सोचने लगते हैं, "अरे मैं कहो हूँ? मुझे क्या करना है?" यह *सुप्तोत्थितन्याय* कहलाता है। मान लीजिये हम मर जाते हैं। "मरने" का अर्थ है कुछ काल तक निष्क्रिय रहना और फिर से अपने कार्य चालू कर देना। यह क्रम हमारे कर्म तथा स्वभाव के अनुसार जन्म-जन्मांतर तक चलता रहता है। यदि मनुष्य-जीवन में हम अपने कार्यकलाप आध्यात्मिक जीवन के कार्य से शुरू करें तो हम असली जीवन में लौट आते हैं और सिद्धि प्राप्त करते हैं। अन्यथा कर्म, स्वभाव, प्रकृति इत्यादि के अनुसार तरह-तरह के जीवन तथा कार्य चलते रहते हैं और उसी तरह हमारे जन्म तथा मृत्यु भी चलते हैं। भक्तिविनोद ठाकुर ने बतलाया है—*मायार वशे याच्छ भेसे, खाच्छ हाबुडुब भाइ*—प्यारे भाइयो! तुम माया की लहरों में क्यों बहे चले जा रहे हो? आध्यात्मिक पद को प्राप्त करने पर ही कार्य स्थायी हो सकते हैं। *कृतपुण्यपुञ्जाः*—अनेकानेक जीवन के पुण्यकर्मों के संचित होने पर ही यह अवस्था प्राप्त होती है। *जन्मकोटिसुकृतैर्न लभ्यते* (*चैतन्य-चरितामृत मध्य* ८.७०)। कृष्णभावनामृत आन्दोलन जन्म-मृत्यु के चक्र, *कोटिजन्म,* को रोकना चाहता है। एक जन्म में सब ठीक करके स्थायी जीवन बिताना यही कृष्णभावनामृत है।

सपद्येवाभितः पश्यन्दिशोऽपश्यत्पुरःस्थितम् ।
वृन्दावनं जनाजीव्यद्रुमाकीर्णं समाप्रियम् ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

सपदि—तुरन्त; **एव**—निस्सन्देह; **अभितः**—चारों ओर; **पश्यन्**—देखते हुए; **दिशः**—दिशाओं में; **अपश्यत्**—ब्रह्मा ने देखा; **पुरः-स्थितम्**—सामने स्थित; **वृन्दावनम्**—वृन्दावन; **जन-आजीव्य-द्रुम-आकीर्णम्**—वृक्षों से पूरित, जो निवासियों की जीविका के साधन थे; **समा-प्रियम्**—और जो सारी ऋतुओं में समान रूप से सुहावने थे।

तब सारी दिशाओं में देखने पर भगवान् ब्रह्मा ने तुरन्त अपने समक्ष वृन्दावन देखा जो उन वृक्षों से पूरित था, जो निवासियों की जीविका के साधन थे और सारी ऋतुओं में समान रूप से प्रिय लगने वाले थे।

तात्पर्य : *जनजीव्यद्रुमाकीर्णम्*—वृक्ष तथा वनस्पतियाँ अनिवार्य हैं और वे सभी ऋतुओं में सुख देने वाली होती हैं। वृन्दावन में ऐसी ही व्यवस्था है। ऐसा नहीं है कि वृक्ष एक ऋतु में सुहावने लगें और दूसरी ऋतु में न लगें, प्रत्युत वे समस्त ऋतु-परिवर्तनों में सुहावने लगने वाले हैं। वृक्ष तथा वनस्पति हर एक के लिए वास्तविक जीविका के साधन हो सकते हैं। *सर्वकामदुघामही* (*भागवत*

१..४)। वृक्ष तथा वनस्पति जीवन के वास्तविक साधन प्रदान करते हैं, उद्योग नहीं।

यत्र नैसर्गदुर्वैराः सहासन्नृमृगादयः ।
मित्राणीवाजितावासद्रुतरुट्तर्षकादिकम् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; नैसर्ग—प्रकृति द्वारा; दुर्वैराः—वैर होने पर; सह आसन्—साथ साथ रहते हैं; नृ—मनुष्य; मृग-आदयः—तथा पशु; मित्राणि—मित्रगण; इव—सदृश; अजित—श्रीकृष्ण के; आवास—निवासस्थान; द्रुत—चले गये; रुट्—क्रोध; तर्षक-आदिकम्—प्यास इत्यादि।

वृन्दावन भगवान् का दिव्य धाम है जहाँ न भूख है, न क्रोध, न प्यास। यद्यपि मनुष्यों तथा हिंस्र पशुओं में स्वाभाविक वैर होता है किन्तु वे यहाँ दिव्य मैत्री-भाव से साथ साथ रहते हैं।

तात्पर्य : *वन* का अर्थ है जंगल। हम जंगल से डर कर वहाँ नहीं जाना चाहते किन्तु वृन्दावन के जंगली जीव देवताओं के ही समान हैं क्योंकि वे वैर नहीं रखते। इस भौतिक जगत में भी जंगल में पशु एकसाथ रहते हैं और जब वे पानी पीने जाते हैं, तो किसी पर आक्रमण नहीं करते। वैर उपजने का कारण इन्द्रियभोग है लेकिन वृन्दावन में इन्द्रियभोग है ही नहीं क्योंकि वहाँ तो कृष्ण की तुष्टि ही सबों का एकमात्र लक्ष्य रहता है। इस भौतिक जगत में भी वृन्दावन के पशु जंगल में रहने वाले साधुओं से वैर नहीं रखते। साधुगण गौवें पालते हैं और सिंहों को दूध पिलाते हैं और उन्हें कहते हैं कि यहाँ आओ और थोड़ा-सा दूध पी लो। इस तरह वृन्दावन में वैर तथा ईर्ष्या का नामोनिशान नहीं है। वृन्दावन तथा सामान्य जगत में यही अन्तर है। हम वन का नाम सुन कर डर जाते हैं किन्तु वृन्दावन में ऐसा भय नहीं है। वहाँ प्रत्येक व्यक्ति कृष्ण को प्रसन्न करके सुखी है। *कृष्णोत्कीर्तनगाननर्तनपरौ।* चाहे वह गोस्वामी हो, अथवा सिंह या कोई अन्य हिंस्र पशु—हर एक का कार्य एक ही है—कृष्ण को तुष्ट रखना। सिंह भी भक्त हैं। वृन्दावन की यह विशेषता है। वृन्दावन में हर व्यक्ति सुखी है। वहाँ बछड़ा सुखी है, बिल्ली तथा कुत्ता सुखी हैं और मनुष्य भी सुखी है। हर कोई अपनी अपनी क्षमता के अनुसार कृष्ण की सेवा करना चाहता है, अतः वैर का नामोनिशान नहीं रहता। कोई कभी कभी यह सोच सकता है कि वृन्दावन के बन्दर वैर रखते हैं क्योंकि वे भोजन छीन लेते हैं और उत्पात मचाते हैं किन्तु हम देखते हैं कि वहाँ बन्दरों को भी मक्खन खाने दिया जाता है जैसाकि श्रीकृष्ण स्वयं करते हैं। कृष्ण ने यह स्वयं दिखला दिया है कि हर प्राणी को जीवित रहने का अधिकार है। यह वृन्दावन का जीवन है। भला मैं क्यों जीवित रहूँ और आप मरें? नहीं। यह तो भौतिक जीवन है। वृन्दावन के निवासी

सोचते हैं, ''कृष्ण ने जो कुछ दिया है उसे हम प्रसाद के रूप में बाँट कर खायें।'' यह मनोवृत्ति एकाएक नहीं उत्पन्न हो सकती, इसका विकास कृष्णभावनामृत के साथ साथ धीरे-धीरे होगा। *साधन* द्वारा इस पद तक पहुँचा जा सकता है।

इस भौतिक जगत में नि:शुल्क भोजन वितरण के लिए सारे विश्व से चन्दा एकत्र किया जा सकता है किन्तु जिनको यह भोजन दिया जाता है, हो सकता है वे इसे पसन्द न करें। किन्तु कृष्णभावनामृत के महत्त्व को क्रमश: पसन्द किया जायेगा। उदाहरणार्थ, डर्बन दक्षिण अफ्रीका में हरे कृष्ण आन्दोलन के मन्दिर के विषय में *डर्बन पोस्ट* समाचार-पत्र ने समाचार छापा है : ''यहाँ सारे भक्त भगवान् कृष्ण की सेवा में तत्पर हैं जिसके परिणाम सुस्पष्ट हैं—सुख, उत्तम स्वास्थ्य, मन:शान्ति तथा सभी सद्गुणों का विकास।'' वृन्दावन की प्रकृति ऐसी ही है। *हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा:*—कृष्णभावनामृत के बिना सुख असम्भव है। कोई भले ही संघर्ष करे किन्तु सुख नहीं पा सकता। अतएव हम कृष्णभावनामृत के माध्यम से मानव समाज को जीवन-सुख, उत्तम स्वास्थ्य, मन:शान्ति तथा समस्त सद्गुण प्रदान करने के लिए अवसर देने का प्रयास कर रहे हैं।

तत्रोद्वहत्पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं
ब्रह्माद्वयं परमनन्तमगाधबोधम् ।
वत्सान्सखीनिव पुरा परितो विचिन्व-
देकं सपाणिकवलं परमेष्ठ्यचष्ट ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ (वृन्दावन में); उद्वहत्—धारण करते हुए; पशुप-वंश-शिशुत्व-नाट्यम्—ग्वालों के परिवार में शिशु बनने की क्रीड़ा (कृष्ण का अन्य नाम गोपाल है अर्थात् वह जो गौवें पालता है); ब्रह्म—ब्रह्म; अद्वयम्—अद्वितीय; परम्—परम; अनन्तम्—असीम; अगाध-बोधम्—अपार ज्ञान से युक्त; वत्सान्—बछड़ों को; सखीन्—तथा उनके संगी बालकों को; इव पुरा—पहले की तरह; परित:—सर्वत्र; विचिन्वत्—खोजते हुए; एकम्—अकेले, अपने आप; स-पाणि-कवलम्—हाथ में भोजन का कौर लिये; परमेष्ठी—ब्रह्माजी ने; अचष्ट—देखा।.

तब भगवान् ब्रह्मा ने उस ब्रह्म (परम सत्य) को जो अद्वय है, ज्ञान से पूर्ण है और असीम है ग्वालों के परिवार में बालक-वेश धारण करके पहले की ही तरह हाथ में भोजन का कौर लिए बछड़ों को तथा अपने ग्वालमित्रों को खोजते हुए एकान्त में खड़े देखा।

तात्पर्य : *अगाध-बोधम्* शब्द इस श्लोक में महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है ''असीम ज्ञान से युक्त।'' भगवान् का ज्ञान असीम है अतएव उसके छोर का उसी तरह कोई छू नहीं सकता जिस तरह

समुद्र को मापा नहीं जा सकता। समुद्र-जल के विस्तार के समक्ष हमारी बुद्धि का प्रसार कितना हो सकता है? अमरीका की यात्रा के दौरान मेरा जहाज कितना महत्त्वहीन लग रहा था। वह समुद्र में दियासलाई की डिब्बी जैसा लग रहा था। कृष्ण की बुद्धि समुद्र के समान है क्योंकि इसकी विशालता का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। अतएव यही सर्वश्रेष्ठ उपाय है कि कृष्ण की शरण ग्रहण की जाय, कृष्ण को मापने का हम प्रयत्न न करें।

अद्वयम् शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है ''अद्वितीय।'' चूँकि ब्रह्मा कृष्ण की माया से आच्छादित थे अतएव वे अपने को सर्वोच्च मान रहे थे। भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति सोचता है, ''मैं इस जगत का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति हूँ। मैं सब जानता हूँ।'' वह सोचता है, ''मैं भगवद्गीता क्यों पढ़ूँ? मुझे सब आता है। मेरी अपनी व्याख्या है।'' किन्तु ब्रह्मा यह जान गये कि परम पुरुष तो कृष्ण हैं। *ईश्वर: परम: कृष्ण:।* इससे कृष्ण का अन्य नाम *परमेश्वर* भी है।

अब ब्रह्मा ने भगवान् कृष्ण को वृन्दावन में ग्वालबाल के रूप में प्रकट होते देखा जहाँ वे अपने ऐश्वर्य का प्रदर्शन नहीं कर रहे थे अपितु अपने हाथ में भोजन लिए, अपने मित्रों, बछड़ों तथा गौवों के साथ इधर-उधर घूमने वाले अबोध बालक के रूप में खड़े थे। ब्रह्मा ने कृष्ण को चतुर्भुज ऐश्वर्यपूर्ण नारायण के रूप में नहीं अपितु अबोध बालक के रूप में देखा। फिर भी वे समझ गये कि यद्यपि कृष्ण अपनी शक्ति प्रदर्शित नहीं कर रहे थे किन्तु हैं, वे वही परम पुरुष। लोग सामान्यतया किसी को तब तक सम्मान नहीं देते जब तक वह कोई अद्भुत कार्य न कर दिखाये किन्तु यहाँ पर यद्यपि कृष्ण कोई अद्भुत कार्य नहीं दिखला रहे थे तब भी ब्रह्मा जान गये कि वे वही अद्भुत व्यक्ति, सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी होने पर भी एक अबोध बालक के रूप में उपस्थित हैं। अत: ब्रह्मा ने स्तुति की—*गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि*—हे आदि-पुरुष, आप सभी वस्तुओं के कारण हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ। यह उनकी अनुभूति थी। *तमहं भजामि।* यही इष्ट वस्तु है। *वेदेषु दुर्लभम्*—मात्र वैदिक ज्ञान द्वारा कृष्ण तक नहीं पहुँचा जा सकता। *अदुर्लभम् आत्मभक्तौ*—किन्तु भक्त बन जाने पर मनुष्य उनका अनुभव कर सकता है। अत: ब्रह्माजी उनके भक्त बन गये। प्रारम्भ में उन्हें ब्रह्माण्ड का स्वामी होने का गर्व था किन्तु अब वे समझ चुके थे कि ब्रह्माण्ड के स्वामी तो ये (कृष्ण) हैं। मैं तो एक क्षुद्र प्रतिनिधि हूँ। *गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।*

कृष्ण नाटक के एक पात्र की तरह कार्य कर रहे थे। चूँकि ब्रह्मा को यह सोच कर कि उनके पास कुछ शक्ति है मिथ्या प्रतिष्ठा का भ्रम हो गया था अत: कृष्ण ने उन्हें उनकी असली स्थिति दिखला दी। ऐसी ही घटना तब घटी जब ब्रह्माजी कृष्ण से भेंट करने द्वारका गये। जब कृष्णजी के द्वारपाल ने सूचना दी कि ब्रह्माजी आये हैं, तो कृष्ण ने पूछा, ''कौन से ब्रह्मा? उनसे पूछो कौन से ब्रह्मा?'' द्वारपाल ने जाकर यही प्रश्न पूछा तो ब्रह्माजी चकित रह गये। उन्होंने सोचा, ''क्या मेरे अतिरिक्त भी कोई अन्य ब्रह्मा है?'' जब द्वारपाल ने जाकर सूचित किया कि ''चतुरानन ब्रह्मा आये हैं'' तो भगवान् कृष्ण ने कहा, ''अरे! चतुरानन! दूसरों को भी बुलाओ और चतुरानन को दिखाओ।'' यह है कृष्ण की स्थिति। कृष्ण के लिए चतुरानन ब्रह्मा महत्त्वहीन हैं, तो भला ''चार सिर वाले वैज्ञानिकों'' की क्या बिसात! भौतिकतावादी वैज्ञानिक सोचते हैं कि यह पृथ्वीलोक तो सारे ऐश्वर्य से पूर्ण है किन्तु अन्य लोक रिक्त हैं। चूँकि वे केवल सोचते हैं इसलिए उनका यह वैज्ञानिक निष्कर्ष निकलता है। किन्तु *भागवत* से हम जानते हैं कि सारा ब्रह्माण्ड जीवों से पूरित है। यह तो वैज्ञानिकों की मूर्खता है कि वे कुछ भी न जानते हुए अपने को वैज्ञानिक, दार्शनिक तथा ज्ञानी मानते हुए लोगों को भ्रान्त करते हैं।

दृष्ट्वा त्वरेण निजधोरणतोऽवतीर्य
पृथ्व्यां वपुः कनकदण्डमिवाभिपात्य ।
स्पृष्ट्वा चतुर्मुकुटकोटिभिरङ्घ्रियुग्मं
नत्वा मुदश्रुसुजलैरकृताभिषेकम् ॥ ६२॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देख कर; त्वरेण—तेजी से; निज-धोरणत:—अपने वाहन हंस से; अवतीर्य—उतरे; पृथ्व्याम्—पृथ्वी पर; वपु:—उनका शरीर; कनक-दण्डम् इव—सोने की छड़ी जैसा; अभिपात्य—गिर पड़े; स्पृष्ट्वा—छूकर; चतु:-मुकुट-कोटि-भि:—अपने चारों मुकुटों के सिरों से; अङ्घ्रि-युग्मम्—दोनों चरणकमलों को; नत्वा—नमस्कार करके; मुत्-अश्रु-सु-जलै:—अपने प्रसन्नता के अश्रुओं के जल से; अकृत—सम्पन्न किया; अभिषेकम्—उनके चरणकमल पखारने का उत्सव।.

यह देख कर ब्रह्मा तुरन्त अपने वाहन हंस से नीचे उतरे और भूमि पर सोने के दण्ड के समान गिर कर भगवान् कृष्ण के चरणकमलों का स्पर्श अपने सिर में धारण किये हुए चारों मुकुटों के अग्रभागों (सरों) से किया। उन्होंने नमस्कार करने के बाद अपने हर्ष-अश्रुओं के जल से कृष्ण के चरणकमलों को नहला दिया।

तात्पर्य : ब्रह्माजी दण्ड के समान नतमस्तक हुए और चूँकि ब्रह्मा का रंग सुनहरा है, अत: वे कृष्ण के सामने सुनहरे दंड के समान प्रतीत हुए। जब कोई व्यक्ति अपने गुरुजन के समक्ष दण्ड के समान

गिरता है, तो उसका नमस्कार *दण्डवत्* (''दंड के समान'') कहलाता है। 'दण्ड' का अर्थ है 'दंड' और 'वत्' का अर्थ है 'के समान'। ऐसा नहीं है कि कोई केवल *दण्डवत्* कहे, अपितु उसे गिरना चाहिए। इस तरह ब्रह्मा ने दण्डवत् किया, कृष्ण के चरणकमलों को अपने मस्तकों से छुआ और प्रेमवश उनके क्रन्दन को कृष्ण के चरणकमलों का *अभिषेक* समझना चाहिए।

ब्रह्मा के समक्ष जो व्यक्ति बालक रूप में प्रकट हुआ था वह वास्तव में परम सत्य परब्रह्म था (*ब्रह्मेति परमात्येति भगवान् इति शब्द्यते*)। परमेश्वर *नराकृति* हैं अर्थात् वे मनुष्य जैसे लगते हैं। वे *चतुर्बाहु* नहीं हैं। नारायण चतुर्बाहु हैं किन्तु परम पुरुष नराकृति हैं। बाइबिल से भी इसकी पुष्टि होती है जहाँ कहा गया है कि मनुष्य को ईश्वर की मूर्ति सदृश बनाया गया।

ब्रह्मा ने देखा कि ग्वालबाल के वेश में कृष्ण परब्रह्म हैं, जो सर्वकारणों के कारण हैं किन्तु अब वे ही बालक रूप में अपने हाथ में भोजन का कौर लिए वृन्दावन में इधर-उधर टहल रहे हैं। आश्चर्यचकित ब्रह्माजी अपने वाहन हंस से उतर पड़े और भूमि पर गिर कर उन्हें नमस्कार किया। सामान्यतया देवता पृथ्वी का स्पर्श नहीं करते किन्तु ब्रह्मा ने स्वेच्छा से देवता की प्रतिष्ठा त्याग कर कृष्ण के समक्ष पृथ्वी पर दण्डवत किया। यद्यपि ब्रह्मा का हर दिशा में एक सिर है, वे स्वेच्छा से अपने सभी सिरों को पृथ्वी पर लाए और उन्होंने कृष्ण के चरणों को अपने चारों मुकुटों के अग्रभागों से छुआ। यद्यपि उनकी बुद्धि सभी दिशाओं में कार्य करती है किन्तु उन्होंने बालक कृष्ण के समक्ष आत्म-समर्पण कर दिया।

उल्लेख हुआ है कि ब्रह्मा ने कृष्ण के चरणों को अपने अश्रुओं से प्रक्षालित किया। यहाँ पर *सुजलै* शब्द सूचित करता है कि उनके अश्रु शुद्ध थे। भक्ति के उदय होने पर प्रत्येक वस्तु शुद्ध बन जाती है (*सर्वोपाधि विनिर्मुक्तम्*)। इसलिए ब्रह्मा का क्रन्दन *भक्त्यनुभाव* अर्थात् दिव्य आह्लाद का एक रूप था।

उत्थायोत्थाय कृष्णस्य चिरस्य पादयोः पतन् ।
आस्ते महित्वं प्राग्दृष्टं स्मृत्वा स्मृत्वा पुनः पुनः ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

उत्थाय उत्थाय—बारम्बार उठ कर; कृष्णस्य—कृष्ण के; चिरस्य—दीर्घकाल से; पादयोः—चरणकमलों पर; पतन्—गिर कर; आस्ते—पड़े रहे; महित्वम्—महानता; प्राक्-दृष्टम्—जिसे उन्होंने पहले देखा था; स्मृत्वा स्मृत्वा—स्मरण कर करके; पुनः पुनः—बारम्बार।

काफी देर तक भगवान् कृष्ण के चरणकमलों पर बारम्बार उठते हुए और फिर नमस्कार करते हुए ब्रह्मा ने भगवान् की उस महानता का पुनः पुनः स्मरण किया जिसे उन्होंने अभी अभी देखा था।

तात्पर्य : एक स्तुति में कहा गया है :

श्रुतिमपरे स्मृतिमितरे

भारतमन्ये भजन्तु भवभीतः।

अहमिह नन्दं वन्दे

यस्यालिन्दे परं ब्रह्म॥

"भौतिक संसार से डर कर कोई भले ही वेदों, स्मृतियों तथा महाभारत का अध्ययन करे किन्तु मैं तो उन नन्द महाराज की पूजा करूँगा जिनके आँगन में परब्रह्म रेंग रहे हैं। नन्द महाराज इतने महान् हैं कि उनके आँगन में परब्रह्म रेंग रहे हैं अतएव मैं उनकी पूजा करूँगा।" (*पद्यावली* १२६)।

ब्रह्मा हर्षातिरके से गिरे जा रहे थे। मनुष्य के बालक सदृश भगवान् की उपस्थिति के कारण ब्रह्माजी आश्चर्यचकित थे। अतएव यह समझते हुए कि यही परम पुरुष हैं उन्होंने रुद्ध कण्ठ से स्तुति की।

शनैरथोत्थाय विमृज्य लोचने
मुकुन्दमुद्वीक्ष्य विनम्रकन्धरः।
कृताञ्जलिः प्रश्रयवान्समाहितः
सवेपथुर्गद्गदयैलतेलया ॥६४॥

शब्दार्थ

शनैः—धीरे-धीरे; अथ—तब; उत्थाय—उठ कर; विमृज्य—पोंछ कर; लोचने—अपनी दोनों आँखें; मुकुन्दम्—मुकुन्द या भगवान् कृष्ण को; उद्वीक्ष्य—ऊपर देखते हुए; विनम्र-कन्धरः—अपनी गर्दन झुकाये; कृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़े हुए; प्रश्रय-वान्—अत्यन्त विनीत; समाहितः—मन को एकाग्र किये; स-वेपथुः—काँपते हुए शरीर से; गद्गदया—अवरुद्ध; ऐलत—ब्रह्मा प्रशंसा करने लगे; ईलया—शब्दों से।

तब धीरे-धीरे उठते हुए और अपनी दोनों आँखें पोंछते हुए ब्रह्मा ने मुकुन्द की ओर देखा। फिर अपना सिर नीचे झुकाये, मन को एकाग्र किये तथा कंपित शरीर से वे लड़खड़ाती वाणी

से विनयपूर्वक भगवान् कृष्ण की प्रशंसा करने लगे।

तात्पर्य : प्रसन्नता के मारे ब्रह्मा अश्रुपात करने लगे और उन्होंने अपने आँसुओं से कृष्ण के चरणकमलों को धो दिया। वे कृष्ण की अद्भुत लीलाओं का स्मरण कर करके बारम्बार गिरने और उठने लगे। दीर्घकाल तक नमस्कार करते रहने के बाद ब्रह्माजी उठ खड़े हुए और अपने अश्रुओं को पोंछा। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि *लोचने* शब्द इंगित करता है कि उन्होंने दोनों हाथों से अपने चारों मुखों की दो-दो आँखों को पोंछा। अपने समक्ष भगवान् को देख कर ब्रह्माजी ने अत्यन्त विनय, आदर तथा मनोयोग से स्तुति करनी शुरू की।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध के अन्तर्गत ''ब्रह्मा द्वारा बालकों तथा बछड़ों की चोरी'' नामक तेरहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

PRELIMINARY PAGES

श्री श्रीगुरु-गौराङ्गौ जयत:

कृष्णद्वैपायन व्यास

कृत

श्रीमद्भागवतम्

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-

स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धय: ।

आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं तत:

पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रय: ॥

(श्रीमद्भागवत .२.३२)

कृष्णकृपामूर्ति श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद द्वारा विरचित वैदिक ग्रंथरत्न :

श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप

श्रीमद्भागवतम् स्कन्ध १-१२ (१८ खण्ड)

श्री चैतन्य-चरितामृत (१७ खण्ड)

भगवान् चैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु

श्रीउपदेशामृत

श्रीईशोपनिषद्

अन्य लोकों की सुगम यात्रा

कृष्णभावनामृत सर्वोत्तम योगपद्धति

लीला पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण (३ खण्ड)

पूर्ण प्रश्न : पूर्ण उत्तर

द्वन्द्वात्मक अध्यात्मवाद:पाश्चात्य दर्शन का वैदिक दृष्टिकोण

देवहूतिनन्दन भगवान् कपिल का शिक्षामृत

प्रह्लाद महाराज की दिव्य शिक्षाएँ

रसराज श्रीकृष्ण

जीवन का स्त्रोत जीवन

योग की पूर्णता

जन्म-मृत्यु से परे

श्रीकृष्ण की ओर

कृष्णभावनामृत की अनुपम भेंट

राजविद्या

कृष्णभावनामृत की प्राप्ति

पुनरागमन:पुनर्जन्म का विज्ञान

गीतार गान (बाँग्ला)

भगवद्दर्शन (मासिक पत्रिका) : संस्थापक

अधिक जानकारी तथा सूचीपत्र के लिए लिखें

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट,

हरे कृष्ण धाम, जुहू, बम्बई-४०००४९

श्रीमद्भागवतम्

(भगवत्-सन्देश)

दशम स्कन्ध

''परम पुरुषार्थ''

(भाग एक—अध्याय १-१३)

मूल संस्कृत पाठ, शब्दार्थ,

अनुवाद तथा विस्तृत तात्पर्य कृष्णकृपामूर्ति

श्री श्रीमद् अभयचरणारविन्द भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

संस्थापकाचार्य: अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

लॉस एंजिलिसलंदनस्टॉकहोमसिडनीबम्बई

इस ग्रंथ की विषयवस्तु के जिज्ञासु पाठकगण अपने निकटस्थ किसी भी इस्कॉन केन्द्र के सचिव से अथवा निम्नलिखित पते पर पत्र-व्यवहार करने के लिए आमंत्रित हैं

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

हरे कृष्ण धाम,

जुहू, बम्बई-४०००४९

अनुवादक

(अंग्रेजी-हिन्दी)

डॉ. शिवगोपाल मिश्र

हिन्दी अनुवाद संपादक
श्रीनिवास आचार्य दास
पहला अंग्रेजी संस्करण, १९७५, २०,००० प्रतियाँ
पहला हिन्दी संस्करण, मार्च, १९९३, २,००० प्रतियाँ
'१९७५-१९९३ भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, सर्वाधिकार सुरक्षित
भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट के लिए श्रील गोपालकृष्ण गोस्वामी द्वारा हरे कृष्ण धाम, जुहू, बम्बई ४०००४९ से प्रकाशित एवं सन्मान एण्ड कं., शिवशक्ति इंडस्ट्रियल एस्टेट, एम. वसनजी रोड, साकीनाका, अंधेरी (पूर्व) बम्बई-४०००४९ में मुद्रित।

श्रीमद्‌भागवतम्

विषय-सूची

आमुख
प्रस्तावना
दशम स्कंध का सारांश
अध्याय एक
भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार-परिचय
अध्याय का सारांश
भगवद्धाम
जन्म-मृत्यु रोग की औषधि
भगवान् कृष्ण के चरणकमलों में शरण
ईश्वर कभी निराकार नहीं होता
सरकारी नेताओं के लिए कृष्णकथा अनिवार्य
कृष्ण कोई सामान्य ऐतिहासिक पुरुष नहीं
भगवान् की शक्तियाँ किस तरह कार्य करती हैं
प्राचीन वैदिक विवाह प्रथाएँ
जीव सदैव शरीर बदलता है
अगला शरीर मन की स्थिति के अनुसार उत्पन्न होता है
जीव अपनी पहचान अपने शरीर से क्यों करता है
वैदिक संस्कृति का लक्ष्य मृत्यु से बचना है
वसुदेव द्वारा नवजात पुत्रों को कंस को देने का वचन
भगवान् की लीलाओं में भाग लेने के लिए भक्तों का आह्वान
कंस द्वारा वसुदेव के पुत्रों का वध
अध्याय दो
देवताओं द्वारा गर्भस्थ कृष्ण की स्तुति
अध्याय का सारांश
भगवान् क्यों अवतरित होते हैं
''समस्त जीव मुझमें हैं किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ''

आत्म-तत्त्व
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी
वैदिक ज्ञान का विश्वव्यापी वितरण
देहात्म बुद्धि का भोग
स्तुति करने हेतु देवताओं का अलक्षित होकर देवकी के कक्ष में प्रवेश
भौतिक विज्ञानियों के त्रुटिपूर्ण निष्कर्ष
जन्म-मृत्यु के सागर को लाँघना
''कई पंथ एक ही फल''—इस दर्शन का बहिष्कार
हरे कृष्ण मंत्र का महत्त्व
भौतिक मन तथा इन्द्रियाँ कृष्ण को नहीं समझ पातीं
अवतार लेने के लिए भगवान् बाध्य नहीं
देवताओं का स्वर्गलोक को लौट जाना
अध्याय तीन
कृष्ण जन्म
अध्याय का सारांश
शुभ शकुनों से ब्रह्माण्ड पूरित
नवजात शिशु के रूप में भगवान् का वर्णन
वसुदेव द्वारा अपने पुत्र कृष्ण की स्तुति
प्रयोगशाला में जीवन क्यों उत्पन्न नहीं किया जा सकता
बेचारी जनता की रक्षा हेतु कृष्ण का अवतरण
देवकी द्वारा अपने दिव्य शिशु की स्तुति
परमेश्वर को काल भय नहीं
सामान्य बालक का रूप धारण करने के लिए कृष्ण से प्रार्थना
भगवान् कृष्ण के माता-पिता के पूर्व जन्म
ईश-प्रेम सबसे बड़ी उपलब्धि
कृष्ण को सामान्य मनुष्य मानने की साँठ गाँठ
वसुदेव द्वारा कृष्ण को वृन्दावन ले जाया जाना
केवल भक्ति:भगवान् का घनिष्ठ प्रेम
अध्याय चार
राजा कंस के अत्याचार
अध्याय का सारांश
भौतिक जगत के छद्म संरक्षक
अपने पुत्र को बचाने के लिए देवकी की युक्ति
दुर्गा-पूजकों को बारम्बार शरीर धारण करना पड़ता है
आत्मा शारीरिक परिवर्तनों से सदैव पृथक् है
कंस को अपने जघन्य कार्यों पर पछतावा

भौतिकतावादी केवल बाहर से दक्ष
सनातन धार्मिक नियमों का वर्णन
कंस के असुरों द्वारा सन्तों का उत्पीड़न
अध्याय पाँच
नन्द महाराज तथा वसुदेव की भेंट
अध्याय का सारांश
श्रीकृष्ण का वैदिक जन्मोत्सव
मानव सभ्यता के सुअवसर का विनाश
वैदिक समाज में अन्नाभाव नहीं
कर देने के लिये नन्द का मथुरा जाना
गो-वध के भयंकर परिणाम
अध्याय छह
पूतना वध
अध्याय का सारांश
परम नियन्ता की शरण में जाना
पूतना द्वारा बाल-कृष्ण को विष देने का प्रयास
भगवान् के स्वरूप सर्वशक्तिमान होते हैं
वैदिक मंत्र: संकट से रक्षा
पूतना भौतिक कल्मष से मुक्त
श्रीकृष्ण के साथ दिव्य सम्बन्ध
अध्याय सात
तृणावर्त असुर का वध
अध्याय का सारांश
समस्त कष्टों का मूल कारण
वैदिक समाज में गर्भधारण कभी बोझ नहीं
कृष्ण की शकट-भंजन लीला
मानव समाज को आदर्श श्रेणी के लोगों की आवश्यकता
तृणावर्त:चक्रवात के रूप में असुर
योगेश्वर:योगशक्ति के स्रोत
भगवान् द्वारा रक्षा
अध्याय आठ
भगवान् कृष्ण द्वारा अपने मुख के भीतर
विराट रूप का प्रदर्शन
अध्याय का सारांश
आत्मा के देहान्तरण का विज्ञान
कृष्ण का नाम-करण संस्कार गुप्त रूप से सम्पन्न

ईश्वर एक है किन्तु उसके नाम तथा रूप अनेक हैं
भगवान् की बालक्रीड़ाएँ
कृष्ण के संगियों द्वारा शिकायत कि उन्होंने मिट्टी खाई है
कृष्ण के मुख के भीतर विराट रूप का दर्शन
हर वस्तु के परम स्वामी
नन्द महाराज तथा माता यशोदा के विगत जीवन
भौतिक संसार के कष्टमय जीवन से दूर रहना
अध्याय नौ
माता यशोदा द्वारा कृष्ण को बाँधा जाना
अध्याय का सारांश
महान् भक्तों द्वारा कृष्ण की माता के वर्णन का स्मरण
माता यशोदा द्वारा भगवान् का पीछा किया जाना
समस्त कारणों के कारण सर्वव्यापी भगवान्
शुद्ध भक्ति द्वारा भगवान् वशीभूत
अध्याय दस
यमलार्जुन वृक्षों का उद्धार
अध्याय का सारांश
नलकूवर तथा मणिग्रीव का निन्दनीय आचरण
पाश्चात्य सभ्यता: शराब, स्त्री तथा जुआ खेलना
पुनर्मूषिको भव
सन्त पुरुष के लक्षण
बाल-कृष्ण द्वारा यमलार्जुन वृक्षों का उत्पाटन
सृष्टि के पूर्व कृष्ण विद्यमान
ईशभावनामृत निर्मित नहीं किया जा सकता
अध्याय ग्यारह
कृष्ण की बाल-लीलाएँ
अध्याय का सारांश
कृष्ण की लीलाएँ नन्द तथा गोपों को मोहित करने वाली
भगवान् को दोपहर का भोजन करने में देरी
कृष्णभावनामृत का भूत, वर्तमान तथा भविष्य
वैदिक शिक्षा प्रणाली
बकासुर द्वारा भगवान् कृष्ण का निगला जाना
श्रीमद्‌भागवत: दिव्य सुख तथा समस्त कष्टों से मुक्ति
अध्याय बारह
अघासुर का वध
अध्याय का सारांश

हजारों ग्वालबालों का कृष्ण के साथ जंगल जाना
वैकुण्ठ में आध्यात्मिक भोग
श्रीमद्भागवत जन्म-मृत्यु के चक्र को रोकता है
अघासुर द्वारा अजगर का रूप धारण करना
कृष्ण द्वारा अघासुर का मारा जाना
आध्यात्मिक व्यष्टित्व तथा मुक्ति का प्रदर्शन
केवल चिन्तन से ही कृष्ण की प्राप्ति
अध्याय तेरह
ब्रह्मा द्वारा बालकों और बछड़ों की चोरी
अध्याय का सारांश
भगवान् के कार्यकलाप अत्यन्त गुह्य
कृष्ण अपने भक्तों को सदा दिखने वाले
भगवद्भक्त निडर होता है
ब्रह्मा द्वारा बछड़ों तथा बालकों की चोरी
ब्रह्मा को चकित करने के लिए कृष्ण का बछड़ों तथा
बालकों में विस्तार
भगवान् सर्वेसर्वा
कृष्ण की योगमाया से बलदेव चकित
ब्रह्मा अपनी ही योगशक्ति से विमोहित
विष्णु की चितवन से भक्त की इच्छाएँ उत्पन्न
सारे जीव कृष्ण के दास
भगवान् केवल भक्ति से जाने जाते हैं
दिव्य आनन्द से ब्रह्मा स्तब्ध
भगवान् अद्वितीय हैं
परिशिष्ट
लेखक परिचय

Chapter चौदह

ब्रह्मा द्वारा कृष्ण की स्तुति

इस अध्याय में ब्रह्मा द्वारा नन्दनन्दन भगवान् कृष्ण की स्तुति का वर्णन हुआ है।

भगवान् को प्रसन्न करने के लिए ब्रह्मा ने सर्वप्रथम उनके दिव्य अंगों की स्तुति की और फिर यह घोषित किया कि उनकी माधुरी की मूल पहचान को समझ पाना उनके ऐश्वर्य की अपेक्षा अधिक कठिन है। वैदिक प्रमाणों से प्राप्त दिव्य ध्वनि के श्रवण तथा कीर्तन की भक्तिमयी विधि द्वारा ही भगवान् की अनुभूति हो सकती है। वैदिक प्रमाण के अतिरिक्त अन्य विधियों से ईश्वर की अनुभूति करने का प्रयास व्यर्थ है।

असीम आध्यात्मिक गुणों के आगार भगवान् का रहस्य अचिन्त्य है। इसे समझ पाना निर्विशेष ब्रह्म से भी अधिक कठिन है। केवल भगवत्कृपा से ही उनके यश को समझा जा सकता है। अन्त में इसकी अनुभूति होने पर ब्रह्मा ने अपने कार्यों की बारम्बार भर्त्सना की और यह माना कि ब्रह्माण्ड के परम आश्रय श्रीकृष्ण ही उनके अपने पिता, आदि नारायण हैं। इस तरह ब्रह्मा ने भगवान् से क्षमा-याचना की।

तत्पश्चात् ब्रह्मा ने भगवान् के अचिन्त्य ऐश्वर्य का गुणगान किया और जिन जिन बातों में ब्रह्मा तथा शिव विष्णु से भिन्न हैं, जिन जिन कारणों से भगवान् देवताओं, पशुओं इत्यादि की योनियों में जन्म लेते हैं, जिस तरह से भगवान् लीलाएँ करते हैं, उन सबका तथा भौतिक जगत की नश्वरता आदि का वर्णन किया। भगवान् को जान लेने पर जीवात्मा भव-बन्धन से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि मोक्ष तथा बन्धन दोनों ही असत्य हैं क्योंकि जीव के बद्ध होने से ही बन्धन तथा मोक्ष उत्पन्न होते हैं। भगवान् कृष्ण के साकार रूप को भ्रामक मानकर मूर्ख लोग भगवान् के चरणकमलों को छोड़कर परमात्मा की अन्यत्र खोज करते हैं। किन्तु उनकी व्यर्थ की यह खोज उनकी मूर्खता का स्पष्ट प्रमाण है। भगवान् की कृपा के बिना भगवान् के सत्य को समझने का कोई भी सरल उपाय नहीं है।

इस निष्कर्ष पर पहुँच कर ब्रह्मा ने व्रजवासियों के सौभाग्य का विश्लेषण किया और तब स्तुति की

कि अच्छा होता यदि वे स्वयं एक तृण, कुंज या लता के रूप में वहाँ उत्पन्न हुए होते। वृन्दावनवासियों के आवास भौतिक जगत के बन्दीगृह नहीं हैं अपितु ज्ञानियों तथा योगियों द्वारा भी इन आवासों की कामना की जाती है। दूसरी ओर, कोई भी आवास जिसका भगवान् कृष्ण से सम्बन्ध नहीं होता है, वह भौतिक जगत का बन्दीगृह है। अन्त में ब्रह्मा ने भगवान् के चरणकमलों पर अपने आप को पूर्णतया समर्पण कर दिया और बारम्बार प्रशंसा करते हुए उनकी प्रदक्षिणा की और विदा ली।

तत्पश्चात् कृष्ण ने ब्रह्मा द्वारा चुराये गये सारे पशुओं को एकत्र किया और उनको लेकर यमुना तट पर पहुँचे जहाँ ग्वालबाल भोजन कर रहे थे। जो मित्रगण, पहले से वहाँ बैठे थे वे ही अभी भी वहीं पर थे। कृष्ण की माया के कारण उन्हें इसका रंच भर भी पता नहीं चला कि क्या हुआ है। अत: जब कृष्ण बछड़ों के साथ आये तो उन्होंने पूछा, ''अरे! आप तो इतनी जल्दी लौट आये। बहुत अच्छा हुआ। जब तक आप नहीं थे, हमने एक कौर भी नहीं तोड़ा। आइये और खाइये।''

ग्वालबालों की बात पर भगवान् कृष्ण हँसते हुए उनके साथ भोजन करने लगे। भोजन करते हुए कृष्ण ने किशोर मित्रों से अजगर के चर्म की ओर संकेत किया, तो बालकों ने सोचा, ''शायद कृष्ण ने अभी अभी इस भयानक सर्प को मारा है।'' बाद में उन्होंने वृन्दावनवासियों को कृष्ण द्वारा अघासुर के वध का वृत्तान्त कह सुनाया। इस तरह ग्वालबालों ने भगवान् कृष्ण की बाल्यकाल (१-५ वर्ष) की लीलाओं का वर्णन किया यद्यपि भगवान् की पौगण्ड आयु (६-१० वर्ष) प्रारम्भ हो चुकी थी।

शुकदेव गोस्वामी यह बताते हुए इस अध्याय को समाप्त करते हैं कि गोपियाँ किस तरह कृष्ण को अपने पुत्रों से भी अधिक प्यार करती थीं।

श्रीब्रह्मोवाच

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्रह्मा उवाच—ब्रह्मा ने कहा; नौमि—मैं यशोगान करता हूँ; ईड्य—हे पूज्य; ते—आपका; अभ्र—काले बादल की तरह; वपुषे—शरीर वाले; तडित्—बिजली की भाँति; अम्बराय—जिसके वस्त्र; गुञ्जा—घुंघुची से बने; अवतंस—(कान के) आभूषण; परिपिच्छ—तथा मोर पंख; लसत्—शोभायमान; मुखाय—जिसका मुखमंडल; वन्य-स्रजे—वन फूलों की माला

पहने; कवल—कौर; वेत्र—दंड; विषाण—भैंस के सींग का बना बिगुल; वेणु—तथा बाँसुरी; लक्ष्म—लक्षणों से युक्त; श्रिये—जिसका सौंदर्य; मृदु—मुलायम; पदे—जिसके पाँव; पशु-प—ग्वाले (नन्द महाराज) के; अङ्ग-जाय—पुत्र को।

ब्रह्मा ने कहा : हे प्रभु, आप ही एकमात्र पूज्य भगवान् हैं अतएव आपको प्रसन्न करने के लिए मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ और आपकी स्तुति करता हूँ। हे ग्वालनरेश पुत्र, आपका दिव्य शरीर नवीन बादलों के समान गहरा नीला है; आपके वस्त्र बिजली के समान देदीप्यमान हैं और आपके मुखमण्डल का सौन्दर्य गुञ्जा के बने आपके कुण्डलों से तथा सिर पर लगे मोरपंख से बढ़ जाता है। अनेक वन-फूलों तथा पत्तियों की माला पहने तथा चराने की छड़ी (लकुटी), शृंग और वंशी से सज्जित आप अपने हाथ में भोजन का कौर लिए हुए सुन्दर रीति से खड़े हुए हैं।

तात्पर्य : पिछले अध्याय में ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्मा ने भगवान् कृष्ण के ग्वालमित्रों तथा उनके बछड़ों को चुरा कर उनकी परीक्षा लेनी चाही थी। किन्तु जब कृष्ण ने रंच भर अपनी योगशक्ति प्रदर्शित की तो ब्रह्माजी पूर्णतया मोहित हो गये और अब वे अत्यन्त विनय एवं भक्ति भाव से उन्हें सादर नमस्कार करके उनकी स्तुति करते हैं।

इस श्लोक में *कवल* शब्द कृष्ण द्वारा बाएँ हाथ में चावल तथा दही के कौर का सूचक है। सनातन गोस्वामी के अनुसार कृष्ण अपने हाथ में गाय चराने वाली छड़ी लिये थे और बाईं काँख में शृंग दबाये थे। उनकी वंशी उनकी कमर पेटी के नीचे लगी थी। रंग-बिरंगे जंगली खनिजों से अलंकृत सुन्दर बाल-कृष्ण वैकुण्ठ के ऐश्वर्य को लजा रहे थे। यद्यपि ब्रह्मा ने भगवान् के असंख्य चतुर्भुज रूप देखे थे किन्तु अब उन्होंने द्विभुज कृष्ण के चरणकमलों में अपने आपको समर्पित कर दिया जो नन्द महाराज के पुत्र रूप में प्रकट हुए थे। ब्रह्माजी ने इसी रूप की स्तुति की।

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि ।
नेशे महि त्ववसितुं मनसान्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

अस्य—इसका; अपि—भी; देव—हे प्रभु; वपुषः—शरीर; मत्-अनुग्रहस्य—जिसने मेरे ऊपर कृपा दिखलाई है; स्व-इच्छा-मयस्य—जो अपने शुद्ध भक्तों की इच्छा से प्रेरित होकर प्रकट होते हैं; न—नहीं; तु—दूसरी ओर; भूत-मयस्य—पदार्थ की उपज; कः—ब्रह्मा; अपि—भी; न ईशे—मैं समर्थ नहीं हूँ; महि—शक्ति; तु—निस्सन्देह; अवसितुम्—अनुमान लगाने में;

मनसा—मन से; अन्तरेण—जो नियंत्रित होती तथा विरत होती है; साक्षात्—प्रत्यक्ष; तव—आपकी; एव—निस्सन्देह; किम् उत—क्या कहा जाय; आत्म—आप में; सुख—सुख के; अनुभूतेः—आपके अनुभव का।.

हे प्रभु, न तो मैं, न ही अन्य कोई आपके इस दिव्य शरीर के सामर्थ्य का अनुमान लगा सकता है, जिसने मुझ पर इतनी कृपा दिखाई है। आपका शरीर आपके शुद्ध भक्तों की इच्छा पूरी करने के लिए प्रकट होता है। यद्यपि मेरा मन भौतिक कार्यकलापों से पूरी तरह विरत है, तो भी मैं आपके साकार रूप को नहीं समझ पाता। तो भला मैं आपके ही अन्तर में आपके द्वारा अनुभूत सुख को कैसे समझ सकता हूँ?

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद "भगवान् श्रीकृष्ण" (१ अध्याय १४) में लिखते हैं कि इस श्लोक में ब्रह्मा ने निम्नलिखित स्तुतिपूर्ण भाव व्यक्त किया, "ग्वालबाल के रूप में आपका आविर्भाव भक्तों के लाभ के लिए हुआ है। यद्यपि मैंने आपकी गौवें, बालक तथा बछड़े चुराकर आपके चरणकमलों में अपराध किया है किन्तु मैं समझ सकता हूँ कि अब आप मुझ पर कृपा दिखा रहे हैं। यह तो आपका दिव्य गुण है कि आप अपने भक्तों के प्रति अत्यन्त वत्सल हैं। अपने प्रति आपके वात्सल्य के बावजूद मैं आपके शारीरिक कार्यों के सामर्थ्य का अनुमान नहीं लगा सकता। जब इस ब्रह्माण्ड का सर्वोपरि पुरुष मैं, बह्मा, भगवान् के बाल-रूप शरीर का अनुमान नहीं लगा सकता तो अन्यों के विषय में क्या कहा जाय? और यदि मैं आपके बाल-रूप शरीर की आध्यात्मिक शक्ति का अनुमान नहीं लगा सकता तो भला आपकी दिव्य लीलाओं को कैसे समझ सकता हूँ? अतएव, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, जो कोई भगवान् की दिव्य लीलाओं, उनके प्राकट्य तथा तिरोधान को रंचमात्र भी समझता है, वह इस भौतिक शरीर को त्यागने के बाद भगवद्धाम में प्रवेश करने का पात्र बन जाता है। वेदों में इसकी पुष्टि इन शब्दों में सहज रूप में हुई है : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को जान लेने पर मनुष्य जन्म-मृत्यु के बन्धन से पार पा सकता है। इसलिए मैं तो यही कहूँगा कि लोग आपको मानसिक ज्ञान द्वारा समझने का प्रयास न करें।"

जब ब्रह्मा ने भगवान् के पद का अनादर किया, तो कृष्ण ने सर्वप्रथम उन्हें अपनी दिव्य शक्ति प्रदर्शित करके मोहित किया। जब ब्रह्मा उनके विनीत भक्त बन गये तो उन्होंने अपना साक्षात् दर्शन दिया।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भगवान् कृष्ण का दिव्य शरीर अपने स्वांशों द्वारा अपने

कार्य सम्पन्न कर सकता है, जिन्हें *विष्णु-तत्व* कहते हैं। ब्रह्मा ने *ब्रह्मसंहिता* (५.३२) में कहा है—*अङ्गानि यस्य सकलेन्द्रिय वृत्तिमन्ति।* यह श्लोक न केवल इतना ही सूचित करता है कि भगवान् अपने शरीर का कोई भी कार्य अपने किसी अंग द्वारा सम्पन्न कर सकते हैं अपितु वे अपने विष्णु अंश के या किसी भी जीव के नेत्रों द्वारा देख भी सकते हैं। इसी प्रकार वे विष्णु या जीव-अंश के कानों से सुन सकते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इंगित करते हैं कि भगवान् अपनी किसी भी इन्द्रिय से कोई भी कार्य कर सकते हैं किन्तु कृष्ण रूप में अपनी लीलाओं में वे सामान्यतया अपनी ही आँखों से देखते हैं, अपने ही हाथों से छूते हैं और अपने ही कानों से सुनते हैं। इस तरह वे अत्यन्त सुन्दर एवं मनोहर ग्वालबाल की तरह आचरण करते हैं।

वैदिक ज्ञान का विस्तार ब्रह्मा से होता है जिन्हें *श्रीमद्भागवत* के प्रथम श्लोक में आदि कवि कहा गया है। तो भी ब्रह्माजी भगवान् कृष्ण के दिव्य शरीर को जान नहीं पाये क्योंकि वह सामान्य वैदिक ज्ञान की पहुँच से बाहर है। भगवान् के समस्त दिव्य रूपों में गोविन्द का द्विभुज रूप—कृष्ण—ही आदि एवं परम रूप है। अत: गोविन्द द्वारा मक्खन चुराने, गोपियों का स्तन-पान करने, बछड़े चराने, वंशी बजाने तथा बालक्रीड़ाएँ करने की लीलाएँ भगवान् विष्णु के अंशों के कार्यकलापों की तुलना में अद्वितीय हैं।

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् ।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ज्ञाने—ज्ञान के लिए; प्रयासम्—प्रयास; उदपास्य—त्यागकर; नमन्तः—नमस्कार करते हुए; एव—केवल; जीवन्ति—जीवित रहते हैं; सत्-मुखरिताम्—शुद्ध भक्तों द्वारा उच्चारित; भवदीय-वार्ताम्—आपकी कथा; स्थाने—अपने भौतिक स्थान में; स्थिताः—स्थित रहकर; श्रुति-गताम्—सुन करके प्राप्त; तनु—अपने शरीर द्वारा; वाक्—शब्द; मनोभिः—तथा मन के द्वारा; ये—जो; प्रायशः—अधिकांशतः; अजित—हे अजेय; जितः—जीते गये; अपि—फिर भी; असि—हो जाते हो; तैः—उनके द्वारा; त्रि-लोक्याम्—तीनों लोकों में।

जो लोग अपने प्रतिष्ठित सामाजिक पदों पर रहते हुए ज्ञान-विधि का तिरस्कार करते हैं और मन, वचन और कर्मों से आपके तथा आपके कार्यकलापों के गुणगान के प्रति सम्मान व्यक्त करते हैं और आप तथा आपके द्वारा गुंजित इन कथाओं में अपना जीवन न्योछावर कर देते हैं, वे

निश्चित रूप से आपको जीत लेते हैं अन्यथा आप तीनों लोकों में किसी के द्वारा भी अजेय हैं।

तात्पर्य : *उदपास्य* शब्द स्पष्ट सूचित करता है कि मानसिक चिन्तन की विधि (ज्ञान) द्वारा परम सत्य को समझने का तनिक भी प्रयास नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे ईश्वर का अपूर्ण एवं निर्विशेष ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है। *जीवन्ति* शब्द इसका द्योतक है कि जो भक्त कृष्ण का सदैव श्रवण करता है, वह भगवद्धाम जाता है भले ही वह कुछ भी न करे और केवल भगवान् विषयक कथाएँ ही सुनता रहे।

श्रील सनातन गोस्वामी ने *तनुवाङ्मनोभिः* शब्दों की व्याख्या तीन प्रकार से की है। भक्तों के प्रसंग में, कि वे मनसा-वाचा-कर्मणा भगवान् कृष्ण को जीतने में समर्थ होते हैं। इस तरह कृष्णभावनामृत में पूर्ण बनकर वे अपने हाथों से उनके चरणकमलों का स्पर्श कर सकते हैं, अपनी वाणी से उन्हें बुला सकते हैं और उनका चिन्तन करके अपने मन के भीतर उनका प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं।

अभक्तों के प्रसंग में, *तनुवाङ्मनोभिः* शब्द *अजित* के द्योतक हैं और सूचित करते हैं कि जो लोग कृष्ण की प्रेमाभक्ति नहीं करते वे अपने शारीरिक बल, वाक्चातुर्य या मानसिक शक्ति से परम सत्य को जीत नहीं सकते। सारे प्रयासों के बावजूद परम सत्य उनकी पहुँच के परे रह जाता है।

जितः शब्द के प्रसंग में *तनुवाङ्मनोभिः* शब्द यह सूचित करते हैं कि शुद्ध भक्तगण भगवान् कृष्ण के तन, मन तथा वाणी को जीत लेते हैं। भगवान् कृष्ण अपने शुद्ध भक्तों के पास रहने के कारण तन से जीत लिए जाते हैं और अपने भक्तों का गुणगान करते रहने से वाणी से तथा अपने प्रिय भक्तों का निरन्तर चिन्तन करने से मन से जीत लिये जाते हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *तनुवाङ्मनोभिः* शब्दों की व्याख्या *नमन्तः* के साथ जोड़ते हुए की है। वे बतलाते हैं कि भक्तगण मनसा-वाचा-कर्मणा भगवान् विषयक कथाओं का आदर करते हुए उनका पूरा लाभ उठा सकते हैं। भगवान् की कथाओं को नमस्कार करते समय भक्त को चाहिए कि अपने हाथों तथा सिर से भूमि स्पर्श करते हुए शरीर को सेवा में लगाये। वह *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* जैसे दिव्य ग्रंथों एवं इन ग्रंथों का प्रचार करने वाले भक्तों की प्रशंसा करने में अपनी वाणी को लगाए तथा भगवान् की कथाओं का श्रवण करते समय आदर तथा आनन्द का अनुभव करने में अपने मन को लगाए। इस तरह जिस निष्ठावान भक्त ने कृष्ण विषयक स्वल्प ज्ञान भी प्राप्त कर लिया

है, वह उनको जीत सकता है और उनके पास नित्य जीवन बिताने के लिए भगवद्धाम वापस जा सकता है।

श्रेय:सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

श्रेय:—परम लाभ का; सृतिम्—मार्ग; भक्तिम्—भक्ति; उदस्य—त्याग करके; ते—वे; विभो—हे सर्वशक्तिमान भगवान्; क्लिश्यन्ति—क्लेश सहन करते हैं; ये—जो; केवल—एकमात्र; बोध—ज्ञान की; लब्धये—प्राप्ति के लिए; तेषाम्—उनके लिए; असौ—यह; क्लेशल:—झंझट; एव—केवल; शिष्यते—रहती है; न—कुछ नहीं; अन्यत्—दूसरा; यथा—जिस तरह; स्थूल-तुष—थोथी भूसी; अवघातिनाम्—मारनेवालों के लिए।

हे प्रभु, आत्म-साक्षात्कार का सर्वोत्तम मार्ग तो आपकी ही भक्ति है। यदि कोई इस मार्ग को त्याग करके ज्ञान के अनुशीलन में प्रवृत्त होता है, तो उसे क्लेश उठाना होगा और वांछित फल भी नहीं मिल पाएगा। जिस तरह थोथी भूसी को पीटने से अन्न (गेहूँ) नहीं मिलता उसी तरह जो केवल चिन्तन करता है उसे आत्म-साक्षात्कार नहीं हो पाता। उसके हाथ केवल क्लेश लगता है।

तात्पर्य : परम पुरुष की प्रेमाभक्ति प्रत्येक जीव का सहज तथा नित्य कर्म है। यदि कोई व्यक्ति अपने वैधानिक कर्म को त्यागकर निर्विशेष ज्ञान के माध्यम से तथाकथित प्रकाश की खोज करता है, तो बनावटी प्रक्रिया का अनुसरण करने से मिलने वाले क्लेश के अतिरिक्त कुछ भी उसके हाथ नहीं लगता। कोई मूर्ख थोथी भूसी को कितना ही क्यों न पीटे किन्तु वह उसमें से अन्न नहीं प्राप्त कर सकता। इसी तरह जो व्यक्ति भगवान् की शरण में गये बिना अपने मन को बारम्बार ज्ञान की खोज में लगाता है, वह मूर्ख है क्योंकि ज्ञान का सार तथा लक्ष्य तो भगवान् ही हैं जिस तरह कि कृषि-कर्म के सारे प्रयासों का एकमात्र लक्ष्य अन्न प्राप्त करना है। वैदिक ज्ञान, या यों कहें कि ईश्वरविहीन भौतिक विज्ञान थोथी भूसी के समान है।

कोई तर्क कर सकता है कि योगाभ्यास द्वारा या निर्विशेष ज्ञान के अनुशीलन से मनुष्य को प्रतिष्ठा, धन, योगशक्ति या निर्विशेष मुक्ति का लाभ होता है। किन्तु ये तथाकथित लाभ व्यर्थ हैं क्योंकि इनसे जीव को परमेश्वर की प्रेमाभक्ति करने का वैधानिक पद प्राप्त नहीं हो पाता। अत: ऐसे लाभ क्षणिक होते हैं। जैसाकि *नृसिंहपुराण* में कहा गया है—*पत्रेषु पुष्पेषु फलेषु तोयेष्वक्रीतलभ्येषु वदैव सत्सु/ भक्त्या सुलभ्ये पुरुषे पुराणे मुक्त्यै किमर्थं क्रियते प्रयत्न:*—जब आदि पुरुष सहज ही उपलब्ध

होनेवाली वस्तुओं यथा पत्र, पुष्प, फूल तथा जल से प्राप्त किये जा सकते हैं, तो फिर मुक्ति के लिए अलग से प्रयास करने की क्या आवश्यकता है ?

यद्यपि भगवान् कृष्ण की भक्तिविधि अत्यन्त सरल है किन्तु उद्दंड बद्धजीवों को भगवान् के समक्ष पूर्णतया विनीत बनने और चौबीसों घण्टे उनकी सेवा में लगे रहने में अत्यधिक कठिनाई होती है। ऐसे पथभ्रष्ट जीव जो ईश्वर की अवज्ञा करके भोग करना चाहते हैं उनके लिए भक्तिभाव अभिशाप है। जब ऐसे उद्दंड जीव ज्ञान, तप तथा योग जैसे गर्वित प्रयासों से भगवदर्पण से बच निकलना चाहते हैं, तो वे ईश्वर के सशक्त नियमों द्वारा भौतिक जगत में वापस लौटा दिये जाते हैं और भौतिक संसार नामक भवसागर में डुबो दिये जाते हैं।

पुरेह भूमन्बहवोऽपि योगिन-
स्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया ।
विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया
प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

पुरा—भूतकाल में; इह—इस संसार में; भूमन्—हे सर्वशक्तिमान; बहवः—अनेक; अपि—निस्सन्देह; योगिनः—योगीजन; त्वत्—आपके प्रति; अर्पित—अर्पित; ईहाः—अपने सारे प्रयास; निज-कर्म—अपने नियत कर्तव्यों से; लब्धया—जो प्राप्त किया जाता है; विबुध्य—समझने पर; भक्त्या—भक्ति के द्वारा; एव—निस्सन्देह; कथा-उपनीतया—आपकी कथाओं के श्रवण तथा कीर्तन के माध्यम से अनुशीलित; प्रपेदिरे—समर्पण द्वारा उन्होंने प्राप्त किया; अञ्जः—सरलता से; अच्युत—हे अच्युत; ते—आपका; गतिम्—गन्तव्य; पराम्—परम।

हे सर्वशक्तिमान, भूतकाल में इस संसार में अनेक योगीजनों ने अपने कर्तव्य निभाते हुए तथा अपने सारे प्रयासों को आपको अर्पित करते हुए भक्तिपद प्राप्त किया है। हे अच्युत, आपके श्रवण तथा कीर्तन द्वारा सम्पन्न ऐसी भक्ति से वे आपको जान पाये और आपकी शरण में जाकर आपके परमधाम को प्राप्त कर सके।

तथापि भूमन्महिमागुणस्य ते
विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः ।
अविक्रियात्स्वानुभवादरूपतो
ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तथा अपि—फिर भी; भूमन्—हे असीम; महिमा—शक्ति; अगुणस्य—भौतिक गुणों से रहित; ते—आपकी; विबोद्धुम्—समझने के लिए; अर्हति—समर्थ होता है; अमल—निष्कलंक; अन्तः-आत्मभिः—मन तथा इन्द्रयों से; अविक्रियात्—भौतिक

भेद पर निराश्रित; स्व-अनुभवात्—परमात्मा के अनुभव से; अरूपतः—भौतिक रूपों के प्रति अनुरक्त हुए बिना; हि—निस्सन्देह; अनन्य-बोध्य-आत्मतया—बिना किसी अन्य प्रकाशक के, जैसाकि स्वतः प्रकट; न—नहीं; च—तथा; अन्यथा—नहीं तो।

किन्तु अभक्तगण आपके पूर्ण साकार रूप में आपका अनुभव नहीं कर सकते। फिर भी हृदय के अन्दर आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा वे निर्विशेष ब्रह्म के रूप में आपका अनुभव कर सकते हैं। किन्तु वे ऐसा तभी कर सकते हैं जब वे अपने मन तथा इन्द्रियों को सारी भौतिक उपाधियों तथा इन्द्रिय-विषयों के प्रति आसक्ति से शुद्ध कर लें। केवल इस विधि से ही उन्हें आपका निर्विशेष स्वरूप प्रकट हो सकेगा।

तात्पर्य : परमेश्वर के समस्त दिव्य स्वरूपों को समझ पाना बद्धजीवों के लिए कठिन है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध (१.२.११) में पुष्टि हुई है—*ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते।* ईश्वर के अस्तित्व को क्रमशः निर्विशेष तेज, घट-घट-वासी अन्तर्यामी परमात्मा तथा अपने नित्य धाम में वास करने वाले भगवान् के रूप में समझा जाता है। कृष्ण का अस्तित्व भौतिक गुणों के परे है। इसीलिए यहाँ पर भगवान् को *अगुणस्य* कहा गया है।

योगाभ्यास करने या उच्च दार्शनिक चिन्तन करने पर भी भौतिक गुणों से परे दिव्य अस्तित्व को समझ पाना कठिन है। और ये सारी विधियाँ एक तरह से भगवान् के अनन्त दिव्य गुणों को समझने में व्यर्थ होती हैं। केवल भगवान् के शुद्ध भक्तों की कृपा से या भगवान् की संगति करने से ही ईश्वर के साकार रूप का अनुभव किया जा सकता है—यह वह विधि है, जो शुद्ध कृष्णभावनामृत में जाकर अन्त होती है—यही ज्ञान की अन्तिम तथा चरम सिद्धि है।

गुणात्मनस्तेऽपि गुणान्विमातुं
हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य ।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै-
र्भूपांशवः खे मिहिका द्युभासः ॥ ७॥

शब्दार्थ

गुण-आत्मनः—समस्त उत्तम गुणों से सम्पन्न व्यक्ति का; ते—आप; अपि—निश्चय ही; गुणान्—गुणों को; विमातुम्—गिनने के लिए; हित-अवतीर्णस्य—जो समस्त जीवों के हित के लिए अवतीर्ण हुआ है; के—कौन; ईशिरे—समर्थ है; अस्य—ब्रह्माण्ड का; कालेन—कालक्रम में; यैः—जिसके द्वारा; वा—अथवा; विमिताः—गिना हुआ; सु-कल्पैः—महान् विज्ञानियों द्वारा; भू-पांशवः—पृथ्वी लोक के परमाणु; खे—आकाश में; मिहिकाः—बर्फ के कण; द्यु-भासः—तारों तथा ग्रहों का प्रकाश।

समय के साथ, विद्वान दार्शनिक या विज्ञानी, पृथ्वी के सारे परमाणु, हिम के कण या

शायद सूर्य, नक्षत्र तथा ग्रहों से निकलने वाले ज्योति कणों की भी गणना करने में समर्थ हो सकते हैं किन्तु इन विद्वानों में ऐसा कौन है, जो आप में अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर में निहित असीम दिव्य गुणों का आकलन कर सके। ऐसे भगवान् समस्त जीवात्माओं के कल्याण के लिए इस धरती पर अवतरित हुए हैं।

तात्पर्य : श्रील सनातन गोस्वामी बतलाते हैं कि भगवान् कृष्ण *गुणात्मा* हैं क्योंकि वे गुणों को जीवन्त करते हैं। उदाहरणार्थ, उदारता, बुद्धि तथा दया जैसे गुणों की विवेचना तो की जा सकती है किन्तु वे सजीव तभी होते हैं जब कोई सजीव व्यक्ति उन्हें प्रकट करता है। अत: कृष्ण गुणात्मा हैं क्योंकि वे इस भौतिक जगत में अवतरित होते हैं और अपने ईश्वरीय गुणों को प्रकट करके तथा अन्यों में उनकी प्रेरणा देकर धर्म की पुन: स्थापना करते हैं। जो जीव भगवान् में प्राप्य दिव्य गुणों को विकसित करता है उसे असीम लाभ प्राप्त होता है और अन्तत:वह भगवद्धाम जाता है जहाँ जाने पर सारे जीव मुक्त हो जाते हैं और दिव्य स्वभाव को प्राप्त होते हैं।

श्रील सनातन गोस्वामी आगे यह भी बतलाते हैं कि भगवान् हर जीव के लाभ हेतु एक विशिष्ट आध्यात्मिक गुण प्रदर्शित करते हैं। चूँकि इस सृष्टि में असंख्य जीव हैं अतएव भगवान् अनन्त गुण प्रकट करते हैं। इस तरह प्रत्येक बद्धजीव भगवान् को विशिष्ट रूप से जान सकता है।

यहाँ पर उदाहरण दिया गया है कि भले ही सबसे विद्वान पंडितगण पृथ्वी, हिम तथा प्रकाश के कणों की गणना कर लें किन्तु तो भी वे भगवान् के गुणों को समझ नहीं पाएंगे। इस उदाहरण में पृथ्वी, हिम तथा प्रकाश उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते जाते हैं अतएव उनके अनन्त कणों की गणना कर सकना एक प्रकार से बहुत ही कठिन है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार भगवान् संकर्षण जैसे महापुरुषों ने पृथ्वी के ही नहीं अपितु सारे ब्रह्माण्ड भर के परमाणुओं की संख्या की गणना की है। फिर भी संकर्षण जैसे व्यक्ति जो कि अनादि काल से भगवान् की महिमा का निरन्तर गुणगान करते आ रहे हैं उन गुणों की गणना के अन्तिम दौर में भी नहीं पहुँच पाये।

भगवान् कृष्ण वृन्दावन में अपनी बाललीलाओं के समय आश्चर्यजनक गुण प्रदर्शित करते हैं—वहाँ वे गोपिकाओं का माखन चुराते हैं, अपनी सखियों के साथ नाचते हैं और अपने प्रिय संगी ग्वालबालों

के साथ उनके सर्वाधिक प्रिय सखा के रूप में क्रीड़ा करते हैं। यद्यपि ये सामान्य मानवी क्रीड़ाएँ प्रतीत होती हैं किन्तु इन दिव्य लीलाओं में कृष्ण के असंख्य सुन्दर गुण निहित रहते हैं, जो शुद्ध भक्तों के जीवनाधार हैं।

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; ते—आपकी; अनुकम्पाम्—दया की; सु-समीक्षमाणः—आशा रखते हुए; भुञ्जानः—सहन करते हुए; एव—निश्चय ही; आत्म-कृतम्—अपने से किया गया; विपाकम्—कर्म फल; हृत्—हृदय; वाक्—वाणी; वपुर्भिः—तथा शरीर से; विदधन्—अर्पित करते हुए; नमः—नमस्कार; ते—आपको; जीवेत—जीवित रहता है; यः—जो; मुक्ति-पदे—मुक्ति पद के लिए; सः—वह; दाय-भाक्—असली उत्तराधिकारी।

हे प्रभु, जो व्यक्ति अपने विगत दुष्कर्मों के फलों को धैर्यपूर्वक सहते हुए तथा अपने मन, वाणी तथा शरीर से आपको नमस्कार करते हुए सत्यनिष्ठा से आपकी अहैतुकी कृपा प्रदत्त किये जाने की प्रतीक्षा करता है, वह अवश्य ही मोक्ष का भागी होता है क्योंकि यह उसका अधिकार बन जाता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी टीका करते हुए बतलाते हैं कि जिस प्रकार वैध पुत्र को पिता का उत्तराधिकारी बनने के लिए केवल जीवित रहना होता है उसी तरह जो व्यक्ति भक्तियोग के नियमों का पालन करते हुए कृष्णभावनामृत को अपना प्राणाधार बनाता है उसे भगवत्कृपा प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में, वह भगवद्धाम को जाता है।

सुसमीक्षमाण शब्द सूचित करता है कि भक्त अपने पूर्व पापकृत्यों के कष्टकारक फलों का भोग करते हुए भी भगवान् की कृपा की प्रतीक्षा करता है। भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में कहा है कि जो भक्त उनकी शरण में चला जाता है उसे पूर्वकर्म का फल नहीं भोगना पड़ता। फिर भी चूँकि भक्त के मन में अपनी पूर्वपाप मनोवृत्ति के अवशेष रह सकते हैं अत: भगवान् कभी कभी अपने भक्त को दण्ड देते प्रतीत होते हैं, जो पाप के फलों जैसा हो सकता है। ईश्वर की सम्पूर्ण सृष्टि का उद्देश्य जीव की उस प्रवृत्ति को सुधारना है, जिसमें वह ईश्वर के बिना भोग करना चाहता है, अत: किसी पापकर्म के लिए विशेष दण्ड दिया जाना उस मनोवृत्ति को कम करने के लिए होता है, जिससे वह कर्म हुआ होता है।

यद्यपि भक्त भगवान् की भक्ति के अधीन रहता है किन्तु जब तक वह कृष्णभावनामृत में पूरी तरह दक्ष नहीं हो लेता तब तक उसमें इस जगत के मिथ्या सुख को भोगने की थोड़ी थोड़ी प्रवृत्ति रह जाती है। इसलिए भगवान् इस बची हुई भोग-प्रवृत्ति को समूल नष्ट करने के लिए विशिष्ट स्थिति उत्पन्न करते हैं। निष्ठावान् भक्त द्वारा भोगा जाने वाला दुख कर्मफल नहीं है प्रत्युत यह भगवान् की विशिष्ट कृपा होती है कि वे उसे भौतिक जगत छोड़कर भगवद्धाम वापस जाने की प्रेरणा देते हैं।

निष्ठावान भक्त भगवद्धाम जाने के लिए इच्छुक रहता है, इसलिए वह खुशी खुशी भगवान् के दयापूर्ण दण्ड को स्वीकार करता है और वह मन, वचन तथा कर्म से भगवान् को आदर देता है तथा नमस्कार करता है। भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए भगवान् का ऐसा प्रामाणिक दास ईश्वर का वैध पुत्र बन जाता है जैसाकि *दायभाक्* शब्दों से सूचित होता है। जिस प्रकार स्वयं अग्नि बने बिना कोई भी व्यक्ति सूर्य के पास नहीं पहुँच सकता उसी तरह कठोर शुद्धीकरण विधि का पालन किए बिना कोई परम पवित्र कृष्ण तक नहीं पहुँच सकता—यह शुद्धीकरण भले ही कष्ट जैसा प्रतीत हो किन्तु यह भगवान् के हाथों द्वारा किया गया उपचार होता है।

पश्येश मेऽनार्यमनन्त आद्ये
परात्मनि त्वय्यपि मायिमायिनि ।
मायां वितत्येक्षितुमात्मवैभवं
ह्यहं कियानैच्छमिवार्चिरग्नौ ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

पश्य—जरा देखें तो; ईश—हे प्रभु; मे—मेरा; अनार्यम्—निन्दनीय आचरण; अनन्ते—अनन्त के विरुद्ध; आद्ये—आदि; पर-आत्मनि—परमात्मा; त्वयि—तुम; अपि—भी; मायि-मायिनि—माया के स्वामियों के लिए; मायाम्—(मेरी) माया; वितत्य—विस्तृत होकर; ईक्षितुम्—देखने के लिए; आत्म—आपकी; वैभवम्—शक्ति को; हि—निस्सन्देह; अहम्—मैं; कियान्—कितनी; ऐच्छम्—मैंने इच्छा की; इव—सदृश; अर्चिः—चिनगारी; अग्नौ—अग्नि की तुलना में।

हे प्रभु, मेरी अशिष्टता को जरा देखें! आपकी शक्ति की परीक्षा करने के लिए मैंने अपनी मायामयी शक्ति से आपको आच्छादित करने का प्रयत्न किया जबकि आप असीम तथा आदि परमात्मा हैं, जो मायापतियों को भी मोहित करनेवाले हैं। आपके सामने भला मैं क्या हूँ? विशाल अग्नि की उपस्थिति में मैं छोटी चिनगारी की तरह हूँ।

तात्पर्य : विशाल अग्नि से अनेक चिनगारियाँ निकलती हैं, जो उसकी तुलना में नगण्य होती हैं। यदि एक छोटी चिनगारी मूल अग्नि को जलाने का प्रयास करे तो यह प्रयास उपहासात्मक होगा। इसी

प्रकार अखिल ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्मा भी ईश्वर की शक्ति की नगण्य चिनगारी हैं इसलिए ब्रह्मा द्वारा परमेश्वर को मोहित करने का प्रयास निश्चित रूप से हास्यास्पद था।

ब्रह्मा यहाँ पर भगवान् कृष्ण को *ईश* कहकर सम्बोधित करते हैं, जो यह सूचित करता है कि कृष्ण न केवल सबों के स्वामी हैं अपितु भगवान् के निर्देशन में ब्रह्माण्ड का सृजन करनेवाले उन ब्रह्मा के भी स्वामी हैं, जो भगवान् के ही शरीर से उत्पन्न हैं।

भगवान् कृष्ण को छलने के प्रयास के कारण ब्रह्मा को अपनी अशिष्टता पर लज्जा आई अतएव वे उनके द्वारा दण्डित होने या क्षमा किये जाने के लिए पूर्णतया राजी थे। यदि भगवान् कृष्ण अपने भक्तों को अनुचित कार्य करने पर दण्ड नहीं दें तो उनकी मूर्खता बढ़ती जाये और वह उनके भक्ति-भावों को पूर्णतया आच्छादित कर ले। इसलिए भगवान् कृष्ण कृपा करके अपने भक्तों को अनुशासित रखते हैं और उन्हें भगवद्धाम के मार्ग की ओर अग्रसर होने देते हैं।

अतः क्षमस्वाच्युत मे रजोभुवो
ह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिनः ।
अजावलेपान्धतमोऽन्धचक्षुष
एषोऽनुकम्प्यो मयि नाथवानिति ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अतः—अतएव; क्षमस्व—कृपया क्षमा कर दें; अच्युत—हे अच्युत प्रभु; मे—मुझको; रजः-भुवः—रजोगुण में उत्पन्न; हि—निस्सन्देह; अजानतः—अज्ञान होने से; त्वत्—आपसे; पृथक्—भिन्न; ईश—नियन्ता; मानिनः—अपने को मानते हुए; अज—अजन्मा; अवलेप—आवरण; अन्ध-तमः—अज्ञान के ऐसे अंधकार से; अन्ध—अन्धी; चक्षुषः—मेरी आँखें; एषः—यह व्यक्ति; अनुकम्प्यः—दया दिखानी चाहिए; मयि—मुझ पर; नाथ-वान्—अपने स्वामी के रूप में पाकर; इति—ऐसा सोचते हुए।

अतएव हे अच्युत भगवान्, मेरे अपराधों को क्षमा कर दें। मैं रजोगुण से उत्पन्न हुआ हूँ और स्वयं को आपसे पृथक् (स्वतंत्र) नियन्ता मानने के कारण मैं निरा मूर्ख हूँ। अज्ञान के अंधकार से मेरी आँखें अंधी हो चुकी हैं जिसके कारण मैं अपने को ब्रह्माण्ड का अजन्मा स्रष्टा समझ रहा हूँ। किन्तु मुझे आप अपना सेवक मानें और अपनी दया का पात्र बना लें।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अपनी टीका में बतलाया है कि ब्रह्मा भगवान् के समक्ष निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करना चाह रहे थे: "हे प्रभु! चूँकि मैंने बहुत बुरा कर्म किया है इसलिए मैं दण्ड का पात्र हूँ। साथ ही चूँकि मैं इतना बड़ा अज्ञानी हूँ इसलिए आप मुझे अबोध मूर्ख मानकर मुझ पर कृपा कीजिये। इस तरह यद्यपि मैं दण्ड तथा क्षमा दोनों का पात्र हूँ किन्तु मेरी विनम्र

याचना है कि आप इस विषय में सहिष्णुता बरतते हुए मुझे क्षमा कर दें और मुझ पर कृपा करें।''

नाथवान् इति शब्दों के द्वारा ब्रह्माजी भगवान् कृष्ण को जताना चाह रहे थे कि आखिर वे उनके पिता और स्वामी हैं अतएव वे अपने इस विनीत सेवक के अपराध को क्षमा कर दें। प्रत्येक बद्धजीव, चाहे वह ब्रह्मा हो या क्षुद्र चींटी, अपनी पहचान भौतिक जगत से बनाना चाहता है और इस तरह भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाता है। ब्रह्माजी भी इस विराट जगत के स्रष्टा के प्रतिष्ठित पद पर होने के कारण अपनी पहचान इस जगत के स्वामी के रूप में करते हैं और कभी कभी वे भूल जाते हैं कि वे परमेश्वर के तुच्छ सेवक हैं। अब भगवान् कृष्ण की कृपा से यह मिथ्या पहचान सही की जा रही है और ब्रह्माजी ईश्वर के नित्यदास के रूप में अपनी स्थिति का स्मरण कर रहे हैं।

क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भू-
संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः ।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या-
वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

क्व—कहाँ; अहम्—मैं; तमः—भौतिक प्रकृति; महत्—सम्पूर्ण भौतिक शक्ति; अहम्—मिथ्या अहंकार; ख—आकाश; चर—वायु; अग्नि—आग; वाः—जल; भू—पृथ्वी; संवेष्टित—घिरा हुआ; अण्ड-घट—घड़े के सदृश ब्रह्माण्ड; सप्त-वितस्ति—सात बालिश्त; कायः—शरीर; क्व—कहाँ; ईदृक्—इसके; विधा—सदृश; अविगणित—असीम; अण्ड—ब्रह्माण्ड; पर-अणु—परमाणु की धूल सदृश; चर्या—चलायमान; वात-अध्व—वायु के छेद; रोम—शरीर के रोमों के; विवरस्य—छेदों के; च—भी; ते—आपकी; महित्वम्—महानता।

कहाँ मैं अपने हाथ के सात बालिश्तों के बराबर एक क्षुद्र प्राणी जो भौतिक प्रकृति, समग्र भौतिक शक्ति, मिथ्या अहंकार, आकाश, वायु, जल तथा पृथ्वी से बने घड़े-जैसे ब्रह्माण्ड से घिरा हुआ हूँ! और कहाँ आपकी महिमा! आपके शरीर के रोमकूपों से होकर असंख्य ब्रह्माण्ड उसी प्रकार आ-जा रहे हैं जिस तरह खिड़की की जाली के छेदों से धूल कण आते-जाते रहते हैं।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने *चैतन्य-चरितामृत* (आदि लीला ५.७२) में इस श्लोक का सारांश इस प्रकार दिया है, ''कृष्ण की गौवों तथा ग्वालमित्रों को चुराने के बाद जब ब्रह्माजी लौटे तो देखा कि गौवें तथा ग्वालबाल अब भी कृष्ण के साथ टहल रहे हैं, तो उन्होंने अपनी पराजय में यह स्तुति की। बद्धजीव, यहाँ तक कि समग्र ब्रह्माण्ड के कामकाज चलाने वाले ब्रह्माजी भी भगवान् की बराबरी नहीं

कर सकते क्योंकि भगवान् अपने शरीर के रोमछिद्रों से निकलने वाली आध्यात्मिक किरणों से असंख्य ब्रह्माण्डों की सृष्टि कर सकते हैं। भौतिक विज्ञानियों को ब्रह्माजी के इन शब्दों से ईश्वर के समक्ष अपनी नगण्यता के विषय में शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। ब्रह्माजी की इन स्तुतियों में उन लोगों के लिए बहुत कुछ सीखने को है, जो शक्ति के संचय से गर्वित हो उठे हैं।''

श्रील प्रभुपाद ''भगवान् श्रीकृष्ण'' (भाग १, अध्याय १४) में इस श्लोक की टीका करते हुए आगे कहते हैं, ''ब्रह्माजी को अपनी असली स्थिति का अनुभव हुआ। निश्चित ही वे इस ब्रह्माण्ड के परम गुरु हैं और भौतिक ब्रह्माण्ड के सृजन के लिए उत्तरदायी हैं, जो पूर्ण भौतिक तत्त्वों, मिथ्या अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी से बना हुआ है। भले ही ऐसा ब्रह्माण्ड विशाल हो किन्तु उसे मापा जा सकता है, जिस तरह हम शरीर को सात बालिश्तों में मापते हैं। सामान्यत: हरेक के अपने शरीर की आप उसके अपने हाथों के साथ यह ब्रह्माण्ड भले ही विशाल शरीर प्रतीत हो किन्तु यह ब्रह्माजी के सात बालिश्तों के बराबर है।''

इस ब्रह्माण्ड के अतिरिक्त अन्य असंख्य ब्रह्माण्ड हैं, जो इन ब्रह्माजी के अधिकार-क्षेत्र के बाहर हैं। जिस प्रकार खिड़की की जाली के छेदों से होकर असंख्य सूक्ष्म कण गुजरते रहते हैं उसी तरह महाविष्णु के रोमछिद्रों से करोड़ों ब्रह्माण्ड बीज रूप में निकलते रहते हैं और स्वयं महाविष्णु भगवान् कृष्ण के स्वांश मात्र हैं। ऐसी दशा में यद्यपि ब्रह्माजी इस ब्रह्माण्ड में सबसे बड़े प्राणी हैं किन्तु कृष्ण के समक्ष उनकी महत्ता ही क्या है?

उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयो:
किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे ।
किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं
तवास्ति कुक्षे: कियदप्यनन्त: ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

उत्क्षेपणम्—लात मारना; गर्भ-गतस्य—गर्भस्थ शिशु; पादयो:—दोनों पाँवों का; किम्—क्या; कल्पते—मूल्य है; मातु:—माता के लिए; अधोक्षज—हे दिव्य प्रभु; आगसे—अपराध के रूप में; किम्—क्या; अस्ति—है; न अस्ति—नहीं है; व्यपदेश—उपाधि से; भूषितम्—अलंकृत; तव—आपका; अस्ति—है; कुक्षे:—उदर के; कियत्—कितना; अपि—भी; अनन्त:—बाह्य।

हे प्रभु अधोक्षज, क्या कोई माता अपने गर्भ के भीतर स्थित शिशु द्वारा लात मारे जाने को अपराध समझती है? क्या आपके उदर के बाहर वास्तव में ऐसी किसी वस्तु का अस्तित्व है,

जिसे दार्शनिक जन ''है'' या ''नहीं है'' की उपाधि प्रदान कर सकें?

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने ''भगवान् श्रीकृष्ण'' (भाग १ अध्याय १४) में इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है, ''अत: ब्रह्मा ने अपनी बराबरी किसी माता के गर्भ में स्थित एक शिशु से की। यदि शिशु गर्भ के भीतर हाथ-पैर चलाता है और वे माता के शरीर से छू जाते हैं, तो क्या माता इस शिशु से रूष्ट होती है? निस्सन्देह नहीं। इसी तरह ब्रह्मा भले ही महान् पुरुष हों किन्तु न केवल ब्रह्मा अपितु हर वस्तु भगवान् के उदर में स्थित है। भगवान् की शक्ति सर्वव्यापक है। सृष्टि में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ यह शक्ति क्रियाशील न हो। सारी वस्तुएँ भगवान् की शक्ति के ही अन्तर्गत विद्यमान हैं अत: इस ब्रह्माण्ड के ब्रह्माजी अथवा अन्य करोड़ों ब्रह्माण्डों के ब्रह्मा भी भगवान् की शक्ति के अन्तर्गत स्थित हैं। इसीलिए भगवान् को माता माना जाता है और माता के गर्भ के भीतर स्थित प्रत्येक वस्तु शिशु मानी जाती है। अच्छी माता कभी भी शिशु का अपराध नहीं मानती भले ही वह अपने पाँवों से माता के शरीर पर पाद-प्रहार क्यों न करे।''

जगत्त्रयान्तोदधिसम्प्लवोदे
नारायणस्योदरनाभिनालात् ।
विनिर्गतोऽजस्त्विति वाङ्न वै मृषा
किन्त्वीश्वर त्वन्न विनिर्गतोऽस्मि ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

जगत्-त्रय—तीनों लोकों की; अन्त—विजय में; उदधि—सारे समुद्रों में; सम्प्लव—पूर्ण आप्लावन का; उदे—जल में; नारायणस्य—भगवान् नारायण के; उदर—उदर से उग कर; नाभि—नाभि; नालात्—कमल के डंठल से; विनिर्गत:—बाहर निकले; अज:—ब्रह्मा; तु—निस्सन्देह; इति—इस प्रकार कहते हुए; वाक्—शब्द; न—नहीं हैं; वै—निश्चय ही; मृषा—झूठा; किन्तु—इस प्रकार; ईश्वर—हे ईश्वर; त्वत्—आपसे; न—नहीं; विनिर्गत:—विशेष रूप से निकला; अस्मि—मैं हूँ।

हे प्रभु, ऐसा कहा जाता है कि जब प्रलय के समय तीनों लोक जलमग्न हो जाते हैं, तो आपके अंश, नारायण, जल में लेट जाते हैं, उनकी नाभि से धीरे-धीरे एक कमल का फूल निकलता है और उस फूल से ब्रह्मा का जन्म होता है। अवश्य ही ये वचन झूठे नहीं हैं। तो क्या मैं आपसे उत्पन्न नहीं हूँ?

तात्पर्य : यद्यपि सारे जीव ईश्वर की सन्तान हैं किन्तु ब्रह्माजी यहाँ पर विशेष दावा करते हैं क्योंकि उनका जन्म भगवान् नारायण की नाभि से निकले कमल के फूल से हुआ है। अन्ततोगत्वा सारे जीव भगवान् के दिव्य शरीर के एक अंश हैं। लेकिन ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने से ब्रह्माजी का उनसे घनिष्ट

सम्बन्ध है इसीलिए वे भगवान् की विशेष दया की याचना करते हुए *विनिर्गत* शब्द के साथ *वि* उपसर्ग लगाते हैं। ब्रह्माजी *अज* कहलाते हैं क्योंकि वे किसी माता से उत्पन्न न होकर सीधे भगवान् के शरीर से उत्पन्न हुए हैं। जैसाकि श्रील प्रभुपाद ने ''भगवान् श्रीकृष्ण'' में लिखा है, ''इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि नारायण ही ब्रह्मा की माता हैं।'' इन्हीं कारणों से ब्रह्माजी अपने अपराधों के लिए विशेष क्षमायाचना करते हैं।

नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिना-
मात्मास्यधीशाखिललोकसाक्षी ।
नारायणोऽङ्गं नरभूजलायना-
त्तच्चापि सत्यं न तवैव माया ॥ १४॥

शब्दार्थ

नारायणः—भगवान् नारायण; त्वम्—तुम; न—नहीं; हि—क्या; सर्व—सभी; देहिनाम्—देहधारी जीवों के; आत्मा—परमात्मा; असि—हो; अधीश—हे परम नियन्ता; अखिल—सम्पूर्ण; लोक—लोकों के; साक्षी—गवाह; नारायणः—श्री नारायण; अङ्गम्—अंश; नर—भगवान् से; भू—निकलकर; जल—जल के; अयनात्—प्रकट करने वाले स्रोत होने से; तत्—वह अंश; च—तथा; अपि—निस्सन्देह; सत्यम्—सच; न—नहीं; तव—तुम्हारा; एव—तनिक भी; माया—मोहक शक्ति।

हे परम नियन्ता, प्रत्येक देहधारी जीव के आत्मा तथा समस्त लोकों के शाश्वत साक्षी होने के कारण क्या आप आदि नारायण नहीं हैं? निस्सन्देह, भगवान् नारायण आपके ही अंश हैं और वे नारायण इसलिए कहलाते हैं क्योंकि ब्रह्माण्ड के आदि जल के जनक हैं। वे सत्य हैं, आपकी माया से उत्पन्न नहीं हैं।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने *चैतन्य-चरितामृत* (आदि लीला, २.३०)में इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है ''यह ब्रह्मा का कथन है जब वे भगवान् कृष्ण द्वारा योगशक्ति प्रकट किये जाने पर पराजित होकर उनकी स्तुति कर रहे थे। ब्रह्मा ने यह देखने के लिए भगवान् कृष्ण की परीक्षा लेनी चाही थी कि ग्वाल-बाल के रूप में खेलनेवाले कृष्ण सचमुच भगवान् ही हैं। ब्रह्मा ने अन्य सारे बालकों तथा उनकी गौवों को चरागाह से चुरा लिया किन्तु जब वे लौटे तो देखा कि सारे बालक तथा गौवें चरागाह में ही थे क्योंकि भगवान् ने फिर से उनकी सृष्टि कर दी थी। जब ब्रह्मा ने भगवान् कृष्ण की इस योगशक्ति को देखा तो उन्होंने हार मान ली और भगवान् को अपना स्वामी तथा सृष्टि की प्रत्येक वस्तु का द्रष्टा एवं समस्त जीवों के भीतर स्थित परमात्मा के रूप में सम्बोधित करते हुए उनकी स्तुति की। भगवान् कृष्ण नारायण हैं अर्थात् ब्रह्मा के पिता हैं क्योंकि कृष्ण के अंश रूप गर्भोदकशायी

विष्णु ने गर्भोदक में शयन करते हुए ब्रह्मा को अपने शरीर से उत्पन्न किया था। कारणार्णव में महाविष्णु और सबों के हृदय में वास करनेवाले परमात्मा स्वरूप क्षीरोदकशायी विष्णु भी परम सत्य के अंश हैं।''

श्रील सनातन गोस्वामी ने इस श्लोक की टीका करते हुए भगवान् के आदि स्वरूप श्रीकृष्ण के अवतार विष्णु या नारायण के अंश की विस्तृत व्याख्या की है। इसका सार यह है कि यद्यपि ब्रह्माजी नारायण से उत्पन्न हुए थे किन्तु अब ब्रह्मा समझ रहे हैं कि नारायण तो आदि भगवान् श्रीकृष्ण के ही अंश हैं।

तच्चेज्जलस्थं तव सज्जगद्वपुः
किं मे न दृष्टं भगवंस्तदैव ।
किं वा सुदृष्टं हृदि मे तदैव
किं नो सपद्येव पुनर्व्यदर्शि ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; चेत्—यदि; जल-स्थम्—जल में स्थित था; तव—तुम्हारा; सत्—असली; जगत्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को आश्रय देते हुए; वपुः—दिव्य शरीर; किम्—क्यों; मे—मेरे द्वारा; न दृष्टम्—नहीं देखा गया; भगवन्—हे भगवन्; तदा एव—उसी समय; किम्—क्यों; वा—अथवा; सु-दृष्टम्—भलीभाँति देखा हुआ; हृदि—हृदय में; मे—मेरे द्वारा; तदा एव—तभी ही; किम्—क्यों; न—नहीं; उ—दूसरी ओर; सपदि—अचानक; एव—निस्सन्देह; पुनः—फिर; व्यदर्शि—देखा गया।

हे प्रभु, यदि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को शरण देने वाला आपका यह दिव्य शरीर वास्तव में जल में शयन करता है, तो फिर आप मुझे तब क्यों नहीं दिखे जब मैं आपको खोज रहा था? और तब क्यों आप सहसा प्रकट नहीं हो गये थे यद्यपि मैं अपने हृदय में आपको ठीक से देख नहीं पाया था।

तात्पर्य : यहाँ पर ब्रह्माजी विराट सृष्टि के प्रारम्भ के अपने अनुभव का उल्लेख कर रहे हैं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कन्ध में कहा गया है कि ब्रह्मा का जन्म उस विशाल कमलासन से हुआ जिसकी नाल नारायण की नाभि से निकली थी। ब्रह्मा अपने विषय में, अपने कार्य तथा अपनी पहचान के बारे में मोहित थे अतएव सही जानकारी पाने के उद्देश्य से वे कमलनाल के उद्गम का पता लगाना चाह रहे थे। भगवान् को न पाकर ब्रह्मा अपने आसन पर लौट आये और अदृश्य किन्तु दिव्य भगवद्वाणी द्वारा आदेश दिये जाने पर घोर तपस्या में लग गये। दीर्घ ध्यान के बाद ब्रह्मा ने भगवान् को देखा किन्तु वे तुरन्त ही ओझल हो गये। इस तरह ब्रह्मा ने निष्कर्ष निकाला कि भगवान् का दिव्य शरीर

भौतिक नहीं अपितु अचिन्त्य योगशक्तियों से ओतप्रोत नित्य आध्यात्मिक स्वरूप है। दूसरे शब्दों में, ब्रह्मा ने समस्त योगशक्ति के स्वामी भगवान् को ललकार कर अच्छा नहीं किया।

अत्रैव मायाधमनावतारे
ह्यस्य प्रपञ्चस्य बहिः स्फुटस्य ।
कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्या
मायात्वमेव प्रकटीकृतं ते ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अत्र—इसी; एव—ही; माया-धमन—हे माया को वश में करने वाले; अवतारे—अवतार में; हि—निश्चय ही; अस्य—इस; प्रपञ्चस्य—सृजित जगत का; बहिः—बाहर से; स्फुटस्य—दृश्य; कृत्स्नस्य—सम्पूर्ण; च—तथा; अन्तः—भीतर; जठरे—आपके उदर में; जनन्याः—आपकी माता के; मायात्वम्—आपकी मायावी शक्ति; एव—निस्सन्देह; प्रकटी-कृतम्—प्रकट की जा चुकी है; ते—आपके द्वारा।

हे प्रभु, आपने इसी अवतार में यह सिद्ध कर दिया है कि आप माया के परम नियंत्रक हैं। यद्यपि आप अब इस ब्रह्माण्ड के भीतर हैं किन्तु सारा ब्रह्माण्ड आपके दिव्य शरीर के भीतर है—आपने इस तथ्य को माता यशोदा के समक्ष अपने उदर के भीतर ब्रह्माण्ड दिखलाकर प्रदर्शित कर दिया है।

तात्पर्य : यहाँ पर ब्रह्माजी भगवान् की अचिन्त्य आध्यात्मिक शक्ति का वर्णन कर रहे हैं। हम घर के भीतर घट को तो देखते हैं किन्तु इसी घट के भीतर घर के होने की अपेक्षा नहीं करते। किन्तु भगवान् इस ब्रह्माण्ड के भीतर प्रकट होकर अपने शरीर के भीतर समस्त ब्रह्माण्डों को प्रदर्शित कर सकते हैं। कोई यह तर्क कर सकता है कि चूँकि माता यशोदा ने भगवान् कृष्ण के उदर के भीतर जो ब्रह्माण्ड देखे थे वे उनके शरीर के भीतर ही थे अतएव वे बाह्य रूप से प्रकट मायामय भौतिक ब्रह्माण्डों से भिन्न हैं। किन्तु ब्रह्माजी उस तर्क का निराकरण करते हैं । भगवान् कृष्ण *मायाधमन* हैं—माया के परम नियन्ता हैं। भगवान् अपनी परम योगशक्ति से साक्षात् माया को मोहित कर सकते हैं। इस तरह भगवान् ने अपने शरीर के भीतर सचमुच ही सारे भौतिक ब्रह्माण्डों को प्रदर्शित किया। यह *मायात्वम्* है—भगवान् की चकित कर देने वाली परम शक्ति।

यस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्मं भाति यथा तथा ।
तत्त्वय्यपीह तत्सर्वं किमिदं मायया विना ॥ १७॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; कुक्षौ—उदर में; इदम्—यह विराट जगत; सर्वम्—सारा; स-आत्मम्—अपने समेत; भाति—प्रकट किया जाता है; यथा—जिस तरह; तथा—उसी तरह; तत्—वह; त्वयि—तुम में; अपि—यद्यपि; इह—बाह्य रूप से यहाँ; तत्—वह विराट जगत; सर्वम्—सम्पूर्ण; किम्—क्या; इदम्—यह; मायया—आपकी अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव के; विना—बिना।

जिस तरह आप समेत यह सारा ब्रह्माण्ड आपके उदर में प्रदर्शित किया गया था उसी तरह अब यह उसी रूप में यहाँ पर प्रकट हुआ है। आपकी अचिन्त्य शक्ति की व्यवस्था के बिना भला ऐसा कैसे घटित हो सकता है?

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने ''भगवान् श्रीकृष्ण'' में इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है, ''इसमें ब्रह्मा ने बल दिया है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की अचिन्त्य शक्ति को स्वीकार किये बिना वस्तुओं की, वे जिस रूप में हैं, व्याख्या नहीं की जा सकती।''

अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते मायात्वमादर्शित-
मेकोऽसि प्रथमं ततो व्रजसुहृद्वत्साः समस्ता अपि ।
तावन्तोऽसि चतुर्भुजास्तदखिलैः साकं मयोपासिता-
स्तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अद्य—आज; एव—ही; त्वत् ऋते—आपसे पृथक्; अस्य—इस ब्रह्माण्ड का; किम्—क्या; मम—मुझको; न—नहीं; ते—आपके द्वारा; मायात्वम्—आपकी अचिन्त्य शक्ति का आधार; आदर्शितम्—दिखलाया हुआ; एकः—अकेले; असि—हो; प्रथमम्—सर्वप्रथम; ततः—तब; व्रज-सुहृत्—आपके वृन्दावन के ग्वालबाल मित्र; वत्साः—तथा बछड़े; समस्ताः—सारे; अपि—भी; तावन्तः—उतने ही; असि—हो गये; चतुः-भुजाः—भगवान् विष्णु की चार भुजाएँ; तत्—तब; अखिलैः—सबों के द्वारा; साकम्—साथ; मया—मेरे द्वारा; उपासिताः—पूजित होकर; तावन्ति—उतनी ही संख्या के; एव—भी; जगन्ति—ब्रह्माण्ड; अभूः—बन गये; तत्—तब; अमितम्—असंख्य; ब्रह्म—परम सत्य; अद्वयम्—अद्वितीय; शिष्यते—अब आप शेष हैं।

क्या आपने आज मुझे यह नहीं दिखलाया कि आप स्वयं तथा इस सृष्टि की प्रत्येक वस्तु आपकी अचिन्त्य शक्ति के ही प्राकट्य हैं? सर्वप्रथम आप अकेले प्रकट हुए, तत्पश्चात् आप वृन्दावन के बछड़ों तथा अपने मित्र ग्वालबालों के रूप में प्रकट हुए। इसके बाद आप उतने ही चतुर्भुजी विष्णु रूपों में प्रकट हुए जो मुझ समेत समस्त जीवों द्वारा पूजे जा रहे थे। तत्पश्चात् आप उतने ही संपूर्ण ब्रह्माण्डों के रूप में प्रकट हुए। तदनन्तर आप अद्वितीय परम ब्रह्म के अपने अनन्त रूप में वापस आ गये हैं।

तात्पर्य : वैदिक वाड्मय में कहा गया है—*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—सारी विद्यमान वस्तुएँ भगवान् के अंश हैं। इस तरह प्रत्येक वस्तु भगवान् का अंश है। भगवान् कृष्ण की अहैतुकी कृपा से ब्रह्मा ने स्वयं अनुभव किया कि सारा जगत ईश्वर की शक्ति होने के कारण उनसे अभिन्न है।

अजानतां त्वत्पदवीमनात्म-
न्यात्मात्मना भासि वितत्य मायाम् ।
सृष्टाविवाहं जगतो विधान
इव त्वमेषोऽन्त इव त्रिनेत्रः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अजानताम्—अज्ञान में रहनेवाले मनुष्यों के लिए; त्वत्-पदवीम्—आपके दिव्य पद का; अनात्मनि—भौतिक शक्ति में; आत्मा—स्वयं; आत्मना—स्वयं से; भासि—प्रकट होते हो; वितत्य—विस्तार करके; मायाम्—अपनी अचिन्त्य शक्ति को; सृष्टौ—सृष्टि के बारे में; इव—मानो; अहम्—मैं, ब्रह्मा; जगतः—ब्रह्माण्ड के; विधाने—पालन पोषण में; इव—मानो; त्वम् एषः—आप ही; अन्ते—संहार में; इव—मानो; त्रि-नेत्रः—शिवजी।

आपकी वास्तविक दिव्य स्थिति से अपरिचित व्यक्तियों के लिए आप इस जगत के अंश रूप में अपने को अपनी अचिन्त्य शक्ति के अंश द्वारा प्रकट करते हुए अवतरित होते हैं। इस तरह ब्रह्माण्ड के सृजन के लिए आप मेरे (ब्रह्मा) रूप में, इसके पालन के लिए अपने ही (विष्णु) रूप में तथा इसके संहार के लिए आप त्रिनेत्र (शिव) के रूप में प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : यद्यपि निर्विशेष मायावादी दार्शनिक यह सोचते हैं कि देवतागण माया हैं किन्तु ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु को यहाँ पर भगवान् का अंश कहा गया है फलतः वे सत्य हैं। वे ब्रह्माण्ड के अद्वितीय शक्तिशाली नियंत्रक हैं। परम सत्य सर्वोच्च एवं सुन्दर पुरुष है इसलिए ईश्वर की सृष्टि में हमें साकारता का आभास होता है।

सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि
तिर्यक्षु यादःस्वपि तेऽजनस्य ।
जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय
प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सुरेषु—देवताओं में से; ऋषिषु—ऋषियों में; ईश—हे प्रभु; तथा—और; एव—निस्सन्देह; नृषु—मनुष्यों में; अपि—तथा; तिर्यक्षु—पशुओं में; यादःसु—जलचरों में; अपि—भी; ते—आपका; अजनस्य—अजन्मा; जन्म—जन्म; असताम्—अभक्तों का; दुर्मद—मिथ्या अहंकार; निग्रहाय—दमन करने के लिए; प्रभो—हे स्रष्टा; विधातः—हे स्रष्टा; सत्—आज्ञाकारी भक्तों पर; अनुग्रहाय—अनुग्रह दिखाने के लिए; च—तथा।

हे प्रभु, हे परम स्रष्टा एवं स्वामी, यद्यपि आप अजन्मा हैं किन्तु श्रद्धाविहीन असुरों के मिथ्या गर्व को चूर करने तथा अपने सन्त-सदृश भक्तों पर दया दिखाने के लिए आप देवताओं, ऋषियों, मनुष्यों, पशुओं तथा जलचरों तक के बीच में जन्म लेते हैं।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण देवताओं के बीच वामनदेव के रूप में, ऋषियों में परशुराम, मनुष्यों में

साक्षात् कृष्ण तथा रामचन्द्र के रूप में और पशुओं में वराह के रूप में अवतरित होते हैं। वे जलचरों के मध्य मत्स्य रूप में प्रकट होते हैं। भगवान् के मूल विस्तार असंख्य हैं क्योंकि वे इस ब्रह्माण्ड में नास्तिकों के मिथ्या दर्प को चूर करने तथा सन्त सदृश भक्तों पर दया दिखाने के लिए दयार्द्र होकर अवतरित होते हैं। दूसरे शब्दों में, चूँकि भगवान् शाश्वत रूप से विद्यमान हैं अतएव वे कभी प्रकट नहीं होते। उनका प्राकट्य सूर्य के समान है, जो आकाश में सदैव रहता है किन्तु वह हमें कभी कभी दृष्टिगोचर होता है।

को वेत्ति भूमन्भगवन्परात्मन्
योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम् ।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति
विस्तारयन्क्रीडसि योगमायाम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन; वेत्ति—जानता है; भूमन्—हे विराट; भगवन्—भगवान्; पर-आत्मन्—हे परमात्मा; योग-ईश्वर—हे योग के स्वामी; ऊतीः—लीलाएँ; भवतः—आपकी; त्रि-लोक्याम्—तीनों लोकों में; क्व—कहाँ; वा—अथवा; कथम्—कैसे; वा—अथवा; कति—कितने; वा—अथवा; कदा—कब; इति—इस प्रकार; विस्तारयन्—विस्तार करते हुए; क्रीडसि—खेलते हो; योग-मायाम्—अपनी आध्यात्मिक शक्ति से।

हे भूमन, हे भगवन्, हे परमात्मा, हे योगेश्वर, आपकी लीलाएँ इन तीनों लोकों में निरन्तर चलती रहती हैं किन्तु इसका अनुमान कौन लगा सकता है कि आप कहाँ, कैसे और कब अपनी आध्यात्मिक शक्ति का प्रयोग कर रहे हैं और इन असंख्य लीलाओं को सम्पन्न कर रहे हैं? इस रहस्य को कोई नहीं समझ सकता कि आपकी आध्यात्मिक शक्ति किस प्रकार से कार्य करती है।

तात्पर्य : इसके पूर्व ब्रह्माजी कह चुके हैं कि भगवान् कृष्ण देवताओं, मनुष्यों, पशुओं, इत्यादि के बीच अवतरित होते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि अपने अवतारों से भगवान् निरादृत होते हैं। जैसाकि ब्रह्माजी यहाँ पर स्पष्ट करते हैं भगवान् के कार्यकलापों की दिव्य प्रकृति को कोई भी नहीं समझ सकता क्योंकि ये उनकी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा सम्पन्न होते हैं। वे भूमन् होते हुए भी परम सुन्दर व्यक्ति हैं अर्थात् तिसपर भी वे भगवान् ही हैं, जो अपने धाम में प्रेममयी लीलाएँ करते रहते हैं। इसके साथ ही वे परमात्मा हैं, जो सारे बद्धजीवों के कार्यकलापों की अनुमति देते हैं और उनके साक्षी हैं। *योगेश्वर* शब्द से भगवान् की विविध पहचान होती है। परम सत्य समस्त योगशक्तियों

के स्वामी हैं। यद्यपि वे एक हैं तथा सर्वोच्च होते हुए भी वे विविध प्रकारों से अपनी महानता तथा ऐश्वर्य प्रदर्शित करते हैं।

ऐसे उच्च आध्यात्मिक विषयों को तुच्छ भौतिक शरीर से स्वयं की पहचान करनेवाले मूर्ख व्यक्ति मुश्किल से समझ पायेंगे। ऐसे बद्धजीव, यथा नास्तिक विज्ञानी अपनी गर्वित बुद्धि को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। माया में दृढ विश्वास करने के कारण वे प्रकृति के गुणों में फँस जाते हैं और ईश-ज्ञान से दूर धकेल दिए जाते हैं।

तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदु:खदु:खम् ।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
मायात उद्यदपि यत्सदिवावभाति ॥ २२॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अत:; इदम्—यह; जगत्—संसार; अशेषम्—सम्पूर्ण; असत्-स्वरूपम्—क्षणिक होने के अर्थ में जिसकी स्थिति असत् है; स्वप्न-आभम्—स्वप्न की तरह; अस्त-धिषणम्—जिसमें चेतनता आच्छादित हो जाती है; पुरु-दु:ख-दु:खम्—बारम्बार कष्टों से पूर्ण; त्वयि—तुम में; एव—निस्सन्देह; नित्य—शाश्वत; सुख—सुखी; बोध—चेतना; तनौ—निजी स्वरूप में; अनन्ते—अनन्त; मायात:—माया के द्वारा; उद्यत्—से निकल कर; अपि—यद्यपि; यत्—जो; सत्—असली; इव—मानो; अवभाति—प्रकट होता है।

अत: यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जो कि स्वप्न के तुल्य है प्रकृति से असत् है फिर भी असली (सत्) प्रतीत होता है और इस तरह यह मनुष्य की चेतना को प्रच्छन्न कर लेता है और बारम्बार दुख का कारण बनता है। यह ब्रह्माण्ड सत्य इसलिए लगता है क्योंकि यह आप से उद्भूत माया की शक्ति द्वारा प्रकट किया जाता है जिनके असंख्य दिव्य रूप शाश्वत सुख तथा ज्ञान से पूर्ण हैं।

तात्पर्य : यह ब्रह्माण्ड भोग की वस्तु या बद्धजीवों के स्थायी निवास के रूप में निश्चय ही भ्रम है, स्वप्न के सिवा कुछ नहीं है। कोई यह दृष्टान्त प्रस्तुत कर सकता है कि मरुस्थल में अत्यधिक जल का दृष्टिगोचर होना स्वप्न के सिवाय कुछ नहीं है, यद्यपि असली जल कहीं और रहता है। इसी तरह घर, सुख तथा पदार्थ के भीतर वास्तविकता का दर्शन होना मूर्खों के स्वप्न के सिवाय कुछ नहीं जिसमें बारम्बार कष्ट प्रकट होते हैं।

किन्तु दूसरे अर्थ में ब्रह्माण्ड सत्य है। *वेदान्त-सूत्र* के भाष्य में श्रील मध्वाचार्य ने वैदिक श्रुति मंत्रों को उद्धृत करते हुए इसकी पुष्टि की है—*सत्यं ह्येवेदं विश्वमसृजत*—भगवान् द्वारा सृजित यह ब्रह्माण्ड

सत्य है। यद्यपि वेदों का यह सम्यक् प्रमाण ब्रह्माण्ड के सत्य होने की पुष्टि करता है फिर भी माया द्वारा हमारा ज्ञान अपहृत होने के कारण (*अस्त-धिषणम्* शब्दों से लक्षित), हम इस ब्रह्माण्ड को या इस ब्रह्माण्ड के सृजनकर्ता भगवान् को सही ढंग से जान नहीं सकते। भगवान् कृष्ण का अंश होने के कारण यह ब्रह्माण्ड सत्य है और भगवान् की सेवा में लगे रहने के निमित्त है। जो भगवद्धाम को अपना घर, भगवान् को प्रेम की वस्तु तथा इस ब्रह्माण्ड को भगवान् की सेवा की साज-सामग्री मानता है, वह शाश्वत सत्य के अन्तर्गत निवास करता है, चाहे वह भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों में कहीं भी क्यों न रहे।

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः
सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः ।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः
पूर्णाद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

एकः—एक; त्वम्—तुम; आत्मा—परमात्मा; पुरुषः—परम पुरुष; पुराणः—सबसे पुराना; सत्यः—परम सत्य; स्वयम्-ज्योतिः—स्वतः प्रकट; अनन्तः—अन्तहीन; आद्यः—अनादि; नित्यः—शाश्वत; अक्षरः—अनश्वर; अजस्र-सुखः—जिसके सुख में व्यवधान नहीं डाला जा सकता; निरञ्जनः—कल्मषरहित; पूर्ण—पूर्ण; अद्वयः—अद्वितीय; मुक्तः—स्वतंत्र, मुक्त; उपाधितः—सारी भौतिक उपाधियों से; अमृतः—मृत्युरहित, अमर।

आप ही परमात्मा, आदि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, परम सत्य, स्वयंप्रकट, अनन्त तथा अनादि हैं। आप शाश्वत तथा अच्युत, पूर्ण, अद्वितीय तथा समस्त भौतिक उपाधियों से मुक्त हैं। न तो आपके सुख को रोका जा सकता है, न ही आपका भौतिक कल्मष से कोई नाता है। आप विनाशरहित और अमृत हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने बतलाया है कि इस श्लोक के विविध शब्द इस बात के द्योतक हैं कि भगवान् कृष्ण का शरीर भौतिक शरीरों के गुणों से सर्वथा स्वतंत्र है। सारे भौतिक शरीरों में छह परिवर्तन होते हैं—जन्म, वृद्धि, प्रौढ़ता, प्रजनन, ह्रास तथा विनाश। किन्तु भगवान् कृष्ण जन्म नहीं लेते क्योंकि वे आदि सत्य हैं जैसाकि *आद्य* शब्द से पुष्ट होता है। हम विशेष वातावरण के अन्तर्गत जन्म लेते हैं और हमारे शरीर विभिन्न भौतिक तत्त्वों के मिश्रणों से बने होते हैं। चूँकि भगवान् कृष्ण किसी भौतिक वायुमण्डल या किसी तत्त्व की सृष्टि के बहुत पहले से विद्यमान हैं अतएव उनके दिव्य शरीर के लिए जन्म लेने का प्रश्न ही नहीं उठता।

इसी तरह *पूर्ण* शब्द इस धारणा का निराकरण करता है कि कृष्ण इसीलिए बढ़ सके क्योंकि वे सदैव पूर्णता को प्राप्त रहते हैं। जब मनुष्य का शरीर प्रौढ़ हो जाता है, तो वह युवावस्था जैसा आनन्द-भोग नहीं कर सकता लेकिन *अजस्र सुख* शब्द जिनका अर्थ है "निरंतर सुख को भोगने वाला," सूचित करते हैं कि भगवान् कृष्ण का शरीर कभी भी तथाकथित मध्यावस्था को प्राप्त नहीं होता है क्योंकि वह सदैव दिव्य तरुणाई के आनन्द से पूर्ण रहता है। *अक्षर* शब्द कृष्ण के शरीर के वृद्ध होने या उसके ह्रास की संभावना का निराकरण करानेवाला है। इसी तरह *अमृत* शब्द मृत्यु की सम्भावना का निषेध करता है।

दूसरे शब्दों में, कृष्ण का दिव्य शरीर भौतिक शरीरों के रूपान्तरों (विकारों) से मुक्त है। किन्तु भगवान् असंख्य जगतों की सृष्टि करते हैं और असंख्य जीवों के रूप में अपना विस्तार करते हैं। तो भी भगवान् का यह प्रजनन पूर्णतया आध्यात्मिक है।

भगवान् ने *श्रुति* में कहा है—*पूर्वमेवाहमिहासम्*—प्रारम्भ में केवल मैं ही था। इसीलिए यहाँ पर भगवान् को *पुरुष:पुराण:* कहा गया है। आदि पुरुष अपना विस्तार परमात्मा के रूप में करता है और प्रत्येक जीव में प्रवेश कर जाता है। तो भी अन्तत: वह परम सत्य या कृष्ण रहता है जैसाकि *गोपाल तापनी उपनिषद्* में कहा गया है—*य: साक्षात् परब्रह्मेति गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं वृन्दावनसुरभूरुहतलासीनम्*—परम सत्य साक्षात् गोविन्द हैं, जो सच्चिदानन्द विग्रह हैं और वृन्दावन के कल्पवृक्ष की छाया में बैठे हुए हैं। यह परम सत्य भौतिक अज्ञान से परे है और सामान्य आध्यात्मिक ज्ञान से भी परे है जैसाकि *गोपाल तापनी श्रुति* में ही कहा गया है—*विद्याविद्याभ्यां भिन्न:।* इस तरह वैदिक साहित्य में भगवान् कृष्ण की श्रेष्ठता अनेक प्रकार से स्थापित की जा चुकी है और यहाँ पर ब्रह्माजी द्वारा उसी की पुष्टि हुई है।

एवंविधं त्वां सकलात्मनामपि
स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते ।
गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा
ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

एवम्-विधम्—इस प्रकार वर्णित; त्वाम्—तुमको; सकल—सभी; आत्मनाम्—आत्माओं के; अपि—निस्सन्देह; स्व-आत्मानम्—आत्मा; आत्म-आत्मतया—परमात्मा के रूप में; विचक्षते—देखते हैं; गुरु—गुरु से; अर्क—जो सूर्य के समान है;

लब्ध—प्राप्त; उपनिषत्—गुह्य ज्ञान का; सु-चक्षुषा—पूर्ण आँख से; ये—जो; ते—वे; तरन्ति—पार करते हैं; इव—सरलता से; भव—संसार; अनृत—जो सच नहीं है; अम्बुधिम्—सागर को।

जिन्होंने सूर्य जैसे आध्यात्मिक गुरु से ज्ञान की स्पष्ट दृष्टि प्राप्त कर ली है वे आपको समस्त आत्माओं की आत्मा तथा हर एक के परमात्मा के रूप में देख सकते हैं। इस तरह आपको आदि पुरुषस्वरूप समझकर वे मायारूपी भव-सागर को पार कर सकते हैं।

तात्पर्य : जैसी कि *भगवद्गीता* (४.९) में पुष्टि की गई है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"जो मेरे प्राकट्य तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह शरीर-त्याग के बाद इस भौतिक जगत में पुन: जन्म नहीं लेता, अपितु हे अर्जुन! वह मेरे धाम को प्राप्त होता है।"

आत्मानमेवात्मतयाविजानतां
तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम् ।
ज्ञानेन भूयोऽपि च तत्प्रलीयते
रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—अपने को; एव—निस्सन्देह; आत्मतया—परमात्मा के रूप में; अविजानताम्—न जाननेवालों के लिए; तेन—उससे; एव—अकेले; जातम्—उत्पन्न होता है; निखिलम्—सम्पूर्ण; प्रपञ्चितम्—भौतिक जगत; ज्ञानेन—ज्ञान से; भूय: अपि—एक बार पुन:; च—तथा; तत्—वह भौतिक जगत; प्रलीयते—लुप्त हो जाता है; रज्ज्वाम्—रस्सी के भीतर; अहे:—सर्प का; भोग—शरीर का; भव-अभवौ—प्राकट्य तथा विलोप; यथा—जिस तरह।

जिस व्यक्ति को रस्सी से सर्प का भ्रम हो जाता है, वह भयभीत हो उठता है किन्तु यह अनुभव करने पर कि तथाकथित सर्प तो था ही नहीं, वह अपना भय त्याग देता है। इसी प्रकार जो लोग आपको समस्त आत्माओं (जीवों) के परमात्मा के रूप में नहीं पहचान पाते उनके लिए विस्तृत मायामय संसार उत्पन्न होता है किन्तु आपका ज्ञान होने पर वह तुरन्त दूर हो जाता है।

तात्पर्य : जो लोग माया में निमग्न रहते हैं, वे भौतिक जगत को उसी तरह असीम देखते हैं जिस तरह जल में डूबा हुआ व्यक्ति अपने चारों ओर जल ही जल देखता है। उदाहरणार्थ, भौतिक विज्ञानी तथा दार्शनिकगण भव-सागर में निमग्न होने के कारण यह कल्पना करते हैं कि भौतिक प्रकृति का सभी दिशाओं में अनन्त विस्तार है। वस्तुत: भौतिक जगत अज्ञान का सीमित सागर है, जिसमें भगवान् के आदेश से मूर्ख जीव यथा भौतिक विज्ञानी डुबो दिये गये हैं।

जिस जगत में सारी वस्तुएँ उत्पन्न होती और मरती हैं उसमें फँस जाना सचमुच भयावह अनुभव है। स्वाभाविक है कि अंधकारपूर्ण स्थान में फँसा व्यक्ति डर जाता है । चूँकि भौतिक जीवन अज्ञान के अंधकार से सदैव आवृत रहता है इसलिए प्रत्येक बद्धजीव भयभीत रहता है। भौतिक प्रकृति चरमसत्य नहीं है, अत: पदार्थ के विश्लेषण से अन्तिम प्रश्नों का उत्तर नहीं मिल सकता। यह अंधकारपूर्ण सर्प-जैसा जीवन जो कि भौतिक जीवन कहलाता है कृष्णभावनामृत का प्रखर प्रकाश पाते ही आँखें खुलने पर तुरन्त विलुप्त हो जाता है।

अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ
द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात् ।
अजस्रचित्यात्मनि केवले परे
विचार्यमाणे तरणाविवाहनी ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अज्ञान—अज्ञान से प्रकट होनेवाली; संज्ञौ—उपाधियाँ; भव-बन्ध—संसार का बन्धन; मोक्षौ—तथा मुक्ति; द्वौ—दो; नाम—निस्सन्देह; न—नहीं; अन्यौ—पृथक्; स्तः—हैं; ऋत—सत्य; ज्ञ-भावात्—ज्ञान से; अजस्र-चिति—अबाध चेतना वाला; आत्मनि—आत्मा; केवले—पदार्थ से भिन्न; परे—शुद्ध; विचार्यमाणे—उचित ढंग से पहचानने पर; तरणौ—सूर्य के भीतर; इव—जिस तरह; अहनी—दिन-रात।

भव-बन्धन तथा मोक्ष दोनों ही अज्ञान की अभिव्यक्तियाँ हैं। सच्चे ज्ञान की सीमा के बाहर होने के कारण, इन दोनों का अस्तित्व मिट जाता है जब मनुष्य ठीक से यह समझ लेता है कि शुद्ध आत्मा, पदार्थ से भिन्न है और सदैव पूर्णतया चेतन है। उस समय बन्धन तथा मोक्ष का कोई महत्व नहीं रहता जिस तरह सूर्य के परिप्रेक्ष्य में दिन तथा रात का कोई महत्व नहीं होता।

तात्पर्य : भव-बन्धन तो भ्रम (मोह) है क्योंकि जीवात्मा का भौतिक जगत से कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता । मिथ्या अहंकारवश बद्धजीव अपनी पहचान पदार्थ से करने लगता है। इसलिए तथाकथित मोक्ष एक तरह से भ्रम का परित्याग होता है न कि वास्तविक बन्धन से मुक्ति। तो भी यदि हम भौतिक भ्रम के दुख को वास्तविक मानें और इस तरह मोक्ष को दुख से सार्थक मुक्ति मान लें तो भी वास्तविक आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति की तुलना में भौतिक जगत की अनुपस्थिति नगण्य है। अन्ततोगत्वा कृष्णभावनामृत या शुद्ध भगवत्प्रेम ही महत्वपूर्ण है, सार्थक है और प्रत्येक जीवात्मा का स्थायी पद है।

चूँकि रात्रि का अंधकार सूर्य की अनुपस्थिति के कारण होता है, अत: सूर्य के भीतर रात्रि का

अनुभव नहीं हो सकता, न ही दिन और रात पृथक्-पृथक् लग सकते हैं। इसी तरह शुद्ध जीव के भीतर भौतिक अंधकार नहीं होता अत: ऐसे अंधकार से मुक्ति का अनुभव भी नहीं होता। जब बद्धजीव शुद्ध चेतना के इस स्तर को प्राप्त होता है, तो वह भगवद्धाम में भगवान् की संगति करने का पात्र बन जाता है।

त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च ।
आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य अहोऽज्ञजनताज्ञता ॥ २७॥

शब्दार्थ

त्वाम्—तुमको; आत्मानम्—असली आत्मा; परम्—अन्य कुछ; मत्वा—मानकर; परम्—अन्य कुछ; आत्मानम्—आपको; एव—निस्सन्देह; च—भी; आत्मा—परमात्मा; पुन:—फिर; बहि:—बाहर; मृग्य:—खोजा जाना चाहिए; अहो—ओह; अज्ञ—अज्ञानी; जनता—लोगों की; अज्ञता—अज्ञानता।.

जरा उन अज्ञानी पुरुषों की मूर्खता तो देखिये जो आपको मोह की भिन्न अभिव्यक्ति मानते हैं और अपने (आत्मा) को, जो कि वास्तव में आप हैं, अन्य कुछ—भौतिक शरीर—मानते हैं। ऐसे मूर्खजन इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि परमात्मा की खोज परम पुरुष आप से बाहर अन्यत्र की जानी चाहिए।

तात्पर्य : ब्रह्मा को बद्धजीवों की निपट मूर्खता पर आश्चर्य हो रहा है, जो कृष्ण के परम आध्यात्मिक शरीर को भौतिक मानते हैं। ऐसे लोग भगवान् के आध्यात्मिक स्वरूप से अपरिचित रहने के कारण अपने शरीरों को ही स्व मान बैठते हैं अतएव वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आध्यात्मिक सचाई को परम पुरुष कृष्ण से बाहर खोजना चाहिए। कभी कभी ऐसे मूर्खजन कृष्ण को उन अनेक जीवों में से एक मान बैठते हैं, जो मिलकर निर्विशेष जीव की सृष्टि करते हैं। दुर्भाग्यवश ऐसे ज्ञानी न तो भगवान् के मुख से सुनना चाहते हैं न ही ब्रह्मा सरीखे भगवान् के प्रामाणिक प्रतिनिधियों से। चूँकि वे मनमाने ढंग से परम पुरुष की कल्पना करते हैं अतएव अन्तत: भ्रम एवं अज्ञान ही उनके हाथ लगता है, जिसे वे ''जीवन का रहस्य'' बताते हैं।

अन्तर्भवेऽनन्त भवन्तमेव
ह्यतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्त: ।
असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण
सन्तं गुणं तं किमु यन्ति सन्त: ॥ २८॥

शब्दार्थ

अन्तः-भवे—शरीर के भीतर; अनन्त—हे अनन्त प्रभु; भवन्तम्—आप; एव—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही; अतत्—आपसे पृथक् हर वस्तु; त्यजन्तः—त्याग करते हुए; मृगयन्ति—खोज करते हैं; सन्तः—सन्त भक्तगण; असन्तम्—अवास्तविक असत्; अपि—भी; अन्ति—पास ही उपस्थित; अहिम्—(भ्रम के) सर्प को; अन्तरेण—के बिना; सन्तम्—असली; गुणम्—रस्सी को; तम्—उस; किम् उ—क्या; यन्ति—जानते हैं; सन्तः—आध्यात्मिक पद को प्राप्त व्यक्ति।

हे अनन्त भगवान्, सन्तजन आपसे भिन्न हर वस्तु का तिरस्कार करते हुए अपने ही शरीर के भीतर आपको खोज निकालते हैं। निस्सन्देह, विभेद करनेवाले व्यक्ति भला किस तरह अपने समक्ष पड़ी हुई रस्सी की असली प्रकृति को जान सकते हैं जब तक वे इस भ्रम का निराकरण नहीं कर लेते कि यह सर्प है?

तात्पर्य : कोई तर्क कर सकता है कि मनुष्य को चाहिए कि आत्म-साक्षात्कार का अनुशीलन करने के साथ ही साथ वह भौतिक शरीर के लिए इन्द्रियतृप्ति में लगा रहे। इसका निराकरण यहाँ पर रस्सी को सर्प समझने के दृष्टांत द्वारा किया गया है। भ्रमवश रस्सी को सर्प समझनेवाला व्यक्ति भयभीत हो उठता है और तथाकथित सर्प के विषय में सोचता है। किन्तु यह पता चल जाने पर कि तथाकथित सर्प वास्तव में रस्सी है उसे भिन्न भाव—राहत—का अनुभव होता है और तब वह रस्सी के प्रति उदासीन हो जाता है। इसी तरह चूँकि हम भौतिक शरीर को भ्रमवश 'स्व' मान लेते हैं अतएव शरीर को ले कर अनेक भावों की हमें अनुभूति होती है। किन्तु यह पता चलने पर कि यह शरीर भौतिक रसायनों की पोटली मात्र है हम ध्यानपूर्वक सोचते हैं कि यह भ्रम किस तरह उत्पन्न हुआ और तब शरीर के प्रति हमारी रुचि नहीं रह जाती। यह जान लेने पर कि हम शरीर के भीतर शाश्वत आत्मा हैं यह स्वाभाविक है कि हम अपना ध्यान असली आत्मा पर एकाग्र करते हैं।

जो लोग सन्त स्वभाव के तथा बुद्धिमान हैं, वे सदैव आध्यात्मिक ज्ञान अर्थात् कृष्णभावनामृत का अनुशीलन करते हैं क्योंकि वे शरीर को 'स्व' मानने की मूर्खतापूर्ण गलत पहचान को त्याग चुके होते हैं। ऐसे कृष्णभावनाभावित व्यक्तियों को शरीर के भीतर परमात्मा रूप में वास करनेवाले भगवान् की अनुभूति होती है, जो प्रत्येक जीव का साक्षी एवं मार्गदर्शक है। परमात्मा तथा आत्मा की अनुभूति इतनी सुखद तथा सन्तोषप्रद होती है कि सिद्ध व्यक्ति उन सारी बातों को स्वयमेव छोड़ देता है, जो उसकी आध्यात्मिक प्रगति से सम्बन्ध नहीं रखती।

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय-
प्रसादलेशानुगृहीत एव हि ।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो
न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; अपि—निस्सन्देह; ते—आपका; देव—हे प्रभु; पद-अम्बुज-द्वय—दो चरणकमलों को; प्रसाद—दया का; लेश—रंचमात्र; अनुगृहीतः—दया दिखाया गया; एव—निश्चय ही; हि—निस्सन्देह; जानाति—जानता है; तत्त्वम्—सत्य; भगवत्—भगवान् की; महिम्नः—महानता का; न—कभी नहीं; च—तथा; अन्यः—दूसरा; एकः—एक; अपि—यद्यपि; चिरम्—दीर्घकाल तक; विचिन्वन्—विचार करते हुए।

हे प्रभु, यदि किसी पर आपके चरणकमलों की लेशमात्र भी कृपा हो जाती है, तो वह आपकी महानता को समझ सकता है। किन्तु जो लोग भगवान् को समझने के लिए चिन्तन करते हैं, वे अनेक वर्षों तक वेदों का अध्ययन करते रहने पर भी आपको जान नहीं पाते।

तात्पर्य : उपर्युक्त पाठ श्रील प्रभुपाद कृत *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य लीला ६.८४) से उद्‌धृत किया गया है।

भगवान् कृष्ण उन बद्धजीवों पर जो भगवान् की भ्रामक शक्ति माया से व्यर्थ ही संघर्ष करते रहते हैं अपनी कृपा प्रदान करने के लिए अत्यधिक उत्सुक रहते हैं। बद्धजीव सुख के लिए इन्द्रियतृप्ति के द्वारा और ज्ञान के लिए मानसिक चिन्तन के द्वारा संघर्ष करता है। इन दोनों विधियों से उसे दुखमय तथा निराशाजनक स्थिति का सामना करना पड़ता है। किन्तु यदि बद्धजीव भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है और इस तरह उनकी रंचमात्र भी अहैतुकी कृपा प्राप्त कर लेता है, तो सारी स्थिति बदल जाती है और जीव कृष्णभावनामृत में आनन्द तथा ज्ञान का असली जीवन प्रारम्भ कर सकता है।

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो
भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम् ।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां
भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तत्—अतएव; अस्तु—ऐसा ही हो; मे—मेरे; नाथ—हे स्वामी; सः—वह; भूरि-भागः—अहोभाग्य; भवे—जन्म में; अत्र—यह; वा—अथवा; अन्यत्र—किसी अन्य जन्म में; तु—निस्सन्देह; वा—अथवा; तिरश्चाम्—पशुओं में; येन—जिससे; अहम्—मैं; एकः—एक; अपि—भी; भवत्—अथवा आपके; जनानाम्—भक्तों में से; भूत्वा—बनकर; निषेवे—आपकी सेवा में लग सकूँ; तव—तुम्हारे; पाद-पल्लवम्—चरणकमलों में।

अतः हे प्रभु, मेरी प्रार्थना है कि मैं इतना भाग्यशाली बन सकूँ कि इसी जीवन में ब्रह्मा के

रूप में या दूसरे जीवन में जहाँ कहीं भी जन्म लूँ, मेरी गणना आपके भक्तों में हो। मैं प्रार्थना करता हूँ कि चाहे पशु योनि में ही सही, मैं जहाँ कहीं भी होऊँ, आपके चरणकमलों की भक्ति में लग सकूँ।

अहोऽतिधन्या व्रजगोरमण्यः
स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा ।
यासां विभो वत्सतरात्मजात्मना
यत्तृप्तयेऽद्यापि न चालमध्वराः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; अति-धन्याः—परम भाग्यशाली; व्रज—वृन्दावन की; गो—गौवें; रमण्यः—तथा गोपियाँ; स्तन्य—स्तन का दूध; अमृतम्—अमृत के तुल्य; पीतम्—पिया गया; अतीव—पूर्णतया; ते—आपके द्वारा; मुदा—सन्तोष के साथ; यासाम्—जिसका; विभो—हे सर्वशक्तिमान; वत्सतर-आत्मज-आत्मना—बछड़ों तथा ग्वालिनों के पुत्रों के रूप में; यत्—जिसके; तृप्तये—सन्तोष के लिए; अद्य अपि—आज तक; न—नहीं; च—तथा; अलम्—पर्याप्त; अध्वराः—वैदिक यज्ञ।

हे सर्वशक्तिमान भगवान्, वृन्दावन की गौवें तथा स्त्रियाँ कितनी भाग्यशालिनी हैं जिनके बछड़े तथा पुत्र बनकर आपने परम प्रसन्नतापूर्वक एवं संतोषपूर्वक उनके स्तनपान का अमृत पिया है! अनन्तकाल से अब तक सम्पन्न किये गये सारे वैदिक यज्ञों से भी आपको उतना सन्तोष नहीं हुआ होगा।

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अहो—कितना बड़ा; भाग्यम्—भाग्य; अहो—कितना महान; भाग्यम्—भाग्य; नन्द—महाराज नन्द का; गोप—अन्य ग्वालों का; व्रज-ओकसाम्—व्रजभूमि के निवासियों का; यत्—जिनके; मित्रम्—मित्र; परम-आनन्दम्—परम आनन्द; पूर्णम्—पूर्ण; ब्रह्म—परम सत्य; सनातनम्—सनातन, नित्य।

नन्द महाराज, सारे ग्वाले तथा व्रजभूमि के अन्य सारे निवासी कितने भाग्यशाली हैं! उनके सौभाग्य की कोई सीमा नहीं है क्योंकि दिव्य आनन्द के स्रोत परम सत्य अर्थात् सनातन परब्रह्म उनके मित्र बन चुके हैं।

तात्पर्य : यह अनुवाद प्रभुपाद कृत *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (मध्य लीला ६.१४९) से उद्धृत है।

एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्ता-
मेकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः ।

एतद्धृषीकचषकैरसकृत्पिबामः
शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते ॥ ३३॥

शब्दार्थ

एषाम्—इनके (वृन्दावन वासियों का); तु—तो; भाग्य—सौभाग्य की; महिमा—महानता; अच्युत—हे अच्युत; तावत्—इतनी; आस्ताम्—हो; एकादश—ग्यारह; एव हि—निस्सन्देह; वयम्—हम; बत—ओह; भूरि-भागाः—परम भाग्यशाली हैं; एतत्—इन भक्तों की; हृषीक—इन्द्रियों से; चषकैः—(जो) प्यालों (की तरह हैं); असकृत्—बारम्बार; पिबामः—हम पी रहे हैं; शर्व-आदयः—शिवजी तथा अन्य प्रमुख देवगण; अङ्घ्रि-उदज—चरणकमल; मधु—शहद; अमृत-आसवम्—जो अमृत तुल्य मादक पेय है; ते—आपका।

वृन्दावन के इन वासियों की सौभाग्य सीमा का अनुमान नहीं लगाया जा सकता; फिर भी विविध इन्द्रियों के ग्यारह अधिष्ठाता देवता हम, जिनमें शिवजी प्रमुख हैं, परम भाग्यशाली हैं क्योंकि वृन्दावन के इन भक्तों की इन्द्रियाँ वे प्याले हैं जिनसे हम आपके चरणकमलों का अमृत तुल्य मादक मधुपेय बारम्बार पीते हैं।

तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम् ।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान्मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तत्—वह; भूरि-भाग्यम्—महानतम सौभाग्य; इह—यहाँ; जन्म—जन्म; किम् अपि—कोई भी; अटव्याम्—(वृन्दावन के) जंगल में; यत्—जो; गोकुले—गोकुल में; अपि—भी; कतम—किसी (भक्त) के; अङ्घ्रि—चरणों की; रजः—धूल से; अभिषेकम्—स्नान; यत्—जिसका; जीवितम्—जीवन; तु—निस्सन्देह; निखिलम्—पूरा; भगवान्—भगवान्; मुकुन्दः—मुकुन्द; तु—लेकिन; अद्य अपि—अब भी; यत्—जिसके; पाद-रजः—चरणों की धूल; श्रुति—वेदों द्वारा; मृग्यम्—खोजी जानेवाली; एव—निश्चय ही।

मेरा संभावित परम सौभाग्य यह होगा कि मैं गोकुल के इस वन में जन्म ले सकूँ और इसके निवासियों में से किसी के भी चरणकमलों से गिरी हुई धूल से अपने सिर का अभिषेक करूँ। उनका सारा जीवनसार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् मुकुन्द हैं जिनके चरणकमलों की धूल की खोज आज भी वैदिक मंत्रों में की जा रही है।

तात्पर्य : यह श्लोक इंगित करता है कि ब्रह्माजी वृन्दावन में घास का एक क्षुद्र तिनका भी बनकर जन्म लेने की आकांक्षा करते हैं जिससे भगवद्धाम के पवित्र निवासी उनके सिर के ऊपर से होकर गुजरें और अपने चरणों की धूल से आशीर्वाद दें। यथार्थवादी होने के नाते ब्रह्माजी सीधे भगवान् कृष्ण के चरणों की धूल प्राप्त करना नहीं चाहते; प्रत्युत वे भगवान् के भक्तों की कृपा की कामना करते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि ब्रह्माजी भगवान् के घर के आँगन का पत्थर तक बनकर

जन्म लेने की इच्छा करते हैं। चूँकि ब्रह्माजी अखिल ब्रह्माण्ड के स्रष्टा हैं अतएव हम अनुमान लगा सकते हैं कि वृन्दावनवासियों की यशस्वी स्थिति क्या थी।

भगवद्भक्त अनन्य भक्ति तथा प्रेम के द्वारा अपना उच्च पद प्राप्त करते हैं। ऐसा आध्यात्मिक ऐश्वर्य निजी प्रगति की गर्वित भौतिक विधियों से प्राप्त नहीं किया जा सकता। ''भगवान् श्रीकृष्ण'' में श्रील प्रभुपाद ने ब्रह्मा के मन की बात का उद्घाटन इस प्रकार किया है, ''किन्तु यदि मैं इतना भाग्यशाली नहीं हूँ कि वृन्दावन के जंगल में जन्म ले सकूँ तो वृन्दावन के आसपास के क्षेत्र में जन्म लेने की मुझे अनुमति दी जाय जिससे जब भक्तगण बाहर जायें तो वे मेरे ऊपर से होकर गुजरें। मेरे लिए यही परम सौभाग्य होगा। मैं तो ऐसे जन्म की आकांक्षा करता हूँ जिसमें भक्तों की चरण-धूल मुझे स्पर्श करती रहे।''

एषां घोषनिवासिनामुत भवान्किं देव रातेति नश्
चेतो विश्वफलात्फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन्मुह्यति ।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

एषाम्—इन; घोष-निवासिनाम्—ग्वाल जाति के निवासियों में; उत—निस्सन्देह; भवान्—आप; किम्—क्या; देव—हे भगवन्; राता—प्रदान करेंगे; इति—ऐसा सोचते हुए; नः—हमारा; चेतः—मन; विश्व-फलात्—समस्त वरों के परम स्रोत की अपेक्षा; फलम्—पुरस्कार; त्वत्—आपकी अपेक्षा; अपरम्—दूसरा; कुत्र अपि—कहीं भी; अयत्—विचार करने पर; मुह्यति—मोहित हो जाता है; सत्-वेषात्—भक्त के वेश में; इव—निस्सन्देह; पूतना—पूतना राक्षसी; अपि—भी; स-कुला—अपने परिवारवालों बकासुर तथा अघासुर के साथ; त्वाम्—आपको; एव—निश्चय ही; देव—हे प्रभु; आपिता—प्राप्त कराई गई; यत्—जिसके; धाम—घर; अर्थ—धन; सुहृत्—मित्रगण; प्रिय—प्रिय सम्बन्धीजन; आत्म—शरीर; तनय—सन्तानें; प्राण—प्राण वायु; आशयाः—तथा मन; त्वत्-कृते—आपको समर्पित।

मेरा मन मोहग्रस्त हो जाता है जब मैं यह सोचने का प्रयास करता हूँ कि कहीं भी आपके अतिरिक्त अन्य कोई पुरस्कार (फल) क्या हो सकता है? आप समस्त वरदानों के साकार रूप हैं, जिन्हें आप वृन्दावन के ग्वाल जाति के निवासियों को प्रदान करते हैं। आपने पहले ही उस पूतना द्वारा भक्त का वेश बनाने के बदले में उसे तथा उसके परिवारवालों को अपने आप को दे डाला है। अतएव वृन्दावन के इन भक्तों को देने के लिए आपके पास बचा ही क्या है जिनके घर, धन, मित्रगण, प्रिय परिजन, शरीर, सन्तानें तथा प्राण और हृदय—सभी केवल आपको समर्पित हो चुके हैं?

तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम् ।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब तक; राग-आदयः—भौतिक आसक्ति इत्यादि; स्तेनाः—चोर; तावत्—तब तक; कारा-गृहम्—जेल, बन्दीगृह; गृहम्—किसी का घर; तावत्—तब तक; मोहः—पारिवारिक स्नेह का मोह; अङ्घ्रि—उनके चरणों में; निगडः—जंजीरें, बेड़ियाँ; यावत्—जब तक; कृष्ण—हे कृष्ण; न—नहीं हो जाते; ते—आपके (भक्त); जनाः—लोग।

हे भगवान् कृष्ण, जब तक लोग आपके भक्त नहीं बन जाते तब तक उनकी भौतिक आसक्तियाँ तथा इच्छाएँ चोर बनी रहती हैं; उनके घर बन्दीगृह बने रहते हैं और अपने परिजनों के प्रति उनकी स्नेहपूर्ण भावनाएँ पाँवों की बेड़ियाँ बनी रहती हैं।

तात्पर्य : ऊपरी तौर से, भगवान् कृष्ण के धाम वृन्दावन के निवासी सीधेसादे गृहस्थ हैं, जो गौवों को पालने, भोजन बनाने, बच्चों का पालनपोषण करने तथा धार्मिक कृत्यों को सम्पन्न करने जैसे सामान्य कामकाजों में लगे रहते हैं। किन्तु ये सारे कार्यकलाप भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति में सम्पन्न होते रहते हैं। वृन्दावन के निवासी अपने सारे कार्यकलाप शुद्ध कृष्णभावनामृत में करते हैं अतएव मुक्त जीवन के सर्वोच्च पद पर स्थित रहते हैं। अन्यथा कृष्णभावनामृत से रहित ये ही कार्यकलाप भवबन्धन बन जाते हैं।

अतएव न तो वृन्दावन वासियों के उच्च पद के बारे में किसी प्रकार की भ्रान्ति होनी चाहिए, न ही किसी को केवल सामान्य गृहस्थी के कामकाज को उत्साहपूर्वक किन्तु कृष्णभावना-रहित सम्पन्न करके अपने आपको बड़ा भारी धार्मिक मानना चाहिए। हम अपने परिवार तथा समाज पर रागात्मक आसक्ति केन्द्रित करके कृष्णभावनामृत के प्रगतिशील पथ से विपथ हो जाते हैं। इसके विपरीत, यदि हम अपने परिवार को भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगाते हैं, तो अपने परिवार के पालनपोषण के हमारे सारे प्रयास हमारे प्रगतिशील आध्यात्मिक कर्तव्यों के अंगभूत बन जाते हैं।

निष्कर्ष यह निकला कि वृन्दावनवासियों की अद्वितीय स्थिति का अध्ययन करके हम यह देख सकते हैं कि उनके जीवन का आवश्यक गुण शुद्ध कृष्णभावनामृत हैं जिसमें किसी भी प्रकार की भौतिक इच्छा या मनोरथ के बिना प्रेमाभक्ति संपन्न की जाती है। आदि भगवान् की ऐसी प्रेमाभक्ति से श्री वृन्दावन धाम में भगवद्धाम का वातावरण तुरन्त उत्पन्न हो जाता है।

प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले ।
प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो ॥ ३७॥

शब्दार्थ

प्रपञ्चम्—भौतिक; निष्प्रपञ्चः—पूर्णतया आध्यात्मिक; अपि—यद्यपि; विडम्बयसि—आप अनुकरण करते हैं; भू-तले—पृथ्वी पर; प्रपन्न—शरणागत; जनता—लोगों का; आनन्द-सन्दोहम्—नाना प्रकार के आनन्द; प्रथितुम्—विस्तार करने के लिए; प्रभो—हे स्वामी।

हे स्वामी, यद्यपि भौतिक जगत से आपको कुछ भी लेना-देना नहीं रहता किन्तु आप इस धरा पर आकर अपने शरणागत भक्तों के लिए आनन्द-भाव की विविधताओं को विस्तृत करने के लिए भौतिक जीवन का अनुकरण करते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इंगित करते हैं कि जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में दीपक का प्रकाश उतना उदीप्त नहीं जान पड़ता जितना कि छाया में जान पड़ता है, अथवा एक हीरा चाँदी की थाली में उतना नहीं चमकता जितना कि नीले काँच की तस्तरी में, उसी तरह गोविन्द रूप भगवान् की लीलाएँ वैकुण्ठ धाम में उतनी आश्चर्यजनक नहीं लगतीं जितनी कि माया के भौतिक परिदृश्य में। भगवान् कृष्ण इस धरा में आकर अपने भक्तों के साथ आज्ञाकारी पुत्र, सखा, पति, पिता, मित्र इत्यादि के रूप में व्यवहार करते हैं और संसार के अंधकार में ये तेजस्वी उन्मुक्त लीलाएँ भगवान् के शरणागत भक्तों को असीम आनन्द प्रदान करती हैं।

श्रील प्रभुपाद ने ''भगवान् श्रीकृष्ण'' में ब्रह्मा के कथन को इस रूप में उद्धृत किया है, ''मैं यह भी समझ सकता हूँ कि छोटे से ग्वालबाल के रूप में आपका प्राकट्य कोई भौतिक कृत्य नहीं है। आप उनके स्नेह से इतने दबे हुए हैं कि आप अपनी दिव्य उपस्थिति से उन्हें अधिकाधिक प्रेमाभक्ति करने के लिए प्रोत्साहित करने यहाँ आते हैं।''

जानन्त एव जानन्तु किं बहूक्त्या न मे प्रभो ।
मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गोचरः ॥ ३८॥

शब्दार्थ

जानन्तः—ऐसे व्यक्ति जो सोचते हैं कि वे आपकी असीम शक्ति से अवगत हैं; एव—निश्चय ही; जानन्तु—ऐसा सोचा करें; किम्—क्या लाभ; बहु-उक्त्या—अनेक वचनों से; न—नहीं; मे—मेरे; प्रभो—हे स्वामी; मनसः—मन का; वपुषः—शरीर का; वाचः—वाणी का; वैभवम्—ऐश्वर्य; तव—आपकी; गो-चरः—परिधि में।

ऐसे लोग भी हैं, जो यह कहते हैं कि वे कृष्ण के विषय में सब कुछ जानते हैं—वे ऐसा सोचा करें। किन्तु जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं इस विषय में कुछ अधिक नहीं कहना चाहता। हे

प्रभु, मैं तो इतना ही कहूँगा कि जहाँ तक आपके ऐश्वर्यों की बात है वे मेरे मन, शरीर तथा शब्दों की पहुँच से बाहर हैं।

तात्पर्य : उक्त कथन श्रील प्रभुपाद कृत *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य-लीला २१.२७) से उद्धृत है।

अनुजानीहि मां कृष्ण सर्वं त्वं वेत्सि सर्वदृक् ।
त्वमेव जगतां नाथो जगदेतत्तवार्पितम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

अनुजानीहि—कृपया जाने दें; माम्—मुझको; कृष्ण—हे भगवान् कृष्ण; सर्वम्—हर वस्तु; त्वम्—तुम (आप); वेत्सि—जानते हो; सर्व-दृक्—सर्वदर्शी; त्वम्—तुम; एव—अकेले; जगताम्—सारे ब्रह्माण्डों के; नाथः—स्वामी; जगत्—ब्रह्माण्ड; एतत्—यह; तव—आपको; अर्पितम्—अर्पित है।

हे कृष्ण, अब मैं आपसे विदा लेने की अनुमति के लिए विनीत भाव से अनुरोध करता हूँ। वास्तव में आप सारी वस्तुओं के ज्ञाता तथा द्रष्टा हैं। आप समस्त ब्रह्माण्डों के स्वामी हैं फिर भी मैं आपको यह एक ब्रह्माण्ड अर्पित करता हूँ।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने "भगवान् श्रीकृष्ण" में ब्रह्मा के वचनों को इस प्रकार उद्धृत किया है, "हे प्रभु, यद्यपि समस्त सृष्टि के परम स्वामी आप हैं किन्तु कभी कभी मैं मिथ्या चिन्तन करता हूँ कि इस ब्रह्माण्ड का स्वामी मैं हूँ। भले ही मैं इस ब्रह्माण्ड का स्वामी होऊँ किन्तु ब्रह्माण्ड असंख्य हैं और उनके अधिष्ठाता ब्रह्मा भी असंख्य हैं। किन्तु उन सबके वास्तविक स्वामी आप हैं। प्रत्येक हृदय में परमात्मा के रूप में आप हर बात के ज्ञाता हैं। अत: आप मुझे अपना शरणागत सेवक स्वीकार करें। आशा है कि आप मुझे अपने मित्रों तथा बछड़ों के साथ लीलाओं में हस्तक्षेप करने के लिए क्षमा कर देंगे। अब यदि आप अनुमति दें तो मैं तुरन्त विदा लूँ जिससे आप मेरी अनुपस्थिति में अपने मित्रों तथा बछड़ों के साथ आनन्दमग्न हो सकें।"

यहाँ *सर्वं त्वं वेत्सि सर्वदृक्* शब्द अत्यन्त सार्थक हैं। कृष्ण सब कुछ जानते हैं और हर वस्तु को देखते हैं अतएव भगवान् के साथ प्रेममय सम्पर्क बनाये रखने के लिए ब्रह्मा का वृन्दावन में रहना आवश्यक नहीं है। वस्तुत: ब्रह्माण्ड के स्रष्टा के रूप में ब्रह्माजी वृन्दावन के सीधेसादे आनन्दमय वातावरण में खप नहीं रहे थे जहाँ भगवान् कृष्ण गौवें चराने, आमोद-प्रमोद करने इत्यादि में अपना परम वैभव प्रदर्शित कर रहे थे।

यह देखने के बाद कि वृन्दावनवासियों में कृष्ण के लिए कितना गहन प्रेम है, ब्रह्मा ने अपने को

वहाँ रहने के अयोग्य समझा। वे भगवान् की संगति छोड़ना तो नहीं चाहते थे किन्तु उन्होंने ब्रह्मलोक में जाकर भक्ति करना श्रेयस्कर समझा। भगवान् को मोहित करने के अपने मूर्खतापूर्ण प्रयास के कारण दुखी तथा चिन्तित ब्रह्माजी ने भगवान् की उपस्थिति का आनन्द-लाभ न उठाकर अपनी आध्यात्मिक प्रेमाभक्ति में फिर से लग जाने को श्रेयस्कर समझा।

श्रीकृष्ण वृष्णिकुलपुष्करजोषदायिन्
क्ष्मानिर्जरद्विजपशूदधिवृद्धिकारिन् ।
उद्धर्मशार्वरहर क्षितिराक्षसध्रु-
गाकल्पमार्कमर्हन्भगवन्नमस्ते ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

श्री-कृष्ण—हे कृष्ण; वृष्णि-कुल—यदु वंश के; पुष्कर—कमल; जोष—आनन्द; दायिन्—देनेवाले; क्ष्मा—पृथ्वी के; निर्जर—देवतागण; द्विज—ब्राह्मण; पशु—तथा जानवर; उदधि—सागर की; वृद्धि—वृद्धि; कारिन्—कारणस्वरूप; उद्धर्म—नास्तिक सिद्धान्तों के; शार्वर—अंधकार को; हर—भगाने वाले; क्षिति—पृथ्वी पर; राक्षस—असुरों का; ध्रुक्—विरोधी; आ-कल्पम्—ब्रह्माण्ड के अन्त तक; आ-अर्कम्—जब तक सूर्य चमकता है; अर्हन्—हे परम पूज्य विग्रह; भगवन्—हे भगवन्; नमः—मैं सादर नमस्कार करता हूँ; ते—आपको।

हे कृष्ण, आप कमल तुल्य वृष्णि कुल को सुख प्रदान करनेवाले हैं और पृथ्वी, देवता, ब्राह्मण तथा गौवों से युक्त महासागर को बढ़ाने वाले हैं। आप अधर्म के गहन अंधकार को दूर करते हैं और इस पृथ्वी में प्रकट हुए असुरों का विरोध करते हैं। हे भगवन्, जब तक यह ब्रह्माण्ड बना रहेगा और जब तक सूर्य चमकेगा मैं आपको सादर नमस्कार करता रहूँगा।

तात्पर्य : श्रील सनातन गोस्वामी के अनुसार ब्रह्माजी यहाँ पर *नाम सङ्कीर्तन* के आनन्द में मग्न हैं जिससे भगवान् कृष्ण के उन विभिन्न पवित्र नामों की महिमा बढ़ती है, जो उनकी विभिन्न लीलाओं की ओर संकेत करते हैं। भगवान् कृष्ण ने दक्षतापूर्वक उस पृथ्वी के असुरों का दमन किया जो कंस, जरासन्ध तथा शिशुपाल जैसे आसुरी राजनीतिज्ञों के प्रादुर्भाव से असह्य हो उठी थी। इसी तरह आधुनिक समाज में ईश्वर से तथाकथित डरने वाले अनेक लोग हैं, जो वास्तव में आसुरी जगत के प्रति आकृष्ट होते हैं। ऐसे लोग सूर्यास्त होते ही मानो जी उठते हैं और अँधेरे में भोजनालयों, नाइटक्लबों, होटलों इत्यादि में जीवन का आनन्द लूटते हैं। ये सारे साधन अवैध यौन, नशा, द्यूत क्रीड़ा तथा मांसाहार के निमित्त होते हैं। इसके अलावा वे लोग हैं, जो अपने को नास्तिक तथा असुर घोषित करते हुए ईश्वर तथा उनके नियमों की अवहेलना करते हैं। ईश्वर के गुप्त तथा प्रकट दोनों प्रकार के शत्रु

पृथ्वी का भार बनते हैं और इस भार को हटाने के लिए ही कृष्ण अवतरित होते हैं।

यहाँ पर ब्रह्माजी अप्रत्यक्ष रूप से कहते हैं कि भगवान् कृष्ण को चाहिए कि उनकी (ब्रह्मा की) सूक्ष्म नास्तिकता को दूर करें जिसके कारण उन्होंने कृष्ण को छलना चाहा था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार ब्रह्मा ने लज्जावश अपने को सत्यलोक से आये *ब्रह्मराक्षस* जैसा अनुभव किया जो भगवान् कृष्ण तथा उनके घनिष्ट मित्रों एवं बछड़ों को परेशान करने के लिए इस धरा पर आया हो। ब्रह्मा पछता रहे हैं कि यद्यपि कृष्ण परम पूज्य, समस्त ईश्वरों के ईश्वर हैं किन्तु वे उनके सामने सीधेसादे वेश में—लकुटी, शंख, आभूषण, गेरू, मोर पंख इत्यादि से अलंकृत वेश में तथा ग्वालबाल सखाओं के साथ खेलते हुए—प्रकट हुए थे; इसीलिए ब्रह्मा को साहस हुआ कि वे उन्हें ललकारें।

ब्रह्मा की स्तुति के विषय में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं, ''ब्रह्मा की यह स्तुति जो सारे संशयों को दूर करनेवाली तथा भक्ति का विस्तार करने वाली है मेरी चेतना की आधारशिला का सुन्दर कौशल बने।''

श्रीशुक उवाच
इत्यभिष्टूय भूमानं त्रिः परिक्रम्य पादयोः ।
नत्वाभीष्टं जगद्धाता स्वधाम प्रत्यपद्यत ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; अभिष्टूय—प्रशंसा करते हुए; भूमानम्—अनन्त भगवान् के प्रति; त्रिः—तीन बार; परिक्रम्य—प्रदक्षिणा करके; पादयोः—उनके चरणों पर; नत्वा—झुककर; अभीष्टम्—वांछित; जगत्—ब्रह्माण्ड का; धाता—स्त्रष्टा; स्व-धाम—अपने घर को; प्रत्यपद्यत—लौट गया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार स्तुति करने के बाद ब्रह्माजी ने अपने आराध्य अनन्त भगवान् की तीन बार प्रदक्षिणा की और फिर उनके चरणों पर नतमस्तक हुए। तत्पश्चात् ब्रह्माण्ड के नियुक्त स्त्रष्टा अपने लोक में लौट आये।

तात्पर्य : यद्यपि ब्रह्माजी ने प्रार्थना की थी कि वे वृन्दावन में या वृन्दावन के निकटवर्ती क्षेत्र में ही घास के तिनके के रूप में जन्म लेना चाहेंगे किन्तु भगवान् कृष्ण ने ब्रह्मा की स्तुति पर मौन संकेत करते हुए यह सूचित किया कि ब्रह्मा अपने घर लौट जाँय। सर्वप्रथम ब्रह्मा को ब्रह्माण्ड की सृष्टि का सेवाकार्य पूरा करना चाहिए, तत्पश्चात् ही वे वृन्दावन आकर वहाँ के निवासियों का अनुग्रह प्राप्त करें। दूसरे शब्दों में, भक्त को अपनी व्यक्तिगत आध्यात्मिक सेवा को समुचित रूप से सम्पन्न करने के प्रति

सदैव सतर्क रहना चाहिए। यह भगवद्धाम में रहने के प्रयास की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

ततोऽनुज्ञाप्य भगवान्स्वभुवं प्रागवस्थितान् ।
वत्सान्पुलिनमानिन्ये यथापूर्वसखं स्वकम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; अनुज्ञाप्य—अनुमति देकर; भगवान्—भगवान्; स्व-भुवम्—अपने पुत्र (ब्रह्मा) को; प्राक्—पहले से; अवस्थितान्—स्थित; वत्सान्—बछड़े; पुलिनम्—नदी के तट पर; आनिन्ये—ले आये; यथा-पूर्व—पहले की तरह; सखम्—जहाँ पर मित्रगण उपस्थित थे; स्वकम्—अपने।

अपने पुत्र ब्रह्मा को प्रस्थान की अनुमति देकर भगवान् ने बछड़ों को साथ ले लिया, जो अब भी वहीं थे जहाँ वे एक वर्ष पूर्व थे और उन्हें नदी के तट पर ले आये जहाँ पर भगवान् स्वयं पहले भोजन कर रहे थे और जहाँ पर उनके ग्वालबाल मित्र पूर्ववत् थे।

तात्पर्य : *स्व-भुवम्* शब्द, जिसका अर्थ है "अपने पुत्र को," सूचित करता है कि भगवान् कृष्ण ने ब्रह्मा द्वारा किये अपराध को क्षमा कर दिया था और उसे अब अपने पुत्र के समान स्नेह कर रहे थे। इस श्लोक में यह कहा गया है कि असली ग्वालबाल सखा तथा बछड़े पूर्ववत् यमुना तट पर तथा जंगल में थे। इससे पूर्व बछड़े जंगल में खो गये थे और कृष्ण उन्हें ढूँढ़ने गये थे। उन्हें न पाकर वे अपने ग्वाल मित्रों से स्थिति पर विचारविमर्श करने लौट आये थे किन्तु वे भी वहाँ से लुप्त हो चुके थे। अब पुन: गौवें जंगल में थीं और भोजन करने के लिए ग्वालबाल नदी के तट पर थे। श्रील सनातन गोस्वामी के अनुसार बछड़े तथा ग्वालबाल क्रमश: जंगल तथा नदी तट पर एक साल तक रहते रहे। ब्रह्माजी वास्तव में उन्हें किसी अन्य स्थान पर नहीं ले गये। भगवान् की सर्वशक्तियुत माया से गोपियों तथा वृन्दावन के अन्य वासियों ने न तो बछड़ों तथा बालकों की ओर ध्यान दिया, न ही बछड़ों तथा बच्चों ने एक वर्ष की अवधि गुजरते देखी या भूख, प्यास अथवा ठंड का अनुभव किया। भगवान् की माया द्वारा ये सारी लीलाएँ नियोजित थीं। ब्रह्मा ने सोचा, "मैंने गोकुल के सारे बालकों तथा बछड़ों को अपनी योगशक्ति की शय्या पर सुला रखा है और वे सब आज तक नहीं जगे हैं। उतनी ही संख्या में बालक तथा बछड़े पूरे वर्ष भर भगवान् कृष्ण के साथ खेलते रहे हैं किन्तु जिन्हें मैंने योगशक्ति द्वारा मोहित किया है उनसे ये भिन्न हैं। तो फिर वे कौन हैं? वे कहाँ से आये?"

भगवान् से कुछ भी अदृश्य नहीं है। इसीलिए भगवान् कृष्ण बछड़ों तथा बालकों को खोजते हुए ब्रह्मा को मोहित करने की नाटकीय लीला का स्वाँग कर रहे थे। जब ब्रह्मा स्तुति कर चुके तो कृष्ण

असली बालकों तथा बछड़ों के पास लौट आये जो बिल्कुल पहले की ही तरह लग रहे थे यद्यपि एक वर्ष की अवधि बीतने के कारण उनके कद में कुछ वृद्धि हो गई थी।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार चूँकि कृष्ण वृन्दावन में भोले-भाले किशोर ग्वालबाल की क्रीड़ा कर रहे थे अत: जब चतुर्मुख ब्रह्मा स्तुति कर चुके तो कृष्ण उनके समक्ष मौन बने रहे। कृष्ण की चुप्पी से निम्नलिखित भाव इंगित होते हैं—''ये चतुर्मुख ब्रह्मा कहाँ से आये? वे क्या कर रहे हैं? वे क्या बोले चले जा रहे हैं? मैं तो अपने बछड़ों की खोज करने में व्यस्त हूँ। मैं तो ग्वालबाल ठहरा। मैं यह सब क्या समझूँ।'' ब्रह्मा ने कृष्ण को सामान्य ग्वालबाल समझकर उनके साथ व्यवहार किया था। ब्रह्मा की स्तुति स्वीकार करने के बाद कृष्ण ग्वालबाल की तरह खेलते रहे। उन्होंने चतुर्मुख ब्रह्मा को कोई उत्तर नहीं दिया। कृष्ण को अपने ग्वालबाल मित्रों से मिलने और यमुना नदी के तट पर भोजन करने की अधिक चिन्ता थी।

एकस्मिन्नपि यातेऽब्दे प्राणेशं चान्तरात्मन: ।
कृष्णमायाहता राजन्क्षणार्धं मेनिरेऽर्भका: ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

एकस्मिन्—एक; अपि—यद्यपि; याते—बीत जाने पर; अब्दे—वर्ष; प्राण-ईशम्—उनके प्राणों के स्वामी; च—तथा; अन्तरा—रहित; आत्मन:—उनसे; कृष्ण—कृष्ण की; माया—मायाशक्ति से; आहता:—प्रच्छन्न; राजन्—हे राजन्; क्षण-अर्धम्—आधा क्षण; मेनिरे—सोचा; अर्भका:—बालकों ने।

हे राजन्, यद्यपि बालकों ने अपने प्राणेश से विलग रहकर पूरा एक वर्ष बिता दिया था किन्तु वे कृष्ण की मायाशक्ति से आवृत कर दिये गये थे अत: उन्होंने उस वर्ष को केवल आधा क्षण ही समझा।

किं किं न विस्मरन्तीह मायामोहितचेतस: ।
यन्मोहितं जगत्सर्वमभीक्ष्णं विस्मृतात्मकम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

किम् किम्—क्या क्या; न विस्मरन्ति—लोग भूल नहीं जाते हैं; इह—इस संसार में; माया-मोहित—माया द्वारा मोहित किये गये; चेतस:—मन वाले; यत्—जिससे; मोहितम्—मोहित हुए; जगत्—संसार; सर्वम्—सम्पूर्ण; अभीक्ष्णम्—निरन्तर; विस्मृत-आत्मकम्—अपने तक को भूलकर।

जिनके मन भगवान् की मायाशक्ति द्वारा मोहित हों, भला उन्हें क्या नहीं भूल जाता? माया की शक्ति से यह निखिल ब्रह्माण्ड निरन्तर मोहग्रस्त रहता है और इस विस्मृति के वातावरण में

कोई अपनी पहचान नहीं समझ सकता।

तात्पर्य : यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मोहित है। अत: इन्द्र तथा ब्रह्मा जैसे बड़े बड़े देवता तक इस विस्मृति के सिद्धान्त से बचे हुए नहीं हैं। चूँकि भगवान् कृष्ण ने ग्वाल मित्रों तथा बछड़ों पर अन्तरंगा मायाशक्ति का प्रयोग किया अत: इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उन्हें एक वर्ष तक अपनी स्थिति का स्मरण नहीं हुआ। भगवान् की बहिरंगा शक्ति के द्वारा बद्धजीव अपने अस्तित्व को एक वर्ष क्या लाखों वर्ष तक भूले रह सकते हैं क्योंकि वे अज्ञान के लोक में, जिसे भौतिक जगत कहते हैं, देहान्तरण करते रहते हैं।

ऊचुश्च सुहृद: कृष्णं स्वागतं तेऽतिरंहसा ।
नैकोऽप्यभोजि कवल एहीत: साधु भुज्यताम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

ऊचु:—बोले; च—तथा; सुहृद:—मित्रगण; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण से; सु-आगतम्—वापस आ गये हो; ते—तुम; अति-रंहसा—बहुत जल्दी; न—नहीं; एक:—एक; अपि—भी; अभोजि—खाया गया है; कवल:—कौर; एहि—आओ; इत:—यहाँ; साधु—ठीक से; भुज्यताम्—अपना भोजन करो।

ग्वाल मित्रों ने भगवान् कृष्ण से कहा ''तुम इतनी जल्दी आ गये! तुम्हारी अनुपस्थिति में हमने एक कौर भी नहीं खाया। आओ और अच्छी तरह से अपना भोजन करो।''

तात्पर्य : *स्वागतं तेऽतिरंहसा* शब्दों से सूचित होता है कि ग्वालबाल कृष्ण को जंगल से इतनी जल्दी बछड़े लौटा लाने के लिए बधाई दे रहे थे। अब कृष्ण के प्रिय मित्र उनसे ठीक से बैठ जाने और जी भर के खाने का अनुरोध करने लगे हैं। श्रील प्रभुपाद कृत ''भगवान् श्रीकृष्ण'' के अनुसार ग्वाल मित्रों को अतीव हर्ष हुआ और वे अपने प्रिय मित्र कृष्ण के साथ भोजन करने के लिए लालायित थे।

ततो हसन्हृषीकेशोऽभ्यवहृत्य सहार्भकै: ।
दर्शयंश्चर्माजगरं न्यवर्तत वनाद्व्रजम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

तत:—तब; हसन्—मुसकाते हुए; हृषीकेश:—सबों की इन्द्रियों के स्वामी भगवान् कृष्ण ने; अभ्यवहृत्य—भोजन करते हुए; सह—साथ; अर्भकै:—ग्वालबालों के; दर्शयन्—दिखलाते हुए; चर्म—चमड़ा; आजगरम्—अघासुर अजगर का; न्यवर्तत—लौट आये; वनात्—जंगल से; व्रजम्—व्रज के ग्राम को।

तत्पश्चात् भगवान् हृषीकेश ने हँसते हुए अपने गोपमित्रों के साथ अपना भोजन समाप्त किया। जब वे जंगल से व्रज में स्थित अपने घरों को लौट रहे थे तो भगवान् कृष्ण ने ग्वालबालों

को अघासुर अजगर की खाल दिखलाई।

बर्हप्रसूनवनधातुविचित्रिताङ्गः
प्रोद्दामवेणुदलशृङ्गरवोत्सवाढ्यः ।
वत्सान्गृणन्ननुगगीतपवित्रकीर्ति-
र्गोपीदृगुत्सवदृशिः प्रविवेश गोष्ठम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

बर्ह—मोरपंख; प्रसून—फूलों; वन-धातु—जंगल के खनिजों से; विचित्रित—अलंकृत; अङ्गः—दिव्य शरीर; प्रोद्दाम—विशाल; वेणु-दल—बाँस की टहनी से बना; शृङ्ग—वंशी की; रव—प्रतिध्वनि से; उत्सव—उत्सव समेत; आढ्यः—दीप्त; वत्सान्—बछड़ों को; गृणन्—पुकारते हुए; अनुग—अपने संगियों द्वारा; गीत—गाया गया; पवित्र—शुद्ध करने वाला; कीर्तिः—उनकी महिमा; गोपी—गोपियों की; दृक्—आँखों के लिए; उत्सव—त्यौहार; दृशिः—उनकी दृष्टि; प्रविवेश—प्रविष्ट हुए; गोष्ठम्—चरागाह में।

भगवान् कृष्ण का दिव्य शरीर मोरपंखों तथा फूलों से सजा था और जंगल के खनिजों से रँगा हुआ था और बाँस की उनकी वंशी उच्च एवं उल्लासपूर्ण स्वर में गूँज रही थी। जब वे बछड़ों का नाम लेकर पुकारते तो उनके ग्वालमित्र उनकी महिमा का गान करते और सारे संसार को पवित्र बना देते। इस तरह कृष्ण भगवान् अपने पिता नन्द महाराज की चरागाह में प्रविष्ट हुए। उनके सौन्दर्य पर दृष्टि पड़ते ही समस्त गोपियों की आँखों के लिए एक महोत्सव सा उत्पन्न हो गया।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी तथा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार यहाँ पर जिन गोपियों का उल्लेख हुआ है वे माता यशोदा जैसी अधिक आयुवाली ग्वालिनें थीं जो कृष्ण को माता-पिता के समान प्यार करती थीं। कृष्ण के ग्वालमित्र उनके अद्भुत कार्यों पर इतने गर्वित थे कि गाँव में प्रवेश करते हुए वे सब उनके गुणों का गायन करने लगे।

अद्यानेन महाव्यालो यशोदानन्दसूनुना ।
हतोऽविता वयं चास्मादिति बाला व्रजे जगुः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

अद्य—आज; अनेन—उनके द्वारा; महा-व्यालः—विशाल सर्प; यशोदा—यशोदा; नन्द—तथा महाराज नन्द के; सूनुना—पुत्र द्वारा; हतः—मारा गया है; अविताः—बचाये गये हैं; वयम्—हम सभी; च—तथा; अस्मात्—उस असुर से; इति—इस प्रकार; बालाः—बालकों ने; व्रजे—वृन्दावन में; जगुः—गाया।

व्रज ग्राम पहुँचते ही बालकों ने गुणगान किया, "आज कृष्ण ने एक विशाल सर्प मारकर हम सबों को बचाया है।" कुछ बालकों ने कृष्ण को यशोदानन्दन के रूप में तो कुछ ने नन्द

महाराज के पुत्र के रूप में बखान किया।

तात्पर्य : वास्तव में भगवान् कृष्ण ने अघासुर का वध एक वर्ष पूर्व किया था किन्तु ये बालक ब्रह्मा की योगशक्ति से एक वर्ष तक मोहित रहने के कारण समय को बीतते जान नहीं पाये। अत: उन्होंने सोचा कि भगवान् कृष्ण ने अघासुर का वध उसी दिन किया है और अब उन सबों के साथ घर वापस आ रहे हैं।

श्रीराजोवाच
ब्रह्मन्परोद्भवे कृष्णे इयान्प्रेमा कथं भवेत् ।
योऽभूतपूर्वस्तोकेषु स्वोद्भवेष्वपि कथ्यताम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण, शुकदेव; पर-उद्भवे—दूसरे की सन्तान; कृष्णे—कृष्ण के लिए; इयान्—इतना अधिक; प्रेमा—प्रेम; कथम्—क्यों; भवेत्—हो सकता है; यः—जो; अभूत-पूर्वः—अभूतपूर्व; तोकेषु—बालकों के लिए; स्व-उद्भवेषु—अपने ही जन्मे; अपि—भी; कथ्यताम्—कृपया बतलाइये।

राजा परीक्षित ने कहा, "हे ब्राह्मण, ग्वालों की पत्नियों में एक पराये पुत्र कृष्ण के लिए ऐसा अभूतपूर्व शुद्ध प्रेम किस प्रकार उत्पन्न हुआ—ऐसा प्रेम जिसका अनुभव उन्हें अपने पुत्रों के प्रति भी नहीं उत्पन्न हुआ? कृपया इसे बतलाइये।"

श्रीशुक उवाच
सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः ।
इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सर्वेषाम्—समस्त; अपि—निस्सन्देह; भूतानाम्—जीवों में; नृप—हे राजन्; स्व-आत्मा—अपनी ही आत्मा, स्व; एव—निश्चय ही; वल्लभः—प्रियतम; इतरे—अन्य; अपत्य—सन्तानें; वित्त—धन; आद्याः—इत्यादि; तत्—उस आत्मा के; वल्लभतया—प्रियत्व पर आश्रित; एव हि—निस्सन्देह।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, प्रत्येक प्राणी के लिए स्वयं ही सर्वाधिक प्रिय होता है। सन्तान, धन इत्यादि अन्य समस्त वस्तुओं की प्रियता केवल आत्म-प्रियता के कारण है।

तात्पर्य : कभी कभी आधुनिक चिन्तक नैतिक आचरण के मनोविज्ञान का अध्ययन करते समय चकरा जाते हैं। जैसाकि यहाँ पर बतलाया गया है, कि प्रत्येक जीव आत्म-रक्षण के प्रति उन्मुख रहता है किन्तु कभी-कभी कोई व्यक्ति अपने स्वार्थ की बलि—यथा अन्यों के लाभ के लिए अपना धन

देकर या राष्ट्रीय हित के लिए अपना जीवन देकर—स्वेच्छा से कर देता है। ऐसा तथाकथित निस्वार्थ आचरण भौतिक आत्म-केन्द्रता तथा आत्म-रक्षण के सिद्धान्त का विरोधी प्रतीत होता है।

किन्तु जैसाकि इस श्लोक में बतलाया गया है जीव अपने समाज, राष्ट्र, परिवार इत्यादि की सेवा इसीलिए करता है क्योंकि ये प्रिय वस्तुएँ मिथ्या अहंकार की विस्तारित विचारधारा को ही प्रदर्शित करने वाली हैं। देशभक्त अपने को महान् राष्ट्र के महान् सेवक के रूप में देखता है अतएव वह अपने अहंभाव की तुष्टि के लिए अपना जीवन न्यौछावर कर देता है। इसी तरह यह सुपरिचित तथ्य है कि मनुष्य अपनी पत्नी तथा अपनी सन्तान को प्रसन्न करने के लिए अपना सर्वस्व अर्पित कर देता है। अपने को अपने परिवार तथा अपनी जाति के निस्वार्थ शुभचिन्तक के रूप में देखते हुए मनुष्य को परम अहमन्यता का सुख प्राप्त होता है। ऐसा विरोधमूलक आचरण भौतिक जीवन के माया-मोह का अन्य प्रत्यक्ष प्रमाण है, जो अलौकिक आत्मा के निपट अज्ञान की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

तद्राजेन्द्र यथा स्नेहः स्वस्वकात्मनि देहिनाम् ।
न तथा ममतालम्बिपुत्रवित्तगृहादिषु ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतएव; राज-इन्द्र—हे राजाओं में श्रेष्ठ; यथा—जिस तरह; स्नेहः—स्नेह; स्व-स्वक—प्रत्येक व्यक्ति की; आत्मनि—आत्मा के लिए; देहिनाम्—देहधारी प्राणियों के; न—नहीं; तथा—उसी तरह; ममता-आलम्बि—उसके लिए जो अपने को अपनी वस्तुओं के रूप में मानता है; पुत्र—पुत्र; वित्त—धन; गृह—घर; आदिषु—इत्यादि में।.

अतएव इसीलिए हे राजाओं में श्रेष्ठ, देहधारी जीव आत्मकेन्द्रित होता है। वह सन्तान, धन तथा घर इत्यादि वस्तुओं की अपेक्षा अपने शरीर तथा अपनी ओर अधिक आसक्त होता है।

तात्पर्य : अब सारे विश्व में यह प्रचलन हो गया है कि यदि माता को किसी सन्तान को जन्म देने में असुविधा होती है, तो वह अपने गर्भ के भीतर ही उस सन्तान को मार डालती है। इसी तरह बड़े होने पर सन्तानें अपनी सुविधा के लिए वृद्ध माता-पिता को घर में न रखकर अनाथालयों में रख देती हैं। ये तथा अन्य सैकड़ों उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि लोग सामान्यतया अपने शरीर तथा अपनी ओर अधिक अनुरक्त रहते हैं क्योंकि ये ''अहंभाव'' के सूचक हैं जबकि परिवार तथा अन्य वस्तुएँ ''ममत्व'' की सूचक हैं। यद्यपि बद्धजीव अपने समाज, परिवार इत्यादि के प्रति प्रेम पर बहुत गर्व का अनुभव करते हैं किन्तु वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक बद्ध आत्मा स्थूल या सूक्ष्म स्वार्थ के स्तर पर

ही कर्म करता है।

देहात्मवादिनां पुंसामपि राजन्यसत्तम ।
यथा देहः प्रियतमस्तथा न ह्यनु ये च तम् ॥५२॥

शब्दार्थ

देह-आत्म-वादिनाम्—शरीर को ही आत्मा मानने वाले; पुंसाम्—मनुष्यों के लिए; अपि—निस्सन्देह; राजन्य-सत्-तम—हे राजाओं में श्रेष्ठ; यथा—जिस तरह; देहः—शरीर; प्रिय-तमः—सर्वाधिक प्रिय; तथा—उसी प्रकार; न—नहीं; हि—निश्चय ही; अनु—की तुलना में; ये—जो वस्तुएँ; च—तथा; तम्—उसको।

हे राजाओं में श्रेष्ठ, जो लोग शरीर को ही अपना सर्वस्व मानते हैं उनके लिए वे वस्तुएँ जिनका महत्व शरीर के लिए होता है कभी भी शरीर जितनी प्रिय नहीं होतीं।

देहोऽपि ममताभाक्चेत्तर्ह्यसौ नात्मवत्प्रियः ।
यज्जीर्यत्यपि देहेऽस्मिन्जीविताशा बलीयसी ॥५३॥

शब्दार्थ

देहः—शरीर; अपि—भी; ममता—स्वामित्व का; भाक्—केन्द्रबिन्दु; चेत्—यदि; तर्हि—तब; असौ—वह शरीर; न—नहीं; आत्म-वत्—आत्मा के समान; प्रियः—प्रिय; यत्—क्योंकि; जीर्यति—वृद्ध होते हुए; अपि—भी; देहे—शरीर में; अस्मिन्—इस; जीवित-आशा—जीवित रहने की आकांक्षा; बलीयसी—अत्यन्त प्रबल।

यदि मनुष्य शरीर को "मैं" न मानकर "मेरा" मानने की अवस्था तक पहुँच जाता है, तो वह निश्चित रूप से शरीर को अपने आप जितना प्रिय नहीं मानेगा। यही कारण है कि शरीर के जीर्णशीर्ण हो जाने पर भी जीवित रहते जाने की आशा प्रबल रहती है।

तात्पर्य : यहाँ पर *ममताभाक्* शब्द अत्यन्त सार्थक है। सामान्य मूर्ख व्यक्ति सोचता है कि "मैं यह शरीर हूँ।" किन्तु अधिक विवेकवान बुद्धिमान व्यक्ति सोचता है कि "यह मेरा शरीर है।" साहित्य में तथा सामान्य लोगों की लोक-कथाओं में वृद्ध एवं जर्जर व्यक्ति में एक नया तरुण शरीर प्राप्त करने की अभिलाषा सामान्यतया पायी जाती है। इस तरह सामान्य व्यक्तियों तक में आत्म-साक्षात्कार का विचार पैदा हो जाता है और वे सहजभाव से समझते हैं कि अनेक शरीरों में आत्मा के लिए रह पाना सम्भव है।

बुद्धिमान व्यक्ति का शरीर ज्यों ज्यों जीर्णशीर्ण होता जाता है उसमें जीवित रहने की आकांक्षा बलवती होती जाती है, यद्यपि वह यह जानता रहता है कि उसका शरीर अधिक काल तक चल नहीं सकता। इससे यह सूचित होता है कि धीरे धीरे वह इस तथ्य से अवगत होता जाता है कि इस शरीर

की तुलना में उसकी आत्मा अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस तरह जीविताशा से मनुष्य अप्रत्यक्षत: आत्म-साक्षात्कार की प्रारम्भिक जानकारी की ओर जाने लगता है। मनुष्य की मूलभूत आसक्ति अपनी आत्मा से रहती है, अपने से सम्बद्ध वस्तुओं से नहीं।

यहाँ यह इंगित कर दिया जाय कि राजा परीक्षित तथा शुकदेव गोस्वामी के बीच आत्मा के प्रियत्व को लेकर होनेवाला समूचा संवाद इस विषय को छेड़ना है कि वृन्दावन की गौवें तथा गोपियाँ कृष्ण को अपने आप से भी अधिक प्रिय, यहाँ तक कि अपनी सन्तानों से भी अधिक प्रिय क्यों मानती थीं। यह संवाद आगे बढ़ता है।

तस्मात्प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम् ।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम् ॥ ५४॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; प्रिय-तमः—अत्यन्त प्रिय; स्व-आत्मा—अपनी आत्मा; सर्वेषाम्—समस्त; अपि—निस्सन्देह; देहिनाम्—देहधारी जीवों के लिए; तत्-अर्थम्—उसी के हेतु; एव—निश्चय ही; सकलम्—सम्पूर्ण; जगत्—संसार; एतत्—यह; चर-अचरम्—चर तथा अचर जीवों समेत।

इसलिए हर देहधारी जीव को अपना आप (स्वात्म) ही सर्वाधिक प्रिय है और इसी की तुष्टि के लिए यह समस्त चराचर जगत विद्यमान है।

तात्पर्य : *चराचरम्* शब्द पशु जैसे सचल और वृक्ष जैसे अचल प्राणियों का द्योतक है। अथवा यह शब्द चल सम्पत्ति यथा परिवार तथा पालतू पशुओं एवं अचल सम्पत्ति यथा घर-बार का भी द्योतक है।

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥ ५५॥

शब्दार्थ

कृष्णम्—भगवान् कृष्ण को; एनम्—इन; अवेहि—समझने का प्रयत्न करो; त्वम्—तुम; आत्मानम्—आत्मा को; अखिल-आत्मनाम्—समस्त जीवों के; जगत्-हिताय—सारे ब्रह्माण्ड के लाभ हेतु; सः—वह; अपि—निश्चय ही; अत्र—यहाँ; देही—मानव; इव—सदृश; आभाति—प्रकट होता है; मायया—अपनी अन्तरंगा शक्ति के द्वारा।

तुम कृष्ण को समस्त जीवों की आदि आत्मा करके जानो। वे अपनी अहैतुकी कृपावश, समस्त जगत के लाभ हेतु, सामान्य मानव के रूप में प्रकट हुए हैं। ऐसा उन्होंने अपनी अन्तरंगा शक्ति के बल पर किया है।

तात्पर्य : *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य लीला, २०.१६२) में श्रील प्रभुपाद ने इस श्लोक की टीका इस

प्रकार की है : ''परीक्षित महाराज ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा कि वृन्दावन के वासियों को कृष्ण इतने प्रिय क्यों हैं—वे उन्हें अपनी सन्तान या अपने जीवन से भी अधिक प्यार करते हैं? श्री शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया कि देहधारी सारे जीवों को अपनी *आत्मा* सर्वाधिक प्रिय है। किन्तु यह आत्मा कृष्ण का अंश है अतएव कृष्ण हर जीव को अत्यन्त प्रिय हैं। हर एक को अपना शरीर अत्यन्त प्रिय है और वह सभी प्रकार से अपने शरीर की रक्षा करना चाहता है क्योंकि शरीर के भीतर आत्मा का निवास है। आत्मा तथा शरीर के मध्य घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण ही शरीर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और हर एक को प्रिय है। इसी प्रकार कृष्ण का अंश होने से आत्मा हर जीव को अत्यधिक प्रिय है। दुर्भाग्यवश आत्मा अपनी वैधानिक स्थिति भूल जाता है और अपने को मात्र शरीर समझता है (*देहात्मबुद्धि*)। फलत: आत्मा को भौतिक प्रकृति के विधिविधानों को मानना पड़ता है। जब जीव अपनी बुद्धि के बल से कृष्ण के प्रति अपने आकर्षण को जागृत करता है, तो उसकी समझ में आता है कि वह शरीर नहीं अपितु कृष्ण का अंश है। इस तरह ज्ञान से पूरित होने पर वह शरीर तथा शरीर से सम्बद्ध वस्तुओं के प्रति अनुरक्ति के वशीभूत होकर श्रम नहीं करता (*जनस्य मोहोऽयमहं ममेति*)। यह जगत भी जिसमें मनुष्य सोचता है कि ''मैं शरीर हूँ और यह मेरा है,'' मायामय है। मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण के प्रति ध्यान लगाये। *श्रीमद्भागवत* (१.२.७) में कहा गया है—

वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित:।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥

''भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति करने से मनुष्य को अहैतुक ज्ञान तथा संसार से विरक्ति प्राप्त होती है।''

वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च ।
भगवद्रूपमखिलं नान्यद्वस्त्विह किञ्चन ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

वस्तुत:—वास्तव में; जानताम्—जानने वालों के लिए; अत्र—इस संसार में; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण को; स्थास्नु—अचल; चरिष्णु—चल; च—तथा; भगवत्-रूपम्—भगवान् का प्रकट रूप; अखिलम्—सर्वस्व; न—कुछ भी नहीं; अन्यत्—अन्य; वस्तु—वस्तु; इह—यहाँ; किञ्चन—तनिक भी।

इस जगत में जो लोग भगवान् कृष्ण को यथारूप में समझते हैं, वे समस्त चर या अचर वस्तुओं को भगवान् के व्यक्त रूप में देखते हैं। ऐसे प्रबुद्ध लोग भगवान् कृष्ण से परे अन्य

किसी यथार्थ (वास्तविकता) को नहीं मानते।

तात्पर्य : प्रत्येक वस्तु कृष्ण में और प्रत्येक वस्तु में कृष्ण विद्यमान रहते हैं। फिर भी प्रगमन की दिशा शक्तिमान से विस्तारित शक्ति की ओर होती है। भगवान् कृष्ण आदि सत्ता हैं जिनसे अन्य सारी सत्ताएँ उद्‌भूत होती हैं। वे परम शक्तिमान हैं जिनसे सभी प्रकार की शक्तियाँ प्रकट होती हैं। इस तरह हमारे शरीर, आत्मा, परिवार, मित्र, राष्ट्र, लोक, ब्रह्माण्ड इत्यादि भगवान् की ही अभिव्यक्तियाँ हैं, जो अपनी निजी शक्तियों के माध्यम से विस्तार करते हैं। निश्चय ही कृष्ण हमारे प्रेम तथा आकर्षण के चरम लक्ष्य हैं जबकि शरीर, परिवार तथा घर गौण लक्ष्य हैं। यही नहीं, प्रेम के ये गौण लक्ष्य भी कृष्ण की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। निष्कर्ष यही है कि भगवान् कृष्ण हमारे एकमात्र मित्र तथा प्रेम के लक्ष्य हैं।

श्रील प्रभुपाद ने इस श्लोक की टीका ''भगवान् श्रीकृष्ण'' में इस प्रकार की है : ''कृष्ण का अंश हुए बिना कोई भी वस्तु आकर्षक नहीं बन सकती। विश्व में जो भी आकर्षक है, वह कृष्ण के कारण है। अतएव कृष्ण समस्त आनन्द के आगार हैं। कृष्ण हर वस्तु के सार हैं और उच्च अध्यात्मवादी प्रत्येक वस्तु को उनसे सम्बन्धित देखते हैं। *चैतन्य-चरितामृत* में कहा गया है कि *महाभागवत* अर्थात् उच्च श्रेणी का भक्त कृष्ण को समस्त चराचर जीवों का सक्षम आधार मानता है। इसलिए वह इस जगत की प्रत्येक वस्तु को कृष्ण से सम्बन्धित देखता है।''

सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः ।
तस्यापि भगवान्कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम् ॥ ५७॥

शब्दार्थ

सर्वेषाम्—सभी; अपि—निस्सन्देह; वस्तूनाम्—वस्तुओं का; भाव-अर्थः—प्रकृति की आदि अव्यक्त कारण-अवस्था; भवति—होती है; स्थितः—स्थापित; तस्य—अव्यक्त प्रकृति का; अपि—भी; भगवान्—भगवान्; कृष्णः—कृष्ण; किम्—क्या; अतत्—उनसे पृथक्; वस्तु—वस्तु; रूप्यताम्—निर्धारित की जा सकती है।.

प्रकृति का आदि अव्यक्त रूप समस्त भौतिक वस्तुओं का स्त्रोत है और यहाँ तक कि इस सूक्ष्म प्रकृति के स्त्रोत तो भगवान् कृष्ण हैं। तो भला उनसे पृथक् किसको कहा जा सकता है?

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं
महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः ।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं
पदं पदं यद्विपदां न तेषाम् ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

समाश्रिताः—शरणागत; ये—जो लोग; पद—पैरों का; पल्लव—फूल की कलियों के समान; प्लवम्—नौका रूप; महत्—सम्पूर्ण जगत के अथवा महात्माओं के; पदम्—शरण; पुण्य—अत्यन्त पुनीत; यशः—जिनका यश; मुर-अरेः—मुर नामक असुर के शत्रु का; भव—संसार का; अम्बुधिः—सागर; वत्स-पदम्—बछड़े का खुर; परम् पदम्—परम धाम, वैकुण्ठ; पदम् पदम्—पग पग पर; यत्—जहाँ; विपदाम्—विपदाएँ; न—एक भी नहीं; तेषाम्—उनके लिए।

दृश्यजगत के आश्रय एवं मुर राक्षस के शत्रु मुरारी के नाम से प्रसिद्ध भगवान् के चरणकमल रूपी नाव को जिन्होंने स्वीकार किया है उनके लिए यह भव-सागर बछड़े के खुर चिन्ह में भरे जल के समान है। उनका लक्ष्य *परं पदम्* अर्थात् वैकुण्ठ होता है जहाँ भौतिक विपदाओं का नामोनिशान नहीं होता, न ही पग पग पर कोई संकट होता है।

तात्पर्य : उपर्युक्त उद्धरण श्रील प्रभुपाद लिखित *भगवद्गीता* यथारूप की टीका (२.५१) से लिया गया है। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार इस श्लोक में *श्रीमद्भागवत* के इस अध्याय का सार प्रस्तुत किया गया है। भगवान् कृष्ण के चरणकमलों को *पल्लव* कहा गया है क्योंकि वे अत्यन्त कोमल तथा गुलाबी रंग के हैं। श्रील सनातन गोस्वामी के अनुसार *पल्लव* शब्द से यह भी सूचित होता है कि भगवान् कृष्ण के चरणकमल कल्पवृक्ष के समान हैं, जो भगवान् के शुद्ध भक्तों की सारी इच्छाओं को पूरा करनेवाले हैं। श्रीनारद जैसे उच्चस्थ भक्त, जो स्वयं इस ब्रह्माण्ड के बद्धजीवों के परम आश्रय हैं, भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करते हैं। अत: स्वाभाविक है कि जब भगवान् कृष्ण वृन्दावन के समस्त ग्वालबालों तथा बछड़ों के रूप में अपने को प्रकट करते हैं, तो उनके माता-पिता पहले की अपेक्षा उनके प्रति अधिक आकृष्ट होते हैं। भगवान् कृष्ण समस्त आनन्द के आगार हैं और सर्वाकर्षक होने के कारण हर एक के प्रेम के चरम लक्ष्य हैं।

एतत्ते सर्वमाख्यातं यत्पृष्टोऽहमिह त्वया ।
तत्कौमारे हरिकृतं पौगण्डे परिकीर्तितम् ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; ते—आपसे; सर्वम्—सभी; आख्यातम्—वर्णन किया; यत्—जो; पृष्टः—पूछा गया; अहम्—मैंने; इह—इस सम्बन्ध में; त्वया—तुम्हारे द्वारा; तत्—वह; कौमारे—बाल्यकाल में (पाँच वर्ष की अवस्था में); हरि-कृतम्—भगवान् हरि द्वारा सम्पन्न; पौगण्डे—बाल्यकाल के बाद (छठे वर्ष से लेकर आगे); परिकीर्तितम्—गुणानुवाद किया हुआ।

चूँकि आपने मुझसे पूछा था इसलिए मैंने भगवान् हरि की उन लीलाओं का संपूर्ण वर्णन किया जो उन्होंने अपनी आयु के पाँचवें वर्ष में सम्पन्न की थीं किन्तु छठा वर्ष लगने तक प्रशस्त नहीं हुई थीं।

एतत्सुहृद्भिश्चरितं मुरारे-
रघार्दनं शाद्वलजेमनं च ।
व्यक्तेतरद्रूपमजोर्वभिष्टवं
शृण्वन्गृणन्नेति नरोऽखिलार्थान् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

एतत्—ये; सुहृद्भिः—अपने ग्वाल मित्रों के साथ; चरितम्—लीलाएँ; मुरारेः—भगवान् मुरारी की; अघ-अर्दनम्—अघासुर का दमन; शाद्वल—जंगल की घास पर; जेमनम्—भोजन करते हुए; च—तथा; व्यक्त-इतरत्—अलौकिक; रूपम्—भगवान् का दिव्य रूप; अज—ब्रह्मा द्वारा; उरु—विस्तृत; अभिष्टवम्—स्तुति; शृण्वन्—श्रवण; गृणन्—कीर्तन; एति—प्राप्त करता है; नरः—कोई मनुष्य; अखिल-अर्थान्—सारी मनवांछित वस्तुएँ।

मुरारी द्वारा ग्वालबालों के साथ सम्पन्न इन लीलाओं को—यथा अघासुर वध, जंगल की घास पर बैठकर भोजन करना, भगवान् द्वारा दिव्य रूपों का प्राकट्य तथा ब्रह्मा द्वारा की गई अद्‌भुत स्तुति को जो भी व्यक्ति सुनता है या उनका कीर्तन करता है उसकी सारी आध्यात्मिक मनोकामनाएँ अवश्य पूरी होती हैं।

तात्पर्य : श्रील सनातन गोस्वामी के अनुसार भगवान् कृष्ण की लीलाओं को सुनने तथा उनका कीर्तन करने के प्रति मात्र प्रवृत्ति रखनेवाला व्यक्ति भी आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त करेगा। कृष्णभावनामृत के प्रचार-प्रसार में तन्मयता से लगे बहुत से भक्तगण प्राय: इतने व्यस्त रहते हैं कि वे जी भरकर भगवान् की लीलाओं का कीर्तन तथा श्रवण नहीं कर पाते। किन्तु केवल भगवान् कृष्ण का सदैव कीर्तन एवं श्रवण करने की प्रबल इच्छा के कारण वे आध्यात्मिक सिद्धि लाभ करेंगे। किन्तु जहाँ तक सम्भव हो, भगवान् की इन दिव्य लीलाओं का वास्तविक उच्चारण करना चाहिए।

एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे ।
निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विहारैः—लीलाओं से; कौमारैः—बाल्यकाल की; कौमारम्—पाँच वर्ष तक की बाल्यावस्था; जहतुः—उन्होंने बिता दी; व्रजे—व्रजभूमि में; निलायनैः—आँखमिचौनी खेल में; सेतु-बन्धैः—पुल बनाने में; मर्कट-उत्प्लवन—बन्दरकूद; आदिभिः—इत्यादि में।

इस प्रकार व्रज भूमि में आँखमिचौनी का खेल खेलते, खेल में ही पुल बनाते, बन्दरों की तरह कूदफाँद करते तथा अन्य ऐसे ही खेलों में लगे रहकर बालकों ने अपना बाल्यकाल बिताया।

तात्पर्य : श्रील सनातन गोस्वामी के अनुसार *निलायनै* शब्द लुका-छिपी या आँखमिचौनी जैसे खेलों का द्योतक है। कभी कभी बालकगण भगवान् रामचन्द्र की सेना के बन्दरों की तरह कूदते और तालाबों या झीलों में पुल बनाकर श्रीलंका में बन्दरों द्वारा सेतु बनाने की नकल करते। कभी ये बालक क्षीरसागर मन्थन की नकल उतारते और कभी गेंद खेलते। आध्यात्मिक जगत में हमें पूर्ण आनन्द मिल सकता है बशर्ते कि हर कार्य शुद्ध भगवत्प्रेम अर्थात् कृष्णभावनामृत में सम्पन्न किया जाय।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''ब्रह्मा द्वारा कृष्ण की स्तुति'' नामक चौदहवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पन्द्रह

धेनुकासुर का वध

इस अध्याय में वर्णन हुआ है कि किस तरह बलराम तथा कृष्ण ने वृन्दावन की चरागाहों में गौवें चराते हुए धेनुकासुर का वध किया, किस तरह ब्रजवासियों को ताल वृक्ष के फल खाने दिये तथा तरुण गाय-भैंसों आदि पशु-समूह को कालिय-विष से बचाया।

पौगण्डावस्था की लीलाएँ प्रकट करते-करते एक दिन राम (बलराम) तथा कृष्ण अपनी गौवें चराते चराते एक आकर्षक वन में प्रविष्ट हुए जिसमें एक स्वच्छ सरोवर था। वे अपने मित्रों के साथ खेलकूद करने लगे। थकान का बहाना करके बलदेव ने अपना सिर एक ग्वालबाल की गोद में रख दिया और कृष्ण अपने बड़े भाई की थकान दूर करने के लिए उनके पाँव दबाने लगे। तत्पश्चात् कृष्ण ने भी अपना सिर एक ग्वालबाल की गोद में रख दिया और एक अन्य ग्वालबाल उनका पाँव दबाने लगा। इस तरह कृष्ण, बलराम तथा उनके ग्वाल मित्रों ने विविध लीलाओं का रस लिया।

खेलते हुए श्रीदामा, सुबल, स्तोककृष्ण तथा अन्य ग्वालबालों ने राम तथा कृष्ण से उस दुष्ट तथा दुर्दम धेनुकासुर का बखान किया जिसने गधे का वेश धारण कर रखा था और जो गोवर्धन पर्वत के निकट के तालवन में रह रहा था। इस वन में अनेक प्रकार के मधुर फल थे किन्तु इस असुर के भय से कोई भी व्यक्ति इन फलों का आस्वादन करने का साहस नहीं जुटा पाया। इसलिए आवश्यक था कि

इस असुर तथा इसके संगियों का वध किया जाय। इस स्थिति को सुनकर राम तथा कृष्ण अपने संगियों की इच्छापूर्ति के लिए इस वन की ओर चल पड़े।

तालवन पहुँच कर ज्योंही बलराम ने तालवृक्षों को हिलाकर बहुत से फल गिराये तभी धेनुकासुर उन पर आक्रमण करने के लिए तेजी से दौड़ा। लेकिन बलराम ने उसकी पिछली टांगों को एक हाथ से दबोच लिया, उसे घुमाया और एक वृक्ष की चोटी पर फेंक दिया। इस तरह उसका वध कर दिया। तब धेनुकासुर के सभी साथी क्रुद्ध होकर आक्रमण करने के लिये झपटे किन्तु राम तथा कृष्ण ने एक एक करके उनको पकड़ कर घुमाने के बाद मार डाला। इस तरह सारा उत्पात समाप्त हो गया। जब कृष्ण तथा बलराम ग्वाल-समुदाय के बीच लौट कर आये तो यशोदा तथा रोहिणी ने उन्हें गोद में उठा लिया, उनके मुखड़े चूमे, अच्छा भोजन कराया और सुला दिया।

कुछ दिन बाद कृष्ण अपने मित्रों के साथ गौवें चराने कालिन्दी तट पर गये किन्तु बलराम साथ में न थे। गौवें तथा ग्वालबाल बहुत ही प्यासे थे अतः उन्होंने कालिन्दी का थोड़ा-सा जल पिया। किन्तु यह जल विष से कलुषित था इसलिए वे सब नदी के तट पर बेहोश हो गये। कृष्ण ने अपनी चितवन की दया-वृष्टि से उन्हें फिर से जीवित किया। होश में आने पर उन सबों ने इस महान् दया की भूरि भूरि प्रशंसा की।

श्रीशुक उवाच

ततश्च पौगण्डवयःश्रीतौ व्रजे
बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मतौ ।
गाश्चारयन्तौ सखिभिः समं पदै-
र्वृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; ततः—तब; च—तथा; पौगण्ड वयः—पौगण्ड अवस्था (६ से १० वर्ष तक); श्रितौ—प्राप्त करके; व्रजे—वृन्दावन में; बभूवतुः—बन गये; तौ—दोनों (राम तथा कृष्ण); पशु-पाल—ग्वालों के रूप में; सम्मतौ—नियुक्त; गाः—गौवें; चारयन्तौ—चराते हुए; सखिभिः समम्—अपने मित्रों के साथ साथ; पदैः—पाँवों के चिह्नों से; वृन्दावनम्—श्री वृन्दावन को; पुण्यम्—पावन; अतीव—अत्यन्त; चक्रतुः—उन्होंने बना दिया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : वृन्दावन में रहते हुए जब राम तथा कृष्ण ने पौगण्ड अवस्था (६-१० वर्ष) प्राप्त कर ली तो ग्वालों ने उन्हें गौवें चराने के कार्य की अनुमति प्रदान कर दी। इस तरह अपने मित्रों के साथ इन दोनों बालकों ने वृन्दावन को अपने चरणकमलों के चिन्हों से

अत्यन्त पावन बना दिया।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण अपने उन ग्वालबाल मित्रों को प्रोत्साहित करना चाहते थे जिन्हें पहले अघासुर ने निगल लिया था और बाद में ब्रह्माजी चुरा ले गये थे। फलत: भगवान् ने तय किया कि वे उन्हें तालवन ले जायेंगे जहाँ स्वादिष्ट पके हुए बहुत से फल थे। चूँकि अब कृष्ण का आध्यात्मिक शरीर, आयु तथा बल में कुछ बढ़ा हुआ दिखने लगा था अत: नन्द महाराज समेत वृन्दावन के गुरुजनों ने कृष्ण को बछड़े चराने वाले से बढ़ाकर नियमित गोपालक के पद पर प्रोन्नत करने का निश्चय किया। अब कृष्ण प्रौढ़ गौवों, साँड़ों तथा बैलों की रखवाली किया करते थे। इसके पूर्व नन्द महाराज स्नेहवश कृष्ण को नन्हा जानकर तथा गाय-बैलों की रखवाली करने में अक्षम मानते रहे। *पद्मपुराण* के कार्तिक माहात्म्य अनुभाग में कहा गया है :

शुक्लाष्टमी कार्त्तिक तु स्मृता गोपाष्टमी बुधै।

तद्दिनाद् वासुदेवोऽभूद् गोप: पूर्वं तु वत्सप: ॥

"विद्वान लोग कार्तिक मास की शुक्लाष्टमी को गोपाष्टमी के नाम से जानते हैं। उसी दिन से भगवान् वासुदेव गौवों की सेवा करने लगे जबकि इसके पूर्व वे बछड़े चराते थे।"

पदै शब्द से सूचित होता है कि भगवान् कृष्ण ने पृथ्वी को अपने चरणकमलों से पवित्र बनाया। वे न तो जूता पहनते थे, न कोई अन्य पदत्राण। अपितु वे नंगे पाँव जंगल में घूमते थे जिससे वृन्दावन की बालाओं को महान् चिन्ता रहती थी कि उनके कोमल चरणकमलों को कहीं चोट न लग जाय।

तन्माधवो वेणुमुदीरयन्वृतो
गोपैर्गृणद्भि: स्वयशो बलान्वित: ।
पशून्पुरस्कृत्य पशव्यमाविशद्
विहर्तुकाम: कुसुमाकरं वनम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तत्—इस प्रकार; माधव:—श्री माधव; वेणुम्—अपनी वंशी; उदीरयन्—बजाते हुए; वृत:—घिरे हुए; गोपै:—ग्वालबालों से; गृणद्भि:—कीर्तन करते हुए; स्व-यश:—अपना यश; बल-अन्वित:—बलराम सहित; पशून्—पशुओं को; पुरस्कृत्य—आगे करके; पशव्यम्—गौवों के लिए पोषण से पूर्ण; आविशत्—प्रवेश किया; विहर्तु-काम:—विहार करने की इच्छा से; कुसुम-आकरम्—फूलों से परिपूर्ण; वनम्—वन में।

इस तरह अपनी लीलाओं का आनंद उठाने की इच्छा से अपनी वंशी बजाते हुए और अपने गुणगान कर रहे ग्वालबालों से घिरे हुए तथा बलदेव के साथ जाते हुए माधव ने गौवों को अपने

आगे कर लिया और वृन्दावन के जंगल में प्रवेश किया जो फूलों से लदा था और पशुओं के स्वास्थ्य-प्रद चारे से भरा पड़ा था।

तात्पर्य : श्रील सनातन गोस्वामी ने *माधव* शब्द के विविध अर्थों की व्याख्या की है, जो इस प्रकार है माधव सामान्यतया उस कृष्ण का सूचक है, जो ''लक्ष्मी के प्रेमी'' हैं। उक्त नाम यह भी बताता है कि वे कृष्ण मधु वंश में अवतरित हुए। चूँकि वसन्त ऋतु का भी नाम माधव है अतएव ज्योंही कृष्ण ने वृन्दावन जंगल में प्रवेश किया, तो उसमें स्वत: वसन्त-वैभव छा गया। वह फूलों से, शीतल मन्द वायु से तथा स्वर्गिक वातावरण से परिपूर्ण हो गया। कृष्ण का माधव नाम से विख्यात होने का यह भी कारण है कि वे माधुर्य प्रेम के स्वाद—मधु—में अपनी लीलाएँ करते हैं।

भगवान् कृष्ण श्रीवृन्दावन के जंगल में प्रवेश करते ही जोर से अपनी वंशी बजाते जिससे उनकी जन्मस्थली व्रजधाम के निवासियों को अचिन्त्य आनन्द प्राप्त होता था। जंगल में प्रवेश करने, वंशी बजाने आदि की ये सरल लीलाएँ वृन्दावन धाम में नित्य ही सम्पन्न होती थीं।

तन्मञ्जुघोषालिमृगद्विजाकुलं
महन्मन:प्रख्यपय:सरस्वता ।
वातेन जुष्टं शतपत्रगन्धिना
निरीक्ष्य रन्तुं भगवान्मनो दधे ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस (वन); मञ्जु—सुहावनी; घोष—ध्वनि; अलि—भौंरे; मृग—पशु; द्विज—तथा पक्षी; आकुलम्—पूर्ण; महत्—महात्माओं के; मन:—मन; प्रख्य—सदृशता रखने वाले; पय:—जिसका जल; सरस्वता—सरोवर समेत; वातेन—हवा से; जुष्टम्—सेवित; शत-पत्र—सौ पंखड़ियों वाले कमल की; गन्धिना—सुगन्धि से; निरीक्ष्य—देखकर; रन्तुम्—आनन्द लूटने के लिए; भगवान्—भगवान् ने; मन:—अपना मन; दधे—फेरा।

भगवान् ने उस जंगल पर दृष्टि दौड़ाई जो भौंरों, पशुओं तथा पक्षियों की मनोहर गुंजार से गूँजायमान हो रहा था। इसकी शोभा महात्माओं के मन के समान स्वच्छ जल वाले सरोवर से तथा सौ पंखड़ियों वाले कमलों की सुगन्धि ले जाने वाली मन्द वायु से भी बढ़कर थी। यह सब देखकर भगवान् कृष्ण ने इस पवित्र वातावरण का आनन्द लेने का निश्चय किया।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ने देखा कि वृन्दावन जंगल पाँचों इन्द्रियों को आनन्द प्रदान कर रहा था। भौंरे, पक्षी तथा पशु मनोहर ध्वनि कर रहे थे, जो कानों को मधुर लग रही थी। वायु पारदर्शी सरोवर की नमी लेकर जंगल में बह रही थी और भगवान् की सच्ची सेवा कर रही थी जिससे स्पर्शेन्द्रिय को

सुख मिल रहा था। वायु की मधुरता से स्वाद की भी अनुभूति हो रही थी और कमल के फूलों की सुगन्ध नथुनों को आनन्द प्रदान कर रही थी। सम्पूर्ण जंगल में स्वर्गीय सौन्दर्य छाया था जिससे नेत्रों को आध्यात्मिक आनन्द मिल रहा था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक के महत्त्व की व्याख्या इस रूप में की है।

स तत्र तत्रारुणपल्लवश्रिया
फलप्रसूनोरुभरेण पादयोः ।
स्पृशच्छिखान्वीक्ष्य वनस्पतीन्मुदा
स्मयन्निवाहाग्रजमादिपूरुषः ॥ ४॥

शब्दार्थ

सः—वह; तत्र तत्र—चारों ओर; अरुण—लाल-लाल; पल्लव—कलियों के; श्रीया—सौन्दर्य से; फल—उनके फलों; प्रसून—तथा फूलों के; उरु-भरेण—भारी बोझ से; पादयोः—उनके दोनों चरणों को; स्पृशत्—छूते हुए; शिखान्—उनकी डालों के सिरे; वीक्ष्य—देखकर; वनस्पतीन्—शानदार वृक्षों को; मुदा—हर्ष से; स्मयन्—हँसते हुए; इव—प्रायः; आह—बोले; अग्र-जम्—अपने बड़े भाई बलराम से; आदि-पूरुषः—आदि परमेश्वर।

आदि परमेश्वर ने देखा कि शानदार वृक्ष अपनी सुन्दर लाल-लाल कलियों तथा फलों और फूलों के भार से लदकर अपनी शाखाओं के सिरों से उनके चरणों को स्पर्श करने के लिए झुक रहे हैं। तब मन्द हास करते हुए वे अपने बड़े भाई से बोले।

तात्पर्य : *मुदा स्मयन् इव शब्द* इंगित करते हैं कि भगवान् कृष्ण को परिहास सूझ रहा था। वे जानते थे कि वृक्ष उनकी पूजा करने के लिए सचमुच नीचे झुक रहे हैं किन्तु जैसाकि अगले श्लोक से प्रकट है वे मित्र की तरह परिहास करते हुए इसका श्रेय अपने बड़े भाई बलराम को देते हैं।

श्रीभगवानुवाच
अहो अमी देववरामरार्चितं
पादाम्बुजं ते सुमनःफलार्हणम् ।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मन-
स्तमोऽपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा; अहो—ओह; अमी—ये; देव-वर—देवताओं में श्रेष्ठ (श्री बलराम); अमर—अमर देवताओं द्वारा; अर्चितम्—पूजित; पाद-अम्बुजम्—चरणकमलों पर; ते—आपके; सुमनः—फूल; फल—तथा फल की; अर्हणम्—भेंट; नमन्ति—वे नमन कर रहे हैं; उपादाय—प्रस्तुत करते हुए; शिखाभिः—अपने शिरों से; आत्मनः—उनका अपना; तमः—अज्ञान का अंधकार; अपहत्यै—दूर करने के लिए; तरु-जन्म—वृक्षों के रूप में उनका जन्म; यत्—जिससे अज्ञान; कृतम्—उत्पन्न हुआ।

भगवान् ने कहा : हे देवश्रेष्ठ, देखें न, ये वृक्ष जो अमर देवताओं द्वारा पूज्य हैं आपके

चरणकमलों पर किस तरह अपना सिर झुका रहे हैं। ये वृक्ष उस गहन अज्ञान को दूर करने के लिए आपको अपने फल तथा फूल अर्पित कर रहे हैं जिसके कारण उन्हें वृक्षों का जन्म धारण करना पड़ा है।

तात्पर्य : वृन्दावन के वृक्ष यह सोच रहे थे कि पूर्व अपराधों के कारण ही उन्हें अब वृक्ष के रूप में जन्म लेना पड़ा है और अचर होने के कारण वे कृष्ण द्वारा पूरे वृन्दावन क्षेत्र में घूमने में उनका साथ नहीं दे पा रहे थे। दरअसल, वृन्दावन के वृक्ष, गौएँ तथा सभी प्राणी महान् आत्माएँ थीं जिन्हें भगवान् का सान्निध्य प्राप्त था। किन्तु वियोग भाव के कारण वृक्ष अपने को अज्ञान-ग्रस्त मानकर कृष्ण तथा बलराम के चरणकमलों में नतमस्तक होकर अपने को पवित्र बनाने का प्रयास कर रहे थे। भगवान् कृष्ण उनके मनोभावों को समझ कर उन पर स्नेह-दृष्टि डालते हुए अपने बड़े भाई बलराम से उन सबकी भक्ति की प्रशंसा करने लगे।

एतेऽलिनस्तव यशोऽखिललोकतीर्थं
गायन्त आदिपुरुषानुपथं भजन्ते ।
प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या
गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

एते—ये; अलिनः—भौंरे; तव—आपका; यशः—कीर्ति; अखिल-लोक—समस्त जगतों के लिए; तीर्थम्—तीर्थस्थान; गायन्तः—गुणगान कर रहे हैं; आदि-पुरुष—हे आदि भगवान्; अनुपथम्—मार्ग में आपका अनुसरण करते हुए; भजन्ते—पूजा कर रहे हैं; प्रायः—अधिकांशतः; अमी—ये; मुनि-गणाः—मुनि जन; भवदीय—आपके भक्तों में; मुख्याः—अतीव घनिष्ठ; गूढम्—छिपाया हुआ; वने—जंगल में; अपि—यद्यपि; न जहति—नहीं छोड़ते; अनघ—हे निष्पाप; आत्म-दैवम्—अपने आराध्य देव को।

हे आदिपुरुष, ये भौंरे अवश्य ही महान् मुनि तथा आपके परम सिद्ध भक्त होंगे क्योंकि ये मार्ग में आपका अनुसरण करते हुए आपकी पूजा कर रहे हैं और आपके यश का कीर्तन कर रहे हैं, जो सम्पूर्ण जगत के लिए स्वयं तीर्थस्थल हैं। यद्यपि आपने इस जंगल में अपना वेश बदल रखा है किन्तु हे अनघ, वे अपने आराध्यदेव, आपको छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *गूढम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। यह इंगित करता है कि यद्यपि कृष्ण या बलराम के रूप में भगवान् इस भौतिक जगत में सामान्य व्यक्ति जैसे लगते हैं किन्तु बड़े-बड़े ऋषि मुनि भगवान् को परब्रह्म के रूप में हमेशा पहचान लेते हैं। ईश्वर के सारे दिव्य स्वरूप सच्चिदानन्दमय हैं—

हमारे भौतिक शरीरों के सर्वथा विपरीत जो कि अस्थायी तथा दुख एवं अज्ञान से पूर्ण होते हैं।

तीर्थ शब्द का एक अर्थ है "भौतिक संसार पार करने का साधन।" भगवान् के यश के श्रवण या कीर्तन मात्र से मनुष्य तुरन्त ही भव-सागर के परे आध्यात्मिक पद को प्राप्त होता है। इसीलिए भगवान् के दिव्य यश का वर्णन यहाँ प्रत्येक मानव के लिए *तीर्थ* के रूप में हुआ है। *गायन्तः* शब्द सूचित करता है कि मुनिगण अपना मौन-व्रत भंग करके एवं अन्य निजी कार्य का त्याग करके भगवान् के कार्यकलापों का गुणगान करते हैं। असली मौन का अर्थ है व्यर्थ न बोलना, अपनी वाणी को भगवान् की प्रेमाभक्ति से सम्बन्धित ध्वनि तथा बातचीत तक ही सीमित रखना।

अनघ शब्द बतलाता है कि भगवान् कभी कोई पाप कर्म या अपराध नहीं करते। यह शब्द इस बात को भी सूचित करता है कि वे अपने निष्ठावान भक्त द्वारा अकस्मात् किये गये पाप या अपराध को तुरन्त क्षमा कर देते हैं। इस श्लोक के विशेष संदर्भ में *अनघ* शब्द यह सूचित करता है कि बलराम जी लगातार पीछा करने वाले भौंरों से तनिक भी विचलित नहीं हो रहे थे। उन्होंने उन्हें यह आशीर्वाद दिया, "हे भौंरो! मेरे गोपनीय कुंज में आओ और इसकी सुगन्धि का आनन्द लो।"

नृत्यन्त्यमी शिखिन ईड्य मुदा हरिण्यः
कुर्वन्ति गोप्य इव ते प्रियमीक्षणेन ।
सूक्तैश्च कोकिलगणा गृहमागताय
धन्या वनौकस इयान्हि सतां निसर्गः ॥ ७॥

शब्दार्थ

नृत्यन्ति—नाच रहे हैं; अमी—ये; शिखिनः—मयूर; ईड्य—हे आराध्य देव; मुदा—हर्ष से; हरिण्यः—हिरणियाँ; कुर्वन्ति—कर रही हैं; गोप्यः—गोपियाँ; इव—मानो; ते—आपके लिए; प्रियम्—प्रिय; ईक्षणेन—अपनी चितवन से; सूक्तैः—वैदिक स्तुतियों से; च—तथा; कोकिल-गणाः—कोयलें; गृहम्—अपने घर में; आगताय—आकर; धन्याः—भाग्यशाली; वन-ओकसः—जंगल के निवासी; इयान्—ऐसा; हि—निस्सन्देह; सताम्—सन्त पुरुषों की; निसर्गः—प्रकृति।

हे आराध्य ईश्वर, ये मोर प्रसन्नता के मारे आपके समक्ष नाच रहे हैं, हिरणियाँ अपनी स्नेहिल चितवनों से आपको गोपियों की भाँति प्रसन्न कर रही हैं। ये कोयलें आपका सम्मान वैदिक स्तुतियों द्वारा कर रही हैं। जंगल के ये सारे निवासी परम भाग्यशाली हैं और आपके प्रति इनका बर्ताव किसी महात्मा द्वारा अपने घर में आये अन्य महात्मा के स्वागत के अनुरूप है।

धन्येयमद्य धरणी तृणवीरुधस्त्वत्-

पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभिमृष्टाः ।
नद्योऽद्रयः खगमृगाः सदयावलोकै-
र्गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

धन्या—भाग्यशाली; इयम्—यह; अद्य—अब; धरणी—पृथ्वी; तृण—घास; वीरुधः—तथा झाड़ियाँ; त्वत्—आपके; पाद—पैरों का; स्पृशः—स्पर्श पाकर; द्रुम—वृक्ष; लताः—तथा लताएँ; कर-ज—अपने हाथ के नाखूनों से; अभिमृष्टाः—स्पर्श की जाकर; नद्यः—नदियाँ; अद्रयः—तथा पर्वत; खग—पक्षी; मृगाः—तथा पशु; सदय—कृपापूर्ण; अवलोकैः—आपकी चितवनों से; गोप्यः—गोपियाँ; अन्तरेण—बीच में; भुजयोः—आपकी दो भुजाओं के; अपि—निस्सन्देह; यत्—जिसके लिए; स्पृहा—इच्छा रखती है; श्रीः—लक्ष्मी जी ।.

अब यह धरती परम धन्य हो गई है क्योंकि आपने अपने पैरों से इसकी घास तथा झाड़ियों का, अपने नाखूनों से इसके वृक्षों तथा लताओं का स्पर्श किया है और आपने इसकी नदियों, पर्वतों, पक्षियों तथा पशुओं पर अपनी कृपा-दृष्टि डाली है। इनसे भी बढ़ कर, आपने अपनी तरुणी गोपियों को अपनी दोनों भुजाओं में भर कर उनका आलिंगन किया है, जिसके लिए स्वयं लक्ष्मी जी लालायित रहती हैं।

तात्पर्य : *अद्य* शब्द इस धरा पर बलराम तथा कृष्ण के प्राकट्य का समय सूचित करता है। वराह का रूप धारण करके भगवान् कृष्ण ने स्वयं पृथ्वी को बचाया था और यह माना जाता है कि धरती स्थायी रूप से शेष के बल पर टिकी है। वराह तथा शेष दोनों ही बलराम के अंश हैं और स्वयं बलराम आदि भगवान् कृष्ण के अंश हैं। श्रीकृष्ण का कथन कि "यह धरती अब धन्य हो गई है" (*धन्येयमद्य धरणी*) यह इंगित करती है कि कृष्ण के रूप में भगवान् के आशीर्वाद के तुल्य कुछ भी नहीं है क्योंकि श्रीकृष्ण अपने अंश बलराम सहित प्रकट हुए हैं। *करजाभिमृष्टाः* अर्थात् नाखूनों से स्पर्श सामासिक पद है, जो सूचित करता है कि कृष्ण तथा बलराम साथ-साथ जंगल में जाते तो वृक्षों, झाड़ियों तथा लताओं से फल तथा फूल तोड़ते जाते और इनका उपयोग अपनी लीलाओं में करते। कभी कभी वे तोड़ी हुई पत्तियों को पुष्पों के साथ लगाकर अपने शरीरों को अलंकृत करते थे।

कृष्ण तथा बलराम वृन्दावन की समस्त नदियों, पहाड़ियों तथा प्राणियों को प्रेम तथा दया की दृष्टि से देखते थे। किन्तु कृष्ण द्वारा गोपियों को बाहुओं में भरकर आलिंगन किया जाना सबसे बड़ा वर था जिसके लिए लक्ष्मीजी भी तरसती लालायित थीं। वैकुण्ठ में भगवान् नारायण के वक्षस्थल पर निवास करने वाली लक्ष्मीजी को एक बार इच्छा हुई कि वे श्रीकृष्ण के वक्षस्थल से आलिंगनबद्ध हों तो इसके लिए उन्हें कठोर तपस्या करनी पड़ी। श्रीकृष्ण ने उन्हें बतलाया कि उनका वास्तविक स्थान वैकुण्ठ में

है और वे वृन्दावन में उनके वक्षस्थल पर निवास नहीं कर सकतीं। फलत: लक्ष्मीजी ने भगवान् से प्रार्थना की कि वे उन्हें एक स्वर्णिम रेखा के रूप में अपने वक्षस्थल में रहने दें और भगवान् ने उन्हें यह वर दे दिया। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने पुराणों से यह घटना सुनाई है।

श्रीशुक उवाच

एवं वृन्दावनं श्रीमत्कृष्ण: प्रीतमना: पशून् ।
रेमे सञ्चारयन्नद्रे: सरिद्रोध:सु सानुग: ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस तरह; वृन्दावनम्—वृन्दावन के जंगल तथा उसके निवासियों के प्रति; श्रीमत्—सुन्दर; कृष्ण:—भगवान् कृष्ण ने; प्रीत-मना:—मन में संतुष्ट हुए; पशून्—पशुओं को; रेमे—हर्ष का अनुभव किया; सञ्चारयन्—चराने में; अद्रे:—पर्वत के निकट; सरित्—नदी के; रोध:सु—किनारों पर; स-अनुग:—अपने साथियों समेत।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार वृन्दावन के रम्य जंगल तथा वृन्दावन के निवासियों के प्रति संतोष व्यक्त करते हुए भगवान् कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत की तलहटी में यमुना नदी के तट पर अपने मित्रों सहित गौवों तथा अन्य पशुओं को चराने का आनन्द लिया।

क्वचिद्गायति गायत्सु मदान्धालिष्वनुव्रतै: ।
उपगीयमानचरित: पथि सङ्कर्षणान्वित: ॥ १० ॥
अनुजल्पति जल्पन्तं कलवाक्यै: शुकं क्वचित् ।
क्वचित्सवल्गु कूजन्तमनुकूजति कोकिलम्
क्वचिच्च कालहंसानामनुकूजति कूजितम् ।
अभिनृत्यति नृत्यन्तं बर्हिणं हासयन्क्वचित् ॥ ११ ॥
मेघगम्भीरया वाचा नामभिर्दूरगान्पशून् ।
क्वचिदाह्वयति प्रीत्या गोगोपालमनोज्ञया ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; गायति—गाते हैं; गायत्सु—उनके गाने पर; मद-अन्ध—मद से अंधे होकर; अलिषु—भौंरे; अनुव्रतै:—अपने मित्रों के साथ; उपगीयमान—संगीत अलापते हुए; चरित:—लीलाएँ; पथि—रास्ते में; सङ्कर्षण-अन्वित:—बलराम के साथ; अनुजल्पति—नकल करते हैं; जल्पन्तम्—चहचहाने की; कल-वाक्यै:—तोतली वाणी में; शुकम्—तोतों की; क्वचित्—कभी; क्वचित्—कभी; स—सहित; वल्गु—मोहक; कूजन्तम्—कोयल की कूक; अनुकूजति—कू कू की नकल करते हैं; कोकिलम्—कोयल की; क्वचित्—कभी कभी; च—भी; कल-हंसानाम्—हंसों के; अनुकूजति कूजितम्—कोयल की कूक का अनुकरण करते हैं; अभिनृत्यति—नाचते हैं; नृत्यन्तम्—नाचते हुए; बर्हिणम्—मोर के समक्ष; हासयन्—हँसते हुए; क्वचित्—कभी; मेघ—बादल के समान; गम्भिरया—गम्भीर; वाचा—अपनी वाणी से; नामभि:—नाम लेकर; दूर-गान्—भटक कर दूर गए हुए; पशून्—पशुओं को; क्वचित्—कभी; आह्वयति—टेरते हैं; प्रीत्या—स्नेहपूर्वक; गो—गौवों; गोपाल—तथा ग्वालबालों को; मन:-ज्ञया—मन को मोहने वाली (वाणी) से।

कभी कभी वृन्दावन में भौंरे आनन्द में इतने मग्न हो जाते थे कि वे अपनी आँखें बन्द करके

गाने लगते थे। श्रीकृष्ण अपने ग्वालमित्रों तथा बलदेव के साथ जंगल में विचरण करते हुए अपने राग में उनके गुनगुनाने की नकल उतारते थे और उनके मित्र उनकी लीलाओं का गायन करते थे। भगवान् कृष्ण कभी कोयल की बोली की नकल उतारते तो कभी हंसों के कलरव की नकल उतारते। कभी वे मोर के नृत्य की नकल उतारते जिस पर उनके ग्वालमित्र खिलखिला पड़ते। कभी कभी वे बादलों जैसे गम्भीर गर्जन के स्वर में झुंड से दूर गये हुए पशुओं का नाम लेकर बड़े प्यार से पुकारते जिससे गौवें तथा ग्वालबाल मुग्ध हो जाते।

तात्पर्य : श्रील सनातन गोस्वामी लिखते हैं कि भगवान् कृष्ण अपने मित्रों से मजाक किया करते, "देखो न, यह मोर ठीक से नाचना नहीं जानता।" और तब वे बड़े जोश से मोर के नाच की नकल करते जिससे उनके मित्रों में हँसी के फौव्वारे छूटते। वृन्दावन के भौंरे फूलों का रस पीते और इस अमृत तथा श्रीकृष्ण की संगति के संयोग से वे मदान्ध हो होकर अपनी आँखें बन्द करके गुनगुनाकर अपनी तुष्टि व्यक्त करते। श्रीकृष्ण इस गुनगुनाने का बड़ी ही कुशलता से अनुकरण करते थे।

चकोरक्रौञ्चचक्राह्वभारद्वाजांश्च बर्हिणः ।
अनुरौति स्म सत्त्वानां भीतवद्व्याघ्रसिंहयोः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

चकोर-क्रौञ्च-चक्राह्व-भारद्वाजान् च—चकोर, क्रौंच, चक्राह्व तथा भारद्वाज नामक पक्षी; बर्हिणः—मोर; अनुरौति स्म—उनकी नकल उतारते; सत्त्वानाम्—अन्य प्राणियों सहित; भीत-वत्—डरे हुए की तरह; व्याघ्र-सिंहयोः—बाघों तथा सिंहों से।

कभी कभी वे चकोर, क्रौंच, चक्राह्व, भारद्वाज जैसी पक्षियों की नकल करके चिल्लाते और कभी छोटे पशुओं के साथ बाघों तथा शेरों के बनावटी भय से भागने लगते।

तात्पर्य : *भीतवत्* अर्थात् "मानो भयभीत हो" सूचित करता है कि श्रीकृष्ण सामान्य बालक की तरह क्रीड़ा करते और बाघों तथा सिंहों के बनावटी भय से वे जंगल के क्षुद्र प्राणियों के साथ भागते थे। वस्तुतः भगवान् के धाम वृन्दावन में बाघ तथा सिंह हिंस्र नहीं होते अतः किसी प्रकार का भय होने का कोई कारण नहीं था।

क्वचित्क्रीडापरिश्रान्तं गोपोत्सङ्गोपबर्हणम् ।
स्वयं विश्रमयत्यार्यं पादसंवाहनादिभिः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी कभी; क्रीडा—खेलने से; परिश्रान्तम्—थके हुए; गोप—ग्वालबाल की; उत्सङ्ग—गोद; उपबर्हणम्—तकिया बना कर; स्वयम्—स्वयं भी; विश्रमयति—थकान मिटाते; आर्यम्—अपने बड़े भाई की; पाद-संवाहन-आदिभिः—उनके पाँव दबाकर तथा अन्य सेवाएँ करके।

जब उनके बड़े भाई खेलते खेलते थक कर अपना सिर किसी ग्वालबाल की गोद में रखकर लेट जाते तो भगवान् कृष्ण स्वयं बलराम के पाँव दबाकर तथा अन्य सेवाएँ करके उनकी थकान दूर करते।

तात्पर्य : *पाद-संवाहनादिभिः* शब्द सूचित करता है कि भगवान् कृष्ण बलराम के पाँव दबाते, पंखा झलते और पीने के लिए नदी से जल लाते।

नृत्यतो गायतः क्वापि वल्गतो युध्यतो मिथः ।
गृहीतहस्तौ गोपालान्हसन्तौ प्रशशंसतुः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

नृत्यतः—नाचते हुए; गायतः—गाते हुए; क्व अपि—कभी कभी; वल्गतः—घूम-घूम कर; युध्यतः—झगड़ते हुए; मिथः—परस्पर; गृहीत-हस्तौ—एक दूसरे के हाथ पकड़ कर; गोपालान्—ग्वालबालों को; हसन्तौ—हँसते हुए; प्रशशंसतुः—वे दोनों प्रशंसा करते थे।

कभी कभी, जब ग्वालबाल नाचते, गाते, इधर उधर घूमते और खेल खेल में एक दूसरे से झगड़ते तो पास ही हाथ में हाथ डाले खड़े होकर कृष्ण तथा बलराम अपने मित्रों के कार्यकलापों की प्रशंसा करते और हँसते।

क्वचित्पल्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्शितः ।
वृक्षमूलाश्रयः शेते गोपोत्सङ्गोपबर्हणः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; पल्लव—नई कोपलों से बनी; तल्पेषु—शय्याओं पर; नियुद्ध—झगड़ने से हुई; श्रम—थकावट से; कर्शितः—थके हुए; वृक्ष—वृक्ष की; मूल—जड़ के पास; आश्रयः—शरण लेकर; शेते—लेट जाते; गोप-उत्सङ्ग—किसी ग्वालबाल की गोद को; उपबर्हणः—तकिया बनाकर।

कभी कभी भगवान् कृष्ण झगड़ने से थक जाते और वृक्ष की जड़ के पास कोमल टहनियों तथा कलियों से बने हुए बिस्तर पर अपने किसी ग्वालबाल सखा की गोद को तकिया बना कर लेट जाते।

तात्पर्य : *पल्लव-तल्पेषु* शब्द बतलाता है कि भगवान् कृष्ण ने अनेक रूपों में अपना विस्तार किया और अपने उत्साही ग्वालमित्रों द्वारा टहनियों, पत्तियों तथा फूलों से जल्दी जल्दी बनाये गये बिस्तर पर लेट गये।

पादसंवाहनं चक्रुः केचित्तस्य महात्मनः ।
अपरे हतपाप्मानो व्यजनैः समवीजयन् ॥ १७॥

शब्दार्थ

पाद-संवाहनम्—पैर दबाने का कार्य; चक्रुः—किया; केचित्—किसी ने; तस्य—उनके; महा-आत्मनः—महान् आत्माओं ने; अपरे—अन्य; हत-पाप्मानः—समस्त पापों से मुक्त; व्यजनैः—पंखों से; समवीजयन्—भलीभाँति पंखा झला।

तब कुछ ग्वालबाल जो सब के सब महान् आत्माएँ थे, उनके चरणकमल मलते और अन्य ग्वालबाल निष्पाप होने के कारण बड़ी ही कुशलतापूर्वक भगवान् पर पंखा झलते।

तात्पर्य : *समवीजयन्* शब्द सूचित करता है कि ग्वालबाल बड़ी ही पटुता से भगवान् के ऊपर पंखा झल रहे थे जिससे शीतल वायु उत्पन्न हो रही थी।

अन्ये तदनुरूपाणि मनोज्ञानि महात्मनः ।
गायन्ति स्म महाराज स्नेहक्लिन्नधियः शनैः ॥ १८॥

शब्दार्थ

अन्ये—अन्य; तत्-अनुरूपाणि—समयोचित; मनः-ज्ञानि—मन को आकृष्ट करने वाले; महा-आत्मनः—महापुरुष (कृष्ण) के; गायन्ति स्म—गाते थे; महा-राज—हे राजा परीक्षित; स्नेह—स्नेह से; क्लिन्न—द्रवित; धियः—उनके हृदय; शनैः—धीरे धीरे।

हे राजन्, अन्य बालक समयोचित मनोहर गीत गाते और उनके हृदय भगवान् के प्रति प्रेम से द्रवित हो उठते।

एवं निगूढात्मगतिः स्वमायया
गोपात्मजत्वं चरितैर्विडम्बयन् ।
रेमे रमालालितपादपल्लवो
ग्राम्यैः समं ग्राम्यवदीशचेष्टितः ॥ १९॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; निगूढ—छिपाया हुआ; आत्म-गतिः—निजी ऐश्वर्य; स्व-मायया—अपनी ही योग शक्ति से; गोप-आत्मजत्वम्—ग्वाले का पुत्रत्व; चरितैः—अपने कार्यकलापों से; विडम्बयन्—बहाना करते हुए; रेमे—आनन्द लिया; रमा—लक्ष्मीजी द्वारा; लालित—सेवित; पाद-पल्लवः—कोमल नवीन कली जैसे पाँव; ग्राम्यैः समम्—ग्रामीण लोगों के साथ; ग्राम्य-वत्—ग्रामीण पुरुष की भाँति; ईश-चेष्टितः—भगवान् के अद्वितीय कार्य भी प्रदर्शित करते हुए।

इस तरह भगवान् जिनके कोमल चरणकमलों की सेवा लक्ष्मीजी स्वयं करती हैं, अपनी अन्तरंगा शक्ति के द्वारा अपने दिव्य ऐश्वर्य को छिपा कर ग्वालपुत्र की तरह कार्य करते। अन्य ग्रामवासियों के साथ ग्रामीण बालक की भाँति विचरण करते हुए वे कभी कभी ऐसे करतब दिखलाते जो केवल ईश्वर ही कर सकता है।

श्रीदामा नाम गोपालो रामकेशवयोः सखा ।
सुबलस्तोककृष्णाद्या गोपाः प्रेम्णेदमब्रुवन् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्रीदामा नाम—श्रीदामा नामक; गोपालः—ग्वालबाल; राम-केशवयोः—राम तथा कृष्ण दोनों का; सखा—मित्र; सुबल-स्तोककृष्ण-आद्याः—सुबल, स्तोककृष्ण तथा अन्य; गोपाः—ग्वालबाल; प्रेम्णा—प्रेमपूर्वक; इदम्—यह; अब्रुवन्—बोले।

एकबार राम तथा कृष्ण के अत्यन्त घनिष्ट मित्र श्रीदामा, सुबल, स्तोककृष्ण तथा अन्य ग्वालबाल बड़े ही प्रेमपूर्वक इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : *प्रेम्णा* शब्द सूचित करता है कि कृष्ण तथा बलराम के सामने प्रस्तुत की जाने वाली याचना प्रेम से प्रेरित थी, किसी व्यक्तिगत इच्छा से नहीं। ग्वालबाल इच्छुक थे कि कृष्ण तथा बलराम असुरों के संहार तथा तालवन के मधुर फलों के खाने की लीलाएँ प्रदर्शित करें। इसीलिए इन्होंने निम्नानुसार अनुरोध किया।

राम राम महाबाहो कृष्ण दुष्टनिबर्हण ।
इतोऽविदूरे सुमहद्वनं तालालिसङ्कुलम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

राम राम—हे राम; महा-बाहो—हे शक्तिशाली भुजाओं वाले; कृष्ण—हे कृष्ण; दुष्ट-निबर्हण—दुष्टों का अन्त करने वाले; इतः—यहाँ से; अविदूरे—दूर नहीं; सु-महत्—अत्यन्त विस्तृत; वनम्—जंगल; ताल-आलि—ताड़ वृक्षों की पंक्तियों से; सङ्कुलम्—परिपूर्ण।

[ग्वालबालों ने कहा]: हे राम, हे महाबाहु, हे कृष्ण, हे दुष्टों के संहर्ता, यहाँ से कुछ ही दूरी पर एक बहुत ही विशाल जंगल है, जो ताड़ वृक्षों की पाँतों से परिपूर्ण है।

तात्पर्य : *वराह पुराण* में कहा गया है—

अस्ति गोवर्धनं नाम क्षेत्रं परमदुर्लभम्।

मथुरापश्चिमे भागे अदूराद् योजनद्वयम्।

"मथुरा के पश्चिम दो योजन (सोलह मील) की दूरी पर गोवर्धन नामक एक पवित्र स्थान है, जिसे प्राप्त कर पाना अत्यन्त कठिन है।" *वराह पुराण* में यह भी कहा गया है :

अस्ति तालवनं नाम धेनुकासुररक्षितम्।

मथुरापश्चिमे भागे अदूराद् एकयोजनम्॥

"मथुरा से पश्चिम दिशा में निकट ही एक योजन (आठ मील) की दूरी पर तालवन नामक जंगल

है, जिसकी रखवाली धेनुकासुर करता था। ''अत: ऐसा प्रतीत होता है कि तालवन मथुरा तथा गोवर्धन पर्वत के बीचोबीच स्थित है। *श्रीहरिवंश पुराण* में तालवन का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है :

स तु देश: सम: स्निग्ध: सुमहान् कृष्णमृत्तिक: ।

दर्भप्राय: स्थुलीभूतो लोष्ट्र-पाषाणवर्जित: ॥

''यहाँ की भूमि समतल एवं अत्यन्त विस्तीर्ण है। उसकी मिट्टी काली है, दर्भ घास से ढकी है और कंकड़-पत्थर से रहित है।''

फलानि तत्र भूरीणि पतन्ति पतितानि च ।
सन्ति किन्त्ववरुद्धानि धेनुकेन दुरात्मना ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

फलानि—फलों; तत्र—वहाँ; भूरीणि—अनेकानेक; पतन्ति—गिरते रहते हैं; पतितानि—पहले ही गिर चुके हैं; च—तथा; सन्ति—हैं; किन्तु—फिर भी; अवरुद्धानि—नियंत्रण में रखे हुए; धेनुकेन—धेनुक द्वारा; दुरात्मना—दुष्ट।

उस तालवन में वृक्षों से अनेकानेक फल गिरते रहते हैं और बहुत से फल पहले से ही जमीन पर पड़े हुए हैं। किन्तु इन सारे फलों की रखवाली दुष्ट धेनुक द्वारा की जा रही है।

तात्पर्य : धेनुकासुर तालवन के ताड़ वृक्षों के स्वादिष्ट पके फलों को किसी को खाने नहीं देता था अत: कृष्ण के तरुण मित्रों ने जनता के इस जंगल के फलों का मजा लूटने के अधिकार से अनुचित तौर पर वंचित होने का विरोध किया।

सोऽतिवीर्योऽसुरो राम हे कृष्ण खररूपधृक् ।
आत्मतुल्यबलैरन्यैर्ज्ञातिभिर्बहुभिर्वृत: ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

स:—वह; अति-वीर्य:—अत्यन्त शक्तिशाली; असुर:—असुर; राम—हे राम; हे कृष्ण—हे कृष्ण; खर-रूप—गधे का रूप; धृक्—धारण करके; आत्म-तुल्य—अपने समान; बलै:—जिनकी शक्ति; अन्यै:—अन्य; ज्ञातिभि:—साथियों के साथ; बहुभि:—अनेक; वृत:—घिरा हुआ।

हे राम, हे कृष्ण, धेनुक अत्यन्त बलशाली असुर है और उसने गधे का वेश बना रखा है। उसके आसपास अनेक मित्र हैं जिन्होंने उसी जैसा ही रूप धारण कर रखा है और वे उसी के समान बलशाली हैं।

तस्मात्कृतनराहाराद्भीतैर्नृभिरमित्रहन् ।

न सेव्यते पशुगणैः पक्षिसङ्घैर्विवर्जितम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

तस्मात्—उससे; कृत-नर-आहारात्—मनुष्यों को खा जाने वाले से; भीतैः—डरे हुए; नृभिः—मनुष्यों के द्वारा; अमित्र-हन्—हे शत्रुओं का वध करने वाले; न सेव्यते—सेवन नहीं किया जाता; पशु-गणैः—विभिन्न पशुओं के द्वारा; पक्षि-सङ्घैः—पक्षियों के झुंड द्वारा; विवर्जितम्—परित्यक्त।

धेनुकासुर ने जीवित मनुष्यों को खा लिया है इसलिए सारे लोग तथा पशु तालवन जाने से डरते हैं। हे शत्रुहन्ता, पक्षी तक उड़ने से डरते हैं।

तात्पर्य : कृष्ण तथा बलराम के ग्वालमित्रों ने दोनों भाइयों को प्रोत्साहित किया कि वे तुरन्त तालवन जाकर धेनुकासुर का वध करें। वे उन्हें *अमित्र-हन्* कहकर सम्बोधित करते हैं जिसका अर्थ है ‘‘शत्रु का हन्ता।’’ ग्वालबालों ने भगवान् की शक्ति का आनन्दमय चिन्तन करते हुए तर्क किया, ‘‘कृष्ण पहले ही बक तथा अघ जैसे भयानक असुरों का वध कर चुके हैं अतएव इस घृणास्पद धेनुक नामक गर्दभ के विषय में वह कौन सी विशेष बात हो सकती है, जिसके कारण यह वृन्दावन का कट्टर शत्रु बना हुआ है।’’

ग्वालबाल चाहते थे कि कृष्ण तथा बलराम इन असुरों का वध करें जिससे वृन्दावन के पुण्यात्मा निवासी तालवन के फलों का आस्वादन कर सकें। इस तरह उन्होंने विशेष कृपा किये जाने की प्रार्थना की कि गर्दभ-असुरों का वध किया जाय।

विद्यन्तेऽभुक्तपूर्वाणि फलानि सुरभीणि च ।
एष वै सुरभिर्गन्धो विषूचीनोऽवगृह्यते ॥ २५॥

शब्दार्थ

विद्यन्ते—उपस्थित हैं; अभुक्त-पूर्वाणि—इसके पूर्व कभी भी जिनका स्वाद नहीं लिया गया; फलानि—फल; सुरभीणि—सुगन्धित; च—तथा; एषः—यह; वै—निस्सन्देह; सुरभिः—सुगन्धित; गन्धः—सुगन्धि; विषूचीनः—सर्वत्र फैली हुई; अवगृह्यते—अनुभव की जाती है।

तालवन में ऐसे मधुर गन्ध वाले फल हैं, जिन्हें किसी ने कभी नहीं चखा। तालफलों की चारों ओर फैली खुशबू को हम अब भी सूँघ सकते हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार तालफलों की मधुर सुगंध पुरवा हवा द्वारा ले जाई जाती थी जो वृन्दावन में वर्षा कराने में लाभदायी होती है। यह पुरवा हवा सामान्यतया भादों मास में चलती हैं और इस तरह फलों की सर्वोच्च पक्वता को सूचित करती है। यह तथ्य कि बालगण सुगन्ध को जान गए यह बतलाता है कि तालवन निकट ही था।

प्रयच्छ तानि नः कृष्ण गन्धलोभितचेतसाम् ।
वाञ्छास्ति महती राम गम्यतां यदि रोचते ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

प्रयच्छ—कृपया दीजिये; तानि—उनको; नः—हमको; कृष्ण—हे कृष्ण; गन्ध—सुगन्धि से; लोभित—लुब्ध; चेतसाम्—जिनके मन; वाञ्छा—इच्छा; अस्ति—है; महती—विशाल; राम—हे राम; गम्यताम्—हमें जाने दें; यदि—यदि; रोचते—अच्छा विचार जैसा लगता है।.

हे कृष्ण! आप हमारे लिए वे फल ला दें। हमारे मन उनकी सुगन्ध से अत्यधिक आकृष्ट हैं। हे बलराम, उन फलों को पाने की हमारी इच्छा अत्यन्त प्रबल है। यदि आप सोचते हैं कि यह विचार अच्छा है, तो चलिये उस तालवन में चलें।

तात्पर्य : यद्यपि तालवन तक न मनुष्य, न ही पशु-पक्षी पहुँच पाते थे किन्तु ग्वालबालों को कृष्ण तथा बलराम पर इतना भरोसा था कि उन्होंने पक्का मान लिया था कि ये दोनों स्वामी बिना प्रयास के पापी गर्दभ असुरों को मार कर स्वादिष्ट तालफल प्राप्त कर सकते हैं। कृष्ण के ग्वालबाल मित्र अत्यन्त उच्च स्वरूपसिद्ध आत्माएँ हैं, जो सामान्यतया मीठे फलों के लिए ललचाने वाले न थे। वस्तुत: वे भगवान् से केवल हँसी-मजाक कर रहे हैं और उन्हें तालवन में अभूतपूर्व वीरतापूर्वक कार्य करने के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं। वृन्दावन में कृष्ण के रहते हुए असंख्य असुरों ने वहाँ के दिव्य वातावरण को क्षुब्ध कर रखा था और भगवान् उनको अपनी दैनिक लीला के रूप में मार देंगे।

चूँकि कृष्ण बहुत से असुरों का वध कर चुके थे अत: आज के दिन उन्होंने बलराम को यह श्रेय देना चाहा कि उन्हें प्रथम असुर धेनुकासुर का वध करना होगा। *यदि रोचते* कथन से ग्वालबालों का आशय यह है कि कृष्ण तथा बलराम इस असुर का वध ग्वालबालों को तुष्ट करने के लिए नहीं अपितु उन्हें ठीक लगे तभी करें।

एवं सुहृद्वचः श्रुत्वा सुहृत्प्रियचिकीर्षया ।
प्रहस्य जग्मतुर्गोपैर्वृतौ तालवनं प्रभू ॥ २७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सुहृत्—अपने मित्रों के; वचः—शब्द; श्रुत्वा—सुनकर; सुहृत्—मित्रों को; प्रिय—हर्ष; चिकीर्षया—प्रदान करने की इच्छा से; प्रहस्य—हँस कर; जग्मतुः—दोनों गये; गोपैः—ग्वालबालों के द्वारा; वृतौ—घिरे हुए; ताल-वनम्—तालवन तक; प्रभू—दोनों स्वामी।.

अपने प्रिय सखाओं के वचन सुनकर कृष्ण तथा बलराम हँस पड़े और उन्हें खुश करने के

लिए वे अपने ग्वालमित्रों के साथ तालवन के लिए रवाना हो गये।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण सोच रहे थे, ''भला गर्दभ इतना विचित्र कैसे हो सकता है?'' अत: अपने बालमित्रों के अनुनय-विनय पर उन्हें हँसी आ गई। जैसाकि भगवान् कपिल ने *श्रीमद्भागवत* (३.२८.३२) में कहा है—*हासं हरेरवनताखिललोकतीव्रशोकाश्रुसागरविशोषणमत्युदारम्*—भगवान् की हँसी अत्यन्त उदार होती है। जो लोग भगवान् के समक्ष नतमस्तक होते हैं, उनके इस जगत के कष्टों से उत्पन्न अश्रुओं के सागर को भगवान् की हँसी सुखा देती है। अत: अपने बालसखाओं को प्रोत्साहित करने के लिए कृष्ण तथा बलराम हँसे और तुरन्त ही उनको साथ लेकर तालवन के लिए चल पड़े।

बल: प्रविश्य बाहुभ्यां तालान्सम्परिकम्पयन् ।
फलानि पातयामास मतङ्गज इवौजसा ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

बल:—बलराम ने; प्रविश्य—घुस कर; बाहुभ्याम्—अपनी दोनों भुजाओं से; तालान्—ताड़ वृक्षों को; सम्परिकम्पयन्—झकझोरते हुए; फलानि—फलों को; पातयाम् आस—गिरा दिया; मतम्-गज:—मतवाला हाथी; इव—सदृश; ओजसा—अपने बल से।

भगवान् बलराम सबसे पहले तालवन में प्रविष्ट हुए। तब अपने दोनों हाथों से मतवाले हाथी का बल लगाकर वृक्षों को हिलाने लगे जिससे ताड़ के फल भूमि पर आ गिरें।

फलानां पततां शब्दं निशम्यासुररासभ: ।
अभ्यधावत्क्षितितलं सनगं परिकम्पयन् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

फलानाम्—फलों के; पतताम्—गिरते हुए; शब्दम्—शब्द को; निशम्य—सुनकर; असुर-रासभ:—गर्दभ वेशधारी असुर; अभ्यधावत्—आगे दौड़ा; क्षिति-तलम्—पृथ्वी की सतह को; स-नगम्—वृक्षों समेत; परिकम्पयन्—हिलाता हुआ।

गिरते हुए फलों की ध्वनि सुनकर गर्दभ असुर धेनुक पृथ्वी तथा वृक्षों को थरथराता हुआ आक्रमण करने के लिए उनकी ओर दौड़ा।

समेत्य तरसा प्रत्यग्द्वाभ्यां पद्भ्यां बलं बली ।
निहत्योरसि काशब्दं मुञ्चन्पर्यसरत्खल: ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

समेत्य—उनसे मिल कर; तरसा—तेजी से; प्रत्यक्—पिछला; द्वाभ्याम्—दोनों; पद्भ्याम्—पैरों से; बलम्—बलदेव को; बली—बलशाली असुर ने; निहत्य—वार करके; उरसि—छाती पर; का-शब्दम्—भद्दी रेंकने की आवाज; मुञ्चन्—करते हुए; पर्यसरत्—चारों ओर दौड़ने लगा; खल:—दुष्ट गधा।

वह बलशाली असुर बलराम की ओर झपटा और उनकी छाती पर अपने पिछले पैरों के खुरों से कठोर वार किया। तत्पश्चात् धेनुक जोर जोर से रेंकता हुआ इधर-उधर दौड़ने लगा।

पुनरासाद्य संरब्ध उपक्रोष्टा पराक्स्थितः ।
चरणावपरौ राजन्बलाय प्राक्षिपद्रुषा ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

पुनः—फिर से; आसाद्य—उनके निकट आकर; संरब्धः—प्रचण्ड, उग्र; उपक्रोष्टा—गधे ने; पराक्—उनकी ओर अपनी पीठ करके; स्थितः—खड़े होकर; चरणौ—दोनों पैर; अपरौ—पिछले; राजन्—हे राजा परीक्षित; बलाय—बलराम पर; प्राक्षिपत्—चलाया; रुषा—क्रोध से।.

हे राजन्, वह क्रुद्ध गधा फिर से बलराम की ओर बढ़ा और अपनी पीठ उनकी ओर करके खड़ा हो गया। तत्पश्चात् क्रोध से रेंकते हुए उस असुर ने उन पर दुलत्ती चलाई।

तात्पर्य : *उपक्रोष्टा* शब्द न केवल गधे को अपितु पास ही रेंकते हुए गधे को सूचित करता है। इस तरह यहाँ यह इंगित हुआ है कि बलशाली धेनुक क्रोध भरी भयानक आवाज निकाल रहा था।

स तं गृहीत्वा प्रपदोर्भ्रामयित्वैकपाणिना ।
चिक्षेप तृणराजाग्रे भ्रामणत्यक्तजीवितम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

सः—उन्होंने; तम्—उसको; गृहीत्वा—पकड़ कर; प्रपदोः—खुर से; भ्रामयित्वा—घुमा कर; एक-पाणिना—एक हाथ से; चिक्षेप—फेंक दिया; तृण-राज-अग्रे—तालवृक्ष की चोटी पर; भ्रामण—घुमाने से; त्यक्त—त्याग कर; जीवितम्—अपने प्राण।.

बलराम ने धेनुक के खुर पकड़े, उसे एक हाथ से घुमाया और ताड़वृक्ष की चोटी पर फेंक दिया। इस तरह तेजी से घुमाने के कारण वह असुर मर गया।

तेनाहतो महातालो वेपमानो बृहच्छिराः ।
पार्श्वस्थं कम्पयन्भग्नः स चान्यं सोऽपि चापरम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तेन—उस (धेनुकासुर के मृत शरीर) से; आहतः—चोट खाकर; महा-तालः—ताड़ का विशाल वृक्ष; वेपमानः—हिलता हुआ; बृहत्-शिराः—विशाल चोटी वाला; पार्श्व-स्थम्—पास ही स्थित अन्य वृक्षों को; कम्पयन्—हिलाता हुआ; भग्नः—टूटा हुआ; सः—वह; च—तथा; अन्यम्—दूसरे को; सः—वह; अपि—भी; च—तथा; अपरम्—अगले, अन्य को।.

बलराम ने धेनुकासुर के मृत शरीर को जंगल के सबसे ऊँचे ताड़ वृक्ष के ऊपर फेंक दिया और जब यह मृत शरीर उस वृक्ष की चोटी पर जा गिरा तो वह वृक्ष हिलने लगा। इस विशाल वृक्ष से पास का एक अन्य वृक्ष भी चरमराया और असुर के भार के कारण टूट गया। इसके

निकट का वृक्ष भी इसी तरह हिल कर टूट गया। इस तरह एक एक करके जंगल के अनेक वृक्ष हिले और टूट गये।

तात्पर्य : बलराम ने धेनुकासुर को इतनी तेजी से विशाल ताड़ वृक्ष के ऊपर पटका कि प्रतिक्रियाओं की एक शृंखला पैदा हो गई जिसके फलस्वरूप अनेक ऊँचे-ऊँचे ताड़ वृक्ष हिल हिल कर, घोर अड़भड़ाहट टूट कर, भूमि पर गिर पड़े।

बलस्य लीलयोत्सृष्टखरदेहहताहताः ।
तालाश्चकम्पिरे सर्वे महावातेरिता इव ॥ ३४॥

शब्दार्थ

बलस्य—बलराम की; लीलया—लीला से; उत्सृष्ट—ऊपर फेंका हुआ; खर-देह—गधे के शरीर से; हत-आहताः—एक दूसरे से भिड़ कर; तालाः—ताल के वृक्ष; चकम्पिरे—चरमराये; सर्वे—सभी; महा-वात—प्रबल वायु द्वारा; ईरिताः—उड़ाये हुए; इव—मानो।.

बलराम द्वारा इस गर्दभ असुर के शरीर को सबसे ऊँचे ताड़वृक्ष के ऊपर फेंकने की लीला से सारे वृक्ष चरमराने लगे और एक दूसरे से भिड़ने लगे मानो प्रबल झंझा के द्वारा झकझोरे गये हों।

नैतच्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरे ।
ओतप्रोतमिदं यस्मिंस्तन्तुष्वङ्ग यथा पटः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतत्—यह; चित्रम्—आश्चर्यजनक; भगवति—भगवान् के लिए; हि—निस्सन्देह; अनन्ते—अनन्त; जगत्-ईश्वरे—ब्रह्माण्ड के स्वामी; ओत-प्रोतम्—ऊपर नीचे फैला हुआ (ताना बाना); इदम्—यह ब्रह्माण्ड; यस्मिन्—जिसमें; तन्तुषु—इसके धागों पर; अङ्ग—हे परीक्षित; यथा—जिस तरह.

हे परीक्षित, बलराम को अनन्त भगवान् एवं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का नियन्ता जान लेने पर बलराम द्वारा धेनुकासुर का मारा जाना उतना आश्चर्यजनक नहीं है। निस्सन्देह, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उन पर उसी प्रकार टिका है, जिस तरह बुना हुआ वस्त्र तानों-बानों पर टिका रहता है।

तात्पर्य : अभागे व्यक्ति भगवान् की आनन्दमय लीलाओं को नहीं समझ सकते। इस प्रसंग में, श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि भगवान् में असीम शक्ति है जैसाकि *अनन्ते* शब्द से प्रकट है। भगवान् विशेष अवसर की आवश्यकता के अनुसार अपनी शक्ति के एक सूक्ष्म अंश का प्रदर्शन करते हैं। बलराम जी ने तालवन में अवैध रूप से कब्जा करने वाले आसुरी गधों के झुंड को विनष्ट करना

चाहा। अत: उन्होंने धेनुकासुर तथा अन्य असुरों को सहज ही मार डालने भर की दिव्य शक्ति का प्रदर्शन किया।

ततः कृष्णं च रामं च ज्ञातयो धेनुकस्य ये ।
क्रोष्टारोऽभ्यद्रवन्सर्वे संरब्धा हतबान्धवाः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; कृष्णम्—कृष्ण पर; च—तथा; रामम्—बलराम पर; च—तथा; ज्ञातयः—घनिष्ट मित्र गण; धेनुकस्य—धेनुक के; ये—जो; क्रोष्टारः—गधों ने; अभ्यद्रवन्—आक्रमण किया; सर्वे—सभी; संरब्धाः—क्रुद्ध; हत-बान्धवाः—अपने मित्र के मारे जाने से।

धेनुकासुर के घनिष्ठ मित्र, अन्य गर्दभ असुर, उसकी मृत्यु देखकर अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे और वे तुरन्त कृष्ण तथा बलराम पर आक्रमण करने के लिए दौड़े।

तात्पर्य : श्रील सनातन गोस्वामी ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है "यहाँ यह कहा गया है कि गर्दभासुरों ने सर्वप्रथम कृष्ण पर हमला किया और तब बलराम पर (*कृष्णं च रामं च*)। इसका एक कारण यह हो सकता है कि ये असुर बलराम के शौर्य को देख चुके थे अत: पहले उन्होंने कृष्ण पर वार करना उचित समझा। अथवा यह हो सकता है कि अपने बड़े भाई के स्नेहवश, कृष्ण बलराम तथा इन असुरों के बीच आ गये हों। *कृष्णं च रामं च* शब्दों से यह भी सूचित हो सकता है कि अपने छोटे भाई के स्नेहवश बलराम कृष्ण की ओर चले गये हों।"

तांस्तानापततः कृष्णो रामश्च नृप लीलया ।
गृहीतपश्चाच्चरणान्प्राहिणोत्तृणराजसु ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

तान् तान्—एक एक करके, वे सभी; आपततः—आक्रमण करते हुए; कृष्णः—कृष्ण ने; रामः—बलराम ने; च—तथा; नृप—हे राजन्; लीलया—सरलता से; गृहीत—पकड़ कर; पश्चात्-चरणान्—पिछली टाँगों को; प्राहिणोत्—फेंक दिया; तृण-राजसु—ताड़ के वृक्षों के ऊपर।

हे राजन्, जब असुरों ने आक्रमण किया कृष्ण तथा बलराम ने उनकी पिछली टाँगों से पकड़-पकड़ कर उन सब को ताड़ वृक्षों के ऊपर फेंक दिया।

फलप्रकरसङ्कीर्णं दैत्यदेहैर्गतासुभिः ।
रराज भूः सतालाग्रैर्घनैरिव नभस्तलम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

फल-प्रकर—फलों के ढेर से; सङ्कीर्णम्—ढकी; दैत्य-देहैः—असुरों के शरीरों से; गत-असुभिः—प्राणविहीन; रराज—सुशोभित; भूः—पृथ्वी; स-ताल-अग्रैः—ताड़ वृक्षों की चोटियों समेत; घनैः—बादलों से; इव—जिस तरह; नभः-तलम्—आकाश।

इस तरह फलों के ढेरों से तथा ताड़ वृक्ष की टूटी चोटियों में फँसे असुरों के मृत शरीरों से ढकी हुई पृथ्वी अत्यन्त सुन्दर लग रही थी मानो बादलों से आकाश अलंकृत हो।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार असुरों के शरीर काले तथा नीले बादलों जैसे काले थे और उनके शरीरों से बड़ी मात्रा में बहकर निकला रक्त चमकीले लाल बादलों जैसा लग रहा था। इस तरह सारा दृश्य अत्यन्त सुन्दर था। राम तथा कृष्ण जैसे विविध रूपों में भगवान् सदैव दिव्य लगते हैं और जब वे अपनी दिव्य लीलाएँ करते हैं, तो परिणाम भी सुन्दर और दिव्य होता है भले ही वे कट्टर गर्दभासुरों के वध जैसे उग्र कार्य क्यों न कर रहे हों।

तयोस्तत्सुमहत्कर्म निशम्य विबुधादयः ।
मुमुचुः पुष्पवर्षाणि चक्रुर्वाद्यानि तुष्टुवुः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तयोः—दोनों भाइयों के; तत्—उस; सु-महत्—अत्यन्त महान; कर्म—कार्य को; निशम्य—सुनकर; विबुध-आदयः—देवता गण तथा अन्य उच्च जीवों ने; मुमुचुः—छोड़ा; पुष्प-वर्षाणि—फूलों की वर्षा; चक्रुः—सम्पन्न किया; वाद्यानि—संगीत; तुष्टुवुः—स्तुति की।

दोनों भाइयों का यह सुन्दर करतब (लीला) सुनकर देवताओं तथा अन्य उच्चस्थ प्राणियों ने फूलों की वर्षा की और उनकी प्रशंसा में गीत गाये तथा स्तुतियाँ कीं।

तात्पर्य : श्रील सनातन गोस्वामी टीका करते हैं कि देवता, ऋषिमुनि तथा अन्य उच्च प्राणी तालवन में कृष्ण तथा बलराम द्वारा अत्यन्त शक्तिशाली गर्दभ असुरों का इतनी तेजी और आसानी से मारा जाना देख कर चकित एवं हर्षित थे।

अथ तालफलान्यादन्मनुष्या गतसाध्वसाः ।
तृणं च पशवश्चेरुर्हतधेनुककानने ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; ताल—ताड़ वृक्षों के; फलानि—फलों को; आदन्—खाया; मनुष्याः—मनुष्यगण; गत-साध्वसाः—निडर होकर; तृणम्—घास; च—तथा; पशवः—पशुगण; चेरुः—चरने लगे; हत—मारा गया; धेनुक—धेनुकासुर का; कानने—जंगल में।

जिस वन में धेनुकासुर मारा गया था, उसमें लोग मुक्त भाव से फिर से जाने लगे और निडर होकर ताड़ वृक्षों के फल खाने लगे। अब गौवें भी वहाँ पर स्वतंत्रतापूर्वक घास चरने लगीं।

तात्पर्य : आचार्यों के अनुसार निम्न जाति के लोग, यथा पुलिन्द ताड़वृक्ष के फल खाते थे किन्तु कृष्ण के ग्वालमित्रों ने उन्हें खाना उचित नहीं समझा क्योंकि वे गधों के रक्त से सन चुके थे।

कृष्णः कमलपत्राक्षः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।
स्तूयमानोऽनुगैर्गोपैः साग्रजो व्रजमाव्रजत् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

कृष्णः—भगवान् कृष्ण; कमल-पत्र-अक्षः—कमल की पंखड़ियों के समान नेत्रों वाले; पुण्य-श्रवण-कीर्तनः—जिनका श्रवण तथा कीर्तन अत्यन्त पुण्य कार्य माना जाता है; स्तूयमानः—स्तुति किया गया; अनुगैः—अपने अनुयायी; गोपैः—ग्वालबालों के द्वारा; स-अग्र-जः—अपने बड़े भाई बलराम के साथ साथ; व्रजम्—व्रज; आव्रजत्—लौट आये।

तत्पश्चात् कमलनेत्र भगवान् श्रीकृष्ण, जिनके यश को सुनना और जिनका कीर्तन करना अत्यन्त पवित्र है, अपने बड़े भाई बलराम के साथ अपने घर व्रज लौट आये। रास्ते भर उनके श्रद्धावान अनुयायी ग्वालबालों ने उनके यश का गान किया।

तात्पर्य : जब कृष्ण के यश का उच्चारण किया जाता है, तो वक्ता तथा श्रोता दोनों ही शुद्ध एवं पवित्र हो जाते हैं।

तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्ह-
वन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम् ।
वेणुम्क्वणन्तमनुगैरुपगीतकीर्तिं
गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन्समेताः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; गो-रजः—गायों के चलने से उठी हुई धूल से; छुरित—सने; कुन्तल—बालों के भीतर; बद्ध—बँधा हुआ; बर्ह—मोरपंख; वन्य-प्रसून—जंगली फूल; रुचिर-ईक्षण—मोहने वाली आँखें; चारु-हासम्—तथा सुन्दर मुसकान; वेणुम्—बाँसुरी; क्वणन्तम्—बजाते हुए; अनुगैः—अपने साथियों के द्वारा; उपगीत—गायी जाकर; कीर्तिम्—उनकी कीर्ति; गोप्यः—गोपियाँ; दिदृक्षित—देखने के लिए उत्सुक; दृशः—उनकी आँखें; अभ्यगमन्—आगे बढ़ीं; समेताः—एकसाथ।

गौवों के द्वारा उड़ाई गई धूल से सने श्रीकृष्ण के बाल मोर पंख तथा जंगली फूलों से सज्जित किये गये थे। भगवान् कृष्ण अपनी वंशी बजाते हुए मोहक दृष्टि से देख रहे थे और सुन्दर ढंग से हँस रहे थे तथा उनके संगी उनके यश का गान कर रहे थे। सारी गोपियाँ एकसाथ उनसे मिलने चली आईं क्योंकि उनके नेत्र दर्शन करने के लिए अत्यन्त व्यग्र थे।

तात्पर्य : बाह्य रूप से गोपियाँ विवाहित तरुणियाँ थीं फलतः वे श्रीकृष्ण जैसे सुन्दर तरुण से आँखें मिलाने में संकोच कर रही थीं और डर रही थीं। किन्तु श्रीकृष्ण तो भगवान् हैं और सारे जीव

उनके नित्य दास हैं। इसलिए गोपियाँ, यद्यपि हृदय से अत्यन्त शुद्ध आत्माएँ थीं किन्तु वे सुन्दर तरुण श्रीकृष्ण के दर्शन करके प्रेमपीड़ित आँखों को तुष्ट करने के लिए आगे आने में तनिक भी नहीं सकुचाईं। गोपियों ने उनकी वंशी की मधुर ध्वनि का तथा उनके शरीर की मोहक सुगन्ध का भी आस्वादन किया।

पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमक्षिभृङ्गै-
स्तापं जहुर्विरहजं व्रजयोषितोऽह्नि ।
तत्सत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठं
सव्रीडहासविनयं यदपाङ्गमोक्षम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

पीत्वा—पीकर; मुकुन्द-मुख—भगवान् मुकुन्द के मुख का; सारघम्—मधु; अक्षि-भृङ्गैः—भौंरे जैसे नेत्रों से; तापम्—पीड़ा; जहुः—त्याग दिया; विरह-जम्—विरह से उत्पन्न; व्रज-योषितः—वृन्दावन की स्त्रियों ने; अह्नि—दिन में; तत्—उस; सत्-कृतिम्—आदर करते हुए; समधिगम्य—पूरी तरह स्वीकार करके; विवेश—उन्होंने प्रवेश किया; गोष्ठम्—ग्वालों के गाँव में; स-व्रीड—लज्जा सहित; हास—हँसी; विनयम्—तथा विनयशीलता; यत्—जो; अपाङ्ग—तिरछी चितवनों का; मोक्षम्—डाला जाना।

वृन्दावन की स्त्रियों ने अपने भ्रमर रूपी नेत्रों से मुकुन्द के सुन्दर मुख का मधुपान किया और इस तरह दिन में वियोग के समय उन्हें जो पीड़ा हुई थी उसे उन्होंने त्याग दिया। वृन्दावन की तरुण स्त्रियों ने भगवान् पर तिरछी चितवन डाली जो लाज, हँसी तथा विनय से पूर्ण थी तथा कृष्ण ने इस चितवन को समुचित सम्मान मानते हुए गोप-ग्राम में प्रवेश किया।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् श्रीकृष्ण* में इस घटना का वर्णन इस प्रकार किया है "कृष्ण की अनुपस्थिति के कारण सारी गोपियाँ वृन्दावन में अत्यधिक उदास रहती थीं। वे सारा दिन या तो जंगल में विचरण कर रहे या चरागाह में गौवें चराते कृष्ण का चिन्तन करती रहतीं। किन्तु जब उन्होंने कृष्ण को लौटकर आते देखा तो उनकी सारी चिन्ताएँ दूर हो गईं और वे कृष्ण के मुख की ओर उसी प्रकार देखने लगीं जिस तरह कमल के फूल के मधु के लिए भौंरे मँडराते हैं। जब कृष्ण गाँव में प्रविष्ट हुए तो तरुण गोपियाँ मुसकाने लगीं। अपनी वंशी बजाते कृष्ण ने गोपियों के सुन्दर हँसमुख चेहरों का आनन्द लूटा।"

भगवान् श्रीकृष्ण शृंगार कौशल के परम स्वामी हैं। उन्होंने वृन्दावन की तरुण गोपियों के साथ प्रेमालाप किया। जब कोई कुमारी युवती प्रेम करती है, तो वह अपने प्रेमी को लज्जा, हर्ष तथा विनय

के साथ तिरछी नजरों से देखती है। जब प्रेमी उसकी चितवन का प्रेम-निमंत्रण स्वीकार कर लेता है और उससे संतुष्ट हो जाता है, तो प्रेमिका का हृदय सुख से ओतप्रोत हो उठता है। ये सचमुच में सुन्दर तरुण कृष्ण तथा वृन्दावन की प्रेमपिपासु गोपियों के बीच चल रहे प्रेमालाप के आदान-प्रदान थे।

तयोर्यशोदारोहिण्यौ पुत्रयोः पुत्रवत्सले ।
यथाकामं यथाकालं व्यधत्तां परमाशिषः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

तयोः—दोनों; यशोदा-रोहिण्यौ—यशोदा तथा रोहिणी (कृष्ण तथा बलराम की माताओं) ने; पुत्रयोः—पुत्रों को; पुत्र-वत्सले—अपने पुत्रों के स्नेहसिक्त; यथा-कामम्—अपनी अपनी इच्छाओं के अनुरूप; यथा-कालम्—परिस्थितियों के अनुरूप; व्यधत्ताम्—प्रस्तुत किया; परम-आशिषः—उत्तम भेंटें।

माता यशोदा तथा रोहिणी ने अपने दोनों पुत्रों के प्रति अत्यधिक स्नेह दर्शाते हुए उन्हें उनकी इच्छा के अनुसार तथा समयानुकूल उत्तमोत्तम वस्तुएँ प्रदान कीं।

तात्पर्य : *परमाशिषः* शब्द प्रेममयी माताओं के आशीर्वाद को सूचित करता है, जिसके अन्तर्गत उत्तम भोजन, सुन्दर वस्त्र, आभूषण, खिलौने तथा स्थायी स्नेह निहित हैं। *यथाकामं यथाकालम्* यह बतलाते हैं कि यद्यपि यशोदा तथा रोहिणी ने कृष्ण तथा बलराम की सारी इच्छाएँ पूरी कर दीं किन्तु साथ ही उन्होंने अपने पुत्रों के कार्यकलापों को भी नियमित बनाया। दूसरे शब्दों में, उन्होंने अपने पुत्रों के लिए उत्तम भोजन तैयार किया किन्तु साथ ही उन्होंने इसका भी ध्यान रखा कि वे समय से भोजन करें। इसी तरह उनके द्वारा उचित समय पर खेलने और उचित समय से सोने का भी ध्यान रखा। *यथाकामम्* का अर्थ यह नहीं हैं कि माताओं ने अपने पुत्रों को मनमाना करने की छूट दे दी थी अपितु उन्होंने शिष्ट ढंग से अपने पुत्रों पर आशीष की वर्षा की थी।

श्रील सनातन गोस्वामी टीका करते हैं कि माताएँ अपने पुत्रों को इतना अधिक प्यार करती थीं कि जब वे उनका आलिंगन करतीं तो ठीक से देखतीं कि उनके सारे अंग स्वस्थ तथा पुष्ट तो हैं।

गताध्वानश्रमौ तत्र मज्जनोन्मर्दनादिभिः ।
नीवीं वसित्वा रुचिरां दिव्यस्रग्गन्धमण्डितौ ॥ ४५॥

शब्दार्थ

गत—दूर हो गयी; अध्वान-श्रमौ—चलते रहने से उत्पन्न थकान; तत्र—वहाँ (घर में); मज्जन—स्नान; उन्मर्दन—मालिश; आदिभिः—इत्यादि के द्वारा; नीवीम्—अधोवस्त्रों को; वसित्वा—पहन कर; रुचिराम्—मनोहर; दिव्य—दिव्य; स्रक्—माला; गन्ध—तथा सुगन्धि से; मण्डितौ—अलंकृत।

स्नान करने तथा मालिश से उन दोनों की ग्रामीण रास्तों में चलने से उत्पन्न थकान दूर हो गई। इसके बाद उन्हें सुन्दर वस्त्रों से सजाया गया और दिव्य मालाओं तथा सुगन्धित पदार्थों से अलंकृत किया गया।

जनन्युपहृतं प्राश्य स्वाद्यन्नमुपलालितौ ।
संविश्य वरशय्यायां सुखं सुषुपतुर्व्रजे ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

जननी—अपनी माताओं के द्वारा; उपहृतम्—प्रदत्त; प्राश्य—अच्छी तरह खाकर; स्वादु—स्वादिष्ट; अन्नम्—भोजन; उपलालितौ—लाड़ प्यार किये जाकर; संविश्य—प्रवेश करके; वर—श्रेष्ठ; शय्यायाम्—बिस्तर पर; सुखम्—सुखपूर्वक; सुषुपतुः—दोनों सो गये; व्रजे—व्रज में।

अपनी माताओं द्वारा प्रदत्त स्वादिष्ट भोजन को पेट-भर खाने तथा विविध प्रकार से दुलारे जाने के बाद वे दोनों भाई व्रज में अपने अपने उत्तम बिछौनों पर लेट गये और सुखपूर्वक सो गये।

एवं स भगवान्कृष्णो वृन्दावनचरः क्वचित् ।
ययौ राममृते राजन्कालिन्दीं सखिभिर्वृतः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सः—वह; भगवान्—भगवान्; कृष्णः—कृष्ण; वृन्दावन-चरः—वृन्दावन में विचरण करते हुए; क्वचित्—एक बार; ययौ—गये; रामम् ऋते—बलराम के बिना; राजन्—हे राजा परीक्षित; कालिन्दीम्—यमुना नदी के तट पर; सखिभिः—अपने मित्रों के द्वारा; वृतः—घिरे।

हे राजन्, इस प्रकार भगवान् कृष्ण अपनी लीलाएँ करते हुए वृन्दावन क्षेत्र में विचरण करते थे। एक बार वे अपने मित्रों समेत यमुना नदी के तट पर गये। तब बलराम उनके साथ नहीं थे।

अथ गावश्च गोपाश्च निदाघातपपीडिताः ।
दुष्टं जलं पपुस्तस्यास्तृष्णार्ता विषदूषितम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; गावः—गौवें; च—तथा; गोपाः—ग्वालबाल; च—तथा; निदाघ—ग्रीष्म की; आतप—कड़ी धूप से; पीडिताः—संतप्त; दुष्टम्—प्रदूषित; जलम्—जल को; पपुः—पी लिया; तस्याः—उस नदी का; तृष-आर्ताः—प्यास से पीड़ित; विष—विष से; दूषितम्—दूषित।

उस समय गौवें तथा ग्वालबाल ग्रीष्म की कड़ी धूप से अत्यन्त संतप्त हो उठे। प्यास से व्याकुल होने के कारण उन्होंने यमुना नदी का जल पिया। किन्तु यह जल विष से दूषित था।

विषाम्भस्तदुपस्पृश्य दैवोपहतचेतसः ।
निपेतुर्व्यसवः सर्वे सलिलान्ते कुरूद्वह ॥ ४९ ॥
वीक्ष्य तान्वै तथाभूतान्कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।
ईक्षयामृतवर्षिण्या स्वनाथान्समजीवयत् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

विष-अम्भः—विषाक्त जल; तत्—उस; उपस्पृश्य—स्पर्श मात्र से; दैव—भगवान् की योग शक्ति से; उपहत—खो दी; चेतसः—अपनी चेतना; निपेतुः—गिर पड़े; व्यसवः—निर्जीव; सर्वे—सभी; सलिल-अन्ते—जल के किनारे; कुरु-उद्वह—हे कुरुवंशी वीर; वीक्ष्य—देखकर; तान्—उनको; वै—निस्सन्देह; तथा-भूतान्—ऐसी अवस्था में; कृष्णः—भगवान् कृष्ण ने; योग-ईश्वर-ईश्वरः—योगेश्वरों के ईश्वर; ईक्षया—अपनी चितवन से; अमृत-वर्षिण्या—अमृत रूपी वर्षा से; स्व-नाथान्—उन्हें ही अपना स्वामी मानने वाले; समजीवयत्—पुनःजिला दिया।

विषैले जल का स्पर्श करते ही सारी गौवें तथा ग्वालबाल भगवान् की दैवी शक्ति से अचेत हो गये और निर्जीव होकर नदी के तट पर गिर पड़े। हे कुरु-वीर, उन्हें इस अवस्था में देखकर, समस्त योगेश्वरों के ईश्वर भगवान् कृष्ण को अपने उन भक्तों पर दया आ गई जिनका उनके अतिरिक्त अन्य कोई स्वामी नहीं था। इस तरह उन्होंने अपनी अमृत-चितवन की वृष्टि द्वारा उन्हें तुरन्त पुनः जीवित कर दिया।

ते सम्प्रतीतस्मृतयः समुत्थाय जलान्तिकात् ।
आसन्सुविस्मिताः सर्वे वीक्षमाणाः परस्परम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; सम्प्रतीत—पुनः प्राप्त करने पर; स्मृतयः—अपनी स्मृति; समुत्थाय—उठकर; जल-अन्तिकात्—जल के बाहर से; आसन्—हो गये; सु-विस्मिताः—अत्यधिक चकित; सर्वे—सभी; वीक्षमाणाः—देखते हुए; परस्परम्—एक दूसरे को।

अपनी पूर्ण चेतना वापस पाकर सारी गौवें तथा बालक जल के बाहर आकर उठ खड़े हुये और बड़े ही आश्चर्य से एक दूसरे को देखने लगे।

अन्वमंसत तद्राजन्गोविन्दानुग्रहेक्षितम् ।
पीत्वा विषं परेतस्य पुनरुत्थानमात्मनः ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

अन्वमंसत—अतः उन्होंने सोचा; तत्—वह; राजन्—हे राजा परीक्षित; गोविन्द—गोविन्द की; अनुग्रह-ईक्षितम्—कृपा-दृष्टि के कारण; पीत्वा—पीकर; विषम्—विष; परेतस्य—जीवन से हाथ धो बैठने वालों का; पुनः—फिर से; उत्थानम्—उत्थान, उठ खड़े होना; आत्मनः—अपने से।

हे राजन्, तब उन ग्वालबालों ने सोचा कि यद्यपि वे विषैला जल पीकर सचमुच ही मर चुके थे किन्तु गोविन्द की कृपादृष्टि से ही उनको पुनः जीवनदान मिला है और अपने बल पर उठ खड़े हुए हैं।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के दसवें स्कन्ध के अन्तर्गत "धेनुकासुर का वध" नामक पन्द्रहवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सोलह

कृष्ण द्वारा कालिय नाग को प्रताड़ना

इस अध्याय में भगवान् कृष्ण द्वारा यमुना नदी के सन्निकट स्थित सरोवर के भीतर कालिय नाग-दमन की लीला तथा नागपत्नियों द्वारा स्तुति किये जाने पर कालिय पर कृपा किये जाने का वर्णन हुआ है।

कालिय के विष से दूषित यमुना जल को फिर से शुद्ध करने के लिए भगवान् कृष्ण नदी तट पर एक कदम्ब वृक्ष पर चढ़ गये और वहाँ से जल में कूद पड़े। तत्पश्चात् वे निर्भीक होकर जल के भीतर मदमस्त हाथी की तरह क्रीड़ा करने लगे। कालिय को कृष्ण का इस तरह उसके निजी वास में घुसना सहन नहीं हो पाया अत: उसने भगवान् के पास जाकर छाती में डस लिया। जब कृष्ण के मित्रों ने यह देखा तो वे मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़े। उसी समय व्रजभूमि में तरह तरह के अपशकुन प्रकट होने लगे—पृथ्वी काँपने लगी, उल्कापात होने लगा और प्राणियों के वाम अंग फड़कने लगे।

वृन्दावनवासी विचार करने लगे, "आज कृष्णजी बलराम के बिना ही जंगल गये हैं अत: न जाने उन पर कौन विपत्ति आ पड़ी हो।" ऐसा सोचते हुए वे कृष्ण के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए यमुना के तट पर पहुँचे। उन्होंने यमुना नदी के सन्निकट सरोवर के जल के भीतर अपने प्राणप्रिय कृष्ण को कालिय नाग की कुण्डली में लिपटा हुआ देखा। वृन्दावनवासियों को तीनों लोक शून्य से दिखने लगे और उन सबों ने जल में प्रवेश करने की तैयारी कर ली। किन्तु भगवान् बलराम ने उन सबों को रोका क्योंकि उन्हें कृष्ण की शक्ति का पूरा पूरा पता था।

तब अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों को इस तरह विक्षुब्ध देखकर कृष्ण ने अपने शरीर का अत्यधिक विस्तार कर लिया जिससे सर्प को अपनी कुण्डली को ढीला करना पड़ा और कृष्ण को छोड़ना पड़ा। इसके बाद वे उस सर्प के फनों पर नाचने लगे। अपने इस अद्‌भुत प्रचण्ड नृत्य से श्रीकृष्ण ने सर्प के

एक हजार फनों को कुचल डाला जिससे उसका शरीर शिथिल पड़ गया। मुख से रक्त वमन करता हुआ कालिय अंत में समझ गया कि कृष्ण आदिपुरुष नारायण हैं, जो चराचर के स्वामी हैं अत: उसने उनकी शरण ग्रहण की।

नागपत्नियों ने देखा कि कालिय अत्यधिक थक गया है, अत: उन्होंने भगवान् कृष्ण के चरणकमलों पर अपना शीश झुकाया। तत्पश्चात् उन्होंने अपने पति को मुक्त कराने की आशा से विविध स्तुतियाँ कीं, ''अच्छा ही हुआ कि आपने हमारे अत्याचारी पति की यह दशा बना दी है। आपके क्रोध से उसे महान् लाभ हुआ है। कालिय ने अपने पूर्व-जन्मों में कितना पुण्य कमाया था! आज उसने अपने सिर पर भगवान् के चरणकमलों की वह धूल धारण की है, जिसे पाना ब्रह्माण्ड की जननी, माता लक्ष्मी के लिए भी दुर्लभ है। अब कृपा करके कालिय द्वारा अज्ञानवश किये गये अपराध को क्षमा कर दें और उसे जीवित रहने दें।''

नागपत्नियों की प्रार्थना से प्रसन्न होकर कृष्ण ने कालिय को छोड़ दिया। उसे धीरे धीरे चेतना हो आई और उसने अपनी महान् शक्तियों को पुन: पा लिया। तब कालिय ने संतप्त स्वर से अपने द्वारा किये गये अपराध को स्वीकार किया और कृष्ण की कई प्रकार से स्तुति की। उसने कहा कि वह उनका आदेश पालने के लिए तैयार है। कृष्ण ने उससे कहा कि वह सपरिवार यमुना के सरोवर (कुंड) को छोड़ दे और रमणक द्वीप चला जाये।

श्रीशुक उवाच

विलोक्य दूषितां कृष्णां कृष्ण: कृष्णाहिना विभु: ।
तस्या विशुद्धिमन्विच्छन्सर्पं तमुदवासयत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; विलोक्य—देखकर; दूषिताम्—प्रदूषित; कृष्णाम्—यमुना नदी को; कृष्ण:—भगवान् श्रीकृष्ण ने; कृष्ण-अहिना—काले सर्प (कालिय) द्वारा; विभु:—सर्वशक्तिमान; तस्या:—नदी की; विशुद्धिम्—शुद्धि की; अन्विच्छन्—इच्छा करते हुए; सर्पम्—सर्प को; तम्—उस; उदवासयत्—भगा दिया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् श्रीकृष्ण ने यह देखकर कि काले सर्प कालिय ने यमुना नदी को दूषित कर रखा है, उसे शुद्ध करने की इच्छा की और इस तरह उन्होंने कालिय को उसमें से निकाल भगाया।

श्रीराजोवाच
कथमन्तर्जलेऽगाधे न्यगृह्णाद्भगवानहिम् ।
स वै बहुयुगावासं यथासीद्विप्र कथ्यताम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा परीक्षित ने कहा; कथम्—कैसे; अन्तः-जले—जल के भीतर; अगाधे—अथाह; न्यगृह्णात्—दमन किया; भगवान्—भगवान् ने; अहिम्—सर्प को; सः—वह, कालिय; वै—निस्सन्देह; बहु-युग—अनेक युगों से; आवासम्—निवास स्थान बनाये हुए; यथा—किस तरह; आसीत्—हो गया; विप्र—हे विद्वान ब्राह्मण; कथ्यताम्—कृपा करके बतलायें।

राजा परीक्षित ने पूछा: हे विद्वान मुनि, कृपा करके यह बतलायें कि किस तरह भगवान् ने यमुना के अगाध जल में कालिय नाग को प्रताड़ित किया और वह कालिय किस तरह अनेक युगों से वहाँ पर रह रहा था?

ब्रह्मन्भगवतस्तस्य भूम्नः स्वच्छन्दवर्तिनः ।
गोपालोदारचरितं कस्तृप्येतामृतं जुषन् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; भगवतः—भगवान् का; तस्य—उस; भूम्नः—अनन्त; स्व-छन्द-वर्तिनः—अपनी इच्छा से कर्म करनेवाले; गोपाल—ग्वालबाल के रूप में; उदार—उदार; चरितम्—लीलाएँ; कः—कौन; तृप्येत—तृप्त की जा सकती है; अमृतम्—ऐसी अमृतमय; जुषन्—भाग लेते हुए, सेवन करने से।

हे ब्राह्मण, अनन्त भगवान् अपनी इच्छानुसार स्वतंत्र रूप से कर्म करते हैं। उन्होंने वृन्दावन में ग्वालबाल के रूप में जो अमृत तुल्य उदार लीलाएँ सम्पन्न कीं भला उन्हें सुनकर कौन तृप्त हो सकता है?

श्रीशुक उवाच
कालिन्द्यां कालियस्यासीद् ह्रदः कश्चिद्विषाग्निना ।
श्रप्यमाणपया यस्मिन्पतन्त्युपरिगाः खगाः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; कालिन्द्याम्—यमुना नदी के भीतर; कालियस्य—कालिय नाग का; आसीत्—था; ह्रदः—झील, सरोवर, कुंड; कश्चित्—कोई; विष—उसके विष की; अग्निना—अग्नि से; श्रप्यमाण—गर्मी से उबलकर; पयाः—इसका जल; यस्मिन्—जिसमें; पतन्ति—गिर पड़ते थे; उपरि-गाः—ऊपर से जाते हुए; खगाः—पक्षीगण।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : कालिन्दी (यमुना) नदी के भीतर एक सरोवर (कुंड) था जिसमें कालिय नाग रह रहा था जिसके अग्नि-तुल्य विष से उसका जल निरन्तर उबलता रहता था। इस तरह से उत्पन्न भाप इतनी विषैली होती थी कि दूषित सरोवर के ऊपर से उड़नेवाले पक्षी उसमें गिर पड़ते थे।

तात्पर्य : इस प्रसंग में आचार्यों की व्याख्या है कि कालिय कुंड (सरोवर) नदी की मुख्य धारा से

अलग स्थित था अन्यथा यमुना का जल मथुरा जैसे नगरों तथा उसके आगे के स्थानों में भी विषैला हो गया होता।

विप्रुष्मता विषदोर्मिमारुतेनाभिमर्शिता: ।
म्रियन्ते तीरगा यस्य प्राणिन: स्थिरजङ्गमा: ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

विप्रुट्-मता—जल की बूँदों से युक्त; विष-द—विषैली; ऊर्मि—लहरें; मारुतेन—वायु के द्वारा; अभिमर्शिता:—स्पर्श करते; म्रियन्ते—मर जाते; तीर-गा:—तट पर स्थित; यस्य—जिसके; प्राणिन:—सारे जीव; स्थिर-जङ्गमा:—चर तथा अचर।

उस घातक सरोवर के ऊपर से बहने वाली हवा जल की बूँदों को तट तक ले जाती थी। उस विषैली वायु के सम्पर्क में आने से ही तट की सारी वनस्पति तथा जीवजन्तु मर जाते थे।

तात्पर्य : स्थिर शब्द वृक्ष समेत सभी प्रकार की वनस्पति का द्योतक है और जङ्गम शब्द सचल प्राणियों, यथा पशुओं, सरीसृपों, पक्षियों और कीटों का द्योतक है। श्रील श्रीधर गोस्वामी ने श्री हरिवंश पुराण (विष्णु पर्व ११.४२, ४४, ४६) से इस सरोवर के विषय में उद्धरण दिया है—

दीर्घं योजनविस्तारं दुस्तरं त्रिदशैरपि।
गंभीरं अक्षोभ्यजलं निष्कम्पमिव सागरम्॥
दु:खोपसर्पं तीरेषु ससर्पैर्विपुलैर्बिलै।
विषारणिभवस्याग्नेर्धूमेन परिवेष्टितम्॥
तृणेष्वपि पतत्स्वप्सु ज्वलन्तमिव तेजसा।
समन्ताद् योजनं साग्रं तीरेष्वपि दुरासदम्॥

"सरोवर कहीं कहीं पर आठ मील तक चौड़ा था और देवता तक उसे पार नहीं कर सकते थे। सरोवर का जल काफी गहरा था और समुद्र की अचल गहराइयों की भाँति क्षुब्ध नहीं हो सकता था। उस सरोवर तक पहुँचना कठिन था क्योंकि इसके किनारे पर अनेक बिल थे जिनमें सर्प रहते थे। सरोवर के चारों ओर सर्पों के विष की अग्नि से उत्पन्न कुहरा था और यह शक्तिशाली अग्नि जल में गिरने वाले घास के तिनके तक को तुरन्त भस्म कर देती थी। सरोवर से आठ मील की दूरी तक वायुमण्डल अत्यन्त निकृष्ट था।"

श्रील सनातन गोस्वामी कहते हैं कि जल स्तम्भ के गुह्य विज्ञान से अर्थात् जल से ठोस वस्तुएँ

बनाने की विद्या से कालिय ने सरोवर के भीतर अपना नगर बना रखा था।

तं चण्डवेगविषवीर्यमवेक्ष्य तेन
दुष्टां नदीं च खलसंयमनावतारः ।
कृष्णः कदम्बमधिरुह्य ततोऽतितुङ्ग-
मास्फोट्य गाढरशनो न्यपतद्विषोदे ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस कालिय को; चण्ड-वेग—डरावनी शक्ति का; विष—विष; वीर्यम्—प्रबल; अवेक्ष्य—देखकर; तेन—उसके द्वारा; दुष्टाम्—प्रदूषित; नदीम्—नदी को; च—तथा; खल—ईर्ष्यालु असुर; संयमन—दमन करने के लिए; अवतारः—आध्यात्मिक जगत से अवतरण हुआ है, जिसका; कृष्णः—कृष्ण; कदम्बम्—कदम्ब वृक्ष में; अधिरुह्य—चढ़कर; ततः—उसमें से; अति-तुङ्गम्—अत्यन्त ऊँचा; आस्फोट्य—अपनी भुजाएँ ठोंकते हुए; गाढ-रशनः—दृढ़ता से फेंटा बाँधते हुए; न्यपतत्—कूद पड़े; विष-उदे—विषैले जल में।

भगवान् कृष्ण ने देखा कि कालिय नाग ने किस तरह अपने अत्यन्त प्रबल विष से यमुना नदी को दूषित कर रखा था। चूँकि कृष्ण आध्यात्मिक जगत से ईर्ष्यालु असुरों का दमन करने के लिए ही विशेष रूप से अवतरित हुए थे इसलिए वे तुरन्त एक बहुत ऊँचे कदम्ब वृक्ष की चोटी पर चढ़ गये और उन्होंने युद्ध के लिए अपने को तैयार कर लिया। उन्होंने अपना फेंटा बाँधा, बाहुओं में ताल दी और फिर विषैले जल में कूद पड़े।

तात्पर्य : आचार्यों के अनुसार भगवान् कृष्ण ने कालिय से युद्ध करने की तैय्यारी में अपने बालों को भी पीछे बाँध लिया।

सर्पह्रदः पुरुषसारनिपातवेग-
सङ्क्षोभितोरगविषोच्छ्वसिताम्बुराशिः ।
पर्यक्प्लुतो विषकषायबिभीषणोर्मि-
र्धावन्धनुःशतमनन्तबलस्य किं तत् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सर्प-ह्रदः—सर्प का सरोवर; पुरुष-सार—परम आदरणीय भगवान् के; निपात-वेग—बलपूर्वक गिरने से; सङ्क्षोभित—पूरी तरह से विचलित; उरग—सर्पों का; विष-उच्छ्वसित—विष में ही श्वास लेते हुए; अम्बु-राशिः—जिसका सारा जल; पर्यक्—चारों ओर; प्लुतः—बढ़ा हुआ; विष-कषाय—विष से दूषित होने से; बिभीषण—भयावनी; ऊर्मिः—लहरें; धावन्—उठती हुई; धनुः-शतम्—एक सौ धनुष की दूरी; अनन्त-बलस्य—असीम बल वाले के लिए; किम्—क्या; तत्—वह।

भगवान् जब सर्प के सरोवर में कूदे तो सारे सर्प उत्तेजित हो उठे और तेजी से साँस लेने लगे जिसके कारण विष की मात्रा से जल और भी दूषित हो उठा। भगवान् के प्रविष्ट होने के वेग से सरोवर चारों ओर उमड़ने लगा और भयंकर विषैली लहरों ने एक सौ धनुष-दूरी तक की सारी

भूमि को आप्लावित कर दिया। किन्तु अनन्त शक्ति रखने वाले भगवान् के लिए यह तनिक भी विस्मयजनक नहीं है।

तस्य ह्रदे विहरतो भुजदण्डघूर्ण-
वार्घोषमङ्ग वरवारणविक्रमस्य ।
आश्रुत्य तत्स्वसदनाभिभवं निरीक्ष्य
चक्षुःश्रवाः समसरत्तदमृष्यमाणः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उनके; ह्रदे—सरोवर में; विहरतः—क्रीड़ा करते हुए; भुज-दण्ड—अपनी बलशाली भुजाओं को; घूर्ण—घुमाया; वाः—जल की; घोषम्—ध्वनि; अङ्ग—हे राजा; वर-वारण—विशाल हाथी की तरह; विक्रमस्य—शौर्यका; आश्रुत्य—सुनकर; तत्—वह; स्व-सदन—अपने निवास का; अभिभवम्—अतिक्रमण; निरीक्ष्य—देखकर; चक्षुः-श्रवाः—कालिय; समसरत्—आगे आया; तत्—उसे; अमृष्यमाणः—सहन न कर सकने से।

कालिय-सरोवर में कृष्ण अपनी विशाल बाहें घुमाते और तरह तरह से जल में गूँज पैदा करते हुए, शाही हाथी की तरह क्रीड़ा करने लगे। जब कालिय ने ये शब्द सुने तो वह जान गया कि कोई उसके सरोवर में घुस आया है। वह इसे सहन नहीं कर पाया अतः वह तुरन्त ही बाहर निकला।

तात्पर्य : आचार्यों के अनुसार भगवान् कृष्ण जल के भीतर केवल अपने हाथ-पाँव पटककर अद्भुत संगीतमय ध्वनि उत्पन्न कर रहे थे।

तं प्रेक्षणीयसुकुमारघनावदातं
श्रीवत्सपीतवसनं स्मितसुन्दरास्यम् ।
क्रीडन्तमप्रतिभयं कमलोदराङ्घ्रिं
सन्दश्य मर्मसु रुषा भुजया चछाद ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उनको; प्रेक्षणीय—देखने में आकर्षक; सु-कुमार—अत्यन्त सुकोमल; घन—बादल की तरह; अवदातम्—सफेद चमकता; श्रीवत्स—श्रीवत्स चिह्न धारण किये; पीत—तथा पीला; वसनम्—वस्त्र; स्मित—हँसते हुए; सुन्दर—सुन्दर; आस्यम्—मुख वाले; क्रीडन्तम्—क्रीड़ा करते हुए; अप्रति-भयम्—अन्यों के भय के बिना; कमल—कमल के; उदर—भीतरी भाग जैसा; अङ्घ्रिम्—चरण; सन्दश्य—काटते हुए; मर्मसु—वक्षस्थल पर; रुषा—क्रोध से; भुजया—कुण्डली से; चछाद—लपेट लिया।

कालिय ने देखा कि पीले रेशमी वस्त्र धारण किये श्रीकृष्ण अत्यन्त सुकोमल लग रहे थे, उनका आकर्षक शरीर सफेद बादलों की तरह चमक रहा था, उनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिन्ह था, उनका मुखमंडल सुमधुर हँसी से युक्त था और उनके चरण कमल के फूल के गुच्छों

के सदृश थे। भगवान् निडर होकर जल में क्रीड़ा कर रहे थे। उनके अद्‌भुत रूप के बावजूद ईर्ष्यालु कालिय ने क्रुद्ध होकर उनके वक्षस्थल पर डस लिया और फिर उन्हें अपनी कुंडली में पूरी तरह से लपेट लिया।

तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्ट-
मालोक्य तत्प्रियसखाः पशुपा भृशार्ताः ।
कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामा
दुःखानुशोकभयमूढधियो निपेतुः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तम्—उनको; नाग—सर्प की; भोग—कुंडली के भीतर; परिवीतम्—घिरा हुआ; अदृष्ट-चेष्टम्—किसी प्रकार की गति न दिखलाते हुए; आलोक्य—देखकर; तत्-प्रिय-सखाः—उनके प्रिय सखा; पशु-पाः—ग्वाले; भृश-आर्ताः—अत्यधिक विचलित; कृष्णे—कृष्ण को; अर्पित—अर्पित किया; आत्म—स्वयं को; सु-हृत्—अपने सम्बन्धी; अर्थ—सम्पत्ति; कलत्र—पत्नियाँ; कामाः—तथा सारी भोग्य वस्तुएँ; दुःख—पीड़ा से; अनुशोक—पश्चात्ताप; भय—तथा डर; मूढ—मोहित; धियः—बुद्धि; निपेतुः—भूमि पर गिर पड़े।

जब ग्वाल समुदाय के सदस्यों ने, जिन्होंने कृष्ण को अपना सर्वप्रिय मित्र मान रखा था, उन्हें नाग की कुण्डली में लिपटा हुआ और गतिहीन देखा तो वे अत्यधिक विचलित हो उठे। उन्होंने कृष्ण को अपना सर्वस्व—अपने आप को, अपने परिवार, अपनी सम्पत्ति, अपनी पत्नियाँ तथा सारे आनन्द—अर्पित कर रखा था। भगवान् को कालिय सर्प के चंगुल में देखकर उनकी बुद्धि शोक, पश्चात्ताप तथा भय से भ्रष्ट हो गई और वे पृथ्वी पर गिर पड़े।

तात्पर्य : श्रील सनातन गोस्वामी बतलाते हैं कि ग्वालबाल, कुछ गोप तथा आस-पास के किसान जो कृष्ण के भक्त थे वे भूमि पर इस प्रकार गिर पड़े मानों जड़ से कटे हुए वृक्ष हों।

गावो वृषा वत्सतर्यः क्रन्दमानाः सुदुःखिताः ।
कृष्णे न्यस्तेक्षणा भीता रुदन्त्य इव तस्थिरे ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

गावः—गौवें; वृषाः—बैल; वत्सतर्यः—बछिया; क्रन्दमानाः—जोर से चिल्लाते हुए; सु-दुःखिताः—अत्यधिक दुखित; कृष्णे—कृष्ण पर; न्यस्त—गड़ा दिया; ईक्षणाः—अपनी नजर; भीताः—भयभीत; रुदन्त्यः—रोते हुए; इव—मानो; तस्थिरे—बिना हिले-डुले खड़े रहे।

गौवें, बैल तथा बछड़ियाँ सभी अत्यधिक दुखारी होकर करुणापूर्वक कृष्ण को पुकारने लगीं। वे पशु उन पर अपनी दृष्टि गड़ाये हुए भयवश बिना हिले-डुले खड़े रहे मानो चिल्लाना चाह रहे हों परन्तु आघात के कारण अश्रु न बहा सकते हों।

अथ व्रजे महोत्पातास्त्रिविधा ह्यतिदारुणाः ।
उत्पेतुर्भुवि दिव्यात्मन्यासन्नभयशंसिनः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; व्रजे—वृन्दावन में; महा-उत्पाताः—बड़े बड़े उपद्रव; त्रि-विधाः—तीन प्रकार के; हि—निस्सन्देह; अति-दारुणाः—अत्यन्त भयावने; उत्पेतुः—प्रकट हुए; भुवि—पृथ्वी पर; दिवि—आकाश में; आत्मनि—जीवों के शरीरों में; आसन्न—निकट; भय—खतरा; संशिनः—घोषणा करते हुए, सूचना देते हुए।

तब वृन्दावन क्षेत्र में सभी तीन प्रकार के—पृथ्वी पर होनेवाले, आकाश में होनेवाले तथा जीवों के शरीर में होनेवाले—भयावने अपशकुन प्रकट होने लगे जो तुरन्त आने वाले खतरे की चेतावनी कर रहे थे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार अपशकुन इस प्रकार थे: पृथ्वी में कंपन उत्पन्न होने लगे, आकाश से उल्कापात होने लगा और जीवों के शरीर में कम्पन के साथ ही बाईं आँख तथा शरीर के अन्य अंग फड़कने लगे। ये अपशकुन तुरंत आने वाले संकट की सूचना देते हैं।

तानालक्ष्य भयोद्विग्ना गोपा नन्दपुरोगमाः ।
विना रामेण गाः कृष्णं ज्ञात्वा चारयितुं गतम् ॥ १३ ॥
तैर्दुर्निमित्तैर्निधनं मत्वा प्राप्तमतद्विदः ।
तत्प्राणास्तन्मनस्कास्ते दुःखशोकभयातुराः ॥ १४ ॥
आबालवृद्धवनिताः सर्वेऽङ्ग पशुवृत्तयः ।
निर्जग्मुर्गोकुलाद्दीनाः कृष्णदर्शनलालसाः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तान्—उन संकेतों को; आलक्ष्य—देखकर; भय-उद्विग्नाः—भय से विचलित; गोपाः—ग्वाले; नन्द-पुरः-गमाः—नन्द महाराज इत्यादि; विना—रहित; रामेण—बलराम के; गाः—गौवें; कृष्णम्—कृष्ण को; ज्ञात्वा—जानकर; चारयितुम्—चराने के लिए; गतम्—गया हुआ; तैः—उनसे; दुर्निमित्तैः—अपशकुनों से; निधनम्—विनाश; मत्वा—मानकर; प्राप्तम्—प्राप्त किया; अतत्-विदः—उनके ऐश्वर्य को न जानने से; तत्-प्राणाः—उन्हें अपना प्राण मानकर; तत्-मनस्काः—उन्हीं में लीन मन; ते—वे; दुःख—दुख; शोक—शोक; भय—तथा भय से; आतुराः—विह्वल; आ-बाल—बच्चों समेत; वृद्ध—बूढ़े लोग; वनिताः—तथा स्त्रियाँ; सर्वे—सभी; अङ्ग—हे राजा परीक्षित; पशु-वृत्तयः—जिस तरह वत्सल गाय अपने बछड़े के साथ करती है; निर्जग्मुः—बाहर चले गये; गोकुलात्—गोकुल से; दीनाः—दीन समझकर; कृष्ण-दर्शन—कृष्ण को देखने के लिए; लालसाः—उत्सुक, लालायित।

इन अपशकुनों को देखकर नन्द महाराज तथा अन्य ग्वाले भयभीत थे क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि उस दिन कृष्ण अपने बड़े भाई बलराम के बिना गाय चराने गये थे। चूँकि उन्होंने कृष्ण को अपना प्राण मानते हुए अपने मन उन्हीं पर वार दिये थे क्योंकि वे उनकी महान् शक्ति तथा ऐश्वर्य से अनजान थे। इस तरह उन्होंने इन अपशकुनों से यह अर्थ निकाला कि कृष्ण की मृत्यु हो गई है

और वे दु:ख, पश्चात्ताप तथा भय से अभिभूत हो गये थे। बालक, स्त्रियाँ तथा वृद्ध पुरुषों समेत वृन्दावन के सारे निवासी कृष्ण को उसी तरह मानते थे जिस तरह गाय अपने निरीह नवजात बछड़े को मानती है। इस तरह ये दीन-दुखी लोग उन्हें ढूँढ़ने के इरादे से गाँव से बाहर दौड़ पड़े।

तांस्तथा कातरान्वीक्ष्य भगवान्माधवो बल: ।
प्रहस्य किञ्चिन्नोवाच प्रभावज्ञोऽनुजस्य स: ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तान्—उन्हें; तथा—इस तरह; कातरान्—व्याकुल; वीक्ष्य—देखकर; भगवान्—भगवान्; माधव:—समस्त योग विद्या के स्वामी; बल:—बलराम; प्रहस्य—मुसकाते हुए; किञ्चित्—थोड़ा-सा; न—नहीं; उवाच—कहा; प्रभाव-ज्ञ:—बल को जानने वाले; अनुजस्य—छोटे भाई के; स:—उन्होंने।

समस्त दिव्य ज्ञान के स्वामी भगवान् बलराम हँसने लगे और वृन्दावन-वासियों को इस तरह व्याकुल देखकर कुछ भी नहीं बोले क्योंकि उन्हें अपने छोटे भाई के असाधारण बल का पता था।

तात्पर्य : श्रीबलराम भगवान् कृष्ण के ही स्वांश हैं अत: उनसे अभिन्न हैं। वस्तुत: वे पृथक् रूपों में एक ही परम सत्य हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भगवान् बलराम हँस रहे थे क्योंकि उन्होंने सोचा, ''कृष्ण मेरे शेषनाग रूप में वाले मुझसे कभी नहीं खेलते लेकिन अब वे कालिय नामक सामान्य संसारी सर्प से खेल रहे हैं।''

यह प्रश्न किया जा सकता है कि कृष्ण तथा बलराम ने क्यों अपने प्रिय भक्तों को कालिय नाग की कुण्डली के भीतर कृष्ण के बन्दी रहने की क्षणिक अवधि तक इतनी वेदना में रखा। यह स्मरण रखना चाहिए कि क्योंकि वृन्दावन के वासी नितान्त मुक्तात्मा थे अतएव उन्हें भौतिक भावों का अनुभव नहीं हुआ। जब उन्होंने अपने प्रिय कृष्ण को क्षणिक संकट में देखा तो उनका कृष्ण के लिए प्रेम पराकाष्ठा तक पहुँच गया और इस तरह वे उनके प्रेमभाव से पूर्णतया मग्न हो गये। सारी परिस्थिति को आध्यात्मिक दृष्टि से देखना होगा अन्यथा यह दिखाई नहीं पड़ेगी।

तेऽन्वेषमाणा दयितं कृष्णं सूचितया पदै: ।
भगवल्लक्षणैर्जग्मु: पदव्या यमुनातटम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

ते—वे; अन्वेषमाणाः—ढूँढ़ते हुए; दयितम्—अपने प्रियतम; कृष्णम्—कृष्ण को; सूचितया—चिन्हित (पथ); पदैः—पैर के निशानों से; भगवत्-लक्षणैः—भगवान् के चिह्नों से; जग्मुः—गये; पदव्या—रास्ते से होकर; यमुना-तटम्—यमुना के किनारे तक।

वृन्दावन के निवासी कृष्ण के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए अपने सर्वप्रिय कृष्ण की खोज में यमुना के किनारे की ओर दौड़े चले गये क्योंकि उन पदचिन्हों में भगवान् के अनूठे चिन्ह थे।

ते तत्र तत्राब्जयवाङ्कुशाशनि-
ध्वजोपपन्नानि पदानि विश्पतेः ।
मार्गे गवामन्यपदान्तरान्तरे
निरीक्षमाणा ययुरङ्ग सत्वराः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; तत्र तत्र—यहाँ वहाँ; अब्ज—कमल के फूल; यव—जौ; अङ्कुश—हाथी हाँकने का अंकुश; अशनि—वज्र; ध्वज—तथा पताका से; उपपन्नानि—विभूषित; पदानि—पदचिह्नों को; विट्-पतेः—ग्वाल जाति के स्वामी, भगवान् कृष्ण के; मार्गे—रास्ते में; गवाम्—गौवों के; अन्य-पद—तथा अन्य पदचिह्न; अन्तर-अन्तरे—बीच बीच में; निरीक्षमाणाः—देखकर; युयुः—गये; अङ्ग—हे राजन्; स-त्वराः—तेजी से।

समस्त ग्वाल समुदाय के स्वामी भगवान् कृष्ण के पदचिन्ह कमल के फूल, जौ, हाथी के अंकुश, वज्र तथा पताका से युक्त थे। हे राजा परीक्षित, मार्ग में गौवों के पदचिन्हों के बीच बीच में उनके पदचिन्हों को देखते हुए वृन्दावन के निवासी तेजी से दौड़े चले गये।

तात्पर्य : श्रील सनातन गोस्वामी इस प्रकार टीका करते हैं: ‘‘चूँकि कृष्ण कुछ समय पहले उस मार्ग से होकर निकले थे तो फिर उनके पदचिह्न गौवों, ग्वालबालों इत्यादि के पदचिह्नों से घिरकर मिट क्यों नहीं गये? वृन्दावन के पशुओं तथा पक्षियों के पदचिह्नों से वे क्यों नहीं मिटे थे? इसका उत्तर विश्पति शब्द द्वारा सूचित होता है। चूँकि भगवान् कृष्ण सभी जीवों की सम्पत्ति हैं अतएव व्रज के जंगल के सारे निवासी उनके चरणचिह्नों को जो पृथ्वी के आभूषण समान थे महान् कोष की तरह सुरक्षित रखेंगे। वृन्दावन के अन्तर्गत एक भी प्राणी कृष्ण के पदचिह्नों के ऊपर कभी भी नहीं चला होगा।’’

अन्तर्ह्रदे भुजगभोगपरीतमारात्
कृष्णं निरीहमुपलभ्य जलाशयान्ते ।
गोपांश्च मूढधिषणान्परितः पशूंश्च

सङ्क्रन्दतः परमकश्मलमापुरार्ताः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अन्तः—भीतर; ह्रदे—सरोवर के; भुजग—सर्प के; भोग—शरीर के भीतर; परीतम्—लिपटे; आरात्—दूर से ही; कृष्णम्—कृष्ण को; निरीहम्—निश्चेष्ट; उपलभ्य—देखकर; जल-आशय—जलाशय के; अन्ते—भीतर; गोपान्—ग्वालबालों को; च—तथा; मूढ-धिषणान्—अचेत; परितः—घेरकर; पशून्—पशुओं को; च—तथा; सङ्क्रन्दतः—चिल्लाते हुए; परम-कश्मलम्—महानतम मोह; आपुः—अनुभव किया; आर्ताः—पीड़ित होने से।

ज्योंही वे यमुना नदी के किनारे की ओर भागे जा रहे थे त्योंही उन्होंने दूर से देखा कि कृष्ण सरोवर में काले साँप की कुण्डली में निश्चेष्ट पड़े हैं। उन्होंने यह भी देखा कि सारे ग्वालबाल मूर्छित होकर पड़े हैं और सारे पशु उनके चारों ओर खड़े होकर कृष्ण के लिए रम्भा रहे हैं। यह दृश्य देखकर वृन्दावनवासी वेदना तथा भ्रम के कारण विह्वल हो उठे।

तात्पर्य : हड़बड़ीमें एवं शोकाकुल वृन्दावनवासियों ने यह पता लगाने का प्रयास किया कि कहीं कालिय कृष्ण को किनारे से जल में बलपूर्वक घसीट तो नहीं ले गया था या कृष्ण स्वयं किनारे से कूदकर सर्प के चंगुल में जा पहुँचे थे। उन्हें परिस्थिति के विषय में कुछ भी नहीं पता चल पाया और कृष्ण के ग्वालसखा अचेत होने के कारण उनसे कुछ भी नहीं बता सकते थे। गौवें तथा बछड़े कृष्ण के लिए रम्भा रहे थे। सारी परिस्थिति विह्वल बनाने वाली थी जिससे वृन्दावन के वासियों के मन में आघात तथा वेदना उत्पन्न हो गयी थी।

गोप्योऽनुरक्तमनसो भगवत्यनन्ते
तत्सौहृदस्मितविलोकगिरः स्मरन्त्यः ।
ग्रस्तेऽहिना प्रियतमे भृशदुःखतप्ताः
शून्यं प्रियव्यतिहृतं ददृशुस्त्रिलोकम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

गोप्यः—गोपियाँ; अनुरक्त-मनसः—उनसे अनुरक्त मनवाली; भगवति—भगवान् में; अनन्ते—अनन्त; तत्—उनका; सौहृद—प्रेमपूर्ण; स्मित—मुसकान; विलोक—चितवन; गिरः—तथा वचन; स्मरन्त्यः—स्मरण कर करके; ग्रस्ते—पकड़े जाकर; अहिना—सर्प द्वारा; प्रिय-तमे—सबसे प्यारे; भृश—अत्यन्त; दुःख—पीड़ा से; तप्ताः—पीड़ित; शून्यम्—रिक्त; प्रिय-व्यतिहृतम्—अपने प्रिय से विलग होकर; ददृशुः—उन्होंने देखा; त्रि-लोकम्—तीनों लोकों (सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड) को।

जब युवती गोपियों ने, जिनके मन निरंतर अनन्त भगवान् कृष्ण में अनुरक्त रहते थे, देखा कि वे कालिय के चंगुल में हैं, तो उन्हें उनकी मित्रता, उनकी मुसकान-भरी चितवन तथा उनके बचनों का स्मरण हो आया। अत्यन्त शोक से संतप्त होने के कारण उन्हें सारा ब्रह्माण्ड शून्य (रिक्त) दिखाई पड़ने लगा।

ताः कृष्णमातरमपत्यमनुप्रविष्टां
तुल्यव्यथाः समनुगृह्य शुचः स्रवन्त्यः ।
तास्ता व्रजप्रियकथाः कथयन्त्य आसन्
कृष्णाननेऽर्पितदृशो मृतकप्रतीकाः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ताः—वे; कृष्ण-मातरम्—कृष्ण की माता (यशोदा); अपत्यम्—अपने पुत्र पर; अनुप्रविष्टाम्—अपनी दृष्टि टिकाये; तुल्य—समान रूप से; व्यथाः—व्यथित; समनुगृह्य—दृढ़तापूर्वक पकड़कर; शुचः—शोक की बाढ़; स्रवन्त्यः—उमड़ते हुए; ताः ताः—उनमें से हर शब्द को; व्रज-प्रिय—व्रज के परम प्रिय की; कथाः—कथाएँ; कथयन्त्यः—कहते हुए; आसन्—वे खड़ी रहीं; कृष्ण-आनने—कृष्ण के मुख पर; अर्पित—चढ़ायी, अर्पित की हुई; दृशः—अपनी आँखें; मृतक—शव; प्रतीकाः—तुल्य।

यद्यपि प्रौढ़ गोपियों को उन्हीं के बराबर पीड़ा थी और उनमें शोकपूर्ण अश्रुओं की झड़ी लगी हुई थी किन्तु उन्होंने बलपूर्वक कृष्ण की माता को पकड़े रखा, जिनकी चेतना पूर्णतया अपने पुत्र में समा गयी थी। ये गोपियाँ शवों की तरह खड़ी रहकर, अपनी आँखें कृष्ण के मुख पर टिकाये, बारी बारी से व्रज के परम लाड़ले की लीलाएँ कहे जा रही थीं।

कृष्णप्राणान्निर्विशतो नन्दादीन्वीक्ष्य तं ह्रदम् ।
प्रत्यषेधत्स भगवान्रामः कृष्णानुभाववित् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

कृष्ण-प्राणान्—जिनके प्राण कृष्ण थे; निर्विशतः—प्रवेश करते; नन्द-आदीन्—नन्द महाराज इत्यादि को; वीक्ष्य—देखकर; तम्—उस; ह्रदम्—सरोवर में; प्रत्यषेधत्—मना किया; सः—वे; भगवान्—भगवान्; रामः—बलराम ने; कृष्ण—कृष्ण की; अनुभाव—शक्ति; वित्—भलीभाँति जानते हुए।

तत्पश्चात् भगवान् बलराम ने देखा कि नन्द महाराज तथा कृष्ण को अपना जीवन अर्पित करनेवाले अन्य ग्वाले सर्प-सरोवर में प्रवेश करने जा रहे हैं। भगवान् होने के नाते बलराम को कृष्ण की वास्तविक शक्ति का पूरा पूरा ज्ञान था अतएव उन्होंने उन सबों को रोका।

तात्पर्य : श्रील सनातन गोस्वामी लिखते हैं कि भगवान् बलराम ने कुछ ग्वालों से बातें करके, कुछ को पकड़कर और कुछ पर अपनी शक्तिदायिनी हँसीभरी मुसकान बिखेरकर रोका। सारे ग्वाले इस स्थिति से व्यग्र होकर कृष्ण के लिए सर्प-सरोवर में घुसकर अपने प्राण देने के लिए तैयार थे।

इत्थम्स्वगोकुलमनन्यगतिं निरीक्ष्य
सस्त्रीकुमारमतिदुःखितमात्महेतोः ।
आज्ञाय मर्त्यपदवीमनुवर्तमानः

स्थित्वा मुहूर्तमुदतिष्ठदुरङ्गबन्धात् ॥ २३॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस तरह से; स्व-गोकुलम्—गोकुल के अपने कुल में; अनन्य-गतिम्—(उनके अतिरिक्त) कोई अन्य गन्तव्य या आश्रय न होने से; निरीक्ष्य—देखकर; स-स्त्री—स्त्रियों समेत; कुमारम्—तथा बच्चे; अति-दुःखितम्—अत्यन्त दुखी; आत्म-हेतोः—अपने कारण; आज्ञाय—जानकर; मर्त्य-पदवीम्—मरने वालों की तरह; अनुवर्तमानः—अनुकरण करते हुए; स्थित्वा—रहे आकर; मुहूर्तम्—कुछ काल तक; उदतिष्ठत्—उठ खड़े हुए; उरङ्ग—सर्प के; बन्धात्—बन्धन से।

भगवान् कुछ काल तक सामान्य मर्त्यप्राणी के व्यवहार का अनुकरण करते हुए सर्प की कुंडली के भीतर पड़े रहे। किन्तु जब उन्हें इसका भान हुआ कि उनके गोकुल ग्राम की स्त्रियाँ, बच्चे तथा अन्य निवासी अपने जीवन के एकमात्र आधार उनके प्रेम के कारण विकट दुखी हैं, तो वे कालिय सर्प के बन्धन से तुरन्त उठ खड़े हुए।

तत्प्रथ्यमानवपुषा व्यथितात्मभोग-
स्त्यक्त्वोन्नमय्य कुपितः स्वफणान्भुजङ्गः ।
तस्थौ श्वसञ्छ्वसनरन्ध्रविषाम्बरीष-
स्तब्धेक्षणोल्मुकमुखो हरिमीक्षमाणः ॥ २४॥

शब्दार्थ

तत्—उनके (कृष्ण के); प्रथ्यमान—बढ़ते हुए; वपुषा—दिव्य शरीर के द्वारा; व्यथित—पीड़ित; आत्म—अपना; भोगः—शरीर; त्यक्त्वा—उन्हें त्यागकर; उन्नमय्य—ऊँचे उठते हुए; कुपितः—क्रुद्ध; स्व-फणान्—अपने फनों को; भुजङ्ग—सर्प; तस्थौ—चुपचाप खड़ा रहा; श्वसन्—तेजी से साँस लेता हुआ, फुफकारता; श्वसन-रन्ध्र—उसके नथुने; विष-अम्बरीष—विष उबालने के दो पात्रों की तरह; स्तब्ध—स्थिर; ईक्षण—उसकी आँखें; उल्मुक—लपटों की तरह; मुखः—उसका मुँह; हरिम्—भगवान् को; ईक्षमाणः—देखता हुआ।

जब भगवान् के शरीर का विस्तार होने से कालिय की कुंडली दुखने लगी तो उसने उन्हें छोड़ दिया। तब वह सर्प बहुत ही क्रुद्ध होकर अपने फनों को ऊँचे उठाकर स्थिर खड़ा हो गया और जोर जोर से फुफकारने लगा। उसके नथुने विष पकाने के पात्रों जैसे लग रहे थे और उसके मुखपर स्थित घूरती आँखें आग की लपटों की तरह लग रही थीं। इस तरह उस सर्प ने भगवान् पर नजर डाली।

तं जिह्वया द्विशिखया परिलेलिहानं
द्वे सृक्वणी ह्यतिकरालविषाग्निदृष्टिम् ।
क्रीडन्नमुं परिससार यथा खगेन्द्रो
बभ्राम सोऽप्यवसरं प्रसमीक्षमाणः ॥ २५॥

शब्दार्थ

तम्—उसको, कालिय को; जिह्वया—अपनी जीभ से; द्वि-शिखया—दोमुही; परिलेलिहानम्—बारबार चाटता हुआ; द्वे—दो; सृक्वणी—होंठ; हि—निस्सन्देह; अति-कराल—अत्यन्त भयावने; विष-अग्नि—विषैली अग्नि से पूर्ण; दृष्टिम्—जिसकी दृष्टि; क्रीडन्—खेलती हुई; अमुम्—उसको; परिससार—चारों ओर घूम गई; यथा—जिस तरह; खग-इन्द्रः—पक्षिराज गरुड़; बभ्राम—चारों ओर घूमा; सः—कालिय; अपि—भी; अवसरम्—(प्रहार करने का) अवसर; प्रसमीक्षमाणः—ध्यानपूर्वक देखते हुए, की ताक में।.

कालिय बारम्बार अपनी दोमुही जीभ से अपने होंठों को चाटता और विषैली विकराल अग्नि से पूर्ण अपनी दृष्टि से कृष्ण को घूरता जा रहा था। किन्तु कृष्ण ने मानो खेल-खेल में ही उसका उसी तरह चक्कर लगाया जिस तरह गरुड़ सर्प से खिलवाड़ करता है। प्रतिक्रिया के रूप में, कालिय भी उनके साथ साथ घूमता जाता था और भगवान् को काटने का अवसर ढूँढ़ रहा था।

तात्पर्य : कृष्ण इतनी चतुराई से कालिय के चारों ओर घूम रहे थे कि कालिय को उसे काटने का अवसर ही नहीं मिल पाया। इस तरह श्रीकृष्ण की दिव्य चंचलता के द्वारा सर्प पराजित हो गया।

एवं परिभ्रमहतौजसमुन्नतांस-
मानम्य तत्पृथुशिरःस्वधिरूढ आद्यः ।
तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्र-
पादाम्बुजोऽखिलकलादिगुरुर्ननर्त ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; परिभ्रम—भगवान् द्वारा उसके चारों ओर चक्कर लगाने के कारण; हत—विनष्ट; ओजसम्—जिसका बल; उन्नत—ऊपर उठा; अंसम्—जिसके कंधे; आनम्य—झुकने के लिए बाध्य करके; तत्—उसके; पृथु-शिरःसु—चौड़े सिर पर; अधिरूढः—चढ़कर; आद्यः—हर वस्तु के मूल; तत्—उसके; मूर्ध—सिरों पर; रत्न-निकर—अनेकानेक रत्न; स्पर्श—छूने से; अति-ताम्र—अत्यधिक लाल हुए; पाद-अम्बुजः—चरणकमल; अखिल-कला—समस्त कलाओं के; आदि-गुरुः—मूल गुरु; ननर्त—नाचने लगे।.

लगातार चक्कर लगाते लगाते सर्प के बल को बुरी तरह क्षीण करके, समस्त वस्तुओं के मूल श्रीकृष्ण ने कालिय के उभरे हुए कन्धों को नीचे दबा दिया और उसके चौड़े फनों पर चढ़ गये। इस तरह समस्त कलाओं के आदि गुरु भगवान् श्रीकृष्ण नृत्य करने लगे और सर्प के फनों पर स्थित असंख्य मणियों के स्पर्श से उनके चरण गहरे लाल रंग के हो गये।

तात्पर्य : श्री हरि वंश में लिखा है कि *शिरः स कृष्णो जग्राह स्व-हस्तेनावनम्य*—कृष्ण ने अपने हाथ से कालिय का सिर दबोच लिया और उसे जबरदस्ती झुका दिया। इस संसार में अधिकांश लोग परम पुरुष, परम सत्य को शीश झुकाने में आनाकानी करते हैं। भौतिक चेतना की दूषित अवस्था में हम बद्ध आत्मा अपने नगण्य पद पर इठलाने लगते हैं और भगवान् के समक्ष शीश झुकाने में

आनाकानी करते हैं। किन्तु जिस तरह भगवान् कृष्ण ने बलपूर्वक कालिय के सिरों को नीचे दबाकर उसे हरा दिया उसी तरह भगवान् की शक्ति अटल काल के रूप में सारी बद्ध आत्माओं को मार डालती है और उनके दम्भी सिरों को झुकने के लिए विवश कर देती है। अत: हमें चाहिए कि हम भौतिक जीवन के बनावटी पद को त्यागकर भगवान् के चरणकमलों पर विनत होकर उनके आज्ञाकारी सेवक बन जायें।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि भगवान् के चरणकमल ताँबे के समान लाल इसलिए हो गये क्योंकि वे कालिय के फनों पर लगी असंख्य कठोर मणियों के संपर्क में आ गए थे। तब भगवान् कृष्ण उन तेजमय लाल चरणों से सर्प के फनों की अस्थिर, गतिमान सतह पर नाचकर अपनी कला-चातुरी का प्रदर्शन करने लगे। नृत्य कला का यह असामान्य प्रदर्शन वृन्दावन की तरुण स्त्रियों को आनन्द प्रदान करने के निमित्त था, जो कृष्ण के साथ प्रेम में बुरी तरह फँसी थीं।

तं नर्तुमुद्यतमवेक्ष्य तदा तदीय-
गन्धर्वसिद्धमुनिचारणदेववध्वः ।
प्रीत्या मृदङ्गपणवानकवाद्यगीत-
पुष्पोपहारनुतिभिः सहसोपसेदुः ॥ २७॥

शब्दार्थ

तम्—उनको; नर्तुम्—नाचने में; उद्यतम्—लगा हुआ; अवेक्ष्य—देखकर; तदा—तब; तदीय—उनके सेवक; गन्धर्व-सिद्ध—गन्धर्व तथा सिद्धगण; मुनि-चारण—ऋषि तथा चारण; देव-वध्वः—देवपत्नियाँ; प्रीत्या—हर्षपूर्वक; मृदङ्ग-पणव-आनक—विभिन्न प्रकार के ढोल; वाद्य—बाजों समेत; गीत—गीत; पुष्प—फूल; उपहार—अन्य भेंटें; नुतिभिः—तथा स्तुतियों द्वारा; सहसा—तुरन्त; उपसेदुः—आ गये।

भगवान् उनको नाचते देखकर स्वर्गलोक के उनके सेवक—गन्धर्व, सिद्ध, मुनि, चारण तथा देवपत्नियाँ—वहाँ तुरन्त आ गये। वे मृदंग, पणव तथा आनक जैसे ढोल बजा-बजाकर कृष्ण के नृत्य का साथ देने लगे। उन्होंने गीत, फूल तथा स्तुतियों की भेंटें भी दीं।

तात्पर्य : जब देवताओं तथा उच्च लोक के अन्य निवासियों को पता चला कि कृष्ण नृत्य कला का अद्भुत प्रदर्शन स्वयं कर रहे हैं, तो वे तुरन्त उनकी सेवा में उपस्थित हो गये। जब नृत्य के साथ मृदंग वादन, गायन तथा स्तुति उच्चारण भी किया जाता है, तो उस नृत्य को देखना और भी सुन्दर तथा आनन्ददायक हो जाता है। कालिय सर्प के फनों पर आनंदपूर्वक नाचने में व्यस्त भगवान् श्रीकृष्ण पर असंख्य फूलों की वर्षा होने से कलात्मक परिवेश में और वृद्धि हो गई।

यद्यच्छिरो न नमतेऽङ्ग शतैकशीर्ष्णस्
तत्तन्ममर्द खरदण्डधरोऽङ्घ्रिपातैः ।
क्षीणायुषो भ्रमत उल्बणमास्यतोऽसृङ्
नस्तो वमन्परमकश्मलमाप नागः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

यत् यत्—जो जो; शिरः—सिर; न नमते—नहीं झुकते थे; अङ्ग—हे राजा परीक्षित; शत-एक-शीर्ष्णः—१०१ सिरों वाला; तत् तत्—उन उन को; ममर्द—कुचल डाला; खर—दुष्टों को; दण्ड—सजा; धरः—देने वाले भगवान्; अङ्घ्रि-पातैः—अपने पैरों के प्रहार से; क्षीण-आयुषः—आयु क्षीण हो रहे कालिय का; भ्रमतः—जो अब भी घूम रहा था; उल्बणम्—भयावह; आस्यतः—मुखों से; असृक्—रक्त; नस्तः—नथुनों से; वमन्—कै; परम—अत्यन्त; कश्मलम्—कष्ट; आप—अनुभव किया; नागः—सर्प ने।

हे राजन्, कालिय के १०१ सिर थे और यदि इनमें से कोई एक नहीं झुकता था, तो क्रूर कृत्य करनेवालों को दंड देनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण अपने पाद-प्रहार से उस उद्दण्ड सिर को कुचल देते थे। जब कालिय मृत्यु के निकट पहुँच गया तो वह अपने सिरों को चारों ओर घुमाने लगा और अपने मुखों तथा नथुनों से बुरी तरह से रक्त वमन करने लगा। इस तरह सर्प को अत्यन्त पीड़ा तथा कष्ट का अनुभव होने लगा।

तस्याक्षिभिर्गरलमुद्वमतः शिरःसु
यद्यत्समुन्नमति निःश्वसतो रुषोच्चैः ।
नृत्यन्पदानुनमयन्दमयां बभूव
पुष्पैः प्रपूजित इवेह पुमान्पुराणः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसकी; अक्षिभिः—आँखों से; गरलम्—विषैला कूड़ा; उद्वमतः—वमन करता हुआ; शिरःसु—सिरों में से; यत् यत्—जो जो; समुन्नमति—ऊपर उठता; निःश्वसतः—श्वास लेता हुआ; रुषा—क्रोध से; उच्चैः—काफी अधिक; नृत्यन्—नाचते हुए; पदा—अपने पाँव से; अनुनमयन्—झुकाते हुए; दमयाम् बभूव—दमन कर दिया; पुष्पैः—फूलों से; प्रपूजितः—पूजा जाकर; इव—सदृश; इह—इस अवसर पर; पुमान्—पुरुष; पुराणः—आदि।

कालिय अपनी आँखों से विषैला कीचड़ निकालते हुए रह रहकर अपने किसी एक सिर को ऊपर उठाने का दुस्साहस करके क्रोध से फुफकारता था। तब भगवान् उसपर नाचने लगते और अपने पाँव से नीचे झुकाकर उसका दमन कर देते। देवताओं ने इन सभी प्रदर्शनों को उचित अवसर जानकर आदि पुरुष की पूजा पुष्पवर्षा द्वारा की।

तच्चित्रताण्डवविरुग्नफणासहस्रो

रक्तं मुखैरुरु वमन्नृप भग्नगात्रः ।
स्मृत्वा चराचरगुरुं पुरुषं पुराणं
नारायणं तमरणं मनसा जगाम ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तत्—उनके; चित्र—विस्मयकारी; ताण्डव—शक्तिशाली नृत्य से; विरुग्न—भग्न; फणा-सहस्रः—अपने एक हजार फन; रक्तम्—रक्त; मुखैः—मुख से; उरु—अत्यधिक; वमन्—उगलते हुए; नृप—हे राजा परीक्षित; भग्न-गात्रः—कुचले अंगों वाला; स्मृत्वा—स्मरण करके; चर-अचर—सारे जड़ तथा जंगम प्राणियों के; गुरुम्—गुरु; पुरुषम्—पुरुष; पुराणम्—प्राचीन; नारायणम्—नारायण को; तम्—उन; अरणम्—शरण के लिए; मनसा—मन में.

हे राजा परीक्षित, भगवान् कृष्ण के द्वारा विस्मयजनक शक्तिशाली नृत्य करने से कालिय के सभी एक हजार फण कुचलकर टूट गये। तब अपने मुखों से बुरी तरह रक्त वमन करते हुए सर्प ने श्रीकृष्ण को समस्त चराचर के शाश्वत स्वामी आदि भगवान् श्रीनारायण के रूप में पहचाना। इस तरह कालिय ने मन ही मन भगवान् की शरण ग्रहण कर ली।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने भगवान् श्रीकृष्ण (भाग १, अध्याय १६) में दिखलाया है कि इसके पूर्व जो कालिय विष उगल रहा था, वही अब विष समाप्त हो जाने से रक्त वमन करने लगा। इस तरह उसका हृदय विष रूपी कलुष से धुल गया। स्मृत्वा शब्द अत्यन्त सार्थक है। कालिय की पत्नियाँ वास्तव में सच्चे रूप से कृष्ण-भक्त थीं और आचार्यों का कथन है कि उन पत्नियों ने प्रायः अपने पति को भगवान् की शरण ग्रहण करने के लिए मनाने का, प्रयास किया था। अन्त में असह्य पीड़ा के कारण कालिय ने अपनी पत्नियों की सलाह का स्मरण किया और भगवान् की शरण ग्रहण कर ली। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि परम्परा से कालिय का प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी विष्णुवाहन गरुड़ रहा है। किन्तु कालिय ने यह अनुभव किया कि अब ऐसे प्रतिद्वन्द्वी से उसका पाला पड़ा है, जो गरुड़ से हजारों गुना बलशाली है अतएव हो न हो वह भगवान् ही हो सकता है। इस तरह कालिय ने भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण की।

कृष्णस्य गर्भजगतोऽतिभरावसन्नं
पार्ष्णिप्रहारपरिरुग्नफणातपत्रम् ।
दृष्ट्वाहिमाद्यमुपसेदुरमुष्य पत्न्य
आर्ताः श्लथद्वसनभूषणकेशबन्धाः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

कृष्णस्य—कृष्ण के; गर्भ—उदर में; जगतः—सारा ब्रह्माण्ड पाया जाता है; अति-भर—अत्यधिक भार से; अवसन्नम्—थका हुआ; पार्ष्णि—एड़ियों के; प्रहार—चोट से; परिरुग्न—क्षत-विक्षत; फणा—फन; आतपत्रम्—छातों की तरह; दृष्ट्वा—देखकर;

अहिम्—सर्प को; आद्यम्—आदि भगवान् के; उपसेदुः—निकट आयीं; अमुष्य—कालिय की; पत्न्यः—पत्नियाँ; आर्ताः—पीड़ित; श्लथत्—बिखरे हुए; वसन—वस्त्र; भूषण—आभूषण; केश-बन्धाः—तथा केशपाश।

जब कालिय की पत्नियों ने देखा कि अखिल ब्रह्माण्ड को अपने उदर में धारण करनेवाले भगवान् कृष्ण के अत्यधिक भार से सर्प कितना थक गया है और किस तरह कृष्ण की एडियों के प्रहार से कालिय के छाते जैसे फन छिन्न-भिन्न हो गये हैं, तो उन्हें अतीव पीड़ा हुई। तब अपने वस्त्र, आभूषण तथा केश बिखराये हुए वे आदि भगवान् के निकट आईं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार कालिय की पत्नियाँ अपने पति के आसुरी कार्यों से तंग आ चुकी थीं। वे यही सोचती रहतीं थीं, "यदि यह नास्तिक भगवान् के दण्ड से मारा जाता है, तो इसे मरने दें। हम विधवा होकर भगवान् की पूजा में लग जायेंगी।" किन्तु जब उन स्त्रियों ने कालिय के मुख तथा अन्य अंगों की अभिव्यक्ति देखी तो समझ गईं कि कालिय ने मन ही मन भगवान् की शरण ग्रहण कर ली है। यह देखकर कि वह विनयशीलता, पश्चात्ताप, शोक तथा सन्देह के लक्षण व्यक्त कर रहा है, उन्होंने सोचा, "देखो न, हम कितनी भाग्यशालिनी हैं! अब हमारा पति वैष्णव बन गया है। अतएव अब हमें उसकी रक्षा करनी चाहिए।" उनमें अपने पश्चात्ताप करनेवाले पति के कष्ट तथा उसकी दयनीय अवस्था पर स्नेह उमड़ आया और वे सब की सब भगवान् के समक्ष आईं।

तास्तं सुविग्नमनसोऽथ पुरस्कृतार्भाः
कायं निधाय भुवि भूतपतिं प्रणेमुः ।
साध्व्यः कृताञ्जलिपुटाः शमलस्य भर्तुर्
मोक्षेप्सवः शरणदं शरणं प्रपन्नाः ॥ ३२॥

शब्दार्थ

ताः—वे, कालिय की पत्नियाँ; तम्—उसको; सु-विग्न—अत्यन्त उद्विग्न; मनसः—मन; अथ—तब; पुरः-कृत—सामने करके; अर्भाः—अपने बच्चे; कायम्—अपने शरीर को; निधाय—रखकर; भुवि—भूमि पर; भूत-पतिम्—समस्त प्राणियों के स्वामी को; प्रणेमुः—प्रणाम किया; साध्व्यः—साध्वी स्त्रियाँ; कृत-अञ्जलि-पुटाः—हाथ जोड़कर; शमलस्य—पापी; भर्तुः—पति की; मोक्ष—मुक्ति; ईप्सवः—इच्छा करती हुईं; शरण-दम्—शरण देनेवाले; शरणम्—शरण के लिए; प्रपन्नाः—निकट आईं।

अत्यन्त उद्विग्नमना उन साध्वी स्त्रियों ने अपने बच्चों को अपने आगे कर लिया और तब समस्त प्राणियों के स्वामी के समक्ष भूमि पर गिरकर साष्टांग प्रणाम किया। वे अपने पापी पति का मोक्ष एवं परम शरणदाता भगवान् की शरण चाहती थीं अतः नम्रता से हाथ जोड़े हुए वे उनके निकट आईं।

नागपत्न्य ऊचुः
न्याय्यो हि दण्डः कृतकिल्बिषेऽस्मिं-
स्तवावतारः खलनिग्रहाय ।
रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टि-
र्धत्से दमं फलमेवानुशंसन् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

नाग-पत्न्यः ऊचुः—नाग की पत्नियों ने कहा; न्याय्यः—सही न्यायपूर्ण; हि—निस्सन्देह; दण्डः—दण्ड, सजा; कृत-किल्बिषे—अपराध करनेवाले के लिए; अस्मिन्—इस व्यक्ति ने; तव—आपका; अवतारः—अवतार; खल—दुष्टों के; निग्रहाय—दमन के लिए; रिपोः—शत्रु पर; सुतानाम्—अपने ही पुत्रों पर; अपि—भी; तुल्य-दृष्टिः—समान दृष्टि रखनेवाला; धत्से—आप देते हैं; दमम्—दंड; फलम्—फल; एव—निस्सन्देह; अनुशंसम्—विचार करते हुए।

कालिय सर्प की पत्नियों ने कहा : इस अपराधी को जो दण्ड मिला है, वह निस्संदेह उचित ही है। आपने इस जगत में ईर्ष्यालु तथा क्रूर पुरुषों का दमन करने के लिए ही अवतार लिया है। आप इतने निष्पक्ष हैं कि आप शत्रुओं तथा अपने पुत्रों को समान भाव से देखते हैं क्योंकि जब आप किसी जीव को दण्ड देते हैं, तो आप यह जानते होते हैं कि अन्ततः यह उसके हित के लिए है।

अनुग्रहोऽयं भवतः कृतो हि नो
दण्डोऽसतां ते खलु कल्मषापहः ।
यद्दन्दशूकत्वममुष्य देहिनः
क्रोधोऽपि तेऽनुग्रह एव सम्मतः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

अनुग्रहः—कृपा; अयम्—यह; भवतः—आपके द्वारा; कृतः—की गई; हि—निस्सन्देह; नः—हम पर; दण्डः—दण्ड, सजा; असताम्—दुष्टों का; ते—आपके द्वारा; खलु—निस्सन्देह; कल्मष-अपहः—उनके कल्मष को दूर करते हुए; यत्—क्योंकि; दन्दशूकत्वम्—सर्प के रूप में प्रकट होने की अवस्था; अमुष्य—इस कालिय की; देहिनः—बद्धजीव; क्रोधः—क्रोध; अपि—भी; ते—आपकी; अनुग्रहः—कृपा; एव—वास्तव में; सम्मतः—स्वीकार है।

आपने जो कुछ यहाँ किया है, वह वास्तव में हम पर अनुग्रह है क्योंकि आप दुष्टों को जो दण्ड देते हैं वह निश्चित रूप से उनके कल्मष को दूर कर देता है। चूँकि यह बद्धजीव हमारा पति इतना पापी है कि इसने सर्प का शरीर धारण किया है अतएव उसके प्रति आपका यह क्रोध उसके प्रति आपकी कृपा ही समझी जानी चाहिए।

तात्पर्य : इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य इंगित करते हैं कि जब इस जगत में कोई पवित्र व्यक्ति कष्ट भोगता है, तो वह यह अनुभव करता है कि, ''भगवान् द्वारा दिया जाने वाला यह दण्ड वास्तव में

उनकी अहैतुकी कृपा है।'' किन्तु ईर्ष्यालु व्यक्ति अपने शुद्धिकरण के हेतु दण्डित होने पर भी भगवान् से ईर्ष्या करना नहीं छोड़ते और आक्रोश से भरे रहते हैं। इसी मनोभाव के कारण वे परम ब्रह्म को नहीं समझ पाते।

तपः सुतप्तं किमनेन पूर्वं
निरस्तमानेन च मानदेन ।
धर्मोऽथ वा सर्वजनानुकम्पया
यतो भवांस्तुष्यति सर्वजीवः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

तपः—तपस्या; सु-तप्तम्—ठीक से की गई; किम्—क्या; अनेन—इस कालिय द्वारा; पूर्वम्—पूर्वजन्मों में; निरस्त-मानेन—मिथ्या अहंकार से रहित होने से; च—तथा; मान-देन—अन्यों का सम्मान करते हुए; धर्मः—धार्मिक कर्तव्य; अथ वा—या अन्य कुछ; सर्व-जन—सभी लोगों के लिए; अनुकम्पया—अनुकम्पापूर्वक; यतः—जिससे; भवान्—आप; तुष्यति—प्रसन्न होते हैं; सर्व-जीवः—समस्त जीवों के प्राणाधार।

क्या हमारे पति ने पूर्वजन्म में गर्वरहित होकर तथा अन्यों के प्रति आदरभाव से पूरित होकर सावधानी से तपस्या की थी? क्या इसीलिए आप उससे प्रसन्न हैं? अथवा क्या उसने किसी पूर्वजन्म में समस्त जीवों के प्रति दयापूर्वक धार्मिक कर्तव्य पूरा किया था और क्या इसीलिए समस्त जीवों के प्राणाधार आप अब उससे सन्तुष्ट हैं?

तात्पर्य : इस सम्बन्ध में श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् श्रीकृष्ण* (भाग १, अध्याय १६) में इस तरह टीका की है, ''नागपत्नियाँ इसकी पुष्टि करती हैं कि जब तक किसी ने अपने पूर्वजन्मों में भक्ति द्वारा पुण्यकर्म नहीं किये होते, वह कृष्ण के सम्पर्क में नहीं आ सकता। जैसाकि भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने शिक्षाष्टक में उपदेश दिया है—मनुष्य को चाहिए कि अपने को मार्ग के तृण से भी नीचे समझते हुए तथा अपने सम्मान की आशा न रखते हुए अन्यों का सभी प्रकार सम्मान करते हुए हरे कृष्ण मंत्र का विनम्र होकर कीर्तन करते हुए भक्ति करे। नागपत्नियाँ विस्मित थीं कि यद्यपि अत्यन्त पापपूर्ण कृत्यों के कारण कालिय को सर्प का शरीर मिला था किन्तु अब उसके फनों पर भगवान् के चरणकमलों का स्पर्श हो रहा है। निश्चय ही यह किसी सामान्य पुण्यकर्म का फल नहीं था। ये दो विरोधी तथ्य उन्हें विस्मित कर रहे थे।''

कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे

तवाङ्घ्रिरेणुस्परशाधिकारः ।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपो
विहाय कामान्सुचिरं धृतव्रता ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

कस्य—किसका; अनुभावः—फल; अस्य—इस सर्प का; न—नहीं; देव—हे प्रभु; विद्महे—हम जानती हैं; तव—आपके; अङ्घ्रि—चरणकमलों की; रेणु—धूलि का; स्परश—स्पर्श करने के लिए; अधिकारः—पात्रता, योग्यता; यत्—जिसके लिए; वाञ्छया—इच्छा से; श्रीः—लक्ष्मीजी ने; ललना—(सर्वश्रेष्ठ) स्त्री; आचरत्—सम्पन्न की; तपः—तपस्या; विहाय—छोड़कर; कामान्—सारी इच्छाओं को; सु-चिरम्—दीर्घकाल तक; धृत—धारण किया; व्रता—अपना व्रत, प्रतिज्ञा।

हे प्रभु, हम नहीं जानतीं कि इस कालिय नाग ने किस तरह आपके चरणकमलों की धूल को स्पर्श करने का सुअवसर प्राप्त किया। इसके लिए तो लक्ष्मीजी ने अन्य सारी इच्छाएँ त्यागकर कठोर व्रत धारण करके सैकड़ों वर्षों तक तपस्या की थी।

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं
न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; नाक-पृष्ठम्—स्वर्ग; न च—न तो; सार्व-भौमम्—सर्वोपरि सत्ता; न—नहीं; पारमेष्ठ्यम्—ब्रह्मा का सर्वोच्च पद; न—नहीं; रस-अधिपत्यम्—पृथ्वी के ऊपर शासन; न—नहीं; योग-सिद्धीः—योग की सिद्धियाँ; अपुनः-भवम्—पुनर्जन्म से छुटकारा; वा—अथवा; वाञ्छन्ति—इच्छा करते हैं; यत्—जिसके; पाद—चरणकमलों की; रजः—धूल; प्रपन्नाः—जिन्होंने प्राप्त कर ली है।

जिन्होंने आपके चरणकमलों की धूल प्राप्त कर ली है वे न तो स्वर्ग का राज्य, न असीम वर्चस्व, न ब्रह्मा का पद, न ही पृथ्वी का साम्राज्य चाहते हैं। उन्हें योग की सिद्धियों अथवा मोक्ष तक में कोई रुचि नहीं रहती।

तदेष नाथाप दुरापमन्यै-
स्तमोजनिः क्रोधवशोऽप्यहीशः ।
संसारचक्रे भ्रमतः शरीरिणो
यदिच्छतः स्याद्विभवः समक्षः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; एषः—यह कालिय; नाथ—हे प्रभु; आप—प्राप्त कर चुका है; दुरापम्—दुष्प्राप्य; अन्यैः—अन्यों के द्वारा; तमः-जनिः—तमोगुण में उत्पन्न; क्रोध-वशः—क्रोध के वशीभूत; अपि—भी; अहि-ईशः—सर्पराज; संसार-चक्रे—संसार के चक्कर में; भ्रमतः—घूमता हुआ; शरीरिणः—जीवधारियों के लिए; यत्—जिससे (चरणों की धूल से); इच्छतः—भौतिक इच्छाओं वाला; स्यात्—प्रकट करता है; विभवः—सारे ऐश्वर्य; समक्षः—अपने सामने।

हे प्रभु, यद्यपि इस सर्पराज कालिय का जन्म तमोगुण में हुआ है और यह क्रोध के वशीभूत

है किन्तु इसने अन्यों के लिए जो दुष्प्राप्य है उसे भी प्राप्त कर लिया है। इच्छाओं से पूर्ण होकर जन्म-मृत्यु के चक्कर में भ्रमण करनेवाले देहधारी जीव आपके चरणकमलों की धूल प्राप्त करने से ही अपने समक्ष सारे आशीर्वादों को प्रकट होते देख सकते हैं।

तात्पर्य : बद्धजीव के लिए अपने आपको मोह के कल्मष से छुड़ाकर परब्रह्म की पूर्ण चेतना को प्राप्त कर पाना अत्यन्त दुर्लभ है। तो भी कालिय को यह आशीर्वाद प्राप्त हो सका क्योंकि भगवान् ने अपने चरणकमलों से उस सर्प के फणों पर स्वयं नृत्य किया। भले ही हम बद्धजीवों को अपने सिर पर भगवान् के नृत्य होने की कृपा प्राप्त न हो सके किन्तु भगवान् के प्रतिनिधि, प्रामाणिक गुरु, के माध्यम से ब्रह्म के चरणकमलों की धूल तो प्राप्त हो ही सकती है। इस तरह ब्रह्माण्ड के कष्ट तथा अज्ञान से हमेशा के लिए मुक्त होकर हम भगवद्धाम वापस जा सकते हैं।

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने ।
भूतावासाय भूताय पराय परमात्मने ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; तुभ्यम्—आपको; भगवते—भगवान्; पुरुषाय—परमात्मा रूप में भीतर उपस्थित; महा-आत्मने—सर्वव्यापी; भूत-आवासाय—भौतिक तत्त्वों (क्षिति, जल, पावक इत्यादि) के आश्रय रूप; भूताय—सृष्टि के भी पूर्व से विद्यमान; पराय—परम कारण को; परम-आत्मने—भौतिक कारणों से परे।

हे भगवन्, हम आपको सादर नमस्कार करती हैं। यद्यपि आप सभी जीवों के हृदयों में परमात्मा रूप में स्थित हैं, तो भी आप सर्वव्यापक हैं। यद्यपि आप सभी उत्पन्न भौतिक तत्त्वों के आदि आश्रय हैं किन्तु आप उनके सृजन के पूर्व से विद्यमान हैं। यद्यपि आप हर वस्तु के कारण हैं किन्तु परमात्मा होने से आप भौतिक कार्य-कारण से परे हैं।

तात्पर्य : वक्ता तथा श्रोता के दिव्य आनन्द हेतु इस सुन्दर संस्कृत श्लोक का जोर से उच्चारण करना चाहिए।

ज्ञानविज्ञाननीधये ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।
अगुणायाविकाराय नमस्ते प्राकृताय च ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

ज्ञान—चेतना; विज्ञान—तथा आध्यात्मिक शक्ति के; निधये—सागर का; ब्रह्मणे—परब्रह्म को; अनन्त-शक्तये—असीम शक्तिमान को; अगुणाय—द्रव्य के गुणों से न प्रभावित होनेवाले को; अविकाराय—भौतिक विकार न होनेवाले को; नमः—नमस्कार; ते—आपको; प्राकृताय—प्रकृति के आदि संचालक; च—तथा।

हे परम सत्य, हम आपको नमस्कार करती हैं। आप समस्त दिव्य चेतना एवं शक्ति के आगार हैं और अनन्त शक्तियों के स्वामी हैं। यद्यपि आप भौतिक गुणों एवं विकारों से पूर्णतया मुक्त हैं किन्तु आप भौतिक प्रकृति के आदि संचालक हैं।

तात्पर्य : जो लोग अपने को बौद्धिक, दार्शनिक या मिलनसार मानते हैं उन्हें यह ध्यानपूर्वक जान लेना चाहिए कि परम सत्य या भगवान् समस्त ज्ञान तथा चेतना के सागर हैं। अतएव भगवान् की शरण जाने का अर्थ यह नहीं है कि अपनी मिलनसारी को त्याग दिया जाय। प्रत्युत इससे तो मनुष्य मिलनसार तर्कपूर्ण ज्ञान के सागर में लीन होता है। भगवान् समस्त ज्ञान तथा विज्ञान की सिद्धि हैं। केवल ईर्ष्यालु तथा क्षुद्राशय व्यक्ति ही इस स्पष्ट बात से इनकार करेंगे।

कालाय कालनाभाय कालावयवसाक्षिणे ।
विश्वाय तदुपद्रष्ट्रे तत्कर्त्रे विश्वहेतवे ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

कालाय—काल को; काल-नाभाय—काल के आश्रय को; काल-अवयव—काल की विभिन्न अवस्थाओं के; साक्षिणे—गवाह को; विश्वाय—विश्व रूप को; तद्-उपद्रष्ट्रे—इसके प्रेक्षक को; तत्-कर्त्रे—इसके स्रष्टा को; विश्व—विश्व के; हेतवे—सम्पूर्ण कारण को।

हम आपको नमस्कार करती हैं। आप साक्षात् काल, काल के आश्रय तथा काल की विभिन्न अवस्थाओं के साक्षी हैं। आप ब्रह्माण्ड हैं और इसके पृथक् द्रष्टा भी हैं। आप इसके स्रष्टा हैं और इसके समस्त कारणों के कारण हैं।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् विभिन्न अवतारों के रूप में प्रकट होते हैं किन्तु उन्हें काल के द्वारा बाँधा नहीं जा सकता क्योंकि वे स्वयं काल, काल के आश्रय तथा काल की विभिन्न अवस्थाओं के साक्षी हैं।

भूतमात्रेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्याशयात्मने ।
त्रिगुणेनाभिमानेन गूढस्वात्मानुभूतये ॥ ४२ ॥
नमोऽनन्ताय सूक्ष्माय कूटस्थाय विपश्चिते ।
नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

भूत—भौतिक तत्त्वों के; मात्र—अनुभूति के सूक्ष्म आधार; इन्द्रिय—इन्द्रियों; प्राण—प्राणवायु; मनः—मन; बुद्धि—बुद्धि; आशय—तथा भौतिक चेतना के; आत्मने—परमात्मा में; त्रि-गुणेन—तीन गुणों से; अभिमानेन—झूठी पहचान से; गूढ—आच्छन्न; स्व—निज; आत्म—अपनी; अनुभूतये—अनुभूति को; नमः—नमस्कार; अनन्ताय—अनन्त भगवान् को; सूक्ष्माय—

अत्यन्त सूक्ष्म को; कूट-स्थाय—केन्द्र में स्थिर; विपश्चिते—सर्वज्ञ को; नाना—विविध; वाद—दर्शन के; अनुरोधाय—स्वीकृति प्रदाता को; वाच्य—व्यक्त विचारों के; वाचक—तथा व्यक्त शब्द; शक्तये—शक्तिमान को।

आप भौतिक तत्त्वों के, अनुभूति के सूक्ष्म आधार के, इन्द्रियों के, प्राणवायु के तथा मन, बुद्धि एवं चेतना के परमात्मा हैं। हम आपको नमस्कार करती हैं। आपकी ही व्यवस्था के फलस्वरूप सूक्ष्मतम चिन्मय आत्माएँ प्रकृति के तीनों गुणों के रूप में अपनी झूठी पहचान बनाती हैं फलस्वरूप उनकी स्व की अनुभूति प्रच्छन्न हो जाती है। हे अनन्त भगवान्, हे परम सूक्ष्म एवं सर्वज्ञ भगवान्, हम आपको प्रणाम करती हैं, जो सदैव स्थायी दिव्यता में विद्यमान रहते हैं, विभिन्न वादों के विरोधी विचारों को स्वीकृति देते हैं और व्यक्त विचारों तथा उनको व्यक्त करनेवाले शब्दों को प्रोत्साहन देने वाली शक्ति हैं।

नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनये ।
प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; प्रमाण—आधिकारिक साक्ष्य के; मूलाय—आधार को; कवये—लेखक को; शास्त्र—शास्त्र के; योनये—स्रोत को; प्रवृत्ताय—इन्द्रिय तृप्ति के लिए प्रोत्साहित करनेवाले को; निवृत्ताय—त्याग के प्रति प्रोत्साहित करनेवाले को; निगमाय—दोनों प्रकार के शास्त्रों के उद्गम को; नमः नमः—बारम्बार नमस्कार।

समस्त प्रमाणों के आधार, शास्त्रों के प्रणेता तथा परम स्रोत, इन्द्रिय तृप्ति को प्रोत्साहित करनेवाले (प्रवृत्ति मार्ग) तथा भौतिक जगत से विराग उत्पन्न करनेवाले वैदिक साहित्य में अपने को प्रकट करनेवाले आपको हम बारम्बार नमस्कार करती हैं।

तात्पर्य : यदि हममें अनुभूति तथा संज्ञान की शक्तियाँ न होतीं तो प्रमाण का प्रेषण न हो पाता और यदि हम प्रमाण के विशिष्ट गुणों में विश्वास न करते होते तो विश्वसनीयता न हो पाती। इस तरह अनुभूति, संज्ञान, विश्वास तथा प्रेषण—ये सारी विधियाँ भगवान् की विविध शक्तियों द्वारा ही घटित होती हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण स्वयं महानतम पंडित तथा बुद्धिमान पंडित हैं। वे ब्रह्मा तथा नारद जैसे महाभागवतों के हृदयों के भीतर दिव्य शास्त्रों को प्रकट करते हैं और समस्त वैदिक ज्ञान के रचयिता वेदव्यास के रूप में भी अवतरित होते हैं। भगवान् नाना प्रकार से धार्मिक शास्त्रों को उत्पन्न करते हैं, जिससे बद्धजीव विभिन्न स्थितियों में से गुजरने के पश्चात् क्रमशः भगवद्धाम वापस जाते हैं।

नमः कृष्णाय रामाय वसुदेवसुताय च ।

प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; कृष्णाय—भगवान् कृष्ण को; रामाय—भगवान् राम को; वसुदेव-सुताय—वसुदेव के पुत्र; च—तथा; प्रद्युम्नाय—भगवान् प्रद्युम्न को; अनिरुद्धाय—अनिरुद्ध को; सात्वताम्—भक्तों के; पतये—स्वामी को; नमः—नमस्कार।

हम वसुदेव के पुत्र, भगवान् कृष्ण तथा भगवान् राम को और भगवान् प्रद्युम्न तथा भगवान् अनिरुद्ध को सादर नमस्कार करती हैं। हम विष्णु के समस्त सन्त सदृश भक्तों के स्वामी को सादर नमस्कार करती हैं।

नमो गुणप्रदीपाय गुणात्मच्छादनाय च ।
गुणवृत्त्युपलक्ष्याय गुणद्रष्ट्रे स्वसंविदे ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; गुण-प्रदीपाय—विभिन्न गुणों को प्रकट करनेवाले को; गुण—भौतिक गुणों से; आत्म—स्वयं; छादनाय—वेश बदलनेवाले को; च—तथा; गुण—गुणों के; वृत्ति—कार्य करने से; उपलक्ष्याय—सुनिश्चित किये जा सकने वाले को; गुण-द्रष्ट्रे—गुणों के पृथक् साक्षी को; स्व—अपने भक्तों को; संविदे—ज्ञात।

नाना प्रकार के भौतिक तथा आध्यात्मिक गुणों को प्रकट करनेवाले, हे भगवन्, आपको हमारा नमस्कार। आप अपने को भौतिक गुणों से छिपा लेते हैं किन्तु अन्ततः उन्हीं भौतिक गुणों के अन्तर्गत हो रहे कार्य आपके अस्तित्व को प्रकट कर देते हैं। आप साक्षी रूप में भौतिक गुणों से पृथक् रहते हैं और एकमात्र अपने भक्तों द्वारा भलीभाँति ज्ञेय हैं।

तात्पर्य : गुण के अनेक अर्थ हैं—प्रकृति के तीन गुण—सतो, रजो तथा तमोगुण; शुद्धता तथा आध्यात्मिक उन्नति के कारण प्रकट किये गये उत्तम गुण; अथवा मन, बुद्धि जैसी आन्तरिक इन्द्रियाँ। प्रदीपाय का अर्थ है "प्रकट होनेवाले या प्रकाश करनेवाले को।" इस तरह नागपत्नियाँ यहाँ पर भगवान् को सम्बोधित कर रही हैं कि आप समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक गुणों को प्रकट करनेवाले हैं एवं जीवों को चेतन बनानेवाले हैं। कोई भी व्यक्ति भौतिक प्रकृति के पर्दे से ऊपर उठकर ही भगवान् का दर्शन कर सकता है इसीलिए उन्हें गुणात्मच्छादनाय कहा गया है। यदि कोई विधिवत् तथा बुद्धिमानी के साथ भौतिक गुणों की कार्यप्रणाली का अध्ययन करे तो वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि भगवान् का अस्तित्व है और वे अपनी मायाशक्ति उन्हीं को चकराने के लिए दिखलाते हैं, जो उनकी शरण ग्रहण नहीं करता।

चूँकि भगवान् गुणों के साक्षी हैं अतएव वे इनसे कभी प्रभावित नहीं होते। वे गुण-द्रष्ट्रे कहलाते

हैं। स्व का अर्थ ''अपने ही'' है, अतः स्व-संविदे का अर्थ है कि भगवान् कृष्ण अपने ही लोगों—भक्तों—द्वारा जाने जा सकते हैं और केवल भगवान् ही अपने आपको भलीभाँति जान सकते हैं। अतएव हमें *भगवद्गीता* में दिये गये कृष्ण के उपदेशों को ग्रहण करके इस सही निष्कर्ष—भगवान् के चरणकमलों पर पूर्ण समर्पण—पर पहुँचना चाहिए। इस तरह हमें नागपत्नियों के उदाहरण का पालन करते हुए भगवान् का विनीत भाव से गुणगान करना चाहिए।

अव्याकृतविहाराय सर्वव्याकृतसिद्धये ।
हृषीकेश नमस्तेऽस्तु मुनये मौनशीलिने ॥ ४७॥

शब्दार्थ

अव्याकृत-विहाराय—अगाध महिमा वाले; सर्व-व्याकृत—सभी वस्तुओं के सृजन तथा प्राकट्य; सिद्धये—अस्तित्व वाले को; हृषीक-ईश—हे इन्द्रियों के प्रेरक; नमः—नमस्कार; ते—आपको; अस्तु—होए; मुनये—मौन रहनेवाले को; मौन-शीलिने—मौन अवस्था में ही कर्म करनेवाले को।

हे इन्द्रियों के स्वामी, हृषीकेश, हम आपको नमस्कार करती हैं क्योंकि आपकी लीलाएँ अचिन्त्य रूप से महिमामयी हैं। आपके अस्तित्व को समस्त दृश्य जगत के लिए स्रष्टा तथा प्रकाशक की आवश्यकता से समझा जा सकता है। यद्यपि आपके भक्त आपको इस रूप में समझ सकते हैं किन्तु अभक्तों के लिए आप आत्मलीन रह कर मौन बने रहते हैं।

परावरगतिज्ञाय सर्वाध्यक्षाय ते नमः ।
अविश्वाय च विश्वाय तद्द्रष्ट्रेऽस्य च हेतवे ॥ ४८॥

शब्दार्थ

पर-अवर—उत्तम तथा निष्कृष्ट दोनों ही तरह की वस्तुओं के; गति—गन्तव्य; ज्ञाय—जाननेवाले को; सर्व—सभी वस्तुओं के; अध्यक्षाय—नियन्ता को; ते—आपको; नमः—हमारा नमस्कार; अविश्वाय—ब्रह्माण्ड से पृथक् रहनेवाले को; च—तथा; विश्वाय—भौतिक जगत की माया प्रकट करनेवाले को; तत्-द्रष्ट्रे—ऐसी माया के साक्षी को; अस्य—इस जगत के; च—तथा; हेतवे—मूल कारण को।

उत्तम तथा अधम समस्त वस्तुओं के गन्तव्य को जाननेवाले तथा समस्त जगत के अध्यक्ष नियन्ता आपको हमारा नमस्कार। आप इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि से पृथक् हैं फिर भी आप वह मूलाधार हैं जिस पर भौतिक सृष्टि की माया का विकास होता है। आप इस माया के साक्षी भी हैं। निस्सन्देह आप अखिल जगत के मूल कारण हैं।

तात्पर्य : *पर* तथा *अवर* शब्द उत्तम सूक्ष्म तत्त्वों तथा निकृष्ट स्थूल तत्त्वों का बोध करानेवाले हैं। ये शब्द उत्तम पुरुषों अर्थात् भगवद्भक्तों तथा उन निकृष्ट पुरुषों के भी सूचक हैं, जो भगवान् की

महिमा से अनजान होते हैं। भगवान् कृष्ण समस्त उत्तम तथा निकृष्ट जीवों एवं चराचर के भाग्य को जानते हैं और परब्रह्म के रूप में वे सबों के ऊपर अपने अनन्य पद पर बने रहते हैं जैसाकि *सर्वाध्यक्षाय* शब्द से इंगित होता है।

त्वं ह्यस्य जन्मस्थितिसंयमान्विभो
गुणैरनीहोऽकृतकालशक्तिधृक् ।
तत्तत्स्वभावान्प्रतिबोधयन्सतः
समीक्षयामोघविहार ईहसे ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—आप; हि—निस्सन्देह; अस्य—इस ब्रह्माण्ड के; जन्म-स्थिति-संयमान्—सृजन, पालन तथा संहार; विभो—हे सर्वशक्तिमान; गुणैः—प्रकृति के गुणों द्वारा; अनीहः—किसी भी भौतिक प्रयास में निहित न होते हुए भी; अकृत—अनादि; काल-शक्ति—काल की शक्ति के; धृक्—धारण करनेवाले; तत्-तत्—प्रत्येक गुण के; स्व-भावान्—लक्षणों को; प्रतिबोधयन्—जाग्रत करते हुए; सतः—सुप्त अवस्था में रह रहे; समीक्षया—अपनी चितवन से; अमोघ-विहारः—अमोघ क्रीड़ाओं वाले; ईहसे—आप कर्म करते हैं।

हे सर्वशक्तिमान प्रभु, यद्यपि आपके भौतिक कर्म में फँसने का कोई कारण नहीं है, फिर भी आप इस ब्रह्माण्ड के सृजन, पालन तथा संहार की व्यवस्था करने के लिए अपनी शाश्वत कालशक्ति के माध्यम से कर्म करते हैं। इसे आप सृजन के पूर्व सुप्त पड़े प्रकृति के प्रत्येक गुण के विशिष्ट कार्य को जाग्रत करते हुए सम्पन्न करते हैं। ब्रह्माण्ड-नियंत्रण के इन सारे कार्यों को आप खेल खेल में केवल अपनी चितवन से पूर्णतया सम्पन्न कर देते हैं।

तात्पर्य : संशयवादी प्रश्न कर सकते हैं कि परमेश्वर ने जन्म, पालन तथा मृत्यु से भरी-पूरी भौतिक जगत की सृष्टि क्यों की। यहाँ पर नागपत्नियाँ संकेत करती हैं कि भगवान् की लीलाएँ अमोघ अर्थात् त्रुटि-रहित हैं। वास्तव में कृष्ण यही चाहते हैं कि सारे बद्धजीव उनके साथ उनके दिव्य धाम में रहें किन्तु वे भुलक्कड़ जीवात्माएँ जो ईश्वर के इस प्रेम-सम्बन्ध को द्वेष की दृष्टि से देखती हैं उन्हें भौतिक जगत में जाना पड़ता है और काल की स्थितियाँ भोगनी पड़ती हैं। भाग्यशाली बद्धजीवों को भगवान् के प्रिय सेवकों के रूप में अपने वास्तविक पद का स्मरण कराकर सतर्क कर दिया जाता है, तो भगवान् उनके हृदय के भीतर से उन्हें भगवद्धाम वापस आने के लिए प्रोत्साहित करते हैं जहाँ काल अनुपस्थित रहता है और जहाँ दृश्य जगत के सृजन तथा संहार जैसे विचलित करनेवाले नाटकीय कृत्य शाश्वत एवं आनन्दमय जगत द्वारा पछाड़ दिये जाते हैं।

तस्यैव तेऽमूस्तनवस्त्रिलोक्यां
शान्ता अशान्ता उत मूढयोनयः ।
शान्ताः प्रियास्ते ह्यधुनावितुं सतां
स्थातुश्च ते धर्मपरीप्सयेहतः ॥५०॥

शब्दार्थ

तस्य—उनका; एव—निस्सन्देह; ते—आपका; अमूः—ये; तनवः—भौतिक शरीर; त्रि-लोक्याम्—तीनों लोकों में; शान्ताः—शान्त (सतोगुण में); अशान्ताः—अशान्त (रजोगुण में); उत—और भी; मूढ-योनयः—अज्ञानी योनियों में उत्पन्न; शान्ताः—सतोगुणी शान्त व्यक्ति; प्रियाः—प्रिय; ते—आपको; हि—निश्चय ही; अधुना—अब; अवितुम्—रक्षा करने के लिए; सताम्—साधु भक्तों की; स्थातुः—उपस्थित; च—तथा; ते—आपके; धर्म—धर्म के सिद्धान्त; परीप्सया—पालन करने की इच्छा से; ईहतः—कार्य करनेवाला।

इसलिए तीनों लोकों भर में सारे भौतिक शरीर—जो सतोगुणी होने के कारण शान्त हैं, जो रजोगुणी होने से विक्षुब्ध हैं तथा जो तमोगुणी होने से मूर्ख हैं—आपकी ही सृष्टियाँ हैं। तो भी जिनके शरीर सतोगुणी हैं, वे आपको विशेष रूप से प्रिय हैं और उन्हीं के पालन हेतु तथा उन्हीं के धर्म की रक्षा करने के लिए ही अब आप इस पृथ्वी पर विद्यमान हैं।

अपराधः सकृद्भर्त्रा सोढव्यः स्वप्रजाकृतः ।
क्षन्तुमर्हसि शान्तात्मन्मूढस्य त्वामजानतः ॥५१॥

शब्दार्थ

अपराधः—अपराध; सकृत्—एक बार; भर्त्रा—स्वामी द्वारा; सोढव्यः—सहन किया जाना चाहिए; स्व-प्रजा—आपकी प्रजा द्वारा; कृतः—किया गया; क्षन्तुम्—सहने के लिए; अर्हसि—आपको शोभा देता है; शान्त-आत्मन्—हे शान्त रहनेवाले; मूढस्य—मूर्ख के; त्वाम्—आपको; अजानतः—न समझने वाला।

स्वामी को चाहिए कि अपनी सन्तान या प्रजा द्वारा किये गये अपराध को कम से कम एक बार तो सह ले। इसलिए हे परम शान्त आत्मन्, आप हमारे इस मूर्ख पति को क्षमा कर दें जो यह नहीं समझ पाया कि आप कौन हैं।

तात्पर्य : अत्यधिक चिन्ता के कारण कालिय की पत्नियाँ इस श्लोक में एक ही भाव को—कि परमात्मा उनके मूर्ख पति को क्षमा कर दें—दो बार व्यक्त करती हैं। भगवान् परम शान्तात्मा हैं अतएव नागपत्नियाँ यह सुझाव देती हैं कि अज्ञानी कालिय द्वारा किये गये महान् अपराध को कम से कम इस बार क्षमा करना उनके लिए उपयुक्त होगा।

अनुगृह्णीष्व भगवन्प्राणांस्त्यजति पन्नगः ।

स्त्रीणां नः साधुशोच्यानां पतिः प्राणः प्रदीयताम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

अनुगृह्णीष्व—कृपा करें; भगवन्—हे भगवान्; प्राणान्—प्राणों को; त्यजति—त्याग रहा है; पन्नगः—सर्प; स्त्रीणाम्—स्त्रियों के लिए; नः—हम; साधु-शोच्यानाम्—साधु पुरुषों द्वारा क्षम्य; पतिः—पति; प्राणः—जीवन स्वरूप; प्रदीयताम्—वापस दे दिया जाय।

हे भगवन्, आप हम पर कृपालु हों। साधु पुरुष को हम-जैसी स्त्रियों पर दया करना उचित है। यह सर्प अपना प्राण त्यागने ही वाला है। कृपया हमारे जीवन तथा आत्मा रूप हमारे पति को हमें वापस कर दें।

विधेहि ते किङ्करीणामनुष्ठेयं तवाज्ञया ।
यच्छ्रद्धयानुतिष्ठन्वै मुच्यते सर्वतो भयात् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

विधेहि—आज्ञा दें; ते—आपकी; किङ्करीणाम्—दासियों द्वारा; अनुष्ठेयम्—जो किया जाना हो; तव—आपकी; आज्ञया—आज्ञा से; यत्—जो; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; अनुतिष्ठन्—सम्पन्न करते हुए; वै—निश्चय ही; मुच्यते—मुक्त हुआ जा सके; सर्वतः—सभी; भयात्—भय से।

अब कृपा करके अपनी दासियों को बतलायें कि हम क्या करें। यह निश्चित है कि जो भी आपकी आज्ञा को श्रद्धापूर्वक पूरा करता है, वह स्वतः सारे भय से मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : अब कालिय की पत्नियों का समर्पण पूर्ण हो चुका था और कृष्ण ने तुरन्त ही उन्हें अपनी कृपा प्रदान कर दी जैसाकि अगले श्लोकों में वर्णन हुआ है।

श्रीशुक उवाच
इत्थं स नागपत्नीभिर्भगवान्समभिष्टुतः ।
मूर्च्छितं भग्नशिरसं विससर्जाङ्घ्रिकुट्टनैः ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इत्थम्—इस तरह; सः—उन भगवान् कृष्ण ने; नाग-पत्नीभिः—कालिय की पत्नियों द्वारा; भगवान्—भगवान् ने; समभिष्टुतः—पूरी तरह से प्रशंसित; मूर्च्छितम्—मूर्च्छित, बेहोश; भग्न-शिरसम्—कुचले हुए सिरवाले; विससर्ज—जाने दिया; अङ्घ्रि-कुट्टनैः—पाँवों के प्रहार से।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह नागपत्नियों द्वारा प्रशंसित भगवान् ने उस कालिय सर्प को छोड़ दिया, जो मूर्छित होकर गिर चुका था और जिसके सिर भगवान् के चरणकमलों के प्रहार से क्षत-विक्षत हो चुके थे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भगवान् कृष्ण अपने निर्णय पर पहुँचकर तुरन्त ही कालिय के फनों से नीचे कूद पड़े और सर्प तथा उसकी पत्नियों के समक्ष खड़े हो गये। हमें

स्मरण रखना चाहिए कि जब भगवान् कृष्ण ने ये लीलाएँ सम्पन्न कीं तो वे वृन्दावन के एक ग्रामीण बालक मात्र थे।

प्रतिलब्धेन्द्रियप्राणः कालियः शनकैर्हरिम् ।
कृच्छ्रात्समुच्छ्वसन्दीनः कृष्णं प्राह कृताञ्जलिः ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

प्रतिलब्ध—पुनः प्राप्त करके; इन्द्रिय—इन्द्रियों का कार्य; प्राणः—तथा अपनी जीवनी शक्ति; कालियः—कालिय; शनकैः—धीरे धीरे; हरिम्—भगवान्; कृच्छ्रात्—कठिनाई से; समुच्छ्वसन्—तेजी से साँस लेता; दीनः—दुखी; कृष्णम्—कृष्ण से; प्राह—बोला; कृत-अञ्जलिः—विनीत होकर।

धीरे धीरे कालिय को अपनी जीवनी शक्ति तथा इन्द्रियों की क्रियाशीलता प्राप्त हो गई। तब कष्टपूर्वक जोर-जोर से साँस लेते हुए बेचारे सर्प ने विनीत भाव से भगवान् श्रीकृष्ण को सम्बोधित किया।

कालिय उवाच
वयं खलाः सहोत्पत्त्या तमसा दीर्घमन्यवः ।
स्वभावो दुस्त्यजो नाथ लोकानां यदसद्ग्रहः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

कालियः उवाच—कालिय ने कहा; वयम्—हम; खलाः—दुष्ट; सह उत्पत्त्या—अपने जन्म से ही; तामसाः—तामसी प्रकृति के; दीर्घ-मन्यवः—निरन्तर क्रुद्ध; स्वभावः—स्वभाव; दुस्त्यजः—जिसे छोड़ पाना अत्यन्त कठिन है; नाथ—हे स्वामी; लोकानाम्—सामान्य जनों के लिए; यत्—जिससे; असत्—असत्य तथा अशुद्ध की; ग्रहः—स्वीकृति।

कालिय नाग ने कहा : सर्प के रूप में जन्म से ही हम ईर्ष्यालु, अज्ञानी तथा निरन्तर क्रुद्ध बने हुए हैं। हे नाथ, मनुष्यों के लिए अपना बद्ध स्वभाव, जिससे वे असत्य से अपनी पहचान करते हैं, छोड़ पाना अत्यन्त कठिन है।

तात्पर्य : सनातन गोस्वामी संकेत करते हैं कि अपनी दीन दशा के कारण ही कालिय भगवान् के लिए मौलिक स्तुतियाँ नहीं रच सका इसीलिए वह अपनी पत्नियों द्वारा की गई कुछ स्तुतियों का शब्दान्तरण कर रहा था। *असद्ग्रह* शब्द बतलाता है कि बद्धजीव अस्थायी तथा अशुद्ध वस्तुओं को ही दृढ़ता से पकड़ता है—यथा अपना शरीर, अन्यों के शरीर तथा नाना प्रकार के भौतिक इन्द्रिय विषय। ऐसी भौतिक आसक्ति का अन्तिम फल दुराशा, निराशा तथा क्रोध होता है, जो उस बेचारे सर्प कालिय को अब स्पष्ट हो चुका था।

त्वया सृष्टमिदं विश्वं धातर्गुणविसर्जनम् ।
नानास्वभाववीर्यौजोयोनिबीजाशयाकृति ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

त्वया—आपके द्वारा; सृष्टम्—उत्पन्न; इदम्—यह; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; धातः—हे विधाता; गुण—भौतिक गुणों की; विसर्जनम्—विविध सृष्टि; नाना—विविध; स्व-भाव—स्वभाव; वीर्य—नाना प्रकार की शक्ति; ओजः—तथा शारीरिक शक्ति; योनि—गर्भ; बीज—बीज; आशय—मनोवृत्ति; आकृति—तथा रूप।

हे परम विधाता, आप ही भौतिक गुणों की विविध व्यवस्था से निर्मित इस ब्रह्माण्ड के बनाने वाले हैं। इस प्रक्रिया में आप नाना प्रकार के व्यक्तित्व तथा योनियाँ, नाना प्रकार की ऐन्द्रिय तथा शारीरिक शक्तियाँ तथा भाँति भाँति की मनोवृत्तियों एवं आकृतियों वाले माता-पिताओं को प्रकट करते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक की टीका करते हुए श्रील मध्वाचार्य ने नारद पुराण का यह उद्धरण दिया है ''हिरण्यगर्भ ब्रह्मा से इस ब्रह्माण्ड की दुबारा सृष्टि होती है, परन्तु मूल सृष्टि तो साक्षात् विष्णु द्वारा ही की जाती है। इस प्रकार विष्णु मूल स्रष्टा हैं और चतुरानन मात्र केवल गौण स्रष्टा हैं।''

वयं च तत्र भगवन्सर्पा जात्युरुमन्यवः ।
कथं त्यजामस्त्वन्मायां दुस्त्यजां मोहिताः स्वयम् ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

वयम्—हम; च—तथा; तत्र—उस भौतिक सृष्टि के भीतर; भगवन्—हे भगवन्; सर्पाः—सर्पगण; जाति—जाति, योनि; उरु-मन्यवः—अत्यन्त क्रोधी; कथम्—कैसे; त्यजामः—हम त्याग सकते हैं; त्वत्-मायाम्—आपकी मायाशक्ति को; दुस्त्यजाम्—जिसे त्याग पाना असम्भव है; मोहिताः—मोहित; स्वयम्—अपने आप।

हे भगवन्, आपकी भौतिक सृष्टि में जितनी भी योनियाँ हैं उनमें से हम सर्पगण स्वभाव से सदैव क्रोधी हैं। इस तरह आपकी दुस्त्यज मायाशक्ति से मुग्ध होकर भला हम उस स्वभाव को अपने आप कैसे त्याग सकते हैं?

तात्पर्य : कालिय यहाँ पर अप्रत्यक्ष रीति से भगवान् की कृपा की याचना कर रहा है क्योंकि उसे अनुभव हो रहा है कि वह अपने आप कभी भी मोह तथा कष्ट से मुक्त नहीं हो सकता। भगवान् की शरण में जाकर और उनकी कृपा प्राप्त करके ही कोई व्यक्ति भौतिक जीवन के कष्टों से छुटकारा पा सकता है।

भवान्हि कारणं तत्र सर्वज्ञो जगदीश्वरः ।
अनुग्रहं निग्रहं वा मन्यसे तद्विधेहि नः ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

भवान्—आप; हि—निश्चय ही; कारणम्—कारण; तत्र—उस मामले में (मोह हटाने में); सर्व-ज्ञः—सबकुछ जाननेवाले; जगत्-ईश्वरः—ब्रह्माण्ड के परम नियन्ता; अनुग्रहम्—कृपा; निग्रहम्—दंड; वा—अथवा; मन्यसे—जो आप उचित समझें; तत्—वह; विधेहि—व्यवस्था करें; नः—हमारे लिए।.

हे ईश्वर, ब्रह्माण्ड के सर्वज्ञ भगवान् होने के कारण आप मोह से छूटने के वास्तविक कारण हैं। कृपा करके आप जो भी उचित समझें, हमारे लिए व्यवस्था करें, चाहे हम पर कृपा करें या दण्ड दें।

श्रीशुक उवाच

इत्याकर्ण्य वचः प्राह भगवान्कार्यमानुषः ।
नात्र स्थेयं त्वया सर्प समुद्रं याहि मा चिरम् ।
स्वज्ञात्यपत्यदाराढ्यो गोनृभिर्भुज्यते नदी ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; आकर्ण्य—सुनकर; वचः—ये शब्द; प्राह—तब बोले; भगवान्—भगवान्; कार्य-मानुषः—मनुष्य जैसे कार्य करनेवाले; न—नहीं; अत्र—यहाँ; स्थेयम्—ठहरना चाहिए; त्वया—तुमको; सर्प—हे सर्प; समुद्रम्—समुद्र में; याहि—जाओ; मा चिरम्—बिना देरी किये; स्व—अपने; ज्ञाति—साथियों के द्वारा; अपत्य—बच्चे; दार—तथा पत्नी को; आढ्यः—साथ लेकर; गो—गौवों के द्वारा; नृभिः—तथा मनुष्यों द्वारा; भुज्यते—भोगी जाने दो; नदी—यमुना नदी।.

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : कालिय के शब्द सुनकर मनुष्य की भूमिका सम्पन्न कर रहे भगवान् ने उत्तर दिया: हे सर्प, अब तुम और अधिक यहाँ मत रुको। तुरन्त ही अपने बच्चों, पत्नियों, अन्य मित्रों तथा सम्बन्धियों समेत समुद्र में लौट जाओ। अब इस नदी को गौवों तथा मनुष्यों द्वारा भोगी जाने दो।

य एतत्संस्मरेन्मर्त्यस्तुभ्यं मदनुशासनम् ।
कीर्तयन्नुभयोः सन्ध्योर्न युष्मद्भयमाप्नुयात् ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; एतत्—इसे; संस्मरेत्—स्मरण करता है; मर्त्यः—प्राणी; तुभ्यम्—तुमको; मत्—मेरा; अनुशासनम्—आदेश; कीर्तयन्—कीर्तन करते हुए; उभयोः—दोनों; सन्ध्योः—दिन के सन्धिकालों पर; न—नहीं; युष्मत्—तुमसे; भयम्—भय; आप्नुयात्—प्राप्त करता है।.

यदि कोई व्यक्ति तुम्हें दिये गये मेरे इस आदेश का (वृन्दावन छोड़कर समुद्र में जाने का) स्मरण करता है और प्रातः तथा संध्या समय इस कथा को बाँचता है, तो वह तुमसे कभी भयभीत नहीं होगा।

योऽस्मिन्स्नात्वा मदाक्रीडे देवादींस्तर्पयेज्जलैः ।
उपोष्य मां स्मरन्नर्चेत्सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ६२॥

शब्दार्थ

यः—जो; अस्मिन्—इस में (यमुना नदी के कालिय सरोवर में); स्नात्वा—स्नान करके; मत्-आक्रीडे—मेरी लीला के स्थान पर; देव-आदीन्—देवतागण तथा अन्य पूज्य व्यक्ति को; तर्पयेत्—तृप्त करता है; जलैः—(सरोवर के) जल से; उपोष्य—उपवास रखकर; माम्—मुझको; स्मरन्—स्मरण करते हुए; अर्चेत्—पूजा करता है; सर्व-पापैः—सारे पापों से; प्रमुच्यते—छूट जाता है।

यदि कोई व्यक्ति मेरी क्रीड़ा के इस स्थल पर स्नान करता है और इस सरोवर का जल देवताओं तथा अन्य पूज्य पुरुषों को अर्पित करता है अथवा यदि कोई उपवास करता है, मेरी पूजा करता है और मेरा स्मरण करता है, तो वह समस्त पापों से अवश्य छूट जाएगा।

तात्पर्य : आचार्यों के अनुसार, भगवान् ने यह श्लोक कालिय को यह स्पष्ट करने के लिए कहा कि वह किसी भी हालत में यमुना के सरोवर में रह नहीं सकता था। यद्यपि भगवान् ने कृपापूर्वक सर्प को क्षमा दान दे दिया था और उसको अपने सभी साथियों समेत समुद्र में जाने का आदेश दे दिया था, कालिय को भूलकर भी उस सरोवर में रहने की प्रार्थना नहीं करनी चाहिए क्योंकि आध्यात्मिक यात्रियों के लिए इसे अब पवित्र तीर्थ स्थल बनना था।

द्वीपं रमणकं हित्वा ह्रदमेतमुपाश्रितः ।
यद्भयात्स सुपर्णस्त्वां नाद्यान्मत्पादलाञ्छितम् ॥ ६३॥

शब्दार्थ

द्वीपम्—द्वीप को; रमणकम्—रमणक नामक; हित्वा—त्यागकर; ह्रदम्—छोटे सरोवर को; एतम्—इस; उपाश्रितः—शरण लिए हुए; यत्—जिसके; भयात्—भय से; सः—वह; सुपर्णः—गरुड़; त्वाम्—तुम्हें; न अद्यात्—नहीं खायेगा; मत्-पाद—मेरे चरणों से; लाञ्छितम्—अंकित।

तुम गरुड़ के भय से रमणक द्वीप छोड़कर इस सरोवर में शरण लेने आये थे। किन्तु अब तुम्हारे ऊपर मेरे चरणचिन्ह अंकित होने से, गरुड़ तुम्हें खाने का प्रयास कभी नहीं करेगा।

श्रीऋषिरुवाच
मुक्तो भगवता राजन्कृष्णेनाद्भुतकर्मणा ।
तं पूजयामास मुदा नागपत्न्यश्च सादरम् ॥ ६४॥

शब्दार्थ

श्री-ऋषिः उवाच—ऋषि (शुकदेव) ने कहा; मुक्तः—मुक्त; भगवता—भगवान् द्वारा; राजन्—हे राजा परीक्षित; कृष्णेन—कृष्ण के द्वारा; अद्भुत-कर्मणा—अद्भुत कार्यकलाप वाले; तम्—उनकी; पूजयाम् आस—पूजा की; मुदा—हर्षपूर्वक; नाग—सर्प की; पत्न्यः—पत्नियों ने; च—तथा; स-आदरम्—आदरपूर्वक।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : हे राजन्, अद्भुत कार्यकलाप वाले भगवान् कृष्ण के

द्वारा छोड़े जाने पर कालिय नाग ने अपनी पत्नियों का बड़े ही हर्ष तथा आदर के साथ उनकी पूजा करने में साथ दिया।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है : *अद्भुत-कर्मणा* शब्द भगवान् के द्वारा कालिय से वृन्दावनवासियों की रक्षा, गरुड़ से कालिय को बचाना तथा हिंसा करनेवाले और हिंसा किये जानेवाले दोनों पर ही कृपा करना—जैसे अद्भुत कार्यकलापों को इंगित करता है। *कृष्णेन* शब्द ''कृष्ण के द्वारा'' यह सूचित करता है कि क्योंकि कालिय की पत्नियाँ कृष्ण की महान् भक्त थीं और उन्हें अत्यधिक स्नेह प्रदान किया था इसलिए कृष्ण ने भगवद्भक्त गरुड़ के प्रति तथा अपने प्रिय वृन्दावनवासियों के प्रति कालिय द्वारा किये गये अपराधों को वापस ले लिया (कर्षणम्)।

दिव्याम्बरस्रङ्मणिभि: परार्ध्यैरपि भूषणै: ।
दिव्यगन्धानुलेपैश्च महत्योत्पलमालया ।
पूजयित्वा जगन्नाथं प्रसाद्य गरुडध्वजम् ॥ ६५ ॥
तत: प्रीतोऽभ्यनुज्ञात: परिक्रम्याभिवन्द्य तम् ।
सकलत्रसुहृत्पुत्रो द्वीपमब्धेर्जगाम ह ॥ ६६ ॥
तदैव सामृतजला यमुना निर्विषाभवत् ।
अनुग्रहाद्भगवत: क्रीडामानुषरूपिण: ॥ ६७ ॥

शब्दार्थ

दिव्य—दैवी; अम्बर—वस्त्र; स्रक्—माला; मणिभि:—तथा मणियों से; पर-अर्ध्यै:—अत्यन्त मूल्यवान; अपि—भी; भूषणै:—आभूषणों से; दिव्य—दैवी; गन्ध—सुगन्धि; अनुलेपै:—तथा लेप से; च—तथा; महत्या—सुन्दर; उत्पल—कमल की; मालया—माला से; पूजयित्वा—पूजकर; जगत्-नाथम्—जगत के स्वामी को; प्रसाद्य—तुष्ट करके; गरुड-ध्वजम्—जिसकी ध्वजा में गरुड़ चिह्न अंकित है, उसे; तत:—तब; प्रीत:—सुख का अनुभव करते हुए; अभ्यनुज्ञात:—जाने की अनुमति दिया जाकर; परिक्रम्य—परिक्रमा करके; अभिवन्द्य—नमस्कार करके; तम्—उन्हें; स—सहित; कलत्र—अपनी पत्नी; सुहृत्—मित्रगण; पुत्र:—तथा बच्चे; द्वीपम्—द्वीप को; अब्धे:—समुद्र में; जगाम—चला गया; ह—निस्सन्देह; तदा एव—उसी क्षण; स-अमृत—अमृत तुल्य; जला—जल वाली; यमुना—यमुना नदी; निर्विषा—विष से रहित; अभवत्—हो गई; अनुग्रहात्—कृपा से; भगवत:—भगवान् की; क्रीडा—क्रीड़ाओं के लिए; मानुष—मनुष्य जैसा; रूपिण:—रूप धारण करके।

कालिय ने सुन्दर वस्त्र, मालाएँ, मणियाँ तथा अन्य मूल्यवान आभूषण, दिव्य सुगन्धियाँ तथा लेप और कमलफूलों की बड़ी माला भेंट करते हुए जगत के स्वामी की पूजा की। इस तरह गरुड़-ध्वज भगवान् को प्रसन्न करके कालिय को सन्तोष हुआ। जाने की अनुमति पाकर कालिय ने उनकी परिक्रमा की और उन्हें नमस्कार किया। तब अपनी पत्नियों, मित्रों तथा बच्चों को साथ लेकर वह समुद्र में स्थित अपने द्वीप चला गया। कालिय के जाते ही यमुना नदी अपने

मूल रूप में, विष से विहीन तथा अमृतोपम जल से पूर्ण हो गई। यह सब उन भगवान् की कृपा से सम्पन्न हुआ जो अपनी लीलाओं का आनन्द मनाने के लिए मनुष्य के रूप में प्रकट हुए थे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक की विशद टीका की है। *मणिभि:* शब्द की व्याख्या करने के लिए आचार्य ने रूप गोस्वामी कृत *श्री राधा-कृष्ण गणोद्देश दीपिका* से निम्नलिखित उद्धरण दिया है—

कौस्तुभाख्यो मणिर्येन प्रविश्य ह्रदमौरगम्।

कालियप्रेयसिवृन्दहस्तैरात्मोपहारित: ॥

"भगवान् ने अपनी कौस्तुभ मणि को सर्प के सरोवर में प्रविष्ट करा दिया था और फिर कालिय की पत्नियों से उसे स्वयं को अर्पित कराया था।" दूसरे शब्दों में, चूँकि भगवान् कृष्ण सामान्य व्यक्ति का सा आचरण करना चाहते थे अतएव उन्होंने दिव्य कौस्तुभ मणि को अदृश्य करके कालिय के कोष में प्रविष्ट करा दिया। तत्पश्चात् जब अनेक मणियों तथा आभूषणों से कालिय द्वारा पूजा करने का उचित समय आया तो भगवान् की दिव्य चालाकी से अनजान सर्प की पत्नियों ने वह कौस्तुभ मणि यह सोचकर कि यह उनके पास रखी एक सामान्य मणि है भगवान् को भेंट कर दी।

आचार्य ने यह भी टीका की है कि भगवान् कृष्ण को *गरुड़ध्वज* (वे जिनकी पताका उनके वाहन गरुड़ के निशान से अंकित है) इसलिए कहा गया है कि कालिय भी कृष्ण का वाहन बनना चाह रहा था। गरुड़ तथा सर्पगण मूलत: भाई भाई हैं अत: कालिय कृष्ण को यह बतलाना चाह रहा था "यदि आप कहीं दूर जाना चाहें तो मुझे भी अपना निजी वाहन मानें। मैं आपके दास का दास हूँ और पलक झपकते ही मैं करोड़ों योजन की यात्रा कर सकता हूँ।" इस तरह पुराणों में बतलाया गया है कि भगवान् कृष्ण अपनी शाश्वत लीलाओं के चक्र में, जब कंस उन्हें मथुरा आने का आदेश देते हैं, तो वे कभी कभी कालिय पर सवार होकर जाते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत "कृष्ण द्वारा कालिय नाग को प्रताड़ना" नामक सोलहवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सत्रह

कालिय का इतिहास

इस अध्याय में बतलाया गया है कि कालिय ने किस तरह सर्पों के द्वीप को छोड़ा था और सोए हुए वृन्दावनवासी किस तरह जंगल की आग से बचाये गये थे।

जब राजा परीक्षित ने कालिय द्वारा सर्पों के निवास रमणक द्वीप को छोड़ने तथा गरुड़ द्वारा उसके प्रति शत्रुभाव प्रदर्शित किये जाने के बारे में पूछा तो श्री शुकदेव गोस्वामी ने इस प्रकार उत्तर दिया: उस द्वीप के सारे सर्प भयभीत थे कि कहीं गरुड़ उन्हें निगल न जाय। उसे प्रसन्न करने के लिए वे प्रति मास एक वटवृक्ष के नीचे भाँति भाँति की भेंटें चढ़ा आते थे। किन्तु कालिय मिथ्या अभिमानवश इन भेंटों को स्वयं खा जाता था। यह सुनकर गरुड़ अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा और कालिय को मारने चल पड़ा तो इस सर्प ने विराट पक्षी गरुड़ को डँसना शुरू कर दिया। गरुड़ ने प्रचण्डतापूर्वक अपने पंख से उसे मारा जिससे कालिय अपनी जान बचाने के लिए यमुना नदी के सरोवर में भाग आया।

इस घटना के पूर्व गरुड़ एक बार यमुना नदी में आया था और मछलियाँ खाने लगा था। सौभरि ऋषि ने उसे रोकना चाहा किन्तु भूख का मारा गरुड़ ऋषि के निषेध को नहीं मान पाया अत: ऋषि ने उसे शाप दे दिया था कि यदि वह दुबारा वहाँ आया तो तुरन्त मर जायेगा। कालिय ने यह सुन लिया था इसलिए वह वहाँ निड़र होकर रहता था। किन्तु अन्त में कृष्ण ने उसे भगा दिया।

जब बलराम तथा वृन्दावन के सारे वासियों ने श्रीकृष्ण को विभिन्न प्रकार के मणियों तथा आभूषणों से अलंकृत होकर उस सरोवर से ऊपर निकलते देखा तो हर्ष से उन्होंने उनका आलिंगन किया। तब आध्यात्मिक गुरुओं, पुरोहितों तथा विद्वान ब्राह्मणों ने ग्वालों के राजा नन्द महाराज को बतलाया कि यद्यपि उनके पुत्र को कालिय ने अपने चंगुल में पकड़ रखा था किन्तु राजा के भाग्य से अब वह पुन: मुक्त हो चुका है।

चूँकि वृन्दावन के निवासी भूख, प्यास तथा थकावट के कारण त्रस्त थे अतएव उन्होंने वह रात यमुना के तट पर ही बिताई। अर्धरात्रि के समय जंगल में अग्नि भड़क उठी क्योंकि ग्रीष्मऋतु में यह जंगल सूख गया था। जब सोते हुए वृन्दावनवासियों को आग ने घेर लिया तो वे सहसा जगे और रक्षा के लिए कृष्ण की ओर दौंड़े। तब असीम बलशाली श्रीकृष्ण अपने प्रिय सम्बन्धियों तथा मित्रों को इस तरह पीड़ित देख तुरन्त ही उस दावाग्नि को पी गये।

श्रीराजोवाच

नागालयं रमणकं कथं तत्याज कालियः ।
कृतं किं वा सुपर्णस्य तेनैकेनासमञ्जसम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; नाग—सर्पों का; आलयम्—वासस्थान; रमणकम्—रमणक नामक द्वीप; कथम्—क्यों; तत्याज—त्याग दिया; कालियः—कालिय ने; कृतम्—वाध्य किया गया; किम् वा—तथा क्यों; सुपर्णस्य—गरुड़ की; तेन—उससे, कालिय से; एकेन—अकेले; असमञ्जसम्—शत्रुता।

[इस प्रकार कृष्ण ने कालिय की प्रताड़ना की उसे सुनकर] राजा परीक्षित ने पूछा: कालिय ने सर्पों के निवास रमणक द्वीप को क्यों छोड़ा और गरुड़ उसीका से इतना विरोधी क्यों बन गया?

श्रीशुक उवाच

उपहार्यैः सर्पजनैर्मासि मासीह यो बलिः
वानस्पत्यो महाबाहो नागानां प्राङ्निरूपितः ।
स्वं स्वं भागं प्रयच्छन्ति नागाः पर्वणि पर्वणि
गोपीथायात्मनः सर्वे सुपर्णाय महात्मने ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; उपहार्यैः—भेंट पाने के पात्र; सर्प-जनैः—सर्प जाति के द्वारा; मासि मासि—हर महीने; इह—यहाँ (नागालय में); यः—जो; बलिः—भेंट; वानस्पत्यः—वृक्ष के नीचे; महा-बाहो—हे बलिष्ट भुजाओं वाले परीक्षित; नागानाम्—सर्पों के लिए; प्राक्—पहले से; निरूपितः—निश्चित; स्वम् स्वम्—अपना अपना; भागम्—अंश; प्रयच्छन्ति—भेंट करते; नागाः—सर्पगण; पर्वणि पर्वणि—मास में एक बार; गोपीथाय—रक्षा हेतु; आत्मनः—अपनी अपनी; सर्वे—सभी; सुपर्णाय—गरुड़ को; महा-आत्मने—बलशाली।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : गरुड़ द्वारा खाये जाने से बचने के लिए सर्पों ने पहले से उससे यह समझौता कर रखा था कि उनमें से हर सर्प मास में एक बार अपनी भेंट लाकर वृक्ष के नीचे रख जाया करेगा। इस तरह हे महाबाहु परीक्षित, प्रत्येक मास हर सर्प अपनी रक्षा के मूल्य के रूप में विष्णु के शक्तिशाली वाहन को अपनी भेंट चड़ाया जाया करता था।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने इस श्लोक की एक दूसरी भी व्याख्या दी है। *उपहार्यैं* शब्द का एक दूसरा अर्थ भी किया जा सकता है ''जिन्हें खाया जाना है उनके द्वारा।'' इसी तरह *सर्प-जनै* का अर्थ है ''वे मनुष्य जो सर्प जाति के अधीन थे या उससे सम्बन्धित थे।'' इस पाठ के अनुसार, मनुष्यों का एक समुदाय सर्पों के अधीन हो गया था और उनके द्वारा खाये जा सकते थे। इससे बचने के लिए ये लोग सर्पों को मासिक भेंट चढ़ाते थे जिसमें से एक अंश वे गरुड़ को देते थे ताकि वह उन्हें न खा

जाय। यहाँ जो विशेष अर्थ प्रस्तुत किया गया है, वह श्रील सनातन गोस्वामी की टीका तथा श्रील प्रभुपाद द्वारा 'भगवान् कृष्ण' नामक ग्रन्थ के पर आधारित है। हर हालत में, सारे आचार्यों में मतैक्य है कि सर्पों ने गरुड़ से सुरक्षा मोल ले रखी थी।

विषवीर्यमदाविष्टः काद्रवेयस्तु कालियः ।
कदर्थीकृत्य गरुडं स्वयं तं बुभुजे बलिम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

विष—विष; वीर्य—तथा शक्ति के कारण; मद—नशे में; आविष्टः—लीन; काद्रवेयः—कद्रु का पुत्र; तु—दूसरी ओर; कालियः—कालिय; कदर्थी-कृत्य—अवहेलना करके; गरुडम्—गरुड़ की; स्वयम्—खुद; तम्—उस; बुभुजे—खाता था; बलिम्—भेंट को।

यद्यपि अन्य सभी सर्पगण ईमानदारी से गरुड़ को भेंट दे जाया करते थे किन्तु एक सर्प, कद्रु-पुत्र अभिमानी कालिय, इन सभी भेंटों को गरुड़ के पाने से पहले ही खा जाया करता था। इस तरह कालिय भगवान् विष्णु के वाहन का प्रत्यक्ष अनादर करता था।

तच्छ्रुत्वा कुपितो राजन्भगवान्भगवत्प्रियः ।
विजिघांसुर्महावेगः कालियं समपाद्रवत् ॥ ५॥

शब्दार्थ

तत्—वह; श्रुत्वा—सुनकर; कुपितः—क्रुद्ध; राजन्—हे राजा; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली गरुड़; भगवत्-प्रियः—भगवान् का प्रिय भक्त; विजिघांसुः—मारने की इच्छा से; महा-वेगः—फुर्ती से; कालियम्—कालिय की ओर; समुपाद्रवत्—दौड़ा।

हे राजन्, जब भगवान् के अत्यन्त प्रिय, परम शक्तिशाली गरुड़ ने यह सुना तो वह क्रुद्ध हो उठा। वह कालिय को मार डालने के लिए उसकी ओर तेजी से झपटा।

तात्पर्य : श्रील सनातन गोस्वामी बतलाते हैं कि महावेग शब्द इस बात का सूचक है कि गरुड़ की अत्यधिक गति को कोई नहीं रोक सकता।

तमापतन्तं तरसा विषायुधः
प्रत्यभ्ययादुत्थितनैकमस्तकः ।
दद्भिः सुपर्णं व्यदशद्ददायुधः
करालजिह्वोच्छ्वसितोग्रलोचनः ॥ ६॥

शब्दार्थ

तम्—उसपर; आपतन्तम्—आक्रमण करता हुआ गरुड़; तरसा—तेजी से; विष—विषैले; आयुधः—हथियार लिये हुए; प्रति—की ओर; अभ्ययात्—दौड़ा; उत्थित—उठाया; न एक—अनेक; मस्तकः—अपने सिर; दद्भिः—विषैले दाँतों से; सुपर्णम्—

गरुड़ को; व्यदशत्—काट लिया; दत्-आयुधः—दाँतरूपी हथियारों से; कराल—भयावनी; जिह्वा—जीभ; उच्छ्वसित—फैला दिया; उग्र—तथा भीषण; लोचनः—आँखें।

ज्योंही गरुड़ तेजी से कालिय पर झपटा त्योंही विष के हथियार से लैस उसने वार करने के लिए अपने अनेक सिर उठा लिये। अपनी भयावनी जीभें दिखलाते और अपनी उग्र आँखें फैलाते हुए उसने अपने विष-दत्त हथियारों से गरुड़ को काट लिया।

तात्पर्य : आचार्यों का कहना है कि कालिय ने विष वमन करके शत्रु पर विष आयुध का इस्तेमाल दूर से और अपने भयावने दाँतों से डसकर निकट से किया।

तं तार्क्ष्यपुत्रः स निरस्य मन्युमान्
प्रचण्डवेगो मधुसूदनासनः ।
पक्षेण सव्येन हिरण्यरोचिषा
जघान कद्रुसुतमुग्रविक्रमः ॥ ७॥

शब्दार्थ

तम्—उस कालिय को; तार्क्ष्य-पुत्रः—कश्यप का पुत्र; सः—वह गरुड़; निरस्य—झटककर; मन्यु-मान्—क्रोध से भरा; प्रचण्ड-वेगः—अत्यन्त तेजी से, गति करते हुए; मधुसूदन-आसनः—मधुसूदन कृष्ण का वाहन; पक्षेण—अपने पंख से; सव्येन—बाएँ; हिरण्य—स्वर्ण जैसे; रोचिषा—तेज वाले; जघान—वार किया; कद्रु-सुतम्—कद्रु-पुत्र (कालिय) पर; उग्र—प्रचणड; विक्रमः—पराक्रम।

तार्क्ष्य का क्रुद्ध पुत्र कालिय के वार को पीछे धकेलने के लिए प्रचंड वेग से आगे बढ़ा। उस अत्यन्त शक्तिशाली भगवान् मधुसूदन के वाहन ने कद्रु के पुत्र पर अपने स्वर्ण जैसे चमकीले बाएँ पंख से प्रहार किया।

सुपर्णपक्षाभिहतः कालियोऽतीव विह्वलः ।
ह्रदं विवेश कालिन्द्यास्तदगम्यं दुरासदम् ॥ ८॥

शब्दार्थ

सुपर्ण—सुपर्ण के; पक्ष—पंख से; अभिहतः—चोट खाकर; कालियः—कालिय; अतीव—अत्यधिक; विह्वलः—बेचैन; ह्रदम्—सरोवर में; विवेश—घुस गया; कालिन्द्याः—यमुना नदी के; तत्-अगम्यम्—गरुड़ द्वारा थाह पा सकने में अक्षम; दुरासदम्—घुसने में कठिन।

गरुड़ के पंख की चोट खाने से कालिय अत्यधिक बेचैन हो उठा अतः उसने यमुना नदी के निकटस्थ सरोवर में शरण ले ली। गरुड़ इस सरोवर में नहीं घुस सका। निस्सन्देह, वह वहाँ तक पहुँच भी नहीं सका।

तत्रैकदा जलचरं गरुडो भक्ष्यमीप्सितम् ।
निवारितः सौभरिणा प्रसह्य क्षुधितोऽहरत् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ (उस सरोवर में); एकदा—एक बार; जल-चरम्—जल के प्राणी को; गरुडः—गरुड़ ने; भक्ष्यम्—अपना खाद्य; ईप्सितम्—इच्छा की; निवारितः—मना किया गया; सौभरिणा—सौभर मुनि द्वारा; प्रसह्य—साहस करके; क्षुधितः—भूखा; अहरत्—खा लिया।

उसी सरोवर में गरुड़ ने एक बार एक मछली को, जो कि उसका सामान्य भक्ष्य है, खाना चाहा। जल के भीतर ध्यानमग्न सौभरि मुनि के मना करने पर भी गरुड़ ने साहस किया और भूखा होने के कारण उस मछली को पकड़ लिया।

तात्पर्य : अब शुकदेव गोस्वामी बता रहे हैं कि गरुड़ यमुना नदी के उस सरोवर तक क्यों नहीं पहुँच सका। मछलियों को खाना पक्षियों का स्वभाव है, अतः यदि गरुड़ भगवान् की व्यवस्था के फलस्वरूप मछली खाकर अपना जीवन निर्वाह करता है, तो वह कोई अपराध नहीं करता। किन्तु सौभरि मुनि द्वारा एक महानतर प्राणी को अपनी भोज्य वस्तु खाने से मना किया जाना एक अपराध बन जाता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार सौभरि ने दो अपराध किये—एक तो यह कि उन्होंने गरुड़ जैसे उच्च महात्मा को आदेश देने का साहस दिखलाया और दूसरा यह कि उन्होंने गरुड़ को उसकी इच्छा तृप्त करने से रोका।

मीनान्सुदुःखितान्दृष्ट्वा दीनान्मीनपतौ हते ।
कृपया सौभरिः प्राह तत्रत्यक्षेममाचरन् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

मीनान्—मछलियों को; सु-दुःखितान्—अत्यन्त दुखी; दृष्ट्वा—देखकर; दीनान्—दीन; मीन-पतौ—मछलियों का राजा; हते—मारे जाने से; कृपया—कृपावश; सौभरिः—सौभरि; प्राह—बोला; तत्रत्य—वहाँ पर रह रहे; क्षेमम्—कुशलता; आचरन्—आचरण करते हुए।

उस सरोवर की अभागिनी मछलियों को अपने स्वामी की मृत्यु के कारण अत्यन्त दुखी देखकर सौभरि मुनि ने इस आशय से शाप दे दिया कि वे उस सरोवर के रहनेवालों के कल्याण हेतु कृपापूर्ण कर्म कर रहे हैं।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि जब हमारी तथाकथित दया भगवान् के आदेश से मेल नहीं खाती तो उससे केवल उत्पात मचता है। चूँकि सौभरि ने उस सरोवर में आने से गरुड़ को मना किया था अतएव कालिय उसमें घुस गया और उसने उसे अपना आवास बना

लिया। इस तरह सरोवर के सभी निवासियों पर शाप आ गिरा।

अत्र प्रविश्य गरुडो यदि मत्स्यान्स खादति ।
सद्यः प्राणैर्वियुज्येत सत्यमेतद्ब्रवीम्यहम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अत्र—इस सरोवर में; प्रविश्य—घुसकर; गरुडः—गरुड़; यदि—यदि; मत्स्यान्—मछलियों को; सः—वह; खादति—खाता है; सद्यः—तुरन्त; प्राणैः—प्राणों से; वियुज्येत—हाथ धोना पड़ता; सत्यम्—सही सही; एतत्—यह; ब्रवीमि—कह रहा हूँ; अहम्—मैं।

''यदि गरुड़ ने फिर कभी इस सरोवर में घुसकर मछलियाँ खाईं तो वह तुरन्त अपने प्राणों से हाथ धो बैठेगा। मैं जो कह रहा हूँ वह सत्य है।''

तात्पर्य : इस प्रसंग में आचार्यों की व्याख्या यह है कि सौभरि मुनि ने मछली के प्रति भौतिक अनुरक्ति एवं स्नेह के कारण, स्थिति पर आध्यात्मिक दृष्टि से विचार नहीं किया। *श्रीमद्भागवत* के नवें स्कंध में इसी अपराध के कारण उनका पतन दिखलाया गया है। मिथ्या दम्भ के कारण सौभरि मुनि की तपोशक्ति जाती रही और इसी के साथ उनका आध्यात्मिक सौन्दर्य तथा सुख भी। जब गरुड़ यमुना नदी में आया तो सौभरि मुनि ने सोचा, ''वह भले ही भगवान् का निजी पार्षद क्यों न हो मैं उसे शाप देकर रहूँगा और यदि मेरे आदेश का पालन नहीं करेगा तो मार भी डालूँगा।'' किसी प्रतिष्ठित वैष्णव के विरुद्ध ऐसा आक्रामक रवैया जीवन में किसी के भी पवित्र पद को निस्सन्देह विनष्ट कर देगा।

नवें स्कन्ध में बतलाया गया है कि सौभरि मुनि ने अनेक सुन्दर स्त्रियों से विवाह किया और उनकी संगति से भारी कष्ट सहे। किन्तु चूँकि उन्होंने वृन्दावन में यमुना की शरण ले रखी थी इसलिए उन्हें ख्याति प्राप्त हो गई और अन्त में उनका उद्धार हो गया।

तत्कालियः परं वेद नान्यः कश्चन लेलिहः ।
अवात्सीद्गरुडाद्भीतः कृष्णेन च विवासितः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तम्—वह; कालियः—कालिय; परम्—एकमात्र; वेद—जानता था; न—नहीं; अन्यः—दूसरा; कश्चन—कोई; लेलिहः—सर्प; अवात्सीत्—रहता था; गरुडात्—गरुड़ से; भीतः—भयभीत; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; च—तथा; विवासितः—निकाला गया।

सारे सर्पों में केवल कालिय ही इस बात को जानता था और गरुड़ के भय से उसने यमुना के सरोवर में अपना निवास बना रखा था। बाद में कृष्ण ने उसे निकाल भगाया।

कृष्णं ह्रदाद्विनिष्क्रान्तं दिव्यस्रग्गन्धवाससम् ।
महामणिगणाकीर्णं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ॥ १३ ॥

उपलभ्योत्थिताः सर्वे लब्धप्राणा इवासवः ।
प्रमोदनिभृतात्मानो गोपाः प्रीत्याभिरेभिरे ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

कृष्णम्—कृष्ण को; ह्रदात्—सरोवर से बाहर; विनिष्क्रान्तम्—निकलकर; दिव्य—दिव्य; स्रक्—मालाएँ पहने; गन्ध—सुगन्धि; वाससम्—तथा वस्त्र; महा-मणि-गण—अनेक सुन्दर मणियों से; आकीर्णम्—ढका हुआ; जाम्बूनद—सोने से; परिष्कृतम्—अलंकृत; उपलभ्य—देखकर; उत्थिताः—ऊपर उठते; सर्वे—सभी लोग; लब्ध-प्राणाः—जिन्हें प्राण मिल गये हों; इव—सदृश; असवः—इन्द्रियाँ; प्रमोद—हर्षपूर्वक; निभृत-आत्मानः—पूरित होकर; गोपाः—ग्वालों ने; प्रीत्या—स्नेहपूर्वक; अभिरेभिरे—उनका आलिंगन किया।

[कृष्ण द्वारा कालिय की प्रताड़ना का वर्णन फिर से प्रारम्भ करते हुए शुकदेव गोस्वामी ने कहा]: कृष्ण दिव्य मालाएँ, सुगन्धियाँ तथा वस्त्र धारण किये, अनेक उत्तम मणियों से आच्छादित एवं स्वर्ण से अलंकृत होकर उस सरोवर से ऊपर उठे। जब ग्वालों ने उन्हें देखा तो वे सब तुरन्त उठ खड़े हो गये मानों किसी मूर्छित व्यक्ति की इन्द्रियाँ पुनः जीवित हो उठी हों। उन्होंने अतीव हर्ष से सराबोर होकर स्नेहपूर्वक उनको गले लगा लिया।

यशोदा रोहिणी नन्दो गोप्यो गोपाश्च कौरव ।
कृष्णं समेत्य लब्धेहा आसन्शुष्का नगा अपि ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यशोदा रोहिणी नन्दः—यशोदा, रोहिणी तथा नन्द महाराज; गोप्यः—गोपियाँ; गोपाः—ग्वाले; च—तथा; कौरव—हे कुरुवंशी परीक्षित; कृष्णम्—कृष्ण से; समेत्य—मिलकर; लब्ध—फिर से प्राप्त करके; ईहाः—चेतना; आसन्—हो गये; शुष्काः—सूखे हुए; नगाः—वृक्ष; अपि—भी।

अपनी जीवनदायी चेतनाएँ वापस पाकर यशोदा, रोहिणी, नन्द तथा अन्य सारी गोपियाँ एवं ग्वाले कृष्ण के समीप पहुँच गये। हे कुरुवंशी, ऐसे में सूखे वृक्ष भी सजीव हो उठे।

रामश्चाच्युतमालिङ्ग्य जहासास्यानुभाववित् ।
प्रेम्णा तमङ्कमारोप्य पुनः पुनरुदैक्षत ।
गावो वृषा वत्सतर्यो लेभिरे परमां मुदम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

रामः—बलराम; च—तथा; अच्युतम्—अच्युत, भगवान् कृष्ण को; आलिङ्ग्य—आलिंगन करके; जहास—हँसे; अस्य—उनका; अनुभाव-वित्—सर्वशक्ति को जानते हुए; प्रेम्णा—प्रेमवश; तम्—उनको; अङ्कम्—अपनी गोद में; आरोप्य—उठाकर; पुनः पुनः—फिर फिर; उदैक्षत—देखा-भाला; गावः—गौवों; वृषाः—साँडों; वत्सतर्यः—बछियों ने; लेभिरे—प्राप्त किया; परमाम्—परम; मुदम्—आनन्द।

भगवान् बलराम ने अपने अच्युत भाई का आलिंगन किया और कृष्ण की शक्ति को अच्छी

तरह जानते हुए हँसने लगे। अत्यधिक प्रेमभाव के कारण बलराम ने कृष्ण को अपनी गोद में उठा लिया और बारम्बार उनकी ओर देखा। गौवों, साँडों तथा बछियों को भी परम आनन्द प्राप्त हुआ।

नन्दं विप्राः समागत्य गुरवः सकलत्रकाः ।
ऊचुस्ते कालियग्रस्तो दिष्ट्या मुक्तस्तवात्मजः ॥ १७॥

शब्दार्थ

नन्दम्—नन्द महाराज को; विप्राः—सारे ब्राह्मण; समागत्य—आकर; गुरवः—गरुजन; स-कलत्रकाः—अपनी अपनी पत्नियों समेत; ऊचुः—कहा; ते—वे; कालिय-ग्रस्तः—कालिय द्वारा पकड़ा हुआ; दिष्ट्या—दैव से; मुक्तः—छोड़ा गया; तव—तुम्हारा; आत्म-जः—पुत्र।

सारे गुरुजन ब्राह्मण अपनी पत्नियों सहित नन्द महाराज को बधाई देने आये। उन्होंने उनसे कहा, ''तुम्हारा पुत्र कालिय के चंगुल में था किन्तु दैवकृपा से अब वह छूट आया है।''

देहि दानं द्विजातीनां कृष्णनिर्मुक्तिहेतवे ।
नन्दः प्रीतमना राजन्गाः सुवर्णं तदादिशत् ॥ १८॥

शब्दार्थ

देहि—दीजिये; दानम्—दान; द्वि-जातीनाम्—ब्राह्मणों को; कृष्ण-निर्मुक्ति—कृष्ण की रक्षा; हेतवे—हेतु; नन्दः—नन्द महाराज ने; प्रीत-मनाः—प्रसन्न मन से; राजन्—हे राजा परीक्षित; गाः—गौवें; सुवर्णम्—सोना; तदा—तब; आदिशत्—दिया।

तब, ब्राह्मणों ने नन्द महाराज को सलाह दी, ''तुम्हारा पुत्र कृष्ण सदैव संकट से मुक्त रहे, इससे आश्वस्त रहने के लिए तुम्हें चाहिए कि ब्राह्मणों को दान दो।'' हे राजन्, तब प्रसन्नचित्त नन्द महाराज ने हर्षपूर्वक उन्हें गौवों तथा स्वर्ण की भेंटें दीं।

यशोदापि महाभागा नष्टलब्धप्रजा सती ।
परिष्वज्याङ्कमारोप्य मुमोचाश्रुकलां मुहुः ॥ १९॥

शब्दार्थ

यशोदा—माता यशोदा; अपि—तथा; महा-भागा—परम भाग्यशालिनी; नष्ट—खोकर; लब्ध—पुनः पाकर; प्रजा—अपना पुत्र; सती—साध्वी स्त्री; परिष्वज्य—आलिंगन करके; अङ्कम्—गोद में; आरोप्य—उठाकर; मुमोच—टपकाया; अश्रु—आसुँओं की; कलाम्—झड़ी; मुहुः—बारम्बार।

परम भाग्यशालिनी माता यशोदा ने अपने खोये हुए पुत्र को फिर से पाकर उसे अपनी गोद में ले लिया। उनको बारम्बार गले लगाते हुए उस साध्वी ने आँसुओं की झड़ी लगा दी।

तां रात्रिं तत्र राजेन्द्र क्षुत्तृड्भ्यां श्रमकर्षिताः ।
ऊषुर्व्रयौकसो गावः कालिन्द्या उपकूलतः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

ताम्—उस; रात्रिम्—रात्रि में; तत्र—वहाँ; राज-इन्द्र—हे राजाओं में श्रेष्ठ; क्षुत्-तृड्भ्याम्—भूख तथा प्यास से; श्रम—थकान से; कर्षिताः—निर्बल हुए; ऊषुः—रहे आये; व्रज-ओकसः—वृन्दावन के लोग; गावः—तथा गौवें; कालिन्द्याः—यमुना नदी के; उपकूलतः—तट के निकट।

हे नृपश्रेष्ठ (परीक्षित), चूँकि वृन्दावन के निवासी भूख, प्यास तथा थकान के कारण अत्यन्त निर्बल हो रहे थे अतः उन्होंने तथा गौवों ने कालिन्दी के तट के निकट ही लेटकर वहीं रात बिताई।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने संकेत किया है कि यद्यपि लोग भूख तथा प्यास से निर्बल हो गये थे किन्तु वहाँ पर उपस्थित गौवों का दूध उन्होंने नहीं पिया क्योंकि उन्हें भय था कि उनका दूध सर्प के विष से दूषित न हो गया हो। वृन्दावनवासी अपने प्रिय कृष्ण को वापस पाकर इतने अधिक प्रसन्न थे कि वे अपने अपने घरों को जाना नहीं चाह रहे थे। वे कृष्ण के साथ यमुना तट पर ही ठहरना चाहते थे जिससे वे उन्हें लगातार देख सकें। इसीलिए उन्होंने नदी के तट के निकट विश्राम करने का निश्चय किया।

तदा शुचिवनोद्भूतो दावाग्निः सर्वतो व्रजम् ।
सुप्तं निशीथ आवृत्य प्रदग्धुमुपचक्रमे ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तदा—तभी; शुचि—ग्रीष्मकालीन; वन—जंगल में; उद्भूतः—उत्पन्न; दाव-अग्निः—ज्वाला; सर्वतः—सारी दिशाओं में; व्रजम्—वृन्दावन के लोगों को; सुप्तम्—सोये हुए; निशीथे—अर्धरात्रि में; आवृत्य—घेरकर; प्रदग्धुम्—जलाने; उपचक्रमे—लगी।

रात्रि में जब वृन्दावन के सभी लोग सोये हुए थे तो सूखे ग्रीष्मकालीन जंगल में भीषण आग भड़क उठी। इस आग ने चारों ओर से व्रजवासियों को घेर लिया और उन्हें झुलसाने लगी।

तात्पर्य : श्रील सनातन गोस्वामी तथा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने टीका की है कि कदाचित् कालिय के किसी विश्वसनीय मित्र ने अपने मित्र का बदला लेने के लिए दावाग्नि का रूप धारण कर लिया था या फिर कंस के किसी अनुयायी असुर ने वह आग लगाई होगी।

तत उत्थाय सम्भ्रान्ता दह्यमाना व्रजौकसः ।
कृष्णं ययुस्ते शरणं मायामनुजमीश्वरम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; उत्थाय—जगकर; सम्भ्रान्ताः—विक्षुब्ध; दह्यमानाः—जलने जा रहे; व्रज-ओकसः—व्रज के लोग; कृष्णम्—कृष्ण के पास; ययुः—गये; ते—वे; शरणम्—शरण के लिए; माया—अपनी शक्ति से; मनुजम्—मनुष्य की भाँति प्रकट होनेवाले; ईश्वरम्—ईश्वर को।

तब उन्हें जलाने जा रही विशाल अग्नि से अत्यधिक विचलित होकर वृन्दावनवासी जग पड़े। उन्होंने दौड़कर भगवान् कृष्ण की शरण ली जो आध्यात्मिक शक्ति से सामान्य मनुष्य के रूप में प्रकट हुए थे।

तात्पर्य : श्रुति या वैदिक मंत्र कहते हैं—*स्वरूपभूतया नित्य-शक्त्या मायाख्यया*—भगवान् की शाश्वत शक्ति जिसका नाम माया है उनके आदि रूप में निहित है। इस तरह भगवान् के शाश्वत आध्यात्मिक शरीर में असीम शक्ति रहती है, जो परम सत्य की सर्वज्ञ इच्छा के अनुसार सारे जगत का बिना प्रयास संचालन करती है। वृन्दावनवासियों ने यह सोचते हुए कृष्ण की शरण ली कि यह वरप्राप्त बालक अवश्य ही हमें बचाने के लिए ईश्वर द्वारा शक्तिप्रदत्त होगा। उन्होंने कृष्ण के जन्मदिवस पर गर्गमुनि द्वारा कहे गये वचनों का स्मरण किया—*अनेन सर्वदुर्गाणि यूयम् अञ्जस्तरिष्यथ*—उनके बल पर आप सारे अवरोधों को पार कर सकेंगे (भागवत १०.८.१६)। इसलिए कृष्ण पर पूर्ण विश्वास रखनेवाले वृन्दावनवासियों ने इस आशा के साथ कृष्ण की शरण ग्रहण की कि वे दावाग्नि से होने वाली बरबादी से बचाये जा सकेंगे।

कृष्ण कृष्ण महाभग हे रामामितविक्रम ।
एष घोरतमो वह्निस्तावकान्ग्रसते हि नः ॥ २३॥

शब्दार्थ

कृष्ण—हे कृष्ण; कृष्ण—हे कृष्ण; महा-भाग—समस्त वैभव के स्वामी; हे राम—हे बलराम, हे समस्त आनन्द के स्रोत; अमित-विक्रम—असीम शक्तिवाले; एषः—यह; घोर-तमः—अत्यन्त भयानक; वह्निः—अग्नि; तावकान्—आपके लोगों को; ग्रसते—निगले जा रही है; हि—निस्सन्देह; नः—हमको।

[वृन्दावन वासियों ने कहा] हे कृष्ण, हे कृष्ण, हे समस्त वैभव के स्वामी, हे असीम शक्ति के स्वामी राम, यह अत्यन्त भयानक अग्नि आपके भक्तों को निगल ही जाएगी।

सुदुस्तरान्नः स्वान्पाहि कालाग्नेः सुहृदः प्रभो ।
न शक्नुमस्त्वच्चरणं सन्त्यक्तुमकुतोभयम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

सु-दुस्तरात्—दुर्लंघ्य; नः—हम; स्वान्—अपने भक्तों की; पाहि—रक्षा कीजिये; काल-अग्नेः—कालरूपी अग्नि से; सुहृदः—आपके असली मित्रगण; प्रभो—हे परम स्वामी; न शक्नुमः—हम अक्षम हैं; त्वत्-चरणम्—आपके पाँवों को; सन्त्यक्तुम्—छोड़ सकने में; अकुतः-भयम्—सारे भय को भगानेवाले।

हे प्रभु, हम आपके सच्चे मित्र तथा भक्त हैं। कृपा करके आप इस दुर्लंघ्य कालरूपी अग्नि से हमारी रक्षा कीजिये, समस्त भय को भगाने वाले आपके चरणकमलों को हम कभी नहीं त्याग सकते।

तात्पर्य : वृन्दावनवासियों ने कृष्ण से कहा, ''यदि यह भयानक अग्नि हमें परास्त कर देती है, तो हम आपके चरणकमलों से बिछुड़ जायेंगे जो कि हमारे लिए असह्य है। अत: आप हमारी रक्षा करें जिससे हम आपके चरणकमलों की सेवा करते रहें।''

इत्थं स्वजनवैक्लव्यं निरीक्ष्य जगदीश्वरः ।
तमग्निमपिबत्तीव्रमनन्तोऽनन्तशक्तिधृक् ॥ २५॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार से; स्व-जन—अपने ही भक्तों की; वैक्लव्यम्—विकलता; निरीक्ष्य—देखकर; जगत्-ईश्वरः—जगत के स्वामी; तम्—उस; अग्निम्—अग्नि को; अपिबत्—पी लिया; तीव्रम्—भयानक; अनन्तः—अनन्त भगवान् ने; अनन्त-शक्ति-धृक्—असीम शक्ति को धारण करनेवाले।

अपने भक्तों को इतना व्याकुल देखकर जगत के अनन्त स्वामी तथा अनन्त शक्ति को धारण करनेवाले श्रीकृष्ण ने उस भयंकर दावाग्नि को निगल लिया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''कालिय का इतिहास'' नामक सत्रहवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अठारह

भगवान् बलराम द्वारा प्रलम्बासुर का वध

इस अध्याय में प्रलम्बासुर के मारे जाने का वर्णन हुआ है। वृन्दावन में आनन्दमय क्रीड़ा करते समय भगवान् बलदेव प्रलम्बासुर के कन्धों पर चढ़ गये और उसके सिर पर मुष्टिक-प्रहार करके उसका अन्त कर दिया।

कृष्ण तथा बलराम की लीला-भूमि वृन्दावन ग्रीष्मकाल में भी वसन्त ऋतु के सभी गुणों से

सज्जित रहती थी। उस समय बलराम तथा अन्य ग्वालों से घिर कर श्रीकृष्ण नाना प्रकार की क्रीड़ाओं में मग्न हो जाते थे। एक दिन वे जी भर कर नाच रहे थे, गा रहे थे तथा खेल रहे थे। तभी प्रलम्ब नामक असुर ग्वालबाल का वेश बनाकर उनके बीच में घुस आया। सर्वज्ञ श्रीकृष्ण ने उस वेश में उसे पहचान लिया और कैसे उसे मारा जाय इस की योजना बनाते हुए भी उसके साथ मित्र–जैसा बर्ताव करते रहे।

तब कृष्ण ने बलदेव तथा अपने तरुण मित्रों से कहा कि वे पारस्परिक विरोधी टोलियों में बँटकर कोई खेल खेलें। कृष्ण तथा बलराम ने अगुवई करते हुए बालकों को दो टोलियों में बाँट दिया और यह तय किया जो खेल में हारेगा वह जीतने वाले को अपने कंधों पर उठाएगा। इस तरह जब बलराम की टोली के सदस्य श्रीदामा तथा वृषभ जीत गये तो कृष्ण तथा उनकी टोली के एक और बालक ने उन सबों को अपने कंधों पर चढ़ाया। प्रलम्बासुर ने सोचा कि अजेय कृष्ण से टक्कर लेना मुश्किल होगा अत: वह बलराम से भिड़ गया और हार गया। उसने बलराम को अपनी पीठ पर चढ़ा लिया और तेजी से ले जाने लगा किन्तु बलराम सुमेरु पर्वत के समान भारी हो गये और उन्हें ले जाने में असमर्थ होने के कारण उस असुर ने अपना असली रूप प्रचण्ड किया। जब बलराम ने उसके भयानक रूप को देखा तो उन्होंने अपनी मुष्टिका से उसके सिर पर घोर प्रहार किया। इस प्रहार से असुर का सिर उसी प्रकार विदीर्ण हो गया जिस प्रकार इन्द्र के वज्र से पर्वत चूर चूर हो जाते हैं। वह असुर बारम्बार रक्त वमन करता हुआ भूमि पर गिर पड़ा। जब ग्वालबालों ने बलराम को वापस आते देखा तो उन्होंने बधाइयाँ दीं और प्रसन्नतापूर्वक उनका आलिंगन किया तथा देवताओं ने स्वर्ग से पुष्पवर्षा करते हुए उनका यशोगान किया।

श्रीशुक उवाच

अथ कृष्णः परिवृतो ज्ञातिभिर्मुदितात्मभिः ।
अनुगीयमानो न्यविशद्व्रजं गोकुलमण्डितम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—इसके बाद; कृष्णः—कृष्ण; परिवृतः—घिर कर; ज्ञातिभिः—अपने संगियों से; मुदित-आत्मभिः—स्वभाव से प्रसन्न रहने वाले; अनुगीयमानः—यश का गान किया जाता हुआ; न्यविशत्—प्रविष्ट हुए; व्रजम्—व्रज में; गो-कुल—गायों के झुंडों से; मण्डितम्—सुशोभित।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : अपने आनन्द-विभोर साथियों से घिरे हुए, जो निरन्तर उनके

यश का गान कर रहे थे, श्रीकृष्ण व्रज ग्राम में प्रविष्ट हुए जो गौवों के झुंडों से मण्डित था।

व्रजे विक्रीडतोरेवं गोपालच्छद्ममायया ।
ग्रीष्मो नामर्तुरभवन्नातिप्रेयाञ्छरीरिणाम् ॥ २॥

शब्दार्थ

व्रजे—वृन्दावन में; विक्रीडतोः—दोनों के खेलते हुए; एवम्—इस प्रकार; गोपाल—ग्वालबालों का; छद्म—वेश बनाकर; मायया—माया द्वारा; ग्रीष्मः—गर्मी; नाम—नामक; ऋतुः—ऋतु; अभवत्—आ गई; न—नहीं; अति-प्रेयान्—अत्यधिक अनुकूल; शरीरिणाम्—देहधारियों के लिए।

जब कृष्ण तथा बलराम इस तरह से सामान्य ग्वालबालों के वेश में वृन्दावन में जीवन का आनन्द ले रहे थे तो शनै-शनै ग्रीष्म ऋतु आ गई। यह ऋतु देहधारियों को अधिक सुहावनी नहीं लगती।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् श्रीकृष्ण* (भाग १ अध्याय १८) में इस प्रकार टीका की है, ''भारत में ग्रीष्म ऋतु का अधिक स्वागत नहीं होता क्योंकि गर्मी बहुत पड़ती है किन्तु वृन्दावन में हर व्यक्ति प्रसन्न था क्योंकि ग्रीष्म वसन्त के समान लग रही थी।''

स च वृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षितः ।
यत्रास्ते भगवान्साक्षाद्रामेण सह केशवः ॥ ३॥

शब्दार्थ

सः—वह (ग्रीष्म ऋतु); च—फिर भी; वृन्दावन—वृन्दावन के; गुणैः—दिव्य गुणों के कारण; वसन्तः—वसन्त ऋतु; इव—सदृश; लक्षितः—लक्षण प्रकट करती हुई; यत्र—जिसमें (वृन्दावन); आस्ते—रहते हैं; भगवान्—भगवान्; साक्षात्—स्वयं; रामेण सह—बलराम सहित; केशवः—श्रीकृष्ण।

फिर भी चूँकि साक्षात् भगवान् कृष्ण बलराम सहित वृन्दावन में रह रहे थे अतएव ग्रीष्म ऋतु वसन्त के गुण प्रकट कर रही थी। वृन्दावन की भूमि के ऐसे हैं गुण।

यत्र निर्झरनिर्ह्रादनिवृत्तस्वनझिल्लिकम् ।
शश्वत्तच्छीकरर्जीषद्रुममण्डलमण्डितम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

यत्र—जिस (वृन्दावन) में; निर्झर—झरनों की; निर्ह्राद—तीव्र ध्वनि ने; निवृत्त—रोक दिया; स्वन—ध्वनि; झिल्लिकम्—झींगुरों की; शश्वत्—निरन्तर; तत्—उन (झरनों) की; शीकर—जल की बूँदों से; ऋजीष—भीगे; द्रुम—वृक्षों के; मण्डल—समूहों से; मण्डितम्—सुशोभित।

वृन्दावन में झरनों की तीव्र ध्वनि से झींगुरों की झंकार छिप गई और उन झरनों की फुहार से निरन्तर नम रहते हुए वृक्षों के समूहों ने सम्पूर्ण क्षेत्र को मण्डित कर दिया।

तात्पर्य : इस श्लोक में तथा अगले तीन श्लोकों में वृन्दावन में ग्रीष्म ऋतु में भी वसन्त के लक्षण प्रकट होने का वर्णन हुआ है।

सरित्सरःप्रस्रवणोर्मिवायुना
कह्लारकञ्जोत्पलरेणुहारिणा ।
न विद्यते यत्र वनौकसां दवो
निदाघवह्न्यर्कभवोऽतिशाद्वले ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सरित्—नदियों; सरः—झीलों का; प्रस्रवण—धाराओं का (स्पर्श करके); ऊर्मि—तथा लहरें; वायुना—वायु द्वारा; कह्लार-कञ्ज-उत्पल—कह्लार, कंज तथा उत्पल (कमलों) के; रेणु—पराग-कण; हारिणा—ले जाते हुए; न विद्यते—नहीं था; यत्र—जिसमें; वन-ओकसाम्—जंगल के निवासियों के लिए; दवः—तपती धूप; निदाघ—ग्रीष्म ऋतु की; वह्नि—दावाग्नि से; अर्क—तथा सूर्य से; भवः—उत्पन्न; अति-शाद्वले—जहाँ प्रचुर हरी भरी घास थी।

सरोवरों की लहरों तथा बहती हुई नदियों का स्पर्श करती हुई अनेक प्रकार के कमलों तथा कमलिनियों के पराग-कण अपने साथ लेती हुई वायु सम्पूर्ण वृन्दावन को शीतल बनाती थी। इस तरह वहाँ के निवासियों को ग्रीष्म की जलती धूप तथा मौसमी दावाग्नियों से उत्पन्न गर्मी से कष्ट नहीं उठाना पड़ता था। निस्सन्देह वृन्दावन ताजी हरीभरी घास से भरापुरा था।

अगाधतोयह्रदिनीतटोर्मिभि-
र्द्रवत्पुरीष्याः पुलिनैः समन्ततः ।
न यत्र चण्डांशुकरा विषोल्बणा
भुवो रसं शाद्वलितं च गृह्णते ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अगाध—बहुत गहरा; तोय—जल; ह्रदिनी—नदियों के; तट—किनारों पर; ऊर्मिभिः—लहरों से; द्रवत्—द्रवीभूत; पुरीष्याः—कीचड़; पुलिनैः—रेतीले तटों से; समन्ततः—चारों ओर; न—नहीं; यत्र—जिस पर; चण्ड—सूर्य की; अंशु-कराः—किरणें; विष—विष के समान; उल्बणाः—विकराल; भुवः—पृथ्वी पर; रसम्—रस; शाद्वलितम्—हरियाली; च—तथा; गृह्णते—लेती हैं।

गहरी नदियाँ अपनी उठती लहरों से अपने तटों को तर करके उन्हें गीला तथा दलदला बना देती थीं। इस तरह विष की तरह विकराल सूर्य की किरणें न तो पृथ्वी के रस को उड़ा पातीं न इसकी हरी घास को सुखा पातीं।

वनं कुसुमितं श्रीमन्नदच्चित्रमृगद्विजम् ।
गायन्मयूरभ्रमरं कूजत्कोकिलसारसम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

वनम्—जंगल; कुसुमितम्—फूलों से पूर्ण; श्रीमत्—अत्यन्त सुन्दर; नदत्—शोर करते; चित्र—नाना प्रकार के; मृग—पशु; द्विजम्—तथा पक्षियों को; गायन्—गाते हुए; मयूर—मोर; भ्रमरम्—तथा भौंरों को; कूजत्—कुहू कुहू करते; कोकिल—कोयलों; सारसम्—तथा सारसों को।.

फूलों से वृन्दावन बड़े ही सुन्दर ढंग से सजा हुआ था और नाना प्रकार के पशु तथा पक्षी अपनी ध्वनि से उसे पूरित कर रहे थे। मोर तथा भौंरे गा रहे थे और कोयल तथा सारस कुहू कुहू कर रहे थे।

क्रीडिष्यमाणस्तत्कृष्णो भगवान्बलसंयुतः ।
वेणुं विरणयन्गोपैर्गोधनैः संवृतोऽविशत् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

क्रीडिष्यमाणः—क्रीड़ा करने की इच्छा से; तत्—उस (वृन्दावन); कृष्णः—कृष्ण; भगवान्—भगवान्; बल-संयुतः—बलराम के साथ; वेणुम्—अपनी वंशी; विरणयन्—बजाते हुए; गोपैः—ग्वालबालों से; गो-धनैः—गौवों से, जो कि उनकी सम्पति हैं; संवृतः—घिरे हुए; अविशत्—प्रविष्ट हुए।.

क्रीड़ा करने की इच्छा से, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण ग्वालबालों भगवान् बलराम सहित तथा गौवों से घिर कर अपनी बाँसुरी बजाते हुए वृन्दावन के जंगल में प्रविष्ट हुए।

प्रवालबर्हस्तबकस्रग्धातुकृतभूषणाः ।
रामकृष्णादयो गोपा ननृतुर्युयुधुर्जगुः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

प्रवाल—कोंपलें; बर्ह—मोर पंख; स्तबक—छोटे छोटे फूलों के गुच्छे; स्रक्—मालाएँ; धातु—तथा रंगीन खनिज (गेरू); कृत-भूषणाः—उन्हें अपना आभूषण बनाकर; राम-कृष्ण-आदयः—बलराम, कृष्ण इत्यादि; गोपाः—ग्वालबाल; ननृतुः—नाचने लगे; युयुधुः—लड़ने लगे; जगुः—गाने लगे।.

कोंपलों, मोरपंखों, मालाओं, फूल की कलियों के गुच्छों तथा रंगविरंगे खनिज पदार्थों से अपने आपको सजाकर बलराम, कृष्ण तथा उनके ग्वालमित्र नाचने लगे, कुश्ती लड़ने तथा गाने लगे।

कृष्णस्य नृत्यतः केचिज्जगुः केचिदवादयन् ।
वेणुपाणितलैः शृङ्गैः प्रशशंसुरथापरे ॥ १० ॥

शब्दार्थ

कृष्णस्य नृत्यतः—कृष्ण के नाचते समय; केचित्—उनमें से कोई; जगुः—गाने लगा; केचित्—कोई; अवादयन्—बजाने लगा; वेणु—वंशी; पाणि-तलैः—खड़ तालियों से; शृङ्गैः—सींग से; प्रशशंसुः—प्रशंसा (वाहवाही) करने लगे; अथ—तथा; अपरे—अन्य लोग।.

जब कृष्ण नाचने लगे तो कुछ बालक गाकर और कुछ बाँसुरी, हाथ के मंजीरे तथा भैसों

के सींग बजा बजाकर उनका साथ देने लगे तथा कुछ अन्य बालक उनके नाच की प्रशंसा करने लगे।

तात्पर्य : श्रीकृष्ण को प्रोत्साहन देने की इच्छा से कुछ ग्वालबालों ने उनके नाच की खुल कर प्रशंसा की।

गोपजातिप्रतिच्छन्ना देवा गोपालरूपिणौ ।
ईडिरे कृष्णरामौ च नटा इव नटं नृप ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

गोप-जाति—ग्वालों की जाति के सदस्यों के रूप में; प्रतिच्छन्नाः—वेश बनाये; देवाः—देवताओं ने; गोपाल-रूपिणौ—ग्वालबालों का रूप धारण किये; ईडिरे—पूजा की; कृष्ण-रामौ—कृष्ण तथा बलराम की; च—तथा; नटाः—पेशेवर नर्तकों; इव—सदृश; नटम्—अन्य नर्तक; नृप—हे राजन्।

हे राजन्, देवताओं ने गोप जाति के सदस्यों का वेश बनाया और जिस तरह नाटक के नर्तक दूसरे नर्तक की प्रशंसा करते हैं उसी तरह उन्होंने ग्वालबालों के रूप में प्रकट हुए कृष्ण तथा बलराम की पूजा की।

भ्रमणैर्लङ्घनैः क्षेपैरास्फोटनविकर्षणैः ।
चिक्रीडतुर्नियुद्धेन काकपक्षधरौ क्वचित् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

भ्रमणैः—चक्कर लगाकर; लङ्घनैः—कूदफाँद कर; क्षेपैः—फेंककर; आस्फोटन—पटकी देकर; विकर्षणैः—तथा घसीट कर; चिकृईडतुः—उन्होंने (कृष्ण तथा बलराम ने) क्रीड़ा की; नियुद्धेन—लड़ते हुए; काक-पक्ष—बालों के गुच्छा दोनों ओर लटकते; धरौ—पकड़ते हुए; क्वचित्—कभी।

कृष्ण तथा बलराम चक्कर काटते, कूदते, फेंकते, थपथपाते तथा लड़ते भिड़ते हुए अपने ग्वाल सखाओं के साथ खेलने लगे। कभी कभी कृष्ण तथा बलराम बालकों के सिरों की चुटिया खींच लेते थे।

तात्पर्य : आचार्यों ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है *भ्रमणै* शब्द बताता है कि बालक मशीनों का अनुकरण करते हुए कभी कभी तब तक चक्कर लगाते जब तक घुमरी नहीं आने लगती थी। कभी कभी वे कूदते *(लंघनैः)*। *क्षेपैः* शब्द बतलाता है कि वे कभी कभी गेंद या पत्थर जैसी वस्तु फेंकते और कभी कभी वे एक दूसरे को अपनी भुजाओं में जकड़ कर दूर पटक देते। *आस्फोटन* का अर्थ है कि वे एक दूसरे के कंधे थपथपाते या पीठ ठोंकते। *विकर्षणै* शब्द सूचित करता है कि खेल

खेल में वे एक दूसरे को घसीटते थे। *नियुद्धेन* शब्द ताल ठोंककर कुश्ती लड़ने तथा अन्य प्रकार की मैत्रीपूर्ण लड़ाई करने को सूचित करता है। *काकपक्षधरौ* का अर्थ है कि कभी कभी कृष्ण तथा बलराम खेल-खेल में अन्य बालकों की चुटिया पकड़ कर खींच लेते थे।

क्वचिन्नृत्यत्सु चान्येषु गायकौ वादकौ स्वयम् ।
शशंसतुर्महाराज साधु साध्विति वादिनौ ॥ १३॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; नृत्यत्सु—नृत्य करते समय; च—तथा; अन्येषु—अन्यों के; गायकौ—दोनों (कृष्ण तथा बलराम) गाते हुए; वादकौ—दोनों बाजा बजाते हुए; स्वयम्—स्वयं; शशंसतु:—प्रशंसा करते; महा-राज—हे महान् राजा; साधु साधु इति—बहुत अच्छा, बहुत अच्छा; वादिनौ—कहते हुए।

हे राजन्, जब अन्य बालक नाचते होते तो कृष्ण तथा बलराम कभी कभी गीत तथा वाद्य संगीत से उनका साथ देते और कभी कभी वे दोनों 'बहुत अच्छा', 'बहुत अच्छा' कहकर लड़कों की प्रशंसा करते थे।

क्वचिद्बिल्वैः क्वचित्कुम्भैः क्वचामलकमुष्टिभिः ।
अस्पृश्यनेत्रबन्धाद्यैः क्वचिन्मृगखगेहया ॥ १४॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; बिल्वैः—बेल के फल से; क्वचित्—कभी; कुम्भैः—कुम्भ फलों से; क्वच—तथा कभी; आमलक-मुष्टिभिः—मुट्ठी भर आँवलों से; अस्पृश्य—छुई-छुऔअल खेल; नेत्र-बन्ध—आँख मिचौनी में एक दूसरे को पहचानने की कोशिश करते हुए; आद्यैः—इत्यादि द्वारा; क्वचित्—कभी; मृग—पशु; खग—तथा पक्षियों की तरह; ईहया—नकल करते हुए।

ग्वालबाल कभी बिल्व या कुम्भ फलों से खेलते और कभी मुट्ठी में आमलक फलों को लेकर खेलते। कभी वे एक दूसरे को छूने का या आँख मिचौनी के समय किसी को पहचानने का खेल खेलते तो कभी वे पशुओं तथा पक्षियों की नकल उतारते।

तात्पर्य : श्रील सनातन गोस्वामी व्याख्या करते हैं कि आद्यैशब्द एक दूसरे का पीछा करने तथा पुल बनाने जैसे खेलों का संकेत करता है। दोपहर में जब कृष्ण विश्राम करते होते तो एक अन्य लीला होती थी। पास से गीत गाती तरुण गोपिकाएँ गुजरतीं तो कृष्ण के मित्र उनसे दूध का भाव पूछने का बहाना करते। तब ये लड़के उनका दही तथा अन्य वस्तुएँ चुरा लेते और भाग जाते। कृष्ण, बलराम तथा उनके मित्र नावों द्वारा नदी पार करने का भी खेल खेला करते थे।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इसके आगे व्याख्या करते हैं कि कुछ बालक फलों को हवा में उछाल

कर दूसरे फलों को फेंक कर उन्हें मारने का खेल खेलते। नेत्रबन्ध ऐसे खेल का सूचक है, जिसमें एक लड़का आँख मूँदे हुए बालक के पीछे से आकर उसकी आँखों पर अपनी हथेली रखता था। तब उसकी हथेली को छूकर ही आँख मूँदे लड़के को बतलाना पड़ता कि वह कौन है। ऐसे सभी खेलों में लड़के दाँव लगाते थे जिससे जीतने वाले को इनाम में वंशी या छड़ी देनी पड़ती। कभी कभी लड़के जंगली जानवरों के लड़ने की विधियों की नकल उतारते और कभी पक्षियों की तरह चीं चीं करते।

क्वचिच्च दर्दुरप्लावैर्विविधैरुपहासकैः ।
कदाचित्स्यन्दोलिकया कर्हिचिन्नृपचेष्टया ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी कभी; च—तथा; दर्दुर—मेढकों की तरह; प्लावैः—कूद कर; विविधैः—अनेक प्रकार के; उपहासकैः—ठिठोलियों से; कदाचित्—कभी कभी; स्यन्दोलिकया—झूले में पेंग मार कर; कर्हिचित्—कभी कभी; नृप-चेष्टया—राजा की नकल करके।

कभी कभी वे मेढ़कों की तरह फुदक फुदक कर चलते, कभी तरह तरह के हास परिहास करते, कभी झूले में झूलते और कभी राजाओं की नकल उतारते।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *नृपचेष्टया* शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है : वृन्दावन में एक स्थान था, जहाँ पर यमुना को पार करने वालों को थोड़ा-सा कर देना पड़ता था। कभी कभी ग्वालबाल इस स्थान पर एकत्र होकर वृन्दावन की तरुण गोपियों को नदी पार करने से पहले कर देने के लिए बाध्य करते। ऐसे कार्य हँसी-मजाक से भरे होते थे।

एवं तौ लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिश्चेरतुर्वने ।
नद्यद्रिद्रोणिकुञ्जेषु काननेषु सरःसु च ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार से; तौ—वे दोनों, कृष्ण तथा बलराम; लोक-सिद्धाभिः—मानव समाज में भली भाँति ज्ञात; क्रीडाभिः—क्रीड़ाओं से; चेरतुः—घूमते हुए; वने—जंगल में; नदी—नदियों; अद्रि—पर्वतों; द्रोणि—घाटियों; कुञ्जेषु—तथा कुंजों के बीच; काननेषु—छोटे जंगलों में; सरःसु—सरोवरों के किनारे; च—तथा।

इस तरह से कृष्ण तथा बलराम वृन्दावन की नदियों, पर्वतों, घाटियों, कुंजों, वृक्षों तथा सरोवरों के बीच घूमते हुए सभी प्रकार के प्रसिद्ध खेल खेलते रहते।

पशूंश्चारयतोर्गोपैस्तद्वने रामकृष्णयोः ।
गोपरूपी प्रलम्बोऽगादसुरस्तज्जिहीर्षया ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

पशून्—पशुओं को; चारयतोः—दोनों व्यक्ति चराते हुए; गोपैः—ग्वालबालों के साथ; तत्-वने—उस जंगल में, वृन्दावन में; राम-कृष्णयोः—राम तथा कृष्ण; गोप-रूपी—ग्वालबाल का रूप धारण कर; प्रलम्बः—प्रलम्ब; अगात्—आया; असुरः—असुर; तत्—उनको; जिहीर्षया—उठाकर भाग जाने (हरण करने) की इच्छा से।

इस तरह जब उस वृन्दावन के जंगल में राम, कृष्ण तथा उनके ग्वालमित्र गौवें चरा रहे थे तो प्रलम्ब नामक असुर उनके बीच में घुस आया। कृष्ण तथा बलराम का हरण करने के इरादे से उसने ग्वालबाल का वेश बना लिया था।

तात्पर्य : कृष्ण तथा बलराम द्वारा सामान्य बालकों की तरह कार्य करने का वर्णन करने के बाद अब शुकदेव गोस्वामी भगवान् की ऐसी दिव्य लीला का उद्घाटन करने जा रहे हैं, जो मानव-कार्यों की सीमा से परे है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार प्रलम्बासुर ने उस बालक विशेष का वेश धारण किया था, जो उस दिन किसी कार्यवश अपने घर पर ही रह गया था।

तं विद्वानपि दाशार्हो भगवान्सर्वदर्शनः ।
अन्वमोदत तत्सख्यं वधं तस्य विचिन्तयन् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस प्रलम्बासुर को; विद्वान्—भलीभाँति जानते हुए; अपि—यद्यपि; दाशार्हः—दशार्ह के वंशज; भगवान्—भगवान् ने; सर्व-दर्शनः—सर्वज्ञ; अन्वमोदत—स्वीकार कर ली; तत्—उसके साथ; सख्यम्—मित्रता; वधम्—वध; तस्य—उसका; विचिन्तयन्—सोचते हुए।

चूँकि दशार्ह वंश में उत्पन्न भगवान् श्रीकृष्ण सब कुछ देखते हैं अतएव वे जान गये कि वह असुर कौन है। फिर भी भगवान् ने ऐसा दिखावा किया जैसे कि वे उसे अपना मित्र मान चुके हों जबकि वे गम्भीरतापूर्वक यह विचार कर रहे थे कि उसको कैसे मारा जाय।

तत्रोपाहूय गोपालान्कृष्णः प्राह विहारवित् ।
हे गोपा विहरिष्यामो द्वन्द्वीभूय यथायथम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तत्र—तत्पश्चात्; उपाहूय—बुलाकर; गोपालान्—ग्वालबालों को; कृष्णः—कृष्ण ने; प्राह—कहा; विहार-वित्—समस्त क्रीड़ाओं के ज्ञाता; हे गोपाः—हे ग्वालबालो; विहरिष्यामः—चलो खेलें; द्वन्द्वी-भूय—दो टोलियों में बँटकर; यथा-यथम्—उचित रीति से।

तब समस्त क्रीड़ाओं के ज्ञाता कृष्ण ने सारे ग्वालबालों को बुलाया और उनसे इस प्रकार कहा : हे ग्वालबालो, अब चलो खेलें, हम अपने आपको दो समान टोलियों में बाँट लें।

तात्पर्य : *यथायथम्* शब्द का अर्थ यह है कि कृष्ण निस्सन्देह चाहते थे कि दोनों टोलियाँ

एकसमान हों जिससे खेल अच्छा हो सके। खेल का आनन्द लूटने के साथ ही इस खेल का उद्देश्य प्रलम्बासुर को मारना था।

तत्र चक्रुः परिवृढौ गोपा रामजनार्दनौ ।
कृष्णसङ्घट्टिनः केचिदासन्रामस्य चापरे ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तत्र—उस खेल में; चक्रुः—उन्होंने बनाये; परिवृढौ—दो अगुआ; गोपाः—ग्वालबाल; राम-जनार्दनौ—बलराम तथा कृष्ण; कृष्ण-सङ्घट्टिनः—कृष्ण की टोली के सदस्य; केचित्—उनमें से कुछ; आसन्—हो गये; रामस्य—बलराम के; च—तथा; अपरे—अन्य।

ग्वालबालों ने कृष्ण तथा बलराम को दोनों टोलियों का अगुआ (नायक) चुन लिया। कुछ बालक कृष्ण की ओर थे और कुछ बलराम के साथ थे।

आचेरुर्विविधाः क्रीडा वाह्यवाहकलक्षणाः ।
यत्रारोहन्ति जेतारो वहन्ति च पराजिताः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

आचेरुः—सम्पन्न किया; विविधाः—तरह तरह के; क्रीडाः—खेल; वाह्य—ले जाये जाने वाले द्वारा; वाहक—ले जाने वाला; लक्षणाः—लक्षणों से युक्त; यत्र—जिसमें; आरोहन्ति—चढ़ते हैं; जेतारः—जीतने वाले; वहन्ति—ढोते हैं, ले जाते हैं; च—तथा; पराजिताः—हारने वाले।

बालकों ने तरह तरह के खेल खेले जिनमें पीठ पर चढ़ना तथा उठाना जैसे खेल होते हैं। इन खेलों में जीतने वाले हार जाने वालों की पीठ पर चढ़ते हैं और हारने वाले उन्हें अपनी पीठ पर चढ़ाते हैं।

तात्पर्य : श्रील सनातन गोस्वामी ने विष्णु पुराण (५.९.१२) से निम्नलिखित श्लोक इस संदर्भ में उद्धृत किया है—

हरिणाक्रीडनं नाम बालक्रीडणकं ततः ।

प्रक्रीडता हि ते सर्वे द्वौ द्वौ युगपदुत्पतन् ॥

"इसके बाद उन्होंने बालकों का खेल खेला जो *हरिणा क्रीडनम्* कहलाता है, जिसमें प्रत्येक बालक विपक्ष से अपनी जोड़ी बनाता है और सारे बालक एकसाथ अपने अपने प्रतिद्वन्द्वी पर धावा बोलते हैं।"

वहन्तो वाह्यमानाश्च चारयन्तश्च गोधनम् ।
भाण्डीरकं नाम वटं जग्मुः कृष्णपुरोगमाः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

वहन्तः—चढ़ते; वाह्यमानाः—चढ़ाते हुए; च—तथा; चारयन्तः—चराते हुए; च—भी; गो-धनम्—गौवों को; भाण्डीरकम् नाम—भाण्डीरक नामक; वटम्—बरगद के पेड़ तक; जग्मुः—गये; कृष्ण-पुरः-गमाः—कृष्ण को आगे करके।

इस तरह एक दूसरे पर चढ़ते और चढ़ाते हुए और साथ ही गौवें चराते सारे बालक कृष्ण के पीछे पीछे भाण्डीरक नामक बरगद के पेड़ तक गये।

तात्पर्य : श्रील सनातन गोस्वामी ने *श्री हरिवंश* (विष्णु पर्व ११.१८-२२) से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमें वटवृक्ष का वर्णन हुआ है :

ददर्श विपुलोदग्रशाखिनं शाखिनां वरम्।
स्थितं धरण्यां मेघाभं निबिडं दलसञ्चयै॥
गगनार्धोच्छ्रिताकारं पर्वताभोगधारिणम् ।
नीलचित्राङ्गवर्णैश्च सेवितं बहुभिः खगै॥
फलै प्रवालैश्च घनै सेन्द्रचापघनोपमम्।
भवनाकारविटपं लतापुष्प सुमंडितम्॥
विशालमूलावनतं पावनाम्भोदधारिणम्।
आधिपत्यमिवान्येषां तस्य देशस्य शाखिनाम्॥
कुर्वाणं शुभकर्माणं निरावर्षमनातपम्।
न्यग्रोधं पर्वताग्राभं भाण्डीरं नाम नामतः॥

‘‘उन्होंने सबसे बढ़िया उस वृक्ष को देखा जिसमें अनेक लम्बी लम्बी शाखाएँ थीं। अपनी घनी पत्तियों के आच्छादन से वह ऐसा लगता था मानो पृथ्वी पर कोई बादल बैठा हो। इसका स्वरूप इतना विराट था कि यह आधे आकाश को ढके हुए पर्वत के समान लग रहा था। उस विशाल वृक्षमें नीले पंख वाले अनेक सुन्दर पक्षी आते थे जिससे यह वृक्ष अपने सघन फलों तथा पत्तियों के कारण उस बादल के समान प्रतीत होता था जिसमें इन्द्रधनुष उगा हो या कोई घर हो जिसे लताओं तथा पुष्पों से सजाया गया हो। इसकी चौड़ी जड़ें नीचे की ओर फैल रही थीं और यह अपने ऊपर पवित्र बादलों को धारण किये हुए था। वह वटवृक्ष आसपास के अन्य वृक्षों का स्वामी तुल्य था क्योंकि यह वर्षा तथा

धूप को दूर रखने का सर्वमंगलमय कार्य करता था। यह न्यग्रोध, जिसका नाम भाण्डीर था, एक विशाल पर्वत की चोटी जैसा लगता था।''

रामसङ्घट्टिनो यर्हि श्रीदामवृषभादयः ।
क्रीडायां जयिनस्तांस्तानूहुः कृष्णादयो नृप ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

राम-सङ्घट्टिनः—बलराम की टोली के सदस्य; यर्हि—जब; श्रीदाम-वृषभ-आदयः—श्रीदामा, वृषभ तथा अन्य (यथा सुबल); क्रीडायाम्—खेलों में; जयिनः—विजयी; तान् तान्—इनमें से प्रत्येक; ऊहुः—चढ़ाते थे; कृष्ण-आदयः—कृष्ण तथा उनकी टोली के अन्य सदस्य; नृप—हे राजन्।

हे राजा परीक्षित, जब इन खेलों में भगवान् बलराम की टोली के श्रीदामा, वृषभ तथा अन्य सदस्य विजयी होते तो कृष्ण तथा उनके साथियों को उन सबों को अपने ऊपर चढ़ाना पड़ता था।

उवाह कृष्णो भगवाञ्श्रीदामानं पराजितः ।
वृषभं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणीसुतम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

उवाह—चढ़ाते थे; कृष्णः—कृष्ण; भगवान्—भगवान्; श्रीदामानम्—अपने भक्त तथा सखा श्रीदामा को; पराजितः—हार कर; वृषभम्—वृषभ को; भद्रसेनः—भद्रसेन; तु—तथा; प्रलम्बः—प्रलम्ब; रोहिणी-सुतम्—रोहिणी पुत्र (बलराम) को।

हार कर, भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीदामा को अपने ऊपर चढ़ा लिया। भद्रसेन ने वृषभ को तथा प्रलम्ब ने रोहिणी पुत्र बलराम को चढ़ा लिया।

तात्पर्य : कोई यह प्रश्न कर सकता है कि भगवान् को उनके मित्र किस तरह हरा सकते हैं। इसका उत्तर यह है कि ईश्वर अपने मूल रूप में अत्यन्त खिलाड़ी प्रकृति के होते हैं और कभी कभी अपने प्रिय मित्रों की इच्छा या बल के समक्ष झुक कर आनन्द लेते हैं। कभी कभी पिता अपने छोटे से प्रिय पुत्र द्वारा प्रहार किये जाने पर खेल खेल में जमीन पर गिर पड़ता है। स्नेह-भरे इन कार्यों से सारे लोगों को आनन्द प्राप्त होता है। इस तरह श्रीदामा अपने प्रिय मित्र श्रीकृष्ण को जो यों तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् थे, प्रसन्न करने के लिए उनके कन्धों पर चढ़ने के लिए राजी हो गये।

अविषह्यं मन्यमानः कृष्णं दानवपुङ्गवः ।
वहन्द्रुततरं प्रागादवरोहणतः परम् ॥ २५॥

शब्दार्थ

अविषह्यम्—दुर्दम; मन्यमानः—विचार करते हुए; कृष्णम्—कृष्ण को; दानव-पुङ्गवः—वह अग्रगण्य असुर; वहन्—ले जाते हुए; द्रुत-तरम्—तेजी से; प्रागात्—चलने लगा; अवरोहणतः परम्—उतारने के लिए निश्चित स्थान से आगे।

भगवान् कृष्ण को दुर्दम सोच कर वह जाना आना असुर (प्रलम्ब), बलराम को तेजी से उस स्थान से बहुत आगे ले गया जहाँ उतारना निश्चित किया गया था।

तात्पर्य : प्रलम्ब बलराम को भगवान् कृष्ण की नजर से दूर ले जाना चाहता था जिससे वह उन पर वार कर सके।

तमुद्वहन्धरणिधरेन्द्रगौरवं
महासुरो विगतरयो निजं वपुः ।
स आस्थितः पुरटपरिच्छदो बभौ
तडिद्द्युमानुडुपतिवाडिवाम्बुदः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तम्—उन्हें, बलदेव को; उद्वहन्—ऊँचे ले जाकर; धरणि-धर-इन्द्र—पर्वतों के राजा सुमेरु की तरह; गौरवम्—भार; महा-असुरः—महान् असुर; विगत-रयः—अपना वेग खो कर; निजम्—अपने असली; वपुः—शरीर को; सः—वह ना; आस्थितः—स्थित होकर; पुरट—सुनहरे; परिच्छदः—आभूषणों से युक्त; बभौ—चमक रहा था; तडित्—बिजली की तरह; द्यु-मान्—चमकीला; उडु-पति—चन्द्रमा; वाट्—वहन करते हुए; इव—सदृश; अम्बु-दः—बादल।

जब वह महान् असुर बलराम को लिये जा रहा था, तो वे विशाल सुमेरु पर्वत की तरह भारी हो गये जिससे प्रलम्ब को अपना गति धीमी करनी पड़ी। इसके बाद उसने अपना असली रूप धारण किया—तेजमय शरीर जो सुनहरे आभूषणों से ढका था और उस बादल के समान लग रहा था जिसमें बिजली चमक रही हो और जो अपने साथ चन्द्रमा लिये जा रहा हो।

तात्पर्य : यहाँ पर प्रलम्बासुर की उपमा बादल से, उसके सुनहरे आभूषणों की उपमा बादल के भीतर चमकने वाली बिजली से तथा बलराम की उपमा बादल के भीतर चमक रहे चन्द्रमा से दी गई है। महान् असुर अपनी योग शक्ति से अनेक रूप धारण कर सकते हैं किन्तु जब भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति उनकी शक्ति को कम कर देती है, तो उन्हें अपना कृत्रिम रूप त्याग कर असली आसुरी शरीर धारण करना पड़ता है। भगवान बलराम सहसा विशाल पर्वत के समान भारी हो गये जिससे वह असुर उन्हें अपने कंधों पर ऊँचे चढ़ा कर नहीं ले जा सका।

निरीक्ष्य तद्वपुरलमम्बरे चरत्
प्रदीप्तदृग्भ्रुकुटितटोग्रदंष्ट्रकम् ।

ज्वलच्छिखं कटककिरीटकुण्डल-
त्विषाद्भुतं हलधर ईषदत्रसत् ॥ २७॥

शब्दार्थ

निरीक्ष्य—देखकर; तत्—उस प्रलम्बासुर का; वपुः—शरीर; अलम्—तेजी से; अम्बरे—आकाश में; चरत्—विचरण करते; प्रदीप्त—प्रज्ज्वलित; दृक्—आँखें; भ्रु-कुटि—अपनी भौंहों पर के गुस्से का; तट—किनारे पर; उग्र—भयानक; दंष्ट्रकम्—दाँतों को; ज्वलत्—अग्नि तुल्य; शिखम्—बाल; कटक—अपने बाजूबन्द; किरीट—मुकुट; कुण्डल—तथा कुंडलों के; त्विषा—तेज से; अद्भुतम्—आश्चर्यजनक; हल-धरः—हल धारण करने वाले, बलराम; ईषत्—टुक, थोड़ा; अत्रसत्—भयभीत हुए।

जब हलधर भगवान् बलराम ने आकाश में विचरण करते हुए उस असुर की जलती हुई आँखें, अग्नि सदृश बाल, भौंहों तक उठे भयानक दाँत तथा उसके बाजूबन्दों, मुकुट तथा कुंडलों से उत्पन्न आश्चर्यजनक तेज युक्त विराट शरीर को देखा तो वे कुछ कुछ भयभीत से हो गये।

तात्पर्य : श्रील सनातन गोस्वामी ने भगवान् बलदेव के तथाकथित भय की व्याख्या इस प्रकार की है : बलराम एक सामान्य ग्वालबाल के रूप में क्रीड़ा कर रहे थे अतएव इस लीला-भाव को बनाये रखने के लिए वे असुर के भयानक शरीर से कुछ कुछ विचलित हो गये। दूसरे यह कि वह असुर कृष्ण के ग्वालमित्र के रूप में प्रकट हुआ था और कृष्ण ने उसे मित्र मान लिया था अतएव बलदेव उसको जान से मारने में हिचकिचा रहे थे। बलराम की चिन्ता का एक कारण यह भी हो सकता था कि यह वास्तव में ग्वालबाल के वेश में असुर था, तो हो सकता है कि उसी क्षण ऐसा ही कोई दूसरा असुर कृष्ण पर भी आक्रमण कर रहा हो। इस तरह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान भगवान् बलदेव ने भयावने प्रलम्बासुर के समक्ष कुछ कुछ शिथिल होने की लीला प्रकट की।

अथागतस्मृतिरभयो रिपुं बलो
विहाय सार्थमिव हरन्तमात्मनः ।
रुषाहनच्छिरसि दृढेन मुष्टिना
सुराधिपो गिरिमिव वज्ररंहसा ॥ २८॥

शब्दार्थ

अथ—तब; आगत-स्मृतिः—अपना स्मरण करते हुए; अभयः—निर्भय; रिपुम्—शत्रु को; बलः—बलराम ने; विहाय—छोड़कर; सार्थम्—साथ; इव—निस्सन्देह; हरन्तम्—हरण करते हुए; आत्मनः—अपने आप; रुषा—क्रोध के साथ; अहनत्—प्रहार किया; शिरसि—सिर के ऊपर; दृढेन—कठोर; मुष्टिना—अपनी मुट्ठी से; सुर-अधिपः—देवताओं के राजा, इन्द्र; गिरिम्—पर्वत पर; इव—सदृश; वज्र—वज्र का; रंहसा—फुर्ती से।

वास्तविक स्थिति का स्मरण करते हुए निर्भीक बलराम की समझ में आ गया कि यह असुर मेरा अपहरण करके मुझे मेरे साथियों से दूर ले जाने का प्रयास कर रहा है। तब वे क्रुद्ध हो उठे

और उन्होंने असुर के सिर पर अपनी कठोर मुट्ठी से उसी तरह प्रहार किया जिस प्रकार देवताओं के राजा इन्द्र अपने वज्र से पर्वत पर प्रहार करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् बलराम की बलिष्ठ मुट्ठी असुर के सिर पर ऐसे पड़ी कि उस के टुकड़े टुकड़े हो गये जिस तरह विशाल वज्रपात से पर्वत चूर चूर हो जाता है। *विहाय सार्थम् इव* पद का सन्धि-विच्छेद *विहायसा अर्थम् इव* के रूप में भी किया जा सकता है, जिसका अर्थ होगा कि वह असुर *विहायस* अर्थात् आकाश के विराट पथ पर बलराम को ले जाने के उद्देश्य से उड़ रहा था क्योंकि वे ही उसके अर्थम् अर्थात् खोज की वस्तु थे।

स आहतः सपदि विशीर्णमस्तको
मुखाद्वमन्रुधिरमपस्मृतोऽसुरः ।
महारवं व्यसुरपतत्समीरयन्
गिरिर्यथा मघवत आयुधाहतः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, प्रलम्बासुर; आहतः—प्रहार किया गया; सपदि—तुरन्त; विशीर्ण—विदीर्ण; मस्तकः—सिर; मुखात्—मुँह से; वमन्—उगलता हुआ; रुधिरम्—रक्त; अपस्मृतः—बेहोश; असुरः—असुर; महा-रवम्—भीषण शब्द; व्यसुः—निर्जीव; अपतत्—गिर पड़ा; समीरयन्—आवाज करता हुआ; गिरिः—पर्वत; यथा—जिस तरह; मघवतः—इन्द्र के; आयुध—हथियार से; आहतः—चोट खाकर।

बलराम की मुट्ठी के प्रहार से प्रलम्ब का सिर तुरन्त ही फट गया। वह मुख से रक्त उगलने लगा और बेहोश हो गया। तत्पश्चात् वह निष्प्राण होकर पृथ्वी पर भीषण धमाके के साथ ऐसे गिर पड़ा मानो इन्द्र द्वारा विनष्ट कोई पर्वत हो।

दृष्ट्वा प्रलम्बं निहतं बलेन बलशालिना ।
गोपाः सुविस्मिता आसन्साधु साध्विति वादिनः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; प्रलम्बम्—प्रलम्बासुर को; निहतम्—मारा गया; बलेन—बलराम द्वारा; बल-शालिना—बलशाली; गोपाः—ग्वालबाल; सु-विस्मिताः—अत्यन्त चकित; आसन्—हुए; साधु साधु—"अति उत्तम," "अति उत्तम"; इति—ये शब्द; वादिनः—कहते हुए।

ग्वालबाल यह देखकर अत्यन्त चकित थे कि बलशाली बलराम ने किस तरह प्रलम्बासुर को मार डाला और वे सभी "बहुत खूब" "बहुत खूब" कहकर चिल्ला उठे।

आशिषोऽभिगृणन्तस्तं प्रशशंसुस्तदर्हणम् ।
प्रेत्यागतमिवालिङ्ग्य प्रेमविह्वलचेतसः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

आशिषः—आशीर्वाद; अभिगृणन्तः—भेंटें देते हुए; तम्—उन्हें; प्रशशंसुः—प्रशंसा की; तत्-अर्हणम्—उस सुपात्र को; प्रेत्य—मरकर; आगतम्—वापस आया हुआ; इव—मानो; आलिन्य—आलिंगन करते हुए; प्रेम—प्रेमवश; विह्वल—भावविभोर; चेतसः—मन।

उन्होंने बलराम को खूब आशीर्वाद दिया और सभी तरह की प्रशंसा के पात्र होने के कारण उनकी खूब प्रशंसा की। उनके मन प्रेम से विभोर हो उठे और उन्होंने उनका इस प्रकार आलिंगन किया मानो वे मरकर लौटे हों।

पापे प्रलम्बे निहते देवाः परमनिर्वृताः ।
अभ्यवर्षन्बलं माल्यैः शशंसुः साधु साध्विति ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

पापे—पापी; प्रलम्बे—प्रलम्बासुर पर; निहते—मारे जाने पर; देवाः—देवताओं ने; परम—अत्यधिक; निर्वृताः—प्रसन्न; अभ्यवर्षन्—बरसाया; बलम्—बलराम को; माल्यैः—मालाओं से; शशंसुः—स्तुतियाँ की; साधु साधु इति—''अति उत्तम'' ''अति उत्तम'' आलाप करते हुए।''

पापी प्रलम्बासुर के मारे जाने पर देवता अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने बलराम पर फूलमालाओं की वर्षा की। उन्होंने उनके उत्तम कार्य की प्रशंसा की।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''बलराम द्वारा प्रलम्बासुर का वध'' नामक अठारहवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter उन्नीस

दावानल पान

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस प्रकार कृष्ण ने मुञ्जारण्य में लगी महाग्नि से गौवों तथा ग्वालों की रक्षा की।

एक दिन सारे ग्वालबाल खेल में मग्न हो गये तो गौवें घने जंगल में चरने निकल गईं। सहसा दावाग्नि भड़क उठी तो लपटों से बचने के लिए गौवों ने मूँज के कुंज में जाकर शरण ली। जब ग्वालबालों को अपनी गाएँ न दिखाई दीं, तब वे उनके पदचिह्नों और उनसे रौंदने से या दाँतों से तोड़े

जाने से घास के तिनकों तथा दूसरे पौधों से बनी लकीर का पीछा करते हुए तलाश में निकल पड़े। अन्त में गौवें उन्हें मुंजवन में मिलीं और उन्होंने उन्हें वहाँ से हटा लिया। किन्तु तब तक आग जोर पकड़ चुकी थी और उससे गौवों तथा बालकों को खतरा पैदा हो गया था। इस तरह बालकों ने योगेश्वर कृष्ण की शरण ली। कृष्ण ने उनसे आँखें मूँदने को कहा। जब उन्होंने ऐसा किया, तो श्रीकृष्ण ने क्षण-भर में उस भयंकर दावाग्नि को निगल लिया और उन सबों को भाण्डीर वृक्ष के पास ले आये जिसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया गया है। इस योगशक्ति के अद्भुत चमत्कार को देखकर ग्वालबालों ने सोचा कि कृष्ण अवश्य ही देवता हैं अत: वे उनकी प्रशंसा करने लगे। इसके बाद सभी लोग घर लौट आये।

श्रीशुक उवाच

क्रीडासक्तेषु गोपेषु तद्गावो दूरचारिणीः ।
स्वैरं चरन्त्यो विविशुस्तृणलोभेन गह्वरम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; क्रीडा—खेल में; आसक्तेषु—पूरी तरह लीन; गोपेषु—ग्वालबालों में; तत्-गावः—उनकी गौवें; दूर-चारिणीः—दूर दूर तक घूमने वाली; स्वैरम्—स्वतंत्र रूप से; चरन्त्यः—चरती हुई; विविशुः—घुसीं; तृण—घास के; लोभेन—लालच से; गह्वरम्—घने जंगल में।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब ग्वालबाल खेलने में पूरी तरह मग्न थे तो उनकी गौवें दूर चली गईं। अधिक घास के लोभ में तथा कोई उनकी देखभाल करनेवाला न होने से वे घने जंगल में घुस गईं।

अजा गावो महिष्यश्च निर्विशन्त्यो वनाद्वनम् ।
ईषीकाटवीं निर्विविशुः क्रन्दन्त्यो दावतर्षिताः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

अजाः—बकरियाँ; गावः—गौवें; महिष्यः—भैंसे; च—तथा; निर्विशन्त्यः—प्रवेश करतीं; वनात्—एक जंगल से; वनम्—दूसरे जंगल को; ईषीका-अटवीम्—मूंज के जंगल में; निर्विविशुः—प्रविष्ट हुई; क्रन्दन्त्यः—चिल्लाती हुई; दाव—जंगल की अग्नि के कारण; तर्षिताः—प्यासी।

विशाल जंगल के एक भाग से दूसरे भाग में जाते हुए बकरियाँ, गौवें तथा भैंसें अन्ततः मूंज से आच्छादित क्षेत्र में घुस गईं। पास के जंगल की अग्नि की गर्मी से उन्हें प्यास लग पड़ी और वे कष्ट के कारण रँभाने लगीं।

तेऽपश्यन्तः पशून्गोपाः कृष्णरामादयस्तदा ।
जातानुतापा न विदुर्विचिन्वन्तो गवां गतिम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; अपश्यन्तः—न देखते हुए; पशून्—पशुओं को; गोपाः—ग्वालबाल; कृष्ण-राम-आदयः—कृष्ण, राम इत्यादि; तदा—तब; जात-अनुतापाः—पश्चात्ताप अनुभव करते हुए; न विदुः—नहीं जान पाये; विचिन्वन्तः—ढूँढ़ते हुए; गवाम्—गौवों को; गतिम्—रास्ता। .

गौवों को सामने न देखकर, कृष्ण, राम तथा उनके ग्वालमित्रों को सहसा अपनी असावधानी पर पछतावा हुआ। उन बालकों ने चारों ओर ढूँढ़ा किन्तु यह पता न लगा पाये कि वे कहाँ चली गई हैं।

तृणैस्तत्खुरदच्छिन्नैर्गोष्पदैरङ्कितैर्गवाम् ।
मार्गमन्वगमन्सर्वे नष्टाजीव्या विचेतसः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

तृणैः—तिनकों से; तत्—उन गायों के; खुर—खुरों से; दत्—तथा दाँतों से; छिन्नैः—तोड़े गये; गोः-पदैः—गायों के खुरों के निशानों से; अङ्कितैः—पृथ्वी पर बने; गवाम्—गायों के; मार्गम्—रास्ता; अन्वगमन्—पीछा किया; सर्वे—सबों ने; नष्ट-आजीव्याः—अपनी जीविका के नष्ट हो जाने की; विचेतसः—चिन्ता में।.

तब बालकों ने गौवों के खुरों के चिन्हों तथा उनके खुरों तथा दाँतों से तोड़ी गई घास के तिनकों को देखकर उनके रास्ते का पता लगाना शुरू किया। सारे ग्वालबाल अत्यधिक चिन्तित थे क्योंकि वे अपनी जीविका का साधन खो चुके थे।

मुञ्जाटव्यां भ्रष्टमार्गं क्रन्दमानं स्वगोधनम् ।
सम्प्राप्य तृषिताः श्रान्तास्ततस्ते सन्न्यवर्तयन् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

मुञ्जा-अटव्याम्—मुञ्जा वन में; भ्रष्ट-मार्गम्—अपना रास्ता खोकर; क्रन्दमानम्—चिल्लाती हुई; स्व—अपनी; गो-धनम्—गौवें (तथा अन्य पशु); सम्प्राप्य—पाकर; तृषिताः—प्यासे; श्रान्ताः—तथा थके; ततः—तब; ते—वे बालक; सन्न्यवर्तयन्—उन सबों को बहोर लाये।.

अन्त में ग्वालबालों को अपनी बहुमूल्य गौवें मुञ्जा वन में मिलीं जो अपना रास्ता भटक जाने से चिल्ला रही थीं। तब प्यासे तथा थके-माँदे ग्वालबाल उन गौवों को घर के रास्ते पर वापस ले आये।

ता आहूता भगवता मेघगम्भीरया गिरा ।
स्वनाम्नां निनदं श्रुत्वा प्रतिनेदुः प्रहर्षिताः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ताः—वे गौवें; आहूताः—बुलाई गई; भगवता—भगवान् द्वारा; मेघ-गम्भीरया—बादल की तरह गम्भीर; गिरा—वाणी से; स्व-नाम्नाम्—अपने अपने नामों की; निनदम्—ध्वनि; श्रुत्वा—सुनकर; प्रतिनेदुः—उत्तर दिया; प्रहर्षिताः—अत्यधिक हर्षित होकर।

भगवान् ने उन पशुओं को गरजते बादल की तरह गूँजती वाणी से पुकारा। अपने-अपने नामों की ध्वनि सुनकर गौवें अत्यधिक हर्षित हुईं और हुंकार भर कर भगवान् को उत्तर देने लगीं।

ततः समन्ताद्दवधूमकेतु-
र्यदृच्छयाभूत्क्षयकृद्वनौकसाम् ।
समीरितः सारथिनोल्बणोल्मुकै-
र्विलेलिहानः स्थिरजङ्गमान्महान् ॥ ७॥

शब्दार्थ

ततः—तब; समन्तात्—चारों ओर; दव-धूमकेतुः—भीषण जंगल की अग्नि; यदृच्छया—सहसा; अभूत्—प्रकट हुई; क्षय-कृत्—नष्ट करने पर तुली; वन-ओकसाम्—जंगल में उपस्थित प्राणियों को; समीरितः—हाँकी गई; सारथिना—सारथी तुल्य हवा द्वारा; उल्बण—भयानक; उल्मुकैः—उल्का जैसी चिनगारियों से युक्त; विलेलिहानः—चाटती हुई; स्थिर-जङ्गमान्—समस्त चर तथा अचर प्राणियों को; महान्—महान।

सहसा चारों दिशाओं में महान् दावाग्नि प्रकट हुई जिससे जंगल के समस्त प्राणियों के नष्ट होने का संकट उत्पन्न हो गया। सारथी तुल्य वायु, अग्नि को आगे बढ़ाती जा रही थी और चारों ओर भयानक चिनगारियाँ निकल रही थीं। निस्सन्देह, इस महान् अग्नि ने अपनी ज्वालाओं रूपी जिह्वाओं को समस्त चल और अचर प्राणियों की ओर लपलपा दिया था।

तात्पर्य : अभी कृष्ण, बलराम तथा ग्वालबाल अपनी गौवें लेकर घर लौटने ही वाले थे कि जो दावाग्नि लगी थी वह काबू के बाहर हो गई और उसने उन सबों को घेर लिया।

तमापतन्तं परितो दवाग्निं
गोपाश्च गावः प्रसमीक्ष्य भीताः ।
ऊचुश्च कृष्णं सबलं प्रपन्ना
यथा हरिं मृत्युभयार्दिता जनाः ॥ ८॥

शब्दार्थ

तम्—उस; आपतन्तम्—उन पर आन पड़ी हुई; परितः—चारों ओर; दव-अग्निम्—जंगल की आग को; गोपाः—ग्वालबालों ने; च—तथा; गावः—गौवों ने; प्रसमीक्ष्य—ठीक से देखकर; भीताः—डरे हुए; ऊचुः—सम्बोधन किया; च—तथा; कृष्णम्—कृष्ण को; स-बलम्—तथा बलराम को; प्रपन्नाः—शरणागत; यथा—जिस प्रकार; हरिम्—भगवान् को; मृत्यु—मृत्यु के; भय—भय से; अर्दिताः—पीड़ित; जनाः—व्यक्ति।

जब गौवों तथा ग्वालबालों ने चारों ओर से दावाग्नि को अपने ऊपर आक्रमण करते देखा तो वे बहुत डर गये। अतः वे रक्षा के लिए कृष्ण तथा बलराम के निकट गये जिस तरह मृत्यु-भय से विचलित लोग भगवान् की शरण में जाते हैं। उन बालकों ने उन्हें इस प्रकार से सम्बोधित किया।

कृष्ण कृष्ण महावीर हे रामामोघ विक्रम ।
दावाग्निना दह्यमानान्प्रपन्नांस्त्रातुमर्हथः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

कृष्ण कृष्ण—हे कृष्ण, हे कृष्ण; महा-वीर—हे अत्यन्त बलशाली; हे राम—हे राम; अमोघ-विक्रम—अमोघ शक्तिवाले; दाव-अग्निना—जंगल की आग से; दह्यमानान्—जलते हुओं को; प्रपन्नान्—शरणागतों को; त्रातुम् अर्हथः—कृपया बचायें।

[ग्वालबालों ने कहा] हे कृष्ण, हे कृष्ण, हे महावीर, हे राम, हे अमोघ शक्तिशाली, कृपा करके अपने उन भक्तों को बचायें जो जंगल की इस अग्नि से जलने ही वाले हैं और आपकी शरण में आये हैं।

नूनं त्वद्बान्धवाः कृष्ण न चार्हन्त्यवसादितुम् ।
वयं हि सर्वधर्मज्ञ त्वन्नाथास्त्वत्परायणाः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

नूनम्—अवश्य ही; त्वत्—आपके; बान्धवाः—मित्रगण; कृष्ण—हमारे प्यारे कृष्ण; न—कभी नहीं; च—और; अर्हन्ति—योग्य हैं; अवसादितुम्—विनष्ट होने के; वयम्—हम; हि—यही नहीं; सर्व-धर्म-ज्ञ—समस्त जीवों को भलीभाँति जाननेवाले; त्वत्-नाथाः—आपको अपने स्वामी के रूप में पाकर; त्वत्-परायणः—आपकी ही भक्ति में लगे हुए।

कृष्ण! निस्सन्देह आपके अपने मित्रों को तो नष्ट नहीं होना चाहिए। हे समस्त वस्तुओं की प्रकृति को जाननेवाले, हमने आपको अपना स्वामी मान रखा है और हम आपके शरणागत हैं।

श्रीशुक उवाच
वचो निशम्य कृपणं बन्धूनां भगवान्हरिः ।
निमीलयत मा भैष्ट लोचनानीत्यभाषत ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; वचः—वचन; निशम्य—सुनकर; कृपणम्—दयनीय; बन्धूनाम्—अपने मित्रों के; भगवान्—भगवान्; हरिः—हरि ने; निमीलयत—बन्द कर लो; मा भैष्ट—मत डरो; लोचनानि—आँखों को; इति—इस प्रकार; अभाषत—कहा।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : अपने मित्रों के ऐसे दयनीय वचन सुनकर भगवान् कृष्ण ने उनसे कहा : "तुम लोग, बस अपनी आँखें मूँद लो और डरो नहीं।"

तात्पर्य : इस श्लोक से कृष्ण तथा उनके शुद्ध भक्तों के बीच का सरल दिव्य सम्बन्ध स्पष्ट होता है। परम सत्य परम शक्तिमान भगवान् वास्तव में एक तरुण आनन्दमय ग्वालबाल हैं जिसका नाम कृष्ण है। भगवान् असल में तरुण हैं और उनकी प्रकृति खिलाड़ी की है। जब उन्होंने देखा कि उनके प्रिय मित्र दावाग्नि से भयभीत हो चुके हैं, तो उन्होंने उनसे इतना ही कहा कि तुम लोग अपनी आँखें बन्द कर लो और डरो मत। तब कृष्ण ने जो कुछ किया वह अगले श्लोक में बतलाया गया है।

तथेति मीलिताक्षेषु भगवानग्निमुल्बणम् ।
पीत्वा मुखेन तान्कृच्छ्राद्योगाधीशो व्यमोचयत् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तथा—बहुत अच्छा; इति—ऐसा कहकर; मीलित—बन्द करते हुए; अक्षेषु—अपनी आँखें; भगवान्—भगवान्; अग्निम्—अग्नि को; उल्बणम्—भयानक; पीत्वा—पीकर; मुखेन—मुख से; तान्—उनको; कृच्छ्रात्—संकट से; योग-अधीशः—समस्त योगशक्ति के परम नियन्ता; व्यमोचयत्—उद्धार कर दिया।

बालकों ने उत्तर दिया ''बहुत अच्छा'' और तुरन्त ही उन्होंने अपनी आँखें बन्द कर लीं। तब समस्त योगशक्ति के स्वामी भगवान् ने अपना मुख खोला और उस भयानक अग्नि को निगलकर अपने मित्रों को संकट से बचा लिया।

तात्पर्य : ग्वालबाल अत्यधिक थकान, भूख तथा प्यास से त्रस्त थे और वे विकराल दावाग्नि से भस्म होने ही वाले थे। इस स्थिति का संकेत *कृच्छ्रात्* शब्द से मिल जाता है।

ततश्च तेऽक्षीण्युन्मील्य पुनर्भाण्डीरमापिताः ।
निशम्य विस्मिता आसन्नात्मानं गाश्च मोचिताः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; च—तथा; ते—वे; अक्षीणि—अपनी आँखें; उन्मील्य—खोलते हुए; पुनः—फिर; भाण्डीरम्—भाण्डीर तक; आपिताः—ले गये; निशम्य—देखकर; विस्मिताः—चकित; आसन्—हुए; आत्मानम्—अपने आपको; गाः—गौवों को; च—तथा; मोचिताः—बचा लिया।

ग्वालबालों ने अपनी आँखें खोलीं तो यह देखकर चकित हुए कि न केवल उन्हें तथा गौवों को उस विकराल अग्नि से बचा लिया गया है अपितु वे भाण्डीर वृक्ष के पास वापस ला दिये गये हैं।

कृष्णस्य योगवीर्यं तद्योगमायानुभावितम् ।
दावाग्नेरात्मनः क्षेमं वीक्ष्य ते मेनिरेऽमरम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

कृष्णस्य—कृष्ण की; योग-वीर्यम्—योगशक्ति; तत्—वह; योग-माया—माया की अन्तरंगा शक्ति द्वारा; अनुभावितम्—प्रभावित; दाव-अग्नेः—दावाग्नि से; आत्मनः—अपना; क्षेमम्—उद्धार; वीक्ष्य—देखकर; ते—उन्होंने; मेनिरे—सोचा; अमरम्—देवता।

जब ग्वालबालों ने देखा कि भगवान् की अन्तरंगा शक्ति से प्रकट योगशक्ति द्वारा उन्हें दावाग्नि से बचाया जा चुका है, तो वे सोचने लगे कि कृष्ण अवश्य ही कोई देवता हैं।

तात्पर्य : वृन्दावन के ग्वालबाल कृष्ण को अपना एकमात्र मित्र तथा पूजनीय मानते थे। कृष्ण ने इन सबों के आनन्द को बढ़ाने के लिए अपनी योगशक्ति का प्रदर्शन किया और उन्हें उस भयानक दावाग्नि से बचा लिया।

ये ग्वालबाल किसी भी दशा में कृष्ण से अपनी आनन्दमयी एवं प्रेममयी मित्रता का परित्याग नहीं कर सकते थे। अतः उन्होंने जब उनकी यह असाधारण शक्ति देखी तो सोचा कि कृष्ण ईश्वर नहीं, अपितु शायद कोई देवता हैं। किन्तु कृष्ण उनके प्रिय मित्र थे अतः वे उन्हीं के समान स्तर पर थे। अतएव उन्होंने अपने आपको भी देवता तुल्य ही सोचा। इस तरह कृष्ण के ग्वालमित्र आनन्दविभोर हो उठे।

गाः सन्निवर्त्य सायाह्ने सहरामो जनार्दनः ।
वेणुं विरणयन्गोष्ठमगाद्गोपैरभिष्टुतः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

गाः—गौवें; सन्निवर्त्य—लौटाकर; साय-अह्ने—दोपहर बीत जाने के बाद; सह-रामः—बलराम सहित; जनार्दनः—श्रीकृष्ण; वेणुम्—अपनी वंशी; विरणयन्—विशेष ढंग से बजाते हुए; गोष्ठम्—ग्वालों के गाँव में; अगात्—गये; गोपैः—ग्वालबालों द्वारा; अभिष्टुतः—प्रशंसित होकर।

अब दोपहर ढल चुकी थी और बलराम सहित भगवान् कृष्ण ने गौवों को घर की ओर मोड़ा। अपनी वंशी को एक विशिष्ट ढंग से बजाते हुए कृष्ण अपने ग्वाल मित्रों के साथ गोपग्राम लौटे और ग्वालबाल उनके यश का गान कर रहे थे।

गोपीनां परमानन्द आसीद्गोविन्ददर्शने ।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

गोपीनाम्—गोपियों के लिए; परम-आनन्दः—सर्वोच्च सुख; आसीत्—हुआ; गोविन्द-दर्शने—गोविन्द को देखने में; क्षणम्—एक क्षण; युग-शतम्—एक सौ युग; इव—सदृश; यासाम्—जिनके लिए; येन—जिसके (कृष्ण); विना—बिना; अभवत्—हो गया।

गोविन्द को घर आते देखकर तरुण गोपियों को अत्यन्त आनंद प्राप्त हुआ क्योंकि उनकी संगति के बिना एक क्षण भी उन्हें सौ युगों के समान प्रतीत हो रहा था।

तात्पर्य : ग्वालबालों को दावाग्नि से बचाने के बाद कृष्ण ने अपने विरह की अग्नि में जलती हुई गोपियों को बचाया। श्रीमती राधारानी इत्यादि गोपियों के मन में कृष्ण के प्रति अतीव प्रेम है और उनसे एक क्षण का भी वियोग उनके लिए लाखों वर्ष के तुल्य बन जाता है। गोपियाँ कृष्ण की सबसे महान् भक्त हैं और कृष्ण के साथ उनकी विशिष्ट लीलाएँ अगले अध्यायों में वर्णित हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''दावानल का निगला जाना'' नामक उन्नीसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बीस

वृन्दावन में वर्षा ऋतु तथा शरद् ऋतु

श्रीकृष्ण की लीलाओं के वर्णन को विस्तार देने के लिए इस अध्याय में श्री शुकदेव गोस्वामी शरद तथा वर्षा ऋतुओं में वृन्दावन की शोभा का वर्णन करते हैं। ऐसा करते समय वे विविध रूपकों के द्वारा मनोहारी उपदेश देते हैं।

श्रीशुक उवाच
तयोस्तदद्भुतं कर्म दावाग्नेर्मोक्षमात्मनः ।
गोपाः स्त्रीभ्यः समाचख्युः प्रलम्बवधमेव च ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; तयोः—उन दोनों (कृष्ण तथा बलराम) का; तत्—वह; अद्भुतम्—अद्भुत; कर्म—कार्य; दाव-अग्नेः—दावाग्नि से; मोक्षम्—उद्धार; आत्मनः—अपना; गोपाः—ग्वालबाल; स्त्रीभ्यः—स्त्रियों से; समाचख्युः—विस्तार से बतलाया; प्रलम्ब-वधम्—प्रलम्बासुर का मारा जाना; एव—निस्सन्देह; च—भी।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : तब ग्वालबालों ने वृन्दावन की स्त्रियों से दावाग्नि से बचाए जाने और प्रलम्बासुर का बध किये जाने के कृष्ण तथा बलराम के अद्भुत कार्यों का विस्तार से वर्णन किया।

गोपवृद्धाश्च गोप्यश्च तदुपाकर्ण्य विस्मिताः ।
मेनिरे देवप्रवरौ कृष्णरामौ व्रजं गतौ ॥ २ ॥

शब्दार्थ

गोप-वृद्धाः—बूढ़े ग्वाले; च—तथा; गोप्यः—गोपियाँ; च—भी; तत्—से; उपाकर्ण्य—सुनकर; विस्मिताः—आश्चर्यचकित; मेनिरे—विचार किया; देव-प्रवरौ—दो प्रतिष्ठित देवता; कृष्ण-रामौ—कृष्ण तथा बलराम दोनों भाई; व्रजम्—वृन्दावन में; गतौ–चोमे.

यह वर्णन सुनकर बड़े-बूढ़े गोप तथा स्त्रियाँ आश्चर्यचकित हो गये और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कृष्ण तथा बलराम अवश्य ही महान् देवता हैं, जो वृन्दावन में प्रकट हुए हैं।

ततः प्रावर्तत प्रावृट्सर्वसत्त्वसमुद्भवा ।
विद्योतमानपरिधिर्विस्फूर्जितनभस्तला ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; प्रावर्तत—शुरू हुई; प्रावृट्—वर्षा ऋतु; सर्व-सत्त्व—सारे जीवों की; समुद्भवा—उत्पत्ति की स्रोत; विद्योतमान—बिजली से चमकता; परिधिः—क्षितिज; विस्फूर्जित—(गरज से) विक्षुब्ध; नभः-तला—आकाश।.

इसके बाद वर्षा ऋतु का शुभारम्भ हुआ जो समस्त जीवों को जीवनदान देती है। आकाश गर्जना से गूँजने लगा और क्षितिज पर बिजली चमकने लगी।

सान्द्रनीलाम्बुदैर्व्योम सविद्युत्स्तनयित्नुभिः ।
अस्पष्टज्योतिराच्छन्नं ब्रह्मेव सगुणं बभौ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

सान्द्र—घने; नील—नीले; अम्बुदैः—बादलों से; व्योम—आकाश; स-विद्युत्—बिजली सहित; स्तनयित्नुभिः—तथा गरज के साथ; अस्पष्ट—धूमिल; ज्योतिः—प्रकाश; आच्छन्नम्—ढका हुआ; ब्रह्म—आत्मा; इव—मानो; स-गुणम्—भौतिक गुणों से युक्त; बभौ—प्रकट हो गया हो।.

तत्पश्चात् बिजली तथा गरज से युक्त घने नीले बादलों से आकाश आच्छादित हो गया। इस तरह आकाश तथा उसकी प्राकृतिक ज्योति उसी तरह ढक गये जिस तरह आत्मा प्रकृति के तीन गुणों से आच्छादित हो जाता है।

तात्पर्य : बिजली की उपमा सतोगुण से, गर्जना की रजोगुण से तथा बादलों की तमोगुण से दी गई है। इस तरह वर्षा ऋतु के प्रारम्भ होने पर बादलों से ढका आकाश उस शुद्ध आत्मा के सदृश है, जो प्रकृति के गुणों से विचलित हो जाता है क्योंकि तब यह आच्छादित हो जाता है, जिससे उसकी मूल ज्योतिर्मयी प्रकृति भौतिक गुणों के कुहासे से मन्द मन्द प्रतिबिम्बित हो पाती है।

अष्टौ मासान्निपीतं यद्भूम्याश्चोदमयं वसु ।
स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अष्टौ—आठ; मासान्—महीनों के दौरान; निपीतम्—पिया हुआ; यत्—जो; भूम्याः—पृथ्वी का; च—तथा; उद-मयम्—जल से युक्त; वसु—सम्पत्ति; स्व-गोभिः—अपनी ही किरणों से; मोक्तुम्—मुक्त करने के लिए; आरेभे—प्रारम्भ कर दिया; पर्जन्यः—सूर्य ने; काले—उचित समय; आगते—आ जाने पर।

सूर्य ने अपनी किरणों से आठ मास तक पृथ्वी की जल रूपी सम्पत्ति का शोषण किया था। अब उपयुक्त समय आ गया था और सूर्य अपने उस संचित संपत्ति को मुक्त करने लगा।

तात्पर्य : आचार्यगण सूर्य द्वारा पृथ्वी की जल सम्पत्ति के भाप बनने की तुलना राजा द्वारा कर वसूल करने से करते हैं। श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् श्रीकृष्ण* (भाग १, अध्याय २०) में इस रूपक की व्याख्या इस प्रकार की है, "बादल धूप द्वारा पृथ्वी से खींचा गया संचित जल हैं। सूर्य लगातार आठ मास तक पृथ्वी की सतह से सभी प्रकार के जल को भाप बनाकर उड़ाता है और यह जल बादलों के रूप में संचित होता है, जो आवश्यकतानुरूप जल के रूप में बँट जाते हैं। इसी प्रकार सरकार नागरिकों पर तरह तरह के कर लगाती है, जिसे नागरिक समुदाय कृषि, व्यापार तथा उद्योग जैसे अपने भौतिक कार्यों से चुकता करता है। इस तरह सरकार आयकर तथा विक्रीकर के रूप में भी कर लगा सकती है। इसकी उपमा सूर्य द्वारा पृथ्वी से जल खींचने से दी गई है। जब पृथ्वी पर पुनः जल की आवश्यकता होती है, तो वही सूर्य की धूप इस जल को बादल में बदलकर सारे विश्व में वितरित करती है। इसी प्रकार सरकार द्वारा संगृहीत करों को जनता में शैक्षणिक कार्य, जन कार्य, सफाई कार्य इत्यादि के रूप में वितरित कर देना चाहिए। अच्छी सरकार के लिए यह अनिवार्य है। सरकार को व्यर्थ में लुटाने के लिए ही कर नहीं लगाना चाहिए प्रत्युत संग्रहीत कर का उपयोग राज्य के जनकल्याण में किया जाना चाहिए।"

तडिद्वन्तो महामेघाश्चण्ड श्वसन वेपिताः ।
प्रीणनं जीवनं ह्यस्य मुमुचुः करुणा इव ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तडित्-वन्तः—बिजली का प्रदर्शन करते; महा-मेघाः—बड़े बड़े बादल; चण्ड—उग्र; श्वसन—वायु द्वारा; वेपिताः—हिलाये गये; प्रीणनम्—तृप्ति; जीवनम्—उनका जीवन (जल); हि—निस्सन्देह; अस्य—इस जगत का; मुमुचुः—मुक्त किया; करुणाः—दयालु व्यक्ति; इव—सदृश।

बिजली चमकाते बड़े बड़े बादल प्रचण्ड वायु के द्वारा हिलाये-डुलाये जाकर दूर ले जाये

गये थे। ये बादल दयालु पुरुषों की तरह इस संसार की खुशी के लिए अपना जीवन दान कर रहे थे।

तात्पर्य : जिस तरह कभी कभी महान् दयालु व्यक्ति समाज के सुख हेतु अपने जीवन या धन का उत्सर्ग कर देते हैं उसी तरह बादलों ने सूखी पृथ्वी पर जल बरसाया। यद्यपि इस तरह से बादल विनष्ट हो गये किन्तु पृथ्वी की खुशी के लिए उन्होंने मुक्तभाव से वर्षा की।

श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् श्रीकृष्ण* में इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है : ''वर्षा ऋतु में सारे देश के ऊपर प्रबल वायु झकझोरती है और जल बाँटने के लिए बादलों को एक से दूसरे स्थान तक ले जाती है। जब ग्रीष्म ऋतु के बाद पानी की अत्यधिक आवश्यकता पड़ती है, तो ये बादल एक धनी पुरुष की भाँति होते हैं। जिस तरह आवश्यकता पड़ने पर धनपति अपना सारा कोष खाली हो जाने पर भी, धन लुटा देता है उसी तरह ये बादल पृथ्वी की सतह पर अपना सारा जल वितरित करके स्वयं रिक्त हो जाते हैं।

कहा जाता है कि जब भगवान् रामचन्द्र के पिता महाराज दशरथ अपने शत्रुओं से लड़ते थे तो वे उनके पास इस तरह पहुँचते थे जैसे कोई किसान अनावश्यक पौधों और वृक्षों को उखाड़ता है। और जब दान देने की आवश्यकता पड़ती तो वे धन का वितरण इस तरह करते मानो बादल जल वितरित कर रहा हो। बादलों द्वारा जल का वितरण इतना उदार होता था कि इसकी तुलना महान् दानी व्यक्ति द्वारा धन वितरण से की जाती है। बादल से इतनी प्रचुर वर्षा होती है कि यह जल चट्टानों तथा पर्वतों पर और जहाँ आवश्यकता नहीं है उन सागरों पर भी बरसता है। बादल उस दानी व्यक्ति की तरह होता है, जो वितरण के लिए अपना कोष खोल देता है और पात्र या कुपात्र का भेदभाव नहीं करता। वह मुक्तहस्त दान देता है।''

अलंकारिक भाषा में बादलों में जो बिजली चमकती है, वह ऐसा प्रकाश है, जिससे वे पृथ्वी की दुखित अवस्था को देखते हैं। तेज बहनेवाली हवाएँ उनके गहरे साँस हैं जैसाकि किसी दुखी व्यक्ति में देखा जाता है। पृथ्वी की दुखित अवस्था देखकर बादल वायु में दयालु व्यक्ति की तरह काँपते हैं और इसलिए वे जल बरसाते हैं।

तपःकृशा देवमीढा आसीद्वर्षीयसी मही ।
यथैव काम्यतपसस्तनुः सम्प्राप्य तत्फलम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

तपः-कृशा—ग्रीष्म के ताप से दुर्बल; देव-मीढा—जलदेव द्वारा कृपापूर्वक छिड़की; आसीत्—हो गयी; वर्षीयसी—पूर्णतया पोषित; मही—पृथ्वी; यथा एव—जिस तरह; काम्य—इन्द्रिय तृप्ति पर आधारित; तपसः—तपस्वी का; तनुः—शरीर; सम्प्राप्य—प्राप्त करके; तत्—उस तपस्या का; फलम्—फल।

ग्रीष्म के ताप से पृथ्वी कृषकाय हो चुकी थी किन्तु वर्षा के देवता द्वारा तर किये जाने पर पुनः पूरी तरह हरीभरी हो गई। इस तरह पृथ्वी उस व्यक्ति के समान थी जिसका शरीर भौतिक कामना से की गई तपस्या के कारण कृषकाय हो जाता है किन्तु तपस्या का फल प्राप्त हो जाने पर वह पुनः पूरी तरह हृष्ट पुष्ट हो उठता है।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् श्रीकृष्ण* में इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है : "वर्षा के पूर्व सारी पृथ्वी सभी प्रकार की शक्तियों से क्षीण होकर अत्यन्त दुबली प्रतीत होने लगती है। वर्षा के बाद पृथ्वी की सम्पूर्ण सतह वनस्पति से हरीभरी हो उठती है और अत्यन्त स्वस्थ तथा बलिष्ठ दिखने लगती है। यहाँ पर भौतिक इच्छा की पूर्ति के लिए तपस्या करनेवाले व्यक्ति से इसकी तुलना की गई है। वर्षा ऋतु के बाद पृथ्वी की लहलहाती अवस्था की तुलना भौतिक इच्छाओं की पूर्ति होने से की गई है। कभी कभी जब कोई देश अवांछित सरकार द्वारा पराधीन बना लिया जाता है, तो सरकार पर नियंत्रण पाने के लिए व्यक्तियों तथा दलों को कठिन तपस्या करनी पड़ती है और जब वे उस पर नियंत्रण पा लेते हैं, तो वे खूब वेतन लेकर समृद्ध बन जाते हैं। यह भी वर्षा ऋतु में पृथ्वी के लहलहाने के तुल्य है। वस्तुतः मनुष्य को आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त करने के लिए ही कठोर तपस्या करनी चाहिए। *श्रीमद्भागवत* में संस्तुति की गई है कि परमेश्वर के साक्षात्कार हेतु ही तपस्या करनी चाहिए। भक्ति में तपस्या स्वीकार करके मनुष्य अपने आध्यात्मिक जीवन को फिर से पा लेता है और आध्यात्मिक जीवन प्राप्त होते ही वह असीम आध्यात्मिक आनन्द का भोग करता है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति किसी भौतिक लाभ के लिए तपस्या करता है, तो जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, उसे जो फल प्राप्त होता है, वह क्षणिक होता है और केवल अल्प ज्ञानी ही ऐसे फल की कामना करते हैं।"

निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भान्ति न ग्रहाः ।
यथा पापेन पाषण्डा न हि वेदाः कलौ युगे ॥ ८॥

शब्दार्थ

निशा-मुखेषु—सांध्यकालीन धुंधलके के समय; खद्योताः—जुगनू; तमसा—अंधकार के कारण; भान्ति—चमकते हैं; न—नहीं; ग्रहाः—नक्षत्रगण; यथा—जिस तरह; पापेन—पापकर्मों के कारण; पाषण्डाः—नास्तिक सिद्धान्त; न—नहीं; हि—निश्चय ही; वेदाः—वेद; कलौ युगे-इन् थे अगे ओफ् कलि.

वर्षा ऋतु के साँझ के धुंधलेपन में, अंधकार के कारण जुगनू तो चमक रहे थे किन्तु नक्षत्रगण प्रकाश नहीं बिखेर पा रहे थे, जिस प्रकार कि कलियुग में पापकृत्यों की प्रधानता से नास्तिक सिद्धान्त वेदों के असली ज्ञान को आच्छादित कर देते हैं।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद की टीका इस प्रकार है : ''वर्षा ऋतु में संध्या समय वृक्षों की चोटियों पर यत्रतत्र बहुत से जुगनू दिखते हैं और वे प्रकाश की तरह चमकते हैं किन्तु आकाश के नक्षत्र—यथा चाँद और सितारे—दृष्टिगोचर नहीं होते। इसी प्रकार कलियुग में नास्तिक अथवा दुष्ट लोगों की प्रधानता हो जाती है किन्तु आध्यात्मिक उत्थान के लिए वैदिक सिद्धान्तों का वास्तव में पालन करनेवाले व्यक्तियों का प्रायः लोप हो जाता है। इस कलियुग की तुलना वर्षा ऋतु से की गई है। इस युग में असली ज्ञान भौतिक सभ्यता की प्रगति के प्रभाव से ढक जाता है। सस्ते मनोधर्मी, नास्तिक तथा तथाकथित धार्मिक सिद्धान्त बनानेवाले लोग जुगनुओं की तरह प्रधान बन जाते हैं जबकि वैदिक सिद्धान्तों अथवा शास्त्रों के आदेशों का दृढ़ता से पालन करनेवाले व्यक्ति इस युग के बादलों द्वारा आच्छादित हो जाते हैं।

लोगों को चाहिए कि वे आकाश के वास्तविक ग्रहों—सूर्य, चन्द्रमा तथा तारों—का लाभ उठायें, जुगनुओं के प्रकाश का नहीं। वस्तुत: ये जुगनू रात्रि के अंधकार में कोई प्रकाश नहीं दे सकते। जिस तरह वर्षा ऋतु में भी कभी कभी बादल छट जाते हैं, तो सूर्य, चन्द्रमा तथा तारे दीख पड़ते हैं उसी तरह इस कलियुग में भी कभी कभी कुछ लाभ मिलते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु का वैदिक आन्दोलन—जो हरे कृष्ण मंत्र कीर्तन का वितरण है—इसी तरह से समझा जाता है। जो लोग गम्भीरतापूर्वक असली जीवन की खोज करते हैं उन्हें चाहिए कि वे मनोधर्मियों तथा नास्तिकों के तथाकथित प्रकाश को न ग्रहण करके इस आन्दोलन से लाभ उठायें।''

श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डुकाः ससृजुर्गिरः ।
तूष्णीं शयानाः प्राग्यद्वद्ब्राह्मणा नियमात्यये ॥ ९॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर; पर्जन्य—वर्षा के बादलों की; निनदम्—प्रतिध्वनि; मण्डुकाः—मेंढकों ने; ससृजुः—निकाली; गिरः—अपनी ध्वनि; तूष्णीम्—मौन भाव से; शयानाः—लेटे हुए; प्राक्—पहले; यद्वत्—जिस तरह; ब्राह्मणाः—ब्राह्मण छात्र; नियम-अत्यये—प्रातःकालीन कृत्यों को समाप्त करके।

वे मेंढक जो अभी तक मौन पड़े हुए थे, वर्षा ऋतु के बादलों की गर्जना सुनकर अचानक टर्राने लगे मानो शान्त भाव से प्रातःकालीन कृत्य करनेवाले ब्राह्मण विद्यार्थी अपने गुरु द्वारा बुलाए जाने पर अपना पाठ सुनाने लगे हों।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने इसकी टीका इस प्रकार की है : "प्रथम वर्षा के बाद जब बादलों में गर्जना होती है, तो सारे मेंढक टर्राने लगते हैं मानो एकाएक विद्यार्थीगण अपना पाठ पढ़ने लगे हों। विद्यार्थी सामान्यतः प्रातःकाल जल्दी जग जाते हैं। किन्तु वे स्वेच्छा से नहीं उठते अपितु जब मन्दिर या सांस्कृतिक संस्थान में घंटी बजती है तभी उठते हैं। वे आध्यात्मिक गुरु के आदेश से तुरन्त उठ जाते हैं और प्रातःकालीन नित्यकर्म करने के बाद वेदों का अध्ययन करने या वैदिक मंत्रों का उच्चारण करने बैठ जाते हैं। इसी तरह कलियुग के अंधकार में हर व्यक्ति सोता रहता है किन्तु किसी महान् आचार्य के पुकारते ही वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए हर व्यक्ति वेदों का अध्ययन करने लगता है।"

आसन्नुत्पथगामिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः ।
पुंसो यथास्वतन्त्रस्य देहद्रविण सम्पदः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

आसन्—हो गये; उत्पथ-गामिन्यः—अपने अपने मार्गों से विपथ; क्षुद्र—नगण्य; नद्यः—नदियाँ; अनुशुष्यतीः—सूखकर के; पुंसः—मनुष्य का; यथा—जिस तरह; अस्वतन्त्रस्य—जो स्वतंत्र नहीं है उसका (अपनी इन्द्रियों के वशीभूत); देह—शरीर; द्रविण—शारीरिक सम्पत्ति; सम्पदः—तथा सम्पत्ति।

वर्षा ऋतु के आगमन के साथ ही सूखी हुई क्षुद्र नदियाँ बढ़ने लगीं और अपने असली मार्गों को छोड़कर इधर उधर बहने लगीं मानो इन्द्रियों के वशीभूत किसी मनुष्य के शरीर, सम्पत्ति तथा धन हों।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद की टीका इस प्रकार है : "वर्षा ऋतु में अनेक पोखर, सरोवर तथा छोटी छोटी नदियाँ जल से भर जाती हैं अन्यथा वर्ष की शेष अवधि में सूखी रहती हैं। इसी तरह से भौतिकतावादी व्यक्ति शुष्क होते हैं किन्तु कभी कभी जब वे तथाकथित ऐश्वर्यशाली स्थिति में होते हैं—उनके घरबार, बालबच्चे या थोड़ी बहुत बैंक-बचत हो जाती है वे फलते-फूलते प्रतीत होते हैं किन्तु बाद में वे शीघ्र ही उसी तरह शुष्क हो जाते हैं जिस तरह छोटी छोटी नदियाँ तथा पोखर सूख

जाते हैं। विद्यापति कवि ने कहा है कि मित्र, परिवार, सन्तान, पत्नी इत्यादि की संगति में निश्चय ही कुछ आनन्द होता है किन्तु वह आनन्द मरुस्थल में एक बूँद के समान है। हर व्यक्ति सुख के पीछे उसी तरह पगलाया रहता है, जैसे कि मरुस्थल में हर व्यक्ति पानी के पीछे। यदि मरुस्थल में एक बूँद जल हो, तो कहने को तो जल है किन्तु उस जल की बूँद से होनेवाला लाभ नाममात्र का ही है। हम भौतिकवादी जीवन में सुख के समुद्र के पीछे पड़े रहते हैं किन्तु समाज, मित्र तथा संसारी प्रेम के रूप में हमें उसकी एक बूँद से अधिक नहीं मिल पाती है। हमारी तृप्ति कभी नहीं हो पाती जिस तरह कि छोटी छोटी नदियाँ, सरोवर तथा ताल-तलैया शुष्क मौसम में कभी जल से पूर्ण नहीं हो पाते।''

हरिता हरिभिः शष्पैरिन्द्रगोपैश्च लोहिता ।
उच्छिलीन्ध्रकृतच्छाया नृणां श्रीरिव भूरभूत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

हरिताः—हरिताभ; हरिभिः—हरी; शष्पैः—नई उगी घास से; इन्द्रगोपैः—इन्द्रगोप कीटों (बीरबहूटी) से; च—तथा; लोहिता—लालाभ; उच्छिलीन्ध्र—कुकुरमुत्तों द्वारा; कृत—की गई; छाया—छाया; नृणाम्—मनुष्यों के; श्रीः—ऐश्वर्य; इव—सदृश; भूः—पृथ्वी; अभूत्—हो गई।

नई उगी घास से पृथ्वी पन्ने (मरकत) की तरह हरी हो रही थी, इन्द्रगोप कीटों ने उसमें लाल रंग मिला दिया और श्वेत रंग के कुकुरमुत्तों ने और भी रंगत ला दी। इस प्रकार पृथ्वी उस व्यक्ति जैसी लगने लगी जो सहसा धनी बन जाता है।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद की टीका है कि *नृणाम्* शब्द राजसी व्यक्तियों का सूचक है। इस तरह गहरे हरे खेत जो चमकीले लाल कीड़ों तथा श्वेत रंग के कुकुरमुत्तों रूपी छत्तों से रंगबिरंगे लग रहे थे उनकी तुलना शाही सैन्य-शक्ति के प्रदर्शन से की जा सकती है।

क्षेत्राणि शष्यसम्पद्भिः कर्षकाणां मुदं ददुः ।
मानिनामनुतापं वै दैवाधीनमजानताम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

क्षेत्राणि—खेत; शष्य-सम्पद्भिः—अपनी अनाज की सम्पत्ति से; कर्षकाणाम्—कृषकों को; मुदम्—हर्ष; ददुः—प्रदान किया; मानिनाम्—मिथ्या गर्व करनेवालों को; अनुतापम्—जलन, पश्चात्ताप; वै—निस्सन्देह; दैव-अधीनम्—भाग्य के अधीन; अजानताम्—न जाननेवालों को।

अपनी अन्नरूपी सम्पदा से सारे खेत किसानों को प्रफुल्लित कर रहे थे। किन्तु वही खेत उन लोगों के हृदयों में पश्चात्ताप उत्पन्न कर रहे थे, जो इतने घमण्डी थे कि खेती के कार्य में नहीं

लगना चाहते थे और यह नहीं समझ पाते थे कि किस तरह हर वस्तु भगवान् के अधीन है।

तात्पर्य : अधिक वर्षा होने पर बड़े शहरों में रहने वाले लोगों का घबड़ा उठना एक सामान्य बात है। वे या तो समझते नहीं या भूल चुके हैं कि यह वर्षा उन फसलों को लहलहायेगी जिनसे प्राप्त अन्न को वे खाएँगे। उन्हें खाना तो अच्छा लगता है किन्तु वे भूल जाते हैं कि भगवान् इस वर्षा से न केवल मनुष्यों को अन्नदान दे रहे हैं अपितु पौधौं, पशुओं तथा स्वयं पृथ्वी को पोषित कर रहे हैं।

आधुनिक नजाकत भरे लोग कृषिकर्म में लगे व्यक्तियों पर नाक-भौं सिकोड़ते हैं। अमरीकी लोकभाषा में सीधेसादे कम बुद्धिमान व्यक्ति को कभी कभी ''किसान'' (फार्मर) कहा जाता है। कुछ ऐसी सरकारी एजेंसियाँ भी हैं, जो कृषि-उत्पादन को सीमित रखना चाहती हैं क्योंकि कुछ पूँजीपति डरते रहते हैं कि इसका प्रभाव बाजार-मूल्यों पर पड़ सकता है। आधुनिक सरकारें नाना प्रकार के कृत्रिम एवं चालाकी के कार्यों में लगी रहती हैं जिससे विश्व-भर में, यहाँ तक कि संयुक्त राज्य अमरीका में भी, गरीबों में, अन्न की कमी पाई जाती है फिर भी कुछ सरकारें फसल न बोने के लिए किसानों को पैसा देती हैं। कभी कभी ये सरकारें पर्याप्त खाद्य वस्तुओं को समुद्र में फेंकवा देती हैं। इस तरह अहंवादी तथा अज्ञानी प्रशासन जो इतने घमंडी होते हैं कि भगवान् के नियमों का पालन नहीं करना चाहते या इतने बेसमझ होते हैं कि उन्हें मानना नहीं चाहते, लोगों में निराशा उत्पन्न करते रहेंगे जबकि ईशभावनाभावित सरकारें सबों को प्रचुर अन्न तथा सुख प्रदान करती रहेंगी।

जलस्थलौकसः सर्वे नववारिनिषेवया ।
अबिभ्रन्रुचिरं रूपं यथा हरिनिषेवया ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

जल—जल के; स्थल—तथा स्थल के; ओकसः—निवासी; सर्वे—सभी; नव—नवीन; वारि—जल का; निषेवया—सेवन करने से; अबिभ्रन्—ग्रहण किया; रुचिरम्—आकर्षक; रूपम्—रूप; यथा—जिस तरह; हरि-निषेवया—भगवान् की भक्ति करने से।

चूँकि जल तथा स्थल के समस्त प्राणियों ने नवीन वर्षाजल का लाभ उठाया इसलिए उनके रूप आकर्षक एवं सुहावने हो गये जिस तरह कोई भक्त भगवान् की सेवा में लगने पर सुन्दर लगने लगता है।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने इस प्रकार टीका की है : ''इस्कान में हमें अपने विद्यार्थियों के साथ इसका व्यावहारिक अनुभव है। विद्यार्थी बनने के पूर्व वे गंदे लगते थे भले ही उनके अंग-प्रत्यंग

रूपवान थे। किन्तु कृष्णभावनामृत के विषय में कोई जानकारी न रखने के कारण वे गन्दे और दुखियारे से लगते थे। अब कृष्णभावनामृत ग्रहण करने के अनन्तर उनका स्वास्थ्य सुधर गया है और यम-नियमों का पालन करने से उनकी शारीरिक कान्ति भी बढ़ गई है। जब वे केसरिया वस्त्र धारण करके अपने मस्तक पर तिलक लगा लेते हैं और अपने हाथों में तथा गले में मालाएँ लिये रहते हैं, तो वे इस तरह लगते हैं मानो सीधे वैकुण्ठ से चले आ रहे हों।''

सरिद्भिः सङ्गतः सिन्धुश्चुक्षोभ श्वसनोर्मिमान् ।
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग्यथा ॥ १४॥

शब्दार्थ

सरिद्भिः—नदियों समेत; सङ्गतः—मिलने से; सिन्धुः—सागर; चुक्षोभ—क्षुब्ध हो उठा; श्वसन—वायु से उड़कर; ऊर्मि-मान्—लहरों से युक्त; अपक्व—अप्रौढ़; योगिनः—योगी का; चित्तम्—मन; काम-अक्तम्—कामवासना से रंजित; गुण-युक्—इन्द्रिय तृप्ति के विषयों से सम्बन्ध रखने से; यथा—जिस तरह।

जहाँ जहाँ नदियाँ आकर समुद्र से मिलीं, वहाँ समुद्र विक्षुब्ध हो उठा और हवा से इसकी लहरें इधर उधर उठने लगीं, जिस तरह कि किसी अपरिपक्व योगी का मन कामवासना से रंजित होने तथा इन्द्रियतृप्ति के विषयों के प्रति अनुरक्त होने से डगमगाने लगता है।

गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः ।
अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाधोक्षजचेतसः ॥ १५॥

शब्दार्थ

गिरयः—पर्वत; वर्ष-धाराभिः—जल धारण किये हुए बादलों द्वारा; हन्यमानाः—चोट खाकर; न विव्यथुः—हिले नहीं; अभिभूयमानाः—प्रहार किये जाने पर; व्यसनैः—संकटों से; यथा—जिस तरह; अधोक्षज-चेतसः—भगवान् में लीन मन वाले।

जिस प्रकार भगवान् में लीन मन वाले भक्तगण सभी प्रकार के संकटों से प्रहार किये जाने पर भी शान्त बने रहते हैं उसी प्रकार वर्षा ऋतु में जलवाही बादलों द्वारा बारम्बार प्रहार किये जाने पर भी पर्वत तनिक भी विचलित नहीं हुए।

तात्पर्य : पर्वत मूसलाधार वर्षा होने पर तनिक भी विचलित नहीं होते प्रत्युत उनकी गर्त धुल जाती है और वे सुन्दर तथा दीप्तिमान लगने लगते हैं। इसी प्रकार भगवान् का उच्च भक्त विषम परिस्थितियों में भी अपने भक्ति सम्बन्धी कार्यों से चलायमान नहीं होता प्रत्युत इससे इस जगत की अनुरक्ति रूपी उसके हृदय की धूल साफ हो जाती है। इस तरह कठिन परिस्थितियों को सहन करने से भक्त सुन्दर तथा कान्तिमान लगने लगता है। वस्तुतः एक भक्त जीवन की सारी पराजयों को भगवान्

की कृपा के रूप में स्वीकार करता है और सारे कष्टों को अपने पूर्व दुष्कर्मों का फल मानता है।

मार्गा बभूवु: सन्दिग्धास्तृणैश्छन्ना ह्यसंस्कृता: ।
नाभ्यस्यमाना: श्रुतयो द्विजै: कालेन चाहता: ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

मार्गा:—रास्ते; बभूवु:—हो गये; सन्दिग्धा:—अस्पष्ट; तृणै:—घास से; छन्ना:—ढके हुए; हि—निस्सन्देह; असंस्कृता:—अस्वच्छ; न अभ्यस्यमाना:—न पढ़े जाने से; श्रुतय:—शास्त्र; द्विजै:—ब्राह्मणों द्वारा; कालेन—समय के प्रभाव से; च—तथा; आहता:—भ्रष्ट।

वर्षा ऋतु में रास्तों को साफ न करने से वे घास-फूस और कूड़े-करकट से ढक गये और उन्हें पहचान पाना कठिन हो गया। ये रास्ते उन धार्मिक शास्त्रों (श्रुतियों) के तुल्य थे, जो ब्राह्मणों द्वारा अध्ययन न किये जाने से भ्रष्ट हो गये हों और कालक्रम से आच्छादित हो चुके हों।

लोकबन्धुषु मेघेषु विद्युतश्चलसौहृदा: ।
स्थैर्यं न चक्रु: कामिन्य: पुरुषेषु गुणिष्विव ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

लोक—सारे जगत के; बन्धुषु—मित्र; मेघेषु—बादलों में; विद्युत:—बिजली; चल-सौहृदा:—जिनकी मित्रता चलायमान है; स्थैर्यम्—स्थिरता; न चक्रु:—नहीं बनाये रखते; कामिन्य:—कामुक स्त्रियाँ; पुरुषेषु—पुरुषों में; गुणिषु—गुणवान; इव—जिस तरह।

यद्यपि बादल सारे जीवों के शुभैषी मित्र होते हैं लेकिन दुर्बलमना चंचल बिजली बादलों के एक समूह से दूसरे समूह में इस तरह गति करने लगी मानो गुणवान पुरुषों के प्रति भी विश्वासघात करनेवाली कामुक स्त्रियाँ हों।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद की टीका है : "वर्षा ऋतु में बिजली एक क्षण बादलों के एक समूह में प्रकट होती है, तो दूसरे क्षण दूसरे समूह में। इस घटना की तुलना उस कामुक स्त्री से की गई है, जो अपना चित्त किसी एक पुरुष पर नहीं टिका पाती। बादल की तुलना योग्य व्यक्ति से की गई है क्योंकि वह वर्षा द्वारा अनेक लोगों को जीवन-दान देता है। इसी तरह योग्य पुरुष अनेक प्राणियों का—यथा अपने परिवार अथवा व्यापार के अनेक काम करनेवालों का—भरण-पोषण करता है। दुर्भाग्यवश उसका सारा जीवन उसको तलाक देनेवाली पत्नी के कारण विक्षुब्ध हो सकता है और जब पति क्षुब्ध रहता है, तो सारा परिवार बरवाद हो जाता है, बच्चे अस्तव्यस्त हो जाते हैं, व्यापार ठप्प हो जाता है और हर काम पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अत: संस्तुति की जाती है कि जो स्त्री कृष्णभावनामृत में आगे

बढ़ना चाहती हो वह अपने पति के साथ शान्ति से रहे और पति-पत्नी किसी भी परिस्थिति में एक-दूसरे से अलग न हों। पति-पत्नी को मैथुन में संयम बरतना चाहिए और अपने मन को कृष्णभावनामृत में केन्द्रित करना चाहिए जिससे उनका जीवन सफल हो सके। आखिर इस भौतिक जगत में पुरुष को स्त्री की और स्त्री को पुरुष की आवश्यकता पड़ती है। जब वे मिल जाँय तो उन्हें कृष्णभावनामृत में शान्तिपूर्वक रहना चाहिए और बादलों के एक समूह से दूसरे समूह में चमकनेवाली बिजली की तरह चंचल नहीं होना चाहिए।''

धनुर्वियति माहेन्द्रं निर्गुणं च गुणिन्यभात् ।
व्यक्ते गुणव्यतिकरेऽगुणवान्पुरुषो यथा ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

धनुः—धनुष (इन्द्रधनुष); वियति—आकाश में; माहा-इन्द्रम्—इन्द्र का; निर्गुणम्—गुणहीन (प्रत्यंचारहित); च—यद्यपि; गुणिनि—आकाश में, जिसमें ध्वनि जैसा निश्चित गुण पाया जाता है; अभात्—प्रकट हुआ; व्यक्ते—व्यक्त जगत के भीतर; गुण-व्यतिकरे—भौतिक गुणों की पारस्परिक क्रियाओं वाले; अगुण-वान्—भौतिक गुणों से सम्बन्ध न रखनेवाले; पुरुषः—परम पुरुष; यथा—जिस तरह।

जब उस आकाश में इन्द्रधनुष प्रकट हुआ जिसमें गर्जना करने का गुण था, तो वह सामान्य धनुषों से भिन्न था क्योंकि वह प्रत्यञ्चा पर टिका हुआ नहीं था। इसी प्रकार जब भगवान् इस जगत में, जो कि भौतिक गुणों की पारस्परिक क्रिया स्वरूप है, प्रकट होते हैं, तो वे सामान्य पुरुषों से भिन्न होते हैं क्योंकि वे समस्त भौतिक गुणों से मुक्त तथा समस्त भौतिक दशाओं से स्वतंत्र होते हैं।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद की टीका इस प्रकार है : ''कभी कभी बादलों की गर्जना के अतिरिक्त इन्द्रधनुष निकलता है, जो प्रत्यञ्चारहित धनुष जैसा प्रतीत होता है। सामान्यतया धनुष वक्र स्थिति में इसीलिए बना रहता है क्योंकि इसके दोनों सिरे प्रत्यञ्चा (डोरी) द्वारा बँधे रहते हैं किन्तु इन्द्रधनुष में कोई ऐसी प्रत्यञ्चा नहीं होती फिर भी वह आकाश में बहुत अच्छी तरह टिका रहता है। इसी प्रकार जब भगवान् इस भौतिक जगत में अवतरित होते हैं, तो वे सामान्य व्यक्ति की तरह प्रकट तो होते हैं किन्तु वे किसी भौतिक अवस्था पर टिके नहीं होते। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि वे अपनी अन्तरंगा शक्ति के द्वारा, जो कि बाह्य शक्ति के बन्धन से मुक्त है, प्रकट होते हैं। जो सामान्य प्राणी के लिए बन्धन है, वही भगवान् के लिए स्वतंत्रता है।''

न रराजोडुपश्छन्न: स्वज्योत्स्नाराजितैर्घनै: ।
अहंमत्या भासितया स्वभासा पुरुषो यथा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

न रराज—चमका नहीं; उडुप:—चन्द्रमा; छन्न:—ढका हुआ; स्व-ज्योत्स्ना—अपनी चाँदनी से; राजितै:—प्रकाशित; घनै:—बादलों से; अहम्-मत्या—मिथ्या अहंकार से; भासितया—प्रकाशित; स्व-भासा—अपनी ही द्युति से; पुरुष:—जीव; यथा—जिस तरह।

वर्षा ऋतु में बादलों से ढके रहने के कारण चन्द्रमा के प्रकट होने में व्यवधान पड़ता था और यही बादल चन्द्रमा की किरणों से प्रकाशित होते थे। इसी प्रकार इस भौतिक जगत में मिथ्या अहंकार के आवरण से जीव प्रत्यक्ष प्रकट नहीं हो पाता जबकि वह स्वयं शुद्ध आत्मा की चेतना से प्रकाशित होता है।

तात्पर्य : यहाँ पर दिया गया दृष्टान्त अत्युत्तम है। वर्षा ऋतु में हम आकाश में चन्द्रमा को नहीं देख सकते क्योंकि वह बादलों से ढका रहता है। किन्तु ये बादल चन्द्रमा की ही किरणों के प्रकाश से चमकीले बनते हैं। इसी प्रकार इस बद्ध जगत में हम प्रत्यक्षत: आत्मा को नहीं देख पाते क्योंकि हमारी चेतना मिथ्या अहंकार से आवृत रहती है, जो भौतिक जगत और भौतिक शरीर से एक मिथ्या पहचान है। तो भी आत्मा की निजी चेतना से ही मिथ्या अहंकार प्रकाशित होता है।

जैसाकि *गीता* में वर्णन हुआ है, आत्मा की शक्ति चेतना है और जब यह चेतना मिथ्या अहंकार के पर्दे से होकर प्रकट होती है, तो वह धुँधली भौतिक चेतना के रूप में प्रकट होती है, जिसमें आत्मा या ईश्वर की प्रत्यक्ष दृष्टि नहीं होती। भौतिक जगत में बड़े से बड़े दार्शनिक परम सत्य के विषय में बोलते समय अंतत: धुँधले द्वैत का सहारा लेते हैं जिस प्रकार कि बादल से ढका आकाश चन्द्रमा की चाँदनी को धुँधले तथा अप्रत्यक्ष रूप में ही प्रदर्शित करता है।

भौतिक जीवन में हमारा मिथ्या अहंकार प्राय: उत्साहप्रद, आशापूर्ण तथा विभिन्न सांसारिक मामलों से परिचित-सा लगता है और ऐसी चेतना ही हमें इस जगत में आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करती है। किन्तु सचाई तो यह है कि हम अपनी मूल शुद्ध चेतना के, जो कि कृष्णभावनामृत अर्थात् आत्मा और ईश्वर का सीधा निरूपण है, धुँधले प्रतिबिम्ब का ही अनुभव करते हैं। इसकी परवाह न करते हुए कि यह मिथ्या अहंकार हमारी असली आध्यात्मिक चेतना को जो पूर्णरूपेण ज्योतिर्मय और आनंदमय है मन्द बनाता है। हम त्रुटिवश सोचते हैं कि भौतिक चेतना ज्ञान तथा आनन्द से ओतप्रोत

है। इसकी तुलना इस विचार से की जा सकती है कि प्रकाशवान बादल रात में आकाश को प्रकाशित करते हैं जबकि तथ्य यह है कि चाँदनी आकाश को प्रकाशित करती है और बादल तो चाँदनी के मार्ग में बाधक बनते हैं और उसे मन्द बनाते हैं। बादल इसलिए प्रकाशमय प्रतीत होते हैं क्योंकि वे चन्द्रमा की चमकीली किरणों को छानते तथा अवरुद्ध करते हैं। इसी प्रकार कभी कभी भौतिक चेतना आनन्दमय या प्रकाशयुक्त प्रतीत होती है क्योंकि यह आत्मा से आनेवाली मूल आनन्दमय तथा प्रकाशित चेतना को रोक या छान रही होती है। यदि हम इस श्लोक में दिये हुए कुशल दृष्टान्त को समझ सकें तो सरलता से कृष्णभावनामृत में आगे बढ़ सकते हैं।

मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दञ्छिखण्डिनः ।
गृहेषु तप्तनिर्विण्णा यथाच्युतजनागमे ॥ २० ॥

शब्दार्थ

मेघ—बादलों का; आगम—आगमन होने से; उत्सवाः—उत्सव मनानेवाले; हृष्टाः—प्रसन्न हुए; प्रत्यनन्दन्—अभिनन्दन हेतु चिल्ला पड़े; शिखण्डिनः—मोरगण; गृहेषु—अपने घरों में; तप्त—दुखित; निर्विण्णाः—और तब सुखी बनते हैं; यथा—जिस तरह; अच्युत—अच्युत भगवान् के; जन—भक्तों के; आगमे—आगमन पर।

जब मोरों ने बादलों को आते देखा तो वे उल्लासित हो गये और हर्षयुक्त अभिनन्दन में टेरने लगे जिस तरह गृहस्थ जीवन में दुखित लोग अच्युत भगवान् के शुद्ध भक्तों के आगमन पर हर्षित हो जाते हैं।

तात्पर्य : शुष्क ग्रीष्म ऋतु के बाद प्रथम गर्जन करते वर्षा के बादलों के आगमन के साथ ही मोर प्रफुल्लित हो उठते हैं और अत्यधिक सुख में नाचने लगते हैं। श्रील प्रभुपाद की टीका है : "हमें इसका व्यावहारिक अनुभव है कि कृष्णभावनामृत में सम्मिलित होने के पूर्व हमारे बहुत से शिष्य शुष्क और खिन्न थे किन्तु भक्तों के सम्पर्क में आने के बाद वे अब प्रफुल्लित मोरों की तरह नाच रहे हैं।"

पीत्वापः पादपाः पद्भिरासन्नानात्ममूर्तयः ।
प्राक्क्षामास्तपसा श्रान्ता यथा कामानुसेवया ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

पीत्वा—पीकर; आपः—जल; पाद-पाः—वृक्ष; पद्भिः—अपने पाँवों से; आसन्—धारण कर लिया; नाना—विविध; आत्म-मूर्तयः—शारीरिक स्वरूप; प्राक्—पहले; क्षामाः—क्षीण; तपसा—तपस्या से; श्रान्ताः—थके हुए; यथा—जिस तरह; काम-अनुसेवया—प्राप्त वांछित फलों को भोगकर के।

जो वृक्ष दुबले हो गए थे तथा सूख गये थे उनके शरीर के विभिन्न अंग अपनी जड़ों (पाँवों)

से वर्षा का नया जल पाकर लहलहा उठे। इसी तरह तपस्या के कारण जिसका शरीर पतला और दुर्बल हो जाता है, वह पुनः उस तपस्या के माध्यम से प्राप्त भौतिक वस्तुओं का भोग करके स्वस्थ शरीरवाला दिखने लगता है।

तात्पर्य : *पाद* शब्द का अर्थ है ''पाँव'' तथा *पा* का अर्थ है ''पीना''। वृक्ष *पादप* कहलाते हैं क्योंकि वे अपनी जड़ों से जल पीते हैं, जो उनके पैरों के तुल्य हैं। वर्षा का नवीन जल पीकर वृन्दावन के वृक्षों में नई पत्तियाँ, कलियाँ तथा फूल आने लगे और उनमें नवीन वृद्धि होने लगी। इसी तरह भौतिकतावादी व्यक्ति प्राय: अपनी अभीप्सित वस्तुएँ प्राप्त करने के लिए तपस्या करते हैं। उदाहरणार्थ, अमरीका के राजनैतिक व्यक्ति अपने चुनाव के अभियान के समय देहातों की यात्रा करते समय कठोर तपस्या करते हैं। इसी तरह व्यापारी लोग भी अपने व्यापार को सफल बनाने के लिए निजी सुख-सुविधा को तिलांजलि दे देते हैं। ऐसे तपस्वी व्यक्ति तपस्या का फल प्राप्त करने पर पुनः स्वस्थ तथा संतुष्ट हो जाते हैं जिस तरह वृक्ष शुष्क तथा तप्त ग्रीष्म की तपस्या सहन करने के बाद वर्षा का जल उत्सुकता से पीकर बढ़ने लगते हैं।

सरःस्वशान्तरोधःसु न्यूषुरङ्गापि सारसाः ।
गृहेष्वशान्तकृत्येषु ग्राम्या इव दुराशयाः ॥ २२॥

शब्दार्थ

सरःसु—सरोवरों में; अशान्त—बेचैन; रोधःसु—तटों पर; न्यूषुः—रहे आते हैं; अङ्ग—हे राजा; अपि—निस्सन्देह; सारसाः—सारस पक्षी; गृहेषु—अपने अपने घरों में; अशान्त—बेचैन; कृत्येषु—कार्यों में; ग्राम्याः—भौतिकतावादी व्यक्ति; इव—निस्सन्देह; दुराशयाः—दूषित विचारवाले।

वर्षाकाल में सरोवरों के तटों के विक्षुब्ध होने पर भी सारस पक्षी तटों पर रहते रहे जिस तरह दूषित मनवाले भौतिकतावादी व्यक्ति अनेक उत्पातों के बावजूद घरों पर ही रहते जाते हैं।

तात्पर्य : वर्षा ऋतु के दौरान प्राय: सरोवरों के किनारों पर कीचड़ फैल जाता है और कभी कभी काँटेदार झाड़ियाँ, कूड़ा-करकट एवं पत्थर एकत्र हो जाते हैं। इन असुविधाओं के बावजूद बत्तखें तथा सारस पक्षी सरोवर के तटों पर ही मँडराते रहते हैं। इसी तरह गृहस्थ जीवन में असंख्य पीड़ाजनक घटनाएँ होती रहने के बावजूद भौतिकतावादी व्यक्ति अपने सयाने पुत्रों के हाथ में परिवार का भार सौंपने और आध्यात्मिक प्रगति की ओर अग्रसर होने का नाम तक नहीं लेता। वह ऐसे विचार को असभ्य और दिल दहलानेवाला मानता है क्योंकि वह परब्रह्म और उनसे अपने सम्बन्ध के विषय में

पूरी तरह अनजान रहता है।

जलौघैर्निरभिद्यन्त सेतवो वर्षतीश्वरे ।
पाषण्डिनामसद्वादैर्वेदमार्गाः कलौ यथा ॥ २३॥

शब्दार्थ

जल-ओघैः—बाढ़ के पानी से; निरभिद्यन्त—टूटे हुए; सेतवः—बाँध; वर्षति—जब वृष्टि होती है; ईश्वरे—इन्द्र; पाषण्डिनाम्—नास्तिकों के; असत्-वादैः—झूठे सिद्धान्तों से; वेद-मार्गाः—वेदों के पथ; कलौ—कलियुग में; यथा—जिस तरह।

जब इन्द्र ने अपनी वर्षा छोड़ भेजी तो बाढ़ के पानी से खेतों में सिंचाई के बाँध उसी तरह टूट गये जिस तरह कलियुग में नास्तिकों के सिद्धान्तों से वैदिक आदेशों की सीमाएँ टूट जाती हैं।

व्यमुञ्चन्वायुभिर्नुन्ना भूतेभ्यश्चामृतं घनाः ।
यथाशिषो विश्पतयः काले काले द्विजेरिताः ॥ २४॥

शब्दार्थ

व्यमुञ्चन्—मुक्त किया; वायुभिः—वायु के द्वारा; नुन्नाः—प्रेरित; भूतेभ्यः—सारे जीवों के लिए; च—तथा; अमृतम्—अमृत तुल्य जल; घनाः—बादल; यथा—जिस तरह; आशिषः—दातव्य आशीर्वाद; विट्-पतयः—राजा; काले काले—समय समय पर; द्विज—ब्राह्मणों द्वारा; ईरिताः-एन्चोउरगेद्.

वायु द्वारा प्रेरित बादलों ने सारे जीवों के लाभ हेतु अपना अमृत तुल्य जल उसी तरह विमुक्त किया जिस तरह राजागण अपने ब्राह्मण पुरोहितों के आदेशानुसार अपनी प्रजा में दान बाँटते हैं।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद की टीका है : ''वर्षा ऋतु में वायु द्वारा उछाले गये बादल जल प्रदान करते हैं जिसका स्वागत अमृत के समान होता है। जब वेदों के अनुयायी ब्राह्मणजन राजा तथा धनी व्यापारी जैसे समृद्ध व्यक्तियों को बड़े बड़े यज्ञ सम्पन्न करने के लिए दान देने के लिए प्रोत्साहित करते हैं, तो ऐसी सम्पत्ति का वितरण भी अमृत तुल्य होता है। मानव समाज के चातुर्वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—पारस्परिक सहयोग से शान्तिपूर्वक रहने के लिए हैं किन्तु ऐसा तभी सम्भव है जब उनका मार्गदर्शन ऐसे कुशल वैदिक ब्राह्मण करें जो यज्ञ करते हों और धन का समान वितरण करें।

एवं वनं तद्वर्षिष्ठं पक्वखर्जुरजम्बुमत् ।
गोगोपालैर्वृतो रन्तुं सबलः प्राविशद्धरिः ॥ २५॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; वनम्—जंगल में; तत्—उस; वर्षिष्ठम्—अतीव शोभायमान; पक्व—पके; खर्जुर—खजूर; जम्बु—तथा जामुन; मत्—से युक्त; गो—गौवों; गोपालैः—तथा ग्वालबालों द्वारा; वृतः—घिरे हुए; रन्तुम्—खेलने के उद्देश्य से; स-बलः—बलराम सहित; प्राविशत्—प्रवेश किया; हरिः—कृष्ण ने।

जब वृन्दावन का जंगल पके खजूरों तथा जामुन के फलों से लदकर इस प्रकार शोभायमान था, तो भगवान् श्रीकृष्ण अपनी गौवों तथा ग्वालबालों से घिरकर एवं श्रीबलराम के साथ उस वन में आनन्द मनाने के लिए प्रविष्ट हुए।

धेनवो मन्दगामिन्य ऊधोभारेण भूयसा ।
ययुर्भगवताहूता द्रुतं प्रीत्या स्नुतस्तनाः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

धेनवः—गौवें; मन्द-गामिन्यः—मन्द गति से चलनेवाली; ऊधः—अपने थनों के; भारेण—भार से; भूयसा—अत्यधिक; ययुः—गईं; भगवता—भगवान् द्वारा; आहूताः—बुलाई जाने पर; द्रुतम्—शीघ्र; प्रीत्या—स्नेहवश; स्नुत—नम; स्तनाः—स्तन, या चूचुक।

गौवों को अपने दूध से भरे थनों के भार के कारण मन्द गति से चलना पड़ा किन्तु ज्योंही भगवान् ने उन्हें बुलाया वे तुरन्त दौड़ पड़ीं और उनके प्रति स्नेह के कारण उनके स्तन गीले हो गये।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद की टीका है : ''गौवें नई घास चरकर काफी पुष्ट हो गईं थी और उनके थन दूध से भर गये। जब भगवान् कृष्ण ने नाम ले लेकर उन्हें पुकारा तो वे स्नेहवश तुरन्त उनके पास आ गईं और उनकी इस हर्षावस्था में उनके थनों से दूध बहने लगा।''

वनौकसः प्रमुदिता वनराजीर्मधुच्युतः ।
जलधारा गिरेर्नादादासन्ना ददृशे गुहाः ॥ २७॥

शब्दार्थ

वन-ओकसः—वनवासी कन्याएँ; प्रमुदिताः—हर्षित; वन-राजीः—जंगल के वृक्ष; मधु-च्युतः—मीठा रस टपकाते हुए; जल-धाराः—झरने; गिरेः—पर्वतों पर; नादात्—उनकी प्रतिध्वनि से; आसन्नाः—निकट ही; ददृशे—देखा; गुहाः—गुफाएँ।

भगवान् ने हर्षित वनवासी कन्याओं, मधुर रस टपकाते वृक्षों तथा पर्वतीय झरनों को देखा जिनकी प्रतिध्वनि से सूचित हो रहा था कि पास ही गुफाएँ हैं।

क्वचिद्वनस्पतिक्रोडे गुहायां चाभिवर्षति ।
निर्विश्य भगवान्रेमे कन्दमूलफलाशनः ॥ २८॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी कभी; वनस्पति—वृक्ष के; क्रोडे—कोटर में; गुहायाम्—गुफा में; च—अथवा; अभिवर्षति—वर्षा होने पर; निर्विश्य—प्रवेश करके; भगवान्—भगवान् ने; रेमे—रमण किया; कन्द-मूल—कन्दमूल, जड़ें; फल—तथा फल; अशनः—खाकर।

जब वर्षा होती तो भगवान् कभी किसी गुफा में, तो कभी वृक्ष के कोटर में घुस जाते जहाँ वे खेलते तथा कन्दमूल और फल खाते।

तात्पर्य : श्रील सनातन गोस्वामी बतलाते हैं कि वर्षा ऋतु में कन्दमूल अत्यन्त कोमल तथा स्वादिष्ट हो जाते हैं और भगवान् कृष्ण जंगली फलों के साथ साथ उन्हें भी खाया करते थे। कृष्ण तथा उनके बालमित्र कभी किसी वृक्ष के कोटर में या फिर गुफा के भीतर बैठकर वर्षा के रुकने तक प्रतीक्षा करते हुए क्रीड़ाओं का आनन्द उठाते थे।

दध्योदनं समानीतं शिलायां सलिलान्तिके ।
सम्भोजनीयैर्बुभुजे गोपैः सङ्कर्षणान्वितः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

दधि-ओदनम्—दही के साथ मिला भात; समानीतम्—भेजा हुआ; शीलायाम्—पत्थर की चट्टान पर; सलिल-अन्तिके—जल के निकट; सम्भोजनीयैः—अपने साथ भोजन करनेवाले; बुभुजे—भोजन किया; गोपैः—ग्वालबालों के साथ; सङ्कर्षण-अन्वितः—बलराम समेत।

भगवान् कृष्ण श्रीबलराम तथा ग्वालबालों के साथ बैठकर घर से भेजे गये दही-भात को भगवान् संकर्षण और ग्वालबालों के साथ खाते जो सदैव उनके साथ ही भोजन किया करते थे। वे पानी के निकट के किसी विशाल शिला पर बैठकर भोजन करते।

शाद्वलोपरि संविश्य चर्वतो मीलितेक्षणान् ।
तृप्तान्वृषान्वत्सतरान्गाश्च स्वोधोभरश्रमाः ॥ ३० ॥
प्रावृट्श्रियं च तां वीक्ष्य सर्वकालसुखावहाम् ।
भगवान्पूजयां चक्रे आत्मशक्त्युपबृंहिताम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

शाद्वल—घास के मैदान के; उपरि—ऊपर; संविश्य—बैठकर; चर्वतः—चरती हुई; मीलित—बन्द; ईक्षणान्—आँखों को; तृप्तान्—संतुष्ट; वृषान्—साँड़ों को; वत्सतरान्—बछड़ों को; गाः—गौवों को; च—और; स्व—अपने अपने; ऊधः—थनों के; भर—भार से; श्रमाः—थकी; प्रावृट्—वर्षा ऋतु का; श्रियम्—ऐश्वर्य; च—तथा; ताम्—उसको; वीक्ष्य—देखकर; सर्व-काल—सदैव; सुख—आनन्द; आवहाम्—देते हुए; भगवान्—भगवान् ने; पूजयाम् चक्रे—सम्मान किया; आत्म-शक्ति—अपनी अन्तरंगा शक्ति से; उपबृंहिताम्—विस्तार किया।

भगवान् कृष्ण ने हरी घास पर बैठे और आँखें बन्द किये चरते हुए संतुष्ट साँड़ों, बछड़ों तथा गौवों पर नजर डाली और देखा कि गौवें अपने दूध से भरे भारी थनों के भार से थक गई हैं। इस

तरह परम आनन्द के शाश्वत स्रोत वृन्दावन की वर्षा ऋतु के सौन्दर्य और ऐश्वर्य का निरीक्षण करते हुए भगवान् ने उस ऋतु को नमस्कार किया जो उन्हीं की अन्तरंगा शक्ति का विस्तार थी।

तात्पर्य : वृन्दावन में वर्षा ऋतु का अनुपम सौन्दर्य श्रीकृष्ण के आनन्द-विहार में वृद्धि करने के हेतु है। इसलिए भगवान् के प्रेमालापों के लिए पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए उनकी अन्तरंगा शक्ति इस अध्याय में वर्णित सारे प्रबन्ध करती है।

एवं निवसतोस्तस्मिन्रामकेशवयोर्व्रजे ।
शरत्समभवद्व्यभ्रा स्वच्छाम्ब्वपरुषानिला ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; निवसतोः—दोनों के रहते हुए; तस्मिन्—उस; राम-केशवयोः—राम तथा केशव के; व्रजे—वृन्दावन में; शरत्—शरद ऋतु; समभवत्—पूरी तरह प्रकट हो आई; व्यभ्रा—बादलों से मुक्त आकाश; स्वच्छ-अम्बु—स्वच्छ जल वाले; अपरुष-अनिला—तथा मन्द वायु।

इस तरह जब भगवान् राम तथा भगवान् केशव वृन्दावन में रह रहे थे तो शरद ऋतु आ गई जिसमें आकाश बादलों से रहित, जल स्वच्छ तथा वायु मन्द हो जाती है।

शरदा नीरजोत्पत्त्या नीराणि प्रकृतिं ययुः ।
भ्रष्टानामिव चेतांसि पुनर्योगनिषेवया ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

शरदा—शरद ऋतु के प्रभाव से; नीरज—कमल के फूल; उत्पत्त्या—फिर से उत्पन्न करनेवाला; नीराणि—जल समूह; प्रकृतिम्—अपनी प्राकृतिक अवस्था में (स्वच्छ); ययुः—हो गये; भ्रष्टानाम्—पतितों के; इव—सदृश; चेतांसि—मन; पुनः—एक बार फिर; योग—भक्ति के; निषेवया—अभ्यास से।

कमलपुष्पों को पुनः उत्पन्न करनेवाली शरद ऋतु ने विविध जलाशयों को पूर्ववत् स्वच्छ (निर्मल) बना दिया जिस तरह कि भक्तियोग पतित योगियों के मनों को पुनः इस ओर लौटने पर शुद्ध बनाता है।

व्योम्नोऽब्भ्रं भूतशाबल्यं भुवः पङ्कमपां मलम् ।
शरज्जहाराश्रमिणां कृष्णे भक्तिर्यथाशुभम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

व्योम्नः—आकाश में; अप्-भ्रम्—बादल; भूत—पशुओं की; शाबल्यम्—बहुलता; भुवः—पृथ्वी के; पङ्कम्—कीचड़; अपाम्—जल का; मलम्—मैल; शरत्—शरद ऋतु ने; जहार—हटा दिया; आश्रमिणाम्—मानव समाजके चारों आश्रमों के सदस्यों का; कृष्णे—कृष्ण में; भक्तिः—भक्ति; यथा—जिस तरह; अशुभम्—सारे अशुभ को।

शरद ऋतु ने आकाश से बादलों को हटा दिया, पशुओं को भीड़भाड़ भरी जगहों से

निकाल लिया, पृथ्वी के कीचड़ को साफ कर दिया तथा जल के गँदलेपन को दूर कर दिया जिस तरह कि भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति चारों आश्रमों के सदस्यों को उनकी अपनी अपनी व्याधियों से मुक्त कर देती है।

तात्पर्य : हर व्यक्ति को चार आश्रमों में से अपने आश्रम के अनुरूप नियत कर्तव्य करने चाहिए। ये आश्रम हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। ब्रह्मचारी को विद्यार्थी जीवन में अनेक निम्न कार्य करने होते हैं किन्तु ज्यों ज्यों वह कृष्ण की प्रेमाभक्ति में आगे बढ़ता जाता है उसके गुरुजन उसके आध्यात्मिक पद को मान्यता देते हुए उससे उच्चतर कर्तव्य करने को कहते हैं। गृहस्थ को पत्नी तथा सन्तान के लिए निरन्तर अनगनित कार्य करते रहने से ऊब जाना पड़ता है किन्तु ज्योंही वह कृष्ण की प्रेमाभक्ति में आगे बढ़ पड़ता है उसके भौतिक कार्य घटकर कम से कम होते जाते हैं।

वानप्रस्थ आश्रम में रहनेवाले लोगों को भी अनेक कार्य करने होते हैं जिनके स्थान पर कृष्ण की भावमयी प्रेमाभक्ति की जा सकती है। इसी तरह संन्यास आश्रम में भी अनेक प्राकृतिक कठिनाइयाँ हैं जिनमें से प्रमुख है परब्रह्म के निराकार पक्ष का ध्यान करने की प्रवृत्ति। *भगवद्गीता* (१२.५) में कहा गया है—*क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसाम्*—जिनके मन भगवान् के अव्यक्त निर्विशेष स्वरूप में आसक्त हैं उनके लिए प्रगति कर पाना अत्यधिक पीड़ाजनक होता है। किन्तु ज्योंही संन्यासी हर नगर तथा हर ग्राम में कृष्ण की महिमा का प्रचार करना शुरू कर देता है, तो उसका जीवन सुन्दर आध्यात्मिक साक्षात्कार की ओर अग्रसर होता हुआ आनन्दमय बन जाता है।

शरद ऋतु में आकाश पुनः प्राकृतिक नीला रंग धारण कर लेता है। बादलों का समाप्त हो जाना ब्रह्मचारी जीवन के कष्टप्रद कर्तव्यों के समाप्त होने जैसा है। चूँकि ग्रीष्म के तुरन्त बाद वर्षा ऋतु आती है इसलिए पशु कभी कभी मूसलाधार वर्षा से विचलित होकर पास-पास ठुँस जाते हैं। किन्तु शरद ऋतु संकेत देती है कि वे अपने अपने क्षेत्रों में जाकर शान्तिपूर्वक रहें। यह गृहस्थ द्वारा पारिवारिक कर्तव्यों की उलझन से छूटकर अपने तथा अपने परिवार के असली लक्ष्य आध्यात्मिक उत्तरदायित्वों में अधिक समय लगाने के तुल्य है। पृथ्वी से कीचड़ हटने की तुलना वानप्रस्थ जीवन की असुविधाओं के हटाये जाने से की जा सकती है और जल का स्वच्छ होना, मैथुन-कामना के बिना, कृष्ण-महिमा के प्रचार द्वारा, संन्यास-जीवन के शुद्धीकरण के तुल्य है।

सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः शुभ्रवर्चसः ।
यथा त्यक्तैषणाः शान्ता मुनयो मुक्तकिल्बिषाः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सर्व-स्वम्—पास की हर वस्तु; जल-दाः—बादल; हित्वा—त्यागकर; विरेजुः—चमकने लगे; शुभ्र—शुद्ध; वर्चसः—अपना तेज; यथा—जिस प्रकार; त्यक्त-एषणाः—समस्त इच्छाओं का परित्याग करनेवाले; शान्ताः—शान्त; मुनयः—मुनिगण; मुक्त-किल्बिषाः—बुरी लालसाओं से मुक्त।

बादल अपना सर्वस्व त्यागकर शुद्ध तेज से उसी तरह चमकने लगे जिस तरह शान्त मुनिगण अपनी समस्त भौतिक इच्छाएँ त्यागने पर पापपूर्ण लालसाओं से मुक्त हो जाते हैं।

तात्पर्य : जब बादल जल से पूरित होते हैं, तो वे श्याम रंग के हो जाते हैं और सूर्य की किरणों को ढक लेते हैं जिस तरह अशुद्ध मनुष्य का भौतिक मन भीतर चमकनेवाली आत्मा को ढक लेता है। किन्तु जब बादल अपना जल बरसाकर सफेद पड़ जाते हैं तब वे चमकीली सूर्य की किरणों को प्रतिबिम्बित करते हैं जिस तरह कि भौतिक इच्छाओं तथा पापपूर्ण लालसाओं को त्याग देनेवाला व्यक्ति शुद्ध बन जाता है और तब वह अपनी आत्मा तथा अन्तस्थ परमात्मा को अच्छी तरह प्रतिबिम्बित करता है।

गिरयो मुमुचुस्तोयं क्वचिन्न मुमुचुः शिवम् ।
यथा ज्ञानामृतं काले ज्ञानिनो ददते न वा ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

गिरयः—पर्वतों ने; मुमुचुः—मुक्त किया; तोयम्—अपना जल; क्वचित्—कभी कभी; न मुमुचुः—नहीं मुक्त किया; शिवम्—शुद्ध; यथा—जिस तरह; ज्ञान—दिव्य ज्ञान रूपी; अमृतम्—अमृत; काले—उपयुक्त समय पर; ज्ञानिनः—ज्ञानी लोग; ददते—प्रदान करते हैं; न वा—अथवा नहीं।

इस ऋतु में पर्वत कभी तो अपना शुद्ध जल मुक्त करते थे और कभी नहीं करते थे जिस तरह कि दिव्य विज्ञान में पटु लोग कभी तो दिव्य ज्ञान रूपी अमृत प्रदान करते हैं और कभी कभी नहीं करते।

तात्पर्य : इस अध्याय के प्रथम भाग में वर्षा ऋतु का वर्णन हुआ है और दूसरे भाग में वर्षा के बाद आनेवाली शरद ऋतु का। वर्षा ऋतु में पर्वतों से जल सदैव बहता रहता है किन्तु शरद ऋतु में कभी बहता है और कभी नहीं भी बहता। इसी तरह महान् सन्त उपदेशक कभी तो आध्यात्मिक ज्ञान के विषय में विस्तार से बतलाते हैं और कभी कभी मौन रहते हैं। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति परमात्मा के

निकट सम्पर्क में रहता है, अतः परमात्मा की इच्छानुसार पटु आध्यात्मिक विज्ञानी परिस्थिति-विशेष को देखते हुए परब्रह्म के विषय में बातें कर भी सकते हैं और नहीं भी कर सकते।

नैवाविदन्क्षीयमाणं जलं गाधजलेचराः ।
यथायुरन्वहं क्षय्यं नरा मूढाः कुटुम्बिनः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एव—निस्सन्देह; अविदन्—जान पाये; क्षीयमाणम्—कम होते हुए; जलम्—जल को; गाध-जले—छिछले जल में; चराः—गति करनेवाले; यथा—जिस तरह; आयुः—उनकी आयु; अनु-अहम्—प्रतिदिन; क्षय्यम्—घटती हुई; नराः—लोग; मूढाः—मूर्ख; कुटुम्बिनः—परिवार के सदस्यों के साथ रहते हुए।

अत्यन्त छिछले जल में तैरनेवाली मछलियाँ यह नहीं जान पाईं कि जल घट रहा है, जिस तरह कि परिवार के मूर्ख लोग यह नहीं देख पाते कि हर दिन के बीतने पर उनकी बाकी आयु किस तरह क्षीण होती जा रही है।

तात्पर्य : वर्षा ऋतु के बाद जल क्रमशः घटता जाता है किन्तु बेखबर मछलियाँ इसे नहीं समझ पातीं अतः वे झील तथा नदियों के तट पर प्रायः भटक जाती हैं। इसी तरह गृहस्थ जीवन में व्यस्त रहनेवाले लोग यह नहीं समझ पाते कि उनकी बाकी आयु निरन्तर घटती जा रही है। इस तरह वे अपनी कृष्णभक्ति पूरी नहीं कर पाते और जन्म-मृत्यु के चक्कर में भटक जाते हैं।

गाधवारिचरास्तापमविन्दञ्छरदर्कजम् ।
यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः ॥ ३८॥

शब्दार्थ

गाध-वारि-चराः—छिछले जल में घूमनेवाली; तापम्—कष्ट; अविन्दन्—अनुभव किया; शरत्-अर्क-जम्—शरद ऋतु के सूर्य के कारण; यथा—जिस तरह; दरिद्रः—निर्धन व्यक्ति; कृपणः—कंजूस; कुटुम्बी—पारिवारिक जीवन में मग्न; अविजित-इन्द्रियः—इन्द्रियों पर संयम न करनेवाला।

जिस प्रकार कंजूस तथा निर्धन कुटुम्बी अपनी इन्द्रियों को वश में न रखने के कारण कष्ट पाता है उसी तरह छिछले जल में तैरनेवाली मछलियों को शरदकालीन सूर्य का ताप सहना पड़ता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक के अनुसार यद्यपि बेखबर मछलियों को जल घटने का कोई पता नहीं चल पाता, किन्तु यह सोचा जा सकता है कि तब भी ये मछलियाँ सुखी होंगी क्योंकि कहावत है "अज्ञान वरदान होता है।" किन्तु अज्ञानी मछलियाँ भी शरदकालीन सूर्य के ताप से झुलसने लगती हैं।

इसी तरह भले ही कोई आसक्त कुटुम्बी आध्यात्मिक जीवन के प्रति अपने अज्ञान को वरदान माने किन्तु पारिवारिक जीवन की समस्याओं से वह सदैव विचलित होता रहता है और उसकी अनियंत्रित इन्द्रियाँ उसे दरअसल वेदना की स्थिति में डाल देती हैं।

शनैः शनैर्जहुः पङ्कं स्थलान्यामं च वीरुधः ।
यथाहंममतां धीराः शरीरादिष्वनात्मसु ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

शनैः शनैः—धीरे धीरे; जहुः—त्याग दिया; पङ्कम्—अपना कीचड़; स्थलानि—स्थल के स्थानों ने; आमम्—कच्ची अवस्था में; च—तथा; वीरुधः—पौधे; यथा—जिस तरह; अहम्-ममताम्—अहंभाव तथा ममता को; धीराः—धीर मुनि; शरीर-आदिषु—भौतिक शरीर तथा अन्य बाह्य वस्तुओं पर केन्द्रित; अनात्मसु—आत्मा से सर्वथा पृथक्।

धीरे धीरे स्थल के विभिन्न भागों ने अपनी कीचड़-युक्त अवस्था त्याग दी और पौधे अपनी कच्ची अवस्था से आगे बढ़ गये। यह उसी तरह हुआ जिस तरह कि धीर मुनि अपना अहंभाव तथा ममता त्याग देते हैं। ये वास्तविक आत्मा—अर्थात् भौतिक शरीर तथा इसके उत्पादों से सर्वथा भिन्न वस्तुओं—पर आधृत होते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में आगत *आदिषु* शब्द शरीर के उप-उत्पादों—यथा सन्तान, घर तथा सम्पत्ति—का सूचक है।

निश्चलाम्बुरभूत्तूष्णीं समुद्रः शरदागमे ।
आत्मन्युपरते सम्यङ्मुनिर्व्युपरतागमः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

निश्चल—जड़; अम्बुः—जल; अभूत्—हो गया; तूष्णीम्—शान्त; समुद्रः—समुद्र; शरत्—शरद ऋतु के; आगमे—आगमन से; आत्मनि—जब आत्मा; उपरते—भौतिक कार्यों से विरक्त; सम्यक्—पूरी तरह; मुनिः—मुनि; व्युपरत—त्यागकर; आगमः—वैदिक मंत्रों का पाठ।

शरद ऋतु के आते ही समुद्र तथा सरोवर शान्त हो गये, उनका जल उस मुनि की तरह शान्त हो गया जो सारे भौतिक कार्यों से विरत हो गया हो और जिसने वैदिक मंत्रों का पाठ बन्द कर दिया हो।

तात्पर्य : मनुष्य भौतिक उन्नति, योगशक्ति तथा निर्विशेष मोक्ष के हेतु सामान्य वैदिक मंत्रों का पाठ करता है। किन्तु जब मुनि निजी इच्छाओं से पूर्णतया मुक्त होता है, तो वह एकमात्र परमेश्वर के दिव्य यश का उच्चारण करता है।

केदारेभ्यस्त्वपोऽगृह्णन्कर्षका दृढसेतुभिः ।
यथा प्राणैः स्रवज्ज्ञानं तन्निरोधेन योगिनः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

केदारेभ्यः—जलभरे धान के खेतों से; तु—तथा; अपः—जल; अगृह्णन्—ले लिया; कर्षकाः—कृषकों ने; दृढ—मजबूत; सेतुभिः—बाँधों से; यथा—जिस तरह; प्राणैः—इन्द्रियों से; स्रवत्—बहती हुई; ज्ञानम्—चेतना को; तत्—उन इन्द्रियों के; निरोधेन—संयम से; योगिनः—योगीगण।

जिस तरह योग का अभ्यास करनेवाले अपनी चेतना को क्षुब्ध इन्द्रियों द्वारा बाहर निकलने से रोकने के लिए अपनी इन्द्रियों को कठोर नियंत्रण में रखते हैं उसी तरह किसानों ने अपने धान के खेतों से जल को बहकर बाहर न जाने देने के लिए मजबूत मेंड़ें उठा दीं।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद की टीका है : "शरद में किसान अपने खेतों के भीतर का जल बचाने के लिए मजबूत मेड़ें बना देते हैं जिससे खेतों के भीतर का पानी बाहर न जा सके। चूँकि अब नई वर्षा की कोई आशा नहीं रहती अतएव वे खेत में जो भी पानी रहता है उसे बचाना चाहते हैं। इसी तरह जो व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार में वास्तव में बढ़ा-चढ़ा होता है, वह अपनी इन्द्रियों को नियंत्रित करके अपनी शक्ति की रक्षा करता है। यह सलाह दी जाती है कि पचास वर्ष की आयु होने पर मनुष्य पारिवारिक जीवन से विरक्त हो ले और अपनी शारीरिक शक्ति का उपयोग कृष्णभावनामृत की उन्नति हेतु करे। जब तक मनुष्य अपनी इन्द्रियों को वश में करके उन्हें मुकुन्द की दिव्य प्रेमाभक्ति में नहीं लगाता तब तक मोक्ष की कोई सम्भावना नहीं रहती।"

शरदर्कांशुजांस्तापान्भूतानामुडुपोऽहरत् ।
देहाभिमानजं बोधो मुकुन्दो व्रजयोषिताम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

शरत्-अर्क—शरदकालीन सूर्य की; अंशु—किरणों से; जान्—उत्पन्न; तापान्—कष्ट; भूतानाम्—सारे जीवों का; उडुपः—चन्द्रमा ने; अहरत्—हर लिया है; देह—शरीर के साथ; अभिमान-जम्—मिथ्या पहचान पर आधारित; बोधः—ज्ञान; मुकुन्दः—भगवान् कृष्ण ने; व्रज-योषिताम्—वृन्दावन की स्त्रियों के।

शरदकालीन चन्द्रमा ने सूर्य की किरणों से उत्पन्न कष्ट से सभी जीवों को छुटकारा दिला दिया जिस प्रकार कि मनुष्य का ज्ञान उसे अपने भौतिक शरीर से अपनी पहचान करने से उत्पन्न होनेवाले दुख से छुटकारा दिला देता है और जिस तरह भगवान् मुकुन्द वृन्दावन की स्त्रियों को उनके वियोग से उत्पन्न कष्ट से छुटकारा दिला देते हैं।

खमशोभत निर्मेघं शरद्विमलतारकम् ।
सत्त्वयुक्तं यथा चित्तं शब्दब्रह्मार्थदर्शनम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

खम्—आकाश; अशोभत—चमकने लगा; निर्मेघम्—बादलों से रहित; शरत्—शरद ऋतु में; विमल—स्वच्छ; तारकम्—तथा तारों से युक्त; सत्त्व-युक्तम्—सात्विक अच्छाई से प्रदत्त; यथा—जिस तरह; चित्तम्—चित्त को; शब्द-ब्रह्म—वैदिक शास्त्र का; अर्थ—तात्पर्य; दर्शनम्—प्रत्यक्ष अनुभव किया जानेवाला।.

बादलों से रहित तथा साफ दिखते तारों से भरा हुआ शरदकालीन आकाश उसी तरह चमकने लगा, जिस प्रकार वैदिक शास्त्रों के तात्पर्य का प्रत्यक्ष अनुभव करनेवाले की आध्यात्मिक चेतना करती है।

तात्पर्य : स्वच्छ तथा तारों से पूरित शरदकालीन आकाश की उपमा भक्त के शुद्ध हृदय से भी दी जा सकती है। आध्यात्मिक प्रकृति सदैव तेजोमय, स्वच्छ तथा आनन्दमय होती है और *वैकुण्ठ* कहलाने वाली यह आध्यात्मिक प्रकृति तुरन्त ही आत्मा की सारी इच्छाओं को तुष्ट कर देती है। कृष्णभावनामृत का यही रहस्य है।

अखण्डमण्डलो व्योम्नि रराजोडुगणैः शशी ।
यथा यदुपतिः कृष्णो वृष्णिचक्रावृतो भुवि ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

अखण्ड—अटूट; मण्डलः—गोला; व्योम्नि—आकाश में; रराज—चमकने लगा; उडु-गणैः—तारों के साथ; शशी—चन्द्रमा; यथा—जिस तरह; यदु-पतिः—यदुवंश के स्वामी; कृष्णः—कृष्ण; वृष्णि-चक्र—वृष्णियों के घेरे से; आवृतः—घिरे; भुवि—पृथ्वी पर।.

पूर्ण चन्द्रमा तारों से घिरकर आकाश में उसी तरह चमकने लगा, जिस तरह यदुवंश के स्वामी श्रीकृष्ण समस्त वृष्णियों से घिरकर पृथ्वी पर सुशोभित हो उठे।

तात्पर्य : श्रील सनातन गोस्वामी बतलाते हैं कि वृन्दावन में सदैव पूर्ण चन्द्रमा उदित रहता है और यह पूर्ण चन्द्रमा परब्रह्म श्रीकृष्ण की पूर्ण अभिव्यक्ति के तुल्य है। जब भगवान् कृष्ण इस धरा पर प्रकट थे तो वे वृष्णि वंश के प्रमुख सदस्यों यथा नन्द, उपनन्द, वसुदेव तथा अक्रूर से घिरे हुए होते थे।

आश्लिष्य समशीतोष्णं प्रसूनवनमारुतम् ।
जनास्तापं जहुर्गोप्यो न कृष्णहृतचेतसः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

आश्लिष्य—आलिंगन करके; सम—समान; शीत-उष्णम्—सर्द तथा गर्म के बीच; प्रसून-वन— पुष्पवन की; मारुतम्—वायु; जनाः—आम जनता; तापम्—कष्ट; जहुः—छोड़ सके; गोप्यः—गोपियाँ; न—नहीं; कृष्ण—कृष्ण द्वारा; हृत—चुराये गये; चेतसः—हृदय वाली।.

गोपियों के हृदय कृष्ण द्वारा हर लिये गये थे अतः उनके अतिरिक्त सारे लोग पुष्पों से लदे वन से आनेवाली वायु का आलिंगन करके अपने अपने कष्ट भूल गये। यह वायु न तो गर्म थी, न सर्द।

गावो मृगाः खगा नार्यः पुष्पिण्यः शरदाभवन् ।
अन्वीयमानाः स्ववृषैः फलैरीशक्रिया इव ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

गावः—गौवें; मृगाः—मृगियाँ; खगाः—चिड़ियाँ; नार्यः—स्त्रियाँ; पुष्पिण्यः—अपने अपने रजोकाल में; शरदा—शरद के कारण; अभवन्—हो गईं; अन्वीयमानाः—पीछा की गईं; स्व-वृषैः—अपने अपने संगियों द्वारा; फलैः—उत्तम परिणामों से; ईश-क्रियाः—भगवान् की सेवा में सम्पन्न कार्य; इव—सदृश।.

शरद ऋतु के प्रभाव से सारी गौवें, मृगियाँ, स्त्रियाँ तथा चिड़ियाँ ऋतुमती हो गईं और मैथुन सुख की खोज में उनके अपने-अपने जोड़े उनका पीछा करने लगे जिस प्रकार भगवान् की सेवा में किये गये कार्य स्वतः सभी प्रकार के लाभप्रद फल देते हैं।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद की टीका है : "शरद ऋतु के आगमन पर सारी गौवें, मृगियाँ, चिड़ियाँ तथा सभी स्त्रियाँ गर्भिणी हो जाती हैं, क्योंकि इस ऋतु में सामान्यतः सबके पति कामेच्छा के वशीभूत हो जाते हैं। यह उसी तरह है जैसे कि भगवान् की कृपा से अध्यात्मवादियों को जीवन-लक्ष्य का वर प्रदान किया जाता है। श्रील रूप गोस्वामी ने *उपदेशामृत* में उपदेश दिया है कि मनुष्य को चाहिए कि अतीव उत्साह, धैर्य तथा संकल्प के साथ भक्ति करे, यम-नियमों का पालन करे, अपने को भौतिक कल्मष से दूर रखे और भक्तों की संगति करे। इन नियमों का पालन करने पर उसे भक्ति का वांछित फल अवश्य प्राप्त होगा। जो मनुष्य धैर्यपूर्वक भक्ति के यम-नियमों का पालन करता है, वह कालक्रम में फल पाता है, जिस तरह पत्नियाँ गर्भ धारण करके वाँछित फल प्राप्त करती हैं।"

उदहृष्यन्वारिजानि सूर्योत्थाने कुमुद्विना ।
राज्ञा तु निर्भया लोका यथा दस्यून्विना नृप ॥ ४७॥

शब्दार्थ

उदहृष्यन्—प्रचुर मात्रा में फूल उठे; वारि-जानि—कमल; सूर्य—सूर्य; उत्थाने—उग आने पर; कुमुत्—कुमुदिनी, जो रात में फूलती है; विना—के अतिरिक्त; राज्ञा—राजा की उपस्थिति में; तु—निस्सन्देह; निर्भयाः—निडर; लोकाः—जनता; यथा—जिस तरह; दस्यून्—चोरों के; विना—अतिरिक्त; नृप—हे राजा।

हे राजा परीक्षित, जब शरदकालीन सूर्य उदित हुआ तो रात में फूलनेवाली कुमुदिनी के अतिरिक्त सारे कमल के फूल प्रसन्नतापूर्वक खिल गये जिस तरह कि सशक्त शासक की उपस्थिति में चोरों के अतिरिक्त सारे लोग निर्भय रहते हैं।

पुरग्रामेष्वाग्रयणैरिन्द्रियैश्च महोत्सवैः ।
बभौ भूः पक्वशष्याढ्या कलाभ्यां नितरां हरेः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

पुर—नगरों; ग्रामेषु—तथा ग्रामों में; आग्रयणैः—नवान्न ग्रहण करने के लिए वैदिक यज्ञ सम्पन्न करके; इन्द्रियैः—अन्य (सांसारिक) समारोहों द्वारा; च—तथा; महा-उत्सवैः—बड़े बड़े उत्सवों द्वारा; बभौ—सुशोभित हो उठी; भूः—पृथ्वी; पक्व—पका; शष्य—अन्न से; आढ्या—समृद्ध; कला—भगवान् की अंश रूप; आभ्याम्—उन दोनों (कृष्ण तथा बलराम) के साथ; नितराम्—अत्यधिक; हरेः—भगवान् का।

सभी नगरों तथा ग्रामों में लोगों ने नई फसल के नवान्न का स्वागत और आस्वादन करने के लिए वैदिक अग्नि-यज्ञ करके तथा स्थानीय प्रथा एवं परम्परा का अनुसरण करते हुए अन्य ऐसे ही समारोहों सहित बड़े-बड़े उत्सव मनाए। इस तरह नवान्न से समृद्ध एवं कृष्ण तथा बलराम की उपस्थिति के कारण विशेषतया सुन्दर दिखने वाली पृथ्वी भगवान् के अंश रूप में सुशोभित हो उठी।

तात्पर्य : *अग्रयणै* शब्द विशेष प्रामाणिक वैदिक यज्ञ का द्योतक है और *इन्द्रियै* शब्द लोकोत्सवों का सूचक है, जिनके सांसारिक ध्येय होते हैं।

श्रील प्रभुपाद की टीका इस प्रकार है : ''शरद ऋतु में खेत पके अन्न से पूर्ण हो जाते हैं। उस समय लोग फसल को देखकर प्रमुदित हो जाते हैं और अनेक उत्सव मनाते हैं यथा नवान्न जिसमें भगवान् को नये अन्न की भेंट दी जाती है। नवान्न सर्वप्रथम विभिन्न मन्दिरों के अर्चाविग्रहों को भेंट चढ़ाया जाता है और सभी लोगों को बुलाकर इन नवान्नों से बनाई गई खीर खिलाई जाती है। और भी पूजा की विधियाँ और धार्मिक उत्सव हैं, विशेषतया बंगाल में जहाँ सबसे बड़ा उत्सव दुर्गा-पूजा के नाम से मनाया जाता है।''

वणिङ्मुनिनृपस्नाता निर्गम्यार्थान्प्रपेदिरे ।

वर्षरुद्धा यथा सिद्धाः स्वपिण्डान्काल आगते ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

वणिक्—व्यापारीगण; मुनि—विरक्त साधुगण; नृप—राजा; स्नाताः—तथा ब्राह्मण विद्यार्थी; निर्गम्य—बाहर जाकर; अर्थान्—अपनी इच्छित वस्तुएँ; प्रपेदिरे—प्राप्त किया; वर्ष—वर्षा द्वारा; रुद्धाः—अवरुद्ध; यथा—जिस तरह; सिद्धाः—सिद्धपुरुष; स्व-पिण्डान्—इच्छित स्वरूपों को; काले—समय के; आगते—आने पर।

व्यापारी, मुनिजन, राजा तथा ब्रह्मचारी विद्यार्थी, जो वर्षा के कारण जहाँ तहाँ अटके पड़े थे अब बाहर जाने और अपने अभीष्ट पदार्थ प्राप्त करने के लिए स्वतंत्र थे जिस तरह इसी जीवन में सिद्धि प्राप्त व्यक्ति उपयुक्त समय आने पर भौतिक शरीर त्यागकर अपने अपने स्वरूप प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद की टीका है : ''वृन्दावन में भगवान् कृष्ण तथा बलराम की उपस्थिति के कारण शरद ऋतु अत्यन्त शोभामयी थी। व्यापारी, राजा तथा बड़े बड़े ऋषि-मुनि इच्छित फल प्राप्त करने के लिए बाहर जाने के लिए स्वतंत्र थे। इसी तरह अध्यात्मवादियों ने भी इस देहरूपी बन्धन से मुक्त हो जाने पर अभीष्ट प्राप्त किया। वर्षा ऋतु में व्यापारी वर्ग एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा नहीं कर सकता अत: उसे वांछित लाभ की प्राप्ति नहीं हो पाती। न ही राजन्य वर्ग एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करके जनता से कर वसूल कर सकता है। यहाँ तक कि साधुगण भी, जिन्हें दिव्य ज्ञान के प्रचार हेतु यात्रा करनी होती है, वर्षा ऋतु के कारण रुके रहते हैं। किन्तु शरद ऋतु में ये सभी अपने अपने आवास छोड़ देते हैं। अध्यात्मवादी चाहे वह ज्ञानी हो, या योगी अथवा भक्त, भौतिक शरीर होने से आध्यात्मिक लाभ का वास्तव में भोग नहीं कर पाता। किन्तु ज्योंही वह शरीर त्याग देता है अर्थात् मरणोपरान्त ज्ञानी ब्रह्मतेज में लीन हो जाता है, योगी उच्च लोकों में चला जाता है और भक्त भगवान् के निजधाम गोलोक वृन्दावन या वैकुण्ठ चला जाता है और इस तरह नित्य आध्यात्मिक जीवन का भोग करता है।''

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''वृन्दावन में वर्षा तथा शरद ऋतुएँ'' नामक बीसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter इक्कीस

गोपियों द्वारा कृष्ण के वेणुगीत की सराहना

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस प्रकार शरद ऋतु के आते ही कृष्ण ने वृन्दावन के मनोहर जंगल में प्रवेश किया और किस तरह उनकी बाँसुरी की ध्वनि सुनकर गोपियों ने प्रशंसा की।

ज्योंही भगवान् कृष्ण, भगवान् बलराम तथा उनके ग्वालसखा गौवें चराने के लिए जंगल में प्रविष्ट हुए, कृष्ण ने अपनी बाँसुरी बजानी प्रारम्भ कर दी। गोपियों ने जब यह मोहक वेणुगीत सुना तो वे समझ गईं कि कृष्ण जंगल में प्रवेश कर रहे हैं। तब उन्होंने कृष्ण की विविध लीलाओं का एक-दूसरे से बखान किया।

गोपियों ने कहा, ''गौवों को चरागाह ले जाते समय कृष्ण को वंशी बजाते देखना आँखों की सर्वोच्च सिद्धि है। इस वंशी ने ऐसे कौन-से पुण्यकर्म किए हैं जिससे यह श्रीकृष्ण के अधरों का खुलकर अमृत-पान कर सकती है—यह वरदान हम गोपिकाओं को मिल पाना कितना कठिन है? कृष्ण की वंशी सुनकर मोर नाचने लगते हैं और इन्हें नाचते देखकर अन्य सारे प्राणी स्तम्भित रह जाते हैं। अपने अपने विमानों में आकाश-मार्ग से यात्रा करनेवाली देवियाँ कामदेव से पीड़ित हो जातीं हैं और उनके वस्त्र शिथिल होने लगते हैं। इस वेणुगीत के अमृत को पीकर गौवों के कान खड़े हो जाते हैं, उनके बछड़े स्तम्भित खड़े रहते हैं और उनकी माताओं के थनों से पिया जा रहा दूध उनके मुख में ही रह जाता है। चिड़ियाँ ध्यानपूर्वक कृष्ण की बाँसुरी का गीत सुनती हुईं अपनी आँखें बन्द करके वृक्षों की टहनियों में शरण ले लेतीं हैं। प्रवहमान नदियाँ कृष्ण के प्रति माधुर्य आकर्षण से विचलित होकर अपना बहना बन्द करके अपनी लहरों रूपी हाथों से कृष्ण के चरणों का आलिंगन करने लगतीं हैं और बादल तो कृष्ण के सिर को धूप से बचाने के लिए छातों का काम करते हैं। शबर कन्याएँ भगवान् के चरणकमलों को अलंकृत करनेवाले लाल कुंकुम से रंजित घास को देखकर उसे सिन्दूर के बहाने अपने वक्षस्थलों तथा मुखों पर मलतीं हैं जिससे कामदेव द्वारा उत्पन्न उनके कष्ट दूर हो जाँय। गोवर्धन पर्वत भगवान् कृष्ण की पूजा हेतु दूब तथा विविध प्रकार के फल एवं कन्दमूल प्रदान करता है। सारे अचर प्राणी चरों के लक्षण प्रदर्शित करने लगे हैं और चर अचर बन गये हैं। ये सारी बातें अत्यन्त अद्‌भुत हैं।''

श्रीशुक उवाच

इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकरसुगन्धिना ।

न्यविशद्वायुना वातं स गोगोपालकोऽच्युतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इत्थम्—इस प्रकार से; शरत्—शरद ऋतु का; स्वच्छ—साफ; जलम्—जलयुक्त; पद्म-आकर—कमलपुष्पों से लदे सरोवर से; सु-गन्धिना—मीठी गंध से; न्यविशत्—प्रवेश किया; वायुना—वायु द्वारा; वातम्—चलायमान्; स—सहित; गो—गौवें; गोपालकः—तथा ग्वालबाल; अच्युतः—अच्युत भगवान् ने।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह वृन्दावन का जंगल स्वच्छ शारदीय जलाशयों से पूरित था और स्वच्छ जलाशयों में खिले कमल पुष्पों की सुगंधवाली वायु से शीतल था। अपनी गौवों तथा ग्वालसखाओं समेत अच्युत भगवान् ने उस जंगल में प्रवेश किया।

कुसुमितवनराजिशुष्मिभृङ्ग-
द्विजकुलघुष्टसरःसरिन्महीध्रम् ।
मधुपतिरवगाह्य चारयन्गाः
सहपशुपालबलश्चुकूज वेणुम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

कुसुमित—पुष्पित; वन-राजि—वृक्षों के समूहों में; शुष्मि—उन्मत्त; भृङ्ग—भौंरे; द्विज—पक्षी; कुल—तथा समूह; घुष्ट—गुंजार करते; सरः—जलाशय; सरित्—नदियाँ; महीध्रम्—तथा पर्वत; मधु-पतिः—मधु के स्वामी (कृष्ण); अवगाह्य—प्रवेश करके; चारयन्—चराते हुए; गाः—गौवें; सह-पशु-पाल-बलः—ग्वालबालों तथा बलराम के संग; चुकूज—बजाया; वेणुम्—अपनी वंशी को।

वृन्दावन के सरोवर, नदियाँ तथा पर्वत पुष्पित वृक्षों पर मँडराते उन्मत्त भौंरों तथा पक्षियों के समूहों से गुंजरित हो रहे थे। मधुपति (श्रीकृष्ण) ने ग्वालबालों तथा बलराम के संग उस जंगल में प्रवेश किया और गौवें चराते हुए वे अपनी वंशी बजाने लगे।

तात्पर्य : *चुकूज वेणुम्* शब्दों से यह ध्वनित होता है कि कृष्ण ने बड़ी ही कुशलतापूर्वक अपनी वंशी की ध्वनि तथा वृन्दावन के रंगबिरंगे पक्षियों के कलकूजन को मिला-जुला रखा था। इस तरह आकर्षक दैवी ध्वनि उत्पन्न हो रही थी।

तद्व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम् ।
काश्चित्परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस; व्रज-स्त्रियः—ग्वालों के गाँव की स्त्रियाँ; आश्रुत्य—सुनकर; वेणु-गीतम्—वंशी का गीत; स्मर-उदयम्—कामदेव को उत्पन्न करनेवाला; काश्चित्—उनमें से कोई; परोक्षम्—एकान्त में; कृष्णस्य—कृष्ण के; स्व-सखीभ्यः—अपनी सखियों से; अन्ववर्णयन्—वर्णन किया।

जब व्रजग्राम की तरुण स्त्रियों ने कृष्ण की वंशी का गीत सुना, जो काम उत्पन्न करनेवाला था, तो उनमें से कुछ स्त्रियाँ अपनी सखियों से एकान्त में कृष्ण के गुणों का बखान करने लगीं।

तद्वर्णयितुमारब्धाः स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम् ।
नाशकन्स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप ॥ ४॥

शब्दार्थ

तत्—उस; वर्णयितुम्—वर्णन करने के लिए; आरब्धाः—प्रारम्भ करके; स्मरन्त्यः—स्मरण करती; कृष्ण-चेष्टितम्—कृष्ण की चेष्टाओं का; न अशकन्—असमर्थ थीं; स्मर-वेगेन—काम के वेग से; विक्षिप्त—विचलित; मनसः—मन वाली; नृप—हे राजा परीक्षित।

गोपियाँ कृष्ण के विषय में बातें करने लगीं किन्तु जब उन्होंने कृष्ण के कार्यकलापों का स्मरण किया तो हे राजन्, काम ने उनके मनों को विचलित कर दिया जिससे वे कुछ भी न कह पाईं।

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ।
रन्ध्रान्वेणोरधरसुधयापूरयन्गोपवृन्दैर्
वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः ॥ ५॥

शब्दार्थ

बर्ह—मोरपंख; आपीडम्—उनके सिर के अलंकरण स्वरूप; नट-वर—नर्तकों में श्रेष्ठ; वपुः—दिव्य शरीर; कर्णयोः—कानों में; कर्णिकारम्—कमल जैसा नीला फूल; बिभ्रत्—पहने हुए; वासः—वस्त्र; कनक—सोने जैसा; कपिशम्—पीलाभ; वैजयन्तीम्—वैजयन्ती नामक; च—तथा; मालाम्—माला, हार; रन्ध्रान्—छेद; वेणोः—वंशी के; अधर—होंठों पर; सुधया—अमृत से; आपूरयन्—भरते हुए; गोप-वृन्दैः—ग्वालबालों द्वारा; वृन्दा-अरण्यम्—वृन्दावन की; स्व-पद—अपने चरणकमल के चिह्नों से; रमणम्—मुग्ध करनेवाले, रमणीय; प्राविशत्—प्रवेश किया; गीत—गाया जाता हुआ; कीर्तिः—उनका यश।

अपने सिर पर मोरपंख का आभूषण, अपने कानों में नीले कर्णिकार फूल, स्वर्ण जैसा चमचमाता पीला वस्त्र तथा वैजयन्ती माला धारण किये भगवान् कृष्ण ने सर्वश्रेष्ठ नर्तक का दिव्य रूप प्रदर्शित करते हुए वृन्दावन के वन में प्रवेश करके अपने पदचिन्हों से इसे रमणीक बना दिया। उन्होंने अपने होंठों के अमृत से अपनी वंशी के छेदों को भर दिया और ग्वालबालों ने उनके यश का गान किया।

तात्पर्य : गोपियों ने इस श्लोक में वर्णित कृष्ण के समस्त दिव्य गुणों का स्मरण किया। कृष्ण की वस्त्र धारण करने की कला तथा उनके कानों में लगे सुन्दर नीले फूलों ने गोपियों की प्रेम-माधुरी इच्छाओं को उत्तेजित कर दिया और जब कृष्ण ने अपने होंठों का अमृत अपनी बाँसुरी में उड़ेल दिया तो वे गोपियाँ उनके प्रेम में खो गईं।

इति वेणुरवं राजन्सर्वभूतमनोहरम् ।
श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; वेणु-रवम्—वंशी की ध्वनि; राजन्—हे राजा परीक्षित; सर्व-भूत—सारे जीवों के; मनः-हरम्—मनों को हरनेवाला; श्रुत्वा—सुनकर; व्रज-स्त्रियः—व्रज ग्राम में खड़ी स्त्रियों ने; सर्वाः—सभी; वर्णयन्त्यः—बखान करने में व्यस्त; अभिरेभिरे—एक-दूसरे का आलिंगन किया।

हे राजन्, जब व्रज की युवतियों ने सभी प्राणियों के मन को मोह लेने वाली कृष्ण की वंशी की ध्वनि सुनी तो वे एक-दूसरे का आलिंगन कर-करके उसका बखान करने लगीं।

तात्पर्य : *इति* शब्द इसका सूचक है कि कृष्ण का स्मरण करके अवाक् हुई गोपियाँ अपनी चेतना वापस पाकर कृष्ण की वंशी की ध्वनि का अत्यंत हर्षपूर्वक बखान करने लगीं। जब कुछ गोपियाँ जोर-जोर से बोलने लगीं तो अन्यों को भी लगा कि उनके हृदयों में भी ऐसा ही आह्लादपूर्ण स्नेह का भाव है, अतः सभी गोपियाँ तरुण कृष्ण के माधुर्य प्रेम से अभिभूत होकर एक-दूसरे का आलिंगन करने लगीं।

श्रीगोप्य ऊचुः
अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः
सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः ।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनवेणुजुष्टं
यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

श्री-गोप्यः ऊचुः—गोपियों ने कहा; अक्षण्वताम्—आँखवालों को; फलम्—फल; इदम्—यह; न—नहीं; परम्—अन्य; विदामः—हम जानती हैं; सख्यः—हे सखियो; पशून्—गौवों को; अनुविवेशयतोः—एक जंगल से दूसरे जंगल में प्रवेश कराकर; वयस्यैः—हमउम्र सखाओं के साथ; वक्त्रम्—मुख; व्रज-ईश—महाराज नन्द के; सुतयोः—दोनों पुत्रों के; अनु-वेणु-जुष्टम्—वंशी से लैस; यैः—जिससे; वा—अथवा; निपीतम्—प्रेरित; अनुरक्त—प्रेममय; कट-अक्ष—तिरछी दृष्टि, चितवन; मोक्षम्—छोड़ते हुए।

गोपियों ने कहा : सखियो, जो आँखें नन्द महाराज के दोनों पुत्रों के सुन्दर मुखमण्डलों का दर्शन करती हैं, वे निश्चय ही भाग्यशाली हैं। ज्योंही वे दोनों अपने मित्रों से घिरकर तथा गौवों को अपने आगे आगे करके जंगल में प्रवेश करते हैं, तो वे अपने मुख में अपनी वंशियाँ धारण करके वृन्दावनवासियों पर प्यार-भरी चितवन से देखते हैं। जो आँखोंवाले हैं उनके लिए हमारी समझ में देखने की इससे बड़ी अन्य कोई वस्तु नहीं है।

तात्पर्य : उपर्युक्त श्रील प्रभुपाद कृत *चैतन्य-चरितामृत* (आदि लीला ४.१५५) से यह उद्धरण

लिया गया है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इसकी टीका इस प्रकार की है : ''गोपियाँ यह कहना चाहती थीं, ''हे सखियो! यदि तुम इस संसार में पारिवारिक जीवन के बन्धनों में ही जकड़ी रही तो तुम्हें देखने को और क्या मिल सकेगा? स्रष्टा ने हमें ये आँखें दी हैं, तो हम सबसे अद्भुत दर्शनीय वस्तु कृष्ण को देखें।''

गोपियों को इस बात का भान था कि उनकी माताएँ या अन्य ज्येष्ठजन उनकी प्रेमपूर्ण बातें सुनकर अनुमति नहीं देंगे। इसलिए उन्होंने कहा—*अक्षण्वतां फलम्* ''कृष्ण का दर्शन करना केवल हमारा ही नहीं अपितु सभी व्यक्तियों का लक्ष्य है।'' दूसरे शब्दों में, गोपियों ने इंगित किया कि जब कृष्ण हरएक के लिए प्रेम के परम लक्ष्य हैं, तो फिर आध्यात्मिक हर्ष में वे क्यों उनसे प्रेम नहीं कर सकतीं?

आचार्यों के अनुसार एक अन्य गोपी ने यह तथा ८ से १९ तक के अन्य श्लोक कहे।

चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्ज-
मालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेशौ ।
मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां
रङ्गे यथा नटवरौ क्वच गायमानौ ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

चूत—आम का वृक्ष; प्रवाल—कोंपलों से युक्त; बर्ह—मोरपंख; स्तबक—फूल के गुच्छे; उत्पल—कमल; अब्ज—तथा कुमुदिनियाँ; माला—मालाओं से; अनुपृक्त—स्पर्श किया हुआ; परिधान—उनके वस्त्र; विचित्र—तरह तरह के; वेशौ—वेश में; मध्ये—बीच में; विरेजतुः—वे दोनों सुशोभित थे; अलम्—शान से; पशु-पाल—ग्वालबालों की; गोष्ठ्याम्—गोष्ठी के भीतर; रङ्गे—रंगमंच पर; यथा—जिस तरह; नट-वरौ—दो श्रेष्ठ नर्तक; क्वच—कभी; गायमानौ—गाते हुए।

तरह तरह के आकर्षक परिधानों के ऊपर अपनी मालाएँ डाले और मोरपंख, कमल, कमलिनी, आम की कोंपलों तथा पुष्पकलियों के गुच्छों से अपने को अलंकृत किये हुए कृष्ण तथा बलराम ग्वालबालों की टोली में शोभायमान हो रहे हैं। वे नाटक-मंच पर प्रकट होनेवाले श्रेष्ठ नर्तकों की तरह दिख रहे हैं और कभी कभी वे गाते भी हैं।

तात्पर्य : गोपियाँ कृष्ण की लीलाओं का स्मरण कर करके हर्ष-गीत गाती जा रही थीं। गोपियाँ उस जंगल में जाना चाहती थीं जहाँ कृष्ण लीला कर रहे थे और छिपकर वे लताओं के पत्तों के बीच में से उचक उचककर कृष्ण तथा बलराम के नृत्य तथा सखाओं के साथ उनके गायन को देखना चाहती थीं। यही उनकी आकांक्षा थी किन्तु न जा पाने के कारण वे प्रेम के वशीभूत होकर यह गीत गाने

लगीं।

गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु-
र्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम् ।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो
हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथार्यः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

गोप्यः—हे गोपियो; किम्—क्या; आचरत्—कर डाला; अयम्—यह; कुशलम्—शुभ कृत्य; स्म—निश्चय ही; वेणुः—बाँसुरी; दामोदर—कृष्ण की; अधर-सुधाम्—होंठ का अमृत; अपि—भी; गोपिकानाम्—गोपियों का; भुङ्क्ते —भोग करता है; स्वयम्—स्वतंत्र रूप से; यत्—जिसके लिए; अवशिष्ट—बचा हुआ; रसम्—केवल स्वाद; ह्रदिन्यः—नदियाँ; हृष्यत्—प्रसन्न होते हुए; त्वचः—जिनके शरीर; अश्रु—आँसू; मुमुचुः—गिरे; तरवः—वृक्ष; यथा—जिस तरह; आर्याः—बाप-दादे।

हे गोपियो, कृष्ण के अधरों का मुक्तरूप अमृतपान करने और हम गोपियों के हेतु जिनके लिए ही वास्तव में यह अमृत है केवल स्वादमात्र छोड़ने के लिए इस वंशी ने कौन-से शुभ-कृत्य किये होंगे। वंशी के बाप-दादे बाँस के वृक्षों ने हर्ष के अश्रु गिराये होंगे। जिस नदी के तट पर यह वृक्ष उत्पन्न हुआ होगा उस मातारूपी नदी ने हर्ष का अनुभव किया होगा; इसीलिए ये खिले हुए कमल के फूल उसके शरीर के रोमों की भाँति खड़े हुए हैं।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने *चैतन्य-चरितामृत* (अन्त्य १६.१४०) में इस श्लोक का जो अनुवाद दिया है, उसे ही यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

वास्तव में अपनी सन्तान को भगवान् श्रीकृष्ण की वंशी रूपी उच्च भक्त बना देखकर बाँस के वृक्ष रस बहाकर हर्ष के अश्रु निकालते हैं।

सनातन गोस्वामी ने एक और अर्थ भी दिया है। वृक्ष इसलिए चिल्ला रहे हैं क्योंकि वे कृष्ण के साथ न खेल पाने के कारण दुखी हैं। कोई यह आक्षेप कर सकता है कि वृन्दावन में वृक्षों को किसी ऐसी बात के लिए परिताप नहीं करना चाहिए जिसका मिल पाना असम्भव हो जिस तरह कोई भिक्षुक किसी राजा से मिलने से मना किये जाने पर शोक नहीं करता। किन्तु वृक्ष तो बुद्धिमान मनुष्यों जैसे ही हैं, जो अपना जीवन-लक्ष्य प्राप्त न कर सकने पर दुख उठाते हैं। अतः वृक्ष इसलिए चिख रहे हैं क्योंकि उन्हें कृष्ण के होंठों का अमृत नहीं मिल पा रहा।

वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं

यद्देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि ।
गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं
प्रेक्ष्याद्रिसान्ववरतान्यसमस्तसत्त्वम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

वृन्दावनम्—वृन्दावन; सखि—हे सखी; भुवः—पृथ्वी पर; वितनोति—फैलाता है; कीर्तिम्—यश को; यत्—क्योंकि; देवकी-सुत—देवकी-पुत्र के; पद-अम्बुज—चरणकमलों से; लब्ध—प्राप्त; लक्ष्मि—कोष; गोविन्द-वेणुम्—गोविन्द की वंशी; अनु—सुनने पर; मत्त—उन्मत्त; मयूर—मोरों का; नृत्यम्—जिसमें नृत्य होता है; प्रेक्ष्य—देखकर; अद्रि-सानु—पर्वतों की चोटियों पर; अवरत—स्तम्भित; अन्य—दूसरे; समस्त—सभी; सत्त्वम्—प्राणी।

हे सखी, देवकी पुत्र कृष्ण के चरणकमलों का कोष पाकर वृन्दावन पृथ्वी की कीर्ति को फैला रहा है। जब मोर गोविन्द की वंशी सुनते हैं, तो वे मस्त होकर नाचने लगते हैं और जब अन्य प्राणी उन्हें पर्वत की चोटी से इस तरह नाचते देखते हैं, तो वे सभी स्तब्ध रह जाते हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी कहते हैं कि चूँकि इस श्लोक में वर्णित कार्यकलाप अन्य किसी जगत में नहीं होते इसलिए यह पृथ्वी अद्वितीय है। वस्तुत: पृथ्वी की कीर्ति अद्भुत वृन्दावन द्वारा फैलाई जाती है क्योंकि वह कृष्ण की लीलास्थली है।

देवकी शब्द माता यशोदा का भी द्योतक है जैसाकि *बृहद्-विष्णु पुराण* में कहा गया है—

द्वे नाम्नी नन्दभार्याया यशोदा देवकीति च।

अत: सख्यमभूत् तस्या देवक्या शौरि-जायया॥

"नन्द की पत्नी के दो नाम थे—यशोदा तथा देवकी। इसलिए स्वाभाविक था कि नन्द की पत्नी शौरि (वसुदेव) की पत्नी देवकी से मित्रता करती।"

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *कृष्णलीला* की व्याख्या इस प्रकार की है : "वृन्दावन में मोर कृष्ण से प्रार्थना करते हैं 'हे गोविन्द, हमें नचाइये।' अत: कृष्ण अपनी वंशी बजाते हैं और वे उनके चारों ओर वृत्त बनाकर उनकी तान की लय के साथ नाचते हैं और उनके नृत्य के बीच खड़े होने पर वे भी गाते हैं और नाचते हैं। तब वे मोर जो उनके संगीत से पूरी तरह प्रसन्न हो जाते हैं, कृतज्ञतापूर्वक उन्हें प्रसन्न करने के लिए अपने दिव्य पंख दे देते हैं। कृष्ण प्रसन्नतापूर्वक ये भेंटें स्वीकार करके उन्हें अपने सिर की पगड़ी पर धारण कर लेते हैं। मृग तथा कबूतर भी कृष्ण द्वारा प्रस्तुत आध्यात्मिक मनोरंजन का आस्वादन करते हैं और अच्छी तरह से देख पाने के लिए वे पर्वतों की चोटियों पर एकत्र हो जाते हैं। जब वे इस आह्लादकारी कार्यक्रम का अवलोकन करते हैं, तो आनन्दविभोर हो उठते हैं।"

श्रील सनातन गोस्वामी की टीका है कि वृन्दावन में कृष्ण नंगे पाँव चलते हैं अत: पृथ्वी पर उनके चरणकमलों के सीधे चिह्न बन जाते हैं अत: वह दिव्य स्थल उस वैकुण्ठ से भी अधिक यशस्वी है जहाँ विष्णु खड़ाऊँ पहनते हैं।

धन्या: स्म मूढगतयोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेशम् ।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसारा:
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकै: ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

धन्या:—धन्य; स्म—निश्चय ही; मूढ-गतय:—अज्ञानी पशु योनि में जन्म लेकर; अपि—यद्यपि; हरिण्य:—हिरणी; एता:—ये; या:—जो; नन्द-नन्दनम्—महाराज नन्द के पुत्र को; उपात्त-विचित्र-वेशम्—अत्यन्त आकर्षक वस्त्र पहने; आकर्ण्य—सुनकर; वेणु-रणितम्—उनकी वंशी की ध्वनि; सह-कृष्ण-सारा:—कृष्ण हिरणों (अपने पतियों) के साथ; पूजाम् दधु:—पूजा की; विरचिताम्—सम्पन्न किया; प्रणय-अवलोकै:—अपनी प्रेमपूर्ण चितवनों से।

ये मूर्ख हिरनियाँ धन्य हैं क्योंकि ये नन्द महाराज के पुत्र के निकट पहुँच गई हैं, जो खूब सजेधजे हुए हैं और अपनी बाँसुरी बजा रहे हैं। सचमुच ही हिरनी तथा हिरन दोनों ही प्रेम तथा स्नेह-भरी चितवनों से भगवान् की पूजा करते हैं।

तात्पर्य : उपर्युक्त उद्धरण श्रील प्रभुपाद कृत *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य १७.३६) से लिया गया है।

आचार्यों के अनुसार गोपियाँ इस प्रकार सोच रही थीं: "हिरनियाँ अपने पतियों के साथ कृष्ण के पास तक पहुँच सकती हैं क्योंकि हिरन के लिए कृष्ण ही स्नेह के परम लक्ष्य हैं। कृष्ण के प्रति स्नेह होने से वे कृष्ण द्वारा अपनी पत्नियों के आकृष्ट होने से प्रोत्साहित होते हैं और अपने गृहस्थ जीवन को धन्य मानते हैं। निस्सन्देह उन्हें यह देखकर प्रसन्नता होती है कि उनकी पत्नियाँ किस तरह कृष्ण की खोज में लगी हैं और वे उनके साथ होकर अपनी पत्नियों से याचना करते हैं कि वे भगवान् के पास चलें। दूसरी ओर हमारे पति हैं, जो कृष्ण से ईर्ष्या करते हैं और उनके प्रति भक्ति का अभाव होने से वे उनकी सुगन्धि से भी भागते हैं। अत: हमारे जीवन का क्या लाभ है?

कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलं
श्रुत्वा च तत्क्वणितवेणुविविक्तगीतम् ।
देव्यो विमानगतय: स्मरनुन्नसारा
भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्य: ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

कृष्णम्—कृष्ण को; निरीक्ष्य—देखकर; वनिता—स्त्रियों के लिए; उत्सव—उत्सव; रूप—जिसका सौन्दर्य; शीलम्—तथा चरित्र; श्रुत्वा—सुनकर; च—तथा; तत्—उनसे; क्वणित—ध्वनित; वेणु—वंशी का; विविक्त—स्पष्ट; गीतम्—गीत; देव्यः—देवताओं की पत्नियाँ; विमान-गतयः—अपने विमानों में यात्रा करती; स्मर—कामदेव द्वारा; नुन्न—विचलित; साराः—जिनके हृदय; भ्रश्यत्—बिछलते हुए; प्रसून-कबराः—केश में बँधे फूल; मुमुहुः—मोहित हो गईं; विनीव्यः—उनकी पेटियाँ (नीवी बन्धन) ढीले पड़ गये।

कृष्ण का सौन्दर्य तथा शील समस्त स्त्रियों के लिए उत्सव स्वरूप है। देवताओं की पत्नियाँ अपने पतियों के साथ विमानों में उड़ते हुए जब उन्हें देखती हैं और उनके गूँजते हुए वेणुगीत की ध्वनि सुनती हैं, तो उनके हृदय कामदेव द्वारा दहला दिये जाते हैं और वे इतनी मोहित हो जाती हैं कि उनके केशों से फूल गिर जाते हैं और उनकी करधनियाँ (पेटियाँ) ढीली पड़ जाती हैं।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद *भगवान् श्रीकृष्ण* में टीका करते हैं, "[यह श्लोक बतलाता है कि] कृष्ण की वंशी की दिव्य ध्वनि ब्रह्माण्ड के कोने-कोने तक फैल गई। साथ ही, यह महत्त्वपूर्ण बात है कि गोपियाँ आकाश में उड़नेवाले विविध विमानों से परिचित थीं।"

वस्तुतः देवियाँ अपने पति देवताओं की गोद में बैठी हुई भी कृष्ण की वंशी की ध्वनि से उत्तेजित हो उठती थीं। इस तरह गोपियाँ सोचतीं कि उन्हें कृष्ण के प्रति माधुर्य आकर्षण के लिए दोषी नहीं ठहराया जाना चाहिए क्योंकि कृष्ण तो उन्हीं के गाँव का ग्वाला था अतएव उनका प्रेय तो हो ही सकता था। यदि देवियाँ तक कृष्ण के पीछे उन्मत्त हो सकती हैं, तो कृष्ण के ही गाँव की बेचारी पार्थिव गोपिकाएँ भला उनकी प्रेमभरी चितवन तथा उनकी वंशी की ध्वनि से अपने हृदय विजित होने से कैसे रोक सकती थीं?

गोपियाँ यह भी विचार करतीं कि यद्यपि देवतागण अपनी स्त्रियों को कृष्ण के प्रति आकृष्ट होते देखते किन्तु वे ईर्ष्या नहीं करते थे। देवतागण वास्तव में अत्यन्त सुसंस्कृत एवं बुद्धिमान हैं अतएव जब वे विमान से उड़ते तो अपने साथ नियमित रूप से अपनी पत्नियों को ले जाते जिससे वे कृष्ण का दर्शन पा सकें। गोपियाँ सोचतीं, "दूसरी ओर हमारे पति हैं, जो हमसे ईर्ष्या रखते हैं। इसलिए तुच्छ हिरनियाँ तक हमसे अच्छी हैं और देवियाँ तो अत्यन्त भाग्यशालिनी हैं किन्तु हम बेचारी इन दोनों के बीच में होते हुए सर्वाधिक अभागिनी हैं।"

गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत-

पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः ।
शावाः स्नुतस्तनपयःकवलाः स्म तस्थु-
र्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः ॥ १३॥

शब्दार्थ

गावः—गौवें; च—तथा; कृष्ण-मुख—कृष्ण के मुँह से; निर्गत—निकले; वेणु—वंशी के; गीत—गीत के; पीयूषम्—अमृत को; उत्तभित—ऊँचे उठाये हुए; कर्ण—कानों के; पुटैः—दोनों से; पिबन्त्यः—पीते हुए; शावाः—बछड़े; स्नुत—निकलता हुआ; स्तन—स्तनों से; पयः—दूध; कवलाः—कौर; स्म—निस्सन्देह; तस्थुः—शान्त खड़ी; गोविन्दम्—भगवान् कृष्ण को; आत्मनि—अपने मनों में; दृशा—अपनी दृष्टि से; अश्रु-कलाः—आँसुओं की झड़ी; स्पृशन्त्यः—छूते हुए।

गौवें अपने नलिकारूपी दोनों कानों को उठाये हुए कृष्ण के मुख से निकले वेणुगीत के अमृत का पान कर रही हैं। बछड़े अपनी माताओं के गीले स्तनों से निकले दूध को मुख में भरे-भरे स्थिर खड़े रहते हैं जब वे अपने अश्रुपूरित नेत्रों से गोविन्द को अपने भीतर ले आते हैं और अपने हृदयों में उनका आलिंगन करते हैं।

प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्
कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम् ।
आरुह्य ये द्रुमभुजान्रुचिरप्रवालान्
शृण्वन्ति मीलितदृशो विगतान्यवाचः ॥ १४॥

शब्दार्थ

प्रायः—लगभग; बत—निश्चय ही; अम्ब—हे माता; विहगाः—पक्षीगण; मुनयः—मुनिगण; वने—जंगल में; अस्मिन्—इस; कृष्ण-ईक्षितम्—कृष्ण का दर्शन करने के लिए; तत्-उदितम्—उनके द्वारा उत्पन्न; कल-वेणु-गीतम्—वंशीवादन से उत्पन्न मधुर ध्वनि; आरुह्य—उठकर; ये—जो; द्रुम-भुजान्—वृक्षों की शाखाओं को; रुचिर-प्रवालान्—सुन्दर लताओं से युक्त; शृण्वन्ति—सुनते हैं; मीलित-दृशः—अपनी आँखें बन्द करके; विगत-अन्य-वाचः—अन्य सारी ध्वनियाँ रोककर।

अरी माई! कृष्ण का दर्शन करने हेतु इस जंगल में सारे पक्षी उड़कर वृक्षों की सुन्दर शाखाओं पर बैठ गये हैं। वे एकान्त में अपनी आँखें मूँदकर उनकी वंशी की मधुर ध्वनि को ही सुन रहे हैं और वे किसी अन्य ध्वनि की ओर आकृष्ट नहीं होते। सचमुच ये पक्षी महामुनियों की कोटि के हैं।

तात्पर्य : पक्षी मुनियों के ही समान हैं क्योंकि वे जंगल में रहते हैं, अपनी आँखें बन्द किये रहते हैं, मौन रहते हैं और अचल रहते हैं। महत्त्व की बात जो यहाँ कही गई है, वह यह है कि बड़े बड़े मुनि तक कृष्ण की वंशी की ध्वनि से उन्मत्त हो जाते हैं क्योंकि यह ध्वनि पूर्णतया आध्यात्मिक है।

रुचिर-प्रवालान् शब्द सूचित करता है कि कृष्ण के वेणुगीत के टकराने से वृक्षों की टहनियाँ तक भावविभोर हो जाती हैं। इन्द्र, ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु आदि देवता होने के कारण ब्रह्माण्ड-भर में

विचरण करते रहते हैं और उन्हें संगीत का विशद ज्ञान होता है फिर भी इन महापुरुषों ने वैसा संगीत नहीं सुना, न रचा जैसाकि कृष्ण की बाँसुरी से निकलता है। निस्सन्देह, सारे पक्षी इस आनन्दमयी ध्वनि से इतने विभोर हो जाते हैं कि वे आनन्द के मारे अपनी आँखें बन्द कर लेते हैं और वृक्षों की टहनियों से चिपके रहते हैं जिससे गिर न पड़ें।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने व्याख्या की है कि कभी कभी गोपियाँ एक-दूसरे को *अम्ब* ''माई'' कहकर सम्बोधित करती थीं।

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत-
मावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः ।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे-
गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

नद्यः—नदियाँ; तदा—तब; तत्—उसे; उपधार्य—अनुभव करके; मुकुन्द—कृष्ण के; गीतम्—वेणुगीत को; आवर्त—भँवरों से; लक्षित—प्रकट; मनः-भव—अपनी दाम्पत्य इच्छा से; भग्न—टूटी; वेगाः—धाराएँ; आलिङ्गन—उनके आलिंगन से; स्थगितम्—जड़ हुई; ऊर्मि-भुजैः—लहर रूपी भुजाओं से; मुरारेः—मुरारी के; गृह्णन्ति—पकड़ लेती हैं; पाद-युगलम्—दोनों चरणकमल; कमल-उपहाराः—कमल फूलों की भेंटें लेकर।

जब नदियाँ कृष्ण का वेणुगीत सुनती हैं, तो उनके मन उन्हें चाहने लगते हैं जिससे नदियों की धाराओं का प्रवाह खंडित हो जाता है और जल क्षुब्ध हो उठता है और भँवर बनकर घूमने लगता है। तत्पश्चात् नदियाँ अपनी लहरों रूपी भुजाओं से मुरारी के चरणकमलों का आलिंगन करती हैं और उन्हें पकड़कर उनपर कमलपुष्पों की भेंटें चढ़ाती हैं।

तात्पर्य : यमुना तथा मानस-गंगा जैसी पवित्र नदियाँ वेणुगीत से मोहित हो जाती हैं और तरुण कृष्ण के प्रति माधुर्य आकर्षण से विचलित हो उठती हैं। गोपियों के कहने का प्रयोजन यह है कि जब विभिन्न प्रकार के जीव कृष्ण के प्रति माधुर्य प्रेम से अभिभूत हो जाते हैं फिर माधुर्य-सम्बन्ध द्वारा कृष्ण की सेवा करने के निमित्त गोपियों की तीव्र इच्छा के लिए उनकी आलोचना क्यों की जाती है?

दृष्ट्वातपे व्रजपशून्सह रामगोपैः
सञ्चारयन्तमनु वेणुमुदीरयन्तम् ।
प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमावलीभिः
सख्युर्व्यधात्स्ववपुषाम्बुद आतपत्रम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; आतपे—सूर्य की भरी गर्मी में; व्रज-पशून्—व्रज के पालतू पशु; सह—साथ-साथ; राम-गोपैः—बलराम तथा ग्वालों के; सञ्चारयन्तम्—चराते हुए; अनु—बारम्बार; वेणुम्—वंशी; उदीरयन्तम्—तेजी से बजाते हुए; प्रेम—प्रेमवश; प्रवृद्धः—बढ़ा हुआ; उदितः—उठकर; कुसुम-आवलीभिः—फूलों के समूहों से (ओस के कणों से युक्त); सख्युः—अपने मित्रों के लिए; व्यधात्—बनाया; स्व-वपुषा—अपने ही शरीर से; अम्बुदः—बादल ने; आतपत्रम्—छाता।

भगवान् कृष्ण बलराम तथा ग्वालबालों के संग में व्रज के समस्त पशुओं को चराते हुए ग्रीष्म की कड़ी धूप में भी निरन्तर अपनी बाँसुरी बजाते रहते हैं। यह देखकर आकाश के बादल ने प्रेमवश अपने को फैला लिया है। ऊँचे उठकर तथा फूल जैसी असंख्य जल की बूँदों से उसने अपने मित्र के लिए अपने ही शरीर को छाता बना लिया है।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् श्रीकृष्ण* में कहा है, "कभी कभी शरद की झुलसाती धूप असह्य हो जाती थी अत: कृष्ण तथा बलराम एवं उनके मित्र जब अपनी अपनी वंशी बजाने में व्यस्त रहते तो दयावश उनके ऊपर आकाश में बादल प्रकट हो आते। ये बादल कृष्ण के साथ मैत्री स्थापित करने के लिए उनके सिरों के ऊपर सुखद छाते का काम करते।

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग-
श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन ।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन
लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

पूर्णाः—पूर्णतया संतुष्ट; पुलिन्द्यः—शबर जाति की स्त्रियाँ; उरुगाय—भगवान् कृष्ण के; पद-अब्ज—चरणकमलों से; राग—लाल रंग का; श्री-कुङ्कुमेन—दिव्य कुंकुम चूर्ण से; दयिता—अपनी प्रेयसी के; स्तन—वक्षस्थल; मण्डितेन—अलंकृत हुए; तत्—उसके; दर्शन—देखने से; स्मर—कामदेव का; रुजः—कष्ट अनुभव करते हुए; तृण—घास के ऊपर; रूषितेन—अनुरक्त; लिम्पन्त्यः—पोतते हुए; आनन—मुख; कुचेषु—तथा स्तनों पर; जहुः—उन्होंने त्याग दिया; तत्—उस; आधिम्—मानसिक पीड़ा को।

वृन्दावन क्षेत्र की आदिवासी ललनाएँ लाल लाल कुंकुम चूर्ण से अंकित घास को देखकर कामोत्तेजित हो उठती हैं। कृष्ण के चरणकमलों के रंग से प्रदत्त यह चूर्ण मूलत: उनकी प्रेमिकाओं के स्तनों को अलंकृत करता था और जब उसे ही आदिवासी स्त्रियाँ अपने मुखों तथा स्तनों पर मल लेतीं हैं, तो उनकी सब चिंताए जाती रहती हैं।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है : "मनचली आदिवासी कन्याएँ भी वृन्दावन की उस धूल को जो कृष्ण के चरणकमलों के स्पर्श से लाल रंग की हो गई थी अपने अपने मुखों तथा स्तनों में पोतकर पूर्ण संतुष्ट हो गईं। इन आदिवासी कन्याओं के स्तन

पूर्णविकसित थे और वे अत्यधिक कामुक भी थीं किन्तु जब उनके प्रेमी उनके स्तनों का स्पर्श करते तो वे अधिक संतुष्ट नहीं होती थीं। जब वे जंगल के बीच आईं तो उन्होंने देखा कि जब कृष्ण विचरण कर रहे थे तो वृन्दावन की कुछ पत्तियाँ तथा लताएँ भगवान् के चरणकमलों से गिरे हुए कुंकुम चूर्ण से लाल हो गई थीं। उनके चरणों को गोपियाँ अपने स्तनों पर रखती थीं जिससे वे भी कुंकुम चूर्ण से पुत गये थे किन्तु जब कृष्ण वृन्दावन जंगल में बलराम तथा अपने ग्वालमित्रों के साथ टहल रहे थे तो यह लाल चूर्ण वृन्दावन जंगल की भूमि पर गिर पड़ा। अत: कामुक आदिवासी कन्याओं ने कृष्ण की वंशी सुनने की प्रतीक्षा करते समय भूमि पर लाल कुंकुम देखा तो तुरन्त ही उन्होंने उसे उठाकर अपने अपने मुखों तथा स्तनों पर लेप लिया। इस तरह वे पूर्णतया सन्तुष्ट हो गईं जबकि इसके पूर्व जब उनके प्रेमी उनके स्तनों का स्पर्श करते थे तो वे संतुष्ट नहीं होती थीं। यदि कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत के सम्पर्क में आता है, तो समस्त भौतिक वासनाएँ तुरन्त तुष्ट हो जाती हैं।''

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो
यद्रामकृष्णचरणस्परशप्रमोदः ।
मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत्
पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

हन्त—ओह; अयम्—यह; अद्रिः—पर्वत; अबलाः—हे सखियो; हरि-दास-वर्यः—भगवान् के सेवकों में से सर्वश्रेष्ठ; यत्—चूँकि; राम-कृष्ण-चरण—कृष्ण तथा बलराम के चरणकमलों के; स्परश—स्पर्श से; प्रमोदः—हर्षित; मानम्—आदर; तनोति—प्रदान करता है; सह—साथ; गो-गणयोः—गौवें, बछड़े तथा ग्वालबाल के; तयोः—उन दोनों (श्रीकृष्ण तथा बलराम) को; यत्—क्योंकि; पानीय—पेय जल के साथ; सूयवस—अत्यन्त मुलायम घास; कन्दर—गुफाएँ; कन्द-मूलैः—तथा खाद्य कन्दों से।

यह गोवर्धन पर्वत समस्त भक्तों में सर्वश्रेष्ठ है। सखियो, यह पर्वत कृष्ण तथा बलराम के साथ ही साथ उनकी गौवों, बछड़ों तथा ग्वालबालों की सभी प्रकार की आवश्यकताओं—पीने का पानी, अति मुलायम घास, गुफाएँ, फल, फूल तथा तरकारियों—की पूर्ति करता है। इस तरह यह पर्वत भगवान् का आदर करता है। कृष्ण तथा बलराम के चरणकमलों का स्पर्श पाकर गोवर्धन पर्वत अत्यन्त हर्षित प्रतीत होता है।

तात्पर्य : उपर्युक्त उद्धरण श्रील प्रभुपाद कृत *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य १८.३४) से लिया गया है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने गोवर्धन पर्वत के ऐश्वर्य की विवेचना इस प्रकार की है : *पानीय*

गोवर्धन पर्वत के झरनों से प्राप्त सुगंधित शीतल जल का द्योतक है, जिसे कृष्ण तथा बलराम पिया करते थे और जिससे अपने पाँव और मुख धोया करते थे। गोवर्धन पर्वत शहद, आम का रस तथा पीलू रस जैसे अन्य पेय भी प्रदान करता है। *सूयवस दूर्वा* अर्थात् दूब (घास) को बतलाता है, जिससे *अर्घ्य* की धार्मिक भेंट दी जाती है। गोवर्धन पर्वत में घास भी होती है, जो सुगंधित, मुलायम तथा गौवों की वृद्धि एवं उनमें दूध बढ़ाने के लिए लाभप्रद है। इस तरह यह घास आध्यात्मिक पशुओं को खिलाने के काम आती है। *कन्दर* गुफाओं का सूचक है जहाँ कृष्ण, बलराम तथा उनके संगी खेलते, बैठते और लेटते थे। ये गुफायें तब आनन्द देती हैं जब या तो बहुत गर्मी हो, या सर्दी हो या फिर वर्षा हो रही हो। गोवर्धन पर्वत में खाने के मुलायम कन्द, शरीर सजाने के रत्न, बैठने के लिए समतल स्थान तथा चिकने पत्थर, चमकीले जल और अन्य प्राकृतिक वस्तुओं के रूप में दर्पण तथा दीपक प्रदान करता है।

गा गोपकैरनुवनं नयतोरुदार-
वेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः ।
अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां
निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

गाः—गौवें; गोपकैः—ग्वालबालों के साथ; अनु-वनम्—प्रत्येक जंगल तक; नयतोः—ले जानेवाले; उदार—अत्यन्त उदार; वेणु-स्वनैः—वंशी की ध्वनि से; कल-पदैः—मधुर स्वर से; तनुभृत्सु—जीवों से; सख्यः—हे सखियो; अस्पन्दनम्—स्पन्दन का अभाव; गति-मताम्—गति करनेवाले जीवों का; पुलकः—हर्ष; तरुणम्—वृक्षों का; निर्योग-पाश—गौवों के पिछले पाँवों को बाँधने के लिए प्रयुक्त रस्सी, नोई; कृत-लक्षणयोः—लक्षणों वालों का; विचित्रम्—आश्चर्यजनक।

हे सखियो, जब कृष्ण तथा बलराम अपने ग्वालमित्रों के साथ जंगल से होकर अपनी गौवें लेकर गुजरते हैं, तो वे अपने साथ दूध दोहन के समय गौवों की पिछली टाँगें बाँधने के लिए नोई लिये रहते हैं। जब भगवान् कृष्ण अपनी वंशी बजाते हैं, तो मधुर संगीत से चर प्राणी स्तब्ध रह जाते हैं और अचर वृक्ष आनन्दातिरेक से हिलने लगते हैं। निश्चय ही ये बातें अत्यन्त आश्चर्यजनक हैं।

तात्पर्य : कृष्ण तथा बलराम कभी गौवों की नोइयाँ अपने सिरों में लपेट लेते और कभी कंधों पर लटका लेते। इस तरह वे ग्वालबालों के समस्त उपकरणों से सुशोभित होते थे। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की व्याख्या है कि कृष्ण तथा बलराम पीताम्बर की नोइयाँ बनाते जिनके दोनों सिरों पर

मोतियों के गुच्छे रहते थे। वे इन रस्सियों को अपने दुपट्टे के चारों ओर लपेट लेते और इस तरह ये रस्सियाँ विचित्र अलंकरण बन जातीं।

एवंविधा भगवतो या वृन्दावनचारिण: ।
वर्णयन्त्यो मिथो गोप्य: क्रीडास्तन्मयतां ययु: ॥ २० ॥

शब्दार्थ

एवम्-विधा:—ऐसा; भगवत:—भगवान् का; या:—जो; वृन्दावन-चारिण:—वृन्दावन के जंगल में घूमनेवाला; वर्णयन्त्य:—वर्णन करती हुई; मिथ:—परस्पर; गोप्य:—गोपियों ने; क्रीडा:—लीलाएँ; तत्-मयताम्—उनका भावमय ध्यान; ययु:—प्राप्त किया।

इस तरह वृन्दावन के जंगल में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा विचरण से सम्बन्धित क्रीड़ामयी लीलाओं को एक-दूसरे से कहती हुई गोपियाँ उनके विचारों में पूर्णतया निमग्न हो गईं।

तात्पर्य : इस सम्बन्ध में श्रील प्रभुपाद की टीका है, ''यह कृष्णभावनामृत का पूर्ण उदाहरण है, जिससे किसी न किसी तरह कृष्ण के विचारों में निमग्न रहा जा सकता है। इसका ज्वलन्त उदाहरण गोपियों के आचरण में उपस्थित होता है इसीलिए चैतन्य महाप्रभु ने घोषित किया कि भगवान् की पूजा करने की सर्वश्रेष्ठ विधि गोपियों की विधि है। गोपियाँ किसी उच्च ब्राह्मण, या क्षत्रिय परिवार में उत्पन्न नहीं हुई थीं। वे वैश्य कुल में उत्पन्न थीं जो कोई बड़ा व्यापारिक वर्ग नहीं था अपितु ग्वालों का परिवार था। वे ठीक से शिक्षित नहीं थीं यद्यपि उन्होंने वैदिक ज्ञान में सिद्ध ब्राह्मणों से सभी प्रकार का ज्ञान सुन रखा था। गोपियों का एकमात्र उद्देश्य कृष्ण के विचारों में सदैव निमग्न रहना था।''

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''गोपियों द्वारा कृष्ण के वेणुगीत की सराहना'' नामक इक्कीसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बाईस

कृष्ण द्वारा अविवाहिता गोपियों का चीरहरण

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह ग्वालों की कुमारी पुत्रियों ने श्रीकृष्ण को पति रूप में पाने के लिए कात्यायनी की पूजा की और किस तरह कृष्ण ने इन कुमारियों का वस्त्रहरण किया तथा उन्हें वर दिए।

मार्गशीर्ष मास-भर ग्वालों की कुमारी पुत्रियाँ एक-दूसरे का हाथ पकड़कर कृष्ण का गुणगान करती हुई प्रतिदिन प्रात: यमुना-स्नान करने जाती थीं। कृष्ण को पति रूप में प्राप्त करने के लिए वे अगुरु, पुष्प तथा अन्य वस्तुओं से देवी कात्यायनी की पूजा किया करती थीं।

एक दिन ये गोपियाँ सदैव की भाँति तट पर अपने वस्त्र रखकर कृष्ण के कार्यकलाप का गुणगान करती हुई जल-क्रीड़ा करने लगीं। सहसा कृष्ण वहाँ आये और सारे वस्त्र उठाकर पास के कदम्ब वृक्ष पर चढ़ गये। गोपियों को तंग करने की इच्छा से कृष्ण ने कहा, ''मुझे पता है कि तुम लोग अपनी तपस्या से कितनी थक चुकी हो अत: निकलकर तट पर आओ और अपने अपने वस्त्र लो।''

तब गोपियों ने ऐसी मुद्रा बनाई मानो क्रुद्ध हों और कहा कि ''यमुना का ठंडा जल हमें कष्ट दे रहा है। यदि तुम हमारे वस्त्र हमें नहीं लौटाते तो हम इस घटना की सूचना महाराज कंस को देंगी। किन्तु यदि हमारे वस्त्र लौटा देते हो तो हम तुम्हारी दासी की तरह तुम्हारे आदेश का पालन करेंगी।''

श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया कि ''मुझे राजा कंस का तनिक भी डर नहीं है। यदि तुम लोग वास्तव में मेरी आज्ञा मानना चाहती हो और मेरी दासी बनना चाहती हो तो एक-एक करके तट पर आओ और अपने अपने वस्त्र ले लो।'' शीत से कँपकँपाती कन्याएँ अपने गुप्तांगों को दोनों हाथों से ढके हुए जल के बाहर आईं। कृष्ण का उनसे अत्यधिक स्नेह था इसलिए वे फिर बोले, ''तुम लोगों ने व्रत रखते हुए नग्न होकर जल में स्नान करके देवताओं के प्रति अपराध किया है, अत: इसके निराकरण के लिए तुम दोनों हाथ जोड़कर मुझे नमस्कार करो। तभी तुम्हें तपस्या का पूरा फल प्राप्त होगा।''

गोपियाँ श्रीकृष्ण के आदेश को मान गईं और सम्मान में हाथ जोड़कर उनको नमस्कार किया। प्रसन्न होकर उन्होंने उनके वस्त्र लौटा दिये। किन्तु वे कन्याएँ उन पर इतनी अनुरक्त हो चुकी थीं कि वे वहाँ से हट नहीं पा रही थीं। उनके मन की बात समझकर कृष्ण ने कहा कि मैं जानता हूँ कि तुम लोगों ने मुझे पति रूप में पाने के लिए कात्यायनी की पूजा की है। चूँकि गोपियाँ अपना मन उन्हें अर्पित कर चुकी थीं अतएव उनकी इच्छाएँ अब दुबारा भौतिक भोग से रंजित नहीं हो सकतीं जिस तरह भुने जौ से अंकुर नहीं फूट सकते। कृष्ण ने कहा कि अगली शरद ऋतु में तुम्हारी इच्छाएँ पूरी हो सकेंगी।

तत्पश्चात् गोपियाँ पूरी तरह संतुष्ट होकर व्रज लौट गईं और कृष्ण तथा उनके ग्वालमित्र गौवें चराने

दूर चले गये।

कुछ समय बाद जब ग्वालबाल गर्मी की तपन से त्रस्त हो गये तो उन्होंने एक वृक्ष के नीचे शरण ली जो छाते के समान खड़ा था। तब श्रीकृष्ण ने कहा कि वृक्ष का जीवन सर्वोत्तम है क्योंकि वृक्ष पीड़ा सहते हुए भी धूप, वर्षा, बर्फ इत्यादि से दूसरों की रक्षा करता है। वह अपनी पत्तियों, फूलों, फलों, छाया, जड़ों, छाल, काठ, सुगन्धि, रस, राख, लुगदी, अंकुरों इत्यादि से हरएक की इच्छापूर्ति करता है। ऐसा जीवन आदर्श होता है। कृष्ण ने कहा कि वास्तव में जीवन की पूर्णता इसी में है कि अपने प्राण, सम्पत्ति, बुद्धि तथा वाणी से सबों के कल्याण हेतु कर्म किया जाय।

जब कृष्ण इस तरह वृक्ष की महिमा का वर्णन कर चुके तो उनकी पूरी टोली यमुना के तट पर गई जहाँ ग्वालबालों ने स्वयं मधुर जल पिया और अपनी गौवों को भी पिलाया।

श्रीशुक उवाच
हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकमारिकाः ।
चेरुर्हविष्यं भुञ्जानाः कात्यायन्यर्चनव्रतम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; हेमन्ते—हेमन्त (जाड़े की) ऋतु में; प्रथमे—प्रथम; मासि—महीने में; नन्द-व्रज—नन्द महाराज के ग्वालों का गाँव; कुमारिकाः—अविवाहित लड़कियों ने; चेरुः—सम्पन्न किया; हविष्यम्—बिना मसाले की खिचड़ी; भुञ्जानाः—खाकर; कात्यायनी—देवी कात्यायनी का; अर्चन-व्रतम्—पूजा का व्रत।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हेमन्त ऋतु के पहले मास में गोकुल की अविवाहिता लड़कियों ने कात्यायनी देवी का पूजा-व्रत रखा। पूरे मास उन्होंने बिना मसाले की खिचड़ी खाई।

तात्पर्य : *हेमन्ते* शब्द मार्गशीर्ष मास का सूचक है, जो पाश्चात्य कैलेंडर के अनुसार लगभग मध्य नवम्बर से मध्य दिसम्बर तक का समय है। श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् श्रीकृष्ण* (भाग १, अध्याय २२) में टीका की है कि सर्वप्रथम गोपियों ने *हविष्यान्न* खाया। यह हविष्यान्न एक प्रकार का भोजन है, जो मूँग की दाल तथा चावल को एक साथ पकाकर तैयार किया जाता है, जिसमें हल्दी या कोई मसाला नहीं डाला जाता। वैदिक आदेशानुसार इस तरह का भोजन किसी अनुष्ठान को करने के पूर्व शरीर-शुद्धि हेतु किया जाता है।

आप्लुत्याम्भसि कालिन्द्या जलान्ते चोदितेऽरुणे

कृत्वा प्रतिकृतिं देवीमानर्चुर्नृप सैकतीम् ।
गन्धैर्माल्यैः सुरभिभिर्बलिभिर्धूपदीपकैः
उच्चावचैश्चोपहारैः प्रवालफलतण्डुलैः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

आप्लुत्य—स्नान करके; अम्भसि—जल में; कालिन्द्याः—यमुना के; जल-अन्ते—नदी के तट पर; च—तथा; उदिते—उदय होने वाले; अरुणे—तड़के; कृत्व—करके; प्रति-कृतिम्—अर्चाविग्रह; देवीम्—देवी; आनर्चुः—पूजा की; नृप—हे राजा परीक्षित; सैकतीम्—मिट्टी की; गन्धैः—चन्दन तथा अन्य सुगन्धित द्रव्यों से; माल्यैः—मालाओं से; सुरभिभिः—सुगन्धित; बलिभिः—भेंटों से; धूप-दीपकैः—धूप तथा दीपकों से; उच्च-अवचैः—ऐश्वर्यवान तथा सीधीसादी भी; च—तथा; उपहारैः—भेंटों से; प्रवाल—कोंपल; फल—फल; तण्डुलैः—तथा सुपारी से।

हे राजन्, सूर्योदय होते ही यमुना के जल में स्नान करके वे गोपियाँ नदी के तट पर देवी दुर्गा का मिट्टी का अर्चाविग्रह बनातीं। तत्पश्चात् वे चन्दन लेप जैसी सुगन्धित सामग्री और महँगी और साधारण वस्तुओं यथा दीपक, फल, सुपारी, कोंपलों तथा सुगन्धित मालाओं और अगुरु के द्वारा उनकी पूजा करतीं।

तात्पर्य : *बलिभिः* शब्द वस्त्र, आभूषण, भोजन इत्यादि भेंटों का सूचक है।

कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि ।
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः ।
इति मन्त्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कमारिकाः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

कात्यायनी—हे देवी कात्यायनी; महा-माये—हे महामाया; महा-योगिनि—हे महायोगिनी; अधीश्वरि—हे शक्तिमान नियंत्रक; नन्द-गोप-सुतम्—महाराज नंद के पुत्र को; देवि—हे देवी; पतिम्—पति; मे—मेरा; कुरु—बना दें; ते—आपको; नमः—नमस्कार; इति—इन शब्दों से; मन्त्रम्—मंत्र; जपन्त्यः—जपती हुई; ताः—उन; पूजाम्—पूजा; चक्रुः—सम्पन्न किया; कुमारिकाः—अविवाहिता लड़कियों ने।

प्रत्येक अविवाहिता लड़की ने निम्नलिखित मंत्र का उच्चारण करते हुए उनकी पूजा की: "हे देवी कात्यायनी, हे महामाया, हे महायोगिनी, हे अधीश्वरी, आप महाराज नन्द के पुत्र को मेरा पति बना दें। मैं आपको नमस्कार करती हूँ।"

तात्पर्य : विभिन्न आचार्यों के अनुसार इस श्लोक में उल्लिखित देवी दुर्गा मोहमाया नहीं अपितु योगमाया कहलाने वाली अंतरंगा शक्ति हैं। *नारद पञ्चरात्र* में श्रुति तथा विद्या के वार्तालाप में भगवान् की अन्तरंगा शक्ति और बहिरंगा शक्ति एवं मोहमाया तथा योगमाया का अन्तर बताया गया है—

जानात्येकापरा कान्तं सैवा दुर्गा तदात्मिका।

या परा परमा शक्तिर्महाविष्णुस्वरूपिणी॥

यस्या विज्ञानमात्रेण पराणां परमात्मनः।

मुहूर्ताद् देवदेवस्य प्राप्तिर्भवति नान्यथा॥

एकेयं प्रेमसर्वस्वस्वभावा गोकुलेश्वरी।

अनया सुलभो ज्ञेय आदिदेवोऽखिलेश्वरः॥

अस्या आवारिकशक्तिर्महामायाखिलेश्वरी।

यया मुग्धं जगत्सर्वं सर्वे देहाभिमानिनः॥

"भगवान् की अपराशक्ति दुर्गा कहलाती है, जो भगवान् की प्रेमाभक्ति में समर्पित हैं। भगवान् की शक्ति होने के कारण यह अपराशक्ति उनसे अभिन्न है। एक अन्य पराशक्ति है, जिसका आध्यात्मिक स्वरूप साक्षात् भगवान् जैसा ही है। इस पराशक्ति को वैज्ञानिक ढंग से समझ लेने मात्र से सभी आत्माओं के परमात्मा, समस्त ईश्वरों के ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। उन्हें प्राप्त करने की कोई अन्य विधि नहीं है। यह पराशक्ति गोकुलेश्वरी अर्थात् गोकुल की देवी कहलाती है। वे स्वभाव से भगवत्प्रेम में सदैव मग्न रहती हैं और उन्हीं के माध्यम से सभी के स्वामी, आदि ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। इस अन्तरंगा शक्ति की एक आच्छादक शक्ति होती है, जो महामाया कहलाती है। और वही भौतिक जगत पर शासन चलाती है। वास्तव में वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को मोहती है, जिसके कारण ब्रह्माण्ड के भीतर का हर प्राणी अपनी पहचान भौतिक शरीर के रूप में करता है।"

उपर्युक्त कथन से यह समझा जा सकता है कि भगवान् की अंतरंगा तथा बहिरंगा अर्थात् परा तथा अपरा शक्तियाँ क्रमशः योगमाया तथा महामाया के रूप में हैं। कभी कभी दुर्गा नाम अन्तरंगा पराशक्ति के द्योतन हेतु प्रयुक्त किया जाता है जैसाकि *पञ्चरात्र* में वर्णित है :"कृष्ण की पूजा के लिए प्रयुक्त किये जानेवाले सारे मंत्रों में अधिष्ठात्री देवी दुर्गा कहलाती है।" इस तरह परब्रह्म कृष्ण की महिमा और पूजा में प्रयुक्त दिव्य ध्वनियों में उस विशिष्ट मंत्र की अधिष्ठात्री देवी दुर्गा कहलाती है। अतः दुर्गा नाम उस व्यक्तित्व का सूचक है, जो भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के रूप में कार्य करता है और *शुद्धसत्त्व* के पद पर होता है। यह अन्तरंगा शक्ति कृष्ण की बहन, एकांशा या सुभद्रा मानी जाती है। वृन्दावन की गोपियाँ इसी दुर्गा की पूजा करती थीं। कई आचार्यों ने इंगित किया है कि सामान्य लोग कभी कभी मोहग्रस्त होकर सोचते हैं कि महामाया तथा दुर्गा नाम भगवान् की बहिरंगा शक्ति के लिए ही प्रयुक्त

होते हैं।

यदि हम यह मान लें कि गोपियाँ बहिरंगा माया की पूजा करती थीं तो इसमें उनका कोई दोष नहीं है क्योंकि कृष्ण की लीलाओं में वे समाज के सामान्य जन की भूमिका निभा रही थीं। इस सम्बन्ध में श्रील प्रभुपाद की टीका है : "वैष्णव लोग सामान्यतया किसी देवता की पूजा नहीं करते। श्रील नरोत्तम दास ठाकुर ने शुद्ध भक्ति में अग्रसर होने के इच्छुक व्यक्ति को समस्त देवताओं की पूजा करने से कठोरता से वर्जित किया है। फिर भी गोपियाँ, जिनका कृष्ण-प्रेम अद्वितीय है, दुर्गा की पूजा करती देखी जाती हैं। देवताओं के पूजक भी कभी कभी उल्लेख करते हैं कि गोपियाँ भी देवी दुर्गा की पूजा करती थीं किन्तु हमें गोपियों के उद्देश्य को समझना चाहिए। सामान्यतया लोग किसी भौतिक वर के लिए देवी दुर्गा की पूजा करते हैं। यहाँ तो गोपियाँ कृष्ण को प्रसन्न करने या उनकी सेवा करने के लिए कोई भी साधन अपना सकती थीं। यह गोपियों की सर्वोत्कृष्ट विशिष्टता थी। उन्होंने कृष्ण को पति रूप में पाने के लिए दुर्गा देवी की पूरे एक मास तक पूजा की। प्रतिदिन वे नन्द महाराज के पुत्र, कृष्ण को पति रूप में पाने के लिए प्रार्थना करती थीं।"

निष्कर्ष यह निकला कि कृष्ण के निष्ठावान भक्त दिव्य गोपियों में किसी भौतिक गुण के विद्यमान होने की कभी कल्पना नहीं करेंगे क्योंकि गोपियाँ कृष्ण की सर्वोच्च भक्त हैं। उनके समस्त कार्यों का एकमात्र लक्ष्य कृष्ण से प्रेम करना और उन्हें प्रसन्न करना था और यदि हम मूर्खतावश उनके कार्यकलापों को सांसारिक मानते हैं, तो फिर हम कृष्णभावनामृत को कदापि नहीं समझ सकेंगे।

एवं मासं व्रतं चेरुः कुमार्यः कृष्णचेतसः ।
भद्रकालीं समानर्चुर्भूयान्नन्दसुतः पतिः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; मासम्—पूरे मास भर; व्रतम्—व्रत; चेरुः—रखा; कुमार्यः—लड़कियों ने; कृष्ण-चेतसः—कृष्ण में लीन मनोंवाली; भद्र-कालीम्—देवी कात्यायनी को; समानर्चुः—ठीक से पूजा; भूयात्—भगवान् करे ऐसा हो; नन्द-सुतः—राजा नन्द का पुत्र; पतिः—मेरा पति।

इस प्रकार उन लड़कियों ने पूरे मास अपना व्रत रखा और अपने मन को कृष्ण में पूर्णतया लीन करते हुए इस विचार पर ध्यान लगाये रखा कि "राजा नन्द का पुत्र मेरा पति बने" इस प्रकार से देवी भद्रकाली की पूजा की।

ऊषस्युत्थाय गोत्रैः स्वैरन्योन्याबद्धबाहवः ।
कृष्णमुच्चैर्जगुर्यान्त्यः कालिन्द्यां स्नातुमन्वहम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ऊषसि—तड़के; उत्थाय—उठकर; गोत्रैः—नामों से; स्वैः—अपने अपने; अन्योन्य—एक-दूसरे का; आबद्ध—पकड़कर; बाहवः—हाथ; कृष्णम्—कृष्ण की महिमा हेतु; उच्चैः—उच्च स्वर से; जगुः—गाने लगतीं; यान्त्यः—जाते हुए; कालिन्द्याम्—यमुना नदी को; स्नातुम्—स्नान करने के लिए; अनु-अहम्—प्रतिदिन।

प्रतिदिन वे बड़े तड़के उठतीं। एक-दूसरे का नाम ले लेकर वे सब हाथ पकड़कर स्नान के लिए कालिन्दी जाते हुए कृष्ण की महिमा का जोर जोर से गायन करतीं।

नद्याः कदाचिदागत्य तीरे निक्षिप्य पूर्ववत् ।
वासांसि कृष्णं गायन्त्यो विजह्रुः सलिले मुदा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

नद्याः—नदी के; कदाचित्—एक बार; आगत्य—आकर; तीरे—तट पर; निक्षिप्य—उतारकर; पूर्व-वत्—पहिले जैसा; वासांसि—अपने वस्त्र; कृष्णम्—कृष्ण के विषय में; गायन्त्यः—गाती हुई; विजह्रुः—खेलने लगतीं; सलिले—जल में; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक।

एक दिन वे नदी के तट पर आईं और पहले की भाँति अपने वस्त्र उतारकर जल में क्रीड़ा करने लगीं और कृष्ण के यश का गान करने लगीं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार यह घटना उस दिन की है जब गोपियों ने अपना व्रत पूरा किया और जिस दिन पूर्णमासी थी। अपने व्रत के भलीभाँति पूर्ण होने के उपलक्ष्य में उन्होंने वृषभानु की पुत्री तथा अपनी विशिष्टतः प्रिय राधारानी को अन्य प्रमुख गोपियों समेत आमंत्रित किया और उन सबों को लेकर नदी में स्नान करने आई। उनकी जलक्रीड़ा *अवभृथ स्नान* जैसी थी अर्थात् वह औपचारिक स्नान जो किसी वैदिक यज्ञ के पूरा होने के तुरंत पश्चात् किया जाता है।

श्रील प्रभुपाद ने निम्न प्रकार से टीका की है, "भारतीय लड़कियों तथा स्त्रियों में यह पुरानी प्रथा है कि जब वे नदी में स्नान करती हैं, तो अपने सारे वस्त्र तट पर रख देती हैं और पूरी तरह नग्न होकर जल में डुबकी लगाती हैं। नदी के जिस भाग में वे स्नान करती थीं वहाँ पुरुषों का प्रवेश वर्जित था और यह प्रथा अब भी चालू है। भगवान् ने उन अविवाहिता कन्याओं के मन की बात जानते हुए उन्हें वांछित फल दिया। उन्होंने प्रार्थना की थी कि उन्हें कृष्ण पति रूप में प्राप्त हों और कृष्ण उनकी यह इच्छा पूरी कर देना चाहते थे।"

भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।
वयस्यैरावृतस्तत्र गतस्तत्कर्मसिद्धये ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; तत्—वह; अभिप्रेत्य—देखकर; कृष्णः—श्रीकृष्ण; योग-ईश्वर-ईश्वरः—योगेश्वरों के भी ईश्वर; वयस्यैः—तरुण संगियों द्वारा; आवृतः—घिरे; तत्र—वहाँ; गतः—गये; तत्—उन कन्याओं के; कर्म—अनुष्ठान; सिद्धये—फल के लिए विश्वास दिलाने।

योगेश्वरों के भी ईश्वर भगवान् कृष्ण इस बात से अवगत थे कि गोपियाँ क्या कर रही हैं अतएव वे अपने समवयस्क संगियों के साथ गोपियों को उनकी साधना का फल देने गये।

तात्पर्य : योगेश्वरों के भी ईश्वर होने के कारण भगवान् कृष्ण आसानी से गोपियों की इच्छाएँ समझ सकते थे और उनकी पूर्ति भी कर सकते थे। सम्मानित कुटुम्बों की तरुणियों की तरह एक तरुण बालक के समक्ष गोपियों का नग्न अवस्था में प्रकट होना अपने प्राण त्यागने की अपेक्षा अधिक लज्जाशील था। फिर भी कृष्ण ने उन्हें जल से बाहर आने और नमस्कार करने के लिए बाध्य कर दिया। यद्यपि गोपियों के शारीरिक अंग पूर्णतया विकसित थे और कृष्ण उनसे एकान्त स्थान में मिले थे तथा उन्हें पूरी तरह से अपने वश में कर लिया था किन्तु उनके मन में भौतिक इच्छा का लेश भी नहीं था क्योंकि भगवान् पूर्णतया दिव्य हैं। भगवान् कृष्ण दिव्य आनन्द के सागर हैं और वे आध्यात्मिक स्तर पर सामान्य काम-भावना से पूर्णतया मुक्त होकर अपने आनन्द को बाँटना चाह रहे थे।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि यहाँ कृष्ण के जिन संगियों का उल्लेख हुआ है वे केवल दो-तीन वर्ष के नन्हे बच्चे थे। वे एकदम नंगे थे और उन्हें स्त्री तथा पुरुष में अन्तर का पता नहीं था। कृष्ण जब गौवें चराने जाते तो वे भी उनके पीछे-पीछे हो लेते क्योंकि वे कृष्ण के बिना नहीं रह सकते थे।

तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरः ।
हसद्भिः प्रहसन्बालैः परिहासमुवाच ह ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तासाम्—उन कन्याओं के; वासांसि—वस्त्रों को; उपादाय—लेकर; नीपम्—कदम्ब वृक्ष में; आरुह्य—चढ़कर; सत्वरः—फुर्ती से; हसद्भिः—हँसते हुए; प्रहसन्—स्वयं जोर से हँसते; बालैः—बालकों के साथ; परिहासम्—मजाक में; उवाच ह—कहा।

लड़कियों के वस्त्र उठाकर वे तेजी से कदम्ब वृक्ष की चोटी पर चढ़ गये। तत्पश्चात् जब वे जोर से हँसे तो उनके साथी भी हँस पड़े और उन्होंने उन लड़कियों से ठिठोली करते हुए कहा।

**अत्रागत्याबला: कामं स्वं स्वं वास: प्रगृह्यताम् ।
सत्यं ब्रवाणि नो नर्म यद्यूयं व्रतकर्शिता: ॥ १० ॥**

शब्दार्थ

अत्र—यहाँ; आगत्य—आकर; अबला:—हे लड़कियो; कामम्—यदि चाहती हो; स्वम् स्वम्—अपने अपने; वास:—वस्त्र; प्रगृह्यताम्—ले जाओ; सत्यम्—सच; ब्रुवाणि—मैं सच कह रहा हूँ; न—नहीं; उ—प्रत्युत; नर्म—मजाक; यत्—क्योंकि; यूयम्—तुम; व्रत—तपस्या के व्रत से; कर्शिता:—थकी हुई।

[भगवान् कृष्ण ने कहा]: हे लड़कियो, तुम चाहो तो एक एक करके यहाँ आओ और अपने वस्त्र वापस ले जाओ। मैं तुम लोगों से सच कह रहा हूँ। मैं मजाक नहीं कर रहा हूँ क्योंकि मैं देख रहा हूँ कि तुम लोग तपस्यापूर्ण व्रत करने से थक गई हो।

**न मयोदितपूर्वं वा अनृतं तदिमे विदु: ।
एकैकश: प्रतीच्छध्वं सहैवेति सुमध्यमा: ॥ ११ ॥**

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; मया—मेरे द्वारा; उदित—कहा गया; पूर्वम्—इसके पहले; वै—निश्चयपूर्वक; अनृतम्—झूठ; तत्—वह; इमे—ये बालक; विदु:—जानते हैं; एक-एकश:—एक-एक करके; प्रतीच्छध्वम्—(तुम अपने वस्त्र) उठा लो; सह—या सभी मिलकर; एव—निस्सन्देह; इति—इस प्रकार; सु-मध्यमा:—हे क्षीण कटिवाली बालाओ।

मैंने पहले कभी झूठ नहीं बोला और ये बालक इसे जानते हैं। अतएव हे क्षीण कटिवाली बालाओ, या तो एक एक करके या फिर सभी मिलकर इधर आओ और अपने वस्त्र उठा ले जाओ।

**तस्य तत्क्ष्वेलितं दृष्ट्वा गोप्य: प्रेमपरिप्लुता: ।
व्रीडिता: प्रेक्ष्य चान्योन्यं जातहासा न निर्ययु: ॥ १२ ॥**

शब्दार्थ

तस्य—उसका; तत्—वह; क्ष्वेलितम्—मजाकिया व्यवहार; दृष्ट्वा—देखकर; गोप्य:—गोपियाँ; प्रेम-परिप्लुता:—भगवत्प्रेम में पूरी तरह निमग्न; व्रीडिता:—सकुचाई; प्रेक्ष्य—देखकर; च—तथा; अन्योन्यम्—एक-दूसरे को; जात-हासा:—हँसी आने के कारण; न निर्ययु:—नहीं निकलीं।

यह देखकर कि कृष्ण उनसे किस तरह ठिठोली कर रहे हैं, गोपियाँ उनके प्रेम में पूरी तरह निमग्न हो गईं और उलझन में होते हुए भी एक दूसरे की ओर देख-देखकर हँसने तथा परस्पर परिहास करने लगीं। लेकिन तो भी वे जल से बाहर नहीं आईं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है :

गोपियाँ अत्यन्त सम्माननीय परिवार की थीं अत: उन्होंने कृष्ण से तर्क किया होगा "आप हमारे वस्त्रों को नदी के तट पर छोड़कर क्यों नहीं चले जाते ?" तब कृष्ण ने उत्तर दिया होगा, "लेकिन तुम

तो अनेक हो अतः तुममें से कुछ लड़कियाँ अन्य लड़कियों के वस्त्र ले सकती हैं।'' गोपियों ने उत्तर दिया होगा, ''हम ईमानदार हैं और कभी कोई चीज नहीं चुरातीं। हम पराये की सम्पत्ति को छूती तक नहीं।'' तब कृष्ण ने कहा होगा, ''यदि ऐसा है, तो बाहर आकर अपने कपड़े ले लो। इसमें कौन सी कठिनाई है?'' ''जब गोपियों ने कृष्ण के संकल्प को देखा तो वे प्रेम पूरित आनंद से भर गईं। यद्यपि वे सकुचाई थीं किन्तु कृष्ण का ऐसा आकर्षण देखकर अत्यन्त हर्षित थीं। कृष्ण उनसे इस तरह परिहास कर रहे थे मानो वे उनकी पत्नियाँ या प्रेमिकाएँ हों और गोपियाँ तो बस यही चाहती थीं। किन्तु वे सकुचाई थीं कि वे उन्हें नग्न देख जो रहे थे। किन्तु तो भी वे उनके परिहास युक्त शब्दों पर अपनी हँसी नहीं रोक पा रही थीं और वे भी परस्पर मजाक करने लगीं। एक गोपी ने दूसरे से निवेदन किया, ''आगे जाओ, तुम सबसे पहले जाओ और हमें देखने दो कि कृष्ण तुम्हारे साथ क्या कोई चाल चलते हैं। तब फिर हम भी जायेंगी।''

एवं ब्रुवति गोविन्दे नर्मणाक्षिप्तचेतसः ।
आकण्ठमग्नाः शीतोदे वेपमानास्तमब्रुवन् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; ब्रुवति—बोलते हुए; गोविन्दे—गोविन्द; नर्मणा—उनके मजाकिये शब्दों से, दिल्लगी से; आक्षिप्त—क्षुब्ध; चेतसः—मनवाले; आ-कण्ठ—गले तक; मग्नाः—लीन; शीत—ठंडे; उदे—जल में; वेपमानाः—काँपती; तम्—उनसे; अब्रुवन्—बोलीं।

जब श्रीगोविन्द इस तरह बोले तो गोपियों के मन उनकी मजाकिया वाणी (परिहास) से पूरी तरह मुग्ध हो गये। वे ठंडे जल में गले तक धँसी रहकर काँपने लगीं। अतः वे उनसे इस तरह बोलीं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कृष्ण तथा गोपियों के बीच परिहास का निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

कृष्ण : अरी पक्षी जैसी कन्याओ! यदि तुम यहाँ नहीं आओगी तो इन शाखाओं में टँगे वस्त्रों का मैं झूला बनाऊँगा और उसमें लेट जाऊँगा क्योंकि मैं रात-भर जगा हूँ और अब मुझे नींद आ रही है।

गोपियाँ : अरे हमारे प्यारे ग्वाले! तुम्हारी गौवें घास की लालच में गुफा में चली गई हैं। तुम तुरन्त जाकर उन्हें उचित राह पर लाकर चराओ।

कृष्ण : अरी गोपियो! अब तो आओ। तुम्हें जल्दी ही यहाँ से व्रज जाकर अपने घर का काम-

काज करना चाहिए। क्यों अपने माता-पिता तथा अन्य गुरुजनों के लिए सरदर्द बन रही हो?

गोपियाँ : हे प्रिय कृष्ण! हम पूरे मास तक यहाँ से नहीं जायेंगी क्योंकि हम कात्यायनी का यह व्रत अपने माता-पिता तथा गुरुजनों के कहने पर ही कर रही हैं।

कृष्ण : अरी मेरी प्यारी तपस्विनियो! तुम्हें देखकर मेरे मन में भी गृहस्थ जीवन से वैराग्य उत्पन्न हो चुका है। मैं यहाँ एक मास रुककर बादलों में रहने का व्रत पूरा करना चाहता हूँ। यदि तुम लोग मुझपर दया दिखा सको तो मैं नीचे आकर तुम लोगों के साथ उपवास पूरा कर सकता हूँ।

गोपियाँ कृष्ण के मजाकिया शब्दों से पूर्णतया मोहित थीं किन्तु लज्जावश गले तक पानी के भीतर रहती रहीं, वे ठंड से कँपकँपाती इस प्रकार बोलीं।

मानयं भोः कृथास्त्वां तु नन्दगोपसुतं प्रियम् ।
जानीमोऽङ्ग व्रजश्लाघ्यं देहि वासांसि वेपिताः ॥ १४॥

शब्दार्थ

मा—मत; अनयम्—अनीति, अन्याय; भोः—हे कृष्ण; कृथाः—करो; त्वाम्—तुमको; तु—दूसरी ओर; नन्द-गोप—महाराज नन्द के; सुतम्—पुत्र को; प्रियम्—प्रिय; जानीमः—जानती हैं; अङ्ग—हे प्रिय; व्रज-श्लाघ्यम्—व्रज-भर में विख्यात; देहि—कृपा करके दे दीजिये; वासांसि—हमारे वस्त्र; वेपिताः—कँपकँपा रही हम सबों को।

[गोपियों ने कहा]: हे कृष्ण, अन्यायी मत बनो, हम जानती हैं कि तुम नन्द के माननीय पुत्र हो और व्रज का हर व्यक्ति तुम्हारा सम्मान करता है। हमें भी तुम अत्यन्त प्रिय हो। कृपा करके हमारे वस्त्र लौटा दो। हम ठंडे जल में काँप रही हैं।

श्यामसुन्दर ते दास्यः करवाम तवोदितम् ।
देहि वासांसि धर्मज्ञ नो चेद्राज्ञे ब्रुवाम हे ॥ १५॥

शब्दार्थ

श्यामसुन्दर—हे श्यामसुन्दर; ते—तुम्हारी; दास्यः—दासियाँ; करवाम—हम करेंगी; तव—तुम्हारे द्वारा; उदितम्—जो भी कहा जायेगा; देहि—दे दो; वासांसि—हमारे वस्त्र; धर्म-ज्ञ—हे धर्म के ज्ञाता; न—नहीं तो; उ—निस्सन्देह; चेत्—यदि; राज्ञे—राजा से; ब्रुवामः—हम कहेंगी; हे—हे कृष्ण।

हे श्यामसुन्दर, हम तुम्हारी दासियाँ हैं और तुम जो भी कहोगे करेंगी। किन्तु हमारे वस्त्र हमें लौटा दो। तुम धार्मिक नियमों के ज्ञाता हो और तुम यदि हमें हमारे वस्त्र नहीं दोगे, तो हम राजा से कह देंगी। मान जाओ।

श्रीभगवानुवाच
भवत्यो यदि मे दास्यो मयोक्तं वा करिष्यथ ।
अत्रागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छत शुचिस्मिताः ।
नो चेन्नाहं प्रदास्ये किं क्रुद्धो राजा करिष्यति ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; भवत्यः—तुम सब; यदि—यदि; मे—मेरी; दास्यः—दासियाँ; मया—मेरे द्वारा; उक्तम्—कहा गया; वा—अथवा; करिष्यथ—तुम करोगी; अत्र—यहाँ; आगत्य—आकर; स्व-वासांसि—अपने अपने वस्त्र; प्रतीच्छत—चुन लो; शुचि—ताजी; स्मिताः—हँसी; न उ—नहीं तो; चेत्—यदि; न—नहीं; अहम्—मैं; प्रदास्ये—दे दूँगा; किम्—क्या; क्रुद्धः—नाराज; राजा—राजा; करिष्यति—कर लेगा।

भगवान् ने कहा : यदि तुम सचमुच मेरी दासियाँ हो और मैं जो कहता हूँ उसे वास्तव में करोगी तो फिर अपनी अबोध भाव से मुस्कान भरकर यहाँ आओ और अपने अपने वस्त्र चुन लो। यदि तुम मेरे कहने के अनुसार नहीं करोगी तो मैं तुम्हारे वस्त्र वापस नहीं दूँगा। और यदि राजा नाराज भी हो जाये तो वह मेरा क्या बिगाड़ सकता है?

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद टीका करते हैं ''जब गोपियों ने देखा कि कृष्ण दृढ़ एवं अटल बने हुए हैं तब उनके पास उनकी आज्ञापालन करने के सिवाय कोई चारा न था।''

ततो जलाशयात्सर्वा दारिकाः शीतवेपिताः ।
पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरुः शीतकर्शिताः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; जल-आशयात्—नदी में से बाहर; सर्वाः—सभी; दारिकाः—युवतियाँ; शीत-वेपिताः—जाड़े से काँपती; पाणिभ्याम्—अपने हाथों से; योनिम्—अपने गुप्त अंग को; आच्छाद्य—ढककर; प्रोत्तेरुः—बाहर आगईं; शीत-कर्शिताः—जाड़े से पीड़ित।

तत्पश्चात् कड़ाके की शीत से काँपती सारी युवतियाँ अपने अपने हाथों से अपने गुप्तांग ढके हुए जल के बाहर निकलीं।

तात्पर्य : गोपियों ने कृष्ण को आश्वस्त किया था कि वे उनकी नित्य दासियाँ हैं और उनका कहना मानने को तैयार हैं अतः वे अपनी ही बातों से हार खा चुकी थीं। उन्होंने सोचा कि यदि वे विलम्ब करती हैं, तो इस बीच अन्य कोई आ सकता है, जो उनके लिए असह्य होगा। गोपियाँ कृष्ण से इतना अधिक प्रेम करती थीं कि इस विषम स्थिति में भी उनके प्रति उनका अनुराग बढ़ता जा रहा था और वे उनके सान्निध्य में रहने के लिए और भी उतावली हो रही थीं। ऐसी विषम परिस्थिति में उन्होंने अपने आपको नदी में डुबो देने का भी विचार नहीं किया।

वे इस निष्कर्ष पर पहुँचीं कि अपनी दुविधा त्यागकर अपने प्रिय कृष्ण के पास जाने के अतिरिक्त उनके पास कोई चारा न था। इस तरह जब गोपियाँ परस्पर आश्वस्त हो लीं कि कोई अन्य विकल्प नहीं है, तो वे कृष्ण से मिलने के लिए जल से निकलकर बाहर आ गईं।

भगवानाहता वीक्ष्य शुद्ध भावप्रसादितः ।
स्कन्धे निधाय वासांसि प्रीतः प्रोवाच सस्मितम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् द्वारा; आहताः—विह्वल; वीक्ष्य—देखकर; शुद्ध—शुद्ध; भाव—स्नेह से; प्रसादितः—संतुष्ट; स्कन्धे—अपने कंधे पर; निधाय—रखकर; वासांसि—उनके वस्त्र; प्रीतः—प्यार से; प्रोवाच—बोले; स-स्मितम्—हँसते हुए।

जब भगवान् ने देखा कि गोपियाँ किस तरह विह्वल हैं, तो वे उनके शुद्ध प्रेम-भाव से संतुष्ट हो गये। उन्होंने अपने कन्धे पर उनके वस्त्र उठा लिए और हँसते हुए उनसे बड़े ही स्नेहपूर्वक बोले।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद की टीका है, "गोपियों का सहज सर्मपण इतना शुद्ध था कि कृष्ण तुरन्त ही उनसे प्रसन्न हो उठे। जिन कुमारी गोपियों ने कात्यायनी से कृष्ण को पति रूप में पाने की प्रार्थना की थी इस प्रकार से वे प्रसन्न हो गईं। कोई स्त्री अपने पति के अतिरिक्त अन्य किसी के समक्ष नंगी नहीं हो सकती। कुमारी गोपियों ने कृष्ण को पति रूप में चाहा था और उन्होंने इस प्रकार उनकी इच्छा पूरी कर दी।"

गोपियों जैसी राजसी युवतियों के लिए किसी युवक के समक्ष नग्न खड़ी होना मृत्यु से भी बढ़कर था फिर भी उन्होंने कृष्ण के आनन्द के लिए सब कुछ त्यागने का निश्चय किया। कृष्ण अपने प्रति उनकी प्रेम-शक्ति को देखना चाहते थे और वे उनकी अनन्य भक्ति से पूरी तरह संतुष्ट हो गये।

यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता
व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम् ।
बद्ध्वाञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेऽंहसः
कृत्वा नमोऽधोवसनं प्रगृह्यताम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यूयम्—तुम लोगों ने; विवस्त्राः—नंगी; यत्—क्योंकि; अपः—जल में; धृत-व्रताः—वैदिक अनुष्ठान करते हुए; व्यगाहत—स्नान किया; एतत् तत्—यह; उ—निस्सन्देह; देव-हेलनम्—वरुण तथा अन्य देवताओं के प्रतिअपराध; बद्ध्वा अञ्जलिम्—हाथ जोड़कर; मूर्ध्नि—अपने अपने सिरों पर; अपनुत्तये—निराकरण के लिए; अंहसः—अपने अपने पाप कर्म के; कृत्वा नमः—नमस्कार करके; अधः-वसनम्—अपने अपने अधोवस्त्र; प्रगृह्यताम्—वापस लेलो।

[भगवान् कृष्ण ने कहा]: तुम सबों ने अपना व्रत रखते हुए नग्न होकर स्नान किया है, जो कि देवताओं के प्रति अपराध है। अतः अपने पाप के निराकरण के लिए तुम सबों को अपने अपने सिर के ऊपर हाथ जोड़कर नमस्कार करना चाहिए। तभी तुम अपने अधोवस्त्र वापस ले सकती हो।

तात्पर्य : कृष्ण गोपियों को पूर्ण समर्पण करते देखना चाहते थे इसलिए उन्होंने आदेश दिया कि वे अपने सिर के ऊपर हाथ जोड़कर नमस्कार करें। दूसरे शब्दों में, गोपियाँ अपने शरीरों को अब ढक नहीं सकती थीं। हमें मूर्खों की तरह यह कभी नहीं सोचना चाहिए कि भगवान् कृष्ण कोई सामान्य कामान्ध युवक थे, जो गोपियों के नग्न सौन्दर्य का आनन्द लूटना चाहते थे। कृष्ण परब्रह्म हैं और वे वृन्दावन की युवती गोपियों की प्रेम-इच्छा को पूरा करना चाहते थे। इस जगत में ऐसी दशा में हम निश्चित रूप से कामुक हो उठते। किन्तु ईश्वर से अपनी तुलना करना घोर अपराध है और इस अपराध के कारण हम कृष्ण के दिव्य पद को नहीं समझ सकेंगे क्योंकि हम उन्हें अपने ही समान बद्ध मान लेंगे। जो परब्रह्म के आनन्द का भोग करना चाहता है उसके लिए कृष्ण के दिव्य दर्शन से वंचित होना एक बड़ी दुर्घटना होगी।

इत्यच्युतेनाभिहितं व्रजाबला
मत्वा विवस्त्राप्लवनं व्रतच्युतिम् ।
तत्पूर्तिकामास्तदशेषकर्मणां
साक्षात्कृतं नेमुरवद्यमृग्यतः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

इति—इन शब्दों द्वारा; अच्युतेन—अच्युत भगवान् द्वारा; अभिहितम्—इंगित की गई; व्रज-अबलाः—व्रज की युवतियाँ; मत्वा—मानकर; विवस्त्र—नग्न; आप्लवनम्—स्नान; व्रज-च्युतिम्—अपने व्रत से नीचे गिरकर; तत्-पूर्ति—उसकी पूर्ति; कामाः—इच्छुक; तत्—उस; अशेष-कर्मणाम्—तथा अन्य अनन्त पुण्य कर्मों को; साक्षात्-कृतम्—प्रत्यक्ष फल के प्रति; नेमुः—नमस्कार किया; अवद्य-मृक्—सभी पापों को दूर करनेवाला; यतः—क्योंकि ।.

इस तरह वृन्दावन की उन युवतियों ने कृष्ण द्वारा कहे गये वचनों पर विचार करके यह मान लिया कि नदी में नग्न स्नान करने से वे अपने व्रत से पतित हुई हैं। किन्तु तो भी वे अपना व्रत पूरा करना चाहती थीं और चूँकि भगवान् कृष्ण समस्त पुण्य कर्मों के प्रत्यक्ष चरमफल हैं अतः अपने पापों को धो डालने के उद्देश्य से उन्होंने कृष्ण को नमस्कार किया।

तात्पर्य : यहाँ पर कृष्णभावनामृत की दिव्य स्थिति का सुस्पष्ट वर्णन हुआ है। गोपियों ने निश्चय

किया कि अपनी तथाकथित पारिवारिक परम्परा और पारम्परिक नैतिकता को त्यागकर भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करना श्रेयस्कर है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि कृष्णभावनामृत आन्दोलन अनैतिक कार्यों का समर्थक है। वस्तुत: इस्कान के भक्त संयम तथा सच्चरित्रता के सर्वोच्च मानदण्ड का पालन करते हैं किन्तु उसी के साथ हम कृष्ण की दिव्य स्थिति को मान्यता प्रदान करते हैं। भगवान् कृष्ण ईश्वर हैं अत: उनके मन में युवतियों के साथ भोग–विलास की कोई इच्छा नहीं रहती। जैसाकि इस अध्याय में आगे देखा जायेगा, कृष्ण गोपियों के साथ भोग करने के लिए तनिक भी इच्छुक नहीं थे प्रत्युत वे उनके प्रेम से आकृष्ट थे और उनको तुष्ट करना चाह रहे थे।

सबसे बड़ा अपराध तो भगवान् कृष्ण के कार्यकलापों की नकल करना है। भारत में *प्राकृत सहजियों* का एक वर्ग है, जो कृष्ण के इन कार्यकलापों की नकल करता है और कृष्ण–पूजा के नाम पर नग्न तरुणियों का भोग करना चाहता है। इस्कान आन्दोलन धर्म के इस उपहास का डटकर विरोध करता है क्योंकि मनुष्य के लिए भगवान् का हास्यास्पद अनुकरण सबसे बड़ा अपराध है। इस्कान आन्दोलन में सस्ते अवतारों का अभाव है और इस आन्दोलन का कोई भी भक्त अपने को कृष्ण के पद तक ऊपर नहीं उठा सकता।

पाँच सौ वर्ष पूर्व भगवान् कृष्ण श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में प्रकट हुए जिन्होंने विद्यार्थी जीवन में कठोर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया और २४ वर्ष की आयु में संन्यास ले लिया जो आजीवन ब्रह्मचारी रहने का व्रत है। चैतन्य महाप्रभु कृष्ण की प्रेमाभक्ति के अपने व्रत को निबाहने के लिए स्त्री–संसर्ग से दृढ़ता के साथ दूर रहते थे। जब ५,००० वर्ष पूर्व कृष्ण स्वयं प्रकट हुए थे तो उन्होंने ये अद्‌भुत लीलाएँ प्रदर्शित की थीं जो हमारे चित्त को आकर्षित करती हैं। हमें चाहिए कि ईश्वर द्वारा सम्पन्न की गई ऐसी लीलाओं के विषय में सुनकर न तो ईर्ष्या करें, न चकित हों। ऐसा हमारे अज्ञान के कारण है क्योंकि यदि हम इन कार्यों को करने का प्रयास करें तो हमारे शरीर कामासक्त हो जायेंगे। किन्तु कृष्ण परब्रह्म हैं इसलिए वे किसी तरह की भौतिक इच्छा से तनिक भी विचलित नहीं होते। इस तरह यह घटना जिसमें गोपियाँ सारी नैतिकता के मानदण्ड को ताक पर रखकर अपने सिर के ऊपर हाथ जोड़कर नमस्कार करके कृष्ण के आदेश का पालन करती हैं शुद्ध भक्ति का उदाहरण है, धार्मिक नियमों की कोई त्रुटि नहीं है।

वस्तुत: गोपियों का समर्पण सर्व धर्म की सिद्धि है जैसाकि श्रील प्रभुपाद *भगवान् श्रीकृष्ण* में बताते हैं "गोपियाँ सीधीसादी जीव थीं और कृष्ण जो कुछ भी कहते उसे वे सच मानतीं थीं। वरुणदेव के कोप से अपने को बचाने तथा अपने व्रतों की पूर्ति करने और अन्ततोगत्वा अपने आराध्य कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए ही उन्होंने उनके आदेश का तुरन्त पालन किया। इस प्रकार वे कृष्ण की सर्वोच्च प्रेमिकाएँ तथा परम आज्ञाकारिणी सेविकाएँ बन सकीं।

"गोपियों की कृष्णभावना अतुलनीय है। वास्तव में गोपियों को न तो वरुण की, न ही किसी अन्य देवता की परवाह थी, वे केवल कृष्ण को प्रसन्न करना चाहती थीं।"

तास्तथावनता दृष्ट्वा भगवान्देवकीसुतः ।
वासांसि ताभ्यः प्रायच्छत्करुणस्तेन तोषितः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ताः—तब; तथा—इस तरह; अवनताः—सिर झुकाते; दृष्ट्वा—देखकर; भगवान्—भगवान्; देवकी-सुतः—देवकीपुत्र, कृष्ण ने; वासांसि—वस्त्र; ताभ्यः—उनको; प्रायच्छत्—लौटा दिया; करुणः—दयालु; तेन—उस कार्य से; तोषितः—सन्तुष्ट।

उन्हें इस प्रकार नमस्कार करते देखकर देवकीपुत्र भगवान् ने उनपर करुणा करके तथा उनके कार्य से संतुष्ट होकर उनके वस्त्र लौटा दिये।

दृढं प्रलब्धास्त्रपया च हापिताः
प्रस्तोभिताः क्रीडनवच्च कारिताः ।
वस्त्राणि चैवापहृतान्यथाप्यमुं
ता नाभ्यसूयन्प्रियसङ्गनिर्वृताः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

दृढम्—बुरी तरह से; प्रलब्धाः—ठगी हुई; त्रपया—अपनी लज्जा से; च—तथा; हापिताः—वंचित; प्रस्तोभिताः—मजाक उड़ाई गई; क्रीडन-वत्—गुड़ियों की तरह; च—तथा; कारिताः—करने के लिए बाध्य की गई; वस्त्राणि—उनके वस्त्र; च—तथा; एव—निस्सन्देह; अपहृतानि—चुराये हुए; अथ अपि—तो भी; अमुम्—उनके प्रति; ताः—वे; न अभ्यसूयन्—शत्रुभाव नहीं लाईं; प्रिय—अपने प्रियतम का; सङ्ग—साथ करने से; निर्वृताः—हर्षित।

यद्यपि गोपियाँ बुरी तरह ठगी जा चुकी थीं, उनके शील-संकोच से उन्हें वंचित किया जा चुका था, उन्हें कठपुतलियों की तरह नचाया गया था और उनका उपहास किया गया था और यद्यपि उनके वस्त्र चुराये गये थे किन्तु उनके मन में श्रीकृष्ण के प्रति रंच-भर भी प्रतिकूल भाव नहीं आया। उल्टे वे अपने प्रियतम के सान्निध्य का यह अवसर पाकर सहज रूप से पुलकित थीं।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद की टीका है : "गोपियों के इस मनोभाव का वर्णन श्री चैतन्य महाप्रभु

द्वारा हुआ है जब वे प्रार्थना करते हैं, 'हे भगवान् कृष्ण! आप चाहे मेरा आलिंगन करें या अपने पैरों के नीचे रौंद डालें या मेरे समक्ष कभी भी उपस्थित न होकर मेरे हृदय को तोड़ दें। आप जो चाहें सो कर सकते हैं क्योंकि आप कुछ भी करने के लिए स्वतंत्र हैं। किन्तु इतना सब करने पर भी आप सदैव मेरे स्वामी हैं, मेरा कोई दूजा आराध्य नहीं है।' कृष्ण के प्रति गोपियों का यही मनोभाव है।''

परिधाय स्ववासांसि प्रेष्ठसङ्गमसज्जिताः ।
गृहीतचित्ता नो चेलुस्तस्मिन्लज्जायितेक्षणाः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

परिधाय—पहनकर; स्व-वासांसि—अपने अपने वस्त्र; प्रेष्ठ—अपने प्रिय के; सङ्गम—इस मिलन से; सज्जिताः—उनके प्रति पूरी तरह अनुरक्त हुईं; गृहीत—चुराये गये; चित्ताः—मनवाली; न—नहीं; उ—निस्सन्देह; चेलुः—हिलडुल सकीं; तस्मिन्—उनपर; लज्जायित—लज्जा से पूर्ण; ईक्षणाः—चितवनें।

गोपियाँ अपने प्रिय कृष्ण से मिलने के लिए आतुर थीं अतएव वे उनके द्वारा मोह ली गईं। इस तरह अपने अपने वस्त्र पहन लेने के बाद भी वे हिलीही नहीं। वे लजाती हुई उन्हीं पर टकटकी लगाये जहाँ की तहाँ खड़ी रहीं।

तात्पर्य : अपने प्रिय मित्र कृष्ण से मिलने से गोपियाँ उनके प्रति और अधिक अनुरक्त हो गईं। जिस तरह कृष्ण ने उनके वस्त्र चुरा लिए थे उसी तरह उन्होंने उनके मन और प्रेम भी हर लिये थे। गोपियों ने इस घटना को इस बात का प्रमाण मान लिया कि कृष्ण भी उनके प्रति अनुरक्त हैं। अन्यथा वे उनसे इस तरह का खिलवाड़ करने का कष्ट क्यों करते? उन्होंने सोचा कि अब कृष्ण हम पर अनुरक्त हैं अतएव उन्होंने लज्जायुक्त निगाहों से उन्हें देखा और भावमय प्रेम की उठान के कारण वे जहाँ पर खड़ी थीं वहाँ से टस से मस न हो सकीं। कृष्ण ने उनकी लज्जा हर ली थी और उन्हें नंगी ही जल से बाहर निकलने के लिए बाध्य कर दिया था किन्तु अब अपने वस्त्रों से सज्जित हो जाने के बाद उनके समक्ष वे पुनः लजा रही थी। वस्तुतः इस घटना से कृष्ण के समक्ष उनमें विनयशीलता बढ़ गई थी। वे नहीं चाहतीं थीं कि कृष्ण उन्हें घूर-घूरकर देखें इसलिए उन्होंने ही भगवान् को देखने के अवसर का सावधानी से उपयोग किया।

तासां विज्ञाय भगवान्स्वपादस्पर्शकाम्यया ।
धृतव्रतानां सङ्कल्पमाह दामोदरोऽबला: ॥ २४॥

शब्दार्थ

तासाम्—उन; विज्ञाय—जानकर; भगवान्—भगवान् के; स्व-पाद—अपने पाँवों का; स्पर्श—स्पर्श पाने; काम्यया—इच्छा से; धृत-व्रतानाम्—व्रत धारण करने वाली; सङ्कल्पम्—संकल्प; आह—बोले; दामोदरः—भगवान् दामोदर; अबलाः—लड़कियों से।

भगवान् उन गोपियों के द्वारा किये जा रहे कठोर व्रत के संकल्प को समझ गये। वे यह भी जान गये कि ये बालाएँ उनके चरणकमलों का स्पर्श करना चाहती हैं अतः भगवान् दामोदर कृष्ण उनसे इस प्रकार बोले।

सङ्कल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनम् ।
मयानुमोदितः सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सङ्कल्पः—संकल्प; विदितः—समझ गया; साध्व्यः—हे सती साध्वी लड़कियो; भवतीनाम्—तुम्हारे; मत्-अर्चनम्—मेरी पूजा; मया—मेरे द्वारा; अनुमोदितः—समर्थित; सः असौ—वह; सत्यः—सच; भवितुम्—होए; अर्हति—अवश्य।

"हे साध्वी लड़कियो, मैं समझ गया कि इस तपस्या के पीछे तुम्हारा असली संकल्प मेरी पूजा करना था। तुम्हारी इस अभिलाषा का मैं अनुमोदन करता हूँ और यह अवश्य ही खरा उतरेगा।

तात्पर्य : जिस प्रकार कृष्ण समस्त अशुद्ध इच्छाओं से मुक्त हैं उसी तरह गोपियाँ भी हैं। अतएव पति रूप में कृष्ण को प्राप्त करने का उनका प्रयास निजी इन्द्रियतृप्ति की कामना से प्रेरित न होकर कृष्ण की सेवा करने और उन्हें प्रसन्न रखने की अपार इच्छा से प्रेरित था। अपने प्रगाढ़ प्रेम के कारण गोपियाँ कृष्ण को ईश्वर के रूप में नहीं अपितु समस्त सृष्टि के सबसे निराले बालक के रूप में देखती थीं। वे सुन्दर युवतियाँ होने के कारण अपने प्रेमभाव से ही उन्हें प्रसन्न करना चाहती थीं। कृष्ण उनकी शुद्ध इच्छा को जान गये थे अतः वे परम तुष्ट थे। भगवान् सामान्य कामवासना से ही तुष्ट होने वाले नहीं हैं किन्तु वृन्दावन की गोपियों की गहन प्रेमाभक्ति से वे अभिभूत हो गये।

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ।
भर्जिता क्वथिता धानाः प्रायो बीजाय नेशते ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; मयि—मुझमें; आवेशित—लीन; धियाम्—चेतना वाली; कामः—इच्छा; कामाय—भौतिक विषय वासना की ओर; कल्पते—ले जाती है; भर्जिताः—जलाया गया; क्वथिताः—पकाया गया; धानाः—अन्न; प्रायः—अधिकांशतः; बीजाय—नवीन वृद्धि; न इष्यते—उत्पन्न नहीं कर सकते।

जो लोग अपना मन मुझ पर टिका देते हैं उनकी इच्छा उन्हें इन्द्रियतृप्ति की ओर नहीं ले

जाती जिस तरह कि धूप से झुलसे और फिर अग्नि में पकाये गये जौ के बीज नये अंकुर बन कर नहीं उग सकते।

तात्पर्य : यहाँ पर *मय्यावेशितधियाम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कोई भी व्यक्ति भक्ति में उच्च स्थान प्राप्त किये बिना अपना मन तथा बुद्धि कृष्ण पर स्थिर नहीं कर सकता क्योंकि कृष्ण शुद्ध आध्यात्मिक हैं। आत्म-साक्षात्कार निष्काम भाव की स्थिति नहीं है अपितु शुद्ध की गई इच्छा है, जिसमें मनुष्य को एकमात्र कृष्ण के आनन्द की कामना होती है। गोपियाँ कृष्ण के प्रति निश्चित रूप से माधुर्य रस से आकृष्ट थीं फिर भी अपने मन तथा अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को कृष्ण पर स्थिर करने के बावजूद उनके माधुर्य भाव में कभी कोई भौतिक वासना प्रकट नहीं हुई, प्रत्युत वह ब्रह्माण्ड में न दिखने वाला सर्वोच्च भगवत्प्रेम बन गया।

याताबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथा क्षपाः ।
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीः ॥ २७॥

शब्दार्थ

यात—अब जाओ; अबलाः—हे बालिकाओ; व्रजम्—व्रज; सिद्धाः—इच्छा पूर्ति करके; मया—मेरे साथ; इमाः—ये; रंस्यथ—तुम बिता सकोगी; क्षपाः—रातें; यत्—जो; उद्दिश्य—मन में रखकर; व्रतम्—व्रत; इदम्—यह; चेरुः—तुमने किया है; आर्या—कात्यायनी देवी की; अर्चनम्—पूजा; सतीः—शुद्ध होने से।

हे बालाओ, जाओ, अब व्रज लौट जाओ। तुम्हारी इच्छा पूरी हो गई है क्योंकि तुम आने वाली रातें मेरे साथ बिता सकोगी। हे शुद्ध हृदय वाली गोपियो, देवी कात्यायनी की पूजा करने के पीछे तुम्हारे व्रत का यही तो उद्देश्य था!

श्रीशुक उवाच
इत्यादिष्टा भगवता लब्धकामाः कुमारिकाः ।
ध्यायन्त्यस्तत्पदाम्भोजम्कृच्छ्रान्निर्विविशुर्व्रजम् ॥ २८॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; आदिष्टाः—आदेश पाकर; भगवता—भगवान् द्वारा; लब्ध—प्राप्त; कामाः—इच्छाएँ; कुमारिकाः—कुमारियाँ; ध्यायन्त्यः—ध्यान करती हुई; तत्—उनके; पद-अम्भोजम्—चरणकमलों को; कृच्छ्रात्—मुश्किल से; निर्विविशुः—लौट आईं; व्रजम्—व्रज ग्राम।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् द्वारा आदेश दिये जाकर अपनी मनोवांछा पूरी करके वे बालाएँ उनके चरणकमलों का ध्यान करती हुईं बड़ी ही मुश्किल से व्रज ग्राम वापस आईं।

तात्पर्य : गोपियों की इच्छा पूरी हो गई थी क्योंकि कृष्ण ने उनका पति बनना स्वीकार कर लिया

था। एक युवती अपने पति के अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष के साथ रात कभी नहीं बिता सकती अतः जब कृष्ण आने वाली शरद ऋतु में उन युवतियों के साथ रात में रास नृत्य करने पर राजी हो गये तो इसका अर्थ यही था कि वे पति रूप में प्रेम का प्रतिदान करना मान चुके हैं।

अथ गोपैः परिवृतो भगवान्देवकीसुतः ।
वृन्दावनाद्गतो दूरं चारयन्गाः सहाग्रजः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अथ—कुछ समय बाद; गोपैः—ग्वालबालों से; परिवृतः—घिरे हुए; भगवान्—भगवान्; देवकी-सुतः—देवकीपुत्र; वृन्दावनात्—वृन्दावन से; गतः—गये; दूरम्—दूर; चारयन्—चराते हुए; गाः—गौवें; सह-अग्रजः—अपने भाई बलराम के साथ।.

कुछ काल बाद देवकीपुत्र कृष्ण अपने ग्वालबाल मित्रों से घिरकर तथा अपने बड़े भाई बलराम के संग गौवें चराते हुए वृन्दावन से काफी दूर निकल गये।

तात्पर्य : गोपियों के वस्त्रहरण का वर्णन कर चुकने के बाद शुकदेव गोस्वामी कुछ कर्मकाण्डी ब्राह्मणों की पत्नियों को भगवान् कृष्ण द्वारा वर दिये जाने की भूमिका आरम्भ कर रहे हैं।

निदघार्कातपे तिग्मे छायाभिः स्वाभिरात्मनः ।
आतपत्रायितान्वीक्ष्य द्रुमानाह व्रजौकसः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

निदाघ—गीष्म ऋतु के; अर्क—सूर्य की; आतपे—तपन में; तिग्मे—प्रखर; छयभिः—छाया के साथ; स्वाभिः—अपनी; आत्मनः—अपने लिए; आतपत्रायितान्—छाता के रूप में; वीक्ष्य—देखकर; द्रुमान्—वृक्षों को; अह—कहा; व्रज-ओकसः—व्रज के बालकों से।.

जब सूर्य की तपन प्रखर हो गई तो कृष्ण ने देखा कि सारे वृक्ष मानो उन पर छाया करके छाते का काम कर रहे हैं। तब वे अपने ग्वालमित्रों से इस प्रकार बोले।

हे स्तोककृष्ण हे अंशो श्रीदामन्सुबलार्जुन ।
विशाल वृषभौजस्विन्देवप्रस्थ वरूथप ॥ ३१ ॥
पश्यतैतान्महाभागान्परार्थैकान्तजीवितान् ।
वातवर्षातपहिमान्सहन्तो वारयन्ति नः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

हे स्तोक-कृष्ण—हे स्तोक कृष्ण; हे अंशो—हे अंशु; श्रीदामन् सुबल अर्जुन—हे श्रीदामा, सुबल तथा अर्जुन; विशाल वृषभ ओजस्विन्—हे विशाल, वृषभ तथा ओजस्वी; देवप्रस्थ वरूथप—हे देवप्रस्थ तथा वरूथप; पश्यत—जरा देखो तो; एतान्—इन; महा-भागान्—परम भाग्यशाली; पर-अर्थ—अन्यों के लाभ हेतु; एकान्त—एकान्त भाव से; जीवितान्—जिनका जीवन;

वात—वायु; वर्ष—वर्षा; आतप—सूर्य की तपन; हिमान्—तथा बर्फ (पाला); सहन्तः—सहते हुए; वारयन्ति—दूर रखते हैं; नः—हमारे लिए।

भगवान् कृष्ण ने कहा ''हे स्तोककृष्ण तथा अंशु, हे श्रीदामा, सुबल तथा अर्जुन, हे वृषभ, ओजस्वी, देवप्रस्थ तथा वरूथप, जरा इन भाग्यशाली वृक्षों को तो देखो जिनके जीवन ही अन्यों के लाभ हेतु समर्पित हैं। वे हवा, वर्षा, धूप तथा पाले को सहते हुए भी इन तत्त्वों से हमारी रक्षा करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण पाषाणहृदय कर्मकाण्डी ब्राह्मणों की पत्नियों पर अपनी दया का दान करने की तैयारी कर रहे थे और इन श्लोकों में वे इंगित कर रहे हैं कि अन्यों के कल्याण के लिए समर्पित वृक्ष भी उन ब्राह्मणों से श्रेष्ठ हैं, जो परोपकारी नहीं हैं। निस्सन्देह, कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्यों को इस बात का गम्भीरता से अध्ययन करना चाहिए।

अहो एषां वरं जन्म सर्व प्राण्युपजीवनम् ।
सुजनस्येव येषां वै विमुखा यान्ति नार्थिनः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह, जरा देखो तो; एषाम्—इन वृक्षों का; वरम्—श्रेष्ठ; जन्म—जन्म; सर्व—समस्त; प्राणि—जीवों के लिए; उपजीविनम्—पालन करने वाले; सु-जनस्य इव—महापुरुषों की भाँति; येषाम्—जिनसे; वै—निश्चय ही; विमुखाः—निराश; यान्ति—चले जाते हैं; न—कभी नहीं; अर्थिनः—कुछ चाहने वाले।

जरा देखो, कि ये वृक्ष किस तरह प्रत्येक प्राणी का भरण कर रहे हैं। इनका जन्म सफल है। इनका आचरण महापुरुषों के तुल्य है क्योंकि वृक्ष से कुछ माँगने वाला कोई भी व्यक्ति कभी निराश नहीं लौटता।

तात्पर्य : उपर्युक्त उद्धरण श्रील प्रभुपाद कृत *चैतन्य चरितामृत* (आदि ९.४६) से लिया गया है।

पत्रपुष्पफलच्छायामूलवल्कलदारुभिः ।
गन्धनिर्यासभस्मास्थितोक्मैः कामान्वितन्वते ॥ ३४॥

शब्दार्थ

पत्र—पत्तियाँ; पुष्प—फूल; फल—फल; छाया—छाया; मूल—जड़; वल्कल—छाल; दारुभिः—तथा लकड़ी द्वारा; गन्ध—अपनी सुगन्ध से; निर्यास—रस से; भस्म—राख से; अस्थि—लुगदी से; तोक्मैः—तथा नये नये कल्लों से; कामान्—इच्छित वस्तुएँ; वितन्वते—प्रदान करते हैं।

ये वृक्ष अपनी पत्तियों, फूलों तथा फलों से, अपनी छाया, जड़ों, छाल तथा लकड़ी से तथा अपनी सुगंध, रस, राख, लुगदी और नये नये कल्लों से मनुष्यों की इच्छापूर्ति करते हैं।

एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु ।
प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेयआचरणं सदा ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

एतावत्—इस तक; जन्म—जन्म की; साफल्यम्—सफलता, सिद्धि; देहिनाम्—हर प्राणी की; इह—इस जगत में; देहिषु—देहधारियों के प्रति; प्राणैः—प्राण से; अर्थैः—धन से; धिया—बुद्धि से; वाचा—वाणी से; श्रेयः—शाश्वत सौभाग्य; आचरणम्—आचरण करते हुए; सदा—सदैव।

हर प्राणी का कर्तव्य है कि वह अपने प्राण, धन, बुद्धि तथा वाणी से दूसरों के लाभ हेतु कल्याणकारी कर्म करे।

तात्पर्य : उक्त उद्धरण श्रील प्रभुपाद कृत *चैतन्य चरितामृत* (आदि ९.४२) से लिया गया है।

इति प्रवालस्तबकफलपुष्पदलोत्करैः ।
तरूणां नम्रशाखानां मध्यतो यमुनां गतः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार कहते हुए; प्रवाल—नई शाखाओं का; स्तबक—गुच्छे से; फल—फल; पुष्प—फूल; दल—तथा पत्तियों की; उत्करैः—अधिकता से; तरूणाम्—वृक्षों की; नम्र—झुकी हुई; शाखानाम्—डालियों के; मध्यतः—बीच में से; यमुनाम्—यमुना नदी तक; गतः—आये।

इस तरह वृक्षों के बीच विचरण करते हुए, जिनकी शाखाएँ कोपलों, फलों, फूलों तथा पत्तियों की बहुलता से झुकी हुई थीं, भगवान् कृष्ण यमुना नदी के तट पर आ गये।

तत्र गाः पाययित्वापः सुमृष्टाः शीतलाः शिवाः ।
ततो नृप स्वयं गोपाः कामं स्वादु पपुर्जलम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; गाः—गौवों को; पाययित्वा—पानी पिलाकर; अपः—जल; सु-मृष्टाः—अत्यन्त स्वच्छ; शीतलाः—शीतल; शिवाः—स्वास्थ्यप्रद; ततः—तत्पश्चात्; नृप—हे राजा परीक्षित; स्वयम्—अपने से; गोपाः—ग्वालबाल; कामम्—स्वच्छन्दतापूर्वक; स्वादु—स्वादिष्ट; पपुः—पिया; जलम्—जल।

ग्वालों ने गौवों को यमुना नदी का स्वच्छ, शीतल तथा स्वास्थ्यप्रद जल पीने दिया। हे राजा परीक्षित, ग्वालों ने भी जी भरकर उस मधुर जल का पान किया।

तस्या उपवने कामं चारयन्तः पशून्नृप ।
कृष्णरामावुपागम्य क्षुधार्ता इदमब्रवन् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

तस्याः—यमुना के किनारे; उपवने—छोटे जंगल में; कामम्—इच्छानुसार इधर उधर; चारयन्तः—चराते हुए; पशून्—पशुओं को; नृप—हे राजा; कृष्ण-रामौ—कृष्ण तथा राम; उपागम्य—निकट जाकर; क्षुत्-आर्ताः—भूख से पीड़ित; इदम्—यह; अब्रुवन्—कहा।.

तत्पश्चात् हे राजन्, सारे ग्वालबाल यमुना के तट पर एक छोटे से जंगल में पशुओं को उन्मुक्त ढंग से चराने लगे। किन्तु शीघ्र ही भूख से त्रस्त होकर वे कृष्ण तथा बलराम के निकट जाकर इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि ग्वालबाल चिन्तित थे कि कृष्ण भूखे होंगे अत: उन्होंने अपने भूखे होने का स्वांग रचा जिससे कृष्ण तथा बलराम खाने के लिए समुचित प्रबन्ध करें।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत "कृष्ण द्वारा अविवाहिता गोपियों का चीरहरण" नामक बाइसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वार रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तेईस

ब्राह्मण-पत्नियों को आशीर्वाद

इस अध्याय में इसका वर्णन हुआ है कि ग्वालबालों को भोजन के लिए भिक्षा माँगने के लिए उत्साहित करने के बाद भगवान् श्रीकृष्ण ने यज्ञ करने वाले कुछ ब्राह्मणों की पत्नियों पर किस तरह दया दर्शाई और ब्राह्मणों से खेद व्यक्त कराया।

जब ग्वालबालों को अधिक भूख लग गयी तो उन्होंने श्रीकृष्ण से भोजन प्राप्त करने के लिए याचना की। इस पर श्रीकृष्ण ने उन सबों को पास ही यज्ञ कर रहे ब्राह्मणों के एक समूह के पास भोजन माँगने के लिए भेजा। किन्तु इन ब्राह्मणों ने श्रीकृष्ण को कोई सामान्य व्यक्ति समझते हुए बालकों की उपेक्षा कर दी। अत: बालक निराश होकर लौट आये किन्तु भगवान् ने उन्हें यह सलाह देकर फिर से भेजा कि अब वे ब्राह्मणपत्नियों से भोजन माँगें। इन स्त्रियों ने कृष्ण के दिव्य गुणों के विषय में सुन रखा था और उनके प्रति अत्यधिक अनुरक्त थीं। अत: जब उन्होंने यह सुना कि श्रीकृष्ण पास ही हैं, तो वे चार प्रकार के भोजन लेकर फुर्ती से उनके पास गईं। इस तरह उन्होंने अपने आपको श्रीकृष्ण को समर्पित कर दिया।

कृष्ण ने उन स्त्रियों को बतलाया कि कोई भी व्यक्ति मन्दिर में उनके अर्चाविग्रह का दर्शन करके,

उनका ध्यान करके तथा उनके यश का कीर्तन करके उनके प्रति दिव्य प्रेम उत्पन्न कर सकता है। किन्तु यही फल केवल उन्हें अपने समक्ष पाकर प्राप्त नहीं किया जा सकता है। उन्होंने उन्हें सलाह दी कि गृहिणी होने के कारण उनका यह विशेष कर्तव्य है कि अपने पतियों को यज्ञ करने में सहायता दें। इसलिए उन्होंने उन्हें अपने अपने घर लौट जाने का आदेश दिया।

जब ये स्त्रियाँ लौटकर घर गईं तो उनके ब्राह्मण पतियों को तुरन्त पछतावा हुआ और वे कहने लगे, ''कृष्ण से शत्रुभाव रखने वाले व्यक्ति के तीन जन्म—वीर्यज, ब्राह्म तथा याज्ञिक—निन्दनीय बन जाते हैं। दूसरी ओर ये स्त्रियाँ हैं, जो ब्राह्मण जाति के संस्कारों के बिना या कोई तपस्या अथवा पवित्र अनुष्ठान किये बिना ही कृष्ण-भक्ति के द्वारा आसानी से मृत्यु के बन्धन से छूट गई हैं। चूँकि कृष्ण की सारी इच्छाएँ पूर्ण रहती हैं (आप्तकाम) अतएव भोजन की भीख माँगना तो हम ब्राह्मणों के प्रति केवल उनकी कृपा है। वैदिक यज्ञ के फल ही क्यों पृथ्वी की सारी वस्तुएँ उन्हीं के ऐश्वर्य हैं, तो भी अज्ञानवश हम इस तथ्य को नहीं समझ पाये।''

ऐसा कहकर सभी ब्राह्मणों ने इस आशा के साथ कि उनके अपराध क्षमा हो सकेंगे भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार किया। फिर भी कंस के भय के कारण वे स्वयं चलकर भगवान् का दर्शन करने नहीं गये।

श्रीगोप ऊचुः
राम राम महाबाहो कृष्ण दुष्टनिबर्हण ।
एषा वै बाधते क्षुन्नस्तच्छान्तिं कर्तुमर्हथः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-गोपाः ऊचुः—ग्वालबालों ने कहा; राम राम—हे राम, हे राम; महा-बाहो—हे बलशाली भुजाओं वाले; कृष्ण—हे कृष्ण; दुष्ट—दुष्ट का; निबर्हण—दलन करने वाले; एषा—यह; वै—निस्सन्देह; बाधते—कष्ट दे रही है; क्षुत्—भूख; नः—हमें; तत्-शान्तिम्—उसकी शान्ति के लिए; कर्तुम् अर्हथः—तुम्हें करना चाहिए।

ग्वालबालों ने कहा : हे महाबाहु राम, हे दुष्टदलन कृष्ण, हम सब भूख से त्रस्त हैं। इसके लिए आपको कुछ करना चाहिए।

तात्पर्य : ग्वालबालों ने कृष्ण के दुष्टदलन होने का परिहासवश यह अर्थ लगा लिया कि वे उनके खाने का प्रबन्ध करके उनकी भूख शान्त करें। ग्वालों के इस कथन में भगवान् के साथ उनकी प्रेमपूर्ण मैत्री का भाव मिलता है।

श्रीशुक उवाच
इति विज्ञापितो गोपैर्भगवान्देवकीसुतः ।
भक्ताया विप्रभार्यायाः प्रसीदन्निदमब्रवीत् ॥ २॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; विज्ञापितः—सूचित; गोपैः—ग्वालबालों के द्वारा; भगवान्—भगवान्; देवकी-सुतः—देवकीपुत्र; भक्तायाः—अपने भक्तों को; विप्र-भार्यायाः—ब्राह्मण-पत्नियों को; प्रसीदन्—तुष्ट करने की इच्छा से; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : ग्वालबालों द्वारा इस प्रकार प्रार्थना किये जाने पर देवकीपुत्र भगवान् ने अपने कुछ भक्तों को जो कि ब्राह्मण पत्नियाँ थीं प्रसन्न करने की इच्छा से इस प्रकार उत्तर दिया।

प्रयात देवयजनं ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः ।
सत्रमाङ्गिरसं नाम ह्यासते स्वर्गकाम्यया ॥ ३॥

शब्दार्थ

प्रयात—जाओ; देव-यजनम्—यज्ञशाला तक; ब्राह्मणाः—ब्राह्मणजण; ब्रह्म-वादिनः—वैदिक आदेशों के अनुयायी; सत्रम्—यज्ञ; आङ्गिरसम् नाम—आंगिरस नामक; हि—निस्सन्देह; आसते—इस समय कर रहे हैं; स्वर्ग-काम्यया—स्वर्ग जाने के उद्देश्य से।

[भगवान् कृष्ण ने कहा]: तुम लोग यज्ञशाला में जाओ जहाँ वैदिक आदेशों में निपुण ब्राह्मणों का एक समूह स्वर्ग जाने की इच्छा से इस समय आंगिरस यज्ञ कर रहा है।

तत्र गत्वौदनं गोपा याचतास्मद्विसर्जिताः ।
कीर्तयन्तो भगवत आर्यस्य मम चाभिधाम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; गत्वा—जाकर; ओदनम्—भोजन; गोपाः—हे ग्वालबालो; याचत—माँगो; अस्मत्—हमारे द्वारा; विसर्जिताः—भेजे गये; कीर्तयन्तः—घोषित करते हुए; भगवतः—भगवान् का; आर्यस्य—ज्येष्ठ; मम—मेरा; च—भी; अभिधाम्—नाम।

हे ग्वालबालो, तुम वहाँ जाकर कुछ भोजन माँग लाओ। उनसे मेरे बड़े भाई भगवान् बलराम का तथा मेरा भी नाम बतलाना और बताना कि उन्होंने ही हम लोगों को भेजा है।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ने अपने मित्रों को प्रोत्साहित किया कि वे बिना किसी चिन्ता के दान के लिए अनुरोध करें। कहीं वे बालक यह अनुभव न करें कि उन्हें ऐसे सम्माननीय ब्राह्मणों के पास स्वयं जाने का अधिकार नहीं है इस दृष्टि से भगवान् ने उनसे कहा कि बलराम तथा कृष्ण के नामों का उल्लेख कर दें जो भगवान् के पवित्र नाम हैं।

इत्यादिष्टा भगवता गत्वा याचन्त ते तथा ।
कृताञ्जलिपुटा विप्रान्दण्डवत्पतिता भुवि ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

इति—इन शब्दों द्वारा; आदिष्टः—आज्ञा दिये जाकर; भगवता—भगवान् द्वारा; गत्वा—जाकर; अयाचन्त—माँगा; ते—उन्होंने; तथा—उस तरह से; कृत-अञ्जलि-पुटाः—विनम्रतावश दोनों हाथ जोड़कर; विप्रान्—ब्राह्मणों को; दण्ड-वत्—डण्डे के समान; पतिताः—गिरकर; भुवि—भूमि पर।

भगवान् से यह आदेश पाकर ग्वालबालों ने वहाँ जाकर निवेदन किया। वे ब्राह्मणों के समक्ष विनयपूर्वक हाथ जोड़कर खड़े रहे और फिर भूमि पर लेटकर उन्हें नमस्कार किया।

हे भूमिदेवाः शृणुत कृष्णस्यादेशकारिणः ।
प्राप्ताञ्जानीत भद्रं वो गोपान्नो रामचोदितान् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

हे भूमि-देवाः—हे पृथ्वी के देवताओ; शृणुत—सुनिये; कृष्णस्य आदेश—कृष्ण का आदेश; कारिणः—कार्यरूप में परिणत करने वाले; प्राप्तान्—आये हुए; जानीत—जानिये; भद्रम्—कल्याण हो; वः—तुम सबों का; गोपान्—ग्वालबालों को; नः—हम; राम-चोदितान्—राम द्वारा भेजे गये।

[ग्वालबालों ने कहा]: हे पृथ्वी के देवताओ, कृपया हमारी बात सुनें। हम ग्वालबाल कृष्ण का आदेश लेकर आये हैं और हमें बलराम ने यहाँ भेजा है। हम आपका कल्याण चाहते हैं। आप हमारा आगमन स्वीकार करें।

तात्पर्य : *भूमिदेवाः* शब्द ब्राह्मणों का द्योतक है क्योंकि इन्हें भगवान् की इच्छा का प्रतिनिधि माना जाता है। कृष्णभावनामृत का दर्शन इस पृथ्वी के मनुष्यों को देवता मानने वाले आदिकालीन बहुदेवतावाद सिद्धान्त का समर्थन नहीं करता। प्रत्युत यह ऐसा विज्ञान है, जो परम सत्य साक्षात् श्रीकृष्ण से आगे बढ़ने वाली सत्ता को निश्चित करता है। भगवान् की सृष्टि के विस्तार के साथ ही ईश्वर की सत्ता और शक्ति का विस्तार होता है और इस पृथ्वी पर उनकी इच्छा तथा सत्ता का प्रतिनिधित्व शुद्ध तथा प्रबुद्ध व्यक्तियों द्वारा किया जाता है जिन्हें ब्राह्मण कहते हैं।

इस वृत्तान्त से स्पष्ट हो जाता है कि ग्वालबाल जिन कर्मकाण्डी ब्राह्मणों के पास गये थे वे ठीक से प्रबुद्ध नहीं थे और वे कृष्ण तथा बलराम के पद को या उनके अन्तरंग संगियों के पद को नहीं समझते थे। वस्तुतः यह लीला उन तथाकथित बनावटी ब्राह्मणों का पर्दाफाश करती है, जो भगवान् के आज्ञाकारी भक्त नहीं हैं।

गाश्चारयन्ताववदूिर ओदनं
रामाच्युतौ वो लषतो बुभुक्षितौ ।
तयोर्द्विजा ओदनमर्थिनोर्यदि
श्रद्धा च वो यच्छत धर्मवित्तमाः ॥ ७॥

शब्दार्थ

गाः—अपनी गौवें; चारयन्तौ—चराते हुए; अविदूरे—दूर नहीं; ओदनम्—भोजन; राम-अच्युतौ—राम तथा अच्युत; वः—आपसे; लषतः—इच्छुक हैं; बुभुक्षितौ—भूखे होने के कारण; तयोः—उनके लिए; द्विजाः—हे ब्राह्मणो; ओदनम्—भोजन; अर्थिनोः—माँग रहे हैं; यदि—यदि; श्रद्धा—कोई श्रद्धा; च—तथा; वः—आपमें; यच्छत—कृपा करके दें; धर्म-वित्-तमाः—हे धर्म के जानने वालों में श्रेष्ठ।

भगवान् राम तथा भगवान् अच्युत यहाँ से निकट ही अपनी गौवें चरा रहे हैं। वे भूखे हैं और चाहते हैं कि आप उन्हें अपने पास से कुछ भोजन दें। अतः हे ब्राह्मणो, हे धर्म के ज्ञाताओं में श्रेष्ठ, यदि आपकी श्रद्धा है, तो उनके लिए कुछ भोजन दे दें।

तात्पर्य : ग्वालबालों को ब्राह्मणों की उदारता के बारे में सन्देह था इसलिए उन्होंने *बुभुक्षितौ* शब्द का प्रयोग किया जिसका अर्थ है कि कृष्ण तथा बलराम दोनों ही भूखे हैं। इन बालकों को आशा थी कि ये ब्राह्मण इस वैदिक आदेश को जानते होंगे—*अन्नस्य क्षुधितं पात्रम्*—जो कोई भी भूखा हो वह भोजन का दान पाने का पात्र है। किन्तु यदि इन ब्राह्मणों ने कृष्ण तथा बलराम की सत्ता को नहीं माना तो उनकी *द्विज* उपाधि का अर्थ केवल "दो जनों से उत्पन्न" (द्वि—दो जनों से, ज—उत्पन्न) होगा न कि "दो बार जन्म लिया हुआ।" जब ब्राह्मणों ने ग्वालबालों के पहले अनुरोध को नहीं माना तो उन्होंने ब्राह्मणों को व्यंग्यपूर्ण शब्दों में *धर्मवित्तमाः* "धर्म के ज्ञाताओं" में श्रेष्ठ कहकर सम्बोधित किया।

दीक्षायाः पशुसंस्थायाः सौत्रामण्याश्च सत्तमाः ।
अन्यत्र दीक्षितस्यापि नान्नमश्नन्हि दुष्यति ॥ ८॥

शब्दार्थ

दीक्षायाः—यज्ञ के लिए दीक्षा से लेकर; पशु-संस्थायाः—पशु यज्ञ तक; सौत्रामण्याः—सौत्रामणि यज्ञ से बाहर; च—तथा; सत्-तमाः—हे विशुद्ध जनो; अन्यत्र—अन्य कहीं; दीक्षितस्य—यज्ञ में दीक्षित व्यक्ति का; अपि—भी; न—नहीं; अन्नम्—भोजन; अश्नन्—खाते हुए; हि—निस्सन्देह; दुष्यति—अपराध होता है।

हे शुद्धतम ब्राह्मणो, यज्ञकर्ता की दीक्षा तथा वास्तविक पशु यज्ञ के मध्य की अवधि को छोड़कर तथा सौत्रामणि के अतिरिक्त अन्य यज्ञों में दीक्षित व्यक्ति के लिए भी भोजन करना

दूषित नहीं है।

तात्पर्य : ग्वालबालों ने इसका पूर्वानुमान कर रखा था कि हो सकता है ये ब्राह्मण उन्हें भोजन न दें क्योंकि स्वयं भी उन्होंने भोजन नहीं किया होगा और जिस पुरोहित को यज्ञ करने के लिए दीक्षा दी जाती है उसे भोजन नहीं करना चाहिए। इसलिए बालकों ने उन ब्राह्मणों से कर्मकाण्डी यज्ञ की विविध औपचारिकताओं का उल्लेख किया। ये ग्वालबाल वैदिक संस्कृति की औपचारिकताओं से अनजान नहीं थे किन्तु उनकी असली मंशा भगवान् कृष्ण की सेवा करना ही थी।

इति ते भगवद्याच्ञां शृण्वन्तोऽपि न शुश्रुवुः ।
क्षुद्राशा भूरिकर्माणो बालिशा वृद्धमानिनः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ते—वे ब्राह्मण; भगवत्—भगवान् का; याच्ञाम्—निवेदन; शृण्वन्तः—सुनते हुए; अपि—यद्यपि; न शुश्रुवुः—नहीं सुना; क्षुद्र-आशाः—क्षुद्र आशा से पूरित; भूरि-कर्माणः—विस्तृत कर्मकाण्ड में फँसे; बालिशाः—बच्चों जैसे मूर्ख, बचकाना; वृद्ध-मानिनः—अपने को चतुर व्यक्ति मानते हुए।

ब्राह्मणों ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की ओर से किये गये इस निवेदन को सुना। फिर भी उन्होंने इसको अनसुना कर दिया। दरअसल वे क्षुद्र भावनाओं से पूरित थे और विस्तृत कर्मकाण्ड में लगे थे। यद्यपि वे वैदिक ज्ञान में अपने को बढ़ाचढ़ा मान रहे थे किन्तु वास्तव में वे अनुभवविहीन मूर्ख थे।

तात्पर्य : ये बचकाने ब्राह्मण क्षुद्राशाओं से—यथा भौतिक स्वर्ग प्राप्त करने की आशा से—पूर्ण थे। अतः वे कृष्ण के निजी मित्रों के आगमन से प्राप्त होने वाले आध्यात्मिक सुअवसर को नहीं पहचान पाये। आजकल विश्व-भर में लोग भौतिक प्रगति के पीछे दीवाने हैं अतएव वे कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रचार कार्यों द्वारा प्रसारित किये जा रहे भगवान् कृष्ण के सन्देश को नहीं सुन सकते। जमाना बदला नहीं और आज भी पृथ्वी पर दम्भी भौतिकतावादी पुरोहित हैं।

देशः कालः पृथग्द्रव्यं मन्त्रतन्त्रर्त्विजोऽग्नयः ।
देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः ॥ १० ॥
तं ब्रह्म परमं साक्षाद्भगवन्तमधोक्षजम् ।
मनुष्यदृष्ट्या दुष्प्रज्ञा मर्त्यात्मानो न मेनिरे ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

देशः—स्थान; कालः—समय; पृथक् द्रव्यम्—साज-सामान की विशिष्ट वस्तुएँ; मन्त्र—वैदिक स्तोत्र; तन्त्र—निर्धारित अनुष्ठान; ऋत्विजः—पुरोहित; अग्नयः—यज्ञ की अग्नियाँ; देवताः—अधिष्ठाता देवता; यजमानः—यज्ञ करने वाला; च—तथा; क्रतुः—हवि; धर्मः—सकाम फलों की अदृश्य शक्ति; च—तथा; यत्—जिसको; मयः—बनाने वाले; तम्—उसको; ब्रह्म परमम्—परब्रह्म; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवन्तम्—भगवान् को; अधोक्षजम्—भौतिक इन्द्रियों से परे; मनुष्य-दृष्ट्या—उन्हें सामान्य व्यक्ति के रूप में देखते हुए; दुष्प्रज्ञाः—विकृत बुद्धि वाले; मर्त्य-आत्मानः—मिथ्या ही भौतिक शरीर के रूप में अपनी पहचान करते हुए; न मेनिरे—ठीक से आदर नहीं दिया।

यद्यपि यज्ञ करने की सारी सामग्री—स्थान, समय, विशेष सामग्री, मंत्र, अनुष्ठान, पुरोहित, अग्नि, देवता, यजमान, हवि तथा अभी तक के देखे गए लाभकारी परिणाम—ये सभी भगवान् के ऐश्वर्य के विविध पक्ष हैं किन्तु ब्राह्मणों ने अपनी विकृत बुद्धि के कारण भगवान् कृष्ण को सामान्य व्यक्ति के रूप में देखा। वे यह न समझ पाये कि वे परब्रह्म हैं, साक्षात् भगवान् हैं, जिन्हें भौतिक इन्द्रियाँ सामान्य रूप से अनुभव नहीं कर पातीं। अतः मर्त्य शरीर से अपनी झूठी पहचान करने से मोहित उन सबों ने भगवान् के प्रति उचित सम्मान प्रदर्शित नहीं किया।

तात्पर्य : कर्मकाण्डी ब्राह्मण यह नहीं समझ पाये कि भगवान् कृष्ण को यज्ञ का भोजन क्यों प्रदान किया जाय जिन्हें वे सामान्य मनुष्य मानते थे। जिस प्रकार गुलाबी रंग का चश्मा लगाने से सारा संसार गुलाबी दिखाई पड़ता है उसी तरह बद्धजीव अपनी संसारी दृष्टि से ईश्वर को भी संसारी रूप में देखता है और इस तरह भगवद्धाम वापस जाने का अवसर अपने हाथ से निकल जाने देता है।

न ते यदोमिति प्रोचुर्न नेति च परन्तप ।
गोपा निराशाः प्रत्येत्य तथोचुः कृष्णरामयोः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ते—वे; यत्—जब; ओम्—"ऐसा ही हो"; इति—इस प्रकार; प्रोचुः—बोले; न—नहीं; न—नहीं; इति—ऐसा; च—या तो; परन्तप—हे शत्रुओं को दण्ड देने वाले परीक्षित महाराज; गोपाः—ग्वालबाल; निराशाः—उत्साहरहित; प्रत्येत्य—लौटकर; तथा—इस प्रकार; ऊचुः—बतलाया; कृष्ण-रामयोः—कृष्ण तथा राम से।

जब वे ब्राह्मण हाँ या ना में भी उत्तर नहीं दे पाये तो हे परन्तप (परीक्षित), सारे ग्वालबाल निराश होकर कृष्ण तथा राम के पास लौट आये और उनको यह बात बतलाई।

तदुपाकर्ण्य भगवान्प्रहस्य जगदीश्वरः ।
व्याजहार पुनर्गोपान्दर्शयन्लौकिकीं गतिम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तत्—उसे; उपाकर्ण्य—सुनकर; भगवान्—भगवान् ने; प्रहस्य—हँसकर; जगत्-ईश्वरः—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के नियन्ता; व्याजहार—सम्बोधित किया; पुनः—फिर; गोपान्—ग्वालबालों को; दर्शयन्—दिखलाते हुए; लौकिकीम्—सामान्य जगत का; गतिम्—मार्ग।

जो कुछ हुआ था उसे सुनकर ब्रह्माण्ड के स्वामी भगवान् हँसने लगे। तत्पश्चात् उन्होंने पुनः ग्वालबालों को इस जगत में जिस तरह लोग कर्म करते हैं उस मार्ग को दिखलाते हुए सम्बोधित किया।

तात्पर्य : अपनी हँसी द्वारा भगवान् कृष्ण ने ग्वालबालों को इंगित किया कि उन्हें कर्मकाण्डी ब्राह्मणों से नाराज नहीं होना चाहिए अपितु यह समझना चाहिए कि माँगने वाले को प्राय: भीख नहीं दी जाती।

मां ज्ञापयत पत्नीभ्यः ससङ्कर्षणमागतम् ।
दास्यन्ति काममन्नं वः स्निग्धा मय्युषिता धिया ॥ १४॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; ज्ञापयत—कृपया घोषित कर दें; पत्नीभ्यः—स्त्रियों को; स-सङ्कर्षणम्—बलराम सहित; आगतम्—आये हुए; दास्यन्ति—वे देंगी; कामम्—इच्छानुसार; अन्नम्—भोजन; वः—तुमको; स्निग्धाः—स्नेहमय; मयि—मुझमें; उषिताः—निवास करते हुए; धिया—अपनी बुद्धि से।

[भगवान् कृष्ण ने कहा]: ब्राह्मणपत्नियों से कहो कि मैं संकर्षण समेत यहाँ आया हूँ। वे अवश्य ही तुम्हें जितना भोजन चाहोगे उतना देंगी क्योंकि वे मेरे प्रति अत्यन्त स्नेहमयी हैं और वे अपनी बुद्धि से मुझमें ही निवास करती हैं।

तात्पर्य : यद्यपि ब्राह्मणपत्नियाँ शरीर से अपने घर में रहती थीं किन्तु उनके मन भगवान् कृष्ण में निवास करते थे क्योंकि वे उनसे उत्कट स्नेह रखती थीं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि भगवान् कृष्ण ने ग्वालबालों को ब्राह्मणपत्नियों से यह बताने के लिए नहीं कहा कि उन्हें भूख लगी थी क्योंकि वे जानते थे कि इन भक्त स्त्रियों को इससे भारी क्लेश पहुँचता। वे तो कृष्ण के प्रति स्नेहवश ही ग्वालबालों को इच्छित भोजन दे देंगी। वे अपने पतियों के निषेध को नहीं मानेंगीं क्योंकि वे अपनी दिव्य बुद्धि से भगवान् के भीतर ही निवास करती थीं।

गत्वाथ पत्नीशालायां दृष्ट्वासीनाः स्वलङ्कृताः ।
नत्वा द्विजसतीर्गोपाः प्रश्रिता इदमब्रुवन् ॥ १५॥

शब्दार्थ

गत्वा—जाकर; अथ—तब; पत्नी-शालायाम्—ब्राह्मणपत्नियों के घर में; दृष्ट्वा—उन्हें देखकर; असीनाः—बैठी हुई; सु-अलङ्कृताः—आभूषणों से अच्छी तरह सजी हुई; नत्वा—नमस्कार करने के लिए झुकते हुए; द्विज-सतीः—ब्राह्मणों की सती पत्नियों से; गोपाः—ग्वालबालों ने; प्रश्रिताः—विनयपूर्वक; इदम्—यह; अब्रुवन्—कहा।

तब ग्वालबाल उस घर में गये जहाँ ब्राह्मण पत्नियाँ ठहरी हुई थीं। वहाँ उन बालकों ने उन सती स्त्रियों को सुन्दर आभूषणों से अलंकृत होकर बैठे देखा। बालकों ने ब्राह्मण-पत्नियों को नमस्कार करते हुए विनीत भाव से उन्हें सम्बोधित किया।

नमो वो विप्रपत्नीभ्यो निबोधत वचांसि नः ।
इतोऽविदूरे चरता कृष्णेनेहेषिता वयम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; वः—तुम; विप्र-पत्नीभ्यः—ब्राह्मणपत्नियों को; निबोधत—कृपया सुनें; वचांसि—शब्द; नः—हमारे; इतः—यहाँ से; अविदूरे—अधिक दूर नहीं; चरता—जा रहे हैं; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; इह—यहाँ; इषिताः—भेजे गये; वयम्—हम (सब)।

[ग्वालबालों ने कहा]: हे विद्वान ब्राह्मणों की पत्नियो, आपको हमारा नमस्कार। कृपया हमारी बात सुनें। हमें भगवान् कृष्ण ने यहाँ भेजा है, जो यहाँ से कुछ ही दूरी से होकर जा रहे हैं।

गाश्चारयन्स गोपालैः सरामो दूरमागतः ।
बुभुक्षितस्य तस्यान्नं सानुगस्य प्रदीयताम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

गाः—गौवों को; चारयन्—चराते हुए; सः—वह; गोपालैः—ग्वालबालों के संग; स-रामः—बलराम के साथ; दूरम्—दूर से; आगतः—आये हैं; बुभुक्षितस्य—भूखे; तस्य—उनके; अन्नम्—भोजन; स-अनुगस्य—अपने साथियों समेत; प्रदीयताम्—दे दें।

वे ग्वालबालों तथा बलराम के साथ गौवें चराते हुए बहुत दूर निकल आये हैं। अब वे भूखे हैं अतएव आप उन्हें तथा उनके साथियों के लिए कुछ भोजन दे दें।

श्रुत्वाच्युतमुपायातं नित्यं तद्दर्शनोत्सुकाः ।
तत्कथाक्षिप्तमनसो बभूवुर्जातसम्भ्रमाः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर; अच्युतम्—कृष्ण को; उपायातम्—पास आया हुआ; नित्यम्—निरन्तर; तत्-दर्शन—उनका दर्शन करने के लिए; उत्सुकाः—उत्सुक; तत्-कथा—उनकी कथा से; आक्षिप्त—मुग्ध; मनसः—उनके मन; बभूवुः—हो गईं; जात-सम्भ्रमाः—उत्तेजित, उतावली।

ब्राह्मण पत्नियाँ कृष्ण का दर्शन करने के लिए सदैव उत्सुक रहती थीं क्योंकि उनके मन भगवान् की कथाओं से मुग्ध ही चले थे। अतः ज्योंही उन्होंने सुना कि कृष्ण आये हैं, वे अत्यन्त उतावली हो उठीं।

चतुर्विधं बहुगुणमन्नमादाय भाजनैः ।
अभिसस्त्रुः प्रियं सर्वाः समुद्रमिव निम्नगाः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

चतुः-विधम्—चार प्रकार के (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य तथा चोष्य); बहु-गुणम्—अनेक स्वाद तथा सुगंध से युक्त; अन्नम्—भोजन; आदाय—लेकर; भाजनैः—बड़े बड़े बर्तनों में; अभिसस्त्रुः—गईं; प्रियम्—अपने प्रियतम की ओर; सर्वाः—वे सभी; समुद्रम्—समुद्र तक; इव—जिस तरह; निम्न-गाः—नदियाँ।

बड़े बड़े पात्रों में उत्तम स्वाद तथा सुगन्ध से पूर्ण चारों प्रकार का भोजन लेकर सारी स्त्रियाँ अपने प्रियतम से मिलने उसी तरह आगे बढ़ चलीं जिस तरह नदियाँ समुद्र की ओर बहती हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की व्याख्या है कि ब्राह्मणपत्नियों को कृष्ण के प्रति माधुर्य भाव का अनुभव हुआ मानो वे उनके उपपति हों। इसलिए जब वे उन्हें देखने के लिए दौड़ी तो उन्हें रोका नहीं जा सका।

निषिध्यमानाः पतिभिर्भ्रातृभिर्बन्धुभिः सुतैः ।
भगवत्युत्तमश्लोके दीर्घश्रुत धृताशयाः ॥ २० ॥
यमुनोपवनेऽशोक नवपल्लवमण्डिते ।
विचरन्तं वृतं गोपैः साग्रजं ददृशुः स्त्रियः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

निषिध्यमानाः—मना की गई; पतिभिः—अपने पतियों द्वारा; भ्रातृभिः—अपने भाइयों द्वारा; बन्धुभिः—अन्य सम्बन्धियों द्वारा; सुतैः—तथा अपने पुत्रों द्वारा; भगवति—भगवान् के प्रति; उत्तम-श्लोके—दिव्य स्तुतियों से वंदित; दीर्घ—दीर्घकाल तक; श्रुत—सुनने के कारण; धृत—प्राप्त किया गया; आशयाः—जिनकी आशाएँ; यमुना-उपवने—यमुना के तटीय बगीचे में; अशोक-नव-पल्लव—अशोक वृक्ष की कलियों से; मण्डिते—अलंकृत; विचरन्तम्—घूमते हुए; वृतम्—घिरे हुए; गोपैः—ग्वालबालों से; स-अग्रजम्—अपने बड़े भाई सहित; ददृशुः—देखा; स्त्रियः—उन स्त्रियों ने।

यद्यपि उनके पतियों, भाइयों, पुत्रों तथा अन्य सम्बन्धियों ने उन्हें जाने से रोका किन्तु कृष्ण के दिव्य गुणों का दीर्घकाल से श्रवण करते रहने से कृष्ण को देखने की उनकी आशा विजयी हुई। उन्होंने यमुना नदी के किनारे अशोक वृक्षों की कोपलों से सुशोभित एक बगीचे में ग्वालबालों तथा अपने बड़े भाई बलराम के साथ विचरण करते हुए कृष्ण को देख लिया।

श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह-
धातुप्रवालनटवेषमनव्रतांसे ।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं
कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

श्यामम्—श्याम वर्ण; हिरण्य—सुनहला; परिधिम्—वस्त्र; वन-माल्य—वनमाला से; बर्ह—मोरपंख; धातु—रंगीन खनिज; प्रवाल—तथा कलियों के गुच्छे; नट—मंच पर नर्तक के समान; वेषम्—वस्त्र धारण किये; अनुव्रत—मित्र के; अंसे—कंधे पर; विन्यस्त—रखे हुए; हस्तम्—अपना हाथ; इतरेण—अन्य हाथ से; धुनानम्—नचाते हुए; अब्जम्—कमल; कर्ण—अपने कान पर; उत्पल—कुमुदिनियाँ; अलक-कपोल—गालों पर बाल बिखराये; मुख-अब्ज—कमल जैसे मुख पर; हासम्—हँसी से युक्त।

उनका रंग श्यामल था और वस्त्र सुनहले थे। वे मोरपंख, रंगीन खनिज, फूल की कलियों का गुच्छा तथा जंगल के फूलों और पत्तियों की वनमाला धारण किये हुए नाटक के नर्तक की भाँति वेश बनाये थे। वे अपना एक हाथ अपने मित्र के कंधे पर रखे थे और दूसरे से कमल का फूल घुमा रहे थे। उनके कानों में कुमुदिनियाँ सुशोभित थीं, उनके बाल गालों पर लटक रहे थे और उनका कमल सदृश मुख हँसी से युक्त था।

प्राय:श्रुतप्रियतमोदयकर्णपूरै-
यस्मिन्निमग्नमनसस्तमथाक्षिरन्ध्रैः ।
अन्त: प्रवेश्य सुचिरं परिरभ्य तापं
प्राज्ञं यथाभिमतयो विजहुर्नरेन्द्र ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

प्रायः—बारम्बार; श्रुत—सुना गया; प्रिय-तम—अपने सबसे प्यारे का; उदय—कीर्ति; कर्ण-पूरैः—कानों के आभूषण रूप; यस्मिन्—जिसमें; निमग्न—लीन; मनसः—मन; तम्—उन्हें; अथ—तब; अक्षि-रन्ध्रैः—अपनी आँख के छिद्रों से; अन्तः—भीतर; प्रवेश्य—घुसाकर; सु-चिरम्—दीर्घकाल तक; परिरभ्य—आलिंगन करके; तापम्—अपना कष्ट; प्राज्ञम्—अन्त:करण; यथा—जिस तरह; अभिमतयः—मिथ्या अहंकार के कार्य; विजहुः—त्याग दिया; नर-इन्द्र—हे पुरुषों पर शासन करने वाले राजा।

हे नरेन्द्र, उन ब्राह्मणपत्नियों ने दीर्घकाल से अपने प्रिय कृष्ण के विषय में सुन रखा था और उनका यश उनके कानों का स्थायी आभूषण बन चुका था। उनके मन सदैव उन्हीं में लीन रहते थे। अब उन्होंने अपने नेत्रों के छिद्रों से होकर उन्हें अपने हृदय में प्रविष्ट कर लिया और फिर दीर्घकाल तक अपने हृदय के भीतर उनका आलिंगन करती रहीं। इस तरह अन्ततः उनकी वियोग-पीड़ा उसी प्रकार जाती रही जिस प्रकार कि मुनिगण अपने अन्त:करण का आलिंगन करने से मिथ्या अहंकार की चिन्ता त्याग देते हैं।

तास्तथा त्यक्तसर्वाशा: प्राप्ता आत्मदिदृक्षया ।
विज्ञायाखिलदृग्द्रष्टा प्राह प्रहसिताननः ॥ २४॥

शब्दार्थ

ताः—वे स्त्रियाँ; तथा—ऐसी दशा में; त्यक्त-सर्व-आशाः—अपनी सारी भौतिक इच्छाएँ त्यागकर; प्राप्ताः—आई हुईं; आत्म-दिदृक्षया—साक्षात् उन्हें देखने की इच्छा से; विज्ञाय—समझने के लिए; अखिल-दृक्—समस्त प्राणियों की दृष्टि का; द्रष्टा—देखने वाले ने; प्राह—कहा; प्रहसित-आननः—मुखमंडल पर हँसी लाते हुए।

समस्त प्राणियों के विचारों के साक्षी भगवान् कृष्ण यह समझ गये कि किस तरह अपनी सारी सांसारिक आशाओं का परित्याग करके ये स्त्रियाँ केवल उन्हें ही देखने आई हैं। अतः अपने मुख पर हँसी लाते हुए उनसे उन्होंने इस प्रकार कहा।

स्वागतं वो महाभागा आस्यतां करवाम किम् ।
यन्नो दिदृक्षया प्राप्ता उपपन्नमिदं हि वः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सु-आगतम्—स्वागत है; वः—आपका; महा-भागाः—हे भाग्यशालिनी महिलाओ; आस्यताम्—आइये बैठिये; करवाम—कर सकता हूँ; किम्—क्या; यत्—क्योंकि; नः—हमको; दिदृक्षया—देखने की इच्छा से; प्राप्ताः—आई हैं; उपपन्नम्—उपयुक्त; इदम्—यह; हि—निश्चय ही; वः—आपको।

[भगवान् कृष्ण ने कहा]: हे परम भाग्यशालिनी महिलाओ, स्वागत है। कृपया आराम से बैठें। मैं आपके लिये क्या कर सकता हूँ? आप मुझे देखने के लिए यहाँ आईं यह बहुत ही उपयुक्त है।

तात्पर्य : जिस तरह श्रीकृष्ण ने रात्रि में अपने साथ नाचने के लिए आई हुई गोपियों का स्वागत किया था उसी तरह उन्होंने ब्राह्मणपत्नियों का स्वागत किया जो अनेक व्यवधानों को पार करके भगवान् का दर्शन करने आई थीं जिससे भगवान् के प्रति उनका शुद्ध प्रेम सिद्ध होता था। *उपपन्नम्* शब्द सूचित करता है कि यद्यपि इन महिलाओं ने अपने पतियों के आदेशों को ठुकरा दिया था किन्तु उनका आचरण तनिक भी अनुपयुक्त न था क्योंकि उनके पतियों ने भगवान् कृष्ण के प्रति उनकी प्रेमाभक्ति को बाधित करने का स्पष्ट रूप से प्रयास किया था।

नन्वद्धा मयि कुर्वन्ति कुशलाः स्वार्थदर्शिनः ।
अहैतुक्यव्यवहितां भक्तिमात्मप्रिये यथा ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

ननु—निश्चय ही; अद्धा—प्रत्यक्ष; मयि—मुझमें; कुर्वन्ति—करते हैं; कुशलाः—पटु जन; स्व-अर्थ—अपना लाभ; दर्शिनः—देखने वाले; अहैतुकी—बिना कारण के; अव्यवहिताम्—अविच्छिन्न; भक्तिम्—भक्ति; आत्म—आत्मा को; प्रिये—जिसका प्रिय हूँ; यथा—उचित रीति से।

निश्चय ही कुशल लोग, जो अपने असली लाभ को देख सकते हैं, वे मेरी अहैतुकी तथा अविच्छिन्न भक्ति करते हैं क्योंकि मैं आत्मा को सर्वाधिक प्रिय हूँ।

तात्पर्य : भगवान् ने ब्राह्मणपत्नियों को बतलाया कि वे ही नहीं अपितु अपना असली हितभ समझने वाले सारे लोग भगवान् की प्रेमाभक्ति का आश्रय लेते हैं। भगवान् कृष्ण *आत्मप्रिय* हैं अर्थात् हरएक के प्रेम के असली लक्ष्य हैं। यद्यपि हर व्यक्ति की अपनी रुचि तथा अपनी स्वतंत्रता होती है किन्तु अन्ततोगत्वा प्रत्येक जीव भगवान् का आध्यात्मिक स्फुलिंग है। इस तरह हरएक का आदि प्रेम-आकर्षण वैधानिक रूप से भगवान् श्रीकृष्ण के निमित्त है। भगवान् की प्रेमाभक्ति *अहैतुकी* तथा *अव्यवहिता* अर्थात् मनोधर्म, सकाम इच्छाओं अथवा समय एवं परिस्थिति की किसी प्रकार की बाधा से रहित होनी चाहिए।

प्राणबुद्धिमन:स्वात्म दारापत्यधनादय: ।
यत्सम्पर्कात्प्रिया आसंस्तत: को न्वपर: प्रिय: ॥ २७॥

शब्दार्थ

प्राण—प्राण; बुद्धि—बुद्धि; मन:—मन; स्व—स्वजन; आत्म—शरीर; दार—पत्नी; अपत्य—सन्तान; धन—सम्पत्ति; आदय:—इत्यादि; यत्—जिस (आत्मा) से; सम्पर्कात्—सम्पर्क से; प्रिया:—प्रिय; आसन्—बने हुए हैं; तत:—उसकी अपेक्षा; क:—क्या; नु—निस्सन्देह; अपर:—दूसरा; प्रिय:—प्रिय वस्तु।

आत्मा के सम्पर्क से ही जीव का प्राण, बुद्धि, मन, मित्रगण, शरीर, पत्नी, सन्तान, सम्पत्ति इत्यादि उसे प्रिय लगते हैं। अतएव अपने आप से बढ़कर कौन सी वस्तु अधिक प्रिय हो सकती है?

तात्पर्य : इस श्लोक का *यत्सम्पर्कात्* शब्द आत्मा तथा अन्तत: परमात्मा के सम्पर्क का द्योतक है। परमात्मा ही प्रत्येक जीव का मूल है। कृष्णभावनामृत उत्पन्न करने से मनुष्य स्वत: स्वरूपसिद्ध हो जाता है और इस तरह उसकी प्राणशक्ति, बुद्धि, मन, स्वजन, शरीर, परिवार तथा सम्पत्ति—ये सभी कृष्णभावनामृत के प्रभाव से वृद्धि को प्राप्त होते हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि कृष्णभावनामृत आत्मा का परमात्मा से अर्थात् शुद्ध चेतना का परम चेतना कृष्ण से सर्वोत्कृष्ट संगम है।

तद्यात देवयजनं पतयो वो द्विजातय: ।
स्वसत्रं पारयिष्यन्ति युष्माभिर्गृहमेधिन: ॥ २८॥

शब्दार्थ

तत्—अत:; यात—जाओ; देव-यजनम्—यज्ञस्थल को; पतय:—पतिगण; व:—तुम्हारे; द्वि-जातय:—ब्राह्मण; स्व-सत्रम्—अपने अपने यज्ञों को; पारयिष्यन्ति—समाप्त कर सकेंगे; युष्माभि:—तुम लोगों के साथ; गृह-मेधिन:—गृहस्थ जन।

अतएव तुम लोग यज्ञस्थल को लौट जाओ क्योंकि तुम्हारे पति, जो कि विद्वान ब्राह्मण हैं,

गृहस्थ हैं और उन्हें अपने अपने यज्ञ सम्पन्न करने के लिए तुम्हारे सहयोग की आवश्यकता है।

श्रीपत्न्य ऊचुः
मैवं विभोऽर्हति भवान्गदितुं नृशंसं
सत्यं कुरुष्व निगमं तव पदमूलम् ।
प्राप्ता वयं तुलसिदाम पदावसृष्टं
केशैर्निवोढुमतिलङ्घ्य समस्तबन्धून् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

श्री-पत्न्यः ऊचुः—ब्राह्मणपत्नियों ने कहा; मा—नहीं; एवम्—इस तरह; विभो—हे सर्वशक्तिमान; अर्हति—चाहिए; भवान्—आप; गदितुम्—बोलना; नृ-शंसम्—निष्ठुरतापूर्वक; सत्यम्—सत्य; कुरुष्व—कर दीजिये; निगमम्—शास्त्रों में दिये गये वचन; तव—आपके; पाद-मूलम्—चरणकमलों के नीचे; प्राप्ताः—प्राप्त करके; वयम्—हम; तुलसि-दाम—तुलसीदल की माला; पदा—आपके पाँव से; अवसृष्टम्—ठुकराई जाकर; केशैः—हमारे बालों पर; निवोढुम्—ले जाने के लिए; अतिलङ्घ्य—ठुकराकर; समस्त—सभी; बन्धून्—सम्बन्धियों को।

ब्राह्मणपत्नियों ने उत्तर दिया: हे विभो, आप ऐसे कटु वचन न कहें। आपको चाहिए कि आप अपने उस वचन को पूरा करें कि आप अपने भक्तों को सदैव प्रतिदान करते हैं। चूँकि अब हम आपके चरणों को प्राप्त हैं, अतः हम इतना ही चाहती हैं कि हम वन में ही रहती जाएँ जिससे हम तुलसी-दल की उन मालाओं को अपने सिरों पर धारण कर सकें जिन्हें आप उपेक्षापूर्वक अपने चरणकमलों से ठुकरा देते हैं। हम अपने सारे भौतिक सम्बन्ध त्यागने को तैयार हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर ब्राह्मणपत्नियाँ कुछ वैसा ही कह रही हैं जैसाकि गोपियाँ रासनृत्य के प्रारम्भ (भागवत १०.२९.३१) में तब कहती हैं जब कृष्ण उन्हें घर जाने के लिए कहते हैं। इसी श्लोक की तरह गोपियों का भी कथन *मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसम्* शब्दों से प्रारम्भ होता है।

निगम वैदिक वाङ्मय का द्योतक है, जिसमें कहा गया है कि जो भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है, वह इस भौतिक जगत में फिर नहीं आता। इस तरह ब्राह्मणपत्नियों ने भगवान् से याचना की कि चूँकि वे सब उनकी शरण में आई हैं अतएव उन्हें यह शोभा नहीं देता कि वे उन्हें उनके भौतिक पतियों के पास वापस जाने का आदेश दें।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार श्रीकृष्ण ने उन ब्राह्मणपत्नियों से इंगित किया होगा, "तुम लोग उच्च ब्राह्मण कुल की सदस्याएँ हो तो फिर तुम एक ग्वालबाल के चरणों में किस तरह शरण पा सकती हो?"

इस पर उन महिलाओं ने उत्तर दिया होगा, "चूँकि हम पहले से ही आपके चरणकमलों की

शरणागत हैं और आपकी सेविका बनना चाहती हैं अतएव हम अपने को तथाकथित ब्राह्मण कुल की सदस्याओं के रूप में मिथ्या पहचान नहीं समझ रहीं। आप हमारे वचनों से आसानी से इसकी पुष्टि कर सकते हैं।''

तब भगवान् कृष्ण ने उत्तर दिया होगा, ''मैं तो गोपाल हूँ और मेरी असली सेविकाएँ एवं प्रेमिकाएँ तो गोपियाँ हैं।''

इस पर ब्राह्मणपत्नियों ने उत्तर दिया होगा, ''हैं, तो रहने दें। यदि आप अपने सम्बन्धियों के समक्ष ब्राह्मण महिलाओं को दासी बनाते हुए घबड़ा रहे हों तो उन्हें बाहर आने दीजिये। हम आपको उलझन में नहीं डालना चाहतीं। हम आपके गाँव नहीं जायेंगी अपितु वृन्दावन में जंगल के अधिष्ठाता देवों की तरह रहती जाएँगी। हम तो आपसे किञ्चित सम्बन्ध स्थापित करके अपना जीवन सफल बनाना चाहती हैं।''

इस तरह श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की दिव्य दृष्टि से हम यह जान पाते हैं कि ब्राह्मणपत्नियाँ दूर रहने और कृष्ण के चरणकमलों पर गिरी हुई अथवा आलिंगन करते समय उनकी प्रेमिकाओं के पाँवों तले रौंदी गई तुलसी की पत्तियों को ग्रहण करने के लिए राजी हो गईं। उन्होंने इन तुलसीदलों को अपने सिरों पर धारण करना स्वीकार किया। इस तरह उन्होंने कृष्ण की अन्तरंग सखियाँ या सेविकाएँ बनने की इच्छा (जिसका पूरा होना वे कठिन समझती थीं) त्यागकर वृन्दावन के जंगल में रहते जाने की याचना की। यदि तब कृष्ण उनसे पूछते, ''तुम्हारे परिवार वाले क्या कहेंगे'' तो वे उत्तर देतीं, ''हमने तो अपने तथाकथित सम्बन्धियों की पहले ही परवाह नहीं की क्योंकि हम आपका साक्षात् दर्शन कर रही हैं।''

गृह्णन्ति नो न पतयः पितरौ सुता वा
न भ्रातृबन्धुसुहृदः कुत एव चान्ये ।
तस्माद्भवत्प्रपदयोः पतितात्मनां नो
नान्या भवेद्गतिररिन्दम तद्विधेहि ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

गृह्णन्ति—वे स्वीकार करेंगे; नः—हमको; न—नहीं; पतयः—हमारे पति; पितरौ—माता-पिता; सुताः—पुत्र; वा—अथवा; न—नहीं; भ्रातृ—भाई; बन्धु—अन्य सम्बन्धी; सुहृदः—तथा मित्रगण; कुतः—तो कैसे; एव—निस्सन्देह; च—तथा; अन्ये—अन्य लोग; तस्मात्—अतएव; भवत्—आपके; प्रपदयोः—आपके चरणकमलों पर; पतित—गिरे हुए; आत्मनाम्—जिनके

शरीर; नः—हमारे लिए; न—नहीं; अन्या—अन्य कोई; भवेत्—हो सकता है; गतिः—गन्तव्य; अरिम्-दम—हे शत्रुओं के दमनकर्ता; तत्—वह; विधेहि—हमें प्रदान करें।

अब हमारे पति, माता-पिता, पुत्र, भाई, अन्य सम्बन्धी तथा मित्र हमें वापस नहीं लेंगे और अन्य कोई हमें किस तरह शरण देने को तैयार हो सकेगा? क्योंकि अब हमने अपने आपको आपके चरणकमलों पर पटक दिया है और हमारे कोई अन्य गन्तव्य नहीं है अतएव हे अरिन्दम, हमारी इच्छापूरी कीजिये।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस प्रकार टीका की है : ''ब्राह्मणपत्नियों ने अपनी युवावस्था से ही वृन्दावन की स्त्रियों के मुख से भगवान् कृष्ण के रूप, गुण तथा माधुर्य का वर्णन सुन रखा था। मालिनों, तम्बोलिनियों तथा अन्यों से भी सुना था। अत: उन्हें कृष्ण के प्रति भावमय प्रेम (रति) का अनुभव होता था और वे गृहकार्यों से अन्यमनस्क रहती थीं। उनके पति उन्हें इस तरह निठल्ली देखकर सन्देह करते थे और उनसे बातचीत करने से कतराते रहते थे। अब ये ब्राह्मणपत्नियाँ अपने तथाकथित परिवारों तथा पड़ोसियों का नियमित रूप से बहिष्कार करने को सन्नद्ध थीं और अति क्षोभ के कारण वे कृष्ण के चरणकमलों पर अपने सिर रख रखकर चिख रही थीं और उन्हें नमस्कार कर रही थीं। इस तरह अवरुद्ध वाणी से उन्होंने उपर्युक्त श्लोक कहा। उन्होंने कृष्ण से प्रार्थना की कि वे उन्हें आशीर्वाद दें कि वे ही उनके एकमात्र गन्तव्य हों और अरिन्दम होने के कारण उनके शत्रुओं का—उन तमाम बाधाओं का—दमन कर दें जो कृष्ण को प्राप्त करने में बाधक थीं।

ब्राह्मणपत्नियाँ एकमात्र कृष्ण की सेवा करना चाहती थीं और भगवान् के भावमय प्रेम में यही शुद्ध कृष्णभावनामृत है।

श्रीभगवानुवाच
पतयो नाभ्यसूयेरन्पितृभ्रातृसुतादयः ।
लोकाश्च वो मयोपेता देवा अप्यनुमन्वते ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; पतयः—तुम्हारे पति; न अभ्यसूयेरन्—शत्रुता का अनुभव नहीं करेंगे; पितृ-भ्रातृ-सुत-आदयः—तुम्हारे पिता, भाई, पुत्र इत्यादि; लोकाः—सामान्य लोग; च—भी; वः—तुम्हारी ओर; मया—मेरे द्वारा; उपेताः—उपदेश दिये गये; देवाः—देवतागण; अपि—भी; अनुमन्वते—सही ढंग से मानते हैं।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने उत्तर दिया: तुम यह विश्वास करो कि न तो तुम्हारे पतिगण तुम लोगों के प्रति शत्रुभाव रखेंगे न ही तुम्हारे पिता, भाई, पुत्र, अन्य सम्बन्धीजन या आम जनता। मैं

स्वयं उन्हें सारी स्थिति समझा दूँगा। यहाँ तक कि देवतागण भी अपना अनुमोदन व्यक्त करेंगे।

न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यङ्गसङ्गो नृणामिह ।
तन्मनो मयि युञ्जाना अचिरान्मामवाप्स्यथ ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; प्रीतये—संतोष के लिए; अनुरागाय—अनुराग के लिए; हि—निश्चय ही; अङ्ग-सङ्गः—शारीरिक मिलन; नृणाम्—लोगों के लिए; इह—इस जगत में; तत्—इसलिए; मनः—तुम्हारे मन; मयि—मुझपर; युञ्जानाः—स्थिर करके; अचिरात्—शीघ्र ही; माम्—मुझको; अवाप्स्यथ—प्राप्त करोगी।.

तुम सबों का मेरे शारीरिक सान्निध्य में रहना निश्चय ही इस जगत के लोगों को अच्छा नहीं लगेगा, न ही इस प्रकार से तुम मेरे प्रति अपने प्रेम को ही बढ़ा सकोगी। तुम्हें चाहिए कि तुम अपने मन को मुझपर स्थिर करो और इस तरह शीघ्र ही तुम मुझे पा सकोगी।

तात्पर्य : भगवान् ने संकेत किया कि सामान्य लोग नहीं चाहेंगे कि ऊपरी तौर पर ग्वालबाल प्रतीत होने वाले श्रीकृष्ण तथा ब्राह्मण समुदाय की स्त्रियों के बीच ऐसा प्रेमाचार हो। साथ ही वियोग में ब्राह्मणपत्नियों की भक्ति तथा प्रेम में काफी वृद्धि हो जायेगी। दूसरे शब्दों में, यदि वे अपने मन को कृष्ण में स्थिर रहने दें तो बहुत अच्छा रहेगा क्योंकि यह विधि जिसको वे अभी तक अपनाए चली आ रही हैं, आजीवन चलती रहेगी। भगवान् तथा उनका प्रामाणिक प्रतिनिधि, आध्यात्मिक गुरु, भगवान् के भक्तों को पटुता से विविध प्रकार की सेवाओं में लगाते हैं जिससे वे शीघ्र ही उनके चरणकमलों में वापस लौट सकें।

श्रवणाद्दर्शनाद्ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात् ।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

श्रवणात्—सुनने से; दर्शनात्—अर्चाविग्रह के स्वरूप का दर्शन करने से; ध्यानात्—ध्यान करने से; मयि—मेरे लिए; भावः—प्रेम; अनुकीर्तनात्—मेरे नाम तथा गुणों का कीर्तन करने से; न—नहीं; तथा—उसी तरह से; सन्निकर्षेण—निकट रहने से; प्रतियात—लौट जाओ; ततः—अतएव; गृहान्—अपने घरों को।.

मेरे विषय में सुनने, मेरे अर्चाविग्रह स्वरूप का दर्शन करने, मेरा ध्यान धरने तथा मेरे नामों एवं महिमाओं का कीर्तन करने से ही मेरे प्रति प्रेम बढ़ता है, भौतिक सान्निध्य से नहीं। अतएव तुम लोग अपने घरों को लौट जाओ।

श्रीशुक उवाच
इत्युक्ता द्विजपत्न्यस्ता यज्ञवाटं पुनर्गताः ।
ते चानसूयवस्ताभिः स्त्रीभिः सत्रमपारयन् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इन वचनों से; उक्ताः—कहे गये; द्विज-पत्न्यः—ब्राह्मणपत्नियों से; ताः—वे; यज्ञ-वाटम्—यज्ञस्थल को; पुनः—फिर; गताः—चली गईं; ते—वे, उनके पतिगण; च—तथा; अनसूयवः—शत्रुभाव रहित; ताभिः—उन; स्त्रीभिः—स्त्रियों के साथ; सत्रम्—यज्ञ का सम्पन्न होना; अपारयन्—पूरा किया।

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह आज्ञा पाकर ब्राह्मणपत्नियाँ यज्ञस्थल पर लौट गईं। ब्राह्मणों ने अपनी पत्नियों में कोई दोष नहीं निकाला और उन्होंने उनके साथ साथ यज्ञ पूरा किया।

तात्पर्य : ब्राह्मणपत्नियों ने भगवान् कृष्ण के आदेश का पालन किया और वे अपने पतियों के यज्ञस्थल को लौट गईं लेकिन गोपियाँ कृष्ण द्वारा आदेश दिये जाने पर भी उनके साथ पूनम की रात में नृत्य करने के लिए वन में रहती रहीं। गोपियाँ तथा ब्राह्मणपत्नियाँ—दोनों ने ही शुद्ध भगवत्प्रेम प्राप्त किया।

तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम् ।
हृडोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; एका—उनमें से एक ने; विधृता—बलपूर्वक रोकी गई; भर्त्रा—पति द्वारा; भगवन्तम्—भगवान् को; यथा-श्रुतम्—जैसा उसने अन्यों से सुन रखा था; हृदा—अपने हृदय में; उपगुह्य—आलिंगन करके; विजहौ—त्याग दिया; देहम्—अपना शरीर; कर्म-अनुबन्धनम्—जो भवबन्धन का कारण है।

उनमें से एक महिला को उसके पति ने जबरदस्ती रोक रखा था। जब उसने अन्यों के मुख से भगवान् कृष्ण का वर्णन सुना तो उसने अपने हृदय के भीतर उनका आलिंगन किया और अपना वह भौतिक शरीर त्याग दिया जो भवबन्धन का कारण है।

तात्पर्य : यहाँ पर वर्णित महिला कृष्ण के प्रति विशेष रूप से समर्पित थी। उसने अपना भौतिक शरीर त्यागते ही आध्यात्मिक शरीर प्राप्त किया और यज्ञस्थल छोड़कर भगवान् से जा मिली।

भगवानपि गोविन्दस्तेनैवान्नेन गोपकान् ।
चतुर्विधेनाशयित्वा स्वयं च बुभुजे प्रभुः ॥ ३६॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; अपि—भी; गोविन्दः—गोविन्द; तेन—उस; एव—उसी; अन्नेन—भोजन से; गोपकान्—ग्वालबालों को; चतुः-विधेन—चार प्रकार का; अशयित्वा—खिलाकर; स्वयम्—स्वयं, खुद; च—तथा; बुभुजे—खाया; प्रभुः—सर्वशक्तिमान ने।

भगवान् गोविन्द ने ग्वालबालों को वह चार प्रकार का भोजन कराया। तत्पश्चात् सर्वशक्तिमान भगवान् ने भी उन व्यंजनों को खाया।

एवं लीलानरवपुर्नृलोकमनुशीलयन् ।
रेमे गोगोपगोपीनां रमयन्रूपवाक्कृतैः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार से; लीला—लीलाओं के लिए; नर—मनुष्य रूप में; वपुः—दिव्य शरीरधारी; नृ-लोकम्—मानव समाज का; अनुशीलयन्—अनुकरण करते; रेमे—आनन्द लिया; गो—गौवें; गोप—ग्वालबाल; गोपीनाम्—गोपियों को; रमयन्—प्रसन्न करते हुए; रूप—अपने सौन्दर्य; वाक्—वाणी; कृतैः—तथा कर्मों से।

इस तरह अपनी लीलाएँ सम्पन्न करने के लिए मनुष्य रूप में प्रकट होकर भगवान् ने मानव समाज की रीतियों का अनुकरण किया। उन्होंने अपनी गौवों, ग्वालमित्रों तथा गोपियों को अपने सौन्दर्य, वाणी तथा कर्मों से प्रमुदित करते हुए आनन्द भोग किया।

अथानुस्मृत्य विप्रास्ते अन्वतप्यन्कृतागसः ।
यद्विश्वेश्वरयोर्याच्ञामहन्म नृविडम्बयोः ॥ ३८॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; अनुस्मृत्य—होश में आने पर; विप्राः—ब्राह्मणगण; ते—वे; अन्वतप्यन्—पछताने लगे; कृत-अगसः—अपराध किये जाने पर; यत्—क्योंकि; विश्व-ईश्वरयोः—ब्रह्माण्ड के दो स्वामियों, कृष्ण तथा बलराम की; याच्ञाम्—याचना का; अहन्म—हमने उल्लंघन किया; नृ-विडम्बयोः—मनुष्य के छद्मवेश में प्रकट होने वालों का।

तब ब्राह्मणों को चेत हुआ और वे बहुत अत्यधिक पछताने लगे। उन्होंने सोचा, ‘‘हमसे बहुत पाप हुआ है क्योंकि हमने सामान्य मनुष्य के वेश में प्रकट हुए ब्रह्माण्ड के दो स्वामियों की याचना अस्वीकार कर दी है।’’

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण तथा भगवान् बलराम ने ब्राह्मणों को छलने का प्रयास नहीं किया—उन्होंने उनसे सीधे भोजन की याचना की। प्रत्युत ब्राह्मणों ने अपने आपको धोखा दिया जैसाकि *नृविडम्बयो:* शब्द से सूचित होता है, जिसका अर्थ है कि कृष्ण और बलराम ऐसे सामान्य मनुष्य के लिए मोहित हैं, जो उनको भी एक सामान्य व्यक्ति समझता है। तो भी, चूँकि ब्राह्मणपत्नियाँ भगवान् की परम भक्त थीं, इसलिए मूर्ख ब्राह्मणों को आध्यात्मिक लाभ हुआ और अन्त में उन्हें चेत हो गया।

दृष्ट्वा स्त्रीणां भगवति कृष्णे भक्तिमलौकिकीम् ।
आत्मानं च तया हीनमनुतप्ता व्यगर्हयन् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; स्त्रीणाम्—अपनी पत्नियों की; भगवति—भगवान्; कृष्णे—कृष्ण में; भक्तिम्—शुद्ध भक्ति को; अलौकिकीम्—अलौकिक; आत्मानम्—अपने आपको; च—तथा; तया—उससे; हीनम्—विहीन; अनुतप्ताः—पछतावा करते हुए; व्यगर्हयन्—अपने आपको धिक्कारा।

अपनी पत्नियों की पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के प्रति दिव्य भक्ति और अपने को उस भक्ति से विहीन देखकर उन ब्राह्मणों को अतीव खेद हुआ और वे अपने आपको धिक्कारने लगे।

धिग्जन्म नस्त्रिवृद्यत्तद्धिग्व्रतं धिग्बहुज्ञताम् ।
धिक्कुलं धिक्क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

धिक्—धिक्कार है; जन्म—जन्म; नः—हमारा; त्रि-वृत्—तिबारा (पहला माता-पिता से, फिर ब्राह्मण दीक्षा द्वारा तथा तीसरा वैदिक यज्ञ करते समय दीक्षा द्वारा); यत् तत्—जो भी; धिक्—धिक्कार है; व्रतम्—हमारे (ब्रह्मचर्य) व्रत को; धिक्—धिक्कार है; बहु-ज्ञताम्—अपार विद्वत्ता को; धिक्—धिक्कार है; कुलम्—हमारे उच्च वंश को (कुलीनता); धिक्—धिक्कार है; क्रिया-दाक्ष्यम्—कर्मकाण्ड में हमारी दक्षता को; विमुखः—वैरी; ये—जो; तु—फिर भी; अधोक्षजे—भगवान् में।

[ब्राह्मणों ने कहा]: "धिक्कार है हमारे तिबारा जन्म को, हमारे ब्रह्मचर्य तथा हमारी विपुल विद्वत्ता को, धिक्कार है हमारे उच्च कुल तथा यज्ञ-अनुष्ठान में हमारी निपुणता को! इन सबको धिक्कार है क्योंकि हम भगवान् से विमुख हैं।"

तात्पर्य : ऊपर दी गई परिभाषाओं के अनुसार *त्रिविद् जन्म* तीन बार जन्म का द्योतक है—(१) शारीरिक जन्म (२) ब्राह्मण दीक्षा (३) वैदिक यज्ञ करने के लिए दीक्षा। परब्रह्म भगवान् कृष्ण से अनजान रहने पर यह सब व्यर्थ है।

नूनं भगवतो माया योगिनामपि मोहिनी ।
यद्वयं गुरवो नृणां स्वार्थे मुह्यामहे द्विजाः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निस्सन्देह; भगवतः—भगवान् की; माया—मोहिनीशक्ति; योगिनाम्—बड़े बड़े योगियों को; अपि—भी; मोहिनी—मोहित कर लेती है; यत्—चूँकि; वयम्—हम; गुरवः—गुरु; नृणाम्—समाज के; स्व-अर्थे—अपने सच्चे हित के लिए; मुह्यामहे—मोहित हो गये हैं; द्विजाः—ब्राह्मणगण।

भगवान् की मायाशक्ति बड़े बड़े योगियों को मोह लेती है, तो हमारी क्या बिसात! ब्राह्मण होने के नाते हम सभी जाति के लोगों के आध्यात्मिक गुरु माने जाते हैं फिर भी हम अपने सच्चे स्वार्थ के बारे में मोहित हो गये हैं।

अहो पश्यत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ ।
दुरन्तभावं योऽविध्यन्मृत्युपाशान्गृहाभिधान् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

अहो पश्यत—देखो तो सही; नारीणाम्—इन स्त्रियों की; अपि—भी; कृष्णे—भगवान् कृष्ण में; जगत्-गुरौ—सकल ब्रह्माण्ड के गुरु; दुरन्त—असीम; भावम्—भक्ति; यः—जिसने; अविध्यत्—तोड़ डाला है; मृत्यु—मृत्यु के; पाशान्—बन्धनों को; गृह-अभिधान्—गृहस्थ जीवन के नाम से विख्यात्।

जरा इन स्त्रियों के असीम प्रेम को तो देखो जो इन्होंने अखिल विश्व के आध्यात्मिक गुरु भगवान् के प्रति उत्पन्न कर रखा है। इस प्रेम ने गृहस्थ जीवन के प्रति उनकी आसक्ति—मृत्यु के बन्धन—को छिन्न कर दिया है।

तात्पर्य : एक तरह पति, पिता, ससुर इत्यादि उन महिलाओं के गुरु या शिक्षक थे किन्तु वे स्त्रियाँ कृष्ण-भक्ति में पूर्ण हो चुकी थीं जबकि पुरुष अज्ञान के गर्त में गिर चुके थे।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार घर लौटने पर इन महिलाओं में दिव्य भावों के लक्षण प्रकट होने लगे—यथा शरीर कम्प, अश्रुपात, रोमांच, विवर्णता, "मेरे जीवन के आनन्दरूप कृष्ण" कहकर प्रलाप, गला रुँधना इत्यादि।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर यहाँ तक कह डालते हैं कि कोई भले ही यह विरोध करे कि अपने पति के अतिरिक्त स्त्री को अन्य किसी पुरुष से प्रेम करना उचित नहीं किन्तु यहाँ तो पतिगण ही यह इंगित कर रहे हैं कि वे जगद्गुरु कृष्ण के बनावटी गुरु हैं, जो सारे ब्रह्माण्ड के शिक्षक और आध्यात्मिक गुरु हैं। पतियों ने देखा कि उनकी पत्नियों में कृष्ण के प्रति दिव्य अनुराग के कारण घर, पति, सन्तान इत्यादि के लिए रंच-भर भी अनुरक्ति नहीं रह गई है। इसलिए उसी दिन से उन पतियों ने उन स्त्रियों को अपना आध्यात्मिक पूज्य गुरु मान लिया और उन्हें पत्नियों या सम्पत्ति के रूप में मानना बन्द कर दिया।

नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि ।
न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न क्रियाः शुभाः ॥ ४३ ॥
तथापि ह्युत्तमःश्लोके कृष्णे योगेश्वरेश्वरे ।
भक्तिर्दृढा न चास्माकं संस्कारादिमतामपि ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

न—न तो; आसाम्—इनका; द्विजाति-संस्कार:—समाज के द्विज कहलाने वाले वर्ग के संस्कार; न—न; निवास:—निवास; गुरौ—गुरु के आश्रम में (अर्थात् ब्रह्मचारी रूप में प्रशिक्षण); अपि—भी; न—न तो; तप:—तपस्या; न—न; आत्म-मीमांसा—आत्मा की वास्तविकता के विषय में दार्शनिक जिज्ञासा; न—नहीं; शौचम्—स्वच्छता का अनुष्ठान; न—नहीं; क्रिया:—कर्मकाण्ड; शुभा:—शुभ; तथा अपि—फिर भी; हि—निस्सन्देह; उत्तम:-श्लोके—जिनका यशगान उच्च कोटि के वैदिक मंत्रों द्वारा किया जाता है; कृष्णे—कृष्ण के लिए; योग-ईश्वर-ईश्वरे—योग के समस्त स्वामियों का परम स्वामी; भक्ति:—शुद्ध भक्ति; दृढा—दृढ़; न—नहीं; च—दूसरी ओर; अस्माकम्—हम सब की; संस्कार-आदि-मताम्—ऐसे संस्कारों इत्यादि वाले; अपि—यद्यपि।

इन स्त्रियों ने न तो द्विजों के शुद्धीकरण संस्कार कराये हैं, न ही किसी आध्यात्मिक गुरु के आश्रम में ब्रह्मचारियों का जीवन बिताया है, न इन्होंने कोई तपस्या की है या आत्मा के विषय में मनन किया है या स्वच्छता की औपचारिकताओं का निर्वाह अथवा पावन अनुष्ठानों में अपने को लगाया है। तो भी इनकी दृढ़ भक्ति उन भगवान् कृष्ण के प्रति है जिनका यशोगान वैदिक मंत्रों द्वारा किया जाता है और जो योगेश्वरों के भी ईश्वर हैं। और दूसरी ओर हम हैं जिन्होंने भगवान् की कोई भक्ति नहीं की यद्यपि हमने इन सारी विधियों को सम्पन्न किया है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार, पतियों को इसका ज्ञान न था कि उनकी पत्नियाँ कभी कभी वृन्दावनवासियों से, यथा फूल बेचने वाली मालिनियों के मुख से कृष्ण के सौन्दर्य तथा गुणों के विषय में सुनती रहती थी। ये ब्राह्मण अपनी पत्नियों की कृष्ण-भक्ति को देखकर चकित थे। उन्हें इसका पता ही नहीं था कि यह भक्ति भगवान् के शुद्ध भक्तों की संगति में भगवान् के विषय में श्रवण और कीर्तन करने का फल है।

ननु स्वार्थविमूढानां प्रमत्तानां गृहेहया ।
अहो नः स्मारयामास गोपवाक्यैः सतां गतिः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

ननु—निस्सन्देह; स्व-अर्थ—अपने लाभ के विषय में; विमूढानाम्—मोहग्रस्त; प्रमत्तानाम्—प्रमत्तों का; गृह-ईहया—अपने घरेलू प्रयासों से; अहो—ओह; न:—हमको; स्मारयाम् आस—स्मरण दिलाया; गोप-वाक्यै:—ग्वालबालों के शब्दों से; सताम्—दिव्य जीवों का; गति:—चरम लक्ष्य।

निस्सन्देह हम लोग गृहकार्यों में व्यस्त रहने के कारण अपने जीवन के असली लक्ष्य से पूरी तरह विपथ हो गये हैं। किन्तु अब जरा देखो तो कि भगवान् ने किस तरह इन सीधे-सादे ग्वालबालों के शब्दों से हमें समस्त सच्चे ब्रह्मवादियों के चरम गन्तव्य का स्मरण दिलाया है।

अन्यथा पूर्णकामस्य कैवल्याद्यशिषां पतेः ।

ईशितव्यैः किमस्माभिरीशस्यैतद्विडम्बनम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

अन्यथा—अन्यथा; पूर्ण-कामस्य—प्रत्येक इच्छा पूरी होने वाले का; कैवल्य—मोक्ष का; आदि—इत्यादि; आशिषाम्—आशीर्वाद; पतेः—स्वामी के; ईशितव्यैः—नियंत्रित किये जाने वालों के साथ; किम्—क्या; अस्माभिः—हमारे साथ; ईशस्य—ईश्वर का; एतत्—यह; विडम्बनम्—बहाना।

अन्यथा पूर्ण काम, मोक्ष तथा दिव्य आशीर्वादों के स्वामी परम नियन्ता हमारे साथ यह विडम्बना क्यों करते? हम तो सदैव उन्हीं के नियंत्रण में रहने के लिए ही हैं।

तात्पर्य : यद्यपि कृष्ण परब्रह्म हैं किन्तु उन्होंने विनीत भाव से अपने ग्वालमित्रों को ब्राह्मणों से भोजन माँगने भेजा। ऐसा करके उन्होंने ब्राह्मणों के अहंभाव की पोल खोली तथा उनकी ही पत्नियों को आकर्षित करके उन्हें अपनी शरण में लेकर अपने ही दिव्य सौन्दर्य के यश की स्थापना की।

हित्वान्यान्भजते यं श्रीः पादस्पर्शाशयासकृत् ।
स्वात्मदोषापवर्गेण तद्याच्ञा जनमोहिनी ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

हित्वा—त्यागकर; अन्यान्—अन्यों को; भजते—पूजती है; यम्—जिस भगवान् को; श्रीः—लक्ष्मीजी; पाद-स्पर्श—जिनके चरणकमलों के स्पर्श हेतु; आशया—आशा के साथ; असकृत्—निरन्तर; स्व-आत्म—अपने से; दोष—त्रुटि; अपवर्गेण—एक ओर करके; तत्—उनकी; याच्ञा—याचना; जन—सामान्य लोग; मोहिनी—मोहित करके।

लक्ष्मीजी उनके चरणकमलों का स्पर्श पाने की आशा से सबकुछ एक ओर रखकर तथा अपना गर्व और चंचलता त्यागकर एकमात्र उन्हीं की पूजा करती हैं। ऐसे भगवान् यदि याचना करते हैं, तो यह अवश्य ही सबों को चकित करने वाली बात है।

तात्पर्य : लक्ष्मीजी के परम स्वामी को स्वयं भोजन की याचना नहीं करनी पड़ती जैसाकि यहाँ पर ब्राह्मणों ने संकेत किया है, जो अन्ततः वास्तविक दिव्य बुद्धि प्रकट कर रहे हैं।

देशः कालः पृथग्द्रव्यं मन्त्रतन्त्रर्त्विजोऽग्नयः ।
देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः ॥ ४८ ॥
स एव भगवान्साक्षाद्विष्णुर्योगेश्वरेश्वरः ।
जातो यदुष्वित्याशृण्म ह्यपि मूढा न विद्महे ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

देशः—स्थान; कालः—समय; पृथक् द्रव्यम्—साज-सामग्री की विशिष्ट वस्तुएँ; मन्त्र—वैदिक स्तोत्र; तन्त्र—निर्धारित अनुष्ठान; ऋत्विजः—पुरोहित; अग्नयः—तथा यज्ञ की अग्नियाँ; देवता—अधिष्ठाता देवता; यजमानः—यज्ञ करने वाला; च—तथा; क्रतुः—हवि; धर्मः—शुभ फल; च—तथा; यत्—जिसको; मयः—बनाने वाला; सः—वह; एव—निस्सन्देह; भगवान्—भगवान्; साक्षात्—प्रत्यक्ष; विष्णुः—विष्णु; योग-ईश्वर-ईश्वरः—योगेश्वरों के स्वामी ने; जातः—जन्म लिया है; यदुषु—यादव

वंश के; इति—इस प्रकार; आशृण्म—हमने सुना है; हि—निश्चय ही; अपि—फिर भी; मूढाः—मूर्ख; न विद्महे—हम नहीं जान पाये।

यज्ञ के सारे पक्ष—शुभ स्थान तथा समय, साज-सामग्री की विविध वस्तुएँ, वैदिक मंत्र, अनुष्ठान, पुरोहित तथा यज्ञ की अग्नियाँ, देवता, यज्ञ-अधिष्ठाता, यज्ञ-हवि तथा प्राप्त होने वाले शुभ फल—ये सभी उन्हीं के ऐश्वर्य की अभिव्यक्तियाँ हैं। यद्यपि हमने योगेश्वरों के ईश्वर, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु के विषय में यह सुन रखा था कि उन्होंने यदु वंश में जन्म ले लिया है किन्तु हम इतने मूर्ख थे कि श्रीकृष्ण को साक्षात् भगवान् नहीं समझ पाये।

तस्मै नमो भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
यन्मायामोहितधियो भ्रमामः कर्मवर्त्मसु ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उन; नमः—नमस्कार; भगवते—भगवान्; कृष्णाय—श्रीकृष्ण को; अकुण्ठ-मेधसे—जिनकी बुद्धि सीमित नहीं होती; यत्-माया—जिनकी मायाशक्ति से; मोहित—मोहग्रस्त; धियः—मन; भ्रमामः—भटक रहे हैं; कर्म-वर्त्मसु—सकाम कर्म के मार्ग पर।

हम उन भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार करते हैं, जिनकी बुद्धि कभी भी मोहग्रस्त नहीं होती और हम हैं कि मायाशक्ति द्वारा मोहित होकर सकाम कर्म के मार्गों पर भटक रहे हैं।

स वै न आद्यः पुरुषः स्वमायामोहितात्मनाम् ।
अविज्ञतानुभावानां क्षन्तुमर्हत्यतिक्रमम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निस्सन्देह; नः—हमारा; आद्यः—आदि भगवान्; पुरुषः—परम पुरुष; स्व-मया-मोहित-आत्मनाम्—उनकी माया से मोहग्रस्त मन वालों का; अविज्ञात—न जानने वाले; अनुभावानाम्—उनके प्रभाव का; क्षन्तुम्—क्षमा कर देना; अर्हति—चाहिए; अतिक्रमम्—अपराध को।

हम भगवान् कृष्ण की मायाशक्ति से मोहग्रस्त थे अतएव हम आदि भगवान् के रूप में उनके प्रभाव को नहीं समझ सके। अब हमें आशा है कि वे कृपापूर्वक हमारे अपराध को क्षमा कर देंगे।

इति स्वाघमनुस्मृत्य कृष्णे ते कृतहेलनाः ।
दिदृक्षवो व्रजमथ कंसाद्भीता न चाचलन् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; स्व-अघम्—अपने अपराध को; अनुस्मृत्य—फिर से स्मरण करके; कृष्णे—कृष्ण के विरुद्ध; ते—वे; कृत-हेलनाः—तिरस्कार प्रदर्शित करने पर; दिदृक्षवः—देखने की इच्छा से; व्रजम्—नन्द महाराज के गाँव; अथ—तब; कंसात्—कंस से; भीताः—डरे हुए; न—नहीं; च—तथा; अचलन्—गये।

इस प्रकार कृष्ण की उपेक्षा करने से उनके द्वारा जो अपराध हुआ था उसका स्मरण करते हुए उनका दर्शन करने के लिए वे अति उत्सुक हो उठे। किन्तु कंस से भयभीत होने के कारण उन्हें व्रज जाने का साहस नहीं हुआ।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण के विरुद्ध अपने अपराध का अनुभव करते हुए और अन्ततोगत्वा उनके सर्वशक्तिमान पद की प्रशंसा करते हुए ब्राह्मणों ने व्रज जाकर भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाही। किन्तु उन्हें भय था कि जब कंस के गुप्तचर उसे जाकर यह बतलायेंगे कि वे ब्राह्मण कृष्ण के पासे गये थे तो वह उन्हें अवश्य मार डालेगा। ब्राह्मणपत्नियाँ कृष्णभावनामृत में भावमग्न थीं अत: वे येन केन प्रकारेण कृष्ण के पास चली गई थीं जिस तरह गोपियाँ कृष्ण के साथ नृत्य करने के लिए अर्धरात्रि में जंगली पशुओं से भरे जंगल से होकर गई थीं। किन्तु ये ब्राह्मण कृष्णभावनामृत के उस उच्च पद को प्राप्त नहीं थे अतएव कंस के भय से पराजित होकर भगवान् का दर्शन करने नहीं जा सके।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''ब्राह्मण-पत्नियों को आशीर्वाद'' नामक तेईसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौबीस

गोवर्धन-पूजा

इस अध्याय में कृष्ण द्वारा इन्द्र के निमित्त किये जाने वाले यज्ञ को रोक कर उसके बदले गोवर्धन-पूजा के यज्ञ का शुभारम्भ कराकर इन्द्र के गर्व को चूर करने का वर्णन हुआ है।

जब श्रीकृष्ण ने देखा कि सारे ग्वाले इन्द्र के लिए यज्ञ करने की तैयारी में लगे हैं, तो उनके राजा नन्द से उन्होंने इसके विषय में पूछा। नन्द ने बतलाया कि इन्द्र द्वारा प्रदत्त वर्षा से सारे प्राणी अपना जीवन-पालन करते हैं इसलिए यह यज्ञ उन्हें प्रसन्न रखने के लिए किया जाएगा। कृष्ण ने कहा, ''सारे जीव कर्मवश ही एक विशेष शरीर लेकर जन्म लेते हैं, वे इस शरीर में तरह-तरह के सुख तथा दुख

भोगते हैं और जब कर्म क्षीण हो जाते हैं, तो वे इस शरीर को त्याग देते हैं। इस प्रकार कर्म ही हमारा शत्रु, मित्र, गुरु तथा स्वामी है और इन्द्र किसी के सुख तथा दुख को नहीं बदल सकते क्योंकि हर व्यक्ति अपने कर्मफल से जकड़ा हुआ है। सतो, रजो तथा तमोगुण इस जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार के लिए उत्तरदायी हैं। रजोगुण से उद्दीप्त होकर बादल वर्षा करते हैं और गोप-जन अपनी गौवों की रक्षा करके सम्पन्न होते हैं। गौवों का असली वासस्थान जंगल तथा पर्वत में है। अतएव आपको गौवों, ब्राह्मणों तथा गोवर्धन पर्वत की पूजा करनी चाहिए।''

यह कहकर कृष्ण ने गोपजनों को एकत्र किया और इन्द्र का यज्ञ करने के लिए एकत्रित सामग्री से गोवर्धन-पूजा की तैयारी की। तत्पश्चात् उन्होंने विराट अद्वितीय दिव्य स्वरूप धारण किया और गोवर्धन पर्वत कर चढ़ाये गये सारे भोजन तथा उपहारों को निगल लिया। ऐसा करते समय उन्होंने घोषणा की कि यद्यपि आज तक ग्वालजाति ने इन्द्र की पूजा की है, किन्तु वह साकार होकर कभी प्रकट नहीं हुआ जबकि गोवर्धन ने उनकी आँखों के समक्ष प्रकट होकर उनके द्वारा चढ़ाया गया सारा भोजन खा लिया है। अतएव उन्हें चाहिए कि वे सब अब गोवर्धन पर्वत को नमस्कार करें। तत्पश्चात् उन्होंने अपने द्वारा धारण किये गये नवीन स्वरूप को ग्वालों के साथ मिलकर नमस्कार किया।

श्रीशुक उवाच
भगवानपि तत्रैव बलदेवेन संयुतः ।
अपश्यन्निवसन्गोपानिन्द्रयागकृतोद्यमान् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; भगवान्—भगवान्; अपि—भी; तत्र एव—उसी स्थान पर; बलदेवेन—बलराम द्वारा; संयुतः—के साथ; अपश्यत्—देखा; निवसन्—निवास करते हुए; गोपान्—ग्वालों को; इन्द्र—स्वर्ग के राजा इन्द्र के लिए; याग—यज्ञ के लिए; कृत—किया हुआ; उद्यमान्—महान् प्रयास।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : उस स्थान पर ही अपने भाई बलदेव के साथ रहते हुए कृष्ण ने ग्वालों को इन्द्र-यज्ञ की जोर-शोर से तैयारी करते देखा।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी तथा अन्य आचार्यों के अनुसार इस श्लोक में आगत *तत्र एव* शब्द यह सूचित करता है कि भगवान् कृष्ण ब्राह्मणों के उसी गाँव में रहने लगे जिनकी पत्नियों ने अपनी भक्ति से उन्हें तुष्ट किया था। इस तरह उन्होंने उन ब्राह्मणों को तथा उनकी सती पत्नियों पर कृपा की जो अपने पतियों के सिवाय और किसी से सम्बन्ध नहीं रख सकती थीं। उसी स्थान पर कृष्ण के पिता

नन्द महाराज तथा अन्य ग्वाले किसी न किसी तरह इन्द्र–यज्ञ की भव्य तैयारी कर रहे थे तभी कृष्ण ने इस प्रकार अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की।

तदभिज्ञोऽपि भगवान्सर्वात्मा सर्वदर्शनः ।
प्रश्रयावनतोऽपृच्छद्वृद्धान्नन्दपुरोगमान् ॥ २॥

शब्दार्थ

तत्-अभिज्ञः—इसके विषय में पूर्ण ज्ञान रखने वाले; अपि—यद्यपि; भगवान्—भगवान् ने; सर्व-आत्मा—हर एक के हृदय में स्थित परमात्मा; सर्व-दर्शनः—सर्वज्ञ भगवान्; प्रश्रय-अवनतः—विनयपूर्वक झुक कर; अपृच्छत्—पूछा; वृद्धान्—बूढ़े लोगों से; नन्द-पुरः-गमान्—नन्द महाराज इत्यादि।

सर्वज्ञ परमात्मा होने से भगवान् कृष्ण पहले से ही सारी स्थिति जानते थे फिर भी विनीत भाव से उन्होंने अपने पिता नन्द महाराज इत्यादि गुरुजनों से पूछा।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण गोवर्धन पर्वत उठाने की लीला करने और इन्द्र के मिथ्या गर्व को चूर करने के लिए उत्सुक थे इसलिए उन्होंने बड़ी ही चतुराई से आसन्न यज्ञ के विषय में अपने पिता से पूछा।

कथ्यतां मे पितः कोऽयं सम्भ्रमो व उपागतः ।
किं फलं कस्य वोद्देशः केन वा साध्यते मखः ॥ ३॥

शब्दार्थ

कथ्यताम्—आप बतलायें; मे—मुझे; पितः—मेरे पिता; कः—क्या; अयम्—यह; सम्भ्रमः—बड़ा भारी काम; वः—आप पर; उपागतः—आया हुआ; किम्—क्या; फलम्—परिणाम; कस्य—किसके; वा—तथा; उद्देशः—हेतु; केन—किस तरह; वा—तथा; साध्यते—सम्पन्न किया जाना है; मखः—यह यज्ञ।

[भगवान् कृष्ण ने कहा]: हे पिताश्री, आप कृपा करके मुझे बतलायें कि आप इतना सारा महत् प्रयास किसलिए कर रहे हैं? आप क्या करना चाह रहे हैं? यदि यह कर्मकाण्डी यज्ञ है, तो यह किसकी तुष्टि हेतु किया जा रहा है और यह किन साधनों से सम्पन्न किया जायेगा?

एतद्ब्रूहि महान्कामो मह्यं शुश्रूषवे पितः ।
न हि गोप्यं हि साधूनां कृत्यं सर्वात्मनामिह ।
अस्त्यस्वपरदृष्टीनाममित्रोदास्तविद्विषाम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; ब्रूहि—बतलाइये; महान्—महती; कामः—इच्छा; मह्यम्—मुझको; शुश्रूषवे—सुनने के लिए; पितः—हे पिताश्री; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; गोप्यम्—गोपनीय; हि—निश्चय ही; साधूनाम्—सन्त पुरुषों के; कृत्यम्—कार्यकलाप; सर्व-

आत्मनाम्—अपने तुल्य सबों को देखने वाला; इह—इस जगत में; अस्ति—है; अस्व-पर-दृष्टीनाम्—जो अपने तथा पराये में भेद नहीं करता; अमित्र-उदास्त-विद्विषाम्—जो मित्रों, उदासीन दलों तथा शत्रुओं में अन्तर नहीं करते।

हे पिताश्री, कृपा करके इसके विषय में मुझे बतलायें। मुझे जानने की बड़ी इच्छा है और मैं श्रद्धापूर्वक सुनने को तैयार हूँ। जो अन्यों को अपने तुल्य मानते हैं, जिनमें अपनी तथा पराये का भेदभाव नहीं है और जो यह नहीं विचार करते कि कौन मित्र है, कौन शत्रु है और कौन उदासीन है ऐसे सन्त पुरुषों को कुछ भी छिपाकर नहीं रखना चाहिए।

तात्पर्य : हो सकता है कि कृष्ण के पिता ने सोचा हो कि यह अभी छोटा-सा बालक है अतएव वह वैदिक यज्ञ की वैधता के विषय में ठीक से प्रश्न नहीं कर सकता। किन्तु कृष्ण के चतुराई भरे कथन ने नन्द को आश्वस्त कर दिया होगा कि श्रीकृष्ण एक गम्भीर प्रश्न कर रहा है, कोई ऊटपटाँग प्रश्न नहीं। अत: गम्भीर उत्तर दिया जाना चाहिए।

उदासीनोऽरिवद्वर्ज्य आत्मवत्सुहृदुच्यते ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

उदासीन:—विरस रहने वाला; अरि-वत्—शत्रु के समान; वर्ज्य:—बचना चाहिए; आत्म-वत्—अपने ही समान; सुहृत्—मित्र को; उच्यते—कहना चाहिए।

जो उदासीन (निरपेक्ष) होता है उससे शत्रु की तरह बचना चाहिए, किन्तु मित्र को अपने ही समान समझना चाहिए।

तात्पर्य : भले ही नन्द महाराज अपने मित्रों, शत्रुओं तथा निरपेक्ष पक्षों को अपने तुल्य न मानते रहे हों, किन्तु अपना पुत्र होने के कारण भगवान् कृष्ण अवश्य ही विश्वसनीय मित्र थे अतएव अंतरंग चर्चाओं में उन्हें उपेक्षित नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, भले ही गृहस्थ के रूप में नन्द महाराज ने यह सोचा हो कि वे सर्वोच्च सन्त पद पर स्थित होकर कर्म नहीं कर सकते, किन्तु भगवान् कृष्ण ने कुछ अन्य तथ्य प्रस्तुत किये जिसके फलस्वरूप उनके पिता को उन पर विश्वास करते हुए यज्ञ के पूरे उद्देश्य को प्रकट कर देना चाहिए।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार नन्द महाराज मौन खड़े थे और उन्हें अपने पितृ-विलगाव की स्थिति पर सन्देह हो रहा था क्योंकि गर्ग मुनि ने भविष्यवाणी की थी कि नन्द का पुत्र ''अपने गुणों में नारायण के समान'' होगा और यह युवा बालक पहले ही अनेक शक्तिशाली असुरों को पराजित करके उनका वध कर चुका था।

ज्ञत्वाज्ञात्वा च कर्माणि जनोऽयमनुतिष्ठति ।
विदुषः कर्मसिद्धिः स्याद्यथा नाविदुषो भवेत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ज्ञात्वा—जान लेने पर; अज्ञात्वा—अनजाने; च—भी; कर्माणि—कर्म; जनः—सामान्य लोग; अयम्—ये; अनुतिष्ठति—सम्पन्न करते हैं; विदुषः—विद्वान; कर्म-सिद्धिः—कर्म के वांछित लक्ष्य की पूर्ति; स्यात्—होती है; यथा—जिस तरह; न—नहीं; अविदुषः—मूर्ख के लिए; भवेत्—होता है।

जब इस जगत में लोग कर्म करते हैं, तो कभी तो वे समझते हैं कि वे क्या कर रहे हैं और कभी नहीं समझते। जो लोग यह जानते हैं कि वे क्या कर रहे हैं उन्हें अपने कार्य में सफलता प्राप्त होती है, जबकि अज्ञानी लोगों को सफलता नहीं मिलती।

तात्पर्य : भगवान् यहाँ पर अपने पिता को बता रहे हैं कि लोगों को चाहिए कि वे अपने मित्रों से परामर्श करके ही कोई विशेष उत्सव या कृत्य सम्पन्न करें। हमें परम्परा का अन्धानुकरण नहीं करना चाहिए। जो व्यक्ति यह भी नहीं जानता कि वह क्या कर रहा है, तो भला उसे उस कार्य में सफलता कैसे मिल सकती है? इस श्लोक में भगवान् का यही महत्त्वपूर्ण तर्क है। चूँकि नन्द के तरुण पुत्र श्रीकृष्ण से अपने पिता के धार्मिक कृत्य में उत्साह दिखाने की आशा करना स्वाभाविक था, अतएव पिता का कर्तव्य था कि वे पुत्र से इस उत्सव की पूरी व्याख्या करते।

तत्र तावत्क्रियायोगो भवतां किं विचारितः ।
अथ वा लौकिकस्तन्मे पृच्छतः साधु भण्यताम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तत्र तावत्—ऐसा होने से; क्रिया-योगः—यह सकाम उद्यम; भवताम्—आपका; किम्—क्या; विचारितः—शास्त्रसम्मत; अथ वा—या कि; लौकिकः—लोकरीति के अनुसार; तत्—वह; मे—मुझको; पृच्छतः—पूछ रहे; साधु—स्पष्ट; भण्यताम्—बतला दिया जाय।

ऐसा होने से, आप मुझे स्पष्ट रूप से अपने इस अनुष्ठान विषयक उद्योग को बतला दें। क्या यह उत्सव शास्त्रसम्मत है या केवल समाज की एक साधारण रीति?

श्रीनन्द उवाच

पर्जन्यो भगवानिन्द्रो मेघास्तस्यात्ममूर्तयः ।
तेऽभिवर्षन्ति भूतानां प्रीणनं जीवनं पयः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-नन्दः उवाच—श्री नन्द महाराज ने कहा; पर्जन्यः—वर्षा के; भगवान्—महाप्रभु; इन्द्रः—इन्द्र; मेघाः—बादल; तस्य—उसके; आत्म-मूर्तयः—साकार प्रतिनिधि; ते—वे; अभिवर्षन्ति—सीधे वर्षा करते हैं; भूतानाम्—सारे जीवों की; प्रीणनम्—तुष्टि; जीवनम्—जीवनदायी शक्ति; पयः—दूध (के तुल्य)।

नन्द महाराज ने उत्तर दिया: महान् ईश्वर इन्द्र वर्षा के नियंत्रक हैं। ये बादल उन्हीं के साक्षात् प्रतिनिधि हैं और वे ही वर्षा करते हैं जिससे समस्त प्राणियों को सुख और जीवनदान मिलता है।

तात्पर्य : शुद्ध वर्षा-जल के बिना पृथ्वी न तो किसी को आहार, न ही पेय प्रदान कर सकती थी और न ही कहीं स्वच्छता रह सकती थी। अत: वर्षा की महत्ता का अनुमान लगा पाना कठिन है।

तं तात वयमन्ये च वार्मुचां पतिमीश्वरम् ।
द्रव्यैस्तद्रेतसा सिद्धैर्यजन्ते क्रतुभिर्नराः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; तात—हे पुत्र; वयम्—हम; अन्ये—अन्य लोग; च—भी; वाः-मुचाम्—बादलों के; पतिम्—स्वामी; ईश्वरम्—शक्तिशाली नियंत्रक को; द्रव्यैः—विविध वस्तुओं से; तत्-रेतसा—उसके वीर्य से; सिद्धैः—उत्पन्न; यजन्ते—पूजा करते हैं; क्रतुभिः—यज्ञ द्वारा; नराः—लोग।

हे पुत्र, केवल हम ही नहीं अपितु अन्य लोग भी वर्षा करने वाले इन बादलों के स्वामी की पूजा करते हैं। हम उन्हें अन्न तथा अन्य पूजा-सामग्री भेंट करते हैं, जो वर्षा रूपी उन्हीं के वीर्य से उत्पन्न होती है।

तात्पर्य : नन्द महाराज बड़े धैर्य से अपने नन्हेपुत्र श्रीकृष्ण को ''जीवन के यथार्थ'' समझाने का प्रयास कर रहे थे, किन्तु नन्द तथा वृन्दावन के समस्त वासियों को एक आश्चर्यजनक शिक्षा प्राप्त हुई जैसाकि इस अध्याय में बतलाया गया है।

तच्छेषेणोपजीवन्ति त्रिवर्गफलहेतवे ।
पुंसां पुरुषकाराणां पर्जन्यः फलभावनः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तत्—उस यज्ञ के; शेषेण—जूठन से; उपजीवन्ति—अपना पेट पालते हैं; त्रि-वर्ग—जीवन के तीन लक्ष्य (धर्म, अर्थ तथा काम); फल-हेतवे—फल पाने के हेतु; पुंसाम्—मनुष्यों को; पुरुष-काराणाम्—मानवीय प्रयास में लगे; पर्जन्यः—इन्द्र; फल-भावनः—वांछित लक्ष्यों को प्रभावित करने वाले साधन।

इन्द्र के लिए सम्पन्न यज्ञों से बचे जूठन को ग्रहण करके लोग अपना जीवन-पालन करते हैं तथा धर्म, अर्थ और काम रूपी तीन लक्ष्यों को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार भगवान् इन्द्र उद्यमी पुरुषों की सकाम सफलता के लिए उत्तरदायी अभिकर्ता हैं।

तात्पर्य : कोई यह आक्षेप कर सकता है कि लोग कृषि, उद्योग इत्यादि के द्वारा अपना भरण-

पोषण करते हैं। किन्तु जैसाकि पहले उल्लेख हो चुका है कि सारे मानवीय तथा अमानवीय प्रयास भोजन तथा पय पर आश्रित होते हैं, जिन्हें पर्याप्त वर्षा के बिना उत्पन्न नहीं किया जा सकता। *त्रिवर्ग* शब्द के द्वारा नन्द ने यह भी बतलाया कि इन्द्र-यज्ञ के द्वारा प्राप्त होने वाली सम्पन्नता केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं होती अपितु धर्म तथा आर्थिक विकास के लिए भी होती है। जब तक लोगों को भलीभाँति भोजन नहीं मिलता वे अपने कार्यों को ठीक से नहीं कर पाते और अपना कार्य किये बिना धार्मिक बन पाना अतीव कठिन है।

य एनं विसृजेद्धर्मं परम्पर्यागतं नरः ।
कामाद्द्वेषाद्भयाल्लोभात्स वै नाप्नोति शोभनम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; एनम्—इसको; विसृजेत्—बहिष्कार कर देता है; धर्मम्—धर्म को; परम्पर्य—परम्परा से; आगतम्—प्राप्त किया हुआ; नरः—व्यक्ति; कामात्—काम के वशीभूत होकर; द्वेषात्—शत्रुतावश; भयात्—भयवश; लोभात्—या लालच के वश में आकर; सः—वह; वै—निश्चय ही; न आप्नोति—नहीं प्राप्त करता है; शोभनम्—मंगल।

यह धर्म स्वस्थ परम्परा पर आश्रित है। जो कोई काम, शत्रुता, भय या लोभ वश इसका बहिष्कार करता है उसे निश्चय ही सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सकेगा।

तात्पर्य : यदि कोई व्यक्ति काम, ईर्ष्या, भय या लोभ वश अपने धार्मिक कर्तव्यों की उपेक्षा करता है, तो उसका जीवन कभी भी प्रखर या पूर्ण नहीं हो सकता।

श्रीशुक उवाच
वचो निशम्य नन्दस्य तथान्येषां व्रजौकसाम् ।
इन्द्राय मन्युं जनयन्पितरं प्राह केशवः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

श्री शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; वचः—शब्द; निशम्य—सुनकर; नन्दस्य—महाराज नन्द के; तथा—और; अन्येषाम्—अन्य; व्रज-ओकसाम्—व्रज के निवासियों के; इन्द्राय—इन्द्र हेतु; मन्युम्—क्रोध; जनयन्—उत्पन्न करते हुए; पितरम्—अपने पिता से; प्राह—बोले; केशवः—भगवान् केशव।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब भगवान् केशव [कृष्ण] ने अपने पिता नन्द तथा व्रज के अन्य गुरुजनों के कथनों को सुना तो इन्द्र के प्रति क्रोध उत्पन्न करने के उद्देश्य से उन्होंने अपने पिता को इस प्रकार सम्बोधित किया।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि भगवान् कृष्ण की आन्तरिक इच्छा न केवल किसी देवता का अपमान करने की थी अपितु उस मिथ्या गर्व के पर्वत को ढहा देने की थी जो भगवान् के

उस क्षुद्र सेवक के मन में उत्पन्न हुआ था, जो इन्द्र के रूप में भगवान् का प्रतिनिधित्व कर रहा था। इस प्रकार भगवान् कृष्ण गोवर्धन पर्वत उठाकर गोवर्धन-पूजा नामक उल्लासपूर्ण वार्षिकोत्सव का शुभारम्भ करेंगे और वे अपने प्रिय भक्तों के साथ उस पर्वत के नीचे अनेक दिवसों तक बसे रहने की मनमोहक लीला का आनन्द मनाएँगे।

श्रीभगवानुवाच
कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव प्रलीयते ।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; कर्मणा—कर्म के बल से; जायते—उत्पन्न होता है; जन्तुः—जीव; कर्मणा—कर्म से; एव—ही; प्रलीयते—अपना विनाश करता है; सुखम्—सुख; दुःखम्—दुख; भयम्—भय; क्षेमम्—सुरक्षा; कर्मणा एव—कर्म से ही; अभिपद्यते—प्राप्त किये जाते हैं।

भगवान् कृष्ण ने कहा : कर्म से ही जीव जन्म लेता है और कर्म से ही उसका विनाश होता है। उसके सुख, दुख, भय तथा सुरक्षा की भावना का उदय कर्म के प्रभावों के रूप में होता है।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ने कर्मवाद या कर्म-मीमांसा नामक दर्शन का कथन करके जो आधार रूप में पुनर्जन्म में विश्वास के साथ नास्तिकता है, देवताओं की महत्ता कम कर दी। इस दर्शन के अनुसार प्रकृति के सूक्ष्म नियम हमारे कर्म के अनुसार हमें पुरस्कृत या दण्डित करते हैं—जैसा बोओगे वैसा ही काटोगे। भावी जीवन में मनुष्य अपने वर्तमान कर्म का फल पाता है और सच्चाई का सार यही है। साक्षात् भगवान् होने के कारण भगवान् कृष्ण इस मध्यम दर्शन के प्रस्तोता नहीं हो सकते। वे तो बालक रूप में अपने भक्तों के साथ छेड़खानी करने के लिए ऐसा उपदेश दे रहे थे।

श्रील जीव गोस्वामी इंगित करते हैं कि भगवान् कृष्ण सोच रहे थे कि ये मेरे सारे शाश्वत संगी जो मेरे पिता, सम्बन्धी तथा मित्रों के रूप में प्रकट हुए हैं इन्द्र की पूजा के प्रति इतने प्रतिबद्ध क्यों हैं? इस तरह यद्यपि भगवान् का मुख्य उद्देश्य इन्द्र के मिथ्या गर्व को चूर करना था, किन्तु वे अपने भक्तों को यह भी याद दिलाना चाहते थे कि उन्हें अन्य तथाकथित देवताओं की ओर अपना ध्यान नहीं मोड़ना है क्योंकि वास्तव में उनके भक्त तो पहले से ही परम सत्य अर्थात् स्वयं सर्वशक्तिमान भगवान् के साथ रह रहे थे।

अस्ति चेदीश्वरः कश्चित्फलरूप्यन्यकर्मणाम् ।
कर्तारं भजते सोऽपि न ह्यकर्तुः प्रभुर्हि सः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

अस्ति—है; चेत्—यदि मान लें; ईश्वरः—परम नियन्ता; कश्चित्—कोई; फल-रूपी—सकाम फल प्रदान करने वाला; अन्य-कर्मणाम्—अन्य व्यक्तियों के कर्मों का; कर्तारम्—कर्म का कर्ता; भजते—आश्रित होता है; सः—वह; अपि—भी; न—नहीं; हि—अन्ततः; अकर्तुः—कर्म न करने वाले का; प्रभुः—स्वामी; हि—निश्चय ही; सः—वह।

यदि कोई परम नियन्ता हो भी, जो अन्यों को उनके कर्मों का फल प्रदान करता हो तो उसे भी कर्म करने वाले पर आश्रित रहना होगा। वस्तुतः जब तक सकाम कर्म सम्पन्न न हो ले तब तक सकाम कर्मफलों के प्रदाता के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् कृष्ण तर्क करते हैं कि यदि कोई परम नियन्ता हो भी तो आदान-प्रदान के लिए उसे कर्म करने वाले पर आश्रित रहना होगा अतएव बद्धजीवों को पुण्य एवं पाप के नियमों के अनुसार सुख तथा दुख प्रदान करने के लिए बाध्य होने के कारण उसे कर्म के नियमों के अधीन होना पड़ेगा।

इस सतही तर्क में इस बात की उपेक्षा हो जाती है कि शुभ तथा अशुभ कर्मों के अच्छे तथा बुरे फलों की संस्तुति करने वाले प्रकृति के नियम सर्वमंगल परमेश्वर की ही सृष्टि हैं। इन नियमों के स्रष्टा तथा पालक होने के कारण, भगवान् उनके अधीन नहीं रहते। साथ ही, भगवान् बद्धजीवों के कर्म पर आश्रित नहीं होते क्योंकि वे अपने में तुष्ट और पूर्ण रहने वाले हैं। वे अपने सर्वदयालु स्वभाव के कारण हमारे कर्मों के अनुसार ही फल प्रदान करते हैं। जिसे हम भाग्य या कर्म कहते हैं वह पुरस्कार तथा दण्ड की सूक्ष्म प्रणाली है, जो बद्धजीवों को क्रमशः पूर्ण चेतना की अवस्था विकसित करने के निमित्त है और यही उनकी मूल स्वाभाविक प्रकृति है।

भगवान् ने मानव व्यवहार के लिए दण्ड तथा पुरस्कार को नियंत्रित करने वाले प्रकृति के नियमों को इस निपुणता से सूत्रबद्ध एवं प्रयुक्त किया है कि जीव शाश्वत आत्मा के रूप में अपनी स्वतंत्र इच्छा में किसी महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप के बिना पाप करने से निरुत्साहित होता है और अच्छाई की ओर प्रोत्साहित होता है।

भगवान् भौतिक प्रकृति से विपरीत आध्यात्मिक जगत में अपने अनिवार्य स्वभाव को प्रदर्शित करते हैं जहाँ वे अपने शुद्ध भक्तों के नित्य प्रेम से आदान-प्रदान करते हैं। ऐसे प्रेम-व्यापार भगवान् तथा उनके भक्तों की पारस्परिक स्वतंत्रता पर आधारित होते हैं, किसी स्वार्थ को लेकर नहीं। अपने

भक्तों की सहायता से भगवान् इस जगत के बद्धजीवों को बारम्बार अवसर प्रदान करते हैं कि वे भौतिक विश्व का शोषण करना त्याग कर आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण जीवन बिताने के लिए भगवद्धाम वापस जाँय। इन बातों पर विचार करते हुए भगवान् ने हँसी हँसी में जो नास्तिक तर्क प्रस्तुत किये हैं उन्हें गम्भीरता से नहीं लेना चाहिए।

किमिन्द्रेणेह भूतानां स्वस्वकर्मानुवर्तिनाम् ।
अनीशेनान्यथा कर्तुं स्वभावविहितं नृणाम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; इन्द्रेण—इन्द्र से; इह—यहाँ; भूतानाम्—जीवों के लिए; स्व-स्व—अपना अपना; कर्म—सकाम कर्म का; अनुवर्तिनाम्—फल भोगने वाले; अनीशेन—असमर्थ (इन्द्र); अन्यथा—अन्यथा; कर्तुम्—करने के लिए; स्वभाव—अपने बद्ध स्वभावों से; विहितम्—भाग्य में लिखा हुआ; नृणाम्—मनुष्यों के।.

इस जगत में जीवों को अपने किसी विशेष पूर्व कर्म के परिणामों का अनुभव करने के लिए बाध्य किया जाता है। चूँकि भगवान् इन्द्र किसी तरह भी मनुष्यों के भाग्य को बदल नहीं सकते जो उनके स्वभाव से ही उत्पन्न होता है, तो फिर लोग उनकी पूजा क्यों करें?

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् कृष्ण का तर्क स्वच्छन्दता का निषेध नहीं करता। यदि मनुष्य कर्म को हमारे वर्तमान कार्यों का फल देने वाले नियमों की प्रणाली मान लेता है, तो हम अपने स्वभाव के अनुसार अपने भविष्य का निर्णय स्वयं करेंगे। इस जीवन के हमारे सुख तथा दुख पहले से हमारे पूर्व-जन्मों के कर्मों के अनुसार निश्चित कर दिये गये हैं जिसे देवता भी नहीं बदल सकते। वे हमारे पूर्व-कर्मों के अनुसार हमें सम्पन्नता या विपन्नता, रुग्णता या आरोग्य, सुख या दुख प्रदान करते हैं। फिर भी इस जीवन में शुभ या अशुभ कर्म करने की स्वच्छन्दता अब भी हम में है और हमारे चुनाव के अनुसार ही हमारे भावी सुख तथा दुख का निर्णय होगा।

उदाहरणार्थ, यदि मैं पूर्व-जन्म में पवित्र रहा होऊँगा तो देवता मुझे इस जन्म में प्रचुर सम्पत्ति प्रदान कर सकते हैं। किन्तु मैं अपने धन को अच्छे या बुरे कर्मों में व्यय करने के लिए स्वतंत्र हूँ और मेरे चुनाव से ही मेरे भावी जीवन का निश्चय होगा। इस तरह यद्यपि इस जीवन में मिलने वाले अपने कर्म-फलों को मनुष्य बदल नहीं सकता, किन्तु तो भी उसमें स्वतंत्र इच्छा होती है, जिससे वह अपने भविष्य को निश्चित कर सकता है। यहाँ पर भगवान् कृष्ण का तर्क बड़ा मजेदार है फिर भी इसमें इस निर्णायक विचार की उपेक्षा की गई है कि हम सभी ईश्वर के नित्यदास हैं और हमें अपने कर्म द्वारा

उन्हें प्रसन्न करना चाहिए।

स्वभावतन्त्रो हि जनः स्वभावमनुवर्तते ।
स्वभावस्थमिदं सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

स्वभाव—अपने बद्ध स्वभाव के; तन्त्रः—नियंत्रण में; हि—निस्सन्देह; जनः—व्यक्ति; स्वभावम्—अपने स्वभाव का; अनुवर्तते—पालन करता है; स्वभाव-स्थम्—बद्ध लालसा पर आधारित; इदम्—यह संसार; सर्वम्—सम्पूर्ण; स—समेत; देव—देवतागण; असुर—असुरगण; मानुषम्—तथा मनुष्य जाति।.

प्रत्येक व्यक्ति अपने ही बद्ध स्वभाव के अधीन है और उसे उस स्वभाव का ही पालन करना चाहिए। देवताओं, असुरों तथा मनुष्यों से युक्त यह सम्पूर्ण जगत जीवों के बद्ध स्वभाव पर आश्रित है।

तात्पर्य : यहाँ पिछले श्लोक में दिये गये तर्क की भगवान् कृष्ण द्वारा व्याख्या की गई है। चूँकि हर बात *स्वभाव* पर निर्भर करती है, तो फिर ईश्वर या देवताओं की पूजा क्यों की जाय? यह तर्क भव्य हो सकता है यदि स्वभाव सर्वशक्तिमान होता। किन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं है। इसके ऊपर कोई परम नियंता है हमें जिसकी पूजा करनी चाहिए जैसाकि आगे श्रीमद्भागवत के इस अध्याय में जोर देकर श्रीकृष्ण प्रकट करेंगे। इस समय तो उन्हें अपने सम्बन्धियों को तंग करने में मजा आ रहा है।

देहानुच्चावचाञ्जन्तुः प्राप्योत्सृजति कर्मणा ।
शत्रुर्मित्रमुदासीनः कर्मैव गुरुरीश्वरः ॥ १७॥

शब्दार्थ

देहान्—भौतिक शरीरों को; उच्च-अवचान्—उच्च तथा निम्न श्रेणी के; जन्तुः—बद्धजीव; प्राप्य—पाकर; उत्सृजति—त्याग देता है; कर्मणा—अपने कार्यों के फलों के द्वारा; शत्रुः—उसका शत्रु; मित्रम्—मित्र; उदासीनः—तथा निरपेक्ष पक्ष; कर्म—भौतिक कार्य; एव—अकेला; गुरुः—उसका गुरु; ईश्वरः—उसका स्वामी।.

चूँकि कर्म के ही फलस्वरूप बद्धजीव उच्च तथा निम्न श्रेणी के विविध शरीरों को स्वीकार करता है और फिर त्याग देता है अतएव यह कर्म उसका शत्रु, मित्र तथा निरपेक्ष साक्षी है, उसका गुरु तथा ईश्वर है।

तात्पर्य : देवतागण तक कर्म के नियमों द्वारा बँधे तथा मर्यादित हैं। यहाँ तक कि साक्षात् इन्द्र स्वयं कर्म के नियमों के अधीन हैं जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.५४) में स्पष्ट कहा गया है— *यस्त्विन्द्रगोपमथ वेन्द्रमहो स्वकर्म बन्धानुरूपफलभाजनम् आतनोति*– भगवान् गोविन्द सारे प्राणियों को

उनके कर्मों का उपयुक्त फल प्रदान करते हैं। यह स्वर्ग लोकों के राजा बलशाली इन्द्र तथा इन्द्रगोप नामक कीट पर समान रूप से लागू होता है। *भगवद्गीता* में भी (७.२०) कहा गया है—*कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना: प्रपद्यन्तेऽन्य देवता:*–जिन्होंने भौतिक इच्छाओं के वशीभूत होकर अपनी बुद्धि खो दी है वे ही भगवान् की पूजा न करके देवताओं की शरण में जाते हैं। वस्तुत: देवतागण किसी को भी स्वतंत्र रूप से वर नहीं दे सकते जैसाकि भगवान् कृष्ण ने 'गीता' में कहा है *मयैव विहितान् हि तान्*—सारे वर अन्तत: स्वयं भगवान् द्वारा प्रदत्त होते हैं।

यह कहना पूरी तरह से गलत नहीं है कि देव पूजा व्यर्थ है क्योंकि देवता भी कर्म के नियमों के अधीन हैं। वास्तव में, बात यही है। किन्तु परब्रह्म भगवान् कृष्ण कर्म के नियमों के अधीन नहीं हैं प्रत्युत वे स्वतंत्र रूप से वर दे सकते हैं या उसे रोक सकते हैं। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* के उपर्युक्त उद्धृत श्लोक से होती है, जिसकी तीसरी पंक्ति है—*कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्ति भाजाम्*—भगवान् प्रेमाभक्ति में लगे लोगों के समस्त संचित कर्म को जलाकर क्षार कर देते हैं। भगवान् कृष्ण न केवल कर्म के इन नियमों तथा उनके फल के ऊपर हैं अपितु वे प्रेमाभक्ति द्वारा प्रसन्न करने वाले के लिए इन नियमों को तुरन्त विलीन कर देते हैं। इस प्रकार सर्वशक्तिमान ईश्वर परम स्वतंत्र हैं और उनकी शरण में जाने पर हम कर्म के बन्धन से बच सकते हैं और उनकी किसी और की शोकप्रद राजसत्ता को सर्वोपरि मानने से इनकार कर सकते हैं।

तस्मात्सम्पूजयेत्कर्म स्वभावस्थ: स्वकर्मकृत् ।
अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अत:; सम्पूजयेत्—पूरी तरह से पूजा करनी चाहिए; कर्म—अपना नियत कार्य; स्वभाव—अपने स्वभाव में; स्थ:—बने रहकर; स्व-कर्म—अपना नियत कर्तव्य; कृत्—करते हुए; अञ्जसा—बिना कठिनाई के; येन—जिससे; वर्तेत—जीवित रहता है; तत्—वह; एव—निश्चय ही; अस्य—उसका; हि—निस्सन्देह; दैवतम्—पूज्य अर्चाविग्रह।

अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह कर्म की ही ठीक से पूजा करे। मनुष्य को अपने स्वभाव के अनुरूप स्थिति में बने रहना चाहिए और अपने ही कर्तव्य का निर्वाह करना चाहिए। निस्सन्देह जिससे हम अच्छी तरह रह सकते हैं वही वास्तव में हमारा पूज्य अर्चाविग्रह है।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् कृष्ण इस आधुनिक बेहूदे दर्शन का सुझाव रखते हैं कि हमारा कर्म या काम-धंधा ही असली ईश्वर है और हमें केवल अपने कर्म की पूजा करनी चाहिए। ध्यानपूर्वक

छानबीन करने पर हम यह पायेंगे कि हमारा कर्म भौतिक प्रकृति के साथ भौतिक शरीर की अन्योन्य क्रिया है, जैसाकि स्वयं भगवान् कृष्ण ने कुछ गंभीरता के साथ *भगवद्गीता* (३.२८) में कहा है *गुणा गुणेषु वर्तन्त। कर्म मीमांसा* दर्शन के अनुसार इस जीवन में किये गये उत्तम कर्म से हमें उत्तमतर अगला जीवन प्राप्त होगा। यदि यह सच है, तो फिर शरीर से पृथक् किसी न किसी प्रकार का चेतन आत्मा होना चाहिए। और यदि ऐसा है, तो फिर दिव्य आत्मा क्यों कर प्रकृति के साथ क्षणिक शरीर की अन्योन्य क्रिया की पूजा करे? यदि *सम्पूजयेत् कर्म* शब्दों का यह अर्थ लिया जाय कि मनुष्य को कर्मों को नियंत्रित करने वाले कर्म के नियमों की पूजा करनी चाहिए तो यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि नियमों की पूजा करने से क्या होगा, ऐसे नियमों का उत्स क्या है और उनको कौन बनाये हुए है? यह कहना कि नियमों से इस संसार की सृष्टि हुई है या इसका पालन हो रहा है, निरर्थक है क्योंकि नियम की प्रकृति से यह नहीं इंगित होता कि उससे कोई जगत उत्पन्न हो सकता है, जिस पर यह स्वामित्व जमा सकता है। वस्तुतः पूजा तो स्वयं कृष्ण के निमित्त है। इस अध्याय में इसी निष्कर्ष को स्पष्ट किया गया है।

आजीव्यैकतरं भावं यस्त्वन्यमुपजीवति ।
न तस्माद्विन्दते क्षेमं जाराज्ञार्यसती यथा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

आजीव्य—जीवन निर्वाह करने वाला; एकतरम्—एक; भावम्—जीव; यः—जो; तु—लेकिन; अन्यम्—दूसरा; उपजीवति—स्वीकार करता है; न—नहीं; तस्मात्—उससे; विन्दते—प्राप्त करता है; क्षेमम्—असली लाभ; जारात्—परपति (उपपति) से; नारी—एक स्त्री; असती—दुष्टा; यथा—जिस तरह।.

जो वस्तु वास्तव में हमारे जीवन का निर्वाह करती है यदि हम उसे छोड़कर अन्य वस्तु की शरण ग्रहण करते हैं, तो भला हमें असली लाभ कैसे प्राप्त हो सकता है? हम उस कृतघ्न स्त्री की भाँति होंगे जो जारपति के साथ प्रेमालाप करके कभी भी असली लाभ नहीं उठा पाती।

तात्पर्य : *क्षेमम्* शब्द का अर्थ है वास्तविक सम्पन्नता, मात्र धन का संचय नहीं। यहाँ पर भगवान् कृष्ण खुलकर तर्क करते हैं कि जिस तरह कोई स्त्री अवैध पति से वास्तविक प्रतिष्ठा या आलोक प्राप्त नहीं कर सकती उसी तरह वृन्दावन के निवासी अपनी सम्पन्नता के असली स्रोत की उपेक्षा करके उसके बदले इन्द्र की पूजा करके कभी भी सुखी नहीं हो सकते। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार बालक कृष्ण ने अपने पिता तथा अन्य गरुजनों के समक्ष जो ढिठाई दिखलाई उसे उस दिव्य क्रोध का

प्रदर्शन मानना चाहिए जो अपने नित्य भक्तों द्वारा एक नगण्य देवता का पूजन करते देखकर उनमें प्रकट हुआ था।

वर्तेत ब्रह्मणा विप्रो राजन्यो रक्षया भुवः ।
वैश्यस्तु वार्तया जीवेच्छूद्रस्तु द्विजसेवया ॥ २० ॥

शब्दार्थ

वर्तेत—जीवित रहता है; ब्रह्मणा—वेदों से; विप्रः—ब्राह्मण; राजन्यः—शासक वर्ग का सदस्य; रक्षया—रक्षा द्वारा; भुवः—पृथ्वी की; वैश्यः—वैश्य; तु—दूसरी ओर; वार्तया—व्यापार द्वारा; जीवेत्—जीवित रहता है; शूद्रः—शूद्र; तु—तथा; द्विज-सेवया—द्विजों अर्थात् ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों की सेवा द्वारा।

ब्राह्मण वेदों का अध्ययन और अध्यापन करके, शासक वर्ग का सदस्य पृथ्वी की रक्षा करके, वैश्य व्यापार करके तथा शूद्र अपने से ऊँची श्रेणी के द्विजों की सेवा करके अपना जीवन-निर्वाह करता है।

तात्पर्य : कर्म की महिमा बतलाने के बाद भगवान् कृष्ण अब मनुष्य के स्वाभाविक कर्तव्यों की व्याख्या कर रहे हैं। वे किसी मनचले कार्य का नहीं अपितु वर्णाश्रम द्वारा निर्दिष्ट धार्मिक कार्यों का उल्लेख कर रहे हैं।

कृषिवाणिज्यगोरक्षा कुसीदं तूर्यमुच्यते ।
वार्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयोऽनिशम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कृषि—खेती; वाणिज्य—व्यापार; गो-रक्षा—तथा गौवों की रक्षा; कुसीदम्—लेन-देन; तूर्यम्—चौथा; उच्यते—कहलाता है; वार्ता—वृत्तिपरक कार्य; चतुः-विधा—चार प्रकार का; तत्र—इनमें से; वयम्—हम; गो-वृत्तयः—गोरक्षा में लगे हुए; अनिशम्—अनवरत।

वैश्य के वृत्तिपरक कार्य चार प्रकार के माने गये हैं—कृषि, व्यापार, गोरक्षा तथा धन का लेन-देन। हम इनमें से केवल गोरक्षा में ही सदैव लगे रहे हैं।

सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ।
रजसोत्पद्यते विश्वमन्योन्यं विविधं जगत् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतोगुण; रजः—रजोगुण; तमः—तथा तमोगुण; इति—इस प्रकार; स्थिति—पालन; उत्पत्ति—सृजन; अन्त—तथा विनाश के; हेतवः—कारण; रजसा—रजोगुण से; उत्पद्यते—उत्पन्न होता है; विश्वम्—यह ब्रह्माण्ड; अन्योन्यम्—नर तथा मादा के संयोग से; विविधम्—अनेक प्रकार का बन जाता है; जगत्—संसार।

सृजन, पालन तथा संहार का कारण प्रकृति के तीन गुण—सतो, रजो तथा तमोगुण—हैं।

विशिष्टतः रजोगुण इस ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करता है और संभोग के द्वारा यह विविधता से पूर्ण बनता है।

तात्पर्य : गौवों पर आश्रित जीविका निश्चित रूप से भगवान् इन्द्र पर निर्भर करती है, जो वर्षा देते हैं ऐसे आक्षेप की सम्भावना की पूर्वकल्पना करके यहाँ पर भगवान् कृष्ण नास्तिकतावादी सांख्य नामक जगत के यांत्रिक सिद्धान्त का परिचय देते हैं। प्रकृति के यंत्रवत् कार्यों के लिए कारण को उत्तरदायी ठहराना अत्यन्त प्राचीन प्रवृत्ति है। भगवान् कृष्ण ने ५,००० वर्ष पूर्व मानव समाज में प्रचलित इस सिद्धान्त का उल्लेख किया था।

रजसा चोदिता मेघा वर्षन्त्यम्बूनि सर्वतः ।
प्रजास्तैरेव सिध्यन्ति महेन्द्रः किं करिष्यति ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

रजसा—रजोगुण से; चोदिताः—प्रेरित; मेघाः—बादल; वर्षन्ति—वर्षा करते हैं; अम्बूनि—अपना जल; सर्वतः—सर्वत्र; प्रजाः—जनता; तैः—उस जल से; एव—ही; सिध्यन्ति—अपना अस्तित्व बनाये रहती है; महा-इन्द्रः—महान् इन्द्र; किम्—क्या; करिष्यति—कर सकता है।

रजोगुण द्वारा प्रेरित बादल सर्वत्र अपने जल की वर्षा करते हैं और इस वर्षा से ही सारे प्राणियों की जीविका चलती है। इस व्यवस्था से भला इन्द्र को क्या लेना-देना?

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण जगत के यांत्रिक सिद्धान्त की अपनी व्याख्या का समापन *महेन्द्रः किं करिष्यति* से करते हैं—''महान् इन्द्र की किसे आवश्यकता पड़ती है क्योंकि रजोगुण से प्रेरित बादल वर्षा करते हैं और यही वर्षा हरएक के लिए भोजन उत्पन्न करती है?'' *सर्वतः* शब्द सूचित करता है कि समुद्र, शैल तथा ऊसर भूमि पर बादल खुले दिल से समान रूप से वर्षा करते हैं, जहाँ ऐसे मीठे जल की आवश्यकता नहीं दिखाई देती।

न नः पुरोजनपदा न ग्रामा न गृहा वयम् ।
वनौकसस्तात नित्यं वनशैलनिवासिनः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; नः—हमारे लिए; पुरः—नगर; जन-पदाः—विकसित आबाद क्षेत्र; न—नहीं; ग्रामाः—गाँव; न—नहीं; गृहाः—स्थायी घरों में रहने वाले; वयम्—हम; वन-ओकसः—बनों में रहने वाले; तात—हे पिता; नित्यम्—सदैव; वन—वनों में; शैल—तथा पर्वतों में; निवासिनः—रहने वाले।

हे पिताश्री, हमारे घर न तो नगरों में हैं, न कस्बों या गाँवों में हैं। वनवासी होने से हम सदैव

जंगल में तथा पर्वतों पर रहते हैं।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण यहाँ यह बतला रहे हैं कि वृन्दावनवासियों को गोवर्धन पर्वत तथा वृन्दावन के जंगलों से अपने सम्बन्ध को समझना चाहिए। उन्हें इन्द्र जैसे किसी लगुवे-भगुवे देवता की परवाह नहीं करनी चाहिए। अपना तर्क समाप्त करके वे अगले श्लोक में ठोस प्रस्ताव रखते हैं।

तस्माद्गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चारभ्यतां मखः ।
य इन्द्रयागसम्भारास्तैरयं साध्यतां मखः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; गवाम्—गौवों का; ब्राह्मणानाम्—ब्राह्मणों का; अद्रेः—तथा पर्वत (गोवर्धन) का; च—भी; आरभ्यताम्—प्रारम्भ करना चाहिए; मखः—यज्ञ; ये—जो; इन्द्र-याग—इन्द्र यज्ञ के लिए; सम्भाराः—सामग्री; तैः—उनके द्वारा; अयम्—यह; साध्यताम्—सम्पन्न करना चाहिए; मखः—यज्ञ।

अतः गौवों, ब्राह्मणों तथा गोवर्धन पर्वत के आनन्द हेतु यज्ञ का शुभारम्भ हो। इन्द्र के पूजन के लिए जितनी सामग्री एकत्र की गई है उससे यह यज्ञ सम्पन्न किया जाय।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण *गो-ब्राह्मण-हित* के रूप में विख्यात हैं जिसका अर्थ है कि वे गौवों तथा ब्राह्मणों के शुभैषी मित्र हैं। भगवान् कृष्ण ने जानबूझ कर स्थानीय ब्राह्मणों को अपने प्रस्ताव में सम्मिलित किया क्योंकि वे दैवी वैदिक संस्कृति के प्रति अनुरक्त लोगों का सदैव सम्मान करते हैं।

पच्यन्तां विविधाः पाकाः सूपान्ताः पायसादयः ।
संयावापूपशष्कुल्यः सर्वदोहश्च गृह्यताम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

पच्यन्ताम्—लोग पकावें; विविधाः—नाना प्रकार के; पाकाः—पकवान्न से लेकर; सूप-अन्ताः—शोरबा तक; पायस-आदयः—खीर इत्यादि; संयाव-आपूप—तले हुए पापड़; शष्कुल्यः—पूड़ियाँ; सर्व—सब; दोहः—गौवों के दुहने से प्राप्तव्य; च—तथा; गृह्यताम्—ले लिया जाय।

खीर से लेकर तरकारी के शोरवे तक के विविध पकवान तैयार किये जायँ। अनेक प्रकार के बढ़िया पापड़ तल लिए जायँ या सेंक लिए जायें तथा दूध के जितने भी पदार्थ बन सकें उन्हें इस यज्ञ के लिए एकत्र कर लिया जाय।

तात्पर्य : *सूप* शब्द छीमियों के शोरवे तथा रसदार तरकारियों का सूचक है। इस तरह गोवर्धन पूजा के लिए भगवान् कृष्ण ने शोरबा जैसा गर्म पकवान, खीर जैसा ठंडा व्यंजन तथा सभी प्रकार की दूध की वस्तुएँ एकत्र करने के लिए कहा।

हूयन्तामग्नयः सम्यग्ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः ।
अन्नं बहुगुणं तेभ्यो देयं वो धेनुदक्षिणाः ॥ २७॥

शब्दार्थ

हूयन्ताम्—आह्वान किया जाय; अग्नयः—यज्ञ की अग्नियों का; सम्यक्—उचित रीति से; ब्राह्मणैः—ब्राह्मणों के द्वारा; ब्रह्म-वादिभिः—वेदविद्; अन्नम्—भोजन; बहु-गुणम्—अच्छी तरह से तैयार; तेभ्यः—उनको; देयम्—दिया जाय; वः—तुम्हारे द्वारा; धेनु-दक्षिणाः—गौवों की दक्षिणा।

वैदिक मंत्रों में पटु-ब्राह्मणों को चाहिए कि यज्ञ की अग्नियों का ठीक से आवाहन करें। तत्पश्चात् तुम लोग पुरोहितों को उत्तम भोजन कराओ और उन्हें गौवें तथा अन्य भेंटें दान में दो।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार, भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने पिता तथा वृन्दावन के अन्य वासियों को इस वैदिक यज्ञ की शास्त्रीय विधि का विस्तृत उपदेश दिया जिससे यज्ञ की गुणवत्ता के बारे में आश्वस्त हुआ जा सके और नन्द तथा अन्यों को ऐसे यज्ञ की भावभूमि में श्रद्धा से अनुप्राणित किया जा सके। इस प्रकार भगवान् ने बतलाया कि सनातनी ब्राह्मण, नियमित यज्ञ की अग्नियाँ और समुचित दान-वितरण का होना आवश्यक है। इन्हें भगवान् द्वारा बतलाए गए क्रम में सम्पन्न करना था।

अन्येभ्यश्चाश्वचाण्डालपतितेभ्यो यथार्हतः ।
यवसं च गवां दत्त्वा गिरये दीयतां बलिः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अन्येभ्यः—औरों के लिए; च—भी; आ-श्व-चाण्डाल—कुत्तों तथा चाण्डालों तक; पतितेभ्यः—ऐसे पतित लोगों के लिए; यथा—जिस तरह; अर्हतः—चाहिए; यवसम्—घास; च—तथा; गवाम्—गौवों को; दत्त्वा—देकर; गिरये—गोवर्धन नामक पर्वत को; दीयताम्—प्रदान की जानी चाहिए; बलिः—आदरपूर्ण भेंट।

कुत्तों तथा चाण्डालों जैसे पतितात्माओं समेत हर एक को उपयुक्त भोजन देने के बाद तुम सबों को चाहिए कि गौवों को घास दो और तब गोवर्धन पर्वत को अपनी सादर भेंटें चढ़ाओ।

स्वलङ्कृता भुक्तवन्तः स्वनुलिप्ताः सुवाससः ।
प्रदक्षिणां च कुरुत गोविप्रानलपर्वतान् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सु-अलङ्कृताः—सुन्दर आभूषण पहन कर; भुक्तवन्तः—भरपेट खाकर; सु-अनुलिप्ताः—शुभ चन्दनलेप करके; सु-वाससः—अच्छे वस्त्र पहन कर; प्रदक्षिणाम्—प्रदक्षिणा; च—तथा; कुरुत—तुमलोगों को करनी चाहिए; गो—गौवों; विप्र—ब्राह्मणों; अनल—यज्ञ की अग्नियों; पर्वतान्—तथा गोवर्धन पर्वत की भी।

भरपेट भोजन करने के बाद तुममें से हरएक को वस्त्र तथा आभूषण से खूब सजना चाहिए, अपने शरीर में चन्दनलेप करना चाहिए और तत्पश्चात् गौवों, ब्राह्मणों, यज्ञ की अग्नियों तथा

गोवर्धन पर्वत की प्रदक्षिणा करनी चाहिए।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण चाहते थे कि सारे मनुष्य तथा पशु तक उत्तम *भगवत्-प्रसाद* अर्थात् भगवान् को भेंट किए हुए शुद्ध भोजन खाँय। अपने परिजनों को प्रफुल्लित बनाने के लिए उन्होंने उन्हें सुन्दर वस्त्र और आभूषणों से सजने और शरीर में बहुमूल्य चन्दनलेप करने का आग्रह किया। किन्तु मुख्य कृत्य तो पवित्र ब्राह्मणों, गौवों, यज्ञ अग्नियों तथा विशेषतया गोवर्धन पर्वत की प्रदक्षिणा करना था।

एतन्मम मतं तात क्रियतां यदि रोचते ।
अयं गोब्राह्मणाद्रीणां मह्यं च दयितो मखः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; मम—मेरा; मतम्—विचार; तात—हे पिताश्री; क्रियताम्—किया जाय; यदि—यदि; रोचते—अच्छा लगे; अयम्—यह; गो-ब्राह्मण-अद्रीणाम्—गौवों, ब्राह्मणों तथा गोवर्धन पर्वत को; मह्यम्—मेरे लिए; च—भी; दयितः—प्रिय; मखः—यज्ञ।

हे पिताश्री, यह मेरा विचार है और यदि आपको अच्छा लगे तो आप इसे कीजिये। ऐसा यज्ञ गौवों, ब्राह्मणों तथा गोवर्धन पर्वत को एवं मुझको भी अत्यन्त प्रिय होगा।

तात्पर्य : ब्राह्मणों, गौवों तथा स्वयं भगवान् को जो भी अच्छा लगे वह शुभ है और अखिल विश्व के लिए लाभप्रद है। 'आधुनिक लोग' जोकि आध्यात्मिक रूप से अंधे हैं इसे नहीं समझते। इसके विपरीत वे जीवन के प्रति "वैज्ञानिक" दृष्टि-कोण रखने के कारण सम्पूर्ण पृथ्वी का विनाश करे जा रहे हैं।

श्रीशुक उवाच
कालात्मना भगवता शक्रदर्पजिघांसया ।
प्रोक्तं निशम्य नन्दाद्याः साध्वगृह्णन्त तद्वचः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; काल-आत्मना—काल की शक्ति के रूप में प्रकट होकर; भगवता—भगवान् द्वारा; शक्र—इन्द्र का; दर्प—गर्व; जिघांसया—विनष्ट करने की इच्छा से; प्रोक्तम्—कहा गया; निशम्य—सुनकर; नन्द-आद्याः—नन्द तथा अन्य वृद्ध गोपजन; साधु—सर्वोत्तम कहकर; अगृह्णन्त—स्वीकार कर लिया; तत्-वचः—उनके शब्दों को।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : शक्तिमान काल स्वरूप भगवान् कृष्ण इन्द्र के मिथ्या गर्व को नष्ट करना चाहते थे। जब नन्द तथा वृन्दावन के अन्य वृद्धजनों ने श्रीकृष्ण का वचन सुना तो

उन्होंने इसे उचित मान लिया।

तथा च व्यदधुः सर्वं यथाह मधुसूदनः ।
वाचयित्वा स्वस्त्ययनं तद्द्रव्येण गिरिद्विजान् ॥ ३२॥
उपहृत्य बलीन्सम्यगादृता यवसं गवाम् ।
गोधनानि पुरस्कृत्य गिरिं चक्रुः प्रदक्षिणम् ॥ ३३॥

शब्दार्थ

तथा—इस तरह; च—और; व्यदधुः—सम्पन्न किया; सर्वम्—हर बात; यथा—जिस तरह; आह—बतलाया; मधुसूदनः—भगवान् कृष्ण ने; वाचयित्वा—(ब्राह्मणों से) वाचन कराया; स्वस्ति-अयनम्—शुभ मंत्र; तत्-द्रव्येण—इन्द्र यज्ञ के निमित्त एकत्र की गई सामग्री से; गिरि—पर्वत; द्विजान्—तथा ब्रह्मणों को; उपहृत्य—भेंट करके; बलीन्—उपहार; सम्यक्—सभी एकसाथ; आदृताः—आदरपूर्वक; यवसम्—घास; गवाम्—गौवों को; गो-धनानि—साँड़ों, गौवों तथा बछड़ों को; पुरस्कृत्य—आगे करके; गिरिम्—पर्वत की; चक्रुः—की; प्रदक्षिणम्—प्रदक्षिणा।

तत्पश्चात् ग्वाल समुदाय ने मधुसूदन द्वारा प्रस्तावित सब कुछ पूरा किया। उन्होंने शुभ वैदिक मंत्रों का वाचन करने के लिए ब्राह्मणों की व्यवस्था की और इन्द्र-यज्ञ के निमित्त संग्रहीत सारी सामग्री को उपयोग में लाते हुए गोवर्धन पर्वत तथा ब्राह्मणों को सादर भेंटें दीं। उन्होंने गौवों को भी घास दिया। तत्पश्चात् गौवों, साँड़ों तथा बछड़ों को आगे करके गोवर्धन पर्वत की प्रदक्षिणा की।

तात्पर्य : वृन्दावनवासी एकमात्र भगवान् कृष्ण के भक्त थे, यही उनके जीवन का सार-समाहार था। भगवान् के नित्य संगी होने के कारण न तो उन्हें इन्द्र या किसी अनुष्ठान-यज्ञ से कोई सरोकार था, न ही वे कृष्ण द्वारा कहे गये यांत्रिक (सांख्य) दर्शन में रुचि रखते थे। वे तो कृष्ण से केवल प्रेम करते थे और प्रगाढ़ स्नेहवश ही उन्होंने जैसा कृष्ण द्वारा कहा गया वैसा ही किया।

उनकी यह सरल प्रेम-मानसिकता कोई संकीर्ण हृदयता या अज्ञान न थी क्योंकि वे परमपूर्ण सत्य के प्रति अनुरक्त थे जो अपने में सारा ब्रह्माण्ड समाये हुए हैं। इस तरह वृन्दावनवासियों ने निरन्तर सभी सत्यों के आधारभूत सर्वोच्च, अनिवार्य सत्य अर्थात् स्वयं श्रीकृष्ण का अनुभव किया जो समस्त कारणों के कारण तथा इस जगत का पालन करने वाले हैं। वृन्दावनवासी उन परब्रह्म की प्रेमाभक्ति से अभिभूत रहते थे अतएव वे समस्त प्राणियों में परम भाग्यशाली, परम बुद्धिमान तथा परम व्यावहारिक थे।

अनांस्यनडुद्युक्तानि ते चारुह्य स्वलङ्कृताः ।
गोप्यश्च कृष्णवीर्याणि गायन्त्यः सद्विजाशिषः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

अनांसि—छकड़े; अनडुत्-युक्तानि—बैलों से नँधे; ते—वे; च—और; आरुह्य—चढ़कर; सु-अलङ्कृताः—उत्तम आभूषण पहने; गोप्यः—गोपियाँ; च—तथा; कृष्ण-वीर्याणि—भगवान् कृष्ण की महिमाओं को; गायन्त्यः—गाती हुई; स—के साथ; द्विज—ब्राह्मणों के; आशिषः—आशीर्वाद।

बैलों द्वारा खींचे जा रहे छकड़ों में चढ़कर सुन्दर आभूषणों से अलंकृत गोपियाँ भी साथ हो लीं और कृष्ण की महिमा का गान करने लगीं और उनके गीत ब्राह्मणों के आशीष के साथ समामेलित हो गये।

कृष्णस्त्वन्यतमं रूपं गोपविश्रम्भणं गतः ।
शैलोऽस्मीति ब्रुवन्भूरि बलिमाददबृहद्वपुः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

कृष्णः—भगवान् कृष्ण; तु—और तब; अन्यतमम्—दूसरा; रूपम्—स्वरूप; गोप-विश्रम्भणम्—गोपों में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए; गतः—धारण किया; शैलः—पर्वत; अस्मि—हूँ; इति—ये वचन; ब्रुवन्—कहते हुए; भूरि—प्रचुर; बलिम्—भेंट; आदत्—निगल गये; बृहत्-वपुः—अपने विराट रूप में ।

तत्पश्चात् कृष्ण ने गोपों में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए अभूतपूर्व विराट रूप धारण कर लिया और यह घोषणा करते हुए कि ''मैं गोवर्धन पर्वत हूँ'' प्रचुर भेंटें खा लीं।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् श्रीकृष्ण* के चौबीसवें अध्याय में लिखा है, ''जब सारी तैयारी पूरी हो गई तो कृष्ण ने महान् दिव्य रूप धारण कर लिया और यह आश्वस्त करने के लिए कि गोवर्धन पर्वत और कृष्ण एक ही हैं वृन्दावनवासियों से बोले कि मैं ही साक्षात् गोवर्धन पर्वत हूँ। तत्पश्चात् वे वहाँ पर भेंट किया हुआ सारा भोजन खाने लगे। आज भी कृष्ण तथा गोवर्धन के स्वरूप का आदर किया जाता है। बड़े बड़े भक्त गोवर्धन पर्वत से शिलाएँ लेकर उनकी उसी तरह पूजा करते हैं जिस तरह मन्दिरों में कृष्ण के अर्चाविग्रह की पूजा की जाती है। इसीलिए भक्तगण गोवर्धन पर्वत से छोटे-छोटे पत्थर या कंकड़ बीनकर घर लाते हैं और उन्हें पूजते हैं क्योंकि यह पूजा अर्चाविग्रह पूजा जैसी है।''

भगवान् कृष्ण ने अपनी ओर से वृन्दावनवासियों को महत्त्वपूर्ण मुसीबत मोल लेने के लिए प्रेरित किया था। उन्हें शक्तिशाली विश्व-सरकार के यज्ञ की उपेक्षा करके उसके बदले गोवर्धन पर्वत की पूजा करने के लिए आश्वस्त किया। गोपसमाज ने कृष्ण-प्रेमवश ही यह सब किया और अब उन्हें यह विश्वास दिलाने के लिए कि जो कुछ भी उन्होंने किया है, वह सही है भगवान् कृष्ण ने अभूतपूर्व दिव्य

स्वरूप धारण किया और यह दिखला दिया कि वे ही गोवर्धन पर्वत हैं।

तस्मै नमो व्रजजनैः सह चक्र आत्मनात्मने ।
अहो पश्यत शैलोऽसौ रूपी नोऽनुग्रहं व्यधात् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उनको; नमः—नमस्कार; व्रज-जनैः—व्रज के लोगों के; सह—साथ; चक्रे—बनाया; आत्मना—अपने से; आत्मने—अपने में; अहो—ओह; पश्यत—जरा देखो; शैलः—पर्वत ने; असौ—यह; रूपी—रूप धारण किये; नः—हम पर; अनुग्रहम्—कृपा; व्यधात्—प्रदान की।

कृष्ण ने व्रजवासियों समेत गोवर्धन पर्वत के इस स्वरूप को नमन किया और इस तरह वास्तव में अपने को ही नमस्कार किया। तत्पश्चात् उन्होंने कहा, ‘‘जरा देखो तो, यह पर्वत किस तरह पुरुष रूप में प्रकट हुआ है और इसने हम पर कृपा की है।’’

तात्पर्य : इस श्लोक से स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण ने अपना विस्तार किया था। वे वृन्दावन के उत्सव मनाने वालों के बीच अपने सामान्य रूप में दिख रहे थे जबकि उसी के साथ गोवर्धन पर्वत के विराट रूप में भी प्रकट हो रहे थे। इस तरह बालक कृष्ण ने वृन्दावनवासियों को अपने गोवर्धन पर्वत रूपी नए अवतार के समक्ष नमन करने को कहा और सबों को बतलाया कि गोवर्धन के इस दैवी रूप ने उन पर महती कृपा की है। कृष्ण के विस्मयकारी दिव्य कार्यकलाप आमोद-प्रमोद युक्त वातावरण के अनुरूप थे।

एषोऽवजानतो मर्त्यान्कामरूपी वनौकसः ।
हन्ति ह्यस्मै नमस्यामः शर्मणे आत्मनो गवाम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; अवजानतः—लापरवाह; मर्त्यान्—मर्त्यों को; काम-रूपी—इच्छानुसार रूप धारण करने वाले (यथा पर्वतों में रहने वाले सर्प); वन-ओकसः—वनवासी; हन्ति—मार डालेंगे; हि—निश्चय ही; अस्मै—उसको; नमस्यामः—नमस्कार करें; शर्मणे—रक्षा करने के लिए; आत्मनः—हम सबकी; गवाम्—तथा गौवों की।

यह गोवर्धन पर्वत इच्छानुसार रूप धारण करके अपनी उपेक्षा करने वाले वन के किसी भी निवासी को मार डालेगा। अतः अपनी तथा गौवों की सुरक्षा के लिए हम उसको नमस्कार करें।

तात्पर्य : *काम-रूपी* शब्द बतलाता है कि गोवर्धन पर्वत विषैले साँपों, जंगली पशुओं, गिरती चट्टानों इत्यादि का रूप धारण कर सकता है और ये सारे रूप मनुष्य को मारने में सक्षम हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार भगवान् ने इस अध्याय में सिद्धान्त की छः बातें कही हैं—

(१) केवल कर्म ही किसी के भाग्य का निश्चय कर सकता है (२) मनुष्य का बद्ध स्वभाव उसका परम नियन्ता है (३) प्रकृति के गुण सर्वोच्चनियन्ता हैं (४) भगवान् कर्म के आश्रित पक्ष के रूप में हैं, (५) वे कर्म-नियंत्रण के अधीन हैं; तथा (६) मनुष्य की वृत्ति ही वास्तविक आराध्यदेव है।

भगवान् ने इन तर्कों को सबों के समक्ष इसलिए नहीं प्रस्तुत किया कि वे उनमें विश्वास करते थे अपितु इसलिए कि वे इन्द्र के आसन्न यज्ञ को रोककर उन्हें गोवर्धन पर्वतस्वरूप स्वयं की ओर मोड़ना चाहते थे। इस तरह से भगवान् ने उस मिथ्याभिमानी देवता को उद्वेलित करना चाहा।

इत्यद्रिगोद्विजमखं वासुदेवप्रचोदिताः ।
यथा विधाय ते गोपा सहकृष्णा व्रजं ययुः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार से; अद्रि—गोवर्धन पर्वत; गो—गौवें; द्विज—तथा ब्राह्मणों को; मखम्—विशाल यज्ञ; वासुदेव—कृष्ण द्वारा; प्रचोदिताः—प्रेरित; यथा—उचित ढंग से; विधाय—सम्पन्न करके; ते—वे; गोपाः—गोपजन; सह-कृष्णाः—कृष्ण के साथ; व्रजम्—व्रज को; ययुः—गये।

इस प्रकार भगवान् वासुदेव द्वारा समुचित ढंग से गोवर्धन-यज्ञ सम्पन्न करने के लिए प्रेरित किये गये गोपजन गौवें तथा ब्राह्मण कृष्ण के साथ अपने गाँव व्रज लौट आये।

तात्पर्य : यद्यपि गोवर्धन पूजा बड़े ही आनन्दपूर्ण ढंग से सफलतापूर्ण सम्पन्न हो गई, किन्तु मामला यहीं समाप्त नहीं हुआ। आखिरकार देवता इन्द्र अत्यधिक शक्तिशाली जो ठहरा, अतः जब उसे गोवर्धन-यज्ञ की जानकारी मिली तो वह क्रोध से आग बबूला हो उठा। इसके आगे जो कुछ हुआ उसका वर्णन अगले अध्याय में मिलेगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कन्ध के अन्तर्गत "गोवर्धन-पूजा" नामक चौबीसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पच्चीस

कृष्ण द्वारा गोवर्धन-धारण

इस अध्याय में वर्णन हुआ है कि जब व्रजवासियों ने इन्द्र-यज्ञ निरस्त कर दिया तो इन्द्र किस तरह क्रोधित हुआ, उसने किस तरह वृन्दावन में प्रलयंकारी वर्षा करके उन्हें दण्डित करना चाहा और भगवान् श्रीकृष्ण ने किस तरह गोवर्धन पर्वत उठाकर गोकुल की रक्षा की तथा वर्षा से बचाने के लिए

वे पर्वत को छाते की तरह सात दिनों तक धारण किये रहे।

अपने निमित्त होने वाले यज्ञ का विध्वंस होने से क्रुद्ध होकर तथा झूठे ही अपने को सर्वोच्च नियन्ता मानते हुए इन्द्र ने कहा, "लोग प्राय: आत्म-साक्षात्कार के साधन दिव्य ज्ञान का अनुशीलन त्याग देते हैं और सोचते हैं कि संसारी सकाम यज्ञों द्वारा भवसागर को पार कर सकते हैं। इसी तरह ये गोप दर्प से उन्मत्त हो गये हैं और एक मूर्ख सामान्य बालक कृष्ण की शरण ग्रहण करके इन्होंने मेरा अपमान किया है।"

व्रजवासियों के इस मिथ्याभिमान को चूर करने के लिए इन्द्र ने संवर्तक नामक बादलों को भेजा जिनका कार्य संसार के संहार में सहायता करना है। उसने व्रजवासियों को वर्षा तथा ओलों से तंग करने के लिए उन्हें भेजा। इससे ग्वाल समुदाय अति विचलित हो उठा और वे सब कृष्ण की शरण में पहुँचे। कृष्ण समझ गये कि यह इन्द्र की करतूत है अतएव उन्होंने इन्द्र के मिथ्या अहंकार को चूर-चूर करने का निश्चय किया। इसीलिए उन्होंने अपने एक हाथ से गोवर्धन पर्वत को उठा लिया। तत्पश्चात् उन्होंने सारे ग्वालों को पर्वत के नीचे सूखे स्थान में शरण लेने के लिए बुलाया। वे लगातार सात दिनों तक पर्वत को इसी तरह उठाये रहे जब तक इन्द्र को कृष्ण की योगशक्ति का पता नहीं चल गया। तब इन्द्र ने बादलों को हट जाने का आदेश दिया।

जब ग्रामीण ग्वाले पर्वत के नीचे से बाहर आ गये तो कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को उसके स्थान पर फिर से रख दिया। सारे ग्वाले आनन्दमग्न थे और उनकी आँखों से अश्रु बह रहे थे तथा रोमांच हो रहा था। उन्होंने कृष्ण का आलिंगन किया और अपनी अपनी पद-स्थिति के अनुसार उन्हें आशीर्वाद दिया। स्वर्ग से देवताओं ने उन पर फूल बरसाये तथा उनकी प्रशंसा में गीत गाये।

श्रीशुक उवाच
इन्द्रस्तदात्मन: पूजां विज्ञाय विहतां नृप ।
गोपेभ्य: कृष्णनाथेभ्यो नन्दादिभ्यश्चुकोप ह ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इन्द्र:—इन्द्र; तदा—तब; आत्मन:—अपनी; पूजाम्—पूजा; विज्ञाय—जानकर; विहताम्—दूसरे को समर्पित की गई; नृप—हे राजन् (परीक्षित); गोपेभ्य:—ग्वालों पर; कृष्ण-नाथेभ्य:—कृष्ण को अपना स्वामी मानने वाले; नन्द-आदिभ्य:—नन्द महाराज इत्यादि पर; चुकोप ह—क्रुद्ध हुआ।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा परीक्षित, जब इन्द्र को पता चला कि उसका यज्ञ सम्पन्न

नहीं हुआ तो वह नन्द महाराज तथा अन्य गोपजनों पर क्रुद्ध हो गया क्योंकि वे सब कृष्ण को अपना स्वामी मान रहे थे।

तात्पर्य : शुकदेव गोस्वामी इस अध्याय के प्रारम्भ में ही इन्द्र की मूर्खता तथा उसके क्रोध की बेहूदगी को प्रकट किये दे रहे हैं। इन्द्र इसलिए रुष्ट था क्योंकि वृन्दावनवासियों ने कृष्ण को अपना स्वामी मान लिया था। किन्तु तथ्य तो यह है कि श्रीकृष्ण न केवल वृन्दावनवासियों के स्वामी हैं अपितु इन्द्र समेत सम्पूर्ण जगत के स्वामी हैं। अत: इन्द्र की धृष्ट प्रतिक्रिया हास्यास्पद थी। यह कहावत ठीक ही है कि "घमंडी का सिर नीचा होता है।"

गणं सांवर्तकं नाम मेघानां चान्तकारीणाम् ।
इन्द्रः प्रचोदयत्क्रुद्धो वाक्यं चाहेशमान्युत ॥ २॥

शब्दार्थ

गणम्—समूह; सांवर्तकम् नाम—सांवर्तक नामक; मेघानाम्—बादलों का; च—तथा; अन्त-कारिणाम्—ब्रह्माण्ड का अन्त करने वाले; इन्द्रः—इन्द्र ने; प्रचोदयत्—भेजा; क्रुद्धः—क्रुद्ध, नाराज; वाक्यम्—वचन; च—तथा; आह—कहा; ईश-मानी—झूठे ही अपने को सर्वोच्च नियन्ता सोचते हुए; उत—निस्सन्देह।

क्रुद्ध इन्द्र ने ब्रह्माण्ड का विनाश करने वाले बादलों के समूह को भेजा जो सांवर्तक कहलाते हैं। वह अपने को सर्वोच्च नियन्ता मानते हुए इस प्रकार बोला।

तात्पर्य : *ईश-मानी* शब्द यहाँ पर अत्यन्त सार्थक है। उद्धत इन्द्र अपने को ईश्वर मानता था अतएव उसने बद्धजीव जैसी विशिष्ट मनोवृत्ति का प्रदर्शन किया। बीसवीं सदी के अनेक विचारकों ने हमारी संस्कृति की व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के अतिशय भाव पर ध्यान दिया है; यहाँ तक कि लेखकों ने "मेरी पीढ़ी" जैसा शब्द भी गढ़ा है। इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति कम या ज्यादा *ईश-मान* (जिसमें वह अपने को ईश्वर मानता है) का दोषी है।

अहो श्रीमदमाहात्म्यं गोपानां काननौकसाम् ।
कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य ये चक्रुर्देवहेलनम् ॥ ३॥

शब्दार्थ

अहो—जरा देखो तो; श्री—ऐश्वर्य के कारण; मद—नशे का; माहात्म्यम्—विस्तार; गोपानाम्—ग्वालों का; कानन—वन में; ओकसाम्—वास करने वाले; कृष्णम्—कृष्ण को; मर्त्यम्—सामान्य मनुष्य की; उपाश्रित्य—शरण ग्रहण करके; ये—जिन्होंने; चक्रुः—किया है; देव—देवताओं के प्रति; हेलनम्—अपराध।

[इन्द्र ने कहा]: जरा देखो तो सही कि जंगल में वास करने वाले ये ग्वाले अपने वैभव से

किस तरह इतने उन्मत्त हो गये हैं! उन्होंने एक सामान्य मनुष्य कृष्ण की शरण ग्रहण की है और इस तरह उन्होंने देवताओं का अपमान किया है।

तात्पर्य : वास्तव में इन्द्र यह कह रहा था कि ग्वालों ने उस कृष्ण की शरण में जाकर उसका अपमान किया है, जिसे वह *मर्त्य* समझ रहा था। निश्चय ही इन्द्र की यह बहुत बड़ी भूल थी।

यथादृढैः कर्ममयैः क्रतुभिर्नामनौनिभैः ।
विद्यामान्वीक्षिकीं हित्वा तितीर्षन्ति भवार्णवम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अदृढैः—अपर्याप्त; कर्म-मयैः—सकाम कर्म पर आधारित; क्रतुभिः—यज्ञों के द्वारा; नाम—नाममात्र को; नौ-निभैः—नावों की तरह कार्य करने वाले; विद्याम्—ज्ञान को; आन्वीक्षिकीम्—आध्यात्मिक; हित्वा—त्यागकर; तितीर्षन्ति—पार करने का प्रयास करते हैं; भव-अर्णवम्-थे ओचेअन् ओफ् मतेरिअल् एक्सिस्तेन्चे.

उनके द्वारा कृष्ण की शरण ग्रहण करना वैसा ही है जैसा कि लोगों द्वारा दिव्य आत्म-ज्ञान को त्यागकर सकाम कर्ममय यज्ञों की मिथ्या नावों में चढ़कर इस महान् भवसागर को पार करने का मूर्खतापूर्ण प्रयास होता है।

वाचालं बालिशं स्तब्धमज्ञं पण्डितमानिनम् ।
कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य गोपा मे चक्रुरप्रियम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

वाचालम्—बातूनी; बालिशम्—बालक; स्तब्धम्—उद्धत; अज्ञम्—मूर्ख; पण्डित-मानिनम्—अपने आपको चतुर मानने वाले; कृष्णम्—कृष्ण को; मर्त्यम्—मनुष्य को; उपाश्रित्य—शरण लेकर; गोपाः—ग्वालों ने; मे—मेरे विरुद्ध; चक्रुः—कार्य किया है; अप्रियम्—अनुचित।.

इन ग्वालों ने इस सामान्य मनुष्य कृष्ण की शरण ग्रहण करके मेरे प्रति शत्रुतापूर्ण कार्य किया है क्योंकि कृष्ण अपने को अत्यन्त चतुर मानता है किन्तु है, वह निरा मूर्ख, अकड़ू तथा बातूनी बालक।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार इन्द्र के अपमान के माध्यम से देवी सरस्वती कृष्ण की प्रशंसा कर रही हैं। आचार्य की व्याख्या है : “*बालिशम्* का अर्थ है ‘बालक की भाँति किसी बनावट से रहित।’ *स्तब्धम्* का अर्थ है कि वे किसी के समक्ष नतमस्तक नहीं होते क्योंकि उन्हें किसी को नमस्कार नहीं करना है। *अज्ञम्* का अर्थ है कि उन्हें कुछ और जानने के लिए शेष नहीं क्योंकि वे सर्वज्ञ हैं। *पण्डितमानिनम्* का अर्थ है कि वे ब्रह्मवादियों द्वारा अत्यधिक सम्मानित हैं तथा *कृष्णम्* का

अर्थ है कि वे परब्रह्म हैं जिनका दिव्य स्वरूप सनातन तथा आनन्दमय है। *मर्त्यम्* का अर्थ है कि यद्यपि वे ब्रह्म हैं किन्तु तो भी अपने भक्तों के स्नेहवश वे इस जगत में मानव रूप में प्रकट होते हैं।''

इन्द्र *वाचालम्* कहकर कृष्ण की निन्दा करना चाहता था क्योंकि उन्होंने कर्म मीमांसा तथा सांख्य दर्शन के विषय में अनेक निर्भीक तर्क प्रस्तुत किये थे यद्यपि वे उन तर्कों को स्वीकार नहीं करते थे। इसलिए इन्द्र ने उन्हें *बालिश* अर्थात् मूर्ख कहा। इन्द्र ने उन्हें *स्तब्ध* कहा क्योंकि उन्होंने अपने पिता के समक्ष भी निडर होकर भाषण किया था। इस तरह यद्यपि इन्द्र ने श्रीकृष्ण की आलोचना करने का प्रयास किया किन्तु भगवान् का चरित्र निर्दोष है और इस अध्याय से पता चलेगा कि किस तरह इन्द्र उनके पद को समझ सका।

एषां श्रियावलिप्तानां कृष्णेनाध्मापितात्मनाम् ।
धुनुत श्रीमदस्तम्भं पशून्नयत सङ्क्षयम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

एषाम्—उनके; श्रिया—ऐश्वर्य से; अवलिप्तानाम्—उन्मत्त; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; आध्मापित—सुरक्षित; आत्मनाम्—हृदयों वाले; धुनुत—हटा दो; श्री—उनके धन पर आधारित; मद—घमंड; स्तम्भम्—मिथ्याअभिमान; पशून्—पशुओं को; नयत—ले जाओ; सङ्क्षयम्—विनाश के कगार पर।

[इन्द्र ने सांवर्तक मेघों से कहा]: इन लोगों की सम्पन्नता ने इन्हें मदोन्मत्त बना दिया है और इनका अक्खड़पन कृष्ण द्वारा समर्थित है। अब तुम जाओ और उनके गर्व को चूर कर दो और उनके पशुओं का विनाश कर डालो।

तात्पर्य : इस श्लोक से स्पष्ट है कि वृन्दावनवासी एकमात्र गौवों की रक्षा करने से समृद्ध बन चुके थे क्योंकि इन्द्र सम्पत्ति पर आश्रित उनके तथाकथित गर्व को उनके पशुओं को मारकर चूर करना चाहता था। ठीक से चराई गई गौवें प्रचुर मात्रा में दूध देती हैं जिससे पनीर, मक्खन, दही, घी आदि प्राप्त होते हैं। ये स्वयं तो स्वादिष्ट भोजन हैं ही, फलों, तरकारियों तथा अन्नों को भी सुस्वादु बनाते हैं। मक्खन लगने से रोटी तथा तरकारी स्वादिष्ट बन जाती है और जब फलों के साथ मलाई या दही मिला दिया जाता है, तो वे क्षुधावर्धक बन जाते हैं। सभ्य समाज में दूध की बनी वस्तुओं का होना वाँछित है और यदि उपयोग के बाद ये वस्तुएँ बचें तो इनके बदले में अन्य मूल्यवान वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं। इस तरह वृन्दावनवासी वैदिक दुग्ध व्यवसाय से भौतिक दृष्टि से धनी, स्वस्थ तथा सुखी थे और उनमें से अधिकांश लोग भगवान् कृष्ण के नित्य संगी थे।

**अहं चैरावतं नागमारुह्यानुव्रजे व्रजम् ।
मरुद्गणैर्महावेगैर्नन्दगोष्ठजिघांसया ॥ ७॥**

शब्दार्थ

अहम्—मैं; च—भी; ऐरावतम्—ऐरावत नामक; नागम्—हाथी पर; आरुह्य—चढ़कर; अनुव्रजे—पीछे पीछे आऊँगा; व्रजम्—व्रज में; मरुत्-गणै:—वायुदेवों को साथ लेकर; महा-वेगै:—अत्यन्त वेग से चलने वाले; नन्द-गोष्ठ—नन्द महाराज के गोप समुदाय को; जिघांसया—विनष्ट करने के विचार से।

मैं अपने हाथी ऐरावत पर चढ़कर तथा अपने साथ वेगवान एवं शक्तिशाली वायुदेवों को लेकर नन्द महाराज के ग्वालों के ग्राम को विध्वंस करने के लिए तुम लोगों के पीछे रहूँगा।

तात्पर्य : इन्द्र के रोष से भयभीत सांवर्तक मेघों ने उसके आदेश का पालन किया जैसाकि अगले श्लोक में वर्णित है।

श्रीशुक उवाच
**इत्थं मघवताज्ञप्ता मेघा निर्मुक्तबन्धनाः ।
नन्दगोकुलमासारैः पीडयामासुरोजसा ॥ ८॥**

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इत्थम्—इस प्रकार से; मघवता—इन्द्र द्वारा; आज्ञप्ताः—आदेश दिये गये; मेघाः—बादल; निर्मुक्त-बन्धनाः—अपने बन्धनों से मुक्त (यद्यपि संसार के विनाशकाल तक उन्हें वश में रहना था); नन्द-गोकुलम्—नन्द महाराज के चरागाहों पर; आसारैः—मूसलाधार वर्षा द्वारा; पीडयाम् आसुः—सताने लगे; ओजसा—अपनी शक्ति-भर।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इन्द्र के आदेश से प्रलयंकारी मेघ समय से पूर्व अपने बन्धनों से मुक्त होकर नन्द महाराज के चरागाहों पर गये। वहाँ वे व्रजवासियों पर मूसलाधार वर्षा करके उन्हें सताने लगे।

तात्पर्य : सांवर्तक मेघ समूची पृथ्वी पर एकमात्र विशाल सागर से छा सकते थे। इन मेघों ने महान् शक्ति के साथ व्रज की समतल भूमि को आप्लावित करना प्रारम्भ कर दिया।

**विद्योतमाना विद्युद्भिः स्तनन्तः स्तनयित्नुभिः ।
तीव्रैर्मरुद्गणैर्नुन्ना ववृषुर्जलशर्कराः ॥ ९॥**

शब्दार्थ

विद्योतमानाः—प्रकाशित होकर; विद्युद्भिः—बिजली की चमक से; स्तनन्तः—गरजते हुए; स्तनयित्नुभिः—गर्जन से; तीव्रैः—भयानक; मरुत्-गणैः—वायुदेवों द्वारा; नुन्नाः—कर्षित; ववृषुः—बरसाये; जल-शर्कराः—ओले।

भयानक वायुदेवों द्वारा उत्प्रेरित बादल बिजलियों की चमक से प्रज्ज्वलित हो उठे और

ओलों की वर्षा करते हुए कड़कड़ाहट के साथ गरजने लगे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी की व्याख्या है कि *मरुद्-गणै* शब्द सात महान् वायुओं का सूचक हैं—यथा भुवर्लोक का अधिष्ठाता आवह तथा लोकों को स्थिर रखने वाला प्रवह।

स्थूणास्थूला वर्षधारा मुञ्चत्स्वभ्रेष्वभीक्ष्णशः ।
जलौघैः प्लाव्यमाना भूर्नादृश्यत नतोन्नतम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

स्थूणा—खम्भों के समान; स्थूलाः—स्थूल, मोटी; वर्स-धाराः—वर्षा की धाराएँ; मुञ्चत्सु—छोड़ते हुए, गिराते हुए; अभ्रेषु—बादलों में; अभीक्ष्णशः—निरन्तर; जल-ओघैः—जल की बाढ़ से; प्लाव्यमाना—जलमग्न होकर; भूः—पृथ्वी; न अदृश्यत—दिखलाई नहीं पड़ती थी; नतौन्नतम्—नीची या ऊँची।

जब बादलों ने बड़े-बड़े खम्भों जैसी मोटी वर्षा की धाराएँ गिराईं तो पृथ्वी बाढ़ से जलमग्न हो गई और ऊँची या नीची भूमि का पता नहीं चल पा रहा था।

अत्यासारातिवातेन पशवो जातवेपनाः ।
गोपा गोप्यश्च शीतार्ता गोविन्दं शरणं ययुः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अति-आसार—मूसलाधार वर्षा से; अति-वातेन—तथा अत्यधिक हवा से; पशवः—गौवें तथा अन्य पशु; जात-वेपनाः—काँपते हुए; गोपाः—गोपगण; गोप्यः—गोपियाँ; च—भी; शीत—जाड़े से; आर्ताः—पीड़ित; गोविन्दम्—गोविन्द के पास; शरणम्—शरण के लिए; ययुः—गये।

अत्यधिक वर्षा तथा हवा के कारण काँपती हुई गौवें तथा अन्य पशु और शीत से पीड़ित ग्वाले तथा गोपियाँ—ये सभी शरण के लिए गोविन्द के पास पहुँचे।

शिरः सुतांश्च कायेन प्रच्छाद्यासारपीडिताः ।
वेपमाना भगवतः पादमूलमुपाययुः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

शिरः—अपने सिरों; सुतान्—अपने बालकों को; च—और; कायेन—अपने शरीरों से; प्रच्छाद्य—ढककर; आसार-पीडिताः—मूसलाधार वर्षा से पीड़ित; वेपमानाः—थरथराती; भगवतः—भगवान् के; पाद-मूलम्—चरणकमलों के नीचे; उपाययुः—पहुँची।

भीषण वर्षा से उत्पन्न पीड़ा से काँपती तथा अपने सिरों और अपने बछड़ों को अपने शरीरों से ढकने का प्रयास करती हुईं गौवें भगवान् के चरणकमलों में जा पहुँचीं।

कृष्ण कृष्ण महाभाग त्वन्नाथं गोकुलं प्रभो ।

त्रातुमर्हसि देवान्नः कुपिताद्भक्तवत्सल ॥ १३॥

शब्दार्थ

कृष्ण कृष्ण—हे कृष्ण, हे कृष्ण; महा-भग—हे परम भाग्यशाली; त्वत्-नाथम्—अपने स्वामी; गो-कुलम्—गौवों के समुदाय को; प्रभो—हे स्वामी; त्रातुम् अर्हसि—रक्षा कीजिये; देवात्—इन्द्र देव से; नः—हमको; कुपितात्—कुपित; भक्त-वत्सल—हे भक्तों के वत्सल।

[गोपों तथा गोपियों ने भगवान् को सम्बोधित करते हुए कहा]: हे कृष्ण, हे भाग्यशाली कृष्ण, आप इन्द्र के क्रोध से इन गौवों को उबारें। हे प्रभु, आप अपने भक्तों पर इतने वत्सल हैं। कृपया आप हमें भी बचा लें।

तात्पर्य : कृष्णजन्म के समय गर्ग मुनि ने भविष्यवाणी की थी—*अनेन सर्वदुर्गाणि यूयम् अञ्जस् तरिष्यथ* (भागवत १०.८.१६)—इनकी कृपा से आप आसानी से सारे कष्टों को पार कर लेंगे। वृन्दावनवासियों को पूर्ण विश्वास था कि ऐसी भारी-विपत्ति में श्रीनारायण उनकी रक्षा करने के लिए कृष्ण को शक्ति प्रदान करेंगे। उन्होंने कृष्ण को सर्वस्व मान रखा था और कृष्ण उनके प्रेम को अंगीकार कर चुके थे।

शिलावर्षातिवातेन हन्यमानमचेतनम् ।
निरीक्ष्य भगवान्मेने कुपितेन्द्रकृतं हरिः ॥ १४॥

शब्दार्थ

शिला—उपलों (ओलों) की; वर्ष—वर्षा द्वारा; अति-वातेन—तथा तेज हवा द्वारा; हन्यमानम्—प्रताड़ित; अचेतनम्—अचेत; निरीक्ष्य—देखकर; भगवान्—भगवान्; मेने—विचार किया; कुपित—क्रुद्ध; इन्द्र—इन्द्र द्वारा; कृतम्—किया गया; हरिः—हरि ने।

ओलों तथा तेज वायु के प्रहार से अचेत हुए जैसे गोकुलवासियों को देखकर भगवान् हरि समझ गये कि यह कुपित इन्द्र की करतूत है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का कहना है कि इन्द्र ने वृन्दावनवासियों पर जो कहर ढाया वह भगवान् कृष्ण तथा व्रजवासियों के प्रेम-व्यापार को बढ़ाने के लिए कृष्ण की लीलाशक्ति द्वारा नियोजित था। भूखे व्यक्ति का दृष्टान्त देते हुए आचार्य कहते हैं कि भूख की पीड़ा से उस सुख में वृद्धि होती है, जो उसे उत्तम भोजन खाने पर मिलता है। इस तरह भूख से भोजन करने का आनन्द बढ़ जाता है। इसी प्रकार वृन्दावनवासियों को यद्यपि सामान्य भौतिक चिन्ता का अनुभव नहीं हो रहा था किन्तु इन्द्र के कार्यों से आन्तरिक पीड़ा पहुँच रही थी जिससे कृष्ण के ध्यान में तीव्रता बढ़ी। और जब भगवान् ने कर दिखाया तो परिणाम अद्‌भुत निकला।

अपर्त्वत्युल्बणं वर्षमतिवातं शिलामयम् ।
स्वयागे विहतेऽस्माभिरिन्द्रो नाशाय वर्षति ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अप-ऋतु—ऋतु के बिना; अति-उल्बणम्—घनघोर; वर्षम्—वर्षा; अति-वातम्—तेज हवा सहित; शिला-मयम्—ओलों से पूर्ण; स्व-यगे—अपना यज्ञ; विहते—रोक दिये जाने से; अस्माभिः—हमारे द्वारा; इन्द्रः—इन्द्र; नाशाय—विनाश के लिए; वर्षति—वर्षा कर रहा है।

[श्रीकृष्ण ने अपने आप कहा]: चूँकि हमने उसका यज्ञ रोक दिया है, अतः इन्द्र अति प्रचण्ड हवा और ओलों के साथ घनघोर एवं बिना ऋतु की वर्षा कर रहा है।

तत्र प्रतिविधिं सम्यगात्मयोगेन साधये ।
लोकेशमानिनां मौढ्याद्धनिष्ये श्रीमदं तमः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तत्र—इस दशा में; प्रति-विधिम्—सामना करने के उपाय; सम्यक्—समुचित रीति से; आत्म-योगेन—अपनी योगशक्ति से; साधये—व्यवस्था करूँगा; लोक-ईश—संसार के स्वामी; मानिनाम्—झूठे ही अपने को मानने वाले; मौढ्यात्—मूर्खतावश; हनिष्ये—पराजित करूँगा; श्री-मदम्—ऐश्वर्य से उत्पन्न गर्व को; तमः—अज्ञान।

मैं अपनी योगशक्ति से इन्द्र द्वारा उत्पन्न इस उत्पात का पूरी तरह सामना करूँगा। इन्द्र जैसे देवता अपने ऐश्वर्य का घमंड करते हैं और मूर्खतावश वे झूठे ही अपने को ब्रह्माण्ड का स्वामी समझने लगते हैं। मैं अब ऐसे अज्ञान को नष्ट कर दूँगा।

न हि सद्भावयुक्तानां सुराणामीशविस्मयः ।
मत्तोऽसतां मानभङ्गः प्रशमायोपकल्पते ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निश्चय ही; सत्-भाव—सतोगुण से; युक्तानाम्—युक्त; सुराणाम्—देवताओं के; ईश—नियन्ता; विस्मयः—झूठी पहचान; मत्तः—मुझसे; असताम्—अशुद्ध; मान—मिथ्या अभिमान का; भङ्गः—समूल विनाश; प्रशमाय—उन्हें राहत दिलाने के लिए; उपकल्पते—इच्छा है।

चूँकि देवता सतोगुण से युक्त होते हैं अतः अपने को स्वामी मानने का मिथ्या अभिमान उनमें बिल्कुल नहीं आना चाहिए। जब मैं सतोगुण से विहीन उनके मिथ्या अभिमान को भंग करता हूँ तो मेरा उद्देश्य उन्हें राहत दिलाना होता है।

तात्पर्य : देवताओं को *सद्भावयुक्त* माना जाता है क्योंकि वे भगवान् द्वारा नियुक्त सेवक होते हैं। *भगवद्गीता* (४.२४) में कहा गया है–

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

''भगवान् को समुचित रीति से दी गई भेंट आध्यात्मिक बन जाती है।'' देवतागण ब्रह्माण्ड के प्रशासन में विविध विभागों का कार्यभार सँभालकर भगवान् की भक्ति में लगे रहते हैं। अतएव देवताओं या भगवान् के सेवकों के रूप में उनका अस्तित्व शुद्ध होता है (*सद्भाव*)। जब देवतागण भगवान् द्वारा प्रदत्त उच्च पद के अनुरूप नहीं रह पाते और अपने समुचित व्यवहार से विपथ होते हैं, तो वे देवताओं के रूप में कार्य न करके बद्धजीवों जैसा कार्य करते हैं।

मान अर्थात् मिथ्या प्रतिष्ठा निश्चय ही बद्धात्मा के लिए चिन्ता से युक्त भार होती है। मिथ्या अहंकारी व्यक्ति कभी शान्त या संतुष्ट नहीं रहता क्योंकि वह अपने विषय में मिथ्या तथा अतिशयोक्तिपूर्ण बोध रखता है। जब भगवान् का सेवक *असत्* अर्थात् अधर्मी बन जाता है, तो भगवान् उसके मिथ्या गर्व को चूर करके उसे अधर्म से बचाते हैं जिसके कारण वह अपराधी या पापी बनता है। भगवान् ने स्वयं कहा है—*यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः*—मैं मनुष्य का तथाकथित ऐश्वर्य हर कर उसे आशीर्वाद देता हूँ।

जैसाकि रूप गोस्वामी ने बतलाया है भगवद्भक्ति की उन्नत अवस्था *युक्तवैराग्य* है, जिसमें इस संसार के ऐश्वर्य का सदुपयोग भगवान् के मिशन को पूरा करना होता है। स्पष्ट है कि इस संसार की सारी वस्तुएँ भगवान् की महिमा का प्रसार करने और सत्समाज की सृष्टि करने में बड़े आश्चर्यजनक ढंग से प्रयुक्त की जा सकती हैं। अत्यधिक उन्नत भक्त कभी भी भौतिक साज-सामान से ठगा नहीं जाता अपितु वह इसका सदुपयोग भगवान् के आनन्द हेतु अपना कर्तव्य मान कर ईमानदारी से करता है। यहाँ पर, इन्द्र यह भूल गया कि वह ईश्वर का विनीत सेवक है इसीलिए कृष्ण ने इस मोहग्रस्त देवता को पाठ पढ़ाना चाहा।

तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम् ।
गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; मत्-शरणम्—मेरी शरण में आया हुआ; गोष्ठम्—गोप समुदाय; मत्-नाथम्—मुझको अपना स्वामी मानकर; मत्-परिग्रहम्—मेरा ही परिवार; गोपाये—मैं रक्षा करूँगा; स्व-आत्म-योगेन—अपनी योगशक्ति द्वारा; सः अयम्—यह; मे—मेरे द्वारा; व्रतः—व्रत, प्रण; आहितः—लिया गया है।

अतएव मुझे अपनी दिव्यशक्ति से गोप समुदाय की रक्षा करनी चाहिए क्योंकि मैं ही उनका

आश्रय हूँ, मैं ही उनका स्वामी हूँ और वे मेरे अपने परिवार के ही हैं। मैंने अपने भक्तों की रक्षा का व्रत जो ले रखा है।

तात्पर्य : *मच्छरणम्* शब्द न केवल यह सूचित करता है कि कृष्ण व्रजजन के एकमात्र आश्रय थे अपितु यह भी कि कृष्ण ने उनके बीच अपना घर बना रखा था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *अनेकार्थ वर्ग* कोश से *शरणं गृहरक्षित्रोः* उद्धृत किया है। इस तरह *शरणं* शब्द घर या रक्षक का द्योतक हो सकता है। वृन्दावनवासियों ने कृष्ण को अपना प्रिय बालक, मित्र, प्रेमी तथा प्राण मान रखा था और भगवान् उनकी भावनाओं को जानते थे। इस तरह कृष्ण इन भाग्यशाली लोगों के बीच रहते हुए उनके घरों तथा खेतों में विचरण करते थे। स्वाभाविक है कि वे ऐसे घनिष्ट भक्तों की सभी प्रकार के संकटों से रक्षा करते।

इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम् ।
दधार लीलया विष्णुश्छत्राकमिव बालकः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; एकेन—एक; हस्तेन—हाथ से; कृत्वा—लेकर; गोवर्धन-अचलम्—गोवर्धन पर्वत को; दधार—धारण कर लिया; लीलया—आसानी से; विष्णुः—भगवान् विष्णु ने; छत्राकम्—कुकुरमुत्ता; इव—के समान; बालकः—बालक।

यह कहकर साक्षात् विष्णु अर्थात् श्रीकृष्ण ने एक हाथ से गोवर्धन पर्वत को ऊपर उठा लिया जिस तरह कि कोई बालक कुकुरमुत्ते को उखाड़कर हाथ में ले लेता है।

तात्पर्य : *हरिवंश* में इसकी पुष्टि की गई है कि कृष्ण ने अपने बाएँ हाथ से गोवर्धन पर्वत को उठाया—*स धृतः सङ्गतो मेघैर्गिरिः सव्येन पाणिना*—उन्होंने बाएँ हाथ से पर्वत उठा लिया जो बादलों को छू रहा था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार जब कृष्ण गोवर्धन पर्वत उठाने जा रहे थे तो उनकी योग-मायाशक्ति की अंशरूपा संहारिकी ने आकाश से क्षण-भर के से बादलों को हटा दिया जिससे जब वे अपने घर के आगे से पर्वत तक तेजी से दौड़कर गये तो न तो उनका दुपट्टा भीजा न ही अन्य वस्त्र।

अथाह भगवान्गोपान्हेऽम्ब तात व्रजौकसः ।
यथोपजोषं विशत गिरिगर्तं सगोधनाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; आह—बोले; भगवान्—भगवान्; गोपान्—गोपों से; हे—अरे; अम्ब—माता; तात—हे पिता; व्रज-ओकसः—अरे व्रजवासियो; यथा-उपजोषम्—जैसे तुम्हें रुचे; विशत—प्रवेश करो; गिरि—इस पर्वत के; गर्तम्—नीचे की खाली जगह में; स-गोधनाः—अपनी गौवों समेत।

तत्पश्चात् भगवान् ने गोप समुदाय को सम्बोधित किया: हे मैया, हे पिताश्री, हे व्रजवासियो, यदि चाहो तो अपनी गौवों समेत तुम अब इस पर्वत के नीचे आ जाओ।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस सम्बन्ध में यह अन्तर्दृष्टि प्रदान की है : सामान्यतया विशाल गो समुदाय जिसमें हजारों गौवें, बछड़े, साँड़ इत्यादि थे, गोवर्धन जैसे मध्यम आकार वाले पर्वत के नीचे नहीं आ सकता था। किन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के हाथों का स्पर्श पाकर इस पर्वत ने हर्षातिरेक के कारण अचिन्त्य शक्ति प्राप्त कर ली और क्रुद्ध इन्द्र द्वारा किये गये हजारों वज्र के आघातों को कोमल सुगंधित फूलों की भेंट जैसा अनुभव किया। कभी कभी तो गोवर्धन को ऐसा लगता था कि वज्र का आघात हो भी रहा है या नहीं। आचार्य ने *हरिवंश* से स्वयं श्रीकृष्ण के वचनों को भी उद्धृत किया है—*त्रैलोक्यमप्युत्सहते रक्षितुं किं पुनर्व्रजम्*—यह गोवर्धन पर्वत तीनों लोकों को शरण दे सकता है, केवल व्रजभूमि की तो बात ही क्या!

जब इन्द्र का आक्रमण शुरू हुआ और कृष्ण ने पर्वत उठा लिया तो पर्वत के अगल-बगल खड़े मृग, जंगली सुअर तथा अन्य पशु एवं पक्षीगण पर्वत की चोटी पर चढ़ गये और उन्हें तनिक भी व्यथा का अनुभव नहीं हुआ।

न त्रास इह वः कार्यो मद्धस्ताद्रिनिपातनात् ।
वातवर्षभयेनालं तत्त्राणं विहितं हि वः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; त्रासः—भय; इह—इस बारे में; वः—तुम लोगों के द्वारा; कार्यः—अनुभव किया जाना चाहिए; मत्-हस्त—मेरे हाथ से; अद्रि—पर्वत के; निपातनात्—गिरने से; वात—वायु; वर्ष—तथा वर्षा के; भयेन—भय से; अलम्—पर्याप्त; तत्-त्राणम्—उससे रक्षा; विहितम्—प्रदान की गई है; हि—निश्चय ही; वः—तुम लोगों के लिए।

तुम्हें डरना नहीं चाहिए कि यह पर्वत मेरे हाथ से छूटकर गिर जायेगा। न ही तुम लोग हवा तथा वर्षा से भयभीत होओ क्योंकि इन कष्टों से तुम्हारे छुटकारे की व्यवस्था पहले ही की जा चुकी है।

तथा निर्विविशुर्गर्तं कृष्णाश्वासितमानसः ।

यथावकाशं सधनाः सव्रजाः सोपजीविनः ॥ २२॥

शब्दार्थ

तथा—इस प्रकार; निर्विविशुः—प्रवेश किया; गर्तम्—गढ़े में; कृष्ण—कृष्ण द्वारा; आश्वासित—आश्वासन दिये गये; मानसः—मन से; यथा-अवकाशम्—सुविधापूर्वक; स-धनाः—अपनी गौवों समेत; स-व्रजाः—तथा अपने छकड़ों समेत; स-उपजीविनः—अपने आश्रितों (यथा सेवकों तथा ब्राह्मणों) समेत।

इस प्रकार भगवान् कृष्ण द्वारा उनके मन आश्वस्त किये गये और वे सभी पर्वत के नीचे प्रविष्ट हुए जहाँ उन्हें अपने लिए तथा अपनी गौवों, छकड़ों, सेवकों तथा पुरोहितों के लिए और साथ ही साथ समुदाय के अन्य सदस्यों के लिए पर्याप्त स्थान मिल गया।

तात्पर्य : वृन्दावन के सारे घरेलू पशुओं को शरण दिलाने के लिए गोवर्धन पर्वत के नीचे ले जाया गया।

क्षुत्तृड्व्यथां सुखापेक्षां हित्वा तैर्व्रजवासिभिः ।
वीक्ष्यमाणो दधाराद्रिं सप्ताहं नाचलत्पदात् ॥ २३॥

शब्दार्थ

क्षुत्—भूख; तृट्—तथा प्यास; व्यथाम्—पीड़ा; सुख—सुख का; अपेक्षाम्—सारा विचार; हित्वा—ताक पर रखकर; तैः—उन; व्रज-वासिभिः—व्रजवासियों के द्वारा; वीक्ष्यमाणः—देखे जाकर; दधार—धारण किये रहे; अद्रिम्—पर्वत को; सप्त-अहम्—सात दिनों तक; न अचलत्—हिले-डुले नहीं; पदात्—उस स्थान से।

भूख तथा प्यास भूलकर और अपनी सारी व्यक्तिगत सुविधाओं को ताक पर रखकर भगवान् कृष्ण पर्वत को धारण किये हुए सात दिनों तक वहीं पर खड़े रहे और सारे व्रजवासी उन्हें निहारते रहे।

तात्पर्य : *विष्णु पुराण* के अनुसार—

व्रजैकवासिभिर्हर्ष विस्मिताक्षैर्निरीक्षित:

गोपगोपीजनैर्हृष्टै प्रीतिविस्फारितेक्षणै

संस्तूयमानचरित: कृष्ण: शैलमधारयत् ॥

“कृष्ण ने पर्वत को उठा लिया तो व्रजवासी उनकी प्रशंसा करने लगे। अब उन सबों को उनके साथ रहने का सुअवसर जो प्राप्त हुआ था और वे उन्हें प्रफुल्लित तथा चकित नेत्रों से निहार रहे थे। इस प्रकार सारे गोप तथा गोपियाँ प्रफुल्लित थे और स्नेहवश उन्होंने अपने नेत्रों को विस्फारित कर लिया।”

श्रीकृष्ण के सौन्दर्य तथा माधुर्य का निरन्तर अमृत-पान करते हुए व्रजवासियों को न तो भूख लगी,

न प्यास, न थकान। और कृष्ण भी उनके मनोहर रूपों को देख-देखकर खाना, पीना तथा सोना भूल गये। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इंगित करते हैं कि सांवर्तक मेघों से सात दिनों तक लगातार वर्षा होने पर भी मथुरा जनपद में बाढ़ नहीं आई क्योंकि भगवान् अपनी माया से भूमि में गिरते ही जल को सुखा देते थे। इस प्रकार कृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत का उठाया जाना मनोहारी विवरणों से भरा पड़ा है और हजारों वर्षों से सर्वाधिक प्रसिद्ध लीला बना रहा है।

कृष्णयोगानुभावं तं निशम्येन्द्रोऽतिविस्मितः ।
निस्तम्भो भ्रष्टसङ्कल्पः स्वान्मेघान्सन्न्यवारयत् ॥ २४॥

शब्दार्थ

कृष्ण—कृष्ण की; योग—योगशक्ति के; अनुभावम्—प्रभाव को; तम्—उस; निशम्य—देखकर; इन्द्रः—इन्द्र ने; अति-विस्मितः—अत्यन्त चकित; निस्तम्भः—मिथ्या गर्व के चूर होने से; भ्रष्ट—नष्ट; सङ्कल्पः—संकल्प वाला; स्वान्—अपने ही; मेघान्—मेघों को; सन्न्यवारयत्—रोक दिया।

जब इन्द्र ने कृष्ण की योगशक्ति के इस प्रदर्शन को देखा तो वह आश्चर्यचकित हो उठा। अपने मिथ्या गर्व के चूर होने से तथा अपने संकल्पों के नष्ट होने से उसने अपने बादलों को थम जाने का आदेश दिया।

खं व्यभ्रमुदितादित्यं वातवर्षं च दारुणम् ।
निशम्योपरतं गोपान्गोवर्धनधरोऽब्रवीत् ॥ २५॥

शब्दार्थ

खम्—आकाश को; वि-अभ्रम्—बादलों से रहित; उदित—उदय हुआ; आदित्यम्—सूर्य को; वात-वर्षम्—हवा तथा वर्षा को; च—तथा; दारुणम्—भयानक; निशम्य—देखकर; उपरतम्—बन्द किया हुआ; गोपान्—ग्वालों को; गोवर्धन-धरः—गोवर्धन पर्वत को उठाने वाला; अब्रवीत्—बोला।

यह देखकर कि अब भीषण हवा तथा वर्षा बन्द हो गई है, आकाश बादलों से रहित हो चुका है और सूर्य उदित हो आया है, गोवर्धनधारी कृष्ण ग्वाल समुदाय से इस प्रकार बोले।

निर्यात त्यजत त्रासं गोपाः सस्त्रीधनार्भकाः ।
उपारतं वातवर्षं व्युदप्रायाश्च निम्नगाः ॥ २६॥

शब्दार्थ

निर्यात—बाहर जाओ; त्यजत—छोड़ दो; त्रासम्—अपना भय; गोपाः—हे ग्वालो; स—सहित; स्त्री—अपनी स्त्रियों; धन—धन; अर्भकाः—तथा बालकों; उपारतम्—समाप्त हो गई; वात-वर्षम्—तेज हवा तथा वर्षा; वि-उद—जल से रहित; प्रायाः—लगभग; च—तथा; निम्नगाः—नदियाँ।

[भगवान् कृष्ण ने कहा]: हे गोपजनो, अब अपनी पत्नियों, बच्चों तथा सम्पदाओं समेत

बाहर निकल जाओ। अपना भय त्याग दो। तेज हवा तथा वर्षा रुक गई है और नदियों की बाढ़ का पानी उतर गया है।

ततस्ते निर्ययुर्गोपाः स्वं स्वमादाय गोधनम् ।
शकटोढोपकरणं स्त्रीबालस्थविराः शनैः ॥ २७॥

शब्दार्थ

ततः—तब; ते—वे; निर्ययुः—बाहर गये; गोपाः—गोपजन; स्वम् स्वम्—अपनी अपनी; आदाय—लेकर; गो-धनम्—अपनी गौवें; शकट—छकड़ों पर; ऊढ—लादकर; उपकरणम्—अपनी सामग्री; स्त्री—स्त्रियाँ; बाल—बालक; स्थविराः—तथा वृद्धजन; शनैः—धीरे धीरे।

अपनी अपनी गौवें समेट कर तथा अपनी सारी साज-सामग्री अपने छकड़ों में लाद कर सारे गोपजन बाहर चले आये। स्त्रियाँ, बच्चे तथा वृद्ध पुरुष धीरे धीरे उनके पीछे पीछे चल पड़े।

भगवानपि तं शैलं स्वस्थाने पूर्ववत्प्रभुः ।
पश्यतां सर्वभूतानां स्थापयामास लीलया ॥ २८॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; अपि—भी; तम्—उस; शैलम्—पर्वत को; स्व-स्थाने—उसके स्थान पर; पूर्व-वत्—पहले की तरह; प्रभुः—सर्वशक्तिमान; पश्यताम्—देखते ही देखते; सर्व-भूतानाम्—समस्त प्राणियों के; स्थापयाम् आस—उन्होंने रख दिया; लीलया—सरलतापूर्वक।

सारे प्राणियों के देखते देखते भगवान् ने पर्वत को उसके मूल स्थान में रख दिया जिस तरह कि वह पहले खड़ा था।

तं प्रेमवेगान्निर्भृता व्रजौकसो
यथा समीयुः परिरम्भणादिभिः ।
गोप्यश्च सस्नेहमपूजयन्मुदा
दध्यक्षताद्भिर्युयुजुः सदाशिषः ॥ २९॥

शब्दार्थ

तम्—उनको; प्रेम—अपने शुद्ध प्रेम के; वेगात्—वेग से; निर्भृताः—पूर्ण हुए; व्रज-ओकसः—व्रजवासी; यथा—अपने अपने पद के अनुसार; समीयुः—आगे आये; परिरम्भण-आदिभिः—आलिंगन आदि द्वारा; गोप्यः—गोपियाँ; च—तथा; स-स्नेहम्—स्नेहपूर्वक; अपूजयन्—आदर किया; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक; दधि—दही; अक्षत—समूचे चावल के दाने; अद्भिः—तथा जल से; युयुजुः—भेंट किया; सत्—उत्तम; आशिषः—आशीर्वाद।

वृन्दावन के सारे निवासी प्रेम से अभिभूत थे। उन्होंने आगे बढ़कर अपने अपने रिश्ते के अनुसार श्रीकृष्ण को बधाई दी—किसी ने उनको गले लगाया, तो कोई उनके समक्ष नतमस्तक हुआ इत्यादि-इत्यादि। गोपियों ने सम्मान के प्रतीकस्वरूप उन्हें दही तथा अक्षत, जौ मिलाया

हुआ जल अर्पित किया। उन्होंने कृष्ण पर आशीर्वादों की झड़ी लगा दी।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर विवेचना करते हुए लिखते हैं कि प्रत्येक वृन्दावनवासी कृष्ण को अपने-अपने ढंग से मानता था—कोई अपने को छोटा, कोई अपने को उनके समान तो कोई अपने को उनसे ज्येष्ठ मानता था और वे तदनुसार उनसे बर्ताव करते थे। कृष्ण से ज्येष्ठ लोगों ने उन्हें आशीर्वाद दिया, प्रेमपूर्वक उनके सिर को सूँघा, चूमा, उनके बाजुओं और उँगलियों को दबाया और स्नेहपूर्वक पूछा कि वे थके तो नहीं या कि उन्हें पीड़ा तो नहीं हुई। कृष्ण के समवयस्क उनके साथ हँसी-ठिठोली करने लगे और उनसे छोटे लोग उनके चरणों पर गिर पड़े और उनके पाँवों की मालिश करने लगे।

इस श्लोक में *च* शब्द बतलाता है कि गोपियों के साथ ब्राह्मणपत्नियों ने भी दही तथा अक्षत जैसी शुभ वस्तुएँ भेंट कीं। भगवान् कृष्ण को जो आशीर्वाद मिले वे इस प्रकार थे, "आप दुष्टों का दमन करें, भद्र लोगों की रक्षा करें, अपने माता-पिता को आनन्द प्रदान करें और धन तथा वैभव से समृद्ध हों।"

यशोदा रोहिणी नन्दो रामश्च बलिनां वरः ।
कृष्णमालिङ्ग्य युयुजुराशिषः स्नेहकातराः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यशोदा—माता यशोदा; रोहिणी—रोहिणी; नन्दः—नन्द महाराज; रामः—बलराम ने; च—भी; बलिनाम्—बलवानों में; वरः—सर्वश्रेष्ठ; कृष्णम्—कृष्ण को; आलिङ्ग्य—चूमते हुए; युयुजुः—प्रदान किया; आशिषः—आशीर्वाद; स्नेह—स्नेह से; कातराः—अभिभूत।

माता यशोदा, रोहिणी, नन्द महाराज तथा बलिष्टों में सर्वश्रेष्ठ बलराम ने कृष्ण को गले लगाया। स्नेहाभिभूत होकर उन सबों ने कृष्ण को अपने अपने आशीर्वाद दिये।

दिवि देवगणाः सिद्धाः साध्या गन्धर्वचारणाः ।
तुष्टुवुर्मुमुचुस्तुष्टाः पुष्पवर्षाणि पार्थिव ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

दिवि—स्वर्ग में; देव-गणाः—देवता लोग; सिद्धाः—सिद्धगण; साध्याः—साध्य जन; गन्धर्व-चारणाः—गन्धर्व तथा चारण जन; तुष्टुवुः—भगवान् की स्तुति की; मुमुचुः—विमोचन किया; तुष्टाः—तुष्ट हुए; पुष्प-वर्षाणि—फूलों की वर्षा; पार्थिव—हे राजा (परीक्षित)।

हे राजन्, स्वर्ग में सिद्धों, साध्यों, गन्धर्वों तथा चारणों समेत सारे देवताओं ने भगवान् कृष्ण

का यशोगान किया और अतीव संतोषपूर्वक उन पर फूलों की वर्षा की।

तात्पर्य : स्वर्ग में देवतागण उतने ही हर्षित थे जितना कि वृन्दावन के वासी। इस तरह महान् सार्वभौमिक उत्सव सम्पन्न हुआ।

शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्दिवि देवप्रचोदिताः ।
जगुर्गन्धर्वपतयस्तुम्बुरुप्रमुखा नृप ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

शङ्ख—शंख; दुन्दुभयः—तथा दुन्दुभियाँ; नेदुः—बज उठीं; दिवि—स्वर्ग लोक में; देव-प्रचोदिताः—देवताओं द्वारा बजाई गईं; जगुः—गाया; गन्धर्व-पतयः—गन्धर्वों के मुखियों ने; तुम्बुरु-प्रमुखाः—तम्बुरु इत्यादि; नृप—हे राजन्।

हे परीक्षित, देवताओं ने स्वर्ग में जोर-जोर से शंख तथा दुन्दुभियाँ बजाईं और तुम्बुरु इत्यादि श्रेष्ठ गन्धर्व गीत गाने लगे।

ततोऽनुरक्तैः पशुपैः परिश्रितो
राजन्स्वगोष्ठं सबलोऽव्रजद्धरिः ।
तथाविधान्यस्य कृतानि गोपिका
गायन्त्य ईयुर्मुदिता हृदिस्पृशः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; अनुरक्तैः—प्रेमी; पशु-पैः—ग्वालबालों द्वारा; परिश्रितः—घिरे हुए; राजन्—हे राजन्; स्व-गोष्ठम्—जहाँ अपनी गौवें चरा रहे थे उसी स्थान में; स-बलः—बलराम सहित; अव्रजत्—गये; हरिः—कृष्ण; तथा-विधानि—इस तरह का (पर्वत का उठाना); अस्य—उनके; कृतानि—कार्यकलाप; गोपिकाः—गोपिकाएँ; गायन्त्यः—गाती हुई; ईयुः—गईं; मुदिताः—प्रसन्नतापूर्वक; हृदि-स्पृशः—हृदय को स्पर्श करने वाले का।

अपने प्रेमी ग्वालमित्रों तथा भगवान् बलराम से घिरे कृष्ण उस स्थान पर गये जहाँ वे अपनी गौवें चरा रहे थे। अपने हृदयों को स्पर्श करने वाले श्रीकृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत के उठाये जाने तथा उनके द्वारा सम्पन्न किये गये यशस्वी कार्यों के विषय में सारी गोपियाँ प्रसन्नतापूर्वक गीत गाती अपने घरों को लौट गईं।

तात्पर्य : गोपियों ने अपने घरों को लौटने के पूर्व अपने प्रेमी श्रीकृष्ण से चुपके-चुपके आँखें चार कीं। सामान्यतया वे कृष्ण के विषय में खुलकर बातें नहीं कर सकती थीं क्योंकि वे धार्मिक गाँव की कुमारियाँ जो थीं। किन्तु अब उन्हें भगवान् द्वारा इस अद्भुत प्रदर्शन का अवसर प्राप्त हुआ तो उन्होंने मुक्त भाव से कृष्ण के मनोहारी का गायन किया। यह स्वाभाविक है कि एक नवयुवक किसी सुन्दर युवती के समक्ष अद्भुत कार्य करना चाहता है। गोपियाँ अतीव सुन्दर तथा शुद्ध हृदय वाली युवतियाँ

थीं और श्रीकृष्ण ने उनके समक्ष अत्यन्त अद्‌भुत कार्य सम्पन्न किए। फलस्वरूप वे उनके कोमल हृदयों में गहरे प्रवेश कर गये।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''कृष्ण द्वारा गोवर्धन-धारण'' नामक पच्चीसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छब्बीस

अद्‌भुत कृष्ण

इस अध्याय में नन्द महाराज गोपों से कृष्ण के ऐश्वर्य का वर्णन करते हैं जिसे उन्होंने गर्ग मुनि के मुख से सुना था।

भगवान् कृष्ण की शक्ति से अनजान होने के कारण गोपगण उनके विविध असामान्य कार्यों को देखकर चकित रह जाते थे। फलत: लोग नन्द महाराज के पास आते और उनसे कहते कि जिस तरह से उन्होंने सात वर्षीय कृष्ण को पर्वत उठाते तथा इससे पहले पूतना राक्षसी का वध करते देखा है उससे प्रत्येक वृन्दावनवासी के हृदय में उनके प्रति असीम आकर्षण उत्पन्न हो चुका है और उनको सन्देह होता है कि कृष्ण ने ग्वाल समुदाय के इस अनुपयुक्त वातावरण में कैसे जन्म लिया है। नन्द ने उन्हें कृष्ण के विषय में गर्ग मुनि द्वारा कही गई बात बतलाई।

गर्ग मुनि ने बतलाया था कि इससे पूर्व तीन युगों में नन्द का बालक श्वेत, लाल तथा पीत रूपों में प्रकट हो चुका है और अब द्वापर में उसने *कृष्ण रूप* (गहरा-नीला) धारण किया है। चूँकि वह वसुदेव के पुत्र के रूप में अवतरित हुआ है अतएव उसका एक नाम वासुदेव है और उसके नाना गुणों तथा कार्यों को बतलाने वाले उसके अन्य अनेक नाम हैं।

गर्ग मुनि ने भविष्यवाणी की थी कि कृष्ण गोकुल पर आने वाले सारे संकटों को रोकेंगे, असीम मंगल का प्रसार करेंगे और गोपों तथा गोपिकाओं के आनन्द को वर्धित करेंगे। विगत युग में उन्होंने निम्नजाति के डाकुओं द्वारा सताये गये सन्त ब्राह्मणों की रक्षा की थी। चूँकि जिस तरह उच्च लोकों के असुरगण उन देवताओं को कभी नहीं हरा सकते जिनकी ओर भगवान् विष्णु हों उसी तरह जो लोग

कृष्ण से प्रेम करते हैं उन्हें कोई भी शत्रु पराजित नहीं कर सकता। अपने भक्तों के प्रति अपने अनुराग तथा अपने ऐश्वर्य एवं शक्ति में कृष्ण साक्षात् नारायण के समान हैं।

गर्ग मुनि के कथन से अतीव हर्षित तथा आश्चर्य से स्तम्भित हुए ग्वालों ने यह निष्कर्ष निकाला कि हो न हो कृष्ण भगवान् नारायण के शक्त्वाष्टि प्रतिनिधि हैं। अत: उन्होंने कृष्ण तथा नन्द महाराज की पूजा की।

श्रीशुक उवाच
एवंविधानि कर्माणि गोपा: कृष्णस्य वीक्ष्य ते ।
अतद्वीर्यविद: प्रोचु: समभ्येत्य सुविस्मिता: ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्-विधानि—इस तरह के; कर्माणि—कार्यों को; गोपा:—ग्वाले; कृष्णस्य—कृष्ण के; वीक्ष्य—देखकर; ते—वे; अतत्-वीर्य-विद:—उनकी शक्ति को समझने में असमर्थ; प्रोचु:—बोले; समभ्येत्य—(नन्द महाराज के) पास जाकर; सु-विस्मिता:—अत्यन्त विस्मित होकर।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब गोपों ने गोवर्धन पर्वत उठाने जैसे कृष्ण के कार्यों को देखा तो वे विस्मित हो गये। उनकी दिव्य शक्ति को न समझ पाने के कारण वे नन्द महाराज के पास गये और इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है श्रीगोवर्धन पर्वत उठाने की लीला के समय ग्वालों ने भगवान् के कार्य की छानबीन किये बिना केवल आध्यात्मिक आनन्द लूटा। किन्तु बाद में जब वे अपने घर लौट आये तो उनके मन में चिन्ता उठने लगी। उन्होंने सोचा "अब तो हमने बालक कृष्ण को गोवर्धन पर्वत उठाते अपनी आँखों से देख लिया और हमें यह स्मरण है ही कि उसने किस तरह पूतना तथा अन्य असुरों को मारा, जंगल की आग बुझाई इत्यादि-इत्यादि। उस समय हमने सोचा था कि ये अद्वितीय कार्य ब्राह्मणों के आशीर्वाद या नन्द महाराज के सौभाग्य या शायद इस बालक पर नारायण की कृपा से उसे मिली शक्ति से सम्पन्न हुए होंगे।

किन्तु हमारी ये सारी कल्पनाएँ झूठी हैं क्योंकि एक सात साल का सामान्य बालक इस तरह पूरे सात दिनों तक पर्वतराज को उठाये नहीं रह सकता था। कृष्ण मानव नहीं है। वह अवश्य ही स्वयं भगवान् होगा।"

किन्तु दूसरी ओर जब हम कृष्ण को दुलारते हैं, तो उसे अच्छा लगता है और जब हम उसके

चाचा तथा शुभचिन्तक भोलेभाले ग्वाले उसकी ओर ध्यान नहीं देते तो वह खिन्न हो जाता है। वह भूखा-प्यासा होने लगता है, दूध तथा दही चुराता है, कभी शैतानी करता है, झूठ बोलता है, बालकों जैसी बातें करता है और बछड़े चराता है। यदि वह सचमुच भगवान् है, तो फिर ऐसी बातें क्यों करता है? तो क्या इससे यह सूचित नहीं होता कि वह एक सामान्य बालक है?''

''हम उसकी पहचान के बारे में सच्चाई जान पाने में असमर्थ हैं। अत: चलो, चलकर परम चतुर व्रजराज नन्द महाराज से पूछा जाय। वे ही हमारे संशयों को दूर करेंगे।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार ग्वालों ने संकल्प किया और वे नन्द महाराज के विशाल सभासदन में गये और उनसे अगले श्लोक में वर्णित प्रश्न किए।

बालकस्य यदेतानि कर्माण्यत्यद्भुतानि वै ।
कथमर्हत्यसौ जन्म ग्राम्येष्वात्मजुगुप्सितम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

बालकस्य—बालक के; यत्—क्योंकि; एतानि—इन; कर्माणि—कर्मों को; अति-अद्भुतानि—अत्यन्त अद्भुत; वै—निश्चय ही; कथम्—कैसे; अर्हति—चाहिए; असौ—वह; जन्म—जन्म; ग्राम्येषु—संसारी लोगों के बीच; आत्म—अपने लिए; जुगुप्सितम्—घृणित।

[ग्वालों ने कहा]: जब यह बालक ऐसे अद्भुत कार्य करता है, तो फिर किस तरह हम जैसे संसारी व्यक्तियों के बीच उसने जन्म लिया? ऐसा जन्म तो उसके लिए घृणित लगेगा।

तात्पर्य : सामान्य जीव अप्रिय परिस्थितियों से अपने को नहीं बचा सकता किन्तु परम नियन्ता हमेशा अपनी इच्छा के अनुसार पूर्ण व्यवस्था कर सकता है।

य: सप्तहायनो बाल: करेणैकेन लीलया ।
कथं बिभ्रद्गिरिवरं पुष्करं गजराडिव ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

य:—जो; सप्त-हायन:—सात वर्ष की आयु का; बाल:—बालक; करेण—हाथ से; एकेन—एक; लीलया—खेल खेल में; कथम्—कैसे; बिभ्रत्—उठाये रहा; गिरि-वरम्—पर्वतों में श्रेष्ठ, गोवर्धन को; पुष्करम्—कमल के फूल को; गज-राट्—बलशाली हाथी; इव—सदृश।

यह सात वर्ष का बालक किस तरह विशाल गोवर्धन पर्वत को खेल खेल में एक हाथ से उसी तरह उठाये रह सकता है, जिस तरह बलशाली हाथी कमल के फूल को उठा लेता है?

तोकेनामीलिताक्षेण पूतनाया महौजसः ।
पीतः स्तनः सह प्राणैः कालेनेव वयस्तनोः ॥ ४॥

शब्दार्थ

तोकेन—नन्हें बालक द्वारा; आ-मीलित—प्रायः बन्द; अक्षेण—आँखों से; पूतनायाः—पूतना डाइन का; महा-ओजसः—महान् पराक्रम वाली; पीतः—पिया हुआ; स्तनः—स्तन; सह—साथ; प्राणैः—प्राण वायु के; कालेन—काल की शक्ति से; इव—सदृश; वयः—आयु; तनोः—भौतिक शरीर का।

अभी इसने अपनी आँखें भी नहीं खोली थीं और निरा बच्चा ही था कि इसने बलशाली राक्षसी पूतना के स्तन का दूध पिया और उसी के साथ उसके प्राण चूस लिये जिस तरह काल की शक्ति मनुष्य के शरीर से यौवन को चूस लेती है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *वयः* शब्द यौवन या सामान्यतः आयु का सूचक है। काल अपनी अप्रतिहत शक्ति से हमारे प्राण को चूस लेता है और वह काल वास्तव में स्वयं भगवान् कृष्ण हैं। बलशाली राक्षसी पूतना के मामले में भगवान् कृष्ण ने काल विधि को तेज कर दिया और क्षण भर में उसकी आयु सोख ली। यहाँ पर ग्वालों के कहने का अर्थ है, कि "ऐसा बालक जिसने अभी आँखें भी नहीं खोली थीं वह किस तरह इतनी शक्तिशालिनी राक्षसी को मार सका।"

हिन्वतोऽधः शयानस्य मास्यस्य चरणावुदक् ।
अनोऽपतद्विपर्यस्तं रुदतः प्रपदाहतम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

हिन्वतः—हिलाते हुए; अधः—नीचे; शयानस्य—लेटे हुए; मास्यस्य—कुछ मास वाले बालक को; चरणौ—दो पाँव; उदक्—ऊपर की ओर; अनः—छकड़ा; अपतत्—गिर पड़ा; विपर्यस्तम्—उलटा हुआ; रुदतः—रोते हुए; प्रपद—अपने पाँव के अग्रभाग से; आहतम्—प्रताड़ित।

एक बार जब कृष्ण तीन मास के छोटे शिशु थे, तो रो रहे थे और एक बड़े से छकड़े के नीचे लेटे हुए अपने पाँवों को ऊपर चला रहे थे। तभी यह छकड़ा गिरा और उलट गया क्योंकि उन्होंने अपने पाँव के अँगूठे से उस पर प्रहार किया था।

एकहायन आसीनो ह्रियमाणो विहायसा ।
दैत्येन यस्तृणावर्तमहन्कण्ठग्रहातुरम् ॥ ६॥

शब्दार्थ

एक-हायनः—एकवर्षीय; आसीनः—बैठा हुआ; ह्रियमाणः—हरण किया गया; विहायसा—आकाश में; दैत्येन—असुर द्वारा; यः—जिसने; तृणावर्तम्—तृणावर्त को; अहन्—मारा; कण्ठ—गला; ग्रह—पकड़ा जाकर; आतुरम्—सताया गया।

एक वर्ष की आयु में, जब वे शान्तिपूर्वक बैठे थे तो तृणावर्त नामक असुर उन्हें आकाश में

उड़ा ले गया। किन्तु बालक कृष्ण ने उस असुर की गर्दन दबोच ली जिससे उसे महान् पीड़ा हुई और इस तरह उसे मार डाला।

तात्पर्य : कृष्ण को सामान्य बालक के रूप में स्नेह करने वाले ग्वाले ये सारे कार्य देखकर चकित थे। एक नवजात शिशु कहीं शक्तिशाली डाइन को मार सकता है? और यह किसी को विश्वास नहीं होगा कि एक वर्ष का बालक उस असुर को मार सकता है, जो उसका अपहरण करके आकाश में ले गया हो। किन्तु कृष्ण ने ये सारे अद्भुत कार्य किये। ये गोपगण कृष्ण के कार्यकलापों का स्मरण करके तथा उनकी चर्चा चलाकर उनके प्रति अपने प्रेम को वर्धित कर रहे थे।

क्वचिद्धैयङ्गवस्तैन्ये मात्रा बद्ध उदूखले ।
गच्छन्नर्जुनयोर्मध्ये बाहुभ्यां तावपातयत् ॥ ७॥

शब्दार्थ

क्वचित्—एक बार; हैयङ्गव—मक्खन; स्तैन्ये—चुराते हुए; मात्रा—अपनी माता द्वारा; बद्धः—बाँधे गये; उदूखले—ऊखल में; गच्छन्—जाते हुए; अर्जुनयोः—दो अर्जुन वृक्षों के; मध्ये—बीच में; बाहुभ्याम्—अपने हाथों से; तौ अपातयत्—दोनों को गिरा दिया, उखाड़ डाला।

एक बार उनकी माता ने उन्हें रस्सियों से एक ऊखल से बाँध दिया क्योंकि माता ने उन्हें मक्खन चुराते पकड़ लिया था। तब वे अपने हाथों के बल रेंगते हुए उस ऊखल को दो अर्जुन वृक्षों के बीच खींच ले गये और उन वृक्षों को उखाड़ डाला।

तात्पर्य : ये दोनों अर्जुन वृक्ष पुराने तथा मोटे थे और कृष्ण के आँगन के ऊपर उठे हुए थे। फिर भी इस नटखट बालक ने उन्हें आसानी से धराशायी कर दिया।

वने सञ्चारयन्वत्सान्सरामो बालकैर्वृतः ।
हन्तुकामं बकं दोर्भ्यां मुखतोऽरिमपाटयत् ॥ ८॥

शब्दार्थ

वने—जंगल में; सञ्चारयन्—चराते हुए; वत्सान्—बछड़ों को; सरामः—बलदेव के साथ; बालकैः—ग्वालबालों के द्वारा; वृतः—घिरा हुआ; हन्तु-कामम्—मार डालने की इच्छा से; बकम्—बकासुर; दोर्भ्याम्—अपनी बाँहों से; मुखतः—मुख से; अरिम्—शत्रु को; अपाटयत्—चीर डाला।

अन्य समय जब वे बलराम तथा ग्वालबालों के साथ वन में गौवें चरा रहे थे तो राक्षस बकासुर उनको मार डालने की मंशा से वहाँ आया। किन्तु कृष्ण ने इस शत्रु राक्षस का मुँह (चोंच) पकड़ लिया और उसको चीर डाला।

वत्सेषु वत्सरूपेण प्रविशन्तं जिघांसया ।
हत्वा न्यपातयत्तेन कपित्थानि च लीलया ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

वत्सेषु—बछड़ों के बीच; वत्स-रूपेण—अन्य बछड़े के रूप में प्रकट होकर; प्रविशन्तम्—घुसकर; जिघांसया—मार डालने की इच्छा से; हत्वा—मारकर; न्यपातयत्—गिरा दिया; तेन—उससे; कपित्थानि—कैथे के फल; च—तथा; लीलया—खेल खेल में।

कृष्ण को मार डालने की इच्छा से राक्षस वत्सासुर बछड़े का वेश बनाकर उनके बछड़ों के बीच घुस गया। किन्तु कृष्ण ने इस असुर को मार डाला और इसके शरीर से कैथे के वृक्षों से फल नीचे गिराने का खिलवाड़ किया।

हत्वा रासभदैतेयं तद्बन्धूंश्च बलान्वितः ।
चक्रे तालवनं क्षेमं परिपक्वफलान्वितम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

हत्वा—मारकर; रासभ—गधा के रूप में प्रकट हुए; दैतेयम्—दिति के वंशज को; तत्-बन्धून्—उस असुर के संगियों को; च—भी; बल-अन्वितः—बलराम के साथ; चक्रे—बनाया; ताल-वनम्—तालवन को; क्षेमम्—कल्याणप्रद, मंगलमय; परिपक्व—पके; फल—फलों से; अन्वितम्—पूर्ण।

भगवान् बलराम समेत कृष्ण ने राक्षस धेनुकासुर तथा उसके सभी साथियों का वध किया और इस तरह तालवन जंगल को, जो पके हुए ताड़ फलों से भरापुरा था, सुरक्षित बनाया।

तात्पर्य : बहुत समय पूर्व देवी दिति के गर्भ से हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष नामक शक्तिशाली असुर उत्पन्न हुए थे। इसीलिए असुरों को *दैतेय* या *दैत्य* कहा जाता है, जिसका अर्थ है दिति की संतानें। धेनुकासुर अर्थात् गर्दभासुर ने अपने मित्रों के साथ उसने तालवन में आतंक मचा रखा था किन्तु कृष्ण तथा बलराम ने उन सबों को मार डाला जिस तरह कि आधुनिक सरकारें निर्दोष जनता को तंग करने वाले आतंकवादियों का वध कर देती हैं।

प्रलम्बं घातयित्वोग्रं बलेन बलशालिना ।
अमोचयद्व्रजपशून्गोपांश्चारण्यवह्नितः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

प्रलम्बम्—प्रलम्बासुर को; घाययित्वा—मरवा डालने की व्यवस्था करके; उग्रम्—भीषण; बलेन—बलराम द्वारा; बल-शालिना—बलशाली; अमोचयत्—उबारा; व्रज-पशून्—व्रज के पशुओं को; गोपान्—ग्वालबालों को; च—तथा; आरण्य—जंगल की; वह्नितः—अग्नि से।

भीषण दैत्य प्रलम्बासुर को बलशाली भगवान् बलराम द्वारा मरवाकर कृष्ण ने व्रज के

ग्वालबालों तथा उनके पशुओं को दावानल (जंगल की आग) से बचाया।

आशीविषतमाहीन्द्रं दमित्वा विमदं ह्रदात् ।
प्रसह्योद्वास्य यमुनां चक्रेऽसौ निर्विषोदकाम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

आशी—उसके विषदन्तों का; विष-तम—सबसे शक्तिशाली विषैला; अहि—साँप के; इन्द्रम्—प्रधान को; दमित्वा—दमन करके; विमदम्—मद को चूर करके; ह्रदात्—सरोवर से; प्रसह्य—बलपूर्वक; उद्वास्य—भगाकर; यमुनाम्—यमुना नदी को; चक्रे—बनाया; असौ—इसी ने; निर्विष—विषरहित; उदकाम्—जल को।

कृष्ण ने अति विषैले नाग कालिय को दण्ड दिया और उसे विनीत बनाकर यमुना के सरोवर से बलपूर्वक निकाल बाहर किया। इस तरह भगवान् ने उस नदी के जल को साँप के प्रचण्ड विष से मुक्त बनाया।

दुस्त्यजश्चानुरागोऽस्मिन्सर्वेषां नो व्रजौकसाम् ।
नन्द ते तनयेऽस्मासु तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

दुस्त्यजः—त्याग पाना असम्भव; च—तथा; अनुरागः—प्रेम; अस्मिन्—उनके लिए; सर्वेषाम्—सब; नः—हम; व्रज-ओकसाम्—व्रजवासियों का; नन्द—प्रिय नन्द महाराज; ते—तुम्हारे; तनये—पुत्र के लिए; अस्मासु—हम सबों के प्रति; तस्य—उसका; अपि—भी; औत्पत्तिकः—स्वाभाविक; कथम्—किस तरह से।

हे नन्द महाराज, हम तथा व्रज के सारे वासी क्योंकर आपके पुत्र के प्रति अपना निरन्तर स्नेह त्याग नहीं पा रहे हैं? और वे हम लोगों के प्रति स्वतः इतना आकृष्ट क्योंकर हैं?

तात्पर्य : *कृष्ण* शब्द का अर्थ है "सर्वाकर्षक"। वृन्दावनवासी भगवान् कृष्ण के प्रति अपना अनुराग छोड़ नहीं पाये। उनके प्रति निवासियों की प्रवृत्ति विशेष रूप से आस्तिक न थी क्योंकि उन्हें विश्वास न था कि वे ईश्वर हैं अथवा नहीं। किन्तु वे उन सबों के प्रेम को आकृष्ट करते रहे क्योंकि ईश्वर होने के नाते वे सर्व सर्वाकर्षक हैं—हमारे प्रेम के परम केन्द्र।

ग्वालों ने यह भी पूछा, "बालक कृष्ण क्योंकर हम सबों से अनुराग रखता है?" वस्तुतः भगवान् सारे जीवों से प्रेम करते हैं क्योंकि वे उनकी नित्य सन्तानें हैं। *भगवद्गीता* के अन्त में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के प्रति अपने स्नेह की घोषणा नाटकीय ढंग से करते हुए अर्जुन से आग्रह किया कि वह भी उनकी शरण में आकर प्रेम का प्रतिदान करे। श्री चैतन्य महाप्रभु कृष्ण की स्तुति करते हुए कहते हैं, "हे प्रभु! आप मुझपर इतने दयालु हैं किन्तु मैं इतना अभागा हूँ कि मेरे अन्तर में आपके प्रति प्रेम जगा

ही नहीं।'' (शिक्षाष्टक २) इसी स्तुति में चैतन्य महाप्रभु *अनुराग* शब्द का प्रयोग करते हैं। हमारा दुर्भाग्य यह है कि भगवान् हमारे लिए जैसे अनुराग का अनुभव करते हैं उसका हम प्रतिदान नहीं कर पाते। यद्यपि हम सूक्ष्म तथा नगण्य हैं और भगवान् अनन्त आकर्षक हैं किन्तु किन्हीं कारणों से हम उन्हें अपना प्रेम नहीं दे पाते। हमें इस मूर्खता का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना चाहिए क्योंकि ईश्वर की शरण में जाना या न जाना हमारी स्वच्छन्दता की अनिवार्य अभिव्यक्ति है।

कृष्णभावनामृत आन्दोलन बद्धजीवों को अपनी मूल आनन्दमय चेतना को, जो कि भगवत्प्रेम या कृष्णभावनामृत है, जाग्रत करने का सक्षम, क्रमबद्ध कार्यक्रम प्रस्तुत करता है। कृष्णभावनामृत की जटिलताएँ इतनी अद्भुत हैं कि कृष्ण के नित्यसंगी वृन्दावनवासी तक उनसे चकित हो जाते हैं जैसाकि इन श्लोकों में दर्शाया गया है।

क्व सप्तहायनो बालः क्व महाद्रिविधारणम् ।
ततो नो जायते शङ्का व्रजनाथ तवात्मजे ॥ १४॥

शब्दार्थ

क्व—कहाँ तो; सप्त-हायनः—सप्तवर्षीय; बालः—यह बालक; क्व—कहाँ; महा-अद्रि—विशाल पर्वत का; विधारणम्—उठाया जाना; ततः—इस प्रकार; नः—हमारे लिए; जायते—उत्पन्न करता है; शङ्का—सन्देह; व्रज-नाथ—हे व्रज के स्वामी; तव—तुम्हारे; आत्मजे—पुत्र के विषय में।

कहाँ तो यह सात वर्ष का बालक और कहाँ उसके द्वारा विशाल गोवर्धन पर्वत का उठाया जाना, अतएव, हे व्रजराज, हमारे मन में आपके पुत्र के विषय में शंका उत्पन्न हो रही है।

श्रीनन्द उवाच
श्रूयतां मे वचो गोपा व्येतु शङ्का च वोऽर्भके ।
एनम्कुमारमुद्दिश्य गर्गो मे यदुवाच ह ॥ १५॥

शब्दार्थ

श्री-नन्दः उवाच—श्रीनन्द महाराज ने कहा; श्रूयताम्—सुनो; मे—मेरे; वचः—शब्द; गोपाः—हे ग्वालो; व्येतु—दूर करो; शङ्का—सन्देह; च—तथा; वः—अपनी; अर्भके—बालक के विषय में; एनम्—इस; कुमारम्—बालक को; उद्दिश्य—दिखलाते हुए; गर्गः—गर्ग मुनि ने; मे—मुझसे; यत्—जो; उवाच—कहा; ह—था।

नन्द महाराज ने उत्तर दिया: हे ग्वालो, जरा मेरी बातें सुनो और मेरे पुत्र के विषय में जो अपनी शंकाएँ हों उन्हें दूर कर दो। कुछ समय पहले गर्ग मुनि ने इस बालक के विषय में मुझसे इस प्रकार कहा था।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी की टीका है गर्गाचार्य से पूर्वकाल में सुने गये शब्दों से नन्द महाराज

में कृष्ण के विषय में सचाई का उदय हुआ और कृष्ण के सारे कार्यकलापों का निरन्तर स्मरण करने से नन्द के वे सारे विचार छूमन्तर हो गये कि ऐसे कार्य असम्भव हैं। अब वे ग्वालों को उन्हीं शब्दों से शिक्षा दे रहे हैं।

वर्णास्त्रयः किलास्यासन्गृह्णतोऽनुयुगं तनूः ।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥ १६॥

शब्दार्थ

वर्णाः त्रयः—तीन रंग; किल—निस्सन्देह; अस्य—तुम्हारे पुत्र कृष्ण के; आसन्—थे; गृह्णतः—ग्रहण किये गये; अनु-युगम् तनूः—विभिन्न युगों के अनुसार दिव्य शरीर; शुक्लः—कभी श्वेत; रक्तः—कभी लाल; तथा—और; पीतः—कभी पीला; इदानीम् कृष्णताम् गतः—सम्प्रति उसने श्याम वर्ण धारण किया है।

[गर्ग मुनि ने कहा था]: आपका पुत्र कृष्ण हर युग में अवतार के रूप में प्रकट होता है। भूतकाल में उसने तीन रंग—श्वेत, लाल तथा पीला धारण किये थे और अब वह श्यामवर्ण में प्रकट हुआ है।

तात्पर्य : यह तथा इसके आगे के छः श्लोक (१७ से २२ तक) इसी स्कन्ध के आठवें अध्याय से लिये गये हैं जिनमें गर्ग मुनि नन्द महाराज को नन्द-पुत्र कृष्ण के विषय में समझाते हैं। जो अनुवाद यहाँ पर दिये गये हैं, वे श्रील ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद द्वारा दिये गये अर्थ पर आधारित हैं। अध्याय आठ में जहाँ ये श्लोक मूल रूप में दिए गए हैं श्रील प्रभुपाद द्वारा लिखित विस्तृत तात्पर्य मिलेंगे।

प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः ।
वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥ १७॥

शब्दार्थ

प्राक्—पहले; अयम्—यह बालक; वसुदेवस्य—वसुदेव का; क्वचित्—कभी; जातः—उत्पन्न हुआ था; तव—तुम्हारा; आत्मजः—बालक के रूप में जन्मा कृष्ण; वासुदेवः—अतः उसका नाम वासुदेव रखा जा सकता है; इति—इस प्रकार; श्रीमान्—अत्यन्त सुन्दर; अभिज्ञाः—विद्वज्जन; सम्प्रचक्षते—यह कहते हैं कृष्ण ही वासुदेव हैं।

अनेक कारणों से आपका यह सुन्दर पुत्र कभी वसुदेव के पुत्र रूप में प्रकट हो चुका है। अतएव विद्वज्जन कभी कभी इस बालक को वासुदेव कहते हैं।

बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते ।
गुण कर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः ॥ १८॥

शब्दार्थ

बहूनि—विविध; सन्ति—हैं; नामानि—नाम; रूपाणि—स्वरूप; च—कभी; सुतस्य—पुत्र के; ते—तुम्हारे; गुण-कर्म-अनुरूपाणि—अपने गुणों तथा कर्मों के अनुसार; तानि—उन्हें; अहम्—मैं; वेद—जानता हूँ; न उ जनाः—सामान्य पुरुष नहीं।

तुम्हारे इस पुत्र के अपने दिव्य गुणों तथा कर्मों के अनुसार अनेक रूप तथा नाम हैं। मैं उन्हें जानता हूँ किन्तु सामान्य जन उन्हें नहीं समझते।

एष वः श्रेय आधास्यद्गोपगोकुलनन्दनः ।
अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह बालक; वः—तुम सबों के लिए; श्रेयः आधास्यत्—कल्याण करने वाला होगा; गोप-गोकुल-नन्दनः—मानों गोकुल के पुत्र के रूप में ग्वालों के परिवार में उत्पन्न ग्वालबाल हो; अनेन—इसके द्वारा; सर्व-दुर्गाणि—सभी प्रकार के कष्टों को; यूयम्—तुम सभी; अञ्जः—सरलता से; तरिष्यथ—तर सकोगे।

गोकुल के ग्वालों के दिव्य आनन्द में वृद्धि करने के लिए यह बालक सदैव तुम सबका कल्याण करेगा। और उसकी कृपा से ही तुम लोग सारे कष्टों को पार कर सकोगे।

पुरानेन व्रजपते साधवो दस्युपीडिताः ।
अराजके रक्ष्यमाणा जिग्युर्दस्यून्समेधिताः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

पुरा—प्राचीन काल में; अनेन—कृष्ण द्वारा; व्रज-पते—हे व्रजराज; साधवः—ईमानदार लोग; दस्यु-पीडिताः—चोर-उचक्कों द्वारा पीड़ित किये जाकर; अराजके—अनियमित सरकार के होते हुए; रक्ष्यमाणाः—रक्षा किये जाते थे; जिग्युः—जीत लिया; दस्यून्—चोर-उचक्कों को; समेधिताः—फलते-फूलते।

हे नन्द महाराज, इतिहास में यह अंकित है कि जब अनियमित तथा अक्षम सरकार थी, जब इन्द्र को सिंहासन से उतार दिया गया था और जब ईमानदार लोग चोरों द्वारा सताये जा रहे थे तो यह बालक उचक्कों का दमन करने तथा लोगों की रक्षा करने और उन्हें फलने-फूलने योग्य बनाने के लिए प्रकट हुआ था।

य एतस्मिन्महाभागे प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः ।
नारयोऽभिभवन्त्येतान्विष्णुपक्षानिवासुराः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ये—जो व्यक्ति; एतस्मिन्—इस बालक को; महा-भागे—परम भाग्यशाली; प्रीतिम्—स्नेह; कुर्वन्ति—करते हैं; मानवाः—ऐसे मनुष्य; न—नहीं; अरयः—शत्रुगण; अभिभवन्ति—पराजित करते हैं; एतान्—कृष्ण से अनुराग करने वाले; विष्णु-पक्षान्—जिनके पक्ष में सदैव विष्णु रहते हैं उन देवताओं को; इव—सदृश; असुराः—असुरगण।

असुरगण देवताओं को हानि नहीं पहुँचा सकते क्योंकि भगवान् विष्णु सदैव उनके पक्ष में

रहते हैं। इसी प्रकार सर्वमंगलमय कृष्ण से अनुरक्त कोई भी व्यक्ति या समूह शत्रुओं द्वारा पराजित नहीं किया जा सकता।

तात्पर्य : इस सम्बन्ध में श्रील प्रभुपाद ने विशेष रूप से संकेत किया है कि जिस प्रकार भगवान् कृष्ण के संगी कंस द्वारा पराजित नहीं किये जा सके उसी तरह उनके आज के भक्तगण अपने आसुरी प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा पराजित नहीं किये जा सकेंगे। न ही भगवान् के भक्तगण आन्तरिक शत्रुओं से यथा वासनामय भौतिकतावादी इन्द्रियों द्वारा पराजित हो सकेंगे।

तस्मान्नन्द कुमारोऽयं नारायणसमो गुणैः ।
श्रिया कीर्त्यानुभावेन तत्कर्मसु न विस्मयः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; नन्द—हे नन्द महाराज; कुमारः—बालक; अयम्—यह; नारायण-समः—नारायण के समान; गुणैः—अपने गुणों से; श्रिया—अपने ऐश्वर्य से; कीर्त्या—विशेषतया अपने नाम तथा यश से; अनुभावेन—तथा अपने प्रभाव से; तत्—उसके; कर्मसु—कर्मों के सम्बन्ध में; न—नहीं है; विस्मयः—आश्चर्य।

अतएव हे नन्द महाराज, आपका यह बालक नारायण सरीखा है। यह अपने दिव्य गुण, ऐश्वर्य, नाम, यश तथा प्रभाव में बिल्कुल नारायण जैसा ही है। अतः इसके कार्यों से आपको चकित नहीं होना चाहिए।

तात्पर्य : यहाँ पर नन्द ग्वालों से गर्ग मुनि द्वारा बताई गई अन्तिम बातें सूचित कर रहे हैं, जो कृष्ण के गुप्त जन्मोत्सव के समय उन्होंने कही थीं।

इत्यद्धा मां समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते ।
मन्ये नारायणस्यांशं कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार कह कर; अद्धा—प्रत्यक्ष; माम्—मुझको; समादिश्य—आदेश देकर; गर्गे—गर्गाचार्य; च—तथा; स्व-गृहम्—अपने घर; गते—चले गये; मन्ये—मैं विचार करता हूँ; नारायणस्य—भगवान् नारायण का; अंशम्—शक्त्याविष्ट अंश; कृष्णम्—कृष्ण को; अक्लिष्ट-कारिणम्—हमें क्लेश से मुक्त रखने वाले।

[नन्द महाराज ने कहा]: जब गर्ग ऋषि ये शब्द कहकर अपने घर चले गये तो मैं विचार करने लगा कि जो कृष्ण हमें क्लेश से दूर रखता है, वह वास्तव में भगवान् नारायण का अंश है।

इति नन्दवचः श्रुत्वा गर्गगीतं तं व्रजौकसः ।
मुदिता नन्दमानर्चुः कृष्णं च गतविस्मयाः ॥ २४॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; नन्द-वचः—नन्द महाराज के शब्द को; श्रुत्वा—सुनकर; गर्ग-गीतम्—गर्गऋषि के कथन को; व्रज-ओकसः—व्रजवासी; मुदिताः—प्रसन्न; नन्दम्—नन्द महाराज को; आनर्चुः—सम्मानित किया; कृष्णम्—कृष्ण को; च—तथा; गत—दूर हो गया; विस्मयाः—उनका विस्मय।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा]: नन्द महाराज द्वारा कहे गए गर्ग मुनि के कथन को सुनकर वृन्दावन के वासी परम प्रमुदित हुए। उनका विस्मय जाता रहा और उन्होंने आदरपूर्वक नन्द तथा भगवान् कृष्ण की पूजा की।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि इस श्लोक का *आनर्चुः* शब्द सूचित करता है कि वृन्दावनवासियों ने अपने घर से लाई हुई सुगन्धि, मालाएँ तथा वस्त्रों की भेंटों से नन्द तथा कृष्ण को सम्मानित किया। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि वृन्दावनवासियों ने नन्द तथा कृष्ण को रत्नों तथा स्वर्णमुद्राओं की प्रेम-भेंट देकर सम्मानित किया। स्पष्ट है कि जब यह वार्ता हो रही थी तो कृष्ण जंगल में क्रीड़ा कर रहे थे अतएव जब वे घर लौटे तो वृन्दावनवासियों ने उन्हें सुन्दर पीत वस्त्रों, गले की मालालों, बाजूबंदों, कुण्डलों तथा मुकुटों से अलंकृत किया और "वृन्दावनरत्न की जय हो" के नारे लगाकर उन्हें प्रोत्साहित किया।

देवे वर्षति यज्ञविप्लवरुषा वज्रास्मवर्षानिलैः
सीदत्पालपशुस्त्रियात्मशरणं दृष्ट्वानुकम्प्युत्स्मयन् ।
उत्पाट्यैककरेण शैलमबलो लीलोच्छिलीन्ध्रं यथा
बिभ्रद्गोष्ठमपान्महेन्द्रमदभित्प्रीयान्न इन्द्रो गवाम् ॥ २५॥

शब्दार्थ

देवे—जब इन्द्रदेव ने; वर्षति—वर्षा कराई; यज्ञ—अपने यज्ञ के; विप्लव—उत्पात के कारण; रुषा—क्रोधवश; वज्र—वज्र से; अश्म-वर्ष—उपल; अनिलैः—तथा वायु से; सीदत्—कष्ट उठाते हुए; पाल—ग्वाले; पशु—पशु; स्त्रि—तथा स्त्रियाँ; आत्म—स्वयं; शरणम्—एकमात्र आश्रय; दृष्ट्वा—देखकर; अनुकम्पी—अत्यन्त दयालु; उत्स्मयन्—हँसते हुए; उत्पाट्य—उखाड़ कर; एक-करेण—एक हाथ से; शैलम्—पर्वत, गोवर्धन को; अबलः—छोटा बालक; लीला—खेल में; उच्छिलीन्ध्रम्—कुकुरमुत्ता को; यथा—जिस प्रकार; बिभ्रत्—पकड़ लिया; गोष्ठम्—गोपजाति को; अपात्—बचाया; महा-इन्द्र—इन्द्र का; मद—गर्व को; भित्—नाश करने वाला; प्रीयात्—प्रसन्न हो जाय; नः—हमपर; इन्द्रः—स्वामी; गवाम्—गौवों का।

अपना यज्ञ भंग किये जाने पर इन्द्र क्रोधित हुआ और उसने गोकुल पर वर्षा की तथा वज्रपात और तेज हवा के साथ साथ ओले गिराये जिनसे गौवों, पशुओं तथा स्त्रियों को अतीव कष्ट हुआ। जब दयालु प्रकृति वाले भगवान् कृष्ण ने उन सबों की यह दशा देखी जिनके उन्हें

छोड़कर कोई दूसरी शरण नहीं थी तो वे मन्द-मन्द हँसने लगे और एक हाथ से उन्होंने गोवर्धन पर्वत को उठा लिया जिस तरह कोई छोटा सा बालक खेलने के लिए कुकुरमुत्ते को उखाड़ लेता है। इस तरह से उन्होंने ग्वाल-समुदाय की रक्षा की। गौवों के स्वामी तथा इन्द्र के मिथ्या गर्व को खंडित करने वाले वे ही गोविन्द हम सबों पर प्रसन्न हों।

तात्पर्य : इन्द्र शब्द का अर्थ ''स्वामी'' या ''राजा'' है। इस तरह इस श्लोक में कृष्ण को *इन्द्र गवाम्* ''गौवों का स्वामी'' कहा गया है। वस्तुत: वे ही हर एक के असली इन्द्र, असली शासक हैं और सारे देवता उनकी परम इच्छा का प्रतिनिधित्व करने वाले उनके सेवक मात्र हैं।

इस अध्याय के उक्त तथा पिछले श्लोकों से आभास होता है कि कृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत उठाये जाने का वृन्दावन के भोलेभाले ग्वालों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा और वे बारम्बार इस कौशल का स्मरण करने लगे। निश्चय ही जो भी व्यक्ति बाल कृष्ण के कार्यकलापों पर गम्भीरतापूर्वक तथा सोद्देश्य विचार करता है, वह उनकी शरण में जाकर उनका नित्य भक्त बन जाता है। इस अध्याय के पढ़ने के बाद यही निष्कर्ष निकालना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''अद्भुत कृष्ण'' नामक छब्बीसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सत्ताईस

इन्द्रदेव तथा माता सुरभि द्वारा स्तुति

इस अध्याय में यह वर्णन हुआ है कि किस तरह सुरभि गाय तथा इन्द्र ने कृष्ण की अद्भुत शक्ति देखकर उनका अभिषेक किया।

भीषण तूफान से वृन्दावन पर आक्रमण करने से लज्जित इन्द्र छिपकर भगवान् कृष्ण के पास आया, उन्हें नमस्कार किया और उनकी प्रशंसा की। इन्द्र ने कहा कि कृष्ण कभी भी अज्ञानजनित भौतिक मोह की भँवर में नहीं पड़ते फिर भी वे मनुष्य जैसा शरीर धारण करके धर्म की स्थापना करने तथा दुष्टों को दण्ड देने के लिए विविध लीलाएँ करते हैं। इस तरह वे उन लोगों का मिथ्या दर्प चूर करते हैं, जो अपने को परम नियन्ता मानते हैं। इन्द्र ने यहाँ तक कह डाला कि कृष्ण समस्त जीवों के

पिता, गुरु तथा स्वामी हैं और काल रूप में वे उन्हें दण्ड देने वाले हैं।

इन्द्र की स्तुतियों से प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण ने इन्द्र को बतलाया कि उन्होंने *इन्द्र यज्ञ* इसलिए बन्द कराया जिससे मिथ्या अभिमान से गर्वित वह भगवान् को याद रखे। भौतिक ऐश्वर्य के मद में चूर व्यक्तियों को अपने समक्ष भगवान् अपने हाथ में दण्ड धारण किये खड़े हुए नहीं दिखते। इसलिए जब भगवान् कृष्ण किसी व्यक्ति का वास्तविक भला चाहते हैं, तो वे उसके ऐश्वर्य-पद से उसे नीचे ला देते हैं।

भगवान् कृष्ण ने इन्द्र को आदेश दिया कि वह स्वर्ग में अपने उपयुक्त पद पर लौट जाय और बिना अहंभाव के वहाँ सेवा करे। तत्पश्चात् इन्द्र ने सुरभि गाय के साथ भगवान् कृष्ण का अभिषेक सम्पन्न किया जिसके लिए स्वर्ग की गंगा का जल तथा माता सुरभि का दूध प्रयुक्त किया गया। इस अवसर का लाभ उठा कर इन्द्र तथा गाय ने भगवान् का नाम गोविन्द रखा और देवताओं ने पुष्प बरसाये तथा विविध स्तुतियाँ सुनाईं।

श्रीशुक उवाच
गोवर्धने धृते शैले आसाराद्रक्षिते व्रजे ।
गोलोकादाव्रजत्कृष्णं सुरभिः शक्र एव च ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; गोवर्धने—गोवर्धन को; धृते—धारण करने के बाद; शैले—पर्वत; आसारात्—मूसलाधार वर्षा से; रक्षिते—रक्षित हो जाने पर; व्रजे—व्रज में; गो-लोकात्—गो-लोक से; आव्रजत्—आई; कृष्णम्—कृष्ण के पास; सुरभिः—माता सुरभि; शक्रः—इन्द्र; एव—भी; च—तथा।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : कृष्ण के गोवर्धन पर्वत उठाने तथा भयंकर वर्षा से व्रजवासियों की रक्षा करने के बाद गौवों की माता सुरभि गो-लोक से कृष्ण का दर्शन करने आईं। उनके साथ इन्द्र था।

तात्पर्य : *गोलोकात्* शब्द सूचित करता है "गोलोक नामक भौतिक लोक" जो अद्वितीय गौवों से भरापुरा है। सुरभि तो प्रसन्नतापूर्वक कृष्ण का दर्शन करने गई थी किन्तु इन्द्र डरते-डरते गया था। जैसाकि इस श्लोक से इंगित होता है अपने वृन्दावनसंगियों को इन्द्र के अपमानजनक आक्रमण से बचाने के लिए कृष्ण को असामान्य युक्तियों का सहारा लेना पड़ा था। इन्द्र निश्चित रूप से लज्जित था और अपने भविष्य के प्रति हताश भी था। उसने अनुचित कर्म किया था इसलिए वह डरते हुए ब्रह्मा

की शरण में गया था जिन्होंने उसे आदेश दिया था कि वह अपने साथ भौतिक गोलोक से सुरभि को ले करके कृष्ण का दर्शन करने जाय।

विविक्त उपसङ्गम्य व्रीडीतः कृतहेलनः ।
पस्पर्श पादयोरेनं किरीटेनार्कवर्चसा ॥ २॥

शब्दार्थ

विविक्ते—एकान्त स्थान में; उपसङ्गम्य—जाकर; व्रीडितः—लज्जित; कृत-हेलनः—अपराध किये जाने से; पस्पर्श—उसने स्पर्श किया; पादयोः—दोनों पैरों का; एनम्—उनको; किरीटेन—अपने मुकुट से; अर्क—सूर्य के समान; वर्चसा—तेज वाला।

भगवान् का अपमान करने के कारण इन्द्र अत्यन्त लज्जित था। एकान्त स्थान में उनके पास जाकर इन्द्र उनके चरणों पर गिर पड़ा और सूर्य के समान तेज वाले मुकुट को भगवान् के चरणकमलों पर रख दिया।

तात्पर्य : वह एकान्त स्थान जहाँ इन्द्र कृष्ण के पास पहुँचा था उसका उल्लेख श्रीवैशम्पायन मुनि ने *हरिवंश* (विष्णु पर्व १९.३) में किया है—*स ददर्शोपविष्टं वै गोवर्धन शिलातले*—उसने उन्हें (कृष्ण को) गोवर्धन पर्वत की तलहटी पर बैठे देखा।

आचार्यों की टीकाओं से हम समझ जाते हैं कि भगवान् कृष्ण इन्द्र को मिलने के लिए एकान्त स्थान प्रदान करना चाह रहे थे जिससे वह और आगे अपमानित न हो। इन्द्र आत्मसमर्पण करने और क्षमा-याचना करने आया था अतः भगवान् ने उसे एकान्त में ऐसा करने की अनुमति दे दी।

दृष्टश्रुतानुभावोऽस्य कृष्णस्यामिततेजसः ।
नष्टत्रिलोकेशमद इदमाह कृताञ्जलिः ॥ ३॥

शब्दार्थ

दृष्ट—देखा हुआ; श्रुत—सुना हुआ; अनुभावः—शक्ति; अस्य—इस; कृष्णस्य—भगवान् कृष्ण की; अमित—अपार; तेजसः—जिसकी शक्ति; नष्ट—नष्ट; त्रि-लोक—तीनों जगतों का; ईश—स्वामी होने का; मदः—नशा; इदम्—ये शब्द; आह—कहे; कृत-अञ्जलिः—याचना में अपने हाथ जोड़े।

अब तक इन्द्र सर्वशक्तिमान कृष्ण की दिव्य शक्ति को सुन तथा देख चुका था और इस तरह तीनों जगतों के स्वामी होने का उसका मिथ्या गर्व चूर हो चुका था। याचना के लिए दोनों हाथ जोड़कर उसने भगवान् को इस प्रकार सम्बोधित किया।

इन्द्र उवाच

विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तं
तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम् ।
मायामयोऽयं गुणसम्प्रवाहो
न विद्यते ते ग्रहणानुबन्धः ॥ ४॥

शब्दार्थ

इन्द्रः उवाच—इन्द्र ने कहा; विशुद्ध-सत्त्वम्—दिव्य सतोगुण दिखाने वाला; तव—तुम्हारा; धाम—स्वरूप; शान्तम्—अपरिवर्तनीय; तपः-मयम्—ज्ञान से पूर्ण; ध्वस्त—विनष्ट; रजः—रजोगुण; तमस्कम्—तथा तमोगुण को; माया-मयः—माया पर आधारित; अयम्—यह; गुण—भौतिक प्रकृति के गुणों की; सम्प्रवाहः—धारा; न विद्यते—उपस्थित नहीं है; ते—तुम्हारे भीतर; अग्रहण-इग्नोरन्चे; अनुबन्धः-व्हिछ् इस् दुए तो.

राजा इन्द्र ने कहा : आपका दिव्य रूप शुद्ध सतोगुण का प्राकट्य है, यह परिवर्तन से विचलित नहीं होता, ज्ञान से चमकता रहता है और रजो तथा तमोगुणों से रहित है। आपके भीतर माया तथा अज्ञान पर आश्रित भौतिक गुणों का प्रबल प्रवाह नहीं पाया जाता।

तात्पर्य : *भागवत* के महान् टीकाकार श्रील श्रीधर स्वामी ने इस गूढ़ श्लोक की विवेचना बड़ी ही विद्वत्ता के साथ की है।

संस्कृत शब्द *धाम* के कई अर्थ होते हैं—(अ) रहने का स्थान, घर, निवास इत्यादि (आ) कोई प्रिय वस्तु या व्यक्ति, हर्ष, या आनन्द (इ) स्वरूप (ई) शक्ति, बल, यश, वैभव, प्रकाश।

जहाँ तक (अ) के अन्तर्गत दिये गये अर्थों का सम्बन्ध है—*वेदान्त सूत्र* का कथन है कि परम सत्य समस्त जगत का उद्‌गम एवं आश्रय है और *भागवत* के पहले श्लोक में कृष्ण को परम सत्य कहा गया है। यद्यपि भगवान् कृष्ण अपने *धाम* या आवास में, जिसे कृष्ण-लोक कहते हैं, निवास करते हैं किन्तु वे स्वयं समस्त जगत के धाम हैं जैसाकि अर्जुन ने *भगवद्‌गीता* में पुष्टि की है जहाँ वे कृष्ण को *परंधाम* कहकर सम्बोधित करते हैं।

कृष्ण नाम ही सर्व-आकर्षक व्यक्ति का द्योतक है, अतः भगवान् कृष्ण जो समस्त सौन्दर्य तथा आनन्द के स्रोत हैं अवश्य ही "प्रिय वस्तु, व्यक्ति, हर्ष, आनन्द" हैं। और: ये सारे शब्द अन्ततः कृष्ण के ही सूचक हैं।

धाम स्वरूप का भी द्योतक है और जब इन्द्र ने यह स्तुति की तो वह अपने समक्ष कृष्ण के स्वरूप को प्रत्यक्ष देख रहा था।

जैसाकि वैदिक वाङ्मय में स्पष्ट तौर पर बतलाया गया है भगवान् कृष्ण की शक्ति, बल, यश, वैभव आदि उनके दिव्य शरीर में निहित होते हैं अतएव वे भगवान् के अनन्त यश की पुष्टि करते हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी ने *धाम* के इन सारे अर्थों को बड़ी सुन्दरता से संक्षिप्त तौर पर संस्कृत शब्द *स्वरूप* का पर्याय माना है। *स्वरूप* का अर्थ है ''अपना रूप'' या ''अपनी निजी दशा, या प्रकृति।'' चूँकि शुद्ध आत्मा होने के कारण भगवान् कृष्ण अपने शरीर से अभिन्न हैं अतएव भगवान् तथा उनके दृश्य रूप में कोई भी अन्तर नहीं है। इसके विपरीत हम बद्धजीव इस भौतिक जगत में अपने शरीर से बिल्कुल भिन्न होते हैं चाहे नर का शरीर हो या नारी का, चाहे वह काला हो या गोरा। हम सभी अपने नाशवान घृणित शरीरों से पृथक् नित्य आत्माएँ हैं।

जब *स्वरूप* शब्द हम पर लागू किया जाता है, तो यह विशेष रूप से हमारे आध्यात्मिक स्वरूप का द्योतन करता है क्योंकि हमारा ''अपना रूप'' वस्तुत: हमारी ''अपनी दशा या प्रकृति'' होता है। अत: वह मुक्त अवस्था जिसमें मनुष्य का बाह्यरूप उसकी गहनतम आध्यात्मिक प्रकृति होता है *स्वरूप* कहलाता है। किन्तु मूलत: यह शब्द भगवान् श्रीकृष्ण का द्योतक है। यह इस श्लोक के *तव धाम* से स्पष्ट है, जिसकी व्याख्या श्रीधर स्वामी ने की है।

श्रीधर स्वामी ने यहाँ पर *शान्तम्* शब्द का अर्थ ''सदैव एक ही रूप में'' बतलाया है। *शान्तम्* का अर्थ ''अविचलित, काम से मुक्त या शुद्ध'' भी हो सकता है। वैदिक दर्शन के अनुसार इस जगत के सारे परिवर्तन रजो तथा तमोगुण से उत्पन्न होते हैं। रजोगुण सृजनात्मक है और तमोगुण विध्वंसक है, जबकि *सत्त्व* या सतोगुण शान्त तथा टिकाऊ है। यह श्लोक कई प्रकार से इस पर बल देता है कि भगवान् कृष्ण प्राकृतिक गुणों से मुक्त हैं। *विशुद्ध-सत्त्वं, शान्तम्, ध्वस्त-रजस्तमस्कम्* तथा *गुणसम्प्रवाहो न विद्यते ते*—ये सारे शब्द इसी को इंगित करने वाले हैं। कृष्ण के विपरीत हम सभी लोग प्रकृति के गुणों में उलझे होने के कारण देहान्तरण करते रहते हैं, भौतिक स्वरूपों के विविध रूपान्तर (विकार) प्रकृति के गुणों द्वारा प्रेरित होते हैं और ये गुण स्वयं काल के प्रभाव से गति प्राप्त करते हैं। अतएव जो व्यक्ति प्रकृति के गुणों से मुक्त है, वह अपरिवर्तित रहता है और आनन्दमय दिव्य जगत में सदैव तुष्ट रहता है। इस तरह *शान्तम्* शब्द बतलाता है कि भगवान् किसी भी परिवर्तन से अविचल रहते हैं क्योंकि वे प्रकृति के भौतिक गुणों से मुक्त हैं।

इस श्लोक के अनुसार तीनों भौतिक गुणों अर्थात् रजोगुण, तमोगुण एवं सांसारिक शुद्धता का प्रबल प्रवाह *अग्रहण* पर आधारित होता है, जिसका अनुवाद श्रील श्रीधर स्वामी ने ''अज्ञान'' किया

है। चूँकि संस्कृत धातु, *ग्रह्* का अर्थ ''लेना, स्वीकार करना या जानना'' है।

अत: *ग्रहण* का अर्थ हुआ ''किसी विचार या तथ्य को पकड़ना।'' अत: *अग्रहण* का अर्थ हुआ अपनी आध्यात्मिक स्थिति को न समझ पाना और न समझ पाने के कारण ही वह संसार के प्रबल प्रवाह में गिर जाता है।

अग्रहण शब्द का एक अन्य अर्थ भी निकलता है जब इसे अग्र-हण में तोड़ा जाता है। *अग्र* का अर्थ है ''प्रथम, सर्वोच्च, सर्वश्रेष्ठ'' और *हन* का अर्थ है ''मारना।'' हमारे जीवन का सर्वश्रेष्ठ अंग शुद्ध आत्मा है, जो नित्य है, जबकि शरीर तथा मन क्षणिक हैं। अतएव जो व्यक्ति कृष्ण-भक्ति की तुलना में संसार का वरण करता है, वह अपने सर्वश्रेष्ठ अंग आत्मा का हनन करता है क्योंकि आत्मा अपने शुद्ध रूप में असीम कृष्ण-भक्ति का भोग करता है।

श्रील श्रीधर स्वामी ने *तपोमयम्* का अर्थ ''ज्ञान से पूर्ण'' दिया है। *तपस्* शब्द का सामान्य अर्थ तपस्या है और यह *तप्* धातु से निकला है, जिसका कुल मिलाकर अर्थ होता है सूर्य के विविध कार्य। *तप्* का अर्थ है ''जलना, चमकना, गर्म करना, इत्यादि।'' भगवान् शाश्वत रूप से पूर्ण हैं अतएव यहाँ पर *तपोमय* यह नहीं बतलाता कि भगवान् का दिव्य शरीर तपस्या के लिए है क्योंकि तप तो बद्धजीवों द्वारा अपने आपको शुद्ध बनाने या कोई विशेष शक्ति प्राप्त करने के लिए किया जाता है। सर्वशक्तिमान, पूर्ण जीव न तो अपने को शुद्ध बनाता है न ही शक्ति प्राप्त करता है—वह तो नित्य शुद्ध एवं सर्वशक्तिमान होता है। इसलिए श्रीधर स्वामी ने बड़ी ही बुद्धिमानी से *तपस्* का अर्थ ''सूर्य का प्रकाशित करने का कर्म'' लगाया है और इस तरह यह सूचित करता है कि भगवान् का आत्मतेजोमय शरीर सर्वज्ञ है। प्रकाश ज्ञान का सामान्य प्रतीक है। भगवान् का आध्यात्मिक तेज मोमबत्ती या बिजली के बल्ब के समान शारीरिक प्रकाश ही नहीं देता। इससे भी बड़ी बात है कि भगवान् का शरीर हमारी चेतना को पूर्ण ज्ञान से प्रकाशित करता है क्योंकि भगवान् का तेज स्वयं पूर्ण ज्ञान है।

हम श्रील श्रीधर स्वामी के चरणों को सादर नमस्कार करते हैं और इस श्लोक की उनकी प्रकाशमयी टीका के लिए उन्हें धन्यवाद देते हैं।

कुतो नु तद्धेतव ईश तत्कृता

लोभादयो येऽबुधलिन्गभावाः ।
तथापि दण्डं भगवान्बिभर्ति
धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

कुतः—कैसे; नु—निश्चय ही; तत्—उस (भौतिक शरीर के अस्तित्व) के; हेतवः—कारण; ईश—हे प्रभु; तत्-कृताः—भौतिक देह से सम्बन्ध होने से उत्पन्न; लोभ-आदयः—लोभ इत्यादि; ये—जो; अबुध—अज्ञानी व्यक्ति के; लिन्ग-भावाः—लक्षण; तथा अपि—तो भी; दण्डम्—दण्ड; भगवान्—भगवान्; बिभर्ति—घुमाता है; धर्मस्य—धर्म का; गुप्त्यै—सुरक्षा के लिए; खल—दुष्ट व्यक्तियों के; निग्रहाय—दण्ड के लिए।

तो भला आपमें अज्ञानी व्यक्ति के लक्षण—यथा लोभ, काम, क्रोध तथा ईर्ष्या—किस तरह रह सकते हैं क्योंकि इनकी उत्पत्ति संसार में मनुष्य की पूर्व-लिप्तता के कारण होती है और ये मनुष्य को संसार में अधिकाधिक जकड़ते जाते हैं? फिर भी हे परमेश्वर, आप धर्म की रक्षा करने तथा दुष्टों का दमन करने के लिए उन्हें दण्ड देते हैं।

तात्पर्य : इन्द्र के इस जटिल दार्शनिक कथन की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—इस श्लोक की प्रथम पंक्ति में इन्द्र उस मुख्य विचार का सन्दर्भ देता है, जो पिछले श्लोक के अन्त में आया है—यह कि भगवान् के भीतर तमोगुण पर आश्रित जगत का सुप्रवाह नहीं रह सकता। *तद्-हेतवः* तथा *तत्-कृताः* शब्द बतलाते हैं कि किसी कारण से प्रकृति के गुण प्रकट होते हैं और ये ही गुण अपने उत्पन्न करने वाले के कारण बन जाते हैं। इस श्लोक की द्वितीय पंक्ति में हम पाते हैं कि लोभ, काम, ईर्ष्या तथा क्रोध जैसे भौतिक भाव प्रकृति के गुणों को प्रकट करते हैं और वे स्वयं प्रकृति के गुणों द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं।

इस विरोधाभास की व्याख्या इस प्रकार से की जा सकती है : जब बद्धजीव भौतिक गुणों की संगति करने का निर्णय कर लेता है, तो वह इन गुणों से संदूषित हो जाता है। जैसाकि *गीता* (१३.२२) में कहा गया है—*कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।* उदाहरणार्थ, विमोहक नारी की उपस्थिति में मनुष्य अपनी निम्न मानसिक प्रवृत्तियों का शिकार होकर उसके साथ संभोग करने का प्रयास कर सकता है। इस तरह जब वह प्रकृति के निम्न गुणों की संगति में रहने को चुनता है, तो उसमें इन गुणों की प्रबल प्रधानता हो जाती है। वह कामवासना से अभिभूत हो जाता है और अपनी तीव्र इच्छा की तुष्टि के लिए बारम्बार प्रयास करता है। चूँकि उसके मन में कामवासना व्याप्त हो जाती है इसलिए वह जो भी करता है, सोचता और बोलता है उसमें यौन के प्रति प्रबल आसक्ति झलकती रहेगी। दूसरे

शब्दों में, प्रकृति के वासनापूर्ण गुणों की संगति चुनकर वह उन्हें अपने में प्रबलतापूर्वक प्रकट होने का अवसर प्रदान करता है और अन्ततः ये वासनात्मक गुण उसे दूसरा ऐसा भौतिक शरीर धारण करने के लिए बाध्य करते हैं, जो इन गुणों से नियंत्रित कार्यों के लिए उपयुक्त हो।

काम, लोभ, क्रोध तथा ईर्ष्या जैसे निम्न गुण *अबुध-लिंग भावा:* अर्थात् अज्ञान के लक्षण हैं। जैसाकि श्रील श्रीधर स्वामी ने अपने भाष्य में इंगित किया है, प्रकृति के गुणों की अभिव्यक्ति और विशेष भौतिक देह की अभिव्यक्ति दोनों पर्यायवाची हैं। पूरे वैदिक साहित्य में स्पष्ट बतलाया गया है कि बद्धजीव को एक विशेष देह प्राप्त होता है; वह उसे त्यागकर अन्य शरीर ग्रहण करता है क्योंकि वह प्रकृति के गुणों में फँसा रहता है (*कारणं गुणसंगोऽस्य*)। इस तरह यह कहना कि कोई व्यक्ति प्रकृति के गुणों में सम्मिलित हो रहा है यह कहना होगा कि वह जिन गुणों में फँसा है उन विशेष गुणों के अनुरूप वह विशिष्ट प्रकार के शरीर ग्रहण करता है।

एक अबोध अजनबी व्यक्ति कृष्ण द्वारा गोवर्धन-धारण लीला की व्याख्या इस प्रकार कर सकता है : वृन्दावन के निवासी वैदिक नियमों के अनुसार स्वर्ग के देवता इन्द्र को कुछ भेंटें चढ़ाने के लिए बाध्य थे। बालक कृष्ण ने इन्द्र के पद की अवहेलना करके इन भेंटों का हरण करके उन्हें अपने आनन्द के लिए ले लिया। जब इन्द्र ने कृष्ण तथा उनके संगियों को दण्डित करना चाहा तो भगवान् ने इन्द्र के प्रयास को विफल कर दिया, उसे अपमानित किया और उसके गर्व तथा उसके साधनों को समाप्त कर दिया।

लेकिन इस श्लोक में ऐसी हल्की व्याख्या का प्रतिवाद किया गया है। यहाँ देवराज इन्द्र श्रीकृष्ण को *भगवान्* कहकर सम्बोधित करता है, जिससे यह सूचित होता है कि श्रीकृष्ण कोई सामान्य बालक नहीं प्रत्युत ईश्वर हैं। अतएव कृष्ण द्वारा इन्द्र को दण्डित करना धर्म की रक्षा करने तथा दुष्टों का दमन करने के उनके उद्देश्य का अंगमात्र था। यह न तो भौतिक क्रोध का प्रदर्शन था, न ही इन्द्र की भेंटों के लिए लोभ था। श्रीकृष्ण शुद्ध आध्यात्मिक जीव हैं और उनकी सरल शुद्ध कामना यही रहती है कि सारे जीवों को वे पूर्ण आनन्दमय कृष्णभावनामृत जीवन में लगा दें। हमें कृष्णभावनाभावित बनाने की उनकी इच्छा अहंवादी नहीं है क्योंकि अन्ततः कृष्ण सबकुछ हैं और कृष्णभावनामृत ही सर्वोत्कृष्ट चेतना है। इन्द्र वास्तव में कृष्ण का विनीत सेवक है, जिस भाव को अब वह स्मरण करने लगा है।

पिता गुरुस्त्वं जगतामधीशो
दुरत्ययः काल उपात्तदण्डः ।
हिताय चेच्छातनुभिः समीहसे
मानं विधुन्वन्जगदीशमानिनाम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

पिता—पिता; गुरुः—गुरु; त्वम्—तुम; जगताम्—सारे विश्व के; अधीशः—परम नियन्ता; दुरत्ययः—दुर्लंघ्य; कालः—काल; उपात्त—घुमाता है; दण्डः—दण्ड; हिताय—लाभ हेतु; च—तथा; इच्छा—स्वेच्छा से धारण किया गया; तनुभिः—आपके दिव्य स्वरूपों द्वारा; समीहसे—आप प्रयास करते हैं; मानम्—मिथ्या गर्व; विधुन्वन्—समूल नष्ट करके; जगत्-ईश—ब्रह्माण्ड के स्वामी; मानिनाम्—बनने वालों के।

आप इस सम्पूर्ण जगत के पिता, आध्यात्मिक गुरु और परम नियन्ता भी हैं। आप दुर्लंघ्य काल हैं, जो पापियों को उन्हीं के हित के लिए दण्ड देता है। निस्सन्देह स्वेच्छा से लिये जाने वाले विविध अवतारों में आप उन लोगों का मिथ्या दर्प दूर करते हैं, जो अपने को इस जगत का स्वामी मान बैठते हैं।

तात्पर्य : *हिताय* शब्द यहाँ सार्थक है। भगवान् कृष्ण सारे जगत के लाभ हेतु धर्म की रक्षा करते हैं और दुष्टों का दलन करते हैं। मूर्ख तथा श्रद्धाविहीन छद्मपुरोहित ईश्वर की यह कहकर आलोचना करते हैं कि वे प्रकृति के कार्यों द्वारा जीवों को दण्ड देते हैं। किन्तु चाहे वे अप्रत्यक्ष रूप से प्रकृति के माध्यम से दण्ड दें अथवा अपने अवतारों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से दण्ड दें जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख हुआ है, उन्हें इसका पूर्ण अधिकार है क्योंकि वे सम्पूर्ण जगत के पिता, गुरु तथा अधीश हैं। दूसरी विधि में दुर्लंघ्य काल के रूप में वे बद्धजीवों द्वारा ईशविहीन ईश्वर का साम्राज्य स्थापित करने के मिथ्या प्रयासों पर नियंत्रण रखते हैं। कहा गया है कि बिना प्रताड़ना के बालक बिगड़ जाता है। यह सत्य है। यह तो भगवान् का अनुग्रह है कि वे हमारे दुराचरण को सुधारने का प्रयत्न करते हैं यद्यपि श्रद्धाविहीन लोग इस पितृ-तुल्य निगरानी की आलोचना करते हैं।

ये मद्विधाज्ञा जगदीशमानिन-
स्त्वां वीक्ष्य कालेऽभयमाशु तन्मदम् ।
हित्वार्यमार्गं प्रभजन्त्यपस्मया
ईहा खलानामपि तेऽनुशासनम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

ये—जो लोग; मत्-विध—मेरी तरह; अज्ञाः—मूर्ख व्यक्ति; जगत्-ईश—जगत के स्वामियों की तरह; मानिनः—अपनी झूठी पहचान करने वाले; त्वाम्—तुमको; वीक्ष्य—देखकर; काले—(भय के) समय में; अभयम्—निर्भय; आशु—तुरन्त; तत्—उनका; मदम्—मिथ्या गर्व; हित्वा—त्यागकर; आर्य—आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करने वाले भक्तों का; मार्गम्—पथ; प्रभजन्ति—ग्रहण करते हैं; अप-स्मयाः—गर्व से मुक्त; ईहा—कर्म; खलानाम्—दुष्टों का; अपि—निस्सन्देह; ते—तुम्हारे द्वारा; अनुशासनम्—आदेश।.

मुझ जैसे मूर्खजन जो अपने को जगत का स्वामी मान बैठते हैं तुरन्त ही अपने मिथ्या गर्व को त्याग देते हैं और जब वे आपको काल के समक्ष भी निडर देखते हैं, तो वे तुरन्त आध्यात्मिक प्रगति करने वाले भक्तों का मार्ग ग्रहण कर लेते हैं। इस तरह आप दुष्टों को शिक्षा देने के लिए ही दण्ड देते हैं।

तात्पर्य : इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ भगवान् मूर्खों के मिथ्या गर्व को चूर करते हैं। आधुनिक विश्व-नेता बड़े ही गर्व के साथ एक-दूसरे से युद्ध करते हैं और सामान्य लोगों के जीवन को अभूतपूर्व संकट में डाल देते हैं। इसी तरह अपने सुविदित पद से गर्वित इन्द्रने भोलेभाले वृन्दावनवासियों को विनाशकारी शस्त्रों से धमकाने का साहस किया जिसके कारण परमेश्वर को उसकी इस उद्धतता को तुरन्त दमित करना पड़ा।

आजकल पाश्चात्य देशों में प्रजातंत्र सरकारें चुनी जाती हैं जिससे जन समुदाय की पहचान उनके नेताओं के भाग्य से की जाती है। जब ये गर्वित नेता हिंसा पर उतारू होते हैं, तो उन्हें चुनने वाली जनता को उनके युद्धकारी निर्णयों का फल भुगतना पड़ता है। अतएव संसार के प्रजातांत्रिक राष्ट्रों की जनता को चाहिए कि वे कृष्णभावनाभावित नेताओं को चुनें जो ईश्वर के नियमों से मेल खाने वाले प्रशासन की स्थापना करेंगे। यदि वे ऐसा नहीं करते तो उनके भौतिकतावादी नेता परमेश्वर की इच्छा को विस्मृत करने के कारण निस्सन्देह विप्लवकारी घटनाओं द्वारा प्रताड़ित होंगे और जिन लोगों ने ऐसे नेताओं को चुना था वे अपने नेताओं के कार्यों के लिए उत्तरदायी होने के कारण कष्ट में भागीदार होंगे।

विडम्बना है कि आधुनिक प्रजातंत्रों में न केवल नेतागण अपने को अधीश्वर मानते हैं अपितु जनता इन नेताओं को ईश्वर का प्रतिनिधि न मानकर केवल अपना प्रतिनिधि मानने के साथ साथ अपने आपको भी राष्ट्र का नियन्ता मानती है। इस तरह इस श्लोक में वर्णित दण्ड आधुनिक जगत के सामान्य लोगों पर लागू होता है।

आधुनिक मनुष्य को अपने गर्वित पद से नीचे गिरकर यह प्राकृतिक सीख ही नहीं लेनी चाहिए अपितु उसे सर्व-आकर्षक भगवान् श्रीकृष्ण की इच्छा को विनीत भाव से पूरा करना चाहिए और

बुद्धिमानी, शान्ति तथा व्यापक प्रबुद्धता के नवीन युग का सूत्रपात करना चाहिए।

स त्वं ममैश्वर्यमदप्लुतस्य
कृतागसस्तेऽविदुषः प्रभावम् ।
क्षन्तुं प्रभोऽथार्हसि मूढचेतसो
मैवं पुनर्भून्मतिरीश मेऽसती ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; त्वम्—आप; मम—मेरे; ऐश्वर्य—शासन के; मद—नशे में; प्लुतस्य—निमग्न रहने वाले; कृत—किया हुआ; आगसः—अपराध; ते—आपका; अविदुषः—न जानने के कारण; प्रभावम्—दिव्य प्रभाव को; क्षन्तुम्—क्षमा करने के लिए; प्रभो—हे प्रभु; अथ—अतएव; अर्हसि—आपको चाहिए; मूढ—मूर्ख; चेतसः—जिसकी बुद्धि; मा—कभी नहीं; एवम्—इस प्रकार; पुनः—फिर; भूत्—होए; मतिः—चेतना; ईश—हे प्रभु; मे—मेरी; असती—अशुद्ध।

अपनी शासनशक्ति के मद में चूर एवं आपके दिव्य प्रभाव से अनजान मैंने आपका अपमान किया है। हे प्रभु, आप मुझे क्षमा करें। मेरी बुद्धि मोहग्रस्त हो चुकी थी किन्तु अब मेरी चेतना को कभी इतनी अशुद्ध न होने दें।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत उठाकर व्रजवासियों की रक्षा कर दी थी किन्तु इन्द्र को अभी तक दण्डित नहीं किया था अतएव इन्द्र भयभीत था कि श्रीकृष्ण किसी भी समय विवस्वान् पुत्र यमराज को बुला सकते हैं, जो ईश्वर के नियमों का उल्लंघन करने वाले उद्धत व्यक्तियों को दण्ड देता है।

इन्द्र अत्यधिक भयभीत था इसलिए उसने यह दलील देते हुए क्षमा-याचना की कि एकमात्र कृष्ण-कृपा से ही वह शुद्ध हो सकता है क्योंकि वह इतना जिद्दी है कि केवल दण्ड से वह नहीं सुधर सकता है।

वस्तुतः इन्द्र द्वारा दीनता के प्रदर्शन के बावजूद उसका हृदय पूरी तरह शुद्ध नहीं था। आगे चलकर इसी स्कन्ध में हम देखेंगे कि जब एक बार भगवान् कृष्ण ने इन्द्र के राज्य से एक पारिजात पुष्प लिया तो बेचारे इन्द्र ने भगवान् के विरुद्ध उग्र प्रतिक्रिया दिखलाई। अतएव हमें कृष्ण के राज्य में अपने शाश्वत धाम वापस जाने की आकांक्षा करनी चाहिए। हमें भौतिक देवताओं के अपूर्ण जीवन में उलझना नहीं चाहिए।

तवावतारोऽयमधोक्षजेह

भुवो भराणामुरुभारजन्मनाम् ।
चमूपतीनामभवाय देव
भवाय युष्मच्चरणानुवर्तिनाम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तव—आपका; अवतारः—अवतरण; अयम्—यह; अधोक्षज—हे दिव्य प्रभु; इह—इस; भुवः—पृथ्वी के; भराणाम्—भार स्वरूप; उरु-भार—अनेक उत्पातों के प्रति; जन्मनाम्—जन्म देने वालों; चमू-पतीनाम्—सैन्य नायकों के; अभवाय—विनाश के लिए; देव—हे भगवान्; भवाय—मंगल के लिए; युष्मत्—आपके; चरण—चरणकमल; अनुवर्तिनाम्—सेवकों का।

हे दिव्य प्रभु, आप इस जगत में उन सेनापतियों को विनष्ट करने के लिए अवतरित होते हैं, जो पृथ्वी का भार बढ़ाते हैं और अनेक भीषण उत्पात मचाते हैं। हे प्रभु, उसी के साथ साथ आप उन लोगों के कल्याण के लिए कर्म करते हैं, जो श्रद्धापूर्वक आपके चरणकमलों की सेवा करते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में आकर्षक कवित्व-प्रकल्पना का प्रयोग हुआ है। इस जगत में भगवान् कृष्ण का अवतरण *अभव* के लिए जिसका शाब्दिक अर्थ है आसुरी सेनापतियों को "मिटाने" या उनका विनाश करने के लिए और साथ ही भगवान् के चरणकमलों की श्रद्धापूर्वक सेवा करने वालों के *भव* अर्थात् "अस्तित्व, सम्पन्नता" के लिए होता है।

भव शब्द से इंगित वास्तविक अस्तित्व तो *सच्चिदानन्द* स्वरूप है। एक अजनबी को ऐसा प्रतीत हो सकता है कि कृष्ण अपने अनुयायियों को पुरस्कृत करते हैं और अपने शत्रुओं को दण्ड देते हैं जैसाकि कोई सामान्य मनुष्य करता है। छठे स्कन्ध में यह विशेष संशय भगवान् के विषय में किया जाता है जहाँ विश्व युद्ध में कृष्ण श्रद्धालु देवताओं का पक्ष श्रद्धाविहीन असुरों के मुकाबले में लेते हैं। वहाँ वैष्णव आचार्य यह स्पष्ट विवेचना करते हैं कि कृष्ण पिता हैं और सारे जीवों के स्वामी हैं अतएव उनके सारे कार्यकलाप सारे जगत के लाभ हेतु हैं। वास्तव में भगवान् कृष्ण किसी का अस्तित्व मिटाना नहीं चाहते प्रत्युत जो ईश्वरीय नियमों का उल्लंघन करते हैं उनके मूर्खतापूर्ण, विनाशकारी भौतिक तौर-तरीकों पर अंकुश लगाते हैं। ये नियम सम्पूर्ण सृष्टि में सम्पन्नता, समरसता तथा सुख का आश्वासन देते हैं और इनका उल्लंघन अन्यायपूर्ण उत्पात माना जाता है।

निश्चय ही इन्द्र को आशा थी कि भगवान् कृष्ण उसकी गणना अपने भक्तों में करेंगे, असुरों में नहीं यद्यपि इन्द्र के कार्यों से उसकी स्वामि-भक्ति में संशय झलकता है। इन्द्र इस सम्भव संशय से अवगत था इसीलिए जैसा हम अगले श्लोक में देखते हैं, उसने भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण करने का

भरसक प्रयत्न किया।

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने ।
वासुदेवाय कृष्णाय सात्वतां पतये नमः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; तुभ्यम्—आपको; भगवते—भगवान् को; पुरुषाय—सबों के हृदयों में वास करने वाले प्रभु को; महा-आत्मने—महान् आत्मा; वासुदेवाय—सर्वत्र निवास करने वाले को; कृष्णाय—कृष्ण को; सात्वताम्—यदु कुल के; पतये—स्वामी को; नमः—नमस्कार।

सर्वव्यापी तथा सबों के हृदयों में निवास करने वाले हे परमात्मा, आपको मेरा नमस्कार। हे यदुकुलश्रेष्ठ कृष्ण, आपको मेरा नमस्कार।

स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्तये ।
सर्वस्मै सर्वबीजाय सर्वभूतात्मने नमः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

स्व—अपने (भक्तों) की; छन्द—इच्छानुसार; उपात्त—धारण करने वाले; देहाय—दिव्य शरीर वाले को; विशुद्ध—नितान्त शुद्ध; ज्ञान—ज्ञान; मूर्तये—स्वरूप वाले; सर्वस्मै—जो सर्वस्व है उसे; सर्व-बीजाय—सबों का बीज स्वरूप; सर्व-भूत—समस्त प्राणियों के; आत्मने—अन्तरात्मा स्वरूप; नमः—नमस्कार।

अपने भक्तों की इच्छा के अनुसार दिव्य शरीर धारण करने वाले, शुद्ध चेतना रूप, सर्वस्व, समस्त वस्तुओं के बीज तथा समस्त प्राणियों के आत्मा रूप आपको मैं नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक की प्रथम पंक्ति से यह पता नहीं लगाया जा सकता कि ईश्वर निर्विशेष है किन्तु निजी भौतिक शरीर धारण करता है। यहाँ पर स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् *स्वच्छन्द*—अपनी इच्छानुसार या अपने भक्तों की इच्छाओं के अनुसार विविध रूप धारण करते हैं। निर्विशेष ईश्वर अपने भक्तों की साकार इच्छाओं से न तो आदान-प्रदान कर सकता है न ही निर्विशेष ईश्वर की अपनी इच्छाएँ हो सकती हैं क्योंकि इच्छाएँ तो व्यक्तित्व के लक्षण हैं। अत: साकार होकर विभिन्न रूपों को प्रकट करना, निजी इच्छाओं को व्यक्त करना यह सूचित करता है कि वह नित्य पुरुष है और अपनी दिव्य प्रकृति को अभिव्यक्त करने के लिए विविध शरीर धारण करता है।

विशुद्धज्ञानमूर्तये शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *मूर्ति* का अर्थ है अर्चाविग्रह का रूप और यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् का रूप स्वयं विशुद्ध चेतना है। चेतना मूल आध्यात्मिक तत्त्व है, जो किसी भी भौतिक तत्त्व से अलग होता है, यहाँ तक कि सूक्ष्म या मनोवैज्ञानिक भौतिक तत्त्वों—मन,

बुद्धि तथा अहंकार—से भी भिन्न होता है, जो शुद्ध चेतना पर मात्र मनोवैज्ञानिक आवरण हैं। चूँकि भगवान् का स्वरूप शुद्ध चेतना से निर्मित होता है, अत: यह मांस-मज्जा से भरा भौतिक शरीर कभी नहीं हो सकता हम इस संसार में जिसे उठाए फिरते हैं।

इस श्लोक की अन्तिम दो पंक्तियों में *सर्व* शब्द पर कवित्व-बल दिया गया है। भगवान् सर्वस्व हैं, वे हर वस्तु के बीज हैं और हर प्राणी की आत्मा हैं। अतएव हम भी इन्द्र के साथ भगवान् को नमस्कार करते हैं।

मयेदं भगवन्गोष्ठनाशायासारवायुभिः ।
चेष्टितं विहते यज्ञे मानिना तीव्रमन्युना ॥ १२॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; इदम्—यह; भगवन्—हे प्रभु; गोष्ठ—आपके ग्वाल समुदाय के; नाशाय—विनाश हेतु; आसार—मूसलाधार वर्षा से; वायुभिः—तथा हवा से; चेष्टितम्—चेष्टा किया गया; विहते—विध्वंस हो जाने पर; यज्ञे—मेरा यज्ञ; मानिना—मिथ्या गर्वित होने के कारण मेरे द्वारा; तीव्र—प्रखर; मन्युना—क्रोध होने से।

हे प्रभु, जब मेरा यज्ञ भंग हो गया, तो मैं मिथ्या अहंकार के कारण बहुत क्रुद्ध हुआ। इस तरह मैंने घनघोर वर्षा तथा वायु के द्वारा आपके ग्वाल समुदाय को विनष्ट कर देना चाहा।

त्वयेशानुगृहीतोऽस्मि ध्वस्तस्तम्भो वृथोद्यमः ।
ईश्वरं गुरुमात्मानं त्वामहं शरणं गतः ॥ १३॥

शब्दार्थ

त्वया—आपके द्वारा; ईश—हे प्रभु; अनुगृहीतः—दया दिखाया हुआ; अस्मि—हूँ; ध्वस्त—छिन्न-भिन्न; स्तम्भः—मेरा मिथ्या अभिमान; वृथा—व्यर्थ; उद्यमः—मेरा प्रयास; ईश्वरम्—परमेश्वर को; गुरुम्—गुरु को; आत्मानम्—आत्मा को; त्वाम्—आपको; अहम्—मैं; शरणम्—शरण में; गतः—आया हुआ।

हे प्रभु, मेरे मिथ्या अहंकार को चकनाचूर करके तथा मेरे प्रयास (वृन्दावन को दण्डित करने का) को पराजित करके आपने मुझपर दया दिखाई है। अब मैं, परमेश्वर, गुरु तथा परमात्मा रूप आपकी शरण में आया हूँ।

श्रीशुक उवाच
एवं सङ्कीर्तितः कृष्णो मघोना भगवानमुम् ।
मेघगम्भीरया वाचा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ १४॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; सङ्कीर्तितः—महिमा बखान किये जाने पर; कृष्णः—कृष्ण; मघोना—इन्द्र द्वारा; भगवान्—भगवान्; अमुम्—उससे; मेघ—बादलों की तरह; गम्भीरया—गम्भीर; वाचा—वाणी से; प्रहसन्—हँसते हुए; इदम्—यह; अब्रवीत्—बोले।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार इन्द्र द्वारा वन्दित होकर पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण हँसे और तब बादलों की गर्जना जैसी गम्भीर वाणी में उससे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : यद्यपि इस लीला में कृष्ण एक छोटे से बालक प्रतीत होते थे किन्तु *मेघ-गम्भीरया वाचा* शब्द बतलाते हैं कि वे भगवान् की गम्भीर वाणी में इन्द्र से बोले।

श्रीभगवानुवाच
मया तेऽकारि मघवन्मखभङ्गोऽनुगृह्णता ।
मदनुस्मृतये नित्यं मत्तस्येन्द्रश्रिया भृशम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; मया—मेरे द्वारा; ते—तुम्हारे; अकारि—किया गया; मघवन्—हे इन्द्र; मख—यज्ञ का; भङ्गः—अवरोध; अनुगृह्णता—तुम पर दया दिखाते हुए; मत्-अनुस्मृतये—मेरा स्मरण करने के लिए; नित्यम्—निरन्तर; मत्तस्य—उन्मत्त का; इन्द्र-श्रिया—इन्द्र के ऐश्वर्य से; भृशम्—अत्यधिक।

भगवान् ने कहा : हे इन्द्र, मैंने तो दयावश ही तुम्हारे निमित्त होने वाले यज्ञ को रोक दिया था। तुम स्वर्ग के राजा के अपने ऐश्वर्य से अत्यधिक उन्मत्त हो चुके थे और मैं चाहता था कि तुम सदैव मेरा स्मरण कर सको।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी के अनुसार इन्द्र तथा भगवान् कृष्ण यहाँ पर अपने अपने मन की बात एक-दूसरे से कहते हैं। पहले इन्द्र ने अपने मन की बात प्रकट की और अब कृष्ण भी उसी तरह अपने मनोभाव प्रकट कर रहे हैं।

इस अध्याय के श्लोक ११ में इन्द्र ने बलपूर्वक यह कहा है कि कृष्ण ही सर्वस्व हैं अतएव इन्द्र के ही मानदण्ड के अनुसार कृष्ण को विस्मृत करना पागलपन है। जब भगवान् हमें अपने परम अस्तित्व का स्मरण दिलाते होते हैं, तो वे किसी संसारी राजनीतिज्ञ या स्वागतकर्ता की तरह प्रमादवश विज्ञापन नहीं करते। भगवान् अपने असीम अस्तित्व में आत्मतुष्ट रहते हैं और वे बड़े ही स्नेहपूर्वक हमें अपने नित्य संगियों के पूर्ण पद पर वापस लाने का प्रयास करते हैं।

ईश्वर की दृष्टि में स्वर्ग का राजा इन्द्र भी निरा बालक, नटखट बालक है और इसीलिए पालनकर्ता पिता की भाँति उन्होंने अपनी सन्तान को दण्ड दिया और उसे कृष्ण-भक्ति में ले आये।

मामैश्वर्यश्रीमदान्धो दण्ड पाणिं न पश्यति ।
तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; ऐश्वर्य—ऐश्वर्य; श्री—तथा वैभव के; मद—नशे से; अन्धः—अन्धा; दण्ड—दण्ड देने वाला डंडा लेकर; पाणिम्—अपने हाथ में; न पश्यति—नहीं देखता है; तम्—उसको; भ्रंशयामि—गिरा देता हूँ; सम्पद्भ्यः—उसकी भौतिक सम्पत्ति से; यस्य—जिसका; च—तथा; इच्छामि—चाहता हूँ; अनुग्रहम्—लाभ।

अपनी शक्ति तथा ऐश्वर्य के नशे में उन्मत्त मनुष्य मुझे अपने हाथ में दण्ड का डंडा लिये हुए अपने निकट नहीं देख पाता। यदि मैं उसका वास्तविक कल्याण चाहता हूँ तो मैं उसे भौतिक सौभाग्य के पद से नीचे घसीट देता हूँ।

तात्पर्य : कोई तर्क कर सकता है ''ईश्वर को तो हरएक का वास्तविक कल्याण करना चाहिए तो फिर इस श्लोक में भगवान् कृष्ण ने यह क्यों कहा कि जिसे उनकी कृपा प्राप्त होने वाली होती है उसके उन्मत्तकारी ऐश्वर्य का वे हरण कर लेते हैं? उन्होंने यह क्यों नहीं कहा कि हरएक का ऐश्वर्य हर लेंगे और हरएक को वर देंगे? दूसरी ओर यह इंगित किया जाता है कि हरएक की मृत्यु ध्रुव है और इस तरह भगवान् कृष्ण हरएक के ऐश्वर्य तथा उसके मिथ्या अहंकार को छीन लेते हैं। किन्तु यदि मृत्यु के पूर्व मनुष्य के निकटतम जीवन की घटनाओं पर भगवान् के कथन को लागू करें तो हम *भगवद्गीता* (४.११) में व्यक्त कृष्ण के कथन का उल्लेख कर सकते हैं—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*—लोग जिस प्रकार मेरी शरण में आते हैं उसी तरह मैं उन्हें पुरस्कार देता हूँ। कृष्ण हरएक के कल्याण की कामना करते हैं किन्तु जब वे यहाँ पर कहते हैं—*यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम्*—मैं जिसका कल्याण करना चाहता हूँ तो ऐसा लगता है कि भगवान् उनका उल्लेख कर रहे हैं, जो अपने कर्मों तथा विचारों से आध्यात्मिक लाभ पाने की इच्छा व्यक्त कर चुके हैं। भगवान् कृष्ण चाहते हैं कि कृष्णभावनामृत में हर व्यक्ति सुखी रहे किन्तु जब वे देखते हैं कि कोई विशिष्ट व्यक्ति भी आध्यात्मिक सुख चाहता है, तो भगवान् उस व्यक्ति के लिए विशेष रूप से कल्याण की कामना करते हैं। यह भगवान् के कथन *समोऽहं सर्वभूतेषु*—मैं सारे जीवों के प्रति समान भाव रखता हूँ—का स्वाभाविक पारस्परिक आदान-प्रदान है।

गम्यतां शक्र भद्रं वः क्रियतां मेऽनुशासनम् ।
स्थीयतां स्वाधिकारेषु युक्तैर्वः स्तम्भवर्जितैः ॥ १७॥

शब्दार्थ

गम्यताम्—जा सकते हो; शक्र—हे इन्द्र; भद्रम्—कल्याण; वः—तुम्हारा; क्रियताम्—तुम्हें पालन करना चाहिए; मे—मेरी; अनुशासनम्—आज्ञा का; स्थीयताम्—तुम रहे आओ; स्व—अपने; अधिकारेषु—उत्तरदायित्वों में; युक्तैः—लगे रहकर; वः—तुम; स्तम्भ—मिथ्या अहंकार; वर्जितैः—से रहित।

हे इन्द्र, अब तुम जा सकते हो। मेरी आज्ञा का पालन करो और स्वर्ग के राज-पद पर बने रहो। किन्तु मिथ्या अभिमान से रहित होकर गम्भीर बने रहना।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् कृष्ण इन्द्र को बहुवचन में (वः) सम्बोधित करते हैं क्योंकि यह गम्भीर आदेश समस्त देवताओं के लिए शिक्षा के रूप में था।

अथाह सुरभिः कृष्णमभिवन्द्य मनस्विनी ।
स्वसन्तानैरुपामन्त्र्य गोपरूपिणमीश्वरम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; आह—बोली; सुरभिः—गौवों की माता, सुरभि; कृष्णम्—कृष्ण को; अभिवन्द्य—वन्दना करते हुए; मनस्विनी—शान्त मन वाली; स्व-सन्तानैः—अपनी सन्तानों, गौवों समेत; उपामन्त्र्य—ध्यानाकर्षण की याचना करते हुए; गोप-रूपिणम्—ग्वालबाल रूपी; ईश्वरम्—भगवान् को।

तब अपनी सन्तान गौवों समेत माता सुरभि ने भगवान् कृष्ण को नमस्कार किया। उनसे ध्यान देने के लिए सादर प्रार्थना करते हुए उस भद्र नारी ने भगवान् को, जो उसके समक्ष ग्वालबाल के रूप में उपस्थित थे, सम्बोधित किया।

तात्पर्य : इस श्लोक में अपनी सन्तानों समेत जिस स्वर्गीय गाय सुरभि का भगवान् कृष्ण के पास जाने का वर्णन हुआ है वे दिव्य गौवें हैं, जो कृष्ण के साथ वृन्दावन में क्रीड़ा करती हैं। कृष्ण की गौवें दिव्य हैं और सुरभि ने उन्हें इसी रूप में स्नेहपूर्ण देखा। चूँकि भगवान् कृष्ण ग्वालबाल के रूप में प्रकट हुए थे अतएव परिस्थिति अनुकूल जानकर सुरभि ने उनकी निम्न प्रकार से स्तुति की।

सुरभिरुवाच
कृष्ण कृष्ण महायोगिन्विश्वात्मन्विश्वसम्भव ।
भवता लोकनाथेन सनाथा वयमच्युत ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सुरभिः उवाच—सुरभि ने कहा; कृष्ण कृष्ण—हे कृष्ण, हे कृष्ण; महा योगिन्—हे महान् योगी; विश्व-आत्मन्—हे विश्व की आत्मा; विश्व-सम्भव—हे विश्व के उद्गम; भवता—तुम्हारे द्वारा; लोक नाथेन—विश्व के स्वामी द्वारा; स-नाथाः—नाथ से युक्त; वयम्—हम सभी; अच्युत—हे अच्युत।

माता सुरभि ने कहा : हे कृष्ण, हे कृष्ण, हे योगियों में श्रेष्ठ, हे विश्व की आत्मा तथा उद्गम,

आप विश्व के स्वामी हैं और हे अच्युत, आपकी ही कृपा से हम सबों को आप जैसा स्वामी मिला है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इंगित करते हैं कि माता सुरभि को ''कृष्ण कृष्ण'' दुहराने में परम प्रसन्नता हो रही है। कृष्ण ने अपनी योगशक्ति से गोवर्धन पर्वत उठाया और वृन्दावन की गौवों की रक्षा की जबकि सुरभि के तथाकथित स्वामी इन्द्र ने उन्हें मार डालने की कोशिश की थी। अब सुरभि की समझ में आया कि उसका असली स्वामी देवता नहीं हैं अपितु साक्षात् भगवान् कृष्ण सदा सर्वदा ही उनके असली स्वामी हैं।

त्वं नः परमकं दैवं त्वं न इन्द्रो जगत्पते ।
भवाय भव गोविप्र देवानां ये च साधवः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; नः—हमारे; परमकम्—परम; दैवम्—आराध्य देव; त्वम्—तुम; नः—हमारे; इन्द्रः—इन्द्र; जगत्-पते—हे जगत के स्वामी; भवाय—कल्याण के लिए; भव—होओ, बनो; गो—गौवों; विप्र—ब्राह्मणों; देवानाम्—तथा देवताओं के; ये—जो; च—तथा; साधवः—सन्त पुरुषों।

आप हमारे आराध्य देव हैं। अतएव हे जगत्पति, गौवों, ब्राह्मणों, देवताओं एवं सारे सन्त पुरुषों के लाभ हेतु आप हमारे इन्द्र बनें।

तात्पर्य : भगवान् आत्मनिर्भर हैं, वे स्वयं सबकुछ कर सकते हैं। भगवान् ने अपनी असंख्य सन्तानों में से एक को इन्द्र-पद पर अर्थात् स्वर्ग के स्वामी के पद पर नियुक्त किया। किन्तु इन्द्र ने अपने पद का दुरुपयोग किया अतः अब सुरभि परम सत्य भगवान् कृष्ण से प्रार्थना कर रही है कि वे ही उसके स्वामी इन्द्र बनें। हमें बिना मिथ्या अभिमान के अपना कर्तव्य निभाना चाहिए। इस प्रकार हम न तो दुविधा में पड़ेंगे, न ही अनुपयोगी बनेंगे जैसाकि राजा इन्द्र बना जिसने भगवान् कृष्ण तथा उनके वृन्दावन के भक्तों पर आक्रमण किया।

इन्द्रं नस्त्वाभिषेक्ष्यामो ब्रह्मणा चोदिता वयम् ।
अवतीर्णोऽसि विश्वात्मन्भूमेर्भारापनुत्तये ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रम्—इन्द्र रूप में; नः—हमारे; त्वा—तुमको; अभिषेक्ष्यामः—हम सभी अभिषेक करेंगे; ब्रह्मणा—ब्रह्म द्वारा; चोदिताः—आदिष्ट; वयम्—हम; अवतीर्णः असि—तुम अवतीर्ण हुए हो; विश्व-आत्मन्—हे विश्वात्मा; भूमेः—पृथ्वी का; भार—भार; अपनुत्तये—कम करने के लिए।

ब्रह्माजी के आदेशानुसार हम इन्द्र के रूप में आपका राज्याभिषेक करेंगी। हे विश्वात्मा, आप पृथ्वी का भार उतारने के लिए इस संसार में अवतरित होते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में सुरभि यह स्पष्ट कर देती है कि उसने पुरन्दर (इन्द्र) जैसे अपूर्ण देवताओं का नायकत्व देख लिया है। अब वह परमेश्वर की प्रत्यक्ष सेवा करना चाहती है। चूँकि ब्रह्मा ने उसे आदेश दिया है अतएव अपने निजी प्रभु के रूप में भगवान् कृष्ण का राज्याभिषेक करने का उसका प्रयास उच्चतर अधिकारी द्वारा अनुमत है। यही नहीं, भगवान् कृष्ण स्वयं ही इस धरा में आत्मघाती, संसारी प्रशासन का बोझ उतारने के लिए अवतरित होते हैं इसलिए उनका सुरभि का प्रभु बनना पूर्णतया उचित है। चूँकि भगवान् लाखों ब्रह्माण्डों पर शासन करते हैं अतएव वे अवश्य ही माता सुरभि की देखरेख कर सकते हैं।

वस्तुतः सुरभि अपनी शुद्धि के लिए भगवान् का अभिषेक करना चाहती थी और वह बड़ी ही ईमानदारी के साथ अपना प्रस्ताव विश्वात्मा श्रीकृष्ण के समक्ष रखती है।

श्रीशुक उवाच
एवं कृष्णमुपामन्त्र्य सुरभिः पयसात्मनः ।
जलैराकाशगङ्गाया ऐरावतकरोद्धृतैः ॥ २२ ॥
इन्द्रः सुरर्षिभिः साकं चोदितो देवमातृभिः ।
अभ्यसिञ्चत दाशार्हं गोविन्द इति चाभ्यधात् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण से; उपामन्त्र्य—अनुरोध करके; सुरभिः—माता सुरभि ने; पयसा—दूध से; आत्मनः—अपने; जलैः—जल से; आकाश-गङ्गायाः—आकाश गंगा (मन्दाकिनी) के; ऐरावत—इन्द्र के वाहन, ऐरावत हाथी के; कर—सूँड़ से; उद्धृतैः—ले जाया जाकर; इन्द्रः—इन्द्र; सुर—देवताओं; ऋषिभिः—तथा ऋषियों द्वारा; साकम्—साथ में; चोदितः—प्रोत्साहित; देव—देवताओं की; मातृभिः—माताओं द्वारा (अदिति इत्यादि); अभ्यसिञ्चत—नहलाया; दाशार्हम्—दशार्ह के वंशज, भगवान् कृष्ण को; गोविन्दः इति—गोविन्द के रूप में; च—तथा; अभ्यधात्-हे नमेद् थे लोर्द्.

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् कृष्ण से इस तरह याचना करने के बाद माता सुरभि ने अपने दूध से उनका अभिषेक किया और इन्द्र ने अदिति तथा देवताओं की अन्य माताओं से आदेश पाकर अपने हाथी ऐरावत की सूँड़ से आकाश गंगा के जल से भगवान् का जलाभिषेक किया। इस तरह देवताओं तथा ऋषियों की संगति में इन्द्र ने दशार्ह वंशज भगवान् कृष्ण का राज्याभिषेक किया और उनका नाम गोविन्द रखा।

तात्पर्य : आचार्यों के अनुसार इन्द्र वृन्दावन पर आक्रमण करने की भारी भूल से उद्विग्न था अतएव वह भगवान् की पूजा करने में अरुचि दिखा रहा था। इसीलिए अदिति इत्यादि देवमाताओं ने उसे आगे बढ़कर पूजा करने के लिए प्रोत्साहित किया। तत्पश्चात् इन्द्र ने अपने से कम उग्रस्वभाव वाले देवताओं के प्रोत्साहन से अनुमत होकर, भगवान् का अभिषेक किया। तब इन्द्र को पता चला कि कृष्ण नामक यह सुन्दर सा लड़का ही वास्तव में परमेश्वर है।

तत्रागतास्तुम्बुरुनारदादयो
गन्धर्वविद्याधरसिद्धचारणाः ।
जगुर्यशो लोकमलापहं हरेः
सुराङ्गनाः सन्ननृतुर्मुदान्विताः ॥ २४॥

शब्दार्थ

तत्र—उस स्थान पर; आगताः—आकर; तुम्बुरु—तुम्बुरु नामक गन्धर्व; नारद—नारदमुनि; आदयः—इत्यादि देवता; गन्धर्व-विद्याधर-सिद्ध-चारणाः—गन्धर्व, विद्याधर, सिद्ध तथा चारणगण ने; जगुः—गाया; यशः—कीर्ति; लोक—समस्त जगत; मल—कल्मष; अपहम्—विनष्ट करने वाले; हरेः—भगवान् हरि का; सुर—देवताओं की; अङ्गनाः—पत्नियाँ; सन्ननृतुः—एकसाथ नाचीं; मुदा अन्विताः—हर्ष से पूरित होकर।

वहाँ पर तुम्बरु, नारद तथा विद्याधरों, सिद्धों और चारणों समेत अन्य गन्धर्वगण समस्त जगत को शुद्ध करने वाले भगवान् हरि के यश का गुणगान करने आये। और देवताओं की पत्नियाँ हर्ष से भरकर भगवान् के सम्मान में एकसाथ नाचीं।

तं तुष्टुवुर्देवनिकायकेतवो
ह्यवाकिरंश्चाद्भुतपुष्पवृष्टिभिः ।
लोकाः परां निर्वृतिमाप्नुवंस्त्रयो
गावस्तदा गामनयन्पयोद्रुताम् ॥ २५॥

शब्दार्थ

तम्—उनकी; तुष्टुवुः—प्रशंसा की; देव-निकाय—सारे देवताओं के; केतवः—सर्वाधिक प्रमुख ने; हि—निस्सन्देह; अवाकिरन्—आच्छादित कर दिया; च—तथा; अद्भुत—आश्चर्यजनक; पुष्प—फूलों की; वृष्टिभिः—वर्षा से; लोकाः—जगतों ने; पराम्—परम; निर्वृतिम्—सन्तोष; आप्नुवन्—अनुभव किया; त्रयः—तीनों; गावः—गौवें; तदा—तब; गाम्—पृथ्वी को; अनयन्—बना दिया; पयः—अपने दूध से; द्रुताम्—सिक्त।

सर्वप्रमुख देवताओं ने भगवान् की प्रशंसा की और उनपर चारों ओर से फूलों की अद्भुत वर्षा की। इससे तीनों लोकों को परम संतोष का अनुभव हुआ और गौवों ने अपने दूध से पृथ्वी की सतह भाग को सिक्त कर दिया।

तात्पर्य : *केतवः* का शाब्दिक अर्थ ''झंडे'' है। प्रमुख देवतागण देव-जाति के प्रतीक या झंडे हैं

और इन सबों ने भगवान् के यश-गान में अगुवाई की और उन्हें रंगबिरंगे सुगंधित फूलों की अद्‌भुत वर्षा से ढक दिया।

नानारसौघाः सरितो वृक्षा आसन्मधुस्रवाः ।
अकृष्टपच्यौषधयो गिरयोऽबिभ्रनुन्मणीन् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

नाना—विविध; रस—द्रव; ओघाः—बाढ़-सी लाते हुए; सरितः—नदियाँ; वृक्षाः—वृक्ष; आसन्—बन गये; मधु—मधुर रस से; स्रवाः—बहते हुए; अकृष्ट—बिना जोते-बोये ही; पच्य—पका हुआ; ओषधयः—पौधे; गिरयः—पर्वत; अबिभ्रन्—ले गये; उत्—धरती के ऊपर; मणीन्—मणियाँ।

नदियाँ विविध प्रकार के स्वादिष्ट द्रवों से युक्त होकर बहने लगीं, वृक्षों ने मधु निकाल लिया, खाद्य पौधे बिना जोते ही परिपक्व हो उठे और पर्वतों ने अपने गर्भ में छिपी मणियों को बाहर निकाल दिया।

कृष्णेऽभिषिक्त एतानि सर्वाणि कुरुनन्दन ।
निर्वैराण्यभवंस्तात क्रूराण्यपि निसर्गतः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

कृष्णे—भगवान् कृष्ण; अभिषिक्ते—अभिषेक किये गये; एतानि—ये; सर्वाणि—समस्त; कुरु-नन्दन—हे कुरुवंशी; निर्वैराणि—शत्रुता से रहित; अभवन्—हो गये; तात—हे परीक्षित; क्रूराणि—क्रूर; अपि—यद्यपि; निसर्गतः—प्रकृति द्वारा।

हे कुरुनन्दन परीक्षित, भगवान् कृष्ण को अभिषेक कराने के बाद सभी जीवित प्राणी, यहाँ तक कि जो स्वभाव के क्रूर थे, सर्वथा शत्रुतारहित बन गये।

तात्पर्य : जो लोग किसी प्रकार से सनकी हैं, वे केवल भगवान् की पूजा द्वारा उत्पन्न स्वर्गिक विश्व परिस्थिति के वर्णनों पर हँस सकते हैं। दुर्भाग्यवश आधुनिक मनुष्य ने अपनी सनक के कारण ही कृष्णभावनामृत के द्वारा पृथ्वी पर स्वर्ग बनाने को ठुकराकर पृथ्वी पर नरक की स्थिति उत्पन्न कर दी है। यहाँ पर वर्णित भगवान् के शुभ अभिषेक से उत्पन्न परिस्थिति एक मौलिक ऐतिहासिक घटना है। चूँकि इतिहास की पुनरावृत्ति होती है अतएव आशा है कि कृष्णभावनामृत आन्दोलन पुनः स्वरूपसिद्ध विश्व की प्रकाशमय वास्तविकता को ला देगा।

इति गोगोकुलपतिं गोविन्दमभिषिच्य सः ।
अनुज्ञातो ययौ शक्रो वृतो देवादिभिर्दिवम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; गो—गौवों के; गो-कुल—तथा ग्वाल-जाति के; पतिम्—स्वामी को; गोविन्दम्—भगवान् कृष्ण को; अभिषिच्य—अभिषेक कराकर; सः—वह, इन्द्र; अनुज्ञातः—अनुमति दिये जाने पर; ययौ—चला गया; शक्रः—इन्द्र; वृतः—घिरा हुआ; देव-आदिभिः—देवताओं तथा अन्यों से; दिवम्—स्वर्ग को।

गौवों तथा ग्वाल-जाति के स्वामी भगवान् गोविन्द को अभिषेक कराने के बाद इन्द्र ने भगवान् की अनुमति ली और देवताओं तथा अन्य उच्च प्राणियों से घिरकर वह अपने स्वर्ग-धाम को लौट गया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत "इन्द्र तथा माता सुरभि द्वारा स्तुति" नामक सत्ताइसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अट्ठाईस

कृष्ण द्वारा वरुणलोक से नन्द महाराज की रक्षा

इस अध्याय में कृष्ण द्वारा वरुणलोक से नन्द महाराज के वापस लाये जाने और ग्वालों द्वारा वैकुण्ठ दर्शन करने का उल्लेख हुआ है।

गोपराज नन्द महाराज ने एकादशी के दिन व्रत रखा और विचार किया कि बारहवें दिन वे व्रत को विधिवत किस तरह से तोड़ें। संयोगवश केवल कुछ ही मिनट शेष थे अतएव उन्होंने रात्रि बीतने पर ही स्नान करने का निश्चय किया यद्यपि ज्योतिष के अनुसार यह अशुभ समय था। वे यमुना जल में घुसे। वरुण के सेवक समुद्र देवता ने नन्द महाराज को शास्त्रवर्जित समय में जल में प्रवेश करते देख लिया अत: वह उन्हें वरुणदेव के धाम ले गया। प्रात: होने पर ग्वाले व्यर्थ ही नन्द महाराज की खोज करते रहे किन्तु भगवान् कृष्ण ने तुरन्त ही स्थिति जान ली और वे वरुण के पास जा पहुँचे। वरुण ने कृष्ण की बड़ी आवभगत की। तत्पश्चात् उसने भगवान् से प्रार्थना की कि वे उसके सेवक को क्षमा कर दें जिसने गोपराज को मूर्खतावश बन्दी बना लिया था।

वरुणदेव के दरबार में श्रीकृष्ण के प्रभाव को देखकर नन्द चकित थे और घर वापस आकर उन्होंने अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों से अपने अनुभव कह सुनाये। उन सबों ने सोचा कि कृष्ण अवश्य ही भगवान् हैं अत: उन्होंने उनके परम धाम को देखना चाहा। इस पर सर्वज्ञ भगवान् ने उन सबों को उसी

सरोवर में स्नान कराया जिसमें अक्रूर को परम सत्य का दर्शन हुआ था। वहीं पर भगवान् ने उन्हें ब्रह्मलोक दिखलाया जिसे बड़े बड़े मुनि अपनी योग-समाधि में अनुभव करते हैं।

श्रीबादरायणिरुवाच
एकादश्यां निराहारः समभ्यर्च्य जनार्दनम् ।
स्नातुं नन्दस्तु कालिन्द्यां द्वादश्यां जलमाविशत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्रीबादरायणि (शुकदेव गोस्वामी) ने कहा; एकादश्याम्—एकादशी के दिन; निराहारः—बिना खाये, उपवास करते हुए; समभ्यर्च्य—पूजा करने के बाद; जनार्दनम्—जनार्दन की, भगवान् की; स्नातुम्—स्नान करने के लिए (व्रत तोड़ने के पूर्व आवश्यक है); नन्दः—नन्द महाराज ने; तु—लेकिन; कालिन्द्याम्—यमुना नदी में; द्वादश्याम्—द्वादशी के दिन; जलम्—जल में; आविशत्—प्रवेश किया।

श्रीबादरायणि ने कहा : भगवान् जनार्दन की पूजा करके तथा एकादशी के दिन व्रत रखकर नन्द महाराज ने द्वादशी के दिन स्नान करने के लिए कालिन्दी के जल में प्रवेश किया।

तं गृहीत्वानयद्भृत्यो वरुणस्यासुरोऽन्तिकम् ।
अवज्ञायासुरीं वेलां प्रविष्टमुदकं निशि ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; गृहीत्वा—पकड़कर; अनयत्—ले आया; भृत्यः—नौकर; वरुणस्य—समुद्र के स्वामी, वरुण का; असुरः—असुर के; अन्तिकम्—समक्ष; अवज्ञाय—अवहेलना करके; आसुरीम्—अशुभ; वेलाम्—समय; प्रविष्टम्—प्रवेश करके; उदकम्—जल में; निशि—रात्रि के समय।

चूँकि नन्द महाराज ने इस बात की अवहेलना करके कि यह अशुभ समय था, रात्रि के अंधकार में जल में प्रवेश किया था अतः वरुण का आसुरी सेवक उन्हें पकड़ कर अपने स्वामी के पास ले आया।

तात्पर्य : नन्द महाराज अपना व्रत द्वादशी को तोड़ने के इच्छुक थे और उसमें अब केवल कुछ ही क्षण शेष थे। अतः वे प्रभात होने के पूर्व अशुभ समय में स्नान करने के लिए जल में प्रविष्ट हुए।

वरुण के जिस सेवक ने नन्द महाराज को पकड़ा था उसे *असुर* कहा गया है, जिसके कारण स्पष्ट हैं। पहले तो वह सेवक इस बात से अनजान था कि नन्द महाराज परम सत्य के लीला के रूप में पिता हैं। दूसरे नन्द महाराज शास्त्रों के आदेशों का पालन करना चाह रहे थे अतएव वरुण के सेवक को इस बात के लिए उन्हें नहीं पकड़ना चाहिए था कि वे अशुभ वेला में यमुना-स्नान कर रहे थे। इसी अध्याय में आगे चलकर वरुण कहते हैं—*अजानता मामकेन मूढेन*—मेरे अज्ञानी नौकर ने यह किया

क्योंकि वह मूर्ख था। यह मूर्ख नौकर कृष्ण या नन्द महाराज या भगवद्भक्ति के विषय में कुछ नहीं जानता था।

सारांश यह कि भगवान् कृष्ण वरुण को अपना दर्शन देना चाहते थे और साथ ही अन्य उपदेशात्मक कार्य सम्पन्न करना चाहते थे। इस अद्भुत लीला का उद्घाटन आगे होगा।

चुक्रुशुस्तमपश्यन्तः कृष्ण रामेति गोपकाः ।
भगवांस्तदुपश्रुत्य पितरं वरुणाहृतम् ।
तदन्तिकं गतो राजन्स्वानामभयदो विभुः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

चुक्रुशुः—जोर से पुकारा; तम्—उसको, नन्द को; अपश्यन्तः—न देखकर; कृष्ण—हे कृष्ण; राम—हे राम; इति—इस प्रकार; गोपकाः—ग्वालों ने; भगवान्—भगवान् कृष्ण ने; तत्—वह; उपश्रुत्य—सुनकर; पितरम्—अपने पिता को; वरुण—वरुण द्वारा; आहृतम्—ले जाया गया; तत्—वरुण के; अन्तिकम्—समक्ष; गतः—गया; राजन्—हे राजा परीक्षित; स्वानाम्—अपने भक्तों के; अभय—निडरपन; दः—देने वाले; विभुः—सर्वशक्तिमान स्वामी।

हे राजन्, नन्द महाराज को न देखकर ग्वाले जोर से चिल्ला उठे, "हे कृष्ण, हे राम," भगवान् कृष्ण ने उनकी चीखें सुनीं और समझ लिया कि मेरे पिता वरुण द्वारा बन्दी बना लिये गये हैं। अतः अपने भक्तों को निडर बनाने वाले सर्वशक्तिमान भगवान् वरुणदेव के दरबार जा पहुँचे।

तात्पर्य : विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि जब नन्द महाराज नदी में स्नान करने गये तो उनके साथ अनेक ग्वाले थे। जब नन्द महाराज बाहर नहीं निकले तो ग्वाले चिल्लाने लगे और भगवान् कृष्ण तुरन्त वहाँ आ गये। सारी स्थिति समझकर श्रीकृष्ण जल में घुसे और अपने पिता को छुड़ाने तथा एक देवता के त्रास से अन्य ग्वालों को मुक्त करने का निश्चय करके वरुणदेव के दरबार में गये।

प्राप्तं वीक्ष्य हृषीकेशं लोकपालः सपर्यया ।
महत्या पूजयित्वाह तद्दर्शनमहोत्सवः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

प्राप्तम्—आया हुआ; वीक्ष्य—देखकर; हृषीकेशम्—इन्द्रियों के नियन्ता भगवान् कृष्ण को; लोक—उस लोक (जल) का; पालः—मुख्य देवता (वरुण); सपर्यया—सादर भेंटों के साथ; महत्या—बड़े पैमाने पर; पूजयित्वा—पूजा करके; आह—बोला; तत्—कृष्ण के; दर्शन—दर्शन से; महा—अत्यन्त; उत्सवः—हर्ष।

यह देखकर कि भगवान् हृषीकेश पधारे हैं, वरुणदेव ने धूमधाम से उनकी पूजा की। वह भगवान् को देखकर अत्यन्त प्रमुदित था और वह इस प्रकार बोला।

श्रीवरुण उवाच

अद्य मे निभृतो देहोऽद्यैवार्थोऽधिगतः प्रभो ।
त्वत्पादभाजो भगवन्नवापुः पारमध्वनः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

श्री-वरुणः उवाच—श्रीवरुण ने कहा; अद्य—आज; मे—मेरे द्वारा; निभृतः—सफलतापूर्वक पूरा किया गया; देहः—मेरा भौतिक शरीर; अद्य—आज; एव—निस्सन्देह; अर्थः—जीवन का लक्ष्य; अधिगतः—अनुभव किया जाता है; प्रभो—हे प्रभु; त्वत्—आपके; पाद—चरणकमल; भाजः—सेवा करने वाले, पात्र; भगवन्—हे परम पुरुष; अवापुः—प्राप्त हो गया; पारम्—चरमावस्था; अध्वनः—पथ की (सांसारिक)।

श्रीवरुण ने कहा : आज मेरे शरीर ने अपना कार्य पूरा कर लिया। हे प्रभु, निस्सन्देह अब मुझे अपना जीवन-लक्ष्य प्राप्त हो चुका। हे भगवन्, जो लोग आपके चरणकमलों को स्वीकार करते हैं, वे भौतिक संसार के मार्ग को पार कर सकते हैं।

तात्पर्य : भगवान् के भव्य शरीर को देखकर वरुण प्रसन्नता के मारे चीख उठता है कि भौतिक शरीर धारण करने का सारा कष्ट आज सुफल हो गया। निस्सन्देह वरुण को अपने जीवन का असली लक्ष्य, *अर्थ,* प्राप्त हो चुका था। चूँकि भगवान् कृष्ण का रूप दिव्य है अतएव जो उनके चरणकमलों को स्वीकार करते हैं, वे संसार की सीमा के परे चले जाते हैं अतएव जिन्हें आध्यात्मिक ज्ञान नहीं है वे ही भगवान् के चरणकमलों को भौतिक मानेंगे।

नमस्तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने ।
न यत्र श्रूयते माया लोकसृष्टिविकल्पना ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; तुभ्यम्—आपको; भगवते—भगवान् को; ब्रह्मणे—परम सत्य को; परम-आत्मने—परमात्मा को; न—नहीं; यत्र—जिसमें; श्रूयते—सुना जाता है; माया—माया, भौतिक शक्ति; लोक—इस जगत की; सृष्टि—सृष्टि; विकल्पना—व्यवस्था करती है।

हे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, परम सत्य परमात्मा, मैं आपको नमस्कार करता हूँ; आपके भीतर इस सृष्टि को अपने अनुरूप बनाने वाली माया-शक्ति का लेशमात्र भी नहीं है।

तात्पर्य : यहाँ पर *श्रूयते* शब्द सार्थक है। श्रुति या वैदिक साहित्य या तो साक्षात् भगवान् या उनके प्रबुद्ध प्रतिनिधियों के प्रामाणिक कथनों से युक्त है। इसलिए न तो भगवान् न ही मान्य आध्यात्मिक अधिकारीजन यह कभी कहेंगे कि भगवान् या परम सत्य में माया का दोष है। श्रील श्रीधर स्वामी इंगित करते हैं कि यहाँ पर *ब्रह्मणे* शब्द बतलाता है कि भगवान् स्वयं में पूर्ण हैं और *परमात्मने* यह

सूचित करता है कि वे समस्त जीवों के नियन्ता हैं। इसलिए अपने में पूर्ण तथा सर्वशक्तिमान परम पुरुष के भीतर हमें भौतिक मायाशक्ति का कोई दखल नहीं दिखता।

अजानता मामकेन मूढेनाकार्यवेदिना ।
आनीतोऽयं तव पिता तद्भवान्क्षन्तुमर्हति ॥ ७॥

शब्दार्थ

अजानता—अज्ञानी; मामकेन—मेरे सेवक द्वारा; मूढेन—मूर्ख; अकार्य-वेदिना—अपने कर्तव्य को न जानने से; आनीतः—लाये गये; अयम्—यह व्यक्ति; तव—तुम्हारे; पिता—पिता; तत्—वह; भवान्—आप; क्षन्तुम् अर्हति—क्षमा कर दें।

यहाँ पर बैठे हुए आपके पिता मेरे एक मूर्ख अज्ञानी नौकर द्वारा मेरे पास लाये गये हैं, जो अपने कर्तव्य को नहीं समझता था। कृपा करके हमें क्षमा कर दें।

तात्पर्य : *अयम्* अर्थात् ''यह जो यहाँ है'' स्पष्टत: सूचित करता है कि जब वरुण बोल रहा था, तो कृष्ण के पिता नन्द महाराज वहाँ उपस्थित थे। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती लिखते हैं कि वरुण ने वास्तव में श्रीनन्द को रत्नजटित सिंहासन पर आसीन कर रखा था और स्वयं उनकी सादर पूजा की थी।

एक तरह से नन्द महाराज का सूर्योदय के पूर्व जल में प्रवेश करना उचित था। श्रील जीव गोस्वामी ने इस अध्याय के प्रथम श्लोक की टीका में इसकी व्याख्या इस प्रकार की है : विशेषतया छोटी होने के कारण, एकादशी केवल १८ घंटे की थी अत: सूर्योदय के पूर्व ही द्वादशी के छ: घंटे बीत चुके थे जिनमें उपवास तोड़ना था। चूँकि सूर्योदय होने पर व्रत-भंग का सही समय बीत चुका होता इसलिए नन्द महाराज ने अन्यथा अशुभ समय में जल में प्रवेश करने का निश्चय किया।

वरुण का सेवक वैदिक अनुष्ठानों के पालन करने वालों के निमित्त इन विस्तृत बातों से अवश्य ही ज्ञात रहा होगा। इसके अतिरिक्त नन्द महाराज भगवान् के पिता जैसा आचरण कर रहे थे अतएव वे परम पवित्र व्यक्ति थे जिन्हें वरुण के मूर्ख सेवक जैसे संसारी नगण्य अधिकारी छू भी नहीं सकते थे।

ममाप्यनुग्रहं कृष्ण कर्तुमर्हस्यशेषदृक् ।
गोविन्द नीयतामेष पिता ते पितृवत्सल ॥ ८॥

शब्दार्थ

मम—मुझपर; अपि—भी; अनुग्रहम्—दया; कृष्ण—हे कृष्ण; कर्तुम् अर्हसि—कीजिये; अशेष—हर वस्तु के; दृक्—देखने वाले आप; गोविन्द—हे गोविन्द; नीयताम्—ले जाया जा सकता है; एषः—यह; पिता—पिता; ते—आपका; पितृ-वत्सल—हे अपने माता-पिता के अत्यन्त स्नेहिल।

हे कृष्ण, हे सर्वद्रष्टा, आप मुझे भी अपनी कृपा प्रदान करें। हे गोविन्द, आप अपने पिता के प्रति अत्यधिक स्नेहवान् हैं। आप उन्हें घर ले जाँय।

श्रीशुक उवाच
एवं प्रसादितः कृष्णो भगवानीश्वरेश्वरः ।
आदायागात्स्वपितरं बन्धूनां चावहन्मुदम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; प्रसादितः—संतुष्ट; कृष्णः—कृष्ण; भगवान्—भगवान्; ईश्वर—समस्त नियन्ताओं के; ईश्वरः—परम नियन्ता; आदाय—लेकर; अगात्—चले गये; स्व-पितरम्—अपने पिता को; बन्धूनाम्—अपने सम्बन्धियों के लिए; च—तथा; आवहन्—लाते हुए; मुदम्—हर्ष।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह वरुणदेव से प्रसन्न होकर ईश्वरों के ईश्वर पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण अपने पिता को लेकर घर लौट आये जहाँ उनके सम्बन्धी उन्हें देखकर अत्यधिक हर्षित थे।

तात्पर्य : इस लीला में भगवान् कृष्ण समस्त ईश्वरों के ईश्वर रूप में अपने पद का उदात्त प्रदर्शन करते हैं। समुद्रों का देवता वरुण अत्यन्त शक्तिशाली है फिर भी वह भगवान् कृष्ण के पिता तक की पूजा करके प्रसन्न था, तो फिर कृष्ण के विषय में कहना ही क्या?

नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा लोकपालमहोदयम् ।
कृष्णे च सन्नतिं तेषां ज्ञातिभ्यो विस्मितोऽब्रवीत् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

नन्दः—नन्द महाराज; तु—तथा; अतीन्द्रियम्—इसके पूर्व न देखा गया; दृष्ट्वा—देखकर; लोक-पाल—(समुद्र) लोक के अधिष्ठाता देवता, वरुण का; महा-उदयम्—महान् ऐश्वर्य; कृष्णे—कृष्ण के प्रति; च—तथा; सन्नतिम्—नमस्कार करना; तेषाम्—उनके (वरुण तथा उसके अनुयायियों) द्वारा; ज्ञातिभ्यः—अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों से; विस्मितः—चकित; अब्रवीत्—कहा।

नन्द महाराज समुद्र लोक के शासक वरुण के महान् ऐश्वर्य को पहली बार देखकर तथा यह देखकर कि वरुण तथा उसके सेवकों ने किस तरह कृष्ण का आदर किया था, आश्चर्यचकित थे। नन्द ने इसका वर्णन अपने साथी ग्वालों से किया।

ते चौत्सुक्यधियो राजन्मत्वा गोपास्तमीश्वरम् ।

अपि नः स्वगतिं सूक्ष्मामुपाधास्यदधीश्वरः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; च—तथा; औत्सुक्य—उत्सुकता से पूर्ण; धियः—उनके मन; राजन्—हे राजा परीक्षित; मत्वा—सोचकर; गोपाः—ग्वाले; तम्—उस; ईश्वरम्—ईश्वर को; अपि—शायद; नः—हमको; स्व-गतिम्—अपने धाम; सूक्ष्माम्—दिव्य; उपाधास्यत्—प्रदान करने वाले हैं; अधीश्वरः—परम नियन्ता।

[वरुण के साथ कृष्ण की लीला को सुनकर] ग्वालों ने विचार किया कि कृष्ण अवश्य ही भगवान् हैं। हे राजन्, उनके मन उत्सुकता से भर गये। उन्होंने सोचा, "क्या भगवान् हम सबों को भी अपना दिव्य धाम प्रदान करेंगे?"

तात्पर्य : सारे ग्वाले यह सुनकर अत्यन्त उत्तेजित थे कि कृष्ण अपने पिता को बचाने किस तरह वरुणलोक गये। सहसा उनमें यह विचार उठा कि हमारा पाला तो भगवान् से पड़ा है, अतः उन्होंने बहुत ही प्रसन्नतापूर्वक इस जीवन के अन्त होने पर अपने शुभ गन्तव्य के विषय में आपस में सोचा।

**इति स्वानां स भगवान्विज्ञायाखिलदृक्स्वयम् ।
सङ्कल्पसिद्धये तेषां कृपयैतदचिन्तयत् ॥ १२ ॥**

शब्दार्थ

इति—ऐसा; स्वानाम्—अपने भक्तों का; सः—वह; भगवान्—भगवान्; विज्ञाय—समझकर; अखिल-दृक्—हर वस्तु को देखने वाला; स्वयम्—स्वयं; सङ्कल्प—कल्पित इच्छा की; सिद्धये—अनुभूति के लिए; तेषाम्—उनकी; कृपया—कृपापूर्वक; एतत्—यह; अचिन्तयत्—सोचा।

सर्वदर्शी होने के कारण भगवान् कृष्ण स्वतः समझ गये कि ग्वाले क्या अभिलाषा कर रहे हैं। उनकी इच्छाओं को पूरा करके उनपर कृपा प्रदर्शित करने के लिए भगवान् ने इस प्रकार सोचा।

**जनो वै लोक एतस्मिन्नविद्याकामकर्मभिः ।
उच्चावचासु गतिषु न वेद स्वां गतिं भ्रमन् ॥ १३ ॥**

शब्दार्थ

जनः—लोक; वै—निश्चय ही; लोके—जगत में; एतस्मिन्—इस; अविद्या—ज्ञानविहीन; काम—इच्छाओं के कारण; कर्मभिः—कार्यों से; उच्च—श्रेष्ठ; अवचासु—तथा निम्न; गतिषु—लक्ष्यों के बीच; न वेद—नहीं पहचानता; स्वाम्—निजी; गतिम्—लक्ष्य; भ्रमन्—घूमते हुए।

[भगवान् कृष्ण ने सोचा] निश्चय ही इस जगत में लोग ऊँचे तथा नीचे गन्तव्यों के बीच भटक रहे हैं, जिन्हें वे अपनी इच्छाओं के अनुसार तथा पूरी जानकारी के बिना किये गये कर्मों के माध्यम से प्राप्त करते हैं। इस तरह लोग अपने असली गन्तव्य को नहीं जान पाते।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने विस्तार से बतलाया है कि किस तरह यह श्लोक भगवान् के धाम श्री वृन्दावन के नित्यमुक्त वासियों पर लागू होता है। *श्रीमद्भागवत* का एक मूल दार्शनिक सिद्धान्त दो प्रकार की माया—योगमाया तथा महामाया अर्थात् जीवन की आध्यात्मिक और भौतिक अवस्थाओं—के बीच का अन्तर है। यद्यपि कृष्ण सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ परम पुरुष हैं किन्तु वैकुण्ठ-लोक के उनके पार्षद उनसे इतना अधिक प्रेम करते हैं कि वे उन्हें अपना प्रिय पुत्र, मित्र, प्रेमी इत्यादि मानते हैं। अतएव उनका अतीव हर्षयुक्त प्रेम कोरे सम्मान की सीमाओं को लाँघ सकता है और वे यह भूल जाते हैं कि कृष्ण समस्त ब्रह्माण्डों के परमेश्वर हैं। इस तरह उनका शुद्ध घनिष्ट प्रेम असीम विस्तार कर लेता है। कृष्ण को असहाय बालक, सुन्दर सखा या साथी मानने के कार्यों को कृष्ण के ईश्वर-पद के प्रति अविद्या की अभिव्यक्ति माना जा सकता है किन्तु वृन्दावनवासी कृष्ण के राजसी रूप की उपेक्षा करके अपना ध्यान उनके असीम सौन्दर्य पर केन्द्रित करते हैं क्योंकि वही उनका प्राणाधार है।

वस्तुत: भगवान् कृष्ण को परम नियन्ता तथा ईश्वर कहना एक प्रकार का राजनैतिक विश्लेषण है क्योंकि यह शक्ति और नियंत्रण जो तभी महत्त्वपूर्ण हो सकता है जब जीव अपने से उच्च जीव के प्रति प्रेम में पूर्णतया समर्पित नहीं होता। दूसरे शब्दों में, नियंत्रण तो स्पष्ट दिखाई देने लगता है या अनुभव होने लगता है जब उस नियंत्रण का विरोध होता है उदाहरणार्थ, एक पवित्र एवं कानून का पालन करने वाला नागरिक एक पुलिसवाले को मित्र तथा हितैषी समझता है, जबकि अपराधी उसे दण्ड के भयावह प्रतीक के रूप में देखता है। जो लोग सरकारी नीतियों के हामी हैं, वे यह नहीं अनुभव करते कि सरकार उनपर नियंत्रण रख रही है अपितु यह कि वह उनकी सहायक है।

इस तरह भगवान् कृष्ण उन लोगों के द्वारा जो उनके सौन्दर्य तथा लीलाओं से पूर्णतया मुग्ध नहीं हैं, एक ''नियन्ता'' तथा ''परमेश्वर'' के रूप में देखे जाते हैं। जो लोग भगवान् कृष्ण से पूरी तरह प्रेम करते हैं, वे उनके उदात्त आकर्षक अंगों पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। वे उनसे अपने इस प्रकार के सम्बन्ध के कारण उनकी नियामक शक्ति पर उतना ध्यान नहीं देते।

व्रजवासियों ने ईशभावनामृत की निम्न अवस्थाओं को लाँघ दिया है किन्तु उन तक पहुँच नहीं पाए हैं इसका प्रमाण यह है कि भगवान् की सारी लीलाओं के दौरान वे प्राय: ''स्मरण'' करते हैं कि कृष्ण ईश्वर हैं। सामान्यतया उन्हें इस स्मरण पर आश्चर्य होता है क्योंकि वे कृष्ण को अपना मित्र, प्रेमी

इत्यादि के रूप में देखने में लीन रहते आए हैं।

काम शब्द प्राचीन काल से ही भौतिक इच्छा या किसी ऐसी प्रबल आध्यात्मिक इच्छा को द्योतित करने के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा है कि वह प्रबल भौतिक इच्छा का पर्यायवाचक बन जाती है। फिर भी मौलिक अन्तर तो बना ही रहता है—भौतिक इच्छा स्वार्थमय तथा आत्म-तृप्तिप्रद होती है, जबकि आध्यात्मिक इच्छा स्वार्थ से रहित तथा पूर्णतया अन्य के, भगवान् के, आनन्द के लिए होती है। इस तरह वृन्दावनवासी अपने नैतिक कृत्य एकमात्र अपने प्रिय कृष्ण की प्रसन्नता के लिए करते थे।

यह स्मरण रखना चाहिए कि इस धरा पर कृष्ण के अवतरण का सारा उद्देश्य जीवों को भगवद्धाम जाने के लिए आकृष्ट करना है। इसके लिए दो बातें आवश्यक होती हैं—उनकी लीलाएँ आध्यात्मिक पूर्णता के सौन्दर्य को प्रदर्शित करती हैं और वे किसी न किसी तरह प्रासंगिक जान पड़ने के कारण इस जगत के बद्धजीवों के लिए रोचक होती हैं। *भागवत* में प्राय: कहा गया है कि भगवान् कृष्ण एक तरुण नट की तरह खेल करते हैं और निस्सन्देह अपने नित्य भक्तों को नाटक में लगाये रखते हैं। इस तरह कृष्ण मन ही मन सोचते हैं कि इस जगत के लोग सचमुच ही अपने चरम गन्तव्य को नहीं जानते। इसी तरह वे अपने नित्य मुक्त पार्षदों के बारे में भी सोचते हैं, जो इस जगत में ग्वालों की तरह क्रीड़ा करते हैं।

कृष्ण के मुक्त पार्षदों के संदर्भ में लगाए गए इस श्लोक के श्लिष्ट अर्थ के अतिरिक्त, कृष्ण सामान्य लोगों के विषय में पूर्णतया सीधी और तीखी आलोचना करते हैं। जब उन बद्धजीवों पर इसे लागू किया जाता है, जो इस ब्रह्माण्ड-भर में वास्तव में विचरण करते रहते हैं, तो उनका यह कथन कि लोग अज्ञान तथा कामवासनावश कार्य करते हैं किसी अधिक गम्भीर आध्यात्मिक अर्थ से कम नहीं होता। मनुष्य सामान्यतया अनजान होते हैं और वे अपने चरम गन्तव्य पर गम्भीरता से विचार नहीं करते। श्रीकृष्ण कुछ ही सरल शब्दों में कई जटिल बातें कहने में समर्थ हैं। हम कितने भाग्यशाली हैं कि ईश्वर ऊर्जा के शुष्क क्षेत्र नहीं हैं—इन्द्रियातीत, तेज पुंज या शून्य—प्रत्युत वे साकार गुणों से पूर्ण हैं और हम जो कुछ कर सकते हैं, वे उससे अधिक अच्छे ढंग से कर सकते हैं—यह उनके बोलने की प्रभावशाली शैली से प्रमाणित है।

इति सञ्चिन्त्य भगवान्महाकारुणिको हरिः ।
दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

इति—इन शब्दों में; सञ्चिन्त्य—अपने आप सोच कर; भगवान्—भगवान्; महा-कारुणिकः—अत्यन्त कृपालु; हरिः—भगवान् हरि ने; दर्शयाम् आस—दिखलाया; लोकम्—लोक, वैकुण्ठ; स्वम्—अपना; गोपानाम्—ग्वालों को; तमसः—भौतिक अंधकार से; परम्—परे।

इस प्रकार परिस्थिति पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए परम दयालु भगवान् हरि ने ग्वालों को अपना धाम दिखलाया जो भौतिक अंधकार से परे है।

तात्पर्य : इस श्लोक से स्पष्ट है कि परम सत्य अपने निजी नित्य धाम में निवास करते हैं। हम लोग शान्ति तथा सौन्दर्य से घिरकर अधिकाधिक सुखपूर्वक रहने का प्रयास करते हैं। तो भला किस तरह तर्क के नाम पर हम अपने स्रष्टा परमात्मा एवं उनके सुखद सुन्दर धाम से ईर्ष्या कर सकते हैं, जो सामान्य लोगों में भगवद्धाम के नाम से विख्यात है?

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्मज्योतिः सनातनम् ।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः ॥ १५॥

शब्दार्थ

सत्यम्—अनश्वर; ज्ञानम्—ज्ञान; अनन्तम्—अनन्त; यत्—जो; ब्रह्म—ब्रह्म का; ज्योतिः—तेज; सनातनम्—नित्य; यत्—जो; हि—निस्सन्देह; पश्यन्ति—देखते हैं; मुनयः—मुनिगण; गुण—भौतिक प्रकृति के गुण; अपाये—शमित होने पर; समाहिताः—समाधि में लीन।

भगवान् कृष्ण ने अनश्वर आध्यात्मिक तेज प्रकट किया जो असीम, चेतन तथा नित्य है। मुनिजन उस आध्यात्मिक जीव को समाधि में देखते हैं जब उनकी चेतना भौतिक प्रकृति के गुणों से मुक्त रहती है।

तात्पर्य : श्लोक १४ के अनुसार भगवान् कृष्ण ने वृन्दावनवासियों को अपना निजी धाम, कृष्ण-लोक नामक दिव्य लोक दिखलाया। यह तथा अन्य असंख्य वैकुण्ठ-लोक ब्रह्मज्योति के असीम समुद्र में तैरते रहते हैं। यह ब्रह्मज्योति यथार्थतः आध्यात्मिक आकाश है, जिसको, स्वाभाविक ही है, कृष्ण ने भी वृन्दावनवासियों को दिखलाया। उदाहरणार्थ, यदि हम किसी बच्चे को चाँद दिखलाना चाहें तो कहते हैं, "वह देखो आकाश में। वह देखो चन्द्रमा आकाश में वहाँ है।" इसी तरह कृष्ण ने वृन्दावनवासियों को विस्तृत आध्यात्मिक आकाश दिखलाया किन्तु जैसाकि श्लोक १४ तथा अगले श्लोक १६ में बल दिया गया है, भगवान् के पार्षदों का वास्तविक गन्तव्य उनका निजी आध्यात्मिक

लोक था।

ते तु ब्रह्महृदम्नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृताः ।
ददृशुर्ब्रह्मणो लोकं यत्राक्रूरोऽध्यगात्पुरा ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; तु—तथा; ब्रह्म-हृदम्—ब्रह्महृद नामक सरोवर में; नीताः—लाये गये; मग्नाः—डुबाये गये; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; च—तथा; उद्धृताः—ऊपर निकाले गये; ददृशुः—देखा; ब्रह्मणः—परब्रह्म का; लोकम्—दिव्य लोक; यत्र—जहाँ; अक्रूरः—अक्रूर ने; अध्यगात्—देखा था; पुरा—इसके पूर्व।.

भगवान् कृष्ण सारे ग्वालों को ब्रह्महृद ले आये, उनसे जल के भीतर डुबकी लगवाई और फिर ऊपर निकाल लिया। जिस महत्त्वपूर्ण स्थान से अक्रूर ने वैकुण्ठ को देखा था, वहीं इन ग्वालों ने भी परम सत्य के लोक को देखा।

तात्पर्य : श्लोक १५ में उल्लिखित ब्रह्मज्योति नामक दिव्य ज्योति के असीम प्रसार की उपमा ब्रह्महृद नामक सरोवर से दी गई है। भगवान् कृष्ण ने ग्वालों को इस सरोवर में डुबकी लगवाई अर्थात् उन्हें निर्विशेष ब्रह्म से अवगत कराया। लेकिन उसके बाद उन्हें उच्चतर ज्ञान तक पहुँचाया जैसाकि *उद्धृताः* शब्द से सूचित होता है। यही भगवान् का निजी लोक है। जैसाकि यहाँ स्पष्ट उल्लेख है—*ददृशुः ब्रह्मणो लोकम्*—उन्होंने अक्रूर की ही भाँति परब्रह्म के दिव्य धाम का दर्शन किया।

चेतना के विकास का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है। सामान्य चेतना के अन्तर्गत हम नाना प्रकार की भौतिक वस्तुओं को देखते और उनकी ओर आकृष्ट होते हैं। आध्यात्मिक चेतना की प्रथम अवस्था तक ऊपर उठकर हम भौतिक विविधता को पार करके *अभिन्नित एक* पर ध्यान को एकाग्र करते हैं, जो पीछे रहता है और अनेक को अस्तित्व में लाता है। अन्त में कृष्णभावनामृत तक उठकर हम देखते हैं कि परम आध्यात्मिक एक में अपनी शाश्वत अनेकता रहती है। चूँकि यह जगत नित्य जगत का प्रतिबिम्ब मात्र है अतएव हमें इस एक में आध्यात्मिक विविधता की आशा करनी चाहिए और यह निस्सन्देह हमें पावन ग्रन्थ *श्रीमद्भागवत* में देखने को मिलती है।

निपुण पाठक यह ध्यान दें कि अक्रूर सम्बन्धी लीला ग्वालों की इस घटना के बाद *भागवत* में आई है। शुकदेव गोस्वामी इसका कारण यह बतलाते हैं कि अक्रूर ने *पुरा* अर्थात् "इसके पूर्व" ही वैकुण्ठ का दर्शन किया था जिसका अर्थ यह हुआ कि शुकदेव गोस्वामी तथा महाराज परीक्षित के मध्य हुई वार्ता के कई वर्ष पूर्व ये घटनाएँ घट चुकी थीं।

नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिवृताः ।
कृष्णं च तत्र च्छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिताः ॥ १७॥

शब्दार्थ

नन्द-आदयः—नन्द महाराज तथा अन्य ग्वाले; तु—तथा; तम्—उसको; दृष्ट्वा—देखकर; परम—परम; आनन्द—आनन्द द्वारा; निवृताः—प्रसन्नता से अभिभूत; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण को; च—तथा; तत्र—वहाँ; छन्दोभिः—वैदिक स्तोत्रों से; स्तूयमानम्—स्तुति किये जाते हुए; सु—अत्यधिक; विस्मिताः—चकित।

जब नन्द महाराज तथा अन्य ग्वालों ने वह दिव्य धाम देखा तो उन्हें परम सुख की अनुभूति हुई। वे स्वयं कृष्ण को साक्षात् वेदों से घिरे एवं उनके द्वारा स्तुति किये जाते देखकर विशेष रूप से चकित थे।

तात्पर्य : यद्यपि वृन्दावनवासी अपने को सामान्य जन मानते थे किन्तु कृष्ण चाहते थे कि वे अपने अद्वितीय सौभाग्य को जानें। इस तरह भगवान् ने उन्हें यमुना नदी के एक सरोवर के भीतर अपना निजी धाम दिखलाया। ग्वाले यह देखकर चकित थे कि भगवान् के धाम का आध्यात्मिक वातावरण वैसा ही था जैसाकि उनके पृथ्वी लोक के वृन्दावन का था और जिस तरह कृष्ण उनके वृन्दावन में उपस्थित थे उसी तरह उनकी अद्वितीय दृष्टि में वैकुण्ठ में भी वे उपस्थित दिखे।

जैसाकि श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर इंगित करते हैं कि ये पद्य बतलाते हैं कि कृष्ण ने ग्वालों को न केवल वैकुण्ठ-लोक का क्षणिक दर्शन कराया अपितु उन्होंने शाश्वत लोकों में सबसे बड़ा अपना कृष्ण-लोक तथा वृन्दावनवासियों को जो कृष्ण को सर्वाधिक प्रेम करते थे, उनका असली स्थान भी दिखलाया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''कृष्ण द्वारा वरुणलोक से नन्द महाराज की रक्षा'' नामक अट्ठाइसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter उन्तीस

रासनृत्य के लिए कृष्ण तथा गोपियों का मिलन

इस अध्याय में यह बतलाया गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण रासनृत्य का आनन्द लेने की इच्छा से किस तरह गोपियों से तर्क-वितर्क करते हैं। तत्पश्चात् रासनृत्य के शुभारम्भ एवं गोपियों के बीच से

भगवान् के अन्तर्धान होने की लीला का विवरण दिया गया है।

भगवान् कृष्ण ने गोपियों के वस्त्रहरण के समय उन्हें जो वचन दिया था उसका स्मरण करके अपनी योग-मायाशक्ति से अपने भीतर शरद रात्रि में लीलाएँ करने की इच्छा उत्पन्न की। अत: वे अपनी बाँसुरी बजाने लगे। जब गोपियों ने बाँसुरी की ध्वनि सुनी तो उनके भीतर तीव्र कामभावना उमड़ने लगी और वे तुरन्त अपने घर के कामकाज छोड़ कर तेजी से कृष्ण के पास गईं। यद्यपि सारी गोपियों के शरीर नितान्त आध्यात्मिक थे किन्तु जब कुछ गोपियों के पतियों तथा अन्य घर वालों ने उन्हें जाने से रोका तो भगवान् कृष्ण ने अल्पकाल के लिए उन्हें भौतिक शरीर प्रदान किए जिन्हें वे अपने पतियों के पास छोड़ आईं। इस तरह अपने सम्बन्धियों को छलकर वे कृष्ण से मिलने चली गईं।

जब गोपियाँ भगवान् कृष्ण के समक्ष आईं तो उन्होंने पूछा, ''तुम क्यों आई हो? आधी रात में ऐसे स्थान तक आना तुम लोगों के लिए ठीक नहीं है क्योंकि यह जंगल हिंस्र पशुओं से भरा है। तुम लोगों के पति तथा बच्चे तुम्हें घर वापस ले जाने और फिर से घरेलू काम-काज में लगाने के लिए तुम्हें ढूँढ़ते हुए आते ही होंगे। फिर स्त्री का मुख्य धर्म अपने पति तथा बच्चों की सेवा करना है। किसी भद्र महिला के लिए जारपति के साथ प्रेम-क्रीड़ा करना सर्वथा निन्दनीय है और इससे उसे स्वर्ग जाने में बाधा पहुँचती है। यही नहीं, शारीरिक निकटता स्थापित करने से ही मेरे प्रति शुद्ध प्रेम उत्पन्न नहीं होता अपितु मेरी कथाओं को सुनने, मन्दिर में मेरे अर्चाविग्रह का दर्शन करने, मेरा ध्यान करने तथा मेरे यश का गान करने से शुद्ध प्रेम उत्पन्न किया जा सकता है। अतएव अच्छा यही होगा कि तुम लोग घर लौट जाओ।''

यह सुनकर गोपियों का मुँह लटक गया और कुछ रो लेने के बाद कुछ क्रोध में आकर बोलीं, ''यह आपके लिए अशोभनीय है कि जो युवतियाँ अपने जीवन का सर्वस्व न्यौछावर करके एकमात्र आपकी सेवा करने के उद्देश्य से आपके पास आई हैं उन्हें आप इस तरह ठुकरा दें। हम अपने पतियों तथा बच्चों की सेवा करके केवल पीड़ा प्राप्त करती हैं किन्तु समस्त जीवों के सर्वप्रिय आपकी सेवा करके हम अपने असली धर्म को पूरा करेंगी। भला ऐसी कौन स्त्री है, जो आपकी बाँसुरी का संगीत सुनकर और तीनों जगत को मोहने वाले आपके रूप को देखकर अपने नियत कार्यों को भूल न जाये? जिस तरह भगवान् विष्णु देवताओं की रक्षा करते हैं उसी तरह आप वृन्दावनवासियों के दुखों का

विनाश करते हैं। अतएव आपके विछोह के कारण हमने जो पीड़ा सही है उससे हमें तुरन्त मुक्त कीजिये।''

गोपियों को प्रसन्न करने की इच्छा से भगवान् कृष्ण ने जो सदा स्वयं में तुष्ट रहते हैं उनके साथ विविध क्रीड़ाएँ करने की उनकी याचना मान ली। किन्तु इस स्वीकृति से गोपियों में थोड़ा गर्व आ गया अतएव कृष्ण ने रासनृत्य स्थली से सहसा अन्तर्धान होकर उन्हें विनीत बना दिया।

श्रीबादरायणिरुवाच
भगवानपि ता रात्रीः शारदोत्फुल्लमल्लिकाः ।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्रील बादरायण व्यासदेव के पुत्र श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; भगवान्—कृष्ण; अपि—यद्यपि; ताः—वे; रात्रीः—रातें; शारद—शरदकालीन; उत्फुल्ल—खिले; मल्लिकाः—चमेली के फूल; वीक्ष्य—देखकर; रन्तुम्—प्रेम का आनन्द लेने के लिए; मनः चक्रे—मन में निश्चय किया; योगमायाम्—असम्भव को सम्भव बनाने वाली उनकी आध्यात्मिक शक्ति का; उपाश्रितः—सहारा लेकर।

श्रीबादरायणि ने कहा : श्रीकृष्ण समस्त ऐश्वर्यों से पूर्ण भगवान् हैं फिर भी खिलते हुए चमेली के फूलों से महकती उन शरदकालीन रातों को देखकर उन्होंने अपने मन को प्रेम-व्यापार की ओर मोड़ा। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अपनी अन्तरंगा शक्ति का उपयोग किया।

तात्पर्य : ज्योंही हम भगवान् कृष्ण के सुन्दर युवतियों के साथ प्रेम-नृत्य अथवा रासनृत्य की सुप्रसिद्ध कथा प्रारम्भ करते हैं, तो सामान्य लोगों के मन में शरद की पूर्णिमा की अर्धरात्रि में अनेक युवतियों के साथ ईश्वर के इस प्रेममय नृत्य के औचित्य के विषय में विविध प्रश्न उठेंगे। श्रील प्रभुपाद ने अपनी पुस्तक *भगवान् श्रीकृष्ण* में भगवान् के रासनृत्य का वर्णन करते हुए इसकी आध्यात्मिक पवित्रता की व्याख्या की है। कृष्णभावनामृत में उन्नत आचार्यों को इस विषय में कोई सन्देह नहीं है कि भगवान् कृष्ण पूर्ण और आत्मतुष्ट हैं और उन समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त हैं, जिन्हें एक प्रकार से अपूर्णता का सूचक माना जाता है।

भौतिकतावादी व्यक्ति तथा निर्विशेष दार्शनिकजन श्रीकृष्ण के दिव्य स्वभाव की प्रामाणिक व्याख्या को बुरी तरह से अस्वीकार करते हैं। किसी ऐसे परम पुरुष की उत्तम वास्तविकता को, जो नितान्त प्रेममय कार्यकलाप सम्पन्न कर सकता है, अस्वीकार करना तर्कयुक्त नहीं प्रतीत होता जबकि हमारा तथाकथित प्रेमालाप कोरा या विकृत प्रतिबिम्ब है। भौतिक कार्यकलाप ईश्वर द्वारा सम्पन्न पूर्ण

आध्यात्मिक कार्यों का प्रतिबिम्ब हो ही नहीं सकता—इस पर अड़े रहना उन लोगों की अकल्पनीय भावदशा को प्रतिबिम्बित करता है, जो श्रीकृष्ण की वास्तविकता का विरोध करते हैं। अभक्तों की यह मनोवैज्ञानिक मनोवृत्ति दुर्भाग्यवश ईर्ष्या के रूप में उबल पड़ती है, जिसके परिणामस्वरूप वे परम पुरुष के अस्तित्व को जोर शोर से नकारते हैं, क्योंकि अधिकांश निर्विशेषवादी आलोचक अपने ही प्रेमालापों का अनुगमन करते हैं, जिन्हें वे वास्तविक और आध्यात्मिक भी मानते हैं।

वास्तविक परम प्रेमी तो भगवान् कृष्ण हैं। *वेदान्त सूत्र* का शुभारम्भ इस घोषणा के साथ होता है कि परब्रह्म ही समस्त वस्तुओं के उद्‍गम हैं। यहाँ तक कि पाश्चात्य दर्शन का जन्म इस प्रत्यक्ष जगत के 'अनेक' के आधार आदि 'एक' की भद्दी खोज के प्रयास में हुआ। माधुर्य प्रेम जो कि मनुष्य का महत्त्वपूर्ण पहलू है उसे परम सत्य से कुछ भी लेना-देना नहीं है।

वास्तव में मनुष्यों द्वारा अनुभूत माधुर्य प्रेम उस आध्यात्मिक सत्य का प्रतिबिम्ब मात्र है, जिसमें यही प्रेम अपनी परम अवस्था में रहता है। इस प्रकार यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि जब कृष्ण ने शरदकालीन मादक वातावरण का आनन्द लेने का निश्चय किया, तो उन्होंने अपनी आध्यात्मिक शक्ति का आश्रय लिया (*योगमायामुपाश्रितः*)। *श्रीमद्‍भागवत* के इस अध्याय में कृष्ण के माधुर्य प्रेम की आध्यात्मिक प्रकृति मुख्य विषयवस्तु है।

कोई स्त्री अपनी मधुर वाणी, अपने सौन्दर्य तथा शालीनता, अपनी मोहक सुगन्धि तथा सुकुमारपन के साथ ही अपनी चातुरी तथा संगीत-नृत्य में दक्षता के कारण आकर्षक लगती है। इन सबों में वृन्दावन की तरुणी गोपिकाएँ, जो कि कृष्ण की अन्तरंगा शक्ति हैं, सर्वाधिक आकर्षक हैं। इस अध्याय में यही बतलाया गया है कि किस तरह कृष्ण ने उनके स्त्री सुलभ उत्तम गुणों का आनन्द लिया यद्यपि इन घटनाओं के समय श्रीकृष्ण केवल आठ वर्ष के बालक थे, जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने उल्लेख किया है।

सामान्य लोग यही चाहते हैं कि ईश्वर उनके प्रेमालापों के साक्षी बनें। जब कोई लड़का किसी लड़की को या कोई लड़की किसी लड़के को चाहती है, तो वे अपने आनन्द-भोग के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। ऐसे लोगों को यह जानकर धक्का लगता है और बड़े निराश हो उठते हैं कि भगवान् अपनी दिव्य इन्द्रियों द्वारा अपने ही प्रेमालापों का आनन्द भोग सकते हैं। सच तो यह है कि श्रीकृष्ण

आदि कामदेव हैं और उनकी उत्तेजक माधुर्य लीलाओं का वर्णन इस अध्याय में किया जायेगा।

जब भगवान् कृष्ण पृथ्वी पर अवतरित होते हैं, तो उनका आध्यात्मिक शरीर जन्म लेता हुआ तथा उनके द्वारा विविध लीलाओं के प्रदर्शन के साथ विकास करता हुआ प्रतीत होता है। भगवान् अपने बाल्यकाल को एक युवक तथा युवतियों के मध्य परम प्रेमालाप को प्रदर्शित किये बिना कैसे बीत जाने देते। इसीलिए विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने श्रील रूप गोस्वामी का वक्तव्य उद्धृत किया है—*कैशारं सफलीकरोति कलयन् कुञ्जे विहारं हरिः*—भगवान् हरि वृन्दावन के कुञ्जों में विहार (प्रेमलीला) करके अपनी कैशोरावस्था को सफल बनाते हैं।

तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं
प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः ।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन्
प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; उडु-राजः—तारों का राजा, चन्द्रमा; ककुभः—क्षितिज का; करैः—अपने ''हाथों'' (किरणों) से; मुखम्—मुखमण्डल; प्राच्याः—पश्चिमी; विलिम्पन्—रंजित करते हुए; अरुणेन—लाल रंग से; शम्-तमैः—अत्यन्त आराम पहुँचाने वाली (किरणों) से; सः—वह; चर्षणीनाम्—देखने वालों के; उदगात्—उदय हुआ; शुचः—दुख; मृजन्—मिटाते हुए; प्रियः—प्रिय पति; प्रियायाः—अपनी प्रियतमा पत्नी का; इव—सदृश; दीर्घ—काफी देर बाद; दर्शनः—फिर से देखे जाने पर।

तब चन्द्रमा अपनी लाल रंग की सुखदायी किरणों से पश्चिमी क्षितिज को रंजित करते हुए उदय हुआ और इस तरह उसने उदय होते देखने वालों की पीड़ा दूर कर दी। यह चन्द्रमा उस प्रिय पति के समान था, जो दीर्घकालीन अनुपस्थिति के बाद घर लौटता है और अपनी प्रियतमा पत्नी के मुखमण्डल को लाल कुंकुम से सँवारता है।

तात्पर्य : किशोर कृष्ण ने अपनी अन्तरंगा शक्ति का प्रयोग किया और उसने तुरन्त माधुर्य प्रेम के उपयुक्त उत्तेजक वातावरण की सृष्टि कर दी।

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं
रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम् ।
वनं च तत्कोमलगोभी रञ्जितं
जगौ कलं वामदृशां मनोहरम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; कमुत्-वन्तम्—रात्रि में खिलने वाले कुमुद फूलों को खोलता हुआ; अखण्ड—अटूट; मण्डलम्—मुख का गोला; रमा—लक्ष्मी के; आनन—मुखमण्डल (सदृश); आभम्—जिसका प्रकाश; नव—नया; कुङ्कुम—सिंदूर से; अरुणम्—लाल हुआ; वनम्—वन को; च—तथा; तत्—उस चन्द्रमा का; कोमल—सुकुमार; गोभिः—किरणों से; रञ्जितम्—रँगा हुआ; जगौ—वंशी बजाई; कलम्—सुरीली; वाम-दृशाम्—मोहक नेत्रों वाली तरुणियों के लिए; मनः-हरम्—मुग्ध करने वाली।

भगवान् कृष्ण ने नवलेपित सिंदूर के लाल तेज से चमकते पूर्ण चन्द्रमा के अविच्छिन्न मण्डल को देखा। ऐसा लग रहा था मानो लक्ष्मीजी का मुखमण्डल हो। उन्होंने चन्द्रमा की उपस्थिति से खिलने वाले कुमुदों को तथा उसकी किरणों से मन्द मन्द प्रकाशित जंगल को भी देखा। इस तरह भगवान् ने अपनी वंशी पर सुन्दर नेत्रों वाली गोपियों के मन को आकृष्ट करने वाली मधुर तान छेड़ दी।

तात्पर्य : इस श्लोक का *जगौ* शब्द यह बताता है कि कृष्ण ने अपनी बाँसुरी पर गीत बजाये जैसाकि श्लोक ४० में आये हुए शब्दों—का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतवेणुगीत—से पुष्टि होती है। *रमा* शब्द से न केवल विष्णु की प्रियतमा का अपितु आदि लक्ष्मी देवी श्रीमती राधारानी का भी बोध होता है। कृष्ण का जन्म चन्द्रवंश में हुआ था और रासनृत्य में प्रवेश करते समय यहाँ पर चन्द्रमा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

निशम्य गीतां तदनङ्गवर्धनं
व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः ।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः
स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः ॥ ४॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; गीतम्—संगीत; तत्—वह; अनङ्ग—कामदेव को; वर्धनम्—प्रबल करने वाला; व्रज-स्त्रियः—व्रज की युवतियाँ; कृष्ण—कृष्ण द्वारा; गृहीत—जकड़ी; मानसाः—मन वाली; आजग्मुः—गईं; अन्योन्यम्—एक-दूसरे से; अलक्षित—अनदेखी; उद्यमाः—आगे बढ़ती; सः—वह; यत्र—जहाँ; कान्तः—उनका बाल-सखा; जव—जल्दी के कारण; लोल—हिलते हुए; कुण्डलाः—कान के कुण्डल।

जब वृन्दावन की युवतियों ने कृष्ण की बाँसुरी का संगीत सुना जो प्रेम-भावनाओं को उत्तेजित करता है, तो उनके मन भगवान् द्वारा वशीभूत कर लिये गये। वे वहीं चली गईं जहाँ उनका प्रियतम बाट जोह रहा था। वे एक-दूसरे की अनदेखी करके इतनी तेजी से आगे बढ़ रही थीं कि उनके कान की बालियाँ आगे-पीछे हिल-डुल रही थीं।

तात्पर्य : ऐसा लगता है कि प्रत्येक गोपी छिपकर गई जिससे उसकी प्रतिद्वंद्वी जान न पायें कि

कृष्ण प्रेमालाप के प्रति उन्मुख हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस स्थिति का वर्णन इस तरह पद्यबद्ध किया है :

कृष्ण ने अपनी वंशी बजाकर वृन्दावन में भीषण चौरकर्म के लिए उत्तेजित कर दिया। उनकी वंशी का गीत गोपियों के कानों से होकर सीधे हृदयों में जाकर बिंध गया। उस अद्भुत संगीत ने उनका सबकुछ—उनकी गम्भीरता, लज्जा, भय, विवेक तथा मन तक को भी—चुरा लिया और एक ही क्षण में इस संगीत ने ये सबकुछ कृष्ण के पास पहुँचा दिया। प्रत्येक गोपी कृष्ण से अपनी निजी निधि लौटाने की याचना करने गई। हर सुन्दर युवती यही सोच रही थी, "मुझे उस महान् चोर को पकड़ना है" और इस तरह वे एक-दूसरे के अनजाने में आगे बढ़ती गईं।"

दुहन्त्योऽभिययु: काश्चिद्दोहं हित्वा समुत्सुका: ।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययु: ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

दुहन्त्य:—दुहने के बीच में ही; अभिययु:—चली गईं; काश्चित्—उनमें से कुछ; दोहम्—दुहना; हित्वा—त्यागकर; समुत्सुका:—अत्यधिक उत्सुक; पय:—दूध; अधिश्रित्य—चूल्हे पर रखकर; संयावम्—आटे की बनी रोटियों (हलवा); अनुद्वास्य—चूल्हे से उतारे बिना; अपरा:—अन्य; ययु:—चली गईं।

कुछ गोपियाँ दूध दुह रही थीं जब उन्होंने कृष्ण की बाँसुरी सुनी। उन्होंने दुहना बन्द कर दिया और वे कृष्ण से मिलने चली गईं। कुछ ने चूल्हे पर दूध को उबलते छोड़ दिया और कई ने चूल्हें में रोटियों को सिकते हुए छोड़ दिया।

तात्पर्य : यहाँ किशोर कृष्ण के प्रति प्रेमपूर्वक अनुरक्त इन गोपियों की उत्सुकता को दिखलाया गया है।

परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्य: शिशून्पय: ।
शुश्रूषन्त्य: पतीन्काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम् ॥ ६ ॥
लिम्पन्त्य: प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्य: काश्च लोचने ।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणा: काश्चित्कृष्णान्तिकं ययु: ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

परिवेषयन्त्य:—वस्त्र पहने; तत्—उसे; हित्वा—एक ओर रखकर; पाययन्त्य:—पिलाती हुई; शिशून्—अपने शिशुओं को; पय:—दूध; शुश्रूषन्त्य:—सेवा करती हुई; पतीन्—अपने पतियों की; काश्चित्—उनमें से कुछ; अश्नन्त्य:—खाती हुई; अपास्य—छोड़कर; भोजनम्—अपने अपने भोजन; लिम्पन्त्य:—अंगराग लगाये; प्रमृजन्त्य:—तेल लगाती; अन्या:—अन्य;

अञ्जन्त्यः—कज्जल लगाती; काश्च—कुछ; लोचने—अपनी आँखों में; व्यत्यस्त—अस्त-व्यस्त; वस्त्र—कपड़े; आभरणाः—तथा गहने; काश्चित्—उनमें से कुछ; कृष्ण-अन्तिकम्—कृष्ण के निकट तक; ययुः—गईं।

उनमें से कुछ वस्त्र पहन रही थीं, कुछ अपने बच्चों को दूध पिला रही थीं या अपने पतियों की सेवा में लगी थीं किन्तु सबों ने अपने-अपने कार्य छोड़ दिये और वे कृष्ण से मिलने चली गईं। कुछ गोपियाँ शाम का भोजन कर रही थीं, कुछ नहा-धोकर शरीर में अंगराग या अपनी आँखों में कज्जल लगा रही थीं। किन्तु सबों ने तुरन्त अपने अपने कार्य बन्द कर दिये और यद्यपि उनके वस्त्र तथा गहने अस्त-व्यस्त थे वे कृष्ण के पास दौड़ी गईं।

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः ।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

ताः—वे; वार्यमाणाः—रोके जाने पर; पतिभिः—अपने पतियों द्वारा; पितृभिः—अपने पिताओं द्वारा; भ्रातृ—भाई; बन्धुभिः—तथा अन्य सम्बन्धियों द्वारा; गोविन्द—कृष्ण द्वारा; अपहृत—चुराई गई; आत्मानः—स्वयं से; न न्यवर्तन्त—वापस नहीं आईं; मोहिताः—मोहित।

उनके पतियों, पिताओं, भाइयों तथा अन्य सम्बन्धियों ने उन्हें रोकने का प्रयत्न किया किन्तु कृष्ण उनके हृदयों को पहले ही चुरा चुके थे। उनकी बाँसुरी की ध्वनि से मोहित होकर उन्होंने लौटने से इनकार कर दिया।

तात्पर्य : कुछ तरुणी गोपिकाएँ विवाहिता थीं जिनके पतियों ने उन्हें रोकने का प्रयास किया। अविवाहिताओं को अपने अपने पिता, भाई तथा अन्य सम्बन्धियों से निपटना पड़ा। सम्बन्धियों में से कोई भी सामान्य रूप से इन तरुणियों के मृत शरीरों को भी रात्रि में जंगल न जाने देता किन्तु कृष्ण ने पहले से ही अपनी अन्तरंगा शक्ति लगा रखी थी जिससे समस्त प्रेम-व्यापार का अध्याय बिना किसी अवरोध के उद्घाटित हो गया।

अन्तर्गृहगताः काश्चिद्गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अन्तः-गृह—अपने घरों के भीतर; गताः—उपस्थित; काश्चित्—कुछ; गोप्यः—गोपियाँ; अलब्ध—न प्राप्त करके; विनिर्गमाः—रास्ता; कृष्णम्—श्रीकृष्ण पर; तत्-भावना—उनके प्रति भावात्मक प्रेम से; युक्ताः—युक्त; दध्युः—ध्यान किया; मीलित—बन्द किये; लोचनाः—अपनी आँखें।

किन्तु कुछ गोपियाँ अपने घरों से बाहर न निकल पाईं अतः वे अपनी आँखें बन्द किये शुद्ध

प्रेम में कृष्ण का ध्यान करते हुए घर पर ही ठहरी रहीं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने पूरे दसवें स्कंध की भगवान् कृष्ण की लीलाओं का काव्यात्मक भाष्य विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया है। इन विस्तृत विवरणों को सम्मिलित कर पाना हमेशा सम्भव नहीं किन्तु इस श्लोक पर उनका पूरा भाष्य प्रस्तुत कर रहे हैं। विद्वान वैष्णव समुदाय से हमारी यही संस्तुति है कि भगवान् का कोई योग्य भक्त दसवें स्कंध पर श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के भाष्य को पृथक् पुस्तक के रूप में प्रस्तुत करे तो भक्तों तथा अभक्तों द्वारा वह समान रूप से प्रशंसित होगी। आचार्य का इस श्लोक पर भाष्य निम्नवत् है :

इस प्रसंग में हम श्रील रूप गोस्वामी कृत *उज्ज्वल नीलमणि* में वर्णित विधि के अनुसार अपना विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे। गोपियों के दो वर्ग हैं—*नित्यसिद्ध* अर्थात् शाश्वत पूर्ण तथा *साधनसिद्ध* अर्थात् भक्तियोग के अभ्यास द्वारा पूर्ण बनी हुईं। *साधनसिद्ध* की भी दो श्रेणियाँ हैं—विशिष्ट तथा अविशिष्ट। विशिष्ट श्रेणी के भी दो विभाग हैं—*श्रुतिचारी* अर्थात् साक्षात् वेदों से आने वाली तथा *ऋषिचारी* अर्थात् ऋषियों के उस वर्ग से आने वाली जिन्होंने भगवान् रामचन्द्र को दण्डकारण्य में देखा था।

पद्म पुराण में भी गोपियों का यही चतुर्विध वर्गीकरण पाया जाता है—

गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेया ऋषिजा गोपकन्यका:।

देवकन्याश्च राजेन्द्र न मानुष्या: कथञ्चन॥

''ऐसा माना जाता है कि कुछ गोपियाँ साक्षात् वैदिक साहित्य हैं, कुछ पुन: जन्मी ऋषि हैं, कुछ ग्वालों की पुत्रियाँ हैं या फिर देवताओं की कन्याएँ हैं। किन्तु हे राजन् उनमें से कोई एक किसी भी प्रकार से सामान्य ग्वालिनें नहीं हैं।'' यहाँ पर बताया गया है कि यद्यपि गोपियाँ मानवी गोपकन्याएँ प्रतीत होती थीं किन्तु वास्तव में वे थीं नहीं। इस तरह इस विवाद का कि वे मर्त्य थीं निराकरण हो जाता है।

यहाँ पर जिन ग्वाल-पुत्रियों को *गोपकन्याएँ* कहा गया है वे अवश्यमेव नित्यसिद्ध हैं क्योंकि उन्होंने कभी कोई *साधना* नहीं की। उनके द्वारा कात्यायनी देवी की पूजा का साधन यही बतलाता है कि वे मनुष्यों की तरह कार्य कर रही थीं और *भागवत* में इस पूजा का विवरण यह दिखाने के लिए आया है कि किस प्रकार उन्होंने गोपकन्याओं की भूमिका पूर्ण रूप से ले रखी थी।

गोपकन्या गोपियों का *नित्यसिद्ध* होना ब्रह्म-संहिता के इस कथन (५.३७) से स्थापित हो जाता है—*आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभिः।* इससे यह सिद्ध होता है कि वे भगवान् की आध्यात्मिक ह्लादिनी शक्ति हैं। इसी प्रकार से *गौतमीय* तंत्र में कहा गया है—*ह्लादिनी* या *महाशक्तिः।* उनकी पूर्णता की पुष्टि इससे भी होती है कि ये गोपियाँ अपने प्रेमी कृष्ण के साथ साथ नित्य हैं जिसका उल्लेख अठारह अक्षर वाले मंत्र, दस अक्षर वाले मंत्र तथा अन्य मंत्रों में हुआ है। इन मंत्रों की पूजा तथा इन्हें प्रस्तुत करने वाली श्रुतियाँ अनन्तकाल से विद्यमान हैं।

''*सम्भवस्त्वमरस्त्रियः* से प्रारम्भ होने वाले श्लोक में जिन देवकन्याओं का उल्लेख हुआ है उन्हें *उज्ज्वल नीलमणि* में नित्यसिद्ध गोपियों का अंश कहा गया है। श्रुतिचारी अर्थात् साक्षात् वेदों से आने वाली गोपियों को *साधनसिद्ध* समझने का कारण *बृहद्वामन पुराण* से उद्धरित उनके निम्नलिखित शब्द हैं—

कन्दर्पकोटिलावण्ये त्वयि दृष्टे मनांसि नः।

कामिनीभावमासाद्य स्मरक्षुब्धान्यसंशयः॥

यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः।

भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षाजनिनस्तथा॥

'चूँकि हमने तुम्हारे मुख को देखा है, जिसमें लाखों कामदेवों का सौन्दर्य पाया जाता है, अतः हमारे मन तुम्हारे लिए उसी तरह कामुक हो उठे हैं जिस तरह उन तरुणियों के; और हम अन्य सारे प्रलोभनों को भूल चुकी हैं। हमने उन गोपियों की तरह आपके लिए कार्य करने की इच्छा उत्पन्न कर ली है, जो आपके दिव्य लोक में रहती हैं और इस विचार से आपकी पूजा करती हैं और कामदेव जैसा स्वभाव प्रकट करती हैं कि आप उनके जारपति हैं।'

ऋषिचारी गोपियाँ भी *साधनसिद्ध* हैं जैसा कि *उज्ज्वल नीलमणि* में कहा गया है—*गोपालोपासकाः पूर्वम् अप्राप्ताभीष्टसिद्धयः।* पूर्वजन्म में वे दण्डकारण्य में निवास करने वाले महर्षियों के रूप में थीं। इसका साक्ष्य हमें *पद्म पुराण* के उत्तर खण्ड में मिलता है :

दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम्।

ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले।

हरिं सम्प्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात्॥

इस श्लोक में कहा गया है कि भगवान् रामचन्द्र को देखकर दण्डकारण्य के ऋषियों की इच्छा भगवान् हरि (कृष्ण) का भोग करने के लिए हुई। दूसरे शब्दों में, भगवान् राम के सौन्दर्य से उन्हें भगवान् हरि या गोपाल की स्मृति हो आई जो उनकी पूजा के व्यक्तिगत आराध्य थे और वे उनके साथ आनन्द भोगना चाहते थे। किन्तु चिन्ता के कारण वे अपनी इच्छा पूरी नहीं कर पाये अत: कल्पवृक्ष तुल्य भगवान् राम ने उन पर बिना माँगे ही कृपा कर दी। इस तरह उनकी इच्छा पूरी हो गई जैसा कि *ते सर्वे* शब्दों से प्रकट है। वे अपने काममय आकर्षण के द्वारा भवसागर और जन्म-मृत्यु के चक्कर से मुक्त हो गये और साथ साथ माधुर्य रस में उन्हें हरि की संगति भी मिल गई।

भागवत के इस श्लोक से हम यह जान पाते हैं कि जिन गोपियों के बच्चे थे उन्हें ही बलपूर्वक घर में रोका गया था। यह तथ्य *भागवत* के आगे के श्लोकों से क्रमश: स्पष्ट हो जाता है—*मातर: पितर: पुत्रा:* (१०.२१.२०) *यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग* (१०.२९.३२) तथा *पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवान्* (१०.३१.१६)। श्रील कवि कर्णपूर गोस्वामी ने दसवें स्कन्ध की टीका में इस तथ्य का उल्लेख किया है। हम इस श्लोक से सम्बन्धित उनके सारे भावों को न दुहराकर उनके तात्पर्य का सारांश देंगे।

भगवान् श्रीरामचन्द्र के स्वरूप को देखकर वे ऋषि जो भगवान् गोपाल के पूजक थे तुरन्त रागानुगभक्ति के परिपक्व पद को प्राप्त हो गये। इस तरह वे स्वत: दृढ़ विश्वास, आकर्षण तथा आसक्ति की अवस्थाओं को प्राप्त हुए। किन्तु तो भी वे अपने को समस्त भौतिक कल्मष से पूरी तरह मुक्त नहीं कर पाये थे इसलिए योगमाया-देवी ने उनके लिए व्यवस्था की कि वे गोपियों के गर्भ से जन्म लेकर गोपकन्याएँ बनें। इन नवीन गोपियों में से कुछ ने नित्यसिद्ध गोपियों की संगति से कृष्ण के लिए युवावस्था में कदम रखते ही पूर्वराग प्रकट किया (ऐसा आकर्षण प्रिय से मिलने के पूर्व भी उत्पन्न हो जाता है)। जब इन नवीन गोपियों ने कृष्ण के दर्शन किये और शरीर से उनका सान्निध्य प्राप्त किया, तो उनके बचेखुचे कल्मष भी जलकर क्षार हो गये और उन्हें *प्रेम, स्नेह* आदि की उच्च अवस्थाएँ प्राप्त हो गईं।''

''यद्यपि वे अपने गोपपतियों के संग थीं किन्तु योगमाया की शक्ति से गोपियाँ उनके साथ यौन-सम्पर्क से निष्कलंक रहती रहीं। एक तरह से वे शुद्ध आध्यात्मिक शरीरों में स्थित थीं जिनका कृष्ण ने

भोग किया। रात्रि में उन्होंने कृष्ण की वंशी की ध्वनि सुनी, उनके पतियों ने उन्हें रोकना चाहा किन्तु योगमाया के कृपामय सहयोग से साधनसिद्ध गोपियाँ अन्य नित्यसिद्ध गोपियों के साथ अपने प्रियतम के पास जा सकीं।

''किन्तु अन्य गोपियाँ जिन्हें नित्यसिद्ध गोपियों तथा अन्य सिद्ध गोपियों की संगति का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका, *प्रेम अवस्था* प्राप्त नहीं कर पाईं जिससे उनका कल्मष पूरी तरह जलकर क्षार नहीं हो पाया। उन्होंने अपने गोपपतियों के साथ संभोग करने के बाद बच्चों को जन्म दिया। किन्तु कुछ ही काल बाद इन गोपियों में भी पूर्वराग उत्पन्न हुआ क्योंकि वे कृष्ण के साथ शारीरिक संयोग की प्रगाढ़ लालसा से पूर्ण थीं जो उन्होंने सिद्ध गोपियों की संगति से प्राप्त की थी। सिद्ध गोपियों की कृपापात्र बनकर उन्होंने कृष्ण द्वारा भोग्य दिव्य शरीर धारण किये और जब योगमाया उन्हें अपने पतियों द्वारा रोक रखने के प्रयासों पर विजय दिलाने में असफल रही तो उन्होंने अपने को निकृष्टतम विपदा में पड़ा हुआ पाया। अपने पतियों, भाइयों, जनकों तथा परिवार के अन्य सदस्यों को अपना शत्रु मानकर वे मरणासन्न हो गईं। जिस तरह अन्य स्त्रियाँ मृत्यु के समय अपनी माताओं या अन्य सम्बन्धियों का स्मरण करती हैं उसी तरह इन गोपियों ने एकमात्र सखा कृष्ण को प्राणाधार के रूप में स्मरण किया जैसाकि *अन्तर्* शब्द से प्रारम्भ होने वाले *भागवत* के इस श्लोक में कहा गया है।

''यह भाव निहित है कि वे स्त्रियाँ घर के बाहर निकल नहीं पाईं क्योंकि उन्हें उनके पतियों ने रोक लिया था और वे अपने हाथों में लाठी लिए उन्हीं के पास खड़े होकर उन्हें डाँट-फटकार रहे थे। यद्यपि ये गोपियाँ निरन्तर कृष्ण-प्रेम में लीन रहती थीं किन्तु इस विशेष अवसर पर उन्होंने कृष्ण का ध्यान किया और अपने अन्तर में रोदन किया, ''हे हमारे जीवन के एकमात्र सखा! हे वृन्दावन जंगल की कलाओं के सिन्धु! आप हमें किसी अगले जीवन में अपनी सखियाँ बनायें क्योंकि इस बार हम आपके कमल सदृश मुख को अपनी आँखों से नहीं देख पा रहीं हैं। जो भी हो, हम आपको अपने मन से निहारेंगी।'' सारी गोपियाँ इस तरह अपने आप में पश्चाताप करती हुईं अपनी आँखें बन्द किये खड़ी रहीं और तल्लीनता से कृष्ण का ध्यान करने लगीं।''

दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ।

ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः ॥ १० ॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः ।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

दुःसह—असह्य; प्रेष्ठ—अपने प्रिय से; विरह—वियोग से; तीव्र—तीक्ष्ण; ताप—जलन से; धुत—दूर हो गये; अशुभाः—उनके हृदयों की सारी अशुभ बातें; ध्यान—ध्यान से; प्राप्त—प्राप्त किया हुआ; अच्युत—अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण के; आश्लेष—चुम्बन से उत्पन्न; निर्वृत्या—हर्ष से; क्षीण—अत्यन्त दुर्बल; मङ्गलाः—उनके शुभ कर्मफल; तम्—उस; एव—भले ही; परम-आत्मानम्—परमात्मा को; जार—उपपति; बुद्ध्या—सोचते हुए; अपि—तो भी; सङ्गताः—प्रत्यक्ष संगति पाकर; जहुः—त्याग दिया; गुण-मयम्—प्रकृति के गुणों से निर्मित; देहम्—उनके शरीर को; सद्यः—तुरन्त; प्रक्षीण—पूरी तरह शिथिल कर दिया; बन्धनाः—कर्म के बन्धनों को।

जो गोपियाँ कृष्ण का दर्शन करने नहीं जा सकीं, उनके लिए अपने प्रियतम से असह्य विछोह तीव्र वेदना उत्पन्न करने लगा, जिसने उनके सारे अशुभ कर्मों को भस्म कर डाला। उनका ध्यान करने से गोपियों को उनके आलिंगन की अनुभूति हुई और तब उन्हें जो आनन्द अनुभव हुआ उसने उनकी भौतिक धर्मनिष्ठा को समाप्त कर दिया। यद्यपि भगवान् कृष्ण परमात्मा हैं किन्तु इन युवतियों ने उन्हें अपना प्रेमी ही समझा और उसी घनिष्ठ रस में उनका संसर्ग प्राप्त किया। इस तरह उनके कर्म-बन्धन नष्ट हो गये और उन्होंने अपने स्थूल भौतिक शरीरों को त्याग दिया।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है : "यहाँ पर शुकदेव गोस्वामी विचित्र ढंग से बोलते हैं: वे गोपियों द्वारा प्राप्त किये गये आन्तरिक उद्देश्य को एक बाह्य विचार के रूप में प्रस्तुत करते हैं और इस तरह असली स्वभाव को बाहरी लोगों से गोपनीय बनाये रखते हैं किन्तु उसी के साथ ही वे गुह्य भक्तों को, जो कि आध्यात्मिक भक्ति के वैज्ञानिक परिणामों में दक्ष हैं असली उद्देश्य प्रकट कर देते हैं। इस तरह बाहरी लोगों से शुकदेव कहते हैं कि कृष्ण ने गोपियों को मोक्ष प्रदान किया किन्तु गुह्य श्रोताओं से शुकदेव बतलाते हैं कि जब गोपियों को अपने प्रिय से विछोह का अनुभव हुआ तो उनमें अपार दुख तथा अपार सुख दोनों ही उत्पन्न हुए और इस तरह धीरे-धीरे उन्हें वांछित उद्देश्य प्राप्त हो गया।

इस तरह इस श्लोक को निम्नवत् समझा जा सकता है : अपने प्रिय के असह्य वियोग के कारण गोपियों को भीषण पीड़ा हुई जिससे सारी अशुभ वस्तुएँ लड़खड़ाने लगीं। दूसरे शब्दों में, जब सामान्य लोग गोपियों द्वारा अपने प्रिय के वियोग में अपार पीड़ा होने के विषय में सुनते हैं, तो वे हजारों अशुभ

वस्तुओं को त्याग देते हैं—जैसे करोड़ों ब्रह्माण्डों के भीतर दहकती अग्नि जैसी भयावह वस्तुएँ या शिवजी द्वारा पिया हुआ गरल। विशेष रूप से जो गोपियों के विरह प्रेम के बारे में सुनते हैं, वे अपने भीषण मिथ्या अहंकार को त्याग देते हैं और अपने को पराजित मानते हुए दहल जाते हैं। जब गोपियों ने भगवान् अच्युत का ध्यान किया, तो वे प्रकट होकर उनके समक्ष आये और गोपियाँ उनके शरीर का आलिंगन करके अत्यन्त आनन्दित हुईं क्योंकि उनका शरीर गोपियों के प्रति दिव्य प्रेम से पूर्ण था। गोपियों ने भी इस प्रेम के अनुरूप अपने अपने शारीरिक लक्षण और पहचान के भाव प्रकट करते हुए परम प्रसन्नता का अनुभव किया। इस प्रसन्नता के आगे उनका समस्त भौतिक या आध्यात्मिक सौभाग्य तुच्छ प्रतीत हो रहा था।

बात यह है कि जब अन्य लोग यह देखते हैं कि जब कृष्ण गोपियों के समक्ष प्रकट हुए वे उनका आलिंगन करके कितनी सुखी हुईं तो ये लोग यह अनुभव करते हैं कि तथाकथित हजारों शुभ वस्तुएँ इसकी तुलना में नगण्य हैं—यहाँ तक कि करोड़ों ब्रह्माण्डों में प्राप्य इन्द्रिय सुख तथा ब्रह्मानन्द भी नगण्य लगता है। परमेश्वर से विछोह एवं उनसे मिलन के फलस्वरूप क्रमश: उत्पन्न गोपियों के कष्ट और हर्ष के विषय में सुनकर कोई भी व्यक्ति अपने समस्त विगत कर्मफलों से, चाहे वे पापपूर्ण हों या पवित्र हों, छूट सकता है। हाँ, वैष्णवजन ऐसा नहीं सोचते कि किसी के पापमय तथा पुण्य कर्मफल केवल उनका भोग करने से ही नष्ट हो सकते हैं क्योंकि न तो परमेश्वर से विछोह, न ही उनकी प्रत्यक्ष संगति ही *कर्म* की श्रेणी में आते हैं। कर्मफलों का इस तरह का निवारण तो *भजन* अवस्था में उन लोगों के साथ होता है, जो *अनर्थ निवृत्ति* पद को प्राप्त हो चुके हैं।

''इस तरह गोपियों ने परमात्मा या प्रेम के परम लक्ष्य कृष्ण को अपना जारपति मान लिया। यद्यपि ऐसा भाव सामान्य रीति से निन्दनीय है किन्तु गोपियाँ कृष्ण के प्रति रुक्मिणी तथा अन्य रानियों की अपेक्षा अधिक अनुरक्त थीं, जो उन्हें पूर्ण सम्मानपूर्वक अपना पति मानती थीं। भगवान् को अपना जारपति मानना असली पति मानने की तुलना में श्रेष्ठ है—यह इस बात से सिद्ध हो जाता है कि निर्बन्ध शुद्ध प्रेम गृहस्थ-प्रेम से बढ़कर है। श्री उद्धव के वचनों से इस भाव का समर्थन होता है—*या दुस्त्यजं स्वजनम् आर्यपथं च हित्वा*—व्रज की इन महिलाओं ने अपने परिवार तथा अपने उन्नत धर्म का भी परित्याग कर दिया जिनका परित्याग कर पाना दुष्कर होता है। (*भागवत* १०.४७.६१)।

"इस धरा पर अपनी लीलाओं में कृष्ण प्राय: नगण्य वस्तुओं को अत्युच्च बना देते हैं। जैसाकि भीष्म ने कहा है कि अर्जुन के सारथी के रूप में कृष्ण की लीला उन लीलाओं से भी अधिक महान् है जिनमें वे राजाओं के भी राजा की तरह कार्य करते थे—*विजयरथ कुटुम्ब आत्ततोत्रे। धृतहयरश्मिनि तच्छ्रियेस्क्षणीये*—मैं अर्जुन के सारथी का ध्यान करता हूँ जो अपने दाएँ हाथ में चाबुक और बाएँ हाथ में लगाम लिए है और जो अर्जुन के रथ की सभी प्रकार से रक्षा करने के लिए सतर्क थे। (*भागवत* १.९.३९) इसी तरह हम देखते हैं कि सामान्य निकृष्ट माधुर्य रास सामान्य उच्चतर शान्त रस से श्रेष्ठ बन जाता है। इसी तरह जारपति से प्रेम-भाव वैध दम्पति के प्रेम-विनिमय से श्रेष्ठ बन जाता है। गुंजा की तुच्छ मालाएँ गेरू के लेप और मोरपंख सर्वोत्तम रत्नजटित आभूषणों से भी श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं।

"किन्तु यह आपत्ति की जा सकती है कि भगवान् के लिए इस प्रकार उन स्त्रियों से केलि करना उचित नहीं है जिनके शरीर का भोग अन्य पुरुषों द्वारा पहले से हो चुका हो। इस आक्षेप का उत्तर *जहु:* आदि शब्दों में मिल जाता है। यहाँ पर *देहम्* शब्द एकवचन में प्रयुक्त हुआ है, जबकि गोपियाँ अनेक हैं अत: यह एकत्व का सूचक है। कुछ अधिकारियों का कहना है कि योगमाया की शक्ति से गोपियों के शरीर इस तरह अन्तर्धान हो गये कि उन्हें कोई देख नहीं पाया किन्तु अन्य विद्वानों का कथन है कि इस प्रसंग में *देहम्* शब्द निकृष्ट शरीर का द्योतक है, जो प्रकृति के गुणों से बना हुआ है। *गुणमयम्* विशेषण की प्रधानता के कारण ऐसा समझा जाता है कि कृष्ण की बाँसुरी की ध्वनि सुनने के पूर्व गोपियों के दोहरे शरीर थे—भौतिक तथा आध्यात्मिक—किन्तु बाँसुरी सुनते ही उन्होंने अपने पतियों द्वारा भुक्त भौतिक शरीरों का परित्याग कर दिया। हम इसकी विवेचना निम्न प्रकार कर सकते हैं—

"जब भक्तगण किसी प्रामाणिक गुरु के आदेशानुसार भक्ति करना प्रारम्भ करते हैं, तो वे भगवान् का श्रवण करने, उनकी महिमा का गायन करने, उनका स्मरण करने, उन्हें नमस्कार करने, उनकी शरण में उपस्थित रहने आदि के द्वारा अपने कानों तथा अन्य इन्द्रियों को शुद्ध भक्ति में लगाते हैं। इस तरह भक्तगण भगवान् के दिव्य गुणों को अपनी इन्द्रियों का लक्ष्य बना लेते हैं, जैसाकि स्वयं भगवान् ने कहा है (*भागवत* ११.२५.२६)—*निर्गुणो मदपाश्रय:।* इस तरह भक्तों के शरीर प्रकृति के गुणों को लाँघ जाते हैं। फिर भी कभी कभी भक्त संसारी ध्वनियों को अपने इन्द्रिय विषय मान सकते हैं और यही भौतिक है। इस तरह भक्त के शरीर के दो पक्ष होते हैं—दिव्य तथा भौतिक।

"भक्ति के अपने स्तर के अनुसार ही किसी के शरीर के दिव्य पक्ष प्रधान बनते हैं और भौतिक पक्ष घटते हैं। इस रूपान्तर का वर्णन *भागवत* (११.२.४२) में निम्नलिखित श्लोक में मिलता है—

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिर-

न्यत्र चैष त्रिक एककालः ।

प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-

स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥

"जिसने भगवान् की शरण ले रखी है उसके लिए भक्ति, भगवान् का साक्षात् अनुभव तथा अन्य बातों से विरक्ति—ये तीनों एकसाथ घटित होते हैं। यह वैसे ही है जैसे कि भोजन करते हुए मनुष्य के हर कौर के साथ आनन्द, पोषण तथा क्षुधा से निवृत्ति एकसाथ और अधिकाधिक अनुभव होते हैं।" जब मनुष्य को ईश्वर का सर्वथा शुद्ध प्रेम प्राप्त हो जाता है, तो शरीर के भौतिक अंश अदृश्य हो जाते हैं और शरीर पूरी तरह आध्यात्मिक बन जाता है। तो भी नास्तिकों के मिथ्या मतों को विचलित न होने देने तथा भक्ति की गुह्यता की रक्षा करने के लिए भगवान् अपनी माया से स्थूल शरीर की मृत्यु करा देते हैं। इसका उदाहरण मौषल लीला के समय यादवों का विलोप है।

किन्तु कभी कभी कृष्ण भक्तियोग की श्रेष्ठता घोषित करने के लिए भक्त को सशरीर भगवद्धाम जाने देते हैं जैसाकि ध्रुव महाराज के साथ हुआ। इसके साक्ष्य में *भागवत* से ही (११.२५.३२) उद्धरण दिया जा सकता है—

येनेमे निर्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः ।

भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते ॥

"जो जीव मन से प्रकट होने वाले प्रकृति के गुणों पर विजय पा लेता है, वह भक्तियोग के द्वारा अपने आपको मुझे (कृष्ण) समर्पित कर सकता है और इस तरह मेरे शुद्ध प्रेम को प्राप्त कर सकता है।" भगवान् यहाँ यह बताते हैं कि प्रकृति के गुणों से निर्मित होने वालों की पराजय तथा विनाश को भक्तियोग द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है।

अतएव भागवत के इस श्लोक से हमें यही समझना चाहिए कि जो गोपियाँ कृष्ण का दर्शन करने नहीं जा पाईं उन्होंने अपने अशुभ भौतिक देहों को या तो छोड़ दिया या जला दिया और उनके शुभ

आध्यात्मिक शरीर ध्यान में कृष्ण का आलिंगन करने से अनुभव किये गये आनन्द के कारण विनष्ट होने की बजाय और भी प्रधान बनते गये। इस तरह उनका बन्धन पूरी तरह नष्ट हो गया। योगमाया की सहायता से वे अज्ञान से तथा अपने पतियों एवं सम्बन्धियों द्वारा रोके जाने से मुक्त हो गईं।

गोपियों के शरीर-त्याग को उनकी मृत्यु का परिणाम बताने की भूल हमें नहीं करनी चाहिए। स्वयं भगवान् ने कहा है (*भागवत* १०.४७.३७),

या मया क्रीडता रात्र्यां वनेऽस्मिन् व्रज आस्थिता: ।

अलब्धरासा: कल्याण्यो मापुर्मद्वीर्यचिन्तया ॥

''वे कुछ कल्याणी गोपियाँ उस रात्रि में इस वृन्दावन में मेरे साथ रासनृत्य में सम्मिलित नहीं हो पाईं फिर भी मेरी दिव्य लीलाओं का स्मरण करने से उन्हें मेरा सान्निध्य प्राप्त हो गया।'' इस श्लोक में *कल्याण्य:* शब्द के प्रयोग द्वारा भगवान् कहना चाहते हैं कि यद्यपि गोपियाँ अपने पतियों के मना करने तथा मेरे वियोग की पीड़ा के कारण अपना शरीर त्याग देना चाहती थीं किन्तु इस परम शुभ रासोत्सव के शुभारम्भ में उनका मरना मुझे अच्छा न लगता अतएव अशुभ बन जाता। इसीलिए वे मरी नहीं।''

कृष्ण को देखने जाने से रोकी गई गोपियाँ शरीर से नहीं मरीं—इसका अन्य साक्ष्य श्रीशुकदेव के ही कथन से इसी स्कंध (१०.४७.३८) में प्राप्त होता है—*ता ऊचुरुद्धवं प्रीतास्तत्सन्देशागतस्मृती:*—तब गोपियों ने संतुष्ट होकर उद्धव की बातों का उत्तर दिया क्योंकि उसके सन्देश ने कृष्ण की स्मृति ताजी कर दी थी। यहाँ पर हमें पता चलता है कि उद्धव से बातें कर रही गोपियाँ वे थीं जो अपने पतियों के द्वारा रोके जाने के कारण रासनृत्य में सम्मिलित नहीं हो पाई थीं। अत: निष्कर्ष यह निकला कि इन गोपियों ने बिना मरे अपने भौतिक शरीर त्याग दिये। विरह-ताप से झुलसकर उनके शरीर अपनी भौतिकता त्यागकर उसी तरह शुद्ध आध्यात्मिक बन गये जिस तरह ध्रुव महाराज जैसे महान् भक्तों के शरीर बन गये थे। गोपियों के 'शरीर-त्याग' का यही अर्थ है।

निम्नलिखित दृष्टान्त से विभिन्न गोपियों की अवस्थाओं का दृश्य प्रकट हो जाता है : आम के वृक्ष में सात-आठ पके फलों को देखकर हम यह पता लगा सकते हैं कि वृक्ष के सारे फल पके हुए हैं। तब हम उन्हें तोड़कर घर ला सकते हैं जहाँ कुछ समय के पश्चात् सूर्य की किरणों तथा अन्य साधनों से वे अधिक आकर्षक, सुगन्धित तथा स्वादिष्ट बन जाते हैं—जिन्हें हम राजा को उन्हें खाकर आनंद लेने

के लिए भेंट कर सकते हैं। जब राजा के भोजन का समय आता है, तो कोई समझदार नौकर उनमें से खाने योग्य फलों को चुनकर ले जाता है। देखने से ही नौकर यह जान लेता है कि कौनसा फल बीच तक पका है लेकिन ऊपर कच्चा है, अत: अभी भी राजा के खाने योग्य नहीं है। इन शेष फलों को पकाने की विशेष विधि से दो-तीन दिनों में पकाया जा सकता है और तब वे भी राजा के खाने योग्य बन सकते हैं।''

''इसी तरह *मुनिचारी गोपियाँ* जिन्होंने गोकुल में जन्म लिया था किन्तु उनमें से जिन्होंने अपने शरीरों की भौतिकता को पूरी तरह से त्याग दिया था और जिन्होंने जीवन के प्रारम्भ में ही पूर्णतया आध्यात्मिक शरीर प्राप्त कर लिये वे किसी अन्य व्यक्ति द्वारा अस्पृश्य बनी रहीं। अत: जब वे कृष्ण से मिलने गईं तो योगमाया ने उन्हें नित्यसिद्ध तथा अन्य उच्च गोपियों के साथ जाने की अनुमति दे दी। अन्य मुनिचारी गोपियाँ तब भी अपने बाह्य भौतिक शरीर से सम्बन्ध बनाये रहीं किन्तु श्रीकृष्ण के विरहताप से क्षुब्ध होने पर इन्होंने भी अपने भौतिक शरीर त्याग दिये और पूर्णतया आध्यात्मिक शरीर धारण कर लिये जो अन्य पुरुषों के सम्पर्क के सभी प्रकार के मल से शुद्ध थे। रासनृत्य की रात में योगमाया ने इनमें से कुछ गोपियों को उन गोपियों के पीछे भेजा जो पहले ही जा चुकी थीं। जिन गोपियों में थोड़ा भी कलुष बचा देखा उन्हें योगमाया ने तब तक रोके रखा जब तक वे भी विरह के ताप से शुद्ध नहीं हो गईं और तब इन्हें किसी अन्य रात्रि में भेजा।''

''कृष्ण के साथ रासनृत्य तथा अन्य लीलाओं का आनन्द लूटने के बाद मुनिचारी गोपियाँ रात्रि बीतने पर अपने अपने घरों को लौट आईं। इसी तरह नित्यसिद्ध तथा अन्य उच्च गोपियों ने किया। किन्तु अब योगमाया ने इन मुनिचारी गोपियों को उनके पतियों के साथ भौतिक संयोग से रोका। दूसरे शब्दों में, ये गोपियाँ पति, सन्तान इत्यादि के प्रति किसी प्रकार की स्वार्थपूर्ण आसक्ति से रहित हो गईं। चूँकि ये गोपियाँ कृष्ण-प्रेम के सागर में पूर्णतया निमग्न थीं अतएव उनके स्तनों का दूध सूख गया जिससे वे अपने बच्चों को दूध नहीं पिला सकती थीं और अपने परिवार वालों को वे ऐसी प्रतीत होती थीं जैसे उनपर कोई भूत सवार हो। निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि जो गोपियाँ पहले भौतिकता से ग्रस्त थीं उनका रासनृत्य में भाग लेना, अनुचित नहीं प्रतीत होता है।

''फिर भी कुछ विद्वानों की पुष्ट धारणा है कि जो गोपियाँ अपने घरों में रोक ली गई थीं उनके

बच्चे नहीं थे। उनके अनुसार जहाँ भी *अपत्य* शब्द का आगे के श्लोकों में प्रयोग हुआ है, वह सपत्नियों के बच्चों का, गोद लिये बच्चों या भतीजे-भतीजियों का सूचक है।''

श्रीपरीक्षिदुवाच
कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने ।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

श्री-परीक्षित् उवाच—श्री परीक्षित ने कहा; कृष्णम्—कृष्ण को; विदुः—वे जानती थीं; परम्—एकमात्र; कान्तम्—अपने प्रेमी के रूप में; न—नहीं; तु—लेकिन; ब्रह्मतया—परम सत्य के रूप में; मुने—हे मुनि, शुकदेव; गुण—तीनों गुणों की; प्रवाह—प्रबल धारा का; उपरमः—रुक जाना; तासाम्—उनके लिए; गुण-धियाम्—इन गुणों के वशीभूत बुद्धि है जिनकी; कथम्—कैसे।

श्रीपरीक्षित महाराज ने कहा : ''हे मुनिवर, गोपियाँ कृष्ण को केवल अपना प्रेमी मानती थीं, परम पूर्ण सत्य के रूप में नहीं मानती थीं। तो फिर ये युवतियाँ जिनके मन प्रकृति के गुणों की लहरों में बह रहे थे, किस तरह से अपने आपको भौतिक आसक्ति से छुड़ा पाईं?''

तात्पर्य : राजा परीक्षित मुनियों तथा अन्यगण्यमान्य महापुरुषों की सभा में विराजमान थे और शुकदेव गोस्वामी के वचनों को सुन रहे थे। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार जब शुकदेव गोस्वामी कृष्ण के प्रति गोपियों के माधुर्य प्रेम के विषय में बोल रहे थे, तो राजा वहाँ पर उपस्थित कतिपय भौतिकतावादी व्यक्तियों के मनोभावों को ताड़ गए और उन्होंने उनके मन को आन्दोलित करने वाले संशय का अनुमान लगाया। अतएव राजा शुकदेव के वचनों का तात्पर्य समझ रहे थे किन्तु उन्होंने अपने को इस तरह प्रस्तुत किया मानो उनकी अपनी शंकाएँ हों जिनसे वे अन्यों की शंका को दूर कर सकें। इसीलिए उन्होंने यह प्रश्न पूछा।

श्रीशुक उवाच
उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः ।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; उक्तम्—कहा गया; पुरस्तात्—इसके पूर्व; एतत्—यह; ते—तुमसे; चैद्यः—चेदि नरेश शिशुपाल; सिद्धिम्—सिद्धि, पूर्णता; यथा—जिस तरह; गतः—प्राप्त हुआ; द्विषन्—द्वेष रखने के कारण; अपि—भी; हृषीकेशम्—भगवान् हृषीकेश को; किम् उत—तो फिर क्या कहा जा सकता है; अधोक्षज—भगवान् के, जो सामान्य इन्द्रियों की परिधि से बाहर रहते हैं; प्रियाः—प्रिय भक्तों का।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : यह विषय आपको पहले बताया जा चुका था। चूँकि कृष्ण से

घृणा करने वाला शिशुपाल तक सिद्धि प्राप्त कर सका तो फिर भगवान् के प्रिय भक्तों के विषय में कहना ही क्या है?

तात्पर्य : यद्यपि बद्धजीवों का आध्यात्मिक स्वभाव माया से आच्छादित हो सकता है किन्तु भगवान् कृष्ण का दिव्य स्वभाव सर्वशक्तिमान है, जो किसी अन्य शक्ति द्वारा कभी भी आच्छादित नहीं होता। वस्तुत: अन्य सारी शक्तियाँ उन्हीं की शक्ति हैं और वे उनकी इच्छानुसार कार्य करती हैं। *ब्रह्म-संहिता* (५.४४) में कहा गया है—*सृष्टिस्थितिप्रलयसाधनशक्तिरेका/ छायेव यस्य भुवनानि बिभर्ति दुर्गा/ इच्छानुरूपमपि यस्य च चेष्टते सा*—भौतिक जगतों का सृजन, पालन और संहार करने वाली शक्तिशाली दुर्गा भगवान् की शक्ति हैं और वे उनकी इच्छानुसार उनके पीछे छाया की तरह चलती हैं। चूँकि भगवान् का आध्यात्मिक प्रभाव इस बात पर निर्भर नहीं करता कि कोई उन्हें समझता है या नहीं इसलिए कृष्ण के प्रति गोपियों का रागानुग प्रेम उनकी आध्यात्मिक सिद्धि की गारंटी प्रदान कर सका।

महान् आचार्य मध्वाचार्य ने *स्कन्द पुराण* से निम्नलिखित श्लोक उद्‌धृत किया है :

कृष्णकामास्तदा गोप्यस्त्यक्त्वा देहं दिवं गता:।
सम्यक् कृष्णं परब्रह्म ज्ञात्वा कालात् परं ययु:॥

"उस समय जिन गोपियों ने कृष्ण की इच्छा की उन्होंने अपने शरीर त्याग दिये और वे वैकुण्ठ चली गईं। चूँकि वे कृष्ण को परम पूर्ण सत्य के रूप में भली-भाँति जानती थीं अतएव वे काल के प्रभाव को भी लाँघ गईं।"

पूर्वं च ज्ञानसंयुक्तास्तत्रापि प्रायशस्तथा।
अतस्तासां परं ब्रह्म गतिरासीन्न कामत:॥

"अपने पूर्व जन्मों में अधिकांश गोपियों को दिव्य ज्ञान प्राप्त था। वे किसी कामवासना से नहीं अपितु इसी ज्ञान के कारण परब्रह्म को प्राप्त कर सकीं।"

न तु ज्ञानमृते मोक्षो नान्य: पन्थेति हि श्रुति:।
कामयुक्ता तदा भक्तिर्ज्ञानं चातो विमुक्तिगा:॥

"वेद घोषित करते हैं कि आध्यात्मिक ज्ञान के बिना मुक्ति का कोई उचित मार्ग नहीं है। चूँकि बाह्य रूप से कामासक्त इन गोपियों में भक्ति तथा ज्ञान था अत: उन्हें मुक्ति प्राप्त हुई।"

अतो मोक्षेऽपि तासां च कामो भक्त्यानुवर्तते।

मुक्ति शब्दोदितो चैद्यप्रभृतौ द्वेषभागिन: ॥

"इस तरह उनकी मुक्ति में भी उनकी शुद्ध भक्ति के साथ-साथ कामवासना लगी रही। कुल मिलाकर, जिसे हम मुक्ति कहते हैं वह शिशुपाल जैसे ईर्ष्यालु व्यक्ति को भी प्राप्त हुई।"

भक्तिमार्गी पृथङ्मुक्तिमगाद् विष्णुप्रसादत: ।

कामास्त्वशुभकृच्चापि भक्त्या विष्णो: प्रसादकृत् ॥

"जो भक्तिमार्ग का पालन करता है उसे भगवान् विष्णु की कृपा से उपफल के रूप में मुक्ति प्राप्त होती है और ऐसे व्यक्ति की कामवासना जो सामान्यतया दुर्भाग्य को आमंत्रित करने वाली होती है, वह शुद्ध भक्ति में अभिव्यक्त होने पर विष्णु-कृपा को प्राप्त होती है।"

द्वेषिजीवयुतं चापि भक्तं विष्णुर्विमोचयेत्।

अहोऽतिकरुणा विष्णो: शिशुपालस्य मोक्षणात् ॥

"भगवान् विष्णु ईर्ष्यालु जीवन वाले भक्त की भी रक्षा करते हैं। जरा भगवान् की असीम कृपा को देखिये न, किस तरह उन्होंने शिशुपाल को मुक्ति प्रदान की।"

शिशुपाल भगवान् कृष्ण का चचेरा भाई था। जब भगवान् सुमुखी युवा रुक्मिणी का हरण करके ले गये तो शिशुपाल का गर्व चूर हो गया क्योंकि वह स्वयं उससे विवाह करने कर पूरी तरह तुला था। शिशुपाल भगवान् कृष्ण पर ईर्ष्या से जल रहा था अत: उसने राजसूय यज्ञ के समय मूर्खता से उनका अपमान किया। उस समय कृष्ण ने शिशुपाल का अविचल भाव से शिर काट लिया और उसे मुक्ति प्रदान की। सभी दर्शकों ने शिशुपाल के तेजपूर्ण आत्मा को उसके मृत शरीर से बाहर निकलकर भगवान् में लीन होते देखा। सातवें स्कन्ध में बताया गया है कि शिशुपाल वैकुण्ठ के द्वारपाल का अवतार था जिसे पृथ्वी पर असुर रूप में जन्म लेने का शाप मिला था। चूँकि शिशुपाल जैसे व्यक्ति को भी भगवान् द्वारा सारी स्थिति को ध्यान में रखते हुए मुक्ति मिल गई तो फिर उन गोपियों के विषय में क्या कहा जाये, जो कृष्ण को सर्वाधिक प्रेम करती थीं!

नृणां नि:श्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप ।

अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥ १४॥

शब्दार्थ

नृणाम्—मनुष्यता के लिए; निःश्रेयस—सर्वोच्च लाभ; अर्थाय—के हेतु; व्यक्तिः—साकार रूप; भगवतः—भगवान्; नृप—हे राजन्; अव्ययस्य—अव्यय का; अप्रमेयस्य—मापविहीन; निर्गुणस्य—गुणों के स्पर्श से दूर; गुण-आत्मनः—गुणों के नियन्ता।

हे राजन्, भगवान् अव्यय तथा अप्रमेय हैं और भौतिक गुणों से अछूते हैं क्योंकि वे इन गुणों के नियन्ता हैं। इस जगत में साकार रूप में उनका आविर्भाव मानवता को सर्वोच्च लाभ दिलाने के निमित्त होता है।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् कृष्ण मानवमात्र का कल्याण करने के लिए अवतरित होते हैं, तो भला वे उन अबोध तरुणियों की उपेक्षा क्यों करने लगे जो अन्य किसी की अपेक्षा उनसे अधिक प्रेम करती थीं? यद्यपि भगवान् अपने आपको अपने शुद्ध भक्तों को समर्पित कर देते हैं, तो भी वे अव्यय हैं, नि:शेष हैं क्योंकि वे *अप्रमेय* अर्थात् नापे-जोखे नहीं जा सकते। वे *निर्गुण* अर्थात् भौतिक गुणों से रहित भी हैं अत: जो उनके घनिष्ट सान्निध्य में रहते हैं, वे भी उसी आध्यात्मिक पद पर है। वे *गुणात्मा* हैं अर्थात् वे प्रकृति के गुणों के नियन्ता हैं इसीलिए वे इन गुणों से मुक्त रहते हैं। दूसरे शब्दों में, क्योंकि प्रकृति के गुण उनकी शक्ति हैं अतएव वे उनपर अपना प्रभाव नहीं डाल पाते।

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥ १५॥

शब्दार्थ

कामम्—कामवासना; क्रोधम्—क्रोध; भयम्—भय; स्नेहम्—स्नेह; ऐक्यम्—एकता; सौहृदम्—मित्रता; एव च—भी; नित्यम्—सदैव; हरौ—भगवान् हरि के प्रति; विदधतः—प्रकट करते हुए; यान्ति—प्राप्त करते हैं; तत्-मयताम्—तल्लीनता; हि—निस्सन्देह; ते—ऐसे व्यक्ति।

जो व्यक्ति अपने काम, क्रोध, भय, रक्षात्मक स्नेह, निर्विशेष एकत्व का भाव या मित्रता को सदैव भगवान् हरि में लगाते हैं, वे निश्चित रूप से उनके भावों में तल्लीन हो जाते हैं।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण शुद्ध आध्यात्मिक पुरुष हैं और जो लोग जिस-तिस भाँति उनसे अनुरक्त हो जाते हैं और उनमें लीन रहते हैं, वे आध्यात्मिक पद तक उठ जाते हैं। भगवान् के सान्निध्य की यही परम प्रकृति है।

इस श्लोक में शुकदेव गोस्वामी गोपियों के विषय में पूछे गये प्रश्न का उत्तर राजा परीक्षित को देते हैं। शुकदेव गोस्वामी भगवान् की अत्यन्त घनिष्ट लीला, रासनृत्य का वर्णन शुरू कर चुके हैं और राजा

परीक्षित उन श्रोताओं के संशयों को दूर करने में सहायक बन रहे हैं, जो इस विस्मयपूर्ण कथा को सुन रहे हैं या भविष्य में सुनेंगे। श्रील मध्वाचार्य ने *स्कन्द पुराण* से उस कथन को उद्‌धृत किया है, जो गोपियों को भौतिक माया से परे मुक्तात्माएँ घोषित करने वाला है—

भक्ता हि नित्यकामित्वं न तु मुक्तिं विना भवेत्।

अत: कामितया वापि मुक्तिर्भक्तिमतां हरौ॥

"जो व्यक्ति पहले से ही मुक्त नहीं है, उसमें शुद्ध भक्ति में व्यक्त होने वाला कृष्ण के प्रति नित्य माधुर्य आकर्षण उत्पन्न नहीं हो सकता। अत: जो लोग माधुर्य आकर्षण में भी भगवान् हरि की भक्ति करते हैं, वे पहले ही मुक्ति पा लेते हैं।"

इसके बाद श्रील मध्वाचार्य *पद्म पुराण* से उद्धरण देते हैं जिससे यह स्पष्ट हो सके कि मनुष्य केवल कृष्ण के प्रति कामवासना रखने से ही मुक्ति नहीं पा सकता अपितु उसमें *शुद्ध भक्तिपूर्ण* माधुर्य आकर्षण होना चाहिए।

स्नेहभक्ता: सदा देवा: कामित्वेनाप्सरस्त्रिय:।

काश्चित् काश्चिन्न कामेन भक्त्या केवलयैव तु॥

"देवतागण सदैव भगवान् से स्नेहभक्ति करते हैं और अप्सराएँ कहलाने वाली स्वर्ग की युवतियाँ सदैव उनके प्रति कामवासनाएँ रखती हैं यद्यपि उनमें से कुछ में भौतिक कामवासना से रहित शुद्ध भक्ति भी पाई जाती है। केवल ऐसी ही कामवासना-रहित अप्सराओं को मुक्ति मिलती है क्योंकि प्रामाणिक भक्ति के बिना मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।"

अत: जब तक भक्ति भौतिक कामवासना से मुक्त नहीं हो लेती वह *योग्यम्* या उपयुक्त नहीं मानी जाती। हमें चाहिए कि माधुर्य भाव में कृष्ण के साथ गोपियों के निजी सान्निध्य को सस्ता व्यापार न समझें। भगवान् के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध की गम्भीरता प्रदर्शित करने के लिए श्रील मध्वाचार्य ने *वराह पुराण* के निम्नलिखित श्लोक उद्‌धृत किये हैं—

पतित्वेन श्रियोपास्यो ब्रह्मणा मे पितेति च।

पितामहतयान्येषां त्रिदशानां जनार्दन:॥

"लक्ष्मीजी भगवान् जनार्दन को अपने पति रूप में पूजती हैं, ब्रह्माजी उन्हें अपने पिता के रूप में

पूजते हैं और अन्य देवता उन्हें अपने पितामह के रूप में पूजते हैं।''

प्रपितामहो मे भगवानिति सर्वजनस्य तु।

गुरुः श्रीब्रह्मणो विष्णुः सुराणां च गुरोर्गुरुः॥

''अतः सामान्य लोगों को चाहिए कि भगवान् को वे अपना प्रपितामह मानें। भगवान् विष्णु ब्रह्मा के आध्यात्मिक गुरु हैं अतः वे देवताओं के गुरु के भी गुरु हैं।''

गुरुर्ब्रह्मास्य जगतो दैवं विष्णुः सनातनः।

इत्येवोपासनं कार्यं नान्यथा तु कथञ्चन॥

''ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड के आध्यात्मिक गुरु हैं और विष्णु इसके शाश्वत पूज्य अर्चाविग्रह हैं। मनुष्य को चाहिये कि इसी भाव से भगवान् की पूजा करे, अन्य किसी भाव से नहीं।''

उपर्युक्त आदेश *सर्वजन* अर्थात् सबों पर लागू होते हैं। अतः मनुष्य को चाहिए कि इन आदेशों का तब तक पालन करता रहे जब तक परमेश्वर के सान्निध्य का उच्च पद प्राप्त न हो ले। इस विषय में पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं कि वृन्दावन की गोपिकाएँ अति उच्च मुक्तात्माएँ थीं अतएव कृष्ण के साथ उनकी लीलाएँ शुद्ध आध्यात्मिक व्यापार हैं। इस बात को मन में रखकर ही हम इस अध्याय को ठीक से समझ सकते हैं।

न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे ।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

न च—न तो; एवम्—इस प्रकार का; विस्मयः—आश्चर्य; कार्यः—किया जाना चाहिए; भवता—आपके द्वारा; भगवति—भगवान्; अजे—अजन्मा; योग-ईश्वर—योग के स्वामियों के; ईश्वरे—परम स्वामी; कृष्णे—कृष्ण के विषय में; यतः—जिनसे; एतत्—यह (संसार); विमुच्यते—मुक्ति प्राप्त करता है।

आपको योगेश्वरों के अजन्मा, ईश्वर पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के विषय में इस तरह चकित नहीं होना चाहिए। अन्ततः भगवान् ही इस जगत का उद्धार करने वाले हैं।

तात्पर्य : परीक्षित महाराज को इतना चकित नहीं होना चाहिए था कि भगवान् कृष्ण के तथाकथित प्रेमालाप समस्त ब्रह्माण्ड को मुक्त कराने के निमित्त हैं। आखिर, यही तो भगवान् का उद्देश्य है कि आनन्द तथा ज्ञानमय जीवन के लिए समस्त बद्धात्माओं को अपने धाम वापस बुलायें। गोपियों के प्रति कृष्ण के माधुर्य व्यापार उक्त योजना के साथ बहुत ही अच्छी तरह से मेल खाते हैं क्योंकि

भौतिक चेतना में वास्तविक रूप में आसक्त हम सभी उनके विषय में सुनकर शुद्ध तथा मुक्त हो सकते हैं।

श्रीमद्‌भागवत के प्रथम स्कंध (१.५.३३) में नारदमुनि कहते हैं—

आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत।

तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम्॥

"हे पवित्र आत्मा! जिस वस्तु से कोई रोग उत्पन्न होता है, क्या उसीको औषधि के रूप में लगाने से वह रोग ठीक नहीं हो जाता?" अत: कृष्ण के प्रेम-व्यापार शुद्ध आध्यात्मिक कर्म होने के कारण उन लोगों के भौतिक कामवासना के रोग को दूर कर देंगे जो उनका श्रवण करते हैं।

ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान्व्रजयोषितः ।
अवदद्वदतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन् ॥ १७॥

शब्दार्थ

ताः—उनको; दृष्ट्वा—देखकर; अन्तिकम्—निकट; आयाताः—आया हुआ; भगवान्—भगवान् ने; व्रज-योषितः—व्रज की बालाएँ; अवदत्—कहा; वदताम्—वक्ताओं में; श्रेष्ठः—श्रेष्ठ; वाचः—वाणी के; पेशैः—अलंकरणों से युक्त; विमोहयन्—मोहित करने वाली।

यह देखकर कि व्रज-बालाएँ आ चुकी हैं, वक्ताओं में श्रेष्ठ भगवान् कृष्ण ने उनके मन को मोहित करने वाले आकर्षक शब्दों से उनका स्वागत किया।

तात्पर्य : कृष्ण के प्रति गोपियों के प्रेम की आध्यात्मिक प्रकृति की स्थापना करने के बाद शुकदेव गोस्वामी अपनी कथा को आगे बढ़ाते हैं।

श्रीभगवानुवाच
स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः ।
व्रजस्यानामयं कच्चिद्ब्रूतागमनकारणम् ॥ १८॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; सु-आगतम्—स्वागत है; वः—तुम लोगों का; महा-भागाः—अरे भाग्यशालिनियो; प्रियम्—अच्छा लगने वाला; किम्—क्या; करवाणि—कर सकता हूँ; वः—तुम लोगों के लिए; व्रजस्य—व्रज की; अनामयम्—कुशल-मंगल; कच्चित्—क्या; ब्रूत—कहिये; आगमन—अपने आने का; कारणम्—कारण।

भगवान् कृष्ण ने कहा : हे अति भाग्यवंती नारीगण, तुम्हारा स्वागत है। मैं तुम लोगों की प्रसन्नता के लिए क्या कर सकता हूँ? व्रज में सब कुशल-मंगल तो है? तुम लोग अपने यहाँ आने का कारण मुझे बतलाओ।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण भलीभाँति जानते थे कि गोपियाँ क्यों आईं हैं। वस्तुत: उन्होंने ही इन्हें अपनी बाँसुरी की रोमांचक ध्वनि से बुलाया था। अत: कृष्ण गोपियों से यह पूछकर उन्हें छेड़ रहे थे कि "तुम लोग इतनी तेजी से यहाँ क्यों आई हो ? क्या नगर में कुछ गड़बड़ है ? तुम लोग आखिर क्यों आई हो ? तुम क्या चाहती हो ?"

गोपियाँ कृष्ण की युवती प्रेमिकाएँ थीं अतएव ये प्रश्न उन्हें निश्चित रूप से भ्रमित करने वाले थे क्योंकि कृष्ण के साथ माधुर्य प्रेम का आनन्द लूटने के सरल उद्देश्य से उन्होंने ऐसा किया था।

रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता ।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभि: सुमध्यमा: ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

रजनी—रात; एषा—यह; घोर-रूपा—देखने में भयानक; घोर-सत्त्व—भयानक प्राणियों से; निषेविता—बसी हुई; प्रतियात—लौट जाओ; व्रजम्—व्रज ग्राम को; न—नहीं; इह—यहाँ; स्थेयम्—रुकना चाहिए; स्त्रीभि:—स्त्रियों के लिए; सु-मध्यमा:—क्षीण कटि वाली।

यह रात अत्यन्त भयावनी है और भयावने प्राणी इधर उधर फिर कर रहे हैं। हे पतली कमर वाली स्त्रियो, व्रज लौट जाओ। स्त्रियों के लिए यह उपयुक्त स्थान नहीं है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक की बहुत ही मनोहारी टीका लिखी है—

[गोपियों ने सोचा] हाय हाय! हमारे पारिवारिक उत्तरदायित्वों, हमारी शालीनता तथा हमारी लज्जा को छिन्न-भिन्न करने के बाद तथा नित्यप्रति हमारा भोग करते रहने पर और अब हमें अपनी बाँसुरी से यहाँ तक खींच करके वह हमसे पूछ रहा है कि हम क्यों आई हैं ?"

जब गोपियाँ एक-दूसरे को तिरछी नजर से देख रही थीं तो भगवान् ने कहा, "यदि तुम यह कहना चाहो कि भगवान् की पूजा करने के लिए रात में खिलने वाले पुष्प लेने आयी हो और अपनी तिरछी नजरों से तुम उन फूलों को ही देख रही हो तो मैं तुम्हारे बहानों को नहीं मान सकता क्योंकि देश, काल या व्यक्ति उसके उपयुक्त नहीं हैं।

"*रजनी* से प्रारम्भ होने वाले श्लोक में भगवान् के कहने का आशय यही है। हो सकता है कि उन्होंने कहा हो, "यद्यपि पर्याप्त चाँदनी है किन्तु रात का यह समय अत्यन्त भयावना है क्योंकि अनेक साँप, बिच्छू तथा भयानक प्राणी, जो इतने छोटे हैं कि तुम देख नहीं सकती, इन लताओं, जड़ों तथा टहनियों के नीचे छिपे हुए हैं। अत: फूल चुनने के लिए यह समय उपयुक्त नहीं है। केवल समय ही

नहीं, यह स्थान भी फूल चुनने के लिए उपयुक्त नहीं है क्योंकि रात में यहाँ बाघ जैसे भयानक पशु घूमते रहते हैं। अत: तुम लोगों को व्रज वापस लौट जाना चाहिए।''

''किन्तु,'' गोपियाँ आपत्ति कर सकती हैं कि, ''जरा हमें कुछ क्षणों के लिए विश्राम तो करने दो, तब हम चली जायेंगी।''

''तब भगवान् उत्तर दे सकते हैं, ''स्त्रियों को ऐसे स्थान में नहीं रुकना चाहिए।'' दूसरे शब्दों में, ''काल तथा स्थान को देखते हुए तुम जैसी स्त्रियों को यहाँ एक क्षण भी रुकना ठीक नहीं है।''

''यही नहीं, *सु-मध्यमा:* (हे क्षीण-कटि वाली स्त्रियो) शब्द से भगवान् का मन्तव्य था, ''तुम सुन्दर युवतियाँ हो और मैं सुन्दर युवक हूँ। चूँकि तुम सभी अत्यन्त सती-साध्वी हो और मैं ब्रह्मचारी हूँ, जैसाकि श्रुति के शब्दों *कृष्णो ब्रह्मचारी* से पुष्टि होती है (*गोपाल तापनी उपनिषद*) अतएव हम लोगों का एक ही स्थान पर होना अनुचित नहीं है। फिर भी मन पर विश्वास नहीं किया जा सकता—चाहे तुम्हारे हों या मेरा मन हो।''

''भगवान् ने जिस आन्तरिक उत्सुकता का संकेत किया है, वह स्पष्ट हो जाती है यदि हम उनके शब्दों को ध्यानपूर्वक पढ़ें ''यदि तुम लज्जा के कारण अपने आने का कारण नहीं बतला सकती तो मत बतलाओ। लेकिन मैं पहले से जानता हूँ अत: मैं जैसा कहूँ, उसे सुनो।'' इस तरह भगवान् *रजनी* से प्रारम्भ होने वाले शब्द कहते हैं।''

संस्कृत शब्दों का अन्य प्रकार से अन्वय करने पर इस श्लोक का दूसरा अर्थ निकलता है, जिस पर कृष्ण का अगला कथन आधारित है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार अन्वय इस प्रकार होगा: *रजनी एषा अघोररूपा अघोरसत्त्वनिषेविता/ प्रतियात व्रजम् न इह स्थेयं स्त्रीभि:सुमध्यमा:।* श्रील विश्वनाथ की टीका के माध्यम से कृष्ण इसका अर्थ इस प्रकार बतलाते हैं—

''सर्वव्याप्त चाँदनी ने इस रात को तनिक भी भयानक नहीं रहने दिया इसलिए यह जंगल हानिरहित प्राणियों, यथा हिरनों (*अघोरसत्त्वै*) से बसा हुआ है या फिर बाघ जैसे पशुओं से जो वृन्दावन के अहिंसक वातावरण के कारण हानिरहित हो चुके हैं। अत: तुम्हें इस रात से भयभीत नहीं होना चाहिए।'' या फिर कृष्ण का आशय यह हो सकता था, ''तुम लोगों को अपने पतियों तथा परिवार वालों से भयभीत नहीं होना चाहिए क्योंकि रात में भयानक पशुओं के होने से वे इस स्थान

तक नहीं आ सकेंगे। अतः तुम लोग व्रज वापस न जाओ (*न प्रतियाय*) अपितु मेरे संग यहाँ रुको (*इह स्थेयम्*)।''

''गोपियाँ कृष्ण से पूछ सकती हैं, ''तो फिर तुम कैसे रुके हुए हो?''

''भगवान् उत्तर देते हैं, ''स्त्रियों के साथ।''

''तो क्या तुम किसी भी स्त्री को अपने साथ रखकर संतुष्ट हो?''

''भगवान् इसका उत्तर *सुमध्यमा* शब्द से देते हैं जिसका अर्थ है, ''केवल ऐसी स्त्रियाँ जो तरुणी तथा सुन्दर हैं, जिनकी कटि पतली हैं—अर्थात् जैसी तुम हो, मेरे साथ रुक सकती हैं, अन्य नहीं।'' इस तरह हम देखते हैं कि कृष्ण के वचन भावपूर्ण होने के साथ ही उपेक्षापूर्ण भावों से युक्त हैं।''

कृष्ण के वचन निश्चित रूप से विचारोत्तेजक हैं क्योंकि संस्कृत व्याकरण के अनुसार उन्हें दो विपरीत प्रकारों में से किसी एक से समझा जा सकता है। ऊपर अनूदित अर्थ द्वारा कृष्ण गोपियों को यह कहकर तंग करते हैं कि रात भयानक तथा अशुभ है, अतः उन्हें वापस चले जाना चाहिए। किन्तु उसी के साथ वे सर्वथा विपरीत कथन भी करते हैं कि भगवान् के पास गोपियों को आने से तनिक भी डरना नहीं चाहिए, रात अत्यन्त शुभ है और तरुणियों को किसी भी दशा में लौटना नहीं चाहिए। इस तरह भगवान् कृष्ण अपने वचनों से गोपियों को तंग करने के साथ साथ मोहते भी हैं।

मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः ।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

मातरः—माता; पितरः—पिता; पुत्राः—पुत्र; भ्रातरः—भाई; पतयः—पति; च—तथा; वः—तुम्हारे; विचिन्वन्ति—खोज रहे हैं; हि—निश्चय ही; अपश्यन्तः—न देखकर; मा कृढ्वम्—मत उत्पन्न करो; बन्धु—अपने परिवार वालों के लिए; साध्वसम्—चिन्ता।

तुम्हारी माताएँ, पिता, पुत्र, भाई तथा पति तुम्हें घर पर न पाकर निश्चित रूप से तुम्हें ढूँढ़ रहे होंगे। अपने परिवार वालों के लिए चिन्ता मत उत्पन्न करो।

दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम् ।
यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवशोभितम् ॥ २१ ॥
तद्यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन्सतीः ।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान्पाययत दुह्यत ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

दृष्टम्—देख लिया; वनम्—जंगल; कुसुमितम्—पुष्पित; राका-ईश—पूर्णमासी के अधिष्ठाता देव, चन्द्रमा के; कर—हाथ से; रञ्जितम्—रँगा गया; यमुना—यमुना नदी से निकलते हुए; अनिल—वायु से; लीला—खेल-खेल में; एजत्—हिलते-डुलते; तरु—वृक्षों की; पल्लव—पत्तियों से; शोभितम्—शोभायमान; तत्—अतः; यात—वापस चली जाओ; मा चिरम्—देर लगाये बिना; गोष्ठम्—गाँव को; शुश्रूषध्वम्—जाकर सेवा करो; पतीन्—अपने पतियों की; सतीः—हे सतियो; क्रन्दन्ति—रो रहे हैं; वत्साः—बछड़े; बालाः—बच्चे; च—तथा; तान्—उनको; पाययत—अपना दूध पिलाओ; दुह्यत—गाय का दूध पिलाओ।

अब तुम लोगों ने फूलों से भरे तथा पूर्ण चन्द्रमा की चाँदनी से सुशोभित इस वृन्दावन जंगल को देख लिया। तुम लोगों ने यमुना से आने वाली मन्द मन्द वायु से हिलते पत्तों वाले वृक्षों का सौन्दर्य देख लिया। अतः अब अपने गाँव वापस चली जाओ। देर मत करो। हे सती स्त्रियो, जाकर अपने पतियों की सेवा करो और क्रन्दन करते बच्चों तथा बछड़ों को दूध दो।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने श्लोक २२ की व्याख्या इस प्रकार की है—

भगवान् कृष्ण कहते हैं, ''अब देर तक मत प्रतीक्षा करो अपितु तुरन्त चली जाओ।'' *सतीः* शब्द का अर्थ है कि गोपियाँ पतिव्रता हैं। इसीलिए कृष्ण इंगित करते हैं कि गोपियों को जाकर अपने पतियों की सेवा करनी चाहिए जिससे वे अपने धार्मिक कृत्य पूरे कर सकें। गोपियों को भी पूज्य मानना चाहिए क्योंकि वे सती हैं। कृष्ण यह सब उन गोपियों से कह रहे हैं, जो विवाहिता हैं। अब वे अविवाहिताओं से कहते हैं, ''बछड़े रँभा रहे हैं अतः जाकर देखो कि उन्हें दूध मिल जाय।'' मुनिचारी गोपियों से कहते हैं, ''तुम लोगों के बच्चे रो रहे हैं अतः जाकर उन्हें दूध पिलाओ।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इन दोनों श्लोकों का गूढ़ार्थ भी इस प्रकार दिया है, ''श्लोक २१ में कृष्ण ने कहा होगा, ''यह वृन्दावन सर्वोत्कृष्ट स्थान है और आज पूर्णिमा की रात है। यही नहीं, हमारे चारों ओर यमुना नदी है और शीतल मन्द तथा सुगन्ध हवा बह रही है। ये सब दिव्य ऐश्वर्य हैं जिनसे प्रेमालाप मुखरित होता है और चूँकि सर्वोपरि आनन्द ऐश्वर्य प्रेम रूप में यहाँ पहले से हूँ तो आओ देखें कि तुम लोग रसास्वादन में कितनी पटु हो।''

२२ वें श्लोक में उनका मन्तव्य है, ''अतः दीर्घकाल तक, इस पूरी रात-भर तुम यहाँ से मत जाओ अपितु यहीं रहो और मेरे साथ भोग-विलास करो। अपने पतियों एवं अपनी सीधी-सादी सासुओं आदि की सेवा के लिए मत जाओ। तुम लोगों के लिए ऐसा सौन्दर्य और यौवन गँवाना उपयुक्त नहीं होगा क्योंकि ये तो स्रष्टा के उपहार हैं। न ही तुम लोगों को अब गाय दुहना है, न ही बछड़ों तथा बच्चों को दूध पिलाना है। मेरे लिए आनंददायक आकर्षण से ओतप्रोत तुम सबों को इन

कार्यों से क्या प्रयोजन?''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर यह भी बतलाते हैं कि गोपियाँ यह तय नहीं कर सकीं कि कृष्ण कर क्या रहे हैं—क्या वे ठठोली कर रहे हैं, या उन्हें रुकने का आमंत्रण दे रहे हैं या फिर उन्हें घर लौट जाने का आदेश दे रहे हैं। अत: ज्योंही श्रीकृष्ण जंगल की शोभा का वर्णन करने लगे तो गोपियों को चिन्ता हुई और वे मोहग्रस्त होकर वृक्षों की ओर ऊपर देखने लगीं और जब वे यमुना का वर्णन करने लगे तो वे अपने आसपास नदी को देखने लगीं। उनकी नितान्त शुद्धता तथा सरलता के साथ ही माधुर्य रस में कृष्ण के प्रति परम भक्ति के कारण अति सुन्दर लीलाओं को जन्म मिला जो इस ब्रह्माण्ड में कभी नहीं हुई थीं।

अथ वा मदभिस्नेहाद्भवत्यो यन्त्रिताशयाः ।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अथ वा—या कि; मत्-अभिस्नेहात्—मेरे लिए प्रेम के कारण; भवत्यः—तुम्हारे; यन्त्रित—अधीन हुआ; अशयाः—हृदय; आगताः—आई हुई; हि—निस्सन्देह; उपपन्नम्—उपयुक्त; वः—तुम लोगों के लिए; प्रीयन्ते—स्नेह करते हैं; मयि—मुझसे; जन्तवः—समस्त जीव।

अथवा तुम लोग कदाचित् मेरे प्रति अगाध प्रेम के कारण यहाँ आई हो क्योंकि इस प्रेम ने तुम्हारे हृदयों को जीत लिया है। यह सचमुच ही सराहनीय है क्योंकि सारे जीव मुझसे सहज भाव से स्नेह करते हैं।

भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया ।
तद्बन्धूनां च कल्याणः प्रजानां चानुपोषणम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

भर्तुः—पति की; शुश्रूषणम्—निष्ठापूर्ण सेवा; स्त्रीणाम्—स्त्रियों के लिए; परः—परम; धर्मः—कर्तव्य; हि—निस्सन्देह; अमायया—बिना द्वैत के; तत्-बन्धूनाम्—अपने पतियों के सम्बन्धियों के प्रति; च—तथा; कल्याणः—शुभ कृत्य; प्रजानाम्—सन्तानों की; च—तथा; अनुपोषणम्—देखरेख, पालनपोषण।

स्त्री का परम धर्म है कि वह निष्ठापूर्वक अपने पति की सेवा करे, अपने पति के परिवार के प्रति अच्छा व्यवहार करे तथा अपने बच्चों की ठीक देखरेख करे।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी यहाँ पर विशेष रूप से इंगित करते हैं कि गोपियों के असली शाश्वत पति तो श्रीकृष्ण हैं, घर में रहने वाले तथाकथित पति नहीं जो झूठे ही गोपियों को अपनी सम्पत्ति

मानते थे। इस प्रकार *अमायया* शब्द ''बिना माया के'' यह प्रकट करता है कि गोपियों का परम धर्म तो अपने असली प्रेमी श्रीकृष्ण की सेवा करना है।

दु:शीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा ।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

दु:शीलः—भ्रष्ट चरित्र वाला; दुर्भगः—अभागा; वृद्धः—बूढ़ा; जडः—मन्द; रोगी—बीमार; अधनः—गरीब; अपि वा—तो भी; पतिः—पति; स्त्रीभिः—स्त्रियों द्वारा; न हातव्यः—परित्याग नहीं करना चाहिए; लोक—अगले जीवन में उत्तम स्थान; ईप्सुभिः—चाहने वाली; अपातकी—(यदि) पतित न हो।

जो स्त्रियाँ अगले जीवन में उत्तम लोक प्राप्त करना चाहती हैं उन्हें चाहिए कि उस पति का कभी परित्याग न करें जो अपने धार्मिक स्तर से नीचे न गिरा हो चाहे वह दुश्चरित्र, अभागा, वृद्ध, अज्ञानी, बीमार या निर्धन क्यों न हो।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने *स्मृति शास्त्र* से इससे मिलता-जुलता कथन उद्धृत किया है—*पतिं त्वपतितं भजेत्*—जो पतित नहीं है ऐसे स्वामी (पति) की सेवा करनी चाहिए। कभी कभी यह बेहूदा तर्क दिया जाता है कि यदि पति आध्यात्मिक सिद्धान्तों से नीचे गिर जाता है, तो भी उसकी पत्नी को उसका अनुगमन करना चाहिए क्योंकि वह उसका ''गुरु'' होता है। चूँकि कृष्णभावनामृत अन्य किसी धार्मिक सिद्धान्त की अधीनता स्वीकार नहीं कर सकता अत: जो गुरु अपने अनुयायी को भौतिकतावादी पापपूर्ण कार्यों में लगाता है, वह अपना गुरु-पद खो देता है। श्रील प्रभुपाद कहा करते थे कि यूरोप में प्रभुसत्ता का अन्त इसीलिए हो गया क्योंकि राजन्य वर्ग अपने पद का दुरुपयोग करते थे। इसी तरह पाश्चात्य जगत में पुरुषों ने स्त्रियों का शोषण और दुरुपयोग किया है और अब लोकप्रिय आन्दोलन उठ खड़ा हुआ है, जिसमें स्त्रियाँ अपने पतियों की सत्ता का बहिष्कार कर रही हैं। आदर्शत: पुरुषों का आध्यात्मिक जीवन कट्टर होना चाहिए और उन्हें अपनी देख-रेख में रहने वाली स्त्रियों को शुद्ध, निष्ठापूर्ण मार्गदर्शन कराना चाहिए।

सर्वोच्च आध्यात्मिक पद को प्राप्त गोपियाँ समस्त नकारात्मक तथा निषेधात्मक धार्मिक सोच-विचारों से परे थीं। दूसरे शब्दों में, वे परम सत्य की नित्य प्रेमिकाएँ थीं।

अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम् ।

जुगुप्सितं च सर्वत्र ह्यौपपत्यं कुलस्त्रियः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अस्वर्ग्यम्—स्वर्ग को न ले जाने वाला; अयशस्यम्—अच्छी ख्याति के लिए अनुपयुक्त; च—तथा; फल्गु—नगण्य; कृच्छ्रम्—कठिन; भय-आवहम्—भय उत्पन्न करने वाला; जुगुप्सितम्—निन्दनीय; च—तथा; सर्वत्र—सभी तरह से; हि—निस्सन्देह; औपपत्यम्—परपति के साथ सम्बन्ध, व्यभिचार; कुल-स्त्रियः—अच्छे कुल की अर्थात् कुलीन स्त्री के लिए।

कुलीन स्त्री के लिए क्षुद्र व्यभिचार सदा ही निन्दनीय हैं, इनसे स्वर्ग जाने में बाधा पहुँचती है, उसकी ख्याति नष्ट होती है और ये उसके लिए कठिनाई तथा भय उत्पन्न करनेवाले होते हैं।

श्रवणाद्दर्शनाद्ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात् ।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान् ॥ २७॥

शब्दार्थ

श्रवणात्—(मेरे यश का) श्रवण करने से; दर्शनात्—(मन्दिर में मेरे अर्चाविग्रह का) दर्शन करने से; ध्यानात्—ध्यान करने से; मयि—मुझमें, मेरे लिए; भावः—प्रेम; अनुकीर्तनात्—बाद में कीर्तन करने से; न—नहीं; तथा—उसी प्रकार से; सन्निकर्षेण—शारीरिक सामीप्य से; प्रतियात—लौट जाओ; ततः—अतः; गृहान्—अपने अपने घरों को।

मेरे विषय में सुनने, मेरे अर्चाविग्रह रूप का दर्शन करने, मेरा ध्यान करने तथा मेरी महिमा का श्रद्धापूर्वक कीर्तन करने की भक्तिमयी विधियों से मेरे प्रति दिव्य प्रेम उत्पन्न होता है। केवल शारीरिक सान्निध्य से वैसा ही फल प्राप्त नहीं होता। अतः तुम लोग अपने घरों को लौट जाओ।

तात्पर्य : श्रीकृष्ण निश्चय ही प्रबल तर्क प्रस्तुत कर रहे हैं।

श्रीशुक उवाच
इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम् ।
विषण्णा भग्नसङ्कल्पाश्चिन्तामापुर्दुरत्ययाम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; विप्रियम्—अरुचिकर, अप्रिय; आकर्ण्य—सुनकर; गोप्यः—गोपियों ने; गोविन्द-भाषितम्—गोविन्द के वचन; विषण्णाः—अत्यन्त खिन्न; भग्न—उदास; सङ्कल्पाः—प्रबल इच्छाएँ; चिन्ताम्—चिन्ता; आपुः—अनुभव किया; दुरत्ययाम्—दुर्लंघ्य।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : गोविन्द के इन अप्रिय वचनों को सुनकर गोपियाँ खिन्न हो उठीं। उनकी बड़ी बड़ी आशाएँ ध्वस्त हो गईं और उन्हें दुर्लंघ्य चिन्ता होने लगी।

तात्पर्य : गोपियों की समझ में नहीं आ रहा था कि वे करें तो क्या करें। वे कृष्ण के चरणों पर गिरकर उनकी कृपा की भीख माँगने के लिए फूट-फूटकर रोना चाहती थीं या फिर दूर रहकर अपने घरों को चली जाना चाहती थीं। किन्तु वे इन दोनों में से एक भी नहीं कर पाईं अतः उन्हें अत्यधिक चिन्ता होने लगी।

कृत्वा मुखान्यव शुचः श्वसनेन शुष्यद्-
बिम्बाधराणि चरणेन भुवः लिखन्त्यः ।
अस्त्रैरुपात्तमसिभिः कुचकुङ्कुमानि
तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

कृत्वा—करके; मुखानि—अपने मुखों को; अव—नीचे; शुचः—शोक से; श्वसनेन—आहें भरती; शुष्यत्—सूखते हुए; बिम्ब—लाल बिम्ब फल रूपी; अधराणि—होठों को; चरणेन—अपने पैरों के अँगूठों से; भुवः—पृथ्वी को; लिखन्त्यः—कुरेदते हुए; अस्त्रैः—आँसुओं से; उपात्त—बहाती हुई; मसिभिः—आँखों के कज्जल से; कुच—स्तनों पर; कुङ्कुमानि—सिन्दूर; तस्थुः—निश्चल खड़ी रहीं; मृजन्त्यः—धोते हुए; उरु—अत्यधिक; दुःख—दुख के; भराः—भार का अनुभव करती हुई; स्म—निस्सन्देह; तूष्णीम्—चुपचाप।

गोपियाँ अपना सिर झुकाये तथा शोकपूर्ण गहरे श्वास से लाल लाल होंठों को सुखाते हुए अपने पैर के अँगूठे से धरती कुरेदने लगीं। उनकी आँखों से आँसू बहने लगे जिन्होंने अपने साथ उनके कज्जल को बहाते हुए उनके स्तनों पर लेपित सिन्दूर को धो डाला। इस तरह गोपियाँ अपने दुख के भार को चुपचाप सहन करती हुई खड़ी रहीं।

तात्पर्य : गोपियों को लगा कि "यदि कृष्ण हमारे शुद्ध प्रेम से वश में नहीं आये तो हमारा प्रेम शुद्ध नहीं है। और यदि हम कृष्ण से ठीक से प्रेम नहीं कर पातीं तो हमारे जीवन से क्या लाभ?" उनके लाल लाल होंठ इसलिए सूख रहे थे क्योंकि उनके दुख से निकलने वाली साँस गर्म थी। जब सूर्य की धूप पके हुए लाल बिम्ब फलों को सुखा देती है, तो उनमें गहरे धब्बे पड़ जाते हैं और वे नरम पड़ जाते हैं। गोपियों के सुन्दर होठों में भी उसी तरह नरम परिवर्तन आ गया। वे कृष्ण के समक्ष चुपचाप खड़ी रहीं; वे बोलने में असमर्थ थीं।

प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं
कृष्णं तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः ।
नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किञ्चित्-
संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

प्रेष्ठम्—अपने प्रेमी; प्रिय-इतरम्—प्रिया, प्रेमी का उल्टा; इव—मानो; प्रतिभाषमाणम्—उन्हें सम्बोधित करते हुए; कृष्णम्—कृष्ण को; तत्-अर्थ—उसके लिए; विनिवर्तित—विलग रहकर; सर्व—सभी; कामाः—भौतिक इच्छाएँ; नेत्रे—अपनी आँखों को; विमृज्य—पोंछकर; रुदित—अपना रोना; उपहते—बन्द करके; स्म—तब; किञ्चित्—कुछ; संरम्भ—क्षोभ सहित; गद्गद—अवरुद्ध; गिरः—वाणी; अब्रुवत—बोलीं; अनुरक्ताः—दृढ़ता से लिप्त।

यद्यपि कृष्ण उनके प्रेमी थे और उन्हीं के लिए उन सबों ने अपनी सारी इच्छाएँ त्याग दी थीं

किन्तु वे ही उनसे प्रतिकूल होकर बोल रहे थे। तो भी वे उनके प्रति उसी तरह अनुरक्त बनी रहीं। अपना रोना बन्द करके उन्होंने अपनी आँखें पोंछीं और क्षोभ से युक्त अवरुद्ध वाणी से वे कहने लगीं।

तात्पर्य : अब गोपियाँ कृष्ण को उत्तर देने लगी। उनके प्रति अगाध प्रेम से उत्पन्न क्रोध के कारण उनकी वाणी अवरुद्ध थी और वे उन्हें त्यागने के लिए राजी नहीं थीं। वे नहीं चाहती थीं कि कृष्ण उनका परित्याग करें।

श्रीगोप्य ऊचुः
मैवं विभोऽर्हति भवान्गदितुं नृशंसं
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् ।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-गोप्यः ऊचुः—सुन्दरी गोपियों ने कहा; मा—नहीं; एवम्—इस तरह; विभो—हे सर्वशक्तिमान; अर्हति—चाहिए; भवान्—आपको; गदितुम्—बोलना; नृ-शंसम्—क्रूरतापूर्वक; सन्त्यज्य—पूर्णतया परित्याग करके; सर्व—समस्त; विषयान्—विविध प्रकार की इन्द्रिय तृप्ति; तव—आपके; पाद-मूलम्—चरणों को; भक्ताः—पूजने वाली; भजस्व—कृपया बदले में प्रेम करें; दुरवग्रह—अरे हठीले; मा त्यज—मत त्यागें; अस्मान्—हमको; देवाः—भगवान्; यथा—जिस तरह; आदि-पुरुषः—आदि भगवान्, नारायण; भजते—प्रेम करते हैं; मुमुक्षून्—मुक्ति चाहने वालों को।

सुन्दर गोपिकाओं ने कहा : हे सर्वशक्तिमान, आपको इस निर्दयता से नहीं बोलना चाहिए। आप हमें ठुकरायें नहीं। हमने आपके चरणकमलों की भक्ति करने के लिए सारे भौतिक भोगों का परित्याग कर दिया है। अरे हठीले, आप हमसे उसी तरह प्रेम करें जिस तरह श्रीनारायण अपने उन भक्तों से प्रेम करते हैं, जो मुक्ति के लिए प्रयास करते हैं।

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; पति—पतियों की; अपत्य—सन्तानों; सुहृदाम्—तथा शुभचिन्तक सम्बन्धियों और मित्रों की; अनुवृत्तिः—अनुगमन; अङ्ग—हे कृष्ण; स्त्रीणाम्—स्त्रियों के; स्व-धर्मः—उचित धार्मिक कर्तव्य; इति—इस प्रकार; धर्म-विदा—धर्म को जानने वाले; त्वया—तुम्हारे द्वारा; उक्तम्—कहा गया; अस्तु—होए; एवम्—वैसा ही; एतत्—यह; उपदेश—इस उपदेश के; पदे—असली लक्ष्य; त्वयि—तुममें; ईशे—हे ईश्वर; प्रेष्ठः—अत्यन्त प्रिय; भवान्—आप; तनु-भृताम्—समस्त देहधारी जीवों के लिए; किल—निश्चय ही; बन्धुः—निकट सम्बन्धी; आत्मा—साक्षात् आत्मा।

हे प्रिय कृष्ण, एक धर्मज्ञ की तरह आपने हमें उपदेश दिया है कि स्त्रियों का उचित धर्म है कि वे अपने पतियों, बच्चों तथा अन्य सम्बन्धियों की निष्ठापूर्वक सेवा करें। हम मानती हैं कि यह सिद्धान्त वैध है किन्तु वास्तव में यह सेवा तो आपकी की जानी चाहिए। हे प्रभु, आप ही तो समस्त देहधारियों के सर्वप्रिय मित्र हैं। असल में आप उनके घनिष्ठतम सम्बन्धी तथा उनकी आत्मा हैं।

तात्पर्य : श्रीकृष्ण समस्त जीवों की आत्मा, उनके सर्वप्रिय मित्र तथा शुभचिन्तक हैं। *भागवत* (११.५.४१) में कहा गया है—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां

न किङ्करो नायमृणी च राजन्।

सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं

गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

''हे राजन्! जिसने सारे भौतिक कर्तव्यों को त्याग दिया हो तथा सबों को शरण देने वाले मुकुन्द के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली हो, वह देवताओं, महान् ऋषियों, साधारण जीवों, सम्बन्धियों, मित्रों, मानवमात्र या अपने मृत पूर्वजों का ऋणी नहीं रह जाता। चूँकि ये सारे जीव भगवान् के अंश होते हैं अतः जो व्यक्ति भगवान् की शरण में आ जाता है उसे ऐसे व्यक्तियों की अलग से सेवा नहीं करनी पड़ती।'' समस्त जगत के स्वामी भगवान् से ही सत्ता नीचे-नीचे को आती है। पति, माता, सरकारी नेता तथा साधु-सन्त जैसे अधिकारीगण भगवान् से ही अपनी शक्ति तथा सत्ता प्राप्त करते हैं अतः जो लोग उनका अनुगमन करते हैं उनके लिए उन्हें परम सत्य का प्रतिनिधित्व करना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति प्राणपण से आदि परम सत्य की प्रेमाभक्ति करता है, तो उसे उपर्युक्त गौण अधिकारियों के माध्यम से परम सत्य की अप्रत्यक्ष रीति से सेवा करने की आवश्यकता नहीं रहती।

किन्तु ईश्वर की शरण में आया जीव भी आध्यात्मिक गुरु की सेवा करता रहता है क्योंकि गुरु भगवान् का अप्रत्यक्ष नहीं अपितु प्रत्यक्ष प्रतिनिधि होता है। प्रामाणिक आचार्य या गुरु वह पारदर्शी माध्यम है, जो शिष्य को कृष्ण के चरणकमलों तक ले जाता है। जब कोई व्यक्ति परम सत्य के प्रत्यक्ष सान्निध्य में रहता है, तो सारे अप्रत्यक्ष अधिकारी निरर्थक हो जाते हैं। गोपियाँ यह मुख्य बात कृष्ण को

जताना चाहती थीं और उनमें से कुछ साहसी युवतियाँ श्रीकृष्ण को उनके ही कथनों द्वारा पराजित करना चाहती थीं जैसाकि इस श्लोक में है।

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशला: स्व आत्मन्
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदै: किम् ।
तन्न: प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या
आशां धृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ॥ ३३॥

शब्दार्थ

कुर्वन्ति—दिखलाते हैं; हि—निस्सन्देह; त्वयि—तुम्हारे लिए; रतिम्—आकर्षण; कुशला:—पटु व्यक्ति; स्वे—अपने हेतु; आत्मन्—आत्मा; नित्य—शाश्वत; प्रिये—प्रिय; पति—अपने पतियों समेत; सुत—पुत्र; आदिभि:—तथा अन्य सम्बन्धियों समेत; आर्ति-दै:—कष्ट पहुँचाने वाले; किम्—क्या; तत्—अतएव; न:—हम पर; प्रसीद—कृपालु हों; परम-ईश्वर—हे परम नियन्ता; मा स्म छिन्द्या:—कृपा करके छिन्न-भिन्न नहीं करें; आशाम्—हमारी आशाओं को; धृताम्—धारण की गई; त्वयि—तुम्हारे लिए; चिरात्—दीर्घकाल से; अरविन्द-नेत्र—हे कमलनयन।

सुविज्ञ अध्यात्मवादीजन सदैव आपसे स्नेह करते हैं क्योंकि वे आपको अपनी असली आत्मा तथा शाश्वत प्रेमी मानते हैं। हमें अपने इन पतियों, बच्चों तथा सम्बन्धियों से क्या लाभ मिलता है, जो हमें केवल कष्ट देने वाले हैं? अतएव हे परम नियन्ता, हम पर कृपा करें। हे कमलनेत्र, आप अपना सान्निध्य चाहने की हमारी चिर-पोषित अभिलाषा आशा को छिन्न मत करें।

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये ।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
याम: कथं व्रजमथो करवाम किं वा ॥ ३४॥

शब्दार्थ

चित्तम्—हमारे मन; सुखेन—आसानी से; भवता—आपके द्वारा; अपहृतम्—चुराये गये; गृहेषु—घर के कामकाज में; यत्—जो; निर्विशति—लीन रहते थे; उत—और भी; करौ—हमारे हाथ; अपि—भी; गृह्य-कृत्ये—घर के काम में; पादौ—हमारे पैर; पदम्—एक पग; न चलत:—नहीं बढ़ रहे; तव—तुम्हारे; पाद-मूलात्—चरणों से दूर; याम:—हम जायेंगी; कथम्—कैसे; व्रजम्—व्रज को वापस; अथ उ—तथा फिर; करवाम—हम करेंगी; किम्—क्या; वा—आगे।

आज तक हमारे मन गृहकार्यों में लीन थे किन्तु आपने सरलतापूर्वक हमारे मन तथा हमारे हाथों को हमारे गृहकार्य से चुरा लिया है। अब हमारे पाँव आपके चरणकमलों से एक पग भी दूर नहीं हटेंगे। हम व्रज वापस कैसे जा सकती हैं? हम वहाँ जाकर क्या करेंगी?

तात्पर्य : श्रीकृष्ण ने अपनी बाँसुरी बजाई तो उसके छिद्रों से निकले हुए मादक संगीत ने युवती

गोपियों के मनों को चुरा लिया था। अब वे कृष्ण के पास अपनी चोरी की गई सम्पत्ति को वापस लेने आई थीं। किन्तु उन्हें अपने मन तभी मिल सकते थे जब श्रीकृष्ण उन्हें अपनाकर उनके साथ युगल क्रीड़ा करते।

श्रीकृष्ण ने शायद उत्तर दिया हो, "किन्तु हे गोपियो! अभी तो तुम लोग घर जाओ। मुझे एक-दो दिन तक स्थिति पर विचार करने दो; तब मैं तुम्हें तुम्हारे मन लौटा दूँगा।" इस सम्भाव्य तर्क के उत्तर में गोपियाँ कहती हैं, "हमारे पाँव एक पग भी चलने से इनकार कर रहे हैं। अत: हमें हमारे मन वापस कर दीजिये और हमें स्वीकार कीजिये, तभी हम जायेंगी।"

सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण
हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम् ।
नो चेद्वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा
ध्यानेन याम पदयो: पदवीं सखे ते ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सिञ्च—कृपा करके उलेड़िये; अङ्ग—हे प्रिय कृष्ण; न:—हमारे; त्वत्—तुम्हारे; अधर—होंठों के; अमृत—अमृत की; पूरकेण—बाढ़ से; हास—हँसी युक्त; अवलोक—तुम्हारी चितवन से; कल—सुरीला; गीत—तथा (तुम्हारी वंशी के) गीत से; ज—उत्पन्न; हृत्-शय—हमारे हृदयों में स्थित; अग्निम्—अग्नि; न उ चेत्—यदि नहीं; वयम्—हम सभी; विरह—वियोग से; ज—उत्पन्न; अग्नि—अग्नि में; उपयुक्त—रखते हुए; देहा:—अपने शरीर; ध्यानेन—ध्यान के द्वारा; याम—जायेंगी; पदयो:—चरणों के; पदवीम्—स्थान तक; सखे—हे मित्र; ते—तुम्हारे।

हे कृष्ण, हमारे हृदयों के भीतर की अग्नि, जिसे आपने अपनी हँसी से युक्त चितवन के द्वारा तथा अपनी वंशी के मधुर संगीत से प्रज्वलित किया है उस पर कृपा करके अपने होठों का अमृत डालिए। यदि आप ऐसा नहीं करेंगे तो हे सखा, हम आपके वियोग की अग्नि में अपने शरीरों को भस्म कर देंगी और इस प्रकार योगियों की तरह ध्यान द्वारा आपके चरणकमलों के धाम को प्राप्त करेंगी।

यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया
दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य ।
अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमञ्ज:
स्थातुंस्त्वयाभिरमिता बत पारयाम: ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यर्हि—जब; अम्बुज—कमल सदृश; अक्ष—आँखों वाले; तव—तुम्हारे; पाद—पैरों के; तलम्—नीचे; रमाया:—श्रीमती लक्ष्मीदेवी के लिए; दत्त—प्रदान करते हुए; क्षणम्—उत्सव; क्वचित्—कभी कभी; अरण्य—जंगल में रहने वाले; जन—

लोगों के; प्रियस्य—प्रिय का; अस्प्राक्ष्म—हम छू लेंगी; तत्-प्रभृति—उसी क्षण से आगे; न—कभी नहीं; अन्य—किसी दूसरे व्यक्ति के; समक्षम्—सामने; अङ्गः—प्रत्यक्षतः; स्थातुम्—खड़े रहने के लिए; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अभिरमिताः—हर्ष से पूरित; बत—निश्चय ही; पारयामः—समर्थ होंगी।

हे कमलनेत्र, जब भी लक्ष्मीजी आपके चरणकमलों के तलुवों का स्पर्श करती हैं, तो वे इसे उल्लास का अवसर मानती हैं। आप वन-वासियों को अत्यन्त प्रिय हैं अतएव हम भी आपके उन चरणकमलों का स्पर्श करेंगी। उसके बाद हम किसी भी व्यक्ति के समक्ष खड़ी तक नहीं होंगी क्योंकि तब हम आपके द्वारा पूरी तरह तुष्ट हो चुकी होंगी।

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम् ।
यस्याः स्ववीक्षण उतान्यसुरप्रयासस्
तद्वद्वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

श्रीः—भगवान् नारायण की पत्नी, लक्ष्मीजी; यत्—जिस तरह; पद-अम्बुज—चरणकमलों की; रजः—धूल; चकमे—वांछित; तुलस्या—तुलसीदेवी के साथ; लब्ध्वा—प्राप्त करने के बाद; अपि—भी; वक्षसि—उनके वक्षस्थल पर; पदम्—अपना स्थान; किल—निस्सन्देह; भृत्य—नौकरों के द्वारा; जुष्टम्—सेवित; यस्याः—जिसके (लक्ष्मी के); स्व—अपने; वीक्षणे—चितवन के लिए; उत—दूसरी ओर; अन्य—दूसरे; सुर—देवताओं का; प्रयासः—प्रयत्न; तद्वत्—उसी तरह से; वयम्—हम; च—भी; तव—तुम्हारे; पाद—चरण की; रजः—धूल; प्रपन्नाः—शरण के लिए आई हुई हैं।

जिन लक्ष्मीजी की कृपा-कटाक्ष के लिए देवतागण महान् प्रयास करते रहते हैं उन्हें भगवान् नारायण के वक्षस्थल पर सदैव विराजमान रहने का अनुपम स्थान प्राप्त है। फिर भी वे उनके चरणकमलों की धूल पाने के लिए इच्छुक रहती हैं, यद्यपि उन्हें इस धूल में तुलसीदेवी तथा भगवान् के अन्य बहुत से सेवकों को भी हिस्सा देना पड़ता है। इसी तरह हम भी शरण लेने के लिए आपके चरणकमलों की धूलि लेने आई हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर गोपियाँ इंगित करती हैं कि भगवान् के चरणों की धूल इतनी जीवनदायिनी तथा प्रेमपूर्ण है कि लक्ष्मीजी भगवान् के वक्षस्थल पर प्राप्त अपने अनुपम स्थान को त्यागकर उनके चरणों में स्थान प्राप्त करने के लिए अन्य अनेक भक्तों के साथ सम्मिलित होना चाहती हैं। इस तरह गोपियाँ कृष्ण से अनुरोध करती हैं कि वे दोहरा मानदण्ड अपनाने के लिए अपने को दोषी न मानें। चूँकि भगवान् ने लक्ष्मी को अपने वक्षस्थल में स्थान देते हुए भी उन्हें अपने चरणकमलों की धूल लेने दी अतः कृष्ण को चाहिए कि वे अपनी सर्वाधिक प्रिय गोपियों को वही अवसर प्रदान करें। गोपियों ने याचना की, ''आखिर, आपके चरणकमलों की धूल लेना पूर्णतया वैध है और आपको चाहिए कि

आप हमारे इस प्रयास को प्रोत्साहित करें और हमें दूर भेजने का प्रयास न करें।''

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं
प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः ।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम-
तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; नः—हम पर; प्रसीद—अपना अनुग्रह प्रदर्शित करें; वृजिन—सारे कष्टों को; अर्दन—विनष्ट करने वाले; ते—तुम्हारे; अङ्घ्रि-मूलम्—पाँवों को; प्राप्ताः—आई हुई हैं; विसृज्य—त्यागकर; वसतीः—अपने घरों को; त्वत्-उपासना—आपकी पूजा की; आशाः—आशा से; त्वत्—आपके; सुन्दर—सुन्दर; स्मित—हास; निरीक्षण—चितवन के कारण; तीव्र—अत्यधिक, उत्कट; काम—कामेच्छा से; तप्त—जली हुई; आत्मनाम्—जिनके हृदय; पुरुष—सारे मनुष्यों के; भूषण—आभूषण; देहि—प्रदान करें; दास्यम्—दासता।

अतः हे सभी संतापों का हरण करने वाले, हम पर कृपा करें। आपके चरणकमलों तक पहुँचने के लिए हमने अपने परिवारों तथा घरों को छोड़ा है और हमें आपकी सेवा करने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहिए। हमारे हृदय आपकी सुन्दर हासमयी चितवन से उत्पन्न तीव्र इच्छाओं के कारण जल रहे हैं। हे पुरुष-रत्न, हमें अपनी दासियाँ बना लें।

तात्पर्य : जब श्रीकृष्ण उत्पन्न हुए थे तो गर्ग मुनि ने भविष्यवाणी की थी कि उनमें भगवान् नारायण के सारे ऐश्वर्य प्रकट होंगे। अब गोपियाँ भगवान् से याचना करती हैं कि वे उनपर कृपालु बनकर तथा उन्हें सेवा करने का अवसर देकर उस भविष्यवाणी को पूरा करें जिस तरह कि भगवान् नारायण सदैव अपने प्रिय भक्तों को प्रत्यक्ष सेवा का अवसर प्रदान करते हैं। गोपियाँ बलपूर्वक कहती हैं कि उन्होंने अपने परिवारों तथा घरों को कृष्ण से कोई उच्चतर आनन्द प्राप्त करने के लिए नहीं छोड़ा है। वे तो अपनी शुद्ध भक्ति को प्रकट करके उनसे केवल सेवा करने की भिक्षा माँग रही हैं। गोपियाँ सोचती हैं, ''यदि आपके सुख की कामना करते हुए आपके मुख को निहारकर हम किसी तरह सुखी बन सकें तो इसमें क्या हानि है?''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने *पुरुषभूषण* शब्दों की टीका, ''हे पुरुषों में रत्न'' के रूप में की है। आपका कहना है कि गोपियों के कहने का आशय था कि, ''हे समस्त पुरुषों के रत्न! आप अपने अंगों की नील मणियों से हमारे सुनहले शरीरों को अलंकृत करें।''

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्दलश्री-
गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम् ।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य
वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

वीक्ष्य—देखकर; अलक—आपके बालों से; आवृत—ढके; मुखम्—मुख को; तव—तुम्हारे; कुण्डल—कुण्डलों की; श्री—सुन्दरता से; गण्ड-स्थल—गाल; अधर—होठों के; सुधम्—तथा अमृत; हसित—मन्द हँसी समेत; अवलोकम्—चितवन; दत्त—प्रदान करते हुए; अभयम्—अभय; च—तथा; भुज-दण्ड—आपकी शक्तिशाली बाँहें; युगम्—दो; विलोक्य—देखकर; वक्षः—आपका वक्षस्थल; श्री—लक्ष्मी का; एक—एकमात्र; रमणम्—आनन्द स्रोत; च—तथा; भवाम—हम बनना चाहती हैं; दास्यः—आपकी दासियाँ।

बालों के घुंघराले गुच्छों से घिरे हुए आपके मुख, कुण्डलों से विभूषित आपकी गालों, अमृत से पूर्ण आपके होठों तथा आपकी स्मितपूर्ण चितवन को देखकर तथा हमारे भय को भगाने वाली आपकी दो बलिष्ठ भुजाओं को एवं लक्ष्मीजी के आनन्द के एकमात्र स्रोत आपके वक्षस्थल को देखकर हम भी आपकी दासियाँ बनना चाहती हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कृष्ण के साथ गोपियों के व्यवहार की कल्पना निम्नानुसार की है—

कृष्ण कहते हैं, "तुम मेरी दासियाँ बनना चाहती हो अत: मुझे तुम लोगों को खरीदने के लिए कुछ मूल्य चुकाना है याकि तुम मुफ्त ही अपने को सौंपना चाहती हो?"

गोपियाँ उत्तर देती हैं, "आप हमारी युवावस्था के प्रारम्भ से ही हमें लाखों गुना मूल्य चुकाकर खरीदते रहे हैं। वह मूल्य है आपकी मणि तुल्य हास्यभरी चितवन जो महान् निधि है, जिसको न तो हमने अन्यत्र देखा है, न सुना है।"

"जब आप अपने सिर पर सुनहला साफा बाँध लेते हैं, तो आपकी दासी आपके साफे को थोड़ा थोड़ा खींचकर सही करती है। जब आप उसे बरजने का प्रयास करते हुए, उस पर उंगली भी उठाते हैं, तो वह आपके साफे के नीचे अपना हाथ रखकर आपके मुख को निहारने का अवसर प्राप्त करती है। इस तरह हम दासियाँ आपकी प्रचुर माधुरी का अपने नेत्रों से आस्वाद करेंगी।"

"कृष्ण कहते हैं कि, "तुम्हारे पतियों को हमारा यह व्यवहार सहन नहीं हो सकेगा। वे कंस से जाकर जोरदार शिकायत करेंगे और इस तरह तुम्हारे तथा मेरे दोनों ही के लिए भयावह स्थिति उत्पन्न कर देंगे।"

‘‘गोपियाँ कहती हैं, ‘‘किन्तु हे कृष्ण! आपकी दो बलिष्ठ भुजाएँ हमें उसी तरह निर्भय बनाती हैं जिस तरह उन्होंने महेन्द्र के गर्व से हमारी रक्षा करने के लिए आपके द्वारा गोवर्धन पर्वत धारण करते समय बनाया था। वे भुजाएँ अवश्य ही हिंस्रपशु कंस का बध कर देंगी।’’

‘‘किन्तु धर्मात्मा होने के कारण मैं अन्यों की पत्नियों को अपनी दासियाँ नहीं बना सकता।’’

‘‘हे धर्मात्माओं के मुकुटमणि! भले ही आप गोपों की पत्नियों को अपनी दासियाँ बनाने से इनकार करें किन्तु आपने बलपूर्वक नारायण की पत्नी लक्ष्मी को वैकुण्ठ से ग्रहण कर लिया है और आप उसे अपने वक्षस्थल में बिठाये रहते हैं। उसने लज्जा के मारे आपके वक्षस्थल में एक सोने की रेखा का स्वरूप धारण कर रखा है और वहीं वह आनन्द प्राप्त करती है।’’

‘‘यही नहीं, आप चौदहों लोकों में तथा उनके ऊपर के लोकों में, इस ब्रह्माण्ड के परे वैकुण्ठ-लोक में भी किसी भी सुन्दर स्त्री का परित्याग नहीं करते, चाहे वह जो हो या जिसकी हो। हमें यह भलीभाँति ज्ञात है।’’

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतवेणुगीत-
सम्मोहितार्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम् ।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

का—कौनसी; स्त्री—स्त्री; अङ्ग—हे कृष्ण; ते—तुम्हारा; कल—मधुर; पद—पदों वाले; आयत—निकले हुए; वेणु—तुम्हारी वंशी के; गीत—गीत से; सम्मोहिता—पूर्णतया मोहित; आर्य—सभ्य व्यक्तियों के; चरितात्—उचित आचरण से; न चलेत्—हटता नहीं; त्रि-लोक्याम्—तीनों लोकों में; त्रै-लोक्य—तीनों लोकों का; सौभगम्—कल्याण का कारण; इदम्—यह; च—तथा; निरीक्ष्य—देखकर; रूपम्—सौन्दर्य; यत्—जिसके कारण; गो—गौवें; द्विज—पक्षी; द्रुम—वृक्ष; मृगाः—तथा हिरन; पुलकानि—रोमांच; अबिभ्रन्—हो आया।

हे कृष्ण, तीनों लोकों में ऐसी कौन स्त्री होगी जो आपकी वंशी से निकली मधुर तान से मोहित होकर अपने धार्मिक आचरण से विचलित न हो जाय? आपका सौन्दर्य तीनों लोकों को मंगलमय बनाता है। दरअसल गौवें, पक्षी, वृक्ष तथा हिरण तक भी आपके सुन्दर रूप को देखकर रोमांचित हो उठते हैं।

व्यक्तं भवान्व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो
देवो यथादिपुरुषः सुरलोकगोप्ता ।

तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो
तप्तस्तनेषु च शिर:सु च किङ्करीणाम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

व्यक्तम्—स्पष्ट है कि; भवान्—आप; व्रज—व्रजवासी के; भय—भय; आर्ति—तथा कष्ट के; हर:—हरने वाले; अभिजात:—उत्पन्न हुआ; देव:—भगवान्; यथा—जिस प्रकार; आदि-पुरुष:—आदि भगवान्; सुर-लोक—देव-लोक का; गोप्ता—रक्षक; तत्—अत:; न:—हम सबों का; निधेहि—कृपा करके रखें; कर—अपना हाथ; पङ्कजम्—कमल सदृश; आर्त—सताया हुआ; बन्धो—हे मित्र; तप्त—जलते हुए; स्तनेषु—स्तनों पर; च—तथा; शिर:सु—सिरों पर; च—भी; किङ्करीणाम्—अपनी दासियों के।

स्पष्ट है कि आपने व्रजवासियों के भय तथा कष्ट को हरने के लिए इस जगत में उसी तरह जन्म लिया है, जिस तरह आदि भगवान् देव-लोक की रक्षा करते हैं। अत: हे दुखियारों के मित्र, अपना करकमल अपनी दासियों के सिरों पर तथा तप्त स्तनों पर रखिये।

श्रीशुक उवाच
इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वर: ।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इन शब्दों में; विक्लवितम्—विकल वाणी; तासाम्—उनकी; श्रुत्वा—सुनकर; योग-ईश्वर-ईश्वर:—योगशक्ति के ईश्वरों के ईश्वर; प्रहस्य—हँसकर; स-दयम्—दयापूर्वक; गोपी:—गोपियों को; आत्म आराम:—आत्म-तुष्ट; अपि—यद्यपि; अरीरमत्—उन्होंने सन्तुष्ट कर दिया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : गोपियों के व्याकुल शब्दों को सुनकर हँसते हुए, समस्त योगेश्वरों के भी ईश्वर भगवान् कृष्ण ने उन सबों के साथ कृपा करके आनन्द मनाया यद्यपि वे आत्मतुष्ट हैं।

ताभि: समेताभिरुदारचेष्टित:
प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युत: ।
उदारहासद्विजकुन्ददीधति-
र्व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृत: ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

ताभि:—उनके साथ; समेताभि:—एकसाथ मिलकर; उदार—उदार, वदान्य; चेष्टित:—चेष्टाओं वाला; प्रिय—प्यारा; ईक्षण—अपनी चितवन से; उत्फुल्ल—खिले हुए; मुखीभि:—मुखों वाली; अच्युत:—अच्युत भगवान्; उदार—विस्तृत, खुली; हास—हँसी; द्विज—दाँतों की; कुन्द—चमेली के फूल जैसी; दीधति:—तेज युक्त; व्यरोचत—शानदार लगा; एण-अङ्क:—काले हिरण जैसे धब्बे वाला, चन्द्रमा; इव—सदृश; उडुभि:—ताराओं के द्वारा; वृत:—घिरा हुआ।

एकत्र गोपियों के बीच में अच्युत भगवान् कृष्ण वैसे ही लग रहे थे जैसे कि तारों से घिरा हुआ चन्द्रमा लगता है। इतने उदार कार्यकलापों वाले कृष्ण ने अपनी स्नेहमयी चितवनों से उनके

मुखों को प्रफुल्लित कर दिया और उनकी खिली हुई हँसी से चमेली की कली जैसे दाँतों का तेज प्रकट हो रहा था।

तात्पर्य : *अच्युत* शब्द सूचित करता है कि उस रात्रिकालीन सम्मेलन में कृष्ण हर गोपी को आनन्द प्रदान करने से चूके नहीं।

उपगीयमान उद्गायन्वनिताशतयूथपः ।
मालां बिभ्रद्वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन्वनम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

उपगीयमानः—गान किया हुआ; उद्गायन्—अपने से जोर जोर गाते हुए; वनिता—स्त्रियों के; शत—सैकड़ों; यूथपः—सेनानायक; मालाम्—हार या माला; बिभ्रत्—पहने; वैजयन्तीम्—वैजयन्ती नाम के (पाँच भिन्न रंगों के फूलों से बनी); व्यचरन्—विचरण करते हुए; मण्डयन्—शोभा बढ़ाते हुए; वनम्—जंगल की।.

जब गोपियाँ उनका महिमा-गान करने लगीं तो सैकड़ों स्त्रियों के नायक ने प्रत्युत्तर में जोर जोर से गाना शुरू कर दिया। वे अपनी वैजयन्ती माला धारण किये हुए उनके बीच घूम घूम कर वृन्दावन के जंगल की शोभा बढ़ा रहे थे।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार कृष्ण ने अनेक अद्भुत तानें छोड़ी तथा राग गाये और गोपियाँ उनके पीछे पीछे गाने लगीं। इस अवसर पर कृष्ण के गायन का वर्णन *श्रीविष्णु पुराण* में प्राप्त होता है—

कृष्णः शरच्चन्द्रमसं कौमुदीं कुमुदाकरम्।
जगौ गोपीजनस्त्वेकं कृष्णनाम पुनः पुनः॥

"कृष्ण ने शरदकालीन चन्द्रमा, चाँदनी तथा कमलों से पूरित नदी की महिमा का गायन किया जबकि गोपियों ने केवल उनके नामों का बारम्बार कीर्तन किया।"

नद्याः पुलिनमाविश्य गोपीभिर्हिमवालुकम् ।
जुष्टं तत्तरलानन्दि कुमुदामोदवायुना ॥ ४५॥
बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु-
नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः ।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणा-
मुत्तम्भयन्रतिपतिं रमयां चकार ॥ ४६॥

शब्दार्थ

नद्याः—नदी के; पुलिनम्—तट पर; आविश्य—प्रवेश करके; गोपीभिः—गोपियों के साथ; हिम—शीतल; वालुकम्—बालू के द्वारा; जुष्टम्—सेवा की; तत्—उसका; तरल—लहरों से; आनन्दि—आनन्दित बनाया; कुमुद—कमलों की; आमोद—सुगन्ध लिये हुए; वायुना—वायु के द्वारा; बाहु—अपनी भुजाओं का; प्रसार—फैलाना; परिरम्भ—आलिंगन समेत; कर—उनके हाथों के; अलक—बाल; ऊरु—जाँघें; नीवी—नाभि; स्तन—तथा स्तन; आलभन—स्पर्श से; नर्म—खेल में; नख—अँगुलियों के नाखूनों की; अग्र-पातैः—चिऊँटी से; क्ष्वेल्या—विनोद, खेलवाड़ से भरी बातचीत; अवलोक—चितवन; हसितैः—तथा हँसी से; व्रज-सुन्दरीणाम्—व्रज की सुन्दरियों की; उत्तम्भयन्—उत्तेजित करते हुए; रति-पतिम्—कामदेव को; रमयाम् चकार—आनन्द मनाया।

श्रीकृष्ण गोपियों समेत यमुना के किनारे गये जहाँ बालू ठंडी पड़ रही थी और नदी की तरंगों के स्पर्श से वायु में कमलों की महक थी। वहाँ कृष्ण ने गोपियों को अपनी बाँहों में समेट लिया और उनका आलिंगन किया। उन्होंने लावण्यमयी व्रज-बालाओं के हाथ, बाल, जाँघें, नाभि एवं स्तन छू छू कर तथा खेल खेल में अपने नाखूनों से चिकोटते हुए उनके साथ विनोद करते, उन्हें तिरछी नजर से देखते और उनके साथ हँसते हुए उनमें कामदेव जागृत कर दिया। इस तरह भगवान् ने अपनी लीलाओं का आनन्द लूटा।

एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः ।
आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्यो ह्यधिकं भुवि ॥ ४७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार से; भगवतः—भगवान्; कृष्णात्—कृष्ण से; लब्ध—प्राप्त हुई; मानाः—विशेष आदर; महा-आत्मनः—परमात्मा से; आत्मानम्—अपने आपको; मेनिरे—माना; स्त्रीणाम्—स्त्रियों में; मानिन्यः—मानिनी, गर्वित; हि—निस्सन्देह; अधिकम्—सर्वश्रेष्ठ; भुवि—पृथ्वी पर।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण से ऐसा विशेष आदर पाकर गोपियाँ अपने पर गर्वित हो उठीं और उनमें से हरएक ने अपने को पृथ्वी की सर्वश्रेष्ठ स्त्री समझा।

तात्पर्य : गोपियाँ इसलिए गर्वित थीं क्योंकि उन्हें सर्वश्रेष्ठ पुरुष प्रेमी के रूप में प्राप्त हो चुका था। एक तरह से उन्हें कृष्ण पर गर्व था। साथ ही गोपियों का यह गर्व एक बहाना था, जो कृष्ण की लीला-शक्ति द्वारा उत्पन्न किया गया था जिससे वे विरह के द्वारा उनके प्रति अपना प्रेम प्रगाढ़ कर सकें। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भरत मुनि के *नाटय शास्त्र* से उद्धरण दिया है—*न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते*—विरह का अनुभव किये बिना प्रत्यक्ष सम्पर्क का पूरी तरह भोग नहीं हो पाता।

तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः ।

प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

तासाम्—उनकी; तत्—वह; सौभग—उनके सौभाग्य के कारण; मदम्—उन्मत्त अवस्था; वीक्ष्य—देखकर; मानम्—मिथ्या गर्व; च—तथा; केशवः—भगवान् कृष्ण; प्रशमाय—कम करने के लिए; प्रसादाय—कृपा करने के लिए; तत्र एव—वहीं पर; अन्तरधीयत—अन्तर्धान हो गये।.

गोपियों को अपने सौभाग्य पर अत्यधिक गर्वित देखकर भगवान् केशव ने उनके इस गर्व से उबारना चाहा और उनपर और अधिक अनुग्रह करना चाहा। अतः वे तुरन्त अन्तर्धान हो गये।

तात्पर्य : *प्रसादाय* शब्द यहाँ सार्थक है। कृष्ण गोपियों की उपेक्षा नहीं करने वाले थे अपितु अन्य विलक्षण व्यवस्था करके उनके प्रेम-व्यापार की शक्ति को तीव्र करना चाहते थे। गोपियों को कृष्ण पर नाज था। जैसाकि हम देखेंगे कि उन्होंने यह व्यवस्था की कि वे राजा वृषभानु की सुन्दर पुत्री के प्रति विशेष कृपा दिखाना चाहते थे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''रासनृत्य के लिए कृष्ण तथा गोपियों का मिलन'' नामक उन्तीसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तीस

गोपियों द्वारा कृष्ण की खोज

इस अध्याय में बताया गया है कि किस तरह कृष्ण से बिछुड़ जाने से रात भर कष्ट भोगती गोपियाँ उनकी खोज में एक जंगल से दूसरे जंगल में पागल स्त्रियों की तरह घूमती रहीं।

जब श्रीकृष्ण रासनृत्य के स्थल से सहसा अन्तर्धान हो गये तो उनके भाव में पूरी तरह मग्न गोपियाँ उन्हें कई जंगलों में ढूँढ़ने लगीं। वे समस्त जड़ तथा जंगम प्राणियों से कृष्ण का अता-पता पूछने लगीं। अन्त में वे इतनी हतबुद्धि हो गईं कि वे उनकी लीलाओं की नकल उतारने लगीं।

बाद में घूमती हुई गोपियों को जंगल के एक कोने में श्रीकृष्ण के पदचिह्न दिखाई पड़े जिनके साथ श्रीमती राधारानी के पदचिह्न भी मिले हुए थे। इन पदचिह्नों को देखकर वे अत्यन्त व्याकुल हो उठीं और कहने लगीं कि अवश्य ही श्रीमती राधारानी ने कृष्ण की असामान्य पूजा की होगी क्योंकि उन्हें ही एकान्त में कृष्ण के संग रहने का अवसर दिया गया था। गोपियाँ मार्ग का अनुसरण करती हुईं एक ऐसे स्थल पर पहुँची जहाँ उन्हें श्रीमती राधारानी के पदचिह्न दिखने बन्द हो गये अतः वे इस निष्कर्ष पर

पहुँचीं कि कृष्ण ने अवश्य ही उन्हें अपने कन्धों पर उठा लिया होगा। अन्य स्थल पर उन्हें कृष्ण के पाँवों के अँगूठे के ही चिह्न दिखे जिससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि कृष्ण ने अपनी प्रियतमा को सजाने के लिए यहाँ पर फूल तोड़े होंगे। एक अन्य स्थल पर ऐसे चिह्न मिले जिससे गोपियाँ इस निष्कर्ष पर पहुँचीं कि यहाँ पर श्रीकृष्ण ने श्रीमती राधारानी के केश सँवारे होंगे। इन सारे विचारों से गोपियों के मन व्यथित हो गये।

चूँकि श्रीमती राधारानी का श्रीकृष्ण विशेष ध्यान रखते थे, इसलिए वे अपने को परम भाग्यशालिनी मानने लगीं। उन्होंने कृष्ण से कहा कि अब वे और नहीं चल सकतीं इसलिए उन्हें अपने कन्धों पर ले चलना होगा। किन्तु तभी कृष्ण उनकी दृष्टि से ओझल हो गये। अत्यन्त दुखित होकर श्रीमती राधारानी सर्वत्र उन्हें ढूँढ़ने लगीं और अन्त में उन्हें अपनी गोपी सखियाँ मिल गईं। उन्होंने उन सबसे आपबीती बतलाई। तब सारी गोपियाँ कृष्ण की खोज के लिए जंगल में निकल पड़ीं और जहाँ तक चाँदनी थी, गईं। किन्तु अन्ततोगत्वा वे विफल हो गईं अत: वे यमुना तट पर लौट आईं और घोर निराशा में कृष्ण की महिमाओं का गान करने लगीं।

श्रीशुक उवाच

अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः ।
अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अन्तर्हिते—अन्तर्धान हो जानेपर; भगवति—भगवान् के; सहसा एव—एकाएक; व्रज-अङ्गनाः—व्रज की युवतियाँ; अतप्यन्—खिन्न हो उठीं; तम्—उसको; अचक्षाणाः—न देखकर; करिण्यः—हथिनियाँ; इव—सदृश; यूथपम्—अपने नर नायक को।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब भगवान् कृष्ण इस तरह एकाएक विलुप्त हो गये तो गोपियाँ उन्हें न देख सकने के कारण अत्यन्त व्यथित हो उठीं जिस तरह हथिनियों का समूह अपने नर के बिछुड़ जाने पर खिन्न हो उठता है।

गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितै-
र्मनोरमालापविहारविभ्रमैः ।
आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापते-
स्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

गत्या—उनके हिलने डुलने से; अनुराग—स्नेहमय; स्मित—मन्द हँसी; विभ्रम—क्रीड़ापूर्ण; ईक्षितैः—तथा चितवनों से; मनः-रम—मोहक; आलाप—उनकी बातचीत से; विहार—क्रीड़ा; विभ्रमैः—तथा अन्य आकर्षण से; आक्षिप्त—अभिभूत; चित्ताः—हृदयों वाली; प्रमदाः—बालिकाएँ; रमा-पतेः—रमा के पति का या सौंदर्य तथा ऐश्वर्य के स्वामी का; ताः ताः—उनमें से हरएक; विचेष्टाः—अद्भुत कार्यकलाप; जगृहुः—अनुकरण करने लगी; तत्-आत्मिकाः—उनमें लीन होकर।

भगवान् श्रीकृष्ण का स्मरण करते ही गोपियों के हृदय उनकी चाल-ढाल तथा प्रेममयी मुसकान, उनकी कौतुकपूर्ण चितवन तथा मोहने वाली बातों तथा अपने साथ की जानेवाली अन्य लीलाओं से अभिभूत हो उठे। इस तरह रमा के स्वामी कृष्ण के विचारों में लीन वे गोपियाँ उनकी विविध दिव्य लीलाओं (चेष्टाओं) का अनुकरण करने लगीं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कृष्ण तथा गोपियों के मध्य हुई मनोहर वार्तालाप का वर्णन किया है—

कृष्ण ने एक गोपी से कहा, ''हे कुमुदिनी! क्या तुम इस प्यासे भौंरे को अपना मधु दोगी या नहीं?''

गोपी ने उत्तर दिया, ''हे भौंरे! कुमुदिनी का पति तो सूर्य हैं, भौंरा नहीं अतएव तुम मेरे मधु को अपना क्यों कह रहे हो?''

''किन्तु हे कुमुदिनी! तुम कुमुदिनियों का यह स्वभाव है कि तुम अपना मधु अपने पति सूर्य को न देकर अपने जारपति भौंरे को देती हो:'' कृष्ण के इन वचनों से गोपी हारकर हँसने लगी और तब उसने अपना अधरामृत पान करा दिया।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने निम्नलिखित वार्तालाप का भी वर्णन किया है :

''कृष्ण ने एक गोपी से कहा : अरे! मैं जान गया कि इस नीप वृक्ष के सम्मुख आते ही तुम्हें गर्वीले सर्प ने डस लिया था। उसका विष तुम्हारे वक्षस्थल तक पहुँच चुका है किन्तु तुम भद्र बाला हो इसलिए तुमने मुझसे विष उतारने के लिए नहीं कहा। फिर भी स्वभाव से दयालु होने के कारण मैं आ गया हूँ। अब मैं अपने हाथों से तुम्हारे शरीर की मालिश करते हुए मंत्र पढ़ूँगा जिससे कि सर्प-विष उतर जाय।''

''गोपी ने कहा, ''किन्तु हे सँपेरे! मुझे किसी सर्प ने नहीं डसा है। जाकर किसी और लड़की का शरीर मलो, जिसे सचमुच साँप ने डसा हो।''

''हे भद्र बाला! आओ। तुम्हारे काँपते स्वर से मैं बतला सकता हूँ कि विष चढ़ने के कारण तुम्हें

ताप सा चढ़ा हुआ है। यह जान लेने पर भी यदि मैं तुम्हारी रक्षा न करूँ तो मैं एक निर्दोष स्त्री के वध का भागी होऊँगा। अतः मुझे उपचार करने दो।

"यह कहकर कृष्ण ने गोपी के वक्षस्थल पर अपने नाखून लगा दिये।"

गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु
प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः ।
असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका
न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

गति—उसकी चाल में; स्मित—हँसी; प्रेक्षण—देखने; भाषणा—बातचीत करने; आदिषु—इत्यादि में; प्रियाः—प्रिय गोपियाँ; प्रियस्य—अपने प्रेमी के; प्रतिरूढ—पूर्णतया लीन; मूर्तयः—उनके शरीर; असौ—वह; अहम्—मैं; तु—वास्तव में; इति—इस प्रकार कहते हुए; अबलाः—स्त्रियों ने; तत्-आत्मिकाः—उनके स्वरूप में; न्यवेदिषुः—घोषित किया; कृष्ण-विहार—कृष्ण की लीलाओं से उत्पन्न; विभ्रमाः—मादकता, नशा।

चूँकि प्रेमप्रिय गोपियाँ अपने प्रिय कृष्ण के विचारों में लीन थीं अतः कृष्ण गोपियों के शरीर के चलने तथा हँसने के ढंग, उनके देखने के ढंग, उनकी वाणी तथा उनके अन्य विलक्षण गुणों का अनुकरण करने लगे। उनके चिन्तन में गहरी डूबी हुई तथा उनकी लीलाओं का स्मरण करके उन्मत्त हुई गोपियों ने परस्पर घोषित कर दिया कि "मैं कृष्ण ही हूँ।"

तात्पर्य : गोपियाँ एकदम कृष्ण के ही समान हिलने डुलने लगीं—वे उसी तरह हँसने लगीं जिस तरह कृष्ण हँसा करते, उसी तरह निर्भय होकर निहारने और बोलने लगीं। गोपियाँ कृष्ण के विचार में पूर्णतया लीन थीं और उनके आकस्मिक वियोग पर प्रेम से उन्मत्त हो चली थीं। इस तरह कृष्ण के प्रति उनका पूर्ण समर्पण हो चुका था।

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता
विचिक्युरुन्मत्तकवद्वनाद्वनम् ।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहि-
र्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

गायन्त्यः—गाती हुई; उच्चैः—जोर जोर से; अमुम्—उनके विषय में; एव—निस्सन्देह; संहताः—टोली में मिलकर; विचिक्युः—खोज किया; उन्मत्तक-वत्—पगली स्त्रियों की तरह; वनात् वनम्—एक जंगल से दूसरे जंगल में; पप्रच्छुः—पूछा; आकाश-वत्—आकाश की तरह; अन्तरम्—भीतर से; बहिः—तथा बाहर से; भूतेषु—समस्त प्राणियों में; सन्तम्—उपस्थित; पुरुषम्—परम पुरुष को; वनस्पतीन्—वृक्षों से।

जोर जोर से कृष्ण के बारे में गाती हुई गोपियों ने पगलायी स्त्रियों के झुंड के समान उन्हें

वृन्दावन के पूरे जंगल में खोजा। यहाँ तक कि वृक्षों से भी उन कृष्ण के विषय में पूछताछ की जो समस्त उत्पन्न वस्तुओं के भीतर तथा बाहर आकाश की भाँति परमात्मा के रूप में उपस्थित हैं।

तात्पर्य : कृष्ण के प्रेम में पगलाई हुई गोपियों ने वृन्दावन के वृक्षों तक से उनके विषय में पूछडाला। वस्तुत: भगवान् कृष्ण से वास्तविक विछोह होता ही नहीं क्योंकि वे सर्वव्यापी परमात्मा हैं।

दृष्टो व: कच्चिदश्वत्थ प्लक्ष न्यग्रोध नो मन: ।
नन्दसूनुर्गतो हृत्वा प्रेमहासावलोकनै: ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट:—देखा गया है; व:—तुम्हारे द्वारा; कच्चित्—क्या; अश्वत्थ—हे अश्वत्थ (पवित्र पीपल का वृक्ष); प्लक्ष—हे प्लक्ष (पाकड़); न्यग्रोध—हे न्यग्रोध (बरगद का पेड़); न:—हमारे; मन:—मन; नन्द—नन्द महाराज का; सूनु:—पुत्र; गत:—चला गया है; हृत्वा—चुराकर; प्रेम—प्रेममय; हास—अपनी मुसकान से; अवलोकनै:—तथा चितवन से।

[गोपियों ने कहा] : हे अश्वत्थ वृक्ष, हे प्लक्ष, हे न्यग्रोध, क्या तुमने कृष्ण को देखा है? वह नन्दनन्दन अपनी प्रेमभरी मुस्कान तथा चितवन से हमारे चित्तों को चुराकर चला गया है।

कच्चित्कुरबकाशोकनागपुन्नागचम्पका: ।
रामानुजो मानिनीनामितो दर्पहरस्मित: ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; कुरबक-अशोक-नाग-पुन्नाग-चम्पका:—हे कुरबक, अशोक, नाग, पुन्नाग तथा चम्बक वृक्षो; राम—बलराम का; अनुज:—छोटा भाई; मानिनीनाम्—मान करने वाली स्त्रियों का; इत:—यहाँ से गुजरते हुए; दर्प—घमंड; हर—चूर करने वाली; स्मित:—हँसी।

हे कुरबक वृक्ष, हे अशोक, हे नागकेसर, पुन्नाग तथा चम्पक, क्या इस रास्ते से होकर बलराम का छोटा भाई गया है, जिसकी हँसी समस्त अभिमान करनेवाली स्त्रियों के दर्प को हरने वाली है।

तात्पर्य : ज्योंही गोपियों ने देखा कि अमुक वृक्ष उनके प्रश्न का उत्तर नहीं दे रहा है त्योंही अधीर होकर वे दूसरे वृक्ष से पूछने के लिए जलदी से आगे चल पड़ती।

कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये ।
सह त्वालिकुलैर्बिभ्रद्दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युत: ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; तुलसि—हे तुलसी वृक्ष; कल्याणि—हे दयामयी; गोविन्द—कृष्ण के; चरण—पाँव; प्रिये—जिन्हें प्रिय हैं; सह—साथ; त्वा—तुम्हारे; अलि—भौंरों के; कुलैः—झुंडों के साथ; बिभ्रत्—ले जाते हुए; दृष्टः—देखा हुआ; ते—तुम्हारे द्वारा; अति-प्रियः—अत्यन्त प्रिय; अच्युतः—भगवान् अच्युत।

हे अत्यन्त दयालु तुलसी, तुम्हें तो गोविन्द के चरण इतने प्रिय हैं। क्या तुमने अपने को [तुलसी] पहने और भौंरों के झुँड से घिरे हुए उन अच्युत को इधर से जाते हुए देखा है?

तात्पर्य : आचार्यों की व्याख्या है कि *चरण* शब्द उसी तरह आदरसूचक हैं जिस तरह *एवं वदन्त्याचार्यचरणाः* में है। श्रीगोविन्द द्वारा पहनी माला के चारों ओर गुंजार करते भौंरे उनको अर्पित की गई तुलसी-मंजरियों की सुगन्धि द्वारा आकृष्ट थे। गोपियों को लगा कि वृक्ष नर हैं इसलिए उन्होंने उत्तर नहीं दिया किन्तु तुलसी तो स्त्री है अतएव उनकी दीन दशा पर अवश्य ही दया करेगी।

मालत्यदर्शि वः कच्चिन्मल्लिके जातियूथिके ।
प्रीतिं वो जनयन्यातः करस्पर्शेन माधवः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

मालति—हे मालती (श्वेत चमेली की किस्म); अदर्शि—देखा गया; वः—तुम्हारे द्वारा; कच्चित्—क्या; मल्लिके—हे मल्लिका (भिन्न प्रकार की चमेली); जाति—हे जाति (सफेद चमेली की किस्म); यूथिके—हे यूथिका (अन्य चमेली); प्रीतिम्—प्रीति; वः—तुम्हारे लिए; जनयन्—उत्पन्न करते हुए; यातः—यहाँ से होकर गये हैं; कर—अपने हाथ के; स्पर्शेन—स्पर्श से; माधवः—साक्षात् वसन्त, कृष्ण।

हे मालती, हे मल्लिका, हे जाति तथा यूथिका, क्या माधव तुम सबों को अपने हाथ का स्पर्श-सुख देते हुए इधर से गये हैं?

तात्पर्य : जब तुलसी तक ने गोपियों को कोई उत्तर नहीं दिया तो वे सुगन्धित चमेली के पुष्पों के पास पहुँचीं। चमेली लताओं को नम्रता से झुका देखकर गोपियों ने कल्पना की कि इन्होंने अवश्य ही कृष्ण को देखा होगा इसलिए वे अपनी प्रसन्नता में दीनता दिखला रही हैं।

चूतप्रियालपनसासनकोविदार-
जम्ब्वर्कबिल्वबकुलाम्रकदम्बनीपाः ।
येऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूलाः
शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

चूत—हे आम की लतर; प्रियाल—हे प्रियाल वृक्ष (एक तरह का शालवृक्ष); पनस—हे कटहल के वृक्ष; आसन—हे आसन (पीला शालवृक्ष); कोविदार—हे कोविदार; जम्बु—हे जामुन; अर्क—हे अर्क (आक, मदार); बिल्व—हे बेल; बकुल—हे छुईमुई; आम्र—हे आम के वृक्ष; कदम्ब—हे कदम्ब; नीपाः—हे नीप (छोटा कदम्ब); ये—जो; अन्ये—अन्य; पर—दूसरों के; अर्थ—लिए; भवकाः—जिनका अस्तित्व; यमुना-उपकूलाः—यमुना नदी के तट के पास रहने वाले; शंसन्तु—कृपा करके बताइये; कृष्ण-पदवीम्—कृष्ण द्वारा अपनाया गया रास्ता; रहित—विहीन; आत्मनाम्—हमारे मनों से; नः—हमको।

हे चूत, हे प्रियाल, हे पनस, हे आसन तथा कोविदार, हे जम्बु, हे अर्क, हे बिल्ब, बकुल तथा आम्र, हे कदम्ब तथा नीप एवं यमुना के तट के समीप स्थित अन्य सारे पौधो और वृक्षो, अन्यों के उपकार के लिए अपना जीवन अर्पित करने वालो, हम गोपियों के मन चुरा लिये गये हैं अतः कृपा करके हमें बतलायें कि कृष्ण गये कहाँ हैं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *चूत* एक आम की लतर है, जबकि *आम्र* आम का वृक्ष है। वे बतलाते हैं कि *नीप* यद्यपि अधिक प्रसिद्ध वृक्ष नहीं है किन्तु इसमें बड़े बड़े फूल लगते हैं। कृष्ण को खोजने के लिए गोपियों की हताशा इसीसे स्पष्ट हो जाती है कि वे नगण्य *अर्क के पौधे* (आक, मदार) के पास गईं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती वृन्दावन के वृक्षों के विषय में यह जानकारी देते हैं *नीप* धूसर कदम्ब है और इसके फूल बड़े होते हैं। *कदम्ब* के फूल छोटे होते हैं और उनमें अति मधुर गंध रहती है। *कोविदार* एक विशेष प्रकार का *काञ्चनार* है। यद्यपि *अर्क* अत्यन्त तुच्छ पौधा है किन्तु यह सदैव गोपीश्वर (वृन्दावन जंगल में शिव की मूर्ति) के निकट उगता है क्योंकि यह उन्हें प्रिय है।

किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रि-
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद्वा
आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन ॥ १० ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; ते—तुम्हारे द्वारा; कृतम्—की गयी; क्षिति—हे पृथ्वी; तपः—तपस्या; बत—निस्सन्देह; केशव—भगवान् कृष्ण के; अङ्घ्रि—पैर द्वारा; स्पर्श—स्पर्श किये जाने से; उत्सव—प्रसन्नता का अनुभव होने से; उत्पुलकित—हर्ष से रोमांचित; अङ्ग-रुहैः—अपने शरीर के रोमों से (जो तुम पर उगी घासें तथा वृक्ष हैं); विभासि—सुन्दर लगती हो; अपि—शायद; अङ्घ्रि—पाँव से (कृष्ण के पाँव से); सम्भवः—उत्पन्न; उरुक्रम—कृष्ण के वामन अवतार, वामनदेव के; विक्रमात्—चलने से; वा—अथवा; आह उ—या फिर अन्य; वराह—भगवान् कृष्ण के वराह अवतार के; वपुषः—शरीर द्वारा; परिरम्भणेन—आलिंगन के कारण।

हे माता पृथ्वी, आपने भगवान् केशव के चरणकमलों का स्पर्श पाने के लिए ऐसी कौन सी तपस्या की है, जिससे उत्पन्न परम आनन्द से आपके शरीर में रोमांच हो आया है? इस अवस्था में आप अतीव सुन्दर लग रही हैं। क्या भगवान् के इसी प्राकट्य के समय आपको ये भाव-लक्षण प्राप्त हुए हैं या फिर और पहले जब उन्होंने आप पर वामनदेव के रूप में अपने पाँव रखे थे या इससे भी पूर्व जब उन्होंने वराहदेव के रूप में आपका आलिंगन किया था?

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने गोपियों के विचारों की निम्नवत् व्याख्या की है, ''शायद इन वृक्षों तथा लताओं ने (जिनका उल्लेख पिछले श्लोकों में हुआ है) हमारे प्रश्न नहीं सुने क्योंकि वे भगवान् विष्णु के ध्यान में मग्न थे। या शायद, चूँकि वे हमें यह नहीं बताना चाहते कि कृष्ण कहाँ गये हैं, वे पवित्र स्थान में रहते हुए भी कठोर हृदय हैं। जो हो, पवित्र स्थान के वासियों की इस तरह अनावश्यक आलोचना करने से क्या लाभ? हम कह नहीं सकतीं कि क्या वे सचमुच जानते हैं कि कृष्ण कहाँ गये हैं। अत: चलो ऐसे किसी को ढूँढ़ें जो निश्चित रूप से जानता हो कि वे कहाँ हैं।'' इस तरह गोपियों ने निष्कर्ष निकाला कि चूँकि कृष्ण को इसी पृथ्वी पर कहीं न कहीं होना है, अत: पृथ्वी उनके विषय में अवश्य जानती होगी।

तब गोपियों ने सोचा, ''चूँकि कृष्ण सदैव पृथ्वी पर विचरण करते हैं अतएव पृथ्वी उनसे कभी विलग नहीं होती अत: वह यह नहीं समझ सकती कि उनकी अनुपस्थिति में उनके माता-पिता, सखियाँ तथा सेवक कितना कष्ट भोगते हैं। तो चलो उससे पूछें कि उसने भगवान् केशव के चरणों के निरन्तर स्पर्श के सौभाग्य को पाते रहने के लिए कौन सी तपस्या की है।''

अप्येणपत्न्युपगत: प्रिययेह गात्रै-
स्तन्वन्दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो व: ।
कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जिताया:
कुन्दस्रज: कुलपतेरिह वाति गन्ध: ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अपि—क्या; एण—हिरण की; पत्नि—हे पत्नी; उपगत:—भेंट हुई है; प्रियया—अपनी प्रिया के साथ; इह—यहाँ; गात्रै:—अपने अंगों के द्वारा; तन्वन्—उत्पन्न करते; दृशाम्—आँखों का; सखि—हे सखी; सु-निर्वृतिम्—परम आनन्द; अच्युत:—अच्युत कृष्ण; व:—तुम्हारा; कान्ता—अपनी सहेली का; अङ्ग-सङ्ग—अंग स्पर्श के कारण; कुच—स्तन पर; कुङ्कुम—सिन्दूर से; रञ्जिताया:—रँगा हुआ; कुन्द—चमेली फूल की; स्रज:—माला का; कुल—समूह (गोपियों के) के; पते:—स्वामी का; इह—यहाँ आसपास; वाति—बह रही है; गन्ध:—सुगन्ध।

हे सखी हिरनी, क्या तुम्हारी आँखों को परमानन्द प्रदान करने वाले भगवान् अच्युत अपनी प्रिया समेत इधर आये थे? दरअसल इस ओर कुन्द फूलों से बनी उनकी उस माला की महक आ रही है, जो उनके द्वारा आलिंगित उनकी प्रिया सखी के स्तनों पर लगे कुंकुम से लेपित थी।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस श्लोक की निम्नलिखित मोहक टीका की है :

गोपियों ने हिरनी से पूछा, ''हे सखी हिरनी! तुम्हारी विमल आँखों में जो आनन्द है उससे हम

बतला सकती हैं कि कृष्ण ने अपने अंगों, मुख आदि के सौन्दर्य से तुम्हारे आनन्द को बढ़ाया है। तुम कृष्ण-दर्शन के सुख की अनुभूति की इच्छुक हो अतएव तुम्हारी आँखें उन्हीं का पीछा कर रही हैं। वस्तुत:, वे तुमसे विलग नहीं हो सकते।

तब हिरनी को अपने सहज भाव से घूमते देखकर गोपियाँ चिल्ला उठीं, ''ओ! बताओ न, कि तुमने कृष्ण को देखा है!'' देखो न यह हिरनी चलते समय हमारी ओर मुड़कर देख रही है मानो कहना चाहती हैं कि ''मैं तुम्हें उनका दर्शन करा दूँगी, बस तुम मेरे पीछे पीछे आओ।'' इस निर्दय वृन्दावन में एकमात्र यही दयालु जीव है।''

''ज्योंही गोपियाँ हिरनी के पीछे-पीछे चलती हैं, वह ओझल हो जाती है और वे फिर से चिल्ला उठती हैं ''अरे! हमें कृष्ण के पास ले जा रही वह हिरणी क्यों नहीं दिख रही है?

''एक गोपी सुझाव देती है कि कृष्ण यहीं कहीं पास में होंगे और वह हिरनी उन से डरने के कारण यहीं कहीं छिप गई होगी जिससे वह यह प्रकट करने की संभावित त्रुटि से बच सके कि वे यहीं हैं।'' इस प्रकार अनुमान लगाते लगाते उन्हें उधर से सहसा बहने वाली किसी सुगन्ध का पता चल जाता है, तो वे खुशी से उछल कर बारम्बार कहती हैं, ''हाँ हाँ। यही है! अपनी सखी के संसर्ग से कृष्ण के शरीर की चमेली की माला सखी के स्तनों पर लगे कुमकुम से चुपड़ गई और उन सबों की सुगंध हम तक आ रही है।'' इस तरह गोपियों को दो प्रेमियों के शरीरों की, कृष्ण की चमेली माला की तथा उनकी प्रेमिका के स्तनों पर लगे अंगराग की सुगन्ध का पता चल गया।

बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो
रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः ।
अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामं
किं वाभिनन्दति चरन्प्रणयावलोकैः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

बाहुम्—अपनी भुजा; प्रिया—अपनी प्रिया के; अंसे—कंधे पर; उपधाय—रखकर; गृहीत—पकड़े हुए; पद्मः—कमल; राम-अनुजः—बलराम के छोटे भाई, कृष्ण; तुलसिका—तुलसी मञ्जरियों के चारों ओर मँडराते; अलि-कुलैः—अनेक भौंरों से; मद—नशे से; अन्धैः—अन्धे; अन्वीयमानः—पीछा किये जाते; इह—यहाँ; वः—तुम्हारे; तरवः—हे वृक्षों; प्रणामम्—झुकना, नत होना; किम् वा—अथवा; अभिनन्दति—स्वीकार किया; चरन्—विचरण करते हुए; प्रणय—प्रेम से पूरित; अवलोकैः—अपनी चितवन से।

हे वृक्षो, हम देख रही हैं कि तुम झुक रहे हो। क्या जब राम के छोटे भाई इधर से गये

जिनके पीछे-पीछे गले में सुशोभित तुलसी मंजरी की माला के चारों ओर उन्मत्त भौंरे मँडरा रहे थे तो उन्होंने अपनी स्नेहपूर्ण चितवन से तुम्हारे प्रणाम को स्वीकार किया था? वे अपनी बाँह अवश्य ही अपनी प्रिया के कंधे पर रखे रहे होंगे और अपने खाली हाथ में कमल का फूल लिये रहे होंगे।

तात्पर्य : गोपियों ने देखा कि पर्याप्त फलों तथा फूलों से लदकर झुके हुए वृक्ष भगवान् कृष्ण को प्रणाम कर रहे थे। गोपियों ने सोचा कि अवश्य ही कृष्ण उधर से अभी अभी गुजरे होंगे क्योंकि वृक्ष अभी तक झुके हुए थे। चूँकि श्रीकृष्ण ने अपनी प्रियतमा के साथ जाने के लिए गोपियों को छोड़ दिया था इसलिए उन्हें ईर्ष्या हो रही थी। वे कल्पना करने लगीं कि श्रीकृष्ण अपने प्रेमालाप से थक गये होंगे अत: वे अपनी बाईं बाँह अपनी प्रिया के कोमल कंधे पर रखे हुए होंगे। गोपियों ने यह भी सोच डाला कि कृष्ण अपने दाहिने हाथ में एक नीला कमल लिए होंगे जिससे वे अपनी प्रिया के मुख की सुगन्धि को सूँघने के बाद उस पर उत्सुकता से मंडराने का प्रयास करने वाले भौंरों को भगा सकें। यह दृश्य इतना सुन्दर था कि गोपियों ने कल्पना की कि उन्मत्त भौंरों ने इस प्रेमी-युगुल का पीछा करने के लिए तुलसी के उद्यान को पीछे छोड़ दिया था।

पृच्छतेमा लता बाहूनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः ।
नूनं तत्करजस्पृष्टा बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो ॥ १३॥

शब्दार्थ

पृच्छत—जरा पूछो; इमाः—इन; लताः—लताओं से; बाहून्—बाँहें (टहनियाँ); अपि—यद्यपि; आश्लिष्टाः—आलिंगन करती हुई; वनस्पतेः—वृक्ष का; नूनम्—निश्चय ही; तत्—उसका, कृष्ण के; कर-ज—हाथ के नाखूनों से; स्पृष्टाः—स्पर्श किया हुआ; बिभ्रति—धारण करती है; उत्पुलकानि—चमड़ी पर प्रसन्नता के फफोले; अहो—जरा देखो।

चलो इन लताओं से कृष्ण के विषय में पूछा जाय। यद्यपि वे अपने पति रूप इस वृक्ष की बाँहों का आलिंगन कर रही हैं किन्तु अवश्य ही कृष्ण ने अपने नाखूनों से इनका स्पर्श किया होगा क्योंकि प्रसन्नता के मारे इनकी त्वचा पर फफोले प्रकट हो रहे हैं।

तात्पर्य : गोपियों का तर्क था कि लताएँ मात्र अपने पति वृक्ष के शारीरिक सम्पर्क से ही प्रसन्नता का लक्षण नहीं प्रकट कर सकतीं थीं। इस तरह उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि यद्यपि लताएँ अपने पति के बलिष्ट अंगों का आलिंगन कर रही थीं किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा जब वे जंगल से होकर जा रहे थे अवश्य ही उनका स्पर्श हुआ होगा।

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः ।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ॥ १४॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उन्मत्त—पगलाई; वचः—शब्द बोलती हुई; गोप्यः—गोपियाँ; कृष्ण-अन्वेषण—कृष्ण की खोज करते हुए; कातराः—किंकर्तव्यविमूढ़; लीलाः—दिव्य लीलाएँ; भगवतः—भगवान् की; ताः ताः—उनमें से प्रत्येक को; हि—निस्सन्देह; अनुचक्रुः—अनुकरण किया; तत्-आत्मिकाः—उनके विचारों में लीन होकर।

ये शब्द कहने के बाद कृष्ण को खोजते खोजते किंकर्तव्यविमूढ़ हुई गोपियाँ उनके विचारों में पूर्णतया लीन होकर उनकी विविध लीलाओं का अनुकरण करने लगीं।

कस्याचित्पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत्स्तनम् ।
तोकयित्वा रुदत्यन्या पदाहन्शकटायतीम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

कस्याचित्—गोपियों में से एक ने; पूतनायन्त्याः—जो पूतना बनी थी; कृष्णायन्ती—दूसरी जो कृष्ण बनी थी; अपिबत्—पिया; स्तनम्—स्तन को; तोकयित्वा—शिशु बनकर; रुदती—चिल्लाती; अन्या—दूसरी ने; पदा—अपने पाँव से; अहन्—मारा; शकटा-यतीम्—जो गाड़ी बनी थी।

एक गोपी ने पूतना की नकल उतारी जबकि दूसरी बालक कृष्ण बन गई और वह पहले वाली का स्तनपान करने लगी। अन्य गोपी ने शिशु कृष्ण के रोदन का अनुकरण करते हुए उस गोपी पर पाद-प्रहार किया जो शकटासुर की भूमिका निभा रही थी।

दैत्यायित्वा जहारान्यामेको कृष्णार्भभावनाम् ।
रिङ्गयामास काप्यङ्घ्री कर्षन्ती घोषनिःस्वनैः ॥ १६॥

शब्दार्थ

दैत्यायित्वा—असुर (तृणावर्त) बनकर; जहार—उठा ले गई; अन्याम्—दूसरी गोपी को; एका—एक गोपी; कृष्ण-अर्भ—बालक कृष्ण का; भावनाम्—भाव धारण करने वाली; रिङ्गयाम् आस—रेंगने लगी; का अपि—उनमें से एक; अङ्घ्री—उसके दो पाँव; कर्षन्ती—घसीटती हुई; घोष—पायजेब का; निःस्वनैः—शब्द करती।

एक गोपी तृणावर्त बन गई और वह दूसरी गोपी को जो बालक कृष्ण बनी थी दूर ले गई जबकि एक अन्य गोपी रेंगने लगी जिससे उसके पाँव घसीटते समय पायजेब बजने लगी।

तात्पर्य : गोपियों ने कृष्ण की बालक रूप से लेकर सारी लीलाओं का अनुकरण करना शुरू कर दिया।

कृष्णरामायिते द्वे तु गोपायन्त्यश्च काश्चन ।

वत्सायतीं हन्ति चान्या तत्रैका तु बकायतीम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

कृष्ण-रामायिते—कृष्ण तथा बलराम बनकर; द्वे—दो गोपियाँ; तु—तथा; गोपायन्त्यः—ग्वालबालों की तरह बनकर; च—तथा; काश्चन—किसी ने; वत्सायतीम्—वत्सासुर बनकर; हन्ति—मारा; च—तथा; अन्या—दूसरी; तत्र—वहाँ; एका—एक; तु—और भी; बकायतीम्—बकासुर का अभिनय करने वाली।

दो गोपियाँ उन तमाम गोपियों के बीच राम तथा कृष्ण बन गईं जो ग्वालबालों का अभिनय कर रही थीं। एक गोपी ने कृष्ण द्वारा राक्षस वत्सासुर के वध का अनुकरण किया जिसमें दूसरी गोपी वत्सासुर बनी थी। गोपियों के एक जोड़े ने बकासुर-वध का अभिनय किया।

आहूय दूरगा यद्वत्कृष्णस्तमनुवर्ततीम् ।
वेणुं क्वणन्तीं क्रीडन्तीमन्याः शंसन्ति साध्विति ॥ १८॥

शब्दार्थ

आहूय—बुलाकर; दूर—दूरी पर स्थित; गाः—गौवों को; यद्वत्—जिस तरह; कृष्णः—कृष्ण; तम्—उसको; अनुवर्ततीम्—अनुकरण करने वाली गोपी को; वेणुम्—वंशी; क्वणन्तीम्—शब्द करती; क्रीडन्तीम्—खेल खेलती; अन्याः—दूसरी गोपियों ने; शंसन्ति—प्रशंसा की; साधु इति—"बहुत अच्छा!"

जब एक गोपी ने पूरी तरह अनुकरण कर दिखाया कि कृष्ण किस तरह दूर विचरण करती गौवों को बुलाते थे, वे किस तरह वंशी बजाते थे और वे किस तरह विविध खेलों में लगे रहते थे तो अन्यों ने बहुत खूब, बहुत खूब, (वाह वाह) चिल्लाकर बधाई दी।

कस्याञ्चित्स्वभुजं न्यस्य
चलन्त्याहापरा ननु ।
कृष्णोऽहं पश्यत गतिं
ललितामिति तन्मनाः ॥ १९॥

शब्दार्थ

कस्याञ्चित्—उनमें से एक की; स्व-भुजम्—अपनी बाँह; न्यस्य—(कंधे पर) रखकर; चलन्ती—चलती हुई; आह—बोली; अपरा—दूसरी; ननु—निस्सन्देह; कृष्णः—कृष्ण; अहम्—मैं हूँ; पश्यत—जरा देखो; गतिम्—मेरी चाल; ललिताम्—मनोहर; इति—इन शब्दों के साथ; तत्—उनमें; मनाः—पूर्णतया लीन मन से।

एक अन्य गोपी अपने मन को कृष्ण में स्थिर किये अपनी बाँह को दूसरी सखी के कन्धे पर टिकाये चलने लगी और बोली "मैं कृष्ण हूँ। जरा देखो तो मैं कितनी शान से चल रही हूँ।"

मा भैष्ट वातवर्षाभ्यां तत्त्राणं विहितं मय ।
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन यतन्त्युन्निदधेऽम्बरम् ॥ २०॥

शब्दार्थ

मा भैष्ट—मत डरो; वात—हवा, अंधड़; वर्षाभ्याम्—तथा वर्षा से; तत्—उससे; त्राणम्—तुम्हारा उद्धार; विहितम्—नियोजित किया जा चुका है; मया—मेरे द्वारा; इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; एकेन—एक; हस्तेन—हाथ से; यतन्ती—प्रयत्न करती; उन्निदधे—उठा लिया; अम्बरम्—अपना वस्त्र।

एक गोपी ने कहा : "आँधी-वर्षा से मत डरो।" मैं तुम्हारी रक्षा करूंगी।" यह कहकर उसने अपना दुपट्टा अपने सिर के ऊपर उठा लिया।

तात्पर्य : यहाँ पर एक गोपी कृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत उठाने का अनुकरण कर रही है।

आरुह्यैका पदाक्रम्य शिरस्याहापरां नृप ।
दुष्टाहे गच्छ जातोऽहं खलानाम्नन् दण्डकृत् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

आरुह्य—ऊपर उठा कर; एका—एक गोपी; पदा—अपने पाँव से; आक्रम्य—ऊपर चढ़कर; शिरसि—सिर पर; आह—बोली; अपराम्—दूसरी से; नृप—हे राजा (परीक्षित); दुष्ट—दुष्ट; अहे—अरे साँप; गच्छ—चले जाओ; जातः—जन्मा; अहम्—मैं; खलानाम्—ईर्ष्यालुओं का; ननु—निस्सन्देह; दण्ड—दण्ड; कृत्—लगाने वाला।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] हे राजन्, एक गोपी दूसरी के कन्धे पर चढ़ गई और अपना पाँव एक अन्य गोपी के सिर पर रखती हुई बोली "रे दुष्ट सर्प, यहाँ से चले जाओ, तुम जान लो कि मैंने इस जगत में दुष्टों को दण्ड देने के लिए ही जन्म लिया है।"

तात्पर्य : यहाँ पर गोपियाँ कृष्ण द्वारा कालिय को दण्ड देने का अनुकरण करती हैं।

तत्रैकोवाच हे गोपा दावाग्निं पश्यतोल्बणम् ।
चक्षूंष्याश्वपिदध्वं वो विधास्ये क्षेममञ्जसा ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; एका—उनमें से एक; उवाच—बोली; हे गोपाः—अरे ग्वालबालो; दाव-अग्निम्—जंगल की आग को; पश्यत—देखो; उल्बणम्—भयानक; चक्षूंषि—अपनी आँखें; आशु—तुरन्त, जल्दी से; अपिदध्वम्—बन्द करो; वः—तुम्हारा; विधास्ये—बन्दोबस्त करूँगी; क्षेमम्—सुरक्षा का; अञ्जसा—आसानी से।

तब एक दूसरी गोपी बोल पड़ी, मेरे प्रिय ग्वालबालो, जंगल में लगी इस आग को तो देखो, तुरन्त अपनी आँखें मूँद लो। मैं आसानी से तुम्हारी रक्षा करूँगी।

बद्धान्यया स्रजा काचित्तन्वी तत्र उलूखले ।
बध्नामि भाण्डभेत्तारं हैयङ्गवमुषं त्विति ।
भीता सुदृक्पिधायास्यं भेजे भीतिविडम्बनम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

बद्धा—बाँधी गई; अन्यया—दूसरी गोपी द्वारा; स्रजा—फूल की माला से; काचित्—एक गोपी; तन्वी—छरहरी; तत्र—वहाँ; उलूखले—ओखली से; बध्नामि—बाँध रही हूँ; भाण्ड—घड़ों के; भेत्तारम्—तोड़ने वाले को; हैयम्-गव—पिछले दिन के दूध

से बचे मक्खन का; मुषम्—चोर; तु—निस्सन्देह; इति—इस प्रकार कहते हुए; भीता—भयभीत; सु-दृक्—सुन्दर आँखों वाली; पिधाय—ढककर; आस्यम्—अपना मुँह; भेजे—बना लिया; भीति—डर का; विडम्बनम्—बहाना।

एक गोपी ने अपनी एक छरहरी सी सखी को फूलों की माला से बाँध दिया और कहा, ''अब मैं इस बालक को बाँध दूँगी जिसने मक्खन की हँडिया तोड़ दी है और मक्खन चुरा लिया है।'' तब दूसरी गोपी अपना मुँह तथा सुन्दर आँखें अपने हाथ से ढक कर भयभीत होने की नकल करने लगी।

एवं कृष्णं पृच्छमाना गण्दावनलतास्तरून् ।
व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः ॥ २४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार से; कृष्णम्—कृष्ण के विषय में; पृच्छमानाः—पूछती हुईं; वृन्दावन—वृन्दावन जंगल की; लताः—लताओं से; तरून्—तथा वृक्षों से; व्यचक्षत—उन्होंने देखा; वन—जंगल के; उद्देशे—एक स्थान पर; पदानि—पाँवों के चिह्न; परम-आत्मनः—परमात्मा के।

जब गोपियाँ इस तरह कृष्ण की लीलाओं की नकल कर उतार रही थीं और वृन्दावन की लताओं तथा वृक्षों से पूछ रही थीं कि भगवान् कृष्ण कहाँ हो सकते हैं, तो उन्हें जंगल के एक कोने में उनके पदचिन्ह दिख गये।

पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः ।
लक्ष्यन्ते हि ध्वजाम्भोजवज्राङ्कुशयवादिभिः ॥ २५॥

शब्दार्थ

पदानि—पदचिह्न; व्यक्तम्—स्पष्टतः; एतानि—ये; नन्द-सूनोः—नन्द महाराज के पुत्र के; महा-आत्मनः—महात्मा; लक्ष्यन्ते—निश्चित रूप से हैं; हि—निस्सन्देह; ध्वज—पताका; अम्भोज—कमल; वज्र—वज्र; अङ्कुश—हाथी हाँकने का अंकुश; यव-आदिभिः—जौ की बाली इत्यादि।

[गोपियों ने कहा]: इन पदचिन्हों में ध्वजा, कमल, वज्र, अंकुश, जौ की बाली इत्यादि के चिन्ह स्पष्ट बतलाते हैं कि ये नन्द महाराज के पुत्र उसी महान आत्मा (कृष्ण) के हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक की टीका करते हुए कृष्ण के चरणकमलों के प्रतीकात्मक चिह्नों की शास्त्रोक्त जानकारी दी है।

स्कन्द पुराण के निम्नलिखित श्लोकों में यह बताया गया है कि कृष्ण के चरणों में किस स्थान पर कौन सा चिह्न है और क्यों है—

दक्षिणस्य पदांगुष्ठमूले चक्रं बिभर्त्यजः ।

तत्र भक्तजनस्यारिषड्वर्गच्छेदनाय स:।

''अजन्मा भगवान् के दाएँ पाँव के अँगूठे के नीचे चक्र का चिह्न है, जो उनके भक्तों के छ: (मानसिक) शत्रुओं का छेदन करने वाला है।''

मध्यमांगुलिमूले च धत्ते कमलमच्युत:।

ध्यातृचित्तद्विरेफाणां लोभनायाति शोभनाम्।

''अच्युत भगवान् के उसी पाँव के बीच की अँगुली के नीचे एक कमल फूल है, जो उनके चरणों का ध्यान करने वाले भ्रमररूपी भक्तों के मन में उनके प्रति लालसा को बढ़ाने वाला है।''

कनिष्ठमूलतो वज्रं भक्तपापाद्रिभेदनम्।

पार्ष्णिमध्येऽकुशं भक्तचित्तेभवशकारिणम्।

''उनके पाँव की छिंगुरी के नीचे वज्र है, जो उनके भक्तों के विगत पापों के पर्वतों को ध्वस्त करता है और उनकी एड़ी के बीचोबीच अंकुश का चिह्न है, जो उनके भक्तों के मन रूपी हाथियों को वश में करता है।''

भोगसम्पन्मयं धत्ते यवमंगुष्ठपर्वणि

''दाहिने अँगूठे के पोर में जौ की बाली का चिह्न है, जो समस्त प्रकार के भोग्य ऐश्वर्यों का सूचक है।''

स्कन्द पुराण में यह भी मिलता है—

वज्रं वै दक्षिणे पार्श्वे अंकुशो वै तदग्रत:

''वज्र उनके दाएँ पाँव की दाईं ओर और अंकुश उसके नीचे पाया जाता है।''

वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों का कहना है कि चूँकि यहाँ पर जिन पाँवों की चर्चा हो रही है वे भगवान् कृष्ण के हैं, अत: हमें जान लेना होगा कि वज्र उनकी छोटी अँगुली के नीचे है और अंकुश वज्र के नीचे है। एड़ी पर अंकुश होना नारायण तथा अन्य विष्णुतत्वों में पाया जाता है।''

इस तरह *स्कन्द पुराण* में कृष्ण के दाहिने पाँव में छ: चिह्न बतलाये गये हैं। ये हैं चक्र, ध्वजा, कमल, वज्र, अंकुश तथा जौ की बाली। *वैष्णव तोषणी* में तो और अधिक चिह्नों का उल्लेख है उनके पाँव के बीचोंबीच से निकलने वाली खड़ी रेखा जो उनके पाँव के अँगूठे तथा दूसरी अँगुली के

बीचोबीच तक जाती है, चक्र के नीचे छत्र, उनके पाँव के मध्य भाग के नीचे चारों दिशाओं में चार *स्वस्तिक* चिह्न, उन चार विन्दुओं पर जहाँ प्रत्येक *स्वस्तिक* अगले स्वस्तिक से मिलता है चार जम्बूफल; *स्वस्तिकों* के बीच में एक अष्टभुज। इस तरह कृष्ण के दाहिने पाँव में ग्यारह चिह्न हो जाते हैं।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने कृष्ण के बाएँ पाँव के चिह्नों का वर्णन इस प्रकार किया है : अँगूठे के नीचे शंख है, जिसका मुँह अँगूठे की ओर है। बीच की अँगुली के नीचे दो समकेन्द्रिक वृत्त हैं, जो अन्त: तथा बाह्य आकाश के द्योतक हैं। इस चिह्न के नीचे कामदेव का बिना डोरी का धनुष है और इस धनुष के नीचे एक त्रिभुज है और इस त्रिभुज को चार जलपात्र घेरे हैं। इस त्रिभुज के नीचे अर्धचन्द्र है, जिसके बिन्दुओं को दो त्रिभुज स्पर्श करते हैं और इस अर्धचन्द्र के नीचे एक मछली है।

इस तरह विशिष्ट चिह्न कुल मिलाकर १९ हो जाते हैं, जो भगवान् कृष्ण के चरणकमलों के तलुवे में पाये जाते हैं।

तैस्तै: पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतो ऽबला: ।
वध्वा: पदै: सुपृक्तानि विलोक्यार्ता: समब्रुवन् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तै: तै:—उन उन; पदै:—चरणचिह्नों के द्वारा; तत्—उसके; पदवीम्—मार्ग को; अन्विच्छन्त्य:—ढूँढ़ती हुई; अग्रत:—आगे की ओर; अबला:—बालाएँ; वध्वा:—उनकी विशेष प्रिया को; पदै:—चरणचिह्नों के साथ; सुपृक्तानि—पूरी तरह से मिले हुए; विलोक्य—देखकर; आर्ता:—दुखी; समब्रुवन्—बोलीं।

गोपियाँ श्रीकृष्ण के अनेक पदचिन्हों से प्रदर्शित उनके मार्ग का अनुमान करने लगीं, किन्तु जब उन्होंने देखा कि ये चिन्ह उनकी प्रियतमा के चरणचिन्हों से मिल-जुल गये हैं, तो वे व्याकुल हो उठीं और इस प्रकार कहने लगीं।

कस्या: पदानि चैतानि याताया नन्दसूनुना ।
अंसन्यस्तप्रकोष्ठाया: करेणो: करिणा यथा ॥ २७॥

शब्दार्थ

कस्या:—किसी एक गोपी के; पदानि—चरणचिह्न; च—भी; एतानि—ये; याताया:—जो जा रही थी; नन्द-सूनुना—नन्द महाराज के पुत्र के साथ साथ; अंस—जिसके कंधे पर; न्यस्त—रखा हुआ; प्रकोष्ठाया:—उनका हाथ; करेणो:—हथिनी के; करिणा—हाथी द्वारा; यथा—जिस तरह।

[गोपियों ने कहा]: यहाँ पर हमें किसी गोपी के चरणचिन्ह दिख रहे हैं, जो अवश्य ही

नन्द महाराज के पुत्र के साथ साथ चल रही होगी। उन्होंने उसके कंधे पर अपना हाथ उसी तरह रखा होगा जिस तरह एक हाथी अपनी सूँड़ अपनी सहगामिनी हथिनी के कंधे पर रख देता है।

अनयाराधितो नूनं भगवान्हरिरीश्वरः ।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः ॥ २८॥

शब्दार्थ

अनया—उसके द्वारा; आराधितः—भलीभाँति पूजित; नूनम्—निश्चय ही; भगवान्—भगवान्; हरिः—कृष्ण; ईश्वरः—परम नियन्ता; यत्—इतना कि; नः—हमको; विहाय—त्यागकर; गोविन्दः—भगवान् गोविन्द; प्रीतः—प्रसन्न; याम्—जिसको; अनयत्—ले गये; रहः—एकान्त स्थान में।.

इस विशिष्ट गोपी ने निश्चित ही सर्वशक्तिमान भगवान् गोविन्द की पूरी तरह पूजा की होगी क्योंकि वे उससे इतने प्रसन्न हो गये कि उन्होंने हम सबों को छोड़ दिया और उसे एकान्त स्थान में ले आये।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की व्याख्या है कि *आराधित:* शब्द श्रीमती राधारानी के लिए आया है। उनकी टीका है ''शुकदेव गोस्वामी ने उसका नाम गुप्त रखने का भरसक प्रयास किया है किन्तु उनके मुखरूपी चन्द्रमा से वह स्वत: प्रकाशित हो उठता है। उन्होंने राधा का नाम ले लिया, यह श्रीमती राधारानी की कृपा है, अत: *आराधित:* शब्द राधा के सौभाग्य को सूचित करने वाला दुन्दुभिघोष है।''

यद्यपि गोपियाँ श्रीमती राधारानी के प्रति ईर्ष्यालु लगती हैं किन्तु वे यह देखकर पुलकित थीं कि राधा ने श्रीकृष्ण को बन्दी बना लिया था।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने श्रील रूप गोस्वामी कृत *श्री उज्ज्वल नीलमणि* में श्रीमती राधारानी के पदचिह्नों का जो विस्तृत वर्णन है, उसे उद्धृत किया है—

''उनके दाएँ पाँव के अँगूठे के नीचे जौ का चिह्न है, उसके नीचे चक्र, चक्र के नीचे छत्र तथा छत्र के नीचे बाजूबन्द (कंगन) है। उनके पाँव के बीच से एक खड़ी रेखा अँगूठे तथा दूसरी अँगुली के बीच तक जाती है। बीच की अँगुली के नीचे कमल है और उसके नीचे ध्वजा है और ध्वजा के नीचे लता है, जिसमें एक फूल लगा है। उनके पाँव की छिगुनी के नीचे अंकुश है और उनकी एड़ी में अर्धचन्द्र है। इस तरह उनके बाएँ पाँव में ११ चिह्न हैं।''

उनके दाहिने पाँव के अँगूठे के नीचे शंख है और उसके नीचे भाला है, उनके दायें पाँव की

छिगुनी के नीचे यज्ञवेदी है, जिसके नीचे कुंडल है और कुंडल के नीचे फिर भाला है। दूसरी, तीसरी, चौथी अँगुलियों तथा छिगुनी के नीचे पर्वत का चिह्न है, जिसके नीचे रथ है और एड़ी में मछली का चिह्न है।

"इस तरह श्रीमती राधारानी के चरणकमलों के तलवों में १९ विशिष्ट चिह्न हैं।"

धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः ।
यान्ब्रह्मेशौ रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

धन्याः—पवित्र हो गई; अहो—ओह; अमी—ये; आल्यः—हे गोपियो; गोविन्द—गोविन्द के; अङ्घ्रि-अब्ज—चरणकमलों के; रेणवः—धूल कण; यान्—जो; ब्रह्मा—ब्रह्मा; ईशौ—तथा शिवजी; रमा देवी—भगवान् विष्णु की पत्नी, रमा देवी; दधुः—धारण करते हैं; मूर्ध्नि—अपने शिरों पर; अघ—उनके पापों का; नुत्तये—दूर करने के लिए।

हे बालाओ, गोविन्द के चरणों की धूल इतनी पवित्र है कि ब्रह्मा, शिव तथा रमादेवी भी अपने पापों को दूर करने के लिए उस धूल को अपने सिरों पर धारण करते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने शास्त्र से उद्धरण देकर बतलाया है कि प्रत्येक दिन संध्या समय जब कृष्ण अपने ग्वालमित्रों के साथ चरागाहों से लौटते थे तो ब्रह्मा तथा शिव जैसे बड़े बड़े देवता स्वर्ग से उतरकर उनके चरणों की धूल ग्रहण करते थे।

रमादेवी (विष्णु-पत्नी), शिव तथा ब्रह्मा जैसे महापुरुष तनिक भी पापी नहीं हैं। किन्तु शुद्ध कृष्ण भावनाभावित होकर वे अपने को पतित तथा अपवित्र मानते हैं। इस तरह अपने को शुद्ध करने की इच्छा से वे बड़े ही आनन्द से भगवान् के चरणकमलों की धूल अपने सिर पर धारण करते हैं।

तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत्
यैकापहृत्य गोपीनाम्रहो भुन्क्तेऽच्युताधरम् ।
न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र तस्या नूनं तृणाङ्कुरैः
खिद्यत्सुजाताङ्घ्रितलामुन्निन्ये प्रेयसीं प्रियः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तस्याः—उसके; अमूनि—ये; नः—हमारे लिए; क्षोभम्—खेद; कुर्वन्ति—उत्पन्न करते हैं; उच्चैः—अत्यधिक; पदानि—चरणचिह्न; यत्—क्योंकि; या—जो; एका—अकेले; अपहृत्य—एक तरफ ले जाकर; गोपीनाम्—समस्त गोपियों का; रहः—एकान्त में; भुङ्क्ते—भोग करती है; अच्युत—कृष्ण के; अधरम्—होंठों का; न लक्ष्यन्ते—नहीं दिखते; पदानि—पाँव; अत्र—यहाँ; तस्याः—उसके; नूनम्—निश्चय ही; तृण—घास; अङ्कुरैः—तथा उगते हुए कल्लों द्वारा; खिद्यत्—पीड़ा होने से; सुजात—कोमल; अङ्घ्रि—पाँव; तलाम्—तलुवे; उन्निन्ये—ऊपर उठा लिया; प्रेयसीम्—अपनी प्रिया को; प्रियः—उसके प्रियतम कृष्ण ने।

उस विशिष्ट गोपी के ये चरणचिन्ह हमें अत्यधिक विचलित कर रहे हैं। समस्त गोपियों में से केवल वही एकान्त स्थान में ले जाई गई जहाँ वह कृष्ण के अधरों का पान कर रही है। देखो न, हमें यहाँ पर उसके पदचिन्ह नहीं दिख रहे। स्पष्ट है कि घास तथा कुश उसके पाँवों के कोमल तलुवों को कष्ट पहुँचा रहे होंगे अत: प्रेमी ने अपनी प्रेयसी को उठा लिया होगा।

इमान्यधिकमग्नानि पदानि वहतो वधूम् ।
गोप्य: पश्यत कृष्णस्य भाराक्रान्तस्य कामिन: ।
अत्रावरोपिता कान्ता पुष्पहेतोर्महात्मना ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

इमानि—ये; अधिक—अधिक; मग्नानि—मिले-जुले; पदानि—पदचिह्नों को; वहत:—ले जाने वाले के; वधूम्—अपनी प्रेयसी को; गोप्य:—हे गोपियो; पश्यत—जरा देखो; कृष्णस्य—कृष्ण के; भार—बोझ से; आक्रान्तस्य—पीड़ित; कामिन:—कामी; अत्र—इस स्थान में; अवरोपिता—नीचे रखी गई; कान्ता—प्रेमिका; पुष्प—फूलों (के चुनने) के; हेतो:—लिए; महा-आत्मना—अत्यन्त चतुर द्वारा।

मेरी प्यारी गोपियो, जरा देखो न, किस तरह इस स्थान पर कामी कृष्ण के पदचिन्ह पृथ्वी में गहरे धँसे हुए हैं। अपनी प्रियतमा के भार को वहन करना अवश्य ही उनके लिए कठिन हो रहा होगा। और यहाँ पर तो उस चतुर छोरे ने कुछ फूल चुनने के लिए उसे नीचे रख दिया होगा।

तात्पर्य : *वधूम्* शब्द सूचित करता है कि यद्यपि श्रीकृष्ण ने आधिकारिक रूप से राधारानी के साथ विवाह नहीं किया था किन्तु उन्होंने वृन्दावन के जंगल में उन्हें अपनी दुलहन बना लिया था।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार गोपियों द्वारा प्रयुक्त *कामिन:* शब्द से निम्नलिखित विचार सूचित होते हैं ''हम वास्तविक रूप में श्रीकृष्ण से प्रेम करती हैं फिर भी उन्होंने हमें ठुकरा दिया है। अत: राधारानी के साथ उनके गुप्त व्यापार से सिद्ध होता है कि व्रज का यह तरुण राजकुमार काम के वशीभूत होकर उसे यहाँ से उठा ले गया है। यदि उन्हें प्रेम में रुचि होती तो वे उस ग्वालपुत्री राधारानी के स्थान पर हमें अपना बना लिये होते।''

ये विचार गोपियों के भाव को बतलाते हैं, जो श्रीमती राधारानी की प्रतिद्वंद्विने थीं। वस्तुत:, गोपियाँ, जो राधा की प्रत्यक्ष संगिनी हैं उसके सौभाग्य को देखकर हर्षित थीं।

अत्र प्रसूनावचय: प्रियार्थे प्रेयसा कृत: ।
प्रपदाक्रमण एते पश्यतासकले पदे ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अत्र—यहाँ; प्रसून—फूलों का; अवचयः—चुना जाना; प्रिया-अर्थे—अपनी प्रिया के लिए; प्रेयसा—प्रेमी कृष्ण द्वारा; कृतः—किया गया; प्रपद—पैर का अगला हिस्सा (पंजा); आक्रमणे—धँसने से; एते—ये; पश्यत—जरा देखो; असकले—अपूर्ण; पदे—पदचिह्नों की जोड़ी।

जरा देखो न, किस तरह प्रिय कृष्ण ने यहाँ पर अपनी प्रिया के लिए फूल चुने हैं। यहाँ उनके पाँव के अगले हिस्से (पंजे) का ही निशान पड़ा हुआ है क्योंकि फूलों तक पहुँचने के लिए वे अपने पंजों के बल खड़े हुये थे।

केशप्रसाधनं त्वत्र कामिन्याः कामिना कृतम् ।
तानि चूडयता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

केश—अपने बालों के; प्रसाधनम्—गूँथने या सँवारने के लिए; तु—यही नहीं; अत्र—यहाँ; कामिन्याः—कामुक लड़की का; कामिना—कामी लड़के द्वारा; कृतम्—किया गया; तानि—उन (फूलों) से; चूडयता—जूड़ा बनाने वाले के द्वारा; कान्ताम्—अपनी प्रिया को; उपविष्टम्—बैठाया; इह—यहाँ; ध्रुवम्—निश्चित रूप से।

कृष्ण यहाँ पर निश्चित रूप से अपनी प्रेयसी के साथ उसके केश सँवारने के लिए बैठे थे। उस कामी लड़के ने उस कामुक लड़की के लिए उन फूलों से जूड़ा बनाया होगा, जिसे उसने एकत्र किया था।

तात्पर्य : आचार्यगण बतलाते हैं कि श्रीकृष्ण ने अपने द्वारा चुने गये फूलों से राधारानी के केशों को सजाना चाहा। अत: वे दोनों एक ही दिशा में मुख करके बैठ गये जिससे राधारानी कृष्ण के घुटनों के बीच थीं और कृष्ण उन फूलों से जूड़ा बनाने लगे मानो वे उस वनदेवी को मुकुट पहना रहे हों। इस तरह विलासी तरुण तथा तरुणी साथ साथ वृन्दावन में खेलते और हास-परिहास करते रहे।

रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः ।
कामिनां दर्शयन्दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

रेमे—आनन्द लूटा; तया—उसके साथ; च—तथा; आत्म-रतः—अपने में ही आनन्द लेने वाले; आत्म-आरामः—आत्मतुष्ट; अपि—यद्यपि; अखण्डितः—कभी अपूर्ण न रहने वाले; कामिनाम्—सामान्य विलासी पुरुषों का; दर्शयन्—दिखलाते हुए; दैन्यम्—दीनावस्था; स्त्रीणाम्—सामान्य स्त्रियों की; च एव—भी; दुरात्मताम्—निष्ठुरता।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] भगवान् कृष्ण ने उस गोपी के साथ भोग-विलास किया यद्यपि वे अपने आप में तुष्ट रहने तथा पूर्ण होने के कारण केवल भीतर ही भीतर आनन्दमग्न होते हैं। इस तरह विराधोभास के द्वारा उन्होंने सामान्य कामी पुरुषों एवं निष्ठुर स्त्रियों की दुष्टता

का प्रदर्शन किया।

तात्पर्य : यह श्लोक भगवान् कृष्ण की लीलाओं के प्रति कभी कभी की जाने वाली भौतिकतावादी लोगों की बनावटी आलोचना का खण्डन करता है। दार्शनिक अरस्तू का दावा था कि सामान्य कार्य ईश्वर को शोभा नहीं देते अत: कुछ लोग इसी विचार को ध्यान में रखकर घोषित करते हैं कि क्योंकि भगवान् कृष्ण के कार्यकलाप सामान्य मनुष्यों से मेल खाते हैं अत: वे परब्रह्म नहीं हो सकते।

किन्तु इस श्लोक में शुकदेव गोस्वामी जोरदार ढंग से संकेत करते हैं कि भगवान् कृष्ण आत्माराम के मुक्त पद पर स्थित होकर कर्म करते हैं। यह तथ्य *आत्मरत, आत्माराम* तथा *अखण्डित* जैसे शब्दों से सूचित है। सामान्य लोग यह सोच ही नहीं सकते कि एक सुन्दर तरुण तथा एक सुन्दरी युवती जंगल में चाँदनी रात में माधुर्य भाव से विलासरत होकर शुद्ध कर्म में लग सकते हैं, जो कामेच्छा तथा मिथ्या अभिमान से रहित हो। फिर भी कृष्ण सामान्य पुरुषों के लिए अचिन्त्य रहते हुए भी उन लोगों द्वारा जो उनसे प्रेम करते हैं सहज ही उनके कार्यकलापों में परम शुद्ध स्वभाव को अनुभव कर सकते हैं।

यह तर्क किया जा सकता है कि सौन्दर्य तो देखने वाले की आँखों में बसता है, अत: कृष्ण के भक्त भगवान् के कार्यकलापों को केवल शुद्ध होने के अनुमान लगाते हैं। यह तर्क अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों की अवहेलना करता है। कृष्णभावनामृत के मार्ग की माँग है कि भक्त चार विधानों का दृढ़ता से पालन करे। ये हैं अवैध यौन, द्यूतक्रीड़ा, नशा तथा मांस, मछली या अंडे के आहार का सर्वथा निषेध। जब मनुष्य भौतिक कामेच्छा से मुक्त होकर मुक्त पद को प्राप्त होता है, तो उसे भगवान् कृष्ण के परम सौन्दर्य की अनुभूति होती है। यह विधि सैद्धान्तिक नहीं है। इसका अभ्यास हजारों ऋषि-मुनि करते आये हैं जिन्होंने कृष्णभावनामृत मार्ग विषयक अपने प्रकाशमय व्यक्तिगत उदाहरण एवं उज्ज्वल शिक्षाएँ हमारे लिए रख छोड़ी हैं।

निश्चय ही सौन्दर्य देखने वाले की आँखों में होता है। फिर भी असली सौन्दर्य आत्मा की आँखों से देखा जाता है, भौतिक शरीर की कामुक आँखों से नहीं। इसीलिए वैदिक वाङ्मय बारम्बार बल देता है कि केवल भौतिक इच्छा से मुक्त लोगों द्वारा भगवत्प्रेम से आँजी हुई, शुद्ध *आत्मा* की आँखों से ही

भगवान् का दर्शन किया जा सकता है। अन्तिम बात जो ध्यान देने की है, वह यह है कि भगवान् कृष्ण की लीलाओं की अनुभूति होने पर मनुष्य कामेच्छा से मुक्त हो जाता है, जो मानसिक स्थिति भौतिक काम-व्यापार के चिन्तन से प्राप्त नहीं की जा सकती।

अन्तिम टिप्पणी है : कृष्ण की माधुर्य लीलाएँ परम पूर्ण सत्य के रूप में उनकी अर्हताओं को पूर्णतः सिद्ध कर देती हैं। *वेदान्त* का कथन है कि परम सत्य प्रत्येक वस्तु का उद्‍गम है, अतः परम पुरुष में इस भौतिक जगत की किसी भी सुन्दर वस्तु का अभाव नहीं होता। चूँकि परम पुरुष में विलास-व्यापार केवल शुद्ध आध्यात्मिक रूप में ही पाये जाते हैं इसलिए वे इस जगत में विकृत भौतिक रूप में प्रकट हो सकते हैं। इस तरह इस जगत के आभासी सौन्दर्य को पूरी तरह नकारा नहीं जा सकता, प्रत्युत सौन्दर्य को उसके शुद्ध एवं आध्यात्मिक रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए।

चूँकि अनादि काल से पुरुष तथा स्त्रियाँ प्रणय-कला के कवित्वमय आनन्द से प्रोत्साहित होती रही हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश इस जगत में प्रेमालाप का अन्त हृदय-परिवर्तन या मृत्यु के कारण निराशा, में होता है। यद्यपि प्रेम-व्यापार प्रारम्भ में सुन्दर तथा आनन्दप्रद लगते हैं किन्तु अन्ततः प्रकृति के प्रहार से वे विनष्ट हो जाते हैं। फिर भी प्रणय की संकल्पना को पूरी तरह बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। हमें चाहिए कि माधुर्य आकर्षण को उसके चरम, पूर्ण, शुद्ध रूप में स्वीकार करें जैसाकि ईश्वर में यह पाया जाता है—भौतिक काम या स्वार्थ से सर्वथा रहित। *श्रीमद्‍भागवत* के इन पृष्ठों में हम शुद्ध माधुर्य आकर्षण—परम सत्य का परम सौन्दर्य और आनंद—का ही पठन करते हैं।

इत्येवं दर्शयन्त्यस्ताश्चेरुर्गोप्यो विचेतसः ।
यां गोपीमनयत्कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने ॥ ३५ ॥
सा च मेने तदात्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम् ।
हित्वा गोपीः कामयाना मामसौ भजते प्रियः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; एवम्—इस विधि से; दर्शयन्त्यः—दिखलाती हुई; ताः—वे; चेरुः—घूमती रहीं; गोप्यः—गोपियाँ; विचेतसः—पूर्णतया भ्रमित; याम्—जिस; गोपीम्—गोपी को; अनयत्—ले गये; कृष्णः—भगवान् कृष्ण; विहाय—छोड़कर; अन्याः—दूसरी; स्त्रियः—स्त्रियों को; वने—जंगल में; सा—उसने; च—भी; मेने—सोचा; तदा—तब; आत्मानम्—अपने आपको; वरिष्ठम्—श्रेष्ठ; सर्व—सभी; योषिताम्—स्त्रियों में; हित्वा—त्यागकर; गोपीः—गोपियों को; काम-यानाः—कामेच्छा से वशीभूत; माम्—मुझको; असौ—वह; भजते—मानता है; प्रियः—प्रिया, प्रेमिका।

जब गोपियाँ पूर्णतया भ्रमित मनों से घूम रही थीं तो उन्होंने कृष्ण लीलाओं के विविध चिन्हों

की ओर संकेत किया। वह विशिष्ट गोपी जिसे कृष्ण अन्य युवतियों को त्यागकर एकान्त जंगल में ले गये थे, अपने को सर्वश्रेष्ठ स्त्री समझने लगी। उसने सोचा, "मेरे प्रियतम ने उन अन्य समस्त गोपियों का तिरस्कार कर दिया है यद्यपि वे साक्षात् कामदेव के वशीभूत हैं। उन्होंने केवल मेरे ही साथ प्रेम करने का चुनाव किया है।"

तात्पर्य : इसके पूर्व सारी गोपियाँ कृष्ण की संगति के लिए गर्वित थीं किन्तु सहसा उनका संग छूट गया। केवल राधारानी उनके साथ रहीं। अब वे भी उस संग से गर्वित हो उठी हैं अतएव उन्हें भी वैसा ही परिणाम भोगना होगा। भगवान् के लिए गोपियों की अद्वितीय भक्ति प्रदर्शित करने के लिए ही भगवान् ने ऐसी योजना की है। यह वह भक्ति है, जिसकी गूढ़ता पूर्णतया विरह के क्षणों में ही प्रदर्शित होती है।

ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत् ।
न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

ततः—तब; गत्वा—जाकर; वन—जंगल के; उद्देशम्—एक कोने में; दृप्ता—गर्वित होकर; केशवम्—कृष्ण से; अब्रवीत्—बोली; न पारये—समर्थ नहीं हूँ; अहम्—मैं; चलितुम्—चल पाने के लिए; नय—ले चलो; माम्—मुझको; यत्र—जहाँ; ते—तुम्हारा; मनः—मन।

जब दोनों प्रेमी वृन्दावन जंगल के एक भाग से जा रहे थे तो विशिष्ट गोपी को अपने ऊपर गर्व हो आया। उसने भगवान् केशव से कहा, "अब मुझसे और नहीं चला जाता। आप जहाँ भी जाना चाहें मुझे उठाकर ले चलें।"

एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्ध आरुह्यतामिति ।
ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत ॥ ३८॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; उक्तः—कहा गया; प्रियाम्—अपनी प्रिया को; आह—कहा; स्कन्धे—मेरे कन्धे पर; आरुह्यताम्—चढ़ लो; इति—ये शब्द; ततः—तब; च—तथा; अन्तर्दधे—वे अन्तर्धान हो गये; कृष्णः—श्रीकृष्ण; सा—वह; वधूः—उनकी प्रिया; अन्वतप्यत—व्याकुल हो गई।

ऐसा कहे जाने पर भगवान् कृष्ण ने उत्तर दिया "मेरे कन्धे पर चढ़ जाओ।" किन्तु यह कहते ही वे विलुप्त हो गये। उनकी प्रिया को तब अत्यधिक क्लेश हुआ।

तात्पर्य : श्रीमती राधारानी उस सुन्दरी का मान (गर्व) दिखला रही थी जिसने अपने प्रेमी को

अपने वश में कर लिया हो। अत: वे कृष्ण से बोलीं ''आप जहाँ चलना चाहें मुझे उठाकर ले चलें। अब मैं और नहीं चल सकती।'' अब श्रीकृष्ण उनकी दृष्टि से ओझल हो जाते हैं जिससे उनका भावात्मक प्रेम अधिकाधिक गहन हो जाता है।

हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज ।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

हा—हे; नाथ—स्वामी; रमण—प्रेमी; प्रेष्ठ—प्रियतम; क्व असि क्व असि—तुम कहाँ हो, तुम कहाँ हो; महा-भुज—हे बलिष्ठ भुजाओं वाले; दास्या:—दासी के प्रति; ते—तुम्हारी; कृपणाया:—दीन; मे—मुझको; सखे—हे मित्र; दर्शय—दिखलाइये; सन्निधिम्—उपस्थिति।

वह चिल्ला उठी: हे स्वामी, हे प्रेमी, हे प्रियतम, तुम कहाँ हो? तुम कहाँ हो? हे बलिष्ठ भुजाओं वाले, हे मित्र, अपनी दासी बेचारी को अपना दर्शन दो।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने निम्नलिखित मार्मिक वार्तालाप का वर्णन किया है—

राधा कहती हैं, ''मेरे प्रभु! मैं आपकी वियोगाग्नि में जल रही हूँ और मेरे प्राण मेरा शरीर छोड़ने ही वाले हैं। मैं अत्यधिक प्रयास करके भी अपने प्राण नहीं रख पा रही। किन्तु आप मेरे जीवन के स्वामी हैं अत: मेरे ऊपर मात्र दृष्टि डालकर तुरन्त मुझे बचा सकते हैं। कृपया ऐसा तुरन्त कीजिए। मैं आपसे अपना जीवन बचाने की याचना अपने लिए नहीं अपितु आपके लिए करती हूँ। अन्य सारी गोपियों को त्यागकर आप मुझे जंगल में इस दूर एकान्त स्थान में मेरे साथ विशेष आनन्द उठाने के लिए लाये हैं। यदि मैं मरती हूँ तो आपको अन्यत्र माधुर्य सुख नहीं मिल सकता। आप मेरा स्मरण कर करके दुखी होकर पछताते रहेंगे।''

कृष्ण उत्तर देते हैं, ''मुझे दुखी होने दो। इससे तुम्हें क्या प्रयोजन?'' ''लेकिन आप मुझे सर्वाधिक प्रिय हैं। मुझे आपका दुख आपसे लाखों गुना अधिक लगेगा। यदि मैं पहले मर भी चुकी होती तो भी मैं आपके चरणकमल के नाखून के एक बिंदु पर हुई पीड़ा को सहन नहीं कर सकती। ऐसी पीड़ा रोकने के लिए मैं अपने जीवन को लाख लाख बार ठुकराने के लिए तैयार हूँ। अत: मुझे दर्शन देकर उस दुख को दूर कीजिये।''

''किन्तु यदि तुम्हारे प्राण छूटने ही वाले हैं, तो उसे रोकने के लिए मैं कर ही क्या सकता हूँ?''

''केवल अपनी बाँहों का स्पर्श दे दो। वह ऐसी औषधि है, जिसकी शक्ति से मृत भी जीवित हो

उठता है। मेरा शरीर पुनः स्वस्थ हो जायेगा और मेरा प्राण मेरे शरीर में अपने आप वापस आ जायेगा और मेरे शरीर में ही टिका रहेगा।''

''किन्तु तुम तो मेरी सहायता के बिना ही जंगल का रास्ता जानती हो तो फिर तुमने मुझ इस राजकुमार तथा अत्यन्त तरुण एवं भद्र बालक को आदेश क्यों दिया। उसका तो आदर किया जाना चाहिए था। तुमने यह आदेश क्यों दिया कि तुम जहाँ चाहे ले चलो? तुमने मुझे इस तरह क्रुद्ध क्यों किया?''

राधा चिल्ला उठती हैं ''कृपा करके अपनी दीन दासी को अपना मुखड़ा दिखाइये। मुझपर कृपा कीजिये! कृपालु होइये। जब मैंने आपको आदेश दिया था, तो मैं नींद से विवश हो चली थी। मैं आपके साथ केलि करने से थक गई थी। अतः आपकी दासी बेचारी ने जो कहा उसे क्षमा कर दें। कृपया क्रुद्ध न हों। चूँकि आपने मेरे साथ ऐसे घनिष्ठ मित्र जैसा व्यवहार किया, यद्यपि मैं जिसकी पात्र न थी, इसीलिए मैं आपसे ऐसा कह गई।''

''ठीक, प्रिये! मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ अतः मेरे पास आओ।''

''किन्तु मैं तो पश्चाताप से अंधी हो चुकी हूँ। मैं नहीं देख पा रही कि आप कहाँ हैं। बतलाइये न, आप कहाँ हैं।''

श्रीशुक उवाच

अन्विच्छन्त्यो भगवतो मार्गं गोप्योऽविदूरितः ।
ददृशुः प्रियविश्लेषान्मोहितां दुःखितां सखीम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अन्विच्छन्त्यः—ढूँढ़ती हुई; भगवतः—भगवान् का; मार्गम्—रास्ता; गोप्यः—गोपियों ने; अविदूरितः—दूर नहीं, पास ही; ददृशुः—देखा; प्रिय—अपने प्रेमी से; विश्लेषात्—बिछुड़ने के कारण; मोहिताम्—मोहग्रस्त; दुःखिताम्—दुखी; सखीम्—अपनी सखी को।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : कृष्ण के रास्ते को खोजती हुई गोपियों ने अपनी दुखी सखी को पास में ही ढूँढ़ निकाला। वह अपने प्रेमी के विछोह से मोहग्रस्त थी।

तया कथितमाकर्ण्य मानप्राप्तिं च माधवात् ।
अवमानं च दौरात्म्याद्विस्मयं परमं ययुः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

तया—उसके द्वारा; कथितम्—जो कुछ कहा गया; आकर्ण्य—सुनकर; मान—आदर की; प्राप्तिम्—प्राप्ति; च—तथा; माधवात्—कृष्ण से; अवमानम्—अनादर; च—भी; दौरात्म्यात्—अपने दुर्व्यवहार से; विस्मयम्—विस्मय; परमम्—अत्यधिक; ययुः—अनुभव किया।

उसने उन्हें बताया कि माधव ने उसको कितना आदर (मान) प्रदान किया था किन्तु अब उसे अपने दुर्व्यवहार के कारण अनादर झेलना पड़ा। गोपियाँ यह सुनकर अत्यन्त विस्मित थीं।

तात्पर्य : राधारानी द्वारा कृष्ण से उठाकर ले चलने के लिए कहना स्वाभाविक था क्योंकि यह याचना उनके प्रेम-सम्बन्ध के अनुकूल ही थी। किन्तु अब वे अत्यन्त दीनतावश अपने व्यवहार को कुटिल बताती हैं। इन बातों को सुनकर अन्य गोपियाँ विस्मित थीं।

ततोऽविशन्वनं चन्द्र ज्योत्स्ना यावद्विभाव्यते ।
तमः प्रविष्टमालक्ष्य ततो निववृतुः स्त्रियः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; अविशन्—प्रविष्ट हुईं; वनम्—जंगल में; चन्द्र—चन्द्रमा की; ज्योत्स्ना—चाँदनी; यावत्—जहाँ तक; विभाव्यते—दृष्टिगोचर थी; तमः—अँधेरा; प्रविष्टम्—प्रवेश किया हुआ; आलक्ष्य—देखकर; ततः—तत्पश्चात्; निववृतुः—विरत हो गईं; स्त्रियः—स्त्रियाँ।

तत्पश्चात् गोपियाँ कृष्ण की खोज में जंगल के भीतर उतनी दूर तक गईं जहाँ तक चन्द्रमा की चाँदनी थी। किन्तु जब उन्होंने अपने को अंधकार से घिरता देखा तो उन्होंने लौट आने का निश्चय किया।

तात्पर्य : गोपियाँ जंगल के ऐसे घने भाग में जा पहुँची थी जहाँ पूर्ण चन्द्रमा का प्रकाश भी प्रवेश नहीं कर सकता था। *विष्णु पुराण* में इस दृश्य का भी वर्णन है :

प्रविष्टो गहनं कृष्णः पदमत्र न लक्ष्यते।

निवर्तध्वं शशांकस्य नैतद् दीधितिगोचरः ॥

"एक गोपी ने कहा : "कृष्ण जंगल के ऐसे घने भाग में प्रविष्ट हो चुके हैं कि हम उनके पदचिह्नों को भी नहीं देख सकतीं। अतः हमें इस क्षेत्र से, जहाँ चाँदनी भी नहीं पहुँच सकती, लौट चलना चाहिए।"

तन्मनस्कास्तदलापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मगाराणि सस्मरुः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तत्-मनस्काः—उनके विचारों से भरे हुए मन; तत्-आलापाः—उनके विषय में बातें करती; तत्-विचेष्टाः—उनके कार्यकलापों की नकल करतीं; तत्-आत्मिकाः—उनकी उपस्थिति से पूरित; तत्-गुणान्—उनके गुणों के विषय में; एव—केवल; गायन्त्यः—गाती हुईं; न—नहीं; आत्म—अपने; आगाराणि—घरों को; सस्मरुः—याद किया।

उन सब के मन उनके (कृष्ण के) विचारों में लीन होने से वे उन्हीं के विषय में बातें करने लगीं, उन्हीं की लीलाओं का अनुकरण करने लगीं और अपने को उनकी उपस्थिति से पूरित अनुभव करने लगीं। वे अपने घरों के विषय में पूरी तरह भूल गईं और कृष्ण के दिव्य गुणों का जोर जोर से गुणगान करने लगीं।

तात्पर्य : वस्तुत: शुद्ध भगवद्भक्तों के लिए कृष्ण से विछोह नहीं होता है। यद्यपि ऊपर से लगता है कि कृष्ण ने गोपियों का परित्याग कर दिया था किन्तु वास्तव में वे *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* अर्थात् भगवान् के यश के श्रवण तथा कीर्तन की आध्यात्मिक विधि द्वारा उनसे मजबूती से बँधी थीं।

पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः ।
समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकाङ्क्षिताः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

पुनः—फिर से; पुलिनम्—किनारे पर; आगत्य—आकर; कालिन्द्याः—यमुना नदी के; कृष्ण-भावनाः—कृष्ण का ध्यान करती; समवेताः—एकत्र हो गईं; जगुः—गाने लगीं; कृष्णम्—कृष्ण के विषय में; तत्-आगमन—उनके आगमन की; काङ्क्षिताः—आकांक्षा करती हुई।

गोपियाँ फिर से कालिन्दी के किनारे आ गईं। कृष्ण का ध्यान करते तथा उत्सुकतापूर्वक यह आशा लगाये कि वे आयेंगे ही, वे उनके विषय में गीत गाने के लिए एकसाथ बैठ गईं।

तात्पर्य : जैसाकि *कठ उपनिषद* (१.२.२३) में कहा गया है *यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः* परमात्मा की अनुभूति उसी को हो सकती है, जिसका वे चुनाव करते हैं। इस तरह गोपियाँ उत्कटतापूर्वक प्रार्थना करती हैं कि कृष्ण उनके पास वापस आ जाँय।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कन्ध के अन्तर्गत "गोपियों द्वारा कृष्ण की खोज" नामक तीसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter इकतीस

गोपियों के विरह गीत

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह कृष्ण के वियोग की भावना से अभिभूत गोपियाँ यमुना के किनारे बैठ गईं और उनका दर्शन पाने के लिए प्रार्थना करने लगीं और उनके यश का गायन करने लगीं।

चूँकि गोपियों ने अपने मन और प्राण तक कृष्ण को अर्पित कर दिये थे अतएव विरह की दिव्य पीड़ा से वे अपने आप में नहीं थीं। किन्तु दीनता के प्रमाणस्वरूप लगने वाला उनका रोदन वास्तव में उनकी दिव्य आनन्दावस्था को प्रदर्शित करने वाला है। जैसाकि कहा गया है—*यत देख वैष्णवेर व्यवहार दु:ख/ निश्चय जानिह सेइ परमानन्द सुख*—जब भी कोई किसी वैष्णव को दुखी होते देखता है, तो उसे निश्चित रूप से समझना चाहिए कि वह वास्तव में परम आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव कर रहा है। इस तरह प्रत्येक गोपी अपने अपने आनंद के भाव के अनुसार श्रीकृष्ण को सम्बोधित करने लगी और सबों ने उनकी कृपा के लिए प्रार्थना की।

ज्योंही गोपियों के मन में कृष्ण की लीलाएँ उठीं त्योंही वे उनके गीत गाने लगीं जो कृष्ण की विरहाग्नि से दुखितों की वेदना को दूर करने वाले और परम मंगल प्रदान करने वाले होते हैं। उन्होंने गाया, "हे स्वामी, हे प्रिय, हे छलिया! जब हम तुम्हारी हँसी, तुम्हारी प्रेममयी चितवन तथा तुम्हारे बालसखाओं के साथ तुम्हारी लीलाओं को याद करती हैं, तो हम अतीव क्षुब्ध हो उठती हैं। गोधूल से सने काले घुँघराले केशों से सुसज्जित तुम्हारे कमलमुख का स्मरण करके हम एकान्त भाव से तुममें अटूट रूप से अनुरक्त हो जाती हैं। और जब हम स्मरण करती हैं कि तुम किस तरह अपने कोमल पैरों से एक जंगल से दूसरे जंगल तक गौवों का पीछा करते थे तो हमें महान् पीड़ा होती है।"

कृष्ण के वियोग में गोपियों को एक-एक क्षण पूरे युग जैसा प्रतीत होता था। इसके पूर्व भी जब उन्होंने उन्हें देखा था, तो उनकी झपकती पलकें असह्य लग रही थीं क्योंकि उनसे उनका दृश्य कुछ देर के लिए अवरुद्ध हो जाता था।

गोपियों ने कृष्ण के लिए जो भावनाएँ व्यक्त कीं वे भले ही काम के लक्षणों से युक्त प्रतीत हों किन्तु वास्तव में वे भगवान् की आध्यात्मिक इन्द्रियों को तुष्ट करने की उनकी शुद्ध इच्छा की अभिव्यक्ति हैं। गोपियों के इन भावों में काम छू तक नहीं गया है।

गोप्य ऊचुः
जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः
श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि ।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावका-
स्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ॥ १ ॥

शब्दार्थ

गोप्यः ऊचुः—गोपियों ने कहा; जयति—जय हो; ते—तुम्हारी; अधिकम्—अधिक; जन्मना—जन्म से; व्रजः—व्रजभूमि; श्रयते—वास करती है; इन्दिरा—लक्ष्मीदेवी; शश्वत्—निरन्तर; अत्र—यहाँ; हि—निस्सन्देह; दयित—हे प्रिय; दृश्यताम्—(आप) देखे जा सकें; दिक्षु—सभी दिशाओं में; तावकाः—आपके (भक्त); त्वयि—आपके लिए; धृत—धारण किये हुए; असवः—अपने प्राण; त्वाम्—तुमको; विचिन्वते—खोज रही हैं।

गोपियों ने कहा : हे प्रियतम, व्रजभूमि में तुम्हारा जन्म होने से ही यह भूमि अत्यधिक महिमावान हो उठी है और इसीलिए इन्दिरा (लक्ष्मी) यहाँ सदैव निवास करती हैं। केवल तुम्हारे लिए ही तुम्हारी भक्त दासियाँ हम अपना जीवन पाल रही हैं। हम तुम्हें सर्वत्र ढूँढ़ती रही हैं अतः कृपा करके हमें अपना दर्शन दीजिये।

तात्पर्य : जो लोग संस्कृत श्लोकों की उच्चारण-कला से परिचित हैं, वे इस बात की सराहना करेंगे कि इस अध्याय का संस्कृत काव्य बेजोड़ है। विशेषतया श्लोकों के छन्द असामान्य रूप से सुन्दर हैं और अधिकांशतः प्रत्येक पंक्ति का प्रथम तथा सप्तम अक्षर एक ही व्यञ्जन से प्रारम्भ होता है। उसी तरह चारों पंक्तियों के द्वितीय शब्द भी हैं।

शरदुदाशये साधुजातसत्-
सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा ।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका
वरद निघ्नतो नेह किं वधः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

शरत्—शरद ऋतु का; उद-आशये—जलाशय में; साधु—उत्तम रीति से; जात—उगा; सत्—सुन्दर; सरसि-ज—कमल के फूलों के; उदर—मध्य में; श्री—सौन्दर्य; मुषा—अद्वितीय; दृशा—आपकी चितवन से; सुरत-नाथ—हे प्रेम के स्वामी; ते—तुम्हारी; अशुल्क—मुफ्त, बिना मूल्य की; दासिकाः—दासियाँ; वर-द—हे वरों के दाता; निघ्नतः—बध करने वाले; न—नहीं; इह—इस जगत में; किम्—क्यों; वधः—हत्या।

हे प्रेम के स्वामी, आपकी चितवन शरदकालीन जलाशय के भीतर सुन्दरतम सुनिर्मित कमल के कोश की सुन्दरता को मात देने वाली है। हे वर-दाता, आप उन दासियों का वध कर रहे हैं जिन्होंने बिना मोल ही अपने को आपको पूर्ण रूप से समर्पित कर दिया है। क्या यह वध नहीं है?

तात्पर्य : शरद ऋतु में कमल कोश की विशेष सुन्दरता होती है किन्तु यह अद्वितीय सौन्दर्य कृष्ण की चितवन के सौन्दर्य के आगे मात है।

विषजलाप्ययाद्व्यालराक्षसाद्
वर्षमारुताद्वैद्युतानलात् ।
वृषमयात्मजाद्विश्वतो भया-
दृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः ॥ ३॥

शब्दार्थ

विष—विषैला; जल—जल (यमुना जल जो कालिय द्वारा दूषित था) से; अप्ययात्—विनाश से; व्याल—भयानक; राक्षसात्—(अघ) राक्षस से; वर्ष—वर्षा (इन्द्र द्वारा की गई) से; मारुतात्—तथा अंधड से (तृणावर्त द्वारा उत्पन्न); वैद्युत-अनलात्—वज्र (इन्द्र के) से; वृष—बैल (अरिष्टासुर) से; मय-आत्मजात्—मय के पुत्र (व्योमासुर) से; विश्वतः—सभी; भयात्—भय से; ऋषभ—हे पुरुषों में श्रेष्ठ; ते—तुम्हारे द्वारा; वयम्—हम; रक्षिताः—रक्षा की जाती रही हैं; मुहुः—बारम्बार।

हे पुरुषश्रेष्ठ, आपने हम सबों को विविध प्रकार के संकटों से—यथा विषैले जल से, मानवभक्षी भयंकर अघासुर से, मूसलाधार वर्षा से, तृणावर्त से, इन्द्र के अग्नि तुल्य वज्र से, वृषासुर से तथा मय दानव के पुत्र से बारम्बार बचाया है।

तात्पर्य : यहाँ पर गोपियाँ कहना चाहती हैं, "हे कृष्ण! आपने हमें अनेक घोर संकटों से उबारा है, तो क्या अब जबकि हम आपके वियोग-दुख से मरी जा रही हैं आप पुनः हमें नहीं बचायेंगे?" श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि गोपियाँ अरिष्टासुर तथा व्योमासुर का नाम इसलिए लेती हैं क्योंकि यह भलीभाँति ज्ञात है कि भले ही कृष्ण ने अभी इन असुरों का वध नहीं किया किन्तु वे आगे चलकर उन्हें मारेंगे क्योंकि भगवान् के जन्म के समय गर्ग तथा भागुरि मुनियों ने यह भविष्यवाणी की थी।

न खलु गोपीकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान्सात्वतां कुले ॥ ४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; खलु—निस्सन्देह; गोपिका—गोपी, यशोदा के; नन्दनः—पुत्र; भवान्—आप; अखिल—समस्त; देहिनाम्—देहधारी जीवों के; अन्तः-आत्म—अन्तःकरण का; दृक्—द्रष्टा; विखनसा—ब्रह्मा द्वारा; अर्थितः—प्रार्थना किये जाने पर; विश्व—विश्व की; गुप्तये—रक्षा के लिए; सखे—हे मित्र; उदेयिवान्—आपका उदय हुआ; सात्वताम्—सात्वतों के; कुले—कुल में।

हे सखा, आप वास्तव में गोपी यशोदा के पुत्र नहीं अपितु समस्त देहधारियों के हृदयों में

अन्तस्थ साक्षी हैं। चूँकि ब्रह्माजी ने आपसे अवतरित होने एवं ब्रह्माण्ड की रक्षा करने के लिए प्रार्थना की थी इसलिए अब आप सात्वत कुल में प्रकट हुए हैं।

तात्पर्य : गोपियों के कहने का आशय यही है कि, "आप तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रक्षा करने के लिए अवतरित हैं, तो फिर आप अपने ही भक्तों की उपेक्षा कैसे कर सकते हैं?"

विरचिताभयं वृष्णिधूर्य ते
चरणमीयुषां संसृतेर्भयात् ।
करसरोरुहं कान्त कामदं
शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

विरचित—उत्पन्न किया; अभयम्—अभय; वृष्णि—वृष्णि कुल का; धूर्य—हे श्रेष्ठ; ते—तुम्हारे; चरणम्—चरण; ईयुषाम्—निकट पहुँचने वालों के; संसृतेः—भौतिक जगत के; भयात्—भय से; कर—तुम्हारा हाथ; सरः-रुहम्—कमल के समान; कान्त—हे प्रेमी; काम—इच्छाएँ; दम्—पूरा करने वाला; शिरसि—सिरों पर; धेहि—रखो; नः—हमारे; श्री—लक्ष्मीदेवी के; कर—हाथ; ग्रहम्—पकड़ते हुए।

हे वृष्णिश्रेष्ठ, लक्ष्मीजी के हाथ को थामने वाला आपका कमल सदृश हाथ उन लोगों को अभय दान देता है, जो भवसागर के भय से आपके चरणों के निकट पहुँचते हैं। हे प्रियतम, उसी कामना को पूर्ण करने वाले करकमल को हमारे सिरों के ऊपर रखें।

व्रजजनार्तिहन्वीर योषितां
निजजनस्मयध्वंसनस्मित ।
भज सखे भवत्किङ्करीः स्म नो
जलरुहाननं चारु दर्शय ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

व्रज-जन—व्रज के लोगों के; आर्ति—कष्ट के; हन्—नष्ट करने वाले; वीर—हे वीर; योषिताम्—स्त्रियों के; निज—अपने; जन—लोगों का; स्मय—गर्व; ध्वंसन—विनष्ट करते हुए; स्मित—मंद हँसी; भज—स्वीकार करें; सखे—हे मित्र; भवत्—आपकी; किङ्करीः—दासियाँ; स्म—निस्सन्देह; नः—हमको; जल-रुह—कमल; आननम्—मुख वाले; चारु—सुन्दर; दर्शय—कृपा करके दिखाइये।

हे व्रज के लोगों के कष्टों को विनष्ट करने वाले, समस्त स्त्रियों के वीर, आपकी हँसी आपके भक्तों के मिथ्या अभिमान को चूर चूर करती है। हे मित्र, आप हमें अपनी दासियों के रूप में स्वीकार करें और हमें अपने सुन्दर कमल-मुख का दर्शन दें।

प्रणतदेहिनां पापकर्षणं

तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम् ।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं
कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

प्रणत—आपके शरणागत; देहिनाम्—देहधारी जीवों के; पाप—पाप; कर्षणम्—हटाने वाले; तृण—घास; चर—चरने वाली (गाय); अनुगम्—पीछे पीछे चलते हुए; श्री—लक्ष्मीजी के; निकेतनम्—धाम; फणि—सर्प (कालिय) के; फणा—फनों पर; अर्पितम्—रखा; ते—तुम्हारे; पद-अम्बुजम्—चरणकमल; कृणु—कृपया रखें; कुचेषु—स्तनों पर; नः—हमारे; कृन्धि—काट डालिए; हृत्-शयम्—हमारे हृदय की कामवासना।

आपके चरणकमल आपके शरणागत समस्त देहधारियों के विगत पापों को नष्ट करने वाले हैं। वे ही चरण गौवों के पीछे पीछे चरागाहों में चलते हैं और लक्ष्मीजी के दिव्य धाम हैं। चूँकि आपने एक बार उन चरणों को महासर्प कालिय के फनों पर रखा था अतः अब आप उन्हें हमारे स्तनों पर रखें और हमारे हृदय की कामवासना को छिन्नभिन्न कर दें।

तात्पर्य : याचना करती हुई गोपियाँ संकेत करती हैं कि भगवान् कृष्ण के चरणकमल सभी शरणागत बद्धजीवों के पापों को विनष्ट कर देते हैं। भगवान् इतने दयालु हैं कि वे गौवों को चराने चरागाह भी जाते हैं और इस तरह उनके चरणकमल घास में भी उनका पीछा करते हैं। उन्होंने अपने चरणकमल लक्ष्मीजी को प्रदान किये हैं और उन्हें कालिय नाग के फनों पर भी रखा है। अतएव इन सबों पर विचार करते हुए भगवान् को अपने चरणकमल गोपियों के स्तनों पर रखकर उनकी इच्छाओं को पूरा करना चाहिए। गोपियाँ यहाँ यही तर्क उपस्थित करती हैं।

मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया
बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण ।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यती-
रधरसीधुनाप्याययस्व नः ॥ ८॥

शब्दार्थ

मधुरया—मधुर; गिरा—अपनी वाणी से; वल्गु—मोहक; वाक्यया—अपने शब्दों से; बुध—बुद्धिमान को; मनो-ज्ञया—आकर्षक; पुष्कर—कमल; ईक्षण—आँखों वाले; विधि-करीः—दासियाँ; इमाः—ये; वीर—हे वीर; मुह्यतीः—मोहित हो रही; अधर—तुम्हारे होंठों के; सीधुना—अमृत से; आप्याययस्व—जीवन-दान दीजिये; नः—हमको।

हे कमलनेत्र, आपकी मधुर वाणी तथा मोहक शब्द, जो कि बुद्धिमान के मन को आकृष्ट करने वाले हैं, हम सबों को अधिकाधिक मोह रहे हैं। हमारे प्रिय वीर, आप अपने होंठों के अमृत से अपनी दासियों को पुनरुज्जीवित कर दीजिये।

तव कथामृतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ये भूरिदा जनाः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तव—तुम्हारे; कथा-अमृतम्—शब्दों का अमृत; तप्त-जीवनम्—भौतिक जगत में दुखियारों का जीवन; कविभिः—बड़े बड़े चिन्तकों द्वारा; ईडितम्—वर्णित; कल्मष-अपहम्—पापों को भगाने वाला; श्रवण-मङ्गलम्—सुनने पर आध्यात्मिक लाभ देने वाला; शृईमत्—आध्यात्मिक शक्ति से पूर्ण; आततम्—संसार-भर में विस्तीर्ण; भुवि—भौतिक जगत में; गृणन्ति—कीर्तन तथा प्रसार करते हैं; ये—जो लोग; भूरि-दाः—अत्यन्त उपकारी; जनाः—व्यक्ति।

आपके शब्दों का अमृत तथा आपकी लीलाओं का वर्णन इस भौतिक जगत में कष्ट भोगने वालों के जीवन और प्राण हैं। विद्वान मुनियों द्वारा प्रसारित ये कथाएँ मनुष्य के पापों को समूल नष्ट करती हैं और सुनने वालों को सौभाग्य प्रदान करती हैं। ये कथाएँ जगत-भर में विस्तीर्ण हैं और आध्यात्मिक शक्ति से ओतप्रोत हैं। निश्चय ही जो लोग भगवान् के सन्देश का प्रसार करते हैं, वे सबसे बड़े दाता हैं।

तात्पर्य : राजा प्रतापरुद्र ने यह श्लोक भगवान् जगन्नाथ की रथ-यात्रा उत्सव के समय श्री चैतन्य महाप्रभु को सुनाया था। जब महाप्रभु एक उद्यान में विश्राम कर रहे थे तो राजा प्रतापरुद्र विनम्र भाव से वहाँ गये और उनके चरण चापने लगे। तब राजा ने *श्रीमद्भागवत* के दशम स्कंध का इकतीसवें अध्याय—गोपी-गीत—सुनाया। *चैतन्य-चरितामृत* में बतलाया गया है कि जब महाप्रभु ने *तव कथामृतम्* से शुरू होने वाले इस श्लोक को सुना तो वे भावावेश में तत्क्षण उठ खड़े हुए और उन्होंने राजा प्रतापरुद्र का आलिंगन कर लिया। *चैतन्यचरितामृत* (मध्य १४.४-१८) में इस घटना का विस्तार से वर्णन हुआ है और श्रील प्रभुपाद ने अपने संस्करण में इसकी विस्तृत टीका की है।

प्रहसितं प्रियप्रेमवीक्षणं
विहरणं च ते ध्यानमङ्गलम् ।
रहसि संविदो या हृदि स्पृशः
कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि ॥ १० ॥

शब्दार्थ

प्रहसितम्—हँसना; प्रिय—स्नेहपूर्ण; प्रेम—प्रेमपूर्ण; वीक्षणम्—चितवन; विहरणम्—घनिष्ठ लीलाएँ; च—तथा; ते—तुम्हारी; ध्यान—ध्यान द्वारा; मङ्गलम्—शुभ; रहसि—एकान्त स्थान में; संविदः—वार्तालाप; याः—जो; हृदि—हृदय में; स्पृशः—स्पर्श; कुहक—हे छलिया; नः—हमारे; मनः—मनों को; क्षोभयन्ति—क्षुब्ध करती हैं; हि—निस्सन्देह।

आपकी हँसी, आपकी मधुर प्रेम-भरी चितवन, आपके साथ हमारे द्वारा भोगी गई घनिष्ठ

लीलाएँ तथा गुप्त वार्ताएँ—इन सबका ध्यान करना मंगलकारी है और ये हमारे हृदयों को स्पर्श करती हैं। किन्तु उस के साथ ही, हे छलिया, वे हमारे मन को अतीव क्षुब्ध भी करती हैं।

चलसि यद्व्रजाच्चारयन्पशून्
नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम् ।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः
कलिलतां मनः कान्त गच्छति ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

चलसि—जाते हो; यत्—जब; व्रजात्—गोपों के गाँव से; चारयन्—चराने के लिए; पशून्—पशुओं को; नलिन—कमल से भी बढ़कर; सुन्दरम्—सुन्दर; नाथ—हे स्वामी; ते—तुम्हारे; पदम्—चरण; शिल—अन्न के नुकीले सिरों से; तृण—घास; अङ्कुरैः—तथा अंकुरित पौधों से; सीदति—पीड़ा अनुभव करते हैं; इति—ऐसा सोचकर; नः—हमारे; कलिलताम्—बेचैनी; मनः—मन; कान्त—हे प्रियतम; गच्छति—अनुभव करते हैं।

हे स्वामी, हे प्रियतम, जब आप गाँव छोड़कर गौवें चराने के लिए जाते हैं, तो हमारे मन इस विचार से विचलित हो उठते हैं कि कमल से भी अधिक सुन्दर आपके पाँवों में अनाज के नोकदार छिलके तथा घास-फूस एवं पौधे चुभ जायेंगे।

दिनपरिक्षये नीलकुन्तलै-
र्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम् ।
घनरजस्वलं दर्शयन्मुहु-
र्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

दिन—दिन के; परिक्षये—अन्त होने पर; नील—नीले; कुन्तलैः—केश गुच्छों से; वन-रुह—कमल; आननम्—मुख; बिभ्रत्—प्रदर्शित करता; आवृतम्—ढका हुआ; घन—मोटा; रजः-वलम्—धूल से सना; दर्शयन्—दिखलाते हुए; मुहुः—बारम्बार; मनसि—मनों में; नः—हमारे; स्मरम्—कामदेव को; वीर—हे वीर; यच्छसि—रख रहे हो।

दिन ढलने पर आप हमें बारम्बार गहरे नीले केश की लटों से ढके तथा धूल से पूरी तरह धूसरित अपना कमल-मुख दिखलाते हैं। इस तरह, हे वीर, आप हमारे मन में कामवासना जागृत कर देते हैं।

प्रणतकामदं पद्मजार्चितं
धरणिमण्डनं ध्येयमापदि ।
चरणपङ्कजं शन्तमं च ते
रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

प्रणत—झुकने वालों की; काम—इच्छाएँ; दम्—पूरी करते हुए; पद्म-ज—ब्रह्मा द्वारा; अर्चितम्—पूजित; धरणि—पृथ्वी के; मण्डनम्—आभूषण; ध्येयम्—ध्यान के पात्र; आपदि—विपत्ति के समय; चरण-पङ्कजम्—चरणकमल; शम्-तमम्—सर्वोच्च तुष्टि प्रदान करने वाले; च—तथा; ते—तुम्हारा; रमण—हे प्रियतम; नः—हमारे; स्तनेषु—स्तनों पर; अर्पय—रखें; अधि-हन्—मानसिक क्लेश को विनाश करने वाले।

ब्रह्माजी द्वारा पूजित आपके चरणकमल उन सबों की इच्छाओं को पूरा करते हैं, जो उनमें नतमस्तक होते हैं। वे पृथ्वी के आभूषण हैं, वे सर्वोच्च सन्तोष के देने वाले हैं और संकट के समय चिन्तन के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं। हे प्रियतम, हे चिन्ता के विनाशक, आप उन चरणों को हमारे स्तनों पर रखें।

सुरतवर्धनं शोकनाशनं
स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम् ।
इतररागविस्मारणं नृणां
वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

सुरत—माधुर्य सुख; वर्धनम्—बढ़ाने वाले; शोक—शोक; नाशनम्—विनष्ट करने वाले; स्वरित—ध्वनि की गई; वेणुना—आपकी वंशी द्वारा; सुष्ठु—अत्यधिक; चुम्बितम्—चुम्बन किया हुआ; इतर—अन्य; राग—आसक्ति; विस्मारणम्—विस्मरण कराने वाले; नृणाम्—मनुष्यों के; वितर—कृपया वितरण कीजिये; वीर—हे वीर; नः—हम पर; ते—तुम्हारे; अधर—अधरों के; अमृतम्—अमृत को।

हे वीर, आप अपने होंठों के उस अमृत को हममें वितरित कीजिये जो युगल आनन्द को बढ़ाने वाला और शोक को मिटाने वाला है। उसी अमृत का आस्वाद आपकी ध्वनि करती हुई वंशी लेती है और लोगों को अन्य सारी आसक्तियाँ विसरा देती है।

तात्पर्य : इस श्लोक पर श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की मनोरम टीका गोपियों तथा कृष्ण के मध्य वार्तालाप के रूप में है—

गोपियाँ कहती हैं, "हे कृष्ण! तुम तो बिल्कुल सर्वश्रेष्ठ वैद्य धन्वन्तरि लगते हो। अत: हमें कोई औषधि दो क्योंकि हम तुम्हारी भोगेच्छा के रोग से पीड़ित हैं। तुम हमें अपने होठों का औषधिरूप अमृत हमसे बिना किसी बड़े मूल्य लिए मुफ्त दो। तुम तो बड़े दानवीर हो इसलिए तुम्हें चाहिए कि दुष्ट से दुष्ट व्यक्ति को भी इसे बिना किसी मूल्य के दो। यह समझ लो कि हम अपना जीवन खोने वाली हैं और तुम वह अमृत देकर हमें पुन: जीवन-दान दे सकते हो। आखिर तुमने इसे अपनी वंशी को तो दे ही रखा है, जो कि बाँस की खोखली छड़ी मात्र है।"

कृष्ण कहते हैं, "किन्तु इस जगत में लोगों का भोजन तो सम्पत्ति, अनुयायी, परिवार इत्यादि से

आसक्ति का है, जो बुरा है। अत: जिन्हें ऐसा बुरा भोजन मिलता हो उन्हें वह औषधि नहीं मिलनी चाहिए जिसे तुम लोगों ने माँगा है।''

''किन्तु इस औषधि से अन्य सारी आसक्तियाँ भूल जाती हैं। यह औषधि इतनी अद्‌भुत है कि यह बुरे भोजन की आदत को भी ठीक कर देती है। इसलिए हे वीर! वह अमृत हमें दे दो क्योंकि तुम बड़े दानी हो।''

अटति यद्भवानह्नि काननं
त्रुटि युगायते त्वामपश्यताम् ।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते
जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद्दृशाम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अटति—घूमते हो; यत्—जब; भवान्—आप; अह्नि—दिन में; काननम्—जंगल में; त्रुटि—लगभग १/१७०० सेकंड; युगायते—एक युग के बराबर हो जाता है; त्वाम्—तुम; अपश्यताम्—न देखने वालों के लिए; कुटिल—घुँघराले; कुन्तलम्—बालों का गुच्छा; श्री—सुन्दर; मुखम्—मुँह; च—तथा; ते—तुम्हारा; जड:—मूर्ख; उदीक्षताम्—उत्सुकता से देखने वालों को; पक्ष्म—पलकों का; कृत्—बनाने वाला; दृशाम्—आँखों का।

जब आप दिन के समय जंगल चले जाते हैं, तो क्षण का एक अल्पांश भी हमें युग सरीखा लगता है क्योंकि हम आपको देख नहीं पातीं। और जब हम आपके सुन्दर मुख को जो घुँघराले बालों से सुशोभित होने के कारण इतना सुन्दर लगता है, देखती भी हैं, तो ये हमारी पलकें हमारे आनन्द में बाधक बनती हैं, जिन्हें मूर्ख स्त्रष्टा ने बनाया है।

पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवा-
नतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागता: ।
गतिविदस्तवोद्‌गीतमोहिता:
कितव योषित: कस्त्यजेन्निशि ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

पति—पति; सुत—बालक; अन्वय—पूर्वज; भ्रातृ—भाई; बान्धवान्—तथा अन्य सम्बन्धियों को; अतिविलङ्घ्य—पूर्णतया उपेक्षा करके; ते—तुम्हारी; अन्ति—उपस्थिति में; अच्युत—हे अच्युत; आगता:—आई हुई; गति—हमारी चालढाल का; विद:—प्रयोजन को जानने वाले; तव—तुम्हारा; उद्‌गीत—(वंशी के) तेज गीत से; मोहिता:—मोहित; कितव—हे छलिया; योषित:—स्त्रियों को; क:—कौन; त्यजेत्—त्याग करेगा; निशि—रात में।

हे अच्युत, आप भलीभाँति जानते हैं कि हम क्यों आई हैं। आप जैसे छलिये के अतिरिक्त भला और कौन होगा, जो अर्धरात्रि में उसकी बाँसुरी के तेज संगीत से मोहित होकर उसे देखने के लिए आई तरुणी स्त्रियों का परित्याग करेगा? आपके दर्शनों के लिए ही हमने अपने पतियों,

बच्चों, बड़े-बूढ़ों, भाइयों तथा अन्य रिश्तेदारों को पूरी तरह ठुकरा दिया है।

रहसि संविदं हृच्छयोदयं
प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम् ।
बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धाम ते
मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः ॥ १७॥

शब्दार्थ

रहसि—एकान्त में; संविदम्—गुप्त वार्ताएँ; हृत्-शय—हृदय में कामेच्छा का; उदयम्—उठना; प्रहसित—हँसता हुआ; आननम्—मुख; प्रेम—प्रेमपूर्ण; वीक्षणम्—चितवन; बृहत्—चौड़ी; उरः—छाती; श्रियः—लक्ष्मी; वीक्ष्य—देखकर; धाम—धाम; ते—तुम्हारा; मुहुः—बारम्बार; अति—अत्यधिक; स्पृहा—लालसा; मुह्यते—मोह लेती है; मनः—मन को।

जब हम आपके साथ एकान्त में हुई घनिष्ठ वार्ताओं का चिन्तन करती हैं, तो अपने हृदयों में कामोदय अनुभव करती हैं और आपकी हँसमुख आकृति, आपकी प्रेममयी चितवन तथा आपके चौड़े सीने का, जो कि लक्ष्मी का वासस्थान है, स्मरण करती हैं तब हमारे मन बारम्बार मोहित हो जाते हैं। इस तरह हमें आपके लिए अत्यन्त गहन लालसा की अनुभूति होती है।

व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते
वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम् ।
त्यज मनाक्च नस्त्वत्स्पृहात्मनां
स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम् ॥ १८॥

शब्दार्थ

व्रज-वन—व्रज के जंगलों में; ओकसाम्—निवासियों के लिए; व्यक्तिः—प्राकट्य; अङ्ग—हे प्रिय; ते—तुम्हारा; वृजिन—दुख का; हन्त्री—विनाश करने वाला; अलम्—बहुत हो गया, बस; विश्व-मङ्गलम्—मंगलमय; त्यज—छोड़ दीजिये; मनाक्—थोड़ा; च—तथा; नः—हमको; त्वत्—तुम्हारे लिए; स्पृहा—लालसा; आत्मनाम्—पूरित मनों वाले; स्व—अपने; जन—भक्तगण; हृत्—हृदयों में; रुजाम्—रोग का; यत्—जो; निषूदनम्—शमन करने वाला।

हे प्रियतम, आपका सर्व मंगलमय प्राकट्य व्रज के वनों में रहने वालों के कष्ट को दूर करता है। हमारे मन आपके सान्निध्य के लिए लालायित हैं। आप हमें थोड़ी-सी वह औषधि दे दें, जो आपके भक्तों के हृदयों के रोग का शमन करती है।

तात्पर्य : आचार्यों के अनुसार भगवान् कृष्ण से गोपियाँ अपने स्तनों पर उनके चरणकमलों को रखने की बारम्बार विनती करती हैं। गोपियाँ भौतिक काम की शिकार नहीं हैं अपितु वे भगवान् के शुद्ध प्रेम में लीन रहने वाली हैं अतएव वे अपने सुन्दर स्तन उन्हें अर्पित करके उनके चरणकमलों की सेवा करना चाहती हैं। संसारी यौन इच्छा के शिकार भौतिकतावादी व्यक्ति कभी नहीं समझ पायेंगे कि

ये प्रेम-व्यापार किस तरह शुद्ध आध्यात्मिक स्तर पर घटित होते हैं। यही तो उनका दुर्भाग्य है।

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु ।
तेनाटवीमटसि तद्व्यथते न किं स्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; ते—तुम्हारे; सु-जात—अतीव सुन्दर; चरण-अम्बु-रुहम्—चरणकमल को; स्तनेषु—स्तनों पर; भीताः—भयभीत होने से; शनैः—धीरे धीरे; प्रिय—हे प्रिय; दधीमहि—हम रखती हैं; कर्कशेषु—कर्कश; तेन—उनसे; अटवीम्—जंगल में; अटसि—आप घूमते हैं; तत्—वे; व्यथते—दुखते हैं; न—नहीं; किम् स्वित्—हम आश्चर्य करती हैं; कूर्प-आदिभिः—छोटे कंकड़ों आदि से; भ्रमति—घूम जाता है; धीः—मन; भवत्-आयुषाम्—उन लोगों के लिए जिनके प्राण भगवान् हैं; नः—हमारा।.

हे प्रियतम, आपके चरणकमल इतने कोमल हैं कि हम उन्हें धीरे से अपने स्तनों पर डरते हुए हल्के से ऐसे रखती हैं कि आपके पैरों को चोट पहुँचेगी। हमारा जीवन केवल आप पर टिका हुआ है। अतः हमारे मन इस चिन्ता से भरे हैं कि कहीं जंगल के मार्ग में घूमते समय आपके कोमल चरणों में कंकड़ों से चोट न लग जाए।

तात्पर्य : इस श्लोक का अनुवाद श्रील प्रभुपाद द्वारा अंग्रेजी भाषा में की गई *श्रीचैतन्यचरितामृत* की टीका (आदि ४.१७३) से लिया गया है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''गोपियों के विरह गीत'' नामक इकतीसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बत्तीस

पुनः मिलाप

इस अध्याय में वर्णन हुआ है कि श्रीकृष्ण ने किस तरह अपने को गोपियों के मध्य प्रकट किया जो उनसे विछोह के कारण अत्यधिक विक्षुब्ध हो चुकी थीं। जब वे गोपियों को ढाढ़स दे चुके तो उन्होंने गहन आनन्द की अनुभूति व्यक्त की।

जब गोपियाँ कामदेव को भी आकर्षित करने वाले कृष्ण को देखने की तीव्र उत्सुकता को अनेक प्रकार से व्यक्त कर चुकीं तो वे रेशमी पीत वस्त्र पहने और सुन्दर फूलों की माला पहने उनके समक्ष प्रकट हुए। कुछ गोपियाँ उन्हें देखकर आनन्द से इतनी गद्गद हो उठीं कि उन्होंने उनका हाथ पकड़

लिया, कुछ ने अपने कन्धों पर उनका हाथ रख लिया और अन्यों ने उनका जूठा पान खा लिया। इस तरह उन्होंने उनकी सेवा की।

एक गोपी ने कृष्ण के प्रति प्रेममय क्रोध में आकर अपना होंठ काट लिया और स्तब्ध खड़ी रह कर उनको देखती रही। चूँकि गोपियाँ कृष्ण से इतनी आसक्त थीं कि निरन्तर उन्हें ताकते रहकर भी उनकी प्यास शान्त नहीं हुई। एक ने कृष्ण को अपने हृदय के भीतर रख लिया; अपनी आँखें बन्द कीं और अपने भीतर बारम्बार उनका आलिंगन करते हुए दिव्य आनन्द में खो गई मानो कोई योगी हो। इस तरह भगवान् से विलग होने के कारण गोपियों ने जो पीड़ा अनुभव की थी वह दूर हो गई।

इसके बाद कृष्ण अपनी अन्तरंगा शक्ति रूपी गोपियों के संग यमुना के तट पर गये। तब गोपियों ने अपने दुपट्टों से कृष्ण के लिए आसन बना दिया और जब वे बैठ गये तो वे प्रेमयुक्त हाव-भाव द्वारा उनसे आनन्द लेने लगीं। गोपियों को अब भी क्षोभ था कि कृष्ण अन्तर्धान हो गये थे अत: कृष्ण ने उन्हें बताया कि ऐसा उन्होंने क्यों किया। उन्होंने यह भी बताया कि वे उनकी प्रेममयी भक्ति के वशीभूत होकर ही आये हैं और सदैव उनके ऋणी रहेंगे।

श्रीशुक उवाच
इति गोप्य: प्रगायन्त्य: प्रलपन्त्यश्च चित्रधा ।
रुरुदु: सुस्वरं राजन्कृष्णदर्शनलालसा: ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार, जैसाकि ऊपर कहा गया; गोप्य:—गोपियाँ; प्रगायन्त्य:—गाती हुईं; प्रलपन्त्य:—बातें करतीं; च—तथा; चित्रधा—अनेक मनमोहक विधियों से; रुरुदु:—चिल्लाईं; सु-स्वरम्—तेजी से; राजन्—हे राजा; कृष्ण-दर्शन—कृष्ण का दर्शन करने की; लालसा:—लालसाएँ।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, इस तरह गाकर तथा अपने हृदय की बातों को विविध मोहक विधियों से प्रकट करके गोपियाँ जोर जोर से रोने लगीं। वे कृष्ण का दर्शन करने के लिए अत्यन्त लालायित थीं।

तासामाविरभूच्छौरि: स्मयमानमुखाम्बुज: ।
पीताम्बरधर: स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथ: ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तासाम्—उनके समक्ष; आविरभूत्—प्रकट हुए; शौरिः—भगवान् कृष्ण; स्मयमान—हँसते हुए; मुख—मुँह; अम्बुजः—कमल सदृश; पीत—पीला; अम्बर—वस्त्र; धरः—पहने; स्रक्-वी—फूलों की माला पहने; साक्षात्—प्रत्यक्ष; मन्-मथ—मन को मोहित करने वाले, कामदेव का; मन्—मन का; मथः—मथने या मोहने वाला।

तब भगवान् कृष्ण अपने मुखमण्डल पर हँसी धारण किये गोपियों के समक्ष प्रकट हो गये। माला तथा पीत वस्त्र पहने वे ऐसे लग रहे थे, जो सामान्य जनों के मन को मोहित करने वाले कामदेव के मन को भी मोहित कर सकते थे।

तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः ।
उत्तस्थुर्युगपत्सर्वास्तन्वः प्राणमिवागतम् ॥ ३॥

शब्दार्थ

तम्—उस; विलोक्य—देखकर; आगतम्—वापस आया; प्रेष्ठम्—अपने प्रियतम को; प्रीति—स्नेह से; उत्फुल्ल—खिली हुई; दृशः—आँखें; अबलाः—युवतियाँ; उत्तस्थुः—खड़ी हो गईं; युगपत्—तुरन्त एकसाथ; सर्वाः—सभी; तन्वः—शरीर के; प्राणम्—प्राण वायु; इव—सदृश; आगतम्—आया हुआ।

जब गोपियों ने देखा कि उनका परमप्रिय कृष्ण उनके पास लौट आया है, तो वे सहसा उठ खड़ी हुईं और स्नेह के कारण उनकी आँखें पूरी तरह खिल उठीं। ऐसा लगा मानों उनके (मृत) शरीर में प्राण वापस आ गये हों।

काचित्कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा ।
काचिद्दधार तद्बाहुमंसे चन्दनभूषितम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

काचित्—उनमें से एक; कर-अम्बुजम्—कर-कमल को; शौरेः—भगवान् कृष्ण के; जगृहे—पकड़ लिया; अञ्जलिना—अपनी हथेली में; मुदा—हर्ष के मारे; काचित्—दूसरी ने; दधार—रख लिया; तत्-बाहुम्—उनकी भुजा को; अंसे—अपने कंधे पर; चन्दन—चन्दन लेप से; भूषितम्—सजाई गई।

एक गोपी ने हर्षित होकर कृष्ण के हाथ को अपनी हथेलियों के बीच में ले लिया और दूसरी ने चन्दनलेप से विभूषित उनकी भुजा अपने कंधे पर रख ली।

काचिदञ्जलिनागृह्णात्तन्वी ताम्बूलचर्वितम् ।
एका तदङ्घ्रिकमलं सन्तप्ता स्तनयोरधात् ॥ ५॥

शब्दार्थ

काचित्—एक; अञ्जलिना—हथेलियों से; अगृह्णात्—ले लिया; तन्वी—छरहरी ने; ताम्बूल—पान का; चर्वितम्—जूठन; एका—एक ने; तत्—उसका; अङ्घ्रि—पाँव; कमलम्—कमलवत्; सन्तप्ता—तपते हुए; स्तनयोः—अपने स्तनों पर; अधात्—रख लिया।

एक छरहरी गोपी ने आदरपूर्वक अपनी हथेलियों में उनके चबाये पान का जूठन ले लिया

और (काम) इच्छा से तप्त दूसरी गोपी ने उनके चरणकमल अपने स्तनों पर रख लिए।

एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला ।
घ्नन्तीवैक्षत्कटाक्षेपैः सन्दष्टदशनच्छदा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

एका—एक अन्य गोपी ने; भ्रु-कुटिम्—अपनी भौंहों को; आबध्य—सिकोड़ कर; प्रेम—अपने शुद्ध प्रेम; संरम्भ—क्रोध से; विह्वला—आपे में न रहकर; घ्नन्ती—चोट पहुँचाती; इव—मानो; ऐक्षत्—देखा; कट—अपने कटाक्ष से; आक्षेपैः—आक्षेपों से; सन्दष्ट—काटते हुए; दशन—अपने दाँत के; छदा—आवरण (अपने होठों को)।

एक गोपी प्रेममय क्रोध से विह्वल होकर अपने होंठ काटने लगी और क्रुद्ध भौहों से उन्हें ताकने लगी मानो वह अपनी कुटिल चितवनों से उन्हें घायल कर देगी।

अपरानिमिषद्दृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखाम्बुजम् ।
आपीतमपि नातृप्यत्सन्तस्तच्चरणं यथा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

अपरा—एक अन्य गोपी; अनिमिषत्—अपलक; दृग्भ्याम्—आँखों से; जुषाणा—आस्वाद करती; तत्—उसका; मुख-अम्बुजम्—कमलमुख; आपीतम्—पूर्णतया आस्वादित; अपि—यद्यपि; न अतृप्यत्—तृप्त नहीं हुई; सन्तः—सन्त गण; तत्-चरणम्—उनके चरणों को; यथा—जिस तरह।

एक अन्य गोपी उनके कमल को अपलक नेत्रों से देखती रही किन्तु माधुरी का गहन आस्वाद कर लेने पर भी तुष्ट नहीं हुई जिस तरह सन्त पुरुष भगवान् के चरणों का ध्यान करते हुए तृप्त ही नहीं होते।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर व्याख्या करते हैं कि यहाँ पर भगवान् के चरणों का ध्यान करने वाले सन्त पुरुषों से जो उपमा दी गई है, वह केवल आंशिक रूप से लागू होती है क्योंकि कृष्ण के लौटने पर गोपियों को जो आनन्द हुआ वह वास्तव में अद्वितीय था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती यह भी प्रकट करते हैं कि यह विशेष गोपी सबों से परम भाग्यशालिनी श्रीमती राधारानी ही थी।

तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदि कृत्वा निमील्य च ।
पुलकाङ्ग्युपगुह्यास्ते योगीवानन्दसम्प्लुता ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; काचित्—उनमें से एक; नेत्र—अपनी आँखों के; रन्ध्रेण—छिद्र से; हृदि—अपने हृदय में; कृत्वा—रखकर; निमील्य—बन्द करके; च—तथा; पुलक-अङ्गी—अंग अंग में रोमांचित हुई; उपगुह्य—आलिंगन करके; आस्ते—रहती रही; योगी—योगी; इव—सदृश; आनन्द—आनन्द में; सम्प्लुता—निमग्न।

एक गोपी ने भगवान् को अपनी आँखों के छिद्र से ले जाकर उन्हें अपने हृदय में रख लिया।

तब उसने अपनी आँखें बन्द कर लीं और रोमांचित होकर वह भीतर ही भीतर उनका लगातार आलिंगन करने लगी। इस तरह दिव्य आनन्द में निमग्न वह भगवान् का ध्यान करने वाले योगी जैसी लग रही थी।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि अभी तक इस अध्याय में जिन सात गोपियों का वर्णन हुआ है वे आठ मुख्य गोपियों में से पहली सात हैं जिनका पद ऐसा था कि कृष्ण के प्रकट होते ही वे उनके पास पहुँच सकीं। आचार्य ने *श्री वैष्णव तोषणी* से एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें इन सातों गोपियों के नाम चन्द्रावली, श्यामला, शैव्या, पद्मा, श्रीराधा, ललिता और विशाखा दिये गये हैं। आठवीं भद्रा हो सकती है। *श्री वैष्णव तोषणी स्कन्द पुराण* के उस श्लोक को उद्धृत करती है, जिसमें कहा गया है कि ये आठ गोपियाँ तीन अरब गोपियों में से मुख्य थीं। श्रील रूप गोस्वामी कृत *उज्ज्वल नीलमणि* में गोपियों की वंशावली के विषय में विशद् जानकारी प्राप्त है।

पद्मपुराण पुष्टि करता है कि श्रीराधा गोपियों में अग्रणी हैं।

यथा राधाप्रिया विष्णोस्तस्या: कुण्डं प्रियं तथा।

सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभा॥

''जिस प्रकार श्रीमती राधारानी कृष्ण को सर्वाधिक प्रिय हैं उसी तरह उनका स्नान कुंड भी प्रिय है। समस्त गोपियों में वे भगवान् की सर्वाधिक प्रिय हैं।''

बृहद्-गौतमीय-तन्त्र भी श्रीमती राधारानी का नाम कृष्ण की सर्वप्रमुख प्रेयसी के रूप में लेता है।

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।

सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्ति: सम्मोहिनी परा॥

''दिव्य देवी श्रीमती राधारानी भगवान् श्रीकृष्ण की प्रत्यक्ष अर्धांगिनी हैं। वे समस्त लक्ष्मियों में प्रधान हैं। वे सर्वआकर्षक भगवान् को आकृष्ट करने के लिए समस्त आकर्षण-युक्त हैं। वे भगवान् की आदि अन्तरंगा शक्ति हैं।'' (यह अनुवाद श्रील प्रभुपाद कृत *चैतन्य-चरितामृत* आदि ४.८३ के अंग्रेजी से लिया गया है।)

श्रीराधा विषयक अतिरिक्त जानकारी *ऋग् परिशिष्ट* (ऋगवेद का परिशिष्ट) में मिलती है—*राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका। विभ्राजन्ते जनेषु*—समस्त व्यक्तियों में श्रीराधा ही ऐसी हैं जिनके संग

में भगवान् माधव विशेष रूप से महिमामय हैं जिस तरह कि स्वयं राधा उनकी उपस्थिति में यशस्विनी हैं।

सर्वास्ताः केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः ।
जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सर्वाः—सभी; ताः—उन गोपियों ने; केशव—भगवान् कृष्ण के; आलोक—दिखाई पड़ने से; परम—परम; उत्सव—उल्लास या उत्सव का; निर्वृताः—हर्ष का अनुभव करतीं;; जहुः—त्याग दिया; विरह-जम्—उनके विरह से उत्पन्न; तापम्—कष्ट को; प्राज्ञम्—आध्यात्मिक रूप से प्रबुद्ध व्यक्ति को; प्राप्य—पाकर; यथा—जिस तरह; जनाः—सामान्य लोग।.

सभी गोपियों ने जब अपने प्रिय केशव को फिर से देखा तो उन्हें परम उल्लास का अनुभव हुआ। उन्होंने विरह-दु:ख को त्याग दिया जिस तरह कि सामान्य लोग आध्यात्मिक रूप से प्रबुद्ध व्यक्ति की संगति पाकर अपने दुख भूल जाते हैं।

ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः ।
व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा ॥ १० ॥

शब्दार्थ

ताभिः—इन गोपियों द्वारा; विधूत—पूर्णतया धुली; शोकाभिः—अपने शोक से; भगवान्—भगवान्; अच्युतः—अच्युत; वृतः—घिरी हुई; व्यरोचत—उज्वल दिखीं; अधिकम्—अत्यधिक; तात—हे प्रिय (राजा परीक्षित); पुरुषः—परमात्मा; शक्तिभिः—अपनी दिव्य शक्तियों से; यथा—जिस तरह।.

समस्त शोक से मुक्त हुई गोपियों से घिरे हुए पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अच्युत भव्यता के साथ चमक रहे थे। हे राजन्, कृष्ण ऐसे लग रहे थे जिस तरह अपनी आध्यात्मिक शक्तियों से घिरे हुए परमात्मा हों।

तात्पर्य : गोपियाँ भगवान् कृष्ण की अन्तरंगा शक्तियाँ हैं अतः जब वे शोक से मुक्त होकर फिर से प्रसन्न हो गईं तो भगवान् भी पहले की अपेक्षा और अधिक कान्तिमान लगने लगे और उनका दिव्य आनन्द बढ़ गया। कृष्ण गोपियों से दिव्य प्रेम करते हैं और गोपियाँ भी उन्हें उसी तरह से चाहती हैं। जो लोग इस भौतिक संसार में बँधे हुए हैं उन्हें आध्यात्मिक स्तर पर सम्पन्न होने वाला यह व्यापार समझ में नहीं आता।

ताः समादाय कालिन्द्या निर्विश्य पुलिनं विभुः ।
विकसत्कुन्दमन्दार सुरभ्यनिलषट्पदम् ॥ ११ ॥

**शरच्चन्द्रांशुसन्दोहध्वस्तदोषातमः शिवम् ।
कृष्णाया हस्ततरला चितकोमलवालुकम् ॥ १२ ॥**

शब्दार्थ

ताः—उन गोपियों को; समादाय—लेकर; कालिन्द्याः—यमुना के; निर्विश्य—प्रवेश करके; पुलिनम्—तट पर; विभुः—सर्वशक्तिमान भगवान्; विकसत्—खिले हुए; कुन्द-मन्दार—कुन्द तथा मन्दार के फूलों की; सुरभि—सुगन्धित; अनिल—मन्द वायु से; सत्-पदम्—भौंरों से; शरत्—शरदकालीन; चन्द्र—चन्द्रमा की; अंशु—किरणों की; सन्दोह—प्रचुरता से; ध्वस्त—दूर हुआ; दोषा—रात्रि का; तमः—अँधेरा; शिवम्—शुभ; कृष्णायाः—यमुना नदी का; हस्त—हाथों की तरह; तरल—अपनी लहरों से; आचित—एकत्रित; कोमल—मुलायम; वालुकम्—बालू, रेत।

तत्पश्चात् सर्वशक्तिमान भगवान् गोपियों को अपने साथ कालिन्दी के तट पर ले गये जिसने अपने तट पर अपनी लहरों रूपी हाथों से कोमल बालू के ढेर बिखेर दिये थे। उस शुभ स्थान में कुन्द तथा मन्दार फूलों के खिलने से बिखरी सुगन्धि को लेकर मन्द मन्द वायु अनेक भौंरों को आकृष्ट कर रही थी और शरदकालीन चन्द्रमा की प्रभूत किरणें रात्रि के अंधकार को दूर कर रही थीं।

**तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो
मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः ।
स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितै-
रचीक्लिपन्नासनमात्मबन्धवे ॥ १३ ॥**

शब्दार्थ

तत्—उस कृष्ण को; दर्शन—देखने से; आह्लाद—आनन्द से; विधूत—बहकर, ले जाई गई; हृत्—अपने हृदयों में; रुजः—पीड़ा; मनः-रथ—अपनी इच्छाओं की; अन्तम्—पूर्ति; श्रुतयः—श्रुतियाँ, शास्त्र; यथा—जिस तरह; ययुः—प्राप्त किया; स्वैः—अपनी; उत्तरीयैः—ओढ़नी से; कुच—स्तनों के; कुङ्कुम—सिन्दूर से; अङ्कितैः—लेप की हुई; अचीक्लिपन्—बना दिया; आसनम्—आसन; आत्म—अपनी आत्मा के; बन्धवे—मित्र के लिए।

अपने समक्ष साक्षात् वेद रूप कृष्ण के दर्शन के आनन्द से गोपियों की हृदय-वेदना शमित हो गई और उन्हें लगा कि उनकी सारी इच्छाएँ पूरी हो गईं। उन्होंने अपने प्रिय मित्र कृष्ण के लिए अपनी ओढ़नियों से, जो कि उनके स्तनों में लगे कुंकुम से सनी थीं, आसन बना दिया।

तात्पर्य : इसी स्कन्ध (अध्याय ८७, श्लोक २३) में श्रुतियों ने या कि साक्षात् वेदों ने निम्नवत् प्रार्थना की है—

स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो।

वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ॥

"इन स्त्रियों ने अपने मन को विशाल सर्परूपी भगवान् कृष्ण की बलिष्ठ भुजाओं के ध्यान में लीन

कर दिया। हम उन्हीं गोपियों सा बनकर उनके चरणकमलों की सेवा करना चाहते हैं।'' श्रुतियों ने ब्रह्मा के पिछले दिन कृष्ण को प्रकट होते देख लिया था और उनके मन में उनकी संगति करने की उत्कट इच्छा हो रही थी। तत्पश्चात् वे इस कल्प में गोपियाँ बनीं। चूँकि मानव समाज में वेद शाश्वत हैं अतः इस कल्प में श्रुतियाँ भी कृष्ण के लिए इच्छुक होती हैं और अगले कल्प में वे भी गोपियाँ बनेंगी। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ऐसी जानकारी देते हैं।

तत्रोपविष्टो भगवान्स ईश्वरो
योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः ।
चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चित-
स्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत् ॥ १४॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; उपविष्टः—आसीन; भगवान्—भगवान्; सः—वह; ईश्वरः—परम नियन्ता; योग-ईश्वर—यौगिक ध्यान के स्वामियों के; अन्तः—भीतर; हृदि—हृदयों में; कल्पित—बना लिया; आसनः—अपना स्थान; चकास—चमत्कृत लगने लगे; गोपी-परिषत्—गोपियों की सभा में; गतः—उपस्थित; अर्चितः—पूजित; त्रै-लोक्य—तीनों लोकों के; लक्ष्मी—सौन्दर्य तथा अन्य ऐश्वर्यों के; एक—एकमात्र; पदम्—आगार; वपुः—साकार स्वरूप; दधत्—प्रदर्शित करते हुए।

जिन भगवान् कृष्ण के लिए बड़े बड़े योगेश्वर अपने हृदयों में आसन की व्यवस्था करते हैं वही कृष्ण गोपियों की सभा में आसन पर बैठ गये। उनका दिव्य शरीर, जो तीनों लोकों में सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य का एकमात्र धाम है, गोपियों द्वारा कृष्ण की पूजा करने पर जगमगा उठा।

तात्पर्य : योगेश्वरों में शिव, अनन्त शेष तथा अन्य महापुरुष सम्मिलित हैं। ये सभी भगवान् को अपने हृदयकमलों पर विराजमान करते हैं। वही भगवान्, गोपियों के उत्कट निस्वार्थ प्रेम के वशीभूत होकर यमुना के तट पर उनकी सुगन्धित ओढ़नियों पर बैठने के बाद उनका प्रेमी बनने तथा उनके साथ वृन्दावन में नृत्य करने के लिए राजी हो गये।

सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं
सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा ।
संस्पर्शनेनाङ्ककृताङ्घ्रिहस्तयोः
संस्तुत्य ईषत्कुपिता बभाषिरे ॥ १५॥

शब्दार्थ

सभाजयित्वा—सम्मानित करके; तम्—उसको; अनङ्ग—कामेच्छाओं के; दीपनम्—उद्दीप्त करने वाला; स-हास—हँसते हुए; लीला—क्रीड़ापूर्ण; ईक्षण—चितवन से; विभ्रम—खिलवाड़ करते; भ्रुवा—अपनी भौंहें से; संस्पर्शनेन—स्पर्श से; अङ्क—

अपनी गोदों में; कृत—रख कर; अङ्घ्रि—उनके पाँवों; हस्तयोः—तथा हाथों को; संस्तुत्य—प्रशंसा करके; ईषत्—कुछ कुछ; कुपिताः—क्रुद्ध; बभाषिरे—बोलीं।

श्रीकृष्ण ने गोपियों के भीतर कामवासना जागृत कर दी थी और वे अपनी क्रीड़ापूर्ण हँसी से उनको निहारतीं, अपनी भौंहों से प्रेममय इशारे करतीं तथा अपनी अपनी गोदों में उनके हाथ तथा पाँव रखकर उन्हें मलती हुईं उनका सम्मान करने लगीं। किन्तु उनकी पूजा करते हुए भी वे कुछ कुछ रुष्ट थीं अतएव वे उनसे इस प्रकार बोलीं।

श्रीगोप्य ऊचुः

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम् ।
नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-गोप्यः ऊचुः—गोपियों ने कहा; भजतः—अपना सम्मान करने वालों से; अनु—परस्पर; भजन्ति—आदर करते हैं; एके—कुछ; एके—कुछ; एतत्—इसके; विपर्ययम्—विपरीत; न उभयान्—दोनों से नहीं; च—तथा; भजन्ति—परस्पर प्रशंसा करते हैं; एके—कुछ; एतत्—यह; नः—हमसे; ब्रूहि—बोलिये; साधु—ढंग से; भोः—अरे।

गोपियों ने कहा : कुछ लोग केवल उन्हीं से स्नेह जताते हैं, जो उनके प्रति स्नेहिल होते हैं जबकि अन्य लोग उनके प्रति भी स्नेह दिखाते हैं, जो शत्रुवत् या उदासीन होते हैं। फिर भी कुछ लोग किसी से भी स्नेह नहीं जताते। हे कृष्ण, हमसे इस विषय की समुचित व्याख्या करें।

तात्पर्य : विनम्र दिखने वाले इस प्रश्न द्वारा गोपियाँ भगवान् कृष्ण द्वारा उनके प्रेम का समुचित प्रतिदान न करने की बात प्रकट कर देना चाहती थीं। जब कृष्ण ने उन्हें जंगल में छोड़ दिया था, तो वे अत्यधिक विचलित थीं। वे यह जानना चाह रही हैं कि इन प्रेम-व्यापारों में उन्होंने गोपियों को क्यों कष्ट उठाने दिया।

श्रीभगवानुवाच

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते ।
न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; मिथः—परस्पर; भजन्ति—प्रेम करते हैं; ये—जो; सख्यः—मित्रगण; स्व-अर्थ—अपने लिए; एक-अन्त—नितान्त; उद्यमाः—जिनका प्रयत्न; हि—निस्सन्देह; ते—वे; न—नहीं; तत्र—वहाँ पर; सौहृदम्—सच्ची मित्रता; धर्मः—असली धार्मिकता; स्व-अर्थ—अपने लाभ; अर्थम्—के लिए; तत्—वह; हि—निस्सन्देह; न—नहीं; अन्यथा—अन्यथा।

भगवान् ने कहा : तथाकथित मित्र जो अपने लाभ के लिए एक दूसरे से स्नेह जताते हैं, वे वास्तव में स्वार्थी हैं। न तो उनकी मित्रता सच्ची होती है न ही वे धर्म के असली सिद्धान्तों का

पालन करते हैं। यदि वे एक दूसरे से लाभ की आशा न करें तो वे प्रेम नहीं कर सकते।

तात्पर्य : भगवान् गोपियों को आगाह करते हैं कि शुद्ध प्रेमपूर्ण मित्रता में कोई स्वार्थ-भावना नहीं होती। प्रत्युत मित्र के प्रति केवल प्रेम होता है।

भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरौ यथा ।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

भजन्ति—निष्ठापूर्वक सेवा करते हैं; अभजतः—न सेवा करने वालों के साथ; ये—जो; वै—निस्सन्देह; करुणाः—दयालु; पितरौ—माता पिता; यथा—जिस तरह; धर्मः—धार्मिक कर्तव्य; निरपवादः—त्रुटिरहित; अत्र—इसमें; सौहृदम्—मित्रता; च—तथा; सु-मध्यमाः—हे पतली कमर वालियो।

हे पतली कमर वाली गोपियों, कुछ लोग सचमुच दयालु होते हैं या माता-पिता की भाँति स्वाभाविक रूप से स्नेहिल होते हैं। ऐसे लोग उन लोगों की भी निष्ठापूर्वक सेवा करते हैं, जो बदले में उनसे प्रेम करने से चूक जाते हैं। वे ही धर्म के असली त्रुटिविहीन मार्ग का अनुसरण करते हैं और वे ही असली शुभचिन्तक हैं।

भजतोऽपि न वै केचिद्भजन्त्यभजतः कुतः ।
आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

भजतः—अनुकूल कार्य करने वालों के साथ; अपि—भी; न—नहीं; वै—निश्चय ही; केचित्—कुछ; भजन्ति—प्रेम करते हैं; अभजतः—अनुकूल कार्य न करने वालों के साथ; कुतः—क्या कहा जाय; आत्म-आरामाः—आत्म-तुष्ट; हि—निस्सन्देह; आप्त-कामाः—जिनकी भौतिक इच्छाएँ पूर्ण हो चुकी हैं; अकृत-ज्ञाः—कृतघ्न; गुरु-द्रुहः—गुरुजनों के शत्रु।

फिर कुछ व्यक्ति ऐसे हैं, जो आध्यात्मिक रूप से आत्म तुष्ट हैं, भौतिक दृष्टि से परिपूर्ण हैं या स्वभाव से कृतघ्न हैं या सहज रूप से श्रेष्ठजनों से ईर्ष्या करने वाले हैं। ऐसे लोग उनसे भी प्रेम नहीं करते जो उनसे प्रेम करते हैं, तो फिर जो शत्रुवत् हैं उनका क्या कहना?

तात्पर्य : कुछ लोग आत्माराम होने के कारण अन्यों के स्नेह का प्रतिदान नहीं करते क्योंकि वे संसारी बर्ताव के बन्धन से बचना चाहते हैं। कुछ लोग ईर्ष्या या अक्खड़पन के कारण प्रेम नहीं करते। और कुछ लोग तो मात्र इसलिए प्रेम नहीं करते हैं क्योंकि वे भौतिक दृष्टि से संतुष्ट होते हैं अतएव उनके नवीन भौतिक अवसरों में अरुचिकर लगते हैं। भगवान् कृष्ण धैर्यपूर्वक ये बातें गोपियों को बता रहे हैं।

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥ २० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; तु—दूसरी ओर; सख्यः—हे मित्रो; भजतः—पूजा करते हुए; अपि—भी; जन्तून्—जीवों से; भजामि—आदान-प्रदान करता हूँ; अमीषाम्—उनकी; अनुवृत्ति—लालसा (शुद्ध प्रेम के लिए); वृत्तये—प्रेरित करने के लिए; यथा—जिस तरह; अधनः—निर्धन व्यक्ति; लब्ध—प्राप्त करके; धने—सम्पत्ति; विनष्टे—तथा नष्ट होने पर; तत्—उसका; चिन्तया—उत्सुक विचार से; अन्यत्—अन्य कोई वस्तु; निभृतः—पूरित; न वेद—नहीं जानता।

किन्तु हे गोपियो, मैं उन जीवों के प्रति भी तत्क्षण स्नेह प्रदर्शित नहीं कर पाता जो मेरी पूजा करते हैं। इसका कारण यह है कि मैं उनकी प्रेमाभक्ति को प्रगाढ़ करना चाहता हूँ। इससे वे ऐसे निर्धन व्यक्ति के सदृश बन जाते हैं जिसने पहले कुछ सम्पत्ति प्राप्त की थी किन्तु बाद में उसे खो दिया है। इस तरह उसके बारे में वह इतना चिन्तित हो जाता है कि और कुछ सोच ही नहीं पाता।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्* लोग जिस तरह मेरे पास पहुँचते हैं मैं तदनुरूप उनसे प्रेम करता हूँ। फिर भी यदि कोई व्यक्ति भक्तिपूर्वक भगवान् के पास जाता है, तो हो सकता है कि भक्त के प्रेम को तीव्र बनाने के लिए भगवान् तुरन्त उसको प्रेम का पूरी तरह आदान-प्रदान न करें। वस्तुत: भगवान् सचमुच प्रतिदान करते हैं। एक निष्ठावान भक्त सदैव भगवान् से प्रार्थना करता है "कृपया मेरी सहायता करें जिससे मैं शुद्धभाव से आपसे प्रेम कर सकूँ।" इसलिए कृष्ण द्वारा उपेक्षा वास्तव में भक्त की प्रार्थना की पूर्ति होती है। कृष्ण अपने को हमसे विलग करते प्रतीत होते हुए, अपने प्रति हमारे प्रेम को तीव्र बनाते हैं। इसका फल यह होता है कि हम जो चाहते हैं और जिसके लिए प्रार्थना करते हैं उसे अर्थात् परम सत्य कृष्ण के अगाध प्रेम को प्राप्त करते हैं। इस तरह कृष्ण द्वारा की गई प्रतीत होने वाली उपेक्षा वास्तव में उनका विचारपूर्ण प्रतिदान है और हमारी गहनतम तथा शुद्धतम इच्छा की पूर्ति है।

आचार्यों के अनुसार, जब कृष्ण गोपियों से यह श्लोक कहने लगे तो वे एक दूसरे को तिरछी निगाहों से देखने लगीं और अपने मुखों पर आने वाली हँसी को छिपाने का प्रयास करने लगीं। अभी कृष्ण बोल ही रहे थे कि गोपियों को अनुभव होने लगा कि वे उन्हें प्रेमाभक्ति की सर्वोच्च सिद्धि प्रदान कर रहे हैं।

एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-
स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः ।
मयापरोक्षं भजता तिरोहितं
मासूयितुं मार्हथ तत्प्रियं प्रियाः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; मत्—मेरे; अर्थ—हेतु; उज्झित—त्यागकर; लोक—सांसारिक मत; वेद—वेदों का मत; स्वानाम्—तथा सम्बन्धियों को; हि—निस्सन्देह; वः—तुम्हारा; मयि—मेरे लिए; अनुवृत्तये—प्रेमाधिक्य के लिए; अबलाः—हे बालाओ; मया—मेरे द्वारा; अपरोक्षम्—तुम्हारी दृष्टि से ओझल; भजता—वास्तव में प्रेम करने वाला; तिरोहितम्—अन्तर्धान; मा—मेरे साथ; असूयितुम्—शत्रुता होने से; म अर्हथ—नहीं चाहिए; तत्—अतः; प्रियम्—अपने प्रियतम के साथ; प्रियाः—हे प्रियाओ।

हे बालाओ, यह जानते हुए कि तुम सबों ने मेरे ही लिए लोकमत, वेदमत तथा अपने सम्बन्धियों के अधिकार को त्याग दिया है मैंने जो किया वह अपने प्रति तुम लोगों की आसक्ति को बढ़ाने के लिए ही किया है। तुम लोगों की दृष्टि से सहसा अपने को ओझल बनाकर भी मैं तुम लोगों से प्रेम करना रोक नहीं पाया। अतः प्रिय गोपियो, तुम अपने प्रेमी अर्थात् मेरे प्रति दुर्भावनाओं को स्थान न दो।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् इंगित करते हैं कि यद्यपि गोपियाँ उनके प्रति अपने प्रेम में पहले से पूर्ण थीं फिर भी उनकी पूर्णता को अकल्पनीय रूप से बढ़ाने और संसार के समक्ष दृष्टान्त प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने वैसा किया।

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माभजन्दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; पारये—बना पाने में समर्थ; अहम्—मैं; निरवद्य-संयुजाम्—छल से पूर्णतया मुक्त होने वालों के प्रति; स्व-साधु-कृत्यम्—उचित हर्जाना; विबुध-आयुषा—देवताओं के बराबर आयु में; अपि—यद्यपि; वः—तुमको; याः—जो; मा—मुझको; अभजन्—पूजा कर चुके हैं; दुर्जर—जीत पाना कठिन; गेह-शृङ्खलाः—गृहस्थ जीवन की बेड़ी; संवृश्च्य—काट कर; तत्—वह; वः—तुमको; प्रतियातु—लौटाया जाय; साधुना—शुभ कर्म द्वारा।

मैं आपलोगों की निस्पृह सेवा के ऋण को ब्रह्मा के जीवनकाल की अवधि में भी चुका नहीं पाऊँगा। मेरे साथ तुमलोगों का सम्बन्ध कलंक से परे है। तुमने उन समस्त गृह-बन्धनों को तोड़ते हुए मेरी पूजा की है जिन्हें तोड़ पाना कठिन होता है। अतएव तुम्हारे अपने यशस्वी कार्य ही इसकी क्षतिपूर्ति कर सकते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक के भावार्थ तथा शब्दार्थ *श्रीचैतन्य चरितामृत* (आदि ४.१८०) में श्रील प्रभुपाद की अंग्रेजी टीका से लिये गये हैं।

निष्कर्ष यह है कि गोपियाँ भगवान् की क्षणिक अनुपस्थिति में अपने आचरण द्वारा धन्य हो गईं। उनके तथा भगवान् के मध्य पारस्परिक प्रेम में आशातीत वृद्धि हो गई। यह सिद्धि कृष्ण तथा उनके प्रिय भक्तों की है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत 'पुनः मिलाप' नामक बत्तीसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तैंतीस

रास नृत्य

इस अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण के उस रासनृत्य का वर्णन है, जिसे उन्होंने यमुना नदी के तटपर जंगल में अपनी प्रिय सखियों के साथ रचाया।

भगवान् श्रीकृष्ण दिव्य रसों के ज्ञान में सर्वाधिक प्रवीण हैं। गोपियाँ, जो कि उनसे स्नेह की रज्जु से बँधी थीं और उनकी सेवा में पूर्णतया समर्पित थीं, उन्हीं के साथ भगवान् ने अनेक रूपों में अपना विस्तार किया। रासनृत्य का आनन्द लेने के उत्साह में गोपियाँ मदोन्मत्त हो उठीं और गीत, नृत्य तथा प्रेमपूर्ण इशारों के द्वारा कृष्ण की इन्द्रियों को तुष्ट करने लगीं। उनकी मधुर वाणी से सारी दिशाएँ भर गईं।

भगवान् कृष्ण द्वारा अनेक रूप धारण करने पर भी प्रत्येक गोपी यही सोच रही थी कि कृष्ण अकेले उसकी ही बगल में खड़े हैं। गोपियाँ निरन्तर गाती और नाचती हुई धीरे धीरे थकने लगीं और हरएक ने अपने पास खड़े कृष्ण के कंधे पर अपनी बाँह रख दी। कुछ गोपियों ने कृष्ण की बाँह को सूँघा और चूमा जिसमें से कमल की सुगन्ध आ रही थी और वह चन्दन से लेपित थी। अन्यों ने कृष्ण का हाथ अपने शरीर के ऊपर रखा और किन्हीं किन्हीं ने तो प्रेमपूर्वक उनका आलिंगन करते हुए उन्हें आनन्द प्रदान किया।

परम पूर्ण सत्य होने के कारण भगवान् कृष्ण ही वास्तविक भोक्ता तथा भोग्य साधन हैं। यद्यपि वे

अद्वितीय हैं किन्तु अपनी साकार लीलाओं को बढ़ाने के लिए वे स्वयं का अनेक रूपों में विस्तार करते हैं। इसीलिए बड़े बड़े पंडितों का कहना है कि कृष्ण की रासलीला बच्चों द्वारा अपनी ही परछाईं के साथ खिलवाड़ जैसा है। श्रीकृष्ण आत्मतुष्ट हैं और अचिन्त्य दिव्य ऐश्वर्यों से पूरी तरह से युक्त हैं। जब वे *रासलीला* जैसी लीला का प्रदर्शन करते हैं, तो ब्रह्मा से लेकर एक दूब के तिनके तक सारे जीव विस्मय के सागर में मग्न हो जाते हैं।

जब महाराज परीक्षित ने गोपियों के साथ कृष्ण की माधुर्य लीलाओं की कथा सुनी, जो ऊपर तौर से कामी भ्रष्ट पुरुषों के कार्यों जैसी लगने वाली थी, तो उन्होंने महान् भक्त श्रील शुकदेव गोस्वामी से अपना सन्देह व्यक्त किया। शुकदेव ने उनका सन्देह यह कह कर दूर किया कि "चूंकि श्रीकृष्ण परम भोक्ता हैं, इस तरह की लीलाएँ कभी भी किसी दोष से कलुषित नहीं हो सकतीं। और यदि भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति ऐसी लीलाओं का आनन्द लेना चाहेगा तो उसे वैसा ही भोग भोगना पड़ेगा जैसाकि भगवान् रुद्र के अतिरिक्त विष के सागर को पीने का प्रयास करने वाले अन्य किसी व्यक्ति को भोगना पड़ता है। यहाँ तक कि यदि कोई कृष्ण की रासलीला का अनुकरण करने का भी विचार मन में लाता है, तो उसे निश्चय ही दुर्भाग्य का सामना करना होगा।"

परम पूर्ण सत्य, श्रीकृष्ण प्रत्येक जीव के हृदय में अन्तर्यामी साक्षी के रूप में निवास करते हैं। जब कृपा करके वे अपने भक्तों को अपनी घनिष्ठ लीलाएँ प्रदर्शित करते हैं, तो ये लीलाएँ कभी भी संसारी अपूर्णता से मलिन नहीं होतीं। जो भी व्यक्ति कृष्ण के लिए गोपियों द्वारा अनुभूत प्रेमाकर्षण के विषय में सुनता है उसकी भौतिक इन्द्रियतृप्ति की इच्छाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं और उसमें भगवान्, आध्यात्मिक गुरु तथा भगवद्भक्तों की सेवा करने की सहज रुचि का विकास होता है।

श्रीशुक उवाच

इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः ।
जहुर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इत्थम्—इस प्रकार; भगवतः—भगवान् के; गोप्यः—गोपियाँ; श्रुत्वा—सुनकर; वाचः—शब्द; सु-पेशलाः—अत्यन्त मनोहारी; जहुः—त्याग दिया; विरह-जम्—विछोह भावों से उत्पन्न; तापम्—क्लेश; तत्—उसके; अङ्ग—अंगों के (स्पर्श) से; उपचित—पूर्ण हो गयी; आशिषः—इच्छाएँ।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब गोपियों ने भगवान् को अत्यन्त मनोहारी इन शब्दों में कहते

सुना तो वे उनके विछोह से उत्पन्न अपना दुख भूल गईं। उनके दिव्य अंगों का स्पर्श पाकर उन्हें लगा कि उनकी सारी इच्छाएँ पूर्ण हो गईं।

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः ।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; आरभत—प्रारम्भ किया; गोविन्दः—भगवान् कृष्ण ने; रास-क्रीडाम्—रास नृत्य की लीला; अनुव्रतैः—श्रद्धायुक्त (गोपियों); स्त्री—स्त्रियों के; रत्नैः—रत्नों के साथ; अन्वितः—जुड़ी हुई; प्रीतैः—सन्तुष्ट; अन्योन्य—एक दूसरे से; आबद्ध—बाँध कर; बाहुभिः—अपनी बाँहों से।

तत्पश्चात् भगवान् गोविन्द ने वहीं यमुना के तट पर उन स्त्री-रत्न श्रद्धालु गोपियों के संग में रासनृत्य लीला प्रारंभ की जिन्होंने प्रसन्नता के मारे अपनी बाँहों को एक दूसरे के साथ श्रृंखलाबद्ध कर दिया।

रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः ।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ॥
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः ।
यं मन्येरन्नभस्तावद्विमानशतसङ्कुलम् ।
दिवौकसां सदाराणामौत्सुक्यापहृतात्मनाम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

रास—रासनृत्य का; उत्सवः—उत्सव; सम्प्रवृत्तः—प्रारम्भ हुआ; गोपी-मण्डल—गोपियों के घेरे से; मण्डितः—सज्जित; योग—योगशक्ति के; ईश्वरेण—परम नियन्ता; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; तासाम्—उनके; मध्ये—बीच में; द्वयोः द्वयोः—प्रत्येक जोड़े के बीच; प्रविष्टेन—उपस्थित; गृहीटानाम्—पकड़े हुए; कण्ठे—गर्दन से; स्व-निकटम्—अपने पास; स्त्रियः—स्त्रियाँ; यम्—जिसको; मन्येरन्—माना; नभः—आकाश में; तावत्—उसी समय; विमान—वायुयानों की; शत—सैकड़ों; सङ्कुलम्—भीड़ लग गई; दिव—स्वर्गलोकों के; ओकसाम्—निवासियों के; स—सहित; दाराणाम्—अपनी अपनी पत्नियों के; औत्सुक्य—उत्सुकतापूर्वक; अपहृत—ले जाये गये; आत्मनाम्—उनके मन।

तब उल्लासपूर्ण रासनृत्य प्रारम्भ हुआ जिसमें गोपियाँ एक गोलाकार घेरे में सध गईं। भगवान् कृष्ण ने अपना विस्तार किया और गोपियों के प्रत्येक जोड़े के बीच-बीच प्रविष्ट हो गये। ज्योंही योगेश्वर ने अपनी भुजाओं को उनके गलों के चारों ओर रखा तो प्रत्येक युवती ने सोचा कि वे केवल उसके ही पास खड़े हैं। इस रासनृत्य को देखने के लिए देवता तथा उनकी पत्नियाँ उत्सुकता से गद्गद हुये जा रहे थे। शीघ्र ही आकाश में उनके सैकड़ों विमानों की भीड़ लग गई।

तात्पर्य : श्रील बिल्वमंगल ठाकुर ने रासनृत्य पर निम्नलिखित श्लोक लिखा है—

अङ्गनामङ्गनामन्तरा माधवो

माधवं माधवं चान्तरेणांगना: ।

इत्थमाकल्पिते मण्डले मध्यग:

सञ्जगौ वेणुना देवकीनन्दन: ॥

"भगवान् माधव गोपियों की हर जोड़ी के बीच स्थित थे और उनके स्वरूपों के प्रत्येक जोड़े के बीच एक गोपी स्थित थी। देवकीपुत्र श्रीकृष्ण भी अपनी वंशी बजाते तथा गीत गाते गोलाकार के बीच में प्रकट हुए।"

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इंगित करते हैं कि प्रेम में उन्मत्त होने के कारण गोपियाँ समझ नहीं पाईं कि श्रीकृष्ण ने अपना विस्तार कर लिया है और वे स्वयं उनमें से हरएक के साथ नृत्य कर रहे हैं। हर गोपी को कृष्ण का एक रूप दिखा। किन्तु देवतागण अपनी पत्नियों समेत अपने विमानों से रासनृत्य देखते हुए उनके विविध रूपों को देख सकते थे इसलिए वे अत्यधिक चकित थे।

ततो दुन्दुभयो नेदुर्निपेतुः पुष्पवृष्टयः ।
जगुर्गन्धर्वपतयः सस्त्रीकास्तद्यशोऽमलम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

ततः—तब; दुन्दुभयः—दुन्दुभियाँ; नेदुः—बजने लगीं; निपेतुः—नीचे गिरी; पुष्प—फूल की; वृष्टयः—वर्षा; जगुः—गाया; गन्धर्व-पतयः—मुख्य गन्धर्वों ने; स-स्त्रीकाः—अपनी पत्नियों समेत; तत्—उस भगवान् कृष्ण की; यशः—महिमा; अमलम्—निष्कलंक, निर्मल।

तब आकाश में दुन्दुभियाँ बज उठीं और फूलों की वर्षा होने लगी। मुख्य गन्धर्वों ने अपनी पत्नियों के साथ भगवान् कृष्ण के निर्मल यश का गायन किया।

तात्पर्य : जैसाकि यहाँ कहा गया है, रासनृत्य के समय भगवान् कृष्ण का यश शुद्ध आध्यात्मिक आनन्द है। स्वर्ग के देवताओं ने जो ब्रह्माण्ड में स्वामित्व बनाए रखने के लिए उत्तरदायी हैं, रासनृत्य को प्रसन्नतापूर्वक परम धार्मिक नृत्य माना जो भौतिक संसार में प्रेम-क्रीड़ा के विकृत परावर्तित रूप से सर्वथा भिन्न था।

वलयानां नूपुराणां किङ्किणीनां च योषिताम् ।
सप्रियाणामभूच्छब्दस्तुमुलो रासमण्डले ॥ ५॥

शब्दार्थ

वलयानाम्—कंगनों के; नूपुराणाम्—पायलों के; किङ्किणीनाम्—करधनियों के घुंघरुओं से; च—तथा; योषिताम्—स्त्रियों के; स-प्रियाणाम्—अपने प्रियतम के साथ; अभूत्—हुई; शब्द:—ध्वनि; तुमुल:—जोर की; रास-मण्डले—रासनृत्य के घेरे में।

जब गोपियाँ रासनृत्य के मण्डल में अपने प्रियतम कृष्ण के साथ नृत्य करने लगीं तो उनके कंगनों, पायलों तथा करधनी के घुंघरुओं से तुमुल ध्वनि उठती थी।

तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान्देवकीसुत: ।
मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अतिशुशुभे—अत्यन्त शोभायमान लगे; ताभि:—उनके साथ; भगवान्—भगवान्; देवकी-सुत:—देवकीपुत्र, कृष्ण; मध्ये—बीच में; मणीनाम्—आभूषणों के; हैमानाम्—सोने के; महा—महान; मरकत:—मरकत; यथा—जिस तरह।

नृत्य करती गोपियों के बीच भगवान् कृष्ण अत्यन्त शोभायमान प्रतीत हो रहे थे जिस तरह सोने के आभूषणों के बीच मरकत मणि शोभा पाता है।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते हैं कि देवकी नाम, वसुदेव की पत्नी के अलावा, माता यशोदा का भी नाम है, जैसाकि *आदि पुराण* में कहा गया है—*द्वे नाम्नी नन्दभार्याया यशोदा देवकीति च*—नन्द की पत्नी के दो नाम हैं—यशोदा तथा देवकी।

पादन्यासैर्भुजविधुतिभि: सस्मितैर्भ्रूविलासै-
र्भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटै: कुण्डलैर्गण्डलोलै: ।
स्विद्यन्मुख्य: कवररसनाग्रन्थय: कृष्णवध्वो
गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजु: ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

पाद—पाँवों के; न्यासै:—पड़ने से; भुज—हाथों के; विधुतिभि:—इशारों से; स-स्मितै:—हँसते हुए; भ्रू—भौंहों की; विलासै:—क्रीड़ापूर्ण गतियों से; भज्यन्—झुकते लचकते हुए; मध्यै:—बीच से; चल—चलायमान; कुच—स्तनों को ढकने वाले; पटै:—वस्त्रों से; कुण्डलै:—कान की बालियों से; गण्ड—गालों पर; लोलै:—हिलते डुलते; स्विद्यन्—पसीना आता हुआ; मुख्य:—मुखोंवाली; कवर—जूड़ा; रसना—तथा करधनी; आग्रन्थय:—मजबूती से बँधी; कृष्ण-वध्व:—भगवान् कृष्ण की बधुएँ; गायन्त्य:—गाती हुई; तम्—उसके विषय में; तडित:—बिजली; इव—सदृश; ता:—वे; मेघ-चक्रे—बादलों की श्रेणी में; विरेजु:—चमकने लगीं।

जब गोपियों ने कृष्ण की प्रशंसा में गीत गाया, तो उनके पाँवों ने नृत्य किया, उनके हाथों ने इशारे किये और उनकी भौंहें हँसी से युक्त होकर मटकने लगीं। जिनकी वेणियाँ तथा कमर की पेटियाँ मजबूत बँधी हुई थीं, जिनकी कमरें लचकती हुई थी, जिनके मुखों पर पसीने की बूँदे झलकती थीं, जिनके स्तनों को ढके हुए वस्त्र इधर उधर हिलते थे तथा जिनके कानों की

बालियाँ गालों पर हिल-डुल रही थीं, कृष्ण की ऐसी तरुणी प्रियाएँ बादल के समूह में बिजली की कौंध की तरह चमक रही थीं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी व्याख्या करते हैं कि बादलों में बिजली चमकने के दृष्टान्त के अनुसार गोपियों के सुन्दर मुखड़ों पर पसीने की बूँदे कुहरे की बूँदों के अनुरूप थीं और उनका गायन गर्जना के समान था। *आग्रन्थय:* शब्द को *अग्रन्थय:* के रूप में भी पढ़ा जा सकता है, जिसका अर्थ होगा—''ढीली हो गयी''। इससे यह सूचित होगा कि यद्यपि गोपियों ने बालों तथा पेटियों को मजबूती से कसकर नाचना शुरू किया था किन्तु ये धीरे धीरे ढीली पड़कर खुलने लगी।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर संकेत करते हैं कि गोपियाँ मुद्राएँ (किसी कला-प्रदर्शन के केन्द्रीय विचार से सम्बन्धित अर्थों को बताने या भावों को अभिव्यक्त करने वाले हाथों द्वारा समुचित इशारे) प्रदर्शित करने में पटु थीं। अत: कभी कृष्ण तथा गोपियाँ अपनी बाँहें फँसाकर कलात्मक ढंग से उन्हें इकट्ठे हिलाते तो कभी बाँहें विलग करके गाये जाने वाले गीत के अर्थ को प्रकट करने के लिए मुद्राएँ बनाते।

पादन्यासै शब्द सूचित करता है कि गोपियों ने अपने नृत्य करते पाँवों के पगों को कलात्मक तथा शालीनता के साथ आकर्षक ढंग से रखा। *सस्मितैर्भ्रूविलासै* शब्द बतलाते हैं कि उनकी भौहों की विलासपूर्ण गतियाँ एवं प्रेमपूर्वक हँसी देखने में अत्यन्त मनोहारी लग रही थीं।

उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रिया: ।
कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

उच्चै:—जोर जोर से; जगु:—गाया; नृत्यमाना:—नाच करते हुए; रक्त—रंगीन; कण्ठ्य:—उनके गले; रति—प्रणय (माधुर्य आनन्द); प्रिया:—समर्पित; कृष्ण-अभिमर्श—कृष्ण के स्पर्श से; मुदिता:—हर्षित; यत्—जिनके; गीतेन—गाने से; इदम्—यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड; आवृतम्—व्याप्त है।

विविध रंगों से रँगे कंठों वाली, माधुर्यप्रेम का आनन्द लूटने की इच्छुक गोपियों ने जोर जोर से गाना गाया और नृत्य किया। वे कृष्ण का स्पर्श पाकर अति-आनन्दित थीं और उन्होंने जो गीत गाये उनसे सारा ब्रह्माण्ड भर गया।

तात्पर्य : संगीत की प्रामाणिक पुस्तक *संगीत सार* के अनुसार *तावन्त एव रागा: सूर्यावत्यो जीवजातय: । तेषु षोडशसाहस्री पुरा गोपीकृता वरा* ''जितनी जीव योनियाँ हैं उतने ही संगीत के राग

हैं। इनमें से १६,००० राग प्रमुख हैं, जिन्हें गोपियाँ प्रकट कर रही थीं।'' इस तरह गोपियों ने १६,००० विभिन्न राग उत्पन्न किये और वे ही बाद में सारे विश्व में फैल गये। *यद्गीतेनेदमावृतम्* शब्दों से यह भी सूचित होता है कि आज भी सारे विश्व में भक्तगण गोपियों का अनुकरण करते हुए कृष्ण की महिमा का गायन करते हैं।

काचित्समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः ।
उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधु साध्विति ।
तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानं च बह्वदात् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

काचित्—कोई कोई; समम्—साथ; मुकुन्देन—कृष्ण के; स्वर-जातीः—शुद्ध संगीतमय स्वर; अमिश्रिताः—कृष्ण द्वारा निकाली गई ध्वनि से न मिला हुआ; उन्निन्ये—अलापा, छेड़ा; पूजिता—सम्मानित; तेन—उसके द्वारा; प्रीयता—प्रसन्न; साधु साधु इति—''बहुत अच्छा, बहुत अच्छा'' कहते हुए; तत् एव—वही (राग); ध्रुवम्—ध्रुपद सहित; उन्निन्ये—अलापा (अन्य गोपी ने); तस्यै—उसको; मानम्—विशेष आदर; च—तथा; बहु—अधिक; अदात्—प्रदान किया।

एक गोपी ने भगवान् मुकुन्द के गाने के साथ साथ शुद्ध मधुर राग गाया जो कृष्ण के स्वर से भी उच्च सुर ऊँचे स्वर में था। इससे कृष्ण प्रसन्न हुए और ''बहुत अच्छा, बहुत अच्छा'' कहकर उसकी प्रशंसा की। तत्पश्चात् एक दूसरी गोपी ने वही राग अलापा किन्तु वह ध्रुपद के विशेष छंद में था। कृष्ण ने उसकी भी प्रशंसा की।

काचिद्रासपरिश्रान्ता पार्श्वस्थस्य गदाभृतः ।
जग्राह बाहुना स्कन्धं श्लथद्वलयमल्लिका ॥ १० ॥

शब्दार्थ

काचित्—कोई गोपी; रास—रासनृत्य से; परिश्रान्ता—थकी हुई; पार्श्व—बगल में; स्थस्य—खड़े हुए; गदा-भृतः—गदाधारी भगवान् कृष्ण के; जग्राह—पकड़ लिया; बाहुना—अपनी बाँह से; स्कन्धम्—कन्धे को; श्लथत्—ढीला करते हुए; वलय—अपने कंगन; मल्लिका—तथा (बालों में गुँथे) फूल।

जब एक गोपी रासनृत्य से थक गई तो वह अपनी बगल में खड़े गदाधर कृष्ण की ओर मुड़ी और उसने अपनी बाँह से उनके कन्धे को पकड़ लिया। नाचने से उसके कँगन तथा बालों में लगे फूल ढीले पड़ गये थे।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बताया गया है कि कृष्ण ने गोपियों के गायन तथा नृत्य की सराहना की और इस श्लोक में हम देखते हैं कि किस तरह गोपियों ने उनके साथ घनिष्ठता एवं विश्वास से पूर्ण आचरण किया। यहाँ पर एक थकी हुई गोपी कृष्ण के कन्धे पर अपनी बाँह टेक कर विश्राम लेने

लगी।

श्रील जीव गोस्वामी की व्याख्या है कि इस श्लोक में प्रयुक्त *गदा* शब्द नृत्य-शिक्षक के उपयुक्त गदा की ओर संकेत करता है। कृष्ण अपने साथ यह गदा रासनृत्य के आनन्द को बढ़ाने के लिए ले आये थे। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि यहाँ पर जिस गोपी का उल्लेख है, वह श्रीमती राधारानी है, जबकि पिछले श्लोक में वर्णित दो गोपियाँ क्रमशः विशाखा तथा ललिता हैं।

तत्रैकांसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम् ।
चन्दनालिप्तमाघ्राय हृष्टरोमा चुचुम्ब ह ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; एका—एक (गोपी); अंस—अपने कन्धे पर; गतम्—रखी हुई; बाहुम्—बाँह को; कृष्णस्य—कृष्ण की; उत्पल—नीले कमल सदृश; सौरभम्—जिसकी सुगन्ध; चन्दन—चन्दन लेप से; आलिप्तम्—लेप की हुई; आघ्राय—महकती हुई; हृष्ट—खड़े हुए; रोमा—शरीर के रोएँ; चुचुम्ब ह—उसने चूम लिया।

कृष्ण ने अपनी बाँह एक गोपी के कन्धे पर रख दी जिसमें से प्राकृतिक नीले कमल की सुगन्ध के साथ उसमें लेपित चन्दन की मिली हुई सुगन्ध आ रही थी। ज्योंही गोपी ने उस सुगन्ध का आस्वादन किया त्योंही हर्ष से उसे रोमांच हो उठा और उसने उनकी बाँह को चूम लिया।

कस्याश्चिन्नाट्यविक्षिप्त कुण्डलत्विषमण्डितम् ।
गण्डं गण्डे सन्दधत्याः प्रादात्ताम्बूलचर्वितम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

कस्याश्चित्—किसी एक गोपी; नाट्य—नाचने से; विक्षिप्त—हिलता हुआ; कुण्डल—कान की बालियाँ; त्विष—चमक से; मण्डितम्—सुशोभित; गण्डम्—अपने कपोल; गण्डे—कृष्ण के गाल के निकट; सन्दधत्याः—रखती हुई; प्रादात्—सावधानी पूर्वक दे दिया; ताम्बूल—पान; चर्वितम्—चबाया हुआ।

एक गोपी ने कृष्ण के गाल पर अपना गाल रख दिया जो उसके कुंडलों से सुशोभित था और उसके नाचते समय चमचमा रहा था। तब कृष्ण ने बड़ी ही सावधानी से उसे अपना चबाया पान दे दिया।

नृत्यती गायती काचित्कूजन्नूपुरमेखला ।
पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं श्रान्ताधात्स्तनयोः शिवम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

नृत्यती—नाचती; गायती—गाती; काचित्—कोई गोपी; कूजन्—झनकार करते; नूपुर—घुंघरू की; मेखला—तथा अपनी करधनी; पार्श्व-स्थ—उसके पास में ही खड़े; अच्युत—भगवान् कृष्ण का; हस्त-अब्जम्—करकमल; श्रान्ता—थककर; अधात्—रख लिया; स्तनयोः—अपने स्तनों पर; शिवम्—सुखद।

एक अन्य नाचती तथा गाती हुई गोपी, जिसके पाँवों के नूपुर और कमर की करधनी के घुंघरू बज रहे थे, थक गई अतः उसने अपने पास ही खड़े भगवान् अच्युत के सुखद करकमल को अपने स्तनों के ऊपर रख लिया।

गोप्यो लब्ध्वाच्युतं कान्तं श्रिय एकान्तवल्लभम् ।
गृहीतकण्ठ्यस्तद्दोर्भ्यां गायन्त्यस्तम्विजह्रिरे ॥ १४॥

शब्दार्थ

गोप्यः—गोपियाँ; लब्ध्वा—पाकर; अच्युतम्—अच्युत भगवान् को; कान्तम्—अपने प्रेमी के रूप में; श्रियः—लक्ष्मी के; एकान्त—एकमात्र; वल्लभम्—प्रेमी को; गृहीत—पकड़े हुए; कण्ठ्यः—उनके गलों को; तत्—उसका; दोर्भ्याम्—भुजाओं से; गायन्त्यः—गाती हुई; तम्—उसको; विजह्रिरे—आनन्द लूटा।

लक्ष्मी जी के विशिष्टप्रिय भगवान् अच्युत को अपने घनिष्ठ प्रेमी के रूप में पाकर गोपियों ने अथाह आनन्द लूटा। वे उनको अपनी भुजाओं में लपेटे थे और ये उनके यश का गान कर रही थीं।

कर्णोत्पलालकविटङ्ककपोलघर्म-
वक्त्रश्रियो वलयनूपुरघोषवाद्यैः ।
गोप्यः समं भगवता ननृतुः स्वकेश-
स्त्रस्तस्रजो भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

कर्ण—उनके कानों में; उत्पल—कमल के फूल से; अलक—उनकी लटों से; वितङ्क—अलंकृत; कपोल—उनके गाल; घर्म—पसीने से; वक्त्र—उनके मुखों के; श्रियः—सौन्दर्य; वलय—कंगन; नूपुर—तथा घुंघरू के; घोष—शब्द का; वाद्यैः—बाजे से; गोप्यः—गोपियों ने; समम्—साथ; भगवता—भगवान् के; ननृतुः—नाचा; स्व—अपने लिए; केश—बाल से; स्त्रस्त—बिखरी; स्त्रजः—मालाएँ; भ्रमर—भौंरे; गायक—गानेवाले; रास—रासनृत्य की; गोष्ठ्याम्—गोष्ठी में।

कानों के पीछे लगे कमल के फूल, गालों को अलंकृत कर रही बालों की लटें तथा पसीने की बूँदें गोपियों के मुखों की शोभा बढ़ा रही थीं। उनके बाजुबंदों तथा घुंघरुओं की रुनझुन से जोर की संगीतात्मक ध्वनि उत्पन्न हो रही थी और उनके जूड़े बिखरे हुए थे। इस तरह गोपियाँ भगवान् के साथ रासनृत्य के स्थल पर नाचने लगीं और उनका साथ देते हुए भौंरों के झुंड गुनगुनाने लगे।

एवं परिष्वङ्गकराभिमर्श-
स्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः ।
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि-
र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; परिष्वङ्ग—आलिंगन करते हुए; कर—अपने हाथ से; अभिमर्श—स्पर्श करते हुए; स्निग्ध—स्नेहिल; ईक्षण—चितवनों से; उद्दाम—तिरछी, चौड़ी; विलास—चंचल; हासैः—हँसी से युक्त; रेमे—आनन्द लूटा; रमा—लक्ष्मी जी के; ईशः—स्वामी ने; व्रज-सुन्दरीभिः—ग्वालजाति की तरुणियों के साथ; यथा—जिस तरह; अर्भकः—एक बालक; स्व—अपनी; प्रतिबिम्ब—परछाई से; विभ्रमः—खेलवाड़।

इस प्रकार आदि भगवान् नारायण, लक्ष्मीपति भगवान् कृष्ण ने व्रज की युवतियों का आलिंगन करके, उन्हें दुलार करके तथा अपनी तिरछी चंचल हँसी से उन्हें प्रेमपूर्वक निहार करके उनके साथ में आनन्द लूटा। यह वैसा ही था जैसे कि कोई बालक अपनी परछाईं के साथ खेल रहा हो।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है "केवल भगवान् कृष्ण ही परम पूर्ण सत्य हैं और उनकी शक्तियाँ असीम हैं। ये असीम शक्तियाँ साकार होकर भगवान् कृष्ण को उनकी लीलाओं में प्रवृत्त करती हैं। जिस प्रकार उनकी एक परम दिव्य शक्ति की ऐश्वर्यपूर्ण अभिव्यक्ति से भगवान् की असंख्य शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं उसी तरह रासनृत्य में कृष्ण अपने को उतने ही गुने रूपों में प्रकट करते हैं जितनी शक्तियाँ गोपियों के रूप में हैं। हर वस्तु कृष्ण है किन्तु कृष्ण की इच्छा से उनकी आध्यात्मिक शक्ति योगमाया गोपियों को प्रकट करती है। जब उनकी अन्तरंगा शक्ति योगमाया उनके दिव्य भावों के प्रवर्धन हेतु ऐसी लीलाएँ प्रकट करती है, तो यह वैसा ही होता है जैसे कि कोई बालक अपनी ही परछाईं से खेल रहा हो। किन्तु चूँकि ये लीलाएँ उनकी ही आध्यात्मिक शक्ति द्वारा रची जाती हैं अत: वे नित्य तथा स्वत: प्रकट होने वाली हैं।"

तदङ्गसङ्गप्रमुदाकुलेन्द्रियाः
केशान्दुकूलं कुचपट्टिकां वा ।
नाञ्जः प्रतिव्योढुमलं व्रजस्त्रियो
विस्रस्तमालाभरणाः कुरूद्वह ॥ १७॥

शब्दार्थ

तत्—उनके साथ; अङ्ग-सङ्ग—शारीरिक स्पर्श से; प्रमुदा—हर्ष से; आकुल—व्याकुल; इन्द्रियाः—जिनकी इन्द्रियाँ; केशान्—उनके बाल; दुकूलम्—वस्त्र; कुच-पट्टिकाम्—स्तनों को ढकने वाले वस्त्र, चोलियाँ; वा—अथवा; न—नहीं; अञ्जः—आसानी

से; प्रतिव्योढुम्—सुसज्जित रखने के लिए; अलम्—समर्थ; व्रज-स्त्रियः—व्रज की स्त्रियाँ; विस्रस्त—बिखरी हुई; माला—फूलों की मालाएँ; आभरणाः—तथा गहने; कुरु-उद्वह—हे कुरुवंश के परम विख्यात सदस्य।

उनका शारीरिक संसर्ग पा लेने से गोपियों की इन्द्रियाँ हर्ष से अभिभूत हो गईं जिसके कारण वे अपने बाल, अपने वस्त्र तथा स्तनों के आवरणों को अस्तव्यस्त होने से रोक न सकीं। हे कुरुवंश के वीर, उनकी मालाएँ तथा उनके गहने बिखर गये।

कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्य मुमुहुः खेचरस्त्रियः ।
कामार्दिताः शशाङ्कश्च सगणो विस्मितोऽभवत् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

कृष्ण-विक्रीडितम्—कृष्ण की क्रीड़ा; वीक्ष्य—देखकर; मुमुहुः—मोहित हो गईं; खे-चर—आकाश में यात्रा करतीं; स्त्रियः—स्त्रियाँ (देवियाँ); काम—काम वासना से; अर्दिताः—चलायमान; शशाङ्कः—चन्द्रमा; च—भी; स-गणः—अपने अनुचर तारों सहित; विस्मितः—चकित; अभवत्—हुआ।

देवताओं की पत्नियाँ अपने विमानों से कृष्ण की क्रीड़ाएँ देखकर सम्मोहित हो गईं और कामवासना से विचलित हो उठीं। वस्तुतः चन्द्रमा तक भी अपने पार्षद तारों समेत चकित हो उठा।

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः ।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

कृत्वा—करके, बनाकर; तावन्तम्—उतने गुना बढ़ाकर; आत्मानम्—अपने को; यावतीः—जितनी; गोप-योषितः—गोप स्त्रियाँ; रेमे—विलास किया; सः—उस; भगवान्—भगवान् ने; ताभिः—उनके साथ; आत्म-आरामः—आत्म-तुष्ट; अपि—यद्यपि; लीलया—लीला के रूप में।

वहाँ पर जितनी गोपिकाएँ थीं उतने ही रूपों में विस्तार करके, भगवान् ने खेल खेल में उनकी संगति का आनन्द लूटा यद्यपि वे आत्माराम हैं।

तात्पर्य : जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती संकेत करते हैं, यह तो पहले ही बतलाया जा चुका है कि भगवान् कृष्ण समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त हैं और आध्यात्मिक आत्म-तुष्टि के पद परमपूर्ण हैं।

तासां रतिविहारेण श्रान्तानां वदनानि सः ।
प्रामृजत्करुणः प्रेम्णा शन्तमेनाङ्ग पाणिना ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तासाम्—उन गोपियों के; रति—माधुर्य प्रेम के; विहारेण—भोग विलास के द्वारा; श्रान्तानाम्—थकी हुईं; वदनानि—मुख; सः—उसने; प्रामृजत्—पोंछा; करुणः—दयालु; प्रेम्णा—प्रेमपूर्वक; शन्तमेन—अत्यन्त सुखद; अङ्ग—हे प्रिय (राजा परीक्षित); पाणिना—अपने हाथ से।

यह देखकर कि गोपियाँ माधुर्य विहार करने से थक गई थीं, हे राजन (परिक्षित), दयालु श्रीकृष्ण ने बड़े ही प्रेम से उनके मुखों को अपने सुखद हाथों से पोंछा।

गोप्यः स्फुरत्पुरटकुण्डलकुन्तलत्विड्-
गण्डश्रिया सुधितहासनिरीक्षणेन ।
मानं दधत्य ऋषभस्य जगुः कृतानि
पुण्यानि तत्कररुहस्पर्शप्रमोदाः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

गोप्यः—गोपियाँ; स्फुरत्—चमकते हुए; पुरट—सुनहले; कुण्डल—अपने कान की बालियों का; कुन्तल—तथा अपने (घुँघराले) केशों के; त्विट्—तेज का; गण्ड—कपोलों के; श्रिया—सौन्दर्य से; सुधित—अमृतमय बनाया गया; हास—हँसी; निरीक्षणेन—अपनी चितवन से; मानम्—आदर; दधत्यः—देते हुए; ऋषभस्य—अपने नायक के; जगुः—गाया; कृतानि—कार्यकलापों को; पुण्यानि—शुभ; तत्—उसके; कर-रुह—हाथ के नाखूनों के; स्पर्श—स्पर्श से; प्रमोदाः—अत्यधिक प्रमुदित।

अपने गालों के सौंदर्य, घुँघराले बालों के तेज एवं सुनहरे कुंडलों की चमक से मधुरित हँसीयुक्त चितवनों से गोपियों ने अपने नायक को सम्मान दियाकिया। उनके नखों के स्पर्श से पुलकित होकर वे उनकी शुभ दिव्य लीलाओं का गान करने लगीं।

ताभिर्युतः श्रममपोहितुमङ्गसङ्ग-
घृष्टस्रजः स कुचकुङ्कुमरञ्जितायाः ।
गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत आविशद्वाः
श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

ताभिः—उनके द्वारा; युतः—युक्त; श्रमम्—थकावट; अपोहितुम्—दूर करने के लिए; अङ्ग-सङ्ग—उनकी माधुर्य संगति से; घृष्ट—कुचली गयी; स्रजः—माला; सः—वह; कुच—उनके स्तनों के; कुङ्कुम—सिंदूर से; रञ्जितायाः—पुता हुआ; गन्धर्व-प—जो गंधर्वों की तरह लग रहा था; अलिभिः—भौंरा से; अनुद्रुतः—तेजी से पीछा किया जाता हुआ; आविशत्—प्रवेश किया; वाः—जल; श्रान्तः—थका; गजीभिः—हथिनियों के साथ; इभ-राट्—शाही हाथी; इव—सदृश; भिन्न—छिन्न-भिन्न करके; सेतुः—धान के खेत की मेड़ें।

भगवान् श्रीकृष्ण की माला गोपियों के साथ माधुर्य विहार करते समय कुचल गई थी और उनके स्तनों के कुंकुम से सिंदूरी रंग की हो गई थी। गोपियों की थकान मिटाने के लिए कृष्ण यमुना के जल में घुस गये, जिनका पीछा तेजी से भौंरें कर रहे थे, जो श्रेष्ठतम गन्धर्वों की तरह गा रहे थे। कृष्ण ऐसे लग रहे थे मानो कोई राजसी हाथी अपनी संगिनियों के साथ जल में

सुस्ताने के लिए प्रविष्ट हो रहा हो। निस्सन्देह भगवान् ने सारी लोक तथा वेद की मर्यादा का उसी तरह अतिक्रमण कर दिया जिस तरह एक शक्तिशाली हाथी धान के खेतों की रौंद ड़ालता है।

सोऽम्भस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः
प्रेम्णेक्षितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग ।
वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानो
रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः ॥ २३॥

शब्दार्थ

सः—वह; अम्भसि—जल में; अलम्—अत्यधिक; युवतिभिः—युवतियों के साथ; परिषिच्यमानः—जल उलीच करके; प्रेम्णा—प्रेमपूर्वक; ईक्षितः—देखे जाकर; प्रहसतीभिः—हँसने वालियों के द्वारा; इतः ततः—इधर उधर; अङ्ग—हे राजन्; वैमानिकैः—विमानों से यात्रा कर रही; कुसुम—फूल; वर्षिभिः—बरसाती हुई; ईड्यमानः—पूजित होकर; रेमे—विहार किया; स्वयम्—खुद; स्व-रतिः—आत्मतुष्ट होकर; अत्र—यहाँ; गज-इन्द्र—हाथियों का राजा; लीलः—लीला।

हे राजन्, जल में कृष्ण ने अपने ऊपर चारों ओर से हँसती एवं अपनी ओर प्रेमपूर्ण निहारती गोपियों के द्वारा जल उलीचा जाते देखा। जब देवतागण अपने विमानों से उनपर फूल वर्षा करके उनकी पूजा कर रहे थे तो आत्मतुष्ट भगवान् हाथियों के राजा की तरह क्रीड़ा करने का आनन्द लेने लगे।

ततश्च कृष्णोपवने जलस्थल-
प्रसूनगन्धानिलजुष्टदिक्तटे ।
चचार भृङ्गप्रमदागणावृतो
यथा मदच्युद्द्विरदः करेणुभिः ॥ २४॥

शब्दार्थ

ततः—तब; च—तथा; कृष्णा—यमुना नदी के; उपवने—छोटे जंगल में; जल—जल; स्थल—तथा भूमि के; प्रसून—फूलों की; गन्ध—सुगन्धि से; अनिल—वायु से; जुष्ट—साथ हो लिये; दिक्-तटे—दिशाओं के छोर; चचार—गुजरा; भृङ्ग—भौंरों; प्रमदा—तथा स्त्रियों के; गण—समूह से; आवृतः—घिरा; यथा—जिस प्रकार; मद-च्युत्—उत्तेजना से अपने मस्तक से रस चुवाता; द्विरदः—हाथी; करेणुभिः—हथिनियों के साथ।

तत्पश्चात् भगवान् ने यमुना के किनारे स्थित एक छोटे से उपवन में भ्रमण किया। यह उपवन स्थल तथा जल में उगने वाले फूलों की सुगन्ध लेकर बहने वाली मन्द वायु से भरपूर था। भौंरों तथा सुन्दर स्त्रियों के साथ भ्रमण कर रहे भगवान् कृष्ण ऐसे लग रहे थे मानों कोई मदमत्त हाथी अपनी हथिनियों के साथ जा रहा हो।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार यह यहाँ स्वतः समझने योग्य है कि जल-विहार के बाद कृष्ण ने देह में मालिश कराई और तब अपने प्रिय वस्त्र पहन कर गोपियों के साथ उन्होंने अपनी

लीलाएँ फिर आरम्भ कर दीं।

एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः
स सत्यकामोऽनुरताबलागणः ।
सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः
सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रयाः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; शशाङ्क—चन्द्रमा की; अंशु—किरणों से; विराजिताः—चमकाई गई; निशाः—रात्रियाँ; सः—वह; सत्य-कामः—जिसकी इच्छाएँ सदैव पूरी होती हैं; अनुरत—उनमें निरन्तर अनुरक्त; अबला-गणः—अनेक सखियों; सिषेवे—लाभ उठाया; आत्मनि—अपने में; अवरुद्ध—सुरक्षित; सौरतः—मैथुन या काम भाव; सर्वाः—सभी (रातें); शरत्—शरदऋतु की; काव्य—काव्यमय; कथा—कहानियों का; रस—दिव्य रसों का; आश्रयाः—आधार।

यद्यपि गोपियाँ सत्यकाम कृष्ण के प्रति दृढ़तापूर्वक अनुरक्त थीं किन्तु भीतर से भगवान् किसी संसारी काम-भावना से प्रभावित नहीं थे। फिर भी उन्होंने अपनी लीलाएँ सम्पन्न करने के लिए चाँदनी से खिली हुई उन समस्त शरतकालीन रातों का लाभ उठाया जो दिव्य विषयों के काव्यमय वर्णन के लिए प्रेरणा देती हैं।

तात्पर्य : *रस* का सही सही वर्णन करना कठिन है। यह वह आध्यात्मिक आनन्द है, जो भगवान् कृष्ण के साथ प्रेममय सम्बन्ध होने पर अनुभव किया जाता है। वह आनन्द भगवान् तथा उनके भक्तों के साथ आध्यात्मिक लीलाओं के मध्य अनुभव किया जाता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि व्यास, पराशर, जयदेव, लीलाशुक (बिल्वमंगल ठाकुर), गोवर्धनाचार्य तथा श्रील रूप गोस्वामी जैसे वैष्णव कवियों ने भगवान् के माधुर्य व्यापारों का वर्णन अपने अपने काव्यों में करने का प्रयास किया है। किन्तु ये वर्णन पूर्ण नहीं हैं क्योंकि भगवान् की लीलाएँ अनन्त हैं अतः ऐसी लीलाओं के महिमा-गान का प्रयास अब भी जारी है और सदैव चलता रहेगा। भगवान् कृष्ण ने सुन्दर रात्रियों वाली असाधारण शरद्ऋतु का उपयोग अपने प्रेम व्यापार को बढ़ाने के लिए किया और वे शरद्रात्रियाँ अनन्त काल से दिव्य कवियों को प्रेरणा प्रदान करती रही हैं।

श्रीपरीक्षिदुवाच

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च ।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ॥ २६ ॥
स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताभिरक्षिता ।

प्रतीपमाचरद्ब्रह्मन्परदाराभिमर्शनम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

श्री-परीक्षित् उवाच—श्री परीक्षित महाराज ने कहा; संस्थापनाय—स्थापना करने के लिए; धर्मस्य—धर्म की; प्रशमाय—दमन करने के लिए; इतरस्य—विरोधियों का; च—तथा; अवतीर्णः—(इस धरा पर) अवतरित हुए; हि—निस्सन्देह; भगवान्—भगवान्; अंशेन—अपने स्वांश (श्री बलराम) सहित; जगत्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के; ईश्वरः—स्वामी; सः—वह; कथम्—किस तरह; धर्म-सेतूनाम्—आचार संहिता के; वक्ता—आदि व्याख्याता; कर्ता—करने वाले; अभिरक्षिता—रक्षक; प्रतीपम्—विरुद्ध; आचरत्—आचरण किया; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण, शुकदेव गोस्वामी; पर—अन्यों की; दार—पत्नियों का; अभिमर्शनम्—स्पर्श।

परीक्षित महाराज ने कहा, "हे ब्राह्मण, ब्रह्माण्ड के स्वामी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अपने स्वांश सहित इस धरा में अधर्म का नाश करने तथा धर्म की पुनर्स्थापना करने हेतु अवतरित हुए हैं। दरअसल वे आदि वक्ता तथा नैतिक नियमों के पालनकर्ता एवं संरक्षक हैं। तो भला वे अन्य पुरुषों की स्त्रियों का स्पर्श करके उन नियमों का अतिक्रमण कैसे कर सकते थे?

तात्पर्य : जब शुकदेव गोस्वामी यह बतला रहे थे तो राजा परीक्षित ने गौर से देखा कि गंगा के तट पर हो रही इस गोष्ठी में से कुछ लोगों के मन में भगवान् की लीलाओं के विषय में सन्देह हो रहा था। ये संदेहयुक्त व्यक्ति कर्मी, ज्ञानी तथा अन्य लोग थे, जो कृष्णभक्त नहीं थे। अत: राजा परीक्षित ने उनके सन्देहों को दूर करने के लिए उनकी ओर से यह प्रश्न पूछा।

आप्तकामो यदुपतिः कृतवान्वै जुगुप्सितम् ।
किमभिप्राय एतन्नः शंशयं छिन्धि सुव्रत ॥ २८॥

शब्दार्थ

आप्त-कामः—आत्मतुष्ट, पूर्णकाम; यदु-पतिः—यदुकुल के स्वामी ने; कृतवान्—सम्पन्न किया है; वै—निश्चय ही; जुगुप्सितम्—निन्दनीय; किम्-अभिप्रायः—किस उद्देश्य से; एतत्—यह; नः—हमारा; शंशयम्—सन्देह; छिन्धि—काट दीजिये; सु-व्रत—हे व्रतधारी।

हे श्रद्धावान व्रतधारी, कृपा करके हमें यह बतलाकर हमारा संशय दूर कीजिये कि पूर्णकाम यदुपति के मन में वह कौन सा अभिप्राय था जिससे उन्होंने इतने निन्दनीय ढंग से आचरण किया?

तात्पर्य : जो लोग प्रबुद्ध हैं उन्हें पता है कि ऐसे संदेह उन लोगों के मन तथा हृदय में उठेंगे जो भगवान् की दिव्य लीलाओं से परिचित नहीं हैं। इसलिए अनन्त काल से बड़े बड़े मुनि तथा परीक्षित महाराज जैसे प्रबुद्ध राजा आगे आने वाली पीढ़ी के लिए प्रामाणिक उत्तर देने के लिए ऐसे प्रश्न उठाते रहे हैं।

श्रीशुक उवाच
धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम् ।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; धर्म-व्यतिक्रमः—धार्मिक या नैतिक सिद्धान्तों का उल्लंघन; दृष्टः—देखा हुआ; ईश्वराणाम्—शक्तिशाली नियंत्रकों का; च—भी; साहसम्—साहस; तेजीयसाम्—आध्यात्मिक रूप से शक्तिमान; न—नहीं; दोषाय—किसी प्रकार की त्रुटि (होने देता); वह्नेः—अग्नि का; सर्व—सभी; भुजः—निगलते हुए; यथा-अस्.

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : शक्तिशाली नियन्ताओं के पद पर किसी ऊपरी साहसपूर्ण उल्लंघन से जो हम उनमें देख पायें, कोई आँच नहीं आती क्योंकि वे उस अग्नि के समान होते हैं, जो हर वस्तु को निगल जाती है और अदूषित बनी रहती है।

तात्पर्य : महान् शक्तिशाली व्यक्ति नैतिक सिद्धान्तों के ऊपरी उल्लंघन से विनष्ट नहीं होते। श्रीधर स्वामी ब्रह्मा, इन्द्र, सोम, विश्वामित्र इत्यादि का उदाहरण देते हैं। अग्नि में जो कुछ डाल दिया जाये उसे वह निगल जाती है किन्तु उसके स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं आता। इसी तरह कोई महान् व्यक्ति आचरण की अनियमितता से अपने पद से नीचे नहीं गिरता। किन्तु अगले श्लोक में शुकदेव गोस्वामी ने स्पष्ट किया है कि यदि हम ब्रह्माण्ड पर शासन करने वाले महान् व्यक्तियों की नकल करें तो उसका परिणाम भयावह होगा।

नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः ।
विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतत्—यह; समाचरेत्—करना चाहिए; जातु—कभी; मनसा—मन से; अपि—भी; हि—निश्चय ही; अनीश्वरः—जो नियन्ता नहीं है; विनश्यति—विनष्ट हो जाता है; आचरन्—आचरण करने पर; मौढ्यात्—मूर्खतावश; यथा—जिस तरह; अरुद्रः—जो रुद्र नहीं है; अब्धिजम्—समुद्र से उत्पन्न; विषम्—विष को।

जो महान् संयमकारी नहीं है, उसे शासन करने वाले महान् पुरुषों के आचरण की मन से भी कभी नकल नहीं करनी चाहिए। यदि कोई सामान्य व्यक्ति मूर्खतावश ऐसे आचरण की नकल करता है, तो वह उसी तरह विनष्ट हो जायेगा जिस तरह कि विष के सागर को पीने का प्रयास करने वाला व्यक्ति। यदि वह रुद्र नहीं है, नष्ट हो जायेगा।

तात्पर्य : शिवजी या रुद्र ने एक बार समुद्र-विष का पान किया जिसका परिणाम यह हुआ कि उनके गले में एक आकर्षक नीला चिह्न बन गया। किन्तु यदि हमें ऐसे विष की एक बूँद भी पीनी पड़े

तो हम तुरन्त मर जायेंगे। जिस तरह हमें शिवजी की इस लीला की नकल नहीं करनी चाहिए उसी तरह हमें गोपियों के साथ कृष्ण के कार्यकलापों की भी नकल नहीं उतारनी चाहिए। हमें यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि यद्यपि भगवान् कृष्ण निश्चित रूप से धर्म की स्थापना करने के लिए अवतरित होते हैं उसी तरह वे यह भी दिखाने के लिए अवतरित होते हैं कि वे ईश्वर हैं किन्तु हम नहीं। वह भी प्रदर्शित करना चाहिये। भगवान् अपनी अन्तरंगाशक्ति के साथ भोग करते हैं और इस तरह हमें आध्यात्मिक पद की ओर आकृष्ट करते हैं। हमें चाहिए कि हम कृष्ण की नकल करने का प्रयास न करें क्योंकि इससे हमें घोर कष्ट मिलेगा।

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित् ।
तेषां यत्स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत्समाचरेत् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

ईश्वरानाम्—भगवान् द्वारा शक्ति प्रदत्त दासों के; वचः—शब्द; सत्यम्—सत्य; तथा एव—भी; आचरितम्—वे जो कुछ करते हैं; क्वचित्—कभी कभी; तेषाम्—उनके; यत्—जो; स्व-वचः—अपने ही शब्दों से; युक्तम्—अनुरूप; बुद्धि-मान्—बुद्धिमान; तत्—वह; समाचरेत्—सम्पन्न करे।

भगवान् द्वारा शक्तिप्रदत्त दासों के वचन सदैव सत्य होते हैं और जब वे इन वचनों के अनुरूप कर्म करते हैं, तो वे आदर्श होते हैं। इसलिए जो बुद्धिमान है उस को चाहिए कि इनके आदेशों को पूरा करे।

तात्पर्य : संस्कृत कोशों में *ईश्वर* शब्द के कई अर्थ मिलते हैं—प्रभु, स्वामी, शासक अथवा समर्थ। श्रील प्रभुपाद ने प्रायः *ईश्वर* का "नियन्ता" अर्थ दिया है, जो स्वामी, शासक के साथ साथ समर्थ व्यक्ति के भावों को समाहित करने वाला है। स्वामी अक्षम हो सकता है किन्तु नियन्ता तो वह स्वामी है, जो वस्तुओं को घटित कराता है। *परमेश्वर* या परमनियन्ता ही समस्त कारणों के कारण भगवान् कृष्ण हैं।

यद्यपि सामान्य लोग विशेषतया पाश्चात्य देशों के लोग इस तथ्य से अवगत नहीं हैं किन्तु शक्तिशाली व्यक्ति हमारे ब्रह्माण्ड को नियंत्रित करते हैं। ब्रह्माण्ड की आधुनिक निर्विशेष विचार-धारा ब्रह्माण्ड को लगभग पूर्णतया निर्जीव के रूप में चित्रित करती है, जिसमें पृथ्वी व्यर्थ में तैरती रहती है। इस तरह हमारे पास रह जाता है हमारे प्रजनन नियमों को प्रदर्शित करने और सुरक्षित रखने का निरर्थक परम लक्ष्य जिसका अपने आपको दुबारा जन्म देने से घटनाओं की निरर्थक शृंखला में एक

और कड़ी जोड़ने का अपना ही परम लक्ष्य होता है।

अज्ञानी भौतिकवादी लोगों द्वारा बनाए गए इस निरर्थक संसार के सर्वथा विपरीत है वास्तविक ब्रह्माण्ड जीवन से ओतप्रोत है और वस्तुत: ईश्वर से ओतप्रोत है, जो समस्त वस्तुओं में व्याप्त हैं और जो सबों को धारण करता है। भगवान् तथा असंख्य जीवों से, जिनमें हम भी सम्मिलित हैं, उनके निजी सम्बन्ध ही वास्तविक हैं। कुछ जीव भौतिकतावाद के मोह में फँसे हैं या भौतिक शरीर से पहचान मानते हैं, तो कुछ मुक्त हैं और अपने नित्य आध्यात्मिक स्वरूप से परिचित हैं। तीसरी श्रेणी के लोग वे हैं, जो अज्ञान की भौतिकतावादी अवस्था से कृष्णभावनामृत की प्रबुद्ध अवस्था की ओर अग्रसर हो रहे होते हैं।

अन्ततोगत्वा वास्तविकता साकार तथा दैवी होती है, अत: इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि जैसा हमें वैदिक साहित्य से पता चलता है हमारा ब्रह्माण्ड तथा अन्य सारे ब्रह्माण्ड महान् पुरुषों द्वारा उसी तरह नियंत्रित होते हैं जिस तरह हमारे शहर, राज्य तथा हमारे देश शक्तिप्रदत्त व्यक्तियों द्वारा संचालित होते हैं। जब हम प्रजातांत्रिक रूप से किसी राजनीतिक व्यक्ति को शासन करने का अधिकार सौंप देते हैं, तो हम उसे अपना वोट देते हैं क्योंकि उसमें ''नायकत्व'' या ''क्षमता'' पाई जाती है। हम सोचते हैं कि वह यह कार्य करवा लेगा। दूसरे शब्दों में, जब कोई व्यक्ति शासन करने की शक्ति अर्जित कर लेता है तभी हम उसे अपना वोट देते हैं। हमारे वोट से वह नेता नहीं बनता किन्तु इस तरह हम उसमें किसी अन्य स्रोत से शक्ति आते देखने पर उसे नेता मानते हैं। इस प्रकार जैसाकि *भगवद्गीता* के दसवें अध्याय के अन्त में भगवान् कृष्ण बतलाते हैं कि यदि किसी व्यक्ति में असामान्य शक्ति, क्षमता या सत्ता प्रकट हो तो वह अवश्य ही साक्षात् भगवान् द्वारा या भगवान् की शक्ति द्वारा शक्तिप्रदत्त हुआ होगा।

जो लोग सीधे भगवान् से शक्ति प्राप्त किये रहते हैं, वे उनके भक्त होते हैं। इस तरह सारे विश्व में उनकी शक्ति तथा प्रभाव से अच्छाई फैल जाती है। किन्तु जिन्हें कृष्ण की माया द्वारा शक्ति प्राप्त होती है वे कृष्ण से अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रखते हैं क्योंकि उनमें भगवान् की इच्छा सीधे प्रतिबिम्बित नहीं होती। हाँ, वे अप्रत्यक्ष रूप से उनकी इच्छा प्रतिबिम्बित करते हैं क्योंकि कृष्ण की व्यवस्थानुसार प्रकृति के नियम अज्ञानी जीवों पर प्रभाव डालकर उन्हें धीरे धीरे अनेकानेक जन्मों के बाद भगवान् की शरण

ग्रहण करने के लिए बहलाते हैं। इस तरह राजनीतिक लोग अपने अनुयायी भौतिकतावादी व्यक्तियों को झूठी आशाएँ दिलाते हैं, युद्ध कराते हैं और असंख्य जोशीली योजनाएँ बनाते हैं। ये राजनीतिक लोग बद्धजीवों को ईश्वर-विमुखता का तिक्त फल चखाकर अप्रत्यक्ष रूप से भगवान् के कार्यक्रम को पूरा करते हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने *ईश्वराणाम्* शब्द का ''ज्ञान तथा तपस्या के बल पर शक्तिशाली बने हुए'' किया है। ज्यों ज्यों मनुष्य ईश्वर के स्वभाव तथा उनकी इच्छा को समझने लगता है और आध्यात्मिक जीवन में श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए निजी त्याग करता है त्यों त्यों भगवान् उसे शक्ति प्रदान करते हैं जिससे वह उनकी इच्छा का प्रतिनिधित्व कर सके जिसे उसने बुद्धिमानी से समझा है और स्वीकार किया है।

भगवान् इस धरती पर धार्मिक आचरण का जीता-जागता दृष्टान्त प्रस्तुत करने हेतु अवतरित होते हैं। जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* (३.२४) में कहा है ''यदि मैं आदर्श कर्तव्य का पालन न करूँ तो सारा संसार पथ-भ्रष्ट होकर विनष्ट हो जाय।'' इस तरह भगवान् ने अपने विविध अवतारों द्वारा यह दिखलाया कि इस जगत में किस तरह उचित कर्म करना चाहिए। इसका उत्तम उदाहरण भगवान् रामचन्द्र हैं जिन्होंने राजा दशरथ के पुत्र रूप में अद्भुत आचरण किया।

किन्तु जब साक्षात् भगवान् कृष्ण अवतरित होते हैं, तो वे चरम धर्म का भी प्रदर्शन करते हैं—यह कि भगवान् अन्य समस्त जीवों से परे हैं और उनके परमपद की नकल कोई नहीं कर सकता। समस्त धर्मों में अग्रगण्य इसी सिद्धान्त का—कि भगवान् अद्वितीय हैं, न तो कोई उनके समान है न उनसे बढ़कर है—स्पष्ट रूप से प्रदर्शन गोपियों के साथ अश्लीलसी दिखने वाली कृष्ण की लीलाओं में हुआ। जैसाकि शुकदेव गोस्वामी ने बतलाया है कोई भी व्यक्ति इन लीलाओं की नकल दुष्परिणामों को भुगते बिना नहीं कर सकता। जो यह सोचता है कि भगवान् कृष्ण सामान्य कामी पुरुष हैं या जो व्यक्ति उनके रासनृत्य को प्रशंसनीय मानकर उसकी नकल करना चाहता है, वह निश्चित रूप से विनष्ट हो जायेगा जैसाकि इस अध्याय के श्लोक ३० में बतलाया जा चुका है।

अन्त में भगवान् तथा उनके शक्तिप्रदत्त दासों में अन्तर करना होगा। भगवान् का शक्तिप्रदत्त दास, जैसाकि ब्रह्मा, अपने पूर्वकर्मों का बचा हुआ फल कर्म के नियमानुसार पाता है। किन्तु भगवान् कर्म के

नियमों के चंगुल से सर्वथा मुक्त हैं। वे अद्वितीय पद पर हैं।

कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते ।
विपर्ययेण वानर्थो निरहङ्कारिणां प्रभो ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

कुशल—पवित्र; आचरितेन—कार्य द्वारा; एषाम्—उनके लिए; इह—इस जगत में; स्व-अर्थः—निजी लाभ; न विद्यते—नहीं होता; विपर्ययेण—विपरीत द्वारा; वा—अथवा; अनर्थः—अवांछित फल; निरहङ्कारिणाम्—मिथ्या गर्व से मुक्त लोगों का; प्रभो—हे प्रभु।

हे प्रभु, जब मिथ्या अहंकार से रहित ये महान् व्यक्ति इस जगत में पवित्र भाव से कर्म करते हैं, तो उसमें उनका कोई स्वार्थ-भाव नहीं होता और जब वे ऊपरी तौर से पवित्रता के नियमों के विरुद्ध लगने वाले कर्म (अनर्थ) करते हैं, तो भी उन्हें पापों का फल नहीं भोगना पड़ता।

किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम् ।
ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

किम् उत—तो फिर क्या कहा जाय; अखिल—समस्त; सत्त्वानाम्—सृजित प्राणियों का; तिर्यक्—पशुओं; मर्त्य—मनुष्यों; दिव-ओकसाम्—तथा स्वर्ग के निवासियों का; ईशुतुः—नियन्ता के लिए; च—तथा; ईशितव्यानाम्—नियंत्रितों का; कुशल—शुभ; अकुशल—तथा अशुभ; अन्वयः—कारणरूप सम्बन्ध।

तो फिर समस्त सृजित प्राणियों पशुओं, मनुष्यों तथा देवताओं—के स्वामी भला उस शुभ तथा अशुभ से किसी प्रकार का सम्बन्ध कैसे रख सकते हैं जिससे उनके अधीनस्थ प्राणी प्रभावित होते हों?

तात्पर्य : जैसाकि श्लोक ३२ में कहा गया है, भगवान् द्वारा शक्तिप्रदत्त महान् पुरुष भी कर्म के नियमों से मुक्त होते हैं, तो फिर साक्षात् भगवान् के विषय में क्या कहा जा सकता है। आखिर कर्म-नियम उन्हीं के द्वारा बनाया हुआ है और उनकी सर्वशक्तिमान इच्छा का प्रतीक है। अत: वे जो भी कार्य अपनी शुद्ध इच्छा से करते हैं उनकी आलोचना सामान्य लोग नहीं कर सकते।

यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता
योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः ।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना-
स्तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बन्धः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; पाद-पङ्कज—चरणकमलों की; पराग—धूलि के; निषेव—सेवन करने से; तृप्ताः—तृप्त; योग-प्रभाव—योग शक्ति से; विधुत—धुला हुआ; अखिल—समस्त; कर्म—सकाम कर्म का; बन्धाः—बन्धन; स्वैरम्—मुक्तभाव से; चरन्ति—कर्म करते हैं; मुनयः—मुनिगण; अपि—भी; न—कभी नहीं; नह्यमानाः—बद्ध होकर; तस्य—उसकी; इच्छया—इच्छा से; आत्त—स्वीकार किया; वपुषः—दिव्य शरीर; कुतः—कहाँ; एव—निस्सन्देह; बन्धः—बन्धन।

जो भगवद्भक्त भगवान् के चरणकमलों की धूलि का सेवन करते हुए पूर्णतया तुष्ट हैं उन्हें भौतिक कर्म कभी नहीं बाँध पाते। न ही भौतिक कर्म उन बुद्धिमान मुनियों को बाँध पाते हैं जिन्होंने योगशक्ति के द्वारा अपने को समस्त कर्मफलों के बन्धन से मुक्त कर लिया है। तो फिर स्वयं भगवान् के बन्धन का प्रश्न कहाँ उठता है, जो स्वेच्छा से दिव्य रूप धारण करने वाले हैं?

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम् ।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

गोपीनाम्—गोपियों के; तत्-पतीनाम्—उनके पतियों के; च—तथा; सर्वेषाम्—समस्त; एव—निस्सन्देह; देहिनाम्—देहधारी जीवों के; यः—जो; अन्तः—भीतर; चरति—रहता है; सः—वह; अध्यक्षः—साक्षी; क्रीडनेन—क्रीड़ा के लिए; इह—इस संसार में; देह—अपना रूप; भाक्—धारण करते हुए।

जो गोपियों तथा उनके पतियों और वस्तुतः समस्त देह-धारी जीवों के भीतर साक्षी के रूप में रहता है, वही दिव्य लीलाओं का आनन्द लेने के लिए इस जगत में विविध रूप धारण करता है।

तात्पर्य : हम भगवान् की तरह दिव्य लीलाओं का आनन्द उठाने के लिए देह-धारण नहीं करते। हम नित्य आत्माओं ने इस भौतिक जगत का आनन्द उठाने के मूर्खतापूर्ण प्रयास के कारण विवश होकर भौतिक शरीर स्वीकार किया है। भगवान् के सभी रूप शाश्वत और दिव्य हैं और उनकी समता किसी भी तर्क से हमारे नाशवान हाड़-मांस के बने शरीरों से नहीं की जा सकती।

चूँकि श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं, जो गोपियों, उनके तथाकथित पतियों तथा अन्य समस्त जीवों के भीतर निवास करने वाले हैं, तो यदि वे अपने द्वारा सृजित प्राणियों में से कुछ का आलिंगन करें तो इसमें कौन सा पाप है? इसमें कौन सा दोष है यदि भगवान् गोपियों के साथ किसी गुप्तस्थान में चले जाते हैं जबकि वे प्रत्येक जीव के सर्वाधिक गुह्य भाग हृदय के भीतर निवास करते हैं।

अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमास्थितः ।
भजते तादृशीः क्रीड याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

अनुग्रहाय—दया दिखाने के लिए; भक्तानाम्—अपने भक्तों पर; मानुषम्—मनुष्य जैसा; देहम्—शरीर; आस्थितः—धारण करते हुए; भजते—स्वीकार करता है; तादृशीः—वैसी; क्रिडाः—लीलाएँ; याः—जिनके बारे में; श्रुत्वा—सुनकर; तत्-परः—उनके प्रति परायण; भवेत्—हो जाता है।

जब भगवान् अपने भक्तों पर कृपा प्रदर्शित करने के लिए मनुष्य जैसा शरीर धारण करते हैं, तो वे ऐसी क्रीड़ाएँ करते हैं जिनके विषय में सुनने वाले आकृष्ट होकर भगवत्परायण हो जाँय।

तात्पर्य : इस सन्दर्भ में श्रील जीव गोस्वामी की व्याख्या है कि जब भगवान् कृष्ण अपने आदि द्विभुज रूप में इस जगत में अवतरित होते हैं, तो वे कृपा करके यह रूप प्रदर्शित करते हैं जिससे मानव समाज में बद्ध उनके भक्त उन्हें देख तथा समझ सकें। इसीलिए यहाँ पर कहा गया है—*मानुषं देहमास्थितः*—वे मनुष्य जैसा शरीर धारण करते हैं। श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर यह कहकर भगवान् की माधुर्य लीलाओं का यशोगान करते हैं कि इन प्रेमभरे कार्यों में बद्धजीवों के दूषित हृदय को आकर्षित करने की अकल्पनीय दिव्य क्षमता है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि कोई भी शुद्ध या सरल हृदय वाला व्यक्ति कृष्ण की प्रेमपूर्ण लीलाओं को सुनकर भगवान् के चरणकमलों के प्रति आकृष्ट होगा और क्रमशः उनका भक्त बन जायेगा।

नासूयन्खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया ।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्स्वान्स्वान्दारान्व्रजौकसः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

न असूयन्—ईर्ष्यालु नहीं थे; खलु—यहाँ तक कि; कृष्णाय—कृष्ण से; मोहिताः—मोहित; तस्य—उसकी; मायया—माया द्वारा; मन्यमानाः—सोचते हुए; स्व-पार्श्व—अपने निकट; स्थान्—खड़ी हुई; स्वान् स्वान्—अपनी अपनी; दारान्—पत्नियाँ; व्रज-ओकसः—व्रज के गोपजन।

कृष्ण की मायाशक्ति से मोहित सारे ग्वालों ने सोचा कि उनकी पत्नियाँ घरों में उनके निकट ही रहती रही थीं। इस तरह उनमें कृष्ण के प्रति कोई ईर्ष्या भाव नहीं उत्पन्न हुआ।

तात्पर्य : चूँकि गोपियाँ कृष्ण से एकान्तिक प्रेम करती थीं इसलिए योगमाया ने सदैव भगवान् के प्रति उनके सम्बन्ध की रक्षा की यद्यपि ये गोपियाँ विवाहिता थीं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने *उज्ज्वल नीलमणि* से निम्नलिखित उद्धरण दिया है—

मायाकल्पिततादृक् ‍शीलनेनानुसूयुभिः ।

न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः सह सङ्गमः ॥

"गोपियों के ईर्ष्यालु पतियों ने अपनी पत्नियों से नहीं अपितु माया द्वारा निर्मित पत्नियों से विलास किया। इस तरह इन पुरुषों का व्रज की देवियों से कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं हुआ।" गोपियाँ भगवान् की अन्तरंगा शक्ति हैं अतएव वे किसी अन्य जीव की नहीं हो सकतीं। कृष्ण ने *परकीय रस* की उत्पत्ति के लिए ही अन्य पुरुषों के साथ उनका विवाह रचाया। ये लीलाएँ नितान्त शुद्ध हैं क्योंकि वे भगवान् की लीलाएँ हैं और सन्त पुरुष इन परम दिव्य घटनाओं का रसास्वादन अनन्त काल से करते चले आ रहे हैं।

ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः ।
अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहान्भगवत्प्रियाः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-रात्रे—ब्रह्मा की रात; उपावृत्ते—पूर्ण होने पर; वासुदेव—भगवान् कृष्ण द्वारा; अनुमोदिताः—अनुमोदन किये जाने पर; अनिच्छन्त्यः—न चाहती हुई; ययुः—चली गईं; गोप्यः—गोपियाँ; स्व-गृहान्—अपने घरों को; भगवत्—भगवान् की; प्रियाः—प्रियतमाएँ।

जब ब्रह्मा की पूरी एक रात बीत गई तो कृष्ण ने गोपियों को अपने अपने घरों को लौट जाने की सलाह दी। यद्यपि वे ऐसा करना नहीं चाह रही थीं तो भी भगवान् की इन प्रेयसियों ने उनके आदेश का पालन किया।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (८.१७) में भगवान् कृष्ण बतलाते हैं"मानवीय गणना के अनुसार एक हजार युग मिलकर ब्रह्मा के एक दिन के बराबर होते हैं। और रात्रि भी इतनी ही बड़ी होती है।" अत: जब भगवान् कृष्ण ने अपना रासनृत्य किया, तो बारह घंटे की एक ही रात में एक हजार युग प्रवेश कर गये। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इस अकल्पनीय काल की तुलना इस तथ्य से करते हैं कि पृथ्वी पर वृन्दावन के चारों ओर लगभग चालीस मील में अनेक ब्रह्माण्ड समा सकते हैं। या कोई यह विचार कर सकता है कि माता यशोदा बालक कृष्ण की छोटी-सी कमर अनेक रस्सियों से भी नहीं बाँध पाईं और एक अन्य अवसर पर भगवान् ने अपने मुँह के भीतर अनेक ब्रह्माण्ड दिखलाये। संसारी भौतिकी से परे आध्यात्मिक सत्यता की व्याख्या श्रील रूप गोस्वामी कृत *लघु भागवतामृत* में संक्षिप्त में पाई जाती है :

एवं प्रभो प्रियाणां च धाम्नश्च समयस्य च।

अविचिन्त्यप्रभावत्वादत्र किञ्चिन्न दुर्घटम॥

"भगवान्, उनके प्रिय भक्तों, उनके दिव्य धाम या उनकी लीलाओं के समय के लिए कुछ भी

असम्भव नहीं है क्योंकि ये सारी बातें अचिन्त्य रूप से शक्तिशाली हैं।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इसके बाद व्याख्या करते हुए कहते हैं कि इससे सूचित होता है कि कृष्ण ने गोपियों को सलाह दी कि ''इन लीलाओं को सफल बनाने के लिए तुम्हें तथा मुझे इन्हें गुप्त रखना होगा।'' *वासुदेव* शब्द, जो कि कृष्ण का नाम है भगवान् कृष्ण के स्वांश का भी सूचक है, जो चेतना के मुख्य अधिष्ठाता का कार्य करता है। इस तरह जब वासुदेव शब्द इस संदर्भ में समझ लिया जाता है, तो *वासुदेवानुमोदिता:* शब्द सूचित करता है कि चेतना के मुख्य अधिष्ठाता वासुदेव ने गोपियों के हृदयों में उनके गुरुजनों की चिन्ता तथा भय का बोध करा दिया था जिससे वे युवतियाँ बहुत हिचकिचाहट के साथ घर वापस जा सकीं।

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः ।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

विक्रीडितम्—क्रीड़ा करना; व्रज-वधूभिः—वृन्दावन की युवतियों के साथ; इदम्—यह; च—तथा; विष्णोः—भगवान् विष्णु द्वारा; श्रद्धा-अन्वितः—श्रद्धापूर्वक; अनुशृणुयात्—सुनता है; अथ—अथवा; वर्णयेत्—वर्णन करता है; यः—जो; भक्तिम्—भक्ति; पराम्—दिव्य; भगवति—भगवान् में; प्रतिलभ्य—प्राप्त करके; कामम्—भौतिक कामवासना को; हृत्—हृदय में; रोगम्—रोग को; अशु—तुरन्त; अपहिनोति—भगा देताहै; अचिरेण—शीघ्र ही; धीरः—गम्भीर।

जो कोई वृन्दावन की युवा-गोपिकाओं के साथ भगवान् की क्रीड़ाओं को श्रद्धापूर्वक सुनता है या उनका वर्णन करता है, वह भगवान् की शुद्ध भक्ति प्राप्त करेगा। इस तरह वह शीघ्र ही धीर बन जाएगा और हृदय रोग रूपी कामवासना को जीत लेगा।

तात्पर्य : यहाँ पर कृष्ण की माधुर्य लीलाओं की असाधारण शक्ति स्पष्ट रूप से प्रकट होती है। गुणात्मक दृष्टि से भगवान् की आध्यात्मिक प्रेममयी लीलाएँ भौतिक वासनापूर्ण व्यापारों से सर्वथा विपरीत होती हैं यहाँ तक कि भगवान् की लीलाओं के श्रवण मात्र से भक्त कामेच्छा पर विजय पा लेता है। अश्लील साहित्य पढ़ने या भौतिक प्रेमालाप सुनने से हमारी कामेच्छा विनष्ट नहीं होती अपितु बढ़ती है। किन्तु भगवान् के माधुर्य व्यापारों के विषय में सुनने या पढ़ने से इसका सर्वथा विपरीत प्रभाव पड़ता है क्योंकि वे विपरीत प्रकार के और नितान्त आध्यात्मिक होते हैं। अत: कृष्ण अपनी अहैतुकी कृपा से इस जगत में अपनी रासलीला प्रदर्शित करते हैं। यदि हम इस कथा में अनुरक्त हो

सकें तो हमें आध्यात्मिक प्रेम का आनन्द अनुभव होगा और हम विषयवासना का परित्याग कर देंगे जो उस प्रेम का विकृत प्रतिबिम्ब है। *भगवद्गीता* (२.५९) में कृष्ण ने बड़े ही सुन्दर ढ़ंग से कहा है *परं दृष्ट्वा निवर्तते*—परब्रह्म का एक बार प्रत्यक्ष अनुभव हो जाने पर मनुष्य भौतिक आनन्द की ओर मुँह नहीं करेगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कन्ध के अन्तर्गत 'रासनृत्य' नामक तैंतीसवे अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौंतीस

नन्द महाराज की रक्षा तथा शंखचूड़ का वध

इस अध्याय में बतलाया गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने किस तरह अपने पिता नन्द को सर्प के चंगुल से छुड़ाया और किस तरह सुदर्शन नामक एक विद्याधर का आंगिरस मुनियों के श्राप से उद्धार किया

एक दिन नन्द महाराज अन्य ग्वालों के साथ अपने अपने परिवारों को बैलगाड़ियों में चढ़ाकर शिवजी की पूजा करने अम्बिका वन गये। सरस्वती नदी में स्नान करने तथा विष्णु के एक रूप भगवान् सदाशिव की पूजा करने के बाद सबों ने उसी जंगल में रात्रि बिताने का निश्चय किया। जब वे सो रहे थे तो एक भूखा साँप आया और नन्द महाराज को निगलने लगा। नन्द महाराज ने भयभीत होकर आर्त स्वर में पुकारा, "हे कृष्ण! हे मेरे बेटे! मुझ शरणागत को बचाओ।" तुरन्त ही सारे ग्वाले जाग गये और लुकाठों से उस साँप को मारने लगे किन्तु वह साँप नन्द को छोड़ने का नाम ही नहीं ले रहा था। तब भगवान् कृष्ण आये और उन्होंने उस सर्प को अपने चरणकमलों से छुआ। वह सर्प तुरन्त ही अपने सर्प शरीर से मुक्त हो गया और अपने मौलिक देव रूप में प्रकट हुआ। उसने उन्हें अपने पूर्वजन्म की कथा कह सुनाई और यह बतलाया कि किस तरह मुनियों की टोली ने उसे श्राप दिया था। तत्पश्चात् उसने श्रीकृष्ण के चरणकमलों की वन्दना की और भगवान् के आदेश से अपने धाम लौट गया।

बाद में, दोलपूर्णिमा उत्सव के अवसर पर श्रीकृष्ण तथा बलराम ने व्रजयुवतियों के साथ वन-विहार किया। कृष्ण तथा बलराम की सखियों ने मिलकर उनके दिव्य गुणों का गान किया। जब दोनों

भाई गायन में लीन होकर झूमने लगे तो कुवेर का एक शंखचूड़ नामक नौकर साहस करके वहाँ आया और गोपियों का हरण करने लगा। तब तरुणियों ने चिल्लाना शुरू किया, "हे कृष्ण, हमें बचाओ।" अत: कृष्ण तथा राम शंखचूड़ का पीछा करने लगे। कृष्ण ने डपटते हुए गोपियों को कहा, "डरो मत।" इन दोनों के भय से शंखचूड़ गोपियों को छोड़कर अपनी जान लेकर भागा। कृष्ण ने उसका पीछा किया और तेजी से निकट पहुँचकर अपनी मुट्ठी के प्रहार से रत्न समेत उसके सिर को अलग कर दिया। तत्पश्चात् वे उस रत्न को ले आये और इसे भगवान् बलदेव को भेंट कर दिया।

श्रीशुक उवाच

एकदा देवयात्रायां गोपाला जातकौतुकाः ।
अनोभिरनडुद्युक्तैः प्रययुस्तेऽम्बिकावनम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एकदा—एक बार; देव—देवता अर्थात् शिवजी (की पूजा करने के लिए); यत्रायाम्—यात्रा पर; गोपालाः—सारे ग्वाले; जात-कौतुकाः—उत्सुक; अनोभिः—गाड़ियों समेत; अनडुत्—बैलों से; युक्तैः—जुती; प्रययुः—गये; ते—वे; अम्बिका-वनम्—अम्बिका वन में।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : एक दिन भगवान् शिव की पूजा हेतु यात्रा करने के उत्सुक ग्वाले बैलगाड़ियों द्वारा अम्बिका वन गये।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *एकदा* शब्द शिवरात्रि का सूचक है। वे यह भी उल्लेख करते हैं कि अम्बिका वन गुजरात प्रान्त में सिद्धपुर शहर के निकट है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर यह बतलाते हैं कि ग्वाले फाल्गुन मास की कृष्ण पक्ष चतुर्दशी के दिन यात्रा पर रवाना हुए। वे प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि अम्बिका वन मथुरा से उत्तर पश्चिम दिशा में सरस्वती नदी के किनारे स्थित है। अम्बिका वन इसलिए विख्यात है क्योंकि इसमें श्री शिव तथा उनकी पत्नी देवी उमा के अर्चाविग्रह हैं।

तत्र स्नात्वा सरस्वत्यां देवं पशुपतिं विभुम् ।
आनर्चुरर्हणैर्भक्त्या देवीं च णृपतेऽम्बिकाम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; स्नात्वा—स्नान करके; सरस्वत्याम्—सरस्वती नदी में; देवम्—देवता; पशु-पतिम्—शिवजी को; विभुम्—शक्तिशाली; आनर्चुः—उन्होंने पूजा की; अर्हणैः—साज-सामग्री समेत; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; देवीम्—देवी; च—तथा; नृ-पते—हे राजा; अम्बिकाम्—अम्बिका को।

हे राजन्, वहाँ पहुँचने के बाद उन्होंने सरस्वती नदी में स्नान किया और तब विविध पूजा-सामग्री से शक्तिशाली शिवजी तथा उनकी पत्नी देवी अम्बिका की भक्तिपूर्वक पूजा की।

गावो हिरण्यं वासांसि मधु मध्वन्नमादृताः ।
ब्राह्मणेभ्यो ददुः सर्वे देवो नः प्रीयतामिति ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

गावः—गौवें; हिरण्यम्—स्वर्ण; वासांसि—वस्त्र; मधु—मीठा; मधु—शहद से मिश्रित; अन्नम्—अन्न; आदृताः—आदरपूर्वक; ब्राह्मणेभ्यः—ब्राह्मणों को; ददुः—दिया; सर्वे—सभी; देवः—स्वामी; नः—हम पर; प्रीयताम्—प्रसन्न हों; इति—इस प्रकार प्रार्थना करते हुए।

ग्वालों ने ब्राह्मणों को गौवें, स्वर्ण, वस्त्र तथा शहदमिश्रित पक्वान्न की भेंटें दान में दीं। तत्पश्चात् उन्होंने प्रार्थना की, "हे प्रभु, हम पर आप प्रसन्न हों।"

ऊषुः सरस्वतीतीरे जलं प्राश्य यतव्रताः ।
रजनीं तां महाभागा नन्दसुनन्दकादयः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

ऊषुः—रुके रहे; सरस्वती-तीरे—सरस्वती के तट पर; जलम्—जल को; प्राश्य—खाकर (पीकर); यत-व्रताः—कठिन व्रत करते हुए; रजनीम्—रात को; ताम्—उस; महा-भागाः—भाग्यशाली लोग; नन्द-सुनन्दक-आदयः—नन्द, सुनन्द इत्यादि।

नन्द, सुनन्द तथा अन्य अत्यन्त भाग्यशाली ग्वालों ने वह रात सरस्वती के तट पर संयम से अपने अपने व्रत रखते हुए बिताई। उन्होंने केवल जल ग्रहण किया और उपवास रखा।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि सुनन्द नन्द महाराज के छोटे भाई थे।

कश्चिन्महानहिस्तस्मिन्विपिनेऽतिबुभुक्षितः ।
यदृच्छयागतो नन्दं शयानमुरगोऽग्रसीत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

कश्चित्—किसी; महान्—बड़ा; अहिः—सर्प ने; तस्मिन्—उस; विपिने—जंगल के क्षेत्र में; अति-बुभुक्षितः—अत्यन्त भूखा; यदृच्छया—अकस्मात्; आगतः—आया; नन्दम्—नन्द महाराज को; शयानम्—सोते हुए; उर-गः—पेट के बल सरकता; अग्रसीत्—निगल लिया।

रात में एक विशाल एवं अत्यन्त भूखा सर्प उस जंगल में प्रकट हुआ। वह सोये हुए नन्द महाराज के निकट अपने पेट के बल सरकता हुआ गया और उन्हें निगलने लगा।

स चुक्रोशाहिना ग्रस्तः कृष्ण कृष्ण महानयम् ।
सर्पो मां ग्रसते तात प्रपन्नं परिमोचय ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, नन्द महाराज; चुक्रोश—चिल्लाया; अहिना—साँप के द्वारा; ग्रस्तः—पकड़ा हुआ; कृष्ण कृष्ण—हे कृष्ण, हे कृष्ण; महान्—विशाल; अयम्—यह; सर्पः—सर्प; माम्—मुझको; ग्रसते—निगले जा रहा है; तात—मेरे बेटे; प्रपन्नम्—मुझ शरणागत का; परिमोचय—उद्धार करो।

साँप के चंगुल में फँसे नन्द महाराज चिल्लाये, "कृष्ण! बेटे कृष्ण!, यह विशाल सर्प मुझे निगले जा रहा है। मैं तो तुम्हारा शरणागत हूँ। मुझे बचाओ।"

तस्य चाक्रन्दितं श्रुत्वा गोपालाः सहसोत्थिताः ।
ग्रस्तं च दृष्ट्वा विभ्रान्ताः सर्पं विव्यधुरुल्मुकैः ॥ ७॥

शब्दार्थ

तस्य—उसकी; च—तथा; आक्रन्दितम्—चिल्लाहट; श्रुत्वा—सुनकर; गोपालाः—ग्वाले; सहसा—एकाएक; उत्थिताः—उठकर; ग्रस्तम्—पकड़ा हुआ; च—तथा; दृष्ट्वा—देखकर; विभ्रान्ताः—विचलित; सर्पम्—साँप को; विव्यधुः—पीटा; उल्मुकैः—जलती मशालों, या लुकाठों से।

जब ग्वालों ने नन्द की चीखें सुनीं तो वे तुरन्त उठ गये और उन्होंने देखा कि नन्द को तो सर्प निगले जा रहा है। अत्यन्त विचलित होकर उन्होंने जलती मशालों से उस सर्प को पीटा।

अलातैर्दह्यमानोऽपि नामुञ्चत्तमुरङ्गमः ।
तमस्पृशत्पदाभ्येत्य भगवान्सात्वतां पतिः ॥ ८॥

शब्दार्थ

अलातैः—लुकाठों से; दह्यमानः—जलाये जाने पर; अपि—भी; न अमुञ्चत्—नहीं छोड़ा; तम्—उसको; उरङ्गमः—सर्प ने; तम्—उस साँप को; अस्पृशत्—छुआ; पदा—पाँव से; अभ्येत्य—आकर; भगवान्—भगवान् ने; सात्वताम्—भक्तों के; पतिः—स्वामी।

लुकाठों से जलाये जाने पर भी उस साँप ने नन्द महाराज को नहीं छोड़ा। तब भक्तों के स्वामी भगवान् कृष्ण उस स्थान पर आये और उन्होंने उस साँप को अपने पाँव से छुआ।

स वै भगवतः श्रीमत्पादस्पर्शहताशुभः ।
भेजे सर्पवपुर्हित्वा रूपं विद्याधरार्चितम् ॥ ९॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निस्सन्देह; भगवतः—भगवान् के; श्री-मत्—दैवी; पाद—पाँव के; स्पर्श—स्पर्श से; हत—विनष्ट हुए; अशुभः—सारे अशुभ; भेजे—धारण किया; सर्प-वपुः—साँप का शरीर; हित्वा—त्यागकर; रूपम्—रूप; विद्याधर—विद्याधरों द्वारा; अर्चितम्—पूजित।

भगवान् के दिव्य चरण का स्पर्श पाते ही सर्प के सारे पाप विनष्ट हो गये और उसने अपना सर्प-शरीर त्याग दिया। वह पूज्य विद्याधर के रूप में प्रकट हुआ।

तात्पर्य : *रूपं विद्याधरार्चितम्* शब्द बतलाते हैं कि अभी तक जो सर्प था वह अब विद्याधर नामक

देवताओं में पूजित सुन्दर रूप में प्रकट हुआ। दूसरे शब्दों में, वह विद्याधरों के नायक के रूप में प्रकट हुआ।

तमपृच्छद्धृषीकेशः प्रणतं समवस्थितम् ।
दीप्यमानेन वपुषा पुरुषं हेममालिनम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तम्—उससे; अपृच्छत्—पूछा; हृषीकेशः—भगवान् हृषीकेश ने; प्रणतम्—नमस्कार करते हुए; समवस्थितम्—उनके समक्ष खड़ा; दीप्यमानेन—देदीप्यमान; वपुषा—शरीर से; पुरुषम्—पुरुष को; हेम—सुनहरे; मालिनम्—मालाएँ पहने।

तब भगवान् हृषीकेश ने इस व्यक्ति से जो देदीप्यमान शरीर से युक्त उनके समक्ष सिर झुकाये, सुनहरी मालाओं से सज्जित खड़ा था, पूछा।

तात्पर्य : यह देवता बोलने वाला था और भगवान् सबों का ध्यान उसके शब्दों की ओर आकृष्ट करना चाहते थे। इसीलिए भगवान् ने स्वयं उस पूज्य विद्याधर से पूछा जो उनके समक्ष अपना सिर झुकाये खड़ा था।

को भवान्परया लक्ष्म्या रोचतेऽद्भुतदर्शनः ।
कथं जुगुप्सितामेतां गतिं वा प्रापितोऽवशः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन; भवान्—आप; परया—महान; लक्ष्म्या—सौन्दर्य से युक्त; रोचते—चमक रहे हो; अद्भुत—अनोखा; दर्शनः—देखने में; कथम्—क्यों; युगुप्सिताम्—भयानक; एताम्—यह; गतिम्—लक्ष्य; वा—तथा; प्रापितः—धारण करना पड़ा; अवशः—अपने वश से बाहर।

[भगवान् कृष्ण ने कहा] महाशय, आप तो अत्यधिक सौन्दर्य से चमत्कृत होने से इतने अद्भुत लग रहे हैं। आप कौन हैं? और आपको किसने सर्प का यह भयानक शरीर धारण करने के लिए बाध्य किया?

सर्प उवाच

अहं विद्याधरः कश्चित्सुदर्शन इति श्रुतः ।
श्रिया स्वरूपसम्पत्त्या विमानेनाचरन्दिशः ॥ १२ ॥

ऋषीन्विरूपाङ्गिरसः प्राहसं रूपदर्पितः ।
तैरिमां प्रापितो योनिं प्रलब्धैः स्वेन पाप्मना ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सर्पः उवाच—सर्प ने कहा; अहम्—मैं; विद्याधरः—विद्याधर; कश्चित्—कोई; सुदर्शनः—सुदर्शन; इति—इस प्रकार; श्रुतः—विख्यात; श्रिया—ऐश्वर्य से; स्वरूप—अपने स्वरूप का; सम्पत्त्या—धन से; विमानेन—अपने विमान में; आचरन्—घूमते हुए; दिशः—दिशाएँ; ऋषीन्—ऋषिगण; विरूप—कुरूप; आङ्गिरसः—अङ्गिरा मुनि की शिष्य परम्परा के; प्राहसम्—मैंने हँसी उड़ाई; रूप—सौन्दर्य के कारण; दर्पितः—अत्यधिक गर्वित; तैः—उनके कारण; इमाम्—यह; प्रापितः—धारण करना पड़ा; योनिम्—जन्म; प्रलब्धैः—जिनका मजाक उड़ा था; स्वेन—अपने ही; पाप्मना—पापों के कारण।

सर्प ने उत्तर दिया: मैं सुदर्शन नामक विख्यात विद्याधर हूँ। मैं अत्यन्त सम्पत्तिवान तथा सुन्दर था और अपने विमान में चढ़कर सभी दिशाओं में मुक्त विचरण करता था। एक बार मैंने अंगिरा मुनि की परम्परा के कुछ ऋषियों को देखा। अपने सौन्दर्य से गर्वित मैंने उनका मजाक उड़ाया और मेरे पाप के कारण उन्होंने मुझे निम्न योनि धारण करने के लिए बाध्य कर दिया।

शापो मेऽनुग्रहायैव कृतस्तैः करुणात्मभिः ।
यदहं लोकगुरुणा पदा स्पृष्टो हताशुभः ॥ १४॥

शब्दार्थ

शापः—शाप; मे—मेरे; अनुग्रहाय—वर के लिए; एव—निश्चय ही; कृतः—किया गया; तैः—उनके द्वारा; करुण-आत्मभिः—स्वभाव से दयालु; यत्—चूँकि; अहम्—मैं; लोक—सारे लोकों के; गुरुणा—गुरु द्वारा; पदा—पाँव से; स्पृष्टः—स्पर्श किया; हत—नष्ट; अशुभः—सारे अशुभ।

वास्तव में मेरे लाभ के लिए ही उन दयालु ऋषियों ने मुझे शाप दिया क्योंकि अब मैं समस्त लोकों के परम दिव्य गुरु के पाँव द्वारा स्पर्श किया जा चुका हूँ और इस तरह सारे अशुभों से मुक्त हो चुका हूँ।

तं त्वाहं भवभीतानां प्रपन्नानां भयापहम् ।
आपृच्छे शापनिर्मुक्तः पादस्पर्शादमीवहन् ॥ १५॥

शब्दार्थ

तम्—वही पुरुष; त्वा—तुम; अहम्—मैं; भव—संसार का; भीतानाम्—डरे हुओं के लिए; प्रपन्नानाम्—शरणागतों के; भय—भय के; अपहम्—भगाने वाले; आपृच्छे—आपकी अनुमति चाहता हूँ; शाप—शाप से; निर्मुक्तः—मुक्त; पाद-स्पर्शात्—आपके पाँव के स्पर्श से; अमीव—सारे दुखों के; हन्—नष्ट करने वाले।

हे प्रभु, आप उन समस्त लोगों के सारे भय को नाश करने वाले हैं, जो इस भौतिक संसार से डर कर आपकी शरण ग्रहण करते हैं। अब मैं आपके चरणस्पर्श से ऋषियों के शाप से मुक्त हो गया हूँ। हे दुखभंजन, अब मुझे अपने लोक वापस जाने की अनुमति दें।

तात्पर्य : आचार्यों के अनुसार *आपृच्छे* शब्द सूचित करता है कि सुदर्शन ने विनीत होकर भगवान् से अपने धाम वापस जाने की अनुमति देने की प्रार्थना की जहाँ वह निश्चित रूप से शुद्ध मन से शान्तिपूर्वक अपने कर्तव्य का पुनः निर्वाह कर सके।

प्रपन्नोऽस्मि महायोगिन्महापुरुष सत्पते ।
अनुजानीहि मां देव सर्वलोकेश्वरेश्वर ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

प्रपन्नः—शरणागत; अस्मि—हूँ; महा-योगिन्—हे योगियों में महान; महा-पुरुष—हे महापुरुष; सत्-पते—हे भक्तों के स्वामी; अनुजानीहि—आज्ञा दें; माम्—मुझको; देव—हे ईश्वर; सर्व—सभी; लोक—लोकों के; ईश्वर—नियन्ताओं के; ईश्वर—हे परम नियन्ता।

हे योगेश्वर, हे महापुरुष, हे भक्तों के स्वामी, मैं आपकी शरण ग्रहण करता हूँ। हे परमेश्वर, हे ब्रह्माण्ड के ईश्वरों के ईश्वर, आप जैसा चाहें वैसी मुझे आज्ञा दें।

ब्रह्मदण्डाद्विमुक्तोऽहं सद्यस्तेऽच्युत दर्शनात् ।
यन्नाम गृह्णन्नखिलान्श्रोतृनात्मानमेव च ।
सद्यः पुनाति किं भूयस्तस्य स्पृष्टः पदा हि ते ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म—ब्राह्मणों के; दण्डात्—दण्ड से; विमुक्तः—मुक्त; अहम्—मैं; सद्यः—तुरन्त; ते—आप; अच्युत—हे अच्युत भगवान्; दर्शनात्—दर्शन से; यत्—जिसके; नाम—नाम; गृह्णन्—कीर्तन करने; अखिलान्—समस्त; श्रोतृन्—श्रोताओं; आत्मानम्—स्वयं; एव—निस्सन्देह; च—भी; सद्यः—तुरन्त; पुनाति—पवित्र कर देता है; किम् भूयः—तो फिर और अधिक क्या; तस्य—उसका; स्पृष्टः—स्पर्श किया गया; पदा—पाँव से; हि—निस्सन्देह; ते—आपके।

हे अच्युत, मैं आपके दर्शन मात्र से ब्राह्मणों के दण्ड से तुरन्त मुक्त हो गया। जो कोई आपके नाम का कीर्तन करता है, वह अपने साथ-साथ अपने श्रोताओं को भी पवित्र बना देता है। तो फिर आपके चरणकमल का स्पर्श न जाने कितना लाभप्रद होगा?

इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं परिक्रम्याभिवन्द्य च ।
सुदर्शनो दिवं यातः कृच्छ्रान्नन्दश्च मोचितः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अनुज्ञाप्य—अनुमति लेकर; दाशार्हम्—कृष्ण से; परिक्रम्य—परिक्रमा करके; अभिवन्द्य—नमस्कार करके; च—तथा; सुदर्शनः—सुदर्शन; दिवम्—स्वर्ग को; यातः—चला गया; कृच्छ्रात्—अपने संकट से; नन्दः—नन्द महाराज; च—भी; मोचितः—छूट गये।

इस प्रकार भगवान् कृष्ण की अनुमति पाकर सुदर्शन ने उनकी परिक्रमा की, उन्हें झुककर नमस्कार किया और तब वह स्वर्ग के अपने लोक लौट गया। इस तरह नन्द महाराज संकट से उबर आये।

निशाम्य कृष्णस्य तदात्मवैभवं

व्रजौकसो विस्मितचेतसस्ततः ।
समाप्य तस्मिन्नियमं पुनर्व्रजं
णृपाययुस्तत्कथयन्त आदृताः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

निशाम्य—देखकर; कृष्णस्य—कृष्ण का; तत्—वह; आत्म—अपना; वैभवम्—शक्ति का प्रदर्शन; व्रज-ओकसः—व्रजवासी; विस्मित—चकित; चेतसः—अपने मन में; ततः—तब; समाप्य—समाप्त करके; तस्मिन्—उस स्थान पर; नियमम्—अपने व्रत; पुनः—फिर; व्रजम्—ग्वालों के गाँव में; नृप—हे राजा; आययुः—लौट आये; तत्—वह प्रदर्शन; कथयन्तः—बयान करते; आदृताः—आदरपूर्वक।

कृष्ण की असीम शक्ति देखकर व्रजवासी चकित रह गये। हे राजन्, तब उन्होंने भगवान् शिव की पूजा सम्पन्न की और रास्ते में कृष्ण के शक्तिशाली कार्यों का आदरपूर्वक वर्णन करते हुए वे सभी व्रज लौट आये।

कदाचिदथ गोविन्दो रामश्चाद्भुतविक्रमः ।
विजह्रतुर्वने रात्र्यां मध्यगौ व्रजयोषिताम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

कदाचित्—एक समय; अथ—तब; गोविन्दः—भगवान् कृष्ण; रामः—बलराम; च—तथा; अद्भुत—अद्‌भुत; विक्रमः—कार्य; विजह्रतुः—दोनों ने क्रीड़ा की; वने—वन में; रात्र्याम्—रात्रि के समय; मध्य-गौ—बीच में; व्रज-योषिताम्—ग्वालों की स्त्रियों के।

एक बार अद्‌भुत कौशल दिखलाने वाले भगवान् गोविन्द तथा राम रात्रि के समय व्रज की युवतियों के साथ जंगल में क्रीड़ा कर रहे थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में एक नवीन लीला का वर्णन आरम्भ हुआ है। आचार्यों के अनुसार यहाँ पर जिस अवसर का उल्लेख है, वह होलि का पूर्णिमा का दिन था जिसे गौरपूर्णिमा भी कहा जाता है।

उपगीयमानौ ललितं स्त्रीजनैर्बद्धसौहृदैः ।
स्वलङ्कृतानुलिप्ताङ्गौ स्रग्विनौ विरजोऽम्बरौ ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

उपगीयमानौ—उनकी महिमा का गायन करते; ललितम्—मनोहर; स्त्री-जनैः—स्त्रियों के द्वारा; बद्ध—बँधा; सौहृदैः—उनके प्रति स्नेह से; सु-अलङ्कृत—अत्यधिक सजी हुई; अनुलिप्त—(चन्दन) लेप किये; अङ्गौ—अंगों वाली; स्रक्-विनौ—फूलों की माला पहने; विरजः—धूल से रहित, निर्मल; अम्बरौ—वस्त्र धारण किये।

कृष्ण तथा बलराम फूलों की माला तथा स्वच्छ वस्त्र धारण किये हुए थे और उनके अंग प्रत्यंग उत्तम विधि से सजाये तथा लेपित किये गये थे। उनके स्नेह में बँधी हुई स्त्रियों ने उनकी महिमा का मनोहर ढंग से गायन किया।

निशामुखं मानयन्तावुदितोडुपतारकम् ।
मल्लिकागन्धमत्तालिजुष्टं कुमुदवायुना ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

निशा-मुखम्—रात्रि का शुभारम्भ; मानयन्तौ—दोनों ने सम्मान करते हुए; उदित—उदित होकर; उडुप—चन्द्रमा; तारकम्—तथा तारे; मल्लिका—चमेली के फूलों की; गन्ध—सुगन्ध से; मत्त—उन्मत्त; अलि—भौंरों के द्वारा; जुष्टम्—पसंद किये गये; कुमुद—कमलों की; वायुना—मन्द वायु से।

उन दोनों ने रात्रि आगमन की प्रशंसा की जिसका संकेत चन्द्रमा तथा तारों के उदित होने, कमल की गंध से युक्त मन्द वायु तथा चमेली के फूलों की सुगन्ध से मत्त भौंरों से हो रहा था।

जगतुः सर्वभूतानां मनःश्रवणमङ्गलम् ।
तौ कल्पयन्तौ युगपत्स्वरमण्डलमूर्च्छितम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

जगतुः—गाया; सर्व-भूतानाम्—समस्त प्राणियों के; मनः—मन; श्रवण—तथा कानों के लिए; मङ्गलम्—सुख; तौ—दोनों जन; कल्पयन्तौ—उत्पन्न करते हुए; युगपत्—एकसाथ; स्वर—तान; मण्डल—समूह से; मूर्च्छितम्—वर्धित।

कृष्ण तथा बलराम ने एकसाथ आरोह अवरोह की सभी ध्वनियाँ से युक्त राग अलापा। उनके गायन से सारे जीवों के कानों तथा मन को सुख प्राप्त हुआ।

गोप्यस्तद्गीतमाकर्ण्य मूर्च्छिता नाविदन्नृप ।
स्रंसद्दुकूलमात्मानं स्रस्तकेशस्रजं ततः ॥ २४॥

शब्दार्थ

गोप्यः—गोपियाँ; तत्—उनके; गीतम्—गायन को; आकर्ण्य—सुनकर; मूर्च्छिताः—मूर्च्छित हो गईं; न अविदन्—ज्ञान न रहा; नृप—हे राजन्; स्रंसत्—खिसकते हुए; दुकूलम्—वस्त्र; आत्मानम्—अपने आप; स्रस्त—बिखर गये; केश—बाल; स्रजम्—मालाएँ; ततः—उससे (खिसककर)।

जब गोपियों ने वह गायन सुना तो वे सम्मोहित हो गईं। हे राजन्, वे अपने आपको भूल गईं और उन्होंने यह भी नहीं जाना कि उनके सुन्दर वस्त्र शिथिल हो रहे हैं तथा उनके बाल एवं मालाएँ बिखर रही हैं।

एवं विक्रीडतोः स्वैरं गायतोः सम्प्रमत्तवत् ।
शङ्खचूड इति ख्यातो धनदानुचरोऽभ्यगात् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विक्रीडतोः—दोनों जन क्रीड़ा करते हुए; स्वैरम्—इच्छानुसार; गायतोः—गाते हुए; सम्प्रमत्त—मतवाले; वत्—सदृश; शङ्खचूडः—शंखचूड़; इति—इस प्रकार; ख्यातः—नामक; धन-द—देवताओं के खजाञ्ची, कुवेर का; अनुचरः—सेवक; अभ्यगात्—आया।

जब भगवान् कृष्ण तथा भगवान् बलराम स्वेच्छापूर्वक क्रीड़ा कर रहे थे और गाते हुए

मतवाले हो रहे थे तभी कुवेर का शंखचूड़ नामक एक दास वहाँ आया।

तयोर्निरीक्षतो राजंस्तन्नाथं प्रमदाजनम् ।
क्रोशन्तं कालयामास दिश्युदीच्यामशङ्कितः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तयोः—दोनों के; निरीक्षतोः—देखते देखते; राजन्—हे राजन्; तत्-नाथम्—अपने प्रभुओं के; प्रमदा-जनम्—स्त्रियों के समूह को; क्रोशन्तम्—चिल्लाते हुए; कालयाम् आस—भगाने लगा; दिशि—दिशा में; उदीच्याम्—उत्तरी; अशङ्कितः—निर्भीक।

हे राजन्, दोनों के देखते देखते शंखचूड़ उन स्त्रियों को उत्तर दिशा की ओर भागकर ले जाने लगा। कृष्ण तथा बलराम को अपना स्वामी मान चुकीं स्त्रियाँ उनकी ओर देखते हुए चीखने- चिल्लाने लगीं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार असुर शंखचूड़ सुन्दरी तरुणियों की ओर लट्ठ तानने लगा और इस तरह उन्हें डराकर वह उन्हें उत्तर की ओर भगाने लगा। उसने उनका स्पर्श नहीं किया, जैसाकि अगले श्लोक से प्रकट है।

क्रोशन्तं कृष्ण रामेति विलोक्य स्वपरिग्रहम् ।
यथा गा दस्युना ग्रस्ता भ्रातरावन्वधावताम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

क्रोशन्तम्—चिल्लाते हुए; कृष्ण राम इति—हे कृष्ण, हे राम; विलोक्य—देखकर; स्व-परिग्रहम्—अपने भक्तों को; यथा—जिस तरह; गाः—गौवें; दस्युना—चोरों के द्वारा; ग्रस्ताः—पकड़ी हुई; भ्रातरौ—दोनों भाई; अन्वधावताम्—पीछे दौड़ा।

अपने भक्तों को "कृष्ण, राम," कहकर चिल्लाते हुए सुनकर तथा यह देखकर कि वे चोर द्वारा गौवों की तरह चुराई जा रही हैं कृष्ण तथा बलराम उस असुर के पीछे दौड़ने लगे।

मा भैष्टेत्यभयारावौ शालहस्तौ तरस्विनौ ।
आसेदतुस्तं तरसा त्वरितं गुह्यकाधमम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

मा भैष्ट—मत डरो; इति—इस प्रकार पुकारते हुए; अभय—अभय दान करते हुए; आरावौ—जिसके शब्द; शाल—लट्ठे; हस्तौ—दोनों हाथों में; तरस्विनौ—तेजी से घुमाते हुए; आसेदतुः—वे पास पहुँचे; तम्—उस असुर को; तरसा—जल्दी से; त्वरितम्—तेजी से घूम रहे; गुह्यक—यक्षों में; अधमम्—निकृष्ट।

भगवान् ने उत्तर में पुकारा: "डरना मत।" तत्पश्चात् उन्होंने हाथ में शाल वृक्ष के लट्ठे उठा लिये और उस अधमतम गुह्यक का तेजी से पीछा करने लगे जो तेजी से भाग रहा था।

**स वीक्ष्य तावनुप्राप्तौ कालमृत्यू इवोद्विजन् ।
विषृज्य स्त्रीजनं मूढः प्राद्रवज्जीवितेच्छया ॥ २९ ॥**

शब्दार्थ

सः—वह, शंखचूड़; वीक्ष्य—देखकर; तौ—दोनों को; अनुप्राप्तौ—निकट आया; काल-मृत्यू—समय तथा मृत्यु; इव—सदृश; उद्विजन्—उद्विग्न होकर; विसृज्य—एक ओर छोड़कर; स्त्री-जनम्—स्त्रियों को; मूढः—मतिभ्रष्ट; प्राद्रवत्—भाग गया; जीवित—अपना जीवन; इच्छया—बनाये रखने की इच्छा से।

जब शंखचूड़ ने उन दोनों को साक्षात् काल तथा मृत्यु की तरह अपनी ओर आते देखा तो वह उद्विग्न हो उठा। वह भ्रमित होकर स्त्रियों को छोड़कर अपनी जान बचाकर भाग गया।

**तमन्वधावद्गोविन्दो यत्र यत्र स धावति ।
जिहीर्षुस्तच्छिरोरत्नं तस्थौ रक्षन्स्त्रियो बलः ॥ ३० ॥**

शब्दार्थ

तम्—उसके; अन्वधावत्—पीछे पीछे दौड़े; गोविन्दः—कृष्ण; यत्र यत्र—जहाँ जहाँ; सः—वह; धावति—दौड़ता था; जिहीर्षुः—निकालने की इच्छा से; तत्—उसके; शिरः—सिर पर; रत्नम्—रत्न, मणि को; तस्थौ—खड़े रहे; रक्षन्—रक्षा करते हुए; स्त्रियः—स्त्रियाँ; बलः—बलराम।

भगवान् गोविन्द उस असुर के सिर की मणि निकालने के लिए उत्सुक होकर जहाँ जहाँ वह दौड़ रहा था, उसका पीछा कर रहे थे। इसी बीच बलराम स्त्रियों की रक्षा करने के लिए उनके साथ रह गये।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि भगाये जाने के कारण स्त्रियाँ थक गई थीं अत: जब वे विश्राम करने लगीं तो भगवान् बलराम उनकी रक्षा करने लगे और उन्हें ढाढस बँधाने लगे। इस बीच भगवान् कृष्ण उस असुर का पीछा करते रहे।

**अविदूर इवाभ्येत्य शिरस्तस्य दुरात्मनः ।
जहार मुष्टिनैवाङ्ग सहचूडमणिं विभुः ॥ ३१ ॥**

शब्दार्थ

अविदूरे—पास ही; इव—मानो; अभ्येत्य—की ओर आकर; शिरः—सिर; तस्य—उसका; दुरात्मनः—दुष्ट; जहार—अलग कर लिया; मुष्टिना—अपनी मुट्ठी से; एव—केवल; अङ्ग—हे राजन्; सह—साथ; चूड-मणिम्—सिर के मणि को; विभुः—सर्वशक्तिमान भगवान् ने।

हे राजन्, शक्तिशाली भगवान् ने दूर से ही शंखचूड़ को पकड़ लिया मानो निकट से हो और तब अपनी मुट्ठी से उस दुष्ट के सिर को चूड़ामणि समेत धड़ से अलग कर दिया।

शङ्खचूडं निहत्यैवं मणिमादाय भास्वरम् ।

अग्रजायाददात्प्रीत्या पश्यन्तीनां च योषिताम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

शङ्खचूडम्—शंखचूड़ को; निहत्य—मारकर; एवम्—इस तरह; मणिम्—मणि को; आदाय—लाकर; भास्वरम्—चमकीली; अग्र-जाय—अपने बड़े भाई (बलराम) को; अददात्—दे दिया; प्रीत्या—प्रसन्नतापूर्वक; पश्यन्तीनाम्—देखते हुए; च—तथा; योषिताम्—स्त्रियों के।

इस प्रकार शंखचूड़ असुर को मारकर तथा उसकी चमकीली मणि लेकर भगवान् कृष्ण ने इसे अपने बड़े भाई को बड़ी प्रसन्नतापूर्वक गोपियों के सामने भेंट किया।

तात्पर्य : विभिन्न गोपियों ने शायद सोचा था कि गोविन्द उनमें से किसी एक को वह बहुमूल्य मणि देंगे किन्तु उनके बीच होड़ रोकने के लिए श्रीकृष्ण ने प्रसन्नतापूर्वक अपने बड़े भाई बलराम को वह मणि दे दी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''नन्द महाराज की रक्षा तथा शंखचूड़ का वध'' नामक चौंतीसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पैंतीस

कृष्ण के वनविहार के समय गोपियों द्वारा कृष्ण का गायन

इस अध्याय में गोपियों के गीत हैं, जिन्हें वे कृष्ण के प्रति अपना विरह-भाव व्यक्त करने के लिए तब गाती हैं जब दिन के समय कृष्ण जंगल चले जाते हैं।

ज्यों ज्यों श्रीकृष्ण से गोपियों का विरह-भाव तीव्र होता जाता है त्यों त्यों उनके नाम, रूप, गुण तथा लीलाएँ उनके हृदयों में एक ही साथ प्रकट होने लगती हैं। इस प्रकार वे मिलकर गाती हैं कि ''कृष्ण का सौन्दर्य सबों के मन को आकृष्ट करने वाला है। जब वे त्रिभंग होकर अपनी बाँसुरी बजाते हैं, तो आकाश में अपने पतियों के साथ विचरण करती हुई सिद्धों की पत्नियाँ उनके प्रति आकृष्ट हो जाती हैं और बाह्य वास्तविकता को भूल जाती हैं। चरागाह में बैल, गौवें तथा अन्य पशु हर्षविभोर हो उठते हैं और अपने दाँतों के बीच में बिना चबाई घास दबाये शान्त खड़े रहते हैं तथा बनाए गये चित्रों से प्रतीत होते हैं। यहाँ तक कि अचेत नदियाँ भी बहना बन्द कर देती हैं।

''जरा देखो तो! जब कृष्ण वनवासी वस्त्र पहन लेते हैं और अपनी बाँसुरी बजाकर गौवों के नाम पुकारते हैं, तो वृक्ष तथा लताएँ तक प्रेमविभोर हो उठती हैं जिससे उनके अंग-प्रत्यंग में व्रण उत्पन्न हो

जाते हैं और उनका रस अश्रुधारा की तरह फूट पड़ता है। कृष्ण की बाँसुरी की ध्वनि सरोवर के सारसों, हंसों तथा अन्य पक्षियों की आँखों को गहन ध्यान में बन्द करा देती है। आकाश में बादल उनकी वंशी की ध्वनि का अनुकरण करते हुए धीमे स्वर में गरजते हैं और इन्द्र, शिव तथा ब्रह्मा जैसे संगीतविशारद भी चकित हो उठते हैं। जिस तरह हम गोपियाँ कृष्ण को अपना सर्वस्व अर्पित करने को आतुर रहती हैं उसी तरह श्याम-हिरण की पत्नियाँ हमारा अनुकरण करती हुईं उनका पीछा करती हैं।

''जब कृष्ण व्रज लौटते होते हैं, तो वे निरन्तर बाँसुरी बजाते हैं और उनके तरुण संगी उनका यशोगान करते हैं और ब्रह्मा तथा अन्य प्रमुख देवता उनके चरणकमलों की पूजा करने आते हैं।''

इस तरह कृष्ण के तीव्र विरह का अनुभव करती हुईं गोपियाँ उनकी लीलाओं का गायन करती हैं।

श्रीशुक उवाच

गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुतचेतसः ।
कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; गोप्यः—गोपियाँ; कृष्णे—कृष्ण के; वनम्—वन को; याते—जाने पर; तम्—उसके; अनुद्रुत—पीछा करते; चेतसः—जिनके मन; कृष्ण-लीलाः—कृष्ण की दिव्य लीलाएँ; प्रगायन्त्यः—जोर जोर से गाती हुई; निन्युः—बिताया; दुःखेन—दुख के साथ; वासरान्—दिन।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब भी कृष्ण वन को जाते थे तो गोपियों के मन उन्हीं के पीछे भाग जाते थे और इस तरह युवतियाँ उनकी लीलाओं का गान करते हुए खिन्नतापूर्वक अपने दिन बिताती थीं।

तात्पर्य : यद्यपि गोपियाँ रात्रि के समय रासनृत्य में कृष्ण के प्रत्यक्ष संग का आनन्द लेती थीं किन्तु दिन में कृष्ण अपना सामान्य कार्य करने में—जंगल में गौवें चराने में—लगे रहते थे। उस समय गोपियों के मन उनके साथ चले जाते किन्तु उन बेचारियों को गाँव में रहकर अपने गृहकार्य करने पड़ते थे। इस तरह वियोग की पीड़ा सहते हुए वे कृष्ण की दिव्य लीलाओं का गायन करती रहती थीं।

श्रीगोप्य ऊचुः

वामबाहुकृतवामकपोलो
वल्गितभ्रुरधरार्पितवेणुम् ।
कोमलाङ्गुलिभिराश्रितमार्गं
गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः ॥ २ ॥

व्योमयानवनिताः सह सिद्धै-
विस्मितास्तदुपधार्य सलज्जाः ।
काममार्गणसमर्पितचित्ताः
कश्मलं ययुरपस्मृतनीव्यः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-गोप्यः ऊचुः—गोपियों ने कहा; वाम—बायीं; बाहु—भुजा पर; कृत—रखकर; वाम—बाएँ; कपोलः—गाल को; वल्गित—हिलती हुई; भ्रुः—भौंहें; अधर—होंठों पर; अर्पित—रखी; वेणुम्—बाँसुरी को; कोमल—सुकुमार; अङ्गुलिभिः—अपनी अँगुलियों से; आश्रित-मार्गम्—बन्द किये गये छेद; गोप्यः—हे गोपियो; ईरयति—बजाते हैं; यत्र—जहाँ; मुकुन्दः—कृष्ण; व्योम—आकाश में; यान—विचरण करती; वनिताः—स्त्रियाँ; सह—साथ; सिद्धैः—सिद्ध देवताओं के; विस्मिताः—चकित; तत्—उसे; उपधार्य—सुनकर; स—सहित; लज्जाः—लाज; काम—कामवासना का; मार्गण—पीछा करते; समर्पित—अर्पित; चित्ताः—उनके मन; कश्मलम्—कष्ट; ययुः—अनुभव किया; अपस्मृत—भूलकर; नीव्यः—कमरबंध।

गोपियों ने कहा : जब मुकुन्द अपने होंठों पर रखी बाँसुरी के छेदों को अपनी सुकुमार अँगुलियों से बन्द करके उसे बजाते हैं, तो वे अपने बाएँ गाल को अपनी बाईं बाँह पर रखकर अपनी भौंहों को नचाने लगते हैं। उस समय आकाश में अपने पतियों अर्थात् सिद्धों समेत विचरण कर रही सिद्धपत्नियाँ चकित हो उठती हैं। जब ये स्त्रियाँ वंशी की ध्वनि सुनती हैं, तो उनके मन कामवासना से चलायमान हो उठते हैं और अपनी पीड़ा में उन्हें इसकी भी सुधि नहीं रह जाती कि उनके कमरबंध शिथिल हुए जा रहे हैं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि इस अध्याय में गोपियों के उन कथनों का संकलन है जिन्हें वे वृन्दावन में छोटी छोटी टोलियों में इधर-उधर खड़ी होकर समय समय पर व्यक्त करती थीं।

हन्त चित्रमबलाः शृणुतेदं
हारहास उरसि स्थिरविद्युत् ।
नन्दसूनुरयमार्तजनानां
नर्मदो यर्हि कूजितवेणुः ॥ ४ ॥
वृन्दशो व्रजवृषा मृगगावो
वेणुवाद्यहृतचेतस आरात् ।
दन्तदष्टकवला धृतकर्णा
निद्रिता लिखितचित्रमिवासन् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

हन्त—ओह; चित्रम्—आश्चर्य; अबलाः—हे बालाओ; शृणुत—सुनो; इदम्—यह; हार—गले के हार सदृश (चमकीला); हासः—हँसी; उरसि—वक्षस्थल पर; स्थिर—अचल; विद्युत्—बिजली; नन्द-सूनुः—नन्द महाराज का पुत्र; अयम्—यह; आर्त—दुखी; जनानाम्—मनुष्यों के लिए; नर्म—प्रसन्नता का; दः—देने वाला; यर्हि—जब; कूजित—ध्वनित; वेणुः—वंशी; वृन्दशः—झुंडों में; व्रज—चरागाह में रखे गये; वृषाः—बैल; मृग—हिरण; गावः—गाएँ; वेणु—बाँसुरी के; वाद्य—बजाने से; हृत—चुराये गये; चेतसः—मन; आरात्—दूरी पर; दन्त—अपने दाँतों से; दष्ट—काटा गया; कवलाः—कौर; धृत—खड़ा किये हुए; कर्णाः—अपने कान; निद्रिताः—सुप्त; लिखित—अंकित; चित्रम्—चित्र; इव—सदृश; आसन्—थे।

हे बालाओ, दुखियों को आनन्द देने वाला यह नन्द का बेटा अपने वक्षस्थल पर अविचल दामिनी वहन करता है और इसकी हँसी रत्नजटित हार जैसी है। अब जरा कुछ विचित्र बात सुनो। जब वह अपनी बाँसुरी बजाता है, तो बहुत दूरी पर खड़े व्रज के बैल, हिरण तथा गौवें के झुंड के झुंड इस ध्वनि से मोहित हो जाते हैं। वे सब जुगाली करना बंद कर देते हैं और अपने कानों को खड़ा कर लेते हैं (चौकन्ने हो जाते हैं)। वे स्तम्भित होकर ऐसे लगते हैं मानो सो गये हों या चित्रों में बनी आकृतियाँ हों।

तात्पर्य : *स्थिरविद्युत्* शब्द लक्ष्मीजी का द्योतक है क्योंकि वे भगवान् के वक्षस्थल पर निवास करती हैं। जब वृन्दावन के पशु बाँसुरी की ध्वनि सुनते हैं, तो आनन्द के मारे वे स्तम्भित हो जाते हैं और अपना चारा चबाना बन्द कर देते हैं और इसे वे निगल नहीं सकते। कृष्ण के विरह में गोपियाँ भगवान् के वंशीवादन के असाधारण प्रभाव पर आश्चर्य करती हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी ने सामासिक पद *हार-हास* की व्याख्या जिसमें भगवान् कृष्ण की मुसकान की तुलना एक हार से की गई है, इस प्रकार की है, ''वह व्यक्ति जिसकी हँसी रत्नजटित हार के समान स्पष्ट चमकने वाली है'' या कि ''वह जिसकी हँसी उसके रत्नजटित हारों से प्रतिबिम्बित होती है'' क्योंकि जब कृष्ण वंशी बजाते हैं, तो वे अपना सिर नीचे झुकाकर मन्द-मन्द हँसते हैं। इस शब्द का यह भी अर्थ हो सकता है—''वह जिसकी हँसी अपने तेज को, रत्नजटित हार की तरह, उसके वक्षस्थल पर डाल रही है'' अथवा ''वह जिसका हार उसकी हँसी के समान चमकीला है।''

बर्हिणस्तबकधातुपलाशै-
बंद्धमल्लपरिबर्हविडम्बः ।
कर्हिचित्सबल आलि स गोपै-
र्गाः समाह्वयति यत्र मुकुन्दः ॥ ६ ॥
तर्हि भग्नगतयः सरितो वै
तत्पदाम्बुजरजोऽनिलनीतम् ।
स्पृहयतीर्वयमिवाबहुपुण्याः
प्रेमवेपितभुजाः स्तिमितापः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

बर्हिण—मोरों के; स्तबक—पंखों से; धातु—रंगीन खनिज (गेरू); पलाशैः—तथा पत्तियों से; बद्ध—व्यवस्थित; मल्ल—कुश्ती लड़ने वाले या पहलवान का; परिबर्ह—वेश; विडम्बः—अनुकरण करने वाला; कर्हिचित्—कभी कभी; स-बलः—

बलराम सहित; आलि—हे गोपी; सः—वह; गोपैः—ग्वालबालों के साथ; गाः—गौवों को; समाह्वयति—बुलाता है; यत्र—जब; मुकुन्दः—मुकुन्द; तर्हि—तब; भग्न—टूटी; गतयः—उनकी गति, हिलना-डुलना; सरितः—नदियाँ; वै—निस्सन्देह; तत्—उसके; पद-अम्बुज—चरणकमलों की; रजः—धूलि; अनिल—वायु से; नीतम्—लाई हुई; स्पृहयतीः—लालसा करती हुई; वयम्—हम सब; इव—जिस तरह; अबहु—कुछ कुछ; पुण्याः—पुण्यकर्म; प्रेम—भगवत्प्रेम के कारण; वेपित—काँपती; भुजाः—बाहें (लहरें); स्तिमित—रुक गया; आपः—जल।

हे प्रिय गोपी, कभी कभी कृष्ण अपने को पत्तियों, मोरपंखों तथा रंगीन खनिजों से सजाकर पहलवान का वेश बनाते हैं। तत्पश्चात् वे बलराम तथा ग्वालबालों के साथ बैठकर गौवों को बुलाने के लिए अपनी बाँसुरी बजाते हैं। उस समय नदियाँ बहना बन्द कर देती हैं, उनका जल उस आनन्द से स्तम्भित हो उठता है, जिसे वे उस वायु की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करते हुए अनुभव करती हैं, जो उनके लिए भगवान् के चरणकमलों की धूल लाएगा। किन्तु हमारी ही तरह नदियाँ अधिक पवित्र नहीं हैं, अतः वे प्रेमवश काँपते हुए बाँहों से उनकी प्रतीक्षा करती रहती हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर गोपियाँ कह रही हैं कि कृष्ण की बाँसुरी की ध्वनि नदी जैसी जड़ वस्तुओं को भी चेतन बनाती है, जिससे वे आनन्द से स्तम्भित हो जाती हैं। जिस तरह गोपियाँ सदैव कृष्ण के शारीरिक सान्निध्य में नहीं रह सकती थीं उसी तरह नदियाँ भगवान् के चरणकमलों तक नहीं आ सकतीं थीं। यद्यपि वे भगवान् को चाहती थीं किन्तु आनन्द के मारे उनका हिलना-डुलना रुक जाता था और उनकी लहरों रूपी भुजाएँ भगवत्प्रेम में काँपने लगती थीं।

अनुचरैः समनुवर्णितवीर्य
आदिपूरुष इवाचलभूतिः ।
वनचरो गिरितटेषु चरन्ती-
र्वेणुनाह्वयति गाः स यदा हि ॥ ८ ॥
वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं
व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः ।
प्रणतभारविटपा मधुधाराः
प्रेमहृष्टतनवो ववृषुः स्म ॥ ९ ॥
दर्शनीयतिलको वनमाला-
दिव्यगन्धतुलसीमधुमत्तैः ।
अलिकुलैरलघु गीतामभीष्ट-
माद्रियन्यर्हि सन्धितवेणुः ॥ १० ॥
सरसि सारसहंसविहङ्गा-

श्चारुगीताहृतचेतस एत्य ।
हरिमुपासत ते यतचित्ता
हन्त मीलितदृशो धृतमौनाः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अनुचरैः—साथियों के द्वारा; समनुवर्णित—विस्तार से वर्णित होकर; वीर्यः—पराक्रम; आदि-पूरुषः—आदिपुरुष; इव—सदृश; अचल—स्थिर; भूतिः—ऐश्वर्य; वन—वन में; चरः—इधर-उधर घूमते; गिरि—पर्वतों के; तटेषु—पार्श्व में, तराई में; चरन्तीः—चरती हुई; वेणुना—अपनी बाँसुरी से; आह्वयति—बुलाता है; गाः—गौवों को; सः—वह; यदा—जब; हि—निस्सन्देह; वन-लताः—जंगल की लताओं; तरवः—तथा वृक्षों ने; आत्मनि—अपने में; विष्णुम्—भगवान् विष्णु को; व्यञ्जयन्त्यः—प्रकट करते हुए; इव—मानो; पुष्प—फूलों; फल—तथा फलों से; आढ्याः—सम्पन्न; प्रणत—झुके हुए; भार—भार से; विटपाः—डालें; मधु—मधुर रस की; धाराः—धाराएँ; प्रेम—प्रेम से; हृष्ट—रोमांचित; तनवः—शरीर (तने); ववृषुः स्म—वर्षा की; दर्शनीय—देखने में आकर्षक लोगों में; तिलकः—सर्वश्रेष्ठ; वन-माला—जंगल के फूलों से बनी माला पर; दिव्य—अलौकिक; गन्ध—सुगन्ध; तुलसी—तुलसी के फूलों की; मधु—शहद जैसी मिठास से; मत्तैः—प्रमत्त; अलि—भौंरों के; कुलैः—झुंडों से; अलघु—प्रबल; गीतम्—गायन; अभीष्टम्—इच्छित; आद्रियन्—कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करते हुए; यर्हि—जब; सन्धित—रखा; वेणुः—अपनी बाँसुरी; सरसि—झील में; सारस—सारस पक्षी; हंस—हंस; विहङ्गाः—तथा अन्य पक्षी; चारु—मनोहर; गीत—(वंशी के) गीत से; हृत—चुराये गये; चेतसः—मन; एत्य—आगे आकर; हरिम्—भगवान् कृष्ण को; उपासत—पूजा करते हैं; ते—वे; यत—वश में; चित्ताः—मन; हन्त—हाय; मीलित—बन्द; दृशः—उनकी आँखें; धृत—धारण किया हुआ; मौनाः—मौन।

कृष्ण अपने सखाओं के साथ जंगल में घूमते फिरते हैं। ये सखा उनके शानदार कार्यों का जोरशोर से यशगान करते हैं। इस तरह वे पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर की तरह अपने अक्षय ऐश्वर्य का प्रदर्शन करते प्रतीत होते हैं। जब गाएँ पर्वत की तलहटी में घूमती हैं और कृष्ण अपनी वंशी की तान से उन्हें बुलाते हैं, तो वृक्ष तथा जंगल की लताएँ, प्रत्युत्तर में, फूलों तथा फलों से इतनी लद जाती हैं कि वे अपने हृदयों के भीतर भगवान् विष्णु को प्रकट करती प्रतीत होती हैं। जब भार से उनकी शाखाएँ नीचे झुक जाती हैं, तो उनके तनों के तन्तु तथा लताएँ भगवत्प्रेम से रोम जैसी उठ खड़ी होती हैं और वृक्ष तथा लताएँ दोनों ही मधुर रस की वर्षा करने लगते हैं।

कृष्ण द्वारा पहनी गयी माला के तुलसी के फूलों की मधु जैसी दिव्य गंध से उन्मत्त भौंरों के समूह उनके लिए उच्च स्वर से गुंजार करने लगते हैं और पुरुषों में सर्वाधिक सुन्दर वह कृष्ण अपने अधरों पर अपनी वंशी रखकर और उसे बजाकर उनके गीत की धन्यवाद-सहित प्रशंसा करते हैं। तब मनोहारी वंशी-गीत सारसों, हंसों तथा झील में रहने वाले अन्य पक्षियों के चित्त को चुरा लेता है। निस्सन्देह ये सभी अपनी आँखें बन्द किये और मौन साधे उनके पास जाते हैं और गहन ध्यान में उन पर अपनी चेतना को स्थिर करते हुए उनकी पूजा करते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इन श्लोकों पर कई चमत्कारी टीकाएँ की हैं। उन्होंने दृष्टान्त दिया है कि जिस तरह गृहस्थ वैष्णवजन निकट आ रही किसी संकीर्तन टोली को सुनते हैं, तो

वे आह्लादित होकर नमस्कार करते हैं, उसी तरह वृन्दावन के वृक्षों तथा लताओं ने जब कृष्ण की वंशी सुनी तो वे आह्लादित हो उठे और उन्होंने अपनी शाखाओं तथा लताओं को नीचे झुका दिया। श्लोक १० में आगत *दर्शनीयतिलक* शब्द न केवल यह सूचित करता है कि भगवान् (देखने में) "सर्वश्रेष्ठ" हैं अपितु उन्होंने वृन्दावन के जंगल की खनिज पदार्थयुक्त मिट्टी से मिली गेरू से आकर्षक लाल तिलक लगाकर अपने को अलंकृत किया।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर यह भी इंगित करते हैं कि यद्यपि तुलसी कई प्रकार से परम आदरित है किन्तु सामान्यतया अत्यन्त सुगन्धित वृक्ष नहीं मानी जाती। फिर भी प्रात:काल तुलसी से ऐसी दिव्य गन्ध निकलती है, जिसे दिव्य पुरुष ही समझ पाते हैं, सामान्य व्यक्ति नहीं। हाँ, वे भौंरें जो भगवान् द्वारा पहनी पुष्पमाला के चारों ओर मँडराते हैं अवश्य ही इस सुगन्ध की कदर करते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती *भागवत* (३.१५.१९) से उद्धरण देते हैं कि वैकुण्ठ के सर्वाधिक पौधे तक तुलसीदेवी की विशिष्टता की प्रशंसा करते हैं।

श्लोक १० में *संधितवेणु:* शब्द सूचित करता है कि कृष्ण ने अपने होंठों पर वंशी को मजबूती से रखा था। और इस वंशी से निकली तान निश्चय ही सर्वाधिक मोहक ध्वनि है जैसाकि इस अध्याय में गोपियों ने कहा है।

सहबलः स्रगवतंसविलासः
सानुषु क्षितिभृतो व्रजदेव्यः ।
हर्षयन्यर्हि वेणुरवेण
जातहर्ष उपरम्भति विश्वम् ॥ १२॥

महदतिक्रमणशङ्कितचेता
मन्दमन्दमनुगर्जति मेघः ।
सुहृदमभ्यवर्षत्सुमनोभि-
श्छायया च विदधत्प्रतपत्रम् ॥ १३॥

शब्दार्थ

सह-बलः—बलराम के साथ; स्रक्—फूल की माला; अवतंस—सिर पर आभूषण की तरह; विलासः—खेलखेल में पहनकर; सानुषु—तलहटी में; क्षिति-भृतः—पर्वत की; व्रज-देव्यः—हे वृन्दावन की देवियो (गोपियो); हर्षयन्—हर्ष उत्पन्न करते हुए; यर्हि—जब; वेणु—उनकी वंशी की; रवेण—प्रतिध्वनि से; जात-हर्षः—हर्षित होकर; उपरम्भति—आस्वादन कराते हैं; विश्वम्—सारे जगत को; महत्—महापुरुष के; अतिक्रमण—अवमानना; शङ्कित—डरा हुआ; चेताः—मन में; मन्द-मन्दम्—अत्यन्त धीरे धीरे; अनुगर्जति—बदले में गरजता है; मेघः—बादल; सुहृदम्—अपने मित्र के ऊपर; अभ्यवर्षत्—वर्षा करता है;

सुमनोभिः—फूलों से; छायया—अपनी छाया से; च—तथा; विदधत्—प्रदान करते हुए; प्रतपत्रम्—सूर्य से रक्षा के लिए छाता।

हे व्रज-देवियो, जब कृष्ण बलराम के साथ खेलखेल में अपने सिर पर फूलों की माला धारण करके पर्वत की ढालों पर विहार करते हैं, तो वे अपनी वंशी की गूँजती ध्वनि से सबों को आह्लादित कर देते हैं। इस तरह वे सम्पूर्ण विश्व को प्रमुदित करते हैं। उस समय महान् पुरुष के अप्रसन्न होने के भय से भयभीत होकर निकटवर्ती बादल उनके साथ होकर मंद मंद गर्जना करता है। यह बादल अपने प्रिय मित्र कृष्ण पर फूलों की वर्षा करता है और धूप से बचाने के लिए छाते की तरह छाया प्रदान करता है।

विविधगोपचरणेषु विदग्धो
वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः ।
तव सुतः सति यदाधरबिम्बे
दत्तवेणुरनयत्स्वरजातीः ॥ १४॥
सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः
शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः ।
कवय आनतकन्धरचित्ताः
कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः ॥ १५॥

शब्दार्थ

विविध—अनेक; गोप—ग्वालों के; चरणेषु—कार्यों में; विदग्धः—पटु; वेणु—वंशी के; वाद्ये—बजाने में; उरुधा—कई गुना; निज—अपनी; शिक्षाः—जिसकी शिक्षाएँ; तव—तुम्हारा; सुतः—बेटा; सति—हे पवित्र स्त्री (यशोदा); यदा—जब; अधर—होंठों पर; बिम्बे—बिम्ब फलों जैसे लाल; दत्त—रखी हुई; वेणुः—वंशी; अनयत्—ले आया; स्वर—संगीत ध्वनि की; जातीः—जातियाँ; सवनशः—उच्च, मध्यम तथा निम्न आरोहों से; तत्—उसे; उपधार्य—सुनकर; सुर-ईशाः—मुख्य देवता; शक्र—इन्द्र; शर्व—शिवजी; परमेष्ठि—तथा ब्रह्मा; पुरः-गाः—आदि; कवयः—विद्वान; आनत—झुका लिया; कन्धर—गर्दनें; चित्ताः—तथा मन; कश्मलम् ययुः—मोहित हो गये; अनिश्चित—निश्चय कर पाने में असमर्थ; तत्त्वाः—सार।

हे सती यशोदा माता, गौवों के चराने की कला में निपुण आपके लाड़ले ने वंशी बजाने की कई शैलियाँ खोज निकाली हैं। जब वह अपने बिम्ब सदृश लाल होंठों पर अपनी वंशी रखता है और विविध तानों में स्वर निकालता है, तो इस ध्वनि को सुनकर ब्रह्मा, शिव, इन्द्र तथा अन्य प्रधान देवता मोहित हो जाते हैं। यद्यपि वे महान् विद्वान अधिकारी हैं तो भी वे उस संगीत का सार निश्चित नहीं कर पाते; इसलिए वे अपना सिर तथा मन से नतमस्तक हो जाते हैं।

तात्पर्य : *तव सुतः सति* पद इस बात का सूचक है कि यहाँ पर माता यशोदा भी भगवान् कृष्ण का गंभीरता से गुणगान करने वाली गोपियों में से थीं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार शक्र

(इन्द्र) इत्यादि देवताओं में उपेन्द्र, अग्नि तथा यमराज सम्मिलित थे और शर्व (शिव) इत्यादि देवताओं में कात्यायनी, स्कन्द तथा गणेश थे। इसी तरह परमेष्ठि (ब्रह्मा) के साथ चारों कुमार तथा नारद थे। इस तरह ब्रह्माण्ड के सबसे बुद्धिमान व्यक्ति भी भगवान् के मोहक संगीत का सुचारु रूप से विश्लेषण कर पाने में असमर्थ थे।

निजपदाब्जदलैर्ध्वजवज्र-
नीरजाङ्कुशविचित्रललामैः ।
व्रजभुवः शमयन्खुरतोदं
वर्ष्मधुर्यगतिरीडितवेणुः ॥ १६ ॥
व्रजति तेन वयं सविलास-
वीक्षणार्पितमनोभववेगाः ।
कुजगतिं गमिता न विदामः
कश्मलेन कवरं वसनं वा ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

निज—अपने; पद-अब्ज—चरणकमलों के; दलैः—फूलों की पंखड़ियों जैसे; ध्वज—पताका; वज्र—वज्र; नीरज—कमल; अङ्कुश—तथा अंकुश का; विचित्र—भाँति भाँति के; ललामैः—चिह्नों से; व्रज—व्रज की; भुवः—भूमि को; शमयन्—शान्त करते हुए; खुर—गाय के खुरों से; तोदम्—पीड़ा; वर्ष्म—अपने शरीर से; धुर्य—जिस तरह हाथी की; गतिः—चाल; ईडित—प्रशंसित; वेणुः—जिसकी वंशी; व्रजति—चलता है; तेन—उससे; वयम्—हम; सविलास—क्रीड़ायुक्त; वीक्षण—चितवन से; अर्पित—अर्पित; मनः-भव—कामवासना का; वेगाः—मंथन; कुज—वृक्षों जैसी; गतिम्—चाल (गति का अभाव); गमिताः—प्राप्त किया हुआ; न विदामः—हम नहीं जान पातीं; कश्मलेण—अपने मोह के कारण; कवरम्—चोटी; वसनम्—अपने वस्त्र; वा—अथवा।

जब कृष्ण अपने कमल-दल जैसे पाँवों से व्रज में घूमते हैं, तो भूमि पर पताका, वज्र, कमल तथा अंकुश जैसे प्रतीकों के स्पष्ट चिन्ह बनते जाते हैं और वे पृथ्वी को गौवों के खुरों से अनुभव होने वाली पीड़ा से प्रशमित करते हैं। जब वे अपनी विख्यात बाँसुरी बजाते हैं, तो उनका शरीर हाथी की अदा में झूमता है। इस तरह हम गोपियाँ, जो कृष्ण की विनोदप्रिय चितवन के कारण कामदेव द्वारा चंचल हो उठती हैं, वृक्षों की तरह स्तब्ध खड़ी रह जाती हैं और हमें अपने बालों की लर तथा वस्त्रों के शिथिल पड़ने जाने की भी सुध नहीं रह जाती।

तात्पर्य : यहाँ पर गोपियाँ श्रीकृष्ण के प्रति अपने माधुर्य आकर्षण का वर्णन कर रही हैं किन्तु अब माता यशोदा उनके साथ नहीं हैं। श्रील जीव गोस्वामी तथा अन्य आचार्यों की टीकाओं से यह स्पष्ट है कि इस अध्याय के कथन विभिन्न अवसरों तथा स्थानों पर व्यक्त हुए हैं। यह स्वाभाविक है क्योंकि गोपियाँ अहर्निश श्रीकृष्ण के विचारों में सदैव मग्न रहती थीं।

मणिधरः क्वचिदागणयन्गा
मालया दयितगन्धतुलस्याः ।
प्रणयिनोऽनुचरस्य कदांसे
प्रक्षिपन्भुजमगायत यत्र ॥ १८ ॥

क्वणितवेणुरववञ्चितचित्ताः
कृष्णमन्वसत कृष्णगृहिण्यः ।
गुणगणार्णमनुगत्य हरिण्यो
गोपिका इव विमुक्तगृहाशाः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

मणि—मणियों की (लड़); धरः—धारण किये; क्वचित्—कहीं; आगणयन्—गिनते हुए; गाः—गौवों को; मालया—फूलों की माला से; दयित—अपनी प्रिया; गन्ध—सुगन्ध पाकर; तुलस्याः—तुलसी के फूल जिनपर; प्रणयिनः—प्रेमी; अनुचरस्य—संगी का; कदा—किसी समय; अंसे—कंधे पर; प्रक्षिपन्—फेंकते हुए; भुजम्—अपनी बाँह; अगायत—गाया; यत्र—जब; क्वणित—बजायी हुई; वेणु—बाँसुरी की; रव—ध्वनि से; वञ्चित—चुराये गये; चित्ताः—हृदय; कृष्णम्—कृष्ण के; अन्वसत—निकट बैठ गईं; कृष्णा—काले हिरण की; गृहिण्यः—पत्नियाँ; गुण-गण—समस्त गुणों के; अर्णम्—समुद्र; अनुगत्य—पास आकर; हरिण्यः—हिरनियाँ; गोपिकाः—गोपियाँ; इव—सदृश्य; विमुक्त—त्यागकर; गृह—घर तथा परिवार की; आशाः—अपनी आशाएँ।

अब कृष्ण कहीं पर अपनी मणियों की लड़ी में गौवों की गिनती करते हुए खड़े हैं। वे तुलसी के फूलों की माला पहने हैं जिसमें उनकी प्रिया की सुगन्ध बसती है और अपनी एक बाँह अपने प्रिय ग्वालमित्र के कन्धे पर रखे हुए हैं। ज्योंही कृष्ण अपनी बाँसुरी बजाकर गाते हैं, तो उस गीत से कृष्ण-हिरणों की पत्नियाँ आकृष्ट होती हैं और वे दिव्य गुणों के सागर कृष्ण तक पहुँचकर उनके पास बैठ जाती हैं। वे भी हम गोपियों की तरह पारिवारिक जीवन के सुख की सारी आशाएँ त्याग चुकी हैं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि तीसरे पहर श्रीकृष्ण नये वस्त्र पहनते है और तब अपनी गायों को घर वापस लाने के लिए निकलते है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती वृन्दावन की दिव्य गायों के विषय में निम्नलिखित जानकारी प्रदान करते हैं—"श्वेत, लाल, काली तथा पीली—इन चार रंगों में से प्रत्येक रंग के पच्चीस उपविभाग थे जिससे कुल मिलाकर १०० रंग थे। यही नहीं चन्दन-तिलक जैसे रंग के गुणों वाली या मृदंग जैसे सिर के आकारों वाली गौवों के आठ और समूह बनते हैं। गायों के रंग और आकार के इन १०८ समूहों की गिनती के लिए कृष्ण १०८ मणियों वाली लड़ (माला) का प्रयोग करते हैं..."।

अत: जब कृष्ण "हे धवली!" (एक श्वेत गाय का नाम) लेकर पुकारते हैं, तो सफेद गायों का

पूरा झुंड का झुंड आगे आ जाता है और जब वे हंसी, चन्दनी, गंगा, मुक्ता इत्यादि कहकर पुकारते हैं, तो सफेद गायों के चौबीस और झुंड आगे आते हैं। लाल रंग वाली गौवें अरुणी, कुंकुम, सरस्वती कहलाती हैं और काले रंग वाली गौवें श्यामला, धूमला, यमुना इत्यादि कहलाती हैं। पीले रंग वाली गौवें पीता, पिंगला, हरितालिका इत्यादि कही जाती हैं। जिन गौवों के मस्तक पर तिलक लगा रहता है वे चित्रिता, चित्रतिलका, दीर्घतिलका, तिर्यकतिलका कहलाती हैं। अन्य झुंड की गौएँ मृदंगमुखी, सिंहमुखी इत्यादि कहलाती हैं।

इस तरह नाम लेकर पुकारने पर गौवें आगे आती जाती हैं और जब सबों को जंगल से घर वापस लाने का समय होता है, तो कृष्ण, यह विचार कर कि कहीं कोई गाय रह न जाए, उनकी गिनती अपनी मणिमाला में करते हैं।

कुन्ददामकृतकौतुकवेषो
गोपगोधनवृतो यमुनायाम् ।
नन्दसूनुरनघे तव वत्सो
नर्मदः प्रणयिणां विजहार ॥ २० ॥
मन्दवायुरुपवात्यनुकूलं
मानयन्मलयजस्पर्शेन ।
वन्दिनस्तमुपदेवगणा ये
वाद्यगीतबलिभिः परिवव्रुः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कुन्द—चमेली के फूलों की; दाम—माला से; कृत—बनायी गई; कौतुक—क्रीड़ापूर्ण; वेषः—वेशभूषा; गोप—गोपबालों द्वारा; गोधन—तथा गायों द्वारा; वृतः—घिरा हुआ; यमुनायाम्—यमुना के तट पर; नन्द-सूनुः—नन्द महाराज का बेटा; अनघे—हे निष्पाप महिला; तव—तुम्हारा; वत्सः—लाड़ला बेटा; नर्म-दः—मनोरंजन कराने वाला; प्रणयिणाम्—अपने प्रिय संगियों के; विजहार—खेल चुका है; मन्द—धीमी; वायुः—वायु; उपवाति—बहती है; अनुकूलम्—अनुकूल; मानयन्—आदर दिखलाते हुए; मलय-ज—चन्दन (की सुगंध) के; स्पर्शेन—स्पर्श से; वन्दिनः—प्रशंसा करने वाले; तम्—उसको; उपदेव—लघु देवता की; गणाः—विभिन्न कोटियों के सदस्य; ये—जो; वाद्य—वाद्य यंत्रों वाले संगीत; गीत—गायन; बलिभिः—तथा उपहारों सहित; परिवव्रुः—घेर लिया है।

हे निष्पाप यशोदा, तुम्हारे लाड़ले नन्दनन्दन ने चमेली की माला से अपना विचित्र वेश सजा लिया है और इस समय वह यमुना के तट पर गौवों तथा ग्वालबालों के साथ अपने प्रिय संगियों का मनोरंजन कराते हुए खेल रहे हैं। मन्द वायु अपनी सुखद चन्दन-सुगंध से उनका आदर कर रही है और विविध उपदेवता चारों ओर बन्दीजनों के समान खड़े होकर अपना संगीत, गायन तथा श्रद्धा के उपहार भेंट कर रहे हैं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि गोपियाँ पुनः व्रज की महारानी माता यशोदा के आँगन में आई हुई हैं। दिन-भर गौवें चराने तथा खेलने के बाद कृष्ण के वृन्दावन लौटने का वर्णन करके गोपियाँ यशोदा को प्रोत्साहित कर रही हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका है कि यहाँ पर जिन उपदेवों का उल्लेख है उनमें गन्धर्वगण सम्मिलित हैं, जो अपने दैवी गायन तथा नृत्य के लिए विख्यात हैं।

वत्सलो व्रजगवां यदगध्रो
वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः ।
कृत्स्नगोधनमुपोह्य दिनान्ते
गीतवेणुरनुगेडितकीर्तिः ॥ २२॥
उत्सवं श्रमरुचापि दृशीना-
मुन्नयन्खुररजश्छुरितस्त्रक् ।
दित्सयैति सुहृदासिष एष
देवकीजठरभूरुडुराजः ॥ २३॥

शब्दार्थ

वत्सलः—स्नेहिल; व्रज-गवाम्—व्रज की गौवों के प्रति; यत्—क्योंकि; अग—पर्वत को; ध्रः—धारण करने वाले; वन्द्यमान—पूजित; चरणः—उनके पैर; पथि—रास्ते पर; वृद्धैः—वृद्ध या गुरुजनों द्वारा; कृत्स्न—सम्पूर्ण; गो-धनम्—गौवों का समूह; उपोह्य—एकत्र करके; दिन—दिन का; अन्ते—अन्त होने पर; गीता-वेणुः—अपनी वंशी बजाते हुए; अनुग—सँगियों से; ईडित—प्रशंसित; कीर्तिः—यश; उत्सवम्—उत्सव; श्रम—थकान से; रुचा—रंजित; अपि—भी; दृशीनाम्—आँखों के लिए; उन्नयन्—उठाते हुए; खुर—गौवों के खुरों से; रजः—धूल से; छुरित—सनी; स्त्रक्—माला; दित्सया—इच्छा से; एति—आ रहा है; सुहृत्—अपने मित्रों को; आशिषः—उनकी इच्छाएँ; एषः—यह; देवकी—माता यशोदा के; जठर—गर्भ से; भूः—उत्पन्न; उडु-राजः—चन्द्रमा।

व्रज की गौवों के प्रति अत्यधिक स्नेह के कारण कृष्ण गोवर्धनधारी बने। दिन ढलने पर अपनी सारी गौवों को समेट कर वे अपनी बाँसुरी पर गीत की धुन बजाते हैं और उनके मार्ग के किनारे खड़े उच्च देवतागण उनके चरणकमलों की पूजा करते हैं तथा उनके साथ चल रहे ग्वालबाल उनके यश का गान करते हैं। उनकी माला गौवों के खुरों से उठी धूल से धूसरित है और थकान के कारण बढ़ी हुई उनकी सुन्दरता हरएक के नेत्रों के लिए आह्लादयुक्त उत्सव प्रस्तुत करने वाली है। अपने मित्रों की इच्छाएँ पूरी करने के लिए उत्सुक, कृष्ण माता यशोदा की कोख से उदित चन्द्रमा हैं।

तात्पर्य : आचार्यों के अनुसार यहाँ पर गोपियाँ वृन्दावन के घरों की अटारियों पर चढ़ गईं जिससे वे कृष्ण को घर वापस आते ही शीघ्रातिशीघ्र देख सकें। माता यशोदा अपने पुत्र की वापसी के लिए

अत्यन्त उत्सुक थीं अत: उन्होंने सबसे लम्बी सुन्दर युवा गोपी को बुलाकर ऊपर जाने के लिए कहा जिससे वह देख सके कि वे कब पहुँचते हैं। स्पष्ट है कि कृष्ण को घर आते रास्ते में कुछ विलम्ब हो गया था क्योंकि रास्ते में खड़े बड़े बड़े देवता उनके चरणकमलों की पूजा करने लगे थे।

मदविघूर्णितलोचन ईषन्-
मानदः स्वसुहृदां वनमाली ।
बदरपाण्डुवदनो मृदुगण्डं
मण्डयन्कनककुण्डललक्ष्म्या ॥ २४॥
यदुपतिर्द्विरदराजविहारो
यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते ।
मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं
मोचयन्व्रजगवां दिनतापम् ॥ २५॥

शब्दार्थ

मद—नशे से; विघूर्णित—घूमती हुई; लोचनः—आँखें; ईषत्—कुछ कुछ; मान-दः—मान प्रदर्शित करते; स्व-सुहृदाम्—अपने शुभचिन्तक मित्रों को; वन-माली—वन के पुष्पों की माला पहने; बदर—बेर फल की तरह; पाण्डु—श्वेताभ; वदनः—मुख; मृदु—कोमल; गण्डम्—गाल; मण्डयन्—अलंकृत किये हुए; कनक—सुनहरे; कुण्डल—कान के आभूषणों की; लक्ष्म्या—शोभा से; यदु-पतिः—यदुवंश के स्वामी; द्विरद-राज—शाही हाथी की तरह; विहारः—खेलकूद; यामिनी-पतिः—रात्रि का पति (चन्द्रमा); इव—सदृश; एषः—वह; दिन-अन्ते—दिन बीतने पर, संध्या-समय; मुदित—प्रसन्न; वक्त्रः—मुख; उपयाति—आ रहा है; दुरन्तम्—दुर्लंघ्य; मोचयन्—भगाते हुए; व्रज—व्रज की; गवाम्—गौवों के या जिनपर कृपा की जानी है उनके; दिन—दिन के; तापम्—पीड़ादायी धूप।

जब श्रीकृष्ण अपने शुभचिन्तक सखाओं को आदरपूर्वक शुभकामनाएँ देते हैं, तो उनकी आँखें थोड़ी-सी इस तरह घूमती हैं जैसे नशे में हों। वे फूलों की माला पहने हैं और उनके कोमल गालों की शोभा उनके सुनहरे कुण्डलों की चमक से तथा बदर बेर के रंग वाले उनके मुख की श्वेतता से बढ़ जाती है। रात्रि के स्वामी चन्द्रमा के सदृश अपने प्रसन्न मुख वाले यदुपति राजसी हाथी की अदा से चल रहे हैं। इस तरह वे व्रज की गौवों को दिन-भर की गर्मी से छुटकारा दिलाते हुए संध्या-समय घर लौटते हैं।

तात्पर्य : *गवाम्* शब्द संस्कृत के गो शब्द से व्युत्पन्न है, जिसके दो अर्थ हैं—''गाय'' तथा ''इन्द्रियाँ।'' इस तरह श्रीकृष्ण ने व्रज लौटकर वृन्दावन के वासियों को दिन-भर अपने से विलग रहने से उत्पन्न उनकी आँखों तथा अन्य इन्द्रियों की पीड़ा को हर लिया।

श्रीशुक उवाच

एवं व्रजस्त्रियो राजन्कृष्णलीलानुगायती: ।
रेमिरेऽह:सु तच्चित्तास्तन्मनस्का महोदया: ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस तरह; व्रज-स्त्रिय:—व्रज की स्त्रियाँ; राजन्—हे राजन्; कृष्ण-लीला—कृष्ण की लीलाओं के विषय में; अनुगायती:—निरन्तर कीर्तन करती; रेमिरे—आनन्द लूटतीं; अह:सु—दिन के समय; तत्-चित्ता:—उनमें लीन इनके हृदय; तत्-मनस्का:—उनके मन; महा—महान; उदया:—उत्सव का-सा अनुभव करते।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, इस तरह वृन्दावन की स्त्रियाँ दिन के समय कृष्ण की लीलाओं का निरन्तर गान करते हुए आनन्द लूटतीं और उन सबों के मन तथा हृदय उन्हीं में लीन रहकर अपार उत्सवभाव से भरे रहते।

तात्पर्य : इस श्लोक से निश्चय ही पुष्टि हो जाती है कि भग्न-हृदया गोपियों की तथाकथित पीड़ा वास्तव में महान् आध्यात्मिक आनन्द है। भौतिक स्तर पर पीड़ा तो पीड़ा अर्थात् एक कालावधि है किन्तु आध्यात्मिक स्तर पर तथाकथित पीड़ा आध्यात्मिक आनन्द का एक भिन्न प्रकार मात्र है। पश्चिमी देशों में लोग विभिन्न स्वादों वाली आइसक्रीम मिलाकर स्वाद के अद्‌भुत मिश्रण उत्पन्न करने में मजा लेते हैं। इसी तरह आध्यात्मिक स्तर पर श्रीकृष्ण तथा उनके भक्तगण आध्यात्मिक आनन्द के स्वादों को कुशलतापूर्वक मिश्रित करते हैं। इस तरह प्रत्येक दिवस गोपियों के लिए एक महान् उत्सव बन जाता था।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ‘‘कृष्ण के वनविहार के समय गोपियों द्वारा कृष्ण का गायन’’ नामक पैंतीसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छत्तीस

वृषभासुर अरिष्ट का वध

इस अध्याय में बतलाया गया है कि कृष्ण ने किस तरह अरिष्टासुर का वध किया और जब कंस को नारद से यह ज्ञात हुआ कि कृष्ण तथा बलराम वसुदेव के पुत्र हैं, तो उसकी क्या प्रतिक्रिया हुई।

अरिष्टासुर कृष्ण तथा बलराम दोनों को मार डालना चाहता था अत: उसने पैने सींगो वाले विशाल बैल का रूप धारण किया। जब अरिष्टासुर ग्वालों के ग्राम के निकट आया तो सारे लोग भयभीत हो उठे किन्तु भगवान् ने उन्हें शान्त किया और जब बैल ने उन पर आक्रमण किया, तो उन्होंने उसके दोनों

सींग पकड़ लिए और उसे छह गज की दूरी पर फेंक दिया। यद्यपि वह शक्तिहीन हो चुका था किन्तु वह पुनः कृष्ण पर वार करना चाहता था। इस तरह, पसीने से भीगते हुए, उसने भगवान् पर एक बार फिर वार किया। इस बार कृष्ण ने उसके सींगों को दबोच लिया, उसे भूमि पर पटक दिया और गीले कपड़ों की लादी के समान उसे पछाड़ दिया। उस असुर ने रक्त वमन किया और अपने प्राण त्याग दिये। तत्पश्चात् देवताओं तथा ग्वालों से सम्मानित होकर कृष्ण तथा बलराम अपने गाँव लौट आये।

कुछ काल अनन्तर देवर्षि नारदमुनि राजा कंस से भेंट करने गये। उन्होंने राजा को बतलाया कि कृष्ण तथा बलराम वास्तव में नन्द के नहीं अपितु वसुदेव के पुत्र थे। वसुदेव ने तो कंस के भय से इन दोनों बालकों को नन्द की देखरेख में रख दिया था। यही नहीं, नारद ने कहा कि कंस की मृत्यु उन्हीं के हाथों होगी।

जब कंस ने यह सुना तो वह भय तथा क्रोध से काँपने लगा और अत्यधिक क्षुब्ध होकर सोचने लगा कि कृष्ण तथा बलराम को किस तरह नष्ट किया जाय। उसने चाणूर तथा मुष्टिक नामक असुरों को बुलाया और आदेश दिया कि मल्लयुद्ध में वे उन दोनों भाइयों का वध कर दें। तत्पश्चात् अपने कर्तव्यों को पूरा करने में दक्ष अक्रूर का हाथ पकड़ कर कंस ने उसे व्रज जाकर उन दोनों बालकों को मथुरा लाने के लिए राजी किया। अक्रूर ने कंस का आदेश शिरोधार्य किया और अपने घर चला गया।

श्री बादरायणिरुवाच
अथ तर्ह्यागतो गोष्ठमरिष्टो वृषभासुरः ।
महीम्महाककुत्कायः कम्पयन्खुरविक्षताम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री बादरायणिः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—आगे; तर्हि—तब; आगतः—आया; गोष्ठम्—ग्वालों के गाँव में; अरिष्टः—अरिष्ट नामक; वृषभ-असुरः—वृषभासुर; महीम्—पृथ्वी को; महा—विशाल; ककुत्—डिल्ला वाला; कायः—शरीर; कम्पयन्—कँपाते हुए; खुर—अपने खुरों से; विक्षताम्—क्षत-विक्षत।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : तत्पश्चात् अरिष्टासुर गोपों के गाँव में आया। वह बड़े डिल्ले वाले बैल के रूप में प्रकट होकर अपने खुरों से पृथ्वी को क्षत-विक्षत करके उसे कँपाने लगा।

तात्पर्य : *श्री विष्णु पुराण* के अनुसार अरिष्टासुर संध्या-समय कृष्ण के गाँव में प्रविष्ट हुआ जब वे गोपियों के साथ नाचने की तैयारी कर रहे थे।

प्रोदोषार्धे कदाचित्तु रासासक्ते जनार्दने।

त्रासयन् समदो गोष्ठमरिष्टः समुपागतः ॥

"एक बार धुँधलके के समय जब जनार्दन रासनृत्य करने के लिए उत्सुक थे तो अरिष्टासुर उन्मत्त होकर ग्वालों के ग्राम में घुसकर उन्हें डराने लगा।"

रम्भमाणः खरतरं पदा च विलिखन्महीम् ।
उद्यम्य पुच्छं वप्राणि विषाणाग्रेण चोद्धरन् ।
किञ्चित्किञ्चिच्छकृन्मुञ्चन्मूत्रयन्स्तब्धलोचनः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

रम्भमाणः—रँभाते हुए; खर-तरम्—खूब तेजी से; पदा—अपने खुरों से; च—तथा; विलिखन्—खुरचते हुए; महीम्—पृथ्वी को; उद्यम्य—ऊपर उठाकर; पुच्छम्—अपनी पूँछ; वप्राणि—बाँधों को; विषाण—अपने सींगों की; अग्रेण—नोकों से; च—तथा; उद्धरन्—उठाकर चीरते हुए; किञ्चित् किञ्चित्—कुछ कुछ; शकृत्—मल; मुञ्चन्—त्याग करते हुए; मूत्रयन्—पेशाब करते हुए; स्तब्ध—चमकदार; लोचनः—आँखें।

अरिष्टासुर ने जोर से रँभाते हुए धरती को खुरों से कुरेदा। वह अपनी पूँछ उठाये और अपनी आँखें चमकाता अपने सींगों के नौकों से बाँधों को चीरने लगा और बीच बीच में थोड़ा थोड़ा मल-मूत्र भी छोड़ता जाता था।

यस्य निर्ह्रादितेनाङ्ग निष्ठुरेण गवां नृणाम् ।
पतन्त्यकालतो गर्भाः स्रवन्ति स्म भयेन वै ॥ ३ ॥
निर्विशन्ति घना यस्य ककुद्यचलशङ्कया ।
तं तीक्ष्णशृङ्गमुद्वीक्ष्य गोप्यो गोपाश्च तत्रसुः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसकी; निर्ह्रादितेन—गर्जन से; अङ्ग—हे राजा (परीक्षित); निष्ठुरेण—निष्ठुर, निर्मोही; गवाम्—गौवों के; नृणाम्—मनुष्यों के; पतन्ति—गिर जाते हैं; अकालतः—असमय; गर्भाः—गर्भ; स्रवन्ति स्म—गर्भपात हो जाता है; भयेन—भय से; वै—निस्सन्देह; निर्विशन्ति—प्रवेश करते हैं; घनाः—बादल; यस्य—जिसके; ककुदि—डिल्ले पर; अचल—पर्वत के रूप में; शङ्कया—भ्रम से; तम्—उसको; तीक्ष्ण—तेज; शृङ्गम्—सींग; उद्वीक्ष्य—देखकर; गोप्यः—गोपियाँ; गोपाः—तथा ग्वाले; च—तथा; तत्रसुः—भयभीत हो उठे।

हे राजन्, तीखे सींगो वाले अरिष्टासुर के डिल्ले को पर्वत समझकर बादल उसके आसपास मँडराने लगे, अतः जब ग्वालों तथा गोपियों ने उस असुर को देखा तो वे भयभीत हो उठे। दरअसल उसकी गर्जना की तीव्र गूँज इतनी भयावह थी कि गर्भिणी गौवों तथा स्त्रियों के गर्भपात हो गये।

तात्पर्य : वैदिक वाङ्मय में गर्भपात की कई श्रेणियाँ मान्य हैं—*आचतुर्थाद् भवेत् स्रावः पातः पञ्चमषष्ठयोः/ अत ऊर्ध्वं प्रसूतिः स्यात्*—"चौथे मास तक समय से पूर्व शिशु-जन्म *स्राव* कहलाता है,

पाँचवें तथा छठे मास में *पात* तथा इसके बाद *प्रसूति* (जन्म) कहलाता है।''

पशवो दुद्रुवुर्भीता राजन्सन्त्यज्य गोकुलम् ।
कृष्ण कृष्णेति ते सर्वे गोविन्दं शरणं ययुः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

पशवः—घरेलू पशु; दुद्रुवुः—भाग गये; भीताः—डर के मारे; राजन्—हे राजन्; सन्त्यज्य—छोड़कर; गो-कुलम्—चरागाह; कृष्ण कृष्ण इति—''कृष्ण कृष्ण'' इस तरह; ते—वे (वृन्दावनवासी); सर्वे—सभी; गोविन्दम्—गोविन्द की; शरणम्—शरण में; ययुः—गये।

हे राजन्, घरेलू पशु भय के मारे चरागाह से भाग गये और सारे निवासी ''कृष्ण कृष्ण'' चिल्लाते हुए शरण के लिए भगवान् गोविन्द के पास दौड़े।

भगवानपि तद्वीक्ष्य गोकुलं भयविद्रुतम् ।
मा भैष्टेति गिराश्वास्य वृषासुरमुपाह्वयत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् ने; अपि—निस्सन्देह; तत्—उसे; वीक्ष्य—देखकर; गो-कुलम्—गोकुल को; भय—भय से; विद्रुतम्—भगाया हुआ; मा भैष्ट—डरना मत; इति—इस प्रकार; गिरा—शब्दों से; आश्वास्य—आश्वासन देकर; वृष-असुरम्—वृषासुर को; उपाह्वयत्—ललकारा।

जब भगवान् ने देखा कि सारा गोकुल भय के मारे भगा जा रहा है, तो उन्होंने यह कहकर उन्हें आश्वासन दिया, ''डरना मत।'' तत्पश्चात् उन्होंने वृषासुर को इस प्रकार ललकारा।

गोपालैः पशुभिर्मन्द त्रासितैः किमसत्तम ।
मयि शास्तरि दुष्टानां त्वद्विधानां दुरात्मनाम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

गोपालैः—ग्वालों के साथ; पशुभिः—तथा उनके पशुओं के साथ; मन्द—हे मूर्ख; त्रासितैः—डरे हुए; किम्—क्या प्रयोजन; असत्तम—रे सर्वाधिक दुष्ट; मयि—मेरे रहते; शास्तरि—दण्ड देने वाले के रूप में; दुष्टानाम्—दुष्टों का; त्वत्-विधानाम्—तुम जैसे; दुरात्मनाम्—दुरात्माओं का।

रे मूर्ख! रे दुष्ट! तुम क्या सोचकर ग्वालों को तथा उनके पशुओं को डरा रहे हो जबकि मैं तुम जैसे दुरात्माओं को दण्ड देने के लिए यहाँ हूँ।

इत्यास्फोत्याच्युतोऽरिष्टं तलशब्देन कोपयन् ।
सख्युरंसे भुजाभोगं प्रसार्यावस्थितो हरिः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार बोलते हुए; आस्फोत्य—अपनी भुजाएँ ठोंकते; अच्युतः—अच्युत भगवान्; अरिष्टम्—अरिष्टासुर को; तल—अपनी हथेली की ताल से; शब्देन—शब्द के साथ; कोपयन्—क्रोध करते हुए; सख्युः—मित्र के; अंसे—कन्धे पर; भुज—अपनी बाँह; आभोगम्—साँप के शरीर (जैसी); प्रसार्य—फैलाकर; अवस्थितः—खड़े थे; हरिः—हरि भगवान्।

ये शब्द कहकर अच्युत भगवान् हरि ने अपनी हथेलियों से अपनी बाँहें ठोंकीं जिससे जोर की ध्वनि से अरिष्ट और अधिक क्रुद्ध हो उठा। तब भगवान् अपनी बलशाली सर्प जैसी बाँह अपने एक सखा के कन्धे पर डालकर असुर की ओर मुँह करके खड़े हो गये।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण उस अज्ञानी असुर के प्रति उपेक्षा प्रकट करने लगे।

सोऽप्येवं कोपितोऽरिष्टः खुरेणावनिमुल्लिखन् ।
उद्यत्पुच्छभ्रमन्मेघः क्रुद्धः कृष्णमुपाद्रवत् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अपि—निस्सन्देह; एवम्—इस प्रकार; कोपितः—क्रुद्ध; अरिष्टः—अरिष्ट; खुरेण—अपने खुरों से; अवनिम्—पृथ्वी को; उल्लिखन्—कुरेदते हुए; उद्यत्—उठी हुई; पुच्छ—अपनी पूँछ के भीतर; भ्रमन्—घूमते हुए; मेघः—बादल; क्रुद्धः—तमतमाया; कृष्णम्—कृष्ण की ओर; उपाद्रवत्—आक्रमण किया, झपटा।

इस तरह उकसाने पर अरिष्ट ने अपने एक खुर से धरती कुरेदी और तब वह क्रोध के साथ कृष्ण पर झपटा। ऊपर उठी हुई उसकी पूँछ के चारों ओर बादल मँडरा रहे थे।

अग्रन्यस्तविषाणाग्रः स्तब्धासृग्लोचनोऽच्युतम् ।
कटाक्षिप्याद्रवत्तूर्णमिन्द्रमुक्तोऽशनिर्यथा ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अग्र—आगे; न्यस्त—झुकाते हुए; विषाण—अपने सींगों की; अग्रः—नोक; स्तब्ध—टकटकी लगाये; असृक्—लाल, रक्त जैसी; लोचनः—आँखें; अच्युतम्—भगवान् कृष्ण को; कट-आक्षिप्य—कटाक्ष करते हुए; अद्रवत्—दौड़ा; तूर्णम्—पूरे वेग से; इन्द्र-मुक्तः—इन्द्र द्वारा छोड़ा गया; अशनिः—वज्र; यथा—सदृश।

अपने सींगों के अग्रभाग सामने की ओर सीधे किये हुए तथा अपनी रक्तिम आँखों की बगल से तिरछे घूर कर भय दिखाकर अरिष्ट पूरे वेग से कृष्ण की ओर झपटा मानो इन्द्र द्वारा चलाया गया वज्र हो।

गृहीत्वा शृङ्गयोस्तं वा अष्टादश पदानि सः ।
प्रत्यपोवाह भगवान्गजः प्रतिगजं यथा ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

गृहीत्वा—पकड़कर; शृङ्गयोः—दोनों सींगों से; तम्—उसको; वै—निस्सन्देह; अष्टादश—अठारह; पदानि—पग; सः—उस; प्रत्यपोवाह—पीछे फेंका; भगवान्—भगवान् ने; गजः—हाथी; प्रति-गजम्—अपने प्रतिद्वन्द्वी हाथी को; यथा—जिस तरह।

भगवान् कृष्ण ने अरिष्टासुर को सींगों से पकड़ लिया और उसे अठारह पग पीछे फेंक दिया

जिस तरह एक हाथी अपने प्रतिद्वन्दी हाथी से लड़ते समय करता है।

सोऽपविद्धो भगवता पुनरुत्थाय सत्वरम् ।
आपतत्स्विन्नसर्वाङ्गो निःश्वसन्क्रोधमूर्च्छितः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अपविद्धः—पीछे फेंका गया; भगवता—भगवान् द्वारा; पुनः—फिर; उत्थाय—उठकर; सत्वरम्—तुरन्त; आपतत्—आक्रमण किया; स्विन्न—पसीने से तर; सर्व—सारे; अङ्गः—अंग; निःश्वसन्—हाँफते हुए; क्रोध—क्रोध से; मूर्च्छितः—बेहोश, मूर्च्छित।

इस प्रकार भगवान् द्वारा पीछे धकेले जाने पर, वृषासुर फिर से उठ खड़ा हुआ और हाँफता हुआ तथा सारे शरीर पर आए पसीने से तर अचेत-क्रोध में आकर उन पर झपटा।

तमापतन्तं स निगृह्य शृङ्गयोः
पदा समाक्रम्य निपात्य भूतले ।
निष्पीडयामास यथार्द्रमम्बरं
कृत्वा विषाणेन जघान सोऽपतत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; आपतन्तम्—आक्रमण करते; सः—उसने; निगृह्य—पकड़कर; शृङ्गयोः—दोनों सींगों से; पदा—अपने पाँव से; समाक्रम्य—कुचलते हुए; निपात्य—उसे गिराकर; भू-तले—भूमि पर; निष्पीडयाम् आस—उसे पीटा; यथा—जिस तरह; अर्द्रम्—गीले; अम्बरम्—कपड़े को; कृत्वा—करके; विषाणेन—उसकी सींग से; जघान—प्रहार किया; सः—वह; अपतत्—गिर पड़ा।

ज्योंही अरिष्ट ने आक्रमण किया, भगवान् कृष्ण ने उसके सींग पकड़ लिये और अपने पाँव से उसे धरती पर गिरा दिया। तब भगवान् ने उसे ऐसा लताड़ा मानो कोई गीला वस्त्र हो और अन्त में उन्होंने उसका एक सींग उखाड़कर उसीसे उसकी तब तक पिटाई की जब तक वह दण्ड के समान धराशायी नहीं हो गया।

असृग्वमन्मूत्रशकृत्समुत्सृजन्
क्षिपंश्च पादाननवस्थितेक्षणः ।
जगाम कृच्छ्रं निरृतेरथ क्षयं
पुष्पैः किरन्तो हरिमीडिरे सुराः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

असृक्—रक्त; वमन्—उगलता; मूत्र—पेशाब; शकृत्—तथा मल; समुत्सृजन्—बुरी तरह से निकालता हुआ; क्षिपन्—फेंकते हुए; च—तथा; पादान्—अपने पाँवों को; अनवस्थित—अस्थिर; ईक्षणः—आँखें; जगाम—चला गया; कृच्छ्रम्—पीड़ा के साथ; निरृतेः—मृत्यु के; अथ—तब; क्षयम्—धाम को; पुष्पैः—फूलों से; किरन्तः—बिखेरते हुए; हरिम्—भगवान् कृष्ण पर; ईडिरे—पूजा की; सुराः—देवताओं ने।

रक्त वमन करते तथा बुरी तरह से मल-मूत्र त्याग करते, अपने पाँव पटकते तथा अपनी आँखें इधर-उधर पलटते, अरिष्टासुर बड़ी ही पीड़ा के साथ मृत्यु के धाम चला गया। देवताओं ने कृष्ण पर फूल बरसाकर उनका सम्मान किया।

एवं कुकुद्मिनं हत्वा स्तूयमानः द्विजातिभिः ।
विवेश गोष्ठं सबलो गोपीनां नयनोत्सवः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कुकुद्मिनम्—डिल्ले वाले (वृषासुर) को; हत्वा—मारकर; स्तूयमानः—प्रशंसित हुए; द्विजातिभिः—ब्राह्मणों द्वारा; विवेश—प्रविष्ट हुआ; गोष्ठम्—ग्वालों के गाँव में; स-बलः—बलराम सहित; गोपीनाम्—गोपियों के; नयन—आँखों के लिए; उत्सवः—उत्सव स्वरूप।

इस तरह अरिष्ट नामक वृषासुर का वध करने के बाद, गोपियों के नेत्रों के लिए उत्सव स्वरूप कृष्ण, बलराम सहित ग्वालों के ग्राम में प्रविष्ट हुए।

तात्पर्य : इस श्लोक में कृष्ण के भीतर आध्यात्मिक गुणों में जो सूक्ष्म विरोधाभास है उसका उदाहरण दिया गया है। इस चार पंक्तियों वाले श्लोक में एकही साथ हम जान पाते हैं कि भगवान् कृष्ण ने बलशाली दुष्ट असुर का वध किया और उनके कैशोर सौन्दर्य से उनकी सखियों को परम आनन्द मिला। भगवान् कृष्ण वज्र की तरह कठोर हैं और गुलाब के फूल की तरह कोमल जो उनके प्रति हमारे मनोभावों पर निर्भर करता है। अरिष्टासुर कृष्ण तथा उनके सारे साथियों को मारना चाहता था अतः भगवान् ने उसे गीले कपड़े की भाँति पछाड़ कर मार डाला। किन्तु गोपियाँ कृष्ण से प्रेम करती थीं अतः उन्होंने उनसे माधुर्य प्रेम का युवा बालक की तरह आदान-प्रदान किया।

अरिष्टे निहते दैत्ये कृष्णेनाद्भुतकर्मणा ।
कंसायाथाह भगवान्नारदो देवदर्शनः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अरिष्टे—अरिष्ट के; निहते—मारे जाने पर; दैत्ये—असुर; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; अद्भुत-कर्मणा—अद्भुत कर्मों वाले; कंसाय—कंस से; अथ—तब; आह—कहा; भगवान्—शक्तिशाली मुनि; नारदः—नारद ने; देव-दर्शनः—जिनकी दृष्टि दैवतुल्य है।

अद्भुत काम करने वाले श्रीकृष्ण द्वारा अरिष्टासुर का वध हो जाने पर नारदमुनि राजा कंस से बतलाने गये। दैवीदृष्टि वाले इस शक्तिशाली मुनि ने राजा से इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : *देवदर्शन* पद को कई प्रकारों से समझा जा सकता है, जो सभी इस कथन के संदर्भ तथा

तात्पर्य से मेल रखते हैं। *देव* का अर्थ है ''देवता'' और *दर्शन:* का अर्थ है ''देखना'' या ''महान् व्यक्तित्व का दर्शन।'' इस तरह *देवदर्शन* जो कि नारदमुनि का नाम है, यह सूचित करता है कि नारद को भगवान् का दर्शन करने की सिद्धि प्राप्त थी या कि नारद का दर्शन करना ईश्वरदर्शन के तुल्य है क्योंकि नारद भगवान् के शुद्ध प्रतिनिधि हैं तथा नारद का दर्शन देवताओं के दर्शन के समान है जिन्हें देव भी कहा जाता है। एक ही शब्द देवदर्शन के इतने अर्थ श्रीमद्भागवत की भाषा-समृद्धि को दर्शाने वाले हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने पुराणों से २० श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमें कृष्ण द्वारा अरिष्टासुर वध किये जाने के बाद राधा तथा कृष्ण के मध्य हुई परिहास-वार्ता का वर्णन है। इस वार्ता में जिसे आचार्य ने बड़ी कृपापूर्वक उद्धृत किया है, राधाकुण्ड तथा श्यामकुण्ड की उत्पत्ति के विषय में वर्णन मिलता है। ये श्लोक निम्नवत् हैं—

मास्मान् स्पृशाद्य वृषभार्दन हन्त मुग्धा
घोरोऽसुरोऽयम् अयि कृष्ण तदप्ययं गौ:।
वृतो यथा द्विज इहास्त्ययि निष्कृति: किं
शुद्ध्येद्भवांस्त्रिभुवनस्थिततीर्थकृच्छ्रात् ॥

''भोली-भाली युवा गोपियों ने कहा : हे वृष (बैल) के हन्ता कृष्ण! अब तुम हमें मत छुओ। ओह, यद्यपि अरिष्ट विकराल असुर था, किन्तु था तो बैल ही। अत: तुम्हें उसी तरह प्रायश्चित्त करना होगा जिस तरह वृत्रासुर को मारने के बाद इन्द्र ने किया था। किन्तु तुम तीनों लोकों में हर तीर्थस्थल में जाने का कष्ट उठाए बिना अपने को किस तरह शुद्ध कर सकोगे?''

किं पर्यटामि भुवनान्यधुनैव सर्वा
आनीय तीर्थविततीः करवाणि तासु।
स्नानं विलोकयत तावदिदं मुकुन्द:
प्रोच्यैव तत्र कृतवान् बत पार्ष्णिघातम्॥

''[कृष्ण ने उत्तर दिया] ''मैं ब्रह्माण्ड-भर में क्यों घूमूँगा? मैं असंख्य तीर्थस्थलों को यहीं ले आऊँगा और उनमें स्नान कर लूँगा। देखो न!'' यह कहकर भगवान् मुकुन्द ने अपनी एडी से भूमि पर

प्रहार किया।

पातालतो जलमिदं किल भोगवत्या

आयातमत्र निखिला अपि तीर्थसङ्घाः।

आगच्छतेति भगवद्वचसा त एत्य

तत्रैव रेजुरथ कृष्ण उवाच गोपीः॥

''[तब उन्होंने कहा] ''यह रहा भोगवती नदी का जल जो पाताल खण्ड से आ रहा है। और अब, हे तीर्थस्थानो! आप सब यहीं आ जाइये।'' जब भगवान् ने ये शब्द कहे तो सारे तीर्थ वहाँ पहुँच गये और उनके समक्ष प्रकट हुए। तब कृष्ण ने गोपियों को इस प्रकार सम्बोधित किया।''

तीर्थानि पश्यत हरेर्वचसा तवैवं

नैव प्रतीम इति ता अथ तीर्थवर्याः।

प्रोचुः कृताञ्जलिपुटा लवणाब्धिरस्मि

क्षीराब्धिरस्मि शृणुतामरदीर्घिकास्मि॥

''समस्त तीर्थों को देखो न!''

किन्तु गोपियों ने उत्तर दिया, ''तुम जैसा कह रहे हो वैसा हम नहीं देख पा रहीं''

''तब उन श्रेष्ठ तीर्थों ने हाथ जोड़कर कहा:

''मैं लवण सागर हूँ।''

''मैं क्षीर सागर हूँ।''

''मैं अमर-दीर्घिका हूँ।''

शोणोऽपि सिन्धुरहमस्मि भवामि ताम्र-

पर्णी च पुष्करमहं च सरस्वती च।

गोदावरी रविसुता सरयुः प्रयागो

रेवास्मि पश्यत जलं कुरुत प्रतीतम्॥

''मैं शोण नदी हूँ'' ''मैं सिन्धु नदी हूँ'' ''मैं ताम्रपर्णी हूँ'' ''मैं पुष्कर तीर्थ हूँ'' ''मैं सरस्वती नदी हूँ'' ''और हम हैं गोदावरी, यमुना तथा रेवा नदियाँ और प्रयाग स्थित नदियों का संगम। जरा

हमारे जल को तो देखो।''

स्नात्वा ततो हरिरतिप्रजगल्भ एव

शुद्धः सरोऽप्यकरवं स्थितसर्वतीर्थम्।

युष्माभिरात्मजनुषीह कृतो न धर्मः

कोऽपि क्षितावथ सखीर्निजगाद राधा॥

''स्नान द्वारा शुद्ध हो लेने के बाद भगवान् हरि एकदम अक्खड़ बन गये और उन्होंने कहा, ''मैंने विभिन्न तीर्थों वाले एक सरोवर का निर्माण कर दिया किन्तु तुम गोपियों ने इस पृथ्वी पर ब्रह्मा को प्रसन्न करने के लिए एक भी धार्मिक कृत्य कभी नहीं किया।'' तब श्रीमती राधारानी ने अपनी सखियों को इस तरह से सम्बोधित किया।''

कार्यं मयाप्यतिमनोहरकुण्डमेकं

तस्माद् यतध्वमिति तद्वचनेन ताभिः।

श्रीकृष्णकुण्डतटपश्चिमदिश्यमन्दो

गर्तः कृतो वृषभदैत्यखुरै व्यलोकि॥

''मैं इससे भी अधिक सुन्दर सरोवर बना डालूँगी। अतः तुम लोग चलकर कार्य शुरू करो।'' इन शब्दों को सुनकर गोपियों ने देखा कि अरिष्टासुर के खुरों से श्रीकृष्णकुण्ड के पश्चिम में एक उथला गड्ढा बन गया था।''

तत्रार्द्रमृन्मृदुलगोलततीः प्रतिस्व-

हस्तोद्धृता अनतिदूरगता विधाय।

दिव्यं सरः प्रकटितं घटिकाद्वयेन

ताभिर्विलोक्य सरसं स्मरते स्म कृष्णः॥

''वहीं पास में समस्त गोपियों ने अपने हाथों से मुलायम दलदल भूमि को कुरेदना शुरू कर दिया और इस तरह एक घंटे के थोड़े से समय में एक दिव्य कुण्ड प्रकट हो गया। उनके द्वारा बनाये गये इस सरोवर को देखकर कृष्ण चकित रह गए।''

प्रोचे च तीर्थसलिलै परिपूरयैतन्

मत्कुण्डतः सरसिजाक्षि सहालिभिस्त्वम्।

राधा तदा न न न नेति जगाद् यस्मात्

त्वत्कुण्डनीरम् उरुगोवधपातकाक्तम्॥

''उन्होंने कहा, ''हे कमल-नेत्रों वाली, आगे बढ़ो! तुम तथा तुम्हारी सखियाँ इस तालाब को मेरे तालाब के जल से भरो।''

किन्तु राधा ने उत्तर दिया, ''ना, ना, ना, ना! यह असम्भव है क्योंकि तुम्हारे तालाब का जल गो-वध के भीषण पाप से दूषित है।''

आहृत्य पुण्यसलिलं शतकोटिकुम्भै

सख्यर्बुदेन सह मानसजाह्नवीतः।

एतत् सरः स्वमधुना परिपूरयामि

तेनैव कीर्तिमतुलां तनवानि लोके॥

''मैं अपनी असंख्य गोपी सहेलियों से करोड़ों घड़ों में भराकर मानसगंगा का शुद्ध जल यहाँ मँगवाऊँगी। इस तरह मैं अपने जल से इस तालाब को भरूँगी और इसे सम्पूर्ण जगत में अप्रतिम प्रसिद्ध बना दूँगी।''

कृष्णेङ्गितेन सहसैत्य समस्त तीर्थ

सख्यस्तदीयसरसो धृतदिव्यमूर्तिः।

तुष्टाव तत्र वृषभानुसुतां प्रणम्य

भक्त्या कृताञ्जलिपुटः स्रवदस्रधारः॥

''तब कृष्ण ने उस दैवी पुरुष को इंगित किया जो समस्त तीर्थों का अन्तरंगी था। वह व्यक्ति सहसा कृष्णकुण्ड से उठ खड़ा हुआ और उसने श्रीवृषभानु की पुत्री (राधारानी) को नमस्कार किया। फिर दोनों हाथ जोड़े तथा आँखों से अश्रु ढुलकाते हुए उसने स्तुति करनी प्रारम्भ की।''

देवि त्वदीयमहिमानमवैति सर्व

शास्त्रार्थविन्न च विधिर्न हरो न लक्ष्मीः।

किन्त्वेक एव पुरुषार्थशिरोमणिस्त्वत्-

प्रस्वेदमार्जनपरः स्वयमेव कृष्णः ॥

“हे देवि! समस्त शास्त्रों के वेत्ता ब्रह्मा तक आपकी कीर्ति को नहीं समझ पाते, न ही शिवजी या लक्ष्मी। समस्त मानवीय उद्योग के चरमलक्ष्य केवल कृष्ण ही उसे समझ सकते हैं और जब आप थककर अपने पसीने को धो देती हैं, तो वे अपने को कृतकृत्य मानते हैं।”

यश्चारुयावकरसेन भवत्पदाब्जम्

आरज्य नूपुरमहो निदधाति नित्यम्।

प्राप्य त्वदीयनयनाब्जतटप्रसादं

स्वं मन्यते परमधन्यतमं प्रहृष्यन् ॥

तस्याज्ञयैव सहसा वयमाजगाम

तत्पार्ष्णिघाटकृतकुण्डवरे वसामः।

त्वं चेत्प्रसीदसि करोषि कृपाकटाक्षं

तर्ह्येव तर्षविटपी फलितो भवेन्नः ॥

“वे आपके चरणकमलों को सदैव अमृतमय चारु तथा यावक से लेपित करते रहते हैं और उन्हें घुंघरुओं से सजाते हैं। वे आपके चरणकमलों की अँगुलियों के अग्रभागों को तुष्ट करके हर्ष अनुभव करते हैं और अपने को परम धन्य मानते हैं। उन्हीं की आज्ञा से हम इस सर्वोत्तम कुण्ड में रहने तुरन्त आ गए हैं जिसे उन्होंने अपनी एडी के एक प्रहार से उत्पन्न कर दिया था। किन्तु यदि आप अब हम पर प्रसन्न हो जाँय और अपनी कृपा दृष्टि डालें तो हमारा इच्छा रूपी वृक्ष फलित हो सकता है।”

श्रुत्वा स्तुतिं निखिलतीर्थगणस्य तुष्टा

प्राह स्म तर्षमयि वेदयतेति राधा।

याम त्वदीयसरसीं सफला भवाम

इत्येव नो वर इति प्रकटं तदोचुः ॥

“समस्त तीर्थों की सभा के प्रतिनिधि की यह स्तुति सुनकर श्रीराधा प्रसन्न हो उठीं और बोलीं, “तुम कृपया अपनी इच्छा कह सुनाओ।”

तब उन्होंने स्पष्ट कहा, “हमारा जीवन तभी धन्य होगा जब हम आपके कुण्ड में आ सकें यही वर

हम चाहते हैं।''

आगच्छतेति वृषभानुसुता स्मितास्या

प्रोवाच कान्तवदनाब्जधृताक्षिकोणा।

सख्योऽपि तत्र कृतसम्मतय: सुखाब्धौ

मग्ना विरेजुरखिला स्थिरजङ्गमाश्च॥

''वृषभानु सुता ने अपने प्रियतम को अपनी आँखों की कोरों से देखते हुए मुसकराकर उत्तर दिया, ''कृपया आप आयें।'' उनकी सारी सखियाँ उनके निर्णय को मान गईं और आनन्दमग्न हो गईं। निस्संदेह समस्त चर तथा अचर प्राणियों का सौन्दर्य बढ़ गया।''

प्राप्य प्रसादमथ ते वृषभानुजाया:

श्रीकृष्णकुण्डगततीर्थवरा: प्रसह्य।

भित्त्वेव भित्तिम् अतिवेगत एव राधा-

कुण्डं व्यधु: स्वसलिलै परिपूर्णमेव॥

''श्रीमती राधारानी की कृपा का प्रसाद पाकर श्रीकृष्णकुण्ड में स्थित पवित्र नदियों तथा सरोवरों ने सीमा की दीवारें बलपूर्वक तोड़ दीं और तेजी से अपने जल से राधाकुण्ड को लबालब भर दिया।''

प्रोचे हरि: प्रियतमे तव कुण्डमेतन्

मत्कुण्डतोऽपि महिमाधिकमस्तु लोके।

अत्रैव मे सलिल केलिरिहैव नित्यं

स्नानं यथा त्वमसि तद्वदिमं सरो मे॥

''तब भगवान् हरि बोले, ''हे राधा! तुम्हारा यह कुण्ड सारे विश्व में मेरे कुण्ड से भी अधिक विख्यात हो। मैं यहाँ पर नित्य ही स्नान करने और जल-लीलाएँ करने आया करूँगा। निस्सन्देह, यह सरोवर तुम्हारे समान ही मुझे प्रिय है।''

राधाब्रवीदहमपि स्वसखीभिरेत्य

स्नास्याम्यरिष्टशतमर्दनमस्तु तस्य।

योऽरिष्टमर्दनसरस्युरुभक्तिरत्र

स्नायाद् वसेन्मम स एव महाप्रियोऽस्तु॥

"राधा ने उत्तर दिया, "मैं भी आपके कुंड में स्नान करने आया करूँगी भले ही आप यहाँ पर सैकड़ों अरिष्टासुरों का वध क्यों न करें। भविष्य में अरिष्टासुर को दंड दिये गये स्थान पर स्थित इस सरोवर में जिस किसी को उत्कट भक्ति होगी और जो भी इसमें स्नान करेगा या इसके पास निवास करेगा वह निश्चय ही मुझे अत्यन्त प्रिय होगा।"

रासोत्सवं प्रकुरुते स्म च तत्र रात्रौ

कृष्णाम्बुदः कृतमहारसहर्षवर्षः।

श्रीराधिकाप्रवरविद्युदलंकृतश्री-

स्त्रैलोक्यमध्यविततीकृतदिव्यकीर्तिः॥

"उस रात कृष्ण ने राधाकुण्ड पर रासनृत्य प्रारम्भ किया जिससे आनन्दधारा उमड़ पड़ी। श्रीकृष्ण बादल के समान लगते थे और श्रीमती राधारानी बिजली की तेज चमक के सदृश थीं जो अपने प्रभूत सौन्दर्य से आकाश को पूरित कर रही थीं। इस तरह उनकी दैवी महिमा तीनों लोकों में व्याप्त हो गई।"

अन्तिम टिप्पणी के रूप में यह बतला दिया जाय कि महामुनि होने के कारण नारद समझ गये थे कि अरिष्ट वध के साथ ही कृष्ण की वृन्दावन-लीलाओं का लगभग अन्त हो रहा है अतएव वे कृष्ण की लीलाओं को वृन्दावन से मथुरा में स्थानान्तरित होने को सुगम बनाने की दृष्टि से कंस के पास पहुँचे और उससे बोले।

यशोदायाः सुतां कन्यां देवक्याः कृष्णमेव च ।
रामं च रोहिणीपुत्रं वसुदेवेन बिभ्यता ।
न्यस्तौ स्वमित्रे नन्दे वै याभ्यां ते पुरुषा हताः ॥ १७॥

शब्दार्थ

यशोदायाः—यशोदा की; सुताम्—पुत्री को; कन्याम्—कन्या को; देवक्याः—देवकी के; कृष्णम्—कृष्ण को; एव च—भी; रामम्—बलराम को; च—तथा; रोहिणी-पुत्रम्—रोहिणी का पुत्र; वसुदेवेन—वसुदेव द्वारा; बिभ्यता—भयभीत; न्यस्तौ—रख दिया; स्व-मित्रे—अपने मित्र ने; नन्दे—नन्द महाराज के यहाँ; वै—निस्सन्देह; याभ्याम्—इन दो के द्वारा; ते—तुम्हारे; पुरुषाः—मनुष्य; हताः—मारे गये।

[नारद ने कंस से कहा]: यशोदा की सन्तान वस्तुतः कन्या थी और कृष्ण देवकी का पुत्र

है। यही नहीं, राम रोहिणी का पुत्र है। वसुदेव ने डरकर कृष्ण तथा बलराम को अपने मित्र नन्द महाराज के हाथों में सौंप दिया और इन्हीं दोनों बालकों ने तुम्हारे आदमियों को मारा है।

तात्पर्य : कंस को विश्वास दिलाया गया था कि कृष्ण यशोदा का पुत्र है और देवकी की आठवीं सन्तान कन्या थी। देवकी की आठवीं सन्तान की पहचान कंस के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी क्योंकि भविष्यवाणी हुई थी कि उसकी आठवीं सन्तान कंस का वध करेगी। यहाँ पर नारद कंस को सूचित करते हैं कि देवकी की आठवीं सन्तान दुर्जेय कृष्ण है, जिसका गूढ़ार्थ यह है कि भविष्यवाणी को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण किया जाय। इस समाचार को पाने के बाद अब कंस निश्चित रूप से कृष्ण तथा बलराम को मार डालने में कोई कसर नहीं उठा रखेगा।

निशम्य तद्भोजपतिः कोपात्प्रचलितेन्द्रियः ।
निशातमसिमादत्त वसुदेवजिघांसया ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; तत्—वह; भोज-पतिः—भोज-वंश का स्वामी (कंस); कोपात्—क्रोध से; प्रचलित—विक्षुब्ध; इन्द्रियः—इन्द्रियाँ; निशातम्—तेज; असिम्—तलवार को; आदत्त—उठा लिया; वसुदेव-जिघांसया—वसुदेव को मार डालने की इच्छा से।.

यह सुनकर, भोजपति क्रुद्ध हो उठा और उसकी इन्द्रियाँ उसके वश में नहीं रह पाईं। उसने वसुदेव को मारने के लिए एक तेज तलवार उठा ली।

निवारितो नारदेन तत्सुतौ मृत्युमात्मनः ।
ज्ञात्वा लोहमयैः पाशैर्बबन्ध सह भार्यया ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

निवारितः—रोक दिया गया; नारदेन—नारद द्वारा; तत्-सुतौ—उसके दोनों पुत्र; मृत्युम्—मृत्यु; आत्मनः—अपनी ही; ज्ञात्वा—जानकर; लोह-मयैः—लोहे से बनी; पाशैः—जँजीरों से; बबन्ध—(वसुदेव) को बाँध दिया; सह—समेत; भार्यया—उसकी पत्नी।.

किन्तु नारद ने कंस को यह स्मरण दिलाते हुए रोका कि वसुदेव नहीं अपितु उसके दोनों पुत्र तुम्हारी मृत्यु के कारण बनेंगे। तब कंस ने वसुदेव तथा उसकी पत्नी को लोहे की जंजीरों से बँधवा दिया।

तात्पर्य : कंस को लगा कि वसुदेव को मारने से कोई लाभ नहीं है क्योंकि उसका वध तो वसुदेव के पुत्र कृष्ण तथा बलराम द्वारा होना है। आचार्यों के अनुसार नारद ने कंस को यह भी सलाह दी कि

यदि वह वसुदेव को मार देगा तो उसके दोनों युवा पुत्र भाग सकते हैं अतएव उसे न मारना ही श्रेयस्कर होगा। इसीलिए नारद ने संस्तुति की कि कंस को चाहिए कि वह कृष्ण तथा बलराम को अपनी राजधानी मथुरा में बुलाये।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि नारद ने कंस को यह सूचना देकर वसुदेव तथा देवकी जैसे महान् भक्तों के साथ शत्रुतापूर्ण व्यवहार नहीं किया। वस्तुतः जैसाकि ग्यारहवें स्कंध में बतलाया गया है वसुदेव नारद के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ थे क्योंकि वे कृष्ण के हाथों से कंस की मृत्यु की व्यवस्था करा रहे थे। यही नहीं, वे कृष्ण के मथुरा में आकर रहने और अपने प्रिय पिता से भेंट करने की भी व्यवस्था करा रहे थे।

प्रतियाते तु देवर्षौ कंस आभाष्य केशिनम् ।
प्रेषयामास हन्येतां भवता रामकेशवौ ॥ २० ॥

शब्दार्थ

प्रतियाते—चले जाने पर; तु—तब; देव-ऋषौ—देवर्षि के; कंसः—राजा कंस; आभाष्य—सम्बोधित करते हुए; केशिनम्—केशी नामक असुर को; प्रेषयाम् आस—उसे बुलाया; हन्येताम्—दोनों मारे जाने चाहिए; भवता—तुम्हारे द्वारा; राम-केशवौ—बलराम तथा कृष्ण।

नारद के चले जाने पर राजा कंस ने केशी को बुलाया और उसे आदेश दिया, "जाओ राम तथा कृष्ण का वध करो।"

तात्पर्य : कृष्ण तथा बलराम को मथुरा लाये जाने के पूर्व कंस ने एक और असुर को वृन्दावन भेजने का प्रयत्न किया।

ततो मुष्टिकचाणूर शलतोशलकादिकान् ।
अमात्यान्हस्तिपांश्चैव समाहूयाह भोजराट् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; मुष्टिक-चाणूर-शल-तोशलक-आदिकान्—मुष्टिक, चाणूर, शल, तोशल इत्यादि; अमात्यान्—अपने मंत्रियों को; हस्ति-पान्—अपने महावतों को; च एव—भी; समाहूय—बुलाकर; आह—कहा; भोज-राट्—भोजों के राजा ने।

इसके बाद भोजराज ने मुष्टिक, चाणूर, शल, तोशल इत्यादि अपने मंत्रियों तथा अपने महावतों को भी बुलाया। राजा ने उन्हें इस प्रकार सम्बोधित किया।

भो भो निशम्यतामेतद्वीरचाणूरमुष्टिकौ ।

नन्दव्रजे किलासाते सुतावानकदुन्दुभेः ॥ २२ ॥
रामकृष्णौ ततो मह्यं मृत्युः किल निदर्शितः ।
भवद्भ्यामिह सम्प्राप्तौ हन्येतां मल्ललीलया ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

भोः भोः—मेरे प्रिय (सलाहकारो); निशम्यताम्—सुनो; एतत्—यह; वीर—हे वीरो; चाणूर-मुष्टिकौ—चाणूर तथा मुष्टिक; नन्द-व्रजे—नन्द के ग्वाल-ग्राम में; किल—निस्सन्देह; आसाते—रह रहे हैं; सुतौ—दो पुत्र; आनकदुन्दुभेः—वसुदेव के; राम-कृष्णौ—राम तथा कृष्ण; ततः—उनसे; मह्यम्—मेरी; मृत्युः—मौत; किल—निस्सन्देह; निदर्शितः—सूचित की गई है; भवद्भ्याम्—तुम दोनों के द्वारा; इह—यहाँ; सम्प्राप्तौ—लाये जाकर; हन्येताम्—मार डाले जाने चाहिए; मल्ल—कुश्ती; लीलया—खेल के बहाने से।

मेरे वीरो, चाणूर तथा मुष्टिक, यह सुन लो। आनकदुन्दुभि (वसुदेव) के पुत्र राम तथा कृष्ण नन्द के व्रज में रह रहे हैं। यह भविष्यवाणी हुई है कि ये दोनों बालक मेरी मृत्यु के कारण होंगे। जब वे यहाँ लाए जायँ तो तुम उन्हें कुश्ती लड़ने के बहाने मार डालना।

मञ्चाः क्रियन्तां विविधा मल्लरङ्गपरिश्रिताः ।
पौरा जानपदाः सर्वे पश्यन्तु स्वैरसंयुगम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

मन्चाः—मंच; क्रियन्ताम्—बनाये जाँय; विविधाः—अनेक प्रकार के; मल्ल-रङ्ग—कुश्ती का अखाड़ा; परिश्रिताः—घिरा हुआ; पौराः—नगर के निवासी; जानपदाः—जनपदों के निवासी; सर्वे—सभी; पश्यन्तु—देखें; स्वैर—स्वेच्छापूर्वक; संयुगम्—प्रतिस्पर्द्धा, प्रतियोगिता।

तुम कुश्ती का अखाड़ा (रंगभूमि) तैयार करो जिसके चारों ओर देखने के अनेक मंच हों और नगर तथा जनपदों के सारे निवासियों को इस खुली प्रतियोगिता देखने के लिए ले आओ।

तात्पर्य : *मञ्चाः* शब्द बड़े बड़े ख भों से बनाये गये मंचन स्थल का द्योतक है। कंस उत्सवमय वातावरण चाहता था जिससे कृष्ण तथा बलराम आने से डरें नहीं।

महामात्र त्वया भद्र रङ्गद्वार्युपनीयताम् ।
द्विपः कुवलयापीडो जहि तेन ममाहितौ ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

महा-मात्र—हे महावत; त्वया—तुम्हारे द्वारा; भद्र—मेरे अच्छे आदमी; रङ्ग—अखाड़े के; द्वारि—दरवाजे तक; उपनीयताम्—लाया जाये; द्विपः—हाथी; कुवलयापीडः—कुवलयापीड़ नामक; जहि—विनष्ट कर दो; तेन—उस (हाथी) से; मम—मेरे; अहितौ—शत्रुओं को।

हे महावत, मेरे अच्छे आदमी, तुम अपने हाथी कुवलयापीड को अखाड़े के प्रवेशद्वार पर खड़ा करना और उसके द्वारा मेरे दोनों शत्रुओं को मरवा डालना।

आरभ्यतां धनुर्यागश्चतुर्दश्यां यथाविधि ।
विशसन्तु पशून्मेध्यान्भूतराजाय मीढुषे ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

आरभ्यताम्—शुरू किया जाय; धनुः-यागः—धनुष-यज्ञ; चतुर्दश्याम्—चतुर्दशी के दिन; यथा-विधि—वैदिक आदेशानुसार; विशसन्तु—यज्ञ में भेंट; पशून्—पशुओं को; मेध्यान्—अर्पित करने योग्य; भूत-राजाय—भूतप्रेतों के राजा, शिव को; मीढुषे—वर देने वाले।

वैदिक आदेशों के अनुसार चतुर्दशी के दिन धनुष यज्ञ प्रारम्भ किया जाय। वर-दानी भगवान् शिव को पशु-मेध में उपयुक्त प्रकार के पशु भेंट किये जाँय।

इत्याज्ञाप्यार्थतन्त्रज्ञ आहूय यदुपुङ्गवम् ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं ततोऽक्रूरमुवाच ह ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

इति—इन शब्दों के साथ; आज्ञाप्य—आज्ञा देकर; अर्थ—स्वार्थ के; तन्त्र—सिद्धान्त का; ज्ञः—जानने वाला; आहूय—बुलाकर; यदु-पुङ्गवम्—यदुओं में सर्वाधिक अग्रणी; गृहीत्वा—पकड़कर; पाणिना—अपने हाथ से; पाणिम्—हाथ को; ततः—तब; अक्रूरम्—अक्रूर से; उवाच ह—उसने कहा।

अपने मंत्रियों को इस तरह आदेश दे चुकने के बाद कंस ने यदुश्रेष्ठ अक्रूर को बुलवाया। कंस निजी लाभ निकालने की कला जानता था अतः अक्रूर के हाथों को अपने हाथ में लेकर वह उससे इस प्रकार बोला।

भो भो दानपते मह्यं क्रियतां मैत्रमादृतः ।
नान्यस्त्वत्तो हिततमो विद्यते भोजवृष्णिषु ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

भोः भोः—हे प्रिय; दान—दान के; पते—स्वामी; मह्यम्—मेरे लिये; क्रियताम्—करें; मैत्रम्—मित्रोचित अनुग्रह; आदृतः—आदरवश; न—कोई नहीं; अन्यः—दूसरा; त्वत्तः—तुमसे बढ़कर; हित-तमः—अनुकूल कार्य करने वाला; विद्यते—है; भोज-वृष्णिषु—भोजों तथा वृष्णियों में।

हे सर्वश्रेष्ठ दानी अक्रूर, आप आदर के साथ मुझ पर मित्रोचित अनुग्रह करें। भोजों तथा वृष्णियों में आपसे बढ़कर कोई अन्य हम पर कृपालु नहीं है।

अतस्त्वामाश्रितः सौम्य कार्यगौरवसाधनम् ।
यथेन्द्रो विष्णुमाश्रित्य स्वार्थमध्यगमद्विभुः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अतः—अतएव; त्वाम्—तुम पर; आश्रितः—(मैं) आश्रित हूँ; सौम्य—हे भद्र पुरुष; कार्य—कर्तव्य; गौरव—गम्भीरतापूर्वक; साधनम्—सम्पन्न करने वाला; यथा—जिस तरह; इन्द्रः—इन्द्र ने; विष्णुम्—विष्णु की; आश्रित्य—शरण ग्रहण करके; स्व-अर्थम्—अपना लक्ष्य; अध्यगमत्—प्राप्त किया; विभुः—स्वर्ग का शक्तिशाली राजा।

हे भद्र अक्रूर, आप सदैव अपना कर्तव्य गम्भीरतापूर्वक करने वाले हैं अतएव मैं आप पर उसी तरह आश्रित हूँ जिस तरह पराक्रमी इन्द्र ने अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिए भगवान् विष्णु की शरण ली थी।

गच्छ नन्दव्रजं तत्र सुतावानकदुन्दुभेः ।
आसाते ताविहानेन रथेनानय मा चिरम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

गच्छ—जाओ; नन्द-व्रजम्—नन्द के गाँव; तत्र—वहाँ; सुतौ—पुत्रों को; आनकदुन्दुभेः—वसुदेव के; आसाते—रह रहे हैं; तौ—उन दोनों; इह—यहाँ; अनेन—इस; रथेन—रथ से; आनय—लाओ; मा चिरम्—बिना देर लगाये।

कृपया नन्द-ग्राम जाँय जहाँ पर आनकदुन्दुभि के दोनों पुत्र रह रहे हैं और अविलम्ब उन्हें इस रथ पर चढ़ाकर यहाँ ले आयें।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती एक रोचक टिप्पणी देते हैं—"जब कंस ने कहा, "इस रथ से" तो उसने अपनी छिगुनी से एकदम नवीन आकर्षक रथ की ओर इशारा किया। कंस ने सोचा कि अक्रूर स्वभाव से भोला-भाला है, अतः जब वह इस सुन्दर नये रथ को देखेगा तो उसे हाँक कर उन दो बालकों को तुरन्त ले आना चाहेगा। किन्तु सर्वथा नवीन रथ पर चढ़ कर अक्रूर के जाने का वास्तविक कारण यह था कि जिस रथ पर दुष्ट कंस चढ़ चुका हो उस पर भगवान् का चढ़ना उचित नहीं।"

निसृष्टः किल मे मृत्युर्देवैर्वैकुण्ठसंश्रयैः ।
तावानय समं गोपैर्नन्दाद्यैः साभ्युपायनैः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

निसृष्टः—भेजा है; किल—निस्सन्देह; मे—मेरी; मृत्युः—मृत्यु; देवैः—देवताओं द्वारा; वैकुण्ठ—भगवान् विष्णु के; संश्रयैः—शरणागत; तौ—उन दोनों को; आनय—लाओ; समम्—साथ में; गोपैः—ग्वालों; नन्द-आद्यैः—नन्द इत्यादि; स—सहित; अभ्युपायनैः—उपहारों।

विष्णु के संरक्षण में रहने वाले देवताओं ने इन दोनों बालकों को मेरी मृत्यु के रूप में भेजा है। उन्हें यहाँ ले आइये तथा उनके साथ नन्द तथा अन्य ग्वालों को अपने अपने उपहारों समेत आने दीजिये।

घातयिष्य इहानीतौ कालकल्पेन हस्तिना ।
यदि मुक्तौ ततो मल्लैर्घातये वैद्युतोपमैः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

घातयिष्ये—उन्हें मार डालूँगा; इह—यहाँ; आनीतौ—लाये गये; काल-कल्पेन—साक्षात् मृत्यु रूप; हस्तिना—हाथी के द्वारा; यदि—यदि; मुक्तौ—बच जाते हैं; ततः—तब; मल्लैः—पहलवानों से; घातये—मरवा डालूँगा; वैद्युत—बिजली; उपमैः—की तरह।

जब आप कृष्ण तथा बलराम को ले आयेंगे तो मैं उन्हें साक्षात् मृत्यु के समान बलशाली अपने हाथी से मरवा दूँगा। यदि कदाचित् वे उससे बच जाते हैं, तो मैं उन्हें बिजली के समान प्रबल अपने पहलवानों से मरवा दूँगा।

तयोर्निहतयोस्तप्तान्वसुदेवपुरोगमान् ।
तद्बन्धून्निहनिष्यामि वृष्णिभोजदशार्हकान् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तयोः—उन दोनों के; निहतयोः—मारे जाने पर; तप्तान्—शोकसंतप्त; वसुदेव-पुरोगमान्—वसुदेव द्वारा ले जाये गये; तद्-बन्धून्—उनके सम्बन्धियों को; निहनिष्यामि—मार डालूँगा; वृष्णि-भोज-दशार्हकान्—वृष्णियों, भोजों तथा दशार्हों को।

जब ये दोनों मार डाले जायेंगे तो मैं वसुदेव तथा उनके सभी शोकसंतप्त सम्बन्धियों—वृष्णियों, भोजों तथा दशार्हों—का वध कर दूँगा।

तात्पर्य : आज भी विश्व-भर में ऐसे दुष्ट राजनीतिक नेता हैं, जो ऐसी ऐसी योजनाएँ बनाकर उन पर अमल भी करते हैं।

उग्रसेनं च पितरं स्थविरं राज्यकामुकं ।
तद्भ्रातरं देवकं च ये चान्ये विद्विषो मम ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

उग्रसेनम्—राजा उग्रसेन को; च—और; पितरम्—पिता; स्थविरम्—वृद्ध; राज्य—राज्य के लिए; कामुकम्—लोभी; तत्-भ्रातरम्—उसके भाई; देवकम्—देवक; च—भी; ये—जो; च—तथा; अन्ये—अन्य; विद्विषः—शत्रुगण; मम—मेरे।

मैं अपने बूढ़े पिता उग्रसेन को भी मार डालूँगा क्योंकि वह मेरे साम्राज्य के लिए लालायित है। मैं उसके भाई देवक तथा अपने अन्य सारे शत्रुओं को भी मार डालूँगा।

ततश्चैषा मही मित्र भवित्री नष्टकण्टका ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; च—तथा; एषा—यह; मही—पृथ्वी; मित्र—हे मित्र; भवित्री—होगी; नष्ट—विनष्ट; कण्टका—अपने काँटे।

तब हे मित्र, यह पृथ्वी काँटों से मुक्त हो जायेगी।

जरासन्धो मम गुरुर्द्विविदो दयित: सखा ।
शम्बरो नरको बाणो मय्येव कृतसौहृदा: ।
तैरहं सुरपक्षीयान्हत्वा भोक्ष्ये महीं नृपान् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

जरासन्ध:—जरासन्ध; मम—मेरा; गुरु:—गुरुजन (श्वसुर); द्विविद:—द्विविद; दयित:—मेरा प्रिय; सखा—मित्र; शम्बर:—शम्बर; नरक:—नरक; बाण:—बाण; मयि—मेरे लिए; एव—निस्सन्देह; कृत-सौहृदा:—प्रगाढ़ मैत्री रखने वाले; तै:—उनसे; अहम्—मैं; सुर—देवताओं के; पक्षीयान्—पक्ष वालों को; हत्वा—मारकर; भोक्ष्ये—भोगूँगा; महीम्—पृथ्वी को; नृपान्—राजागण।

मेरा ज्येष्ठ सम्बन्धी जरासन्ध तथा मेरा प्रिय मित्र द्विविद मेरे अतीव शुभचिन्तक हैं और वैसे ही शम्बर, नरक तथा बाण हैं। मैं इन सबों का उपयोग उन राजाओं का वध करने के लिए करूँगा जो देवताओं के पक्षधर हैं और तब मैं सारी पृथ्वी पर राज करूँगा।

एतज्ज्ञात्वानय क्षिप्रं रामकृष्णाविहार्भकौ ।
धनुर्मखनिरीक्षार्थं द्रष्टुं यदुपुरश्रियम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; ज्ञात्वा—जानकर; आनय—लाओ; क्षिप्रम्—शीघ्र; राम-कृष्णौ—राम तथा कृष्ण को; इह—यहाँ; अर्भकौ—बालकों को; धनु:-मख—धनुष यज्ञ; निरीक्षा-अर्थम्—निरीक्षण करने के लिए; द्रष्टुम्—देखने के लिए; यदु-पुर—यदुकुल की राजधानी के; श्रियम्—ऐश्वर्य को।

चूँकि अब आप मेरे मनोभावों को जान चुके हैं अत: तुरन्त जाइये और कृष्ण तथा बलराम को धनुष यज्ञ निहारने तथा यदुओं की राजधानी का ऐश्वर्य देखने के लिए ले आइये।

श्रीअक्रूर उवाच
राजन्मनीषितं सय्ँक्तव स्वावद्यमार्जनम् ।
सिद्ध्यसिद्ध्यो: समं कुर्याद्दैवं हि फलसाधनम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

श्री-अक्रूर: उवाच—श्री अक्रूर ने कहा; राजन्—हे राजन्; मनीषितम्—विचार; सय्ँक्—पूर्ण; तव—तुम्हारा; स्व—अपना; अवद्य—दुर्भाग्य; मार्जनम्—धोने वाला; सिद्धि-असिद्ध्यो:—सफलता तथा विफलता दोनों में; समम्—समान; कुर्यात्—करना चाहिए; दैवम्—भाग्य; हि—अन्तत:; फल—फल, परिणाम; साधनम्—प्राप्त करने का साधन।

श्री अक्रूर ने कहा : हे राजन्, आपने अपने को दुर्भाग्य से मुक्त करने के लिए अच्छा उपाय ढूँढ निकाला है। फिर भी मनुष्य को सफलता तथा विफलता में समभाव रहना चाहिए क्योंकि निश्चित रूप से यह भाग्य ही है, जो किसी के कर्म के फलों को उत्पन्न करता है।

मनोरथान्करोत्युच्चैर्जनो दैवहतानपि ।

युज्यते हर्षशोकाभ्यां तथाप्याज्ञां करोमि ते ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

मनः-रथान्—उसकी इच्छाएँ; करोति—पालन करती है; उच्चैः—उत्साहपूर्वक; जनः—सामान्य व्यक्ति; दैव—भाग्य से; हतान्—नष्ट किया हुआ; अपि—भी; युज्यते—सामना करता है; हर्ष-शोकाभ्याम्—सुख तथा दुख से; तथा अपि—फिर भी; आज्ञाम्—आज्ञा; करोमि—करूँगा; ते—तुम्हारी।

सामान्य व्यक्ति अपनी इच्छाओं के अनुसार कर्म करने के लिए कृतसंकल्प रहता है भले ही उसका भाग्य उन्हें पूरा न होने दे। अतः वह सुख तथा दुख दोनों का सामना करता है। इतने पर भी मैं आपके आदेश को पूरा करूँगा।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि यद्यपि अक्रूर ने जो कुछ कहा था वह शिष्ट तथा उत्साहजनक था किन्तु उसका आशय भिन्न था। उनके कहने का अर्थ था, "आपकी योजना पालन करने के योग्य नहीं है फिर भी मैं पालन करूँगा क्योंकि आप राजा हैं और मैं आपकी प्रजा हूँ। आपको हर हालत में मरना है ही।"

श्रीशुक उवाच
एवमादिश्य चाक्रूरं मन्त्रिणश्च विसृज्य सः ।
प्रविवेश गृहं कंसस्तथाक्रूरः स्वमालयम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; आदिश्य—आदेश देकर; च—तथा; अक्रूरम्—अक्रूर को; मन्त्रिणः—अपने मंत्रियों को; च—तथा; विसृज्य—विदा करके; सः—वह; प्रविवेश—प्रविष्ट हुआ; गृहम्—अपने घर में; कंसः—कंस; तथा—भी; अक्रूरः—अक्रूर; स्वम्—अपने; आलयम्—निवासस्थान को।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : अक्रूर को इस तरह आदेश देकर कंस ने अपने मंत्रियों को विदा कर दिया और स्वयं अपने घर में चला गया तथा अक्रूर अपने घर लौट आया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कन्ध के अन्तर्गत "वृषभासुर अरिष्ट का वध" नामक छत्तीसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सैंतीस

केशी तथा व्योम असुरों का वध

इस अध्याय में घोड़े के रूप में केशी असुर के वध, नारदमुनि द्वारा भगवान् कृष्ण की भावी लीलाओं का महिमा-गायन तथा कृष्ण द्वारा व्योमासुर-वध का वर्णन हुआ है।

कंस के आदेश से केशी असुर ने विशाल घोड़े का रूप धारण किया और वह व्रज में गया।

पहुँचते ही जब उसने जोर की हिनहिनाहट की तो सारे निवासी डर गये और श्रीकृष्ण का मुँह जोहने लगे। उस असुर को देखकर कृष्ण ने आगे बढ़कर उसे निकट आने के लिए ललकारा। केशी ने कृष्ण पर आक्रमण कर दिया और अपने अगले पाँवों से उन पर प्रहार करने की कोशिश की किन्तु भगवान् ने उसे पावों से पकड़ लिया, फिर उसे कई बार चारों ओर घुमाया और तब एक सौ धनुष-दूरी पर फेंक दिया। केशी कुछ समय तक अचेत पड़ा रहा। जब उसे चेत हुआ तो उसने खुले मुँह पुनः कृष्ण पर आक्रमण किया। तब भगवान् ने अपनी बाईं भुजा उस अश्व असुर के मुख में डाल दी और जब केशी ने उस भुजा को काटना चाहा तो वह उसे गर्म लोहे की फाल जैसी प्रतीत हुई। कृष्ण की भुजा फैलती गई जिससे असुर का दम घुटने लगा और उसने अत्यधिक वेदना के कारण अपने प्राण त्याग दिये। तब कृष्ण ने अपनी भुजा निकाल ली। वे शान्त खड़े रहे। देवताओं ने आकाश से उन पर पुष्प-वर्षा की और उनका यशोगान किया किन्तु उनके मुख से असुर मारने से कोई अहंकार लक्षित नहीं हो रहा था।

इस के तुरन्त बाद देवर्षि नारद कृष्ण के पास आये और भगवान् की भावी लीलाओं की प्रशंसा करते हुए उन्होंने अनेक प्रकार से उनकी स्तुति की। तत्पश्चात् नारद उन्हें प्रणाम करके प्रस्थान कर गये।

एक दिन गाय चराते समय कृष्ण, बलराम तथा ग्वालबाल लुकाछिपी (आँख-मिचौनी) के खेल में व्यस्त थे। कुछ बालक भेड़ बने थे, कुछ चोर और कुछ गडरिये। चोरों द्वारा भेड़ें चुराने पर गडरिये भेड़ों को ढूँढ़ते थे। इस खेल का लाभ उठाकर कंस द्वारा भेजा गया व्योम नामक असुर ग्वाले का वेश बनाकर चोरों के समूह में जा मिला। वह एकसाथ कुछ ग्वालों का हरण करके उन्हें एक पर्वत-गुफा में फेंक आया और गुफा के द्वार को एक बड़े पत्थर से ढक दिया। क्रमशः व्योमासुर चार या पाँच ग्वालों को छोड़ शेष सारे ग्वालों को चुरा ले गया। जब कृष्ण ने उस असुर की करतूत देखी तो वे उसके पीछे दौड़े, उसे जा दबोचा और बलि के पशु की तरह उसे मार डाला।

श्रीशुक उवाच

केशी तु कंसप्रहितः खुरैर्महीं
महाहयो निर्जरयन्मनोजवः ।
सटावधूताभ्रविमानसङ्कुलं
कुर्वन्नभो हेषितभीषिताखिलः ॥ १ ॥
तं त्रासयन्तं भगवान्स्वगोकुलं

तद्धेषितैर्वालविघूर्णिताम्बुदम् ।
आत्मानमाजौ मृगयन्तमग्रणी-
रुपाह्वयत्स व्यनदन्मृगेन्द्रवत् ॥ २॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; केशी—केशी नामक असुर; तु—और तब; कंस-प्रहितः—कंस द्वारा भेजा गया; खुरैः—खुरों से; महीम्—पृथ्वी को; महा-हयः—विशाल घोड़ा; निर्जरयन्—विदीर्ण करता; मनः—मन की तरह; जवः—गतिवान; सटा—अपने अयालों से; अवधूत—बिखरे हुए; अभ्र—बादलों के साथ; विमान—तथा (देवताओं के) यानों; सङ्कुलम्—समूहित; कुर्वन्—करता हुआ; नभः—आकाश को; हेषित—अपनी हिनहिनाहट से; भीषित—डराता हुआ; अखिलः—हर एक; तम्—उसको; त्रासयन्तम्—डराता हुआ; भगवान्—भगवान्; स्व-गोकुलम्—अपने ग्वाल-ग्राम को; तत्-हेषितैः—उस हिनहिनाहट से; वाल—अपनी पूँछ के बालों से; विघूर्णित—हिलाया हुआ; अम्बुदम्—बादल; आत्मानम्—स्वयं; आजौ—युद्ध के लिए; मृगयन्तम्—ढूँढ़ते हुए; अग्र-नीः—आगे आकर; उपाह्वयत्—पुकारा; सः—उसने, केशी ने; व्यनदन्—गर्जना की; मृगेन्द्र-वत्—सिंह की तरह।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : कंस द्वारा भेजा गया केशी असुर व्रज में विशाल घोड़े के रूप में प्रकट हुआ। मन जैसे तेज वेग से दौड़ते हुए वह अपने खुरों से पृथ्वी को विदीर्ण करने लगा। उसकी गर्दन के बालों से सारे आकाश के बादल तथा देवताओं के विमान तितर-बितर हो गये। अपनी भारी हिनहिनाहट से उसने वहाँ पर उपस्थित सबों को भयभीत बना दिया।

जब भगवान् ने देखा कि यह असुर किस तरह अपनी भयानक हिनहिनाहट से पूरे गोकुल गाँव को डरा रहा है और अपनी पूँछ से बादलों को हिलाये दे रहा है, तो वे केशी से सामना करने आगे आये। युद्ध के लिए तो केशी कृष्ण को ढूँढ़ ही रहा था अत: जब भगवान् उसके समक्ष खड़े हो गये और उन्होंने उसे पास आने के लिए ललकारा तो उस घोड़े ने सिंह जैसी गर्जना द्वारा उसका उत्तर दिया।

स तं निशाम्याभिमुखो मखेन खं
पिबन्निवाभ्यद्रवदत्यमर्षणः ।
जघान पद्भ्यामरविन्दलोचनं
दुरासदश्चण्डजवो दुरत्ययः ॥ ३॥

शब्दार्थ

सः—वह, केशी; तम्—उन्हें, कृष्ण को; निशाम्य—देखकर; अभिमुखः—अपने सामने; मुखेन—अपने मुख से; खम्—आकाश को; पिबन्—पीता हुआ; इव—मानो; अभ्यद्रवत्—आगे दौड़ा; अति-अमर्षणः—अत्यन्त क्रुद्ध; जघान—आक्रमण कर दिया; पद्भ्याम्—अपने दो पाँवों से; अरविन्द-लोचनम्—कमल-नेत्र वाले प्रभु को; दुरासदः—पार पाना कठिन; चण्ड—प्रचण्ड; जवः—वेग वाला; दुरत्ययः—अजेय।

भगवान् को अपने सामने खड़ा देखकर केशी अत्यन्त क्रुद्ध होकर अपना मुह बाये उनकी ओर दौड़ा मानो वह आकाश को निगल जायेगा। प्रचण्ड वेग से दौड़ते हुए उस अजेय तथा दुर्धर्ष

घोड़ा-असुर ने अपने अगले दो पाँवों से कमलनयन भगवान् पर प्रहार करने का प्रयत्न किया।

तद्वञ्चयित्वा तमधोक्षजो रुषा
प्रगृह्य दोर्भ्यां परिविध्य पादयोः ।
सावज्ञमुत्सृज्य धनुःशतान्तरे
यथोरगं तार्क्ष्यसुतो व्यवस्थितः ॥ ४॥

शब्दार्थ

तत्—वह; वञ्चयित्वा—बचाते हुए; तम्—उसको; अधोक्षजः—दिव्य प्रभु; रुषा—क्रोधपूर्वक; प्रगृह्य—पकड़कर; दोर्भ्याम्—अपनी भुजाओं से; परिविध्य—चारों ओर घुमाकर; पादयोः—पाँव से पकड़कर; स-अवज्ञम्—घृणापूर्वक; उत्सृज्य—फेंकते हुए; धनुः—धनुष की लम्बाई के बराबर; शत—एक सौ; अन्तरे—दूरी पर; यथा—जिस तरह; उरगम्—साँप को; तार्क्ष्य—कर्दम मुनि का; सुतः—पुत्र (गरुड़); व्यवस्थितः—खड़े हो गये।

किन्तु दिव्य भगवान् ने केशी के प्रहार से अपने को बचा लिया और तब क्रुद्ध होकर अपनी भुजाओं से असुर के पैरों को पकड़कर उसे आकाश में चारों ओर घुमाया और एक सौ धनुष-दूरी पर घृणापूर्वक उसी तरह फेंक दिया जिस प्रकार गरुड़ किसी सर्प को फेंक दे। तब भगवान् कृष्ण वहीं खड़े हो गये।

सः लब्धसंज्ञः पुनरुत्थितो रुषा
व्यादाय केशी तरसापतद्धरिम् ।
सोऽप्यस्य वक्त्रे भुजमुत्तरं स्मयन्
प्रवेशयामास यथोरगं बिले ॥ ५॥

शब्दार्थ

सः—वह, केशी; लब्ध—पाकर; संज्ञः—चेतना; पुनः—फिर से; उत्थितः—उठ खड़ा हुआ; रुषा—क्रोध में; व्यादाय—(अपना मुख) फाड़ते हुए; केशी—केशी; तरसा—तेजी से; अपतत्—दौड़ा; हरिम्—कृष्ण की ओर; सः—वह, कृष्ण; अपि—तथा; अस्य—उसके; वक्त्रे—मुख में; भुजम्—अपनी भुजा; उत्तरम्—बाईं; स्मयन्—हँसने लगे; प्रवेशयाम् आस—भीतर डाल दिया; यथा—जिस तरह; उरगम्—साँप; बिले—छेद के भीतर (घुसता है)।

पुनः चेतना लौट आने पर केशी क्रोधपूर्वक उठा। उसने अपना मुख पूरा खोल दिया और वह पुनः कृष्ण पर आक्रमण करने दौड़ा। किन्तु कृष्ण हँस दिये और अपनी बाईं भुजा उस घोड़े के मुँह में उसी सुगमता से डाल दी जिस तरह कोई साँप भूमि में बने छेद में घुसा जाता है।

दन्ता निपेतुर्भगवद्भुजस्पृश-
स्ते केशिनस्तप्तमयस्पृशो यथा ।
बाहुश्च तद्देहगतो महात्मनो
यथामयः संववृधे उपेक्षितः ॥ ६॥

शब्दार्थ

दन्ताः—दाँत; निपेतुः—बाहर निकल आये; भगवत्—भगवान् का; भुज—बाँह; स्पृशः—छूने से; ते—वे; केशिनः—केशी के; तप्त-मय—गर्म लाल (लोहा); स्पृशः—छूने से; यथा—जिस तरह; बाहुः—बाँह; च—तथा; तत्—उस केशी के; देह—शरीर में; गतः—घुसने पर; महा-आत्मनः—परमात्मा का; यथा—जिस तरह; आमयः—रुग्णावस्था (पेट की बीमारी), जलोदर; संववृधे—आकार में बढ़ गया; उपेक्षितः—तिरस्कृत।

भगवान् के बाहु का स्पर्श होते ही केशी के सारे दाँत गिर पड़े क्योंकि उनका बाहु उस असुर को पिघले लोहे के समान गर्म लग रहा था। तत्पश्चात् केशी के शरीर में भगवान् का बाहु अत्यधिक फैल गया जिस तरह उपेक्षा करने से जलोदर रोग बढ़ जाता है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि यद्यपि भगवान् कृष्ण की भुजा नीले कमल से भी कोमल और शीतल है किन्तु केशी को वह अत्यधिक गर्म प्रतीत हुई मानो वज्र की बनी हो।

समेधमानेन स कृष्णबाहुना
निरुद्धवायुश्चरणांश्च विक्षिपन् ।
प्रस्विन्नगात्रः परिवृत्तलोचनः
पपात लण्डं विसृजन्क्षितौ व्यसुः ॥ ७॥

शब्दार्थ

समेधमानेन—बढ़ जाने से; सः—वह; कृष्ण-बाहुना—कृष्ण की भुजा से; निरुद्ध—रुक गई; वायुः—श्वास लेना; चरणान्—पैर; च—तथा; विक्षिपन्—इधर-उधर पटकता; प्रस्विन्न—पसीने से लथपथ; गात्रः—शरीर; परिवृत्त—उलटाते हुए; लोचनः—आँखें; पपात—गिर पड़ा; लण्डम्—मल; विसृजन्—निकालता हुआ; क्षितौ—पृथ्वी पर; व्यसुः—प्राणरहित।

ज्योंही कृष्ण की फैलती भुजा ने केशी के श्वास को पूरी तरह अवरुद्ध कर दिया, वह अपने पैर पटकने लगा, उसका शरीर पसीने से लथपथ हो गया और उसकी आँखें उलट गईं। तब उस असुर ने मल त्याग दिया और भूमि पर गिर कर निष्प्राण हो गया।

तद्देहतः कर्कटिकाफलोपमाद्
व्यसोरपाकृष्य भुजं महाभुजः ।
अविस्मितोऽयत्नहतारिकः सुरैः
प्रसूनवर्षैर्वर्षद्भिरीडितः ॥ ८॥

शब्दार्थ

तत्-देहतः—केशी के शरीर से; कर्कटिका-फल—कर्कटिका फल, ककड़ी; उपमात्—के सदृश; व्यसोः—जिससे प्राण-वायु निकल चुकी थी; अपाकृष्य—निकालकर; भुजम्—अपनी बाँह को; महा-भुजः—बलिष्ठ भुजाओं वाले प्रभु; अविस्मितः—बिना किसी गर्व के; अयत्न—बिना प्रयास के; हत—मारकर; अरिकः—अपने शत्रु; सुरैः—देवताओं द्वारा; प्रसून—फूलों की; वर्षैः—वर्षा से; वर्षद्भिः—वर्षा करते हुए; ईडितः—पूजित।

महाबाहु कृष्ण ने अपनी बाँह केशी के उस शरीर से निकाल ली जो अब एक लम्बी ककड़ी

जैसा प्रतीत हो रहा था। अपने शत्रु को बिना प्रयास के ही मारने के बाद किसी प्रकार का गर्व दिखलाये बिना भगवान् ने ऊपर से फूलों की वर्षा के रूप में की गई देवताओं की पूजा स्वीकार की।

देवर्षिरुपसङ्गम्य भागवतप्रवरो नृप ।
कृष्णमक्लिष्टकर्माणं रहस्येतदभाषत ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

देव-ऋषिः—देवताओं में से ऋषि (नारदमुनि); उपसङ्गम्य—पास आकर; भागवत—भगवद्भक्तों के; प्रवरः—श्रेष्ठ; नृप—हे राजा (परीक्षित); कृष्णम्—कृष्ण को; अक्लिष्ट—बिना कष्ट के; कर्माणम्—जिसके कर्म; रहसि—एकान्त में; एतत्—यह; अभाषत—कहा।

हे राजन्, तत्पश्चात् देवर्षि नारद भगवान् कृष्ण के पास एकान्त स्थान में गये। इन महाभागवत ने बिना किसी प्रयास के लीला करने वाले भगवान् से इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : कंस से बातें कहकर नारद भगवान् कृष्ण के पास गये। भगवान् की वृन्दावन लीलाएँ समाप्तप्राय थीं और नारद मथुरा में होने वाली लीलाओं को देखना चाहते थे।

कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन्योगेश जगदीश्वर ।
वासुदेवाखिलावास सात्वतां प्रवर प्रभो ॥ १० ॥
त्वमात्मा सर्वभूतानामेको ज्योतिरिवैधसाम् ।
गूढो गुहाशयः साक्षी महापुरुष ईश्वरः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

कृष्ण कृष्ण—हे कृष्ण, हे कृष्ण; अप्रमेय-आत्मन्—हे अगाध आत्मा; योग-ईश—हे समस्त योगशक्ति के स्रोत; जगत्-ईश्वर—हे ब्रह्माण्ड के स्वामी; वासुदेव—हे वसुदेव-पुत्र; अखिल-आवास—हे सबों के आश्रय; सात्वताम्—यदुकुल के; प्रवर—हे श्रेष्ठ; प्रभो—हे प्रभु; त्वम्—तुम; आत्मा—परमात्मा; सर्व—समस्त; भूतानाम्—जीवों के; एकः—एकमात्र; ज्योतिः—अग्नि; इव—सदृश; एधसाम्—समिधा में; गूढः—छिपी; गुहा—हृदय रूपी गुफा में; शयः—बैठे हुए, स्थित; साक्षी—गवाह; महा-पुरुषः—भगवान्; ईश्वरः—परमनियन्ता।

[नारदमुनि ने कहा]: हे कृष्ण, हे कृष्ण, हे अनन्त प्रभु, हे समस्त योगशक्तियों के स्रोत, हे ब्रह्माण्ड के स्वामी, हे समस्त जीवों के आश्रय तथा यदुश्रेष्ठ वासुदेव, हे प्रभु, आप समस्त जीवों के परमात्मा हैं और हृदय की गुफा में उसी तरह अदृश्य होकर बैठे हुए हैं जिस तरह सुलगती हुई लकड़ी के भीतर अग्नि सुप्त रहती है। आप सबों के भीतर साक्षी स्वरूप, परम पुरुष तथा सर्वनियन्ता देव हैं।

आत्मनात्माश्रयः पूर्वं मायया ससृजे गुणान् ।
तैरिदं सत्यसङ्कल्पः सृजस्यत्स्यवसीश्वरः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

आत्मना—अपनी निजी शक्ति से; आत्म—आत्मा के; आश्रयः—शरण; पूर्वम्—पहले; मायया—अपनी सृजन-शक्ति द्वारा; ससृजे—उत्पन्न किया; गुणान्—प्रकृति के मूलभूत गुणों को; तैः—उनके माध्यम से; इदम्—यह (ब्रह्माण्ड); सत्य—तथ्य रूप में अनुभवगम्य; सङ्कल्पः—जिसकी इच्छाएँ; सृजसि—उत्पन्न करते हो; अत्सि—संहार करते हो; अवसि—पालन करते हो; ईश्वरः—नियन्ता।

आप समस्त जीवों के आश्रय हैं और परमनियन्ता होने के कारण अपनी इच्छाशक्ति से अपनी सारी इच्छाएँ पूरी करते हैं। अपनी निजी सृजन-शक्ति से आपने प्रारम्भ में प्रकृति के आदि गुणों को प्रकट किया और आप उन्हीं के माध्यम से इस ब्रह्माण्ड का सृजन, पालन तथा विनाश करते हैं।

स त्वं भूधरभूतानां दैत्यप्रमथरक्षसाम् ।
अवतीर्णो विनाशाय साधुनां रक्षणाय च ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; त्वम्—साक्षात् आप; भू-धर—राजाओं के रूप में; भूतानाम्—प्रकट होने वाले; दैत्य-प्रमथ-रक्षसाम्—विभिन्न प्रकार के असुरों के; अवतीर्णः—अवतीर्ण हुए हो; विनाशाय—विनाश के लिए; साधूनाम्—सन्त पुरुषों की; रक्षणाय—रक्षा के लिए; च—तथा।

आप ही वह स्रष्टा हैं, जो अपने को राजा मानने वाले दैत्यों, प्रमथों तथा राक्षसों का विनाश करने के लिए तथा सन्त पुरुषों की रक्षा करने के लिए अब इस धरा पर अवतीर्ण हुए हैं।

दिष्ट्या ते निहतो दैत्यो लीलयायं हयाकृतिः ।
यस्य हेषितसन्त्रस्तास्त्यजन्त्यनिमिषा दिवम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

दिष्ट्या—(हमारे) सौभाग्य से; ते—तुम्हारे द्वारा; निहतः—मारा गया; दैत्यः—असुर; लीलया—खेल-खेल में; अयम्—यह; हय-आकृतिः—घोड़े की आकृति वाला; यस्य—जिसकी; हेषित—हिनहिनाहट से; सन्त्रस्ताः—भयभीत; त्यजन्ति—छोड़ देते हैं; अनिमिषाः—देवतागण; दिवम्—स्वर्ग को।

यह घोड़े की आकृति वाला असुर इतना आतंक मचाये हुए था कि उसकी हिनहिनाहट से देवताओं ने भयभीत होकर अपने स्वर्ग के राज्य को छोड़ दिया था। किन्तु हमारे सौभाग्य से आपने खेल खेल में ही उसे मार डाला है।

चाणूरं मुष्टिकं चैव मल्लानन्यांश्च हस्तिनम् ।
कंसं च निहतं द्रक्ष्ये परश्वोऽहनि ते विभो ॥ १५ ॥

तस्यानु शङ्खयवनमुराणां नरकस्य च ।
पारिजातापहरणमिन्द्रस्य च पराजयम् ॥ १६ ॥

उद्वाहं वीरकन्यानां वीर्यशुल्कादिलक्षणम् ।
नृगस्य मोक्षणं शापाद्द्वारकायां जगत्पते ॥ १७ ॥

स्यमन्तकस्य च मणेरादानं सह भार्यया ।
मृतपुत्रप्रदानं च ब्राह्मणस्य स्वधामतः ॥ १८ ॥

पौण्ड्रकस्य वधं पश्चात्काशिपुर्याश्च दीपनम् ।
दन्तवक्रस्य निधनं चैद्यस्य च महाक्रतौ ॥ १९ ॥

यानि चान्यानि वीर्याणि द्वारकामावसन्भवान् ।
कर्ता द्रक्ष्याम्यहं तानि गेयानि कविभिर्भुवि ॥ २० ॥

शब्दार्थ

चाणूरम्—चाणूर को; मुष्टिकम्—मुष्टिक को; च—तथा; एव—भी; मल्लान्—कुश्ती लड़ने वाले, पहलवानों को; अन्यान्—अन्य; च—तथा; हस्तिनम्—हाथी (कुवलयापीड) को; कंसम्—कंस को; च—तथा; निहतम्—मारा गया; द्रक्ष्ये—देखूँगा; पर-श्वः—परसों; अहनि—उस दिन; ते—तुम्हारे द्वारा; विभो—हे सर्वशक्तिमान; तस्य अनु—उसके बाद; शङ्ख-यवन-मुराणाम्—शंख (पञ्चजन), कालयवन तथा मुर नामक असुरों का; नरकस्य—नरकासुर का; च—भी; पारिजात—स्वर्ग के पारिजात पुष्प का; अपहरणम्—चुराया जाना; इन्द्रस्य—इन्द्र की; च—तथा; पराजयम्—हार; उद्वाहम्—विवाह; वीर—वीर राजाओं का; कन्यानाम्—कन्याओं के; वीर्य—आपके पराक्रम से; शुल्क—दहेज; आदि—इत्यादि; लक्षणम्—लक्षणों से युक्त; नृगस्य—राजा नृग का; मोक्षणम्—मोक्ष; शापात्—अपने शाप से; द्वारकायाम्—द्वारका नगरी में; जगत्-पते—हे ब्रह्माण्ड के स्वामी; स्यमन्तकस्य—स्यमन्तक नामक; च—तथा; मणेः—मणि का; आदानम्—ग्रहण किया जाना; सह—के साथ; भार्यया—पत्नी (जाम्बवती) के साथ; मृत—मरे हुए; पुत्र—बेटे का; प्रदानम्—लाकर देना; च—तथा; ब्राह्मणस्य—ब्राह्मण के; स्व-धामतः—अपने धाम (मृत्युधाम) से; पौण्ड्रकस्य—पौण्ड्रक का; वधम्—मारा जाना; पश्चात्—उसके बाद; काशि-पुर्याः—काशी नगरी (बनारस) के; च—तथा; दीपनम्—दहन; दन्तवक्रस्य—दन्तवक्र का; निधनम्—मरण; चैद्यस्य—चैद्य (शिशुपाल) का; च—तथा; महा-क्रतौ—महायज्ञ (महाराज युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ) के समय; यानि—जो; च—तथा; अन्यानि—अन्य; वीर्याणि—बड़े बड़े कौशल; द्वारकाम्—द्वारका में; आवसन्—रहते हुए; भवान्—आप; कर्ता—सम्पन्न करने जा रहे हैं; द्रक्ष्यामि—देखूँगा; अहम्—मैं; तानि—उनको; गेयानि—गाये जाने के लिए; कविभिः—कवियों द्वारा; भुवि—इस पृथ्वी पर।

हे सर्वशक्तिमान विभो, दो ही दिनों में मैं आपके हाथों चाणूर, मुष्टिक तथा अन्य पहलवानों के साथ साथ कुवलयापीड तथा राजा कंस की भी मृत्यु होते देखूँगा। इसके बाद मैं कालयवन, मुर, नरक तथा शंख असुर को आपके द्वारा मारा जाते देखूँगा। मैं आपको पारिजात पुष्प चुराते और इन्द्र को पराजित करते देखूँगा। तत्पश्चात् अपने पराक्रम से मूल्य चुकाते हुए वीर राजाओं की अनेक कन्याओं के साथ आपको विवाह करते देखूँगा। तब हे ब्रह्माण्डपति, आप द्वारका में राजा नृग का शाप से उद्धार करेंगे और एक अन्य पत्नी के साथ साथ आप अपने लिए स्यमन्तक मणि भी लेंगे। आप ब्राह्मण के मृत पुत्र को अपने दास यमराज के धाम से वापस लायेंगे और उसके बाद आप पौण्ड्रक का वध करेंगे तथा काशी नगरी को जला देंगे और राजसूय यज्ञ के समय दन्तवक्त्र तथा चेदिराज का संहार करेंगे। मैं इन सब वीरतापूर्ण लीलाओं को तो देखूँगा

ही, साथ ही द्वारका में अपने वास-काल में आप जो अन्य अनेक लीलाएँ करेंगे उन्हें भी देखूँगा। ये सारी लीलाएँ दिव्य कवियों के गीतों में इस धरा पर गाई जाती हैं।

अथ ते कालरूपस्य क्षपयिष्णोरमुष्य वै ।
अक्षौहिणीनां निधनं द्रक्ष्याम्यर्जुनसारथेः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; ते—आपके द्वारा; काल-रूपस्य—काल का रूप धारण करने वाले; क्षपयिष्णोः—संहार करने की इच्छा करने वाला; अमुष्य—इस जगत (के भार) का; वै—निस्सन्देह; अक्षौहिणीनाम्—सम्पूर्ण सेनाओं का; निधनम्—विनाश; द्रक्ष्यामि—देखूँगा; अर्जुन सारथेः—अर्जुन के सारथी द्वारा।

तत्पश्चात् मैं आपको साक्षात् काल के रूप में प्रकट होते, अर्जुन के सारथी के रूप में सेवा करते तथा धरती का भार उतारने के लिए सैनिकों की समस्त सेनाओं का विनाश करते देखूँगा।

विशुद्धविज्ञानघनं स्वसंस्थया
समाप्तसर्वार्थममोघवाञ्छितम् ।
स्वतेजसा नित्यनिवृत्तमाया-
गुणप्रवाहं भगवन्तमीमहि ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

विशुद्ध—पूर्णरूपेण शुद्ध; विज्ञान—आध्यात्मिक भिज्ञता; घनम्—से पूर्ण; स्व-संस्थया—अपने मूल रूप में; समाप्त—पहले ही पूर्ण; सर्व—समस्त; अर्थम्—उद्देश्यों में; अमोघ—कभी उद्विग्न न होने वाले; वाञ्छितम्—जिनकी इच्छाएँ; स्व-तेजसा—अपनी ही शक्ति से; नित्य—शाश्वत; निवृत्त—विरक्त; माया—भौतिक शक्ति या माया का; गुण—प्रकट गुणों के; प्रवाहम्—प्रवाह से; भगवन्तम्—भगवान्; ईमहि—शरण आने दें।

हे भगवान् हमें अपनी शरण में आने दें। आप शुद्ध आध्यात्मिक भिज्ञता से परिपूर्ण हैं और अपने मूल स्वरूप में सदैव स्थित रहते हैं। चूँकि आपकी इच्छा को कभी नकारा नहीं जा सकता, आपने पहले ही यथासम्भव इच्छित वस्तुएँ प्राप्त कर ली हैं और अपनी आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा आप माया के गुण प्रवाह से सतत पृथक् रहते हैं।

त्वामीश्वरं स्वाश्रयमात्ममायया
विनिर्मिताशेषविशेषकल्पनम् ।
क्रीडार्थमद्यात्तमनुष्यविग्रहं
नतोऽस्मि धुर्यं यदुवृष्णिसात्वताम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

त्वाम्—तुमको; ईश्वरम्—परमनियन्ता को; स्व-आश्रयम्—आत्म-निर्भर; आत्म—निजी; मायया—सृजन-शक्ति द्वारा; विनिर्मित—बनाया हुआ; अशेष—असीम; विशेष—विशिष्ट; कल्पनम्—व्यवस्था; क्रीड—खेल के; अर्थम्—हेतु; अद्य—

अब; आत्त—लिया हुआ; मनुष्य—मनुष्यों के बीच; विग्रहम्—लड़ाई; नतः—नत; अस्मि—हूँ; धुर्यम्—महानतम, शिरोमणि; यदु-वृष्णि-सात्वताम्—यदु, वृष्टि तथा सात्वत कुलों के।

हे आत्म-निर्भर परमनियन्ता, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आपने अपनी शक्ति से इस ब्रह्माण्ड की असीम विशिष्ट व्यवस्था की रचना की है। अब आप यदुओं, वृष्णियों तथा सात्वतों के बीच महानतम वीर के रूप में प्रकट हुए हैं और आपने मानवीय युद्ध में भाग लेने का निर्णय किया है।

श्रीशुक उवाच
एवं यदुपतिं कृष्णं भागवतप्रवरो मुनिः ।
प्रणिपत्याभ्यनुज्ञातो ययौ तद्दर्शनोत्सवः ॥ २४॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव ने कहा; एवम्—इस प्रकार; यदु-पतिम्—यदुओं में प्रमुख; कृष्णम्—कृष्ण को; भागवत—भक्तों के; प्रवरः—परम विख्यात; मुनिः—नारदमुनि ने; प्रणिपत्य—सादर नमस्कार करके; अभ्यनुज्ञातः—विदा किये गये; ययौ—चला गया; तत्—उन कृष्ण के; दर्शन—दर्शन करके; उत्सवः—परम हर्ष का अनुभव करते हुए।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार यदुवंश के प्रधान भगवान् कृष्ण को सम्बोधित करने के बाद नारद ने झुककर सादर प्रणाम किया। तत्पश्चात् उस मुनियों में महान् तथा भक्तों में विख्यात नारद ने भगवान् से विदा ली और उनका साक्षात् दर्शन करने से उत्पन्न परम हर्ष का अनुभव करते हुए चले गये।

भगवानपि गोविन्दो हत्वा केशिनमाहवे ।
पशूनपालयत्पालैः प्रीतैर्व्रजसुखावहः ॥ २५॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; अपि—तथा; गोविन्दः—गोविन्द; हत्वा—मारकर; केशिनम्—केशी असुर को; आहवे—युद्ध में; पशून्—पशुओं का; अपालयत्—चराने लगे; पालैः—ग्वालबालों के साथ; प्रीतैः—अत्यन्त प्रसन्न; व्रज—वृन्दावन के वासियों को; सुख—सुख; आवहः—लाने वाले।

युद्ध में असुर केशी को मार डालने के बाद भगवान् कृष्ण अपने प्रमुदित ग्वालमित्रों के साथ गौवों तथा अन्य पशुओं को चराते रहे। इस तरह उन्होंने वृन्दावन के समस्त वासियों को हर्ष-उल्लास पहुँचाया।

एकदा ते पशून्पालाश्' चारयन्तोऽद्रिसानुषु ।
चक्रुर्निलायनक्रीडाश्चोरपालापदेशतः ॥ २६॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; ते—उन; पशून्—पशुओं को; पालाः—ग्वालबालों ने; चारयन्तः—चराते हुए; अद्रि—पर्वत के; सानुषु—ढलानों पर; चक्रुः—खेला; निलायन—लुकाछिपी; क्रीडाः—खेल; चोर—चोरों के; पाल—तथा रक्षकों के; अपदेशतः—अभिनय करते हुए।

एक दिन पर्वत की ढलानों पर अपने पशु चराते हुए ग्वालबालों ने आपस में प्रतिद्वन्द्वी चोरों तथा मवेशि-पालकों (गड़ेरियों) का अभिनय करते हुए लुकाछिपी का खेल खेला।

तत्रासन्कतिचिच्चोराः पालाश्च कतिचिन्नृप ।
मेषायिताश्च तत्रैके विजह्रुरकुतोभयाः ॥ २७॥

शब्दार्थ

तत्र—उसमें; आसन्—थे; कतिचित्—कुछ; चोराः—चोर; पालाः—चराने वाले, पालक; च—तथा; कतिचित्—कुछ; नृप—हे राजा (परीक्षित); मेषायिताः—भेड़ का वेश बनाकर; च—तथा; तत्र—वहाँ; एके—कुछ ने; विजह्रुः—खेल खेला; अकुतः-भयाः—बिना किसी भय के।

हे राजन्, उस खेल में कुछ ग्वाले चोर बने, कुछ गडरिये तथा अन्य भेड़ बने। वे किसी संकट के भय के बिना सुखचैन से अपना खेल खेल रहे थे।

मयपुत्रो महामायो व्योमो गोपालवेषधृक् ।
मेषायितानपोवाह प्रायश्चोरायितो बहून् ॥ २८॥

शब्दार्थ

मय-पुत्रः—मय असुर का पुत्र; महा मायः—बलशाली जादूगर; व्योमः—व्योम नामक; गोपाल—ग्वालबाल का; वेष—पहनावा, वेष; धृक्—धारण करके; मेषायितान्—भेड़ बनने वालों को; अपोवाह—भगा ले गया; प्रायः—लगभग सारे; चोरायितः—चोर बनकर खेलने के बहाने; बहून्—अनेक।

तब व्योम नामक एक शक्तिशाली जादूगर, जो असुर मय का पुत्र था, एक ग्वालबाल के वेश में वहाँ प्रकट हुआ। वह चोर के रूप में खेल में सम्मिलित होने का बहाना करते हुए, भेड़ बनने वाले अधिकांश ग्वालबालों को चुराने के लिए आगे बढ़ा।

गिरिदर्यां विनिक्षिप्य नीतं नीतं महासुरः ।
शिलया पिदधे द्वारं चतुःपञ्चावशेषिताः ॥ २९॥

शब्दार्थ

गिरि—पर्वत की; दर्याम्—गुफा में; विनिक्षिप्य—फेंक कर; नीतम् नीतम्—क्रमशः ला लाकर; महा-असुरः—महान् असुर; शिलया—पत्थर से; पिदधे—बन्द कर दिया; द्वारम्—द्वार को; चतुः-पञ्च—चार या पाँच; अवशेषिताः—बचे रहे।

उस महा असुर ने धीरे धीरे अधिकाधिक ग्वालों का अपहरण कर लिया और उन्हें एक पर्वत-गुफा में ले जाकर फेंक दिया तथा उसके द्वार को एक बड़े पत्थर से बन्द कर दिया। अन्त

में केवल चार-पाँच बालक बचे जो खेल में भेड़ बने थे।

तस्य तत्कर्म विज्ञाय कृष्णः शरणदः सताम् ।
गोपान्नयन्तं जग्राह वृकं हरिरिवौजसा ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका, व्योमासुर का; तत्—वह; कर्म—काम; विज्ञाय—पूरी तरह जानकर; कृष्णः—कृष्ण ने; शरण—शरण के; दः—दाता; सताम्—साधु भक्तों को; गोपान्—ग्वालबालों को; नयन्तम्—ले जाने वाले को; जग्राह—पकड़ लिया; वृकम्—भेड़िये को; हरिः—सिंह; इव—सदृश; ओजसा—बलपूर्वक।

समस्त सन्त भक्तों को शरण देने वाले भगवान् कृष्ण अच्छी तरह जान गये कि व्योमासुर कर क्या रहा है। जिस तरह कोई सिंह भेड़िये को दबोच लेता है उसी तरह कृष्ण ने उस असुर को जब वह अन्य ग्वालबालों को लिये जा रहा था बलपूर्वक धर दबोचा।

स निजं रूपमास्थाय गिरीन्द्रसदृशं बली ।
इच्छन्विमोक्तुमात्मानं नाशक्नोद्ग्रहणातुरः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

सः—वह असुर; निजम्—अपने मूल; रूपम्—रूप को; आस्थाय—धारण करके; गिरि-इन्द्र—राजसी पर्वत; सदृशम्—के सदृश; बली—शक्तिशाली; इच्छन्—चाहते हुए; विमोक्तुम्—मुक्त करने के लिए; आत्मानम्—स्वयं को; न अशक्नोत्—वह समर्थ नहीं था; ग्रहण—बलपूर्वक पकड़े जाने से; आतुरः—अशक्त हुआ।

वह असुर अपने मूल रूप में परिणत होकर विशाल पर्वत के समान बड़ा तथा बली बन गया। किन्तु वह कठोर प्रयास के बावजूद अपने को छुड़ा न पाया क्योंकि भगवान् की मजबूत पकड़ में होने से वह अपनी शक्ति खो चुका था।

तं निगृह्याच्युतो दोर्भ्यां पातयित्वा महीतले ।
पश्यतां दिवि देवानां पशुमारममारयत् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; निगृह्य—मजबूती से पकड़कर; अच्युतः—भगवान् कृष्ण ने; दोर्भ्याम्—अपनी भुजाओं से; पातयित्वा—गिरा कर; मही-तले—पृथ्वी पर; पश्यताम्—देखते देखते; दिवि—स्वर्गलोक में; देवानाम्—देवताओं के; पशु-मारम्—जिस तरह बलि-पशु का वध किया जाता है; अमारयत्—उसे मार डाला।

भगवान् अच्युत ने व्योमासुर को अपनी बाँहों के बीच में जकड़ कर पृथ्वी पर पदक दिया। तब स्वर्ग से देवताओं के देखते देखते कृष्ण ने उसे उसी तरह मार डाला जिस तरह कोई बलि-पशु का वध करता है।

तात्पर्य : आचार्यगण बतलाते हैं कि बलि-पशु को गला घोंटकर मारा जाता था।

गुहापिधानं निर्भिद्य गोपान्निःसार्य कृच्छ्रतः ।
स्तूयमानः सुरैर्गोपैः प्रविवेश स्वगोकुलम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

गुहा—गुफा के; पिधानम्—अवरोध को; निर्भिद्य—तोड़कर; गोपान्—ग्वालबालों को; निःसार्य—बाहर निकालकर; कृच्छ्रतः—भयानक जगह से; स्तूयमानः—प्रशंसित होकर; सुरैः—देवताओं द्वारा; गोपैः—तथा ग्वालबालों द्वारा; प्रविवेश—प्रवेश किया; स्व—अपने; गोकुलम्—ग्वाल-ग्राम में।.

तत्पश्चात् कृष्ण ने गुफा के दरवाजे को अवरुद्ध करने वाले शिलाखण्ड को चूर चूर कर दिया और बन्दी बनाये गये ग्वालबालों को वे सुरक्षित स्थान पर ले आये। इसके बाद देवताओं तथा ग्वालों द्वारा उनका यशोगान होने लगा और वे अपने ग्वाल-ग्राम, गोकुल, लौट गए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''केशी तथा व्योम असुरों का वध'' नामक सैंतीसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अड़तीस

वृन्दावन में अक्रूर का आगमन

इस अध्याय में अक्रूर की मथुरा से वृन्दावन की यात्रा, उनके द्वारा मार्ग में कृष्ण तथा बलराम का ध्यान करने और उनके आगमन पर दोनों भाइयों द्वारा सम्मान प्रदर्शित किये जाने का वर्णन हुआ है।

जब कंस ने कृष्ण तथा बलराम को मथुरा में ले आने का आदेश अक्रूर को दे दिया तो एक दिन बड़े तड़के अक्रूर ने अपना रथ तैयार किया और गोकुल के लिए प्रस्थान कर दिया। यात्रा करते हुए उन्होंने सोचा, ''मुझे श्रीकृष्ण के उन चरणकमलों का दर्शन प्राप्त करने का परम सौभाग्य प्राप्त होने जा रहा है जिनकी पूजा ब्रह्मा, रुद्र तथा अन्य देवता करते हैं। यद्यपि कंस भगवान् तथा उनके भक्तों का शत्रु है किन्तु कंस की ही कृपा से मैं भगवान् के दर्शन पाने का महान् वरदान प्राप्त करूँगा। जब मैं उनके चरणकमलों को पहले पहल देखूँगा तो मेरे सारे पाप तुरन्त नष्ट हो जायेंगे। तब मैं अपने रथ से उतर कर कृष्ण तथा बलराम के पैरों पर गिर पडूँगा और यद्यपि मुझे कंस द्वारा भेजा गया है किन्तु तो भी सर्वज्ञ श्रीकृष्ण निश्चय ही मेरे प्रति शत्रुभाव नहीं रखेंगे।'' अक्रूर इस तरह मन ही मन सोचते हुए सूर्यास्त के समय गोकुल आ पहुँचे। वे अपने रथ से एक चरागाह में उतर पड़े और भाव-विभोर होकर

धूल में लोटने लगे।

तब अक्रूर व्रज की ओर बढ़े। जब उन्होंने कृष्ण तथा बलराम को देखा तो वे उनके चरणकमलों में गिर पड़े और दोनों भाइयों ने उनका आलिंगन किया। बाद में वे दोनों उन्हें अपने घर ले आये, उनसे यात्रा के सुखद के विषय में पूछा और नाना प्रकार से उनकी आवभगत की—उनके पाँव धोने के लिए जल, अर्घ्य तथा आसन आदि प्रदान किए, उनके चरण चापकर उनकी थकान दूर की तथा स्वादिष्ट भोजन कराया। महाराज नन्द ने भी अनेक मधुर वचनों से अक्रूर का सम्मान किया।

श्रीशुक उवाच
अक्रूरोऽपि च तां रात्रिं मधुपुर्यां महामतिः ।
उषित्वा रथमास्थाय प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अक्रूरः—अक्रूर; अपि च—तथा; ताम्—उस; रात्रिम्—रात; मधु-पुर्याम्—मथुरा नगरी में; महा-मतिः—उच्च विचार वाला; उषित्वा—रहकर; रथम्—अपना रथ; आस्थाय—चढ़ कर; प्रययौ—रवाना हुआ; नन्द-गोकुलम्—नन्द महाराज के ग्वाल-ग्राम के लिए।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : महामति अक्रूर ने वह रात मथुरा में बिताई और तब अपने रथ पर सवार होकर नन्द महाराज के ग्वाल-ग्राम के लिए रवाना हुए।

तात्पर्य : कंस ने फाल्गुन मास के कृष्ण पक्ष की एकादशी के दिन अक्रूर को वृन्दावन जाने का आदेश दिया। अक्रूर मथुरा में रात बिताकर अगले दिन तड़के ही रवाना हो गये। उसी दिन प्रातः नारद ने वृन्दावन में कृष्ण की स्तुति की और दोपहर के बाद वहाँ व्योमासुर मारा गया। अक्रूर गोधूलि वेला में भगवान् के ग्राम में प्रविष्ट हुए।

गच्छन्पथि महाभागो भगवत्यम्बुजेक्षणे ।
भक्तिं परामुपगत एवमेतदचिन्तयत् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

गच्छन्—यात्रा करते हुए; पथि—मार्ग में; महा-भागः—परम भाग्यशाली; भगवति—भगवान् के प्रति; अम्बुज-ईक्षणे—कमल-नेत्र प्रभु; भक्तिम्—भक्ति; पराम्—अद्वितीय; उपगतः—अनुभव किया; एवम्—इस प्रकार; एतत्—यह; अचिन्तयत्—सोचा।

मार्ग में यात्रा करते हुए महात्मा अक्रूर को कमल-नेत्र भगवान् के प्रति अपार भक्ति का अनुभव हुआ अतः वे इस प्रकार सोचने लगे।

किं मयाचरितं भद्रं किं तप्तं परमं तपः ।
किं वाथाप्यर्हते दत्तं यद्द्रक्ष्याम्यद्य केशवम् ॥ ३॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; मया—मेरे द्वारा; आचरितम्—किया गया है; भद्रम्—अच्छा कार्य; किम्—क्या; तप्तम्—ताप सहा गया; परमम्—कठिन; तपः—तपस्या; किम्—क्या; वा—अथवा; अथ अपि—अन्यथा; अर्हते—की गई पूजा; दत्तम्—दिया गया दान; यत्—जिससे; द्रक्ष्यामि—देखने जा रहा हूँ; अद्य—आज; केशवम्—भगवान् कृष्ण को।

[श्री अक्रूर ने सोचा]: मैंने ऐसे कौन-से शुभ कर्म किये हैं, ऐसी कौन-सी कठिन तपस्या की है, ऐसी कौन-सी पूजा की है या ऐसा कौन-सा दान दिया है, जिससे आज मैं भगवान् केशव का दर्शन करूँगा?

ममैतद्दुर्लभं मन्य उत्तमःश्लोकदर्शनम् ।
विषयात्मनो यथा ब्रह्मकीर्तनं शूद्रजन्मनः ॥ ४॥

शब्दार्थ

मम—मेरा; एतत्—यह; दुर्लभम्—दुष्प्राप्य; मन्ये—मानता हूँ; उत्तमः-श्लोक—भगवान् का जिनकी प्रशंसा उत्तम श्लोकों द्वारा की जाती है; दर्शनम्—दर्शन; विषय-आत्मनः—विषय-भोगों में लिप्त रहने वाले के हेतु; यथा—जिस तरह; ब्रह्म—वेदों का; कीर्तनम्—कीर्तन; शूद्र—निम्न श्रेणी का व्यक्ति; जन्मनः—जन्म से, जन्मना।

चूँकि मैं विषय-भोगों में लीन रहने वाला भौतिकतावादी व्यक्ति हूँ अतः अपने लिए उत्तम श्लोक में स्तुति किए जाने वाले भगवान् का दर्शन करने का यह अवसर प्राप्त कर पाना मैं उसी तरह कठिन समझता हूँ जिस तरह शूद्र के रूप में जन्मे व्यक्ति के लिए वैदिक मंत्रों के उच्चारण करने की अनुमति प्राप्त करना होता है।

मैवं ममाधमस्यापि स्यादेवाच्युतदर्शनम् ।
ह्रियमाणः कलनद्या क्वचित्तरति कश्चन ॥ ५॥

शब्दार्थ

मा एवम्—मुझे ऐसा नहीं सोचना चाहिए; मम—मुझ; अधमस्य—अधम का; अपि—भी; स्यात्—हो सकता है; एव—निश्चय ही; अच्युत—अच्युत का; दर्शनम्—दर्शन; ह्रियमाणः—खींचा जाकर; काल—समय की; नद्या—नदी के द्वारा; क्वचित्—कभी; तरति—पार करके किनारा पा जाता है; कश्चन—कोई।

किन्तु बहुत हुआ, छोड़ो इन विचारों को, आखिर मुझ जैसे पतितात्मा को भी अच्युत भगवान् को देखने का अवसर प्राप्त हो सकता है क्योंकि काल रूपी नदी के प्रवाह में बह रहे बद्ध-आत्माओं में से कोई एक आत्मा तो कभी कभी किनारे तक पहुँच ही सकता है।

ममाद्यामङ्गलं नष्टं फलवांश्चैव मे भवः ।

यन्नमस्ये भगवतो योगिध्येयाङ्घ्रिपङ्कजम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मम—मेरा; अद्य—आज; अमङ्गलम्—अशुभ पापकर्म; नष्टम्—उन्मूलित; फल-वान्—फलीभूत; च—तथा; एव—निस्सन्देह; मे—मेरा; भवः—जन्म; यत्—क्योंकि; नमस्ये—नमस्कार करने जा रहा हूँ; भगवतः—भगवान् के; योगि-ध्येय—योगियों द्वारा ध्यान किये जाने वाले; अङ्घ्रि—चरणों को; पङ्कजम्—कमलवत्।

आज मेरे समस्त पापकर्मों का उन्मूलन हो चुका है और मेरा जन्म सफल हो गया है क्योंकि मैं भगवान् के उन चरणकमलों को नमस्कार करूँगा जिनका ध्यान बड़े बड़े योगी करते हैं।

कंसो बताद्याकृत मेऽत्यनुग्रहं
द्रक्ष्येऽङ्घ्रिपद्मं प्रहितोऽमुना हरेः ।
कृतावतारस्य दुरत्ययं तमः
पूर्वेऽतरन्यन्नखमण्डलत्विषा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

कंसः—राजा कंस ने; बत—निस्सन्देह; अद्य—आज; अकृत—किया है; मे—मेरे साथ; अति-अनुग्रहम्—अत्यन्त कृपा का कार्य; द्रक्ष्ये—देखूँगा; अङ्घ्रि-पद्मम्—चरणकमलों को; प्रहितः—भेजा गया; अमुना—उसके द्वारा; हरेः—भगवान् के; कृत—लिया; अवतारस्य—इस संसार में उनका अवतरण; दुरत्ययम्—दुर्लंघ्य; तमः—संसार का अंधकार; पूर्वे—भूतकाल के मनुष्य; अतरन्—तर गये, पार कर गये; यत्—जिसके; नख-मण्डल—पैर के नाखूनों के मण्डल के; त्विषा—तेज से।

निस्सन्देह, आज कंस ने मुझे उन भगवान् हरि के चरणकमलों का दर्शन करने के लिए भेजकर मेरे ऊपर महती कृपा की है, जिन्होंने अब इस संसार में अवतार लिया है। भूतकाल में उनके चरण-नखों के तेज से ही इस भौतिक संसार के दुर्लंघ्य अंधकार को अनेक आत्माओं ने पार करके मुक्ति प्राप्त की है।

तात्पर्य : अक्रूर ने देखा कि यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि ईर्ष्यालु आसुरी कंस ने उन्हें भगवान् कृष्ण का दर्शन करने के लिए भेजकर उन पर महती कृपा की है।

यदर्चितं ब्रह्मभवादिभिः सुरैः
श्रिया च देव्या मुनिभिः ससात्वतैः ।
गोचारणायानुचरैश्चरद्वने
यद्गोपिकानां कुचकुङ्कुमाङ्कितम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो (चरणकमल); अर्चितम्—पूजित; ब्रह्म-भव—ब्रह्मा तथा शिव; आदिभिः—इत्यादि द्वारा; सुरैः—देवताओं द्वारा; श्रिया—श्री द्वारा; च—भी; देव्या—देवी; मुनिभिः—मुनियों द्वारा; स-सात्वतैः—भक्तों के समेत; गो—गौवें; चारणाय—चराने के लिए; अनुचरैः—अपने संगियों समेत; चरत्—विचरण करते; वने—जंगल में; यत्—जो; गोपिकानाम्—गोपिकाओं के; कुच—स्तन से; कुङ्कुम—लाल कुंकुम चूर्ण से; अङ्कितम्—चिन्हित।

उन्हीं चरणकमलों की ब्रह्मा, शिव तथा अन्य सारे देवता, लक्ष्मीजी तथा बड़े बड़े मुनि और

वैष्णव पूजा करते हैं। उन्हीं चरणकमलों से भगवान् अपने संगियों सहित गौवें चराते समय जंगल में विचरण करते हैं और वे ही चरण गोपियों के स्तनों पर लगे कुंकुम से सने रहते हैं।

द्रक्ष्यामि नूनं सुकपोलनासिकं
स्मितावलोकारुणकञ्जलोचनम् ।
मुखं मुकुन्दस्य गुडालकावृतं
प्रदक्षिणं मे प्रचरन्ति वै मृगाः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

द्रक्ष्यामि—देखूँगा; नूनम्—निश्चय ही; सु—सुन्दर; कपोल—गाल; नासिकम्—तथा नाक; स्मित—हँसी से युक्त; अवलोक—चितवन; अरुण—लाल; कञ्ज—कमल सदृश; लोचनम्—आँखें; मुखम्—मुख; मुकुन्दस्य—भगवान् कृष्ण के; गुड—घुँघराले; अलक—बाल; आवृतम्—चारों ओर से घिरा; प्रदक्षिणम्—परिक्रमा; मे—मेरा; प्रचरन्ति—सम्पन्न कर रहे हैं; वै—निस्सन्देह; मृगाः—मृगगण, हिरन।

अवश्य ही मैं भगवान् मुकुन्द के मुख को देखूँगा क्योंकि अब हिरन मेरी दाईं ओर से निकल रहे हैं। वह मुख घुँघराले बालों से घिरा है और उनके आकर्षक गालों तथा नाक, उनकी मन्द हासयुक्त चितवन तथा लाल कमल जैसी आँखों से शोभायमान है।

तात्पर्य : अक्रूर ने एक शुभ शकुन देखा—उनकी दाईं ओर से हिरन गुजर रहे थे अतः उन्हें विश्वास हो गया कि वे भगवान् कृष्ण का दर्शन पा सकेंगे।

अप्यद्य विष्णोर्मनुजत्वमीयुषो
भारावताराय भुवो निजेच्छया ।
लावण्यधाम्नो भवितोपलम्भनं
मह्यं न न स्यात्फलमञ्जसा दृशः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अपि—और भी; अद्य—आज; विष्णोः—भगवान् विष्णु के; मनुजत्वम्—मनुष्य रूप को; ईयुषः—धारण किये हुए; भार—भार; अवताराय—कम करने के लिए; भुवः—पृथ्वी की; निज—अपनी; इच्छया—इच्छा से; लावण्य—सौंदर्य के; धाम्नः—धाम की; भविता—होगी; उपलम्भनम्—अनुभूति; मह्यम्—मेरे लिए; न—ऐसा नहीं है कि; न स्यात्—नहीं होयेगा; फलम्—फल; अञ्जसा—प्रत्यक्ष; दृशः—दर्शन का।

मुझे समस्त सौन्दर्य के आगार उन भगवान् विष्णु के दर्शन होंगे जिन्होंने पृथ्वी का भार उतारने के लिए स्वेच्छा से मनुष्य जैसा स्वरूप धारण किया है। इस तरह इसमें कोई सन्देह नहीं कि मेरी आँखों को उनके अस्तित्व का फल प्राप्त हो जायेगा।

य ईक्षिताहंरहितोऽप्यसत्सतोः

स्वतेजसापास्ततमोभिदाभ्रमः ।
स्वमाययात्मन्रचितैस्तदीक्षया
प्राणाक्षधीभिः सदनेष्वभीयते ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; ईक्षिता—साक्षी; अहम्—मिथ्या अभिमान से; रहितः—रहित; अपि—फिर भी; असत्-सतोः—कारण-कार्य का; स्व-तेजसा—अपनी निजी शक्ति से; अपास्त—दूर करके; तमः—अज्ञान का अंधकार; भिदा—पृथकत्व का भाव; भ्रमः—तथा भ्रम; स्व-मायया—अपनी भौतिक सृजन-शक्ति द्वारा; आत्मन्—अपने भीतर; रचितैः—रचे हुए (जीवों) के द्वारा; तत्-ईक्षया—माया पर दृष्टि डालने से; प्राण—प्राण-वायु; अक्ष—इन्द्रियाँ; धीभिः—तथा बुद्धि से; सदनेषु—जीवों के शरीरों के भीतर; अभीयते—उनकी उपस्थिति की प्रतीति होती है।

वे भौतिक कार्य-कारण के साक्षी हैं फिर भी वे उनकी झूठी पहचान से अपने को सदैव पृथक् रखते हैं। वे अपनी अन्तरंगा शक्ति के द्वारा पृथकत्व तथा भ्रम के अंधकार को दूर करते हैं। जब वे अपनी भौतिक सृजन-शक्ति पर दृष्टि डालते हैं, तो इस जगत के जीव प्रकट होते हैं और ये जीव उन्हें अपनी प्राण-वायु, इन्द्रियों तथा बुद्धि कार्यों में अप्रत्यक्ष रूप से अनुभव करते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में अक्रूर ने उन भगवान् के सर्वशक्तिमान पद की स्थापना की है जिनका दर्शन करने वे वृन्दावन जा रहे हैं। भगवान् से पार्थक्य की मिथ्या धारणा का वर्णन भागवत के ग्यारहवें स्कंध (११.२.३७) में मिलता है—*भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्याद् ईशाद् अपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।* यद्यपि सारा जगत परब्रह्म कृष्ण से उद्भूत है किन्तु हम इस "द्वितीय वस्तु"—इस भौतिक जगत—को भगवान् के अस्तित्व से सर्वथा पृथक् मानते हैं। इस मनोवृत्ति से हम इस "द्वितीय वस्तु" का उपभोग निजी इन्द्रिय तृप्ति के लिए करने का प्रयास करते हैं। अतः भौतिक जीवन के पीछे जो मनोवैज्ञानिक भाव रहता है, वह यह भ्रम है कि यह जगत ईश्वर से किसी न किसी प्रकार भिन्न है, अतः हमारे भोग के निमित्त है।

विडम्बना यह है कि निर्विशेषवादी दार्शनिक इस जगत को नितान्त मिथ्या और ब्रह्म से पूरी तरह विलग (भिन्न) मानते हैं। दुर्भाग्यवश इस जगत को इसकी दैवी प्रकृति से या दूसरे शब्दों में ईश्वर के प्रति सम्बन्ध से विलग करने के कृत्रिम प्रयास से लोग इसका पूर्ण परित्याग नहीं करते अपितु इसको भोगना चाहते हैं। जहाँ एक ओर यह सत्य है कि यह संसार नश्वर है, अतः एक प्रकार से माया है किन्तु माया की क्रियाविधि तो भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति है। इसको मानते हुए हमें इस जगत के शोषण के किसी भी प्रयास से अपने को विलग कर लेना चाहिए। बल्कि हमें इसे ईश्वर की शक्ति

मानना चाहिए। वस्तुत: जब हम यह समझ लेंगे कि यह जगत ईश्वर का है और हमारी इन्द्रिय तृप्ति के लिए नहीं है तभी हम अपनी भौतिक इच्छाओं का परित्याग कर सकेंगे।

अभीयते शब्द ध्यान द्वारा भगवान् की उपस्थिति की अनुभूति की विधि का सूचक है। *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कंध में भी (२.२.३५) इस विधि का वर्णन हुआ है—

भगवान् सर्वभूतेषु लक्षित: स्वात्मना हरि:।

दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्द्दष्टा लक्षणैरनुमापकै॥

"भगवान् श्रीकृष्ण आत्मा के साथ साथ प्रत्येक जीव में रहते हैं, इस तथ्य की अनुभूति और कल्पना हमारे देखने तथा बुद्धि से सहायता लेने की क्रियाओं से होती है।"

अक्रूर बतलाते हैं कि भगवान् तो सामान्य देहधारी जीवों को व्यापने वाले अहंकार से मुक्त हैं। फिर भी वे अन्यों की ही तरह देहधारी प्रतीत होते हैं इसलिए इस कथन के विरुद्ध आपत्ति उठाई जा सकती है कि वे अहंकार से मुक्त हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस पहेली पर अपनी टीका इस प्रकार की है : "हम यह कैसे अन्तर करें कि कोई अहंकार से मुक्त है या उससे ग्रस्त है? आपत्ति करने वाला यह तर्क दे सकता है कि यदि जीव शरीर के भीतर स्थित है, तो उसे उसी दुख तथा भ्रम का सामना करना होगा जो उसके भीतर होते हैं जिस तरह घर के भीतर रहने वाला व्यक्ति घर के भीतर के अंधेरे, गर्मी तथा सर्दी से अपने को बचा नहीं सकता चाहे वह घर से अनुरक्त हो या नहीं।" इस आपत्ति का उत्तर इस प्रकार है : भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति से अज्ञान के अंधकार के साथ ही इससे उत्पन्न पृथकत्व तथा मोह को दूर करते हैं।

यस्याखिलामीवहभि: सुमङ्गलै:-
वाचो विमिश्रा गुणकर्मजन्मभि: ।
प्राणन्ति शुम्भन्ति पुनन्ति वै जगत्
यास्तद्विरक्ता: शवशोभना मता: ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; अखिल—सारा; अमीव—पाप; हभि:—नष्ट करने वाला; सु-मङ्गलै:—अत्यन्त शुभ; वाच:—शब्द; विमिश्रा:—जुड़े हुये; गुण—गुणों से; कर्म—कर्मों; जन्मभि:—तथा अवतारों से; प्राणन्ति—प्राण दे देते हैं; शुम्भन्ति—सुन्दर बनाते हैं; पुनन्ति—तथा शुद्ध करते हैं; वै—निस्सन्देह; जगत्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड; या:—जो (शब्द); तत्—इनके; विरक्ता:—रहित; शव—मृत शरीर का; शोभना:—सजाने जैसा; मता:—माना जाता है।

भगवान् के गुणों, कर्मों तथा अवतारों से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं तथा उत्पन्न समस्त

सौभाग्य एवं इन तीनों का वर्णन करने वाले शब्द संसार को जीवनदान देते हैं, उसे सुशोभित बनाते हैं और शुद्ध करते हैं। दूसरी ओर, उनकी महिमा से विहीन शब्द शव की सजावट करने जैसे होते हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी यह सम्भव आपत्ति उठाते हैं: जो व्यक्ति सामान्य गर्व से रहित है, जो पूर्णतया आत्मतुष्ट है, वह लीलाओं में कैसे संलग्न हो सकता है? इसका उत्तर यहाँ दिया हुआ है। भगवान् कृष्ण अपने प्रिय भक्तों के आनन्द के लिए ही शुद्ध आध्यत्मिक धरातल पर कर्म करते हैं, किसी प्रकार की संसारी तुष्टि के लिए नहीं।

स चावतीर्णः किल सत्वतान्वये
स्वसेतुपालामरवर्यशर्मकृत् ।
यशो वितन्वन्व्रज आस्त ईश्वरो
गायन्ति देवा यदशेषमङ्गलम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; च—तथा; अवतीर्णः—अवतरित होकर; किल—निस्सन्देह; सात्वत—सात्वतों के; अन्वये—कुल में; स्व—अपना; सेतु—धर्म के संकेत; पाल—पालने वाला; अमर-वर्य—मुख्य देवताओं का; शर्म—हर्ष; कृत्—उत्पन्न करके; यशः—अपनी ख्याति; वितन्वन्—फैलाते हुए; व्रजे—व्रज में; आस्ते—उपस्थित है; ईश्वरः—परमेश्वर; गायन्ति—गाते हैं; देवाः—देवतागण; यत्—जिसका; अशेष-मङ्गलम्—सर्व कल्याणप्रद।

वे ही भगवान् सात्वत वंश में प्रमुख देवताओं को प्रसन्न करने के लिए अवतरित हुए हैं, जो उनके द्वारा निर्मित्त धर्म के नियमों को धारण करने वाले हैं। वे वृन्दावन में रहते हुए अपने यश का विस्तार करते हैं जिसकी महिमा देवतागण गाकर करते हैं और जो सबों को मंगल प्रदान करने वाला है।

तं त्वद्य नूनं महतां गतिं गुरुं
त्रैलोक्यकान्तं दृशिमन्महोत्सवम् ।
रूपं दधानं श्रिय ईप्सितास्पदं
द्रक्ष्ये ममासन्नुषसः सुदर्शनाः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; तु—फिर भी; अद्य—आज; नूनम्—निश्चय ही; महताम्—महात्माओं के; गतिम्—गन्तव्य को; गुरुम्—तथा गुरु को; त्रै-लोक्य—तीनों जगतों की; कान्तम्—असली सुन्दरता; दृशि-मत्—आँख वालों के लिए; महा-उत्सवम्—महान् उत्सव; रूपम्—उनका साकार रूप; दधानम्—प्रकट करते हुए; श्रियः—लक्ष्मी का; ईप्सित—इच्छित; आस्पदम्—शरणस्थल; द्रक्ष्ये—देखूँगा; मम—मेरा; आसन्—आ चुके हैं; उषसः—सबेरे; सु-दर्शनाः—देखने में शुभ।

आज मैं उन्हें अवश्य देखूँगा, जो कि महात्माओं के गन्तव्य तथा आध्यात्मिक गुरु हैं। सभी

नेत्रवानों को उनके दर्शन से हर्ष होता है क्योंकि वे ब्रह्माण्ड के असली सौन्दर्य हैं। निस्सन्देह उनका साकार रूप लक्ष्मीजी द्वारा अभीप्सित आश्रय है। अब मेरे जीवन के समस्त प्रभात शुभ बन चुके हैं।

अथावरूढ: सपदीशयो रथात्
प्रधानपुंसोश्चरणं स्वलब्धये ।
धिया धृतं योगिभिरप्यहं ध्रुवं
नमस्य आभ्यां च सखीन्वनौकस: ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; अवरूढ:—उतरकर; सपदि—तुरन्त; ईशयो:—दोनों ईश्वरों के; रथात्—रथ से; प्रधान-पुंसो:—भगवान् के; चरणम्—चरणों को; स्व-लब्धये—आत्म-साक्षात्कार के लिए; धिया—उनकी बुद्धि से; धृतम्—पकड़े हुए; योगिभि:—योगियों द्वारा; अपि—भी; अहम्—मैं; ध्रुवम्—निश्चित रूप से; नमस्ये—नमस्कार करूँगा; आभ्याम्—उन दोनों को; च—भी; सखीन्—मित्रों; वन-ओकस:—वनवासियों को।

तब मैं तुरन्त अपने रथ से नीचे उतर आऊँगा और भगवान् कृष्ण तथा भगवान् बलराम दोनों के चरणकमलों को नमस्कार करूँगा। उनके पैर वही हैं, जिन्हें आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील बड़े बड़े योगी अपने मन के भीतर धारण करते हैं। मैं दोनों के बालमित्रों तथा वृन्दावन के अन्य समस्त वासियों को भी अपना नमस्कार निवेदित करूँगा।

अप्यङ्घ्रिमूले पतितस्य मे विभु:
शिरस्यधास्यन्निजहस्तपङ्कजम् ।
दत्ताभयं कालभुजाङ्गरंहसा
प्रोद्वेजितानां शरणैषिणां णृनाम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अपि—और भी; अङ्घ्रि—उनके चरणों के; मूले—के निकट; पतितस्य—गिरे हुए का; मे—मेरे; विभु:—शक्तिशाली प्रभु; शिरसि—सिर पर; अधास्यत्—रखेंगे; निज—अपना; हस्त—हाथ; पङ्कजम्—कमल सदृश; दत्त—देने वाला; अभयम्—अभय; काल—समय; भुज-अङ्ग—सर्प का; रंहसा—वेग से; प्रोद्वेजितानाम्—जो अत्यधिक व्यग्र हैं; शरण—शरण; एषिणाम्—ढूँढ़ने वाले; नृणाम्—मनुष्यों के लिए।

और जब मैं उनके चरणों पर गिर पड़ूँगा तो सर्वशक्तिमान प्रभु मेरे सिर पर अपना करकमल रख देंगे। जो लोग काल रूपी शक्तिशाली सर्प से अत्यन्त विचलित होकर उनकी शरण में जाते हैं, यह हाथ उनके सारे भय को दूर कर देता है।

समर्हणं यत्र निधाय कौशिक-

स्तथा बलिश्चाप जगत्त्रयेन्द्रताम् ।
यद्वा विहारे व्रजयोषितां श्रमं
स्पर्शेन सौगन्धिकगन्ध्यपानुदत् ॥ १७॥

शब्दार्थ

समर्हणम्—सादर भेंट; यत्र—जिसमें; निधाय—रखकर; कौशिकः—पुरन्दर; तथा—और; बलिः—बलि महाराज ने; च—भी; आप—प्राप्त किया; जगत्—लोकों का; त्रय—तीन; इन्द्रताम्—शासन (इन्द्र रूप में); यत्—जो (कर-कमल); वा—तथा; विहारे—लीला (रासनृत्य) के समय; व्रज-योषिताम्—व्रज की स्त्रियों की; श्रमम्—थकान को; स्पर्शेन—उनके स्पर्श से; सौगन्धिक—सुगन्धवान फूल की तरह; गन्धि—सुगन्धित; अपानुदत्—पोंछा।

उस कमल सदृश हाथ में दान देकर पुरन्दर तथा बलि ने स्वर्ग के राजा इन्द्र के पद को प्राप्त किया और रासनृत्य की आनन्द लीलाओं के समय जब भगवान् ने गोपियों के पसीने को पोंछकर उनकी थकान दूर की तो उनके मुखस्पर्श ने उस हाथ को मधुर फूल की तरह सुगन्धित बना दिया।

तात्पर्य : मानसरोवर में पाये जाने वाले कमल को पुराणों में *सौगन्धिक* कहा गया है। भगवान् कृष्ण के कमल जैसे हाथ ने गोपियों के सुन्दर मुखड़ों का स्पर्श करने से इसी फूल की सुगन्धि प्राप्त कर ली थी। रासलीला के समय घटित हुई इस विशिष्ट घटना का वर्णन दसवें स्कंध के तैंतीसवें अध्याय में हुआ है।

न मय्युपैष्यत्यरिबुद्धिमच्युतः
कंसस्य दूतः प्रहितोऽपि विश्वदृक् ।
योऽन्तर्बहिश्चेतस एतदीहितं
क्षेत्रज्ञ ईक्षत्यमलेन चक्षुषा ॥ १८॥

शब्दार्थ

न—नहीं; मयि—मेरी ओर; उपैष्यति—उत्पन्न करेगा; अरि—शत्रु होने की; बुद्धिम्—प्रवत्ति; अच्युतः—अच्युत भगवान्; कंसस्य—कंस का; दूतः—दूत; प्रहितः—भेजा गया; अपि—यद्यपि; विश्व—हर वस्तु का; दृक्—साक्षी; यः—जो; अन्तः—भीतर; बहिः—तथा बाहर; चेतसः—हृदय का; एतत्—यह; ईहितम्—जो भी किया जाता है; क्षेत्र—खेत का (भौतिक शरीर का); ज्ञः—ज्ञाता; ईक्षति—देखता है; अमलेन—पूर्ण; चक्षुषा—दृष्टि से।

यद्यपि कंस ने मुझे यहाँ अपना दूत बनाकर भेजा है किन्तु अच्युत भगवान् मुझे अपना शत्रु नहीं मानेंगे। आखिर, सर्वज्ञ प्रभु इस भौतिक शरीर रूपी क्षेत्र के वास्तविक ज्ञाता हैं (क्षेत्रज्ञ) और वे अपनी पूर्ण दृष्टि से बद्धजीवों के हृदय के सारे प्रयासों को अन्दर और बाहर से देखते हैं।

तात्पर्य : सर्वज्ञ होने से भगवान् कृष्ण जानते थे कि अक्रूर बाहर से कंस का मित्र था। भीतर से वह कृष्ण का नित्य भक्त था।

अप्यङ्घ्रिमूलेऽवहितं कृताञ्जलिं
मामीक्षिता सस्मितमार्द्रया दृशा ।
सपद्यपध्वस्तसमस्तकिल्बिषो
वोढा मुदं वीतविशङ्क ऊर्जिताम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अपि—तथा; अङ्घ्रि—पैरों के; मूले—तल पर; अवहितम्—स्थिर; कृत-अञ्जलिम्—हाथ जोड़े; माम्—मुझको; ईक्षिता—देखेंगे; सस्मितम्—हँसी से युक्त; आर्द्रया—स्नेहपूर्ण; दृशा—चितवन से; सपदि—तुरन्त; अपध्वस्त—समूल नष्ट; समस्त—सारे; किल्बिषः—कल्मष; वोढा—प्राप्त करूँगा; मुदम्—सुख; वीत—मुक्त होकर; विशङ्कः—शंका से; ऊर्जिताम्—तीव्र।

इस तरह जब मैं हाथ जोड़कर उनके पैरों पर प्रणाम करने के लिए गिरकर पड़ा रहूँगा वे अपनी हँसीयुक्त स्नेहमयी चितवन मुझ पर डालेंगे। तब मेरा सारा कल्मष छू-मन्तर हो जायेगा। तब मेरे सारे संशय दूर हो जायेंगे और मैं गहन आनन्द का अनुभव करूँगा।

सुहृत्तमं ज्ञातिमनन्यदैवतं
दोर्भ्यां बृहद्भ्यां परिरप्स्यतेऽथ माम् ।
आत्मा हि तीर्थीक्रियते तदैव मे
बन्धश्च कर्मात्मक उच्छ्वसित्यतः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सुहृत्-तमम्—सर्वश्रेष्ठ मित्र; ज्ञातिम्—परिवार का सदस्य; अनन्य—एकान्तिक; दैवतम्—पूजा के लक्ष्य के रूप में (आराध्य देव); दोर्भ्याम्—अपने दोनों बाहुओं में; बृहद्भ्याम्—विशाल; परिरप्स्यते—आलिंगन; अथ—तत्पश्चात्; माम्—मुझको; आत्मा—शरीर; हि—निस्सन्देह; तीर्थी—पवित्र; क्रियते—करेगा; तदा एव—तभी; मे—मेरा; बन्धः—बन्धन; च—तथा; कर्म-आत्मकः—सकाम कर्म के कारण; उच्छ्वसिति—शिथिल हो जायेगा; अतः—इसके फलस्वरूप।

मुझे अपने घनिष्ठ मित्र तथा सम्बन्धी के रूप में पहचान कर कृष्ण अपनी विशाल भुजाओं से मुझे अपने गले लगा लेंगे जिससे उसी क्षण मेरा शरीर पवित्र हो जायेगा और सकाम कर्मों से जनित मेरे भौतिक बन्धन शून्य हो जायेंगे।

लब्ध्वाङ्गसङ्गम्प्रणतम्कृताञ्जलिं
मां वक्ष्यतेऽक्रूर ततेत्युरुश्रवाः ।
तदा वयं जन्मभृतो महीयसा
नैवादृतो यो धिगमुष्य जन्म तत् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

लब्ध्वा—प्राप्त करके; अङ्ग-सङ्गम्—भौतिक सम्पर्क; प्रणतम्—सिर नीचा किये खड़ा हुआ; कृत-अञ्जलिम्—हाथ जोड़े; माम्—मुझसे; वक्ष्यते—बोलेंगे; अक्रूर—हे अक्रूर; तत—मेरे परिजन; इति—इन शब्दों में; उरुश्रवाः—कृष्ण, जिनकी ख्याति अपार है; तदा—तब; वयम्—हम; जन्म-भृतः—जन्म सफल हो जायेगा; महीयसा—पुरुष-श्रेष्ठ द्वारा; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; आदृतः—आदरित; यः—जो; धिक्—धिक्कार है; अमुष्य—उसका; जन्म—जन्म; तत्—वह।

सर्व-सुविख्यात कृष्ण द्वारा गले लगाये जाने के बाद मैं उनके समक्ष विनम्र भाव से सिर झुकाकर तथा हाथ जोड़कर खड़ा रहूँगा और वे मुझसे कहेंगे, ''मेरे प्रिय अक्रूर,'' उसी क्षण मेरे जीवन का उद्देश्य सफल हो जायेगा। दरअसल जिस व्यक्ति को भगवान् मान्यता नहीं देते उसका जीवन दयनीय है।

न तस्य कश्चिद्दयितः सुहृत्तमो
न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा ।
तथापि भक्तान्भजते यथा तथा
सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः ॥ २२॥

शब्दार्थ

न तस्य—उसका नहीं है; कश्चित्—कोई; दयितः—प्रिय; सुहृत्तमः—सर्वश्रेष्ठ मित्र; न च—न तो; अप्रियः—अप्रिय; द्वेष्यः—जिससे द्वेष किया जा सके; उपेक्ष्यः—उपेक्षित; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा; तथा अपि—फिर भी; भक्तान्—अपने भक्तों को; भजते—भजता है; यथा—वे जैसे हैं; तथा—उसी के अनुसार; सुर-द्रुमः—कल्पवृक्ष; यद्वत्—जिस प्रकार; उपाश्रितः—शरणागत; अर्थ—इच्छित फल; दः—देने वाला।

भगवान् का न तो कोई अप्रिय है, न सर्वश्रेष्ठ मित्र है, न ही वे किसी को अवांछनीय, घृणित या उपेक्षणीय मानते हैं। साथ ही साथ अपने भक्तों से, जीस भाव से पूजा करते हैं उसी तरह प्रेम का आदान-प्रदान करते हैं जिस तरह कल्प-वृक्ष अपने पास आने वालों की इच्छाएँ पूरी करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् ने ऐसी ही बात *भगवद्गीता* (९.२९) में कही है :

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

''न तो मैं किसी से द्वेष करता हूँ, न मैं किसी का पक्षपात करता हूँ। मैं सबों के लिए एकसमान हूँ। किन्तु जो भक्तिपूर्वक मेरी सेवा करता है, वह मेरा मित्र है और वह मुझमें रहता है और मैं भी उसका मित्र हूँ।''

इसी प्रकार श्री चैतन्य महाप्रभु उन लोगों के लिए वज्र जैसे कठोर थे, जो उनसे ईर्ष्या करते थे किन्तु जो उनके दैवी उद्देश्य को समझते थे उनके लिए वे गुलाब के फूल की तरह कोमल थे।

किं चाग्रजो मावनतं यदूत्तमः

स्मयन्परिष्वज्य गृहीतमञ्जलौ ।
गृहं प्रवेष्याप्तसमस्तसत्कृतं
सम्प्रक्ष्यते कंसकृतं स्वबन्धुषु ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

किम् च—और तो और; अग्र-जः—उनके बड़े भाई (बलराम); मा—मुझको; अवनतम्—सिर झुकाये मुझको; यदु-उत्तमः—यदुओं में सर्वश्रेष्ठ; स्मयन्—हँसते हुए; परिष्वज्य—आलिंगन करके; गृहीतम्—पकड़े हुए; अञ्जलौ—मेरी हथेलियों से; गृहम्—घर में; प्रवेष्य—ले जाकर; आप्त—प्राप्त किया हुआ; समस्त—सारा; सत्-कृतम्—सत्कार; सम्प्रक्ष्यते—पूछेंगे; कंस—कंस द्वारा; कृतम्—किया गया; स्व-बन्धुषु—अपने परिवार वालों के प्रति।

और जब मैं अपना सिर झुकाये खड़ा होऊँगा तब कृष्ण के बड़े भाई, यदुश्रेष्ठ बलराम मेरे जुड़े हुए हाथों को थाम लेंगे और फिर मेरा आलिंगन करके वे मुझे अपने घर ले जायेंगे। वहाँ वे सभी प्रकार की अनुष्ठान-सामग्री से मेरा सत्कार करेंगे और मुझसे पूछेंगे कि कंस उनके परिवार वालों के साथ कैसा व्यवहार कर रहा है।

श्रीशुक उवाच
इति सञ्चिन्तयन्कृष्णं श्वफल्कतनयोऽध्वनि ।
रथेन गोकुलं प्राप्तः सूर्यश्चास्तगिरिं नृप ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; सञ्चिन्तयन्—गम्भीरतापूर्वक सोचते हुए; कृष्णम्—कृष्ण के विषय में; श्वफल्क-तनयः—श्वफल्कपुत्र, अक्रूर; अध्वनि—मार्ग में; रथेन—अपने रथ द्वारा; गोकुलम्—गोकुल गाँव; प्राप्तः—पहुँच गया; सूर्यः—सूर्य; च—तथा; अस्त-गिरिम्—अस्ताचल; नृप—हे राजा (परीक्षित)।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : हे राजन्, मार्ग पर जाते हुए श्वफल्कपुत्र (अक्रूर) कृष्ण के विषय में इस तरह गम्भीरतापूर्वक ध्यान करते करते जब गोकुल पहुँचे तो सूर्यअस्त होने को था।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी की टीका है कि कृष्ण के ध्यान में मग्न होने के कारण यद्यपि अक्रूर को मार्ग भी नहीं सूझ रहा था फिर भी वे अपने रथ पर चढ़कर गोकुल पहुँच गये।

पदानि तस्याखिललोकपाल-
किरीटजुष्टामलपादरेणोः ।
ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि
विलक्षितान्यब्जयवाङ्कुशाद्यैः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

पदानि—पदचिह्न; तस्य—उसके; अखिल—समस्त; लोक—लोकों के; पाल—पालकों द्वारा; किरीट—अपने मुकुटों पर; जुष्ट—रखा; अमल—शुद्ध; पाद—पैरों की; रेणोः—धूलि का; ददर्श—(अक्रूर ने) देखा; गोष्ठे—चरागाह में; क्षिति—पृथ्वी

पर; कौतुकानि—अद्‌भुत ढंग से अलंकृत; विलक्षितानि—स्पष्ट दिख रहे; अब्ज—कमल; यव—जौ की बाल; अङ्कुश—हाथी का अंकुश; आद्यैः—इत्यादि से।

चरागाह में अक्रूर ने उन पैरों के चिन्ह देखे जिनकी शुद्ध धूल को समस्त ब्रह्माण्डों के लोकपाल अपने मुकुटों में धारण करते हैं। भगवान् के वे चरणचिन्ह जो कमल, वांकुर तथा अंकुश जैसे चिन्हों से पहचाने जा सकते थे, पृथ्वी की शोभा को बढ़ा रहे थे।

तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसम्भ्रमः
प्रेम्णोर्ध्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षणः ।
रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत
प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तत्—कृष्ण के चरणचिह्नों के; दर्शन—दर्शन से; आह्लाद—आनन्द से; विवृद्ध—अत्यधिक वर्धित; सम्भ्रमः—क्षोभ; प्रेम्णा—शुद्ध-प्रेमवश; ऊर्ध्व—सीधे खड़े; रोम—शरीर के रोएँ; अश्रु-कला—आँसुओं से; आकुल—पूरित; ईक्षणः—आँखें; रथात्—रथ से; अवस्कन्द्य—उतरकर; सः—वह, अक्रूर; तेषु—उन (चरणचिह्नों) के बीच; अचेष्टत—लोटने लगा; प्रभोः—प्रभु के; अमूनि—ये; अङ्घ्रि—पाँवों के; रजांसि—धूलकण; अहो—ओह; इति—इन शब्दों के साथ।

भगवान् के चरणचिन्हों को देखने से उत्पन्न आनन्द से अधिकाधिक विह्वल होने से शुद्ध-प्रेम के कारण अक्रूर के शरीर के रोंगटे खड़े हो गये और आँखें आँसुओं से भर आईं। वे अपने रथ से नीचे कूद पड़े और उन चरणचिन्हों पर यह चीखकर लोटने लगे, "ओह, यह तो मेरे प्रभु के चरणों की धूल है।"

देहंभृतामियानर्थो हित्वा दम्भं भियं शुचम् ।
सन्देशाद्यो हरेर्लिङ्गदर्शनश्रवणादिभिः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

देहम्-भृताम्—देहधारी जीवों के; इयान्—इतना; अर्थः—जीवन-लक्ष्य; हित्वा—त्यागकर; दम्भम्—गर्व; भियम्—भय; शुचम्—तथा शोक; सन्देशात्—(कंस द्वारा) आज्ञा दिये जाने से; यः—जो; हरेः—भगवान् कृष्ण के; लिङ्ग—चिह्न; दर्शन—देखने; श्रवण—सुनना; आदिभिः—इत्यादि के साथ।

समस्त जीवधारियों का जीवन-लक्ष्य यही आनन्द है, जिसे अक्रूर ने कंस का आदेश पाकर अपना सारा गर्व, भय तथा शोक त्यागकर अनुभव किया तथा अपने आपको भगवान् कृष्ण का स्मरण दिलाने वाली वस्तुओं को देखने, सुनने एवं वर्णन करने में लीन कर दिया।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि अक्रूर ने कृष्ण के प्रति मुक्त भाव से अपना प्रेम तथा सम्मान दिखलाते हुए सारा भय त्याग दिया, भले ही वह या उनके परिवार के लोग

क्रुद्ध कंस द्वारा दण्डित क्यों न किये गए हों। अक्रूर ने राज परिवार का सदस्य होते हुए भी अपना गर्व छोड़ा और वृन्दावन-निवासी ग्वालों की पूजा की। उन्होंने अपने घर, पत्नी तथा परिवार के लिए शोक करना छोड़ दिया जो राजा कंस के कारण संकट में थे। इन सबको त्यागकर वे ईश्वर के चरणकमलों की धूल में लोटने लगे।

ददर्श कृष्णं रामं च व्रजे गोदोहनं गतौ ।
पीतनीलाम्बरधरौ शरदम्बुरहेक्षणौ ॥ २८ ॥
किशोरौ श्यामलश्वेतौ श्रीनिकेतौ बृहद्भुजौ ।
सुमुखौ सुन्दरवरौ बलद्विरदविक्रमौ ॥ २९ ॥
ध्वजवज्राङ्कुशाम्भोजैश्चिह्नितैरङ्घ्रिभिर्व्रजम् ।
शोभयन्तौ महात्मानौ सानुक्रोशस्मितेक्षणौ ॥ ३० ॥
उदाररुचिरक्रीडौ स्रग्विणौ वनमालिनौ ।
पुण्यगन्धानुलिप्ताङ्गौ स्नातौ विरजवाससौ ॥ ३१ ॥
प्रधानपुरुषावाद्यौ जगद्धेतू जगत्पती ।
अवतीर्णौ जगत्यर्थे स्वांशेन बलकेशवौ ॥ ३२ ॥
दिशो वितिमिरा राजन्कुर्वाणौ प्रभया स्वया ।
यथा मारकतः शैलो रौप्यश्च कनकाचितौ ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ददर्श—देखा; कृष्णम् रामम् च—कृष्ण तथा बलराम को; व्रजे—व्रज के ग्राम में; गो—गौवें; दोहनम्—गोशालाओं में; गतौ—गई हुई; पीत-नील—पीले तथा नीले; अम्बर—वस्त्र; धरौ—धारण किये; शरत्—शरदकालीन; अम्बुरुह—कमलों की तरह; ईक्षणौ—आँखें; किशोरौ—दोनों युवक; श्यामल-श्वेतौ—गहरा नीला तथा सफेद; श्री-निकेतौ—लक्ष्मी के आश्रयों; बृहत्—बलशाली; भुजौ—भुजाएँ; सु-मुखौ—दोनों के आकर्षक मुखों; सुन्दर-वरौ—अत्यन्त सुन्दर; बल—युवक; द्विरद—हाथी की तरह; विक्रमौ—चाल; ध्वज—पताका; वज्र—वज्र; अङ्कुश—अंकुश; अम्भोजैः—तथा कमल से; चिह्नितैः—चिन्हित; अङ्घ्रिभिः—पैरों से; व्रजम्—चरागाह; शोभयन्तौ—सुशोभित करते; महा-आत्मानौ—दोनों महान् आत्माएँ; स-अनुक्रोश—दयालु; स्मित—तथा हँसती हुई; ईक्षणौ—चितवनें; उदार—उदार; रुचिर—तथा आकर्षक; क्रीडौ—लीलाएँ; स्रक्-विनौ—मणिजटित माला पहने; वन-मालिनौ—तथा फूलों की माला पहने; पुण्य—शुभ; गन्ध—सुगन्धित पदार्थों से; अनुलिप्त—लेप किये; अङ्गौ—शरीर के अंग; स्नातौ—तुरन्त नहाए; विरज—निर्मल; वाससौ—वस्त्र; प्रधान—महान; पुरुषौ—दोनों पुरुष; आद्यौ—आदि; जगत्-धेतू—ब्रह्माण्ड के कारण; जगत्-पती—ब्रह्माण्ड के स्वामी; अवतीर्णौ—अवतरित होकर; जगति-अर्थे—ब्रह्माण्ड के लाभ हेतु; स्व-अंशेन—अपने अपने रूपों में; बल-केशवौ—बलराम तथा केशव; दिशः—सारी दिशाएँ; वितिमिराः—अंधकार रहित; राजन्—हे राजन्; कुर्वाणौ—करते हुए; प्रभया—तेज से; स्वया—अपने; यथा—जिस तरह; मारकतः—मरकत मणि से बना; शैलः—पर्वत; रौप्यः—चाँदी का बना; च—तथा; कनक—सोने से; अचितौ—दोनों सज्जित।

तत्पश्चात् अक्रूर ने व्रज-ग्राम में कृष्ण तथा बलराम को गौवें दुहने के लिए जाते देखा। कृष्ण पीले वस्त्र पहने थे और बलराम नीले वस्त्र पहने थे। उनकी आँखें शरदकालीन कमलों के समान थीं। इन दोनों बलशाली भुजाओं वाले, लक्ष्मी के आश्रयों में से एक का रंग गहरा नीला

था और दूसरे का श्वेत था। ये दोनों ही समस्त व्यक्तियों में सर्वाधिक सुन्दर थे। जब वे युवक हाथियों की-सी चाल से अपनी दयामय मुस्कानों से निहारते चलते तो ये दोनों महापुरुष अपने पदचिन्हों से चरागाह को सुशोभित बनाते जाते। ये पदचिन्ह पताका, वज्र, अंकुश तथा कमल चिन्हों से युक्त थे। ये अत्यन्त उदार तथा आकर्षक लीलाओं वाले दोनों प्रभु मणिजटित हार तथा फूल-मालाएँ पहने थे, इनके अंग शुभ सुगन्धित द्रव्यों से लेपित थे। ये अभी अभी स्नान करके आये थे और निर्मल वस्त्र पहने हुए थे। इन आदि महापुरुषों तथा ब्रह्माण्डों के आदि कारणों ने पृथ्वी के कल्याण हेतु अब केशव तथा बलराम के रूप में अवतार लिया था। हे राजा परीक्षित, वे दोनों दो स्वर्ण-आभूषित पर्वतों के समान लग रहे थे जिनमें से एक पर्वत मरकत मणि का था और दूसरा चाँदी का था क्योंकि वे अपने तेज से सारी दिशाओं में आकाश के अंधकार को दूर कर रहे थे।

रथात्तूर्णमवप्लुत्य सोऽक्रूरः स्नेहविह्वलः ।
पपात चरणोपान्ते दण्डवद्रामकृष्णयोः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

रथात्—रथ से; तूर्णम्—शीघ्रतापूर्वक; अवप्लुत्य—उतरकर; सः—वह; अक्रूरः—अक्रूर; स्नेह—स्नेह से; विह्वलः—अभिभूत; पपात—गिर पड़ा; चरण-उपान्ते—चरणों के निकट; दण्ड-वत्—डंडे की तरह; राम-कृष्णयोः—बलराम तथा कृष्ण के।

स्नेह से अभिभूत अक्रूर तुरन्त अपने रथ से नीचे कूदकर बलराम तथा कृष्ण के चरणों पर डंडे के समान गिर पड़े।

भगवद्दर्शनाह्लादबाष्पपर्याकुलेक्षणः ।
पुलकचिताङ्ग औत्कण्ठ्यात्स्वाख्याने नाशकन्नृप ॥ ३५॥

शब्दार्थ

भगवत्—भगवान् के; दर्शन—दर्शन से; आह्लाद—प्रसन्नता से; बाष्प—आँसुओं से; पर्याकुल—विह्वल; ईक्षणः—नेत्र; पुलक—उभाड़; आचित—अंकित; अङ्गः—अंग; औत्कण्ठ्यात्—उत्कण्ठा से; स्व-आख्याने—अपने आपको व्यक्त करने के लिए; न अशकत्—सक्षम नहीं था; नृप—हे राजन्।

भगवान् के दर्शन की प्रसन्नता से अक्रूर की आँखों में आँसू आ गये और अंगों में आनन्द का उभाड़ हो आया। उन्हें ऐसी उत्कण्ठा हुई कि हे राजन्, वे अपने आपको वाणी द्वारा व्यक्त नहीं कर सके।

भगवांस्तमभिप्रेत्य रथाङ्गाङ्कितपाणिना ।
परिरेभेऽभ्युपाकृष्य प्रीतः प्रणतवत्सलः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; तम्—उसको, अक्रूर को; अभिप्रेत्य—पहचान कर; रथ-अङ्ग—रथ के पहिए से; अङ्कित—अंकित; पाणिना—अपने हाथ से; परिरेभे—आलिंगन किया; अभ्युपाकृष्य—पास खींचकर; प्रीतः—प्रसन्न; प्रणत—शरणागतों के प्रति; वत्सलः—स्नेहवान।

अक्रूर को पहचान कर भगवान् कृष्ण ने उन्हें रथ के चक्र से अंकित अपने हाथ से अपने निकट खींचा और तब उनका आलिंगन किया। कृष्ण को प्रसन्नता हुई क्योंकि वे अपने शरणागत भक्तों के प्रति सदैव स्नेहिल रहते हैं।

तात्पर्य : आचार्यों के अनुसार, भगवान् कृष्ण ने चक्र से अंकित अपना हाथ बढ़ाकर यह इंगित किया कि कंस को मारने की उनमें क्षमता है।

सङ्कर्षणश्च प्रणतमुपगुह्य महामनाः ।
गृहीत्वा पाणिना पाणी अनयत्सानुजो गृहम् ॥ ३७ ॥
पृष्ट्वाथ स्वागतं तस्मै निवेद्य च वरासनम् ।
प्रक्षाल्य विधिवत्पादौ मधुपर्कार्हणमाहरत् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

सङ्कर्षणः—बलराम; च—तथा; प्रणतम्—सिर झुकाये खड़ा; उपगुह्य—आलिंगन करके; महा-मनाः—उदार; गृहीत्वा—पकड़कर; पाणिना—अपने हाथ से; पाणी—उसके दोनों हाथ; अनयत्—ले गया; स-अनुजः—अपने छोटे भाई (कृष्ण) समेत; गृहम्—घर को; पृष्ट्वा—पूछ कर; अथ—तब; सु-आगतम्—उसकी यात्रा की सुख-सुविधा के विषय में; तस्मै—उसको; निवेद्य—अर्पित करके; च—तथा; वर—श्रेष्ठ; आसनम्—आसन; प्रक्षाल्य—धोकर; विधि-वत्—शास्त्रों के आदेशानुसार; पादौ—उसके पाँव; मधु-पर्क—दूध मिश्रित शहद; अर्हणम्—सादर भेंट के रूप में; आहरत्—ले आया।

जब अक्रूर अपना सिर झुकाये खड़े थे तो भगवान् संकर्षण (बलराम) ने उनके जुड़े हुए हाथ पकड़ लिये और तब वे कृष्ण सहित उन्हें अपने घर ले गये। अक्रूर से यह पूछने के बाद कि उनकी यात्रा सुखद तो रही, बलराम ने उन्हें बैठने के लिए श्रेष्ठ आसन दिया, शास्त्रोचित विधि से उनके पाँव पखारे और आदरपूर्वक मधुमिश्रित दूध दिया।

निवेद्य गां चातिथये संवाह्य श्रान्तमादृतः ।
अन्नं बहुगुणं मेध्यं श्रद्धयोपाहरद्विभुः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

निवेद्य—दान में देते हुए; गाम्—गाय; च—तथा; अतिथये—मेहमान को; संवाह्य—पाँव दबाकर; श्रान्तम्—थके हुए; आदृतः—आदरपूर्वक; अन्नम्—भोजन; बहु-गुणम्—विविध स्वादों वाला; मेध्यम्—अर्पण योग्य; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; उपाहरत्—अर्पित किया; विभुः—सर्वशक्तिमान प्रभु ने।

सर्वशक्तिमान भगवान् बलराम ने अक्रूर को एक गाय भेंट की, उनकी थकान दूर करने के लिए उनके पाँव दबाये और तब परम आदर तथा श्रद्धा के साथ भाँति-भाँति के उत्तम स्वादों से युक्त और उचित विधि से पकाया भोजन खिलाया।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार अक्रूर कृष्ण तथा बलराम के घर द्वादशी के दिन गये और उस दिन रात में उपवास नहीं तोड़ना चाहिए। किन्तु अक्रूर ने इस शिष्टाचार को छोड़ दिया क्योंकि वे भगवान् के घर का भोजन पाने के लिए उत्सुक थे।

तस्मै भुक्तवते प्रीत्या रामः परमधर्मवित् ।
मखवासैर्गन्धमाल्यैः परां प्रीतिं व्यधात्पुनः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उसे; भुक्तवते—खा चुकने के बाद; प्रीत्या—स्नेहपूर्वक; रामः—बलराम; परम—परम; धर्म-वित्—धर्म के ज्ञाता; मुख-वासैः—मुख को सुगंधित करने वाले द्रव्यों से; गन्ध—सुगंध से; माल्यैः—फूल की मालाओं से; पराम्—सर्वोच्च; प्रीतिम्—सन्तोष; व्यधात्—व्यवस्था की; पुनः—आगे भी।

जब अक्रूर भरपेट खा चुके तो धार्मिक कर्तव्यों के परम ज्ञाता भगवान् बलराम ने उन्हें मुख को मीठा करने वाले सुगंधित द्रव्य दिये और साथ ही सुगन्धियाँ तथा फूल-मालाएँ भेंट कीं। इस प्रकार अक्रूर ने एक बार फिर परम आनन्द प्राप्त किया।

पप्रच्छ सत्कृतं नन्दः कथं स्थ निरनुग्रहे ।
कंसे जीवति दाशार्ह सौनपाला इवावयः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

पप्रच्छ—पूछा; सत्-कृतम्—सत्कार किया गया; नन्दः—नन्द महाराज; कथम्—कैसे; स्थ—तुम रहे हो; निरनुग्रहे—निर्दय; कंसे—कंस के; जीवति—जीते हुए; दाशार्ह—हे दशार्ह वंशज; सौन—पशु की हत्या करने वाला, कसाई; पालाः—पालने वाला; इव—जिस तरह; अवयः—भेड़ की।

नन्द महाराज ने अक्रूर से पूछा: हे दशार्ह वंशज, उस निर्दयी कंस के जीवित होते हुए आप सभी किस तरह अपना पालन करते हैं? आप तो कसाई के संरक्षण में भेड़ जैसे हैं।

योऽवधीत्स्वस्वसुस्तोकान्क्रोशन्त्या असुतृप्खलः ।
किं नु स्वित्तत्प्रजानां वः कुशलं विमृशामहे ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

यः—जिसने; अवधीत्—मारा; स्व—अपने; स्वसुः—बहन के; तोकान्—बच्चों को; क्रोशन्त्याः—चिल्लाती हुई; असु-तृप्—स्वार्थी; खलः—क्रूर; किम् नु—तो क्या; स्वित्—निस्सन्देह; तत्—उसको; प्रजानाम्—प्रजा का; वः—तुमसे; कुशलम्—कुशलता; विमृशामहे—हमें अनुमान लगा लेना चाहिए।

उस क्रूर स्वार्थी कंस ने अपनी बिलखती हुई दुखित बहन की उपस्थिति में ही उसके बच्चों को मार डाला। तो फिर हम तुमसे, जो कि उनकी प्रजा हो, कुशलता के विषय में पूछ ही क्या सकते हैं?

इत्थं सूनृतया वाचा नन्देन सुसभाजितः ।
अक्रूरः परिपृष्टेन जहावध्वपरिश्रमम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; सू-नृतया—अत्यन्त सत्य तथा अच्छे; वाचा—शब्दों से; नन्देन—नन्द महाराज द्वारा; सु—अच्छी तरह; सभाजितः—सम्मानित; अक्रूरः—अक्रूर ने; परिपृष्टेन—पूछे जाने पर; जहौ—दूर कर दी; अध्व—मार्ग की; परिश्रमम्—थकावट।

पूछताछ के इन सत्य तथा मधुर वचनों से नन्द महाराज द्वारा सम्मानित होकर अक्रूर अपनी यात्रा की थकान भूल गये।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत "वृन्दावन में अक्रूर का आगमन" नामक अड़तीसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter उनतालीस

अक्रूर द्वारा दर्शन

इस अध्याय में बतलाया गया है कि अक्रूर ने किस तरह भगवान् कृष्ण तथा भगवान् बलराम को कंस की योजनाओं तथा मथुरा में उसके कार्यों की सूचना दी, कृष्ण द्वारा मथुरा छोड़ने पर गोपियाँ किस तरह व्यथित होकर क्रन्दन करने लगी और अक्रूर ने यमुना के जल में विष्णु-धाम का किस तरह दर्शन किया।

जब कृष्ण तथा बलराम ने अक्रूर का खूब सत्कार किया और आराम से आसन पर बिठाया तो अक्रूर को लगा कि वृन्दावन की यात्रा करते समय उनके मन में जितनी इच्छाएँ उत्पन्न हुई थीं वे अब सब पूरी हो गईं। शाम को भोजन करने के बाद कृष्ण ने अक्रूर से पूछा कि उनकी यात्रा सुखद तो रही

और वे ठीक से तो हैं? भगवान् ने यह भी पूछा कि कंस उनके परिवार वालों के साथ कैसा व्यवहार कर रहा है और अन्त में यह पूछा कि वे क्यों आये हैं।

अक्रूर ने बतलाया कि कंस किस तरह यादवों को सता रहा है, नारद ने कंस से क्या कहा है और कंस किस तरह वसुदेव के साथ क्रूरता का व्यवहार कर रहा है। अक्रूर ने कंस की यह इच्छा भी बतलाई कि कृष्ण तथा बलराम को मथुरा लाकर धनुष यज्ञ देखने के बहाने और एक मल्लयुद्ध में फँसाकर उनका वध करा दिया जाय। जब कृष्ण तथा बलराम ने यह सुना, तो वे जोर से हँस पड़े। वे अपने पिता नन्द के पास गये और उनसे कंस का आदेश कह सुनाया। तब नन्द ने समस्त व्रजवासियों को यह आदेश दिया कि वे राजा कंस के लिए विविध भेंटें लेकर मथुरा चलने की तैयारी करें।

बेचारी युवा गोपियों ने जब यह सुना कि कृष्ण तथा बलराम मथुरा जा रहे हैं, तो वे अत्यन्त व्यग्र हो उठीं। उनकी सुधि-बुधि जाती रही और वे कृष्ण की लीलाओं का स्मरण करने लगीं। अपने को कृष्ण से विलग किये जाने के लिए वे विधाता को कोसने लगीं और विलाप करने लगीं। वे कहने लगीं कि अक्रूर अपने नाम (अ—नहीं, क्रूर—क्रूर) के योग्य नहीं है क्योंकि वह इतना क्रूर है कि वह उनके प्यारे कृष्ण को लिये जा रहा है। वे विलाप करने लगीं कि "हो सकता है कि हमारा भाग्य विपरीत हो गया हो अन्यथा व्रज के बूढ़े लोग कृष्ण को जाने से रोकते। अत: हमें अपनी लाज-शर्म भूलकर भगवान् माधव को जाने से रोकना चाहिए।" ये शब्द कह कर गोपियाँ कृष्ण का नाम ले ले कर क्रन्दन करने लगीं।

उनके इतना रोने पर भी कृष्ण तथा बलराम को अक्रूर अपने रथ पर मथुरा लिये जा रहे थे। गोकुल के ग्वाले अपनी अपनी गाड़ियों में उनके पीछे हो लिये और युवा गोपियाँ भी कुछ दूर तक पीछे लगी रहीं किन्तु बाद में वे कृष्ण की चितवन तथा इशारों से आश्वस्त हुईं और जब उन्हें कृष्ण से संदेश मिला कि "मैं लौटकर आऊँगा" तो उन्हें ढाढ़स बँधा। कृष्ण के विचारों में पूरी तरह डूबी गोपियाँ तब तक चित्रित आकृतियों-सी खड़ी रहीं जब तक रथ की ध्वजा अथवा सड़क पर उठने वाली धूल के बादल उनकी दृष्टि से ओझल नहीं हो गए। तब वे रास्ते भर कृष्ण का यशोगान करतीं निराश होकर अपने अपने घरों को लौट आईं।

अक्रूर ने यमुना के किनारे अपना रथ रोक दिया जिससे कृष्ण तथा बलराम मार्जन करके जल पी

सकें। जब दोनों भाई रथ में बैठ गये तो अक्रूर ने उनसे यमुना-स्नान करने की अनुमति ली। ज्योंही उन्होंने वैदिक मंत्रोच्चार किया, तो वे यह देखकर स्तम्भित हो गये कि दोनों भाई जल में खड़े हैं। अक्रूर नदी से बाहर निकल कर रथ के पास लौटकर आये तो देखा कि दोनों भाई रथ में ही आसीन हैं। तत्पश्चात् वे पुन: नदी में यह पता लगाने के लिए लौट आये कि उन्होंने जो दो आकृतियाँ देखी थीं वे असली हैं या नहीं।

अक्रूर ने जल में जो रूप देखा था वह चतुर्भुज भगवान् वासुदेव का था। उनका रंग वर्षा के नवीन बादल की तरह गहरा नीला था। वे पीताम्बर धारण किये थे और सहस्र फनों वाले अनन्त शेष की गोद में लेटे थे। सिद्धपुरुष, दैवी नाग तथा असुर उनकी स्तुति कर रहे थे और वे अपने पार्षदों से घिरे थे। उनकी सेवा में श्री, पुष्टि तथा इला जैसी शक्तियाँ लगी थीं तथा ब्रह्मा एवं अन्य देवता उनकी प्रशंसा का गान कर रहे थे। अक्रूर को यह दृश्य खूब भाया और वे अपने हाथ जोड़कर भावविह्वल स्वर में भगवान् की प्रार्थना करने लगे।

श्रीशुक उवाच

सुखोपविष्टः पर्यङ्के रमकृष्णोरुमानितः ।
लेभे मनोरथान्सर्वान्पथि यान्स चकार ह ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; सुख—सुखपूर्वक; उपविष्टः—बैठे हुए; पर्यङ्के—पलंग पर; राम-कृष्ण—बलराम तथा कृष्ण द्वारा; उरु—अत्यन्त; मानितः—सम्मान किया गया; लेभे—प्राप्त किया; मनः-रथान्—इच्छाओं को; सर्वान्—समस्त; पथि—मार्ग में; यान्—जो; सः—उसने; चकार ह—प्रकट किया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् बलराम तथा भगवान् कृष्ण द्वारा इतना अधिक सम्मानित किये जाने पर पलंग में सुखपूर्वक बैठे अक्रूर को लगा कि उन्होंने रास्ते में जितनी इच्छाएँ की थीं वे सभी अब पूरी हो गई हैं।

किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने ।
तथापि तत्परा राजन्न हि वाञ्छन्ति किञ्चन ॥ २ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; अलभ्यम्—अप्राप्य है; भगवति—भगवान् के; प्रसन्ने—प्रसन्न होने पर; श्री—लक्ष्मी के; निकेतने—विश्रामस्थल में; तथा अपि—फिर भी; तत्-पराः—उनके भक्तगण; राजन्—हे राजा (परीक्षित); न—नहीं; हि—निस्सन्देह; वाञ्छन्ति—चाहते हैं; किञ्चन—कुछ भी।

हे राजन्, जिसने लक्ष्मी के आश्रय पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को सन्तुष्ट कर लिया हो भला

उसके लिए क्या अलभ्य है? ऐसा होने पर भी जो उनकी भक्ति में समर्पित हैं, वे कभी भी उनसे कुछ नहीं चाहते।

सायन्तनाशनं कृत्वा भगवान्देवकीसुतः ।
सुहृत्सु वृत्तं कंसस्य पप्रच्छान्यच्चिकीर्षितम् ॥ ३॥

शब्दार्थ

सायन्तन—शाम का; अशनम्—भोजन; कृत्वा—करके; भगवान्—भगवान्; देवकी-सुतः—देवकीपुत्र; सुहृत्सु—अपने शुभचिन्तक सम्बन्धियों तथा मित्रों के प्रति; वृत्तम्—आचरण के विषय में; कंसस्य—कंस के; पप्रच्छ—पूछा; अन्यत्—अन्य; चिकीर्षितम्—इरादे।

शाम के भोजन के बाद देवकीपुत्र भगवान् कृष्ण ने अक्रूर से पूछा कि कंस अपने प्रिय सम्बन्धियों तथा मित्रों के साथ कैसा बर्ताव कर रहा है और वह क्या करने की योजना बना रहा है।

श्रीभगवानुवाच
तात सौम्यागतः कच्चित्स्वागतं भद्रमस्तु वः ।
अपि स्वज्ञातिबन्धूनामनमीवमनामयम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; तात—हे चाचा; सौम्य—हे सदय; आगतः—आया हुआ; कच्चित्—क्या; सु-आगतम्—स्वागत; भद्रम्—मंगल; अस्तु—होए; वः—तुम्हारे लिए; अपि—क्या; स्व—अपने शुभचिन्तक मित्रों; ज्ञाति—सगे-सम्बन्धी; बन्धूनाम्—तथा अन्य पारिवारिक सदस्यों के लिए; अनमीवम्—दुख से छुटकारा; अनामयर्न्—रोग से मुक्ति।

भगवान् ने कहा : हे भद्र पुरुष, प्रिय चाचा अक्रूर, यहाँ की आपकी यात्रा सुखद तो रही? आपका कल्याण हो। हमारे शुभचिन्तक मित्र तथा हमारे निकट और दूर के सम्बन्धी सुखी तथा स्वस्थ तो हैं?

किं नु नः कुशलं पृच्छे एधमाने कुलामये ।
कंसे मातुलनाम्नाङ्ग स्वानां नस्तत्प्रजासु च ॥ ५॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; नु—प्रत्युत; नः—हमारी; कुशलम्—कुशलता के बारे में; पृच्छे—मैं पूछूँगा; एधमाने—जब वह सम्पन्न हो रहा हो; कुल—हमारे परिवार का; आमये—रोग; कंसे—राजा कंस; मातुल-नाम्ना—मामा नाम से पुकारा जाने वाला; अङ्ग—मेरा प्रिय; स्वानाम्—सम्बन्धियों का; नः—हमारा; तत्—उसके; प्रजासु—नागरिकों का; च—तथा।

किन्तु हे अक्रूर, जब तक मामा कहलाने वाला तथा हमारे परिवार के लिए रोगस्वरूप राजा कंस समृद्ध हो रहे हैं, तब तक मैं अपने परिवार वालों तथा उसकी अन्य प्रजा के विषय में पूछने

की झंझट में पड़ूँ ही क्यों?

अहो अस्मदभूद्भूरि पित्रोर्वृजिनमार्ययोः ।
यद्धेतोः पुत्रमरणं यद्धेतोर्बन्धनं तयोः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; अस्मत्—मेरे कारण; अभूत्—था; भूरि—महान; पित्रोः—मेरे माता-पिता के लिए; वृजिनम्—कष्ट; आर्ययोः—निरपराध; यत्-हेतोः—जिसके कारण; पुत्र—उनके पुत्रों की; मरणम्—मृत्यु; यत्-हेतोः—जिसके कारण; बन्धनम्—बन्धन; तयोः—उनके।

जरा देखिये न, कि मैंने अपने निरपराध माता-पिता के लिए कितना कष्ट उत्पन्न कर दिया है! मेरे ही कारण उनके कई पुत्र मारे गये और वे स्वयं बन्दी हैं।

तात्पर्य : चूँकि कंस ने यह भविष्यवाणी सुनी थी कि देवकी का आठवाँ पुत्र उसका वध करेगा इसलिए वह उनके सभी पुत्रों को मारने का प्रयास करता रहा। इसीलिए उसने देवकी तथा उनके पति वसुदेव को बन्दीगृह में डाल दिया था।

दिष्ट्याद्य दर्शनं स्वानां मह्यं वः सौम्य काङ्क्षितम् ।
सञ्जातं वर्ण्यतां तात तवागमनकारणम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

दिष्ट्या—सौभाग्य से; अद्य—आज; दर्शनम्—दर्शन; स्वानाम्—अपने सगे-सम्बन्धी का; मह्यम्—मेरे लिए; वः—तुम; सौम्य—हे भद्र पुरुष; काङ्क्षितम्—इच्छित; सञ्जातम्—घटित हुआ है; वर्ण्यताम्—कृपा करके बतलाइये; तात—हे चाचा; तव—तुम्हारे; आगमन—आने का; कारणम्—कारण।

हे प्रिय स्वजन, सौभाग्यवश आपको देखने की हमारी इच्छा आज पूरी हुई है। हे सदय चाचा, कृपा करके यह बतलायें कि आप आये क्यों हैं?

श्रीशुक उवाच
पृष्टो भगवता सर्वं वर्णयामास माधवः ।
वैरानुबन्धं यदुषु वसुदेववधोद्यमम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; पृष्टः—पूछे जाने पर; भगवता—भगवान् द्वारा; सर्वम्—हर बात; वर्णयाम् आस—बतलाया; माधवः—मधु का वंशज, अक्रूर ने; वैर-अनुबन्धम्—शत्रुवत् मनोभाव; यदुषु—यदुओं के प्रति; वसुदेव—वसुदेव की; वध—हत्या करने का; उद्यमम्—प्रयास।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् के पूछे जाने पर मधुवंशी अक्रूर ने सारी परिस्थिति कह सुनाई जिसमें यदुओं के प्रति कंस की शत्रुता तथा उसके द्वारा वसुदेव के वध का प्रयास भी

सम्मिलित था।

यत्सन्देशो यदर्थं वा दूतः सम्प्रेषितः स्वयम् ।
यदुक्तं नारदेनास्य स्वजन्मानकदुन्दुभेः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिस; सन्देशः—सन्देश सहित; यत्—जिस; अर्थम्—उद्देश्य से; वा—तथा; दूतः—दूत के रूप में; सम्प्रेषितः—भेजा; स्वयम्—अक्रूर; यत्—जो; उक्तम्—कहा गया था; नारदेन—नारद द्वारा; अस्य—उस (कंस) से; स्व—उसका (कृष्ण का); जन्म—जन्म; आनकदुन्दुभेः—वसुदेव से।

अक्रूर को जिस सन्देश को देने के लिए भेजा गया था उसे उन्होंने कह सुनाया। उसने कंस के असली इरादे भी बतला दिये और (यह भी बतला दिया कि) नारद ने किस तरह कंस को सूचित किया कि कृष्ण ने वसुदेव के पुत्र रूप में जन्म लिया है।

श्रुत्वाक्रूरवचः कृष्णो बलश्च परवीरहा ।
प्रहस्य नन्दं पितरं राज्ञा दिष्टं विजज्ञतुः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर; अक्रूर-वचः—अक्रूर के वचन; कृष्णः—भगवान् कृष्ण; बलः—बलराम; च—तथा; पर-वीर—प्रतियोगी वीरों का; हा—नष्ट करने वाला; प्रहस्य—हँस कर; नन्दम्—नन्द महाराज से; पितरम्—अपने पिता; राज्ञा—राजा द्वारा; दिष्टम्—आदेश दिया गया; विजज्ञतुः—उन्होंने सूचित किया।

अक्रूर के वचनों को सुनकर वीर प्रतिद्वन्द्वियों का विनाश करने वाले भगवान् कृष्ण तथा भगवान् बलराम हँस पड़े। तब उन्होंने अपने पिता नन्द महाराज को राजा कंस का आदेश बतलाया।

गोपान्समादिशत्सोऽपि गृह्यतां सर्वगोरसः ।
उपायनानि गृह्णीध्वं युज्यन्तां शकटानि च ।
यास्यामः श्वो मधुपुरीं दास्यामो नृपते रसान् ॥ ११ ॥
द्रक्ष्यामः सुमहत्पर्व यान्ति जानपदाः किल ।
एवमाघोषयत्क्षत्रा नन्दगोपः स्वगोकुले ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

गोपान्—ग्वालों को; समादिशात्—आदेश दिया; सः—उस (नन्द महाराज) ने; अपि—भी; गृह्यताम्—एकत्र कर लिया है; सर्व—सारा; गो-रसः—दुग्ध के बने पदार्थ; उपायनानि—उत्तम उपहार; गृह्णीध्वम्—ले लो; युज्यन्ताम्—जोत दो; शकटानि—छकड़े; च—तथा; यास्यामः—हम चलेंगे; श्वः—कल; मधु-पुरीम्—मथुरा को; दास्यामः—हम देंगे; नृपतेः—राजा को; रसान्—दुग्ध उत्पाद; द्रक्ष्यामः—हम देखेंगे; सु-महत्—अत्यन्त महान; पर्व—उत्सव; यान्ति—जा रहे हैं; जानपदाः—सुदूर जिलों के निवासी; किल—निस्सन्देह; एवम्—इस प्रकार; आघोषयत्—उसने घोषणा करा दी थी; क्षत्रा—गाँव के मुखिया द्वारा; नन्द-गोपः—नन्द महाराज; स्व-गोकुले—अपने गोकुल के लोगों से।

तब नन्द महाराज ने गाँव के मुखिया को बुलाकर नन्द के व्रज मंडल में ग्वालों के लिए निम्नलिखित घोषणा करने के लिए आदेश दिया, ''जाओ और जितना दूध-दही उपलब्ध हो सके एकत्र करो। बहुमूल्य उपहार ले लो और अपने-अपने छकड़े जोत लो। कल हम लोग मथुरा जायेंगे और राजा को अपना दूध-दही भेंट करेंगे तथा महान् उत्सव देखेंगे। समस्त पड़ोसी जिलों के निवासी भी इसमें जा रहे हैं।''

तात्पर्य : नन्द चाहते थे कि राजा के लिए कर के रूप में घी तथा दूध से बनी दूसरी वस्तुएँ ले जाई जाँय।

गोप्यस्तास्तदुपश्रुत्य बभूवुर्व्यथिता भृशम् ।
रामकृष्णौ पुरीं नेतुमक्रूरं व्रजमागतम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

गोप्यः—गोपियाँ; ताः—वे; तत्—तब; उपश्रुत्य—सुनकर; बभूवुः—हो गईं; व्यथिताः—खिन्न; भृशम्—अत्यधिक; राम-कृष्णौ—बलराम तथा कृष्ण; पुरीम्—नगर में; नेतुम्—ले जाने के लिए; अक्रूरम्—अक्रूर को; व्रजम्—वृन्दावन में; आगतम्—आया हुआ।

जब गोपियों ने सुना कि अक्रूर कृष्ण तथा बलराम को नगर ले जाने के लिए व्रज में आये हैं, तो वे अत्यन्त खिन्न हो उठीं।

काश्चित्तत्कृतहृत्ताप श्वासम्लानमुखश्रियः ।
स्त्रंसद्दुकूलवलय केशग्रन्थ्यश्च काश्चन ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

काश्चित्—उनमें से कुछ; तत्—उससे (सुनने से); कृत—उत्पन्न; हृत्—हृदयों में; ताप—पीड़ा से; श्वास—सिसकने से; म्लान—पीली हुई; मुख—उनके मुखों की; श्रियः—कान्ति; स्त्रंसत्—शिथिल हुए; दुकूल—वस्त्र; वलय—कंगन; केश—बालों में; ग्रन्थ्यः—लटें; च—तथा; काश्चन—अन्य।

कुछ गोपियों ने अपने हृदय में इतनी पीड़ा का अनुभव किया कि सिसकियाँ ले लेकर उनके मुख पीले पड़ गये। अन्य गोपियाँ इतनी अधिक पीड़ित थीं कि उनके वस्त्र, बाजूबंद तथा जूड़े शिथिल पड़ गये।

अन्याश्च तदनुध्यान निवृत्ताशेषवृत्तयः ।
नाभ्यजानन्निमं लोकमात्मलोकं गता इव ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अन्याः—दूसरी; च—तथा; तत्—उनका; अनुध्यान—स्थिर ध्यान करने से; निवृत्त—बन्द किया हुआ; अशेष—सारे; वृत्तयः—इन्द्रियों के कार्य; न अभ्यजानन्—न जानती हुईं; इमम्—इस; लोकम्—लोक का; आत्म—आत्म-साक्षात्कार के; लोकम्—लोक में; गताः—प्राप्त हुई; इव—मानो।

अन्य गोपियों की चित्तवृत्तियाँ पूरी तरह रुक गईं और वे कृष्ण के ध्यान में स्थिर हो गईं। उन्हें आत्मसाक्षात्कार-पद प्राप्त करने वालों की भाँति बाह्य-जगत की सारी सुधि-बुधि भूल गई।

तात्पर्य : गोपियाँ पहले से ही आत्म-साक्षात्कार-पद को प्राप्त थीं। *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (मध्य २०.१०८) में कहा गया है—*जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्य-दास*—आत्मा या जीव कृष्ण का नित्य दास है। चूँकि गोपियाँ कृष्ण की गहनतम प्रेमाभक्ति कर रही थीं अतएव वे आत्म-साक्षात्कार के सर्वोच्च पद पर स्थित थीं।

स्मरन्त्यश्चापराः शौरेरनुरागस्मितेरिताः ।
हृदिस्पृशश्चित्रपदा गिरः सम्मुमुहुः स्त्रियः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

स्मरन्त्यः—स्मरण करतीं; च—तथा; अपराः—अन्य; शौरेः—कृष्ण का; अनुराग—स्नेहिल; स्मित—उनकी हँसी से; ईरिताः—भेजी गई; हृदि—हृदय में; स्पृशः—स्पर्श करती; चित्र—विचित्र; पदाः—वाक्यांशों से; गिरः—वाणी; सम्मुमुहुः—अचेत; स्त्रियः—स्त्रियाँ।

और कुछ तरुणियाँ भगवान् शौरि (कृष्ण) के शब्दों का स्मरण करके ही अचेत हो गईं। ये शब्द विचित्र पदों से अलंकृत तथा स्नेहमयी मुसकान से व्यक्त होने से उन तरुणियों के हृदयों का गम्भीरता से स्पर्श करने वाले होते थे।

गतिं सुललितां चेष्टां स्निग्धहासावलोकनम् ।
शोकापहानि नर्माणि प्रोद्दामचरितानि च ॥ १७ ॥
चिन्तयन्त्यो मुकुन्दस्य भीता विरहकातराः ।
समेताः सङ्घशः प्रोचुरश्रुमुख्योऽच्युताशयाः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

गतिम्—चाल; सु-ललिताम्—अत्यन्त आकर्षक; चेष्टाम्—चेष्टाएँ; स्निग्ध—स्नेहिल; हास—हँसी; अवलोकनम्—चितवनें; शोक—दुख; अपहानि—दूर करने वाली; नर्माणि—ठिठोलियाँ; प्रोद्दाम—विशाल; चरितानि—कार्यकलाप; च—तथा; चिन्तयन्त्यः—सोचती हुई; मुकुन्दस्य—भगवान् कृष्ण के; भीतः—भयभीत; विरह—विरह के कारण; कातराः—अत्यन्त दुखी; समेताः—एकसाथ मिलकर; सङ्घशः—टोली में; प्रोचुः—बोलीं; अश्रु—आँसू से युक्त; मुख्यः—मुख; अच्युत-आशयाः—भगवान् अच्युत में लीन मन वाली।

गोपियाँ भगवान् मुकुन्द के क्षणमात्र वियोग की आशंका से भी भयातुर थीं अतः जब उन्हें उनकी ललित चाल, उनकी लीलाओं, उनकी स्नेहिल हँसीली चितवन, उनके वीरतापूर्ण कार्यों

तथा दुख हरने वाली ठिठोलियों का स्मरण हो आया तो वे सम्भाव्य परम विरह के विचार से उत्पन्न चिंता में अपने आपे के बाहर हो गईं। वे झुंड की झुंड एकत्र होकर एक-दूसरे से बातें करने लगीं। उनके मुख आँसुओं से पूरित थे तथा उनके मन अच्युत में पूर्णतया लीन थे।

श्रीगोप्य ऊचुः
अहो विधातस्तव न क्वचिद्दया
संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः ।
तांश्चाकृतार्थान्वियुनङ्क्ष्यपार्थकं
विक्रीडितं तेऽर्भकचेष्टितं यथा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

श्री-गोप्यः ऊचुः—गोपियों ने कहा; अहो—ओह; विधातः—विधाता; तव—तुम्हारा; न—नहीं है; क्वचित्—कहीं भी; दया—दया; संयोज्य—मिलाकर; मैत्र्या—मित्रता से; प्रणयेन—तथा प्रेम से; देहिनः—देहधारी जीवों को; तान्—उन; च—तथा; अकृत—अधूरे; अर्थान्—उद्देश्य; वियुनङ्क्षि—विलग कर देते हो; अपार्थकम्—व्यर्थ ही; विक्रीडितम्—खेल; ते—तुम्हारा; अर्भक—बच्चे की; चेष्टितम्—चेष्टा; यथा—जिस तरह।

गोपियों ने कहा : हे विधाता, आपमें तनिक भी दया नहीं है। आप देहधारी प्राणियों को मैत्री तथा प्रेम द्वारा एक-दूसरे के पास लाते हैं और तब उनकी इच्छाओं के पूरा होने के पूर्व ही व्यर्थ में उन्हें विलग कर देते हैं। आपका यह भ्रमपूर्ण खेलवाड़ बच्चों की चेष्टा के समान है।

यस्त्वं प्रदर्श्यासितकुन्तलावृतं
मुकुन्दवक्त्रं सुकपोलमुन्नसम् ।
शोकापनोदस्मितलेशसुन्दरं
करोषि पारोक्ष्यमसाधु ते कृतम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यः—जो; त्वम्—तुम; प्रदर्श्य—दिखलाकर; असित—श्याम; कुन्तल—घुँघराले बालों से; आवृतम्—ढका; मुकुन्द—कृष्ण का; वक्त्रम्—मुखमण्डल; सु-कपोलम्—सुन्दर कपोलों से युक्त; उत्-नसम्—तथा उठी हुई नाक; शोक—शोक; अपनोद—समूल नष्ट करने वाली; स्मित—अपनी हँसी से; लेश—तनिक; सुन्दरम्—सुन्दर; करोषि—करते हो; पारोक्ष्यम्—अदृष्ट; असाधु—बुरा; ते—तुम्हारे द्वारा; कृतम्—किया गया।

श्याम घुँघराले बालों से घिरा तथा सुन्दर गालों से सुशोभित, उठी हुई नाक तथा समस्त कष्टों को हरने वाली मृदु हँसी से युक्त, मुकुन्द के मुख को दिखलाने के बाद अब आप उस मुख को हमसे ओझल करने जा रहे हैं। आपका यह वर्ताव तनिक भी अच्छा नहीं है।

क्रूरस्त्वमक्रूरसमाख्यया स्म न-

श्चक्षुर्हि दत्तं हरसे बताज्ञवत् ।
येनैकदेशेऽखिलसर्गसौष्ठवं
त्वदीयमद्राक्ष्म वयं मधुद्विषः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

क्रूरः—क्रूर; त्वम्—तुम (हो); अक्रूर-समाख्यया—अक्रूर नाम से जाने जाने वाले (जिसका अर्थ है, जो क्रूर नहीं है); स्म—निश्चय ही; नः—हमारी; चक्षुः—आँखें; हि—निस्सन्देह; दत्तम्—दिया गया; हरसे—छीने ले रहे हो; बत—हाय; अज्ञ—मूर्ख; वत्—सदृश; येन—जिन (आँखों) से; एक—एक; देशे—स्थान में; अखिल—समस्त; सर्ग—सृष्टि की; सौष्ठवम्—पूर्णता; त्वदीयम्—आपका; अद्राक्ष्म—देख चुकीं; वयम्—हम; मधुद्विषः—मधु असुर के शत्रु, भगवान् कृष्ण का।

हे विधाता, यद्यपि आप यहाँ अक्रूर के नाम से आये हैं किन्तु हैं आप क्रूर क्योंकि आप मूर्खों के समान हमसे उन्हें ही छीने ले रहे हैं, जिन्हें कभी आपने हमें दिया था—हमारी वे आँखें जिनसे हमने भगवान् मधुद्विष के रूप के उस एक में भी आपकी सम्पूर्ण सृष्टि की पूर्णता देखी है।

तात्पर्य : गोपियाँ कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को देखने की परवाह नहीं करती थीं। अतएव यदि कृष्ण वृन्दावन से चले जायेंगे तो उनके नेत्रों के लिए कोई कार्य ही नहीं रह जायेगा। इस तरह कृष्ण का जाना बेचारी गोपियों को अंधा बनाये दे रहा था और अपने शोक के कारण वे अक्रूर को जिनके नाम का अर्थ है ''क्रूर नहीं'' क्रूर कहे डाल रही थीं।

न नन्दसूनुः क्षणभङ्गसौहृदः
समीक्षते नः स्वकृतातुरा बत ।
विहाय गेहान्स्वजनान्सुतान्पतीं-
स्तद्दास्यमद्धोपगता नवप्रियः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; नन्द-सूनुः—नन्द महाराज का पुत्र; क्षण—एक क्षण में; भङ्ग—तोड़ना; सौहृदः—जिसकी मैत्री का; समीक्षते—देखते हैं; नः—हमको; स्व—अपने द्वारा; कृत—बनाया गया; आतुराः—अपने वश में; बत—हाय; विहाय—छोड़कर; गेहान्—हमारे घरों को; स्व-जनान्—सम्बन्धियों को; सुतान्—बालकों को; पतीन्—पतियों को; तत्—उसके प्रति; दास्यम्—दासता; अद्धा—प्रत्यक्ष; उपगताः—ग्रहण की हुई; नव—नये नये; प्रियः—प्रेमी।

हाय! क्षण-भर में प्रेमपूर्ण मैत्री को भंग करने वाला नन्द का बेटा अब हमको सीधे एकटक देख भी नहीं सकेगा। उसके वशीभूत होकर उसकी सेवा करने के लिए हमने अपने घरों, सम्बन्धियों, बच्चों तथा पतियों तक का परित्याग कर दिया किन्तु वह सदैव नितनये प्रेमियों की खोज में रहता है।

सुखं प्रभाता रजनीयमाशिषः
सत्या बभूवुः पुरयोषितां ध्रुवम् ।
याः संप्रविष्टस्य मुखं व्रजस्पतेः
पास्यन्त्यपाङ्गोत्कलितस्मितासवम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सुखम्—सुखमय; प्रभाता—प्रातःकाल; रजनी—रात का; इयम्—यह; आशिषः—आशाएँ; सत्याः—सच; बभूवुः—हो चुकी हैं; पुर—नगर की; योषिताम्—स्त्रियों के; ध्रुवम्—निश्चय ही; याः—जो; संप्रविष्टस्य—(मथुरा में) प्रवेश किये हुए का; मुखम्—मुख; व्रजः-पतेः—व्रज के स्वामी का; पास्यन्ति—पीयेंगी; अपाङ्ग—तिरछी चितवन; उत्कलित—फैली हुई; स्मित—हँसी; आसवम्—अमृत।

इस रात्रि के बाद का प्रातःकाल निश्चित रूप से मथुरा की स्त्रियों के लिए मंगलमय होगा। अब उनकी सारी आशाएँ पूरी हो जायेंगी क्योंकि जैसे ही व्रजपति उनके नगर में प्रवेश करेंगे वे उनके मुख की तिरछी चितवन से निकलने वाली हँसी के अमृत का पान कर सकेंगी।

तासां मुकुन्दो मधुमञ्जुभाषितै-
र्गृहीतचित्तः परवान्मनस्व्यपि ।
कथं पुनर्नः प्रतियास्यतेऽबला
ग्राम्याः सलज्जस्मितविभ्रमैर्भ्रमन् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

तासाम्—उनके; मुकुन्दः—कृष्ण; मधु—शहद सदृश; मञ्जु—मीठी; भाषितैः—वाणी से; गृहीत—वशीभूत; चित्तः—मन; परवान्—पराधीन; मनस्वी—बुद्धिमान; अपि—यद्यपि; कथम्—कैसे; पुनः—फिर; नः—हमको; प्रतियास्यते—लौटेगा; अबलाः—हे बालाओं; ग्राम्याः—ग्रामीण; स-लज्ज—लजीली; स्मित—हँसती हुई; विभ्रमैः—वशीकरण से; भ्रमन्—मुग्ध हुई।

हे गोपियो, यद्यपि हमारा मुकुन्द बुद्धिमान तथा अपने माता-पिता का अत्यन्त आज्ञाकारी है किन्तु एक बार मथुरा की स्त्रियों के मधु सदृश मीठे शब्दों के जादू में आ जाने और उनकी आकर्षक लजीली मुसकानों से मुग्ध हो जाने पर भला वह हम गँवार देहाती अबलाओं के पास फिर कभी क्यों लौटने लगा?

अद्य ध्रुवं तत्र दृशो भविष्यते
दाशार्हभोजान्धकवृष्णिसात्वताम् ।
महोत्सवः श्रीरमणं गुणास्पदं
द्रक्ष्यन्ति ये चाध्वनि देवकीसुतम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

अद्य—आज; ध्रुवम्—निश्चय ही; तत्र—वहाँ; दृशः—आँखों के लिए; भविष्यते—होगा; दाशार्ह-भोज-अन्धक-वृष्णि-सात्वताम्—दाशार्ह, भोज, अन्धक, वृष्णि तथा सात्वत वंशों के सदस्यों के; महा-उत्सवः—महान् उत्सव; श्री—लक्ष्मीजी का; रमणम्—प्रिय; गुण—सारे दिव्य गुणों का; आस्पदम्—आगार, भण्डार; द्रक्ष्यन्ति—देखेंगे; ये—जो; च—भी; अध्वनि—मार्ग पर; देवकी-सुतम्—देवकीपुत्र, श्रीकृष्ण को।

जब दाशार्ह, भोज, अन्धक, वृष्णि तथा सात्वत लोग मथुरा में देवकी के पुत्र को देखेंगे तो उनके नेत्रों के लिए महान् उत्सव तो होगा ही, साथ ही साथ नगर के मार्ग में यात्रा करते हुए जो लोग उन्हें देखेंगे उनके लिए भी महान् उत्सव होगा। आखिर, वे श्री लक्ष्मीजी के प्रियतम और समस्त दिव्य गुणों के आगार जो हैं।

मैतद्विधस्याकरुणस्य नाम भू-
दक्रूर इत्येतदतीव दारुणः ।
योऽसावनाश्वास्य सुदुःखितम्जनं
प्रियात्प्रियं नेष्यति पारमध्वनः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

मा—मत; एतत्-विधस्य—ऐसे; अकरुणस्य—क्रूर व्यक्ति का; नाम—नाम; भूत्—होये; अक्रूरः इति—अक्रूर; एतत्—यह; अतीव—अत्यन्त; दारुणः—क्रूर; यः—जो; असौ—वह; अनाश्वास्य—धीरज धराते हुए; सु-दुःखितम्—अत्यन्त दुखी; जनम्—लोगों को; प्रियात्—प्रियतम् से अधिक; प्रियम्—प्रिय (कृष्ण); नेष्यति—ले जायेगा; पारम् अध्वनः—हमारी दृष्टि से परे।

जो ऐसा निर्दय कार्य कर रहा हो उसे अक्रूर नहीं कहलाया जाना चाहिए। वह इतना क्रूर है कि व्रज के दुखी निवासियों को धीरज धराने का प्रयास किए बिना ही उस कृष्ण को लिये जा रहा है, जो हमारे प्राणों से भी हमें अधिक प्रिय है।

अनार्द्रधीरेष समास्थितो रथं
तमन्वमी च त्वरयन्ति दुर्मदाः ।
गोपा अनोभिः स्थविरैरुपेक्षितं
दैवं च नोऽद्य प्रतिकूलमीहते ॥ २७॥

शब्दार्थ

अनार्द्र-धीः—निष्ठुर; एषः—यह (कृष्ण); समास्थितः—आसीन होकर; रथम्—रथ में; तम्—उसको; अनु—पीछे चलने वाले; अमी—ये; च—तथा; त्वरयन्ति—जल्दबाजी; दुर्मदाः—बेवकूफ बनाये गये; गोपाः—ग्वाले; अनोभिः—अपनी बैलगाड़ियों में; स्थविरैः—वृद्धजनों द्वारा; उपेक्षितम्—उपेक्षित; दैवम्—भाग्य को; च—तथा; नः—हमारे साथ; अद्य—आज; प्रतिकूलम्—विपरीत; ईहते—कार्य कर रहा है।

निष्ठुर कृष्ण पहले ही रथ पर चढ़ चुके हैं और अब ये मूर्ख ग्वाले अपनी बैलगाड़ियों में उनके पीछे पीछे जाने की जल्दी मचा रहे हैं। यहाँ तक कि बड़े-बूढ़े भी उन्हें रोकने के लिए कुछ भी नहीं कह रहे। आज भाग्य हमारे विपरीत कार्य कर रहा है।

तात्पर्य : गोपियों ने जो कुछ सोचा उसे श्रील श्रीधर स्वामी इस प्रकार उदघाटित करते हैं: ''ये मूर्ख ग्वाले तथा बड़े-बूढ़े कृष्ण को रोकने का प्रयास तक नहीं कर रहे हैं। क्या उन्हें ऐसा नहीं लगता

कि वे आत्महत्या कर रहे हैं? वे कृष्ण के मथुरा जाने में सहायक बन रहे हैं किन्तु उन्हें वृन्दावन लौटकर आना पड़ेगा। तब वे निश्चित रूप से कृष्ण की अनुपस्थिति में मर जायेंगे। सारे जगत की मति मारी गई है।''

निवारयामः समुपेत्य माधवं
किं नोऽकरिष्यन्कुलवृद्धबान्धवाः ।
मुकुन्दसङ्गान्निमिषार्धदुस्त्यजाद्
दैवेन विध्वंसितदीनचेतसाम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

निवारयामः—चलो हम रोकें; समुपेत्य—पास जाकर; माधवम्—कृष्ण को; किम्—क्या; नः—हमारा; अकरिष्यन्—करेंगे; कुल—परिवार के; वृद्ध—बूढ़े लोग; बान्धवाः—तथा हमारे सम्बन्धीजन; मुकुन्द-सङ्गात्—भगवान् मुकुन्द के साथ से; निमिष—पलक झँपने के; अर्ध—आधा; दुस्त्यजात्—जिसे त्यागना असम्भव है; दैवेन—भाग्य द्वारा; विध्वंसित—विलग किया गया; दीन—दुखियारा; चेतसाम्—हृदयों वाले।

चलो हम सीधे माधव के पास चलें और उन्हें जाने से रोकें। हमारे परिवार के बड़े-बूढ़े तथा अन्य सम्बन्धीजन हमारा क्या बिगाड़ सकते हैं? अब जबकि भाग्य हमें मुकुन्द से विलग कर रहा है, हमारे हृदय पहले से ही दुखित हैं क्योंकि हम एक पल के एक अंश के लिए भी उनके संग के त्याग को सहन नहीं कर सकतीं।

तात्पर्य : गोपियों ने जो कुछ सोचा उसका वर्णन श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती करते हैं: ''चलो सीधे कृष्ण के पास चलें और उनके वस्त्र तथा हाथ पकड़कर खींचें तथा हठ करें कि वे रथ से नीचे उतर आयें और हमारे साथ यहीं ठहरें। हम उनसे कहेंगी, ''आप इतनी सारी स्त्रियों की हत्या करने का पाप अपने ऊपर न लें।''

अन्य गोपियों ने कहा, ''यदि हम ऐसा करेंगी तो हमारे सम्बन्धी तथा गाँव के बड़े-बूढ़े कृष्ण के प्रति हमारे गुप्त प्रेम को जान जायेंगे और हमें छोड़ देंगे।''

लेकिन वे हमारा कर ही क्या सकते हैं?''

''हाँ, कृष्ण के जाने से अब हमारे जीवन दुखी बन ही चुके हैं। हमारा कुछ भी नहीं बिगड़ेगा।''

''यह तो ठीक है। हम वृन्दावन के जंगल में अधिष्ठात्री देवियों की तरह रहेंगी और तब हम अपनी सच्ची इच्छा—जंगल में कृष्ण के साथ रहने की इच्छा—पूरी कर सकती हैं।''

''हाँ! यदि हमारे सम्बन्धी तथा बड़े-बूढ़े हमें मार-पीट कर या ताले के भीतर रखकर हमें दण्डित

भी करते हैं, तो भी हम यह जानकर सुखपूर्वक जीवित रह सकती हैं कि कृष्ण हमारे गाँव में रह रहे हैं। हमारी कुछ सहेलियाँ जो बन्दी नहीं हुई हैं, वे हमारे पास तक कृष्ण का जूठन लाने का चतुरता से कोई उपाय ढूँढ़ निकालेंगी और हम जीवित रह सकेंगी। किन्तु यदि कृष्ण को रोका नहीं जाता तो हम अवश्य मर जायेंगी।''

यस्यानुरागललितस्मितवल्गुमन्त्र-
लीलावलोकपरिरम्भणरासगोष्ठाम् ।
नीताः स्म नः क्षणमिव क्षणदा विना तं
गोप्यः कथं न्वतितरेम तमो दुरन्तम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; अनुराग—स्नेह से; ललित—मनोहर; स्मित—(जहाँ) हँसी (थी); वल्गु—आकर्षक; मन्त्र—घुलमिलकर बातचीत; लीला—क्रीड़ापूर्ण; अवलोक—चितवन; परिरम्भण—तथा आलिंगन; रास—रासनृत्य की; गोष्ठाम्—गोष्ठी को; नीताः स्म—लाई गई; नः—हमारे लिए; क्षणम्—क्षण; इव—सदृश; क्षणदाः—रातें; विना—रहित; तम्—उसके; गोप्यः—हे गोपियो; कथम्—कैसे; नु—निस्सन्देह; अतितरेम—हम पार कर जायेंगी; तमः—अंधकार; दुरन्तम्—दुर्लंघ्य।

जब वे हमें रासनृत्य की गोष्ठी में ले आये जहाँ हमने उनकी स्नेहपूर्ण तथा मनोहर मुसकानें का, उनकी आह्लादकारी गुप्त बातों, उनकी लीलापूर्ण चितवनों तथा उनके आलिंगनों का आनन्द लूटा तब हमने अनेक रात्रियाँ बितायी जो मात्र एक क्षण के तुल्य लगी। हे गोपियो, तो भला हम उनकी अनुपस्थिति के दुर्लंघ्य अंधकार को कैसे पार कर सकती हैं?

तात्पर्य : गोपियों को कृष्ण के संग में दीर्घकाल एक क्षण तुल्य बीत जाता था और उनकी अनुपस्थिति में एक क्षण अत्यन्त दीर्घकाल-सा लग रहा था।

योऽह्नः क्षये व्रजमनन्तसखः परीतो
गोपैर्विशन्खुररजश्छुरितालकस्त्रक् ।
वेणुं क्वणन्स्मितकताक्षनिरीक्षणेन
चित्तं क्षिणोत्यमुमृते नु कथं भवेम ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यः—जो; अह्नः—दिन के; क्षये—अन्त होने पर; व्रजम्—व्रज-ग्राम में; अनन्त—अनन्त या बलराम का; सखः—मित्र, कृष्ण; परीतः—चारों ओर से घिरा; गोपैः—ग्वालबालों से; विशन्—प्रवेश करते हुए; खुर—गो-खुरों की; रजः—धूल से; छुरित—धूसरित; अलक—घुँघराले बाल; स्त्रक्—तथा माला; वेणुम्—बाँसुरी को; क्वणन्—बजाते हुए; स्मित—मन्द हास करते हुए; कट-अक्ष—बाँकी चितवन से; निरीक्षणेन—देखने से; चित्तम्—हमारे मन को; क्षिणोति—नष्ट करता है; अमुम्—उसके; ऋते—बिना; नु—निस्सन्देह; कथम्—कैसे; भवेम—हम जीवित रह सकती हैं।

हम अनन्त के मित्र कृष्ण के बिना भला कैसे जीवित रह सकती हैं? वे शाम को ग्वालबालों

के साथ व्रज लौटा करते थे तो उनके बाल तथा उनकी माला गौवों के खुरों से उठती धूल से धूसरित हो जाते थे। जब वे बाँसुरी बजाते तो वे अपनी हँसीली बाँकी चितवन से हमारे मन को मोह लेते थे।

श्रीशुक उवाच
एवं ब्रुवाणा विरहातुरा भृशं
व्रजस्त्रियः कृष्णविषक्तमानसाः ।
विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं
गोविन्द दामोदर माधवेति ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; ब्रुवाणाः—बोलती हुई; विरह—वियोग की भावनाओं से; आतुराः—व्याकुल; भृशम्—नितान्त; व्रज-स्त्रियः—व्रज की स्त्रियाँ; कृष्ण—कृष्ण से; विषक्त—अनुरक्त; मानसाः—मन वाली; विसृज्य—त्यागकर; लज्जाम्—लज्जा; रुरुदुः स्म—चिल्लाने लगीं; सु-स्वरम्—जोर जोर से; गोविन्द दामोदर माधव इति—हे गोविन्द, हे दामोदर, हे माधव।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इन शब्दों को कहने के बाद व्रज की स्त्रियाँ, जो कृष्ण के प्रति इतनी अनुरक्त थीं, उनके आसन्न वियोग से अत्यन्त क्षुब्ध हो उठीं। वे सारी लाज-हया भूल गईं और जोरों से "हे गोविन्द, हे दामोदर, हे माधव," चिल्ला उठीं।

तात्पर्य : दीर्घकाल तक गोपियों ने कृष्ण के प्रति अपने माधुर्य-प्रेम को छिपा रखा था। किन्तु अब जब कृष्ण विदा हो रहे थे तो गापियाँ इतनी व्यग्र हो उठी थीं कि वे अपने मनोभावों को छिपा न पाईं।

स्त्रीणामेवं रुदन्तीनामुदिते सवितर्यथ ।
अक्रूरश्चोदयामास कृतमैत्रादिको रथम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

स्त्रीणाम्—स्त्रियों के; एवम्—इस प्रकार से; रुदन्तीनाम्—रुदन करती हुई; उदिते—उदय होते हुए; सवितरि—सूर्य; अथ—तब; अक्रूरः—अक्रूर; चोदयाम् आस—चल पड़ा; कृत—पूरा करके; मैत्र-आदिकः—प्रातःकालीन पूजा तथा नैतिक कार्य; रथम्—रथ पर।

किन्तु गोपियों द्वारा इस प्रकार क्रन्दन करते रहने पर भी अक्रूर प्रातःकालीन पूजा तथा अन्य कार्य समाप्त करके अपना रथ हाँकने लगे।

तात्पर्य : कुछ वैष्णव आचार्यों के अनुसार कृष्ण को मथुरा ले जाते समय अक्रूर ने गोपियों को सान्त्वना न देकर अपराध किया। इसी अपराध के कारण अक्रूर को बाद में जबरन द्वारका छोड़ना पड़ा और स्यमन्तक मणि की घटना के समय कृष्ण से विलग होना पड़ा। उस समय अक्रूर को वाराणसी के

एक घृणित स्थान में वास करना पड़ा था।

देखने में आया कि माता यशोदा तथा वृन्दावन के अन्य वासी इन गोपियों की तरह चिल्ला नहीं रहे थे क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास था कि कृष्ण कुछ ही दिनों में लौट आयेंगे।

गोपास्तमन्वसज्जन्त नन्दाद्याः शकटैस्ततः ।
आदायोपायनं भूरि कुम्भान्गोरससम्भृतान् ॥ ३३॥

शब्दार्थ

गोपाः—ग्वालों ने; तम्—उसका; अन्वसज्जन्त—पीछा किया; नन्द-आद्याः—नन्द इत्यादि; शकटैः—अपने छकड़ों में; ततः—तब; आदाय—ले लेकर; उपायनम्—भेंटें; भूरि—प्रचुर; कुम्भान्—घड़े; गो-रस—दूध की बनी वस्तुएँ; सम्भृतान्—भरी हुई।

नन्द महाराज को आगे करके ग्वाले अपने अपने छकड़ों में भगवान् कृष्ण के पीछे पीछे हो लिये। ये लोग अपने साथ राजा के लिए अनेक भेंटें लिये हुए थे जिनमें घी तथा अन्य दुग्ध उत्पादों से भरे हुए मिट्टी के घड़े सम्मिलित थे।

गोप्यश्च दयितं कृष्णमनुव्रज्यानुरञ्जिताः ।
प्रत्यादेशं भगवतः काङ्क्षन्त्यश्चावतस्थिरे ॥ ३४॥

शब्दार्थ

गोप्यः—गोपियाँ; च—तथा; दयितम्—अपने प्रियतम; कृष्णम्—कृष्ण के; अनुव्रज्य—पीछे पीछे चलकर; अनुरञ्जिताः—प्रसन्न; प्रत्यादेशम्—बदले में कुछ आदेश; भगवतः—भगवान् से; काङ्क्षन्त्यः—आकांक्षा करती हुईं; च—तथा; अवतस्थिरे—खड़ी रहीं।

भगवान् कृष्ण ने (अपनी चितवन से) गोपियों को कुछ कुछ ढाढस बँधाया और वे भी कुछ देर तक उनके पीछे पीछे चलीं। फिर इस आशा से वे बिना हिले-डुले खड़ी रहीं कि वे उन्हें कुछ आदेश देंगे।

तास्तथा तप्यतीर्वीक्ष्य स्वप्रस्थाणे यदूत्तमः ।
सान्त्वयामस सप्रेमैरायास्य इति दौत्यकैः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

ताः—उन्हें (गोपियों को); तथा—इस तरह; तप्यतीः—विलाप करती; वीक्ष्य—देखकर; स्व-प्रस्थाने—अपने विदा होते समय; यदु-उत्तमः—यदुओं में श्रेष्ठ; सान्त्वयाम् आस—उन्हें ढाढ़स बँधाया; स-प्रेमैः—प्रेम से युक्त होकर; आयास्ये इति—''मैं वापस आऊँगा''; दौत्यकैः—दूत से भेजे गये शब्दों से।

जब वे विदा होने लगे तो उन यदुश्रेष्ठ ने देखा कि गोपियाँ किस तरह विलाप कर रही थीं। अतः उन्होंने एक दूत भेजकर यह प्रेमपूर्ण वादा भेजा कि ''मैं वापस आऊँगा'' इस प्रकार उन्हें

सान्त्वना प्रदान की।

यावदालक्ष्यते केतुर्यावद्रेणू रथस्य च ।
अनुप्रस्थापितात्मानो लेख्यानीवोपलक्षिताः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; आलक्ष्यते—दिखाई देता रहा; केतुः—ध्वजा; यावत्—जब तक; रेणुः—धूल; रथस्य—रथ की; च—तथा; अनुप्रस्थापित—पीछे पीछे भेजती हुईं; आत्मानः—अपने मनों को; लेख्यानि—लिखित चित्रों; इव—सदृश; उपलक्षिताः—प्रकट हो रही थीं।

गोपियाँ अपने अपने मन को कृष्ण के साथ भेजकर, किसी चित्र में बनी आकृतियों की भाँति निश्चेष्ट खड़ी रहीं। वे वहाँ तब तक खड़ी रहीं जब तक रथ के ऊपर की पताक दिखती रही और जब तक रथ के पहियों से उठी हुई धूल उन्हें दिखलाई पड़ती रही।

ता निराशा निववृतुर्गोविन्दविनिवर्तने ।
विशोका अहनी निन्युर्गायन्त्यः प्रियचेष्टितम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

ताः—वे; निराशाः—आशारहित; निववृतुः—लौट आईं; गोविन्द-विनिवर्तने—गोविन्द की वापसी का; विशोकाः—अत्यन्त दुखी; अहनी—दिन तथा रात; निन्युः—बिताया; गायन्त्यः—कीर्तन करते; प्रिय—अपने प्रियतम की; चेष्टितम्—लीलाओं या कार्यकलापों के विषय में।

तब गोपियाँ निराश होकर लौट गईं। उन्हें इसकी आशा नहीं रही कि गोविन्द उनके पास कभी लौटेंगे भी। वे शोकाकुल होकर अपने प्रिय की लीलाओं का कीर्तन करती हुईं अपने दिन और रातें बिताने लगीं।

भगवानपि सम्प्राप्तो रामाक्रूरयुतो नृप ।
रथेन वायुवेगेन कालिन्दीमघनाशिनीम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; अपि—तथा; सम्प्राप्तः—पहुँचे; राम-अक्रूर-युतः—बलराम तथा अक्रूर के साथ; नृप—हे राजा (परीक्षित); रथेन—रथ के द्वारा; वायु—वायु जैसे; वेगेन—तेज; कालिन्दीम्—कालिन्दी (यमुना) पर; अघ—पाप; नाशिनीम्—नष्ट करने वाली।

हे राजन्, भगवान् कृष्ण भगवान् बलराम तथा अक्रूर समेत उस रथ में वायु जैसी तेजी से यात्रा करते हुए सारे पापों को विनष्ट करने वाली कालिन्दी नदी पर पहुँचे।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी की टीका है कि भगवान् कृष्ण चुपके-चुपके गोपियों से अपने विरह पर पछताते रहे। भगवान् की ये दिव्य अनुभूतियाँ उनकी परम ह्लादिनी शक्ति की अंश रूप हैं।

तत्रोपस्पृश्य पानीयं पीत्वा मृष्टं मणिप्रभम् ।
वृक्षषण्डमुपव्रज्य सरामो रथमाविशत् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; उपस्पृश्य—जल का स्पर्श करके; पानीयम्—अपने हाथ में; पीत्वा—पीकर; मृष्टम्—मधुर; मणि—मणियों के तुल्य; प्रभम्—तेजयुक्त; वृक्ष—वृक्षों के; षण्डम्—कुंज; उपव्रज्य—के पास चलकर; स-रामः—बलराम सहित; रथम्—रथ में; आविशत्—सवार हो गये।

नदी का मधुर जल चमकीली मणियों से भी अधिक तेजवान था। भगवान् कृष्ण ने शुद्धि के लिए जल से मार्जन किया और हाथ में लेकर आचमन किया। तत्पश्चात् अपने रथ को एक वृक्ष-कुंज के पास मँगाकर बलराम सहित उस पर पुनः सवार हो गये।

अक्रूरस्तावुपामन्त्र्य निवेश्य च रथोपरि ।
कालिन्द्या ह्रदमागत्य स्नानं विधिवदाचरत् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

अक्रूरः—अक्रूर; तौ—उन दोनों से; उपामन्त्र्य—अनुमति लेकर; निवेश्य—उन्हें बैठाकर; च—तथा; रथ-उपरि—रथ पर; कालिन्द्याः—यमुना के; ह्रदम्—कुंड में; आगत्य—जाकर; स्नानम्—स्नान; विधि-वत्—शास्त्रीय विधि के अनुसार; आचरत्—पूरा किया।

अक्रूर ने दोनों भाइयों से रथ पर बैठने के लिये कहा। तत्पश्चात् उनसे अनुमति लेकर वे यमुना कुंड में गये और शास्त्रों में निर्दिष्ट विधि के अनुसार स्नान किया।

निमज्ज्य तस्मिन्सलिले जपन्ब्रह्म सनातनम् ।
तावेव ददृशेऽक्रूरो रामकृष्णौ समन्वितौ ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

निमज्ज्य—घुसकर; तस्मिन्—उस; सलिले—जल में; जपन्—उच्चारण करते हुए; ब्रह्म—वैदिक मंत्र; सनातनम्—नित्य; तौ—दोनों ने; एव—निस्सन्देह; ददृशे—देखा; अक्रूरः—अक्रूर ने; राम-कृष्णौ—बलराम तथा कृष्ण; समन्वितौ—साथ साथ।

जल में प्रविष्ट होकर वेदों से नित्य मंत्रों का जप करते हुए अक्रूर ने सहसा बलराम तथा कृष्ण को अपने सम्मुख देखा।

तौ रथस्थौ कथमिह सुतावानकदुन्दुभेः ।
तर्हि स्वित्स्यन्दने न स्त इत्युन्मज्ज्य व्यचष्ट सः ॥ ४२ ॥
तत्रापि च यथापूर्वमासीनौ पुनरेव सः ।
न्यमज्जद्दर्शनं यन्मे मृषा किं सलिले तयोः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तौ—वे दोनों; रथ-स्थौ—रथ पर आसीन; कथम्—कैसे; इह—यहाँ; सुतौ—दोनों पुत्र; आनकदुन्दुभेः—वसुदेव के; तर्हि—तब; स्वित्—क्या; स्यन्दने—रथ पर; न स्तः—नहीं हैं; इति—यह सोचते हुए; उन्मज्ज्य—जल से निकलकर; व्यचष्ट—देखा; सः—उसने; तत्र अपि—उसी स्थान पर; च—तथा; यथा—जिस तरह; पूर्वम्—पहले; आसीनौ—बैठे हुए; पुनः—फिर से; एव—निस्सन्देह; सः—वह; न्यमज्जत्—जल में घुस गया; दर्शनम्—दर्शन; यत्—यदि; मे—मेरा; मृषा—झूठ; किम्—शायद; सलिले—जल में; तयोः—उन दोनों का।

अक्रूर ने सोचा: "आनकदुन्दुभि के दोनों पुत्र, जो कि रथ पर बैठे हैं यहाँ जल में किस तरह खड़े हो सकते हैं? अवश्य ही उन्होंने रथ छोड़ दिया होगा।" किन्तु जब वे नदी से निकलकर बाहर आये तो वे दोनों पहले की तरह रथ पर थे। अपने आप यह प्रश्न करते हुए कि "क्या जल में मैने उनका जो दर्शन किया वह भ्रम था?" अक्रूर पुनः कुंड में प्रविष्ट हो गये।

भूयस्तत्रापि सोऽद्राक्षीत्स्तूयमानमहीश्वरम् ।
सिद्धचारणगन्धर्वैरसुरैर्नतकन्धरैः ॥ ४४॥

सहस्रशिरसं देवं सहस्रफणमौलिनम् ।
नीलाम्बरं विसश्वेतं शृङ्गैः श्वेतमिव स्थितम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

भूयः—पुनः; तत्र अपि—उसी स्थान पर; सः—उसने; अद्राक्षीत्—देखा; स्तूयमानम्—स्तुति किये जाते; अहि-ईश्वरम्—सर्पों के स्वामी (अनन्त शेष जो कि बलराम के स्वांश हैं और विष्णु की शय्या रूप हैं); सिद्ध-चारण-गन्धर्वैः—सिद्धों, चारणों तथा गन्धर्वों द्वारा; असुरैः—तथा असुरों द्वारा; नत—झुका हुआ; कन्धरैः—गर्दनों से; सहस्र—हजारों; शिरसम्—सिर वाले; देवम्—भगवान् को; सहस्र—हजारों; फण—फणों से; मौलिनम्—और मुकुट; नील—नीला; अम्बरम्—वस्त्र; विस—कमल-नालके तन्तु जैसा; श्वेतम्—सफेद; शृङ्गैः—चोटियों समेत; श्वेतम्—कैलाश पर्वत; इव—सदृश; स्थितम्—स्थित।

अब अक्रूर ने वहाँ सर्पराज अनन्त शेष को देखा जिनकी प्रशंसा सिद्ध, चारण, गन्धर्व तथा असुरगण अपना अपना शीश झुकाकर कर रहे थे। अक्रूर ने जिन भगवान् को देखा उनके हजारों सिर, हजारों फन तथा हजारों मुकुट थे। उनका नीला वस्त्र तथा कमल-नाल के तन्तुओं-सा श्वेत गौर वर्ण ऐसा लग रहा था मानो अनेक चोटियों वाला श्वेत कैलाश पर्वत हो।

तस्योत्सङ्गे घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् ।
पुरुषं चतुर्भुजं शान्तं पद्मपत्रारुणेक्षणम् ॥ ४६ ॥

चारुप्रसन्नवदनं चारुहासनिरीक्षणम् ।
सुभ्रून्नसं चारुकर्णं सुकपोलारुणाधरम् ॥ ४७॥

प्रलम्बपीवरभुजं तुङ्गांसोरःस्थलश्रियम् ।
कम्बुकण्ठं निम्ननाभिं वलिमत्पल्लवोदरम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उस (अनन्त शेष) की; उत्सङ्गे—गोद में; घन—वर्षा के बादल की तरह; श्यामम्—गहरा नीला; पीत—पीला; कौशेय—रेशमी; वाससम्—वस्त्र; पुरुषम्—परमेश्वर को; चतुः-भुजम्—चार भुजाओं वाले; शान्तम्—शान्त; पद्म—कमल

के; पत्र—पत्ते के समान; अरुण—लाल; ईक्षणम्—आँखें; चारु—आकर्षक; प्रसन्न—प्रसन्न; वदनम्—मुखमण्डल; चारु—आकर्षक; हास—हँसी; निरीक्षणम्—जिसकी चितवन; सु—सुन्दर; भ्रू—भौंहें; उत्—उठी; नसम्—नाक; चारु—आकर्षक; कर्णम्—कान; सु—सुन्दर; कपोल—गाल; अरुण—लाल; अधरम्—होंठों को; प्रलम्ब—बड़ी; पीवर—मजबूत; भुजम्—भुजाओं को; तुङ्ग—उठी; अंस—कंधे; उरः-स्थल—तथा छाती; श्रियम्—सुन्दर; कम्बु—शंख की तरह; कण्ठम्—गला; निम्न—गहरी; नाभिम्—नाभि; वलि—रेखाएँ, सिलवटें; मत्—से युक्त; पल्लव—पत्ती के समान; उदरम्—उदर।

तब अक्रूर ने भगवान् को अनन्त शेष की गोद में शान्तिपूर्वक शयन करते देखा। उस परम पुरुष का रंग गहरे नीले बादल के समान था। वे पीताम्बर पहने थे, उनके चार भुजाएँ थीं और उनकी आँखें लाल कमल की पंखुड़ियों जैसी थीं। उनका मुख आकर्षक एवं हँसी से युक्त होने से प्रसन्न लग रहा था। उनकी चितवन मोहक थी, भौंहें सुन्दर थीं, नाक उठी हुई, कान सुडौल तथा गाल सुन्दर और होंठ लाल लाल थे। भगवान् के चौड़े कंधे तथा विशाल वक्षस्थल सुन्दर लग रहे थे और उनकी भुजाएँ लम्बी तथा बलिष्ठ थीं। उनकी गर्दन शंख जैसी, नाभि गहरी तथा उनके पेट में वटवृक्ष के पत्तों जैसी रेखाएँ थीं।

बृहत्कटितटश्रोणि करभोरुद्वयान्वितम् ।
चारुजानुयुगं चारु जङ्घायुगलसंयुतम् ॥ ४९ ॥
तुङ्गगुल्फारुणनख व्रातदीधितिभिर्वृतम् ।
नवाङ्गुल्यङ्गुष्ठदलैर्विलसत्पादपङ्कजम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

बृहत्—विशाल; कटि-तट—कमर का भाग; श्रोणि—तथा कूल्हे; करभ—हाथी के सूँड़ जैसे; ऊरु—जाँघों का; द्वय—जोड़ा; अन्वितम्—युक्त; चारु—आकर्षक; जानु-युगम्—दो घुटने; चारु—आकर्षक; जङ्घा—जाँघों का; युगल—जोड़ा; संयुतम्—से युक्त; तुङ्ग—ऊँचा; गुल्फ—टखने; अरुण—लाल; नख-व्रात—नाखूनों से; दीधितिभिः—तेजस्वी किरणों से; वृतम्—घिरा हुआ; नव—कोमल; अङ्गुलि-अङ्गुष्ठ—अँगूठे तथा अँगुलियाँ; दलैः—फूलों की पंखड़ियों की तरह; विलसत्—चमकती; पाद-पङ्कजम्—चरणकमल।

उनकी कमर तथा कूल्हे विशाल थे, जाँघें हाथी की सूँड़ जैसी तथा घुटने और रानें सुगठित थे। उनके उठे हुए टखनों से उनके फूलों पंखड़ियों जैसी पाँव की उंगलियों के नाखूनों से निकलने वाला चमकीला तेज परावर्तित होकर उनके चरणकमलों को सुन्दर बना रहा था।

सुमहार्हमणिव्रात किरीटकटकाङ्गदैः ।
कटिसूत्रब्रह्मसूत्र हारनूपुरकुण्डलैः ॥ ५१ ॥
भ्राजमानं पद्मकरं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

सु-महा—अत्यधिक; अर्ह—मूल्यवान; मणि-व्रात—अनेक मणियों; किरीट—मुकुट; कटक—कड़े; अङ्गदैः—बाजूबंदों से युक्त; कटि-सूत्र—करधनी से; ब्रह्म-सूत्र—जनेऊ; हार—गले का हार; नूपुर—पायल; कुण्डलैः—तथा कान के कुंडलों से; भ्राजमानम्—तेजयुक्त; पद्म—कमल; करम्—हाथ में; शङ्ख—शंख; चक्र—चक्र; गदा—तथा गदा; धरम्—धारण किये; श्रीवत्स—श्रीवत्स चिह्न; वक्षसम्—छाती पर; भ्राजत्—सुशोभित; कौस्तुभम्—कौस्तुभ मणि से; वन-मालिनम्—फूलों की माला धारण किये।

अनेक बहुमूल्य मणियों से युक्त मुकुट, कड़े तथा बाजूबंदों से सुशोभित तथा करधनी, जनेऊ, गले का हार, नूपुर तथा कुण्डल धारण किये भगवान् चमचमाते तेज से युक्त थे। वे एक हाथ में कमल का फूल लिये थे और अन्यों में शंख, चक्र तथा गदा धारण किये थे। उनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिन्ह, देदीप्यमान कौस्तुभ मणि तथा फूलों की माला शोभायमान थी।

सुनन्दनन्दप्रमुखैः पर्षदैः सनकादिभिः ।
सुरेशैर्ब्रह्मरुद्राद्यैर्नवभिश्च द्विजोत्तमैः ॥ ५३ ॥
प्रह्लादनारदवसु प्रमुखैर्भागवतोत्तमैः ।
स्तूयमानं पृथग्भावैर्वचोभिरमलात्मभिः ॥ ५४ ॥
श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोर्जया ।
विद्ययाविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

सुनन्द-नन्द-प्रमुखैः—सुनन्द, नन्द इत्यादि; पर्षदैः—अपने पार्षदों सहित; सनक-आदिभिः—सनक कुमार तथा उनके भाइयों सहित; सुर-ईशैः—मुख्य देवताओं से; ब्रह्म-रुद्र-आद्यैः—ब्रह्मा, रुद्र इत्यादि से; नवभिः—नौ; च—तथा; द्विज-उत्तमैः—मुख्य ब्राह्मणों (मरीचि आदि) से; प्रह्लाद-नारद-वसु-प्रमुखैः—प्रह्लाद, नारद, उपरिचर वसु इत्यादि से; भागवत-उत्तमैः—सर्वश्रेष्ठ भक्तों द्वारा; स्तूयमानम्—प्रशंसित; पृथक्-भावैः—प्रत्येक द्वारा भिन्न भावों से; वचोभिः—शब्दों से; अमल-आत्मभिः—पवित्र कृत; श्रीया पुष्ट्या गीरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्या इलया ऊर्जया—श्री, पुष्टि, गीर, कान्ति, कीर्ति, तुष्टि, इला, ऊर्जा नामक अन्तरंगा शक्तियों से; विद्यया अविद्यया—विद्या तथा अविद्या नामक शक्तियों से; शक्त्या—अपनी ह्लादिनी शक्ति से; मायया—अपनी सृजनात्मक शक्ति से; च—तथा; निषेवितम्—सेवित होकर।

भगवान् के चारों ओर घेरा बनाकर पूजा करने वालों में नन्द, सुनन्द तथा उनके अन्य निजी पार्षद, सनक तथा अन्य कुमारगण, ब्रह्मा, रुद्र तथा अन्य प्रमुख देवता, नौ मुख्य ब्राह्मण तथा प्रह्लाद, नारद, उपरिचर वसु इत्यादि महाभागवत थे। इनमें से प्रत्येक महापुरुष अपने अपने विशिष्टभाव में भगवान् की प्रशंसा में पवित्र शब्दोच्चार करके पूजा कर रहा था। यही नहीं, भगवान् की सेवा में उनकी मुख्य अन्तरंगा शक्तियों—श्री, पुष्टि, गीर, कान्ति, कीर्ति, तुष्टि, इला तथा ऊर्जा—के साथ साथ भौतिक शक्तियाँ विद्या, अविद्या, माया तथा उनकी अंतरंगा ह्लादिनी शक्ति जुटी हुई थीं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इन श्लोकों में उल्लिखित भगवान् की शक्तियों की व्याख्या

की है : ''श्री धन की, पुष्टि बल की, गीर ज्ञान की, कान्ति सौन्दर्य की, कीर्ति यश की तथा तुष्टि त्याग की शक्ति है। ये ही भगवान् के छह ऐश्वर्य हैं। इला उनकी *भूशक्ति* है, जो *सन्धिनी* भी कहलाती है—(सन्धिनी अन्तरंगा शक्ति है, जिसका अंश पृथ्वी है)। ऊर्जा उनकी अन्तरंगा शक्ति है, जिससे लीलाएँ सम्पन्न होती हैं और यही विस्तार करके इस जगत में तुलसी का पौधा बनती है। विद्या तथा अविद्या बहिरंगा शक्तियाँ हैं, जो जीवों को क्रमश: मुक्ति तथा बन्धन प्रदान करने वाली हैं। शक्ति उनकी *ह्लादिनी* शक्ति है और माया वह अन्तरंगा शक्ति है, जो विद्या तथा अविद्या का आधार है। *च* शब्द भगवान् की तटस्था शक्ति—*जीव शक्ति* के लिए आया है। यह शक्ति माया के अधीन है। ये सभी शक्तियाँ साक्षात् होकर भगवान् विष्णु की सेवा कर रही थीं।''

विलोक्य सुभृशं प्रीतो भक्त्या परमया युत: ।
हृष्यत्तनूरुहो भावपरिक्लिन्नात्मलोचन: ॥ ५६ ॥
गिरा गद्‍गदयास्तौषीत्सत्त्वमालम्ब्य सात्वत: ।
प्रणम्य मूर्ध्नावहित: कृताञ्जलिपुट: शनै: ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

विलोक्य—(अक्रूर ने) देखकर; सु-भृशम्—अत्यधिक; प्रीत:—प्रसन्न; भक्त्या—भक्ति से; परमया—परम; युत:—युक्त; हृष्यत्—खड़े हुए; तनू-रुह:—शरीर के रोम; भाव—प्रेमानन्द से; परिक्लिन्न—आर्द्र, नम; आत्म—शरीर; लोचन:—तथा आँखें; गिरा—वाणी से; गद्‍गदया—अवरुद्ध; अस्तौषीत्—स्तुति की; सत्त्वम्—गम्भीरता; आलम्ब्य—सहारा लेकर; सात्वत:—महाभागवत; प्रणम्य—झुककर; मूर्ध्ना—सिर के बल; अवहित:—ध्यानपूर्वक; कृत-अञ्जलि-पुट:—आदरपूर्वक हाथ जोड़कर; शनै:—धीरे धीरे।

ज्योंही महाभागवत अक्रूर ने यह दृश्य देखा, वे अत्यन्त प्रसन्न हो उठे और उनमें दिव्य शक्ति जाग उठी। तीव्र आनन्द से उन्हें रोमांच हो आया और नेत्रों से अश्रु बह चले जिससे उनका सारा शरीर भीग गया। किसी तरह अपने को सँभालते हुए अक्रूर ने पृथ्वी पर अपना सिर झुका दिया। तत्पश्चात् सम्मान में अपने हाथ जोड़े और भावविभोर वाणी से अत्यन्त धीमे धीमे तथा ध्यानपूर्वक भगवान् की स्तुति करने लगे।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''अक्रूर द्वारा दर्शन'' नामक उन्तालिसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चालीस

अक्रूर द्वारा स्तुति

इस अध्याय में अक्रूर द्वारा भगवान् की स्तुति की गई है। अक्रूर ने प्रार्थना की, ''इस दृश्य जगत का सृजन करने वाले ब्रह्मा की उत्पत्ति भगवान् की कमल-नाभि से हुई। भौतिक प्रकृति के पाँचों तत्त्व, पाँचों सम्बन्धित इन्द्रिय विषय, दस इन्द्रियाँ, अहंकार, सम्पूर्ण प्रकृति, इत्यादि सृष्टा तथा सारे देवता उनके शरीर के अंगों से उद्भूत होते हैं। उन्हें इन्द्रिय-ज्ञान से नहीं जाना जा सकता अत: ब्रह्मा तथा अन्य देवता तक उनके असली स्वरूप से अनजान रहते हैं।''

विभिन्न श्रेणियों के लोग भगवान् की पूजा भिन्न-भिन्न प्रकारों से करते हैं। सकाम कर्मी वैदिक यज्ञों द्वारा उनकी पूजा करते हैं, दार्शनिक भौतिक कर्म का परित्याग करके और आध्यात्मिक ज्ञान का अनुसरण करके, योगीजन ध्यान द्वारा, शैवगण शिवजी की पूजा करके, वैष्णवजन पञ्चरात्र जैसे शास्त्रों के आदेशों का पालन करते हुए तथा अन्य सन्त-महात्मा उनकी पूजा आत्मा के रूप में, भौतिक पदार्थ के रूप में तथा अधिष्ठाता देवताओं के रूप में करते हैं। जिस प्रकार नदियाँ विभिन्न दिशाओं से बहकर समुद्र में आ मिलती हैं उसी तरह इन विविध सत्ताओं को अपने को समर्पित करने वालों की पूजा का परम लक्ष्य भगवान् विष्णु में ही मिलता है।''

''सम्पूर्ण विश्व का रूप—विराट रूप—भगवान् विष्णु का ही रूप माना जाता है। जिस प्रकार जलचर जल में विचरते हैं या जिस तरह उदुम्बर फल के भीतर छोटे छोटे कीड़े चलते हैं उसी तरह सारे जीव भगवान् के भीतर इधर उधर घूमते रहते हैं। ये सारे जीव उनकी माया के वशीभूत होकर अपने को असत्य में शरीर, घर आदि मानकर भौतिक कर्म के पथ पर घूमते रहते हैं। भ्रमवश मूर्ख व्यक्ति घास और पत्तियों से ढके जल के आगार की उपेक्षा करके मृगतृष्णा के पीछे दौड़ता फिरता है। इसी तरह अविद्या के पाश में पड़े हुए जीव भगवान् विष्णु को छोड़कर अपने शरीरों एवं घरों आदि के प्रति अनुरक्त रहते हैं। अपनी इन्द्रियों के ऐसे आज्ञाकारी दास कभी भी भगवान् के चरणकमलों की शरण प्राप्त नहीं कर पाते। एकमात्र उनकी कृपा से यदि उन्हें किसी सन्त-भक्त की संगति प्राप्त हो जाती है, तो यह भव-पाश कट जाता है। तभी वे लोग भगवान् के शुद्ध भक्तों की सेवा करके कृष्णभावनामृत उत्पन्न कर सकते हैं।''

श्रीअक्रूर उवाच

नतोऽस्म्यहं त्वाखिलहेतुहेतुं

नारायणं पूरुषमाद्यमव्ययम् ।
यन्नाभिजातादरविन्दकोषाद्
ब्रह्माविरासीद्यत एष लोकः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-अक्रूरः उवाच—श्री अक्रूर ने कहा; नतः—विनत; अस्मि—हूँ; अहम्—मैं; त्वा—आपके प्रति; अखिल—समस्त; हेतु—कारणों के; हेतुम्—कारण; नारायणम्—नारायण को; पूरुषम्—परम पुरुष; आद्यम्—आदि; अव्ययम्—अव्यय; यत्—जिससे; नाभि—नाभि; जातात्—से उत्पन्न; अरविन्द—कमल के; कोषात्—कोष से; ब्रह्मा—ब्रह्मा; अविरासीत्—प्रकट हुआ; यतः—जिससे; एषः—यह; लोकः—जगत।

श्री अक्रूर ने कहा : हे समस्त कारणों के कारण, आदि तथा अव्यय महापुरुष नारायण, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आपकी नाभि से उत्पन्न कमल के कोष से ब्रह्मा प्रकट हुए हैं और उनसे यह ब्रह्माण्ड अस्तित्व में आया है।

भूस्तोयमग्निः पवनं खमादि-
र्महानजादिर्मन इन्द्रियाणि ।
सर्वेन्द्रियार्था विबुधाश्च सर्वे
ये हेतवस्ते जगतोऽङ्गभूताः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

भूः—पृथ्वी; तोयम्—जल; अग्निः—अग्नि; पवनम्—वायु; खम्—आकाश; आदिः—तथा इसका उद्गम, मिथ्या अहंकार; महान्—महत-तत्त्व; अजा—सम्पूर्ण भौतिक प्रकृति; आदिः—उसका उद्गम, परमेश्वर; मनः—मन; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; सर्व-इन्द्रिय—सारी इन्द्रियों के; अर्थाः—विषय, वस्तुएँ; विबुधाः—देवतागण; च—तथा; सर्वे—सभी; ये—जो; हेतवः—कारण; ते—तुम्हारा; जगतः—जगत के; अङ्ग—शरीर से; भूताः—उत्पन्न।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश एवं इसका स्रोत तथा मिथ्या अहंकार, महत्-तत्त्व, समस्त भौतिक प्रकृति और उसका उद्गम तथा भगवान् का पुरुष अंश, मन, इन्द्रियाँ, इन्द्रिय विषय तथा इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता—ये सब विराट जगत के कारण आपके दिव्य शरीर से उत्पन्न हैं।

नैते स्वरूपं विदुरात्मनस्ते
ह्यजादयोऽनात्मतया गृहीतः ।
अजोऽनुबद्धः स गुणैरजाया
गुणात्परं वेद न ते स्वरूपम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एते—ये (सृष्टि के तत्त्व); स्वरूपम्—असली पहचान; विदुः—जानते हैं; आत्मनः—परमात्मा का; ते—तुम; हि—निस्सन्देह; अजा-आदयः—पूर्ण प्रकृति इत्यादि; अनात्मतया—निर्जीव पदार्थ होने से; गृहीताः—पकड़े हुए, बद्ध; अजः—ब्रह्मा; अनुबद्धः—बँधा हुआ; सः—वह; गुणैः—गुणों से; अजायाः—प्रकृति के; गुणात्—इन गुणों से; परम्—दिव्य; वेद न—नहीं जानता; ते—आपके; स्वरूपम्—असली रूप को।

सम्पूर्ण भौतिक प्रकृति तथा ये अन्य सृजन-तत्त्व निश्चय ही आपको यथा-रूप में नहीं जान सकते क्योंकि ये निर्जीव पदार्थ के परिमण्डल में प्रकट होते हैं। चूँकि आप प्रकृति के गुणों से परे हैं, अतः इन गुणों से बद्ध ब्रह्माजी भी आपके असली रूप को नहीं जान पाते।

तात्पर्य : ईश्वर भौतिक प्रकृति से परे हैं। जब तक हम भी सीमित सांसारिक चेतना को लाँघ नहीं जाते तब तक उन्हें जान नहीं सकते। यहाँ तक कि ब्रह्माण्ड के सबसे बड़े जीव ब्रह्मा भी परमेश्वर को तब तक समझ नहीं सकते जब तक वे शुद्ध कृष्णभावनामृत के पद को प्राप्त नहीं हो लेते।

त्वां योगिनो यजन्त्यद्धा महापुरुषमीश्वरम् ।
साध्यात्मं साधिभूतं च साधिदैवं च साधवः ॥ ४॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम्हारे लिए; योगिनः—योगीजन; यजन्ति—यज्ञ करते हैं; अद्धा—निश्चय ही; महा-पुरुषम्—परम पुरुष के लिए; ईश्वरम्—ईश्वर के लिए; स-अध्यात्मम्—जीवों (का साक्षी); स-अधिभुतम्—भौतिक तत्त्वों का; च—तथा; स-अधिदैवम्—नियंत्रक देवताओं का; च—तथा; साधवः—शुद्ध पुरुष।

शुद्ध योगीजन आप की अर्थात् परमेश्वर की तीन रूपों में अनुभूति करते हुए पूजा करते हैं। ये तीन हैं—जीव, भौतिक तत्त्व जिनसे जीवों के शरीर बने हैं तथा इन तत्त्वों के नियंत्रक देवता (अधिदेव)।

त्रय्या च विद्यया केचित्त्वां वै वैतानिका द्विजाः ।
यजन्ते विततैर्यज्ञैर्नानारूपामराख्यया ॥ ५॥

शब्दार्थ

त्रय्या—तीन वेदों के; च—तथा; विद्यया—मंत्रों से; केचित्—कुछ; त्वाम्—तुमको; वै—निस्सन्देह; वैतानिकाः—तीनों अग्नियों के विधानों का समादर करने वाले; द्विजाः—ब्राह्मण; यजन्ते—पूजा करते हैं; विततैः—विस्तृत; यज्ञैः—यज्ञों के द्वारा; नाना—विविध; रूप—रूप वाले; अमर—देवताओं की; आख्यया—उपाधियों से।

तीन पवित्र अग्नियों से सम्बद्ध नियमों का पालन करने वाले ब्राह्मण तीनों वेदों से मंत्रोचार करके तथा अनेक रूपों और नामों वाले विविध देवताओं के लिए व्यापक अग्नि यज्ञ करके पूजा करते हैं।

तात्पर्य : अब अक्रूर यह बतलाते हैं कि जो सांख्य, योग तथा तीनों वेदों के मार्गों का पालन करते हैं वे भगवान् की पूजा विविध प्रकारों से करते हैं। जहाँ इन्द्र, वरुण तथा अन्य देवताओं की पूजा किये जाने की वेदों द्वारा संस्तुति की जाती है, वहीं वे इन देवताओं को सर्वोच्च भी बतलाते हैं। किन्तु उसी

के साथ वेदों का कहना है कि एक परम नियन्ता परब्रह्म ही है। वह भगवान् श्रीकृष्ण हैं, जो भौतिक सृजन द्वारा विविध देवताओं के रूप में अपनी शक्ति का विस्तार करते हैं। इस तरह देवताओं की पूजा *कर्मकाण्ड* की अप्रत्यक्ष विधि से या सकाम धार्मिक अनुष्ठानों द्वारा उन तक पहुँचती है। किन्तु अन्ततोगत्वा नित्य सिद्धि चाहने वाले को पूर्ण कृष्णभावनामृत में रहकर प्रत्यक्षत: भगवान् की पूजा करनी चाहिए।

एके त्वाखिलकर्माणि सन्न्यस्योपशमं गताः ।
ज्ञानिनो ज्ञानयज्ञेन यजन्ति ज्ञानविग्रहम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

एके—कुछ लोग; त्वा—तुमको; अखिल—समस्त; कर्माणि—कार्य; सन्न्यस्य—त्यागकर; उपशमम्—शान्ति; गताः—प्राप्त करके; ज्ञानिनः—ज्ञानीजन; ज्ञान-यज्ञेन—ज्ञान-अनुशील के यज्ञ द्वारा; यजन्ति—पूजा करते हैं; ज्ञान-विग्रहम्—साक्षात् ज्ञान को।

आध्यात्मिक ज्ञान की खोज में कुछ लोग सारे भौतिक कार्यों का परित्याग कर देते हैं और इस तरह शान्त होकर समस्त ज्ञान के आदि रूप आपकी पूजा करने के लिए ज्ञान-यज्ञ करते हैं।

तात्पर्य : आधुनिक दार्शनिकजन भगवान् की पूजा की परवाह किये बिना ही ज्ञान का अनुसरण करते हैं फलत: स्वाभाविक है कि उन्हें बहुत ही कम लाभ हो पाता है।

अन्ये च संस्कृतात्मानो विधिनाभिहितेन ते ।
यजन्ति त्वन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्येकमूर्तिकम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

अन्ये—अन्य लोग; च—तथा; संस्कृत—शुद्ध किये हुए; आत्मानः—जिनकी बुद्धि; विधिना—(पञ्चरात्र जैसे शास्त्रों के) आदेशों से; अभिहितेन—प्रस्तुत किये गये; ते—तुम्हारे द्वारा; यजन्ति—पूजा करते हैं; त्वत्-मयाः—तुम्हारे विचार से पूरित; त्वाम्—तुमको; वै—निस्सन्देह; बहु-मूर्ति—अनेक रूपों वाले; एक-मूर्तिकम्—एक स्वरूप वाला।

और अन्य लोग जिनकी बुद्धि शुद्ध है वे आपके द्वारा लागू किये गये वैष्णव शास्त्रों के आदेशों का पालन करते हैं। वे आपके चिन्तन में अपने मन को लीन करके आपकी पूजा परमेश्वर रूप में करते हैं, जो अनेक रूपों में प्रकट होता है।

तात्पर्य : यहाँ *संस्कृतात्मान:* (वे जिनकी बुद्धि शुद्ध है) शब्द सार्थक है। इसका अर्थ यह हुआ कि इसके पूर्व जिन पूजकों का उल्लेख हुआ है उनकी बुद्धि भौतिक कल्मष से शुद्ध नहीं हुई है, अत: वे भगवान् की अप्रत्यक्ष पूजा करते हैं। किन्तु जो शुद्ध हैं, वे भगवान् की प्रत्यक्ष पूजा या तो भगवान्

कृष्ण के रूप में या उनके विविध स्वांश रूपों यथा वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न या अनिरुद्ध के रूप में करते हैं जैसाकि यहाँ इंगित किया गया है।

त्वामेवान्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम् ।
बह्वाचार्यविभेदेन भगवन्तर्नुपासते ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

त्वाम्—तुम; एव—भी; अन्ये—अन्य; शिव—शिव द्वारा; उक्तेन—कहे गये; मार्गेण—मार्ग से; शिव-रूपिणम्—शिव के रूप में; बहु-आचार्य—अनेक शिक्षकों के; विभेदेन—विभिन्न भेदों से; भगवन्तम्—भगवान् को; उपासते—पूजा करते हैं।

कुछ अन्य लोग भी हैं, जो आपकी पूजा भगवान् शिव के रूप में करते हैं। वे उनके द्वारा बताये गये तथा अनेक उपदेशकों द्वारा नाना प्रकार से व्याख्यायित मार्ग का अनुसरण करते हैं।

तात्पर्य : *त्वाम् एव* शब्द (''तुम भी'') सूचित करते हैं कि शिवजी के पूजन का मार्ग अप्रत्यक्ष है अतएव निकृष्ट है। अक्रूर कृष्ण या विष्णु की प्रत्यक्ष पूजा अपनी स्तुति द्वारा करने के कारण श्रेष्ठ विधि का पालन कर रहे हैं।

सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम् ।
येऽप्यन्यदेवताभक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—सभी; एव—निस्सन्देह; यजन्ति—पूजा करते हैं; त्वम्—तुम्हारी; सर्व-देव—समस्त देवता; मय—हे वही आप, जो युक्त हो; ईश्वरम्—भगवान्; ये—वे; अपि—भी; अन्य—दूसरे; देवता—देवताओं का; भक्ताः—भक्तों; यदि अपि—यद्यपि; अन्य—अन्यत्र मुड़े; धियः—ध्यान; प्रभो—हे प्रभो।

किन्तु हे प्रभु, ये सारे लोग, यहाँ तक कि जिन्होंने आपसे अपना ध्यान मोड़ रखा है और जो अन्य देवताओं की पूजा कर रहे हैं, वे वास्तव में, हे समस्त देवमय, आपकी ही पूजा कर रहे हैं।

तात्पर्य : यहाँ भाव यह है कि जो देवताओं को पूजते हैं, वे भी अप्रत्यक्ष रूप से भगवान् विष्णु की ही पूजा करते हैं। लेकिन ऐसे पूजकों का ज्ञान अधूरा है।

यथाद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिताः प्रभो ।
विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत्त्वां गतयोऽन्ततः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अद्रि—पर्वतों से; प्रभवाः—उत्पन्न; नद्यः—नदियाँ; पर्जन्य—वर्षा से; आपूरिताः—पूरित; प्रभो—हे प्रभु; विशन्ति—प्रवेश करती हैं; सर्वतः—सभी दिशाओं से; सिन्धुम्—समुद्र में; तद्वत्—उसी तरह; त्वाम्—तुम में; गतयः—मार्ग; अन्ततः—अन्त में।

हे प्रभो, जिस प्रकार पर्वतों से उत्पन्न तथा वर्षा से पूरित नदियाँ सभी ओर से समुद्र में आकर मिलती हैं उसी तरह ये सारे मार्ग अन्त में आप तक पहुँचते हैं।

तात्पर्य : स्वयं भगवान् कृष्ण इस पूजा प्रकरण को *भगवद्गीता* (९.२३-२५) में इस प्रकार बतलाते हैं—

येऽप्य अन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता:।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।

न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥

यान्ति देवव्रता देवान् पित्‍न् यान्ति पितृव्रता:।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

"हे कुन्तीपुत्र! जो लोग अन्य देवताओं के भक्त हैं और उनकी श्रद्धापूर्वक पूजा करते हैं वास्तव में वे भी मेरी ही पूजा करते हैं किन्तु वे ऐसा गलत ढंग से करते हैं। मैं ही समस्त यज्ञों का एकमात्र भोक्ता तथा स्वामी हूँ। अत: जो लोग मेरी वास्तविक दिव्य प्रकृति को नहीं पहचान पाते उनका पतन हो जाता है। जो देवताओं की पूजा करते हैं, वे देवताओं के बीच जन्म लेंगे। जो पितरों की पूजा करते हैं, वे पितरों के पास जाते हैं। जो भूतप्रेतों की उपासना करते हैं, वे उन्हीं के बीच जन्म लेंगे और जो मेरी पूजा करते हैं, वे मेरे साथ निवास करेंगे।

सत्त्वं रजस्तम इति भवत: प्रकृतेर्गुणा: ।
तेषु हि प्राकृता: प्रोता आब्रह्मस्थावरादय: ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सत्, अच्छाई; रज:—काम, रज; तम:—तम, अज्ञान; इति—इस प्रकार विख्यात; भवत:—आपकी; प्रकृते:—प्रकृति के; गुणा:—गुण; तेषु—उनमें; हि—निस्सन्देह; प्राकृता:—बद्धजीव; प्रोता:—बिने हुए, उलझे; आ-ब्रह्म—ब्रह्मा तक; स्थावर-आदय:—अचर प्राणी इत्यादि।

आपकी भौतिक प्रकृति के सतो, रजो तथा तमो गुण ब्रह्मा से लेकर अचर प्राणियों तक के समस्त बद्धजीवों को पाशबद्ध किये रहते हैं।

तुभ्यं नमस्ते त्वविषक्तदृष्टये

सर्वात्मने सर्वधियां च साक्षिणे ।
गुणप्रवाहोऽयमविद्यया कृतः
प्रवर्तते देवनृतिर्यगात्मसु ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तुभ्यम्—तुम्हें; नमः—नमस्कार; ते—तुम्हारा; तु—तथा; अविषक्त—पृथक्, विलग; दृष्टये—दृष्टि वाले; सर्व-आत्मने—सबों की आत्मा को; सर्व—हरएक की; धियाम्—चेतना के; च—तथा; साक्षिणे—साक्षी को; गुण—गुणों की; प्रवाहः—धारा; अयम्—यह; अविद्यया—अज्ञान के कारण; कृतः—उत्पन्न; प्रवर्तते—चलता रहता है; देव—देवताओं के रूप में; नृ—मनुष्य; तिर्यक्—तथा पशु; आत्मसु—उनमें जिनका स्वरुप है।

मैं आपको नमस्कार करता हूँ, जो समस्त जीवों के परमात्मा रूप होकर निष्पक्ष दृष्टि से हर एक की चेतना के साक्षी हैं। अज्ञान से उत्पन्न आपके भौतिक गुणों का प्रवाह उन जीवों के बीच प्रबलता के साथ प्रवाहित होता है, जो देवताओं, मनुष्यों तथा पशुओं का रूप धारण करते हैं।

अग्निर्मुखं तेऽवनिरङ्घ्रिरीक्षणं
सूर्यो नभो नाभिरथो दिशः श्रुतिः ।
द्यौः कं सुरेन्द्रास्तव बाहवोऽर्णवाः
कुक्षिर्मरुत्प्राणबलं प्रकल्पितम् ॥ १३ ॥
रोमाणि वृक्षौषधयः शिरोरुहा
मेघाः परस्यास्थिनखानि तेऽद्रयः ।
निमेषणं रात्र्यहनी प्रजापति-
र्मेढ्रस्तु वृष्टिस्तव वीर्यमिष्यते ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

अग्निः—अग्नि; मुखम्—मुख; ते—तुम्हारा; अवनिः—पृथ्वी; अङ्घ्रिः—पाँव; इक्षणम्—आँखें; सूर्यः—सूर्य; नभः—आकाश; नाभिः—नाभि; अथ उ—तथा भी; दिशः—दिशाएँ; श्रुतिः—श्रवणेन्द्रिय; द्यौः—स्वर्ग; कम्—सिर; सुर-इन्द्राः—प्रमुख देवता; तव—तुम्हारी; बाहवः—बाँहें; अर्णवाः—समुद्र; कुक्षिः—उदर; मरुत्—वायु; प्राण—प्राण-वायु; बलम्—तथा शारीरिक बल; प्रकल्पितम्—कल्पना किया हुआ; रोमाणि—शरीर के रोएँ; वृक्ष—पेड़; ओषधयः—जड़ी-बूटियाँ; शिरः-रुहाः—सिर के ऊपर के बाल; मेघाः—बादल; परस्य—परमेश्वर की; अस्थि—हड्डियाँ; नखानि—तथा नाखून; ते—तुम्हारा; अद्रयः—पर्वत; निमेषणम्—पलक झाँपना; रात्रि-अहनी—दिन तथा रात; प्रजापतिः—मनुष्य को जन्म देने वाला; मेढ्रः—गुप्तांग, जननेन्द्रिय; तु—तथा; वृष्टिः—वर्षा; तव—तुम्हारा; वीर्यम्—वीर्य; इष्यते—माना जाता है।

अग्नि आपका मुख कही जाती है, पृथ्वी आपके पाँव हैं, सूर्य आपकी आँख है और आकाश आपकी नाभि है। दिशाएँ आपकी श्रवणेन्द्रिय हैं, प्रमुख देवता आपकी बाँहें हैं और समुद्र आपका उदर है। स्वर्ग आपका सिर समझा जाता है और वायु आपकी प्राण-वायु तथा शारीरिक बल है। वृक्ष तथा जड़ी-बूटियाँ आपके शरीर के रोम हैं, बादल आपके सिर के बाल हैं तथा पर्वत आपकी अस्थियाँ तथा नाखून हैं। दिन तथा रात का गुजरना आपकी पलकों का झपकना है, प्रजापति आपकी जननेन्द्रिय है और वर्षा आपका वीर्य है।

त्वय्यव्ययात्मन्पुरुषे प्रकल्पिता
लोकाः सपाला बहुजीवसङ्कुलाः ।
यथा जले सञ्जिहते जलौकसो-
ऽप्युदुम्बरे वा मशका मनोमये ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

त्वयि—तुम्हारे भीतर; अव्यय-आत्मन्—अविनाशी; पुरुषे—भगवान्; प्रकल्पिताः—उत्पन्न; लोकाः—जगत; स-पालाः—पालनकर्ता देवताओं समेत; बहु—अनेक; जीव—जीवों समेत; सङ्कुलाः—एकत्र; यथा—जिस तरह; जले—जल में; सञ्जिहते—इधर उधर घूमते हैं; जल-ओकसः—जल के प्राणी; अपि—निस्सन्देह; उदुम्बरे—उदुम्बर फल (गूलर) में; वा—अथवा; मशकाः—छोटे छोटे कीट; मनः—मन (तथा अन्य इन्द्रियाँ); मये—से युक्त आपमें।

अपने अपने अधिष्ठातृ देवताओं तथा असंख्य जीवों समेत सारे जगत आप परम अविनाशी से उद्भूत हैं। ये सारे जगत मन तथा इन्द्रियों पर आधारित होकर आपके भीतर घूमते रहते हैं जिस प्रकार समुद्र में जलचर तैरते हैं अथवा छोटे छोटे कीट गूलर फल के भीतर छेदते रहते हैं।

यानि यानीह रूपाणि क्रीडनार्थं बिभर्षि हि ।
तैरामृष्टशुचो लोका मुदा गायन्ति ते यशः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यानि यानि—जो जो; इह—इस जगत में; रूपाणि—रूप; क्रीडन—खेल के; अर्थम्—हेतु; बिभर्षि—प्रकट करते हो; हि—निस्सन्देह; तैः—उनके द्वारा; आमृष्ट—धुला हुआ; शुचः—उनके दुखों का; लोकाः—लोग; मुदा—हर्षपूर्वक; गायन्ति—गाते हैं; ते—तुम्हारा; यशः—यश।

आप अपनी लीलाओं का आनन्द लेने के लिए इस भौतिक जगत में नाना रूपों में अपने को प्रकट करते हैं और ये अवतार उन लोगों के सारे दुखों को धो डालते हैं, जो हर्षपूर्वक आपके यश का गान करते हैं।

नमः कारणमत्स्याय प्रलयाब्धिचराय च ।
हयशीर्ष्णे नमस्तुभ्यं मधुकैटभमृत्यवे ॥ १७ ॥
अकूपाराय बृहते नमो मन्दरधारिणे ।
क्षित्युद्धारविहाराय नमः शूकरमूर्तये ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; कारण—सृष्टि के आदि कारण; मत्स्याय—मत्स्य के रूप में भगवान् के प्राकट्य को; प्रलय—संहार के; अब्धि—सागर में; चराय—इधर उधर विचरण करने वाले; च—तथा; हय-शीर्ष्णे—घोड़े के सिर से युक्त अवतार को; नमः—नमस्कार; तुभ्यम्—तुमको; मधु-कैटभ—मधु तथा कैटभ नामक असुरों के; मृत्यवे—मारने वाले को; अकूपाराय—कच्छप को; बृहते—विशाल; नमः—नमस्कार; मन्दर—मन्दराचल के; धारिणे—धारण करने वाले को; क्षिति—पृथ्वी के; उद्धार—ऊपर उठाने; विहाराय—विहार के लिए; नमः—नमस्कार; शूकर—सुअर के; मूर्तये—रूप को।

मैं सृष्टि के कारण भगवान् मत्स्य रूप आपको नमस्कार करता हूँ जो प्रलय के सागर में इधर

उधर तैरते रहे। मैं मधु तथा कैटभ के संहारक हयग्रीव को, मन्दराचल को धारण करने वाले विशाल कच्छप (भगवान् कूर्म) को तथा पृथ्वी को उठाने में आनन्द का अनुभव करने वाले सूकर अवतार (भगवान् वराह) रूप आपको नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : *विश्वकोश* में *अकूपाराय* शब्द का अर्थ कूर्मराज दिया हुआ है।

नमस्तेऽद्भुतसिंहाय साधुलोकभयापह ।
वामनाय नमस्तुभ्यं क्रान्तत्रिभुवनाय च ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; ते—तुमको; अद्भुत—आश्चर्यजनक; सिंहाय—सिंह को; सधु-लोक—सारे साधु-भक्तों के; भय—डर के; अपह—हटाने वाले; वामनाय—वामन को; नमः—नमस्कार; तुभ्यम्—तुमको; क्रान्त—पग सेनापा; त्रि-भुवनाय—ब्रह्माण्ड के तीनों लोकों के; च—तथा।

अपने सन्त-भक्तों के भय को भगाने वाले अद्भुत सिंह (भगवान् नृसिंह) तथा तीनों जगतों को अपने पगों से नापने वाले वामन मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

नमो भृगुणां पतये दृप्तक्षत्रवनच्छिदे ।
नमस्ते रघुवर्याय रावणान्तकराय च ॥ २० ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; भृगूणाम्—भृगुवंशियों के; पतये—स्वामी को (परशुराम को); दृप्त—घमंडी; क्षत्र—राज-परिवार वालों के; वन—जंगल; छिदे—काटने वाला; नमः—नमस्कार; ते—तुम्हें; रघु-वर्याय—रघुवंशियों में श्रेष्ठ; रावण—रावण का; अन्त-कराय—अन्त करने वाले; च—तथा।

घमंडी राजाओं रूपी जंगल को काट डालने वाले भृगुपति तथा राक्षस रावण का अन्त करने वाले रघुकुल शिरोमणि भगवान् राम, मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च ।
प्रद्युम्नायनिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; ते—तुम्हें; वासुदेवाय—श्री वासुदेव को; नमः—नमस्कार; सङ्कर्षणाय—संकर्षण को; च—तथा; प्रद्युम्नाय—प्रद्युम्न को; अनिरुद्धाय—तथा अनिरुद्ध को; सात्वताम्—यादवों के; पतये—प्रधान को; नमः—नमस्कार।

सात्वतों के स्वामी आपको नमस्कार है। आपके वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध रूपों को नमस्कार है।

नमो बुद्धाय शुद्धाय दैत्यदानवमोहिने ।
म्लेच्छप्रायक्षत्रहन्त्रे नमस्ते कल्किरूपिणे ॥ २२॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; बुद्धाय—बुद्ध को; शुद्धाय—शुद्ध; दैत्य-दानव—दिति तथा दानु की सन्तानों के; मोहिने—मोहने वाले को; म्लेच्छ—मांस-भक्षक अछूत के; प्राय—समान; क्षत्र—राजाओं; हन्त्रे—मारने वाले को; नमः—नमस्कार; ते—तुम्हें; कल्कि-रूपिणे—कल्कि के रूप में।

आपके शुद्ध रूप भगवान् बुद्ध को नमस्कार है, जो दैत्यों तथा दानवों को मोह लेगा। आपके कल्कि रूप को नमस्कार है, जो राजा बनने वाले मांस-भक्षकों का संहार करने वाला है।

भगवञ्जीवलोकोऽयं मोहितस्तव मायया ।
अहं ममेत्यसद्ग्राहो भ्राम्यते कर्मवर्त्मसु ॥ २३॥

शब्दार्थ

भगवन्—हे भगवन्; जीव—जीवों का; लोकः—लोक; अयम्—यह; मोहितः—मोहग्रस्त; तव—तुम्हारी; मायया—माया द्वारा; अहम् मम इति—मैं तथा मेरी धारणा पर आधारित; असत्—मिथ्या; ग्राहः—जिसकी अनुभूति; भ्राम्यते—घुमाती है; कर्म—सकाम कर्म के; वर्त्मसु—मार्गों पर।

हे परमेश्वर, इस जगत में सारे जीव आपकी शक्ति माया से भ्रमित हैं। वे ''मैं'' तथा ''मेरा'' की मिथ्या धारणाओं में फँसकर सकाम कर्मों के मार्गों पर भटकते रहने के लिए बाध्य होते रहते हैं।

अहं चात्मात्मजागारदारार्थस्वजनादिषु ।
भ्रमामि स्वप्नकल्पेषु मूढः सत्यधिया विभो ॥ २४॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; च—भी; आत्म—शरीर सम्बन्धी; आत्म-ज—सन्तानें; अगार—घर; दार—पत्नी; अर्थ—धन; स्व-जन—अनुयायियों; आदिषु—इत्यादि में; भ्रमामि—भम्र में पड़ा हूँ; स्वप्न—स्वप्न; कल्पेषु—के सदृश; मूढः—मूर्ख; सत्य—चूँकि वे असली हैं; धिया—भावना से; विभो—हे सर्वशक्तिमान प्रभु।

हे शक्तिशाली विभो, मैं भी अपने शरीर, सन्तानों, घर, पत्नी, धन तथा अनुयायियों को मूर्खता से वास्तविक मानकर इस प्रकार से भ्रमित हो रहा हूँ यद्यपि ये सभी स्वप्न के समान असत्य हैं।

अनित्यानात्मदुःखेषु विपर्ययमतिर्ह्यहम् ।
द्वन्द्वारामस्तमोविष्टो न जाने त्वात्मनः प्रियम् ॥ २५॥

शब्दार्थ

अनित्य—नित्य नहीं; अनात्म—आत्मा नहीं; दुःखेषु—कष्ट के साधनों में; विपर्यय—उल्टी; मतिः—मनोवृत्ति; हि—निस्सन्देह; अहम्—मैं; द्वन्द्व—द्वैत में; आरामः—आनन्द लेता हुआ; तमः—अज्ञान में; विष्टः—मग्न; न जाने—पहचान नहीं पा रहा; त्वा—आपको; आत्मनः—अपने; प्रियम्—प्रियतम को।

इस तरह नश्वर को नित्य, अपने शरीर को आत्मा तथा कष्ट के साधनों को सुख के साधन मानते हुए मैंने भौतिक द्वन्द्वों में आनन्द उठाने का प्रयत्न किया है। इस तरह अज्ञान से आवृत होकर मैं यह नहीं पहचान सका कि आप ही मेरे प्रेम के असली लक्ष्य हैं।

यथाबुधो जलं हित्वा प्रतिच्छन्नं तदुद्भवैः ।
अभ्येति मृगतृष्णां वै तद्वत्त्वाहं पराङ्मुखः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अबुधः—कोई अज्ञानी; जलम्—जल की; हित्वा—उपेक्षा करके; प्रतिच्छन्नम्—प्रच्छन्न; तत्-उद्भवैः—उसमें उगे हुए वृक्षों से; अभ्येति—पास पहुँचता है; मृग-तृष्णाम्—मृगतृष्णा; वै—निस्सन्देह; तद्वत्—उसी तरह; त्वा—तुमसे; अहम्—मैंने; पराक्-मुखः—मुख मोड़ लिया।

जिस तरह कोई मूर्ख व्यक्ति जल के अन्दर उगी हुई वनस्पति से ढके हुए जल की उपेक्षा करके मृगतृष्णा के पीछे दौड़ता है उसी तरह मैंने आपसे मुख मोड़ रखा है।

नोत्सहेऽहं कृपणधीः कामकर्महतं मनः ।
रोद्धुं प्रमाथिभिश्चाक्षैर्ह्रियमाणमितस्ततः ॥ २७॥

शब्दार्थ

न उत्सहे—शक्ति नहीं पा रहा; अहम्—मैं; कृपण—कुंठित; धीः—बुद्धि; काम—भौतिक इच्छा; कर्म—तथा भौतिक कार्यों से; हतम्—विचलित; मनः—मेरा मन; रोद्धुम्—रोके रखने के लिए; प्रमाथिभिः—अत्यन्त शक्तिशाली तथा इच्छा करने वाले; च—तथा; अक्षैः—इन्द्रियों से; ह्रियमाणम्—घसीटा जाकर; इतः ततः—इधर उधर।

मेरी बुद्धि इतनी कुंठित है कि मैं अपने मन को रोक पाने की शक्ति नहीं जुटा पा रहा जो भौतिक इच्छाओं तथा कार्यों से विचलित होता रहता है और मेरी जिद्दी इन्द्रियों द्वारा निरन्तर इधर उधर घसीटा जाता है।

सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं
तच्चाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये ।
पुंसो भवेद्यर्हि संसरणापवर्ग-
स्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात् ॥ २८॥

शब्दार्थ

सः—ऐसा; अहम्—मैं; तव—तुम्हारे; अङ्घ्रि—चरणों के; उपगतः अस्मि—पास आया हूँ; असताम्—अशुद्धों के लिए; दुरापम्—प्राप्त करना असम्भव; तत्—वह; च—और; अपि—भी; अहम्—मैं; भवत्—आपकी; अनुग्रहः—दया; ईश—हे ईश्वर; मन्ये—सोचता हूँ; पुंसः—मनुष्य का; भवेत्—होए; यर्हि—जब; संसरण—भव-चक्र का; अपवर्गः—अन्त; त्वयि—तुम में; अब्ज—कमल के समान; नाभ—नाभि वाले; सत्—शुद्ध भक्तों की; उपासनया—पूजा से; मतिः—चेतना; स्यात्—उत्पन्न होती है।

हे प्रभु, इस तरह पतित हुआ मैं आपके चरणों में शरण लेने आया हूँ, क्योंकि, यद्यपि अशुद्ध लोग आपके चरणों को कभी भी प्राप्त नहीं कर पाते, मेरा विचार है कि आपकी कृपा से तो यह संभव हो सका है। हे कमल-नाभ भगवान्, जब किसी का भौतिक जीवन समाप्त हो जाता है तभी वह आपके शुद्ध भक्तों की सेवा करके आपके प्रति चेतना उत्पन्न कर सकता है।

नमो विज्ञानमात्राय सर्वप्रत्ययहेतवे ।
पुरुषेशप्रधानाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; विज्ञान—शुद्ध ज्ञान के; मात्राय—स्वरूप को; सर्व—समस्त; प्रत्यय—ज्ञान के रूपों के; हेतवे—कारण को; पुरुष—पुरुष की; ईश—नियंत्रण करने वाली शक्ति के; प्रधानाय—सर्वेसर्वा को; ब्रह्मणे—परब्रह्म को; अनन्त—असीम; शक्तये—शक्ति।

असीम शक्तियों के स्वामी परम सत्य को नमस्कार है। वे शुद्ध दिव्य-ज्ञान स्वरूप हैं, समस्त चेतनाओं के स्रोत हैं और जीव पर शासन चलाने वाली प्रकृति की शक्तियों के अधिपति हैं।

नमस्ते वासुदेवाय सर्वभूतक्षयाय च ।
हृषीकेश नमस्तुभ्यं प्रपन्नं पाहि मां प्रभो ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; ते—तुम्हें; वासुदेवाय—वसुदेव के पुत्र को; सर्व—समस्त; भूत—जीवों के; क्षयाय—निवास को; च—तथा; हृषीक-ईश—मन तथा इन्द्रियों के स्वामी; नमः—नमस्कार; तुभ्यम्—तुम्हें; प्रपन्नम्—शरणागत हूँ; पाहि—कृपया बचायें; माम्—मुझको; प्रभो—हे स्वामी।

हे वसुदेवपुत्र आपको नमस्कार है। आपमें सारे जीवों का निवास है। हे मन तथा इन्द्रियों के स्वामी, मैं पुनः आपको नमस्कार करता हूँ। हे प्रभु, मैं आपकी शरण में आया हूँ। आप मेरी रक्षा करें।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत "अक्रूर द्वारा स्तुति" नामक चालीसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter इकतालीस

कृष्ण तथा बलराम का मथुरा में प्रवेश

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह भगवान् कृष्ण ने मथुरा नगरी में प्रवेश किया, धोबी को मारा और किस तरह एक जुलाहे तथा सुदामा नामक माली को वर दिए।

यमुना के जल में अक्रूर को अपना विष्णुरूप प्रदर्शित करने तथा अक्रूर की स्तुतियाँ स्वीकार करने के बाद भगवान् कृष्ण ने अपना वह दृश्य छिपा लिया ठीक वैसे ही जैसे कोई रंगकर्मी अपने नाटक का पटाक्षेप करता है। अक्रूर जल से निकल कर बाहर आये और अत्यन्त आश्चर्यचकित होकर भगवान् के पास गये तो उन्होंने पूछा कि क्या उन्हें स्नान करते समय कोई अद्‌भुत वस्तु दिखी। इस पर अक्रूर ने कहा, ''जल, स्थल या आकाश लोकों में जितनी भी अद्‌भुत वस्तुएँ हैं उन सबका अस्तित्व आप में है। अत: जब किसी ने आपको देख लिया तो फिर देखने को बचा ही क्या?'' इसके बाद अक्रूर फिर से रथ हाँकने लगे।

कृष्ण, बलराम तथा अक्रूर दिन ढले मथुरा पहुँचे। नन्द महाराज तथा अन्य ग्वाले पहले ही वहाँ पहुँच चुके थे। उनसे मिलने के बाद कृष्ण ने अक्रूर से घर लौट जाने के लिए कहा और यह वादा किया कि वे कंस का वध करने के बाद उनसे वहाँ मिलेंगे। अक्रूर ने दुखित होकर कृष्ण से विदा ली और कंस के पास यह बतलाने गये कि कृष्ण तथा बलराम मथुरा आ गये हैं। इसके बाद वे अपने घर चले गये।

कृष्ण तथा बलराम ग्वालबालों को अपने संग लेकर भव्य नगरी देखने गये। जब उन्होंने मथुरा में प्रवेश किया, तो नगरी की सारी स्त्रियाँ कृष्ण को देखने के लिए अपने अपने घरों से उत्सुकता से बाहर निकल आईं। वे उनके विषय में अक्सर सुना करती थीं और दीर्घकाल से उनके प्रति प्रगाढ़ आकर्षण उत्पन्न कर चुकी थीं। किन्तु अब जबकि वे उन्हें सचमुच देख रही थीं वे सुख से भावविभोर हो गईं और कृष्ण की अनुपस्थिति से उत्पन्न उनके सारे कष्ट समूल नष्ट हो गये।

तत्पश्चात् कृष्ण तथा बलराम कंस के दुष्ट धोबी के पास आये। कृष्ण ने उससे लिए जा रहे कुछ उत्तम वस्त्र माँगे किन्तु उसने देने से न केवल इनकार किया अपितु दोनों विभूतियों का अपमान भी किया। इससे कृष्ण अत्यधिक क्रुद्ध हो उठे और अपनी अँगुली के अग्रभाग से उसका सिर काट लिया। उसका असामयिक अन्त देखकर धोबी के नौकर अपना कपड़ों का गट्ठर वहीं छोड़कर विभिन्न दिशाओं

में भाग गये। इसके बाद कृष्ण तथा बलराम ने उनमें से अपनी पसन्द के कुछ वस्त्र ले लिये।

इसके बाद एक जुलाहा उन दोनों विभूतियों के पास पहुँचा जिसने उन्हें खूब सँवार दिया जिसके एवज में कृष्ण ने उसे इस जन्म में ऐश्वर्य प्रदान किया और अगले जन्म में मोक्ष। तब दोनों भाई सुदामा नामक माली के घर गये। सुदामा ने उन्हें नमस्कार किया, उनके पाँव धोकर उनकी पूजा की, अर्घ्य प्रदान किया, चंदन का लेप लगाया और उनके सम्मान में स्तुति गाई। तत्पश्चात् उसने उन्हें सुगन्धित फूलों की मालाओं से सजाया-सँवारा। दोनों ने प्रसन्न होकर उसे मुँहमाँगे वर दिए और फिर आगे निकल गये।

श्रीशुक उवाच
स्तुवतस्तस्य भगवान्दर्शयित्वा जले वपुः ।
भूयः समाहरत्कृष्णो नटो नाट्यमिवात्मनः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; स्तुवतः—स्तुति करते समय; तस्य—अक्रूर का; भगवान्—भगवान् ने; दर्शयित्वा—दिखलाने के बाद; जले—जल में; वपुः—अपना साकार रूप; भूयः—फिर; समाहरत्—छिपा लिया; कृष्णः—श्रीकृष्ण ने; नटः—अभिनेता; नाट्यम्—नाटक, प्रदर्शन; इव—सदृश; आत्मनः—अपना।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : अभी अक्रूर स्तुति कर ही रहे थे कि भगवान् कृष्ण ने अपना वह रूप जिसे उन्होंने जल के भीतर प्रकट किया था, उसी तरह छिपा लिया जिस तरह कोई नट अपना खेल समाप्त कर देता है।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ने अक्रूर की आँखों के सामने से विष्णुरूप के साथ साथ स्वर्ग तथा वहाँ के नित्य वासियों के दृश्य को छिपा लिया।

सोऽपि चान्तर्हितं वीक्ष्य जलादुन्मज्य सत्वरः ।
कृत्वा चावश्यकं सर्वं विस्मितो रथमागमत् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, अक्रूर; अपि—निस्सन्देह; च—तथा; अन्तर्हितम्—अप्रकट हुआ; वीक्ष्य—देखकर; जलात्—जल से; उन्मज्य—निकल कर; सत्वरः—तुरन्त; कृत्वा—पूरा करके; च—तथा; आवश्यकम्—नियतकर्म; सर्वम्—समस्त; विस्मितः—चकित; रथम्—रथ के पास; आगमत्—गया।

जब अक्रूर ने उस दृश्य को अन्तर्धान होते देखा तो वे जल के बाहर आ गये और उन्होंने जल्दी जल्दी अपने विविध अनुष्ठान-कर्म सम्पन्न किये। तत्पश्चात् वे विस्मित होकर अपने रथ पर लौट आये।

तमपृच्छद्‌धृषीकेशः किं ते दृष्टमिवाद्भुतम् ।
भूमौ वियति तोये वा तथा त्वां लक्षयामहे ॥ ३॥

शब्दार्थ

तम्—उससे; अपृच्छत्—पूछा; हृषीकशः—कृष्ण ने; किम्—क्या; ते—तुम्हारे द्वारा; दृष्टम्—देखा गया; इव—निस्सन्देह; अद्भुतम्—कुछ असाधारण; भूमौ—पृथ्वी पर; वियति—आकाश में; तोये—जल में; व—अथवा; तथा—उसी तरह; त्वाम्—तुमको; लक्षयामहे—हम अटकल लगाते हैं।

भगवान् कृष्ण ने अक्रूर से पूछाः क्या आपने पृथ्वी पर, या आकाश में या जल में कोई अद्‌भुत वस्तु देखी है? आपकी सूरत से हमें लगता है कि आपने देखी है।

श्रीअक्रूर उवाच
अद्भुतानीह यावन्ति भूमौ वियति वा जले ।
त्वयि विश्वात्मके तानि किं मेऽदृष्टं विपश्यतः ॥ ४॥

शब्दार्थ

श्री-अक्रूरः उवाच—श्री अक्रूर ने कहा; अद्भुतानि—अद्‌भुत वस्तुएँ; इह—इस लोक में; यावन्ति—जितनी भी; भूमौ—पृथ्वी पर; वियति—आकाश में; वा—अथवा; जले—जल में; त्वयि—तुम में; विश्व-आत्मके—हरवस्तु से युक्त; तानि—वे; किम्—क्या; मे—मेरे द्वारा; अदृष्टम्—नहीं देखा गया; विपश्यतः—आपको देखकर।

श्री अक्रूर ने कहा : पृथ्वी, आकाश या जल में जो भी अद्‌भुत वस्तुएँ हैं, वे सभी आपमें विद्यमान हैं। चूँकि आप हर वस्तु से ओतप्रोत हैं अतः जब मैं आपका दर्शन कर रहा हूँ तो फिर वह कौन सी वस्तु है, जिसे मैंने नहीं देखा है?

यत्राद्भुतानि सर्वाणि भूमौ वियति वा जले ।
तं त्वानुपश्यतो ब्रह्मन्किं मे दृष्टमिहाद्भुतम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

यत्र—जिसमें; अद्भुतानि—अद्‌भुत वस्तुएँ; सर्वाणि—समस्त; भूमौ—पृथ्वी पर; वियति—आकाश में; वा—अथवा; जले—जल में; तम्—उस; त्वा—तुमको; अनुपश्यतः—देखते हुए; ब्रह्मन्—हे परम सत्य; किम्—क्या; मे—मेरे द्वारा; दृष्टम्—देखा गया; इह—इस संसार में; अद्भुतम्—आश्चर्यजनक।

और अब जबकि हे परम सत्य, मैं आपको देख रहा हूँ जिनमें पृथ्वी, आकाश तथा जल की सारी अद्‌भुत वस्तुएँ निवास करती हैं, तो फिर भला मैं इस जगत में और कौन सी अद्‌भुत् वस्तुएँ देख सकता था?

तात्पर्य : अब अक्रूर को बोध हुआ कि कृष्ण उनके भतीजे मात्र नहीं हैं।

इत्युक्त्वा चोदयामास स्यन्दनं गान्दिनीसुतः ।
मथुरामनयद्रामं कृष्णं चैव दिनात्यये ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; चोदयाम् आस—आगे हाँका; स्यन्दनम्—रथ को; गान्दिनी-सुतः—गान्दिनी पुत्र, अक्रूर ने; मथुराम्—मथुरा में; अनयत्—ले आया; रामम्—बलराम को; कृष्णम्—कृष्ण को; च—तथा; एव—भी; दिन—दिन के; अत्यये—समाप्त होते।

इन शब्दों के साथ गान्दिनीपुत्र अक्रूर ने रथ आगे हाँकना शुरू कर दिया। दिन ढलते ढलते वे भगवान् बलराम तथा भगवान् कृष्ण को लेकर मथुरा जा पहुँचे।

मार्गे ग्रामजना राजंस्तत्र तत्रोपसङ्गताः ।
वसुदेवसुतौ वीक्ष्य प्रीता दृष्टिं न चाददुः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

मार्गे—रास्ते में; ग्राम—गाँवों के; जनाः—लोग; राजन्—हे राजा (परीक्षित); तत्र तत्र—जहाँ तहाँ; उपसङ्गताः—पास आकर; वसुदेव-सुतौ—वसुदेव के दोनों पुत्रों को; वीक्ष्य—देखकर; प्रीताः—प्रसन्न; दृष्टिम्—दृष्टि; न—नहीं; च—तथा; आददुः—हटा पाते।

हे राजन्, वे मार्ग में जहाँ जहाँ से गुजरते, गाँव के लोग पास आकर वसुदेव के इन दोनों पुत्रों को बड़े ही हर्ष से निहारते। वस्तुतः ग्रामीणजन उनसे अपनी दृष्टि हटा नहीं पाते थे।

तावद्व्रजौकसस्तत्र नन्दगोपादयोऽग्रतः ।
पुरोपवनमासाद्य प्रतीक्षन्तोऽवतस्थिरे ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब तक; व्रज-ओकसः—ब्रजवासी; तत्र—वहाँ; नन्द-गोप-आदयः—ग्वालों के राजा नन्द इत्यादि; अग्रतः—आगे आगे; पुर—नगर के; उपवनम्—उद्यान में; आसाद्य—आकर; प्रतीक्षन्तः—प्रतीक्षा में; अवतस्थिरे—रुके रहे।

नन्द महाराज तथा वृन्दावन के अन्य वासी रथ से पहले ही मथुरा पहुँच गये थे और कृष्ण तथा बलराम की प्रतीक्षा करने के लिए नगर के बाहरी उद्यान में रुके हुए थे।

तात्पर्य : नन्द इत्यादि मथुरा पहले पहुँच चुके थे क्योंकि अक्रूर के स्नान के कारण कृष्ण तथा बलराम के रथ को देरी हो गई थी।

तान्समेत्याह भगवानक्रूरं जगदीश्वरः ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रश्रितं प्रहसन्निव ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तान्—उनके साथ; समेत्य—मिलकर; आह—कहा; भगवान्—भगवान् ने; अक्रूरम्—अक्रूर से; जगत्-ईश्वरः—ब्रह्माण्ड के स्वामी; गृहीत्वा—पकड़ कर; पाणिना—अपने हाथ से; पाणिम्—उसके हाथ को; प्रश्रितम्—विनीत; प्रहसन्—हँसते हुए; इव—सदृश।.

नन्द तथा अन्य लोगों से मिलने के बाद ब्रह्माण्ड के नियन्ता भगवान् कृष्ण ने विनीत अक्रूर के हाथ को अपने हाथ में लेकर हँसते हुए इस प्रकार कहा।

भवान्प्रविशतामग्रे सहयानः पुरीं गृहम् ।
वयं त्विहावमुच्याथ ततो द्रक्ष्यामहे पुरीम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

भवान्—आप; प्रविशताम्—प्रवेश करें; अग्रे—आगे; सह—साथ में; यानः—रथ में; पुरीम्—नगर में; गृहम्—तथा अपने घर में; वयम्—हम; तु—तो; इह—यहाँ; अवमुच्य—उतर कर; अथ—तब; ततः—तत्पश्चात्; द्रक्ष्यामहे—देखेंगे; पुरीम्—नगरी को।.

[भगवान् कृष्ण ने कहा] आप रथ लेकर हमसे पहले नगरी में प्रवेश करें। तत्पश्चात् आप अपने घर जाँय। हम यहाँ पर कुछ समय तक ठहर कर बाद में नगरी देखने जायेंगे।

श्रीअक्रूर उवाच

नाहं भवद्भ्यां रहितः प्रवेक्ष्ये मथुरां प्रभो ।
त्यक्तुं नार्हसि मां नाथ भक्तं ते भक्तवत्सल ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-अक्रूरः उवाच—श्री अक्रूर ने कहा; न—नहीं; अहम्—मैं; भवद्भ्याम्—आप दोनों के; रहितः—बिना; प्रवेक्ष्ये—प्रवेश करूँगा; मथुराम्—मथुरा में; प्रभो—हे प्रभु; त्यक्तुम्—परित्याग करना; न अर्हसि—आपको नहीं चाहिए; माम्—मुझ; नाथ—हे नाथ; भक्तम्—भक्त को; ते—तुम्हारा; भक्त-वत्सल—अपने भक्तों पर पितृवत् स्नेह रखने वाले।.

श्री अक्रूर ने कहा : हे प्रभु, मैं आप दोनों के बिना मथुरा में प्रवेश नहीं करूँगा। हे नाथ, मैं आपका भक्त हूँ अतः यह उचित नहीं होगा कि आप मेरा परित्याग कर दें क्योंकि आप अपने भक्तों के प्रति सदैव वत्सल रहते हैं।

आगच्छ याम गेहान्नः सनाथान्कुर्वधोक्षज ।
सहाग्रजः सगोपालैः सुहृद्भिश्च सुहृत्तम ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

आगच्छ—कृपया आइये; याम—चलें; गेहान्—घर; नः—हमारे; स—सहित; नाथान्—स्वामी; कुरु—कीजिये; अधोक्षज—हे दिव्य प्रभु; सह—साथ; अग्र-जः—अपने बड़े भाई; स-गोपालैः—ग्वालों के साथ; सुहृद्भिः—अपने मित्रों के साथ; च—तथा; सुहृत्-तम—हे परम शुभचिन्तक।.

आइये, आप अपने बड़े भाई, ग्वालों तथा अपने संगियों समेत मेरे घर चलिये। हे मित्रश्रेष्ठ, हे दिव्य प्रभु, इस तरह कृपया मेरे घर को कृतार्थ कीजिये।

पुनीहि पादरजसा गृहान्नो गृहमेधिनाम् ।
यच्छौचेनानुतृप्यन्ति पितरः साग्नयः सुराः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

पुनीहि—पवित्र कीजिये; पाद—अपने पाँवों की; रजसा—धूल से; गृहान्—घर को; नः—हमारे; गृह-मेधिनाम्—जो गृहस्थों के द्वारा किये जाने वाले अनुष्ठानों में आसक्त हैं; यत्—जिससे; शौचेन—शुद्धि से; अनुतृप्यन्ति—तुष्ट हो जायेंगे; पितरः—मेरे पितृगण; स—सहित; अग्नयः—यज्ञ की अग्नियाँ; सुराः—तथा देवता।

मैं एक सामान्य गृहस्थ हूँ और विधिवत् यज्ञों का पालन करने वाला हूँ। अतः आप अपने चरणकमलों की धूलि से मेरे घर को पवित्र कीजिये। इस शुद्धि कर्म से मेरे पितर, यज्ञ-अग्नियाँ तथा सारे देवता तुष्ट हो जायेंगे।

अवनिज्याङ्घ्रियुगलमासीत्श्लोक्यो बलिर्महान् ।
ऐश्वर्यमतुलं लेभे गतिं चैकान्तिनां तु या ॥ १४॥

शब्दार्थ

अवनिज्य—पखार करके; अङ्घ्रि-युगलम्—दोनों पाँव; आसीत्—बन गया; श्लोक्यः—यशस्वी; बलिः—राजा बलि; महान्—महान; ऐश्वर्यम्—शक्ति; अतुलम्—अनुपम; लेभे—प्राप्त किया; गतीम्—लक्ष्य; च—तथा; एकान्तिनाम्—भगवान् के अनन्य भक्तों के; तु—निस्सन्देह; या—जो।

आपके चरणों को पखार कर यशस्वी बलि महाराज ने न केवल यश तथा अनुपम शक्ति प्राप्त की अपितु शुद्धभक्तों की अन्तिम गति भी प्राप्त की।

आपस्तेऽङ्घ्र्यवनेजन्यस्त्रींल्लोकान्शुचयोऽपुनन् ।
शिरसाधत्त याः शर्वः स्वर्याताः सगरात्मजाः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

आपः—जल (यथा गंगा नदी); ते—तुम्हारे; अङ्घ्रि—पाँवों के; अवनेजन्यः—पखारने से प्राप्त; त्रीन्—तीनों; लोकान्—लोकों को; शुचयः—नितान्त आध्यात्मिक होने से; अपुनन्—पवित्र बना दिया है; शिरसा—सिर पर; आधत्त—धारण कर लिया; याः—जिसे; शर्वः—शिव ने; स्वः—स्वर्ग को; याताः—गये; सगर-आत्मजाः—राजा सगर के पुत्र।

आपके चरणों के पखारने से दिव्य होकर गंगा नदी के जल ने तीनों लोकों को पवित्र बना दिया है। शिवजी ने उसी जल को अपने शिर पर धारण किया और उसी जल की कृपा से राजा सगर के पुत्र स्वर्ग गये।

देवदेव जगन्नाथ पुण्यश्रवणकीर्तन ।
यदूत्तमोत्तमःश्लोक नारायण नमोऽस्तु ते ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

देव-देव—हे स्वामियों के स्वामी; जगत्-नाथ—हे ब्रह्माण्ड के स्वामी; पुण्य—पवित्र; श्रवण—सुनना; कीर्तन—तथा कीर्तन करना; यदु-उत्तम—यदुश्रेष्ठ; उत्तमः-श्लोक—उत्तम श्लोकों से स्तुति किये जाने वाले; नारायण—हे नारायण; नमः—नमस्कार; अस्तु—होवे; ते—आपको।

हे देवों के देव, हे जगन्नाथ, हे आप जिनके यश को सुनना और गायन करना अत्यन्त पवित्र है! हे यदुश्रेष्ठ, हे पुण्यश्लोक, हे परम भगवान् नारायण, मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

श्रीभगवनुवाच

आयास्ये भवतो गेहमहमर्यसमन्वितः ।
यदुचक्रद्रुहं हत्वा वितरिष्ये सुहृत्प्रियम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; आयास्ये—आऊँगा; भवतः—आपके; गेहम्—घर; अहम्—मैं; आर्य—अपने अग्रज (बलराम); समन्वितः—सहित; यदु-चक्र—यदुओं के चक्र (मंडल) के; द्रुहम्—शत्रु (कंस) को; हत्वा—मारकर; वितरिष्ये—प्रदान करूँगा; सुहृत्—अपने शुभचिन्तकों को; प्रियम्—सन्तोष।

परमेश्वर ने कहा : मैं अपने बड़े भाई के साथ आपके घर आऊँगा किन्तु पहले मुझे यदु जाति के शत्रु को मारकर अपने मित्रों तथा शुभचिन्तकों को तुष्ट करना है।

तात्पर्य : अक्रूर ने श्लोक १६ में कृष्ण की प्रशंसा *यदूत्तम* कहकर की है। यहाँ पर श्रीकृष्ण यह कहकर उसकी पुष्टि करते हैं "चूँकि में यदुश्रेष्ठ हूँ अतः सर्वप्रथम मुझे यदुओं के शत्रु कंस को मारना चाहिए। तब मैं आपके घर आऊँगा।"

श्रीशुक उवाच

एवमुक्तो भगवता सोऽक्रूरो विमना इव ।
पुरीं प्रविष्टः कंसाय कर्मावेद्य गृहं ययौ ॥ १८॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; उक्तः—सम्बोधित करने पर; भगवता—भगवान् द्वारा; सः—उस; अक्रूरः—अक्रूर ने; विमनाः—निराश; इव—सदृश; पुरीम्—नगर मे; प्रविष्टः—प्रवेश किया; कंसाय—कंस को; कर्म—कार्यकलापों के विषय में; आवेद्य—सूचित करके; गृहम्—अपने घर; ययौ—चला गया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् द्वारा ऐसे सम्बोधित किये जाने पर अक्रूर भारी मन से नगर में प्रविष्ट हुए। उन्होंने राजा कंस को अपने ध्येय की सफलता से सूचित किया और तब वे अपने घर चले गये।

अथापराह्ने भगवान्कृष्णः सङ्कर्षणान्वितः ।

मथुरां प्राविशद्गोपैर्दिदृक्षुः परिवारितः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; अपर-अह्ने—तीसरे पहर, दोपहर के बाद; भगवान्—भगवान्; कृष्णः—कृष्ण ने; सङ्कर्षण-अन्वितः—बलराम सहित; मथुराम्—मथुरा में; प्राविशत्—प्रवेश किया; गोपैः—ग्वालबालों द्वारा; दिदृक्षुः—देखने की इच्छा वाले; परिवारितः—घिरे हुए।

भगवान् कृष्ण मथुरा देखना चाहते थे अतः संध्या समय अपने साथ बलराम तथा ग्वालबालों को लेकर उन्होंने नगर में प्रवेश किया।

ददर्श तां स्फाटिकतुङ्गगोपुर-
द्वारां बृहद्धेमकपाटतोरणाम् ।
ताम्रारकोष्ठां परिखादुरासदा-
मुद्यानरम्योपवनोपशोभिताम् ॥ २० ॥
सौवर्णशृङ्गाटकहर्म्यनिष्कुटैः
श्रेणीसभाभिर्भवनैरुपस्कृताम् ।
वैदूर्यवज्रामलनीलविद्रुमै-
र्मुक्ताहरिद्भिर्वलभीषु वेदिषु ॥ २१ ॥
जुष्टेषु जालामुखरन्ध्रकुट्टिमे-
ष्वाविष्टपारावतबर्हिनादिताम् ।
संसिक्तरथ्यापणमार्गचत्वरां
प्रकीर्णमाल्याङ्कुरलाजतण्डुलाम् ॥ २२ ॥
आपूर्णकुम्भैर्दधिचन्दनोक्षितैः
प्रसूनदीपावलिभिः सपल्लवैः ।
सवृन्दरम्भाक्रमुकैः सकेतुभिः
स्वलङ्कृतद्वारगृहां सपट्टिकैः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

ददर्श—देखा; ताम्—उस (नगरी) को; स्फाटिक—स्फटिक से बने; तुङ्ग—ऊँचा; गोपुर—मुख्य द्वार; द्वाराम्—घरों के दरवाजे; बृहत्—विशाल; हेम—स्वर्ण; कपाट—किंवाड़; तोरणाम्—तथा सजावटी मेहराब; ताम्र—ताँबे; आर—तथा पीतल के; कोष्ठाम्—भंडारघर; परिखा—खाइयों समेत; दुरासदाम्—दुर्लंघ्य; उद्यान—सार्वजनिक बगीचे; रम्य—आकर्षक; उपवन—तथा उपवन; उपशोभिताम्—सजाये गये; सौवर्ण—सोना; शृङ्गाटक—चौराहे; हर्म्य—अन्तःपुर, महल; निष्कुटैः—तथा आराम उद्यानों से; श्रेणी—व्यापारियों के; सभाभिः—सभाभवनों से; भवनैः—तथा घरों से; उपस्कृताम्—अलंकृत; वैदूर्य—वैदूर्य मणियों से; वज्र—हीरा; अमल—खेदार क्वाट्र्ज (स्फटिक); नील—नीलमों; विद्रुमैः—तथा मूँगों से; मुक्ता—मोतियों; हरिद्भिः—तथा हरितमणि से; वलभीषु—घरों के दरवाजों पर; वेदिषु—स्तम्भयुक्त छज्जों पर; जुष्टेषु—खचित; जाल-आमुख—जालीदार खिड़कियों के; रन्ध्र—छेदों में; कुट्टिमेषु—तथा रत्नजड़ित फर्श पर; आविष्ट—बैठकर; पारावत—पालतू कबूतरों; बर्हि—तथा मोरों से; नादिताम्—प्रतिध्वनित; संसिक्त—जल से छिड़की हुई; रथ्या—राजसी गलियों; आपण—व्यापारिक मार्गों से; मार्ग—तथा अन्य सड़कों; चत्वराम्—तथा आँगन या चौतरा; प्रकीर्ण—बिखरे हुए; माल्य—फूल की मालाओं से; अङ्कुर—नवीन कोपलें; लाज—लावा; तण्डुलाम्—तथा चावल; आपूर्ण—पूर्ण; कुम्भैः—घड़ों से; दधि—दही से; चन्दन—तथा चन्दनलेप से; उक्षितैः—लेप किया; प्रसून—फूलों की पंखड़ियों से; दीप-आवलिभिः—दीपों की पंक्तियों से; स-पल्लवैः—पत्तियों सहित; स-वृन्द—फूलों के गुच्छों सहित; रम्भा—केला के तनों से; क्रमुकैः—तथा सुपाड़ी के वृक्ष के तनों

से; स-केतुभिः—झंडों से; सु-अलङ्कृत—सुन्दर सजाया हुआ; द्वार—द्वारों से युक्त; गृहाम्—घरों को; स-पट्टिकैः—पत्रियों से, झंडियों से।

भगवान् ने देखा कि मथुरा के ऊँचे ऊँचे दरवाजे तथा घरों के प्रवेशद्वार स्फटिक के बने हैं, इसके विशाल तोरण तथा मुख्य द्वार सोने के हैं, इसके अन्न गोदाम तथा अन्य भण्डार ताँबे तथा पीतल के बने हैं और इसकी परिखा (खाई) अप्रवेश्य है। मनोहर उद्यान तथा उपवन इस शहर की शोभा बढ़ा रहे थे। मुख्य चौराहे सोने से बनाये गये थे और इसकी इमारतों के साथ निजी विश्राम-उद्यान थे, साथ ही व्यापारिकों के सभाभवन तथा अन्य अनेक इमारतें थीं। मथुरा उन मोर तथा पालतू कबूतरों की बोलियों से गूँज रहा था, जो जालीदार खिड़कियों के छेदों पर, रत्नजटित फर्शों पर तथा ख भेदार छज्जों और घरों के सामने के सज्जित धरनों पर बैठे थे। ये छज्जे तथा धरने वैदूर्य मणियों, हीरों, स्फटिकों, नीलमों, मूँगों, मोतियों तथा हरित मणियों से सजाये गये थे। समस्त राजमार्गों तथा व्यापारिक गलियों में जल का छिड़काव हुआ था। इसी तरह पार्श्वगलियों तथा चबूतरों को भी सींचा गया था। सर्वत्र फूल मालाएँ, नव अंकुरित जौ, लावा तथा अक्षत बिखेरे हुए थे। घरों के दरवाजों के प्रवेशमार्ग पर जल से भरे सुसज्जित घड़े शोभा दे रहे थे जिन्हें आम की पत्तियों से अलंकृत किया गया था और दही तथा चन्दनलेप से पोता गया था। उनके चारों ओर फूल की पंखड़ियाँ तथा फीते लपेटे हुए थे। इन घड़ों के पास झंडियाँ, दीपों की पंक्ति, फूलों के गुच्छे, केलों के तथा सुपारी के वृक्षों के तने थे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अलंकृत घड़ों का विस्तृत वर्णन किया है—"प्रत्येक दरवाजे के दोनों ओर भूमि पर बिखेरे अक्षतों के ऊपर एक घड़ा है। हर घड़े के चारों ओर फूल की पंखड़ियाँ हैं, इसकी गर्दन पर फीते हैं तथा इसके मुँह पर आम तथा अन्य वृक्षों की पत्तियाँ रखी हैं। प्रत्येक घड़े के ऊपर एक सोने के थाल में दीपकों की पंक्तियाँ हैं। हर घड़े की बगल में केले का एक तना खड़ा है और सामने तथा पीछे भी सुपारी वृक्ष का एक-एक तना है। झंडियाँ इन घड़ों पर टिकी हैं।"

तां सम्प्रविष्टौ वसुदेवनन्दनौ
वृतौ वयस्यैर्नरदेववर्त्मना ।
द्रष्टुं समीयुस्त्वरिताः पुरस्त्रियो

हर्म्याणि चैवारुरुहुर्नृपोत्सुकाः ॥ २४॥

शब्दार्थ

ताम्—उस (मथुरा में); सम्प्रविष्टौ—घुसकर; वसुदेव—वसुदेव के; नन्दनौ—दोनों पुत्र; वृतौ—घिरे हुए; वयस्यैः—अपने तरुण मित्रों से; नर-देव—राजा की; वर्त्मना—सड़क से; द्रष्टुम्—देखने के लिए; समीयुः—निकल आईं; त्वरिताः—तेजी से; पुर—नगर की; स्त्रियः—स्त्रियाँ; हर्म्याणि—अपने अपने घरों पर; च—तथा; एव—भी; आरुरुहुः—ऊपर चढ़ गईं; नृप—हे राजा (परीक्षित); उत्सुकाः—उत्सुक।

मथुरा की स्त्रियाँ जल्दी-जल्दी एकत्र हुईं और ज्योंही वसुदेव के दोनों पुत्र अपने ग्वाल-बाल मित्रों से घिरे हुए राजमार्ग द्वारा नगर में प्रविष्ट हुए वे उन्हें देखने निकल आईं। हे राजन्, कुछ स्त्रियाँ उन्हें देखने की उत्सुकता से अपने घरों की छतों पर चढ़ गईं।

काश्चिद्विपर्यग्धृतवस्त्रभूषणा
विस्मृत्य चैकं युगलेष्वथापराः ।
कृतैकपत्रश्रवनैकनूपुरा
नाङ्क्त्वा द्वितीयं त्वपराश्च लोचनम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

कश्चित्—उनमें से कुछ; विपर्यक्—उल्टा; धृत—पहन कर; वस्त्र—अपने वस्त्र; भूषणः—तथा गहने; विस्मृत्य—भूल कर; च—तथा; एकम्—एक; युगलेषु—जोड़ी की; अथ—तथा; अपराः—अन्य; कृत—धारण करके; एक—केवल एक; पत्र—कुंडल; श्रवण—कान में; एक—या एक; नूपुराः—नूपुरों की जोड़ी; न अङ्क्त्वा—बिना आँजे; द्वितीयम्—दूसरी; तु—लेकिन; अपराः—अन्य स्त्रियाँ; च—तथा; लोचनम्—एक आँख।

कुछ स्त्रियों ने अपने वस्त्र तथा गहने उल्टे पहन लिये, कुछ अपना एक कुंडल या पायल पहनना भूल गईं और अन्यों ने केवल एक आँख में अंजन लगाया, दूसरी में लगा ही न पाईं।

तात्पर्य : स्त्रियाँ कृष्ण का दर्शन पाने के लिए अत्यन्त उत्सुक थीं और वे हड़बड़ी तथा उत्तेजनावश अपने आपको भूल गईं।

अश्नन्त्य एकास्तदपास्य सोत्सवा
अभ्यज्यमाना अकृतोपमज्जनाः ।
स्वपन्त्य उत्थाय निशम्य निःस्वनं
प्रपाययन्त्योऽर्भमपोह्य मातरः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अश्नन्त्यः—भोजन कर रहीं; एकाः—कुछ; तत्—उसे; अपास्य—छोड़कर; स-उत्सवः—हर्षपूर्वक; अभ्यज्यमानाः—मालिश की जाती; अकृत—बिना पूरा किये; उपमज्जनाः—अपना स्नान करना; स्वपन्त्यः—सोती हुईं; उत्थाय—उठकर; निशम्य—सुनकर; निःस्वनम्—तेज आवाजें; प्रपाययन्त्यः—दूध पिलाती; अर्भम्—अपने बच्चे को; अपोह्य—एक तरफ रखकर; मातरः—माताएँ।

जो भोजन कर रही थीं उन्होंने भोजन करना छोड़ दिया, अन्य स्त्रियाँ अधनहाई या उबटन

पूरी तरह लगाये बिना ही चली आईं। जो स्त्रियाँ सो रही थीं वे शोर सुनकर तुरन्त उठ गईं और माताओं ने दूध पीते बच्चों को अपनी गोदों से उतारकर अलग रख दिया।

मनांसि तासामरविन्दलोचनः
प्रगल्भलीलाहसितावलोकैः ।
जहार मत्तद्विरदेन्द्रविक्रमो
दृशां ददच्छ्रीरमणात्मनोत्सवम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

मनांसि—मन; तासाम्—उनके; अरविन्द—कमल जैसे; लोचनः—आँखें; प्रगल्भ—उद्धत; लीला—अपनी लीलाएँ; हसित—हँसते हुए; अवलोकैः—चितवनों से; जहार—हर लिया; मत्त—मतवाली; द्विरद-इन्द्र—शाही हाथी (जैसी); विक्रमः—चाल; दृशाम्—उनकी आँखों के लिए; ददत्—देते हुए; श्री—लक्ष्मी की; रमण—आनन्द स्रोत; आत्मना—अपने शरीर से; उत्सवम्—उत्सव।

अपनी साहसिक लीलाओं का स्मरण करके मुसकाते हुए कमल-नेत्रों वाले भगवान् ने अपनी चितवनों से स्त्रियों के मनों को मोह लिया। वे शाही हाथी की तरह मतवाली चाल से अपने दिव्य शरीर से उन स्त्रियों के नेत्रों के लिए उत्सव उत्पन्न करते हुए चल रहे थे। उनका यह शरीर दिव्य देवी लक्ष्मी के लिए आनन्द का स्रोत है।

दृष्ट्वा मुहुः श्रुतमनुद्रुतचेतसस्तं
तत्प्रेक्षणोत्स्मितसुधोक्षणलब्धमानाः ।
आनन्दमूर्तिमुपगुह्य दृशात्मलब्धं
हृष्यत्त्वचो जहुरनन्तमरिन्दमाधिम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; मुहुः—बारम्बार; श्रुतम्—सुना गया; अनुद्रुत—पिघले हुए; चेतसः—हृदय; तम्—उसको; तत्—उसकी; प्रेक्षण—चितवनों के; उत्-स्मित—तथा अट्टहास; सुधा—अमृत; उक्षण—छिड़कने से; लब्ध—प्राप्त करके; मानाः—सम्मान; आनन्द—आनन्द की; मूर्तिम्—साकार रूप को; उपगुह्य—आलिंगन करके; दृशा—आँखों से होकर; आत्म—अपने भीतर; लब्धम्—प्राप्त किया गया; हृष्यत्—फूटकर; त्वचः—उनकी चमड़ी; जहुः—त्याग दिया; अनन्तम्—असीम; अरिम्-दम—हे शत्रुओं के दमनकर्ता (परीक्षित); आधिम्—मानसिक क्लेश।

मथुरा की स्त्रियों ने कृष्ण के विषय में बारम्बार सुन रखा था अतः उनका दर्शन पाते ही उनके हृदय द्रवित हो उठे। वे अपने को सम्मानित अनुभव कर रही थीं कि कृष्ण ने उन पर अपनी चितवन तथा हँसी रूपी अमृत का छिड़काव किया है। अपने नेत्रों के द्वारा उन्हें अपने हृदयों में ग्रहण करके उन सबों ने समस्त आनन्द की मूर्ति का आलिंगन किया और हे अरिन्दम! ज्योंही उन्हें रोमांच हो आया वे उनकी अनुपस्थिति से जन्य असीम कष्ट को भूल गईं।

प्रासादशिखरारूढाः प्रीत्युत्फुल्लमुखाम्बुजाः ।
अभ्यवर्षन्सौमनस्यैः प्रमदा बलकेशवौ ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

प्रासाद—महलों की; शिखर—छतों पर; आरूढाः—चढ़कर; प्रीति—स्नेह से; उत्फुल्ल—खिले हुए; मुख—मुँह; अम्बुजाः—जो कमलों जैसे थे; अभ्यवर्षन्—वर्षा की; सौमनस्यैः—फूलों से; प्रमदाः—सुन्दर स्त्रियों ने; बल-केशवौ—बलराम तथा कृष्ण पर।

स्नेह से प्रफुल्लित कमल सदृश मुखों वाली स्त्रियों ने जो अपने महलों की छतों पर चढ़ी हुई थीं, भगवान् बलराम तथा भगवान् कृष्ण पर फूलों की वर्षा की।

दध्यक्षतैः सोदपात्रैः स्रग्गन्धैरभ्युपायनैः ।
तावानर्चुः प्रमुदितास्तत्र तत्र द्विजातयः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

दधि—दही; अक्षतैः—तथा अखण्डित जौ के बीजों से; स—तथा; उद-पात्रैः—जल से पूरित घड़ों से; स्रक्—मालाओं; गन्धैः—तथा सुगन्धित द्रव्यों से; अभ्युपायनैः—पूजा की अन्य सामग्री से; तौ—दोनों ने; आनर्चुः—पूजा की; प्रमुदिताः—प्रसन्नचित्त; तत्र तत्र—विभिन्न स्थानों पर; द्वि-जातयः—ब्राह्मणों ने।

रास्ते के किनारे खड़े ब्राह्मणों ने दही, अक्षत (जौ), जल-भरे कलशों, फूल-मालाओं, सुगन्धित द्रव्यों यथा चन्दन के लेप तथा पूजा की अन्य वस्तुओं की भेंटों से दोनों भाइयों का सम्मान किया।

ऊचुः पौरा अहो गोप्यस्तपः किमचरन्महत् ।
या ह्येतावनुपश्यन्ति नरलोकमहोत्सवौ ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

ऊचुः—कहा; पौराः—नगर की स्त्रियों ने; अहो—हाय; गोप्यः—(वृन्दावन की) गोपियों ने; तपः—तपस्या; किम्—कौन-सी; अचरन्—की है; महत्—महान; याः—जो; हि—निस्सन्देह; एतौ—इन दोनों को; अनुपश्यन्ति—निरन्तर देखती हैं; नर-लोक—मानव-समाज के लिए; महा-उत्सवौ—आनन्द के महान् स्रोत हैं।

मथुरा की स्त्रियाँ चिल्ला पड़ीं: अहा! समस्त मानव-जाति को अत्यन्त आनन्द प्रदान करने वाले कृष्ण तथा बलराम को निरन्तर देखते रहने के लिए गोपियों ने कौन-सी कठोर तपस्याएँ की होंगी?

रजकं कञ्चिदायान्तं रङ्गकारं गदाग्रजः ।
दृष्ट्वायाचत वासांसि धौतान्यत्युत्तमानि च ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

रजकम्—धोबी को; कञ्चित्—किसी; आयान्तम्—आते हुए; रङ्ग-कारम्—रँगाई करने वाले को; गद-अग्रजः—गद के बड़े भाई कृष्ण ने; दृष्ट्वा—देखकर; अयाचत—याचना की; वासांसि—वस्त्रों की; धौतानि—धुले; अति-उत्तमानि—अत्युत्तम; च—तथा।

कपड़ा रँगने वाले एक धोबी को अपनी ओर आते देखकर कृष्ण ने उससे उत्तमोत्तम धुले वस्त्र माँगे।

देह्यावयोः समुचितान्यङ्ग वासांसि चार्हतोः ।
भविष्यति परं श्रेयो दातुस्ते नात्र संशयः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

देहि—दो; आवयोः—हम दोनों को; समुचितानि—उपयुक्त; अङ्ग—हे प्रिय; वासांसि—वस्त्र; च—तथा; अर्हतोः—दोनों सुपात्रों को; भविष्यति—होगा; परम्—अत्यन्त; श्रेयः—लाभ; दातुः—दाता के लिए; ते—तुम; न—नहीं है; अत्र—इसमें; संशयः—सन्देह।

[भगवान् कृष्ण ने कहा]: कृपया हम दोनों को उपयुक्त वस्त्र दे दीजिये क्योंकि हम इनके योग्य हैं। यदि आप यह दान देंगे तो इसमें सन्देह नहीं कि आपको सबसे बड़ा लाभ प्राप्त होगा।

स याचितो भगवता परिपूर्णेन सर्वतः ।
साक्षेपं रुषितः प्राह भृत्यो राज्ञः सुदुर्मदः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; याचितः—याचना किया गया; भगवता—भगवान् द्वारा; परिपूर्णेन—परम पूर्ण; सर्वतः—सभी प्रकार से; स-आक्षेपम्—अपमान करते हुए; रुषितः—क्रुद्ध; प्राह—बोला; भृत्यः—नौकर; राज्ञः—राजा का; सु—अत्यधिक; दुर्मदः—घमंडी।

सभी प्रकार से परिपूर्ण भगवान् द्वारा इस प्रकार याचना किये जाने पर राजा का वह घमंडी नौकर क्रुद्ध हो उठा और अपमान-भरे वचनों में बोला।

ईदृशान्येव वासांसी नित्यं गिरिवनेचरः ।
परिधत्त किमुद्वृत्ता राजद्रव्याण्यभीप्सथ ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

ईदृशानि—इस तरह के; एव—निस्सन्देह; वासांसि—वस्त्र; नित्यम्—सदैव; गिरि—पर्वतों पर; वने—तथा जंगलों में; चराः—विचरण करने वाले; परिधत्त—पहनेंगे; किम्—क्या; उद्वृत्ताः—उद्दंड; राज—राजा की; द्रव्याणि—वस्तुएँ; अभीप्सथ—तुम चाहते हो।

[धोबी ने कहा]: अरे उद्दंड बालको! तुम पर्वतों तथा जंगलों में घूमने के आदी हो फिर भी तुम इस तरह के वस्त्रों को पहनने का साहस कर रहे हो। तुम जिन्हें माँग रहे हो वे राजा की सम्पत्ति हैं।

यातशु बालिशा मैवं प्रार्थ्यं यदि जिजीवीषा ।
बध्नन्ति घ्नन्ति लुम्पन्ति दृप्तं राजकुलानि वै ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यात—जाओ; आशु—शीघ्र; बालिशः—मूर्खो; मा—मत; एवम्—इस तरह; प्रार्थ्यम्—माँगो; यदि—यदि; जिजीविषा—जीवित रहना चाहते हो; बध्नन्ति—बाँध देते हैं; घ्नन्ति—मार डालते हैं; लुम्पन्ति—लूट लेते हैं; दृप्तम्—उच्छृंखल; राज-कुलानि—राजा के लोग; वै—निस्सन्देह।

मूर्खो, यहाँ से तुरन्त निकल जाओ। यदि तुम जीवित रहना चाहते हो तो इस तरह मत माँगो। जब कोई अत्यधिक उच्छृंखल हो जाता है, तो राजा के कर्मचारी उसे बन्दी बना लेते हैं और जान से मार डालते हैं। और उसकी सारी सम्पत्ति छीन लेते हैं।

एवं विकत्थमानस्य कुपितो देवकीसुतः ।
रजकस्य कराग्रेण शिरः कायादपातयत् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विकत्थमानस्य—इस तरह बहककर बोलने वाले; कुपितः—क्रुद्ध; देवकी-सुतः—देवकी-पुत्र, कृष्ण ने; रजकस्य—धोबी का; कर—एक हाथ के; अग्रेण—अगले भाग से; शिरः—सिर; कायात्—शरीर से; अपातयत्—गिरा दिया।

जब वह धोबी इस तरह बहकी बातें बोला तो देवकी-पुत्र क्रुद्ध हो उठे और उन्होंने अपनी अँगुलियों के अगले भाग से ही उसके शरीर से उसका सिर अलग कर दिया।

तस्यानुजीविनः सर्वे वासःकोशान्विसृज्य वै ।
दुद्रुवुः सर्वतो मार्गं वासांसि जगृहेऽच्युतः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके; अनुजीविनः—कर्मचारी; सर्वे—सभी; वासः—वस्त्रों के; कोशान्—गट्ठरों को; विसृज्य—छोड़कर; वै—निश्चय ही; दुद्रुवुः—भाग गये; सर्वतः—चारों ओर; मार्गम्—रास्ते में; वासांसि—वस्त्र; जगृहे—ले लिया; अच्युतः—भगवान् कृष्ण ने।

धोबी के नौकरों ने अपने अपने वस्त्रों के गट्ठर गिरा दिये और मार्ग से भागकर चारों ओर तितर-बितर हो गये। तब भगवान् कृष्ण ने उन वस्त्रों को ले लिया।

वसित्वात्मप्रिये वस्त्रे कृष्णः सङ्कर्षणस्तथा ।
शेषाण्यादत्त गोपेभ्यो विसृज्य भुवि कानिचित् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

वसित्वा—वस्त्र पहनकर; आत्म-प्रिये—अपनी इच्छानुसार; वस्त्रे—वस्त्रों की जोड़ी में; कृष्ण:—कृष्ण; सङ्कर्षण:—बलराम; तथा—भी; शेषाणि—शेष; आदत्त—दे दिया; गोपेभ्य:—ग्वालबालों को; विसृज्य—फेंकते हुए; भुवि—भूमि पर; कानिचित्—अनेक।

कृष्ण तथा बलराम ने अपनी मनपसंद के वस्त्रों की जोड़ी पहन ली और तब कृष्ण ने शेष वस्त्रों को ग्वालबालों में वितरित करते हुए कुछ को भूमि पर बिखेर दिया।

ततस्तु वायक: प्रीतस्तयोर्वेषमकल्पयत् ।
विचित्रवर्णैश्चैलेयैराकल्पैरनुरूपत: ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

तत:—तब; तु—और भी; वायक:—बुनकर (दर्जी) ने; प्रीत:—स्नेहवान्; तयो:—दोनों के लिए; वेषम्—पोशाक; अकल्पयत्—व्यवस्था की; विचित्र—विविध; वर्णै:—रंगों से; चैलेयै:—वस्त्र से बने; आकल्पै:—गहनों से; अनुरूपत:—उपयुक्त।

तत्पश्चात् एक बुनकर आया और दोनों विभूतियों के प्रति स्नेह से वशीभूत होकर विविध रंगों वाले वस्त्र-आभूषणों से उनकी पोशाकें सजा दीं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि उस बुनकर ने दोनों भाइयों को वस्त्र के कंगनों तथा कुण्डलों से सजाया जो मणियों की तरह लग रहे थे। *अनुरूपत:* शब्द सूचित करता है कि रंगों का सुन्दर मेल था।

नानालक्षणवेषाभ्यां कृष्णरामौ विरेजतु: ।
स्वलङ्कृतौ बालगजौ पर्वणीव सितेतरौ ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

नाना—विविध; लक्षण—उत्तम गुणों से युक्त; वेषाभ्याम्—अपने अपने वस्त्रों से; कृष्ण-रामौ—कृष्ण तथा बलराम; विरेजतु:—भव्य लग रहे थे; सु-अलङ्कृतौ—अच्छी तरह से आभूषित; बाल—बच्चा; गजौ—हाथी; पर्वणि—उत्सव में; इव—मानो; सित—श्वेत; इतरौ—तथा उसके विपरीत (श्याम)।

कृष्ण तथा बलराम अपनी अपनी अद्‌भुत रीति से सजाई गई विशिष्ट पोशाक में शोभायमान दिखने लगे। वे उत्सव के समय सजाये गये श्वेत तथा श्याम हाथी के बच्चों की जोड़ी के समान लग रहे थे।

तस्य प्रसन्नो भगवान्प्रादात्सारूप्यमात्मन: ।
श्रियं च परमां लोके बलैश्वर्यस्मृतीन्द्रियम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उससे; प्रसन्नः—तुष्ट; भगवान्—भगवान् ने; प्रादात्—प्रदान किया; सारूप्यम्—उसी रूप से युक्त मुक्ति; आत्मनः—जैसाकि अपना था; श्रियम्—ऐश्वर्य; च—तथा; परमाम्—परम; लोके—इस जगत में; बल—शारीरिक बल; ऐश्वर्य—प्रभाव; स्मृति—स्मरणशक्ति; इन्द्रियम्—इन्द्रिय दक्षता।

उस बुनकर से प्रसन्न होकर भगवान् कृष्ण ने उसे आशीर्वाद दिया कि वह मृत्यु के बाद भगवान् जैसा स्वरूप प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करे और जब तक इस लोक में रहे तब तक वह परम ऐश्वर्य, शारीरिक बल, प्रभाव, स्मृति तथा एन्द्रिय शक्ति का भोग करे।

ततः सुदाम्नो भवनं मालाकारस्य जग्मतुः ।
तौ दृष्ट्वा स समुत्थाय ननाम शिरसा भुवि ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; सुदाम्नः—सुदामा के; भवनम्—घर; माला-कारस्य—माली के; जग्मतुः—दोनों गये; तौ—उन दोनों को; दृष्ट्वा—देखकर; सः—उसने; समुत्थाय—उठकर; ननाम—नमस्कार किया; शिरसा—सिर के बल; भुवि—भूमि पर।

तत्पश्चात् दोनों भाई सुदामा माली के घर गये। जब सुदामा ने उन्हें देखा तो वह तुरन्त खड़ा हो गया और भूमि पर मस्तक नवाकर उसने उन्हें प्रणाम किया।

तयोरासनमानीय पाद्यं चार्घ्यार्हणादिभिः ।
पूजां सानुगयोश्चक्रे स्रक्ताम्बूलानुलेपनैः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

तयोः—उन दोनों के लिए; आसनम्—आसन; आनीय—जाकर; पाद्यम्—पाँव धोने के लिये जल; च—तथा; अर्घ्य—हाथ धोने के लिए पानी; अर्हण—भेंट; आदिभिः—इत्यादि से युक्त; पूजाम्—पूजा; स-अनुगयोः—दोनों की, उनके संगियों समेत; चक्रे—सम्पन्न की; स्रक्—मालाओं से; ताम्बूल—पान से; अनुलेपनैः—तथा चन्दन-लेप से।

उन्हें आसन प्रदान करके तथा उनके पाँव परवारकर सुदामा ने उनकी तथा उनके साथियों की अर्घ्य, माला, पान, चन्दन-लेप तथा अन्य उपहारों के साथ पूजा की।

प्राह नः सार्थकं जन्म पावितं च कुलं प्रभो ।
पितृदेवर्षयो मह्यं तुष्टा ह्यागमनेन वाम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

प्राह—उसने कहा; नः—हमारा; स-अर्थकम्—सफल; जन्म—जन्म; पावितम्—पवित्र किया गया; च—तथा; कुलम्—परिवार; प्रभो—हे प्रभु; पितृ—मेरे पितरगण; देव—देवतागण; ऋषयः—तथा ऋषिगण; मह्यम्—मुझसे; तुष्टाः—प्रसन्न हैं; हि—निस्सन्देह; आगमनेन—आगमन से; वाम्—तुम दोनों के।

[सुदामा ने कहा]: हे प्रभु, अब मेरा जन्म पवित्र हो गया और मेरा परिवार निष्कलुष हो गया। चूँकि अब आप दोनों मेरे यहाँ आये हैं अतः मेरे पितर, देवता तथा ऋषिगण सभी मुझसे निश्चय ही संतुष्ट हुये हैं।

भवन्तौ किल विश्वस्य जगतः कारणं परम् ।
अवतीर्णाविहांशेन क्षेमाय च भवाय च ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

भवन्तौ—आप दोनों; किल—निस्सन्देह; विश्वस्य—सम्पूर्ण; जगतः—ब्रह्माण्ड के; कारणम्—कारण; परम्—चरम; अवतीर्णौ—अवतरित होकर; इह—यहाँ; अंशेन—अपने अंशों समेत; क्षेमाय—लाभ के लिए; च—तथा; भवाय—समृद्धि के लिए; च—भी।

आप दोनों भगवान् इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के परम कारण हैं। इस जगत को भरण-पोषण तथा समृद्धि प्रदान करने के लिए आप अपने अंशों समेत अवतरित हुए हैं।

न हि वां विषमा दृष्टिः सुहृदोर्जगदात्मनोः ।
समयोः सर्वभूतेषु भजन्तं भजतोरपि ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं है; हि—निस्सन्देह; वाम्—तुम दोनों को; विषमा—पक्षपातपूर्ण; दृष्टिः—दृष्टि; सुहृदोः—शुभचिन्तक मित्र; जगत्—ब्रह्माण्ड का; आत्मनोः—आत्मा; समयोः—समान; सर्व—सभी; भूतेषु—जीवों के प्रति; भजन्तम्—आपकी पूजा करने वाले; भजतोः—पूजा करते हुए; अपि—भी।

चूँकि आप शुभचिन्तक मित्र तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के परमात्मा हैं अतः आप सबों को निष्पक्ष दृष्टि से देखते हैं। अतः यद्यपि आप अपने भक्तों से प्रेमपूर्ण पूजा का आदान-प्रदान करते हैं फिर भी आप सभी प्राणियों पर सदा समभाव रखते हैं।

तावज्ञापयतं भृत्यं किमहं करवाणि वाम् ।
पुंसोऽत्यनुग्रहो ह्येष भवद्भिर्यन्नियुज्यते ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

तौ—वे दोनों; आज्ञापयतम्—आज्ञा दें; भृत्यम्—अपने सेवक को; किम्—क्या; अहम्—मैं; करवाणि—करूँ; वाम्—तुम दोनों को; पुंसः—किसी पुरुष के लिए; अति—अत्यधिक; अनुग्रहः—कृपा; हि—निस्सन्देह; एषः—यह; भवद्भिः—आपके द्वारा; यत्—जिसमें; नियुज्यते—उसे लगाया जाता है।

कृपया इस अपने दास को आप जो चाहते हों वह करने का आदेश दें। आपके द्वारा किसी सेवा में लगाया जाना किसी के लिए भी महान् वरदान है।

इत्यभिप्रेत्य राजेन्द्र सुदामा प्रीतमानसः ।
शस्तैः सुगन्धैः कुसुमैर्माला विरचिता ददौ ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार बोलते हुए; अभिप्रेत्य—उनके अभिप्राय को समझकर; राज-इन्द्र—हे राजाओं में श्रेष्ठ (परीक्षित); सुदामा—सुदामा; प्रीत-मानसः—हृदय में प्रसन्न; शस्तैः—ताजे; सु-गन्धैः—तथा सुगन्धित; कुसुमैः—फूलों से; मलः—मालाएँ; विरचिताः—बनाई गईं; ददौ—दिया।

[शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा]: हे राजाओं में श्रेष्ठ, ये शब्द कहकर सुदामा ने यह जान लिया कि कृष्ण तथा बलराम क्या चाह रहे थे। इस तरह उसने अतीव प्रसन्नतापूर्वक उन्हें ताजे सुगन्धित फूलों की मालाएँ अर्पित कीं।

ताभिः स्वलङ्कृतौ प्रीतौ कृष्णरामौ सहानुगौ ।
प्रणताय प्रपन्नाय ददतुर्वरदौ वरान् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

ताभिः—उन (मालाओं) से; सु-अलङ्कृतौ—सुन्दर ढंग से सजकर; प्रीतौ—तुष्ट; कृष्ण-रामौ—कृष्ण तथा बलराम; सह—साथ; अनुगौ—अपने संगियों के; प्रणताय—नतमस्तक; प्रपन्नाय—शरणागत (सुदामा) को; ददतुः—दिया; वरदौ—वरदान देने वाले दोनों ने; वरान्—इच्छित वरों को।

इन मालाओं से सुसज्जित होकर कृष्ण तथा बलराम अतीव प्रसन्न हुए और उसी तरह उनके संगी भी। तब दोनों विभूतियों ने अपने समक्ष विनत शरणागत सुदामा को उसके मनवांछित वर प्रदान किये।

सोऽपि वव्रेऽचलां भक्तिं तस्मिन्नेवाखिलात्मनि ।
तद्भक्तेषु च सौहार्दं भूतेषु च दयां पराम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने; अपि—तथा; वव्रे—चुना; अचलाम्—अचल; भक्तिम्—भक्ति; तस्मिन्—उन; एव—एकमात्र; अखिल—हरएक के; आत्मनि—परमात्मा के प्रति; तत्—उसके; भक्तेषु—भक्तों के प्रति; च—तथा; सौहार्दम्—मैत्री; भूतेषु—सामान्य जीवों के प्रति; च—तथा; दयाम्—दया; पराम्—दिव्य।

सुदामा ने समस्त जगत के परमात्मा कृष्ण की अचल भक्ति, उनके भक्तों के साथ मित्रता तथा समस्त जीवों के प्रति दिव्य दया को चुना।

इति तस्मै वरं दत्त्वा श्रियं चान्वयवर्धिनीम् ।
बलमायुर्यशः कान्तिं निर्जगाम सहाग्रजः ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; तस्मै—उसको; वरम्—वर; दत्त्वा—देकर; श्रियम्—ऐश्वर्य; च—तथा; अन्वय—उसका परिवार; वर्धिनीम्—वृद्धि करते हुए; बलम्—बलम; आयुः—दीर्घ-आयु; यशः—यश; कान्तिम्—सौन्दर्य; निर्जगाम—चले गये; सह—साथ; अग्र-जः—अपने बड़े भाई बलराम के।

भगवान् कृष्ण ने सुदामा को न केवल ये वर दिये अपितु उन्होंने उसे बल, दीर्घायु, यश,

कान्ति तथा उसके परिवार की सतत बुद्धिमान हुई समृद्धि भी प्रदान की। तत्पश्चात् कृष्ण तथा उनके बड़े भाई ने उससे विदा ली।

तात्पर्य : हम यहाँ पर दुष्ट धोबी तथा भक्त माली सुदामा के साथ भगवान् कृष्ण के व्यवहारों का स्पष्ट अन्तर पाते हैं। भगवान् अपने विरोधियों के लिए वज्र के समान कठोर हैं और शरणागतों के लिए गुलाब के समान कोमल। इसलिए हमें निष्ठापूर्वक भगवान् कृष्ण की शरण में जाना चाहिए क्योंकि यही हमारे हित में है।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''कृष्ण तथा बलराम का मथुरा में प्रवेश'' नामक एकतालीसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बयालीस

यज्ञ के धनुष का टूटना

इस अध्याय में त्रिवक्रा द्वारा वर प्राप्त करने, यज्ञ-धनुष के टूटने, कंस के सैनिकों के विनाश, कंस द्वारा देखे गये अपशकुनों एवं अखाड़े के उत्सवों का वर्णन हुआ है।

सुदामा का घर छोड़ने के बाद भगवान् कृष्ण को कंस की एक तरुणी कुबड़ी दासी त्रिवक्रा मिली जो उत्तम लेपों का थाल लिये हुए थी। भगवान् ने उससे पूछा कि तुम कौन हो और तब उससे कुछ लेप माँगा। भगवान् के सौन्दर्य तथा विनोदी वचनों से ललचाकर त्रिवक्रा ने कृष्ण तथा बलराम दोनों को प्रचुर लेप प्रदान किया। बदले में, कृष्ण ने उसके पैर के अँगूठों पर अपने चरणकमल रखे, उसकी ठुड्डी पकड़ी और ऊपर उठाया तो उसका कूबड़ ठीक हो गया। अब इस सुन्दर तथा मनोहर त्रिवक्रा ने कृष्ण के ऊपरी वस्त्र का छोर पकड़ लिया और उनसे अपने घर चलने के लिए कहा। कृष्ण ने उत्तर दिया कि कुछ कार्य करने के बाद वे अवश्य ही उसके घर आकर उसकी मानसिक पीड़ा दूर करेंगे। तत्पश्चात् दोनों भगवानों ने मथुरा का दृश्य देखना जारी रखा।

जब कृष्ण तथा बलराम राजमार्ग से होकर जा रहे थे तो व्यापारियों ने विविध उपहारों के साथ उनकी पूजा की। कृष्ण ने पूछा कि धनुष-यज्ञ कहाँ हो रहा है और जब वे रंगभूमि पर पहुँचे तो एक

विचित्र धनुष देखा जो इन्द्र के धनुष जैसा था। रक्षकों के मना करने पर भी कृष्ण ने बलपूर्वक उस धनुष को उठा लिया, उसकी डोरी चढ़ाई और क्षण-भर में उसके दो खण्ड कर दिये। इससे इतना भयानक कान फाड़ने वाला शब्द हुआ कि स्वर्गलोक तक गूँज उठे और कंस के हृदय में भय का संचार हो उठा। तब बहुत से रक्षकों ने ''इसे पकड़ो, इसे मारो'' शोर मचाते हुए कृष्ण पर आक्रमण किया। किन्तु कृष्ण तथा बलराम ने धनुष के केवल दोनों खण्ड उठाकर इन रक्षकों की खूब पिटाई की जिससे वे मर गये। इसके बाद दोनों भगवानों ने कंस द्वारा भेजे गये सैनिकों की एक टोली का संहार किया और इसके बाद वे अखाड़े से चले गए और उन्होंने अपना पर्यटन जारी रखा।

जब नगरवासियों ने कृष्ण तथा बलराम के पराक्रम तथा सौन्दर्य को देखा तो उन्होंने सोचा कि हो न हो ये दोनों प्रमुख देवता हैं। निस्सन्देह मथुरावासियों द्वारा दोनों पर दृष्टिपात करने से उन्हें गोपियों द्वारा भविष्यवाणी किये गये सारे आशीष प्राप्त हो गये।

सूर्यास्त होने पर कृष्ण तथा बलराम शाम का भोजन करने अपने ग्वाल-डेरे पर लौट आये। उन्होंने सुखपूर्वक विश्राम करते हुए रात बिताई। किन्तु राजा कंस इतना भाग्यशाली न था। जब उसने यह सुना कि कृष्ण तथा बलराम ने कितनी आसानी से विशाल धनुष को तोड़ डाला है और उसके सैनिकों का संहार कर दिया है, तो उसकी रात अतीव चिन्ता में बीती। उसने जगते-सोते अनेक अपशकुन देखे जिनसे उसकी आसन्न मृत्यु का आभास हो रहा था। उसके ही भय ने उसकी नींद हराम कर दी थी।

प्रात: होते ही मल्ल-उत्सव (दंगल) प्रारम्भ हुआ। शहर से तथा पड़ोसी जिलों से लोग रंगशाला में आकर अत्यन्त अलंकृत दीर्घाओं में अपना स्थान ग्रहण करने लगे। काँपते हृदय से कंस अपने राजसी मंच पर आसीन हुआ। उसने नन्द महाराज तथा अन्य ग्वालों को अपने अपने आसन ग्रहण करने के लिए आमंत्रित किया और वे अपनी अपनी भेंटें देने के बाद बैठ गये। तत्पश्चात् कुश्ती लड़ने वालों ने जब ताल ठोंकी तो संगीत का समाँ बँध गया।

श्रीशुक उवाच

अथ व्रजन्राजपथेन माधवः
स्त्रियं गृहीताङ्गविलेपभाजनाम् ।
विलोक्य कुब्जां युवतीं वराननां
पप्रच्छ यान्तीं प्रहसन्रसप्रदः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—तब; व्रजन्—टहलते हुए; राज-पथेन—राजमार्ग से; माधवः—कृष्ण; स्त्रियम्—स्त्री को; गृहीत—पकड़े; अङ्ग—शरीर के; विलेप—लेप का; भाजनाम्—थाल; विलोक्य—देखकर; कुब्जाम्—कुबड़ी को; युवतीम्—युवती; वर-आननाम्—सुन्दर मुख वाली; पप्रच्छ—पूछा; यान्तीम्—जाते हुए; प्रहसन्—हँसते हुए; रस—प्रेम के आनन्द का; प्रदः—देने वाला।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब भगवान् माधव राजमार्ग पर जा रहे थे तो उन्होंने एक युवा कुबड़ी स्त्री को देखा जिसका मुख आकर्षक था और वह सुगन्धित लेपों का थाल लिए हुए जा रही थी। प्रेमानन्द दाता ने हँसकर उससे इस प्रकार पूछा।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार यह युवा कुबड़ी स्त्री वास्तव में भगवान् की पत्नी सत्यभामा की अंश-रूपा थी। सत्यभामा तो भगवान् की अन्तरंगा शक्ति हैं, जो भू-शक्ति कहलाती है और उनकी अंश-रूपा पृथिवी धरती की प्रतिनिधि है, जो असंख्य दुष्ट शासकों के भारी बोझ से झुक गई थी। भगवान् कृष्ण इन दुष्ट शासकों को नष्ट करने के लिए अवतरित हुए थे अतः इन श्लोकों में वर्णित कुबड़ी त्रिवक्रा को सीधा करने की भगवान् की लीला पृथ्वी के भार उतारने की सूचक है। साथ ही भगवान् ने त्रिवक्रा को अपना माधुर्य सम्बन्ध प्रदान किया।

इस अर्थ के अतिरिक्त *रसप्रदः* शब्द सूचित करता है कि भगवान् ने इस तरुण कुबड़ी के साथ जो व्यवहार किया उससे उन्होंने अपने ग्वालमित्रों का मनोरंजन किया।

का त्वं वरोर्वेतदु हानुलेपनं
कस्याङ्गने वा कथयस्व साधु नः ।
देह्यावयोरङ्गविलेपमुत्तमं
श्रेयस्ततस्ते न चिराद्भविष्यति ॥ २॥

शब्दार्थ

का—कौन; त्वम्—तुम; वर-ऊरु—सुन्दर जंघाओं वाली; एतत्—यह; उ ह—आह, निस्सन्देह; अनुलेपनम्—लेप; कस्य—किसके लिए; अङ्गने—हे स्त्री; वा—अथवा; कथयस्व—कहो; साधु—सच सच; नः—हमको; देहि—दो; आवयोः—हम दोनों को; अङ्ग-विलेपम्—शरीर का लेप; उत्तमम्—सर्वश्रेष्ठ; श्रेयः—लाभ, कल्याण; ततः—तत्पश्चात्; ते—तुम्हारा; न चिरात्—शीघ्र ही; भविष्यति—होगा।

[भगवान् कृष्ण ने कहा]: हे सुन्दर जंघाओं वाली, तुम कौन हो? ओह, लेप! हे सुन्दरी, यह किसके लिए है? हमें सच सच बता दो। हम दोनों को अपना कोई उत्तम लेप दो तो तुम्हें शीघ्र ही महान् वर प्राप्त होगा।

तात्पर्य : भगवान् ने परिहास में उस स्त्री को *वरोरु* (सुन्दर जंघाओं वाली) कहकर सम्बोधित

किया। उनका यह मजाक परिहास दुर्भावनापूर्ण नहीं था क्योंकि वे सचमुच उसे सुन्दर बनाने वाले थे।

सैरन्ध्युवाच
दास्यस्म्यहं सुन्दर कंससम्मता
त्रिवक्रनामा ह्यनुलेपकर्मणि ।
मद्भावितं भोजपतेरतिप्रियं
विना युवां कोऽन्यतमस्तदर्हति ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सैरन्ध्री उवाच—दासी ने कहा; दासी—दासी; अस्मि—हूँ; अहम्—मैं; सुन्दर—हे सुन्दर; कंस—कंस द्वारा; सम्मता—आदरित; त्रिवक्र-नामा—त्रिवक्रा (तीन स्थान से टेढ़ी) नामक; हि—निस्सन्देह; अनुलेप—लेप; कर्मणि—मेरे कार्य के लिए; मत्—मेरे द्वारा; भावितम्—तैयार किया हुआ; भोज-पतेः—भोजों के प्रमुख के लिए; अति-प्रियम्—अत्यन्त प्रिय; विना—के बिना; युवाम्—तुम दोनों; कः—कौन; अन्यतमः—कोई दूसरा; तत्—वह; अर्हति—पा सकता है, योग्य है।

दासी ने उत्तर दिया: हे सुन्दर, मैं राजा कंस की दासी हूँ। वे मेरे द्वारा तैयार किये गये लेपों का अतीव सम्मान करते हैं। मेरा नाम त्रिवक्रा है। जिन लेपों को भोजराज इतना अधिक चाहता है, भला उनका पात्र आप दोनों के अतिरिक्त कौन हो सकता है?

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि त्रिवक्रा का अन्य नाम कुब्जा था। वह एकवचन *सुन्दर* सम्बोधन का प्रयोग करती है, जो यह संकेत करता है कि उसे केवल कृष्ण से कामेच्छा थी। किन्तु उसने अपने इस माधुर्य भाव को छिपाने के लिए द्विवचन रूप *युवाम्* "तुम दोनों के लिए" का प्रयोग किया। कुबड़ी का नाम त्रिवक्रा शब्द सूचित करता है कि उसका शरीर गर्दन, वक्षस्थल तथा कमर तीन स्थानों से मुड़ा था।

रूपपेशलमाधुर्य हसितालापवीक्षितैः ।
धर्षितात्मा ददौ सान्द्रमुभयोरनुलेपनम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

रूप—उनसे सौंदर्य; पेशल—आकर्षण; माधुर्य—मिठास; हसित—मन्द हँसी; आलाप—बातचीत; वीक्षितैः—तथा चितवनों से; धर्षित—अभिभूत; आत्मा—अपना मन; ददौ—दे दिया; सान्द्रम्—अत्यधिक; उभयोः—दोनों को; अनुलेपनम्—लेप।

कृष्ण के सौन्दर्य, आकर्षण, मिठास, हँसी, वाणी तथा चितवनों से अभिभूत मन वाली त्रिवक्रा ने कृष्ण तथा बलराम को पर्याप्त मात्रा में लेप दे दिया।

तात्पर्य : यह घटना *विष्णु पुराण* में भी (५.२०.७) वर्णित है—

श्रुत्वा तमाह सा कृष्णं गृह्यतामिति सादरम्।

अनुलेपनं प्रददौ गात्रयोगमथोभयो: ॥

"यह सुनकर उसने आदरपूर्वक कृष्ण को उत्तर दिया, "कृपया इसे लें" और उन दोनों को शरीर में लगाने के लिए उपयुक्त लेप प्रदान किया।"

ततस्तावङ्गरागेण स्ववर्णेतरशोभिना ।
सम्प्राप्तपरभागेन शुशुभातेऽनुरञ्जितौ ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; तौ—वे दोनों; अङ्ग—अपने शरीरों के; रागेण—रंगीन प्रसाधनों से; स्व—अपने; वर्ण—रंगों से; इतर—इसके अतिरिक्त; शोभिना—अलंकृत करके; सम्प्राप्त—जिससे दिखने लगा; पर—सर्वोच्च; भगेन—श्रेष्ठता; शुशुभाते—सुन्दर लगने लगे; अनुरञ्जितौ—लेप करके।

इन सर्वोत्तम अंगरागों का लेप करके, जिनसे उनके शरीर अपने रंगों से विपरीत रंगों से सज गए, दोनों भगवान् अत्यधिक सुन्दर लगने लगे।

तात्पर्य : आचार्यों का सुझाव है कि कृष्ण ने अपने शरीर पर पीला लेप लगाया और बलराम ने नीला लेप।

प्रसन्नो भगवान्कुब्जां त्रिवक्रां रुचिराननाम् ।
ऋज्वीं कर्तुं मनश्चक्रे दर्शयन्दर्शने फलम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

प्रसन्नः—तुष्ट; भगवान्—भगवान् ने; कुब्जाम्—कुबड़ी; त्रिवक्रा—त्रिवक्रा को; रुचिर—आकर्षक; आननाम्—मुख वाली; ऋज्वीम्—सीधी; कर्तुम्—करने के लिए; मनः चक्रे—निश्चय किया; दर्शयन्—दिखलाते हुए; दर्शने—उन्हें देखने का; फलम्—फल।

भगवान् कृष्ण त्रिवक्रा से प्रसन्न हो गये अतः उन्होंने उस सुन्दर मुखड़े वाली कुबड़ी लड़की को अपने दर्शन का फल दिखलाने मात्र के लिए उसे सीधा करने का निश्चय किया।

पद्भ्यामाक्रम्य प्रपदे द्र्यङ्गुल्युत्तानपाणिना ।
प्रगृह्य चिबुकेऽध्यात्ममुदनीनमदच्युतः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

पद्भ्याम्—अपने दोनों पैरों से; आक्रम्य—दबाकर; प्रपदे—उसके अँगूठों पर; द्वि—दो; अङ्गुलि—अँगुलियाँ; उत्तान—ऊपर उठाकर; पाणिना—अपने हाथों से; प्रगृह्य—पकड़कर; चिबुके—उसकी ठुड्डी; अध्यात्मम्—उसके शरीर को; उदनीनमत्—उठाया; अच्युतः—कृष्ण ने।

उसके पैरों के अँगूठों को अपने दोनों पाँवों से दबाते हुए भगवान् अच्युत ने उसकी ठुड्डी के नीचे अपने दोनों हाथों की ऊपर उठी एक एक अँगुली रखी और उसके शरीर को सीधा कर

दिया।

सा तदर्जुसमानाङ्गी बृहच्छ्रोणिपयोधरा ।
मुकुन्दस्पर्शनात्सद्यो बभूव प्रमदोत्तमा ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; तदा—तब; ऋजु—सीधी; समान—समतल; अङ्गी—अंग वाली; बृहत्—विशाल; श्रोणि—कूल्हे (नितम्ब); पयः-धरा—तथा स्तन वाली; मुकुन्द-स्पर्शनात्—मुकुन्द के स्पर्श से; सद्यः—सहसा; बभूव—हो गई; प्रमदा—स्त्री; उत्तमा—अत्यन्त सधी हुई।

भगवान् मुकुंद के स्पर्श मात्र से त्रिवक्रा सहसा एक अतीव सुन्दर स्त्री में बदल गई जिसके अंग सधे हुए तथा सम-अनुपात वाले थे और नितम्ब तथा स्तन बड़े-बड़े थे।

ततो रूपगुणौदार्यसम्पन्ना प्राह केशवम् ।
उत्तरीयान्तमकृष्य स्मयन्ती जातहृच्छया ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; रूप—सौन्दर्य; गुण—उत्तम आचरण; औदार्य—तथा उदारता से; सम्पन्ना—युक्त; प्राह—बोली; केशवम्—कृष्ण से; उत्तरीय—अंगौछे का; अन्तम्—छोर; आकृष्य—खींचकर; स्मयन्ती—हँसती हुई; जात—उत्पन्न करके; हृत्-शया—काम-भावनाएँ।

अब सौन्दर्य, आचरण तथा उदारता से युक्त त्रिवक्रा को भगवान् केशव के प्रति कामेच्छाओं का अनुभव होने लगा। वह उनके अंगवस्त्र के छोर को पकड़कर हँसने लगी और उनसे इस प्रकार बोली।

एहि वीर गृहं यामो न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे ।
त्वयोन्मथितचित्तायाः प्रसीद पुरुषर्षभ ॥ १० ॥

शब्दार्थ

एहि—आओ; वीर—हे वीर; गृहम्—मेरे घर; यामः—चलें; न—नहीं; त्वाम्—तुमको; त्यक्तुम्—छोड़ना; इह—यहाँ; उत्सहे—सह सकती हूँ; त्वया—आपके द्वारा; उन्मथित—उत्तेजित, मथा गया; चित्तायाः—चित्त वाली पर; प्रसीद—कृपा करें; पुरुष-ऋषभ—हे पुरुष-श्रेष्ठ।

[त्रिवक्रा ने कहा]: हे वीर, आओ, मेरे घर चलो। मैं आपको यहाँ छोड़कर जा नहीं सकती। हे नर-श्रेष्ठ, मुझ पर तरस खाओ क्योंकि आपने मेरे चित्त को उद्वेलित कर डाला है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती निम्नलिखित बातचीत प्रस्तुत करते हैं—

कृष्ण : क्या तुम मुझे अपने घर भोजन करने के लिए बुला रही हो?

त्रिवक्रा : बस, मैं आपको यहाँ छोड़ नहीं सकती।

कृष्ण : किन्तु यहाँ राजमार्ग पर चलने वाले लोग तुम्हारे कहने का कुछ और अर्थ लगाकर हँसेंगे। अत: तुम तो ऐसा मत कहो।

त्रिवक्रा : मन उद्वेलित होने से मुझसे रहा नहीं जा रहा है। आपने मेरा स्पर्श करने की भूल जो कर दी। यह मेरा दोष नहीं है।

एवं स्त्रिया याच्यमानः कृष्णो रामस्य पश्यतः ।
मुखं वीक्ष्यानु गोपानां प्रहसंस्तामुवाच ह ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; स्त्रिया—स्त्री द्वारा; याच्य नानः—अनुनय-विनय किये जाने पर; कृष्णः—कृष्ण ने; रामस्य—बलराम के; पश्यतः—देखते हुए; मुखम्—मुख को; वीक्ष्य—देखकर; अनु—तब; गोपानाम्—ग्वालबालों का; प्रहसन्—हँसते हुए; ताम्—उससे; उवाच ह—कहा।

स्त्री द्वारा इस प्रकार अनुनय-विनय किये जाने पर भगवान् कृष्ण ने सर्वप्रथम बलराम के मुख की ओर देखा, जो इस घटना को देख रहे थे और तब ग्वालमित्रों के मुखों पर दृष्टि डाली। तब हँसते हुए कृष्ण ने उसे इस प्रकार उत्तर दिया।

एष्यामि ते गृहं सुभ्रु पुंसामाधिविकर्शनम् ।
साधितार्थोऽगृहाणां नः पान्थानां त्वं परायणम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

एष्यामि—जाऊँगा; ते—तुम्हारे; गृहम्—घर; सु-भ्रु—हे सुन्दर भौंहों वाली; पुंसाम्—मनुष्यों की; आधि—मानसिक व्यथा; विकर्शनम्—नष्ट करने वाली; साधित—पूरा करके; अर्थः—अपना कार्य; अगृहाणाम्—बिना घर वाले, बेघर; नः—हमारे लिए; पान्थानाम्—पथिकों के लिए; त्वम्—तुम; पर—सर्वश्रेष्ठ; अयनम्—आश्रय।

[भगवान् कृष्ण ने कहा]: हे सुन्दर भौंहों वाली स्त्री, अपना कार्य पूरा करते ही मैं अवश्य तुम्हारे घर आऊँगा जहाँ लोगों को चिन्ता से मुक्ति मिल सकती है। निस्सन्देह तुम हम जैसे बेघर पथिकों के लिए सर्वोत्तम आश्रय हो।

तात्पर्य : *अगृहाणाम्* शब्द से श्रीकृष्ण न केवल यह इंगित करते हैं कि उनका कोई स्थायी निवास नहीं है अपितु यह भी कि वे अभी विवाहित नहीं हैं।

विसृज्य माध्व्या वाण्या ताम्व्रजन्मार्गे वणिक्पथैः ।
नानोपायनताम्बूलस्त्रग्गन्धैः साग्रजोऽर्चितः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

विसृज्य—छोड़कर; माध्व्या—मधुर; वाण्या—वाणी से; ताम्—उसको; व्रजन्—चलते हुए; मार्गे—मार्ग पर; वणिक्-पथैः—व्यापारियों द्वारा; नाना—विविध; उपायन—सादर भेंटें; ताम्बूल—पान; स्रक्—मालाएँ; गन्धैः—तथा सुगन्धित द्रव्यों से; स—सहित; अग्र-जः—अपने बड़े भाई; अर्चितः—पूजा किया गया।

इस प्रकार मीठी बातें करके उससे विदा लेकर भगवान् कृष्ण मार्ग पर आगे बढ़े। रास्ते-भर व्यापारियों ने पान, मालाएँ तथा सुगन्धित द्रव्य से युक्त नाना प्रकार की सादर भेंटें अर्पित करके उनकी तथा उनके बड़े भाई की पूजा की।

तद्दर्शनस्मरक्षोभादात्मानं नाविदन्स्त्रियः ।
विस्रस्तवासःकवर वलया लेख्यमूर्तयः ॥ १४॥

शब्दार्थ

तत्—उसको; दर्शन—देखने से; स्मर—कामदेव के प्रभाव से; क्षोभात्—उद्वेलित होने से; आत्मानम्—स्वयं को; न अविदन्—नहीं पहचान पाईं; स्त्रियः—स्त्रियाँ; विस्रस्त—ढीले हुए; वासः—वस्त्र; कवर—चोटियाँ; वलयाः—तथा उनकी चूड़ियाँ; लेख्य—मानो चित्रित; मूर्तयः—आकृतियाँ।

कृष्ण के दर्शन से नगर की नारियों के हृदय में कामदेव जाग उठा। इस प्रकार क्षुब्ध होकर वे अपनी सुध-बुध खो दीं। उनके परिधान, लट तथा उनके कंगन ढीले पड़ जाते और वे चित्र में बनी आकृति सी स्तब्ध खड़ी रह जातीं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि चूँकि कृष्ण को देखते ही मथुरा की स्त्रियों में माधुर्य आकर्षण के लक्षण प्रकट हो आये थे क्योंकि वे नगर में सर्वोच्च भक्त थीं। कामदेव के दस लक्षण इस प्रकार बताए गये हैं—*चक्षुरागः प्रथमं चित्तासंगस्ततोऽथ संकल्पः निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः/ उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः*—सर्वप्रथम आँखों के माध्यम से व्यक्त आकर्षण, तब मन में गहन आसक्ति, तब संकल्प, निद्रा का ह्रास, दुर्बल होना, बाह्य वस्तुओं में अरुचि, निर्लज्जता, उन्माद, मूर्च्छा तथा मृत्यु—ये कामदेव के प्रभाव की दस दशाएँ हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर यह भी इंगित करते हैं कि जिन भक्तों में शुद्ध भगवत्प्रेम होता है उनमें सामान्यतया मृत्यु लक्षण प्रकट नहीं होता क्योंकि कृष्ण के सम्बन्ध में यह अशुभ है। किन्तु उनमें अन्य नव-लक्षण प्रकट होते हैं जिनकी परिणति परम आनन्दमय मूर्च्छा में होती है।

ततः पौरान्पृच्छमानो धनुषः स्थानमच्युतः ।
तस्मिन्प्रविष्टो ददृशे धनुरैन्द्रमिवाद्भुतम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

ततः—तब; पौरान्—नगरवासियों से; पृच्छमानः—पूछते-पाछते; धनुषः—धनुष के; स्थानम्—स्थान को; अच्युतः—अच्युत भगवान् ने; तस्मिन्—वहाँ; प्रविष्टः—घुसते हुए; ददृशे—देखा; धनुः—धनुष; ऐन्द्रम्—इन्द्र का; इव—सदृश; अद्भुतम्—विस्मयकारी।

तत्पश्चात् कृष्ण ने स्थानीय लोगों से वह स्थान पूछा जहाँ धनुष-यज्ञ होना था। जब वे वहाँ गये तो उन्होंने विस्मयकारी धनुष देखा जो इन्द्र के धनुष जैसा था।

पुरुषैर्बहुभिर्गुप्तमर्चितं परमर्द्धिमत् ।
वार्यमाणो नृभिः कृष्णः प्रसह्य धनुराददे ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

पुरुषैः—लोगों द्वारा; बहुभिः—अनेक; गुप्तम्—रक्षित; अर्चितम्—पूजित; परम—परम; ऋद्धि—ऐश्वर्य से; मत्—युक्त; वार्यमाणः—मना किये गये; नृभिः—रक्षकों द्वारा; कृष्णः—कृष्ण ने; प्रसह्य—बलपूर्वक; धनुः—धनुष को; आददे—उठा लिया।

उस अत्यन्त ऐश्वर्ययुक्त धनुष की लोगों की विशाल टोली द्वारा निगरानी की जा रही थी और वे लोग उसकी आदर भाव से पूजा कर रहे थे। तो भी कृष्ण आगे बढ़ते गये और रक्षकों के मना करने के बावजूद उन्होंने उस धनुष को उठा लिया।

करेण वामेन सलीलमुद्धृतं
सज्यं च कृत्वा निमिषेण पश्यताम् ।
नृणां विकृष्य प्रबभञ्ज मध्यतो
यथेक्षुदण्डं मदकर्युरुक्रमः ॥ १७॥

शब्दार्थ

करेण—हाथ से; वामेन—बाएँ; स-लीलम्—खेल खेल में; उद्धृतम्—उठाया; सज्यम्—डोरी चढ़ाकर; च—तथा; कृत्वा—करके; निमिषेण—पलक मारते; पश्यताम्—देखते देखते; नृणाम्—रक्षकों के; विकृष्य—खींचकर; प्रबभञ्ज—तोड़ डाला; मध्यतः—बीच से; यथा—जिस तरह; इक्षु—ईख के; दण्डम्—तने को; मद-करी—मतवाला हाथी; उरुक्रमः—कृष्ण ने।

अपने बाएँ हाथ से उस धनुष को आसानी से उठाकर भगवान् उरुक्रम ने राजा के रक्षकों के देखते देखते एक क्षण से भी कम समय में डोरी चढ़ा दी। तत्पश्चात् उन्होंने बलपूर्वक डोरी खींची और उस धनुष को बीच से तोड़ डाला जिस तरह मतवाला हाथी गन्ने को तोड़ दे।

धनुषो भज्यमानस्य शब्दः खं रोदसी दिशः ।
पूरयामास यं श्रुत्वा कंसस्त्रासमुपागमत् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

धनुषः—धनुष के; भज्यमानस्य—टूटने से; शब्दः—ध्वनि; खम्—पृथ्वी; रोदसी—आकाश; दिशः—तथा सारी दिशाएँ; पूरयाम् आस—भर गई; यम्—जिसे; श्रुत्वा—सुनकर; कंसः—राजा कंस ने; त्रासम्—भय; उपागमत्—अनुभव किया।

धनुष के टूटने की ध्वनि पृथ्वी तथा आकाश की सारी दिशाओं में भर गई। इसे सुनकर कंस भयभीत हो उठा।

तद्रक्षिणः सानुचरं कुपिता आततायिनः ।
गृहीतुकामा आवव्रुर्गृह्यतां वध्यतामिति ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तत्—उसके; रक्षिणः—रक्षक; स—सहित; अनुचरम्—अपने संगी जनों; कुपिताः—क्रुद्ध; आततायिनः—हथियार लिए; गृहीतु—पकड़ने के लिए; कामाः—चाहते हुए; आवव्रुः—घेर लिया; गृह्यताम्—पकड़ लो; वध्यताम्—मार डालो; इति—ऐसा कहते हुए।

तब क्रुद्ध रक्षकों ने अपने अपने हथियार उठा लिये और कृष्ण तथा उनके संगियों को पकड़ने की इच्छा से उन्हें घेर लिया और "पकड़ लो, मार डालो" कहकर चिल्लाने लगे।

अथ तान्दुरभिप्रायान्विलोक्य बलकेशवौ ।
क्रुद्धौ धन्वन आदाय शकले तांश्च जघ्नतुः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; तान्—उनको; दुरभिप्रायान्—दुष्ट अभिप्राय वाले; विलोक्य—देखकर; बल-केशवौ—बलराम तथा कृष्ण ने; क्रुद्धौ—क्रुद्ध; धन्वनः—धनुष के; आदाय—लेकर; शकले—दोनों टूटे खंड; तान्—उनको; च—तथा; जघ्नतुः—प्रहार किया।

दुर्भावना से रक्षकों को अपनी ओर आते देखकर बलराम तथा कृष्ण ने धनुष के दोनों खण्डों को अपने हाथों में ले लिया और वे उन सबों को इन्हीं से मारने लगे।

बलं च कंसप्रहितं हत्वा शालामुखात्ततः ।
निष्क्रम्य चेरतुर्हृष्टौ निरीक्ष्य पुरसम्पदः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

बलम्—सेना; च—तथा; कंस-प्रहितम्—कंस द्वारा भेजी; हत्वा—मारकर; शाला—यज्ञस्थल के; मुखात्—द्वार से; ततः—तब; निष्क्रम्य—निकलकर; चेरतुः—दोनों विचरण करने लगे; हृष्टौ—प्रसन्न; निरीक्ष्य—देखकर; पुर—नगर की; सम्पदः—सम्पदा।

कंस द्वारा भेजी गई सैन्य-टुकड़ी को भी मारकर कृष्ण तथा बलराम यज्ञशाला के मुख्य द्वार से निकल आये और सुखपूर्वक ऐश्वर्यमय दृश्य देखते हुए नगर में घूमते रहे।

तयोस्तदद्भुतं वीर्यं निशाम्य पुरवासिनः ।
तेजः प्रागल्भ्यं रूपं च मेनिरे विबुधोत्तमौ ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तयोः—उन दोनों के; तत्—उस; अद्भुतम्—अद्भुत; वीर्यम्—वीरतापूर्ण कार्य को; निशाम्य—देखकर; पुर-वासिनः—नगर निवासी; तेजः—उनके तेज; प्रागल्भ्यम्—प्रगल्भता, साहस; रूपम्—सौन्दर्य को; च—तथा; मेनिरे—उन्होंने सोचा; विबुध—देवता; उत्तमौ—दो श्रेष्ठ।

कृष्ण तथा बलराम द्वारा किये गये अद्भुत कार्य तथा उनके बल, साहस एवं सौन्दर्य को देखकर नगरवासियों ने सोचा कि वे अवश्य ही दो मुख्य देवता हैं।

तयोर्विचरतोः स्वैरमादित्योऽस्तमुपेयिवान् ।
कृष्णरामौ वृतौ गोपैः पुराच्छकटमीयतुः ॥ २३॥

शब्दार्थ

तयोः—उन दोनों के; विचरतोः—विचरण करते; स्वैरम्—इच्छानुसार; आदित्यः—सूर्य; अस्तम्—डूबने के; उपेयिवान्—निकट हो आया; कृष्ण-रामौ—कृष्ण तथा बलराम; वृतौ—घिरे; गोपैः—ग्वालों से; पुरात्—नगरसे; शकटम्—जहाँ पर बैलगाड़ियाँ खड़ी थीं; ईयतुः—गये।

जब वे इच्छानुसार विचरण कर रहे थे तब सूर्य अस्त होने लगा था अतः वे ग्वालबालों के साथ नगर को छोड़कर ग्वालों के बैलगाड़ी वाले खेमे में लौट आये।

गोप्यो मुकुन्दविगमे विरहातुरा या
आशासताशिष ऋता मधुपुर्यभूवन् ।
सम्पश्यतां पुरुषभूषणगात्रलक्ष्मीं
हित्वेतरान्नु भजतश्चकमेऽयनं श्रीः ॥ २४॥

शब्दार्थ

गोप्यः—गोपियाँ; मुकुन्द-विगमे—मुकुन्द के विदा होते समय; विरह—वियोग की भावना से; आतुराः—शोकाकुल; याः—जो; आशासत—बोली थीं; आशिषः—वर, आशीर्वाद; ऋताः—सच; मधु-पुरि—मथुरा में; अभूवन्—हो गये; सम्पश्यताम्—देखने वालों के लिए; पुरुष—मनुष्यों के; भूषण—आभूषण के; गात्र—शरीर के; लक्ष्मीम्—सौन्दर्य; हित्वा—त्यागकर; इतरान्—अन्य लोग; नु—निस्सन्देह; भजतः—उनकी पूजा करने वाले; चकमे—लालसा करने लगे; अयनम्—शरण के लिए; श्रीः—लक्ष्मी।

वृन्दावन से मुकुन्द (कृष्ण) के विदा होते समय गोपियों ने भविष्यवाणी की थी कि मथुरावासी अनेक वरों का भोग करेंगे और अब उन गोपियों की भविष्यवाणी सत्य उतर रही थी क्योंकि मथुरा के वासी पुरुष-रत्न कृष्ण के सौन्दर्य को एकटक देख रहे थे। निस्सन्देह लक्ष्मीजी उस सौन्दर्य का आश्रय इतना चाहती थीं कि उन्होंने अनेक अन्य लोगों का परित्याग कर दिया, यद्यपि वे उनकी पूजा करते थे।

अवनिक्ताङ्घ्रियुगलौ भुक्त्वा क्षीरोपसेचनम् ।

ऊषतुस्तां सुखं रात्रिं ज्ञात्वा कंसचिकीर्षितम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

अवनिक्त—धुलाकर; अङ्घ्रि-युगलौ—दोनों के पाँव; भुक्त्वा—खाने के बाद; क्षीर-उपसेचनम्—खीर; ऊषतुः—वहाँ टिके रहे; ताम्—उस; सुखम्—सुखपूर्वक; रात्रिम्—रात; ज्ञात्वा—जानकर; कंस-चिकीर्षितम्—कंस के लिए जो चाह रहा था।

कृष्ण तथा बलराम के पाँव धोये जाने के बाद दोनों भाइयों ने खीर खाई। तत्पश्चात् यह जानते हुए ही कि कंस क्या करना चाहता है, उन दोनों ने वहाँ सुखपूर्वक रात बिताई।

कंसस्तु धनुषो भङ्गं रक्षिणां स्वबलस्य च ।
वधं निशम्य गोविन्दरामविक्रीडितं परम् ॥ २६ ॥
दीर्घप्रजागरो भीतो दुर्निमित्तानि दुर्मतिः ।
बहून्यचष्टोभयथा मृत्योर्दौत्यकराणि च ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

कंसः—कंस; तु—लेकिन; धनुषः—धनुष का; भङ्गम्—टूटना; रक्षिणाम्—रक्षकों का; स्व—अपने; बलस्य—सेना का; च—तथा; वधम्—मारा जाना; निशम्य—सुनकर; गोविन्द-राम—कृष्ण तथा राम का; विक्रीडितम्—खेलना; परम्—मात्र; दीर्घ—दीर्घकाल तक; प्रजागरः—जगा रहा; भीतः—डरा हुआ; दुर्निमित्तानि—अपशकुन; दुर्मतिः—दुष्टबुद्धि; बहूनि—अनेक; अचष्ट—देखा; उभयथा—दोनों ही दशाओं (जगते-सोते) में; मृत्योः—मृत्यु के; दौत्य-कराणि—दूतों को; च—तथा।

दूसरी ओर दुर्मति राजा कंस ने जब यह सुना कि किस तरह खेल की भान्ति कृष्ण तथा बलराम ने धनुष तोड़ डाला है और उसके रक्षकों तथा सैनिकों को मार डाला है, तो वह अत्यधिक भयभीत हो उठा। वह काफी समय तक जागता रहा और जागते तथा सोते हुए उसने मृत्यु के दूतों वाले कई अपशकुन देखे।

अदर्शनं स्वशिरसः प्रतिरूपे च सत्यपि ।
असत्यपि द्वितीये च द्वैरूप्यं ज्योतिषां तथा ॥ २८ ॥
छिद्रप्रतीतिश्छायायां प्राणघोषानुपश्रुतिः ।
स्वर्णप्रतीतिर्वृक्षेषु स्वपदानामदर्शनम् ॥ २९ ॥
स्वप्ने प्रेतपरिष्वङ्गः खरयानं विषादनम् ।
यायान्नलदमाल्येकस्तैलाभ्यक्तो दिगम्बरः ॥ ३० ॥
अन्यानि चेत्थंभूतानि स्वप्नजागरितानि च ।
पश्यन्मरणसन्त्रस्तो निद्रां लेभे न चिन्तया ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

अदर्शनम्—न दिखाई पड़ना; स्व—अपना; शिरसः—सिर; प्रतिरूपे—परछाईं में; च—तथा; सति—उपस्थित रहकर; अपि—भी; असति—नहीं होना; अपि—भी; द्वितीये—दो-दो का कारण; च—तथा; द्वै-रूप्यम्—दो प्रतिबिम्ब; ज्योतिषाम्—नक्षत्रों के; तथा—भी; छिद्र—छेद का; प्रतीतिः—दिखना; छायायाम्—अपनी छाया में; प्राण—अपनी प्राण-वायु की; घोष—अनुगूँज; अनुपश्रुतिः—न सुनाई पड़ना; स्वर्ण—सुनहले रंग की; प्रतीतिः—अनुभूति; वृक्षेषु—वृक्षों में; स्व—अपना; पदानाम्—पदचिह्न; अदर्शनम्—न दिखना; स्वप्ने—सोते हुए; प्रेत—भूत-प्रेतों से; परिष्वङ्गः—आलिंगित; खर—गधे पर;

यानम्—सवारी करते; विष—जहर; अदनम्—भक्षण करते; यायात्—जा रहा था; नलद—एक फूल, अडहुल; माली—माला पहने; एकः—कोई; तैल—तेल से; अभ्यक्तः—चपोड़े; दिक्-अम्बरः—नग्न; अन्यानि—अन्य (शकुन); च—तथा; इत्थम्-भूतानि—इस तरह के; स्वप्न—सोते समय; जागरितानि—जगते हुए; च—भी; पश्यन्—देखते हुए; मरण—मृत्यु से; सन्त्रस्तः—भयभीत; निद्राम्—नींद; लेभे—प्राप्त कर सका; न—नहीं; चिन्तया—चिन्ता के कारण।

जब उसने अपनी परछाईं देखी तो उसमें उसे अपना सिर नहीं दिखा, अकारण ही चन्द्रमा तथा तारे दो-दो लगने लगे; उसे अपनी छाया में छेद दिखा, उसे अपनी प्राण-वायु की ध्वनि सुनाई नहीं पड़ी, वृक्ष सुनहली आभा से प्रच्छन्न लगने लगे और वह अपने पदचिन्हों को न देख सका। उसने स्वप्न में देखा कि भूत-प्रेत उसका आलिंगन कर रहे हैं, वह गधे पर सवार है और विष पी रहा है। यही नहीं, नलद (अडहुल) फूलों की माला पहने और तेल पोते एक नंगा व्यक्ति उधर से जा रहा है। इन तथा अन्य ऐसे अपशकुनों को स्वप्न में तथा जागते हुए देखकर कंस अपनी मृत्यु की सम्भावना से भयभीत था और चिन्ता के कारण वह सो न सका।

व्युष्टायां निशि कौरव्य सूर्ये चाद्भ्यः समुत्थिते ।
कारयामास वै कंसो मल्लक्रीडामहोत्सवम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

व्युष्टायाम्—बीत जाने पर; निशि—रात; कौरव्य—हे कुरुवंशी (परीक्षित); सूर्ये—सूर्य; च—तथा; अद्भ्यः—जल से; समुत्थिते—उदय होने पर; कारयाम् आस—पूरा कराया; वै—निस्सन्देह; कंसः—कंस; मल्ल—पहलवानों के; क्रीडा—खेल का; महा-उत्सवम्—बहुत विशाल उत्सव।

जब अन्ततः रात बीत गई और सूर्य पुनः जल में से ऊपर निकला तो कंस विशाल कुश्ती-उत्सव (दंगल) का आयोजन करने लगा।

आनर्चुः पुरुषा रङ्गं तूर्यभेर्यश्च जघ्निरे ।
मञ्चाश्चालङ्कृताः स्रग्भिः पताकाचैलतोरणैः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

आनर्चुः—पूजा की; पुरुषाः—राजा के लोगों ने; रङ्गम्—रंगभूमि या शाला की; तूर्य—तुरही; भेर्यः—ढोल; च—तथा; जघ्निरे—बजने लगे; मञ्चाः—देखने के मचान, चबूतरे; च—तथा; अलङ्कृताः—सजाये गये थे; स्रग्भिः—मालाओं से; पताका—झंडियों से; चैल—वस्त्र के फीतों से; तोरणैः—द्वारों से, बन्दनवारों से।

राजा के लोगों ने मल्लस्थल (दंगल) की विधिवत् पूजा की, अपने ढोल तथा अन्य वाद्य बजाये और दर्शकदीर्घाओं को मालाओं, झंडियों, फीतों तथा बन्दनवारों से खूब सजाया गया।

तेषु पौरा जानपदा ब्रह्मक्षत्रपुरोगमाः ।

यथोपजोषं विविशू राजानश्च कृतासनाः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तेषु—इन (मंचों) पर; पौराः—नगरनिवासी; जानपदाः—आसपास से आये लोग; ब्रह्म—ब्राह्मणों; क्षत्र—क्षत्रियों के साथ; पुरः-गमाः—इत्यादि; यथा-उपजोषम्—सुविधानुसार; विविशुः—आकर बैठ गये; राजानः—राजागण; च—भी; कृत—दिये गये; असनाः—विशेष बैठने के स्थान।

नगरनिवासी तथा पड़ोसी जिलों के निवासी ब्राह्मण तथा क्षत्रियों इत्यादि के साथ आये और दीर्घाओं में सुखपूर्वक बैठ गये। राजसी अतिथियों को विशिष्ट स्थान दिये गये।

कंसः परिवृतोऽमात्यै राजमञ्च उपाविशत् ।
मण्डलेश्वरमध्यस्थो हृदयेन विदूयता ॥ ३५॥

शब्दार्थ

कंसः—कंस; परिवृतः—घिरा हुआ; अमात्यैः—अपने मंत्रियों से; राज-मञ्चे—राजसी मंच पर; उपाविशति—बैठा; मण्डल-ईश्वर—विभिन्न मण्डलों के गौण शासक; मध्य—बीच में; स्थः—स्थित; हृदयेन—हृदय से; विदूयता—थरथराता, काँपता।

अपने मंत्रियों से घिरा हुआ कंस अपने राजमंच पर आसीन हुआ। किन्तु अपने विविध मण्डलेश्वरों के बीच में बैठे हुए भी उसका हृदय काँप रहा था।

वाद्यमानेसु तूर्येषु मल्लतालोत्तरेषु च ।
मल्लाः स्वलङ्कताः दृप्ताः सोपाध्यायाः समासत ॥ ३६॥

शब्दार्थ

वाद्यमानेषु—बजाये जाने पर; तूर्येषु—तुरही पर; मल्ल—कुश्ती के उपयुक्त; ताल—ताल, थाप; उत्तरेषु—प्रमुख; च—तथा; मल्लाः—पहलवान; सु-अलङ्कताः—सुसज्जित; दृप्ताः—गर्वित; स-उपाध्यायाः—अपने अपने प्रशिक्षकों सहित; समासत—आकर बैठ गये।

जब कुश्ती के उपयुक्त ताल पर वाद्य यंत्र जोर जोर से बजने लगे तो खूब सजे गर्वीले पहलवान अपने अपने प्रशिक्षकों समेत अखाड़े में प्रविष्ट हुए और बैठ गये।

चाणूरो मुष्टिकः कूतः शलस्तोशल एव च ।
त आसेदुरुपस्थानं वल्गुवाद्यप्रहर्षिताः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

चाणूरः मुष्टिकः कूटः—चाणूर, मुष्टिक तथा कूट नामक पहलवान; शलः तोशलः—शल तथा तोशल; एव च—भी; ते—वे; आसेदुः—बैठ गये; उपस्थानम्—अखाड़े की चटाई पर; वल्गु—मोहक; वाद्य—संगीत से; प्रहर्षिताः—हर्षित, उत्साहित।

आनंददायक संगीत से उल्लासित होकर चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल तथा तोशल अखाड़े की चटाई पर बैठ गये।

नन्दगोपादयो गोपा भोजराजसमाहुताः ।
निवेदितोपायनास्त एकस्मिन्मञ्च आविशन् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

नन्द-गोप-आदयः—नन्द गोप इत्यादि; गोपाः—ग्वाले; भोज-राज—कंस द्वारा; समाहुताः—आगे बुलाये जाने पर; निवेदित—प्रस्तुत करते हुए; उपायनाः—अपनी भेंटें; ते—वे; एकस्मिन्—एक; मञ्चे—दर्शक दीर्घा में; आविशन्—बैठ गये।

भोजराज (कंस) द्वारा बुलाये जाने पर नंद महाराज तथा अन्य ग्वालों ने उसे अपनी अपनी भेंटें पेश कीं और तब वे एक दीर्घा में जाकर बैठ गये।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार *समाहुता:* शब्द सूचित करता है कि कंस ने व्रज के प्रधान व्यक्तियों को आदर समेत आगे बुलाया जिससे केन्द्रीय सरकार को अपनी भेंटें अर्पित कर सकें। आचार्य के अनुसार कंस ने नंद को यह कहकर आश्वस्त किया, "हे व्रजराज! आप मेरे ग्राम-शासकों में सर्वोपरि हैं। आप अपने गोप-ग्राम से मथुरा तो आये हैं किन्तु आप मुझसे भेंट करने नहीं आये। क्या इसलिए कि आप डरे हुए हैं? आप यह न सोचें कि आपके दोनों पुत्रों ने धनुष तोड़ डाला है इसलिए वे बुरे हैं। मैंने उन्हें इसलिए यहाँ आमंत्रित किया था क्योंकि मैंने सुन रखा था कि वे अतीव बलशाली हैं। मैंने यह मल्ल-प्रतियोगिता उनके शक्ति-परीक्षण के लिए ही आयोजित की है। अत: आप बिना किसी संकोच के आगे आयें। डरें नहीं।"

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती आगे बतलाते हैं कि नन्द महाराज ने देखा कि उनके दोनों पुत्र वहाँ उपस्थित नहीं हैं। स्पष्ट था कि राजा कंस के आदेश की अवहेलना करके उन्होंने प्रात:काल के समय को अवकाश के रूप में ले लिया था और वे कहीं चले गये थे। अत: कंस ने कुछ ग्वालों को उनकी खोज करने के लिए तथा उन्हें ढंग से व्यवहार करने और अखाड़े में वापस आने की सलाह देने के लिए नियुक्त कर दिया था। श्रील विश्वनाथ आचार्य यह भी कहते हैं कि दीर्घाओं में नन्द तथा ग्वालों के बैठने का दूसरा कारण यह भी था कि राजमंच पर बैठने के लिए उन्हें स्थान नहीं मिल सका।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कन्ध के अन्तर्गत "यज्ञ के धनुष का टूटना" नामक बयालिसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तैंतालीस

कृष्ण द्वारा कुवलयापीड हाथी का वध

इस अध्याय में बतलाया गया है कि भगवान् कृष्ण ने किस तरह राजसी हाथी कुवलयापीड को मारा, किस तरह कृष्ण तथा बलराम कुश्ती के अखाड़े में घुसे और कृष्ण ने चाणूर नामक मल्ल से क्या कहा।

प्रात:कालीन कर्म समाप्त करने के बाद कृष्ण तथा बलराम ने दंगल (कुश्ती) शुरू होने का नगाड़ा सुना और वे इस उत्सव को देखने गये। अखाड़े के द्वार पर उन्हें कुवलयापीड नामक एक हाथी मिला जिसने अपने महावत के इशारे पर कृष्ण पर आक्रमण कर दिया। उस बलशाली हाथी ने कृष्ण को अपनी सूँड़ में लपेट लिया किन्तु कृष्ण उस पशु की दृष्टि से ओझल होकर उसके पाँवों के बीच में छुप गये। कृष्ण को न देख सकने के कारण क्रुद्ध होकर उस पशु ने अपनी घ्राण-शक्ति से उन्हें ढूँढ़ निकाला और पकड़ लिया किन्तु भगवान् ने अपने को ढीला छोड़ दिया। इस तरह कृष्ण कुवलयापीड को तंग करते रहे और सताते रहे और अन्त में उसका ही एक दाँत निकाल कर इससे उसे तथा उसके महावत को पीट-पीट कर मार डाला।

जब कृष्ण हाथी के रक्त से सने और उसका एक दाँत अपने कंधे पर हथियार की तरह धारण किये हुए अखाड़े में प्रविष्ट हुए तो वे अभूतपूर्व सुन्दर लग रहे थे। वहाँ पर विभिन्न वर्गों के लोगों ने अपने अपने विशिष्ट सम्बन्ध के अनुसार उन्हें विभिन्न प्रकार से देखा।

जब कंस ने सुना कि कृष्ण तथा बलराम ने कुवलयापीड का कैसे वध कर दिया है, तो वह समझ गया कि वे दोनों अजेय हैं अत: वह चिन्ता से घिर गया। किन्तु दर्शकगण एक-दूसरे से भगवान् की अद्भुत लीलाओं का उल्लेख करते हुए परम प्रसन्न हुए। लोगों ने कहा कि कृष्ण तथा बलराम अवश्य ही भगवान् नारायण के दो अंश हैं, जो वसुदेव के घर में अवतरित हुए हैं।

तब चाणूर मैदान में उतरा और उसने कृष्ण तथा बलराम को कुश्ती के लिए यह कहकर ललकारा कि राजा कंस इस प्रतियोगिता को देखना चाहते हैं। इस पर कृष्ण बोले, ‘‘यद्यपि हम केवल जंगलवासी घुमक्कड़ लोग हैं फिर भी राजा की प्रजा हैं अत: हम कुश्ती-प्रदर्शन द्वारा उनको प्रसन्न करने से पीछे नहीं रहेंगे।'' ज्योंही चाणूर ने यह बात सुनी त्योंही उसने प्रस्ताव रखा कि कृष्ण उससे लड़ें और बलराम मुष्टिक से।

श्रीशुक उवाच
अथ कृष्णश्च रामश्च कृतशौचौ परन्तप ।
मल्लदुन्दुभिनिर्घोषं श्रुत्वा द्रष्टुमुपेयतुः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—इसके बाद; कृष्णः—कृष्ण; च—तथा; रामः—बलराम; च—भी; कृत—पूरा करके, निवृत्त; शौचौ—शौच कर्म; परम्-तप—हे शत्रुओं को दण्ड देने वाले; मल्ल—कुश्ती की; दुन्दुभि—नगाड़े की; निर्घोषम्—ध्वनि; श्रुत्वा—सुनकर; द्रष्टुम्—देखने के लिए; उपेयतः—पास पहुँचे।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे परन्तप, नित्य शौच कर्मों से निवृत्त होकर जब कृष्ण तथा बलराम ने अखाड़े (रंगशाला) में बजने वाले नगाड़े की ध्वनि सुनी तो वे वहाँ यह देखने गये कि हो क्या रहा है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर गोस्वामी ने *कृतशौचौ* शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है, "कृष्ण तथा बलराम ने दो दिन पूर्व शुद्धि की थी और अपने अपराध से मुक्ति पाई थी (वीरतापूर्ण कार्य करने से) अतः उन्होंने तर्क किया, 'यद्यपि हमने धनुष भंग द्वारा तथा अन्य साहसिक कार्यों से अपनी शक्ति का परिचय दे दिया है फिर भी हमारे माता-पिता बन्दीगृह से मुक्त नहीं हो पाये। कंस पुनः उन्हें मारने का प्रयत्न कर रहा है। अतः भले ही वह हमारा मामा क्यों न हो, उसका वध कर देना हमारे लिए अनुचित न होगा।' उन्होंने इस प्रकार के तर्क द्वारा अपनी निरपराधिता व्यक्त की।"

रङ्गद्वारं समासाद्य तस्मिन्नागमवस्थितम् ।
अपश्यत्कुवलयापीडं कृष्णोऽम्बष्ठप्रचोदितम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

रङ्ग—अखाड़े के; द्वारम्—द्वार पर; समासाद्य—पहुँचकर; तस्मिन्—उस स्थान पर; नागम्—हाथी को; अवस्थितम्—खड़ा; अपश्यत्—देखा; कुवलयापीडम्—कुवलयापीड नामक; कृष्णः—कृष्ण ने; अम्बष्ठ—महावत द्वारा; प्रचोदितम्—प्रेरित।

जब भगवान् कृष्ण अखाड़े के प्रवेशद्वार पर पहुँचे तो उन्होंने देखा कि कुवलयापीड नामक हाथी अपने महावत की उत्प्रेरणा से उनका रास्ता रोक रहा है।

तात्पर्य : महावत ने अखाड़े में कृष्ण के प्रवेश को रोक कर अपना दुर्भावनापूर्ण मनोभाव व्यक्त किया।

बद्ध्वा परिकरं शौरिः समुह्य कुटिलालकान् ।
उवाच हस्तिपं वाचा मेघनादगभीरया ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

बद्ध्वा—बाँधकर; परिकरम्—फेंटा; शौरिः—कृष्ण ने; समुह्य—समेट कर; कुटिल—घुँघराले; अलकान्—बालों को; उवाच—कहा; हस्ति-पम्—महावत से; वाचा—शब्दों से; मेघ—बादल जैसे; नाद—गर्जन की तरह; गभीरया—गम्भीर।

भगवान् कृष्ण ने अपना फेंटा कसकर तथा अपने घुँघराले बालों को पीछे बाँधकर महावत से बादलों जैसी गम्भीर गर्जना में ये शब्द कहे।

तात्पर्य : स्पष्ट है कि कृष्ण लड़ने की तैयारी कर रहे थे। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भगवान् ने अपना अँगरखा उतार दिया, अपनी पेटी कसी और अपने बालों को पीछे बाँध लिया।

अम्बष्ठाम्बष्ठ मार्गं नौ देह्यपक्रम मा चिरम् ।
नो चेत्सकुञ्जरं त्वाद्य नयामि यमसादनम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

अम्बष्ठ अम्बष्ठ—रे महावत, रे महावत; मार्गम्—रास्ता; नौ—हम दोनों को; देहि—दो; अपक्रम—एक ओर हट जाओ; मा चिरम्—बिना देरी किये; न उ चेत्—यदि नहीं; स-कुञ्जरम्—हाथी समेत; त्व—तुमको; अद्य—आज; नयामि—भेज दूँगा; यम—मृत्यु के स्वामी, यमराज के; सादनम्—घर में।

[कृष्ण ने कहा]: रे महावत, रे महावत, तुरन्त एक ओर हो जा और हमें निकलने दे। यदि तू ऐसा नहीं करता तो आज ही मैं तुम्हारे हाथी समेत तुम्हें यमराज के धाम भेज दूँगा।

एवं निर्भर्त्सितोऽम्बष्ठः कुपितः कोपितं गजम् ।
चोदयामास कृष्णाय कालान्तकयमोपमम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; निर्भर्त्सितः—धमकाया गया; अम्बष्ठः—महावत ने; कुपितः—क्रुद्ध; कोपितम्—कुपित हुए; गजम्—हाथी को; चोदयाम् आस—अंकुश मारा; कृष्णाय—कृष्ण की ओर; काल—समय; अन्तक—मृत्यु; यम—तथा यमराज; उपमम्—के सदृश।

इस प्रकार धमकाये जाने पर महावत क्रुद्ध हो उठा। उसने अपने उग्र हाथी को अंकुश जमाई। वह आक्रमण करने वाले कृष्ण पर काल, मृत्यु तथा यमराज के समान प्रतीत हुआ।

करीन्द्रस्तमभिद्रुत्य करेण तरसाग्रहीत् ।
कराद्विगलितः सोऽमुं निहत्याङ्घ्रिष्वलीयत ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

करि—हाथियों के; इन्द्रः—स्वामी ने; तम्—उसको; अभिद्रुत्य—की ओर दौड़ते हुए; करेण—सूँड़ से; तरसा—वेग से; अग्रहीत्—पकड़ लिया; करात्—सूँड़ से; विगलितः—छटक कर; सः—वह, कृष्ण; अमुम्—उस कुवलयापीड को; निहत्य—प्रहार करके; अङ्घ्रिषु—उसके पाँवों के बीच; अलीयत—ओझल हो गया।

उस हस्तिराज ने कृष्ण पर आक्रमण कर दिया और अपनी सूँड़ से तेजी से उन्हें पकड़

लिया। किन्तु कृष्ण सरक गये, उस पर एक घूँसा जमाया और उसके पैरों के बीच जाकर उसकी दृष्टि से ओझल हो गये।

तात्पर्य : कृष्ण ने उस पर मुक्के से प्रहार किया और तब उसके पैरों के बीच में छिप गये।

सङ्क्रुद्धस्तमचक्षाणो घ्राणदृष्टिः स केशवम् ।
परामृशत्पुष्करेण स प्रसह्य विनिर्गतः ॥ ७॥

शब्दार्थ

सङ्क्रुद्धः—क्रुद्ध हुआ; तम्—उसको; अचक्षाणः—न देखकर; घ्राण—अपनी घ्राण-इन्द्रिय से; दृष्टिः—दृष्टि; सः—उस हाथी ने; केशवम्—भगवान् केशव को; परामृशत्—पकड़ लिया; पुष्करेण—अपने सूँड़ के अग्र भाग से; सः—कृष्ण; प्रसह्य—बलपूर्वक; विनिर्गतः—छूट गया।.

भगवान् केशव को न देख पाने से क्रुद्ध हुए उस हाथी ने अपनी घ्राण-इन्द्रिय से उन्हें खोज निकाला। कुवलयापीड ने एक बार फिर भगवान् को अपनी सूँड़ के अग्र भाग से पकड़ा किन्तु उन्होंने बलपूर्वक अपने को छुड़ा लिया।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ने हाथी को अपने को पकड़ने दिया जिससे वह उनसे लड़ता रहने के लिए प्रोत्साहित हो। एक बार जब कुवलयापीड इस तरह गर्वित हो उठा तो कृष्ण ने अपनी पराशक्ति से उसे फिर निष्फल बना दिया।

पुच्छे प्रगृह्यातिबलं धनुषः पञ्चविंशतिम् ।
विचकर्ष यथा नागं सुपर्ण इव लीलया ॥ ८॥

शब्दार्थ

पुच्छे—उसकी पूँछ से; प्रगृह्य—पकड़कर; अति-बलम्—अत्यन्त शक्तिशाली (हाथी); धनुषः—धनुष के बराबर दूरी; पञ्च-विंशतिम्—पच्चीस; विचकर्ष—घसीटा; यथा—जिस तरह; नागम्—साँप को; सुपर्णः—गरुड़; इव—सदृश; लीलया—खेल खेल में।.

तब भगवान् कृष्ण ने बलशाली कुवलयापीड को पूँछ से पकड़ा और खेल खेल में वे उसे पच्चीस धनुष-दूरी तक वैसे ही घसीट ले गये जिस तरह गरुड़ किसी साँप को घसीटता है।

स पर्यावर्तमानेन सव्यदक्षिणतोऽच्युतः ।
बभ्राम भ्राम्यमाणेन गोवत्सेनेव बालकः ॥ ९॥

शब्दार्थ

सः—वह; पर्यावर्तमानेन—घुमाये जाते हाथी के साथ; सव्य-दक्षिणतः—कभी बाएँ तो कभी दाएँ; अच्युतः—भगवान् कृष्ण; बभ्राम—घूमने लगे; भ्राम्यमाणेन—घुमाये जाने वाले के साथ साथ; गो-वत्सेन—बछड़े सहित; इव—जिस तरह; बालकः—कोई बालक।.

जब भगवान् अच्युत ने हाथी की पूँछ पकड़ी तो वह बाएँ और फिर दाएँ घूमने का प्रयास करने लगा, जिससे भगवान् उल्टी दिशा में घूमने लगे जिस तरह कि कोई बालक किसी बछड़े की पूँछ खींचने पर घूमता है।

ततोऽभिमखमभ्येत्य पाणिनाहत्य वारणम् ।
प्राद्रवन्पातयामास स्पृश्यमानः पदे पदे ॥ १० ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; अभिमुखम्—समक्ष; अभ्येत्य—आकर; पाणिना—हाथ से; आहत्य—थप्पड़ लगाकर; वारणम्—हाथी को; प्राद्रवन्—भगते हुए; पातयाम् आस—गिरा दिया; स्पृश्यमानः—स्पर्श किया जाकर; पदे पदे—पग पग पर।.

तब कृष्ण उस हाथी के सामने आये और उसे चपत लगाकर भाग गये। कुवलयापीड उनका पीछा करने लगा, वह उन्हें प्रत्येक पग पर बारम्बार छूने का इस तरह का प्रयास करता किन्तु कृष्ण बचकर निकल जाते। उन्होंने उसे झाँसा देकर गिरा दिया।

स धावन्क्रीडया भूमौ पतित्वा सहसोत्थितः ।
तम्मत्वा पतितं क्रुद्धो दन्ताभ्यां सोऽहनत्क्षितिम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; धावन्—दौड़ते हुए; क्रीडया—खेल खेल में; भूमौ—भूमि पर; पतित्वा—गिरकर; सहसा—एकाएक; उत्थितः—उठकर; तम्—उसको; मत्वा—मानते हुए; पतितम्—गिरा हुआ; क्रुद्धः—क्रुद्ध; दन्ताभ्याम्—उसके दाँतों सहित; सः—वह, कुवलयापीड; अहनत्—टकराये; क्षितिम्—पृथ्वी पर।.

कृष्ण झुठलाते हुए खेल खेल में पृथ्वी पर गिर पड़ते और पुनः तेजी से उठ जाते। क्रुद्ध हाथी ने कृष्ण को गिरा समझकर उन पर अपने दाँत चुभोने चाहे किन्तु उल्टे वे दाँत धरती से जा टकराये।

स्वविक्रमे प्रतिहते कुञ्जरेन्द्रोऽत्यमर्षितः ।
चोद्यमानो महामात्रैः कृष्णमभ्यद्रवद्रुषा ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

स्व—अपने; विक्रमे—पराक्रम में; प्रतिहते—असफल होने पर; कुञ्जर-इन्द्रः—हाथियों का राजा; अति—अत्यधिक; अमर्षितः—क्रोध से विचलित; चोद्यमानः—प्रेरित किया गया; महामात्रैः—महावत द्वारा; कृष्णम्—कृष्ण पर; अभ्यद्रवत्—आक्रमण किया; रुषा—क्रोध से।.

जब हस्तिराज कुवलयापीड का पराक्रम व्यर्थ गया तो वह निराशा-जनित क्रोध से जलभुन

उठा। किन्तु महावत ने उसे अंकुश मारा और उसने पुनः एक बार कृष्ण पर क्रुद्ध होकर आक्रमण कर दिया।

तमापतन्तमासाद्य भगवान्मधुसूदनः ।
निगृह्य पाणिना हस्तं पातयामास भूतले ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; आपतन्तम्—आक्रमण करते; आसाद्य—सामना करके; भगवान्—भगवान्; मधु-सूदनः—मधु नामक असुर का वध करने वाले ने; निगृह्य—मजबूती से पकड़ कर; पाणिना—अपने हाथ से; हस्तम्—उसके सूँड़ को; पातयाम् आस—गिरा दिया; भू-तले—पृथ्वी पर।

भगवान् मधुसूदन ने अपने ऊपर आक्रमण करते हुए हाथी का सामना किया। एक हाथ से उसकी सूँड़ पकड़ कर कृष्ण ने उसे धरती पर पटक दिया।

पतितस्य पदाक्रम्य मृगेन्द्र इव लीलया ।
दन्तमुत्पाट्य तेनेभं हस्तिपांश्चाहनद्धरिः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

पतितस्य—गिरे हुए (हाथी) का; पदा—अपने पाँव से; आक्रम्य—चढ़कर; मृगेन्द्रः—सिंह; इव—सदृश; लीलया—सहज ही; दन्तम्—एक दाँत को; उत्पाट्य—उखाड़ कर; तेन—उसी से; इभम्—हाथी को; हस्ति-पान्—महावतों को; च—भी; अहनत्—मार डाला; हरिः—भगवान् कृष्ण ने।

तब भगवान् हरि शक्तिशाली सिंह के ही समान आसानी से हाथी के ऊपर चढ़ गये, उसका एक दाँत उखाड़ लिया और उसी से उस जानवर को तथा उसके महावतों को मार डाला।

मृतकं द्विपमुत्सृज्य दन्तपाणिः समाविशत् ।
अंसन्यस्तविषाणोऽसृङ्मदबिन्दुभिरङ्कितः ।
विरूढस्वेदकणिका वदनाम्बुरुहो बभौ ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

मृतकम्—मृत; द्विपम्—हाथी को; उत्सृज्य—फेंक कर, छोड़ कर; दन्त—उसका दाँत; पाणिः—अपने हाथ में; समाविशत्—(अखाड़े में) घुसे; अंस—कंधे पर; न्यस्त—रखकर; विषाणः—दाँत; असृक्—रक्त की; मद—तथा हाथी के पसीने की; बिन्दुभिः—बूँदों से; अङ्कितः—छिड़की हुई; विरूढ—निकालते हुए; स्वेद—अपने पसीने की; कणिका—सूक्ष्म बूँदों से; वदन—मुख; अम्बु-रुहः—कमल जैसा; बभौ—चमक रहा था।

मरे हुए हाथी को वहीं छोड़कर भगवान् कृष्ण हाथी का दाँत लिये अखाड़े में प्रविष्ट हुए। अपने कंधे पर हाथी का दाँत रखे, उस हाथी के रक्त तथा पसीने के छींटे पड़े हुए शरीर और अपने ही पसीने की छोटी छोटी बूँदों से आच्छादित कमलमुख भगवान् परम सुशोभित लग रहे थे।

वृतौ गोपैः कतिपयैर्बलदेवजनार्दनौ ।
रङ्गं विविशतू राजन्गजदन्तवरायुधौ ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

वृतौ—घिरे हुए; गोपैः—ग्वालबालों से; कतिपयैः—अनेक; बलदेव-जनार्दनौ—बलराम तथा कृष्ण; रङ्गम्—अखाड़े में; विविशतुः—प्रविष्ट हुए; राजन्—हे राजन् (परीक्षित); गज-दन्त—हाथी के दाँतों; वर—चुने हुए; आयुधौ—हथियार वाले।

हे राजन्, भगवान् बलदेव तथा भगवान् जनार्दन दोनों ही उस हाथी के एक एक दाँत को अपने चुने हुए हथियार के रूप में लिये हुए अनेक ग्वालबालों के साथ अखाड़े में प्रविष्ट हुए।

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

मल्लानाम्—पहलवानों के लिए; अशनिः—वज्र; नृणाम्—पुरुषों के लिए; नर-वरः—श्रेष्ठ-पुरुष; स्त्रीणाम्—स्त्रियों के लिए; स्मरः—कामदेव; मूर्ति-मान्—अवतार; गोपानाम्—ग्वालों के लिए; स्व-जनः—उनके सम्बन्धी; असताम्—दुष्ट; क्षिति-भुजाम्—राजाओं के लिए; शास्ता—दण्ड देने वाला; स्व-पित्रोः—अपने माता-पिता के लिए; शिशुः—बालक; मृत्युः—मृत्यु; भोज-पतेः—भोजों के राजा कंस के लिए; विराट्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड; अविदुषाम्—मूर्खों के लिए; तत्त्वम्—सत्य; परम्—परम; योगिनाम्—योगियों के लिए; वृष्णीनाम्—वृष्टिकुल के सदस्यों के लिए; पर-देवता—परम पूज्य देव; इति—इस तरह; विदितः—समझा; रङ्गम्—अखाड़े में; गतः—प्रविष्ट हुए; स—सहित; अग्र-जः—बड़े भाई।

जब कृष्ण अपने बड़े भाई के साथ अखाड़े में प्रविष्ट हुए तो विभिन्न वर्गों के लोगों ने कृष्ण को भिन्न भिन्न रूपों में देखा। पहलवानों ने कृष्ण को वज्र के समान देखा, मथुरावासियों ने श्रेष्ठ-पुरुष के रूप में, स्त्रियों ने साक्षात् कामदेव के रूप में, ग्वालों ने अपने सम्बन्धी के रूप में, दुष्ट शासकों ने दण्ड देने वाले के रूप में, उनके माता-पिता ने अपने शिशु के रूप में, भोजराज ने मृत्यु के रूप में, मूर्खों ने भगवान् के विराट रूप में, योगियों ने परम ब्रह्म के रूप में तथा वृष्णियों ने अपने परम आराध्य देव के रूप में देखा।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें कृष्ण के प्रति १० विभिन्न रसों की व्याख्या मिलती है—

रौद्रऽद्भुतश्च शृंगारो हास्यं वीरो दया तथा।

भयानकश्च बीभत्सः शान्तः स-प्रेमभक्तिकः ॥

“ [दस विभिन्न रस हैं]: रौद्र (पहलवानों द्वारा अनुभूत), अद्भुत (पुरुषों द्वारा), शृंगार (स्त्रियों

द्वारा), हास्य (ग्वालों द्वारा), वीर (राजाओं द्वारा) दया (माता-पिता द्वारा), भय (कंस द्वारा), वीभत्स (मूर्खों द्वारा), शान्त (योगियों द्वारा) तथा प्रेमाभक्ति (वृष्णियों द्वारा)।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि पहलवानों, कंस तथा दुष्ट राजाओं जैसे व्यक्तियों ने कृष्ण को घातक, क्रुद्ध या धमकी देने वाले के रूप में देखा क्योंकि वे भगवान् के वास्तविक पद को समझ पाने में असमर्थ थे। वस्तुतः कृष्ण हरएक के मित्र तथा शुभचिन्तक हैं किन्तु वे हमें दण्ड देते हैं क्योंकि हम उनके विरुद्ध उत्पात करते हैं। इस तरह हम उन्हें दण्ड देने वाले के रूप में देख सकते हैं। कृष्ण अथवा ईश्वर तो वास्तव में दयालु हैं और जब वे हमें दण्ड देते हैं, तो वह भी उनकी कृपा होती है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने निम्नलिखित वैदिक वाक्य उद्धृत किया है—*रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति*—वे साक्षात् रस हैं—विशिष्ट सम्बन्ध का रस—और जो इस रस को प्राप्त कर लेता है, वह *आनन्दी* अर्थात् आनन्द से पूरित हो जाता है। (तैत्तिरीय उपानिषद २.७.१)

रस शब्द की व्याख्या के लिए उन्होंने एक और श्लोक उद्धृत किया है—

व्यतीत्य भावनावर्त्म यश्चमत्कारभारभूः।

हृदि सत्त्वोज्ज्वले बाढं स्वदते स रसो मतः॥

''जो कल्पना से परे है, आश्चर्य से बोझिल है और जिसका सतोगुण से चमत्कृत हृदय में आस्वाद लिया जाता है, वह *रस* है।''

जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृतसिन्धु* में विस्तार से विवेचना की है, मुख्य रस पाँच हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य। गौण रस सात हैं—आश्चर्य, हास्य, वीर, दया, रौद्र, भयानक तथा बीभत्स। इस प्रकार कुल १२ रस हैं और इन सबका चरमलक्ष्य साक्षात् श्रीकृष्ण हैं। दूसरे शब्दों में, हमारा प्रेम तथा वात्सल्य वास्तव में कृष्ण के निमित्त होता हैं। दुर्भाग्यवश अपने अज्ञान के कारण जिद् में आकर हम भौतिक सम्बन्धों से जो कृष्ण से जुड़े हुए नहीं हैं सुख तथा प्रेम प्राप्त करने का प्रयास करते हैं और इस तरह जीवन में निरन्तर हताशा आ जाती है। इसका सरल उपाय है कृष्ण की शरण में जाएँ, कृष्ण से प्रेम करें, कृष्ण-भक्तों से प्रेम करें और सदा के लिए सुखी बनें।

हतं कुवलयापीडं दृष्ट्वा तावपि दुर्जयौ ।
कंसो मनस्यपि तदा भृशमुद्विविजे नृप ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

हतम्—मारा गया; कुवलयापीडम्—कुवलयापीड हाथी को; दृष्ट्वा—देखकर; तौ—दोनों, कृष्ण तथा बलराम; अपि—तथा; दुर्जयौ—दुर्जय, न जीते जा सकने योग्य; कंसः—कंस ने; मनसि—अपने मन में; अपि—निस्सन्देह; तदा—तब; भृशम्—अत्यधिक; उद्विविजे—उद्विग्न हो उठा; नृप—हे राजा (परीक्षित)।

जब कंस ने देखा कि कुवलयापीड मारा गया है और दोनों भाई अजेय हैं, तो हे राजन्, वह चिन्ता से उद्विग्न हो उठा।

तौ रेजतू रङ्गगतौ महाभुजौ
विचित्रवेषाभरणस्रगम्बरौ ।
यथा नटावुत्तमवेषधारिणौ
मनः क्षिपन्तौ प्रभया निरीक्षताम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तौ—दोनों; रेजतुः—चमक रहे थे; रङ्ग-गतौ—अखाड़े में उपस्थित; महा-भुजौ—विशाल भुजाओं वाले; विचित्र—नाना प्रकार का; वेष—वेशभूषा; आभरण—गहने; स्रक्—मालाएँ; अम्बरौ—तथा वस्त्र; यथा—जिस तरह; नटौ—दो अभिनेता; उत्तम—उत्तम; वेष—पोशाक; धारिणौ—धारण किये; मनः—मनों को; क्षिपन्तौ—प्रहार करते हुए; प्रभया—अपने तेज से; निरीक्षताम्—देखने वालों के।

नाना प्रकार के गहनों, मालाओं तथा वस्त्रों से सुसज्जित विशाल भुजाओं वाले वे दोनों (भगवान्) उत्तम वेश धारण किये अभिनेताओं की तरह अखाड़े में शोभायमान हो रहे थे। निस्सन्देह उन्होंने अपने तेज से समस्त देखने वालों के मन को अभिभूत कर लिया।

निरीक्ष्य तावुत्तमपूरुषौ जना
मञ्चस्थिता नागरराष्ट्रका नृप ।
प्रहर्षवेगोत्कलितेक्षणानना:
पपुर्न तृप्ता नयनैस्तदाननम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

निरीक्ष्य—देखकर; तौ—दोनों; उत्तम-पूरुषौ—परम पुरुषों को; जनाः—लोग; मञ्च—दर्शक-दीर्घाओं में; स्थिताः—बैठे हुए; नागर—नगरनिवासी; राष्ट्रकाः—बाहरी जिलों के लोग; नृप—हे राजन्; प्रहर्ष—अपने हर्ष के; वेग—वेग से; उत्कलित—विस्तीर्ण हुई, फैली हुई; ईक्षण—आँखें; आननाः—मुख; पपुः—पिया; न—नहीं; तृप्ताः—तृप्त; नयनैः—आँखों से; तत्—उनके; आननम्—मुखों को।

हे राजन्, जब नगरवासियों तथा पास पड़ोस के जिलों से आये लोगों ने दीर्घाओं में बैठे अपने अपने स्थानों से दोनों परम पुरुषों को देखा तो प्रसन्नता रूपी शक्ति से उनकी आँखें खुली की खुली रह गईं और उनके मुखमंडल खिल उठे। वे अतृप्त होकर उनके मुखों के दर्शन का पान

करते रहे।

पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया ।
जिघ्रन्त इव नासाभ्यां श्लिष्यन्त इव बाहुभिः ॥ २१ ॥
ऊचुः परस्परं ते वै यथादृष्टं यथाश्रुतम् ।
तद्रूपगुणमाधुर्यप्रागल्भ्यस्मारिता इव ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

पिबन्तः—पीते हुये; इव—मानो; चक्षुर्भ्याम्—आँखों से; लिहन्तः—चाटते हुए; इव—मानो; जिह्वया—अपनी अपनी जीभों से; जिघ्रन्तः—सूँघते हुए; इव—मानो; नासाभ्याम्—अपने नथुनों से; स्लिष्यन्तः—आलिंगन करते हुए; इव—मानो; बाहुभिः—अपनी बाहों से; ऊचुः—कहा; परस्परम्—एक-दूसरे से; ते—वे; वै—निस्सन्देह; यथा—जिस प्रकार; दृष्टम्—उन्होंने देखा था; यथा—जिस तरह; श्रुतम्—सुना था; तत्—उनके; रूप—सौन्दर्य; गुण—गुण; माधुर्य—माधुरी; प्रागल्भ्य—तथा बहादुरी; स्मारिताः—स्मरण कराया; इव—मानो।

ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो लोग अपनी आँखों से कृष्ण तथा बलराम का पान कर रहे हों, अपनी जीभों से उन्हें चाट रहे हों, अपने नथुनों से उन्हें ही सूँघ रहे हों तथा अपनी बाहों से उनका आलिंगन कर रहे हों। भगवान् के सौन्दर्य, चरित्र, माधुर्य तथा बहादुरी का स्मरण करके दर्शकगण देखे तथा सुने गये इन लक्षणों का वर्णन एक-दूसरे से करने लगे।

तात्पर्य : स्वाभाविक है कि जो लोग मल्ल-उत्सव देखने के लिए मथुरा में एकत्रित हुए थे उन्होंने नगर में कृष्ण तथा बलराम के कार्यकलापों की ताजी खबरें सुन रखी थीं—कि किस तरह उन दोनों ने यज्ञ-धनुष को तोड़ा था और किस तरह रक्षकों को हराकर कुवलयापीड हाथी का वध किया था। अब जबकि वे सभी कृष्ण तथा बलराम को अखाड़े में प्रवेश करते देख रहे थे तो उनकी महाती अपेक्षाओं की पुष्टि हो गई थी। कृष्ण समस्त सौन्दर्य, यश तथा ऐश्वर्य की साकार मूर्ति थे अतः अखाड़े में एकत्रित सारे लोगों ने उनके विषय में जो कुछ सुन रखा था और अब जो कुछ देख रहे थे उसका गुणगान करते हुए परम संतुष्ट हो रहे थे।

एतौ भगवतः साक्षाद्धरेर्नारायणस्य हि ।
अवतीर्णाविहांशेन वसुदेवस्य वेश्मनि ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

एतौ—ये दोनों; भगवतः—भगवान्; साक्षात्—प्रत्यक्ष; हरेः—हरि का; नारायणस्य—नारायण का; हि—निश्चय ही; अवतीर्णौ—अवतरित हुए हैं; इह—इस जगत में; अंशेन—अंश रूप में; वसुदेवस्य—वसुदेव के; वेश्मनि—घर में।

[लोगों ने कहा] ये दोनों बालक निश्चय ही भगवान् नारायण के अंश हैं, जो इस जगत में

वसुदेव के घर में अवतरित हुए हैं।

एष वै किल देवक्यां जातो नीतश्च गोकुलम् ।
कालमेतं वसन्गूढो ववृधे नन्दवेश्मनि ॥ २४॥

शब्दार्थ

एषः—यह (कृष्ण); वै—निश्चय ही; किल—निस्सन्देह; देवक्याम्—देवकी के गर्भ से; जातः—उत्पन्न; नीतः—लाया गया; च—तथा; गोकुलम्—गोकुल में; कालम्—समय तक; एतम्—इतना; वसन्—रहते हुए; गूढः—छिपा हुआ; ववृधे—बड़ा हुआ; नन्द-वेश्मनि—नन्द महाराज के घर में।

उन्होंने (कृष्ण ने) माता देवकी से जन्म लिया और गोकुल ले जाये गए जहाँ वे इतने समय तक राजा नन्द के घर में छिपकर बढ़ते रहे।

पूतनानेन नीतान्तं चक्रवातश्च दानवः ।
अर्जुनौ गुह्यकः केशी धेनुकोऽन्ये च तद्विधाः ॥ २५॥

शब्दार्थ

पूतना—पूतना राक्षसी; अनेन—इसके द्वारा; नीता—लाया गया; अन्तम्—प्राणान्त; चक्रवातः—बवंडर; च—तथा; दानवः—असुर; अर्जुनौ—यमलार्जुन वृक्ष; गुह्यकः—शंखचूड़; केशी—घोड़ा असुर; धेनुकः—धेनुक असुर; अन्ये—अन्य; च—तथा; तत्-विधाः—उन्हीं की तरह।

इन्होंने पूतना तथा चक्रवात असुर का प्राणान्त कर दिया, यमलार्जुन वृक्षों को गिरा दिया और शंखचूड़, केशी, धेनुक तथा ऐसे ही असुरों का वध कर दिया।

गावः सपाला एतेन दावाग्नेः परिमोचिताः ।
कालियो दमितः सर्प इन्द्रश्च विमदः कृतः ॥ २६॥
सप्ताहमेकहस्तेन धृतोऽद्रिप्रवरोऽमुना ।
वर्षवाताशनिभ्यश्च परित्रातं च गोकुलम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

गावः—गौवें; स—सहित; पालाः—इनके पालक; एतेन—उसके द्वारा; दाव-अग्नेः—जंगल की आग से; परिमोचिताः—बचाये गये; कालियः—कालिय; दमितः—दमन किया गया; सर्पः—सर्प; इन्द्रः—इन्द्र; च—तथा; विमदः—गर्वरहित; कृतः—किया हुआ; सप्त-अहम्—सात दिनों तक; एक-हस्तेन—एक हाथ से; धृतः—धारण किये; अद्रि—पर्वत; प्रवरः—विख्यात; अमुना—इसके द्वारा; वर्ष—वर्षा; वात—हवा; अशनिभ्यः—तथा ओले से; च—भी; परित्रातम्—उद्धार किया; च—तथा; गोकुलम्—गोकुलवासियों को।

इन्होंने गौवों तथा ग्वालों को जंगल की आग से बचाया और कालिय सर्प का दमन किया। इन्होंने अपने एक हाथ में सर्वश्रेष्ठ पर्वत को एक सप्ताह तक धारण किये रखकर इन्द्र देव के मिथ्या गर्व को चूर किया और इस तरह वर्षा, हवा तथा ओलों से गोकुलवासियों की रक्षा की।

गोप्योऽस्य नित्यमुदितहसितप्रेक्षणं मुखम् ।
पश्यन्त्यो विविधांस्तापांस्तरन्ति स्माश्रमं मुदा ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

गोप्यः—युवा गोपियों ने; अस्य—इसके; नित्य—सदैव; मुदित—प्रसन्न; हसित—हँसी से पूर्ण; प्रेक्षणम्—चितवन को; मुखम्—मुख को; पश्यन्त्यः—देखती हुई; विविधान्—अनेक प्रकार के; तापान्—कष्ट; तरन्ति स्म—पार कर लिया; अश्रमम्—बिना थकान के; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक।

निरन्तर हँसीली चितवन से प्रसन्न तथा थकान से मुक्त इनके मुखमण्डल को निहार-निहार कर गोपियों ने समस्त प्रकार के कष्टों को पार कर लिया और परम सुख का अनुभव किया।

वदन्त्यनेन वंशोऽयं यदोः सुबहुविश्रुतः ।
श्रियं यशो महत्वं च लप्स्यते परिरक्षितः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

वदन्ति—कहते हैं; अनेन—इसके द्वारा; वंशः—कुल; अयम्—यह; यदोः—राजा यदु के; सु-बहु—अत्यधिक; विश्रुतः—प्रसिद्ध; श्रियम्—धन; यशः—यश; महत्वम्—शक्ति; च—तथा; लप्स्यते—प्राप्त करेगा; परिरक्षितः—सभी प्रकार से रक्षित।

कहा जाता है कि इनके संरक्षण में यदुकुल अत्यधिक विख्यात होगा और संपदा, यश तथा शक्ति अर्जित करेगा।

अयं चास्याग्रजः श्रीमान्रामः कमललोचनः ।
प्रलम्बो निहतो येन वत्सको ये बकादयः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अयम्—यह; च—तथा; अस्य—इसका; अग्र-जः—बड़ा भाई; श्री-मन्—समस्त ऐश्वर्य से युक्त; रामः—बलराम; कमल-लोचनः—कमल जैसे नेत्रों वाला; प्रलम्बः—प्रलम्बासुर; निहतः—मारे गये; येन—जिसके द्वारा; वत्सकः—वत्सासुर; ये—जो; बक—बकासुर; आदयः—इत्यादि।

ये कमलनेत्रों वाले उनके ज्येष्ठ भाई भगवान् बलराम समस्त दिव्य ऐश्वर्यों के स्वामी हैं। इन्होंने प्रलम्ब, वत्सक, बक तथा अन्य असुरों का वध किया है।

तात्पर्य : वस्तुतः यहाँ पर उल्लिखित असुरों में से दो का वध श्रीकृष्ण ने किया था, बलराम ने नहीं। इसका कारण यह है कि जब आम जनता में कृष्ण के कार्यों की खबर फैलने लगी तो तथ्य अस्पष्ट होने लगे। ऐसी ही प्रवृत्ति आधुनिक समाचार-माध्यमों में देखी जा सकती है।

जनेष्वेवं ब्रुवाणेषु तूर्येषु निनदत्सु च ।
कृष्णरामौ समाभाष्य चाणूरो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

जनेषु—लोगों में; एवम्—इस तरह; ब्रुवाणेषु—बातें करते; तूर्येषु—तुरहियों के; निनदत्सु—निनाद करती हुई; च—तथा; कृष्ण-रामौ—कृष्ण तथा बलराम; समाभाष्य—सम्बोधित करके; चानूरः—चाणूर नामक पहलवान ने; वाक्यम्—शब्द; अब्रवीत्—कहे।

जिस समय लोग इस तरह बातें कर रहे थे और तुरहियाँ गूँजने लगीं थी तो पहलवान चाणूर ने कृष्ण तथा बलराम से ये शब्द कहे।

तात्पर्य : दर्शकों द्वारा कृष्ण की इतनी अधिक प्रशंसा चाणूर से सहन नहीं हुई अत: उसे दोनों भाइयों से कुछ कहना पड़ा।

हे नन्दसूनो हे राम भवन्तौ वीरसम्मतौ ।
नियुद्धकुशलौ श्रुत्वा राज्ञाहूतौ दिदृक्षुणा ॥ ३२॥

शब्दार्थ

हे नन्द-सूनो—अरे नन्द के पुत्र; हे राम—हे राम; भवन्तौ—तुम दोनों को; वीर—वीरों से; सम्मतौ—आदरित; नियुद्ध—कुश्ती में; कुशलौ—दक्ष; श्रुत्वा—सुनकर; राज्ञा—राजा द्वारा; आहूतौ—बुलाये गये; दिदृक्षुणा—देखने का इच्छुक।

[चाणूर ने कहा]: हे नन्दपुत्र, हे राम, तुम दोनों ही साहसी पुरुषों द्वारा समादरित हो और दोनों ही कुश्ती लड़ने में दक्ष हो। तुम्हारे पराक्रम को सुनकर राजा ने स्वत: देखने के उद्देश्य से तुम दोनों को यहाँ बुलाया है।

प्रियं राज्ञः प्रकुर्वत्यः श्रेयो विन्दन्ति वै प्रजाः ।
मनसा कर्मणा वाचा विपरीतमतोऽन्यथा ॥ ३३॥

शब्दार्थ

प्रियम्—प्रसन्नता; राज्ञः—राजा की; प्रकुर्वत्यः—सम्पन्न करते हुए; श्रेयः—सौभाग्य; विन्दन्ति—प्राप्त करते हैं; वै—निस्सन्देह; प्रजाः—लोग, जनता; मनसा—उनके मनों से; कर्मणा—उनके कर्मों से; वाचा—उनके शब्दों से; विपरीतम्—उल्टा; अतः—इसके; अन्यथा—अन्यथा।

जो प्रजा राजा को अपने विचारों, कर्मों तथा शब्दों से प्रसन्न रखने का प्रयास करती है उसे अवश्य ही सौभाग्य प्राप्त होता है किन्तु जो लोग ऐसा नहीं कर पाते उन्हें विपरीत भाग्य का सामना करना पड़ता है।

नित्यं प्रमुदिता गोपा वत्सपाला यथास्फुटम् ।
वनेषु मल्लयुद्धेन क्रीडन्तश्चारयन्ति गाः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

नित्यम्—सदैव; प्रमुदिताः—अत्यन्त सुखी; गोपाः—ग्वाले; वत्सपालाः—बछड़े चराते; यथा-स्फुटम्—स्पष्टतः; वनेषु—जंगलों में; मल्ल-युद्धेन—कुश्ती से; क्रीडन्तः—खेलते हुए; चारयन्ति—चराते हैं; गाः—गौवें।

यह सर्वविदित है कि ग्वालों के बालक अपने बछड़ों को चराते हुए सदैव प्रमुदित रहते हैं और विविध जंगलों में अपने पशुओं को चराते हुए खेल खेल में कुश्ती लड़ते रहते हैं।

तात्पर्य : यहाँ चाणूर बतलाता है कि किस तरह दोनों भाई कुश्ती में दक्ष बने।

तस्माद्राज्ञः प्रियं यूयं वयं च करवाम हे ।
भूतानि नः प्रसीदन्ति सर्वभूतमयो नृपः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; राज्ञः—राजा की; प्रियम्—प्रसन्नता; यूयम्—तुम दोनों; वयम्—हम; च—भी; करवाम हे—करें; भूतानि—सारे जीव; नः—हमारे साथ; प्रसीदन्ति—प्रसन्न होंगे; सर्व-भूत—सारे जीवों से; मयः—युक्त; नृपः—राजा।

अतः जो राजा चाहता है हम वही करें। इससे हमारे साथ सारे लोग प्रसन्न होंगे, क्योंकि राजा सारे जीवों से समन्वित रूप होता है।

तन्निशम्याब्रवीत्कृष्णो देशकालोचितं वचः ।
नियुद्धमात्मनोऽभीष्टं मन्यमानोऽभिनन्द्य च ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; निशम्य—सुनकर; अब्रवीत्—बोले; कृष्णः—कृष्ण; देश—स्थान; काल—तथा समय के; उचितम्—उपयुक्त; वचः—शब्द; नियुद्धम्—कुश्ती; आत्मनः—अपना; अभीष्टम्—वाञ्छित; मन्यमानः—विचार करते हुए; अभिनन्द्य—स्वागत करते हुए; च—तथा।

यह सुनकर भगवान् कृष्ण ने, जो कि कुश्ती लड़ना चाहते थे और इस चुनौती का स्वागत कर रहे थे, समय तथा स्थान के अनुसार यह बात कही।

प्रजा भोजपतेरस्य वयं चापि वनेचराः ।
करवाम प्रियं नित्यं तन्नः परमनुग्रहः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

प्रजाः—जनता; भोज-पतेः—भोजों के राजा के; अस्य—इस; वयम्—हम; च—भी; अपि—होते हुए; वने-चराः—जंगल में घूमते हुए; करवाम—हमें करना चाहिए; प्रियम्—उसकी प्रसन्नता; नित्यम्—सदैव; तत्—वह; नः—हमारे लिए; परम्—सर्वाधिक; अनुग्रहः—लाभ।

[भगवान् कृष्ण ने कहा]: यद्यपि हम वनवासी हैं किन्तु हम भी भोजराज की प्रजा हैं। हमें उनकी इच्छा पूरी करनी चाहिए, क्योंकि ऐसे व्यवहार से हमें अत्यधिक लाभ होगा।

**बाला वयं तुल्यबलैः क्रीडिष्यामो यथोचितम् ।
भवेन्नियुद्धं माधर्मः स्पृशेन्मल्लसभासदः ॥ ३८ ॥**

शब्दार्थ

बालाः—बालक; वयम्—हम; तुल्य—समान; बलैः—बल वालों के साथ; क्रीडिष्यामः—खेलेंगे; यथा उचितम्—उपयुक्त ढंग से; भवेत्—होना चाहिए; नियुद्धम्—कुश्ती प्रतियोगिता; मा—नहीं; अधर्मः—अधर्म; स्पृशेत्—चाहिए; मल्ल-सभा—अखाड़े के; सदः—सदस्य।

हम तो निरे बालक ठहरें और हमें समान बल वालों के साथ खेलना चाहिए। इस कुश्ती प्रतियोगिता को उचित ढंग से चलना चाहिए जिससे सम्माननीय दर्शक वर्ग को किसी प्रकार से अधर्म का कलंक न लगे।

चाणूर उवाच

**न बालो न किशोरस्त्वं बलश्च बलिनां वरः ।
लीलयेभो हतो येन सहस्रद्विपसत्त्वभृत् ॥ ३९ ॥**

शब्दार्थ

चाणूरः उवाच—चाणूर ने कहा; न—नहीं; बालः—बालक; न—न तो; किशोरः—किशोर; त्वम्—तुम; बलः—बलराम; च—तथा; बलिनाम्—बलशालियों में; वरः—सर्वश्रेष्ठ; लीलया—खेल खेल में; इभः—हाथी; हतः—मारा गया; येन—जिसके द्वारा; सहस्र—एक हजार; द्विप—हाथियों के; सत्त्व—बल का; भृत्—वाहक।

चाणूर ने कहा : वास्तव में तुम न ही बलशालियों में सर्वश्रेष्ठ बलराम, न तो बालक हो, न ही किशोर हो। तुमने खेल खेल में एक हाथी को मारा है, जिसमें एक हजार अन्य हाथियों का बल था।

**तस्माद्भवद्भ्यां बलिभिर्योद्धव्यं नानयोऽत्र वै ।
मयि विक्रम वार्ष्णेय बलेन सह मुष्टिकः ॥ ४० ॥**

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; भवद्भ्याम्—तुम दोनों; बलिभिः—बलशालियों से; योद्धव्यम्—लड़ना चाहिए; न—नहीं है; अनयः—अनीति; अत्र—इसमें; वै—निश्चय ही; मयि—मुझमें; विक्रम—अपना पराक्रम; वार्ष्णेय—हे वृष्णि-वंशी; बलेन सह—बलराम के साथ; मुष्टिकः—मुष्टिक (लड़ेगा)।

अतः तुम दोनों को बलशाली पहलवानों से लड़ना चाहिए। इसमें निश्चय ही कुछ भी अनीति नहीं है। हे वृष्णि-वंशी, तुम अपना पराक्रम मुझ पर आजमा सकते हो और बलराम मुष्टिक के साथ लड़ सकता है।

इस तरह श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत "कृष्ण द्वारा कुवलयापीड का वध" नामक तैंतालिसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित

तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चवालीस

कंस वध

इस अध्याय में बतलाया गया है कि कृष्ण तथा बलराम ने किस तरह पहलवानों को मारा, कृष्ण ने किस तरह कंस को मारा और कैसे उसकी पत्नियों को ढाढ़स बँधाया और किस तरह दोनों भाई अपने माता-पिता से मिल सके।

कुश्ती लड़ने का निश्चय करके भगवान् कृष्ण चाणूर से भिड़ गये और भगवान् बलराम मुष्टिक से। वे बाँह से बाँह, सिर से सिर, घुटने से घुटना और छाती से छाती भिड़ा कर एक-दूसरे पर इतने कठोर प्रहार कर रहे थे कि ऐसा लगता था जैसे वे अपने शरीरों को भी क्षति पहुँचा रहे हों। अखाड़े में उपस्थित स्त्रियाँ इस भयंकर कुश्ती को देखकर राजा की तथा सारी सभा के सदस्यों की भर्त्सना यह कहकर करने लगीं, ''सम्माननीय दर्शकों को कभी भी ऐसी कुश्ती-प्रतियोगिता की अनुमति नहीं देनी चाहिए थी जिसमें वज्र जैसे देहधारी बड़े बड़े पहलवान ऐसे सुकुमार बालकों से जो युवावस्था में अभी पग धर रहे हों, लड़ने जा रहे हों। किसी भी बुद्धिमान मनुष्य को ऐसी किसी सभा में प्रवेश नहीं करना चाहिए जहाँ उसे अन्याय होता दिखाई दे।'' चूँकि वसुदेव तथा देवकी को कृष्ण तथा बलराम की शक्ति का पूरा-पूरा पता न था अत:जब उन्होंने स्त्रियों को इस तरह बातें करते सुना तो वे अत्यन्त दुखी हो उठे।

तब श्रीकृष्ण ने चाणूर की बाँहें पकड़कर कई बार घुमाकर जमीन पर पटक दिया जिससे वह मर गया। मुष्टिक का भी ऐसा ही अन्त हुआ—वह भगवान् बलराम की हथेली की जोरदार चोट खाकर रक्त वमन करता हुआ पृथ्वी पर गिरकर मर गया। तत्पश्चात् कूट, शल तथा तोशल नामक पहलवान आगे बढ़े किन्तु कृष्ण तथा बलराम ने मुक्कों तथा पाँवों से उन सबका वध कर दिया। जो पहलवान बचे रहे वे अपनी जान बचाकर भाग निकले।

कंस के अतिरिक्त वहाँ उपस्थित सबों ने कृष्ण तथा बलराम की जय-जयकार की। क्रुद्ध होकर कंस ने बज रहे बाजे को रोक दिया और आदेश दिया कि वसुदेव, नन्द, उग्रसेन तथा सारे ग्वालों को

कठोर दण्ड दिया जाय तथा कृष्ण तथा बलराम को सभा से खदेड़ दिया जाय। जब कृष्ण ने सुना कि कंस इस तरह बोल रहा है, तो वे अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे और वे तुरन्त उच्च राजमंच पर कूद पड़े। उन्होंने कंस के बालों को पकड़ लिया और अखाड़े की फर्श पर पटक कर उसके ऊपर चढ़ गये। इस तरह कंस की मृत्यु हो गई। चूँकि कंस भयवश सदैव कृष्ण का स्मरण करता था अत: मृत्यु के बाद उसे सारूप्य मुक्ति प्राप्त हुई।

तब कंस के आठ भाइयों ने कृष्ण पर धावा बोल दिया किन्तु बलराम ने उन सबों को अपनी गदा से उसी तरह मार डाला जिस तरह सिंह निरीह पशुओं को मार डालता है। जब हर्षित देवों ने कृष्ण तथा बलराम पर फूलों की वर्षा की और उनके गुणों का कीर्तन करना शुरू किया, तो नगाड़ों की ध्वनि आकाश को गुँजा रही थी।

अपने पति के लिए शोक करती कंस-पत्नियाँ पछता रही थीं कि अन्य जीवों के प्रति हिंसा तथा समस्त ब्रह्माण्ड के सर्जक, पालनकर्ता तथा संहारकर्ता कृष्ण के प्रति अनादर के कारण ही कंस को इस तरह मरना पड़ा। भगवान् ने इन विधवाओं को ढाढ़स बँधाया, कंस तथा उसके भाइयों का दाह-संस्कार कराया और तब अपने माता-पिता को बन्दी-गृह से मुक्त किया। कृष्ण ने उनके चरणों को नमस्कार किया किन्तु वे अब समझ गये कि कृष्ण भगवान् हैं अत: उन्होंने उनका आलिंगन नहीं किया।

श्रीशुक उवाच

एवं चर्चितसङ्कल्पो भगवान्मधुसूदनः ।
आससादाथ चणूरं मुष्टितकं रोहिणीसुतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; चर्चित—स्थिर करते हुए; सङ्कल्पः—अपना संकल्प; भगवान्—भगवान्; मधुसूदनः—कृष्ण ने; आससाद—मुठभेड़ की; अथ—तत्पश्चात्; चाणूरम्—चाणूर से; मुष्टिकम्—मुष्टिक से; रोहिणी-सुतः—रोहिणी के पुत्र, बलराम ने।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह सम्बोधित किये जाने पर कृष्ण ने इस चुनौती को स्वीकार करने का मन बना लिया। उन्होंने चाणूर को और भगवान् बलराम ने मुष्टिक को अपना प्रतिद्वन्द्वी चुना।

हस्ताभ्यां हस्तयोर्बद्ध्वा पद्भ्यामेव च पादयोः ।

विचकर्षतुरन्योन्यं प्रसह्य विजिगीषया ॥ २॥

शब्दार्थ

हस्ताभ्याम्—हाथों से; हस्तयोः—हाथों द्वारा; बद्ध्वा—पकड़कर; पद्भ्याम्—पाँवों से; एव च—भी; पादयोः—अपने पैरों से; विचकर्षतुः—वे घसीटने लगे (कृष्ण चाणूर को तथा बलराम मुष्टिक को); अन्योन्यम्—एक-दूसरे को; प्रसह्य—बलपूर्वक; विजिगीषया—विजय की इच्छा से।

एक-दूसरे के हाथों को पकड़ कर और एक-दूसरे के पाँवों को फँसा कर ये प्रतिद्वन्द्वी विजय की अभिलाषा से बलपूर्वक संघर्ष करने लगे।

अरत्नी द्वे अरत्निभ्यां जानुभ्यां चैव जानुनी ।
शिरः शीर्ष्णोरसोरस्तावन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥ ३॥

शब्दार्थ

अरत्नी—मुट्ठियों के विरुद्ध; द्वे—दो; अरत्निभ्याम्—उनकी मुट्ठियों से; जानुभ्याम्—उनके घुटनों से; च एव—भी; जानुनी—विपक्षी के घुटनों के विरुद्ध; शिरः—सिर; शीर्ष्णा—सिर से; उरसा—छाती से; उरः—छाती; तौ—वे जोड़ियाँ; अन्योन्यम्—एक-दूसरे पर; अभिजघ्नतुः—प्रहार करने लगीं।

वे एक-दूसरे से मुट्ठियों से मुट्ठियाँ, घुटनों से घुटनें, सिर से सिर तथा छाती से छाती भिड़ा कर प्रहार करने लगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में आया हुआ *अरत्नी* शब्द कुहनी तथा मुट्ठी दोनों का सूचक हो सकता है। इस तरह शायद कुहनियों से भी प्रहार किया गया जैसाकि आज विविध सैन्य-कलाओं में देखा जाता है।

परिभ्रामणविक्षेपपरिरम्भावपातनैः ।
उत्सर्पणापसर्पणैश्चान्योन्यं प्रत्यरुन्धताम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

परिभ्रामण—एक-दूसरे के चारों ओर घूमते हुए; विक्षेप—धक्का देते; परिरम्भ—कुचलते; अवपातनैः—तथा नीचे गिराते हुए; उत्सर्पण—छोड़कर फिर दौड़ना; अपसर्पणैः—पीछे जाकर; च—तथा; अन्योन्यम्—एक-दूसरे को; प्रत्यरुन्धताम्—प्रतिरोध या बचाव करने लगे।

प्रत्येक कुश्ती लड़ने वाला अपने विपक्षी को खींचकर चक्कर लगवाता, धक्के देकर उसे नीचे गिरा देता (पटक देता) और उसके आगे तथा पीछे दौड़ता।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि *परिरम्भ* शब्द सूचित करता है प्रतिपक्षी को बाहुओं के बीच में पकड़कर मसल देना।

उत्थापनैरुन्नयनैश्चालनैः स्थापनैरपि ।
परस्परं जिगीषन्तावपचक्रतुरात्मनः ॥ ५॥

शब्दार्थ

उत्थापनैः—ऊपर उठा लेने से; उन्नयनैः—कंधे पर उठाने से; चालनैः—आगे धकेलने से; स्थापनैः—एक स्थान पर अटका देने से; अपि—भी; परस्परम्—एक-दूसरे को; जिगीषन्तौ—विजय चाहते हुए; अपचक्रतुः—हानि पहुँचाया; आत्मनः—अपने आप तक को।

एक-दूसरे को बलपूर्वक उठाकर, ले जाकर, धकेलकर तथा पकड़कर, कुश्ती लड़ने वाले विजय की महती आकांक्षा से अपने शरीरों को भी चोट पहुँचा बैठते।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि यद्यपि कृष्ण तथा बलराम ने निश्चय ही अपने शरीरों को चोट नहीं आने दी किन्तु चाणूर, मुष्टिक तथा अन्य संसारी लोगों को उन्हें चोट लगती दिख रही थी। दूसरे शब्दों में, दोनों ही भाई कुश्ती की लीला में मग्न थे।

तद्बलाबलवद्युद्धं समेताः सर्वयोषितः ।
ऊचुः परस्परं राजन्सानुकम्पा वरूथशः ॥ ६॥

शब्दार्थ

तत्—वह; बल-अबल—बली तथा निर्बल; वत्—के बीच; युद्धम्—लड़ाई; समेताः—एकत्र; सर्व—सभी; योषितः—स्त्रियों ने; ऊचुः—कहा; परस्परम्—एक-दूसरे से; राजन्—हे राजन् (परीक्षित); स-अनुकम्पाः—दया का अनुभव करती; वरूथशः—झुंड की झुंड।

हे राजन्, वहाँ पर उपस्थित सारी स्त्रियों ने बलवान् तथा निर्बल के बीच होने वाली इस अनुचित लड़ाई पर विचार करते हुए दया के कारण अत्यधिक चिन्ता का अनुभव किया। वे अखाड़े के चारों ओर झुंड की झुंड एकत्र हो गईं और परस्पर इस तरह बातें करने लगीं।

महानयं बताधर्म एषां राजसभासदाम् ।
ये बलाबलवद्युद्धं राज्ञोऽन्विच्छन्ति पश्यतः ॥ ७॥

शब्दार्थ

महान्—महान; अयम्—यह; बत—हाय; अधर्मः—अधर्म का कार्य; एषाम्—इनके लिए; राज-सभा—राजा की सभा में; सदाम्—उपस्थित लोग; ये—जो; बल-अबल-वत्—बली तथा निर्बल के बीच; युद्धम्—युद्ध; राज्ञः—जबकि राजा; अन्विच्छन्ति—वे भी चाहते हैं; पश्यतः—देख रहा है।

[स्त्रियों ने कहा] हाय! इस राजसभा के सदस्य यह कितना बड़ा अधर्म कर रहे हैं! जिस तरह राजा बलवान् तथा निर्बल के मध्य इस युद्ध को देख रहा है, वे भी उसी तरह इसे देखना चाहते हैं।

तात्पर्य : स्त्रियाँ जो भाव व्यक्त कर रही हैं वह यह है कि यदि राजा किसी कारणवश ऐसी

अन्यायपूर्ण प्रतियोगिता को देखना चाहता था, परंतु इस सभा के सम्मानित सदस्य उसे क्यों देखना चाह रहे हैं? ये भाव स्वाभाविक हैं। आज भी किसी सार्वजनिक स्थान में जब हम किसी हृष्ट-पुष्ट, लम्बे-चौड़े व्यक्ति को किसी दुर्बल छोटे-से व्यक्ति से लड़ते देखते हैं, तो वितृष्णा उत्पन्न होती है। विशेष रूप से दयालु स्त्रियाँ ऐसी अनीतिपूर्ण हिंसा से तिलमिला उठती हैं।

क्व वज्रसारसर्वाङ्गौ मल्लौ शैलेन्द्रसन्निभौ ।
क्व चातिसुकुमाराङ्गौ किशोरौ नाप्तयौवनौ ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

क्व—कहाँ तो; वज्र—वज्र के; सार—बल से; सर्व—सभी; अङ्गौ—अंग वाले; मल्लौ—कुश्ती लड़ने वाले दोनों; शैल—पर्वत; इन्द्र—प्रधान की तरह; सन्निभौ—जिनके स्वरूप; क्व—कहाँ; च—तथा; अति—अत्यन्त; सु-कुमार—कोमल; अङ्गौ—अंग वाले; किशोरौ—दोनों किशोर; न आप्त—अभी भी प्राप्त नहीं किया; यौवनौ—युवावस्था।

कहाँ ये वज्र जैसे पुष्ट अंगों वाले तथा शक्तिशाली पर्वतों जैसे शरीर वाले दोनों पेशेवर पहलवान और कहाँ ये सुकुमार अंगों वाले किशोर अल्प-वयस्क बालक?

धर्मव्यतिक्रमो ह्यस्य समाजस्य ध्रुवं भवेत् ।
यत्राधर्मः समुत्तिष्ठेन्न स्थेयं तत्र कर्हिचित् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

धर्म—धर्म का; व्यतिक्रमः—उल्लंघन; हि—निस्सन्देह; अस्य—इस; समाजस्य—समाज का; ध्रुवम्—निश्चित रूप से; भवेत्—होगा; यत्र—जिसमें; अधर्मः—अधर्म; समुत्तिष्ठेत्—पूरी तरह उदित हुआ है; न स्थेयम्—नहीं रहना चाहिए; तत्र—वहाँ; कर्हिचित्—क्षण-भर भी।

इस सभा में धर्म का निश्चय ही अति-क्रमण हो चुका है। जहाँ अधर्म पल रहा हो उस स्थान में एक पल भी नहीं रुकना चाहिए।

न सभां प्रविशेत्प्राज्ञः सभ्यदोषाननुस्मरन् ।
अब्रुवन्विब्रुवन्नज्ञो नरः किल्बिषमश्नुते ॥ १० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; सभाम्—सभा में; प्रविशेत्—प्रवेश करे; प्राज्ञः—चतुर व्यक्ति; सभ्य—सभा के सदस्यों की; दोषान्—पापपूर्ण त्रुटियों को; अनुस्मरन्—मन में लाते हुए; अब्रुवन्—न बोलते हुए; विब्रुवन्—गलत बोलते हुए; अज्ञः—अज्ञानी (या बनने वाला); नरः—मनुष्य; किल्बिषम्—पाप; अश्नुते—करता है।

बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि यदि वह जान ले कि किसी सभा के सभासद अनुचित कार्य कर रहे हैं, तो वह उस सभा में प्रवेश न करे। और यदि ऐसी सभा में प्रवेश कर लेने पर वह सत्यभाषण करने से चूक जाता है, या मिथ्या भाषण करता है या अज्ञानता की दुहाई देता है, तो

वह निश्चित ही पाप का भागी बनता है।

वल्गतः शत्रुमभितः कृष्णस्य वदनाम्बुजम् ।
वीक्ष्यतां श्रमवार्युप्तं पद्मकोशमिवाम्बुभिः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

वल्गतः—कूदते हुए; शत्रुम्—अपने शत्रु को; अभितः—चारों ओर; कृष्णस्य—कृष्ण का; वदन—मुख; अम्बुजम्—कमलवत्; वीक्ष्यताम्—जरा देखो तो; श्रम—थकान के; वारि—जल से; उप्तम्—आच्छादित; पद्म—कमल के फूल के; कोशम्—दलपुंज; इव—सदृश; अम्बुभिः—जल की बूँदों से।

अपने शत्रु के चारों ओर उछलते-कूदते कृष्ण के कमलमुख को तो जरा देखो! भीषण लड़ाई लड़ने से आये हुए पसीने की बूँदों से ढका यह मुख ओस से आच्छादित कमल जैसा लग रहा है।

किं न पश्यत रामस्य मुखमाताम्रलोचनम् ।
मुष्टिकं प्रति सामर्षं हाससंरम्भशोभितम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्यों; न पश्यत—नहीं देखती; रामस्य—बलराम के; मुखम्—मुख को; आताम्र—ताँबे जैसी; लोचनम्—आँखों वाले; मुष्टिकम्—मुष्टिक के; प्रति—प्रति; स-अमर्षम्—क्रोध से युक्त; हास—अपनी हँसी; संरम्भ—तथा अपनी तल्लीनता से; शोभितम्—शोभा पा रहे।

क्या तुम भगवान् बलराम के मुख को नहीं देख रही हो जो मुष्टिक के प्रति उनके क्रोध के कारण ताँबे जैसी लाल लाल आँखों से युक्त है और जिसकी शोभा उनकी हँसी तथा युद्ध में उनकी तल्लीनता के कारण बढ़ी हुई है?

पुण्या बत व्रजभुवो यदयं नृलिङ्ग-
गूढः पुराणपुरुषो वनचित्रमाल्यः ।
गाः पालयन्सहबलः क्वणयंश्च वेणुं
विक्रीडयाञ्चति गिरित्ररमार्चिताङ्घ्रिः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

पुण्याः—पवित्र; बत—निस्सन्देह; व्रज-भुवः—व्रज-भूमि के विविध भाग; यत्—जिसमें; अयम्—यह; नृ—मनुष्य के; लिङ्ग—गुणों से; गूढः—छिपा; पुराण-पुरुषः—आदि-भगवान्; वन—फूलों तथा वनस्पतियों से बनी; चित्र—अद्भुत प्रकार की; माल्यः—मालाएँ; गाः—गौवें; पालयन्—चराते हुए; सह—साथ में; बलः—बलराम; क्वणयन्—बजाते; च—तथा; वेणुम्—अपनी वंशी; विक्रीडया—विविध लीलाओं से; अञ्चति—इधर-उधर घूमता है; गिरित्र—शिवजी; रमा—लक्ष्मीजी द्वारा; अर्चित—पूजित; अङ्घ्रिः—चरण।

व्रज के भूमि-खण्ड कितने पवित्र हैं जहाँ आदि-भगवान् मनुष्य के वेश में विचरण करते

हुए अनेक लीलाएँ करते हैं। जो नाना प्रकार की वनमालाओं से अद्‌भुत ढंग से विभूषित हैं एवं जिनके चरण शिवजी तथा देवी रमा द्वारा पूजित हैं, वे बलराम के साथ गौवें चराते हुए अपनी वंशी बजाते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में दर्शकों में से भक्त महिलाएँ मथुरा तथा वृन्दावन के अन्तर को इंगित कर रही हैं। वे यह बताना चाह रही हैं कि वृन्दावन में कृष्ण अपनी सखियों तथा मित्रों के साथ केवल आनन्द लूटते हैं जबकि यहाँ मथुरा में उन्हें पेशेवर पहलवानों के साथ भिड़ाकर सताया जा रहा है। इस तरह ये स्त्रियाँ मथुरा नगरी की भर्त्सना कर रही हैं क्योंकि अनैतिक कुश्ती-प्रतियोगिता में कृष्ण को देखकर उन्हें पीड़ा हो रही है। निस्सन्देह मथुरा भी भगवान् के नित्य धामों में से एक है किन्तु इस सभा में स्त्रियाँ अपना प्रेम आलोचनात्मक मनोभावों में अभिव्यक्त कर रही हैं।

गोप्यस्तप: किमचरन्यदमुष्य रूपं
लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम् ।
दृग्भि: पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
मेकान्तधाम यशस: श्रीय ऐश्वरस्य ॥ १४॥

शब्दार्थ

गोप्यः—गोपियों ने; तपः—तपस्या; किम्—कौन-सी; अचरन्—सम्पन्न की; यत्—जिससे; अमुष्य—ऐसे (कृष्ण) के; रूपम्—स्वरूप को; लावण्य-सारम्—सुन्दरता के सार; असम-ऊर्ध्वम्—जिसकी समता न की जा सके या जिसको पछाड़ा न जा सके; अनन्य-सिद्धम्—किसी अन्य आभूषण से पूरा न होने वाला (आत्म-सिद्ध); दृग्भिः—आँखों से; पिबन्ति—पीती हैं; अनुसव-अभिनवम्—निरन्तर नवीन; दुरापम्—प्राप्त करना कठिन; एकान्त-धाम—एकमात्र धाम; यशसः—यश का; श्रियः—सौन्दर्य का; ऐश्वरस्य—ऐश्वर्य का।.

आखिर गोपियों ने कौन-सी तपस्याएँ की होंगी? वे निरन्तर अपनी आँखों से कृष्ण के उस रूप का अमृत-पान करती हैं, जो लावण्य का सार है और जिसकी न तो बराबरी हो सकती है न ही जिससे बढ़कर और कुछ है। वही लावण्य सौन्दर्य, यश तथा ऐश्वर्य का एकमात्र धाम है। यह स्वयंसिद्ध, नित्य नवीन तथा अत्यन्त दुर्लभ है।

तात्पर्य : इस श्लोक के शब्दार्थ तथा भावार्थ श्रील प्रभुपाद कृत *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (आदि ४.१५६) से लिये गये हैं।

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।

गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

याः—जो (गोपियाँ); दोहने—दुहते समय; अवहनने—कूटते; मथन—मथते हुए; उपलेप—लेप करते; प्रेङ्ख—झूलों पर; इङ्खन—झूलते; अर्भ-रुदित—रोते शिशुओं (की देखभाल करते); उक्षण—छिड़कते; मार्जन—धोते हुए; आदौ—इत्यादि; गायन्ति—गाती हैं; च—तथा; एनम्—उससे; अनुरक्त—अत्यधिक अनुरक्त; धियः—मन; अश्रु—अश्रु सहित; कण्ठ्यः—गले; धन्याः—भाग्यशाली; व्रज-स्त्रियः—व्रज की स्त्रियाँ; उरुक्रम—कृष्ण की; चित्त—चेतना से; यानाः—इच्छित की प्राप्ति।

व्रज की स्त्रियाँ परम भाग्यशाली हैं क्योंकि कृष्ण के प्रति पूर्णतया अनुरक्त चित्तों से तथा अश्रुओं से सदैव अवरुद्ध कण्ठों से वे गौवें दुहते, अनाज कूटते, मक्खन मथते, ईंधन के लिए गोबर एकत्र करते, झूलों पर झूलते, अपने रोते बालकों की देखरेख करते, फर्श पर जल छिड़कते, अपने घरों को बुहारते इत्यादि के समय निरन्तर उनके गुणों का गान करती हैं। अपनी उच्च कृष्ण-चेतना के कारण वे समस्त वाँछित वस्तुएँ स्वतः प्राप्त कर लेती हैं।

प्रातर्व्रजाद्व्रजत आविशतश्च सायं
गोभिः समं क्वणयतोऽस्य निशम्य वेणुम् ।
निर्गम्य तूर्णमबलाः पथि भूरिपुण्याः
पश्यन्ति सस्मितमुखं सदयावलोकम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

प्रातः—प्रातःकाल; व्रजात्—व्रज से; व्रजतः—जाने वाले का; आविशतः—प्रवेश करते; च—तथा; सायम्—संध्या-समय; गोभिः समम्—गौवों के साथ; क्वणयतः—बजाते हुए; अस्य—इसकी; निशम्य—सुनकर; वेणुम्—बाँसुरी को; निर्गम्य—बाहर निकलकर; तूर्णम्—तेजी से; अबलाः—स्त्रियाँ; पथि—मार्ग पर; भूरि—अत्यन्त; पुण्याः—पवित्र; पश्यन्ति—देखती हैं; स—सहित; स्मित—हँसते हुए; मुखम्—मुख को; स-दय—दयामय; अवलोकम्—चितवनों से।

प्रातःकाल कृष्ण को अपनी गौवों के साथ व्रज से बाहर जाते या संध्या-समय उनके साथ लौटते हुए और अपनी बाँसुरी को बजाते हुए जब गोपियाँ सुनती हैं, तो उन्हें देखने के लिए वे अपने अपने घरों से तुरन्त बाहर निकल आती हैं। मार्ग पर चलते समय, उन पर दयापूर्ण दृष्टि डालते हुए उनके हँसी से पूर्ण मुख को देखने में सक्षम होने के लिए, उन सबों ने अवश्य ही अनेक पुण्य-कर्म किये होंगे।

एवं प्रभाषमाणासु स्त्रीषु योगेश्वरो हरिः ।
शत्रुं हन्तुं मनश्चक्रे भगवान्भरतर्षभ ॥ १७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; प्रभाषमाणासु—बोलती हुई; स्त्रीषु—स्त्रियों के; योग-ईश्वरः—समस्त योग-शक्ति के स्वामी; हरिः—कृष्ण ने; शत्रुम्—अपने शत्रु को; हन्तुम्—मारने के लिए; मनः चक्रे—अपना मन बनाया; भगवान्—भगवान्; भरत-ऋषभ—हे भरत-श्रेष्ठ।

[शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा] हे भरत-श्रेष्ठ, जब स्त्रियाँ इस तरह बोल रही थीं तो समस्त योग-शक्ति के स्वामी भगवान् कृष्ण ने अपने शत्रु को मार डालने का निश्चय कर लिया।

सभयाः स्त्रीगिरः श्रुत्वा पुत्रस्नेहशुचातुरौ ।
पितरावन्वतप्येतां पुत्रयोरबुधौ बलम् ॥ १८॥

शब्दार्थ

स-भयाः—भयभीत; स्त्री—स्त्रियों के; गिरः—शब्द; श्रुत्वा—सुनकर; पुत्र—अपने पुत्रों के; स्नेह—स्नेह से; शुच—शोक से; आतुरौ—विह्वल; पितरौ—उनके माता-पिता (देवकी तथा वसुदेव); अन्वतप्येताम्—सन्ताप का अनुभव करते; पुत्रयोः—अपने दोनों पुत्रों के; अबुधौ—न जानते हुए; बलम्—बल को।

दोनों भगवानों पर स्नेह होने के कारण उनके माता-पिता (देवकी तथा वसुदेव) ने जब स्त्रियों के भयपूर्ण वचन सुने तो वे शोक से विह्वल हो उठे। वे अपने पुत्रों के बल को न जानने के कारण सन्तप्त हो गए।

तात्पर्य : इस परिस्थिति में स्वाभाविक था, कृष्ण के माता-पिता द्वारा यह सोच रहे थे कि "हमने अपने पुत्रों को घर में क्यों नहीं रखा? हमने उन्हें इस भ्रष्ट प्रदर्शन में भाग लेने की अनुमति क्यों दी" पश्चाताप करने लगे।

तैस्तैर्नियुद्धविधिभिर्विविधैरच्युतेतरौ ।
युयुधाते यथान्योन्यं तथैव बलमुष्टिकौ ॥ १९॥

शब्दार्थ

तैः तैः—इन सबों से; नियुद्ध—कुश्ती लड़ने की; विधिभिः—विधियों से; विविधैः—नाना प्रकार की; अच्युत-इतरौ—अच्युत तथा उसके प्रतिद्वन्द्वी ने; युयुधाते—युद्ध किया; यथा—जिस तरह; अन्योन्यम्—एक-दूसरे से; तथा एव—उसी तरह; बल-मुष्टिकौ—बलराम तथा मुष्टिक।

भगवान् बलराम तथा मुष्टिक ने मल्लयुद्ध की अनेक शैलियों का कुशलतापूर्वक प्रदर्शन करते हुए एक-दूसरे से उसी तरह युद्ध किया जिस तरह कृष्ण तथा उनके प्रतिपक्षी ने किया।

भगवद्गात्रनिष्पातैर्वज्रनीष्पेषनिष्ठुरैः ।
चाणूरो भज्यमानाङ्गो मुहुर्ग्लानिमवाप ह ॥ २०॥

शब्दार्थ

भगवत्—भगवान् का; गात्र—अंगों द्वारा; निष्पातैः—वारों से; वज्र—वज्र के; निष्पेष—धमाके की तरह; निष्ठुरैः—कठोर; चाणूरः—चाणूर; भज्यमान—भंग किया गया; अङ्गः—सारा शरीर; मुहुः—अधिकाधिक; ग्लानिम्—पीड़ा तथा थकान; अवाप ह—अनुभव किया।

भगवान् के अंगों से होने वाले कठोर वार चाणूर पर वज्रपात सदृश लग रहे थे जिससे उसके शरीर का अंग-प्रत्यंग चूर हो रहे थे और उसे अधिकाधिक पीड़ा तथा थकान उत्पन्न हो रही थी।

तात्पर्य : चाणूर की कुहनियाँ, भुजाएँ, घुटने तथा अन्य भाग निर्बल होते जा रहे थे।

स श्येनवेग उत्पत्य मुष्टीकृत्य करावुभौ ।
भगवन्तं वासुदेवं क्रुद्धो वक्षस्यबाधत ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, चाणूर; श्येन—बाज की; वेगः—चाल से; उत्पत्य—उसपर टूटते हुए; मुष्टी—मुट्ठी, मुक्का; कृत्य—बाँधकर; करौ—हाथ; उभौ—दोनों; भगवन्तम्—भगवान्; वासुदेवम्—कृष्ण की; क्रुद्धः—क्रोधित; वक्षसि—वक्षस्थल पर; अबाधत—प्रहार किया।

क्रुद्ध चाणूर ने बाज की गति से भगवान् वासुदेव पर आक्रमण किया और उनकी छाती पर अपनी दोनों मुट्ठियों (घूँसों) से प्रहार किया।

तात्पर्य : ऐसा लगता है कि अपने को पराजित हुआ समझकर चाणूर क्रुद्ध हो उठा और भगवान् कृष्ण को हराने के लिए उसने अन्तिम प्रयास किया। उस असुर में अच्छे योद्धा का उत्साह तो था किन्तु उसके द्वारा यदि वह विजय की आशा कर रहा था, तो वह निश्चय ही ग़लत स्थान पर, ग़लत समय पर तथा ग़लत व्यक्ति से ऐसी आशा करता था॥

नाचलत्तत्प्रहारेण मालाहत इव द्विपः ।
बाह्वोर्निगृह्य चाणूरं बहुशो भ्रामयन्हरिः ॥ २२ ॥
भूपृष्ठे पोथयामास तरसा क्षीण जीवितम् ।
विस्रस्ताकल्पकेशस्रगिन्द्रध्वज इवापतत् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

न अचलत्—(कृष्ण) टस से मस नहीं हुए; तत्-प्रहारेण—उसके प्रहार से; माला—मालाओं से; आहत—मारा गया; इव—सदृश; द्विपः—हाथी; बाह्वोः—दो भुजाओं द्वारा; निगृह्य—पकड़कर; चाणूरम्—चाणूर को; बहुशः—अनेक बार; भ्रामयन्—घुमाकर; हरिः—भगवान् कृष्ण ने; भू—पृथ्वी के; पृष्ठे—ऊपर; पोथयाम् आस—फेंक दिया; तरसा—बलपूर्वक; क्षीण—रहित; जीवितम्—अपना जीवन; विस्रस्त—बिखरे; आकल्प—वस्त्र; केश—बाल; स्रक्—तथा फूल की माला; इन्द्र-ध्वजः—ऊँचा लट्ठा; इव—मानो; अपतत्—वह गिर पड़ा।

जिस तरह फूल की माला से मारने से हाथी कुछ भी नहीं होता उसी तरह असुर के बलशाली वारों से विचलित न होते हुए भगवान् कृष्ण ने चाणूर की भुजाओं को पकड़कर कई बार चारों

ओर घुमाया और उसे बड़े वेग से पृथ्वी पर पटक दिया। उसके वस्त्र, केश तथा माला बिखर गये और वह पहलवान पृथ्वी पर गिरकर मर गया मानो कोई विशाल उत्सव-स्तम्भ गिर पड़ा हो।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने *इन्द्रध्वज* शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है : "एक विशेष उत्सव पर बंगाल में आदमी के रूप में एक ऊँचा स्तम्भ खड़ा करके लोग उसे झंडियों आदि से सजाते हैं। चाणूर उसी तरह गिरा जिस तरह यह स्तम्भ गिरा हो।"

तथैव मुष्टिकः पूर्वं स्वमुष्ट्याभिहतेन वै ।
बलभद्रेण बलिना तलेनाभिहतो भृशम् ॥ २४॥
प्रवेपितः स रुधिरमुद्वमन्मुखतोऽर्दितः ।
व्यसुः पपातोर्व्युपस्थे वाताहत इवाङ्घ्रिपः ॥ २५॥

शब्दार्थ

तथा—भी; एव—इसी तरह; मुष्टिकः—मुष्टिक; पूर्वम्—इसके पहले; स्व-मुष्ट्या—अपने ही घूँसे से; अभिहतेन—प्रहार किया गया; वै—निस्सन्देह; बलभद्रेण—बलराम द्वारा; बलिना—बलशाली; तलेन—हथेली से; अभिहतः—प्रहार किया गया; भृशम्—तेजी से; प्रवेपितः—काँपते हुए; सः—वह, मुष्टिक; रुधिरम्—रक्त; उद्वमन्—वमन करता; मुखतः—मुँह से; अर्दितः—व्यथित; व्यसुः—प्राणरहित; पपात—गिर पड़ा; उर्वी—भूमि की; उपस्थे—गोद में; वात—वायु द्वारा; आहतः—गिराया गया; इव—सदृश; अङ्घ्रिपः—वृक्ष।

इसी प्रकार मुष्टिक पर भगवान् बलभद्र ने अपने मुक्के से प्रहार किया और उसका वध कर दिया। बलशाली भगवान् बलभद्र के हाथ का करारा थप्पड़ खाकर वह असुर भारी पीड़ा से काँपने लगा और रक्त वमन करने लगा। तत्पश्चात् निष्प्राण होकर जमीन पर उसी तरह गिर पड़ा जिस तरह हवा के झोंके से कोई वृक्ष धराशायी होता है।

ततः कूटमनुप्राप्तं रामः प्रहरतां वरः ।
अवधील्लीलया राजन्सावज्ञं वाममुष्टिना ॥ २६॥

शब्दार्थ

ततः—तब; कूटम्—कूट नामक असुर मल्ल; अनुप्राप्तम्—वहाँ पर प्रकट हुआ; रामः—बलराम ने; प्रहरताम्—योद्धाओं में; वरः—श्रेष्ठ; अवधीत्—मार डाला; लीलया—खेल खेल में; राजन्—हे राजा, परीक्षित; स-अवज्ञम्—उपेक्षित होकर; वाम—बायीं; मुष्टिना—मुट्ठी से।

इसके बाद कूट नामक पहलवान से योद्धाओं में श्रेष्ठ बलराम का सामना हुआ जिसे हे राजन्, उन्होंने अपनी बाईं मुट्ठी से खेल खेल में यों ही मार डाला।

तर्ह्येव हि शलः कृष्णप्रपदाहतशीर्षकः ।

द्विधा विदीर्णस्तोशलक उभावपि निपेततुः ॥ २७॥

शब्दार्थ

तर्हि एव—और तब; हि—निस्सन्देह; शलः—शल नामक मल्ल; कृष्ण—कृष्ण के; प्रपद—अँगूठे से; आहत—चोट खाकर; शीर्षकः—उसका सिर; द्विधा—दो टूक; विदीर्णः—फटा हुआ; तोशलक—तोशल; उभौ अपि—दोनों ही; निपेततुः—गिर पड़े।

तत्पश्चात् कृष्ण ने अपने पाँव के अँगूठों से शल पहलवान के सिर पर प्रहार करके उसे दो फाड़ कर दिया। भगवान् ने तोशल के साथ भी इसी तरह किया और वे दोनों मल्ल धराशायी हो गये।

चाणूरे मुष्टिके कूटे शले तोशलके हते ।
शेषाः प्रदुद्रुवुर्मल्लाः सर्वे प्राणपरीप्सवः ॥ २८॥

शब्दार्थ

चाणूरे मुष्टिके कूटे—चाणूर, मुष्टिक तथा कूट के; शले तोशलके—शल तथा तोशल के; हते—मारे जाने पर; शेषाः—बचे हुए; प्रदुद्रुवुः—भाग गये; मल्लाः—पहलवान; सर्वे—सभी; प्राण—अपने प्राण; परीप्सवः—बचाने की आशा से।

चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल तथा तोशल के मारे जाने के बाद बचे हुए पहलवान अपनी जान बचाकर भाग लिये।

गोपान्वयस्यानाकृष्य तैः संसृज्य विजह्रतुः ।
वाद्यमानेषु तूर्येषु वल्गन्तौ रुतनूपुरौ ॥ २९॥

शब्दार्थ

गोपान्—ग्वालबाल; वयस्यान्—उनके वयस्क मित्रगण; आकृष्य—एकत्र करके; तैः—उनके साथ; संसृज्य—मिलकर; विजह्रतुः—खेला-कूदा; वाद्यमानेषु—बजाते हुए; तूर्येषु—तुरहियों में; वल्गन्तौ—दोनों नाचते हुए; रुत—प्रतिध्वनित करते हुए; नूपुरौ—अपने घुंघरू।

तब कृष्ण तथा बलराम ने अपने समवयस्क ग्वालबाल सखाओं को अपने पास बुलाया और उनके साथ दोनों भगवानों ने खूब नाच किया और खेला। उनके घुंघरू वाद्य-यंत्रों की भान्ति ध्वनि करने लगे।

तात्पर्य : आजकल हम देखते हैं कि मुक्केबाजी-प्रतियोगिता में ज्योंही विजय की घोषणा की जाती है, विजयी मुक्केबाज के सभी मित्र तथा सम्बन्धी उसे बधाई देने के लिए उसके पास दौड़े आते हैं और प्रायः विजयी व्यक्ति परम हर्ष से नाचने लगता है। ठीक ऐसे ही कृष्ण तथा बलराम अपनी विजय मनाते हुए अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों के साथ मिलकर खूब नाचे।

जनाः प्रजहृषुः सर्वे कर्मणा रामकृष्णयोः ।
ऋते कंसं विप्रमुख्याः साधवः साधु साध्विति ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

जनाः—लोगों ने; प्रजहृषुः—खुशी मनाई; सर्वे—सभी; कर्मणा—इस कार्य से; राम-कृष्णयोः—बलराम तथा कृष्ण के; ऋते—सिवाय, अतिरिक्त; कंसम्—कंस के; विप्र—ब्राह्मणों के; मुख्याः—सर्वश्रेष्ठ; साधवः—सन्तपुरुष; साधु साधु इति—बहुत अच्छा! बहुत अच्छा! (कहकर चिल्ला पड़े)।

कंस के अतिरिक्त सभी व्यक्तियों ने कृष्ण तथा बलराम द्वारा सम्पन्न इस अद्‌भुत कृत्य पर हर्ष प्रकट किया। पूज्य ब्राह्मणों तथा महान् सन्तपुरुषों ने ''बहुत अच्छा, बहुत अच्छा,'' कहा।

तात्पर्य : ऐसा लगता है कि जब पूज्य ब्राह्मण तथा सन्तपुरुष ''बहुत अच्छा! बहुत अच्छा!'' कह रहे थे तो ब्राह्मणों में अधम, कंस के पुरोहित, भारीमन से शोक मना रहे थे।

हतेषु मल्लवर्येषु विद्रुतेषु च भोजराट् ।
न्यवारयत्स्वतूर्याणि वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

हतेषु—मारे गये; मल्ल-वर्येषु—श्रेष्ठ पहलवान; विद्रुतेषु—भगे हुए; च—तथा; भोज-राट्—भोजराज, कंस ने; न्यवारयत्—रोका; स्व—अपना; तूर्याणि—तुरहियाँ; वाक्यम्—शब्द; च—तथा; इदम्—यह; उवाच ह—कहा।

जब भोजराज ने देखा कि उसके सर्वश्रेष्ठ पहलवान या तो मारे जा चुके हैं अथवा भाग गये हैं, तो उसने वाद्य-यंत्रों को बजाना रूकवा दिया जो मूलतः उसके मनोविनोद के लिए बजाये जा रहे थे और इस प्रकार के शब्द कहे।

निःसारयत दुर्वृत्तौ वसुदेवात्मजौ पुरात् ।
धनं हरत गोपानां नन्दं बध्नीत दुर्मतिम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

निःसारयत—निकाल दो; दुर्वृत्तौ—दुर्व्यवहार करने वाले; वसुदेव-आत्मजौ—वसुदेव के दोनों पुत्रों को; पुरात्—नगरी से; धनम्—धन; हरत—छीन लो; गोपानाम्—ग्वालों का; नन्दम्—नन्द महाराज को; बध्नीत—बाँध दो; दुर्मतिम्—मूर्ख, दुष्ट।

[कंस ने कहा]: वसुदेव के दोनों दुष्ट पुत्रों को नगरी से बाहर निकाल दो। ग्वालों की सम्पत्ति छीन लो और उस मूर्ख नन्द को बन्दी बना लो।

वसुदेवस्तु दुर्मेधा हन्यतामाश्वसत्तमः ।
उग्रसेनः पिता चापि सानुगः परपक्षगः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

वसुदेवः—वसुदेव; तु—भी; दुर्मेधा—दुर्बुद्धि; हन्यताम्—मार डाला जाय; आशु—तुरन्त; असत्-तमः—अशुद्ध में निकृष्ट; उग्रसेनः—उग्रसेन; पिता—मेरा पिता; च अपि—भी; स—सहित; अनुगः—अपने अनुचरों; पर—शत्रु का; पक्ष-गः—पक्ष लेने वाला।

उस अत्यन्त दुष्ट मूर्ख वसुदेव को मार डालो! और मेरे पिता उग्रसेन को भी उसके अनुयायियों सहित मार डालो क्योंकि उन सब ने हमारे शत्रुओं का पक्ष लिया है।

एवं विकत्थमाने वै कंसे प्रकुपितोऽव्ययः ।
लघिम्नोत्पत्य तरसा मञ्चमुत्तुङ्गमारुहत् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विकत्थमाने—बढ़-बढ़कर बातें कर रहे; वै—निस्सन्देह; कंसे—कंस पर; प्रकुपितः—अत्यन्त क्रुद्ध हुए; अव्ययः—अच्युत भगवान् ने; लघिम्ना—आसानी से; उत्पत्य—उछलकर; तरसा—तेजी से; मञ्चम्—राजमंच पर; उत्तुङ्गम्—ऊँचे; आरुहत्—चढ़ गये।

जब कंस इस तरह दम्भ से गरज रहा था, तो अच्युत भगवान् कृष्ण अत्यन्त क्रुद्ध होकर तेजी के साथ सरलता से उछलकर ऊँचे राजमंच पर जा पहुँचे।

तमाविशन्तमालोक्य मृत्युमात्मन आसनात् ।
मनस्वी सहसोत्थाय जगृहे सोऽसिचर्मणी ॥ ३५॥

शब्दार्थ

तम्—उसे, कृष्ण को; आविशन्तम्—(निजी बैठक में) प्रवेश करते हुए; आलोक्य—देखकर; मृत्युम्—मृत्यु को; आत्मनः—अपनी; आसनात्—अपने आसन से; मनस्वी—प्रखर बुद्धिवाला; सहसा—तुरन्त; उत्थाय—उठकर; जगृहे—ले ली; सः—उसने; असि—अपनी तलवार; चर्मणी—तथा अपनी ढाल।

भगवान् कृष्ण को साक्षात् मृत्यु के समान आते देखकर प्रखर बुद्धिवाला कंस तुरन्त अपने आसन से उठ खड़ा हुआ और उसने अपनी तलवार तथा ढाल उठा ली।

तं खड्गपाणिं विचरन्तमाशु
श्येनं यथा दक्षिणसव्यमम्बरे ।
समग्रहीद्दुर्विषहोग्रतेजा
यथोरगं तार्क्ष्यसुतः प्रसह्य ॥ ३६॥

शब्दार्थ

तम्—उसे, कंस को; खड्ग—तलवार; पाणिम्—हाथ में लिए; विचरन्तम्—इधर-उधर घूमते; आशु—तेजी से; श्येनम्—बाज को; यथा—जिस तरह; दक्षिण-सव्यम्—दाएँ तथा बाएँ; अम्बरे—आकाश में; समग्रहीत्—पकड़ ले; दुर्विषह—दुस्सह; उग्र—तथा भयानक; तेजाः—जिनकी शक्ति; यथा—जिस तरह; उरगम्—साँप को; तार्क्ष्य-सुतः—तार्क्ष्य का पुत्र, गरुड़; प्रसह्य—बलपूर्वक।

हाथ में तलवार लिए कंस तेजी से एक ओर से दूसरी ओर भाग रहा था जिस तरह आकाश

में बाज हो। किन्तु दुस्सह भयानक शक्ति वाले भगवान् कृष्ण ने उस असुर को बलपूर्वक उसी तरह पकड़ लिया जिस तरह तार्क्ष्य-पुत्र (गरुड़) किसी साँप को पकड़ लेता है।

प्रगृह्य केशेषु चलत्किरीतं
निपात्य रङ्गोपरि तुङ्गमञ्चात् ।
तस्योपरिष्टात्स्वयमब्जनाभः
पपात विश्वाश्रय आत्मतन्त्रः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

प्रगृह्य—पकड़कर; केशेषु—बालों से; चलत्—ठोकर मार कर; किरीटम्—मुकुट को; निपात्य—फेंककर; रङ्ग-उपरि—अखाड़े के ऊपर; तुङ्ग—ऊँचे; मञ्चात्—मंच से; तस्य—उसके; उपरिष्टात्—ऊपर से; स्वयम्—स्वयं; अब्ज-नाभः—कमल-नाभ भगवान् ने; पपात—फेंक दिया; विश्व—ब्रह्माण्ड-भर के; आश्रयः—आधार; आत्म-तन्त्रः—स्वतंत्र।

कंस के बालों को पकड़कर तथा उसके मुकुट को ठोकर मारते हुए कमल-नाभ भगवान् ने उसे ऊँचे मंच से अखाड़े के फर्श पर फेंक दिया। तत्पश्चात् समस्त ब्रह्माण्ड के आश्रय, स्वतंत्र भगवान् उस राजा के ऊपर कूद पड़े।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने ''भगवान् कृष्ण'' में कंस की मृत्यु का वर्णन इस प्रकार दिया है : ''कृष्ण ने तुरन्त अपना सीना तान लिया और बारम्बार उस पर प्रहार करने लगे। उनके घूँसे के प्रहारों से ही कंस के प्राण छूट गये।''

तं सम्परेतं विचकर्ष भूमौ
हरिर्यथेभं जगतो विपश्यतः ।
हा हेति शब्दः सुमहांस्तदाभू-
दुदीरितः सर्वजनैर्नरेन्द्र ॥ ३८॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; सम्परेतम्—मृत; विचकर्ष—घसीटा; भूमौ—पृथ्वी पर; हरिः—सिंह; यथा—जिस तरह; इभम्—हाथी को; जगतः—सारे लोगों के; विपश्यतः—देखते देखते; हा हा इति—''हाय हाय'' इस प्रकार; शब्दः—ध्वनि; सु-महान्—विशाल; तदा—तब; अभूत्—उठी; उदीरितः—बोला गया; सर्व-जनैः—सभी लोगों के द्वारा; नर-इन्द्र—हे मनुष्यों के शासक (राजा परीक्षित)।

जिस तरह सिंह मृत हाथी को घसीटता है उसी तरह भगवान् ने वहाँ पर उपस्थित सारे लोगों के समक्ष जमीन पर कंस के मृत शरीर को घसीटा। हे राजन्, अखाड़े के सारे लोग तुमुल स्वर में ''हाय हाय'' चिल्ला उठे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि दर्शकों में से अनेक लोगों ने सोचा कि उच्च मंच

से फेंके जाने से कंस केवल मूर्छित हुआ है। इसलिए भगवान् कृष्ण उसके शव को घसीटने लगे जिससे सारे लोग जान लें कि वह दुष्ट राजा मर चुका है। इस तरह *हा हा* सम्बोधन सूचित करता है कि लोग कितने चकित थे कि राजा सहसा मर गया है।

दर्शकों के आश्चर्य का उल्लेख विष्णु पुराण में भी मिलता है—

ततो हाहाकृतं सर्वमासीत् तद्रङ्गमण्डलम्।

अवज्ञया हतं दृष्ट्वा कृष्णेन मथुरेश्वरम्॥

"जब लोगों ने देखा कि कृष्ण द्वारा मथुरा-पति अवज्ञापूर्वक मार डाला गया है, तो सारा अखाड़ा आश्चर्य की चीत्कार से भर गया।"

स नित्यदोद्विग्नधिया तमीश्वरं
पिबन्नदन्वा विचरन्स्वपन्श्वसन् ।
ददर्श चक्रायुधमग्रतो यत-
स्तदेव रूपं दुरवापमाप ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने, कंस ने; नित्यदा—निरन्तर; उद्विग्न—चिन्तित; धिया—मन से; तम्—उस; ईश्वरम्—ईश्वर को; पिबन्—पानी पीते; अदन्—भोजन करते; वा—अथवा; विचरन्—घूमते हुए; स्वपन्—सोते हुए; श्वसन्—साँस लेते; ददर्श—देखा; चक्र—चक्र; आयुधम्—अपने हाथ में; अग्रतः—अपने समक्ष; यतः—क्योंकि; तत्—वह; एव—वही; रूपम्—साकार रूप को; दुरवापम्—दुर्लभ; आप—प्राप्त किया।

कंस इस विचार से सदैव विचलित रहता था कि भगवान् द्वारा उसका वध होने वाला है। अतः वह खाते, पीते, चलते, सोते, यहाँ तक कि साँस लेते समय भी भगवान् को अपने समक्ष हाथ में चक्र धारण किये देखा करता था। इस तरह कंस ने भगवान् जैसा रूप (सारूप्य) प्राप्त करने का दुर्लभ वर प्राप्त किया।

तात्पर्य : यद्यपि कंस द्वारा भगवान् का निरन्तर ध्यान भय से उत्पन्न था किन्तु इससे उसके सारे अपराध निर्मूल हो चुके थे अतः भगवान् के हाथों से मृत्यु होने के कारण उस असुर को मोक्ष प्राप्त हुआ।

तस्यानुजा भ्रातरोऽष्टौ कङ्कन्यग्रोधकादयः ।
अभ्यधावन्नतिक्रुद्धा भ्रातुर्निर्वेशकारिणः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके, कंस के; अनुजाः—छोटे; भ्रातरः—भाई; अष्टौ—आठ; कङ्क-न्यग्रोधक-आदयः—कंक, न्यग्रोधक इत्यादि; अभ्यधावन्—आक्रमण करने दौड़े; अति-क्रुद्धाः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; भ्रातुः—अपने भाई के प्रति; निर्वेश—उऋण; कारिणः—होने के लिए।

तत्पश्चात् कंक, न्यग्रोधक इत्यादि कंस के आठ भाइयों ने क्रोध में आकर अपने भाई का बदला लेने के लिए उन दोनों भगवानों पर आक्रमण कर दिया।

तथातिरभसांस्तांस्तु संयत्तान्रोहिणीसुतः ।
अहन्परिघमुद्यम्य पशूनिव मृगाधिपः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

तथा—इस तरह से; अति-रभसान्—तेजी से दौड़ते; तान्—उन्हें; तु—तथा; संयत्तान्—प्रहार करने के लिए उद्यत; रोहिणी-सुतः—रोहिणी-पुत्र बलराम ने; अहन्—मार गिराया; परिघम्—अपनी गदा; उद्यम्य—भाँज कर; पशून्—पशुओं को; इव—सदृश; मृग-अधिपः—पशुओं का राजा, सिंह।

ज्योंही आक्रमण करने के लिए तैयार होकर वे सभी उन दोनों भगवानों की ओर तेजी से दौड़े तो रोहिणी-पुत्र ने अपनी गदा से उन सबों को उसी तरह मार डाला जिस तरह सिंह अन्य पशुओं को आसानी से मार डालता है।

नेदुर्दुन्दुभयो व्योम्नि ब्रह्मेशाद्या विभूतयः ।
पुष्पैः किरन्तस्तं प्रीताः शशंसुर्ननृतुः स्त्रियः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

नेदुः—बज उठीं; दुन्दुभयः—दुन्दुभियाँ; व्योम्नि—आकाश में; ब्रह्म-ईश-आद्याः—ब्रह्मा, शिव इत्यादि देवतागण; विभूतयः—अपने अंश; पुष्पैः—फूलों के द्वारा; किरन्तः—बिखेरते हुए; तम्—उस पर; प्रीताः—प्रसन्न; शशंसुः—उनकी प्रशंसा में गाना गाया; ननृतुः—नाचीं; स्त्रियः—उनकी पत्नियाँ।

जिस समय ब्रह्मा, शिव तथा भगवान् के अंश-रूप अन्य देवताओं ने हर्षित होकर उन पर फूलों की वर्षा की उस समय आकाश में दुन्दुभियाँ बज उठीं। वे सभी उनका यश-गान करने लगे और उनकी पत्नियाँ नाचने लगीं।

तेषां स्त्रियो महाराज सुहृन्मरणदुःखिताः ।
तत्राभीयुर्विनिघ्नन्त्यः शीर्षाण्यश्रुविलोचनाः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उनकी (कंस तथा उसके भाइयों की); स्त्रियः—पत्नियाँ; महाराज—हे राजन् (परीक्षित); सुहृत्—शुभचिन्तकों (पत्नियों) के; मरण—मृत्यु के कारण; दुःखिताः—दुखित; तत्र—उस स्थान पर; अभीयुः—पहुँचे; विनिघ्नन्त्यः—पीटते हुए; शीर्षाणि—अपने सिर; अश्रु—आँसू से युक्त; विलोचनाः—उनकी आँखें।

हे राजन्, कंस तथा उसके भाइयों की पत्नियाँ अपने अपने शुभचिन्तक पतियों की मृत्यु से

शोकाकुल होकर अपने सिर पीटती हुई तथा आँखों में आँसू भरे वहाँ पर आईं।

शयानान्वीरशयायां पतीनालिङ्ग्य शोचतीः ।
विलेपुः सुस्वरं नार्यो विसृजन्त्यो मुहुः शुचः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

शयानान्—लेटे हुए; वीर—वीर की; शयायाम्—शय्या पर (भूमि पर); पतीन्—अपने अपने पतियों को; आलिङ्ग्य—चूमकर; शोचतीः—शोक का अनुभव करतीं; विलेपुः—विलाप करने लगीं; सु-स्वरम्—जोर-जोर से; नार्यः—स्त्रियाँ; विसृजन्त्यः—गिराती हुई; मुहुः—बारम्बार; शुचः—आँसू।

वीरों की मृत्यु शय्या पर लेटे अपने पतियों का आलिंगन करते हुए शोकमग्न स्त्रियाँ आँखों से निरन्तर अश्रु गिराती हुईं जोर-जोर से विलाप करने लगीं।

हा नाथ प्रिय धर्मज्ञ करुणानाथवत्सल ।
त्वया हतेन निहता वयं ते सगृहप्रजाः ॥ ४५॥

शब्दार्थ

ह—हाय; नाथ—हे स्वामी; प्रिय—हे प्यारे; धर्म-ज्ञ—धर्म के ज्ञाता; करुण—हे दयावान्; अनाथ—बिना रक्षकों वाले के; वत्सल—हे दयालु; त्वया—तुम्हारे द्वारा; हतेन—मारे जाकर; निहताः—मारी जाती हैं; वयम्—हम; ते—तुम्हारे; स—सहित; गृह—घर; प्रजाः—तथा सन्तानों।

[स्त्रियाँ विलाप करने लगीं]: हाय! हे नाथ, हे प्रिय, हे धर्मज्ञ, हे आश्रयहीनों के दयालु रक्षक, तुम्हारा वध हो जाने से हम भी तुम्हारे घर तथा सन्तानों समेत मारी जा चुकी हैं।

त्वया विरहिता पत्या पुरीयं पुरुषर्षभ ।
न शोभते वयमिव निवृत्तोत्सवमङ्गला ॥ ४६॥

शब्दार्थ

त्वया—तुमसे; विरहिता—बिछुड़कर; पत्या—स्वामी से; पुरी—नगरी; इयम्—यह; पुरुष—पुरुषों में; ऋषभ—श्रेष्ठ वीर; न शोभते—शोभा नहीं देता; वयम्—हमको; इव—जिस तरह; निवृत्त—समाप्त; उत्सव—उत्सव; मङ्गला—तथा सौभाग्य।

हे पुरुषों में श्रेष्ठ वीर, यह नगरी अपने स्वामी तुमसे बिछुड़कर अपना सौन्दर्य उसी प्रकार खो चुकी है, जिस तरह हम खो चुकी हैं और इसके भीतर के सारे हर्षोल्लास तथा सौभाग्य का अन्त हो चुका है।

अनागसां त्वं भूतानां कृतवान्द्रोहमुल्बणम् ।
तेनेमां भो दशां नीतो भूतध्रुक्को लभेत शम् ॥ ४७॥

शब्दार्थ

अनागसाम्—निष्पाप, निरपराध; त्वम्—तुमने; भूतानाम्—प्राणियों के प्रति; कृतवान्—किया था; द्रोहम्—हिंसा; उल्बणम्—घोर; तेन—उसी से; इमाम्—इस; भो—हे प्रिय; दशाम्—दशा को; नीतः—लाये गये; भूत—जीवों के प्रति; ध्रुक्—क्षति पहुँचाते हुए; कः—कौन; लभेत—प्राप्त कर सकता है; शम्—सुख।

हे प्रिय, तुम्हारी यह दशा इसीलिए हुई है क्योंकि तुमने निर्दोष प्राणियों के प्रति घोर हिंसा की है। भला दूसरों को क्षति पहुँचाने वाला कैसे सुख पा सकता है?

तात्पर्य : अपनी भावपूर्ण व्यथा व्यक्त करने के पश्चात् स्त्रियाँ अब व्यावहारिक बुद्धिमत्ता की बात करने लगती हैं। अब वे सभी वस्तुओं को वास्तविकता से देखने लगी हैं क्योंकि उनके मन हाल की घटनाओं के दु:ख से और भगवान् की संगति से शुद्ध हो गए थे।

सर्वेषामिह भूतानामेष हि प्रभवाप्ययः ।
गोप्ता च तदवध्यायी न क्वचित्सुखमेधते ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

सर्वेषाम्—समस्त; इह—इस जगत में; भूतानाम्—जीवों का; एषः—यह (कृष्ण); हि—निश्चय ही; प्रभव—उद्गम; अप्ययः—तथा तिरोधान; गोप्ता—पालक; च—तथा; तत्—उसका; अवध्यायी—उपेक्षा करने वाला; न क्वचित्—कभी नहीं; सुखम्—सुखपूर्वक; एधते—फूलता-फलता है।

भगवान् कृष्ण इस जगत में सारे जीवों को प्रकट करते हैं और उनका संहार करने वाले हैं। साथ ही वे उनके पालनकर्ता भी हैं। जो उनका अनादर करता है, वह कभी भी सुखपूर्वक फल-फूल नहीं सकता।

श्रीशुक उवाच
राजयोषित आश्वास्य भगवाँल्लोकभावनः ।
यामाहुर्लौकिकीं संस्थां हतानां समकारयत् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; राज—राजा (तथा उसके भाइयों) की; योषितः—पत्नियों को; आश्वास्य—आश्वासन देकर; भगवान्—भगवान्; लोक—समस्त लोकों के; भावनः—पोषणकर्ता; याम्—जो; आहुः—वे (वेदादि) आदेश देते हैं; लौकिकीम् संस्थाम्—लोकरीति, दाह-संस्कार; हतानाम्—मृतकों के लिए; समकारयत्—किये जाने की व्यवस्था की।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : रानियों को सान्त्वना देने के बाद समस्त जगतों के पालनकर्ता भगवान् कृष्ण ने नियत दाह-संस्कार सम्पन्न किये जाने की व्यवस्था की।

मातरं पितरं चैव मोचयित्वाथ बन्धनात् ।
कृष्णरामौ ववन्दाते शिरसा स्पृश्य पादयोः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

मातरम्—अपनी माता को; पितरम्—पिता को; च—तथा; एव—भी; मोचयित्वा—छुड़ाकर; अथ—तब; बन्धनात्—हथकड़ी, बेड़ी से; कृष्ण-रामौ—कृष्ण तथा बलराम ने; ववन्दाते—नमस्कार किया; शिरसा—सिर से; स्पृश्य—छूकर; पादयोः—उनके पैर।

तत्पश्चात् कृष्ण तथा बलराम ने अपने माता-पिता को बन्धन से छुड़ाया और अपने सिर से उनके पैरों को छूकर उन्हें नमस्कार किया।

देवकी वसुदेवश्च विज्ञाय जगदीश्वरौ ।
कृतसंवन्दनौ पुत्रौ सस्वजाते न शङ्कितौ ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

देवकी—देवकी; वसुदेवः—वसुदेव; च—तथा; विज्ञाय—पहचान कर; जगत्—ब्रह्माण्ड के; ईश्वरौ—दो ईश्वरों के रूप में; कृत—किया गया; संवन्दनौ—हाथ जोड़कर की गई वन्दना; पुत्रौ—अपने दोनों पुत्रों को; सस्वजाते न—आलिंगन नहीं किया; शङ्कितौ—शंकालु।

अब कृष्ण तथा बलराम को ब्रह्माण्ड के विभुओं के रूप में जानकर देवकी तथा वसुदेव केवल हाथ जोड़े खड़े रहे। शंकित होने के कारण उन्होंने अपने पुत्रों का आलिंगन नहीं किया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत "कंस वध" नामक चवालीसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Preliminary page 1

श्री श्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

कृष्णद्वैपायन व्यास

कृत

श्रीमद्भागवतम्

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव

जीवन्ति सम्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।

स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्

ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥३ ॥

(श्रीमद्भागवत १०.१४.३)

Preliminary page 3

श्रीमद्भागवतम्

(भगवत्-सन्देश)

दसवाँ स्कन्ध

''परम पुरुषार्थ''

(भाग दो—अध्याय १४—४४)

मूल संस्कृत पाठ, शब्दार्थ,

तथा विस्तृत तात्पर्य कृष्णकृपामूर्ति

श्री श्रीमद् अभयचरणारविन्द भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

संस्थापकाचार्य: अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

के शिष्यों द्वारा

Preliminary page 5

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

श्रीमद्भागवतम् एवं सम्पादकीय बोर्ड

(संस्कृत से अंग्रेजी)

हृदयानन्द दास गोस्वामी

प्रोजेक्ट डायरेक्टर, क, तात्पर्य लेखक एवं प्रधान संपादक

गोपीप्राणधन दास अधिकारी

क, तात्पर्य लेखक एवं संस्कृत संपादक

द्रविड़ दास ब्रह्मचारी

अंग्रेजी संपादक

Prelimianry page 6

विषय-सूची

श्रीमद्भागवतम्

विषय-सूची

आमुख

प्राक्कथन

प्रस्तावना

अध्याय चौदह

ब्रह्मा द्वारा कृष्ण की स्तुति

अध्याय का सारांश

शुद्धात्माओं से भगवान् का श्रवण करना ही उन्हें जीतने का एकमात्र साधन

कृष्ण के दिव्य गुणों की गणना सम्भव नहीं

भगवान् के शरीर से असंख्य ब्रह्माण्डों का उद्भास

हर वस्तु कृष्ण की शक्तियों की अभिव्यक्ति

भगवान् का शरीर भौतिक विकारों से सर्वथा मुक्त

अपनी दया से भगवान् का प्राकट्य

ब्रह्मा द्वारा वृन्दावन के जंगल में वृक्ष रूप में जन्म लेने की प्रार्थना

कृष्ण तथा उनके ग्वालमित्र पुन: अपनी क्रीड़ा में मग्न

कृष्ण हरएक के स्नेह की सर्वप्रिय वस्तु क्यों?

कृष्ण के चरणकमलों की नाव माया के समुद्र को गोखुर में बदलने वाली है

अध्याय पन्द्रह

धेनुकासुर वध

अध्याय का सारांश

भगवान् कृष्ण द्वारा भगवान् बलराम का यशोगान

ग्वालबालों का दोनों दिव्य भाइयों के साथ खेलना

ग्वालबालों का कृष्ण तथा बलराम से धेनुक का वध करने का आग्रह

बलराम द्वारा धेनुक को मारकर तालवृक्ष के ऊपर फेंका जाना

कृष्ण तथा बलराम द्वारा अन्य गर्दभ असुरों का संहार

गोपियों द्वारा कृष्ण के मुखकमल के मधु-रूपी सौन्दर्य का पान

कृष्ण द्वारा गौवों तथा ग्वालबालों को पुनः जीवन-दान

अध्याय सोलह

कृष्ण द्वारा कालिय नाग को प्रताड़ना

अध्याय का सारांश

कालिय सरोवर का उग्र विष

कृष्ण का कालिय को ललकारना तथा उसकी कुंडली में बाँधा जाना

ग्वालसमुदाय का किंकर्तव्यविमूढ होना

कालिय के अनेक फनों पर भगवान् द्वारा नृत्य

कालिय की पत्नियों द्वारा कृष्ण की स्तुति

अपने पति को क्षमा करने के लिए कालिय की पत्नियों द्वारा कृष्ण से प्रार्थना

कृष्ण द्वारा कालिय तथा उसके परिजनों को यमुना त्यागने का आदेश

कालिय द्वारा कृष्ण की पूजा और उसका रमणक द्वीप को लौट जाना

अध्याय सत्रह

कालिय का इतिहास

अध्याय का सारांश

कालिय ने रमणक द्वीप क्यों छोड़ा

कृष्ण को यमुना में से ऊपर आते देखकर वृन्दावन वासियों का अत्यधिक हर्षित होना

दावाग्नि से व्रजवासियों के लिए संकट उपस्थित होना

कृष्ण द्वारा दावाग्नि का निगला जाना

अध्याय अठारह

भगवान् बलराम द्वारा प्रलम्बासुर का वध

अध्याय का सारांश

वृन्दावन में वसन्त ऋतु जैसा ग्रीष्म

कृष्ण, बलराम तथा ग्वालबालों का जंगल में खेलना

ग्वालबाल के वेश में प्रलम्ब का खेल में सम्मिलित होना

असुर द्वारा बलराम का अपहरण

बलराम द्वारा प्रलम्ब का वध

अध्याय उन्नीस

दावानल पान

अध्याय का सारांश

कृष्ण, बलराम तथा ग्वालबालों को उनकी गौवें मिलना

बालकों द्वारा दावाग्नि से बचाये जाने के लिए कृष्ण तथा राम को पुकारा जाना

कृष्ण द्वारा दावाग्नि का निगला जाना

गोपियों का कृष्ण को व्रज लौटते देखकर परम प्रसन्न होना

अध्याय बीस

वृन्दावन में वर्षाऋतु तथा शरद

अध्याय का सारांश

वर्षाऋतु का शुभारम्भ और वृन्दावन का हरा भरा होना

मेढकों की टर्र टर्र, मानो ब्राह्मण-छात्रों द्वारा अपने पाठों को बाँचना

खेतों से अन्न-सम्पदा का प्राप्त होना, और किसानों को पुनर्जीवन-दान

बादलों द्वारा चन्द्रमा का ढका जाना मानो मिथ्या अहंकार आत्मा को ढक रहा हो

कृष्ण द्वारा अपने मित्रों के साथ हरे-भरे जंगल का विहार करना

शरद का आगमन

वृन्दावन के जंगल की मन्द वायु से सारे कष्टों का शमन

कृष्ण के अंश रूप में समृद्ध पृथ्वी का सुन्दरता से चमकना

अध्याय इक्कीस

गोपियों द्वारा कृष्ण के वेणुगीत की सराहना

अध्याय का सारांश

मधुमक्खियों, पक्षियों तथा कृष्ण की वंशी से गुंजरित वृन्दावन

कृष्ण का अपने होंठों के अमृत से अपनी वंशी को पूरित करना

भाग्यशाली नेत्रों द्वारा कृष्ण तथा बलराम के मुखड़ों का दर्शन

समस्त नारियों के लिए हर्षोल्लास कृष्ण का सौंदर्य तथा चरित्र

नदियों द्वारा मुरारी के चरणों का आलिंगन

कृष्ण के भक्तों में गोवर्धन सर्वश्रेष्ठ

अध्याय बाईस

कृष्ण द्वारा अविवाहिता गोपियों का चीर-हरण

अध्याय का सारांश

गोपियों द्वारा कात्यायनी की पूजा

कृष्ण द्वारा युवा कुमारियों का वस्त्र-हरण

हास-परिहास द्वारा कृष्ण का गोपियों को मोहित करना

आकुल, कंपित तथा आनन्द से पूर्ण गोपियों का जल से बाहर आना

कृष्ण का गोपियों को ठगना और उनकी इच्छापूर्ति करना

कृष्ण पर मन एकाग्र करने से भौतिक इच्छाओं का विनाश

कृष्ण द्वारा व्रज के वृक्षों की प्रशंसा

अन्यों को लाभ पहुँचाने के लिए ही जीवन

अध्याय तेईस

ब्राह्मण-पत्नियों को आशीर्वाद

अध्याय का सारांश

भोजन माँगने के लिए कृष्ण द्वारा अपने भूखे मित्रों को भेजना

ग्वालबालों द्वारा निवेदन

गर्वित ब्राह्मणों द्वारा बालकों का तिरस्कार

ब्राह्मणों की पत्नियों का भोजन लेकर कृष्ण के पास जाना

कृष्ण का नाटक के नर्तक की भाँति दिखना

बुद्धिमानों द्वारा कृष्ण की सेवा

ब्राह्मणों की पत्नियों की कृष्ण के पास रुकने की इच्छा

कृष्ण द्वारा ब्राह्मण-पत्नियों को लौटने की सलाह

ग्वालबालों तथा कृष्ण द्वारा प्रिति-भोज का आनन्द लूटा जाना

ब्राह्मणों द्वारा अपने आपको कोसा जाना

कृष्ण द्वारा याचना किया जाना आश्चर्य-जनक

ब्राह्मणों द्वारा क्षमा-याचना के लिए प्रार्थना

अध्याय चौबीस

गोवर्धन पूजा

अध्याय का सारांश

आने वाले यज्ञ के विषय में कृष्ण द्वारा पूछताछ

नन्द द्वारा यह बताया जाना कि ग्वाले इन्द्र की पूजा क्यों करें

कृष्ण द्वारा इन्द्र की अपेक्षा कर्म की श्रेष्ठता की घोषणा

मनुष्य का बद्ध स्वभाव ही प्रधान

कर्म पूज्य है

गोरक्षा वृन्दावन का धर्म

कृष्ण द्वारा इन्द्र के पराक्रम का उपहास

गोवर्धन पूजा कैसे की जाय

चढ़ावा खाने के लिए कृष्ण द्वारा विराट रूप धारण किया जाना

ग्वालों तथा कृष्ण का व्रज में वापस आना

अध्याय पचीस

कृष्ण द्वारा गोवर्धन-धारण

अध्याय का सारांश

क्रुद्ध इन्द्र द्वारा ब्रह्माण्ड का विनाश करने वाले बादलों का भेजा जाना

इन्द्र द्वारा कृष्ण को छोटा करके आँकना

बादलों द्वारा वृन्दावन पर वर्षा तथा ओले बरसाना

शरण के लिए गौवों तथा ग्वालों का कृष्ण के पास आना

कृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत का उठाया जाना

पर्वत के नीचे सब का शरण लेना

नम्र होकर इन्द्र द्वारा आप्लावन बन्द

गौवों तथा ग्वालों का पर्वत के नीचे से बाहर आना

यशोदा, रोहिणी तथा अन्यों द्वारा आनन्दित होकर कृष्ण का आलिंगन

गोपियों द्वारा कृष्ण की महिमा का गायन

अध्याय छब्बीस

अद्‌भुत कृष्ण

अध्याय का सारांश

सात वर्षीय कृष्ण किस तरह पर्वत को उठाये रहे ?

बालक कृष्ण द्वारा तृणावर्त का गला घोटा जाना

बालक कृष्ण द्वारा वत्सासुर का वध

भगवान् द्वारा कालिय को नीचा दिखाया जाना

गर्गमुनि द्वारा कृष्ण की पहचान की व्याख्या

भगवान् के अनेक नाम

नारायण के ही समान कृष्ण

गोवर्धनधारी कृष्ण की स्तुति

अध्याय सत्ताईस

इन्द्र-देव तथा माता सुरभि द्वारा स्तुति

अध्याय का सारांश

कृष्ण के चरणों पर इन्द्र का शीश झुकाना

लोभ, द्वेष तथा क्रोध का कृष्ण में अभाव

पापियों को ठीक करने के लिए कृष्ण द्वारा दण्ड

इन्द्र द्वारा क्षमा-याचना

इन्द्र के यज्ञ को रोकना कृष्ण का अनुग्रह

कृष्ण उसके इन्द्र बनें:सुरभि की प्रार्थना

सुरभि द्वारा अपने दूध से कृष्ण को स्नान कराना

ब्रह्माण्ड भर में सन्तोष तथा हर्ष

अध्याय अट्ठाईस

कृष्ण द्वारा वरुणलोक से नन्द महाराज की रक्षा

अध्याय का सारांश

वरुण के सेवक द्वारा नन्द महाराज का पकड़ा जाना

वरुणदेव द्वारा कृष्ण का यशोगान

वरुण द्वारा भगवान् से क्षमा-याचना

नन्द समेत कृष्ण का घर वापस आना

सर्व दयामय भगवान् द्वारा ग्वालों को अपना धाम दिखलाया जाना

अध्याय उन्तीस

रास नृत्य के लिए कृष्ण तथा गोपियों का मिलन

अध्याय का सारांश

गोपियों को बुलाने के लिए कृष्ण द्वारा वंशी वादन

कृष्ण से मिलने के लिए युवतियों का वन की ओर दौड़ा आना

गोपियों की विभिन्न टोलियों का वर्णन

गोपियों द्वारा अपने अपने भौतिक शरीरों का परित्याग

राजा परीक्षित का आश्चर्यचकित प्रतीत होना

भगवान् प्रकृति के गुणों से सदैव अछूते

कृष्ण द्वारा युवा गोपियों का सत्कार

पति-सेवा स्त्री का परम कर्तव्य

कृष्ण के श्रवण, ध्यान तथा कीर्तन से उनके प्रेम का उदय

कृष्ण के वचनों से गोपियाँ मर्माहत

युवतियों की याचना

लक्ष्मी देवी द्वारा भगवान् के चरणकमलों की धूलि की स्पृहा

गोपियों की घोषणा: ''हे कृष्ण! हम आपकी दासियाँ बनें''

कृष्ण तथा गोपियों का रासनृत्य प्रारम्भ

गोपियों के गर्व को चूर करने के लिए भगवान् का अन्तर्धान होना

अध्याय तीस

गोपियों द्वारा कृष्ण की खोज

अध्याय का सारांश

कृष्ण के विछोह से गोपियाँ किंकर्तव्य विमूढ़

जंगल के वृक्षों तथा पशुओं से युवतियों द्वारा पूछा जाना कि कृष्ण कहाँ हैं

कृष्ण के चरणकमलों का स्पर्श करके धरती आनन्दित

गोपियों द्वारा कृष्णलीलाओं का अनुकरण

गोपियों को जंगल में कृष्ण के पदचिह्नों का मिलना

भगवान् के चरणकमलों का विस्तृत वर्णन

गुप्तचरों की तरह, गोपियों द्वारा कृष्ण की राधारानी के

साथ हुई लीलाओं का अनुमान लगाना

राधा का गर्व चूर करने के लिए कृष्ण का अन्तर्धान होना

गोपियों द्वारा कृष्ण की खोज तथा उनके यश का गायन

अध्याय इकतीस

गोपियों के विरह–गीत

अध्याय का सारांश

गोपियाँ गाती हैं हे वर दाता, आप अपनी दासियों को मार रहे हैं

''कृपया इच्छापूर्ण करने वाले अपने हाथ को हमारे सिर पर रखें''

''कृपया अपने अधरामृत से अपनी दासियों को जीवनदान दें''

''हे छलिया, तुम्हारी मुसकान तथा प्रेमभरी चितवन

हमें अत्यन्त चंचल बनाती हैं''

''आपके बिना एक क्षण भी युग जैसा लगता है''

''हे प्रिय, हमें चिन्ता है कि आपके कोमल चरण

जंगल के मार्ग में आहत हो जायेंगे''

अध्याय बत्तीस

पुन: मिलाप

अध्याय का सारांश

गोपियों के समक्ष कृष्ण का पुन: प्रकट होना

एक गोपी द्वारा कृष्ण के हाथ को अपनी हथेलियों में लिया जाना

श्रीमती राधारानी अग्रगण्य गोपी

गोपियाँ केशव का पुनर्दर्शन पाने के लिए हर्षित

गोपियों के मध्य कृष्ण द्वारा आसन ग्रहण करना

प्रेम आदान-प्रदान के विषय में तरुणियों द्वारा कृष्ण से प्रश्न

कृष्ण प्रेम का आदान-प्रदान क्यों रोकते हैं ?

भगवान् गोपियों के चिरऋणी

अध्याय तैंतीस

रास नृत्य

अध्याय का सारांश

यमुना तटपर रास नृत्य का शुभारम्भ

दुन्दुभियों का बजना और फूलों की वर्षा

गोपियों के मध्य कृष्ण वैसे ही लगते हैं जैसे स्वर्ण आभूषणों के बीच नीलमणि

आह्लाद पूरित गोपियों द्वारा गायन तथा नृत्य

एक गोपी द्वारा कृष्ण की सुगन्धित बाँह का चुंबन

गोपियों के साथ कृष्ण की क्रीड़ा मानों परछाई के साथ बाल-क्रीड़ा

प्रत्येक गोपी का साथ देने के लिए भगवान् द्वारा विस्तार

कृष्ण द्वारा सामान्य नैतिक आचार संहिता का अतिक्रमण

संसारी विषय वासना से कृष्ण मुक्त

परीक्षित भगवान् कृष्ण की बाह्य अश्लीलता से चकित

सामान्य शक्तिशाली नियन्ता भी पापों से बचे हुए

तो फिर भगवान् किस तरह पवित्रता तथा अपवित्रता के

अधीन हो सकते हैं

कृष्ण द्वारा दयावश अपनी दाम्पत्य लीलाओं का अभिनय

ब्रह्मा की रात्रि के बाद गोपियों का घर वापस जाना

श्रोताओं को आशीष

अध्याय चौंतीस

नन्द महाराज की रक्षा तथा शंखचूड का वध

अध्याय का सारांश

विशाल सर्प द्वारा नन्द महाराज को निगलने का प्रयास

कृष्ण द्वारा अपने चरणकमल के स्पर्श से सर्प का उद्धार

सुदर्शन विद्याधर द्वारा अपनी कथा का वर्णन

कृष्ण नाम का कीर्तन करने वाला अपने को

तथा श्रवण करने वाले को पवित्र बनाने वाला

कृष्ण और बलराम रात्रि के समय गोपियों के

साथ आनन्द मनाते हैं

भगवान् के गायन से गोपियाँ मोहित और चकित हो जाती हैं

शंखचूड़ गोपियों का हरण करने का प्रयास करता है

कृष्ण असुर को मारकर उसका शीर्षमणि ले लेते हैं

अध्याय पैंतीस

कृष्ण के वन–विहार के समय गोपियों द्वारा कृष्ण का गायन

अध्याय का सारांश

कृष्ण के वेणुगीत से देवपत्नियाँ भी चकित

कृष्ण के वंशीवादन से व्रज के बैल, हिरन तथा गौवें स्तम्भित

वृक्षों तथा लताओं द्वारा मधुरस की वर्षा

कृष्ण द्वारा अपनी लीलाओं से सारे विश्व को प्रफुल्लित किया जाना

भगवान् द्वारा अपनी मणि–माला पर गौवों की गणना

मन्द समीर द्वारा कृष्ण का सत्कार

माता यशोदा के गर्भ से उदित चन्द्रमा

गोपियाँ प्रतिदिन कृष्ण की लीलाओं का निरन्तर गान करते हुए आनन्द मनाती हैं

अध्याय छत्तीस

वृषभासुर अरिष्ट का वध

अध्याय का सारांश

अरिष्ट द्वारा व्रज की चारदीवारियों का तोड़ा जाना

व्रजवासियों का कृष्ण की शरण में जाना

वृषभासुर द्वारा कृष्ण पर भयानक प्रहार

भगवान् कृष्ण द्वारा अरिष्टासुर का वध

राधाकुण्ड तथा श्याम-कुण्ड की कथा

नारद द्वारा कंस को बताया जाना कि कृष्ण वास्तव में कौन हैं

कृष्ण का वध करने के लिए कंस द्वारा अश्र्वासुर केशी को आदेश

मल्लयुद्ध की योजना

कृष्ण तथा बलराम को वृन्दावन से लाने के लिए कंस द्वारा अक्रूर का भेजा जाना

अध्याय सैंतीस

केशी तथा व्योम असुरों का वध

अध्याय का सारांश

अश्वासुर केशी द्वारा गोकुल पर आंतक

कृष्ण का केशी के मुँह में अपनी बाईं भुजा डालना

केशी का वध करने पर देवताओं द्वारा कृष्ण की पूजा

नारद मुनि द्वारा कृष्ण की पूजा

नारद द्वारा कृष्णलीलाओं की भविष्यवाणी

कृष्ण, बलराम तथा ग्वालबालों का आँख-मिचौनी खेलना

व्योमासुर द्वारा अनेक ग्वालबालों का अपहरण

कृष्ण द्वारा व्योम का गला घोंटा जाना

अध्याय अड़तीस

वृन्दावन में अक्रूर का आगमन

अध्याय का सारांश

कृष्ण के प्रति अनुरक्ति से अक्रूर अभिभूत

अक्रूर द्वारा कंस की दया की सराहना

कृष्ण के विषय में कहे गये शब्द संसार को चेतन, सुन्दर तथा शुद्ध बनाने वाले

कृष्ण तथा बलराम से भेंट करने की अक्रूर की पूर्व दृष्टि

कृष्ण के करकमल की महिमा

कृष्ण के आलिंगन से अक्रूर के भवबन्धन कट जायेंगे

कल्पतरु के समान कृष्ण

कृष्ण के पदचिह्नों को देखकर अक्रूर परम आह्लादित

कृष्ण तथा बलराम दो स्वर्णमंडित पर्वतों की भाँति जाज्वल्य मान

कृष्ण द्वारा भावमग्न अक्रूर का आलिंगन

बलराम द्वारा अक्रूर का सत्कार

नन्द द्वारा अक्रूर से मथुरा के जीवन के विषय में पूछताछ

अध्याय उन्तालीस

अक्रूर द्वारा दर्शन

अध्याय का सारांश

कृष्ण द्वारा अक्रूर से कंस की योजना के विषय में पूछा जाना

अक्रूर द्वारा कंस के आसुरी कृत्यों का कृष्ण को बताना

नन्द द्वारा मथुरा चलने की तैयारी करने के लिए गोपों को आदेश

कृष्ण के आसन्न विछोह पर गोपियाँ किंकर्तव्य विमूढ़

गोपियों द्वारा विधाता को कोसना

युवतियाँ मथुरा की स्त्रियों से ईर्ष्यालु

अक्रूर (“क्रूर नहीं”) नाम सही नहीं गोपियों का कथन

रास नृत्य का स्मरण करके गोपियाँ शोकाकुल

अक्रूर द्वारा शोकमग्न गोपियों की उपेक्षा

कृष्ण द्वारा गोपियों को धैर्य दिलाना कि मैं फिर आऊँगा

यमुना के भीतर अक्रूर को कृष्ण तथा बलराम के दर्शन

अक्रूर का भगवान् विष्णु को अनंत शेष नाग पर लेटे देखना

भगवान् विष्णु के सुंदर रूप का वर्णन

अध्याय चालीस

अक्रूर द्वारा स्तुति

अध्याय का सारांश

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भगवान् विष्णु से उद्भूत

मंत्रोच्चार द्वारा विष्णु की पूजा

शुद्ध बुद्धि वाले लोगों द्वारा वैष्णव शास्त्रों का परिपालन

जिस तरह नदियाँ समुद्र में गिरती हैं उसी तरह सारे मार्ग अन्त में विष्णु के पास जाते हैं

भगवान् के विराट रूप का वर्णन

नृसिंह तथा वामन रूप भगवान् को नमस्कार

बुद्ध तथा कल्कि रूप में भगवान् को नमस्कार

शरण के लिए अक्रूर का भगवान् के चरणकमलों के पास जाना

अध्याय इकतालीस

कृष्ण तथा बलराम का मथुरा में प्रवेश

अध्याय का सारांश

यमुना में जो कुछ देखा उससे अक्रूर का चकित होना

कृष्ण को देखने वाले को और क्या देखना शेष

अक्रूर की कृष्ण तथा बलराम से याचना कि वे उसके घर चलें

भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की महिमा

कंस को मारने के बाद अक्रूर के यहाँ जाने का कृष्ण द्वारा वादा

कृष्ण तथा बलराम का अपने मित्रों सहित मथुरा में प्रवेश

कृष्ण तथा बलराम को देखने के लिए मथुरा की स्त्रियों का झटपट चले आना

कृष्ण का अपनी अमृतमय मुसकान-युक्त चितवन से स्त्रियों के हृदय को द्रवित करना

एक उद्धत धोबी का मार्ग में आना

कृष्ण का अपनी अँगुली के अग्रभाग से धोबी का सिर काटना

पवित्र जुलाहे का वस्त्राभूषणों से भगवान् को अलंकृत करना

सुदामा माली द्वारा अपने घर में भगवान् का भव्य स्वागत

सुदामा द्वारा कृष्ण तथा बलराम को सुगंधित मालाएँ दिया जाना

कृष्ण द्वारा सुदामा को कई वरदान

अध्याय बयालीस

यज्ञ के धनुष का टूटना

अध्याय का सारांश

कृष्ण का त्रिवक्रा कुबड़ी से चन्दन-लेप माँगना

भगवान् द्वारा कुबड़ी लड़की का सीधा किया जाना

त्रिवक्रा द्वारा कृष्ण को अपने घर बुलाया जाना

कृष्ण के देखते ही मथुरा की स्त्रियों के हृदयों में

कामदेव का जागृत होना

कृष्ण द्वारा यज्ञ के विशाल धनुष का तोड़ा जाना

कृष्ण तथा बलराम द्वारा धनुष के रखवालों का वध

श्रीलक्ष्मी का कृष्ण के सौन्दर्य की शरण चाहना

सोते जागते कंस का भयावने दृश्य देखना

दर्शकों का कुश्ती के अखाड़े में आसन ग्रहण करना

अध्याय तैतालीस

कृष्ण द्वारा कुवलयापीड का वध

अध्याय का सारांश

कुवलयापीड से लड़ने के लिए कृष्ण द्वारा तैयारी

कृष्ण पर आक्रमण करने के लिए महावत द्वारा

कुवलयापीड़ पर अंकुश की मार

कृष्ण द्वारा हाथी को पच्चीस बाण–दूरी तक घसीटा जाना

कृष्ण द्वारा कुवलयापीड़ का तंग किया जाना

कृष्ण का हाथी दाँत लेकर अखाड़े में प्रवेश

दर्शकों द्वारा कृष्ण को विभिन्न प्रकारों से देखा जाना

कृष्ण तथा बलराम द्वारा अपने तेजोमय सौन्दर्य से

सबों को मोहित करना

दर्शकों में से स्त्रियों द्वारा कृष्णलीलाओं का पुन: स्मरण

कृष्ण तथा बलराम को कुशती लड़ने के लिए चाणूर का ललकारना

कृष्ण द्वारा इस ललकार का स्वागत

अध्याय चवालीस

कंस वध

अध्याय का सारांश

चाणूर तथा मुष्टिक से कृष्ण तथा बलराम की कुश्ती

प्रतियोगियों द्वारा एक दूसरे को पीटना, पकड़ना,

खेंचना, धकेलना, कुचलना और फेंकना

दर्शकों में से स्त्रियों द्वारा इस असमान जोड़ी की कुशती की भर्त्सना

मथुरा की स्त्रियों द्वारा दोनों भाइयों के मुखमंडल के सौन्दर्य की प्रशंसा

कृष्ण का निरंतर दर्शन पाने के लिए गोपियों ने

कौन सी तपस्याएँ की होंगी ?

कुश्ती प्रतिद्वंदिता से देवकी तथा वसुदेव त्रस्त

कृष्ण द्वारा चाणूर का वध

कृष्ण द्वारा अपने पाँव के एक ही प्रहार से शल तथा

तोशल का वध

राजा कंस का कृष्ण तथा उनके मित्रों पर रोष

कृष्ण द्वारा कंस को राजसिंहासन से गिराकर जान से मार डालना

कंस द्वारा मोक्ष-प्राप्ति

कंस की मृत्यु पर देवताओं का हर्षित होना

कंस की पत्नियों का विलाप

कृष्ण तथा बलराम का अपने माता-पिता से पुनर्मिलन

परिशिष्ट

लेखक परिचय

Chapter पैंतालीस

कृष्ण द्वारा अपने गुरु-पुत्र की रक्षा

इस अध्याय में यह बतलाया गया है कि कृष्ण ने किस तरह देवकी, वसुदेव तथा नन्द महाराज को सान्त्वना दी और फिर उग्रसेन को राजा के रूप में प्रतिष्ठित किया। इसमें यह भी वर्णन हुआ है कि कृष्ण तथा बलराम किस तरह अपनी शिक्षा पूरी करके अपने गुरु के मृत पुत्र को वापस लाये और फिर घर लौटे।

यह देखकर कि उनके माता-पिता—देवकी तथा वसुदेव—उन्हें ईश्वर के वास्तविक रूप में समझ चुके हैं, श्रीकृष्ण ने पुनः अपनी योगमाया का विस्तार किया जिससे वे उन्हें अपने प्रिय पुत्र के रूप में मान सकें। तब बलराम के साथ कृष्ण उन दोनों के पास पहुँचे और कहा कि हमें यही दुख है कि साथ रहकर भी, हमारे माता-पिता और हम पारस्परिक सन्तोष नहीं पा सके। फिर उन्होंने कहा, ‘‘कोई भी पुत्र एक सौ वर्ष की जीवन अवधि में भी अपने उन माता-पिता के ऋण से उऋण नहीं हो सकता जिनसे उसे शरीर प्राप्त होता है। कोई भी सक्षम पुत्र, जो अपने माता-पिता की सेवा-सुश्रूषा नहीं कर पाता उसे अगले जीवन में अपना ही मांस खाना पड़ता है। निस्सन्देह जो व्यक्ति अपने संरक्षण में रहने वाली सन्तान, पत्नी, आध्यात्मिक गुरु, ब्राह्मण, माता-पिता इत्यादि की सेवा-सुश्रूषा नहीं कर पाता वह जीवित शव के समान है। हम तो कंस के भय से आपकी सेवा नहीं कर पा रहे थे अतः आप हमें क्षमा कर दें।’’ श्रीकृष्ण के इन वचनों को सुनकर भावविभोर वसुदेव तथा देवकी ने अपने दोनों पुत्रों को गले से लगा लिया और आनन्द के आँसुओं की झड़ी लगा दी।

इस प्रकार अपने माता-पिता को प्रसन्न करके कृष्ण ने कंस का राज्य अपने नाना उग्रसेन को दे दिया और तब अपने उन पारिवारिक सदस्यों के अपने अपने घरों को लौटने की व्यवस्था की जो कंस के भय से भाग गये थे। कृष्ण तथा बलराम के बलशाली बाहुओं के संरक्षण में सारे यादव परमआनन्द का अनुभव करने लगे।

इसके बाद कृष्ण तथा बलराम नन्द महाराज के पास गये और उनकी इस बात के लिए प्रशंसा की कि उन्होंने पराये पुत्रों का इतने लाड़-प्यार से पालन किया। तत्पश्चात् कृष्ण ने नन्द से कहा, ‘‘हे

पिताश्री! आप व्रज लौट जायें। हम जानते हैं कि हमसे बिछुड़ने से आपको तथा हमारे अन्य सम्बन्धियों को कितना कष्ट होगा, यहाँ मथुरा में आपके मित्रों को संतुष्ट करने के तुरन्त बाद मैं बलराम सहित आपके पास लौट आऊँगा।'' फिर कृष्ण ने नाना प्रकार की भेंटें अर्पित करते हुए नन्द की पूजा की। अपने पुत्रों के प्रेम के वशीभूत हो नन्द भावविभोर हो उठे। आँखों में अश्रु भरकर उन्होंने कृष्ण तथा बलराम को गले से लगाया और सारे ग्वालों को साथ लेकर व्रज के लिए प्रस्थान किया।

इसके बाद वसुदेव ने पुरोहितों से कहा कि वे उनके पुत्रों का द्विज-संस्कार सम्पन्न करें। तब कृष्ण तथा बलराम ब्रह्मचर्य-व्रत प्राप्त करने गर्ग मुनि के पास गये। सर्वज्ञ होते हुए भी कृष्ण तथा बलराम ने अपने गुरु के आश्रम में रहने की इच्छा व्यक्त की, अत: वे अवन्तिपुर में सान्दीपनि मुनि के साथ रहने चले गये।

गुरु की सेवा किस तरह करनी चाहिए इसकी सही विधि की शिक्षा देने के लिए कृष्ण तथा बलराम ने अपने गुरु की सेवा उसी तरह की, जिस तरह भगवान् के अर्चाविग्रह की की जाती है। सान्दीपनि मुनि ने उनकी सेवा से प्रसन्न होकर उन्हें समस्त वेदों के साथ साथ छहों वेदांगों और उपनिषदों का विस्तृत ज्ञान प्रदान किया। कृष्ण तथा बलराम एक बार सुनकर ही इनको आत्मसात कर लेते और इस तरह उन्होंने ६४ दिनों में चौंसठों परंपरागत कलाएँ सीख लीं।

विदा लेने के पूर्व दोनों भाइयों ने अपने गुरु सान्दीपनि से इच्छित दक्षिणा लेने के लिए कहा। बुद्धिमान गुरु ने दोनों के अद्भुत पराक्रम को देखते हुए उनसे अनुरोध किया कि वे उनका पुत्र वापस ला दें, जिसकी मृत्यु प्रभास सागर में हो चुकी थी।

कृष्ण तथा बलराम एक रथ पर सवार होकर प्रभास गये और वहाँ वे सागर के अधिदेव के पास पहुँचे और उनकी पूजा की। कृष्ण ने सागर से कहा कि वह उनके गुरु-पुत्र को लौटा दे। तब सागरराज ने उत्तर दिया कि समुद्र के भीतर निवास करने वाले पञ्चजन नामक राक्षस ने उस लड़के का हरण किया है। यह सुनकर कृष्ण समुद्र में प्रविष्ट हुए, फिर उस राक्षस का वध किया और वह शंख ले लिया जो उसके शरीर में से निकला था। किन्तु जब कृष्ण को उस राक्षस के उदर में गुरु-पुत्र नहीं मिला तो वे यमराज लोक पहुँचे। जब यमराज ने कृष्ण को पाञ्चजन्य बजाते सुना तो वह बाहर निकल आया और उसने भक्तिपूर्वक उनकी पूजा की। तब कृष्ण ने उससे सान्दीपनि के पुत्र को माँगा जिसे यमराज ने

उन्हें तुरन्त दे दिया।

तत्पश्चात् कृष्ण तथा बलराम अपने गुरु के पास आये और उन्हें उनका पुत्र लाकर भेंट किया तथा उनसे दूसरी दक्षिणा भी माँगने की विनती की। किन्तु सान्दीपनि मुनि ने कहा कि उन जैसे शिष्यों को पाकर उनकी सारी मनोकामनाएँ पूरी हो चुकी हैं। इस प्रकार उन्होंने दोनों को घर लौट जाने का आदेश दिया।

कृष्ण तथा बलराम ने रथ पर चढ़कर अपने घर तक की यात्रा की। उनके आगमन पर, उन्हें देखकर, सारे लोगों को अपार हर्ष हुआ, मानो उनका खोया हुआ कोष प्राप्त हुआ हो।

श्रीशुक उवाच
पितरावुपलब्धार्थौ विदित्वा पुरुषोत्तमः ।
मा भूदिति निजां मायां ततान जनमोहिनीम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; पितरौ—माता-पिता ने; उपलब्ध—अनुभव करने के बाद; अर्थौ—भाव (ईश्वर के रूप में उनका वैभवशाली पद); विदित्वा—जानकर; पुरुष-उत्तमः—परम पुरुष ने; मा भूत् इति—"ऐसा नहीं होना चाहिए"; निजाम्—अपनी; मायाम्—माया को; ततान—विस्तार दिया; जन—भक्तगण को; मोहिनीम्—मोहने वाली।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : यह जानकर कि उनके माता-पिता उनके दिव्य ऐश्वर्य से अवगत हो चुके हैं, भगवान् ने यह सोचा कि ऐसा नहीं होने दिया जाना चाहिए। अतः उन्होंने अपने भक्तों को मोहने वाली अपनी योगमाया का विस्तार किया।

तात्पर्य : यदि वसुदेव तथा देवकी कृष्ण को सर्वशक्तिमान ईश्वर के रूप में देख लेते तो पुत्र के रूप में कृष्ण के प्रति उनका प्रबल प्रेम नष्ट हो जाता। कृष्ण ऐसा नहीं चाहते थे। वे तो उनके साथ वात्सल्य रस का आनन्द लेना चाह रहे थे। जैसाकि श्रील प्रभुपाद प्रायः इंगित किया करते थे, यद्यपि हम सामान्यतः ईश्वर को परम पिता के रूप में सोचते हैं किन्तु कृष्णभावनामृत में हम भगवान् की लीलाओं में प्रवेश करके उनके माता-पिता का अभिनय करके उनके प्रति अपने प्रेम को प्रगाढ़ बना सकते हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर संकेत करते हैं कि *जन* शब्द का "भक्तों" के रूप में किया जा सकता है जैसाकि *भागवत* के श्लोक (.२९.१) *दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः* में आया है। उनके अनुसार *जन* का "माता-पिता" के रूप में भी किया जा सकता है क्योंकि *जन* शब्द *जन्* धातु से

बना है, जिसका अर्थ है ''जन्म देना।'' इस अर्थ में (जैसाकि *जननी* या *जनकौ* में है) *जन-मोहिनी* से सूचित होता है कि भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति का विस्तार करना चाह रहे थे, जिससे वसुदेव तथा देवकी पुन: उन्हें अपने प्रिय पुत्र की भाँति प्यार कर सकें।

उवाच पितरावेत्य साग्रज: सात्वनर्षभ: ।
प्रश्रयावनत: प्रीणन्नम्ब तातेति सादरम् ॥ २॥

शब्दार्थ

उवाच—कहा; पितरौ—अपने माता-पिता के; एत्य—निकट जाकर; स—सहित; अग्र-ज:—बड़े भाई, बलराम; सात्वत—सात्वत वंश का; ऋषभ:—महानतम वीर; प्रश्रय—विनीत भाव से; अवनत:—झुककर; प्रीणन्—प्रसन्न करते हुए; अम्ब तात इति—''हे माता, हे पिता''; स-आदरम्—सम्मानपूर्वक।

सात्वतों में महानतम भगवान् कृष्ण अपने बड़े भाई सहित अपने माता-पिता के पास पहुँचे। वे उन्हें विनयपूर्वक शीश झुकाकर और आदरपूर्वक ''हे माते'' तथा ''हे पिताश्री'' संबोधित करके प्रसन्न करते हुए इस प्रकार बोले।

नास्मत्तो युवयोस्तात नित्योत्कण्ठितयोरपि ।
बाल्यपौगण्डकैशोरा: पुत्राभ्यामभवन्क्वचित् ॥ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अस्मत्त:—हमारे कारण; युवयो:—आप दोनों के लिए; तात—हे पिता; नित्य—सदैव; उत्कण्ठितयो:—चिन्तित; अपि—निस्सन्देह; बाल्य—बालकाल का (आनन्द); पौगण्ड—बालपना; कैशोर:—तथा किशोरावस्था; पुत्राभ्याम्—आपके दोनों पुत्रों के कारण; अभवन्—हुआ था; क्वचित्—कुछ।

[भगवान् कृष्ण ने कहा] : हे पिताश्री, हम दो पुत्रों के कारण आप तथा माता देवकी सदैव चिन्ताग्रस्त रहते रहे और कभी भी हमारे बाल्यकाल, पौगण्ड तथा किशोर अवस्थाओं का आनन्द भोग नहीं पाये।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है : यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि अभी भगवान् कृष्ण ने किशोर अवस्था (-१५ वर्ष) पार नहीं की है क्योंकि मथुरा की स्त्रियों ने कहा है—*क्व चाति सुकुमारांगौ किशोरौ नाप्तयौवनौ*—कृष्ण तथा बलराम के अंग-प्रत्यंग अतीव सुकुमार हैं, क्योंकि वे अभी किशोर अवस्था में हैं, युवावस्था तक नहीं पहुँच पाये (*भागवत* .४४.८)। वृद्धि की विभिन्न अवस्थाओं क ी परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि।

कैशोरम् आपञ्चदशाद् यौवनं तु ततः परम्॥

'*कौमार* अवस्था पाँच वर्ष तक, *पौगण्ड* अवस्था वर्ष तक और *कैशोर* अवस्था १५ वर्ष तक रहती है। इसके बाद यौवन आता है।' इस परिभाषा के अनुसार कैशोर अवस्था की समाप्ति पन्द्रह वर्ष की आयु में होती है। जब कृष्ण ने कंस का वध किया था, तो उनकी आयु ग्यारह वर्ष की ही थी जैसाकि उद्धव के शब्दों से पता चलता है—*एकादशसमास्तत्र गूढार्चिः सबलोऽवसत्*—ढकी ज्वाला की तरह कृष्ण बलराम के साथ ग्यारह वर्षों तक अज्ञात रहते रहे (*भागवत* .२.२६)। चूँकि कृष्ण तथा बलराम ने व्रज-भूमि में ब्राह्म-दीक्षा नहीं ली थी अतः इसी समय (मथुरा जाते समय) उनकी कैशोरावस्था प्रारम्भ हुई, न कि समाप्त हुई।

प्रस्तुत श्लोक में कृष्ण के इस कथन के प्रति आक्षेप कि "उनके माता-पिता उनकी कैशोरावस्था का आनन्द नहीं उठा पाये" सामान्य आयु-गणना पर आधारित है। फिर भी हमें निम्नलिखित कथन (*भागवत* .८.२६ से) पर विचार करना चाहिए—

कालेनाल्पेन राजर्षे रामः कृष्णश्च गोव्रजे।

अघृष्टजानुभिः पद्भिर्विचक्रमतुरञ्जसा॥

"हे राजा परीक्षित! राम तथा कृष्ण अल्पकाल में ही गोकुल में बिना रेंगे ही पाँवों पर अपने बल पर आसानी से चलने-फिरने लगे।" कभी कभी हम देखते हैं कि राजा का पुत्र पौगण्ड अवस्था में ही असामान्य शारीरिक वृद्धि प्राप्त करके कैशोरावस्था के अनुकूल कार्य करने लगता है। तो फिर कृष्ण के विषय में क्या कहा जा सकता है जिनकी असाधारण शारीरिक वृद्धि *वैष्णवतोषणी, भक्तिरसामृतसिन्धु, आनन्दवृन्दावनचम्पू* तथा अन्य कृतियों द्वारा सिद्ध है?

महावन में भगवान् कृष्ण वर्ष ४ मास रहे जो सामान्य बालक के पाँच वर्षों के तुल्य थे। इस तरह उन्होंने अपनी कुमारावस्था पूर्ण की। तब से लेकर ६ वर्ष ८ मास की आयु तक, जब वे वृन्दावन में रहे उनकी पौगण्डावस्था है। ६ वर्ष ८ मास की आयु से लेकर दसवें वर्ष तक, जिसमें वे नंदीश्वर (नन्द-ग्राम) में रहे उनकी कैशोर अवस्था है। तत्पश्चात् वर्ष ७ मास की अवस्था में चैत्र मास के कृष्ण-पक्ष की एकादशी को वे मथुरा गये और उस के बाद चतुर्दशी को कंस का वध किया। इस तरह उन्होंने दस वर्ष की आयु में ही अपनी कैशोरावस्था पूरी कर ली और तब से वे उसी अवस्था में बने

हुए हैं। दूसरे शब्दों में, इससे हमें यह समझना चाहिए कि इसके बाद से भगवान् सदैव किशोर हैं।'' श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस श्लोक की गुत्थियों को इस प्रकार ही सुलझाया है।

न लब्धो दैवहतयोर्वासो नौ भवदन्तिके ।
यां बालाः पितृगेहस्था विन्दन्ते लालिता मुदम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; लब्धः—प्राप्त; दैव—भाग्य द्वारा; हतयोः—वंचित; वासः—आवास; नौ—हम दोनों के द्वारा; भवत्-अन्तिके—आपकी उपस्थिति में; याम्—जो; बालाः—बालक; पितृ—अपने माता-पिता के; गेह—घरमें; स्थः—रहकर; विन्दन्ते—अनुभव करते हैं; लालिताः—पाले गये, लाड़-प्यार किये गये; मुदम्—सुख।

भाग्य द्वारा वंचित हम दोनों न तो आपके साथ रह पाये, न ही अधिकांश बालकों को उनके माता-पिता के घर में मिलने वाले लाड़-प्यार के सुख को हम भोग सके।

तात्पर्य : यहाँ भगवान् कृष्ण यह बतलाते हैं कि उन दोनों के वियोग से न केवल उनके माता-पिता को कष्ट हुआ बल्कि उन दोनों बालकों को भी अपने माता-पिता से विलग होने के कारण कष्ट भोगना पड़ा।

सर्वार्थसम्भवो देहो जनितः पोषितो यतः ।
न तयोर्याति निर्वेशं पित्रोर्मर्त्यः शतायुषा ॥ ५॥

शब्दार्थ

सर्व—समस्त; अर्थ—जीवनलक्ष्य का; सम्भवः—स्त्रोत; देहः—शरीर; जनितः—उत्पन्न; पोषितः—पालित; यतः—जिससे; न—नहीं; तयोः—उन दोनों को; याति—मिलता है; निर्वेशम्—उऋण होना; पित्रोः—माता-पिता के प्रति; मर्त्यः—मरणशील; शत—एक सौ (वर्ष); आयुषा—आयु से।

मनुष्य अपने शरीर से जीवन के सारे लक्ष्य प्राप्त कर सकता है और उसके माता-पिता ही हैं जो इस शरीर को जन्म देते और उसका पोषण करते हैं। अतः कोई भी मर्त्यप्राणी, एक सौ वर्ष के पूरे जीवन-काल तक उनकी सेवा करके भी, मातृ-पितृ ऋण से उऋण नहीं हो सकता।

तात्पर्य : ''आप दोनों तथा हम दोनों ने एक-दूसरे से वियोग के कारण कष्ट भोगा'' कहने के बाद अब कृष्ण यह कहते हैं कि अपने माता-पिता को तुष्ट करने में असफल होने से उनका तथा बलराम का धर्म दूषित हुआ है।

यस्तयोरात्मजः कल्प आत्मना च धनेन च ।
वृत्तिं न दद्यात्तं प्रेत्य स्वमांसं खादयन्ति हि ॥ ६॥

शब्दार्थ

यः—जो; तयोः—उन दोनों का; आत्म-जः—पुत्र; कल्पः—समर्थ; आत्मना—अपने शारीरिक साधनों से; च—तथा; धनेन—सम्पत्ति से; च—भी; वृत्तिम्—जीविका; न दद्यात्—नहीं देती; तम्—उसको; प्रेत्य—मरने के बाद; स्व—अपना; मांसम्—मांस; खादयन्ति—खिलवाते हैं; हि—निस्सन्देह।

जो पुत्र समर्थ होते हुए भी अपने माता-पिता को अपने शारीरिक साधन तथा सम्पत्ति दिलाने में विफल रहता है, उसे मृत्यु के बाद अपना ही मांस खाने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

मातरं पितरं वृद्धं भार्यां साध्वीं सुतम्शिशुम् ।
गुरुं विप्रं प्रपन्नं च कल्पोऽबिभ्रच्छ्वसन्मृतः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

मातरम्—माता को; पितरम्—तथा पिता को; वृद्धम्—बूढ़े; भार्याम्—पत्नी को; साध्वीम्—सती-साध्वी; सुतम्—बेटे को; शिशुम्—अल्पायु वाले; गुरुम्—गुरु को; विप्रम्—ब्राह्मण को; प्रपन्नम्—शरण में आये हुए को; च—तथा; कल्पः—समर्थ; अबिभ्रत्—पालन न करके; श्वसन्—श्वास लेता हुआ; मृतः—मरा हुआ।

जो व्यक्ति समर्थ होकर भी अपने बूढ़े माता-पिता, साध्वी-पत्नी, छोटे पुत्र या गुरु का भरण-पोषण करने से चूकता है या किसी ब्राह्मण या शरण में आये हुए की उपेक्षा करता है, वह जीवित होते हुए भी मरा हुआ माना जाता है।

तन्नावकल्पयोः कंसान्नित्यमुद्विग्नचेतसोः ।
मोघमेते व्यतिक्रान्ता दिवसा वामनर्चतोः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; नौ—हम दोनों का; अकल्पयोः—असमर्थ; कंसात्—कंस के कारण; नित्यम्—सदैव; उद्विग्न—चिन्तित; चेतसोः—मनों वाले; मोघम्—व्यर्थ ही; एते—ये; व्यतिक्रान्ताः—बिताया; दिवसाः—दिन; वाम्—आपको; अनर्चतोः—सम्मान न देकर।

इस तरह हमने इतने सारे दिन आपका समुचित सम्मान करने में असमर्थ होने के कारण व्यर्थ में ही गँवा दिये, क्योंकि हमारे मन सदैव कंस के भय से विचलित थे।

तात्पर्य : कृष्ण अपने पिता वसुदेव तथा माता देवकी को अपने तथा अपने भाई बलराम के प्रति सामान्य वात्सल्य-प्रेम में लौटा लाने का प्रयास करते हैं। एक सामान्य बालक कंस जैसे क्रूर एवं अत्याचारी राजा से भयभीत रहेगा और कृष्ण यहाँ पर ऐसे ही बालक की भूमिका अदा करते हैं। इस तरह वे वसुदेव तथा देवकी की वत्सलता तथा करुणा को जगाते हैं।

तत्क्षन्तुमर्हथस्तात मातर्नौ परतन्त्रयोः ।

अकुर्वतोर्वां शुश्रूषां क्लिष्टयोर्दुर्हृदा भृशम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तत्—उसे; क्षन्तुम्—क्षमा करें; अर्हथः—आप चाहें तो; तात—हे पिता; मातः—हे माता; नौ—हम दोनों को; पर-तन्त्रयोः—अन्यों के अधीन; अकुर्वतोः—न करते हुए; वाम्—आपकी; शुश्रूषाम्—सेवा; क्लिष्टयोः—कष्ट पहुँचाया गया; दुर्हृदा—कठोर हृदय (कंस) द्वारा; भृशम्—अत्यधिक।

हे पिता तथा माता, आप हम दोनों को आपकी सेवा न कर पाने के लिए क्षमा कर दें। हम स्वतंत्र नहीं थे और क्रूर कंस द्वारा अत्यधिक त्रस्त कर दिये गये थे।

तात्पर्य : संस्कृत व्याकरण के अनुसार *परतन्त्रयोः* तथा *क्लिष्टयोः* शब्द वसुदेव तथा देवकी के लिए भी आ सकते हैं। वास्तव में वसुदेव तथा देवकी भाग्य के अधीन थे और कंस के कार्यों से उद्विग्न रहते थे, जबकि कृष्ण सदैव परमेश्वर हैं।

श्रीशुक उवाच
इति मायामनुष्यस्य हरेर्विश्वात्मनो गिरा ।
मोहितावङ्कमारोप्य परिष्वज्यापतुर्मुदम् ॥ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; माया—अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा; मनुष्यस्य—मनुष्य के रूप में प्रकट होने वाले; हरेः—भगवान् हरि का; विश्व—ब्रह्माण्ड का; आत्मनः—आत्मा; गिरा—शब्दों से; मोहितौ—मोहग्रस्त; अङ्कम्—गोद में; आरोप्य—उठाकर; परिष्वज्य—आलिंगन करके; आपतुः—अनुभव किया; मुदम्—हर्ष।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार ब्रह्माण्ड के परमात्मा एवं अपनी अन्तरंगा भ्रामक शक्ति से मनुष्य-रूप में प्रकट होने वाले भगवान् हरि के वचनों से मोहित होकर उनके माता-पिता ने हर्षपूर्वक उन्हें अपनी गोद में उठाकर उनका आलिंगन किया।

सिञ्चन्तावश्रुधाराभिः स्नेहपाशेन चावृतौ ।
न किञ्चिदूचतू राजन्बाष्पकण्ठौ विमोहितौ ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सिञ्चन्तौ—सिक्त करते हुए; अश्रु—आँसुओं की; धाराभिः—धाराओं से; स्नेह—प्रेममयी; पाशेन—रस्सी से; च—तथा; आवृतौ—घिरे; न—नहीं; किञ्चित्—कुछ भी; ऊचतुः—वे बोले; राजन्—हे राजा (परीक्षित); बाष्प—आँसुओं (से पूर्ण); कण्ठौ—गले; विमोहितौ—अवरुद्ध।

भगवान् के ऊपर अश्रुओं की धारा ढुलकाते हुए, स्नेह की रस्सी से बँधे उनके माता-पिता बोल न पाये। हे राजन्, वे भावविभोर थे और उनके गले अश्रुओं से अवरुद्ध हो चले थे।

एवमाश्वास्य पितरौ भगवान्देवकीसुतः ।

मातामहं तूग्रसेनं यदूनामकरोन्नृपम् ॥ १२॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; आश्वास्य—आश्वासन देकर; पितरौ—माता-पिता को; भगवान्—भगवान् ने; देवकी-सुतः—देवकी-पुत्र; मातामहम्—अपने नाना को; तु—तथा; उग्रसेनम्—उग्रसेन को; यदूनाम्—यदुओं का; अकरोत्—बना दिया; नृपम्—राजा।

अपने माता-पिता को इस तरह सान्त्वना देकर तथा देवकी-पुत्र के रूप में प्रकट हुए, भगवान् ने अपने नाना उग्रसेन को यदुओं का राजा बना दिया।

आह चास्मान्महाराज प्रजाश्चाज्ञप्तुमर्हसि ।
ययातिशापाद्यदुभिर्नासितव्यं नृपासने ॥ १॥

शब्दार्थ

आह—उसने (कृष्ण ने) कहा; च—तथा; अस्मान्—हमको; महा-राज—हे महान् राजा; प्रजाः—आपकी प्रजा; च—भी; आज्ञप्तुम् अर्हसि—आदेश दें; ययाति—प्राचीन राजा ययाति द्वारा; शापात्—शाप से; यदुभिः—यदुओं के; न आसितव्यम्—नहीं बैठना चाहिए; नृप—शाही; आसने—सिंहासन पर।

भगवान् ने उनसे कहा : हे महाराज, हम आपकी प्रजा हैं, अतः आप हमें आदेश दें। दरअसल, ययाति के शाप के कारण कोई भी यदुवंशी राज-सिंहासन पर नहीं बैठ सकता।

तात्पर्य : उग्रसेन ने भगवान् से कहा होगा, "हे प्रभु! सिंहासन पर तो आपको बैठना चाहिए।" ऐसे कथन का अनुमान करते हुए ही भगवान् कृष्ण ने उग्रसेन से कहा होगा कि ययाति के पहले के शाप के कारण वैधानिक रूप से कोई यदुवंशी राजकुमार राज-सिंहासन पर नहीं बैठ सकता, अतः कृष्ण तथा बलराम उसके अयोग्य थे। वस्तुतः, उग्रसेन को भी यदुवंश का ही अंग माना जा सकता था किन्तु भगवान् के आदेश से वे राज-सिंहासन पर आसीन हो सकते थे। निष्कर्ष यह है कि मनुष्य की भूमिका अदा करते हुए भगवान् इन लीलाओं में लगे हुए थे।

मयि भृत्य उपासीने भवतो विबुधादयः ।
बलिं हरन्त्यवनताः किमुतान्ये नराधिपाः ॥ १४॥

शब्दार्थ

मयि—मुझमें; भृत्ये—सेवक रूप; उपासीने—सेवा में उपस्थित; भवतः—आपकी; विबुध—देवता; आदयः—इत्यादि; बलिम्—प्रशस्ति, भेंट; हरन्ति—लायेंगे; अवनताः—विनीत भाव से झुके हुए; किम् उत—तो फिर क्या कहा जाय; अन्ये—दूसरे; नर—मनुष्य का; अधिपाः—शासक।

चूँकि मैं आपके निजी सेवक के रूप में आपके पार्षदों के बीच उपस्थित हूँ अतः सारे देवता तथा अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति आपको अभिवादन करने के लिए सिर झुकाते हुए आयेंगे। तो फिर मनुष्यों के शासकों के लिए क्या कहा जाय?

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण उग्रसेन को पुनः आश्वस्त करते हैं कि वे निर्भय होकर सिंहासन ग्रहण करें।

सर्वान्स्वान्ज्ञातिसम्बन्धान्दिग्भ्यः कंसभयाकुलान् ।
यदुवृष्ण्यन्धकमधु दाशार्हकुकुरादिकान् ॥ १५ ॥
सभाजितान्समाश्वास्य विदेशावासकर्शितान् ।
न्यवासयत्स्वगेहेषु वित्तैः सन्तर्प्य विश्वकृत् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सर्वान्—समस्त; स्वान्—अपने; ज्ञाति—परिवार के लोग; सम्बन्धान्—तथा अन्य सम्बन्धी; दिग्भ्यः—सभी दिशाओं से; कंस-भय—कंस के डर से; आकुलान्—विचलित; यदु-वृष्णि-अन्धक-मधु-दाशार्ह कुकुर-आदिकान्—यदुओं, वृष्णियों, अन्धकों, मधुओं, दाशार्हों, कुकुरों तथा अन्य को; सभाजितान्—समादरित; समाश्वास्य—आश्वासन देकर; विदेश—विदेशी क्षेत्रों में; आवास—रहते हुए; कर्शितान्—थकाये गये; न्यवासयत्—बसा दिया; स्व—अपने; गेहेषु—घरों में; वित्तैः—बहुमूल्य भेंटों सहित; सन्तर्प्य—सत्कार करके; विश्व—ब्रह्माण्ड का; कृत्—निर्माता।

तत्पश्चात् भगवान् अपने सारे नजदिकी परिवार वालों को तथा अन्य सम्बन्धियों को उन विविध स्थानों से वापस लाये जहाँ वे कंस के भय से भाग कर गये थे। उन्होंने यदुओं, वृष्णियों, अन्धकों, मधुओं, दाशार्हों, कुकुरों इत्यादि जाति-पक्ष वालों को सम्मानपूर्वक बुलवाया और उन्हें सान्त्वना भी दी क्योंकि वे विदेशी स्थानों में रहते-रहते थक चुके थे। तत्पश्चात् ब्रह्माण्ड के स्त्रष्टा भगवान् कृष्ण ने उन्हें उनके अपने घरों में फिर से बसाया और बहुमूल्य भेंटों से उनका सत्कार किया।

कृष्णसङ्कर्षणभुजैर्गुप्ता लब्धमनोरथाः ।
गृहेषु रेमिरे सिद्धाः कृष्णरामगतज्वराः ॥ १७ ॥
वीक्षन्तोऽहरहः प्रीता मुकुन्दवदनाम्बुजम् ।
नित्यं प्रमुदितं श्रीमत्सदयस्मितवीक्षणम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

कृष्ण-सङ्कर्षण—कृष्ण तथा बलराम के; भुजैः—बाहुओं से; गुप्ताः—सुरक्षित; लब्ध—प्राप्त करके; मनः-रथाः—अपनी इच्छाएँ; गृहेषु—अपने घरों में; रेमिरे—भोग किया; सिद्धाः—पूर्णकाम; कृष्ण-राम—कृष्ण तथा बलराम के कारण; गत—दूर हो गया; ज्वराः—ज्वर (भौतिक जीवन का); वीक्षन्तः—देखने से; अहः अहः—दिन-प्रतिदिन; प्रीताः—प्रिय; मुकुन्द—कृष्ण का; वदन—मुख; अम्बुजम्—कमल सदृश; नित्यम्—सदैव; प्रमुदितम्—प्रफुल्लित; श्रीमत्—सुन्दर; स-दय—दयालु; स्मित—मन्द हास युक्त; वीक्षणम्—चितवनों से।

इन वंशों के लोगों ने भगवान् कृष्ण तथा संकर्षण की बाहुओं का संरक्षण पाकर यह अनुभव किया कि उनकी सारी इच्छाएँ पूरी हो गईं। इस तरह वे अपने परिवारों के साथ अपने

घरों में रहते हुए पूर्ण सुख का भोग करने लगे। कृष्ण तथा बलराम की उपस्थिति से अब उन्हें सांसारिक ज्वर नहीं सताता था। ये प्रेमी भक्त प्रतिदिन मुकुन्द के कमल सदृश नित्य प्रफुल्लित मुख को देख सकते थे, जो सुन्दर दयामय मन्द हास युक्त चितवनों से विभूषित था।

तत्र प्रवयसोऽप्यासन्युवानोऽतिबलौजसः ।
पिबन्तोऽक्षैर्मुकुन्दस्य मुखाम्बुजसुधां मुहुः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ (मथुरा में); प्रवयसः—गुरुजन; अपि—भी; आसन्—थे; युवानः—युवक; अति—अत्यधिक; बल—शक्ति; ओजसः—तथा ओज से युक्त; पिबन्तः—पीते हुए; अक्षैः—अपने अपने नेत्रों से; मुकुन्दस्य—भगवान् कृष्ण के; मुख-अम्बुज—कमल सदृश मुख का; सुधाम्—अमृत; मुहुः—बारम्बार।

यहाँ तक कि उस नगरी के अत्यन्त वृद्धजन भी शक्ति तथा ओज से पूर्ण युवा लगने लगे क्योंकि वे अपनी आँखों से निरन्तर भगवान् मुकुन्द के कमल-मुख का अमृत-पान करते थे।

अथ नन्दं समसाद्य भगवान्देवकीसुतः ।
सङ्कर्षणश्च राजेन्द्र परिष्वज्येदमूचतुः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; नन्दम्—नन्द महाराज के पास; समासाद्य—पहुँचकर; भगवान्—भगवान्; देवकी-सुतः—देवकी-पुत्र, कृष्ण; सङ्कर्षणः—बलराम; च—तथा; राज-इन्द्र—हे महान् राजा (परीक्षित); परिष्वज्य—उसका आलिंगन करके; इदम्—यह; ऊचतुः—उन्होंने कहा।

तत्पश्चात, हे महान् राजा परीक्षित, देवकी-पुत्र भगवान् कृष्ण भगवान् बलराम के साथ नन्द महाराज के पास पहुँचे। दोनों विभुओं ने उनका आलिंगन किया और उनसे इस प्रकार बोले।

पितर्युवाभ्यां स्निग्धाभ्यां पोषितौ लालितौ भृशम् ।
पित्रोरभ्यधिका प्रीतिरात्मजेष्वात्मनोऽपि हि ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

पितः—हे पिताश्री; युवाभ्याम्—आप दोनों के द्वारा; स्निग्धाभ्याम्—स्नेहिल; पोषितौ—पालित-पोषित; लालितौ—दुलराये; भृशम्—भलीभाँति; पित्रोः—माता-पिता के लिए; अभ्यधिका—से बढ़कर; प्रीतिः—प्रेम; आत्मजेषु—अपनी सन्तानों के लिए; आत्मनः—अपनी अपेक्षा; अपि—भी; हि—निस्सन्देह।

[कृष्ण और बलराम ने कहा] : हे पिताश्री, आप तथा माता यशोदा ने हम दोनों को बड़े स्नेह से पाला-पोसा है और हमारी इतनी अधिक परवाह की है। निस्सन्देह माता-पिता अपनी सन्तानों को अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करते हैं।

स पिता सा च जननी यौ पुष्णीतां स्वपुत्रवत् ।
शिशून्बन्धुभिरुत्सृष्टानकल्पैः पोषरक्षणे ॥ २२॥

शब्दार्थ

सः—वह; पिता—पिता; सा—वह; च—तथा; जननी—माता; यौ—जो; पुष्णीताम्—पालन-पोषण करते हैं; स्व—अपने; पुत्र—पुत्रों की; वत्—तरह; शिशून्—बालकों को; बन्धुभिः—अपने परिवार के द्वारा; उत्सृष्टान्—परित्यक्त; अकल्पैः—असमर्थ; पोष—पोषण करने के लिए; रक्षणे—तथा रक्षा करने के लिए।

वे ही असली माता-पिता हैं, जो पालन-पोषण और देख-रेख करने में असमर्थ सम्बन्धियों द्वारा परित्यक्त बालकों की देख-भाल अपने ही पुत्रों की तरह करते हैं।

यात यूयं व्रजंतात वयं च स्नेहदुःखितान् ।
ज्ञातीन्वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम् ॥ २॥

शब्दार्थ

यत—कृपया जाइये; यूयम्—तुम सब (ग्वाले); व्रजम्—व्रज को; तात—हे पिता; वयम्—हम; च—तथा; स्नेह—स्नेह के कारण; दुःखितान्—दुखी; ज्ञातीन्—सम्बन्धियों को; वः—तुमको; द्रष्टुम्—देखने के लिए; एष्यामः—आयेंगे; विधाय—प्रदान करके; सुहृदाम्—आपके मित्रों को; सुखम्—सुख।

हे पिताश्री, अब आप सब व्रज लौट जाँय। हम आपके शुभचिन्तक मित्रों को कुछ सुख दे लेने के बाद तुरन्त ही आपको तथा अपने उन प्रिय सम्बन्धियों को देखने के लिए आयेंगे जो हमारे वियोग से दुखी हैं।

तात्पर्य : यहाँ भगवान् मथुरा के अपने प्रिय भक्तों—वसुदेव, देवकी तथा यदुवंश के अन्य सदस्यों—को संतुष्ट करने की इच्छा व्यक्त करते हैं क्योंकि वे लोग वृन्दावन में उनके निवासकाल से दीर्घ काल से विलग हो चुके हैं।

एवं सान्त्वय्य भगवान्नन्दं सव्रजमच्युतः ।
वासोऽलङ्कारकुप्याद्यैरर्हयामास सादरम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सान्त्वय्य—सान्त्वना देकर; भगवान्—भगवान्; नन्दम्—राजा नन्द को; स-व्रजम्—व्रज के अन्य लोगों सहित; अच्युतः—अच्युत भगवान्; वासः—वस्त्र समेत; अलङ्कार—आभूषण; कुप्य—धातुओं के बने पात्र; आद्यैः—इत्यादि से; अर्हयाम् आस—उनका सत्कार किया; स-आदरम्—आदरपूर्वक।

इस प्रकार नन्द महाराज तथा व्रज के अन्य लोगों को सान्त्वना देकर अच्युत भगवान् ने उन सबों का वस्त्र, आभूषण, घरेलू-पात्र इत्यादि उपहारों से आदर समेत सत्कार किया।

इत्युक्तस्तौ परिष्वज्य नन्दः प्रणयविह्वलः ।

पूरयन्नश्रुभिर्नेत्रे सह गोपैर्व्रजं ययौ ॥ २५॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्तः—सम्बोधित; तौ—दोनों को; परिष्वज्य—आलिंगन करके; नन्दः—नन्द महाराज; प्रणय—स्नेहपूर्वक; विह्वलः—भावविभोर; पूरयन्—भरकर; अश्रुभिः—आँसुओं से; नेत्रे—अपने नेत्रों में; सह—साथ; गोपैः—ग्वालों के; व्रजम्—व्रज को; ययौ—चला गया।

कृष्ण के शब्द सुनकर नन्द महाराज भावविह्वल हो गये और अश्रूपूरित नेत्रों से उन्होंने दोनों भाइयों को गले लगाया। तत्पश्चात् वे ग्वालजनों के साथ व्रज लौट गये।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस श्लोक का विस्तृत तात्पर्य लिखा है, जिसमें कृष्ण की लीलाओं के इस अंश का विस्तृत विश्लेषण है। जिस प्रकार सोने की शुद्धता जानने के लिए उसे अग्नि में तपाया जाता है उसी तरह भगवान् ने उनके परम-प्रेम को प्रदर्शित करने की दृष्टि से वृन्दावन निवासी अपने प्रिय भक्तों को अपने वियोग की अग्नि में डाल दिया। आचार्य विश्वनाथ की टीका का यही सार है।

अथ शूरसुतो राजन्पुत्रयोः समकारयत् ।
पुरोधसा ब्राह्मणैश्च यथावद्द्विजसंस्कृतिम् ॥ २६॥

शब्दार्थ

अथ—तब; शूर-सुतः—शूरसेन के पुत्र (वसुदेव) ने; राजन्—हे राजा (परीक्षित); पुत्रयोः—दोनों पुत्रों के; समकारयत्—सम्पन्न कराया; पुरोधसा—पुरोहित द्वारा; ब्राह्मणैः—ब्राह्मणों द्वारा; च—तथा; यथा-वत्—उचित ढंग से; द्विज-संस्कृतिम्—ब्राह्मण की दीक्षा।

हे राजन्, तब शूरसेन-पुत्र वसुदेव ने अपने दोनों पुत्रों का द्विज-संस्कार कराने के लिए एक पुरोहित तथा अन्य ब्राह्मणों की व्यवस्था की।

तेभ्योऽदाद्दक्षिणा गावो रुक्ममालाः स्वलङ्कृताः ।
स्वलङ्कृतेभ्यः सम्पूज्य सवत्साः क्षौममालिनीः ॥ २७॥

शब्दार्थ

तेभ्यः—उनको (ब्राह्मणों को); अदात्—दिया; दक्षिणाः—दक्षिणा, भेंट; गावः—गौवें; रुक्म—सोने की; मालाः—गले का हार; सु—सुन्दर; अलङ्कृताः—सज्जित; सु-अलङ्कृतेभ्यः—अच्छे आभूषण पहने हुओं (ब्राह्मणों) को; सम्पूज्य—पूजा करके; स—सहित; वत्साः—बछड़े; क्षौम—रेशमी; मालिनीः—मालाएँ धारण किये।

वसुदेव ने इन ब्राह्मणों की पूजा करते हुए तथा उन्हें सुन्दर आभूषण और सुन्दर आभूषणों से सजी बछड़ों युक्त गौवें भेंट करके सम्मानित किया। ये सभी गौवें सुनहरे हार तथा रेशमी मालाएँ धारण किये थीं।

याः कृष्णरामजन्मर्क्षे मनोदत्ता महामतिः ।
ताश्चाददादनुस्मृत्य कंसेनाधर्मतो हृताः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

याः—जो (गौवें); कृष्ण-राम—कृष्ण तथा बलराम के; जन्मऋक्षे—जन्मदिन पर; मनः—मन में; दत्ताः—दान में दी गईं; महा-मतिः—वदान्य (वसुदेव); ताः—उन्हें; च—तथा; आददात्—दिया; अनुस्मृत्य—स्मरण करके; कंसेन—कंस द्वारा; अधर्मतः—अधर्मपूर्वक; हृतः—छीन ली गई।

तब महात्मा वसुदेव को कृष्ण तथा बलराम के जन्म के अवसर पर मन ही मन दान की गई गौवों का स्मरण हो आया। कंस ने वे गाएँ चुरा ली थीं किन्तु अब वसुदेव ने उन्हें फिर से प्राप्त किया था और उन्हें भी दान में दे डाला।

तात्पर्य : कृष्ण के आविर्भाव के समय वसुदेव कंस द्वारा बन्दी बनाकर रखे गये थे और कंस ने उनकी सारी गौवें चुरा ली थीं। फिर भी कृष्ण के जन्म के समय वसुदेव इतने हर्षित थे कि उन्होंने मन ही मन अपनी दस हजार गौवें ब्राह्मणों को दान में दे दी थीं।

अब कंस की मृत्यु हो जाने पर वसुदेव ने वे सारी गौवें मृत राजा के गौवों के झुंड से वापस मँगा लीं और धार्मिक नियमों के अनुसार उन दस हजार गौवों को सुपात्र ब्राह्मणों को दान में दे दिया।

ततश्च लब्धसंस्कारौ द्विजत्वं प्राप्य सुव्रतौ ।
गर्गाद्यदुकुलाचार्याद्गायत्रं व्रतमास्थितौ ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; च—तथा; लब्ध—प्राप्त करके; संस्कारौ—दीक्षा (कृष्ण तथा बलराम की); द्विजत्वम्—द्विज बनने की; प्राप्य—प्राप्त करके; सु-व्रतौ—अपने व्रत में निष्ठावान; गर्गात्—गर्ग मुनि से; यदु-कुल—यदुवंश के; आचार्यात्—आध्यात्मिक गुरु से; गायत्रम्—ब्रह्मचर्य का; व्रतम्—व्रत; आस्थितौ—धारण किया।

दीक्षा द्वारा द्विजत्व प्राप्त कर लेने के बाद व्रतनिष्ठ दोनों भाइयों ने यदुवंश के गुरु गर्ग मुनि से ब्रह्मचर्य का व्रत ग्रहण किया।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर दोनों ने ही *गायत्रं व्रतम्* की व्याख्या ब्रह्मचर्य व्रत के रूप में की है। कृष्ण तथा बलराम आत्म-साक्षात्कार के पथ में पूर्ण छात्र की भूमिका अदा कर रहे थे। निस्सन्देह आज के पतित युग में छात्र-जीवन जंगली पाशविक व्यापार बन गया है, जो अवैध यौन तथा नशीली दवाओं से परिपूर्ण है।

प्रभवौ सर्वविद्यानां सर्वज्ञौ जगदीश्वरौ ।
नान्यसिद्धामलं ज्ञानं गूहमानौ नरेहितैः ॥ ० ॥

अथो गुरुकुले वासमिच्छन्तावुपजग्मतुः ।
काश्यं सान्दीपनिं नाम ह्यवन्तिपुरवासिनम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

प्रभवौ—उद्गम स्वरूप; सर्व—समस्त विविधताओं के; विद्यानाम्—ज्ञान के; सर्व-ज्ञौ—सर्वज्ञाता; जगत्-ईश्वरौ—ब्रह्माण्ड के स्वामी; न—नहीं; अन्य—अन्य किसी स्रोत से; सिद्ध—प्राप्त; अमलम्—विशुद्ध; ज्ञानम्—ज्ञान; गूहमानौ—छिपाते हुए; नर—मनुष्य की तरह; ईहितैः—अपने कार्यों से; अथ उ—तब; गुरु—गुरु की; कुले—पाठशाला में; वासम्—आवास; इच्छन्तौ—चाहते हुए; उपजगतुः—पहुँचे; काश्यम्—काशी (वाराणसी) के वासी; सान्दीपनिम् नाम—सान्दीपनि नामक; हि—निस्सन्देह; अवन्ति-पुर—अवन्ती नगरी (वर्तमान उज्जैन) में; वासिनम्—रह रहे।

अपने मनुष्य जैसे कार्यों से अपने पूर्णज्ञान को भीतर ही भीतर रखते हुए, ब्रह्माण्ड के इन दो सर्वज्ञ भगवानों ने, ज्ञान की समस्त शाखाओं के उद्गम होते हुए भी, गुरुकुल में जाकर रहने की इच्छा व्यक्त की। इस तरह वे काशीवासी सान्दीपनि मुनि के पास पहुँचे जो अवन्ती नगरी में रह रहे थे।

यथोपसाद्य तौ दान्तौ गुरौ वृत्तिमनिन्दिताम् ।
ग्राहयन्तावुपेतौ स्म भक्त्या देवमिवादृतौ ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यथा—विधिपूर्वक; उपसाद्य—प्राप्त करके; तौ—वे दोनों; दान्तौ—आत्मसंयमी; गुरौ—गुरु के लिए; वृत्तिम्—सेवा; अनिन्दिताम्—निन्दारहित; ग्राहयन्तौ—दूसरों को भी ग्रहण कराते हुए; उपेतौ—सेवा के लिए पहुँचे; स्म—निस्सन्देह; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; देवम्—भगवान् को; इव—मानो; आदृतौ—सम्मानित (गुरु द्वारा)।

सान्दीपनि इन दोनों आत्मसंयमी शिष्यों के प्रति बहुत ही उच्च विचार रखते थे जिन्हें उन्होंने अकस्मात प्राप्त किया था। दोनों ने गुरु की साक्षात् भगवान् जैसी ही भक्तिपूर्वक सेवा करते हुए अन्यों के समक्ष अनिन्द्य उदाहरण प्रस्तुत किया कि किस तरह आध्यात्मिक गुरु की पूजा की जाती है।

तयोर्द्विजवरस्तुष्टः शुद्धभावानुवृत्तिभिः ।
प्रोवाच वेदानखिलान्साङ्गोपनिषदो गुरुः ॥ ॥

शब्दार्थ

तयोः—दोनों का; द्विज-वरः—ब्राह्मणों में श्रेष्ठ (सान्दीपनि); तुष्टः—सन्तुष्ट; शुद्ध—शुद्ध; भाव—प्रेम से; अनुवृत्तिभिः—विनीत कार्यों से; प्रोवाच—बतलाया; वेदान्—वेद; अखिलान्—समस्त; स—सहित; अङ्ग—छहो वेदांग; उपनिषदः—तथा उपनिषदों; गुरुः—गुरु ने।

ब्राह्मण-श्रेष्ठ गुरु सान्दीपनि उनके विनीत आचरण से सन्तुष्ट थे अतः उन्होंने दोनों को सारे

वेद छह वेदांगों सहित तथा उपनिषद् पढ़ाये।

सरहस्यं धनुर्वेदं धर्मान्न्यायपथांस्तथा ।
तथा चान्वीक्षिकीं विद्यां राजनीतिं च षड्विधाम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

स-रहस्यम्—गुह्य अंश समेत; धनुः-वेदम्—धनुर्विद्या; धर्मान्—मानवीय विधि के सिद्धान्त; न्याय—तर्क की; पथान्—विधियाँ; तथा—भी; तथा च—और इसी तरह से; आन्सीक्षिकीम्—दार्शनिक वाद-विवाद की; विद्याम्—ज्ञान की शाखा; राज-नीतिम्—राजनीति शास्त्र; च—तथा; षट्-विधाम्—छह पक्षों में।

उन्होंने दोनों को रहस्यों सहित धनुर्वेद की शिक्षा दी। साथ ही मानक विधि ग्रंथ, तर्क तथा दर्शन विषयक वाद-विवाद की विधियाँ और राजनीति शास्त्र के छह भेदों की भी शिक्षा दी।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर गोस्वामी ने व्याख्या की है कि धनुर्वेद के गुह्य अंश में उपयुक्त मंत्र तथा युद्ध के अधिष्ठाता देवों का ज्ञान निहित है। *धर्मान्* से *मनुसंहिता* तथा अन्य मानक विधि-ग्रंथों (धर्मशास्त्रों) का बोध होता है। *न्यायपथान्* सूचक है कर्ममीमांसा तथा अन्य ऐसे ही वादों का। *आन्वीक्षिकीम्* तर्क-विद्या है। राजनीति के छह भेद हैं (१) *सन्धि*—शान्ति स्थापित करना (२) *विग्रह*—युद्ध ( ) *यान*—कूच करना (४) *आसन*—दृढ़तापूर्वक बैठे रहना (५) *द्वैध*—सेना का विभाजन (६) *संशय*—अधिक शक्तिशाली राजा का संरक्षण लेना।

सर्वं नरवरश्रेष्ठौ सर्वविद्याप्रवर्तकौ ।
सकृन्निगदमात्रेण तौ सञ्जगृहतुर्नृप ॥ ५॥
अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या संयत्तौ तावतीः कलाः ।
गुरुदक्षिणयाचार्यं छन्दयामासतुर्नृप ॥ ६॥

शब्दार्थ

सर्वम्—हर बात; नर-वर—प्रथम श्रेणी के पुरुषों की; श्रेष्ठौ—श्रेष्ठ; सर्व—सभी; विद्या—ज्ञान की शाखाओं के; प्रवर्तकौ—शुभारम्भ करने वाले; सकृत्—एक बार; निगद—बतलाया जाकर; मात्रेण—केवल; तौ—दोनों; सञ्जगृहतुः—आत्मसात् कर लेते; नृप—हे राजा (परीक्षित); अहः—दिन; रात्रैः—तथा रातों में; चतुः-षष्ट्या—चौंसठ; संयत्तौ—ध्यानमग्न रहकर; तावतीः—उतनी ही; कलाः—कलाएँ; गुरु-दक्षिणया—गुरु-दक्षिणा से; आचार्यम्—अपने गुरु को; छन्दयाम् आसतुः—प्रसन्न किया; नृप—हे राजा।

हे राजन, पुरुष-श्रेष्ठ कृष्ण तथा बलराम स्वयं ही सभी प्रकार की विद्याओं के आदि-प्रवर्तक होने के कारण किसी भी विषय की व्याख्या को एक ही बार में सुनकर तुरन्त आत्मसात कर सकते थे। इस तरह उन्होंने एकाग्र चित्त से चौंसठ कलाओं तथा चातुरियों को उतने ही दिनों तथा रातों में सीख लिया। तत्पश्चात् हे राजन्, उन्होंने गुरु-दक्षिणा देकर अपने गुरु को प्रसन्न

किया।

तात्पर्य : निम्नलिखित सूची में वे ६४ कलाएँ दी जा रही हैं, जिन्हें कृष्ण तथा बलराम ने ६४ दिनों में भली-भाँति सीख लिया था। अधिक जानकारी के लिए देखें श्रील प्रभुपाद कृत *भगवान् कृष्ण।*

भगवान् ने (१) *गीतम्*—गायन (२) *वाद्यम्*—वाद्य यंत्रों का वादन () *नृत्यम्*—नाचना (४) *नाट्यम्*—नाटक (५) *आलेख्यम्*—चित्रकारी (६) *विशेषकच्छेद्यम्*—मुख तथा शरीर को रंगीन उबटनों तथा प्रसाधनों से रँगना (७) *तण्डुल-कुसुम-बलि-विकारा:*—फर्श पर चावल तथा फूलों से शुभ आरेख बनाना (८) *पुष्पास्तरणम्*—फूलों की शय्या बनाना (९) *दशन-वसनांग-रागा:*—दाँत, कपड़े तथा अंगों को रँगना () *मणि-भूमिका-कर्म*—फर्श में मणियाँ जड़ना (११) *शय्यारचनाम्*—सेज तैयार करना (१२) *उदकवाद्यम्*—जलतरंग वाद्य (१) *उदकघाट:*—जल उछालना (१४) *चित्र-योगा:*—रंगों को मिलाना (१५) *माल्यग्रथनविकल्पा:*—मालाएँ तैयार करना (१६) *शेखरापीढ-योजनम्*—सिर पर मुकुट रखना (१७) *नेपथ्य-योगा:*—सजावट कक्ष में वस्त्र पहनाना (१८) *कर्णपत्रभंगा:*—कान के लटकते हिस्से (पत्तों) को सजाना (१९) *सुगन्धयुक्ति:*—सुगन्धित द्रव्य लगाना (२०) *भूषणयोजनम्*—गहनों से सजाना (२१) *ऐन्द्रजालम्*—जादूगरी (२२) *कौचुमारयोगा:*—बनावटी वेश बनाने की कला (२) *हस्तलाघवम्*—हाथ की सफाई (२४) *चित्र-शाकापूप-भक्ष्य-विकार-क्रिया:*—तरह-तरह की रोटियाँ, सलाद, केक तथा अन्य प्रकार के स्वादिष्ट भोजन तैयार करना (२५) *पानक-रस-रागासव-योजनम्*—विविध स्वादिष्ट पेयों को तैयार करना तथा पेयों में लाल रंग मिलाना(२६) *सूचीवायकर्म*—सिलने-बुनने का कार्य (२७) *सूत्रक्रीडा*—डोरे से चलाई जाने वाली कठपुतलियाँ नचाना (२८) *वीणाडमरुक वाद्यानि*—वीणा तथा डमरू बजाना (२९) *प्रहेलिका-प्रतिमाला*—पहेली बुझाना तथा अन्ताक्षरी योजना (०) *दुर्वचकयोगा:*—गूढ़ प्रश्न पूछना (१) *पुस्तकवाचनम्*—पुस्तक बाँचना (२) *नाटिकाख्यायिका दर्शनम्*—छोटे नाटकों का अभिनय तथा आख्यायिकाएँ लिखना सीखा।

इनके अतिरिक्त कृष्ण तथा बलराम ने () *काव्यसमस्यापूरणम्*—समस्यापूर्ति (४) *पट्टिका-वेत्र-बाण-विकल्पा:*—कपड़े की पट्टी तथा छड़ी से बाण बनाना (५) *तर्कु-कर्म*—तकली कातना (६) *तक्षणम्*—बढ़ईगिरी (७) *वास्तुविद्या*—वास्तु शिल्प (८) *रौप्य-रत्न-परीक्षा*—चाँदी तथा

रत्नों की परीक्षा करना (९) *धातुवाद:*—धातुकर्म विज्ञान (४०) *मणि-राग-ज्ञानम्*—विविध रंगों से मणियों को रँगना (४१) *आकर-ज्ञानम्*—खनिज विज्ञान (४२) *वृक्षायुर्वेद योगा:*—वनस्पति द्वारा चिकित्सा (४) *मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधि:*—मेढ़े, मुर्गे तथा बटेर लड़ाने का प्रशिक्षण देना (४४) *शुक-सारिका प्रलापनम्*—तोता-मैना को बोलना तथा मनुष्यों द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देना सिखाना (४५) *उत्सादनम्*—लेपों द्वारा घावों का उपचार (४६) *केशमार्जनकौशलम्*—केश-सज्जा (४७) *अक्षरमुष्टिका कथनम्*—बिना देखे बताना कि पुस्तक में क्या लिखा है या कि दूसरे की मुट्ठी में क्या छिपा है (४८) *म्लेच्छितकुतर्कविकल्पा:*—बर्बर या विदेशी कूट-नीति का जानना (४९) *देशभाषा ज्ञानम्*—प्रान्तीय बोलियों का ज्ञान (५०) *पुष्पशकटिकानिर्मिति ज्ञानम्*—फूलों से खिलौना-खेलगाड़ी बनाने की कला (५१) *यन्त्रमात्रिका*—जादू के वर्ग, सभी दिशाओं में एक ही जोड़ वाली संख्याओं का तरतीबवार रखना (५२) *धारणमात्रिका*—ताबीज का प्रयोग(५) *संवाच्यम्*—वार्तालाप (५४) *मानसीकाव्य क्रिया*—मन में छंद बनाना (५५) *क्रिया विकल्पा:*—कोई साहित्यिक कृति या औषधि उपचार का आयोजन (५६) *छलितक योगा:*—मंदिर बनाना (५७) *अभिधानकोषच्छन्दोज्ञानम्*—शब्दकोश तथा छन्दों का ज्ञान(५८) *वस्त्रगोपनम्*—वस्त्रों को छिपाने या भेस बदलने की विद्या (५९) *द्यूतविशेषम्*—जुआ खेलने के विविध रूपों का ज्ञान (६०) *आकर्ष क्रीडा*—चौसर का खेल (६१) *बालक-क्रीडनकम्*—बच्चों के खिलौनों से खेलना (६२) *वैनायिकी विद्या*—योगशक्ति द्वारा अनुशासन (मंत्र विद्या) (६) *वैजयिकी विद्या*—विजय प्राप्त कराने की विद्या (६४) *वैतालिकी विद्या*—प्रात:काल संगीत द्वारा स्वामी को जगाने की कलाएँ भी सीखीं।

द्विजस्तयोस्तं महिमानमद्भुतं
संलोक्ष्य राजन्नतिमानुसीं मतिम् ।
सम्मन्त्र्य पत्न्या स महार्णवे मृतं
बालं प्रभासे वरयां बभूव ह ॥७॥

शब्दार्थ

द्विज:—विद्वान ब्राह्मण; तयो:—उन दोनों की; तम्—उस; महिमानम्—महानता को; अद्भुतम्—अद्‌भुत; संलक्ष्य—भली-भाँति देखकर; राजन्—हे राजा; अति-मानुषीम्—मनुष्य की क्षमता से परे; मतिम्—बुद्धि; सम्मन्त्र्य—परामर्श करके; पत्न्या—अपनी पत्नी से; स:—उसने; महा-अर्णवे—महासागर में; मृतम्—मरे हुए; बालम्—अपने छोटे से पुत्र को; प्रभासे—प्रभास नामक पवित्र स्थान में; वरयाम् बभूव ह—चुना।.

हे राजन्, विद्वान ब्राह्मण सान्दीपनि ने दोनों विभुओं के यशस्वी तथा अद्भुत गुणों एवं उनकी अति मानवीय बुद्धि के बारे में ध्यानपूर्वक विचार किया। तत्पश्चात् अपनी पत्नी से परामर्श करके उन्होंने गुरु-दक्षिणा के रूप में अपने नन्हे पुत्र की वापसी को चुना जो प्रभास क्षेत्र के समुद्र में मर चुका था।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार इस बालक को शंखासुर ने तब पकड़ा था, जब वह महाशिव क्षेत्र में खेल रहा था।

तेथेत्यथारुह्य महारथौ रथं
प्रभासमासाद्य दुरन्तविक्रमौ ।
वेलामुपव्रज्य निषीदतुः क्षनं
सिन्धुर्विदित्वार्हनमाहरत्तयोः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तथा—ऐसा ही हो, बहुत अच्छा; इति—ऐसा कहकर; अथ—तब; आरुह्य—चढ़कर; महा-रथौ—दो महारथी; रथम्—रथ पर; प्रभासम्—प्रभास तीर्थ; आसाद्य—पहुँचकर; दुरन्त—असीम; विक्रमौ—पराक्रम वाले; वेलाम्—समुद्र तट तक; उपव्रज्य—चलकर; निषीदतुः—बैठ गये; क्षणम्—क्षण-भर के लिए; सिन्धुः—सागर (का अधिष्ठाता देव); विदित्वा—पहचान कर; अर्हणम्—सादर भेंट; आहरत्—लाया; तयोः—दोनों के लिए।

असीम पराक्रम वाले दोनों महारथियों ने उत्तर दिया, ''बहुत अच्छा'' और तुरन्त ही अपने रथ पर सवार होकर प्रभास के लिए रवाना हो गये। जब वे उस स्थान पर पहुँचे तो वे समुद्र तट तक पैदल गये और वहाँ बैठ गये। क्षण-भर में समुद्र का देवता उन्हें भगवान् के रूप में पहचान कर श्रद्धा-रूप में भेंट लेकर उनके निकट आया।

तात्पर्य : कभी कभी पाश्चात्य विद्वान सोचते हैं कि प्राचीन ज्ञान-ग्रंथों में समुद्र के देवता, सूर्य के देवता इत्यादि जो सन्दर्भ आते हैं, वे सोचने की बहुत ही आदिम एवं पौराणिक शैली के द्योतक हैं। कभी कभी वे कहते हैं कि आदिम मनुष्य सोचता है कि समुद्र देवता है या कि सूर्य तथा चन्द्रमा देवता हैं। वास्तव में इस श्लोक में आगत सिन्धु शब्द, जिसका अर्थ ''सागर'' है, ऐसे व्यक्ति को सूचित करता है, जो भौतिक प्रकृति के उस पक्ष पर शासन चलाता है।

हम कई आधुनिक उदाहरण दे सकते हैं। मान लीजिए कि संयुक्त राष्ट्र में संयुक्त राज्य ''हाँ'' मतदान करता है और सोवियत संघ ''न।'' किन्तु इसका अर्थ यह नहीं लगाया जाता कि देश या इमारत ने मतदान किया। हमारा अभिप्राय होता है कि राजनीतिक तथा भौगोलिक सत्ता का प्रतिनिधित्व

करने वाला विशेष व्यक्ति मतदान करता है। फिर भी समाचार-पत्र तो इतना ही कहेंगे, ''संयुक्त राज्य ने मतदान किया, निर्णय किया इत्यादि'' और हर एक को पता होता है कि इसका क्या अर्थ है।

इसी तरह व्यापार में हम कह सकते हैं, ''एक बड़े समूह ने छोटी कम्पनी को निगल लिया।'' इससे हमारा अभिप्राय कदापि नहीं होता कि इमारत, कार्यालय उपकरण इत्यादि ने कर्मियों तथा कार्यालय उपकरणों समेत दूसरी इमारत को निगल लिया। हमारा अभिप्राय यही होता है कि शक्तिप्रदत्त अधिकारी ने अपनी सत्ता की ओर से कोई विशेष कार्य किया है।

दुर्भाग्यवश आधुनिक विद्वान अपने प्रिय वादों की पुष्टि करने के लिए उत्सुक रहते हैं कि प्राचीन आध्यात्मिक ज्ञान आदिम, पौराणिक है और अधिकांशतया सोचने की अपनी अधिक आधुनिक विधियों द्वारा उच्छेदित होता है। किन्तु कृष्णभावनामृत के प्रकाश में इस पर पुन: विचार किये जाने की आवश्यकता है।

तमाह भगवानाशु गुरुपुत्रः प्रदीयताम् ।
योऽसाविह त्वया ग्रस्तो बालको महतोर्मिणा ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उससे; आह—कहा; भगवान्—भगवान् ने; आशु—तुरन्त; गुरु—मेरे गुरु का; पुत्रः—पुत्र; प्रदीयताम्—प्रस्तुत किया जाय; यः—जो; असौ—वह; इह—इस स्थान पर; त्वया—तुम्हारे द्वारा; ग्रस्तः—पकड़ा गया; बालकः—बालक; महता—बलशाली; ऊर्मिणा—तुम्हारी लहरों द्वारा।

भगवान् कृष्ण ने समुद्र के स्वामी से कहा, ''मेरे गुरु के पुत्र को तुरन्त उपस्थित किया जाये जिसे तुमने अपनी बलशाली लहरों से यहाँ जकड़ रखा है।''

श्रीसमुद्र उवाच
न चाहार्षमहं देव दैत्यः पञ्चजनो महान् ।
अन्तर्जलचरः कृष्ण शङ्खरूपधरोऽसुरः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

श्री-समुद्रः उवाच—साक्षात् समुद्र ने कहा; न—नहीं; च—तथा; अहार्षम्—उसे ले गया; अहम्—मैं; देव—हे प्रभु; दैत्यः—दित वंशज; पञ्चजनः—पञ्चजन नामक; महान्—शक्तिशाली; अन्तः—भीतर; जल—जल के; चरः—चलने वाला; कृष्ण—हे कृष्ण; शङ्ख—शंख का; रूप—स्वरूप; धरः—धारण करके; असुरः—असुर।

समुद्र ने उत्तर दिया, ''हे भगवान् कृष्ण, उसका हरण मैंने नहीं अपितु दिति के वंशज पञ्चजन नामक एक दैत्य ने किया है, जो शंख के रूप में जल में विचरण करता रहता है।''

तात्पर्य : स्पष्ट है कि पञ्चजन अत्यन्त शक्तिशाली होने के कारण समुद्र के वश में नहीं था अन्यथा

समुद्र ने ऐसे अवैध कार्य को रोक दिया होता।

आस्ते तेनाहृतो नूनं तच्छ्रुत्वा सत्वरं प्रभुः ।
जलमाविश्य तं हत्वा नापश्यदुदरेऽर्भकम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

आस्ते—वह वहाँ है; तेन—उसके (पञ्चजन) द्वारा; आहृतः—हरण किया गया; नूनम्—निस्सन्देह; तत्—वह; श्रुत्वा—सुनकर; सत्वरम्—तेजी से; प्रभुः—प्रभु; जलम्—जल में; आविश्य—घुसकर; तम्—उसदैत्य को; हत्वा—मारकर; न अपश्यत्—नहीं देखा; उदरे—उसके पेट में; अर्भकम्—बालक को।

सागर ने कहा, "निस्सन्देह उसी दैत्य ने उस बालक को चुरा लिया है।" यह सुनकर भगवान् कृष्ण समुद्र में घुस गये, पञ्चजन को ढूँढ़ लिया और उसको मार डाला। किन्तु भगवान् को उस दैत्य के पेट के भीतर वह बालक नहीं मिला।

तदङ्गप्रभवं शङ्खमादाय रथमागमत् ।
ततः संयमनीं नाम यमस्य दयितां पुरीम् ।
गत्वा जनार्दनः शङ्खं प्रदध्मौ सहलायुधः ॥ ४२ ॥
शङ्खनिर्ह्रादमाकर्ण्य प्रजासंयमनो यमः ।
तयोः सपर्यां महतीं चक्रे भक्त्युपबृंहिताम् ॥ ४ ॥
उवाचावनतः कृष्णं सर्वभूताशयालयम् ।
लीलामनुष्ययोर्विष्णो युवयोः करवाम किम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस (दैत्य) के; अङ्ग—शरीर से; प्रभवम्—उत्पन्न; शङ्खम्—शंख को; आदाय—लेकर; रथम्—रथ पर; आगमत्—लौट आये; ततः—तब; संयमनीम् नाम—संयमनी नामक; यमस्य—यमराज की; दयिताम्—प्रिय; पुरीम्—नगरी में; गत्वा—जाकर; जन-अर्दनः—समस्त पुरुषों के धाम, भगवान् कृष्ण; शङ्खम्—शंख को; प्रदध्मौ—जोर से बजाया; स—सहित; हल-आयुधः—बलराम जिनका आयुध हल है; शङ्ख—शंख की; निर्ह्रादम्—गूँज; आकर्ण्य—सुनकर; प्रजा—जन्म लेने वाले का; संयमनः—संयमनी नामक; यमः—यमराज; तयोः—दोनों की; सपर्याम्—पूजा; महतीम्—विशद; चक्रे—सम्पन्न की; भक्ति—भक्ति के साथ; उपबृंहिताम्—उफनते; उवाच—कहा; अवनतः—झुककर; कृष्णम्—कृष्ण को; सर्व—समस्त; भूत—जीवित प्राणी; आशय—मन; आलयम्—आवास; लीला—आपकी लीला के रूप में; मनुष्ययोः—मनुष्यों के रूप में प्रकट हुए; विष्णो—हे विष्णु; युवयोः—तुम दोनों के लिए; करवाम—करूँ; किम्—क्या।

भगवान् जनार्दन ने वह शंख ले लिया जो उस दैत्य के शरीर के चारों ओर उगा हुआ था और रथ पर वापस चले गये। इसके पश्चात् वे यमराज की प्रिय राजधानी संयमनी गये। भगवान् बलराम के साथ वहाँ पहुँचकर उन्होंने तेजी से अपना शंख बजाया और उस गूँजती हुई आवाज को सुनते ही बद्धजीवों को नियंत्रण में रखने वाला यमराज वहाँ पहुँचा। यमराज ने दोनों विभुओं की अत्यन्त भक्तिपूर्वक पूजा की और तब प्रत्येक हृदय में वास करने वाले भगवान् कृष्ण से

कहा, ''हे भगवान् विष्णु, मैं आप के लिए तथा भगवान् बलराम के लिए जो सामान्य मनुष्यों की भूमिका अदा कर रहे हैं, क्या करूँ?''

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ने पञ्चजन से जो शंख लिया वह पाञ्चजन्य कहलाता है और यह वही शंख है, जिसे *भगवद्गीता* के शुभारम्भ में उन्होंने बजाया। आचार्यों के अनुसार पञ्चजन उसी तरह दैत्य बना जिस तरह जय तथा विजय बने थे। दूसरे शब्दों में, यद्यपि वह दैत्य रूप में प्रकट हुआ था किन्तु वास्तव में वह था भगवद्भक्त। *स्कन्द पुराण* के *अवन्ति खण्ड* में भगवान् कृष्ण द्वारा अपना शंख बजाने पर जो चमत्कार हुआ उसका वर्णन इस प्रकार हुआ है—

असिपत्रवनं नाम शीर्णपत्रमजायत।

रौरवं नाम नरकमरौरवमभूत्तदा॥

अभैरवं भैरवाख्यं कुम्भीपाकमपाचकम्॥

''असिपत्रवन नामक नर्क के वृक्षों की नुकीली तलवार जैसी पत्तियाँ गिर गईं और रौरव नामक नर्क रुरु पशुओं से शून्य हो गया। भैरव नर्क की भयानकता जाती रही और कुम्भीपाक नर्क में भोजन बनना बन्द हो गया।''

स्कन्द पुराण में आगे वर्णन है कि—

पापक्षयात् ततः सर्वे विमुक्ता नारका नराः पदमव्ययमासाद्य।

''उनके पापपूर्ण कर्मफल समूल नष्ट हो गये, नर्क के सारे वासियों को मुक्ति मिल गई और वे वैकुण्ठ पहुँच गये।''

श्रीभगवानुवाच
गुरुपुत्रमिहानीतं निजकर्मनिबन्धनम् ।
आनयस्व महाराज मच्छासनपुरस्कृतः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; गुरु-पुत्रम्—मेरे गुरु के पुत्र को; इह—यहाँ; आनीतम्—लाया गया; निज—उसका अपना; कर्म—पूर्वकर्मों के फलों का; निबन्धनम्—बन्धन-भोग करता हुआ; आनयस्व—ले आओ; महा-राज—हे महान् राजा; मत्—मेरा; शासन—आदेश; पुरः-कृतः—प्राथमिकता देते हुए।

भगवान् ने कहा, ''अपने विगत कर्म-बन्धन का भोग करने से मेरे गुरु का पुत्र आपके पास यहाँ लाया गया है। हे महान् राजा, मेरे आदेश का पालन करो और अविलम्ब उस बालक को

मेरे पास ले आओ।''

तथेति तेनोपानीतं गुरुपुत्रं यदूत्तमौ ।
दत्त्वा स्वगुरवे भूयो वृणीष्वेति तमूचतुः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

तथा—ऐसा ही हो; इति—(यमराज ने) ऐसा कहते हुए; तेन—उसके द्वारा; उपानीतम्—आगे लाया गया; गुरु-पुत्रम्—गुरु के पुत्र को; यदु-उत्तमौ—यदुओं में श्रेष्ठ कृष्ण तथा बलराम; दत्त्वा—देकर; स्व-गुरवे—अपने गुरु को; भूयः—फिर से; वृणीष्व—कृपया चुन लीजिए; इति—इस प्रकार; तम्—उससे; ऊचतुः—उन्होंने कहा।

यमराज ने कहा, ''जो आज्ञा'' और गुरु-पुत्र को सामने ला दिया। तत्पश्चात् यदुओं में श्रेष्ठ उन दोनों ने उस बालक को लाकर अपने गुरु को भेंट करते हुए उनसे कहा, ''कृपया दूसरा वर माँगिये।''

श्रीगुरुरुवाच
सम्यक्सम्पादितो वत्स भवद्भ्यां गुरुनिष्क्रयः ।
को नु युष्मद्विधगुरोः कामानामवशिष्यते ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

श्री-गुरुः उवाच—उनके गुरु सान्दीपनि मुनि ने कहा; सम्यक्—पूरी तरह; सम्पादितः—पूरा हुआ; वत्स—मेरे बालक; भवद्भ्याम्—तुम दोनों के द्वारा; गुरु-निष्क्रयः—गुरु-दक्षिणा; कः—जो; नु—निस्सन्देह; युष्मत्-विध—आप जैसे पुरुषों के; गुरोः—गुरु के लिए; कामानाम्—उसकी इच्छाओं का; अवशिष्यते—शेष रहता है।

गुरु ने कहा : मेरे प्रिय बालको, तुम दोनों ने अपने गुरु को दक्षिणा देने के शिष्य-दायित्व को पूरा कर लिया है। निस्सन्देह, तुम जैसे शिष्यों से गुरु को और क्या इच्छाएँ हो सकती हैं?

गच्छतं स्वगृहं वीरौ कीर्तिर्वामस्तु पावनी ।
छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

गच्छतम्—जाओ; स्व-गृहम्—अपने घर को; वीरौ—हे दोनों वीर; कीर्तिः—यश; वाम्—तुम्हारा; अस्तु—होए; पावनी—पावन बनाने वाला; छन्दांसि—वैदिक स्तुतियाँ; अयात-यामानि—नित नूतन; भवन्तु—होए; इह—इस जीवन में; परत्र—अगले जीवन में; च—तथा।

हे वीरो, अब तुम अपने घर लौट जाओ। तुम्हारा यश संसार को पवित्र बनाये और इस जन्म में तथा अगले जन्म में वैदिक स्तुतियाँ तुम्हारे मन में सदैव ताजी बनी रहें।

गुरुणैवमनुज्ञातौ रथेनानिलरंहसा ।
आयातौ स्वपुरं तात पर्जन्यनिनदेन वै ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

गुरुणा—उनके गुरु द्वारा; एवम्—इस तरह से; अनुज्ञातौ—विदा किये जाने पर; रथेन—अपने रथ में; अनिल—वायु की तरह; रंहसा—वेगवान; आयातौ—आये; स्व—अपने; पुरम्—नगर (मथुरा); तात—हे प्रिय (राजा परीक्षित); पर्जन्य—बादल की तरह; निनदेन—गर्जन; वै—निस्सन्देह।

इस तरह अपने गुरु से विदा होने की अनुमति पाकर दोनों भाई अपने रथ पर बैठ अपनी नगरी लौट आये। यह रथ वायु की तेजी से चल रहा था और बादल की तरह गूँज रहा था।

समनन्दन्प्रजाः सर्वा दृष्ट्वा रामजनार्दनौ ।
अपश्यन्त्यो बह्वहानि नष्टलब्धधना इव ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

समनन्दन्—खुशी मनाई; प्रजाः—नागरिकों ने; सर्वाः—सभी; दृष्ट्वा—देखकर; राम-जनार्दनौ—बलराम तथा कृष्ण को; अपश्यन्त्यः—न देख पाने से; बहु—अनेक; अहानि—दिन; नष्ट—खोया हुआ; लब्ध—पुनः प्राप्त; धनाः—सम्पत्ति वालों को; इव—सदृश।

सारे नागरिक, जिन्होंने अनेक दिनों से कृष्ण तथा बलराम को नहीं देखा था, उन्हें देखकर परम प्रसन्न हुए। लोगों को वैसा ही लगा, जिस तरह धन खोये हुओं को उनका धन वापस मिल जाय।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''कृष्ण द्वारा अपने गुरु-पुत्र की रक्षा'' नामक पैंतालीसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छियालिस

उद्धव की वृन्दावन यात्रा

इस अध्याय में यह वर्णन हुआ है कि श्रीकृष्ण ने किस तरह नन्द, यशोदा तथा तरुण गोपियों के दुख को दूर करने के लिए उद्धव को व्रज भेजा।

एक दिन कृष्ण ने अपने घनिष्ठ मित्र उद्धव से अपना सन्देश व्रज ले जाने और इस प्रकार उनके वियोग से उत्पन्न उनके माता-पिता तथा गोपियों के दुख को दूर करने के लिए कहा। उद्धव रथ पर चढ़कर सूर्यास्त के समय व्रज पहुँचे। उन्होंने गौवों को गोकुल लौटते और दूध के अत्यन्त भार के कारण मन्द गति से चल रहीं इन गौवों के आगे-आगे बछड़ों को इधर-उधर उछल-कूद करते देखा। ग्वाले तथा गोपियाँ कृष्ण तथा बलराम की महिमा का गायन कर रहे थे और सारा ग्राम जलती अगुरु

तथा दीपों की पंक्तियों से अच्छी तरह सजाया गया था। इससे अद्वितीय दिव्य सौन्दर्य का दृश्य प्रस्तुत हो रहा था।

नन्द महाराज ने अपने घर में उद्धव का हार्दिक स्वागत किया। फिर गोपनरेश ने भगवान् वासुदेव के ही समान उनकी पूजा की, उन्हें ठीक प्रकार से भोजन कराया, बिस्तर पर सुखपूर्वक बिठाया और तब वसुदेव तथा अपने पुत्र कृष्ण तथा बलराम की कुशल-क्षेम पूछी। नन्द ने पूछा, ''क्या कृष्ण अब भी अपने मित्रों की, अपने गोकुल-ग्राम की तथा गोवर्धन पर्वत की याद करते हैं? उन्होंने दावाग्नि, आँधी तथा वर्षा और अन्य अनेक विपदाओं से हमारी रक्षा की थी। हम उनकी लीलाओं का बारम्बार स्मरण करके अपने कर्म-पाश से मुक्त होते हैं और जब हम उनके चरणकमलों से अंकित स्थलों को देखते हैं, तो हमारे मन उनके विचारों में पूरी तरह लीन हो जाते हैं। गर्ग मुनि ने मुझे बतलाया था कि कृष्ण तथा बलराम दोनों ही सीधे वैकुण्ठ से अवतरित हुए हैं। देखो न! किस तरह उन्होंने कंस, मल्लों, कुवलयापीड (हाथी) तथा अनेक असुरों का सफाया कर दिया है।'' ज्यों-ज्यों नन्द को कृष्ण की लीलाएँ याद आती गईं उनका गला अश्रुओं से अवरुद्ध होता गया और वे इसके आगे बोल न सके। माता यशोदा ने अपने पति को ज्योंही कृष्ण के विषय में बोलते सुना, तो अपने पुत्र के उत्कट प्रेम के कारण उनके स्तनों से दूध की धारा बह चली और आँखों से अश्रुओं की झड़ी लग गई।

श्रीकृष्ण के प्रति नन्द तथा यशोदा के अद्वितीय स्नेह को देखकर उद्धव ने कहा, ''निस्सन्देह आप दोनों परम धन्य हैं। जिसने परम सत्य के मनुष्य-रूप के प्रति शुद्ध-प्रेम प्राप्त कर लिया हो, उसे फिर आगे कुछ भी प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। कृष्ण तथा बलराम सबों के हृदयों में उसी तरह विद्यमान हैं जिस तरह काठ के भीतर अग्नि सुसुप्त रहती है। ये दोनों, सबों को समभाव से देखते हैं, इनका न कोई विशेष मित्र है न शत्रु। ये अहंकार तथा स्वामित्व से मुक्त हैं, इनका न कोई पिता है, न माता, न पत्नी, न सन्तान। इनका न तो जन्म होता है न ही इनका कोई भौतिक शरीर है। केवल आध्यात्मिक सुख भोगने तथा अपने सन्त-भक्तों का उद्धार करने के लिए वे उच्च या निम्न सभी योनियों में, अपनी इच्छानुसार प्रकट होते हैं।''

''हे नन्द तथा यशोदा! कृष्ण केवल आपके ही पुत्र नहीं हैं अपितु समस्त लोगों के पुत्र हैं और उनके माता-पिता भी हैं। वस्तुतः वे हरएक के प्रियतम सम्बन्धी हैं क्योंकि भूत, वर्तमान तथा भविष्य

में जो कुछ भी देखा या सुना जाता है, वह उनसे स्वतंत्र नहीं है, चाहे वह चर हो या अचर।''

नन्द महाराज तथा उद्धव ने इस तरह कृष्ण के विषय में बातें करते करते रात बिता दी। तत्पश्चात् ग्वालिनों ने प्रात:कालीन पूजा करके दही मथना प्रारम्भ किया और मथने की डोरी को खींचने में व्यस्त रहते रहते बीच में वे कृष्ण की महिमा का गायन करती जा रही थीं। मथने तथा गीत गाने की ध्वनि आकाश में गूँजने लगी, जिससे संसार का सारा अशुभ दूर हो रहा था।

जब सूर्योदय हुआ तो गोपियों ने गाँव के कोने में उद्धव के रथ को देखा। उन्होंने सोचा कि हो न हो अक्रूर वापस आये हैं। किन्तु तभी उद्धव नित्यकर्म से निवृत्त होकर उनके समक्ष उपस्थित हुए।

श्रीशुक उवाच
वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा ।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; वृष्णीनाम्—वृष्णियों में से; प्रवरः—श्रेष्ठ; मन्त्री—सलाहकार; कृष्णस्य—कृष्ण का; दयितः—प्रिय; सखा—मित्र; शिष्यः—शिष्य; बृहस्पतेः—देवताओं के गुरु बृहस्पति का; साक्षात्—प्रत्यक्ष; उद्धवः—उद्धव; बुद्धि—बुद्धि वाला; सत्-तमः—सर्वोच्च गुण वाला।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : अत्यन्त बुद्धिमान उद्धव वृष्णि वंश के सर्वश्रेष्ठ सलाहकार, भगवान् कृष्ण के प्रिय मित्र तथा बृहस्पति के प्रत्यक्ष शिष्य थे।

तात्पर्य : आचार्यगण भगवान् कृष्ण द्वारा उद्धव को वृन्दावन भेजे जाने के कई कारण बतलाते हैं। भगवान् ने वृन्दावनवासियों से वादा किया था—*आयास्ये*—मैं लौटूँगा (*भागवत* .९.५)। यही नहीं, पिछले अध्याय में भगवान् कृष्ण ने नन्द महाराज को वचन दिया था—*द्रष्टुम् एष्यामः*—हम आपका तथा माता यशोदा का दर्शन करने वापस आयेंगे (*भागवत* .४५.२)। साथ ही भगवान्, श्री वसुदेव तथा माता देवकी के साथ कुछ दिन रहने का वचन भी नहीं टाल सकते थे क्योंकि उन्होंने इतने वर्षों तक कष्ट झेले थे। इसलिए भगवान् ने अपने स्थान पर अपने अभिन्न प्रतिनिधि को भेजने का निश्चय किया।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि कृष्ण ने नन्द तथा यशोदा को मथुरा आने के लिए क्यों आमंत्रित नहीं किया? श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार जिस स्थान पर वे वसुदेव तथा देवकी से प्रेम-विनिमय कर रहे थे उसी स्थान पर और उसी समय नन्द तथा यशोदा के साथ ऐसा करने से भगवान् कृष्ण की

लीलाओं में विषम परिस्थिति उत्पन्न हो जाती। इसीलिए उन्होंने नन्द तथा यशोदा को अपने साथ मथुरा में रहने के लिए नहीं बुलाया। वृन्दावनवासी अपने ही ढंग से कृष्ण को समझते थे अत: मथुरा के राजसी वातावरण में उनकी भावनाओं की समुचित अभिव्यक्ति स्थिर भाव से न हो पाती।

इस श्लोक में श्री उद्धव को *बुद्धिसत्तम:* ''अत्यन्त बुद्धिमान'' बतलाया गया है, अत: वे वृन्दावन के उन निवासियों को दक्षता से सान्त्वना दे सकते थे, जो कृष्ण के लिए तीव्र विछोह का अनुभव कर रहे थे। तत्पश्चात् मथुरा लौटकर उद्धव वृन्दावन में देखे गये असाधारण शुद्ध प्रेम का वर्णन सभी वृष्णिवंशियों से कर सकेंगे। निस्सन्देह कृष्ण के प्रति गोपों तथा गोपियों का प्रेम कृष्ण के अन्य भक्तों द्वारा अनुभूत प्रेम से बहुत बढ़ा हुआ था और इस प्रेम के विषय में सुनकर कृष्ण के सारे भक्त अपनी श्रद्धा तथा भक्ति में सम्वर्धन कर सकेंगे।

जैसाकि स्वयं भगवान् ने तृतीय स्कंध में कहा है—*नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यून:*—उद्धव मुझसे तनिक भी भिन्न नहीं है। कृष्ण से समानता रखने वाले उद्धव कृष्ण का सन्देश वृन्दावन ले जाने के लिए सर्वथा उपयुक्त व्यक्ति थे। वस्तुत: *श्री हरिवंश* में कहा गया है कि उद्धव वसुदेव के भाई देवभाग के पुत्र थे—*उद्धवो देवभागस्य महाभाग: सुतोऽभवत्।* दूसरे शब्दों में, उद्धव कृष्ण के चचेरे भाई थे।

तमाह भगवान्प्रेष्ठं भक्तमेकान्तिनं क्वचित् ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्तिहरो हरि: ॥ २॥

शब्दार्थ

तम्—उससे; आह—बोले; भगवान्—भगवान्; प्रेष्ठम्—अपने अत्यन्त प्रिय; भक्तम्—भक्त; एकान्तिनम्—अनन्य; क्वचित्—एक अवसर पर; गृहीत्वा—पकड़कर; पाणिना—हाथ से; पाणिम्—(उद्धव का) हाथ को; प्रपन्न—शरणागत; आर्ति—दुखी; हर:—हरने वाले; हरि:—हरि ने।

भगवान् हरि ने जो अपने शरणागतों के सारे कष्टों को हरने वाले हैं, एक बार अपने भक्त एवं प्रियतम मित्र उद्धव का हाथ अपने हाथ में लेकर उससे इस प्रकार कहा।

गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह ।
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय ॥ ॥

शब्दार्थ

गच्छ—जाओ; उद्धव—हे उद्धव; व्रजम्—व्रज को; सौम्य—हे भद्र; पित्रो:—माता-पिता तक; नौ—हमारे; प्रीतिम्—तुष्टि; आवह—ले जाओ; गोपीनाम्—गोपियों का; मत्—मुझसे; वियोग—वियोगजनित; आधिम्—मानसिक क्लेश का; मत्—मुझसे लाये गये; सन्देशै:—सन्देशों से; विमोचय—उन्हें छुटकारा दिलाओ।

[भगवान् कृष्ण ने कहा] हे भद्र उद्धव, तुम व्रज जाओ और हमारे माता-पिता को आनन्द प्रदान करो। यही नहीं, मेरा सन्देश देकर उन गोपियों को भी क्लेश-मुक्त करो जो मेरे वियोग के कारण कष्ट पा रही हैं।

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मतर्थे त्यक्तदैहिकाः ।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः ।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

ताः—वे (गोपियाँ); मत्—मुझमें लीन; मनस्काः—उनके मन; मत्—मुझमें टिके; प्राणाः—उनके प्राण; मत्-अर्थे—मेरे लिए; त्यक्त—छोड़कर; दैहिकाः—शारीरिक स्तर पर सारी वस्तुएँ; माम्—मुझको; एव—एकमात्र; दयितम्—अपने प्रिय; प्रेष्ठम्—सर्वाधिक प्रिय; आत्मानम्—आत्मा; मनसा गताः—समझ गईं; ये—जो (गोपियाँ या अन्य); त्यक्त—त्यागकर; लोक—यह जगत; धर्माः—धार्मिकता; च—तथा; मत्-अर्थे—मेरे लिए; तान्—उनको; बिभर्मि—भरण-पोषण करता हूँ; अहम्—मैं।

उन गोपियों के मन सदैव मुझमें लीन रहते हैं और उनके प्राण सदैव मुझी में अनुरक्त रहते हैं। उन्होंने मेरे लिए ही अपने शरीर से सम्बन्धित सारी वस्तुओं को त्याग दिया है, यहाँ तक इस जीवन के सामान्य सुख के साथ साथ अगले जीवन में सुख-प्राप्ति के लिए जो धार्मिक कृत्य आवश्यक हैं, उन तक का परित्याग कर दिया है। मैं उनका एकमात्र परम प्रियतम हूँ, यहाँ तक कि उनकी आत्मा हूँ। अतः मैं सभी परिस्थितियों में उनका भरण-पोषण करने का दायित्व अपने ऊपर लेता हूँ।

तात्पर्य : यहाँ पर कृष्ण बतलाते हैं कि वे गोपियों के पास विशेष सन्देश क्यों भेजना चाहते हैं। वैष्णव आचार्यों के अनुसार *दैहिकाः* शब्द जिसका अर्थ ''देह से सम्बन्धित'' है, पतियों, बच्चों, घरों इत्यादि का सूचक है। गोपियाँ कृष्ण से इतना प्रगाढ़ प्रेम करती थीं कि वे और कुछ सोच ही नहीं पाती थीं। चूँकि कृष्ण *साधनभक्ति* में लगे सामान्य भक्तों का भरण-पोषण करते हैं, अतः वे अपनी सर्वश्रेष्ठ भक्त, गोपियों का अवश्य ही भरण-पोषण करेंगे।

मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः ॥ ५॥

शब्दार्थ

मयि—मुझमें; ताः—वे; प्रेयसाम्—समस्त प्रिय वस्तुओं में से; प्रेष्ठे—सर्वाधिक प्रिय; दूर-स्थे—दूर होने से; गोकुल-स्त्रियः—गोकुल की स्त्रियाँ; स्मरन्त्यः—स्मरण करती हुई; अङ्ग—हे प्रिय (उद्धव); विमुह्यन्ति—स्तम्भित हो जाती हैं; विरह—वियोग की; औत्कण्ठ्य—चिन्ता से; विह्वलाः—विह्वल।

हे उद्धव, गोकुल की उन स्त्रियों के लिए मैं सर्वाधिक स्नेहयोग्य प्रेम-पात्र हूँ। इस तरह जब वे दूर-स्थित मुझको स्मरण करती हैं, तो वे वियोग की उद्विग्नता से विह्वल हो उठती हैं।

तात्पर्य : जो भी वस्तु हमें प्रिय होती है, वह हमारी सम्पत्ति बन जाती है। अन्ततोगत्वा सबसे प्रिय वस्तु हमारी अपनी आत्मा या स्वयं हम हैं। इस तरह आत्मा से अनुकूल सम्बन्ध वाली वस्तुएँ भी हमें प्रिय लगने लगती हैं और हम उन्हें पाना चाहते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार ऐसी असंख्य प्रिय वस्तुओं में से श्रीकृष्ण सर्वाधिक प्रिय हैं, यहाँ तक कि अपने से भी। गोपियों को इस बात की अनुभूति हो चुकी थी, अतएव वे भगवान् के विछोह से स्तम्भित थीं क्योंकि वे उनसे प्रगाढ़ प्रेम करती थीं। वे अपना प्राण कभी त्याग चुकी होतीं किन्तु भगवान् अपनी दिव्य शक्ति से उन्हें जीवित रखे हुए थे।

धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान्कथञ्चन ।
प्रत्यागमनसन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

धारयन्ति—धारण करती हैं; अति-कृच्छ्रेण—बड़ी कठिनाई से; प्रायः—मुश्किल से; प्राणान्—अपने प्राणों को; कथञ्चन—किसी तरह; प्रति-आगमन—वापसी के; सन्देशैः—वादों से; बल्लव्यः—गोपियाँ; मे—मेरी; मत्-आत्मिकाः—मेरे प्रति अनुरक्त।

चूँकि मैंने उनसे वापस आने का वादा किया है इसीलिए मुझमें पूर्णतः अनुरक्त मेरी गोपियाँ किसी तरह से अपने प्राणों को बनाये रखने के लिए संघर्ष कर रही हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार यद्यपि वृन्दावन की गोपियाँ कहने को तो विवाहिता थीं किन्तु उनके पति उनके रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श जैसे अति आकर्षक गुणों से कोई सम्पर्क नहीं रखते थे। उनके पतियों ने केवल मान रखा था कि "ये हमारी पत्नियाँ हैं।" दूसरे शब्दों में, भगवान् कृष्ण की आध्यात्मिक शक्ति से सारी गोपियाँ उन्हीं के आह्लाद के लिए थीं और कृष्ण उनसे परकीय प्रेम करते थे। वस्तुतः गोपियाँ कृष्ण की आन्तरिक प्रकृति, उनकी परम ह्लादिनी शक्ति की अभिव्यक्तियाँ थीं और आध्यात्मिक स्तर पर वे अपने शुद्ध-प्रेम से भगवान् कृष्ण को आकृष्ट कर रही थीं।

वृन्दावन में कृष्ण के माता-पिता नन्द महाराज तथा यशोदा को भी कृष्ण की सर्वोच्च प्रेम-दशा प्राप्त थी और वे भी कृष्ण की अनुपस्थिति में किसी तरह से जीवित थे। अतः उद्धव इनकी ओर भी विशेष ध्यान देंगे।

श्रीशुक उवाच
इत्युक्त उद्धवो राजन्सन्देशं भर्तुराहृतः ।
आदाय रथमारुह्य प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उक्तः—कहे गये; उद्धवः—उद्धव; राजन्—हे राजा (परीक्षित); सन्देशम्—सन्देश; भर्तुः—अपने स्वामी का; आहृतः—आदरपूर्वक; आदाय—लेकर; रथम्—अपने रथ पर; आरुह्य—सवार होकर; प्रययौ—चले गये; नन्द-गोकुलम्—नन्द महाराज के ग्राम गोकुल को।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, इस तरह कहे जाने पर उद्धव ने आदरपूर्वक अपने स्वामी के सन्देश को स्वीकार किया। वे अपने रथ पर सवार होकर नन्द-गोकुल के लिए चल पड़े।

प्राप्तो नन्दव्रजं श्रीमान्निम्लोचति विभावसौ ।
छन्नयानः प्रविशतां पशूनां खुररेणुभिः ॥ ८॥

शब्दार्थ

प्राप्तः—पहुँचकर; नन्द-व्रजम्—नन्द महाराज की चरागाहों में; श्रीमान्—भाग्यशाली (उद्धव); निम्लोचति—जब अस्त हो रहा था; विभावसौ—सूर्य; छन्न—अदृश्य; यानः—जिसका जाना; प्रविशताम्—प्रवेश करने वाले; पशूनाम्—पशुओं के; खुर—खुर; रेणुभिः—धूल से।

भाग्यशाली उद्धव नन्द महाराज के चरागाहों में उस समय पहुँचे जब सूर्य अस्त होने वाला था और चूँकि लौटती हुई गौवें तथा अन्य पशु अपने खुरों से धूल उड़ा रहे थे अतः उनका रथ अनदेखे ही निकल गया।

वासितार्थेऽभियुध्यद्भिर्नादितं शुश्मिभिर्वृषैः ।
धावन्तीभिश्च वास्राभिरुधोभारैः स्ववत्सकान् ॥ ९॥
इतस्ततो विलङ्घद्भिर्गोवत्सैर्मण्डितं सितैः ।
गोदोहशब्दाभिरवं वेणूनां निःस्वनेन च ॥ ॥
गायन्तीभिश्च कर्माणि शुभानि बलकृष्णयोः ।
स्वलङ्कृताभिर्गोपीभिर्गोपैश्च सुविराजितम् ॥ ११॥
अग्न्यर्कातिथिगोविप्रपितृदेवार्चनान्वितैः ।
धूपदीपैश्च माल्यैश्च गोपावासैर्मनोरमम् ॥ १२॥
सर्वतः पुष्पितवनं द्विजालिकुलनादितम् ।
हंसकारण्डवाकीर्णैः पद्मषण्डैश्च मण्डितम् ॥ १॥

शब्दार्थ

वासित—ऋतुमती (गौवें); अर्थे—के हेतु; अभियुध्यद्भिः—एक-दूसरे से लड़ रहे; नादितम्—नाँदते हुए; शुश्मिभिः—कामुक; वृषैः—साँड़ों से; धावन्तीभिः—दौड़ते हुए; च—तथा; वास्राभिः—गौवों समेत; उधः—अपने थनों के; भारैः—भार से; स्व—अपने ही; वत्सकान्—बछड़ों के पीछे; इतः ततः—इधर-उधर; विलङ्घद्भिः—कूदती; गो-वत्सैः—बछड़ों द्वारा; मण्डितम्—अलंकृत; सितैः—श्वेत; गो-दोह—गौवों के दुहने के; शब्द—शब्द से; अभिरवम्—गुञ्जायमान; वेणूनाम्—वंशियों की; निःस्वनेन—उच्च ध्वनि से; च—तथा; गायन्तीभिः—गाती हुईं; च—तथा; कर्माणि—कर्मों के विषय में; शुभानि—शुभ; बल-कृष्णयोः—बलराम तथा कृष्ण के; सु—सुन्दर; अलङ्कृताभिः—अलंकृत; गोपीभिः—गोपियों समेत; गोपैः—गोपजन; च—तथा; सु-विराजितम्—सुशोभित; अग्नि—यज्ञ की अग्नि; अर्क—सूर्य; अतिथि—मेहमान; गो—गाय; विप्र—ब्राह्मण; पितृ—पूर्वज; देव—तथा देवतागण की; अर्चन—पूजा से; अन्वितैः—पूरित; धूप—अगुरु; दीपैः—दीपकों से; च—तथा; माल्यैः—फूलों की मालाओं से; च—भी; गोप-आवासैः—ग्वालों के घरों के कारण; मनः-रमम्—अत्यन्त आकर्षक; सर्वतः—चारों ओर; पुष्पित—फूले हुए; वनम्—वन; द्विज—पक्षियों; अलि—तथा भौंरों के; कुल—झुंड से; नादितम्—प्रतिध्वनित; हंस—हंस; कारण्डव—विशेष प्रकार की बत्तखों से युक्त; आकीर्णैः—झुंडों से भरा; पद्म-षण्डैः—कमल के कुंजों से; च—तथा; मण्डितम्—सुशोभित।

ऋतुमती गौवों के लिए परस्पर लड़ रहे साँड़ों की ध्वनि से, अपने बछड़ों का पीछा कर रही अपने थनों के भार से रँभाती गौवों से, दुहने की तथा इधर-उधर कूद-फाँद कर रहे श्वेत बछड़ों की आवाज से, वंशी बजाने की ऊँची गूँज से, उन गोपों तथा गोपिनों द्वारा, जो गाँव को अपनी अद्‌भुत रीति से अलंकृत वेशभूषा से सुशोभित कर रहे थे, कृष्ण तथा बलराम के शुभ कार्यों के गुणगान से गोकुलग्राम सभी दिशाओं में गुंजायमान था। गोकुल में ग्वालों के घर यज्ञ-अग्नि, सूर्य, अचानक आए अतिथियों, गौवों, ब्राह्मणों, पितरों तथा देवताओं की पूजा के लिए प्रचुर सामग्रियों से युक्त होने से अतीव आकर्षक प्रतीत हो रहे थे। सभी दिशाओं में पुष्पित वन फैले थे, जो पक्षियों तथा मधुमक्खियों के झुण्डों से गुँजायमान हो रहे थे और हंस, कारण्डव तथा कमल-कुंजों से भरे-पूरे सरोवरों से सुशोभित थे।

तात्पर्य : यद्यपि गोकुल कृष्ण के विरह से जनित शोक में डूबा था किन्तु भगवान् ने अपनी अन्तरंगा शक्ति का विस्तार कर दिया जिससे व्रज का वह विशेष दृश्य छिप जाय और उद्धव को सूर्यास्त के समय व्रज की सामान्य हलचल तथा हर्ष दिख सके।

तमागतं समागम्य कृष्णस्यानुचरं प्रियम् ।
नन्दः प्रीतः परिष्वज्य वासुदेवधियार्चयत् ॥ १४॥

शब्दार्थ

तम्—उसके (उद्धव के) पास तक; आगतम्—आया हुआ; समागम्य—पहुँचकर; कृष्णस्य—कृष्ण का; अनुचरम्—अनुयायी; प्रियम्—प्रिय; नन्दः—नन्द महाराज; प्रीतः—सुखी; परिष्वज्य—आलिंगन करके; वासुदेव-धिया—वासुदेव के बारे में ध्यान करते हुए; आर्चयत्—पूजा की।

ज्योंही उद्धव नन्द महाराज के घर पहुँचे, नन्द उनसे मिलने के लिए आगे आ गये। गोपों के राजा ने अत्यन्त सुखपूर्वक उनका आलिंगन किया और वासुदेव की ही तरह उनकी पूजा की।

तात्पर्य : उद्धव नन्द के पुत्र कृष्ण के ही समान दिख रहे थे और जिसने भी उन्हें देखा उसे आनन्द प्राप्त हुआ। इस तरह कृष्ण के वियोग-विचारों में डूबे हुए भी नन्द ने जब उद्धव को अपने घर की ओर आते देखा तो वे बाहरी घटनाओं के बारे में सचेत हो गये अत: अपने सम्मान्य अतिथि का आलिंगन करने बाहर निकल आये।

भोजितं परमान्नेन संविष्टं कशिपौ सुखम् ।
गतश्रमं पर्यपृच्छत्पादसंवाहनादिभि: ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

भोजितम्—खिलाया; परम-अन्नेन—उत्तम कोटि के भोजन से; संविष्टम्—बैठाया; कशिपौ—सुन्दर सेज पर; सुखम्—सुखपूर्वक; गत—दूर किया; श्रमम्—थकान; पर्यपृच्छत्—पूछा; पाद—पाँव की; संवाहन—मालिश; आदिभि:—इत्यादि के द्वारा।

जब उद्धव उत्तम भोजन कर चुके और उन्हें सुखपूर्वक बिस्तर पर बिठा दिया गया तथा पाँवों की मालिश तथा अन्य साधनों से उनकी थकान दूर कर दी गई तो नन्द ने उनसे इस प्रकार पूछा।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी उल्लेख करते हैं कि नन्द ने एक नौकर से उद्धव के पाँवों की मालिश कराई क्योंकि उद्धव नन्द के भतीजे थे।

कच्चिदङ्ग महाभाग सखा न: शूरनन्दन: ।
आस्ते कुशल्यपत्याद्यैर्युक्तो मुक्त: सुहृद्व्रत: ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; अङ्ग—प्रिय; महा-भग—हे अत्यन्त भाग्यशाली; सखा—मित्र; न:—हमारा; शूर-नन्दन:—शूर का पुत्र (वसुदेव); आस्ते—रहता है; कुशली—कुशलपूर्वक; अपत्य-आद्यै:—अपने बच्चों आदि समेत; युक्त:—मिल कर; मुक्त:—मुक्त; सुहृत्—अपने मित्रों से; व्रत:—अनुरक्त।

[नन्द महाराज ने कहा] : हे परम भाग्यशाली, अब शूर का पुत्र मुक्त हो चुकने और अपने बच्चों तथा अन्य सम्बन्धियों से पुन: मिल जाने के बाद कुशल से है न?

दिष्ट्या कंसो हत: पाप: सानुग: स्वेन पाप्मना ।
साधूनां धर्मशीलानां यदूनां द्वेष्टि य: सदा ॥ १७॥

शब्दार्थ

दिष्ट्या—सौभाग्य से; कंसः—कंस; हतः—मारा जा चुका है; पापः—पापी; स—सहित; अनुगः—अपने अनुयायियों (भाइयों); स्वेन—अपने से; पाप्मना—पापमयता; साधूनाम्—सन्त; धर्म-शीलानाम्—धर्मात्मा; यदूनाम्—यदुओं से; द्वेष्टि—द्वेष करता है; यः—जो; सदा—सदैव।

सौभाग्यवश, अपने ही पापों के कारण पापात्मा कंस अपने समस्त भाइयों सहित मारा जा चुका है। वह सदैव सन्त तथा धर्मात्मा यदुओं से घृणा करता था।

अपि स्मरति नः कृष्णो मातरं सुहृदः सखीन् ।
गोपान्व्रजं चात्मनाथं गावो वृन्दावनं गिरिम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अपि—शायद; स्मरति—स्मरण करता है; नः—हमको; कृष्णः—कृष्ण; मातरम्—अपनी माता को; सुहृदः—उसके शुभचिन्तक; सखीन्—तथा सारे मित्र; गोपान्—ग्वालों को; व्रजम्—व्रज के गाँव; च—तथा; आत्म—स्वयं; नाथम्—स्वामी; गावः—गौवें; वृन्दावनम्—वृन्दावन के जंगल को; गिरिम्—गोवर्धन पर्वत को।

क्या कृष्ण हमारी याद करता है? क्या वह अपनी माता तथा अपने मित्रों एवं शुभचिन्तकों की याद करता है? क्या वह ग्वालों तथा उनके गाँव व्रज को, जिसका वह स्वामी है, स्मरण करता है? क्या वह गौवों, वृन्दावन के जंगल तथा गोवर्धन पर्वत की याद करता है?

अप्यायास्यति गोविन्दः स्वजनान्सकृदीक्षितुम् ।
तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रं सुनसं सुस्मितेक्षणम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अपि—क्या; आयास्यति—वापस आयेगा; गोविन्दः—कृष्ण; स्व-जनान्—अपने सम्बन्धियों को; सकृत्—एक बार; ईक्षितुम्—देखने के लिए; तर्हि—तब; द्रक्ष्याम—हम देख सकते हैं; तत्—उसका; वक्त्रम्—मुख; सु-नसम्—सुन्दर नाक से युक्त; सु—सुन्दर; स्मित—हँसी; ईक्षणम्—तथा नेत्र।

क्या गोविन्द अपने परिवार को देखने एक बार भी वापस आयेगा? यदि वह कभी आयेगा तो हम उसके सुन्दर नेत्र, नाक तथा मुसकाते सुन्दर मुख को देख सकेंगे।

तात्पर्य : चूँकि अब कृष्ण मथुरा जैसी महानगरी के राजकुमार बन चुके थे अत: नन्द को आशा नहीं रह गई थी कि वे कभी वृन्दावन जैसे सामान्य गोप-ग्राम में वापस आयेंगे। तो भी उन्हें निराशा के होते हुए भी इतनी आशा थी कि वे उन सरल ग्वालजनों को देखने एक बार अवश्य आयेंगे, जिन्होंने बचपन से उन्हें पाल-पोस कर बड़ा किया था।

दावाग्नेर्वातवर्षाच्च वृषसर्पाच्च रक्षिताः ।
दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्यः कृष्णेन सुमहात्मना ॥ २० ॥

शब्दार्थ

दाव-अग्नेः—जंगल की आग से; वात—तेज हवा से; वर्षात्—तथा वर्षा से; च—भी; वृष—बैल से; सर्पात्—सर्प से; च—तथा; रक्षिताः—रक्षा किये गये की; दुरत्ययेभ्यः—दुर्लंघ्य; मृत्युभ्यः—मानवीय संकटों से; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; सु-महा-आत्मना—बहुत बड़े महात्मा।

उस महान-आत्मा कृष्ण द्वारा हम जंगल की आग, तेज हवा तथा वर्षा, साँड़ तथा सर्प रूपी असुरों जैसे दुर्लंघ्य घातक संकटों से बचा लिये गये थे।

स्मरतां कृष्णवीर्याणि लीलापाङ्गनिरीक्षितम् ।
हसितं भाषितं चाङ्ग सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

स्मरताम्—स्मरण करने वाले; कृष्ण-वीर्याणि—कृष्ण के पराक्रमपूर्ण कार्यों को; लीला—क्रीड़ापूर्ण; अपाङ्ग—चितवन से; निरीक्षितम्—उनका देखना; हसितम्—हँसना; भाषितम्—बोलना; च—तथा; अङ्ग—हे प्रिय (उद्धव); सर्वाः—सभी; नः—हमारे लिए; शिथिलाः—शिथिल; क्रियाः—भौतिक कार्यकलाप।

जब हम कृष्ण द्वारा सम्पन्न किये गये अद्भुत कार्यों, उसकी चपल चितवन, उसकी हँसी तथा उसकी वाणी का स्मरण करते हैं, तो हे उद्धव, हम अपने सारे भौतिक कार्यों को भूल जाते हैं।

सरिच्छैलवनोद्देशान्मुकुन्दपदभूषितान् ।
आक्रीडानीक्ष्यमाणानां मनो याति तदात्मताम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सरित्—नदियाँ; शैल—पर्वत; वन—जंगल के; उद्देशान्—तथा विभिन्न भाग; मुकुन्द—कृष्ण के; पद—पाँवों से; भूषितान्—सुशोभित; आक्रीडान्—उनके खेल के स्थान; ईक्ष्यमाणानाम्—देखने वालों के लिए; मनः—मन; याति—प्राप्त करता है; तत्-आत्मताम्—उनमें पूर्ण तल्लीनता।

जब हम उन स्थानों को—यथा नदियों, पर्वतों तथा जंगलों को—देखते हैं, जिन्हें उसने अपने पैरों से सुशोभित किया और जहाँ उसने क्रीड़ाएँ तथा लीलाएँ कीं तो हमारे मन उसमें पूर्णतया लीन हो जाते हैं।

मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ ।
सुराणां महदर्थाय गर्गस्य वचनं यथा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

मन्ये—मैं सोचता हूँ; कृष्णम्—कृष्ण को; च—तथा; रामम्—राम को; च—तथा; प्राप्तौ—प्राप्त कर लिया; इह—इस लोक में; सुर—देवताओं के; उत्तमौ—दो सर्वश्रेष्ठ; सुराणाम्—देवताओं के; महत्—महान्; अर्थाय—हेतु; गर्गस्य—गर्ग मुनि का; वचनम्—कथन; यथा—जैसा।

मेरे विचार से कृष्ण तथा बलराम अवश्य ही दो श्रेष्ठ देवता हैं, जो इस लोक में देवताओं का

कोई महान् उद्देश्य पूरा करने आये हैं। गर्ग ऋषि ने ऐसी ही भविष्यवाणी की थी।

कंसं नागायुतप्राणं मल्लौ गजपतिं यथा ।
अवधिष्टां लीलयैव पशूनिव मृगाधिपः ॥ २४॥

शब्दार्थ

कंसम्—**कंस को**; नाग—**हाथियों की**; अयुत—**दस हजार**; प्राणम्—**प्राण-शक्ति वाले**; मल्लौ—**दो पहलवान (चाणूर तथा मुष्टिक)**; गज-पतिम्—**हाथियों के राजा (कुवलयापीड) को**; यथा—**जिस तरह**; अवधिष्टाम्—**दोनों ने मार डाला**; लीलया—**खेल-खेल में**; एव—**केवल**; पशून्—**पशुओं को**; इव—**सदृश**; मृग-अधिपः—**पशुओं का राजा सिंह**।

अन्ततः कृष्ण तथा बलराम ने दस हजार हाथियों जितने बलशाली कंस को और साथ ही साथ चाणूर और मुष्टिक पहलवानों एवं कुवलयापीड हाथी को मार डाला। उन्होंने इन सबों को उसी तरह खेल-खेल में आसानी से मार डाला जिस तरह सिंह छोटे पशुओं का सफाया कर देता है।

तात्पर्य : यहाँ पर नन्द यह कहना चाहते हैं कि ''न केवल गर्ग मुनि ने यह घोषित किया था कि ये बालक दैवी हैं किन्तु जरा देखो न! उन्होंने क्या कर दिखाया है! सारे लोग इसी की चर्चा चला रहे हैं।''

तालत्रयं महासारं धनुर्यष्टिमिवेभराट् ।
बभञ्जैकेन हस्तेन सप्ताहमदधाद्गिरिम् ॥ २५॥

शब्दार्थ

ताल-त्रयम्—**तीन ताड़ों जितना लम्बा**; महा-सारम्—**अत्यन्त ठोस**; धनुः—**धनुष**; यष्टिम्—**डंडा**; इव—**सदृश**; इभ-राट्—**शाही हाथी**; बभञ्ज—**तोड़ दिया**; एकेन—**एक**; हस्तेन—**हाथ से**; सप्त-अहम्—**सात दिनों तक**; अदधात्—**पकड़े रहे**; गिरिम्—**पर्वत को**।

जिस आसानी से कोई तेजस्वी हाथी किसी छड़ी को तोड़ देता है उसी तरह से कृष्ण ने तीन ताल जितने लम्बे एवं सुदृढ़ धनुष को तोड़ डाला। वे सात दिनों तक पर्वत को केवल एक हाथ से ऊपर उठाये रहे।

तात्पर्य : आचार्य विश्वनाथ के अनुसार, *ताल* का वृक्ष लगभग ६० हाथ या ९० फुट की माप के बराबर होता है। इस तरह कृष्ण ने २७० फुट लम्बा धनुष तोड़ डाला।

प्रलम्बो धेनुकोऽरिष्टस्तृणावर्तो बकादयः ।
दैत्याः सुरासुरजितो हता येनेह लीलया ॥ २६॥

शब्दार्थ

प्रलम्बः धेनुकः अरिष्टः—प्रलम्ब, धेनुक तथा अरिष्ट; तृणावर्तः—तृणावर्त; बक-आदयः—बक इत्यादि; दैत्याः—असुर; सुर-असुर—देवता तथा असुर दोनों; जितः—जीता; हताः—मारा; येन—जिसके द्वारा; इह—यहाँ (वृन्दावन में); लीलया—आसानी से।

इसी वृन्दावन में कृष्ण तथा बलराम ने बड़ी ही आसानी से प्रलम्ब, धेनुक, अरिष्ट, तृणावर्त तथा बक जैसे उन असुरों का वध किया जो स्वयं देवताओं तथा अन्य असुरों को पराजित कर चुके थे।

श्रीशुक उवाच

इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्तधीः ।
अत्युत्कण्ठोऽभवत्तूष्णीं प्रेमप्रसरविह्वलः ॥ २७॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; संस्मृत्य संस्मृत्य—बार बार उत्कट भाव से स्मरण करके; नन्दः—नन्द महाराज; कृष्ण—कृष्ण के प्रति; अनुरक्त—पूर्णतया समर्पित; धीः—मन; अति—अत्यन्त; उत्कण्ठः—उत्सुक; अभवत्—हो गये; तूष्णीम्—मौन; प्रेम—अपने शुद्ध-प्रेम के; प्रसर—वेग से; विह्वलः—अभिभूत।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह बारम्बार कृष्ण को उत्कटता से स्मरण करते हुए, भगवान् में पूर्णतया अनुरक्त मन वाले नन्द महाराज को अत्यधिक उद्विग्नता का अनुभव हुआ और वे अपने प्रेम के वेग से अभिभूत होकर मौन हो गये।

यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च ।
शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षीत्स्नेहस्नुतपयोधरा ॥ २८॥

शब्दार्थ

यशोदा—माता यशोदा; वर्ण्यमानानि—वर्णन किये जाते हुए; पुत्रस्य—अपने पुत्र के; चरितानि—कार्यकलापों को; च—तथा; शृण्वन्ती—ज्योंही सुना; अश्रूणि—आँसू; अवास्राक्षीत्—ढारने लगीं; स्नेह—स्नेह के कारण; स्नुत—गीले; पयोधरा—उनके स्तन।

ज्योंही माता यशोदा ने अपने पुत्र के कार्यकलापों का वर्णन सुना त्योंही उनके आँखों से आँसू बहने लगे और प्रेम के कारण उनके स्तनों से दूध बहने लगा।

तात्पर्य : जिस दिन कृष्ण ने मथुरा के लिए प्रस्थान किया था उस दिन से यद्यपि सैकड़ों नर-नारी यशोदा को सान्त्वना देते और समझाते रहे किन्तु उन्हें अपने पुत्र के मुखड़े के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दिखता था। वे सबों से अपनी आँखें फेर करके निरन्तर विलाप करती रहती थीं। इस तरह वे उद्धव को न तो पहचान पाईं, न उन्हें वात्सल्य-प्रेम प्रदर्शित कर सकीं, न ही अपने पुत्र के विषय में

उनसे कोई प्रश्न पूछ पाईं और न ही अपने पुत्र के लिए कोई संदेश दे पाईं। वे केवल कृष्ण-प्रेम में विह्वल थीं।

तयोरित्थं भगवति कृष्णे नन्दयशोदयोः ।
वीक्ष्यानुरागं परमं नन्दमाहोद्धवो मुदा ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तयोः—उन दोनों का; इत्थम्—इस प्रकार से; भगवति—भगवान् के लिए; कृष्णे—कृष्ण; नन्द-यशोदयोः—नन्द तथा यशोदा का; वीक्ष्य—स्पष्ट देखकर; अनुरागम्—प्रेममय आकर्षण; परमम्—परम; नन्दम्—नन्द से; आह—बोले; उद्धवः—उद्धव; मुदा—हर्षपूर्वक।

तब भगवान् कृष्ण के प्रति नन्द तथा यशोदा के परम अनुराग को स्पष्ट देखकर उद्धव ने हर्षपूर्वक नन्द से कहा।

तात्पर्य : यदि उद्धव ने नन्द तथा यशोदा को कष्ट भोगते देखा होता तो वे हर्ष व्यक्त न करते। किन्तु वास्तव में आध्यात्मिक स्तर पर सारी भावनाएँ दिव्य आनन्द होती हैं। शुद्ध-भक्तों का तथाकथित रोष प्रेम-भाव का दूसरा रूप है। उद्धव ने इसे स्पष्ट देखा था इसीलिए वे इस प्रकार बोले।

श्रीउद्धव उवाच

युवां श्लाघ्यतमौ नूनं देहिनामिह मानद ।
नारायणेऽखिलगुरौ यत्कृता मतिरीदृशी ॥ ० ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; युवाम्—तुम दोनों; श्लाघ्यतमौ—सर्वाधिक प्रशंसनीय; नूनम्—निश्चय ही; देहिनाम्—देहधारी जीवों का; इह—इस संसार में; मन-द—हे सम्माननीय; नारायणे—भगवान् नारायण के लिए; अखिल-गुरौ—सबों के गुरु; यत्—क्योंकि; कृता—उत्पन्न; मतिः—मानसिकता; ईदृशी—इस प्रकार की।

श्री उद्धव ने कहा : हे माननीय नन्द, सम्पूर्ण जगत में निश्चय ही आप तथा माता यशोदा सर्वाधिक प्रशंसनीय हैं क्योंकि आपने समस्त जीवों के गुरु भगवान् नारायण के प्रति ऐसा प्रेम-भाव उत्पन्न कर रखा है।

तात्पर्य : नन्द के इस भाव को समझते हुए जो उन्होंने इन शब्दों में अभिव्यक्त किया था कि *मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ* (मैं सोचता हूँ कि कृष्ण तथा राम दो श्रेष्ठ देवता हैं) उद्धव ने यहाँ कृष्ण को भगवान् नारायण कहा है।

एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी

रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम् ।
अन्वीय भूतेषु विलक्षणस्य
ज्ञानस्य चेशात इमौ पुराणौ ॥ १ ॥

शब्दार्थ

एतौ—ये दोनों; हि—निस्सन्देह; विश्वस्य—ब्रह्माण्ड के; च—तथा; बीज—बीज; योनी—तथा गर्भ; रामः—बलराम; मुकुन्दः—कृष्ण; पुरुषः—सृजन करने वाले भगवान्; प्रधानम्—उनकी सृजन शक्ति; अन्वीय—प्रवेश करके; भूतेषु—सारे जीवों के भीतर; विलक्षणस्य—भ्रमित या अनुभव करते; ज्ञानस्य—ज्ञान का; च—तथा; ईशाते—नियंत्रण करते हैं; इमौ—दोनों; पुराणौ—प्राचीन, आदि।

मुकुन्द तथा बलराम—ये दोनों विभु ब्रह्माण्ड के बीज तथा योनि, स्रष्टा तथा उनकी सृजन शक्ति हैं। ये जीवों के हृदयों में प्रवेश करके उनकी बद्ध जागरूकता को नियंत्रित करते हैं। ये आदि परम पुरुष हैं।

तात्पर्य : *विलक्षण* शब्द का अर्थ या तो ‘‘स्पष्ट अनुभव करते’’ या ‘‘दिग्भ्रमित है जो प्रसंग के अनुसार ‘वि’ उपसर्ग को समझकर निकाला जाता है।’’ प्रबुद्ध जीवों के पक्ष में *विलक्षण* का अर्थ है ‘‘शरीर तथा आत्मा के सही अन्तर की अनुभूति।’’ इस तरह से जैसाकि *ईशाते* शब्द से सूचित है भगवान् कृष्ण आध्यात्मिक रूप से प्रगति करने वाले व्यक्ति का मार्गदर्शन करते हैं। *विलक्षण* का दूसरा अर्थ ‘‘दिग्भ्रमित’’ या ‘‘मोहग्रस्त’’ है, जो उन पर स्पष्ट रूप से लागू होता है जिन्होंने आत्मा तथा शरीर के अन्तर को या जीवात्मा तथा परमात्मा के अन्तर को ठीक से नहीं समझा है। ऐसे मोहग्रस्त जीव भगवान् के धाम को—नित्य वैकुण्ठ लोक को—नहीं जाते अपितु प्रकृति के नियमानुसार क्षणिक गन्तव्य प्राप्त करते हैं।

वैष्णव साहित्य से ज्ञात होता है कि श्रीराम बलराम हैं, जो कृष्ण के स्वांश होने से उनके संग रहते हैं और उनसे सर्वथा अभिन्न हैं। भगवान् एक हैं फिर भी वे अपना विस्तार करते हैं और इस तरह बलराम एकेश्वरवाद से समझौता नहीं करते।

यस्मिन्जनः प्राणवियोगकाले
क्षनं समावेश्य मनोऽविशुद्धम् ।
निर्हृत्य कर्माशयमाशु याति
परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः ॥ २ ॥

तस्मिन्भवन्तावखिलात्महेतौ
नारायणे कारणमर्त्यमूर्तौ ।
भावं विधत्तां नितरां महात्मन्

किं वावशिष्टं युवयोः सुकृत्यम् ॥ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; जनः—कोई व्यक्ति; प्राण—अपने प्राण से; वियोग—विरह के; काले—समय पर; क्षणम्—क्षण-भर के लिए; समावेश्य—लीन करके; मनः—अपना मन; अविशुद्धम्—अशुद्ध; निर्हृत्य—समूल नष्ट करके; कर्म—कर्मों के फलों का; आशयम्—सारे चिह्न; आशु—तुरन्त; याति—जाता है; पराम्—परम; गतिम्—गन्तव्य को; ब्रह्म-मयः—शुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप में; अर्क—सूर्य की तरह; वर्णः—रंग; तस्मिन्—उसमें; भवन्तौ—आप दोनों; अखिल—समस्त; आत्म—परमात्मा; हेतौ—तथा कारण; नारायणे—भगवान् नारायण में; कारण—हर वस्तु का कारण; मर्त्य—मनुष्य के; मूर्तौ—रूप में; भावम्—शुद्ध-प्रेम; विधत्ताम्—दिया है; नितराम्—अत्यधिक; महा-आत्मन्—पूर्ण को; किम् वा—तो क्या; अवशिष्टम्—शेष; युवयोः—तुम दोनों के लिए; सु-कृत्यम्—आवश्यक शुभ कर्म।

कोई भी व्यक्ति, चाहे वह अशुद्ध अवस्था में ही क्यों न हो, यदि मृत्यु के समय क्षण-भर के लिए भी अपने मन को उन (भगवान्) में लीन कर देता है, तो उसके सारे पापमय कर्मों के फल भस्म हो जाते हैं जिससे उनका नाम-निशान भी नहीं रह जाता और वह सूर्य के समान तेजस्वी शुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप में परम दिव्य गन्तव्य को प्राप्त करता है। आप दोनों ने उन मनुष्य-रूप भगवान् नारायण की अद्वितीय प्रेमाभक्ति की है, जो सबों के परमात्मा हैं और सारे प्राणियों के कारण-स्वरूप हैं और जो सबों के मूल कारण हैं। भला अब भी आपको कौन-से शुभ कर्म करने की आवश्यकता है?

आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः ।
प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान्सात्वतां पतिः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

आगमिष्यति—वापस आयेगा; अदीर्घेण—अल्प; कालेन—समय में; व्रजम्—व्रज में; अच्युतः—अच्युत कृष्ण; प्रियम्—तुष्टि; विधास्यते—देगा; पित्रोः—अपने माता-पिता को; भगवान्—भगवान्; सात्वताम्—भक्तों का; पतिः—स्वामी तथा रक्षक।

भक्तों के स्वामी अच्युत कृष्ण शीघ्र ही अपने माता-पिता को तुष्टि प्रदान करने के लिए व्रज लौटेंगे।

तात्पर्य : अब यहाँ से उद्धव कृष्ण का सन्देश सुनाते हैं।

हत्वा कंसं रङ्गमध्ये प्रतीपं सर्वसात्वताम् ।
यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

हत्वा—मारकर; कंसम्—कंस को; रङ्ग—रंगभूमि के; मध्ये—बीच में; प्रतीपम्—शत्रु; सर्व-सात्वताम्—समस्त यदुओं का; यत्—जो; आह—कहा; वः—तुमसे; समागत्य—वापस आकर; कृष्णः—कृष्ण ने; सत्यम्—सत्य; करोति—करेगा; तत्—वही।

रंगभूमि में समस्त यदुओं के शत्रु कंस का वध कर चुकने के बाद अब कृष्ण वापस आकर

आपको दिये गये वचन को अवश्य ही पूरा करेंगे।

मा खिद्यतं महाभागौ द्रक्ष्यथ: कृष्णमन्तिके ।
अन्तर्हृदि स भूतानामास्ते ज्योतिरिवैधसि ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मा खिद्यतम्—आप शोक न करें; महा-भागौ—हे दोनों भाग्यशाली जन; द्रक्ष्यथ:—देखेंगे; कृष्णम्—कृष्ण को; अन्तिके—निकट भविष्य में; अन्त:—भीतर; हृदि—हृदयों में; स:—वह; भूतानाम्—सारे जीवों के; आस्ते—उपस्थित है; ज्योति:—अग्नि; इव—सदृश; एधसि—काठ के भीतर।

हे भाग्यशालीजनो, आप शोक मत करें। आप शीघ्र ही कृष्ण को देख सकेंगे। वे समस्त जीवों के हृदयों में उसी तरह विद्यमान हैं जिस तरह काष्ठ में अग्नि सुप्त रहती है।

तात्पर्य : उद्धव समझ गये थे कि नन्द तथा यशोदा कृष्ण को देखने के लिए अधीर थे, अत: उन्होंने उन्हें विश्वास दिलाया कि कृष्ण शीघ्र ही आयेंगे।

न ह्यस्यास्ति प्रिय: कश्चिन्नाप्रियो वास्त्यमानिन: ।
नोत्तमो नाधमो वापि समानस्यासमोऽपि वा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अस्य—उसके लिए; अस्ति—है; प्रिय:—प्रिय; कश्चित्—कोई; न—नहीं; अप्रिय:—अप्रिय; वा—अथवा; अस्ति—है; अमानिन:—सम्मान पाने की इच्छा से रहित; न—नहीं; उत्तम:—श्रेष्ठ; न—नहीं; अधम:—निम्न; वा—अथवा; अपि—भी; समानस्य—अन्यों का आदर करने वाले के लिए; आसम:—नितान्त सामान्य; अपि—भी; वा—अथवा।

उनके लिए कोई न तो विशेष प्रिय है, न अप्रिय; न तो श्रेष्ठ है न निम्न है; फिर भी वे किसी से अन्यमनस्क नहीं हैं। वे सम्मान पाने की सारी इच्छा से रहित हैं फिर भी वे सबों का सम्मान करते हैं।

न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादय: ।
नात्मीयो न परश्चापि न देहो जन्म एव च ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं है; माता—माता; न—न तो; पिता—पिता; तस्य—उनका; न—नहीं; भार्या—पत्नी; न—न तो; सुत-आदय:—पुत्र इत्यादि; न—न कोई; आत्मीय:—अपने से सम्बद्ध; न—न तो; पर:—बाहरी, पराया; च अपि—भी; न—नहीं; देह:—शरीर; जन्म—जन्म; एव—या तो; च—तथा।

न तो उनके माता है, न पिता, न पत्नी, न पुत्र या अन्य कोई सम्बन्धी। उनसे किसी का सम्बन्ध नहीं है फिर भी उनका कोई पराया नहीं है। न तो उनका भौतिक शरीर है, न कोई जन्म।

न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु ।
क्रीडार्थं सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं है; च—तथा; अस्य—इसका; कर्म—कर्म; वा—अथवा; लोके—इस जगत में; सत्—शुद्ध; असत्—अशुद्ध; मिश्र—या मिश्रित; योनिषु—योनियों में; क्रीडा—खिलवाड़ के; अर्थम्—लिए; सः—वह; अपि—भी; साधूनाम्—अपने साधु-भक्तों की; परित्राणाय—रक्षा करने के लिए; कल्पते—प्रकट होता है।

उन्हें इस जगत में ऐसा कोई कर्म करना शेष नहीं जो उन्हें शुद्ध, अशुद्ध या मिश्रित योनियों में जन्म लेने के लिए बाध्य कर सके। फिर भी अपनी लीलाओं का आनन्द लेने और अपने साधु-भक्तों का उद्धार करने के लिए वे स्वयं प्रकट होते हैं।

सत्त्वं रजस्तम इति भजते निर्गुणो गुणान् ।
क्रीडन्नतीतोऽपि गुणैः सृजत्यवन्हन्त्यजः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतो गुण; रजः—रजो गुण; तमः—तथा तमो गुण; इति—इस प्रकार कहे जाने वाले; भजते—स्वीकार करता है; निर्गुणः—भौतिक गुणों से परे; गुणान्—गुणों को; क्रीडन्—क्रीड़ा करते हुए; अतीतः—परे; अपि—यद्यपि; गुणैः—गुणों के द्वारा; सृजति—सृजन करता है; अवति—पालन-पोषण करता है; हन्ति—तथा संहार करता है; अजः—अजन्मा भगवान्।

यद्यपि दिव्य भगवान् भौतिक प्रकृति के तीन गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुणों—से परे हैं फिर भी क्रिड़ा के रूप में वे इनकी संगति स्वीकार करते हैं। इस तरह अजन्मा भगवान् इन भौतिक गुणों का उपयोग सृजन, पालन तथा संहार के लिए करते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *ब्रह्मसूत्र* (२.१.४) में कहा गया है— *लोकवत् लीलाकैवल्यम्*—भगवान् अपनी आध्यात्मिक लीलाएँ इस तरह करते हैं मानो वे इस जगत के वासी हों।

यद्यपि भगवान् न किसी का पक्ष लेते हैं न ही किसी के साथ दुर्व्यवहार करते हैं, तो भी इस जगत में हमें सुख तथा दुख दिख जाते हैं। *गीता* (१.२२) में कहा गया है— *कारणं गुणसंगोऽस्य*—हम प्रकृति के विभिन्न गुणों के साथ संगति चाहते हैं अतः हमें परिणामों को स्वीकार करना ही पड़ता है। भगवान् हमें प्रकृति रूपी क्षेत्र प्रदान करते हैं जिसमें हम पूरी स्वच्छन्दता बरत सकते हैं। मूर्ख अभक्तजन भगवान् की प्रकृति का दुरुपयोग करते हुए भगवान् को ठगने की कोशिश करते हैं किन्तु जब उन्हें कर्म-फल भोगना पड़ता है, तो वे अपने दुष्कर्मों के लिए भगवान् को कोसते हैं। जो लोग ईश्वर से ईर्ष्या करते हैं उनकी ऐसी लज्जाजनक स्थिति होती है।

यथा भ्रमरिकादृष्ट्या भ्राम्यतीव महीयते ।
चित्ते कर्तरि तत्रात्मा कर्तेवाहंधिया स्मृतः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; भ्रमरिका—घुमरी के कारण; दृष्ट्या—किसी की दृष्टि में; भ्राम्यति—घूमते हुए; इव—मानो; मही—पृथ्वी; ईयते—प्रकट होता है; चित्ते—मन में; कर्तरि—कर्ता होने से; तत्र—वहाँ; आत्मा—आत्मा; कर्ता—कर्ता; इव—सदृश; अहम्-धिया—मिथ्या अहंकार से; स्मृतः—सोचा जाता है।

जिस तरह चक्री में घूमने वाला व्यक्ति धरती को घूमता देखता है उसी तरह जो व्यक्ति मिथ्या अहंकार के वशीभूत होता है, वह अपने को कर्ता मानता है, जबकि वास्तव में उसका मन कार्य करता होता है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने एक समानान्तर विचार प्रस्तुत किया है—यद्यपि हमारे सुख-दुख प्रकृति के साथ हमारी क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं किन्तु हम भगवान् को ही उनका कारण मानते हैं।

युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान्हरिः ।
सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

युवयोः—तुम दोनों का; एव—अकेले; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; अयम्—यह; आत्म-जः—पुत्र; भगवान्—भगवान्; हरिः—कृष्ण; सर्वेषाम्—सबों का; आत्म-जः—पुत्र; हि—निस्सन्देह; आत्मा—आत्मा; पिता—पिता; माता—माता; सः—वह; ईश्वरः—नियन्ता।

निश्चय ही भगवान् हरि एकमात्र आपके पुत्र नहीं हैं, प्रत्युत भगवान् होने के कारण वे हर एक के पुत्र, आत्मा, पिता तथा माता हैं।

दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत्
स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च ।
विनाच्युताद्वस्तु तरां न वाच्यं
स एव सर्वं परमात्मभूतः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

दृष्टम्—देखा हुआ; श्रुतम्—सुना हुआ; भूत—भूतकाल; भवत्—वर्तमान्; भविष्यत्—भविष्य; स्थास्नुः—अचल; चरिष्णुः—चल; महत्—विशाल; अल्पकम्—क्षुद्र; च—तथा; विना—के बिना; अच्युतात्—अच्युत कृष्ण से; वस्तु—वस्तु; तराम्—तनिक भी; न—नहीं है; वाच्यम्—नाम लेने के योग्य; सः—वह; एव—अकेले; सर्वम्—हर वस्तु; परम-आत्म—परमात्मा रूप में; भूतः—प्रकट।

भगवान् अच्युत से किसी भी वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है—चाहे वह भूत से या वर्तमान से अथवा भविष्य से सम्बन्धित हो, वह देखी हो या सुनी हो, चर हो या अचर हो, विशाल हो या

क्षुद्र। दरअसल वे ही सर्वस्व हैं क्योंकि वे परमात्मा हैं।

तात्पर्य : श्री उद्धव नन्द तथा यशोदा को उच्चतर दार्शनिक धरातल पर लाकर उनके दुख को दूर कर रहे हैं। वे बता रहे हैं कि क्योंकि कृष्ण सर्वस्व हैं और हर एक के भीतर उपस्थित हैं अत: उनके शुद्ध-भक्त सदैव उनके साथ रहते हैं।

एवं निशा सा ब्रुवतोर्व्यतीता
नन्दस्य कृष्णानुचरस्य राजन् ।
गोप्य: समुत्थाय निरूप्य दीपान्
वास्तून्समभ्यर्च्य दौधीन्यमन्थुन् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह से; निशा—रात; सा—वह; ब्रुवतो:—दोनों के बातचीत करते; व्यतीता—बीत गई; नन्दस्य—नन्द महाराज का; कृष्ण-अनुचरस्य—तथा कृष्ण का दास (उद्धव); राजन्—हे राजा (परीक्षित); गोप्य:—गोपियाँ; समुत्थाय—नींद से उठ कर; निरूप्य—जलाकर; दीपान्—दीपकों को; वास्तून्—घरेलू अर्चाविग्रहों को; समभ्यर्च्य—पूजा करके; दधीनि—दही; अमन्थन्—मथने लगीं।

हे राजन् जब कृष्ण के दूत उद्धव नन्द महाराज से बातें करे जा रहे थे तो रात बीत गई। गोकुल की स्त्रियाँ तब नींद से जग गई और उन्होंने दीपक जलाकर अपने अपने घरों के अर्चाविग्रहों की पूजा की। इसके बाद वे दही मथने लगीं।

ता दीपदीप्तैर्मणिभिर्विरेजू
रज्जूर्विकर्षद्भुजकङ्कणस्रजः ।
चलन्नितम्बस्तनहारकुण्डल-
त्विषत्कपोलारुणकुङ्कुमाननाः ॥ ४५॥

शब्दार्थ

ता:—वे स्त्रियाँ; दीप—दीपकों द्वारा; दीप्तै:—दीपित; मणिभि:—मणियों से; विरेजु:—चमक रही थीं; रज्जू:—रस्सियाँ; विकर्षत्—खींचते हुए; भुज—अपनी भुजाओं में; कङ्कण—चूड़ियों की; स्रज:—पंक्तियाँ; चलन्—हिलाती; नितम्ब—कटि के नीचे का भाग; स्तन—वक्षस्थल; हार—तथा गले की दुलरी; कुण्डल—कान की बालियों के कारण; त्विषत्—चमचमाते; कपोल—गाल; अरुण—लाल; कुङ्कुम—कुंकुम चूर्ण से; आनना:—उनके मुखमंडल।

जब व्रज की स्त्रियाँ कंगन पहने हुए हाथों से मथानी की रस्सियाँ खींच रही थीं तो वे दीपक के प्रकाश से प्रतिबिम्बित मणियों की चमक से दीपित हो रही थीं। उनके नितम्ब, स्तन तथा गले के हार हिल-डुल रहे थे और लाल कुंकुम से पुते उनके मुखमण्डल, गालों पर पड़ी कान की बालियों की चमक से चमचमा रहे थे।

उद्गायतीनामरविन्दलोचनं
व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद्ध्वनिः ।
दध्नश्च निर्मन्थनशब्दमिश्रितो
निरस्यते येन दिशाममङ्गलम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

उद्गायतीनाम्—जोर से गाती हुई; अरविन्द—कमलों की तरह; लोचनम्—नेत्र; व्रज-अङ्गनानाम्—व्रज की स्त्रियों के; दिवम्—आकाश; अस्पृशत्—स्पर्श किया; ध्वनिः—ध्वनि, गूँज; दध्नः—दही का; च—तथा; निर्मन्थन—मथने का; शब्द—शब्द से; मिश्रितः—मिश्रित; निरस्यते—दूर हो जाती है; येन—जिससे; दिशाम्—सभी दिशाओं का; अमङ्गलम्—अमंगल।

जब व्रज की स्त्रियाँ कमल-नेत्र कृष्ण की महिमा का गायन जोर-जोर से करने लगीं तो उनके गीत उनके मथने की ध्वनि से मिल कर आकाश तक उठ गये और उन्होंने सारी दिशाओं के अमंगल को दूर कर दिया।

तात्पर्य : गोपियाँ कृष्ण के विचार में लीन थीं अतः वे उनकी उपस्थिति का अनुभव कर रही थीं। इसीलिए वे हर्षित होकर गा सकीं।

भगवत्युदिते सूर्ये नन्दद्वारि व्रजौकसः ।
दृष्ट्वा रथं शातकौम्भं कस्यायमिति चाब्रुवन् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

भगवति—देव; उदिते—उदय होने पर; सूर्ये—सूर्य के; नन्द-द्वारि—नन्द महाराज के दरवाजे; व्रज-ओकसः—व्रज के निवासी; दृष्ट्वा—देखकर; रथम्—रथ को; शातकौम्भम्—स्वर्ण से बने; कस्य—किसका; अयम्—यह; इति—इस प्रकार; च—तथा; अब्रुवन्—वे बोले।

जब सूर्यदेव उदित हो चुके तो व्रजवासियों ने नन्द महाराज के दरवाजे के सामने एक सुनहरा रथ देखा। (अतः) उन्होंने पूछा, ''यह किसका रथ है?''

अक्रूर आगतः किं वा यः कंसस्यार्थसाधकः ।
येन नीतो मधुपुरीं कृष्णः कमललोचनः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

अक्रूरः—अक्रूर; आगतः—आया है; किम् वा—शायद; यः—जो; कंसस्य—कंस के; अर्थ—कार्य के लिए; साधकः—सम्पन्न करने वाला; येन—जिससे; नीतः—लाया गया; मधु-पुरीम्—मथुरा नगरी में; कृष्णः—कृष्ण; कमल—कमल सदृश; लोचनः—आँखों वाले।

''शायद अक्रूर लौट आया है—वही जिसने कमल-नेत्र कृष्ण को मथुरा ले जाकर कंस की इच्छा पूरी की थी।

तात्पर्य : गोपियाँ क्रुद्ध होकर यह कह रही थीं।

किं साधयिष्यत्यस्माभिर्भर्तुः प्रीतस्य निष्कृतिम् ।
ततः स्त्रीणां वदन्तीनामुद्धवोऽगात्कृताह्निकः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; साधयिष्यति—सम्पन्न करेगा; अस्माभिः—हमसे; भर्तुः—स्वामी का; प्रीतस्य—तुष्ट रहने वाले का; निष्कृतिम्—पिण्डदान; ततः—तत्पश्चात्; स्त्रीणाम्—स्त्रियाँ; वदन्तीनाम्—बोलती हुईं; उद्धवः—उद्धव; अगात्—वहाँ आया; कृत—करके; अह्निकः—प्रातःकालीन धार्मिक कृत्य।

जब स्त्रियाँ इस तरह बोल ही रही थीं कि, ''क्या वह अपनी सेवाओं से प्रसन्न हुए अपने स्वामी के पिण्डदान के लिए हमारे मांस को अर्पित करने जा रहा है?'' तभी प्रातःकालीन कृत्यों से निवृत्त हुए उद्धव दिखलाई पड़े।

तात्पर्य : इस श्लोक में अक्रूर द्वारा कृष्ण को ले जाये जाने से उत्पन्न गोपियों की घोर निराशा प्रकट होती है। किन्तु उन्हें आश्चर्य होगा जब वे देखेंगी कि यह अनपेक्षित अतिथि उद्धव है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''उद्धव की वृन्दावन यात्रा'' नामक छियालिसवें अध्याय के श्रील प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सैंतालीस

भ्रमर गीत

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह भगवान् श्रीकृष्ण के आदेश से उद्धव ने गोपियों को भगवान् का सन्देश दिया, उन्हें ढाढ़स बँधाया और फिर मथुरा लौट गये।

जब व्रज की तरुणियों ने पीतवस्त्र तथा आकर्षक कुण्डल पहने कमल जैसे नेत्रों वाले उद्धव को देखा तो वे चकित थीं कि यह कृष्ण से कितना मिलता-जुलता रहा है। यह सोचते हुए कि यह कौन है, वे उद्धव के पास गईं और उन्हें घेर लिया। जब उन्हें लगा कि कृष्ण ने ही उन्हें भेजा होगा तो वे उन्हें एकान्त स्थान में ले गईं जहाँ उद्धव उनसे गोपनीय ढंग से अपने मन की बात कह सकें।

तत्पश्चात् गोपियाँ कृष्ण के साथ खेली गईं लीलाओं का स्मरण करने लगीं और सारी लाज-हया छोड़कर जोर जोर से रोने लगीं। एक गोपी कृष्ण के साथ अपने सान्निध्य के विषय में गम्भीर ध्यान लगाने लगी तो उसने अपने समक्ष एक भौंरा देखा। इस भौंरे को कृष्ण का दूत समझ कर उसने कहा, ''जिस तरह भौंरे विभिन्न फूलों के बीच मँडराते रहते हैं उसी तरह कृष्ण ने व्रज की तरुणियों को छोड़

दिया है और अन्य स्त्रियों से स्नेह उत्पन्न कर लिया है।'' यह गोपी ऐसे ही अपने कल्पित दुर्भाग्य एवं अपनी प्रतिद्वन्द्विनी प्रेमिका के सौभाग्य के बारे में प्रलाप करती रही और पूरे समय भगवान् कृष्ण के नाम, रूप, गुण तथा लीलाओं का गुणगान करती रही। तत्पश्चात् उसने घोषित किया कि भले ही कृष्ण ने गोपियों का परित्याग कर दिया हो किन्तु गोपियाँ उन्हें क्षण-भर के लिए भी नहीं भुला सकतीं।

उद्धव ने व्रज की इन गोपियों को जो कृष्ण को एक बार पुनः देखने के लिए उत्सुक थीं, ढाढ़स बँधाने का प्रयास किया। उद्धव ने बतलाया, ''जहाँ भगवान् कृष्ण का दास बनने के लिए सामान्य पुरुषों को अनेक पुण्य करने पड़ते हैं वहाँ हे सीधी-सादी गोपियो! तुम इतनी भाग्यशालिनी हो कि भगवान् ने तुम सबों को अपनी शुद्धभक्ति प्रदान करने की कृपा की है।'' तत्पश्चात् उद्धव ने उनसे भगवान् का सन्देश कह सुनाया।

उद्धव ने कृष्ण का उद्धरण देते हुए कहा, ''मैं परमात्मा हूँ और सबों का परम आश्रय हूँ। मैं अपनी शक्तियों से ब्रह्माण्डों का सृजन, पालन तथा संहार करता हूँ। मैं तुम गोपियों को अत्यन्त प्रिय हूँ किन्तु अपने प्रति तुम सबों का आकर्षण बढ़ाने और तुम्हारी स्मृति को प्रखर बनाने के लिए ही मैंने तुम सबों को छोड़ा है। आखिर, जब किसी स्त्री का प्रेमी उससे दूर रहता है, तो वह सदा उसी पर चित्त टिकाये रखती है। निरन्तर मेरा स्मरण करते रहने से तुम पुनः अविलम्ब मेरा सान्निध्य प्राप्त कर सकोगी।''

तब गोपियों ने उद्धव से पूछा, ''अब कंस के मरने से कृष्ण प्रसन्न तो हैं और अपने परिवार वालों तथा मथुरा की स्त्रियों की संगति का आनंद उठा सकते हैं न? क्या वे अब भी हमारे साथ खेली गयी सारी लीलाओं जैसे रासनृत्य का स्मरण करते हैं? क्या वे पुनः हमारे समक्ष प्रकट होकर हमें उसी तरह आनन्दित कर सकेंगे जिस तरह इन्द्र अपनी वर्षा से ग्रीष्म के ताप से पीड़ित जंगलों को पुनः जीवन प्रदान करते हैं? यद्यपि हम जानती हैं कि त्याग से ही सर्वोच्च सुख प्राप्त होता है किन्तु हम कृष्ण को पाने की आशा इसलिए नहीं त्याग पातीं क्योंकि सारी व्रजभूमि में उनके चरणकमलों के चिह्न अब भी अंकित हैं, जो हमें उनकी मन्द चाल, उदार मुस्कानों तथा मधुर बातों का स्मरण कराते हैं। इन सबों ने हमारे चित्त को चुरा लिया है।''

ऐसा कहकर गोपियाँ जोर जोर से कृष्ण के नामों का उच्चारण यह कहकर करने लगीं, ''हे गोविन्द! आकर हमारे कष्टों को दूर करो।'' तब उद्धव ने ऐसे कथनों द्वारा उन्हें सान्त्वना दी जिनसे

उनकी वियोग-पीड़ा दूर हो गई और वे उद्धव को श्रीकृष्ण से अभिन्न मानकर उनकी पूजा करने लगीं।

उद्धव व्रज प्रदेश में कई मास रुके रहे और वहाँ के वासियों को कृष्ण के विषय में तरह तरह से स्मरण कराकर उन्हें आनन्दित करते रहे। कृष्ण के प्रति गोपियों के प्रेम का विस्तार देखकर अत्यन्त प्रसन्न-मन उद्धव ने घोषित किया, "इन गोपियों ने कृष्ण के प्रति अनन्यप्रेम का पद प्राप्त कर अपने अपने जीवन को सफल बना लिया है। निस्सन्देह इनके आगे ब्रह्मा भी निकृष्ट लगते हैं। कृष्ण के वक्षस्थल पर निवास करने वाली साक्षात् लक्ष्मी जी भी वह कृपा प्राप्त नहीं कर सकीं जो इन गोपियों ने रासनृत्य के समय प्राप्त की थी जिसमें कृष्ण ने अपनी विशाल भुजाओं से उनका आलिंगन किया था। तो भला अन्य स्त्रियों के बारे में क्या कहा जा सकता है? निस्सन्देह मैं एक झाड़ी या लता का भी जन्म लेकर अपने को परम धन्य मानूँगा जिससे इन गोपियों की चरण-रज से स्पर्श प्राप्त कर सकूँ।"

अन्त में उद्धव ने मथुरा वापस जाने के लिए नन्द महाराज तथा अन्य गोपों से अनुमति माँगी। नन्द ने उन्हें अनेक उपहार दिये और कृष्ण का सदैव स्मरण करने की शक्ति प्रदान करने के लिए उद्धव से प्रार्थना की। मथुरा लौट कर उद्धव ने बलराम, कृष्ण तथा राजा उग्रसेन को नन्द महाराज द्वारा भेजे गये उपहार प्रदान किये और उन सबों से व्रज के सारे अनुभव कह सुनाये।

श्रीशुक उवाच

तं वीक्ष्य कृषानुचरं व्रजस्त्रियः
प्रलम्बबाहुं नवकञ्जलोचनम् ।
पीताम्बरं पुष्करमालिनं लसन्-
मुखारविन्दं परिमृष्टकुण्डलम् ॥ १ ॥
सुविस्मिताः कोऽयमपीव्यदर्शनः
कुतश्च कस्याच्युतवेषभूषणः ।
इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सुका-
स्तमुत्तमःश्लोकपदाम्बुजाश्रयम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; तम्—उस; वीक्ष्य—देखकर; कृष्ण-अनुचरम्—भगवान् कृष्ण के अनुचर (उद्धव) को; व्रज-स्त्रियः—व्रज की स्त्रियाँ; प्रलम्ब—नीचे तक; बाहुम्—बाँहों को; नव—नवीन; कञ्ज—कमल सदृश; लोचनम्—आँखों को; पीत—पीला; अम्बरम्—वस्त्र पहने; पुष्कर—कमल की; मालिनम्—माला पहने; लसत्—शोभायमान; मख—मुख; अरविन्दम्—कमल सदृश; परिमृष्ट—परिष्कृत किया; कुण्डलम्—कान का कुण्डल; सु-विस्मिताः—अत्यधिक चकित; कः—कौन; अयम्—यह; अपीव्य—सुन्दर; दर्शनः—दर्शन; कुतः—कहाँ से; च—तथा; कस्य—किसका; अच्युत—कृष्ण का; वेष—वस्त्र धारण किये; भूषणः—तथा आभूषण; इति—इस प्रकार; स्म—निस्सन्देह; सर्वाः—सभी; परिवव्रुः—

घिरे हुए; उत्सुकाः—उत्सुक; तम्—उसको; उत्तमः-श्लोक—भगवान् कृष्ण का, जिनकी प्रशंसा सुन्दर श्लोकों द्वारा की जाती है; पद-अम्बुज—चरणकमल की; आश्रयम्—शरण में आये हुए।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : व्रज की ललनाएँ कृष्ण के अनुचर को देखकर चकित हो गईं। उसके हाथ लम्बे लम्बे थे और आँखें नये खिले कमल जैसी थीं। वह पीत वस्त्र धारण किये था, गले में कमल की माला थी तथा अत्यन्त परिष्कृत किये हुए कुण्डलों से चमकता उसका मुखमण्डल कमल जैसा था। गोपियों ने पूछा, ''यह सुन्दर पुरुष कौन है? यह कहाँ से आया है? यह किसकी सेवा करता है? यह तो कृष्ण के वस्त्र और आभूषण पहने है!'' यह कहकर गोपियाँ उद्धव के चारों ओर उत्सुकता से एकत्र हो गईं जिनका आश्रय भगवान् उत्तमश्लोक श्रीकृष्ण के चरणकमल थे।

तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं
सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः ।
रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने
विज्ञाय सन्देशहरं रमापतेः ॥ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; प्रश्रयेण—विनयपूर्वक; अवनताः—झुककर (गोपियाँ); सु—उचित रीति से; सत्-कृतम्—आदर किया; स-व्रीड—लज्जा सहित; हास—तथा हँसते हुए; ईक्षण—चितवनों; सूनृत—मधुर शब्द; आदिभिः—इत्यादि से; रहसि—एकान्त में; अपृच्छन्—पूछा; उपविष्टम्—बैठा हुआ; आसने—आसन पर; विज्ञाय—समझ कर; सन्देश-हरम्—संदेशवाहक; रमा-पतेः—लक्ष्मी के स्वामी का।

विनयपूर्वक अपना शीश झुकाते हुए गोपियों ने अपनी लजीली मुसकराती चितवनों तथा मधुर शब्दों से उद्धव का उचित रीति से सम्मान किया। वे उन्हें एकान्त स्थान में ले गईं, उन्हें आराम से बैठाया और तब उन्हें लक्ष्मीपति कृष्ण का सन्देशवाहक मान कर उनसे प्रश्न करने लगीं।

तात्पर्य : साध्वी गोपियाँ कृष्ण के यहाँ से संदेशवाहक आया देखकर सजीव हो उठीं। जैसाकि वृन्दावन के प्रवास काल में उद्धव पाएँगे, ये अनुपम गोपियाँ अपने प्रिय कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं सोच सकीं।

जानीमस्त्वां यदुपतेः पार्षदं समुपागतम् ।
भर्त्रेह प्रेषितः पित्रोर्भवान्प्रियचिकीर्षया ॥ ४॥

शब्दार्थ

जानीमः—हम जानती हैं; त्वाम्—तुमको; यदु-पतेः—यदुओं के प्रमुख का; पार्षदम्—निजी संगी; समुपागतम्—यहाँ आया; भर्त्रा—अपने स्वामी द्वारा; इह—यहाँ; प्रेषितः—भेजा हुआ; पित्रोः—अपने माता-पिता का; भवान्—आप; प्रिय—सन्तोष, सुख; चिकीर्षया—देने के लिए इच्छुक।

[गोपियों ने कहा] : हम जानती हैं कि आप यदुश्रेष्ठ कृष्ण के निजी पार्षद हैं और अपने उस श्रेष्ठ स्वामी के आदेश से यहाँ आये हैं, जो अपने माता-पिता को सुख प्रदान करने के इच्छुक हैं।

अन्यथा गोव्रजे तस्य स्मरणीयं न चक्ष्महे ।
स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अन्यथा—नहीं तो; गो-व्रजे—चरागाह में; तस्य—उसका; स्मरणीयम्—स्मरण करने योग्य; न चक्ष्महे—हम नहीं देखतीं; स्नेह—स्नेह की; अनुबन्धः—आसक्ति; बन्धूनाम्—सम्बन्धियों के लिए; मुनेः—मुनियों के लिए; अपि—भी; सु-दुस्त्यजः—छोड़ पाना मुश्किल।

अन्यथा हमें और कुछ भी ऐसा नहीं दीखता जिसे वे व्रज के इन चरागाहों में स्मरणीय समझते होंगे। निस्सन्देह एक मुनि के लिए भी अपने पारिवारिक जनों का स्नेह-बंधन तोड़ पाना कठिन होता है।

अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडम्बनम् ।
पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत्सुमनःस्विव षट्पदैः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अन्येषु—अन्यों के प्रति; अर्थ—किसी उद्देश्य से; कृता—प्रकट; मैत्री—मित्रता; यावत्—जब तक; अर्थ—उद्देश्य (जिसे कोई पूरा करता है); विडम्बनम्—बहाना; पुम्भिः—मनुष्यों द्वारा; स्त्रीषु—स्त्रियों के लिए; कृता—दिखलाया गया; यद्वत्—जितना; सुमनःसु—फूलों के लिए; इव—सदृश; षट्-पदैः—भौंरे द्वारा।

किसी अन्य के प्रति, जो पारिवारिक सदस्य नहीं है, दिखलाई जाने वाली मित्रता स्वार्थ से प्रेरित होती है। अतः यह तो एक बहाना होता है, जो तब तक चलता है जबतक किसी का उद्देश्य पूरा नहीं हो जाता। ऐसी मित्रता वैसी ही है, जिस तरह कि स्त्रियों के प्रति पुरुषों की या फूलों के प्रति भौंरों की रुचि।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर यहाँ व्याख्या करते हैं कि फूलों की ही तरह आकर्षक स्त्रियों में सौन्दर्य, सुगन्ध, सकोमलता, लावण्य इत्यादि होता है। जिस तरह भौंरे एक फूल का मधु एक ही बार पीकर उसे छोड़कर दूसरे फूल पर चले जाते हैं उसी तरह मनचले व्यक्ति सुन्दर तथा पतिपरायणा स्त्रियों को छोड़कर अन्य विषय-भोग में लग जाते हैं। यहाँ पर गोपियाँ ऐसी प्रवृत्ति की

निन्दा करती हैं क्योंकि उन्होंने श्रीकृष्ण को अपना मन पूर्णतया दे डाला था। गोपियाँ तो भगवान् कृष्ण के सुख के लिए ही अपना आकर्षण दिखलाना चाहती थीं और विरहपीड़ा में वे अपने साथ कृष्ण की मित्रता के उद्देश्यों पर प्रश्न-चिन्ह लगा रही थीं।

ये तो भगवान् की दिव्य लीलाएँ हैं। भगवान् कृष्ण तथा गोपियाँ दोनों ही आध्यात्मिक प्रेम-व्यापार में संलग्न पूर्ण मुक्तात्माएँ हैं। इसके विपरीत हमारे तथाकथित प्रेम-व्यापार, जो कि आध्यात्मिक जगत में पूर्ण प्रेम सम्बन्ध के विकृत प्रतिबिम्ब हैं, काम, लोभ, मद इत्यादि के द्वारा दूषित होते रहते हैं। समस्त मुक्तात्माओं की तरह गोपियाँ तथा निस्संदेह भगवान् कृष्ण स्वयं भी इन अधम गुणों से नित्य मुक्त हैं और उनके प्रखर प्रेम-व्यापार केवल अनन्य भक्ति द्वारा प्रेरित हैं।

निःस्वं त्यजन्ति गणिका अकल्पं नृपतिं प्रजाः ।
अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

निःस्वम्—सम्पत्तिविहीन को; त्यजन्ति—छोड़ देती हैं; गणिकाः—वेश्याएँ; अकल्पम्—अदक्ष; नृ-पतिम्—राजा को; प्रजः—नागरिक; अधीत-विद्याः—जिन्होंने अपनी शिक्षा पूरी कर ली है; आचार्यम्—शिक्षक को; ऋत्विजः—पुरोहितगण; दत्त—(यज्ञकर्त्ता द्वारा) दे चुकने पर; दक्षिणम्—दक्षिणा, भेंट।

वेश्याएँ निर्धन व्यक्ति को, प्रजा अयोग्य राजा को, शिक्षा पूरी होने पर विद्यार्थी अपने शिक्षक को तथा पुरोहितगण दक्षिणा पाने के बाद यज्ञ करने वाले व्यक्ति को छोड़ जाते हैं।

खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चातिथयो गृहम् ।
दग्धं मृगास्तथारण्यं जारा भुक्त्वा रतां स्त्रियम् ॥ ८॥

शब्दार्थ

खगाः—पक्षीगण; वीत—रहित; फलम्—फलों से; वृक्षम्—वृक्षको; भुक्त्वा—खाने के बाद; च—तथा; अतिथयः—अतिथिगण; गृहम्—घर को; दग्धम्—जले हुए; मृगाः—पशुगण; तथा—उसी प्रकार; अरण्यम्—जंगल को; जाराः—उपपति; भुक्त्वा—भोग करने के बाद; रताम्—आकृष्ट; स्त्रियम्—स्त्री को।

फल न रहने पर पक्षी वृक्ष को, भोजन करने के बाद अतिथि घर को, जंगल जल जाने पर पशु जंगल को तथा प्रेमी के प्रति आकृष्ट रहने के बावजूद भी स्त्री का भोग कर लेने पर प्रेमी उसका परित्याग कर देते हैं।

इति गोप्यो हि गोविन्दे गतवाक्कायमानसाः ।
कृष्णदूते समायाते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः ॥ ९॥

गायन्त्यः प्रीयकर्माणि रुदन्त्यश्च गतह्रियः ।
तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोरबाल्ययोः ॥ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; गोप्यः—गोपियाँ; हि—निस्सन्देह; गोविन्दे—गोविन्द में; गत—केन्द्रित करके; वाक्—वाणी; काय—शरीर; मानसः—तथा अपने मन; कृष्ण-दूते—कृष्ण के दूत; समायाते—आकर उनके साथ हो लेने वाले; उद्धवे—उद्धव में; त्यक्त—छोड़कर; लौकिकाः—सांसारिक कार्य; गायन्त्यः—गाती हुई; प्रिय—अपने प्रिय के; कर्माणि—कार्यकलापों के विषय में; रुदन्त्यः—फूट फूट कर रोती हुई; च—तथा; गत-ह्रियः—सारी लाज छोड़कर; तस्य—उसकी; संस्मृत्य संस्मृत्य—बार-बार याद करके; यानि—जो; कैशोर—किशोरावस्था; बाल्ययोः—तथा बालपन की।

इस तरह बोलती हुई गोपियों ने जिनके वचन, शरीर तथा मन भगवान् गोविन्द के प्रति पूर्णतया समर्पित थे, अपना नैत्यिक कार्य करना छोड़ दिया क्योंकि अब कृष्णदूत श्री उद्धव उनके बीच आया था। वे अपने प्रिय कृष्ण के बाल्यकाल तथा किशोरावस्था की लीलाओं का अविरत स्मरण करके उनका गुणगान करने लगीं और लाज छोड़कर फूट-फूटकर रोने लगीं।

तात्पर्य : यहाँ *बाल्ययोः* शब्द सूचित करता है कि गोपियाँ अपने बचपन से कृष्ण से प्रेम करती थीं। अतः यद्यपि सामाजिक रीति के अनुसार वे अन्य किसी से अपना प्रेम प्रकट नहीं कर सकती थीं फिर भी वे सारी बाहरी बातें भूल गईं और कृष्णदूत उद्धव के समक्ष खुलकर रोने लगीं।

काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम् ।
प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

काचित्—कोई (एक गोपी); मधु-करम्—भौंरे को; दृष्ट्वा—देखकर; ध्यायन्ती—ध्यान में मग्न; कृष्ण-सङ्गमम्—कृष्ण के साथ अपने सान्निध्य के विषय में; प्रिय—अपने प्रिय द्वारा; प्रस्थापितम्—भेजे गये; दूतम्—दूत को; कल्पयित्वा—कल्पना करते हुए; इदम्—यह; अब्रवीत्—बोली।

कोई एक गोपी जब कृष्ण के साथ अपने पूर्व सान्निध्य का ध्यान कर रही थी, तो उसने अपने सामने एक भौंरा देखा और उसे लगा कि यह उसके प्रियतम द्वारा भेजा गया कोई दूत है। अतः वह इस प्रकार बोली।

तात्पर्य : इस श्लोक में श्रीमती राधारानी को *काचित्* "कोई एक गोपी" कहकर उल्लेख हुआ है। यह सिद्ध करने के लिए कि यह "कोई" वास्तव में श्रीमती राधारानी ही हैं, श्रील जीव गोस्वामी *अग्नि पुराण* से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करते हैं।

गोप्यः प्रपच्छुरूषसि कृष्णानुचरमुद्धवम्।

हरिलीला विहारांश्च तत्रैकां राधिकां विना॥

राधा तद्भावसंलीना वासनाया विरामिता।

सखीभिः साभ्यधाच्छुद्धविज्ञानगुणजृम्भितम्॥

इज्यान्तेवासिनां वेदचरमांशविभावनै।

"भोर में गोपियों ने कृष्णदास उद्धव से भगवान् की लीलाओं एवं आमोद-प्रमोद के विषय में पूछताछ की। कृष्ण के विचार में लीन एकमात्र श्रीमती राधारानी ही इस बातचीत से अलग-थलग बनी रही। तब वृन्दावनवासियों द्वारा पूजित राधा अपनी सखियों के बीच बोलीं। उनके शब्द विशुद्ध दिव्य ज्ञान से पूर्ण थे और वेदों के सर्वश्रेष्ठ अंश को व्यक्त करने वाले थे।

भगवद्गीता (१५.१५) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—सभी वेदों द्वारा मुझे ही जानना चाहिए। कृष्ण को जानना कृष्ण से प्रेम करना है। इस तरह राधारानी ने अपने ही दृष्टान्त तथा शब्दों से कृष्ण के प्रति अपना चरम प्रेम उद्घाटित किया।

अग्नि पुराण से उपर्युक्त श्लोक उद्धृत करने के बाद श्रील जीव गोस्वामी *नृसिंह-तापनी उपनिषद* से भी (*पूर्व खण्ड* २.४) उद्धृत करते हैं—*यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्म-वादिनश्च*—सारे देवता तथा मुक्ति के इच्छुक सारे दिव्य दार्शनिक भगवान् को ही नमस्कार करते हैं। हमें चाहिए कि हम भी ऐसा ही करें।

गोप्युवाच

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशङ्घ्रिं सपत्न्याः
कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः ।
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं
यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक् ॥ १२॥

शब्दार्थ

गोपी उवाच—गोपी ने कहा; मधुप—हे भौंरे; कितव—ठग के; बन्धो—हे मित्र; मा स्पृश—मत छूना; अङ्घ्रिम्—पाँवों को; सपत्न्याः—हमारी प्रतियोगिनी प्रेमिका का; कुच—स्तन; विलुलित—गिरी हुई; माला—माला से; कुङ्कुम—लाल रंग का अंगराग; श्मश्रुभिः—मूछों से; नः—हमारे; वहतु—लाने दो; मधु-पतिः—मधुवंश के स्वामी; तत्—उसका; मानिनीनाम्—स्त्रियों के लिए; प्रसादम्—कृपा या दया; यदु-सदसि—यदुओं की राजसभा में; विडम्ब्यम्—उपहास का पात्र; यस्य—जिसका; दूतः—दूत; त्वम्—तुम; ईदृक्—ऐसा।

गोपी ने कहा : हे भौंरे, हे छलिये के मित्र, अपनी उन मूछों से मेरे पाँवों को मत छूना जो उस कुंकुम से लेपित हैं, जो कृष्ण की माला में तब लग जाता था जब वह मेरी सौत के स्तनों द्वारा मर्दित होती थी। कृष्ण अब मथुरा की स्त्रियों को तुष्ट करें। जो व्यक्ति तुम जैसे दूत को भेजेगा

वह यदुओं की सभा में निश्चित रूप से उपहास का पात्र बनेगा।

तात्पर्य : श्रीमती राधारानी भौंरे को कृष्ण का दूत समझकर उसे उलाहना देते हुए परोक्षतः कृष्ण को उलाहना दे रही थीं। उन्होंने भौंरे को *मधुप* अर्थात् ''फूलों के मधु को पीने वाला'' कहा और कृष्ण को *मधुपति* अर्थात् ''मधु का राजा।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि यह श्लोक तथा आगे के नौ श्लोक प्रेमिका द्वारा कहे गये दस प्रकार के उपालम्भों का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इस श्लोक में *प्रजल्प* के गुणों का वर्णन है जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने *उज्ज्वल नीलमणि* से(१४.१८२) उदाहरण देते हुए निम्नलिखित श्लोक में बतलाया है—

असूयेर्ष्यामदयुजा योऽवधीरणमुद्रया।

प्रियस्याकौशलोद्गारः प्रजल्पः स तु कीर्त्यते॥

''प्रजल्प वह कथन है, जो किसी प्रेमी की कार्य-अकुशलता की निन्दा करता है, जिसमें अनादर व्यक्त होता है। यह ईर्ष्या, द्वेष तथा अभिमान के भाव में कहा जाता है।'' श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि *कितवबन्धो* ईर्ष्या का; *सपत्न्यः से लेकर नः तक का पद* द्वेष का; *मा स्पृश अंघ्रिम* अभिमान का; *वहतु से लेकर प्रसादम्* तक का पद अनादर का और *यदु सदसि* से लेकर श्लोक के अंत तक का पद कृष्ण द्वारा राधारानी के साथ अकुशलतापूर्ण व्यवहार को सूचित करते हैं।

सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान्भवादृक् ।
परिचरति कथं तत्पादपद्मं नु पद्मा
ह्यपि बत हृतचेता ह्युत्तमःश्लोकजल्पैः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सकृत्—एक बार; अधर—होठों का; सुधाम्—अमृत; स्वाम्—अपने; मोहिनीम्—मोहते हुए; पाययित्वा—पिलाकर; सुमनसः—फूल; इव—सदृश; सद्यः—एकाएक; तत्यजे—परित्याग कर दिया; अस्मान्—हमको; भवादृक्—तुम्हारी तरह; परिचरति—सेवा करता है; कथम्—क्यों; तत्—उसका; पद-पद्मम्—चरणकमल; नु—मुझे आश्चर्य होता है; पद्मा—लक्ष्मी; हि अपि—निस्सन्देह, क्योंकि; बत—हाय; हृत—चुराया गया; चेताः—उसका मन; हि—निश्चय ही; उत्तमः-श्लोक—कृष्ण के; जल्पैः—झूठे वचनों से।.

केवल एक बार अपने होठों का मोहक अमृत पिलाकर कृष्ण ने सहसा उसी तरह हमारा परित्याग कर दिया है, जिस तरह तुम किसी फूल को तुरन्त छोड़ देते हो। तो फिर यह कैसे

सम्भव है कि देवी पद्मा स्वेच्छा से उनके चरणकमलों की सेवा करती हैं? हाय! इसका उत्तर यही हो सकता है कि उनका चित्त उनके छलपूर्ण शब्दों द्वारा चुरा लिया गया है।

तात्पर्य : इस श्लोक में भी श्रीमती राधारानी श्रीकृष्ण की तुलना भौंरे से करती जा रही हैं और दुखी होने के कारण वे कहती हैं कि लक्ष्मी द्वारा उनके चरणकमलों की निरन्तर सेवा किये जाने का कारण यही हो सकता है कि वे कृष्ण के बहकावे में आ गई हों। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार श्रीमती राधारानी का यह कथन *परिजल्प* का उदाहरण है, जैसाकि *श्री उज्ज्वल-नीलमणि* (१४.१८४) में वर्णित है—

प्रभोर्निर्दयताशाठ्यचापल्याद्युपपादनात् ।

स्वविचक्षणताव्यक्तिर्भंग्या स्यात् परिजल्पितम्॥

"*परिजल्प* वह कथन है, जो विविध युक्तियों द्वारा किसी की चतुरता को दिखलाता है और जिससे उसके स्वामी की क्रूरता, द्वैतता, अविश्वसनीयता इत्यादि का पता चलता है।"

किमिह बहु षडङ्घ्रे गायसि त्वं यदूना-
मधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम् ।
विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः
क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः ॥ १४॥

शब्दार्थ

किम्—क्यों; इह—यहाँ; बहु—अधिक; षट्-अङ्घ्रे—हे षटपद; गायसि—गा रहे हो; त्वम्—तुम; यदूनाम्—यदुओं के; अधिपतिम्—स्वामी के विषय में; अगृहाणाम्—बिना घर-बार वाले; अग्रतः—समक्ष; नः—हमारे; पुराणम्—पुरानी; विजय—अर्जुन के; सख—मित्र का; सखीनाम्—मित्रों के लिए; गीयताम्—गाया जाना चाहिए; तत्—उसकी; प्रसङ्गः—कथाएँ; क्षपित—दूर हुई; कुच—जिनके स्तनों की; रुजः—पीड़ा; ते—वे; कल्पयन्ति—प्रदान करेंगी; इष्टम्—मनवांछित दान; इष्टाः—अपनी प्रियाओं को।

हे भौंरे, तुम घर-बार से रहित हम लोगों के समक्ष यदुओं के स्वामी के विषय में इतना अधिक क्यों गाये जा रहे हो? ये कथाएँ हमारे लिए अब पुरानी हो चुकी हैं। अच्छा हो कि तुम अर्जुन के उस मित्र के विषय में उसकी उन नई सखियों के समक्ष जाकर गाओ जिनके स्तनों की दाहक इच्छा(कामेच्छा) को उसने शान्त कर दिया है। वे स्त्रियाँ अवश्य ही तुम्हें मनवांछित भिक्षा-दान देंगी।

तात्पर्य : राधारानी *अगृहाणारम् अग्रतो नः* शब्दों से शोक प्रकट करती हैं कि यद्यपि उन्होंने तथा

अन्य गोपियों ने माधुर्य भाव में कृष्ण से प्रेम करने के लिए अपने घरों का परित्याग कर दिया किन्तु भगवान् उन्हें छोड़कर यदुओं की महानगरी के राजकुमार बन गये। *विजय* शब्द का अर्थ ''विजयी अर्जुन'' के अतिरिक्त श्रीकृष्ण का भी सूचक है क्योंकि वे सदैव विजयी होते रहे हैं। इसी तरह *पुराणम्* शब्द ''पुराना'' अर्थ बतलाने के अतिरिक्त यह भी सूचित करता है कि इसी नाम के प्राचीन वैदिक शास्त्रों में श्रीकृष्ण का गुणगान होता है।

इस श्लोक में राधारानी के भाव में द्वेषपूर्ण क्रोध का बीज पाया जाता है, जो कृष्ण के प्रति दिखने वाली उपेक्षा तथा कृष्ण की ओर लगी हुई व्यंग्यात्मक तिरछी चितवन से उत्पन्न होता है। इस तरह यह श्लोक *उज्ज्वल नीलमणि* (१४.१८६) में आये *विजल्प* के वर्णन से मेल खाता है—

व्यक्तयासूयया गूढमानमुद्रान्तरालया।

अघद्विषि कटाक्षोक्तिर्विजल्पो विदुषां मत:॥

''विद्वानों के अनुसार विजल्प कटूक्ति है, जो अघ का वध करने वाले को सम्बोधित है, जो स्पष्ट रूप से द्वेष को व्यक्त करती है और उसी के साथ ही क्रोधयुक्त अभिमान को भी इंगित करती है।''

दिवि भुवि च रसायां का: स्त्रियस्तद्दुरापा:
कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्य या: स्यु: ।
चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का
अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तम:श्लोकशब्द: ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

दिवि—स्वर्ग में; भुवि—पृथ्वी में; च—तथा; रसायाम्—तथा रसातल में; का:—क्या; स्त्रिय:—स्त्रियाँ; तत्—उसके द्वारा; दुरापा:—अप्राप्य; कपट—छल; रुचिर—आकर्षक; हास—हँसी से युक्त; भ्रू—भौंहें; विजृम्भस्य—टेढ़ी; या:—जो; स्यु:—बन जाती हैं; चरण—पैरों की; रज:—धूल; उपास्ते—पूजा करती है; यस्य—जिसकी; भूति:—लक्ष्मी, नारायण-पत्नी; वयम्—हम; का—कौन; अपि च—फिर भी; कृपण-पक्षे—बेचारे दीनों के लिए; हि—निस्सन्देह; उत्तम:-श्लोक—भगवान् जिनका गुणगान उत्तम स्तुतियों द्वारा किया जाता है; शब्द:—नाम।

उन्हें स्वर्ग, पृथ्वी या पाताल में कौन-सी स्त्रियाँ अनुपलब्ध हैं? वे केवल अपनी भौंहों को तिरकी करके छलपूर्ण आकर्षण से हँसते हैं, तो वे सब उनकी हो जाती हैं। लक्ष्मीजी तक उनके चरण-रज की पूजा करती हैं, तो उनकी तुलना में हमारी क्या बिसात है? किन्तु जो दीन-दुखियारी हैं, वे कम से कम उनका उत्तमश्लोक नाम तो ले ही सकती हैं!

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि एक निराश प्रेमिका की भावनाओं को व्यक्त करने

वाली राधारानी की उक्ति श्रीकृष्ण के प्रति उस प्रेम-प्रगाढ़ता को व्यक्त करने वाली है, जो लक्ष्मीजी को भी मात करने वाली है। जहाँ सारी गोपियाँ अपने सौन्दर्य, स्वभाव इत्यादि में श्रीकृष्ण से पूर्ण सामञ्जस्य प्राप्त करने वाली हैं वहाँ श्रीमती राधारानी का विशिष्ट स्थान है। त्यक्त अवस्था में राधारानी कृष्ण को संकेत करती हैं, ''तुम इसलिए उत्तमश्लोक कहलाते हो क्योंकि दीनों तथा पतितों पर दयालु हो किन्तु जब तुम मुझ पर दयालु होगे तभी तुम इस प्रतिष्ठित नाम के योग्य होगे।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती यह भी संकेत करते हैं कि इस श्लोक में श्रीमती राधारानी अभिमान से जनित ईर्ष्या (डाह) व्यक्त करती हैं, वे कृष्ण पर छलिया होने का आरोप करती हैं और उनके आचरण में खोट निकालती हैं। इस तरह इस श्लोक में *उज्जल्प* का प्रयोग हुआ है, जिसका वर्णन *उज्ज्वल नीलमणि* के निम्नलिखित श्लोक (१४.१८८) में पाया जाता है—

हरेः कुहकताख्यानं गर्वगर्भितयेर्ष्यया।

सासूयश्च तदाक्षेपो धीरैरुज्जल्प ईर्यते॥

''गर्वजनित ईर्ष्या के भाव में भगवान् हरि के द्वैतपूर्ण स्वभाव की घोषणा और साथ में उनके प्रति द्वेषपूर्ण कहे गये अपमानजनक शब्दों को विद्वानजन *उज्जल्प* कहते हैं।''

विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चातुकारै-
रनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात् ।
स्वकृत इह विषृष्टापत्यपत्यन्यलोका
व्यसृजदकृतचेताः किं नु सन्धेयमस्मिन् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

विसृज—जाने दें; शिरसि—तुम्हारे सिर पर; पादम्—मेरा पाँव; वेद्मि—जानती हूँ; अहम्—मैं; चाटु-कारैः—चापलूसी भरे शब्दों से; अनुनय—समझौता करने की कला में; विदुषः—प्रवीण; ते—तुम्हारा; अभ्येत्य—जानकर; दौत्यैः—दूत की तरह कार्य करके; मुकुन्दात्—कृष्ण से; स्व—उनके अपने; कृते—लिए, हेतु; इह—इस जीवन में; विसृष्ट—परित्यक्त; अपत्य—बच्चे; पती—पति; अन्य-लोकाः—अन्य सारे लोग; व्यसृजत्—उसने छोड़ दिया है; अकृत-चेताः—कृतघ्न; किम् नु—क्योंकि; सन्धेयम्—क्या मैं समझौता कर लूँ; अस्मिन्—उससे।

तुम अपने सिर को मेरे पैरों से दूर ही रखो। मुझे पता है कि तुम क्या कर रहे हो। तुमने बहुत ही दक्षतापूर्वक मुकुन्द से कूटनीति सीखी है और अब चापलूसी भरे शब्द लेकर उनके दूत बनकर आये हो। किन्तु उन्होंने तो उन बेचारियों को ही छोड़ दिया है जिन्होंने उनके लिए अपने बच्चों, पतियों तथा अन्य सम्बन्धियों का परित्याग किया है। वे निपट कृतघ्न हैं। तो मैं अब उनसे

समझौता क्यों करूँ ?

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार इस श्लोक में *सञ्जल्प* के गुणों का उदाहरण प्रस्तुत हुआ है, जिसका वर्णन श्रील रूप गोस्वामी ने *उज्ज्वल नीलमणि* (१४.१९०) में निम्नवत् किया है—

सोल्लुण्ठया गहनया कयाप्याक्षेपमुद्रया।

तस्यकृतज्ञाताद्युक्तिः सञ्जल्पः कथितो बुधै॥

"विद्वानजन सञ्जल्प को वह उक्ति बतलाते हैं जिसमें प्रेमी की अकृतज्ञता आदि के प्रति व्यंग्यात्मक आक्षेप तथा अपमानसूचक संकेत द्वारा भर्त्सना की जाती है।"

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि *आदि* शब्द प्रेमी की कठोर हृदयता, शत्रुतापूर्ण मनोभाव तथा प्रेम के पूर्ण अभाव की अनुभूतियों का सूचक है।

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम् ।
बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद्ध्वाङ्क्षवद्य-
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ॥ १७॥

शब्दार्थ

मृगयुः—शिकारी; इव—सदृश; कपि—बन्दरों के; इन्द्रम्—राजा; विव्यधे—बींध दिया; लुब्ध-धर्मा—क्रूर शिकारी जैसा आचरण करते हुए; स्त्रियम्—स्त्री (शूर्पणखा) को; अकृत—बना दिया; विरूपाम्—विकृत; स्त्री—स्त्री (सीता देवी) द्वारा; जितः—जीता गया; कामयानाम्—कामेच्छा से प्रेरित; बलिम्—राजा बलि को; अपि—भी; बलिम्—उसका सम्मान, भाग; अत्त्वा—खाकर; अवेष्टयत्—बाँध लिया; ध्वाङ्क्षवत्—कौवे की तरह; यः—जो; तत्—इसलिए; अलम्—जाने भी दो; असित—श्याम कृष्ण से; सख्यैः—सभी प्रकार की मित्रता से; दुस्त्यजः—छोड़ पाना असम्भव; तत्—उसके विषय में; कथा—कथा का; अर्थः—विस्तार।

शिकारी की तरह उन्होंने कपिराज को बाणों से निर्दयतापूर्वक बींध दिया। चूँकि वे एक स्त्री द्वारा जीते जा चुके थे इसलिए उन्होंने एक दूसरी स्त्री को, जो उनके पास कामेच्छा से आई थी कुरूप कर दिया। यही नहीं, बलि महाराज की बलि खाकर भी उन्होंने उन्हें रस्सियों से बाँध दिया मानो वे कोई कौवा हों। अतः हमें इस श्यामवर्ण वाले लड़के से सारी मित्रता छोड़ देनी चाहिए भले ही हम उसके विषय में बातें करना बन्द न कर पायें।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद *भगवान् कृष्ण* में इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार बतलाते हैं, "[श्रीमती राधारानी ने भौंरे से कहा] : "रे दीन-दूत! तुम तो अल्पज्ञ दास हो। तुम कृष्ण के विषय में अधिक नहीं जानते—वे न केवल इस जीवन में अपितु अपने पूर्वजन्मों में भी कितने कृतघ्न तथा कठोर-हृदय

रहे हैं। हमने अपनी दादी पौर्णमासी से यह सुना है। उसने हमें बताया है कि कृष्ण इस जन्म से पूर्व क्षत्रियकुल में जन्मे थे और रामचन्द्र कहलाते थे। उस जन्म में इन्होंने अपने मित्र के शत्रु बाली का वध एक क्षत्रिय की तरह न करके एक शिकारी की तरह किया। शिकारी सुरक्षित स्थान में छिपे रहकर पशु का सामना किये बिना ही उसका वध करता है। अत: एक क्षत्रिय होने के नाते भगवान् रामचन्द्र को बाली से आमने-सामने युद्ध करना चाहिए था। किन्तु अपने मित्र के उकसाने पर उन्होंने एक पेड़ के पीछे से उसे मार डाला। इस तरह वे क्षत्रिय-धर्म से विचलित हुए। यही नहीं, वे सीता के सौन्दर्य के प्रति इतने आकृष्ट थे कि उन्होंने रावण की बहन शूर्पणखा के नाक-कान काटकर उसे कुरूप बना दिया। शूर्पणखा ने उनसे *घनिष्ट सम्बन्ध* का प्रस्ताव रखा था और क्षत्रिय होने के नाते उन्हें उसको तुष्ट करना चाहिए था। किन्तु वे ऐसे पत्नी-दास थे कि वे सीतादेवी को नहीं भुला पाये और शूर्पणखा को कुरूप कर दिया। क्षत्रिय रूप में इस जन्म के पूर्व उन्होंने वामनदेव नामक ब्राह्मण बालक के रूप में जन्म लिया था और बलि महाराज से दान माँगा था। बलि इतने वदान्य थे कि उन्होंने अपना सर्वस्व दे डाला फिर भी वामनदेव के रूप में कृष्ण ने कृतघ्नतापूर्वक उन्हें कौवे की तरह बन्दी बनाकर पाताल लोक में धकेल दिया। हम सभी जानती हैं कि कृष्ण कितने कृतघ्न हैं। किन्तु एक कठिनाई है—इतना क्रूर तथा पाषाण-हृदय होने पर भी हमारे लिए उनके विषय में बातें करना छोड़ पाना अतीव कठिन है।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि राधारानी की यह *वक्तृता अवजल्प* है जैसाकि रूप गोस्वामी ने उज्ज्वल नीलमणि के निम्नलिखित श्लोक (१४.१९२) में वर्णन किया है—

हरौ काठिन्य कामित्वधौर्त्याद् आसक्त्ययोग्यता।

यत्र सेर्ष्याभियेवोक्ता सोऽवजल्प: सतां मत:॥

''साधु पुरुष इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जब कोई प्रेमिका ईर्ष्या तथा भय से बाध्य होकर घोषित करती है कि भगवान् हरि अपनी रुक्षता, कामुकता तथा बेईमानी के कारण उसकी आसक्ति (रति) के अयोग्य हैं, तो यह *उक्ति अवजल्प* कहलाती है।''

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्-

सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः ।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति ॥ १८॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; अनुचरित—निरन्तर किये गये कार्य; लीला—ऐसी लीलाओं के; कर्ण—कानों के लिए; पीयूष—अमृत की; विप्रुट्—एक बूँद का; सकृत्—केवल एक बार; अदन—पान; विधूत—पूर्णतया विलग; द्वन्द्व—द्वैत का; धर्माः—उनकी रुचियाँ; विनष्टाः—नष्ट-भ्रष्ट; सपदि—तुरन्त; गृह—अपने घर; कुटुम्बम्—तथा परिवार को; दीनम्—बेचारी; उत्सृज्य—त्याग कर; दीनाः—स्वयं दीन बनकर; बहवः—अनेक व्यक्ति; इह—यहाँ (वृन्दावन में); विहङ्गाः—पक्षियों (की तरह); भिक्षु—भीख माँगने की; चर्याम्—आजीविका; चरन्ति—अपनाते हैं।

कृष्ण द्वारा नियमित रूप से की जाने वाली लीलाओं के विषय में सुनना कानों के लिए अमृत के समान है। जो लोग इस अमृत की एक बूँद का एक बार भी आस्वादन करते हैं, उनकी भौतिक द्वैत के प्रति अनुरक्ति विनष्ट हो जाती है। ऐसे अनेक लोगों ने एकाएक अपने भाग्यहीन घरों तथा परिवारों को त्याग दिया है और वे स्वयं दीन बनकर पक्षियों की तरह इधर-उधर घूमते-फिरते हुए जीवन-निर्वाह के लिए भीख माँग-माँग कर वृन्दावन आये हैं।

तात्पर्य : भौतिक द्वन्द्व इस गलत सोच पर आधारित है, "यह मेरा है और वह तेरा है" या "यह हमारा देश है और वह तेरा है।" अथवा "यह मेरा परिवार है और वह तेरा है।" वस्तुतः परम सत्य तो एक है, जिसमें हम सभी स्थित हैं और जिनकी ये सारी वस्तुएँ हैं। उनका सौन्दर्य तथा आनन्द भी परम तथा असीम है और यदि कोई कृष्ण कहलाने वाले इस परम सत्य के विषय में सुनता है, तो सांसारिक द्वन्द्व के मोह के प्रति उसकी आसक्ति नष्ट हो जाती है।

आचार्यों के अनुसार तथा निश्चित रूप से संस्कृत व्याकरण के अनुसार इस श्लोक की द्वितीय पंक्ति में आये दो शब्दों का *धर्म-अविनष्टाः* के रूप में विश्लेषण किया जा सकता है। तब पूरी पंक्ति का अर्थ इस तरह होगा—कृष्ण के विषय में सुनने से अधार्मिक द्वन्द्व दूर हो जाता है और मनुष्य भौतिक मोह से विनष्ट नहीं होता (अविनष्ट)। तब *दीनाः* का वैकल्पिक पाठ है *धीराः,* जिसका अर्थ है कि मनुष्य आध्यात्मिक रूप से गम्भीर बन जाता है और नाशवान भौतिक सम्बन्धों से अपनी अनुरक्ति छोड़ देता है। इस प्रसंग में *विहङ्गाः* शब्द से हंसों का बोध होगा जो नीर-क्षीर विवेक के प्रतीक हैं।

इस श्लोक के सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने रूप गोस्वामी का यह उद्धरण (*उज्ज्वल नीलमणि* (१४.१९४) में दिया है—

भंग्या त्यागौचिती तस्य खगानामपि खेदनात्।

यत्र सानुशयं प्रोक्ता तद्भवेद् अभिजल्पितम् ॥

"जब कोई प्रेमिका अपरोक्ष में पछतावे के रूप में कहती है कि उसका प्रेमी त्यागने योग्य है, तो ऐसी उक्ति दुखपूर्ण पक्षी की चीख के समान होती है और *अभिजल्प* कहलाती है।"

वयमृतमिव जिह्मव्याहृतं श्रद्दधानाः
कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः ।
ददृशुरसकृदेतत्तन्नखस्पर्शतीव्र-
स्मररुज उपमन्त्रिन्भण्यतामन्यवार्ता ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

वयम्—हम; ऋतम्—सच्ची; इव—सदृश; जिह्म—धोखेबाज, छलिया; व्याहृतम्—उसकी वाणी; श्रद्दधानाः—विश्वास करके; कुलिक—शिकारी; रुतम्—गीत; इव—मानो; अज्ञाः—मूर्ख; कृष्ण—काले हिरन की; वध्वः—पत्नियाँ; हरिण्यः—हिरनी; ददृशुः—अनुभव किया; असकृत्—बारम्बार; एतत्—यह; तत्—उसका; नख—नाखुनों के; स्पर्श—स्पर्श से; तीव्र—तेज; स्मर—कामदेव की; रुजः—वेदना; उपमन्त्रिन्—हे दूत; भण्यताम्—बोलो; अन्य—दूसरी; वार्ता—कथा, बात।

उनके छलपूर्ण शब्दों को सच मानकर हम उस काले हिरन की मूर्ख पत्नियों के समान बन गईं जो निष्ठुर शिकारी के गीत में भरोसा कर बैठती हैं। इस तरह हम उनके नाखुनों के स्पर्श से उत्पन्न काम की तीव्र पीड़ा का बारम्बार अनुभव करती रहीं। हे दूत, अब कृष्ण के अतिरिक्त अन्य कोई बात कहो।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती श्रीमती राधारानी के इस कथन को *अजल्प* की कोटि में रखते हैं जिसकी परिभाषा रूप गोस्वामी ने *उज्ज्वल नीलमणि* (१४.१९६) में दी है—

जैह्म्यं तस्यार्तिदत्वं च निर्वेदाद् यत्र कीर्तितम्।

भंग्यान्यसुखदत्वं च स आजल्प उदीरितः ॥

"घृणा में किया गया वर्णन कि किस तरह प्रेमी पुरुष धोखेबाज होता है और किसी को कष्ट देता है किन्तु ऐसा दिखलाता है मानो अन्यों को सुख देता है, *आजल्प* कहालाता है।"

प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किं
वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग ।
नयसि कथमिहास्मान्दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं
सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

प्रिय—मेरे प्यारे; सख—हे मित्र; पुनः—एक बार फिर; आगाः—आये हो; प्रेयसा—मेरे प्रेमी; प्रेषितः—भेजा गया; किम्—क्या; वरय—चुन लो; किम्—क्या; अनुरुन्धे—जो चाहो; माननीयः—सम्मान के योग्य; असि—हो; मे—मेरे द्वारा; अङ्ग—हे प्रिय; नयसि—लाये हो; कथम्—क्यों; इह—यहाँ; अस्मान्—हमको; दुस्त्यज—छोड़ पाना मुश्किल; द्वन्द्व—जिसके साथ माधुर्य सम्बन्ध हो; पार्श्वम्—बगल में; सततम्—निरन्तर; उरसि—वक्षस्थल पर; सौम्य—हे भद्र; श्रीः—लक्ष्मीजी; वधूः—उनकी प्रेयसी; साकम्—उनके साथ; आस्ते—उपस्थित है।

हे मेरे प्रियतम के मित्र, क्या मेरे प्रेमी ने फिर से तुम्हें यहाँ भेजा है? हे मित्र, मुझे तुम्हारा सम्मान करना चाहिए, अतः जो चाहो वर माँग सकते हो। किन्तु तुम हमें उसके पास फिर से ले जाने के लिए यहाँ क्यों आये हो जिसके मधुर प्रेम को छोड़ पाना इतना कठिन है? कुछ भी हो, हे भद्र भौंरे, उनकी प्रेयसी तो लक्ष्मीजी हैं और वे उनके साथ सदैव ही उनके वक्षस्थल पर विराजमान रहती हैं।

तात्पर्य : *भगवान् कृष्ण* नामक पुस्तक में श्रील प्रभुपाद ने इस श्लोक के प्रसंग की व्याख्या इस प्रकार की है : "जब राधारानी भौंरे से बातें कर रही थीं और भौंरा इधर-उधर उड़ रहा था तभी वह सहसा दृष्टि से ओझल हो गया। वे कृष्ण से बिछुड़ने के कारण पूर्णतया शोकमग्न थीं और भौंरे से बातें करके आनन्द का अनुभव कर रही थीं, किन्तु ज्योंही भौंरा अदृश्य हो गया वे यह सोचकर पागल सी हो गईं कि हो सकता है यह भौंरा कृष्ण को यह सूचित करने के लिए उनके पास लौट गया हो कि राधारानी तो उनके विरुद्ध बातें कर रही है। उन्होंने सोचा, "कृष्ण यह सुनकर बहुत ही दुखी हुए होंगे।" इस तरह वे अन्य प्रकार के आनन्द से अभिभूत थीं।

तभी भौंरा इधर-उधर उड़ता हुआ पुनः उनके समक्ष प्रकट हुआ। उन्होंने सोचा, "कृष्ण अब भी मुझ पर दयालु हैं। दूत द्वारा हृदय-विदारक सन्देश ले जाने पर भी वे इतने दयालु हैं कि उन्होंने मुझे फिर से उनके पास ले जाने के लिए उसे भेजा है।" इस बार श्रीमती राधारानी अत्यन्त सतर्क थीं कि वे कृष्ण के विरुद्ध कुछ भी न कहें।"

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती व्याख्या करते हैं कि श्री अर्थात् लक्ष्मीजी में विविध रूप धारण करने की शक्ति है। इसलिए जब कृष्ण अन्य स्त्रियों के साथ रमण करते हैं, तो वे स्वर्णरेखा के रूप में उनके वक्षस्थल पर रहती हैं। जब वे अन्य स्त्रियों के साथ रमण नहीं करते होते तो वे इस रूप को एक ओर रख कर तरुणी के प्राकृतिक सुन्दर रूप में उन्हें आनन्द प्रदान करती हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार श्रीमती राधारानी का यह कथन *प्रतिजल्प* का उदाहरण है जैसा कि *उज्ज्वल नीलमणि* (१४.१९८) में श्रील रूप गोस्वामी वर्णन करते हैं—

दुस्त्यजद्वन्द्वभावेऽस्मिन् प्राप्तिर्नार्हेत्यनुद्धतम् ।

दूत सम्माननेनोक्तं यत्र स प्रतिजल्पकः ॥

"जब प्रेमिका दीन वचन कहती है कि वह प्रेमी को प्राप्त करने के अयोग्य होते हुए भी उसके साथ मधुर सम्बन्ध की आशा नहीं छोड़ पाती, तो अपने प्रेमी के सन्देश के सम्मान में कहे गये ऐसे शब्द प्रतिजल्प कहलाते हैं।"

यहाँ श्रीमती राधारानी अपने कटु-भावों को त्यागकर श्रीकृष्ण की महानता को दीन भाव से स्वीकार करती हैं।

अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनास्ते
स्मरति स पितृगेहान्सौम्य बन्धूंश्च गोपान् ।
क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां गृणीते
भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत्कदा नु ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अपि—निश्चय ही; बत—खेद है; मधु-पुर्याम्—मथुरा नगरी में; आर्य-पुत्रः—नन्द महाराज का पुत्र; अधुना—इस समय; आस्ते—रहता है; स्मरति—स्मरण करता है; सः—वह; पितृ-गेहान्—अपने पिता के घरेलू काम-काज को; सौम्य—हे महात्मा (उद्धव); बन्धून्—अपने मित्रगण को; च—तथा; गोपान्—ग्वालबालों को; क्वचित्—कभी कभी; अपि—अथवा; सः—वह; कथाः—बातें; नः—हम; किङ्करीणाम्—दासियों की; गृणीते—कहकर सुनाता है; भुजम्—हाथ; अगुरु-सु-गन्धम्—अगुरु की सुगंध वाला; मूर्ध्नि—सिर पर; अधास्यत्—रखेगा; कदा—कब; नु—हो सकता है।

हे उद्धव, दरअसल यह बहुत ही खेदजनक है कि कृष्ण मथुरा में वास करते हैं। क्या वे अपने पिता के गृहकार्यों तथा अपने ग्वालबाल मित्रों की याद करते हैं? हे महात्मा, क्या वे कभी अपनी इन दासियों की भी बातें चलाते हैं? वे कब अपने अगुरु-सुगन्धित हाथ को हमारे सिरों पर रखेंगे?

तात्पर्य : इस श्लोक के शब्दार्थ तथा भावार्थ श्रील प्रभुपाद कृत *चैतन्य चरितामृत* (आदि ६.६८) से लिये गये हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इस श्लोक में तथा पिछले नौ श्लोकों में अभिव्यक्त भावों की व्याख्या गहन आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि से काव्यात्मक रूप में करते हैं। वे राधारानी की भावनाओं की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

श्रीमती राधारानी ने सोचा: चूँकि कृष्ण कभी व्रज से संतुष्ट थे किन्तु फिर भी वे मथुरा चले गये तो

क्या वे उस स्थान को भी छोड़कर दूसरे स्थान को नहीं जाना चाहेंगे? मथुरा वृन्दावन से इतना निकट है कि वे संभवत: यहाँ भी वापस आ सकते हैं।

‘‘कृष्ण एक सम्मानित व्यक्ति नन्द महाराज के पुत्र हैं अतएव वे अपने पिता के प्रति कृतज्ञता दिखाने के लिए ही मथुरा में रह रहे होंगे क्योंकि उन्होंने उन्हें वहाँ जाने का अधिकार दिया था। दूसरी ओर, नन्द का पूरा जीवन कृष्ण को ही समर्पित हैं और नन्द इतने नादान हैं कि वे यदुओं की चाल में आ गये और वे कृष्ण को मथुरा ले आये। कृष्ण सोचते होंगे, ‘‘हाय! जब मेरे पिता तक मुझे व्रज वापस नहीं ला सकते तो मैं वहाँ वापस जाने के लिए क्या कर सकता हूँ? अत: कृष्ण यहाँ आने के लिए अधीर होंगे अत: उन्होंने तुम्हें दूत बनाकर भेजा है।

‘‘नादान होने से ही नन्द ने अपने पुत्र को जाने दिया। यदि नन्द व्रज-रानी, कृष्ण की माता, को ऐसा करने देते तो वे अक्रूर के रथ पर चढ़ गई होतीं और अपने पुत्र को गलेसे लगाये हुए उसके साथ मथुरा तक जातीं और सारी गोपियाँ उनका पीछा कर लेतीं। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं था।

‘‘जब से कृष्ण गये हैं नन्द महाराज उनके वियोग से स्तम्भित हैं और नन्द का कोषागार, भंडार, रसोई, शयनागार ऐश्वर्यपूर्ण घर आदि अब खाली हैं। न तो उनमें झाड़ू लगती है, न सफाई होती है, जिससे उनमें घास, पत्तियाँ, धूल तथा मकड़ी के जाले लगे हैं। क्या कृष्ण कभी अपने पिता के घरों की याद करते हैं? क्या वे कभी सुबल तथा अन्य मित्रों की याद करते हैं, जो अन्य उपेक्षित घरों में हतप्रभ होकर लेटे हुए हैं?

‘‘कृष्ण के साथ मथुरा में रह रही स्त्रियाँ यह जान नहीं सकतीं कि कृष्ण को किस तरह सेवा करवाना सबसे अच्छा लगता है। जब वे देखतीं हैं कि कृष्ण प्रसन्न नहीं हैं और उनसे पूछती हैं कि वे उन्हें किस तरह प्रसन्न कर सकती हैं, तो क्या वे हम गोपियों का नाम लेते हैं?

‘‘कृष्ण को उन्हें बता देना चाहिए कि ‘‘हे शहरी स्त्रियो! तुम मुझे व्रज की गोपियों जैसा प्रसन्न नहीं कर सकतीं। वे फूलों की माला गूँथने, अपने शरीरों पर अंगराग लगाने, तार-वाद्यों पर ताल लय और राग बजाने, रास में नाचने तथा गाने, अपना सौन्दर्य, आकर्षण तथा चतुरता प्रदर्शन करने और पहेलियाँ बुझाने में निपुण हैं। वे अपने प्रेमी से मिलने और द्वेषजनित क्रोध एवं शुद्ध प्रेम के अन्य चिह्न प्रदर्शित करने की लीलाओं में विशेष रूप से पटु हैं। निस्संदेह कृष्ण यह सब जानते हैं। इसलिए

सम्भवतया वे मथुरा की स्त्रियों से कहेंगे, ''हे यदुकुल की स्त्रियो! तुम लोग अपने घर वापस जाओ। मैं और अधिक तुम्हारी संगति नहीं चाहता। मैं कल प्रात:काल ही व्रज वापस जा रहा हूँ।

''कब कृष्ण ऐसा कहेंगे और वे अपने अगुरु-वासित हाथ को हमारे सिरों के ऊपर रखने के लिये यहाँ वापस आएँगे? तब वे हमें यह कहकर सान्त्वना देंगे, ''मेरी प्राण-प्रियाओ! मैं शपथ खाता हूँ कि अब तुम लोगों को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाऊँगा। निस्सन्देह तुम जैसे लेशमात्र गुणों वाली स्त्रियाँ तीनों लोकों में ढूँढ़े भी मुझे नहीं मिल पाईं।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती श्रीमती राधारानी के मनोभावों की इस प्रकार व्याख्या करते हैं। वे यह भी बतलाते हैं कि इस श्लोक में सुजल्प का उदाहरण प्राप्त है, जो रूप गोस्वामी द्वारा *उज्ज्वल नीलमणि* (१४.२००) में इस प्रकार वर्णित है—

यत्रार्जवात् सगाम्भीर्यं सदैन्यं सहचापलम्।

सोत्कण्ठं च हरि: पृष्ट: स सुजल्पो निगद्यते॥

''जब कोई प्रेमिका निष्ठावश गम्भीरता, दीनता, चपलता तथा उत्सुकतापूर्वक श्रीहरि से प्रश्न करती है, तो उस उक्ति को *सुजल्प* कहते हैं।''

सैंतालीसवें अध्याय के इस अनुभाग का समापन करते हुए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि दैव उन्माद (दिव्योन्माद) के दस विभाग होते हैं, जिन्हें *चित्रजल्प* के दस विभागों के रूप में व्यक्त किया जाता है। ऐसा दिव्योन्माद मोह की विशेष लीला में प्रदर्शित किया जाता है, जो कि श्रीमती राधारानी के महाभाव का ही अंश है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इन भावों की व्याख्या के लिए रूप गोस्वामी कृत *उज्ज्वल नीलमणि* (१४.१७४, १७८-८०) से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं—

प्रायो वृन्दावनेश्वर्यां मोहनोऽयमुदञ्चति।

एतस्य मोहनाख्यस्य गतिं कामप्युपेयुष:॥

भ्रमाभा कापि वैचित्री दिव्योन्माद इतीर्यते।

उद्घूर्णा चित्रजल्पाद्यास्तद्भेदा बहवो मता:॥

प्रेष्ठस्य सुहृदालोके गूढरोषाभिजृम्भित:।

भूरिभावमयो जल्पो यस्तीव्रोत्कण्ठितान्तिम:॥

चित्रजल्पो दशांगोऽयं प्रजल्पः परिजल्पितः।

विजल्पोऽज्जल्पसंजल्पः अवजल्पोऽभिजल्पितम्॥

आजल्पः प्रतिजल्पश्च सुजल्पश्चेति कीर्तितः।

"एक तरह से वृन्दावन की राजकुमारी (श्रीमती राधारानी) के मन में ही मोह के भाव उठते हैं। उसने इस मोह की विशेष अवस्था प्राप्त कर ली है, जो भ्रम जैसी आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। यह दिव्योन्माद कहलाती है और इसके कई पक्ष हैं, जो चंचल होकर आते जाते रहते हैं। इनमें से एक *चित्रजल्प* है। अपने प्रेमी के मित्र को देखकर की गई यह वार्ता प्रच्छन्न क्रोध से पूर्ण रहती है और कई विभिन्न भावों से युक्त होती हैं। इसका अन्त उनकी तीव्र उत्सुकता में होता है।

इस चित्रजल्प के दस विभाग हैं, जिन्हें प्रजल्प, परिजल्प, विजल्प, उज्जल्प, सञ्जल्प, अवजल्प, अभिजल्प, आजल्प, प्रतिजल्प तथा सुजल्प कहते हैं।"

कुछ विद्वानों का कहना है कि अपनी प्रियतमा की वाणी की मधुरता का पान करने के लिए ही कृष्ण ने भ्रमर दूत का रूप धारण किया।

श्रीशुक उवाच

अथोद्धवो निशम्यैवं कृष्णदर्शनलालसाः ।
सान्त्वयन्प्रियसन्देशैर्गोपीरिदमभाषत ॥ २२॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—तब; उद्धवः—उद्धव ने; निशम्य—सुनकर; एवम्—इस प्रकार; कृष्ण-दर्शन—कृष्ण को देखने के पश्चात; लालसाः—लालायित; सान्त्वयन्—ढाढ़स बँधाते हुए; प्रिय—उनके प्रेमी के; सन्देशैः—संदेशों से; गोपीः—गोपियों से; इदम्—यह; अभाषत—उसने कहा।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : यह सुनकर उद्धव ने गोपियों को ढाढ़स बँधाने का प्रयास किया जो कृष्ण का दर्शन पाने के लिए अत्यन्त लालायित थीं। इस तरह वे उनके प्रेमी का सन्देश उनसे बताने लगे।

श्रीउद्धव उवाच

अहो यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो लोकपूजिताः ।
वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं मनः ॥ २॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; अहो—निस्सन्देह; यूयम्—तुम सभी; स्म—निश्चय ही; पूर्ण—पूरे हो चुके; अर्थाः—प्रयोजन; भवत्यः—तुम लोग; लोक—सभी लोगों द्वारा; पूजिताः—पूजित; वासुदेवे भगवति—भगवान् वासुदेव कृष्ण में; यासाम्—जिनका; इति—इस प्रकार से; अर्पितम्—अर्पित किया हुआ; मनः—मन।

श्री उद्धव ने कहा : निश्चय ही तुम सारी गोपियाँ सभी प्रकार से सफल हो और विश्व-भर में पूजित हो क्योंकि तुमने इस तरह से भगवान् वासुदेव में अपने मन को समर्पित कर रखा है।

तात्पर्य : यद्यपि अन्य भक्त निश्चय ही अपना मन भगवान् में समर्पित कर चुके होते हैं किन्तु अपने प्रेम की प्रखरता में गोपियाँ अद्वितीय हैं।

दानव्रततपोहोम जपस्वाध्यायसंयमैः ।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते ॥ २४॥

शब्दार्थ

दान—दान; व्रत—कठिन व्रत; तपः—तपस्या; होम—अग्नि यज्ञ; जप—मंत्रों का गुप्त उच्चारण; स्वाध्याय—वैदिक ग्रंथों का अध्ययन; संयमैः—तथा विधि-विधानों से; श्रेयोभिः—शुभ साधनों द्वारा; विविधैः—विविध; च—भी; अन्यैः—अन्य; कृष्णे—कृष्ण के प्रति; भक्तिः—भक्ति; हि—निस्सन्देह; साध्यते—सम्पन्न की जाती है।

दान, कठिन व्रत, तपस्या, अग्नि यज्ञ, जप, वैदिक ग्रंथों का अध्ययन, विधि-विधानों का पालन तथा अन्य अनेक शुभ साधनों द्वारा भगवान् कृष्ण की भक्ति प्राप्त की जाती है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने यहाँ पर वर्णित विधियों की व्याख्या की है। *दान*—भगवान् विष्णु तथा उनके भक्तों को दान दिया जाता है। *व्रत*—एकादशी जैसे व्रत रखना। *तपस्*—कृष्ण के निमित्त इन्द्रिय-तृप्ति का परित्याग। *होम*—विष्णु को समर्पित अग्नि यज्ञ। *जप*—भगवान् के नामों का मन में उच्चारण करना। *स्वाध्याय*—वैदिक ग्रंथों यथा *गोपाल तापनी* उपनिषद् का अध्ययन एवं वाचन।

भगवत्युत्तमःश्लोके भवतीभिरनुत्तमा ।
भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा ॥ २५॥

शब्दार्थ

भगवति—भगवान् में; उत्तमः-श्लोके—उत्तम काव्य द्वारा जिनका यशोगान किया जाये; भवतीभिः—अपने द्वारा; अनुत्तमा—अद्वितीय; भक्तिः—भक्ति; प्रवर्तीता—स्थापित; दिष्ट्या—(बधाई है तुम्हारे) सौभाग्य की; मुनीनाम्—बड़े बड़े मुनियों के लिए; अपि—भी; दुर्लभा—प्राप्त करना कठिन।

अपने सौभाग्य से तुम सबों ने भगवान् उत्तमश्लोक के प्रति शुद्ध-भक्ति का अद्वितीय मानदण्ड स्थापित किया है—यह मानदण्ड ऐसा है, जिसे मुनि भी कठिनाई से प्राप्त कर सकते हैं।

तात्पर्य : *प्रवर्तिता* शब्द इसका सूचक है कि इस जगत में गोपियाँ ही ईश्वर के शुद्ध प्रेम का

मानदण्ड लाईं जो इसके पूर्व पृथ्वी पर अज्ञात था। इस तरह उद्धव उन्हें धार्मिक जीवन में अद्वितीय योगदान के लिए बधाई देते हैं।

दिष्ट्या पुत्रान्पतीन्देहान्स्वजनान्भवनानि च ।
हित्वावृनीत यूयं यत्कृष्णाख्यं पुरुषं परम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

दिष्ट्या—सौभाग्य से; पुत्रान्—पुत्रों को; पतीन्—पतियों को; देहान्—शरीरों को; स्व-जनान्—सम्बन्धियों को; भवनानि—घरों को; च—तथा; हित्वा—छोड़कर; अवृणीत—चुना; यूयम्—तुम सबों ने; यत्—यह तथ्य कि; कृष्ण-आख्यम्—कृष्ण नामक; पुरुषम्—पुरुष को; परम्—परम।

सौभाग्य से तुम लोगों ने अपने पुत्रों, पतियों, शारीरिक सुविधाओं, सम्बन्धियों तथा घरों का परित्याग उस परम पुरुष के लिए किया है, जो कृष्ण नाम से जाना जाता है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि गोपियों ने इन वस्तुओं के प्रति अपने स्वामित्व-भाव को त्याग दिया। इतिहास बतलाता है कि गोपियाँ अपने घरों में अपने परिवारों के साथ वृन्दावन में ही रहती रहीं। किन्तु सामान्य पुरुषों से सर्वथा भिन्न उन्होंने पुत्रों, पतियों आदि के प्रति स्वामित्व के गर्व का पूर्णतया त्याग कर दिया। उन्होंने कभी भी इनको भोगने का प्रयास नहीं किया अपितु उन्होंने अपने मन तथा हृदय पूर्णतया परमेश्वर को सौंप दिये जैसी कि संसार के महान् धार्मिक शास्त्रों में संस्तुति की गई है। हमें चाहिए कि गोपियों के उदाहरण का अनुसरण करते हुए तन-मन और अपनी शक्ति से भगवान् से प्रेम करें।

सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीनामधोक्षजे ।
विरहेण महाभागा महान्मेऽनुग्रहः कृतः ॥ २७॥

शब्दार्थ

सर्व-आत्म—सर्वतोभावेन; भावः—प्रेम; अधिकृतः—अधिकार प्राप्त; भवतीनाम्—आपके द्वारा; अधोक्षजे—दिव्य स्वामी के लिए; विरहेण—विरह भाव से; महा-भागाः—हे अत्यन्त भाग्यशालिनी; महान्—महान्; मे—मुझको; अनुग्रहः—दया; कृतः—की गई।

हे परम भाग्यशालिनी गोपियो, तुम लोगों ने दिव्य स्वामी के लिए अनन्य प्रेम का अधिकार ठीक ही प्राप्त किया है। निस्सन्देह, कृष्ण के विरह में उनके प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित करके तुम लोगों ने मुझ पर महती कृपा दिखलाई है।

तात्पर्य : गोपियों ने उद्धव को ही नहीं अपितु सारे जगत के समक्ष भगवत्प्रेम के सुख को प्रदर्शित

किया और इस तरह उन्होंने हर व्यक्ति पर अपनी कृपा प्रदान की। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, क्योंकि गोपियों ने अपनी प्रेमाभक्ति सही ढंग से सम्पन्न की थी इसलिए भगवान् उनके प्रेम के वशीभूत हो सके। फिर भी उनके प्रेम की उत्कटता दिखाने के लिए भगवान् ने बाह्य रूप से उन्हें छोड़ दिया। किन्तु अब वे पुन: उनके बीच उनकी उत्कट भक्ति के माध्यम से आध्यात्मिक रूप में उपस्थित हो गये।

श्रूयतां प्रियसन्देशो भवतीनां सुखावहः ।
यमादायागतो भद्रा अहं भर्तू रहस्करः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्रूयताम्—कृपया सुनें; प्रिय—अपने प्रेमी का; सन्देशः—सन्देश; भवतीनाम्—तुम लोगों के लिए; सुख—सुख; आवहः—लाकर; यम्—जो; आदाय—ढोकर; आगतः—आया हूँ; भद्राः—उत्तम स्त्रियो; अहम्—मैं; भर्तुः—मेरे स्वामी का; रहः—गुह्य कार्यों का; करः—करने वाला।

हे भद्र-देवियो, अब तुम सब अपने प्रेमी का सन्देश सुनो जिसे अपने स्वामी का विश्वसनीय दास होने से मैं तुम लोगों के पास लेकर आया हूँ।

श्रीभगवानुवाच
भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित् ।
यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही ।
तथाहं च मनःप्राणभूतेन्द्रियगुणाश्रयः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; भवतीनाम्—तुम स्त्रियों का; वियोगः—विरह; मे—मुझसे; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; सर्व-आत्मना—सारे जीवों की आत्मा से; क्वचित्—कभी; यथा—जिस तरह; भूतानि—भौतिक तत्त्व; भूतेषु—सारे सृजित प्राणियों में; खम्—आकाश; वायु-अग्निः—वायु तथा अग्नि; जलम्—जल; मही—पृथ्वी; तथा—अतः; अहम्—मैं; च—तथा; मनः—मन; प्राण—प्राण-वायु; भूत—भौतिक तत्त्व; इन्द्रिय—शारीरिक इन्द्रियाँ; गुण—तथा प्रकृति के आदि गुण के; आश्रयः—आश्रय के रूप में उपस्थित।

भगवान् ने कहा है, ''तुम वास्तव में कभी भी मुझसे विलग नहीं हो क्योंकि मैं सारी सृष्टि का आत्मा हूँ। जिस तरह प्रकृति के तत्त्व—आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी—प्रत्येक सृजित वस्तु में उपस्थित रहते हैं उसी तरह मैं हर एक के मन, प्राण तथा इन्द्रियों में और भौतिक तत्त्वों के भीतर तथा प्रकृति के गुणों में उपस्थित रहता हूँ।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी तथा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार भगवान् के कथन की दार्शनिक दिखने वाली इस भाषा में गूढ़ अर्थ छिपा है। भगवान् गुप्त रूप से गोपियों को बतला रहे थे कि वे अपने प्रेम के बदले उन सबों में समस्त सृष्टि के आत्मारूप में ही नहीं अपितु उनके विशेष प्रेमी

के रूप में भी उपस्थित थे। इस सन्दर्भ में *गुण* शब्द गोपियों के विशिष्ट दैवी गुणों का सूचक है, जिससे श्रीकृष्ण आकृष्ट हुए। *सर्वात्मना* शब्द को जिसका यहाँ हमने स्वयं भगवान् कृष्ण के संदर्भ में लिया है (मैं शब्द के अनुरूप होते हुए, जो करण कारक में उपयुक्त हुआ है) *सर्वथा* अथवा ''पूर्णतया'' के रूप में भी समझा जाता है। दूसरे शब्दों में, यद्यपि एक अर्थ के अनुसार भगवान् कृष्ण अनुपस्थित थे किन्तु वे कभी भी पूरी तरह अनुपस्थित नहीं रह सकते क्योंकि अपने आध्यात्मिक रूप में वे गोपियों के हृदयों तथा मन में सदैव विद्यमान रहते हैं।

श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् कृष्ण* तथा अन्य कृतियों में विस्तार से बतलाया है कि गोपियों से अपने को विलग करने का कारण यह था कि कृष्ण अपने प्रति उनके प्रेम को प्रखर बनाना चाहते थे और, जैसाकि उद्धव ने देखा, वे गोपियों के प्रेम की प्रखरता को प्रकट करके अन्य भक्तों को आशीर्वाद देना चाहते थे। तथ्य तो यह है कि भगवान् आध्यात्मिक रूप से गोपियों के साथ थे क्योंकि वे उनकी नित्य संगिनियाँ हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती यह भी इंगित करते हैं कि मूर्खजन यह निष्कर्ष निकालेंगे कि कृष्ण द्वारा दार्शनिक भाषा के प्रयोग का अर्थ था कि भगवान् गोपियों को कृष्णभावनाभावित दर्शन की मूलभूत बातें बतलाकर उन्हें मुक्ति तक पहुँचाना चाह रहे थे। सच तो यह है कि गोपियाँ सर्वोच्च मुक्तात्माएँ हैं और श्रीकृष्ण के साथ उनकी लीलाओं को प्रामाणिक आचार्यों की सहायता से ही समझा जा सकता है। जब गोपियाँ रास-नृत्य के लिए आईं तो कृष्ण ने उन्हें सामान्य नीति तथा नैतिकता पर बल देते हुए *कर्मयोग* का उपदेश देना चाहा किन्तु गोपियाँ तो उससे आगे थीं। इसी तरह कृष्ण अब उन्हें *ज्ञान योग* प्रदान कर रहे हैं किन्तु गोपियों के लिए यह भी अपर्याप्त है क्योंकि उन्होंने श्रीकृष्ण के प्रति स्वैच्छिक शुद्ध प्रेम प्राप्त कर रखा है।

आत्मन्येवात्मनात्मानं सृजे हन्म्यनुपालये ।
आत्ममायानुभावेन भूतेन्द्रियगुणात्मना ॥ ० ॥

शब्दार्थ

आत्मनि—अपने में; एव—निस्सन्देह; आत्मना—अपने से; आत्मानम्—स्वयं; सृजे—उत्पन्न करता हूँ; हन्मि—नष्ट करता हूँ; अनुपालये—पालनपोषण करता हूँ; आत्म—निजी; माया—योग शक्ति के; अनुभावेन—बल से; भूत—भौतिक तत्त्व; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; गुण—तथा गुण; आत्मना—से युक्त।

मैं ही अपनी निजी शक्ति के द्वारा भौतिक तत्त्वों, इन्द्रियों तथा प्रकृति के गुणों का सृजन

करता हूँ, उन्हें बनाये रखता हूँ और फिर अपने भीतर समेट लेता हूँ।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् परम पुरुष हैं किन्तु उनमें तथा उनकी सृष्टि में कोई द्वैत नहीं है क्योंकि सृजन तो उनका विस्तार मात्र है। इसी एकत्व पर यहाँ भगवान् बल देते हैं।

आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणान्वयः ।
सुषुप्तिस्वप्नजाग्रद्भिर्मायावृत्तिभिरीयते ॥ १ ॥

शब्दार्थ

आत्मा—आत्मा; ज्ञान-मयः—दिव्य ज्ञान से युक्त; शुद्धः—शुद्ध; व्यतिरिक्तः—पृथक्; अगुण-अन्वयः—भौतिक गुणों के कर्मफलों से अलिप्त; सुषुप्ति—प्रगाढ़ निद्रा में; स्वप्न—सामान्य नींद; जाग्रद्भिः—तथा जागृत चेतना; माया—माया को; वृत्तिभिः—कार्यों से; ईयते—अनुभव किया जाता है।

शुद्ध चेतना या ज्ञान से युक्त होने से आत्मा प्रत्येक भौतिक वस्तु से पृथक् है और प्रकृति के गुणों के पाश से अलिप्त है। आत्मा का अनुभव भौतिक प्रकृति के तीन कार्यों के माध्यम से किया जा सकता है—ये हैं जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति।

तात्पर्य : यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि आत्मा शुद्ध ज्ञान या शुद्ध चेतना से बना है अतएव भौतिक प्रकृति से तात्विक रूप में सर्वथा पृथक् है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि *आत्मा* का अर्थ "परमात्मा, भगवान् कृष्ण" भी लगाया जा सकता है। चूँकि पिछले श्लोकों में भगवान् बतला चुके हैं कि सारे भौतिक विषय उनके अंश हैं अतः *माया वृत्तिभिरीयते* पद सूचित करता है कि इस जगत का गहन अध्ययन करने से हमें ईश्वर की अनुभूति होगी। इस दृष्टि से भी गोपियों को सलाह दी गई कि वे शोक न करें।

येनेन्द्रियार्थान्ध्यायेत मृषा स्वप्नवदुत्थितः ।
तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि विनिद्रः प्रत्यपद्यत ॥ २ ॥

शब्दार्थ

येन—जिस (मन) से; इन्द्रिय—इन्द्रियों के; अर्थान्—विषयों पर; ध्यायेत—ध्यान करता है; मृषा—झूठा; स्वप्न-वत्—सपने की तरह; उत्थितः—नींद से जगा; तत्—उस (मन); निरुन्ध्यात्—वश में करे; इन्द्रियाणि—इन्द्रियों को; विनिद्रः—सोता हुआ नहीं (सतर्क); प्रत्यपद्यत—प्राप्त करते हैं।

जिस तरह तुरन्त का जगा हुआ व्यक्ति स्वप्न के विषय में सोचता रह सकता है यद्यपि वह भ्रामक होता है उसी तरह मन के द्वारा मनुष्य इन्द्रियविषयों का ध्यान करता है जिन्हें बाद में इन्द्रियाँ प्राप्त कर सकती हैं। इसलिए मनुष्य को पूर्णतया सतर्क रहना चाहिए और मन को वश

में लाना चाहिए।

तात्पर्य : *प्रतिपद* क्रिया का अर्थ है "अनुभूति होना या पूर्वावस्था को प्राप्त होना।" जो आत्मा *विनिद्र* है अर्थात् भौतिक चेतना की स्वप्नवत अवस्था से मुक्त है, वह भगवान् श्रीकृष्ण के नित्य सेवक के रूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति को फिर से प्राप्त कर लेता है। इस तरह शुद्ध चेतना से आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है।

एतदन्तः समाम्नायो योगः साङ्ख्यं मनीषिणाम् ।
त्यागस्तपो दमः सत्यं समुद्रान्ता इवापगाः ॥ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; अन्तः—निष्कर्ष रूप में; समाम्नायः—सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय; योगः—योग पद्धति; साङ्ख्यम्—सांख्य ध्यान की विधि जिससे मनुष्य आत्मा तथा पदार्थ के अन्तर को जान सकता है; मनीषिणाम्—बुद्धिमानों का; त्यागः—त्याग; तपः—तपस्या; दमः—इन्द्रिय संयम; सत्यम्—तथा ईमानदारी; समुद्र-अन्ताः—समुद्र में जाने वाली; इव—सदृश; आप-गाः—नदियाँ।

बुद्धिमान अधिकारी जनों के अनुसार यही सारे वेदों तथा योगाभ्यास, सांख्य, त्याग, तपस्या, इन्द्रिय संयम तथा सचाई का चरम निष्कर्ष है, जिस तरह कि सारी नदियों का चरम गन्तव्य समुद्र है।

तात्पर्य : भगवान् कहते हैं कि सारे वैदिक वाङ्मय का उद्देश्य आत्मा को मन तथा इन्द्रियों के नियंत्रण तक ले आना और उन्हें दिव्य आत्म-साक्षात्कार में स्थिर करना है। इस तरह तथाकथित योग या धर्म की विधियाँ जिनमें अनियंत्रित इन्द्रियतृप्ति निहित होती है, वास्तव में आध्यात्मिक विधियाँ न होकर मूर्खों के लिए सुगम तरीके हैं जिनसे वे अपने पाशविक आचरण की पुष्टि कर सकते हैं।

यहाँ पर भगवान् कृष्ण गोपियों को आश्वस्त करते हैं कि आत्म-साक्षात्कार में अपने मन को स्थिर करने से उन्हें भगवान् से आध्यात्मिक तादात्म्य की अनुभूति होगी। इस तरह उन्हें वियोग की पीड़ा नहीं गुजरना पड़ेगा।

यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम् ।
मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया ॥ ४॥

शब्दार्थ

यत्—तथ्य यह है; तु—किन्तु; अहम्—मैं; भवतीनाम्—तुम सबों से; वै—निस्सन्देह; दूरे—बहुत दूर; वर्ते—स्थित हूँ; प्रियः—प्रिय; दृशाम्—आँखों के लिए; मनसः—मन का; सन्निकर्ष—आकर्षण; अर्थम्—के लिए; मत्—मुझ पर; अनुध्यान.—तुम्हारे ध्यान के लिए; काम्यया—कामना करते हुए।

किन्तु जिस असली कारण से तुम सबों की आँखों की प्रिय वस्तुरुप, मैं, तुम लोगों से अति दूर रह रहा हूँ, वह यह है कि मैं अपने प्रति तुम सबों के चिंतन को प्रगाढ़ करना चाहता था और इस तरह तुम्हारे मनों को अपने अधिक निकट लाना चाहता था।

तात्पर्य : कभी कभी जो वस्तु हमारी आँखों के पास होती है, वही हमारे हृदय तथा मन से दूर होती है और इसके विपरीत उसकी अनुपस्थिति से हृदय उसे अधिक चाहने लगता है। यद्यपि भगवान् कृष्ण गोपियों से दूर होते जा रहे प्रतीत होते हैं किन्तु वे उन्हें आध्यात्मिक स्तर पर अपने अधिक निकट ला रहे थे।

यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्तते ।
स्त्रीणां च न तथा चेतः सन्निकृष्टेऽक्षिगोचरे ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; दूर-चरे—दूर स्थित होने पर; प्रेष्ठे—प्रेमी; मनः—मन; आविश्य—लीन होकर; वर्तते—रहता है; स्त्रीणाम्—स्त्रियों का; च—तथा; न—नहीं; तथा—अतः; चेतः—उनके मन; सन्निकृष्टे—पास होने पर; अक्षि-गोचरे—उनकी आँखों के सामने मौजूद।

जब प्रेमी दूर होता है, तो स्त्री उसके विषय में अधिक सोचती है बजाय इसके कि जब वह उसके समक्ष उपस्थित होता है।

तात्पर्य : श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार पुरुषों के साथ भी ऐसा ही होता है। वे उस प्रेमिका के विषय में सोचते हुए अधिकाधिक लीन होते जाते हैं जब वह काफी दूर रहती है बजाय इसके कि जब वह उनके आँखों के समक्ष उपस्थित होती है।

मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यत् ।
अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मयि—मुझमें; आवेश्य—लीन होकर; मनः—अपने मन; कृत्स्नम्—सम्पूर्ण; विमुक्त—छोड़ने के बाद; अशेष—समस्त; वृत्ति—अपना (भौतिक) कार्य; यत्—क्योंकि; अनुस्मरन्त्यः—स्मरण कर करके; माम्—मुझको; नित्यम्—निरन्तर; अचिरात्—शीघ्र ही; माम्—मुझको; उपैष्यथ—तुम प्राप्त करोगी।

चूँकि तुम्हारे मन पूर्णतया मुझमें लीन रहते हैं और अन्य सारे कार्यों से मुक्त रहते हैं, तुम सदैव मेरा स्मरण करती हो और इसीलिए तुम लोग शीघ्र ही मुझे पुनः अपने सामने पा सकोगी।

या मया क्रीडता रात्र्यां वनेऽस्मिन्व्रज आस्थिताः ।
अलब्धरासाः कल्याण्यो मापुर्मद्वीर्यचिन्तया ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

याः—जो स्त्रियाँ; मया—मेरे साथ; क्रीडता—खेल रही थीं; रात्र्याम्—रात में; वने—जंगल में; अस्मिन्—इस; व्रजे—व्रज के ग्राम में; आस्थिताः—रह गईं; अलब्ध—अनुभव न करते हुए; रासाः—रास-नृत्य; कल्याण्यः—भाग्यशाली; मा—मुझको; आपुः—उन्होंने प्राप्त किया; मत्-वीर्य—मेरी शक्तिशाली लीलाओं पर; चिन्तया—एकाग्रता द्वारा।

यद्यपि कुछ गोपियों को ग्वाल-ग्राम में ही रह जाना पड़ा था जिससे वे रात में जंगल में रचाये गये रास-नृत्य में मेरे साथ क्रीड़ा नहीं कर पाईं, तो भी वे परम भाग्यशालिनी थीं। दरअसल वे मेरी शक्तिशाली लीलाओं का ध्यान करके ही मुझे प्राप्त कर सकीं।

श्रीशुक उवाच
एवं प्रियतमादिष्टमाकर्ण्य व्रजयोषितः ।
ता ऊचुरुद्धवं प्रीतास्तत्सन्देशागतस्मृतीः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस तरह से; प्रिय-तम—अपने प्रेमी (कृष्ण) द्वारा दिये; आदिष्टम्—आदेशों को; आकर्ण्य—सुनकर; व्रज-योषितः—व्रज की स्त्रियाँ; ताः—वे; ऊचुः—बोली; उद्धवम्—उद्धव से; प्रीतः—प्रसन्न; तत्—उस; सन्देश—सन्देश; आगत—वापस आयी हुई; स्मृतीः—स्मृतियाँ।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : व्रज की स्त्रियाँ अपने प्रियतम कृष्ण से यह सन्देशा सुनकर प्रसन्न हुईं। उनके शब्दों से उनकी स्मृतियाँ ताजी हो गईं अतः उन्होंने उद्धव से इस प्रकार कहा।

गोप्य ऊचुः
दिष्ट्याहितो हतः कंसो यदूनां सानुगोऽघकृत् ।
दिष्ट्याप्तैर्लब्धसर्वार्थैः कुशल्यास्तेऽच्युतोऽधुना ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

गोप्यः ऊचुः—गोपियों ने कहा; दिष्ट्या—सौभाग्य से; अहितः—शत्रु; हतः—मारा जा चुका है; कंसः—राजा कंस; यदूनाम्—यदुओं का; स-अनुगः—अपने अनुयायियों सहित; अघ—कष्ट का; कृत्—कारण; दिष्ट्या—सौभाग्य से; आप्तैः—अपने शुभचिन्तकों सहित; लब्ध—प्राप्त हुए; सर्व—समस्त; अर्थैः—अपनी इच्छाओं से; कुशली—सुखपूर्वक; आस्ते—रह रहा है; अच्युतः—कृष्ण; अधुना—इस समय।

गोपियों ने कहा : यह अच्छी बात है कि यदुओं का शत्रु एवं उन्हें सताने वाला कंस अब अपने अनुयायियों सहित मारा जा चुका है। और यह भी अच्छी बात है कि भगवान् अच्युत अपने शुभैषी मित्रों तथा सम्बन्धियों के साथ सुखपूर्वक रह रहे हैं जिनकी हर इच्छा अब पूरी हो रही है।

कच्चिद्गदाग्रजः सौम्य करोति पुरयोषिताम् ।
प्रीतिं नः स्निग्धसव्रीडहासोदारेक्षणार्चितः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—शायद; गद-अग्रजः—गद के बड़े भाई, कृष्ण; सौम्य—हे भद्र (उद्धव); करोति—दे रहा है; पुर—नगर की; योषिताम्—स्त्रियों का; प्रीतिम्—प्रेमपूर्ण सुख; नः—हमारा; स्निग्ध—वत्सल; स-व्रीड—तथा लज्जालु; हास—हँसी से; उदार—उदार; ईक्षण—चितवनों से; अर्चितः—पूजित।

हे भद्र उद्धव, क्या गद का बड़ा भाई नगर की स्त्रियों को वह आनन्द प्रदान कर रहा है, जो वास्तव में हमारा है? हम ऐसा समझती हैं कि वे स्त्रियाँ उदार चितवनों तथा प्यारी लजीली मुसकानों से उनकी पूजा करती होंगी।

तात्पर्य : *गदाग्रज* नाम कृष्ण का सूचक है—देवरक्षिता के पहले पुत्र गद का बड़ा भाई (अग्रज)। देवरक्षिता देवकी की बहन थी और देवकी वसुदेव को ब्याही थीं। कृष्ण को इस प्रकार सम्बोधित करके गोपियाँ इंगित करती हैं कि कृष्ण अब अपने को देवकी का ही पुत्र मानते हैं जिसका अर्थ यह होता है कि अब वृन्दावन से उनका सम्बन्ध शिथिल पड़ रहा है। प्रगाढ़ प्रेम के कारण गोपियाँ क्षण-भर भी कृष्ण के विषय में सोचने से अपने को रोक न पाती थीं।

कथं रतिविशेषज्ञः प्रियश्च पुरयोषिताम् ।
नानुबध्येत तद्वाक्यैर्विभ्रमैश्चानुभाजितः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

कथम्—कैसे; रति—माधुर्य व्यापार का; विशेष—विशेष रूप से; ज्ञः—ज्ञाता; प्रियः—प्रिय; च—तथा; पुर-योषिताम्—नगर की स्त्रियों का; न अनुबध्येत—बँधा नहीं होगा; तत्—उनके; वाक्यैः—शब्दों से; विभ्रमैः—मोह में डालने वाले संकेतों से; च—तथा; अनुभाजितः—निरन्तर पूजित।

श्रीकृष्ण सभी प्रकार के माधुर्य व्यापार में दक्ष हैं और नगर की स्त्रियों के प्रिय हैं। चूँकि अब वे उनके मोहक शब्दों तथा इशारों से निरन्तर पूजित हैं, तो भला फिर वे उनके पाश में क्योंकर नहीं बँधेंगे?

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी के अनुसार इनमें से प्रत्येक श्लोक भिन्न भिन्न गोपियों द्वारा कहा गया है।

अपि स्मरति नः साधो गोविन्दः प्रस्तुते क्वचित् ।
गोष्ठिमध्ये पुरस्त्रीणाम्ग्राम्याः स्वैरकथान्तरे ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

अपि—यही नहीं; स्मरति—स्मरण करता है; नः—हमको; साधो—हे पवित्रात्मा; गोविन्दः—कृष्ण; प्रस्तुते—बातचीत के दौरान; क्वचित्—कभी; गोष्ठि—सभा; मध्ये—में; पुर-स्त्रीणाम्—नगर की स्त्रियों के; ग्राम्याः—ग्रामीण बालिकाएँ; स्वैर—स्वतंत्र; कथा—बातचीत; अन्तरे—के दौरान।

हे साधु-पुरुष, नगर की स्त्रियों से बातचीत के दौरान क्या गोविन्द कभी हमारी याद करते

हैं? क्या वे उनसे खुल कर वार्ता करते समय कभी हम ग्रामीण बालाओं का भी स्मरण करते हैं?

तात्पर्य : गोपियाँ कृष्ण के प्रेम में बिना किसी स्वार्थ के इस तरह मग्न थीं कि घोर निराशा के क्षणों में भी उन्होंने अन्य किसी को अपना प्रेम-दान करने की बात सोची ही नहीं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती उनकी भावनाओं की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

गोपियों ने कहा होगा, ''कृष्ण ने हमें अवश्य ही त्याग दिया होगा क्योंकि हम इसी लायक हैं। निस्सन्देह, हम इस विश्व में सबसे महत्त्वहीन स्त्रियाँ हैं और भोगी जाने के बाद त्यागी हुई हैं। फिर भी क्या कभी हम अपने किसी सद्‌गुण के कारण या इसलिए कि हमने कुछ गलती की है उनकी स्मृति में प्रवेश पाती हैं या नहीं? कृष्ण तो नगर की स्त्रियों से खुलकर बातें करते होंगे। वे उनके साथ गाते, परिहास करते, पहेलियाँ बुझाते तथा न जाने कितनी बातें करते होंगे। क्या कभी कृष्ण यह कहते हैं, 'हे नगर की स्त्रियो! तुम्हारा जैसे परिष्कृत गाना तथा बोलना मेरे ग्राम की गोपियों में नहीं पाया जाता। वे इन बातों को समझ नहीं सकेंगी।' क्या वे कभी इस तरह से भी हमारे विषय में कहते हैं?''

ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभि-
वृन्दावने कुमुदकुन्दशशाङ्करम्ये ।
रेमे क्वणच्चरणनूपुररासगोष्ठ्याम्
अस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित् ॥ ४॥

शब्दार्थ

ताः—वे; किम्—क्या; निशाः—रातें; स्मरति—स्मरण करता है; यासु—जिनमें; तदा—तब; प्रियाभिः—अपनी प्रेयसियों के साथ; वृन्दावने—वृन्दावन के जंगल में; कुमुद—कमलों; कुन्द—तथा चमेली के कारण; शशाङ्क—तथा चन्द्रमा के कारण; रम्ये—आकर्षक; रेमे—विहार या रमण किया; क्वणत्—बजते हुए; चरण-नूपुर—पाँव के घुंघरू; रास-गोष्ठ्याम्—रास-नृत्य की गोष्ठी में; अस्माभिः—हमारे साथ; ईडित—प्रशंसित; मनोज्ञ—सुहावनी; कथः—कथाएँ; कदाचित्—कभी।

क्या वे वृन्दावन के जंगल में उन रातों का स्मरण करते हैं, जो कमल, चमेली तथा प्रकाशमान चन्द्रमा से सुन्दर लगती थीं? जब हम उनकी मनमोहिनी लीलाओं का गुणगान करतीं तो वे रास-नृत्य के घेरे में जो कि घुँघरुओं के संगीत से गुंजायमान होता था, हम प्रेयसियों के साथ आनन्द विहार करते थे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इस श्लोक की गहन अनुभूति का वर्णन इस प्रकार करते हैं, ''गोपियाँ जानती थीं कि वृन्दावन के समान कोई दूसरा रमणीक स्थान नहीं हो सकता। ब्रह्माण्ड के

किसी कोने में वृन्दावन के जंगल के समान आकर्षक दृश्य नहीं मिल सकता। वह पवित्र फूलों से सुगन्धित था और पवित्र यमुना नदी की शान्त तरंगों से प्रतिबिम्बित पूर्ण चन्द्रमा के प्रकाश से प्रकाशित था। कृष्ण को गोपियों जितना कोई प्यार नहीं करता था, अत: उन्हें पूरी तरह से अन्य कोई जान भी नहीं सकता था। गोपियों ने कृष्ण के प्रति निजी भाव से पूर्णतया सेवा की थी जो और कोई नहीं कर सकता था। इस तरह गोपियाँ सोच सोचकर किंकर्तव्यविमूढ़ थीं कि कृष्ण अब वृन्दावन से तथा उनकी सेवाओं से विहीन हैं। वे समस्त कामवासनाओं से रहित होकर निराशा से पराभूत थीं क्योंकि वे प्रेमपूर्ण सेवा से उन्हें सुख नहीं दे पा रही थीं। वे इसकी कल्पना भी नहीं कर पा रही थीं कि जिस तरह वे उनके संग वृन्दावन में विहार करते थे उस तरह अन्यत्र कर सकते हैं।''

अप्येष्यतीह दाशार्हस्तप्ता: स्वकृतया शुचा ।
सञ्जीवयन्नु नो गात्रैर्यथेन्द्रो वनमम्बुदै: ॥ ४४॥

शब्दार्थ

अपि—क्या; एष्यति—आयेगा; इह—यहाँ; दाशार्ह:—दशार्हवंशी कृष्ण; तप्ता:—संतप्त; स्व-कृतया—अपनी ही करनी से; शुचा—शोक से युक्त; सञ्जीवयन्—जीवनदान दिलाते हुए; नु—शायद; न:—हमको; गात्रै:—अपने अंगों के (स्पर्श) द्वारा; यथा—जिस तरह; इन्द्र:—इन्द्र; वनम्—जंगल को; अम्बुदै:—बादलों से।

क्या वह दाशार्ह वंशज यहाँ फिर से आयेगा और अपने अंगों के स्पर्श से उन सबों को फिर से जिलायेगा जो अब उन्हीं के द्वारा उत्पन्न किए गए शोक से जल रहे हैं? क्या वह हमें उसी प्रकार बचा लेगा जिस तरह भगवान् इन्द्र जलधारी बादलों से जंगल को पुन: जीवनदान देते हैं?

कस्मात्कृष्ण इहायाति प्राप्तराज्यो हताहित: ।
नरेन्द्रकन्या उद्वाह्य प्रीत: सर्वसुहृद्वृत: ॥ ४५॥

शब्दार्थ

कस्मात्—क्यों; कृष्ण:—कृष्ण; इह—यहाँ; आयाति—आयेगा; प्राप्त—पाकर; राज्य:—राज्य; हत—मारकर; अहित:—अपने शत्रुओं को; नर-इन्द्र—राजाओं की; कन्या:—पुत्रियों को; उद्वाह्य—विवाह कर; प्रीत:—सुखी; सर्व—सभी; सुहृत्—शुभचिन्तकों से; वृत:—घिरा हुआ।

भला राज्य जीत लेने, अपने शत्रुओं का वध कर लेने और राजाओं की पुत्रियों के साथ विवाह कर लेने के बाद कृष्ण यहाँ क्यों आने लगे? वे वहाँ अपने सारे मित्रों तथा शुभचिन्तकों से घिरेरहकर प्रसन्न हैं।

**किमस्माभिर्वनौकोभिरन्याभिर्वा महात्मनः ।
श्रीपतेराप्तकामस्य क्रियेतार्थः कृतात्मनः ॥ ४६ ॥**

शब्दार्थ

किम्—क्या; अस्माभिः—हम सबों के साथ; वन—जंगल; ओकोभिः—जिनका आवास; अन्याभिः—अन्य स्त्रियों के साथ; वा—अथवा; महा-आत्मनः—महापुरुष (कृष्ण) के लिए; श्री—लक्ष्मी के; पतेः—पति के लिए; आप्त-कामस्य—जिनकी इच्छाएँ पूरी हो चुकी हैं; क्रियेत—सेवा की जानी है; अर्थः—प्रयोजन; कृत-आत्मनः—जो पूर्ण है उसके लिए।

महापुरुष कृष्ण लक्ष्मी के स्वामी हैं और वे जो भी चाहते हैं वह स्वतः पा लेते हैं। जब वे अपने में पहले से पूर्ण हैं, तो हम वनवासिनियाँ या अन्य स्त्रियाँ उनके प्रयोजन को कैसे पूरा कर सकती हैं?

तात्पर्य : यद्यपि गोपियाँ पछता रही थीं कि कृष्ण मथुरा की स्त्रियों से मेल-जोल कर रहे हैं किन्तु अब उनकी समझ में आने लगा कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् होने के कारण उन्हें किसी स्त्री की आवश्यकता नहीं थी। यह तो उनकी अहैतुकी कृपा है कि वे अपने प्रिय भक्तों को अपनी संगति प्रदान करते हैं।

**परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिण्यप्याह पिङ्गला ।
तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया ॥ ४७ ॥**

शब्दार्थ

परम्—सर्वोच्च; सौख्यम्—सुख; हि—निस्सन्देह; नैराश्यम्—अन्यमनस्कता; स्वैरिणी—व्यभिचारिणी; अपि—यद्यपि; आह—कहा; पिङ्गला—पिंगला नामक वेश्या; तत्—उस; जानतीनाम्—जानने वालों का; नः—हमारे लिए; कृष्णे—कृष्ण पर केन्द्रित; तथा अपि—फिर भी; आसा—आशा; दुरत्यया—पार करना असम्भव।

दरअसल सर्वोच्च सुख तो समस्त इच्छाओं का परित्याग करने में है जैसा कि पिंगला नामक वेश्या तक ने भी कहा है। यह जानते हुए भी हम कृष्ण को पाने की अपनी आशाएँ नहीं छोड़ सकतीं।

तात्पर्य : पिंगला की कहानी *श्रीमद्भागवत्* के ग्यारहवें स्कंध के आठवें अध्याय में आई है।

**क उत्सहेत सन्त्यक्तुमुत्तमःश्लोकसंविदम् ।
अनिच्छतोऽपि यस्य श्रीरङ्गान्न च्यवते क्वचित् ॥ ४८ ॥**

शब्दार्थ

कः—कौन; उत्सहेत—सहन कर सकता है; सन्त्यक्तुम्—त्याग कर पाना; उत्तमःश्लोक—भगवान् कृष्ण से; संविदम्—घनिष्ट बातें; अनिच्छतः—न चाहते हुए; अपि—भी; यस्य—जिसके; श्रीः—लक्ष्मीजी; अङ्गात्—शरीर से; न च्यवते—विलग नहीं होने देते; क्वचित्—कभी।

भला भगवान् कृष्ण से घुल-मिल कर बातें करने को छोड़ पाना कौन सहन कर सकता है?

यद्यपि वे श्रीदेवी में तनिक भी रुचि नहीं दर्शाते किन्तु वे उनके वक्षस्थल पर बने स्थान से कभी इधर-उधर नहीं होती।

सरिच्छैलवनोद्देशा गावो वेणुरवा इमे ।
सङ्कर्षणसहायेन कृष्णेनाचरिताः प्रभो ॥ ४९॥

शब्दार्थ

सरित्—नदियाँ; शैल—पर्वत; वन-उद्देशाः—जंगली क्षेत्र; गावः—गौवें; वेणु-रवाः—वंशी की ध्वनि; इमे—ये सब; सङ्कर्षण—बलराम; सहायेन—जिनके साथी; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; आचरिताः—उपभोग की गई; प्रभो—हे स्वामी (उद्धव)।

हे उद्धव प्रभु, जब यहाँ कृष्ण बलराम के साथ थे तो वे इन सारी नदियों, पर्वतों, जंगलों, गौवों तथा वंशी की ध्वनियों का आनन्द लिया करते थे।

पुनः पुनः स्मारयन्ति नन्दगोपसुतं बत ।
श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुमः ॥ ५०॥

शब्दार्थ

पुनः पुनः—बारम्बार; स्मारयन्ति—याद दिलाती हैं; नन्द-गोप-सुतम्—ग्वालों के राजा नन्द के पुत्र की; बत—निश्चय ही; श्री—दैवी; निकेतैः—चिह्नों से युक्त; तत्—उसका; पदकैः—चरण-चिह्नों के कारण; विस्मर्तुम्—भुलाने के लिए; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; शक्नुमः—हम सक्षम हैं।

ये सब हमें नन्द के पुत्र की सदैव याद दिलाते हैं। निस्सन्देह चूँकि हम दैवी-चिन्हों से अंकित कृष्ण के चरण-चिन्हों को देखती हैं अतः हम उन्हें कभी भी नहीं भुला सकतीं।

गत्या ललितयोदारहासलीलावलोकनैः ।
माध्व्या गिरा हृतधियः कथं तं विस्मराम हे ॥ ५१॥

शब्दार्थ

गत्या—अपनी चाल से; ललितया—आकर्षक; उदार—उदार; हास—हँसी; लीला—क्रीड़ापूर्ण; अवलोकनैः—चितवनों से; माध्व्या—मधु जैसी; गिरा—वाणी से; हृत—चुराये गये; धियः—चित्त; कथम्—कैसे; तम्—उसको; विस्मराम—हम भूल सकती हैं; हे—हे (उद्धव)।

हे उद्धव, हम उन्हें कैसे भुला सकती हैं जब उनकी मनोहर चाल, उनकी उदार हँसी, चपल चितवनों एवं मधुर शब्दों से हमारे चित्त चुराये जा चुके हैं?

हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन ।
मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवात् ॥ ५२॥

शब्दार्थ

हे नाथ—हे स्वामी; हे रमा-नाथ—हे लक्ष्मीपति; व्रज-नाथ—हे व्रज के स्वामी; आर्ति—कष्ट के; नाशन—हे नष्ट करने वाले; मग्नम्—डूबी हुई; उद्धर—उबारो; गोविन्द—हे गोविन्द; गोकुलम्—गोकुल को; वृजिन—दुख के; अर्णवात्—समुद्र से।

हे नाथ, हे रमानाथ, हे व्रजनाथ! हे समस्त कष्टों के विनाशक गोविन्द! कृपया अपने गोकुल को व्यथा के उस सागर से उबार लें, जिसमें वह डूबा जा रहा है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इस दृश्य की गहराई में जाकर कहते हैं—कोई गोपियों के समक्ष प्रस्ताव कर सकता है "आप लोग अन्यत्र क्यों नहीं चली जातीं। वृन्दावन छोड़ दीजिये तो फिर आपको ये नदियाँ, पर्वत तथा जंगल नहीं देखने पड़ेंगे। अपने आँचल से आँखें ढक लीजिये, अपनी बुद्धि से किसी अन्य विचार में मन को ले जाइये और इस तरह कृष्ण को भूल जाइये।" इस प्रस्ताव का उत्तर गोपियाँ पिछले श्लोक में यह कहकर देती हैं, "अब हममें अपनी बुद्धि नहीं रही क्योंकि कृष्ण अपने चरम सौन्दर्य तथा आकर्षण से उसे हर ले गये हैं।"

इस श्लोक में गोपियों की भावनाएँ इतनी प्रबल हो उठती हैं कि वे उद्धव की परवाह नहीं करतीं और वे मथुरा की ओर मुख करके अपने रोदन से कृष्ण को सम्बोधित करती हैं। वे कृष्ण को व्रजनाथ कहती हैं क्योंकि भूतकाल में कृष्ण ने अपने प्रिय ग्रामवासियों की रक्षा करने के लिए अनेक अचिन्त्य लीलाएँ की थीं—यथा गोवर्धन पर्वत को धारण करना तथा अनेक भयावने असुरों का वध करना। इस हृदय विदारक श्लोक में गोपियाँ चिल्लाकर कृष्ण से कहती हैं कि वे अपने अबोध ग्रामवासियों के साथ भोगे गये मधुर अद्भुत सम्बन्ध को स्मरण करें। दरअसल श्रीकृष्ण अपने पिता की गौवों की देखभाल करते थे और गोपियाँ उनसे याचना करती हैं कि वे इन कार्यों का स्मरण करके उन्हें फिर से करने के लिए लौट आयें।

श्रीशुक उवाच
ततस्ताः कृष्णसन्देशैर्व्यपेतविरहज्वराः ।
उद्धवं पूजयां चक्रुर्ज्ञात्वात्मानमधोक्षजम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; ततः—तब; ताः—वे; कृष्ण-सन्देशैः—कृष्ण के संदेशों से; व्यपेत—हटा दिया; विरह—वियोग का; ज्वराः—ज्वर; उद्धवम्—उद्धव को; पूजयाम् चक्रुः—पूजा की; ज्ञात्वा—जान कर; आत्मानम्—अपने आपको; अधोक्षजम्—परमेश्वर के रूप में।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : कृष्ण के सन्देशों से विरह का ज्वर हट जाने पर गोपियों ने उद्धव को अपने प्रभु कृष्ण से अभिन्न जान कर, उनकी पूजा की।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी कहते हैं कि *ज्ञात्वात्मानम् अधोक्षजम्* शब्दों से यह भी सूचित होता है कि गोपियाँ कृष्ण को अपने जीवनों की आत्मा और इस तरह आध्यात्मिक रूप में उनसे अपने को एकाकार मानती हैं।

उवास कतिचिन्मासान्गोपीनां विनुदञ्शुचः ।
कृष्णलीलाकथां गायन्रमयामास गोकुलम् ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

उवास—रहते थे; कतिचित्—कुछ; मासान्—महीनों तक; गोपीनाम्—गोपियों के; विनुदन्—दूर करते हुए; शुचः—दुख; कृष्ण-लीला—कृष्ण लीलाओं की; कथाम्—कथाएँ; गायन्—गाते हुए; रमयाम् आस—आनन्द दिया; गोकुलम्—गोकुल को।.

उद्धव वहाँ पर कृष्ण की लीलाओं की कथाएँ कहकर गोपियों का दुख दूर करते हुए कई महीनों तक रहे। इस तरह वे सभी गोकुलवासियों के लिए आनन्द ले आये।

तात्पर्य : इस प्रसंग में महान् आचार्य जीव गोस्वामी की टीका है कि वृन्दावन के प्रवासकाल में उद्धव ने कृष्ण के पोष्य माता-पिता, नन्द तथा यशोदा, को प्रोत्साहित करने की विशेष सतर्कता बरती।

यावन्त्यहानि नन्दस्य व्रजेऽवात्सीत्स उद्धवः ।
व्रजौकसां क्षणप्रायाण्यासन्कृष्णस्य वार्तया ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

यावन्ति—जितने; अहानि—दिन; नन्दस्य—राजा नन्द के; व्रजे—व्रज में; अवात्सीत्—रहे; सः—वह; उद्धवः—उद्धव; व्रज-ओकसाम्—व्रजवासियों को; क्षण-प्रायाणि—एक क्षण बीतने जैसे; आसन्—थे; कृष्णस्य—कृष्ण की; वार्तया—वार्ताओं के कारण।.

उद्धव जितने दिनों तक नन्द के व्रज ग्राम में रहे वे सारे दिन व्रजवासियों को एक क्षण के तुल्य प्रतीत हुए क्योंकि उद्धव सदा कृष्ण की वार्ताएँ करते रहते थे।

सरिद्वनगिरिद्रोणीर्वीक्षन्कुसुमितान्द्रुमान् ।
कृष्णं संस्मारयन्रेमे हरिदासो व्रजौकसाम् ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

सरित्—नदियाँ; वन—जंगल; गिरि—पर्वत; द्रोणीः—घाटियाँ; वीक्षन्—देखते हुए; कुसुमितान्—फूले हुए; द्रुमान्—वृक्षों को; कृष्णम्—कृष्ण के विषय में; संस्मारयन्—याद दिलाते हुए; रेमे—आनन्द लिया; हरि-दासः—भगवान् हरि के सेवक ने; व्रज-ओकसाम्—व्रजवासियों के लिए।.

हरि के दास (उद्धव) ने व्रज की नदियों, जंगलों, पर्वतों, घाटियों तथा पुष्पित वृक्षों को देख देखकर और भगवान् कृष्ण के विषय में स्मरण करा-कराकर वृन्दावनवासियों को प्रेरणा

देने में आनन्द का अनुभव किया।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी इंगित करते हैं कि जब उद्धव वृन्दावन में घूमते थे तो वे व्रजवासियों से उन प्रत्येक स्थलों में जैसे नदियों, जंगलों, पर्वतों तथा घाटियों में भगवान् द्वारा की गई लीलाओं के विषय में प्रश्न पूछपूछ करके उन्हें कृष्ण की याद दिलाते रहते थे। इस तरह उद्धव ने उनके सान्निध्य में अगाध दिव्य आनन्द प्राप्त किया।

दृष्ट्वैवमादि गोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम् ।
उद्धवः परमप्रीतस्ता नमस्यन्निदं जगौ ॥ ५७॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; एवम्—इस तरह; आदि—तथा अधिक; गोपीनाम्—गोपियों के; कृष्ण-आवेश—कृष्ण के विचारों में उनकी तल्लीनता; आत्म—से युक्त; विक्लवम्—मानसिक क्षोभ; उद्धवः—उद्धव ने; परम—परम; प्रीतः—प्रसन्न; ताः—उनको; नमस्यन्—नमस्कार करते हुए; इदम्—यह; जगौ—गाया।

इस तरह यह देखकर कि गोपियाँ किस तरह कृष्ण में पूर्णतया तल्लीन रहने से सदैव विक्षुब्ध रहती हैं, उद्धव अत्यधिक प्रसन्न थे। उन्हें नमस्कार करने की इच्छा से उन्होंने यह गीत गाया।

तात्पर्य : *विक्लव* का अर्थ ''मानसिक क्षोभ'' है और इसे सामान्य भौतिक क्लेश से नहीं मिलाना चाहिए। यह स्पष्ट कहा गया है कि उद्धव अत्यधिक प्रसन्न थे और इसका कारण था कि वे देख चुके थे कि गोपियों को सर्वोच्च भाव-दशा प्राप्त हो चुकी है। उद्धव द्वारका दरबार के माननीय सदस्य थे और राजनैतिक मामलों के महत्त्वपूर्ण मंत्री थे फिर भी उनके मन में यशस्विनी गोपियों को नमस्कार करने की इच्छा उत्पन्न हुई—यद्यपि बाह्य रूप से ये गोपियाँ वृन्दावन नामक क्षुद्र ग्राम की ग्वाल-कन्याएँ मात्र थीं। इस तरह अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए उन्होंने निम्नलिखित श्लोक गाये। श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि वृन्दावन के प्रवास में उद्धव नित्य ही इन श्लोकों को गाया करते थे।

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः ।
वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥ ५८॥

शब्दार्थ

एताः—ये स्त्रियाँ; परम्—अकेले; तनु—अपने शरीर; भृतः—ठीक से पालती हैं; भुवि—पृथ्वी पर; गोप-वध्वः—ये युवती गोपियाँ; गोविन्दे—गोविन्द में; एव—एकान्त रूप से; निखिल—सबों के; आत्मनि—आत्मा; रूढ—पूर्ण; भावाः—प्रेमपूर्ण आकर्षण; वाञ्छन्ति—चाहती हैं; यत्—जो; भव—भौतिक जगत; भियः—भयभीत; मुनयः—मुनिगण; वयम्—हम; च—भी; किम्—क्या लाभ; ब्रह्म—ब्राह्मण के रूप में या ब्रह्मा के रूप में; जन्मभिः—जन्म लेने से; अनन्त—अनन्त भगवान् की; कथा—कथा के; रसस्य—रसिक के लिए।

[उद्धव ने गाया] : पृथ्वी के समस्त व्यक्तियों में ये गोपियाँ ही वास्तव में अपने देहधारी जीवनों को सफल बना पाई हैं क्योंकि इन्होंने भगवान् गोविन्द के लिए शुद्ध प्रेम की पूर्णता प्राप्त कर ली है। इस संसार से डरने वालों, बड़े-बड़े मुनियों तथा हम सबों को इनके शुद्ध प्रेम की लालसा बनी रहती है। जिसने अनन्त भगवान् की कथाओं का आस्वाद कर लिया है उसके लिए उच्च ब्राह्मण के रूप में या साक्षात् ब्रह्मा के रूप में भी जन्म लेने से क्या लाभ?

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि यहाँ पर *ब्रह्मजन्मभिः* शब्द तीन बार जन्म लेने का सूचक है १) वीर्य द्वारा २) जनेऊ संस्कार द्वारा तथा) यज्ञ-दीक्षा द्वारा। ये सभी शुद्ध कृष्णभावनामृत की बराबरी नहीं कर सकते। निस्सन्देह इस श्लोक को कहने वाले उद्धव शुद्ध ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे किन्तु वे महान् गोपियों की तुलना में इस पद की अवमानना करते हैं।

क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः
कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः ।
नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षा-
च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः ॥५९॥

शब्दार्थ

क्व—कहाँ तो; इमाः—ये; स्त्रियः—स्त्रियाँ; वन—वनों में; चरीः—विचरण करने वाली; व्यभिचार—अनुचित आचरण से; दुष्टाः—दूषित; कृष्णे—कृष्ण के लिए; क्व च—और कहाँ; एषः—यह; परम-आत्मनि—परमात्मा में; रूढ-भावः—पूर्ण-प्रेम की अवस्था (महाभाव); ननु—निश्चय ही; ईश्वरः—भगवान्; अनुभजतः—निरन्तर पूजा करने वाले के लिए; अविदुषः—विद्वान नहीं; अपि—यद्यपि; साक्षात्—साक्षात; श्रेयः—कल्याण; तनोति—प्रदान करता है; अगद—औषधियों का; राजः—राजा (अमृत, जिसे देवता अमर होने के लिए पीते थे); इव—मानो; उपयुक्तः—लिया हुआ।

यह कितना आश्चर्यजनक है कि जंगल में विचरण करने वाली एवं अनुपयुक्त आचरण के कारण दूषित सी प्रतीत होने वाली इन सीधी-सादी स्त्रियों ने परमात्मा कृष्ण के लिए शुद्ध प्रेम की पूर्णता प्राप्त कर ली है। तो भी यह सच है कि भगवान् एक अज्ञानी पूजक को भी अपना आशीर्वाद देते हैं जिस प्रकार कि अज्ञानी व्यक्ति द्वारा किसी उत्तम औषधि के अवयवों से अनजान होते हुए पी लेने पर भी वह अपना प्रभाव दिखलाती है।

तात्पर्य : प्रथम दो पंक्तियों में *क्व* शब्द दो अनमेल वस्तुओं में तीव्र विरोध दिखलाता है—प्रथम

पंक्ति में गोपियों की ऊपर से तुच्छ तथा अशुद्ध दिखने वाली स्थिति का वर्णन है और दूसरी पंक्ति में जीवन की चरम सिद्धि की प्राप्ति का वर्णन है। इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती तीन प्रकार की व्यभिचारिणी स्त्रियों का वर्णन करते हैं। पहला प्रकार उन स्त्रियों का है, जो अपने पति तथा प्रेमी दोनों के साथ संभोग करती हैं और दोनों में से किसी की भी विश्वासपात्र नहीं होतीं। इस आचरण की भर्त्सना समाज तथा शास्त्र दोनों करते हैं। दूसरा प्रकार उन व्यभिचारिणियों का है, जो अपने पति को त्याग कर केवल प्रेमी के साथ संभोग करती हैं। समाज तथा शास्त्र दोनों इस आचरण की भी निन्दा करते हैं यद्यपि ऐसी स्त्री में यह गुण तो होता ही है कि पतित होने पर भी वह एक व्यक्ति के प्रति समर्पित रहती है। तीसरी प्रकार की व्यभिचारिणी वह है, जो अपने पति को त्याग कर भगवान् को ही एकमात्र प्रेमी मानकर आनंद भोगती है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि यद्यपि सामान्य मूर्ख लोग इस तीसरी दशा की आलोचना करते हैं किन्तु जो अध्यात्मविज्ञान में समुन्नत हैं, वे इस आचरण की प्रशंसा करते हैं। इसीलिए समाज तथा शास्त्र भगवान् के प्रति एकान्तिक भक्ति की प्रशंसा करते हैं। गोपियों का आचरण ऐसा ही था। अतः *व्यभिचारदुष्टा* ''विचलन के कारण दूषित'' शब्द गोपियों के आचरण तथा सामान्य व्यभिचारिणियों में आभासी सादृश्य को दर्शाता है।

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः ।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद्व्रजवल्लभीनाम् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अयम्—यह; श्रियः—लक्ष्मी का; अङ्गे—वक्षस्थल पर; उ—हाय; नितान्त-रतेः—घनिष्टतापूर्वक सम्बन्धित; प्रसादः—अनुग्रह; स्वः—स्वर्गलोक की; योषिताम्—स्त्रियों का; नलिन—कमल के फूल की; गन्ध—सुगन्ध वाला; रुचाम्—तथा शारीरिक कान्ति; कुतः—काफी कम; अन्याः—अन्य; रस-उत्सवे—रास-नृत्य के उत्सव में; अस्य—भगवान् कृष्ण की; भुज-दण्ड—भुजाओं से; गृहीत—आलिंगित; कण्ठ—गले; लब्ध-आशिषाम्—ऐसा आशीर्वाद प्राप्त; यः—जो; उदगात्—प्रकट हुआ; व्रज-वल्लभीनाम्—व्रजभूमि की दिव्य बालाओं का, सुन्दरी गोपियों का।

जब श्रीकृष्ण रासलीला में गोपियों के साथ नाच रहे थे तो भगवान् की भुजाएँ गोपियों का आलिंगन कर रही थीं। यह दिव्य अनुग्रह न तो कभी लक्ष्मीजी को प्राप्त हुआ न वैकुण्ठ की ललनाओं (अंगनाओं) को। निस्सन्देह कमल के फूल जैसी शारीरिक कान्ति तथा सुगंध से युक्त स्वर्गलोक की सबसे सुन्दर बालाओं ने भी कभी इस तरह की कल्पना तक नहीं की थी। तो फिर

उन संसारी स्त्रियों के विषय में क्या कहा जाय जो भौतिक दृष्टि से अतीव सुन्दर हैं?

तात्पर्य : इस श्लोक के शब्दार्थ तथा भावार्थ श्रील प्रभुपाद कृत *चैतन्यचरितामृत* (मध्य ८.८०) से लिये गये हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका इस प्रकार है; अवतारों में श्रेष्ठ भगवान् कृष्ण शुद्धता तथा नैतिकता के उच्चतम पद पर आसीन हैं अत: वे अपने गोचारण, जंगल में विचरण, नन्हें बन्दरों के साथ भोजन करने, दही चुराने, अन्यों की स्त्रियों को बरगलाने इत्यादि के विषय में सांसारिक आलोचना स्वीकार करते हुए भी सबों के प्रशंसापात्र बने रहे। इसी तरह गोपियों ने जो भगवान् की ह्लादिनी शक्ति से बनी हैं लक्ष्मीजी की तुलना में शुद्धता तथा मांगलिकता का सर्वोच्च मानदण्ड प्राप्त किया। इस तरह गोपियाँ सर्वाधिक गौरवान्वित हैं, यद्यपि संसारी लोगों के द्वारा उनकी आलोचना होती रही क्योंकि वे जंगल में रहने वाली तथा ऊपरी तौर पर अनुचित लगने वाले आचरण करने वाली ग्वाल-स्त्रियाँ थीं।

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

आसम्—गोपियों की; अहो—ओह; चरण-रेणु—चरणकमलों की धूलि; जुषाम्—अनुरक्त; अहम् स्याम्—मैं बनूँ; वृन्दावने—वृन्दावन में; किम् अपि—कोई एक; गुल्म-लता-ओषधीनाम्—झाड़ियों, लताओं तथा वनौषधियों में से; या—जो; दुस्त्यजम्—छोड़ पाना अतीव कठिन; स्व-जनम्—पारिवारिक सदस्यों को; आर्य-पथम्—सतीत्व-मार्ग; च—तथा; हित्वा—त्यागकर; भेजु:—पूजा किया; मुकुन्द-पदवीम्—मुकुन्द या कृष्ण के चरणकमलों की; श्रुतिभि:—वेदों के द्वारा; विमृग्याम्—खोजे जाने के लिए।

वृन्दावन की गोपियों ने अपने पतियों, पुत्रों तथा अन्य परिवार वालों का साथ त्याग दिया है जिनको त्याग पाना अतीव कठिन होता है। उन्होंने मुकुन्द कृष्ण के चरणकमलों की शरण पाने के लिए सतीत्व मार्ग का परित्याग कर दिया है, जिसे वैदिक ज्ञान द्वारा खोजा जाता है। ओह! मैं वृन्दावन की इन झाड़ियों, लताओं तथा जड़ी-बूटियों में से कोई एक भी होने का सौभाग्य प्राप्त करूँ क्योंकि गोपियाँ उन्हें अपने चरणों से रौंदती हैं और अपने चरणकमलों की धूल से उन्हें आशीर्वाद देती हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक के शब्दार्थ तथा भावार्थ श्रील प्रभुपाद कृत *चैतन्यचरितामृत* (अन्त्य ७.४७)

से लिए गये हैं।

यहाँ पर श्री उद्धव एक पूर्ण वैष्णव की उदारता की मनोवृत्ति दिखलाते हैं। वे उच्च प्रेमावस्था में गोपियों की बराबरी करने की प्रार्थना नहीं करते अपितु वृन्दावन में एक झाड़ी या लता के रूप में जन्म लेना चाहते हैं जिससे जब गोपियाँ उनके ऊपर से चलें तो वे उनकी चरण-रज पाकर धन्य हो जाँय। लजीली गोपियाँ उद्धव जैसे महापुरुष को ऐसे आशीर्वाद देने के लिए कभी तैयार नहीं होंगी इसलिए उद्धव ने होशियारी से वृन्दावन में एक पौधे के रूप में जन्म लेकर ऐसी कृपा प्राप्त करनी चाही।

या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामै-
योंगेश्वैरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम् ।
कृष्णस्य तद्भगवतः चरणारविन्दं
न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम् ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

याः—जो (गोपियाँ); वै—निस्सन्देह; श्रिया—लक्ष्मी द्वारा; अर्चितम्—पूजित; अज—अजन्मा ब्रह्मा; आदिभिः—तथा अन्य देवताओं द्वारा; आप्त-कामैः—जिनकी समस्त इच्छाएँ पूर्ण हो चुकी हैं; योग-ईश्वरैः—योगशक्ति के स्वामियों द्वारा; अपि—यद्यपि; यत्—जो; आत्मनि—मन में; रास—रास-नृत्य की; गोष्ठ्याम्—गोष्ठी में; कृष्णस्य—कृष्ण की; तत्—वे; भगवतः—भगवान् के; चरण-अरविन्दम्—चरणकमलों को; न्यस्तम्—रखा हुआ; स्तनेषु—अपने स्तनों पर; विजहुः—उन्होंने त्याग दिया; परिरभ्य—आलिंगन करके; तापम्—अपनी जलन।

स्वयं लक्ष्मीजी तथा ब्रह्मा एवं अन्य सारे देवता जो योग सिद्धि के स्वामी हैं, भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की पूजा अपने मन के भीतर ही कर सकते हैं। किन्तु रास-नृत्य के समय कृष्ण ने तो इन गोपियों के स्तनों पर अपने चरण रखे और गोपियों ने उन्हीं चरणों का आलिंगन करके सारी व्यथाएँ त्याग दी।

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

वन्दे—मैं वन्दना करता हूँ; नन्द-व्रज—नन्द महाराज के गोप-ग्राम को; स्त्रीणाम्—स्त्रियों के; पाद—चरणों की; रेणुम्—धूल को; अभीक्ष्णशः—निरन्तर; यासाम्—जिनकी; हरि—कृष्ण की; कथा—कथा के विषय में; उद्गीतम्—जोर से उच्चारण करते हुए; पुनाति—पवित्र करती है; भुवन-त्रयम्—तीनों लोकों को।

मैं नन्द महाराज के गोप-ग्राम की स्त्रियों की चरण-रज की बारम्बार वन्दना करता हूँ। जब ये गोपियाँ श्रीकृष्ण के यश का जोर जोर से कीर्तन करती हैं, तो वह ध्वनि तीनों लोकों को पवित्र कर देती है।

तात्पर्य : पिछले श्लोकों में गोपियों की महिमा की स्थापना करने के बाद श्री उद्धव अब उन्हें प्रत्यक्षतः नमस्कार करते हैं। *श्री वैष्णव तोषणी* के अनुसार उद्धव ने द्वारका में भगवान् कृष्ण की पटरानियों को भी इस तरह से नमस्कार नहीं किया था।

श्रीशुक उवाच
अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च ।
गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन्नारुरुहे रथम् ॥ ६४॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—तब; गोपीः—गोपियों की; अनुज्ञाप्य—अनुमति लेकर; यशोदाम्—माता यशोदा को; नन्दम्—राजा नन्द को; एव च—भी; गोपान्—ग्वालों को; आमन्त्र्य—विदा लेकर; दाशार्हः—दशार्हवंशी उद्धव; यास्यन्—जाने ही वाले; आरुरुहे—चढ़ गये; रथम्—अपने रथ में।

शुकदेव गोस्वमी ने कहा : तत्पश्चात् दशार्हवंशी उद्धव ने गोपियों तथा माता यशोदा एवं नन्द महाराज से विदा होने की अनुमति ली। उन्होंने सारे ग्वालों से विदा ली और प्रस्थान करने के लिए वे अपने रथ पर सवार हो गये।

तं निर्गतं समासाद्य नानोपायनपाणयः ।
नन्दादयोऽनुरागेण प्रावोचन्नश्रुलोचनाः ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (उद्धव को); निर्गतम्—गया हुआ; समासाद्य—पास आकर; नाना—विविध; उपायन—पूजा की वस्तुएँ; पाणयः—अपने हाथों में; नन्द-आदयः—नन्द तथा अन्य लोग; अनुरागेण—स्नेहपूर्वक; प्रावोचन्—बोले; अश्रु—आँसुओं सहित; लोचनाः—आँखें।

जब उद्धव प्रस्थान करने वाले थे तो नन्द तथा अन्य लोग पूजा की विविध वस्तुएँ लेकर उनके पास पहुँचे। उन लोगों ने अश्रुपूरित नेत्रों से उन्हें इस प्रकार सम्बोधित किया।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी इंगित करते हैं कि नन्द तथा ग्वाले किसी शिष्टाचारवश उद्धव के पास नहीं गये, अपितु कृष्ण के प्रिय मित्र के प्रति स्वैच्छिक अनुराग के कारण ही गये।

मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्ण पादाम्बुजाश्रयाः ।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

मनसः—मन के; वृत्तयः—कार्य; नः—हमारे; स्युः—होयें; कृष्ण—कृष्ण के; पाद-अम्बुज—चरणकमलों की; आश्रयाः—शरण लेकर; वाचः—हमारे शब्द; अभिधायिनीः—व्यक्त करते हुए; नाम्नाम्—उनके नामों को; कायः—हमारे शरीर; तत्—उसके प्रति; प्रह्वण-आदिषु—नमस्कार इत्यादि में (व्यस्त)।

[नन्द तथा अन्य ग्वालों ने कहा] : हमारे मानसिक कार्य सदैव कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण करें, हमारे शब्द सदैव उन्हीं के नामों का कीर्तन करें और हमारे शरीर सदैव उन्हीं को नमस्कार करें तथा उनकी ही सेवा करें।

तात्पर्य : वृन्दावनवासियों को दृढ़ विश्वास था कि भले ही उनकी प्रत्यक्ष संगति अपने प्यारे कृष्ण से न हो सकी हो किन्तु वे कभी भी उनसे विमुख नहीं होंगे। वे सभी भगवान् के सर्वोच्च शुद्ध भक्त थे।

कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया ।
मङ्गलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे ॥ ६७॥

शब्दार्थ

कर्मभिः—सकाम कर्मों द्वारा; भ्राम्यमाणानाम्—घुमाये जाने वालों का; यत्र क्व अपि—जहाँ कभी भी; ईश्वर—भगवान् की; इच्छया—इच्छा से; मङ्गल—शुभ; आचरितैः—कार्यों से; दानैः—दान से; रतिः—आसक्ति; नः—हमारी; कृष्णे—कृष्ण में; ईश्वरे—भगवान्।

भगवान् की इच्छा से हमें अपने सकाम कर्मों के फलस्वरूप इस संसार में जहाँ भी घूमना पड़े हमारे सत्कर्म तथा दान हमें सदा भगवान् कृष्ण का प्रेम प्रदान करें।

एवं सभाजितो गोपैः कृष्णभक्त्या नराधिप ।
उद्धवः पुनरागच्छन्मथुरां कृष्णपालिताम् ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सभाजितः—सम्मान प्रदर्शित; गोपैः—ग्वालों द्वारा; कृष्ण-भक्त्या—कृष्ण के प्रति भक्ति से; नर-अधिप—हे मनुष्यों के शासक (परीक्षित); उद्धवः—उद्धव; पुनः—फिर; आगच्छत्—लौट आया; मथुराम्—मथुरा; कृष्ण-पालिताम्—कृष्ण द्वारा सुरक्षित।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : हे नृपति, इस तरह कृष्ण के प्रति भक्ति की अभिव्यक्ति द्वारा ग्वालों से सम्मानित होकर उद्धव मथुरा नगरी वापस चले गये जो कृष्ण के संरक्षण में थी।

तात्पर्य : *कृष्णपालिताम्* शब्द सूचित करता है कि यद्यपि उद्धव वृन्दावन भूमि से अत्यधिक अनुरक्त हो चुके थे, वे मथुरा लौट गये क्योंकि श्रीकृष्ण वहाँ पर स्वयं अपनी दिव्य लीलाएँ प्रदर्शित कर रहे थे।

कृष्णाय प्रणिपत्याह भक्त्युद्रेकं व्रजौकसाम् ।
वसुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात् ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

कृष्णाय—कृष्ण को; प्रणिपत्य—सम्मान जताने के लिए गिर कर; आह—कहा; भक्ति—शुद्ध भक्ति की; उद्रेकम्—प्रचुरता; व्रज-ओकसाम्—व्रजवासियों की; वसुदेवाय—वसुदेव को; रामाय—बलराम को; राज्ञे—राजा (उग्रसेन) को; च—तथा; उपायनानि—भेंट के रूप में प्राप्त वस्तुएँ; अदात्—दिया।

गिर कर प्रणाम करने के बाद उद्धव ने कृष्ण से व्रजवासियों की महती भक्ति का वर्णन किया। उद्धव ने इसका वर्णन वसुदेव, बलराम तथा राजा उग्रसेन से भी किया और उन्हें वे वस्तुएँ भेंट कीं जिन्हें वे अपने साथ लाये थे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''भ्रमर गीत'' नामक सैंतालीसवें अध्याय के श्रील प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अड़तालीस

कृष्ण द्वारा अपने भक्तों की तुष्टि

इस अध्याय में बतलाया गया है कि श्रीकृष्ण सर्वप्रथम त्रिवक्रा (जो कुब्जा भी कहलाती थी) के यहाँ जाते हैं और उसके साथ संभोग करते हैं। तत्पश्चात् अक्रूर के यहाँ जाते हैं। भगवान् पाण्डवों को प्रसन्न करने के लिए अक्रूर को हस्तिनापुर भेजते हैं।

जब उद्धव ने आकर श्रीकृष्ण से व्रज के समाचार बतला दिये तो भगवान् त्रिवक्रा के घर गये जो संभोग-सुख के उपयुक्त विविध अलंकारों से सजाया गया था। त्रिवक्रा ने बड़े ही आदर के साथ कृष्ण का स्वागत किया, उन्हें उच्च आसन दिया और अपनी सखियों के साथ उनकी पूजा की। उसने उद्धव को भी उनके पद के अनुसार आसन दिया किन्तु उद्धव ने उसका केवल स्पर्श ही किया और फिर जमीन पर बैठ गये।

तब श्रीकृष्ण ऐश्वर्यशाली शय्या में लेट गये और दासी त्रिवक्रा ने अपने को खूब सजाया-सँवारा था। तत्पश्चात् वह उनके पास आई। कृष्ण ने त्रिवक्रा को शय्या में बुलाया और विविध प्रकार से उसके साथ रमण किया। कृष्ण का आलिंगन पाकर त्रिवक्रा काम-पीड़ा से मुक्त हो गई। उसने कृष्ण से कुछ काल तक रहने के लिए कहा और सबका मन रखने वाले भगवान् ने कालान्तर में उसकी प्रार्थना को पूरा करने का वचन दिया। तत्पश्चात् वे उद्धव सहित अपने घर लौट आये। त्रिवक्रा ने कृष्ण को चन्दन-लेप अर्पित करने के अलावा कभी कोई अन्य पवित्र कर्म नहीं किया था फिर भी इस एकमात्र कर्म की पवित्रता के बल पर उसने श्रीकृष्ण की दुर्लभ संगति प्राप्त की।

इसके बाद श्रीकृष्ण बलदेव तथा उद्धव समेत अक्रूर के घर गये। अक्रूर ने तीनों को नमस्कार करने के बाद उपयुक्त आसन प्रदान करते हुए उनका सम्मान किया। तत्पश्चात् उसने राम तथा कृष्ण की पूजा की, उनके चरण पखारे और उस जल को सिर पर धारण किया। अक्रूर ने भी उनकी अनेक प्रकार से स्तुतियाँ कीं।

भगवान् कृष्ण अक्रूर की स्तुतियों से प्रसन्न थे। उन्होंने उनसे कहा कि चूँकि आप हमारे चाचा (ताऊ) लगते हैं अत: कृष्ण तथा बलराम को उनका संरक्षण तथा अनुग्रह मिलते रहना चाहिए। तत्पश्चात् कृष्ण ने अक्रूर की प्रशंसा एक सन्त तथा पापियों को पवित्र करने वाले के रूप में की और उनसे कहा कि वे हस्तिनापुर जाकर पता लगायें कि अपने पिता से वंचित होकर पाण्डव किस तरह रह रहे हैं। अन्त में कृष्ण बलराम तथा उद्धव को अपने साथ लेकर अपने घर लौट आये।

श्रीशुक उवाच
अथ विज्ञाय भगवान्सर्वात्मा सर्वदर्शन: ।
सैरन्ध्या: कामतप्ताया: प्रियमिच्छन्गृहं ययौ ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—तब; विज्ञाय—जानकर; भगवान्—भगवान्; सर्व—सबों के; आत्मा—आत्मा; सर्व—सबों के; दर्शन:—द्रष्टा; सैरन्ध्या:—सेवा करने वाली लड़की त्रिवक्रा के; काम—कामवासना से; तप्ताया:—संतप्त; प्रियम्—तुष्टि; इच्छन्—चाहने वाली; गृहम्—घर; ययौ—गये।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : उद्धव के सन्देश को आत्मसात करने के बाद समस्त प्राणियों के सर्वज्ञ आत्मा भगवान् कृष्ण ने सेवा करने वाली लड़की त्रिवक्रा को तुष्ट करना चाहा जो कामवासना से पीड़ित थी। अत: वे उसके घर गये।

तात्पर्य : इस श्लोक से भगवान् की लीलाओं की एक रोचक झाँकी प्राप्त होती है। प्रथम पद में कहा गया है *अथ विज्ञाय भगवान्* "(उद्धव की सूचना) को जान लेने के बाद भगवान् इस तरह...।" द्वितीय पद में कहा गया है कि भगवान् कृष्ण *सर्वात्मा* और *सर्वदर्शन:* हैं। दूसरे शब्दों में, यद्यपि वे दूतों के द्वारा कही गई खबरों पर आश्रित नहीं हैं किन्तु वे मनुष्य की तरह कार्य करते हैं और दूत का सन्देश सुनते हैं इसलिए नहीं कि उन्हें आवश्यकता है जैसा हम लोग करते हैं अपितु अपने शुद्ध-भक्त से प्रेम का आदान-प्रदान करने की अपनी दिव्य लीला के आनंद के कारण वे ऐसा करते हैं। *सर्वदर्शन:* शब्द यह भी बताता है कि भगवान् व्रज के वासियों की भावनाओं को पूरी तरह समझते थे और मन ही मन

आदान-प्रदान कर रहे थे। अपनी बहिरंगा लीलाओं में वे श्रीमती त्रिवक्रा को आशीर्वाद देना चाहते थे क्योंकि उन्हें उसे भौतिक काम के रोग से मुक्त करना था।

महार्होपस्करैराढ्यं कामोपायोपबृंहितम् ।
मुक्तादामपताकाभिर्वितानशयनासनैः ।
धूपैः सुरभिभिर्दीपैः स्रग्गन्धैरपि मण्डितम् ॥ २॥

शब्दार्थ

महा-अर्ह—महँगे; उपस्करैः—साज-सामान से; आढ्यम्—सम्पन्न; काम—कामवासना का; उपाय—साज-सामान; उपबृंहितम्—भरा-पुरा; मुक्ता-दाम—मोतियों की लड़ियों से; पताकाभिः—तथा झंडों से; वितान—चँदोवों से; शयन—पलँग; आसनैः—तथा आसनों से; धूपैः—अगुरु से; सुरभिभिः—सुगन्धित; दीपैः—दीपकों से; स्रक्—फूल की मालाओं से; गन्धैः—तथा सुगन्धित चन्दन-लेप से; अपि—भी; मण्डितम्—सजाया हुआ।

त्रिवक्रा का घर ऐश्वर्ययुक्त साज-सामान से बड़ी शान से सजाया हुआ था और कामोत्तेजना उभाड़ने वाली साज-सामग्री से भरा-पूरा था। उसमें झंडियाँ, मोती की लड़ें, चँदोवा, सुन्दर सेज तथा बैठने के आसन थे और सुगन्धित अगुरु, दीपक, फूल-मालाएँ तथा सुगन्धित चन्दन-लेप भी था।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी के अनुसार त्रिवक्रा के घर में कामोत्तेजक साज-सामग्री में विशिष्ट तरह के कामवासना सम्बन्धी चित्र भी थे। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि उसकी साज-सामग्री में कामोत्तेजक जड़ी-बूटियाँ भी थीं। इन सबसे त्रिवक्रा के मनोभाव का अनुमान लगाना कठिन नहीं है। फिर भी भगवान् कृष्ण उसे भौतिक जगत से बचाने के लिए गये।

गृहं तमायान्तमवेक्ष्य सासनात्
सद्यः समुत्थाय हि जातसम्भ्रमा ।
यथोपसङ्गम्य सखीभिरच्युतं
सभाजयामास सदासनादिभिः ॥ ॥

शब्दार्थ

गृहम्—अपने घर पर; तम्—उसको; आयान्तम्—आया हुआ; अवेक्ष्य—देखकर; सा—वह; आसनात्—आसन से; सद्यः—तुरन्त; समुत्थाय—उठकर; हि—निस्सन्देह; जात-सम्भ्रमा—हड़बड़ाकर; यथा—समुचित ढंग से; उपसणगम्य—आगे आकर; सखीभिः—अपनी सखियों सहित; अच्युतम्—भगवान् कृष्ण को; सभाजयाम् आस—आदरपूर्वक सत्कार किया; सत्-आसन—उत्तम आसन; आदिभिः—इत्यादि से।

जब त्रिवक्रा ने उन्हें अपने घर की ओर आते देखा तो वह हड़बड़ाकर तुरन्त ही अपने आसन से उठ खड़ी हुई। अपनी सखियों समेत आगे आकर उसने भगवान् अच्युत को उत्तम आसन तथा

पूजा की अन्य सामग्रियाँ अर्पित करते हुए उनका सत्कार किया।

तथोद्धवः साधुतयाभिपूजितो
न्यषीददुर्व्यामभिमृश्य चासनम् ।
कृष्णोऽपि तूर्णं शयनं महाधनं
विवेश लोकाचरितान्यनुव्रतः ॥ ४॥

शब्दार्थ

तथा—भी; उद्धवः—उद्धव; साधुतया—साधु-पुरुष की तरह; अभिपूजितः—पूजित; न्यषीदत्—बैठ गये; उर्व्याम्—जमीन पर; अभिमृश्य—स्पर्श करके; च—तथा; आसनम्—आसन का; कृष्णः—भगवान् कृष्ण; अपि—तथा; तूर्णम्—अविलम्ब; शयनम्—सेज पर; महा-धनम्—अत्यन्त वैभवशाली; विवेश—लेट गये; लोक—मानव समाज का; आचरितानि—आचरणों का; अनुव्रतः—अनुकरण करते हुए।

उद्धव को भी सम्मानयुक्त आसन प्राप्त हुआ। चूँकि वे साधु सदृश पुरुष थे अत: उन्होंने उसका स्पर्श ही किया और फिर फर्श पर बैठ गये। तब भगवान् कृष्ण मानव समाज के आचारों (लोकाचार) का अनुकरण करते हुए ऐश्वर्यशाली शय्या पर लेट गये।

तात्पर्य : आचार्यों के अनुसार उद्धव अपने स्वामी के प्रति सम्मान व्यक्त करने की दृष्टि से उनके समक्ष ऐश्वर्यशाली आसन पर नहीं बैठे प्रत्युत उसे अपने हाथ से छुआ और फर्श पर बैठ गये। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि भगवान् कृष्ण त्रिवक्रा के घर के भीतरी कक्ष में स्थित शय्या पर लेटे।

सा मज्जनालेपदुकूलभूषण-
स्रग्गन्धताम्बूलसुधासवादिभिः ।
प्रसाधितात्मोपससार माधवं
सव्रीडलीलोत्स्मितविभ्रमेक्षितैः ॥ ५॥

शब्दार्थ

सा—वह, त्रिवक्रा; मज्जन—स्नान करके; आलेप—लेप लगाकर; दुकूल—सुन्दर वस्त्र पहनकर; भूषण—आभूषणों से; स्रक्—मालाओं से; गन्ध—सुगन्ध; ताम्बूल—पान; सुधा-आसव—सुगन्धित पेय; आदिभिः—आदि से; प्रसाधित—तैयार किया; आत्मा—अपना शरीर; उपससार—पास आई; माधवम्—भगवान् कृष्ण के; स-व्रीड—सलज्ज; लीला—खिलवाड़-भरी, लीलामयी; उत्स्मित—अपनी हँसी का; विभ्रम—लुभाने वाली; ईक्षितैः—चितवनों से।

त्रिवक्रा नहाकर, अपने शरीर में लेप लगाकर तथा सुन्दर वस्त्र पहनकर और तब आभूषण और मालाएँ पहन कर और सुगन्ध लगाने के बाद पान-सुपारी चबाकर और सुगन्धित पेय पीकर तैयार हुई। तब वह लजीली, लीलामयी हँसी तथा लुभाने वाली चितवनों से माधव के पास पहुँची।

तात्पर्य : इस श्लोक से स्पष्ट है कि हजारों वर्षों के बाद भी स्त्रियों द्वारा काम-भोग की तैयारी की

विधियों में कोई परिवर्तन नहीं आया।

आहूय कान्तां नवसङ्गमह्रिया
विशङ्कितां कङ्कणभूषिते करे ।
प्रगृह्य शय्यामधिवेश्य रामया
रेमेऽनुलेपार्पणपुण्यलेशया ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

आहूय—बुलाकर; कान्ताम्—अपनी प्रियतमा को; नव—नवीन; सङ्गम—संसर्ग का; ह्रिया—लाज से युक्त; विशङ्किताम्—सशंकित; कङ्कण—चूड़ियों से; भूषिते—आभूषित; करे—दोनों हाथों में; प्रगृह्य—पकड़े; शय्याम्—सेज पर; अधिवेश्य—बैठकर; रामया—सुन्दरी स्त्री के साथ; रेमे—रमण किया; अनुलेप—लेप का; अर्पण—अर्पण; पुण्य—पवित्रता का; लेशया—तनिक भी।

इस नवीन सम्पर्क (मिलन) की प्रत्याशा से सशंकित तथा लजीली प्रेमिका को आगे आने के लिए बुलाते हुए भगवान् ने कंगन से सुशोभित उसके हाथों को पकड़कर अपनी सेज पर खींच लिया। इस तरह उन्होंने उस सुन्दरी के साथ रमण किया जिसकी एकमात्र पवित्रता इतनी ही थी कि उसने पहले किसी समय भगवान् को लेप अर्पित किया था।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की व्याख्या है कि *नवसंगमह्रिया* शब्द सूचित करते हैं कि त्रिवक्रा अभी तक कुमारी थी। वह कुबड़ी थी और भगवान् ने उसे हाल ही में सुन्दर बाला का रूप प्रदान किया था। अत: वह श्रीकृष्ण पर कामासक्त तो थी किन्तु सहज भाव से वह लजीली तथा सशंकित थी।

सानङ्गतप्तकुचयोरुरसस्तथाक्ष्णो-
र्जिघ्रन्त्यनन्तचरणेन रुजो मृजन्ती ।
दोर्भ्यां स्तनान्तरगतं परिरभ्य कान्त-
मानन्दमूर्तिमजहादतिदीर्घतापम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

स—वह; अनङ्ग—कामदेव द्वारा; तप्त—जलती हुई; कुचयो:—अपने स्तनों के; उरस:—अपनी छाती के; तथा—और; अक्ष्णो:—अपनी आँखों के; जिघ्रन्ती—सूँघती; अनन्त—अनन्त भगवान् कृष्ण के; चरणेन—चरणों से; रुज:—पीड़ा; मृजन्ती—पोंछती हुई; दोर्भ्याम्—अपनी बाहुओं से; स्तन—स्तनों के; अन्तर-गतम्—बीच; परिरभ्य—आलिंगन करके; कान्तम्—प्रेमी को; आनन्द—समस्त आनन्द की; मूर्तिम्—साक्षात् अभिव्यक्तिको; अजहात्—त्याग दिया; अति—अत्यधिक; दीर्घ—दीर्घकालीन; तापम्—कष्ट को।

भगवान् के चरणकमलों की सुगन्धि से ही त्रिवक्रा ने अपने स्तनों, छाती तथा आँखों में कामदेव द्वारा उत्पन्न जलती हुई कामवासना को धो दिया। अपनी दोनों बाँहों से उसने अपने स्तनों

के मध्य स्थित अपने प्रेमी श्रीकृष्ण का आलिंगन किया जो आनन्द की मूर्ति हैं और इस तरह उसने अपने दीर्घकालीन व्यथा को त्याग दिया।

सैवं कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्राप्यमीश्वरम् ।
अङ्गरागार्पणेनाहो दुर्भगेदमयाचत ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

स—उसने; एवम्—इस प्रकार; कैवल्य—मुक्ति के; नाथम्—नियन्ता; तम्—उस; प्राप्य—प्राप्त करके; दुष्प्राप्यम्—प्राप्त न हो सकने वाले; ईश्वरम्—भगवान् को; अङ्ग-राग—शरीर का लेप; अर्पणेन—प्रदान करने से; अहो—ओह; दुर्भगा—अभागी; इदम्—यह; अयाचत—उसने माँगा।

केवल शरीर का लेप प्रदान करने से ही अलभ्य भगवान् को इस प्रकार पाकर उस अभागी त्रिवक्रा ने स्वतंत्रता (मोक्ष) के उन स्वामी से निम्नलिखित याचना की।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार श्रीमती त्रिवक्रा ने भगवान् से प्रार्थना की, "कृपया एकमात्र मेरे साथ रमण करें, अन्य किसी स्त्री से नहीं।" चूँकि कृष्ण ऐसा वर देने को राजी न थे इसलिए त्रिवक्रा को अभागी कहा गया है। श्रीधर स्वामी कहते हैं कि यद्यपिसामान्य दृष्टि से वह भौतिक काम-सुख की याचना करती प्रतीत हो रही थी, किन्तु वास्तव में वह अब तक मुक्तात्मा हो चुकी थी।

सहोष्यतामिह प्रेष्ठ दिनानि कतिचिन्मया ।
रमस्व नोत्सहे त्यक्तुं सङ्गं तेऽम्बुरुहेक्षण ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सह—साथ में; उष्यताम्—ठहरें; इह—यहाँ; प्रेष्ठ—हे प्रिय; दिनानि—दिन; कतिचित्—कुछ; मया—मेरे साथ; रमस्व—रमण करें; न उत्सहे—सहन नहीं कर सकती; त्यक्तुम्—छोड़ पाना; सङ्गम्—साथ; ते—तुम्हारा; अम्बुरुह-ईक्षण—हे कमल-नेत्र।

[त्रिवक्रा ने कहा] : हे प्रियतम! आप यहाँ पर मेरे साथ कुछ दिन और रुकें और रमण करें। हे कमल-नेत्र! मैं आपका साथ छोड़कर नहीं रह सकती।

तात्पर्य : *अम्बु* का अर्थ है "जल" और *रुह* का अर्थ है "उठते हुए।" इस तरह *अम्बुरुह* का अर्थ है "जल से ऊपर उठने वाला, कमल का फूल।" भगवान् कृष्ण *अम्बुरुहेक्षण* "कमलनेत्र" कहलाते हैं। वे समस्त सौन्दर्य के स्रोत तथा मूर्ति हैं इसीलिए स्वाभाविक था कि त्रिवक्रा उनके प्रति आकृष्ट थी। किन्तु भगवान् का सौन्दर्य आध्यात्मिक एवं विशुद्ध है और उनका मन्तव्य त्रिवक्रा के साथ अपनी तृप्ति करना नहीं था अपितु उसे शुद्ध कृष्णभावनामृत तक ले आना था।

तस्यै कामवरं दत्त्वा मानयित्वा च मानदः ।
सहोद्धवेन सर्वेशः स्वधामागमदृद्धिमत् ॥ ॥

शब्दार्थ

तस्यै—उसको; काम—भौतिक इच्छा का; वरम्—वर; दत्त्वा—देकर; मानयित्वा—अपना आदर दिखलाकर; च—तथा; मान-दः—अन्यों का आदर करने वाले; सह उद्धवेन—उद्धव के साथ; सर्व-ईशः—सभी जीवों के प्रभु; स्व—अपने; धाम—वासस्थान; अगमत्—चले गये; ऋद्धि-मत्—अत्यन्त समृद्धिवान।

इस काम-इच्छा को पूरा करने का वचन देकर, समस्त जीवों के स्वामी, सबका मान रखने वाले कृष्ण ने त्रिवक्रा का अभिवादन किया और तब उद्धव समेत अपने अत्यन्त समृद्धिशाली धाम को लौट आये।

तात्पर्य : सारे आचार्य मानते हैं कि *कामवरं दत्त्वा* शब्द यह सूचित करता है कि कृष्ण ने त्रिवक्रा को वचन दिया कि वे उसकी कामेच्छाओं को पूरा करेंगे।

दुराध्यं समाराध्य विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम् ।
यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्त्वात्कुमनीष्यसौ ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

दुराराध्यम्—विरले ही पूजित; समाराध्य—पूरी तरह पूजा करके; विष्णुम्—विष्णु की; सर्व—सबों के; ईश्वर—नियन्ता के; ईश्वरम्—परम नियन्ता; यः—जो; वृणीते—वर के रूप में चुनता है; मनः—मन तक; ग्राह्यम्—पहुँच रखने वाला, अर्थात् इन्द्रिय तृप्ति; असत्त्वात्—तुच्छता के कारण; कुमनीषी—बुद्धिहीन; असौ—वह व्यक्ति।

सामान्यतया समस्त ईश्वरों के परम ईश्वर भगवान् विष्णु तक पहुँच पाना कठिन है। अतः जो व्यक्ति उनकी समुचित पूजा करने के बाद उनसे इन्द्रियतृप्ति का वर माँगता है, वह निश्चित रूप से कम बुद्धि वाला (दुर्बुद्धि) है क्योंकि वह तुच्छ फल से तुष्ट हो जाता है।

तात्पर्य : आचार्यों की टीकाओं से यह स्पष्ट है कि त्रिवक्रा की कथा को दो स्तरों पर समझना होगा। एक ओर भगवान् की प्रत्यक्ष संगति एवं उनकी लीलाओं में भाग लेने के कारण वह मुक्तात्मा मानी जाती है, तो दूसरी ओर उसका आचरण यह शिक्षा प्रदान करने के निमित्त प्रस्तुत हुआ है कि कृष्ण का साथ होने पर क्या नहीं करना चाहिए। चूँकि कृष्ण की सारी लीलाएँ न केवल आनन्दमय हैं अपितु उपदेशात्मक हैं अतः इस लीला में कोई वास्तविक विरोध नहीं है क्योंकि त्रिवक्रा की पवित्रता तथा उसका बुरा उदाहरण दो भिन्न स्तरों पर उपस्थित होते हैं। अर्जुन भी शुद्ध-भक्त माना जाता है फिर भी प्रारम्भ में युद्ध करने की कृष्ण की आज्ञा का उल्लंघन करके उसने भी जो नहीं करना चाहिए

उसका उदाहरण प्रस्तुत किया। किन्तु ऐसे बुरे उदाहरणों का अन्त सदा सुखमय होता है परम सत्य कृष्ण के आनन्दमय सान्निध्य में।

अक्रूरभवनं कृष्णः सहरामोद्धवः प्रभुः ।
किञ्चिच्चिकीर्षयन्प्रागादक्रूरप्रीयकाम्यया ॥ १२॥

शब्दार्थ

अक्रूर-भवनम्—अक्रूर के घर; कृष्णः—कृष्ण के; सह—साथ; राम-उद्धवः—बलराम तथा उद्धव; प्रभुः—परमेश्वर; किञ्चित्—कुछ-कुछ; चिकीर्षयन्—कराने की इच्छा से; प्रागात्—गये; अक्रूर—अक्रूर की; प्रिय—तुष्टि; काम्यया—इच्छा से।.

तत्पश्चात् भगवान् कृष्ण कुछ कार्य कराने की इच्छा से अक्रूर के घर बलराम और उद्धव के साथ गये। भगवान् अक्रूर को भी तुष्ट करना चाहते थे।

तात्पर्य : त्रिवक्रा के घर भगवान् के जाने की पिछली घटना और अब अक्रूर के घर जाना ये मथुरा नगरी में श्रीकृष्ण की दैनिक-चर्याओं की मनोहर झाँकी प्रस्तुत करते हैं।

स तान्नरवरश्रेष्ठानाराद्वीक्ष्य स्वबान्धवान् ।
प्रत्युत्थाय प्रमुदितः परिष्वज्याभिनन्द्य च ॥ १॥
ननाम कृष्णं रामं च स तैरप्यभिवादितः ।
पूजयामास विधिवत्कृतासनपरिग्रहान् ॥ १४॥

शब्दार्थ

सः—वह (अक्रूर); तान्—उनको (कृष्ण, बलराम तथा उद्धव को); नर-वर—श्रेष्ठ पुरुषों में; श्रेष्ठान्—सबसे बड़ा; आरात्—दूर से; वीक्ष्य—देखकर; स्व—अपने (अक्रूर के); बान्धवान्—सम्बन्धियों को; प्रत्युत्थाय—उठकर; प्रमुदितः—प्रसन्न; परिष्वज्य—आलिंगन करके; अभिनन्द्य—स्वागत करके; च—तथा; ननाम—नमस्कार किया; कृष्णम् रामम् च—कृष्ण तथा बलराम को; सः—वह; तैः—उनके द्वारा; अपि—तथा; अभिवादितः—स्वागत किया; पूजयाम् आस—पूजा की; विधि-वत्—शास्त्रीय आदेशों के अनुसार; कृत—किया हुआ; आसन—बैठने के आसनों का; परिग्रहान्—स्वीकार करना।.

जब अक्रूर ने अपने ही सम्बन्धियों एवं पुरुष शिरोमणियों को दूर से आते देखा तो वे हर्षपूर्वक उठकर खड़े हो गये। उनको गले मिलने आलिंगन और स्वागत करने के बाद अक्रूर ने कृष्ण और बलराम को नमस्कार किया और बदले में उन दोनों ने उनका अभिवादन किया। फिर जब उनके अतिथि आसन ग्रहण कर चुके तो उन्होंने शास्त्रीय नियमों के अनुसार उनकी पूजा की।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी संकेत करते हैं कि श्रीकृष्ण तथा अन्य लोग मित्र के रूप में अक्रूर के पास पहुँचे थे। सर्वप्रथम अक्रूर ने बदले में मित्र-भाव प्रदर्शित किया और तब आतिथ्य करते हुए

उन्होंने भगवान् की ओर स्वाभाविक भक्ति-भाव दर्शाया और श्रीकृष्ण तथा बलराम को सादर नमस्कार किया।

पादावनेजनीरापो धारयन्शिरसा नृप ।
अर्हणेनाम्बरैर्दिव्यैर्गन्धस्रग्भूषणोत्तमैः ॥ १५ ॥
अर्चित्वा शिरसानम्य पादावङ्कगतौ मृजन् ।
प्रश्रयावनतोऽक्रूरः कृष्णरामावभाषत ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

पाद—उनके पाँव; अवनेजनीः—स्नान के काम आने वाला; आ—सर्वत्र; आपः—जल; धारयन्—धारण करते हुए; शिरसा—सिर पर; नृप—हे राजा (परीक्षित); अर्हणेन—भेंटों से; अम्बरैः—वस्त्रों से; दिव्यैः—स्वर्गिक; गन्ध—सुगन्धित चन्दन का लेप; स्रक्—फूल-मालाएँ; भूषण—तथा आभूषण; उत्तमैः—उत्तम; अर्चित्वा—पूजा करके; शिरसा—सिर के बल; आनम्य—झुककर; पादौ—(कृष्ण के) पाँव; अङ्क—अपनी गोद में; गतौ—रख लिए; मृजन्—दबाते हुए; प्रश्रय—दीनतापूर्वक; अवनतः—सिर झुकाकर; अक्रूरः—अक्रूर; कृष्ण-रामौ—कृष्ण तथा बलराम से; अभाषत—बोला।

हे राजन्, अक्रूर ने भगवान् कृष्ण तथा बलराम के चरण पखारे और तब उस चरणोदक को अपने सिर पर छिड़का। उन्होंने उन दोनों को उत्तम वस्त्र, सुगन्धित चन्दन-लेप, फूल-मालाएँ तथा उत्तम आभूषण भेंट में दिये। इस तरह दोनों विभुओं की पूजा करने के बाद उन्होंने अपने शिर से फर्श को स्पर्श करके नमस्कार किया। फिर वे कृष्ण के चरणों को अपनी गोद में लेकर दबाने लगे और नम्रभाव से अपना सिर नीचे किये कृष्ण तथा बलराम से इस प्रकार बोले।

दिष्ट्या पापो हतः कंसः सानुगो वामिदं कुलम् ।
भवद्भ्यामुद्धृतं कृच्छ्राद्दुरन्ताच्च समेधितम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

दिष्ट्या—भाग्य से; पापः—पापी; हतः—मारा गया; कंसः—कंस; स-अनुगः—अपने भाइयों तथा अन्य अनुयायियों सहित; वाम्—आपके; इदम्—इस; कुलम्—वंश को; भवद्भ्याम्—आप दोनों के द्वारा; उद्धृतम्—उद्धार किया गया; कृच्छ्रात्—कठिनाई से; दुरन्तात्—अन्तहीन; च—तथा; समेधितम्—सम्पन्न बनाया।

[अक्रूर ने कहा]: यह तो हमारा सौभाग्य है कि आप दोनों ने दुष्ट कंस तथा उसके अनचरों का वध कर दिया है। इस तरह आपने अपने वंश को अन्तहीन कष्ट से उबारकर उसे समृद्ध बनाया है।

युवां प्रधानपुरुषौ जगद्धेतू जगन्मयौ ।
भवद्भ्यां न विना किञ्चित्परमस्ति न चापरम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

युवाम्—तुम दोनों; प्रधान-पुरुषौ—आदि-पुरुषों ने; जगत्—ब्रह्माण्ड के; हेतू—कारण; जगत्-मयौ—ब्रह्माण्ड से अभिन्न; भवद्भ्याम्—आपकी अपेक्षा; न—नहीं; विना—के अतिरिक्त; किञ्चित्—कुछ भी; परम्—कारण; अस्ति—है; न च—न तो; अपरम्—फल।.

आप दोनों आदि परम पुरुष, ब्रह्माण्ड के कारण तथा इसके सार हैं। जरा सा भी सूक्ष्म कारण या सृष्टि की कोई भी अभिव्यक्ति आपसे पृथक् नहीं रह सकती।

तात्पर्य : अपने वंश की रक्षा करने के लिए कृष्ण तथा बलराम की प्रशंसा करने के बाद अक्रूर यह बतलाते हैं कि भगवान् का किसी सामाजिक संस्था या राजनीतिक संस्था से कोई भौतिक सम्बन्ध नहीं है। वे आदि-भगवान् हैं और समग्र ब्रह्माण्ड के लाभ हेतु अपनी लीलाएँ सम्पन्न करते हैं।

आत्मसृष्टमिदं विश्वमन्वाविश्य स्वशक्तिभि: ।
ईयते बहुधा ब्रह्मन्श्रु तप्रत्यक्षगोचरम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

आत्म-सृष्टम्—आपके द्वारा सृजित; इदम्—यह; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; अन्वाविश्य—बाद में प्रवेश करके; स्व—अपनी; शक्तिभि:—शक्तियों से; ईयते—अनुभव किये जाते हो; बहुधा—विविध; ब्रह्मन्—हे परब्रह्म; श्रुत—शास्त्रों से सुनकर; प्रत्यक्ष—तथा प्रत्यक्ष अनुभूति से; गोचरम्—ज्ञेय।.

हे परम सत्य आप अपनी निजी शक्तियों से इस ब्रह्माण्ड का सृजन करते हैं और तब उसमें प्रवेश करते हैं। इस तरह महाजनों से सुनकर तथा प्रत्यक्ष अनुभव करके मनुष्य आपको अनेक विभिन्न रूपों में अनुभव कर सकता है।

तात्पर्य : *श्रुतप्रत्यक्षगोचरम्* तथा *आत्मसृष्टमिदं विश्वम्* में नपुंसक लिंग का जो व्याकरणिक साम्य है। उससे सूचित होता है कि भगवान् अपनी शक्तियों द्वारा अपनी सृष्टि में प्रविष्ट होकर ब्रह्माण्ड के भीतर अपने को ज्ञेय बनाते हैं। *भागवत* में तथा अन्य प्रामाणिक वैदिक साहित्य में हमें भगवान् के प्राय: तमाम विवरण मिलते हैं जिनमें अन्य सारी वस्तुओं से उनकी श्रेष्ठता तथा उनसे अभिन्नता देखी जाती है। हम वैदिक साहित्य से यदि कोई निष्कर्ष निकाल सकते हैं, तो वह यही है, जिसका उपदेश श्री चैतन्य महाप्रभु ने दिया वह है *अचिन्त्य भेदाभेदतत्त्व*। अर्थात् परम सत्य हर वस्तु से बड़े और पृथक् हैं (क्योंकि वे सर्वशक्तिमान स्रष्टा तथा सबों के नियन्ता हैं) और उसी के साथ साथ हर वस्तु से एकाकार हैं (क्योंकि जो कुछ भी विद्यमान है, वह उनकी शक्ति का विस्तार है)।

हमें भी *श्रीमद्भागवत* के इन सारे अध्यायों में इस महान् ग्रंथ की एक अद्वितीय असाधारण

विशेषता दिखती है। कृष्ण चाहे गोपियों के पास सन्देश भेज रहे हों या अक्रूर की प्रार्थना स्वीकार कर रहे हों इन सब में निरन्तर दार्शनिक बातचीत चलती है। पूरे *भागवत* में मनोहारी लीलाओं के साथ आध्यात्मिक दर्शन का जो संगम मिलता है, वह इसकी असामान्य विशेषता है। हमें भगवान् तथा उनके मुक्त पार्षदों की आध्यात्मिक भावनाओं में झाँकने तथा उनका आस्वाद लेने की अनुमति है फिर भी हमें बारम्बार उनकी तात्विक स्थिति का स्मरण कराया जाता है, जिससे हम सस्ती मानववादी दृष्टिकोण में फँस न जाँय। अतः इस ग्रंथ की प्रकृति के अनुसार ही अक्रूर प्रसन्नतावश भगवान् की संक्षिप्त दार्शनिक स्तुति करते हैं।

यथा हि भूतेषु चराचरेषु
मह्यादयो योनिषु भान्ति नाना ।
एवं भवान्केवल आत्मयोनि-
ष्वात्मात्मतन्त्रो बहुधा विभाति ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; हि—निस्सन्देह; भूतेषु—प्रकट जीवों में; चर—चेतन; अचरेषु—तथा जड़ में; मही-आदयः—पृथ्वी इत्यादि (सृष्टि के मूलभूत तत्त्व); योनिषु—योनियों में; भान्ति—प्रकट होते हैं; नाना—विविध प्रकार से; एवम्—इस तरह; भवान्—आप; केवलः—एकमात्र; आत्म—स्वयं; योनिषु—योनियों में; आत्मा—परमात्मा; आत्म-तन्त्रः—आत्म-निर्भर; बहुधा—कई प्रकार से; विभाति—प्रकट होता है।

जिस प्रकार जड़ तथा चेतन जीव-योनियों में मूलभूत तत्त्व अपने को पृथ्वी इत्यादि अनेकानेक किस्मों के रूप में प्रकट करते हैं उसी तरह आप एक स्वतंत्र परमात्मा के रूप में अपनी सृष्टि के विविधतापूर्ण पदार्थों में अनेक रूपों में प्रकट होते हैं।

सृजस्यथो लुम्पसि पासि विश्वं
रजस्तमःसत्त्वगुणैः स्वशक्तिभिः ।
न बध्यसे तद्गुणकर्मभिर्वा
ज्ञानात्मनस्ते क्व च बन्धहेतुः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सृजसि—सृजन करते हो; अथ उ—और तब; लुम्पसि—संहार करते हो; पासि—रक्षा करते हो; विश्वम्—ब्रह्माण्ड को; रजः—रजो; तमः—तमो; सत्त्व—तथा सतो; गुणैः—गुणों के द्वारा; स्व-शक्तिभिः—अपनी शक्तियों से; न बध्यसे—बँधते नहीं हो; तत्—इस जगत के; गुण—गुणों से; कर्मभिः—भौतिक कार्यकलापों द्वारा; वा—अथवा; ज्ञान-आत्मनः—साक्षात् ज्ञान हैं; ते—तुम्हारे लिए; क्व च—जहाँ कोई भी; बन्ध—बन्धन का; हेतुः—कारण।

आप अपनी निजी शक्तियों रजो, तमो तथा सतो गुणों से इस ब्रह्माण्ड का सृजन, संहार और पालन भी करते हैं। फिर भी आप इन गुणों द्वारा या इनसे उत्पन्न कर्मों द्वारा बाँधे नहीं जाते।

चूँकि आप समस्त ज्ञान के आदि-स्रोत हैं, तो फिर मोह द्वारा आपके बंधन का कारण क्या हो सकता है?

तात्पर्य : *ज्ञानात्मनस्ते क्व च बन्धहेतुः* यह वाक्यांश स्पष्ट बतलाता है कि सर्वज्ञ भगवान् कभी भी मोह में नहीं रहते। इसलिए इस निर्विशेषवादी सिद्धान्त का कि हम सभी ईश्वर हैं किन्तु हम भूल चुके हैं और अब मोह में हैं, श्रीमद्भागवत के इन पृष्ठों में इसका निराकरण किया गया है।

देहाद्युपाधेरनिरूपितत्वाद्
भवो न साक्षान्न भिदात्मनः स्यात् ।
अतो न बन्धस्तव नैव मोक्षः
स्याताम्निकामस्त्वयि नोऽविवेकः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

देह—शरीर; आदि—इत्यादि की; उपाधेः—उपाधियों के रूप में; अनिरूपितत्वात्—निश्चित न हो पाने से; भवः—जन्म; न—नहीं; साक्षात्—शाब्दिक; न—न तो; भिदा—द्वैत; आत्मनः—परमात्मा के लिए; स्यात्—विद्यमान है; अतः—इसलिए; न—नहीं; बन्धः—बन्धन; तव—तुम्हारा; न एव—न तो, वास्तव में; मोक्षः—मुक्ति; स्याताम्—यदि हो; निकामः—तुम्हारी स्वयं की इच्छा से; त्वयि—तुममें; नः—हमारा; अविवेकः—त्रुटिपूर्ण विवेक।

चूँकि यह कभी प्रदर्शित नहीं हुआ है कि आप भौतिक शारीरिक उपाधियों से प्रच्छन्न हैं अतः यह निष्कर्ष रूप में यह समझना होगा कि शाब्दिक अर्थ में न तो आपका जन्म होता है न ही कोई द्वैत है। इसलिए आपको बन्धन या मोक्ष का सामना नहीं करना होता। और यदि आप ऐसा करते प्रतीत होते हैं, तो यह आपकी इच्छा के कारण ही है कि हम आपको इस रूप में देखते हैं या कि हममें विवेक का अभाव है इसलिए ऐसा है।

तात्पर्य : यहाँ अक्रूर उन दो कारणों को बतलाते हैं जिससे भगवान् भौतिक स्वरूप से आच्छादित दिखते हैं या मनुष्य की तरह जन्म लेते प्रतीत होते हैं। पहला कारण जब भगवान् कृष्ण अपनी लीलाएँ सम्पन्न करते हैं, तो उनके प्रेमी भक्त उन्हें अपने प्रिय पुत्र, मित्र, प्रेमी इत्यादि के रूप में मानते हैं। इस प्रेम-विनिमय के आनन्द के कारण ही वे कृष्ण को ईश्वर नहीं मानते। उदाहरणार्थ, कृष्ण के प्रति असामान्य प्रेम के कारण ही माता यशोदा को चिन्ता होती है कि जंगल में कृष्ण को चोट लग जायेगी। वे इस तरह इसलिए अनुभव करती हैं क्योंकि भगवान् की ऐसी इच्छा होती है, जिसे यहाँ *निकामः* शब्द द्वारा इंगित किया गया है। दूसरा कारण जिससे भगवान् भौतिक प्रतीत होते हैं वह *अविवेकः* शब्द से इंगित होता है अज्ञान या अविवेक के कारण ही मनुष्य भगवान् की स्थिति को ठीक से समझ नहीं

पाता। *भागवत* के ग्यारहवें स्कन्ध में उद्धव से बातें करते हुए भगवान् कृष्ण विस्तार से बन्धन तथा मोक्ष के परे अपनी दिव्य स्थिति की विवेचना करते हैं। जैसाकि वैदिक साहित्य में कहा गया है *देहदेहिविभागोऽयं नेश्वरे विद्यते क्वचित्* भगवान् के शरीर तथा आत्मा में कभी कोई अन्तर नहीं होता। दूसरे शब्दों में, श्रीकृष्ण का शरीर नित्य, आध्यात्मिक, सर्वज्ञ तथा समस्त आनन्द का आगार है।

त्वयोदितोऽयं जगतो हिताय
यदा यदा वेदपथः पुराणः ।
बाध्येत पाषण्डपथैरसद्भि-
स्तदा भवान्सत्त्वगुणं बिभर्ति ॥ २ ॥

शब्दार्थ

त्वया—तुम्हारे द्वारा; उदितः—कहा गया है; अयम्—यह; जगतः—ब्रह्माण्ड के; हिताय—लाभ के लिए; यदा यदा—जब जब; वेद—वैदिक शास्त्रों का; पथः—(धार्मिकता का) मार्ग; पुराणः—प्राचीन; बाध्येत—रोका जाता है; पाषण्ड—नास्तिकता का; पथैः—मार्ग का अनुसरण करने वालों के द्वारा; असद्भिः—दुष्ट पुरुष द्वारा; तदा—तब; भवान्—आप; सत्त्व-गुणम्—शुद्ध सतो गुण; बिभर्ति—धारण करते हैं।

आपने समस्त विश्व के लाभ के लिए प्रारम्भ में वेदों के प्राचीन धार्मिक पथ की व्याख्या की थी। जब भी दुष्ट व्यक्तियों द्वारा नास्तिकता का मार्ग ग्रहण करने के फलस्वरूप यह पथ अवरुद्ध होता है, तो आप दिव्य सतोगुण से युक्त कोई न कोई रूप में अवतरित होते हैं।

स त्वम्प्रभोऽद्य वसुदेवगृहेऽवतीर्णः
स्वांशेन भारमपनेतुमिहासि भूमेः ।
अक्षौहिणीशतवधेन सुरेतरांश-
राज्ञाममुष्य च कुलस्य यशो वितन्वन् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; त्वम्—तुम; प्रभो—हे स्वामी; अद्य—अब; वसुदेव-गृहे—वसुदेव के घर में; अवतीर्णः—अवतरित; स्व—अपने ही; अंशेन—प्रत्यक्ष अंश (बलराम); भरम्—भार; अपनेतुम्—हटाने के लिए; इह—यहाँ; असि—हो; भूमेः—पृथ्वी का; अक्षौहिणी—सेनाओं का; शत—सौ; वधेन—मारकर; सुर-इतर—देवताओं के विपक्षियों का; अंश—अंश रूप; राज्ञाम्—राजाओं का; अमुष्य—इसका; च—तथा; कुलस्य—कुल का (यदुकुल का); यशः—ख्याति; वितन्वन्—विस्तार करते हुए।

हे प्रभु, आप वही परम पुरुष हैं और अब आप अपने अंश समेत वसुदेव के घर में प्रकट हुए हैं। आपने देवताओं के शत्रुओं के अंश रूप राजाओं के नेतृत्व वाली हजारों सेनाओं का वध करके पृथ्वी का भार हटाने तथा हमारे कुल की ख्याति का विस्तार करने के लिए ऐसा किया है।

तात्पर्य : *सुरेतरांशराज्ञाम्* पद सूचित करता है कि कृष्ण ने जिन असुर राजाओं का वध किया वे

वास्तव में देवताओं के शत्रुओं के अंश या अवतार थे। इस तथ्य की विस्तृत व्याख्या *महाभारत* में की गई है, जिससे असुर राजाओं की विशिष्ट पहचान उद्घाटित होती है।

अद्येश नो वसतयः खलु भूरिभागा
यः सर्वदेवपितृभूतनृदेवमूर्तिः ।
यत्पादशौचसलिलं त्रिजगत्पुनाति
स त्वं जगद्गुरुरधोक्षज याः प्रविष्टः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

अद्य—आज; ईश—हे भगवन्; नः—हमारे; वसतयः—निवासस्थान; खलु—निस्सन्देह; भूरि—अत्यन्त; भागाः—भाग्यशाली; यः—जो; सर्व-देव—परमेश्वर; पितृ—पूर्वज, पितरगण; भूत—सारे जीव; नृ—मनुष्य; देव—तथा देवता; मूर्तिः—देहधारी; यत्—जिसके; पाद—पाँवों को; शौच—धोने वाला है; सलिलम्—जल (गंगाजल); त्रि-जगत्—तीनों लोक; पुनाति—पवित्र करता है; सः—वह; त्वम्—तुम; जगत्—ब्रह्माण्ड के; गुरुः—गुरु; अधोक्षज—भौतिक इन्द्रियों के क्षेत्र से परे रहने वाले, इन्द्रियातीत; याः—जो; प्रविष्टः—प्रविष्ट होकर।

हे प्रभु, आज मेरा घर अत्यन्त भाग्यशाली बन गया है क्योंकि आपने इसमें प्रवेश किया है। परम सत्य के रूप में आप पितरों, सामान्य प्राणियों, मनुष्यों एवं देवताओं की मूर्ति हैं और जिस जल से आपके पाँवों को प्रक्षालित किया गया है, वह तीनों लोकों को पवित्र बनाता है। निस्सन्देह हे इन्द्रियातीत, आप ब्रह्माण्ड के आध्यात्मिक गुरु हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने अक्रूर की भावनाओं का निम्नलिखित शब्दों में बहुत ही सुन्दर विश्लेषण किया है—

अक्रूर ने कहा: ''हे प्रभु! यद्यपि मैं गृहस्थ हूँ किन्तु आज यह मेरा घर उन जंगलों से भी अधिक पवित्र बन गया है जहाँ मुनिगण तपस्या करते हैं। ऐसा क्यों? वह केवल इसलिए क्योंकि आपने मेरे घर में प्रवेश किया है। निस्सन्देह आप उन देवों के साक्षात् रूप हैं, जो गृहस्थों द्वारा घर में जीवों के प्रति न चाहने पर भी की गई हिंसा का प्रायश्चित्त करने के लिए प्रतिदिन सम्पन्न किये जाने वाले पाँच यज्ञों के अधिष्ठाता हैं। आप इन सृष्टियों की पृष्ठभूमि में आध्यात्मिक सत्य हैं और अब आप मेरे घर पधारे हैं।''

गृहस्थ के लिए जिन पाँच यज्ञों के किये जाने का आदेश है वे हैं—१) वेदाध्ययन द्वारा ब्रह्म का यज्ञ २) पितृ-यज्ञ) अपने भोजन का एक अंश अलग रखने से समस्त जीव-यज्ञ ४) आतिथ्य द्वारा मनुष्य-यज्ञ ५) अग्नि-हव्य द्वारा देव-यज्ञ।

कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं समीयाद्
भक्तप्रियादृतगिरः सुहृदः कृतज्ञात् ।
सर्वान्ददाति सुहृदो भजतोऽभिकामा-
नात्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन; पण्डितः—विद्वान; त्वत्—आपसे बढ़कर; अपरम्—दूसरा; शरणम्—शरण के लिए; समीयात्—जाये; भक्त—अपने भक्त के लिए; प्रियात्—स्नेहिल; ऋत—सदैव सच; गिरः—शब्द; सुहृदः—शुभचिन्तक; कृत-ज्ञात्—कृतज्ञ; सर्वान्—सभी; ददाति—आप देते हैं; सुहृदः—अपने शुभचिन्तक भक्तों को; भजतः—आपकी पूजा करने वाले; अभिकामान्—इच्छाएँ; आत्मानम्—अपने आपको; अपि—भी; उपचय—वृद्धि; अपचयौ—या ह्रास; न—कभी नहीं; यस्य—जिसका।

जब आप अपने भक्तों के प्रति इतने स्नेहिल, कृतज्ञ तथा सच्चे शुभचिन्तक हैं, तो फिर कौन ऐसा विद्वान होगा जो आपको छोड़कर किसी दूसरे के पास जायेगा? जो लोग सच्चे साख्यभाव से आपकी पूजा करते हैं उन्हें आप मुँहमाँगा वरदान, यहाँ तक कि अपने आपको भी, दे देते हैं फिर भी आपमें न तो वृद्धि होती है न ह्रास।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् तथा उनके भक्त—दोनों को ही *सुहृदः* (शुभचिन्तक) कहा गया है। भगवान् अपने भक्त के शुभचिन्तक हैं और भक्त भी भगवान् के लिए सारे सुख की प्रेमपूर्वक कामना करता है। इस जगत में भी अत्यधिक प्रेम से कभी कभी अनावश्यक चिन्ता उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ, हम प्राय: देखते हैं कि माता द्वारा अपनी प्रौढ़ सन्तान के प्रति यह चिन्ता कि वह वास्तव में किसी आपत्ति में होगा न्यायसंगत नहीं है। प्रौढ़ सन्तान धनी, दक्ष तथा स्वस्थ हो तो भी माता की प्रेममयी चिन्ता बनी रहती है। इसी प्रकार शुद्ध-भक्त कृष्ण के प्रति सदैव प्रेममयी चिन्ता का अनुभव करता है जैसाकि माता यशोदा के उदाहरण से स्पष्ट है, जो कृष्ण के प्रति अपने सुन्दर पुत्र के रूप में ही चिंतित रहती हैं।

भगवान् कृष्ण ने अक्रूर से वादा किया था कि कंस का वध करने के बाद वे उनके घर जायेंगे और अब भगवान् वही वादा निभाने आये थे। अक्रूर इसे जानते हैं इसीलिए भगवान् की महिमा का गायन *ऋतगिरः* (वचन के प्रति सच्चा) कहकर करते हैं। भक्त द्वारा भगवान् की जो भी थोड़ी-बहुत पूजा होती है उसके लिए भगवान् उसके कृतज्ञ रहते हैं। भक्त भले ही भूल जाय किन्तु भगवान् उसे नहीं भूलते।

दिष्ट्या जनार्दन भवानिह नः प्रतीतो
योगेश्वैरैरपि दुरापगतिः सुरेशैः ।
छिन्ध्याशु नः सुतकलत्रधनाप्तगेह-
देहादिमोहरशनां भवदीयमायाम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

दिष्ट्या—भाग्य से; जनार्दन—हे कृष्ण; भवान्—आप; इह—यहाँ; नः—हमारे द्वारा; प्रतीतः—अनुभवगम्य; योग-ईश्वैरैः—योग के स्वामियों द्वारा; अपि—भी; दुराप-गतिः—लक्ष्य को प्राप्त करना कठिन; सुर-ईशैः—तथा देवताओं के शासकों द्वारा; छिन्धि—काट दें; आशु—तुरन्त; नः—हमारे; सुत—सन्तान; कलत्र—पत्नी; धन—सम्पत्ति; आप्त—योग्य मित्र; गेह—घर; देह—शरीर; आदि—इत्यादि; मोह—मोह की; रशनाम्—रस्सियों को; भवदीय—अपनी; मायाम्—माया को।.

हे जनार्दन, हमारे बड़े भाग्य हैं कि हमें आपके दर्शन हो रहे हैं क्योंकि बड़े बड़े योगेश्वर तथा अग्रणी देवता भी इस लक्ष्य को बड़ी मुश्किल से प्राप्त कर पाते हैं। कृपया शीघ्र ही सन्तान, पत्नी, धन, समृद्ध मित्र, घर तथा शरीर के प्रति हमारी मायामयी आसक्ति की रस्सियों को काट दें। ऐसी सारी आसक्ति आपकी भ्रामक एवं भौतिक माया का ही प्रभाव है।

इत्यर्चितः संस्तुतश्च भक्तेन भगवान्हरिः ।
अक्रूरं सस्मितं प्राह गीर्भिः सम्मोहयन्निव ॥ २८॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अर्चितः—पूजित; संस्तुतः—अत्यधिक स्तुति किये गये; च—तथा; भक्तेन—अपने भक्त द्वारा; भगवान्—भगवान्; हरिः—कृष्ण; अक्रूरम्—अक्रूर से; स-स्मितम्—हँसते हुए; प्राह—बोले; गीर्भिः—वाणी से; सम्मोहयन्—पूरी तरह मोहित करते हुए; इव—प्रायः।.

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : अपने भक्त द्वारा इस तरह पूजित तथा संस्तुत होकर भगवान् हरि ने हँसते हुए अपनी वाणी से अक्रूर को पूर्णतया मोहित करके सम्बोधित किया।

श्रीभगवानुवाच
त्वं नो गुरुः पितृव्यश्च श्लाघ्यो बन्धुश्च नित्यदा ।
वयं तु रक्ष्याः पोष्याश्च अनुकम्प्याः प्रजा हि वः ॥ २९॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; त्वम्—तुम; नः—हमारे; गुरुः—गुरु; पितृव्यः—चाचा (ताऊ); च—तथा; श्लाघ्यः—प्रशंसनीय; बन्धुः—मित्र; च—तथा; नित्यदा—सदैव; वयम्—हम; तु—तो; रक्ष्याः—रक्षा किये जाने के लिए; पोष्याः—पालन किये जाने के लिए; च—तथा; अनुकम्प्याः—दया दिखाये जाने के लिए; प्रजाः—आश्रित; हि—निस्सन्देह; वः—आपके।.

भगवान् ने कहा : आप हमारे गुरु, चाचा तथा श्लाघ्य मित्र हैं और हम आपके पुत्रवत् हैं; अतः हम सदैव आपकी रक्षा, पालन तथा दया पर आश्रित हैं।

भवद्विधा महाभागा निषेव्या अर्हसत्तमाः ।
श्रेयस्कामैर्नृभिर्नित्यं देवाः स्वार्था न साधवः ॥ ० ॥

शब्दार्थ

भवत्-विधाः—आपके समान; महा-भागाः—अत्यन्त विख्यात; निषेव्याः—सेवा किये जाने के योग्य; अर्ह—पूज्य; सत्-तमाः—अतीव साधु; श्रेयः—सर्वोच्च शुभ, मंगल; कामैः—चाहने वाले; नृभिः—पुरुषों के द्वारा; नित्यम्—सदैव; देवः—देवतागण; स्व-अर्थाः—निजी लाभ के लिए; न—ऐसे नहीं; साधवः—साधु भक्तगण।

आप जैसे महात्मा ही सेवा के असली पात्र हैं और जीवन में सर्वोच्च मंगल के इच्छुक लोगों के लिए अत्यन्त पूज्य महाजन हैं। देवतागण सामान्यतया अपने स्वार्थों में लगे रहते हैं किन्तु साधु-भक्त ऐसे नहीं होते।

तात्पर्य : देवतागण भले ही भौतिक लाभ प्रदान कर दें किन्तु भगवान् के साधु-भक्तों में जीवन की असली सिद्धि कृष्णभावनामृत प्रदान करने की शक्ति होती है। इस तरह कृष्ण द्वारा अपने चाचा अक्रूर के प्रति अपनाए गए आदर-भाव की पुष्टि होती है।

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अप्-मयानि—जल से बना; तीर्थानि—पवित्र स्थान; न—ऐसा नहीं है; देवाः—अर्चाविग्रह; मृत्—मिट्टी; शिला—तथा पत्थर से; मयाः—निर्मित; ते—वे; पुनन्ति—पवित्र बनाते हैं; उरु-कालेन—दीर्घकाल के बाद; दर्शनात्—दर्शन से; एव—केवल; साधवः—साधु-सन्त।

इससे कोई इनकार नहीं करेगा कि अनेक तीर्थस्थानों में पवित्र नदियाँ होती हैं या कि देवताओं के अर्चाविग्रह मिट्टी तथा पत्थर से बने होते हैं। किन्तु ये सब दीर्घकाल के बाद ही आत्मा को पवित्र करते हैं जबकि सन्त-पुरुषों के दर्शनमात्र से आत्मा पवित्र हो जाती है।

स भवान्सुहृदां वै नः श्रेयान्श्रेयश्चिकीर्षया ।
जिज्ञासार्थं पाण्डवानां गच्छस्व त्वं गजाह्वयम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सः—वह व्यक्ति; भवान्—आप; सुहृदाम्—शुभचिन्तकों का; वै—निश्चय ही; नः—हमारा; श्रेयान्—सर्वश्रेष्ठ में से; श्रेयः—मंगल के लिए; चिकीर्षया—नियोजित करने की इच्छा से; जिज्ञासा—पूछताछ के; अर्थम्—लिए; पाण्डवानाम्—पाण्डु के पुत्रों की; गच्छस्व—जाओ; त्वम्—तुम; गज-आह्वयम्—गजाह्वय (कुरुवंश की राजधानी, हस्तिनापुर)।

दरअसल आप हमारे सर्वश्रेष्ठ मित्र हैं अतः आप हस्तिनापुर जाँय और पाण्डवों के शुभचिन्तक के रूप में पता लगायें कि वे कैसे हैं।

तात्पर्य : संस्कृत में आज्ञार्थ 'जाओ' शब्द 'गच्छस्व' या 'गच्छ' से अभिव्यक्त किया जा सकता

है। *गच्छस्व* में जो *स्व* लगा है, वह सम्बोधन कारक का द्योतक है और अपनत्व का सूचक है। यह कृष्ण तथा उनके चाचा अक्रूर के घनिष्ठ सम्बन्ध के लिए प्रयुक्त है।

पितर्युपरते बालाः सह मात्रा सुदुःखिताः ।
आनीताः स्वपुरं राज्ञा वसन्त इति शुश्रुम ॥ ॥

शब्दार्थ

पितरि—पिता के; उपरते—देहान्त होने पर; बालाः—छोटे बालक; सह—साथ; मात्रा—माता के; सु—अत्यन्त; दुःखिताः—दुखी; आनीताः—लाये गये; स्व—अपने; पुरम्—राजधानी में; राज्ञा—राजा द्वारा; वसन्ते—रह रहे हैं; इति—इस प्रकार; शुश्रुम—हमने सुना है।.

हमने सुना है कि अपने पिता के दिवंगत हो जाने के बाद बालक पाण्डवों को उनकी दुखी माता समेत राजा धृतराष्ट्र द्वारा राजधानी में लाये गए थे और अब वे वहीं रह रहे हैं।

तेषु राजाम्बिकापुत्रो भ्रातृपुत्रेषु दीनधीः ।
समो न वर्तते नूनं दुष्पुत्रवशगोऽन्धदृक् ॥ ४॥

शब्दार्थ

तेषु—उनके प्रति; राजा—राजा (धृतराष्ट्र); अम्बिका—अम्बिका का; पुत्रः—पुत्र; भ्रातृ—अपने भाई के; पुत्रेषु—पुत्रों के प्रति; दीन-धीः—दुष्ट बुद्धि; समः—समभाव; न वर्तते—नहीं बरतता; नूनम्—निश्चय ही; दुः—दुष्ट; पुत्र—अपने पुत्रों का; वश-गः—अधीन; अन्ध—अन्धा; दृक्—दृष्टि।.

असल में अम्बिका का दुर्बल चित्त वाला पुत्र धृतराष्ट्र अपने दुष्ट पुत्रों के वश में आ चुका है अतएव वह अन्धा राजा अपने भाई के पुत्रों के साथ ठीक व्यवहार नहीं कर रहा है।

गच्छ जानीहि तद्वृत्तमधुना साध्वसाधु वा ।
विज्ञाय तद्विधास्यामो यथा शं सुहृदां भवेत् ॥ ५॥

शब्दार्थ

गच्छ—जाओ; जानीहि—पता लगाओ; तत्—उस (धृतराष्ट्र) की; वृत्तम्—करतूत; अधुना—इस समय; साधु—अच्छा; असाधु—बुरा; वा—अथवा; विज्ञाय—जान कर; तत्—ऐसी; विधास्यामः—हम व्यवस्था करेंगे; यथा—जिससे; शम्—लाभ; सुहृदाम्—हमारे प्रियजनों का; भवेत्—हो सके।.

जाइये और देखिये कि धृतराष्ट्र ठीक से कार्य कर रहा है या नहीं। पता लग जाने पर हम अपने प्रिय मित्रों की सहायता करने की आवश्यक व्यवस्था करेंगे।

इत्यक्रूरं समादिश्य भगवान्हरिरीश्वरः ।
सङ्कर्षणोद्धवाभ्यां वै ततः स्वभवनं ययौ ॥ ६॥

शब्दार्थ

इति—इन शब्दों से; अक्रूरम्—अक्रूर को; समादिश्य—आदेश देकर; भगवन्—भगवान्; हरिः ईश्वरः—भगवान् हरि; सङ्कर्षण—बलराम; उद्धवाभ्याम्—तथा उद्धव के साथ; वै—निस्सन्देह; ततः—तब; स्व—अपने; भवनम्—घर; ययौ—चले गये।.

[शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा] : इस प्रकार से अक्रूर को पूरी तरह से आदेश देकर संकर्षण एवं उद्धव के साथ भगवान् हरि अपने घर लौट आये।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''कृष्ण द्वारा अपने भक्तों की तुष्टि'' नामक अड़तालीसवें अध्याय के श्रील प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter उनचास

अक्रूर का हस्तिनापुर जाना

इस अध्याय में बतलाया गया है कि अक्रूर किस तरह हस्तिनापुर गये, वहाँ धृतराष्ट्र द्वारा अपने भतीजे पाण्डवों के प्रति होने वाले दुर्व्यवहार को देखा और फिर मथुरा लौट आये।

भगवान् कृष्ण के आदेश से अक्रूर हस्तिनापुर गये जहाँ वे कौरवों तथा पाण्डवों से मिले। फिर वे यह पता लगाने में लग गए कि धृतराष्ट्र पाण्डवों के साथ कैसा व्यवहार कर रहे हैं। इस कार्य के लिए अक्रूर को हस्तिनापुर में कई मास रहना पड़ा।

विदुर तथा कुन्तीदेवी ने अक्रूर को विस्तार में बतलाया कि धृतराष्ट्र के पुत्र, पाण्डवों के उच्च गुणों के कारण उनके प्रति ईर्ष्या रखने से, उन्हें अनेक दुष्ट साधनों द्वारा विनष्ट करने का प्रयास कर चुके हैं और आगे भी सताने का विचार कर रहे हैं। अश्रुपूरित नेत्रों से कुन्तीदेवी ने अक्रूर से पूछा, ''क्या कृष्ण, बलराम आदि मेरे सम्बन्धी तथा माता-पिता कभी मुझे तथा मेरे पुत्रों को याद करते हैं और क्या कृष्ण हमारी विपदा में सान्त्वना देने के लिए कभी आयेंगे ?'' तब कुन्तीदेवी अपनी रक्षा के लिए कृष्ण का नाम-कीर्तन करने लगीं और उन्होंने उनके शरणागति सम्बन्धी मंत्रों का भी उच्चारण किया। अक्रूर ने कुन्तीदेवी को आश्वासन दिया, ''चूँकि आपके पुत्र धर्म तथा वायु जैसे देवताओं से उत्पन्न हैं अत: उन पर किसी प्रकार की विपदा आने की आशंका करने का कोई कारण नहीं है; प्रत्युत आपको विश्वस्त होना चाहिए कि उन्हें शीघ्र ही उत्तम सौभाग्य मिलने वाला है।''

तत्पश्चात् अक्रूर ने धृतराष्ट्र को कृष्ण तथा बलराम का सन्देश दिया। अक्रूर ने राजा से कहा,

"आपने पाण्डु की मृत्यु के बाद सिंहासन ग्रहण किया है। राजा का धर्म है कि वह सबों को समान दृष्टि से देखे अत: आपको चाहिए कि आप अपनी सारी प्रजा तथा अपने सभी सम्बन्धियों की रक्षा करें। किन्तु यदि आप ऐसा नहीं करेंगे तो आपको इस जीवन में केवल अपयश हाथ लगेगा और अगले जीवन में नरक की यातना सहनी होगी। जीव अकेला ही जन्मता है और अकेले ही प्राण त्यागता है। अकेले ही वह अपने पुण्यों तथा पापों का फल भोगता है। यदि वह अपनी सही सही पहचान नहीं कर पाता है और उसके स्थान पर वह अपनी सन्तान को दुष्कर्मों में लग कर पालता है, तो वह नरक अवश्य जायेगा। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि जगत की अस्थिरता को समझे। यह जगत स्वप्नवत, जादूगर के भ्रमजाल या कल्पना की उड़ान जैसा है। मनुष्य को चाहिए कि शान्त तथा समभाव बने रहने के लिए, अपने मन को वश में रखे।"

इस पर धृतराष्ट्र ने कहा, "हे अक्रूर! मैं तुम्हारे लाभप्रद शब्दों को और आगे नहीं सुन सकता जो अमरत्व के लिए अमृत तुल्य हैं। किन्तु अपने पुत्रों के प्रति प्रेम की कस कर बँधी गाँठ ने मुझे उनके प्रति पक्षपाती बना दिया है, जिससे तुम्हारे शब्द मेरे मन में स्थिर नहीं हो पा रहे। कोई भी प्राणी परमेश्वर की व्यवस्था को लाँघ नहीं सकता। यदुवंश में उनके अवतरित होने का प्रयोजन अवश्य ही पूरा होगा।"

धृतराष्ट्र की मनोवृत्ति जानकर अक्रूर ने उनके सम्बन्धियों तथा मित्रों से अनुमति ली और मथुरा लौट आये जहाँ उन्होंने कृष्ण तथा बलराम को सारी बातें कह सुनाईं।

श्रीशुक उवाच

स गत्वा हास्तिनपुरं पौरवेन्द्रयशोऽङ्कितम् ।
ददर्श तत्राम्बिकेयं सभीष्मं विदुरं पृथाम् ॥ १ ॥

सहपुत्रं च बाह्लीकं भारद्वाजं सगौतमम् ।
कर्नं सुयोधनं द्रौणिं पाण्डवान्सुहृदोऽपरान् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सः—वह (अक्रूर); गत्वा—जाकर; हास्तिन-पुरम्—हस्तिनापुर में; पौरव-इन्द्र—पुरुवंश के शासकों का; यशः—यश से; अङ्कितम्—अलंकृत; ददर्श—देखा; तत्र—वहाँ; आम्बिकेयम्—अम्बिका का पुत्र (धृतराष्ट्र); स—सहित; भीष्मम्—भीष्म; विदुरम्—विदुर को; पृथाम्—पृथा (पाण्डु की विधवा, कुन्ती); सह-पुत्रम्—अपने पुत्र सहित (सोमदत्त); च—तथा; बाह्लीकम्—महाराज बाह्लीक; भारद्वाजम्—द्रोण; स—तथा; गौतमम्—कृप; कर्णम्—कर्ण; सुयोधनम्—दुर्योधन; द्रौणिम्—द्रोण का पुत्र (अश्वत्थामा); पाण्डवान्—पाण्डु के पुत्रों को; सुहृदः—मित्र; अपरान्—अन्य।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : अक्रूर पौरव शासकों की ख्याति से प्रसिद्ध नगरी हस्तिनापुर गये। वहाँ वे धृतराष्ट्र, भीष्म, विदुर तथा कुन्ती के साथ साथ बाह्लीक तथा उसके पुत्र सोमदत्त से मिले। उन्होंने द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, दुर्योधन, अश्वत्थामा, पाण्डवगण तथा अन्य घनिष्ट मित्रों से भी भेंट की।

यथावदुपसङ्गम्य बन्धुभिर्गान्दिनीसुतः ।
सम्पृष्टस्तैः सुहृद्वार्तां स्वयं चापृच्छदव्ययम् ॥ ॥

शब्दार्थ

यथा-वत्—भलीभाँति; उपसङ्गम्य—मिलकर; बन्धुभिः—अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों से; गान्दिनी-सुतः—गान्दिनी-पुत्र, अक्रूर; सम्पृष्टः—पूछा; तैः—उनसे; सुहृत्—उनके प्रियजनों को; वार्ताम्—समाचार के लिए; स्वयम्—स्वयं; च—साथ ही; अपृच्छत्—पूछा; अव्ययम्—उनकी कुशलता के बारे में।

जब गान्दिनी-पुत्र अक्रूर अपने समस्त सम्बन्धियों तथा मित्रों से भलीभाँति मिल चुके तो उन लोगों ने अपने परिवार वालों के समाचार पूछे और प्रत्युत्तर में अक्रूर ने उनकी कुशलता पूछी।

उवास कतिचिन्मासान्राज्ञो वृत्तविवित्सया ।
दुष्प्रजस्याल्पसारस्य खलच्छन्दानुवर्तिनः ॥ ४॥

शब्दार्थ

उवास—रहे; कतिचित्—कुछ; मासान्—महीने; राज्ञः—राजा (धृतराष्ट्र) का; वृत्त—कार्यकलाप; विवित्सया—जानने की इच्छा से; दुष्प्रजस्य—जिसके पुत्र दुष्ट थे; अल्प—निर्बल; सारस्य—जिसका संकल्प; खल—दुष्ट पुरुषों (यथा कर्ण) की; छन्द—इच्छाएँ; अनुवर्तिनः—अनुगमन करने वाला।

वे हस्तिनापुर में दुर्बल-इच्छा शक्ति वाले राजा के आचरण की छानबीन करने के लिए कई मास रहे जिसके पुत्र बुरे थे और जो अपने दुष्ट सलाहकारों की इच्छानुसार कार्य करता रहता था।

तेज ओजो बलं वीर्यं प्रश्रयादींश्च सद्गुणान् ।
प्रजानुरागं पार्थेषु न सहद्भिश्चिकीर्षितम् ॥ ५ ॥
कृतं च धार्तराष्ट्रैर्यद्गरदानाद्यपेशलम् ।
आचख्यौ सर्वमेवास्मै पृथा विदुर एव च ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तेजः—प्रभाव; ओजः—चातुरी; बलम्—बल; वीर्यम्—बहादुरी; प्रश्रय—दीनता, विनय; आदीन्—इत्यादि; च—तथा; सत्—उत्तम; गुणान्—गुणों को; प्रजा—नागरिकों का; अनुरागम्—महान् स्नेह; पार्थेषु—पृथा के पुत्रों के लिए; न सहद्भिः—सहन न कर सकने वालों के; चिकीर्षितम्—मनोभाव; कृतम्—किया जा चुका; च—भी; धार्तराष्ट्रैः—धृतराष्ट्र के पुत्रों द्वारा; यत्—जो; गर—विष का; दान—दान; आदि—इत्यादि; अपेशलम्—अशोभनीय; आचख्यौ—बताया; सर्वम्—हर बात; एव—निस्सन्देह; अस्मै—उसको (अक्रूर को); पृथा—कुन्ती; विदुरः—विदुर; एव च—दोनों ने।

अक्रूर से कुन्ती तथा विदुर ने धृतराष्ट्र के पुत्रों की दुर्भावनाओं का विस्तार से वर्णन किया। वे कुन्ती के पुत्रों के महान् गुणों—यथा उनके शक्तिशाली प्रभाव, सैन्य-कौशल, शारीरिक बल, बहादुरी तथा विनयशीलता—या उनके प्रति नागरिकों के अगाध स्नेह को सहन नहीं कर सकते थे। कुन्ती तथा विदुर ने अक्रूर को यह भी बतलाया कि धृतराष्ट्र के पुत्रों ने किस तरह पाण्डवों को विष देने तथा ऐसे ही अन्य षड्यंत्रों को रचने का प्रयास किया था।

पृथा तु भ्रातरं प्राप्तमक्रूरमुपसृत्य तम् ।
उवाच जन्मनिलयं स्मरन्त्यश्रुकलेक्षणा ॥ ७॥

शब्दार्थ

पृथा—कुन्ती; तु—तथा; भ्रातरम्—अपने भाई (वृष्णि का पौत्र, कुन्ती तथा वसुदेव की दसवीं पीढ़ी का पूर्वज); प्राप्तम्—पाकर; अक्रूरम्—अक्रूर को; उपसृत्य—पास जाकर; तम्—उससे; उवाच—बोलीं; जन्म—अपने जन्म; निलयम्—घर (मथुरा); स्मरन्ती—स्मरण करती हुई; अश्रु—आँसुओं के; कला—अवशेषों से; ईक्षणा—जिसकी आँखें।

अपने भाई अक्रूर के आने का लाभ उठाकर कुन्तीदेवी उनके पास चुपके से पहुँचीं। अपनी जन्मभूमि (मायका) का स्मरण करते हुए वे अपनी आँखों में आँसू भरकर बोलीं।

अपि स्मरन्ति नः सौम्य पितरौ भ्रातरश्च मे ।
भगिन्यौ भ्रातृपुत्राश्च जामयः सख्य एव च ॥ ८॥

शब्दार्थ

अपि—क्या; स्मरन्ति—स्मरण करते हैं; नः—हमको; सौम्य—हे भद्र; पितरौ—माता-पिता; भ्रातरः—भाई; च—तथा; मे—मेरी; भगिन्यौ—बहनें; भ्रातृ-पुत्राः—भाइयों के बेटे; च—तथा; जामयः—परिवार की स्त्रियाँ; सख्यः—सखियाँ; एव च—भी।

[महारानी कुन्ती ने कहा] : हे भद्र पुरुष, क्या मेरे माता-पिता, भाई, बहनें, भतीजे, परिवार की स्त्रियाँ तथा बचपन की सखियाँ अब भी हमें याद करती हैं?

भ्रात्रेयो भगवान्कृष्णः शरण्यो भक्तवत्सलः ।
पैतृष्वस्त्रेयान्स्मरति रामश्चाम्बुरुहेक्षणः ॥ ९॥

शब्दार्थ

भ्रात्रेयः—भाई का पुत्र, भतीजा; भगवान्—भगवान्; कृष्णः—कृष्ण; शरण्यः—शरण देने वाला; भक्त—अपने भक्तों को; वत्सलः—दयालु; पैतृ-स्वस्त्रेयान्—अपने पिता की बहन के लड़कों को; स्मरति—स्मरण करता है; रामः—बलराम; च—तथा; अम्बुरुह—कमल की पंखड़ियों जैसे; ईक्षणः—आँखें।

क्या मेरा भतीजा कृष्ण, जो भगवान् है और अपने भक्तों की कृपालु शरण रूप है, अब भी अपनी बुआ के पुत्रों को स्मरण करता है? क्या कमल जैसी आँखों वाला राम भी उन्हें स्मरण

करता है?

सपत्नमध्ये शोचन्तीं वृकानां हरिणीमिव ।
सान्त्वयिष्यति मां वाक्यैः पितृहीनांश्च बालकान् ॥ ॥

शब्दार्थ

सपत्न—शत्रुओं के; मध्ये—मध्य में; शोचन्तीम्—शोच करती; वृकानाम्—भेड़ियों के; हरिणीम्—हिरनी; इव—सदृश; सान्त्वयिष्यति—क्या वह सान्त्वना दिलायेगा; माम्—मुझको; वाक्यैः—अपने शब्दों से; पितृ—उनके पिता; हीनान्—वंचित; च—तथा; बालकान्—बालकों को।

इस समय जब मैं अपने शत्रुओं के बीच में उसी तरह कष्ट भोग रही हूँ जिस तरह एक हिरनी भेड़ियों के बीच में पाती है, तो क्या कृष्ण मुझे तथा पितृविहीन मेरे पुत्रों को अपनी वाणी से सान्त्वना देने आयेंगे?

कृष्ण कृष्ण महायोगिन्विश्वात्मन्विश्वभावन ।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द शिशुभिश्चावसीदतीम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

कृष्ण कृष्ण—हे कृष्ण, हे कृष्ण; महा-योगिन्—महान् आध्यात्मिक शक्ति के स्वामी; विश्व-आत्मन्—हे ब्रह्माण्ड के परमात्मा; विश्व-भावन—हे ब्रह्माण्ड के रक्षक; प्रपन्नाम्—शरणागत स्त्री की; पाहि—रक्षा करो; गोविन्द—हे गोविन्द; शिशुभिः—मेरे बच्चों समेत; च—तथा; अवसीदतीम्—दुख में डूब रही।

हे कृष्ण, हे कृष्ण! हे महान् योगी! हे परमात्मा तथा ब्रह्माण्ड के रक्षक! हे गोविन्द! मेरी रक्षा कीजिये। मैं आपकी शरण में हूँ। मैं तथा मेरे पुत्र दुख से अभिभूत हैं।

तात्पर्य : कुन्तीदेवी ने सोचा, "चूँकि भगवान् कृष्ण सारे ब्रह्माण्ड का पालन करते हैं अतः वे हमारे परिवार की रक्षा निश्चय ही कर सकते हैं।" *अवसीदतीम्* शब्द बतलाता है कि कुन्तीदेवी पर कष्टों का पहाड़ टूट पड़ा था। इस तरह निराश, वे असहाय बनकर कृष्ण की शरण ले रही थीं। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध में कुन्ती यह स्वीकार करती हैं कि वास्तव में ये विपदाएँ तो आशीर्वाद थीं क्योंकि इनसे बाध्य होकर वे सदैव प्रगाढ़ रूप से कृष्णभावनाभावित रहती थीं।

नान्यत्तव पदाम्भोजात्पश्यामि शरणं नृणाम् ।
बिभ्यतां मृत्युसंसारादीस्वरस्यापवर्गिकात् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अन्यत्—अन्य; तव—तुम्हारे; पद-अम्भोजात्—चरणकमल की अपेक्षा; पश्यामि—देख रही हूँ; शरणम्—शरण; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; बिभ्यताम्—डरे हुए; मृत्यु—मृत्यु का; संसारात्—तथा पुनर्जन्म से; ईश्वरस्य—भगवान् का; आपवर्गिकात्—मोक्ष देने वाले।

जो लोग मृत्यु तथा पुनर्जन्म से भयभीत हैं, उनके लिए मैं आपके मोक्षदाता चरणकमलों के अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं देखती, क्योंकि आप परमेश्वर हैं।

नमः कृष्णाय शुद्धाय ब्रह्मणे परमात्मने ।
योगेश्वराय योगाय त्वामहं शरणं गता ॥ १ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; कृष्णाय—कृष्ण को; शुद्धाय—शुद्ध; ब्रह्मणे—ब्रह्म, परम सत्य; परम-आत्मने—परमात्मा; योग—शुद्ध-भक्ति के; ईश्वराय—नियन्ता को; योगाय—समस्त ज्ञान के उद्गम को; त्वाम्—तुमको; अहम्—मैं; शरणम्—शरण के लिए; गता—पास आई हूँ।

मैं परम शुद्ध, परम सत्य, परमात्मा, शुद्ध-भक्ति के स्वामी तथा समस्त ज्ञान के उद्गम को नमस्कार करती हूँ। मैं आपकी शरण में आई हूँ।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने *योगाय* शब्द का भावार्थ ''ज्ञान के स्रोत कृष्ण को'' किया है। *योग* शब्द का अर्थ ''सम्बन्ध जुड़ना'' तथा ''कोई वस्तु प्राप्त करना'' भी है। चेतन-प्राणी होने के कारण हमारा भक्ति के माध्यम से परमात्मा से सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध के माध्यम से हमें परमात्मा के पूर्ण ज्ञान का अनुभव होता है। चूँकि परमात्मा परम सत्य हैं अतएव उनके पूर्ण ज्ञान का अर्थ होता है प्रत्येक वस्तु का पूर्ण ज्ञान। जैसाकि *मुण्डक उपनिषद्* (१.) में कहा गया है— *कस्मिन् भगवतो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति*—जब ब्रह्म को जान लिया जाता है, तो हर वस्तु समझ में आ जाती है। इस तरह भगवान् कृष्ण अपनी आध्यात्मिक शक्ति से अपने साथ हमारा सम्बन्ध स्वयं स्थापित करते हैं और यही सम्बन्ध समस्त आध्यात्मिक ज्ञान का स्रोत है। इस तरह आचार्य श्रीधर अपने विवेकपूर्ण भावार्थ द्वारा हमें कृष्णभावनाभावित दर्शन के विषय में गहनतर चिन्तन के लिए अभिप्रेरित करते हैं।

श्रीशुक उवाच
इत्यनुस्मृत्य स्वजनं कृष्णं च जगदीश्वरम् ।
प्रारुदद्दुःखिता राजन्भवतां प्रपितामही ॥ १४॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इन शब्दों के साथ; अनुस्मृत्य—स्मरण करके; स्व-जनम्—अपने सगे-सम्बन्धियों को; कृष्णम्—कृष्ण को; च—तथा; जगत्—ब्रह्माण्ड के; ईश्वरम्—भगवान् को; प्रारुदत्—जोर से रोने लगीं; दुःखिता—दुखी; राजन्—हे राजन् (परीक्षित); भवताम्—आपकी; प्रपितामही—परदादी।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, इस तरह अपने परिवार वालों का तथा ब्रह्माण्ड के स्वामी कृष्ण का स्मरण करके आपकी परदादी कुन्तीदेवी शोक में रोने लगीं।

समदु:खसुखोऽक्रूरो विदुरश्च महायशा: ।
सान्त्वयामासतु: कुन्तीं तत्पुत्रोत्पत्तिहेतुभि: ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

सम—समान; दु:ख—दुख में; सुख:—तथा सुख में; अक्रूर:—अक्रूर; विदुर:—विदुर; च—तथा; महा-यशा:—अत्यन्त विख्यात; सान्त्वयाम् आसतु:—दोनों ने सान्त्वना दी; कुन्तीम्—श्रीमती कुन्तीदेवी को; तत्—उसके; पुत्र—पुत्रों के; उत्पत्ति—जन्मों के; हेतुभि:—कारणों के विषय में व्याख्या समेत।

महारानी कुन्ती के सुख-दुख में हिस्सा बँटाने वाले अक्रूर तथा सुविख्यात विदुर दोनों ने ही कुन्ती को उनके पुत्रों के जन्म की असाधारण घटना की याद दिलाते हुए सान्त्वना दी।

तात्पर्य : अक्रूर तथा विदुर ने महारानी कुन्ती को स्मरण दिलाया कि उनके पुत्र देवताओं द्वारा उत्पन्न हुए थे अत: उनको सामान्य मनुष्यों की तरह विनष्ट नहीं किया जा सकता। वस्तुत: इस अत्यन्त पवित्र कुल को असाधारण विजय प्राप्त होने वाली थी।

यास्यन्राजानमभ्येत्य विषमं पुत्रलालसम् ।
अवदत्सुहृदां मध्ये बन्धुभि: सौहृदोदितम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यास्यन्—जब वह जाने ही वाला था; राजानम्—राजा (धृतराष्ट्र) के; अभ्येत्य—पास जाकर; विषमम्—ईर्ष्यालु; पुत्र—पुत्रों के प्रति; लालसम्—लाड़-प्यार से; अवदत्—बोला; सुहृदाम्—सम्बन्धियों के; मध्ये—बीच में; बन्धुभि:—शुभचिन्तक सम्बन्धियों (कृष्ण तथा बलराम) द्वारा; सौहृद—मैत्री में; उदितम्—जो कहा जा चुका है।

राजा धृतराष्ट्र के अपने पुत्रों के प्रति अत्यधिक स्नेह ने उसे पाण्डवों के प्रति अन्यायपूर्ण व्यवहार करने के लिए बाध्य किया था। प्रस्थान करने के पूर्व अक्रूर राजा के पास गये जो उस समय अपने मित्रों तथा समर्थकों के बीच बैठा था। अक्रूर ने उसे वह सन्देश दिया जो उनके सम्बन्धी कृष्ण तथा बलराम ने मैत्रीवश भेजा था।

अक्रूर उवाच

भो भो वैचित्रवीर्य त्वं कुरूणां कीर्तिवर्धन ।
भ्रातर्युपरते पाण्डावधुनासनमास्थित: ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

अक्रूरः उवाच—अक्रूर ने कहा; भोः भोः—हे प्रिय, हे प्रिय; वैचित्रवीर्य—विचित्रवीर्य के पुत्र; त्वम्—तुम; कुरूणाम्—कुरुओं की; कीर्ति—यश; वर्धन—हे बढ़ाने वाले; भ्रातरि—अपने भाई के; उपरते—दिवंगत हो जाने के बाद; पाण्डौ—महाराज पाण्डु के; अधुना—अब; आसनम्—सिंहासन पर; आस्थितः—आसीन।

अक्रूर ने कहा : हे प्रिय विचित्रवीर्य के पुत्र, हे कुरुओं की कीर्ति को बढ़ाने वाले, आपने अपने भाई पाण्डु के दिवंगत होने के बाद राज-सिंहासन ग्रहण किया है।

तात्पर्य : अक्रूर व्यंग्य-वचन बोल रहे थे क्योंकि वास्तव में उस सिंहासन पर पाण्डु के युवा पुत्रों को आसीन होना चाहिए था। चूँकि पाण्डु की मृत्यु के समय अभी उनके पुत्र आयु में छोटे होने के कारण शासन करने योग्य न थे, अतः उन्हें धृतराष्ट्र के संरक्षण में रखा गया था। किन्तु तब से काफी समय व्यतीत हो चुका था अतः उनके न्यायसंगत अधिकार को अब मान लिया जाना चाहिए था।

धर्मेण पालयन्नुर्वीं प्रजाः शीलेन रञ्जयन् ।
वर्तमानः समः स्वेषु श्रेयः कीर्तिमवाप्स्यसि ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

धर्मेण—धर्मपूर्वक; पालयन्—रक्षा करते हुए; उर्वीम्—पृथ्वी को; प्रजाः—नागरिकजन; शीलेन—सच्चरित्रता से; रञ्जयन्—प्रसन्न करते हुए; वर्तमानः—रहते हुए; समः—समभाव; स्वेषु—अपने सम्बन्धियों के प्रति; श्रेयः—सफलता; कीर्तिम्—कीर्ति; अवाप्स्यसि—प्राप्त करोगे।

धर्मपूर्वक पृथ्वी की रक्षा करते हुए, अपनी सच्चरित्रता से अपनी प्रजा को प्रसन्न रखते हुए तथा अपने सारे सम्बन्धियों के साथ एकसमान व्यवहार करते हुए आप अवश्य ही सफलता तथा कीर्ति प्राप्त करेंगे।

तात्पर्य : अक्रूर ने धृतराष्ट्र से कहा कि यद्यपि उन्होंने सिंहासन हड़प रखा था किन्तु यदि वे अब धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार शासन करेंगे और अपना व्यवहार ठीक रखेंगे तो सफल हो सकेंगे।

अन्यथा त्वाचरँल्लोके गर्हितो यास्यसे तमः ।
तस्मात्समत्वे वर्तस्व पाण्डवेष्वात्मजेषु च ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अन्यथा—नहीं तो; तु—फिर भी; आचरन्—कर्म करते हुए; लोके—इस जगत में; गर्हितः—निन्दनीय; यास्यसे—प्राप्त करोगे; तमः—अंधकार; तस्मात्—इसलिए; समत्वे—समभाव में; वर्तस्व—स्थित रहो; पाण्डवेषु—पाण्डवों के प्रति; आत्म-जेषु—अपने पुत्रों के प्रति; च—तथा।

किन्तु यदि आप अन्यथा आचरण करेंगे तो लोग इसी लोक में आपकी निन्दा करेंगे और अगले जन्म में आपको नारकीय अंधकार में प्रवेश करना होगा। अतः आप पाण्डु के पुत्रों तथा अपने पुत्रों के प्रति एक-सा बर्ताव करें।

तात्पर्य : धृतराष्ट्र की सारी समस्या थी अपने दुष्ट पुत्रों के प्रति अत्यधिक लगाव। इसी घातक दोष के कारण उसका पतन हुआ। उसके चारों ओर अच्छी सलाह देने वालों की कमी नहीं थी और धृतराष्ट्र ने स्वीकार भी किया कि यद्यपि यह सलाह ठीक थी किन्तु वह उसका पालन नहीं कर सका। जब मन तथा हृदय शुद्ध होते हैं तभी मनुष्य में स्वच्छ व्यावहारिक बुद्धि आ सकती है।

नेह चात्यन्तसंवासः कस्यचित्केनचित्सह ।
राजन्स्वेनापि देहेन किमु जायात्मजादिभिः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; इह—इस जगत में; च—तथा; अत्यन्त—शाश्वत; संवासः—संगति (एक साथ निवास); कस्यचित्—किसी का; केनचित् सह—किसी के साथ; राजन्—हे राजन्; स्वेन—अपने; अपि—भी; देहेन—शरीर से; किम् उ—तो फिर क्या कहा जा सकता है; जाया—पत्नी; आत्म-ज—सन्तान; आदिभिः—इत्यादि से।

हे राजन्, इस जगत में किसी का किसी अन्य से कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं है। हम अपने ही शरीर के साथ जब सदा के लिए नहीं रह सकते तो फिर हमारी पत्नी, सन्तान तथा अन्यों के लिए क्या कहा जा सकता है?

एकः प्रसूयते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

एकः—अकेला; प्रसूयते—जन्म लेता है; जन्तुः—जीव; एकः—अकेला; एव—भी; प्रलीयते—विनष्ट हो जाता है; एकः—अकेला; अनुभुङ्क्ते—भोग करता है; सुकृतम्—अपने अच्छे कर्म-फलों को; एकः—अकेला; एव च—तथा निश्चय ही; दुष्कृतम्—बुरे कर्म-फलों को।

हर प्राणी अकेला उत्पन्न होता है और अकेला मरता है। अकेला ही वह अपने अच्छे और बुरे कर्मों के फलों का भी अनुभव करता है।

तात्पर्य : यहाँ पर *अनुभुङ्क्ते* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *भुङ्क्ते* का अर्थ है, "(प्राणी) अनुभव करता है" और *अनु* का अर्थ है "पीछे पीछे" या "क्रम में।" दूसरे शब्दों में, हम अपने कर्मों के नैतिक तथा आध्यात्मिक गुण के अनुसार दुख तथा सुख का अनुभव करते हैं। हम अपनी करनी के लिए जिम्मेदार हैं। धृतराष्ट्र झूठे ही अपने दुष्ट-बुद्धि पुत्रों से अत्यधिक लगाव रखता था। वह भूल गया था कि उसे अकेले ही अपने इस अविवेकपूर्ण आचरण के लिए कष्ट भोगना होगा।

अधर्मोपचितं वित्तं हरन्त्यन्येऽल्पमेधसः ।
सम्भोजनीयापदेशैर्जलानीव जलौकसः ॥ २२॥

शब्दार्थ

अधर्म—अधर्म से; उपचितम्—जोड़ी गई; वित्तम्—सम्पत्ति; हरन्ति—चुरा लेते हैं; अन्ये—अन्य लोग; अल्प-मेधसः—अल्पज्ञ की; सम्भोजनीय—मदद चाहने वाला; अपदेशैः—झूठी उपाधियों से; जलानि—जल; इव—सदृश; जल-ओकसः—जल के निवासियों का।

प्रिय आश्रितों के वेश में अनजाने लोग मूर्ख व्यक्ति द्वारा पाप से अर्जित सम्पत्ति को उसी तरह चुरा लेते हैं जिस तरह मछली की सन्तानें उस जल को पी जाती हैं, जो उनका पालन करने वाला है।

तात्पर्य : सामान्य लोग अनुभव करते हैं कि अपनी सम्पत्ति के बिना वे जीवित नहीं रह सकते यद्यपि उनकी यह सम्पत्ति परिस्थितिजन्य एवं क्षणिक है। जिस तरह सम्पत्ति एक सामान्य व्यक्ति को जीवन देती है उसी तरह जल मछली को जीवन देता है। किन्तु उस व्यक्ति के प्रिय आश्रितजन उसकी सम्पत्ति चुरा लेते हैं जिस तरह मछलियों के बच्चे उसी जीवनदायी जल को पी जाते हैं जिसके कारण वे जीते हैं। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर के शब्दों में यह संसार "भाग्य का धाम" है।

पुष्णाति यानधर्मेण स्वबुद्ध्या तमपण्डितम् ।
तेऽकृतार्थं प्रहिण्वन्ति प्राणा रायः सुतादयः ॥ २॥

शब्दार्थ

पुष्णाति—पोषण करता है; यान्—जो वस्तुएँ; अधर्मेण—पाप-कर्म से; स्व-बुद्ध्या—उन्हें अपनी सोचकर; तम्—उसको; अपण्डितम्—अशिक्षित; ते—वे; अकृत-अर्थम्—मनोरथ का निष्फल होना; प्रहिण्वन्ति—छोड़ देते हैं; प्राणाः—प्राण; रायः—सम्पत्ति; सुत-आदयः—सन्तान इत्यादि।

मूर्ख व्यक्ति अपने जीवन, सम्पत्ति तथा सन्तान एवं अन्य सम्बन्धियों का भरण-पोषण करने के लिए पाप-कर्म में प्रवृत्त होता है क्योंकि वह सोचता है "ये वस्तुएँ मेरी हैं।" किन्तु अन्त में ये ही वस्तुएँ उसे कुंठित अवस्था में छोड़ जाती हैं।

तात्पर्य : इन श्लोकों में अक्रूर धृतराष्ट्र को स्पष्ट सलाह देते हैं। जो लोग *महाभारत* की कथा जानते हैं, वे अनुभव करेंगे कि ये उपदेश कितने प्रासंगिक तथा भविष्यसूचक हैं और इन्हें न मानने के कारण धृतराष्ट्र को कितना कष्ट भोगना पड़ा। यद्यपि मनुष्य अपनी सम्पत्ति से चिपका रहता है किन्तु अन्त में सब कुछ नष्ट हो जाता है और भूल करने वाली आत्मा जन्म-मृत्यु के चक्र में बहा ले जायी जाती है।

स्वयं किल्बिषमादाय तैस्त्यक्तो नार्थकोविदः ।
असिद्धार्थो विशत्यन्धं स्वधर्मविमुखस्तमः ॥ २४॥

शब्दार्थ

स्वयम्—अपने लिए; किल्बिषम्—पापपूर्ण कर्म-फल; आदाय—लेकर; तैः—उनके द्वारा; त्यक्तः—छोड़ा हुआ; न—नहीं; अर्थ—अपने जीवन के लिए; कोविदः—ठीक से जानते हुए; असिद्ध—अपूर्ण; अर्थः—लक्ष्य; विशति—प्रवेश करता है; अन्धम्—गहन, घोर; स्व—निजी; धर्म—धर्म से; विमुखः—उदासीन; तमः—अंधकार (नर्क का)।

अपने तथाकथित आश्रितों से परित्यक्त होकर, जीवन के वास्तविक लक्ष्य से अनजान, अपने असली कर्तव्य से उदासीन तथा अपने उद्देश्यों को पूरा करने में असफल होकर, वह मूर्ख व्यक्ति अपने पाप-कर्मों को अपने साथ लेकर नर्क के अंधकार में प्रवेश करता है।

तात्पर्य : यह दुखपूर्ण विडम्बना है कि वे भौतिकतावादी व्यक्ति जो विश्वास, सुरक्षा, धन, परिवार इत्यादि का संग्रह करने के लिए कठिन श्रम करते हैं, अपने साथ केवल अपने पापों के दुखदायी फलों की गठरी के सिवा और कुछ न लेकर नरक के अंधकार में प्रवेश करते हैं। इसके विपरीत, जो लोग सम्पत्ति, बड़े परिवार इत्यादि का संग्रह करने की परवाह न करते हुए कृष्णभावनामृत अर्थात् आध्यात्मिक जीवन का अनुशीलन करते हैं, वे आध्यात्मिक सम्पदा से समृद्ध होकर अगले जीवन में प्रवेश करते हैं और आत्मा के गहन आनन्द का भोग करते हैं।

तस्माल्लोकमिमं राजन्स्वप्नमायामनोरथम् ।
वीक्ष्यायम्यात्मनात्मानं समः शान्तो भव प्रभो ॥ २५॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; लोकम्—संसार को; इमम्—इस; राजन्—हे राजन्; स्वप्न—स्वप्न; माया—जादूगरी; मनः-रथम्—या मन की कल्पना के रूप में; वीक्ष्य—देखकर; आयम्य—वश में करके; आत्मना—बुद्धि से; आत्मानम्—मन को; समः—समभाव; शान्तः—शान्त; भव—बनो; प्रभो—हे स्वामी।

अतः हे राजन्, इस संसार को स्वप्नवत, जादूगर का मायाजाल या मन की उड़ान समझ कर, बुद्धि से अपने मन को वश में कीजिये और हे स्वामी! आप समभाव तथा शान्त बनिये।

धृतराष्ट्र उवाच

यथा वदति कल्याणीं वाचं दानपते भवान् ।
तथानया न तृप्यामि मर्त्यः प्राप्य यथामृतम् ॥ २६॥

शब्दार्थ

धृतराष्ट्रः उवाच—धृतराष्ट्र ने कहा; यथा—जिस तरह; वदति—बोलते हैं; कल्याणीम्—शुभ, मंगल; वाचम्—शब्द; दान—दान के; पते—हे स्वामी; भवान्—आप; तथा—उसी तरह; अनया—इससे; न तृप्यामि—मैं तृप्त नहीं हूँ; मर्त्यः—मरणशील; प्राप्य—प्राप्त करके; यथा—मानो; अमृतम्—अमृत।

धृतराष्ट्र ने कहा : हे दानपति, मैं आपके शुभ-वचनों को सुनते हुए कभी भी तृप्त नहीं हो सकता। निस्सन्देह, मैं उस मर्त्य प्राणी की तरह हूँ जिसे देवताओं का अमृत प्राप्त हो चुका है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के मत से धृतराष्ट्र को इस बात का गर्व था कि जो कुछ अक्रूर कह रहे हैं वह उसे पहले से ज्ञात है किन्तु कूटनीतिक गम्भीरता बनाये रखने के लिए ही वह साधु-पुरुष की तरह बोल रहा था।

तथापि सूनृता सौम्य हृदि न स्थीयते चले ।
पुत्रानुरागविषमे विद्युत्सौदामनी यथा ॥ २७॥

शब्दार्थ

तथा अपि—फिर भी; सूनृता—मोहक शब्द; सौम्य—हे भद्र; हृदि—मेरे हृदय में; न स्थीयते—स्थिर नहीं रहते; चले—जो चलायमान है; पुत्र—मेरे पुत्रों के लिए; अनुराग—स्नेह से; विषमे—पक्षपातपूर्ण; विद्युत्—बिजली; सौदामनी—बादल में; यथा—जिस तरह।

फिर भी, हे भद्र अक्रूर, क्योंकि मेरा अस्थिर हृदय अपने पुत्रों के स्नेह से पक्षपातयुक्त है इसलिए आपके ये मोहक शब्द हृदय में स्थिर नहीं टिक पाते, जिस तरह बिजली बादल में स्थिर नहीं रह सकती।

ईश्वरस्य विधिं को नु विधुनोत्यन्यथा पुमान् ।
भूमेर्भारावताराय योऽवतीर्णो यदोः कुले ॥ २८॥

शब्दार्थ

ईश्वरस्य—भगवान् के; विधिम्—कानून को; कः—क्या; नु—तनिक भी; विधुनोति—हटा सकता है; अन्यथा—नहीं तो; पुमान्—पुरुष; भूमेः—पृथ्वी का; भार—बोझ; अवताराय—कम करने के लिए; यः—जो; अवतीर्णः—अवतरित हुआ है; यदोः—यदु के; कुले—परिवार में।

भला उन भगवान् के आदेशों का उल्लंघन कौन कर सकता है, जो पृथ्वी का भार कम करने के लिए अब यदुवंश में अवतार ले चुके हैं?

तात्पर्य : स्वाभाविक है कि हम धृतराष्ट्र से पूछें, "यदि तुम यह सब जानते हो तो ठीक से आचरण क्यों नहीं करते?" वस्तुतः, धृतराष्ट्र की भी यही स्थिति है : वह अनुभव करता है कि क्योंकि घटनाएँ पहले से गतिशील हो चुकी हैं, वह उन्हें बदलने में अक्षम है। असल में उसके अनुराग तथा उसकी पापपूर्ण लालसाओं से घटनाएँ गतिशील थीं अतएव उसे अपने कर्मों का उत्तरदायित्व लेना

चाहिए था। भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (५.१५) में स्पष्ट कहा है—*नादत्ते कस्यचित् पापम्*—भगवान् किसी के पापपूर्ण कृत्यों का जिम्मा नहीं लेते। यह दावा करना एक घातक नीति है कि हम "विधाता अथवा भाग्य" के कारण अनुचित कर्म कर रहे हैं। हमें चाहिए कि गम्भीरतापूर्वक कृष्णभावनामृत को ग्रहण करें और अपने तथा अपने संगियों के लिए मंगलमय भविष्य का निर्माण करें।

अन्त में, कोई यह तर्क कर सकता है कि जो भी हो, धृतराष्ट्र तो भगवान् की लीलाओं में सम्मिलित हैं और वास्तव में वह उनका नित्य-संगी है। इसके उत्तर में हम इतना ही कह सकते हैं कि भगवान् की लीलाएँ न केवल मनोरंजन कराने वाली हैं अपितु उपदेशात्मक भी हैं और यहाँ यही शिक्षा मिलती है कि धृतराष्ट्र को उचित कर्म करना चाहिए था। भगवान् यही शिक्षा देना चाहते थे। धृतराष्ट्र कहता है कि कृष्ण पृथ्वी का भार उतारने के लिए आये हैं किन्तु पृथ्वी का भार असल में इसके निवासियों का अनुचित आचरण ही है। अत: भगवान् यहाँ जो शिक्षा देना चाहते हैं उसे हम अपने हित के लिए ग्रहण करें।

यो दुर्विमर्शपथया निजमाययेदं
सृष्ट्वा गुणान्विभजते तदनुप्रविष्टः ।
तस्मै नमो दुरवबोधविहारतन्त्र-
संसारचक्रगतये परमेश्वराय ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; दुर्विमर्श—अचिन्त्य; पथया—जिसका मार्ग; निज—अपनी; मायया—सृजनात्मक शक्ति से; इदम्—इस ब्रह्माण्ड को; सृष्ट्वा—सृजित करके; गुणान्—इसके गुणों को; विभजते—बाँट देता है; तत्—उसी के भीतर; अनुप्रविष्टः—प्रवेश करते हुए; तस्मै—उसको; नमः—नमस्कार; दुरवबोध—अथाह; विहार—लीला; तन्त्र—तात्पर्य; संसार—जन्म तथा मृत्यु का; चक्र—चक्कर; गतये—तथा मोक्ष; परम-ईश्वराय—परम नियन्ता के प्रति।

मैं उन भगवान् को नमस्कार करता हूँ जो अपनी भौतिक शक्ति की अचिन्त्य क्रियाशीलता से इस ब्रह्माण्ड का सृजन करते हैं और फिर सृष्टि के भीतर प्रविष्ट होकर प्रकृति के विभिन्न गुणों को वितरित कर देते हैं। जिनकी लीलाओं का अर्थ अगाध है, उन्हीं से यह जन्म-मृत्यु का बन्धनकारी चक्र तथा उससे मोक्ष पाने की विधि उत्पन्न हुए हैं।

तात्पर्य : इतना सब कुछ कहने पर भी धृतराष्ट्र सामान्य व्यक्ति न होकर भगवान् कृष्ण का संगी था। निश्चय ही भगवान् के प्रति ऐसी विद्वत्तापूर्ण स्तुति कोई सामान्य व्यक्ति नहीं कर सकता था।

श्रीशुक उवाच
इत्यभिप्रेत्य नृपतेरभिप्रायं स यादवः ।
सुहृद्भिः समनुज्ञातः पुनर्यदुपुरीमगात् ॥ ० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; अभिप्रेत्य—निश्चित करके; नृपतेः—राजा की; अभिप्रायम्—मनोवृत्ति; सः—वह; यादवः—राजा यदु का वंशज, अक्रूर; सुहृद्भिः—अपने शुभचिन्तकों द्वारा; समनुज्ञातः—विदा होने की अनुमति दिया हुआ; पुनः—फिर; यदु-पुरीम्—यदुवंश की नगरी में; अगात्—गया।.

शुकदेव गोस्वामी ने कहा, इस तरह राजा के अभिप्राय को समझकर यदुवंशी अक्रूर ने अपने शुभचिन्तक सम्बन्धियों तथा मित्रों से अनुमति ली और यादवों की राजधानी लौट आये।

शशंस रामकृष्णाभ्यां धृतराष्ट्रविचेष्टितम् ।
पाण्दवान्प्रति कौरव्य यदर्थं प्रेषितः स्वयम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

शशंस—सूचित किया; राम-कृष्णाभ्याम्—बलराम तथा कृष्ण को; धृतराष्ट्र-विचेष्टितम्—धृतराष्ट्र के आचरण; पाण्डवान् प्रति—पाण्डु के पुत्रों के प्रति; कौरव्य—हे कुरुवंशी (परीक्षित); यत्—जिस; अर्थम्—प्रयोजन के लिए; प्रेषितः—भेजा गया; स्वयम्—स्वयं।.

अक्रूर ने बलराम तथा कृष्ण को यह सूचित किया कि धृतराष्ट्र का पाण्डवों के प्रति कैसा बर्ताव है। इस तरह हे कुरुवंशी, उन्होंने उस अभिप्राय की पूर्ति कर दी जिसके लिए वे भेजे गये थे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कन्ध के अन्तर्गत "अक्रूर का हस्तिनापुर जाना" नामक उनचासवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पचास

कृष्ण द्वारा द्वारकापुरी की स्थापना

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह कृष्ण ने जरासन्ध को युद्ध में सत्रह बार हराकर द्वारकापुरी का निर्माण किया।

कंस के मारे जाने के बाद उसकी दोनों रानियाँ—अस्ति तथा प्राप्ति अपने पिता जरासन्ध के घर चली गईं और शोकसन्तप्त होकर उससे बतलाया कि किस तरह कृष्ण ने उन्हें विधवा बना दिया है। यह सुनकर राजा जरासन्ध क्रुद्ध हुआ। उसने पृथ्वी से यदुओं का सफाया करने का व्रत लिया और

मथुरा पर घेरा डाल देने के लिए विशाल सेना एकत्र की। जब कृष्ण ने जरासन्ध को हमला करते देखा तो उन्होंने इस विश्व में अपने अवतार लेने के कारणों पर विचार किया और पृथ्वी के भारस्वरूप जरासन्ध की सेना का संहार करने का निश्चय किया।

तभी दो तेजस्वी रथ प्रकट हुए जो सारथियों तथा साज-सामान से युक्त थे और उनमें भगवान् के निजी आयुध थे। यह देखकर कृष्ण ने बलदेव से कहा, "हे भ्राता! अब जरासन्ध मथुरापुरी पर आक्रमण कर रहा है, अत: अपने रथ पर सवार हो जाइये और चलिये, हम दोनों शत्रु की सेना का विध्वंस करें।" दोनों भाई अपने अपने हथियार लेकर अपने अपने रथों पर सवार हुए और नगर से बाहर चले गए।

भगवान् कृष्ण ने अपने प्रतिद्वन्द्वी की सेना के सामने पहुँचकर अपना शंख बजाया जिससे शत्रुओं के हृदय में भय व्याप्त हो गया। राजा जरासन्ध ने अपने सैनिकों, रथों इत्यादि से कृष्ण तथा बलराम को घेर लिया। नगर की स्त्रियाँ अपने अपने घरों की छतों पर चढ़ गईं और दोनों प्रभुओं को न देखकर अत्यन्त दुखी हुईं। तब कृष्ण अपने धनुष में टंकार देकर शत्रु-सैनिकों पर बाण बरसाने लगे। जरासन्ध की अपार सेना शीघ्र ही विनष्ट हो गई।

बलदेव ने जरासन्ध को बन्दी बना लिया और उसे रस्सियों से बाँधने ही जा रहे थे कि कृष्ण ने बलदेव को ऐसा करने से रोक दिया। उन्होंने तर्क किया कि जरासन्ध फिर से सेना एकत्र करके फिर से लड़ाई करने आयेगा। इससे पृथ्वी का भार दूर करने का कृष्ण का लक्ष्य पूरा हो सकेगा। बन्धन से मुक्त किये जाने पर जरासन्ध मगध लौट गया और अपनी हार का बदला लेने के लिए उसने तपस्या करने की ठानी। अन्य राजाओं ने उसे सलाह दी कि यह हार उसके कर्म का फल है। इस तरह कहे जाने पर जरासन्ध बोझिल मन किये अपने साम्राज्य में लौट आया।

जब श्रीकृष्ण मथुरावासियों से मिले तो वे सब मिलकर प्रसन्नता व्यक्त करने लगे और विजय-गीत गाने तथा उत्सव मनाने की तैयारी करने लगे। भगवान् ने वे सारे आभूषण तथा बहुमूल्य सामान, जिन्हें युद्ध-क्षेत्र से एकत्र किया गया था, लाकर महाराज उग्रसेन को भेंट कर दिये।

जरासन्ध ने मथुरा के यादवों पर सत्रह बार आक्रमण किया और हर बार उसकी सेना का विध्वंस होता रहा। जब जरासन्ध ने अठारहवीं बार आक्रमण करने की तैयारी की तो कालयवन नामक एक

योद्धा, जो अपने योग्य प्रतिद्वन्द्वी की तलाश में था, नारद मुनि द्वारा भेजा जा कर यादवों से लड़ने के लिए आया। कालयवन ने तीन करोड़ सैनिक लेकर यादवों की राजधानी पर घेरा डाल दिया। भगवान् कृष्ण इस आक्रमण से चिन्तित हुए क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि जरासन्ध का आगमन आसन्न है और एक ही साथ दो शत्रुओं के आक्रमण से यादवगण संकट में पड़ सकते हैं। अत: भगवान् ने यादवों के लिए समुद्र के भीतर एक सुरक्षित अद्‌भुत नगरी का निर्माण कराया और तब योगशक्ति से उन सबों को वहाँ पहुँचा दिया। इस नगरी में चारों वर्णों के लोग बसे थे और किसी को भी भूख-प्यास नहीं सताती थी। इन्द्र आदि सारे देवताओं ने भगवान् कृष्ण को वे ही ऐश्वर्य भेंट किये जो उन्हें अपना पद प्राप्त करते समय कृष्ण से प्राप्त हुए थे।

जब कृष्ण ने देख लिया कि सारी प्रजा सुरक्षित ढंग से बस गई है, तो उन्होंने बलराम से विदा ली और नि:शस्त्र होकर मथुरा से बाहर चले गये।

श्रीशुक उवाच

अस्ति: प्राप्तिश्च कंसस्य महिष्यौ भरतर्षभ ।
मृते भर्तरि दु:खार्ते ईयतु: स्म पितुर्गृहान् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; अस्ति: प्राप्ति: च—अस्ति तथा प्राप्ति; कंसस्य—कंस की; महिष्यौ—दो पटरानियाँ; भरत-ऋषभ—हे भरतवंशी के वीर (परीक्षित); मृते—मार डाले जाने पर; भर्तरि—अपने पति के; दु:ख—दुख से; आर्ते—शोकमग्न; ईयतु: स्म—चली गईं; पितु:—अपने पिता के; गृहान्—घरों।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब कंस मार डाला गया तो हे भरतर्षभ, उसकी दो पटरानियाँ अस्ति तथा प्राप्ति अत्यन्त दुखी होकर अपने पिता के घर चली गईं।

पित्रे मगधराजाय जरासन्धाय दु:खिते ।
वेदयां चक्रतु: सर्वमात्मवैधव्यकारणम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

पित्रे—अपने पिता; मगध-राजाय—मगध के राजा; जरासन्धाय—जरासंध से; दु:खिते—दुखी; वेदयाम् चक्रतु:—उन्होंने कह सुनाया; सर्वम्—सारे; आत्म—अपने; वैधव्य—विधवा होने का; कारणम्—कारण।

दुखी रानियों ने अपने पिता मगध के राजा जरासन्ध से सारा हाल कह सुनाया कि वे किस तरह विधवा हुईं।

स तदप्रियमाकर्ण्य शोकामर्षयुतो नृप ।
अयादवीं महीं कर्तुं चक्रे परममुद्यमम् ॥ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, जरासन्ध; तत्—उस; अप्रियम्—बुरे समाचार को; आकर्ण्य—सुनकर; शोक—शोक; अमर्ष—तथा असह्य क्रोध; युतः—अनुभव करते हुए; नृप—हे राजा; अयादवीम्—यादवों से विहीन; महीम्—पृथ्वी को; कर्तुम्—करने के लिए; चक्रे—किया; परमम्—अत्यधिक; उद्यमम्—प्रयत्न।

हे राजन्, यह अप्रिय समाचार सुनकर जरासन्ध शोक तथा क्रोध से भर गया और पृथ्वी को यादवों से विहीन करने के यथासम्भव प्रयास में जुट गया।

अक्षौहिणीभिर्विंशत्या तिसृभिश्चापि संवृतः ।
यदुराजधानीं मथुरां न्यरुधत्सर्वतो दिशम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

अक्षौहिणीभिः—अक्षौहिणियों से (एक अक्षौहिणी में २१,८७० हाथी, २१,८७० रथ, ६५,६ घुड़सवार तथा १,०९,५० पैदल सैनिक होते हैं); विंशत्या—बीस; तिसृभिः च अपि—तीन और; संवृतः—घेर लिया; यदु—यदुवंश की; राजधानीम्—राजधानी; मथुराम्—मथुरा को; न्यरुधत्—घेरा डाल दिया; सर्वतः दिशम्-ओन् अल्ल् सिदेस्.

उसने तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर यदुओं की राजधानी मथुरा के चारों ओर घेरा डाल दिया।

तात्पर्य : एक अक्षौहिणी की संख्या ऊपर 'शब्दार्थ' में दी गई है। प्राचीन काल में अक्षौहिणी सेना की मानक इकाई थी।

निरीक्ष्य तद्बलं कृष्ण उद्वेलमिव सागरम् ।
स्वपुरं तेन संरुद्धं स्वजनं च भयाकुलम् ॥ ५॥
चिन्तयामास भगवान्हरिः कारणमानुषः ।
तद्देशकालानुगुणं स्वावतारप्रयोजनम् ॥ ६॥

शब्दार्थ

निरीक्ष्य—देखकर; तत्—उस (जरासन्ध) के; बलम्—सैनिक-शक्ति; कृष्णः—कृष्ण; उद्वेलम्—सीमाओं को लाँघकर; इव—सदृश; सागरम्—समुद्र; स्व—अपनी; पुरम्—नगरी, मथुरा को; तेन—उससे; संरुद्धम्—घिरी; स्व-जनम्—अपनी प्रजा को; च—तथा; भय—भय से; आकुलम्—व्याकुल; चिन्तयाम् आस—सोचा; भगवान्—भगवान्; हरिः—हरि ने; कारण—सभी के कारण; मानुषः—मनुष्य रूप में प्रकट होकर; तत्—उस; देश—स्थान; काल—तथा समय के; अनुगुणम्—उपयुक्त; स्व-अवतार—इस संसार में अपने अवतरण के; प्रयोजनम्—कारण के विषय में।

यद्यपि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण इस संसार के आदि-कारण हैं किन्तु जब वे इस पृथ्वी पर अवतरित हुए तो उन्होंने मनुष्य की भूमिका निबाही। अतः जब उन्होंने देखा कि जरासन्ध की सेना ने उनकी नगरी को उसी तरह घेर लिया है, जिस तरह महासागर अपने किनारों को तोड़कर बहने लगता है और जब उन्होंने देखा कि यह सेना उनकी प्रजा में भय उत्पन्न कर रही है, तो

भगवान् ने विचार किया कि देश, काल तथा उनके वर्तमान अवतार के विशिष्ट प्रयोजन के अनुकूल उनकी उपयुक्त प्रतिक्रिया क्या होनी चाहिए।

तात्पर्य : आचार्यों ने इंगित किया है कि भगवान् को जरासन्ध तथा उसके सैनिकों के आक्रमण की परवाह करने की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु जैसाकि यहाँ पर कहा गया है, श्रीकृष्ण मनुष्य का अभिनय कर रहे थे (*कारण-मानुषः*) और उन्होंने यह अभिनय अच्छी तरह निबाहा। यह अभिनय *लीला* कहलाता है, जो कि अपने भक्तों के आनन्द के हेतु भगवान् द्वारा आध्यात्मिक लीलाओं का अभिनय है। यद्यपि भगवान् की लीलाओं से सामान्य व्यक्ति हक्के-बक्के रह जाते हैं किन्तु भक्तों को उनके इस अननुकरणीय आचरण से बेहद प्रसन्नता होती है। इस प्रकार श्रील श्रीधर स्वामी इंगित करते हैं कि श्रीकृष्ण ने सोचा कि "मैं जरासन्ध को किस तरह परास्त करूँ? क्या मैं उसकी सेना को मार डालूँ और जरासन्ध को न मारूँ? या फिर जरासन्ध को मारकर उसकी सेना स्वयं ले लूँ? या शायद इन दोनों का वध कर दूँ?" भगवान् कृष्ण जिस निर्णय पर पहुँचे वह अगले श्लोकों में वर्णित है।

हनिष्यामि बलं ह्येतद्भुवि भारं समाहितम् ।
मागधेन समानीतं वश्यानां सर्वभूभुजाम् ॥ ७॥
अक्षौहिणीभिः सङ्ख्यातं भटाश्वरथकुञ्जरैः ।
मागधस्तु न हन्तव्यो भूयः कर्ता बलोद्यमम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

हनिष्यामि—मैं मार डालूँगा; बलम्—सेना को; हि—निश्चय ही; एतत्—इस; भुवि—पृथ्वी पर; भारम्—भार को; समाहितम्—एकत्र; मागधेन—मगध के राजा, जरासन्ध द्वारा; समानीतम्—लाया गया; वश्यानाम्—अधीन; सर्व—सभी; भू-भुजाम्—राजाओं को; अक्षौहिणीभिः—अक्षौहिणियों में; सङ्ख्यातम्—गिनी जाने वाली; भट—पैदल सैनिकों; अश्व—घोड़े; रथ—रथ; कुञ्जरैः—तथा हाथियों से युक्त; मागधः—जरासन्ध; तु—किन्तु; न हन्तव्यः—नहीं मारा जाना चाहिए; भूयः—फिर से; कर्ता—करेगा; बल—सेना (एकत्र करने के लिए); उद्यमम्—प्रयास।

[भगवान् ने सोचा]: चूँकि पृथ्वी पर इतना भार है, अतः मैं जरासन्ध की इस सेना को विनष्ट कर दूँगा जिसमें अक्षौहिणियों पैदल सैनिक, घोड़े, रथ तथा हाथी हैं, जिसे मगध के राजा ने अपने अधीनस्थ राजाओं से बटोरकर यहाँ ला खड़ा किया है। किन्तु मुझे जरासंध को नहीं मारना चाहिए क्योंकि भविष्य में वह निश्चित रूप से दूसरी सेना जोड़ लेगा।

तात्पर्य : काफी विचार करने के बाद कृष्ण ने तय किया कि चूँकि वे असुरों को विनष्ट करने के लिए पृथ्वी में अवतरित हुए हैं और चूँकि जरासन्ध सारे असुरों को भगवान् के समक्ष लाने के लिए

उत्साहित था, इसलिए जरासन्ध को जीवित और व्यस्त किये रखना अधिक उपयुक्त होगा।

एतदर्थोऽवतारोऽयं भूभारहरणाय मे ।
संरक्षणाय साधूनां कृतोऽन्येषां वधाय च ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एतत्—इस; अर्थः—प्रयोजन के लिए; अवतारः—अवतार; अयम्—यह; भू—पृथ्वी का; भार—बोझ; हरणाय—हटाने के लिए; मे—मेरे द्वारा; संरक्षणाय—पूरी सुरक्षा के लिए; साधूनाम्—साधुओं की; कृतः—किया गया; अन्येषाम्—अन्यों (असाधुओं) का; वधाय—मारने के लिए; च—तथा।

मेरे इस अवतार का यही प्रयोजन है—पृथ्वी के भार को दूर करना, साधुओं की रक्षा करना और असाधुओं का वध करना।

अन्योऽपि धर्मरक्षायै देहः संभ्रियते मया ।
विरामायाप्यधर्मस्य काले प्रभवतः क्वचित् ॥ ॥

शब्दार्थ

अन्यः—दूसरा; अपि—भी; धर्म—धर्म की; रक्षायै—रक्षा के लिए; देहः—शरीर; संभ्रियते—धारण किया जाता है; मया—मेरे द्वारा; विरामाय—रोकने के लिए; अपि—भी; अधर्मस्य—अधर्म का; काले—समय के साथ; प्रभवतः—प्रधान बनने पर; क्वचित्—जब भी।

मैं धर्म की रक्षा करने तथा जब जब समय के साथ अधर्म की प्रधानता होती है, तो उसका अन्त करने के लिए भी अन्य शरीर धारण करता हूँ।

एवं ध्यायति गोविन्द आकाशात्सूर्यवर्चसौ ।
रथावुपस्थितौ सद्यः ससूतौ सपरिच्छदौ ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार से; ध्यायति—विचार करते हुए; गोविन्दे—भगवान् कृष्ण द्वारा; आकाशात्—आकाश से; सूर्य—सूर्य जैसे; वर्चसौ—तेज वाले; रथौ—दो रथ; उपस्थितौ—प्रकट हो गये; सद्यः—सहसा; स—सहित; सूतौ—सारथियों; स—सहित; परिच्छदौ—साज-सामान।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : जब भगवान् गोविन्द इस तरह सोच रहे थे तो सूर्य के समान तेज वाले दो रथ आकाश से सहसा नीचे उतरे। वे सारथियों तथा साज-सज्जा से युक्त थे।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी तथा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती मानते हैं कि ये रथ भगवान् के ही धाम, वैकुण्ठ-लोक से नीचे आये थे। भगवान् के श्रद्धालु भक्त भगवान् की अद्वितीय प्रौद्योगिकी देखकर अपार हर्ष प्राप्त करते हैं।

आयुधानि च दिव्यानि पुराणानि यद‍ृच्छया ।
द‍ृष्ट्वा तानि हृषीकेशः सङ्कर्षणमथाब्रवीत् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

आयुधानि—हथियार; च—तथा; दिव्यानि—दिव्य; पुराणानि—पुराने; यद‍ृच्छया—स्वतः; द‍ृष्ट्वा—देखकर; तानि—उनको; हृषीकेशः—भगवान् कृष्ण; सङ्कर्षणम्—बलराम से; अथ—तब; अब्रवीत्—बोले।

उसी समय भगवान् के दिव्य हथियार भी स्वतः उनके समक्ष प्रकट हो गये। इन्हें देखकर इन्द्रियों के स्वामी श्रीकृष्ण ने भगवान् संकर्षण से कहा।

पश्यार्य व्यसनं प्राप्तं यदूनां त्वावतां प्रभो ।
एष ते रथ आयातो दयितान्यायुधानि च ॥ १ ॥
एतदर्थं हि नौ जन्म साधूनामीश शर्मकृत् ।
त्रयोविंशत्यनीकाख्यं भूमेर्भारमपाकुरु ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

पश्य—देखिये; आर्य—सम्मान्य; व्यसनम्—खतरा, संकट; प्राप्तम्—आया हुआ; यदूनाम्—यदुओं के लिए; त्वा—तुम्हारे द्वारा; अवताम्—सुरक्षित; प्रभो—हे स्वामी; एषः—यह; ते—तुम्हारा; रथः—रथ; आयातः—आ चुका है; दयितानि—प्रिय; आयुधानि—हथियार; च—तथा; एतत्-अर्थम्—इस प्रयोजन के लिए; हि—निस्सन्देह; नौ—हमारा; जन्म—जन्म; साधूनाम्—साधु-भक्तों का; ईश—हे प्रभु; शर्म—लाभ; कृत्—करते हुए; त्रयः-विंशति—तेईस; अनीक—सेनाएँ; आख्यम्—के नाम से; भूमेः—पृथ्वी का; भारम्—भार; अपाकुरु—हटाइये।

[भगवान् ने कहा] : हे पूज्य ज्येष्ठ भ्राता, आप अपने आश्रित यदुओं पर आये हुए इस संकट को तो देखिये! और हे प्रभु, यह भी देखिये कि आपका निजी रथ तथा आपकी पसन्द के हथियार आपके समक्ष आ चुके हैं। हे प्रभु! हमने जिस उद्देश्य से जन्म लिया है, वह अपने भक्तों के कल्याण को सुरक्षित करना है। कृपया अब इन तेईस सैन्य-टुकड़ियों के भार को पृथ्वी से हटा दीजिये।

एवं सम्मन्त्र्य दाशार्हौ दंशितौ रथिनौ पुरात् ।
निर्जग्मतुः स्वायुधाढ्यौ बलेनाल्पीयसा वृतौ ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; सम्मन्त्र्य—आमंत्रित करके; दाशार्हौ—दशार्ह के दो वंशज (कृष्ण तथा बलराम); दंशितौ—कवच पहनकर; रथिनौ—रथों पर आरूढ़ होकर; पुरात्—नगरी से; निर्जग्मतुः—बाहर गये; स्व—अपने; आयुध—हथियार; आढ्यौ—चमचमाते; बलेन—सेना द्वारा; अल्पीयसा—अत्यन्त लघु; वृतौ—साथ में लेकर।

भगवान् कृष्ण द्वारा अपने भाई को इस तरह आमंत्रित करने के बाद, दोनों दशार्ह कृष्ण तथा बलराम कवच पहन कर और अपने अपने चमचमाते हथियारों को प्रदर्शित करते हुए अपने रथों पर चढ़कर नगरी के बाहर चले गये। उनके साथ सैनिकों की छोटी-सी टुकड़ी ही थी।

शङ्खं दध्मौ विनिर्गत्य हरिर्दारुकसारथिः ।
ततोऽभूत्परसैन्यानां हृदि वित्रासवेपथुः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

शङ्खम्—अपना शंख; दध्मौ—बजाया; विनिर्गत्य—बाहर जाकर; हरिः—कृष्ण ने; दारुक-सारथिः—जिनका सारथी दारुक था; ततः—तत्पश्चात्; अभूत्—उठी; पर—शत्रु के; सैन्यानाम्—सैनिकों के; हृदि—हृदयों में; वित्रास—भय से; वेपथुः—कँपकँपी।

जब भगवान् कृष्ण दारुक द्वारा हाँके जा रहे अपने रथ पर चढ़कर नगरी से बाहर आ गये तो उन्होंने अपना शंख बजाया। इससे शत्रु-सैनिकों के हृदय भय से काँपने लगे।

तावाह मागधो वीक्ष्य हे कृष्ण पुरुषाधम ।
न त्वया योद्धुमिच्छामि बालेनैकेन लज्जया ।
गुप्तेन हि त्वया मन्द न योत्स्ये याहि बन्धुहन् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तौ—दोनों से; आह—कहा; मागधः—जरासंध ने; वीक्ष्य—देखकर; हे कृष्ण—हे कृष्ण; पुरुष-अधम—पुरुषों में सबसे निम्न; न—नहीं; त्वया—तुमसे; योद्धुम्—लड़ने के लिए; इच्छामि—इच्छा करता हूँ; बालेन—बालक के साथ; एकेन—अकेला; लज्जया—शर्म से; गुप्तेन—छिपी; हि—निस्सन्देह; त्वया—तुम्हारे द्वारा; मन्द—हे मूर्ख; न योत्स्ये—नहीं लड़ूँगा; याहि—चले जाओ; बन्धु—सम्बन्धियों का; हन्—अरे वध करने वाले।

जरासन्ध ने दोनों की ओर देखा और कहा : अरे पुरुषों में अधम कृष्ण, मैं तुझसे अकेले नहीं लड़ना चाहता क्योंकि एक बालक से युद्ध करना लज्जा की बात होगी। अरे अपने को गुप्त रखने वाले मूर्ख, अपने सम्बन्धियों की हत्या करने वाले, तू भाग जा! मैं तुझसे युद्ध नहीं करूँगा।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने जरासन्ध के शब्दों की विवेचना इस प्रकार की है : *पुरुषाधम* को *पुरुषा अधमा यस्मात्*—कृष्ण, जिसके सामने सारे लोग अधम हैं—के रूप में समझा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, यहाँ पर कृष्ण को "हे पुरुषोत्तम, या जीवों में श्रेष्ठ" के रूप में सम्बोधित किया जा रहा है। इसी तरह *गुप्तेन* कृष्ण का हर एक के हृदय में उपस्थित रहकर भौतिक दृष्टि से अदृश्य रहने का सूचक है। *त्वया मन्द* को संस्कृत व्याकरण के अनुसार *त्वया आमन्द* में विच्छेद किया जा सकता है। तब जरासन्ध का अभिप्राय होगा कि कृष्ण मूर्ख नहीं अपितु अत्यन्त सतर्क हैं। जरासन्ध द्वारा *बन्धु* शब्द का प्रयोग "सम्बन्धी" के अर्थ में हुआ है क्योंकि कृष्ण ने अपने मामा कंस का वध किया था। फिर भी *बन्धु* शब्द *बन्ध* क्रिया (बाँधना) से व्युत्पन्न है, अत: *बन्धुहन्* से "अज्ञान के बन्धन को नष्ट करने

वाला'' अर्थ निकाला जा सकता है। इसी प्रकार *याहि* शब्द (जाइए) सूचित करता है कि कृष्ण को चाहिए कि जीवों के पास जाकर उन्हें कृष्णभावनाभावित बनने का आशीर्वाद दें।

तव राम यदि श्रद्धा युध्यस्व धैर्यमुद्वह ।
हित्वा वा मच्छरैश्छिन्नं देहं स्वर्याहि मां जहि ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तव—तुम्हारा; राम—हे बलराम; यदि—यदि; श्रद्धा—विश्वास; युध्यस्व—लड़ो; धैर्यम्—धैर्य; उद्वह—धारण करो; हित्वा—छोड़कर; वा—या तो; मत्—मेरे; शरैः—बाणों से; छिन्नम्—खण्ड खण्ड होकर; देहम्—तुम्हारा शरीर; स्वः—स्वर्ग को; याहि—जाओ; माम्—(या फिर) मुझको; जहि—मारो।

रे बलराम, तू धैर्य सँजो करके मुझसे लड़, यदि तू सोचता है कि तू ऐसा कर सकता है। या तो तू मेरे बाणों के द्वारा खण्ड खण्ड होने से अपना शरीर त्याग और इस तरह स्वर्ग प्राप्त कर या फिर तू मुझे जान से मार।

तात्पर्य : आचार्य श्रीधर स्वामी के अनुसार जरासंध को सन्देह हो गया कि बलराम का शरीर अविनश्वर है इसलिए उसने यह विकल्प रखा कि बलराम उसका वध कर दें जो कदाचित अधिक व्यावहारिक हो।

श्रीभगवानुवाच
न वै शूरा विकत्थन्ते दर्शयन्त्येव पौरुषम् ।
न गृह्णीमो वचो राजन्नातुरस्य मुमूर्षतः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; न—नहीं; वै—निस्सन्देह; शूराः—वीर; विकत्थन्ते—डींग मारते हैं; दर्शयन्ति—दिखलाते हैं; एव—केवल; पौरुषम्—अपना पराक्रम; न गृह्णीमः—हम नहीं मानते; वचः—शब्द; राजन्—हे राजन्; आतुरस्य—मानसिक रूप से व्याकुल के; मुमूर्षतः—मरने वाले।

भगवान् ने कहा : असली वीर केवल डींग नहीं मारते अपितु अपने कार्य के द्वारा पराक्रम का प्रदर्शन करते हैं। जो चिन्ता से पूर्ण हो और मरना चाहता हो उसके शब्दों को हम गम्भीरता से नहीं ले सकते।

श्रीशुक उवाच
जरासुतस्तावभिसृत्य माधवौ
महाबलौघेन बलीयसावृनोत् ।
ससैन्ययानध्वजवाजिसारथी

सूर्यानलौ वायुरिवाभ्ररेणुभिः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; जरा-सुतः—जरा का पुत्र; तौ—वे दोनों; अभिसृत्य—पास जाकर; माधवौ—मधु के वंशज; महा—विशाल; बल—सैनिक-शक्ति की; ओघेन—बाढ़ से; बलीयसा—बलवान; आवृणोत्—घेर लिया; स—सहित; सैन्य—सैनिकों के; यान—रथ; ध्वज—झंडे; वाजि—घोड़े; सारथी—रथ हाँकने वाले; सूर्य—सूर्य; अनलौ—तथा अग्नि; वायुः—वायु; इव—सदृश; अभ्र—बादलों से; रेणुभिः—धूल के कणों से।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जिस तरह वायु बादलों से सूर्य को या धूल से अग्नि को ढक लेती है उसी तरह जरा का पुत्र, मधु के दो वंशजों की ओर चल पड़ा और उसने अपनी विशाल सेनाओं से उन्हें तथा उनके सैनिकों, रथों, पताकाओं, घोड़ों तथा सारथियों को घेर लिया।

तात्पर्य : आचार्य श्रीधर इंगित करते हैं कि बादल सूर्य को ढकते से प्रतीत होते हैं, वास्तव में सूर्य तो विस्तृत आकाश में चमकता रहता है। न ही धूल की पतली परत से अग्नि की शक्ति प्रभावित होती है। इसी तरह जरासंध की सैन्य-शक्ति का "आवरण" केवल ऊपरी था।

सुपर्णतालध्वजचिह्नितौ रथा-
वलक्षयन्त्यो हरिरामयोर्मृधे ।
स्त्रियः पुराट्टालकहर्म्यगोपुरं
समाश्रिताः सम्मुमुहुः शुचार्दितः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सुपर्ण—गरुड़; ताल—तथा ताड़ (चिह्नों) से युक्त; ध्वज—झंडों से; चिह्नितौ—अंकित; रथौ—दोनों रथ; अलक्षयन्त्यः—न पहचान पाती हुई; हरि-रामयोः—कृष्ण तथा बलराम के; मृधे—युद्ध में; स्त्रियः—स्त्रियाँ; पुर—नगरी की; अट्टालक—अटारियों; हर्म्य—प्रासादों; गोपुरम्—तथा द्वारों पर; समाश्रिताः—चढ़कर; सम्मुमुहुः—मूर्च्छित हो गईं; शुचा—शोक से; अर्दिताः—पीड़ित।

स्त्रियाँ अटारियों, महलों तथा नगर के ऊँचे द्वारों पर खड़ी हुई थीं। जब उन्हें कृष्ण तथा बलराम के रथ नहीं दिखाई पड़े, जिनकी पहचान गरुड़ तथा ताड़-वृक्ष के प्रतीकों से चिन्हित पताकाओं से होती थी, तो वे शोकाकुल होकर मूर्च्छित हो गईं।

तात्पर्य : यहाँ पर स्त्रियों का विशेष उल्लेख है क्योंकि कृष्ण तथा बलराम के प्रति उनकी असाधारण आसक्ति थी।

हरिः परानीकपयोमुचां मुहुः
शिलीमुखात्युल्बणवर्षपीडितम् ।
स्वसैन्यमालोक्य सुरासुरार्चितं
व्यस्फूर्जयच्छार्ङ्गशरासनोत्तमम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

हरिः—कृष्ण; पर—शत्रु की; अनीक—सेनाओं के; पयः-मुचाम्—(जो) बादलों (की तरह थे); मुहुः—बारम्बार; शिलीमुख—उनके बाणों के; अति—अत्यधिक; उल्बण—भयावनी; वर्ष—वर्षा से; पीडितम्—पीड़ित; स्व—अपनी; सैन्यम्—सेना को; आलोक्य—देखकर; सुर—देवताओं; असुर—तथा असुरों द्वारा; अर्चितम्—पूजित; व्यस्फूर्जयत्—टंकार किया; शार्ङ्ग—शार्ङ्ग नामक; शर-असन—अपना धनुष; उत्तमम्—उत्तम।

अपने चारों ओर बादलों जैसी विशाल शत्रु सेनाओं के बाणों की भयानक तथा निर्मम वर्षा से अपनी सेना को पीड़ित देखकर भगवान् हरि ने अपने उस उत्तम धनुष शार्ङ्ग पर टंकार की जो देवताओं तथा असुरों दोनों के द्वारा पूजित है।

गृह्णन्निशङ्गादथ सन्दधच्छरान्
विकृष्य मुञ्चन्शितबाणपूगान् ।
निघ्नन्रथान्कुञ्जरवाजिपत्तीन्
निरन्तरं यद्वदलातचक्रम् ॥ २॥

शब्दार्थ

गृह्णन्—निकालते हुए; निशङ्गात्—तरकस से; अथ—तत्पश्चात; सन्दधत्—स्थिर करते हुए; शरान्—बाणों को; विकृष्य—खींचकर; मुञ्चन्—छोड़ते हुए; शित—तीक्ष्ण; बाण—बाणों की; पूगान्—बाढ़; निघ्नन्—प्रहार करते हुए; रथान्—रथों; कुञ्जर—हाथियों; वाजि—घोड़ों; पत्तीन्—तथा पैदल सिपाहियों को; निरन्तरम्—लगातार; यद्वत्—की तरह; अलात-चक्रम्—आग का गोला, लुकाठी।

भगवान् कृष्ण ने अपने तरकस से तीर निकाले, उन्हें प्रत्यंचा (धनुष की डोरी) पर स्थित किया (चढ़ाया), डोरी खींची और तीक्ष्ण बाणों की झड़ी लगा दी जिसने शत्रु के रथों, हाथियों, घोड़ों तथा पैदल सिपाहियों पर जाकर वार किया। भगवान् अपने तीरों को अलात-चक्र की तरह छोड़ रहे थे।

निर्भिन्नकुम्भाः करिणो निपेतु-
रनेकशोऽश्वाः शरवृक्णकन्धराः ।
रथा हताश्वध्वजसूतनायकाः
पदायतश्छिन्नभुजोरुकन्धराः ॥ २४॥

शब्दार्थ

निर्भिन्न—फटे हुए; कुम्भाः—माथे का गण्डस्थल; करिणः—हाथी; निपेतुः—गिर पड़े; अनेकशः—एक बार में कई कई; अश्वाः—घोड़े; शर—बाणों से; वृक्ण—कटे हुए; कन्धराः—गर्दनें; रथाः—रथ; हत—मारे गये; अश्व—घोड़े; ध्वज—पताकाएँ; सूत—सारथी; नायकाः—तथा नायक (स्वामी); पदायतः—पैदल सैनिक; छिन्न—कटी हुई; भुज—भुजाएँ; ऊरु—जाँघें; कन्धराः—तथा कंधे।

हाथी धराशायी हो गये, उनके माथे फट गये, कटी गर्दनों वाले सेना के घोड़े गिर गये, रथ घोड़ों, झंडों, सारथियों तथा स्वामियों समेत टूट-फूटकर गिर गये और कटी हुई भुजाओं, जाँघों

तथा कन्धों वाले पैदल सिपाहियों ने दम तोड़ दिए।

सञ्छिद्यमानद्विपदेभवाजिना-
मङ्गप्रसूताः शतशोऽसृगापगाः ।
भुजाहयः पूरुषशीर्षकच्छपा
हतद्विपद्वीपहय ग्रहाकुलाः ॥ २५॥
करोरुमीना नरकेशशैवला
धनुस्तरङ्गायुधगुल्मसङ्कुलाः ।
अच्छूरिकावर्तभयानका महा-
मणिप्रवेकाभरणाश्मशर्कराः ॥ २६॥
प्रवर्तिता भीरुभयावहा मृधे
मनस्विनां हर्षकरीः परस्परम् ।
विनिघ्नतारीन्मुषलेन दुर्मदान्
सङ्कर्षणेनापरीमेयतेजसा ॥ २७॥
बलं तदङ्गार्णवदुर्गभैरवं
दुरन्तपारं मगधेन्द्रपालितम् ।
क्षयं प्रणीतं वसुदेवपुत्रयो-
र्विक्रीडितं तज्जगदीशयोः परम् ॥ २८॥

शब्दार्थ

सञ्छिद्यमान—खण्ड खण्ड होकर; द्वि-पद—दो पैर वाले (मनुष्य); इभ—हाथी; वाजिनाम्—तथा घोड़ों के; अङ्ग—अंगों से; प्रसूताः—बहते हुए; शतशः—सैकड़ों; असृक्—रक्त की; आप-गः—नदियाँ; भुज—बाँहें; अहयः—सर्पों की तरह; पूरुष—मनुष्यों की; शीर्ष—सिर; कच्छपाः—कछुवों की तरह; हत—मृत; द्विप—हाथी; द्वीप—द्वीपों की तरह; हय—तथा घोड़ों से; ग्रह—घड़ियालों की तरह; आकुलाः—पूरित; कर—हाथ; ऊरु—तथा जाँघें; मीनः—मछलियों की तरह; नर—मनुष्य के; केश—बाल; शैवलाः—सिवार की तरह; धनुः—धनुष; तरङ्ग—लहरों की तरह; आयुध—तथा हथियार; गुल्म—झाड़ियों के कुंज की तरह; सङ्कुलाः—एकत्रित; अच्छूरिका—रथ के पहिए; आवर्त—भँवरों की तरह; भयानकाः—भयावनी; महा-मणि—बहुमूल्य मणियाँ; प्रवेक—उत्तम; आभरण—तथा गहने; अश्म—पत्थरों की तरह; शर्कराः—तथा बालू; प्रवर्तिताः—बाहर निकालते हुए; भीरु—कायर के लिए; भय-आवहाः—डराने वाले; मृधे—युद्धभूमि में; मनस्विनाम्—बुद्धिमानों के लिए; हर्ष-करीः—हर्ष प्रदान करने वाले; परस्परम्—एक-दूसरे से; विनिघ्नता—प्रहार करते हुए; अरीन्—अपने शत्रुओं को; मुषलेन—अपने हलायुध से; दुर्मदान्—प्रचण्ड, क्रुद्ध; सङ्कर्षणेन—बलराम द्वारा; अपरिमेय—अथाह; तेजसा—बल से; बलम्—सैन्य-शक्ति; तत्—उस; अङ्ग—हे प्रिय (राजा परीक्षित); अर्णव—सागर की तरह; दुर्ग—अगाध; भैरवम्—तथा भयावना; दुरन्त—दुर्लंघ्य; पारम्—सीमा; मगध-इन्द्र—मगध के राजा जरासन्ध द्वारा; पालितम्—देखभाल किया हुआ; क्षयम्—विनाश को; प्रणीतम्—प्राप्त हुआ; वसुदेव-पुत्रयोः—वसुदेव के पुत्रों के लिए; विक्रीडितम्—खेल; तत्—वह; जगत्—ब्रह्माण्ड; ईशयोः—प्रभुओं के लिए; परम्—परम।

युद्धभूमि में मनुष्यों, हाथियों तथा घोड़ों के खण्ड खण्ड हो जाने से रक्त की सैकड़ों नदियाँ बह चलीं। इन नदियों में बाँहें सर्पों के तुल्य, मनुष्यों के सिर कछुवों की तरह, मृत हाथी द्वीपों की तरह तथा मृत घोड़े घड़ियालों की तरह प्रतीत हो रहे थे। उनके हाथ तथा जाँघें मछली की तरह, मनुष्यों के बाल सिवार की तरह, बाण लहरों की तरह तथा विविध हथियार झाड़ियों के

कुंज जैसे लग रहे थे। रक्त की नदियाँ इन सारी वस्तुओं से पड़ी थीं।

रथ के पहिए भयावनी भँवरों जैसे और बहुमूल्य मोती तथा आभूषण तेजी से बहती लाल रंग की नदियों में पत्थरों तथा रेत की तरह लग रहे थे, जो कायरों में भय और बुद्धिमानों में हर्ष उत्पन्न करने वाले थे। अपने हलायुध के प्रहारों से अत्यधिक शक्तिशाली बलराम ने मगधेन्द्र की सैनिक-शक्ति विनष्ट कर दी। यद्यपि यह सेना दुर्लंघ्य सागर की भाँति अथाह एवं भयावनी थी किन्तु वसुदेव के दोनों पुत्रों के लिए, जो कि ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं, यह युद्ध खिलवाड़ से अधिक नहीं था।

स्थित्युद्भवान्तं भुवनत्रयस्य यः
समीहितेऽनन्तगुणः स्वलीलया ।
न तस्य चित्रं परपक्षनिग्रह-
स्तथापि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

स्थिति—पालन; उद्भव—सृजन; अन्तम्—तथा संहार; भुवन-त्रयस्य—तीनों लोकों का; यः—जो; समीहिते—प्रभाव; अनन्त—अनन्त; गुणः—जिनके दिव्य गुण; स्व-लीलया—अपनी लीलाओं के रूप में; न—नहीं; तस्य—उसका; चित्रम्—अद्भुत; पर—विरोधी; पक्ष—पक्ष का; निग्रहः—दमन; तथा अपि—फिर भी; मर्त्य—मनुष्य; अनुविधस्य—अनुकरण करने वाला; वर्ण्यते—वर्णन किया जाता है।

जो तीनों लोकों के सृजन, पालन और संहार को एकसाथ सम्पन्न करने वाले हैं तथा जो असीम दिव्य गुणों वाले हैं उनके लिए विरोधी दल का दमन कर देना आश्चर्यजनक नहीं है। फिर भी जब भगवान् मानव-आचरण का अनुकरण करते हुए ऐसा करते हैं, तो साधुगण उनके कार्यों का गुणगान करते हैं।

तात्पर्य : दार्शनिक अरस्तू ने एक बार तर्क प्रस्तुत किया था कि परमेश्वर शायद ही कभी मानवीय कार्यों में भाग लेता हो क्योंकि समस्त सामान्य कार्य ऐसे दैवी पुरुष के लिए अनुपयुक्त है, इसी प्रकार श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती एक ऐसी ही बात उठाते हैं यद्यपि यह लगभग निश्चित है कि उन्होंने अरस्तू के ग्रंथ नहीं पढ़े होंगे। चूँकि कृष्ण समग्र ब्रह्माण्ड का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं, तो क्या जब वे जरासन्ध से युद्ध करते हैं यह उनके लिए अरुचिकर विसंगति नहीं है ?

इसका उत्तर इस प्रकार है : भगवान् मनुष्य की भूमिका अदा करते हैं और अपनी ह्लादिनी शक्ति का प्रसार करते हुए अनिश्चय और सक्रियता से पूर्ण उल्लासजनक दिव्य लीलाएँ करते हैं। अपनी योग-

मायाशक्ति द्वारा वे मनुष्य की तरह प्रकट होते हैं और इस तरह हम पृथ्वी के रंगमंच पर उन्हें परम पुरुष की भूमिका अदा करते देख कर आनंद उठा सकते हैं। निस्सन्देह, घोर नास्तिक लोग तर्क पेश करेंगे कि चूँकि कृष्ण ईश्वर हैं, तो इसमें वास्तविक अनिश्चय कहाँ रहा? ऐसे संशयवादी कृष्ण की आकर्षक शक्ति को कभी समझ नहीं सकेंगे। भौतिक मंच पर भी सौन्दर्य तथा अभिनय का अपना मोहक औचित्य है। इसी तरह हम कृष्ण को उन्हीं के लिए प्रेम करते हैं, उन्हीं के लिए उनके सौन्दर्य की प्रशंसा करते हैं और कृष्ण की लीलाओं का हम आनन्द लेते हैं क्योंकि वे सचमुच अपने में अद्भुत हैं। वास्तव में, कृष्ण किसी भौतिक अहंकारवश लीलाएँ नहीं करते अपितु हमारे आनन्द के लिए ही करते हैं। इस तरह आध्यात्मिक लीलाओं का प्रस्तुतीकरण उन शुद्ध हृदय वाले जीवों के असीम दिव्य आनंद के लिए है, जो ईश्वर से ईर्ष्या नहीं करते और यह कृष्ण द्वारा सम्पन्न प्रेम-कार्य है।

इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती *गोपाल तापनी उपनिषद* से एक महत्त्वपूर्ण श्लोक उद्धृत करते हैं—*नराकृति परब्रह्म कारणमानुषः*—परब्रह्म अपने निमित्त मनुष्य रूप में प्रकट होते हैं यद्यपि वे समस्त वस्तुओं के उद्गम हैं। इसी प्रकार से *श्रीमद्भागवत* (.१४.२) में कहा गया है— *यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्*—दिव्य आनन्द के स्रोत नित्य परब्रह्म उनके मित्र बन गये हैं।

जग्राह विरथं रामो जरासन्धं महाबलम् ।
हतानीकावशिष्टासुं सिंहः सिंहमिवौजसा ॥ ० ॥

शब्दार्थ

जग्राह—पकड़ लिया; विरथम्—रथविहीन; रामः—बलराम; जरासन्धम्—जरासन्ध को; महा—अत्यन्त; बलम्—बलवान; हत—मारी गई; अनीक—सेना; अवशिष्ट—शेष; असुम्—श्वास; सिंहः—एक सिंह; सिंहम्—दूसरे सिंह को; इव—सदृश; ओजसा—बलपूर्वक।

रथविहीन होने तथा सारे सैनिक मारे जाने से जरासन्ध के पास केवल श्वास शेष थी। उस समय बलराम ने उस बलशाली योद्धा को उसी तरह पकड़ लिया जिस तरह एक सिंह दूसरे सिंह को पकड़ लेता है।

बध्यमानं हताराातिं पाशैर्वारुणमानुषैः ।
वारयामास गोविन्दस्तेन कार्यचिकीर्षया ॥ १ ॥

शब्दार्थ

बध्यमानम्—बाँधे जाते समय; हत—मारा गया; अरातिम्—शत्रु को; पाशैः—रस्सियों से; वारुण—वरुणदेव की; मानुषैः—तथा सामान्य मनुष्यों की; वारयाम् आस—रोका; गोविन्दः—कृष्ण ने; तेन—उसके (जरासन्ध) द्वारा; कार्य—कुछ काम; चिकीर्षया—करने की इच्छा से।

अनेक शत्रुओं का वध करने वाले बलराम, जरासन्ध को वरुण के दैवी-पाश से तथा अन्य लौकिक रस्सियों से बाँधने लगे। किन्तु गोविन्द को अभी जरासन्ध के माध्यम से कुछ कार्य करना शेष था अतः उन्होंने बलराम से रुक जाने के लिए कहा।

तात्पर्य : *हताराातिम्* का अर्थ है ''जिसने अपने शत्रुओं को मार दिया है'' या ''जिसके माध्यम से उसके शत्रु मारे जायेंगे।'' यह विचारपूर्ण टिप्पणी श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने की है।

सा मुक्तो लोकनाथाभ्यां व्रीडितो वीरसम्मतः ।
तपसे कृतसङ्कल्पो वारितः पथि राजभिः ॥ २॥
वाक्यैः पवित्रार्थपदैर्नयनैः प्राकृतैरपि ।
स्वकर्मबन्धप्राप्तोऽयं यदुभिस्ते पराभवः ॥ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, जरासन्ध; मुक्तः—छोड़ दिया गया; लोक-नाथाभ्याम्—दोनों लोकेश्वरों द्वारा; व्रीडितः—लज्जित; वीर—वीरों से; सम्मतः—आदरित; तपसे—तपस्या करने; कृत-सङ्कल्पः—मन को पक्का करके; वारितः—रोका गया; पथि—मार्ग में; राजभिः—राजाओं द्वारा; वाक्यैः—वाक्यों द्वारा; पवित्र—शुद्ध करने वाला; अर्थ—अर्थ वाला; पदैः—शब्दों के द्वारा; नयनैः—तर्क से; प्राकृतैः—संसारी; अपि—भी; स्व—निजी; कर्म-बन्ध—गत कर्म के न बच पाने वाले फल के कारण; प्राप्तः—प्राप्त; अयम्—यह; यदुभिः—यदुओं द्वारा; ते—तुम्हारी; पराभवः—हार।

जरासन्ध जिसको योद्धा अत्यधिक सम्मान देते थे, जब ब्रह्माण्ड के दोनों स्वामियों ने उसे छोड़ दिया तो वह अत्यन्त लज्जित हुआ और उसने तपस्या करने का निश्चय किया। किन्तु मार्ग में कई राजाओं ने आध्यात्मिक ज्ञान तथा संसारी तर्कों के द्वारा उसे आश्वस्त किया कि उसे आत्मोत्सर्ग का विचार त्याग देना चाहिए। उन्होंने उससे कहा, ''यदुओं द्वारा आपको हराया जाना तो आपके गत कर्मों का परिहार्य फल है।''

हतेषु सर्वानीकेषु नृपो बार्हद्रथस्तदा ।
उपेक्षितो भगवता मगधान्दुर्मना ययौ ॥ ४॥

शब्दार्थ

हतेषु—मारे जाने पर; सर्व—सारे; अनीकेषु—सेना के सारे सैनिक; नृपः—राजा; बार्हद्रथः—बृहद्रथ का पुत्र, जरासन्ध; तदा—तब; उपेक्षित ह—उपेक्षित; भगवता—भगवान् द्वारा; मगधान्—मगध राज्य में; दुर्मनाः—उदास; ययौ—चला गया।

अपनी सारी सेना मारी जाने तथा स्वयं भी भगवान् द्वारा उपेक्षित होने से बृहद्रथ-पुत्र राजा जरासन्ध उदास मन से अपने राज्य मगध को लौट गया।

मुकुन्दोऽप्यक्षतबलो निस्तीर्णारिबलार्णवः ।
विकीर्यमाणः कुसुमैस्त्रीदशैरनुमोदितः ॥ ५ ॥
माथुरैरुपसङ्गम्य विज्वरैर्मुदितात्मभिः ।
उपगीयमानविजयः सूतमागधवन्दिभिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मुकुन्दः—कृष्ण; अपि—भी; अक्षत—बाल बाँका न होने से; बलः—अपनी सेना; निस्तीर्ण—पार कराकर; अरि—अपने शत्रु की; बल—सेना के; अर्णवः—समुद्र; विकीर्यमाणः—उन पर बरसाये गये; कुसुमैः—फूलों से; त्रिदशैः—देवताओं द्वारा; अनुमोदितः—बधाई दिये गये; माथुरैः—मथुरा के लोगों के द्वारा; उपसङ्गम्य—मिलकर; विज्वरैः—ज्वर से मुक्त; मुदित-आत्मभिः—अतीव हर्ष से युक्त; उपगीयमान—गीत गाये जाकर; विजयः—विजय; सूत-मागध—पुराण के गायक; वन्दिभिः—वन्दीजनों द्वारा।

भगवान् मुकुन्द ने अक्षत अपनी पूर्णतः सेना के द्वारा अपने शत्रु की सेनाओं के समुद्र को पार कर लिया था। स्वर्ग के निवासियों ने उन पर फूलों की वर्षा करते हुए उन्हें बधाइयाँ दीं। मथुरा के निवासी अपनी ज्वरयुक्त चिन्ता से मुक्त होकर तथा हर्ष से पूरित होकर उनसे मिलने के लिए बाहर निकल आये और सूतों, मागधों तथा वन्दीजनों ने उनकी विजय की प्रशंसा में गीत गाये।

शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्भेरीतूर्याण्यनेकशः ।
वीणावेणुमृदङ्गानि पुरं प्रविशति प्रभौ ॥ ७ ॥
सिक्तमार्गां हृष्टजनां पताकाभिरभ्यलङ्कृताम् ।
निर्घुष्टां ब्रह्मघोषेण कौतुकाबद्धतोरणाम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

शङ्ख—शंख; दुन्दुभयः—तथा दुन्दुभियाँ; नेदुः—बजने लगीं; भेरी—ढोल; तूर्याणि—तथा तुरहियाँ; अनेकशः—एकसाथ कई; वीणा-वेणु-मृदङ्गानि—वीणा, बाँसुरी तथा मृदंग; पुरम्—नगर में; प्रविशति—उनके प्रवेश करते ही; प्रभौ—प्रभु; सिक्त—पानी से सींचा गया; मार्गाम्—रास्तों का; हृष्ट—प्रसन्न; जनाम्—नागरिकों को; पताकाभिः—पताकाओं से; अभ्यलङ्कृताम्—खूब सजाया गया; निर्घुष्टाम्—प्रतिध्वनित; ब्रह्म—वेदों के; घोषेण—उच्चारण से; कौतुक—उत्सवपूर्ण; आबद्ध—आभूषण; तोरणाम्—प्रवेशद्वारों पर।

ज्योंही भगवान् ने नगरी में प्रवेश किया, शंख तथा दुन्दुभियाँ बजने लगीं और अनेक ढोल, तुरहियाँ, वीणा, वंशी तथा मृदंग एकसाथ बजने लगे। रास्तों को जल छिड़का गया था, सर्वत्र पताकाएँ लगी थीं तथा प्रवेशद्वारों को समारोह के लिए सजाया गया था। उसके नागरिक उत्साहित थे और नगरी वैदिक स्तोत्रों के उच्चारण से गूँज रही थी।

निचीयमानो नारीभिर्माल्यदध्यक्षताङ्कुरैः ।
निरीक्ष्यमाणः सस्नेहं प्रीत्युत्कलितलोचनैः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

निचीयमानः—उन पर बिखेरकर; नारीभिः—स्त्रियों द्वारा; माल्य—फूलों की मालाएँ; दधि—दही; अक्षत—लईया; अङ्कुरैः—तथा अंकुर; निरीक्ष्यमाणः—देखे जा रहे; स-स्नेहम्—स्नेहपूर्वक; प्रीति—प्रेमवश; उत्कलित—फैली हुई; लोचनैः—आँखों से।

ज्योंही नगरी की स्त्रियों ने भगवान् पर स्नेहयुक्त दृष्टि डाली, उनके नेत्र प्रेमवश खुले के खुले रह गये। उन्होंने भगवान् पर फूल-मालाएँ, दही, अक्षत तथा नवांकुरों की वर्षा की।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण द्वारा मथुरा में प्रवेश करते समय यह सब हुआ।

आयोधनगतं वित्तमनन्तं वीरभूषणम् ।
यदुराजाय तत्सर्वमाहृतं प्रादिशत्प्रभुः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

आयोधन-गतम्—युद्धभूमि में गिरी हुई; वित्तम्—बहुमूल्य सामग्री; अनन्तम्—अनगिनत; वीर—वीरों के; भूषणम्—आभूषण; यदु-राजाय—यदुओं के राजा, उग्रसेन को; तत्—वह; सर्वम्—सब; आहृतम्—लाई गई; प्रादिशत्—भेंट की; प्रभुः—भगवान् ने।

तत्पश्चात् भगवान् कृष्ण ने यदुराज को वह सारी सम्पत्ति लाकर भेंट की जो युद्धभूमि में गिरी थी अर्थात् जो मृत योद्धाओं के अनगिनत आभूषणों के रूप में थी।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि घोड़ों तथा अन्य पशुओं से भी रत्नजटित आभूषण एकत्र किये गये थे। यहाँ पर अति शंकालु मनुष्य की जानकारी हेतु यह बतला दिया जाय कि जरासन्ध इस स्पष्ट उद्देश्य से मथुरा आया था कि वह कृष्ण तथा बलराम सहित नगरी के सारे लोगों की हत्या कर देगा। भगवान् अपनी अहैतुकी कृपा से बद्धजीवों को मजा चखा कर उनकी सहायता करते हैं जिससे वे प्रकृति के नियमों तथा भगवान् के अस्तित्व के विषय में अधिक संवेदनशील बनें। अन्ततः कृष्ण ने जरासन्ध तथा युद्धभूमि में मारे गये अन्य वीरों को मुक्ति प्रदान की। भगवान् बड़े कठोर हैं किन्तु द्वेषपूर्ण नहीं। वस्तुतः वे दया के सागर हैं।

एवं सप्तदशकृत्वस्तावत्यक्षौहिणीबलः ।
युयुधे मागधो राजा यदुभिः कृष्णपालितैः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सप्त-दश—सत्रह; कृत्वः—बार; तावति—इतने पर भी (हारने पर); अक्षौहिणी—कई अक्षौहिणी वाली; बलः—सैनिक-शक्ति; युयुधे—युद्ध किया; मागधः राजा—मगध के राजा ने; यदुभिः—यदुओं से; कृष्ण-पालितैः—कृष्ण द्वारा सुरक्षित।

मगध का राजा इसी तरह से सत्रह बार पराजित होता रहा। फिर भी इन पराजयों में वह अपनी कई अक्षौहिणी सेनाओं से यदुवंश की उन सेनाओं के विरुद्ध लड़ता रहा जो श्रीकृष्ण द्वारा संरक्षित थीं।

अक्षिण्वंस्तद्बलं सर्वं वृष्णयः कृष्णतेजसा ।
हतेषु स्वेष्वनीकेषु त्यक्तोऽगादरिभिर्नृपः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

अक्षिण्वन्—नष्ट कर दी; तत्—उसकी; बलम्—सेना; सर्वम्—सारी; वृष्णयः—वृष्णियों ने; कृष्ण-तेजसा—भगवान् कृष्ण की शक्ति से; हतेषु—मृत होने पर; स्वेषु—अपनी; अनीकेषु—सेना के; त्यक्तः—छोड़ा गया; अगात्—चला जाता; अरिभिः—शत्रुओं द्वारा; नृपः—राजा, जरासन्ध।

भगवान् कृष्ण की शक्ति से, वृष्णिजन जरासन्ध की सारी सेना को नष्ट करते रहे और जब उसके सारे सैनिक मार डाले जाते तो राजा (जरासन्ध) अपने शत्रुओं द्वारा छोड़ दिये जाने पर पुनः वहाँ से चला जाता।

अष्टादशम सङ्ग्राम आगामिनि तदन्तरा ।
नारदप्रेषितो वीरो यवनः प्रत्यदृश्यत ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

अष्टा-दशम—अठारहवें; सङ्ग्रामे—युद्ध में; आगामिनि—घटित होने वाले; तत्-अन्तरा—उस बीच; नारद—नारदमुनि द्वारा; प्रेषितः—भेजा हुआ; वीरः—योद्धा; यवनः—बर्बर (कालयवन नामक); प्रत्यदृश्यत—प्रकट हुआ।

जब अठारहवाँ युद्ध होने ही वाला था, तो कालयवन नामक एक बर्बर योद्धा, जिसे नारद ने भेजा था, युद्ध-क्षेत्र में प्रकट हुआ।

रुरोध मथुरामेत्य तिसृभिर्म्लेच्छकोटिभिः ।
नृलोके चाप्रतिद्वन्द्वो वृष्णीन्श्रुत्वात्मसम्मितान् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

रुरोध—घेर लिया; मथुराम्—मथुरा नगरी को; एत्य—आकर; तिसृभिः—तीन गुना; म्लेच्छ—बर्बरों से; कोटिभिः—एक करोड़; नृ-लोके—मनुष्यों में; च—तथा; अप्रतिद्वन्द्वः—जिसका कोई उपयुक्त प्रतिद्वन्द्वी न हो; वृष्णीन्—वृष्णियों को; श्रुत्वा—सुनकर; आत्म—अपनी ही; सम्मितान्—जोड़ वाला।

मथुरा आकर इस यवन ने तीन करोड़ बर्बर (म्लेच्छ) सैनिकों समेत इस नगरी में घेरा डाल दिया। उसे कभी अपने से लड़ने योग्य प्रतिद्वन्द्वी व्यक्ति नहीं मिला था किन्तु उसने सुना था कि वृष्णिजन उसकी जोड़ के हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने कालयवन के इतिहास के बारे में *विष्णु पुराण* से उद्धरण दिया है : ''एक बार गार्ग्य के साले ने मजाक में उन्हें नपुंसक कह दिया और जब यादवों ने इसे सुना तो वे जी भरकर हँसे। इस हँसी से क्रुद्ध होकर गार्ग्य दक्षिण दिशा में यह सोचते हुए चल पड़े, ''भगवान् मुझे एक पुत्र दो, जो इन यादवों के लिए आतंक बन सके।'' उन्होंने लोहे का चूर्ण खाकर महादेव की पूजा की और बारह वर्ष बाद उन्हें इच्छित वर मिला। वे खुशी खुशी घर लौट आये।

बाद में जब यवनों के सन्तानहीन राजा ने उनसे एक पुत्र के लिए प्रार्थना की तो गार्ग्य ने यवन की स्त्री से एक पुत्र उत्पन्न किया, जिसका नाम कालयवन था। उनमें शिव के महाकाल-रूप जैसा क्रोध था। एक बार कालयवन ने नारद से पूछा, ''इस समय पृथ्वी पर कौन सबसे बलवान राजा हैं ?'' नारद ने उत्तर दिया कि यदु लोग हैं। इस तरह नारद द्वारा बताए जाने पर कालयवन मथुरा में प्रकट हुआ।''

तं दृष्ट्वाचिन्तयत्कृष्णः सङ्कर्षण सहायवान् ।
अहो यदूनां वृजिनं प्राप्तं ह्युभयतो महत् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; दृष्ट्वा—देखकर; अचिन्तयत्—सोचा; कृष्णः—कृष्ण ने; सङ्कर्षण—बलराम द्वारा; सहाय-वन्—सहायता पहुँचाया हुआ; अहो—आह; यदूनाम्—यदुओं के लिए; वृजिनम्—समस्या; प्राप्तम्—आई हुई; हि—निस्सन्देह; उभयतः—दोनों ओर से (कालयवन से तथा जरासन्ध से); महत्—महान्।

जब भगवान् कृष्ण तथा भगवान् संकर्षण ने कालयवन को देखा तो कृष्ण ने स्थिति पर विचार किया और कहा, ''ओह! अब तो यदुओं पर दो ओर से संकट आ पड़ा है।''

तात्पर्य : यहाँ हम देख सकते हैं कि यद्यपि कृष्ण ने जरासन्ध को सत्रह बार अनेक विषमताओं के होते हुए पराजित किया था फिर भी उन्होंने कालयवन की सेना का तुरन्त संहार नहीं किया और इस तरह शिवजी द्वारा गार्ग्य को दिये गये वर को अक्षत रखा जैसाकि पिछले श्लोक के तात्पर्य में बताया गया है।

यवनोऽयं निरुन्धेऽस्मानद्य तावन्महाबलः ।
मागधोऽप्यद्य वा श्वो वा परश्वो वागमिष्यति ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

यवनः—विदेशी बर्बर, म्लेच्छ; अयम्—यह; निरुन्धे—विरोध कर रहा है; अस्मान्—हमको; अद्य—आज; तावत्—तब तक; महा-बलः—अत्यन्त बलवान; मागधः—जरासन्ध; अपि—भी; अद्य—आज; वा—अथवा; श्वः—कल; वा—अथवा; पर-श्वः—परसों; वा—अथवा; आगमिष्यति—आयेगा।

“हमें यह यवन पहले से घेरे हुए है और शीघ्र ही यदि आज नहीं, तो कल या परसों तक मगध का बलशाली राजा यहाँ आ पहुँचेगा।”

आवयोः युध्यतोरस्य यद्यागन्ता जरासुतः ।
बन्धून्हनिष्यत्यथ वा नेष्यते स्वपुरं बली ॥ ४७॥

शब्दार्थ

आवयोः—हम दोनों; युध्यतोः—लड़ते हुए; अस्य—उससे (कालयवन से); यदि—यदि; आगन्ता—आता है; जरा-सुतः—जरा का पुत्र; बन्धून्—हमारे सम्बन्धी; हनिष्यति—मार डालेगा; अथ वा—या फिर; नेष्यते—ले जायेगा; स्व—अपनी; पुरम्—नगरी में; बली—बलवान।.

“यदि हमारे दोनों के कालयवन से युद्ध करने में संलग्न रहते समय, बलशाली जरासन्ध आता है, तो वह या तो हमारे सम्बन्धियों को मार सकता है या फिर उन्हें पकड़कर अपनी राजधानी ले जा सकता है।”

तस्मादद्य विधास्यामो दुर्गं द्विपददुर्गमम् ।
तत्र ज्ञातीन्समाधाय यवनं घातयामहे ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; अद्य—आज; विधास्यामः—बनायेंगे; दुर्गम्—किला; द्विपद—मनुष्यों के लिए; दुर्गमम्—दुर्गम; तत्र—वहाँ; ज्ञातीन्—अपने परिवार वालों को; समाधाय—रखकर; यवनम्—बर्बर को; घातयामहे—हम मार डालेंगे।.

“अतः हम तुरन्त ऐसा किला बनायेंगे जिसमें मानवी सेना प्रवेश न कर पाये। अपने पारिवारिक जनों को उसमें वसा देने के पश्चात् हम म्लेच्छराज का वध करेंगे।”

इति सम्मन्त्र्य भगवान्दुर्गं द्वादशयोजनम् ।
अन्तःसमुद्रे नगरं कृत्स्नाद्भुतमचीकरत् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; सम्मन्त्र्य—सलाह करके; भगवान्—भगवान् ने; दुर्गम्—किला; द्वादश-योजनम्—बारह योजन का (लगभग ० मील) ; अन्तः—भीतर; समुद्रे—समुद्र के; नगरम्—नगर; कृत्स्न—हर वस्तु से युक्त; अद्भुतम्—अद्भुत; अचीकरत्—बनवा दिया।.

इस तरह बलराम से सलाह करने के बाद भगवान् ने समुद्र के भीतर बारह योजन परिधि वाला एक किला बनवाया। इस किले के भीतर उन्होंने एक ऐसा नगर बनाया जिसमें एक से एक बढ़ कर अद्भुत वस्तुएँ उपलब्ध थीं।

दृश्यते यत्र हि त्वाष्ट्रं विज्ञानं शिल्पनैपुणम् ।
रथ्याचत्वरवीथीभिर्यथावास्तु विनिर्मितम् ॥ ५० ॥

सुरद्रुमलतोद्यानविचित्रोपवनान्वितम् ।
हेमशृङ्गैर्दिविस्पृग्भिः स्फटिकाट्टालगोपुरैः ॥ ५१ ॥

राजतारकुटैः कोष्ठैर्हेमकुम्भैरलङ्कृतैः ।
रत्नकूतैर्गृहैर्हेमैर्महामारकतस्थलैः ॥ ५२ ॥

वास्तोष्पतीनां च गृहैर्वल्लभीभिश्च निर्मितम् ।
चातुर्वर्ण्यजनाकीर्णं यदुदेवगृहोल्लसत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

दृश्यते—देखा जाता था; यत्र—जिसमें; हि—निस्सन्देह; त्वाष्ट्रम्—त्वष्टा (विश्वकर्मा) का; विज्ञानम्—वैज्ञानिक ज्ञान; शिल्प—शिल्पकला में; नैपुणम्—निपुणता; रथ्या—मुख्य मार्गों सहित; चत्वर—चौराहा या चौक; वीथीभिः—तथा व्यापारिक मार्गों से; यथा-वास्तु—काफी बड़े भू-खण्ड पर; विनिर्मितम्—बनाया हुआ; सुर—देवताओं के; द्रुम—वृक्षों; लता—तथा लताओं से युक्त; उद्यान—बगीचों; विचित्र—विचित्र; उपवन—तथा पार्कों; अन्वितम्—से युक्त; हेम—स्वर्ण; शृङ्गैः—चोटी से युक्त; दिवि—आकाश को; स्पृग्भिः—स्पर्श करते हुए; स्फटिका—स्फटिक के; अट्टाल—अटारियाँ; गोपुरैः—दरवाजों से युक्त; राजत—चाँदी के; आरकुटैः—तथा पीतल के; कोष्ठैः—कोषागार, भंडार, अस्तबल आदि से युक्त; हेम—स्वर्ण; कुम्भैः—घड़ों से; अलङ्कृतैः—सुसज्जित; रत्न—रत्नजटित; कूतैः—चोटियों वाले; गृहैः—घरों से; हेमैः—सोने के; महा-मारकत—बहुमूल्य मरकत मणियों से; स्थलैः—फर्श से युक्त; वास्तोः—घर-बार के; पतीनाम्—अधिष्ठाता देवों के; च—तथा; गृहैः—मन्दिरों से; वल्लभीभिः—चौकसी बुर्जों से; च—तथा; निर्मितम्—बनाये गये; चातुः-वर्ण्य—चारों वर्णों के; जन—लोगों से; आकीर्णम्—पूरित; यदु-देव—यदुओं के स्वामी, श्रीकृष्ण का; गृह—घरों से; उल्लसत्—अलंकृत।

उस नगर के निर्माण में विश्वकर्मा के पूर्ण विज्ञान तथा शिल्पकला को देखा जा सकता था। उसमें चौड़े मार्ग, व्यावसायिक सड़कें तथा चौराहे थे, जो विस्तृत भू-खण्ड में बनाये गये थे। उसमें भव्य पार्क थे और स्वर्ग-लोक से लाये गये वृक्षों तथा लताओं से युक्त बगीचे भी थे। उसके गोपुर के मीनारों के ऊपर सोने के बुर्ज थे, जो आकाश को चूम रहे थे। उनकी अटारियाँ स्फटिक मणियों से बनी थीं। सोने से आच्छादित घरों के सामने का भाग सुनहरे घड़ों से सजाया गया था और उनकी छतें रत्नजटित थीं तथा फर्श में बहुमूल्य मरकत मणि जड़े थे। घरों के पास ही कोषागार, भंडार तथा आकर्षक घोड़ों के अस्तबल थे, जो चाँदी तथा पीतल के बने हुए थे। प्रत्येक आवास में एक चौकसी बुर्जी थी और घरेलू अर्चाविग्रह के लिए मन्दिर था। यह नगर चारों वर्णों के लोगों से पूरित था और यदुओं के स्वामी श्रीकृष्ण के महलों के कारण विशेष रूप से अलंकृत था।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि राजमार्ग (*रथ्याः*) सामने की ओर थे और गौण मार्ग (*वीथ्यः*) पीछे थे और इन दोनों के मध्य में चौराहे (*चत्वराणि*) थे। इन चौराहों के भीतर चहारदीवारियाँ थीं जिनके भीतर सुनहरे आवासगृह थे जिनके ऊपरी भाग में चौकसी बुर्जियाँ थीं जिन

पर सुनहरे घड़े रखे थे। इस तरह सारी इमारतें कई मंजिला थीं। *वास्तु* शब्द सूचित करता है कि घर तथा इमारतें पर्याप्त भू-खण्ड पर बनी थीं जिससे हरियाली के लिए काफी गुंजाईश थी।

सुधर्मां पारिजातं च महेन्द्रः प्राहिणोद्धरेः ।
यत्र चावस्थितो मर्त्यो मर्त्यधर्मैर्न युज्यते ॥ ५४॥

शब्दार्थ

सुधर्माम्—सुधर्मा नामक सभागार; पारिजातम्—पारिजात वृक्ष; च—तथा; महा-इन्द्रः—स्वर्ग के राजा इन्द्र ने; प्राहिणोत्—लाकर दिया; हरेः—कृष्ण को; यत्र—जिसमें (सुधर्मा में); च—तथा; अवस्थितः—स्थित; मर्त्यः—मर्त्य, मरणशील; मर्त्य-धर्मैः—मरने के नियमों से; न युज्यते—प्रभावित नहीं है।

इन्द्र ने श्रीकृष्ण के लिए सुधर्मा सभागार ला दिया जिसके भीतर खड़ा मनुष्य मृत्यु के नियमों से प्रभावित नहीं होता। इन्द्र ने पारिजात वृक्ष भी लाकर दिया।

श्यामैकवर्णान्वरुणो हयाञ्शुक्लान्मनोजवान् ।
अष्टौ निधिपतिः कोशान्लोकपालो निजोदयान् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

श्याम—गहरा नीला; एक—नितान्त; वर्णान्—रंग का; वरुणः—सागरों का शासक वरुण; हयान्—घोड़े; शुक्लान्—सफेद; मनः—मन (की तरह के); जवान्—तेज; अष्टौ—आठ; निधि-पतिः—देवताओं का कोषाध्यक्ष, कुवेर; कोशान्—खजाने को; लोक-पालः—विभिन्न लोकों के शासक; निज—अपने; उदयान्—ऐश्वर्य विभूति।

वरुण ने मन के समान वेग वाले घोड़े दिये जिनमें से कुछ शुद्ध श्याम रंग के थे और कुछ सफेद थे। देवताओं के कोषाध्यक्ष कुवेर ने अपनी आठों निधियाँ दीं और विभिन्न लोकपालों ने अपने अपने ऐश्वर्य प्रदान किये।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है—''कोष का स्वामी कुवेर है और आठ कोष ही उसकी निधियाँ हैं। ये इस प्रकार हैं—

पद्मश्चैव महापद्मो मत्स्यकूर्मौ तथौदकः ।

नीलो मुकुन्दः शंखश्च निधयोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥

''आठ निधियाँ हैं—पद्म, महापद्म, मत्स्य, कूर्म, औदक, नील, मुकुन्द तथा शंख।''

यद्यद्भगवता दत्तमाधिपत्यं स्वसिद्धये ।
सर्वं प्रत्यर्पयामासुर्हरौ भूमिगते नृप ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

यत् यत्—जो जो; भगवता—भगवान् द्वारा; दत्तम्—दी गई; आधिपत्यम्—नियंत्रण करने की प्रदत्त शक्ति; स्व—निजी; सिद्धये—अधिकार जताने की सुविधा के लिए; सर्वम्—सारी; प्रत्यर्पयाम् आसुः—वापस दे दीं; हरौ—कृष्ण को; भूमि—पृथ्वी में; गते—आये हुए; नृप—हे राजा (परीक्षित)।

हे राजन्, जब भगवान् पृथ्वी पर आ गये तो इन देवताओं ने उन सभी सिद्धियों को उन्हें अर्पित कर दिया जो उन्हें अपने विशेष अधिकार के निष्पादन के लिए पहले प्राप्त हुई थीं।

तत्र योगप्रभावेन नीत्वा सर्वजनं हरिः ।
प्रजापालेन रामेण कृष्णः समनुमन्त्रितः ।
निर्जगाम पुरद्वारात्पद्ममाली निरायुधः ॥५७॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; योग—अपनी योगशक्ति के; प्रभावेन—प्रभाव से; नीत्वा—लाकर; सर्व—सभी; जनम्—अपनी प्रजा को; हरिः—भगवान् कृष्ण; प्रजा—नागरिकों के; पालेन—रक्षक; रामेण—बलराम द्वारा; कृष्णः—कृष्ण ने; समनुमन्त्रितः—सलाह की; निर्जगाम—बाहर चले गये; पुर—नगर के; द्वारात्—द्वार से; पद्म—कमल के फूलों की; माली—माला पहन कर; निरायुधः—बिना हथियार के।

अपनी योगमाया-शक्ति के बल से जब भगवान् कृष्ण ने अपनी सारी प्रजा को नये नगर में पहुँचा दिया तो उन्होंने बलराम से सलाह की जो मथुरा में उसकी रक्षा करने के लिए रह गये थे। तब गले में कमल के फूलों की माला पहने और बिना हथियार के भगवान् कृष्ण मुख्य दरवाजे से होकर मथुरा से बाहर चले गये।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने कृष्ण द्वारा सारे नागरिकों को मथुरा से द्वारका स्थानान्तरित किये जाने का वर्णन प्रस्तुत करने के लिए *श्री पद्म पुराण* के उत्तर खण्ड से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं—

सुषुप्तान् मथुरायान्तु पौरांस्तत्र जनार्दनः ।

उद्धृत्य सहसा रात्रौ द्वारकायां न्यवेशयत् ॥

प्रबुद्धास्ते जनाः सर्वे पुत्रदारसमन्विताः ।

हैमहर्म्यतले विष्टा विस्मयं परमं ययुः ॥

"अर्धरात्रि में, जब मथुरावासी सोये हुए थे तो भगवान् जनार्दन ने सहसा उन्हें उस नगरी से हटाकर द्वारका में लाकर रख दिया। जब लोग जागे तो अपने आपको, अपने पुत्रों को तथा पत्नियों को सोने से बने महलों के भीतर पाकर चकित थे।"

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कन्ध के अन्तर्गत "कृष्ण द्वारा द्वारकापुरी की स्थापना" नामक

पचासवें अध्याय के श्रील प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter इक्यावन

मुचुकुन्द का उद्धार

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह कृष्ण ने मुचुकुन्द की वक्र दृष्टि द्वारा कालयवन का वध कराया और कृष्ण तथा मुचुकुन्द के बीच क्या वार्ता हुई।

अपने परिवारजनों को द्वारका के दुर्ग में सुरक्षित करके श्रीकृष्ण मथुरा से बाहर चले गये। वे उदीयमान चन्द्रमा की तरह लग रहे थे। कालयवन ने देखा कि कृष्ण का तेजस्वी शरीर नारद द्वारा किये गये वर्णन से मेल खा रहा था अतएव वह यवन जान गया कि वे भगवान् ही हैं। यह देखकर कि वे कोई हथियार धारण नहीं किये हैं, उसने भी अपने हथियार रख दिये और उनसे युद्ध करने के उद्देश्य से पीछे की ओर से उनकी तरफ भागा। श्रीकृष्ण यवन से दूर भागते रहे और हर कदम पर केवल इतनी दूर रहते रहे जिससे उसकी पकड़ में न आ सकें और इस तरह वे उसे काफी दूर एक पर्वतगुफा तक ले गये। कालयवन दौड़ता जाता और कृष्ण को अपमानजनक शब्द भी कहता जाता किन्तु वह उन्हें पकड़ नहीं पाया क्योंकि उसके दुष्कर्म का कोष अभी पूरी तरह खाली नहीं हुआ था। श्रीकृष्ण उस गुफा में घुस गये और कालयवन भी उनका पीछा करते पहुँचा जहाँ उसने एक व्यक्ति को जमीन पर लेटे देखा। उसे कृष्ण जानकर कालयवन ने उस पर पाद-प्रहार किया। वह व्यक्ति दीर्घकाल से सो रहा था अत: तीव्रता से जगा दिये जाने से उसने क्रुद्ध होकर चारों ओर देखा तो कालयवन दिख गया। उसने उसकी ओर क्रूरता से घूरा तो कालयवन का शरीर क्षण-भर में जलकर राख हो गया।

यह असाधारण व्यक्ति मान्धाता का पुत्र मुचुकुन्द था। वह ब्राह्मण संस्कृति का उपासक था और अपने व्रत का पक्का था। इसके पूर्व उसने असुरों से देवताओं की रक्षा करने में, सहायता देने में वर्षों बिताए थे। जब देवताओं को रक्षक के रूप में कार्तिकेय प्राप्त हो गये तो उन्होंने मुचुकुन्द को अवकाश दे दिया और कहा कि वह मोक्ष के अतिरिक्त कोई भी और वर माँग ले क्योंकि मोक्ष देना तो विष्णु के हाथों में है। अत: मुचुकुन्द ने देवताओं से सोते रहने का वर माँग लिया और इसीलिए वह तभी से इस गुफा में पड़ा सो रहा था।

कालयवन के भस्म हो जाने पर श्रीकृष्ण ने मुचुकुन्द को दर्शन दिया। वह कृष्ण की अद्वितीय सुन्दरता देखकर आश्चर्यचकित हो उठा। उसने भगवान् कृष्ण से पूछा कि आप कौन हैं और उनसे अपना परिचय इस तरह दिया, ''मैं दीर्घकाल तक जागते रहने के बाद जब थक गया तो इस गुफा में निद्रा का आनन्द ले रहा था, तभी किसी अजनबी ने मुझे छेड़ा और अपने पाप-कर्म के फलस्वरूप वह जलकर राख हो गया। हे प्रभु, हे शत्रु-हन्ता! यह मेरा सौभाग्य है कि मैं आपके सुन्दर स्वरूप का दर्शन कर रहा हूँ।''

तब श्रीकृष्ण ने मुचुकुन्द को बताया कि वे कौन हैं और उसे वर दिया। मुचुकुन्द बुद्धिमान था इसलिए भौतिक जीवन की व्यर्थता को सोचते हुए उसने श्रीकृष्ण के चरणकमलों में शरण ग्रहण करने का अनुरोध किया।

इस अनुरोध से प्रसन्न होकर भगवान् ने मुचुकुन्द से कहा, ''भक्तगण भौतिक वरों से कभी भी मोहित नहीं होते, केवल अभक्तगण—यथा योगी तथा ज्ञानी भौतिक वरों में रुचि रखते हैं, क्योंकि उनके हृदय में भौतिक इच्छाएँ होती हैं। हे मुचुकुन्द! तुम्हें मेरी शाश्वत भक्ति प्राप्त होगी। अब मेरे शरणागत रहकर उन पापों के फलों को दूर करने के लिए तपस्या करो, जिन्हें तुमने योद्धा के रूप में अन्यों का वध करते हुए किये हैं। अगले जन्म में तुम उत्तम ब्राह्मण बनोगे और मुझे प्राप्त करोगे।'' इस तरह भगवान् ने मुचुकुन्द को अपना आशीष प्रदान किया।

श्रीशुक उवाच

तं विलोक्य विनिष्क्रान्तमुज्जिहानमिवोडुपम् ।
दर्शनीयतमं श्यामं पीतकौशेयवाससम् ॥ १॥
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम् ।
पृथुदीर्घचतुर्बाहुं नवकञ्जारुणेक्षणम् ॥ २॥
नित्यप्रमुदितं श्रीमत्सुकपोलं शुचिस्मितम् ।
मुखारविन्दं बिभ्राणं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ ॥
वासुदेवो ह्ययमिति पुमान्श्रीवत्सलाञ्छनः ।
चतुर्भुजोऽरविन्दाक्षो वनमाल्यतिसुन्दरः ॥ ४॥
लक्षणैर्नारदप्रोक्तैर्नान्यो भवितुमर्हति ।
निरायुधश्चलन्पद्भ्यां योत्स्येऽनेन निरायुधः ॥ ५॥
इति निश्चित्य यवनः प्राद्रवन्तं पराङ्मुखम् ।

अन्वधावज्जिघृक्षुस्तं दुरापमपि योगिनाम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; तम्—उसको; विलोक्य विनिष्क्रान्तम्—बाहर आते; उज्जिहानम्—उठते हुए; इव—मानो; उडुपम्—चन्द्रमा को; दर्शनीय-तमम्—देखने में सर्वाधिक सुन्दर; श्यामम्—गहरे नीले; पीत—पीला; कौशेय—रेशम; वाससम्—वस्त्र; श्रीवत्स—लक्ष्मी का चिह्न, जो भगवान् के बालों के गुच्छे का होता है; वक्षसम्—वक्षस्थल पर; भ्राजत्—चमकीला; कौस्तुभ—कौस्तुभ मणि से युक्त; आमुक्त—अलंकृत; कन्धरम्—कन्धा; पृथु—विशाल; दीर्घ—तथा लम्बा; चतुः—चार; बाहुम्—भुजाओं वाला; नव—नये खिले; कञ्ज—कमलों की तरह; अरुण—गुलाबी; ईक्षणम्—आँखें; नित्य—सदैव; प्रमुदितम्—प्रसन्न; श्रीमत्—ऐश्वर्यवान; सु—सुन्दर; कपोलम्—गालों वाला; शुचि—स्वच्छ; स्मितम्—मन्द-हास युक्त; मुख—उनका मुँह (मुखमण्डल); अरविन्दम्—कमल सदृश; बिभ्राणम्—प्रदर्शित करते; स्फुरन्—चमकते हुए; मकर—मछली की आकृति के; कुण्डलम्—कान की बालियाँ; वासुदेवः—वासुदेव; हि—निस्सन्देह; अयम्—यह; इति—इस प्रकार सोचते हुए; पुमान्—पुरुष; श्रीवत्स-लाञ्छनः—श्रीवत्स से अंकित; चतुः-भुजः—चार भुजाओं वाले; अरविन्द-अक्षः—कमल जैसे नेत्रों वाले; वन—जंगल के फूलों की; माली—माला पहने; अति—अत्यधिक; सुन्दरः—सुन्दर; लक्षणैः—लक्षणों से; नारद-प्रोक्तैः—नारदमुनि द्वारा बतलाये गये; न—नहीं; अन्यः—दूसरा; भवितुम् अर्हति—हो सकता है; निरायुधः—बिना हथियार के; चलन्—जाते हुए; पद्भ्याम्—पैदल; योत्स्ये—लड़ूँगा; अनेन—इससे; निरायुधः—बिना हथियार के; इति—इस प्रकार; निश्चित्य—निश्चय करके; यवनः—म्लेच्छ कालयवन; प्राद्रवन्तम्—भागता हुआ; पराक्—मुड़ा; मुखम्—मुँह; अन्वधावत्—पीछा करने लगा; जिघृक्षुः—पकड़ने की इच्छा से; तम्—उसको; दुरापम्—दुष्प्राप्य; अपि—भी; योगिनाम्—योगियों द्वारा।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : कालयवन ने भगवान् को मथुरा से उदित होते चन्द्रमा की भाँति आते देखा। देखने में भगवान् अतीव सुन्दर थे, उनका वर्ण श्याम था और वे रेशमी पीताम्बर धारण किये थे। उनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिन्ह था और उनके गले में कौस्तुभमणि सुशोभित थी। उनकी चारों भुजाएँ बलिष्ठ तथा लम्बी थीं। उनका मुख कमल सदृश सदैव प्रसन्न रहने वाला था, आँखें गुलाबी कमलों जैसी थीं, उनके गाल सुन्दर तेजवान थे, हँसी स्वच्छ थी तथा उनके कान की चमकीली बालियाँ मछली की आकृति की थीं। उस म्लेच्छ ने सोचा, ''यह व्यक्ति अवश्य ही वासुदेव होगा क्योंकि इसमें वे ही लक्षण दिख रहे हैं, जिनका उल्लेख नारद ने किया था—उसके श्रीवत्स का चिन्ह है, चार भुजाएँ हैं, आँखें कमल जैसी हैं और वह वनफूलों की माला पहने है और अत्यधिक सुन्दर है। वह और कोई नहीं हो सकता। चूँकि वह पैदल चल रहा है और कोई हथियार नहीं लिए है, अतएव मैं भी बिना हथियार के उससे युद्ध करूँगा।'' यह मन में ठान कर वह भगवान् के पीछे पीछे दौड़ने लगा और भगवान् उसकी ओर पीठ करके भागते गये। कालयवन को आशा थी कि वह कृष्ण को पकड़ लेगा यद्यपि बड़े बड़े योगी भी उन्हें प्राप्त नहीं कर पाते।

तात्पर्य : यद्यपि कालयवन भगवान् कृष्ण को अपनी आँखों से देख रहा था किन्तु वह सुन्दर भगवान् का ठीक से मूल्यांकन नहीं कर पा रहा था। अतः उसने कृष्ण की पूजा करने की बजाय उन

पर आक्रमण कर दिया। इसी तरह आधुनिक व्यक्तियों के लिए दर्शन, शान्ति व्यवस्था और धर्म तक के नाम पर कृष्ण पर आक्रमण करना असामान्य बात नहीं है।

हस्तप्राप्तमिवात्मानं हरीणा स पदे पदे ।
नीतो दर्शयता दूरं यवनेशोऽद्रिकन्दरम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

हस्त—अपने हाथ में; प्राप्तम्—प्राप्त हुआ; इव—मानो; आत्मानम्—अपने को; हरिणा—भगवान् कृष्ण द्वारा; सः—वह; पदे पदे—हर डग पर; नीतः—लाया गया; दर्शयता—दिखाये जाने वाले के द्वारा; दूरम्—दूर; यवन-ईशः—यवनों का राजा; अद्रि—पर्वत की; कन्दरम्—गुफा में।

प्रति क्षण कालयवन के हाथों की पहुँच में प्रतीत होते हुए भगवान् हरि उस यवनराज को दूर एक पर्वत—कन्दरा तक ले गये।

पलायनं यदुकुले जातस्य तव नोचितम् ।
इति क्षिपन्ननुगतो नैनं प्रापाहताशुभः ॥ ८॥

शब्दार्थ

पलायनम्—भागना; यदु-कुले—यदुवंश में; जातस्य—जन्म लेने वाले; तव—तुम्हारा; न—नहीं है; उचितम्—ठीक; इति—इन शब्दों में; क्षिपन्—अपमान करता हुआ; अनुगतः—पीछा करता; न—नहीं; एनम्—उसको; प्राप—पहुँच पाया; अहत—दूर हुआ; अशुभः—जिसके पापमय कर्म-फल।

भगवान् का पीछा करते हुए वह यवन उन पर यह कह कर अपमान कर रहा था, ‘‘तुमने यदुवंश में जन्म ले रखा है, तुम्हारे लिए इस तरह भागना उचित नहीं है!'' तो भी कालयवन भगवान् कृष्ण के पास तक नहीं पहुँच पाया क्योंकि उसके पाप कर्म-फल अभी धुले नहीं थे।

एवं क्षिप्तोऽपि भगवान्प्राविशद्गिरिकन्दरम् ।
सोऽपि प्रविष्टस्तत्रान्यं शयानं ददृशे नरम् ॥ ९॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; क्षिप्तः—अपमानित; अपि—भी; भगवान्—भगवान्; प्राविशत्—घुस गये; गिरि-कन्दरम्—पर्वत की गुफा में; सः—वह, कालयवन; अपि—भी; प्रविष्टः—घुसते हुए; तत्र—वहाँ; अन्यम्—दूसरे; शयानम्—लेटे हुए; ददृशे—देखा; नरम्—मनुष्य को।

यद्यपि भगवान् इस तरह से अपमानित हो रहे थे किन्तु वे पर्वत की गुफा में घुस गये। उनके पीछे पीछे कालयवन भी घुसा और उसने वहाँ एक अन्य पुरुष को सोये हुए देखा।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् अपना वैराग्य वैभव दिखलाते हैं। अपनी योजना पूरी करने तथा मुचुकुन्द को आशीर्वाद देने के लिए वे दृढ़संकल्प थे, अतः वे कालयवन के अपमान की उपेक्षा करते

हुए शान्त भाव से अपने कार्यक्रम में आगे बढ़ते रहे।

नन्वसौ दूरमानीय शेते मामिह साधुवत् ।
इति मत्वाच्युतं मूढस्तं पदा समताडयत् ॥ ॥

शब्दार्थ

ननु—ऐसा लगता है; असौ—वह; दूरम्—काफी दूरी तक; आनीय—लाकर; शेते—लेटा हुआ है; माम्—मुझको; इह—यहाँ; साधु-वत्—सन्त-पुरुष की तरह; इति—ऐसा; मत्वा—(मुझको) सोचकर; अच्युतम्—भगवान् कृष्ण होने का; मूढः—ठगा गया; तम्—उसको; पदा—अपने पाँव से; समताडयत्—पूरे बल से प्रहार किया।

''यह तो मुझे इतनी दूर लाकर अब किसी साधु-पुरुष की तरह यहाँ लेट गया है।'' इस तरह सोते हुए उस व्यक्ति को भगवान् कृष्ण समझ कर, उस ठगे हुए मूर्ख ने पूरे बल से उस पर पाद-प्रहार किया।

स उत्थाय चिरं सुप्तः शनैरुन्मील्य लोचने ।
दिशो विलोकयन्पार्श्वे तमद्राक्षीदवस्थितम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; उत्थाय—जग कर; चिरम्—दीर्घकाल से; सुप्तः—सोया हुआ; शनैः—धीरे से; उन्मील्य—खोलते हुए; लोचने—अपनी आँखें; दिशः—सारी दिशाओं में; विलोकयन्—देखते हुए; पार्श्वे—अपनी बगल में; तम्—उसको, कालयवन को; अद्राक्षीत्—देखा; अवस्थितम्—खड़ा।

वह पुरुष दीर्घकाल तक सोने के बाद जागा था और धीरे धीरे उसने अपनी आँखें खोलीं। चारों ओर देखने पर उसे अपने पास ही कालयवन खड़ा हुआ दिखाई दिया।

स तावत्तस्य रुष्टस्य दृष्टिपातेन भारत ।
देहजेनाग्निना दग्धो भस्मसादभवत्क्षणात् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, कालयवन; तावत्—तब तक; तस्य—उस जगे हुए पुरुष का; रुष्टस्य—क्रुद्ध; दृष्टि—दृष्टि को; पातेन—डालने से; भारत—हे भरतवंशी (परीक्षित महाराज); देह-जेन—अपने शरीर से ही उत्पन्न; अग्निना—अग्नि से; दग्धः—जल कर; भस्म-सात्—राख; अभवत्—हो गया; क्षणात्—क्षण-भर में।

वह जगाया हुआ पुरुष अत्यन्त क्रुद्ध था। उसने अपनी दृष्टि कालयवन पर डाली तो उसके शरीर से लपटें निकलने लगीं। हे राजा परीक्षित, कालयवन क्षण-भर में जल कर राख हो गया।

तात्पर्य : जिस व्यक्ति ने कालयवन को अपनी दृष्टि से भस्म कर दिया वह मुचुकुन्द था। जैसाकि वह भगवान् को बतलायेगा, उसने दीर्घकाल तक देवताओं की ओर से युद्ध किया था और अन्त में बिना छेड़छाड़ के सोते रहने का वर प्राप्त किया था। *हरिवंश* में बतलाया गया है कि उसे एक वर यह

भी मिला था कि जो उसकी नींद से उसे उठायेगा उसे वह विनष्ट कर सकेगा। आचार्य विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *हरिवंश* से निम्नलिखित उद्धरण दिये हैं—

प्रसुप्तं बोधयेद् यो मां तं दहेयमहं सुराः।

चक्षुषा क्रोधदीप्तेन एवमाह पुनः पुनः॥

''मुचुकुन्द ने बारम्बार कहा, ''हे देवताओ! मैं अपनी क्रोध से जलती हुई आँखों से उसको भस्म कर सकूँ जो मुझे नींद से उठाये।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि मुचुकुन्द ने यह दूषित अनुरोध इन्द्र को भयभीत बनाने के लिए किया था क्योंकि मुचुकुन्द ने सोचा कि अन्यथा वह उसे अपने ब्रह्माण्ड-सम्बन्धी शत्रुओं से लड़ने के लिए बारम्बार जगा कर अनुरोध कर सकता है। मुचुकुन्द के अनुरोध पर इन्द्र की सहमति का वर्णन *श्री विष्णु पुराण* में इस प्रकार वर्णित है—

प्रोक्तश्च देवै संसुप्तं यस्त्वामुत्थापयिष्यति।

देहजेनाग्निना सद्यः स तु भस्मीकरिष्यति॥

''देवताओं ने घोषणा की, ''जो भी तुम्हें नींद से जगायेगा वह अपने ही शरीर से उत्पन्न अग्नि से सहसा जल कर भस्म हो जायेगा।''

श्रीराजोवाच

को नाम स पुमान्ब्रह्मन्कस्य किंवीर्य एव च ।
कस्माद्गुहां गतः शिष्ये किंतेजो यवनार्दनः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा (परीक्षित) ने कहा; कः—कौन; नाम—विशेष रूप से; सः—वह; पुमान्—पुरुष; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण (शुकदेव); कस्य—किस (वंश) का; किम्—क्या; वीर्यः—शक्ति; एव च—और भी; कस्मात्—क्यों; गुहाम्—गुफा में; गतः—जाकर के; शिष्ये—सोने के लिए लेट गया; किम्—किसका; तेजः—वीर्य (सन्तान); यवन—यवन का; अर्दनः—संहार करने वाला।

राजा परीक्षित ने कहा : हे ब्राह्मण, वह पुरुष कौन था? वह किस वंश का था और उसकी शक्तियाँ क्या थीं? म्लेच्छ का संहार करने वाला वह व्यक्ति गुफा में क्यों सोया हुआ था और वह किसका पुत्र था?

श्रीशुक उवाच

स इक्ष्वाकुकुले जातो मान्धातृतनयो महान् ।
मुचुकुन्द इति ख्यातो ब्रह्मण्यः सत्यसङ्गरः ॥ १४॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सः—वह; इक्ष्वाकु-कुले—इक्ष्वाकु वंश में (सूर्य देवता विवस्वान का नाती); जातः—उत्पन्न; मान्धातृ-तनयः—राजा मान्धाता का पुत्र; महान्—महापुरुष; मुचुकुन्दः इति ख्यातः—मुचुकुन्द नाम से विख्यात; ब्रह्मण्यः—ब्राह्मणों का भक्त; सत्य—अपने व्रत का सच्चा; सङ्गरः—युद्ध में।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : उस महापुरुष का नाम मुचुकुन्द था और वह इक्ष्वाकु वंश में मान्धाता के पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ था। वह ब्राह्मण संस्कृति का उपासक था और युद्ध में अपने व्रत का पक्का था।

स याचितः सुरगणैरिन्द्राद्यैरात्मरक्षणे ।
असुरेभ्यः परित्रस्तैस्तद्रक्षां सोऽकरोच्चिरम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

सः—वह; याचितः—याचना करने पर; सुर-गणैः—देवताओं द्वारा; इन्द्र-आद्यैः—इन्द्र इत्यादि द्वारा; आत्म—अपनी; रक्षणे—रक्षा के लिए; असुरेभ्यः—असुरों से; परित्रस्तैः—भयभीत; तत्—उनकी; रक्षाम्—रक्षा; सः—उसने; अकरोत्—की; चिरम्—दीर्घकाल तक।

जब इन्द्र तथा अन्य देवताओं को असुरों द्वारा त्रास दिये जा रहे थे तो उनके द्वारा अपनी रक्षा के लिए सहायता की याचना किये जाने पर मुचुकुन्द ने दीर्घकाल तक उनकी रक्षा की।

लब्ध्वा गुहं ते स्वःपालं मुचुकुन्दमथाब्रुवन् ।
राजन्विरमतां कृच्छ्राद्भवान्नः परिपालनात् ॥ १६॥

शब्दार्थ

लब्ध्वा—प्राप्त करके; गुहम्—कार्तिकेय को; ते—वे; स्वः—स्वर्ग का; पालम्—रक्षक के रूप में; मुचुकुन्दम्—मुचुकुन्द को; अथ—तब; अब्रुवन्—कहा; राजन्—हे राजन्; विरमताम्—कृपया दूर रहें; कृच्छ्रात्—कष्टकर; भवान्—आप; नः—हमारे; परिपालनात्—रक्षा करने से।

जब देवताओं को अपने सेनापति के रूप में कार्तिकेय प्राप्त हो गये तो उन्होंने मुचुकुन्द से कहा, "हे राजन्, अब आप हमारी रक्षा का कष्टप्रद कार्य छोड़ सकते हैं।"

नरलोकं परित्यज्य राज्यं निहतकण्टकम् ।
अस्मान्पालयतो वीर कामास्ते सर्व उज्झिताः ॥ १७॥

शब्दार्थ

नर-लोकम्—मनुष्यों के लोक में; परित्यज्य—छोड़कर; राज्यम्—राज्य; निहत—दूर हुए; कण्टकम्—काँटे; अस्मान्—हमको; पालयतः—पालने वाले; वीर—हे वीर; कामाः—इच्छाएँ; ते—तुम्हारी; सर्वे—सभी; उज्झिताः—उखाड़कर फेंक दी गईं।

"हे वीर पुरुष, नर-लोक में अपने निष्कण्टक राज्य को छोड़कर आपने हमारी रक्षा करते

हुए अपनी निजी आकांक्षाओं की परवाह नहीं की।''

सुता महिष्यो भवतो ज्ञातयोऽमात्यमन्त्रिनः ।
प्रजाश्च तुल्यकालीना नाधुना सन्ति कालिताः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सुताः—सन्तानें; महिष्यः—पटरानियाँ; भवतः—आपके; ज्ञातयः—अन्य सम्बन्धी; अमात्य—मंत्री; मन्त्रिणः—तथा सलाहकार; प्रजाः—प्रजा; च—तथा; तुल्य-कालीनाः—समकालीन; न—नहीं; अधुना—अब; सन्ति—जीवित हैं; कालिताः—काल से प्रेरित।

''बच्चे, रानियाँ, सम्बन्धी, मंत्री, सलाहकार तथा आपकी समकालीन प्रजा—इनमें से कोई अब जीवित नहीं रहे। वे सभी काल के द्वारा बहा ले जाये गये हैं।''

कालो बलीयान्बलिनां भगवानीश्वरोऽव्ययः ।
प्रजाः कालयते क्रीडन्पशुपालो यथा पशून् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

कालः—काल, समय; बलीयान्—अत्यन्त बलवान; बलिनाम्—बलवानों की अपेक्षा; भगवान् ईश्वरः—परमेश्वर; अव्ययः—अव्यय, अविनाशी; प्रजाः—मर्त्य प्राणी; कालयते—हाँकता है; क्रीडन्—खेल खेल में; पशु-पालः—पशु-पालक; यथा—जिस तरह; पशून्—पालतू जानवरों को।

''अनंत काल समस्त बलवानों से भी बलवान है और वही साक्षात् परमेश्वर है। जिस तरह पशु-पालक (ग्वाला) अपने पशुओं को हाँकता रहता है उसी तरह परमेश्वर मर्त्य प्राणियों को अपनी लीला के रूप में हाँकते रहते हैं।''

तात्पर्य : यह ब्रह्माण्ड उन दूषित आत्माओं को क्रमशः सुधारने के लिए रचा गया है, जो भौतिक प्रकृति का शोषण करने का प्रयास करते हैं। भगवान् इन बद्धजीवों को उनके कर्म के अनुसार आध्यात्मिक परिष्कार की विविध अवस्थाओं में से घुमाते रहते हैं। इस तरह भगवान् उस ग्वाले (पशुपाल) के समान हैं, जो चरागाह तथा पानी की तलाश में पशुओं को बचाये रखने और पालने के लिए अपने संरक्षण में इधर उधर घुमाता रहता है। एक अन्य दृष्टान्त डॉक्टर का है, जो अपने रोगी को विविध परीक्षणों के लिए अस्पताल के विभिन्न भागों में भेजता रहता है। इसी तरह भगवान् हमें क्रमिक परिष्कार की विधि द्वारा भवजाल में से निकाल देते हैं जिससे हम उनके प्रबुद्ध-संगी के रूप में आनन्द तथा ज्ञान का शाश्वत जीवन बिता सकें। इस तरह मुचुकुन्द के सारे सम्बन्धी, मित्र तथा सहकर्मी काल के प्रभाव से बहुत पहले मिट चुके थे, क्योंकि काल साक्षात् कृष्ण हैं।

वरं वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्यमद्य नः ।
एक एवेश्वरस्तस्य भगवान्विष्णुरव्ययः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

वरम्—वर; वृणीष्व—चुनो; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारा; ऋते—सिवाय; कैवल्यम्—मोक्ष के; अद्य—आज; नः—हमसे; एकः—एक; एव—एकमात्र; ईश्वरः—सक्षम; तस्य—उसका; भगवान्—भगवान्; विष्णुः—श्री विष्णु; अव्ययः—अविनाशी।

"आपका कल्याण हो, अब आप मोक्ष के सिवाय कोई भी वर चुन सकते हैं क्योंकि मोक्ष को तो एकमात्र अविनाशी भगवान् विष्णु ही प्रदान कर सकते हैं।"

एवमुक्तः स वै देवानभिवन्द्य महायशाः ।
अशयिष्ट गुहाविष्टो निद्रया देवदत्तया ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; उक्तः—कहकर; सः—वह; वै—निस्सन्देह; देवान्—देवताओं को; अभिवन्द्य—नमस्कार करके; महा—महान्; यशाः—जिसकी ख्याति; अशयिष्ट—लेट गया; गुहा-विष्टः—गुफा में घुसकर; निद्रया—नींद में; देव—देवताओं द्वारा; दत्तया—दी गई।

ऐसा कहे जाने पर राजा मुचुकुन्द ने देवताओं से ससम्मान विदा ली और एक गुफा में गया जहाँ वे देवताओं द्वारा दी गई नींद का आनन्द लेने के लिए लेट गया।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने निम्नलिखित प्रक्षिप्त पाठ दिया है जिन्हें उपर्युक्त श्लोक की दो पंक्तियों के बीच में होना चाहिए—

निद्रामेव ततो वव्रे स राजा श्रमकर्षितः ॥

यः कश्चिन् मम निद्राया भंगं कुर्याद् सुरोत्तमाः ।

स हि भस्मीभवेदाशु तथोक्तश्च सुरैस्तदा ॥

स्वापं यातं यो मध्ये तु बोधयेत्त्वामचेतनः ।

स त्वया दृष्टमात्रस्तु भस्मीभवतु तत्क्षणात् ॥

"तब परिश्रम से थके राजा ने निद्रा को ही वर के रूप में चुन लिया। उन्होंने कहा, "हे देवताओं में श्रेष्ठ! जो भी मेरी नींद में बाधा डाले वह तुरन्त जल कर राख हो जाये।" देवताओं ने उत्तर दिया—"ऐसा ही हो" और उनसे कहा, "जो अविवेकी व्यक्ति आपको बीच में जगायेगा वह आपके देखने मात्र से तुरन्त जल कर राख हो जायेगा।"

यवने भस्मसान्नीते भगवान्सात्वतर्षभः ।
आत्मानं दर्शयामास मुचुकुन्दाय धीमते ॥ २२॥

शब्दार्थ

यवने—जब यवन; भस्म-सात्—राख में; नीते—बदल गया; भगवान्—भगवान्; सात्वत—सात्वत वंशजाति का; ऋषभः—सबसे बड़ा वीर; आत्मानम्—स्वयं; दर्शयाम् आस—प्रकट किया; मुचुकुन्दाय—मुचुकुन्द के पास; धी-मते—बुद्धिमान।

जब यवन जल कर राख हो गया तो सात्वतों के प्रमुख भगवान् ने उस बुद्धिमान मुचुकुन्द के समक्ष अपने को प्रकट किया।

तमालोक्य घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभेन विराजितम् ॥ २॥
चतुर्भुजं रोचमानं वैजयन्त्या च मालया ।
चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ २४॥
प्रेक्षणीयं नृलोकस्य सानुरागस्मितेक्षणम् ।
अपीव्यवयसं मत्तमृगेन्द्रोदारविक्रमम् ॥ २५॥
पर्यपृच्छन्महाबुद्धिस्तेजसा तस्य धर्षितः ।
शङ्कितः शनकै राजा दुर्धर्षमिव तेजसा ॥ २६॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; आलोक्य—देखकर; घन—बादल की तरह; श्यामम्—गहरे नीले रंग के; पीत—पीला; कौशेय—रेशमी; वाससम्—वस्त्र; श्रीवत्स—श्रीवत्स चिह्न; वक्षसम्—वक्षस्थल पर; भ्राजत्—चमकीला; कौस्तुभेन—कौस्तुभ मणि से; विराजितम्—चमकता हुआ; चतुः-भुजम्—चार भुजाओं वाला; रोचमानम्—सुन्दर लगने वाला; वैजयन्त्या—वैजयन्ती नामक; च—तथा; मालया—फूल की माला से; चारु—आकर्षक; प्रसन्न—तथा शान्त; वदनम्—मुख; स्फुरत्—चमचमाती; मकर—मछली के आकार की; कुण्डलम्—कान की बालियाँ; प्रेक्षणीयम्—आँखों को आकृष्ट करने वाली; नृ-लोकस्य—मनुष्यों की; स—सहित; अनुराग—स्नेह; स्मित—मन्द हँसते हुए; ईक्षणम्—नेत्र या चितवन; अपीव्य—सुन्दर; वयसम्—जिसका तरुण स्वरूप; मत्त—क्रुद्ध; मृग-इन्द्र—सिंह की तरह; उदार—भद्र; विक्रमम्—चाल; पर्य-पृच्छत्—प्रश्न किया; महा-बुद्धिः—बुद्धिमान; तेजसा—तेज से; तस्य—उसका; धर्षितः—अभिभूत; शङ्कितः—शंकालु; शनकैः—धीरे धीरे; राजा—राजा ने; दुर्धर्षम्—अजेय; इव—निस्सन्देह; तेजसा—तेज से।

जब राजा मुचुकुन्द ने भगवान् की ओर निहारा तो देखा कि वे बादल के समान गहरे नीले रंग के थे, उनकी चार भुजाएँ थीं और वे रेशमी पीताम्बर पहने थे। उनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिन्ह था और गले में चमचमाती कौस्तुभ मणि थी। वैजयन्ती माला से सज्जित भगवान् ने उसे अपना मनोहर शान्त मुख दिखलाया जो मछली की आकृति के कुण्डलों तथा स्नेहपूर्ण मन्द-हास से युक्त चितवन से सारे मनुष्यों की आँखों को आकृष्ट कर लेता है। उनके तरुण स्वरूप का सौन्दर्य अद्वितीय था और वे क्रुद्ध सिंह की भव्य चाल से चल रहे थे। अत्यन्त बुद्धिमान राजा भगवान् के तेज से अभिभूत हो गया। यह तेज उसे दुर्धर्ष जान पड़ा। अपनी

अनिश्चयता व्यक्त करते हुए मुचुकुन्द ने झिझकते हुए भगवान् कृष्ण से इस प्रकार पूछा।

तात्पर्य : यह महत्त्व की बात है कि श्लोक २४ में भगवान् को *चतुर्भुजं रोचमानम्* कहा गया है। ''भगवान् को अपने सुन्दर चतुर्भुज रूप में देखा गया'' इस महान् ग्रंथ-भर में भगवान् कृष्ण अपने विविध दिव्य रूपों को प्रकट करते दिखते हैं जिनमें से कृष्ण का द्विभुज रूप और नारायण या विष्णु का चतुर्भुज रूप मुख्य हैं। इस तरह इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि कृष्ण तथा विष्णु अभिन्न हैं या कि कृष्ण ही भगवान् के आदि-रूप हैं। कभी कभी ये बातें ठीक से समझ में नहीं आतीं किन्तु महान् आचार्यों ने जो कि आध्यात्मिक विज्ञान में पटु हैं, हमारे लिए यह विषय स्पष्ट कर दिया है। ईश्वर अपने आदि-रूप में न केवल स्रष्टा, पालक तथा संहारक हैं या कि बद्धजीवों को दण्ड देने वाले हैं अपितु वे अपार सुन्दर हैं और अपने धाम में अपने अधिकार का भोग करते हैं। यह उन्हीं कृष्ण का रूप है, जो हमारे हड़बड़ाहट भरे संसार के पालन हेतु अपना विस्तार विष्णु रूप में करते हैं।

श्रील जीव गोस्वामी इंगित करते हैं कि शब्द *शङ्कित:* ''कुछ संशय रखते हुए'' यह सूचित करता है कि मुचुकुन्द सोच रहा था, ''क्या सचमुच यही भगवान् हैं?'' अगले श्लोकों में वह अपनी बात स्पष्ट रूप से कहता है।

श्रीमुचुकुन्द उवाच
को भवानिह सम्प्राप्तो विपिने गिरिगह्वरे ।
पद्‍भ्यां पद्मपलाशाभ्यां विचरस्युरुकण्टके ॥ २७॥

शब्दार्थ

श्री-मुचुकुन्दः उवाच—श्री मुचुकुन्द ने कहा; कः—कौन हैं; भवान्—आप; इह—यहाँ; सम्प्राप्तः—(मेरे साथ) पधारे हुए; विपिने—जंगल में; गिरि-गह्वरे—पर्वत की गुफा में; पद्भ्याम्—अपने पाँव से; पद्म—कमल के; पलाशाभ्याम्—पंखड़ियों (की तरह); विचरसि—घूम रहे हो; उरु-कण्टके—काँटों से भरे हुए।

श्री मुचुकुन्द ने कहा, ''आप कौन हैं, जो जंगल में इस पर्वत-गुफा में अपने कमल की पंखड़ियों जैसे कोमल पाँवों से कँटीली भूमि पर चलकर आये हैं?''

किं स्वित्तेजस्विनां तेजो भगवान्वा विभावसुः ।
सूर्यः सोमो महेन्द्रो वा लोकपालो परोऽपि वा ॥ २८॥

शब्दार्थ

किम् स्वित्—शायद; तेजस्विनाम्—सारे शक्तिशाली जीवों में; तेजः—आदि रूप; भगवान्—शक्तिशाली प्रभु; वा—अथवा; विभावसुः—अग्नि देवता; सूर्यः—सूर्यदेव; सोमः—चन्द्रदेव; महा-इन्द्रः—स्वर्ग का राजा इन्द्र; व—अथवा; लोक—लोक का; पालः—शासक; अपरः—दूसरा; अपि वा—या फिर।

शायद आप समस्त शक्तिशाली जीवों की शक्ति हैं। या फिर आप शक्तिशाली अग्नि देव या सूर्यदेव, चन्द्रदेव, स्वर्ग के राजा इन्द्र या अन्य किसी लोक के शासन करने वाले देवता तो नहीं हैं?

मन्ये त्वां देवदेवानां त्रयाणां पुरुषर्षभम् ।
यद्बाधसे गुहाध्वान्तं प्रदीपः प्रभया यथा ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

मन्ये—मानता हूँ; त्वाम्—तुमको; देव-देवानाम्—देवताओं के प्रमुख के; त्रयाणाम्—तीनों (ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव); पुरुष—पुरुषों के; ऋषभम्—सबसे बड़ा; यत्—क्योंकि; बाधसे—भगा देते हो; गुह—गुफा का; ध्वान्तम्—अँधेरा; प्रदीपः—दीपक; प्रभया—अपने प्रकाश से; यथा—जिस तरह।

मेरे विचार से आप तीन प्रमुख देवताओं में भगवान् हैं क्योंकि आप इस गुफा के अँधेरे को उसी तरह भगा रहे हैं जिस तरह दीपक अपने प्रकाश से अँधकार को दूर कर देता है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि भगवान् कृष्ण ने अपने तेज से न केवल पर्वत की गुफा का अंधकार दूर किया अपितु मुचुकुन्द के हृदय के अंधकार को भी दूर किया। संस्कृत में कभी कभी हृदय को *गुहा* अर्थात् एक गहरा गुप्त स्थान कहा जाता है।

शुश्रूषतामव्यलीकमस्माकं नरपुङ्गव ।
स्वजन्म कर्म गोत्रं वा कथ्यतां यदि रोचते ॥ ० ॥

शब्दार्थ

शुश्रूषताम्—सुनने के इच्छुक लोगों को; अव्यलीकम्—सही सही; अस्माकम्—हमको; नर—मनुष्यों में; पुम्-गव—हे अत्यन्त प्रसिद्ध; स्व—अपना; जन्म—जन्म; कर्म—कार्य; गोत्रम्—वंश परम्परा; वा—अथवा; कथ्यताम्—कहने की कृपा करें; यदि—यदि; रोचते—अच्छा लगे।

हे पुरुषोत्तम यदि आपको ठीक लगे तो आप अपने जन्म, कर्म तथा गोत्र के विषय में हमसे सही सही (स्पष्ट) बतलायें क्योंकि हम सुनने के इच्छुक हैं।

तात्पर्य : जब भगवान् इस संसार में अवतरित होते हैं, तो वे निश्चय ही *नरपुंगव* अर्थात् मानव समाज के सर्वाधिक उत्कृष्ट सदस्य बन जाते हैं। भगवान् वास्तविक रूप में मनुष्य नहीं हैं और मुचुकुन्द के प्रश्नों से इस बात का स्पष्टीकरण हो जायेगा। इसी तरह *शुश्रूषताम्* "हमें जो सुनने के उत्सुक हैं" शब्द सूचित करता है कि मुचुकुन्द अपने तथा अन्यों के लाभ के लिए एक उत्तम विधि द्वारा पूछ रहा

है।

वयं तु पुरुषव्याघ्र ऐक्ष्वाकाः क्षत्रबन्धवः ।
मुचुकुन्द इति प्रोक्तो यौवनाश्वात्मजः प्रभो ॥ १ ॥

शब्दार्थ

वयम्—हम; तु—दूसरी ओर; पुरुष—पुरुषों में; व्याघ्र—हे बाघ; ऐक्ष्वाकाः—इक्ष्वाकु वंशी; क्षत्र—क्षत्रियों के; बन्धवः—परिवार के सदस्य; मुचुकुन्दः—मुचुकुन्द; इति—इस प्रकार; प्रोक्तः—कहागया; यौवनाश्व—यौवनाश्व (युवनाश्व का पुत्र) का; आत्म-जः—पुत्र; प्रभो—हे प्रभु।

हे पुरुष-व्याघ्र, जहाँ तक हमारी बात है, हम तो पतित क्षत्रियों के वंश से सम्बन्धित हैं और राजा इक्ष्वाकु के वंशज हैं। हे प्रभु, मेरा नाम मुचुकुन्द है और मैं युवनाश्व का पुत्र हूँ।

तात्पर्य : वैदिक संस्कृति में यह सामान्य नियम है कि क्षत्रिय अपना परिचय विनयपूर्वक *क्षत्र-बन्धु* के रूप में देगा—जिसका अर्थ है क्षत्रिय कुल का केवल एक सम्बन्धी या दूसरे शब्दों में पतित क्षत्रिय। प्राचीन वैदिक संस्कृति में अपने परिवार-सम्बन्धों के आधार पर विशिष्ट पद का दावा करना स्वयं में पतितावस्था का सूचक था। क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों को उनके कर्म तथा चरित्र के गुणों के आधार पर पद प्रदान किया जाना होता था। परन्तु जब भारत में जाति प्रथा का पतन हो गया तो लोग बड़े गर्व से अपने को क्षत्रियों या ब्राह्मणों के सम्बन्धी बतलाने लगे यद्यपि भूतकाल में ठोस योग्यताओं के बिना ऐसा दावा पतितावस्था का सूचक था।

चिरप्रजागरश्रान्तो निद्रयापहतेन्द्रियः ।
शयेऽस्मिन्विजने कामं केनाप्युत्थापितोऽधुना ॥ २ ॥

शब्दार्थ

चिर—दीर्घकाल से; प्रजागर—जगे रहने से; श्रान्तः—थका हुआ; निद्रया—नींद से; अपहत—आच्छादित; इन्द्रियः—मेरी इन्द्रियाँ; शये—मैं लेटा रहा हूँ; अस्मिन्—इस; विजने—निर्जन स्थान में; कामम्—इच्छानुसार; केन अपि—किसी के द्वारा; उत्थापितः—जगाया गया; अधुना—अब।

दीर्घकाल तक जागे रहने के कारण मैं थक गया था और नींद से मेरी इन्द्रियाँ वशीभूत थीं। इस तरह मैं तब से इस निर्जन स्थान में सुखपूर्वक सोता रहा हूँ किन्तु अब जाकर किसी ने मुझे जगा दिया है।

सोऽपि भस्मीकृतो नूनमात्मीयेनैव पाप्मना ।
अनन्तरं भवान्श्रीमाँल्लक्षितोऽमित्रशासनः ॥ ॥

शब्दार्थ

सः अपि—यही व्यक्ति; भस्मी-कृतः—राख हुआ; नूनम्—निस्सन्देह; आत्मीयेन—अपने ही; एव—एकमात्र; पाप्मना—पापपूर्ण कर्म से; अनन्तरम्—तुरन्त बाद; भवान्—आप; श्रीमान्—यशस्वी; लक्षितः—देखा गया; अमित्र—शत्रुओं का; शासनः—दण्ड देने वाला।.

जिस व्यक्ति ने मुझे जगाया था वह अपने पापों के फल से जल कर राख हो गया। तभी मैंने यशस्वी स्वरूप वाले एवं अपने शत्रुओं को दण्ड देने की शक्ति से सामर्थ्यवान आपको देखा।

तात्पर्य : कालयवन ने अपने को श्रीकृष्ण का तथा यदुवंश का शत्रु घोषित किया था। श्रीकृष्ण ने मुचुकुन्द के माध्यम से उस मूर्ख बर्बर के विरोध को नष्ट कर दिया।

तेजसा तेऽविषह्येण भूरि द्रष्टुं न शक्नुमः ।
हतौजसा महाभाग माननीयोऽसि देहिनाम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

तेजसा—तेज के कारण; ते—तुम्हारे; अविषह्येण—असह्य; भूरि—अधिक; द्रष्टुम्—देख पाना; न शक्नुमः—हम समर्थ नहीं हैं; हत—घटा हुआ; ओजसा—अपने ओज से; महा-भग—हे परम ऐश्वर्यवान; माननीयः—सम्मान पाने के योग्य; असि—हो; देहिनम्—देहधारी जीवों द्वारा।.

आपके असह्य तेज से हमारी शक्ति दबी जाती है और हम आप पर अपनी दृष्टि स्थिर नहीं कर पाते। हे माननीय, आप समस्त देहधारियों द्वारा आदर किये जाने के योग्य हैं।

एवं सम्भाषितो राज्ञा भगवान्भूतभावनः ।
प्रत्याह प्रहसन्वाण्या मेघनादगभीरया ॥ ५॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सम्भाषितः—कहा गया; राज्ञा—राजा द्वारा; भगवान्—भगवान् ने; भूत—समस्त सृष्टि के; भावनः—उद्‌गम; प्रत्याह—उत्तर दिया; प्रहसन्—हँसते हुए; वाण्या—शब्दों से; मेघ—बादलों की; नाद—गड़गड़ाहट की तरह; गभीरया—गम्भीर।.

[शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा]: राजा द्वारा इस तरह कहे जाने पर समस्त सृष्टि के उद्‌गम भगवान् मुसकराने लगे और तब उन्होंने बादलों की गर्जना के सदृश गम्भीर वाणी में उसे उत्तर दिया।

श्रीभगवानुवाच

जन्मकर्माभिधानानि सन्ति मेऽङ्ग सहस्रशः ।
न शक्यन्तेऽनुसङ्ख्यातुमनन्तत्वान्मयापि हि ॥ ६॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; जन्म—जन्म; कर्म—कार्य; अभिधानानि—तथा नाम; सन्ति—हैं; मे—मेरे; अङ्ग—हे प्रिय; सहस्रशः—हजारों; न शक्यन्ते—वे नहीं हो सकते; अनुसङ्ख्यातुम्—गिने जाना; अनन्तत्वात्—अन्त न होने से; मया—मेरे द्वारा; अपि हि—भी।

भगवान् ने कहा : हे मित्र, मैं हजारों जन्म ले चुका हूँ; हजारों जीवन जी चुका हूँ; और हजारों नाम धारण कर चुका हूँ। वस्तुतः मेरे जन्म, कर्म तथा नाम अनन्त हैं, यहाँ तक कि मैं भी उनकी गणना नहीं कर सकता।

क्वचिद्रजांसि विममे पार्थिवान्युरुजन्मभिः ।
गुणकर्माभिधानानि न मे जन्मानि कर्हिचित् ॥ ७॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; रजांसि—धूल के कण; विममे—गिन सकता है; पार्थिवानि—पृथ्वी पर; उरु-जन्मभिः—अनेक जन्मों में; गुण—गुण; कर्म—कार्यकलाप; अभिधानानि—तथा नाम; न—नहीं; मे—मेरे; जन्मानि—अनेक जन्म; कर्हिचित्—कभी।

यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति पृथ्वी पर धूल-कणों की गणना कई जन्मों में कर ले किन्तु मेरे गुणों, कर्मों, नामों तथा जन्मों की गणना कोई भी कभी पूरी नहीं कर सकता।

कालत्रयोपपन्नानि जन्मकर्माणि मे नृप ।
अनुक्रमन्तो नैवान्तं गच्छन्ति परमर्षयः ॥ ८॥

शब्दार्थ

काल—समय का; त्रय—तीन अवस्थाओं (भूत, वर्तमान तथा भविष्य) में; उपपन्नानि—घटित होना; जन्म—जन्म; कर्माणि—तथा कर्म; मे—मेरे; नृप—हे राजा (मुचुकुन्द); अनुक्रमन्तः—गिनती करते हुए; न—नहीं; एव—तनिक भी; अन्तम्—अन्त; गच्छन्ति—पहुँचते हैं; परम—महानतम; ऋषयः—ऋषिगण।

हे राजन्, बड़े से बड़े ऋषि मेरे उन जन्मों तथा कर्मों की गणना करते रहते हैं, जो काल की तीनों अवस्थाओं में घटित होते हैं किन्तु वे कभी उसका अन्त नहीं पाते।

तथाप्यद्यतनान्यङ्ग शृनुष्व गदतो मम ।
विज्ञापितो विरिञ्चेन पुराहं धर्मगुप्तये ।
भूमेर्भारायमाणानामसुराणां क्षयाय च ॥ ९॥
अवतीर्णो यदुकुले गृह आनकदुन्दुभेः ।
वदन्ति वासुदेवेति वसुदेवसुतं हि माम् ॥ ४०॥

शब्दार्थ

तथा अपि—फिर भी; अद्यतनानि—वर्तमान; अङ्ग—हे मित्र; शृणुष्व—सुनो; गदतः—मेरे द्वारा कहा गया; मम—मुझसे; विज्ञापितः—प्रार्थना किया जाकर; विरिञ्चेन—ब्रह्मा द्वारा; पुरा—भूतकाल में; अहम्—मैं; धर्म—धर्म की; गुप्तये—रक्षा करने के लिए; भूमेः—पृथ्वी के लिए; भारायमाणानाम्—भार स्वरूप; असुराणाम्—असुरों के; क्षयाय—विनाश के लिए; च—

तथा; अवतीर्णः—अवतरित; यदु—यदु के; कुले—वंश में; गृहे—घर में; आनकदुन्दुभेः—वसुदेव के; वदन्ति—लोग कहकर पुकारते हैं; वासुदेवः इति—वासुदेव नाम से; वसुदेव-सुतम्—वसुदेव के पुत्र को; हि—निस्सन्देह; माम्—मुझे।

तो भी हे मित्र, मैं अपने इस (वर्तमान) जन्म, नाम तथा कर्म के विषय में तुम्हें बतलाऊँगा। कृपया सुनो। कुछ काल पूर्व ब्रह्मा ने मुझसे धर्म की रक्षा करने तथा पृथ्वी के भारस्वरूप असुरों का संहार करने की प्रार्थना की थी। इस तरह मैंने यदुवंश में आनकदुन्दुभि के घर अवतार लिया। चूँकि मैं वसुदेव का पुत्र हूँ इसलिए लोग मुझे वासुदेव कहते हैं।

कालनेमिर्हतः कंसः प्रलम्बाद्याश्च सद्द्विषः ।
अयं च यवनो दग्धो राजंस्ते तिग्मचक्षुषा ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

कालनेमिः—कालनेमि असुर; हतः—मारा गया; कंसः—कंस; प्रलम्ब—प्रलम्ब; आद्याः—इत्यादि; च—भी; सत्—पुण्यात्मा लोगों का; द्विषः—ईर्ष्यालु; अयम्—यह; च—तथा; यवनः—यवन; दग्धः—जला हुआ; राजन्—हे राजा; ते—तुम्हारी; तिग्म—तेज, तीक्ष्ण; चक्षुषा—चितवन से।

मैंने कालनेमि का वध किया है, जो कंस रूप में फिर से जन्मा था। साथ ही मैंने प्रलम्ब तथा पुण्यात्मा लोगों के अन्य शत्रुओं का भी संहार किया है। और अब हे राजन्, यह बर्बर तुम्हारी तीक्ष्ण चितवन से जल कर भस्म हो गया है।

सोऽहं तवानुग्रहार्थं गुहामेतामुपागतः ।
प्रार्थितः प्रचुरं पूर्वं त्वयाहं भक्तवत्सलः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

सः—वही पुरुष; अहम्—मैं; तव—तुम्हारे; अनुग्रह—अनुग्रह; अर्थम्—के लिए; गुहाम्—गुफा में; एताम्—इस; उपागतः—आया हुआ; प्रार्थितः—के लिए प्रार्थना किया गया; प्रचुरम्—अत्यधिक; पूर्वम्—पहले; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अहम्—मैं; भक्त—अपने भक्तों का; वत्सलः—स्नेही।

चूँकि भूतकाल में तुमने मुझसे बारम्बार प्रार्थना की थी इसलिए मैं स्वयं तुम पर अनुग्रह दर्शाने के लिए इस गुफा में आया हूँ, क्योंकि मैं अपने भक्तों के प्रति वत्सल रहता हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक से स्पष्ट है कि मुचुकुन्द भगवान् का भक्त था। उसने भगवान् का सान्निध्य पाने के लिए प्रार्थना की थी और अब श्रीकृष्ण ने उसकी इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया था।

वरान्वृणीष्व राजर्षे सर्वान्कामान्ददामि ते ।
मां प्रसन्नो जनः कश्चिन्न भूयोऽर्हति शोचितुम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

वरान्—वर; वृणीष्व—चुन लो; राज-ऋषे—हे राजर्षि; सर्वान्—समस्त; कामान्—इच्छित वस्तुएँ; ददामि—देता हूँ; ते—तुमको; माम्—मुझको; प्रसन्नः—प्रसन्न करके; जनः—व्यक्ति; कश्चित्—कोई; न भूयः—फिर नहीं; अर्हति—आवश्यकता होती है; शोचितुम्—शोक करने की।

हे राजर्षि, अब मुझसे कुछ वर ले लो। मैं तुम्हारी समस्त इच्छाएँ पूरी कर दूँगा। जो मुझे प्रसन्न कर लेता है, उसे फिर कभी शोक नहीं करना पड़ता।

तात्पर्य : आचार्यों का कहना है कि हम तभी शोक करते हैं जब हम अपूर्ण अनुभव करते हैं, जब हमारी कोई वस्तु खो जाती है या जब हम अभीष्ट प्राप्त नहीं कर पाते। जिसने कृष्ण को प्रसन्न कर लिया है और इस तरह से उनकी कृपा प्राप्त कर ली है, उसे इस तरह कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा। भगवान् कृष्ण समस्त आनन्द के आगार हैं और उन्हें इस दिव्य आनन्द को समस्त जीवों में बाँटने में सुख मिलता है। बस, हमें भगवान् के साथ सहयोग करने की आवश्यकता है।

श्रीशुक उवाच
इत्युक्तस्तं प्रणम्याह मुचुकुन्दो मुदान्वितः ।
ज्ञात्वा नारायणं देवं गर्गवाक्यमनुस्मरन् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उक्तः—कहे जाने पर; तम्—उनसे; प्रणम्य—प्रणाम करके; आह—कहा; मुचुकुन्दः—मुचुकुन्द ने; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक; अन्वितः—पूरित; ज्ञात्वा—जानकर; नारायणम् देवम्—भगवान् नारायण के रूप में; गर्ग-वाक्यम्—गर्ग मुनि के वचन; अनुस्मरन्—स्मरण करते हुए।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : यह सुनकर मुचुकुन्द ने भगवान् को प्रणाम किया। गर्ग मुनि के वचनों का स्मरण करते हुए उसने कृष्ण को भगवान् नारायण रूप में हर्षपूर्वक पहचान लिया। फिर राजा ने उनसे इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : यद्यपि यहाँ पर भगवान् चतुर्भुजी नारायण के रूप में प्रकट होते हैं किन्तु हम यह कह सकते हैं कि मुचुकुन्द श्रीकृष्ण को सम्बोधित कर रहा था। यह सब *कृष्णलीला* के प्रसंग में घटित हो रहा है। वैष्णवजन भलीभाँति अवगत हैं कि विष्णु या नारायण के चतुर्भुजी रूप श्रीकृष्ण के अंश होते हैं। इस तरह भगवान् कृष्ण की लीलाओं के अन्तर्गत *विष्णुलीला* भी प्रकट हो सकती है। भगवान् के ऐसे हैं गुण तथा कर्म। जो कार्य हमारे लिए असामान्य तथा असम्भव तक हो सकते हैं, वे भगवान् के लिए सामान्य और परिश्रम-रहित लीला विलास हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी सूचित करते हैं कि मुचुकुन्द प्राचीन गर्ग मुनि की इस भविष्यवाणी से अवगत था कि भगवान् अट्ठाइसवें युग में अवतरित होंगे। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार गर्ग मुनि ने मुचुकुन्द

को यह भी बतलाया था कि तुम भगवान् का दर्शन करोगे। अब यही सब घटित हो रहा था।

श्रीमुचुकुन्द उवाच
विमोहितोऽयं जन ईश मायया
त्वदीयया त्वां न भजत्यनर्थदृक् ।
सुखाय दुःखप्रभवेषु सज्जते
गृहेषु योषित्पुरुषश्च वञ्चितः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

श्री-मुचुकुन्दः उवाच—श्री मुचुकुन्द ने कहा; विमोहितः—मोहग्रस्त; अयम्—यह; जनः—व्यक्ति; ईश—हे प्रभु; मायया—माया द्वारा; त्वदीयया—आपकी; त्वाम्—आपको; न भजति—नहीं पूजता; अनर्थ-दृक्—असली लाभ न देखते हुए; सुखाय—सुख के लिए; दुःख—दुख; प्रभवेषु—उत्पन्न करने वाली वस्तुओं में; सज्जते—फँस जाता है; गृहेषु—पारिवारिक मामलों में; योषित्—स्त्री; पुरुषः—पुरुष; च—तथा; वञ्चितः—ठगे गये।

श्री मुचुकुन्द ने कहा : हे प्रभु, इस जगत के सभी स्त्री-पुरुष आपकी मायाशक्ति के द्वारा मोहग्रस्त हैं। वे अपने असली लाभ से अनजान रहते हुए आपको न पूजकर अपने को कष्टों के मूल स्त्रोत अर्थात् पारिवारिक मामलों में फँसाकर सुख की तलाश करते हैं।

तात्पर्य : मुचुकुन्द तुरन्त स्पष्ट कर देते हैं कि वे भगवान् से कोई भौतिक वर नहीं माँगने जा रहे। वे उन लोगों से आध्यात्मिक स्तर पर बहुत आगे समुन्नत थे, जो सभी तरह के भौतिक लाभों के लिए धर्म का दुरुपयोग करने का प्रयास करते हैं। *अर्थ* शब्द का मतलब है मूल्य और इस शब्द का विलोम शब्द *अनर्थ* है, जिसका अर्थ है ''मूल्यरहित या निरर्थक।'' अतः *अनर्थ-दृक्* उन लोगों का सूचक है जिनकी दृष्टि व्यर्थ की वस्तुओं में लगी रहती है और जिन्होंने समझा ही नहीं कि वास्तव में *अर्थ* क्या है। हर चमकने वाली वस्तु सोना नहीं होती। यहाँ पर मुचुकुन्द बलपूर्वक कहता है कि हमें शारीरिक सम्बन्ध रूपी मूर्ख के सोने में अपने को उलझाकर अपने आध्यात्मिक अवसरों को हाथ से नहीं जाने देना चाहिए। हम तो भगवान् से प्रेम करने हेतु निमित्त हैं।

लब्ध्वा जनो दुर्लभमत्र मानुषं
कथञ्चिदव्यङ्गमयत्नतोऽनघ ।
पादारविन्दं न भजत्यसन्मति-
र्गृहान्धकूपे पतितो यथा पशुः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

लब्ध्वा—प्राप्त करके; जनः—व्यक्ति; दुर्लभम्—दुर्लभ; अत्र—इस संसार में; मानुषम्—मनुष्य जीवन; कथञ्चित्—किसी न किसी तरह से; अव्यङ्गम्—बिना प्रयास के; अयत्नतः—स्वतः प्राप्त; अनघ—हे निष्पाप; पाद—आपके पाँव; अरविन्दम्—

कमल सदृश; न भजति—नहीं पूजा करता; असत्—अशुद्ध; मतिः—मानसिकता; गृह—घर के; अन्ध—अन्धा; कूपे—कुएँ में; पतितः—गिरा हुआ; यथा—जिस तरह; पशुः—कोई पशु।

उस मनुष्य का मन अशुद्ध होता है, जो अत्यन्त दुर्लभ एवं अत्यन्त विकसित मनुष्य-जीवन के येन-केन-प्रकारेण स्वतः प्राप्त होने पर भी आपके चरणकमलों की पूजा नहीं करता। ऐसा व्यक्ति अंधे कुएँ में गिरे हुए पशु के समान, भौतिक घरबार रूपी अंधकार में गिर जाता है।

तात्पर्य : हमारा असली घर तो भगवद्धाम है। अपने भौतिक घर में रहते रहने के हमारे दृढ़ संकल्प के बावजूद काल हमें भौतिक कार्यकलाप के मंच से अभद्रता से निकाल बाहर कर देता है। घर पर रहना बुरा नहीं है, न ही अपने प्रियजनों के साथ अनुराग बढ़ाना ही बुरा है। किन्तु हमें यह समझना चाहिए कि हमारा असली घर शाश्वत है और वह वैकुण्ठ में है।

अयत्नतः शब्द इंगित करता है कि हमें मनुष्य जीवन स्वतः प्राप्त हुआ है। हमने अपने मनुष्य शरीर को बनाया नहीं इसलिए मूर्खतावश यह दावा नहीं करना चाहिए कि "यह शरीर मेरा है।" मनुष्य जीवन तो ईश्वरीय उपहार है और इसका उपयोग ईश-भावनामृत की सिद्धि प्राप्त करने के लिए किया जाना चाहिए। जो इसे नहीं समझता वह *असन्-मति* है अर्थात् मन्द संसारी बुद्धि वाला है।

ममैष कालोऽजित निष्फलो गतो
राज्यश्रियोन्नद्धमदस्य भूपतेः ।
मर्त्यात्मबुद्धेः सुतदारकोशभू-
ष्वासज्जमानस्य दुरन्तचिन्तया ॥ ४७॥

शब्दार्थ

मम—मेरा; एषः—यह; कालः—समय; अजित—हे अजेय; निष्फलः—व्यर्थ; गतः—अब व्यतीत हुआ; राज्य—राज्य; श्रिया—तथा ऐश्वर्य से; उन्नद्ध—बनाया गया; मदस्य—नशा; भूपतेः—पृथ्वी के राजा का; मर्त्य—मर्त्य शरीर; आत्म—आत्मा के रूप में; बुद्धेः—बुद्धि का; सुत—सन्तान; दार—पत्नियाँ; कोश—खजाना; भूषु—तथा भूमि में; आसज्जमानस्य—आसक्त होकर; दुरन्त—अन्तहीन; चिन्तया—चिन्ता से।

हे अजित, मैंने पृथ्वी के राजा के रूप में अपने राज्य तथा वैभव के मद में अधिकाधिक उन्मत्त होकर सारा समय गँवा दिया है। मर्त्य शरीर को आत्मा मानते हुए तथा संतानों, पत्नियों, खजाना तथा भूमि में आसक्त होकर मैंने अनन्त क्लेश भोगा है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में मूल्यवान मनुष्य-जीवन को संसारी कार्यों में व्यर्थ ही गँवाने वालों की निन्दा करने के बाद मुचुकुन्द अब यह स्वीकार करता है कि वह स्वयं इसी श्रेणी में आता है। वह भगवान् की संगति का बुद्धिमत्ता से लाभ उठाना चाहता है और सदा सदा के लिए शुद्ध भक्त बन जाना

चाहता है।

कलेवरेऽस्मिन्घटकुड्यसन्निभे
निरूढमानो नरदेव इत्यहम् ।
वृतो रथेभाश्वपदात्यनीकपै-
र्गां पर्यटंस्त्वागणयन्सुदुर्मदः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

कलेवरे—शरीर में; अस्मिन्—इस; घट—घड़ा; कुड्य—या दीवाल; सन्निभे—के सदृश; निरूढ—बढ़ा-चढ़ाकर वर्णित; मानः—जिसकी झूठी पहचान; नर-देवः—मनुष्यों में देवता (राजा); इति—इस प्रकार (अपने बारे में समझकर); अहम्—मैं; वृतः—घिरा हुआ; रथ—रथों; इभ—हाथियों; अश्व—घोड़ों; पदाति—पैदल सैनिकों; अनीकपैः—तथा सेनापतियों से; गाम्—पृथ्वी की; पर्यटन्—यात्रा करते हुए; त्वा—तुम; अगणयन्—ठीक से न मानते हुए; सु-दुर्मदः—गर्व से प्रवंचित।

अत्यन्त गर्वित होकर मैंने अपने को शरीर मान लिया था, जो घड़े या दीवाल जैसी एक भौतिक वस्तु है। अपने को मनुष्यों में देवता समझ कर मैंने अपने सारथियों, हाथियों, अश्वारोहियों, पैदल सैनिकों तथा सेनापतियों से घिरकर और अपने प्रवंचित गर्व के कारण आपकी अवमानना करते हुए पृथ्वी भर में विचरण किया।

प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया
प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम् ।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे
क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

प्रमत्तम्—पूर्णतया ठगा हुआ; उच्चैः—विस्तृत; इति-कृत्य—करणीय; चिन्तया—विचार से; प्रवृद्ध—बढ़ा हुआ; लोभम्—लालच; विषयेषु—इन्द्रिय विषयों के लिए; लालसम्—लालसा; त्वम्—आप; अप्रमत्तः—जो मोहग्रस्त नहीं है; सहसा—एकाएक; अभिपद्यसे—मुठभेड़ होती है; क्षुत्—प्यास से; लेलिहानः—अपने विषैले दाँतों को चाटता हुआ; अहिः—सर्प; इव—सदृश; आखुम्—चूहे को; अन्तकः—मृत्यु।

करणीय के विचारों में लीन, अत्यन्त लोभी तथा इन्द्रिय-भोग से प्रसन्न रहने वाले मनुष्य का सदा सतर्क रहने वाले आपसे अचानक सामना होता है। जैसे भूखा साँप चूहे के आगे अपने विषैले दाँतों को चाटता है उसी तरह आप उसके समक्ष मृत्यु के रूप में प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : हमें यहाँ पर *प्रमत्तम्* तथा *अप्रमत्तः* शब्दों के अन्तर पर ध्यान देना होगा। जो लोग भौतिक जगत का शोषण करना चाहते हैं, वे *प्रमत्त* अर्थात् "ठगे हुए, मोहग्रस्त, इच्छा से मदान्ध।" किन्तु भगवान् *अप्रमत्त*-हैं "सतर्क, गम्भीर तथा मोह रहित।" भले ही अपनी प्रमत्तता में हम ईश्वर या उनके नियमों को न मानें किन्तु ईश्वर गम्भीर हैं और हमें अपने कर्मों के गुणों के अनुसार पुरस्कृत या

दण्डित करने से नहीं चूकेंगे।

पुरा रथैर्हेमपरिष्कृतैश्चरन्
मतंगजैर्वा नरदेवसंज्ञितः ।
स एव कालेन दुरत्ययेन ते
कलेवरो विट्कृमिभस्मसंज्ञितः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

पुरा—इससे पहले; रथैः—रथों पर; हेम—सोने से; परिष्कृतैः—सजाये; चरन्—आरूढ़ होकर; मतम्—भयानक; गजैः—हाथियों पर; वा—अथवा; नर-देव—राजा; संज्ञितः—नामक; सः—वह; एव—वही; कालेन—काल के द्वारा; दुरत्ययेन—न बच पाने वाले; ते—तुम्हारा; कलेवरः—शरीर; विट्—मल; कृमि—कीड़े-मकोड़े; भस्म—राख; संज्ञितः—नामक।

जो शरीर पहले भयानक हाथियों या सोने से सजाये हुए रथों पर सवार होता है और 'राजा' के नाम से जाना जाता है, वही बाद में आपकी अजेय काल-शक्ति से मल, कृमि या भस्म कहलाता है।

तात्पर्य : संयुक्त राज्य अमरीका तथा अन्य विकसित राष्ट्रों में मृत शरीर स्वच्छ ढंग से प्रसाधनों का लेप करके ठिकाने लगाये जाते हैं, किन्तु संसार के अनेक भागों में वृद्ध, रुग्ण तथा दुर्घटनाग्रस्त लोग एकान्त में या उपेक्षित स्थानों में मर जाते हैं, जहाँ कुत्ते तथा सियार उनके शरीरों को खाकर मल में परिणत कर देते हैं। यदि कोई इतना भाग्यशाली होता है कि उसके शरीर को भूमि में दफनाया जाता है, तो छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े उस शरीर को खा जाते हैं। इसी तरह अनेक पार्थिव शव जलाकर भस्मीभूत कर दिये जाते हैं। हर तरह से मृत्यु निश्चित है और अन्ततः शरीर का भाग्य कभी यशस्वी नहीं है। यही मुचुकुन्द के कथन का वास्तविक तात्पर्य है—अर्थात् जो शरीर अभी राजा, राजकुमार, रूपमती रानी, उच्च-मध्य वर्ग इत्यादि कहलाता है, वह अन्ततोगत्वा मल, कृमि तथा राख कहलाता है।

श्रील श्रीधर स्वामी ने निम्नलिखित वैदिक वाक्य उद्धृत किया है—

योनेः सहस्राणि बहूनि गत्वा
दुःखेन लब्ध्वापि च मानुषत्वम्।
सुखावहं ये न भजन्ति विष्णुं
ते वै मनुष्यात्मनि शत्रुभूताः ॥

''हजारों योनियों से गुजरते हुए तथा अत्यधिक संघर्ष करते हुए बद्धजीव अन्त में मनुष्य रूप प्राप्त

करते हैं। अत: वे मनुष्य जो अब भी उन विष्णु की पूजा नहीं करते जो उन्हें असली सुख प्रदान करने वाले हैं, वे निश्चित रूप से अपने आपके तथा मानवता के शत्रु बने हुए हैं।''

निर्जित्य दिक्चक्रमभूतविग्रहो
वरासनस्थ: समराजवन्दित: ।
गृहेषु मैथुन्यसुखेषु योषितां
क्रीडामृग: पूरुष ईश नीयते ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

निर्जित्य—जीत कर; दिक्—दिशाओं के; चक्रम्—पूरे चक्कर के; अभूत—न रहने पर; विग्रह:—लड़ाई, संघर्ष; वर-आसन—उत्तम सिंहासन पर; स्थ:—आसीन; सम—समान; राज—राजाओं से; वन्दित:—प्रशंसित; गृहेषु—घरों में; मैथुन्य—संभोग; सुखेषु—सुख में; योषिताम्—स्त्रियों के; क्रीडा-मृग:—पालतू पशु; पुरुष:—पुरुष; ईश—हे प्रभु; नीयते—ले जाया जाता है।

समस्त दिग-दिगान्तरों को जीत कर और इस तरह लड़ाई से मुक्त होकर मनुष्य भव्य राज सिंहासन पर आसीन होता है और अपने उन नायको से प्रशंसित होता है, जो किसी समय उसके बराबर थे। किन्तु जब वह स्त्रियों के कक्ष में प्रवेश करता है जहाँ संभोग-सुख पाया जाता है, तो हे प्रभु, वह पालतू पशु की तरह हाँका जाता है।

करोति कर्माणि तप:सुनिष्ठितो
निवृत्तभोगस्तदपेक्षयाददत् ।
पुनश्च भूयासमहं स्वराडिति
प्रवृद्धतर्षो न सुखाय कल्पते ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

करोति—करता है; कर्माणि—कर्तव्य; तप:—तपस्या; सु-निष्ठित:—अत्यन्त स्थिर; निवृत्त—बचाते हुए; भोग:—इन्द्रिय भोग; तत्—उस (पद) से; अपेक्षया—तुलना में; अददत्—मानते हुए; पुन:—आगे; च—तथा; भूयासम्—अधिक बड़ा; अहम्—मैं; स्व-राट्—सम्राट, एकछत्र शासक; इति—इस प्रकार सोचते हुए; प्रवृद्ध—बढ़ी हुई; तर्ष:—वेग, तृष्णा; न—नहीं; सुखाय—सुख; कल्पते—प्राप्त कर सकता है।

जो राजा पहले से प्राप्त शक्ति से भी और अधिक शक्ति (अधिकार) की कामना करता है, वह तपस्या करके तथा इन्द्रिय-भोग का परित्याग करके कठोरता से अपने कर्तव्य पूरा करता है। किन्तु जिसके वेग (तृष्णाएँ) यह सोचते हुए कि ''मैं स्वतंत्र तथा सर्वोच्च हूँ,'' इतने प्रबल हैं, वह कभी सुख प्राप्त नहीं कर सकता।

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे-

ज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः ।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते मतिः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

भव—अस्तित्व का; अपवर्गः—समाप्ति; भ्रमतः—घूमने वाला; यदा—जब; भवेत्—होता है; जनस्य—मनुष्य के लिए; तर्हि—उस समय; अच्युत—हे अच्युत; सत्—साधु-भक्तों की; समागमः—संगति; सत्-सण्गमः—साधु-संगति; यर्हि—जब; तदा—तब; एव—केवल; सत्—सन्तों का; गतौ—लक्ष्य है, जो; पर—श्रेष्ठ का (जगत के कारण); अवर—तथा निकृष्ट (कार्य); ईशे—भगवान् में; त्वयि—तुम; जायते—उत्पन्न होती है; मतिः—भक्ति।

हे अच्युत, जब भ्रमणशील आत्मा (जीव) का भौतिक जीवन समाप्त हो जाता है, तो वह आपके भक्तों की संगति प्राप्त कर सकता है। और जब वह उनकी संगति करता है, तो भक्तों के लक्ष्य और समस्त कारणों तथा उनके प्रभावों के स्वामी आपके प्रति उसमें भक्ति उत्पन्न होती है।

तात्पर्य : आचार्य जीव गोस्वामी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती इस बात पर एकमत हैं कि यद्यपि यहाँ कहा गया है कि जब भौतिक जीवन का अन्त होता है, तो मनुष्य को भक्तों की संगति प्राप्त होती है किन्तु वस्तुतः भगवद्भक्तों की संगति से ही मनुष्य भवसागर को लाँघ सकता है। इस प्रतीत होने वाले विपर्यय के लिए श्रील जीव गोस्वामी *काव्यप्रकाश* का (.१५) उद्धरण देते हैं— *कार्यकारणयोश्च पौर्वापर्यविपर्ययो विज्ञेयातिशयोक्तिः स्यात् सा*—वह कथन जिसमें कार्य तथा कारण का तार्किक क्रम उलट जाता है उसे अतिशयोक्ति कहते हैं। इस कथन पर श्रील जीव गोस्वामी की टीका है—*कारणस्य शीघ्रकारितां वक्तुं कार्यस्य पूर्वमुक्तौ*—किसी कारण की त्वरित क्रिया को व्यक्त करने के लिए कारण के पूर्व फल पर बल दिया जा सकता है।

इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि भगवद्भक्तों की कृपापूर्ण संगति से कृष्णभावनाभावित होने का हमारा संकल्प संभव बनता है। और आचार्यगण श्रील जीव गोस्वामी से सहमत हैं कि इस श्लोक में *अतिशयोक्ति* है।

मन्ये ममानुग्रह ईश ते कृतो
राज्यानुबन्धापगमो यदृच्छया ।
यः प्रार्थ्यते साधुभिरेकचर्यया
वनं विविक्षद्भिरखण्डभूमिपैः ॥ ५४॥

शब्दार्थ

मन्ये—मैं सोचता हूँ; मम—मुझ पर; अनुग्रहः—दया; ईश—हे प्रभु; ते—आपके द्वारा; कृतः—की गई; राज्य—साम्राज्य; अनुबन्ध—आसक्ति का; अपगमः—विलगाव; यदृच्छया—जहाँ की तहाँ; यः—जो; प्रार्थ्यते—के लिए प्रार्थना की जाती है;

साधुभिः—सन्तों द्वारा; एक-चर्यया—एकान्त में; वनम्—जंगल; विविक्षद्भिः—प्रवेश करने के इच्छुक; अखण्ड—असीम; भूमि—भूमि के; पैः—शासकों द्वारा।.

हे प्रभु, मैं सोचता हूँ कि आपने मुझ पर कृपा की है क्योंकि आपने साम्राज्य के प्रति मेरी आसक्ति अपने आप समाप्त हो गई है। ऐसी मुक्ति (स्वतंत्रता) के लिए विशाल साम्राज्य के साधु शासकों द्वारा प्रार्थना की जाती है, जो एकान्त जीवन बिताने के लिए जंगल में जाना चाहते हैं।

न कामयेऽन्यं तव पादसेवना-
दकिञ्चनप्रार्थ्यतमाद्वरं विभो ।
आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरे
वृणीत आर्यो वरमात्मबन्धनम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

न कामये—मैं इच्छा नहीं करता; अन्यम्—दूसरी; तव—तुम्हारे; पाद—चरणों के; सेवनात्—सेवा के अतिरिक्त; अकिञ्चन—कुछ न चाहने वालों के द्वारा; प्रार्थ्य-तमात्—जो प्रार्थनीय हो; वरम्—वर; विभो—हे सर्वशक्तिमान; आराध्य—पूज्य; कः—कौन; त्वाम्—तुमको; हि—निस्सन्देह; अपवर्ग—मोक्ष का; दम्—प्रदाता; हरे—हे हरि; वृणीत—चुनेगा; आर्यः—श्रेष्ठ पुरुष; वरम्—वर; आत्म—अपना; बन्धनम्—बन्धन (का कारण)।.

हे सर्वशक्तिमान, मैं आपके चरणकमलों की सेवा के अतिरिक्त और किसी वर की कामना नहीं करता क्योंकि यह वर उन लोगों के द्वारा उत्सुकतापूर्वक चाहा जाता है, जो भौतिक कामनाओं से मुक्त हैं। हे हरि! ऐसा कौन प्रबुद्ध व्यक्ति होगा जो मुक्तिदाता अर्थात् आपकी पूजा करते हुए ऐसा वर चुनेगा जो उसका ही बन्धन बने?

तात्पर्य : भगवान् ने मुचुकुन्द को मुँहमाँगा वर लेने को कहा किन्तु वे केवल भगवान् की कामना कर रहे थे। यह शुद्ध कृष्णभावनामृत है।

तस्माद्विसृज्याशिष ईश सर्वतो
रजस्तमःसत्त्वगुणानुबन्धनाः ।
निरञ्जनं निर्गुणमद्वयं परं
त्वां ज्ञाप्तिमात्रं पुरुषं व्रजाम्यहम् ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; विसृज्य—त्यागकर; आशिषः—इच्छित वस्तुएँ; ईश—हे प्रभु; सर्वतः—नितान्त; रजः—रजो; तमः—तमो; सत्त्व—तथा सतो; गुण—भौतिक गुण; अनु-बन्धनाः—फँसा हुआ; निरञ्जनम्—भौतिक उपाधियों से मुक्त; निर्गुणम्—गुणों से परे; अद्वयम्—अद्वय; परम्—परम; त्वाम्—तुम्हारे पास; ज्ञाप्ति-मात्रम्—शुद्ध ज्ञान; पुरुषम्—आदि-पुरुष को; व्रजामि—पास आ रहा हूँ; अहम्-इ.

इसलिए हे प्रभु, उन समस्त भौतिक इच्छाओं को त्यागकर जो रजो, तमो तथा सतो गुणों से

बद्ध हैं, मैं शरण लेने के लिए आप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से प्रार्थना कर रहा हूँ। आप संसारी उपाधियों से प्रच्छन्न नहीं हैं, प्रत्युत आप शुद्ध ज्ञान से पूर्ण तथा भौतिक गुणों से परे परम सत्य हैं।

तात्पर्य : यहाँ *निर्गुणम्* शब्द सूचित करता है कि भगवान् का अस्तित्व प्रकृति के गुणों से परे है। कोई यह तर्क कर सकता है कि कृष्ण का शरीर तो भौतिक प्रकृति से बना है किन्तु यहाँ पर *अद्वयम्* शब्द इस तर्क का खंडन करता है। कृष्ण के अस्तित्व में कोई द्वैत नहीं है। उनका नित्य आध्यात्मिक शरीर ही कृष्ण है और कृष्ण ईश्वर हैं।

चिरमिह वृजिनार्तस्तप्यमानोऽनुतापै-
रवितृषषडमित्रोऽलब्धशान्तिः कथञ्चित् ।
शरणद समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्म-
नभयमृतमशोकं पाहि मापन्नमीश ॥५७॥

शब्दार्थ

चिरम्—दीर्घकाल से; इह—इस संसार में; वृजिन—उत्पातों द्वारा; आर्तः—दुखी; तप्यमानः—सताये; अनुतापैः—पश्चाताप से; अवितृष—अतृप्त; षट्—छः; अमित्रः—शत्रु (पाँच इन्द्रियाँ तथा मन); अलब्ध—न प्राप्त करते हुए; शान्तिः—शान्ति; कथञ्चित्—किसी तरह से; शरण—शरण का; द—हे देने वाले; समुपेतः—आने वाले; त्वत्—तुम्हारे; पद-अब्जम्—चरणकमल; पर-आत्मन्—हे परमात्मा; अभयम्—निर्भीक; ऋतम्—सत्य; अशोकम्—शोकरहित; पाहि—रक्षा करो; मा—मेरी; आपन्नम्—संकट से घिरा; ईश—हे प्रभु।

इतने दीर्घकाल से मैं इस जगत में कष्टों से पीड़ित होता रहा हूँ और शोक से जलता रहा हूँ। मेरे छह शत्रु कभी भी तृप्त नहीं होते और मुझे शान्ति नहीं मिल पाती। अतः हे शरणदाता, हे परमात्मा! मेरी रक्षा करें। हे प्रभु, सौभाग्य से इतने संकट के बीच मैं आपके चरणकमलों तक पहुँचा हूँ, जो सत्य रूप हैं और जो निर्भय तथा शोक-रहित बनाने वाले हैं।

श्रीभगवानुवाच
सार्वभौम महाराज मतिस्ते विमलोर्जिता ।
वरैः प्रलोभितस्यापि न कामैर्विहता यतः ॥५८॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; सार्वभौम—हे सम्राट; महा-राज—महान् राजा; मतिः—मन; ते—तुम्हारा; विमल—निष्कलंक; ऊर्जिता—शक्तिशाली; वरैः—वरों से; प्रलोभितस्य—प्रलोभन में फँसे, तुम्हारा; अपि—यद्यपि; न—नहीं; कामैः—भौतिक इच्छाओं द्वारा; विहता—विनष्ट; यतः—चूँकि।

भगवान् ने कहा : हे सम्राट, महान् राजा, तुम्हारा मन शुद्ध तथा सामर्थ्यवान है। यद्यपि मैंने

वरों के द्वारा तुम्हें प्रलोभित करना चाहा किन्तु तुम्हारा मन भौतिक इच्छाओं के वशीभूत नहीं हुआ।

प्रलोभितो वरैर्यत्त्वमप्रमादाय विद्धि तत् ।
न धीरेकान्तभक्तानामाशीर्भिर्भिद्यते क्वचित् ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

प्रलोभितः—प्रलोभन में आये; वरैः—वरों से; यत्—जो तथ्य; त्वम्—तुम; अप्रमादाय—मोह से मुक्त होने के लिए; विद्धि—जानो; तत्—वह; न—नहीं; धीः—बुद्धि; एकान्त—एकमात्र; भक्तानाम्—भक्तों के; आशीर्भिः—आशीर्वादों से; भिद्यते—विपथ होती है, भटकती है; क्वचित्—कभी।

यह जान लो कि मैं यह सिद्ध करने के लिए तुम्हें वरों से प्रलोभन दे रहा था कि तुम धोखा नहीं खा सकते। मेरे शुद्ध भक्त की बुद्धि कभी भी भौतिक आशीर्वादों से विपथ नहीं होती।

युञ्जानानामभक्तानां प्राणायामादिभिर्मनः ।
अक्षीणवासनं राजन्दृश्यते पुनरुत्थितम् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

युञ्जानानाम्—लगे रहने वाले का; अभक्तानाम्—अभक्तों का; प्राणायाम—प्राणायाम से; आदिभिः—इत्यादि से; मनः—मन; अक्षीण—निर्मूल नहीं हुई; वासनम्—वासना के अन्तिम अवशेष; राजन्—हे राजन् (मुचुकुन्द); दृश्यते—देखी जाती हैं; पुनः—फिर; उत्थितम्—जगती हुई (इन्द्रिय तृप्ति के विचारों के प्रति)।

ऐसे अभक्तगण जो प्राणायाम जैसे अभ्यासों में लगते हैं उनके मन भौतिक इच्छाओं से कभी विमल नहीं होते। इस तरह हे राजन्, उनके मन में भौतिक इच्छाएँ पुनः उठती हुई देखी गई हैं।

विचरस्व महीं कामं मय्यावेशितमानसः ।
अस्त्वेवं नित्यदा तुभ्यं भक्तिर्मय्यनपायिनी ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

विचरस्व—भ्रमण करो; महीम्—इस पृथ्वी पर; कामम्—इच्छानुसार; मयि—मुझमें; आवेशित—स्थिर; मानसः—तुम्हारा मन; अस्तु—होए; एवम्—इस प्रकार; नित्यदा—सदैव; तुभ्यम्—तुम्हारे लिए; भक्तिः—भक्ति; मयि—मुझमें; अनपायिनी—अविचल।

अपना मन मुझमें स्थिर करके तुम इच्छानुसार इस पृथ्वी पर विचरण करो। मुझमें तुम्हारी ऐसी अविचल भक्ति सदैव बनी रहे।

क्षात्रधर्मस्थितो जन्तून्न्यवधीर्मृगयादिभिः ।
समाहितस्तत्तपसा जह्यघं मदुपाश्रितः ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

क्षात्र—क्षत्रियों के; धर्म—धर्म में; स्थितः—स्थित; जन्तून्—जीवों को; न्यवधीः—तुमने मारा; मृगया—शिकार के समय; आदिभिः—तथा अन्य कार्यों से; समाहितः—पूर्णतया केन्द्रित; तत्—उस; तपसा—तपस्या से; जहि—समूल उखाड़ फेंको; अघम्—पापपूर्ण फल को; मत्—मुझमें; उपाश्रितः—शरण लिये हुए।

चूँकि तुमने क्षत्रिय के सिद्धान्तों का पालन किया है, अतः शिकार करते तथा अन्य कार्य सम्पन्न करते समय तुमने जीवों का वध किया है। तुम्हें चाहिए कि सावधानी के साथ तपस्या करते हुए तथा मेरे शरणागत रहते हुए इस तरह से किए हुए पापों को मिटा डालो।

जन्मन्यनन्तरे राजन्सर्वभूतसुहृत्तमः ।
भूत्वा द्विजवरस्त्वं वै मामुपैष्यसि केवलम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

जन्मनि—जन्म में; अनन्तरे—इसके तुरन्त बाद; राजन्—हे राजन्; सर्व—सभी; भूत—जीवों का; सुहृत्-तमः—सर्वश्रेष्ठ शुभचिन्तक; भूत्वा—बनकर; द्विज-वरः—श्रेष्ठ ब्राह्मण; त्वम्—तुम; वै—निस्सन्देह; मम्—मेरे पास; उपैष्यसि—आओगे; केवलम्—एकमात्र।

हे राजन्, तुम अगले जीवन में श्रेष्ठ ब्राह्मण, समस्त जीवों के सर्वोत्तम शुभचिन्तक बनोगे और अवश्य ही मेरे पास आओगे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (५.२९) में श्रीकृष्ण कहते हैं *सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति* मुझे सभी जीवों का शुभचिन्तक मित्र समझकर मनुष्य शान्ति प्राप्त करता है। भगवान् कृष्ण तथा उनके भक्त पतितात्माओं को मोह-सागर से उबारने के लिए साथ-साथ मिलकर काम करते हैं। यही असली तात्पर्य है कृष्णभावनामृत आन्दोलन का।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत "मुचुकुन्द का उद्धार" नामक इक्यावनवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बावन

भगवान् कृष्ण के लिए रुक्मिणी-संदेश

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह बलराम तथा कृष्ण मानो भयभीत होकर द्वारका चले गये। तब कृष्ण ने एक ब्राह्मण के मुख से रुक्मिणी का सन्देश सुना और उसे अपनी पत्नी बना लिया।

भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा दया दिखाये जाने पर राजा मुचुकुन्द ने उन्हें नमस्कार किया और उनकी प्रदक्षिणा की। तब राजा ने वह गुफा छोड़ दी और देखा कि जब से वह सोया था तब की अपेक्षा अब सारे मनुष्य, पेड़-पौधे एवं पशु छोटे हो गये हैं। इससे उसने यह निष्कर्ष निकाला कि कलियुग निकट है। इस तरह भौतिक संसार से विरक्त होकर राजा ने भगवान् श्रीहरि की पूजा करनी प्रारम्भ कर दी।

श्रीकृष्ण मथुरा लौट आये जो अब भी बर्बरों की सेना से घिरा था। उन्होंने इस सेना को नष्ट किया, सारे सैनिकों की बहुमूल्य वस्तुएँ एकत्र कीं और द्वारका के लिए रवाना हो गये। तभी जरासन्ध तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर वहाँ आ गया। बलराम तथा कृष्ण ने ऐसा अभिनय किया मानो वे डर गये हैं अत: वे अपनी बहुमूल्य वस्तुएँ छोड़ कर दूर भाग गये। चूँकि जरासन्ध उनकी वास्तविक शक्ति नहीं जानता था अतएव उसने उनका पीछा किया। काफी दूर भाग आने के बाद राम तथा कृष्ण प्रवर्षण-पर्वत के समीप आये और उस पर चढ़ने लगे। जरासन्ध ने सोचा कि वे दोनों किसी गुफा में छिप गये हैं अतएव उनकी तलाश करने लगा। उन्हें न पाकर उसने पर्वत के चारों ओर आग लगा दी। जब पर्वत की ढलानों की वनस्पति जलने लगी तो कृष्ण तथा बलराम पर्वत की चोटी से कूद पड़े। जब वे जरासन्ध तथा उसके अनुयायियों की आँख बचाकर भूमि पर आ गये तो वे समुद्र के भीतर तैर रहे द्वारका के दुर्ग में लौट आये। जरासन्ध को विश्वास हो गया कि राम तथा कृष्ण अग्नि में जलकर राख हो गये हैं अत: वह सेना लेकर अपने राज्य वापस लौट गया।

इस विन्दु पर महाराज परीक्षित ने प्रश्न किया, तो श्रीशुकदेव गोस्वामी ने भगवान् श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी के विवाह की कथा कहनी प्रारम्भ की। विदर्भ के राजा भीष्मक की युवा पुत्री रुक्मिणी ने श्रीकृष्ण के सौन्दर्य, बल तथा अन्य उत्तम गुणों के विषय में सुन रखा था इसलिए उसने अपने मन में निश्चय कर लिया था कि वे उसके अनुरूप पति होंगे। भगवान् कृष्ण भी उससे विवाह करना चाहते थे। यद्यपि रुक्मिणी के अन्य सम्बन्धी उसके कृष्ण से विवाह से सहमत थे किन्तु उसका भाई रुक्मी कृष्ण से द्वेष रखता था इसलिए उसने इस विवाह का विरोध किया। रुक्मी अपनी बहन का विवाह शिशुपाल से करना चाहता था। रुक्मिणी अनमनी होकर वैवाहिक तैयारियों में लग गई किन्तु उसने एक विश्वस्त ब्राह्मण को एक पत्र देकर कृष्ण के पास भेज दिया।

जब यह ब्राह्मण द्वारका आया तो श्रीकृष्ण ने उसका भलीभाँति उचित पूजा तथा अन्य प्रकार से

सम्मानित करके आतिथ्य किया। फिर उस ब्राह्मण से आने का कारण पूछा। ब्राह्मण ने रुक्मिणी का पत्र खोला और भगवान् कृष्ण को दिखलाया जिसे कृष्ण के दूत ने पढ़ा। रुक्मिणीदेवी ने लिखा था, "हे स्वामी! जब से मैंने आपके विषय में सुना है तब से मैं आपके प्रति पूरी तरह से आकृष्ट हूँ। कृपया शिशुपाल के साथ मेरा विवाह होने के पूर्व अवश्य आयें और मुझे ले जाँय। कुलप्रथा के अनुसार मैं अपने विवाह के एक दिन पूर्व देवी अम्बिका का दर्शन करने जाऊँगी। आपके प्रकट होने और आसानी से मेरे अपहरण का यही अवसर सबसे उपयुक्त होगा। यदि आप मुझ पर इतनी कृपा नहीं करेंगे तो मैं उपवास तथा कठिन व्रत करके अपने प्राण त्याग दूँगी। तब सम्भवत: मैं अगले जीवन में आपको पा सकूँगी।"

भगवान् कृष्ण को वह पत्र सुनाने के बाद ब्राह्मण ने उनसे विदा ली ताकि वह अपनी धार्मिक दिनचर्या पूरी कर सके।

श्रीशुक उवाच
इत्थं सोऽनग्रहीतोऽन्ग कृष्णेनेक्ष्वाकु नन्दनः ।
तं परिक्रम्य सन्नम्य निश्चक्राम गुहामुखात् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इत्थम्—इस प्रकार; सः—वह; अनुग्रहीतः—दया दिखलाया गया; अङ्ग—हे प्रिय (परीक्षित महाराज); कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; इक्ष्वाकु-नन्दनः—इक्ष्वाकुवंशी मुचुकुन्द; तम्—उन्हें; परिक्रम्य—परिक्रमा करके; सन्नम्य—नमस्कार करके; निश्चक्राम—बाहर चला गया; गुहा—गुफा के; मुखात्—मुँह से होकर।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा, इस प्रकार कृष्ण द्वारा दया दिखाये गये मुचुकुन्द ने उनकी प्रदक्षिणा की और उन्हें नमस्कार किया। तब इक्ष्वाकुवंशी प्रिय मुचुकुन्द गुफा के मुँह से होकर बाहर आये।

संवीक्ष्य क्षुल्लकान्मर्त्यान्पशून्वीरुद्वनस्पतीन् ।
मत्वा कलियुगं प्राप्तं जगाम दिशमुत्तराम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

संवीक्ष्य—देखकर; क्षुल्लकान्—छोटे छोटे; मर्त्यान्—मनुष्यों को; पशून्—पशुओं को; वीरुत्—लताओं; वनस्पतीन्—तथा वृक्षों को; मत्वा—मान कर; कलि-युगम्—कलियुग को; प्राप्तम्—आया हुआ; जगाम—चला गया; दिशम्—दिशा में; उत्तराम्—उत्तरी।

यह देखकर कि सभी मनुष्यों, पशुओं, लताओं तथा वृक्षों के आकार अत्यधिक छोटे हो गये हैं और इस तरह यह अनुभव करते हुए कि कलियुग सन्निकट है, मुचुकुन्द उत्तर दिशा की

ओर चल पड़े।

तात्पर्य : इस श्लोक में कई महत्त्वपूर्ण शब्द हैं। संस्कृत के एक प्रमाणित कोश में *क्षुल्लक* के "क्षुद्र, निम्न, निर्धन, दुष्ट, द्वेषी, परित्यक्त, दुखित" इत्यादि अर्थ पाये जाते हैं। ये सारे लक्षण कलियुग के हैं और ये सारे गुण मनुष्यों, पशुओं, पौधों तथा वृक्षों में पाये जाते हैं। हम लोग, जो अपने और अपने पर्यावरण के प्रति इतने मुग्ध हैं, पहले के युगों के श्रेष्ठ सौन्दर्य तथा उस समय की जीवित अवस्थाओं की कदाचित कल्पना कर सकते हैं।

अन्तिम चरण में *जगाम दिशम् उत्तराम्* को इस प्रकार समझा जा सकता है—भारत की उत्तर दिशा में जाने पर सबसे ऊँची हिमालय की पर्वत श्रेणी मिलती है। आज भी वहाँ अनेक सुन्दर चोटियाँ तथा घाटियाँ हैं जहाँ तपस्या तथा ध्यान के योग्य शान्त कुटियाँ हैं। इस तरह वैदिक संस्कृति में "उत्तर दिशा में जाने" का अर्थ होता है सामान्य समाज की सुविधाओं को त्याग कर आध्यात्मिक उन्नति के लिए कठोर तपस्या करने के लिए हिमालय पर्वत में जाना।

तपःश्रद्धायुतो धीरो निःसङ्गो मुक्तसंशयः ।
समाधाय मनः कृष्णे प्राविशद्गन्धमादनम् ॥ ॥

शब्दार्थ

तपः—तपस्या; श्रद्धा—श्रद्धा से; युतः—युक्त; धीरः—गम्भीर; निःसङ्गः—भौतिक संगति से विरक्त; मुक्त—स्वतंत्र; संशयः—सन्देहों से; समाधाय—समाधि में स्थिर करके; मनः—अपना मन; कृष्णे—कृष्ण में; प्राविशत्—प्रवेश किया; गन्धमादनम्—गन्धमादन नामक पर्वत पर।

भौतिक संगति से परे तथा सन्देह से मुक्त सौम्य राजा तपस्या के महत्व के प्रति विश्वस्त था। अपने मन को कृष्ण में लीन करते हुए वह गन्धमादन पर्वत पर आया।

तात्पर्य : गन्धमादन नाम सुहावनी सुगन्धों का सूचक है । निस्सन्देह, गन्धमादन जंगली फूलों की सुगंध से तथा जंगली शहद से और दूसरी प्राकृतिक सुगन्धों से पूर्ण था।

बदर्याश्रममासाद्य नरनारायणालयम् ।
सर्वद्वन्द्वसहः शान्तस्तपसाराधयद्धरिम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

बदरी-आश्रमम्—बदरिकाश्रम में; आसाद्य—पहुँच कर; नर-नारायण—नर तथा नारायण नामक भगवान् के दो अवतारों का; आलयम्—आवास; सर्व—समस्त; द्वन्द्व—द्वैतताओं को; सहः—सहते हुए; शान्तः—शान्त; तपसा—कठिन तपस्या से; आराधयत्—पूजा; हरिम्—भगवान् को।

वहाँ वह नर-नारायण के धाम बदरिकाश्रम आया जहाँ पर समस्त द्वन्द्वों को सहते हुए उसने कठोर तपस्या करके भगवान् हरि की शान्तिपूर्वक पूजा की।

भगवान्पुनराव्रज्य पुरीं यवनवेष्टिताम् ।
हत्वा म्लेच्छबलं निन्ये तदीयं द्वारकां धनम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; पुनः—फिर से; आव्रज्य—लौटकर; पुरीम्—अपनी नगरी में; यवन—यवनों द्वारा; वेष्टिताम्—घिरी; हत्वा—मारकर; म्लेच्छ—यवनों की; बलम्—सेना को; निन्ये—ले आये; तदीयम्—उनकी; द्वारकाम्—द्वारका को; धनम्—सम्पत्ति।

भगवान् मथुरा नगरी लौट आये जो अब भी यवनों से घिरी थी। तत्पश्चात् उन्होंने बर्बर यवनों की सेना नष्ट की और उन यवनों की बहुमूल्य वस्तुएँ द्वारका ले गये।

तात्पर्य : इस श्लोक से स्पष्ट है कि अकेला कालयवन पर्वत गुफा तक भगवान् कृष्ण का पीछा करता गया। जब घिरी हुई मथुरा नगरी में कृष्ण लौटकर आये तो उन्होंने यवनों की विशाल सेना को समूल नष्ट किया।

नीयमाने धने गोभिर्नृभिश्चाच्युतचोदितैः ।
आजगाम जरासन्धस्त्रयोविंशत्यनीकपः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

नीयमाने—ले जाते समय; धने—सम्पत्ति को; गोभिः—बैलों द्वारा; नृभिः—मनुष्यों द्वारा; च—तथा; अच्युत—भगवान् कृष्ण द्वारा; चोदितैः—लगाये गये; आजुगाम—वहाँ आया; जरासन्धः—जरासन्ध; त्रयः—तीन; विंशति—बीस; अनीक—सेनाओं का; पः—नायक।

जब यह सम्पदा भगवान् कृष्ण के आदेशानुसार बैलों तथा मनुष्यों द्वारा ले जाई जा रही थी तो जरासन्ध तेईस सैन्यटुकड़ियों के प्रधान के रूप में वहाँ प्रकट हुआ।

विलोक्य वेगरभसं रिपुसैन्यस्य माधवौ ।
मनुष्यचेष्टामापन्नौ राजन्दुद्रुवतुर्द्रुतम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

विलोक्य—देखकर; वेग—लहरों की; रभसम्—डरावनापन; रिपु—शत्रु की; सैन्यस्य—सेनाओं का; माधवौ—दोनों माधव (कृष्ण तथा बलराम); मनुष्य—मनुष्य जैसा; चेष्टाम्—आचरण; आपन्नौ—धारण करते हुए; राजन्—हे राजा (परीक्षित); दुद्रुवतुः—भाग गये; द्रुतम्—तेजी से।

हे राजन्, शत्रु की सेना की भयंकर हलचल को देखकर माधव-बन्धु मनुष्य का-सा व्यवहार करते हुए तेजी से भाग गये।

विहाय वित्तं प्रचुरमभीतौ भीरुभीतवत् ।
पद्भ्यां पलाशाभ्यां चेलतुर्बहुयोजनम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

विहाय—छोड़ कर; वित्तम्—धन; प्रचुरम्—पर्याप्त; अभीतौ—वस्तुत: बिना डरे; भीरु—डरपोकों के समान; भीत-वत्—डरे जैसे; पद्भ्याम्—अपने पाँवों से; पद्म—कमलों की; पलाशाभ्याम्—पंखड़ियों जैसे; चेलतु:—चले गये; बहु-योजनम्—कई योजन तक (एक योजन आठ मील से कुछ अधिक की दूरी है)।

प्रचुर सम्पत्ति को छोड़ कर निर्भय किन्तु भय का स्वाँग करते हुए वे अपने कमलवत् चरणों से पैदल अनेक योजन चलते गये।

पलायमानौ तौ दृष्ट्वा मागध: प्रहसन्बली ।
अन्वधावद्रथानीकैरीशयोरप्रमाणवित् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

पलायमानौ—भागते हुए; तौ—उन दोनों को; दृष्ट्वा—देखकर; मागध:—जरासन्ध; प्रहसन्—जोर से हँसते हुए; बली—बलवान; अन्वधावत्—पीछे पीछे दौड़ा; रथ—रथ; अनीकै:—तथा सैनिकों के साथ; ईशयो:—दोनों प्रभुओं का; अप्रमाण-वित्—कार्यक्षेत्र से अनभिज्ञ।

उन दोनों को भागते देखकर शक्तिशाली जरासन्ध अट्टाहास करने लगा और सारथियों तथा पैदल सैनिकों को साथ लेकर उनका पीछा करने लगा। वह दोनों प्रभुओं के उच्च पद को समझ नहीं सका।

प्रद्रुत्य दूरं संश्रान्तौ तुङ्गमारुहतां गिरिम् ।
प्रवर्षणाख्यं भगवान्नित्यदा यत्र वर्षति ॥ ॥

शब्दार्थ

प्रद्रुत्य—पूरे वेग से दौड़कर; दूरम्—काफी दूरी; संश्रान्तौ—थके हुए; तुङ्गम्—खूब ऊँचे; आरुहताम्—चढ़ गये; गिरिम्—पर्वत पर; प्रवर्षण-आख्यम्—प्रवर्षण नामक; भगवान्—इन्द्र; नित्यदा—सदैव; यत्र—जहाँ; वर्षति—वर्षा करता है।

काफी दूरी तक भागने से थक कर चूर-चूर दिखते हुए दोनों प्रभु प्रवर्षण नामक ऊँचे पर्वत पर चढ़ गये जिस पर इन्द्र निरंतर वर्षा करता है।

गिरौ निलीनावाज्ञाय नाधिगम्य पदं नृप ।
ददाह गिरिमेधोभि: समन्तादग्निमुत्सृजन् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

गिरौ—पर्वत पर; निलीनौ—छिपे हुए; आज्ञाय—अवगत होकर; न अधिगम्य—न ढूँढ़कर; पदम्—उनका स्थान; नृप—हे राजा (परीक्षित); ददाह—आग लगा दी; गिरिम्—पर्वत में; एधोभि:—ईंधन से; समन्तात्—चारों ओर; अग्निम्—आग; उत्सृजन्—उत्पन्न करते हुए।

यद्यपि जरासन्ध जानता था कि वे दोनों ही पर्वत में छिपे हैं किन्तु उसे उनका कोई पता नहीं चल सका। अत: हे राजा, उसने सभी ओर लकड़ियाँ रखकर पर्वत में आग लगा दी।

तात्पर्य : स्पष्ट है कि हम भगवान् की एक दिव्य लीला देख रहे हैं। यद्यपि *भागवत* में कहा गया है कि दोनों प्रभु कृष्ण तथा बलराम थक कर चूर-चूर थे, फिर भी वे तेजी से इतने ऊँचे पर्वत पर चढ़कर तुरन्त ही भूमि पर कूद सके। ऋषियों द्वारा दिये गये पूरे चित्र की उपेक्षा करके इधर-उधर से कुछ वर्णनों को उठा लेना मूर्खतापूर्ण तथा अतार्किक होगा। स्पष्ट है कि हम भगवान् को उनकी दिव्य लीलाओं के मध्य देख रहे हैं, हम किसी सामान्य मनुष्य को नहीं देख रहे। जब यह घटना घटी तो भगवान् कृष्ण तथा भगवान् बलराम तब भी तरुण थे और इन विवरणों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि हास्यास्पद जरासन्ध से दूर भागना, पर्वत पर दौड़ते हुए चढ़ना और फिर वहाँ से नीचे कूद पड़ना और उस असुर को लगातार मूर्ख बनाना जिसने आत्मविश्वास कभी नहीं खोया, उन दोनों को कितना आनन्द देता रहा होगा। द्वेष या कलहप्रियता से रहित होकर देखने पर भगवान् की लीलाएँ अतीव मनोरंजक लगती हैं।

तत उत्पत्य तरसा दह्यमानतटादुभौ ।
दशैकयोजनात्तुङ्गान्निपेततुरधो भुवि ॥ १२॥

शब्दार्थ

तत:—उस (पर्वत) से; उत्पत्य—कूद कर; तरसा—जल्दी से; दह्यमान—जलते हुए; तटात्—छोरों से; उभौ—दोनों; दश-एक—ग्यारह; योजनात्—योजन; तुङ्गात्—उच्च; निपेततु:—वे गिरे; अध:—नीचे; भुवि—जमीन पर।

तब वे दोनों सहसा उस जलते हुए ग्यारह योजन ऊँचे पर्वत से नीचे कूद कर जमीन पर आ गिरे।

तात्पर्य : ग्यारह योजन ९० मील के लगभग है।

अलक्ष्यमाणौ रिपुणा सानुगेन यदूत्तमौ ।
स्वपुरं पुनरायातौ समुद्रपरिखां नृप ॥ १॥

शब्दार्थ

अलक्ष्यमाणौ—न दिखाई देते हुए; रिपुणा—अपने शत्रुओं द्वारा; स—सहित; अनुगेन—अपने अनुयायियों के साथ; यदु—यदुओं के; उत्तमौ—दो अतीव उत्तम; स्व-पुरम्—अपनी पुरी (द्वारका) में; पुनः—फिर; आयातौ—गये; समुद्र—समुद्र; परिखाम्—रक्षा-खाई से युक्त; नृप—हे राजन्।

अपने प्रतिपक्षी या उसके अनुचरों द्वारा न दिखने पर, हे राजन्, वे दोनों यदु श्रेष्ठ अपनी द्वारकापुरी लौट गये जिसकी सुरक्षा-खाई समुद्र थी।

सोऽपि दग्धाविति मृषा मन्वानो बलकेशवौ ।
बलमाकृष्य सुमहन्मगधान्मागधो ययौ ॥ १४॥

शब्दार्थ

सः—वह; अपि—भी; दग्धौ—अग्नि में जले हुए दोनों; इति—इस प्रकार; मृषा—झूठे ही; मन्वानः—सोचते हुए; बल-केशवौ—बलराम तथा कृष्ण; बलम्—अपनी सेना; आकृष्य—पीछे हटाकर; सु-महत्—विशाल; मगधान्—मगधों के राज्य में; मागधः—मगधों का राजा; ययौ—चला गया।

यही नहीं, जरासन्ध ने गलती से सोचा कि बलराम तथा कृष्ण अग्नि में जल कर मर गये हैं। अतः उसने अपनी विशाल सेना पीछे हटा ली और मगध राज्य को लौट गया।

आनर्ताधिपतिः श्रीमान्रैवतो रैवतीं सुताम् ।
ब्रह्मणा चोदितः प्रादाद्बलायेति पुरोदितम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

आनर्त—आनर्त प्रदेश का; अधिपतिः—अधीश्वर; श्रीमान्—ऐश्वर्यवान्; रैवतः—रैवत; रैवतीम्—रैवती नामक; सुताम्—उसकी पुत्री; ब्रह्मणा—ब्रह्मा द्वारा; चोदितः—आज्ञा दिया गया; प्रादात्—दिया; बलाय—बलराम को; इति—इस प्रकार; पुरा—प्राचीन काल में; उदितम्—उल्लिखित।

ब्रह्मा के आदेश से आनर्त के वैभवशाली राजा रैवत ने अपनी पुत्री रैवती का विवाह बलराम से कर दिया। इसका उल्लेख पहले ही हो चुका है।

भगवानपि गोविन्द उपयेमे कुरूद्वह ।
वैदर्भीं भीष्मकसुतां श्रियो मात्रां स्वयंवरे ॥ १६॥
प्रमथ्य तरसा राज्ञः शाल्वादींश्चैद्यपक्षगान् ।
पश्यतां सर्वलोकानां तार्क्ष्यपुत्रः सुधामिव ॥ १७॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; अपि—निस्सन्देह; गोविन्दः—कृष्ण ने; उपयेमे—ब्याहा; कुरु-उद्वह—हे कुरुओं में वीर (परीक्षित); वैदर्भीम्—रुक्मिणी को; भीष्मक-सुताम्—राजा भीष्मक की पुत्री; श्रियः—लक्ष्मी को; मात्राम्—स्वांश; स्वयम्-वरे—अपनी रुचि से; प्रमथ्य—दमन करके; तरसा—बल से; राज्ञः—राजाओं को; शाल्व-आदीन्—शाल्व इत्यादि; चैद्य—शिशुपाल के; पक्ष-गान्—पक्षधरों को; पश्यताम्—देखते देखते; सर्व—सारे; लोकानाम्—लोगों के; तार्क्ष्य-पुत्रः—तार्क्ष्य का पुत्र (गरुड़); सुधाम्—स्वर्ग का अमृत; इव—सदृश।

हे कुरुवीर, भगवान् गोविन्द ने भीष्मक की पुत्री वैदर्भी (रुक्मिणी) से विवाह किया जो

साक्षात् लक्ष्मी की अंश थी। भगवान् ने उसकी इच्छा से ही ऐसा किया और इस कार्य के लिए उन्होंने शाल्व तथा शिशुपाल के पक्षधर अन्य राजाओं को परास्त किया। दरअसल सबों के देखते देखते श्रीकृष्ण रुक्मिणी को उसी तरह उठा ले गये जिस तरह नि:शंक गरुड़ देवताओं से अमृत चुरा कर ले आया था।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने इन दोनों श्लोकों की पाण्डित्यपूर्ण टीका की है : *श्रियो मात्राम्* शब्द बताते हैं कि सुन्दर रुक्मिणी शाश्वत लक्ष्मीदेवी की अंशरूप हैं। इसलिए वे भगवान् की दुलहन (वधू) बनने योग्य हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.६७) में कहा गया है—*श्रिय: कान्ता कान्त: परमपुरुष:*—वैकुण्ठ की सारी प्रेमिकाएँ लक्ष्मी देवियाँ हैं और प्रेमी भगवान् हैं। इस तरह श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि श्रीमती रुक्मिणीदेवी श्रीमती राधारानी की स्वांश हैं। *पद्म पुराण* के *कार्त्तिक-माहात्म्य* में कहा गया है—*कैशोरे गोपकन्यास्ता यौवने राजकन्यका:*—कृष्ण ने किशोरावस्था में ग्वालों की कन्याओं के साथ आनन्द लूटा और यौवनावस्था में राजाओं की कन्याओं के साथ। इसी प्रकार *स्कन्द पुराण* में कथन है—*रुक्मिणी द्वारवत्यां तु राधा वृन्दावने वने*—जो स्थान राधा का वृन्दावन के जंगल में है, वही रुक्मिणी का स्थान द्वारका में है।

स्वयंवरे शब्द का अर्थ है ''अपनी इच्छा से।'' यद्यपि यह शब्द प्राय: उस औपचारिक वैदिक अनुष्ठान का सूचक है, जिसमें कुलीनवंशी राजकुमारी अपना पति स्वयं चुन सकती थी किन्तु यहाँ पर यह शब्द रुक्मिणी के साथ कृष्ण के विवाह से सम्बन्धित अनौपचारिक एवं अभूतपूर्व वातावरण का सूचक है। वस्तुत: श्रीकृष्ण तथा श्रीमती रुक्मिणी ने दिव्य शाश्वत प्रेम के कारण एक-दूसरे को वरण किया।

श्रीराजोवाच
भगवान्भीष्मकसुतां रुक्मिणीं रुचिराननाम् ।
राक्षसेन विधानेन उपयेम इति श्रुतम् ॥ १८॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा (परीक्षित) ने कहा; भगवान्—भगवान्; भीष्मक-सुताम्—भीष्मक की पुत्री; रुक्मिणीम्—श्रीमती रुक्मिणीदेवी को; रुचिर—मनोहर; आननाम्—मुख वाली; राक्षसेन—राक्षस नामक; विधानेन—विधि से (अपहरण करके); उपयेमे—ब्याह लिया; इति—इस प्रकार; श्रुतम्—सुना गया है।.

राजा परीक्षित ने कहा : मैंने सुना है कि भगवान् ने भीष्मक की सुमुखी पुत्री रुक्मिणी से

राक्षस-विधि से विवाह किया।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने यह स्मृति वाक्य उद्धृत किया है—*राक्षसो युद्धहरणात्*—राक्षस विवाह तब होता है जब दुलहन को प्रतिद्वन्द्वी प्रेमियों से बलपूर्वक हरा जाता है। इसी तरह शुकदेव गोस्वामी स्वयं कह चुके हैं *राज्ञ: प्रमथ्य*—रुक्मिणी को पाने के लिए कृष्ण को विरोधी राजाओं को परास्त करना पड़ा।

भगवन्श्रोतुमिच्छामि कृष्णस्यामिततेजस: ।
यथा मागधशाल्वादीन्जित्वा कन्यामुपाहरत् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

भगवन्—हे प्रभु (शुकदेव गोस्वामी); श्रोतुम्—सुनना; इच्छामि—चाहता हूँ; कृष्णस्य—कृष्ण के विषय में; अमित—असीम; तेजस:—जिसका बल; यथा—किस तरह; मागध-शाल्व-आदीन्—जरासन्ध तथा शाल्व जैसे राजाओं को; जित्वा—हराकर; कन्याम्—दुलहन को; उपाहरत्—हर लाए।

हे प्रभु, मैं यह सुनने का इच्छुक हूँ कि असीम बलशाली भगवान् कृष्ण किस तरह मागध तथा शाल्व जैसे राजाओं को हराकर अपनी दुलहन को हर ले गये।

तात्पर्य : हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि श्रीकृष्ण जरासन्ध से सचमुच भयभीत थे। हम अगले अध्याय में देखेंगे कि श्रीकृष्ण जरासन्ध तथा उसके सैनिकों को सरलता से हरा देते हैं। अत: हमें कभी भी भगवान् कृष्ण के पराक्रम के विषय में संशय नहीं करना चाहिए।

ब्रह्मन्कृष्णकथा: पुण्या माध्वीर्लोकमलापहा: ।
को नु तृप्येत शृण्वान: श्रुतज्ञो नित्यनूतना: ॥ २० ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; कृष्ण-कथा:—कृष्ण की कथाएँ; पुण्या:—पवित्र; माध्वी:—मधुर; लोक—संसार के; मल—कल्मष को; अपहा:—दूर करने वाली; क:—कौन; नु—तनिक भी; तृप्येत—तृप्त होगा; शृण्वान:—सुनते हुए; श्रुत—सुना जाने वाला; ज्ञ:—जानने वाला; नित्य—सदा; नूतना:—नवीन।

हे ब्राह्मण, ऐसा कौन-सा अनुभवी श्रोता होगा जो श्रीकृष्ण की पवित्र, मनोहर तथा नित्य नवीन कथाओं को, जो संसार के कल्मष को धो देने वाली हैं, सुनकर कभी तृप्त हो सकेगा?

श्रीबादरायणिरुवाच
राजासीद्भीष्मको नाम विदर्भाधिपतिर्महान् ।
तस्य पञ्चाभवन्पुत्रा: कन्यैका च वरानना ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः—श्री बादरायणि (बादरायण वेदव्यास के पुत्र शुकदेव) ने; उवाच—कहा; राजा—राजा; आसीत्—था; भीष्मकः नाम—भीष्मक नामक; विदर्भ-अधिपतिः—विदर्भ राज्य का शासक; महान्—महान्; तस्य—उसके; पञ्च—पाँच; अभवन्—थे; पुत्राः—पुत्र; कन्या—पुत्री; एका—एक; च—तथा; वर—अतीव सुन्दर; आनना—मुख वाली।.

श्री बादरायणि ने कहा : भीष्मक नामक एक राजा था, जो विदर्भ का शक्तिशाली शासक था। उसके पाँच पुत्र तथा एक सुमुखी पुत्री थी।

रुक्म्यग्रजो रुक्मरथो रुक्मबाहुरनन्तरः ।
रुक्मकेशो रुक्ममाली रुक्मिण्येषा स्वसा सती ॥ २२॥

शब्दार्थ

रुक्मी—रुक्मी; अग्र-जः—सबसे बड़ा; रुक्म-रथः रुक्मबाहुः—रुक्मरथ तथा रुक्मबाहु; अनन्तरः—इनके बाद; रुक्म-केशः रुक्म-माली—रुक्मकेश तथा रुक्ममाली; रुक्मिणी—रुक्मिणी; एषा—वह; स्वसा—बहिन; सती—साधु चरित्र वाली।.

रुक्मी सबसे बड़ा पुत्र था, उसके बाद रुक्मरथ, रुक्मबाहु, रुक्मकेश तथा रुक्ममाली थे। उनकी बहिन सती रुक्मिणी थी।

सोपश्रुत्य मुकुन्दस्य रूपवीर्यगुणश्रियः ।
गृहागतैर्गीयमानास्तं मेने सदृशं पतिम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सा—उसने; उपश्रुत्य—सुनकर; मुकुन्दस्य—कृष्ण के; रूप—सौन्दर्य; वीर्य—पराक्रम; गुण—चरित्र; श्रियः—तथा ऐश्वर्य के विषय में; गृह—उसके पारिवारिक घर में; आगतैः—आने वालों द्वारा; गीयमानाः—गाया जाकर; तम्—उसको; मेने—सोचा; सदृशम्—उपयुक्त; पतिम्—पति।.

महल में आने वालों के मुख से जो प्रायः मुकुन्द के बारे में गुणगान करते थे, मुकुन्द के सौन्दर्य, पराक्रम, दिव्य चरित्र तथा ऐश्वर्य के बारे में सुनकर, रुक्मिणी ने निश्चय किया कि वे ही उसके उपयुक्त पति होंगे।

तात्पर्य : *सदृशम्* शब्द सूचित करता है कि रुक्मिणी तथा श्रीकृष्ण में एक-जैसे गुण थे अतः स्वाभाविक था कि वे एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट होते। राजा भीष्मक साधु व्यक्ति थे अतएव उनके महल में अनेक साधु-पुरुष आते रहे होंगे। ये साधु-पुरुष अवश्य ही श्रीकृष्ण की महिमा के विषय में मुक्तकण्ठ प्रचार करते थे।

तां बुद्धिलक्षणौदार्यरूपशीलगुणाश्रयाम् ।
कृष्णश्च सदृशीं भार्यां समुद्वोढुं मनो दधे ॥ २४॥

शब्दार्थ

ताम्—उसकी; बुद्धि—बुद्धि के; लक्षण—शुभ शारीरिक चिह्न; औदार्य—उदारता; रूप—सौन्दर्य; शील—उचित व्यवहार; गुण—तथा अन्य व्यक्तिगत गुण के; आश्रयाम्—आगार; कृष्णः—भगवान् कृष्ण; च—तथा; सदृशीम्—उपयुक्त; भार्याम्—पत्नी; समुद्वोढुम्—विवाह करने के लिए; मनः—अपना मन; दधे—बनाया।

भगवान् कृष्ण जानते थे कि रुक्मिणी बुद्धि, शुभ शारीरिक चिह्न, सौन्दर्य, उचित व्यवहार तथा अन्य उत्तम गुणों से युक्त है। यह निष्कर्ष निकाल करके कि वह उनके योग्य एक आदर्श पत्नी होगी, कृष्ण ने उससे विवाह करने का निश्चय किया।

तात्पर्य : जिस तरह कृष्ण को *सदृशं पतिम्* कहा गया है, उसी तरह रुक्मिणी को *सदृशीं भार्याम्*—श्रीकृष्ण के लिए आदर्श पत्नी कहा गया है। यह स्वाभाविक है क्योंकि श्रीमती रुक्मिणीदेवी कृष्ण की अन्तरंगा शक्ति हैं।

बन्धूनामिच्छतां दातुं कृष्णाय भगिनीं नृप ।
ततो निवार्य कृष्णद्विड्रुक्मी चैद्यममन्यत ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

बन्धूनाम्—अपने परिवार के लोगों के; इच्छताम्—चाहने से; दातुम्—देने के लिए; कृष्णाय—कृष्ण को; भगिनीम्—अपनी बहन; नृप—हे राजा; ततः—इससे; निवार्य—उन्हें रोककर; कृष्ण-द्विट्—कृष्ण से द्वेष रखने से; रुक्मी—रुक्मी; चैद्यम्—चैद्य (शिशुपाल) को; अमन्यत—मानता था।

हे राजन्, चूँकि रुक्मी भगवान् से द्वेष रखता था अतएव उसने अपने परिवार वालों को, उनकी इच्छा के विपरीत, अपनी बहन कृष्ण को दिये जाने से रोका। उल्टे रुक्मी ने रुक्मिणी को शिशुपाल को देने का निश्चय किया।

तात्पर्य : बड़ा भाई होने से रुक्मी ने अपने पद का दुरुपयोग किया और दुर्भावनापूर्ण कार्य किया। इस निर्णय के लिए उसे कष्ट भोगना पड़ गया।

तदवेत्यासितापाङ्गी वैदर्भी दुर्मना भृशम् ।
विचिन्त्याप्तं द्विजं कञ्चित्कृष्णाय प्राहिणोद्द्रुतम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; अवेत्य—जानकर; असित—श्याम; अपाङ्गी—जिसकी आँखों के कोर; वैदर्भी—विदर्भ की राजकुमारी; दुर्मना—दुखी; भृशम्—अत्यधिक; विचिन्त्य—सोचकर; आप्तम्—विश्वस्त; द्विजम्—ब्राह्मण को; कञ्चित्—किसी; कृष्णाय—कृष्ण के पास; प्राहिणोत्—भेजा; द्रुतम्—जल्दी से।

श्याम-नेत्रों वाली वैदर्भी इस योजना से अवगत थी अतः वह इससे अत्यधिक उदास थी। उसने सारी परिस्थिति पर विचार करते हुए तुरन्त ही कृष्ण के पास एक विश्वासपात्र ब्राह्मण को

भेजा।

द्वारकां स समभ्येत्य प्रतीहारैः प्रवेशितः ।
अपश्यदाद्यं पुरुषमासीनं काञ्चनासने ॥ २७॥

शब्दार्थ

द्वारकाम्—द्वारका में; सः—वह (ब्राह्मण); समभ्येत्य—पहुँच कर; प्रतीहारैः—द्वारपालों के द्वारा; प्रवेशितः—भीतर लाया गया; अपश्यत्—देखा; आद्यम्—आदि; पुरुषम्—परम पुरुष को; आसीनम्—आसीन, बैठा; काञ्चन—सुनहरे; आसने—सिंहासन पर।

द्वारका पहुँचने पर उस ब्राह्मण को द्वारपाल भीतर ले गये जहाँ उसने आदि-भगवान् को सोने के सिंहासन पर आसीन देखा।

दृष्ट्वा ब्रह्मण्यदेवस्तमवरुह्य निजासनात् ।
उपवेश्यार्हयां चक्रे यथात्मानं दिवौकसः ॥ २८॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; ब्रह्मण्य—ब्राह्मणों का ध्यान रखने वाला; देवः—प्रभु; तम्—उसको; अवरुह्य—उतर कर; निज—अपने; आसनात्—सिंहासन से; उपवेश्य—बैठाकर; अर्हयाम् चक्रे—पूजा की; यथा—जिस तरह; आत्मानम्—स्वयं को; दिव-ओकसः—स्वर्ग के वासी।

ब्राह्मण को देखकर, ब्राह्मणों के प्रभु श्रीकृष्ण अपने सिंहासन से नीचे उतर आये और उसे बैठाया। तत्पश्चात् भगवान् ने उसकी उसी तरह पूजा की जिस तरह वे स्वयं देवताओं द्वारा पूजित होते हैं।

तं भुक्तवन्तं विश्रान्तमुपगम्य सतां गतिः ।
पाणिनाभिमृशन्पादावव्यग्रस्तमपृच्छत ॥ २९॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; भुक्तवन्तम्—खा चुकने पर; विश्रान्तम्—आराम किया; उपगम्य—पास जाकर; सताम्—साधु-भक्तों का; गतिः—लक्ष्य; पाणिना—अपने हाथों से; अभिमृशन्—दबाते हुए; पादौ—उसके पाँव; अव्यग्रः—बिना क्षुब्ध हुए; तम्—उससे; अपृच्छत—पूछा।

जब वह ब्राह्मण खा-पीकर आराम कर चुका तो साधु-भक्तों के ध्येय श्रीकृष्ण उसके पास आये और अपने हाथों से उस ब्राह्मण के पाँवों को दबाते हुए बड़े ही धैर्य के साथ इस प्रकार पूछा।

कच्चिद्द्विजवरश्रेष्ठ धर्मस्ते वृद्धसम्मतः ।

वर्तते नातिकृच्छ्रेण सन्तुष्टमनसः सदा ॥ ० ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; द्विज—ब्राह्मणों में; वर—श्रेष्ठ; श्रेष्ठ—हे श्रेष्ठ; धर्मः—धर्म; ते—तुम्हारा; वृद्ध—गुरुजनों के द्वारा; सम्मतः—अनुमोदित; वर्तते—चल रहा है; न—नहीं; अति—अत्यधिक; कृच्छ्रेण—कठिनाई से; सन्तुष्ट—पूर्णतया संतुष्ट; मनसः—मन वाले; सदा—सदैव।

[भगवान् ने कहा] : हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ, आपके गुरुजनों द्वारा अनुमोदित धार्मिक अनुष्ठान बिना किसी बड़ी कठिनाई के चल तो रहे हैं न? आपका मन सदैव संतुष्ट तो रहता है न?

तात्पर्य : यहाँ हमने *धर्म* शब्द का "धार्मिक अनुष्ठान" किया है, यद्यपि इससे संस्कृत शब्द का पूरा अभिप्राय समझ में नहीं आता। कृष्ण का जन्म धर्मनिरपेक्ष समाज में नहीं हुआ था। वैदिक काल के लोग शायद ही ऐसे समाज की कल्पना कर सकते थे जिसमें ईश्वर के विधान का पालन करने की आवश्यकता न हो। अत: उनके लिए *धर्म* शब्द सामान्य कर्तव्य, उच्चतर सिद्धान्त तथा निश्चित कर्म—ये सभी अर्थ इंगित करने वाला था। ऐसा स्वत:सिद्ध था कि ऐसे कर्तव्य धार्मिक परिधि में आते हैं। किन्तु उन दिनों धर्म कोई विशिष्ट पक्ष या जीवन का विभाग न था अपितु समस्त कार्यों के लिए मार्गदर्शक था। अधार्मिक जीवन को आसुरी माना जाता था और हर बात में ईश्वर का हाथ दिखता था।

सन्तुष्टो यर्हि वर्तेत ब्राह्मणो येन केनचित् ।
अहीयमानः स्वद्धर्मात्स ह्यस्याखिलकामधुक् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सन्तुष्टः—सन्तुष्ट; यर्हि—जब; वर्तेत—पालन करता है; ब्राह्मणः—ब्राह्मण; येन केनचित्—जिस किसी से; अहीयमानः—न्यून नहीं; स्वात्—अपने; धर्मात्—धार्मिक कर्तव्य से; सः—वे धार्मिक सिद्धान्त (धर्म); हि—निस्सन्देह; अस्य—उसके लिए; अखिल—हर वस्तु का; काम-धुक्—कामधेनु गाय, किसी भी कामना-पूर्ति के लिए दुही जाने वाली।

जो कुछ भी मिल जाय उससे सन्तुष्ट हो जाना और अपने धार्मिक कर्तव्य से च्युत नहीं होना ये धार्मिक सिद्धान्त ब्राह्मण की सारी इच्छाओं को पूरी करने वाली कामधेनु बन जाते हैं।

असन्तुष्टोऽसकृल्लोकानाप्नोत्यपि सुरेश्वरः ।
अकिञ्चनोऽपि सन्तुष्टः शेते सर्वाङ्गविज्वरः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

असन्तुष्टः—असन्तुष्ट; असकृत्—बारम्बार; लोकान्—विविध लोकों को; आप्नोति—प्राप्त करता है; अपि—यद्यपि; सुर—देवताओं का; ईश्वरः—स्वामी; अकिञ्चनः—निर्धन; अपि—होते हुए भी; सन्तुष्टः—सन्तुष्ट; शेते—सोता है; सर्व—सारे; अङ्ग—शरीर के अंग; विज्वरः—दुख से रहित।

असन्तुष्ट ब्राह्मण स्वर्ग का राजा बन जाने पर भी एक लोक से दूसरे लोक में बेचैन होकर

भटकता रहता है। किन्तु संतुष्ट ब्राह्मण, अपने पास कुछ न होने पर भी शान्तिपूर्वक विश्राम करता है और उसके सारे अंग कष्ट से मुक्त रहते हैं।

तात्पर्य : जो लोग असन्तुष्ट हैं उनके सारे शरीर में पीड़ा का अनुभव होता है और वे अनेक रोगों के शिकार हो जाते हैं। किन्तु सन्तुष्ट ब्राह्मण, चाहे उसके पास कुछ भी न हो, शान्त तथा स्थिर रहता है और उसके शरीर या मन में कोई कष्ट नहीं रहता।

विप्रान्स्वलाभसन्तुष्टान्साधून्भूतसुहृत्तमान् ।
निरहङ्कारिणः शान्तान्नमस्ये शिरसासकृत् ॥ ॥

शब्दार्थ

विप्रान्—विद्वान ब्राह्मणों को; स्व—अपना; लाभ—लाभ से; सन्तुष्टान्—संतुष्ट; साधून्—साधु; भूत—सारे जीवों का; सुहृत्-तमान्—सर्वश्रेष्ठ शुभचिन्तक मित्र; निरहङ्कारिणः—मिथ्या अहंकार से रहित; शान्तान्—शान्त; नमस्ये—नमस्कार करता हूँ; शिरसा—सिर के बल; असकृत्—पुनः पुनः।

मैं उन ब्राह्मणों को बारम्बार अपना शीश नवाता हूँ जो अपने भाग्य से संतुष्ट हैं। साधु, अहंकारशून्य तथा शान्त होने से वे समस्त जीवों के सर्वोत्तम शुभचिन्तक हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी व्याख्या करते हैं कि *स्वलाभ* का एक अन्य अर्थ भी है ''अपने स्व की प्राप्ति'' अर्थात् आत्म-साक्षात्कार। इस तरह उन्नत ब्राह्मण कभी भी भौतिक औपचारिकताओं या सुविधाओं पर निर्भर न रह कर अपने आध्यात्मिक ज्ञान से सदैव सन्तुष्ट रहता है।

कच्चिद्वः कुशलं ब्रह्मन्राजतो यस्य हि प्रजाः ।
सुखं वसन्ति विषये पाल्यमानाः स मे प्रियः ॥ ४॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या, कहीं; वः—तुम्हारा; कुशलम्—कुशलमंगल; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; राजतः—राजा से; यस्य—जिसका; हि—निस्सन्देह; प्रजाः—जनता; सुखम्—सुखपूर्वक; वसन्ति—रहती हैं; विषये—देश में; पाल्यमानाः—रक्षित होकर; सः—वह; मे—मुझको; प्रियः—प्रिय।

हे ब्राह्मण, आपका राजा आप लोगों के कुशल-मंगल का ध्यान तो रखता है? निस्सन्देह, जिस राजा के देश में प्रजा सुखी तथा सुरक्षित है, वह मुझे अत्यन्त प्रिय है।

यतस्त्वमागतो दुर्गं निस्तीर्येह यदिच्छया ।
सर्वं नो ब्रूह्यगुह्यं चेत्किं कार्यं करवाम ते ॥ ५॥

शब्दार्थ

यतः—जहाँ से; त्वम्—तुम; आगतः—आये हो; दुर्गम्—दुर्गम समुद्र; निस्तीर्य—पार करके; इह—यहाँ; यत्—किस; इच्छया—इच्छा से; सर्वम्—सारी वस्तुएँ; नः—हमारे प्रति; ब्रूहि—कहो; अगुह्यम्—गुप्त नहीं; चेत्—यदि; किम्—क्या; कार्यम्—कार्य; करवाम—हम करें; ते—तुम्हारे लिए।

दुर्लंघ्य समुद्र पार करके आप कहाँ से और किस कार्य से यहाँ आये हैं? यदि यह गुप्त न हो तो हमें बतलाइये और यह कहिये कि आपके लिए हम क्या कर सकते हैं?

एवं सम्पृष्टसम्प्रश्नो ब्राह्मणः परमेष्ठिना ।
लीलागृहीतदेहेन तस्मै सर्वमवर्णयत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सम्पृष्ट—पूछा गया; सम्प्रश्नः—प्रश्न; ब्राह्मणः—ब्राह्मण; परमेष्ठिना—भगवान् द्वारा; लील—अपनी लीला के रूप में; गृहीत—ग्रहण किये गये; देहेन—अपने शरीरों से; तस्मै—उसको; सर्वम्—हर वस्तु; अवर्णयत्—कह सुनाया।

अपनी लीला सम्पन्न करने के लिए अवतार लेने वाले पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा इस तरह पूछे जाने पर ब्राह्मण ने उन्हें सारी बात बता दी।

तात्पर्य : *गृहीत* का अर्थ "पकड़ा" किया जा सकता है, अतः ठीक अंग्रेजी भाषा की तरह इसका अर्थ 'किसी बात को ध्यान से समझना' भी हो सकता है। यह इसका सूचक है कि भगवान् कृष्ण का दिव्य शरीर अनुभव किया या जाना जाता है या भक्तों द्वारा पकड़ा जाता है जब भगवान् अपनी दिव्य लीलाएँ प्रदर्शित करने के लिए आते हैं। ये लीलाएँ मनमानी नहीं हैं अपितु जटिल कार्यक्रम के अंशरूप हैं और बद्धजीवों में भगवान् के प्रति प्राकृतिक प्रेम तथा भक्ति जगाकर उन्हें भगवद्धाम ले जाने के लिए भगवान् द्वारा निर्मित तथा निष्पादित की जाती हैं।

श्रीरुक्मिण्युवाच
श्रुत्वा गुणान्भुवनसुन्दर शृण्वतां ते
निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम् ।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं
त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

श्री-रुक्मिणी उवाच—श्री रुक्मिणी ने कहा; श्रुत्वा—सुनकर; गुणान्—गुणों को; भुवन—सारे लोकों के; सुन्दर—हे सौन्दर्य; शृण्वताम्—सुनने वालों के लिए; ते—तुम्हारा; निर्विश्य—प्रवेश करके; कर्ण—कानों के; विवरैः—छेदों से; हरतः—हटाते हुए; अङ्ग—उनके शरीरों की; तापम्—पीड़ा; रूपम्—सौन्दर्य; दृशाम्—देखने की इन्द्रिय का; दृशि-मताम्—आँख वालों का; अखिल—समग्र; अर्थ—इच्छापूर्ति का; लाभम्—प्राप्ति; त्वयि—तुममें; अच्युत—हे अच्युत कृष्ण; आविशति—प्रवेश करती है; चित्तम्—चित्त में; अपत्रपम्—निर्लज्ज; मे—मेरे।

[ब्राह्मण द्वारा पढ़े जा रहे अपने पत्र में] श्री रुक्मिणी ने कहा : हे जगतों के सौन्दर्य,

आपके गुणों के विषय में सुनकर जो कि सुनने वालों के कानों में प्रवेश करके उनके शारीरिक ताप को दूर कर देते हैं और आपके सौन्दर्य के बारे में सुनकर कि वह देखने वाले की सारी दृष्टि सम्बन्धी इच्छाओं को पूरा करता है, हे कृष्ण, मैंने अपना निर्लज्ज मन आप पर स्थिर कर दिया है।

तात्पर्य : रुक्मिणी एक राजा की पुत्री थी, वह साहसी तथा निडर थी और वह कृष्ण के प्राप्त न होने पर मरना पसन्द करती। यह सब विचार करके उसने एक स्पष्ट खुला पत्र लिखा जिसमें कृष्ण से याचना की गई थी कि वे आकर उसे ले जाँय।

का त्वा मुकुन्द महती कुलशीलरूप-
विद्यावयोद्रविणधामभिरात्मतुल्यम् ।
धीरा पतिं कुलवती न वृणीत कन्या
काले नृसिंह नरलोकमनोऽभिरामम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

का—कौन; त्वा—तुम; मुकुन्द—हे कृष्ण; महती—राजसी; कुल—पारिवारिक पृष्ठभूमि के रूप में; शील—चरित्र; रूप—सौन्दर्य; विद्या—ज्ञान; वयः—युवावस्था; द्रविण—धन; धामभिः—तथा प्रभाव से; आत्म—अपने ही; तुल्यम्—समान; धीरा—जो धीर है; पतिम्—अपने पति रूप में; कुल-वती—अच्छे परिवार वाली; न वृणीत—वरण नहीं करेगी; कन्या—विवाह योग्य तरुणी; काले—ऐसे समय में; नृ—लोगों में; सिंह—हे सिंह; नर-लोक—मानव समाज का; मनः—मनों को; अभिरामम्—आनन्द देने वाले।

हे मुकुन्द, आप वंश, चरित्र, सौन्दर्य, ज्ञान, युवावस्था, सम्पदा तथा प्रभाव में केवल अपने समान हैं। हे पुरुषों में सिंह, आप सारी मानवता के मन को आनन्दित करते हैं। उपयुक्त समय आ जाने पर ऐसी कौन-सी राजकुल की धीर तथा विवाहयोग्य कन्या होगी जो आपको पति रूप में नहीं चुनेगी?

तन्मे भवान्खलु वृतः पतिरङ्ग जाया-
मात्मार्पितश्च भवतोऽत्र विभो विधेहि ।
मा वीरभागमभिमर्शतु चैद्य आराद्
गोमायुवन्मृगपतेर्बलिमम्बुजाक्ष ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; मे—मेरे द्वारा; भवान्—आप; खलु—निस्सन्देह; वृतः—चुने गये; पतिः—पति रूप में; अङ्ग—प्रिय स्वामी; जायाम्—पत्नी रूप में; आत्मा—अपने को; अर्पितः—अर्पित; च—और; भवतः—आपको; अत्र—यहाँ; विभो—हे सर्वशक्तिमान; विधेहि—स्वीकार करें; मा—कभी नहीं; वीर—वीर का; भागम्—अंश; अभिमर्शतु—छूना चाहिए; चैद्यः—

चेदिराज का पुत्र, शिशुपाल; आरात्—तेजी से; गोमायु-वत्—सियार की तरह; मृग-पतेः—पशुओं के राजा सिंह से सम्बन्धित; बलिम्—बलि; अम्बुज-अक्ष—हे कमल-नेत्र।

अतएव हे प्रभु, मैंने आपको अपने पति-रूप में चुना है और मैं आपकी शरण में आई हूँ। हे सर्वशक्तिमान, तुरन्त आइये और मुझे अपनी पत्नी बना लीजिये। हे मेरे कमल-नेत्र स्वामी, किसी सिंह की सम्पत्ति को चुराने वाले सियार जैसे शिशुपाल को एक वीर के अंश को कभी छूने न दीजिये।

पूर्तेष्टदत्तनियमव्रतदेवविप्र-
गुर्वर्चनादिभिरलं भगवान्परेशः ।
आराधितो यदि गदाग्रज एत्य पाणिं
गृह्णातु मे न दमघोषसुतादयोऽन्ये ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

पूर्त—पुण्य कार्यों (ब्राह्मणों को भोजन कराना, कुंआ खुदवाना आदि) के द्वारा; इष्ट—यज्ञादि करना; दत्त—दान; नियम—अनुष्ठान पालन (यथा तीर्थस्थान जाना); व्रत—तपस्या का व्रत; देव—देवताओं; विप्र—ब्राह्मणों; गुरु—तथा गुरुओं की; अर्चन—पूजा; आदिभिः—इत्यादि से; अलम्—पर्याप्त; भगवान्—भगवान्; पर—परम; ईशः—नियंत्रक; आराधितः—भक्ति किया हुआ; यदि—यदि; गद-अग्रजः—गद के बड़े भाई, कृष्ण; एत्य—आकर; पाणिम्—हाथ; गृह्णातु—ग्रहण करें; मे—मेरा; न—नहीं; दमघोष-सुत—दमघोष-पुत्र, शिशुपाल; आदयः—इत्यादि; अन्ये—अन्य।

यदि मैंने पुण्य कर्म, यज्ञ, दान, अनुष्ठान-व्रत के साथ साथ देवताओं, ब्राह्मणों तथा गुरुओं की पूजा द्वारा भगवान् की पर्याप्त रूप से उपासना की हो तो हे गदाग्रज, आप आकर मेरा हाथ ग्रहण करें और दमघोष का पुत्र या कोई अन्य ग्रहण न करने पाये।

तात्पर्य : आचार्यों ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है—"रुक्मिणी को अनुभव हुआ कि केवल एक जीवन के प्रयासों द्वारा कृष्ण को प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए उन्होंने श्रीकृष्ण को आने के लिए विश्वस्त करने की आशा हेतु उन पुण्य कर्मों को गंभीरता से इंगित किया जो उन्होंने इस जीवन में तथा पिछले जीवनों में किये थे।"

श्वो भाविनि त्वमजितोद्वहने विदर्भान्
गुप्तः समेत्य पृतनापतिभिः परीतः ।
निर्मथ्य चैद्यमगधेन्द्रबलं प्रसह्य
मां राक्षसेन विधिनोद्वह वीर्यशुल्काम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

श्वः भाविनि—कल; त्वम्—तुम; अजित—हे अजेय; उद्वहने—विवाहोत्सव के समय; विदर्भान्—विदर्भ में; गुप्तः—अदृश्य; समेत्य—आकर; पृतना—अपनी सेना के; पतिभिः—नायकों द्वारा; परीतः—घिरा हुआ; निर्मथ्य—दलन करके; चैद्य—

शिशुपाल; मगध-इन्द्र—तथा मगध का राजा, जरासन्ध की; बलम्—सैन्य-शक्ति; प्रसह्य—बलपूर्वक; माम्—मुझको; राक्षसेन विधिना—राक्षस विधि से; उद्वह—विवाह करके ले जाओ; वीर्य—अपने पराक्रम के; शुल्काम्—मूल्य रूप में।.

हे अजित, कल जब मेरा विवाहोत्सव प्रारम्भ हो तो आप विदर्भ में अपनी सेना के नायकों से घिर कर गुप्त रूप से आयें। तत्पश्चात् चैद्य तथा मगधेन्द्र की सेनाओं को कुचल कर अपने पराक्रम से मुझे जीत कर राक्षस विधि से मेरे साथ विवाह कर लें।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् श्रीकृष्ण* में इंगित किया है कि राजकुल में उत्पन्न होने के कारण रुक्मिणी को राजनीतिक कामकाज की, निश्चित रूप से, अच्छी पकड़ थी। उन्होंने श्रीकृष्ण को सलाह दी कि वे नगर में अकेले और बिना किसी के देखे प्रवेश करें तथा तब स्वयं अपने सेना-नायकों के बीच में घिर कर रहें जिससे जो भी करना है, उसे वे कर सकें। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने आने वाले युद्ध की तुलना लक्ष्मी प्राप्त करने के लिए भगवान् द्वारा समुद्र के मंथन से की है। इस तरह श्री-रूपी रुक्मिणी इस मंथन से प्राप्त होंगी।

अन्तःपुरान्तरचरीमनिहत्य बन्धून्-
त्वामुद्वहे कथमिति प्रवदाम्युपायम् ।
पूर्वेद्युरस्ति महती कुलदेवयात्रा
यस्यां बहिर्नववधूर्गिरिजामुपेयात् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

अन्तः-पुर—महल में स्त्रियों के कक्ष, रनिवास के; अन्तर—भीतर; चरीम्—घूमने वाले; अनिहत्य—बिना मारे; बन्धून्—तुम्हारे सम्बन्धियों को; त्वाम्—तुमको; उद्वहे—मैं ले जाऊँगा; कथम्—कैसे; इति—ऐसे शब्द कहते हुए; प्रवदामि—मैं बतलाऊँगी; उपायम्—उपाय; पूर्वे-द्युः—एक दिन पहले; अस्ति—है; महती—विशाल; कुल—राजपरिवार के; देव—कुलदेवता के लिए; यात्रा—जुलूस; यस्याम्—जिसमें; बहिः—बाहर; नव—नवीन; वधूः—दुलहन; गिरिजाम्—देवी गिरिजा (अम्बिका) के पास; उपेयात्—जाती है।.

चूँकि मैं रनिवास के भीतर रहूँगी अतः आप आश्चर्य करेंगे और सोचेंगे कि "मैं तुम्हारे कुछ सम्बन्धियों को मारे बिना तुम्हें कैसे ले जा सकता हूँ?" किन्तु मैं आपको एक विधि बतलाऊँगी: विवाह के एक दिन पूर्व राजकुल के देवता के सम्मान में एक विशाल जुलूस निकलेगा जिसमें दुलहन नगर के बाहर देवी गिरिजा का दर्शन करने जाती है।

तात्पर्य : चतुर रुक्मिणी ने पहले से श्रीकृष्ण द्वारा उठाई जाने वाली आपत्ति भाँप ली थी। वे निश्चित रूप से शिशुपाल तथा जरासन्ध जैसे धूर्तों का दमन करने का विरोध नहीं करेंगे किन्तु वे नहीं चाहेंगे कि अन्तःपुर में उनका मार्ग रोकने वाले रुक्मिणी के सम्बन्धियों को क्षति पहुँचाई जाय या

उनका वध किया जाय। गिरिजादेवी (दुर्गा) तक जाने तथा लौटने वाले जुलूस से कृष्ण को पूर्ण अवसर प्राप्त हो सकेगा कि रुक्मिणी के सम्बन्धियों को बिना क्षति पहुँचाये रुक्मिणी का हरण कर लें।

यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजःस्नपनं महान्तो
वाञ्छन्त्युमापतिरिवात्मतमोऽपहत्यै ।
यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं
जह्यामसून्व्रतकृशाञ्शतजन्मभिः स्यात् ॥ ४॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; अङ्घ्रि—चरणों की; पङ्कज—कमल; रजः—धूलि से; स्नपनम्—स्नान करते हुए; महान्तः—महात्मागण; वाञ्छन्ति—लालायित रहते हैं; उमा-पतिः—उमादेवी के पति, शिवजी; इव—जिस तरह; आत्म—अपने; तमः—अज्ञान के; अपहत्यै—नष्ट करने के लिए; यर्हि—जब; अम्बुज-अक्ष—हे कमल-नयन; न लभेय—मैं नहीं पा सकती; भवत्—आपकी; प्रसादम्—दया; जह्याम्—मुझे त्याग देना चाहिए; असून्—अपने प्राण; व्रत—तपस्या द्वारा; कृशान्—दुर्बल हुए; शत—सौ; जन्मभिः—जन्मों के बाद; स्यात्—हो सके।

"हे कमल-नयन, शिवजी जैसे महात्मा आपके चरणकमलों की धूलि में स्नान करके अपने अज्ञान को नष्ट करना चाहते हैं। यदि मुझे आपकी कृपा प्राप्त नहीं होती तो मैं अपने उस प्राण को त्याग दूँगी जो मेरे द्वारा की जाने वाली कठिन तपस्या के कारण क्षीण हो चुका होगा। तब कहीं सैकड़ों जन्मों तक परिश्रम करने के बाद शायद आपकी कृपा प्राप्त हो सके।"

तात्पर्य : श्रीकृष्ण के प्रति दिव्य रुक्मिणी का असामान्य समर्पण आध्यात्मिक स्तर पर ही सम्भव है, संसारी स्नेह के भंगुर जगत में नहीं।

ब्राह्मण उवाच
इत्येते गुह्यसन्देशा यदुदेव मयाहृताः ।
विमृश्य कर्तुं यच्चात्र क्रियतां तदनन्तरम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणः उवाच—ब्राह्मण ने कहा; इति—इस प्रकार; एते—ये; गुह्य—गुप्त; सन्देशाः—सन्देश; यदु-देव—हे यदुओं के स्वामी; मया—मेरे द्वारा; आहृताः—लाये गये; विमृश्य—विचार करके; कर्तुम्—करणीय; यत्—जो; च—तथा; अत्र—इस बारे में; क्रियताम्—करें; तत्—वह; अनन्तरम्—इसके तुरन्त बाद।

ब्राह्मण ने कहा, हे यदु-देव, मैं यह गोपनीय संदेश अपने साथ लाया हूँ। कृपया सोचें-विचारें कि इन परिस्थितियों में क्या किया जाना चाहिये और उसे तुरन्त ही कीजिये।

तात्पर्य : जब ब्राह्मण आया तो उसने रुक्मिणी द्वारा अपने अन्तःपुर में केवल कृष्ण के निमित्त एकांत में लिखे गये गोपनीय पत्र की सील तोड़ी। रुक्मिणी द्वारा स्वयं चुने गये विश्वासपात्र ब्राह्मण ने

गुह्य सन्देशा: शब्द का प्रयोग करते हुए यह पुष्टि की है कि उसने सन्देश की गोपनीयता का अतिक्रमण नहीं किया है। केवल भगवान् कृष्ण ने ही उसे सुना। चूँकि रुक्मिणी का विवाह निकट था इसलिए कृष्ण को तुरन्त कार्यवाही करनी थी। *यदु-देव* शब्द सूचित करता है कि प्रबल यदुवंश के स्वामी के रूप में कृष्ण को निर्णय लेना चाहिए और यदि आवश्यक हो तो वे अपने अनुयायियों को साथ ले लेना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ‘‘भगवान् कृष्ण के लिए रुक्मिणी-संदेश’’ नामक बावनवें अध्याय के श्रील प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तिरपन

कृष्ण द्वारा रुक्मिणी का अपहरण

इस अध्याय में बतलाया गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण किस तरह विदर्भ की राजधानी कुण्डिन पहुँचे और बलशाली शत्रुओं की उपस्थिति में उन्होंने रुक्मिणी का अपहरण किया।

जब कृष्ण ब्राह्मण-दूत से रुक्मिणी का पत्र सुन चुके तो भगवान् ने उससे कहा, ‘‘असल में, मैं रुक्मिणी के प्रति आकृष्ट हूँ और जानता हूँ कि उसका भाई रुक्मी मेरे साथ उसके विवाह का विरोध करता है। इसलिए मुझे सारे निम्नवर्गीय राजाओं का दमन करके उसका अपहरण उसी तरह करना चाहिए जिस तरह लकड़ी में से घर्षण द्वारा अग्नि उत्पन्न की जाती है।’’ चूँकि रुक्मिणी तथा शिशुपाल का यह विवाह केवल तीन दिनों के भीतर सम्पन्न होने को था अत: भगवान् कृष्ण ने दारुक से कहा कि वह तुरन्त रथ को तैयार करे। तत्पश्चात् वे तुरन्त विदर्भ के लिए रवाना हो गये जहाँ वे रात-भर यात्रा करने के बाद पहुँच गये।

राजा भीष्मक अपने पुत्र रुक्मी के स्नेह में फँस कर अपनी पुत्री शिशुपाल को देने के लिए तैयार था। उसने सभी आवश्यक तैयारियाँ करवा लीं—उसने नगर को अनेक प्रकार से सजवाया और मुख्य सड़कों तथा चौराहों की सफाई करवाई। चेदिराज दमघोष भी अपने पुत्र के विवाह के लिए सारी आवश्यक तैयारियाँ करके विदर्भ आ पहुँचा। राजा भीष्मक ने उसका समुचित सत्कार किया और ठहरने के लिए स्थान प्रदान किया। अन्य अनेक राजा—यथा जरासन्ध, शाल्व तथा दन्तवक्र—भी इस

अवसर को देखने आये। कृष्ण के इन शत्रुओं ने षड्यंत्र रचा था कि यदि कृष्ण आयें तो दुलहन (वधू) का अपहरण कर लिया जाय। उन्होंने मिलकर कृष्ण से युद्ध करने की तैयारी कर ली और शिशुपाल को उसकी दुलहन दिलाने का पक्का इरादा कर लिया। ये योजनाएँ सुनकर बलदेवजी अपनी सारी सेना एकत्र करके तेजी से कुण्डिनपुर पहुँच गये।

विवाह के पूर्व की रात में रुक्मिणी विश्राम करने जा रही थीं किन्तु तब तक न तो ब्राह्मण आया था न ही कृष्ण। चिन्तामग्न वे अपने दुर्भाग्य को कोस रही थीं। तभी उनका बायाँ अंग फड़का और शुभ शकुन हुआ। दरअसल तुरन्त ही ब्राह्मण वहाँ आ पहुँचा और कृष्ण ने जो कुछ कहा था वह सारा हाल कह सुनाया—इसमें उनके अपहरण का पक्का वायदा भी था।

जब राजा भीष्मक ने सुना कि कृष्ण तथा बलराम आये हैं, तो वह बाजे-गाजे के साथ उनके सत्कार के लिए गया। उसने अनेक उपहारों के साथ उन दोनों की पूजा की और फिर उनके विश्राम के लिए स्थान निर्दिष्ट किया। इस तरह राजा ने इन दोनों की वैसी ही आवभगत की जैसी कि अन्य असंख्य राजसी अतिथियों के लिए की थी।

विदर्भ के लोग भगवान् कृष्ण को देखकर परस्पर बातें करने लगे कि वे ही रुक्मिणी के योग्य पति हैं। वे प्रार्थना करने लगे कि उनके जो भी पुण्यकर्म हों उनके बल पर कृष्ण का रुक्मिणी से पाणिग्रहण हो जाय।

जब श्रीमती रुक्मिणीदेवी का श्री अम्बिका के मन्दिर जाने का समय आ गया तो वह अनेक रक्षकों से घिर कर वहाँ गईं। वहाँ पर देवी को प्रणाम करके रुक्मिणी ने प्रार्थना की कि पति-रूप में उन्हें श्रीकृष्ण प्राप्त हों। तत्पश्चात् वे अपनी एक दासी का हाथ पकड़ कर अम्बिका मन्दिर से बाहर आईं। उनकी अकथनीय सुन्दरता देखकर वहाँ पर उपस्थित बड़े बड़े वीरों ने अपने हथियार डाल दिये और पृथ्वी पर अचेत होकर धराशायी हो गये। रुक्मिणी बड़ी होशियारी से तब तक चलती गईं जब तक उन्हें कृष्ण दिखाई नहीं पड़ गये। तब सबों के देखते देखते श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी को अपने रथ में चढ़ा लिया। जिस तरह सियारों के झुंड में से सिंह अपना उचित भाग ले लेता है उसी तरह उन्होंने सारे विरोध करने वाले राजाओं को पीछे हटाकर अपना तथा अपने संगियों का रास्ता धीरे-धीरे बना लिया। जरासन्ध तथा अन्य राजा अपनी पराजय तथा अनादर को न सह सकने के कारण अपने को जोर-जोर

से धिक्कारने लगे। इस अपयश को उन्होंने सिंह के भाग को एक क्षुद्र पशु द्वारा चुराये जाने के समान समझा।

श्रीशुक उवाच
वैदर्भ्याः स तु सन्देशं निशम्य यदुनन्दनः ।
प्रगृह्य पाणिना पाणिं प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; वैदर्भ्याः—विदर्भ की राजकुमारी का; सः—वह; तु—तथा; सन्देशम्—गुप्त सन्देश; निशम्य—सुनकर; यदु-नन्दनः—यदुवंशी श्रीकृष्ण ने; प्रगृह्य—पकड़ कर; पाणिना—अपने हाथ से; पाणिम्—हाथ (ब्राह्मण-दूत का); प्रहसन्—मुसकाते हुए; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह कुमारी वैदर्भी का गुप्त सन्देश सुनकर यदुनन्दन ने ब्राह्मण का हाथ अपने हाथ में ले लिया और मुसकाते हुए उससे इस प्रकार बोले।

श्रीभगवानुवाच
तथाहमपि तच्चित्तो निद्रां च न लभे निशि ।
वेदाहमुक्मिणा द्वेषान्ममोद्वाहो निवारितः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; तथा—इसी तरह से; अहम्—मैं; अपि—भी; तत्—उस पर स्थिर किये; चित्तः—अपने मन को; निद्राम्—नींद; च—तथा; न लभे—नहीं पाता; निशि—रात में; वेद—जानता हूँ; अहम्—मैं; रुक्मिणा—रुक्मी द्वारा; द्वेषात्—शत्रुतावश; मम—मेरी; उद्वाहः—विवाह; निवारितः—रोका गया।

भगवान् ने कहा : जिस तरह रुक्मिणी का मन मुझ पर लगा है उसी तरह मेरा मन उस पर लगा है। मैं रात में सो तक नहीं सकता। मैं जानता हूँ कि द्वेषवश रुक्मी ने हमारा विवाह रोक दिया है।

तामानयिष्य उन्मथ्य राजन्यापसदान्मृधे ।
मत्परामनवद्याङ्गीमेधसोऽग्निशिखामिव ॥ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उसको; आनयिष्ये—मैं यहाँ लाऊँगा; उन्मथ्य—मथ कर; राजन्य—राजवर्ग के; अपसदान्—अयोग्य सदस्यों को; मृधे—युद्ध में; मत्—मेरे प्रति; पराम्—पूर्णतया समर्पित; अनवद्य—निर्विवाद; अङ्गीम्—शारीरिक सौन्दर्य वाली को; एधसः—अग्नि जलाने वाला काष्ठ; अग्नि—अग्नि की; शिखाम्—लपटों; इव—सदृश।

वह अपने आपको एकमात्र मेरे प्रति समर्पित कर चुकी है और उसका सौन्दर्य निष्कलंक है। मैं उन अयोग्य राजाओं को युद्ध में उसी तरह मथ कर उसे यहाँ लाऊँगा जिस तरह काठ से प्रज्वलित अग्नि उत्पन्न की जाती है।

तात्पर्य : जब काष्ठ में से प्रसुप्त अग्नि प्रकट की जाती है, तो लपटें निकलती हैं और इस क्रिया में काष्ठ जल जाता है। इसी तरह भगवान् ने निर्भय होकर भविष्यवाणी की कि, रुक्मिणी उनसे पाणिग्रहण करने के लिए आगे आयेगी और ऐसा होने पर दुष्ट राजागण कृष्ण की संकल्प-अग्नि में जल जायेंगे।

श्रीशुक उवाच
उद्वाहर्क्षं च विज्ञाय रुक्मिण्या मधुसूदनः ।
रथः संयुज्यतामाशु दारुकेत्याह सारथिम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; उद्वाह—विवाह की; ऋक्षम्—लग्न; च—तथा; विज्ञाय—जान कर; रुक्मिण्याः—रुक्मिणी के; मधुसूदनः—भगवान् कृष्ण ने; रथः—रथ; संयुज्यताम्—जोता जाय; आशु—तुरन्त; दारुक—हे दारुक; इति—इस प्रकार; आह—कहा; सारथिम्—अपने सारथी से।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् मधुसूदन रुक्मिणी के विवाह की सही सही लग्न का समय भी समझ गये। अतः उन्होंने अपने सारथी से कहा, ''हे दारुक, मेरा रथ तुरन्त तैयार करो।''

स चाश्वैः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकैः ।
युक्तं रथमुपानीय तस्थौ प्राञ्जलिरग्रतः ॥ ५॥

शब्दार्थ

सः—वह, दारुक; च—तथा; अश्वैः—घोड़ों से; शैब्य-सुग्रीव-मेघपुष्प-बलाहकैः—शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प तथा बलाहक नामक; युक्तम्—जोता; रथम्—रथ को; उपानीय—लाकर; तस्थौ—खड़ा हुआ; प्राञ्जलिः—आदरपूर्वक हाथ जोड़ कर; अग्रतः—सामने।

दारुक भगवान् का रथ ले आया जिसमें शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प तथा बलाहक नामक घोड़े जुते थे। फिर वह अपने हाथ जोड़ कर भगवान् कृष्ण के सामने खड़ा हो गया।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती *पद्म पुराण* से उद्धरण देते हैं जिसमें भगवान् कृष्ण के रथ के घोड़ों का वर्णन हुआ है—

शैब्यस्तु शुकपत्राभः सुग्रीवो हेमपिंगलः।
मेघपुष्पस्तु मेघाभः पाण्डुरो च बलाहकः॥

''शैब्य तोते के पंखों जैसे रंग वाला था, सुग्रीव पीला सुनहरा था, मेघपुष्प बादल के रंग का और बलाहक कुछ कुछ सफेद रंग का था।''

आरुह्य स्यन्दनं शौरिर्द्विजमारोप्य तूर्णगैः ।
आनर्तादेकरात्रेण विदर्भानगमद्धयैः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

आरुह्य—चढ़ कर; स्यन्दनम्—अपने रथ में; शौरिः—कृष्ण; द्विजम्—ब्राह्मण को; आरोप्य—बैठाकर; तूर्ण-गैः—तेज; आनर्तात्—आनर्त जिले से; एक—एकही; रात्रेण—रात में; विदर्भान्—विदर्भ राज्य तक; अगमत्—गये; हयैः—अपने घोड़ों से।

भगवान् शौरि अपने रथ में सवार हुए और फिर ब्राह्मण को चढ़ाया। तत्पश्चात् भगवान् के तेज घोड़े एक रात में ही उन्हें आनर्त जिले से विदर्भ ले गये।

राजा स कुण्डिनपतिः पुत्रस्नेहवशानुगः ।
शिशुपालाय स्वां कन्यां दास्यन्कर्माण्यकारयत् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

राजा—राजा; सः—वह, भीष्मक; कुण्डिन-पतिः—कुण्डिन का स्वामी; पुत्र—अपने पुत्र के; स्नेह—स्नेह के; वश—वशीभूत; अनुगः—आज्ञापालन करते हुए; शिशुपालाय—शिशुपाल को; स्वाम्—अपनी; कन्याम्—पुत्री; दास्यन्—देने ही वाला; कर्माणि—आवश्यक कार्य; अकारयत्—कर चुका था।

कुण्डिन का स्वामी राजा भीष्मक अपने पुत्र के स्नेह के वशीभूत होकर अपनी कन्या शिशुपाल को देने ही वाला था। राजा ने समस्त आवश्यक तैयारियाँ पूरी कर ली थीं।

तात्पर्य : इस सन्दर्भ में श्रील श्रीधर स्वामी इंगित करते हैं कि राजा भीष्मक को शिशुपाल से कोई विशेष लगाव न था प्रत्युत वह अपने पुत्र रुक्मी के प्रति अनुरागवश ऐसा कर रहा था।

पुरं सम्मृष्टसंसिक्तमार्गरथ्याचतुष्पथम् ।
चित्रध्वजपताकाभिस्तोरणैः समलङ्कृतम् ॥ ८ ॥
स्रग्गन्धमाल्याभरणैर्विरजोऽम्बरभूषितैः ।
जुष्टं स्त्रीपुरुषैः श्रीमद्गृहैरगुरुधूपितैः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

पुरम्—नगरी को; सम्मृष्ट—अच्छी तरह साफ कराया; संसिक्त—तथा जल छिड़काया; मार्ग—मुख्य सड़कें; रथ्या—व्यावसायिक सड़कें; चतुः-पथम्—तथा चौराहों को; चित्र—रंगबिरंगे; ध्वज—झंडियों; पताकाभिः—पताकाओं से; तोरणैः—तथा गोल दरवाजों से; समलङ्कृतम्—सजाया; स्रक्—रत्नजटित हारों से; गन्ध—सुगन्धित वस्तुएँ, यथा चन्दन-लेप; माल्य—फूल की मालाएँ; आभरणैः—तथा अन्य आभूषणों से; विरजः—स्वच्छ; अम्बर—वस्त्र से; भूषितैः—सजाये गये; जुष्टम्—युक्त; स्त्री—स्त्रियों; पुरुषैः—तथा पुरुषों से; श्री-मत्—ऐश्वर्यवान्; गृहैः—घरों से; अगुरु-धूपितैः—अगुरु धूप से सुगन्धित।

राजा ने मुख्य मार्गों, व्यापारिक सड़कों तथा चौराहों को ठीक से साफ कराया और तब उन पर जल छिड़कवाया। उसने विजय तोरणों तथा खंभों पर रंगबिरंगी झंडियों से नगर को

सजवाया। नगर के स्त्री-पुरुषों ने साफ-सुथरे वस्त्र पहने और अपने अपने शरीरों पर सुगन्धित चन्दन-लेप लगाया और बहुमूल्य हार, फूल की मालाएँ तथा रत्नजटित आभूषण धारण किये। उनके भव्य घर अगुरु की सुगन्ध से भर गये।

तात्पर्य : जब कच्ची सड़कों पर पानी का छिड़काव किया जाता है, तो धूल बैठ जाती है और सड़कें सुदृढ़ तथा चिकनी हो जाती हैं। राजा भीष्मक ने विवाह के लिए पूरी तैयारियाँ कीं और कृष्ण द्वारा सुन्दरी रुक्मिणीदेवी के अपहरण के लिए भूमिका तैयार कर दी।

पितृन्देवान्समभ्यर्च्य विप्रांश्च विधिवन्नृप ।
भोजयित्वा यथान्यायं वाचयामास मङ्गलम् ॥ ॥

शब्दार्थ

पितृन्—पूर्वजों; देवान्—देवतागण; समभ्यर्च्य—ठीक से पूजा की; विप्रान्—ब्राह्मणों को; च—तथा; विधि-वत्—विधि-विधानों के अनुसार; नृप—हे राजा (परीक्षित); भोजयित्वा—भोजन कराकर; यथा—जिस तरह; न्यायम्—उचित है; वाचयाम् आस—उच्चारित किया था; मङ्गलम्—शुभ मंत्र।

हे राजन्, महाराज भीष्मक ने पितरों, देवताओं तथा ब्राह्मणों को भलीभाँति भोजन कराकर उनकी विधिवत पूजा की। तत्पश्चात् उसने दुलहन के मंगल के लिए परम्परागत मंत्रों का उच्चारण करवाया।

सुस्नातां सुदतीं कन्यां कृतकौतुकमङ्गलाम् ।
आहतांशुकयुग्मेन भूषितां भूषणोत्तमैः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सु-स्नाताम्—ठीक से स्नान कराई गई; सु-दतीम्—सुन्दर दाँतों वाली; कन्याम्—दुलहन को; कृत—सम्पन्न करके; कौतुक-मङ्गलाम्—मांगलिक वैवाहिक हार पहनाने का उत्सव; आहत—कोरा; अंशुक—वस्त्र की; युग्मेन—जोड़ी से; भूषिताम्—अलंकृत; भूषण—गहनों से; उत्तमैः—सुन्दर सुन्दर।

दुलहन ने अपने दाँत साफ किये और फिर स्नान किया और इसके बाद उसने मांगलिक वैवाहिक हार धारण किया। तत्पश्चात् उसे उत्तम कोटि के नये वस्त्रों की जोड़ी पहनाई गई और अत्यन्त सुन्दर रत्नजटित गहनों से सजाया गया।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार मांगलिक उत्सवों पर केवल साफ-सुथरे कोरे वस्त्र धारण किये जाने चाहिए।

चक्रुः सामर्ग्यजुर्मन्त्रैर्वध्वा रक्षां द्विजोत्तमाः ।
पुरोहितोऽथर्वविद्वै जुहाव ग्रहशान्तये ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

चक्रुः—किया; साम-ऋग्-यजुः—साम, ऋग तथा यजुर्वेदों के; मन्त्रैः—मंत्रों से; वध्वाः—दुलहन या वधू की; रक्षाम्—रक्षा; द्विज-उत्तमः—उत्तम ब्राह्मण; पुरोहितः—पुरोहित; अथर्व-वित्—अथर्ववेद के मंत्रों में पटु; वै—निस्सन्देह; जुहाव—घी की आहुति डाली; ग्रह—नियन्ता ग्रहों को; शान्तये—शान्त करने के लिए।

उत्तमोत्तम ब्राह्मणजनों ने वधू की रक्षा के लिए ऋग्, साम तथा यजुर्वेदों के मंत्रों का उच्चारण किया और अथर्ववेद में पटु पुरोहित ने नियन्ता ग्रहों को शान्त करने के लिए आहुतियाँ दीं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि अथर्ववेद प्रायः प्रतिकूल ग्रहों की शान्ति से सम्बन्धित है।

हिरण्यरूप्य वासांसि तिलांश्च गुडमिश्रितान् ।
प्रादाद्धेनूश्च विप्रेभ्यो राजा विधिविदां वरः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

हिरण्य—सोना; रूप्य—चाँदी; वासांसि—तथा वस्त्र; तिलान्—तिल; च—तथा; गुड—गुड़; मिश्रितान्—से मिश्रित; प्रादात्—दिया; धेनूः—गौवें; च—भी; विप्रेभ्यः—ब्राह्मणों को; राजा—राजा भीष्मक ने; विधि—विधि-विधान; विदाम्—जानने वालों में; वरः—श्रेष्ठ।

राजा ने विधि-विधानों के ज्ञान में दक्ष व अद्वितीय ब्राह्मणों को सोना, चाँदी, वस्त्र, गौवें तथा गुड़-मिश्रित तिलों की दक्षिणा दी।

एवं चेदिपती राजा दमघोषः सुताय वै ।
कारयामास मन्त्रज्ञैः सर्वमभ्युदयोचितम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; चेदि-पतिः—चेदि का राजा; राजा दमघोषः—राजा दमघोष ने; सुताय—अपने पुत्र (शिशुपाल) के लिए; वै—निस्सन्देह; कारयाम् आस—कराया था; मन्त्र-ज्ञैः—मंत्र जानने वालों के द्वारा; सर्वम्—सबकुछ; अभ्युदय—उसके उत्थान के लिए; उचितम्—उपयुक्त।

चेदि नरेश राजा दमघोष ने भी अपने पुत्र की समृद्धि सुनिश्चित करने के लिए समस्त कृत्यों को सम्पन्न करने के लिए मंत्रोच्चार में पटु ब्राह्मणों को लगाया था।

मदच्युद्भिर्गजानीकैः स्यन्दनैर्हेममालिभिः ।
पत्त्यश्वसङ्कुलैः सैन्यैः परीतः कुण्दीनं ययौ ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

मद—मस्तक से चूने वाला द्रव; च्युद्भिः—चूता हुआ; गज—हाथियों के; अनीकैः—समूह से; स्यन्दनैः—रथों के साथ; हेम—सुनहला; मालिभिः—मालाओं से सुसज्जित; पत्ति—पैदल सैनिकों; अश्व—तथा घोड़ों सहित; सङ्कुलैः—एकत्रित; सैन्यैः—सेनाओं द्वारा; परीतः—साथ साथ; कुण्डिनम्—भीष्मक की राजधानी कुण्डिन में; ययौ—गया।

राजा दमघोष ने मद टपकाते हाथियों, लटकती सुनहरी साँकलों वाले रथों तथा असंख्य घुड़सवार और पैदल सैनिकों के साथ कुण्डिन की यात्रा की।

तं वै विदर्भाधिपतिः समभ्येत्याभिपूज्य च ।
निवेशयामास मुदा कल्पितान्यनिवेशने ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस (दमघोष) को; वै—दरअसल; विदर्भ-अधिपतिः—विदर्भ के स्वामी भीष्मक ने; समभ्येत्य—बढ़कर अगवानी करके; अभिपूज्य—आदर करके; च—तथा; निवेशयाम् आस—ठहराया; मुदा—हर्षपूर्वक; कल्पित—बनवाया; अन्य—विशेष; निवेशने—जनवासे में।

विदर्भराज भीष्मक नगर से बाहर गये और राजा दमघोष से विशेष सत्कार के प्रतीकों के साथ मिले। फिर भीष्मक ने दमघोष को इस अवसर के लिए विशेष रूप से निर्मित आवास-ग्रह में ठहराया।

तत्र शाल्वो जरासन्धो दन्तवक्रो विदूरथः ।
आजग्मुश्चैद्यपक्षीयाः पौण्ड्रकाद्याः सहस्रशः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; शाल्वः जरासन्धः दन्तवक्रः विदूरथः—शाल्व, जरासन्ध, दन्तवक्र तथा विदूरथ; आजग्मुः—आये; चैद्य—शिशुपाल के; पक्षीयाः—पक्षधर; पौण्ड्रक—पौण्ड्रक; आद्याः—इत्यादि; सहस्रशः—हजारों।

शाल्व, जरासन्ध, दन्तवक्र तथा विदूरथ जो शिशुपाल के समर्थक थे, वे सभी पौण्ड्रक तथा हजारों अन्य राजाओं के साथ आये।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण के जीवन के इतिहास से परिचित लोग इस श्लोक में दिये सभी नामों को झटपट पहचान लेंगे। यहाँ पर उल्लिखित सारे राजा श्रीकृष्ण से कटु शत्रुता रखते थे और किसी न किसी रूप में उनका विरोध करते थे। किन्तु शिशुपाल के इस प्रस्तावित विवाह के अवसर पर इन सबों को पराजित और निराश होना होगा।

कृष्णरामद्विषो यत्ताः कन्यां चैद्याय साधितुम् ।
यद्यागत्य हरेत्कृष्णो रामाद्यैर्यदुभिर्वृतः ॥ १८ ॥

**योत्स्यामः संहतास्तेन इति निश्चितमानसाः ।
आजग्मुर्भूभुजः सर्वे समग्रबलवाहनाः ॥ १९ ॥**

शब्दार्थ

कृष्ण-राम-द्विषः—कृष्ण तथा बलराम से द्वेष करने वालों ने; यत्ताः—तैयारी की; कन्याम्—दुलहन को; चैद्याय—शिशुपाल के लिए; साधितुम्—प्राप्त करने के लिए; यदि—यदि; आगत्य—आकर; हरेत्—हरण कर ली जाय; कृष्णः—कृष्ण; राम—बलराम; आद्यैः—इत्यादि के द्वारा; यदुभिः—यादवों के; वृतः—साथ में; योत्स्यामः—हम युद्ध करेंगे; संहताः—साथ होकर; तेन—उसके साथ; इति—इस प्रकार; निश्चित-मानसाः—कृतसंकल्प; आजग्मुः—आये; भू-भुजः—राजा; सर्वे—सभी; समग्र—पूर्ण; बल—सैन्य-शक्ति; वाहनाः—तथा वाहनों के साथ।

शिशुपाल को दुलहन दिलाने के लिए कृष्ण तथा बलराम से ईर्ष्या करने वाले राजाओं ने परस्पर यह निश्चय किया, ''यह कृष्ण यदि बलराम तथा अन्य यदुओं के साथ दुलहन का अपहरण करने यहाँ आता है, तो हम सब मिलकर उससे युद्ध करेंगे।'' अतः वे ईर्ष्यालु राजा अपनी सारी सेनाएँ तथा सारे सैन्य वाहन लेकर विवाह में गये।

तात्पर्य : *संहताः* का सामान्य अर्थ ''दृढ़ता से बँधा हुआ'' होता है किन्तु इसका अर्थ ''पूरी तरह पददलित या मारा गया'' भी हो सकता है। इस तरह यद्यपि कृष्ण के शत्रु एकजुट और बलशाली—*संहताः* पहले अर्थ में—थे किन्तु वे भगवान् का ठीक से मुकाबला नहीं कर पाये अतः वे पददलित होकर मारे जायेंगे—*संहताः* दूसरे अर्थ में।

**श्रुत्वैतद्भगवान्रामो विपक्षीय नृपोद्यमम् ।
कृष्णं चैकं गतं हर्तुं कन्यां कलहशङ्कितः ॥ २० ॥
बलेन महता सार्धं भ्रातृस्नेहपरिप्लुतः ।
त्वरितः कुण्डिनं प्रागाद्गजाश्वरथपत्तिभिः ॥ २१ ॥**

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर; एतत्—यह; भगवान् रामः—बलराम; विपक्षीय—शत्रुपक्ष के; नृप—राजाओं की; उद्यमम्—तैयारियाँ; कृष्णम्—कृष्ण को; च—तथा; एकम्—अकेला; गतम्—गया हुआ; हर्तुम्—हरण करने केलिए; कन्याम्—कन्या को; कलह—युद्ध की; शङ्कितः—आशंका से; बलेन—सेना; महता—विशाल; सार्धम्—साथ; भ्रातृ—अपने भाई के प्रति; स्नेह—स्नेह में; परिप्लुतः—निमग्न; त्वरितः—तुरन्त; कुण्डिनम्—कुण्डिन को; प्रागात्—गये; गज—हाथी; अश्व—घोड़े; रथ—रथ; पत्तिभिः—पैदल सेना सहित।

जब बलराम ने विपक्षी राजाओं की इन तैयारियों तथा कृष्ण द्वारा दुलहन का हरण करने के लिए अकेले ही प्रस्थान किये जाने के बारे में सुना तो उन्हें शंका होने लगी कि कहीं युद्ध न ठन जाय। अतः वे अपने भाई के स्नेह में निमग्न होकर अपनी विशाल सेना के साथ तेजी से कुण्डिन के लिए कूच कर गये। उनकी सेना में पैदल तथा हाथी, घोड़े और रथ पर सवार सैनिक थे।

भीष्मकन्या वरारोहा काङ्क्षन्त्यागमनं हरेः ।
प्रत्यापत्तिमपश्यन्ती द्विजस्याचिन्तयत्तदा ॥ २२॥

शब्दार्थ

भीष्म-कन्या—भीष्मक-पुत्री ने; वर-आरोहा—सुन्दर नितम्बों वाली; काङ्क्षन्ती—प्रतीक्षा करती; आगमनम्—आने की; हरेः—कृष्ण के; प्रत्यापत्तिम्—वापसी; अपश्यन्ती—न देखती हुई; द्विजस्य—ब्राह्मण की; अचिन्तयत्—सोचा; तदा—तब।

भीष्मक की सुप्रिया पुत्री कृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा उत्सुकतापूर्वक कर रही थी किन्तु जब उसने ब्राह्मण को वापस आए हुए नहीं देखा तो उसने इस प्रकार सोचा।

अहो त्रियामान्तरित उद्वाहो मेऽल्पराधसः ।
नागच्छत्यरविन्दाक्षो नाहं वेद्म्यत्र कारणम् ।
सोऽपि नावर्ततेऽद्यापि मत्सन्देशहरो द्विजः ॥ २॥

शब्दार्थ

अहो—हाय; त्रि-याम—तीन पहर (नौ घंटे) अर्थात् पूरी रात; अन्तरितः—बीत चुकी; उद्वाहः—विवाह; मे—मेरा; अल्प—अपर्याप्त; राधसः—सौभाग्य; न आगच्छति—नहीं आता है; अरविन्द-अक्षः—कमल-नेत्रों वाले कृष्ण; न—नहीं; अहम्—मैं; वेद्मि—जानती हूँ; अत्र—इस; कारणम्—कारण के लिए; सः—वह; अपि—भी; न आवर्तते—नहीं लौटा है; अद्य अपि—अब भी; मत्—मेरे; सन्देश—सन्देश का; हरः—ले जाने वाला; द्विजः—ब्राह्मण।

[राजकुमारी रुक्मिणी ने सोचा] : हाय! रात बीत जाने पर मेरा विवाह होना है! मैं कितनी अभागिनी हूँ! कमल-नेत्र कृष्ण अभी भी नहीं आये। मैं नहीं जानती क्यों? यहाँ तक कि ब्राह्मण-दूत भी अभी तक नहीं लौटा।

तात्पर्य : जैसाकि श्लोक से प्रकट है और जैसाकि श्रील श्रीधर स्वामी द्वारा पुष्टि हुई है वर्तमान घटना सूर्योदय के पूर्व घटती है।

अपि मय्यनवद्यात्मा दृष्ट्वा किञ्चिज्जुगुप्सितम् ।
मत्पाणिग्रहणे नूनं नायाति हि कृतोद्यमः ॥ २४॥

शब्दार्थ

अपि—शायद; मयि—मुझमें; अनवद्य—निर्दोष; आत्मा—मन तथा शरीर वाला; दृष्ट्वा—देखकर; किञ्चित्—कुछ कुछ; जुगुप्सितम्—घृणित; मत्—मेरा; पाणि—हाथ; ग्रहणे—ग्रहण करने के लिए; नूनम्—निस्सन्देह; न आयाति—नहीं आया है; हि—निश्चय ही; कृत-उद्यमः—पहले ऐसा चाहते हुए भी।

लगता है कि निर्दोष प्रभु ने यहाँ आने के लिए तैयार होते समय भी मुझमें कुछ घृणित बात देखी हो, जिससे वे मेरा पाणिग्रहण करने नहीं आये।

तात्पर्य : राजकुमारी रुक्मिणी ने निर्भीक होकर कृष्ण को अपना अपहरण करने के लिए आमंत्रित किया था। जब रुक्मिणी ने देखा कि वे नहीं आये तो वह भयभीत हुई कि शायद उन्होंने उसका प्रस्ताव

ठुकरा दिया क्योंकि हो सकता है कि उसमें कोई अग्राह्य दोष दिखा हो। जैसाकि यहाँ व्यक्त हुआ है, भगवान् *अनवद्य* अर्थात् निर्दोष हैं अत: यदि उन्हें रुक्मिणी में कोई दोष दिखा हो तो वह उनके लिए अयोग्य दुलहन सिद्ध होगी। उस युवती राजकुमारी के लिए ऐसी चिन्ता करना स्वाभाविक था। यही नहीं, यदि श्रीकृष्ण ने सचमुच ऐसा निर्णय कर लिया है, तो ब्राह्मण के लिए स्वाभाविक होगा कि रुक्मिणी की प्रतिक्रिया के विषय में भयभीत हो यदि वह ऐसा समाचार उन तक लाता।

दुर्भगाया न मे धाता नानुकूलो महेश्वरः ।
देवी वा विमुखी गौरी रुद्राणी गिरिजा सती ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

दुर्भगायाः—अभागी; न—नहीं; मे—मुझ पर; धाता—स्रष्टा (ब्रह्मा)विधाता; न—नहीं; अनुकूलः—अनुकूल; महा-ईश्वरः—शिवजी; देवी—देवी (उनकी प्रिया); वा—अथवा; विमुखी—विरुद्ध; गौरी—गौरी; रुद्राणी—रुद्र की पत्नी; गिरि-जा—हिमालय की पुत्री; सती—सती, जो पूर्वजन्म में दक्ष पुत्री थी और जिसने अपना शरीर-त्याग किया था।

मैं घोर अभागिनी हूँ क्योंकि न तो स्रष्टा विधाता मेरे अनुकूल है, न ही महेश्वर (शिवजी) अथवा शायद शिव-पत्नी देवी जो गौरी, रुद्राणी, गिरिजा तथा सती नाम से विख्यात हैं, मेरे विपरीत हो गई हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि हो सकता है रुक्मिणी ने सोचा हो, ''यदि कृष्ण आना भी चाह रहे हों तो सम्भवत: रास्ते में स्रष्टा ब्रह्मा ने रोक लिया हो क्योंकि वे मेरे अनुकूल नहीं हैं। लेकिन वे प्रतिकूल क्यों होने लगे? शायद ये महेश्वर शिवजी हों जिनकी मैंने कुछ अवसरों पर ठीक से पूजा नहीं की जिससे वे क्रुद्ध हो गए हों। लेकिन वे तो महेश्वर हैं—महान् नियंता—अत: वे मुझ जैसी क्षुद्र और बेसमझ लड़की से क्यों क्रुद्ध होने लगे?

शायद यह शिव-पत्नी गौरीदेवी हैं, जो मुझ पर अप्रसन्न हैं यद्यपि मैं नित्य ही उनकी पूजा करती रही हूँ। हाय! मैंने उनका किस तरह अपमान किया है कि वे मुझसे रूठ गई हैं? किन्तु वे ठहरी रुद्राणी जिसका अर्थ है 'हरएक को रुलाने वाली।' अत: शायद वे और शिवजी मुझे रुलाना चाहते हैं। किन्तु यह देखते हुए कि मैं कितनी दुखियारी हूँ और अपना प्राण त्यागने वाली हूँ वे मुझ पर दयालु क्यों नहीं होते? इसका कारण यही हो सकता है कि वे गिरिजा हैं, गोद ली हुई पुत्री हैं, तो फिर वे दयालु क्यों होने लगीं? उन्होंने अपने सती अवतार में अपना शरीर छोड़ा था, अतएव वे शायद यही चाहती हैं कि मैं भी अपना शरीर छोड़ दूँ।''

इस तरह आचार्य ने काव्य-संवेदनशीलता की अनुभूति के साथ इस श्लोक में विविध नामों की व्याख्या की है।

एवं चिन्तयती बाला गोविन्दहृतमानसा ।
न्यमीलयत कालज्ञा नेत्रे चाश्रुकलाकुले ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; चिन्तयती—सोचती हुई; बाला—युवती; गोविन्द—कृष्ण द्वारा; हृत—चुराया हुआ; मानसा—मन से; न्यमीलयत—बन्द कर लिया; काल—समय; ज्ञा—जानने वाली; नेत्रे—अपनी आँखें; च—तथा; अश्रु-कला—आँसू से; आकुले—डबडबाये।

इस तरह से सोच रही तरुण बाला ने, जिसका मन कृष्ण ने चुरा लिया था, यह सोचकर कि अब भी समय है, अपने अश्रुपूरित नेत्र बन्द कर लिये।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने *कालज्ञा* शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है : "[रुक्मिणी ने सोचा] : यह गोविन्द के आने का सही समय भी नहीं है।" और इस तरह उसे कुछ ढाढ़स बँधा।

एवं वध्वाः प्रतीक्षन्त्या गोविन्दागमनं नृप ।
वाम ऊरुर्भुजो नेत्रमस्फुरन्प्रियभाषिणः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; वध्वाः—बधु, दुलहन; प्रतीक्षन्त्याः—प्रतीक्षारत; गोविन्द-आगमनम्—कृष्ण का आगमन; नृप—हे राजा (परीक्षित); वामः—बाँई; ऊरुः—जाँघ; भुजः—बाँह; नेत्रम्—तथा आँख; अस्फुरन्—फड़कने लगीं; प्रिय—वांछित; भाषिणः—बताती हुई।

हे राजन्, जब वह दुलहन गोविन्द के आगमन की इस तरह प्रतीक्षा कर रही थी तो उसे लगा कि उसकी बाईं जाँघ, बाईं भुजा तथा बाईं आँख फड़क रही हैं। यह इसका संकेत था कि कुछ प्रिय घटना घटने वाली है।

अथ कृष्णविनिर्दिष्टः स एव द्विजसत्तमः ।
अन्तःपुरचरीं देवीं राजपुत्रीम्ददर्श ह ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात; कृष्ण-विनिर्दिष्टः—कृष्ण द्वारा आदेश दिया गया; सः—वह; एव—ही; द्विज—विद्वान ब्राह्मण; सत्-तमः—परम शुद्ध; अन्तः-पुर—भीतरी महल में; चरीम्—ठहरी हुई; देवीम्—देवी रुक्मिणी को; राज—राजा की; पुत्रीम्—पुत्री को; ददर्श ह—देखा।

तभी वह शुद्धतम विद्वान ब्राह्मण, कृष्ण के आदेशानुसार दिव्य राजकुमारी रुक्मिणी से भेंट करने राजमहल के अन्तःपुर में आया।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार श्रीकृष्ण नगर के बाहर उद्यान में आ चुके थे और रुक्मिणी की चिन्ता को ध्यान में रखते हुए उन्होंने ब्राह्मण को बताया था कि वह जाकर उनके आगमन का समाचार दे।

सा तं प्रहृष्टवदनमव्यग्रात्मगतिं सती ।
आलक्ष्य लक्षणाभिज्ञा समपृच्छच्छुचिस्मिता ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

स—वह; तम्—उसको; प्रहृष्ट—प्रसन्न; वदनम्—मुख वाला; अव्यग्र—व्यग्रतारहित; आत्म—जिसके शरीर की; गतिम्—चाल; सती—साध्वी तरुणी; आलक्ष्य—देखकर; लक्षण—लक्षणों की; अभिज्ञा—जानने वाली; समपृच्छत्—पूछा; शुचि—शुद्ध; स्मिता—मुसकान सहित।.

ब्राह्मण के प्रसन्न मुख तथा शान्त चाल को देखकर ऐसे लक्षणों की दक्ष-व्याख्या करने वाली साध्वी रुक्मिणी ने शुद्ध मन्द-हास के साथ उससे पूछा।

तस्या आवेदयत्प्राप्तं शशंस यदुनन्दनम् ।
उक्तं च सत्यवचनमात्मोपनयनं प्रति ॥ ० ॥

शब्दार्थ

तस्याः—उससे; आवेदयत्—सूचना दी; प्राप्तम्—आकर; शशंस—बतलाया; यदु-नन्दनम्—यदुओं के पुत्र कृष्ण ने; उक्तम्—जो कहा था; च—तथा; सत्य—आश्वासन के; वचनम्—शब्द; आत्म—उसके साथ; उपनयनम्—विवाह के; प्रति—विषय में।.

ब्राह्मण ने उनसे यदुनन्दन के आगमन की सूचना सुनाई और उनके साथ विवाह करने के भगवान् के वचन को कह सुनाया।

तमागतं समाज्ञाय वैदर्भी हृष्टमानसा ।
न पश्यन्ती ब्राह्मणाय प्रियमन्यन्ननाम सा ॥ १ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको, कृष्ण को; आगतम्—आया हुआ; समाज्ञाय—अच्छी तरह समझकर; वैदर्भी—रुक्मिणी; हृष्ट—प्रफुल्लित; मानसा—मन वाली; न पश्यन्ती—न देखती हुई; ब्राह्मणाय—ब्राह्मण को; प्रियम्—प्रिय; अन्यत्—कुछ और; ननाम—नमस्कार किया; सा—उसने।.

राजकुमारी वैदर्भी कृष्ण का आगमन सुनकर अत्यधिक प्रसन्न हुई। पास में देने योग्य कोई उपयुक्त वस्तु न पाकर उसने ब्राह्मण को केवल नमस्कार किया।

प्राप्तौ श्रुत्वा स्वदुहितुरुद्वाहप्रेक्षणोत्सुकौ ।
अभ्ययात्तूर्यघोषेण रामकृष्णौ समर्हणैः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

प्राप्तौ—आया हुआ; श्रुत्वा—सुनकर; स्व—अपनी (मेरी); दुहितुः—पुत्री का; उद्वाह—विवाह; प्रेक्षण—देखने के लिए; उत्सुकौ—उत्सुक; अभ्ययात्—आगे आया; तूर्य—बाजे; घोषेण.—शब्द से; राम-कृष्णौ—बलराम तथा कृष्ण के पास; समर्हणैः—पर्याप्त भेंटों सहित।

जब राजा ने सुना कि कृष्ण तथा बलराम आये हैं और वह उसकी पुत्री का विवाह देखने के लिए उत्सुक हैं, तो वह बाजे-गाजे के साथ उनका सत्कार करने के लिए पर्याप्त भेंटें लेकर आगे बढ़ा।

मधुपर्कमुपानीय वासांसि विरजांसि सः ।
उपायनान्यभीष्टानि विधिवत्समपूजयत् ॥ ॥

शब्दार्थ

मधु-पर्कम्—दूध तथा शहद का मिश्रण; उपानीय—लेकर; वासांसि—वस्त्र; विरजांसि—स्वच्छ; सः—उसने; उपायनानि—भेंटें; अभीष्टानि—वांछित; विधि-वत्—शास्त्रीय विधियों के अनुसार; समपूजयत्—पूजा की।

उन्हें मधुपर्क, नये वस्त्र तथा अन्य वांछित भेंटें देकर उसने निर्धारित विधियों के अनुसार उनकी पूजा की।

तयोर्निवेशनं श्रीमदुपाकल्प्य महामतिः ।
ससैन्ययोः सानुगयोरातिथ्यं विदधे यथा ॥ ४॥

शब्दार्थ

तयोः—दोनों के लिए; निवेशनम्—ठहरने का स्थान; श्री-मत्—ऐश्वर्यशाली, भव्य; उपाकल्प्य—व्यवस्था करके; महा-मतिः—उदार; स—सहित; सैन्ययोः—उनके सैनिकों; स—सहित; अनुगयोः—उनके निजी संगियों; आतिथ्यम्—सत्कार; विदधे—किया; यथा—उचित रीति से।

उदार राजा ने दोनों प्रभुओं के लिए तथा उनकी सेना एवं उनके संगियों के लिए भव्य आवासों की व्यवस्था की। इस तरह उसने उनको समुचित आतिथ्य प्रदान किया।

एवं राज्ञां समेतानां यथावीर्यं यथावयः ।
यथाबलं यथावित्तं सर्वैः कामैः समर्हयत् ॥ ५॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; राज्ञाम्—राजाओं के लिए; समेतानाम्—एकत्र हुए; यथा—के अनुसार; वीर्यम्—उनके पराक्रम; यथा—के अनुसार; वयः—उनकी आयु; यथा—के अनुसार; बलम्—उनकी शक्ति; यथा—के अनुसार; वित्तम्—उनकी सम्पत्ति; सर्वैः—समस्त; कामैः—इच्छित वस्तुओं से; समर्हयत्—उनका आदर किया।

इस तरह भीष्मक ने इस अवसर पर एकत्र हुए राजाओं को सारी वांछित वस्तुएँ प्रदान कीं और उनकी राजनैतिक शक्ति, आयु, शारीरिक बल तथा सम्पत्ति के अनुसार उनका सम्मान

किया।

कृष्णमागतमाकर्ण्य विदर्भपुरवासिनः ।
आगत्य नेत्राञ्जलिभिः पपुस्तन्मुखपङ्कजम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

कृष्णम्—कृष्ण को; आगतम्—आया हुआ; आकर्ण्य—सुनकर; विदर्भ-पुर—विदर्भ की राजधानी के; वासिनः—निवासी; आगत्य—आकर; नेत्र—अपनी आँखों की; अञ्जलिभिः—अंजुलियों से; पपुः—पिया; तत्—उसका; मुख—मुँह; पङ्कजम्—कमल।

जब विदर्भवासियों ने सुना कि भगवान् कृष्ण आए हैं, तो वे सब उनका दर्शन करने गये। अपनी आँखों की अंजुली से उन्होंने उनके कमलमुख के मधु का पान किया।

अस्यैव भार्या भवितुं रुक्मिण्यर्हति नापरा ।
असावप्यनवद्यात्मा भैष्म्याः समुचितः पतिः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

अस्य—उसकी; एव—एकमात्र; भार्या—पत्नी; भवितुम्—होने के लिए; रुक्मिणी—रुक्मिणी; अर्हति—पात्र है; न अपरा—कोई दूसरी नहीं; असौ—वह; अपि—भी; अनवद्य—निर्दोष; आत्मा—स्वरूप; भैष्म्याः—भीष्मक की पुत्री के लिए; समुचितः—उपयुक्त; पतिः—पति।

[नगरवासियों ने कहा] एकमात्र रुक्मिणी उनकी पत्नी बनने के योग्य हैं और वे भी दोषरहित सौन्दर्यवान होने से राजकुमारी भैष्मी के लिए एकमात्र उपयुक्त पति हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार इस श्लोक में विभिन्न नागरिकों के कथन सम्मिलित हैं। कुछ लोगों ने संकेत किया कि रुक्मिणी कृष्ण के लिए उपयुक्त पत्नी है, दूसरों ने कहा कि उनके सिवाय अन्य कोई इसके योग्य नहीं है। इसी प्रकार कुछेक ने कहा कि कृष्ण रुक्मिणी के सर्वाधिक योग्य पति हैं और अन्यों ने कहा कि उनके अतिरिक्त अन्य कोई योग्य पति है ही नहीं।

किञ्चित्सुचरितं यन्नस्तेन तुष्टस्त्रिलोककृत् ।
अनुगृह्णातु गृह्णातु वैदर्भ्याः पाणिमच्युतः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

किञ्चित्—तनिक भी; सु-चरितम्—पुण्य कर्म; यत्—जो भी; नः—हमारे; तेन—उसी से; तुष्टः—संतुष्ट; त्रि-लोक—तीनों लोक का; कृत्—स्त्रष्टा, विधाता; अनुगृह्णातु—दया दिखलाये; गृह्णातु—जिससे ग्रहण करे; वैदर्भ्याः—रुक्मिणी का; पाणिम्—हाथ; अच्युतः—कृष्ण।

हम लोगों ने जो भी पुण्य कर्म किये हों उनसे तीनों लोकों के स्त्रष्टा अच्युत प्रसन्न हों और वे वैदर्भी का पाणिग्रहण करने की अनुकम्पा दिखलायें।

तात्पर्य : विदर्भ के भक्त नागरिकों ने प्रेमवश अपने समस्त संचित पुण्य राजकुमारी रुक्मिणी को अर्पित कर दिये। वे भगवान् कृष्ण के साथ उनका विवाह देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे।

एवं प्रेमकलाबद्धा वदन्ति स्म पुरौकसः ।
कन्या चान्तःपुरात्प्रागाद्भटैर्गुप्ताम्बिकालयम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; प्रेम—शुद्ध प्रेम की; कला—वृद्धि से; बद्धाः—बँधे हुए; वदन्ति स्म—बोल रहे थे; पुर-ओकसः—नगरनिवासी; कन्या—दुलहन; च—तथा; अन्तः-पुरात्—अन्तःपुर से; प्रागात्—बाहर गई; भटैः—अंगरक्षकों द्वारा; गुप्ता—रक्षित; अम्बिका-आलयम्—देवी अम्बिका के मन्दिर तक।

अपने उमड़ते प्रेम से बँध कर नगर के निवासी इस तरह की बातें कर रहे थे। तभी अंगरक्षकों से संरक्षित दुलहन अम्बिका के मन्दिर में जाने के लिए अंतःपुर से बाहर आई।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने *कला* की परिभाषा *मेदिनी कोश* से उद्धृत की है, जो इस प्रकार है—*कला मूले प्रवृद्धौ स्याच्छिलादावंशमात्रके*—कला शब्द के अर्थ हैं—जड़, वृद्धि, पत्थर या केवल अंश।

पद्भ्यां विनिर्ययौ द्रष्टुं भवान्याः पादपल्लवम् ।
सा चानुध्यायती सम्यङ्मुकुन्दचरणाम्बुजम् ।
यतवाङ्मातृभिः सार्धं सखीभिः परिवारिता ॥ ४० ॥
गुप्ता राजभटैः शूरैः सन्नद्धैरुद्यतायुधैः ।
मृडङ्गशङ्खपणवास्तूर्यभेर्यश्च जघ्निरे ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

पद्भ्याम्—पैदल; विनिर्ययौ—बाहर गईं; द्रष्टुम्—देखने के लिए; भवान्याः—माता भवानी के; पाद-पल्लवम्—कमल की पंखड़ियों जैसे चरण; सा—वह; च—तथा; अनुध्यायती—ध्यान करती हुई; सम्यक्—पूर्णतः; मुकुन्द—कृष्ण के; चरण-अम्बुजम्—चरणकमलों पर; यत-वाक्—मौन धारण किये; मातृभिः—अपनी माताओं के; सार्धम्—साथ; सखीभिः—सखियों से; परिवारिता—घिरी; गुप्ता—रक्षित; राज—राजा के; भटैः—अंगरक्षकों द्वारा; शूरैः—बहादुर; सन्नद्धैः—सशस्त्र तथा तत्पर; उद्यत—उठे हुए; आयुधैः—हथियारों से; मृदङ्ग-शङ्ख-पणवाः—मृदंग, शंख तथा ढोल; तूर्य—तुरही; भेर्यः—भेरी, सींग का बाजा; च—तथा; जघ्निरे—बज रहे थे।

रुक्मिणी मौन होकर देवी भवानी के चरणकमलों का दर्शन करने के लिए पैदल ही चल पड़ी। उनके साथ माताएँ तथा सखियाँ थीं और वे राजा के बहादुर सैनिकों द्वारा संरक्षित थीं जो अपने हथियार ऊपर उठाये हुए सन्नद्ध थे। रुक्मिणी केवल कृष्ण के चरणकमलों में अपने मन को ध्यानस्थ किये थीं। मार्ग-भर में मृदंग, शंख, पणव, तुरही तथा अन्य बाजे बजाये जा रहे थे।

नानोपहार बलिभिर्वारमुख्याः सहस्रशः ।
स्रग्गन्धवस्त्राभरणैर्द्विजपत्न्यः स्वलङ्कृताः ॥ ४२ ॥

गायन्त्यश्च स्तुवन्तश्च गायका वाद्यवादकाः ।
परिवार्य वधूं जग्मुः सूतमागधवन्दिनः ॥ ४॥

शब्दार्थ

नाना—विविध; उपहार—पूजा-सामग्री; बलिभिः—तथा भेंटों सहित; वार-मुख्याः—प्रमुख गणिकाएँ; सहस्रशः—हजार; स्रक्—फूल की मालाओं; गन्ध—सुगन्धियों; वस्त्र—वस्त्र; आभरणैः—तथा आभूषणों से; द्विज—ब्राह्मणों की; पत्न्यः—पत्नियाँ; स्व्-अलङ्कृताः—भलीभाँति आभूषित; गायन्त्यः—गाती हुईं; च—तथा; स्तुवन्तः—स्तुतियाँ करतीं; च—तथा; गायकाः—गवैये; वाद्य-वादकाः—बाजे बजाने वाले; परिवार्य—साथ होकर; वधूम्—दुलहन के; जग्मुः—गये; सूत—सूत; मागध—मागध; वन्दिनः—तथा वन्दीजन।

दुलहन के पीछे पीछे हजारों प्रमुख गणिकाएँ थीं जो नाना प्रकार की भेंटें लिये थीं। उनके साथ ब्राह्मणों की सजी-धजी पत्नियाँ गीत गा रही थीं और स्तुतियाँ कर रही थीं। वे माला, सुगन्ध, वस्त्र तथा आभूषण की भेंटें लिये थीं। साथ ही पेशेवर गवैये, संगीतज्ञ, सूत, मागध तथा वन्दीजन थे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती लिखते हैं कि रुक्मिणी अपने महल से भवानी मन्दिर तक पालकी में गईं अतः वे पूर्णतया सुरक्षित थीं। केवल अन्तिम १२-१५ फुट, महल से मन्दिर क्षेत्र तक, वे पैदल चलीं। उनके साथ मन्दिर के चारों ओर तैनात शाही अंगरक्षक थे।

आसाद्य देवीसदनं धौतपादकराम्बुजा ।
उपस्पृश्य शुचिः शान्ता प्रविवेशाम्बिकान्तिकम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

आसाद्य—पहुँचकर; देवी—देवी के; सदनम्—आवास; धौत—धोकर; पाद—पाँव; कर—तथा हाथ; अम्बुजा—कमल जैसे; उपस्पृश्य—जल का आचमन करके; शुचिः—पवित्र होकर; शान्ता—शान्त; प्रविवेश—अन्दर गई; अम्बिका-अन्तिकम्—अम्बिका के समक्ष।

देवी के मन्दिर में पहुँचकर रुक्मिणी ने सबसे पहले अपने कमल सदृश पैर तथा हाथ धोये और तब शुद्धि के लिए आचमन किया। इस तरह पवित्र एवं शान्त भाव से वे माता अम्बिका के समक्ष पधारीं।

तां वै प्रवयसो बालां विधिज्ञा विप्रयोषितः ।
भवानीं वन्दयां चक्रुर्भवपत्नीं भवान्विताम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उसको; वै—निस्सन्देह; प्रवयसः—बड़ी बूढ़ी; बालाम्—युवती को; विधि—विधि-विधान की; ज्ञाः—जानने वाली; विप्र—ब्राह्मणों की; योषितः—पत्नियाँ; भवानीम्—देवी भवानी को; वन्दयाम् चक्रुः—वन्दना करायी; भव-पत्नीम्—भव (शिवजी) की पत्नी की; भव-अन्विताम्—भव समेत।

ब्राह्मणों की बड़ी बूढ़ी पत्नियाँ जो विधि-विधान में पटु थीं, रुक्मिणी को भवानी को नमस्कार कराने ले गईं जो अपने प्रियतम भगवान् भव (शिवजी) के साथ प्रकट हुईं।

तात्पर्य : आचार्यों के अनुसार यहाँ पर *भवान्विताम्* शब्द सूचित करता है कि रुक्मिणी जिस अम्बिका मन्दिर में गई थीं उसकी अधिष्ठात्री देवी थीं जिनके पति उनका साथ देने के लिए प्रकट हो गए। इस तरह स्त्रियों द्वारा यह अनुष्ठान विधिपूर्वक सम्पन्न हुआ।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका है कि *विधिज्ञाः* शब्द से यह जाना जा सकता है कि ब्राह्मणों की विद्वान पत्नियाँ रुक्मिणी की कृष्ण से विवाह करने की इच्छा से परिचित थीं अतः *वन्दयां चक्रुः* से यह सूचित होता है कि उन्होंने रुक्मिणी को उसके लिए प्रार्थना करने के लिए प्रेरित किया जो वह वास्तव में चाहती थीं ताकि भवानी की ही तरह रुक्मिणी अपने शाश्वत पुरुष संगी से मिल सकें।

नमस्ये त्वाम्बिकेऽभीक्ष्णं स्वसन्तानयुतां शिवाम् ।
भूयात्पतिर्मे भगवान्कृष्णस्तदनुमोदताम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

नमस्ये—मैं नमस्कार करती हूँ; त्वा—तुम्हें; अम्बिके—हे अम्बिका; अभीक्ष्णम्—निरन्तर; स्व—आपके; सन्तान—बच्चों; युताम्—सहित; शिवाम्—शिव-पत्नी को; भूयात्—होयें; पतिः—पति; मे—मेरे; भगवान्—भगवान्; कृष्णः—कृष्ण; तत्—उसे; अनुमोदताम्—अनुमति दें।

[राजकुमारी रुक्मिणी ने प्रार्थना की] हे शिव-पत्नी माता अम्बिका! मैं बारम्बार आपको तथा आपकी सन्तान को नमस्कार करती हूँ। कृपया यह वर दें कि भगवान् कृष्ण मेरे पति होएँ।

अद्भिर्गन्धाक्षतैर्धूपैर्वासःस्रङ्‌माल्य भूषणैः ।
नानोपहारबलिभिः प्रदीपावलिभिः पृथक् ॥ ४७ ॥
विप्रस्त्रियः पतिमतीस्तथा तैः समपूजयत् ।
लवणापूपताम्बूलकण्ठसूत्रफलेक्षुभिः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

अद्भिः—जल से; गन्ध—सुगन्धित वस्तु; अक्षतैः—तथा अन्नों से; धूपैः—धूप से; वासः—वस्त्र से; स्रक्—फूल की मालाओं से; माल्य—रत्नजटित हारों; भूषणैः—तथा गहनों से; नाना—अनेक प्रकार की; उपहार—भेंटों; बलिभिः—तथा भेंटों से; प्रदीप—दीपक की; आवलिभिः—पंक्तियों से; पृथक्—अलग; विप्र-स्त्रियः—ब्राह्मण पत्नियाँ; पति—पतियों; मतीः—से युक्त; तथा—भी; तैः—इन वस्तुओं से; समपूजयत्—पूजा की; लवण—नमकीन पदार्थ; आपूप—पुए; ताम्बूल—पान; कण्ठ-सूत्र—उपवीत या जनेऊ; फल—फल; इक्षुभिः—तथा गन्ना से।

रुक्मिणी ने जल, सुगन्धि, अन्न, धूप, वस्त्र, माला, हार, आभूषण तथा अन्य संस्तुत उपहारों से और दीपकों की पंक्तियों से देवी की पूजा की। उन्हीं के साथ साथ विवाहिता ब्राह्मणियों ने उन्हीं वस्तुओं से और नमकीन, पूए, पान-सुपारी, जनेऊ, फल तथा गन्ने के रस की भेंटें चढ़ा कर पूजा की।

तस्यै स्त्रियस्ताः प्रददुः शेषां युयुजुराशिषः ।
ताभ्यो देव्यै नमश्चक्रे शेषां च जगृहे वधूः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

तस्यै—रुक्मिणी को; स्त्रियः—स्त्रियों ने; ताः—उन; प्रददुः—दिया; शेषाम्—बचा हुआ (प्रसाद); युयुजुः—प्रदान किया; आशिषः—आशीर्वाद; ताभ्यः—उनको; देव्यै—तथा देवी को; नमः चक्रे—नमस्कार किया; शेषाम्—बचा हुआ (प्रसाद); च—तथा; जगृहे—ग्रहण किया; वधूः—दुलहन ने।

स्त्रियों ने दुलहन को प्रसाद दिया और फिर आशीर्वाद प्रदान किया। उसने भी उन्हें तथा देवी को नमस्कार किया और प्रसाद ग्रहण किया।

मुनिव्रतमथ त्यक्त्वा निश्चक्रामाम्बिकागृहात् ।
प्रगृह्य पाणिना भृत्यां रत्नमुद्रोपशोभिना ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

मुनि—मौन; व्रतम्—व्रत; अथ—तब; त्यक्त्वा—त्याग कर; निश्चक्राम—बाहर आई; अम्बिका-गृहात्—अम्बिका मन्दिर से; प्रगृह्य—पकड़कर; पाणिना—हाथ से; भृत्याम्—दासी को; रत्न—रत्नजटित; मुद्रा—अँगूठी से; उपशोभिना—शोभित।

तब राजकुमारी ने अपना मौन-व्रत तोड़ दिया और वह रत्नजटित अँगूठी से सुशोभित अपने हाथ से एक दासी को पकड़ कर अम्बिका मन्दिर के बाहर आई।

तां देवमायामिव धीरमोहिनीं
सुमध्यमां कुण्डलमण्डितााननाम् ।
श्यामां नितम्बार्पितरत्नमेखलां
व्यञ्जत्स्तनीं कुन्तलशङ्कितेक्षणाम् ।
शुचिस्मितां बिम्बफलाधरद्युति-
शोणायमानद्विजकुन्दकुड्मलाम् ॥ ५१ ॥
पदा चलन्तीं कलहंसगामिनीं
सिञ्जत्कलानूपुरधामशोभिना ।
विलोक्य वीरा मुमुहुः समागता
यशस्विनस्तत्कृतहृच्छयार्दिताः ॥ ५२ ॥

यां वीक्ष्य ते नृपतयस्तदुदारहास-
व्रीडावलोकहृतचेतस उज्झितास्त्राः ।
पेतुः क्षितौ गजरथाश्वगता विमूढा
यात्राच्छलेन हरयेऽर्पयतीं स्वशोभाम् ॥ ५ ॥
सैवं शनैश्चलयती चलपद्मकोशौ
प्राप्तिं तदा भगवतः प्रसमीक्षमाणा ।
उत्सार्य वामकरजैरलकानपाङ्गैः
प्राप्तान्ह्रियैक्षत नृपान्ददृशेऽच्युतं च ॥ ५४ ॥
तां राजकन्यां रथमारुरुक्षतीं
जहार कृष्णो द्विषतां समीक्षताम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उसको; देव—भगवान् की; मायाम्—माया; इव—सदृश; धीर—गम्भीर रहने वाले भी; मोहिनीम्—मोहने वाली; सु-मध्यमाम्—सुघड़ कमर वाली; कुण्डल—कान के कुण्डलों से; मण्डित—सुसज्जित; आननाम्—मुख वाली; श्यामाम्—निष्कलुष सौन्दर्य; नितम्ब—कूल्हे पर; अर्पित—स्थित; रत्न—रत्नजटित; मेखलाम्—करधनी; व्यञ्जत्—उभड़ रहे; स्तनीम्—स्तनों वाली; कुन्तल—केशराशि का; शङ्कित—डरी हुई; ईक्षणाम्—नेत्रों वाली; शुचि—शुद्ध; स्मिताम्—मन्दहास-युक्त; बिम्ब-फल—बिम्ब फल की तरह; अधर—होंठों वाली; द्युति—चमक से; शोणायमान—लाल लाल हो रही; द्विज—दाँत; कुन्द—चमेली की; कुड्मलाम्—कलियों जैसे; पदा—पाँवों से; चलन्तीम्—चलती हुई; कल-हंस—राजहंस की तरह; गामिनीम्—गमन करने वाली; सिञ्जत्—रुनझुन करती; कला—पटुता से सँवारे; नूपुर—पायलों के; धाम—तेज से; शोभिना—सुशोभित; विलोक्य—देखकर; वीराः—वीरगण; मुमुहुः—मुग्ध हो गये; समागताः—एकत्र हुए; यशस्विनः—सम्मानित; तत्—उससे; कृत—उत्पन्न; हृत्-शय—कामवासना से; अर्दिताः—पीड़ित; याम्—जिसको; वीक्ष्य—देखकर; ते—वे; नृ-पतयः—राजागण; तत्—उसकी; उदार—विस्तृत; हास—हँसी से; व्रीडा—लज्जा का; अवलोक—तथा चितवन; हृत—चुराये गये; चेतसः—जिनके मन; उज्झित—डालकर; अस्त्राः—अपने हथियार; पेतुः—गिर पड़े; क्षितौ—पृथ्वी पर; गज—हाथियों; रथ—रथों; अश्व—तथा घोड़ों पर; गताः—बैठे; विमूढाः—मूर्छित होकर; यात्रा—जुलूस के; छलेन—बहाने; हरये—हरि या कृष्ण के प्रति; अर्पयतीम्—अर्पित कर रही; स्व—अपना; शोभाम्—सौन्दर्य; सा—वह; एवम्—इस तरह; शनैः—धीरे धीरे; चलयती—चलती हुई; चल—हिल रहे; पद्म—कमल के फूल के; कोशौ—दो कोश (दो पाँव); प्राप्तिम्—आगमन; तदा—तब; भगवतः—भगवान् की; प्रसमीक्षमाणा—उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करती; उत्सार्य—धकेलते हुए; वाम—बाँयें; कर-जैः—अपने हाथ के नाखुनों से; अलकान्—बालों को; अपाङ्गैः—तिरछी चितवन से; प्राप्तान्—वहाँ उपस्थित; ह्रिया—लज्जा से; ऐक्षत—उसने देखा; नृपान्—राजाओं को; ददृशे—देखा; अच्युतम्—कृष्ण को; च—तथा; ताम्—उस; राज-कन्याम्—राजकुमारी को; रथम्—उसका रथ; आरुरुक्षतीम्—चढ़ने के लिए तैयार; जहार—पकड़ लिया; कृष्णः—कृष्ण ने; द्विषताम्—अपने शत्रु के; समीक्षताम्—देखते देखते।

रुक्मिणी भगवान् की उस मायाशक्ति की तरह मोहने वाली प्रतीत हो रही थीं जो बड़े बड़े धीर-गम्भीर पुरुषों को भी मोह लेती है। इस तरह राजागण उनके सुकुमार सौन्दर्य, उनकी सुघड़ कमर तथा कुण्डलों से सुशोभित मुख को निहारने लगे। उनके कूल्हे पर रत्नजटित करधनी शोभा पा रही थी, उनके स्तन अभी उभड़ ही रहे थे और उनकी आँखें उनकी लटकती केशराशि से चंचल लग रही थीं। वे मधुर हँसी से युक्त थीं और उनके चमेली की कली जैसे दाँतों से उनके बिम्ब जैसे लाल होंठों की चमक प्रतिबिम्बित हो रही थी। जब वे राजहंस जैसी चाल से चलने लगीं तो उनके रुनझुन करते पायलों के तेज से उनके चरणों की शोभा बढ़ गई। उन्हें देखकर

एकत्रित वीरजन पूर्णतया मोहित हो गये। कामवासना से उनके हृदय विदीर्ण हो गये। दरअसल जब राजाओं ने उनकी विस्तृत मुसकान तथा लजीली चितवन देखी तो वे सम्मोहित हो गये, उन्होंने अपने अपने हथियार डाल दिये और वे मूर्छित होकर अपने अपने हाथियों, रथों तथा घोड़ों पर से जमीन पर गिर पड़े। जुलूस के बहाने रुक्मिणी ने अकेले कृष्ण के लिए ही अपना सौन्दर्य प्रदर्शित किया। उन्होंने भगवान् के आगमन की प्रतीक्षा करते हुए धीरे धीरे चलायमान कमलकोश रूपी दो चरणों को आगे बढ़ाया। उन्होंने अपने बाँए हाथ के नाखुनों से अपने मुख पर लटकते केश-गुच्छों को हटाया और अपने समक्ष खड़े राजाओं की ओर कनखियों से देखा। उसी समय उन्हें कृष्ण दिख गये। तभी अपने दुश्मनों के देखते देखते भगवान् ने राजकुमारी को पकड़ लिया जो उनके रथ पर चढ़ने के लिए आतुर थी।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार रुक्मिणी अपने प्रियतम कृष्ण को देखने के लिए आतुर थीं इसलिए उन्हें चिन्ता थी कि उनके बालों के गुच्छे उनकी दृष्टि में बाधक न हों। अभक्त या असुरगण भगवान् के एश्वर्य को देखकर मोहित हो जाते हैं और सोचते हैं कि भगवान् की शक्ति उनकी स्थूल इन्द्रियों की तृप्ति के निमित्त है। लेकिन कृष्ण की अंतरंगा ह्लादिनी शक्ति की अंश रूपा रुक्मिणी तो एकमात्र कृष्ण की थीं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने *श्यामा* प्रकार की स्त्री का वर्णन करने के लिए निम्नलिखित उद्धरण दिया है—

शीतकाले भवेद् उष्णो उष्णकाले तु शीतला।

स्तनौ सुकठिनौ यस्या: सा श्यामा परिकीर्तिता॥

''वह स्त्री श्यामा कहलाती है, जिसके स्तन अत्यन्त कठोर होते हैं और उसके सामने आने वाला व्यक्ति जाड़े में अपने को गर्म तथा गर्मी में अपने को शीतल अनुभव करता है।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती यह भी इंगित करते हैं कि चूँकि रुक्मिणी का सुन्दर रूप भगवान् की अन्तरंगा शक्ति का प्राकट्य है, अत: अभक्तगण उसकी ओर नहीं देख सकते। इस तरह विदर्भ में एकत्र बलवान राजा भगवान् की माया शक्ति या रुक्मिणी के अंश को देखकर कामुक हो उठे थे। दूसरे शब्दों में, भगवान् की नित्य संगिनी को देखकर कोई काम-मोहित नहीं हो सकता क्योंकि काम से कलुषित

होते ही मन को माया का आवरण आध्यात्मिक जगत तथा उसके निवासियों के आद्य सौन्दर्य से विलग कर देता है।

अन्त में, श्रीमती रुक्मिणी देवी अन्य राजाओं को तिरछी नजर से देखकर लजा सी गईं क्योंकि वे उन निकृष्टजनों की नजरों से अपनी नजरें नहीं मिलाना चाहती थीं।

रथं समारोप्य सुपर्णलक्षणं
राजन्यचक्रं परिभूय माधवः ।
ततो ययौ रामपुरोगमः शनैः
शृगालमध्यादिव भागहृद्धरिः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

रथम्—रथ पर; समारोप्य—उठाकर; सुपर्ण—गरुड़; लक्षणम्—चिह्न वाले; राजन्य—राजाओं के; चक्रम्—घेरे को; परिभूय—हराकर; माधवः—कृष्ण; ततः—वहाँ से; ययौ—चले गये; राम—राम द्वारा; पुरः-गमः—आगे आगे; शनैः—धीरे धीरे; शृगाल—सियारों के; मध्यात्—बीच से; इव—जिस तरह; भाग—अपना हिस्सा; हृत्—निकाल कर; हरिः—सिंह।

राजकुमारी को उठाकर अपने गरुड़-ध्वज वाले रथ में बैठाकर माधव ने राजाओं के घेरे को पीछे धकेल दिया। वे बलराम को आगे करके धीरे से उसी तरह बाहर निकल गये जिस तरह सियारों के बीच से अपना शिकार उठाकर सिंह चला जाता है।

तं मानिनः स्वाभिभवं यशःक्षयं
परे जरासन्धमुखा न सेहिरे ।
अहो धिगस्मान्यश आत्तधन्वनां
गोपैर्हृतं केशरिणां मृगैरिव ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; मानिनः—अभिमानी; स्व—अपने; अभिभवम्—हार; यशः—अपने सम्मान; क्षयम्—विनष्ट करते हुए; परे—शत्रुगण; जरासन्ध-मुखाः—जरासन्ध इत्यादि; न सेहिरे—सहन नहीं कर सके; अहो—ओह; धिक्—धिक्कार है; अस्मान्—हमें; यशः—सम्मान; आत्त-धन्वनाम्—धनुषधारियों का; गोपैः—ग्वालों द्वारा; हृतम्—ले जाये गये; केशरिणाम्—सिंहों के; मृगैः—छोटे जानवरों द्वारा; इव—मानो।

भगवान् के जरासन्ध जैसे शत्रु राजा, इस अपमानजनक हार को सहन नहीं कर सके। वे चीख पड़े, ''ओह! हमें धिक्कार है! यद्यपि हम बलशाली धनुर्धर हैं, किन्तु इन ग्वालों मात्र ने हमसे हमारा सम्मान उसी तरह छीन लिया है, जिस तरह छोटे छोटे पशु सिंहों का सम्मान हर लें।''

तात्पर्य : इस अध्याय के अन्तिम दो श्लोकों से यह स्पष्ट है कि असुरों की विकृत बुद्धि उन्हें

वस्तुओं को सच्चाई से सर्वथा विपरीत दिखलाती है। यह स्पष्ट कहा गया है कि कृष्ण रुक्मिणी को उसी तरह हर ले गये जिस तरह एक सिंह सियारों के झुंड से अपना शिकार ले जाता है। किन्तु असुरों ने अपने को सिंह की तरह और कृष्ण को एक क्षुद्र प्राणी जैसा अनुभव किया। कृष्णभावनामृत के बिना जीवन अत्यन्त संकटमय हो जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''कृष्ण द्वारा रुक्मिणी का अपहरण'' नामक तिरपनवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौवन

कृष्ण-रुक्मिणी विवाह

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी का अपहरण करने के बाद विरोधी राजाओं को परास्त किया, रुक्मिणी के भाई रुक्मी को विकृत किया और रुक्मिणी को राजधानी द्वारका में लाकर उससे विवाह किया।

जब श्रीकृष्ण राजकुमारी रुक्मिणी को लिये जा रहे थे तो शत्रु राजाओं ने सेना एकत्र की और उनका पीछा किया। बलदेव तथा यादव सेना के प्रमुख, उनका मार्ग रोकने के लिए मुड़कर उनका सामना करने लगे। शत्रु सेनाएँ भगवान् कृष्ण की सेना पर बाणों की लगातार वर्षा करने लगीं। अपने होने वाले पति की सेना पर इस तरह प्रचण्ड आक्रमण होते देख श्रीमती रुक्मिणी ने श्रीकृष्ण की ओर डरी हुई नजर से देखा। किन्तु कृष्ण केवल हँस पड़े और उनसे कहा कि डर की कोई बात नहीं है, क्योंकि उनकी सेना विपक्षी सेना का अवश्य ही संहार कर देगी।

तत्पश्चात् भगवान् बलराम तथा अन्य वीरगण *नाराच* बाणों द्वारा विपक्षी सेना का संहार करने लगे। यादवों के हाथ करारी हार खाकर जरासन्ध इत्यादि शत्रु राजा लौट गये।

जरासन्ध ने शिशुपाल को यह कहकर ढाढ़स बँधाया, ''सुख-दुख कभी स्थायी नहीं होते। वे तो ईश्वर के अधीन हैं। कृष्ण ने मुझे सत्रह बार हराया किन्तु अन्त में मैं उन पर विजयी हुआ। इस तरह यह देखकर कि जय-पराजय तो दैव तथा काल के अधीन है, मैंने शोक या हर्ष के सामने झुकना नहीं सीखा है। सम्प्रति काल यादवों के अनुकूल है, अत: उन्होंने छोटी-सी सेना से तुम्हें परास्त कर दिया है

किन्तु भविष्य में काल तुम्हारा साथ देगा और तुम अवश्य विजयी होगे।'' इस प्रकार ढाढ़स दिये जाने पर शिशुपाल अपने अनुयायियों के साथ अपने राज्य को लौट गया।

रुक्मिणी का भाई रुक्मी कृष्ण से घृणा करता था अत: कृष्ण के द्वारा अपनी बहन के अपहरण से वह अत्यधिक क्रुद्ध हो उठा। अत: उसने वहाँ पर उपस्थित सभी राजाओं के समक्ष प्रतिज्ञा की कि वह तब तक कुण्डिन नहीं लौटेगा जब तक वह कृष्ण का विनाश नहीं कर लेता और रुक्मिणी को छुड़ा नहीं लेता। अत: वह अपनी सेना लेकर भगवान् पर आक्रमण करने के लिए रवाना हो गया। उसे भगवान् कृष्ण की महिमा का पता न था इसलिए वह अकेले रथ पर चढ़कर कृष्ण पर आक्रमण करने गया। उनके पास जाकर उसने उन पर बाणों से प्रहार किया और रुक्मिणी को छोड़ देने की माँग की। श्रीकृष्ण ने रुक्मी के हथियारों को खण्ड खण्ड कर डाला। तब उन्होंने अपनी तलवार ऊँचे उठाई और रुक्मी को मारने ही जा रहे थे कि रुक्मिणी ने बीच में रोक कर अपने भाई को छोड़ देने की जोरदार याचना की। भगवान् कृष्ण ने रुक्मी को जान से नहीं मारा किन्तु अपनी तलवार से रुक्मी के सिर के इधर-उधर से कुछ बाल काट लिये, जिससे वह विकृत हो गया। तभी बलदेव यादव-सेना लेकर वहाँ आ गये। रुक्मी को विकृत देखकर उन्होंने कृष्ण को धीरे से डाँटते हुए कहा, ''सगे-सम्बन्धी को इस प्रकार विकृत करना उसे मारने के तुल्य है, अत: उसे मारना नहीं चाहिए और छोड़ दिया जाना चाहिए।''

तब बलदेव ने रुक्मिणी से कहा कि तुम्हारे भाई की यह दुर्दशा उसके विगत कर्म के कारण है क्योंकि हर व्यक्ति अपने सुख-दुख के लिए स्वयं जिम्मेदार है। उन्होंने रुक्मिणी को जीवात्मा की दिव्य-स्थिति के विषय में उपदेश दिया और बतलाया कि किस प्रकार सुख-दुख का मोह एकमात्र अज्ञान का फल है। बलराम के उपदेश को ग्रहण करके रुक्मिणी ने शोक का परित्याग किया।

तभी रुक्मी ने अपने को पूर्णतया हताश अनुभव किया क्योंकि वह अपने बल एवं लड़ने की शक्ति से वंचित हो गया था। चूँकि उसने प्रतिज्ञा की थी कि वह कृष्ण को जीते बिना वापस नहीं लौटेगा अत: उसने वहीं एक नगर बनवाया और उसी क्रुद्ध भाव से वहीं रहने लगा।

भगवान् कृष्ण रुक्मिणी को अपनी राजधानी द्वारका ले गये और वहाँ उससे विवाह कर लिया। नागरिकों ने खूब उत्सव मनाया और नगर-भर में धूम मचा दी कि भगवान् ने रुक्मिणी का किस तरह

अपहरण किया है। द्वारका का प्रत्येक नागरिक रुक्मिणी के साथ प्रणयसूत्र में कृष्ण को बँधा देखकर प्रमुदित था।

श्रीशुक उवाच
इति सर्वे सुसंरब्धा वाहानारुह्य दंशिताः ।
स्वैः स्वैर्बलैः परिक्रान्ता अन्वीयुर्धृतकार्मुकाः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार कहते हुए; सर्वे—सभी; सु-संरब्धाः—अत्यन्त क्रुद्ध; वाहान्—अपने अपने वाहनों में; आरुह्य—चढ़ कर; दंशिताः—कवच पहने हुए; स्वैः स्वैः—अपनी अपनी; बलैः—सेना से; परिक्रान्ताः—घिरे हुए; अन्वीयुः—पीछा करने लगे; धृत—पकड़े हुए; कार्मुकाः—अपने धनुष।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : यह कह कर उन सारे क्रुद्ध राजाओं ने अपने कवच पहने और अपने अपने वाहनों में सवार हो गये। प्रत्येक राजा अपने हाथ में धनुष धारण किये भगवान् कृष्ण का पीछा करते समय अपनी सेना से घिरा हुआ था।

तानापतत आलोक्य यादवानीकयूथपाः ।
तस्थुस्तत्सम्मुखा राजन्विस्फूर्ज्य स्वधनूंषि ते ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; आपततः—पीछा करते; आलोक्य—देख कर; यादव-अनीक—यादव सेना के; यूथ-पः—अधिकारी; तस्थुः—खड़े हो गये; तत्—उनके; सम्मुखाः—समक्ष; राजन्—हे राजा (परीक्षित); विस्फूर्ज्य—टंकार देकर; स्व—अपने अपने; धनूंषि—धनुष; ते—वे।

जब यादव सेना के सेनापतियों ने देखा कि शत्रुगण उन पर आक्रमण करने के लिए दौड़ रहे हैं, तो हे राजन्, वे सब अपने धनुषों में टंकार देकर उनका सामना करने के लिए मुड़े और दृढ़तापूर्वक अड़ गये।

अश्वपृष्ठे गजस्कन्धे रथोपस्थेऽस्त्र कोविदाः ।
मुमुचुः शरवर्षाणि मेघा अद्रिष्वपो यथा ॥ ॥

शब्दार्थ

अश्व-पृष्ठे—घोड़े की पीठ पर; गज—हाथी के; स्कन्धे—कंधों पर; रथ—रथों के; उपस्थे—आसनों पर; अस्त्र—हथियारों के; कोविदाः—पटु; मुमुचुः—छोड़ा; शर—बाणों की; वर्षाणि—वर्षा; मेघाः—बादल; अद्रिषु—पर्वतों पर; अपः—जल; यथा—जिस तरह।

घोड़ों की पीठों पर, हाथियों के कन्धों पर तथा रथों के आसनों पर सवार होकर अस्त्रों में पटु शत्रु राजाओं ने यदुओं पर बाणों की वर्षा की जिस तरह बादल पर्वतों पर वर्षा करते हैं।

**पत्युर्बलं शरासारैश्छन्नं वीक्ष्य सुमध्यमा ।
सव्रीड्मैक्षत्तद्वक्त्रं भयविह्वललोचना ॥ ४॥**

शब्दार्थ

पत्युः—अपने पति की; बलम्—सेना; शर—बाणों की; आसारैः—भीषण वर्षा से; छन्नम्—ढका हुआ; वीक्ष्य—देख कर; सु-मध्यमा—पतली कमर वाली (रुक्मिणी) ने; स-व्रीडम्—लजाते हुए; ऐक्षत्—देखा; तत्—उसके; वक्त्रम्—मुख को; भय—भय से; विह्वल—विचलित; लोचना—आँखों वाली।

पतली कमर वाली रुक्मिणी ने अपने स्वामी की सेना को बाणों की धुँआधार वर्षा से आच्छादित देख कर भयभीत आँखों से लजाते हुए कृष्ण के मुख की ओर निहारा।

**प्रहस्य भगवानाह मा स्म भैर्वामलोचने ।
विनङ्क्ष्यत्यधुनैवैतत्तावकैः शात्रवं बलम् ॥ ५॥**

शब्दार्थ

प्रहस्य—हँस कर; भगवान्—भगवान् ने; आह—कहा; मा स्म भैः—तुम डरो नहीं; वाम-लोचने—हे सुन्दर नेत्रों वाली; विनङ्क्ष्यति—नष्ट कर दी जायेगी; अधुना एव—अभी ही; एतत्—यह; तावकैः—तुम्हारी (सेना) द्वारा; शात्रवम्—शत्रुओं की; बलम्—सेना।

भगवान् ने हँसते हुए उसे विश्वास दिलाया, "हे सुन्दर नेत्रों वाली, तुम डरो मत! यह शत्रु सेना तुम्हारे सैनिकों द्वारा विनष्ट होने ही वाली है।"

तात्पर्य : रुक्मिणी के प्रति अत्यधिक स्नेह व्यक्त करने के लिए भगवान् कृष्ण ने अपनी यादव सेना को "तुम्हारे सैनिकों" कहा जिसमें यह संकेत था कि भगवान् का पूरा वंश अब उनकी प्रिय रानी की सम्पत्ति है। भगवान् कृष्ण अपने आनन्दपूर्ण ऐश्वर्यों की साझेदारी सारे जीवों से करना चाहते हैं और इसीलिए वे उन्हें भगवद्धाम वापस आने के लिए सच्चे मन से आमंत्रित करते हैं। श्रील प्रभुपाद ने अपने आध्यात्मिक गुरु श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के आदेश पर ही कृष्णभावनामृत आन्दोलन का समूचे विश्व में सूत्रपात किया। स्वयं श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर अपने पूज्य पिता श्रील भक्तिविनोद ठाकुर के आदेश पर सारे भारत में प्रचार करते रहे। हमारा यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन भगवान् कृष्ण के प्रेममय सन्देश का—उन्हें स्मरण करने, उनकी सेवा करने, उनके पास वापस जाकर भगवद्धाम का असीम ऐश्वर्य भोगने का—प्रसार कर रहा है।

**तेषां तद्विक्रमं वीरा गदसङ्कर्षनादयः ।
अमृष्यमाणा नाराचैर्जघ्नुर्हयगजान्रथान् ॥ ६॥**

शब्दार्थ

तेषाम्—उनके (विरोधी राजाओं) द्वारा; तत्—वह; विक्रमम्—पराक्रम-प्रदर्शन; वीराः—वीरगण; गद—गद, कृष्ण के छोटे भाई; सङ्कर्षण—बलराम; आदयः—इत्यादि; अमृष्यमाणाः—न सहन करते हुए; नाराचैः—लोहे के बाणों से; जघ्नुः—प्रहार किया; हय—घोड़े; गजान्—हाथी; रथान्—तथा रथों पर।

भगवान् की सेना में गद, संकर्षण इत्यादि वीर विरोधी राजाओं के आक्रमण को सहन नहीं कर सके। अतः वे लोहे के बाणों से शत्रुओं के घोड़ों, हाथियों तथा रथों पर प्रहार करने लगे।

पेतुः शिरांसि रथिनामश्विनां गजिनां भुवि ।
सकुण्डलकिरीटानि सोष्णीषाणि च कोटिशः ॥ ७॥

शब्दार्थ

पेतुः—गिरने लगे; शिरांसि—सिर; रथिनाम्—रथारोहियों के; अश्विनाम्—घुड़सवारों के; गजिनाम्—हाथी पर सवार होने वालों के; भुवि—पृथ्वी पर; स—सहित; कुण्डल—कान की बालियाँ; किरीटानि—तथा मुकुट; स—सहित; उष्णीषाणि—पगड़ियाँ; च—तथा; कोटिशः—करोड़ों।

रथों, घोड़ों तथा हाथियों पर सवार होकर लड़ने वाले सैनिकों के सिर करोड़ों की संख्या में गिरने लगे। इनमें से कुछ सिर कुण्डलों से युक्त थे तो कुछों पर मुकुट एवं पगड़ियाँ थी।

हस्ताः सासिगदेष्वासाः करभा ऊरवोऽङ्घ्रयः ।
अश्वाश्वतरनागोष्ट्रखरमर्त्यशिरांसि च ॥ ८॥

शब्दार्थ

हस्ताः—हाथ; स—सहित; असि—तलवारें; गदा—गदा; इषु-आसाः—बाण; करभाः—अंगुलियों से विहीन हाथ; ऊरवः—जाँघें; अङ्घ्रयः—पाँव; अश्व—घोड़ों; अश्वतर—गधों; नाग—हाथियों; उष्ट्र—ऊँटों; खर—जंगली गधों; मर्त्य—तथा मनुष्यों के; शिरांसि—सिर; च—भी।

चारों ओर जाँघें, पाँव तथा अंगुलियों से विहीन हाथों के साथ ही साथ तलवार, गदा तथा धनुष पकड़े हुए हाथ और घोड़ों, गधों, हाथियों, ऊँटों, जंगली गधों तथा मनुष्यों के सिर भी पड़े हुए थे।

तात्पर्य : *करभाः* शब्द कलाई से लेकर अँगुलियों के नीचे तक के भाग का सूचक है। यही शब्द हाथी के सूँड़ का भी द्योतन कर सकता है। अतः इस श्लोक का अर्थ होगा कि युद्ध क्षेत्र में पड़ी हुई जँघाएँ हाथियों की सूँड़ों के समान थीं।

हन्यमानबलानीका वृष्णिभिर्जयकाङ्क्षिभिः ।
राजानो विमुखा जग्मुर्जरासन्धपुरःसराः ॥ ९॥

शब्दार्थ

हन्यमान—मारे जा रहे; बल-अनीकाः—जिनकी सेनाएँ; वृष्णिभिः—वृष्णियों द्वारा; जय—विजय के लिए; काङ्क्षिभिः—इच्छुक; राजानः—राजागण; विमुखाः—निरुत्साहित; जग्मुः—छोड़ दिया; जरासन्ध-पुरः-सराः—जरासन्ध इत्यादि।.

विजय के लिए उत्सुक वृष्णियों द्वारा अपनी सेनाओं को मारे जाते देखकर जरासन्ध इत्यादि राजा हतोत्साहित हुए और युद्ध-भूमि छोड़ कर भाग गये।

तात्पर्य : यद्यपि शिशुपाल ने रुक्मिणी से विवाह नहीं किया था किन्तु वह उसे अपनी सम्पत्ति मानता था और इसीलिए वह विनष्ट हो गया जिस तरह कि अपनी प्रिय पत्नी को खोने वाला मनुष्य।

शिशुपालं समभ्येत्य हृतदारमिवातुरम् ।
नष्टत्विषं गतोत्साहं शुष्यद्वदनमब्रुवन् ॥ ॥

शब्दार्थ

शिशुपालम्—शिशुपाल के; समभ्येत्य—पास जाकर; हृत—चुरायी गई; दारम्—पत्नी वाला; इव—मानो; आतुरम्—विचलित; नष्ट—खोया हुआ; त्विषम्—रंग; गत—गया हुआ; उत्साहम्—उत्साह; शुष्यत्—सूख गया; वदनम्—मुँह; अब्रुवन्—उन्होंने कहा।.

सारे राजा शिशुपाल के पास गये जो उस व्यक्ति के समान उद्विग्न था जिसकी पत्नी छिन चुकी हो। उसके शरीर का रंग उतर गया, उसका उत्साह जाता रहा और उसका मुख सूखा हुआ प्रतीत होने लगा। राजाओं ने उससे इस प्रकार कहा।

भो भोः पुरुषशार्दूल दौर्मनस्यमिदं त्यज ।
न प्रियाप्रिययो राजन्निष्ठा देहिषु दृश्यते ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

भोः भोः—अरे महाशय; पुरुष—पुरुषों में; शार्दूल—हे बाघ; दौर्मन-स्यम्—मन की उदास अवस्था; इदम्—यह; त्यज—छोड़ो; न—नहीं; प्रिय—वांछित; अप्रिययोः—या अवांछित का; राजन्—हे राजन्; निष्ठा—स्थायित्व; देहिषु—देहधारी जीवों में; दृश्यते—देखा जाता है।.

[जरासन्ध ने कहा] हे पुरुषों में व्याघ्र शिशुपाल, सुनो। तुम अपनी उदासी छोड़ दो। हे राजन्, सारे देहधारियों का सुख तथा दुख कभी भी स्थायी नहीं देखे गये हैं।

यथा दारुमयी योषित्नृत्यते कुहकेच्छया ।
एवमीश्वरतन्त्रोऽयमीहते सुखदुःखयोः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; दारु-मयी—काठ की बनी; योषित्—स्त्री; नृत्यते—नाचती है; कुहक—दिखाने वाले की; इच्छया—इच्छा से; एवम्—उसी तरह से; ईश्वर—ईश्वर के; तन्त्रः—नियंत्रण में; अयम्—यह जगत; ईहते—चेष्टा करता है; सुख—सुख; दुःखयोः—तथा दुख में।.

जिस तरह स्त्री के वेश में एक कठपुतली अपने नचाने वाले की इच्छानुसार नाचती है उसी

तरह भगवान् द्वारा नियंत्रित यह जगत सुख तथा दुख दोनों से भिड़ता रहता है।

तात्पर्य : भगवान् की इच्छा से जीवों को उनके कार्यों का उचित फल मिलता है। जो परब्रह्म को जान लेता है, वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण में चला जाता है और भौतिक जगत के भीतर स्थित नहीं माना जाता। चूँकि भौतिक जगत के भीतर प्रयासरत लोग ईश्वर की सृष्टि का दोहन करने की अवश्य ही चेष्टा करना चाहते हैं इसलिए उन्हें कर्मफल भोगने पड़ते हैं, जो बद्धजीव के लिए सुख या दुख के रूप में होते हैं। वस्तुत: यदि परम आनन्द की दृष्टि से देखा जाय तो सम्पूर्ण भौतिक जीवन एक विफलता है।

शौरेः सप्तदशाहं वै संयुगानि पराजितः ।
त्रयोविंशतिभिः सैन्यैर्जिग्ये एकमहं परम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

शौरेः—कृष्ण से; सप्त-दश—सत्रह; अहम्—मैं; वै—निस्सन्देह; संयुगानि—युद्ध; पराजितः—हारा हुआ; त्रयः-विंशतिभिः—तेईस; सैन्यैः—सेनाओं से; जिग्ये—जीता; एकम्—एक; अहम्—मैंने; परम्—केवल।

मैं कृष्ण के साथ युद्ध में अपनी तेईस सेनाओं सहित सत्रह बार हारा—केवल एक बार उन्हें पराजित कर सका।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में अपरिहार्य सुख तथा दुख के दृष्टान्त के रूप में जरासन्ध अपना ही जीवन का दृष्टान्त प्रस्तुत करता है।

तथाप्यहं न शोचामि न प्रहृष्यामि कर्हिचित् ।
कालेन दैवयुक्तेन जानन्विद्रावितं जगत् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

तथा अपि—तो भी; अहम्—मैं; न शोचामि—शोक नहीं करता; न प्रहृष्यामि—हर्ष प्रकट नहीं करता; कर्हिचित्—कभी; कालेन—समय से; दैव—भाग्य से; युक्तेन—जुड़ा हुआ; जानन्—जानते हुए; विद्रावितम्—संचालित; जगत्—संसार।

तो भी मैं न तो कभी शोक करता हूँ, न हर्षित होता हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि यह संसार काल तथा भाग्य द्वारा संचालित है।

तात्पर्य : यह बता चुकने के बाद कि भगवान् इस जगत का नियंत्रण करते हैं जरासन्ध अब नियंत्रण की विशेष विधि बतलाता है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि वैदिक सन्दर्भ में *काल* एकमात्र दिन, सप्ताह, मास तथा वर्ष जैसे काल मापन की विधि का ही द्योतन नहीं करता अपितु वस्तुओं के

गतिशील होने की *विधि* को बतलाता है। प्रत्येक वस्तु अपने प्रारब्ध के अनुसार गतिशील रहती है और यह प्रारब्ध भी काल कहलाता है क्योंकि हर व्यक्ति का प्रारब्ध काल की गति से प्रकट होता है।

अधुनापि वयं सर्वे वीरयूथपयूथपाः ।
पराजिताः फल्गुतन्त्रैर्यदुभिः कृष्णपालितैः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अधुना—अब; अपि—भी; वयम्—हम; सर्वे—सभी; वीर—वीरों के; यूथ-प—सेनानायकों के; यूथ-पाः—नायक; पराजिताः—हारे हुए; फल्गु—थोड़े से; तन्त्रैः—परिचारकों द्वारा; यदुभिः—यदुओं द्वारा; कृष्ण-पालितैः—कृष्ण द्वारा रक्षित।

और अब हम सभी, सेनानायकों के बड़े बड़े सेनापति, यदुओं तथा उनकी छोटी सेना के द्वारा हराये जा चुके हैं क्योंकि वे सभी कृष्ण द्वारा संरक्षित हैं।

रिपवो जिग्युरधुना काल आत्मानुसारिणि ।
तदा वयं विजेष्यामो यदा कालः प्रदक्षिणः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

रिपवः—हमारे शत्रुओं ने; जिग्युः—जीत लिया है; अधुना—अब; काले—समय; आत्म—उनको; अनुसारीणि—पक्षपात करने वाले; तदा—तब; वयम्—हम; विजेष्यामः—जीत लेंगे; यदा—जब; कालः—समय; प्रदक्षिणः—हमारी ओर मुड़ेगा।

अभी हमारे शत्रुओं ने हमें जीत लिया है क्योंकि समय ने उनका साथ दिया, किन्तु भविष्य में जब समय हमारे लिए शुभ होगा तो हम जीतेंगे।

श्रीशुक उवाच
एवं प्रबोधितो मित्रैश्चैद्योऽगात्सानुगः पुरम् ।
हतशेषाः पुनस्तेऽपि ययुः स्वं स्वं पुरं नृपाः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; प्रबोधितः—समझाया-बुझाया; मित्रैः—अपने मित्रों के द्वारा; चैद्यः—शिशुपाल; अगात्—गया; स-अनुगः—अपने अनुयायियों सहित; पुरम्—अपने नगर में; हत—मारे हुओं से; शेषाः—बचे; पुनः—फिर; ते—वे; अपि—भी; ययुः—गये; स्वम् स्वम्—अपने अपने; पुरम्—नगर; नृपाः—राजा।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह अपने मित्रों द्वारा समझाने-बुझाने पर शिशुपाल अपने अनुयायियों सहित अपनी राजधानी लौट गया। जो योद्धा बच रहे थे वे भी अपने अपने नगरों को लौट गये।

रुक्मी तु राक्षसोद्वाहं कृष्णद्विडसहन्स्वसुः ।
पृष्ठतोऽन्वगमत्कृष्णमक्षौहिण्या वृतो बली ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

रुक्मी—रुक्मी; तु—किन्तु; राक्षस—राक्षसी विधि से; उद्वाहम्—विवाह; कृष्ण-द्विट्—कृष्ण से घृणा करने वाला; असहन्—सहन कर पाने में असमर्थ; स्वसुः—अपनी बहिन का; पृष्ठतः—पीछे से; अन्वगमत्—पीछा किया; कृष्णाम्—कृष्ण को; अक्षौहिण्या—एक अक्षौहिणी सेना लेकर; वृतः—घेर लिया; बली—शक्तिशाली।

किन्तु बलवान रुक्मी कृष्ण से विशेष रूप से द्वेष रखता था। उससे यह बात सहन नहीं हो सकी कि कृष्ण बलपूर्वक उसकी बहिन को ले जाकर उससे राक्षस-विधि से विवाह कर ले। अतः उसने सेना की एक पूरी टुकड़ी लेकर भगवान् का पीछा किया।

रुक्म्यमर्षी सुसंरब्धः शृण्वतां सर्वभूभुजाम् ।
प्रतिजज्ञे महाबाहुर्दंशितः सशरासनः ॥ १९ ॥
अहत्वा समरे कृष्णमप्रत्यूह्य च रुक्मिणीम् ।
कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामि सत्यमेतद्ब्रवीमि वः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

रुक्मी—रुक्मी; अमर्षी—असहिष्णु; सु-संरब्धः—अत्यन्त क्रुद्ध; शृण्वताम्—सुनते हुए; सर्व—समस्त; भू-भुजाम्—राजाओं के; प्रतिजज्ञे—प्रतिज्ञा की; महा-बाहुः—बाहुबली; दंशितः—कवच पहने; स-शरासनः—अपने धनुष सहित; अहत्वा—बिना मारे; समरे—युद्ध में; कृष्णम्—कृष्ण को; अप्रत्यूह्य—वापस लाये बिना; च—तथा; रुक्मिणीम्—रुक्मिणी को; कुण्डिनम्—कुण्डिन नगर में; न प्रवेक्ष्यामि—प्रवेश नहीं करूँगा; सत्यम्—सच; एतत्—यह; ब्रवीमि—मैं कहता हूँ; वः—तुम सबों से।

उद्विग्न एवं क्रुद्ध महाबाहु रुक्मी ने कवच पहने तथा धनुष धारण किये सभी राजाओं के समक्ष यह शपथ ली थी, "यदि मैं युद्ध में कृष्ण को मार कर रुक्मिणी को अपने साथ वापस नहीं ले आता तो मैं फिर कुण्डिन नगर में प्रवेश नहीं करूँगा। यह मैं आप लोगों के समक्ष शपथ लेता हूँ।"

तात्पर्य : रुक्मी ने ये क्रुद्ध वचन कहे और तब वह भगवान् कृष्ण का पीछा करने लगा जैसाकि अगले श्लोकों में है।

इत्युक्त्वा रथमारुह्य सारथिं प्राह सत्वरः ।
चोदयाश्वान्यतः कृष्णः तस्य मे संयुगं भवेत् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; रथम्—रथ पर; आरुह्य—चढ़ कर; सारथिम्—सारथी से; प्राह—कहा; सत्वरः—तेजी से; चोदय—हाँको; अश्वान्—घोड़ों को; यतः—जहाँ; कृष्णः—कृष्ण; तस्य—उसका; मे—मेरे साथ; संयुगम्—युद्ध; भवेत्—होना चाहिए।

यह कहकर वह अपने रथ पर चढ़ गया और अपने सारथी से कहा, "तुम घोड़ों को जल्दी से हाँक कर वहीं ले चलो जहाँ कृष्ण है। उससे मुझे युद्ध करना है।"

अद्याहं निशितैर्बाणैर्गोपालस्य सुदुर्मतेः ।
नेष्ये वीर्यमदं येन स्वसा मे प्रसभं हृता ॥ २२॥

शब्दार्थ

अद्य—आज; अहम्—मैं; निशितैः—तीक्ष्ण; बाणैः—बाणों से; गोपालस्य—ग्वाले का; सु-दुर्मतेः—दुष्टबुद्धि; नेष्ये—नष्ट कर दूँगा; वीर्य—अपने बल में; मदम्—घमंड; येन—जिससे; स्वसा—बहिन; मे—मेरी; प्रसभम्—बलपूर्वक; हृता—अपहरण की गई।

''इस दुष्टबुद्धि ग्वालबाल ने अपने बल के घमण्ड में चूर होकर मेरी बहन का बलपूर्वक अपहरण किया है। किन्तु आज मैं उसके घमंड को अपने तीखे बाणों से चूर कर दूँगा।''

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि *गोपालस्य* का असली अर्थ ''वेदों के रक्षक का'' है, जबकि *दुर्मतेः* का अर्थ है ''उसका जिसका सुन्दर मन दुष्ट के भी प्रति दयालु होता है।'' श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि रुक्मी के कहने का आशय यह था कि वह आज कृष्ण से युद्ध करके महान् वीर कहलाने का ढोंग छोड़ देगा।

विकत्थमानः कुमतिरीश्वरस्याप्रमाणवित् ।
रथेनैकेन गोविन्दं तिष्ठ तिष्ठेत्यथाह्वयत् ॥ २॥

शब्दार्थ

विकत्थमानः—डींग मारते हुए; कु-मतिः—मूर्ख; ईश्वरस्य—भगवान् का; अप्रमाण-वित्—परिमाप न जानते हुए; रथेन एकेन—एकाकी रथ सहित; गोविन्दम्—भगवान् कृष्ण को; तिष्ठ तिष्ठ—रुको और युद्ध करो; इति—ऐसा कहकर; अथ—तब; आह्वयत्—उसने पुकारा।

इस प्रकार डींग हाँकता, भगवान् के पराक्रम के असली विस्तार से अपरिचित मूर्ख रुक्मी, अपने एकाकी रथ में भगवान् गोविन्द के पास पहुँचा और उन्हें ललकारा, ''जरा ठहरो और लड़ो।''

तात्पर्य : इन श्लोकों से लगता है कि यद्यपि रुक्मी एक पूरी सेना की टुकड़ी लेकर रवाना हुआ था किन्तु कृष्ण से युद्ध करने वह स्वयं आगे बढ़ा।

धनुर्विकृष्य सुदृढं जघ्ने कृष्णं त्रिभिः शरैः ।
आह चात्र क्षणं तिष्ठ यदूनां कुलपांसन ॥ २४॥

शब्दार्थ

धनुः—अपना धनुष; विकृष्य—खींचकर; सु—अत्यन्त; दृढम्—दृढ़तापूर्वक; जघ्ने—प्रहार किया; कृष्णम्—कृष्ण पर; त्रिभिः—तीन; शरैः—बाणों से; आह—कहा; च—तथा; अत्र—यहाँ; क्षणम्—एकक्षण; तिष्ठ—ठहरो; यदूनाम्—यदुओं के; कुल—वंश को; पांसन—अरे दूषित करने वाले।

रुक्मी ने भारी जोर लगाकर अपना धनुष खींचा और कृष्ण पर तीन बाण चलाये। तब उसने कहा, "रे यदुवंश को दूषित करने वाले! जरा एक क्षण ठहर तो!"

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी संकेत करते हैं कि *कुल-पांसन* को *कुल-प* (हे यदुवंश के स्वामी) तथा *अंसन* (हे शत्रुओं का वध करने में कुशल) से बना मानना चाहिए। उन्होंने व्याकरणिक व्याख्या भी दी है, जिससे यह भावार्थ सम्भव होता है।

यत्र यासि स्वसारं मे मुषित्वा ध्वाङ्क्षवद्धविः ।
हरिष्येऽद्य मदं मन्द मायिनः कूटयोधिनः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ भी; यासि—जाओगे; स्वसारम्—बहन को; मे—मेरी; मुषित्वा—चुराकर; ध्वाङ्क्ष-वत्—कौवे की तरह; हविः—यज्ञ का घृत; हरिष्ये—मैं वध करूँगा; अद्य—आज; मदम्—तुम्हारे मिथ्या गर्व को; मन्द—रे मूर्ख; मायिनः—धोखेबाज का; कूट—ठग; योधिनः—युद्ध करने वाले का।

"तुम यज्ञ का घृत चुराने वाले कौवे की भाँति मेरी बहन को जहाँ जहाँ ले जाओगे वहाँ वहाँ मैं तुम्हारा पीछा करूँगा। अरे मूर्ख, धोखेबाज, अरे युद्ध में ठगने वाले! मैं आज ही तुम्हारे मिथ्या गर्व को चूर चूर कर दूँगा।"

तात्पर्य : इस पागलपन-भरे आक्रमण में रुक्मी उन्हीं गुणों को प्रदर्शित करता है जिनका आरोप वह कृष्ण पर करता है। हर जीव भगवान् का अंश है और भगवान् से सम्बन्धित है। अत: रुक्मी उस कौवे के समान था, जो कृष्ण द्वारा भोगी जाने वाली हवि को चुराने का प्रयास कर रहा था।

यावन्न मे हतो बाणैः शयीथा मुञ्च दारीकाम् ।
स्मयन्कृष्णो धनुश्छित्त्वा षड्भिर्विव्याध रुक्मिणम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; न—नहीं; मे—मेरे; हतः—मारा गया; बाणैः—बाणों से; शयीथः—लिटा दिया गया; मुञ्च—छोड़ दो; दारीकाम्—लड़की को; स्मयन्—हँसते हुए; कृष्णः—कृष्ण ने; धनुः—अपना धनुष; छित्त्वा—तोड़ कर; षड्भिः—छः (बाणों) से; विव्याध—बेध दिया; रुक्मिणम्—रुक्मी को।

"इसके पूर्व कि तुम मेरे बाणों के प्रहार से मरो और लोट-पोट हो जाओ तुम इस लड़की को छोड़ दो।" इसके उत्तर में भगवान् कृष्ण मुसकरा दिये और अपने छः बाणों से रुक्मी पर प्रहार करके उसके धनुष को तोड़ डाला।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि वास्तव में कृष्ण तो रुक्मिणी के साथ सुन्दर फूलों की शैया में लेटने के लिए थे किन्तु रुक्मी ने लज्जावश यह बात सीधे नहीं कही।

अष्टभिश्चतुरो वाहान्द्वाभ्यां सूतं ध्वजं त्रिभिः ।
स चान्यद्धनुराधाय कृष्णं विव्याध पञ्चभिः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

अष्टभिः—आठ (बाणों) से; चतुरः—चारों; वाहान्—घोड़ों को; द्वाभ्याम्—दो से; सूतम्—सारथी को; ध्वजम्—झंडे को; त्रिभिः—तीन से; सः—वह, रुक्मी; च—तथा; अन्यत्—अन्य; धनुः—धनुष; आधाय—लेकर; कृष्णम्—कृष्ण को; विव्याध—बेध डाला; पञ्चभिः—पाँच से।

भगवान् ने रुक्मी के चारों घोड़ों को आठ बाणों से, उसके सारथी को दो बाणों से तथा रथ की ध्वजा को तीन बाणों से नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। रुक्मी ने दूसरा धनुष उठाया और कृष्ण पर पाँच बाणों से प्रहार किया।

तैस्ताडितः शरौघैस्तु चिच्छेद धनुरच्युतः ।
पुनरन्यदुपादत्त तदप्यच्छिनदव्ययः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तैः—इनके द्वारा; ताडितः—प्रहार किया गया; शर—बाणों की; ओघैः—बाढ़ से; तु—यद्यपि; चिच्छेद—तोड़ डाला; धनुः—(रुक्मी का) धनुष; अच्युतः—भगवान् कृष्ण ने; पुनः—फिर; अन्यत्—दूसरा; उपादत्त—उसने (रुक्मी ने) उठा लिया; तत्—वह; अपि—भी; अच्छिनत्—तोड़ दिया; अव्ययः—अविनाशी।

यद्यपि भगवान् अच्युत पर इन अनेक बाणों से प्रहार हुआ किन्तु उन्होंने पुनः रुक्मी के धनुष को तोड़ दिया। रुक्मी ने दूसरा धनुष उठाया किन्तु अविनाशी भगवान् ने उसे भी खण्ड खण्ड कर डाला।

परिघं पट्टिशं शूलं चर्मासी शक्तितोमरौ ।
यद्यदायुधमादत्त तत्सर्वं सोऽच्छिनद्धरिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

परिघम्—परिघ; पट्टिशम्—त्रिशूल; शूलम्—भाला; चर्म-असी—ढाल तथा तलवार; शक्ति—शक्ति; तोमरौ—तोमर; यत् यत्—जो जो; आयुधम्—हथियार; आदत्त—उठाया; तत् सर्वम्—उन सबों को; सः—उस; अच्छिनत्—तोड़ डाला; हरिः—भगवान् कृष्ण ने।

रुक्मी ने जो भी हथियार—परिघ, पट्टिश, त्रिशूल, ढाल तथा तलवार, शक्ति और तोमर—उठाया, उन्हें भगवान् हरि ने छिन्न-भिन्न कर डाला।

ततो रथादवप्लुत्य खड्गपाणिर्जिघांसया ।
कृष्णमभ्यद्रवत्क्रुद्धः पतङ्ग इव पावकम् ॥ ० ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; रथात्—रथ से; अवप्लुत्य—नीचे कूदकर; खड्ग—तलवार; पणिः—अपने हाथ में; जिघांसया—मारने की इच्छा से; कृष्णम्—कृष्ण की ओर; अभ्यद्रवत्—दौड़ा; क्रुद्धः—क्रुद्ध होकर; पतङ्गः—पक्षी; इव—सदृश; पावकम्—हवा, वायु में।.

तब रुक्मी अपने रथ से नीचे कूद पड़ा और अपने हाथ में तलवार लेकर कृष्ण को मारने के लिए उनकी ओर अत्यन्त क्रुद्ध होकर दौड़ा जिस तरह कोई पक्षी वायु में उड़े।

तस्य चापततः खड्गं तिलशश्चर्म चेषुभिः ।
छित्त्वासिमाददे तिग्मं रुक्मिणं हन्तुमुद्यतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके; च—तथा; आपततः—आक्रमण करते हुए; खड्गम्—तलवार; तिलशः—छोटे छोटे खंडों में; चर्म—ढाल; च—तथा; इषुभिः—अपने बाणों से; छित्त्वा—तोड़ कर; असिम्—तलवार को; आददे—उसने ग्रहण किया; तिग्मम्—तेज; रुक्मिणम्—रुक्मी को; हन्तुम्—मारने के लिए; उद्यतः—तैयार।.

ज्योंही रुक्मी ने उन पर आक्रमण किया, भगवान् ने तीर चलाये जिससे रुक्मी की तलवार तथा ढाल के खंड खंड हो गये। तब कृष्ण ने अपनी तेज तलवार धारण की और रुक्मी को मारने की तैयारी की।

दृष्ट्वा भ्रातृवधोद्योगं रुक्मिणी भयविह्वला ।
पतित्वा पादयोर्भर्तुरुवाच करुणं सती ॥ २ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देख कर; भ्रातृ—अपने भाई को; वध—मारने के लिए; उद्योगम्—प्रयास; रुक्मिणी—श्रीमती रुक्मिणी ने; भय—भय से; विह्वला—घबड़ाई; पतित्वा—गिर कर; पादयोः—पैरों पर; भर्तुः—अपने पति के; उवाच—कहा; करुणम्—करुण स्वर में; सती—साध्वी।.

अपने भाई को मार डालने के लिए उद्यत भगवान् कृष्ण को देख कर साध्वी सदृश रुक्मिणी अत्यन्त भयभीत हो उठीं। वे अपने पति के पैरों पर गिर पड़ीं और बड़े ही करुण-स्वर में बोलीं।

श्रीरुक्मिण्युवाच

योगेश्वराप्रमेयात्मन्देवदेव जगत्पते ।
हन्तुं नार्हसि कल्याण भ्रातरं मे महाभुज ॥ ॥

शब्दार्थ

श्री-रुक्मिणी उवाच—श्री रुक्मिणी ने कहा; योग-ईश्वर—समस्त योगशक्ति के नियन्ता; अप्रमेय-आत्मन्—न मापे जा सकने वाले; देव-देव—हे देवताओं के स्वामी; जगत्-पते—हे ब्रह्माण्ड के स्वामी; हन्तुम् न अर्हसि—आप वध न करें; कल्याण—हे मंगलमय; भ्रातरम्—भाई को; मे—मेरे; महा-भुज—हे बाहुबली।

श्री रुक्मिणी ने कहा : हे योगेश्वर, हे अप्रमेय, हे देवताओं के देव, हे ब्रह्माण्ड के स्वामी! हे मंगलमय एवं बाहुबली! कृपया मेरे भाई का वध न करें।

श्रीशुक उवाच

तया परित्रासविकम्पिताङ्गया
शुचावशुष्यन्मुखरुद्धकण्ठया ।
कातर्यविस्रंसितहेममालया
गृहीतपादः करुणो न्यवर्तत ॥ ४॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; तया—उसके द्वारा; परित्रास—पूर्णतया भयभीत; विकम्पित—काँपती हुई; अङ्गया—जिसके अंग; शुचा—शोक से; अवशुष्यत्—सूखता हुआ; मुख—जिसका मुख; रुद्ध—तथा भरे हुए; कण्ठया—गले से; कातर्य—आतुरतावश; विस्रंसित—बिखर गई; हेम—सोने की; मालया—गले की माला; गृहीत—पकड़ लिया; पादः—उसके पाँव; करुणः—दयालु ने; न्यवर्तत—छोड़ दिया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : रुक्मिणी के अत्यधिक भयभीत होने से उसके अंग-अंग काँपने लगे, मुँह सूखने लगा तथा त्रास के मारे उसका गला रुँध गया। उद्वेलित होने से उसका सोने का हार माला बिखर गया। उसने कृष्ण के पैर पकड़ लिये। तब भगवान् ने दया दिखलाकर उसे छोड़ दिया।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती लौकिक नियम का उद्धरण देते हैं—*दयाया भगिनी मूर्तिः*—कि बहिन साक्षात् दया होती है। यद्यपि रुक्मी दुष्ट था और अपनी बहिन के हित का विरोध करता था किन्तु रुक्मिणी उसके प्रति दयालु थी और भगवान् उसकी दया में भागी हुए।

चैलेन बद्ध्वा तमसाधुकारीणं
सश्मश्रुकेशं प्रवपन्व्यरूपयत् ।
तावन्ममर्दुः परसैन्यमद्भुतं
यदुप्रवीरा नलिनीं यथा गजाः ॥ ५॥

शब्दार्थ

चैलेन—कपड़े की पट्टी से; बद्ध्वा—बाँध कर; तम्—उसको; असाधु-कारिणम्—दुष्कर्म करने वाले; स-श्मश्रु-केशम्—कुछ मूछें तथा बाल छोड़ कर; प्रवपन्—मूँड़ करके; व्यरूपयत्—विरूप बना दिया; तावत्—तब तक; ममर्दुः—कुचल दिया था; पर—विपक्षी; सैन्यम्—सेना को; अद्भुतम्—अद्भुत; यदु-प्रवीराः—यदुकुल के वीरों ने; नलिनीम्—कमल के फूलों को; यथा—जिस तरह; गजाः—हाथी।

भगवान् कृष्ण ने उस दुकृत्य करने वाले को कपड़े की पट्टी (दुपट्टे) से बाँध दिया। इसके

बाद उन्होंने उसकी कुछ कुछ मूँछें तथा बाल छोड़ कर शेष सारे बाल हास्यजनक रूप से मूँड़ कर उसको विरूप बना दिया। तब तक यदु-वीरों ने अपने विपक्षियों की अद्भुत सेना को कुचल दिया था जिस तरह हाथी कमल के फूल को कुचल देता है।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ने अपनी तेज तलवार से दुष्ट रुक्मी के बाल अद्भुत तरह से मूँड़ दिये।

कृष्णान्तिकमुपव्रज्य ददृशुस्तत्र रुक्मिणम् ।
तथाभूतं हतप्रायं दृष्ट्वा सङ्कर्षणो विभुः ।
विमुच्य बद्धं करुणो भगवान्कृष्णमब्रवीत् ॥ ६॥

शब्दार्थ

कृष्ण—कृष्ण के; अन्तिकम्—निकट; उपव्रज्य—जाकर; ददृशुः—उन्होंने (यदु-वीरों ने) देखा; तत्र—वहाँ; रुक्मिणम्—रुक्मी; तथा-भूतम्—ऐसी अवस्था में; हत—मृत; प्रायम्—लगभग; दृष्ट्वा—देख कर; सङ्कर्षणः—बलराम ने; विभुः—सर्वशक्तिमान; विमुच्य—छोड़ कर; बद्धम्—बँधा हुआ (रुक्मी); करुणः—दयालु; भगवान्—भगवान्; कृष्णम्—कृष्ण से; अब्रवीत्—कहा।

जब यदुगण भगवान् कृष्ण के पास पहुँचे तो उन्होंने रुक्मी को इस शोचनीय अवस्था में प्रायः शर्म से मरते देखा। जब सर्वशक्तिमान बलराम ने रुक्मी को देखा तो दयावश उन्होंने उसे छुड़ा दिया और वे भगवान् कृष्ण से इस तरह बोले।

असाध्विदं त्वया कृष्ण कृतमस्मज्जुगुप्सितम् ।
वपनं श्मश्रुकेशानां वैरूप्यं सुहृदो वधः ॥ ७॥

शब्दार्थ

असाधु—अनुचित; इदम्—यह; त्वया—तुम्हारे द्वारा; कृष्ण—हे कृष्ण; कृतम्—किया गया; अस्मत्—हमारे लिए; जुगुप्सितम्—भयावह; वपनम्—मूँड़ना; श्मश्रु-केशानाम्—उसके मूँछ तथा बालों को; वैरूप्यम्—विरूप करना; सुहृदः—पारिवारिक सदस्य का; वधः—मृत्यु।

[बलराम ने कहा] : हे कृष्ण, तुमने अनुचित कार्य किया है। इस कार्य से हमको लज्जित होना पड़ेगा, क्योंकि किसी निकट सम्बन्धी के मूँछ तथा बाल मूँड़ कर उसे विरूपित करना उसका वध करने के ही समान है।

तात्पर्य : सर्वज्ञ बलराम जान गये थे कि रुक्मी दोषी था किन्तु शोकमग्न रुक्मिणी को ढाढ़स दिलाने के लिए उन्होंने श्रीकृष्ण को भद्रता से डाँटना उचित समझा।

मैवास्मान्साध्व्यसूयेथा भ्रातुर्वैरूप्यचिन्तया ।

सुखदु:खदो न चान्योऽस्ति यत: स्वकृतभुक्पुमान् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

मा—मत; एव—निस्सन्देह; अस्मान्—हमारे प्रति; साध्वि—हे साध्वी; असूयेथा:—शत्रुता अनुभव करो; भ्रातु:—अपने भाई के; वैरूप्य—विरूप होने की; चिन्तया—चिन्ता से; सुख—सुख; दु:ख—तथा दुख का; द:—देने वाला; न—नहीं; च—तथा; अन्य:—अन्य कोई; अस्ति—है; यत:—क्योंकि; स्व—अपना; कृत—कर्म; भुक्—फल भोगने वाला; पुमान्—मनुष्य।

हे साध्वी, तुम अपने भाई के विरूप होने की चिन्ता से हम पर रुष्ट न होओ। किसी के सुख तथा दुख का उत्तरदायी उसके अपने सिवा कोई दूसरा नहीं होता है, क्योंकि मनुष्य अपने ही कर्मों का फल पाता है।

**बन्धुर्वधार्हदोषोऽपि न बन्धोर्वधमर्हति ।
त्याज्य: स्वेनैव दोषेण हत: किं हन्यते पुन: ॥ ९ ॥**

शब्दार्थ

बन्धु:—सम्बन्धी; वध—मारे जाने के; अर्ह—योग्य होता है; दोष:—जिसकी बुराइयाँ; अपि—यद्यपि; न—नहीं; बन्धो:—सम्बन्धी से; वधम्—मारे जाने के; अर्हति—योग्य होता है; त्याज्य:—त्याग करने योग्य; स्वेन एव—अपने ही; दोषेण—दोष से; हत:—मारा गया; किम्—क्यों; हन्यते—मारा जाये; पुन:—फिर।

[अब कृष्ण को सम्बोधित करते हुए बलराम ने कहा] : यदि सम्बन्धी के दोष मृत्यु-दण्ड देने योग्य हों तब भी उसका वध नहीं किया जाना चाहिए। प्रत्युत उसे परिवार से निकाल देना चाहिए। चूँकि वह अपने पाप से पहले ही मारा जा चुका है, तो उसे फिर से क्यों मारा जाये?

तात्पर्य : रुक्मिणी को और अधिक सान्त्वना देने की दृष्टि से बलराम पुन: जोर देकर कहते हैं कि कृष्ण को चाहिए था कि रुक्मी को लज्जित न करते।

**क्षत्रियाणामयं धर्म: प्रजापतिविनिर्मित: ।
भ्रातापि भ्रातरं हन्याद्येन घोरतमस्तत: ॥ ४० ॥**

शब्दार्थ

क्षत्रियाणाम्—क्षत्रियों का; अयम्—यह; धर्म:—पवित्र कर्तव्य की संहिता; प्रजापति—आदि सन्तान उत्पन्न करने वाले ब्रह्मा के द्वारा; विनिर्मित:—स्थापित; भ्राता—भाई; अपि—भी; भ्रातरम्—अपने भाई को; हन्यात्—मारना पड़ता है; येन—जिस (संहिता) से; घोर-तम:—अत्यन्त भयावह; तत:—अत:।

क्षत्रियाणाम्—क्षत्रियों का; अयम्—यह; धर्म:—पवित्र कर्तव्य की संहिता; प्रजापति—आदि सन्तान उत्पन्न करने वाले ब्रह्मा के द्वारा; विनिर्मित:—स्थापित; भ्राता—भाई; अपि—भी; भ्रातरम्—अपने भाई को; हन्यात्—मारना पड़ता है; येन—जिस (संहिता) से; घोर-तम:—अत्यन्त भयावह; तत:—अत:।

[रुक्मिणी की ओर मुड़कर बलराम ने कहा] : ब्रह्मा द्वारा स्थापित योद्धाओं के लिए पवित्र कर्तव्य की संहिता का आदेश है कि उसे अपने सगे भाई तक का वध करना पड़ सकता है। निस्सन्देह यह सबसे अथावह नियम है।

तात्पर्य : भगवान् बलराम निष्पक्ष भाव से स्थिति का पूरा विश्लेषण कर रहे हैं। यद्यपि अपने सम्बन्धी का वध नहीं करना चाहिए किन्तु सैन्य संहिता के अनुसार कुछ न्यूनीकारक परिस्थितियाँ भी हैं। १८६० ई. में अमरीकी गृह-युद्ध में कुछ परिवार उत्तरी तथा दक्षिणी सेनाओं में बँट गये थे जिससे दुर्भाग्यवश बन्धु-वध सामान्य व्यापार बन गया था। ऐसा वध निश्चय ही *घोरतम* है। किन्तु भौतिक जगत की रीति ही ऐसी है जहाँ कर्तव्य, सम्मान तथा तथाकथित न्याय से संघर्ष छिड़ जाता है। केवल आध्यात्मिक स्तर पर या कि शुद्ध कृष्णभावनामृत में हम संसार की अग्राह्य पीड़ा को लाँघ सकते हैं। रुक्मी गर्व तथा द्वेष से उन्मत्त था अत: वह कृष्ण या कृष्णभावनामृत के विषय में कुछ भी नहीं समझ सका।

राज्यस्य भूमेर्वित्तस्य स्त्रियो मानस्य तेजसः ।
मानिनोऽन्यस्य वा हेतोः श्रीमदान्धाः क्षिपन्ति हि ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

राज्यस्य—राज्य का; भूमेः—भूमि का; वित्तस्य—सम्पत्ति का; स्त्रियः—स्त्री का; मानस्य—सम्मान का; तेजसः—बल का; मानिनः—गर्व करने वाले; अन्यस्य—अन्यों का; वा—अथवा; हेतोः—कारण से; श्री—उनके ऐश्वर्य में; मद—उनकी उन्मत्तता से; अन्धाः—अंधे; क्षिपन्ति—अनादर (तिरस्कार) करते हैं; हि—निस्सन्देह।

[पुनः बलराम ने कृष्ण से कहा] : अपने ऐश्वर्य के मद से अन्धे हुए दम्भी लोग राज्य, भूमि, सम्पत्ति, स्त्री, सम्मान तथा अधिकार जैसी वस्तुओं के लिए अन्यों का तिरस्कार कर सकते हैं।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण मूलत: रुक्मिणी से विवाह करने के निमित्त ही थे। सारे सम्बन्धियों को यही सर्वोत्तम व्यवस्था लग रही थी फिर भी द्वेषवश रुक्मी प्रारम्भ से ही दुर्भावना से इस उत्तम व्यवस्था का विरोधी था। जब अन्तत: उसकी बहिन की इच्छा पूरी हो गई और कृष्ण उसे ले गये तो उसने ओछे अनादर के साथ और भौतिक हथियारों से कृष्ण पर आक्रमण किया। बदले में कृष्ण ने उसे बाँध दिया और उसके कुछ बाल तथा मूँछें मूँड़ दीं। एक ओर जहाँ यह रुक्मी जैसे दम्भी राजकुमार के लिए लज्जास्पद था वहीं उसकी करतूत को देखते हुए यह दण्ड केवल उसकी कलाई पर एक थपकी के समान था।

तवेयं विषमा बुद्धिः सर्वभूतेषु दुर्हृदाम् ।
यन्मन्यसे सदाभद्रं सुहृदां भद्रमज्ञवत् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तव—तुम्हारे; इयम्—यह; विषमा—पक्षपातपूर्ण; बुद्धिः—मनोवृत्ति; सर्व-भूतेषु—सारे जीवों के प्रति; दुर्हृदाम्—विचारों वाले; यत्—जो; मन्यसे—तुम चाहते हो; सदा—सदैव; अभद्रम्—बुराई; सुहृदाम्—तुम्हारे शुभचिन्तकों को; भद्रम्—मंगल; अज्ञ-वत्—अज्ञानी पुरुष की भाँति।

[बलराम ने रुक्मिणी से कहा] : तुम्हारी मनोवृत्ति सही नहीं है क्योंकि तुम अज्ञानी व्यक्ति की भाँति उनका मंगल चाहती हो जो सारे जीवों के प्रति शत्रुतापूर्ण हैं और जिन्होंने तुम्हारे असली शुभचिन्तकों के साथ दुष्कृत्य किया है।

आत्ममोहो नृणामेव कल्पते देवमायया ।
सुहृद्दुर्हृदुदासीन इति देहात्ममानिनाम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

आत्म—अपने विषय में; मोहः—मोह; नृणाम्—मनुष्यों का; एव—एकमात्र; कल्पते—पूरा होता है; देव—भगवान् की; मायया—माया द्वारा; सुहृत्—मित्र; दुर्हृत्—शत्रु; उदासीनः—उदासीन; इति—ऐसा सोचकर; देह—शरीर; आत्म—आत्मा के रूप में; मानिनाम्—मानने वालों के लिए।

भगवान् की माया लोगों को उनके असली स्वरूपों को भुलवा देती है और इस तरह शरीर को आत्मा मान कर वे अन्यों को मित्र, शत्रु या तटस्थ मानते हैं।

एक एव परो ह्यात्मा सर्वेषामपि देहिनाम् ।
नानेव गृह्यते मूढैर्यथा ज्योतिर्यथा नभः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

एकः—एक; एव—अकेला; परः—परम; हि—निस्सन्देह; आत्मा—आत्मा; सर्वेषाम्—सभी; अपि—तथा; देहिनाम्—देहधारियों में; नाना—अनेक; इव—मानो; गृह्यते—अनुभव की जाती है; मूढैः—मोहग्रस्तों द्वारा; यथा—जैसे; ज्योतिः—नैसर्गिक पिण्ड; यथा—जिस तरह; नभः—आकाश में।

जो लोग मोहग्रस्त हैं, वे समस्त जीवधारियों के भीतर निवास करने वाले एक परमात्मा को अनेक करके मानते हैं जिस तरह से कोई आकाश में प्रकाश को, या आकाश को ही, अनेक रूपों में अनुभव करता हो।

तात्पर्य : इस श्लोक की अन्तिम पंक्ति *यथा ज्योतिर्यथा नभः* में दो उपमाएँ हैं जिनमें एक ही वस्तु हमें अनेक प्रतीत होती है। *ज्योतिः* नैसर्गिक पिण्डों के यथा सूर्य या चन्द्रमा के प्रकाश का द्योतक है। यद्यपि चन्द्रमा एक है किन्तु उसका प्रतिबिम्ब हमें जलाशयों, नदियों, झीलों तथा पानी के बर्तनों में दिखता है। तब ऐसा प्रतीत होता है जैसे कई चन्द्रमा हों जबकि चन्द्रमा रहता है एक ही। इसी प्रकार हम प्रत्येक जीव में दैवी उपस्थिति का अनुभव करते हैं क्योंकि भगवान् सर्वत्र उपस्थित हैं यद्यपि हैं

एक ही। दूसरी उपमा है *यथा नभ:*। यदि एक कमरे में मिट्टी के कई बन्द पात्र रखे हों तो प्रत्येक पात्र में आकाश या वायु होता है यद्यपि आकाश एक है।

श्रीमद्भागवत में ही (१.२.२) ऐसा ही दृष्टान्त अग्नि तथा काष्ठ विषयक है—

यथा ह्यवहितो वह्निर्दारुष्वेक: स्वयोनिषु।

नानेव भाति विश्वात्मा भूतेषु च तथा पुमान्।

"भगवान्, परमात्मा रूप में सभी वस्तुओं में व्याप्त हैं, जिस तरह काष्ठ में अग्नि रहती है, अत: वह अनेक रूपों में प्रकट होता है, यद्यपि वह अद्वितीय एवं परम है।"

देह आद्यन्तवानेष द्रव्यप्राणगुणात्मकः ।
आत्मन्यविद्यया क्लिप्तः संसारयति देहिनम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

देहः—भौतिक शरीर; आदि—प्रारम्भ; अन्त—तथा अन्त; वान्—से युक्त; एषः—यह; द्रव्य—भौतिक तत्त्वों का; प्राण—इन्द्रियाँ; गुण—तथा प्रकृति के मूल गुण (सात्विक, रजो तथा तमो); आत्मकः—रचित; आत्मनि—आत्मा में; अविद्यया—भौतिक अज्ञान का; क्लिप्तः—थोपा हुआ; संसारयति—जन्म तथा मृत्यु के चक्र का बोध कराता है; देहिनम्—देहधारी को।

यह भौतिक शरीर, जिसका आदि तथा अन्त है, भौतिक तत्त्वों, इन्द्रियों तथा प्रकृति के गुणों से बना हुआ होता है। यह शरीर भौतिक अज्ञान द्वारा आत्मा पर लादे जाने से मनुष्य को जन्म तथा मृत्यु के चक्र का अनुभव कराता है।

तात्पर्य : भौतिक शरीर, जो कि विविध भौतिक गुणों, तत्त्वों इत्यादि से बना हुआ है बद्धजीव को आकर्षित-विकर्षित करता रहता है और उसे भव-बन्धन में उलझा देता है। हम अपने ही शरीर तथा अन्य शरीरों के प्रति आकर्षण-विकर्षण से ही अस्थायी सम्बन्ध स्थापित करते हैं, अपने को बड़े बड़े उधमों तथा कष्ट साध्य कार्यों में लगाते हैं, हम काल्पनिक धर्मों को गढ़ते हैं, बढ़िया व्याख्यान देते हैं और भौतिक मोह में अपने को पूरी तरह लिप्त कर लेते हैं। शेक्सपियर ने ठीक ही कहा है, "सारा जगत एक मंच के तुल्य है।" इस बेहूदे संसार रूपी मंच के परे ही असली तथा सार्थक कृष्णभावनामृत का संसार है, जो भगवान् की प्रेममयी भक्ति में लगे शुद्ध जीवों का मुक्त जीवन है।

नात्मनोऽन्येन संयोगो वियोगश्चसतः सति ।
तद्धेतुत्वात्तत्प्रसिद्धेर्दृग्रूपाभ्यां यथा रवेः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; आत्मन:—आत्मा के लिए; अन्येन—अन्य किसी से; संयोग:—सम्पर्क; वियोग:—विछोह; च—तथा; असत:—जो सारभूत नहीं है; सति—हे अच्छे-बुरे का ज्ञान रखने वाले; तत्—उस (आत्मा) से; हेतुत्वात्—उत्पन्न होने से; तत्—उस (आत्मा) से; प्रसिद्धे:—प्रकट होने से; दृक्—दृश्य-इन्द्रिय; रूपाभ्याम्—तथा दृश्य-रूप से; यथा—जिस तरह; रवे:—सूर्य के लिए।.

हे बुद्धिमान देवी, आत्मा न तो कभी असत् भौतिक पदार्थों के सम्पर्क में आता है न उससे वियुक्त होता है क्योंकि आत्मा ही उनका उद्गम एवं प्रकाशक है। इस तरह आत्मा सूर्य के समान है, जो न तो कभी दृश्य-इन्द्रिय (नेत्र) तथा दृश्य-रूप के सम्पर्क में आता है, न ही उससे विलग होता है।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोक में बतलाया गया है, बद्धजीव अज्ञानतावश अपने को भौतिक शरीर मान लेता है और इस तरह जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमता रहता है। वस्तुत: पदार्थ तथा आत्मा, प्रत्येक वस्तु के मूल उद्गम भगवान् अर्थात् परम सत्य की सह-शक्तियाँ हैं।

भगवद्गीता (७.५) में भगवान् कृष्ण बतलाते हैं—*जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्*—यह भौतिक जगत इसलिए बना चला आ रहा है क्योंकि जीव इसका दोहन करना चाहते हैं। यह भौतिक जगत एक कारागार के समान है। अपराधी लोग अपराध करने के लिए कृतसंकल्प रहते हैं इसलिए सरकार को कारागार की व्यवस्था बनाये रखनी होती है। इसी प्रकार भगवान् भौतिक ब्रह्माण्डों को बनाए रखते हैं क्योंकि बद्धजीव उनके विरुद्ध विद्रोह करने और उनके प्रेमपूर्ण सहयोग के बिना ही भोग करने का प्रयास करने पर तुले रहते हैं। इसीलिए यहाँ *तद्-धेतुत्वात्* पद का प्रयोग आत्मा के लिए हुआ है, जिसका अर्थ हुआ कि आत्मा उस पदार्थ के पुंजीभूत होकर भौतिक शरीर बनाने का कारण है। *तत्-प्रसिद्धे:* पद सूचित करता है कि आत्मा से यह शरीर अनुभव होता है और इसी पद से यह भी सूचित होता है कि यह तथ्य प्रबुद्ध व्यक्ति को अच्छी तरह ज्ञात है।

इस श्लोक में प्रयुक्त *आत्मन:* शब्द दिये गये अर्थ के अतिरिक्त परमात्मा का भी सूचक हो सकता है। उस दशा में *तद्-धेतुत्वात्* पद यह सूचित करता है कि भगवान् अपनी निजी शक्ति का विस्तार करते हैं और इस तरह भौतिक ब्रह्माण्ड का प्राकट्य करते हैं। चूँकि भगवान् अपने शुद्ध दिव्य शरीर में शाश्वत रूप में विद्यमान हैं अतएव वे कभी भी भौतिक नहीं हो सकते जैसा यहाँ बताया गया है।

जन्मादयस्तु देहस्य विक्रिया नात्मनः क्वचित् ।
कलानामिव नैवेन्दोर्मृतिर्ह्यस्य कुहूरिव ॥ ४७॥

शब्दार्थ

जन्म-आदयः—जन्म इत्यादि; तु—लेकिन; देहस्य—शरीर के; विक्रियाः—विकार; न—नहीं; आत्मनः—आत्मा के; क्वचित्—सदैव; कलानाम्—कलाओं का; इव—सदृश; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; इन्दोः—चन्द्रमा की; मृतिः—मृत्यु; हि—निस्सन्देह; अस्य—इसका; कुहूः—नवीन चान्द्र-दिवस; इव—सदृश।

जन्म तथा अन्य विकार शरीर में ही होते हैं, आत्मा में नहीं। जिस प्रकार चन्द्रमा की कलाएँ बदलती हैं, चन्द्रमा नहीं यद्यपि नव-चान्द्र दिवस को चन्द्रमा की ''मृत्यु'' कहा जा सकता है।

तात्पर्य : यहाँपर बलराम यह बतलाते हैं कि किस तरह बद्धजीव अपनी पहचान शरीर से करते हैं और इस पहचान को किस तरह त्याग देना चाहिए। निस्सन्देह, हर सामान्य व्यक्ति अपने को तरुण, प्रौढ़ या वृद्ध अथवा स्वस्थ या रुग्ण मानता है। किन्तु ऐसी पहचान भ्रम है, जिस तरह चन्द्रमा का घटना-बढ़ना भ्रम है। जब हम अपने भौतिक शरीर से अपनी पहचान करते हैं, तो हम अपनी आत्मा को समझने की शक्ति खो देते हैं।

यथा शयान आत्मानं विषयान्फलमेव च ।
अनुभुङ्क्ते ऽप्यसत्यर्थे तथाप्नोत्यबुधो भवम् ॥ ४८॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; शयानः—सोया हुआ व्यक्ति; आत्मानम्—अपने को; विषयान्—इन्द्रिय-विषयों को; फलम्—फल को; एव—निस्सन्देह; च—भी; अनुभुङ्क्ते—अनुभव करता है; अपि—भी; असति अर्थे—जो सत्य नहीं है उसमें; तथा—उसी प्रकार; आप्नोति—प्राप्त होता है; अबुधः—अज्ञानी; भवम्—संसार को।

जिस प्रकार सोया हुआ व्यक्ति स्वप्न के भ्रम के अन्तर्गत अपना, इन्द्रिय भोग के विषयों का तथा अपने कर्म-फलों का अनुभव करता है, उसी तरह अज्ञानी व्यक्ति इस संसार को प्राप्त होता है।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रुति* का कथन है—*असङ्गो ह्ययं पुरुषः*—जीव का भौतिक जगत से कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। इस श्लोक में इसी बात को बतलाया गया है। ऐसा ही कथन *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र भी (११.२२.५६) आया है—

अर्थेऽह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।

ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा।

''जो इन्द्रियतृप्ति का ही चिन्तन करता रहता है उसके लिए भौतिक जीवन जिसका वास्तविक

अस्तित्व नहीं होता, समाप्त नहीं होता जिस तरह कि स्वप्न के कटु अनुभव नहीं जा पाते।''

तस्मादज्ञानजं शोकमात्मशोषविमोहनम् ।
तत्त्वज्ञानेन निर्हृत्य स्वस्था भव शुचिस्मिते ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; अज्ञान—अज्ञान से; जम्—उत्पन्न; शोकम्—शोक; आत्म—स्वयं; शोष—सुखाते हुए; विमोहनम्—तथा मोहग्रस्त होना; तत्त्व—सत्य के; ज्ञानेन—ज्ञान से; निर्हृत्य—दूर करके; स्व-स्था—अपने सहज भाव में स्थित; भव—होओ; शुचि-स्मिते—शुद्ध हँसी वाली।

अत: दिव्य ज्ञान से उस शोक को दूर करो जो तुम्हारे मन को दुर्बल तथा भ्रमित कर रहा है। हे आदि हँसी वाली राजकुमारी, तुम अपने सहज भाव को फिर से प्राप्त करो।

तात्पर्य : भगवान् बलराम श्रीमती रुक्मिणी को स्मरण दिलाते हैं कि वे नित्य लक्ष्मी हैं, जो इस जगत में भगवान् के साथ लीलाएँ कर रही हैं अत: उन्हें अपना तथाकथित शोक त्याग देना चाहिए।

श्रीशुक उवाच
एवं भगवता तन्वी रामेण प्रतिबोधिता ।
वैमनस्यं परित्यज्य मनो बुद्ध्या समादधे ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; भगवता—भगवान् द्वारा; तन्वी—पतली कमर वाली रुक्मिणी; रामेण—बलराम द्वारा; प्रतिबोधिता—समझाई गई; वैमनस्यम्—अपनी उदासी को; परित्यज्य—त्याग कर; मन:—अपना मन; बुद्ध्या—बुद्धि से; समादधे—स्थिर किया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार बलराम द्वारा समझाये जाने पर क्षीण-कटि वाली रुक्मिणी अपनी उदासी भूल गईं और आध्यात्मिक बुद्धि से उन्होंने अपना मन स्थिर किया।

प्राणावशेष उत्सृष्टो द्विड्भिर्हतबलप्रभ: ।
स्मरन्विरूपकरणं वितथात्ममनोरथ: ।
चक्रे भोजकटं नाम निवासाय महत्पुरम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

प्राण—उसकी प्राण-वायु; अवशेष:—बची हुई; उत्सृष्ट:—निकाला गया; द्विड्भि:—शत्रुओं द्वारा; हत—विनष्ट; बल—उसका बल; प्रभ:—तथा शारीरिक तेज; स्मरन्—स्मरण करके; विरूप-करणम्—अपना विरूपित होना; वितथ—हताश; आत्म—अपनी; मन:-रथ:—इच्छाएँ; चक्रे—बनाया; भोज-कटम् नाम—भोजकट नामक; निवासाय—अपने रहने के लिए; महत्—बड़ी; पुरम्—नगरी।

अपने शत्रुओं द्वारा निष्कासित तथा बल और शारीरिक कान्ति से विहीन अपने प्राण बचाया हुआ रुक्मी यह नहीं भूल पाया कि उसको किस तरह विरूपित किया गया था। हताश हो जाने

के कारण उसने अपने रहने के लिए एक विशाल नगरी बनवाई जिसका नाम उसने भोजकट रखा।

अहत्वा दुर्मतिं कृष्णमप्रत्यूह्य यवीयसीम् ।
कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामीत्युक्त्वा तत्रावसद्रुषा ॥ ५२॥

शब्दार्थ

अहत्वा—बिना वध किये; दुर्मतिम्—दुष्टबुद्धि; कृष्णम्—कृष्ण को; अप्रत्यूह्य—वापस लाये बिना; यवीयसीम्—अपनी छोटी बहन; कुण्डिनम्—कुण्डिन में; न प्रवेक्ष्यामि—नहीं प्रवेश करूँगा; इति—ऐसा; उक्त्वा—कहकर; तत्र—वहाँ (जहाँ उसे विरूपित किया गया था); अवसत्—रहने लगा; रुषा—क्रोध में।

चूँकि उसने प्रतिज्ञा की थी कि "मैं तब तक कुण्डिन में प्रवेश नहीं करूँगा जब तक दुष्ट कृष्ण को मार कर अपनी छोटी बहन को वापस नहीं ले आता" अतः रुक्मी हताश होकर उसी स्थान पर रहने लगा।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती लिखते हैं कि *भोज* शब्द का अर्थ है "अनुभव" और *कटः* शब्द का अर्थ *नानार्थवर्ग कोश* के अनुसार "व्रत" है। अतः भोजकट वह स्थान है जहाँ रुक्मी को अपने व्रत के कारण शोक सहना पड़ा।

भगवान्भीष्मकसुतामेवं निर्जित्य भूमिपान् ।
पुरमानीय विधिवदुपयेमे कुरूद्वह ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् ने; भीष्मक-सुताम्—भीष्मक-पुत्री को; एवम्—इस प्रकार; निर्जित्य—पराजित करके; भूमि-पान्—राजाओं को; पुरम्—अपनी राजधानी में; आनीय—लाकर; विधि-वत्—वैदिक आदेशों के अनुसार; उपयेमे—विवाह किया; कुरु-उद्वह—हे कुरुओं के रक्षक।

हे कुरुओं के रक्षक, इस तरह भगवान् सारे विरोधी राजाओं को हरा कर भीष्मक की पुत्री को अपनी राजधानी ले आये और जहाँ वैदिक आदेशों के अनुसार उससे विवाह कर लिया।

तदा महोत्सवो नृणां यदुपुर्यां गृहे गृहे ।
अभूदनन्यभावानां कृष्णे यदुपतौ नृप ॥ ५४॥

शब्दार्थ

तदा—तब; महा-उत्सवः—महान् उत्साह; नृणाम्—लोगों द्वारा; यदु-पुर्याम्—यदुओं की राजधानी द्वारका में; गृहे गृहे—घर घर में; अभूत्—उठा; अनन्य-भावानाम्—अनन्य प्रेम; कृष्णे—कृष्ण के लिए; यदु-पतौ—यदुओं के प्रमुख; नृप—हे राजा (परीक्षित)।

हे राजन्, उस समय यदुपुरी के सारे घरों में महान् उत्साह था क्योंकि उसके नागरिक यदुओं

के एकमात्र प्रधान कृष्ण से प्रेम करते थे।

नरा नार्यश्च मुदिताः प्रमृष्टमणिकुण्डलाः ।
पारिबर्हमुपाजह्रुर्वरयोश्चित्रवाससोः ॥५५॥

शब्दार्थ

नराः—पुरुष; नार्यः—स्त्रियाँ; च—और; मुदिताः—प्रसन्न; प्रमृष्ट—चमकीली; मणि—मणियाँ; कुण्डलाः—तथा कुण्डल; पारिबर्हम्—विवाह के उपहार; उपाजह्रुः—आदरपूर्वक भेंट किया; वरयोः—दूल्हा-दुलहिन को; चित्र—अद्भुत; वाससोः—वस्त्रों वाले।

प्रसन्नता से पूरित होकर एवं चमकीली मणियों तथा कुण्डलों से अलंकृत सारे स्त्री-पुरुष विवाह के उपहार ले आये जिन्हें उन्होंने अति सुन्दर वस्त्र पहने दूल्हा-दुलहिन को आदरपूर्वक भेंट किया।

सा वृष्णिपुर्युत्तम्भितेन्द्रकेतुभि-
विचित्रमाल्याम्बररत्नतोरणैः ।
बभौ प्रतिद्वार्युपक्लृप्तमङ्गलै-
रापूर्णकुम्भागुरुधूपदीपकैः ॥५६॥

शब्दार्थ

सा—वह; वृष्णि-पुरी—वृष्णियों की नगरी; उत्तम्भित—ऊपर उठी; इन्द्र-केतुभिः—मांगलिक ख भों से; विचित्र—नाना प्रकार के; माल्य—फूलों की माला से युक्त; अम्बर—कपड़े के झंडे; रत्न—तथा मणियाँ; तोरणैः—बन्दनवारों से; बभौ—सुन्दर लग रहा था; प्रति—प्रत्येक; द्वारि—दरवाजे पर; उपक्लृप्त—सजा; मङ्गलैः—मांगलिक वस्तुओं से; आपूर्ण—भरे; कुम्भ—जलपात्र; अगुरु—अगुरु से सुगन्धित; धूप—धूप से; दीपकैः—तथा दीपकों से।

वृष्णियों की नगरी अत्यन्त सुन्दर लग रही थीः ऊँचे ऊँचे मांगलिक ख भे तथा फूल-मालाओं, कपड़े के झंडों और बहुमूल्य रत्नों से अलंकृत तोरण भी थे। प्रत्येक दरवाजे पर भरे हुए मंगल घट, अगुरु से सुगन्धित धूप तथा दीपक सजे थे।

सिक्तमार्गा मदच्युद्भिराहूतप्रेष्ठभूभुजाम् ।
गजैर्द्वाःसु परामृष्टरम्भापूगोपशोभिता ॥५७॥

शब्दार्थ

सिक्त—छिड़काव की गई; मार्गा—सड़कें; मद—हाथियों के गण्डस्थल से निकला रस; च्युद्भिः—रसता हुआ; आहूत—बुलाया; प्रेष्ठ—प्रिय; भू-भुजाम्—राजाओं के; गजैः—हाथियों से; द्वाःसु—द्वारों पर; परामृष्ट—रख कर; रम्भा—केला; पूग—तथा सुपारी से; उपशोभिता—सजाया गया।

नगरी की सड़कों का छिड़काव उन उन्मुक्त हाथियों द्वारा हुआ था, जो विवाह के अवसर पर अतिथि बनकर आये प्रिय राजाओं के थे। इन हाथियों ने सारे द्वारों पर केले के तने तथा सुपारी

के वृक्ष रख कर नगरी की शोभा और भी बढ़ा दी थी।

कुरुसृञ्जयकैकेयविदर्भयदुकुन्तयः ।
मिथो मुमुदिरे तस्मिन्सम्भ्रमात्परिधावताम् ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

कुरु-सृञ्जय-कैकेय-विदर्भ-यदु-कुन्तयः—कुरु, सृञ्जय, कैकेय, विदर्भ, यदु तथा कुन्ति वंश के सदस्यों के; मिथः—परस्पर; मुमुदिरे—आनन्द लूटा; तस्मिन्—उस (उत्सव) में; सम्भ्रमात्—उत्तेजनावश; परिधावताम्—जो दौड़ने वाले थे उनमें से।

कुरु, सृञ्जय, कैकेय, विदर्भ, यदु तथा कुन्ति वंश वाले लोग, उत्तेजना में इधर-उधर दौड़ते लोगों की भीड़ में, एक-दूसरे से उल्लासपूर्वक मिल रहे थे।

रुक्मिण्या हरणं श्रुत्वा गीयमानं ततस्ततः ।
राजानो राजकन्याश्च बभूवुर्भृशविस्मिताः ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

रुक्मिण्याः—रुक्मिणी के; हरणम्—हरण के विषय में; श्रुत्वा—सुनकर; गीयमानम्—गाया जाता; ततः ततः—सर्वत्र; राजानः—राजागण; राज-कन्याः—राजाओं की पुत्रियाँ; च—तथा; बभूवुः—हो गईं; भृश—अत्यन्त; विस्मिताः—चकित।

सारे राजा तथा उनकी पुत्रियाँ रुक्मिणी-हरण की उस वृतान्त को सुनकर अत्यन्त चकित थे, जो सर्वत्र गीत के रूप में गायी जा रही थी।

द्वारकायामभूद्राजन्महामोदः पुरौकसाम् ।
रुक्मिण्या रमयोपेतं दृष्ट्वा कृष्णं श्रियः पतिम् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

द्वारकायाम्—द्वारका में; अभूत्—था; राजन्—हे राजन्; महा-मोदः—परम उत्साह; पुर-ओकसाम्—नगरवासियों के लिए; रुक्मिण्या—रुक्मिणी से; रमया—लक्ष्मी स्वरूप; उपेतम्—संयुक्त; दृष्ट्वा—देख कर; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण को; श्रियः—समस्त ऐश्वर्य के; पतिम्—स्वामी को।

द्वारका के निवासी समस्त ऐश्वर्य के स्वामी कृष्ण को लक्ष्मी स्वरूप रुक्मिणी से संयुक्त देखकर अत्यधिक प्रमुदित थे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवे स्कंध के अन्तर्गत ''कृष्ण-रुक्मिणी विवाह'' नामक चौवनवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पचपन

प्रद्युम्न-कथा

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह भगवान् कृष्ण के पुत्र-रूप में प्रद्युम्न का जन्म हुआ और किस तरह फिर शम्बर असुर ने उसका अपहरण कर लिया। इसमें इसका भी वर्णन हुआ है कि प्रद्युम्न किस तरह शम्बर को मार कर अपनी पत्नी समेत घर लौटे।

जब भगवान् वासुदेव के अंश-रूप कामदेव शिवजी के क्रोध से भस्म हो गये तो वे रुक्मिणी की कोख से प्रद्युम्न के अंश-रूप में पुन: उत्पन्न हुए। शम्बर नामक असुर ने इन्हें अपना शत्रु मान कर प्रसूतिगृह से ही, जब ये दस दिन के भी नहीं थे, उनका अपहरण कर लिया। उसने प्रद्युम्न को समुद्र में फेंक दिया और फिर अपने राज्य को चला गया। एक बलशाली मछली प्रद्युम्न को निगल गई जिसे मछुओं ने जाल में फँसा लिया। उन्होंने इस बड़ी मछली को ले जाकर शम्बर को भेंट किया और जब उसके रसोइयों ने उसे काटा तो उसके पेट से एक बालक मिला। रसोइये ने इस बालक को मायावती दासी को दे दिया जो उसे देखकर चकित हो गई। तभी नारदमुनि ने वहाँ आकर इस बालक के बारे में उसे सब बतलाया। मायावती वास्तव में कामदेव की पत्नी रतिदेवी थी। अपने पति को नवीन शरीर धारण करके फिर से जन्म लेने की प्रतीक्षा करते हुए उसने शम्बर के घर में खाना बनाने की नौकरी कर ली थी। चूँकि अब वह जान गई थी कि यह बालक कौन है, अत: उसके प्रति उसमें उत्कट स्नेह प्रकट होने लगा। अल्पकाल में ही प्रद्युम्न युवक हो गया और अपने सौन्दर्य से स्त्रियों को मुग्ध करने लगा।

एक बार रतिदेवी प्रद्युम्न के पास गई और माधुर्य-भाव में अपनी भौंहें मटकाने लगी। उसे माँ कहकर सम्बोधित करते हुए प्रद्युम्न ने टिप्पणी की कि वह अपने समुचित वात्सल्य-भाव को त्याग कर कामुक प्रेमिका की तरह आचरण क्यों कर रही है। तब रति ने प्रद्युम्न को बतलाया कि वे दोनों कौन हैं। उसने प्रद्युम्न को सलाह दी कि वह शम्बर असुर को मारे जिसके लिए उसने उसे महामाया नामक योगमंत्रों की शिक्षा दी। प्रद्युम्न ने शम्बर के पास जाकर उसे अनेक प्रकार से अपमानित करके क्रुद्ध किया तथा लड़ने के लिए ललकारा। इस पर शम्बर ने क्रुद्ध होकर अपनी गदा उठाई और बाहर निकल आया। उसने प्रद्युम्न पर अनेक जादू-टोने किये किन्तु प्रद्युम्न ने महामाया मंत्रों के बल पर उन सबों को छूमन्तर कर दिया और तब अपनी तलवार से शम्बर का सिर छिन्न कर दिया। उस समय रतिदेवी आकाश में प्रकट हुई और वह प्रद्युम्न को द्वारका ले गई।

जब प्रद्युम्न तथा उसकी पत्नी कृष्ण के अन्त:पुर में प्रविष्ट हुए तो अनेक सुन्दरी स्त्रियों ने सोचा कि वे साक्षात् कृष्ण हैं। उनका रूप तथा वेश भगवान् जैसा ही था। वे स्त्रियाँ लज्जावश इधर-उधर भाग कर छिप गईं। किन्तु थोड़ी देर बाद उन्हें प्रद्युम्न तथा कृष्ण के रूपों में थोड़ा अन्तर दिखा तो वे समझ गईं कि यह कृष्ण नहीं हैं, अत: उन्होंने चारों ओर से उन्हें घेर लिया।

जब रुक्मिणीदेवी ने प्रद्युम्न को देखा तो वे मातृ-प्रेम से अभिभूत हो उठीं और तुरन्त उनके स्तनों से दूध चूने लगा। यह देखकर कि प्रद्युम्न बिल्कुल कृष्ण ही जैसा दिखता है, वे पता लगाने के लिए उत्सुक हो उठीं कि वह कौन है। उन्हें स्मरण हो आया कि किस तरह उनका एक पुत्र प्रसूतिगृह से चुरा लिया गया था। उन्होंने सोचा, "यदि वह अभी जीवित है, तो वह मेरे समक्ष खड़े इस प्रद्युम्न की ही आयु वाला होगा।" जब वे इस तरह सोच-विचार कर रही थीं तभी कृष्ण देवकी तथा वसुदेव के साथ वहाँ आ गये। यद्यपि कृष्ण सारी स्थिति को भलीभाँति समझ गये थे, किन्तु वे मौन रहे। तभी नारदमुनि आये और उन्होंने सारी बातें बतलाईं। सभी लोग यह वृत्तान्त सुनकर चकित थे और उन्होंने परम प्रसन्नतापूर्वक प्रद्युम्न को गले लगा दिया।

चूँकि प्रद्युम्न का सौन्दर्य कृष्ण के सौन्दर्य से काफी कुछ मिलता-जुलता था अत: प्रद्युम्न के प्रति मातृ-स्नेह रखने वाली स्त्रियाँ उन्हें अपने प्रेमी के रूप में देखने लगीं। चूँकि वे कृष्ण के हू-बहू प्रतिबिम्ब थे, अत: उनका इस प्रकार से उन्हें देखना स्वाभाविक था।

श्रीशुक उवाच
कामस्तु वासुदेवांशो दग्धः प्राग्रुद्रमन्युना ।
देहोपपत्तये भूयस्तमेव प्रत्यपद्यत ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; कामः—कामदेव; तु—तथा; वासुदेव—भगवान् वासुदेव का; अंशः—अंश; दग्धः—जला हुआ; प्राक्—पूर्वकाल में; रुद्र—शिव के; मन्युना—क्रोध से; देह—शरीर; उपपत्तये—प्राप्त करने के उद्देश्य से; भूयः—पुनः; तम्—उसको, वासुदेव को; एव—निस्सन्देह; प्रत्यपद्यत्—वापस आ गया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : वासुदेव का अंश कामदेव पहले ही रुद्र के क्रोध से जल कर राख हो चुका था। अब नवीन शरीर प्राप्त करने के लिए वह भगवान् वासुदेव के शरीर में पुन: लीन हो गया।

तात्पर्य : श्रील रूप गोस्वामी ने *कृष्णसन्दर्भ* (अनुच्छेद ८७) में *गोपाल तापनी उपनिषद्* का

निम्नलिखित श्लोक (२.४०) यह सिद्ध करने के लिए उद्धृत किया है कि कृष्ण तथा रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न वही प्रद्युम्न हैं, जो भगवान् कृष्ण के शाश्वत चतुरंगी स्वांशों अर्थात् चतुर्व्यूह में से एक सदस्य हैं—

यत्रासौ संस्थितः कृष्णस्त्रिभिः शक्त्या समाहितः।

रामानिरुद्धप्रद्युम्नै रुक्मिण्या सहितो विभुः॥

"द्वारका में सर्वशक्तिमान एवं पूर्ण शक्तियों से समन्वित भगवान् कृष्ण अपने तीन अंशों—बलराम, अनिरुद्ध तथा प्रद्युम्न समेत रह रहे थे।" *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक के सन्दर्भ में *कृष्णसन्दर्भ* में आगे बतलाया गया है कि "रुद्र ने जिस कामदेव को क्रुद्ध होकर भस्म कर दिया था, वह इन्द्र के अधीन देवता है। यह काम देवता आदि-कामदेव प्रद्युम्न का अंशांश है, जबकि प्रद्युम्न वासुदेव के स्वांश हैं। अपने आप नवीन शरीर प्राप्त करने में अक्षम होने पर कामदेव प्रद्युम्न के शरीर में प्रवेश कर गया, अन्यथा रुद्र का कोपभाजन होने के कारण, उसे सदा के लिए बिना शरीर के रहना पड़ता।"

श्रील प्रभुपाद ने *श्रीमद्भागवत* के तात्पर्य (१.१४.०) में भगवान् कृष्ण के प्रथम पुत्र प्रद्युम्न के परम पद की पुष्टि की है कि "प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध भी भगवान् के अंश हैं अतः वे भी *विष्णुतत्त्व* हैं। द्वारका में भगवान् वासुदेव अपने स्वांशों—संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के साथ अपनी दिव्य लीलाओं में व्यस्त रहते हैं अतएव इन तीनों में से हरएक को भगवान् कह कर पुकारा जा सकता है...।"

श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार प्रद्युम्न का जन्म रुक्मिणी की कोख से, जाम्बवती के साथ कृष्ण के विवाह तथा उनके अन्य विवाहों के पूर्व हुआ था। बाद में, प्रद्युम्न शम्बर के महल से वापस आये। किन्तु इसके पूर्व कि शुकदेव गोस्वामी कृष्ण की अन्य पत्नियों के साथ उनकी लीलाओं का वर्णन करें, सांतत्य की दृष्टि से वे प्रद्युम्न की पूरी कथा कह सुनायेंगे।

श्रील श्रीधर स्वामी यह भी लिखते हैं कि कामदेव जो कि अब प्रद्युम्न के भीतर प्रकट हो रहा था, वासुदेव का अंश है, क्योंकि वह *चित्त* से प्रकट होने वाला तत्त्व है, जिसके अधिष्ठाता वासुदेव हैं। यह कामदेव भौतिक उत्पत्ति का कारण भी है। जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* (.२८) में कहा है—*प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः*—प्रजनकों में मैं कन्दर्प (काम) हूँ।

स एव जातो वैदर्भ्यां कृष्णवीर्यसमुद्भवः ।
प्रद्युम्न इति विख्यातः सर्वतोऽनवमः पितुः ॥ २॥

शब्दार्थ

सः—वह; एव—निस्सन्देह; जातः—उत्पन्न; वैदर्भ्याम्—विदर्भ की पुत्री से; कृष्ण-वीर्य—भगवान् कृष्ण के वीर्य से; समुद्भवः—उत्पन्न; प्रद्युम्नः—प्रद्युम्न; इति—इस प्रकार; विख्यातः—विख्यात; सर्वतः—सभी प्रकार से; अनवमः—निकृष्ट (कम) नहीं; पितुः-तो हिस् फथेर्.

उसका जन्म वैदर्भी की कोख से भगवान् कृष्ण के वीर्य से हुआ और उसका नाम प्रद्युम्न पड़ा। वह अपने पिता से किसी भी तरह कम नहीं था।

तं शम्बरः कामरूपी हृत्वा तोकमनिर्दशम् ।
स विदित्वात्मनः शत्रुं प्रास्योदन्वत्यगाद्गृहम् ॥ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; शम्बरः—शम्बर नामक असुर; काम—इच्छित; रूपी—रूप धारण करके; हृत्वा—चुरा कर; तोकम्—शिशु को; अनिः-दशम्—अभी दस दिन का भी नहीं था; सः—वह (शम्बर); विदित्वा—जान कर; आत्मनः—अपना; शत्रुम्—शत्रु; प्रास्य—फेंक कर; उदन्वति—समुद्र में; अगात्—चला गया; गृहम्—अपने घर।

इच्छानुसार कोई भी रूप धारण कर लेने वाला शम्बर असुर उस शिशु को, जो अभी दस दिन का भी नहीं हुआ था, उठा ले गया। प्रद्युम्न को अपना शत्रु समझ कर शम्बर ने उसे समुद्र में फेंक दिया और फिर अपने घर लौट आया।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि *विष्णु पुराण* के अनुसार प्रद्युम्न का अपहरण जन्म लेने के छठे दिन बाद हुआ।

तं निर्जगार बलवान्मीनः सोऽप्यपरैः सह ।
वृतो जालेन महता गृहीतो मत्स्यजीविभिः ॥ ४॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; निर्जगार—निगल गई; बल-वान्—बलशाली; मीनः—मछली; सः—वह (मछली); अपि—तथा; अपरैः—अन्यों के; सह—साथ; वृतः—घिर कर, फँस कर; जालेन—जाल से; महता—विशाल; गृहीतः—पकड़ ली गई; मत्स्य-जीविभिः—मछुआरों द्वारा।

प्रद्युम्न को एक बलशाली मछली निगल गई और यह मछली अन्य मछलियों के साथ मछुआरों द्वारा एक बड़े से जाल में फँसा कर पकड़ी गई।

तं शम्बराय कैवर्ता उपाजह्रुरुपायनम् ।

सूदा महानसं नीत्वावद्यन्सुधितिनाद्भुतम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस (मछली) को; शम्बराय—शम्बर को; कैवर्ताः—मछुआरों ने; उपाजह्रुः—भेंट कर दिया; उपायनम्—उपहार; सूदाः—रसोइयों ने; महानसम्—रसोई-घर में; नीत्वा—ले जाकर; अवद्यन्—खंड खंड कर दिया; सुधितिना—कसाई के चाकू से; अद्भुतम्—अद्‌भुत।

मछुआरों ने वह असामान्य मछली लाकर शम्बर को भेंट कर दी, जिसके रसोइये उसे रसोई-घर में ले आये, जहाँ वे उसे कसाई के चाकू से काटने लगे।

दृष्ट्वा तदुदरे बालम्मायावत्यै न्यवेदयन् ।
नारदोऽकथयत्सर्वं तस्याः शङ्कितचेतसः ।
बालस्य तत्त्वमुत्पत्तिं मत्स्योदरनिवेशनम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देख कर; तत्—उसके; उदरे—पेट में; बालम्—शिशु को; मायावत्यै—मायावती को; न्यवेदयन्—दे दिया; नारदः—नारदमुनि ने; अकथयत्—कह सुनाया; सर्वम्—सभी; तस्याः—उससे; शङ्कित—चकित; चेतसः—जिसका मन; बालस्य—शिशु के; तत्त्वम्—विषयक बातें; उत्पत्तिम्—जन्म; मत्स्य—मछली के; उदर—पेट में; निवेशनम्—प्रवेश।

मछली के पेट में बालक पाकर रसोइयों ने यह बालक मायावती को दे दिया, जो चकित रह गई। तब नारदमुनि प्रकट हुए और उन्होंने उससे बालक के जन्म तथा मछली के पेट में उसके प्रवेश की सारी बातें कह सुनाईं।

सा च कामस्य वै पत्नी रतिर्नाम यशस्विनी ।
पत्युर्निर्दग्धदेहस्य देहोत्पत्तिम्प्रतीक्षती ॥ ७ ॥
निरूपिता शम्बरेण सा सूदौदनसाधने ।
कामदेवं शिशुं बुद्ध्वा चक्रे स्नेहं तदार्भके ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; च—तथा; कामस्य—कामदेव की; वै—वस्तुतः; पत्नी—पत्नी; रतिः नम—रति नामक; यशस्विनी—सुप्रसिद्ध; पत्युः—अपने पति के; निर्दग्ध—भस्म हुए; देहस्य—शरीर के; देह—शरीर की; उत्पत्तिम्—प्राप्ति; प्रतीक्षती—प्रतीक्षा करती; निरूपिता—नियुक्त; शम्बरेण—शम्बर द्वारा; सा—वह; सूद-ओदन—तरकारियों तथा चावल के; साधने—तैयार करने में; काम-देवम्—कामदेव के रूप में; शिशुम्—शिशु को; बुद्ध्वा—समझ कर; चक्रे—करने लगी; स्नेहम्—प्रेम; तदा—तब; अर्भके—शिशु के लिए।

वस्तुतः मायावती कामदेव की सुप्रसिद्ध पत्नी रति थी। वह अपने पति द्वारा नवीन शरीर प्राप्त करने की प्रतीक्षा में थी क्योंकि उसके पति का पिछला शरीर भस्म कर दिया गया था। मायावती को शम्बर द्वारा तरकारियाँ तथा चावल पकाने का काम सौंपा गया था। मायावती समझ गई थी कि यह शिशु वास्तव में कामदेव है, अतएव वह उससे प्रेम करने लगी थी।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस कथा की व्याख्या इस प्रकार की है : जब कामदेव का शरीर जलकर राख हो गया तो रति ने कामदेव को दूसरा शरीर प्रदान कराने के लिए शिवजी की आराधना की। शम्बर भी आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए शिवजी के पास आया था। उन्होंने उसे पहचान लिया और कहा कि "पहले तुम आशीर्वाद माँगो।" रति को देख कर शम्बर कामवश हो गया अत: उसने कहा कि वरदान में वह रति को चाहता है। शिवजी ने हाँ कर दी। तब शिवजी ने व्याकुल रति को सान्त्वना दी कि "तुम इसके साथ जाओ और इसके घर में ही तुम्हें मनवांछित फल प्राप्त होगा।" तत्पश्चात् रति ने शम्बर को अपनी मोहिनी शक्ति से मोह लिया और मायावती नाम रखकर उसी के घर में पवित्र सती की तरह रहने लगी।

नातिदीर्घेण कालेन स कार्ष्णि रूढयौवन: ।
जनयामास नारीणां वीक्षन्तीनां च विभ्रमम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अति-दीर्घेण—बहुत लम्बे; कालेन—समय के बाद; स:—वह; कार्ष्णि:—कृष्ण का पुत्र; रूढ—प्राप्त; यौवन:—युवावस्था; जनयाम् आस—उत्पन्न किया; नारीणाम्—स्त्रियों के लिए; वीक्षन्तीनाम्—उस पर टकटकी लगाने वाली; च—तथा; विभ्रमम्—जादू।

कुछ काल बाद कृष्ण के इस पुत्र, प्रद्युम्न ने पूर्ण यौवन प्राप्त कर लिया। वह उन सारी स्त्रियों को मोहने लगा जो उसे देखती थीं।

सा तम्पतिं पद्मदलायतेक्षणं
प्रलम्बबाहुं नरलोकसुन्दरम् ।
सव्रीडहासोत्तभितभ्रुवेक्षती
प्रीत्योपतस्थे रतिरङ्ग सौरतै: ॥ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; तम्—उस; पतिम्—अपने पति को; पद्म—कमल के फूल की; दल-आयत—पंखड़ियों के समान फैली; ईक्षणम्—आँखें; प्रलम्ब—लटकती हुई; बाहुम्—बाँहें; नर-लोक—मानव समाज की; सुन्दरम्—सुन्दरता की सबसे बड़ी वस्तु; स-व्रीड—सलज्ज; हास—हँसी से युक्त; उत्तभित—उठी हुई; भ्रुवा—तथा भौंहों से युक्त; ईक्षती—देखती हुई; प्रीत्या—प्रेमपूर्वक; उपतस्थे—पास आई; रति:—रति; अङ्ग—हे प्रिय (राजा परीक्षित); सौरतै:—दाम्पत्य आकर्षण (सुरति) के सूचक संकेतों से।

हे राजन्, सलज्ज हास तथा भौंहें ताने मायावती जब प्रेमपूर्वक अपने पति के पास पहुँची तो उसने दाम्पत्य आकर्षण के विविध संकेत प्रकट किये। उसके पति की आँखें कमल की पंखड़ियों की तरह फैली हुई थीं, उसकी भुजाएँ काफी लम्बी थीं और मनुष्यों में वह सर्वाधिक

मनोहर था।

तात्पर्य : मायावती प्रद्युम्न के प्रति अपना दाम्पत्य आकर्षण असली पहचान प्रकट होने के काफी पहले से प्रकट कर रही थी। स्वाभाविक है कि इससे प्रारम्भ में कुछ भ्रम उत्पन्न हुआ जैसाकि अगले श्लोक में वर्णन हुआ है।

तामह भगवान्कार्ष्णिर्मातस्ते मतिरन्यथा ।
मातृभावमतिक्रम्य वर्तसे कामिनी यथा ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उससे; आह—कहा; भगवान्—भगवान्; कार्ष्णि:—प्रद्युम्न ने; मात:—हे माता; ते—तुम्हारा; मति:—झुकाव; अन्यथा—अन्यथा; मातृ-भावम्—माता का भाव या मुद्रा; अतिक्रम्य—अतिक्रमण करके; वर्तसे—आचरण कर रही हो; कामिनी—प्रेयसी; यथा—सदृश।

भगवान् प्रद्युम्न ने उससे कहा, ''हे माता, तुम्हारे मनोभाव बदल गये हैं। तुम मातोचित भावों का अतिक्रमण कर रही हो और एक प्रेयसी की भाँति आचरण कर रही हो।''

रतिरुवाच
भवान्नारायणसुत: शम्बरेण हृतो गृहात् ।
अहं तेऽधिकृता पत्नी रति: कामो भवान्प्रभो ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

रति: उवाच—रति ने कहा; भवान्—आप; नारायण-सुत ह्—भगवान् नारायण के पुत्र; शम्बरेण—शम्बर द्वारा; हृत:—चुराये जाकर; गृहात्—अपने घर से; अहम्—मैं; ते—तुम्हारी; अधिकृता—वैध; पत्नी—पत्नी; रति:—रति; काम:—कामदेव; भवान्—आप; प्रभो—हे प्रभु।

रति ने कहा : आप भगवान् नारायण के पुत्र हैं और शम्बर द्वारा अपने माता-पिता के घर से हर लिए गये थे। हे प्रभु, मैं आपकी वैध पत्नी रति हूँ, क्योंकि आप कामदेव हैं।

एष त्वानिर्दशं सिन्धावक्षिपच्छम्बरोऽसुर: ।
मत्स्योऽग्रसीत्तदुदरादित: प्राप्तो भवान्प्रभो ॥ १ ॥

शब्दार्थ

एष:—वह; त्वा—तुम; अनि:-दशम्—दस दिन के भी नहीं; सिन्धौ—समुद्र में; अक्षिपत्—फेंक दिया; शम्बर:—शम्बर ने; असुर:—असुर; मत्स्य:—मछली; अग्रसीत्—निगल गई; तत्—उसके; उदरात्—पेट से; इत:—यहाँ; प्राप्त:—प्राप्त किया; भवान्—आप; प्रभो—हे प्रभु।

उस शम्बर असुर ने जबकि आप अभी दस दिन के भी नहीं थे आपको समुद्र में फेंक दिया और एक मछली आपको निगल गई। तत्पश्चात् हे प्रभु, हमने इसी स्थान पर आपको मछली के

पेट से प्राप्त किया।

तमिमं जहि दुर्धर्षं दुर्जयं शत्रुमात्मनः ।
मायाशतविदं तं च मायाभिर्मोहनादिभिः ॥ १४॥

शब्दार्थ

तम् इमम्—उसको; जहि—कृपया मार डालें; दुर्धर्षम्—जिसके पास तक पहुँचना कठिन है; दुर्जयम्—तथा जीत पाना कठिन है; शत्रुम्—शत्रु को; आत्मनः—अपनी; माया—जादूगरी से; शत—सैकड़ों; विदम्—जानने वाले; तम्—उसको; च—तथा; मायाभिः—अपने जादू से; मोहन-आदिभिः—मोहने के तथा अन्य।

आप अपने इस अत्यन्त दुर्धर्ष तथा भयानक शत्रु का वध कर दें। यद्यपि यह सैकड़ों प्रकार के जादू जानता है किन्तु आप उसे जादू तथा अन्य विधियों से मोहित करके हरा सकते हैं।

परीशोचति ते माता कुररीव गतप्रजा ।
पुत्रस्नेहाकुला दीना विवत्सा गौरिवातुरा ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

परिशोचति—विलाप कर रही है; ते—तुम्हारी; माता—माता (रुक्मिणी); कुररी इव—कुररी पक्षी की तरह; गत—गई हुई, विनष्ट; प्रजा—सन्तान; पुत्र—अपने पुत्र के लिए; स्नेह—स्नेह से; आकुला—विह्वल; दीना—दयनीय; विवत्सा—बछड़े से विहीन; गौः—गाय; इव—सदृश; आतुरा—अत्यन्त दुखी।

अपना पुत्र खो जाने से बेचारी तुम्हारी माता तुम्हारे लिए कुररी पक्षी की भाँति विलख है। वह अपने पुत्र के प्रेम से उसी तरह अभिभूत है, जिस तरह अपने बछड़े से विलग हुई गाय।

प्रभाष्यैवं ददौ विद्यां प्रद्युम्नाय महात्मने ।
मायावती महामायां सर्वमायाविनाशिनीम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

प्रभाष्य—कह कर; एवम्—इस प्रकार; ददौ—दे दिया; विद्याम्—योग-विद्या; प्रद्युम्नाय—प्रद्युम्न को; महा-आत्मने—महान् आत्मा; मायावती—मायावती; महा-मायाम्—महामाया नामक; सर्व—समस्त; माया—मोहनी शक्ति; विनाशिनीम्—विनाश करने वाली।

[शुकदेव गोस्वामी ने आगे बताया] : इस प्रकार कहते हुए मायावती ने महात्मा प्रद्युम्न को महामाया नामक योग-विद्या प्रदान की, जो अन्य समस्त मोहिनी शक्तियों को विनष्ट कर देती है।

स च शम्बरमभ्येत्य संयुगाय समाह्वयत् ।
अविषह्यैस्तमाक्षेपैः क्षिपन्सञ्जनयन्कलिम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

सः—वह; च—तथा; शम्बरम्—शम्बर को; अभ्येत्य—के पास जाकर; संयुगाय—युद्ध करने के लिए; समाह्वयत्—ललकारा; अविषह्यैः—असह्य; तम्—उसको; आक्षेपैः—अपमान द्वारा; क्षिपन् सञ्जनयन्—उकसाते हुए; कलिम्—लड़ने के लिए।

प्रद्युम्न शम्बर के पास गया और विवाद बढ़ाने के लिए उसे असह्य अपमानजनक बातें कह कर युद्ध करने के लिए ललकारा।

सोऽधिक्षिप्तो दुर्वाचोभिः पदाहत इवोरगः ।
निश्चक्राम गदापाणिरमर्षात्ताम्रलोचनः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, शम्बर; अधिक्षिप्तः—अपमानित; दुर्वाचोभिः—कटु वचनों द्वारा; पदा—पाँव से; आहतः—प्रहार किया गया; इव—सदृश; उरगः—सर्प; निश्चक्राम—बाहर निकल आया; गदा—गदा; पाणिः—अपने हाथ में लिये; अमर्षात्—असह्य क्रोध से; ताम्र—ताँबे जैसी लाल; लोचनः—आँखें किये।

इन कटु वचनों से अपमानित होकर शम्बर पाँव से कुचले गये सर्प की भाँति विक्षुब्ध हो उठा। वह हाथ में गदा लेकर बाहर निकल आया। उसकी आँखें क्रोध से लाल थीं।

गदामाविध्य तरसा प्रद्युम्नाय महात्मने ।
प्रक्षिप्य व्यनदन्नादं वज्रनिष्पेषनिष्ठुरम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

गदाम्—अपनी गदा को; आविध्य—घुमाकर; तरसा—तेजी से; प्रद्युम्नाय—प्रद्युम्न पर; महा-आत्मने—चतुर; प्रक्षिप्य—फेंक कर; व्यनदन् नादम्—शोर उत्पन्न करता; वज्र—बिजली का; निष्पेष—प्रहार; निष्ठुरम्—तीव्र।

शम्बर ने तेजी से अपनी गदा घुमाई और इसे चतुर प्रद्युम्न पर फेंक दिया जिससे बिजली कड़कने जैसी तीव्र आवाज उत्पन्न हुई।

तामापतन्तीं भगवान्प्रद्युम्नो गदया गदाम् ।
अपास्य शत्रवे क्रुद्धः प्राहिणोत्स्वगदां नृप ॥ २० ॥

शब्दार्थ

ताम्—उस; आपतन्तीम्—अपनी ओर आती; भगवान्—भगवान्; प्रद्युम्नः—प्रद्युम्न ने; गदया—अपनी गदा से; गदाम्—गदा को; अपास्य—दूर भगाते; शत्रवे—अपने शत्रु पर; क्रुद्धः—क्रुद्ध; प्राहिणोत्—फेंका; स्व-गदाम्—अपनी गदा; नृप—हे राजा (परीक्षित)।

जैसे ही शम्बर की गदा उड़ती हुई भगवान् प्रद्युम्न की ओर आई, उन्होंने अपनी गदा से उसे दूर छिटका दिया। तब हे राजन्, प्रद्युम्न ने क्रुद्ध होकर शत्रु पर अपनी गदा फेंकी।

स च मायां समाश्रित्य दैतेयीं मयदर्शितम् ।
मुमुचेऽस्त्रमयं वर्षं कार्ष्णौ वैहायसोऽसुरः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, शम्बर; च—तथा; मायाम्—जादू का; समाश्रित्य—आश्रय लेकर; दैतेयीम्—आसुरी; मय—मय दानव द्वारा; दर्शितम्—दिखलाई गई; मुमुचे—छोड़ा; अस्त्र-मयम्—हथियारों की; वर्षम्—वर्षा; कार्ष्णौ—कृष्ण के पुत्र पर; वैहायसः—आकाश में खड़े; असुरः—असुर ने।

मय दानव द्वारा सिखलाए गये दैत्यों के काले जादू का प्रयोग करते हुए शम्बर सहसा आकाश में प्रकट हुआ और उसने कृष्ण के पुत्र पर हथियारों की झड़ी लगा दी।

बाध्यमानोऽस्त्रवर्षेण रौक्मिणेयो महारथः ।
सत्त्वात्मिकां महाविद्यां सर्वमायोपमर्दिनीम् ॥ २२॥

शब्दार्थ

बाध्यमानः—सताया गया; अस्त्र—हथियारों की; वर्षेण—वर्षा से; रौक्मिणेयः—रुक्मिणी-पुत्र, प्रद्युम्न; महा-रथः—शक्तिशाली योद्धा; सत्त्व-आत्मिकाम्—सतोगुण से उत्पन्न; महा-विद्याम्—महामाया नामक योग-विद्या (का प्रयोग किया); सर्व—समस्त; मया—जादू को; उपमर्दिनीम्—परास्त करने वाली।

हथियारों की इस झड़ी से तंग आकर महाबलशाली योद्धा रौक्मिणेय ने महामाया नामक योग-विद्या का प्रयोग किया जो सतोगुण से उत्पन्न थी और अन्य समस्त योगशक्तियों को परास्त करने वाली थी।

ततो गौह्यकगान्धर्वपैशाचोरगराक्षसीः ।
प्रायुङ्क्त शतशो दैत्यः कार्ष्णिर्व्यधमयत्स ताः ॥ २॥

शब्दार्थ

ततः—तब; गौह्यक-गान्धर्व-पैशाच-उरग-राक्षसीः—गुह्यकों, गन्धर्वों, पिशाचों, उरगों तथा राक्षसों के (हथियार); प्रायुङ्क्त—प्रयोग किया; शतशः—सैकड़ों; दैत्यः—असुर ने; कार्ष्णिः—प्रद्युम्न ने; व्यधमयत्—मार गिराया; सः—उस; ताः—इनको।

तब उस असुर ने गुह्यकों, गन्धर्वों, पिशाचों, उरगों तथा राक्षसों से सम्बन्धित सैकड़ों मायावी हथियार छोड़े किन्तु भगवान् कार्ष्णि अर्थात् प्रद्युम्न ने उन सबों को विनष्ट कर दिया।

निशातमसिमुद्यम्य सकिरीटं सकुण्डलम् ।
शम्बरस्य शिरः कायात्ताम्रश्मश्र्वोजसाहरत् ॥ २४॥

शब्दार्थ

निशातम्—तेज धार वाली; असिम्—तलवार; उद्यम्य—उठाकर; स—सहित; किरीटम्—मुकुट; स—सहित; कुण्डलम्—कान के कुंडल; शम्बरस्य—शम्बर का; शिरः—सिर; कायात्—उसके शरीर से; ताम्र—ताम्र (लाल) रंग की; श्मश्रु—मूछें; ओजसा—बल से; अहरत्—अलग कर दिया।

अपनी तेज धार वाली तलवार खींच कर प्रद्युम्न ने बड़े ही वेग से शम्बर के सिर को लाल मूछों, मुकुट तथा कुंडलों समेत काट कर अलग कर दिया।

आकीर्यमाणो दिविजैः स्तुवद्भिः कुसुमोत्करैः ।
भार्ययाम्बरचारिण्या पुरं नीतो विहायसा ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

आकीर्यमाणः—वर्षा किया गया; दिवि-जैः—स्वर्ग के वासियों द्वारा; स्तुवद्भिः—प्रशंसा करते हुए; कुसुम—फूलों के; उत्करैः—बिखेरने से; भार्यया—अपनी पत्नी द्वारा; अम्बर—आकाश में; चारिण्या—विचरण करने वाले; पुरम्—पुरी (द्वारका) में; नीतः—लाया गया; विहायसा—आकाश के मार्ग से।

जब उच्च लोकों के वासी प्रद्युम्न पर फूलों की वर्षा करके उनकी प्रशंसा के गीत गा रहे थे तो उनकी पत्नी आकाश में प्रकट हुईं और उन्हें आकाश के मार्ग से होते हुए द्वारकापुरी वापस ले गईं।

अन्तःपुरवरं राजन्ललनाशतसङ्कुलम् ।
विवेश पत्न्या गगनाद्विद्युतेव बलाहकः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अन्तः-पुर—भीतरी महल; वरम्—सर्वोत्तम; राजन्—हे राजन् (परीक्षित); ललना—स्नेहमयी स्त्रियाँ; शत—सैकड़ों; सङ्कुलम्—एकत्रित; विवेश—प्रवेश किया; पत्न्या—अपनी पत्नी सहित; गगनात्—आकाश से; विद्युता—बिजली समेत; इव—सदृश; बलाहकः—बादल।

हे राजन्, जब प्रद्युम्न अपनी पत्नी समेत कृष्ण के सर्वोत्कृष्ट महल के भीतरी कक्षों में आकाश से उतरे, जो सुन्दर स्त्रियों से भरे थे तो वे बिजली से युक्त बादल जैसे प्रतीत हो रहे थे।

तं दृष्ट्वा जलदश्यामं पीतकौशेयवाससम् ।
प्रलम्बबाहुं ताम्राक्षं सुस्मितं रुचिराननम् ॥ २७ ॥
स्वलङ्कृतमुखाम्भोजं नीलवक्रालकालिभिः ।
कृष्णं मत्वा स्त्रियो ह्रीता निलिल्युस्तत्र तत्र ह ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; दृष्ट्वा—देख कर; जल-द—बादल के समान; श्यामम्—साँवले रंग के; पीत—पीले; कौशेय—रेशमी; वाससम्—वस्त्र; प्रलम्ब—लम्बी; बाहुम्—भुजाएँ; ताम्र—लाल लाल; अक्षम्—आँखें; सु-स्मितम्—मनोहर मुस्कान से युक्त; रुचिर—लुभावना; आननम्—मुखमण्डल; सु-अलङ्कृत—सुन्दर रंग से सजाया; मुख—मुँह; अम्भोजम्—कमल सदृश; नील—नीला; वक्र—कुंचित; आलक-आलिभिः—केशों की लटों से; कृष्णम्—कृष्ण; मत्वा—सोचते हुए; स्त्रियः—स्त्रियाँ; ह्रीताः—सकुचाईं; निलिल्युः—छिप गईं; तत्र तत्र—इधर-उधर; ह—निस्सन्देह।

जब उस महल की स्त्रियों ने उनके वर्षा के बादल जैसे साँवले रंग, उनके पीले रेशमी वस्त्रों, उनकी लम्बी भुजाओं, मनोहर हँसी से युक्त उनके आकर्षक कमल मुख, उनके सुन्दर आभूषण तथा उनके घुँघराले श्यामल बालों को देखा तो उन्होंने सोचा कि वे कृष्ण हैं। इस तरह सारी

स्त्रियाँ सकुचाकर इधर-उधर छिप गईं।

अवधार्य शनैरीषद्वैलक्षण्येन योषितः ।
उपजग्मुः प्रमुदिताः सस्त्री रत्नं सुविस्मिताः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अवधार्य—अनुभव करके; शनैः—धीरे-धीरे; ईषत्—कुछ कुछ; वैलक्षण्येन—दिखावे में अन्तर होने से; योषितः—स्त्रियाँ; उपजग्मुः—पास आईं; प्रमुदिताः—प्रफुल्लित; स—सहित; स्त्री—स्त्रियों के; रत्नम्—रत्न के; सु-विस्मितः—अत्यन्त चकित।

धीरे-धीरे उनके तथा कृष्ण के वेश में कुछ कुछ अन्तरों से स्त्रियों को लगा कि वे भगवान् कृष्ण नहीं हैं। वे अत्यन्त प्रफुल्लित एवं चकित होकर प्रद्युम्न तथा उनकी प्रेयसी स्त्री-रत्न के पास आईं।

अथ तत्रासितापाङ्गी वैदर्भी वल्गुभाषिणी ।
अस्मरत्स्वसुतं नष्टं स्नेहस्नुतपयोधरा ॥ ० ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; तत्र—वहाँ; असित—श्याम; अपाङ्गी—जिनकी आँखों की कोरें; वैदर्भी—रुक्मिणी ने; वल्गु—मधुर; भाषिनी—वाणी वाली; अस्मरत्—स्मरण किया; स्व-सुतम्—अपने पुत्र को; नष्टम्—खोये हुए; स्नेह—प्रेमवश; स्नुत—गीली; पयः-धरा—स्तनों वाली।

प्रद्युम्न को देखकर मधुर वाणी एवं श्याम नेत्रों वाली रुक्मिणी ने अपने खोये हुए पुत्र का स्मरण किया, तो स्नेह से उनके स्तन भीग गये।

को न्वयम्नरवैदूर्यः कस्य वा कमलेक्षणः ।
धृतः कया वा जठरे केयं लब्धा त्वनेन वा ॥ १ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन; नु—निस्सन्देह; अयम्—यह; नर-वैदूर्यः—पुरुषों में मणि; कस्य—किसका (पुत्र); वा—तथा; कमल-ईक्षणः—कमल नेत्रों वाला; धृतः—धारण किया हुआ; कया—किस स्त्री द्वारा; वा—तथा; जठरे—अपने गर्भ में; का—कौन; इयम्—यह स्त्री; लब्धा—प्राप्त; तु—और भी; अनेन—उसके द्वारा; वा—तथा।

[श्रीमती रुक्मिणीदेवी ने कहा] : पुरुषों में रत्न यह कमल नेत्रों वाला कौन है? यह किस पुरुष का पुत्र है और किस स्त्री ने इसे अपने गर्भ में धारण किया? और यह स्त्री कौन है, जिसे उसने अपनी पत्नी बनाया है?

मम चाप्यात्मजो नष्टो नीतो यः सूतिकागृहात् ।
एतत्तुल्यवयोरूपो यदि जीवति कुत्रचित् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

मम—मेरा; च—तथा; अपि—भी; आत्मजः—पुत्र; नष्टः—खोया; नीतः—ले जाया गया; यः—कौन; सूतिका-गृहात्—प्रसूतिगृह से; एतत्—इसके; तुल्य—समान; वयः—उम्र; रूपः—तथा स्वरूप में; यदि—यदि; जीवति—जिन्दा है; कुत्रचित्—कहीं।

यदि मेरा खोया हुआ पुत्र, जो प्रसूतिगृह से हर लिया गया था, अब भी कहीं जिन्दा होता तो वह इसी नवयुवक की ही आयु तथा रूप का होता।

कथं त्वनेन सम्प्राप्तं सारूप्यं शार्ङ्गधन्वनः ।
आकृत्यावयवैर्गत्या स्वरहासावलोकनैः ॥ ॥

शब्दार्थ

कथम्—कैसे; तु—लेकिन; अनेन—उसके द्वारा; सम्प्राप्तम्—प्राप्त; सारूप्यम्—एक जैसा रूप; शार्ङ्ग-धन्वनः—शार्ङ्ग धनुष को धारण करने वाले कृष्ण के रूप में; आकृत्या—आकृति में; अवयवैः—अंगों से; गत्या—चाल से; स्वर—वाणी से; हास—हँसी; अवलोकनैः—तथा चितवन से।

किन्तु यह कैसे है कि यह नवयुवक अपने शारीरिक रूप तथा अपने अंगों, अपनी चाल तथा अपने स्वर और अपनी हँसी युक्त दृष्टि में मेरे स्वामी, शार्ङ्गधर कृष्ण से इतनी समानता रखता है?

स एव वा भवेन्नूनं यो मे गर्भे धृतोऽर्भकः ।
अमुष्मिन्प्रीतिरधिका वामः स्फुरति मे भुजः ॥ ४॥

शब्दार्थ

सः—वह; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा; भवेत्—होये; नूनम्—निश्चय ही; यः—जो; मे—मेरे; गर्भे—गर्भ में; धृतः—धारण किया हुआ; अर्भकः—शिशु; अमुष्मिन्—उसके लिए; प्रीतिः—स्नेह; अधिका—अधिक; वामः—बाईं; स्फुरति—फड़कती है; मे—मेरी; भुजः—बाँह।

हाँ, यह वही बालक हो सकता है, जिसे मैंने अपने गर्भ में धारण किया था क्योंकि इसके प्रति मुझे अतीव स्नेह का अनुभव हो रहा है और मेरी बाईं भुजा भी फड़क रही है।

एवं मीमांसमणायां वैदर्भ्यां देवकीसुतः ।
देवक्यानकदुन्दुभ्यामुत्तमःश्लोक आगमत् ॥ ५॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; मीमांसमानायाम्—सोच-विचार करती हुई; वैदर्भ्याम्—रानी रुक्मिणी द्वारा; देवकी-सुतः—देवकी-पुत्र; देवकी-आनकदुन्दुभ्याम्—देवकी तथा वसुदेव सहित; उत्तमः-श्लोकः—भगवान् कृष्ण; आगमत्—वहाँ आ गये।

जब रानी रुक्मिणी इस तरह सोच-विचार में पड़ी थीं तब देवकी-पुत्र कृष्ण, वसुदेव तथा देवकी सहित, घटनास्थल पर आ गये।

विज्ञातार्थोऽपि भगवांस्तूष्णीमास जनार्दनः ।
नारदोऽकथयत्सर्वं शम्बराहरणादिकम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

विज्ञात—पूरी तरह जानते हुए; अर्थः—बात; अपि—यद्यपि; भगवान्—भगवान्; तूष्णीम्—मौन; आस—रहे; जनार्दनः—कृष्ण; नारदः—नारदमुनि ने; अकथयत्—कह सुनाया; सर्वम्—सारी बातें; शम्बर—शम्बर द्वारा; आहरण—अपहरण; आदिकम्—इत्यादि।

यद्यपि भगवान् जनार्दन यह भलीभाँति जानते थे कि क्या हुआ है किन्तु वे मौन रहे। तथापि नारदमुनि ने शम्बर द्वारा बालक के अपहरण से लेकर अब तक की सारी बातें कह सुनाईं।

तच्छ्रुत्वा महदाश्चर्यं कृष्णान्तःपुरयोषितः ।
अभ्यनन्दन्बहूनब्दान्नष्टं मृतमिवागतम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तत्—उसे; श्रुत्वा—सुनकर; महत्—महान्; आश्चर्यम्—आश्चर्य; कृष्ण-अन्तः-पुर—कृष्ण के निजी आवास की; योषितः—स्त्रियों ने; अभ्यनन्दन्—अभिनन्दन किया; बहून्—अनेक; अब्दान्—वर्षों के; नष्टम्—खोये; मृतम्—मरे हुए; इव—सदृश; आगतम्—वापस आया हुआ।

जब भगवान् कृष्ण के महल की स्त्रियों ने इस अत्यन्त आश्चर्यमय विवरण को सुना तो उन्होंने बड़े ही हर्ष के साथ प्रद्युम्न का अभिनन्दन किया जो वर्षों से खोये हुए थे किन्तु अब इस तरह लौटे थे मानो मृत्यु से लौट आये हों।

देवकी वसुदेवश्च कृष्णरामौ तथा स्त्रियः ।
दम्पती तौ परिष्वज्य रुक्मिणी च ययुर्मुदम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

देवकी—देवकी; वसुदेवः—वसुदेव; च—तथा; कृष्ण-रामौ—कृष्ण तथा बलराम; तथा—भी; स्त्रियः—स्त्रियाँ; दम्-पती—पति-पत्नी; तौ—ये दोनों; परिष्वज्य—आलिंगन करके; रुक्मिणी—रुक्मिणी; च—तथा; ययुः मुदम्—प्रसन्नता को प्राप्त हुए।

देवकी, वसुदेव, कृष्ण, बलराम तथा महल की सारी स्त्रियों, विशेषतया रानी रुक्मिणी ने, तरुण दम्पति को गले लगाया किया और आनन्द मनाया।

नष्टं प्रद्युम्नमायातमाकर्ण्य द्वारकौकसः ।
अहो मृत इवायातो बालो दिष्ट्येति हाब्रुवन् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

नष्टम्—खोया हुआ; प्रद्युम्नम्—प्रद्युम्न को; आयातम्—आया हुआ; आकर्ण्य—सुनकर; द्वारका-ओकसः—द्वारकावासी; अहो—ओह; मृतः—मरा हुआ; इव—मानो; आयातः—वापस आया; बालः—बच्चा; दिष्ट्या—भाग्यवश; इति—इस प्रकार; ह—निस्सन्देह; अब्रुवन्—वे बोले।

यह सुनकर कि खोया हुआ प्रद्युम्न घर आ गया है, द्वारकावासी चिल्ला उठे, "ओह! विधाता ने इस बालक को मानो मृत्यु से वापस आने दिया है।"

यं वै मुहुः पितृसरूपनिजेशभावा-
स्तन्मातरो यदभजन्रहरूढभावाः ।
चित्रं न तत्खलु रमास्पदबिम्बबिम्बे
कामे स्मरेऽक्षविषये किमुतान्यनार्यः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको; वै—निस्सन्देह; मुहुः—बारम्बार; पितृ—पिता; स-रूप—समान; निज—अपने; ईश—स्वामी; भावाः—सोचने वाले; तत्—उसकी; मातरः—माताएँ; यत्—जितना कि; अभजन्—पूजा की; रह—एकान्त में; रूढ—पूर्ण विकसित; भावाः—भाव; चित्रम्—अद्भुत; न—नहीं; तत्—वह; खलु—निस्सन्देह; रमा—लक्ष्मी; आस्पद—शरण (कृष्ण); बिम्ब—स्वरूप का; बिम्बे—प्रतिबिम्ब रूप; कामे—साक्षात् कामवासना; स्मरे—कामदेव; अक्ष-विषये—अपनी आँखों के समक्ष; किम् उत—तो फिर क्या कहा जाय; अन्य—दूसरी; नार्यः—स्त्रियाँ।

यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि महल की स्त्रियाँ, जो प्रद्युम्न के प्रति मातृ-स्नेह रखतीं, एकान्त में उनके प्रति प्रेमाकर्षण का अनुभव करने लगीं मानो वे उनके स्वामी हों। दरअसल प्रद्युम्न लक्ष्मी के आश्रय भगवान् कृष्ण के सौन्दर्य के पूर्ण प्रतिबिम्ब थे और उनकी आँखों के सामने साक्षात् कामदेव के रूप में प्रकट हुए थे। चूँकि उनकी माता जैसे पद को प्राप्त स्त्रियों को भी उनके प्रति दाम्पत्य आकर्षण का अनुभव हुआ तो फिर इस विषय में क्या कहा जा सकता है कि उन्हें देखकर अन्य स्त्रियों ने क्या अनुभव किया होगा?

तात्पर्य : जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती व्याख्या करते हैं, जब भी अन्त:पुर की स्त्रियाँ प्रद्युम्न को देखती उन्हें तुरन्त अपने स्वामी श्रीकृष्ण का स्मरण हो आता। श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् कृष्ण* में निम्मानुसार टीका की है, "श्रील शुकदेव गोस्वामी ने बतलाया है कि प्रारम्भ में अन्त:पुर में रहने वाली प्रद्युम्न की सारी माताओं तथा विमाताओं ने उन्हें कृष्ण समझा और दाम्पत्य-प्रेम की इच्छा से दूषित होने से सकुचा गईं। इसकी व्याख्या यह है कि प्रद्युम्न का स्वरूप हू-बहू कृष्ण जैसा था और वे साक्षात् कामदेव थे। इसलिए इसमें आश्चर्य की कोई बात न थी जब प्रद्युम्न की माताओं तथा अन्य स्त्रियों ने उन्हें इस प्रकार समझा। इस कथन से स्पष्ट है कि प्रद्युम्न के शारीरिक लक्षण कृष्ण से इतने मिलते-जुलते थे कि उनकी माता तक को उनके कृष्ण होने का भ्रम हो गया।"

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''प्रद्युम्न-कथा'' नामक पचपनवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदांत स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छप्पन

स्यमन्तक मणि

इस अध्याय में यह बतलाया गया है कि अपने विरुद्ध झूठे दोषारोपण के निराकरण के लिए भगवान् कृष्ण ने किस तरह स्यमन्तक मणि को फिर से प्राप्त किया और जाम्बवान तथा सत्राजित की कन्याओं से विवाह किया। भगवान् ने स्यमन्तक मणि विषयक लीला करके भौतिक सम्पत्ति की व्यर्थता सिद्ध कर दी।

जब शुकदेव गोस्वामी ने बतलाया कि राजा सत्राजित ने स्यमन्तक मणि के कारण कृष्ण का अपमान किया, तो राजा परीक्षित इस घटना को विस्तार से सुनने के लिए उत्सुक हो उठे। अतः शुकदेव गोस्वामी ने यह कथा कह सुनाई।

राजा सत्राजित ने अपने परम शुभचिन्तक सूर्यदेव की कृपा से स्यमन्तक मणि प्राप्त की। उसने इस मणि को एक जंजीर में बाँध कर गले में लटका लिया और तब द्वारका की यात्रा की। वहाँ के निवासी उसे साक्षात् सूर्यदेव समझ कर कृष्ण के पास गये और बतलाया कि उनका दर्शन करने सूर्यदेव आये हैं। लेकिन कृष्ण ने उत्तर दिया कि आने वाला व्यक्ति सूर्य नहीं अपितु राजा सत्राजित है, जो स्यमन्तक मणि धारण करने से अत्यधिक तेजोमय प्रतीत हो रहा है।

द्वारका में सत्राजित ने इस बहुमूल्य मणि को अपने घर में विशेष वेदिका में स्थापित करा दिया। यह मणि प्रतिदिन प्रचुर मात्रा में स्वर्ण उत्पन्न करता था और इसमें एक अतिरिक्त शक्ति यह थी कि इसकी जहाँ कहीं उचित रीति से पूजा की जाय वहाँ कोई विपत्ति नहीं आयेगी।

एक अवसर पर भगवान् श्रीकृष्ण ने सत्राजित से अनुरोध किया कि वह इस मणि को यदुराज उग्रसेन को दे दे। किन्तु सत्राजित ने देने से इनकार कर दिया क्योंकि वह लालची था। इसके कुछ काल बाद सत्राजित का भाई प्रसेन घोड़े पर सवार होकर और अपने गले में स्यमन्तक मणि पहनकर शिकार खेलने गया। मार्ग में एक सिंह ने उसे मार डाला और उस मणि को एक पहाड़ी गुफा में ले

गया जहाँ ऋक्षराज जाम्बवान रह रहे थे। जाम्बवान ने उस सिंह को मार डाला और उस मणि को अपने बेटे को खेलने के लिए दे दिया।

जब राजा सत्राजित का भाई नहीं लौटा तो राजा ने यह मान लिया कि कृष्ण ने स्यमन्तक मणि के लिए उसे मार डाला है। जब कृष्ण ने जनता में फैली इस अफवाह को सुना तो अपने नाम से कलंक छुड़ाने के लिए वे कुछ नागरिकों के साथ प्रसेन को खोजने निकले। उसके पैरों के निशानों का पीछा करते करते उन्होंने उसके शरीर तथा उसके घोड़े को मार्ग पर पड़ा देखा। उसके आगे उन्होंने जाम्बवान द्वारा मारे गये सिंह के शरीर को देखा। भगवान् कृष्ण ने नागरिकों से गुफा के बाहर रहने के लिए कहा और स्वयं पता लगाने गुफा के भीतर गये।

भगवान् जब जाम्बवान की गुफा में घुसे तो देखा कि वह स्यमन्तक मणि एक बालक के पास पड़ा था। किन्तु जब कृष्ण ने वह मणि लेना चाहा तो बालक की धाय भयभीत होकर चिल्ला पड़ी जिससे तुरन्त ही वहाँ जाम्बवान आ गये। उन्होंने कृष्ण को सामान्य व्यक्ति समझ कर उनसे लड़ना शुरू कर दिया। दोनों लगातार २८ दिनों तक लड़ते रहे। तब तक जाम्बवान भगवान् के प्रहार से निर्बल हो गया। तब यह समझ कर कि कृष्ण भगवान् हैं, जाम्बवान ने उनकी प्रशंसा करनी शुरू कर दी। भगवान् ने अपने करकमलों से जाम्बवान का स्पर्श करते हुए उसके भय को दूर किया और मणि के बारे में सारी बातें बतलाईं। जाम्बवान ने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक वह मणि भगवान् को भेंट कर दिया और साथ में अपनी कुमारी कन्या जाम्बवती भी भेंट कर दी।

इस बीच कृष्ण के संगी गुफा के बाहर बारह दिनों तक उनके बाहर आने की प्रतीक्षा करने के बाद निराश होकर द्वारका लौट गये। कृष्ण के सारे मित्र तथा परिवार वाले अत्यन्त दुखी थे और कृष्ण के सकुशल वापस आने के लिए दुर्गा देवी की नियमित रूप से पूजा करने लगे। जब वे यह पूजा कर रहे थे तभी कृष्ण नवविवाहिता पत्नी के साथ नगर में प्रविष्ट हुए। उन्होंने सत्राजित को राजसभा में बुलवाया और स्यमन्तक मणि पाने की सारी कहानी सुनाकर उसे वह मणि वापस कर दिया। सत्राजित ने अतीव लज्जा तथा पश्चाताप के साथ वह मणि स्वीकार किया। वह अपने घर चला गया और उसने निश्चय किया कि भगवान् के चरणकमलों पर किये गये अपराध के प्रायश्चित्त स्वरूप वह न केवल वह मणि उन्हें दे देगा अपितु अपनी कन्या भी दान में देगा। श्रीकृष्ण ने सत्राजित की कन्या सत्यभामा के

साथ पाणिग्रहण तो स्वीकार कर लिया, क्योंकि वह सर्वगुण सम्पन्न थी किन्तु उन्होंने मणि लेना अस्वीकार कर दिया और उसे राजा सत्राजित को लौटा दिया।

श्रीशुक उवाच
सत्राजितः स्वतनयां कृष्णाय कृतकिल्बिषः ।
स्यमन्तकेन मणिना स्वयमुद्यम्य दत्तवान् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सत्राजितः—राजा सत्राजित ने; स्व—अपनी; तनयाम्—पुत्री; कृष्णाय—कृष्ण को; कृत—कर चुकने पर; किल्बिषः—अपराध; स्यमन्तकेन—स्यमन्तक नामक; मणिना—मणि सहित; स्वयम्—स्वयं; उद्यम्य—प्रयास करके; दत्तवान्—दे दिया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : कृष्ण का अपमान करने के बाद सत्राजित ने अपनी पुत्री तथा स्यमन्तक मणि उन्हें भेंट करके प्रायश्चित करने का भरसक प्रयत्न किया।

श्रीराजोवाच
सत्राजितः किमकरोद्ब्रह्मन्कृष्णस्य किल्बिषः ।
स्यमन्तकः कुतस्तस्य कस्माद्दत्ता सुता हरेः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा—राजा (परीक्षित महाराज) ने; उवाच—कहा; सत्राजितः—सत्राजित ने; किम्—क्या; अकरोत्—किया; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; कृष्णस्य—कृष्ण के विरुद्ध; किल्बिषः—अपराध; स्यमन्तकः—स्यमन्तक मणि; कुतः—कहाँ से; तस्य—उसका; कस्मात्—क्यों; दत्ता—दिया; सुता—अपनी पुत्री; हरेः—भगवान् हरि को।

महाराज परीक्षित ने पूछा : ''हे ब्राह्मण, राजा सत्राजित ने भगवान् कृष्ण को रुष्ट करने के लिए क्या कर दिया? उसे स्यमन्तक मणि कहाँ से मिला? और उसने अपनी पुत्री भगवान् को क्यों दी?''

श्रीशुक उवाच
आसीत्सत्राजितः सूर्यो भक्तस्य परमः सखा ।
प्रीतस्तस्मै मणिं प्रादात्स च तुष्टः स्यमन्तकम् ॥ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; आसीत्—था; सत्राजितः—सत्राजित का; सूर्यः—सूर्यदेव; भक्तस्य—भक्त का; परमः—परम; सखा—शुभचिन्तक मित्र; प्रीतः—प्रिय; तस्मै—उसको; मणिम्—मणि; प्रादात्—दिया; सः—उसने; च—तथा; तुष्टः—प्रसन्न होकर; स्यमन्तकम्—स्यमन्तक नामक।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : सूर्यदेव अपने भक्त सत्राजित के प्रति अत्यन्त वत्सल थे। अतः उनके श्रेष्ठ मित्र के रूप में उन्होंने अपनी तुष्टि के चिन्ह रूप में उसे स्यमन्तक नामक मणि प्रदान

किया।

स तं बिभ्रन्मणिं कण्ठे भ्राजमानो यथा रविः ।
प्रविष्टो द्वारकां राजन्तेजसा नोपलक्षितः ॥ ४॥

शब्दार्थ

सः—वह, राजा सत्राजित; तम्—उस; बिभ्रत्—पहने हुए; मणिम्—मणि को; कण्ठे—अपने गले में; भ्राजमानः—खूब चमकीला; यथा—सदृश; रविः—सूर्य; प्रविष्टः—प्रविष्ट हुआ; द्वारकाम्—द्वारकापुरी में; राजन्—हे राजा (परीक्षित); तेजसा—तेज से; न—नहीं; उपलक्षितः—पहचाना जाता था।

सत्राजित उस मणि को गले में पहन कर द्वारका में प्रविष्ट हुआ। हे राजन्, वह साक्षात् सूर्य के समान चमक रहा था और मणि के तेज से पहचाना नहीं जा रहा था।

तं विलोक्य जना दूरात्तेजसा मुष्टदृष्टयः ।
दीव्यतेऽक्षैर्भगवते शशंसुः सूर्यशङ्किताः ॥ ५॥

शब्दार्थ

तम्—उसे; विलोक्य—देख कर; जनाः—लोग; दूरात्—दूर से ही; तेजसा—उसके तेज से; मुष्ट—चुरायी हुई; दृष्टयः—देखने की शक्ति; दीव्यते—खेलते हुए; अक्षैः—पाँसा से; भगवते—भगवान् कृष्ण से; शशंसुः—उन्होंने सूचना दी; सूर्य—सूर्यदेव; शङ्किताः—उसे मान कर।

जब लोगों ने सत्राजित को दूर से आते देखा तो उसकी चमक से वे चौंधिया गये। उन्होंने मान लिया कि वह सूर्यदेव है और भगवान् कृष्ण से बताने गये जो उस समय पाँसा खेल रहे थे।

नारायण नमस्तेऽस्तु शङ्खचक्रगदाधर ।
दामोदरारविन्दाक्ष गोविन्द यदुनन्दन ॥ ६॥

शब्दार्थ

नारायण—हे नारायण; नमः—नमस्कार; ते—आपको; अस्तु—हो; शङ्ख—शंख; चक्र—चक्र; गदा—तथा गदा के; धर—धारण करने वाले; दामोदर—हे दामोदर; अरविन्द-अक्ष—हे कमल-नेत्र; गोविन्द—हे गोविन्द; यदु-नन्दन—हे यदुओं के लाड़ले बेटे।

[द्वारकावासियों ने कहा] : हे नारायण, हे शंख, चक्र, गदा धारण करने वाले, हे कमल-नेत्र दामोदर, हे गोविन्द, हे यदुवंशी, आपको नमस्कार है।

एष आयाति सविता त्वां दिदृक्षुर्जगत्पते ।
मुष्णन्गभस्तिचक्रेण नृणां चक्षूंषि तिग्मगुः ॥ ७॥

शब्दार्थ

एषः—यह; आयाति—आ रहा है; सविता—सूर्यदेव; त्वाम्—तुमको; दिदृक्षुः—देखने की इच्छा से; जगत्-पते—हे ब्रह्माण्ड के स्वामी; मुष्णन्—चुरा कर; गभस्ति—अपनी किरणों के; चक्रेण—गोले से; नृणाम्—लोगों की; चक्षूंषि—आँखों को; तिग्म—प्रखर; गुः—विकिरण वाला।

हे ब्रह्माण्ड के स्वामी, सवितादेव आपको मिलने आये हैं। वे अपनी प्रखर तेजोमय किरणों से सबों की आँखों को चौंधिया रहे हैं।

नन्वन्विच्छन्ति ते मार्गं त्रीलोक्यां विबुधर्षभाः ।
ज्ञात्वाद्य गूढं यदुषु द्रष्टुं त्वां यात्यजः प्रभो ॥ ८॥

शब्दार्थ

ननु—अवश्य ही; अन्विच्छन्ति—ढूँढ़ लेते हैं; ते—तुम्हारा; मार्गम्—रास्ता; त्रि-लोक्याम्—तीनों लोकों में; विबुध—चतुर देवताओं के; ऋषभाः—अत्यन्त पूज्य; ज्ञात्वा—जान कर; अद्य—अब; गूढम्—वेश बदले; यदुषु—यदुओं के बीच; द्रष्टुम्—देखने के लिए; त्वाम्—तुमको; याति—आता है; अजः—अजन्मा (सूर्यदेव); प्रभो—हे प्रभु।

हे प्रभु, अब तीनों लोकों के परम श्रेष्ठ देवता आपको खोज निकालने के लिए उत्सुक हैं क्योंकि आपने अपने को यदुवंशियों के बीच छिपा रखा है। अतः अजन्मा सूर्यदेव आपका दर्शन करने यहाँ आये हैं।

श्रीशुक उवाच
निशम्य बालवचनं प्रहस्याम्बुजलोचनः ।
प्राह नासौ रविर्देवः सत्राजिन्मणिना ज्वलन् ॥ ९॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; निशम्य—सुनकर; बाल—बचकाना; वचनम्—वचनों को; प्रहस्य—हँस कर; अम्बुज—कमल सदृश; लोचनः—आँखों वाले; प्राह—कहा; न—नहीं; असौ—यह व्यक्ति; रविः देवः—सूर्यदेव; सत्राजित्—राजा सत्राजित; मणिना—अपनी मणि के कारण; ज्वलन्—चमकता हुआ।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे बताया : ये भोलेभाले वचन सुनकर कमलनयन भगवान् जोर से हँसे और बोले, ''यह सूर्यदेव, रवि नहीं, अपितु सत्राजित है, जो अपनी मणि के कारण चमक रहा है।''

सत्राजित्स्वगृहं श्रीमत्कृतकौतुकमङ्गलम् ।
प्रविश्य देवसदने मणिं विप्रैर्न्यवेशयत् ॥ ॥

शब्दार्थ

सत्राजित्—सत्राजित; स्व—अपने; गृहम्—घर; श्रीमत्—ऐश्वर्यवान; कृत—किया; कौतुक—उत्सव के साथ; मङ्गलम्—शुभ अनुष्ठान; प्रविश्य—प्रवेश करके; देव-सदने—मन्दिर-कक्ष में; मणिम्—मणि को; विप्रैः—विद्वान ब्राह्मणों द्वारा; न्यवेशयत्—उसने स्थापित करा दिया।

राजा सत्राजित समारोह के साथ शुभ अनुष्ठान सम्पन्न करके अपने एश्वर्यशाली घर में प्रविष्ट

हुआ। उसने योग्य ब्राह्मणों से अपने घर के मन्दिर-कक्ष में स्यमन्तक मणि की स्थापना करा दी।

दिने दिने स्वर्णभारानष्टौ स सृजति प्रभो ।
दुर्भिक्षमार्यरिष्टानि सर्पाधिव्याधयोऽशुभा: ।
न सन्ति मायिनस्तत्र यत्रास्तेऽभ्यर्चितो मणि: ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

दिने दिने—प्रति दिन; स्वर्ण—स्वर्ण के; भारान्—भार (एक तौल); अष्टौ—आठ; स:—वह; सृजति—उत्पन्न करता है; प्रभो—हे प्रभु (परीक्षित महाराज); दुर्भिक्ष—अकाल; मारि—असामयिक मृत्युएँ; अरिष्टानि—आपदाएँ; सर्प—साँप; आधि—मानसिक रोग; व्याधय:—रोग; अशुभा:—अशुभ; न सन्ति—नहीं होते हैं; मायिन:—ठग; तत्र—वहाँ; यत्र—जहाँ; आस्ते—रहती है; अभ्यर्चित:—ठीक से पूजित; मणि:—मणि।

हे प्रभु, वह मणि प्रति दिन आठ भार सोना उत्पन्न करता था और जिस स्थान में वह रखा रहता था और पूजा जाता था वह स्थान आपदाओं से तथा अकाल, असामयिक मृत्यु तथा सर्पदंश, मानसिक तथा भौतिक रोगों और ठगों से मुक्त रहता था।

तात्पर्य : *भार* के सम्बन्ध में श्रील श्रीधर स्वामी ने निम्नलिखित शास्त्रीय सन्दर्भ दिया है—

चतुर्भिर्व्रीहिभिर्गुञ्जां गुञ्जा: पञ्च पणं पणान्।

अष्टौ धरणमष्टौ च कर्षं तांश्चतुर: पलम्।

तुलां पलशतं प्राहुर्भार: स्याद्विंशतिस्तुला: ॥

"चार चावल के दाने एक गुंजा कहलाते हैं; पाँच गुंजा बराबर एक पण; आठ पण बराबर एक कर्ष; चार कर्ष बराबर एक पल तथा एक सौ पल बराबर एक तुला; बीस तुला बराबर एक भार होता है।" चूँकि एक औंस में चावल के लगभग ७०० दाने होते हैं इसलिए स्यमन्तक मणि प्रतिदिन लगभग १७० पौंड सोना उत्पन्न कर रहा था।

स याचितो मणिं क्वापि यदुराजाय शौरिणा ।
नैवार्थकामुक: प्रादाद्याच्ञाभङ्गमतर्कयन् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

स:—उसने, सत्राजित ने; याचित:—माँगे जाने पर; मणिम्—मणि को; क्व अपि—एक अवसर पर; यदु-राजाय—यदुराज उग्रसेन के लिए; शौरिणा—कृष्ण द्वारा; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; अर्थ—सम्पत्ति का; कामुक:—लालची; प्रादात्—दिया; याच्ञा—अनुरोध का; भङ्गम्—इनकार; अतर्कयन्—विचार न करता हुआ।

एक अवसर पर भगवान् कृष्ण ने सत्राजित से अनुरोध किया कि वह इसे यदुराज उग्रसेन को दे दे किन्तु सत्राजित इतना लालची था कि उसने देने से इनकार कर दिया। उसने भगवान्

की याचना को ठुकराने से होने वाले अपराध की गम्भीरता पर विचार नहीं किया।

तमेकदा मणिं कण्ठे प्रतिमुच्य महाप्रभम् ।
प्रसेनो हयमारुह्य मृगायां व्यचरद्वने ॥ १ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; एकदा—एक बार; मणिम्—मणि को; कण्ठे—गले में; प्रतिमुच्य—पहन कर; महा—अत्यन्त; प्रभम्—तेजवान; प्रसेनः—प्रसेन (सत्राजित का भाई); हयम्—घोड़े पर; आरुह्य—सवार होकर; मृगायाम्—शिकार के लिए; व्यचरत्—चला गया; वने—वन में।.

एक बार सत्राजित का भाई प्रसेन उस चमकीली मणि को गले में पहन कर घोड़े पर सवार हुआ और जंगल में शिकार खेलने चला गया।

तात्पर्य : सत्राजित द्वारा कृष्ण का अनुरोध अस्वीकार करने का अशुभ परिणाम प्रकट होने ही वाला है।

प्रसेनं सहयं हत्वा मणिमाच्छिद्य केशरी ।
गिरिं विशन्जाम्बवता निहतो मणिमिच्छता ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

प्रसेनम्—प्रसेन को; स—सहित; हयम्—उसके घोड़े; हत्वा—मार कर; मणिम्—मणि को; आच्छिद्य—पकड़कर; केशरी—सिंह; गिरिम्—पर्वत (की गुफा) में; विशन्—प्रवेश करते हुए; जाम्बवता—ऋक्षराज जाम्बवान् द्वारा; निहतः—मारा गया; मणिम्—मणि; इच्छता—चाहने वाला।.

प्रसेन तथा उसके घोड़े को एक सिंह ने मार कर वह मणि ले लिया। किन्तु जब वह सिंह पर्वत की गुफा में घुसा तो उस मणि के इच्छुक जाम्बवान ने उसे मार डाला।

सोऽपि चक्रे कुमारस्य मणिं क्रीडनकं बिले ।
अपश्यन्भ्रातरं भ्राता सत्राजित्पर्यतप्यत ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने, जाम्बवान् ने; अपि—भी; चक्रे—बनाया; कुमारस्य—अपने पुत्र के लिए; मणिम्—मणि को; क्रीडनकम्—खिलौना; बिले—गुफा में; अपश्यन्—न देखते हुए; भ्रातरम्—अपने भाई को; भ्राता—भाई; सत्राजित्—सत्राजित; पर्यतप्यत—अत्यन्त दुखी हुआ।.

गुफा के भीतर जाम्बवान ने उस मणि को अपने पुत्र को खिलौने के तौर पर खेलने के लिए दे दिया। इस बीच सत्राजित अपने भाई को वापस आता न देख कर अत्यन्त व्याकुल हो गया।

प्रायः कृष्णेन निहतो मणिग्रीवो वनं गतः ।

भ्राता ममेति तच्छ्रुत्वा कर्णे कर्णेऽजपन्जना: ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

प्राय:—सम्भवतया; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; निहत:—मारा गया; मणि—मणि; ग्रीव:—अपने गले में पहने; वनम्—वन में; गत:—गया हुआ; भ्राता—भाई; मम—मेरा; इति—ऐसा कहकर; तत्—वह; श्रुत्वा—सुनकर; कर्णे कर्णे—एक कान से दूसरे कान में; अजपन्—कानाफूसी करते; जना:—लोग।

उसने कहा : "सम्भवतया कृष्ण ने मेरे भाई को मार डाला है क्योंकि वह अपने गले में मणि पहन कर जंगल गया था।" जब लोगों ने यह दोषारोपण सुना तो वे एक-दूसरे से कानाफूसी करने लगे।

भगवांस्तदुपश्रुत्य दुर्यशो लिप्तमात्मनि ।
मार्ष्टुं प्रसेनपदवीमन्वपद्यत नागरै: ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्, कृष्ण; तत्—वह; उपश्रुत्य—लोगों से सुनकर; दुर्यश:—अपयश; लिप्तम्—पोता हुआ; आत्मनि—अपने ऊपर; मार्ष्टुम्—साफ करने के लिए; प्रसेन-पदवीम्—प्रसेन द्वारा अपनाये गये मार्ग का; अन्वपद्यत—पीछा किया; नागरै:—नगर के निवासियों के साथ।

जब भगवान् कृष्ण ने यह अफवाह सुनी तो उन्होंने अपने यश में लगे कलंक को मिटाना चाहा। अत: द्वारका के कुछ नागरिकों को अपने साथ लेकर वे प्रसेन के मार्ग को ढूँढ़ने के लिए रवाना हो गये।

हतं प्रसेनं अश्वं च वीक्ष्य केशरिणा वने ।
तं चाद्रिपृष्ठे निहतमृक्षेण ददृशुर्जना: ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

हतम्—मारा गया; प्रसेनम्—प्रसेन को; अश्वम्—उसके घोड़े को; च—तथा; वीक्ष्य—देख कर; केशरिणा—सिंह द्वारा; वने—जंगल में; तम्—उस (सिंह) को; च—भी; अद्रि—पर्वत के; पृष्ठे—बगल में; निहतम्—मारा गया; ऋक्षेण—ऋक्ष (जाम्बवान) द्वारा; ददृशु:—उन्होंने देखा; जना:—लोगों ने।

जंगल में उन्होंने प्रसेन तथा उसके घोड़े दोनों को ही सिंह द्वारा मारा गया पाया। इसके आगे उन्होंने पर्वत की बगल में सिंह को ऋक्ष (जाम्बवान) द्वारा मारा गया पाया।

ऋक्षराजबिलं भीममन्धेन तमसावृतम् ।
एको विवेश भगवानवस्थाप्य बहि: प्रजा: ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

ऋक्ष-राज—रीछों का राजा; बिलम्—गुफा में; भीमम्—भयावह; अन्धेन तमसा—घने अंधकार से; आवृतम्—घिरा; एक:—अकेले; विवेश—घुसे; भगवान्—भगवान्; अवस्थाप्य—रखकर; बहि:—बाहर; प्रजा:—नागरिकों को।

भगवान् ने ऋक्षराज की भयावनी घनान्धकारमय गुफा के बाहर नागरिकों को बैठा दिया और अकेले ही भीतर घुसे।

तत्र दृष्ट्वा मणिप्रेष्ठं बालक्रीडनकं कृतम् ।
हर्तुं कृतमतिस्तस्मिन्नवतस्थेऽर्भकान्तिके ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; दृष्ट्वा—देखकर; मणि-प्रेष्ठम्—अत्यन्त मूल्यवान मणि; बाल—बच्चे का; क्रीडनकम्—खिलौना; कृतम्—बना कर; हर्तुम्—ले लेने के लिए; कृत-मतिः—निश्चय करके; तस्मिन्—वहाँ; अवतस्थे—ठहर गये; अर्भक-अन्तिके—बालक के पास।

वहाँ भगवान् कृष्ण ने देखा कि वह बहुमूल्य मणि बच्चे का खिलौना बना हुआ है। उसे लेने का संकल्प करके वे उस बालक के निकट गये।

तमपूर्वं नरं दृष्ट्वा धात्री चुक्रोश भीतवत् ।
तच्छ्रुत्वाभ्यद्रवत्क्रुद्धो जाम्बवान्बलिनां वरः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; अपूर्वम्—पहले कभी नहीं (देखा); नरम्—व्यक्ति को; दृष्ट्वा—देखकर; धात्री—धाई; चुक्रोश—चिल्ला उठी; भीत-वत्—डरी हुई; तत्—उसे; श्रुत्वा—सुनकर; अभ्यद्रवत्—दौड़ा; क्रुद्धः—नाराज; जाम्बवान्—जाम्बवान; बलिनाम्—बलवानों में; वरः—श्रेष्ठ।

उस असाधारण व्यक्ति को अपने समक्ष खड़ा देखकर बालक की धाई भयवश चिल्ला उठी। उसकी चीख सुनकर बलवानों में सर्वाधिक बलवान जाम्बवान क्रुद्ध होकर भगवान् की ओर दौड़ा।

स वै भगवता तेन युयुधे स्वामिनात्मनः ।
पुरुषं प्राकृतं मत्वा कुपितो नानुभाववित् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निस्सन्देह; भगवता—भगवान् के साथ; तेन—उन; युयुधे—लड़ने लगा; स्वामिना—स्वामी से; आत्मनः—अपने ही; पुरुषम्—पुरुष; प्राकृतम्—संसारी; मत्वा—मान कर; कुपितः—क्रुद्ध; न—नहीं; अनुभाव—उनके पद से; वित्—अवगत।

उनके असली पद से अनजान तथा उन्हें सामान्य व्यक्ति समझते हुए जाम्बवान अपने स्वामी भगवान् से क्रुद्ध होकर लड़ने लगे।

तात्पर्य : *पुरुषं प्राकृतं मत्वा*—"उन्हें एक सामान्य व्यक्ति समझते हुए" ये शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। तथाकथित वैदिक विद्वान, जिनमें अधिकांश पाश्चात्य विद्वान सम्मिलित हैं *पुरुषम्* का "मनुष्य" के

रूप में अर्थ देते हुए आनन्दित होते हैं चाहे यह शब्द भगवान् कृष्ण के सन्दर्भ में ही क्यों न हो। इस तरह वैदिक साहित्य के उनके अवैध ईश्वर के प्रति उनकी भौतिकतावादी धारणाओं से रंजित होते हैं। किन्तु यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि चूँकि जाम्बवान ने भगवान् के पद को ठीक से नहीं समझा इसीलिए उन्होंने उन्हें *प्राकृत पुरुष* ''एक सांसारिक व्यक्ति'' माना। दूसरे शब्दों में भगवान् तो *पुरुषोत्तम,* ''परम दिव्य पुरुष,'' हैं।

द्वन्द्वयुद्धं सुतुमुलमुभयोर्विजिगीषतोः ।
आयुधाश्मद्रुमैर्दोर्भिः क्रव्यार्थे श्येनयोरिव ॥ २ ॥

शब्दार्थ

द्वन्द्व—जोड़ी; युद्धम्—युद्ध; सु-तुमुलम्—अत्यन्त भयानक; उभयोः—दोनों के बीच; विजिगीषतोः—जीतने के लिए प्रयत्नशील; आयुध—हथियारों; अश्म—पत्थरों; द्रुमैः—तथा वृक्षों से; दोर्भिः—अपनी बाहुओं से; क्रव्य—मांस; अर्थे—के हेतु; श्येनयोः—दो बाजों में; इव—मानो।

दोनों जीतने के लिए कृतसंकल्प होकर घमासान द्वन्द्व युद्ध करने लगे। पहले विविध हथियारों से और तब पत्थरों, वृक्षों के तनों और अन्त में निःशस्त्र बाहुओं से एक-दूसरे से भिड़ कर, वे मांस के टुकड़े के लिए झपट रहे दो बाजों की तरह लड़ रहे थे।

आसीत्तदष्टाविंशाहमितरेतरमुष्टिभिः ।
वज्रनिष्पेषपरुषैरविश्रममहर्निशम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

आसीत्—था; तत्—वह; अष्टा-विंश—अट्ठाईस; अहम्—दिन; इतर-इतर—एक-दूसरे से; मुष्टिभिः—मुक्कों से; वज्र—बिजली के; निष्पेष—प्रहारों की तरह; परुषैः—कठोर; अविश्रमम्—बिना रुके; अहः-निशम्—अहर्निश, दिन-रात।

यह युद्ध बिना विश्राम के अट्ठाईस दिनों तक चलता रहा। दोनों एक-दूसरे पर मुक्कों से प्रहार कर रहे थे, जो टूक-टूक करने वाले बिजली के प्रहारों जैसे गिरते थे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि यह युद्ध बिना अन्तराल के रात-दिन चलता रहा।

कृष्णमुष्टिविनिष्पात निष्पिष्टाङ्गोरु बन्धनः ।
क्षीणसत्त्वः स्विन्नगात्रस्तमाहातीव विस्मितः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

कृष्ण-मुष्टि—कृष्ण के मुक्के के; विनिष्पात—प्रहारों से; निष्पिष्ट—चटनी होकर; अङ्ग—शरीर के; उरु—विशाल; बन्धनः—पुट्ठे, पेशियाँ; क्षीण—निर्बल; सत्त्वः—शक्ति; स्विन्न—पसीना छोड़ता; गात्रः—अंग; तम्—उससे; आह—बोला; अतीव—अत्यन्त; विस्मितः—चकित।

भगवान् कृष्ण के मुक्कों से जाम्बवान की उभरी मांस-पेशियाँ कुचलती गईं, उसका बल घटने लगा और अंग पसीने से तर हो गये, तो वह अत्यन्त चकित होकर भगवान् से बोला।

जाने त्वां सर्वभूतानां प्राण ओजः सहो बलम् ।
विष्णुं पुराणपुरुषं प्रभविष्णुमधीश्वरम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

जाने—जानता हूँ; त्वाम्—तुमको (कि हो); सर्व—समस्त; भूतानाम्—जीवों का; प्राणः—प्राण; ओजः—ऐन्द्रिय शक्ति; सहः—मानसिक बल; बलम्—शरीरिक शक्ति; विष्णुम्—भगवान् विष्णु को; पुराण—आदि; पुरुषम्—पुरुष; प्रभविष्णुम्—सर्वशक्तिमान; अधीश्वरम्—परम नियन्ता।

[जाम्बवान ने कहा]: मैं जानता हूँ कि आप समस्त जीवों के प्राण हैं और ऐन्द्रिय, मानसिक तथा शारीरिक बल हैं। आप आदि-पुरुष, परम पुरुष, सर्व शक्तिमान नियन्ता भगवान् विष्णु हैं।

त्वं हि विश्वसृजाम्स्रष्टा सृष्टानामपि यच्च सत् ।
कालः कलयतामीशः पर आत्मा तथात्मनाम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; हि—निस्सन्देह; विश्व—ब्रह्माण्ड के; सृजाम्—सृजनकर्ताओं के; स्रष्टा—सृजनकर्ता; सृष्टानाम्—उत्पन्न जीवों के; अपि—भी; यत्—जो; च—तथा; सत्—निहित वस्तु; कालः—दमनकारी; कलयताम्—दमनकर्ताओं के; ईशः—परमेश्वर; परः आत्मा—परम आत्मा; तथा—भी; आत्मनाम्—समस्त आत्माओं के।

आप ब्रह्माण्ड के समस्त स्रष्टाओं के परम स्रष्टा तथा समस्त सृजित वस्तुओं में निहित वस्तु (सत्) हैं। आप समस्त दमनकरियों के दमनकर्ता, परमेश्वर तथा समस्त आत्माओं के परमात्मा हैं।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में ही (.२५.४२) भगवान् कपिल कहते हैं—*मृत्युश्चरति मद्भयात्*—मेरे भय से साक्षात् मृत्यु इधर-उधर घूमती है।

यस्येषदुत्कलितरोषकटाक्षमोक्षै-
र्वर्त्मादिशत्क्षुभितनक्रतिमिङ्गलोऽब्धिः ।
सेतुः कृतः स्वयश उज्ज्वलिता च लङ्का
रक्षःशिरांसि भुवि पेतुरिषुक्षतानि ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; ईषत्—किंचित; उत्कलित—प्रकट; रोष—क्रोध से; कटा-अक्ष—चितवन से; मोक्षैः—मुक्त होने से; वर्त्म—मार्ग; आदिशत्—दिखलाया; क्षुभित—क्षुब्ध; नक्र—(जिसमें) घड़ियाल; तिमिङ्गलः—बड़ी मछली; अब्धिः—समुद्र; सेतुः—पुल; कृतः—बनाया; स्व—अपने; यशः—यश; उज्ज्वलिता—जला दिया; च—तथा; लङ्का—लंका नगरी; रक्षः—(रावण) असुर के; शिरांसि—सिर; भुवि—पृथ्वी पर; पेतुः—गिरे; इषु—जिसके बाणों से; क्षतानि—कट कर।

आप वही हैं जिनके क्रोध को तनिक प्रकट करने वाली चितवन ने अथाह जल के भीतर के घड़ियालों तथा तिमिंगिल मछलियों को क्षुब्ध बना दिया था, जिससे सागर मार्ग देने के लिए बाध्य हुआ था। आप वही हैं जिन्होंने अपना यश स्थापित करने के लिए एक महान् पुल बनाया, लंका नगरी को जला दिया और जिनके बाणों ने रावण के सिरों को छिन्न कर दिया, जो पृथ्वी पर जा गिरे।

इति विज्ञातविज्ञानमृक्षराजानमच्युतः ।
व्याजहार महाराज भगवान्देवकीसुतः ॥ २९ ॥
अभिमृश्यारविन्दाक्षः पाणिना शंकरेण तम् ।
कृपया परया भक्तं मेघगम्भीरया गिरा ॥ ० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; विज्ञात-विज्ञानम्—जिसने सत्य को समझ लिया था; ऋक्ष—रीछों के; राजानम्—राजा से; अच्युतः—कृष्ण; व्याजहार—बोले; महा-राज—हे राजा (परीक्षित); भगवान्—भगवान्; देवकी-सुरः—देवकी-पुत्र; अभिमृश्य—स्पर्श करके; अरविन्द-अक्षः—कमल-नेत्र; पाणिना—अपने हाथ से; शम्—मंगल; करेण—प्रदान करने वाला; तम्—उसको; कृपया—कृपा से; परया—महान्; भक्तम्—भक्त को; मेघ—बादल के समान; गम्भीरया—गम्भीर; गिरा—वाणी में।

[शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा]: हे राजन्, तब भगवान् कृष्ण ने ऋक्षराज को सम्बोधित किया जो सच्चाई जान गया था। देवकी-पुत्र कमल-नेत्र भगवान् ने समस्त, आशीर्वादों के दाता, अपने हाथ से जाम्बवान का स्पर्श किया और अपने भक्त से अत्यन्त कृपापूर्वक मेघ की गर्जना जैसी गम्भीर वाणी में बोले।

मणिहेतोरिह प्राप्ता वयमृक्षपते बिलम् ।
मिथ्याभिशापं प्रमृजन्नात्मनो मणिनामुना ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मणि—मणि; हेतोः—के कारण; इह—यहाँ; प्राप्ताः—आये हैं; वयम्—हम; ऋक्ष-पते—हे रीछों के स्वामी; बिलम्—गुफा तक; मिथ्या—झूठा; अभिशापम्—दोषारोपण; प्रमृजन्—दूर करने के लिए; आत्मनः—अपने विरुद्ध; मणिना—मणि के साथ; अमुना—इस।

[भगवान् कृष्ण ने कहा]: हे ऋक्षराज, हम इसी मणि के लिए आपकी गुफा में आये हैं। मैं इस मणि का उपयोग अपने विरुद्ध लगाये गये आरोपों को झूठा सिद्ध करने के लिए करना

चाहता हूँ।

इत्युक्त: स्वां दुहितरं कन्यां जाम्बवतीं मुदा ।
अर्हणार्थम्स मणिना कृष्णायोपजहार ह ॥ २॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्त:—कहा गया; स्वाम्—अपनी; दुहितरम्—पुत्री; कन्याम्—कुमारी; जाम्बवतीम्—जाम्बवती को; मुदा—ख़ुशी ख़ुशी; अर्हण-अर्थम्—सादर भेंट के रूप में; स:—उसने; मणिना—मणि समेत; कृष्णाय—कृष्ण को; उपजहार ह—भेंट कर दिया।

इस प्रकार कहे जाने पर जाम्बवान ने प्रसन्नतापूर्वक अपनी कुमारी पुत्री जाम्बवती के साथ साथ मणि को भेंट अर्पित करते हुए भगवान् कृष्ण का सम्मान किया।

अदृष्ट्वा निर्गमं शौरे: प्रविष्टस्य बिलं जना: ।
प्रतीक्ष्य द्वादशाहानि दु:खिता: स्वपुरं ययु: ॥ ॥

शब्दार्थ

अदृष्ट्वा—न देख कर; निर्गमम्—बाहर आना; शौरे:—कृष्ण का; प्रविष्टस्य—भीतर गये हुए; बिलम्—गुफा में; जन:—लोग; प्रतीक्ष्य—प्रतीक्षा करने के बाद; द्वादश—बारह; अहानि—दिन; दु:खिता:—दुखी; स्व—अपने; पुरम्—नगर को; ययु:—चले गये।

भगवान् शौरि के गुफा में प्रविष्ट होने के बाद उनके साथ आये द्वारका के लोग बारह दिनों तक उनकी प्रतीक्षा करते रहे किन्तु वे बाहर नहीं आये। अन्त में वे सब निराश होकर अत्यन्त दुखी मन से अपने नगर लौट गये थे।

निशम्य देवकी देवी रक्मिण्यानकदुन्दुभि: ।
सुहृदो ज्ञातयोऽशोचन्बिलात्कृष्णमनिर्गतम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; देवकी—देवकी; देवी रुक्मिणी—देवी रुक्मिणी; आनकदुन्दुभि:—वसुदेव; सुहृद:—मित्रगण; ज्ञातय:—सम्बन्धी लोग; अशोचन्—पछतावा करने लगे; बिलात्—गुफा से; कृष्णम्—कृष्ण को; अनिर्गतम्—बाहर न आते हुए।

जब देवकी, रुक्मिणी देवी, वसुदेव तथा भगवान् के अन्य सम्बन्धियों ने सुना कि वे गुफा से बाहर नहीं निकले तो वे सभी दु:खी होने लगे।

सत्राजितं शपन्तस्ते दु:खिता द्वारकौकस: ।
उपतस्थुश्चन्द्रभागां दुर्गां कृष्णोपलब्धये ॥ ५॥

शब्दार्थ

सत्राजितम्—सत्राजित को; शपन्तः—कोसते हुए; ते—वे; दुःखिताः—दुखित; द्वारका-ओकसः—द्वारकावासियों ने; उपतस्थुः—पूजा की; चन्द्रभागाम्—चन्द्रभागा; दुर्गाम्—दुर्गा की; कृष्ण-उपलब्धये—कृष्ण को प्राप्त करने के लिए।

सत्राजित को कोसते हुए व्याकुल द्वारकावासी चन्द्रभागा नामक दुर्गा अर्चाविग्रह के समीप गये और कृष्ण की वापसी के लिए उनसे प्रार्थना करने लगे।

तेषां तु देव्युपस्थानात्प्रत्यादिष्टाशिषा स च ।
प्रादुर्बभूव सिद्धार्थः सदारो हर्षयन्हरिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उनसे; तु—लेकिन; देवी—देवी की; उपस्थानात्—पूजा के बाद; प्रत्यादिष्ट—बदले में प्रदान किया; आशिषाः—वर; सः—वह; च—तथा; प्रादुर्बभूव—प्रकट हुआ; सिद्ध—प्राप्त करके; अर्थः—अपना लक्ष्य; स-दारः—अपनी पत्नी के सहित; हर्षयन्—हर्षित करते हुए; हरिः—भगवान् कृष्ण।

जब नगरनिवासी देवी की पूजा कर चुके तो वे उनसे बोलीं कि तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार की जाती है। तभी अपने लक्ष्य की पूर्ति करके भगवान् कृष्ण अपनी नई पत्नी के साथ उनके समक्ष प्रकट हुए और उन्हें हर्ष से सराबोर कर दिया।

उपलभ्य हृषीकेशं मृतं पुनरिवागतम् ।
सह पत्न्या मणिग्रीवं सर्वे जातमहोत्सवाः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

उपलभ्य—पहचान कर; हृषीकेशम्—इन्द्रियों के स्वामी को; मृतम्—मृत व्यक्ति; पुनः—फिर; इव—मानो; आगतम्—आया हुआ; सह—साथ; पत्न्या—पत्नी के; मणि—मणि; ग्रीवम्—गर्दन में; सर्वे—सारे; जात—उत्पन्न किया; महा—अत्यधिक; उत्सवाः—हँसी-खुशी।

भगवान् हृषीकेश को उनकी नवीन पत्नी के साथ तथा उनके गले में स्यमंतक मणि पड़ी देखकर सारे लोगों में अत्यधिक प्रसन्नता छा गई, मानों कृष्ण मृत्यु से वापस लौटे हों।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार जाम्बवान ने जब अपनी पुत्री कृष्ण को भेंट की तो उसने वह मणि उनके गले में डाल दिया था।

सत्राजितं समाहूय सभायां राजसन्निधौ ।
प्राप्तिं चाख्याय भगवान्मणिं तस्मै न्यवेदयत् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सत्राजितम्—सत्राजित को; समाहूय—बुलवाकर; सभायाम्—राजसभा में; राज—राज (उग्रसेन) की; सन्निधौ—उपस्थिति में; प्राप्तिम्—प्राप्ति; च—तथा; आख्याय—घोषित करके; भगवान्—भगवान् ने; मणिम्—मणि; तस्मै—उसको; न्यवेदयत्—भेंट कर दिया।

भगवान् कृष्ण ने सत्राजित को राजसभा में बुलवाया। वहाँ राजा उग्रसेन की उपस्थिति में

कृष्ण ने मणि पाये जाने की घोषणा की और तब उसे औपचारिक रीति से सत्राजित को भेंट कर दिया।

स चातिव्रीडितो रत्नं गृहीत्वावाङ्मुखस्ततः ।
अनुतप्यमानो भवनमगमत्स्वेन पाप्मना ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, सत्राजित; च—तथा; अति—अत्यधिक; व्रीडितः—लज्जित; रत्नम्—मणि को; गृहीत्वा—ले करके; अवाक्—नीचे की ओर; मुखः—अपना मुँह; ततः—वहाँ से; अनुतप्यमानः—पश्चाताप अनुभव करते हुए; भवनम्—घर; अगमत्—गया; स्वेन—अपने; पाप्मना—पापपूर्ण आचरण के साथ।

अत्यधिक लज्जा से मुँह लटकाये सत्राजित ने वह मणि ले लिया और घर लौट गया किन्तु सारे समय वह अपने पापपूर्ण आचरण पर पश्चाताप का अनुभव करता रहा।

सोऽनुध्यायंस्तदेवाघं बलवद्विग्रहाकुलः ।
कथं मृजाम्यात्मरजः प्रसीदेद्वाच्युतः कथम् ॥ ४० ॥
किम्कृत्वा साधु मह्यं स्यान्न शपेद्वा जनो यथा ।
अदीर्घदर्शनं क्षुद्रं मूढं द्रविणलोलुपम् ॥ ४१ ॥
दास्ये दुहितरं तस्मै स्त्रीरत्नं रत्नमेव च ।
उपायोऽयं समीचीनस्तस्य शान्तिर्न चान्यथा ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अनुध्यायन्—सोच-विचार करता; तत्—वह; एव—निस्सन्देह; अघम्—अपराध; बल-वत्—बलवानों से; विग्रह—झगड़े के बारे में; आकुलः—चिन्तित; कथम्—कैसे; मृजामि—धो सकूँगा; आत्म—अपने; रजः—कल्मष; प्रसीदेत्—प्रसन्न हों; वा—अथवा; अच्युतः—कृष्ण; कथम्—कैसे; किम्—क्या; कृत्वा—करके; साधु—अच्छा; मह्यम्—मेरे लिए; स्यात्—हो सकता है; न शपेत्—शाप न दें; वा—अथवा; जनः—लोग; यथा—जिस तरह; अदीर्घ—कम अवधि का; दर्शनम्—जिनका दर्शन; क्षुद्रम्—क्षुद्र; मूढम्—मूढ़; द्रविण—सम्पत्ति के; लोलुपम्—लोभी; दास्ये—मैं दूँगा; दुहितरम्—अपनी पुत्री; तस्मै—उनको; स्त्री—स्त्रियों का; रत्नम्—भूषण; रत्नम्—रत्न; एव च—तथा; उपायः—साधन; अयम्—यह; समीचीनः—प्रभावशाली; तस्य—उसका; शान्तिः—शमन; न—नहीं; च—तथा; अन्यथा—नहीं तो।

अपने घोर अपराध के बारे में सोच-विचार करते और भगवान् के शक्तिशाली भक्तों से संघर्ष की सम्भावना के बारे में चिन्तित राजा सत्राजित ने सोचा, "मैं किस तरह अपने कल्मष को स्वयं धो सकता हूँ और किस तरह भगवान् अच्युत मुझ पर प्रसन्न हों? मैं अपने सौभाग्य की पुनप्राप्ति के लिए क्या कर सकता हूँ? दूरदृष्टि न होने, कंजूस, मूर्ख तथा लालची होने से मैं जनता से शापित होने से कैसे बचूँ? मैं अपनी पुत्री, जो कि सभी स्त्रियों में रत्न है, स्यमन्तक मणि के साथ ही भगवान् को भेंट कर दूँगा। निस्सन्देह उन्हें शान्त करने का यही एकमात्र उचित

उपाय है।''

एवं व्यवसितो बुद्ध्या सत्राजित्स्वसुतां शुभाम् ।
मणिं च स्वयमुद्यम्य कृष्णायोपजहार ह ॥ ४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; व्यवसितः—दृढ़ संकल्प करके; बुद्ध्या—बुद्धि के उपयोग से; सत्राजित्—सत्राजित; स्व—अपनी; सुताम्—पुत्री; शुभाम्—गौर वर्ण की; मणिम्—मणि; च—तथा; स्वयम्—स्वयं; उद्यम्य—प्रयास करके; कृष्णाय—कृष्ण को; उपजहार ह—भेंट कर दिया।

इस तरह बुद्धिमानी के साथ मन को दृढ़ करके राजा सत्राजित ने स्वयं अपनी गौर-वर्ण वाली पुत्री के साथ साथ स्यमन्तक मणि भी भगवान् कृष्ण को भेंट करने की व्यवस्था की।

तां सत्यभामां भगवानुपयेमे यथाविधि ।
बहुभिर्याचितां शीलरूपौदार्यगुणान्विताम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

ताम्—उस; सत्यभामाम्—सत्यभामा से; भगवान्—भगवान् ने; उपयेमे—विवाह कर लिया; यथा-विधि—उचित अनुष्ठान द्वारा; बहुभिः—अनेक लोगों द्वारा; याचिताम्—माँगी गई; शील—उत्तम चरित्र वाली; रूप—सौन्दर्य; औदार्य—तथा उदारता; गुण—गुणों से; अन्विताम्—युक्त, सम्पन्न।

भगवान् ने उचित धार्मिक रीति से सत्यभामा के साथ विवाह कर लिया। उत्तम आचरण, सौन्दर्य, उदारता तथा अन्य सद्गुणों से सम्पन्न होने के कारण अनेक लोगों ने उसे लेना चाहा था।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि कृतवर्मा जैसे व्यक्तियों ने सत्यभामा से पाणिग्रहण करना चाहा था।

भगवानाह न मणिं प्रतीच्छामो वयं नृप ।
तवास्तां देवभक्तस्य वयं च फलभागिनः ॥ ४५॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् ने; आह—कहा; न—नहीं; मणिम्—मणि; प्रतीच्छामः—वापस चाहते हैं; वयम्—हम; नृप—हे राजन्; तव—तुम्हारा; आस्ताम्—रहने दो; देव—देवता (सूर्यदेव) के; भक्तस्य—भक्त का; वयम्—हम; च—भी; फल—इसके फल के; भागिनः—भोक्ता।

भगवान् ने सत्राजित से कहा : हे राजन्, हमें इस मणि को वापस लेने की इच्छा नहीं है। तुम सूर्यदेव के भक्त हो अतः इसे अपने ही पास रखो। इस प्रकार हम भी इससे लाभ उठा सकेंगे।

तात्पर्य : सत्राजित को चाहिए था कि वह भगवान् कृष्ण की पूजा करता। इस तरह कृष्ण के

कथन में थोड़ा व्यंग्य है—''आखिर तुम सूर्यदेव के भक्त जो हो।'' यही नहीं, कृष्ण ने पहले ही सत्राजित का सबसे बड़ा खाजाना—शुद्ध तथा सुन्दर सत्यभामा—पा लिया था।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''स्यमन्तक मणि'' नामक छप्पनवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सत्तावन

सत्राजित की हत्या और मणि की वापसी

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह सत्राजित की हत्या के बाद भगवान् कृष्ण ने शतधन्वा का वध किया और अक्रूर द्वारा किस तरह स्यमन्तक मणि द्वारका लाई गई।

जब श्रीकृष्ण ने सुना कि लाक्षागृह में पाँचों पांडवों के जल कर मर जाने की संभावना है, तो वे सांसारिक शिष्टाचार के नाते बलराम के साथ हस्तिनापुर गये यद्यपि वे सर्वज्ञ होने के नाते जानते थे कि यह समाचार गलत है। कृष्ण के द्वारका से बाहर चले जाने पर अक्रूर तथा कृतवर्मा ने शतधन्वा को उकसाया कि वह सत्राजित से स्यमन्तक मणि चुरा ले। उनकी बातों में आकर पापी शतधन्वा ने सोते हुए सत्राजित की हत्या कर दी और वह मणि चुरा लाया। रानी सत्यभामा अपने पिता की मृत्यु से अत्यन्त शोकाकुल थीं अत: वे श्रीकृष्ण को यह दुखद समाचार बतलाने के लिए हस्तिनापुर दौड़ी गईं। तब शतधन्वा को मारने के लिए श्रीकृष्ण बलराम सहित द्वारका लौट आये।

शतधन्वा सहायता माँगने के लिए अक्रूर तथा कृतवर्मा के पास गया किन्तु जब उन्होंने सहायता देने से इनकार कर दिया तो, वह उस मणि को अक्रूर के पास छोड़ कर अपनी जान बचाकर भाग गया। कृष्ण तथा बलराम ने उसका पीछा किया और कृष्ण ने अपने चक्र से उसका सिर काट लिया। जब कृष्ण को स्यमन्तक मणि शतधन्वा के पास नहीं मिला तो बलराम ने कहा कि हो सकता है कि शतधन्वा ने किसी के पास उसे रख दिया हो। बलराम ने कृष्ण से यह भी कहा कि तुम मणि ढूँढ़ने द्वारका लौट जाओ जबकि मैं विदेहराज के यहाँ जाना चाहता हूँ। इस तरह बलराम मिथिला चले गये जहाँ वे कुछ वर्षों तक रहे और इसी काल में उन्होंने दुर्योधन को गदायुद्ध की शिक्षा दी।

भगवान् कृष्ण द्वारका लौट आये और सत्राजित का दाहकर्म सम्पन्न कराया। जब अक्रूर तथा

कृतवर्मा ने शतधन्वा के मारे जाने का समाचार सुना तो वे दोनों द्वारका छोड़ कर भाग गये। इसके बाद ही द्वारका में अनेक प्रकार के—मानसिक, शारीरिक इत्यादि—उत्पात होने लगे जिससे नागरिकों ने यही अर्थ निकाला कि हो न हो यह अक्रूर के निष्कासन के कारण है। शहर के बड़े बूढ़े कहने लगे, "एक बार बनारस में सूखा पड़ा और वहाँ के राजा ने अक्रूर के पिता के साथ, जो उस समय बनारस में प्रवास पर थे, अपनी पुत्री की शादी कर दी। इस उपहार के फलस्वरूप सूखा समाप्त हो गया।" बड़े-बूढ़ों ने सोचा कि अक्रूर में अपने पिता जैसी शक्ति है, अतः अक्रूर को वापस लाया जाये।

श्रीकृष्ण जानते थे कि इन उत्पातों का मुख्य कारण अक्रूर का निष्कासन नहीं है। फिर भी उन्होंने अक्रूर को द्वारका वापस बुलवाया और उनका आदर-सत्कार किया तथा मधुर वाणी में उनसे कहा, "मैं जानता हूँ कि शतधन्वा ने वह मणि आपके पास छोड़ा है। चूँकि सत्राजित के कोई पुत्र नहीं है, अतः उसकी छोड़ी हुई सारी सम्पत्ति का उचित उत्तराधिकारी उसकी पुत्री की सन्तान है। तो भी अच्छा यही होगा कि इस दुखदायी मणि को आप अपने ही पास रखें किन्तु एक बार मुझे इसे अपने सम्बन्धियों को दिखला देने दें।" अक्रूर ने वह मणि कृष्ण को भेंट कर दिया। यह मणि सूर्य के समान चमक रहा था। किन्तु अपने परिवार वालों को वह मणि दिखलाने के बाद कृष्ण ने उसे अक्रूर को फिर लौटा दिया।

श्रीबादरायणिरुवाच
विज्ञातार्थोऽपि गोविन्दो दग्धानाकर्ण्य पाण्डवान् ।
कुन्तीं च कुल्यकरणे सहरामो ययौ कुरून् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—बादरायण के पुत्र श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; विज्ञात—अवगत; अर्थः—तथ्यों से; अपि—यद्यपि; गोविन्दः—भगवान् कृष्ण; दग्धान्—जल कर भस्म हुए; आकर्ण्य—सुनकर; पाण्डवान्—पाण्डु-पुत्रों को; कुन्तीम्—उनकी माता कुन्ती को; च—तथा; कुल्य—कुलरीति; करणे—पूरा करने के लिए; सह-रामः—बलराम के साथ; ययौ—गये; कुरून्—कुरुओं के राज्य में।

श्री बादरायणि ने कहा : यद्यपि जो कुछ घटित हुआ था भगवान् गोविन्द उससे पूर्णतया अवगत थे, फिर भी जब उन्होंने यह समाचार सुना कि पाण्डव तथा महारानी कुन्ती जल कर मृत्यु को प्राप्त हुए हैं, तो वे कुलरीति पूरा करने के उद्देश्य से बलराम के साथ कुरुओं के राज्य में गये।

तात्पर्य : भगवान् को पूरी तरह ज्ञात था कि पाण्डव दुर्योधन के द्वारा रचे गये हत्या-षड्यंत्र से बच

निकले हैं यद्यपि सारे संसार ने यह झूठी खबर सुनी थी कि पाण्डव अपनी माता समेत अग्नि में जल मरे हैं।

भीष्मं कृपं स विदुरं गान्धारीं द्रोणमेव च ।
तुल्यदु:खौ च सङ्गम्य हा कष्टमिति होचतु: ॥ २॥

शब्दार्थ

भीष्मम्—भीष्म; कृपम्—आचार्य कृप; स-विदुरम्—तथा विदुर से भी; गान्धारीम्—धृतराष्ट्र की पत्नी गांधारी से; द्रोणम्—आचार्य द्रोण से; एव च—तथा; तुल्य—समान रूप से; दु:खौ—शोकपूर्ण; च—तथा; सङ्गम्य—मिल कर; हा—हाय; कष्टम्—कितना कष्टकारक; इति—इस प्रकार; ह ऊचतु:—वे बोले।

दोनों ही विभु भीष्म, कृप, विदुर, गान्धारी तथा द्रोण से मिले। उन्हीं के समान दुख प्रकट करते हुए वे बिलख उठे, "हाय! यह कितना कष्टप्रद है!"

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी इंगित करते हैं कि जो लोग इस हत्याकाण्ड में सम्मिलित थे वे पाण्डवों की मृत्यु का समाचार सुनकर तनिक भी दुखी नहीं थे। किन्तु यहाँ जिन महानुभावों का विशेष उल्लेख है—भीष्म, कृप, विदुर, गान्धारी तथा द्रोण—वे इस सम्भावित दुर्घटना को सुनकर वास्तव में दुखी थे।

लब्ध्वैतदन्तरं राजन्शतधन्वानमूचतु: ।
अक्रूरकृतवर्माणौ मनि: कस्मान्न गृह्यते ॥ ॥

शब्दार्थ

लब्ध्वा—पाकर; एतत्—इस; अन्तरम्—अवसर को; राजन्—हे राजा (परीक्षित); शतधन्वानम्—शतधन्वा से; ऊचतु:—कहा; अक्रूर-कृतवर्माणौ—अक्रूर तथा कृतवर्मा ने; मनि:—मणि; कस्मात्—क्यों; न गृह्यते—न ले लिया जाय।

इस अवसर का लाभ उठा कर, हे राजन्, अक्रूर तथा कृतवर्मा शतधन्वा के पास गये और उससे कहा, "क्यों न स्यमंतक मणि को हथिया लिया जाय?"

तात्पर्य : अक्रूर तथा कृतवर्मा ने तर्क किया कि चूँकि कृष्ण तथा बलराम द्वारका में नहीं हैं, अत: सत्राजित को मार कर मणि को चुराया जा सकता है। श्रील श्रीधर स्वामी उल्लेख करते हैं कि इन दोनों ने शतधन्वा से जाकर चापलूसी की होगी कि "तुम हमसे अधिक बहादुर हो अत: तुम उसका वध करो।"

योऽस्मभ्यं सम्प्रतिश्रुत्य कन्यारत्नं विगर्ह्य न: ।

कृष्णायादान्न सत्राजित्कस्माद्भ्रातरमन्वियात् ॥ ४॥

शब्दार्थ

यः—जिसने; अस्मभ्यम्—हममें से प्रत्येक को; सम्प्रतिश्रुत्य—वादा करके; कन्या—उसकी पुत्री; रत्नम्—रत्न जैसी; विगर्ह्य—अवमानना करके; नः—हमको; कृष्णाय—कृष्ण को; अदात्—दिया; न—नहीं; सत्राजित्—सत्राजित ने; कस्मात्—क्यों; भ्रातरम्—उसके भाई को; अन्वियात्—अनुगमन करना चाहिए।

"सत्राजित ने वादा करके हमारी तिरस्कारपूर्वक अवहेलना करते हुए अपनी रत्न जैसी पुत्री हमें न देकर कृष्ण को दे दी। तो फिर सत्राजित अपने भाई के ही मार्ग का अनुगमन क्यों न करे?"

तात्पर्य : चूँकि सत्राजित का भाई प्रसेन जबरदस्ती मारा गया था अत: "अपने भाई के मार्ग का अनुगमन" का आशय स्पष्ट है। यह हत्या का षड्यंत्र है।

यह सुविदित है कि अक्रूर तथा कृतवर्मा दोनों ही भगवान् के महान् शुद्ध भक्त हैं अतएव उनके असामान्य व्यवहार की व्याख्या अपेक्षित है। आचार्यों ने इस प्रकार व्याख्या की है : श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि यद्यपि अक्रूर उच्च कोटि के शुद्ध भगवद्भक्त थे किन्तु वे गोकुलवासियों के क्रोध के शिकार बने क्योंकि वे कृष्ण को वृन्दावन से ले गये थे। गोस्वामी आगे कहते हैं कि कृतवर्मा ने कंस का साथ दिया था—दोनों ही भोजवंश के थे इसलिए अब कृतवर्मा को बुरी संगति का फल मिल रहा था।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने एक वैकल्पिक व्याख्या की है—अक्रूर तथा कृतवर्मा दोनों ही सत्राजित से नाराज थे क्योंकि उसने कृष्ण का अपमान किया था तथा द्वारका में उनके विषय में झूठी अफवाह फैलायी थी। सामान्य परिस्थितियों में अक्रूर तथा कृतवर्मा को अत्यधिक प्रसन्नता हुई होती कि भगवान् कृष्ण ने सुन्दरी सत्यभामा को ब्याह लिया है। शुद्ध भक्त होने से वे इस जोड़ी से कभी अप्रसन्न नहीं हुए होते, न ही वे भगवान् के ईर्ष्यालु प्रतिद्वन्द्वी बनते। अत: उनके प्रतिद्वन्द्वी जैसे व्यवहार में उनका कुछ प्रच्छन्न मन्तव्य था।

एवं भिन्नमतिस्ताभ्यां सत्राजितमसत्तमः ।
शयानमवधील्लोभात्स पापः क्षीण जीवितः ॥ ५॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; भिन्न—प्रभावित; मतिः—मन वाला; ताभ्याम्—उन दोनों के द्वारा; सत्राजितम्—सत्राजित को; असत्-तमः—अत्यन्त दुष्ट; शयानम्—सोते हुए; अवधीत्—मार डाला; लोभात्—लालच में आकर; सः—उसने; पापः—पापी; क्षीण—घटी हुई; जीवितः—आयु वाला।

इस तरह उसका मन उनकी सलाह से प्रभावित हो गया और दुष्ट शतधन्वा ने लोभ में आकर सत्राजित को सोते हुए मार डाला। इस तरह पापी शतधन्वा ने अपनी आयु क्षीण कर ली।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार *असत्तमः* शब्द सूचक है कि शतधन्वा मूलतः दुष्ट बुद्धि था और सत्राजित से अत्यन्त घृणा करता था।

स्त्रीणां विक्रोशमानानां क्रन्दन्तीनामनाथवत् ।
हत्वा पशून्सौनिकवन्मणिमादाय जग्मिवान् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

स्त्रीणाम्—स्त्रियों के; विक्रोशमानानाम्—चीखती; क्रन्दन्तीनाम्—तथा चिल्लाती; अनाथ—जिनके कोई रक्षक न हो, ऐसे व्यक्ति; वत्—सदृश; हत्वा—मार कर; पशून्—पशुओं को; सौनिक—कसाई; वत्—सदृश; मणिम्—मणि को; आदाय—लेकर; जग्मिवान्—चला गया।

जब सत्राजित के महल की स्त्रियाँ चीख रही थीं और असहाय की तरह रो रही थीं तब शतधन्वा ने वह मणि ले लिया और वहाँ से चलता बना जैसे कुछ पशुओं का वध करने के बाद कोई कसाई करता है।

सत्यभामा च पितरं हतं वीक्ष्य शुचार्पिता ।
व्यलपत्तात तातेति हा हतास्मीति मुह्यती ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सत्यभामा—रानी सत्यभामा; च—तथा; पितरम्—अपने पिता को; हतम्—मारा हुआ; वीक्ष्य—देख कर; शुचा-अर्पिता—शोकमग्न; व्यलपत्—विलाप करती; तत तात—हे पिता, हे पिता; इति—इस प्रकार; हा—हाय; हता—मारी गई; अस्मि—हूँ; इति—इस प्रकार; मुह्यती—मूर्च्छित हुई।

जब सत्यभामा ने अपने मृत पिता को देखा तो वे शोक में डूब गईं। "मेरे पिता, मेरे पिता! हाय, मैं मारी गयी" विलाप करती हुई वे मूर्छित होकर गिर गईं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार अपने पिता की मृत्यु पर सत्यभामा की वेदनापूर्ण भावनाएँ तथा शब्द कृष्ण की *लीला शक्ति* द्वारा प्रेरित थे और वे शतधन्वा के विरुद्ध भगवान् की उग्र प्रतिक्रिया को तैयार करने के लिए थे।

तैलद्रोण्यां मृतं प्रास्य जगाम गजसाह्वयम् ।

कृष्णाय विदितार्थाय तप्ताचख्यौ पितुर्वधम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तैल—तेल के; द्रोण्याम्—विशाल पात्र में; मृतम्—शव को; प्रास्य—रख कर; जगाम—गई; गज-साह्वयम्—कुरु-राजधानी हस्तिनापुर; कृष्णाय—कृष्ण को; विदित-अर्थाय—जो पहले से ही अवगत थे; तप्ता—शोकयुक्त; आचख्यौ—उसने कह सुनाया; पितुः—अपने पिता का; वधम्—वध।

रानी सत्यभामा अपने पिता के शव को तेल के एक विशाल कुंड में रख कर हस्तिनापुर गईं जहाँ उन्होंने अपने पिता की हत्या के बारे में बहुत ही शोकातुर होकर कृष्ण को बतलाया जो पहले से इस स्थिति को जान रहे थे।

तदाकर्ण्येश्वरौ राजन्ननुसृत्य नृलोकताम् ।
अहो नः परमं कष्टमित्यस्राक्षौ विलेपतुः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तत्—उसे; आकर्ण्य—सुनकर; ईश्वरौ—दोनों प्रभु; राजन्—हे राजन् (परीक्षित); अनुसृत्य—अनुकरण करते हुए; नृ-लोकताम्—मानव समाज की रीति; अहो—हाय; नः—हमारे लिए; परमम्—महानतम; कष्टम्—दुख; इति—इस प्रकार; अस्र—आँसू-भरे; अक्षौ—दोनों नेत्रों में; विलेपतुः—दोनों ने विलाप किया।

हे राजन्, जब कृष्ण तथा बलराम ने यह समाचार सुना तो वे आह भर उठे, "हाय! यह तो हमारे लिए सबसे बड़ी दुर्घटना (विपत्ति) है!" इस तरह मानव समाज की रीतियों का अनुकरण करते हुए वे शोक करने लगे और उनकी आँखें आँसुओं से डबडबा आईं।

आगत्य भगवांस्तस्मात्सभार्यः साग्रजः पुरम् ।
शतधन्वानमारेभे हन्तुं हर्तुं मणिं ततः ॥ ॥

शब्दार्थ

आगत्य—लौट कर; भगवान्—भगवान्; तस्मात्—उस स्थान से; स-भार्यः—अपनी पत्नी सहित; स-अग्रजः—तथा अपने बड़े भाई के साथ; पुरम्—अपनी राजधानी में; शतधन्वानम्—शतधन्वा को; आरेभे—तैयारी की; हन्तुम्—मारने के लिए; हर्तुम्—छीन लेने के लिए; मणिम्—मणि को; ततः—उससे।

भगवान् अपनी पत्नी तथा बड़े भाई के साथ अपनी राजधानी लौट आये। द्वारका आकर उन्होंने शतधन्वा को मारने और उससे मणि छीन लेने की तैयारी की।

सोऽपि कृतोद्यमं ज्ञात्वा भीतः प्राणपरीप्सया ।
साहाय्ये कृतवर्माणमयाचत स चाब्रवीत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (शतधन्वा); अपि—भी; कृत-उद्यमम्—अपने को तैयार किये हुए; ज्ञात्वा—जान कर; भीतः—डरा हुआ; प्राण—अपना प्राण; परीप्सया—बचाने की इच्छा से; साहाय्ये—सहायता के लिए; कृतवर्माणम्—कृतवर्मा से; अयाचत—याचना की; सः—उसने; च—तथा; अब्रवीत्—कहा।

यह जान कर कि भगवान् कृष्ण उसे मार डालने की तैयारी कर रहे हैं, शतधन्वा भयभीत हो उठा। वह अपने प्राण बचाने के लिए कृतवर्मा के पास गया और उससे सहायता माँगी किन्तु कृतवर्मा ने इस प्रकार उत्तर दिया।

नाहमीस्वरयोः कुर्यां हेलनं रामकृष्णयोः ।
को नु क्षेमाय कल्पेत तयोर्वृजिनमाचरन् ॥ १२॥
कंसः सहानुगोऽपीतो यद्द्वेषात्त्याजितः श्रिया ।
जरासन्धः सप्तदशसंयुगाद्विरथो गतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; ईश्वरयोः—दोनों प्रभुओं के प्रति; कुर्याम्—कर सकता हूँ; हेलनम्—अपराध; राम-कृष्णयोः—बलराम तथा कृष्ण के प्रति; कः—कौन; नु—निस्सन्देह; क्षेमाय—सौभाग्य; कल्पेत—प्राप्त कर सकता है; तयोः—उन दोनों को; वृजिनम्—कष्ट; आचरन्—पहुँचाते हुए; कंसः—कंस; सह—सहित; अनुगः—उसके अनुयायी; अपीतः—मृत; यत्—जिसके विरुद्ध; द्वेषात्—द्वेष से; त्याजितः—त्यक्त; श्रिया—अपने ऐश्वर्य से; जरासन्धः—जरासन्ध; सप्तदश—सत्रह; संयुगात्—युद्धों से; विरथः—रथविहीन; गतः—हो गया।

[कृतवर्मा ने कहा] : मैं भगवान् कृष्ण तथा बलराम के विरुद्ध अपराध करने का दुस्साहस नहीं कर सकता। भला उन्हें कष्ट देने वाला अपने सौभाग्य की आशा कैसे कर सकता है? कंस तथा उसके सारे अनुयायियों ने उनसे शत्रुतावश अपनी सम्पत्ति तथा अपने प्राण गँवाये और उनसे सत्रह बार युद्ध करने के बाद जरासन्ध के पास एक भी रथ नहीं बचा।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी की व्याख्या है कि *हेलनम्* शब्द भगवान् की इच्छा के विरुद्ध कार्य करने का सूचक है और *वृजिनम्* शब्द दोनों भगवानों के प्रति अपराध का द्योतक है।

प्रत्याख्यातः स चाक्रूरं पार्ष्णिग्राहमयाचत ।
सोऽप्याह को विरुध्येत विद्वानीश्वरयोर्बलम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

प्रत्याख्यातः—मना किया गया; सः—वह, शतधन्वा; च—तथा; अक्रूरम्—अक्रूर से; पार्ष्णि-ग्राहम्—सहायता के लिए; अयाचत—विनती की; सः—वह, अक्रूर; अपि—भी; आह—बोला; कः—कौन; विरुध्येत—उनका विरोध कर सकता है; विद्वान्—जानते हुए; ईश्वरयोः—दोनों विभुओं के; बलम्—बल को।

अपनी याचना अस्वीकृत हो जाने पर शतधन्वा अक्रूर के पास गया और अपनी रक्षा के लिए उनसे अनुनय-विनय की। किन्तु अक्रूर ने भी उसी तरह उससे कहा : भला ऐसा कौन है, जो उन

दोनों के बल को जानते हुए उन दोनों विभुओं का विरोध करेगा?

**य इदं लीलया विश्वं सृजत्यवति हन्ति च ।
चेष्टां विश्वसृजो यस्य न विदुर्मोहिताजया ॥ १५ ॥**

शब्दार्थ

यः—जो; इदम्—इस; लीलया—खेल-खेल में; विश्वम्—ब्रह्माण्ड को; सृजति—उत्पन्न करता है; अवति—पालन करता है; हन्ति—नष्ट करता है; च—तथा; चेष्टाम्—प्रयोजन; विश्व-सृजः—ब्रह्माण्ड के (गौण) स्रष्टा (ब्रह्मा आदि); यस्य—जिसका; न विदुः—नहीं जानते; मोहिताः—मोहग्रस्त; अजया—अपनी मोहनी शक्ति द्वारा।

यह तो परमेश्वर ही हैं, जो अपनी लीला के रूप में इस ब्रह्माण्ड का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं। यहाँ तक कि विश्व स्रष्टागण भी उनके प्रयोजन को नहीं समझ पाते क्योंकि वे उनकी माया द्वारा मोहग्रस्त रहते हैं।

तात्पर्य : *यः* शब्द एकवचन है। इसका प्रयोग सूचित करता है कि ''कृष्ण तथा राम—दो ईश्वर'' का प्रायः जो सन्दर्भ दिया जाता है, वह *श्रीमद्भागवत* में व्यक्त एकेश्वरवाद के दृढ़ सिद्धान्त के अनुरूप नहीं है। जैसाकि अनेक वैदिक ग्रंथों में बतलाया गया है एक परमेश्वर असंख्य रूपों में विस्तार करता है फिर भी वह एक सर्वशक्तिमान ईश्वर रहता है। उदाहरणार्थ, *ब्रह्म-संहिता* (५.) में यह कथन है—*अद्वैतमच्युतमनादिरनन्तरूपम्*—एक परमेश्वर अच्युत तथा अनादि है और वह असंख्य रूपों में विस्तार करता है। भगवान् की लीलाओं को सम्मान देने के लिए, जिनमें वे विस्तार करके अपने बड़े भाई बलराम के रूप में प्रकट होते हैं, यहाँ पर *भागवत* में ''दो ईश्वरों'' का उल्लेख हुआ है। किन्तु अन्तिम पंक्ति यह है कि भगवान् या परब्रह्म सत्य एक है, जो अपने आदि-कृष्ण रूप में प्रकट होता है।

**यः सप्तहायनः शैलमुत्पाट्यैकेन पाणिना ।
दधार लीलया बाल उच्छिलीन्ध्रमिवार्भकः ॥ १६ ॥**

शब्दार्थ

यः—जो; सप्त—सात; हायनः—वर्षीय; शैलम्—पर्वत को; उत्पाट्य—उखाड़ कर; एकेन—केवल एक; पाणिना—हाथ से; दधार—धारण किया; लीलया—खेल-खेल में; बालः—निरा बालक; उच्छिलीन्ध्रम्—कुकुरमुत्ता; इव—सदृश; अर्भकः—एक बालक।

सात वर्षीय एक बालक के रूप में कृष्ण ने समूचा पर्वत उखाड़ लिया और आसानी से इसे ऊपर उठाये रखा जिस तरह एक बालक कुकुरमुत्ता उठा लेता है।

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाद्भुतकर्मणे ।
अनन्तायादिभूताय कूटस्थायात्मने नमः ॥ १७॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; तस्मै—उस; भगवते—भगवान् को; कृष्णाय—कृष्ण को; अद्भुत—चकित करने वाले; कर्मणे—जिसके कार्य; अनन्ताय—असीम; आदि-भूताय—समस्त जगत के उद्गम को; कूट-स्थाय—जगत के अचल केन्द्र को; आत्मने—परमात्मा को; नमः—नमस्कार।

''मैं उन भगवान् कृष्ण को नमस्कार करता हूँ जिनका हर कार्य चकित करने वाला है। वे परमात्मा हैं, असीम स्रोत तथा समस्त जगत के स्थिर केन्द्र हैं।''

प्रत्याख्यातः स तेनापि शतधन्वा महामणिम् ।
तस्मिन्न्यस्याश्वमारुह्य शतयोजनगं ययौ ॥ १८॥

शब्दार्थ

प्रत्याख्यातः—अस्वीकार; सः—वह; तेन—उस (अक्रूर) के द्वारा; अपि—भी; शतधन्वा—शतधन्वा; महा-मणिम्—बहुमूल्य मणि को; तस्मिन्—उसके पास; न्यस्य—छोड़ कर; अश्वम्—घोड़े पर; आरुह्य—सवार होकर; शत—एक सौ; योजन—योजन (८ मील=१ योजन); गम्—जा सकने वाले; ययौ—रवाना हो गया।

जब अक्रूर ने भी उसकी याचना अस्वीकार कर दी तो शतधन्वा ने उस अमूल्य मणि को अक्रूर के संरक्षण में रख दिया और एक घोड़े पर चढ़ कर भाग गया जो एक सौ योजन (आठ सौ मील) यात्रा कर सकता था।

तात्पर्य : *न्यस्य* शब्द का आशय है कि शतधन्वा को अब विश्वास हुआ कि यह मणि उसी का है और वह अपने एक मित्र के पास छोड़े जा रहा है। कहने का अर्थ यह है कि यह चोर प्रवृत्ति है।

गरुडध्वजमारुह्य रथं रामजनार्दनौ ।
अन्वयातां महावेगैरश्वै राजन्गुरुद्रुहम् ॥ १९॥

शब्दार्थ

गरुड-ध्वजम्—झंडे में गरुड़ चिह्न वाले; आरुह्य—सवार होकर; रथम्—रथ में; राम—बलराम; जनार्दनौ—तथा कृष्ण ने; अन्वयाताम्—पीछा किया; महा-वेगैः—अत्यन्त तेज; अश्वैः—घोड़ों से; राजन्—हे राजा (परीक्षित); गुरु—अपने श्रेष्ठ की (सत्राजित की जो उनके श्वसुर थे); द्रुहम्—हिंसा करने वाला।

हे राजन्, कृष्ण तथा बलराम, कृष्ण के रथ पर सवार हुए जिस पर गरुड़चिन्हित ध्वजा फहरा रहा था और जिसमें अत्यन्त तेज घोड़े जुते थे। वे अपने श्रेष्ठ (श्वसुर) के हत्यारे का पीछा करने लगे।

मिथिलायामुपवने विसृज्य पतितं हयम् ।

पद्भ्यामधावत्सन्त्रस्तः कृष्णोऽप्यन्वद्रवद्रुषा ॥ २० ॥

शब्दार्थ

मिथिलायाम्—मिथिला में; उपवने—एक उपवन में; विसृज्य—छोड़ कर; पतितम्—गिरे हुए; हयम्—घोड़े को; पद्भ्याम्—पैदल; अधावत्—दौड़ने लगा; सन्त्रस्तः—भयभीत; कृष्णः—कृष्ण; अपि—भी; अन्वद्रवत्—पीछे दौड़े; रुषा—क्रुद्ध होकर।

मिथिला के बाहर एक बगीचे में वह घोड़ा जिस पर शतधन्वा सवार था गिर गया। भयभीत होकर उसने घोड़ा वहीं छोड़ दिया और पैदल ही भागने लगा। कृष्ण क्रुद्ध होकर उसका पीछा कर रहे थे।

पदातेर्भगवांस्तस्य पदातिस्तिग्मनेमिना ।
चक्रेण शिर उत्कृत्य वाससोर्व्यचिनोन्मणिम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

पदातेः—पैदल का; भगवान्—भगवान्; तस्य—उस; पदातिः—पैदल ही; तिग्म—तेज; नेमिना—धार वाले; चक्रेण—अपने चक्र से; शिरः—सिर; उत्कृत्य—काट कर; वाससोः—शतधन्वा के वस्त्रों के भीतर; व्यचिनोत्—ढूँढ़ा; मणिम्—मणि को।

चूँकि शतधन्वा पैदल ही भागा था इसलिए भगवान् ने भी पैदल ही जाते हुए अपने तेज धार वाले चक्र से उसका सिर काट लिया। तब भगवान् ने स्यमन्तक मणि के लिए शतधन्वा के सभी वस्त्रों को छान मारा।

अलब्धमणिरागत्य कृष्ण आहाग्रजान्तिकम् ।
वृथा हतः शतधनुर्मणिस्तत्र न विद्यते ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अलब्ध—न पाकर; मणिः—मणि; आगत्य—पास आकर; कृष्णः—कृष्ण ने; आह—कहा; अग्र-ज—अपने बड़े भाई के; अन्तिकम्—निकट; वृथा—व्यर्थ ही; हतः—मारा गया; शतधनुः—शतधन्वा; मणिः—मणि; तत्र—उसके पास; न विद्यते—नहीं है।

मणि न पाकर भगवान् कृष्ण अपने बड़े भाई के पास गये और कहने लगे, ''हमने व्यर्थ ही शतधन्वा को मार डाला। उसके पास वह मणि नहीं है।''

तत आह बलो नूनं स मणिः शतधन्वना ।
कस्मिंश्चित्पुरुषे न्यस्तस्तमन्वेष पुरं व्रज ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; आह—कहा; बलः—बलराम ने; नूनम्—निश्चय ही; सः—वह; मणिः—मणि; शतधन्वना—शतधन्वा द्वारा; कस्मिंश्चित्—किसी विशेष; पुरुषे—व्यक्ति के पास; न्यस्तः—छोड़ी गई है; तम्—उसको; अन्वेष—ढूँढ़ो; पुरम्—पुरी में; व्रज—जाओ।

इस पर बलराम ने उत्तर दिया, ''निस्सन्देह, शतधन्वा ने मणि को किसी के संरक्षण में रख

छोड़ा होगा। तुम नगरी में लौट जाओ और उस व्यक्ति को ढूँढ़ो।''

अहं वैदेहमिच्छामि द्रष्टुं प्रियतमं मम ।
इत्युक्त्वा मिथिलां राजन्विवेश यदनन्दनः ॥ २४॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; वैदेहम्—विदेह के राजा को; इच्छामि—चाहता हूँ; द्रष्टुम्—देखना; प्रिय-तमम्—अत्यन्त प्रिय; मम—मेरा; इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कह कर; मिथिलाम्—मिथिला (विदेह राज्य की राजधानी); राजन्—हे राजा (परीक्षित); विवेश—प्रवेश किया; यदु-नन्दनः—यदुवंशी बलराम ने।

''मैं विदेह के राजा से भेंट करना चाहता हूँ क्योंकि वे मेरे अत्यन्त प्रिय हैं।'' हे राजन्, यह कह कर, प्रिय यदुवंशी बलराम ने मिथिला नगरी में प्रवेश किया।

तात्पर्य : कृष्ण तथा बलराम ने अन्त में शतधन्वा को मिथिला के बाहरी क्षेत्र में पकड़ा था। चूँकि इस नगर का राजा बलदेव का प्रिय मित्र था इसलिए उन्होंने इस नगर में प्रवेश करने और वहीं कुछ समय बिताने का निश्चय किया।

तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय मैथिलः प्रीतमानसः ।
अर्हयां आस विधिवदर्हणीयं समर्हणैः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको, बलराम को; दृष्ट्वा—देख कर; सहसा—तुरन्त; उत्थाय—उठ कर; मैथिलः—मिथिला के राजा ने; प्रीत-मानसः—स्नेह का अनुभव करते हुए; अर्हयाम् आस—उनका आदर किया; विधि-वत्—शास्त्रीय आदेशों के अनुसार; अर्हणीयम्—पूज्य; समर्हणैः—पूजा-सामग्री से।

जब मिथिला के राजा ने बलराम को समीप आते देखा तो वह तुरन्त अपने आसन से उठ खड़ा हुआ। राजा ने बड़े प्रेम से विशद पूजा करके परम आराध्य प्रभु का सम्मान शास्त्रीय आदेशों के अनुसार किया।

उवास तस्यां कतिचिन्मिथिलायां समा विभुः ।
मानितः प्रीतियुक्तेन जनकेन महात्मना ।
ततोऽशिक्षद्गदां काले धार्तराष्ट्रः सुयोधनः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

उवास—रहे; तस्याम्—उस; कतिचित्—कई; मिथिलायाम्—मिथिला में; समाः—वर्ष; विभुः—सर्वशक्तिमान श्री बलराम; मानितः—सम्मानित; प्रीति-युक्तेन—वत्सल; जनकेन—राजा जनक (विदेह) द्वारा; महा-आत्मना—महात्मा; ततः—तब; अशिक्षत्—सीखा; गदाम्—गदा; काले—समय में; धार्तराष्ट्रः—धृतराष्ट्र के पुत्र; सुयोधनः—दुर्योधन ने।

सर्वशक्तिमान भगवान् बलराम अपने प्रिय भक्त जनक महाराज से सम्मानित होकर मिथिला

में कई वर्षों तक रुके रहे। इसी समय धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन ने बलराम से गदा युद्ध करने की कला सीखी।

केशवो द्वारकामेत्य निधनं शतधन्वनः ।
अप्राप्तिं च मणेः प्राह प्रियायाः प्रियकृद्विभुः ॥ २७॥

शब्दार्थ

केशवः—कृष्ण; द्वारकाम्—द्वारका में; एत्य—आकर; निधनम्—मृत्यु; शतधन्वनः—शतधन्वा की; अप्राप्तिम्—न मिलने से; च—तथा; मणेः—मणि; प्राह—कहा; प्रियायाः—अपनी प्रियतमा (सत्यभामा) के; प्रिय—आनन्दित; कृत्—करते हुए; विभुः—सर्वशक्तिमान प्रभु।

भगवान् केशव द्वारका आये और उन्होंने शतधन्वा की मृत्यु तथा स्यमन्तक मणि को खोज पाने में अपनी असफलता का विवरण दिया। वे इस तरह बोले जिससे उनकी प्रियतमा सत्यभामा प्रसन्न हो सकें।

तात्पर्य : स्वाभाविक है कि सत्यभामा को यह सुनकर प्रसन्नता हुई कि उनके पिता का हत्यारा मारा गया। किन्तु उनके पिता की स्यमन्तक मणि मिलनी अभी शेष थी अतः उसे प्राप्त करने के कृष्ण के संकल्प को सुनकर भी वे प्रसन्न थीं।

ततः स कारयामास क्रिया बन्धोर्हतस्य वै ।
साकं सुहृद्भिर्भगवान्या याः स्युः साम्परायिकीः ॥ २८॥

शब्दार्थ

ततः—तब; सः—उसने, कृष्ण ने; कारयाम् आस—सम्पन्न कराया; क्रिया—अनुष्ठान कर्म; बन्धोः—अपने सम्बन्धी (सत्राजित) का; हतस्य—मारे गये; वै—निस्सन्देह; साकम्—साथ साथ; सुहृद्भिः—शुभचिन्तकों के; भगवान्—भगवान्; याः याः—जो जो; स्युः—होना चाहिए; साम्परायिकीः—इस संसार से कूच करने के समय।

तब भगवान् कृष्ण ने अपने मृत सम्बन्धी सत्राजित के लिए विविध अन्तिम संस्कार सम्पन्न कराये। भगवान् परिवार के शुभचिन्तकों के साथ शवयात्रा में सम्मिलित हुए।

अक्रूरः कृतवर्मा च श्रुत्वा शतधनोर्वधम् ।
व्यूषतुर्भयवित्रस्तौ द्वारकायाः प्रयोजकौ ॥ २९॥

शब्दार्थ

अक्रूरः कृतवर्मा च—अक्रूर तथा कृतवर्मा; श्रुत्वा—सुनकर; शतधनोः—शतधन्वा का; वधम्—वध; व्यूषतुः—बाहर चले गये; भय-वित्रस्तौ—भय से त्रस्त; द्वारकायाः—द्वारका से; प्रयोजकौ—उकसाने वाले।

जब अक्रूर तथा कृतवर्मा ने, जिन्होंने शुरू में शतधन्वा को अपराध करने के लिए उकसाया

था, यह सुना कि वह मारा गया है, तो वे भय के कारण द्वारका से भाग गये और उन्होंने अन्यत्र जाकर शरण ली।

अक्रूरे प्रोषितेऽरिष्टान्यासन्वै द्वारकौकसाम् ।
शारीरा मानसास्तापा मुहुर्दैविकभौतिकाः ॥ ० ॥

शब्दार्थ

अक्रूरे—अक्रूर के; प्रोषिते—प्रवास में रहते हुए; अरिष्टानि—अपशकुन; आसन्—उत्पन्न हुए; वै—निस्सन्देह; द्वारका-ओकसाम्—द्वारकावासियों के लिए; शारीराः—शारीरिक; मानसः—तथा मानसिक; तापाः—कष्ट; मुहुः—बारम्बार; दैविक—उच्चतर शक्तियों द्वारा उत्पन्न; भौतिकाः—अन्य प्राणियों द्वारा उत्पन्न।

अक्रूर की अनुपस्थिति में द्वारका में तमाम अपशकुन होने लगे और वहाँ के निवासी शारीरिक तथा मानसिक कष्टों के अतिरिक्त दैविक तथा भौतिक उत्पातों से भी त्रस्त रहने लगे।

तात्पर्य : यहाँ पर *दैविक* शब्द दैवी प्राणियों द्वारा उत्पन्न उत्पातों का द्योतक है। ये उत्पात प्राय: भूकम्प, समुद्री लहरों या मौसम की चरम अवस्था के रूप में प्रकट होते हैं। आजकल भौतिकतावादी लोग इन उत्पातों को पार्थिव कारणों से उत्पन्न मानते हैं। उन्हें इसकी अनुभूति नहीं होती कि ये अधिदेवों की ओर से दिये जाने वाले दंड होते हैं। *भौतिक* शब्द पृथ्वी के प्राणियों द्वारा यथा मनुष्यों, पशुओं तथा कीटों द्वारा उत्पन्न उत्पात का द्योतक है।

श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार अक्रूर स्यमन्तक मणि लेकर वाराणसी नगरी में रहने चला गया जहाँ वह 'दानपति' के नाम से विख्यात हो गया। वहाँ उसने सोने की वेदिकाओं में सुयोग्य पण्डितों की व्यापक सभा में कई अग्नि-यज्ञ सम्पन्न किये।

द्वारका के कुछ नागरिकों को ऐसा अनुभव हुआ कि ये असामान्य विपत्तियाँ अक्रूर की अनुपस्थिति से उत्पन्न हैं। वे यह भूल गये कि (जैसा अगले श्लोक में वर्णित है) द्वारका में भगवान् की उपस्थिति होने से ऐसा होना असम्भव था। जब भगवान् इस धरा पर आते हैं, तो उनकी लीलाएँ मनुष्यों जैसी होती हैं फलत: "लोकप्रियता से अवज्ञा पनपती है" वाला सिद्धान्त लागू होने लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक सन्तों के जीवन के दौरान तथा ईश्वर के अवतारों के समय कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो अपने बीच ऐसे महापुरुषों के पद की प्रशंसा नहीं कर पाते या केवल कभी कभी करते हैं। किन्तु दूसरी ओर, भाग्यशाली तथा प्रबुद्ध लोग, जो भगवान् तथा उनके पार्षदों की असली स्थिति से परिचित होते हैं, परम धन्य हैं।

इत्यङ्गोपदिशन्त्येके विस्मृत्य प्रागुदाहृतम् ।
मुनिवासनिवासे किं घटेतारिष्टदर्शनम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अङ्ग—हे प्रिय (राजा परीक्षित); उपदिशन्ति—प्रस्ताव कर रहे थे; एके—कुछ; विस्मृत्य—भूल कर; प्राक्—पूर्वकाल में; उदाहृतम्—कहा गया; मुनि—मुनियों के; वास—आवास में; निवासे—में रहते हुए; किम्—कैसे; घटेत—घटित हो सकती हैं; अरिष्ट—विपत्तियाँ; दर्शनम्—प्राकट्य।

कुछ लोगों ने प्रस्तावित तो किया [कि ये विपत्तियाँ अक्रूर की अनुपस्थिति के कारण हैं] : किन्तु वे भगवान् की उन महिमाओं को भूल गए थे, जिनका वर्णन वे प्राय: स्वयं किया करते थे। निस्सन्देह उस स्थान में विपत्तियाँ कैसे आ सकती हैं, जहाँ समस्त मुनियों के आश्रय रूप भगवान् निवास करते हों ?

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इस श्लोक के विषय में निम्नलिखित अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं। वाराणसी में अक्रूर सोने की वेदिका में यज्ञ करने तथा ब्राह्मणों को प्रभूत दान देने के लिए विख्यात हो गया। जब द्वारका के नागरिकों ने इसके विषय में सुना तो कुछ ने गप्प मारी कि कृष्ण ने अक्रूर को अपना प्रतिद्वन्द्वी समझ कर उसे निष्कासित कर दिया है। इस नवीन तथा अविश्वसनीय कलंक को मिटाने के लिए भगवान् कृष्ण ने द्वारका में अनेक विपत्तियों को जन्म दिया जिससे नागरिकों को अक्रूर की वापसी के लिए उत्प्रेरित किया जा सके। तब भगवान् ने इसकी आज्ञा दे दी।

देवेऽवर्षति काशीशः श्वफल्कायागताय वै ।
स्वसुतां गाण्दिनीं प्रादात्ततोऽवर्षत्स्म काशिषु ॥ २ ॥

शब्दार्थ

देवे—जब देवता, इन्द्र; अवर्षति—वर्षा नहीं करता था; काशी-ईशः—वाराणसी का राजा; श्वफल्काय—श्वफल्क (अक्रूर के पिता) को; आगताय—आये हुए; वै—निश्चय ही; स्व—अपनी; सुताम्—पुत्री; गान्दिनीम्—गान्दिनी को; प्रादात्—दे दिया; ततः—तब; अवर्षत्—वर्षा हुई; स्म—निस्सन्देह; काशिषु—काशी राज्य में।

[बड़े बूढ़ों ने कहा] : पूर्वकाल में जब इन्द्र ने काशी (बनारस) पर वर्षा करनी बन्द कर दी तो उस शहर के राजा ने अपनी पुत्री गान्दिनी श्वफल्क को दे दी जो उस समय उससे मिलने आया था। तब तुरन्त ही काशी राज्य में वर्षा हुई।

तात्पर्य : श्वफल्क अक्रूर का पिता था और नागरिकों ने सोचा कि पुत्र भी पिता की ही भाँति शक्तिसम्पन्न होगा। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि अक्रूर का सम्बन्ध काशी के राजा से था,

जो कि उसका नाना था, अत: विपत्ति के समय अक्रूर उस शहर को गया।

तत्सुतस्तत्प्रभावोऽसावक्रूरो यत्र यत्र ह ।
देवोऽभिवर्षते तत्र नोपतापा न मारीकाः ॥ ॥

शब्दार्थ

तत्—उसका (श्वफल्क का); सुतः—पुत्र; तत्-प्रभावः—उसकी शक्ति से सम्पन्न; असौ—वह; अक्रूरः—अक्रूर; यत्र यत्र—जहाँ जहाँ; ह—निस्सन्देह; देवः—इन्द्र; अभिवर्षते—वर्षा करेगा; तत्र—वहाँ; न—नहीं; उपतापाः—कष्टप्रद उत्पात; न—नहीं; मारिकाः—असामयिक मृत्युएँ।

जहाँ भी इन्द्र के ही समान शक्तिशाली उसका बेटा अक्रूर ठहरता है, वहीं वह पर्याप्त वर्षा करेगा। निस्सन्देह, वह स्थान समस्त कष्टों तथा असामयिक मृत्युओं से रहित हो जायेगा।

इति वृद्धवचः श्रुत्वा नैतावदिह कारणम् ।
इति मत्वा समानाय्य प्राहाक्रूरं जनार्दनः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; वृद्ध—वृद्धजनों के; वचः—शब्द; श्रुत्वा—सुनकर; न—नहीं; एतावत्—एकमात्र यह; इह—विचाराधीन बात का; कारणम्—कारण; इति—इस प्रकार; मत्वा—मान कर; समानाय्य—उसे वापस लाकर; प्राह—कहा; अक्रूरम्—अक्रूर से; जनार्दनः—भगवान् कृष्ण ने।

वृद्धजनों से ये वचन सुनकर भगवान् जनार्दन ने यह जानते हुए कि अपशकुनों का एकमात्र कारण अक्रूर की अनुपस्थिति नहीं थी, उन्हें द्वारका वापस बुलवाया और उनसे बोले।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् कृष्ण परम नियन्ता हैं इसलिए यह स्पष्ट था कि उन्हीं की इच्छा से द्वारका में कुछ उत्पात प्रकट हुए थे। ऊपर से ये उत्पात अक्रूर की अनुपस्थिति से उत्पन्न प्रतीत हो रहे थे और मंगलप्रद स्यमंतक मणि की अनुपस्थिति से भी। किन्तु हमें स्मरण रखना होगा कि द्वारका भगवान् कृष्ण का नित्य धाम है। यह दैवी आनन्द की नगरी है क्योंकि यहाँ भगवान् निवास करते हैं। फिर भी इस जगत के राजकुमार के रूप में अपनी लीलाएँ करने के लिए कृष्ण ने जो आवश्यक था उसे किया और अक्रूर को वापस बुलवा भेजा।

पूजयित्वाभिभाष्यैनं कथयित्वा प्रियाः कथाः ।
विज्ञाताखिलचित्त ज्ञः स्मयमान उवाच ह ॥ ५ ॥
ननु दानपते न्यस्तस्त्वय्यास्ते शतधन्वना ।
स्यमन्तको मणिः श्रीमान् विदितः पूर्वमेव नः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

पूजयित्वा—आदर करके; अभिभाष्य—सत्कार करके; एनम्—उसको (अक्रूर को); कथयित्वा—विचार-विमर्श करके; प्रियाः—मधुर; कथाः—कथाएँ; विज्ञात—पूर्णतया अवगत; अखिल—सारी बातों का; चित्त—(अक्रूर का) हृदय; ज्ञः—जानने वाले; स्मयमानः—हँसते हुए; उवाच ह—कहा; ननु—निश्चय ही; दान—दान के; पते—हे स्वामी; न्यस्तः—रखा गया; त्वयि—तुम्हारे संरक्षण में; आस्ते—है; शतधन्वना—शतधन्वा द्वारा; स्यमन्तकः मणिः—स्यमंतक मणि; श्री-मान्—ऐश्वर्यवान्; विदितः—ज्ञात; पूर्वम्—पहले ही; एव—निस्सन्देह; नः—हमारे द्वारा।

भगवान् कृष्ण ने अक्रूर का स्वागत-सत्कार किया, उनका गोपनीय तौर पर अभिवादन किया और उनसे मधुर शब्द कहे। तब हर बात जानने वाले होने के कारण भगवान्, जो कि अक्रूर के हृदय से भलीभाँति अवगत थे, हँसे और उनको सम्बोधित किया, ''हे दानपति, अवश्य ही वह ऐश्वर्यशाली स्यमन्तक मणि शतधन्वा तुम्हारे संरक्षण में छोड़ गया था और अब भी तुम्हारे पास है। असल में, हम इसे लगातार जानते रहे हैं।''

तात्पर्य : अक्रूर के साथ भगवान् कृष्ण का जो बर्ताव है उससे पुष्टि होती है कि वे (सचमुच) भगवान् के महान् भक्त हैं।

सत्राजितोऽनपत्यत्वाद्गृह्णीयुर्दुहितुः सुताः ।
दायं निनीयापः पिण्डान्विमुच्यर्णं च शेषितम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

सत्राजितः—सत्राजित के; अनपत्यत्वात्—पुत्ररहित होने से; गृह्णीयुः—लेना चाहिए; दुहितुः—उसकी पुत्री के; सुताः—पुत्रों को; दायम्—उत्तराधिकार; निनीय—अर्पित करके; आपः—जल; पिण्डान्—तथा पिंडदान; विमुच्य—ऋण चुका कर; ऋणम्—ऋण, कर्जा; च—तथा; शेषितम्—शेष।

''चूँकि सत्राजित के कोई पुत्र नहीं है, अतः उसकी पुत्री के पुत्र उसके उत्तराधिकारी होंगे। उन्हें ही श्राद्ध के निमित्त तर्पण तथा पिण्डदान करना चाहिए, अपने नाना का ऋण चुकता करना चाहिए और शेष धन अपने लिए रखना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने उत्तराधिकार से सम्बन्धित निम्नलिखित स्मृति आदेश उद्धृत किया है—*पत्नी दुहितरश्चैव पितरो भ्रातरस्तथा। तत्सुता गोत्रजा बन्धुः शिष्याः सब्रह्मचारिणः*—पहली उत्तराधिकारिणी पत्नी है, फिर (उसके मरने पर) पुत्रियाँ तब माता-पिता और फिर भाई और तब भाई के पुत्र, तब मरने वाले के ही गोत्र वाले पारिवारिक जन और अन्त में ब्रह्मचारी सहित शिष्यगण।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती यह कहते हैं कि चूँकि सत्राजित के कोई पुत्र न था और उसकी पत्नियाँ उसी के साथ मार डाली गई थीं और चूँकि उसकी पुत्री सत्यभामा को स्यमंतक मणि में कोई रुचि न

थी यद्यपि वह वैध उत्तराधिकारिणी थी इसलिए यह उसके पुत्रों की उचित सम्पत्ति थी।

श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् श्रीकृष्ण* में व्याख्या की है, ''इस कथन के द्वारा भगवान् कृष्ण ने संकेत किया कि सत्यभामा पहले से गर्भवती है और उसका पुत्र ही इस मणि का असली दावेदार होगा और वही इस मणि को अक्रूर से लेगा (यदि उन्होंने इसे छिपाने का प्रयत्न किया)।''

तथापि दुर्धरस्त्वन्यैस्त्वय्यास्तां सुव्रते मणिः ।
किन्तु मामग्रजः सम्यङ्न प्रत्येति मणिं प्रति ॥ ८ ॥
दर्शयस्व महाभाग बन्धूनां शान्तिमावह ।
अव्युच्छिन्ना मखास्तेऽद्य वर्तन्ते रुक्मवेदयः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तथा अपि—तो भी; दुर्धरः—धारण करना असम्भव; तु—लेकिन; अन्यैः—दूसरों के द्वारा; त्वयि—तुम्हारे पास; आस्ताम्—रहना चाहिए; सुव्रते—हे विश्वसनीय व्रतधारी; मणिः—मणि; किन्तु—केवल; मम्—मुझ पर; अग्र-जः—मेरे बड़े भाई; सम्यक्—पूरी तरह; न प्रत्येति—विश्वास करते हैं; मणिम् प्रति—मणि के सम्बन्ध में; दर्शयस्व—इसे दिखला दो; महा-भाग—हे परम भाग्यशाली; बन्धूनाम्—मेरे सम्बन्धियों को; शान्तिम्—शान्ति; आवह—लाओ; अव्युच्छिन्नाः—अविच्छिन्न; मखाः—यज्ञ; ते—तुम्हारे; अद्य—अब; वर्तन्ते—चल रहे हैं; रुक्म—सोने की; वेदयः—वेदियों वाले।

''तो भी, हे विश्वासपात्र अक्रूर, यह मणि तुम्हारे संरक्षण में रहना चाहिए क्योंकि अन्य कोई इसे सुरक्षित नहीं रख सकता। बस एक बार यह मणि दिखला दो क्योंकि मैंने इसके विषय में अपने अग्रज से जो कुछ कहा है वे उस पर पूरी तरह विश्वास नहीं करते। इस तरह हे परम भाग्यशाली, तुम मेरे सम्बन्धियों को शान्त कर सकोगे। [हर व्यक्ति जानता है कि मणि तुम्हारे पास है क्योंकि] तुम इस समय लगातार सोने की बनी वेदिकाओं में यज्ञ सम्पन्न कर रहे हो।''

तात्पर्य : यद्यपि शास्त्रीय विधि के अनुसार इस मणि पर सत्यभामा के पुत्रों का अधिकार था, तो भी कृष्ण ने उसे अक्रूर के संरक्षण में रहने देने का निश्चय किया क्योंकि वे मणि की सम्पत्ति से निरन्तर धार्मिक यज्ञ कर रहे थे। निस्सन्देह, सोने की वेदिकाओं पर यज्ञ करने की अक्रूर की क्षमता मणि की शक्ति का सूचक है।

एवं सामभिरालब्धः श्वफल्कतनयो मणिम् ।
आदाय वाससाच्छन्नः ददौ सूर्यसमप्रभम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सामभिः—समन्वयात्मक, सन्धिपूर्ण; आलब्धः—धिक्कारा हुआ; श्वफल्क-तनयः—श्वफल्क का पुत्र; मणिम्—स्यमन्तक मणि को; आदाय—लेकर; वाससा—अपने वस्त्र में; आच्छन्नः—छिपाया हुआ; ददौ—दे दिया; सूर्य—सूर्य के; सम—समान; प्रभम्—तेज।

इस तरह भगवान् कृष्ण के समन्वयात्मक शब्दों से लज्जित होकर श्वफल्क-पुत्र उस मणि को वहाँ से निकाल कर ले आया जहाँ उसने अपने वस्त्रों में छिपा रखा था और उसे भगवान् को दे दिया। यह चमकीला मणि सूर्य की तरह चमक रहा था।

तात्पर्य : इस अध्याय में हम यह देख सकते हैं कि किस तरह मूल्यवान मणि ने इतना उत्पात, हिंसा तथा कष्ट उत्पन्न किया। यह उन लोगों के लिए निश्चय ही अच्छा सबक है, जो बाधारहित आध्यात्मिक जीवन बिताने के इच्छुक हैं।

स्यमन्तकं दर्शयित्वा ज्ञातिभ्यो रज आत्मनः ।
विमृज्य मणिना भूयस्तस्मै प्रत्यर्पयत्प्रभुः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

स्यमन्तकम्—स्यमन्तक मणि को; दर्शयित्वा—दिखलाकर; ज्ञातिभ्यः—अपने सम्बन्धियों को; रजः—कल्मष; आत्मनः—अपने (झूठा थोपा हुआ); विमृज्य—पोंछ कर; मणिना—मणि से; भूयः—पुनः; तस्मै—उसको, अक्रूर को; प्रत्यर्पयत्—दे दिया; प्रभुः—भगवान् ने।

अपने सम्बन्धियों को स्यमन्तक मणि दिखला चुकने के बाद सर्वशक्तिमान भगवान् ने अपने विरुद्ध लगे झूठे आक्षेपों को दूर करते हुए उसे अक्रूर को लौटा दिया।

तात्पर्य : यह दूसरी बार है कि स्यमंतक मणि को लेकर भगवान् की ख्याति पर जो बट्टा लगा था उसे मणि के द्वारा ही दूर किया गया। निस्सन्देह भगवान् दूसरी बार वह मणि अपनी सच्चरित्रता सिद्ध करने के लिए द्वारका लाये। घटनाओं की यह विस्मयजनक शृंखला प्रदर्शित करती है कि जब भगवान् इस धरा पर अवतरित होते हैं, तो उनके ''समकक्षों'' में उनकी आलोचना करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। सारा भौतिक संसार छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति से दूषित है और इस अध्याय में भगवान् इसी अवाञ्छनीय गुण के स्वभाव को प्रदर्शित करते हैं।

यस्त्वेतद्भगवत ईश्वरस्य विष्णो-
वीर्याढ्यं वृजिनहरं सुमङ्गलं च ।
आख्यानं पठति शृणोत्यनुस्मरेद्वा
दुष्कीर्तिं दुरितमपोह्य याति शान्तिम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

यः—जो भी; तु—निस्सन्देह; एतत्—यह; भगवतः—भगवान् का; ईश्वरस्य—परम नियन्ता; विष्णोः—विष्णु का; वीर्य—पराक्रम से; आढ्यम्—समृद्ध; वृजिन—पापपूर्ण फल; हरम्—दूर करने वाला; सु-मङ्गलम्—अत्यन्त शुभ; च—तथा; आख्यानम्—कथानक; पठति—पढ़ता है; शृणोति—सुनता है; अनुस्मरेत्—स्मरण करता है; वा—अथवा; दुष्कीर्तिम्—अपकीर्ति; दुरितम्—तथा पाप को; अपोह्य—दूर करके; याति—प्राप्त करता है; शान्तिम्—शान्ति।

यह आख्यान, जो भगवान् विष्णु के पराक्रम के वर्णनों से युक्त है, पापपूर्ण फलों को दूर करता है और समस्त मंगल प्रदान करता है। जो कोई भी इसे पढ़ता, सुनता या स्मरण करता है, वह अपनी अपकीर्ति तथा पापों को भगा सकेगा और शान्ति प्राप्त करेगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत "सत्राजित की हत्या और मणि की वापसी" नामक सत्तावनवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अट्ठावन

श्रीकृष्ण का पाँच राजकुमारियों से विवाह

इस अध्याय में बतलाया गया है कि भगवान् कृष्ण ने किस तरह कालिन्दी इत्यादि पाँच राजकुमारियों से विवाह किया और फिर पाण्डवों से मिलने इन्द्रप्रस्थ गये।

जब पाँचों पाण्डव अपना अज्ञातवास पूरा कर चुके तो भगवान् कृष्ण सात्यकि इत्यादि यदुओं के साथ उन्हें मिलने इन्द्रप्रस्थ गये। पाण्डवों ने भगवान् का सत्कार किया और बड़े ही आनन्द से उनका आलिंगन किया। पाण्डवों की नवविवाहिता पत्नी द्रौपदी लजाती हुई कृष्ण के पास आई और उसने उन्हें नमस्कार किया। तब पाण्डवों ने सात्यकि तथा भगवान् के अन्य संगियों को आसन प्रदान किया और समुचित रीति से स्वागत-सत्कार किया।

भगवान् कृष्ण महारानी कुन्ती से भेंट करने गये। उन्होंने उन्हें प्रणाम किया। उसके बाद दोनों ने एक-दूसरे से उनके कुटुम्बियों के बारे में पूछताछ की। कुन्तीदेवी ने अपने तथा अपने पुत्रों के ऊपर दुर्योधन द्वारा ढाई जाने वाली विविध विपत्तियों को बतलाया और कहा कि कृष्ण ही उनके एकमात्र रक्षक हैं। उन्होंने कहा, "आप सारे ब्रह्माण्ड के शुभचिन्तक हैं और यद्यपि आप "मेरा और पराया" के मोह से मुक्त हैं, तो भी आप उन लोगों के हृदयों में वास करते हैं, जो आपका निरन्तर ध्यान करते हैं और हृदय के भीतर से ही उनके सारे कष्टों को नष्ट कर देते हैं।" तत्पश्चात् युधिष्ठिर ने कृष्ण से कहा,

''चूँकि हमने अनेक शुभ कार्य किये हैं केवल इसीलिए हम आपके चरणकमल देख पाने में समर्थ हो सके हैं, जिन्हें बड़े बड़े योगी भी नहीं प्राप्त कर पाते।'' राजा युधिष्ठिर से सम्मानित होते हुए श्रीकृष्ण अतिथि के रूप में कई महीनों तक सुखपूर्वक इन्द्रप्रस्थ में रहते रहे।

एक दिन कृष्ण तथा अर्जुन शिकार करने जंगल गये। यमुना नदी में स्नान करते हुए उन्होंने एक सुन्दर युवती देखी। कृष्ण के कहने पर अर्जुन उसके पास गये और उससे पूछा कि वह कौन है। उस सुन्दरी ने उत्तर दिया, ''मैं सूर्यपुत्री कालिन्दी हूँ। मैं भगवान् विष्णु को पति रूप में पाने की आशा से कठोर तपस्या करती रही हूँ। मैं किसी अन्य को पति रूप में स्वीकार नहीं करूँगी और जब तक वे मुझसे विवाह नहीं करते मैं यमुना में ही अपने पिता द्वारा बनवाये घर में रहूँगी।'' जब अर्जुन ने ये सारी बातें सर्वज्ञ कृष्ण को बतलाईं तो वे कालिन्दी को अपने रथ पर ले आये और तब तीनों व्यक्ति युधिष्ठिर के निवासस्थान में लौट गये।

बाद में पाण्डवों ने कृष्ण से अनुरोध किया कि वे उनके लिए एक नगर बनवा दें। उन्होंने देवताओं के शिल्पी विश्वकर्मा को भेजकर एक अत्यन्त आकर्षक नगरी तैयार करा दी। वहाँ अपने भक्तों के साथ कुछ काल तक रह कर भगवान् ने उन्हें तुष्ट किया। फिर अग्नि देवता को प्रसन्न करने के लिए कृष्ण ने अग्नि को खाण्डव वन देने की व्यवस्था की। कृष्ण ने अर्जुन से उस जंगल को जला डालने के लिए कहा और वे अर्जुन के साथ सारथी बन कर गए। अग्नि इस भेंट से इतना प्रसन्न हुआ कि उसने अर्जुन को गाण्डीव धनुष, घोड़े, रथ, दो तूणीर तथा एक तरकस दिये। जब खाण्डव वन जल रहा था, तो अर्जुन ने मय नामक दानव को लपटों से बचाया। उसने भी बदले में अर्जुन के लिए एक शानदार महल तैयार किया। इसी महल में दुर्योधन को बाद में तालाब-तल के स्थान पर ठोस फर्श का भ्रम हुआ जिससे वह खूब गीला हुआ और परेशान हुआ।

इसके बाद कृष्ण ने अर्जुन तथा उनके अन्य सम्बन्धियों से विदा ली और अपने परिचरों सहित द्वारका लौट गये। वहाँ उन्होंने कालिन्दी से विवाह कर लिया। कुछ काल बाद वे अवन्तीपुर गये जहाँ अनेक राजाओं की उपस्थिति में उन्होंने अवन्तीराज की बहन मित्रविन्दा का अपहरण किया। वह उनके प्रति आकृष्ट थी।

अयोध्या में नग्नजित नाम का एक भक्त राजा था। उसकी कन्या अतीव सुन्दर एवं विवाह के योग्य

थी। उसका नाम सत्या या नाग्नजिती था। इस कन्या के सम्बन्धियों ने एक प्रतिज्ञा रखी थी कि जो भी व्यक्ति सात भयानक बैलों के समूह को वश में कर लेगा उसी के साथ उस कन्या का विवाह कर दिया जायेगा। जब कृष्ण ने इस राजकुमारी के विषय में सुना तो वे अपने साथ सैनिकों की एक विशाल टोली लेकर अयोध्या गये। राजा नग्नजित ने उनका सभी प्रकार से सत्कार किया और विविध भेंटों से उनकी हर्षपूर्वक पूजा की। जब सत्या ने कृष्ण को देखा तो वह तुरन्त उन्हें पति रूप में चाहने लगी। राजा नग्नजित अपनी पुत्री के मनोभाव जान गया तो उसने अपनी इच्छा के बारे में कृष्ण को अवगत कराते हुए प्रस्ताव रखा कि कृष्ण के साथ उसकी पुत्री का विवाह हो जाय। उसने कृष्ण से स्नेहपूर्वक कहा, ''अकेले आप ही मेरी पुत्री के उपयुक्त पति होंगे और यदि आप सातों बैलों को वश में कर लेंगे तो आप अवश्य ही उससे विवाह कर सकेंगे।''

तब कृष्ण सात पृथक्-पृथक् रूपों में प्रकट हुए और सातों बैलों को वश में कर लिया। राजा नग्नजित ने उन्हें यथोचित विधि से अपनी पुत्री समर्पित कर दी और साथ में प्रचुर उपहारों से युक्त पर्याप्त दहेज भी दिया। भगवान् ने सत्या को अपने रथ पर बैठाया और द्वारका के लिए चल पड़े। तभी बैलों से पराजित प्रतिद्वन्द्वी राजाओं ने भगवान् कृष्ण पर आक्रमण करना चाहा किन्तु अर्जुन ने उन सबों को पछाड़ दिया और कृष्ण नाग्नजिती के साथ द्वारका के लिए रवाना हो गये।

बाद में श्रीकृष्ण ने भद्रा को स्वयंवर उत्सव में से अपहरण करके उसके साथ विवाह किया। इसी तरह उन्होंने मद्र के राजा की पुत्री लक्ष्मणा के साथ भी विवाह किया।

श्रीशुक उवाच
एकदा पाण्डवान्द्रष्टुं प्रतीतान्पुरुषोत्तमः ।
इन्द्रप्रस्थं गतः श्रीमान्युयुधानादिभिर्वृतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एकदा—एक बार; पाण्डवान्—पाण्डु-पुत्रों को; द्रष्टुम्—देखने के लिए; प्रतीतान्—दृश्य; पुरुष-उत्तमः—भगवान्; इन्द्रप्रस्थम्—इन्द्रप्रस्थ, पाण्डवों की राजधानी; गतः—गये; श्री-मान्—समस्त ऐश्वर्य के स्वामी; युयुधान-आदिभिर्—युयुधान (सात्यकि) तथा अन्यों से; वृतः—घिर कर।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : एक बार परम ऐश्वर्यवान भगवान् पाण्डवों को देखने के लिए इन्द्रप्रस्थ गये जो पुनः जनता के बीच प्रकट हो चुके थे। भगवान् के साथ युयुधान तथा अन्य संगी थे।

तात्पर्य : कृष्ण तथा बलराम को छोड़कर प्राय: हर व्यक्ति यही सोचता था कि पाण्डवों की मृत्यु दुर्योधन द्वारा लाक्षागृह में लगाई गई आग से हो चुकी है। चूँकि अब पाण्डव फिर से जनता के बीच प्रकट हो चुके थे, अत: कृष्ण उनसे भेंट करने गये।

दृष्ट्वा तमागतं पार्था मुकुन्दमखिलेश्वरम् ।
उत्तस्थुर्युगपद्वीराः प्राणा मुख्यमिवागतम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; तम्—उस; आगतम्—आया हुआ; पार्थाः—पृथा (कुन्ती) के पुत्र; मुकुन्दम्—कृष्ण को; अखिल—हर वस्तु के; ईश्वरम्—स्वामी; उत्तस्थुः—उठ खड़े हुए; युगपत्—एकसाथ; वीरः—वीरगण; प्राणाः—इन्द्रियाँ; मुख्यम्—मुख्य, प्राण को; इव—मानो; आगतम्—वापस आ गया।

जब पाण्डवों ने देखा कि भगवान् मुकुन्द आए हैं, तो पृथा के वे वीर पुत्र एकसाथ उसी तरह उठ खड़े हुए जिस तरह इन्द्रियाँ प्राण के वापस आने पर सचेत हो उठती हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर प्रयुक्त उपमा अत्यन्त कवित्वमय है। जब कोई व्यक्ति बेहोश होता है, तो इन्द्रियाँ कार्य नहीं करतीं किन्तु जब शरीर में चेतना लौट आती है, तो सारी इन्द्रियों में तत्क्षण प्राण दौड़ जाता है और वे कार्य करने लगती हैं। इसी प्रकार अपने स्वामी श्रीकृष्ण का स्वागत करने के लिए सचेत होकर सारे पाण्डव तुरन्त उठ खड़े हुए।

परिष्वज्याच्युतं वीरा अङ्गसङ्गहतैनसः ।
सानुरागस्मितं वक्त्रं वीक्ष्य तस्य मुदं ययुः ॥ ॥

शब्दार्थ

परिष्वज्य—आलिंगन करके; अच्युतम्—कृष्ण को; वीराः—उन वीरों ने; अङ्ग—उनके शरीर के; सङ्ग—स्पर्श से; हत—विनष्ट; एनसः—उनके सारे पापकर्म; स-अनुराग—स्नेहिल; स्मितम्—हँसी के साथ; वक्त्रम्—मुखमंडल को; वीक्ष्य—देखकर; तस्य—उसका; मुदम्—हर्ष; ययुः—अनुभव किया।

इन वीरों ने भगवान् अच्युत का आलिंगन किया और उनके शरीर के स्पर्श से उन सबों के पाप दूर हो गये। उनके स्नेहिल, हँसी से युक्त मुखमण्डल को देख कर वे सब हर्ष से अभिभूत हो गये।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि चूँकि पाण्डव कभी भी पापयुक्त नहीं थे अत: *एनस:* शब्द कृष्ण के वियोग से उत्पन्न पीड़ा का द्योतक है। अब वही दुख भगवान् के आने से दूर हो गया था।

युधिष्ठिरस्य भीमस्य कृत्वा पादाभिवन्दनम् ।
फाल्गुनं परिरभ्याथ यमाभ्यां चाभिवन्दितः ॥ ४॥

शब्दार्थ

युधिष्ठिरस्य भीमस्य—युधिष्ठिर तथा भीम के; कृत्वा—करके; पाद—पाँवों का; अभिवन्दनम्—नमस्कार; फाल्गुनम्—अर्जुन को; परिरभ्य—जोर से आलिंगन करके; अथ—तब; यमाभ्याम्—जुड़वा भाइयों, नकुल तथा सहदेव द्वारा; च—तथा; अभिवन्दितः—सादर सत्कार किये जाकर।

युधिष्ठिर तथा भीम के चरणों पर सादर नमस्कार करने तथा अर्जुन का प्रगाढ़ आलिंगन करने के बाद उन्होंने नकुल तथा सहदेव जुड़वाँ भाइयों का नमस्कार स्वीकार किया।

तात्पर्य : बाहर से कृष्ण पाण्डवों के ममेरे भाई थे और उनका सम्बन्ध ममेरे-फुफेरे भाइयों जैसा था। चूँकि युधिष्ठिर तथा भीम कृष्ण से बड़े थे अतः भगवान् ने उनके चरणों पर नमन किया किन्तु अपने समकक्ष अर्जुन का आलिंगन किया और छोटे भाइयों नकुल तथा सहदेव का नमस्कार स्वीकार किया। कभी कभी अनुभवहीन भक्तगण सोचते हैं कि कृष्णभावनामृत में बड़े भाई के सामने झुकना या उसका सम्मान करना पाप है। किन्तु कृष्ण के उदाहरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि कृष्णभावनामृत में ज्येष्ठ भ्राता का आदर करना पापमय नहीं है।

परमासन आसीनं कृष्णा कृष्णमनिन्दिता ।
नवोढा व्रीडिता किञ्चिच्छनैरेत्याभ्यवन्दत ॥ ५॥

शब्दार्थ

परम—उच्च; आसने—आसन पर; आसीनम्—बैठे हुए; कृष्णा—द्रौपदी ने; कृष्णम्—कृष्ण को; अनिन्दिता—दोषरहित; नव—हाल ही की; ऊढा—विवाहिता; व्रीडिता—लजीली; किञ्चित्—कुछ कुछ; शनैः—धीरे धीरे; एत्य—पास आकर; अभ्यवन्दत—नमस्कार किया।

पाण्डवों की नवविवाहिता पत्नी, जो कि दोषरहित थी, धीरे धीरे तथा कुछ कुछ लजाते हुए भगवान् कृष्ण के पास आई, जो उस समय उच्च आसन पर बैठे थे और उन्हें नमस्कार किया।

तात्पर्य : श्रीमती द्रौपदी कृष्ण के प्रति इतनी अनुरक्त थीं कि उनका नाम ही कृष्णा था, जो कृष्ण नाम का स्त्रीलिंग रूप है। इसी तरह अर्जुन भी कृष्ण के प्रति अनुराग के कारण कृष्ण कहलाते थे। इसी प्रकार से आधुनिक कृष्णभावनामृत आन्दोलन के भक्तगण प्रायः "कृष्ण" कहलाते हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण के भक्तों को उनके नाम से पुकारने की प्रथा बहुत पुरानी है।

**तथैव सात्यकिः पार्थैः पूजितश्चाभिवन्दितः ।
निषसादासनेऽन्ये च पूजिताः पर्युपासत ॥ ६ ॥**

शब्दार्थ

तथा एव—इसी तरह; सात्यकिः—सात्यकि; पार्थैः—पृथा के पुत्रों द्वारा; पूजितः—पूजित; च—तथा; अभिवन्दितः—स्वागत किया गया; निषसाद—बैठ गया; आसने—आसन पर; अन्ये—अन्य लोग; च—तथा; पूजिताः—पूजित; पर्युपासत—चारों ओर बैठ गये।

सात्यकि ने भी पाण्डवों से पूजा तथा स्वागत प्राप्त करके सम्मानजनक आसन ग्रहण किया और भगवान् के अन्य संगी भी उचित सम्मान पाकर विविध स्थानों पर बैठ गये।

**पृथाम्समागत्य कृताभिवादन-
स्तयातिहार्दार्द्रदृशाभिरम्भितः ।
आपृष्टवांस्तां कुशलं सहस्नुषां
पितृष्वसारम्परिपृष्टबान्धवः ॥ ७ ॥**

शब्दार्थ

पृथाम्—महारानी कुन्ती तक; समागत्य—जाकर; कृत—करके; अभिवादनः—अपना नमस्कार; तया—उनके द्वारा; अति—अत्यन्त; हार्द—स्नेहपूर्वक; आर्द्र—नम; दृशा—जिनकी आँखें; अभिरम्भितः—आलिंगन किया; आपृष्टवान्—उन्होंने पूछा; ताम्—उनसे; कुशलम्—उनकी कुशलता के बारे में; सह—साथ; स्नुषाम्—अपनी पुत्रवधू द्रौपदी के साथ; पितृ—अपने पिता वसुदेव की; स्वसारम्—बहिन; परिपृष्ट—विस्तार से पूछा; बान्धवः—उनके सम्बन्धियों के (द्वारका में रह रहे) बारे में।

तब भगवान् अपनी बुआ महारानी कुन्ती को देखने गये। वे उनके समक्ष झुके और उन्होंने उनका आलिंगन किया, तो अति स्नेह से उनकी आँखें नम हो गईं। भगवान् कृष्ण ने उनसे तथा उनकी पुत्रवधू द्रौपदी से उनकी कुशलता पूछी और उन्होंने भगवान् से उनके सम्बन्धियों (द्वारका के) के विषय में पूछा।

तात्पर्य : विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर यह कल्पना करते हैं कि चूँकि भगवान् कृष्ण आसन पर बैठे थे अतएव उन्होंने अपनी बुआ कुन्ती को अतीव उत्सुकतापूर्वक उनको मिलने के लिए आते देखा। तब वे तुरन्त उठ खड़े हुए, तेजी से उनके पास गये और उन्हें नमस्कार किया। उनकी आँखें अत्यधिक प्रेम के कारण आर्द्र हो उठीं, उन्होंने उनका आलिंगन किया और उनका सिर सूँघा।

**तमाह प्रेमवैक्लव्यरुद्धकण्ठाश्रुलोचना ।
स्मरन्ती तान्बहून्क्लेशान्क्लेशापायात्मदर्शनम् ॥ ८ ॥**

शब्दार्थ

तम्—उनसे; आह—कहा; प्रेम—प्रेम का; वैक्लव्य—शोक के कारण; रुद्ध—अवरुद्ध; कण्ठा—कण्ठ वाली; अश्रु—आँसुओं से (पूरित); लोचना—आँखों वाली; स्मरन्ती—स्मरण करती; तान्—उन; बहून्—अनेक; क्लेशान्—क्लेशों को; क्लेश—क्लेश; अपाय—दूर करने के लिए; आत्म—स्वयं; दर्शनम्—दर्शन देने वाले।

महारानी कुन्ती प्रेम से इतनी अभिभूत हो गयी कि उनका गला रुँध गया और उनकी आँखें आँसुओं से भर गईं। उन्होंने उन तमाम कष्टों का स्मरण किया जिसे उन्होंने तथा उनके पुत्रों ने सहा था। इस तरह उन्होंने भगवान् कृष्ण को सम्बोधित करते हुए कहा जो अपने भक्तों के समक्ष उनका कष्ट भगाने के लिए प्रकट होते हैं।

तदैव कुशलं नोऽभूत्सनाथास्ते कृता वयम् ।
ज्ञतीन्नः स्मरता कृष्ण भ्राता मे प्रेषितस्त्वया ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; एव—केवल; कुशलम्—कुशल-क्षेम; नः—हमारी; अभूत्—हो गई; स—सहित; नाथाः—रक्षक; ते—तुम्हारे द्वारा; कृताः—निर्मित; वयम्—हम; ज्ञातीन्—तुम्हारे सम्बन्धी; नः—हमको; स्मरता—जिन्होंने स्मरण किया; कृष्ण—हे कृष्ण; भ्राता—भाई (अक्रूर); मे—मेरा; प्रेषितः—भेजा गया; त्वया—तुम्हारे द्वारा।

[महारानी कुन्ती ने कहा] : हे कृष्ण, हमारी कुशल-मंगल तो तभी आश्वस्त हो गई जब आपने अपने सम्बन्धियों का अर्थात् हमारा स्मरण किया और मेरे भाई (अक्रूर को) को हमारे पास भेज कर हमें अपना संरक्षण प्रदान किया।

न तेऽस्ति स्वपरभ्रान्तिर्विश्वस्य सुहृदात्मनः ।
तथापि स्मरतां शश्वत्क्लेशान्हंसि हृदि स्थितः ॥ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ते—तुम्हारे लिए; अस्ति—है; स्व—अपना; पर—तथा दूसरों का; भ्रान्तिः—भ्रम; विश्वस्य—ब्रह्माण्ड का; सुहृत्—शुभचिन्तक; आत्मनः—तथा आत्मा के लिए; तथा अपि—तो भी; स्मरताम्—स्मरण करने वाले के; शश्वत्—निरन्तर; क्लेशान्—क्लेशों को; हंसि—नष्ट करते हो; हृदि—हृदय में; स्थितः—स्थित।

आप जो कि ब्रह्माण्ड के शुभचिन्तक मित्र एवं परमात्मा हैं उनके लिए "अपना" तथा "पराया" का कोई मोह नहीं रहता। तो भी, सबों के हृदयों में निवास करने वाले आप उनके कष्टों को समूल नष्ट कर देते हैं, जो निरन्तर आपका स्मरण करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर बुद्धिमान कुन्ती यह इंगित करती हैं कि यद्यपि भगवान् कृष्ण उनके साथ सम्बन्धी जैसा स्नेहपूर्ण बर्ताव कर रहे हैं किन्तु वे ब्रह्माण्ड के शुभचिन्तक आत्मा के रूप में अपने पद के साथ कोई समझौता नहीं कर रहे हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् पक्षपात नहीं करते। जैसाकि वे *भगवद्गीता* (९.२९) में कहते हैं—*समोऽहं सर्वभूतेषु*—मैं सबों के लिए समान हूँ। अतः जब भगवान् सारी आत्माओं के साथ प्रतिदान करते हैं, तो यह स्वाभाविक है कि जो उनसे उत्कटता से प्रेम करते हैं,

वे विशेष ध्यानआकर्षण कर लेते हैं क्योंकि वे उन्हीं को चाहते हैं, अन्य किसी को नहीं।

युधिष्ठिर उवाच
किं न आचरितं श्रेयो न वेदाहमधीश्वर ।
योगेश्वराणां दुर्दर्शो यन्नो दृष्टः कुमेधसाम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

युधिष्ठिरः उवाच—युधिष्ठिर ने कहा; किम्—क्या; नः—हमारे द्वारा; आचरितम्—किया गया; श्रेयः—पुण्य-कर्म; न वेद—नहीं जानता; अहम्—मैं; अधीश्वर—हे परम नियन्ता; योग—योग के; ईश्वराणाम्—स्वामियों द्वारा; दुर्दर्शः—विरले ही दिखने वाला; यत्—वह; नः—हमारे द्वारा; दृष्टः—देखा हुआ; कु-मेधसम्—अज्ञानियों द्वारा।

राजा युधिष्ठिर ने कहा : हे परम नियन्ता, मैं नहीं जानता कि हम मूर्खों ने कौन से पुण्य-कर्म किये हैं कि आपका दर्शन पा रहे हैं जिसे बड़े बड़े विरले योगेश्वर ही कर पाते हैं।

इति वै वार्षिकान्मासान्राज्ञा सोऽभ्यर्थितः सुखम् ।
जनयन्नयनानन्दमिन्द्रप्रस्थौकसां विभुः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; वै—निस्सन्देह; वार्षिकान्—वर्षा ऋतु के; मासान्—महीने; राज्ञा—राजा द्वारा; सः—वह; अभ्यर्थितः—अनुरोध किया गया; सुखम्—सुखपूर्वक; जनयन्—उत्पन्न करते हुए; नयन—आँखों के लिए; आनन्दम्—आनन्द; इन्द्रप्रस्थ-ओकसाम्—इन्द्रप्रस्थ के निवासियों के; विभुः—सर्वशक्तिमान प्रभु।

जब राजा ने भगवान् कृष्ण को सबों के साथ रहने का अनुरोध किया, तो वर्षा ऋतु के महीनों में नगर के निवासियों के नेत्रों को आनन्द प्रदान करते हुए भगवान् सुखपूर्वक इन्द्रप्रस्थ में रहते रहे।

तात्पर्य : *भागवत* के पाठकों को चाहिए कि यदि सम्भव हो तो संस्कृत श्लोकों का सही सही उच्चारण करने का प्रयास करें क्योंकि ये अत्यन्त काव्यमय हैं।

एकदा रथमारुह्य विजयो वानरध्वजम् ।
गाण्डीवं धनुरादाय तूणौ चाक्षयसायकौ ॥ १ ॥
साकं कृष्णेन सन्नद्धो विहर्तुं विपिनं महत् ।
बहुव्यालमृगाकीर्णं प्राविशत्परवीरहा ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; रथम्—रथ में; आरुह्य—सवार होकर; विजयः—अर्जुन; वानर—बन्दर (हनुमान); ध्वजम्—जिसकी ध्वजा में; गाण्डीवम्—अपना गाण्डीव; धनुः—धनुष; आदाय—लेकर; तूणौ—दो तरकस; च—तथा; अक्षय—न चुकने वाले; सायकौ—बाण; साकम्—साथ; कृष्णेन—कृष्ण के; सन्नद्धः—कवच पहन कर; विहर्तुम्—आखेट करने; विपिनम्—जंगल

में; महत्—विशाल; बहु—अनेक; व्याल-मृग—शिकारी पशु; आकीर्णम्—भरे हुए; प्राविशत्—घुसा; पर—शत्रु; वीर—वीरों का; हा—मारने वाला।

एक बार बलशाली शत्रुओं का हन्ता अर्जुन अपना कवच पहन कर, हनुमान से चिन्हित ध्वजा वाले अपने रथ पर सवार होकर, अपना धनुष तथा दो अक्षय तरकस लेकर, भगवान् कृष्ण के साथ एक विशाल जंगल में शिकार खेलने गया जो हिंस्र पशुओं से परिपूर्ण था।

तात्पर्य : यह घटना अवश्य ही खाण्डव वन के दहन के बाद की होगी क्योंकि अब अर्जुन गाण्डीव धनुष तथा उन अन्य हथियारों का प्रयोग कर रहा था, जो उसे उपर्युक्त घटना के अवसर पर प्राप्त हुए थे।

तत्राविध्यच्छरैर्व्याघ्रान्शूकरान्महिषान्रुरून् ।
शरभान्गवयान्खड्गान्हरिणान्शशशल्लकान् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अविध्यत्—बींध दिया; शरैः—बाणों से; व्याघ्रान्—बाघों को; शूकरान्—सुअरों को; महिषान्—जंगली भैसों को; रुरून्—एक किस्म के हिरनों को; शरभान्—हिरनों को; गवयान्—नील-गायों को; खड्गान्—गैंडों को; हरिणान्—श्याम मृगों को; शश—खरगोशों; शल्लकान्—तथा साहियों को।

अर्जुन ने अपने बाणों से उस जंगल के बाघों, सुअरों, जंगली भैसों, रुरूओं, शरभों, गवयों, गैडों, श्याम हिरनों, खरगोशों तथा साहियों को बेध डाला।

तान्निन्यु: किङ्करा राज्ञे मेध्यान्पर्वण्युपागते ।
तृट्परीतः परिश्रान्तो बिभत्सुर्यमुनामगात् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; निन्युः—ले गये; किङ्कराः—नौकर; राज्ञे—राजा तक; मेध्यान्—यज्ञ में बलि के योग्य; पर्वणि—विशेष अवसर (पर्व) पर; उपागते—पास आ रहे; तृट्—प्यास से; परीतः—हारे; परिश्रान्तः—थके; बिभत्सुः—अर्जुन; यमुनाम्—यमुना नदी के तट पर; अगात्—गया।

नौकरों का एक दल मारे गये उन पशुओं को राजा युधिष्ठिर के पास ले गया जो किसी विशेष पर्व पर यज्ञ में अर्पित करने के योग्य थे। तत्पश्चात् प्यासे तथा थके होने से अर्जुन यमुना नदी के तट पर गया।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद प्राय: कहा करते थे कि क्षत्रिय या योद्धा कई कारणों से जैसे अपने युद्ध-कौशल का अभ्यास करने, खूँखार जानवरों की जो मनुष्य के लिए संकट का कारण थे, जनसंख्या नियंत्रित रखने तथा वैदिक यज्ञों के लिए पशु प्रदान करने के उद्देश्य से जंगल में शिकार करते थे। यज्ञों

की शक्ति से मारे गये पशुओं को नवीन शरीर मिल जाते थे। चूँकि पुरोहितों में अब वह शक्ति नहीं रह गई है, अतः यज्ञ का अर्थ होगा केवल पशु-वध; इसलिए यज्ञ वर्जित हैं।

श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में हम देखते हैं कि नारदमुनि ने प्राचीनबर्हिषत् नामक राजा को वैध शिकार के इस नियम का दुरुपयोग करने के लिए बुरी तरह से प्रताड़ित किया है। वस्तुतः यह राजा आधुनिक शिकारियों जैसा बन गया था, जो एक तथाकथित शौक के रूप में पशुओं की निर्मम हत्या करते हैं।

तत्रोपस्पृश्य विशदं पीत्वा वारि महारथौ ।
कृष्णौ ददृशतुः कन्यां चरन्तीं चारुदर्शनाम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; उपस्पृश्य—नहाकर; विशदम्—स्वच्छ; पीत्वा—पीकर; वारि—जल; महा-रथौ—महारथी योद्धा; कृष्णौ—दोनों कृष्णों ने; ददृशतुः—देखा; कन्याम्—कन्या को; चरन्तीम्—विचरण करती; चारु-दर्शनाम्—देखने में सुन्दर।

दोनों कृष्णों ने वहाँ स्नान करने के बाद नदी का स्वच्छ जल पिया। तब दोनों महारथियों ने पास ही टहलती एक आकर्षक युवती को देखा।

तामासाद्य वरारोहां सुद्विजां रुचिराननाम् ।
पप्रच्छ प्रेषितः सख्या फाल्गुनः प्रमदोत्तमाम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उसके; आसाद्य—पास पहुँचकर; वरा—उत्तम; आरोहाम्—नितम्ब वाली; सु—सुन्दर; द्विजाम्—दाँतों वाली; रुचिर—आकर्षक; आननाम्—मुख वाली; पप्रच्छ—पूछा; प्रेषितः—भेजा गया; सख्या—मित्र श्रीकृष्ण द्वारा; फाल्गुनः—अर्जुन ने; प्रमदा—स्त्री से; उत्तमाम्—असाधारण।

अपने मित्र द्वारा भेजे जाने पर अर्जुन उस असाधारण युवती के पास गये। वह सुन्दर नितम्ब, उत्तम दाँत तथा आकर्षक मुख वाली थी। उन्होंने उससे इस प्रकार पूछा।

तात्पर्य : कृष्ण चाहते थे कि अर्जुन जाकर इस युवती की प्रगाढ़ भक्ति का पता लगाये। इसीलिए उन्होंने प्रारम्भिक पूछताछ करने के लिए आग्रह किया।

का त्वं कस्यासि सुश्रोणि कुतो वा किं चिकीर्षसि ।
मन्ये त्वां पतिमिच्छन्तीं सर्वं कथय शोभने ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

का—कौन; त्वम्—तुम; कस्य—किसकी; असि—हो; सु-श्रोणि—हे सुन्दर कटि वाली; कुतः—कहाँ से; वा—अथवा; किम्—क्या; चिकीर्षसि—करना चाहती हो; मन्ये—मैं सोचता हूँ; त्वाम्—तुम; पतिम्—पति की; इच्छन्तीम्—खोज करती; सर्वम्—प्रत्येक वस्तु; कथय—कहो; शोभने—हे सुन्दरी।

[अर्जुन ने कहा] : हे सुन्दर कटि वाली, तुम कौन हो? तुम किसकी पुत्री हो और तुम कहाँ से आई हो? तुम यहाँ क्या कर रही हो? मैं सोच रहा हूँ कि तुम पति की आकांक्षी हो। हे सुन्दरी, मुझसे प्रत्येक बात बतला दो।

श्रीकालिन्द्युवाच

अहं देवस्य सवितुर्दुहिता पतिमिच्छती ।
विष्णुं वरेण्यं वरदं तपः परममास्थितः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्री-कालिन्दी उवाच—श्री कालिन्दी ने कहा; अहम्—मैं; देवस्य—देवता की; सवितुः—सूर्य; दुहिता—पुत्री; पतिम्—पति रूप में; इच्छती—चाहती हुई; विष्णुम्—भगवान् विष्णु को; वरेण्यम्—सर्वश्रेष्ठ रुचि; वर-दम्—वर देने वाले; तपः—तपस्या में; परमम्—कठोर; आस्थितः—लगी हुई।

श्री कालिन्दी ने कहा : मैं सूर्यदेव की पुत्री हूँ। मैं परम सुन्दर तथा वरदानी भगवान् विष्णु को अपने पति के रूप में चाहती हूँ और इसीलिए मैं कठोर तपस्या कर रही हूँ।

तात्पर्य : जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं, श्रीमती कालिन्दी ने ठीक ही समझा था कि समस्त वरों के स्रोत होने से भगवान् विष्णु परम पति हैं और वे अपनी पत्नी की सारी इच्छाएँ पूरी कर सकते हैं।

नान्यं पतिं वृणे वीर तमृते श्रीनिकेतनम् ।
तुष्यतां मे स भगवान्मुकुन्दोऽनाथसंश्रयः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अन्यम्—दूसरा; पतिम्—पति; वृणे—वरण करूँगी; वीर—हे वीर; तम्—उसके; ऋते—अतिरिक्त; श्री—लक्ष्मी का; निकेतनम्—धाम; तुष्यताम्—प्रसन्न हों; मे—मुझसे; सः—वह; भगवान्—भगवान्; मुकुन्दः—कृष्ण; अनाथ—स्वामीविहीन का; संश्रयः—आश्रय।

मैं उनको जो लक्ष्मी देवी के धाम हैं, छोड़कर और कोई पति स्वीकार नहीं करूँगी। वे भगवान् मुकुन्द, जो कि अनाथों के आश्रय हैं, मुझ पर प्रसन्न हों।

तात्पर्य : सुन्दर कालिन्दी ने यहाँ पर कुछ सन्देह प्रकट किया है। वे बल देती हैं कि उन्हें भगवान् कृष्ण के अतिरिक्त कोई पति स्वीकार नहीं है। वे यह कहती हैं कि वे अनाथों के आश्रय हैं। चूँकि वे कोई अन्य आश्रय स्वीकार नहीं करेंगी इसलिए कृष्ण को चाहिए कि उन्हें शरण दें। यही नहीं, वे

कहती हैं—*तुष्यतां मे स भगवान्*—वे भगवान् मुझ पर प्रसन्न हों। यही उनकी विनती है।

जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं, यद्यपि कालिन्दी एकान्त स्थान में रह रही आश्रयहीन युवती है, तो भी वह भयभीत नहीं है। भगवान् कृष्ण के प्रति ऐसी गूढ़ श्रद्धा और भक्ति आदर्श कृष्णभावनामृत है और श्रीमती कालिन्दी की इच्छा शीघ्र ही पूरी हो जाएगी।

कालिन्दीति समाख्याता वसामि यमुनाजले ।
निर्मिते भवने पित्रा यावदच्युतदर्शनम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

कालिन्दी—कालिन्दी; इति—इस प्रकार; समाख्याता—नाम वाली; वसामि—रह रही हूँ; यमुना-जले—यमुना के जल में; निर्मिते—निर्मित; भवने—भवन में; पित्रा—अपने पिता द्वारा; यावत्—जब तक; अच्युत—भगवान् कृष्ण के; दर्शनम्—दर्शन।

मेरा नाम कालिन्दी है और मैं अपने पिता द्वारा यमुना जल के भीतर निर्मित भवन में रहती हूँ। मैं भगवान् अच्युत से भेंट होने तक यहीं रुकूँगी।

तात्पर्य : चूँकि कालिन्दी साक्षात् सूर्यदेव की प्रिय पुत्री थीं अतएव किसमें साहस था कि उन्हें छेड़ता? इस घटना से हम महात्माओं द्वारा विगत युगों में सम्पन्न सुन्दर आध्यात्मिक विधियों की सराहना कर सकते हैं। सांसारिक "प्रेम कार्यकलापों" के विपरीत, सुन्दर कालिन्दी का भगवान् कृष्ण के प्रति प्रेम शुद्ध और पूर्ण था। यद्यपि कालिन्दी अभी कोमल युवती थीं किन्तु कृष्ण से विवाह करने का संकल्प इतना प्रबल था कि उन्होंने अपने पिता से कह कर यमुना नदी के भीतर एक मकान बनवाने के लिए व्यवस्था की जहाँ वे तब तक कठिन तपस्या कर सकें जब तक उनका प्रियतम नहीं आ जाता।

तथावदद्गुडाकेशो वासुदेवाय सोऽपि ताम् ।
रथमारोप्य तद्विद्वान्धर्मराजमुपागमत् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तथा—इस प्रकार; अवदत्—कहा; गुडाकेशः—अर्जुन ने; वासुदेवाय—भगवान् कृष्ण से; सः—वह; अपि—तथा; ताम्—उसको; रथम्—रथ पर; आरोप्य—चढ़ा कर; तत्—इन सबसे; विद्वान्—अवगत; धर्म-राजम्—युधिष्ठिर के पास; उपागमत्—गया।

[शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा] : अर्जुन ने ये सारी बातें वासुदेव से बतलाईं जो पहले से इनसे अवगत थे। तब भगवान् ने कालिन्दी को अपने रथ पर चढ़ा लिया और राजा युधिष्ठिर को

मिलने वापस चले गये।

**यदैव कृष्णः सन्दिष्टः पार्थानां परमाद्भुतम् ।
कारयामास नगरं विचित्रं विश्वकर्मणा ॥ २४॥**

शब्दार्थ

यदा एव—जब; कृष्णः—कृष्ण; सन्दिष्टः—प्रार्थना करने पर; पार्थानाम्—पृथा के पुत्रों के लिए; परम—अतीव; अद्भुतम्—अद्‍भुत; कारयाम् आस—बनवाया था; नगरम्—नगर; विचित्रम्—विविधता से युक्त; विश्वकर्मणा—देवताओं के शिल्पी विश्वकर्मा द्वारा।

[एक पुरानी घटना बतलाते हुए शुकदेव गोस्वामी ने कहा]: पाण्डवों के अनुरोध पर भगवान् कृष्ण ने एक अत्यन्त अद्‍भुत एवं विचित्र नगरी का निर्माण विश्वकर्मा से कराया था।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती उल्लेख करते हैं कि यह नगरी खाण्डव वन के जलने के पूर्व निर्मित हुई थी अत: कालिन्दी को पत्नी बनाने के पूर्व यह घटना घटी थी।

**भगवांस्तत्र निवसन्स्वानां प्रियचिकीर्षया ।
अग्नये खाण्डवं दातुमर्जुनस्यास सारथिः ॥ २५॥**

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; तत्र—वहाँ; निवसन्—रहते हुए; स्वानाम्—अपने (भक्तों) के लिए; प्रिय—आनन्द; चिकीर्षया—देने की इच्छा से; अग्नये—अग्नि को; खाण्डवम्—खाण्डव वन; दातुम्—देने के लिए; अर्जुनस्य—अर्जुन के; आस—बने; सारथिः—रथचालक।

भगवान् अपने भक्तों को प्रसन्न करने के लिए उस नगरी में कुछ समय तक रहते रहे। एक अवसर पर श्रीकृष्ण ने अग्नि को दान के रूप में खाण्डव वन देना चाहा अत: वे अर्जुन के सारथी बने।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने पाण्डवों के साथ कृष्ण के रुकने की अवधि में घटी घटनाओं का अनुक्रम बतलाया है। वे कहते हैं कि पहले खाण्डव वन जलाया गया, फिर कालिन्दी प्राप्त हुई, तब नगरी बनी और तब जाकर पाण्डवों को सभा-भवन भेंट किया गया था।

**सोऽग्निस्तुष्टो धनुरदाद्धयाञ्श्वेतान्रथं नृप ।
अर्जुनायाक्षयौ तूणौ वर्म चाभेद्यमस्त्रिभिः ॥ २६॥**

शब्दार्थ

सः—उस; अग्निः—अग्निदेव ने; तुष्टः—प्रसन्न होकर; धनुः—धनुष; अदात्—दिया; हयान्—घोड़ों को; श्वेतान्—सफेद; रथम्—रथ; नृप—हे राजा (परीक्षित); अर्जुनाय—अर्जुन को; अक्षयौ—न समाप्त होने वाले; तूणौ—दो तरकस; वर्म—कवच; च—तथा; अभेद्यम्—न टूटने वाला; अस्त्रिभिः—हथियार चलाने वालों के द्वारा।

हे राजन्, अग्नि ने प्रसन्न होकर अर्जुन को एक धनुष, श्वेत घोड़ों की एक जोड़ी, एक रथ, कभी रिक्त न होने वाले दो तरकस दिये तथा एक कवच दिया जिसे कोई योद्धा हथियारों से भेद नहीं सकता था।

मयश्च मोचितो वह्नेः सभां सख्य उपाहरत् ।
यस्मिन्दुर्योधनस्यासीज्जलस्थलदृशिभ्रमः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

मयः—मय नामक दानव ने; च—तथा; मोचितः—मुक्त हुआ; वह्नेः—अग्नि से; सभाम्—सभाभवन; सख्ये—अपने मित्र, अर्जुन को; उपाहरत्—भेंट किया; यस्मिन्—जिसमें; दुर्योधनस्य—दुर्योधन का; आसीत्—था; जल—जल; स्थल—तथा भूमि के; दृशि—देखने में; भ्रमः—भ्रम।

जब मय दानव अपने मित्र अर्जुन द्वारा अग्नि से बचा लिया गया तो उसने उन्हें एक सभाभवन भेंट किया जिसमें आगे चलकर दुर्योधन को जल के स्थान पर ठोस फर्श का भ्रम होता है।

स तेन समनुज्ञातः सुहृद्भिश्चानुमोदितः ।
आययौ द्वारकां भूयः सात्यकिप्रमखैर्वृतः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, कृष्ण; तेन—उसके (अर्जुन के) द्वारा; समनुज्ञातः—विदा होकर; सु-हृद्भिः—शुभचिन्तकों द्वारा; च—तथा; अनुमोदितः—अनुमति दिया गया; आययौ—गया; द्वारकाम्—द्वारका; भूयः—फिर; सात्यकि-प्रमुखैः—सात्यकि इत्यादि के; वृतः—साथ।

तब अर्जुन तथा अन्य शुभचिन्तक संबन्धियों एवं मित्रों से विदा लेकर भगवान् कृष्ण सात्यकि तथा अपने अन्य परिचरों समेत द्वारका लौट गये।

अथोपयेमे कालिन्दीं सुपुण्यर्त्वृक्ष ऊर्जिते ।
वितन्वन्परमानन्दं स्वानां परममङ्गलः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; उपयेमे—विवाह किया; कालिन्दीम्—कालिन्दी से; सु—अत्यन्त; पुण्य—शुभ; ऋतु—ऋतु; ऋक्षे—तथा चान्द्र लग्न; ऊर्जिते—जिस दिन सूर्य तथा अन्य ग्रहों की स्थिति उत्तम थी; वितन्वन्—फैलाते हुए; परम—परम; आनन्दम्—आनन्द; स्वानाम्—अपने भक्तों के लिए; परम—अत्यन्त; मङ्गलः—शुभ।

तब परम ऐश्वर्यशाली भगवान् ने कालिन्दी के साथ उस दिन विवाह कर लिया जिस दिन

ऋतु, चन्द्र लग्न एवं सूर्य तथा अन्य ग्रहों की स्थिति इत्यादि सभी शुभ थे। इस तरह उन्होंने अपने भक्तों को परम आनन्द प्रदान किया।

विन्द्यानुविन्द्यावावन्त्यौ दुर्योधनवशानुगौ ।
स्वयंवरे स्वभगिनीं कृष्णे सक्तां न्यषेधताम् ॥ ०॥

शब्दार्थ

विन्द्य-अनुविन्द्यौ—विन्द्य तथा अनुविन्द्य; आवन्त्यौ—अवन्ती के दो राजा; दुर्योधन-वश-अनुगौ—दुर्योधन के अधीन; स्वयम्वरे—स्वयम्वर में; स्व—अपनी; भगिनीम्—बहन को; कृष्णे—कृष्ण को; सक्ताम्—जो आसक्त थी; न्यषेधताम्—रोक दिया।

विन्द्य तथा अनुविन्द्य जो अवन्ती के संयुक्त राजा थे, दुर्योधन के अनुयायी थे। जब स्वयंवर उत्सव में पति चुनने का अवसर आया तो उन्होंने अपनी बहिन (मित्रविन्दा) को कृष्ण का वरण करने से मना किया यद्यपि वह उनके प्रति अत्यधिक आसक्त थी।

तात्पर्य : कुरुओं तथा पाण्डवों में शत्रुभाव इतना प्रबल था कि मित्रविन्दा के भाइयों ने दुर्योधन से मित्रता के कारण उसे कृष्ण को अपना पति चुनने से मना कर दिया।

राजाधिदेव्यास्तनयां मित्रविन्दां पितृष्वसुः ।
प्रसह्य हृतवान्कृष्णो राजन्राज्ञां प्रपश्यताम् ॥ १॥

शब्दार्थ

राजाधिदेव्याः—राजाधिदेवी महारानी की; तनयाम्—पुत्री; मित्रविन्दाम्—मित्रविन्दा को; पितृ—पिता की; स्वसुः—बहन का; प्रसह्य—बलपूर्वक; हृतवान्—हरण कर लिया; कृष्णः—कृष्ण ने; राजन्—हे राजा (परीक्षित); राज्ञाम्—राजाओं के; प्रपश्यताम्—देखते हुए।

हे राजन्, अपनी बुआ राजाधिदेवी की पुत्री मित्रविन्दा को प्रतिद्वन्द्वी राजाओं की आँखों के सामने से भगवान् कृष्ण बलपूर्वक उठा ले गये।

नग्नजिन्नाम कौशल्य आसीद्राजातिधार्मिकः ।
तस्य सत्याभवत्कन्या देवी नाग्नजिती नृप ॥ २॥

शब्दार्थ

नग्नजित्—नग्नजित; नाम—नामक; कौशल्यः—कौशल्य (अयोध्या) का राजा; आसीत्—था; राजा—राजा; अति—अत्यन्त; धार्मिकः—धार्मिक; तस्य—उसकी; सत्या—सत्या; अभवत्—थी; कन्या—पुत्री; देवी—सुन्दर; नाग्नजिती—नाग्नजिती नाम भी था; नृप—हे राजा।

हे राजन्, कौशल्य के अत्यन्त धार्मिक राजा नग्नजित के एक सुन्दर कन्या थी जिसका नाम सत्या अथवा नाग्नजिती था।

न तां शेकुर्नृपा वोढुमजित्वा सप्तगोवृषान् ।
तीक्ष्णशृङ्गान्सुदुर्धर्षान्वीर्यगन्धासहान्खलान् ॥ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ताम्—उसको; शेकुः—समर्थ थे; नृपाः—राजागण; वोढुम्—ब्याहने के लिए; अजित्वा—हराये बिना; सप्त—सात; गो-वृषान्—बैलों को; तीक्ष्ण—तेज; शृङ्गान्—सींग वाले; सु—अत्यन्त; दुर्धर्षान्—वश में न आने वाले; वीर्य—वीरों की; गन्ध—महक; असहान्—सहन न करते हुए; खलान्—दुष्ट।

जो राजा ब्याहने के लिए आते थे उन्हें तब तक विवाह नहीं करने दिया जाता था जब तक वे तेज सींगों वाले सात बैलों को वश में न कर लें। ये बैल अत्यन्त दुष्ट तथा वश में न आने वाले थे और वे वीरों की गंध भी सहन नहीं कर सकते थे।

तां श्रुत्वा वृषजिल्लभ्यां भगवान्सात्वतां पतिः ।
जगाम कौशल्यपुरं सैन्येन महता वृतः ॥ ४॥

शब्दार्थ

ताम्—उसके विषय में; श्रुत्वा—सुनकर; वृष—बैल; जित्—जीतने वाला; लभ्याम्—प्राप्तनीय; भगवान्—भगवान्; सात्वताम्—वैष्णवों के; पतिः—स्वामी; जगाम—गये; कौशल्य-पुरम्—कौशल्य राज्य की राजधानी में; सैन्येन—सेना से; महता—विशाल; वृतः—घिर कर।

जब वैष्णवों के स्वामी भगवान् ने उस राजकुमारी के बारे में सुना जो बैलों के विजेता द्वारा जीती जानी थी, तो वे विशाल सेना के साथ कौशल्य की राजधानी गये।

स कोशलपतिः प्रीतः प्रत्युत्थानासनादिभिः ।
अर्हणेनापि गुरुणा पूजयन्प्रतिनन्दितः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सः—उस; कोशल-पतिः—कोशल के स्वामी ने; प्रीतः—प्रसन्न; प्रत्युत्थान—खड़े होकर; आसन—आसन; आदिभिः—इत्यादि प्रदान करके; अर्हणेन—तथा भेंटों से; अपि—भी; गुरुणा—पर्याप्त; पूजयन्—पूजा करते हुए; प्रतिनन्दितः—उसका भी सत्कार किया।

कोशल का राजा कृष्ण को देखकर हर्षित हुआ। उसने अपने सिंहासन से उठकर तथा प्रतिष्ठित पद एवं पर्याप्त उपहार देकर भगवान् कृष्ण की पूजा की। भगवान् कृष्ण ने भी राजा का आदरपूर्वक अभिवादन किया।

वरं विलोक्याभिमतं समागतं
नरेन्द्रकन्या चकमे रमापतिम् ।

भूयादयं मे पतिराशिषोऽनलः
करोतु सत्या यदि मे धृतो व्रतः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

वरम्—दूल्हे को; विलोक्य—देखकर; अभिमतम्—ग्राह्य; समागतम्—आई; नरेन्द्र—राजा की; कन्या—पुत्री; चकमे—इच्छा की; रमा—लक्ष्मी के; पतिम्—पति को; भूयात्—बन सके; अयम्—वह; मे—मेरा; पतिः—पति; आशिषः—आशाएँ; अनलः—अग्नि; करोतु—कर दे; सत्याः—सच; यदि—यदि; मे—मेरे द्वारा; धृतः—पालन किया गया; व्रतः—मेरा व्रत।

जब राजा की पुत्री ने देखा कि वह सर्वाधिक उपयुक्त दूल्हा आया है, तो उसने तुरन्त ही रमापति श्रीकृष्ण को पाने की कामना की। उसने प्रार्थना की, ''वे मेरे पति बनें। यदि मैंने व्रत किये हैं, तो पवित्र अग्नि मेरी आशाओं को पूरा करे।''

यत्पादपङ्कजरजः शिरसा बिभर्ति
श्रीरब्जजः सगिरिशः सहलोकपालैः ।
लीलातनुः स्वकृतसेतुपरीप्सया यः
कालेऽदधत्स भगवान्मम केन तुष्येत् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; पाद—पैरों की; पङ्कज—कमल सदृश; रजः—धूलि; शिरसा—सिर पर; बिभर्ति—धारण करती है; श्रीः—लक्ष्मी; अब्ज-जः—कमल से जन्मे, ब्रह्माजी; स—सहित; गिरि-शः—कैलाश पर्वत के स्वामी, शिवजी; सह—सहित; लोक—लोकों के; पालैः—शासकों द्वारा; लीला—उनकी लीला के रूप में; तनुः—शरीर; स्व—अपने से; कृत—उत्पन्न; सेतु—धर्म-संहिता; परीप्सया—रक्षा करने की इच्छा से; यः—जिसने; काले—कालक्रम में; अदधत्—धारण किया; सः—वह; भगवान्—भगवान्; मम—मुझसे; केन—किस प्रकार से; तुष्येत्—प्रसन्न हो सकेंगे।

''देवी लक्ष्मी, ब्रह्मा, शिव तथा विभिन्न लोकों के शासक उनके चरणकमलों की धूलि को अपने सिरों पर चढ़ाते हैं और जो अपने द्वारा निर्मित धर्म-संहिता की रक्षा के लिए विभिन्न कालों में लीलावतार धारण करते हैं। भला वे भगवान् मुझ पर कैसे प्रसन्न हो सकेंगे?''

अर्चितं पुनरित्याह नारायण जगत्पते ।
आत्मानन्देन पूर्णस्य करवाणि किमल्पकः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अर्चितम्—पूजे जाने वाले को; पुनः—और भी; इति—इस प्रकार; आह—(राजा नग्नजित ने) कहा; नारायण—हे नारायण; जगत्—ब्रह्माण्ड के; पते—हे स्वामी; आत्म—अपने भीतर; आनन्देन—आनन्द के साथ; पूर्णस्य—जो पूर्ण है उसका; करवाणि—कर सकता हूँ; किम्—क्या; अल्पकः—तुच्छ।

सर्वप्रथम राजा नग्नजित ने भगवान् की समुचित पूजा की और तब उन्हें सम्बोधित किया, ''हे नारायण, हे ब्रह्माण्ड के स्वामी, आप अपने आध्यात्मिक आनन्द में पूर्ण रहते हैं। अतः यह तुच्छ व्यक्ति आपके लिए क्या कर सकता है?''

श्रीशुक उवाच
तमाह भगवान्हृष्टः कृतासनपरिग्रहः ।
मेघगम्भीरया वाचा सस्मितं कुरुनन्दन ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; तम्—उससे; आह—कहा; भगवान्—भगवान् ने; हृष्टः—प्रसन्न; कृत—किया हुआ; आसन—आसन; परिग्रहः—स्वीकृति; मेघ—बादल की तरह; गम्भीरया—गम्भीर; वाचा—वाणी में; स—सहित; स्मितम्—मन्द हँसी से; कुरु—कुरुओं के; नन्दन—हे प्रिय वंशज।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे कुरुनन्दन, भगवान् प्रसन्न थे और सुविधाजनक आसन स्वीकार करके वे मुसकाये तथा मेघ-गर्जना सदृश धीर-गम्भीर वाणी में राजा से बोले।

श्रीभगवानुवाच
नरेन्द्र याच्ञा कविभिर्विगर्हिता
राजन्यबन्धोर्निजधर्मवर्तिनः ।
तथापि याचे तव सौहृदेच्छया
कन्यां त्वदीयां न हि शुल्कदा वयम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; नर-इन्द्र—हे मनुष्यों के शासक; याच्ञा—माँगना; कविभिः—विद्वानों द्वारा; विगर्हिता—निन्दनीय; राजन्य—राजवर्ग के; बन्धोः—सदस्य के लिए; निज—अपने; धर्म—धार्मिक मानदण्ड में; वर्तिनः—स्थित; तथा अपि—तो भी; याचे—मैं माँग रहा हूँ; तव—तुमसे; सौहृद—मैत्री की; इच्छया—इच्छा से; कन्याम्—कन्या; त्वदीयाम्—तुम्हारी; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; शुल्क-दाः—कर देने वाले; वयम्—हम।

भगवान् ने कहा : हे मनुष्यों के शासक, विद्वानजन धर्म में रत राजवर्य व्यक्ति से याचना करने की निन्दा करते हैं। तो भी, तुम्हारी मित्रता का इच्छुक मैं तुमसे तुम्हारी कन्या को माँग रहा हूँ यद्यपि हम बदले में कोई भेंट नहीं दे रहे।

श्रीराजोवाच
कोऽन्यस्तेऽभ्यधिको नाथ कन्यावर इहेप्सितः ।
गुणैकधाम्नो यस्याङ्गे श्रीर्वसत्यनपायिनी ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा नग्नजित ने कहा; कः—कौन; अन्यः—दूसरा; ते—तुमसे; अभ्यधिकः—श्रेष्ठ; नाथ—हे स्वामी; कन्या—मेरी कन्या के लिए; वरः—दूल्हा; इह—इस संसार में; ईप्सितः—इच्छित; गुण—दिव्य गुणों का; एक—एकमात्र; धाम्नः—धाम; यस्य—जिसके; अङ्गे—शरीर में; श्रीः—लक्ष्मी; वसति—वास करती है; अनपायिनी—कभी न छोड़ने वाली।

राजा ने कहा : हे प्रभु, भला मेरी पुत्री के लिए आपसे बढ़कर और कौन वर हो सकता है? आप सभी दिव्य गुणों के धाम हैं। आपके शरीर पर साक्षात् लक्ष्मी निवास करती हैं और वे

किसी भी कारण से आपको कभी नहीं छोड़तीं।

किन्त्वस्माभिः कृतः पूर्वं समयः सात्वतर्षभ ।
पुंसां वीर्यपरीक्षार्थं कन्यावरपरीप्सया ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

किन्तु—लेकिन; अस्माभिः—हमारे (परिवार के) द्वारा; कृतः—बनाया; पूर्वम्—पहले की; समयः—प्रतिज्ञा; सात्वत-ऋषभ—हे सात्वतों के प्रमुख; पुंसाम्—मनुष्यों का (जो यहाँ आये हैं); वीर्य—पराक्रम; परीक्षा—परीक्षा के; अर्थम्—हेतु; कन्या—मेरी पुत्री के लिए; वर—दूल्हा, पति; परीप्सया—खोजने की इच्छा से।

किन्तु हे सात्वत-प्रमुख, अपनी पुत्री के लिए उपयुक्त पति सुनिश्चित करने के लिए हमने उसके संभावित वरों के पराक्रम की परीक्षा करने के लिए पहले से ही एक शर्त निश्चित की हुई है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार राजा द्वारा परीक्षा रखने का वास्तविक उद्देश्य श्रीकृष्ण को दामाद रूप में प्राप्त करना था क्योंकि एकमात्र वे ही बैलों को वश में कर सकते थे। ऐसी परीक्षा लिए बिना अपनी पुत्री के पाणिग्रहण के निमित्त आये अनेक योग्य प्रतीत होने वाले राजकुमारों तथा राजाओं को मना कर पाना नग्नजित के लिए कठिन होता।

सप्तैते गोवृषा वीर दुर्दान्ता दुरवग्रहाः ।
एतैर्भग्नाः सुबहवो भिन्नगात्रा नृपात्मजाः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

सप्त—सात; एते—ये; गो-वृषाः—बैल; वीर—हे वीर; दुर्दान्ताः—खूँखार; दुरवग्रहाः—अखंड; एतैः—उनके द्वारा; भग्नाः—पराजित; सु-बहवः—अनेकानेक; भिन्न—टूटे; गात्राः—अंगों वाले; नृप—राजाओं के; आत्म-जाः—पुत्र।

हे वीर, इन सातों खूँखार बैलों को वश में करना असम्भव है। इन्होंने (इन बैलों ने) अनेक राजकुमारों के अंगों को खण्डित करके उन्हें परास्त किया है।

यदिमे निगृहीताः स्युस्त्वयैव यदुनन्दन ।
वरो भवानभिमतो दुहितुर्मे श्रियःपते ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

यत्—यदि; इमे—वे; निगृहीताः—वशीभूत; स्युः—हो जाते हैं; त्वया—तुम्हारे द्वारा; एव—निस्सन्देह; यदु-नन्दन—हे यदुवंशी; वरः—दूल्हा; भवान्—आप; अभिमतः—स्वीकृत, अभीष्ट; दुहितुः—पुत्री के लिए; मे—मेरी; श्रियः—लक्ष्मी के; पते—हे पति।

हे यदुवंशी, यदि आप इन्हें वश में कर लें तो निश्चित रूप से, हे श्रीपति, आप ही मेरी पुत्री

के उपयुक्त वर होंगे।

एवं समयमाकर्ण्य बद्ध्वा परिकरं प्रभुः ।
आत्मानं सप्तधा कृत्वा न्यगृह्णाल्लीलयैव तान् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; समयम्—शर्त, प्रतिज्ञा; आकर्ण्य—सुनकर; बद्ध्वा—कस कर; परिकरम्—अपने वस्त्र; प्रभुः—प्रभु; आत्मानम्—अपने को; सप्तधा—सात रूप; कृत्वा—करके; न्यगृह्णात्—वश में कर लिया; लीलया—खेल खेल में; एव—केवल; तान्—उनको।

इन शर्तों को सुनकर भगवान् ने अपने वस्त्र कसे, अपने आपको सात रूपों में विस्तारित किया और बड़ी आसानी से बैलों को वश में कर लिया।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार भगवान् कृष्ण ने अपने को सात रूपों में न केवल सात बैलों को खेल खेल में हराने के लिए विस्तारित किया अपितु राजकुमारी सत्या को यह दिखाने के लिए भी कि उसे उनकी अन्य रानियों से होड़ नहीं लेनी होगी क्योंकि वे सबों से एकसाथ केलि कर सकते हैं।

बद्ध्वा तान्दामभिः शौरिर्भग्नदर्पान्हतौजसः ।
व्यकर्षल्लीलया बद्धान्बालो दारुमयान्यथा ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

बद्ध्वा—बाँध कर; तान्—उनको; दामभिः—रस्सियों से; शौरिः—भगवान् कृष्ण ने; भग्न—खण्डित; दर्पान्—घमंड; हत—विनष्ट; ओजसः—पराक्रम; व्यकर्षत्—घसीटा; लीलया—खेल खेल में; बद्धान्—बँधे हुए; बालः—बालक; दारु—लकड़ी के; मयान्—बने; यथा—जिस तरह।

भगवान् शौरि ने उन बैलों को बाँध लिया जिनका घमंड तथा बल अब टूट चुका था और उन्हें रस्सियों से इस तरह खींचा जिस तरह कोई बालक खेल में लकड़ी के बने बैलों के खिलौनों को खींचता है।

ततः प्रीतः सुतां राजा ददौ कृष्णाय विस्मितः ।
तां प्रत्यगृह्णाद्भगवान्विधिवत्सदृशीं प्रभुः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; प्रीतः—प्रसन्न; सुताम्—अपनी पुत्री को; राजा—राजा ने; ददौ—दे दिया; कृष्णाय—कृष्ण को; विस्मितः—चकित; ताम्—उसको; प्रत्यगृह्णात्—स्वीकार किया; भगवान्—परम पुरुष ने; विधि-वत्—वैदिक विधि के अनुसार; सदृशीम्—अनुरूप; प्रभुः—भगवान् के।

तब प्रसन्न तथा चकित राजा नग्नजित ने अपनी पुत्री भगवान् कृष्ण को भेंट कर दी।

भगवान् ने इस अनुरूप दुलहन को वैदिक विधि के साथ स्वीकार किया।

तात्पर्य : *सदृशीम्* शब्द सूचित करता है कि सुन्दर राजकुमारी भगवान् के उपयुक्त दुलहन थी क्योंकि उसमें वे अद्भुत दिव्य गुण थे, जो भगवान् के पूरक थे। जैसाकि श्रील जीव गोस्वामी ने इंगित किया है *विस्मित:* शब्द सूचित करता है कि राजा नग्नजित सचमुच अपने जीवन में इन अनेक सहसा घटित होने वोली असामान्य घटनाओं से चकित था।

राजपत्न्यश्च दुहितु: कृष्णं लब्ध्वा प्रियं पतिम् ।
लेभिरे परमानन्दं जातश्च परमोत्सव: ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

राज—राजा की; पत्न्य:—पत्नियाँ; च—तथा; दुहितु:—तथा उसकी पुत्री के; कृष्णम्—कृष्ण को; लब्ध्वा—प्राप्त करके; प्रियम्—प्रिय; पतिम्—पति; लेभिरे—अनुभव किया; परम—महानतम; आनन्दम्—आनन्द; जात:—उत्पन्न; च—तथा; परम—महानतम; उत्सव:—उत्सव।

राजकुमारी को भगवान् कृष्ण के प्रिय पति के रूप में प्राप्त होने पर राजा की पत्नियों को सर्वाधिक आनन्द प्राप्त हुआ और अतीव उत्सव का भाव जाग उठा।

शङ्खभेर्यानका नेदुर्गीतवाद्यद्विजाशिष: ।
नरा नार्य: प्रमुदिता: सुवास:स्रगलङ्कृता: ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

शङ्ख—शंख; भेरी—तुरही; आनका:—तथा ढोल; नेदु:—बज उठे; गीत—गीत; वाद्य—वाद्य-संगीत; द्विज—ब्राह्मणों के; आशिष:—आशीर्वाद; नरा:—मनुष्य; नार्य:—स्त्रियाँ; प्रमुदिता:—प्रसन्न; सु-वास:—सुन्दर वस्त्रों; स्रक्—तथा मालाओं से; अलङ्कृता:—सुसज्जित।

गीत तथा वाद्य संगीत और ब्राह्मणों द्वारा आशीर्वाद देने की ध्वनियों के साथ साथ शंख, तुरही तथा ढोल बजने लगे। प्रमुदित नर-नारियों ने अपने को सुन्दर वस्त्रों तथा मालाओं से अलंकृत किया।

दशधेनुसहस्राणि पारिबर्हमदाद्विभु: ।
युवतीनां त्रिसाहस्रं निष्कग्रीवसुवाससम् ॥ ५० ॥
नवनागसहस्राणि नागाच्छतगुणान्रथान् ।
रथाच्छतगुणानश्वानश्वाच्छतगुणान्नरान् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

दश—दस; धेनु—गायों का; सहस्राणि—हजार; पारिबर्हम्—दहेज; अदात्—दिया; विभुः—शक्तिशाली (राजा नग्नजित); युवतीनाम्—युवतियों के; त्रि-साहस्रम्—तीन हजार; निष्क—सुनहरे आभूषण; ग्रीव—गर्दन में; सु—उत्तम; वाससम्—वस्त्र; नव—नौ; नाग—हाथियों का; सहस्राणि—हजार; नागात्—हाथियों की अपेक्षा; शत-गुणान्—सौ गुना अधिक (९,००,०००); रथान्—रथ; रथात्—रथों से; शत-गुणान्—सौ गुना अधिक; अश्वान्—घोड़े; अश्वात्—अश्वों की तुलना में; शत-गुणान्—एक सौ गुना अधिक (९ अरब); नरान्—मनुष्यों को।

शक्तिशाली राजा नग्नजित ने दहेज के रूप में दस हजार गौवें, तीन हजार युवा-दासियाँ जो अपने गलों में सोने के आभूषण पहने थीं तथा सुन्दर वस्त्रों से अलंकृत थीं, नौ हजार हाथी, हाथियों के एक सौ गुना रथ, रथों के एक सौ गुना घोड़े तथा घोड़ों के सौ गुने नौकर दिये।

दम्पती रथमारोप्य महत्या सेनया वृतौ ।
स्नेहप्रक्लिन्नहृदयो यापयामास कोशलः ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

दम्-पती—जोड़ी; रथम्—रथ पर; आरोप्य—बैठाकर; महत्या—विशाल; सेनया—सेना से; वृतौ—युक्त; स्नेह—स्नेह से; प्रक्लिन्न—द्रवित; हृदयः—हृदय वाला; यापयाम् आस—विदा किया; कोशलः—कोशल के राजा ने।

स्नेह से द्रवीभूत हृदय से, कोशल के राजा ने वर-वधू को उनके रथ पर बैठा दिया और तब एक विशाल सेना के साथ उन्हें विदा कर दिया।

श्रुत्वैतद्रुरुधुर्भूपा नयन्तं पथि कन्यकाम् ।
भग्नवीर्याः सुदुर्मर्षा यदुभिर्गोवृषैः पुरा ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर; एतत्—यह; रुरुधुः—रोक दिया; भू-पाः—राजाओं ने; नयन्तम्—ले जा रहे; पथि—रास्ते में; कन्यकाम्—दुलहन को; भग्न—खण्डित; वीर्याः—शक्ति वाले; सु—अत्यन्त; दुर्मर्षाः—असहिष्णु; यदुभिः—यदुओं द्वारा; गो-वृषैः—बैलों से; पुरा—पहले।

जब स्वयंवर में आये असहिष्णु प्रतिद्वन्द्वी राजाओं ने सारी घटना के बारे में सुना तो उन्होंने भगवान् कृष्ण को, अपनी दुलहन घर ले जाते समय मार्ग में रोकना चाहा। किन्तु जिस तरह इसके पूर्व बैलों ने राजाओं के बल को तोड़ दिया था उसी तरह अब यदु-योद्धाओं ने उनके बल को तोड़ दिया।

तानस्यतः शरव्रातान्बन्धुप्रियकृदर्जुनः ।
गाण्डीवी कालयामास सिंहः क्षुद्रमृगानिव ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; अस्यतः—फेंकते हुए; शर—बाणों के; व्रातान्—झुंड के झुंड; बन्धु—उसके मित्र (श्रीकृष्ण); प्रिय—प्रसन्न करने के लिए; कृत्—करते हुए; अर्जुनः—अर्जुन ने; गण्डीवी—गाण्डीव धनुष का स्वामी; कालयाम् आस—भगा दिया; सिंहः—सिंह; क्षुद्र—तुच्छ; मृगान्—पशुओं को; इव—जिस तरह।

गाण्डीव धनुर्धारी अर्जुन अपने मित्र कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए सदैव उत्सुक रहते थे अतः उन्होंने उन सारे प्रतिद्वन्द्वियों को भगा दिया जो भगवान् पर बाणों की झड़ी लगाये हुए थे। उन्होंने यह सब वैसे ही किया जिस तरह एक सिंह क्षुद्र पशुओं को खदेड़ देता है।

पारिबर्हमुपागृह्य द्वारकामेत्य सत्यया ।
रेमे यदूनामृषभो भगवान्देवकीसुतः ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

पारिबर्हम्—दहेज; उपागृह्य—लेकर; द्वारकाम्—द्वारका में; एत्य—आकर; सत्यया—सत्या के साथ; रेमे—विलास किया; यदूनाम्—यदुओं के; ऋषभः—प्रमुख; भगवान्—भगवान्; देवकी-सुतः—देवकी-पुत्र ने।

तब यदुओं के प्रधान भगवान् देवकीसुत दहेज तथा सत्या को लेकर द्वारका गये और वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे।

श्रुतकीर्तेः सुतां भद्रां उपयेमे पितृष्वसुः ।
कैकेयीं भ्रातृभिर्दत्तां कृष्णः सन्तर्दनादिभिः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

श्रुतकीर्तेः—श्रुतकीर्ति की; सुताम्—पुत्री; भद्राम्—भद्रा को; उपयेमे—ब्याहा; पितृ-स्वसुः—अपने पिता की बहन की; कैकेयीम्—कैकेय की राजकुमारी; भ्रातृभिः—उसके भाइयों द्वारा; दत्ताम्—दी हुई; कृष्णः—कृष्ण; सन्तर्दन-आदिभिः—सन्तर्दन इत्यादि द्वारा।

भद्रा कैकेय राज्य की राजकुमारी तथा कृष्ण की बुआ श्रुतकीर्ति की पुत्री थी। जब सन्तर्दन इत्यादि उसके भाइयों ने उसे कृष्ण को भेंट किया, तो उन्होंने भद्रा से विवाह कर लिया।

सुतां च मद्राधिपतेर्लक्ष्मणां लक्षणैर्युताम् ।
स्वयंवरे जहारैकः स सुपर्णः सुधामिव ॥ ५७॥

शब्दार्थ

सुताम्—पुत्री को; च—तथा; मद्र-अधिपतेः—मद्र देश के शासक की; लक्ष्मणाम्—लक्ष्मणा को; लक्षणैः—सारे सद्गुणों से; युताम्—युक्त; स्वयम्-वरे—स्वयंवर उत्सव में; जहार—हर ले गया; एकः—अकेले; सः—वह, कृष्ण; सुपर्णः—गरुड़; सुधाम्—अमृत को; इव—जिस तरह।

तब भगवान् ने मद्रराज की कन्या लक्ष्मणा से विवाह किया। कृष्ण अकेले ही उसके स्वयंवर समारोह में गये थे और उसे उसी तरह हर ले आये जिस तरह गरुड़ ने एक बार देवताओं का अमृत चुरा ले गया था।

अन्याश्चैवंविधा भार्याः कृष्णस्यासन्सहस्रशः ।
भौमं हत्वा तन्निरोधादाहृताश्चारुदर्शनाः ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

अन्याः—अन्य; च—तथा; एवम्-विधाः—इन्हीं की तरह; भार्याः—पत्नियाँ; कृष्णस्य—कृष्ण की; आसन्—हुईं; सहस्रशः—हजारों; भौमम्—भौम असुर को; हत्वा—मार कर; तत्—उस भौम से; निरोधात्—उनके बन्दीगृह से; आहृताः—हरण की गई; चारु—सुन्दर; दर्शनाः—जिनकी सूरत।

भगवान् कृष्ण ने इन्हीं के समान अन्य हजारों पत्नियाँ तब प्राप्त कीं जब उन्होंने भौमासुर को मारा और उसके द्वारा बन्दी बनाई गई सुन्दरियों को छुड़ाया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत "श्रीकृष्ण का पाँच राजकुमारियों से ब्याह" नामक अट्ठावनवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter उनसठ

नरकासुर का वध

इस अध्याय में बताया गया है कि भगवान् कृष्ण ने देवी पृथ्वी के पुत्र नरकासुर को किस तरह मारा और असुर के द्वारा अपहरण की गईं हजारों युवतियों से विवाह किया। इसमें यह भी बताया गया है कि भगवान् ने किस प्रकार स्वर्ग से पारिजात वृक्ष चुराया और अपने हर महल में किस तरह सामान्य गृहस्थ जैसा व्यवहार किया।

जब नरकासुर ने भगवान् वरुण का छाता, माता अदिति के कुण्डल तथा देवताओं का मणिपर्वत नामक क्रीड़ा क्षेत्र चुरा लिये तो इन्द्र ने द्वारका जाकर भगवान् कृष्ण से उस असुर के अतिक्रमण का हाल कह सुनाया। अतः भगवान् कृष्ण सत्यभामा सहित अपने वाहन गरुड़ पर सवार हुए और नरकासुर की राजधानी जा पहुँचे। नगर के बाहर एक खेत में भगवान् ने अपने चक्र से मुर नामक असुर का सिर काट लिया। इसके बाद वे मुर के सात पुत्रों से लड़े और उन्हें यम-धाम पहुँचाया। तत्पश्चात् नरकासुर स्वयं हाथी पर सवार होकर युद्धभूमि में आया। उसने श्रीकृष्ण पर अपना शक्ति नामक भाला छोड़ा किन्तु यह हथियार बेकार हो गया और भगवान् ने असुर की सारी सेना को क्षत-विक्षत कर डाला। अन्त में कृष्ण ने अपने तेज धार वाले चक्र से नरकासुर का सिर काट लिया।

तब देवी पृथ्वी भगवान् कृष्ण के पास पहुँची और उन्हें नरकासुर द्वारा चुराई गई विविध वस्तुएँ प्रदान कीं। उन्होंने भगवान् की स्तुति की और नरकासुर के भयभीत पुत्र को लाकर भगवान् के चरणकमलों में डाल दिया। उस असुर-पुत्र को सान्त्वना देकर कृष्ण नरकासुर के महल में घुसे जहाँ उन्हें सोलह हजार एक सौ युवतियाँ मिलीं। ज्योंही उन्होंने कृष्ण को देखा, उन सबों ने उन्हें ही अपने पति रूप में स्वीकार करने का निर्णय लिया। भगवान् ने उन्हें प्रचुर कोष के साथ द्वारका भेज दिया और तब वे सत्यभामा के साथ इन्द्र-धाम गये। वहाँ उन्होंने अदिति के कुंडल लौटाये और इन्द्र तथा इन्द्र-पत्नी शची देवी ने उनकी पूजा की। सत्यभामा के अनुरोध पर कृष्ण ने स्वर्गिक पारिजात वृक्ष उखाड़ लिया और उसे गरुड़ की पीठ पर रख लिया। फिर इस वृक्ष को ले जाने का विरोध कर रहे इन्द्र तथा अन्य देवताओं को हराकर कृष्ण सत्यभामा समेत द्वारका लौट आये जहाँ उन्होंने सत्यभामा के महल के निकट उस वृक्ष को एक बगीचे में रोप दिया।

इन्द्र मूलतः कृष्ण की स्तुति करने और उनसे नरकासुर का वध करने की याचना करने आया था किन्तु जब उसका काम पूरा हो गया तो वह भगवान् से झगड़ पड़ा। देवताओं में क्रुद्ध होने की प्रवृत्ति है क्योंकि वे अपने ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त हो उठते हैं।

अच्युत भगवान् ने अपने सोलह हजार एक सौ पृथक्-पृथक् रूप धारण किये और उनके अलग-अलग भवनों में सोलह हजार एक सौ युवतियों से विवाह किया। वे अपनी अनेक पत्नियों से विभिन्न प्रकार की सेवाएँ कराते हुए सामान्य पुरुष जैसा गृहस्थ जीवन बिताने लगे।

श्रीराजोवाच यथा हतो भगवता भौमो येने च ताः स्त्रियः ।
निरुद्धा एतदाचक्ष्व विक्रमं शार्ङ्गधन्वनः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा (परीक्षित) ने कहा; यथा—कैसे; हतः—मारा गया; भगवता—भगवान् द्वारा; भौमः—नरकासुर, भूमि या पृथ्वीदेवी का पुत्र; येन—जिसके द्वारा; च—तथा; ताः—वे; स्त्रियः—स्त्रियाँ; निरुद्धाः—बन्दी; एतत्—यह; आचक्ष्व—कहिये; विक्रमम्—शौर्य; शार्ङ्ग-धन्वनः—शार्ङ्ग धनुष के स्वामी कृष्ण का।

[राजा परीक्षित ने कहा] : अनेक स्त्रियों का अपहरण करने वाला भौमासुर किस तरह भगवान् द्वारा मारा गया ? कृपा करके भगवान् शार्ङ्गधन्वा के इस शौर्य का वर्णन कीजिये।

श्रीशुक उवाच

इन्द्रेण हृतछत्रेण हृतकुण्डलबन्धुना ।
हृतामराद्रिस्थानेन ज्ञापितो भौमचेष्टितम् ।
सभार्यो गरुडारूढः प्राग्ज्योतिषपुरं ययौ ॥ २॥
गिरिदुर्गैः शस्त्रदुर्गैर्जलाग्न्यनिलदुर्गमम् ।
मुरपाशायुतैर्घोरैर्दृढैः सर्वत आवृतम् ॥ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इन्द्रेण—इन्द्र द्वारा; हृत-छत्रेण—जिससे (वरुण का) छाता चुरा लिया गया; हृत-कुण्डल—कुण्डलों की चोरी; बन्धुना—उसके सम्बन्धियों (माता अदिति) के; हृत—तथा चोरी; अमर-अद्रि—देवताओं के पर्वत (मन्दर) पर; स्थानेन—विशेष स्थान (पर्वत की चोटी पर बने क्रीड़ास्थल, मणिपर्वत) पर; ज्ञापितः—सूचित किया; भौम-चेष्टितम्—भौम के कार्यकलापों का; स—सहित; भार्यः—अपनी पत्नी (सत्यभामा); गरुड-आरूढः—गरुड़ पर सवार होकर; प्राग्-ज्योतिष-पुरम्—भौम की राजधानी प्राग्ज्योतिषपुर (आसाम में स्थित-वर्तमान तेजपुर); ययौ—गया; गिरि—पर्वत; दुर्गैः—किलेबन्दी द्वारा; शस्त्र—हथियारों से युक्त; दुर्गैः—किलेबन्दी द्वारा; जल—जल; अग्नि—आग; अनिल—तथा वायु के; दुर्गमम्—किलेबन्दी से दुर्गम बनाया गया; मुर-पाश—केबलों (तारों) की घातक दीवाल से; अयुतैः—दसियों हजार; घोरैः—भयावना; दृढैः—तथा मजबूत; सर्वतः—सभी दिशाओं से; आवृतम्—घिरा हुआ।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब भौम ने इन्द्र की माता के कुंडलों के साथ साथ वरुण का छत्र तथा मन्दर पर्वत की चोटी पर स्थित देवताओं की क्रीड़ास्थली को चुरा लिया तो इन्द्र कृष्ण के पास गया और उन्हें इन दुष्कृत्यों की सूचना दी। तब भगवान् अपनी पत्नी सत्यभामा को साथ लेकर गरुड़ पर सवार होकर प्राग्ज्योतिषपुर के लिए रवाना हो गये जो चारों ओर से पर्वतों, बिना पुरुषों के चलाये जाने वाले हथियारों, जल, अग्नि तथा वायु से और मुर पाशतारों (फन्दों) के अवरोधों से घेरा हुआ था।

तात्पर्य : आचार्यों ने विभिन्न युक्तिसंगत विधियों के द्वारा व्याख्या की है कि भगवान् कृष्ण अपने साथ सत्यभामा को क्यों ले गये थे। श्रील श्रीधर स्वामी कहते हैं कि भगवान् अपनी साहसिक पत्नी को विशिष्ठ अनुभव करवाना चाहते थे इसीलिए वे इस असामान्य युद्ध-क्षेत्र में उन्हें ले गये। यही नहीं, कृष्ण ने एक बार भूमि, देवी पृथ्वी, को आशीर्वाद दिया था कि वे उसकी अनुमति के बिना उसके असुर-पुत्र का संहार नहीं करेंगे। चूँकि भूमि सत्यभामा की अंश है, अत: सत्यभामा उन्हें अत्यन्त दुष्ट भौमासुर से निपटने के लिए अधिकृत कर सकती थीं।

अन्तिम बात यह थी कि जब नारदमुनि रुक्मिणी के लिए दैवी पारिजात पुष्प लाये तो सत्यभामा का क्रोध जाग उठा था। अत: सत्यभामा को सान्त्वना देते हुए भगवान् ने उनसे वादा किया था, ''मैं तुम्हारे लिए इन फूलों का पूरे का पूरा वृक्ष ला दूँगा'' अत: उन्होंने अपने कार्यक्रम में इस स्वर्गिक वृक्ष के लाने को भी सम्मिलित कर लिया।

आज भी पत्नी समर्पित पति अपनी पत्नियों को खरीदारी के लिए बाजार में साथ ले जाते हैं अत: भगवान् कृष्ण उस स्वर्गिक वृक्ष को लाने के लिए सत्यभामा को स्वर्गलोक ले गये। साथ ही वे उन वस्तुओं को भी वापस लाने और उन्हें उनके असली मालिकों को लौटाने के लिए वहाँ गये थे जिन्हें भौमासुर चुरा ले गया था।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती लिखते हैं कि युद्ध में तेजी आने पर सत्यभामा स्वभावत: कृष्ण की सुरक्षा के प्रति व्यग्र हो जाएँगी और युद्ध के अन्त होने के लिए प्रार्थना करेंगी। इस तरह वे अपने ही अंश भूमि के पुत्र का वध करने के लिए कृष्ण को अनुमति दे देंगी।

गदया निर्बिभेदाद्रीन्शस्त्रदुर्गाणि सायकै: ।
चक्रेणाग्निं जलं वायुं मुरपाशांस्तथासिना ॥ ४॥

शब्दार्थ

गदया—अपनी गदा से; निर्बिभेद—तोड़ डाला; अद्रीन्—पर्वतों को; शस्त्र-दुर्गाणि—अवरोधक हथियार; सायकै:—अपने बाणों से; चक्रेण—अपने चक्र से; अग्निम्—अग्नि को; जलम्—जल को; वायुम्—तथा वायु को; मुर-पाशान्—तारों के फंदों के अवरोधों को; तथा—इसी तरह; असिना—अपनी तलवार से।

भगवान् ने अपनी गदा से चट्टानी किलेबन्दी को, अपने बाणों से हथियारों की नाकेबन्दी को, अपने चक्र से अग्नि, जल तथा वायु की किलेबन्दी को और अपनी तलवार से मुर पाश की तारों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

शङ्खनादेन यन्त्राणि हृदयानि मनस्विनाम् ।
प्राकारं गदया गुर्व्या निर्बिभेद गदाधर: ॥ ५॥

शब्दार्थ

शङ्ख—अपने शंख की; नादेन—ध्वनि से; यन्त्राणि—योग के तिलिस्मों को; हृदयानि—हृदयों को; मनस्विनाम्—बहादुरों के; प्राकारम्—परकोटे को; गदया—अपनी गदा से; गुर्व्या—भारी; निर्बिभेद—तोड़ डाला; गदाधर:—भगवान् कृष्ण ने।

तब गदाधर ने अपने शंख की ध्वनि से दुर्ग के जादुई तिलिस्मों को और उसी के साथ उसके वीर रक्षकों के हृदयों को ध्वस्त कर दिया। उन्होंने अपनी भारी गदा से किले के मिट्टी से बने परकोटे को ढहा दिया।

पाञ्चजन्यध्वनिं श्रुत्वा युगान्तशनिभीषणम् ।
मुर: शयान उत्तस्थौ दैत्य: पञ्चशिरा जलात् ॥ ६॥

शब्दार्थ

पाञ्चजन्य—कृष्ण के शंख की; ध्वनिम्—आवाज को; श्रुत्वा—सुनकर; युग—ब्रह्माण्ड के युग के; अन्त—अन्त में; अशनि—बिजली की (ध्वनि के समान); भीषणम्—दिल दहलाने वाली; मुरः—मुर; शयानः—सोया हुआ; उत्तस्थौ—उठ गया; दैत्यः—असुर; पञ्च-शिराः—पाँच सिरों वाला; जलात्—(किले के चारों ओर की खाई के) जल में से।

जब पाँच सिरों वाले असुर मुर ने भगवान् कृष्ण के पांचजन्य शंख की ध्वनि सुनी, जो युग के अन्त में बिजली (वज्र) की कड़क की भाँति भयावनी थी तो नगर की खाई की तली में सोया हुआ वह असुर जग गया और पानी से बाहर निकल आया।

त्रिशूलमुद्यम्य सुदुर्निरीक्षणो
युगान्तसूर्यानलरोचिरुल्बणः ।
ग्रसंस्त्रिलोकीमिव पञ्चभिर्मुखै-
रभ्यद्रवत्तार्क्ष्यसुतं यथोरगः ॥ ७॥

शब्दार्थ

त्रि-शूलम्—अपना त्रिशूल; उद्यम्य—उठाकर; सु—अत्यन्त; दुर्निरीक्षणः—जिसकी ओर देख पाना कठिन था; युग-अन्त—युग के अन्त में; सूर्य—सूर्य; अनल—अग्नि (वत्); रोचिः—जिसका तेज; उल्बणः—भीषण; ग्रसन्—निगलते हुए; त्रि-लोकीम्—तीनों लोकों को; इव—मानो; पञ्चभिः—अपने पाँच; मुखैः—मुखों से; अभ्यद्रवत्—आक्रमण किया; तार्क्ष्य-सुतम्—तार्क्ष्य के पुत्र, गरुड़ पर; यथा—जिस तरह; उरगः—सर्प।

युगान्त के समय की सूर्य की अग्नि सदृश अन्धा बना देने वाले भयंकर तेज से चमकता हुआ, मुर अपने पाँचों मुखों से तीनों लोकों को निगलता-सा प्रतीत हो रहा था। उसने अपना त्रिशूल उठाया और तार्क्ष्य-पुत्र गरुड़ पर वैसे ही टूट पड़ा जिस तरह आक्रमण करता हुआ सर्प।

आविध्य शूलं तरसा गरुत्मते
निरस्य वक्त्रैर्व्यनदत्स पञ्चभिः ।
स रोदसी सर्वदिशोऽम्बरं महा-
नापूरयन्नण्डकटाहमावृणोत् ॥ ८॥

शब्दार्थ

आविध्य—घुमाते हुए; शूलम्—अपना त्रिशूल; तरसा—बलपूर्वक; गरुत्मते—गरुड़ पर; निरस्य—फेंककर; वक्त्रैः—मुखों से; व्यनदत्—गर्जना की; सः—उसने; पञ्चभिः—पाँचो; सः—वह; रोदसी—पृथ्वी तथा आकाश; सर्व—सभी; दिशः—दिशाएँ; अम्बरम्—बाह्य आकाश; महान्—महान् (गर्जना); आपूरयन्—पूर्ण करते हुए; अण्द—ब्रह्माण्ड के अंडे जैसे आवरणों के; कटाहम्—कड़ाह को; आवृणोत्—ढक दिया।

मुर ने अपना त्रिशूल घुमाया और अपने पाँचों मुखों से दहाड़ते हुए उसे गरुड़ पर बड़ी उग्रता से फेंक दिया। यह ध्वनि पृथ्वी, आकाश, सभी दिशाओं तथा बाह्य अंतरिक्ष की सीमाओं में भर कर ब्रह्माण्ड की खोल से टकराकर प्रतिध्वनित होने लगी।

तदापतद्वै त्रिशिखं गरुत्मते
हरिः शराभ्यामभिनत्त्रिधोजसा ।
मुखेषु तं चापि शरैरताडयत्
तस्मै गदां सोऽपि रुषा व्यमुञ्चत ॥ ९॥

शब्दार्थ

तदा—तब; आपतत्—उड़ती हुई; वै—निस्सन्देह; त्रि-शिखम्—त्रिशूल; गरुत्मते—गरुड़ की ओर; हरिः—भगवान् कृष्ण ने; शराभ्याम्—दो बाणों से; अभिनत्—खंड कर दिया; त्रिधा—तीन भागों में; ओजसा—बलपूर्वक; मुखेषु—उसके मुखों पर; तम्—उसको, मुर को; च—तथा; अपि—भी; शरैः—बाणों से; अताडयत्—प्रहार किया; तस्मै—उस (कृष्ण) पर; गदाम्—अपनी गदा को; सः—उसने, मुर ने; अपि—तथा; रुषा—क्रोध में; व्यमुञ्चत—छोड़ा।

तब भगवान् हरि ने गरुड़ की ओर उड़ते हुए त्रिशूल पर दो बाणों से प्रहार किया और उसे तीन खण्डों में काट डाला। इसके बाद भगवान् ने मुर के मुखों पर कई बाण मारे और असुर ने भी क्रुद्ध होकर भगवान् पर अपनी गदा फेंकी।

तामापतन्तीं गदया गदां मृधे
गदाग्रजो निर्बिभिदे सहस्रधा ।
उद्यम्य बाहूनभिधावतोऽजितः
शिरांसि चक्रेण जहार लीलया ॥ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उस; आपतन्तीम्—अपनी ओर आती हुई; गदया—अपनी गदा से; गदाम्—गदा को; मृधे—युद्धभूमि में; गद-अग्रजः—गद के बड़े भाई, कृष्ण ने; निर्बिभिदे—तोड़ डाला; सहस्रधा—हजारों टुकड़ों में; उद्यम्य—उठाकर; बाहून्—अपनी भुजाएँ; अभिधावतः—उसकी ओर दौड़ने वाले का; अजितः—अजेय कृष्ण; शिरांसि—सिरों को; चक्रेण—अपने चक्र से; जहार—अलग कर दिया; लीलया—आसानी से।

जब युद्धभूमि में मुर की गदा कृष्ण की ओर लपकी तो गदाग्रज ने अपनी गदा से उसे बीच में ही रोक दिया और उसे हजारों टुकड़ों में तोड़ डाला। तब मुर ने अपनी बाहें ऊपर उठा लीं और अजेय भगवान् की ओर दौड़ा जिन्होंने अपने चक्र से उसके सिरों को सरलता से काट गिराया।

व्यसुः पपाताम्भसि कृत्तशीर्षो
निकृत्तशृङ्गोऽद्रिरिवेन्द्रतेजसा ।
तस्यात्मजाः सप्त पितुर्वधातुराः
प्रतिक्रियामर्षजुषः समुद्यताः ॥ ११॥

शब्दार्थ

व्यसुः—प्राणविहीन; पपात—गिर पड़ा; अम्भसि—जल के भीतर; कृत्त—कटे हुए; शीर्षः—सिरों; निकृत्त—कटा हुआ; शृङ्गः—चोटी; अद्रिः—पर्वत; इव—मानो; इन्द्र—इन्द्र की; तेजसा—शक्ति से (उसके वज्र से); तस्य—उस (मुर) के; आत्म-

जाः—पुत्रगण; सप्त—सात; पितुः—अपने पिता के; वध—मारे जाने से; आतुराः—अत्यन्त दुखित; प्रतिक्रिया—बदले के लिए; अमर्ष—क्रोध; जुषः—भावना; समुद्यताः—सन्नद्ध।

प्राणविहीन मुर का सिरकटा शरीर पानी में उसी तरह गिर पड़ा जैसे कोई पर्वत जिसकी चोटी इन्द्र के वज्र की शक्ति से छिन्न हो गई हो। अपने पिता की मृत्यु से क्रुद्ध होकर असुर के सात पुत्र बदला लेने के लिए उद्यत हो गये।

ताम्रोऽन्तरिक्षः श्रवणो विभावसु-
वर्सुर्नभस्वानरुणश्च सप्तमः ।
पीठं पुरस्कृत्य चमूपतिं मृधे
भौमप्रयुक्ता निरगन्धृतायुधाः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ताम्रः अन्तरिक्षः श्रवणः विभावसुः—ताम्र, अन्तरिक्ष, श्रवण तथा विभावसु; वसुः नभस्वान्—वसु तथा नभस्वान; अरुणः—अरुण; च—तथा; सप्तमः—सातवाँ; पीठम्—पीठ को; पुरः-कृत्य—आगे करके; चमू-पतिम्—अपने सेनापति को; मृधे—युद्धभूमि में; भौम—भौमासुर द्वारा; प्रयुक्ताः—नियुक्त; निरगन्—(किले से) बाहर निकल आये; धृत—धारण किये; आयुधाः—हथियार।

भौमासुर का आदेश पाकर ताम्र, अन्तरिक्ष, श्रवण, विभावसु, वसु, नभस्वान् तथा अरुण नामक सातों पुत्र अपने हथियार धारण किये पीठ नामक अपने सेनापति के पीछे पीछे युद्ध-क्षेत्र में आ गये।

प्रायुञ्जतासाद्य शरानसीन्गदाः
शक्त्यृष्टिशूलान्यजिते रुषोल्बणाः ।
तच्छस्त्रकूटं भगवान्स्वमार्गणै-
रमोघवीर्यस्तिलशश्चकर्त ह ॥ १ ॥

शब्दार्थ

प्रायुञ्जत—प्रयोग किया; आसाद्य—आक्रमण करके; शरान्—बाणों; असीन्—तलवारों; गदाः—गदाओं; शक्ति—भालों; ऋष्टि—ऋष्टि; शूलानि—तथा त्रिशूलों से; अजिते—अजित भगवान् कृष्ण पर; रुषा—क्रोधपूर्वक; उल्बणाः—भयानक; तत्—उनके; शस्त्र—हथियारों के; कूटम्—पर्वत को; भगवान्—भगवान् ने; स्व—अपने; मार्गणैः—बाणों से; अमोघ—अचूक; वीर्यः—जिनका पराक्रम; तिलशः—तिल जितने छोटे छोटे कणों में; चकर्त ह—काट डाला।

इन भयानक योद्धाओं ने क्रुद्ध होकर बाणों, तलवारों, गदाओं, भालों, ऋष्टियों तथा त्रिशूलों से अजेय भगवान् कृष्ण पर आक्रमण कर दिया किन्तु भगवान् ने अपनी अमोघ शक्ति से हथियारों के इस पर्वत को अपने बाणों से छोटे छोटे टुकड़ों में काट डाला।

तान्पीठमुख्याननयद्यमक्षयं

निकृत्तशीर्षोरुभुजाङ्घ्रिवर्मण: ।
स्वानीकपानच्युतचक्रसायकै-
स्तथा निरस्तान्नरको धरासुत: ।
निरीक्ष्य दुर्मर्षण आस्त्रवन्मदै-
र्गजै: पयोधिप्रभवैर्निराक्रमात् ॥ १४॥

शब्दार्थ

तान्—उन; पीठ-मुख्यान्—पीठ इत्यादि को; अनयत्—भेज दिया; यम—मृत्यु के स्वामी यम के; क्षयम्—धाम को; निकृत्त—कटे हुए; शीर्ष—सिर; ऊरु—जाँघें; भुज—बाँहें; अङ्घ्रि—पाँव; वर्मण:—तथा कवच; स्व—अपनी; अनीक—सेना के; पान्—नायक; अच्युत—भगवान् कृष्ण के; चक्र—चक्र; सायकै:—तथा बाणों से; तथा—इस प्रकार; निरस्तान्—हटाया गया; नरक:—भौम; धरा—पृथ्वीदेवी का; सुत:—पुत्र; निरीक्ष्य—देखकर; दुर्मर्षण:—सहन करने में अक्षम; आस्त्रवत्—चू रहे थे; मदै:—उन्मत्त हाथियों के गण्डस्थल से निकलने वाला चिपचिपा द्रव; गजै:—हाथियों के साथ; पय:-धि—क्षीर सागर से; प्रभवै:—उत्पन्न; निराक्रमात्—वह बाहर आया।

भगवान् ने पीठ इत्यादि प्रतिद्वन्द्वियों के सिर, जाँघें, बाँहें, पाँव तथा कवच काट डाले और उन सबों को यमराज के लोक भेज दिया। जब पृथ्वी-पुत्र नरकासुर ने अपने सेना-नायकों का यह हाल देखा तो उसका क्रोध आपे में न रह सका। अत: वह क्षीर सागर से उत्पन्न हाथियों के साथ, जो उन्मत्तता के कारण अपने गण्डस्थल से मद चूआ रहे थे, अपने दुर्ग से बाहर आया।

दृष्ट्वा सभार्यं गरुडोपरि स्थितं
सूर्योपरिष्टात्सतडिद्घनं यथा ।
कृष्णं स तस्मै व्यसृजच्छतघ्नीं
योधाश्च सर्वे युगपच्च विव्यधु: ॥ १५॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; स-भार्यम्—अपनी पत्नी के साथ; गरुड-उपरि—गरुड़ के ऊपर; स्थितम्—आसीन; सूर्य—सूर्य से; उपरिष्टात्—ऊँचा; स-तडित्—बिजली से युक्त; घनम्—बादल को; यथा—जिस तरह; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण को; स:—उसने, भौम ने; तस्मै—उस पर; व्यसृजत्—छोड़ा; शत-घ्नीम्—शतघ्नी (भाले का नाम); योधा:—उसके सैनिकों ने; च—तथा; सर्वे—सभी; युगपत्—एक ही साथ; च—तथा; विव्यधु:—आक्रमण कर दिया।

गरुड़ पर आसीन भगवान् कृष्ण और उनकी पत्नी सूर्य को ढकने वाले बिजली से युक्त बादल जैसे प्रतीत हो रहे थे। भगवान् को देखकर भौम ने उन पर अपना शतघ्नी हथियार छोड़ा। तत्पश्चात् भौम के सारे सैनिकों ने एकसाथ अपने अपने हथियारों से आक्रमण कर दिया।

तद्भौमसैन्यं भगवान्गदाग्रजो
विचित्रवाजैर्निशितै: शिलीमुखै: ।
निकृत्तबाहूरुशिरोध्रविग्रहं
चकार तर्ह्येव हताश्वकुञ्जरम् ॥ १६॥

शब्दार्थ

तत्—उस; भौम-सैन्यम्—भौमासुर की सेना को; भगवान्—भगवान्; गदाग्रजः—कृष्ण ने; विचित्र—नाना प्रकार के; वाजैः—पंखों वाले; निशितैः—नुकीले; शिलीमुखैः—बाणों से; निकृत्त—काट दिया; बाहु—बाँहें; ऊरु—जाँघें; शिरः-ध्र—तथा गर्दन; विग्रहम्—शरीरों को; चकार—बनाया; तर्हि एव—उसी क्षण; हत—मार डाला; अश्व—घोड़ों; कुञ्जरम्—तथा हाथियों को।.

उस क्षण भगवान् गदाग्रज ने अपने तीक्ष्ण बाण भौमासुर की सेना पर छोड़े। नाना प्रकार के पंखों से युक्त इन बाणों ने उस सेना को शरीरों के ढेर में बदल दिया जिनकी बाँहें, जाँघें तथा गर्दनें कटी थीं। इसी तरह कृष्ण ने विपक्षी घोड़ों तथा हाथियों को मार डाला।

यानि योधैः प्रयुक्तानि शस्त्रास्त्राणि कुरूद्वह ।
हरिस्तान्यच्छिनत्तीक्ष्णैः शरैरेकैकशस्त्रीभिः ॥ १७॥
उह्यमानः सुपर्णेन पक्षाभ्यां निघ्नता गजान् ।
गुरुत्मता हन्यमानास्तुण्डपक्षनखेर्गजाः ॥ १८॥
पुरमेवाविशन्नार्ता नरको युध्ययुध्यत ॥ १९॥

शब्दार्थ

यानि—वे जो; योधैः—योद्धाओं द्वारा; प्रयुक्तानि—प्रयुक्त; शस्त्र—काटने वाले हथियार; अस्त्राणि—तथा फेंककर चलाये जाने वाले हथियार; कुरु-उद्वह—हे कुरुओं के वीर (राजा परीक्षित); हरिः—भगवान् कृष्ण ने; तानि—उनको; अच्छिनत्—खण्ड खण्ड कर दिया; तीक्ष्णैः—नुकीले; शरैः—बाणों से; एक-एकशः—एक एक करके; त्रिभिः—तीन; उह्यमानः—ले जाये गये; सु-पर्णेन—बड़े बड़े पंखो वाले (गरुड़) द्वारा; पक्षाभ्याम्—दोनों पंखों से; निघ्नता—प्रहार करता; गजान्—हाथियों को; गुरुत्मता—गरुड़ द्वारा; हन्यमानाः—मारा जाकर; तुण्ड—चोंच; पक्ष—पंखों; नखेः—तथा पंजों से; गजाः—हाथी; पुरम्—नगर में; एव—निस्सन्देह; आविशन्—फिर से भीतर जाकर; आर्ताः—दुखी; नरकः—नरक (भौम); युधि—युद्ध में; अयुध्यत—लड़ता रहा।.

हे कुरुवीर, तब भगवान् हरि ने उन सारे अस्त्रों तथा शस्त्रों को मार गिराया जिन्हें शत्रु-सैनिकों ने उन पर फेंका था और हर एक को तीन तेज बाणों से नष्ट कर डाला। इस बीच, भगवान् को उठाकर ले जाते हुए गरुड़ ने अपने पंखों से शत्रु के हाथियों पर प्रहार किया। ये हाथी गरुड़ के पंखों, चोंच तथा पंजों से प्रताड़ित होने से भाग कर नगर के भीतर जा घुसे जिससे कृष्ण का सामना करने के लिए युद्धभूमि में केवल नरकासुर बच रहा।

दृष्ट्वा विद्रावितं सैन्यं गरुडेनार्दितं स्वकं ।
तं भौमः प्राहरच्छक्त्या वज्रः प्रतिहतो यतः ।
नाकम्पत तया विद्धो मालाहत इव द्विपः ॥ २०॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; विद्रावितम्—भगाई हुई; सैन्यम्—सेना के; गरुडेन—गरुड़ द्वारा; अर्दितम्—तंग की गई; स्वकम्—अपनी; तम्—उस पर, गरुड़ पर; भौमः—भौमासुर ने; प्राहरत्—प्रहार किया; शक्त्या—अपने भाले से; वज्रः—(इन्द्र का) वज्र;

प्रतिहतः—उलट कर प्रहार किया गया; यतः—जिससे; न अकम्पत—वह (गरुड़) हिला नहीं; तया—उससे; विद्धः—प्रहार किया गया; माला—फूलों की माला से; आहतः—मारा गया; इव—सदृश; द्विपः—हाथी।.

जब भौम ने देखा कि गरुड़ द्वारा उसकी सेना खदेड़ी तथा सतायी जा रही है, तो उसने गरुड़ पर अपने उस भाले से आक्रमण किया जिससे उसने एक बार इन्द्र के वज्र को परास्त किया था। किन्तु उस शक्तिशाली हथियार से प्रहार किये जाने पर भी गरुड़ तिलमिलाये नहीं। निस्सन्देहवे फूलों की माला से प्रहार किए जाने वाले हाथी के समान थे।

शूलं भौमोऽच्युतं हन्तुमाददे वितथोद्यमः ।
तद्विसर्गात्पूर्वमेव नरकस्य शिरो हरिः ।
अपाहरद्गजस्थस्य चक्रेण क्षुरनेमिना ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

शूलम्—त्रिशूल को; भौमः—भौम ने; अच्युतम्—भगवान् कृष्ण को; हन्तुम्—मारने के लिए; आददे—ग्रहण किया; वितथ—व्यग्र; उद्यमः—प्रयास; तत्—उसके; विसर्गात्—छोड़ने से; पूर्वम्—पहले; एव—भी; नरकस्य—भौम का; शिरः—सिर; हरिः—भगवान् कृष्ण ने; अपाहरत्—काट दिया; गज—हाथी पर; स्थस्य—बैठे हुए; चक्रेण—चक्र से; क्षुर—छुरे सी; नेमिना—धार वाले।.

तब अपने सारे प्रयासों में विफल भौम ने भगवान् कृष्ण को मारने के लिए अपना त्रिशूल उठाया। किन्तु इसके पहले कि वह उसे चलाये, भगवान् ने अपने तेज धार वाले चक्र से हाथी के ऊपर बैठे हुए उस असुर के सिर को काट डाला।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार ज्योंही भौम ने अपना अजेय त्रिशूल उठाया, भगवान् के साथ गरुड़ पर आसीन सत्यभामा ने कृष्ण से कहा, ‘‘उसका तत्क्षण वध कीजिये’’ और कृष्ण ने वैसा ही किया।

सकुण्डलं चारुकिरीटभूषणं
बभौ पृथिव्यां पतितम्समुज्ज्वलम् ।
ह हेति साध्वित्यृषयः सुरेश्वरा
माल्यैर्मुकुन्दं विकिरन्त ईदिरे ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

स—सहित; कुण्डलम्—कुण्डल; चारु—सुन्दर; किरीट—मुकुट से; भूषणम्—सुशोभित; बभौ—चमकने लगा; पृथिव्याम्—पृथ्वी पर; पतितम्—गिरा हुआ; समुज्ज्वलम्—चमकीला; हा हा इति—हाय हाय; साधु इति—बहुत अच्छा; ऋषयः—ऋषियों ने; सुर-ईश्वरः—तथा प्रमुख देवताओं ने; माल्यैः—फूल की मालाओं से; मुकुन्दम्—भगवान् कृष्ण की; विकिरन्तः—बिखरते हुए; ईडिरे—पूजा की।.

भूमि पर गिरे हुए भौमासुर का सिर तेजी से चमक रहा था क्योंकि यह कुण्डलों तथा

आकर्षक मुकुट से सज्जित था। ज्यों ही ''हाय हाय'' तथा ''बहुत अच्छा हुआ'' के क्रन्दन उठने लगे, त्योंही ऋषियों तथा प्रमुख देवताओं ने फूल-मालाओं की वर्षा करते हुए भगवान् मुकुन्द की पूजा की।

ततश्च भूः कृष्णमुपेत्य कुण्डले
प्रतप्तजाम्बूनदरत्नभास्वरे ।
सवैजयन्त्या वनमालयार्पयत्
प्राचेतसं छत्रमथो महामणिम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; च—तथा; भूः—भूमिदेवी; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण के; उपेत्य—पास आकर; कुण्डले—दोनों कुण्डल (जो अदिति के थे); प्रतप्त—चमकीले; जाम्बूनद—सोना; रत्न—रत्नों से; भास्वरे—चमकते हुए; स—सहित; वैजयन्त्या—वैजयन्ती नामक; वन-मालया—तथा फूलों की माला से; अर्पयत्—भेंट किया; प्राचेतसम्—वरुण का; छत्रम्—छाता; अथ उ—तत्पश्चात; महा-मणिम्—मन्दर पर्वत की चोटी, मणिपर्वत।

तब भूमिदेवी भगवान् कृष्ण के पास आईं और भगवान् को अदिति के कुण्डल भेंट किये जो चमकीले सोने के बने थे और जिसमें चमकीले रत्न जड़े थे। उसने उन्हें एक वैजयन्ती माला, वरुण का छत्र तथा मन्दर पर्वत की चोटी भी दी।

अस्तौषीदथ विश्वेशं देवी देववरार्चितम् ।
प्राञ्जलिः प्रणता राजन्भक्तिप्रवणया धिया ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

अस्तौषीत्—स्तुति की; अथ—तब; विश्व—ब्रह्माण्ड के; ईशम्—स्वामी की; देवी—देवी; देव—देवतागण का; वर—श्रेष्ठ; अर्चितम्—पूजित; प्राञ्जलिः—अपने हाथ जोड़ कर; प्रणता—प्रणाम किया; राजन्—हे राजा (परीक्षित); भक्ति—भक्ति; प्रवणया—से पूरित; धिया—प्रवृत्ति से।

हे राजन्, उनको प्रणाम करके तथा उनके समक्ष हाथ जोड़े खड़ी वह देवी भक्ति-भाव से पूरित होकर ब्रह्माण्ड के उन स्वामी की स्तुति करने लगी जिनकी पूजा श्रेष्ठ देवतागण करते हैं।

भूमिरुवाच
नमस्ते देवदेवेश शङ्खचक्रगदाधर ।
भक्तेच्छोपात्तरूपाय परमात्मन्नमोऽस्तु ते ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

भूमिः उवाच—भूमिदेवी ने कहा; नमः—नमस्कार; ते—आपको; देव-देव—देवताओं के स्वामी; ईश—हे ईश्वर; शङ्ख—शंख; चक्र—चक्र; गदा—गदा; धर—हे धारण करने वाले; भक्त—अपने भक्तों की; इच्छा—इच्छा से; उपात्त—धारण किये हुए; रूपाय—आपके रूपों को; परम-आत्मन्—हे परमात्मा; नमः—नमस्कार; अस्तु—होए; ते—आपको।

भूमिदेवी ने कहा : हे देवदेव, हे शंख, चक्र तथा गदा के धारणकर्ता, आपको नमस्कार है। हे परमात्मा, आप अपने भक्तों की इच्छाओं को पूरा करने के लिए विविध रूप धारण करते हैं। आपको नमस्कार है।

नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने ।
नमः पङ्कजनेत्राय नमस्तेपङ्कजाङ्घ्रये ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

नमः—सादर नमस्कार; पङ्कज-नाभाय—भगवान् को, जिनके उदर के बीच में कमल के फूल जैसा गड्ढा है; नमः—नमस्कार; पङ्कज-मालिने—जो सदैव कमल के फूलों की माला से सुसज्जित रहते हैं; नमः—नमस्कार; पङ्कज-नेत्राय—जिनकी चितवन कमल के फूल जैसी शीतलता प्रदान करने वाली है; नमः ते—आपको नमस्कार; पङ्कज-अङ्घ्रये—आपको, जिनके पैरों के तलवों पर कमल के फूल अंकित हैं।.

हे प्रभु, आपको मेरा सादर नमस्कार है। आपके उदर में कमल के फूल जैसा गड्ढा अंकित है, आप सदैव कमल के फूल की मालाओं से सुसज्जित रहते हैं, आपकी चितवन कमल जैसी शीतल है और आपके चरणों में कमल अंकित हैं।

तात्पर्य : महारानी कुन्ती ने भी यही स्तुति की थी जो *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध (१.८.२२) में पाई जाती है। इस श्लोक के शब्दार्थ तथा भावार्थ श्रील प्रभुपाद द्वारा की गई टीका से लिये गये हैं।

यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि कुन्ती द्वारा की गई स्तुति *श्रीमद्भागवत* में पहले आई है किन्तु यहाँ वर्णित घटना के अनेक वर्षों बाद उन्होंने यह स्तुति की थी।

नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय विष्णवे ।
पुरुषायादिबीजाय पूर्णबोधाय ते नमः ॥ २७॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; भगवते—भगवान् को; तुभ्यम्—आपको; वासुदेवाय—वासुदेव को, जो समस्त प्राणियों के आश्रय हैं; विष्णवे—सर्वव्यापक विष्णु को; पुरुषाय—आदि-पुरुष को; आदि—मूल, आदि; बीजाय—बीज को; पूर्ण—पूर्ण; बोधाय—ज्ञान को; ते—आपको; नमः—नमस्कार।.

हे वासुदेव, हे विष्णु, हे आदि-पुरुष, हे आदि-बीज भगवान्, आपको सादर नमस्कार है। हे सर्वज्ञ, आपको नमस्कार है।

अजाय जनयित्रेऽस्य ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।
परावरात्मन्भूतात्मन्परमात्मन्नमोऽस्तु ते ॥ २८॥

शब्दार्थ

अजाय—अजन्मा को; जनयित्रे—जनक; अस्य—इस (ब्रह्माण्ड) के; ब्रह्मणे—ब्रह्म को; अनन्त—असीम; शक्तये—जिनकी शक्तियाँ; पर—श्रेष्ठ; अवर—तथा निकृष्ट; आत्मन्—हे आत्मा; भूत—भौतिक जगत का; आत्मन्—हे आत्मा; परम-आत्मन्—हे परमात्मा जो सर्वव्यापी हैं; नमः—नमस्कार; अस्तु—हो; ते—आपको।

अनन्त शक्तियों वाले, इस ब्रह्माण्ड के अजन्मा जनक ब्रह्म, आपको नमस्कार है। हे वर तथा अवर के आत्मा, हे सृजित तत्त्वों के आत्मा, हे सर्वव्यापक परमात्मा, आपको नमस्कार है।

त्वं वै सिसृक्षुरज उत्कटं प्रभो
तमो निरोधाय बिभर्ष्यसंवृतः ।
स्थानाय सत्त्वं जगतो जगत्पते
कालः प्रधानं पुरुषो भवान्परः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; वै—निस्सन्देह; सिसृक्षुः—सृजन करने की इच्छा वाले; अजः—अजन्मा; उत्कटम्—प्रमुख; प्रभो—हे प्रभु; तमः—तमो गुण; निरोधाय—संहार के लिए; बिभर्षि—धारण करते हो; असंवृतः—अनावृत; स्थानाय—पालन के लिए; सत्त्वम्—सतो गुण; जगतः—ब्रह्माण्ड के; जगत्-पते—हे ब्रह्माण्ड के स्वामी; कालः—काल, समय; प्रधानम्—भौतिक प्रकृति (अपने आदि-रूप में); पुरुषः—स्रष्टा (भौतिक प्रकृति के साथ अंतः क्रिया करने वाला); भवान्—आप; परः—पृथक्, परे।

हे अजन्मा प्रभु, सृजन की इच्छा करके आप वृद्धि करते हैं और तब रजो गुण धारण करते हैं। इसी तरह जब आप ब्रह्माण्ड का संहार करना चाहते हैं, तो तमो गुण और जब इसका पालन करना चाहते हैं, तो सतो गुण धारण करते हैं। तो भी आप इन गुणों से अनाच्छादित रहते हैं। हे जगत्पति, आप काल, प्रधान तथा पुरुष हैं फिर भी आप पृथक् एवं भिन्न रहते हैं।

तात्पर्य : तृतीय पंक्ति में आया *जगतः* शब्द सूचित करता है कि सृजन, पालन तथा संहार के कार्य ब्रह्माण्ड के संदर्भ में आये हैं। *उत्कम्* शब्द सूचित करता है कि जब कोई कार्य किया जा रहा होता है—चाहे वह ब्रह्माण्ड का सृजन हो या पालन या संहार—तो उस कार्य से सम्बद्ध विशेष भौतिक गुण प्रधान बन जाता है।

अहं पयो ज्योतिरथानिलो नभो
मात्राणि देवा मन इन्द्रियाणि ।
कर्ता महानित्यखिलं चराचरं
त्वय्यद्वितीये भगवनयं भ्रमः ॥ ० ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं (पृथ्वी); पयः—जल; ज्योतिः—अग्नि; अथ—तथा; अनिलः—वायु; नभः—आकाश; मात्राणि—विभिन्न इन्द्रिय-विषय (पाँच स्थूल तत्त्वों के संगत); देवाः—देवतागण; मनः—मन; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; कर्ता—करने वाले, मिथ्या

अहंकार; महान्—समग्र भौतिक शक्ति (महत् तत्त्व); इति—इस प्रकार; अखिलम्—सम्पूर्ण; चर—चलायमान; अचरम्—जड़; त्वयि—तुम्हारे भीतर; अद्वितीये—अद्वितीय; भगवन्—हे प्रभु; अयम्—यह; भ्रमः—मोह।

यह भ्रम है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, इन्द्रिय-विषय, देवता, मन, इन्द्रियाँ, मिथ्या अहंकार तथा महत् तत्त्व आपसे स्वतंत्र होकर विद्यमान हैं। वास्तव में वे सब आपके भीतर हैं क्योंकि हे प्रभु, आप अद्वितीय हैं।

तात्पर्य : भू-देवी अपनी स्तुति में दिव्य दर्शन की बारीकियों पर प्रकाश डालती हुई स्पष्ट करती हैं कि यद्यपि भगवान् अद्वितीय हैं और अपनी सृष्टि से पृथक् हैं किन्तु उनकी सृष्टि का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है और वह उन्हीं के भीतर टिकी हुई है। इस प्रकार भगवान् तथा उनकी सृष्टि एक ही समय अभिन्न तथा भिन्न हैं (अचिन्त्य भेदाभेद) जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने ५०० वर्ष पूर्व बतलाया था।

यह कहना कि हर वस्तु, बिना किसी भेद के, ईश्वर है निरर्थक है क्योंकि कोई भी ईश्वर की तरह कर्म नहीं कर सकता। कुत्ते, जूते तथा मनुष्य जैसी वस्तुएँ न तो सर्वशक्तिमान या सर्वज्ञ होते हैं, न ही वे जगत की रचना कर सकते हैं। दूसरी ओर, जिस बात में सारी वस्तुएँ एक हैं उसमें अर्थ निहित है क्योंकि हर वस्तु उसी परम सत्य का अंश है। चैतन्य महाप्रभु ने सूर्य तथा सूर्य-किरणों का अत्यन्त सार्थक दृष्टान्त दिया है। सूर्य तथा उसकी धूप एक ही यथार्थ हैं क्योंकि सूर्य वह स्वर्गिक पिंड है, जो चमकता है। दूसरी ओर सूर्य-गोला (मण्डल) तथा सूर्य-किरणों में आसानी से अन्तर किया जा सकता है। इस प्रकार ईश्वर का अपनी सृष्टि से एकत्व तथा उससे भिन्नता वास्तविकता की अन्तिम और संतोषप्रद व्याख्या है। जो कुछ भी विद्यमान है, वह ईश्वर की शक्ति है फिर भी वे उच्च शक्तिरूप जीवों को मुक्त इच्छा प्रदान करते हैं जिससे वे उनके निर्णयों तथा कार्यों के नैतिक तथा आध्यात्मिक गुण के लिए उत्तरदायी हो सकें।

इस समग्र दिव्य विज्ञान का स्पष्ट एवं ग्राह्य विवेचन *श्रीमद्भागवत* में पाया जाता है।

तस्यात्मजोऽयं तव पादपङ्कजं
भीतः प्रपन्नार्तिहरोपसादितः ।
तत्पालयैनं कुरु हस्तपङ्कजं
शिरस्यमुष्याखिलकल्मषापहम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका (भौमासुर का); आत्म-जः—पुत्र; अयम्—यह; तव—तुम्हारे; पाद—पाँव; पङ्कजम्—कमल सदृश; भीतः—डरा हुआ; प्रपन्न—शरणागत; आर्ति—दुख, शोक; हर—हे हरने वाले; उपसादितः—पास आया है; तत्—इसलिए; पालय—रक्षा करें; एनम्—उसकी; कुरु—रखिये; हस्त-पङ्कजम्—अपना कर-कमल; शिरसि—सिर पर; अमुष्य—उसके; अखिल—सारे; कल्मष—पाप; अपहम्—समूल नष्ट करने वाले।

यह भौमासुर का पुत्र है। यह भयभीत है और आपके चरणकमलों के समी‌ु आ रहा है क्योंकि आप उन सबों के कष्टों को हर लेते हैं, जो आपकी शरण में आते हैं। कृपया इसकी रक्षा कीजिये। आप इसके सिर पर अपना कर-कमल रखें जो समस्त पापों को दूर करने वाला है।

तात्पर्य : यह भूमिदेवी अपने पोते के लिए संरक्षण माँगती है, जो अभी हाल ही में घटी भयावह घटनाओं से बुरी तरह डरा हुआ है।

श्रीशुक उवाच
इति भूम्यर्थितो वाग्भिर्भगवान्भक्तिनम्रया ।
दत्त्वाभयं भौमगृहम्प्राविशत्सकलर्द्धिमत् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; भूमि—भूमिदेवी द्वारा; अर्थितः—प्रार्थना किये जाने पर; वाग्भिः—उन शब्दों से; भगवान्—भगवान्; भक्ति—भक्तिपूर्वक; नम्रया—विनीत; दत्त्वा—देकर; अभयम्—अभय; भौम-गृहम्—भौमासुर के घर में; प्राविशत्—प्रविष्ट हुए; सकल—समस्त; ऋद्धि—ऐश्वर्य से; मत्—युक्त।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह विनीत भक्ति के शब्दों से भूमिदेवी द्वारा प्रार्थना किये जाने पर परमेश्वर ने उसके पोते को अभय प्रदान किया और तब भौमासुर के महल में प्रवेश किया जो सभी प्रकार के ऐश्वर्य से पूर्ण था।

तत्र राजन्यकन्यानां षट्सहस्राधिकायुतम् ।
भौमाहृतानां विक्रम्य राजभ्यो ददृशे हरिः ॥ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; राजन्य—राजवर्ग की; कन्यानाम्—कन्याओं का; षट्-सहस्र—छह हजार; अधिक—से अधिक; अयुतम्—दस हजार; भौम—भौम द्वारा; आहृतानाम्—छीन ली गईं; विक्रम्य—बल से; राजभ्यः—राजाओं से; ददृशे—देखा; हरिः—भगवान् कृष्ण ने।

वहाँ भगवान् कृष्ण ने सोलह हजार से अधिक राजकुमारियाँ देखीं, जिन्हें भौम ने विभिन्न राजाओं से बलपूर्वक छीन लिया था।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी पराशर मुनि का वह साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं जैसाकि *विष्णु पुराण* (५.२९.१) में उद्धृत है, जिसके अनुसार भौम के महल में १६ ० राजकुमारियाँ बन्दी थीं :

कन्यापुरे स कन्यानां षोडशातुल्यविक्रमः ।

शताधिकानि ददृशे सहस्राणि महामते॥

"हे विज्ञ! अद्वितीय पराक्रम वाले भगवान् ने राजकुमारियों के आवास-गृह से १६ ० कुमारियाँ ढूँढ़ निकालीं।"

विष्णु पुराण (५.२९.९) का अन्य प्रासंगिक श्लोक इस प्रकार है—

देवसिद्धासुरादीनां नृपानां च जनार्दन।

हृत्वा हि सोऽसुरः कन्या रुरोध निजमन्दिरे॥

"हे जनार्दन! वह असुर (भौमासुर) देवताओं, सिद्धों, असुरों तथा राजाओं की अविवाहिता पुत्रियों का हरण करके ले गया और उन्हें अपने महल में बन्दी बना लिया।"

तम्प्रविष्टं स्त्रियो वीक्ष्य नरवर्यं विमोहिताः ।
मनसा वव्रिरेऽभीष्टं पतिं दैवोपसादितम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; प्रविष्टम्—प्रवेश करते हुए; स्त्रियः—स्त्रियाँ; वीक्ष्य—देखकर; नर—मनुष्यों में; वर्यम्—श्रेष्ठ; विमोहिताः—मुग्ध; मनसा—अपने मनों में; वव्रिरे—चुना; अभीष्टम्—अभीष्ट; पतिम्—पति के रूप में; दैव—भाग्य से; उपसादितम्—लाई गई।.

जब स्त्रियों ने पुरुषों में सर्वोत्तम पुरुष को प्रवेश करते देखा तो वे मोहित हो गईं। उन्होंने मन ही मन उन्हें, जो कि वहाँ भाग्यवश लाये गये थे, अपने अभीष्ट पति के रूप में स्वीकार कर लिया।

भूयात्पतिरयं मह्यं धाता तदनुमोदताम् ।
इति सर्वाः पृथक्कृष्णे भावेन हृदयं दधुः ॥ ५॥

शब्दार्थ

भूयात्—बन सके; पतिः—पति; अयम्—वह; मह्यम्—मेरा; धाता—विधाता; तत्—वह; अनुमोदताम्—स्वीकृति प्रदान करें; इति—इस प्रकार; सर्वाः—वे सभी; पृथक्—अलग-अलग; कृष्णे—कृष्ण में; भावेन—भाव से; हृदयम्—अपने हृदयों में; दधुः—रख लिया।.

हर राजकुमारी ने इस विचार से कि "विधाता इस पुरुष को मेरा पति बनने का वर दें" अपने हृदय को कृष्ण के विचार में लीन कर दिया।

ताः प्राहिणोद्द्वारवतीं सुमृष्टविरजोऽम्बराः ।
नरयानैर्महाकोशान्रथाश्वान्द्रविणं महात् ॥ ६॥

शब्दार्थ

ताः—उनको; प्राहिणोत्—भेजा; द्वारवतीम्—द्वारका तक; सु-मृष्ट—स्वच्छ; विरजः—निष्कलंक; अम्बराः—वस्त्रों से; नर-यानैः—मनुष्यों के वाहनों (पालकियों) द्वारा; महा—विशाल; कोशान्—खजाने; रथ—रथ; अश्वान्—तथा घोड़े; द्रविणम्—धन-सम्पदा; महत्—विस्तृत।

भगवान् ने राजकुमारियों को स्वच्छ, निर्मल वस्त्रों से सजवाया और फिर उन्हें रथ, घोड़े तथा अन्य मूल्यवान वस्तुओं के विशाल कोषों समेत पालकियों में द्वारका भिजवा दिया।

ऐरावतकुलेभांश्च चतुर्दन्तांस्तरस्विनः ।
पाण्डुरांश्च चतु:षष्टिं प्रेरयामास केशवः ॥ ७॥

शब्दार्थ

ऐरावत—इन्द्र के वाहन ऐरावत के; कुल—कुल से; इभान्—हाथियों को; च—भी; चतुः—चार; दन्तान्—दाँत वाले; तरस्विनः—तेज; पाण्डुरान्—श्वेत; च—तथा; चतुः-षष्टिम्—चौंसठ; प्रेरयाम् आस—भेज दिया; केशवः—भगवान् कृष्ण ने।

भगवान् कृष्ण ने ऐरावत प्रजाति के कुल के चौंसठ तेज, सफेद एवं चार दाँतों वाले हाथी भी भिजवा दिये।

गत्वा सुरेन्द्रभवनं दत्त्वादित्यै च कुण्डले ।
पूजितस्त्रिदशेन्द्रेण महेन्द्र्याण्या च सप्रियः ॥ ८॥
चोदितो भार्ययोत्पाट्य पारीजातं गरुत्मति ।
आरोप्य सेन्द्रान्विबुधान्निर्जित्योपानयत्पुरम् ॥ ९॥

शब्दार्थ

गत्वा—जाकर; सुर—देवताओं के; इन्द्र—राजा के; भवनम्—धाम में; दत्त्वा—देकर; अदित्यै—इन्द्र की माता अदिति को; च—तथा; कुण्डले—उसके कुंडल; पूजितः—पूजा किया गया; त्रिदश—तीस (मुख्य देवताओं); इन्द्रेण—प्रधान द्वारा; महा-इन्द्र्याण्या—इन्द्राणी द्वारा; च—तथा; स—सहित; प्रियः—प्रियतमा (सत्यभामा); चोदितः—प्रेरित; भार्यया—अपनी पत्नी द्वारा; उत्पाट्य—उखाड़ कर; पारिजातम्—पारिजात वृक्ष को; गरुत्मति—गरुड़ पर; आरोप्य—रख कर; स-इन्द्रान्—इन्द्र सहित; विबुधान्—देवताओं को; निर्जित्य—हरा कर; उपानयत्—ले गया; पुरम्—अपनी नगरी में।

भगवान् तब इन्द्र के घर गये और माता अदिति को उनके कुंडल प्रदान किये। वहाँ इन्द्र तथा उसकी पत्नी ने कृष्ण तथा उनकी प्रिया सत्यभामा की पूजा की। फिर सत्यभामा के अनुरोध पर भगवान् ने स्वर्गिक पारिजात वृक्ष उखाड़ लिया और उसे गरुड़ की पीठ पर रख दिया। इन्द्र तथा अन्य सारे देवताओं को परास्त करने के बाद कृष्ण उस पारिजात को अपनी राजधानी ले आये।

स्थापितः सत्यभामाया गृहोद्यानोपशोभनः ।
अन्वगुर्भ्रमराः स्वर्गात्तद्गन्धासवलम्पटाः ॥ ४०॥

शब्दार्थ

स्थापितः—स्थापित किया; सत्यभामायाः—सत्यभामा के; गृह—घर के; उद्यान—बाग को; उपशोभनः—सुन्दर बनाते हुए; अन्वगुः—पीछे लग गये; भ्रमराः—भौंरे; स्वर्गात्—स्वर्ग से; तत्—उसकी; गन्ध—सुगन्ध; आसव—तथा मीठे रस के; लम्पटाः—लालची।

एक बार रोप दिये जाने पर पारिजात वृक्ष ने रानी सत्यभामा के महल के बाग को मनोहर बना दिया। इस वृक्ष की सुगन्ध तथा मधुर रस के लालची भौंरे स्वर्ग से ही इसका पीछा करने लगे थे।

ययाच आनम्य किरीटकोटिभिः
पादौ स्पृशन्नच्युतमर्थसाधनम् ।
सिद्धार्थ एतेन विगृह्यते महा-
नहो सुराणां च तमो धिगाढ्यताम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

ययाच—उसने (इन्द्र ने) विनती की; आनम्य—झुक कर; किरीट—मुकुट की; कोटिभिः—नोकों से; पादौ—उनके चरणों; स्पृशन्—स्पर्श करते हुए; अच्युतम्—भगवान् कृष्ण को; अर्थ—उसके (इन्द्र के) कार्य; साधनम्—पूरा करने के लिए; सिद्ध—पूरा हुआ; अर्थः—जिसका प्रयोजन; एतेन—उनके साथ; विगृह्यते—झगड़ता है; महान्—महात्मा; अहो—निस्सन्देह; सुराणाम्—देवताओं के; च—तथा; तमः—अंधकार; धिक्—धिक्कार है; आढ्यताम्—उनकी सम्पत्ति को।

भगवान् अच्युत को नमस्कार करने, उनके पैरों को अपने मुकुट की नोकों से स्पर्श करने तथा अपनी इच्छा पूरी करने के लिए भगवान् से याचना करने के बाद भी, उस महान् देवता ने अपना काम सधवाने के बाद भगवान् से झगड़ना चाहा। देवताओं में कैसा अज्ञान समाया है! धिक्कार है उनके ऐश्वर्य को।

तात्पर्य : यह सुविदित है कि भौतिक सम्पत्ति तथा अधिकार से उच्छृंखलता आती है, अत: प्राय: ऐश्वर्यमय जीवन नरक का मार्ग प्रशस्त करने वाला बनता है।

अथो मुहूर्त एकस्मिन्नानागारेषु ताः स्त्रियः ।
यथोपयेमे भगवान्तावद्रूपधरोऽव्ययः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

अथ उ—और तब; मुहूर्ते—शुभ समय पर; एकस्मिन्—उसी; नाना—अनेक; अगारेषु—भवनों में; ताः—वे; स्त्रियः—स्त्रियाँ; यथा—उचित रीति से; उपयेमे—विवाह किया; भगवान्—भगवान्; तावत्—उतने; रूप—रूप; धरः—धारण करते हुए; अव्ययः—अव्यय।

तब उन अव्यय महापुरुष ने प्रत्येक दुलहन (वधू) के लिए पृथक् रूप धारण करते हुए एकसाथ सारी राजकुमारियों से उनके अपने अपने भवनों में विवाह कर लिया।

तात्पर्य : जैसाकि श्रील श्रीधर गोस्वामी की व्याख्या है, यहाँ पर *यथा* शब्द सूचित करता है कि

हर विवाह उचित रीति से सम्पन्न हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् के सारे सम्बन्धी, जिनमें उनकी माता देवकी भी सम्मिलित थीं, प्रत्येक महल में प्रकट हुए और हर विवाह में सम्मिलित हुए। चूँकि ये सारे विवाह एक ही समय सम्पन्न हुए, अत: यह घटना निश्चित रूप से भगवान् की अचिन्त्य शक्ति का प्राकट्य था।

जब भगवान् कृष्ण कोई कार्य करते हैं, तो वे उसे अपने ढंग से करते हैं। अत: यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि भगवान् एक ही समय १६ ० राजमहलों में स म्पन्न हो रहे १६ ० विवाहोत्सवों में प्रत्येक महल में अपने सारे सम्बन्धियों सहित प्रकट हुए। निस्सन्देह, भगवान् से ऐसी ही आशा की जाती है। आखिर, वे कोई सामान्य पुरुष तो हैं नहीं।

श्रील श्रीधर स्वामी यह भी कहते हैं कि इस विशेष अवसर पर भगवान् ने अपने हर महल में अपना आदि-रूप प्रकट किया। दूसरे शब्दों में, विवाह-प्रतिज्ञा में भाग लेने के लिए उन्होंने सारे महलों में एक से रूप (*प्रकाश*) प्रकट किये।

गृहेषु तासामनपाय्यतर्ककृ-
न्निरस्तसाम्यातिशयेष्ववस्थितः ।
रेमे रमाभिर्निजकामसम्प्लुतो
यथेतरो गार्हकमेधिकांश्चरन् ॥ ४॥

शब्दार्थ

गृहेषु—घरों में; तासाम्—उनके; अनपायी—कभी न छोड़ते हुए; अतर्क—अचिन्त्य; कृत्—किये गये कार्य; निरस्त—निराकरण किये गये; साम्य—समानता; अतिशयेषु—तथा श्रेष्ठता; अवस्थितः—रहते हुए; रेमे—रमण किया; रमाभिः—मनोहर स्त्रियों के साथ; निज—अपने; काम—आनन्द में; सम्प्लुतः—लीन; यथा—जिस प्रकार; इतरः—कोई अन्य व्यक्ति; गार्हक-मेधिकान्—गृहस्थ जीवन के कार्य; चरन्—सम्पन्न करता हुआ।

अचिन्त्य कृत्य करने वाले भगवान् निरन्तर अपनी प्रत्येक रानी के महल में रहने लगे जो अन्य किसी आवास की तुलना में अद्वितीय थे। वहाँ पर उन्होंने अपनी मनोहर पत्नियों के साथ रमण किया यद्यपि वे अपने आपमें पूर्ण तुष्ट रहते हैं और सामान्य पति की तरह अपने गृहस्थ कार्य सम्पन्न किये।

तात्पर्य : यहाँ पर *अतर्क-कृत्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *अतर्क* का अर्थ है "तर्क से परे।" भगवान् ऐसा कार्य कर सकते हैं (*कृत्*) जो संसारी तर्क से परे है, अत: अचिन्त्य है। किन्तु तो भी जो लोग उनके शरणागत हैं, वे कुछ हद तक भगवान् के कार्यों को सराह सकते हैं और समझ सकते हैं। *भक्ति*

का—भगवान् के प्रति प्रेमाभक्ति का—यही रहस्य है।

श्रील श्रीधर स्वामी की टीका है कि भगवान् सदैव घर पर रहते थे, सिवाय तब जब उन्हें सामान्य गृहस्थी के कार्यों से बाहर जाना पड़ता था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि चूँकि वैकुण्ठ में नारायण केवल लक्ष्मी के साथ ही रमण करते हैं जबकि द्वारका में कृष्ण हजारों रानियों के साथ रमण करते हैं अत: द्वारका को वैकुण्ठ से श्रेष्ठ मानना चाहिए। इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने *स्कन्द पुराण* से निम्नलिखित उद्धरण दिये हैं—

षोडशैव सहस्राणि गोप्यस्तत्र समागत:।

हंस एव मत: कृष्ण: परमात्मा जनार्दन:॥

तस्यैता: शक्तयो देवि षोडशैव प्रकीर्तिता:।

चन्द्ररूपी मत: कृष्ण: कलारूपास्तु ता: स्मृता:॥

सम्पूर्णमण्डला तासां मालिनी षोडशी कला।

षोडशैव कला यासु गोपीरूपा वरांगने॥

एकैकशस्ता: सम्भिन्ना: सहस्रेण पृथक् पृथक्।

"उस स्थान पर सोलह हजार गोपियाँ कृष्ण के साथ एकत्र हुईं जिन्हें परमात्मा या समस्त जीवों का आश्रय कहा जाता है। हे देवी! ये गोपियाँ उनकी विख्यात सोलह शक्तियाँ हैं। कृष्ण चन्द्रमा के समान हैं, गोपियाँ उसकी कलाएँ हैं और गोपियों का सारा वृन्द चन्द्रमा की सोलह कलाओं की पूरी सरणि के तुल्य है। हे वरांगना! गोपियों के इन सोलह विभागों में से हर विभाग एक हजार अंशों में विभाजित है।"

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने *पद्म पुराण* के *कार्तिक-माहात्म्य* से भी उद्धरण दिया है—*कैशोरे गोपकन्यास्ता यौवने राजकन्यका:*—वे जो अपनी किशोरावस्था में ग्वालों की पुत्रियाँ थीं वे ही अपनी युवावस्था में राजकुमारियाँ बन गईं। आचार्य ने आगे कहा है, "जिस तरह द्वारका के ईश श्री वृन्दावन के परम पूर्ण भगवान् के अंश हैं उसी तरह उनकी पटरानियाँ उनकी परम पूर्ण ह्लादिनी शक्तियों—गोपियों—की पूर्ण अंश हैं।"

इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ता
ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयाम् ।
भेजुर्मुदाविरतमेधितयानुराग-
हासावलोकनवसङ्गमजल्पलज्जाः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार से; रमा-पतिम्—लक्ष्मी-पति को; अवाप्य—प्राप्त करके; पतिम्—अपने पति रूप में; स्त्रियः—स्त्रियाँ; ताः—वे; ब्रह्मा-आदयः—ब्रह्मा तथा अन्य देवता; अपि—भी; न विदुः—नहीं जानते; पदवीम्—प्राप्त करने की विधियों को; यदीयाम्—जिसको; भेजुः—भाग लिया; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक; अविरतम्—निरन्तर; एधितया—वर्धित; अनुराग—प्रेम का आकर्षण; हास—हँसी; अवलोक—चितवन; नव—नवीन; सङ्गम—साथ; जल्प—हास-परिहास; लज्जाः—तथा शर्म।

इस तरह उन स्त्रियों ने लक्ष्मी-पति को अपने पति के रूप में प्राप्त किया यद्यपि ब्रह्मा जैसे बड़े से बड़े देवता भी उन तक पहुँचने की विधि नहीं जानते। वे उनके प्रति निरन्तर वृद्धिमान अनुराग का अनुभव करतीं, उनसे हँसीयुक्त चितवन का आदान-प्रदान करतीं और हास-परिहास तथा स्त्रियोन्वित लज्जा से पूर्ण नित नवीन घनिष्ठता का आदान-प्रदान करतीं।

प्रत्युद्गमासनवरार्हणपदशौच-
ताम्बूलविश्रमणवीजनगन्धमाल्यैः ।
केशप्रसारशयनस्नपनोपहार्यैः
दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

प्रत्युद्गम—पास जाकर; आसन—बैठने का स्थान; वर—उच्च कोटि का; अर्हण—पूजा; पाद—उनके पाँव; शौच—प्रक्षालन; ताम्बूल—पान; विश्रमण—(उनके पाँव दबाकर) विश्राम करने में सहायता करतीं; वीजन—पंखा झलतीं; गन्ध—सुगन्धित वस्तुएँ (भेंट करतीं); माल्यैः—तथा फूल-मालाओं से; केश—बाल; प्रसार—सँवारती; शयन—बिस्तर पर लेटती; स्नपन—नहलातीं; उपहार्यैः—तथा भेंटें देकर; दासी—सेविकाएँ; शताः—सैकड़ों; अपि—यद्यपि; विभोः—शक्तिशाली भगवान् के लिए; विदधुः स्म—सम्पन्न किया; दास्यम्—सेवा।

यद्यपि भगवान् की प्रत्येक रानी के पास सैकड़ों दासियाँ थीं तो भी वे भगवान् के पास विनयपूर्वक जाकर, उन्हें आसन प्रदान करके, उत्तम सामग्री से उनकी पूजा करके, उनके पाँवों का प्रक्षालन करके तथा मालिश करके, उन्हें खाने के लिए पान देकर, उन्हें पंखा झलकर, उन्हें सुगन्धित चन्दन-लेप से लेपित करके, फूलों की माला से सजाकर, उनके बाल सँवारकर, उनका बिस्तर ठीक करके, उन्हें नहलाकर तथा उन्हें विविध उपहार देकर स्वयं उनकी सेवा करना पसन्द करतीं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''नरकासुर का वध'' नामक उनसठवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter साठ

रुक्मिणी के साथ कृष्ण का परिहास

इस अध्याय में यह बतलाया गया है कि भगवान् कृष्ण ने किस तरह अपने परिहास से महारानी रुक्मिणी को रुठाया और फिर शान्त किया और इस तरह प्रेमियों के कलह रूपी ऐश्वर्य का प्रदर्शन किया।

एक दिन भगवान् कृष्ण रानी रुक्मिणी के शयनागार में आराम से बैठे थे और रुक्मिणी तथा उनकी दासियाँ अनेक प्रकार से उनकी सेवा कर रही थीं। रुक्मिणी सदैव कृष्ण की मन:स्थिति अनुसार उत्तर देती थीं, चाहे वे जैसी भी हो। इस अवसर पर भगवान् ने रुक्मिणी की ओर ताका जिसका सौन्दर्य अनिन्द्य था और उसे तंग करने लगे, ''पूर्वकाल में अनेक धनी, रूपवान तथा चरित्रवान राजा तुमसे ब्याह करना चाहते थे। हाँ, तुम्हारे पिता तथा भाई तुम्हारी शादी शिशुपाल से करना चाहते थे। तो फिर तुमने मुझ जैसे अनुपयुक्त पति को क्यों चुना, जो एक बार जरासन्ध के भय से अपना राज्य छोड़कर, समुद्र की ओर भाग आया? यही नहीं, मैं सांसारिक नैतिकता का उल्लंघन करने वाला हूँ और पास में कुछ न होने के कारण निर्धनों को प्रिय हूँ। निश्चय ही जो लोग सम्पन्न हैं, वे मुझ जैसे की पूजा करना नहीं चाहेंगे।

''जब पुरुष तथा स्त्री एक ही समान सामाजिक श्रेणी, प्रभाव, शारीरिक सौन्दर्य इत्यादि के होते हैं, तभी उनमें विवाह या मैत्री निभ सकती है। किन्तु अपनी संकुचित दृष्टि के कारण तुमने ऐसा पति चुना है, जिसमें सभी सद्गुणों का अभाव है और जो केवल भिक्षुकों द्वारा प्रशंसित है। अच्छा होता कि तुमने किसी प्रमुख योद्धा से ब्याह किया होता। तब तुम इस जीवन में तथा अगले जीवन में सुखी रह सकती थी। तुम्हारा भाई रुक्मी तथा शिशुपाल जैसे राजा मुझसे द्वेष रखते हैं और इन लोगों के गर्व को चूर करने के लिए ही मैंने तुम्हारा हरण किया था। किन्तु जहाँ तक शरीर, घर, पत्नी तथा बच्चों की बात है, मैं उनके प्रति अन्यमनस्क हूँ क्योंकि मैं आत्मतुष्ट ईश्वर हूँ, जो समस्त संसारी कार्यों के परे है।''

इस तरह रुक्मिणी के इस आत्मविश्वास को भंग करते हुए कि वे अपने पति की कृपापात्र हैं, श्रीकृष्ण ने बातें समाप्त कर दीं। इस पर रुक्मिणी फूट-फूटकर रोने लगीं और अतीव भय, पीड़ा तथा

दुख से स्तम्भित होकर अचेत हो गईं। श्रीकृष्ण ने देखा कि रुक्मिणी ने उनके परिहास को गलत समझा है अतएव उनके प्रति करुणा उमड़ आई। उन्होंने रुक्मिणी को फर्श से उठाकर मुख चूमते हुए सान्त्वना दी, "मैं जानता हूँ कि तुम पूरी तरह मुझमें अनुरक्त हो। मैंने तो तुम्हारे कमल-मुख को तिलमिलाते देखने की उत्सुकता से तुम्हें तंग किया है। अपनी प्राणप्रिया से परिहास करना गृहस्थों का सबसे बड़ा आनन्द है।"

इन शब्दों से रुक्मिणी के मन से तिरस्कृत होने का भय जाता रहा। यह देखकर कि कृष्ण ने यह सब परिहास में कहा है, वे बोलीं, "आपने हम दोनों के बीच जिस असमानता की बात कही है, वह वास्तव में सही है। निस्सन्देह कोई भी आपके तुल्य नहीं है। आप तो तीनों देवों—ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव—के सर्वशक्तिमान स्वामी हैं।" यह दिखाने के लिए कि कृष्ण ने अपने को तुच्छ बताने वाली जो बातें कहीं हैं, वे वास्तव में प्रशंसा हैं, रुक्मिणी आगे बोलती रहीं।

तब कृष्ण ने अतीव स्नेहपूर्वक रुक्मिणी से कहा, "मैंने अपने परिहास से तुम्हारे मन को क्षुब्ध नहीं करना चाहा था। मैं तो तुम्हारे सतीत्व की शक्ति का प्रदर्शन देखना चाहता था। जो भी व्यक्ति गृहस्थजीवन में इन्द्रिय-तृप्ति तथा सुख के लिए मुझसे प्रार्थना करता है, वह मेरी मोहिनी शक्ति माया द्वारा ठगा जाता है। ऐसा व्यक्ति अधम जन्म प्राप्त करेगा। शायद दुष्ट इच्छाओं वाली सामान्य स्त्रियाँ श्रद्धापूर्वक मेरी वैसी पूजा नहीं कर पातीं जैसे कि तुमने की है। अपने विवाह के समय तुमने किसी राजसी वर के प्रति रुचि नहीं दिखलाई प्रत्युत तुमने मेरे पास ब्राह्मण-दूत भेजा। इस तरह तुम निश्चित रूप से मेरी समस्त प्रियतमाओं में सर्वाधिक प्रिय हो।"

इस तरह ब्रह्माण्ड के स्वामी श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी रूपी लक्ष्मी के साथ परिहास में आनन्द प्राप्त किया। इसी तरह उन्होंने अन्य रानियों के महलों में गृहस्थ के सारे कर्तव्यों को पूरा किया।

श्रीबादरायणिरुवाच
कर्हिचित्सुखमासीनं स्वतल्पस्थं जगद्गुरुम् ।
पतिं पर्यचरद्भैष्मी व्यजनेन सखीजनैः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः—बादरायण व्यासदेव के पुत्र शुकदेव गोस्वामी ने; उवाच—कहा; कर्हिचित्—एक अवसर पर; सुखम्—सुखपूर्वक; आसीनम्—बैठे हुए; स्व—अपने; तल्प—बिस्तर में; स्थम्—स्थित; जगत्—ब्रह्माण्ड के; गुरुम्—गुरु; पतिम्—अपने पति को; पर्यचरत्—सेवा कर रही थी; भैष्मी—रुक्मिणी; व्यजनेन—पंखे से; सखी-जनैः—अपनी सखियों सहित।

श्री बादरायणि ने कहा : एक बार अपनी दासियों के साथ महारानी रुक्मिणी ब्रह्माण्ड के आध्यात्मिक गुरु अपने पति की सेवा कर रही थीं। वे उनके बिस्तर पर विश्राम कर रहे थे तथा वे उन पर पंखा झल रही थीं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने काव्यात्मक टिप्पणी में कहा है कि इस अध्याय में रुक्मिणी उस सुगंधित कपूर की तरह हैं, जिन्हें भगवान् कृष्ण की वाणी की सिल पर पीस दिया गया हो। दूसरे शब्दों में, रुक्मिणी के मनोहर सात्विक गुणों का प्राकट्य भगवान् कृष्ण के ऊपरी असंवेदनशील वचनों के फलस्वरूप होगा, जिस प्रकार कपूर की सुगन्ध कपूर के खण्डों को सिल पर पीसने से प्रकट होती है। आचार्य ने यह भी इंगित किया है कि रुक्मिणी भगवान् की सेवा स्वयं इसलिए कर रही हैं, क्योंकि वे *जगद्‌गुरुम्* तथा *पतिम्* अर्थात् जगत् गुरु तथा उनके पति हैं।

यस्त्वेतल्लीलया विश्वं सृजत्यत्त्यवतीश्वरः ।
स हि जातः स्वसेतूनां गोपीथाय यदुष्वजः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—तथा; एतत्—यह; लीलया—खेल की तरह; विश्वम्—ब्रह्माण्ड को; सृजति—उत्पन्न करता है; अत्ति—निगल जाता है; अवति—रक्षा करता है; ईश्वरः—परम नियन्ता; सः—वह; हि—निस्सन्देह; जातः—उत्पन्न; स्व—निजी; सेतूनाम्—नियमों की; गोपीथाय—सुरक्षा के लिए; यदुषु—यदुओं के मध्य; अजः—अजन्मा प्रभु।

इस ब्रह्माण्ड को खेल-खेल में उत्पन्न करने वाले, उसका पालन करने वाले तथा अन्त में उसको निगल जाने वाले अजन्मे परम नियन्ता भगवान् ने अपने नियमों को सुरक्षित रखने के लिए यदुओं के मध्य जन्म लिया।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्‌भागवत* के छठे स्कंध (६..१९) में कहा गया है— *धर्मं तु साक्षाद् भगवत्प्रणीतम्*—अर्थात् धर्म भगवान् द्वारा स्थापित कानून है। *सेतु* का अर्थ है "सीमा" जैसी कि बाँध में होती है। किसी नदी या नहर के दोनों ओर मिट्टी उठा दी जाती है, जिससे पानी अपने सही मार्ग से विचलित न हो। इसी प्रकार ईश्वर नियमों की स्थापना करते हैं जिससे उन्हें पालन करने वाले लोग भगवद्धाम वापस जा सकें। मानव आचरण का मार्गदर्शन कराने वाले ये नियम *सेतु* कहलाते हैं।

सेतु शब्द पर एक और टिप्पणी यह है कि *सेतु* का प्रयोग खेतों के पृथक्करण अथवा उन पर बनी मेड़ या पुल बनाने के लिए भी होता है। अत: *भागवत* के नवें स्कंध में भगवान् रामचन्द्र द्वारा लंका जाने के लिए जो पुल बनाया गया उसे *सेतु* कहा गया है। चूँकि ईश्वर के नियम हमें भौतिक जीवन से

मुक्त दिव्य जीवन तक ले जाने के लिए पुल का काम करते हैं इसलिए *सेतु* शब्द का ऐसा व्यवहार द्रष्टव्य है।

तस्मिनन्तर्गृहे भ्राजन्मुक्तादामविलम्बिना ।
विराजिते वितानेन दीपैर्मणिमयैरपि ॥ ॥

मल्लिकादामभिः पुष्पैर्द्विरेफकुलनादिते ।
जालरन्ध्रप्रविष्टैश्च गोभिश्चन्द्रमसोऽमलैः ॥ ४ ॥

पारिजातवनामोदवायुनोद्यानशालिना ।
धूपैरगुरुजै राजन्जालरन्ध्रविनिर्गतैः ॥ ५ ॥

पयःफेननिभे शुभ्रे पर्यङ्के कशिपूत्तमे ।
उपतस्थे सुखासीनं जगतामीश्वरं पतिम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उसमें; अन्तः-गृहे—महल के भीतरी भाग में; भ्राजत्—चमकीली; मुक्ता—मोतियों की; दाम—डोरियों से; विलम्बिना—लटकती हुई; विराजिते—चमकीली; वितानेन—चँदोवे से; दीपैः—दीपकों से; मणि—मणियों के; मयैः—निर्मित; अपि—भी; मल्लिका—चमेली की; दामभिः—मालाओं से; पुष्पैः—फूलों से; द्विरेफ—भौंरों के; कुल—झुंड के साथ; नादिते—शब्दायमान; जाल—झरोखों के; रन्ध्र—छोटे छोटे छेदों से होकर; प्रविष्टैः—प्रविष्ट; च—तथा; गोभिः—किरणों से; चन्द्रमसः—चन्द्रमा की; अमलैः—निर्मल; पारिजात—पारिजात वृक्षों के; वन—कुंज के; आमोद—सुगंध (वहन करते); वायुना—हवा द्वारा; उद्यान—बगीचे की; शालिना—उपस्थिति लाते हुए; धूपैः—धूप से; अगुरु—अगुरु से; जैः—उत्पन्न; राजन्—हे राजा (परीक्षित); जाल-रन्ध्र—झरोखे के छेदों से; विनिर्गतैः—बाहर निकलते हुए; पयः—दूध के; फेन—झाग; निभे—सदृश; शुभ्रे—चमकीला; पर्यङ्के—बिस्तर पर, सेज पर; कशिपु—तकिया पर; उत्तमे—सर्वश्रेष्ठ; उपतस्थे—सेवा कर रही थी; सुख—सुखपूर्वक; आसीनम्—बैठे; जगताम्—सारे लोकों के; ईश्वरम्—परम नियन्ता; पतिम्—अपने पति की।.

महारानी रुक्मिणी के कमरे अत्यन्त सुन्दर थे। उसमें एक चँदोवे से मोतियों की चमकीली लड़ें लटक रही थीं और तेजोमय मणियाँ दीपकों का काम दे रही थीं। उसमें यत्र-तत्र चमेली तथा अन्य फूलों की मालाएँ लटक रही थीं जिनसे गुनगुनाते भौंरों के समूह आकृष्ट हो रहे थे और चन्द्रमा की निर्मल किरणें जाली की खिड़कियों के छेदों से होकर चमक रही थीं। हे राजन्, जब इन खिड़कियों के छेदों में से अगुरु की सुगंध बाहर निकलती तो पारिजात कुंज की सुगंध को ले जाने वाली मन्द बयार कमरे के भीतर बगीचे का वातावरण पैदा कर देती। इस कमरे में महारानी समस्त लोकों के परमेश्वर अपने पति की सेवा कर रही थीं जो उनके मुलायम तथा दूध के फेन जैसे सफेद बिस्तर पर एक भव्य तकिये के सहारे बैठे थे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार रुक्मिणी का महल आज की ही तरह तब भी विख्यात था। यह वर्णन उसके ऐश्वर्य की झाँकी प्रस्तुत करता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि इस

श्लोक के *अमलै* का पाठान्तर *अरुणै* भी हो सकता है, जो यह सूचित करेगा कि जब यह लीला हो रही थी तब चन्द्रमा उसी समय उदय हुआ था और सारे महल को सुन्दर चाँदनी की लालिमा से नहला रहा था।

वालव्यजनमादाय रत्नदण्डं सखीकरात् ।
तेन वीजयती देवी उपासां चक्र ईश्वरम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

वाल—चमरी के बाल के; व्यजनम्—पंखे को; आदाय—लेकर; रत्न—रत्न की; दण्डम्—डंडी वाले; सखी—अपनी सहेली के; करात्—हाथ से; तेन—उससे; वीजयती—पंखा झलती; देवी—देवी; उपासाम् चक्रे—पूजा की; ईश्वरम्—अपने स्वामी की।.

देवी रुक्मिणी ने अपनी दासी के हाथ से रत्नों की डंडी वाला चमरी के बाल का पंखा ले लिया और तब अपने पति पर पंखा झलकर सेवा करने लगीं।

सोपाच्युतं क्वणयती मणिनूपुराभ्यां
रेजेऽङ्गुलीयवलयव्यजनाग्रहस्ता ।
वस्त्रान्तगूढकुचकुङ्कुमशोणहार-
भासा नितम्बधृतया च परार्ध्यकाञ्च्या ॥ ८॥

शब्दार्थ

सा—वह; उप—समीप; अच्युतम्—भगवान् कृष्ण के; क्वणयती—शब्द करती; मणि—मणिजटित; नूपुराभ्याम्—अपने नूपुरों से; रेजे—सुन्दर लग रही थी; अङ्गुलीय—अँगूठी; वलय—चूड़ियाँ; व्यजन—तथा पंखे सहित; अग्र-हस्ता—अपने हाथ में; वस्त्र—अपने वस्त्र के; अन्त—छोर से; गूढ—छिपे; कुच—स्तनों से; कुङ्कुम—सिंदूर से; शोण—लाल हुए; हार—गले के हार की; भासा—चमक से; नितम्ब—उसके कूल्हे पर; धृतया—पहनी हुई; च—तथा; परार्ध्य—बहुमूल्य; काञ्च्या—करधनी से।.

महारानी रुक्मिणी का हाथ अँगूठियों, चूड़ियों तथा चामर पंखे से सुशोभित था और वे भगवान् कृष्ण के निकट खड़ी हुई अतीव सुन्दर लग रही थीं। उनके रत्नजटित पायल शब्द कर रहे थे तथा उनके गले की माला चमचमा रही थी जो उनकी साड़ी के पल्ले से ढके उनके स्तनों पर लगे कुमकुम से लाल लाल हो रही थी। वे अपनी कमर में अमूल्य करधनी पहने थीं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि जब महारानी रुक्मिणी तेजी से भगवान् पर पंखा झल रही थीं तो उनके सुन्दर अंगों के रत्न तथा स्वर्णाभूषण शब्द कर रहे थे।

तां रूपिणीं श्रीयमनन्यगतिं निरीक्ष्य
या लीलया धृततनोरनुरूपरूपा ।

प्रीतः स्मयन्नलककुण्डलनिष्ककण्ठ-
वक्त्रोल्लसत्स्मितसुधां हरिराबभाषे ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उस; रूपिणीम्—रूप धारण किये; श्रीयम्—लक्ष्मी को; अनन्य—जिसके कोई अन्य न हो, एकमात्र; गतिम्—लक्ष्य; निरीक्ष्य—देखकर; या—जो; लीलया—लीला के रूप में; धृत—धारण करने वाले; तनोः—शरीरों के; अनुरूप—संगत; रूपा—जिसके रूप; प्रीतः—प्रसन्न; स्मयन्—हँसते हुए; अलक—बालों के गुच्छे; कुण्डल—कान के आभूषण; निष्क—गले का आभूषण; कण्ठ—गले में; वक्त्र—मुखमंडल; उल्लसत्—चमकता हुआ एवं सुखी; स्मित—हँसी; सुधाम्—अमृत; हरिः—कृष्ण ने; आबभाषे—कहा।.

ज्योंही भगवान् कृष्ण ने उनका लक्ष्मी के रूप में चिन्तन किया, जो केवल उन्हें ही चाहती हैं, तो उन्हें मन्द हँसी आ गई। भगवान् अपनी लीलाएँ करने के लिए नाना रूप धारण करते हैं और वे यह सोच कर अत्यन्त प्रसन्न थे कि लक्ष्मी ने जो रूप धारण कर रखा था वह उनकी प्रेयसी होने के अनुरूप था। उनका मनोहर मुखमण्डल घुँघराले बालों, कुण्डलों, गले में पड़े हार तथा उनकी उज्जवल प्रसन्न मुसकान के अमृत से सुशोभित था। तब भगवान् ने उनसे इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने *विष्णु पुराण* का एक रोचक श्लोक उद्धृत किया है, जो श्री पराशर द्वारा कहा गया है—

देवत्वे देवदेहेयं मनुष्यत्वे च मानुषी।

विष्णोर्देहानुरूपं वै करोत्येषात्मनस्तनुम् ॥

''जब भगवान् देवता के रूप में प्रकट होते हैं, तो वे (लक्ष्मी) देवी का रूप धारण करती हैं और जब वे मनुष्य रूप में प्रकट होते हैं, तो वे भी मानुषी रूप धारण करती हैं। इस तरह उनके द्वारा धारण किया हुआ शरीर भगवान् विष्णु द्वारा धारण किये गये रूप से मेल खाता है।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि भगवान् कृष्ण वैकुण्ठ-पति से भी अधिक सुन्दर हैं और कृष्ण की प्रेयसी रुक्मिणीदेवी वैकुण्ठ-लोक की लक्ष्मी से भी अधिक रूपवती हैं।

श्रीभगवानुवाच
राजपुत्रीप्सिता भूपैर्लोकपालविभूतिभिः ।
महानुभावैः श्रीमद्भी रूपौदार्यबलोर्जितैः ॥ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; राज-पुत्रि—हे राजकुमारी; ईप्सिता—(तुम्हीं) अभीष्ट (थीं); भू-पैः—राजाओं द्वारा; लोक—लोकों के; पाल—शासकों जैसे; विभूतिभिः—शक्तियों वाले; महा—महान्; अनुभावैः—प्रभाव वाले; श्री-मद्भिः—ऐश्वर्यशाली; रूप—सौन्दर्य से युक्त; औदार्य—उदारता; बल—तथा शारीरिक बल; ऊर्जितैः—समन्वित।

भगवान् ने कहा : हे राजकुमारी, तुम्हारे साथ लोकपालों जैसे शक्तिशाली अनेक राजा पाणिग्रहण करना चाहते थे। वे सभी राजनैतिक प्रभाव, सम्पत्ति, सौन्दर्य, उदारता तथा शारीरिक शक्ति से ऊर्जित थे।

तान्प्राप्तानर्थिनो हित्वा चैद्यादीन्स्मरदुर्मदान् ।
दत्ता भ्रात्रा स्वपित्रा च कस्मान्नो ववृषेऽसमान् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; प्राप्तान्—आये हुए; अर्थिनः—चाहने वालों को; हित्वा—अस्वीकार करके; चैद्य—शिशुपाल; आदीन्—इत्यादि को; स्मर—कामदेव द्वारा; दर्मदान्—उन्मत्त; दत्ता—दी गई; भ्रात्रा—तुम्हारे भाई द्वारा; स्व—अपने; पित्रा—पिता द्वारा; च—तथा; कस्मात्—क्यों; नः—हमको; ववृषे—तुमने चुना; असमान्—असमान।

जब तुम्हें तुम्हारे भाई तथा पिता ने उनको अर्पित कर दिया था, तो फिर तुमने चेदि के राजा तथा उन अन्य विवाहार्थियों को क्यों अस्वीकार कर दिया जो कामदेव द्वारा उन्मत्त हुए तुम्हारे समक्ष खड़े थे? तुमने हमें क्यों चुना जो रंच-भर भी तुम्हारे समान नहीं हैं?

राजभ्यो बिभ्यतः सुभ्रु समुद्रं शरणं गतान् ।
बलवद्भिः कृतद्वेषान्प्रायस्त्यक्तनृपासनान् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

राजभ्यः—राजाओं से; बिभ्यतः—भयभीत; सु-भ्रु—हे सुन्दर भौंहों वाली; समुद्रम्—समुद्र के पास; शरणम्—शरण के लिए; गतान्—गए हुए; बल-वद्भिः—बलवानों के प्रति; कृत-द्वेषान्—शत्रुता दिखला चुके हुए; प्रायः—अधिकांशतः; त्यक्त—छोड़ा हुआ; नृप—राजा के; आसनान्—आसन को।

हे सुन्दर भौंहों वाली, इन राजाओं से भयभीत होकर हमने समुद्र में शरण ली। हम शक्तिशाली व्यक्तियों के शत्रु बन गए और हमने अपने राज सिंहासन को प्रायः त्याग दिया था।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है : ''यहाँ भगवान् की मनोवृत्ति को इस प्रकार समझा जा सकता है : 'जब मैंने रुक्मिणी को स्वर्गिक पारिजात वृक्ष का एक फूल लाकर दिया था, तो सत्यभामा ने इतना क्रोध प्रकट किया कि मैं उसके चरणों पर अपना सिर झुकाकर भी उसे शान्त नहीं कर पाया था। जब मैंने उसे पूरा पारिजात वृक्ष लाकर दिया तब जाकर वह प्रसन्न हुई थी। किन्तु रुक्मिणी ने जब मुझे सत्यभामा को पूरा वृक्ष देते हुए देखा तो भी कोई क्रोध प्रदर्शित नहीं किया। तो भला मैं किस तरह इस पत्नी के क्रुद्ध वचनों का अमृतपान कर सकता हूँ जो

ईर्ष्यारहित है, जो अत्यन्त गम्भीर है और जो सदैव मधुर वचन बोलती है?'' इस प्रकार विचार करते हुए भगवान् ने निश्चय किया, 'यदि मैं उससे इस तरह बोलूँ तो इसका क्रोध उभार सकूँगा।' कुछ विद्वान कृष्ण के रुक्मिणी के प्रति ऐसे बोलने की व्याख्या इस तरह से करते हैं।''

आचार्य के अनुसार *बलवद्भि: कृतद्वेषान् प्राय:* शब्दों से यह सूचित होता है कि कृष्ण ने अपने अवतार के समय प्राय: समस्त समकालीन राजाओं का विरोध किया और केवल कुछ को—यथा पाण्डवों तथा अपने कुल के स्वामिभक्त सदस्यों को—ही अपना मित्र बनाया। निस्सन्देह, जैसाकि दशम स्कंध के प्रारम्भ में कहा गया है, भगवान् कृष्ण विशेष रूप से इसीलिए प्रकट हुए क्योंकि पृथ्वी असंख्य घटिया राजाओं से बोझिल हो चुकी थी और वे इस बोझ को दूर करना चाहते थे।

अन्त में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि *त्यक्तनृपासनान्* शब्द इस बात को सूचित करता है कि कंस का वध कर देने के बाद कृष्ण ने राजसिंहासन नम्रता से अपने नाना उग्रसेन को दे दिया था यद्यपि वे स्वयं इसके अधिकारी थे।

अस्पष्टवर्त्मनाम्पुंसामलोकपथमीयुषाम् ।
आस्थिताः पदवीं सुभ्रु प्रायः सीदन्ति योषितः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

अस्पष्ट—अनिश्चित; वर्त्मनाम्—आचरण वाले; पुंसाम्—पुरुषों के; अलोक—सामान्य समाज द्वारा अस्वीकार्य; पथम्—मार्ग को; ईयुषां—ग्रहण करने वाले; आस्थिताः—अनुसरण करते हुए; पदवीम्—मार्ग को; सु-भ्रु—हे सुन्दर भौंहों वाली; प्रायः—सामान्यतया; सीदन्ति—कष्ट पाती हैं; योषितः—स्त्रियाँ।

हे सुन्दर भौंहों वाली, जब स्त्रियाँ ऐसे पुरुषों के साथ रहती हैं जिनका आचरण अनिश्चित होता है और जो समाज-सम्मत मार्ग का अनुसरण नहीं करते तो प्रायः उन्हें कष्ट भोगना पड़ता है।

निष्किञ्चना वयं शश्वन्निष्किञ्चनजनप्रियाः ।
तस्मा त्प्रायेण न ह्याढ्या मां भजन्ति सुमध्यमे ॥ १४॥

शब्दार्थ

निष्किञ्चनाः—जिनके पास कुछ भी नहीं है; वयम्—हम; शश्वत्—सदैव; निष्किञ्चन-जन—उन्हें, जिनके पास कुछ भी नहीं है; प्रियाः—प्रिय; तस्मात्—इसलिए; प्रायेण—प्रायः; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; आढ्याः—धनी; माम्—मुझको; भजन्ति—पूजते हैं; सु-मध्यमे—हे सुन्दर कटि वाली।

हमारे पास भौतिक सम्पत्ति नहीं है और हम उन्हें ही प्रिय हैं जिनके पास हमारी ही तरह कुछ भी नहीं होता। इसलिए हे सुमध्यमे, धनी लोग शायद ही हमारी पूजा करते हों।

तात्पर्य : भगवान् की ही तरह उनके भक्तगण भी कृष्णभावनामृत के श्रेष्ठ आनन्द के प्रति जागृत होने से भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति में अरुचि रखते हैं। जो लोग भौतिक सम्पत्ति से मदान्ध हैं, वे भगवद्धाम की परम सम्पत्ति को नहीं जान पाते।

ययोरात्मसमं वित्तं जन्मैश्वर्याकृतिर्भवः ।
तयोर्विवाहो मैत्री च नोत्तमाधमयोः क्वचित् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

ययोः—जिन दो का; आत्म-समम्—अपने समान; वित्तम्—सम्पत्ति; जन्म—जन्म; ऐश्वर्य—प्रभाव; आकृतिः—तथा शारीरिक स्वरूप; भवः—भावी सन्तान; तयोः—दोनों का; विवाहः—विवाह; मैत्री—मित्रता; च—तथा; न—नहीं; उत्तम—श्रेष्ठ का; अधमयोः—तथा निम्न; क्वचित्—कभी।

विवाह तथा मैत्री उन दो मनुष्यों के बीच ही उचित होती है जो समान सम्पत्ति, जन्म, प्रभाव, आकृति तथा उत्तम सन्तान की क्षमता वाले हों, किन्तु उत्तम तथा अधम के बीच कभी नहीं।

तात्पर्य : उत्तम तथा अधम गुणों वाले व्यक्ति स्वामी तथा सेवक या गुरु तथा शिष्य के रूप में एकसाथ रह सकते हैं किन्तु विवाह तथा मैत्री केवल समान पद वालों में ठीक रहती है। विवाह के प्रसंग में *भव* शब्द सूचित करता है कि दम्पत्ति में अच्छी सन्तान उत्पन्न करने की समान क्षमता होनी चाहिए।

यहाँ पर भगवान् कृष्ण अपने आपको भौतिक दृष्टि से अयोग्य ठहराते हैं। वस्तुतः भगवान् में कोई भी भौतिक गुण नहीं पाया जाता—वे नितान्त शुद्ध आध्यात्मिक जगत में रहते हैं। इस प्रकार भगवान् का सारा ऐश्वर्य शाश्वत होता है। वह घटिया संसारी किस्म का नहीं होता।

वैदर्भ्येतदविज्ञाय त्वयादीर्घसमीक्षया ।
वृता वयं गुणैर्हीना भिक्षुभिः श्लाघिता मुधा ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

वैदर्भि—हे विदर्भ की राजकुमारी; एतत्—यह; अविज्ञाय—न जानते हुए; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अदीर्घ-समीक्षया—दूर-दृष्टि के बिना; वृताः—चुना; वयम्—हम; गुणैः—सद्गुणों से; हीनाः—रहित; भिक्षुभिः—भिखारियों द्वारा; श्लाघिताः—प्रशंसित; मुधा—मोहवश।

हे वैदर्भी, दूरदर्शी न होने से तुमने इसका विचार नहीं किया और इसीलिए तुमने अपने पति रूप में हमें चुना है यद्यपि हममें कोई सद्गुण नहीं हैं और मुग्ध भिखारी ही हमारी प्रशंसा करते हैं।

अथात्मनोऽनुरूपं वै भजस्व क्षत्रियर्षभम् ।
येन त्वमाशिषः सत्या इहामुत्र च लप्स्यसे ॥ १७॥

शब्दार्थ

अथ—अब; आत्मनः—अपने; अनुरूपम्—उपयुक्त; वै—निस्सन्देह; भजस्व—स्वीकार करो; क्षत्रिय-ऋषभम्—किसी उच्च कोटि के राजवर्ग को; येन—जिससे; त्वम्—तुम; आशिषः—आशाएँ; सत्याः—पूरी हो सकने वाली; इह—इस जीवन में; अमुत्र—अगले जीवन में; च—भी; लप्स्यसे—प्राप्त करोगी।

अब तुम्हें चाहिए कि अधिक उपयुक्त किसी उच्च कोटि के राजन्य पुरुष को स्वीकार कर लो जो तुम्हें इस जीवन तथा अगले जीवन में भी ऐसी प्रत्येक वस्तु को प्राप्त करने में सहायता कर सके, जो तुम चाहती हो।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण अपनी सुन्दर पत्नी का प्रणयकोप जागृत करके उसे तंग करने जा रहे हैं।

चैद्यशाल्वजरासन्ध दन्तवक्रादयो नृपाः ।
मम द्विषन्ति वामोरु रुक्मी चापि तवाग्रजः ॥ १८॥

शब्दार्थ

चैद्य-शाल्व-जरासन्ध-दन्तवक्र-आदयः—चैद्य (शिशुपाल), शाल्व, जरासन्ध, दन्तवक्र इत्यादि; नृपाः—राजागण; मम—मुझसे; द्विषन्ति—घृणा करते हैं; वाम-ऊरु—हे सुन्दर जाँघों वाली; रुक्मी—रुक्मी; च अपि—भी; तव—तुम्हारा; अग्र-जः—बड़ा भाई।

हे सुन्दर जांघों वाली भद्रे, शिशुपाल, शाल्व, जरासन्ध तथा दन्तवक्र जैसे सभी राजा मुझसे घृणा करते हैं और उसी तरह तुम्हारा बड़ा भाई रुक्मी भी करता है।

तेषां वीर्यमदान्धानां दृप्तानां स्मयनुत्तये ।
आनितासि मया भद्रे तेजोपहरतासताम् ॥ १९॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उन सबों का; वीर्य—अपनी शक्ति के; मद—नशे से; अन्धानाम्—अन्धे हुए; दृप्तानाम्—घमंडी; स्मय—उद्दंडता; नुत्तये—दूर करने के लिए; आनिता असि—तुम्हें विवाह में हर लिया गया; मया—मेरे द्वारा; भद्रे—कल्याणी, भद्र महिला; तेजः—बल; उपहरता—हटाते हुए; असताम्—दुष्टों के।

इन्हीं राजाओं की उद्दंडता को दूर करने के लिए ही, हे कल्याणी, मैं तुम्हें हर ले आया क्योंकि वे सभी शक्ति के मद से अन्धे हो चले थे। मेरा उद्देश्य दुष्टों की शक्ति को चूर करना था।

उदासीना वयं नूनं न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः ।
आत्मलब्ध्यास्महे पूर्णा गेहयोर्ज्योतिरक्रियाः ॥ २०॥

शब्दार्थ

उदासीनाः—अन्यमनस्क; वयम्—हम; नूनम्—निस्सन्देह; न—नहीं; स्त्री—पत्नियों; अपत्य—सन्तानों; अर्थ—तथा धन के लिए; कामुकाः—लालसा करते हुए, लोलुप; आत्म-लब्ध्या—आत्मतुष्ट होकर; आस्महे—हम रह रहे हैं; पूर्णाः—पूर्ण; गेहयोः—शरीर तथा घर के प्रति; ज्योतिः—अग्नि की तरह; अक्रियाः—किसी कार्य में न लगे हुए।

हम स्त्रियों, बच्चों तथा सम्पत्ति की तनिक भी परवाह नहीं करते। सदैव आत्मतुष्ट रहते हुए हम शरीर तथा घर के लिए कार्य नहीं करते बल्कि प्रकाश की तरह हम केवल साक्षी रहते हैं।

श्रीशुक उवाच

एतावदुक्त्वा भगवानात्मानं वल्लभामिव ।
मन्यमानामविश्लेषात्तद्दर्पघ्न उपारमत् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एतावत्—इतना; उक्त्वा—कहकर; भगवान्—भगवान्; आत्मानम्—अपने आप; वल्लभाम्—प्रिया को; इव—सदृश; मन्यमानाम्—मानते हुए; अविश्लेषात्—(उससे) कभी विलग न होने से; तत्—उस; दर्प—घमंड का; घ्नः—विनाश करने वाला; उपारमत्—बन्द कर दिया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : रुक्मिणी ने अपने को भगवान् की विशिष्ठ प्रिया समझ रखा था क्योंकि उन्होंने कभी उनका संग नहीं छोड़ा था। ये बातें कहकर भगवान् ने उनके गर्व को दूर कर दिया और तब बोलना बन्द कर दिया।

इति त्रिलोकेशपतेस्तदात्मनः
प्रियस्य देव्यश्रुतपूर्वमप्रियम् ।
आश्रुत्य भीता हृदि जातवेपथु-
श्चिन्तां दुरन्तां रुदती जगाम ह ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; त्रि-लोक—तीनों लोकों के; ईश—स्वामियों के; पतेः—स्वामी के; तदा—तब; आत्मनः—अपने ही; प्रियस्य—प्रेमी का; देवी—देवी रुक्मिणी ने; अश्रुत—कभी न सुना गया; पूर्वम्—पहले; अप्रियम्—अप्रियता; आश्रुत्य—सुनकर; भीता—भयभीत; हृदि—अपने हृदय में; जात—उत्पन्न; वेपथुः—कम्पन; चिन्ताम्—चिन्ता; दुरन्ताम्—भयानक; रुदती—सिसकती; जगाम ह—अनुभव किया।

रुक्मिणीदेवी ने इसके पूर्व कभी भी अपने प्रिय त्रिलोकेश-पति से ऐसी अप्रिय बातें नहीं सुनी थीं अतः वे भयभीत हो उठीं। उनके हृदय में कँपकपी शुरू हो गई और भीषण उद्विग्नता में वे रोने लगीं।

पदा सुजातेन नखारुणश्रीया
भुवं लिखन्त्यश्रुभिरञ्जनासितैः ।
आसिञ्चती कुङ्कुमरूषितौ स्तनौ

तस्थावधोमुख्यतिदु:खरुद्धवाक् ॥ २॥

शब्दार्थ

पदा—अपने पाँव से; सु-जातेन—अत्यन्त कोमल; नख—नाखूनों के; अरुण—लाल लाल; श्रीया—तेज वाले; भुवम्—पृथ्वी को; लिखन्ती—कुरेदती हुई; अश्रुभि:—अपने आँसुओं से; अञ्जन—काजल; असितै:—काले; आसिञ्चती—सींचती हुई; कुङ्कुम—कुंकुम-चूर्ण से; रूषितौ—लाल; स्तनौ—दोनों स्तन; तस्थौ—शान्त खड़ी हो गईं; अध:—नीचे की ओर; मुखी—मुख किये; अति—अत्यन्त; दु:ख—दुख से; रुद्ध—रुकी; वाक्—वाणी।.

वे लाल-लाल चमकीले वाले नाखुनों से युक्त अपने कोमल पाँव से भूमि कुरेदने लगीं और अपनी आँख में लगे काजल द्वारा काले हुए आँसुओं से कुंकुम के कारण लाल हुए स्तनों को भिगो दिया। वे मुख नीचा किये खड़ी रहीं और अत्यधिक शोक से उनकी वाणी अवरुद्ध हो गई।

तस्या: सुदु:खभयशोकविनष्टबुद्धे-
हस्ताच्छ्लथद्वलयतो व्यजनं पपात ।
देहश्च विक्लवधिय: सहसैव मुह्यन्
रम्भेव वायुविहतो प्रविकीर्य केशान् ॥ २४॥

शब्दार्थ

तष्या:—उसके; सु-दु:ख—अत्यधिक दुख; भय—डर; शोक—तथा शोक से; विनष्ट—नष्ट हुई; बुद्धे:—बुद्धि वाली; हस्तात्—हाथ से; श्लथत्—खिसकते हुए; वलयत:—चूड़ियों वाली; व्यजनम्—पंखा; पपात—गिर गया; देह:—उसका शरीर; च—भी; विक्लव—विकल; धिय:—जिसका मन; सहसा एव—सहसा; मुह्यन्—मूर्छित हुई; रम्भा—केले के वृक्ष; इव—सदृश; वायु—वायु से; विहत:—उखाड़े गये; प्रविकीर्य—बिखराते हुए; केशान्—अपने बाल।.

रुक्मिणी का मन दुख, भय तथा शोक से अभिभूत हो गया। उनकी चूड़ियाँ उनके हाथ से सरक गईं और उनका पंखा जमीन पर गिर पड़ा। वे मोहवश सहसा मूर्छित हो गईं, उनके बाल इधर-उधर बिखर गये और उनका शरीर भूमि पर इस तरह गिर गया जिस तरह हवा से उखड़ा हुआ केले का वृक्ष गिर पड़ता है।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण के शब्दों से मर्माहत होने से रुक्मिणी यह नहीं समझ पाईं कि भगवान् उन्हें केवल सता रहे हैं इसीलिए उनमें शोक के ये भाव दिखे जिन्हें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने *सात्विक* भाव कहा है, जो स्तम्भित होने से लेकर मरण दशा तक विस्तीर्ण होते हैं।

तद्दृष्ट्वा भगवान्कृष्ण: प्रियाया: प्रेमबन्धनम् ।
हास्यप्रौढिमजानन्त्या: करुण: सोऽन्वकम्पत ॥ २५॥

शब्दार्थ

तत्—यह; दृष्ट्वा—देखकर; भगवान्—भगवान्; कृष्णः—कृष्ण; प्रियायाः—अपनी प्रिया के; प्रेम—शुद्ध ईश प्रेम के; बन्धनम्—बन्धन; हास्य—उनके परिहास का; प्रौढिम्—पूर्ण आशय; अजानन्त्याः—न जान सकने वाली; करुणः—दयालु; सः—उन्होंने; अन्वकम्पत—दया का अनुभव किया।

यह देखकर कि उनकी प्रिया उनके प्रेम से इस तरह बँधी हैं, वे उनके तंग करने के पूरे आशय को नहीं समझ सकीं, दयालु भगवान् कृष्ण को उन पर दया आ गई।

पर्यङ्कादवरुह्याशु तामुत्थाप्य चतुर्भुजः ।
केशान्समुह्य तद्वक्त्रं प्रामृजत्पद्मपाणिना ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

पर्यङ्कात्—बिस्तर से; अवरुह्य—उतर कर; आशु—जल्दी से; ताम्—उसको; उत्थाप्य—उठाते हुए; चतुर्-भुजः—चार भुजाएँ प्रदर्शित करते; केशान्—उसके बालों को; समुह्य—ठीक करते; तत्—उसके; वक्त्रम्—मुख को; प्रामृजत्—पोंछा; पद्म-पाणिना—अपने कर-कमल से।

भगवान् तुरन्त बिस्तर से उतर आये। चार भुजाएँ प्रकट करते हुए उन्होंने उन्हें (रुक्मिणी को) उठाया, उनके बाल ठीक-ठाक किए और अपने कर-कमलों से उनका मुख सहलाया।

तात्पर्य : भगवान् ने चार भुजाएँ इसलिए प्रकट कीं कि वे सारे कार्य एकसाथ पूरा कर सकें।

प्रमृज्याश्रुकले नेत्रे स्तनौ चोपहतौ शुचा ।
आश्लिष्य बाहुना राजननन्यविषयां सतीम् ॥ २७॥
सान्त्वयामास सान्त्वज्ञः कृपया कृपणां प्रभुः ।
हास्यप्रौढिभ्रमच्चित्तामतदर्हां सतां गतिः ॥ २८॥

शब्दार्थ

प्रमृज्य—पोंछकर; अश्रु-कले—आँसुओं से पूरित; नेत्रे—उसकी आँखें; स्तनौ—दो स्तनों को; च—तथा; उपहतौ—बिखरे; शुचा—शोकयुक्त आँसुओं से; अश्लिष्य—उसका आलिंगन करके; बाहुना—अपनी बाँह से; राजन्—हे राजा (परीक्षित); अनन्य—कोई अन्य नहीं; विषयाम्—जिसकी इच्छित वस्तु; सतीम्—सती को; सान्त्वयाम् आस—सान्त्वना दी; सान्त्व—सान्त्वना विधियों के; ज्ञः—जानने वाले; कृपया—कृपापूर्वक; कृपणाम्—दयनीय; प्रभुः—भगवान्; हास्य—अपने परिहास का; प्रौढि—चतुरता से; भ्रमत्—मोहित हुए; चित्ताम्—चित्त वाले; अतत्-अर्हाम्—उसके योग्य नहीं; सताम्—शुद्ध भक्तों का; गतिः—गन्तव्य।

हे राजन्, उनके अश्रुपूरित नेत्रों तथा संताप के आँसुओं से सने हुए उनके स्तनों को पोंछ कर अपने भक्तों के लक्ष्य भगवान् ने अपनी सती पत्नी का आलिंगन किया जो एकमात्र उन्हीं को चाह रही थीं। सान्त्वना देने की कला में पटु श्रीकृष्ण ने दयनीय रुक्मिणी को मृदुता से ढाढ़स बँधाया जिनका मन भगवान् के चातुरीपूर्ण हास-परिहास से भ्रमित था और जो इस तरह कष्ट भोगने के योग्य न थीं।

श्रीभगवानुवाच
मा मा वैदर्भ्यसूयेथा जाने त्वां मत्परायणाम् ।
त्वद्वचः श्रोतुकामेन क्ष्वेल्याचरितमङ्गने ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; मा—मत; मा—मुझसे; वैदर्भि—हे वैदर्भी; असूयेथाः—रुष्ट होओ; जाने—मैं जानता हूँ; त्वाम्—तुम; मत्—मुझमें; परायणाम्—पूर्णतया समर्पित; त्वत्—तुम्हारे; वचः—शब्द; श्रोतु—सुनने की; कामेन—इच्छा करते हुए; क्ष्वेल्या—हँसी में; आचरितम्—कार्य किया; अङ्गने—हे अंगना (स्त्री)।

भगवान् ने कहा : हे वैदर्भी, तुम मुझसे नाराज मत होओ। मैं जानता हूँ कि तुम पूरी तरह मुझमें समर्पित हो। हे प्रिय देवी, मैंने तो ठिठोली में ऐसा कहा था क्योंकि मैं सुनना चाहता था कि तुम क्या कहोगी।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार भगवान् कृष्ण ने यह उक्ति इसलिए कही क्योंकि उन्होंने सोचा कि यदि वे उन्हें विचलित करने के लिए और कुछ कहेंगे तो वे डर जायेंगी या फिर उनके किये हुए पर वे रुष्ट हो जायेंगी।

मुखं च प्रेमसंरम्भस्फुरिताधरमीक्षितुम् ।
कटाक्षेपारुणापाङ्गं सुन्दरभ्रुकुटीतटम् ॥ ० ॥

शब्दार्थ

मुखम्—मुख; च—तथा; प्रेम—प्रेम के; संरम्भ—कोप से; स्फुरित—हिलते; अधरम्—होठों से; ईक्षितुम्—देखने के लिए; कटा—तिरछी चितवन के; क्षेप—फेंके जाने से; अरुण—लाल लाल; अपाङ्गम्—आँखों के कोर; सुन्दर—सुन्दर; भ्रु—भौंहों का; कुटी—गहराना; तटम्—किनारों पर।

मैं यह भी चाहता था कि प्रणयकोप में काँपते तुम्हारे अधर, तिरछी चितवनों वाली तुम्हारी आँखों के लाल-लाल कोर तथा क्रोध से तनी तुम्हारी सुन्दर भौंहों की रेखा से युक्त तुम्हारा मुख देख सकूँ।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती व्याख्या करते हैं कि सामान्यतया भगवान् की दिव्य इच्छा से उनके शुद्ध भक्त उनके साथ ऐसा आदान-प्रदान करते हैं जिससे उनकी आध्यात्मिक इच्छाओं की तुष्टि हो सके। किन्तु रुक्मिणी का प्रेम इतना प्रबल था कि उनकी अद्वितीय मुद्रा इस परिस्थिति में प्रधान बन गई और वे कुपित होने की बजाय मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़ीं। इस तरह कृष्ण को अप्रसन्न करना तो दूर रहा, उनके प्रति सर्वव्यापक प्रेम प्रदर्शित करते हुए उन्होंने उनके दिव्य आनन्द में वृद्धि कर दी।

अयं हि परमो लाभो गृहेषु गृहमेधिनाम् ।

यन्नर्मैरीयते यामः प्रियया भीरु भामिनि ॥ १ ॥

शब्दार्थ

अयम्—यह; हि—निस्सन्देह; परमः—परम; लाभः—लाभ; गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; गृह-मेधिनाम्—संसारी गृहस्थों के लिए; यत्—जो; नर्मैः—परिहास से; ईयते—बिताया जाता है; यामः—समय; प्रियया—प्रियतमा के साथ; भीरु—हे डरपोक; भामिनि—हे तुनुकमिजाज।.

हे भीरु एवं चंचल, संसारी गृहस्थजन घर में जो सबसे बड़ा आनन्द लूट सकते हैं वह है अपनी प्रियतमाओं के साथ परिहास करने में बिताया जाने वाला समय।

तात्पर्य : *भामिनि* शब्द क्रुद्ध, कामिनी, चंचल स्त्री का सूचक है। चूँकि प्रिया रुक्मिणी इतने उकसाने के बावजूद क्रुद्ध नहीं हुईं इसलिए भगवान् अब भी परिहास कर रहे हैं।

श्रीशुक उवाच
सैवं भगवता राजन्वैदर्भी परिसान्त्विता ।
ज्ञात्वा तत्परिहासोक्तिं प्रियत्यागभयं जहौ ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सा—वह; एवम्—इस प्रकार; भगवता—भगवान् द्वारा; राजन्—हे राजन्; वैदर्भी—महारानी रुक्मिणी; परिसान्त्विता—पूर्णतया सान्त्वना दी गई, समझाई-बुझाई गई; ज्ञात्वा—जान कर; तत्—उसके; परिहास—मजाक में कहे गये; उक्तिम्—शब्द; प्रिय—अपने प्रेमी द्वारा; त्याग—परित्याग के; भयम्—भय को; जहौ—त्याग दिया।.

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, महारानी वैदर्भी भगवान् द्वारा पूरी तरह परिशान्त कर दी गईं और वे यह समझ गईं कि भगवान् ने परिहास में वे शब्द कहे हैं। इस तरह उनका यह भय जाता रहा कि उनके पति उनका परित्याग कर देंगे।

बभाष ऋषभं पुंसां वीक्षन्ती भगवन्मुखम् ।
सव्रीडहासरुचिरस्निग्धापाङ्गेन भारत ॥ ॥

शब्दार्थ

बभाष—बोली; ऋषभम्—अत्यन्त प्रसिद्ध; पुंसाम्—पुरुष से; वीक्षन्ती—देखती हुई; भगवत्—भगवान् के; मुखम्—मुख को; स-व्रीड—सलज्ज; हास—हँसी से युक्त; रुचिर—आकर्षक; स्निग्ध—स्नेहिल; अपाङ्गेन—तथा चितवन से; भारत—हे भरतवंशी।.

हे भरतवंशी, भगवान् के मुख पर अपनी आकर्षक तथा स्नेहिल चितवन डालते हुए रुक्मिणी लज्जा से हँसते हुए नर-श्रेष्ठ भगवान् से इस प्रकार बोलीं।

श्रीरुक्मिण्युवाच
नन्वेवमेतदरविन्दविलोचनाह

यद्वै भवान्भगवतोऽसदृशी विभूम्नः ।
क्व स्वे महिम्न्यभिरतो भगवांस्त्र्यधीशः
क्वाहं गुणप्रकृतिरज्ञगृहीतपादा ॥ ४॥

शब्दार्थ

श्री-रुक्मिणी उवाच—श्री रुक्मिणी ने कहा; ननु—ठीक है; एवम्—ऐसी ही हो; एतत्—यह; अरविन्द-विलोचन—हे कमल जैसे नेत्रों वाले; आह—कहा; यत्—जो; वै—निस्सन्देह; भवान्—आप; भगवतः—भगवान् के; असदृशी—असमान; विभूम्नः—सर्वशक्तिमान से; क्व—कहाँ, तुलना में; स्वे—अपनी; महिम्नि—महिमा में; अभिरतः—आनन्द लेते हुए; भगवान्—भगवान्; त्रि—तीन (मुख्य देवता, ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव) के; अधीशः—नियन्ता; क्व—तथा कहाँ; अहम्—मैं; गुण—गुणों का; प्रकृतिः—स्वभाव; अज्ञ—मूर्ख व्यक्तियों द्वारा; गृहीत—पकड़े हुए; पादा—जिनके चरण।

श्री रुक्मिणी ने कहा : हे कमल-नयन, आपने जो कहा है वस्तुतः वह सच है। मैं सचमुच सर्वशक्तिमान भगवान् के अनुपयुक्त हूँ। कहाँ तीन प्रमुख देवों के स्वामी एवं अपनी ही महिमा में मग्न रहने वाले भगवान् और कहाँ मैं संसारी गुणों वाली स्त्री जिसके चरण मूर्खजन ही पकड़ते हैं?

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी उन दोषों की सूची देते हैं, जिन्हें कृष्ण ने अपने में होने के बारे में बतलाते हुए अपने को रुक्मिणी का पति होने के अयोग्य घोषित किया था। इसमें समरूप न होना, भयभीत रहना, समुद्र में शरण लेना, बली लोगों से झगड़ना, अपना राज्य छोड़ना, अपने स्वरूप के बारे में अनिश्चय, सामान्य आचरण के मापदण्डों के विरुद्ध कार्य करना, सद्गुणों से विहीन होना, केवल भिखमंगों द्वारा झूठे ही प्रशंसित होना, एकान्तप्रियता, गृहस्थ जीवन की इच्छा का अभाव सम्मिलित हैं। भगवान् ने दावा किया कि रुक्मिणी उनके इन दुर्गुणों को पहचान नहीं पाईं। अब वे भगवान् के सभी कथनों का जवाब देती हैं।

सर्वप्रथम वे श्लोक ११ में आये श्रीकृष्ण के कथन—*कस्मान् नो वव‍ृषेऽसमान्*—तुमने हमें क्यों चुना जब हम तुम्हारे समान नहीं हैं? का उत्तर देती हैं। यहाँ श्रीमती रुक्मिणीदेवी कहती हैं कि वे तथा श्रीकृष्ण निश्चय ही समान नहीं हैं क्योंकि कोई भी भगवान् के समान नहीं हो सकता। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने यह भी इंगित किया है कि रुक्मिणी विनयवश अपनी पहचान भगवान् की बहिरंगा शक्ति से कर रही हैं, जो वस्तुतः उनकी अंश है क्योंकि रुक्मिणी स्वयं लक्ष्मी हैं।

सत्यं भयादिव गुणेभ्य उरुक्रमान्तः
शेते समुद्र उपलम्भनमात्र आत्मा ।
नित्यं कदिन्द्रियगणैः कृतविग्रहस्त्वं

त्वत्सेवकैर्नृपपदं विधुतं तमोऽन्धम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

सत्यम्—सच; भयात्—भय से; इव—मानो; गुणेभ्य:—भौतिक गुणों के; उरुक्रम—हे दिव्य कौशल करने वाले; अन्त:—भीतर; शेते—शयन करते हो; समुद्रे—समुद्र में; उपलम्भन-मात्र:—पूर्ण भिज्ञता; आत्मा—परमात्मा; नित्यम्—सदैव; कत्—बुरा; इन्द्रिय-गणै:—समस्त इन्द्रियों के विरुद्ध; कृत-विग्रह:—युद्ध करते हुए; त्वम्—तुम; त्वत्—तुम्हारे; सेवकै:—सेवकों द्वारा; नृप—राजा का; पदम्—पद; विधुतम्—अस्वीकृत, दुत्कारा गया; तम:—अंधकार; अन्धम्—घना।

हाँ, भगवान् उरुक्रम, आप समुद्र के भीतर शयन करते हैं मानो भौतिक गुणों से भयभीत हों और इस तरह आप शुद्ध चेतना में हृदय के भीतर परमात्मा रूप में प्रकट होते हैं। आप निरन्तर मूर्ख इन्द्रियों के विरुद्ध संघर्ष करते रहते हैं, यहाँ तक कि आपके दास भी अज्ञान के अंधकार में ले जाने वाले साम्राज्य के अवसर को दुत्कार देते हैं।

तात्पर्य : श्लोक १२ में कृष्ण ने कहा था—*राजभ्यो बिभ्यत: सुभ्रु समुद्रं शरणं गतान्*—हमने राजाओं के भय से समुद्र में जाकर शरण ली। यहाँ श्रीमती रुक्मिणीदेवी इंगित करती हैं कि इस जगत के असली शासक तो प्रकृति के भौतिक *गुण* हैं, जो सारे जीवों को कर्म करने के लिए बाध्य करते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि चूँकि भगवान् कृष्ण डरते रहते हैं कि उनके भक्त गुणों के प्रभाव में आ जायेंगे और इन्द्रिय-तृप्ति में फँस जायेंगे इसलिए वे उनके हृदयों के आन्तरिक समुद्र में प्रवेश करते हैं जहाँ वे सर्वज्ञपरमात्मा के रूप में रहने लगते हैं (*उपलम्भनमात्र आत्मा*)। इस तरह वे अपने भक्तों की रक्षा करते हैं। *उपलम्भनमात्र:* शब्द से यह भी सूचित होता है कि भगवान् अपने भक्तों की ध्यान के साधन हैं।

श्लोक १२ में कृष्ण ने यह भी कहा है—*बलवद्भि: कृतद्वेषान्*—हमने बलवानों से शत्रुता मोल ली है। यहाँ श्रीमती रुक्मिणीदेवी इंगित करती हैं कि वस्तुत: इस जगत में भौतिक इन्द्रियाँ ही प्रबल हैं। भगवान् ने अपने भक्तों के हित में इन्द्रिय-तृप्ति के विरुद्ध युद्ध छेड़ रखा है और इस तरह आध्यात्मिक शुद्धि के उनके संघर्ष में वे निरन्तर उनकी सहायता करते रहते हैं। जब भक्तगण अवांछित भौतिक इच्छाओं से मुक्त हो जाते हैं, तो भगवान् उनके समक्ष प्रकट होते हैं और तब भगवान् तथा उनके भक्तों के मध्य का प्रेममय सम्बन्ध एक अटल तथ्य बन जाता है।

उसी श्लोक में कृष्ण ने कहा है—*त्यक्तनृपासनान्*—हमने राजसिंहासन को छोड़ दिया। किन्तु यहाँ श्रीमती रुक्मिणीदेवी इंगित करती हैं कि इस संसार में राजनैतिक श्रेष्ठता का पद तथाकथित सशक्त नेताओं को गहन अंधकार में फँसा देता है। कहावत है—"प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं।" इस प्रकार

भगवान् के प्रिय दास तक राजनैतिक छल तथा शक्ति की राजनीति से कतराते हैं। भगवान् अपने ही आध्यात्मिक आनन्द से तुष्ट रहने के कारण शायद ही संसारी राजनैतिक पद ग्रहण करने में रुचि रखते हों। इस प्रकार श्रीमती रुक्मिणीदेवी भगवान् के कार्यों को उनकी दिव्य प्रकृति के साक्षी के रूप में सही-सही विश्लेषण करती हैं।

त्वत्पादपद्ममकरन्दजुषां मुनीनां
वर्त्मास्फुटं खपशुभिर्ननु दुर्विभाव्यम् ।
यस्मादलौकिकमिवेहितमीश्वरस्य
भूमंस्तवेहितमथो अनु ये भवन्तम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

त्वत्—तुम्हारे; पाद—पैरों की; पद्म—कमल जैसे; मकरन्द—मधु, शहद; जुषाम्—आस्वादन करने वाले; मुनीनाम्—मुनियों का; वर्त्म—(आपका) मार्ग; अस्फुटम्—अप्रकट; नृ—मनुष्य रूप में; पशुभिः—पशुओं द्वारा; ननु—निश्चय ही, तब; दुर्विभाव्यम्—समझ पाना असम्भव; यस्मात्—क्योंकि; अलौकिकम्—अलौकिक; इव—मानो; ईहितम्—कार्यकलाप; ईश्वरस्य—भगवान् के; भूमन्—हे सर्वशक्तिमान; तव—तुम्हारे; ईहितम्—कार्यकलाप; अथ उ—अतः; अनु—अनुसरण करते हुए; ये—जो; भवन्तम्—आपको।

जब आपकी गतिविधियाँ, उन मुनियों के लिए भी अस्पष्ट हैं, जो आपके चरणकमलों के मधु का आस्वादन करते हैं, तो फिर वे निश्चय ही मनुष्यों की समझ में न आने वाली हैं, जो पशुओं जैसा आचरण करते हैं। और हे सर्वशक्तिमान प्रभु, जिस तरह आपके कार्यकलाप दिव्य हैं उसी तरह आपके अनुयायियों के भी हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर रुक्मिणी श्लोक १ में व्यक्त भगवान् कृष्ण के कथन का उत्तर देती हैं—

अस्पष्टवर्त्मनां पुंसाम् अलोकपथमीयुषाम्।
आस्थिताः पदवीं सुभ्रु प्रायः सीदन्ति योषितः ॥

"हे सुन्दर भौंहों वाली! जब स्त्रियाँ ऐसे पुरुषों के साथ रहती हैं जिनका आचरण अनिश्चित होता है और जो समाज-सम्मत मार्ग का अनुसरण नहीं करते तो प्रायः उन्हें कष्ट भोगना पड़ता है।"

इस श्लोक में आगत *अलोक-पथम्* का अर्थ रुक्मिणीदेवी "असंसारी पथ" लगा रही हैं। संसारी आचरण में फँसे लोग इस संसार का भोग लगभग पशुओं जैसा कर रहे हैं। यदि ऐसे लोग "सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत" भी हों तो उन्हें परिष्कृत पशु ही माना जाना चाहिए। श्रीमती रुक्मिणीदेवी इंगित करती हैं कि चूँकि भगवान् के कार्यकलाप सदैव दिव्य होते हैं अतएव वे सामान्य व्यक्तियों के

लिए *अस्पष्ट* होते हैं। यहाँ तक कि मुनिगण भी जो भगवान् को जानने का प्रयास करते हैं, इन कार्यकलापों को ठीक से नहीं समझ पाते।

निष्किञ्चनो ननु भवान्न यतोऽस्ति किञ्चिद्
यस्मै बलिं बलिभुजोऽपि हरन्त्यजाद्याः ।
न त्वा विदन्त्यसुतृपोऽन्तकमाढ्यतान्धाः
प्रेष्ठो भवान्बलिभुजामपि तेऽपि तुभ्यम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

निष्किञ्चनः—सम्पत्तिविहीन; ननु—निस्सन्देह; भवान्—आप; न—नहीं; यतः—जिसके परे; अस्ति—है; किञ्चित्—कुछ भी; यस्मै—जिसको; बलिम्—भेंट; बलि—भेंट का; भुजः—भोक्ता; अपि—भी; हरन्ति—वहन करते हैं; अज-आद्याः—ब्रह्मा इत्यादि; न—नहीं; त्वा—तुमको; विदन्ति—जानते हैं; असु-तृपः—शरीर से तुष्ट रहने वाले व्यक्ति; अन्तकम्—मृत्यु के रूप में; आढ्यता—सम्पत्ति के अपने पद द्वारा; अन्धाः—अन्धे हुए; प्रेष्ठः—परम प्रिय; भवान्—आप; बलि-भुजाम्—उपहार के परम भोक्ता के लिए; अपि—भी; ते—वे; अपि—भी; तुभ्यम्—तुमको (प्रिय हैं)।

आपके पास कुछ भी नहीं है क्योंकि आपसे परे कुछ भी नहीं है। बलि के परम भोक्ता, ब्रह्मा तथा अन्य देवता तक आपको नमस्कार करते हैं। जो लोग अपनी सम्पत्ति से अन्धे हुए रहते हैं और अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने में लीन रहते हैं, वे काल रूप आपको नहीं पहचान पाते। बलि के भोक्ता देवताओं को आप उसी तरह परम प्रिय हैं जिस तरह कि वे आपको हैं।

तात्पर्य : यहाँ श्रीमती रुक्मिणीदेवी श्लोक १४ में भगवान् कृष्ण के कथन का उत्तर देती हैं। कथन है—

निष्किञ्चना वयं शश्वन् निष्किञ्चनजनप्रियाः ।

तस्मात् प्रायेण न ह्याढ्या मां भजन्ति सुमध्यमे ॥

''हमारे पास कोई भौतिक सम्पत्ति नहीं है और हम उन्हीं को प्रिय हैं जिनके पास हमारी ही तरह कुछ नहीं है। अतः हे नाजुक कटि वाली! धनी लोग शायद ही मेरी पूजा करते हों।''

महारानी रुक्मिणी *निष्किञ्चनो ननु* से अपनी बात शुरू करती हैं। *किञ्चन्* शब्द का अर्थ है ''कुछ'' और *निर्* या *निष्* उपसर्ग निषेधवाची है। अतः *निष्किञ्चन्* का सामान्य अर्थ ''वह जिसके पास कुछ भी नहीं होता'' या दूसरे शब्दों में ''निर्धन'' है।

किन्तु प्रस्तुत श्लोक में रुक्मिणी कहती हैं कि भगवान् कृष्ण के पास ''कुछ भी नहीं'' है इसलिए नहीं कि वे कंगाल है, प्रत्युत इसलिए कि वे ही सर्वस्व हैं। दूसरे शब्दों में, चूँकि कृष्ण परम सत्य हैं

अतएव जो कुछ विद्यमान है, वह उनके भीतर है। उन्हें अन्य किसी बाह्य वस्तु को प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है। उदाहरणार्थ, मनुष्य के पास घर, कार, पुत्र या धन हो सकता है किन्तु ये वस्तुएँ मनुष्य नहीं हो सकतीं क्योंकि ये उससे बाहर विद्यमान हैं। हम कहते हैं कि ये वस्तुएँ उसकी हैं केवल इसलिए कि इन पर उसका नियंत्रण रहता है। किन्तु भगवान् अपनी सृष्टि का केवल नियंत्रण ही नहीं करते हैं अपितु उनकी सृष्टि का अस्तित्व वस्तुत: उनके भीतर रहता है। इस तरह उनकी कोई भी वस्तु उस अर्थ में उनसे बाहर नहीं है, जिस तरह हमारे पास बाह्य वस्तुएँ होती हैं।

आचार्यों ने *निष्किञ्चन्* की व्याख्या इस प्रकार की है—इस कथन से कि किसी व्यक्ति के पास कोई वस्तु है यह अर्थ निकलता है कि उसके पास सारी वस्तुएँ नहीं हैं। दूसरे शब्दों में, यदि हम कहें कि मनुष्य के पास कुछ सम्पत्ति है, तो हमारा आशय यही रहता है कि सारी सम्पत्ति उसकी नहीं है अपितु उसका एक विशेष भाग उसका है। अमरीका के एक मानक शब्दकोष के अनुसार 'कुछ' का अर्थ होता है : कोई अनिश्चित अथवा अविशेष संख्या, राशि इत्यादि जो शेष से भिन्न है। संस्कृत के *किञ्चन* शब्द से कुल के एक अंश का बोध होता है। इस तरह इस विचार का निराकरण करने के लिए ही कृष्ण को *निष्किञ्चन* कहा गया है कि उनके पास सौन्दर्य, यश, सम्पत्ति, बुद्धि इत्यादि का केवल कुछ अंश ही है। प्रत्युत उनके पास अनन्त सौन्दर्य, सम्पत्ति, बुद्धि इत्यादि है। ऐसा इसलिए है क्योंकि वे परम सत्य हैं।

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध, भाग एक की भूमिका का शुभारम्भ जो हमारी वर्तमान चर्चा से पूरी तरह संबद्ध है, श्रील प्रभुपाद इस तरह करते हैं, "ईश्वर की धारणा तथा परब्रह्म की धारणा दोनों समान स्तर पर नहीं हैं। श्रीमद्भागवत में परब्रह्म को लक्ष्य बनाया गया है। ईश्वर की धारणा नियन्ता की सूचक है, जबकि परब्रह्म की धारणा समस्त शक्तियों के चरम उद्गम की सूचक है।" यहाँ पर श्रील प्रभुपाद ने मूल दार्शनिक बात उठाई है। ईश्वर की सम्मान्य परिभाषा "परम व्यक्ति" है और शब्दकोश में *परम* के चार अर्थ हैं (१) सर्वोच्च पद, सत्ता इत्यादि (२) गुण, उपलब्धि, कुशलता में सर्वोच्च ( ) सर्वोच्च कोटि (४) अन्तिम, चरम। इनमें से कोई भी परिभाषा परम सत्ता को पूरी तरह बोध नहीं कराती।

उदाहरणार्थ, हम कह सकते हैं कि एक विशेष अमरीकी व्यक्ति सर्वाधिक धनी है या यह कि उच्च न्यायालय देश का सर्वोच्च न्यायालय है किन्तु हमारे कथनों से यही अर्थ निकलता है कि वह अमरीकी

व्यक्ति अन्य किसी से भी अधिक धनी है या वह न्यायालय देश के न्यायालयों से सबसे उच्च है यद्यपि इसे सभी राजनीतिक एवं सामाजिक मामलों में निश्चय ही पूर्ण अधिकार नहीं होते क्योंकि इन क्षेत्रों में इसकी सत्ता विधान सभा और राष्ट्रपति से बँटी होती है। इस तरह *परम* समस्त जीवों में सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वोच्च का सूचक है किन्तु यहाँ विद्यमान हर वस्तु के उद्गम का नहीं है। इस तरह श्रील प्रभुपाद विशेष रूप से इंगित करते हैं कि परम सत्य कृष्ण की धारणा परम व्यक्ति की धारणा से उच्च है और वैष्णव दर्शन समझने के लिए यह परम सत्य होनी चाहिए।

भगवान् कृष्ण मात्र सर्वोपरि व्यक्ति ही नहीं, अपितु वे परम पुरुष हैं और उनकी पत्नी यही कहना चाह रही हैं। इस तरह से *निष्किञ्चन* शब्द यह नहीं सूचित करता कि कृष्ण के पास *कोई* ऐश्वर्य नहीं है अपितु यह कि उनके पास *सम्पूर्ण* ऐश्वर्य है। इस अर्थ में वे कृष्ण की निष्किञ्चन की परिभाषा स्वीकार करती हैं।

श्लोक १४ में कृष्ण ने यह भी कहा था *निष्किञ्चन-जन-प्रिय:*—मैं दरिद्रों का प्रिय हूँ। किन्तु यहाँ पर रुक्मिणी संकेत करती हैं कि ब्रह्माण्ड के सबसे धनी जीव देवतागण भगवान् को नियमित बलि देते रहते हैं। हम यह मान सकते हैं कि भगवान् द्वारा नियुक्त प्रतिनिधि होने के नाते सारे देवता यह जानते हैं कि हर वस्तु उन्हीं की है क्योंकि हर वस्तु उनका अंश है जैसाकि ऊपर कहा गया है। अत: *निष्किञ्चन-जन-प्रिय:* इस विचार से सही है कि भगवान् तथा उनकी शक्तियों के अलावा कुछ भी नहीं है, भले ही भगवान् की पूजा करने वाले व्यक्ति कितने ही धनी क्यों न प्रतीत हों, वे ईश्वर को प्रेममय कार्य के रूप में वस्तुत: उन्हीं की शक्ति अर्पित कर रहे होते हैं। यही विचार गंगाजल द्वारा गंगा की पूजा करने में या कि पिता के जन्मदिवस पर पिता से प्राप्त धन से उसके पुत्र द्वारा खरीद कर भेंट की जाने वाली वस्तु से प्रकट होता है। यद्यपि पिता ही अपनी भेंट के लिए धन देता है किन्तु वह जिस वस्तु में रुचि रखता है, वह है अपने पुत्र का प्रेम। इसी तरह भगवान् इस विराट जगत को उत्पन्न करते हैं और तब बद्ध-आत्माएँ भगवान् की सृष्टि में से विविध वस्तुएँ संग्रह कर लेती हैं। पवित्रात्माएँ अपने संग्रह में से कुछ सर्वोत्कृष्ट वस्तुएँ बलि के रूप में भगवान् को अर्पित करती हैं और इस तरह अपने को पवित्र बनाती हैं। चूँकि सारा ब्रह्माण्ड तथा सारी वस्तुएँ भगवान् की शक्ति मात्र हैं अतएव हम यह कह सकते हैं कि जो लोग भगवान् की पूजा करते हैं उनके पास कुछ भी नहीं होता।

अधिक रूढ़िगत रुप से तो यह कह सकते हैं कि जिन्हें अपनी विशाल सम्पत्ति का गर्व है वे ईश्वर के समक्ष नतमस्तक नहीं होते। रानी रुक्मिणी भी इन मूर्खों का उल्लेख करती हैं। वे अपने नश्वर शरीरों से सन्तुष्ट रहकर मृत्यु की दैवी शक्ति को जो उनका चुपके से शिकार करती है, नहीं समझ पाते। किन्तु देवतागण जो सर्वाधिक धनी जीव हैं भगवान् को नियमित बलि चढ़ाते हैं और इस तरह जैसा यहाँ वर्णित है भगवान् उन्हें सर्वाधिक प्रिय हैं।

त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मा
यद्वाञ्छया सुमतयो विसृजन्ति कृत्स्नम् ।
तेषां विभो समुचितो भवतः समाजः
पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुखदुःखिनोर्न ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; वै—निस्सन्देह; समस्त—सारे; पुरुष—मानव जीवन के; अर्थ—लक्ष्यों से; मयः—युक्त; फल—चरम लक्ष्य के; आत्मा—आत्मा; यत्—जिसके लिए; वाञ्छया—इच्छा से; सु-मतयः—बुद्धिमान व्यक्ति; विसृजन्ति—त्याग देते हैं; कृत्स्नम्—हर वस्तु को; तेषाम्—उनके लिए; विभो—हे सर्वशक्तिमान; समुचितः—समुचित; भवतः—आपका; समाजः—सान्निध्य; पुंसः—मनुष्य; स्त्रियाः—तथा स्त्री के लिए; च—तथा; रतयोः—विषय-भोग में अनुरक्त; सुख-दुःखिनोः—सुख तथा दुख का अनुभव करने वाले; न—नहीं।

आप समस्त मानवीय लक्ष्यों के साकार रूप हैं और आप ही जीवन के अन्तिम लक्ष्य हैं। हे सर्वशक्तिमान विभु, आपको प्राप्त करने के इच्छुक बुद्धिमान व्यक्ति अन्य सारी वस्तुओं का परित्याग कर देते हैं। वे ही आपके सान्निध्य के पात्र हैं, न कि वे स्त्री तथा पुरुष जो पारस्परिक विषय-वासना से उत्पन्न सुख तथा दुख में लीन रहते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर महारानी रुक्मिणी श्लोक १५ में आये भगवान् कृष्ण के निम्नलिखित कथन का निराकरण करती हैं—

ययोरात्मसमं वित्तं जन्मैश्वर्याकृतिर्भवः ।

तयोर्विवाहो मैत्री च नोत्तमाधमयोः क्वचित ॥

"विवाह तथा मैत्री उन दो व्यक्तियों के मध्य उचित है, जो धन, जन्म, प्रभाव, आकृति तथा जनन-क्षमता में समान हों। किन्तु उत्तम तथा अधम के बीच ऐसा कभी नहीं होता।" निस्सन्देह जिन्होंने इन्द्रिय-तृप्ति की भौतिक धारणा का परित्याग करते हुए भगवान् की भक्ति को ग्रहण किया है वे ही समझ सकते हैं कि उनका असली मित्र तथा संगी कौन है—वह स्वयं श्रीकृष्ण हैं।

त्वं न्यस्तदण्डमुनिभिर्गदितानुभाव
आत्मात्मदश्च जगतामिति मे वृतोऽसि ।
हित्वा भवद्भ्रुव उदीरितकालवेग
ध्वस्ताशिषोऽब्जभवनाकपतीन्कुतोऽन्ये ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; न्यस्त—जिन्होंने त्याग दिया है; दण्ड—संन्यासी का दंड; मुनिभिः—मुनियों द्वारा; गदित—कहा गया; अनुभावः—जिसका पराक्रम; आत्मा—परमात्मा; आत्मा—स्वयं आप; दः—देने वाला; च—भी; जगताम्—सारे जगतों के; इति—इस प्रकार; मे—मेरे द्वारा; वृतः—चुना हुआ; असि—हो; हित्वा—त्याग कर; भवत्—आपकी; भ्रुवः—भौंहों से; उदीरित—उत्पन्न; काल—समय के; वेग—वेग से; ध्वस्त—नष्ट-भ्रष्ट; आशिषः—जिनकी आशाएँ; अब्ज—कमल से उत्पन्न (ब्रह्मा); भव—शिवजी; नाक—स्वर्ग के; पतीन्—स्वामियों को; कुतः—तो फिर क्या; अन्ये-ओथेर्स्.

यह जानते हुए कि सन्यासियों का दंड त्यागे हुए महामुनि आपके यश का बखान करते हैं, कि आप तीनों जगतों के परमात्मा हैं और आप इतने दानी हैं कि अपने आपको भी दे डालते हैं, मैंने ब्रह्मा, शिव तथा स्वर्ग के शासकों को, जिनकी महत्वाकांक्षाएँ आपकी भ्रकुटी से उत्पन्न काल के वेग से नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं, त्याग कर आपको अपने पति रूप में चुना है। तो फिर अन्य किसी विवाहार्थी में मेरी क्या रुचि हो सकती थी?

तात्पर्य : श्लोक १६ में आये कृष्ण के कथन का यह निराकरण है, जो महारानी रुक्मिणी द्वारा किया गया है। उसमें भगवान् कृष्ण ने कहा था—*भिक्षुभिः श्लाघिता मुधा*—मेरा यशोगान भिक्षुकों द्वारा किया जाता है। किन्तु रानी रुक्मिणी संकेत करती हैं कि वे तथाकथित भिक्षुक वास्तव में परमहंस अवस्था को प्राप्त मुनिजन हैं—ऐसे संन्यासी जिन्होंने सर्वोच्च आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त कर ली है और इस तरह संन्यासी-दंड का परित्याग कर दिया है। श्लोक १६ में कृष्ण ने अपनी पत्नी पर दो दोषारोपण भी किये हैं। उन्होंने कहा—*वैदर्भ्येतद् अविज्ञाय*—हे वैदर्भी, तुम परिस्थिति से अवगत न थी तथा *त्वयादीर्घसमीक्षया*—क्योंकि तुममें दूरदर्शिता नहीं थी। इस श्लोक में रुक्मिणी का कथन *इति मे वृतोऽसि*—मैंने तुम्हें पति रूप में इसलिए चुना क्योंकि तुममें उपर्युक्त गुण हैं। मैंने जल्दबाजी में चुनाव नहीं किया था। रुक्मिणी यह भी कहती हैं कि उन्होंने ब्रह्मा, शिव तथा स्वर्ग के अन्य शासकों को इसलिए छोड़ दिया था क्योंकि यद्यपि वे, भौतिकता की दृष्टि से, महापुरुष हैं किन्तु ये कृष्ण की भ्रकुटी से उत्पन्न काल की प्रबल तरंगों से हताश हो जाते हैं। इसलिए रुक्मिणी में दूरदर्शिता का अभाव नहीं था अपितु उन्होंने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की परिस्थिति की थाह लेने के बाद ही कृष्ण को चुना था।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती रुक्मिणी के भाव की व्याख्या इस प्रकार देते हैं: "हे पति! आपका यह आरोप कि मुझमें दूरदर्शिता का अभाव है यह दिखलाता है कि आप मेरी दूरदर्शिता को जानते थे। वस्तुत: मैंने आपको इसीलिए चुना क्योंकि मैं आपके असली यश को जानती थी।"

जाड्यं वचस्तव गदाग्रज यस्तु भूपान्
विद्राव्य शार्ङ्गनिनदेन जहर्थ मां त्वम् ।
सिंहो यथा स्वबलिमीश पशून्स्वभागं
तेभ्यो भयाद्यदुदधिं शरणं प्रपन्नः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

जाड्यम्—मूर्खता; वचः—शब्द; तव—तुम्हारे; गदाग्रज—हे गदाग्रज; यः—जो; तु—भी; भू-पान्—राजाओं को; विद्राव्य—भगाकर; शार्ङ्ग—शार्ङ्ग की, तुम्हारे धनुष की; निनदेन—टंकार से; जहर्थ—ले गये; माम्—मुझको; त्वम्—तुम; सिंहः—सिंह; यथा—जिस तरह; स्व—आपकी; बलिम्—बलि, भेंट; ईश—हे प्रभु; पशून्—पशुओं को; स्व-भागम्—अपना भाग; तेभ्यः—उनके; भयात्—भय से; यत्—जिसने; उदधिम्—समुद्र की; शरणं-प्रपन्नः—शरण ग्रहण की।

हे प्रभु, जिस तरह सिंह भेंट का अपना उचित भाग लेने के लिए छोटे पशुओं को भगा देता है उसी तरह आपने अपने शार्ङ्ग धनुष की टंकार से एकत्रित राजाओं को भगा दिया और फिर मुझे अपने उचित भाग के रूप में अपना बना लिया। अत: हे गदाग्रज, आपके द्वारा यह कहना निरी मूर्खता है कि आपने उन राजाओं के भय से समुद्र में शरण ग्रहण की। ।

तात्पर्य : श्लोक १२ में कृष्ण ने कहा है—*राजभ्यो बिभ्यत: सुभ्रु समुद्रं शरणं गतान्*—उन राजाओं से भयभीत होकर हमने समुद्र में शरण ली। आचार्यों के अनुसार भगवान् कृष्ण ने ऐसे लोगों की प्रशंसा करके जो उनके पति होने की संभावना रखते थे रुक्मिणी का पूर्णरूपेण क्रोध-वर्धन किया। अत: वे क्षुब्ध होकर उनसे कहती हैं कि वे अज्ञानी नहीं हैं अपितु भगवान् ने ही मूर्खतापूर्ण वचन कहे हैं। वे कहती हैं, "तुमने सिंह की तरह उन सभी राजाओं के देखते-देखते मेरा हरण कर लिया और उन्हें अपने शार्ङ्ग धनुष से भगा दिया, इसलिए यह कहना निरी मूर्खता है कि उन्हीं राजाओं के डर से तुम समुद्र में गये।" श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार जब महारानी रुक्मिणी ये वचन कह रही थीं तो वे भौंहें चढ़ाकर क्रुद्ध दिखती थीं और भगवान् को क्रुद्ध तिरछी नजरों से देख रही थीं।"

यद्वाञ्छया नृपशिखामणयोऽन्गवैन्य-
जायन्तनाहुषगयादय ऐक्यपत्यम् ।
राज्यं विसृज्य विविशुर्वनमम्बुजाक्ष

सीदन्ति तेऽनुपदवीं त इहास्थिताः किम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके लिए; वाञ्छया—इच्छा से; नृप—राजाओं के; शिखामणयः—मुकुट के मणि; अङ्ग-वैन्य-जायन्त-नाहुष-गय-आदयः—अंग (वेन का पिता), वैन्य (वेन का पुत्र, पृथु), जायन्त (भरत), नाहुष (ययाति), गय आदि; ऐक्य—एकमात्र; पत्यम्—प्रभुसत्ता युक्त, एकछत्र; राज्यम्—उनके राज्य; विसृज्य—त्याग कर; विविशुः—प्रवेश किया; वनम्—जंगल में; अम्बुज-अक्ष—हे कमल-नेत्र; सीदन्ति—कष्ट उठाते हैं, हताश होते हैं; ते—तुम्हारे; अनुपदवीम्—पथ पर; ते—वे; इह—इस जगत में; आस्थिताः—स्थिर; किम्—क्या।

आपका सान्निध्य प्राप्त करने की अभिलाषा से अंग, वैन्य, जायन्त, नाहुष, गय तथा अन्य श्रेष्ठ राजाओं ने अपने मरा पूरा साम्राज्य त्याग कर आपकी खोज करने के लिए जंगल में प्रवेश किया। हे कमल-नेत्र, भला वे राजा क्योंकर इस जगत में हताश होंगे?

तात्पर्य : यहाँ पर रुक्मिणी ने श्लोक १ में कृष्ण द्वारा प्रस्तुत विचारों का निराकरण किया है। वस्तुतः श्रीमती रुक्मिणीदेवी भगवान् कृष्ण के ही शब्दों को दुहराती हैं। भगवान् ने कहा था—*आस्थिताः पदवीं सुभ्रु प्रायः सीदन्ति योषितः*—जो स्त्रियाँ मेरे मार्ग का अनुसरण करतीं है वे सामान्यतः कष्ट भोगती हैं। यहाँ रुक्मिणीदेवी कहती हैं—*सीदन्ति तेऽनुपदवीं त इहास्थिताः किम्*—जो लोग आपके मार्ग में स्थित हैं, वे इस जगत में क्योंकर कष्ट भोगें? वे अनेक महान् राजाओं का उदाहरण देती हैं जिन्होंने जंगल में प्रवेश करने के लिए अपने एकछत्र साम्राज्य का परित्याग किया जहाँ उन्होंने तपस्या की और उनकी दिव्य संगति प्राप्त करने की इच्छा से भगवान् की पूजा की। इस तरह श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार श्रीमती रुक्मिणीदेवी यहाँ श्रीकृष्ण को बतलाना चाहती हैं "आपने कहा है कि मैं राजा की पुत्री होने के कारण अज्ञानी तथा हताश हूँ क्योंकि मैंने आपसे विवाह किया है। किन्तु आप इन महान् प्रबुद्ध राजाओं पर अज्ञानी होने का आरोप कैसे लगा सकते हैं? वे सर्वाधिक बुद्धिमान पुरुष थे फिर भी उन्होंने आपका अनुसरण करने के लिए सर्वस्व त्याग दिया और इसके फलस्वरूप वे कभी हताश नहीं हुए। निस्सन्देह उन्होंने आपका सान्निध्य प्राप्त किया।"

कान्यं श्रयेत तव पादसरोजगन्ध-
माघ्राय सन्मुखरितं जनतापवर्गम् ।
लक्ष्म्यालयं त्वविगणय्य गुणालयस्य
मर्त्या सदोरुभयमर्थविविक्तदृष्टिः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

का—कौन स्त्री; अन्यम्—दूसरे पुरुष की; श्रयेत—शरण ग्रहण करेगी; तव—तुम्हारे; पाद—चरण की; सरोज—कमल रूपी; गन्धम्—सुगन्ध; आघ्राय—सूँघ कर; सत्—महान् सन्तों द्वारा; मुखरितम्—वर्णित; जनता—सारे लोगों के लिए; अपवर्गम्—

मोक्ष प्रदान करते हुए; लक्ष्मी—लक्ष्मी का; आलयम्—निवासस्थान; तु—लेकिन; अविगणय्य—गम्भीरतापूर्वक न लेकर; गुण—दिव्य गुणों के; आलयस्य—धाम का; मर्त्या—मर्त्य; सदा—सदैव; उरु—महान्; भयम्—भय; अर्थ—स्वार्थ; विविक्त—निश्चित करते हुए; दृष्टि:—दृष्टि।

आपके चरणकमलों की सुगन्ध, जिसकी महिमा बड़े बड़े सन्त गाते हैं, लोगों को मोक्ष प्रदान करती है और यही लक्ष्मीजी का धाम है। इस सुगन्ध को सूँघ कर कौन स्त्री होगी जो किसी अन्य पुरुष की शरण में जायेगी? चूँकि आप दिव्य गुणों के धाम हैं अत: ऐसी कौन-सी मर्त्य स्त्री होगी जो अपने सच्चे स्वार्थ को पहचानने की अन्तर्दृष्टि से युक्त होकर उस सुगन्ध का अनादर करेगी और किसी ऐसे पर आश्रित होगी जो सदैव महान् भय से आतंकित रहता हो?

तात्पर्य : श्लोक १६ में कृष्ण ने दावा किया था कि वे *गुणैर्हीना*—समस्त गुणों से हीन हैं। इस दावे के निराकरण हेतु भक्त रुक्मिणी यहाँ कहती हैं कि भगवान् *गुणालय*—समस्त गुणों के धाम—हैं। एक ही क्षण में इस संसार के तथाकथित शक्तिशाली व्यक्ति एकदम असहाय और निरीह बन जाते हैं। निस्सन्देह सारे शक्तिशाली नर-प्राणियों के भाग्य में विनाश लिखा है। किन्तु भगवान् का नित्य आध्यात्मिक शरीर सर्वशक्तिमान तथा अतीव सुन्दर है इसीलिए, जैसाकि महारानी रुक्मिणी यहाँ तर्क करती हैं, भला कोई समझदार, प्रबुद्ध स्त्री भगवान् कृष्ण को छोड़कर और किसी की शरण क्यों लेने लगी?

तं त्वानुरूपमभजं जगतामधीश-
मात्मानमत्र च परत्र च कामपूरम् ।
स्यान्मे तवाङ्घ्रिररणं सृतिभिर्भ्रमन्त्या
यो वै भजन्तमुपयात्यनृतापवर्ग: ॥ ४॥

शब्दार्थ

तम्—उस; त्वा—आपको; अनुरूपम्—उपयुक्त; अभजम्—मैंने चुना है; जगताम्—सारे संसारों के; अधीशम्—अनन्तिम स्वामी को; आत्मानम्—परमात्मा को; अत्र—इस जीवन में; च—तथा; परत्र—अगले जीवन में; च—भी; काम—इच्छाओं का; पूरम्—पूरा करने वाला; स्यात्—वे होयें; मे—मेरे लिए; तव—तुम्हारे; अङ्घ्रि:—चरण; अरणम्—शरण; सृतिभि:—विविध चक्करों द्वारा (एक योनि से दूसरी योनि में); भ्रमन्त्या:—भ्रमण कर रहे; य:—जो (चरण); वै—निस्सन्देह; भजन्तम्—उनका पूजक, भजन करने वाला; उपयाति—पहुँचते हैं; अनृत—असत्य से; अपवर्ग:—मोक्ष।

चूँकि आप मेरे अनुरूप हैं इसलिए मैंने तीनों जगत के स्वामी तथा परमात्मा आपको ही चुना है, जो इस जीवन में तथा अगले जीवन में हमारी इच्छाओं को पूरा करते हैं। आपके चरण जो अपने उन पूजकों के पास पहुँच कर मोह से मुक्ति दिलाते हैं, जो एक योनि से दूसरी योनि में भ्रमण करते रहे हैं, मुझे शरण प्रदान करें।

तात्पर्य : *सृतिभि:* के स्थान पर अन्य पाठ *श्रुतिभि:* भी मिलता है, जिसके अनुसार रुक्मिणी के भाव इस प्रकार होंगे, ''मैं विविध धार्मिक शास्त्रों में वर्णित अनेकानेक अनुष्ठानों तथा उत्सवों एवं उनसे मिलने वाले फलों की वचन बद्धताओं के विषय में सुन कर मोहग्रस्त होती रही हूँ।'' श्रील श्रीधर गोस्वामी ने यह व्याख्या की है किन्तु श्रील जीव गोस्वामी तथा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने *श्रुतिभि:* शब्द से रुक्मिणी द्वारा एक अन्य विचार प्रस्तुत किये जाने की बात कही है : ''हे मेरे प्रिय कृष्ण! मैं आपके अनेक अवतारों के बारे में सुनकर भ्रमित हो गई थी। मैंने सुना है कि आपने राम का अवतार लेकर अपनी पत्नी सीता का परित्याग किया और इस जीवन में आपने गोपियों का परित्याग किया है। इसीलिए मैं भ्रमित हो गई थी।''

यह सुविदित है कि श्रीमती रुक्मिणीदेवी भगवान् कृष्ण की नित्यमुक्त प्रियतमा हैं किन्तु इस श्लोक में वे भगवान् की शरण में आई मर्त्य स्त्री की भूमिका अदा कर रही हैं।

तस्या: स्युरच्युत नृपा भवतोपदिष्टा:
स्त्रीणां गृहेषु खरगोश्वविडालभृत्या: ।
यत्कर्णमूलमन्कर्षण नोपयायाद्
युष्मत्कथा मृडविरिञ्चसभासु गीता ॥ ४४॥

शब्दार्थ

तस्या:—उसके; स्यु:—(पतियों को) होने दो; अच्युत—हे अच्युत कृष्ण; नृपा:—राजा; भवता—आपके द्वारा; उपदिष्टा:—कथित; स्त्रीणाम्—स्त्रियों के; गृहेषु—घरों में; खर—गधा; गो—बैल; श्व—कुत्ते; विडाल—बिल्ली; भृत्या:—तथा नौकर; यत्—जिसके; कर्ण—कान के; मूलम्—आन्तरिक भाग; अरि—आपके शत्रु; कर्षण—हे तंग करने वाले; न—कभी नहीं; उपयायात्—पास आते हैं; युष्मत्—आपके विषय में; कथा—विचार-विमर्श; मृड—शिव; विरिञ्च—तथा ब्रह्मा की; सभासु—विद्वानों की मण्डली; गीता—गाया हुआ।

हे अच्युत कृष्ण, आपने जिन-जिन राजाओं के नाम लिये हैं उनमें से हर एक राजा ऐसी स्त्री का पति बन जाये जिसके कानों ने कभी भी आपकी उस महिमा का श्रवण नहीं किया जो शिव तथा ब्रह्मा की सभाओं में गाई जाती है। कुछ भी हो ऐसी स्त्रियों के घरों में ये राजा गधों, बैलों, कुत्तों, बिल्लियों तथा नौकरों की तरह रहते हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार श्रीमती रुक्मिणीदेवी के ये कटु-वचन श्लोक में आये भगवान् कृष्ण के प्रारम्भिक कथन के उत्तर स्वरूप हैं। भगवान् ने कहा था, ''हे राजकुमारी! तुम्हें लोकपाल जैसे शक्ति सम्पन्न अनेक राजा चाहते थे। वे प्रचुर राजनैतिक प्रभाव, सम्पत्ति, सौन्दर्य,

उदारता तथा शारीरिक शक्ति से सम्पन्न थे।'' श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार यहाँ पर महारानी रुक्मिणी कृष्ण की ओर तर्जनी करके क्रोध से बोल रही हैं। वे तथाकथित बड़े बड़े राजाओं की उपमा गधों से देती हैं क्योंकि वे काफी भौतिक बोझा ढोते हैं। वे राजा अपने वृत्तिपरक कार्यों के करने से बैलों की तरह दुखी रहते हैं। वे अपनी पत्नियों द्वारा अनादरित होते रहने से कुत्तों के समान हैं। वे स्वार्थी तथा क्रूर होने के कारण बिल्लियों जैसे हैं और पारिवारिक मामलों में परतंत्र होने के कारण वे नौकरों जैसे हैं। ऐसे राजा उस मूर्ख स्त्री के उपयुक्त हो सकते हैं जिसने न तो कभी श्रीकृष्ण की महिमा सुनी है, न उसे समझा है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि ऐसे राजा गधों के तुल्य हैं क्योंकि उनकी पत्नियाँ उन्हें कभी कभी लतियाती हैं, वे कुत्तों की तरह हैं क्योंकि वे बाहरी लोगों के प्रति शत्रुवत व्यवहार करते हैं जिससे वे अपने घरों की रक्षा कर सकें। वे बिल्लियों की तरह होते हैं क्योंकि वे अपनी पत्नियों द्वारा छोड़ी गई जूठन खाते हैं।

त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्त-
मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम् ।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा
या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

त्वक्—चमड़ी; श्मश्रु—मूँछें; रोम—रोएँ; नख—नाखुन; केश—तथा सिर के बाल से; पिनद्धम्—ढके हुए; अन्तः—भीतर; मांस—मांस; अस्थि—हड्डी; रक्त—खून; कृमि—कीड़े; विट्—मल; कफ—बलगम; पित्त—पित्त; वातम्—तथा वायु; जीवत्—जीवित; शवम्—मृत शरीर; भजति—पूजा करता है; कान्त—पति या प्रेमी; मतिः—विचार; विमूढा—पूर्णतया मोहग्रस्त; या—जो; ते—तुम्हारे; पद-अब्ज—चरणकमलों का; मकरन्दम्—मधु; अजिघ्रती—न सूँघते हुए; स्त्री—स्त्री।

जो स्त्री आपके चरणकमलों के मधु की सुगन्धि का आस्वादन करने से वंचित रह जाती है, वह पूरी तरह मूर्ख (मूढ) बन कर रह जाती है और चमड़ी, मूँछ, नाखून, बाल तथा रोओं से ढके और माँस, अस्थियों, रक्त, कीट, मल, कफ, पित्त तथा वायु से भरे जीवित शव को पति या प्रेमी रूप में स्वीकार करती है।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् कृष्ण की सती पत्नी भौतिक शरीर पर आधारित भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति के विषय में दो टूक बातें कहती हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है : *स वै पतिः स्याद् अकुतो भयः स्वयम्*—किसी का पति वह बने जो सारे भय को दूर कर सके—

इस प्रमाण के अनुसार श्रीकृष्ण हर काल में समस्त स्त्रियों के असली पति हैं। इस तरह जो स्त्री अन्य किसी को पति रूप में पूजती है, वह मात्र शव की पूजा करती है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती आगे भी टीका करते हैं: इस तरह रुक्मिणी ने विचार किया कि यद्यपि कृष्ण के चरणकमलों की माधुरी सर्वविदित है और उनका शरीर सच्चिदानन्द स्वरूप है, तो भी मूर्ख स्त्रियाँ उनका तिरस्कार करती हैं। सामान्य पति का शरीर बाहर से चमड़ी तथा बालों के ढका रहता है अन्यथा वह रक्त, मल, मांस, पित्त इत्यादि से पूरित होने के कारण दुर्गन्धयुक्त तथा अन्य घृणाजनक गुण होने से मक्खियों तथा अन्य कीटों से आकृष्ट होता है।

जिन्हें कृष्ण या कृष्णभावनामृत के सौन्दर्य तथा शुद्धि का व्यावहारिक अनुभव नहीं है वे ही ऐसी भौतिक शारीरिक तृप्ति की प्रतिकूल भर्त्सना के विषय में गुमराह रहते हैं। किन्तु जो लोग कृष्णभावनामृत में रह कर प्रबुद्ध हैं, वे ऐसे पूर्णतया सत्य कथनों से गतिशील तथा प्रोत्साहित होंगे।

अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते चरणानुराग
आत्मन्रतस्य मयि चानतिरिक्तदृष्टेः ।
यर्ह्यस्य वृद्धय उपात्तरजोऽतिमात्रो
मामीक्षसे तदु ह नः परमानुकम्पा ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

अस्तु—हो; अम्बुज-अक्ष—हे कमल-नयन; मम—मेरा; ते—तुम्हारे; चरण—चरणों के प्रति; अनुरागः—स्थायी आकर्षण; आत्मन्—आपमें; रतस्य—आनन्द लेने वाले का; मयि—मेरे प्रति; च—तथा; अनतिरिक्त—अपर्याप्त; दृष्टेः—जिसकी दृष्टि; यर्हि—जब; अस्य—इस ब्रह्माण्ड की; वृद्धये—वृद्धि के लिए; उपात्त—कल्पना करते हुए; रजः—रजोगुण का; अति-मात्रः—आधिक्य; माम्—मुझ पर; ईक्षसे—आप देखते हैं; तत्—वह; उ ह—निस्सन्देह; नः—हमारे लिए; परम—सर्वाधिक; अनुकम्पा—कृपा का प्रदर्शन।

हे कमल-नयन, यद्यपि आप अपने में तुष्ट रहते हैं जिससे शायद ही कभी मेरी ओर ध्यान देते हैं, तो भी कृपा करके मुझे अपने चरणकमलों के प्रति स्थायी प्रेम का आशीर्वाद दें। जब आप ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने के लिए रजोगुण की प्रधानता धारण करते हैं तभी आप मुझ पर दृष्टि डालते हैं, जो निस्सन्देह मेरे ऊपर आपकी महती कृपा होती है।

तात्पर्य : इस अध्याय के श्लोक २० में कृष्ण ने कहा था, ''हम सदैव आत्मतुष्ट रहने के कारण अपनी पत्नियों, बच्चों तथा सम्पत्ति की तनिक भी परवाह नहीं करते।'' यहाँ पर रुक्मिणीदेवी विनीत-भाव से उत्तर देती हैं, ''हाँ, आप अपने भीतर आनन्द का अनुभव करते हैं इसीलिए मेरी ओर विरले ही

देखते हैं।''

इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी के प्रति अपने प्रेम की घोषणा पहले ही कर दी थी (भागवत .५.२)— *तथाहमपि तच्चित्तो निद्रां च न लभे निशि*—मैं उसके विषय में भी सोचता रहता हूँयहाँ तक कि मुझे रात में नींद नहीं आती। कृष्ण अपने में तुष्ट रहने वाले हैं और यदि हम यह स्मरण रखें कि श्रीमती रुक्मिणीदेवी उनकी अन्तरंगा शक्ति हैं, तो हम समझ सकते हैं कि उनके साथ कृष्ण के प्रेमालाप उनके शुद्ध आध्यात्मिक सुख की अभिव्यक्तियाँ हैं।

किन्तु यहाँ पर महारानी रुक्मिणी भगवान् की बहिरंगा शक्ति के रूप में अपनी पहचान करती हैं, जो कि उनकी अंशरूपा हैं। इसीलिए वे कहती हैं, ''यद्यपि आप प्राय: मेरी ओर नहीं देखते किन्तु जब आप भौतिक ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने वाले होते हैं और रजोगुण के माध्यम से, जो कि आपकी शक्ति है, कार्य करना शुरू करते हैं, तो आप मुझ पर दृष्टि डालते हैं। इस तरह आप मुझ पर अपनी महती दया प्रदर्शित करते हैं।'' इस तरह आचार्य विश्वनाथ बतलाते हैं कि देवी रुक्मिणी के कथन को दो प्रकार से समझा जा सकता है। और असल में सारे वैष्णवजन प्रामाणिक आचार्यों से कृष्ण-दर्शन को भलीभाँति समझ कर भगवान् तथा उनके महान् भक्तों के मध्य के इन प्रेमालापों का आनन्द लूटते हैं।

नैवालीकमहं मन्ये वचस्ते मधुसूदन ।
अम्बाया एव हि प्राय: कन्याया: स्याद्रति: क्वचित् ॥ ४७॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एव—निस्सन्देह; अलीकम्—असत्य; अहम्—मैं; मन्ये—सोचती हूँ; वच:—शब्दों को; ते—तुम्हारे; मधु-सूदन—हे मधु-हन्ता; अम्बाया:—अम्बा का; एव हि—निश्चय ही; प्राय:—सामान्यतया; कन्याया:—कन्या का; स्यात्—उत्पन्न हुआ; रति:—आकर्षण (शाल्व के प्रति); क्वचित्—एक बार।

हे मधु-सूदन, मैं आपके वचनों को वास्तव में असत्य नहीं मानती। प्राय: अविवाहिता लड़की पुरुष के प्रति आकृष्ट हो जाती है जैसा अम्बा के साथ हुआ।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण द्वारा कही गई सारी बातों को काट कर अब श्रीमती रुक्मिणी उनके कथनों की सत्यता की शिष्टाचार-भाव से प्रशंसा करती हैं। दूसरे शब्दों में, वे स्वीकार करती हैं कि भगवान् कृष्ण ने सामान्य नारी मनोविज्ञान को स्पष्ट करने के लिए उन्हें उदाहरण बनाया। काशी-नरेश के तीन कन्याएँ थीं—अम्बा, अम्बालिका तथा अम्बिका। इनमें से अम्बा शाल्व के प्रति आकृष्ट थी। *महाभारत* में यह कथा कही गई है।

व्यूढायाश्चापि पुंश्चल्या मनोऽभ्येति नवं नवम् ।
बुधोऽसतीं न बिभृयात्तां बिभ्रदुभयच्युतः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

व्यूढायाः—विवाहित स्त्री का; च—तथा; अपि—भी; पुंश्चल्याः—पुंश्चली, कुलटा; मनः—मन; अभ्येति—आकृष्ट होता है; नवम् नवम्—नये से नये (प्रेमी) के प्रति; बुधः—बुद्धिमान; असतीम्—कुलटा स्त्री को; न बिभ्यात्—पालन नहीं करना चाहिए; ताम्—उसका; बिभ्रत्—पालन; उभय—दोनों (इस लोक में तथा परलोक में) से; च्युतः—गिरी हुई।

कुलटा स्त्री का मन सदैव नवीन प्रेमियों के लिए लालायित रहता है, चाहे वह विवाहिता क्यों न हो। बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह ऐसी कुलटा स्त्री को अपने साथ न रखे क्योंकि यदि वह ऐसा करेगा तो वह इस जीवन में तथा अगले जीवन में सौभाग्य से वंचित रहेगा।

श्रीभगवानुवाच
साध्व्येतच्छ्रोतुकामैस्त्वं राजपुत्री प्रलम्भिता ।
मयोदितं यदन्वात्थ सर्वं तत्सत्यमेव हि ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; साध्वि—हे साधु नारी; एतत्—यह; श्रोतु—सुनने के लिए; कामैः—(हमारे द्वारा) अभीष्ट; त्वम्—तुम; राज-पुत्रि—हे राजकुमारी; प्रलम्भिता—बेवकूफ बनाई गई; मया—मेरे द्वारा; उदितम्—कहे गये; यत्—जो; अन्वात्थ—तुमने जिनके उत्तर दिये; सर्वम्—सभी; तत्—वह; सत्यम्—सही; एव हि—निस्सन्देह।

भगवान् ने कहा : हे साध्वी, हे राजकुमारी, हमने तुम्हें इसीलिए झुठलाया क्योंकि हम तुम्हें इस प्रकार बोलते सुनना चाहते थे। निस्सन्देह तुमने हमारे वचनों के उत्तर में जो बातें कही हैं, वे एकदम सही हैं।

यान्यान्कामयसे कामान्मय्यकामाय भामिनि ।
सन्ति ह्येकान्तभक्तायास्तव कल्याणि नित्यद ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

यान् यान्—जो जो; कामयसे—कामना करती हो; कामान्—वरों को; मयि—मुझसे; अकामाय—इच्छा से रहित होने के लिए; भामिनि—हे सुन्दरी; सन्ति—हैं; हि—निस्सन्देह; एक-अन्त—नितान्त; भक्तायाः—भक्तों के लिए; तव—तुम्हारे; कल्याणि—हे कल्याणी; नित्यदा—सदैव।

हे सुन्दर तथा सुशील स्त्री, तुम भौतिक इच्छाओं से मुक्त होने के लिए जिस भी वर की आशा रखती हो वे तुम्हारे हैं क्योंकि तुम मेरी अनन्य भक्त हो।

उपलब्धं पतिप्रेम पातिव्रत्यं च तेऽनघे ।
यद्वाक्यैश्चाल्यमानाया न धीर्मय्यपकर्षिता ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

उपलब्धम्—अनुभूत; पति—पति के लिए; प्रेम—शुद्ध-प्रेम; पाति—पति के प्रति; व्रत्यम्—सती व्रत का दृढ़ता से पालन; च—तथा; ते—तुम्हारा; अनघे—हे निष्पाप; यत्—जो; वाक्यैः—शब्दों से; चाल्यमानायाः—विचलित हुए; न—नहीं; धीः—तुम्हारा मन; मयि—मुझमें अनुरक्त; अपकर्षिता—दूर खींचा गया।

हे निष्पाप, अब मैंने तुम्हारा शुद्ध पति-प्रेम तथा पातिव्रत्य देख लिया है। यद्यपि तुम मेरे वचनों से विचलित थीं किन्तु तुम्हारा मन मुझसे दूर नहीं ले जाया जा सका।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करते हैं जिसमें रुक्मिणी तथा कृष्ण के शुद्ध-प्रेम का वर्णन हुआ है—

सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।

यद्भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः॥

''जब एक युवक तथा युवती के बीच का स्नेह-बन्धन, उसके टूटने का कारण उपस्थित होते हुए भी, कभी टूटता नहीं तो उनके बीच का यह अनुराग शुद्ध-प्रेम कहलाता है।'' भगवान् कृष्ण तथा उनके शुद्ध दम्पति-संगियों के मध्य नित्य प्रेमालाप की यही प्रकृति है।

ये मां भजन्ति दाम्पत्ये तपसा व्रतचर्यया ।
कामात्मानोऽपवर्गेशं मोहिता मम मायया ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

ये—जो; माम्—मुझको; भजन्ति—पूजता है; दाम्पत्ये—गृहस्थ जीवन में रहने के लिए; तपसा—तपस्या द्वारा; व्रत—व्रतों को; चर्यया—सम्पन्न करके; काम-आत्मानः—प्रकृति से कामुक विषयी; अपवर्ग—मोक्ष का; ईशम्—नियन्ता; मोहिताः—मोहित; मम—मेरी; मायया—भ्रामक भौतिक-शक्ति द्वारा।

यद्यपि मुझमें आध्यात्मिक मोक्ष प्रदान करने की शक्ति है किन्तु विषयी लोग अपने संसारी गृहस्थ जीवन के लिए मेरा आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए तपस्या तथा व्रतों द्वारा मेरी पूजा करते हैं। ऐसे लोग मेरी माया-शक्ति द्वारा मोहग्रस्त रहते हैं।

तात्पर्य : *दाम्पत्ये* शब्द पति तथा पत्नी के सम्बन्ध का सूचक है। विषयी तथा मोहित व्यक्ति इस सम्बन्ध को बढ़ाने के लिए भगवान् की पूजा करते हैं यद्यपि वे जानते हैं कि भगवान् उन्हें नश्वर वस्तुओं के प्रति उनकी वृथा की आसक्ति से मुक्त कर सकते हैं।

मां प्राप्य मानिन्यपवर्गसम्पदं
वाञ्छन्ति ये सम्पद एव तत्पतिम् ।

ते मन्दभागा निरयेऽपि ये नृणां
मात्रात्मकत्वात्निरयः सुसङ्गमः ॥५॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; प्राप्य—पाकर; मानिनि—हे प्रेम की आगार; अपवर्ग—मोक्ष का; सम्पदम्—कोष; वाञ्छन्ति—चाहते हैं; ये—जो; सम्पदः—(भौतिक) कोष; एव—केवल; तत्—ऐसे; पतिम्—पति को; ते—वे; मन्द-भागाः—कम भाग्यशाली; निरये—नरक में; अपि—भी; ये—जो; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; मात्रा-आत्मकत्वात्—इन्द्रिय-तृप्ति में लीन रहने के कारण; निरयः—नरक; सु-सङ्गमः—उपयुक्त।

हे मानिनी, अभागे वे हैं, जो मोक्ष तथा भौतिक सम्पदा दोनों ही के स्वामी मुझको पाकर के भी, केवल भौतिक सम्पदा के लिए ही लालायित रहते हैं। ये सांसारिक लाभ तो नरक में भी पाये जा सकते हैं। चूँकि ऐसे व्यक्ति इन्द्रिय-तृप्ति में लीन रहते हैं इसलिए नरक ही उनके लिए उपयुक्त स्थान है।

तात्पर्य : इसमें तर्क यह है कि जब भगवान् कृष्ण समस्त आनन्द तथा समस्त ऐश्वर्य के उद्गम हैं, तो वे ही परम आनन्द तथा सर्वाधिक ऐश्वर्यवान हैं। इसलिए हमारा असली स्वार्थ इसी में है कि हम अपने को भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति में सदैव लगायें। जैसाकि प्रह्लाद महाराज कहते हैं (भागवत ७.५.१)— *न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुम्*—अज्ञानी यह नहीं जानते कि उनका असली स्वार्थ भगवान् विष्णु (कृष्ण) को पाने में निहित है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार, मनुष्य को स्त्री-संग तथा अन्य इन्द्रिय-भोग नरक में भी प्राप्य हैं। यह व्यावहारिक अनुभव है कि कूकर, शूकर तथा कबूतर को भी संभोग करने के पर्याप्त अवसर प्राप्त हैं। यह दुर्भाग्य ही है कि आधुनिक मानव, जिन्हें कृष्णभावनाभावित होने का स्वर्णिम अवसर मिला हुआ है, कुत्तों, बिल्लियों की तरह विषय-सुख को श्रेयस्कर समझते हैं। और यह सब भौतिक उन्नति के नाम पर हो रहा है।

दिष्ट्या गृहेश्वर्यसकृन्मयि त्वया
कृतानुवृत्तिर्भवमोचनी खलैः ।
सुदुष्करासौ सुतरां दुराशिषो
ह्यसुंभराया निकृतिं जुषः स्त्रियाः ॥५४॥

शब्दार्थ

दिष्ट्या—भाग्यवश; गृह—घर की; ईश्वरी—स्वामिनी; असकृत्—निरन्तर; मयि—मुझमें; त्वया—तुम्हारे द्वारा; कृता—की हुई; अनुवृत्तिः—श्रद्धापूर्ण सेवा; भव—संसार से; मोचनी—मुक्ति दिलाने वाली; खलैः—ईर्ष्यालुओं के लिए; सु-दुष्करा—करना अत्यन्त कठिन; असौ—यह; सुतराम्—विशेष रूप से; दुराशिषः—दुष्ट मनोभावों वाले; हि—निस्सन्देह; असुम्—उसका प्राण; भरायाः—जो (एकमात्र) पालन करती है; निकृतिम्—छलावा; जुषः—लिप्त; स्त्रियाः—स्त्री के लिए।

हे गृहस्वामिनी, सौभाग्यवश तुमने मेरी श्रद्धापूर्वक भक्ति की है, जो मनुष्य को संसार से मुक्त कराती है। ईर्ष्यालु के लिए यह सेवा अत्यन्त कठिन है, विशेषतया उस स्त्री के लिए जिसके मनोभाव दूषित हैं और जो शारीरिक क्षुधा शान्त करने के लिए ही जीवित है और जो छलछद्म में लिप्त रहती है।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी यह प्रश्न करते हैं: चूँकि भक्ति से मनुष्य को आसानी से मुक्ति मिल जाती है, तो फिर क्या ऐसा नहीं हो सकता कि सारे लोग मुक्त हो जाँय और यह संसार रहे ही न? वे इसका उत्तर देते हैं कि ऐसा कोई खतरा नहीं है क्योंकि ईर्ष्यालु, छलछद्ममय, विषयी लोगों के लिए भगवान् की श्रद्धापूर्वक सेवा कर पाना बहुत कठिन है और संसार में ऐसे लोगों की कोई कमी नहीं है।

न त्वादृशीम्प्रणयिनीं गृहिणीं गृहेषु
पश्यामि मानिनि यया स्वविवाहकाले ।
प्राप्तान्नृपान्न विगणय्य रहोहरो मे
प्रस्थापितो द्विज उपश्रुतसत्कथस्य ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; त्वादृशीम्—तुम जैसी; प्रणयिनीम्—प्रेम करने वाली; गृहिणीम्—पत्नी को; गृहेषु—मेरे आवासों में; पश्यामि—देखता हूँ; मानिनि—हे आदरणीय; यया—जिससे; स्व—अपने; विवाह—विवाह के; काले—समय में; प्राप्तान्—आये हुए; नृपान्—राजाओं को; न विगणय्य—परवाह न करते हुए; रहः—गुप्त सन्देश का; हरः—ले जाने वाला; मे—मेरे पास; प्रस्थापितः—भेजा गया; द्विजः—ब्राह्मण; उपश्रुत—सुनी हुई; सत्—सच्ची; कथस्य—जिसके विषय में कथाएँ।

हे सर्वाधिक आदरणीया, मुझे अपने सारे आवासों में तुम जैसी प्रेम करने वाली अन्य पत्नी ढूँढ़े नहीं मिलती। जब तुम्हारा ब्याह होने वाला था, तो तुमसे विवाह करने के इच्छुक जितने राजा एकत्र हुए थे उनकी परवाह तुमने नहीं की और क्योंकि तुमने मेरे विषय में प्रामाणिक बातें ही सुन रखी थीं तुमने अपना गुप्त सन्देश एक ब्राह्मण के हाथ मेरे पास भेजा।

भ्रातुर्विरूपकरणं युधि निर्जितस्य
प्रोद्वाहपर्वणि च तद्वधमक्षगोष्ठ्याम् ।
दु:खं समुत्थमसहोऽस्मदयोगभीत्या
नैवाब्रवीः किमपि तेन वयं जितास्ते ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

भ्रातुः—तुम्हारे भाई का; विरूप-करणम्—विरूप किया जाना; युधि—युद्ध में; निर्जितस्य—पराजित; प्रोद्वाह—विवाहोत्सव का (रुक्मिणी के पौत्र अनिरुद्ध का); पर्वणि—नियत दिन पर; च—तथा; तत्—उसका; वधम्—मारा जाना; अक्ष-गोष्ठ्याम्—द्यूत-क्रीड़ा (चौसर) के समय; दुःखम्—दुख; समुट्थम्—पूर्णरूप से अनुभवी; असहः—असह्य; अस्मत्—हमसे;

अयोग—वियोग के; भीत्या—भय से; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; अब्रवी:—तुमने कहा; किम् अपि—कुछ भी; तेन—उससे; वयम्—हम; जिता:—जीते गये; ते—तुम्हारे द्वारा।.

जब तुम्हारा भाई युद्ध में पराजित होकर विरूप कर दिया गया और अनिरुद्ध के विवाह के दिन चौसर खेलते समय मार डाला गया तो तुम्हें असह्य दुख हुआ। फिर भी तुमने मुझसे विलग होने के भय से एक शब्द भी नहीं कहा। अपनी इस चुप्पी से तुमने मुझे जीत लिया है।

तात्पर्य : यहाँ पर कृष्ण एक घटना का उल्लेख करते हैं, जो अगले अध्याय में वर्णित की जायेगी। इस प्रकार रुक्मिणी से कृष्ण की यह वार्ता अनिरुद्ध के विवाह के बाद हुई होगी।

दूतस्त्वयात्मलभने सुविविक्तमन्त्रः
प्रस्थापितो मयि चिरायति शून्यमेतत् ।
मत्वा जिहास इदं अङ्गमनन्ययोग्यं
तिष्ठेत तत्त्वयि वयं प्रतिनन्दयामः ॥५७॥

शब्दार्थ

दूतः—दूत; त्वया—तुम्हारे द्वारा; आत्म—मुझको; लभने—प्राप्त करने के लिए; सु-विविक्त—अत्यन्त गोपनीय; मन्त्रः—सलाह; प्रस्थापितः—भेजा; मयि—जब मैंने; चिरायति—विलम्ब हुआ; शून्यम्—रिक्त; एतत्—यह (संसार); मत्वा—सोच कर; जिहासे—तुमने त्यागना चाहा; इदम्—यह; अङ्गम्—शरीर; अनन्य—किसी दूसरे के लिए नहीं; योग्यम्—उपयुक्त; तिष्ठेत—रुक सकता है; तत्—वह; त्वयि—तुममें; वयम्—हम; प्रतिनन्द-यामः—प्रसन्न होकर उत्तर देते हैं।.

जब तुमने अपनी अत्यन्त गुप्त योजना के साथ अपना दूत भेजा था और तब मुझे तुम्हारे पास जाने में विलम्ब हुआ था, तो तुम्हें सारा संसार शून्य जैसा दिखने लगा था और तुम अपना वह शरीर त्यागना चाह रही थी जिसे तुम मेरे अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं दे सकती थी। तुम्हारी यह महानता सदैव तुममें बनी रहे। मैं इसके बदले में तुम्हें तुम्हारी भक्ति के लिए हर्षपूर्वक धन्यवाद देने के अतिरिक्त कर ही क्या सकता हूँ!

तात्पर्य : श्रीमती रुक्मिणीदेवी के मन में कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी को पति बनाने का कभी कोई मन्तव्य नहीं था जैसाकि उन्होंने कृष्ण के पास भेजे गये अपने सन्देश में कहा था (*भागवत* .५२.४)— *यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं। जह्यामसून् व्रतकृशान् शतजन्मभिः स्यात्*—यदि आपने कृपा नहीं की तो मैं अपने प्राण त्याग दूँगी जो मेरी तपस्या के कारण अत्यन्त क्षीण हो चुका होगा। तब हो सकता है सैकड़ों जीवन तक प्रयास के बाद मैं आपकी कृपा पा सकूँ। *श्रीमद्भागवत* द्वारा महारानी रुक्मिणीदेवी की अद्वितीय महिमा स्थापित होती है।

श्रीशुक उवाच
एवं सौरतसंलापैर्भगवान्जगदीश्वरः ।
स्वरतो रमया रेमे नरलोकं विडम्बयन् ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; सौरत—सुरति सम्बन्धी; संलापैः—बातचीत से; भगवान्—भगवान्; जगत्—ब्रह्माण्ड के; ईश्वरः—स्वामी; स्व—अपने में; रतः—आनन्दमग्न; रमया—रमा या लक्ष्मी के साथ (अर्थात् रुक्मिणी के साथ); रेमे—रमण किया; नर-लोकम्—मनुष्यों के संसार का; विडम्बयन्—अनुकरण करते हुए।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह ब्रह्माण्ड के स्वामी आत्माराम भगवान् ने उन्हें प्रेमियों की वार्ता में लगाकर और इस तरह मानव समाज की रीतियों का अनुकरण करते हुए लक्ष्मी के साथ रमण किया।

तात्पर्य : *विडम्बयन्* शब्द का अर्थ है ''अनुकरण करते हुए'' तथा ''उपहास करते हुए।'' भगवान् इस जगत के पति के समान कार्य कर रहे थे किन्तु उनकी लीलाएँ दिव्य हैं और दैहिक इन्द्रिय-तुष्टि को लक्ष्य करके की गई संसारी गतिविधियों की विकृति का पर्दाफाश करने वाली हैं।

तथान्यासामपि विभुर्गृहेसु गृहवानिव ।
आस्थितो गृहमेधीयान्धर्मान्लोकगुरुर्हरिः ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

तथा—इसी तरह से; अन्यासाम्—अन्यों (रानियों) के; अपि—भी; विभुः—सर्वशक्तिमान भगवान्; गृहेषु—घरों में; गृह-वान्—गृहस्थ; इव—मानो; आस्थितः—पूरी की गई; गृह-मेधीयान्—पवित्र गृहस्थों के; धर्मान्—धार्मिक कर्तव्य; लोक—सारे जगतों के; गुरुः—गुरु; हरिः—कृष्ण ने।

समस्त लोकों के गुरु सर्वशक्तिमान भगवान् हरि ने इसी तरह से अपनी अन्य रानियों के महलों में गृहस्थ के धार्मिक कृत्य सम्पन्न करते हुए पारम्परिक गृहस्थ की तरह आचरण किया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''रुक्मिणी के साथ कृष्ण का परिहास'' नामक साठवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter इकसठ

बलराम द्वारा रुक्मी का वध

इस अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण के पुत्रों, पौत्रों तथा अन्य सन्तानों की सूची दी गई है। इसमें इसका भी वर्णन है कि बलराम ने अनिरुद्ध के विवाहोत्सव के समय रुक्मी को किस तरह मारा और

कृष्ण ने किस तरह अपने पुत्रों तथा पुत्रियों के विवाह की व्यवस्था की।

श्रीकृष्ण के बारे में पूरी सच्चाई न समझने के कारण उनकी प्रत्येक पत्नी यही सोचती थी कि चूँकि वे उसके महल में निरन्तर रहते हैं अतएव वही उनकी प्रिय पत्नी है। वे सभी भगवान् के सौन्दर्य एवं अपने साथ उनके मधुर वार्तालाप पर मुग्ध थीं किन्तु वे न तो अपनी भौंहों के नचाने से या अन्य किसी साधन से उनके मन को चलायमान कर पाती थीं। श्रीकृष्ण जो कि ब्रह्मा जैसे देवताओं के लिए अगम्य हैं, उन्हें अपने पति के रूप में पाकर भगवान् की सारी रानियाँ उनके साथ रहने के लिए सदा उत्सुक रहती थीं। इस तरह लाखों दासियों के होते हुए भी वे स्वयं उनकी छोटी से छोटी सेवा तक करती थीं।

भगवान् की प्रत्येक पत्नी से दस दस पुत्र हुए जिनके भी अनेक पुत्र तथा पौत्र थे। रुक्मी की पुत्री रुक्मावती के पति प्रद्युम्न से उसे अनिरुद्ध उत्पन्न हुआ। यद्यपि श्रीकृष्ण ने रुक्मी का अनादर किया था किन्तु अपनी बहन को खुश करने के लिए रुक्मी ने अपनी पुत्री का विवाह प्रद्युम्न के साथ कर दिया और पौत्री का विवाह अनिरुद्ध के साथ कर दिया। कृतवर्मा के पुत्र बली ने रुक्मिणी की पुत्री चारुमती के साथ विवाह किया।

अनिरुद्ध के विवाह में बलदेव, श्रीकृष्ण तथा अन्य यादव भोजकट नगर में रुक्मी के महल में गये। विवाह के बाद रुक्मी ने बलदेव को चौसर खेलने के लिए ललकारा। पहली बाजी में रुक्मी ने बलदेव को हरा दिया अत: कलिंगराज उन पर हँसा जिससे उसके सारे दाँत दिखने लगे। अगली बाजी बलदेव जीत गये किन्तु रुक्मी ने अपनी हार नहीं मानी। तभी आकाशवाणी हुई कि बलदेव जीते हैं। किन्तु रुक्मी ने दुष्ट राजाओं के बहकावे में आकर बलदेव का अपमान यह कहकर किया कि वे गाय चराने में तो पटु हैं किन्तु चौसर खेलने में शून्य हैं। इस तरह अपमानित होने पर बलदेव ने अपनी गदा से रुक्मी पर प्रहार किया जिससे वह मर गया। कलिंगराज ने भागना चाहा किन्तु बलदेव ने उसे पकड़ लिया और उसके सारे दाँत तोड़ दिये। तत्पश्चात् अन्य अपराधी-राजा सभी दिशाओं में भाग गये। उनकी बाहें, जाँघें तथा सिर बलदेव के वारों से क्षत-विक्षत हो चुके थे और उनसे काफी खून निकल रहा था। श्रीकृष्ण ने अपने साले की मृत्यु पर न तो सहमति प्रकट की न असहमति क्योंकि उन्हें भय था कि इससे रुक्मिणी या बलदेव से उनके प्रेमपूर्ण सम्बन्ध छिन्न हो सकते हैं।

इसके बाद बलदेव तथा अन्य यादवों ने अनिरुद्ध तथा उसकी पत्नी को सुन्दर रथ पर बैठाया और

द्वारका के लिए रवाना हो गये।

श्रीशुक उवाच
एकैकशस्ताः कृष्णस्य पुत्रान्दशदशाबआः ।
अजीजनन्ननवमान्पितुः सर्वात्मसम्पदा ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एक-एकशः—एक एक करके; ताः—वे; कृष्णस्य—कृष्ण के; पुत्रान्—पुत्रों को; दश-दश—हर एक के दस दस; अबलाः—पत्नियों ने; अजीजनन्—जन्म दिया; अनवमान्—उत्तम; पितुः—उनके पिता का; सर्व—सारा; आत्म—निजी; सम्पदा—ऐश्वर्य।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् कृष्ण की हर पत्नी से दस दस पुत्र हुए जो अपने पिता से कम नहीं थे और जिनके पास अपने पिता का सारा निजी ऐश्वर्य था।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण के १६,८ पत्नियाँ थीं औ र इस श्लोक के अनुसार कृष्ण के १,६१,०८० पुत्र थे।

गृहादनपगं वीक्ष्य राजपुत्र्योऽच्युतं स्थितम् ।
प्रेष्ठं न्यमंसत स्वं स्वं न तत्तत्त्वविदः स्त्रियः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

गृहात्—अपने महलों से; अनपगम्—कभी बाहर न जाते; वीक्ष्य—देखकर; राज-पुत्र्यः—राजाओं की पुत्रियाँ; अच्युतम्—भगवान् कृष्ण को; स्थितम्—रहते हुए; प्रेष्ठम्—अत्यन्त प्रिय; न्यमंसत—उन्होंने विचार किया; स्वम् स्वम्—अपने अपने; न—नहीं; तत्—उसके विषय में; तत्त्व—सचाई; विदः—जानने वाली; स्त्रियः—स्त्रियाँ।

चूँकि इनमें से हर राजकुमारी यह देखती थीं कि भगवान् अच्युत कभी उसके महल से बाहर नहीं जाते अतएव हर एक अपने को भगवान् की प्रिया समझती थी। ये स्त्रियाँ उनके विषय में पूरी सच्चाई नहीं समझ पाईं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर लिखते हैं कि भगवान् कृष्ण अपनी पत्नियों की अनुमति से ही महलों से बाहर जाते थे इसलिए हर पत्नी अपने को उनकी परम-प्रिया मानती थी।

चार्वब्जकोशवदनायतबाहुनेत्र-
सप्रेमहासरसवीक्षितवल्गुजल्पैः ।
सम्मोहिता भगवतो न मनो विजेतुं
स्वैर्विभ्रमैः समशकन्वनिता विभूम्नः ॥ ॥

शब्दार्थ

चारु—सुन्दर; अब्ज—कमल के; कोश—कोश के समान; वदन—मुख से; आयत—विस्तृत; बाहु—अपनी बाहुओं से; नेत्र—तथा आँखों से; स-प्रेम—प्रेमपूर्ण; हास—हास्य के; रस—रस में; वीक्षित—चितवनों से; वल्गु—आकर्षक; जल्पैः—तथा अपनी बातों से; सम्मोहिताः—पूर्णतया मोहित; भगवतः—भगवान् के; न—नहीं; मनः—मन के; विजेतुम्—जीतने के लिए; स्वैः—अपने; विभ्रमैः—प्रलोभनों से; समशकन्—समर्थ थीं; वनिताः—स्त्रियाँ; विभूम्नः—परम पूर्ण का।

भगवान् की पत्नियाँ उनके कमल जैसे सुन्दर मुख, उनकी लम्बी बाँहों तथा बड़ी बड़ी आँखों, हास्य से पूर्ण उनकी प्रेममयी चितवनों तथा अपने साथ उनकी मनोहर बातों से पूरी तरह मोहित थीं। किन्तु ये स्त्रियाँ अपने समस्त आकर्षण के होते हुए भी सर्वशक्तिमान भगवान् के मन को नहीं जीत पाईं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में कहा गया है कि भगवान् कृष्ण की रानियाँ भगवान् के सत्य को नहीं समझ सकीं। इसी सत्य की विवेचना इस श्लोक में की गई है। भगवान् सर्वशक्तिमान, अनन्त ऐश्वर्य से युक्त अपने में पूर्ण हैं।

स्मायावलोकलवदर्शितभावहारि-
भ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः ।
पत्न्यस्तु शोडशसहस्रमनङ्गबाणै-
र्यस्येन्द्रियं विमथितुम्करणैर्न शेकुः ॥ ४॥

शब्दार्थ

स्माय—छिपी हँसी से; अवलोक—चितवन का; लव—रंच-भर भी; दर्शित—प्रदर्शित किया; भाव—भावों से; हारि—मोहक; भ्रू—भौंहों के; मण्डल—गोलाकृति से; प्रहित—भेजती थीं; सौरत—काम कला; मन्त्र—संदेशों का; शौण्डैः—निर्भीकता की अभिव्यक्तियों से; पत्न्यः—पत्नियाँ; तु—लेकिन; षोडश—सोलह; सहस्रम्—हजार; अनङ्ग—कामदेव के; बाणैः—बाणों से; यस्य—जिसकी; इन्द्रियम्—इन्द्रियाँ; विमथितुम्—उद्वेलित करने के लिए; करणैः—तथा (अन्य) साधनों से; न शेकुः—असमर्थ थीं।

इन सोलह हजार रानियों की टेढ़ी भौंहें उनके गुप्त मनोभावों को लजीली हास्ययुक्त तिरछी चितवनों से व्यक्त करती थीं। इस तरह उनकी भौंहें निडर होकर माधुर्य सन्देश भेजती थीं। तो भी कामदेव के इन बाणों तथा अन्य साधनों से वे सब भगवान् कृष्ण की इन्द्रियों को उद्वेलित नहीं बना सकीं।

इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ता
ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयाम् ।
भेजुर्मुदाविरतमेधितयानुराग-
हासावलोकनवसङ्गमलालसाद्यम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार से; रमा-पतिम्—लक्ष्मी के पति को; अवाप्य—प्राप्त करके; पतिम्—पति रूप में; स्त्रियः—स्त्रियाँ; ताः—वे; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा तथा अन्य देवता; अपि—भी; न विदुः—नहीं जानते; पदवीम्—प्राप्त करने के साधन; यदीयाम्—जिनको; भेजुः—भाग लिया; मुदा—हर्षपूर्वक; अविरतम्—निरन्तर; एधितया—वर्धित; अनुराग—प्रेमाकर्षण; हास—हँसी; अवलोक—चितवन; नव—नया; सङ्गम—घनिष्ठ साथ की; लालस—उत्सुकता; आद्यम्—इत्यादि।

इस तरह इन स्त्रियों ने लक्ष्मीपति को अपने पति रूप में प्राप्त किया यद्यपि ब्रह्मा जैसे बड़े बड़े देवता भी उन तक पहुँचने की विधि नहीं जानते। प्रेम में निरन्तर वृद्धि के साथ वे उनके प्रति अनुराग का अनुभव करतीं, उनसे हास्ययुक्त चितवनों का आदान-प्रदान करतीं, नित नवीन घनिष्ठता के साथ उनसे समागम की लालसा करती हुई अन्यान्य अनेक विधियों से रमण करतीं।

तात्पर्य : इस श्लोक में रानियों द्वारा अनुभूत भगवान् कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ माधुर्य आकर्षण का वर्णन है।

प्रत्युद्गमासनवरार्हणपादशौच-
ताम्बूलविश्रमणवीजनगन्धमाल्यैः ।
केशप्रसारशयनस्नपनोपहार्यैः
दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

प्रत्युद्गम—पास जाकर; आसन—आसन प्रदान करके; वर—उच्च कोटि का; अर्हण—पूजा; पाद—उसके पाँव; शौच—मार्जन; ताम्बूल—पान (की भेंट); विश्रमण—(उनके पाँव दबाकर) विश्राम करने में सहायता करते हुए; वीजन—पंखा झलना; गन्ध—सुगंधित वस्तुएँ (भेंट करके); माल्यैः—तथा फूल की मालाओं से; केश—उनके बाल; प्रसार—सँवार कर; शयन—बिछौने की व्यवस्था; स्नपन—स्नान कराकर; उपहार्यैः—तथा भेंटें प्रदान करके; दासी—नौकरानियाँ; शताः—सैकड़ों; अपि—यद्यपि; विभोः—सर्वशक्तिमान प्रभु की; विदधुः-स्म—सम्पन्न किया; दास्यम्—सेवा।

यद्यपि भगवान् की रानियों में से हर एक के पास सैकड़ों दासियाँ थीं, फिर भी वे विनयपूर्वक उनके पास जाकर, उन्हें आसन देकर, उत्तम सामग्री से उनकी पूजा करके, उनके चरणों का प्रक्षालन करके तथा दबाकर, उन्हें खाने के लिए पान देकर, उन्हें पंखा झलकर, सुगन्धित चन्दन का लेप करके, फूल की मालाओं से सजाकर, उनके केश सँवार कर, उनका बिस्तर ठीक करके, उन्हें नहलाकर तथा उन्हें नाना प्रकार की भेंटें देकर स्वयं उनकी सेवा करती थीं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि शुकदेव गोस्वामी भगवान् कृष्ण तथा उनकी रानियों की दिव्य लीलाओं का वर्णन करने के लिए इतने उत्सुक रहते थे कि उन्होंने इन श्लोकों की पुनरावृत्ति कर दी है। उदाहरणार्थ, इस अध्याय का श्लोक ५ इसी स्कंध के उनसठवें अध्याय के श्लोक ४४ के

ही समान है और श्लोक ६ उसी अध्याय के श्लोक ४५ के समान है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि *वरार्हण* शब्द सूचित करता है कि रानियों ने भगवान् को अंजुली भर फूल (*पुष्पाञ्जलि*) तथा अंजुली भर रत्न (*रत्नाञ्जलि*) भेंट किए।

तासां या दशपुत्राणां कृष्णस्त्रीणां पुरोदिताः ।
अष्टौ महिष्यस्तत्पुत्रान्प्रद्युम्नादीन्गृणामि ते ॥ ७॥

शब्दार्थ

तासाम्—उनमें से; याः—जो; दश—दस; पुत्राणाम्—पुत्रों के; कृष्ण-स्त्रीणाम्—कृष्ण की स्त्रियों के; पुरा—पहले; उदिताः—उल्लिखित; अष्टौ—आठ; महिष्यः—पटरानियाँ; तत्—उनके; पुत्रान्—पुत्रों को; प्रद्युम्न-आदीन्—प्रद्युम्न आदि; गृणामि—मैं कहूँगा; ते—तुम्हारे लिए।

भगवान् कृष्ण की पत्नियों में से हर एक के दस दस पुत्र थे। उन पत्नियों में से आठ पटरानियाँ थीं, इसका उल्लेख मैं पहले कर चुका हूँ। अब मैं तुम्हें उन आठों रानियों के पुत्रों के नाम बतलाऊँगा जिनमें प्रद्युम्न मुख्य थे।

चारुदेष्णः सुदेष्णश्च चारुदेहश्च वीर्यवान् ।
सुचारुश्चारुगुप्तश्च भद्रचारुस्तथापरः ॥ ८॥
चारुचन्द्रो विचारुश्च चारुश्च दशमो हरेः ।
प्रद्युम्नप्रमुखा जाता रुक्मिण्यां नावमाः पितुः ॥ ९॥

शब्दार्थ

चारुदेष्णः सुदेष्णः च—चारुदेष्ण तथा सुदेष्ण; चारुदेहः—चारुदेह; च—तथा; वीर्य-वान्—शक्तिशाली; सुचारुः चारुगुप्तः च—सुचारु तथा चारुगुप्त; भद्रचारुः—भद्रचारु; तथा—भी; अपरः—दूसरा; चारुचन्द्रः विचारः च—चारुचन्द्र तथा विचारु; चारः—चारु; च—भी; दशमः—दसवाँ; हरेः—भगवान् हरि द्वारा; प्रद्युम्न-प्रमुखाः—प्रद्युम्न इत्यादि; जातः—उत्पन्न; रुक्मिण्याम्—रुक्मिणी के; न—नहीं; अवमाः—निकृष्ट, कम; पितुः—अपने पिता से।

महारानी रुक्मिणी का प्रथम पुत्र प्रद्युम्न था। उन्हीं के पुत्रों में चारुदेष्ण, सुदेष्ण, बलशाली चारुदेह, सुचारु, चारुगुप्त, भद्रचारु, चारुचन्द्र, विचारु तथा दसवाँ पुत्र चारु थे। भगवान् हरि के इन पुत्रों में से कोई भी अपने पिता से कम नहीं था।

भानुः सुभानुः स्वर्भानुः प्रभानुर्भानुमांस्तथा ।
चन्द्रभानुर्बृहद्भानुरतिभानुस्तथाष्टमः ॥ ॥
श्रीभानुः प्रतिभानुश्च सत्यभामात्मजा दश ।
साम्बः सुमित्रः पुरुजिच्छतजिच्च सहस्रजित् ॥ ११॥
वियश्चित्रकेतुश्च वसुमान्द्रविडः क्रतुः ।

जाम्बवत्याः सुता ह्येते साम्बाद्याः पितृसम्मताः ॥ १२॥

शब्दार्थ

भानुः सुभानुः स्वर्भानुः—भानु, सुभानु तथा स्वर्भानु; प्रभानः भानुमान्—प्रभानु तथा भानुमान; तथा—भी; चन्द्रभानुः बृहद्भानुः—चन्द्रभानु तथा बृहद्भानु; अतिभानुः—अतिभानु; तथा—भी; अष्टमः—आठवाँ; श्रीभानुः—श्रीभानु; प्रतिभानुः—प्रतिभानु; च—तथा; सत्यभामा—सत्यभामा के; आत्मजाः—पुत्र; दश—दस; साम्बः सुमित्रः पुरुजित् शतजित् च सहस्रजित्—साम्ब, सुमित्र, पुरुजित, शतजित तथा सहस्रजित; विजयः चित्रकेतुः च—विजय तथा चित्रकेतु; वसुमान् द्रविडः क्रतुः—वसुमान, द्रविड़ तथा क्रतु; जाम्बवत्याः—जाम्बवती के; सुताः—पुत्र; हि—निस्सन्देह; एते—ये; साम्ब-आद्याः—साम्ब आदि; पितृ—उनके पिता के; सम्मताः—प्यारे।

सत्यभामा से दस पुत्र थे—भानु, सुभानु, स्वर्भानु, प्रभानु, भानुमान, चन्द्रभानु, बृहद्भानु, अतिभानु (आठवाँ), श्रीभानु तथा प्रतिभानु। जाम्बवती के पुत्रों के नाम थे—साम्ब, सुमित्र, पुरुजित, सतजित, सहस्रजित, विजय, चित्रकेतु, वसुमान्, द्रविड़ तथा क्रतु। साम्ब आदि ये दसों अपने पिता के अत्यन्त लाड़ले थे।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने इस श्लोक में आए *पितृसम्मताः* सामासिक पद का "अपने पिता द्वारा अत्यधिक सम्मानित" अर्थ किया है। उक्त शब्द यह भी बतलाता है कि ये पुत्र, पूर्वोक्त पुत्रों की ही तरह अपने पिता यशस्वी कृष्ण के समान माने जाते थे।

वीरश्चन्द्रोऽश्वसेनश्च चित्रगुर्वेगवान्वृषः ।
आमः शङ्कुर्वसुः श्रीमान्कुन्तिर्नाग्नजितेः सुताः ॥ १॥

शब्दार्थ

वीरः चन्द्रः अश्वसेनः च—वीर, चन्द्र तथा अश्वसेन; चित्रगुः वेगवान् वृषः—चित्रगु, वेगवान् तथा वृष; आमः शङ्कुः वसुः—आम, शंकु तथा वसु; श्री-मान्—ऐश्वर्यशाली; कुन्तिः—कुन्ति; नाग्नजितेः—नाग्नजिती के; सुताः—पुत्र।

नाग्नजिती के पुत्र थे वीर, चन्द्र, अश्वसेन, चित्रगु, वेगवान्, वृष, आम, शंकु, वसु तथा ऐश्वर्यशाली कुन्ति।

श्रुतः कविर्वृषो वीरः सुबाहुर्भद्र एकलः ।
शान्तिर्दर्शः पूर्णमासः कालिन्द्याः सोमकोऽवरः ॥ १४॥

शब्दार्थ

श्रुतः कविः वृषः वीरः—श्रुत, कवि, वृष तथा वीर; सुबाहुः—सुबाहु; भद्रः—भद्र; एकलः—इनमें से एक; शान्तिः दर्शः पूर्णमासः—शान्ति, दर्श तथा पूर्णमास; कालिन्द्याः—कालिन्दी के; सोमकः—सोमक; अवरः—सबसे छोटा।

श्रुत, कवि, वृष, वीर, सुबाहु, भद्र, शान्ति, दर्श तथा पूर्णमास कालिन्दी के पुत्र थे। उनका सबसे छोटा पुत्र सोमक था।

प्रघोषो गात्रवान्सिंहो बलः प्रबल ऊर्ध्वगः ।
माद्र्याः पुत्रा महाशक्तिः सह ओजोऽपराजितः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

प्रघोषः गात्रवान् सिंहः—प्रघोष, गात्रवान तथा सिंह; बलः प्रबलः ऊर्ध्वगः—बल, प्रबल तथा ऊर्ध्वग; माद्र्याः—माद्रा के; पुत्राः—पुत्र; महाशक्तिः सहः ओजः अपराजितः—महाशक्ति, सह, ओज तथा अपराजित।

माद्रा के पुत्र थे प्रघोष, गात्रवान, सिंह, बल, प्रबल, ऊर्ध्वग, महाशक्ति, सह, ओज तथा अपराजित।

तात्पर्य : माद्रा का दूसरा नाम लक्ष्मणा भी है।

वृको हर्षोऽनिलो गृध्रो वर्धनोन्नाद एव च ।
महांसः पावनो वह्निर्मित्रविन्दात्मजाः क्षुधिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

वृकः हर्षः अनिलः गृध्रः—वृक, हर्ष, अनिल तथा गृध्र; वर्धन-उन्नादः—वर्धन तथा उन्नाद; एव च—भी; महांसः पावनः वह्निः—महांस, पावन तथा वह्नि; मित्रविन्दा—मित्रविन्दा के; आत्मजाः—पुत्र; क्षुधिः—क्षुधि।

मित्रविन्दा के पुत्रों के नाम थे वृक, हर्ष, अनिल, गृध्र, वर्धन, उन्नाद, महांस, पावन, वह्नि तथा क्षुधि।

सङ्ग्रामजिद्बृहत्सेनः शूरः प्रहरणोऽरिजित् ।
जयः सुभद्रो भद्राया वाम आयुश्च सत्यकः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

सङ्ग्रामजित् बृहत्सेनः—संग्रामजित तथा बृहत्सेन; शूरः प्रहरणः अरिजित्—शूर, प्रहरण तथा अरिजित; जयः सुभद्रः—जय तथा सुभद्र; भद्रायाः—भद्रा (शैब्या) के; वामः आयुश् च सत्यकः—वाम, आयुर् तथा सत्यक।

भद्रा के पुत्र थे संग्रामजित, बृहत्सेन, शूर, प्रहरण, अरिजित, जय, सुभद्र, वाम, आयुर् तथा सत्यक।

दीप्तिमांस्ताम्रतप्ताद्या रोहिण्यास्तनया हरेः ।
प्रद्युम्नाच्चानिरुद्धोऽभूद्रुक्मवत्यां महाबलः ।
पुत्र्यां तु रुक्मिणो राजन्नाम्ना भोजकटे पुरे ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

दीप्तिमान् ताम्रतप्त-आद्याः—दीप्तिमान, ताम्रतप्त तथा अन्य; रोहिण्याः—रोहिणी (शेष १६ ० रानियों में से प्रमुख) ; तनयाः—पुत्र; हरेः—भगवान् कृष्ण के; प्रद्युम्नात्—प्रद्युम्न से; च—तथा; अनिरुद्धः—अनिरुद्ध; अभूत्—उत्पन्न हुआ; रुक्मवत्याम्—रुक्मवती से; महा-बलः—अत्यन्त बलवान; पुत्र्याम्—पुत्री से; तु—निस्सन्देह; रुक्मिणः—रुक्मी की; राजन्—हे राजा (परीक्षित); नाम्ना—नामक; भोजकटे पुरे—भोजकट(रुक्मी के राज्य में) नगर में।

दीप्तिमान, ताम्रतप्त इत्यादि भगवान् कृष्ण द्वारा रोहिणी से उत्पन्न किये गये पुत्र थे। भगवान्

कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न ने रुक्मी की पुत्री रुक्मवती के गर्भ से शक्तिशाली अनिरुद्ध को जन्म दिया। हे राजन्, यह सब तब हुआ जब वे भोजकटक नगर में रह रहे थे।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण की आठ पटरानियाँ हैं—रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती, नाग्नजिती, कालिन्दी, लक्ष्मणा, मित्रविन्दा तथा भद्रा। इन आठों के पुत्रों का वर्णन कर चुकने के बाद अब शुकदेव गोस्वामी अन्य १६ ० रानियों के पुत्र ों का सन्दर्भ देते हुए रोहिणी नामक प्रधानरानी के दो प्रमुख पुत्रों का उल्लेख करते हैं।

एतेषां पुत्रपौत्राश्च बभूवुः कोटिशो नृप ।
मातरः कृष्णजातीनां सहस्राणि च षोडश ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

एतेषाम्—इनके; पुत्र—पुत्र; पौत्राः—तथा पौत्र; च—तथा; बभूवुः—उत्पन्न हुए; कोटिशः—करोड़ों; नृप—हे राजा; मातरः—माताओं से; कृष्ण-जातीनाम्—भगवान् कृष्ण के वंशजों के; सहस्राणि—हजारों; च—तथा; षोडश—सोलह।

हे राजन्, कृष्ण के पुत्रों के पुत्रों तथा पौत्रों की संख्या करोड़ों में थी। सोलह हजार माताओं ने इस वंश को आगे बढ़ाया।

श्रीराजोवाच
कथं रुक्म्यरीपुत्राय प्रादाद्दुहितरं युधि ।
कृष्णेन परिभूतस्तं हन्तुं रन्ध्रं प्रतीक्षते ।
एतदाख्याहि मे विद्वन्द्विषोर्वैवाहिकं मिथः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; कथम्—कैसे; रुक्मी—रुक्मी ने; अरि—अपने शत्रु के; पुत्राय—पुत्र को; प्रादात्—दिया; दुहितरम्—अपनी पुत्री को; युधि—युद्ध में; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; परिभूतः—पराजित; तम्—उसको (कृष्ण को); हन्तुम्—मारने के लिए; रन्ध्रम्—सुअवसर की; प्रतीक्षते—प्रतीक्षा कर रहा था; एतत्—यह; आख्याहि—कृपया बतलाइये; मे—मुझको; विद्वन्—हे विद्वान; द्विषोः—दो शत्रुओं के; वैवाहिकम्—विवाह का प्रबंध; मिथः—दोनों के बीच।

राजा परीक्षित ने कहा : रुक्मी ने कैसे अपने शत्रु के पुत्र को अपनी पुत्री प्रदान की? रुक्मी तो युद्ध में भगवान् कृष्ण द्वारा पराजित किया गया था और उन्हें मार डालने की ताक में था। हे विद्वान, कृपा करके मुझे बतलाइये कि ये दोनों शत्रु-पक्ष किस तरह विवाह के माध्यम से जुड़ सके।

अनागतमतीतं च वर्तमानमतीन्द्रियम् ।

विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक्पश्यन्ति योगिनः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अनागतम्—अभी घटित नहीं हुआ; अतीतम्—भूतकाल; च—भी; वर्तमानम्—वर्तमान; अतीन्द्रियम्—इन्द्रियों की सीमा से परे; विप्रकृष्टम्—सुदूर; व्यवहितम्—अवरुद्ध; सम्यक्—भलीभाँति; पश्यन्ति—देखते हैं; योगिनः—योगीजन।

जो अभी घटित नहीं हुआ तथा भूतकाल या वर्तमान की बातें जो इन्द्रियों के परे, सुदूर या भौतिक अवरोधों से अवरुद्ध हैं, उन्हें योगीजन भलीभाँति देख सकते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर राजा परीक्षित शुकदेव गोस्वामी को यह बतलाने के लिए प्रोत्साहित करते हैं कि रुक्मी ने अपनी पुत्री भगवान् कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न को क्यों दी। परीक्षित बल देकर कहते हैं कि शुकदेव गोस्वामी जैसे महान् योगी हर बात को जानते हैं अतः वे इसे भी अवश्य जानते होंगे और उत्सुक राजा से इसे बतलाना चाहिए।

श्रीशुक उवाच

वृतः स्वयंवरे साक्षादनण्गोऽण्गयुतस्तया ।
राज्ञः समेतान्निर्जित्य जहारैकरथो युधि ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; वृतः—चुना हुआ; स्वयं-वरे—उसके स्वयंवर उत्सव में; साक्षात्—प्रकट; अनङ्गः—कामदेव; अङ्ग-यतः—अवतार; तया—उसके द्वारा; राज्ञः—राजाओं को; समेतान्—एकत्र; निर्जित्य—हराकर; जहार—ले गया; एक-रथः—केवल एक रथ का स्वामी; युधि—युद्ध में।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : अपने स्वयंवर उत्सव में रुक्मावती ने स्वयं ही प्रद्युम्न को चुना, जो कि साक्षात् कामदेव थे। तब एक ही रथ पर अकेले लड़ते हुए प्रद्युम्न ने एकत्र राजाओं को युद्ध में पराजित किया और वे उसे हर ले गये।

यद्यप्यनुस्मरन्वैरं रुक्मी कृष्णावमानितः ।
व्यतरद्भागिनेयाय सुतां कुर्वन्स्वसुः प्रियम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यदि अपि—यद्यपि; अनुस्मरन्—सदैव स्मरण करते हुए; वैरम्—अपनी शत्रुता; रुक्मी—रुक्मी; कृष्ण—कृष्ण द्वारा; अवमानितः—अपमानित; व्यतरत्—स्वीकृति दे दी; भागिनेयाय—अपनी बहन के बेटे को; सुताम्—अपनी पुत्री; कुर्वन्—करते हुए; स्वसुः—अपनी बहन का; प्रियम्—प्रसन्न करना।

यद्यपि रुक्मी कृष्ण के प्रति अपनी शत्रुता को सदैव स्मरण रखे रहा क्योंकि उन्होंने उसका अपमानित किया था किन्तु अपनी बहन को प्रसन्न करने के लिए उसने अपनी पुत्री का विवाह अपने भाञ्जे के साथ होने की स्वीकृति प्रदान कर दी।

तात्पर्य : यहाँ पर राजा परीक्षित के प्रश्न का उत्तर दिया गया है। अन्ततोगत्वा अपनी बहन रुक्मिणी को प्रसन्न करने के लिए रुक्मी ने प्रद्युम्न के साथ अपनी पुत्री का विवाह किये जाने की सहमति दे दी।

रुक्मिण्यास्तनयां राजन्कृतवर्मसुतो बली ।
उपयेमे विशालाक्षीं कन्यां चारुमतीं किल ॥ २४॥

शब्दार्थ

रुक्मिण्याः—रुक्मिणी की; तनयाम्—पुत्री को; राजन्—हे राजन्; कृतवर्म-सुतः—कृतवर्मा के पुत्र ने; बली—बली नामक; उपयेमे—विवाह लिया; विशाल—बड़े बड़े; अक्षीम्—नेत्रों वाली; कन्याम्—युवती को; चारुमतीम्—चारुमती नामक; किल—निस्सन्देह।

हे राजन्, कृतवर्मा के पुत्र बली ने रुक्मिणी की विशाल नेत्रों वाली तरुण कन्या चारुमती से विवाह कर लिया।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि भगवान् की प्रत्येक महारानी से एक एक पुत्री उत्पन्न हुई थी। यहाँ चारुमती के विवाह का उल्लेख इन सारी राजकुमारियों के विवाह का अप्रत्यक्ष सन्दर्भ है।

दौहित्रायानिरुद्धाय पौत्रीं रुक्म्याददाद्धरेः ।
रोचनां बद्धवैरोऽपि स्वसुः प्रियचिकीर्षया ।
जानन्नधर्मं तद्यौनं स्नेहपाशानुबन्धनः ॥ २५॥

शब्दार्थ

दौहित्राय—अपनी पुत्री के पुत्र; अनिरुद्धाय—अनिरुद्ध के लिए; पौत्रीम्—अपनी पौत्री को; रुक्मी—रुक्मी ने; आददात्—दे दिया; हरेः—भगवान् कृष्ण के; रोचनाम्—रोचना नामक; बद्ध—बँधा हुआ; वैरः—शत्रुता में; अपि—यद्यपि; स्वसुः—अपनी बहन; प्रिय-चिकीर्षया—प्रसन्न करने की इच्छा से; जानन्—जानते हुए; अधर्मम्—अधर्म को; तत्—वह; यौनम्—विवाह; स्नेह—स्नेह की; पाश—रस्सियों से; अनुबन्धनः—जिसका बन्धन।

रुक्मी ने अपनी पौत्री रोचना को अपनी कन्या के पुत्र अनिरुद्ध को दे दिया यद्यपि भगवान् हरि से उसकी घोर शत्रुता थी। इस विवाह को अधार्मिक मानते हुए भी रुक्मी स्नेह-बन्धन से बँधकर अपनी बहन को प्रसन्न करने का इच्छुक था।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी कहते हैं कि लौकिक मानदण्डों के अनुसार अपनी प्रिय पौत्री अपने कट्टर शत्रु के पौत्र को नहीं देनी चाहिए। इस तरह हमें यह आदेश प्राप्त होता है *द्विषदन्नं न भोक्तव्यं द्विषन्तं नैव भोजयेत्*—मनुष्य को चाहिए कि न तो शत्रु का भोजन करे, न शत्रु को खिलाये। इसके अतिरिक्त भी निषेध हैं—*अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्न तु*—स्वर्ग की यात्रा को रोकने वाले या

मानव समाज के लिए निन्द्य धार्मिक आदेशों का पालन नहीं करना चाहिए।

यहाँ यह इंगित कर दिया जाय कि भगवान् कृष्ण वास्तव में किसी के भी शत्रु नहीं हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (५.२९) में भगवान् कहते हैं—*सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति*—यह समझ कर कि मैं हर जीव का शुभचिन्तक मित्र हूँ मनुष्य शान्ति प्राप्त कर सकता है। यद्यपि भगवान् कृष्ण हरएक के मित्र हैं किन्तु रुक्मी इसे नहीं समझ सका और वह भगवान् कृष्ण को अपना शत्रु मानता रहा। फिर भी अपनी बहन के स्नेहवश उसने अपनी पौत्री का विवाह अनिरुद्ध के साथ कर दिया।

उपर्युक्त निषेध के बावजूद हमें ध्यान देना होगा कि आध्यात्मिक जीवन के मूलभूत सिद्धान्तों का परित्याग इसलिए नहीं करना चाहिए कि ऐसे सिद्धान्त आम जनता में लोकप्रिय नहीं हैं। जैसाकि भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (१८.६६) में में कहा है—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।* आध्यात्मिक कर्तव्यों में परम कर्तव्य है भगवान् की शरणागति और वह कर्तव्य बाकी सभी आदेशों से ऊपर है। यही नहीं, इस युग में श्री चैतन्य महाप्रभु ने एक ऐसी शुद्ध विधि प्रदान की है, जो समस्त निष्ठावान व्यक्तियों को भगवान् की शरण में जाने के लिए आकृष्ट करेगी। चैतन्य महाप्रभु के कीर्तन, नृत्य, भोज तथा दर्शन की विवेचना वाली आनन्दपूर्ण विधि का पालन करके कोई भी व्यक्ति आनन्द तथा ज्ञानमय जीवन बिताने के लिए सुगमता से भगवद्धाम जा सकता है।

तो भी कोई यह दलील पेश कर सकता है कि कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्यों को पाश्चात्य देशों में उन उत्सवों या कार्यकलापों का अभ्यास नहीं करना चाहिये जो आम जनता को अप्रसन्न करते हों। इस पर हमारा उत्तर यह है कि यदि कृष्णभावनामृत आन्दोलन के कार्यकलापों को पाश्चात्य देशों के लोगों के समक्ष ठीक से रखा जाय तो वे इस महान् आध्यात्मिक संगठन की प्रशंसा करेंगे। जो लोग ईश्वर से विशेष रूप से द्वेष रखते हैं उन्हें किसी भी तरह का धार्मिक आन्दोलन नहीं भायेगा। चूँकि ऐसे लोग क्षुद्र पशुओं के तुल्य हैं अत: वे महान् कृष्णभावनामृत आन्दोलन में बाधक नहीं हो सकते जिस तरह ईर्ष्यालु रुक्मी भगवान् कृष्ण की शुद्ध लीलाओं में बाधक नहीं बन सका।

तस्मिन्नभ्युदये राजन्रुक्मिणी रामकेशवौ ।
पुरं भोजकटं जग्मु: साम्बप्रद्युम्नकादय: ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस; अभ्युदये—हर्ष की घड़ी में; राजन्—हे राजन्; रुक्मिणी—रुक्मिणी; राम-केशवौ—बलराम तथा कृष्ण; पुरम्—नगरी में; भोजकटम्—भोजकट; जग्मुः—गये; साम्ब-प्रद्युम्नक-आदयः—साम्ब, प्रद्युम्न तथा अन्य।

हे राजा, उस विवाह के उल्लासपूर्ण अवसर पर महारानी रुक्मिणी, बलराम, कृष्ण तथा कृष्ण के अनेक पुत्र, जिनमें साम्ब तथा प्रद्युम्न मुख्य थे, भोजकट नगर गये।

तस्मिन्निवृत्त उद्वाहे कालिङ्गप्रमुखा नृपाः ।
दृप्तास्ते रुक्मिणं प्रोचुर्बलमक्षैर्विनिर्जय ॥ २७॥
अनक्षज्ञो ह्ययं राजन्नपि तद्व्यसनं महत् ।
इत्युक्तो बलमाहूय तेनाक्षैरुक्म्यदीव्यत ॥ २८॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उसके; निवृत्ते—समाप्त हो जाने पर; उद्वाहे—विवाहोत्सव में; कालिङ्ग-प्रमुखाः—कालिंगराज इत्यादि; नृपाः—राजा; दृप्ताः—घमंडी; ते—वे; रुक्मिणम्—रुक्मी से; प्रोचुः—बोले; बलम्—बलराम को; अक्षैः—चौसर से; विनिर्जय—जीत लो; अनक्ष-ज्ञः—चौसर खेलने में पटु नहीं; हि—निस्सन्देह; अयम्—वह; राजन्—हे राजा; अपि—यद्यपि; तत्—उससे; व्यसनम्—उसके व्यसन को; महत्—महान्; इति—इस प्रकार; उक्तः—कहा गया; बलम्—बलराम को; आहूय—बुलाकर; तेन—उससे; अक्षैः—चौसर से; रुक्मी—रुक्मी; अदीव्यत—खेलने लगा।

विवाह हो चुकने के बाद कालिंगराज इत्यादि दम्भी राजाओं की टोली ने रुक्मी से कहा, ''तुम्हें चाहिए कि बलराम को चौसर में हरा दो। हे राजन्, वे चौसर में पटु नहीं हैं फिर भी उन्हें इसका व्यसन है।'' इस तरह सलाह दिये जाने पर रुक्मी ने बलराम को ललकारा और उनके साथ चौसर की बाजी खेलने लगा।

शतं सहस्रमयुतं रामस्तत्राददे पणम् ।
तं तु रुक्म्यजयत्तत्र कालिङ्गः प्राहसद्बलम् ।
दन्तान्सन्दर्शयन्नुच्चैर्नामृष्यत्तद्धलायुधः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

शतम्—एक सौ; सहस्रम्—एक हजार; अयतम्—दस हजार; रामः—बलराम; तत्र—उस (खेल) में; आददे—स्वीकार किया; पणम्—दाँव को; तम्—उस; तु—लेकिन; रुक्मी—रुक्मी; अजयत्—जीत गया; तत्र—तत्पश्चात; कालिङ्गः—कालिंग का राजा; प्राहसत्—जोर से हँस पड़ा; बलम्—बलराम पर; दन्तान्—अपने दाँत; सन्दर्शयन्—दिखाते हुए, निपोरते हुए; उच्चैः—खुलकर; न अमृष्यत्—क्षमा नहीं किया; तत्—यह; हल-आयुधः—हल धारण करने वाले, बलराम ने।

उस स्पर्धा में सर्वप्रथम बलराम ने एक सौ सिक्कों की बाजी स्वीकार की, फिर एक हजार की और तब दस हजार की। रुक्मी ने इस पहली पारी को जीत लिया तो कालिंगराज अपने सारे दाँत निपोर कर बलराम पर ठहाका मारकर हँसा। बलराम इसे सहन नहीं कर पाये।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि बाजी सोने के सिक्कों की थी। जब बलराम ने कलिंगराज के गवारू दुष्कृत्य से वे अत्यधिक क्रुद्ध हो उठे।

ततो लक्षं रुक्म्यगृह्णाद्ग्लहं तत्राजयद्बल: ।
जितवानहमित्याह रुक्मी कैतवमाश्रित: ॥ ० ॥

शब्दार्थ

तत:—तब; लक्षम्—एक लाख; रुक्मी—रुक्मी ने; अगृह्णात्—स्वीकार किया; ग्लहम्—बाजी; तत्र—उसमें; अजयत्—जीता; बल:—बलराम; जितवान्—जीत गया हूँ; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; आह—कहा; रुक्मी—रुक्मी ने; कैतवम्—छलावे में; आश्रित:—आश्रित।

इसके बाद रुक्मी ने एक लाख सिक्कों की बाजी लगाई जिसे बलराम ने जीत लिया। किन्तु रुक्मी ने यह घोषित करते हुए धोका देना चाहा कि "मैं विजेता हूँ।"

मन्युना क्षुभित: श्रीमान्समुद्र इव पर्वणि ।
जात्यारुणाक्षोऽतिरुषा न्यर्बुदं ग्लहमाददे ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मन्युना—क्रोध से; क्षुभित:—क्षुब्ध; श्री-मान्—सौन्दर्य से युक्त या सुन्दरी लक्ष्मी से युक्त; समुद्र:—समुद्र; इव—सदृश; पर्वणि—पूर्णमासी के दिन; जात्या—प्रकृति द्वारा; अरुण—लाल-लाल; अक्ष:—नेत्रों वाली; अति—अत्यधिक; रुषा—क्रोध से; न्यर्बुदम्— करोड़ ; ग्लहम्—दाँव या बाजी; आददे—लगाई।

रूपवान बलराम ने जिनके लाल लाल नेत्र क्रोध से और अधिक लाल हो रहे थे, पूर्णमासी के दिन उफनते समुद्र की भाँति क्रुद्ध होकर दस करोड़ मुहरों की बाजी लगाई।

तं चापि जितवान्रामो धर्मेण छलमाश्रित: ।
रुक्मी जितं मयात्रेमे वदन्तु प्राश्निका इति ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; च अपि—भी; जितवान्—जीत लिया; राम:—बलराम ने; धर्मेण—न्यायपूर्वक; छलम्—छल का; आश्रित:—आश्रय लेकर; रुक्मी—रुक्मी; जितम्—जीत गया; मया—मुझसे; अत्र—इस बार; इमे—ये; वदन्तु—कह दें; प्राश्निका:—गवाह; इति—इस प्रकार।

इस बाजी को भी बलराम ने स्पष्टत: जीत लिया किन्तु रुक्मी ने फिर से छल करके यह घोषित किया, "मैं जीता हूँ। यहाँ उपस्थित ये गवाह कहें जो कुछ उन्होंने देखा है।"

तात्पर्य : जब रुक्मी ने गवाहों से कहने के लिए कहा तो निस्सन्देह उसके मन में उसके साथी थे। किन्तु जब उसके गवाहों ने अपने छली मित्र की सहायता करनी चाही तो एक अद्‌भुत घटना घट गई जिसका वर्णन अगले श्लोक में हुआ है।

तदाब्रवीन्नभोवाणी बलेनैव जितो ग्लह: ।

धर्मतो वचनेनैव रुक्मी वदति वै मृषा ॥ ॥

शब्दार्थ

तदा—तब; अब्रवीत्—कहा; नभः—आकाश में; वाणी—शब्द; बलेन—बलराम द्वारा; एव—निस्सन्देह; जितः—जीती गई; ग्लहः—बाजी; धर्मतः—न्यायपूर्वक; वचनेन—शब्दों से; एव—निश्चय ही; रुक्मी—रुक्मी; वदति—कहता है; वै—निस्सन्देह; मृषा—झूठ।

तभी आकाशवाणी हुई ''इस बाजी को बलराम ने न्यायपूर्वक जीता है। रुक्मी निश्चित रूप से झूठ बोल रहा है।''

तामनादृत्य वैदर्भो दुष्टराजन्यचोदितः ।
सङ्कर्षणं परिहसन्बभाषे कालचोदितः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उस (वाणी) को; अनादृत्य—अनादर करके; वैदर्भः—विदर्भ का राजकुमार, रुक्मी; दुष्ट—दुष्ट; राजन्य—राजाओं द्वारा; चोदितः—प्रेरित, उभाड़ा गया; सङ्कर्षणम्—बलराम की; परिहसन्—हँसी उड़ाते हुए; बभाषे—बोला; काल—समय के बल से; चोदितः—प्रेरित।

दुष्ट राजाओं द्वारा उभाड़े जाने से रुक्मी ने इस दैवी वाणी की उपेक्षा कर दी। वस्तुतः साक्षात् भाग्य रुक्मी को प्रेरित कर रहा था अतः उसने बलराम की इस तरह हँसी उड़ाई।

नैवाक्षकोविदा यूयं गोपाला वनगोचराः ।
अक्षैर्दीव्यन्ति राजानो बाणैश्च न भवादृशाः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एव—निस्सन्देह; अक्ष—चौसर खेलने में; कोविदाः—दक्ष; यूयम्—तुम; गोपालाः—ग्वाले; वन—जंगल में; गोचराः—गाय चराते हुए; अक्षैः—चौसर से; दीव्यन्ति—खेलते हैं; राजानः—राजा लोग; बाणैः—बाणों से; च—तथा; न—नहीं; भवादृशाः—आप जैसे।

[रुक्मी ने कहा] : तुम ग्वाले तो जंगलों में घूमते रहते हो चौसर के बारे में कुछ भी नहीं जानते। चौसर खेलना और बाण चलाना तो एकमात्र राजाओं के लिए हैं, तुम जैसों के लिए नहीं।

रुक्मिणैवमधिक्षिप्तो राजभिश्चोपहासितः ।
क्रुद्धः परिघमुद्यम्य जघ्ने तं नृम्णसंसदि ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

रुक्मिणा—रुक्मी द्वारा; एवम्—इस प्रकार; अधिक्षिप्तः—अपमानित; राजभिः—राजाओं द्वारा; च—तथा; उपहासितः—मजाक उड़ाया गया; क्रुद्धः—क्रुद्ध; परिघम्—अपनी गदा को; उद्यम्य—उठाकर; जघ्ने—मार डाला; तम्—उसको; नृम्ण-संसदि—उस शुभ सभा में।

इस प्रकार रुक्मी द्वारा अपमानित करने तथा राजाओं द्वारा उपहास किये जाने पर बलराम

का क्रोध भड़क उठा। उन्होंने शुभ विवाह की सभा में ही अपनी गदा उठाई और रुक्मी को मार डाला।

कलिङ्गराजं तरसा गृहीत्वा दशमे पदे ।
दन्तानपातयत्क्रुद्धो योऽहसद्विवृतैर्द्विजैः ॥ ७॥

शब्दार्थ

कलिङ्ग-राजम्—कलिंग के राजन् को; तरसा—तेजी से; गृहीत्वा—पकड़ कर; दशमे—उसके दसवें; पदे—पग (भागते हुए) पर; दन्तान्—उसके दाँतों को; अपातयत्—तोड़ डाला; क्रुद्धः—क्रुद्ध; यः—जो; अहसत्—हँसा था; विवृतैः—खुले हुए; द्विजैः—दाँतों से।.

कलिंग के राजन् ने, जो बलराम पर हँसा था और जिसने अपने दाँत निपोरे थे, भागने का प्रयास किया किन्तु क्रुद्ध बलराम ने तेजी से उसे दसवें कदम में ही पकड़ लिया और उसके सारे दाँत तोड़ डाले।

अन्ये निर्भिन्नबाहूरुशिरसो रुधिरोक्षिताः ।
राजानो दुद्रवर्भीता बलेन पङ्गार्दिताः ॥ ८॥

शब्दार्थ

अन्ये—अन्य; निर्भिन्न—टूटे; बाहु—भुजाएँ; ऊरु—जाँघें; शिरसः—तथा सिरों वाले; रुधिर—रक्त से; उक्षिताः—सने; राजानः—राजागण; दुद्रुवुः—भागे; भीताः—डरे हुए; बलेन—बलराम द्वारा; परिघ—अपनी गदा से; अर्दिताः—चोट खाकर।.

बलराम की गदा से चोट खाकर अन्य राजा भय के मारे भाग खड़े हुए। उनकी बाहें, जाँघें तथा सिर टूटे थे और उनके शरीर रक्त से लथपथ थे।

निहते रुक्मिणि श्याले नाब्रवीत्साध्वसाधु वा ।
रक्मिणीबलयो राजन्स्नेहभङ्गभयाद्धरिः ॥ ९॥

शब्दार्थ

निहते—मारे जाने पर; रुक्मिणि—रुक्मी के; श्याले—उसके साले; न अब्रवीत्—नहीं कहा; साधु—अच्छा; असाधु—बुरा; वा—अथवा; रुक्मिणी-बलयोः—रुक्मिणी तथा बलराम के; राजन्—हे राजा; स्नेह—स्नेह; भङ्ग—टूटने के; भयात्—भय से; हरिः—भगवान् कृष्ण ने।.

हे राजन्, जब भगवान् कृष्ण का साला मार डाला गया तो उन्होंने न तो इसे सराहा न ही विरोध प्रकट किया। क्योंकि उन्हें भय था कि रुक्मिणी या बलराम से स्नेह-बन्धन बिगड़ सकते हैं।

ततोऽनिरुद्धं सह सूर्यया वरं
रथं समारोप्य ययुः कुशस्थलीम् ।
रामादयो भोजकटाद्दशार्हाः
सिद्धाखिलार्था मधुसूदनाश्रयाः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; अनिरुद्धम्—अनिरुद्ध को; सह—साथ; सूर्यया—उसकी पत्नी के; वरम्—दूल्हा; रथम्—रथ पर; समारोप्य—बैठाकर; ययुः—वे चले गये; कुशस्थलीम्—कुशस्थली (द्वारका); राम-आदयः—बलराम इत्यादि; भोजकटात्—भोजकट से; दशार्हाः—दशार्हवंशी; सिद्ध—पूर्ण; अखिल—समस्त; अर्थाः—कार्य; मधुसूदन—भगवान् कृष्ण के; आश्रयाः—शरणागत।

तब बलराम इत्यादि दशार्हों ने अनिरुद्ध तथा उसकी पत्नी को एक सुन्दर रथ में बैठा लिया और भोजकट से द्वारका के लिए प्रस्थान कर गये। भगवान् मधुसूदन की शरण ग्रहण करने से उनके सारे कार्य पूर्ण हो गये।

तात्पर्य : यद्यपि रुक्मिणी समस्त दशार्हों को अतीव प्रिय थीं किन्तु उनका भाई रुक्मी रुक्मिणी के विवाह के समय से ही कृष्ण का निरन्तर विरोध और अपमान करता रहता था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि इसी कारण से कृष्ण के संगियों को रुक्मी की आकस्मिक मृत्यु से कोई संताप नहीं हुआ।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''बलराम द्वारा रुक्मी का वध'' नामक इकसठवें अध्याय का श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत शिष्यों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बासठ

ऊषा-अनिरुद्ध मिलन

इस अध्याय में अनिरुद्ध तथा उषा के मिलन एवं बाणासुर के साथ अनिरुद्ध के युद्ध का वर्णन हुआ है।

राजा बलि के एक सौ पुत्रों में बाणासुर सबसे बड़ा था। वह शिवजी का महान् भक्त था और वे बाण का इतना पक्ष लेते थे कि इन्द्र जैसे देवता भी उसकी चाकरी किया करते थे। एक बार बाणासुर ने शिवजी के ताण्डव-नृत्य करते समय अपने एक हजार भुजाओं से संगीत-वाद्य बजा कर उन्हें प्रसन्न कर लिया। बदले में शिवजी ने उसे मुँहमाँगा वर दिया। बाण ने शिवजी से याचना की कि वे उसकी नगरी के रक्षक बन जाँय।

एक दिन बाण को युद्ध करने का मन हुआ तो उसने शिवजी से कहा: ''आपको छोड़कर पूरे

संसार में कोई योद्धा इतना बलशाली नहीं है, जो मुझसे युद्ध कर सके। इसलिए आप द्वारा प्रदत्त ये हजार बाहुएँ मेरे लिए केवल भार हैं।'' इन शब्दों से क्रुद्ध होकर शिवजी बोले, ''तुम्हारा यह गर्व तब चूर होगा जब तुम मुझ जैसे बल वाले से युद्ध करोगे। तब तुम्हारे रथ की ध्वजा टूट कर भूमि पर गिर जायेगी।''

एक बार बाणासुर की पुत्री उषा ने स्वप्न में एक प्रेमी को देखा। ऐसा कई रातों तक लगातार चलता रहा किन्तु एक दिन वह प्रेमी सपने में नहीं आया। अत: वह जोर से उस प्रेमी से घबराहट में बोलती हुई जाग पड़ी किन्तु जब उसने अपने पास अपनी दासी को देखा तो वह घबड़ा उठी। उषा की सखी चित्रलेखा ने उससे पूछा कि तुम किसको बुला रही थी तो उषा ने उसे सारी बातें बता दीं। उषा के स्वप्न-प्रेमी के विषय में सुनकर चित्रलेखा ने गन्धर्वों, अन्य दैवी पुरुषों एवं विभिन्न वृष्णिवंशियों के चित्र खींच कर अपनी सखी के कष्ट को कम करना चाहा। उसने उषा से कहा कि वह सपने में देखे गये पुरुष को चुन ले तो उषा ने अनिरुद्ध के चित्र की ओर संकेत किया। चित्रलेखा में योगशक्ति थी अत: वह तुरन्त जान गई कि उसकी सखी ने जिस युवक की ओर इंगित किया है, वह कृष्ण का पौत्र अनिरुद्ध है। तब उषा अपनी योगशक्ति द्वारा आकाश-मार्ग से उड़ कर द्वारका गई, अनिरुद्ध को खोज निकाला और उसे बाणासुर की राजधानी शोणितपुर लेकर लौट आई। उसने उसे लाकर उषा को सौंप दिया।

इच्छित पुरुष को पाकर उषा अपने उस निजी कक्ष में जिसमें कोई व्यक्ति नहीं जा सकता था, स्नेहपूर्वक उसकी सेवा करने लगी। कुछ काल बाद अन्त:पुर की रक्षिकाओं को उषा के शरीर में संभोग के चिह्न दिखे तो वे दौड़कर बाणासुर को बताने गईं। वह अत्यधिक विचलित हो उठा और अनेक अंगरक्षकों समेत अपनी पुत्री के कक्ष में भागा हुआ पहुँचा। उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उसने अनिरुद्ध को वहाँ देखा। जब अंगरक्षकों ने उस पर आक्रमण किया, तो उसने अपनी गदा से कइयों का काम तमाम कर दिया। फिर तो शक्तिशाली बाणासुर ने उसे अपने नागपाश से बाँध लिया। उषा बेचारी शोक से विह्वल हो उठी।

श्रीराजोवाच

बाणस्य तनयामूषामुपयेमे यदूत्तमः ।
तत्र युद्धमभूद्घोरं हरिशङ्करयोर्महत् ।
एतत्सर्वं महायोगिन्समाख्यातुं त्वमर्हसि ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा (परीक्षित महाराज) ने कहा; बाणस्य—बाणासुर की; तनयाम्—पुत्री; ऊषाम्—उषा को; उपयेमे—ब्याहा; यदु-उत्तमः—यदुओं में श्रेष्ठ (अनिरुद्ध ने); तत्र—उसी सन्दर्भ में; युद्धम्—युद्ध; अभूत्—हुआ; घोरम्—भयावह; हरि-शङ्करयोः—हरि (कृष्ण) तथा शंकर (शिव) के बीच; महत्—महान्; एतत्—यह; सर्वम्—सब; महा-योगिन्—हे महान् योगी; समाख्यातुम्—बतलाने के लिए; त्वम्—तुम; अर्हसि—योग्य हो।

राजा परीक्षित ने कहा : यदुओं में श्रेष्ठ (अनिरुद्ध) ने बाणासुर की पुत्री ऊषा से विवाह किया। फलस्वरूप हरि तथा शंकर के बीच महान् युद्ध हुआ। हे महायोगी, कृपा करके इस घटना के विषय में विस्तार से बतलाइये।

श्रीशुक उवाच
बाणः पुत्रशतज्येष्ठो बलेरासीन्महात्मनः ।
येन वामनरूपाय हरयेऽदायि मेदिनी ॥
तस्यौरसः सुतो बाणः शिवभक्तिरतः सदा ।
मान्यो वदान्यो धीमांश्च सत्यसन्धो दृढव्रतः ।
शोणिताख्ये पुरे रम्ये स राज्यमकरोत्पुरा ॥
तस्य शम्भोः प्रसादेन किङ्करा इव तेऽमराः ।
सहस्रबाहुर्वाद्येन ताण्डवेऽतोषयन्मृडम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; बाणः—बाण; पुत्र—पुत्रों में; शत—एक सौ; ज्येष्ठः—सबसे बड़ा; बलेः—महाराज बलि के; आसीत्—था; महा-आत्मनः—महात्मा; येन—जिसके (बलि) द्वारा; वामन-रूपाय—वामनदेव के रूप में; हरये—भगवान् हरि को; अदायि—दी गई; मेदिनी—पृथ्वी; तस्य—उसके; औरसः—वीर्य से; सुतः—पुत्र; बाणः—बाण; शिव-भक्ति—शिवजी की भक्ति में; रतः—स्थिर; सदा—सदैव; मान्यः—सम्मानित; वदान्यः—दयालु; धी-मान्—बुद्धिमान; च—तथा; सत्य-सन्धः—सत्यवादी; दृढ-व्रतः—अपने व्रत में दृढ़; शोणित-आख्ये—शोणित नामक; पुरे—नगर में; रम्ये—सुहावने; सः—वह; राज्यम् अकरोत्—अपना राज्य बनाया; पुरा—प्राचीनकाल में; तस्य—उस; शम्भोः—शम्भु (शिव) की; प्रसादेन—खुशी से; किङ्कराः—दास; इव—मानो; ते—वे; अमराः—देवतागण; सहस्र—एक हजार; बाहुः—बाहें; वाद्येन—बाजा बजाने से; ताण्डवे—उनके ताण्डव-नृत्य करते समय; अतोषयत्—प्रसन्न कर लिया; मृडम्—शिवजी को।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : बाण महान् सन्त बलि महाराज के एक सौ पुत्रों में सबसे बड़ा था। जब भगवान् हरि वामनदेव के रूप में प्रकट हुए थे तो बलि महाराज ने सारी पृथ्वी उन्हें दान में दे दी थी। बलि महाराज के वीर्य से उत्पन्न बाणासुर शिवजी का महान् भक्त हो गया। उसका आचरण सदैव सम्मानित था। वह उदार, बुद्धिमान, सत्यवादी तथा अपने व्रत का पक्का था। शोणितपुर नामक सुन्दर नगरी उसके अधीनस्थ में थी। चूँकि बाणासुर को शिवजी का वरदहस्त प्राप्त था इसलिए देवता तक तुच्छ दासों की तरह उसकी सेवा में लगे रहते थे। एक बार जब

शिवजी ताण्डव-नृत्य कर रहे थे तो बाण ने अपने एक हजार हाथों से वाद्य-यंत्र बजाकर उन्हें विशेष रूप से प्रसन्न कर लिया था।

भगवान्सर्वभूतेशः शरण्यो भक्तवत्सलः ।
वरेण छन्दयामास स तं वव्रे पुराधिपम् ॥ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—प्रभु; सर्व—समस्त; भूत—जीवगण के; ईशः—स्वामी; शरण्यः—शरण देने वाला; भक्त—अपने भक्तों के प्रति; वत्सलः—दयालु; वरेण—वर द्वारा; छन्दयाम् आस—तुष्ट किया; सः—उस बाण ने; तम्—उस (शिव) को; वव्रे—चुना; पुर—अपनी नगरी का; अधिपम्—प्रहरी, संरक्षक।

समस्त जीवों के स्वामी, अपने भक्तों के दयामय आश्रय ने बाणासुर को उसका मनचाहा वर देकर खूब प्रसन्न कर दिया। बाण ने उन्हें (शिवजी को) अपनी नगरी के संरक्षक के रूप में चुना।

स एकदाह गिरिशं पार्श्वस्थं वीर्यदुर्मदः ।
किरीटेनार्कवर्णेन संस्पृशंस्तत्पदाम्बुजम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, बाणासुर; एकदा—एक बार; आह—बोला; गिरि-शम्—शिवजी से; पार्श्व—अपनी बगल में; स्थम्—उपस्थित; वीर्य—अपने बल से; दुर्मदः—उन्मत्त; किरीटेन—अपने मुकुट से; अर्क—सूर्य जैसे; वर्णेन—रंग वाले; संस्पृशन्—छूते हुए; तत्—उसके, शिवजी के; पद-अम्बुजम्—चरणकमल।

बाणासुर अपने बल से उन्मत्त था। एक दिन जब शिवजी उसकी बगल में खड़े थे, तो बाणासुर ने अपने सूर्य जैसे चमचमाते मुकुट से उनके चरणकमलों का स्पर्श किया और उनसे इस प्रकार कहा।

नमस्ये त्वां महादेव लोकानां गुरुमीश्वरम् ।
पुंसामपूर्णकामानां कामपूरामराङ्घ्रिपम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

नमस्ये—मैं नमस्कार करता हूँ; त्वाम्—तुमको; महा-देव—हे देवताओं में सबसे महान्; लोकानाम्—सारे लोकों के; गुरुम्—आध्यात्मिक गुरु को; ईश्वरम्—नियन्ता को; पुंसाम्—मनुष्यों के लिए; अपूर्ण—अपूर्ण; कामानाम्—इच्छाओं वाले; काम-पूर—इच्छा पूरी करते हुए; अमर-अङ्घ्रिपम्—स्वर्ग के वृक्ष या कल्पवृक्ष (सदृश)।

[बाणासुर ने कहा] : हे महादेव, मैं समस्त लोकों के आध्यात्मिक गुरु तथा नियन्ता, आप को नमस्कार करता हूँ। आप उस स्वर्गिक-वृक्ष की तरह हैं, जो अपूर्ण इच्छाओं वाले व्यक्तियों की इच्छाएँ पूरी करता है।

दो:सहस्रं त्वया दत्तं परं भाराय मेऽभवत् ।
त्रिलोक्यां प्रतियोद्धारं न लभे त्वदृते समम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

दोः—भुजाएँ; सहस्रम्—एक हजार; त्वया—तुम्हारे द्वारा; दत्तम्—प्रदान की हुई; परम्—केवल; भाराय—बोझ; मे—मेरे लिए; अभवत्—बन गई हैं; त्रि-लोक्यम्—तीनों लोकों में; प्रतियोद्धारम्—विपक्षी योद्धा; न लभे—मुझे नहीं मिल रहा; त्वत्—तुम्हारे; ऋते—सिवाय; समम्—समान ।.

आपके द्वारा प्रदत्त ये एक हजार भुजाएँ मेरे लिए केवल भारी बोझ बनी हुई हैं। तीनों लोकों में मुझे आपके सिवाय लड़ने के योग्य कोई व्यक्ति नहीं मिल पा रहा।

तात्पर्य : आचार्यों के अनुसार बाणासुर के कहने का भाव यह है ''अत: जब मैं आपको हरा चुकूँगा तो मेरी दिग्विजय पूरी हो जायेगी और युद्ध करने की मेरी इच्छा तुष्ट हो जायेगी।''

कण्डूत्या निभृतैर्दोर्भिर्युयुत्सुर्दिग्गजानहम् ।
आद्यायां चूर्णयन्नद्रीन्भीतास्तेऽपि प्रदुद्रुवु: ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

कण्डूत्या—खुजलाती; निभृतैः—पूरित; दोर्भिः—मेरी भुजाओं से; युयुत्सुः—लड़ने के लिए उत्सुक; दिक्—दिशाओं के; गजान्—हाथियों से; अहम्—मैं; आद्य—हे आदि-देव; अयम्—गया; चूर्णयन्—चूर्ण करते हुए; अद्रीन्—पर्वतों को; भीताः—भयभीत; ते—वे; अपि—भी; प्रदुद्रुवुः—भाग गये ।.

हे आदि-देव, दिशाओं पर शासन करने वाले हाथियों से लड़ने के लिए उत्सुक मैं युद्ध के लिए खुजला रही अपनी भुजाओं से पर्वतों को चूर करते हुए आगे बढ़ता गया। किन्तु वे बड़े बड़े हाथी भी डर के मारे भाग गये।

तच्छ्रुत्वा भगवान्क्रुद्ध: केतुस्ते भज्यते यदा ।
त्वद्दर्पघ्नं भवेन्मूढ संयुगं मत्समेन ते ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; श्रुत्व—सुनकर; भगवान्—भगवान्; क्रुद्धः—क्रुद्ध; केतुः—ध्वजा; ते—तुम्हारी; भज्यते—टूट जायेगी; यदा—जब; त्वत्—तुम्हारा; दर्प—घमंड; घ्नम्—विनष्ट; भवेत्—हो जायेगा; मूढ—रे मूर्ख; संयुगम्—युद्ध में; मत्—मेरे; समेन—समान वाले से; ते—तुम्हारा ।.

यह सुनकर शिवजी क्रुद्ध हो उठे और बोले, ''रे मूर्ख! जब तू मेरे समान व्यक्ति से युद्ध कर चुकेगा तो तेरी ध्वजा टूट जायेगी। उस युद्ध से तेरा दर्प नष्ट हो जायेगा।''

तात्पर्य : शिवजी चाहते तो तुरन्त ही बाणासुर को दण्ड देते और उसका गर्व चूर कर देते लेकिन बाणासुर उनका इतना आज्ञाकारी सेवक था कि शिवजी ने ऐसा नहीं किया।

इत्युक्तः कुमतिर्हृष्टः स्वगृहं प्राविशन्नृप ।
प्रतीक्षन्गिरिशादेशं स्ववीर्यनशनम्कुधीः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्तः—कहे जाने पर; कु-मतिः—मूर्ख; हृष्टः—प्रसन्न; स्व—अपने; गृहम्—घर में; प्राविशत्—प्रवेश किया; नृप—हे राजा (परीक्षित); प्रतीक्षन्—प्रतीक्षा करते हुए; गिरिश—शिव की; आदेशम्—भविष्यवाणी को; स्व-वीर्य—अपने पराक्रम से; नशनम्—विनाश; कु-धीः—अज्ञानी।

इस प्रकार उपदेश दिये जाने पर अज्ञानी बाणासुर प्रसन्न हुआ। तत्पश्चात् हे राजन्, गिरीश ने जो भविष्यवाणी की थी उसकी प्रतीक्षा करने—अपने पराक्रम के विनाश की प्रतीक्षा करने—वह अपने घर चला गया।

तात्पर्य : यहाँ पर बाणासुर को *कुधी* तथा *कुमति* बतलाया गया है क्योंकि उसने वास्तविक स्थिति का दूसरा ही अर्थ लगाया। यह असुर इतना गर्वीला था कि उसे विश्वास हो गया कि उसे कोई भी नहीं हरा सकता। वह यह सुनकर प्रसन्न था कि शिवजी जितना बलशाली कोई व्यक्ति उससे लड़ने आयेगा और युद्ध करने की उसकी खुजलाहट को दूर करेगा। यद्यपि शिवजी ने यह बतला दिया था कि वह व्यक्ति बाणासुर की ध्वजा तोड़ कर उसके पराक्रम को चूर-चूर कर देगा किन्तु वह इतना मूर्ख था कि उसने उस कथन को गम्भीरता से नहीं लिया और उत्सुकतापूर्वक युद्ध करने की प्रतीक्षा करने लगा।

आज के समय में भी भौतिकतावादी व्यक्ति इन्द्रिय-तृप्ति की नाना अभूतपूर्व सुविधाओं से प्रसन्न हो जाते हैं। यद्यपि उनको यह स्पष्ट रहता है कि व्यष्टि तथा समष्टि रूप से मृत्यु उनके पास आ रही है किन्तु आधुनिक इन्द्रियलोलुप अपरिहार्य विनाश को भूले हुए हैं। जैसाकि *भागवत* (२.१.४) में कहा गया है—*पश्यन्नपि न पश्यति*—यद्यपि उनका विनाश सन्निकट होता है किन्तु यौन-सुख तथा पारिवारिक अनुरक्ति के कारण वे मदान्ध रहते हैं और अंधे की भाँति उसे नहीं देखते हैं। इसी तरह बाणासुर अपने भौतिक पराक्रम के कारण मदोन्मत्त था और उसे विश्वास ही नहीं हो रहा था कि उसका पतन होने वाला है।

तस्योषा नाम दुहिता स्वप्ने प्राद्युम्निना रतिम् ।
कन्यालभत कान्तेन प्रागदृष्टश्रुतेन सा ॥ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसकी; ऊषा नाम—उषा नामक; दुहिता—पुत्री; स्वप्ने—स्वप्न में; प्राद्युम्निना—प्रद्युम्न के पुत्र (अनिरुद्ध) के साथ; रतिम्—संभोग; कन्या—अविवाहिता कुमारी; अलभत—प्राप्त किया; कान्तेन—अपने प्रेमी के साथ; प्राक्—इसके पूर्व; अदृष्ट—कभी न देखा हुआ; श्रुतेन—या सुना हुआ; सा—उसने।.

बाण की पुत्री कुमारी ऊषा ने स्वप्न में प्रद्युम्न के पुत्र के साथ संभोग किया यद्यपि उसने इसके पूर्व कभी भी अपने प्रेमी को देखा या सुना नहीं था।

तात्पर्य : अब जो घटनाएँ वर्णित होंगी उनसे शिवजी द्वारा भविष्यवाणी किया गया युद्ध होगा। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *विष्णु पुराण* के निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं, जो उषा के स्वप्न को बतलाने वाले हैं—

ऊषा बाणसुता विप्र पार्वतीम् शम्भुना सह।

क्रीडन्तीमुपलक्ष्योच्चै स्पृहां चक्रे तदाश्रयाम्॥

"हे ब्राह्मण! जब बाण-पुत्री उषा ने पार्वती को अपने पति शम्भु के साथ क्रीड़ा करते देखा तो उषा को भी वही भाव अनुभव करने की तीव्र इच्छा हुई।"

ततः सकलचित्तज्ञा गौरी तामाह भाविनीम्।

अलमत्यर्थतापेन भर्ता त्वमपि रंस्यसे॥

"उस समय हर हृदय की बात जानने वाली देवी गौरी (पार्वती) ने उस भावुक तरुणी से कहा, "तुम इतनी विचलित मत होओ। तुम्हें अपने पति के साथ रमण करने का अवसर प्राप्त होगा।"

इत्युक्ता सा तदा चक्रे कदेति मतिमात्मनः।

को वा भर्ता ममेत्येनां पुनरप्याह पार्वती॥

"यह सुनकर उषा ने मन में सोचा, "किन्तु कब? और कौन होगा मेरा पति?" इसके उत्तर में पार्वती ने एक बार फिर कहा।"

वैशाखशुक्लद्वादश्यां स्वप्ने योऽभिभवं तव।

करिष्यति स ते भर्ता राजपुत्री भविष्यति॥

"हे राजकुमारी! वैशाख मास के शुक्ल पक्ष की द्वादशी को स्वप्न में जो व्यक्ति तुम्हारे पास आयेगा वही तुम्हारा पति बनेगा।"

सा तत्र तमपश्यन्ती क्वासि कान्तेति वादिनी ।

सखीनां मध्य उत्तस्थौ विह्वला व्रीडिता भृशम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; तत्र—वहाँ (स्वप्न में); तम्—उसको; अपश्यन्ती—न देखती हुई; क्व—कहाँ; असि—हो; कान्त—मेरे प्रिय; इति—इस प्रकार; वादिनी—बोलती हुई; सखीनाम्—अपनी सखियों के; मध्ये—बीच में; उत्तस्थौ—उठी; विह्वला—विक्षुब्ध; व्रीडिता—चिन्तित; भृशम्—अत्यधिक।

स्वप्न में उसे न देखकर ऊषा अपनी सखियों के बीच में यह चिल्लाते हुए अचानक उठ बैठी, ''कहाँ हो, मेरे प्रेमी?'' वह अत्यन्त विचलित एवं हड़बड़ाई हुई थी।

तात्पर्य : चेत होने पर तथा यह स्मरण करके कि वह अपनी सखियों के बीच में है इस प्रकार से चिल्ला उठने से उषा के लिए उलझन में होना स्वाभाविक था। साथ ही वह उस प्रेमी व्यक्ति के प्रति अनुरक्ति के कारण भी विह्वल थी जो उसे स्वप्न में दिखा था।

बाणस्य मन्त्री कुम्भाण्डश्चित्रलेखा च तत्सुता ।
सख्यपृच्छत्सखीमूषां कौतूहलसमन्विता ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

बाणस्य—बाण का; मन्त्री—सचिव; कुम्भाण्डः—कुम्भाण्ड; चित्रलेखा—चित्रलेखा; च—तथा; तत्—उसकी; सुता—पुत्री; सखी—सहेली; अपृच्छत्—पूछा; सखीम्—अपनी सहेली; ऊषाम्—उषा से; कौतूहल—उत्सुकता से; समन्विता—पूर्ण।

बाणासुर का मंत्री कुम्भाण्ड था जिसकी पुत्री चित्रलेखा थी। वह ऊषा की सखी थी, अतः उसने उत्सुकतापूर्वक अपनी सखी से पूछा।

कं त्वं मृगयसे सुभ्रु कीदृशस्ते मनोरथः ।
हस्तग्राहं न तेऽद्यापि राजपुत्र्युपलक्षये ॥ १ ॥

शब्दार्थ

कम्—किसको; त्वम्—तुम; मृगयसे—ढूँढ़ रही हो; सु-भ्रु—हे सुन्दर भौंहों वाली; कीदृषः—किस तरह की; ते—तुम्हारी; मनः-रथः—लालसा; हस्त—हाथ का; ग्राहम्—ग्रहण करने वाला; न—नहीं; ते—तुम्हारा; अद्य अपि—आज तक; राज-पुत्रि—हे राजकुमारी; उपलक्षये—मैं देख रही हूँ।

[चित्रलेखा ने कहा] : हे सुन्दर भौंहों वाली, तुम किसे ढूँढ़ रही हो? तुम यह कौन-सी इच्छा अनुभव कर रही हो? हे राजकुमारी, अभी तक मैंने किसी को तुमसे पाणिग्रहण करते नहीं देखा।

दृष्टः कश्चिन्नरः स्वप्ने श्यामः कमललोचनः ।
पीतवासा बृहद्बाहुर्योषितां हृदयंगमः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

दृष्टः—देखा हुआ; कश्चित्—कोई; नरः—मनुष्य; स्वप्ने—सपने में; श्यामः—गहरा नीला, साँवला; कमल—कमल सदृश; लोचनः—आँखों वाला; पीत—पीला; वासाः—वस्त्र धारण किये; बृहत्—बलिष्ठ; बाहुः—बाहों वाला; योषिताम्—स्त्रियों के; हृदयम्—हृदयों को; गमः—स्पर्श करता हुआ।

[ऊषा ने कहा] : मैंने सपने में एक पुरुष देखा जिसका रंग साँवला था, जिसकी आँखें कमल जैसी थीं, जिसके वस्त्र पीले थे और भुजाएँ बलिष्ठ थीं। वह ऐसा था, जो स्त्रियों के हृदयों को स्पर्श कर जाता है।

तमहं मृगये कान्तं पाययित्वाधरं मधु ।
क्वापि यातः स्पृहयतीं क्षिप्त्वा मां वृजिनार्णवे ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; अहम्—मैं; मृगये—ढूँढ़ रही हूँ; कान्तम्—प्रेमी को; पाययित्वा—पिलाकर; आधरम्—अपने होंठों की; मधु—शहद; क्व अपि—कहीं; यातः—चला गया है; स्पृहयतीम्—उसके लिए लालायित, तरसती; क्षिप्त्वा—फेंक कर; माम्—मुझको; वृजिन—दुख के; अर्णवे—समुद्र में।

मैं उसी प्रेमी को ढूँढ़ रही हूँ। मुझे अपने अधरों की मधु पिलाकर वह कहीं और चला गया है और इस तरह उसने मुझे दुख के सागर में फेंक दिया है। मैं उसके लिए अत्यधिक लालायित हूँ।

चित्रलेखोवाच
व्यसनं तेऽपकर्षामि त्रिलोक्यां यदि भाव्यते ।
तमानेष्ये वरं यस्ते मनोहर्ता तमादिश ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

चित्रलेखा उवाच—चित्रलेखा ने कहा; व्यसनम्—दुख; ते—तुम्हारा; अपकर्षामि—दूर कर लूँगी; त्रि-लोक्याम्—तीनों लोकों में; यदि—यदि; भाव्यते—मिल पायेगा; तम्—उसको; आनेष्ये—लाऊँगी; वरम्—होने वाले पति को; यः—जो; ते—तुम्हारा; मनः—हृदय का; हर्ता—चोर; तम्—उसको; आदिश—जरा संकेत तो करो।

चित्रलेखा ने कहा : मैं तुम्हारी व्याकुलता दूर कर दूँगी। यदि वह तीनों लोकों के भीतर कहीं भी मिलेगा तो मैं तुम्हारे चित्त को चुराने वाले इस भावी पति को ले आऊँगी। तुम मुझे बतला दो कि आखिर वह है कौन।

तात्पर्य : यह बात रुचिकर है कि चित्रलेखा नाम ऐसी स्त्री का सूचक है जो चित्र बनाने में निपुण हो। *चित्र* का अर्थ है ''उत्तम'' या ''नाना प्रकार के'' और *लेखा* का अर्थ है ''चित्र बनाने की कला।'' जैसाकि अगले श्लोक में बतलाया गया है चित्रलेखा अपने नाम को सार्थक कर देती है।

इत्युक्त्वा देवगन्धर्व सिद्धचारणपन्नगान् ।

दैत्यविद्याधरान्यक्षान्मनुजांश्च यथालिखत् ॥ १७॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कह कर; देव-गन्धर्व—देवताओं तथा गन्धर्वों; सिद्ध-चारण-पन्नगान्—सिद्धों, चारणों तथा पन्नगों को; दैत्य-विद्याधरान्—असुरों तथा विद्याधरों को; यक्षान्—यक्षों को; मनु-जान्—मनुष्यों को; च—भी; यथा—सही सही; अलिखत्—उसने चित्रित किया।

यह कह कर चित्रलेखा विविध देवताओं, गन्धर्वों, सिद्धों, चारणों, पन्नगों, दैत्यों, विद्याधरों, यक्षों तथा मनुष्यों के सही सही चित्र बनाती गयी।

मनुजेषु च सा वृष्णीन्शूरमानकदुन्दुभिम् ।
व्यलिखद्रामकृष्णौ च प्रद्युम्नं वीक्ष्य लज्जिता ॥ १८॥
अनिरुद्धं विलिखितं वीक्ष्योषावाङ्मुखी ह्रिया ।
सोऽसावसाविति प्राह स्मयमाना महीपते ॥ १९॥

शब्दार्थ

मनुजेषु—मनुष्यों में से; च—तथा; सा—वह (चित्रलेखा); वृष्णीन्—वृष्णियों को; शूरम्—शूरसेन को; आनकदुन्दुभिम्—वसुदेव को; व्यलिखत्—अंकित किया; राम-कृष्णौ—बलराम तथा कृष्ण; च—और; प्रद्युम्नम्—प्रद्युम्न को; वीक्ष्य—देखकर; लज्जिता—लज्जित होकर; अनिरुद्धम्—अनिरुद्ध को; विलिखितम्—अंकित किया हुआ; वीक्ष्य—देखकर; ऊषा—उषा; अवाक्—झुकाकर; मुखी—अपना सिर; ह्रिया—उलझन से; सः असौ असौ इति—"वही है, वही है"; प्राह—उसने कहा; स्मयमाना—हँसती हुई; मही-पते—हे राजन्।

हे राजन्, चित्रलेखा ने मनुष्यों में से वृष्णियों के चित्र खींचे जिनमें शूरसेन, आनकदुन्दुभि, बलराम तथा कृष्ण सम्मिलित थे। जब ऊषा ने प्रद्युम्न का चित्र देखा तो वह लजा गई और जब उसने अनिरुद्ध का चित्र देखा तो उलझन के मारे उसने अपना सिर नीचे झुका लिया। उसने हँसते हुए कहा, "यही है, यही है, वह।"

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती और भी अन्तर्दृष्टि देते हैं: जब उषा ने प्रद्युम्न का चित्र देखा तो वह लज्जित हो उठी क्योंकि उसने सोचा, "यह तो मेरे श्वसुर हैं," तब उसने अपने प्रेमी अनिरुद्ध का चित्र देखा और हर्ष के मारे चीख उठी।

चित्रलेखा तमाज्ञाय पौत्रं कृष्णस्य योगिनी ।
ययौ विहायसा राजन्द्वारकां कृष्णपालिताम् ॥ २०॥

शब्दार्थ

चित्रलेखा—चित्रलेखा; तम्—उसको; आज्ञाय—पहचान कर; पौत्रम्—पौत्र के रूप में; कृष्णस्य—कृष्ण के; योगिनी—योगिन; ययौ—गई; विहायसा—आकाश-मार्ग द्वारा; राजन्—हे राजन्; द्वारकाम्—द्वारका; कृष्ण-पालिताम्—कृष्ण द्वारा रक्षित।

योगशक्ति से चित्रलेखा ने उसे कृष्ण के पौत्र (अनिरुद्ध) रूप में पहचान लिया। हे राजन्,

तब वह आकाश-मार्ग से द्वारका नगरी गई जो कृष्ण के संरक्षण में थी।

तत्र सुप्तं सुपर्यङ्के प्राद्युम्निं योगमास्थिता ।
गृहीत्वा शोणितपुरं सख्यै प्रियमदर्शयत् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; सुप्तम्—सोया हुआ; सु—सुन्दर; पर्यङ्के—बिस्तर पर; प्रद्युम्निम्—प्रद्युम्न के पुत्र को; योगम्—योगशक्ति; आस्थिता—प्रयोग करते हुए; गृहीत्वा—लेकर; शोणित-पुरम्—बाणासुर की राजधानी, शोणितपुर में; सल्श्यै—अपनी सखी के पास; प्रियम्—उसके प्रेमी को; अदर्शयत्—दिखलाया।.

वहाँ पर उसने प्रद्युम्न-पुत्र अनिरुद्ध को एक सुन्दर बिस्तर पर सोते पाया। उसे वह अपनी योगशक्ति से शोणितपुर ले गई जहाँ उसने अपनी सखी ऊषा को उसका प्रेमी लाकर भेंट कर दिया।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है : ''यहाँ यह बतलाया गया है कि चित्रलेखा ने योगशक्ति का प्रयोग किया (*योगमास्थिता*)। जैसाकि *हरिवंश* तथा अन्य ग्रन्थों में बतलाया गया है, उसे अपनी शक्ति का प्रयोग इसलिए करना पड़ा क्योंकि जब वह द्वारका पहुँची तो वह भगवान् कृष्ण की नगरी में प्रवेश करने में अपने को अक्षम पा रही थी। उसी समय श्री नारदमुनि ने उसे प्रवेश करने की योग-कला का उपदेश दिया। कुछ विद्वानों का यह भी कहना है कि चित्रलेखा स्वयं योगमाया की अंश थी।''

सा च तं सुन्दरवरं विलोक्य मुदितानना ।
दुष्प्रेक्ष्ये स्वगृहे पुम्भी रेमे प्राद्युम्निना समम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; च—तथा; तम्—उसको; सुन्दर-वरम्—अतीव सुन्दर पुरुष; विलोक्य—देखकर; मुदित—प्रसन्न; आनना—मुख वाली; दुष्प्रेक्ष्ये—जो देखा नहीं जा सकता था; स्व—अपने; गृहे—घर में; पुम्भिः—पुरुषों द्वारा; रेमे—उसने रमण किया; प्रद्युम्निना समम्—प्रद्युम्न के पुत्र के साथ।.

जब ऊषा ने पुरुषों में सर्वाधिक सुन्दर उस पुरुष को देखा तो प्रसन्नता के मारे उसका चेहरा खिल उठा। वह प्रद्युम्न के पुत्र को अपने निजी कक्ष में ले गयी जिसे मनुष्यों को देखने तक की मनाही थी और वहाँ उसने उसके साथ रमण किया।

परार्ध्यवासःस्रग्गन्धधूपदीपासनादिभिः ।
पानभोजनभक्ष्यैश्च वाक्यैः शुश्रूषणार्चितः ॥ २ ॥

गूढः कन्यापुरे शश्वत्प्रवृद्धस्नेहया तया ।
नाहर्गणान्स बुबुधे ऊषयापहृतेन्द्रियः ॥ २४॥

शब्दार्थ

पराध्यै—अमूल्य; वासः—वस्त्रों; स्रक्—मालाओं; गन्ध—सुगन्धियों; धूप—धूप; दीप—दीपकों; आसन—बैठने के स्थान; आदिभिः—इत्यादि के द्वारा; पान—पेयों; भोजन—चबाकर खाया जाने वाला भोजन; भक्ष्यैः—बिना चबाये खाया जाने वाला भोजन; च—भी; वाक्यैः—शब्दों से; शुश्रूषण—श्रद्धापूर्ण सेवा से; अर्चितः—पूजा किया गया; गूढः—छिपाकर रखा; कन्या-पुरे—कुमारियों के कक्ष में; शश्वत्—निरन्तर; प्रवृद्ध—अत्यधिक बढ़ा हुआ; स्नेहया—स्नेह से; तया—उसके द्वारा; न—नहीं; अहः-गणान्—दिन; सः—वह; बुबुधे—देखा; ऊषया—उषा द्वारा; अपहृत—मोड़ी हुई, वशीभूत; इन्द्रियः—उसकी इन्द्रियाँ।

ऊषा ने अमूल्य वस्त्रों के साथ साथ मालाएँ, सुगन्धियाँ, धूप, दीपक, आसन इत्यादि देकर श्रद्धापूर्ण सेवा द्वारा अनिरुद्ध की पूजा की। उसने उसे पेय, सभी प्रकार के भोजन तथा मधुर शब्द भी प्रदान किये। इस तरह तरुणियों के कक्ष में छिप कर रहते हुए अनिरुद्ध को समय बीतने का कोई ध्यान न रहा क्योंकि उसकी इन्द्रियाँ ऊषा द्वारा मोहित कर ली गई थीं। उसके प्रति ऊषा का स्नेह निरन्तर बढ़ता जा रहा था।

तां तथा यदुवीरेण भुज्यमानां हतव्रताम् ।
हेतुभिर्लक्षयां चक्रुरापृईतां दुरवच्छदैः ॥ २५॥
भटा आवेदयां चक्रू राजंस्ते दुहितुर्वयम् ।
विचेष्टितं लक्षयाम कन्यायाः कुलदूषणम् ॥ २६॥

शब्दार्थ

ताम्—उसको; तथा—इस प्रकार; यदु-वीरेण—यदुओं के वीर द्वारा; भुज्यमानाम्—भोग किया जाता; हत—टूटा; व्रताम्—(कौमार्य) व्रत; हेतुभिः—लक्षणों से; लक्षयाम् चक्रुः—उन्होंने निश्चित किया; आ-प्रीताम्—जो अत्यधिक सुखी था; दुरवच्छदैः—वेश बदलना असम्भव; भटाः—रक्षिकाएँ; आवेदयाम् चक्रुः—घोषित किया; राजन्—हे राजन्; ते—तुम्हारी; दुहितुः—पुत्री का; वयम्—हमने; विचेष्टितम्—अनुचित आचरण; लक्षयामः—देखा है; कन्यायाः—कुमारी का; कुल—परिवार; दूषणम्—बट्टा लगाने वाला।

अंत में रक्षिकाओं ने ऊषा में संभोग (सहवास) के अचूक लक्षण देखे जिसने अपना कौमार्य-व्रत भंग कर दिया था और यदुवीर द्वारा भोगी जा रही थी तथा जिसमें माधुर्य-सुख के लक्षण प्रकट हो रहे थे। ये रक्षिकाएँ बाणासुर के पास गईं और उससे कहा, "हे राजन्, हमने आपकी पुत्री में अनुचित आचरण देखा है, जो किसी तरुणी के परिवार की ख्याति को नष्ट-भ्रष्ट करने वाला है।"

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *भटाः* शब्द की परिभाषा "स्त्री रक्षिका" दी है, जबकि जीव गोस्वामी इसकी परिभाषा "जनखा तथा अन्य" के रूप में दी है। व्याकरण की दृष्टि से दोनों ही ठीक हैं।

रक्षकों को भय था कि यदि बाणासुर को अन्य स्रोत से उषा के कार्यकलापों का पता चल जायेगा तो वह उन्हें कठोर दण्ड देगा इसीलिए उन्होंने स्वयं जाकर उसे जानकारी दी कि उसकी युवा पुत्री अब निर्दोष नहीं रही।

अनपायिभिरस्माभिर्गुप्तायाश्च गृहे प्रभो ।
कन्याया दूषणं पुम्भिर्दुष्प्रेक्ष्याया न विद्महे ॥ २७॥

शब्दार्थ

अनपायिभिः—जो कभी बाहर नहीं गये; अस्माभिः—हमारे द्वारा; गुप्तायाः—जिसकी रखवाली की जा रही हो, उसका; च—तथा; गृहे—महल के भीतर; प्रभो—हे स्वामी; कन्यायाः—कुमारी का; दूषणम्—दूषित होना; पुम्भिः—मनुष्यों द्वारा; दुष्प्रेक्ष्यायाः—जिसको देख पाना असम्भव हो; न विद्महे—हमारी समझ में नहीं आता।

"हे स्वामी, हम अपने स्थानों से कहीं नहीं हटीं और सतर्कतापूर्वक उसकी निगरानी करती रही हैं अतः यह हमारी समझ में नहीं आता कि यह कुमारी जिसे कोई पुरुष देख भी नहीं पा सकता महल के भीतर कैसे दूषित हो गई है।"

तात्पर्य : आचार्यों का कहना है कि *अनपायिभिः* का अर्थ "कभी बाहर न जाते हुए" अथवा "कभी ठगे नहीं गये" हो सकता है। यदि हम *दुष्प्रेक्ष्याया* के स्थान पर *दुष्प्रेष्यायाः* पाठ मानें तो रक्षकगण उषा के विषय में कहते हैं, "वह जिसकी दुष्ट सखी दूत बनाकर भेजी गई है।"

ततः प्रव्यथितो बाणो दुहितुः श्रुतदूषणः ।
त्वरितः कन्यकागारं प्राप्तोऽद्राक्षीद्यदूद्वहम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; प्रव्यथितः—अत्यन्त क्षुब्ध; बाणः—बाणासुर; दुहितुः—अपनी पुत्री का; श्रुत—सुना हुआ; दूषणः—कलंक, व्यभिचार; त्वरितः—तुरन्त; कन्यका—अविवाहित लड़कियों के; आगारम्—आवासों में; प्राप्तः—पहुँचकर; अद्राक्षीत्—देखा; यदु-उद्वहम्—यदुओं में सर्वाधिक प्रसिद्ध।

अपनी पुत्री के व्यभिचार को सुनकर अत्यन्त क्षुब्ध बाणासुर तुरन्त ही कुमारियों के आवासों की ओर लपका। वहाँ उसने यदुओं में विख्यात अनिरुद्ध को देखा।

कामात्मजं तं भुवनैकसुन्दरं
श्यामं पिशङ्गाम्बरमम्बुजेक्षणम् ।
बृहद्भुजं कुण्डलकुन्तलत्विषा
स्मितावलोकेन च मण्डिताननम् ॥ २९ ॥
दीव्यन्तमक्षैः प्रिययाभिनृम्णया

तदङ्गसङ्गस्तनकुङ्कुमस्रजम् ।
बाह्वोर्दधानं मधुमल्लिकाश्रितां
तस्याग्र आसीनमवेक्ष्य विस्मितः ॥ ० ॥

शब्दार्थ

काम—कामदेव (प्रद्युम्न) के; आत्मजम्—पुत्र को; तम्—उस; भुवन—सारे लोकों का; एक—एकमात्र; सुन्दरम्—सौन्दर्य; श्यामम्—साँवले रंग का; पिशङ्ग—पीला; अम्बरम्—वस्त्र को; अम्बुज—कमलों जैसी; ईक्षणम्—आँखों को; बृहत्—बलवान; भुजम्—भुजाओं को; कुण्डल—कुण्डलों के; कुन्तल—तथा बालों के गुच्छों की; त्विषा—चमक से; स्मित—हँसते हुए; अवलोकेन—चितवनों से; च—भी; मण्डित—सुशोभित; आननम्—मुखमण्डल को; दीव्यन्तम्—खेलते हुए; अक्षैः—पाँसों से; प्रियया—अपनी प्रिया के साथ; अभिनृम्णया—सर्व मंगलमय; तत्—उसके साथ; अङ्ग—शारीरिक; सङ्ग—स्पर्श के कारण; स्तन—उसके स्तनों से; कुङ्कुम—कुंकुम से युक्त; स्रजम्—फूलमाला को; बाह्वोः—उसकी बाहुओं के बीच में; दधानम्—पहने; मधु—वसन्त ऋतु; मल्लिका—चमेली का; आश्रिताम्—बना हुआ; तस्याः—उसके; अग्रे—सामने; आसीनम्—बैठा हुआ; अवेक्ष्य—देखकर; विस्मितः—चकित।

बाणासुर ने अपने समक्ष अद्वितीय सौन्दर्य से युक्त, साँवले रंग का, पीतवस्त्र पहने कमल-जैसे नेत्रों वाले एवं विशाल बाहुओं वाले कामदेव के आत्मज को देखा। उसका मुखमंडल तेजोमय कुण्डलों तथा केश से तथा हँसीली चितवनों से सुशोभित था। जब वह अपनी अत्यन्त मंगलमयी प्रेमिका के सम्मुख बैठा हुआ उसके साथ चौसर खेल रहा था, तो उसकी भुजाओं के बीच में वासन्ती चमेली की माला लटक रही थी जिस पर कुंकुम पुता था, जो उसके द्वारा आलिंगन करने पर उसके स्तनों पर से माला में चुपड़ गया था। यह सब देखकर बाणासुर चकित था।

तात्पर्य : बाणासुर अनिरुद्ध की निर्भीकता पर चकित था: यह राजकुमार उस तरुणी के कक्ष में शान्तिपूर्वक बैठा था और बाणासुर की कुमारी कन्या के साथ खेल कर रहा था। वैदिक संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में ऐसी घटना देखना अविश्वसनीय था।

स तं प्रविष्टं वृतमाततायिभि-
र्भटैरनीकैरवलोक्य माधवः ।
उद्यम्य मौर्वं परिघं व्यवस्थितो
यथान्तको दण्डधरो जिघांसया ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, अनिरुद्ध; तम्—उसको, बाणासुर को; प्रविष्टम्—प्रविष्ट हुआ; वृतम्—घिरा हुआ; आततायिभिः—हथियार लिये हुए; भटैः—रक्षकों द्वारा; अनीकैः—अनेक; अवलोक्य—देखकर; माधवः—अनिरुद्ध; उद्यम्य—उठ कर; मौर्वम्—मुरु लोहे की बनी; परिघम्—गदा को; व्यवस्थितः—दृढ़तापूर्वक खड़े होकर; यथा—सदृश; अन्तकः—साक्षात् काल; दण्ड—डंडा; धरः—लिए हुए; जिघांसया—मारने के लिए उद्यत।

बाणासुर को अनेक सशस्त्र रक्षकों सहित घुसते हुए देखकर अनिरुद्ध ने अपनी लोहे की

गदा उठाई और अपने ऊपर आक्रमण करने वाले पर प्रहार करने के लिए सन्नद्ध होकर तनकर खड़ा हो गया। वह दण्डधारी साक्षात् काल की तरह लग रहा था।

तात्पर्य : उसकी गदा सामान्य लोहे की नहीं अपितु विशेष प्रकार के लोहे की—मुरु की—बनी थी।

जिघृक्षया तान्परितः प्रसर्पतः
शुनो यथा शूकरयूथपोऽहनत् ।
ते हन्यमाना भवनाद्विनिर्गता
निर्भिन्नमूर्धोरुभुजाः प्रदुद्रुवुः ॥ २॥

शब्दार्थ

जिघृक्षया—दबोच लेने के लिए; तान्—उनको; परितः—चारों ओर से; प्रसर्पतः—पास आकर; शुनः—कुत्ते; यथा—जिस प्रकार; शूकर—सुअरों के; यूथ—झुंड का; पः—नायक, अगुआ; अहनत्—उसने प्रहार किया; ते—वे; हन्यमानाः—प्रहार किये गये; भवनात्—महल से; विनिर्गताः—बाहर चले गये; निर्भिन्न—टूटे हुए; मूर्ध—सिर; ऊरु—जाँघें; भुजाः—तथा भुजाएँ; प्रदुद्रुवुः—वे भाग गये।

जब रक्षकगण उसे पकड़ने के प्रयास में चारों ओर से उसकी ओर टूट पड़े तो अनिरुद्ध ने उन पर उसी तरह वार किया जिस तरह कुत्तों पर सूअरों का झुंड मुड़ कर प्रहार करता है। उसके वारों से आहत रक्षकगण महल से अपनी जान बचाकर भाग गये। उनके सिर, जाँघें तथा बाहुएँ टूट गई थीं।

तं नागपाशैर्बलिनन्दनो बली
घ्नन्तं स्वसैन्यं कुपितो बबन्ध ह ।
ऊषा भृशं शोकविषादविह्वला
बद्धं निशम्याश्रुकलाक्ष्यरौत्सीत् ॥ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; नाग-पाशैः—नाग-पाश से; बलि-नन्दनः—बलि-पुत्र (बाणासुर) ने; बली—बलशाली; घ्नन्तम्—प्रहार करते हुए; स्व—अपनी; सैन्यम्—सेना पर; कुपितः—क्रुद्ध होकर; बबन्ध ह—बाँध लिया; ऊषा—उषा; भृशम्—अत्यन्त; शोक—शोक; विषाद—तथा हताशा से; विह्वला—अभिभूत; बद्धम्—बँधा हुआ; निशम्य—सुनकर; अश्रु-कला—आँसुओं की बूँदों से; अक्षी—आँखों में; अरौत्सीत्—चिल्लाई।

किन्तु जब अनिरुद्ध बाण की सेना पर प्रहार कर रहा था, तो शक्तिशाली बलि-पुत्र ने क्रोधपूर्वक उसे नागपाश से बाँध लिया। जब ऊषा ने अनिरुद्ध का बाँधा जाना सुना तो वह शोक तथा विषाद से अभिभूत हो गई। उसकी आँखें आँसू से भर आईं और वह रोने लगी।

तात्पर्य : आचार्यों का कहना है कि बाणासुर भगवान् कृष्ण के बलवान पौत्र को वास्तव में बाँध

नहीं पाया। किन्तु भगवान् की लीला-शक्ति से ऐसा हो सका जिससे आगे होने वाली घटनाएँ घट सकें।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''ऊषा-अनिरुद्ध मिलन'' नामक बासठवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तिरसठ

बाणासुर और भगवान् कृष्ण का युद्ध

इस अध्याय में कृष्ण तथा शिव के बीच युद्ध का एवं कृष्ण द्वारा बाणासुर की भुजाएँ काटे जाने के बाद शिव द्वारा कृष्ण की स्तुति का विवरण दिया हुआ है।

जब अनिरुद्ध शोणितपुर से नहीं लौटा तो उसके परिवार वालों तथा मित्रों ने वर्षा के चातुर्मास बड़े ही कष्ट में बिताये। जब अन्त में उन्होंने नारदमुनि से सुना कि किस तरह अनिरुद्ध बन्दी बना लिया गया है, तो कृष्ण के संरक्षण में यादव योद्धाओं की एक विशाल सेना बाणासुर की राजधानी के लिए रवाना हो गई और उसने जाकर घेरा डाल दिया। बाणासुर ने अपनी उतनी ही बड़ी सेना से उसका पुरजोर मुकाबला किया। बाणासुर की सहायता के लिए शिवजी, कार्तिकेय तथा योगियों की टोली लेकर, बलराम तथा कृष्ण से लड़ने आये। बाण सात्यकि से और बाण का पुत्र साम्ब से लड़ने लगा। सारे देवता आकाश में युद्ध देखने के लिए एकत्र हो गये। भगवान् कृष्ण ने अपने बाणों से शिवजी के अनुयायियों को तंग करना शुरू कर दिया। इस तरह शिवजी को दुविधा में डाल कर वे बाणासुर की सेना का सफाया कर सके। प्रद्युम्न ने कार्तिकेय की इतनी बुरी तरह से पिटाई की कि वे युद्धभूमि छोड़ कर भाग गये और बाणासुर की सेना के शेष सैनिक बलराम की गदा के प्रहारों से नष्ट-भ्रष्ट होकर चारों दिशाओं में तितर-बितर हो गये।

अपनी सेना का विनाश देख कर बाणासुर कृष्ण पर आक्रमण करने के लिए तेजी से बढ़ा। किन्तु भगवान् ने बाण के सारथी को तत्काल मार डाला और उसके रथ तथा धनुष को तोड़ डाला। तत्पश्चात् उन्होंने अपना पञ्चजन्य शंख बजा दिया। इसके बाद अपने पुत्र की रक्षा करने के उद्देश्य से बाणासुर की माता कृष्ण के समक्ष नंगी होकर आई जिन्होंने उसे देखने से बचने के लिए अपना मुख मोड़ लिया।

इस अवसर का लाभ उठाकर बाण अपनी नगरी को भाग गया।

जब भगवान् कृष्ण शिवजी की सेना के भूतप्रेतों को पूरी तरह परास्त कर चुके तो कृष्ण से लड़ने के लिए शिवज्वर नामक हथियार आया—इसके तीन सिर तथा तीन पाँव थे और यह ज्वर का साक्षात् रूप था। शिवज्वर को आते देख कृष्ण ने अपना विष्णुज्वर छोड़ा। शिवज्वर विष्णुज्वर से परास्त हो गया और कहीं भी शरण न पाकर कृष्ण से दया की भीख माँगने के लिए उनकी स्तुति करने लगा। भगवान् कृष्ण शिवज्वर से प्रसन्न हो गये और उसे भय से मुक्त करने का वचन दिया। तब उसने कृष्ण को नमस्कार किया और चलता बना।

इसके बाद बाणासुर लौटा और अपने एक हजार हाथों में नाना प्रकार के हथियार लेकर उसने कृष्ण पर पुन: आक्रमण कर दिया। किन्तु भगवान् कृष्ण ने अब अपना सुदर्शन चक्र सँभाला और उस असुर के सभी हाथों को काटना शुरू कर दिया। तब शिवजी बाणासुर के प्राणों की रक्षा के लिए कृष्ण के पास पहुँचे और जब कृष्ण उसे जीवनदान देने के लिए तैयार हो गये तो उन्होंने शिवजी से कहा, ''बाणासुर का जन्म प्रह्लाद महाराज के कुल में हुआ है, अत: यह मरने के योग्य नहीं है। मैंने इसका मिथ्या गर्व विनष्ट करने के लिए उसकी चार बाहें छोड़कर शेष सारी भुजाएँ काट दी हैं और मैंने पृथ्वी पर उसकी भारस्वरूप सेना का संहार कर दिया है। अब वह बुढ़ापा तथा मृत्यु से मुक्त हो जायेगा और निर्भय रहते हुए आपका मुख्य सेवक रहेगा।''

जब बाणासुर आश्वस्त हो गया कि उसे कोई भय नहीं है, तो उसने कृष्ण को नमस्कार किया और उषा तथा अनिरुद्ध को विवाह-रथ पर चढ़ाकर कृष्ण के समक्ष ले आया। तब कृष्ण जुलूस के आगे-आगे अनिरुद्ध तथा उसकी दुलहन को लेकर द्वारका के लिए रवाना हो गये। जब वे नवदम्पति भगवान् की राजधानी पहुँचे तो नागरिकों, भगवान् के परिवारजनों एवं ब्राह्मणों ने उनका अभिनन्दन किया।

शृईशुक उवाच

अपश्यतां चानिरुद्धं तद्बन्धूनां च भारत ।
चत्वारो वार्षिका मासा व्यतीयुरनुशोचताम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अपश्यताम्—न देखते हुए; च—तथा; अनिरुद्धम्—अनिरुद्ध को; तत्—उसके; बन्धूनाम्—परिवार वालों के लिए; च—तथा; भारत—हे भरतवंशी (परीक्षित महाराज); चत्वार:—चार; वार्षिक:—वर्षा ऋतु के; मासा:—महीने; व्यतीयु:—बीत गये; अनुशोचताम्—शोक करते हुए।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे भारत, अनिरुद्ध के सम्बन्धीजन उसे लौटे न देखकर शोकग्रस्त रहे और इस तरह वर्षा के चार मास बीत गये।

नारदात्तदुपाकर्ण्य वार्तां बद्धस्य कर्म च ।
प्रययु: शोणितपुरं वृष्णयः कृष्णदैवता: ॥ २॥

शब्दार्थ

नारदात्—नारद से; तत्—उस; उपाकर्ण्य—सुनकर; वार्ताम्—समाचार को; बद्धस्य—पकड़े हुए के विषय में; कर्म—कर्म; च—तथा; प्रययु:—वे गये; शोणित-पुरम्—शोणितपुर; वृष्णय:—वृष्णिजन; कृष्ण—भगवान् कृष्ण; दैवता:—उनके पूज्य देव के रूप में प्राप्त।

नारद से अनिरुद्ध के कार्यों तथा उसके बन्दी होने के समाचार सुनकर, भगवान् कृष्ण को अपना पूज्य देव मानने वाले वृष्णिजन शोणितपुर गये।

प्रद्युम्नो युयुधानश्च गद: साम्बोऽथ सारण: ।
नन्दोपनन्दभद्राद्या रामकृष्णानुवर्तिन: ॥ ॥
अक्षौहिणीभिर्द्वादशभि: समेता: सर्वतो दिशम् ।
रुरुधुर्बाणनगरं समन्तात्सात्वतर्षभा: ॥ ४॥

शब्दार्थ

प्रद्युम्न: युयुधान: च—प्रद्युम्न तथा युयुधान (सात्यकि); गद: साम्ब: अथ सारण:—गद, साम्ब तथा सारण; नन्द-उपनन्द-भद्र—नन्द, उपनन्द तथा भद्र; आद्या:—इत्यादि; राम-कृष्ण-अनुवर्तिन:—बलराम तथा कृष्ण के पीछे पीछे; अक्षौहिणीभि:—अक्षौहिणी के साथ; द्वादशभि:—बारह; समेता:—एकत्र; सर्वत: दिशम्—सारी दिशाओं में; रुरुधु:—घेर लिया; बाण-नगरम्—बाणासुर की नगरी को; समन्तात्—पूर्णतया; सात्वत-ऋषभा:—सात्वतों के प्रमुखों ने।

श्री बलराम तथा कृष्ण को आगे करके सात्वत वंश के प्रमुख—प्रद्युम्न, सात्यकि, गद, साम्ब, सारण, नन्द, उपनन्द, भद्र तथा अन्य लोग बारह अक्षौहिणी सेना के साथ एकत्र हुए और चारों ओर से बाणासुर की नगरी को पूरी तरह से घेर लिया।

भज्यमानपुरोद्यानप्राकाराट्टालगोपुरम् ।
प्रेक्षमाणो रुषाविष्टस्तुल्यसैन्योऽभिनिर्ययौ ॥ ५॥

शब्दार्थ

भज्यमान—टूट जाने से; पुर—नगरी के; उद्यान—बगीचे; प्राकार—ऊँची दीवारें, परकोटे; अट्टाल—चौकसी मीनारें, बुर्ज; गोपुरम्—तथा प्रवेशद्वार, सिंहद्वार; प्रेक्षमाण:—देखते हुए; रुषा—क्रोध से; आविष्ट:—पूरित; तुल्य—समान; सैन्य:—सेना के साथ; अभिनिर्ययौ—उनकी ओर गये।

उन्हें अपनी नगरी के बाहरी बगीचे, ऊँची दीवारें, मीनारें तथा प्रवेशद्वार नष्ट-भ्रष्ट करते देखकर बाणासुर क्रोध से भर उठा और वह उन्हीं के बराबर सेना लेकर उनसे मुठभेड़ करने के

लिए निकल आया।

बाणार्थे भगवान्रुद्रः ससुतः प्रमथैर्वृतः ।
आरुह्य नन्दिवृषभं युयुधे रामकृष्णयोः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

बाण-अर्थे—बाण के लिए; भगवान् रुद्रः—शिवजी ने; स-सुतः—पुत्र (कार्तिकेय, जो कि देव-सेना के सेनापति हैं) सहित; प्रमथैः—प्रमथों (योगीजन जो कई रूपों में शिवजी की सेवा करते हैं) सहित; वृतः—संग में लेकर; आरुह्य—चढ़ कर; नन्दि—नन्दि पर; वृषभम्—अपने बैल; युयुधे—युद्ध किया; राम-कृष्णयोः—बलराम तथा कृष्ण से।.

भगवान् रुद्र अपने पुत्र कार्तिकेय तथा प्रमथों को साथ लेकर बाणासुर के पक्ष में बलराम तथा कृष्ण से लड़ने के लिए अपने बैल-वाहन नन्दि पर सवार होकर आये।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी इंगित करते हैं कि यहाँ पर *भगवान्* शब्द यह सूचित कराने के लिए प्रयुक्त हुआ है कि शिवजी स्वभाव से सर्वज्ञ हैं और इस तरह वे भगवान् कृष्ण की महानता से भलीभाँति अवगत हैं। फिर भी, यह जानते हुए कि भगवान् कृष्ण उन्हें हरा देंगे वे भगवान् की महिमा का प्रदर्शन करने के लिए उनके विरुद्ध युद्ध करने आये।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि शिवजी दो कारणों से युद्ध करने आये: पहला—भगवान् कृष्ण के आनन्द तथा उत्साहवर्धन के लिए और दूसरा—यह प्रदर्शित करने कि कृष्ण रूप में भगवान् का अवतार अन्य अवतारों से—यथा भगवान् रामचन्द्र से श्रेष्ठ है यद्यपि वे मनुष्य की भाँति लीलाएँ करते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती यह भी बतलाते हैं कि कृष्ण की अन्तरंगा शक्ति योगमाया ने शिवजी को उसी तरह मोहित किया जिस तरह ब्रह्मा को किया था। अपने कथन के समर्थन में आचार्य ने भक्तिरसामृत सिन्धु से *ब्रह्मरुद्रादिमोहनम्* पद उद्धृत किया है। निस्सन्देह योगमाया का कार्य भगवान् की लीलाओं के लिए उत्तम व्यवस्था करना है। इस तरह शिवजी भगवान् कृष्ण से युद्ध करने के लिए उत्साहित हो गए।

आसीत्सुतुमुलं युद्धमद्भुतं रोमहर्षणम् ।
कृष्णशङ्करयो राजन्प्रद्युम्नगुहयोरपि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

आसीत्—हुआ; सु-तुमुलम्—अत्यन्त घमासान; युद्धम्—युद्ध; अद्भुतम्—अद्भुत; रोम-हर्षणम्—शरीर के रोंगटे खड़ा कर देने वाला; कृष्ण-शङ्करयोः—कृष्ण तथा शिव के मध्य; राजन्—हे राजा (परीक्षित); प्रद्युम्न-गुहयोः—प्रद्युम्न तथा कार्तिकेय के मध्य; अपि—भी।.

तत्पश्चात् अत्यन्त अद्‌भुत, घमासान तथा रोंगटे खड़ा कर देने वाला युद्ध प्रारम्भ हुआ जिसमें भगवान् कृष्ण शंकर से और प्रद्युम्न कार्तिकेय से भिड़ गये।

कुम्भाण्डकूपकर्णाभ्यां बलेन सह संयुगः ।
साम्बस्य बाणपुत्रेण बाणेन सह सात्यकेः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

कुम्भाण्ड-कूपकर्णाभ्याम्—कुम्भाण्ड तथा कूपकर्ण द्वारा; बलेन सह—बलराम के साथ; संयुगः—युद्ध; साम्बस्य—साम्ब का; बाण-पुत्रेण—बाण के पुत्र के साथ; बाणेन सह—बाण के साथ; सात्यकेः—सात्यकि का।

बलरामजी ने कुम्भाण्ड तथा कूपकर्ण से, साम्ब ने बाण-पुत्र से और सात्यकि ने बाण से युद्ध किया।

ब्रह्मादयः सुराधीशा मुनयः सिद्धचारणाः ।
गन्धर्वाप्सरसो यक्षा विमानैर्द्रष्टुमागमन् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा इत्यादि; सुर—देवताओं के; अधीशाः—शासक; मुनयः—मुनिगण; सिद्ध-चारणाः—सिद्ध तथा चारण देवतागण; गन्धर्व-अप्सरसः—गन्धर्व तथा अप्सराएँ; यक्षाः—यक्षगण; विमानैः—विमानों से; द्रष्टुम्—देखने के लिए; आगमन्—आये।

सिद्धों, चारणों, महामुनियों, गन्धर्वों, अप्सराओं तथा यक्षों के साथ ब्रह्मा तथा अन्य शासक देवतागण अपने अपने दिव्य विमानों में चढ़ कर (युद्ध) देखने आये।

शङ्करानुचराञ्शौरिर्भूतप्रमथगुह्यकान् ।
डाकिनीर्यातुधानांश्च वेतालान्सविनायकान् ॥ ॥
प्रेतमातृपिशाचांश्च कुष्माण्डान्ब्रह्मराक्षसान् ।
द्रावयामास तीक्ष्णाग्रैः शरैः शार्ङ्गधनुश्च्युतैः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

शङ्कर—शंकर के; अनुचरान्—अनुयायी; शौरिः—भगवान् कृष्ण ने; भूत-प्रमथ—भूतों तथा प्रमथगणों; गुह्यकान्—गुह्यकजन (कुवेर के सेवक जो स्वर्ग के कोष की रक्षा करते हैं); डाकिनीः—देवी काली की सेवा करने वाली असुरिनियों; यातुधानान्—मनुष्यों को खा जाने वाले असुर, जो राक्षस भी कहे जाते हैं; च—तथा; वेतालान्—वेतालों को; स-विनायकान्—विनायकों समेत; प्रेत—प्रेतगणों; मातृ—मातृपक्ष के असुरों; पिशाचान्—अन्तरिक्ष में रहने वाले मांस-भक्षी असुरों; च—भी; कुष्माण्डान्—शिव के अनुयायियों को जो योगियों के ध्यान को भंग करते रहते हैं; ब्रह्म-राक्षसान्—उन ब्राह्मणों की आसुरी आत्माएँ जिनकी मृत्यु पाप-कृत्यों से हुई है; द्रावयाम् आस—भगा दिया; तीक्ष्ण-अग्रैः—तेज नोक वाले; शरैः—बाणों से; शार्ङ्ग-धनुः—शार्ङ्ग नामक धनुष से; च्युतैः—छोड़े गये।

अपने शार्ङ्ग धनुष से तेज नोक वाले बाणों को छोड़ते हुए भगवान् कृष्ण ने शिवजी के विविध अनुचरों—भूतों, प्रमथों, गुह्यकों, डाकिनियों, यातुधानों, वेतालों, विनायकों, प्रेतों,

माताओं, पिशाचों, कुष्माण्डों तथा ब्रह्म-राक्षसों—को भगा दिया।

पृथग्विधानि प्रायुङ्क्त पिणाक्यस्त्राणि शार्ङ्गिणे ।
प्रत्यस्त्रैः शमयामास शार्ङ्गपाणिरविस्मितः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

पृथक्-विधानि—विविध प्रकारों के; प्रायुङ्क्त —लगे हुए; पिणाकी—त्रिशूलधारी शिवजी ने; अस्त्राणि—हथियार; शार्ङ्गिणे—शार्ङ्ग धनुषधारी कृष्ण के विरुद्ध; प्रति-अस्त्रैः—विरोधी अस्त्रों द्वारा; शमयाम् आस—शान्त कर दिया; शार्ङ्ग-पाणिः—शार्ङ्ग धनुषधारी; अविस्मितः—तनिक भी चकित हुए बिना।

त्रिशूलधारी शिवजी ने शार्ङ्ग धनुषधारी कृष्ण पर अनेक हथियार चलाये। किन्तु कृष्ण तनिक भी विचलित नहीं हुए—उन्होंने उपयुक्त प्रतिअस्त्रों द्वारा इन सारे हथियारों को निष्प्रभावित कर दिया।

ब्रह्मास्त्रस्य च ब्रह्मास्त्रं वायव्यस्य च पार्वतम् ।
आग्नेयस्य च पार्जन्यं नैजं पाशुपतस्य च ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-अस्त्रस्य—ब्रह्मास्त्र का; च—तथा; ब्रह्म-अस्त्रम्—ब्रह्मास्त्र से; वायव्यस्य—हवाई हथियार का; च—तथा; पार्वतम्—पर्वत अस्त्र से; आग्नेयस्य—आग्नेयास्त्र का; च—तथा; पार्जन्यम्—वर्षा अस्त्र से; नैजम्—अपने निजी (नारायणास्त्र) से; पाशुपतस्य—शिवजी के पाशुपतास्त्र का; च—तथा।

भगवान् कृष्ण ने ब्रह्मास्त्र का सामना दूसरे ब्रह्मास्त्र से, वायुअस्त्र का सामना पर्वत अस्त्र से, अग्नि अस्त्र का वर्षा अस्त्र से तथा शिवजी के निजी पाशुपतास्त्र का सामना अपने निजी अस्त्र नारायणास्त्र से किया।

मोहयित्वा तु गिरिशं जृम्भणास्त्रेण जृम्भितम् ।
बाणस्य पृतनां शौरिर्जघानासिगदेषुभिः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

मोहयित्वा—मोहित करके; तु—तब; गिरिशम्—शिवजी को; जृम्भण-अस्त्रेण—जँभाई लाने वाले अस्त्र से; जृम्भितम्—जँभाई लाते हुए; बाणस्य—बाण की; पृतनाम्—सेना को; शौरिः—कृष्ण; जघान—मारने लगे; असि—तलवार; गदा—गदा; इषुभिः—तथा बाणों से।

जृम्भणास्त्र द्वारा जम्भाई लिवाकर शिवजी को मोहित कर देने के बाद कृष्ण बाणासुर की सेना को अपनी तलवार, गदा तथा बाणों से मारने लगे।

स्कन्दः प्रद्युम्नबाणौघैरर्द्यमानः समन्ततः ।

असृग्विमुञ्चन्गात्रेभ्यः शिखिनापक्रमद्रणात् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

स्कन्दः—कार्तिकेय; प्रद्युम्न-बाण—प्रद्युम्न के बाणों की; ओघैः—वर्षा से; अर्द्यमानः—व्यथित हुआ; समन्ततः—चारों ओर; असृक्—रक्त; विमुञ्चन्—गिराते हुए; गात्रेभ्यः—अपने अंगों से; शिखिना—मोर वाहन पर; अपाक्रमत्—चला गया; रणात्—युद्धभूमि से।

कार्तिकेय चारों ओर से हो रही प्रद्युम्न के बाणों की वर्षा से व्यथित थे अतः वे अपने मोर-वाहन पर चढ़ कर युद्धभूमि से भाग गये क्योंकि उनके अंग-प्रत्यंग से रक्त निकलने लगा था।

कुम्भाण्डकूपकर्णश्च पेततुर्मुषलार्दितौ ।
दुद्रुवुस्तदनीकनि हतनाथानि सर्वतः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

कुम्भाण्ड-कूपकर्णः च—कुम्भाण्ड तथा कूपकर्ण; पेततुः—गिर पड़े; मुषल—(बलराम की) गदा से; अर्दितौ—चोट खाकर; दुद्रुवुः—भाग गये; तत्—उनकी; अनीकानि—सेनाएँ; हत—मारे गये; नाथानि—जिनके सेना-नायक; सर्वतः—सभी दिशाओं में।

कुम्भाण्ड तथा कूपकर्ण बलराम की गदा से चोट खाकर धराशायी हो गये। जब इन दोनों असुरों के सैनिकों ने देखा कि उनके सेना-नायक मारे जा चुके हैं, तो वे सभी दिशाओं में तितर-बितर हो गये।

विशीर्यमाणम्स्वबलं दृष्ट्वा बाणोऽत्यमर्षितः ।
कृष्णमभ्यद्रवत्सङ्ख्ये रथी हित्वैव सात्यकिम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

विशीर्यमाणम्—छिन्न-भिन्न किये हुए; स्व—अपनी; बलम्—सेना को; दृष्ट्वा—देखकर; बाणः—बाण; अति—अत्यन्त; अमर्षितः—क्रुद्ध; कृष्णम्—कृष्ण पर; अभ्यद्रवत्—आक्रमण कर दिया; सङ्ख्ये—युद्धभूमि में; रथी—रथ पर सवार; हित्वा—एक तरफ छोड़ कर; एव—निस्सन्देह; सात्यकिम्—सात्यकि को।

बाणासुर अपनी समूची सेना को छिन्नभिन्न होते देखकर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। सात्यकि से लड़ना छोड़ कर और अपने रथ पर सवार होकर युद्धभूमि को पार करते हुए उसने कृष्ण पर आक्रमण कर दिया।

धनूंष्याकृष्य युगपद् बाणः पञ्चशतानि वै ।
एकैकस्मिन्शरौ द्वौ द्वौ सन्दधे रणदुर्मदः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

धनूंषि—धनुषों को; आकृष्य—खींचकर; युगपत्—एकसाथ; बाणः—बाण ने; पञ्च-शतानि—पाँच सौ; वै—निस्सन्देह; एक-एकस्मिन्—हर एक पर; शरौ—तीर; द्वौ द्वौ—दो दो; सन्दधे—चढ़ाया; रण—युद्ध के कारण; दुर्मदः—घमंड से मतवाला।

युद्ध करने की सनक में बहकर बाण ने एकसाथ अपने पाँच सौ धनुषों की डोरियाँ खींच कर हर डोरी पर दो दो बाण चढ़ाये।

तानि चिच्छेद भगवान्धनूंसि युगपद्धरिः ।
सारथिं रथमश्वांश्च हत्वा शङ्खमपूरयत् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तानि—उन; चिच्छेद—काट दिया; भगवान्—भगवान्; धनूंसि—धनुषों को; युगपत्—एक ही बार में; हरिः—श्रीकृष्ण ने; सारथिम्—रथ हाँकने वाले को; रथम्—रथ को; अश्वान्—घोड़ों को; च—तथा; हत्वा—मार कर; शङ्खम्—अपना शंख; अपूरयत्—बजाया।.

भगवान् श्री हरि ने बाणासुर के सारे धनुषों को एक ही साथ काट दिया और उसके सारथी, रथ तथा घोड़ों को मार गिराया। तत्पश्चात् भगवान् ने अपना शंख बजाया।

तन्माता कोटरा नाम नग्ना मक्तशिरोरुहा ।
पुरोऽवतस्थे कृष्णस्य पुत्रप्राणरिरक्षया ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तत्—उसकी (बाणासुर की); माता—माता; कोटरा नाम—कोटरा नामक; नग्ना—नंगी; मुक्त—खोले; शिरः-रुहा—अपने बाल; पुरः—सामने; अवतस्थे—खड़ी हो गई; कृष्णस्य—कृष्ण के; पुत्र—अपने पुत्र के; प्राण—जीवन; रिरक्षया—बचाने की आशा से।.

तभी बाणासुर की माता कोटरा अपने पुत्र के प्राण बचाने की इच्छा से भगवान् कृष्ण के समक्ष नंग-धड़ंग तथा बाल बिखेरे आ धमकी।

ततस्तिर्यङ्मुखो नग्नामनिरीक्षन्गदाग्रजः ।
बाणश्च तावद्विरथश्छिन्नधन्वाविशत्पुरम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; तिर्यक्—पीछे की ओर किये; मुखः—अपना मुँह; नग्नाम्—नग्न स्त्री को; अनिरीक्षन्—न देखते हुए; गदाग्रजः—कृष्ण; बाणः—बाण; च—तथा; तावत्—उस अवसर पर; विरथः—रथविहीन; छिन्न—टूटा हुआ; धन्वा—धनुष; आविशत्—प्रविष्ट हुआ; पुरम्—नगरी में।.

भगवान् गदाग्रज ने उस नंगी स्त्री को देखे जाने से बचने के लिए अपना मुख पीछे की ओर मोड़ लिया और रथविहीन हो जाने तथा धनुष के टूट जाने से बाणासुर इस अवसर का लाभ उठाकर अपने नगर को भाग गया।

विद्राविते भूतगणे ज्वरस्तु त्रीशिरास्त्रीपात् ।

अभ्यधावत दाशार्हं दहन्निव दिशो दश ॥ २२॥

शब्दार्थ

विद्राविते—भगा दिये जाने पर; भूत-गणे—शिवजी के सारे अनुचरों के; ज्वर:—शिवजी की सेवा करने वाला साक्षात् ज्वर; तु—लेकिन; त्रि—तीन; शिराः—सिर वाले; त्रि—तीन; पात्—पाँव वाले; अभ्यधावत—की ओर दौड़ा; दाशार्हम्—भगवान् कृष्ण को; दहन्—जलाते हुए; इव—सदृश; दिश:—दिशाएँ; दश—दसों।

जब शिवजी के अनुचर भगा दिये गये, तो तीन सिर तथा तीन पैर वाला शिवज्वर कृष्ण पर आक्रमण करने के लिए आगे लपका। ज्योंही शिवज्वर निकट पहुँचा तो ऐसा लगा कि वह दसों दिशाओं की सारी वस्तुओं को जला देगा।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने शिवज्वर का निम्नलिखित वर्णन उद्धृत किया है—

ज्वरस्त्रिपदस्त्रिशिरा: षड्भुजो नवलोचन: ।

भस्मप्रहरणो रौद्र: कालान्तकयमोपम: ॥

''भयानक शिवज्वर के तीन पाँव, तीन सिर, छह भुजाएँ तथा नौ आँखें थीं। राख की वर्षा करते हुए वह जैसे ब्रह्माण्ड के संहार के समय यमराज सा प्रतीत हो रहा था।''

अथ नारायण: देव: तं दृष्ट्वा व्यसृजज्वरम् ।
माहेश्वरो वैष्णवश्च युयुधाते ज्वरावुभौ ॥ २॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात; नारायण: देव:—भगवान् नारायण (कृष्ण) ने; तम्—उस (शिवज्वर) को; दृष्ट्वा—देखकर; व्यसृजत्—छोड़ दिया; ज्वरम्—अपना साक्षात् ज्वर (जो अतीव शीतल था, जबकि शिवज्वर अतीव गर्म था); माहेश्वर:—महेश्वर का; वैष्णव:—भगवान् विष्णु के; च—तथा; युयुधाते—लड़ने लगे; ज्वरौ—दो ज्वर; उभौ—एक-दूसरे के विरुद्ध।

तत्पश्चात् इस अस्त्र को पास आते देखकर भगवान् नारायण ने अपना निजी ज्वर अस्त्र, विष्णुज्वर, छोड़ा। इस तरह शिवज्वर तथा विष्णुज्वर एक-दूसरे से युद्ध करने लगे।

माहेश्वर: समाक्रन्दन्वैष्णवेन बलार्दित: ।
अलब्ध्वाभयमन्यत्र भीतो माहेश्वरो ज्वर: ।
शरणार्थी हृषीकेशं तुष्टाव प्रयताञ्जलि: ॥ २४॥

शब्दार्थ

माहेश्वर:—शिव का (ज्वर अस्त्र); समाक्रन्दन्—चिल्लाता हुआ; वैष्णवेन—वैष्णवज्वर के; बल—बल से; अर्दित:—पीड़ित; अलब्ध्वा—न पाकर; अभयम्—निडरता; अन्यत्र—और कहीं; भीत:—डरा हुआ; माहेश्वर: ज्वर:—शिव ज्वर; शरण—शरण के लिए; अर्थी—लालायित; हृषीकेशम्—हर एक की इन्द्रियों के स्वामी, भगवान् कृष्ण की; तुष्टाव—उसने प्रशंसा की; प्रयत-अञ्जलि:—हाथ जोड़कर।

विष्णुज्वर के बल से परास्त शिवज्वर पीड़ा से चिल्ला उठा। किन्तु कहीं आश्रय न पाकर

भयभीत हुआ शिवज्वर इन्द्रियों के स्वामी कृष्ण के पास शरण पाने की आशा से आया। इस तरह वह अपने हाथ जोड़कर उनकी प्रशंसा करने लगा।

तात्पर्य : जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इंगित किया है, यह महत्त्वपूर्ण है कि शिवज्वर अपने स्वामी शिव को छोड़कर सीधे भगवान् कृष्ण की शरण लेने गया।

ज्वर उवाच

नमामि त्वानन्तशक्तिं परेशम्
सर्वात्मानं केवलं ज्ञप्तिमात्रम् ।
विश्वोत्पत्तिस्थानसंरोधहेतुं
यत्तद्ब्रह्म ब्रह्मलिङ्गम्प्रशान्तम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

ज्वरः उवाच—(शिव) ज्वर ने कहा; नमामि—मैं नमस्कार करता हूँ; त्वा—तुमको; अनन्त—अनन्त; शक्तिम्—शक्ति वाले; पर—परम; ईशम्—स्वामी; सर्व—सबों के; आत्मानम्—आत्मा; केवलम्—शुद्ध; ज्ञप्ति—चेतना की; मात्रम्—समग्रता; विश्व—ब्रह्माण्ड की; उत्पत्ति—उत्पत्ति; स्थान—पालन; संरोध—तथा संहार का; हेतुम्—कारण; यत्—जो; तत्—वह; ब्रह्म—ब्रह्म, परम सत्य; ब्रह्म—वेदों द्वारा; लिन्गम्—जिसका अप्रत्यक्ष प्रसंग (अनुमान); प्रशान्तम्—पूर्णतया शान्त।

शिवज्वर ने कहा : हे अनन्त शक्ति वाले, समस्त जीवों के परमात्मा भगवान्, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप शुद्ध तथा पूर्ण चेतना से युक्त हैं और इस विराट ब्रह्माण्ड की सृष्टि, पालन तथा संहार के कारण हैं। आप पूर्ण शान्त हैं और आप परम सत्य (ब्रह्म) हैं जिनका प्रकारान्तर से सारे वेद उल्लेख करते हैं।

तात्पर्य : इसके पूर्व शिवज्वर अपने को अनन्त शक्तिशाली मान रहा था और इसीलिए वह श्रीकृष्ण को जला देना चाहता था। किन्तु अब वह स्वयं भस्म हो चुका था और यह समझते हुए कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं वह विनयपूर्वक उन्हें नमस्कार करने और उनकी स्तुति करने आया।

आचार्यों के अनुसार *सर्वात्मानम्* शब्द सूचक है कि श्रीकृष्ण परमात्मा हैं—समस्त जीवों को चेतना प्रदान करने वाले हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१५.१५) में कृष्ण करते हैं—*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती अपनी टीका में बल देते हैं कि शिवज्वर ने कई प्रकार से अपने स्वामी की अपेक्षा कृष्ण की श्रेष्ठता का अनुभव कर लिया था। इसीलिए शिवज्वर ने कृष्ण को *अनन्त-शक्ति, परेश* तथा शिवजी के भी—*सर्वात्मा*—कह कर पुकारा है।

केवलं ज्ञप्तिमात्रम् शब्द सूचित करते हैं कि भगवान् कृष्ण शुद्ध सर्वज्ञान से युक्त हैं। हम अपने सीमित ज्ञान के अनुसार इस जगत में कर्म करते हैं लेकिन भगवान् कृष्ण अपने अनन्त ज्ञान से सृजन, पालन तथा संहार का असीम कार्य सम्पन्न करते हैं। जैसाकि श्रील जीव गोस्वामी इंगित करते हैं, वायु जैसे स्थूल तत्त्वों के कार्य भी उन पर आश्रित हैं। इसकी पुष्टि *तैत्तिरीय उपनिषद* (२.८.१) में हुई है—*भीषास्माद् वातः पवते*—उनके डर से वायु बहती है। इस तरह भगवान् कृष्ण सभी जीवों के चरम आराध्य हैं।

कालो दैवं कर्म जीवः स्वभावो
द्रव्यं क्षेत्रं प्राण आत्मा विकारः ।
तत्सङ्घातो बीजरोहप्रवाह-
स्त्वन्मायैषा तन्निषेधं प्रपद्ये ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

कालः—समय; दैवम्—भाग्य; कर्म—भौतिक कर्म के फल; जीवः—व्यष्टि जीव; स्वभावः—उसकी इच्छाएँ; द्रव्यम्—पदार्थ का सूक्ष्म रूप; क्षेत्रम्—शरीर; प्राणः—प्राण-वायु; आत्मा—मिथ्या अहंकार; विकारः—(ग्यारह इन्द्रियों के) रूपान्तर; तत्—इन सबों का; सङ्घातः—संमेल (सूक्ष्म शरीर के रूप में); बीज—बीज; रोह—तथा अंकुर का; प्रवाहः—निरन्तर बहाव; त्वत्—तुम्हारा; माया—भौतिक मोहिनी शक्ति; एषा—यह; तत्—इसके; निषेधम्—निषेध (आप); प्रपद्ये—शरण के लिए आया हूँ।.

काल, भाग्य, कर्म, जीव तथा उसका स्वभाव, सूक्ष्म भौतिक तत्त्व, भौतिक शरीर, प्राण-वायु, मिथ्या अहंकार, विभिन्न इन्द्रियाँ तथा जीव के सूक्ष्म शरीर में प्रतिबिम्बित इन सबों की समग्रता—ये सभी आपकी माया हैं, जो बीज तथा पौधे के अन्तहीन चक्र जैसे हैं। इस माया का निषेध, मैं आपकी शरण ग्रहण करता हूँ।

तात्पर्य : *बीजरोह प्रवाह* शब्द की व्याख्या इस तरह की जाती है : बद्धजीव भौतिक शरीर ग्रहण करता है, जिससे वह भौतिक जगत का भोग करने का प्रयास करता है। यह शरीर भावी जगत का *बीज* है क्योंकि जब कोई व्यक्ति इस शरीर से कर्म करता है, तो उससे अन्य कर्म उत्पन्न होते हैं, जो बढ़कर (*रोह*) दूसरा भौतिक शरीर धारण करने के लिए बाध्य कर देते हैं। दूसरे शब्दों में, भौतिक जीवन कर्म तथा फल की शृंखला है। भगवान् की शरण में जाने का निर्णय बद्धजीव को इस व्यर्थ के बारम्बार वृद्धि तथा फल से छुटकारा दिला देता है।

श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *तन्निषेधं प्रपद्ये* शब्द बतलाते हैं कि भगवान् कृष्ण *निषेधावधिभूतम्*—निषेध की अवधि—हैं। दूसरे शब्दों में, जब सारे मोह का निषेध हो जाता है, तो

परम सत्य बचा रहता है।

शिक्षा की विधि ज्ञानार्जन द्वारा अज्ञान के उन्मूलन की विधि कही जा सकती है। आगमन, निगमन तथा प्रज्ञा विधियों से हम बाहर से सुन्दर, मोहमय तथा अपूर्ण का निराकरण करने का प्रयास करते हैं और अपने को पूर्णज्ञान के पद तक उठाना चाहते हैं। अन्ततोगत्वा जब मोह का निषेध हो जाता है तब जो ठोस रूप में बच जाता है, वह परम सत्य भगवान् है।

पिछले श्लोक में शिवज्वर ने भगवान् को *सर्वात्मानं केवलं ज्ञप्तिमात्रम्* कहा है। अब शिवज्वर भगवान् के विषय में अपना दार्शनिक वर्णन यह कह कर समाप्त करता है कि संसार के विविध पक्ष भी परमेश्वर की शक्तियाँ हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती उल्लेख करते हैं कि भगवान् का अपना शरीर तथा इन्द्रियाँ, जैसाकि *तन्निषेधम्* शब्द से पता चलता है, भगवान् के शुद्ध आध्यात्मिक शरीर से अभिन्न हैं। भगवान् के शरीर तथा इन्द्रियाँ न तो उनसे बाहर हैं न ही उन्हें आच्छादित करती हैं अपितु भगवान् अपने आध्यात्मिक रूप तथा इन्द्रियों से अभिन्न हैं। पूर्ण ब्रह्म अपनी असीम सम्मोहक विविधता से युक्त श्रीकृष्ण ही हैं।

नानाभावैर्लीलयैवोपपन्नै-
देवान्साधून्लोकसेतून्बिभर्षि ।
हंस्युन्मार्गान्हिंसया वर्तमानान्
जन्मैतत्ते भारहाराय भूमेः ॥ २७॥

शब्दार्थ

नाना—विविध; भावैः—मनोभावों से; लीलया—लीलाओं के रूप में; एव—निस्सन्देह; उपपन्नैः—कल्पित; देवान्—देवताओं; साधून्—साधुओं; लोक—संसार के; सेतून्—धर्मसंहिता को; बिभर्षि—स्थिर रखते हो; हंसि—संहार करते हो; उत्-मार्गान्—मार्ग से विपथ; हिंसया—हिंसा द्वारा; वर्तमानान्—जीवित; जन्म—जन्म; एतत्—यह; ते—तुम्हारा; भार—भार; हाराय—उतारने के लिए; भूमेः—पृथ्वी का।

आप देवताओं, साधुओं तथा इस जगत के लिए धर्मसंहिता को बनाये रखने के लिए अनेक भावों से लीलाएँ करते हैं। इन लीलाओं से आप उनका भी वध करते हैं, जो सही मार्ग से हट जाते हैं और हिंसा द्वारा जीवन-यापन करते हैं। निस्सन्देह आपका वर्तमान अवतार पृथ्वी का भार उतारने के लिए है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२९) में भगवान् कृष्ण कहते हैं :

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

"न तो मैं किसी से द्वेष करता हूँ न मैं किसी का पक्षपात करता हूँ। मैं सबों के प्रति समभाव रखता हूँ। किन्तु जो भी भक्तिपूर्वक मेरी सेवा करता है, वह मेरा मित्र है—मुझमें है—और मैं भी उसका मित्र हूँ।"

देवता तथा साधु पुरुष (*देवान् साधून्*) भगवान् की इच्छा पूरी करने के लिए समर्पित रहते हैं। देवता प्रशासक की तरह कार्य करते हैं और साधुजन अपने उपदेशों तथा आदर्शों से आत्म-साक्षात्कार तथा पवित्रता का मार्ग प्रशस्त करते हैं। किन्तु जो लोग प्राकृतिक अर्थात् ईश्वर के नियमों का उल्लंघन करते हैं और अन्यों के साथ हिंसा करके जीते हैं, वे भगवान् द्वारा विविध लीला-अवतारों में विनष्ट कर दिये जाते हैं। जैसाकि भगवान् *भगवद्गीता* (४.११) में कहते हैं—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्य-हम्*। वे निष्पक्ष हैं किन्तु जीवों के कर्मों के प्रति समुचित प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं।

तप्तोऽहम्ते तेजसा दुःसहेन
शान्तोग्रेणात्युल्बणेन ज्वरेण ।
तावत्तापो देहिनां तेऽन्घ्रिमूलं
नो सेवेरन्यावदाशानुबद्धाः ॥ २८॥

शब्दार्थ

तप्तः—जलाया हुआ; अहम्—मैं; ते—तुम्हारी; तेजसा—शक्ति द्वारा; दुःसहेन—दुस्सह; शान्त—ठण्डा, शीतल; उग्रेण—फिर भी तप्त; अति—अत्यधिक; उल्बणेन—भयानक; ज्वरेण—ज्वर से; तावत्—तब तक; तापः—जलन; देहिनाम्—देहधारियों की; ते—तुम्हारे; अङ्घ्रि—चरणों के; मूलम्—तलवा; न—नहीं; उ—निस्सन्देह; सेवेरन्—सेवा करते हैं; यावत्—जब तक; आशा—भौतिक इच्छाओं से; अनुबद्धाः—सतत बँधे हुए।

मैं आपके भयानक ज्वर अस्त्र के भयानक तेज से त्रस्त हूँ जो शीतल होकर भी ज्वल्यमान है। सारे देहधारी जीव तब तक कष्ट भोगते हैं जब तक वे भौतिक महत्वाकांक्षाओं से बँधे रहते हैं और आपके चरणकमलों की सेवा करने से दूर भागते हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में शिवज्वर ने कहा था कि जो लोग हिंसा का जीवन बिताते हैं उन्हें भगवान् के हाथों वैसी ही हिंसा मिलती है। किन्तु यहाँ पर वह उसके आगे यह कहता है कि जो लोग भगवान् की शरण ग्रहण नहीं करते वे विशेष रूप से दण्डनीय हैं। यद्यपि शिवज्वर ने अभी तक स्वयं हिंसात्मक कार्य किया था किन्तु भगवान् की शरण में आ जाने तथा अपना सुधार कर लेने के कारण आशावान है कि उसे भगवत्कृपा प्राप्त हो सकेगी। दूसरे शब्दों में, वह अब भगवद्भक्त बन गया है।

श्रीभगवानुवाच
त्रिशिरस्ते प्रसन्नोऽस्मि व्येतु ते मज्ज्वराद्भयम् ।
यो नौ स्मरति संवादं तस्य त्वन्न भवेद्भयम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; त्रि-शिरः—हे तीन सिरों वाले; ते—तुमसे; प्रसन्नः—प्रसन्न; अस्मि—हूँ; व्येतु—चला जाये; ते—तुम्हारा; मत्—मेरे; ज्वरात्—ज्वर अस्त्र से; भयम्—भय; यः—जो भी; नौ—हमारा; स्मरति—स्मरण करता है; संवादम्—वार्तालाप; तस्य—उसका; त्वत्—तुम्हारा; न भवेत्—नहीं हो; भयम्—भय।

भगवान् ने कहा : हे तीन सिरों वाले, मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। मेरे ज्वर अस्त्र से तुम्हारा भय दूर हो और जो कोई भी हमारी इस वार्ता को सुने वह तुमसे भयभीत न हो।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् शिवज्वर को अपना भक्त मान लेते हैं और उसे पहला आदेश यह देते हैं कि तुम कभी भी अपने तप्त ज्वर से उन लोगों को नहीं डराओगे जो भगवान् की इस लीला को श्रद्धापूर्वक सुनते हैं।

इत्युक्तोऽच्युतमानम्य गतो माहेश्वरो ज्वरः ।
बाणस्तु रथमारूढः प्रागाद्योत्स्यन्जनार्दनम् ॥ ० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्तः—कहे जाने पर; अच्युतम्—अच्युत भगवान् कृष्ण द्वारा; आनम्य—झुक कर; गतः—चला गया; माहेश्वरः—शिव का; ज्वरः—ज्वर अस्त्र; बाणः—बाण; तु—लेकिन; रथम्—अपने रथ पर; आरूढः—चढ़ कर; प्रागात्—आगे आया; योत्स्यन्—युद्ध करने के उद्देश्य से; जनार्दनम्—भगवान् कृष्ण से।

ऐसा कहे जाने पर माहेश्वर-ज्वर ने अच्युत भगवान् को प्रणाम किया और चला गया। किन्तु तभी बाणासुर अपने रथ पर सवार होकर भगवान् कृष्ण से लड़ने के लिए प्रकट हुआ।

ततो बाहुसहस्रेण नानायुधधरोऽसुरः ।
मुमोच परमक्रुद्धो बाणांश्चक्रायुधे नृप ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात; बाहु—अपनी भुजाओं से; सहस्रेण—एक हजार; नाना—अनेक; आयुध—हथियार; धरः—धारण किये; असुरः—असुर ने; मुमोच—छोड़ा; परम—अत्यधिक; क्रुद्धः—क्रुद्ध; बाणान्—बाणों को; चक्र-आयुधे—चक्रधारी पर; नृप—हे राजा (परीक्षित)।

हे राजन्, अपने एक हजार हाथों में असंख्य हथियार लिए उस अतीव क्रुद्ध असुर ने चक्रधारी भगवान् कृष्ण पर अनेक बाण छोड़े।

तस्यास्यतोऽस्त्राण्यसकृच्चक्रेण क्षुरनेमिना ।
चिच्छेद भगवान्बाहून्शाखा इव वनस्पतेः ॥ २॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके; अस्यतः—फेंके गये; अस्त्राणि—हथियारों को; असकृत्—बारम्बार; चक्रेण—अपने चक्र से; क्षुर—तेज; नेमिना—परिधि वाले; चिच्छेद—काट डाला; भगवान्—भगवान् ने; बाहून्—भुजाएँ; शाखाः—टहनियों; इव—की तरह; वनस्पतेः—वृक्ष की।

जब बाण भगवान् पर लगातार हथियार बरसाता रहा तो उन्होंने अपने तेज चक्र से बाणासुर की भुजाओं को काट डाला मानो वे वृक्ष की टहनियाँ हों।

बाहुषु छिद्यमानेषु बाणस्य भगवान्भवः ।
भक्तानकम्प्युपव्रज्य चक्रायुधमभाषत ॥ ॥

शब्दार्थ

बाहुषु—बाहों पर; छिद्यमानेषु—काटी जाती हुई; बाणस्य—बाणासुर की; भगवान् भवः—शिवजी; भक्त—अपने भक्त के प्रति; अनुकम्पी—दयालु; उपव्रज्य—पास जाकर; चक्र-आयुधम्—चक्रधारी कृष्ण से; अभाषत—बोले।

बाणासुर की भुजाएँ कटते देखकर शिवजी को अपने भक्त के प्रति दया आ गयी अतः वे भगवान् चक्रायुध (कृष्ण) के पास पहुँचे और उनसे इस प्रकार बोले।

श्रीरुद्र उवाच
त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिर्गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये ।
यं पश्यन्त्यमलात्मान आकाशमिव केवलम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

श्री-रुद्रः उवाच—शिव ने कहा; त्वम्—तुम; हि—अकेले; ब्रह्म—परम सत्य; परम्—परम; ज्योतिः—प्रकाश; गूढम्—छिपा हुआ; ब्रह्मणि—ब्रह्म में; वाक्-मये—भाषा के रूप में (वेदों में); यम्—जिसको; पश्यन्ति—देखते हैं; अमल—निष्कलंक; आत्मानः—जिनके हृदय; आकाशम्—आकाश के; इव—सदृश; केवलम्—शुद्ध।

श्री रुद्र ने कहा: आप ही एकमात्र परम सत्य, परम ज्योति तथा ब्रह्म की शाब्दिक अभिव्यक्ति के भीतर के गुह्य रहस्य हैं। जिनके हृदय निर्मल हैं, वे आपका दर्शन कर सकते हैं क्योंकि आप आकाश की भाँति निर्मल हैं।

तात्पर्य : परम सत्य समस्त प्रकाश का उद्गम है अतएव वह परम प्रकाश है—आत्म-प्रकाशमय है। इस परम ब्रह्म की गुह्य विवेचना वेदों में की गई है इसलिए सामान्य पाठक की समझ के परे है। श्रील जीव गोस्वामी द्वारा *गोपाल तापनी उपनिषद* से उद्धृत निम्नलिखित कथन यह प्रदर्शित करते हैं कि वैदिक ध्वनियों से कभी कभी ब्रह्म का उद्घाटन किस तरह होता है—*ते होचुरुपासनमेतस्य परात्मनो गोविन्दस्याखिलाधारिणो ब्रूहि* (पूर्व खण्ड १७)—उन्होंने (चार कुमारों ने) (ब्रह्मा से)

कहा—कृपया बतलायें कि गोविन्द की किस तरह पूजा करनी चाहिए जो परमात्मा हैं और जो प्रत्येक विद्यमान पदार्थ की आधारशिला हैं। *चेतश्चेतनानाम्* (पूर्व खण्ड २१)—वह समस्त जीवों में प्रमुख है। तथा *तं ह देवम् आत्मवृत्तिप्रकाशम्* (पूर्व खण्ड २)—अपने आप की अनुभूति होने पर परमेश्वर की अनुभूति की जाती है। महान् आचार्य जीव गोस्वामी भी *श्रीमद्भागवत* से एक श्लोक (१..४८) उद्धृत करते हैं—*गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्*—परब्रह्म मनुष्य सदृश रूप में छिपा है।

चूँकि भगवान् शुद्ध हैं, तो फिर कुछ लोग कृष्ण के रूप तथा कार्यों को अशुद्ध रूप में क्यों अनुभव करते हैं? आचार्य जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि जिनके स्वयं के हृदय अशुद्ध हैं, वे शुद्ध भगवान् को नहीं समझ सकते। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती अर्जुन के प्रति भगवान् के ही उपदेश को *श्री-हरिवंश* से उद्धृत करते हैं—

तत्परं परमं ब्रह्म सर्वं विभजते जगत्।
ममैव तद्घनं तेजो ज्ञातुमर्हसि भारत॥

"उस (समग्र प्रकृति) से श्रेष्ठ परब्रह्म है, जिससे इस सम्पूर्ण सृष्टि का विस्तार होता है। हे भारत! तुम्हें जान लेना चाहिए कि परब्रह्म मेरे केन्द्रीभूत तेज से युक्त है।"

इस प्रकार शिवजी अपने भक्त को बचाने के लिए अपने नित्य आराध्य प्रभु भगवान् कृष्ण की स्तुति करते हैं। भगवान् की मोहिनी शक्ति ने शिवजी को कृष्ण से भिड़ने के लिए प्रेरित किया था किन्तु अब यह युद्ध समाप्त हो चुका था और अपने भक्त को बचाने के लिए शिवजी ये सुन्दर स्तुतियाँ करते हैं।

नाभिर्नभोऽग्निर्मुखमम्बु रेतो
द्यौः शीर्षमाशाः श्रुतिरङ्घ्रिरुर्वी ।
चन्द्रो मनो यस्य दृगर्क आत्मा
अहं समुद्रो जठरं भुजेन्द्रः ॥ ५॥
रोमाणि यस्यौषधयोऽम्बुवाहाः
केशा विरिञ्चो धिषणा विसर्गः ।
प्रजापतिर्हृदयं यस्य धर्मः
स वै भवान्पुरुषो लोककल्पः ॥ ६॥

शब्दार्थ

नाभिः—नाभि; नभः—आकाश; अग्निः—अग्नि; मुखम्—मुख; अम्बु—जल; रेतः—वीर्य; द्यौः—स्वर्ग; शीर्षम्—सिर; आशाः—दिशाएँ; श्रुतिः—श्रवणेन्द्रिय; अङ्घ्रिः—पाँव; उर्वी—पृथ्वी; चन्द्रः—चन्द्रमा; मनः—मन; यस्य—जिसकी; दृक्—दृष्टि; अर्कः—सूर्य; आत्मा—आत्मचेतना; अहम्—मैं (शिव); समुद्रः—समुद्र; जठरम्—उदर; भुज—बाहु; इन्द्रः—इन्द्र; रोमाणि—शरीर के रोएँ; यस्य—जिसके; ओषधयः—औषधीय पौधे; अम्बु-वाहाः—जलवाहक बादल; केशाः—सिर के बाल; विरिञ्चः—ब्रह्मा; धिषणा—विवेक, बुद्धि; विसर्गः—जननेन्द्रियाँ; प्रजा-पतिः—मनुष्य को उत्पन्न करने वाला; हृदयम्—हृदय; यस्य—जिसका; धर्मः—धर्म; सः—वह; वै—निस्सन्देह; भवान्—आप; पुरुषः—आदि-स्रष्टा; लोक—सारे लोक; कल्पः—जिससे उत्पन्न।

आकाश आपकी नाभि है, अग्नि आपका मुख है, जल आपका वीर्य है और स्वर्ग आपका सिर है। दिशाएँ आपकी श्रवणेन्द्रिय (कान) हैं, औषधि-पौधे आपके शरीर के रोएँ हैं तथा जलधारक बादल आपके सिर के बाल हैं। पृथ्वी आपका पाँव है, चन्द्रमा आपका मन है तथा सूर्य आपकी दृष्टि (नेत्र) है, जबकि मैं आपका अहंकार हूँ। समुद्र आपका उदर है, इन्द्र आपकी भुजा है, ब्रह्मा आपकी बुद्धि है, प्रजापति आपकी जननेन्द्रिय (लिंग) है और धर्म आपका हृदय है। असल में आप आदि-पुरुष हैं, लोकों के स्रष्टा हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी की व्याख्या है कि जिस तरह फल के भीतर रहने वाले छोटे-छोटे कीट फल को नहीं समझ पाते उसी तरह हम क्षुद्र जीव उस परम सत्य को नहीं समझ सकते जिसमें हम स्थित हैं। भगवान् की विराट अभिव्यक्ति को समझना कठिन है, तो फिर श्रीकृष्ण के दिव्य स्वरूप के विषय में क्या कहा जा सकता है? अतएव हमें कृष्णभावनामृत की शरण लेनी चाहिए। भगवान् इसे समझने में हमारी मदद स्वयं करेंगे।

तवावतारोऽयमकुण्ठधामन्
धर्मस्य गुप्त्यै जगतो हिताय ।
वयं च सर्वे भवतानुभाविता
विभावयामो भुवनानि सप्त ॥ ७॥

शब्दार्थ

तव—तुम्हारा; अवतारः—अवतार; अयम्—यह; अकुण्ठ—असीम; धामन्—हे शक्ति वाले; धर्मस्य—न्याय की; गुप्त्यै—रक्षा के लिए; जगतः—ब्रह्माण्ड के; हिताय—लाभ के लिए; वयम्—हम; च—भी; सर्वे—सभी; भवता—आपके द्वारा; अनुभाविताः—प्रबुद्ध तथा अधिकारप्राप्त; विभावयामः—हम प्रकट करते तथा उत्पन्न करते हैं; भुवनानि—जगतों को; सप्त—सात।

हे असीम शक्ति के स्वामी, इस भौतिक जगत में आपका वर्तमान अवतार न्याय के सिद्धान्तों की रक्षा करने तथा समग्र ब्रह्माण्ड को लाभ दिलाने के निमित्त है। हममें से प्रत्येक देवता आपकी कृपा तथा सत्ता पर आश्रित है और हम सभी देवता सात लोक मण्डलों को उत्पन्न

करते हैं।

तात्पर्य : एक ऐतिहासिक व्यक्ति की तरह जब शिवजी कृष्ण की स्तुति कर रहे हैं, तो एक संदेह उठ सकता है क्योंकि बाहरी तौर पर कृष्ण मनुष्य जैसे स्वरूप में शिव के समक्ष खड़े हैं। किन्तु यह तो भगवान् की अहैतुकी कृपा है कि वे हमारी मानवी आँखों के लिए दृश्य रूप में प्रकट होते हैं। यदि हम परम सत्य श्रीकृष्ण को समझना चाहते हैं, तो हमें चाहिए कि कृष्णभावनाभावित के किसी मान्य अधिकारी से सुनें यथा *भगवद्गीता* में साक्षात् कृष्ण से या मान्य वैष्णव अधिकारी शिव से सुनें जो यहाँ भगवान् की स्तुति कर रहे हैं।

त्वमेक आद्यः पुरुषोऽद्वितीय-
स्तुर्यः स्वदृग्धेतुरहेतुरीशः ।
प्रतीयसेऽथापि यथाविकारं
स्वमायया सर्वगुणप्रसिद्ध्यै ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; एकः—एक; आद्यः—आदि; पुरुषः—परम पुरुष; अद्वितीयः—अद्वितीय; तुर्यः—दिव्य; स्व-दृक्—स्वयं प्रकाश; हेतुः—कारण; अहेतुः—कारणरहित; ईशः—परम नियन्ता; प्रतीयसे—अनुभव किये जाते हो; अथ अपि—इतने पर भी; यथा—के अनुसार; विकारम्—विविध रूपान्तरों; स्व—अपनी; मायया—माया से; सर्व—समस्त; गुण—गुणों की; प्रसिद्ध्यै—पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए।

आप अद्वितीय, दिव्य तथा स्वयं-प्रकाश आदि-पुरुष हैं। अहैतुक होकर भी आप सबों के कारण हैं और परम नियन्ता हैं। तिस पर भी आप पदार्थ के उन विकारों के रूप में अनुभव किये जाते हैं, जो आपकी माया द्वारा उत्पन्न हैं। आप इन विकारों की स्वीकृति इसलिए देते हैं जिससे विविध भौतिक गुण पूरी तरह प्रकट हो सकें।

तात्पर्य : आचार्यों ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है : श्रील श्रीधर स्वामी की विवेचना है कि *आद्यः पुरुषः* पद सूचित करता है कि भगवान् कृष्ण अपना विस्तार महाविष्णु के रूप में करते हैं—जो जगत का भार सँभालने वाले तीन पुरुषों में प्रथम हैं। भगवान् *एक अद्वितीय* हैं क्योंकि न तो कोई भगवान् के तुल्य है, न उनसे भिन्न है। कोई भी व्यक्ति पूर्णतया भगवान् के समान नहीं है किन्तु सारे जीव भगवान् की शक्ति के अंश होने के कारण गुण में उनसे भिन्न नहीं हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु इस अचिन्त्य स्थिति को *अचिन्त्य भेदाभेद* कहते हैं। परम पुरुष में अनन्त आध्यात्मिक चेतना होती है, जबकि जीवों में अत्यल्प चेतना होती है और वह भी मोह द्वारा आच्छादित होती रहती है।

श्रील जीव गोस्वामी *आद्य: पुरुष:* की व्याख्या करते हुए *सात्वत तन्त्र* से यह उद्धरण देते हैं—*विष्णोस्तु त्रीणिरूपाणि*—विष्णु के तीन रूप हैं। श्रील जीव गोस्वामी भी श्रुति से भगवान् का वचन उद्धृत करते हैं—*पूर्वमेवाहमिहासम्*—प्रारम्भ में इस जगत में केवल मैं था। यह कथन *पुरुष अवतार* को बताने वाला है, जो विराट जगत के पहले स्थित था। श्रील जीव गोस्वामी ने एक श्रुति मंत्र भी—*तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम्*—भगवान् का पुरुष पद ऐसा है—उद्धृत किया है। वस्तुत: भगवान् कृष्ण पुरुष अवतार के सार हैं क्योंकि वे *तुरीय* हैं जैसाकि इस श्लोक में वर्णित है। जीव गोस्वामी ने *तुरीय* (शाब्दिक अर्थ चतुर्थ) शब्द की व्याख्या *श्रीमद्भागवत* के श्लोक (११.१५.१६) पर श्रील श्रीधर स्वामी की टीका से उद्धरण देते हुए की है।

विराट् हिरण्यगर्भश्च कारणं चेत्युपाधय: ।

ईशस्य यत्त्रिभिर्हीनं तुरीयं तद् विदुर्बुधा: ॥

"भगवान् का विराट रूप, उनका हिरण्यगर्भ रूप तथा भौतिक प्रकृति का आदि हेतु रूप—ये सभी सापेक्ष विचार हैं किन्तु क्योंकि भगवान् इन तीनों द्वारा आच्छादित नहीं होते अत: बुद्धिमान व्यक्ति उन्हें "चौथा" कहते हैं।"

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार *तुरीय* शब्द सूचक है कि भगवान् चतुर्व्यूह नामक अपने चौरंगी विस्तार के चौथे सदस्य हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् कृष्ण वासुदेव हैं।

भगवान् कृष्ण *स्व-दृक्* अर्थात् केवल अपने को ठीक से देख सकने वाले हैं क्योंकि उनका अस्तित्व आध्यात्मिक है और वे अतीव शुद्ध हैं। वे *हेतु* अर्थात् हर वस्तु के कारणस्वरूप हैं फिर भी *अहेतु* हैं अर्थात् कारणरहित हैं। इसीलिए वे *ईश* अर्थात् परम नियन्ता हैं।

इस श्लोक की अन्तिम दो पंक्तियाँ विशिष्ट दार्शनिक महत्त्व रखती हैं। जब ईश्वर एक हैं, तो फिर विभिन्न लोग उनको भिन्न भिन्न प्रकार से क्यों देखते हैं? इसकी आंशिक व्याख्या यहाँ दी गई है। भगवान् की बहिरंगा शक्ति, माया के कारण भौतिक प्रकृति निरन्तर *विकार* अवस्था में रहती है। तब तो एक अर्थ से भौतिक प्रकृति *असत्* अर्थात् असल नहीं है। किन्तु ईश्वर परम सत्य हैं और वे सारी वस्तुओं के भीतर हैं तथा सारी वस्तुएँ उनकी शक्ति हैं अत: भौतिक वस्तुओं तथा शक्तियों में कुछ सच्चाई रहती है। इसलिए कुछ लोग भौतिक शक्ति के एक पक्ष को देखते हैं और सोचते हैं, "यह

सत्य है'' जबकि अन्य लोग दूसरे पक्ष को देखते हैं और सोचते हैं, ''नहीं, सत्य यह है।'' बद्धजीव होने के कारण हम सभी भौतिक प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों से आवृत हैं इसीलिए हम परम सत्य या परमेश्वर का वर्णन अपनी दूषित दृष्टि के अनुसार करते हैं। फिर भी भौतिक प्रकृति के आच्छादक गुण—यथा हमारी बद्ध बुद्धि, मन तथा इन्द्रियाँ—असल हैं (भगवान् की शक्ति होने के कारण) इसीलिए सारी वस्तुओं के भीतर से हम भगवान् को थोड़ा-बहुत व्यक्तिपरक दृष्टिकोण से देख सकते हैं। इसीलिए इस श्लोक में *प्रतीयसे* अर्थात् ''आप देखे जाते हैं'' आया है। यही नहीं, भौतिक प्रकृति के आच्छादक गुणों की अभिव्यक्ति के बिना सृष्टि का उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता, यह उद्देश्य है बद्धजीवों को भगवान् के बिना, भोग करने का अत्यधिक प्रयास करने देना जिससे कि वे अन्तत: ऐसे भ्रामक विचार की व्यर्थता को समझ सकें।

यथैव सूर्य: पिहितश्छायया स्वया
छायां च रूपाणि च सञ्चकास्ति ।
एवं गुणेनापिहितो गुणांस्त्व-
मात्मप्रदीपो गुणिनश्च भूमन् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यथा एव—जिस तरह; सूर्य:—सूर्य; पिहित:—ढका; छायया—छाया से; स्वया—अपनी; छायाम्—छाया को; च—तथा; रूपाणि—दृश्य रूप; च—भी; सञ्चकास्ति—प्रकाशित करता है; एवम्—उसी तरह से; गुणेन—भौतिक गुण (मिथ्या अहंकार का) द्वारा; अपिहित:—ढका हुआ; गुणान्—पदार्थ के गुणों के; त्वम्—तुम; आत्म-प्रदीप:—स्वयं प्रकाशित; गुणिन:—इन गुणों का स्वामी (जीव); च—तथा; भूमन्—हे सर्वशक्तिमान।

हे सर्वशक्तिमान, जिस प्रकार सूर्य बादल से ढका होने पर भी बादल को तथा अन्य सारे दृश्य रूपों को भी प्रकाशित करता है उसी तरह आप भौतिक गुणों से ढके रहने पर भी स्वयं प्रकाशित बने रहते हैं और उन सारे गुणों को, उन गुणों से युक्त जीवों समेत, प्रकट करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर शिवजी पिछले श्लोक की अन्तिम दो पंक्तियों में व्यक्त विचार को और अधिक स्पष्ट करते हैं। बादल तथा सूर्य का दृष्टान्त उपयुक्त है। सूर्य अपनी शक्ति से बादल उत्पन्न करता है, जो सूर्य को हमारी दृष्टि से ओझल बनाता है। फिर भी सूर्य ही बादल को तथा उसी के साथ अन्य सारी वस्तुओं को हमारे लिए दृश्य बनाता है। इसी प्रकार भगवान् अपनी माया का विस्तार करते हैं और हमें सीधे अपना दर्शन करने से रोकते हैं। तो भी ईश्वर ही अकेले ऐसे हैं, जो अपनी आच्छादक शक्ति—भौतिक जगत—को हमारे समक्ष प्रकट करते हैं। इस तरह भगवान् *आत्म-प्रदीप*—स्वयं प्रकाशित—हैं।

उनके अस्तित्व की सच्चाई से ही सारी वस्तुएँ दृश्य बनती हैं।

यन्मायामोहितधियः पुत्रदारगृहादिषु ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रसक्ता वृजिनार्णवे ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसकी; माया—माया से; मोहित—मोहित; धियः—उनकी बुद्धि; पुत्र—पुत्र; दार—पत्नी; गृह—घर; आदिषु—इत्यादि में; उन्मज्जन्ति—वे ऊपर उठ आते हैं; निमज्जन्ति—डूब जाते हैं; प्रसक्ताः—पूरी तरह फँसे हुए; वृजिन—दुख के; अर्णवे—समुद्र में।

आपकी माया से मोहित बुद्धि वाले अपने बच्चों, पत्नी, घर इत्यादि में पूरी तरह से लिप्त और भौतिक दुख के सागर में निमग्न लोग कभी ऊपर उठते हैं, तो कभी नीचे डुब जाते हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि *उन्मज्जन्ति* सूचक है उच्चतर योनियों—यथा देव योनि में उत्थान और *निमज्जन्ति* द्योतक है निम्न योनियों—जड़ जीवन यथा वृक्षों का। जैसाकि *वायु पुराण* में कहा गया है—*विपर्ययश्च भवति ब्रह्मत्वस्थावरत्वयोः*—जीव ब्रह्मा से लेकर जड़ प्राणी तक के बीच चक्कर लगाता रहता है।

श्रील जीव गोस्वामी इंगित करते हैं कि भगवान् की स्तुति कर चुकने के बाद शिवजी अब बाणासुर के लिए भगवान् की कृपा प्राप्त करने की मूल इच्छा के विषय को आगे बढ़ाते हैं। इस प्रकार इस श्लोक में तथा अगले चार श्लोकों में शिवजी बाणासुर को भगवान् के साथ उसकी वास्तविक स्थिति का उपदेश देते हैं। बाण के लिए शिव द्वारा दया की याचना श्लोक ४५ में मिलती है।

देवदत्तमिमं लब्ध्वा नृलोकमजितेन्द्रियः ।
यो नाद्रियेत त्वत्पादौ स शोच्यो ह्यात्मवञ्चकः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

देव—भगवान् द्वारा; दत्तम्—दिया हुआ; इमम्—इसको; लब्ध्वा—प्राप्त करके; नृ—मनुष्यों का; लोकम्—संसार; अजित—अवश्य; इन्द्रियः—उसकी इन्द्रियाँ; यः—जो; न आद्रियेत—आदर नहीं करेगा; त्वत्—तुम्हारे; पादौ—पाँव; सः—वह; शोच्यः—दयनीय; हि—निस्सन्देह; आत्म—अपना; वञ्चकः—ठग, धोखा देने वाली।

जिसने ईश्वर से यह मनुष्य जीवन उपहार के रूप में प्राप्त किया है किन्तु फिर भी जो अपनी इन्द्रियों को वश में करने तथा आपके चरणों का आदर करने में विफल रहता है, वह सचमुच शोचनीय है क्योंकि वह अपने को ही धोखा देता है।

तात्पर्य : शिवजी यहाँ उन लोगों की भर्त्सना करते हैं, जो भगवान् की भक्ति करने से कतराते हैं।

यस्त्वां विसृजते मर्त्य आत्मानं प्रियमीश्वरम् ।
विपर्ययेन्द्रियार्थार्थं विषमत्त्यमृतं त्यजन् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; त्वाम्—तुमको; विसृजते—छोड़ देता है; मर्त्यः—मरणशील मनुष्य; आत्मानम्—उसकी सही आत्मा; प्रियम्—सर्वप्रिय; ईश्वरम्—भगवान् को; विपर्यय—जो सर्वथा विपरीत हैं; इन्द्रिय-अर्थ—इन्द्रियविषयों के; अर्थम्—हेतु; विषम्—विष को; अत्ति—खाता है; अमृतम्—अमृत को; त्यजन्—त्यागते हुए।

जो मर्त्य प्राणी अपने इन्द्रियविषयों के लिए, जिनका की स्वभाव सर्वथा विपरीत है, आपको, अर्थात् उसकी असली आत्मा, सर्वप्रिय मित्र तथा स्वामी हैं, छोड़ देता है, वह अमृत छोड़ कर उसके बदले में विष-पान करता है।

तात्पर्य : उपर्युक्त व्यक्ति शोचनीय है क्योंकि वह अपने वास्तविक प्रिय स्वामी को छोड़ देता है और उसे स्वीकार करता है, जो प्रिय नहीं है और ईश्वरीय नहीं है—अर्थात् क्षणिक इन्द्रिय-तृप्ति को स्वीकार करता है, जिससे कष्ट तथा मोह उत्पन्न होता है।

अहं ब्रह्माथ विबुधा मुनयश्चामलाशयाः ।
सर्वात्मना प्रपन्नास्त्वामात्मानं प्रेष्ठमीश्वरम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; ब्रह्मा—ब्रह्मा; अथ—तथा; विबुधाः—देवतागण; मुनयः—मुनिगण; च—और; अमल—शुद्ध; आशयाः—चेतना वाले; सर्व-आत्मना—हार्दिक रूप से; प्रपन्नाः—शरणागत; त्वाम्—तुमको; आत्मानम्—आत्मा; प्रेष्ठम्—प्रियतम; ईश्वरम्—प्रभु को।

मैंने, ब्रह्मा ने, अन्य देवता तथा शुद्ध मन वाले मुनिगण—सभी लोगों ने पूर्ण मनोयोग से आपकी शरण ग्रहण की है। आप हमारे प्रियतम आत्मा तथा प्रभु हैं।

तं त्वा जगत्स्थित्युदयान्तहेतुं
समं प्रसान्तं सुहृदात्मदैवम् ।
अनन्यमेकं जगदात्मकेतं
भवापवर्गाय भजाम देवम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; त्वा—तुम; जगत्—ब्रह्माण्ड के; स्थिति—पालन; उदय—उत्थान; अन्त—तथा मृत्यु; हेतुम्—कारण; समम्—समभाव; प्रशान्तम्—परम शान्त; सुहृत्—मित्र; आत्म—आत्मा; दैवम्—तथा पूज्य स्वामी; अनन्यम्—अद्वितीय; एकम्—अनोखा; जगत्—जगतों के; आत्म—तथा सारे जीवों के; केतम्—आश्रय; भव—भौतिक जीवन के; अपवर्गाय—समाप्ति (मुक्ति) के लिए; भजाम—हम पूजा करें; देवम्—भगवान् की।

हे भगवन्, भौतिक जीवन से मुक्त होने के लिए हम आपकी पूजा करते हैं। आप ब्रह्माण्ड

के पालनकर्ता और इसके सृजन तथा मृत्यु के कारण हैं। आप समभाव तथा पूर्ण शान्त, असली मित्र, आत्मा तथा पूज्य स्वामी हैं। आप अद्वितीय हैं और समस्त जगतों तथा जीवों के आश्रय हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी कहते हैं कि भगवान् असली मित्र हैं क्योंकि वे उस व्यक्ति की उचित बुद्धि को गति प्रदान करते हैं, जो ईश्वर तथा आत्मा के विषय में सत्य जानना चाहता है। श्रील जीव गोस्वामी तथा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बल देते हैं कि *भवापवर्गाय* शब्द शुद्ध भगवत्प्रेम की सर्वोच्च मुक्ति का सूचक है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती यह भी बतलाते हैं कि भगवान् *समम्* हैं—पूर्णतया विषयनिष्ठ और सन्तुलित हैं जबकि अन्य सारे जीव वास्तविकता को पूरी तरह न समझने के कारण कभी भी विषयनिष्ठ नहीं हो सकते। जो लोग भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं, वे भी भगवान् की चरम चेतना का आश्रय लेकर *समम्* बन जाते हैं।

अयं ममेष्टो दयितोऽनुवर्ती
मयाभयं दत्तममुष्य देव ।
सम्पाद्यतां तद्भवतः प्रसादो
यथा हि ते दैत्यपतौ प्रसादः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

अयम्—यह; मम—मेरा; इष्टः—कृपा किया हुआ; दयितः—अत्यन्त प्रिय; अनुवर्ती—अनुचर; मया—मेरे द्वारा; अभयम्—अभय; दत्तम्—दिया गया; अमुष्य—उसका; देव—हे प्रभु; सम्पाद्यताम्—आप इसे प्रदान करें; तत्—इसलिए; भवतः—अपनी; प्रसादः—कृपा; यथा—जिस तरह; हि—निस्सन्देह; ते—तुम्हारा; दैत्य—असुरों का; पतौ—प्रमुख (प्रह्लाद) के लिए; प्रसादः—कृपा।

यह बाणासुर मेरा अति प्रिय तथा आज्ञाकारी अनुचर है और इसे मैंने अभयदान दिया है। अतएव हे प्रभु, इसे आप उसी तरह अपनी कृपा प्रदान करें जिस तरह आपने असुर-राज प्रह्लाद पर कृपा दर्शाई थी।

तात्पर्य : शिवजी बाणासुर की सहायता करना चाहते हैं क्योंकि इस असुर ने शिवजी के ताण्डव-नृत्य के समय संगीत वाद्य बजाकर उनके प्रति असीम भक्ति प्रदर्शित की थी। बाण पर शिवजी की कृपा का दूसरा कारण यह है कि वह प्रह्लाद तथा बलि जैसे महान् भक्तों का वंशज है।

श्रीभगवानुवाच

यदात्थ भगवंस्त्वं नः करवाम प्रियं तव ।
भवतो यद्व्यवसितं तन्मे साध्वनुमोदितम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; यत्—जो; आत्थ—कहा है; भगवन्—हे प्रभु; त्वम्—तुमने; नः—हम पर; करवाम—हमें करना चाहिए; प्रियम्—सन्तोषप्रद, सुखकर; तव—तुम्हारा; भवतः—आपके द्वारा; यत्—जो; व्यवसितम्—निश्चित; तत्—वह; मे—मेरे द्वारा; साधु—उत्तम; अनुमोदितम्—सहमति व्यक्त की गई।

भगवान् ने कहा : हे प्रभु, आपकी प्रसन्नता के लिए हमें अवश्य ही वह करना चाहिए जिसके लिए आपने हमसे प्रार्थना की है। मैं आपके निर्णय से पूरी तरह सहमत हूँ।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् कृष्ण द्वारा शिव को *भगवान्* कह कर सम्बोधित किया जाना हमें विचित्र नहीं लगना चाहिए। सारी वस्तुएँ भगवान् की विभिन्नांश हैं, गुणात्मक दृष्टि से वे उनसे अभिन्न हैं और शिवजी विशेष रूप से शक्तिमान शुद्ध जीव हैं जिनमें भगवान् के अनेक गुण पाये जाते हैं। जिस प्रकार पिता बड़ी ही खुशी के साथ अपने प्रिय पुत्र को अपनी सम्पत्ति में साझीदार बना लेता है उसी तरह भगवान् प्रसन्नतापूर्वक शुद्ध जीवों को अपनी कुछ शक्ति तथा ऐश्वर्य दे देते हैं। जिस तरह पिता बड़े ही गर्व तथा खुशी से अपने पुत्रों के सद्गुणों का अवलोकन करता है उसी तरह भगवान् कृष्णभावनामृत में प्रबल शुद्ध जीवों की बड़ाई करने में अतीव प्रसन्न होते हैं। परमेश्वर इसीलिए शिवजी को *भगवान्* कह कर सम्बोधित करके बड़ाई करने में प्रसन्न होते हैं।

अवध्योऽयं ममाप्येष वैरोचनिसुतोऽसुरः ।
प्रह्लादाय वरो दत्तो न वध्यो मे तवान्वयः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

अवध्यः—जिसका वध नहीं किया जाये; अयम्—वह; मम—मेरे द्वारा; अपि—निस्संदेह; एषः—यह; वैरोचनि-सुतः—वैरोचनि (बलि) का पुत्र; असुरः—असुर; प्रह्लादाय—प्रह्लाद को; वरः—वर; दत्तः—दिया हुआ; न वध्यः—अवध्य; मे—मेरे द्वारा; तव—तुम्हारा; अन्वयः—वंशज।

मैं वैरोचनि के इस असुर-पुत्र को नहीं मारूँगा क्योंकि मैंने प्रह्लाद महाराज को वर दिया है कि मैं उसके किसी भी वंशज का वध नहीं करूँगा।

दर्पोपशमनायास्य प्रवृक्णा बाहवो मया ।
सूदितं च बलं भूरि यच्च भारायितं भुवः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

दर्प—मिथ्या गर्व; उपशमनाय—दमन करने के लिए; अस्य—उसका; प्रवृक्णाः—काटे हुए; बाहवः—भुजाएँ; मया—मेरे द्वारा; सूदितम्—मारी गयी; च—तथा; बलम्—सेना; भूरि—विशाल; यत्—जो; च—तथा; भारायितम्—भार बन जाने से; भुवः—पृथ्वी के लिए।

मैंने बाणासुर के मिथ्या गर्व का दमन करने के लिए ही इसकी भुजाएँ काट दी हैं। और मैंने इसकी विशाल सेना का वध किया है क्योंकि वह पृथ्वी पर भार बन चुकी थी।

चत्वारोऽस्य भुजाः शिष्टा भविष्यत्यजरामरः ।
पार्षदमुख्यो भवतो न कुतश्चिद्भयोऽसुरः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

चत्वारः—चार; अस्य—इसकी; भुजाः—बाँहें; शिष्टाः—बची हुई; भविष्यति—होंगी; अजर—बूढ़ी न होने वाली; अमरः—तथा अमर; पार्षद—संगी; मुख्यः—प्रधान; भवतः—आपका; न कुतश्चित्-भयः—किसी भी तरह का इसे भय नहीं रहेगा; असुरः—असुर।

यह असुर, जिसकी अभी भी चार बाँहें हैं अजर तथा अमर होगा और आपके प्रधान सेवक के रूप में सेवा करेगा। इस तरह उसे किसी प्रकार का भय नहीं रहेगा।

इति लब्ध्वाभयं कृष्णं प्रणम्य शिरसासुरः ।
प्राद्युम्निं रथमारोप्य सवध्वो समुपानयत् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; लब्ध्वा—पाकर; अभयम्—भय से मुक्ति; कृष्णम्—कृष्ण को; प्रणम्य—प्रणाम करके; शिरसा—सिर के बल; असुरः—असुर; प्रद्युम्निम्—प्रद्युम्न-पुत्र, अनिरुद्ध को; रथम्—अपने रथ पर; आरोप्य—बैठाकर; स-वध्वः—उसकी पत्नी सहित; समुपानयत्—उन्हें ले आया।

इस तरह भयमुक्त होकर बाणासुर ने अपना माथा जमीन पर टेककर भगवान् कृष्ण को नमस्कार किया। तब बाण ने अनिरुद्ध तथा उसकी पत्नी को उनके रथ पर बैठाया और उन्हें कृष्ण के सामने ले आया।

अक्षौहिण्या परिवृतं सुवासःसमलङ्कृतम् ।
सपत्नीकं पुरस्कृत्य ययौ रुद्रानुमोदितः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

अक्षौहिण्या—पूरी अक्षौहिणी के द्वारा; परिवृतम्—घिरा; सु—सुन्दर; वासः—वस्त्र; समलङ्कृतम्—तथा गहनों से सजा; स-पत्नीकम्—पत्नी सहित अनिरुद्ध को; पुरः-कृत्य—सामने करके; ययौ—वह (कृष्ण) गया; रुद्र—शिवजी से; अनुमोदितः—विदा लेकर।

तब भगवान् कृष्ण ने अपनी टोली के आगे अनिरुद्ध तथा उसकी पत्नी को कर लिया। दोनों सुन्दर वस्त्रों तथा आभूषणों से खूब सजाये गये थे और उन्होंने उन दोनों को पूरी अक्षौहिणी

से घेर लिया। इस तरह भगवान् कृष्ण ने शिव से विदा ली और प्रस्थान कर दिया।

स्वराजधानीं समलङ्कृतां ध्वजैः
सतोरणैरुक्षितमार्गचत्वराम् ।
विवेश शङ्खानकदुन्दुभिस्वनै-
रभ्युद्यतः पौरसुहृद्द्विजातिभिः ॥५२॥

शब्दार्थ

स्व—अपनी; राजधानीम्—राजधानी को; समलङ्कृताम्—पूरी तरह सजायी गयी; ध्वजैः—झंडियों से; स—तथा सहित; तोरणैः—विजय तोरणों; उक्षित—पानी से छिड़काव किये गये; मार्ग—जिसके रास्ते; चत्वराम्—तथा चौराहे; विवेश—प्रवेश किया; शङ्ख—शंख; आनक—ढोल; दुन्दुभि—तथा नगाड़ों की; स्वनैः—गूँज से; अभ्युद्यतः—सत्कार किया गया; पौर—नगरवासियों द्वारा; सुहृत्—अपने सम्बन्धियों द्वारा; द्विजातिभिः—तथा ब्राह्मणों द्वारा।

तत्पश्चात् भगवान् अपनी राजधानी में प्रविष्ट हुए। नगर को झंडियों तथा विजय तोरणों से खूब सजाया गया था और इसकी गलियों तथा चौराहों पर पानी छिड़कवाया गया था। ज्योंही शंख, आनक तथा दुन्दुभियाँ गूँजने लगीं त्योंही भगवान् के सम्बन्धी, ब्राह्मण तथा जनता के लोग उनका स्वागत करने के लिए आगे आये।

य एवं कृष्णविजयं शङ्करेण च संयुगम् ।
संस्मरेत्प्रातरुत्थाय न तस्य स्यात्पराजयः ॥५॥

शब्दार्थ

यः—जो भी; एवम्—इस प्रकार; कृष्ण-विजयम्—कृष्ण की विजय को; शङ्करेण—शंकर के साथ; च—तथा; संयुगम्—युद्ध को; संस्मरेत्—स्मरण करता है; प्रातः—सुबह; उत्थाय—जाग कर; न—नहीं; तस्य—उसकी; स्यात्—होगी; पराजयः—हार।

जो भी व्यक्ति प्रातःकाल उठकर शिव के साथ युद्ध में कृष्ण की विजय का स्मरण करता है उसे कभी भी पराजय का अनुभव नहीं करना होगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत "बाणासुर और भगवान् कृष्ण का युद्ध" नामक तिरसठवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौंसठ

राजा नृग का उद्धार

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह श्रीकृष्ण ने राजा नृग को शाप से मुक्त किया और

राजन्य वर्ग को ब्राह्मण की सम्पत्ति लेने के महान् खतरे के प्रति आगाह किया।

एक दिन साम्ब तथा यादव वंश के कुछ अन्य लड़के जंगल में खेलने गये। देर तक खेलने के बाद उन्हें बहुत प्यास लगी और वे इधर-उधर जल की तलाश करने लगे। उन्हें एक सूखे कुएँ के भीतर एक विचित्र जीव दिखा। यह पहाड़ की तरह का एक विशाल छिपकली जैसा (गिरगिट) था। बच्चों को तरस आ गया अत: वे इसे निकालने लगे। किन्तु चमड़े की पट्टियों और रस्सियों से निकालने के कई प्रयासों के असफल हो जाने पर वे सब कृष्ण के पास गये और सारी घटना कह सुनाई। भगवान् उनके साथ कुएँ तक गये और अपना बायाँ हाथ फैलाकर उस छिपकली को आसानी से बाहर निकाल लिया। वह जीव कृष्ण के हाथ का स्पर्श पाते ही देवता रूप में बदल गया। तब कृष्ण ने उससे पूछा, "तुम कौन हो और तुमने यह अधम रूप कैसे धारण किया है?"

उस दैवी जीव ने उत्तर दिया "मेरा नाम राजा नृग है। मैं इक्ष्वाकु का पुत्र हूँ। मैं दान देने के लिए विख्यात था। मैंने अनेक ब्राह्मणों को असंख्य गौवें दान में दीं किन्तु एक समय एक गाय, जो उच्च कोटि के ब्राह्मण की थी, मेरे झुंड में आ मिली। मैंने अनजाने यह गाय एक अन्य ब्राह्मण को दान में दे दी। जब गाय के पहले वाले स्वामी ने दूसरे ब्राह्मण को यह गाय ले जाते देखा तो उसने अपनी गाय माँगी और दूसरे ब्राह्मण से झगड़ने लगा। कुछ देर तक झगड़ते रहने के बाद वे मेरे पास आये और मैंने उन दोनों से कहा कि इस एक गाय के बदले तुम लोग एक लाख गौवें ले लो और अनजान में हुए मेरे अपराध को क्षमा कर दो। किन्तु दो में से किसी भी ब्राह्मण ने मेरा प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया और यह मामला बिना किसी निर्णय के वहीं का वहीं बना रहा।

"इसके थोड़ी देर बाद मेरी मृत्यु हो गई और यमदूतों द्वारा मुझे यमराज के दरबार में ले जाया गया। यमराज ने मुझसे पूछा कि तुम दो में से किसे पहले करना पसन्द करोगे—अपने पापों के परिणामों को भोगना या अपने पुण्य कर्मों का फल भोगना। मैंने पापों के परिणामों को पहले भोगना पसन्द किया और इस तरह मैंने छिपकली का रूप धारण किया।"

अपनी कहानी सुनाने के बाद राजा नृग ने भगवान् कृष्ण की स्तुति की और तब विशेष दैवी विमान में चढ़कर स्वर्गलोक चला गया।

भगवान् कृष्ण ने अपने पार्षदों तथा सामान्य लोगों को भी ब्राह्मण की सम्पत्ति चुराने के खतरों के

विषय में उपदेश दिया। अन्त में भगवान् अपने महल लौट आये।

श्रीबादरायणिरुवाच
एकदोपवनं राजञ्जग्मुर्यदुकुमारकाः ।
विहर्तुं साम्बप्रद्युम्न चारुभानुगदादयः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः—बादरायण के पुत्र (शुकदेव गोस्वामी) ने; उवाच—कहा; एकदा—एक दिन; उपवनम्—छोटे से जंगल में; राजन्—हे राजा (परीक्षित); जग्मुः—गये; यदु-कुमारकाः—यदुवंश के बालक; विहर्तुम्—खेलने के लिए; साम्ब-प्रद्युम्न-चारु-भानु-गद-आदयः—साम्ब, प्रद्युम्न, चारु, भानु, गद तथा अन्य।

श्री बादरायणि ने कहा : हे राजा, एक दिन साम्ब, प्रद्युम्न, चारु, भानु, गद तथा यदुवंश के अन्य बालक खेलने के लिए एक छोटे से जंगल में गये।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी कहते हैं कि इस अध्याय में वर्णित राजा नृग की कथा समस्त दम्भी राजाओं को गम्भीर उपदेश देने के लिए है। इस कथा के माध्यम से श्रीकृष्ण ने अपने ही परिवार के सदस्यों को गम्भीर उपदेश देना चाहा जो अपने ऐश्वर्य से गर्वित हो उठे थे।

क्रीडित्वा सुचिरं तत्र विचिन्वन्तः पिपासिताः ।
जलं निरुदके कूपे ददृशुः सत्त्वमद्भुतम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

क्रीडित्वा—खेल चुकने के बाद; सु-चिरम्—दीर्घकाल तक; तत्र—वहाँ; विचिन्वन्तः—ढूँढ़ते हुए; पिपासिताः—प्यासे; जलम्—जल; निरुदके—जलरहित; कूपे—कुएँ में; ददृशुः—देखा; सत्त्वम्—जीव; अद्भुतम्—अद्भुत।

देर तक खेलते रहने के बाद उन्हें प्यास लगी। जब वे पानी की तलाश कर रहे थे तो उन्होंने एक सूखे कुएँ के भीतर झाँका और उन्हें एक विचित्र सा जीव दिखा।

कृकलासं गिरिनिभं वीक्ष्य विस्मितमानसाः ।
तस्य चोद्धरणे यत्नं चक्रुस्ते कृपयान्विताः ॥ ॥

शब्दार्थ

कृकलासम्—छिपकली, गिरगिट; गिरि—पर्वत; निभम्—सदृश; वीक्ष्य—देखकर; विस्मित—चकित; मानसाः—मनों वाले; तस्य—उसके; च—तथा; उद्धरणे—बाहर निकालने का; यत्नम्—प्रयास; चक्रुः—किया; ते—उन्होंने; कृपया अन्विताः—दयाभाव अनुभव करते हुए।

लड़के इस जीव को, जो कि छिपकली थी और पर्वत जैसी दिख रही थी, देखकर विस्मित हो गए। उन्हें उसके प्रति दया आ गई और वे उसे कुएँ से बाहर निकालने का प्रयास करने लगे।

चर्मजैस्तान्तवै: पाशैर्बद्ध्वा पतितमर्भका: ।
नाशक्नुरन्समुद्धर्तुं कृष्णायाचख्युरुत्सुका: ॥ ४॥

शब्दार्थ

चर्म-जै:—चमड़े की बनी; तान्तवै:—तथा काते सूत की बनी; पाशै:—रस्सियों से; बद्ध्वा—बाँधकर; पतितम्—गिरे हुए जीव को; अर्भका:—लड़के; न अशक्नुरन्—समर्थ नहीं हो सके; समुद्धर्तुम्—बाहर निकालने में; कृष्णाय—कृष्ण को; आचख्यु:—सूचना दी; उत्सुका:—उत्तेजित ।.

उन्होंने वहाँ फँसी उस छिपकली को चमड़े की पट्टियों तथा सूत की रस्सियों से पकड़ा किन्तु फिर भी वे उसे बाहर नहीं निकाल सके। अत: वे कृष्ण के पास गये और उत्तेजित होकर उनसे उस जीव के विषय में बतलाया।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि इस अध्याय में यदुबालकों को, यहाँ तक कि श्री प्रद्युम्न को कम आयु का बतलाया गया है, अत: यह अवश्य कोई प्रारम्भिक लीला होगी।

तत्रागत्यारविन्दाक्षो भगवान्विश्वभावन: ।
वीक्ष्योज्जहार वामेन तं करेण स लीलया ॥ ५॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; आगत्य—जाकर; अरविन्द-अक्ष:—कमलनेत्रों वाले; भगवान्—भगवान् ने; विश्व—ब्रह्माण्ड के; भावन:—पालनकर्ता; वीक्ष्य—देखकर; उज्जहार—ऊपर खींच लिया; वामेन—बाएँ; तम्—उसको; करेण—हाथ से; स:—वह; लीलया—आसानी से ।.

ब्रह्माण्ड के पालनकर्ता कमलनेत्र भगवान् उस कुएँ के पास गये और वहाँ वह छिपकली देखी। तत्पश्चात् उन्होंने अपने बाएँ हाथ से उसे आसानी से बाहर निकाल लिया।

स उत्तम:श्लोककराभिमृष्टो
विहाय सद्य: कृकलासरूपम् ।
सन्तप्तचामीकरचारुवर्ण:
स्वर्ग्यद्भुतालङ्करणाम्बरस्रक् ॥ ६॥

शब्दार्थ

स:—वह; उत्तम:-श्लोक—यशस्वी भगवान् के; कर—हाथ द्वारा; अभिमृष्ट:—स्पर्श की गई; विहाय—छोड़कर; सद्य:—तुरन्त; कृकलास—छिपकली का; रूपम्—स्वरूप; सन्तप्त—पिघले; चामीकर—सोने के; चरु—सुन्दर; वर्ण:—रंग; स्वर्गी—स्वर्ग का निवासी; अद्भुत—विचित्र; अलङ्करण—गहने; अम्बर—वस्त्र; स्रक्—तथा मालाएँ ।.

यशस्वी भगवान् के हाथों का स्पर्श पाते ही उस जीव ने तुरन्त अपना छिपकली का रूप त्याग दिया और स्वर्ग के वासी का रूप धारण कर लिया। उसका रंग पिघले सोने जैसा सुन्दर था और वह अद्भुत गहनों, वस्त्रों तथा मालाओं से अलंकृत था।

पप्रच्छ विद्वानपि तन्निदानं
जनेषु विख्यापयितुं मुकुन्दः ।
कस्त्वं महाभाग वरेण्यरूपो
देवोत्तमं त्वां गणयामि नूनम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

पप्रच्छ—पूछा; विद्वान्—भलीभाँति अवगत; अपि—यद्यपि; तत्—इसका; निदानम्—कारण; जनेषु—सामान्य लोगों में; विख्यापयितुम्—जनाने के लिए; मुकुन्दः—भगवान् कृष्ण ने; कः—कौन; त्वम्—तुम; महा-भाग—हे भाग्यशाली; वरेण्य—सर्वोत्तम; रूपः—स्वरूप; देव-उत्तमम्—उत्तम देवता; त्वाम्—तुमको; गणयामि—मैं मानता हूँ; नूनम्—निश्चय ही।

भगवान् कृष्ण परिस्थिति को समझ गये किन्तु सामान्य जनों को सूचित करने के लिए उन्होंने पूछा, ''हे महाभाग, आप कौन हैं? आपके उत्तम स्वरूप को देखकर मैं सोच रहा हूँ कि आप अवश्य ही कोई श्रेष्ठ देवता हैं।

दशामिमां वा कतमेन कर्मणा
सम्प्रापितोऽस्यतदर्हः सुभद्र ।
आत्मानमाख्याहि विवित्सतां नो
यन्मन्यसे नः क्षममत्र वक्तुम् ॥ ८॥

शब्दार्थ

दशाम्—दशा; इमाम्—इस; वा—तथा; कतमेन—किस; कर्मणा—कर्म से; सम्प्रापितः—तक लाये गये; असि—तुम हो; अतत्-अर्हः—उसके पात्र नहीं; सु-भद्र—हे महात्मा; आत्मानम्—अपने आप; आख्याहि—बतलाओ; विवित्सताम्—जानने के इच्छुक; नः—हमसे; यत्—यदि; मन्यसे—सोचते हो; नः—हमसे; क्षमम्—उचित; अत्र—यहाँ; वक्तुम्—कहना।

''आप किस विगत कर्म से इस दशा को प्राप्त हुए? हे महात्मन, ऐसा लगता है कि आप ऐसे भाग्य के योग्य नहीं थे। हम आपके विषय में जानना चाहते हैं अतः यदि आप हमें बताने का यह समय तथा स्थान उचित समझते हों तो कृपा करके अपने विषय में बतलाइये।''

श्रीशुक उवाच
इति स्म राजा सम्पृष्टः कृष्णेनानन्तमूर्तिना ।
माधवं प्रणिपत्याह किरीटेनार्कवर्चसा ॥ ९॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; स्म—निस्सन्देह; राजा—राजा; सम्पृष्टः—पूछे जाने पर; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; अनन्त—अनन्त; मूर्तिना—स्वरूपों वाले; माधवम्—माधव को; प्रणिपत्य—प्रणाम करके; आह—वह बोला; किरीटेन—अपने मुकुट से; अर्क—सूर्य जैसी; वर्चसा—चमक से।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार अनन्त रूप कृष्ण द्वारा पूछे जाने पर सूर्य के समान चमचमाते मुकुट वाले राजा ने माधव को प्रणाम किया और वह इस प्रकार बोला।

नृग उवाच
नृगो नाम नरेन्द्रोऽहमिक्ष्वाकुतनयः प्रभो ।
दानिष्वाख्यायमानेषु यदि ते कर्णमस्पृशम् ॥ ॥

शब्दार्थ

नृगः उवाच—राजा नृग ने कहा; नृगः नाम—नृग नामक; नर-इन्द्रः—मनुष्यों के ऊपर शासन करने वाला; अहम्—मैं; इक्ष्वाकु-तनयः—इक्ष्वाकु पुत्र; प्रभो—हे प्रभु; दानिषु—दानियों में; आख्यायमानेषु—गिनती किये जानेवाले; यदि—शायद; ते—तुम्हारे; कर्णम्—कानों को; अस्पृशम्—मैंने छुआ हो।

राजा नृग ने कहा : मैं इक्ष्वाकु का पुत्र नृग नामक राजा हूँ। हे प्रभु, शायद आपने मेरे विषय में तब सुना होगा जब दानी पुरुषों की सूची बाँची जा रही होगी।

तात्पर्य : आचार्यों ने इंगित किया है कि यद्यपि "शायद आपने मेरे विषय में सुना है" जैसा वाक्य आया है किन्तु इसका आशय यही है कि इसमें सन्देह नहीं है।

किं नु तेऽविदितं नाथ सर्वभूतात्मसाक्षिणः ।
कालेनाव्याहतदृशो वक्ष्येऽथापि तवाज्ञया ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; नु—निस्सन्देह; ते—तुम्हें; अविदितम्—अज्ञात; नाथ—हे स्वामी; सर्व—समस्त; भूत—जीवों के; आत्म—बुद्धि के; साक्षिणः—साक्षी को; कालेन—समय द्वारा; अव्याहत—अविचल; दृशः—जिसकी दृष्टि; वक्ष्ये—मैं कहूँगा; अथ अपि—तो भी; तव—तुम्हारी; आज्ञया—आज्ञा से।

हे स्वामी, आपसे अज्ञात है ही क्या? आपकी दृष्टि काल द्वारा अविचलित है और आप सारे जीवों के मनों के साक्षी हैं। तो भी आपकी आज्ञा पाकर मैं कहूँगा।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् सब कुछ जानने वाले हैं अतः किसी वस्तु के बारे में उन्हें सूचित करने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी भगवान् के अभिप्राय को पूरा करने के लिए राजा नृग बोलेंगे।

यावत्यः सिकता भूमेर्यावत्यो दिवि तारकाः ।
यावत्यो वर्षधाराश्च तावतीरददं स्म गाः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यावत्यः—जितने; सिकताः—बालू के कण; भूमेः—पृथ्वी से सम्बन्धित; यावत्यः—जितने; दिवि—आकाश में; तारकाः—तारे; यावत्यः—जितनी; वर्ष—वर्षा की; धाराः—बूँदें; च—तथा; तावतीः—उतनी ही; अददम्—मैंने दीं; स्म—निस्सन्देह; गाः—गौवें।

मैंने दान में उतनी ही गौवें दीं जितने कि पृथ्वी पर बालू के कण हैं, आकाश में तारे हैं या वर्षा की बूँदें होती हैं।

तात्पर्य : भाव यह है कि राजा ने दान में असंख्य गौवें दीं।

पयस्विनीस्तरुणीः शीलरूप-
गुणोपपन्नाः कपिला हेमसृङ्गीः ।
न्यायार्जिता रूप्यखुराः सवत्सा
दुकूलमालाभरणा ददावहम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

पयः-विनीः—दूधवाली; तरुणीः—जवान; शील—अच्छा आचरण; रूप—सौन्दर्य; गुण—तथा अन्य गुण; उपपन्नाः—से युक्त; कपिलाः—भूरे रंग की; हेम—सोने के; शृङ्गीः—सींगों वाली; न्याय—न्यायपूर्वक; अर्जिताः—अर्जित की गई; रूप्य—चाँदी के; खुराः—खुरों वाली; स-वत्साः—अपने बछड़ों सहित; दुकूल—सुन्दर वस्त्र; माला—मालाओं से; आभरणाः—विभूषित; ददौ—दिया; अहम्—मैंने।

मैंने दान में जो बछड़ों सहित गौवें दीं वे जवान, भूरी, दूध देनेवाली थीं और अच्छे आचरण और सुन्दर तथा अच्छे गुणों से सम्पन्न थीं, जिन्हें ईमानदारी से अर्जित किया गया था तथा जिनके सींग सोने से, खुर चाँदी से मढ़े थे और जो सुन्दर सजावटी वस्त्रों एवं मालाओं से अलंकृत थीं।

स्वलङ्कतेभ्यो गुणशीलवद्भ्यः
सीदत्कुटुम्बेभ्य ऋतव्रतेभ्यः ।
तपःश्रुतब्रह्मवदान्यसद्भ्यः
प्रादां युवभ्यो द्विजपुङ्गवेभ्यः ॥ १४ ॥
गोभूहिरण्यायतनाश्वहस्तिनः
कन्याः सदासीस्तिलरूप्यशय्याः ।
वासांसि रत्नानि परिच्छदान्रथा-
निष्टं च यज्ञैश्चरितं च पूर्तम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

सु—अच्छी तरह; अलङ्कतेभ्यः—आभूषणों से सजाई गई; गुण—अच्छे गुण; शील—तथा चरित्र; वद्भ्यः—से युक्त; सीदत्—पीड़ित; कुटुम्बेभ्यः—कुटुम्बियों को; ऋत—सत्य; व्रतेभ्यः—समर्पित; तपः—तपस्या के लिए; श्रुत—भलीभाँति परिचित; ब्रह्म—वेदों से; वदान्य—अत्यन्त विद्वान; सद्भ्यः—सन्त स्वभाव वालों को; प्रादाम्—मैंने दिया; युवभ्यः—युवकों को; द्विज—ब्राह्मणों को; पुम्-गवेभ्यः—अतीव विशिष्ट; गो—गौवें; भू—भूमि; हिरण्य—सोना; आयतन—घर; अश्व—घोड़े; हस्तिनः—तथा हाथी; कन्याः—विवाह योग्य पुत्रियाँ; स—सहित; दासीः—दासियाँ; तिल—तिल; रूप्य—चाँदी; शय्याः—तथा पलंग; वासांसि—वस्त्र; रत्नानि—रत्न; परिच्छदान्—गृह सामग्री; रथान्—रथ; इष्टम्—की गई पूजा; च—तथा; यज्ञैः—अग्नि यज्ञों द्वारा; चरितम्—किया गया; च—तथा; पूर्तम्—पवित्र कार्य।

सर्वप्रथम मैंने दान प्राप्त करने वाले ब्राह्मणों को उत्तम आभूषणों से अलंकृत करके सम्मानित किया। वे अतीव सम्मानित ब्राह्मण जिनके परिवार कष्ट में थे, युवक थे तथा उत्तम चरित्र और गुणों से युक्त थे। वे सत्यनिष्ठ, तपस्या के लिए विख्यात, वैदिक शास्त्रों में पारंगत

तथा आचरण में साधुवत थे। मैंने उन्हें गौवें, भूमि, सोना, मकान, घोड़े, हाथी तथा दासी समेत विवाह के योग्य कुमारियाँ, तिल, चाँदी, सुन्दर शय्या, वस्त्र, रत्न, गृहसज्जा-सामग्री तथा रथ दान में दिये। इसके अतिरिक्त मैंने वैदिक यज्ञ किये और अनेक पवित्र कल्याण कार्य सम्पन्न किये।

कस्यचिद्द्विजमुख्यस्य भ्रष्टा गौर्मम गोधने ।
सम्पृक्ताविदुषा सा च मया दत्ता द्विजातये ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

कस्यचित्—किसी; द्विज—ब्राह्मण की; मुख्यस्य—प्रमुख; भ्रष्टा—खोई हुई; गौः—गाय; मम—मेरे; गो-धने—झुंड में; सम्पृक्ता—मिल जाने से; अविदुषा—अनजान; सा—वह; च—तथा; मया—मेरे द्वारा; दत्ता—दी गई; द्वि-जातये—(दूसरे) ब्राह्मण को।

एकबार किसी उत्तम ब्राह्मण की गाय भटक गई और मेरे झुंड में आ मिली। इससे अनजान होने के कारण मैंने वह गाय किसी दूसरे ब्राह्मण को दान में दे दी।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी की व्याख्या है कि *द्विज-मुख्य* शब्द ऐसे ब्राह्मण का सूचक है, जिसने दान लेना बन्द कर दिया हो और इस तरह वह अनुचित ढंग से दी गई गाय के बदले में एक लाख गौवें लेने से भी इनकार कर देगा।

तां नीयमानां तत्स्वामी दृष्ट्वोवाच ममेति तम् ।
ममेति परिग्राह्याह नृगो मे दत्तवानिति ॥ १७॥

शब्दार्थ

ताम्—उस (गाय) को; नीयमानाम्—ले जाते हुए; तत्—उसका; स्वामी—मालिक; दृष्ट्वा—देखकर; उवाच—कहा; मम—मेरा; इति—इस प्रकार; तम्—उसको; मम—मेरी; इति—इस प्रकार; परिग्राही—दान लेने वाला; आह—कहा; नृगः—राजा नृग ने; मे—मुझको; दत्तवान्—दिया; इति—इस प्रकार।

जब गाय के पहले मालिक ने उसे ले जाते हुए देखा तो उसने कहा, ''यह मेरी है।'' दूसरे ब्राह्मण ने जिसने उसे दान के रूप में स्वीकार किया था उत्तर दिया ''नहीं, यह तो मेरी है। इसे नृग ने मुझे दिया था।''

विप्रौ विवदमानौ मामूचतुः स्वार्थसाधकौ ।
भवान्दातापहर्तेति तच्छ्रुत्वा मेऽभवद्भ्रमः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

विप्रौ—दोनों ब्राह्मण; विवदमानौ—झगड़ते हुए; माम्—मुझसे; ऊचतुः—कहा; स्व—अपना; अर्थ—स्वार्थ; साधकौ—पूरा करते हुए; भवान्—आप; दाता—देने वाले; अपहर्ता—ले लेने वाले; इति—इस प्रकार; तत्—यह; श्रुत्वा—सुनकर; मे—मेरा; अभवत्—हो गया; भ्रमः—मोहग्रस्त।

दोनों ब्राह्मण झगड़ते हुए और उनमें से हरएक अपने प्रयोजन की पुरजोर कोशिश करता हुआ, मेरे पास आये। उनमें से एक ने कहा, ''आपने यह गाय मुझे दी'' तथा दूसरे ने कहा, ''किन्तु तुमने उसे मुझसे चुराया था।'' यह सुनकर मैं भ्रमीत हो गया।

अनुनीतावुभौ विप्रौ धर्मकृच्छ्रगतेन वै ।
गवां लक्षं प्रकृष्टानां दास्याम्येषा प्रदीयताम् ॥ १९ ॥
भवन्तावनुगृह्णीतां किङ्करस्याविजानतः ।
समुद्धरतं मां कृच्छ्रात्पतन्तं निरयेऽशुचौ ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अनुनीतौ—विनीत भाव से प्रार्थित; उभौ—दोनों; विप्रौ—ब्राह्मणों से; धर्म—धार्मिक कर्तव्य का; कृच्छ्र—कठिन स्थिति; गतेन—(मेरे) द्वारा, जो अन्दर था; वै—निस्सन्देह; गवाम्—गौवों का; लक्षम्—एक लाख; प्रकृष्टानाम्—उत्तम गुणों वाली; दास्यामि—मैं दूँगा; एषा—इस एक; प्रदीयताम्—दे दें; भवन्तौ—आप दोनों; अनुगृह्णीताम्—कृपा दिखलाते हुए; किङ्करस्य—अपने सेवक का; अविजानतः—अनजान; समुद्धरतम्—बचा लीजिये; माम्—मुझको; कृच्छ्रात्—संकट से; पतन्तम्—गिरते हुए; निरये—नरक में; अशुचौ—मलिन।

इस स्थिति में अपने को कर्तव्य के घोर संकट में पाकर मैंने दोनों ब्राह्मणों से अनुनय-विनय की ''मैं इस गाय के बदले एक लाख उत्तम गौवें दूँगा। कृपा करके उसे मुझे वापस कर दीजिये। आप अपने इस दास मुझपर कृपालु हों। मैं जो कर रहा था उससे अनजान था। मुझे इस कठिन स्थिति से बचा लें अन्यथा मैं निश्चित रूप से मलिन नरक में गिरूँगा।''

नाहं प्रतीच्छे वै राजन्नित्युक्त्वा स्वाम्यपाक्रमत् ।
नान्यद्गवामप्ययुतमिच्छामीत्यपरो ययौ ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; प्रतीच्छे—चाहता हूँ; वै—निस्सन्देह; राजन्—हे राजन्; इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; स्वामी—मालिक; अपाक्रमत्—चला गया; न—नहीं; अन्यत्—अतिरिक्त; गवाम्—गौवों के; अपि—भी; अयुतम्—दस हजार; इच्छामि—चाहता हूँ; इति—ऐसा कहकर; अपरः—दूसरा (ब्राह्मण); ययौ—चला गया।

गाय के इस मालिक ने कहा, ''हे राजन्, मैं इस गाय के बदले में कुछ भी नहीं चाहता।'' और वह चला गया। दूसरे ब्राह्मण ने घोषित किया, ''मैं दस हजार अधिक गौवें भी (जितना तुम दे रहे हो उससे अधिक) नहीं चाहता।'' और वह भी चला गया।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् कृष्ण* में टीका की है ''इस तरह राजा के प्रस्ताव को न मानकर

दोनों ब्राह्मण क्रुद्ध होकर वहाँ से यह सोचते चले गये कि उनकी वैधस्थिति से बेदखल कर दिया गया है।''

एतस्मिन्नन्तरे यामैर्दूतैर्नीतो यमक्षयम् ।
यमेन पृष्टस्तत्राहं देवदेव जगत्पते ॥ २२॥

शब्दार्थ

एतस्मिन्—इस; अन्तरे—अवसर में; यामैः—यमराज के; दूतैः—दूतों द्वारा; नीतः—ले जाया गया; यम-क्षयम्—यमराज के धाम तक; यमेन—यमराज द्वारा; पृष्टः—पूछा गया; तत्र—वहाँ; अहम्—मैं; देव-देव—हे देवताओं के स्वामी; जगत्—ब्रह्माण्ड के; पते—हे स्वामी।

हे देवों के देव, हे ब्रह्माण्ड के स्वामी, इस तरह उत्पन्न परिस्थिति से लाभ उठाकर यमराज के दूत बाद में मुझे यमराज के धाम ले गये। वहाँ स्वयं यमराज ने मुझसे पूछा।

तात्पर्य : आचार्यों के अनुसार राजा द्वारा इसके पूर्व किये गये सकाम कर्म निर्दोष थे। किन्तु अब अनजाने में त्रुटि उठ खड़ी हुई अतः जब राजा की मृत्यु हुई तो यमदूत उसे यमराज के संयमनी नामक धाम में उठा ले गये।

पूर्वं त्वमशुभं भुङ्क्ष उताहो नृपते शुभम् ।
नान्तं दानस्य धर्मस्य पश्ये लोकस्य भास्वतः ॥ २॥

शब्दार्थ

पूर्वम्—पहले; त्वम्—तुम; अशुभम्—अशुभ फल; भुङ्क्षे—अनुभव करना चाहते हो; उत आह उ—या अन्य कुछ; नृ-पते—हे राजा; शुभम्—शुभफल; न—नहीं; अन्तम्—अन्त; दानस्य—दान का; धर्मस्य—धार्मिक; पश्ये—मैं देखता हूँ; लोकस्य—जगत का; भास्वतः—चमकते हुए।

[यमराज ने कहा] हे राजा, सर्वप्रथम आप अपने पापों के फलों का अनुभव करना चाहते हैं या अपने पुण्य का। निस्सन्देह मुझे न तो आपके द्वारा सम्पन्न कर्तव्यपूर्ण दान का अन्त दीखता है, न ही उस दान के परिणामस्वरूप तेजपूर्ण स्वर्गलोक में आपके भोगों का।

पूर्वं देवाशुभं भुञ्ज इति प्राह पतेति सः ।
तावदद्राक्षमात्मानं कृकलासं पतन्प्रभो ॥ २४॥

शब्दार्थ

पूर्वम्—पहले; देव—हे प्रभु; अशुभम्—पापपूर्ण फल; भुञ्जे—अनुभव करूँगा; इति—ऐसा कहकर; प्राह—कहा; पत—नीचे गिरो; इति—इस प्रकार; सः—वह; तावत्—तभी; अद्राक्षम्—मैंने देखा; आत्मानम्—अपने आपको; कृकलासम्—छिपकली; पतन्—गिरते हुए; प्रभो—हे स्वामी।

मैंने कहा : हे प्रभु, पहले मुझे अपने पापों का फल भोगने दें और यमराज बोले, ''तो नीचे

गिरो।'' मैं तुरन्त नीचे गिरा और हे स्वामी, गिरते समय मैंने देखा कि मैं छिपकली बन गया हूँ।

ब्रह्मण्यस्य वदान्यस्य तव दासस्य केशव ।
स्मृतिर्नाद्यापि विध्वस्ता भवत्सन्दर्शनार्थिनः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मण्यस्य—ब्राह्मण भक्त; वदान्यस्य—उदार; तव—तुम्हारे; दासस्य—दास की; केशव—हे कृष्ण; स्मृतिः—स्मरणशक्ति; न—नहीं; अद्य—आज; अपि—तक; विध्वस्ता—विनष्ट; भवत्—आपके; सन्दर्शन—दर्शन का; अर्थिनः—इच्छुक।

हे केशव, मैं आपके दास रूप में ब्राह्मणों का भक्त था और उनके प्रति उदार था और मैं सदैव आपके दर्शन के लिए लालायित रहता था। इसीलिए आजतक मैं (अपने विगत जीवन को) नहीं भूल पाया।

तात्पर्य : इस श्लोक पर श्रील जीव गोस्वामी की टीका इस प्रकार है ''चूँकि राजा नृग ने खुले रूप से कह दिया कि उसमें दो अद्वितीय गुण थे—ब्राह्मण भक्ति तथा वदान्यता—अत: स्पष्ट है कि उसमें ये गुण अंशरूप में ही थे क्योंकि जो सचमुच शुद्ध होगा वह उनके बारे में कभी भी डींग नहीं हाँकेगा। यह भी स्पष्ट है कि राजा नृग ने ऐसे पुण्य को पुण्य के लिए ही पृथक् लक्ष्य समझा। इस तरह उसे भगवान् कृष्ण की शुद्ध भक्ति का पूरी तरह बोध नहीं हो सका। कृष्ण उसके जीवन के एकमात्र लक्ष्य नहीं थे जैसाकि अम्बरीष महाराज के नियमित अभ्यास की स्थिति में भी वे थे। न ही राजा नृग ने अम्बरीष महाराज की तरह किसी बाधा पर विजय प्राप्त की जब उन पर दुर्वासा मुनि कुपित हो गये थे। फिर भी हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि चूँकि नृग किसी न किसी कारणवश भगवान् का दर्शन कर सका अत: उसमें भगवान् की संगति पाने की सच्ची इच्छा का सद्गुण अवश्य रहा होगा।''

श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् कृष्ण* में उपर्युक्त विश्लेषण की पुष्टि की है ''कुल मिलाकर वह (नृग) कृष्णभावनामृत विकसित नहीं कर पाया था। कृष्णभावना-भावित व्यक्ति ईश्वर या कृष्ण के लिए प्रेम उत्पन्न करता है, शुभ या अशुभ कर्मों के लिए नहीं। इसलिए उसे ऐसे कर्म का फल नहीं मिलता। जैसाकि *ब्रह्म संहिता* में कहा गया है कि भक्त, भगवान् की कृपा से, कभी भी सकाम कर्मों के फल नहीं भोगता।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने निम्नलिखित टीका की है—''जब नृग ने 'आपके दर्शन के लिए लालायित' कहा तो वह किसी ऐसी घटना का उल्लेख कर रहा था जिसमें एक बार उसकी भेंट किसी

महान् भक्त से हुई थी। यह भक्त भगवान् के सर्वोत्तम अर्चाविग्रह के लिए मन्दिर प्राप्त करने का इच्छुक था और वह *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* जैसे शास्त्रों की प्रतियाँ भी प्राप्त करना चाहता था। अतीव उदार होने के कारण नृग ने इन वस्तुओं का प्रबन्ध कर दिया। इससे भक्त इतना प्रसन्न हुआ कि उसने राजा को आशीर्वाद दिया, "हे राजन्! आपको भगवान् के दर्शन हों।" तभी से नृग भगवान् का दर्शन करना चाह रहा था।

स त्वं कथं मम विभोऽक्षिपथः परात्मा
योगेश्वरः श्रुतिदृशामलहृद्विभाव्यः ।
साक्षादधोक्षज उरुव्यसनान्धबुद्धेः
स्यान्मेऽनुदृश्य इह यस्य भवापवर्गः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; त्वम्—तुम; कथम्—कैसे; मम—मेरा; विभो—हे सर्वशक्तिमान; अक्षि-पथः—दृष्टिगोचर; पर-आत्मा—परमात्मा; योग—योग के; ईश्वरैः—स्वामियों द्वारा; श्रुति—श्रुतियों की; दृशा—आँखों के द्वारा; अमल—निर्मल; हृत्—उनके हृदयों के भीतर; विभाव्यः—ध्यान किये जाने योग्य; साक्षात्—प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर; अधोक्षज—हे दिव्य प्रभु, जो इन्द्रियों से नहीं देखे जा सकते; उरु—कठिन; व्यसन—कष्टों द्वारा; अन्ध—अन्धा; बुद्धेः—बुद्धिवाला; स्यात्—शायद हो; मे—मेरे लिए; अनुदृश्यः—देखे जाने योग्य; इह—इस जगत में; यस्य—जिसका; भव—भौतिक जीवन का; अपवर्गः—अन्त।

हे विभु! मैं आपको अपने समक्ष कैसे देख पा रहा हूँ? आप तो परमात्मा हैं जिस पर बड़े से बड़े योगेश्वर केवल वेद रूपी दिव्य आँख के द्वारा अपने शुद्ध हृदयों के भीतर ध्यान लगा सकते हैं। तो हे दिव्य प्रभु, आप किस तरह मुझे प्रत्यक्ष दिख रहे हैं क्योंकि मेरी बुद्धि भौतिक जीवन के कठिन कष्टों से अन्धी हो चुकी है? जिसने इस जगत के भव-बन्धनों को समाप्त कर दिया है, वही आपको देख सकता है।

तात्पर्य : छिपकली का शरीर होते हुए भी राजा नृग को अपना पूर्व-जन्म स्मरण था। और अब जब उसे भगवान् का दर्शन करने का अवसर मिला तो वह यह समझ सकता था कि उसे भगवान् की विशेष कृपा प्राप्त हुई है।

देवदेव जगन्नाथ गोविन्द पुरुषोत्तम ।
नारायण हृषीकेश पुण्यश्लोकाच्युताव्यय ॥ २७ ॥
अनुजानीहि मां कृष्ण यान्तं देवगतिं प्रभो ।
यत्र क्वापि सतश्चेतो भूयान्मे त्वत्पदास्पदम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

देव-देव—स्वामियों के स्वामी; जगत्—ब्रह्माण्ड के; नाथ—हे स्वामी; गो-विन्द—हे गौवों के स्वामी; पुरुष-उत्तम—हे पुरुषोत्तम; नारायण—हे समस्त जीवों के आधार; हृषीकेश—हे इन्द्रियों के स्वामी; पुण्य-श्लोक—हे दिव्य श्लोकों द्वारा स्तुति किये जाने वाले; अच्युत—हे अच्युत; अव्यय—हे न बदलने वाले; अनुजानीहि—कृपया जाने दें; माम्—मुझको; कृष्ण—हे कृष्ण; यान्तम्—जाने वाले को; देव-गतिम्—देवताओं के लोक में; प्रभो—हे प्रभु; यत्र क्व अपि—जहाँ कहीं भी; सतः—रहते हुए; चेतः—मन; भूयात्—हो; मे—मेरा; त्वत्—तुम्हारे; पद—पैरों की; आस्पदम्—शरण।.

हे देवदेव, जगन्नाथ, गोविन्द, पुरुषोत्तम, नारायण, हृषीकेश, पुण्यश्लोक, अच्युत, अव्यय, हे कृष्ण, कृपा करके मुझे अब देवलोक के लिए प्रस्थान करने की अनुमति दें। हे प्रभु, मैं जहाँ भी रहूँ, मेरा मन सदैव आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण करे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है भगवान् की कृपा प्राप्त हो जाने से उसकी श्रद्धा को बल मिला और इस तरह दास पद प्राप्त करके राजा नृग ने भगवान् के नामों का उच्चारण करते हुए उनका विधिवत यशोगान किया और तब भगवान् से विदा लेने के लिए अनुमति माँगी। उसकी स्तुति का भाव यह है "आप देवदेव अर्थात् देवताओं के स्वामी और जगन्नाथ हैं अतः आप मेरे भी नाथ होइये। हे गोविन्द! आप जिस कृपा-चितवन से गौवों को मोहते हैं उसीसे मुझे अपनी सम्पत्ति बना लें। आप ऐसा कर सकते हैं क्योंकि आप पुरुषोत्तम हैं। हे नारायण! चूँकि आप जीवों के आधार हैं अतः मेरे आश्रय बनें, भले ही मैं बुरा क्यों न होऊँ। हे हृषीकेश! मेरी इन्द्रियों को अपनी बना लें। हे पुण्यश्लोक! अब आप नृग के उद्धारक के रूप में विख्यात हो चुके हैं। हे अच्युत! आप मेरे मन से कभी ओझल न हों। हे अव्यय! मेरे मन में कभी भी आपकी न्यूनता न हो। इन श्लोकों का तात्पर्य इस रूप में *श्रीमद्भागवत* के महान् टीकाकार श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती द्वारा दिया गया है।

नमस्ते सर्वभावाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।
कृष्णाय वासुदेवाय योगानां पतये नमः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; ते—आपको; सर्व-भावाय—समस्त प्राणियों के स्रोत; ब्रह्मणे—परम सत्य को; अनन्त—असीम; शक्तये—शक्ति वाले; कृष्णाय—कृष्ण को; वासुदेवाय—वसुदेव के पुत्र; योगानाम्—योग की समस्त विधियों के; पतये—स्वामी को; नमः—नमस्कार.

हे वसुदेवपुत्र कृष्ण, मैं आपको बारम्बार नमस्कार करता हूँ आप समस्तजीवों के उद्गम हैं, परम सत्य हैं, अनन्त शक्तियों के स्वामी हैं और समस्त आध्यात्मिक प्रवर्गों के स्वामी हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधरस्वामी की टीका है कि यहाँ पर राजा नृग ब्रह्म को नमस्कार करता है—

अर्थात् उस परम सत्य को जो कर्म करते हुए भी अपरिवर्तित रहते हैं प्राचीन काल से ही पाश्चात्य दार्शनिक इस प्रश्न को लेकर उलझ रहे हैं कि ईश्वर किस तरह अपरिवर्तित रहते हुए भी कर्म कर सकता है श्रील श्रीधर स्वामी कहते हैं कि इस शंका का समाधान *अनन्त शक्तये* शब्द से हो जाता है, जो यह बतलाता है कि ईश्वर "असीम शक्ति के स्वामी" हैं इस तरह वे अनन्त शक्तियों के द्वारा, अपनी अनिवार्य प्रकृति को बदले बिना ही, असंख्य कर्म कर सकते हैं।

राजा नृग नित्य आनन्द स्वरूप और जीवन के चरम-लक्ष्य श्रीकृष्ण को पुनः नमस्कार करता है कृष्ण के पवित्र नाम का विश्लेषण *महाभारत* के एक श्लोक (उद्योग पर्व ७१.४) में हुआ है, जिसे श्रील प्रभुपाद ने *चैतन्य चरितामृत* (मध्य ९.० तात्पर्य) में उद्धृत किया है—

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।

तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥

कृष् शब्द भगवान् का आकर्षक स्वरूप है और *ण* का अर्थ है "आध्यात्मिक आनन्द" जब कृष् क्रिया *ण* से मिलती है, तो *कृष्ण* बनता है, जो परब्रह्म का सूचक है।

राजा नृग उपर्युक्त स्तुति तब करता है जब वह भगवान् की संगति छोड़कर जाने वाला होता है।

इत्युक्त्वा तं परिक्रम्य पादौ स्पृष्ट्वा स्वमौलिना ।
अनुज्ञातो विमानाछ्यमारुहत्पश्यतां नृणाम् ॥ ० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; तम्—उनको; परिक्रम्य—परिक्रमा करके; पादौ—पाँवों को; स्पृष्ट्वा—छूकर; स्व—अपने; मौलिना—मुकुट से; अनुज्ञातः—विदा पाकर; विमान—दैवीयान पर; अछ्यम्—अत्युत्तम; आरुहत्—चढ़ गया; पश्यताम्—देखते देखते; नृणाम्—मनुष्यों के.

इस तरह कह कर महाराज नृग ने भगवान् कृष्ण की परिक्रमा की और उनके चरणों पर अपना मुकुट छुवाया तब विदाई की अनुमति पाकर वहाँ पर उपस्थित लोगों के देखते देखते राजा नृग एक अद्भुत स्वर्गिक विमान पर चढ़ गया

कृष्णः परिजनं प्राह भगवान्देवकीसुतः ।
ब्रह्मण्यदेवो धर्मात्मा राजन्याननुशिक्षयन् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

कृष्णः—कृष्ण ने; परिजनम्—निजी संगियों से; प्राह—बोले; भगवान्—भगवान्; देवकी-सुतः—देवकी का पुत्र; ब्रह्मण्य—ब्राह्मण भक्त; देवः—ईश्वर; धर्म—धर्म का; आत्मा—आत्मा; राजन्यान्—राजसी वर्ग को; अनुशिक्षयन्—शिक्षा देने के लिए.

तब देवकी पुत्र, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण जो ब्राह्मणों के प्रति विशेष रूप से अनुरक्त हैं और जो साक्षात् धर्म के सार हैं अपने निजी संगियों से बोले और इस प्रकार राजसी वर्ग को शिक्षा दी।

दुर्जरं बत ब्रह्मस्वं भुक्तमग्नेर्मनागपि ।
तेजीयसोऽपि किमुत राज्ञां ईश्वरमानिनाम् ॥ २॥

शब्दार्थ

दुर्जरम्—अपाच्य; बत—निस्सन्देह; ब्रह्म—ब्राह्मण की; स्वम्—सम्पत्ति; भुक्तम्—भोगी गई; अग्नेः—अग्नि की अपेक्षा; मनाक्—रंच भर; अपि—भी; तेजीयसः—तेजस्वी के लिए; अपि—भी; किम् उत—तो क्या कहा जाय; राज्ञाम्—राजाओं के; ईश्वर—नियंत्रक; मानिनाम्—मानने वाले.

[भगवान् कृष्ण ने कहा] : एक ब्राह्मण की सम्पत्ति कितनी अपाच्य होती है, भले ही उसका रंचभर हो और अग्नि से भी अधिक तेजस्वी द्वारा उपभोग क्यों न किया जाय! तो फिर उन राजाओं के विषय में क्या कहा जाय जो अपने को स्वामी मानकर उसका भोग करना चाहते हैं।

तात्पर्य : तपस्या, योग इत्यादि द्वारा शक्तिशाली बनने वाले भी ब्राह्मण की चुराई हुई सम्पत्ति का भोग नहीं कर सकते तो फिर अन्यों के विषय में क्या कहा जाय ?

नाहं हालाहलं मन्ये विषं यस्य प्रतिक्रिया ।
ब्रह्मस्वं हि विषं प्रोक्तं नास्य प्रतिविधिर्भुवि ॥ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; हालाहलम्—हालाहल नामक विष जिसका पान शिवजी ने बिना नशे के प्रभाव से किया; मन्ये—मैं मानता हूँ; विषम्—विष; यस्य—जिसका; प्रतिक्रिया—प्रभाव; ब्रह्म-स्वम्—ब्राह्मण की सम्पत्ति; हि—निस्सन्देह; विषम्—विष; प्रोक्तम्—कहा गया; न—नहीं; अस्य—इसका; प्रतिविधिः—उपचार, निराकरण; भुवि—संसार में.

मैं हालाहल को असली विष नहीं मानता क्योंकि इसका भी निराकरण हो जाता है, किन्तु ब्राह्मण की सम्पत्ति चुराये जाने को असली विष कहा जा सकता है, क्योंकि इस संसार में इसका कोई उपचार नहीं है।

तात्पर्य : जो किसी ब्राह्मण की सम्पत्ति को चुराकर यह सोचता है कि वह इसका भोग करेगा तो वास्तव में वह अत्यन्त घातक विष का पान करता है।

हिनस्ति विषमत्तारं वह्निरद्भिः प्रशाम्यति ।
कुलं समूलं दहति ब्रह्मस्वारणिपावकः ॥ ४॥

शब्दार्थ

हिनस्ति—नष्ट करता है; विषम्—विष को; अत्तारम्—निगलने वाले को; वह्निः—अग्नि; अद्भिः—जल से; प्रशाम्यति—बुझाई जाती है; कुलम्—परिवार को; स-मूलम्—जड़ समेत; दहति—जलाती है; ब्रह्म-स्व—ब्राह्मण की सम्पत्ति; अरणि—आग जलाने वाला काष्ठ; पावकः—अग्नि.

विष केवल उसी को मारता है, जो उसे निगलता है और सामान्य अग्नि को पानी से बुझाया जा सकता है किन्तु ब्राह्मण की सम्पत्ति रूपी अरणि से उत्पन्न अग्नि चोर के समस्त परिवार को समूल नष्ट कर देती है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ब्राह्मण की सम्पत्ति की चोरी से उत्पन्न अग्नि की तुलना उस अग्नि से करते हैं, जो पुराने वृक्ष के कोटर के भीतर जलती है ऐसी अग्नि को अनेक बार होने वाली वर्षा का जल भी नहीं बुझा पाता—यह भीतर ही भीतर पूरे वृक्ष को—भूमि के भीतर जड़ों तक जला डालती है इसी प्रकार ब्राह्मण की सम्पत्ति के चुराने से उत्पन्न अग्नि अत्यन्त भयानक होती है और यथासम्भव किसी भी तरह से इससे बचना चाहिए

ब्रह्मस्वं दुरनुज्ञातं भुक्तं हन्ति त्रिपूरुषम् ।
प्रसह्य तु बलाद्भुक्तं दश पूर्वान्दशापरान् ॥ ५॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-स्वम्—ब्राह्मण की सम्पत्ति; दुरनुज्ञातम्—समुचित अनुमति न दिये जाने पर; भुक्तम्—भोगी गई; हन्ति—विनष्ट करती है; त्रि—तीन; पूरुषम्—व्यक्तियों को; प्रसह्य—बलपूर्वक; तु—लेकिन; बलात्—बाह्य शक्ति (सरकारी इत्यादि) का प्रयोग करने से; भुक्तम्—भोगी गई; दश—दस; पूर्वान्—पहले के; दश—दस; अपरान्—बाद के.

यदि कोई व्यक्ति बिना उचित अनुमति के ब्राह्मण की सम्पत्ति का भोग करता है, तो वह सम्पत्ति उस व्यक्ति की तीन पीढ़ियों तक को नष्ट कर देती है। किन्तु यदि वह इसे बलपूर्वक या राजकीय अथवा किसी बाहरी सहायता से छीन लेता है, तो उसके पूर्वजों की दस पीढ़ियाँ तथा उसके उत्तराधिकारियों की दस पीढ़ियाँ विनष्ट हो जाती हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *त्रि-पूरुष* द्योतक है अपना, अपने पुत्रों तथा अपने पौत्रों का

राजानो राजलक्ष्म्यान्धा नात्मपातं विचक्षते ।
निरयं येऽभिमन्यन्ते ब्रह्मस्वं साधु बालिशाः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

राजानः—राजपरिवार के सदस्य; राज—राजसी; लक्ष्म्या—ऐश्वर्य से; अन्धाः—अन्धे हुए; न—नहीं; आत्म—अपना; पातम्—पतन; विचक्षते—पहले से देख पाते हैं; निरयम्—नरक; ये—जो; अभिमन्यन्ते—लालायित रहते हैं; ब्रह्म-स्वम्—ब्राह्मण की सम्पत्ति; साधु—उपयुक्त; बालिशः—बचकाना, मूर्ख.

राजसी ऐश्वर्य से मदान्ध राजा अपना पतन पहले से देख पाने में असमर्थ रहते हैं। वे ब्राह्मण की सम्पत्ति के लिए मूर्खतापूर्वक लालायित रहकर वास्तव में नरक जाने के लिए लालायित रहते हैं।

गृह्णन्ति यावतः पांशून्क्रन्दतामश्रुबिन्दवः ।
विप्राणां हृतवृत्तीनाम्वदान्यानां कुटुम्बिनाम् ॥ ७ ॥
राजानो राजकुल्याश्च तावतोऽब्दान्निरङ्कुशाः ।
कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते ब्रह्मदायापहारिणः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

गृह्णन्ति—स्पर्श करते हैं; यावतः—जितने; पांशून्—धूल के कण; क्रन्दताम्—क्रन्दन करते हुए; अश्रु-बिन्दवः—आँसू की बूँदें; विप्राणाम्—ब्राह्मणों के; हृत—हरण की गई; वृत्तीनाम्—जीविका के साधनों का; वदान्यानाम्—उदार; कुटुम्बिनाम्—परिवार के लोगों के; राजानः—राजालोग; राज-कुल्याः—राज परिवार के अन्य सदस्य; च—भी; तावतः—उतने; अब्दान्—वर्षों तक; निरङ्कुशाः—अनियंत्रित; कुम्भी-पाकेषु—कुम्भीपाक नामक नरक में; पच्यन्ते—पकाये जाते हैं; ब्रह्म-दाय—ब्राह्मण के हिस्से का; अपहारिणः—अपहरण करने वाले.

जिनके ऊपर आश्रित परिवार हो तथा जिनकी सम्पत्ति हड़प ली गई हो, ऐसे उदारचेता ब्राह्मणों के आँसुओं से धूल के जितने कणों का स्पर्श होता है, उतने वर्षों तक वे अनियंत्रित राजा, जो ब्राह्मण की सम्पत्ति को हड़प लेते हैं, अपने राज परिवारों के साथ कुम्भीपाक नामक नर्क में भुने जाते हैं।

स्वदत्तां परदत्तां वा ब्रह्मवृत्तिं हरेच्च यः ।
षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

स्व—अपने द्वारा; दत्ताम्—दिया गया; पर—दूसरे के द्वारा; दत्ताम्—दिया गया; वा—अथवा; ब्रह्म-वृत्तिम्—ब्राह्मण की सम्पत्ति; हरेत्—चुराता है; च—तथा; यः—जो; षष्टि—साठ; वर्ष—वर्षों तक; सहस्राणि—हजारों; विष्ठायाम्—मल में; जायते—उत्पन्न होता है; कृमिः—कीट.

चाहे अपना दिया दान हो या किसी अन्य का, जो व्यक्ति किसी ब्राह्मण की सम्पत्ति को चुराता है, वह साठ हजार वर्षों तक मल में कीट के रूप में जन्म लेगा

**न मे ब्रह्मधनं भूयाद्यद्गृध्वाल्पायुषो नराः ।
पराजिताश्च्युता राज्याद्भवन्त्युद्वेजिनोऽहयः ॥ ४० ॥**

शब्दार्थ

न—नहीं; मे—मुझको; ब्रह्म—ब्राह्मणों की; धनम्—सम्पत्ति; भूयात्—चाहे जो हो; यत्—जो; गृध्वा—इच्छा करके; अल्प-आयुषः—अल्पायु; नराः—मनुष्यगण; पराजिताः—पराजित; च्युताः—विहीन; राज्यात्—राज्य से; भवन्ति—हो जाते हैं; उद्वेजिनः—कष्ट पहुँचाने वाले; अहयः—सर्प.

मैं ब्राह्मणों की सम्पत्ति की कामना नहीं करता जो इसका लोभ करते हैं उनकी आयु क्षीण होती है और वे पराजित होते हैं, वे अपने राज्य खो देते हैं और दुसरों को कष्ट पहुँचाने वाले सर्प बनते हैं।

**विप्रं कृतागसमपि नैव द्रुह्यत मामकाः ।
घ्नन्तं बहु शपन्तं वा नमस्कुरुत नित्यशः ॥ ४१ ॥**

शब्दार्थ

विप्रम्—विद्वान ब्राह्मण के प्रति; कृत—किया गया; आगसम्—पाप; अपि—भी; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; द्रुह्यत—शत्रु की तरह व्यवहार करते हैं; मामकाः—हे मेरे अनुयायियो; घ्नन्तम्—शारीरिक प्रहार करते हुए; बहु—बारम्बार; शपन्तम्—शाप देते हुए; वा—अथवा; नमः-कुरुत—तुम्हें नमस्कार करना चाहिए; नित्यशः—सदैव.

हे मेरे अनुयायियो, तुम कभी भी विद्वान ब्राह्मण के साथ कठोर व्यवहार न करो, भले ही उसने पाप क्यों न किये हों। यदि वह तुम्हारे शरीर पर वार भी करे या बारम्बार तुम्हें शाप दे तो भी उसे नमस्कार करते रहो

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण यह उपदेश न केवल अपने निजी संगियों को देते हैं अपितु उन सबों को भी देते हैं, जो अपने को भगवान् के अनुयायी होने का दावा करते हैं।

**यथाहं प्रणमे विप्राननुकालं समाहितः ।
तथा नमत यूयं च योऽन्यथा मे स दण्डभाक् ॥ ४२ ॥**

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अहम्—मैं; प्रणमे—प्रणाम करता हूँ; विप्रान्—ब्राह्मणों को; अनु-कालम्—सर्वदा; समाहितः—सावधानी के साथ; तथा—उसी तरह; नमत—नमस्कार करना चाहिए; यूयम्—तुम सबों को; च—भी; यः—जो; अन्यथा—अन्यथा; मे—मेरे द्वारा; सः—वह; दण्ड—दण्ड का; भाक्—भागी.

जिस तरह मैं सदैव ध्यान रखते हुए ब्राह्मणों को नमस्कार करता हूँ उसी तरह तुम सबों को चाहिए कि उन्हें नमस्कार करो। जो कोई भी अन्यथा कर्म करता है, उसे मैं दण्ड देता हूँ

ब्राह्मणार्थो ह्यपहृतो हर्तारं पातयत्यधः ।
अजानन्तमपि ह्येनं नृगं ब्राह्मणगौरिव ॥ ४॥

शब्दार्थ

ब्राह्मण—ब्राह्मण की; अर्थः—सम्पदा; हि—निस्सन्देह; अपहृतः—हरण की गई; हर्तारम्—लेने वाले को; पातयति—गिरा दिया जाता है; अधः—नीचे; अजानन्तम्—अनजाने में; अपि—भी; हि—निस्सन्देह; एनम्—इस; नृगम्—राजा नृग को; ब्राह्मण—ब्राह्मण की; गौः—गाय; इव—सदृश.

जब किसी ब्राह्मण की सम्पत्ति अनजाने में भी चुराई जाती है, तो उस व्यक्ति को निश्चित रूप से पतित होना पड़ता है, जिस तरह ब्राह्मण की गाय से नृग को पतित होना पड़ा

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् यह प्रदर्शित करना चाहते हैं कि उनके उपदेश केवल सैद्धान्तिक न होकर व्यावहारिक हैं जैसाकि नृग महाराज के साथ निश्चित रूप से हुआ।

एवं विश्राव्य भगवान्मुकुन्दो द्वारकौकसः ।
पावनः सर्वलोकानां विवेश निजमन्दिरम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विश्राव्य—सुनाकर; भगवान्—भगवान्; मुकुन्दः—कृष्ण; द्वारका-ओकसः—द्वारकावासियों को; पावनः—शुद्ध करने वाले; सर्व—सभी; लोकानाम्—लोकों के; विवेश—प्रविष्ट हुए; निज—अपने; मन्दिरम्—महल में।.

इस तरह से द्वारका निवासियों को उपदेश देने के बाद, समस्त लोकों को पवित्र करने वाले भगवान् मुकुन्द अपने महल में प्रविष्ट हुए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कन्ध के अन्तर्गत "राजा नृग का उद्धार" नामक चौंसठवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पैंसठ

बलराम का वृन्दावन जाना

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह भगवान् बलराम गोकुल गये, वहाँ पर गोपियों के साथ रमण किया और यमुना नदी का कर्षण किया।

एक दिन बलराम अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों को देखने गोकुल गये। जब वे वहाँ पहुँचे तो वृद्धा गोपियाँ तथा कृष्ण के माता-पिता नन्द-यशोदा जो दीर्घकाल से चिन्तित थे—सबों ने उनको गले लगाया और आशीर्वाद दिया। बलराम ने अपने पूज्यों का उनकी आयु, मैत्री तथा पारिवारिक सम्बन्ध के अनुसार अभिवादन किया। जब गोकुलवासी तथा बलराम एक-दूसरे की कुशल-क्षेम पूछ चुके तो

बलराम अपनी यात्रा के बाद विश्राम करने लगे।

थोड़े ही समय बाद तरुण गोपियाँ बलराम के पास आईं और उनसे कृष्ण की कुशलता के बारे में पूछा, ''क्या कृष्ण अपने माता-पिता तथा सखाओं को अब भी स्मरण करते हैं? क्या वे उन सबसे मिलने गोकुल आयेंगे? हमने कृष्ण के लिए अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि अपने पिता, माता तथा अन्य संबंधियों को त्याग दिया किन्तु अब उन्होंने हम सबों को त्याग दिया है। उनके मधुर मन्द-हासयुक्त मुख को देखने के बाद हम काम-इच्छा से अभिभूत होकर उनके शब्दों पर विश्वास करने के अतिरिक्त कर ही क्या सकती थीं? इतने पर भी यदि कृष्ण हमसे विलग होकर अपने दिन काट सकते हैं, तो हम उनके वियोग को क्यों नहीं सहन कर सकतीं? अत: उनके विषय में बातें करते रहने का कोई कारण नहीं है।'' इस तरह से गोपियाँ कृष्ण की मनोहर बातों, मोहक चितवन, क्रीड़ामय संकेतों तथा प्रेमपूर्ण आलिंगन का स्मरण करने लगीं जिसके कारण वे सिसकने लगीं। बलराम ने कृष्ण द्वारा भेजा गया मोहक सन्देश सुनाकर उन्हें ढाढ़स बँधाया।

भगवान् बलराम यमुना के तट पर कुंजों में गोपियों के साथ विहार करते हुए गोकुल में दो मास रहे। इन लीलाओं को देखकर देवताओं ने स्वर्ग में दुन्दुभियाँ बजाईं और फूलों की वर्षा की तथा स्वर्ग के मुनियों ने भगवान् बलराम की महिमा का गान किया।

एक दिन बलराम वारुणी मदिरा पीकर मदोन्मत्त हो उठे और गोपियों के साथ जंगल में घूमने लगे। उन्होंने यमुना को पुकारा, ''तुम पास आ जाओ जिससे मैं गोपियों के साथ तुम्हारे जल में क्रीड़ा कर सकूँ।'' किन्तु यमुना ने इस आदेश की उपेक्षा की। अत: बलराम ने अपने हल की नोक से यमुना को खींचना प्रारम्भ कर दिया और उसे सैकड़ों धाराओं में विभक्त कर दिया। भय से काँपती यमुनादेवी प्रकट हुईं और बलराम के चरणों पर गिरकर क्षमा करने के लिए प्रार्थना की। उन्होंने यमुना को जाने दिया और तब युवती-मित्रों के साथ कुछ काल तक क्रीड़ा करने के लिए जल में प्रवेश किया। जब वे जल से बाहर आये तो कान्ति देवी ने उन्हें सुन्दर आभूषण, वस्त्र तथा हार प्रदान किये। आज भी यमुना नदी बलदेव के सामने घुटने टेकने के प्रतीक रूप में उनके हल द्वारा काटी गई अनेक धाराओं में बहती है।

जब भगवान् बलराम क्रीड़ा कर रहे थे तो उनका मन गोपियों की क्रीड़ाओं से मोहित हो गया।

इस तरह उन्होंने उनके साथ कई रातें बिताईं किन्तु उन्हें लगा उनके संग में मानो एक रात ही बिताई है।

श्रीशुक उवाच
बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ भगवान्रथमास्थितः ।
सुहृद्दिदृक्षुरुत्कण्ठः प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; बलभद्रः—बलराम; कुरु-श्रेष्ठ—हे कुरुओं में श्रेष्ठ (राजा परीक्षित); भगवान्—भगवान्; रथम्—अपने रथ में; आस्थितः—सवार; सुहृत्—शुभचिन्तक मित्रों को; दिदृक्षुः—देखने की इच्छा से; उत्कण्ठः—उत्सुक; प्रययौ—यात्रा की; नन्द-गोकुलम्—नन्द महाराज के गोकुल-ग्राम की।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे कुरुश्रेष्ठ, एक बार अपने शुभचिन्तक मित्रों को देखने के लिए उत्सुक भगवान् बलराम अपने रथ पर सवार हुए और उन्होंने नन्द गोकुल की यात्रा की।

तात्पर्य : जैसाकि श्रील जीव गोस्वामी ने इंगित किया है, *हरिवंश* (विष्णु पुराण ४६.) में भी बलराम के श्री वृन्दावन जाने का वर्णन मिलता है—

कस्यचिदथ कालस्य स्मृत्वा गोपेषु सौहृदम्।
जगामैको व्रजं रामः कृष्णस्यानुमते स्थितः॥

"ग्वालों के साथ प्रगाढ़ मैत्री का स्मरण करके एक बार भगवान् बलराम भगवान् कृष्ण से अनुमति लेकर अकेले ही व्रज गये।" वृन्दावन के भोले-भाले वासी व्यथित थे कि भगवान् कृष्ण अन्यत्र जाकर रहने लगे हैं इसलिए भगवान् बलराम उन लोगों को सान्त्वना देने वहाँ गये थे।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि शुद्ध प्रेम के महासागर भगवान् कृष्ण भी व्रज क्यों नहीं गये। उसकी व्याख्या करने के लिए उन्होंने दो श्लोक उद्धृत किये हैं—

प्रेयसीः प्रेमविख्याताः पितरावतिवत्सलौ।
प्रेमवश्यश्च कृष्णस्तांस्त्यक्त्वा नः कथमेष्यति॥
इति मत्वैव यदवः प्रत्यबध्नन् हरेर्गतौ।
व्रजप्रेमप्रवर्धि स्वलीलाधीनत्वमीयुषः॥

"यदुओं ने सोचा, "भगवान् की प्रेमिकाएँ अपने शुद्ध आह्लादमय प्रेम के लिए विख्यात हैं और उनके माता-पिता उनके प्रति अतीव वत्सल हैं। भगवान् कृष्ण शुद्ध प्रेम के वशीभूत हैं अतएव यदि वे उन्हें देखने जाते हैं, तो फिर वे किस तरह उन्हें छोड़कर हमारे पास वापस आ सकेंगे?" इस विचार से

यदुओं ने भगवान् हरि को जाने से रोका। वे जानते थे कि वे उन लीलाओं के अधीन हो जाते हैं जिनमें वे व्रजवासियों के नित्यवर्धमान प्रेम का आदान-प्रदान करते हैं।''

परिष्वक्तश्चिरोत्कण्ठैर्गोपैर्गोपीभिरेव च ।
रामोऽभिवाद्य पितरावाशीर्भिरभिनन्दितः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

परिष्वक्तः—आलिंगन किया हुआ; चिर—दीर्घकाल से; उत्कण्ठैः—चिन्तित; गोपैः—ग्वालों के द्वारा; गोपीभिः—गोपियों के द्वारा; एव—निस्सन्देह; च—भी; रामः—बलराम; अभिवाद्य—अभिवादन करके; पितरौ—अपने माता-पिता (नन्द तथा यशोदा) को; आशीर्भिः—प्रार्थनाओं से; अभिनन्दितः—हर्षपूर्वक सत्कार किया हुआ।

दीर्घकाल से वियोग की चिन्ता सह चुकने के कारण गोपों तथा उनकी पत्नियों ने बलराम का आलिंगन किया। तब बलराम ने अपने माता-पिता को प्रणाम किया और उन्होंने स्तुतियों द्वारा बलराम का हर्ष के साथ सत्कार किया।

तात्पर्य : इस स्थिति के सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने निम्नलिखित श्लोक दिया है—

नित्यानन्दस्वरूपोऽपि प्रेमतप्तो व्रजौकसाम्।

ययौ कृष्णमपि त्यक्त्वा यस्तं रामं मुहुः स्तुमः॥

''हम भगवान् बलराम का बारम्बार यशोगान करते हैं। यद्यपि वे नित्यानन्द हैं किन्तु व्रजवासियों के प्रति अपने प्रेम के कारण उन्हें वेदना का अनुभव हुआ अतः वे भगवान् कृष्ण को छोड़ कर भी उन्हें देखने गये।''

चिरं नः पाहि दाशार्ह सानुजो जगदीश्वरः ।
इत्यारोप्याङ्कमालिङ्ग्य नेत्रैः सिषिचतुर्जलैः ॥ ॥

शब्दार्थ

चिरम्—दीर्घकाल से; नः—हमारी; पाहि—रक्षा करें; दाशार्ह—हे दशार्ह वंशज; स—सहित; अनुजः—तुम्हारे छोटे भाई के; जगत्—ब्रह्माण्ड के; ईश्वरः—स्वामी; इति—ऐसा कह कर; आरोप्य—उठाकर; अङ्कम्—अपनी गोद में; आलिङ्ग्य—आलिंगन करके; नेत्रैः—आँखों के; सिषिचतुः—सिक्त कर दिया; जलैः—जल से।

[नन्द तथा यशोदा ने प्रार्थना की] : ''हे दशार्ह वंशज, हे ब्रह्माण्ड के स्वामी, तुम तथा तुम्हारे छोटे भाई कृष्ण सदैव हमारी रक्षा करते रहो।'' यह कह कर उन्होंने श्री बलराम को अपनी गोद में उठा लिया, उनका आलिंगन किया और अपने नेत्रों के आँसुओं से उन्हें सिक्त कर दिया।

तात्पर्य : इस श्लोक पर श्रील जीव गोस्वामी ने इस प्रकार टीका की है : "नन्द तथा यशोदा ने श्री बलराम से प्रार्थना की, "तुम अपने छोटे भाई सहित हमारी रक्षा करते रहो।" इस तरह उन्होंने इस बात के लिए सम्मान व्यक्त किया कि वे बड़े भाई हैं और उन्होंने यह भी दिखलाया कि वे उन्हें अपने ही पुत्र के रूप में कितना मानते हैं।"

गोपवृद्धांश्च विधिवद्यविष्ठैरभिवन्दितः ।
यथावयो यथासख्यं यथासम्बन्धमात्मनः ॥ ४॥
समुपेत्याथ गोपालान्हास्यहस्तग्रहादिभिः ।
विश्रान्तम्सुखमासीनं पप्रच्छुः पर्युपागताः ॥ ५ ॥
पृष्टाश्चानामयं स्वेषु प्रेमगद्गदया गिरा ।
कृष्णे कमलपत्राक्षे सन्न्यस्ताखिलराधसः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

गोप—ग्वालों के; वृद्धान्—गुरुजन; च—तथा; विधि-वत्—वैदिक आदेशों के अनुसार; यविष्ठैः—छोटों के द्वारा; अभिवन्दितः—आदरपूर्वक सत्कार किया; यथा-वयः—आयु के अनुसार; यथा-सख्यम्—मैत्री के अनुसार; यथा-सम्बन्धम्—पारिवारिक सम्बन्ध के अनुसार; आत्मनः—अपने से; समुपेत्य—पास जाकर; अथ—तब; गोपालान्—ग्वालों को; हास्य—मुसकानों से; हस्त-ग्रह—उनके हाथ लेकर; आदिभिः—इत्यादि द्वारा; विश्रान्तम्—विश्राम किया; सुखम्—सुखपूर्वक; आसीनम्—बैठकर; पप्रच्छुः—पूछा; पर्युपागताः—चारों ओर एकत्र होकर; पृष्टाः—पूछा; च—तथा; अनामयम्—स्वास्थ्य के विषय में; स्वेषु—उनके मित्रों के बारे में; प्रेम—प्रेमवश; गद्गदया—रुक रुककर; गिरा—वाणी से; कृष्णे—कृष्ण के लिए; कमल—कमल की; पत्र—पंखड़ी (जैसी); अक्षे—आँखों वाले; सन्न्यस्त—समर्पित करके; अखिल—समस्त; राधसः—भौतिक सम्पत्ति।

तब बलराम ने अपने से बड़े ग्वालों के प्रति समुचित सम्मान प्रकट किया तथा जो छोटे थे उन्होंने उनका सादर-सत्कार किया। वे आयु, मैत्री की कोटि तथा पारिवारिक सम्बन्ध के अनुसार हरएक से हँसकर, हाथ मिलाकर स्वयं मिले। तत्पश्चात् विश्राम कर लेने के बाद उन्होंने सुखद आसन ग्रहण किया और सारे लोग उनके चारों ओर एकत्र हो गये। उनके प्रति प्रेम से रुद्ध वाणी से उन ग्वालों ने, जिन्होंने कमल-नेत्र कृष्ण को सर्वस्व अर्पित कर दिया था, अपने (द्वारका के) प्रियजनों के स्वास्थ्य के विषय में पूछा। बदले में बलराम ने ग्वालों की कुशल-मंगल के विषय में पूछा।

कच्चिन्नो बान्धवा राम सर्वे कुशलमासते ।
कच्चित्स्मरथ नो राम यूयं दारसुतान्विताः ॥ ७॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; नः—हमारे; बान्धवाः—सम्बन्धी; राम—हे बलराम; सर्वे—सभी; कुशलम्—ठीक से; आसते—हैं; कच्चित्—क्या; स्मरथ—स्मरण करते हैं; नः—हमको; राम—हे राम; यूयम्—तुम सभी; दार—पत्नियों; सुत—तथा पुत्रों; अन्विताः—सहित।

[ग्वालों ने कहा] : हे राम, हमारे सारे सम्बन्धी ठीक से तो हैं न? और हे राम क्या तुम सभी लोग अपनी पत्नियों तथा पुत्रों सहित अब भी हमें याद करते हो?

दिष्ट्या कंसो हतः पापो दिष्ट्या मुक्ताः सुहृज्जनाः ।
निहत्य निर्जित्य रिपून्दिष्ट्या दुर्गं समाश्रीताः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

दिष्ट्या—भाग्य से; कंसः—कंस; हतः—मारा गया; पापः—पापी; दिष्ट्या—भाग्य से; मुक्ताः—मुक्त हुए; सुहृत्-जनाः—प्रिय सम्बन्धी; निहत्य—मार कर; निर्जित्य—जीत कर; रिपून्—शत्रुओं को; दिष्ट्या—भाग्यवश; दुर्गम्—दुर्ग या किले में; समाश्रीताः—शरण ले ली है।

यह हमारा परम सौभाग्य है कि पापी कंस मारा जा चुका है और हमारे प्रिय सम्बन्धी मुक्त हो चुके हैं। हमारा यह भी सौभाग्य है कि हमारे सम्बन्धियों ने अपने शत्रुओं को मार डाला है और पराजित कर दिया है तथा एक विशाल दुर्ग में पूर्ण सुरक्षा प्राप्त कर ली है।

गोप्यो हसन्त्यः पप्रच्छू रामसन्दर्शनादृताः ।
कच्चिदास्ते सुखं कृष्णः पुरस्त्रीजनवल्लभः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

गोप्यः—तरुण गोपियों ने; हसन्त्यः—हँसती हुई; पप्रच्छुः—पूछा; राम—बलराम से; सन्दर्शन—साक्षात् दर्शन द्वारा; आदृताः—आदरित; कच्चित्—क्या; आस्ते—रह रहा है; सुखम्—सुखपूर्वक; कृष्णः—कृष्ण; पुर—नगर के; स्त्री-जन—स्त्रियों के; वल्लभः—प्राणप्रिय।

[शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा] : भगवान् बलराम के साक्षात् दर्शन से गौरवान्वित हुई गोपियों ने हँसते हुए उनसे पूछा, ''नगर की स्त्रियों के प्राणप्रिय कृष्ण सुखपूर्वक तो हैं?''

तात्पर्य : आचार्यों के अनुसार भगवान् कृष्ण की प्रिय संगिनियाँ उन्मत्त होकर हँस रही थीं क्योंकि वे अपने प्रेमी कृष्ण के वियोग में अतीव दुख का अनुभव कर रही थीं। भगवान् राम ने अपने छोटे भाई कृष्ण के प्रति उनके प्रेम का अतीव आदर किया। इस तरह *रामसन्दर्शनादृताः* शब्द का अर्थ हुआ कि बलराम ने गोपियों का आदर किया और पहले दिया गया अर्थ भी कि गोपियों ने बलराम का आदर किया।

कच्चित्स्मरति वा बन्धून्पितरं मातरं च सः ।

अप्यसौ मातरं द्रष्टुं सकृदप्यागमिष्यति ।
अपि वा स्मरतेऽस्माकमनुसेवां महाभुजः ॥ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; स्मरति—स्मरण करता है; वा—अथवा; बन्धून्—अपने परिवार के सदस्यों को; पितरम्—पिता को; मातरम्—अपनी माता को; च—तथा; सः—वह; अपि—भी; असौ—स्वयं; मातरम्—अपनी माता को; द्रष्टुम्—देखने के लिए; सकृत्—एक बार; अपि—भी; आगमिष्यति—आयेगा; अपि—निस्सन्देह; वा—अथवा; स्मरते—स्मरण करता है; अस्माकम्—हमारी; अनुसेवाम्—स्थिर सेवा; महा—बलशाली; भुजः—भुजाओं वाला।

''क्या वे अपने परिवार वालों को, विशेषतया अपने माता-पिता को याद करते हैं? क्या आपके विचार में वे अपनी माता को एक बार भी देखने वापस आयेंगे? और क्या बलशाली भुजाओं वाले कृष्ण हमारे द्वारा सदा की गई सेवा का स्मरण करते हैं?

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका है कि गोपियाँ फूलों की माला गूँथ कर, दक्षता के साथ सुगन्ध लेप करके तथा फूलों की पंखड़ियों से पंखे, शय्या तथा वितान बना कर कृष्ण की सेवा करती थीं। इन प्रेमपूर्ण सरल कार्यों से गोपियाँ भगवान् की सबसे बड़ी सेवा करती थीं।

मातरं पितरं भ्रातृन्पतीन्पुत्रान्स्वसृनपि ।
यदर्थे जहिम दाशार्ह दुस्त्यजान्स्वजनान्प्रभो ॥ ११ ॥
ता नः सद्यः परित्यज्य गतः सञ्छिन्नसौहृदः ।
कथं नु तादृशं स्त्रीभिर्न श्रद्धीयेत भाषितम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

मातरम्—माता को; पितरम्—पिता को; भ्रातृन्—भाइयों को; पतीन्—पतियों को; पुत्रान्—पुत्रों को; स्वसृन्—बहनों को; अपि—भी; यत्—जिनके; अर्थे—लिए; जहिम—हमने छोड़ दिया; दाशार्ह—हे दशार्हवंशी; दुस्त्यजान्—त्याग पाना कठिन; स्व-जनान्—अपने ही लोगों को; प्रभो—हे प्रभु; ताः—उन्हीं स्त्रियों को; नः—हम; सद्यः—सहसा; परित्यज्य—त्याग कर; गतः—चले गये; सञ्छिन्न—तोड़ कर; सौहृदः—मित्रता; कथम्—कैसे; नु—निस्सन्देह; तादृशम्—ऐसा; स्त्रीभिः—स्त्रियों द्वारा; न श्रद्धीयेत—विश्वास नहीं किया जायेगा; भाषीतम्—कहे गये शब्द।

''हे दाशार्ह, हमने कृष्ण की खातिर अपनी माताओं, पिताओं, भाइयों, पतियों, पुत्रों तथा बहनों का भी परित्याग कर दिया यद्यपि इन पारिवारिक सम्बन्धों का परित्याग कर पाना कठिन है। किन्तु हे प्रभु, अब उन्हीं कृष्ण ने सहसा हम सबों को त्याग कर हमारे साथ के समस्त स्नेह-बन्धनों को तोड़ दिया है और वे चले गये हैं। और ऐसे में कोई स्त्री उनके वादों पर कैसे विश्वास कर सकती है?

कथं नु गृह्णन्त्यनवस्थितात्मनो
वचः कृतघ्नस्य बुधाः पुरस्त्रियः ।

गृह्णन्ति वै चित्रकथस्य सुन्दर-
स्मितावलोकोच्छ्वसितस्मरातुराः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

कथम्—कैसे; नु—निस्सन्देह; गृह्णन्ति—स्वीकार करती हैं; अनवस्थित—अस्थिर; आत्मनः—हृदय वाले के; वचः—शब्द; कृत-घ्नस्य—कृतघ्न का; बुधाः—बुद्धिमान; पुर—नगर की; स्त्रियः—स्त्रियाँ; गृह्णन्ति—स्वीकार करती हैं; वै—निस्सन्देह; चित्र—आश्चर्यजनक; कथस्य—कथाओं के; सुन्दर—सुन्दर; स्मित—हँसती हुई; अवलोक—तिरछी नजरों से; उच्छ्वसित—पुनः जीवन प्रदान की गई; स्मर—काम-वासना द्वारा; आतुराः—विक्षुब्ध, चंचल।

''नगर की बुद्धिमान स्त्रियाँ ऐसे व्यक्ति के वचनों पर कैसे विश्वास कर सकती हैं जिसका हृदय इतना अस्थिर है और जो इतना कृतघ्न है? वे उन पर इसलिए विश्वास कर लेती थीं क्योंकि वे इतने अद्‌भुत ढंग से बोलते हैं और उनकी सुन्दर हँसी से युक्त चितवनें काम-वासना जगा देती हैं।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी के अनुसार इस श्लोक की प्रथम दो पंक्तियाँ कुछ गोपियों की उक्ति हैं और अन्य दो पंक्तियों में कुछ के उत्तर हैं।

किं नस्तत्कथया गोप्यः कथाः कथयतापराः ।
यात्यस्माभिर्विना कालो यदि तस्य तथैव नः ॥ १४॥

शब्दार्थ

किम्—क्या (लाभ); नः—हमारे लिए; तत्—उसके विषय में; कथया—विचार-विमर्श से; गोप्यः—हे गोपियो; कथाः—कथाएँ; कथयत—कृपा करके कहो; अपराः—अन्य; याति—बीतता है; अस्माभिः—हमारे; विना—बिना; कालः—समय; यदि—यदि; तस्य—उसका; तथा एव—उसी विधि से; नः—हमारा।

''हे गोपियो, उनके विषय में बातें करने में क्यों पड़ी हो? कृपा करके किसी अन्य विषय पर बात चलाओ। यदि वे हमारे बिना अपना समय बिता लेते हैं, तो हम भी उसी तरह से (उनके बिना) अपना समय बिता लेंगी।''

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी इंगित करते हैं कि यहाँ पर गोपियाँ सूक्ष्म रीति से संकेत करती हैं कि भगवान् कृष्ण उन सबों के बिना अपना समय सुखपूर्वक बिता लेते हैं जबकि वे सब अपने स्वामी के बिना सर्वाधिक दुखी हैं। भगवान् तथा उनमें यही अन्तर है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इसकी टीका इस प्रकार की है : ''गोपियों ने अपने को अन्य स्त्रियों से पृथक् मानते हुए इस प्रकार सोचा, ''यदि अन्य स्त्रियाँ अपने प्रेमियों के साथ रहती हैं, तो वे जीवित रहती हैं और यदि उनसे विलग हो जाती हैं, तो मर जाती हैं। किन्तु हम न तो जीवित हैं न मरती हैं। विधाता ने हमारे मस्तकों पर यही भाग्य लिख रखा है। हम इसका कौन-सा उपचार ढूँढ़ सकती हैं?''

इति प्रहसितं शौरेर्जल्पितं चारुवीक्षितम् ।
गतिं प्रेमपरिष्वङ्गं स्मरन्त्यो रुरुदुः स्त्रियः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार कह कर; प्रहसितम्—अट्टहास; शौरेः—भगवान् कृष्ण का; जल्पितम्—मोहक बातचीत; चारु—आकर्षक; वीक्षितम्—चितवनें; गतिम्—चाल; प्रेम—प्रेममय; परिष्वङ्गम्—आलिंगन; स्मरन्त्यः—स्मरण करती हुईं; रुरुदुः—चिल्ला उठीं; स्त्रियः—स्त्रियाँ।

ये शब्द कहती हुईं तरुण गोपियों को भगवान् शौरि की हँसी, अपने साथ उनकी मोहक बातें, उनकी आकर्षक चितवनें, उनके चलने का ढंग तथा उनके प्रेमपूर्ण आलिंगनों का स्मरण हो आया। इस तरह वे सिसकने लगीं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका इस प्रकार है : "गोपियों ने सोचा, "कृष्ण रूपी चन्द्रमा अपनी अमृतमयी हँसी के तीरों से हमारे हृदयों को विदीर्ण करता हुआ दूर चला गया। अतः जब वह नगर की स्त्रियों के साथ भी वैसा ही करता है, तो वे क्यों नहीं मर जायेंगी?" इन विचारों से अभिभूत होकर तरुण गोपियाँ श्री बलदेव की उपस्थिति में भी चिल्लाने लगीं।

सङ्कर्षणस्ताः कृष्णस्य सन्देशैर्हृदयंगमैः ।
सान्त्वयामास भगवान्नानानुनयकोविदः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सङ्कर्षणः—परम आकर्षण वाले, बलराम ने; ताः—उनको; कृष्णस्य—कृष्ण के; सन्देशैः—गुप्त सन्देश से; हृदयम्—हृदय को; गमैः—स्पर्श करते; सान्त्वयाम् आस—ढाढ़स बँधाया; भगवान्—भगवान्; नाना—अनेक प्रकार के; अनुनय—बीच-बचाव में; कोविदः—पटु।

सबों को आकृष्ट करने वाले भगवान् बलराम ने नाना प्रकार से समझाने-बुझाने में पटु होने के कारण, गोपियों को भगवान् कृष्ण द्वारा उनके साथ भेजे हुए गुप्त सन्देश सुनाकर उन्हें धीरज बँधाया। ये सन्देश गोपियों के हृदयों को भीतर तक छू गये।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने *विष्णु पुराण* का निम्नलिखित श्लोक (५.२४.२०) उद्धृत किया है, जो गोपियों के लिए बलराम द्वारा लाए गए कृष्ण के सन्देशों को बताने वाला है—

सन्देशै साममधुरै प्रेमगर्भैरगर्वितै।

रामेणाश्वासिता गोप्यः कृष्णस्यातिमनोहरै॥

"भगवान् बलराम ने गोपियों को भगवान् कृष्ण का सर्वाधिक मोहक सन्देश देकर सान्त्वना दी

जिनमें मधुर अनुनय-विनय था और जो उनके प्रति शुद्ध प्रेम से प्रेरित थे और जिनमें रंचमात्र भी गर्व नहीं था।'' श्रील जीव गोस्वामी यह भी टीका करते हैं कि संकर्षण नाम से यह अभिप्रेत है कि बलराम ने कृष्ण को अपने मन में प्रकट होने के लिए आकर्षित किया और इस तरह गोपियों को श्रीकृष्ण का दर्शन कराया। बलराम ने इस प्रकार से श्रीकृष्ण की प्रेमिकाओं को सान्त्वना दी।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि भगवान् कृष्ण ने विविध सन्देश भेजे थे। कुछ में गोपियों के लिए दिव्य ज्ञान का उपदेश था, कुछ में अनुनय-विनय और अन्य भगवान् की शक्ति को प्रकट करने वाले थे। *हृदयंगमै* शब्द के दिये हुए अर्थ के अतिरिक्त यह शब्द यह भी सूचित करता है कि ये सन्देश गोपनीय थे।

द्वौ मासौ तत्र चावात्सीन्मधुं माधवं एव च ।
रामः क्षपासु भगवान्गोपीनां रतिमावहन् ॥ १७॥

शब्दार्थ

द्वौ—दो; मासौ—माह; तत्र—वहाँ (गोकुल में); च—तथा; अवात्सीत्—निवास किया; मधुम्—मधु (चैत्र); माधवम्—माधव (वैशाख); एव—निस्सन्देह; च—भी; रामः—बलराम; क्षपासु—रातों में; भगवान्—भगवान्; गोपीनाम्—गोपियों को; रतिम्—माधुर्य सुख; आवहन्—लाते हुए।

भगवान् बलराम वहाँ मधु चैत्र तथा माधव वैशाख दो मास तक रहे और रात में अपनी गोपिका-मित्रों को माधुर्य आनन्द प्रदान करते रहे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर गोस्वामी कहते हैं कि जिन गोपियों ने श्री बलराम के साथ उनके गोकुल आने पर माधुर्य सुख प्राप्त किया उन्होंने उस समय अल्पायु होने के कारण कृष्ण के रास-नृत्य में भाग नहीं लिया था। इसकी पुष्टि में श्रील जीव गोस्वामी ने *भागवत* का श्लोक (.१५.८)—*गोप्योऽअन्तरेण भुजयोः*—उद्धृत किया है, जो यह बताता है कि कुछ विशेष गोपियाँ बलराम की संगिनियों के रूप में रहती हैं। यही नहीं, जीव गोस्वामी कहते हैं कि जब कृष्ण ने शंखचूड़ का वध किया उस समय मनाये गये होलिकोत्सव में बलराम ने जिन गोपियों के साथ रमण किया वे कृष्ण द्वारा रमण की गई गोपियों से भिन्न थीं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इस व्याख्या से सहमत हैं।

पूर्णचन्द्रकलामृष्टे कौमुदीगन्धवायुना ।
यमुनोपवने रेमे सेविते स्त्रीगणैर्वृतः ॥ १८॥

शब्दार्थ

पूर्ण—पूर्ण; चन्द्र—चन्द्रमा की; कला—किरणों से; मृष्टे—नहलाई, स्नात; कौमुदी—कुमुदिनी की, जो चाँदनी पाकर खिलती है; गन्ध—सुगन्ध (ले जाने वाली); वायुना—हवा से; यमुना—यमुना नदी के; उपवने—उद्यान में; रेमे—रमण किया; सेविते—सेवित; स्त्री—स्त्रियों से; गणैः—अनेक; वृतः—घिरे हुए।

अनेक स्त्रियों के संग भगवान् बलराम ने यमुना नदी के तट पर एक उद्यान में रमण किया। यह उद्यान पूर्ण चन्द्रमा की किरणों से नहलाया हुआ था और रात में खिली कुमुदिनियों की सुगन्ध ले जाने वाली मन्द वायु के द्वारा स्पर्शित था।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि भगवान् बलराम की माधुर्य लीला यमुना के किनारे एक छोटे-से जंगल में हुई जो श्रीराम-घट्ट के नाम से विख्यात है और श्रीकृष्ण की रास स्थली से काफी दूर है।

वरुणप्रेषिता देवी वारुणी वृक्षकोटरात् ।
पतन्ती तद्वनं सर्वं स्वगन्धेनाध्यवासयत् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

वरुण—समुद्र के देवता वरुण द्वारा; प्रेषिता—भेजी गई; देवी—दैवी; वारुणी—वारुणी शराब; वृक्ष—पेड़ के; कोटरात्—खोखले छिद्र से; पतन्ती—बह निकली; तत्—उस; वनम्—जंगल को; सर्वम्—सारे; स्व—अपनी; गन्धेन—सुगन्ध से; अध्यवासयत्—अधिक सुगन्धित बना दिया।

वरुण देव द्वारा भेजी गयी दैवी वारुणी मदिरा एक वृक्ष के खोखले छिद्र से बह निकली और अपनी मधुर गन्ध से सारे जंगल को और अधिक सुगन्धित बना दिया।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि वारुणी शहद के आसवन से प्राप्त एक द्रव है। श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि वरुण-पुत्री देवी वारुणी उस विशेष दैवी पेय की अधिष्ठात्री है। वे *श्री हरिवंश* से निम्नलिखित उद्धरण भी देते हैं—*समीपं प्रेषिता पित्रा वरुणेन तवानघ।* यहाँ देवी वारुणी बलराम से कहती है, "हे निष्पाप! मेरे पिता वरुण ने मुझे आपके पास भेजा है।"

तं गन्धं मधुधाराया वायुनोपहृतं बलः ।
आघ्रायोपगतस्तत्र ललनाभिः समं पपौ ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; गन्धम्—सुगन्ध को; मधु—शहद की; धारायाः—धारा का; वायुना—वायु द्वारा; उपहृतम्—पास लाई गई; बलः—बलराम; आघ्राय—सूँघ कर; उपगतः—पास जाकर; तत्र—वहाँ; ललनाभिः—तरुण स्त्रियों के; समम्—साथ; पपौ—पिया।

वायु उस मधुर पेय की धारा की सुगन्ध को बलराम के पास ले गई और जब उन्होंने उसे सूँघा तो वे (वृक्ष के पास) गये। वहाँ उन्होंने तथा उनकी संगिनियों ने उसका पान किया।

उपगीयमानो गन्धर्वैर्वनिताशोभिमण्डले ।
रेमे करेणुयूथेशो माहेन्द्र इव वारणः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

उपगीयमानः—गीतों के द्वारा प्रशंसित; गन्धर्वैः—गन्धर्वों द्वारा; वनिता—युवतियों द्वारा; शोभि—सुशोभित; मण्डले—गोले में; रेमे—रमण किया; करेणु—हथनियों के; यूथ—झुंड के; ईशः—स्वामी; माहा-इन्द्रः—इन्द्र के; इव—सदृश; वारणः—हाथी (ऐरावत)।.

जब गन्धर्वगण उनका यशोगान कर रहे थे तो भगवान् बलराम तरुण स्त्रियों के तेजोमय वृत्त के मध्य रमण कर रहे थे। वे इन्द्र के शानदार हाथी ऐरावत, जो हथनियों के झुंड में रमण कर रहा हो की तरह लग रहे थे।

नेदुर्दुन्दुभयो व्योम्नि ववृषुः कुसुमैर्मुदा ।
गन्धर्वा मुनयो रामं तद्वीर्यैरीडिरे तदा ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

नेदुः—ध्वनि करने लगीं; दुन्दुभयः—दुन्दुभियाँ; व्योम्नि—आकाश में; ववृषुः—वर्षा की; कुसुमैः—फूलों से; मुदा—हर्षपूर्वक; गन्धर्वाः—गन्धर्वों ने; मुनयः—मुनियों ने; रामम्—बलराम की; तत्-वीर्यैः—उनके वीरतापूर्ण कार्यों समेत; ईडिरे—प्रशंसा की; तदा—तब।.

उस समय आकाश में दुन्दुभियाँ बजने लगीं, गन्धर्वों ने प्रसन्नतापूर्वक फूलों की वर्षा की और मुनियों ने भगवान् बलराम के वीरतापूर्ण कार्यों की प्रशंसा की।

उपगीयमानचरितो वनिताभिर्हलायुध ।
वनेषु व्यचरत्क्षीवो मदविह्वललोचनः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

उपगीयमान—गायी जाकर; चरितः—उनकी लीलाएँ; वनिताभिः—स्त्रियों सहित; हलायुधः—बलराम; वनेषु—वनों के बीच; व्यचरत्—घूमने लगे; क्षीवः—चूर; मद—नशे में; विह्वल—पराजित; लोचनः—आँखें।.

जब उनके कार्यों का गान हो रहा था, तो हलायुध मदोन्मत्त जैसे होकर अपनी संगिनियों के संग विविध जंगलों में घूम रहे थे। उनकी आँखें नशे में चूर थीं।

स्रग्व्येककुण्डलो मत्तो वैजयन्त्या च मालया ।
बिभ्रत्स्मितमुखाम्भोजं स्वेदप्रालेयभूषितम् ।
स आजुहाव यमुनां जलक्रीडार्थमीश्वरः ॥ २४॥

निजं वाक्यमनादृत्य मत्त इत्यापगां बलः ।
अनागतां हलाग्रेण कुपितो विचकर्ष ह ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

स्रक्-वी—माला धारण किये; एक—एक; कुण्डलः—कुण्डल; मत्तः—हर्ष से उन्मत्त; वैजयन्त्या—वैजयन्ती नामक; च—तथा; मालया—माला से; बिभ्रत्—प्रदर्शित करते हुए; स्मित—हँसता हुआ; मुख—उसका मुख; अम्भोजम्—कमल सदृश; स्वेद—पसीने का; प्रालेय—बर्फ के साथ; भूषितम्—अलंकृत; सः—उसने; आजुहाव—बुलाया; यमुनाम्—यमुना नदी को; जल—जल में; कृईडा—खेलने के; अर्थम्—हेतु; ईश्वरः—भगवान्; निजम्—अपने; वाक्यम्—शब्द; अनादृत्य—अनादर करके; मत्तः—उन्मत्त; इति—इस प्रकार (सोचते हुए); आप-गाम्—नदी को; बलः—बलराम ने; अनागताम्—न आती हुई; हल—अपने हल के; अग्रेण—अगले भाग या नोक से; कुपितः—क्रुद्ध; विचकर्ष ह—खींचा।

हर्ष से उन्मत्त बलराम फूल-मालाओं से खेल रहे थे। इनमें सुप्रसिद्ध वैजयन्ती माला सम्मिलित थी। वे कान में एक कुण्डल पहने थे और उनके मुसकान-भरे कमल-मुख पर पसीने की बूँदें इस तरह सुशोभित थीं मानो बर्फ के कण हों। तब उन्होंने यमुना को बुलाया जिससे वे उसके जल में क्रीडा कर सकें किन्तु उसने उनके आदेश की उपेक्षा इसलिए कर दी क्योंकि वे मदोन्मत्त थे। इससे बलराम क्रुद्ध हो उठे और वे अपने हल की नोक से नदी को खींचने लगे।

पापे त्वं मामवज्ञाय यन्नायासि मयाहुता ।
नेष्ये त्वां लाङ्गलाग्रेण शतधा कामचारिणीम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

पापे—रे पापिनी; त्वम्—तुम; माम्—मेरा; अवज्ञाय—अनादर करके; यत्—क्योंकि; न आयासि—नहीं आती हो; मया—मेरे द्वारा; आहुता—बुलाई गई; नेष्ये—मैं लाऊँगा; त्वाम्—तुमको; लाङ्गल—अपने हल की; अग्रेण—नोक से; शतधा—सौ भागों में; काम—स्वेच्छा से; चारिणीम्—चलने वाली।

[बलराम ने कहा] : मेरा अनादर करने वाली पापिनी! तुम मेरे बुलाने पर न आकर केवल मनमाने चलने वाली हो। अतः मैं अपने हल की नोक से सौ धाराओं के रूप में तुम्हें यहाँ ले आऊँगा।

एवं निर्भर्त्सिता भीता यमुना यदुनन्दनम् ।
उवाच चकिता वाचं पतिता पादयोर्नृप ॥ २७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; निर्भर्त्सिता—फटकारी गई; भीता—डरी हुई; यमुना—यमुना नदी की अधिष्ठात्री देवी; यदु-नन्दनम्—यदु के प्रिय वंशज बलराम से; उवाच—बोली; चकिता—काँपती हुई; वाचम्—शब्द; पतिता—गिरी हुई; पादयोः—पाँवों पर; नृप—हे राजा (परीक्षित)।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : हे राजन्, बलराम द्वारा इस प्रकार फटकारी जाकर डरी हुई यमुनादेवी आईं और यदुनन्दन बलराम के चरणों पर गिर पड़ीं। काँपते हुए उसने उनसे निम्नलिखित शब्द कहे।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार बलराम के समक्ष प्रकट होने वाली देवी श्रीमती कालिन्दी की अंशरूपा थीं, जो कि द्वारका में भगवान् कृष्ण की पत्नी हैं। श्रील जीव गोस्वामी उन्हें कालिन्दी की "छाया" बतलाते हैं और श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती पुष्टि करते हैं कि वे कालिन्दी की अंश हैं कालिन्दी नहीं। श्रील जीव गोस्वामी *श्री हरिवंश* से भी इस कथन के द्वारा प्रमाण देते हैं—*प्रत्युवाचार्णववधूम्*—अर्थात् देवी यमुना समुद्र की पत्नी हैं। इसीलिए *हरिवंश* में उन्हें *सागरांगना* भी कहा गया है।

राम राम महाबाहो न जाने तव विक्रमम् ।
यस्यैकांशेन विधृता जगती जगत: पते ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

राम राम—हे राम, राम; महा-बाहो—हे विशाल भुजाओं वाले; न जाने—मैं नहीं जानती; तव—तुम्हारा; विक्रमम्—पराक्रम; यस्य—जिसका; एक—एक; अंशेन—अंश से; विधृता—धारण की गई; जगती—पृथ्वी; जगत:—ब्रह्माण्ड के; पते—हे स्वामी।

[यमुनादेवी ने कहा] : हे विशाल भुजाओं वाले राम, हे राम, मैं आपके पराक्रम के बारे में कुछ भी नहीं जानती। हे ब्रह्माण्ड के स्वामी, आप अपने एक अंशमात्र से पृथ्वी को धारण किए हुए हैं।

तात्पर्य : *एकांशेन* भगवान् के शेष रूप अंश का द्योतक है। इसकी पुष्टि आचार्यों द्वारा हुई है।

परं भावं भगवतो भगवन्मामजानतीम् ।
मोक्तुमर्हसि विश्वात्मन्प्रपन्नां भक्तवत्सल ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

परम्—परम; भावम्—पद को; भगवत:—भगवान् का; भगवन्—हे भगवान्; माम्—मुझको; अजानतीम्—न जानती हुई; मोक्तुम् अर्हसि—कृपया छोड़ दें; विश्व—ब्रह्माण्ड के; आत्मन्—हे आत्मा; प्रपन्नाम्—शरणागत; भक्त—अपने भक्तों पर; वत्सल—हे दयालु।

हे प्रभु, आप मुझे छोड़ दें। हे ब्रह्माण्ड के आत्मा, मैं भगवान् के रूप में आपके पद को नहीं जानती थी किन्तु अब मैं आपकी शरण में हूँ और आप अपने भक्तों पर सदैव दयालु रहते हैं।

ततो व्यमुञ्चद्यमुनां याचितो भगवान्बल: ।
विजगाह जलं स्त्रीभि: करेणुभिरिवेभराट् ॥ ० ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; व्यमुञ्चत्—छोड़ दिया; यमुनाम्—यमुना को; याचितः—याचना करती हुई; भगवान्—भगवान्; बलः—बलराम; विजगाह—घुस गये; जलम्—जल में; स्त्रीभिः—स्त्रियों के साथ; करेणुभिः—अपनी हथनियों के साथ; इव—सदृश; इभ—हाथियों के; राट्—राजा।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : तब बलराम ने यमुना को छोड़ दिया और जिस तरह हाथियों का राजा अपनी हथनियों के झुण्ड के साथ जल में प्रवेश करता है उसी तरह वे अपनी संगिनियों के साथ नदी के जल में प्रविष्ट हुए।

कामं विहृत्य सलिलादुत्तीर्णायासीताम्बरे ।
भूषणानि महार्हाणि ददौ कान्तिः शुभां स्त्रजम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

कामम्—इच्छानुसार; विहृत्य—क्रीड़ा कर चुकने के बाद; सलिलात्—जल से; उत्तीर्णाय—बाहर निकले हुए को; असित—नीला; अम्बरे—कपड़ों की जोड़ी (ऊपर तथा नीचे के); भूषणानि—गहने; महा—अत्यधिक; अर्हाणि—मूल्यवान; ददौ—दिया; कान्तिः—देवी कान्ति; शुभाम्—अतीव सुन्दर; स्त्रजम्—गले का हार।

बलराम ने जी भरकर जल-क्रीड़ा की और जब वे बाहर निकले तो देवी कान्ति ने उन्हें नीले वस्त्र, मूल्यवान आभूषण तथा चमकीला गले का हार भेंट किया।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने *विष्णु पुराण* से उद्धरण देकर यह दर्शाया है कि यहाँ पर उल्लिखित देवी कान्ति वास्तव में देवी लक्ष्मी हैं—

वरुणप्रहिता चास्मै मालामम्लानपङ्कजाम्।

समुद्राभे तथा वस्त्रे नीले लक्ष्मीरयच्छता॥

"वरुण द्वारा भेजी गई देवी लक्ष्मी ने उन्हें न मुरझाने वाले कमल-पुष्पों की माला तथा समुद्र की भाँति नीले रंग वाले वस्त्रों की जोड़ी भेंट की।"

भागवत के महान् टीकाकार श्रील श्रीधर स्वामी ने देवी लक्ष्मी द्वारा बलराम से कहे गये कथन को *श्री हरिवंश* से भी उद्धृत किया है—

जातरूपमयं चैकं कुण्डलं वज्रभूषणम्।

आदिपद्मं च पद्माख्यं दिव्यं श्रवणभूषणम्।

देवेमां प्रतिगृह्णीष्व पौराणीं भूषणक्रियाम्॥

"हे स्वामी! आप दैवी आभूषणों के रूप में अपने कानों के लिए यह हीरे से जड़ा हुआ सोने का एक कुण्डल और पद्म कहलाने वाला यह आदि कमल स्वीकार करें। कृपया इन्हें स्वीकार करें क्योंकि

अलंकरण का यह कार्य परम्परागत है।"

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इतना और इंगित किया है कि लक्ष्मीजी भगवान् के स्वांश द्वितीय व्यूह से सम्बद्ध संकर्षण की प्रिया हैं।

वसित्वा वाससी नीले मालां आमुच्य काञ्चनीम् ।
रेये स्वलङ्कृतो लिप्तो माहेन्द्र इव वारणः ॥ २॥

शब्दार्थ

वसित्वा—पहन कर; वाससी—वस्त्रों की जोड़ी; नीले—नीले रंग की; मालाम्—गले का हार; आमुच्य—पहन कर; काञ्चनीम्—सुनहली; रेजे—शोभायमान हो रहे थे; सु—सुन्दर; अलङ्कृतः—आभूषित; लिप्तः—लेप किया; माहा-इन्द्रः—महेन्द्र का; इव—सदृश; वारणः—हाथी।.

भगवान् बलराम ने नीले वस्त्र पहने और गले में सुनहरा हार डाल लिया। सुगन्धियों से लेपित और सुन्दर ढंग से अलंकृत होकर वे इन्द्र के हाथी जैसे सुशोभित हो रहे थे।

तात्पर्य : चन्दन-लेप तथा अन्य शुद्ध सुगंधित वस्तुओं का लेप करके बलराम इन्द्र के महान् हाथी ऐरावत जैसे लग रहे थे।

अद्यापि दृश्यते राजन्यमुनाकृष्टवर्त्मना ।
बलस्यानन्तवीर्यस्य वीर्यं सूचयतीव हि ॥ ॥

शब्दार्थ

अद्य—आज; अपि—भी; दृश्यते—देखी जाती है; राजन्—हे राजा (परीक्षित); यमुना—यमुना नदी; आकृष्ट—खींची हुई; वर्त्मना—धाराओं से; बलस्य—बलराम के; अनन्त—असीम; वीर्यस्य—बल के; वीर्यम्—पराक्रम; सूचयती—सूचित करती हुई; इव—मानो; हि—निस्सन्देह।.

हे राजन्, आज भी यह देखा जा सकता है कि किस तरह यमुना अनेक धाराओं में होकर बहती है, जो असीम बलशाली बलराम द्वारा खींचे जाने पर बन गई थीं। इस प्रकार यमुना उनके पराक्रम को प्रदर्शित करती है।

एवं सर्वा निशा याता एकेव रमतो व्रजे ।
रामस्याक्षिप्तचित्तस्य माधुर्यैर्व्रजयोषिताम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सर्वा—सभी; निशाः—रातें; याताः—बीत गईं; एका—एक; इव—मानो; रमतः—रमण करते हुए; व्रजे—व्रज में; रामस्य—बलराम के; आक्षिप्त—मोहित; चित्तस्य—चित्त का; माधुर्यैः—अद्वितीय सौन्दर्य से; व्रज-योषिताम्—व्रज की स्त्रियों के।.

इस तरह बलराम के लिए सारी रातें व्रज में रमण करते करते एक रात की तरह बीत गईं।

उनका मन व्रज की तरुण स्त्रियों की अद्वितीय माधुरी से मोहित था।

तात्पर्य : भगवान् बलराम व्रज की तरुण एवं सुन्दर स्त्रियों की मोहक लीलाओं से मुग्ध हो गए। इस तरह हर रात उनके लिए नया अनुभव था और सारी रातें इस तरह बीत गईं मानो एक ही रात हो।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''बलराम का वृन्दावन जाना'' नामक पैंसठवें अध्याय के भक्तिवेदान्त स्वामी श्रील प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छियासठ

पौण्ड्रक—छद्म वासुदेव

इस अध्याय में यह बतलाया गया है कि किस तरह भगवान् कृष्ण काशी (वाराणसी) गये और वहाँ पौण्ड्रक तथा काशिराज का वध किया, किस तरह सुदर्शन चक्र से असुर को हराया, काशी नगरी को भस्म किया और सुदक्षिण को मारा।

जब बलदेव व्रज गये हुए थे तो मूर्खों के बहकावे में आकर करूष के राजा पौण्ड्रक ने अपने को असली वासुदेव घोषित कर दिया। इस तरह उसने इस संदेश के साथ भगवान् कृष्ण को ललकारा कि ''चूँकि मैं ही असली भगवान् हूँ इसलिए तुम इस पद पर अपना झूठा दावा तथा मेरे दिव्य प्रतीकों को त्याग दो तथा मेरी शरण ग्रहण करो। यदि ऐसा नहीं करते तो युद्ध के लिए तैयार रहो।''

जब उग्रसेन तथा उनके राज-दरबारियों ने पौण्ड्रक की इस झूठी शेखी को सुना तो वे दिल खोलकर हँसे। तब श्रीकृष्ण ने पौण्ड्रक के दूत से अपने स्वामी के पास यह संदेश ले जाने के लिए कहा, ''रे मूर्ख! मैं तुम्हें तथाकथित सुदर्शन चक्र तथा मेरे अन्य दिव्य प्रतीकों को जिन्हें धारण करने का तुमने दुस्साहस किया है, त्यागने के लिए बाध्य कर दूँगा। और जब तुम युद्धभूमि में धराशायी हो जाओगे तो तुम कुत्तों का भोजन बनोगे।''

तब भगवान् कृष्ण काशी गये। कृष्ण को युद्ध के लिए तैयारी करते देखकर पौण्ड्रक अपनी सेना लेकर उनका सामना करने के लिए शहर से बाहर निकल आया। उसका मित्र काशिराज उसके पीछे-पीछे रक्षक के रूप में आया। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड की विनाश-अग्नि सभी दिशाओं के हर जीव को जला डालती है उसी तरह कृष्ण ने पौण्ड्रक तथा काशिराज की सेनाओं का संहार कर डाला। तत्पश्चात्

पौण्ड्रक को प्रताड़ित करके उन्होंने उसका तथा काशिराज दोनों के सिर अपने सुदर्शन चक्र से काट डाले। तत्पश्चात् वे द्वारका लौट आये। चूँकि पौण्ड्रक भगवान् का निरन्तर ध्यान करता रहा था, यहाँ तक कि उन्हीं के समान वेश धारण करता रहा था इसलिए उसे मुक्ति मिल गई।

जब कृष्ण ने काशिराज का सिर काटा तो उसका सिर उसके नगर में उड़ गया। जब उसकी रानियों, पुत्रों तथा अन्य सम्बन्धियों ने इस सिर को देखा तो वे सभी लोग शोकमग्न हो गये। उसी समय अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए पौण्ड्रक-पुत्र सुदक्षिण शिवजी की पूजा करने लगा ताकि वह अपने पिता के हत्यारे को नष्ट कर सके। सुदक्षिण की पूजा से प्रसन्न होकर शिवजी ने उससे वर माँगने के लिए कहा तो उसने अपने पिता के हत्यारे का वध करने के लिए साधनों की याचना की। शिवजी ने उससे कहा कि वह इन्द्रजाल से दक्षिणाग्नि की पूजा करे। सुदक्षिण ने ऐसा ही किया। फलस्वरूप यज्ञकुण्ड की लपटों से सशरीर एक भयानक असुर प्रकट हुआ। यह असुर भयानक त्रिशूल लिए बाहर आया और तुरन्त ही द्वारका के लिए चल पड़ा।

जब यह असुर द्वारका पहुँचा तो वहाँ के लोग भयभीत हो उठे किन्तु कृष्ण ने उन्हें सुरक्षा का आश्वासन दिया और शिवजी की इन्द्रजाल सृष्टि का सामना करने के लिए अपने सुदर्शन चक्र को भेजा। सुदर्शन ने असुर को हरा दिया। वह असुर वाराणसी लौट आया और उसने सुदक्षिण तथा उसके पुरोहितों को भस्म कर दिया। सुदर्शन चक्र असुर का पीछा करते हुए वाराणसी में प्रविष्ट हुआ और पूरी नगरी को भस्म कर दिया। तब भगवान् का यह चक्र उनके पास द्वारका लौट आया।

श्रीशुक उवाच

नन्दव्रजं गते रामे करूषाधिपतिर्नृप ।
वासुदेवोऽहमित्यज्ञो दूतं कृष्णाय प्राहिणोत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; नन्द—महाराज नन्द के; व्रजम्—ग्वालों के ग्राम की ओर; गते—चले जाने पर; रामे—बलराम के; करूष-अधिपतिः—करूष के शासक (पौण्ड्रक) ने; नृप—हे राजा (परीक्षित); वासुदेवः—भगवान्, वासुदेव; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार सोचते हुए; अज्ञः—मूर्ख; दूतम्—संदेशवाहक को; कृष्णाय—भगवान् कृष्ण के पास; प्राहिणोत्—भेजा।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, जब बलराम नन्द के ग्राम व्रज को देखने गये हुए थे तो करूष के राजा ने मूर्खतापूर्वक यह सोचकर कि ''मैं भगवान् वासुदेव हूँ'' भगवान् कृष्ण के पास अपना दूत भेजा।

तात्पर्य : चूँकि बलराम नन्द-व्रज गये हुए थे इसलिए पौण्ड्रक ने मूर्खतापूर्वक सोचा कि अब तो कृष्ण अकेले होंगे अत: उन्हें ललकारना आसान होगा। फलत: उसने भगवान् के पास अपना सिरफिरा संदेश भेजने का दुस्साहस किया।

त्वं वासुदेवो भगवानवतीर्णो जगत्पतिः ।
इति प्रस्तोभितो बालैर्मेन आत्मानमच्युतम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; वासुदेवः—वासुदेव; भगवान्—भगवान्; अवतीर्णः—अवतरित; जगत्—ब्रह्माण्ड के; पतिः—स्वामी; इति—इस प्रकार; प्रस्तोभितः—चापलूसी में आकर, बहकावे में आकर; बालैः—बचकाने मनुष्यों द्वारा; मेने—उसने कल्पना की; आत्मानम्—अपने को; अच्युतम्—अच्युत भगवान्।

पौण्ड्रक मूर्ख लोगों की चापलूसी में आ गया जिन्होंने उससे कहा, ''तुम भगवान् वासुदेव हो और ब्रह्माण्ड के स्वामी के रूप में अब पृथ्वी में अवतरित हुए हो।'' इस तरह वह अपने आपको भगवान् अच्युत मान बैठा।

तात्पर्य : पौण्ड्रक ने मूर्खतावश अज्ञानी व्यक्तियों की चापलूसी मान ली।

दूतं च प्राहिणोन्मन्दः कृष्णायाव्यक्तवर्त्मने ।
द्वारकायां यथा बालो नृपो बालकृतोऽबुधः ॥ ॥

शब्दार्थ

दूतम्—दूत को; च—तथा; प्राहिणोत्—भेजा; मन्दः—मन्द बुद्धि; कृष्णाय—कृष्ण के पास; अव्यक्त—अकथ्य; वर्त्मने—जिसका मार्ग; द्वारकायाम्—द्वारका में; यथा—जिस तरह; बालः—बालक; नृपः—राजा; बाल—बालकों द्वारा; कृतः—बनाया गया; अबुधः—मूर्ख।

अतएव उस मन्द बुद्धि पौण्ड्रक ने अव्यक्त भगवान् कृष्ण के पास द्वारका में एक दूत भेजा। पौण्ड्रक ऐसे मूर्ख बालक की तरह आचरण कर रहा था जिसे अन्य बालक राजा मान लेते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार पौण्ड्रक के कृष्ण के पास दूत भेजने का शुकदेव गोस्वामी द्वारा दुबारा उल्लेख किये जाने का कारण यह है कि महामुनि स्वयं पौण्ड्रक की निपट मूर्खता पर चकित हैं।

दूतस्तु द्वारकामेत्य सभायामास्थितं प्रभुम् ।
कृष्णं कमलपत्राक्षं राजसन्देशमब्रवीत् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

दूतः—सन्देशवाहक ने; तु—तब; द्वारकाम्—द्वारका में; एत्य—पहुँच कर; सभायाम्—राजसभा में; आस्थितम्—उपस्थित; प्रभुम्—सर्वशक्तिमान स्वामी; कृष्णम्—कृष्ण से; कमल—कमल की; पत्र—पंखुड़ियों (सदृश); अक्षम्—आँखों वाले; राज—अपने राजा का; सन्देशम्—सन्देश; अब्रवीत्—कहा।

द्वारका पहुँचने पर दूत ने कमल-नेत्र कृष्ण को उनकी राजसभा में उपस्थित पाया। उसने राजा का सन्देश उन सर्वशक्तिमान प्रभु को कह सुनाया।

वासुदेवोऽवतीर्णोऽहमेक एव न चापरः ।
भूतानामनुकम्पार्थं त्वं तु मिथ्याभिधां त्यज ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

वासुदेवः—वासुदेव; अवतीर्णः—इस जगत में अवतरित हुआ; अहम्—मैं; एकः एव—एकमात्र; न—नहीं; च—तथा; अपरः—दूसरा कोई; भूतानाम्—जीवों पर; अनुकम्पा—दया दिखाने के; अर्थम्—हेतु; त्वम्—तुम; तु—किन्तु; मिथ्या—झूठा; अभिधाम्—उपाधि; त्यज—छोड़ दो।

[पौण्ड्रक की ओर से दूत ने कहा] : मैं ही एकमात्र भगवान् वासुदेव हूँ और दूसरा कोई नहीं है। मैं ही इस जगत में जीवों पर दया दिखलाने के लिए अवतरित हुआ हूँ। अतः तुम अपना झूठा नाम छोड़ दो।

तात्पर्य : देवी सरस्वती की प्रेरणा से श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इन दो श्लोकों का असली आशय प्रस्तुत करते हैं: "मैं वासुदेव अवतार नहीं हूँ अपितु तुम्हीं वासुदेव हो, अन्य कोई नहीं है। चूँकि तुम जीवों पर दया दिखलाने के लिए अवतरित हुए हो अतः मेरी यह झूठी उपाधि छुड़वाइये जो उस सीप की तरह है, जो अपने को चाँदी मान बैठी है।" भगवान् निश्चित रूप से इस अनुरोध को पूरा करेंगे।

यानि त्वमस्मच्चिह्नानि मौढ्याद्बिभर्षि सात्वत ।
त्यक्त्वैहि मां त्वं शरणं नो चेद्देहि ममाहवम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यानि—जिन; त्वम्—तुम; अस्मत्—हमारे; चिह्नानि—प्रतीकों को; मौढ्यात्—मूढ़तावश; बिभर्षि—धारण करते हो; सात्वत—हे सात्वतों में प्रमुख; त्यक्त्वा—छोड़ कर; एहि—आओ; माम्—मेरी; त्वम्—तुम; शरणम्—शरण के लिए; न—नहीं; उ—अन्यथा; चेत्—यदि; देहि—दो; मम—मुझको; आहवम्—युद्ध।

हे सात्वत, तुम मेरे निजी प्रतीकों को छोड़ दो जिन्हें इस समय तुम मूर्खतावश धारण करते हो और आकर मेरी शरण लो। यदि तुम ऐसा नहीं करते तो मुझसे युद्ध करो।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती पुनः सरस्वती देवी की प्रेरणा से पौण्ड्रक के शब्दों की व्याख्या करते हैं। तदनुसार उनका अर्थ होगा, "मैंने मूढ़तावश नकली शंख, चक्र, कमल तथा गदा धारण कर रखे हैं और आप मुझे इनका उपयोग करने की अनुमति देकर इनको बनाए रखे हुए हो। आप अभी

तक मुझे वश में करके इन नकली प्रतीकों को हटा नहीं पाये। अत: कृपा करके आइये और मुझे इन्हें त्यागने के लिए बाध्य करके मुझे मुक्त कीजिये। मेरे साथ युद्ध करके मुझे मार कर मुझे मोक्ष प्रदान कीजिये।''

श्रीशुक उवाच
कत्थनं तदुपाकर्ण्य पौण्ड्रकस्याल्पमेधसः ।
उग्रसेनादयः सभ्या उच्चकैर्जहसुस्तदा ॥ ७॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; कत्थनम्—शेखी बघारने, डींग हाँकने को; तत्—उस; उपाकर्ण्य—सुनकर; पौण्ड्रकस्य—पौण्ड्रक की; अल्प—छोटी; मेधसः—बुद्धि वाले; उग्रसेन-आदयः—राजा उग्रसेन इत्यादि; सभ्याः—सभा के सदस्य; उच्चकैः—जोरों से; जहसुः—हँसने लगे; तदा—तब।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब अज्ञानी पौण्ड्रक की इस व्यर्थ की डींग को राजा उग्रसेन तथा सभा के अन्य सदस्यों ने सुना तो वे जोर-जोर से हँसने लगे।

उवाच दूतं भगवान्परिहासकथामनु ।
उत्स्रक्ष्ये मूढ चिह्नानि यैस्त्वमेवं विकत्थसे ॥ ८॥

शब्दार्थ

उवाच—कहा; दूतम्—दूत से; भगवान्—भगवान्; परिहास—हँसी-मजाक; कथाम्—वाद-विवाद के; अनु—बाद; उत्स्रक्ष्ये—मैं फेंक दूँगा; मूढ—हे मूर्ख; चिह्नानि—प्रतीक; यैः—जिनके बारे में; त्वम्—तुम; एवम्—इस तरह से; विकत्थसे—डींग मार रहे हो।

सभा के हँसी-मजाक का आनन्द लेने के बाद भगवान् ने दूत से (अपने स्वामी को सूचित करने के लिए) कहा, ''रे मूर्ख! मैं निस्सनदेह उन हथियारों को फेंक दूँगा जिनके विषय में तुम इस तरह डींग मार रहे हो।''

तात्पर्य : संस्कृत के शब्द *उत्स्रक्ष्ये* के अर्थ हैं, ''मैं फेंक दूँगा, छोड़ूँगा।'' मूर्ख पौण्ड्रक ने चाहा था कि भगवान् कृष्ण अपने शक्तिशाली हथियार—यथा गदा तथा चक्र—का परित्याग कर दें। यहाँ भगवान् उत्तर देते हैं—*उत्स्रक्ष्ये मूढ चिन्हानि*—हाँ, मूर्ख, जब हम युद्धभूमि में मिलेंगे तो मैं इन हथियारों को छोड़ूँगा।

लीला पुरुषोत्तम *भगवान् श्रीकृष्ण* नामक पुस्तक में श्रील प्रभुपाद ने इस दृश्य का वर्णन सुंदर रीति से इस प्रकार किया है : ''जब राजा उग्रसेन समेत राजसभा के लोगों ने पौण्ड्रक द्वारा भेजा गया सन्देश सुना तो बड़ी देर तक वे जोर-जोर से हँसते रहे। सभा के सारे सदस्यों के अट्टहास का मजा ले चुकने

के बाद कृष्ण ने उस दूत को यह उत्तर दिया, "हे पौण्ड्रक के दूत! तुम अपने स्वामी के पास मेरा सन्देश ले जाओ। वह निपट धूर्त है। मैं उसे धूर्त ही कहता हूँ और मैं उसके आदेशों का पालन करने से इनकार करता हूँ। मैं कभी भी वासुदेव के प्रतीकों, विशेषतया चक्र का परित्याग नहीं करूँगा। मैं इस चक्र का प्रयोग न केवल पौण्ड्रक का अपितु उसके सारे अनुयायियों का भी वध करने के लिए करूँगा। मैं इस पौण्ड्रक तथा उसके मूर्ख संगियों का विनाश कर दूँगा जो कि वञ्चकों तथा वञ्चितों के समाज के समान हैं।"

मुखं तदपिधायाज्ञ कङ्कगृध्रवटैर्वृतः ।
शयिष्यसे हतस्तत्र भविता शरणं शुनाम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

मुखम्—मुख को; तत्—उस; अपिधाय—ढक कर; अज्ञ—रे अज्ञानी; कङ्क—चील्हों; गृध्र—गीधों; वटैः—वट पक्षियों से; वृतः—घिरा; शयिष्यसे—तुम सो जाओगे; हतः—मारे हुए; तत्र—तत्पश्चात्; भविता—तुम बनोगे; शरणम्—आश्रय; शुनाम्—कुत्तों के।

"रे मूर्ख! जब तुम मारे जाओगे और तुम्हारा मुख गीधों, चील्हों तथा वट पक्षियों से ढका रहेगा तो तुम कुत्तों का आश्रय-स्थल बनोगे।"

तात्पर्य : पौण्ड्रक ने मूर्खतावश भगवान् को अपनी शरण में आने के लिए कहला भेजा था किन्तु यहाँ भगवान् उसे कहला भेजते हैं, "तुम मेरी शरण नहीं हो अपितु तुम कुत्तों की शरण बनोगे जब वे तुम्हारे शव को प्रसन्नतापूर्वक खायेंगे।"

श्रील प्रभुपाद ने इस दृश्य का विस्तृत वर्णन किया है, "[भगवान् कृष्ण ने पौण्ड्रक से कहा, "जब मैं तुम्हारा विनाश करूँगा] रे मूर्ख राजा, तब तुम्हें शर्म से अपना मुख छिपाना पड़ेगा और जब मेरे चक्र से तुम्हारा सिर तुम्हारे शरीर से कट कर अलग होगा तो मांसभक्षी पक्षी, यथा चील्ह, गीध तथा बाज तुम्हें घेर लेंगे। उस समय तुम मेरी शरण बनने के बजाय जो तुमने माँगी है, इन अधम पक्षियों की कृपा के पात्र होगे। उस समय तुम्हारा शरीर कुत्तों के सामने फेंक दिया जायेगा जिसे वे बड़े ही हर्ष से खायेंगे।"

इति दूतस्तमाक्षेपं स्वामिने सर्वमाहरत् ।
कृष्णोऽपि रथमास्थाय काशीमुपजगाम ह ॥ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार कह कर; दूतः—दूत; तम्—उन; आक्षेपम्—अपमानों को; स्वामिने—अपने स्वामी के प्रति; सर्वम्—पूर्णतः; आहरत्—ले गया; कृष्णः—कृष्ण; अपि—तथा; रथम्—अपने रथ पर; आस्थाय—सवार होकर; काशीम्—वाराणसी; उपजगाम ह—के निकट गये।

जब भगवान् इस तरह बोल चुके तो उनके अपमानपूर्ण उत्तर को उस दूत ने अपने स्वामी के पास जाकर पूरी तरह कह सुनाया। तब भगवान् कृष्ण अपने रथ पर सवार हुए और काशी के निकट गये।

तात्पर्य : लीला पुरुषोत्तम *भगवान् श्री कृष्ण* नामक पुस्तक में श्रील प्रभुपाद ने उक्त घटना का वर्णन इस प्रकार किया है : "वह दूत कृष्ण का सन्देश अपने स्वामी पौण्ड्रक के पास लाया जिसने इन सारे अपमानों को धैर्यपूर्वक सुना। बिना विलम्ब किये श्रीकृष्ण तुरन्त ही धूर्त पौण्ड्रक को दण्ड देने के लिए अपने रथ पर सवार होकर चल दिये। चूँकि उस समय करूषराज (पौण्ड्रक) अपने मित्र काशीराज के पास रह रहा था इसलिए कृष्ण ने सम्पूर्ण काशी नगरी को घेर लिया।"

पौण्ड्रकोऽपि तदुद्योगमुपलभ्य महारथः ।
अक्षौहिणीभ्यां संयुक्तो निश्चक्राम पुराद्द्रुतम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

पौण्ड्रकः—पौण्ड्रक; अपि—तथा; तत्—उसका; उद्योगम्—तैयारी; उपलभ्य—देखकर; महा-रथः—बलशाली योद्धा; अक्षौहिणीभ्याम्—दो अक्षौहिणियों द्वारा; संयुक्तः—साथ हो लिए; निश्चक्राम—बाहर गया; पुरात्—नगर से; द्रुतम्—तुरन्त।

भगवान् कृष्ण द्वारा युद्ध की तैयारी को देखते हुए बलशाली योद्धा पौण्ड्रक तुरन्त ही दो अक्षौहिणी सेना के साथ नगर के बाहर निकल आया।

तस्य काशीपतिर्मित्रं पार्ष्णिग्राहोऽन्वयान्नृप ।
अक्षौहिणीभिस्तिसृभिरपश्यत्पौण्ड्रकं हरिः ॥ १२ ॥
शङ्खार्यसिगदाशार्ङ्गश्रीवत्साद्युपलक्षितम् ।
बिभ्राणं कौस्तुभमणिं वनमालाविभूषितम् ॥ १ ॥
कौशेयवाससी पीते वसानं गरुडध्वजम् ।
अमूल्यमौल्याभरणं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका (पौण्ड्रक का); काशी-पतिः—काशी का स्वामी; मित्रम्—मित्र; पार्ष्णि-ग्राहः—पीछे से रक्षक के रूप में; अन्वयात्—पीछे पीछे गया; नृप—हे राजा (परीक्षित); अक्षौहिणीभिः—अक्षौहिणियों समेत; तिसृभिः—तीन; अपश्यत्—देखा; पौण्ड्रकम्—पौण्ड्रक को; हरिः—कृष्ण ने; शङ्ख—शंख; अरि—चक्र; असि—तलवार; गदा—गदा; शार्ङ्ग—शार्ङ्ग धनुष; श्रीवत्स—वक्षस्थल पर बालों का श्रीवत्स चिह्न सहित; आदि—तथा अन्य प्रतीक; उपलक्षितम्—अंकित; बिभ्राणम्—

धारण किये हुए; कौस्तुभ-मणिम्—कौस्तुभ मणि; वन-माला—जंगली फूलों की माला से; विभूषितम्—सुशोभित; कौशेय—सुन्दर रेशम के; वाससी—वस्त्रों की जोड़ी; पीते—पीत; वसानम्—पहने; गरुड-ध्वजम्—जिसके झंडे में गरुड़ अंकित है; अमूल्य—अनमोल; मौलि—मुकुट; आभरणम्—आभूषण; स्फुरत्—चमकते हुए; मकर—मकर के आकार वाले; कुण्डलम्—कुण्डलों सहित।

हे राजन्, पौण्ड्रक का मित्र काशीराज उसके पीछे पीछे गया और वह तीन अक्षौहिणी सेना समेत पीछे के रक्षकों की अगुआई कर रहा था। भगवान् कृष्ण ने देखा कि पौण्ड्रक भगवान् के ही प्रतीक यथा शंख, चक्र, तलवार तथा गदा और दिखावटी शार्ङ्ग धनुष तथा श्रीवत्स चिन्ह भी धारण किये था। वह नकली कौस्तुभ मणि भी पहने था। वह जंगली फूलों की माला से सुशोभित था और ऊपर और नीचे उत्तम पीले रेशमी वस्त्र पहने था। उसके झंडे में गरुड़ का चिन्ह था और वह मूल्यवान मुकुट तथा चमचमाते मकराकृति वाले कुंडल पहने था।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् कृष्ण* में टीका की है, ''जब दोनों राजा कृष्ण का सामना करने भगवान् के समक्ष आये तो कृष्ण ने पहली बार पौण्ड्रक को आमने-सामने देखा।''

दृष्ट्वा तमात्मनस्तुल्यं वेषं कृत्रिममास्थितम् ।
यथा नटं रङ्गगतं विजहास भृशं हरीः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; तम्—उसको; आत्मनः—अपने ही; तुल्यम्—तुल्य, समान; वेषम्—वेश में; कृत्रिमम्—कृत्रिम, नकली; आस्थितम्—सजाये हुए; यथा—सदृश; नटम्—अभिनयकर्ता; रङ्ग—मंच में; गतम्—प्रवेश हुआ; विजहास—हँसे; भृशम्—खूब कस कर; हरिः—भगवान् कृष्ण।

जब भगवान् हरि ने देखा कि राजा ने उन्हीं जैसा अपना वेश बना रखा है, जिस तरह मंच पर कोई अभिनेता करता है, तो वे खूब हँसे।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने इस दृश्य का वर्णन इस प्रकार किया है : ''कुल मिलाकर पौण्ड्रक की वेशभूषा तथा पहनावा स्पष्ट रूप से बनावटी थे। कोई भी समझ सकता था कि वह बनावटी वेशभूषा में मञ्च पर वासुदेव का नाटक करने वाला कोई व्यक्ति था। जब श्रीकृष्ण ने पौण्ड्रक को अपनी भंगिमा तथा वेशभूषा का अनुकरण किये देखा तो वे अपनी हँसी रोक नहीं पाये, अतः वे जीभरकर हँसे।''

श्रील जीव गोस्वामी इंगित करते हैं कि भगवान् की वेशभूषा तथा उनकी चाल-ढाल का पूर्णतया अनुकरण करने के लिए पौण्ड्रक को शिवजी से वर प्राप्त था—यह तथ्य *पद्म पुराण* के उत्तरखण्ड में पाया जाता है।

शूलैर्गदाभिः परिघैः शक्त्यृष्टिप्रासतोमरैः ।
असिभिः पट्टिशैर्बाणैः प्राहरन्नरयो हरिम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

शूलैः—त्रिशूल से; गदाभिः—गदा से; परिघैः—नेचों से; शक्ति—शक्ति; ऋष्टि—एक प्रकार की तलवार; प्रास—लम्बा नुकीला अस्त्र; तोमरैः—तथा भालों से; असिभिः—तलवारों से; पट्टिशैः—कुल्हाड़ियों से; बाणैः—तथा बाणों से; प्राहरन्—आक्रमण किया; अरयः—शत्रुओं ने; हरिम्—भगवान् कृष्ण पर।

भगवान् हरि के शत्रुओं ने उन पर त्रिशूलों, गदाओं, नेचों, शक्तियों, ऋष्टियों, प्रासों, तोमरों, तलवारों, कुल्हाड़ियों तथा बाणों से आक्रमण किया।

कृष्णास्तु तत्पौण्ड्रककाशिराजयोर्
बलं गजस्यन्दनवाजिपत्तिमत् ।
गदासिचक्रेषुभिरार्दयद्भृशं
यथा युगान्ते हुतभुक्पृथक्प्रजाः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

कृष्णः—कृष्ण; तु—किन्तु; तत्—उस; पौण्ड्रक-काशिराजयोः—पौण्ड्रक तथा काशिराज की; बलम्—सेना को; गज—हाथी; स्यन्दन—रथ; वाजि—घोड़े; पत्ति—तथा पैदल; मत्—से युक्त; गदा—गदा; असि—तलवार; चक्र—चक्र; इसुभिः—तथा बाणों से; आर्दयत्—रौंदते हुए; भृशम्—बुरी तरह से; यथा—जिस प्रकार; युग—ऐतिहासिक युग के; अन्ते—अन्त में; हुत-भुक्—अग्नि (प्रलयंकारी); पृथक्—विभिन्न प्रकार के; प्रजाः—जीव।

किन्तु भगवान् कृष्ण ने पौण्ड्रक तथा काशिराज की सेना पर भीषण वार किया, जिसमें हाथी, रथ, घोड़े तथा पैदल सम्मिलित थे। भगवान् ने अपनी गदा, तलवार, सुदर्शन चक्र तथा बाणों से अपने शत्रुओं को उसी तरह रौंद दिया जिस तरह युगान्त में प्रलयाग्नि विविध प्रकारके प्राणियों को रौंदती है।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् कृष्ण* में इस तरह टीका की है : ‘‘राजा पौण्ड्रक के पक्ष के सैनिक कृष्ण पर अपने हथियारों की वर्षा करने लगे। हथियारों में त्रिशूल, गदा, ख भे, भाले, तलवारें, खंजर तथा बाण थे, जो लहरों की तरह उड़ते आ रहे थे और कृष्ण उनका सामना कर रहे थे। उन्होंने न केवल इन हथियारों को नष्ट-भ्रष्ट किया अपितु पौण्ड्रक के सिपाहियों तथा सहायकों को भी नष्ट कर दिया जिस तरह इस ब्रह्माण्ड के प्रलय के समय विनाश की अग्नि हर वस्तु को जलाकर स्वाहा कर देती है। विपक्षी दल के हाथी, रथ, घोड़े तथा पैदल सिपाही कृष्ण के हथियारों से तितर-बितर हो गये।’’

आयोधनं तद्रथवाजिकुञ्जर-
द्विपत्खरोष्ट्रैररिणावखण्डितैः ।
बभौ चितं मोदवहं मनस्विना-
माक्रीडनं भूतपतेरिवोल्बणम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

आयोधनम्—युद्धभूमि; तत्—उस; रथ—रथों; वाजि—घोड़ों; कुञ्जर—हाथियों; द्विपत्—दो पैर वालों (मनुष्यों); खर—गदहों; उष्ट्रैः—तथा ऊँटों से; अरिणा—अपने चक्र से; अवखण्डितैः—खण्ड खण्ड किये; बभौ—चमक रही थी; चितम्—फैले हुए; मोद—हर्ष; वहम्—लाते हुए; मनस्विनाम्—बुद्धिमान को; आक्रीडनम्—खेल का मैदान, अखाड़ा; भूत-पतेः—भूतों के स्वामी, शिवजी के; इव—सदृश; उल्बणम्—भयंकर।

भगवान् के चक्र द्वारा खण्ड-खण्ड किये गये रथों, घोड़ों, हाथियों, मनुष्यों, खच्चरों तथा ऊँटों से पटा हुआ युद्ध क्षेत्र उसी तरह चमक रहा था मानो विद्वान को आनन्द प्रदान करने वाला भूतपति का भयावना अखाड़ा हो।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने इस दृश्य का वर्णन इस प्रकार किया है : "यद्यपि विध्वंस किया हुआ युद्ध क्षेत्र संसार के प्रलय के समय शिवजी के नृत्य-स्थल जैसा लग रहा था किन्तु कृष्ण के पक्ष के योद्धा इस दृश्य को देखकर अत्यन्त प्रोत्साहित थे और वे और अधिक शक्ति से युद्ध कर रहे थे।"

अथाह पौण्ड्रकं शौरिर्भो भो पौण्ड्रक यद्भवान् ।
दूतवाक्येन मामाह तान्यस्त्रण्युत्सृजामि ते ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; आह—कहा; पौण्ड्रकम्—पौण्ड्रक से; शौरिः—भगवान् कृष्ण ने; भोः भोः पौण्ड्रक—अरे पौण्ड्रक; यत्—जो; भवान्—आपने; दूत—दूत के; वाक्येन—शब्दों से; माम्—मुझसे; आह—कहा; तानि—वे; अस्त्राणि—हथियार; उत्सृजामि—मैं छोड़ रहा हूँ; ते—तुम्हारे ऊपर।

तब भगवान् कृष्ण ने पौण्ड्रक को सम्बोधित किया : रे पौण्ड्रक! तूने अपने दूत के माध्यम से जिन हथियारों के लिए कहलवाया था अब मैं उन्हीं को तुझ पर छोड़ रहा हूँ।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् कृष्ण* में इस प्रकार लिखा है : "इस समय भगवान् कृष्ण ने पौण्ड्रक से कहा, "पौण्ड्रक! तुमने मुझसे भगवान् विष्णु के प्रतीकों को विशेषतया मेरे चक्र को छोड़ने के लिए अनुरोध किया था। अब मैं इसे तुझ पर छोडूँगा। सावधान! तू झूठे ही मेरा अनुकरण करते हुए अपने को वासुदेव घोषित कर रहा है। अत: तुझसे बढ़कर मूर्ख कोई नहीं है।" कृष्ण के इस कथन से स्पष्ट है कि जो भी धूर्त अपने को ईश्वर घोषित करता है, वह मानव समाज में सबसे बड़ा मूर्ख है।"

त्याजयिष्येऽभिधानं मे यत्त्वयाज्ञ मृषा धृतम् ।
व्रजामि शरनं तेऽद्य यदि नेच्छामि संयुगम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

त्याजयिष्ये—(तुमसे) छुड़वाकर रहूँगा; अभिधानम्—उपाधि; मे—मेरा; यत्—जो; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अज्ञ—रे मूर्ख; मृषा—झूठे ही; धृतम्—धारण किये हुए; व्रजामि—जाऊँगा; शरणम्—शरण में; ते—तुम्हारी; अद्य—आज; यदि—यदि; न इच्छामि—नहीं चाहता हूँ; संयुगम्—युद्ध।

रे मूर्ख! अब मैं तुझसे अपना नाम छुड़वाकर रहूँगा जिसे तूने झूठे ही धारण कर रखा है। मैं तब अवश्य ही तेरी शरण ग्रहण करूँगा यदि मैं तुझसे युद्ध नहीं करना चाहूँगा।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद इस तरह लिखते है : ''हे पौण्ड्रक! अब मैं तुम्हें यह झूठा प्रतिनिधित्व त्यागने के लिए बाध्य कर दूँगा। तूने चाहा है कि मैं तेरी शरण लूँ। अब तेरी बारी है। अब हम लड़ेंगे और यदि मैं हारा और तू विजयी हुआ तो मैं अवश्य ही तेरी शरण आ जाऊँगा।''

इति क्षिप्त्वा शितैर्बाणैर्विरथीकृत्य पौण्ड्रकम् ।
शिरोऽवृश्चद्रथाङ्गेन वज्रेणेन्द्रो यथा गिरेः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

इति—इन शब्दों के साथ; क्षिप्त्वा—चिढ़ाते हुए; शितैः—तेज; बाणैः—बाणों से; विरथी—रथविहीन; कृत्य—करके; पौण्ड्रकम्—पौण्ड्रक को; शिरः—उसका सिर; अवृश्चत्—काट लिया; रथ-अङ्गेन—अपने सुदर्शन चक्र से; वज्रेण—अपने वज्र से; इन्द्रः—इन्द्र; यथा—जिस तरह; गिरेः—पर्वत का।

पौण्ड्रक को इस तरह चिढ़ा कर भगवान् कृष्ण ने अपने तेज बाणों से उसका रथ विनष्ट कर दिया। फिर भगवान् ने अपने सुदर्शन चक्र से उसका सिर उसी तरह काट लिया जिस तरह इन्द्र अपने वज्र से पर्वत की चोटी को काट गिराता है।

तथा काशीपतेः कायाच्छिर उत्कृत्य पत्रिभिः ।
न्यपातयत्काशीपुर्यां पद्मकोशमिवानिलः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तथा—उसी तरह; काशी-पतेः—काशिराज के; कायात्—शरीर से; शिरः—सिर; उत्कृत्य—काट कर; पत्रिभिः—अपने बाणों से; न्यपातयत्—उड़ते हुए भेज दिया; काशि-पुर्याम्—काशी नगरी में; पद्म—कमल के; कोशम्—फूल के कोश को; इव—सदृश; अनिलः—वायु।

भगवान् कृष्ण ने अपने बाणों से काशिराज के सिर को उसके शरीर से उसी तरह काट कर उसे काशी नगरी में जा गिराया मानो वायु द्वारा फेंका गया कमल का फूल हो।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने बतलाया है कि कृष्ण ने काशिराज के सिर को शहर में क्यों फेंका: ''काशिराज ने युद्ध में जाते समय नागरिकों को वचन दिया था, 'हे काशीवासियो! आज मैं शत्रु

का सिर काट कर नगर में लाऊँगा। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं मानो।' राजा की पापी रानियों ने भी अपनी दासियों से डींग मारते कहा था, "आज हमारे स्वामी द्वारका के प्रभु का सिर अवश्य लायेंगे।" इसीलिए भगवान् ने काशी निवासियों को चकित करने के लिए राजा का सिर नगर में फेंक दिया।"

एवं मत्सरिणम्हत्वा पौण्ड्रकं ससखं हरिः ।
द्वारकामाविशत्सिद्धैर्गीयमानकथामृतः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; मत्सरिणम्—ईर्ष्यालु; हत्वा—मार कर; पौण्ड्रकम्—पौण्ड्रक को; स—सहित; सखम्—उसके मित्र; हरिः—भगवान् कृष्ण; द्वारकाम्—द्वारका में; आविशत्—प्रवेश किया; सिद्धैः—स्वर्ग के योगियों द्वारा; गीयमान—गायी जाकर; कथा—उनके विषय में कथाएँ; अमृतः—अमृत तुल्य।

इस तरह ईर्ष्यालु पौण्ड्रक तथा उसके सहयोगी का वध करने के बाद भगवान् कृष्ण द्वारका लौट गये। ज्योंही वे नगर में प्रविष्ट हुए स्वर्ग के सिद्धों ने उनकी अमर अमृतमयी महिमा का गान किया।

स नित्यं भगवद्ध्यानप्रध्वस्ताखिलबन्धनः ।
बिभ्राणश्च हरे राजन्स्वरूपं तन्मयोऽभवत् ॥ २४॥

शब्दार्थ

सः—वह (पौण्ड्रक); नित्यम्—निरन्तर; भगवत्—भगवान् के; ध्यान—ध्यान द्वारा; प्रध्वस्त—पूर्णतया ध्वस्त; अखिल—समस्त; बन्धनः—बन्धन; बिभ्राणः—मानते हुए; च—तथा; हरेः—भगवान् कृष्ण का; राजन्—हे राजा (परीक्षित); स्वरूपम्—साकार रूप; तत्-मयः—उनकी चेतना में लीन; अभवत्—हो गया।

निरन्तर भगवान् का ध्यान करते रहने से पौण्ड्रक ने अपने सारे भौतिक बन्धनों को ध्वंस कर दिया था। हे राजन्, निस्सन्देह भगवान् कृष्ण के स्वरूप का अनुकरण करके अन्ततोगत्वा वह कृष्णभावनाभावित हो गया।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् श्रीकृष्ण* में लिखा है : "जहाँ तक पौण्ड्रक का सम्बन्ध था वह भगवान् वासुदेव की भाँति मिथ्या ही वेश धारण करके किसी न किसी प्रकार से उनका चिन्तन करता रहता था। इसीलिए पौण्ड्रक को मुक्ति के पाँच प्रकारों में से सारूप्य मुक्ति प्राप्त हुई। इस तरह उसे वैकुण्ठ लोक में स्थान प्राप्त हुआ जहाँ भक्तगण भी अपने चारों हाथों में चार प्रतीक धारण करने वाले विष्णु के समान शरीर धारण किये रहते हैं। यथार्थ में पौण्ड्रक का ध्यान विष्णु रूप पर केन्द्रित था किन्तु वह अपने आपको विष्णु समझता था, जो कि अपराध था। किन्तु कृष्ण द्वारा वध हो जाने पर वह

अपराध भी जाता रहा। इस तरह उसे सारूप्य मुक्ति प्राप्त हुई और उसे भगवान् के ही समान रूप मिल गया।''

शिरः पतितमालोक्य राजद्वारे सकुण्डलम् ।
किमिदं कस्य वा वक्त्रमिति संशिशिरे जनाः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

शिरः—सिर; पतितम्—गिरा हुआ; आलोक्य—देखकर; राज-द्वारे—राजमहल के द्वार पर; स-कुण्डलम्—कुण्डल सहित; किम्—क्या; इदम्—यह है; कस्य—किसका; वा—अथवा; वक्त्रम्—सिर; इति—इस प्रकार; संशिशिरे—सन्देह व्यक्त किया; जनाः—लोगों ने।

राजमहल के द्वार पर पड़े हुए कुण्डल से विभूषित सिर को देखकर वहाँ पर उपस्थित सारे लोग चकित थे। उनमें से कुछ ने पूछा, ''यह क्या है?'' और दूसरों ने कहा, ''यह सिर है लेकिन, यह है किसका?''

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद इस प्रकार लिखते हैं: ''जब काशिराज का सिर नगरद्वार के भीतर आ गिरा तो लोग वहाँ एकत्र हो गये और उस अद्भुत वस्तु को देखकर वे चकित रह गये। जब उन्होंने देखा कि उसमें कुण्डल भी हैं, तो वे समझ गए कि यह किसी मनुष्य का सिर है। वे अनुमान लगाने लगे कि यह किसका सिर हो सकता है। कुछ लोगों ने सोचा कि यह कृष्ण का सिर है क्योंकि श्रीकृष्ण काशिराज के शत्रु थे और उन्होंने अनुमान लगाया कि हो न हो काशिराज ने उनका सिर नगर में इसलिए फेंका है कि लोग शत्रु के वध से प्रसन्न हो सकें। किन्तु अन्त में यह पता चल गया कि वह सिर कृष्ण का नहीं अपितु स्वयं काशिराज का था।''

राज्ञः काशीपतेर्ज्ञात्वा महिष्यः पुत्रबान्धवाः ।
पौराश्च हा हता राजन्नाथ नाथेति प्रारुदन् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

राज्ञः—राजा का; काशी-पतेः—काशी के स्वामी; ज्ञात्वा—पहचान कर; महिष्यः—उसकी रानियाँ; पुत्र—उसके पुत्र; बान्धवाः—तथा उसके अन्य सम्बन्धी; पौराः—नगर के निवासी; च—तथा; हा—हाय; हताः—(हम) मारे गये; राजन्—हे राजा (परीक्षित); नाथ नाथ—हे नाथ, हे नाथ; इति—इस प्रकार; प्रारुदन्—जोर जोर से विलखने लगे।

हे राजन्, जब उन लोगों ने पहचाना कि यह उनके राजा—काशीपति का सिर है, तो उसकी रानियाँ, पुत्र तथा अन्य सम्बन्धी एवं नगर के सारे निवासी ''हाय! हम मारे गये! हे नाथ, हे नाथ!'' कह कर रोने लगे।

सुदक्षिणस्तस्य सुतः कृत्वा संस्थाविधिं पतेः ।
निहत्य पितृहन्तारं यास्याम्यपचितिं पितुः ॥ २७॥
इत्यात्मनाभिसन्धाय सोपाध्यायो महेश्वरम् ।
सुदक्षिणोऽर्चयामास परमेण समाधिना ॥ २८॥

शब्दार्थ

सुदक्षिणः—सुदक्षिण नामक; तस्य—उसका (काशिराज का); सुतः—पुत्र; कृत्वा—सम्पन्न करके; संस्था-विधिम्—दाह-संस्कार; पतेः—अपने पिता का; निहत्य—मार कर; पितृ—पिता का; हन्तारम्—मारने वाले को; यास्यामि—ले सकूँगा; अपचितिम्—बदला; पितुः—अपने पिता का; इति—इस प्रकार; आत्मना—अपनी बुद्धि से; अभिसन्धाय—निश्चय करके; स—सहित; उपाध्यायः—पुरोहितों; महा-ईश्वरम्—शिवजी की; सु-दक्षिणः—अत्यन्त दानी होने से; अर्चयाम् आस—पूजा की; परमेण—अत्यधिक; समाधिना—ध्यान से।

जब राजा का पुत्र सुदक्षिण अपने पिता का दाह-संस्कार कर चुका तो उसने अपने मन में निश्चय किया, ''मैं अपने पिता के हत्यारे का वध करके ही उसकी मृत्यु का बदला ले सकता हूँ।'' इस तरह दानी सुदक्षिण अपने पुरोहितों सहित बहुत ही लगन से भगवान् महेश्वर की पूजा करने लगा।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''काशिराज के स्वामी विश्वनाथ (शिवजी) हैं। भगवान् विश्वनाथ का मन्दिर अभी भी काशी में है और प्रतिदिन हजारों तीर्थयात्री अब भी मन्दिर में एकत्र होते हैं।''

प्रीतोऽविमुक्ते भगवांस्तस्मै वरमदाद्विभुः ।
पितृहन्तृवधोपायं स वव्रे वरमीप्सितम् ॥ २९॥

शब्दार्थ

प्रीतः—सन्तुष्ट; अविमुक्ते—अविमुक्त में, काशी जनपद के अन्तर्गत पवित्र स्थल में; भगवान्—शिवजी; तस्मै—उसको; वरम्—वर; अदात्—दिया; विभुः—शक्तिशाली देवता; पितृ—पिता का; हन्तृ—वध करने वाला; वध—हत्या करने के लिए; उपायम्—साधन; सः—उसने; वव्रे—चुना; वरम्—अपने वर के रूप में; ईप्सितम्—इच्छित।

पूजा से सन्तुष्ट होकर शक्तिशाली शिवजी अविमुक्त नामक पवित्र स्थल में प्रकट हुए और सुदक्षिण को इच्छित वर माँगने को कहा। राजकुमार ने अपने पिता के वध करने वाले की हत्या करने के साधन को ही अपने वर के रूप में चुना।

दक्षिणाग्निं परिचर ब्राह्मणैः सममृत्विजम् ।
अभिचारविधानेन स चाग्निः प्रमथैर्वृतः ॥ ०॥

साधयिष्यति सङ्कल्पमब्रह्मण्ये प्रयोजितः ।
इत्यादिष्टस्तथा चक्रे कृष्णायाभिचरन्व्रती ॥ १ ॥

शब्दार्थ

दक्षिण-अग्निम्—दक्षिण अग्नि को; परिचर—तुम्हें सेवा करनी चाहिए; ब्राह्मणैः—ब्राह्मणों के; समम्—साथ; ऋत्विजम्—आदि पुरोहित को; अभिचार-विधानेन—अभिचार अनुष्ठान द्वारा (शत्रु को मारने या हानि पहुँचाने के लिए किया गया अनुष्ठान; सः—वह; च—तथा; अग्निः—अग्नि; प्रमथैः—प्रमथों द्वारा (शिवजी की टोली के शक्तिशाली योगी जो विभिन्न रूप धारण कर सकते हैं); वृतः—घिरे हुए; साधयिष्यति—सम्पन्न करेगा; सङ्कल्पम्—तुम्हारे मनोभाव को; अब्रह्मण्ये—ब्राह्मणों के शत्रु के विरुद्ध; प्रयोजितः—प्रयुक्त; इति—इस तरह; आदिष्टः—आदेश दिया हुआ; तथा—उसी तरह से; चक्रे—किया; कृष्णाय—कृष्ण के विरुद्ध; अभिचरन्—हानि पहुँचाने की इच्छा से; व्रती—व्रत करने वाला।

शिवजी ने कहा : "तुम ब्राह्मणों के साथ अभिचार अनुष्ठान के आदेशों का पालन करते हुए आदि पुरोहित दक्षिणाग्नि की सेवा करो। तब दक्षिणाग्नि अनेक प्रमथों सहित तुम्हारी इच्छा पूरी करेगा यदि तुम इसे ब्राह्मणों से शत्रुता रखने वाले किसी भी व्यक्ति के विरुद्ध निर्देशित कर सकोगे।" इस प्रकार आदिष्ट सुदक्षिण ने अनुष्ठान व्रतों का दृढ़ता से पालन किया और कृष्ण के विरुद्ध अभिचार का आह्वान किया।

तात्पर्य : यहाँ पर स्पष्ट कहा गया है कि शक्तिशाली दक्षिणाग्नि को केवल उस व्यक्ति के विरुद्ध निर्देशित किया जा सकता है, जो ब्राह्मण संस्कृति के प्रतिकूल हो। किन्तु कृष्ण तो ब्राह्मणों के सर्वाधिक अनुकूल हैं और यथार्थतः ब्राह्मण संस्कृति का पालन करने वाले हैं। इस प्रकार शिवजी जानते थे कि यदि सुदक्षिण इस अनुष्ठान की शक्ति का प्रयोग कृष्ण के विरुद्ध करेगा तो वह स्वयं मर जायेगा।

ततोऽग्निरुत्थितः कुण्डान्मूर्तिमानतिभीषणः ।
तप्तताम्रशिखाश्मश्रुरङ्गारोद्गारिलोचनः ॥ २ ॥
दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीदण्डकठोरास्यः स्वजिह्वया ।
आलिहन्सृक्वणी नग्नो विधुन्वंस्त्रिशिखं ज्वलत् ॥ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; अग्निः—अग्नि; उत्थितः—उठा; कुण्डात्—यज्ञ वेदी के कुंड से; मूर्ति-मान्—साक्षात; अति—अत्यधिक; भीषणः—भयावना; तप्त—पिघले; ताम्र—ताँबे (जैसा); शिखा—चोटी; श्मश्रुः—दाढ़ी; अङ्गार—गर्म अंगारे; उद्गारि—उगलती हुई; लोचनः—आँखें; दंष्ट्र—दाँत; उग्र—भयावह; भ्रु—भौंहों के; कुटी—गड्ढों के; दण्ड—तथा तोरण से; कठोर—कर्कश; आस्यः—मुख; स्व—अपनी; जिह्वया—जीभ से; आलिहन्—चाटते हुए; सृक्वणी—अपने मुँह के कोनों को; नग्नः—नंग-धडंग; विधुन्वन्—हिलाता हुआ; त्रि-शिखम्—अपना त्रिशूल; ज्वलत्—लपलपाता।

तत्पश्चात् यज्ञकुण्ड से अत्यन्त भयावने नंग-धडंग पुरुष का रूप धारण कर अग्नि बाहर निकली। इस अग्नि सरीखे प्राणी की दाढ़ी तथा चोटी पिघले ताँबे जैसी थीं और उसकी आँखों

से जलते हुए गर्म अंगारे निकल रहे थे। उसका मुख दाढ़ों तथा भयावह कुटिल एवं गहरी भौंहों के साथ अत्यन्त भयावना लग रहा था। अपने मुख के कोनों को अपनी जीभ से चाटता हुआ यह असुर अपना ज्वलित त्रिशूल हिला रहा था।

पद्भ्यां तालप्रमाणाभ्यां कम्पयन्नवनीतलम् ।
सोऽभ्यधावद्वृतो भूतैर्द्वारकां प्रदहन्दिशः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

पद्भ्याम्—अपने पैरों से; ताल—ताड़-वृक्षों की; प्रमाणाभ्याम्—माप वाला; कम्पयन्—हिलाता हुआ; अवनी—पृथ्वी के; तलम्—पृष्ठ को; सः—वह; अभ्यधावत्—दौड़ा; वृतः—घिर कर; भूतैः—भूत-प्रेतों के द्वारा; द्वारकाम्—द्वारका की ओर; प्रदहन्—जलाता हुआ; दिशः—दिशाओं को।

यह दैत्य ताड़-वृक्ष जैसी लंबी टाँगों से अपने साथ भूतों को लेकर, धरती को हिलाता तथा संसार को सभी दिशाओं में जलाता हुआ द्वारका की ओर भागा।

तमाभिचारदहनमायान्तं द्वारकौकसः ।
विलोक्य तत्रसुः सर्वे वनदाहे मृगा यथा ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; आभिचार—अभिचार अनुष्ठान से उत्पन्न; दहनम्—अग्नि को; आयान्तम्—निकट आते हुए; द्वारका-ओकसः—द्वारकावासी; विलोक्य—देखकर; तत्रसुः—भयभीत हो उठे; सर्वे—सभी; वन-दाहे—जंगल में आग लगने पर; मृगाः—पशु; यथा—जिस तरह।

अभिचार अनुष्ठान से उत्पन्न अग्नि तुल्य असुर को निकट आते देखकर द्वारका के सारे निवासी उसी तरह भयभीत हो उठे जिस तरह दावाग्नि (जंगल की अग्नि) से पशु भयभीत हो उठते हैं।

अक्षैः सभायां क्रीडन्तं भगवन्तं भयातुराः ।
त्राहि त्राहि त्रिलोकेश वह्नेः प्रदहतः पुरम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अक्षैः—चौसर से; सभायाम्—राज-दरबार में; क्रीडन्तम्—खेलते हुए; भगवन्तम्—भगवान् को; भय—भय से; आतुराः—क्षुब्ध; त्राहि त्राहि—रक्षा करो, रक्षा करो; त्रि—तीन; लोक—लोकों के; ईश—हे स्वामी; वह्नेः—अग्नि से; प्रदहतः—जल रहे; पुरम्—नगर को।

भय से किंकर्तव्यविमूढ़ लोगों ने उस समय राज-दरबार में चौसर खेल रहे भगवान् के पास रो-रो कर कहा, "हे तीनों लोकों के स्वामी, नगर को जलाने वाली इस अग्नि से हमारी रक्षा कीजिये! रक्षा कीजिये!"

श्रुत्वा तज्जनवैक्लव्यं दृष्ट्वा स्वानां च साध्वसम् ।
शरण्यः सम्प्रहस्याह मा भैष्टेत्यवितास्म्यहम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर; तत्—यह; जन—जनता की; वैक्लव्यम्—विकलता; दृष्ट्वा—देखकर; स्वानाम्—अपने ही लोगों को; च—तथा; साध्वसम्—विक्षुब्ध; शरण्यः—शरण के सर्वोत्तम साधन ने; सम्प्रहस्य—जोर से हँस कर; आह—कहा; मा भैष्ट—मत डरो; इति—इस प्रकार; अविता अस्मि—संरक्षण प्रदान करूँगा; अहम्—मैं।

जब कृष्ण ने लोगों की व्याकुलता सुनी और देखा कि उनके अपने लोग भी विक्षुब्ध हैं, तो एकमात्र सर्वश्रेष्ठ शरणदाता हँस पड़े और उनसे कहा, "डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।"

सर्वस्यान्तर्बहिःसाक्षी कृत्यां माहेश्वरीं विभुः ।
विज्ञाय तद्विघातार्थं पार्श्वस्थं चक्रमादिशत् ॥ ८॥

शब्दार्थ

सर्वस्य—सबों के; अन्तः—भीतर; बहिः—तथा बाहर के; साक्षी—गवाह; कृत्याम्—निर्मित प्राणी को; माहा-ईश्वरीम्—शिवजी के; विभुः—सर्वशक्तिमान भगवान्; विज्ञाय—पूरी तरह जानते हुए; तत्—उसको; विघात—हराने के; अर्थम्—हेतु; पार्श्व—अपने निकट; स्थम्—खड़े; चक्रम्—अपने चक्र को; आदिशत्—आदेश दिया।

सबों के अन्तः और बाह्य साक्षी सर्वशक्तिमान भगवान् समझ गये कि यह दैत्य शिवजी द्वारा यज्ञ-अग्नि से उत्पन्न किया गया है। इस असुर को पराजित करने के लिए कृष्ण ने अपनी बगल में प्रतीक्षा कर रहे अपने सुदर्शन चक्र को रवाना कर दिया।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका है कि भगवान् कृष्ण राजा के रूप में द्यूत-क्रीड़ा में मग्न थे और अग्नि-तुल्य असुर के आक्रमण जैसे नगण्य कार्य से विचलित नहीं होना चाहते थे। अत: उन्होंने अपने चक्र को भेज दिया और उसे आवश्यक कदम उठाने का आदेश दिया।

तत्सूर्यकोटिप्रतिमं सुदर्शनं
जाज्वल्यमानं प्रलयानलप्रभम् ।
स्वतेजसा खं ककुभोऽथ रोदसी
चक्रं मुकुन्दास्त्रं अथाग्निमार्दयत् ॥ ९॥

शब्दार्थ

तत्—उस; सूर्य—सूर्यों के; कोटि—करोड़ों; प्रतिमम्—सदृश; सुदर्शनम्—सुदर्शन को; जाज्वल्यमानम्—अग्नि से प्रज्ज्वलित; प्रलय—ब्रह्माण्ड के संहार की; अनल—अग्नि (सदृश); प्रभम्—तेज; स्व—अपनी; तेजसा—गर्मी से; खम्—आकाश; ककुभः—दिशाएँ; अथ—तथा; रोदसी—स्वर्ग तथा पृथ्वी; चक्रम्—चक्र को; मुकुन्द—कृष्ण के; अस्त्रम्—हथियार; अथ—भी; अग्निम्—(सुदक्षिण द्वारा उत्पन्न) अग्नि को; आर्दयत्—सताया।

भगवान् मुकुन्द का वह सुदर्शन चक्र करोड़ों सूर्यों की तरह प्रज्ज्वलित हो उठा। उसका तेज

ब्रह्माण्ड की प्रलयाग्नि सदृश प्रज्ज्वलित था और अपनी गर्मी से वह आकाश, सारी दिशाओं, स्वर्ग तथा पृथ्वी एवं उस अग्नि-तुल्य असुर को भी पीड़ा देने लगा।

कृत्यानलः प्रतिहतः स रथाङ्गपाणे-
रस्त्रौजसा स नृप भग्नमुखो निवृत्तः ।
वाराणसीं परिसमेत्य सुदक्षिणं तं
सर्त्विग्जनं समदहत्स्वकृतोऽभिचारः. ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

कृत्या—योग-बल से उत्पन्न; अनलः—अग्नि; प्रतिहतः—हताश; सः—वह; रथ-अङ्ग-पाणेः—सुदर्शन चक्र को धारण करने वाले कृष्ण के; अस्त्र—हथियार की; ओजसा—शक्ति से; सः—वह; नृप—हे राजा; भग्न-मुखः—पीछे मुड़कर; निवृत्तः—विरत; वारानसीम्—वाराणसी में; परिसमेत्य—सभी दिशाओं में पहुँचकर; सुदक्षिणम्—सुदक्षिण के; तम्—उस; स—सहित; ऋत्विक्-जनम्—उसके पुरोहितों को; समदहत्—जला दिया; स्व—अपने आप (सुदक्षिण); कृतः—उत्पन्न; अभिचारः—हिंसा करने के निमित्त।

हे राजन्, भगवान् कृष्ण के अस्त्र की शक्ति से विचलित, तंत्र से उत्पन्न वह अग्नि-तुल्य प्राणी अपना मुँह मोड़कर चला गया। तब हिंसा के लिए उत्पन्न किया गया वह असुर वाराणसी लौट आया जहाँ उसने नगर को घेर लिया और सुदक्षिण तथा उसके पुरोहितों को जलाकर भस्म कर दिया यद्यपि सुदक्षिण ही उसका उत्पन्न करने वाला था।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद की टीका इस प्रकार है : "द्वारका में आग लगाने में असमर्थ होकर वह अग्नि-तुल्य असुर काशिराज की राजधानी वाराणसी लौट गया। उसके वापस होने से मंत्रों के आदेश में सहायक सारे पुरोहित अपने स्वामी सुदक्षिण समेत उस अग्निमय दैत्य के प्रज्ज्वलित तेज से जलकर भस्म हो गये। तंत्र में निर्देशित मंत्रों की विधि के अनुसार यदि मंत्र शत्रु का वध नहीं कर पाता तो वह अपने सृजनकर्ता का ही वध कर देता है क्योंकि इसके लिए किसी न किसी का वध करना आवश्यक है। सुदक्षिण उत्पन्नकर्ता था और पुरोहित उसके सहायक थे अतएव वे सभी जलाकर भस्म कर दिये गये। असुरों की यही रीति है। असुरगण ईश्वर को मारने के लिए कोई चीज उत्पन्न करते हैं किन्तु वे उसी अस्त्र से स्वयं मारे जाते हैं।"

चक्रं च विष्णोस्तदनुप्रविष्टं
वारानसीं साट्टसभालयापणाम् ।
सगोपुराट्टालककोष्ठसङ्कुलां

सकोशहस्त्यश्वरथान्नशालिनीम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

चक्रम्—चक्र; च—तथा; विष्णोः—भगवान् विष्णु का; तत्—वह (अग्नि से उत्पन्न असुर); अनुप्रविष्टम्—प्रवेश करके; वाराणसीम्—वाराणसी को; स—सहित; अट्ट—अटालिकाएँ; सभा—उसके सभाभवन; आलय—निवास; आपणाम्—तथा बाजार; स—सहित; गोपुर—नगरद्वार; अट्टालक—बुर्जियों; कोष्ठ—तथा भण्डारों; सङ्कुलाम्—पुंजित; स—सहित; कोश—खजाने; हस्ति—हाथियों; अश्व—घोड़ों; रथ—रथों; अन्न—तथा अन्नों के लिए; शालिनीम्—महलों (गोदामों) सहित।

भगवान् विष्णु का चक्र अग्नि तुल्य असुर का पीछा करते हुए वाराणसी के भीतर भी घुसा और फिर नगर को भस्म करने लगा, जिसमें नगर के सभाभवन तथा अट्टालिकाओं से युक्त आवासीय महल, सारे बाजार, नगरद्वार, बुर्जियाँ, भण्डार तथा खजाने और हथसाल, घुड़साल, रथसाल तथा अन्नों के गोदाम सम्मिलित थे।

दग्ध्वा वाराणसीं सर्वां विष्णोश्चक्रं सुदर्शनम् ।
भूयः पार्श्वमुपातिष्ठत्कृष्णस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

दग्ध्वा—जलाकर; वाराणसीम्—वाराणसी को; सर्वाम्—पूरी; विष्णोः—विष्णु का; चक्रम्—चक्र; सुदर्शनम्—सुदर्शन; भूयः—फिर से; पार्श्वम्—बगल में; उपातिष्ठत्—गया; कृष्णस्य—कृष्ण के; अक्लिष्ट—बिना किसी कष्ट या थकावट के; कर्मणः—जिसके कर्म।

सम्पूर्ण वाराणसी नगरी को जलाने के बाद भगवान् विष्णु का सुदर्शन चक्र बिना प्रयास के कर्म करने वाले श्रीकृष्ण के पास लौट आया।

य एनं श्रावयेन्मर्त्य उत्तमःश्लोकविक्रमम् ।
समाहितो वा शृणुयात्सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४॥

शब्दार्थ

यः—जो; एनम्—इसको; श्रावयेत्—सुनाता है; मर्त्यः—मरणशील मनुष्य; उत्तमः-श्लोक—उत्तम श्लोकों से प्रशंसित भगवान् कृष्ण की; विक्रमम्—वीरतापूर्ण लीला को; समाहितः—पूरे ध्यान से; वा—अथवा; शृणुयात्—सुनता है; सर्व—समस्त; पापैः—पापों से; प्रमुच्यते—छूट जाता है।

जो भी मर्त्य प्राणी भगवान् उत्तमश्लोक की इस वीरतापूर्ण लीला को सुनाता है या केवल इसे ध्यानपूर्वक सुनता है, वह सारे पापों से मुक्त हो जाएगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत "पौण्ड्रक—छद्म वासुदेव" नामक छियासठवें अध्याय के भक्तिवेदान्त स्वामी श्रील प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सतसठ

बलराम द्वारा द्विविद वानर का वध

इस अध्याय में बतलाया गया है कि बलराम ने किस तरह रैवतक पर्वत में व्रज की तरुणियों के साथ रमण किया और वहाँ द्विविद नामक वानर का वध किया।

नरकासुर राक्षस का जिसका वध कृष्ण ने किया था, उसका एक मित्र था, जिसका नाम द्विविद था। यह वानर (गोरिल्ला) था। द्विविद अपने मित्र की मृत्यु का बदला लेना चाहता था, अतएव उसने ग्वालों के घरों को आग लगा दी, कृष्ण के आनर्त प्रदेश को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और अपनी विशाल भुजाओं से समुद्र के जल को मथ कर समुद्री तट-प्रदेश को आप्लावित कर दिया। फिर इस धूर्त ने महामुनियों के आश्रमों के वृक्षों को तोड़ डाला और यज्ञ की अग्नि में मल-मूत्र विसर्जित कर दिया। उसने स्त्रियों तथा पुरुषों का अपहरण करके उन्हें पर्वत-गुफाओं में बन्दी बनाकर बाहर से बड़ी बड़ी शिलाओं से उनके द्वार बन्द कर दिये। इस तरह समूचे प्रदेश को ध्वंस करके तथा अनेक उच्च कुल की तरुणियों का शील भंग करके द्विविद रैवतक पर्वत में आया, जहाँ उसने बलदेवजी को सुन्दर स्त्रियों की टोली के साथ रमण करते देखा। वारुणी मदिरा पीकर उन्मत्त हुए बलदेव की परवाह न करते हुए द्विविद उन्हीं के समक्ष उन स्त्रियों को अपना गुप्तांग दिखाने लगा और अपनी भौंहों से भद्दे भद्दे इशारे करके तथा मल-मूत्र विसर्जित करके, उनको अपमानित करने लगा।

द्विविद के इस रोषपूर्ण आचरण से बलदेव क्रुद्ध हो उठे और उन्होंने उस वानर के ऊपर एक पत्थर फेंका। किन्तु द्विविद ने अपने को बचा लिया। तब उसने बलदेव का उपहास किया और स्त्रियों के वस्त्र खींचने लगा। उसकी यह अभद्रता देखकर बलदेव ने उसे मार डालने का निश्चय किया। उन्होंने अपनी गदा और अपना हल उठाया। तब बलशाली द्विविद ने पृथ्वी से एक शाल वृक्ष उखाड़ा और इस वृक्ष से उनके सिर पर प्रहार किया। किन्तु बलदेवजी अविचलित रहे और इस वृक्ष के तने को खण्ड खण्ड कर डाला। द्विविद ने दूसरा वृक्ष उखाड़ा और इस तरह एक के बाद एक वृक्ष उखाड़ कर जंगल को उजाड़ बना दिया। यद्यपि उसने बलदेव के सिर पर एक के बाद एक प्रहार किये किन्तु उन्होंने उन सबों को खण्ड खण्ड कर डाला। इसके बाद वह मूर्ख वानर उन पर पत्थर फेंकने लगा। किन्तु बलदेव ने इन्हें भी चूर चूर कर दिया। इसके बाद उसने बलदेव पर आक्रमण किया और मुक्कों से उनकी छाती पर प्रहार किया, जिससे वे अति क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने अपनी गदा तथा हल को एक तरफ रखते हुए

द्विविद के गले तथा कंधे पर प्रहार किया, जिस पर वह वानर रक्त उगलने लगा और गिर कर मर गया।

द्विविद को मार कर बलदेव जब द्वारका के लिए रवाना हुए तो देवताओं तथा ऋषियों ने आकाश से उन पर फूलों की वर्षा की और उनकी स्तुतियाँ कीं तथा उन्हें नमस्कार किया।

श्रीराजोवाच
भुयोऽहं श्रोतुमिच्छामि रामस्याद्भुतकर्मणः ।
अनन्तस्याप्रमेयस्य यदन्यत्कृतवान्प्रभुः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा—यशस्वी राजा (परीक्षित) ने; उवाच—कहा; भूयः—आगे; अहम्—मैं; श्रोतुम्—सुनने के लिए; इच्छामि—इच्छा करता हूँ; रामस्य—बलराम के; अद्भुत—विस्मयकारी; कर्मणः—कार्यकलाप; अनन्तस्य—अनन्त के; अप्रमेयस्य—अथाह, अपार; यत्—जो; अन्यत्—दूसरा; कृतवान्—किया; प्रभुः—प्रभु ने।

यशस्वी राजा परीक्षित ने कहा : मैं अनन्त तथा अपार भगवान् श्रीबलराम के विषय में और आगे सुनना चाहता हूँ जिनके कार्यकलाप अतीव विस्मयकारी हैं। उन्होंने और क्या किया?

श्रीशुक उवाच
नरकस्य सखा कश्चिद्द्विविदो नाम वानरः ।
सुग्रीवसचिवः सोऽथ भ्राता मैन्दस्य वीर्यवान् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; नरकस्य—नरकासुर का; सखा—मित्र; कश्चित्—कोई; द्विविदः—द्विविद; नाम—नामक; वानरः—वानर; सुग्रीव—राजा सुग्रीव; सचिवः—जिसका सलाहकार; सः—वह; अथ—भी; भ्राता—भाई; मैन्दस्य—मैन्द का; वीर्य-वान्—शक्तिशाली।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : द्विविद नाम का एक वानर था, जो नरकासुर का मित्र था। यह शक्तिशाली द्विविद मैन्द का भाई था और राजा सुग्रीव ने उसे आदेश दिया था।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने द्विविद वानर के विषय में कुछ रोचक बातों का संकेत किया है। यद्यपि द्विविद भगवान् रामचन्द्र का संगी था किन्तु बाद में नरकासुर की कुसंगति से वह दूषित हो गया जैसाकि यहाँ पर कहा गया है—*नरकस्य सखा।* यह कुसंगति द्विविद के उस अपराध का फल थी जो उसने अपने बल के कारण गर्वित होकर श्रीरामचन्द्र के भाई लक्ष्मण तथा अन्यों का अनादर करके किया था। जो लोग भगवान् रामचन्द्र की पूजा करते हैं, वे कभी कभी मैन्द और द्विविद की स्तुति भगवान् के सेवक-विग्रहों के रूप में करते हैं। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार इस श्लोक में वर्णित मैंद तथा द्विविद इन्हीं विग्रहों के मान्यताप्राप्त अंश हैं, जो भगवान् रामचन्द्र के वैकुण्ठधाम के वासी हैं।

श्रील जीव गोस्वामी के इस मत से श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर सहमत हैं कि द्विविद कुसंगति से दूषित हो गया था, जो श्रीमान् लक्ष्मण के प्रति अनादर व्यक्त करने का दण्ड था। किन्तु विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि यहाँ पर उल्लिखित मैंद तथा द्विविद वास्तव में नित्यमुक्त भक्त थे जिन्हें रामचन्द्रजी की पूजा के समय सेवक विग्रह कह कर पुकारा जाता है। भगवान् ने उनका पतन कुसंगति का दुष्परिणाम, जो महापुरुषों को अपमानित करने से प्राप्त होता है, दिखाने के लिए किया। इस प्रकार श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती द्विविद तथा मैंद के पतन की तुलना जय तथा विजय के पतन से करते हैं।

सख्युः सोऽपचितिं कुर्वन्वानरो राष्ट्रविप्लवम् ।
पुरग्रामाकरान्घोषानदहद्वह्निमुत्सृजन् ॥ ॥

शब्दार्थ

सख्युः—अपने मित्र (नरक, जिसका वध कृष्ण ने किया था) का; सः—वह; अपचितिम्—उऋण; कुर्वन्—होने के लिए; वानरः—वानर; राष्ट्र—राज्य का; विप्लवम्—उत्पात करते हुए; पुर—नगर; ग्राम—गाँव; आकरान्—तथा खानों को; घोषान्—ग्वालों के समुदायों (बस्तियों) को; अदहत्—जला डाला; वह्निम्—आग; उत्सृजन्—फैलाकर।

अपने मित्र (नरक) की मृत्यु का बदला लेने के लिए द्विविद वानर ने नगरों, गाँवों, खानों तथा ग्वालों की बस्तियों में आग लगाते हुए उन्हें जलाकर पृथ्वी को तहस-नहस कर दिया।

तात्पर्य : कृष्ण ने द्विविद के मित्र नरक का वध कर दिया था अत: अपने मित्र का बदला लेने के लिए इस वानर ने कृष्ण के समृद्धिशाली साम्राज्य को नष्ट करना चाहा। श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् कृष्ण* में लिखा है, ''ग्रामों, नगरों तथा औद्योगिक स्थानों एवं खदानों और साथ ही साथ दुग्ध उद्योग एवं गो-रक्षा में व्यस्त व्यवसायियों के निवासस्थानों में आग लगा देना द्विविद का पहला काम था।''

क्वचित्स शैलानुत्पाट्य तैर्देशान्समचूर्णयत् ।
आनर्तान्सुतरामेव यत्रास्ते मित्रहा हरिः ॥ ४॥

शब्दार्थ

क्वचित्—एक बार; सः—वह, द्विविद; शैलान्—पर्वतों को; उत्पाट्य—उखाड़ कर; तैः—उनके साथ; देशान्—सारे राज्यों को; समचूर्णयत्—विनष्ट कर दिया; आनर्तान्—आनर्तन प्रदेश (जिसमें द्वारका स्थित है) के लोगों को; सुतराम् एव—विशेष रूप से; यत्र—जहाँ; आस्ते—उपस्थित है; मित्र—उसके मित्र का; हा—मारने वाला; हरिः—कृष्ण।

एक बार द्विविद ने अनेक पर्वतों को उखाड़ लिया और उनका प्रयोग सभी निकटवर्ती राज्यों को, विशेषतया आनर्त प्रदेश को विध्वंस करने के लिए किया जहाँ उसके मित्र को मारने वाले, भगवान् हरि रहते थे।

क्वचित्समुद्रमध्यस्थो दोर्भ्यामुत्क्षिप्य तज्जलम् ।
देशान्नागायुतप्राणो वेलाकूले न्यमज्जयत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—एक बार; समुद्र—समुद्र के; मध्य—बीच में; स्थ:—स्थित; दोर्भ्याम्—अपनी भुजाओं से; उत्क्षिप्य—मथ कर; तत्—उसके; जलम्—जल को; देशान्—राज्यों को; नाग—हाथी; अयुत—दस हजार; प्राण:—शक्ति वाले; वेला—समुद्रतटीय; कूले—किनारों को; न्यमज्जयत्—डुबो दिया।

दूसरे अवसर पर वह समुद्र में घुस गया और दस हजार हाथियों के बल के बराबर अपनी बाहों से उसके पानी को मथ डाला और इस तरह समुद्रतट के भागों को डुबो दिया।

आश्रमानृषिमुख्यानां कृत्वा भग्नवनस्पतीन् ।
अदूषयच्छकृन्मूत्रैरग्नीन्वैतानिकान्खल: ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

आश्रमान्—आश्रमों को; ऋषि—ऋषियों के; मुख्यानाम्—प्रमुख; कृत्वा—करके; भग्न—तोड़-फोड़; वनस्पतीन्—वृक्षों को; अदूषयत्—दूषित कर डाला; शकृत्—मल से; मूत्रै:—मूत्र से; अग्नीन्—अग्नियों को; वैतानिकान्—यज्ञ की; खल:—दुष्ट ने।

उस दुष्ट वानर ने प्रमुख ऋषियों के आश्रमों के वृक्षों को तहस-नहस कर डाला और अपने मल-मूत्र से यज्ञ की अग्नियों को दूषित कर दिया।

पुरुषान्योषितो दृप्त: क्ष्माभृद्द्रोनीगुहासु स: ।
निक्षिप्य चाप्यधाच्छैलै: पेशष्कारीव कीटकम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

पुरुषान्—पुरुषों को; योषित:—तथा स्त्रियों को; दृप्त:—ढीठ या उद्धत; क्ष्मा-भृत्—पर्वत की; द्रोणी—घाटी के भीतर; गुहासु—गुफाओं में; स:—उसने; निक्षिप्य—फेंक कर; च—तथा; अप्यधात्—बन्द कर दिया; शैलै:—बड़े बड़े शिलाखण्डों से; पेशष्कारी—भिड़, बर्र; इव—सदृश; कीटकम्—छोटे कीड़े को।

जिस तरह भिड़-कीट छोटे छोटे कीड़ों को बन्दी बना लेता है, उसी तरह उसने ढिठाई करके पुरुषों तथा स्त्रियों को पर्वत की घाटी में गुफाओं के भीतर डाल कर इन गुफाओं को बड़े बड़े शिलाखण्डों से बन्द कर दिया।

एवं देशान्विप्रकुर्वन्दूषयंश्च कुलस्त्रिय: ।
श्रुत्वा सुललितं गीतं गिरिं रैवतकं ययौ ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; देशान्—विविध राज्यों को; विप्रकुर्वन्—तंग करते; दूषयन्—दूषित करते हुए; च—तथा; कुल—कुलीन; स्त्रियः—स्त्रियों को; श्रुत्वा—सुनकर; सु-ललितम्—अत्यन्त मधुर; गीतम्—गीत; गिरिम्—पर्वत में; रैवतकम्—रैवतक नामक; ययौ—गया।

एक बार जब द्विविद निकटवर्ती राज्यों को तंग करने तथा कुलीन स्त्रियों को दूषित करने में इस तरह लगा हुआ था, तो उसने रैवतक पर्वत से आती हुई अत्यन्त मधुर गायन की आवाज सुनी। अतएव वह वहाँ जा पहुँचा।

तत्रापश्यद्यदुपतिं रामं पुष्करमालिनम् ।
सुदर्शनीयसर्वाङ्गं ललनायूथमध्यगम् ॥ ९ ॥
गायन्तं वारुणीं पीत्वा मदविह्वललोचनम् ।
विभ्राजमानं वपुषा प्रभिन्नमिव वारणम् ॥ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अपश्यत्—देखा; यदु-पतिम्—यदुओं के स्वामी; रामम्—बलराम को; पुष्कर—कमल की; मालिनम्—माला पहने; सु-दर्शनीय—अत्यन्त आकर्षक; सर्व—समस्त; अङ्गम्—अंगों को; ललना—युवतियों के; यूथ—समूह के; मध्य-गम्—बीच में; गायन्तम्—गाते हुए; वारुणीम्—वारुणी शराब को; पीत्वा—पीकर; मद—नशा से; विह्वल—अस्थिर; लोचनम्—आँखों को; विभ्राजमानम्—शोभायमान, चमचमाते; वपुषा—अपने शरीर से; प्रभिन्नम्—कामोन्मत्त; इव—मानो; वारणम्—हाथी।

वहाँ उसने यदुओं के स्वामी श्री बलराम को देखा जो कमल-पुष्पों की माला से सुशोभित थे और जिनका हर अंग अत्यन्त आकर्षक लग रहा था। वे युवतियों के मध्य गा रहे थे और चूँकि उन्होंने वारुणी मदिरा पी रखी थी अतएव उनकी आँखें इस तरह घूम रही थीं मानो वे नशे में हों। उनका शरीर चमचमा रहा था और वे कामोन्मत्त हाथी की तरह व्यवहार कर रहे थे।

दुष्टः शाखामृगः शाखामारूढः कम्पयन्द्रुमान् ।
चक्रे किलकिलाशब्दमात्मानं सम्प्रदर्शयन् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

दुष्टः—दुष्ट; शाखा-मृगः—वानर (वृक्षों की शाखाओं में रहने वाला पशु); शाखाम्—शाखा पर; आरूढः—चढ़ कर; कम्पयन्—हिलाते हुए; द्रुमान्—वृक्षों को; चक्रे—किया; किलकिला-शब्दम्—किलकिल की आवाज किलकारियाँ; आत्मानम्—अपने आपको; सम्प्रदर्शयन्—दिखलाते हुए।

वह दुष्ट वानर वृक्ष की शाखा पर चढ़ गया और वृक्षों को हिलाकर तथा किलकारियाँ मारते हुए अपनी उपस्थिति जताने लगा।

तात्पर्य : *शाखामृग* शब्द सूचित करता है कि द्विविद सामान्य बन्दरों की तरह वृक्षों पर चढ़ जाता था। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''द्विविद नामक वह वानर वृक्षों पर चढ़ कर एक शाखा से दूसरी शाखा

पर कूद सकता था। कभी कभी वह शाखाएँ हिलाकर विशेष प्रकार की 'किल-किल' ध्वनि करता था। इससे श्री बलराम का ध्यान मनमोहक वातावरण की ओर से विचलित हो गया।''

तस्य धाष्टर्यं कपेर्वीक्ष्य तरुण्यो जातिचापलाः ।
हास्यप्रिया विजहसुर्बलदेवपरिग्रहाः ॥ १२॥

शब्दार्थ

तस्य—उस; धाष्टर्यम्—धृष्टता, ढिठाई; कपेः—वानर की; वीक्ष्य—देखकर; तरुण्यः—तरुण स्त्रियाँ; जाति—स्वभाव से; चापलाः—चंचल, अगम्भीर; हास्य-प्रियाः—हँसोड़; विजहसुः—जोर से हँसीं; बलदेव-परिग्रहाः—बलदेव की प्रेयसियाँ।

जब बलदेव की प्रेयसियों ने वानर की ढिठाई देखी तो वे हँसने लगीं। आखिर वे तरुणियाँ थीं, जिन्हें हँसी-मजाक भाता था और वे चपल थीं।

ता हेलयामास कपिर्भ्रूक्षेपैर्सम्मुखादिभिः ।
दर्शयन्स्वगुदं तासां रामस्य च निरीक्षितः ॥ १॥

शब्दार्थ

ताः—उन (तरुणियों) का; हेलयाम् आस—मजाक उड़ाया; कपिः—वानर ने; भ्रू—अपनी भौंहों के; क्षेपैः—गंदे संकेतों से; सम्मुख—उनके सामने खड़े होकर; आदिभिः—इत्यादि से; दर्शयन्—दिखलाते हुए; स्व—अपना; गुदम्—मलद्वार; तासाम्—उनको; रामस्य—बलराम के; च—तथा; निरीक्षितः—देखते हुए।

बलराम के देखते हुए भी द्विविद ने उन तरुणियों को अपनी भौंहों से गंदे इशारे करते हुए, उनके सामने आकर खड़े होकर और उन्हें अपनी गुदा (मलद्वार) दिखलाकर अपमानित किया।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं: ''वह वानर इतना उद्दंड था कि बलरामजी की उपस्थिति में भी वह अपने शरीर के निचले अंगों को स्त्रियों के समक्ष प्रदर्शित करने लगा। कभी कभी वह अपनी भौंहें चलाते हुए आगे बढ़कर अपने दाँत दिखलाता था।'' श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती लिखते हैं कि द्विविद स्त्रियों के निकट आ जाता, इधर-उधर घूमता और पेशाब कर देता।

तं ग्राव्णा प्राहरत्क्रुद्धो बलः प्रहरतां वरः ।
स वञ्चयित्वा ग्रावाणं मदिराकलशं कपिः ।
गृहीत्वा हेलयामास धूर्तस्तं कोपयन्हसन् ॥ १४॥
निर्भिद्य कलशं दुष्टो वासांस्यास्फालयद्बलम् ।
कदर्थीकृत्य बलवान्विप्रचक्रे मदोद्धतः ॥ १५॥

शब्दार्थ

तम्—उस पर, द्विविद पर; ग्राव्णा—शिला; प्राहरत्—फेंका; क्रुद्धः—क्रुद्ध; बलः—बलराम ने; प्रहरताम्—हथियार फेंकने वालों का; वरः—सर्वश्रेष्ठ; सः—वह, द्विविद; वञ्चयित्वा—बचाकर; ग्रावाणम्—शिला को; मदिरा—शराब का; कलशम्—पात्र; कपिः—वानर ने; गृहीत्वा—पकड़ कर; हेलयाम् आस—मजाक उड़ाया; धूर्तः—धूर्त; तम्—उसको, बलराम को; कोपयन्—क्रोध करते; हसन्—हँसते; निर्भिद्य—तोड़ कर; कलशम्—पात्र को; दुष्टः—दुष्ट; वासांसि—वस्त्रों को (तरुणियों के); आस्फालयत्—खींच लिया; बलम्—बलराम को; कदर्थीकृत्य—अनादर करके; बल-वान्—शक्तिशाली; विप्रचक्रे—अपमान किया; मद—मिथ्या अहंकार से; उद्धतः—फूला हुआ।

सर्वश्रेष्ठ योद्धा बलराम ने क्रुद्ध होकर उस पर एक शिला फेंकी किन्तु उस धूर्त वानर ने अपने को उस शिला से बचा कर बलराम के शराब के पात्र को उड़ा ले गया। दुष्ट द्विविद ने बलराम की हँसी उड़ाते हुए उन्हें और अधिक क्रुद्ध करके उस पात्र को तोड़ डाला और तरुणियों के वस्त्र खींच कर बलराम को और भी अधिक अपमानित किया। इस तरह मिथ्या गर्व से फूलकर कुप्पा हुआ बलशाली वानर श्री बलराम का अपमान करता रहा।

तं तस्याविनयं दृष्ट्वा देशांश्च तदुपद्रुतान् ।
क्रुद्धो मुषलमादत्त हलं चारिजिघांसया ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; तस्य—उसकी; अविनयम्—ढिठाई; दृष्ट्वा—देखकर; देशान्—राज्यों को; च—तथा; तत्—उसके द्वारा; उपद्रुतान्—तहस-नहस किये; क्रुद्धः—क्रुद्ध; मुषलम्—अपनी गदा; आदत्त—ग्रहण की; हलम्—अपना हल; च—तथा; अरि—शत्रु; जिघांसया—मारने की इच्छा से।

भगवान् बलराम ने उस वानर के ढीठ आचरण को देखा और आसपास के राज्यों में उसके द्वारा उत्पन्न विनाश-लीला (उपद्रव) का विचार किया। इस तरह बलराम ने क्रुद्ध होकर अपने शत्रु का अन्त करने का निश्चय करके अपनी गदा तथा अपना हल उठा लिया।

तात्पर्य : *अविनयम्* का अर्थ है ''विनय से रहित।'' विनय तथा शालीनता से रहित द्विविद ने निर्लज्जतापूर्वक अत्यन्त दुष्ट कृत्य किये। द्विविद ने बलराम के समक्ष जो छिछोरा आचरण प्रदर्शित किया उसके अतिरिक्त उसके द्वारा सामान्य लोगों के प्रति किये गये महान् उपद्रवों से बलराम अवगत थे। अत: अपराधी वानर को अब मरना होगा।

द्विविदोऽपि महावीर्यः शालमुद्यम्य पाणिना ।
अभ्येत्य तरसा तेन बलं मूर्धन्यताडयत् ॥ १७॥

शब्दार्थ

द्विविदः—द्विविद; अपि—भी; महा—महान्; वीर्यः—बल वाला; शालम्—शाल वृक्ष को; उद्यम्य—उठाकर; पाणिना—अपने हाथ से; अभ्येत्य—पास आकर; तरसा—तेजी से; तेन—उससे; बलम्—बलराम को; मूर्धनि—सिर पर; अताडयत्—मारा।

बलशाली द्विविद भी युद्ध करने के लिए आगे बढ़ा। एक हाथ से शाल का वृक्ष उखाड़ कर

वह बलराम की ओर दौड़ा और उनके सिर पर उस वृक्ष के तने से प्रहार किया।

तं तु सङ्कर्षणो मूर्ध्नि पतन्तमचलो यथा ।
प्रतिजग्राह बलवान्सुनन्देनाहनच्च तम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस (तने) को; तु—लेकिन; सङ्कर्षणः—बलराम ने; मूर्ध्नि—सिर पर; पतन्तम्—गिरते हुए; अचलः—न हिलने वाला पर्वत; यथा—जिस तरह; प्रतिजग्राह—पकड़ लिया; बल-वान्—बलशाली; सुनन्देन—अपनी गदा सुनन्द से; अहनत्—प्रहार किया; च—तथा; तम्—उस (द्विविद) पर।

किन्तु भगवान् संकर्षण पर्वत की तरह अचल बने रहे और अपने सिर के ऊपर गिरते हुए लट्ठे को यों ही दबोच लिया। तब उन्होंने द्विविद पर अपनी सुनन्द गदा से प्रहार किया।

मूषलाहतमस्तिष्को विरेजे रक्तधारया ।
गिरिर्यथा गैरिकया प्रहारं नानुचिन्तयन् ॥ १९ ॥
पुनरन्यं समुत्क्षिप्य कृत्वा निष्पत्रमोजसा ।
तेनाहनत्सुसङ्क्रुद्धस्तं बलः शतधाच्छिनत् ॥ २० ॥
ततोऽन्येन रुषा जघ्ने तं चापि शतधाच्छिनत् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

मूषल—गदा से; आहत—प्रहार किया; मस्तिष्कः—खोपड़ी; विरेजे—सुशोभित हुई; रक्त—खून की; धारया—धारा से; गिरिः—पर्वत; यथा—जिस तरह; गैरिकया—गेरू से; प्रहारम्—प्रहार; न—नहीं; अनुचिन्तयन्—गम्भीर मानते हुए; पुनः—फिर; अन्यम्—दूसरे (वृक्ष) को; समुत्क्षिप्य—उखाड़ कर; कृत्वा—करके; निष्पत्रम्—पत्तियों से रहित; ओजसा—बलपूर्वक; तेन—उसके द्वारा; अहनत्—प्रहार किया; सु-सङ्क्रुद्धः—पुरजोर क्रोध के साथ; तम्—उसको; बलः—बलराम ने; शतधा—सैकड़ों खंडों में; अच्छिनत्—छिन्न-भिन्न कर डाला; ततः—तब; अन्येन—दूसरे से; रुषा—क्रोधपूर्वक; जघ्ने—चूर चूर कर दिया; तम्—उसको; च—तथा; अपि—भी; शतधा—सैकड़ों खंडों में; अच्छिनत्—तोड़ डाला।

खोपड़ी पर भगवान् की गदा से चोट खाकर द्विविद रक्त की धार बहने से उसी तरह सुशोभित हो रहा था जिस तरह कोई पर्वत गेरू से सुन्दर लगने लगता है। उसने घाव की परवाह न करके दूसरा वृक्ष उखाड़ा, बलपूर्वक उसकी पत्तियाँ विलग कीं और पुनः भगवान् पर प्रहार किया। अब बलराम ने क्रुद्ध होकर वृक्ष के सैकड़ों टुकड़े कर डाले। इस पर द्विविद ने दूसरा वृक्ष हाथ में लिया और फिर से बहुत ही रोषपूर्वक भगवान् पर प्रहार किया। भगवान् ने इस वृक्ष के भी सैकड़ों खण्ड कर डाले।

एवं युध्यन्भगवता भग्ने भग्ने पुनः पुनः ।
आकृष्य सर्वतो वृक्षान्निर्वृक्षमकरोद्वनम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; युध्यन्—(द्विविद ने) युद्ध करते हुए; भगवता—भगवान् द्वारा; भग्ने भग्ने—बारम्बार तोड़े जाने पर; पुनः पुनः—फिर फिर; आकृष्य—उखाड़ कर; सर्वतः—सभी ओर से; वृक्षान्—वृक्षों को; निर्वृक्षम्—वृक्षरहित; अकरोत्—कर दिया; वनम्—वन को।

इस तरह भगवान् से युद्ध करते द्विविद जिस भी वृक्ष से भगवान् पर प्रहार करता उसके बारम्बार विनष्ट हो जाने पर वह चारों ओर से तब तक वृक्ष उखाड़ता रहा जब तक कि जंगल वृक्षविहीन नहीं हो गया।

ततोऽमुञ्चच्छिलावर्षं बलस्योपर्यमर्षितः ।
तत्सर्वं चूर्णयां आस लीलया मुषलायुधः ॥ २॥

शब्दार्थ

ततः—तब; अमुञ्चत्—उसने फेंका; शिला—चट्टान की; वर्षम्—वर्षा; बलस्य उपरि—बलराम के ऊपर; अमर्षितः—हताश होकर; तत्—उस; सर्वम्—समस्त; चूर्णयाम् आस—पीस डाला; लीलया—आसानी से; मुषल-आयुधः—गदाधारी ने।

तत्पश्चात् क्रुद्ध वानर ने बलराम पर पत्थरों की वर्षा की किन्तु उस गदाधारी ने उन सबों को चकनाचूर कर डाला।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं : ''जब और वृक्ष नहीं बचे तब द्विविद ने पर्वतों की सहायता ली और बलरामजी के शरीर पर बड़े बड़े पत्थरों की वर्षा करने लगा। भगवान् बलराम ने खेल-खिलवाड़ करते हुए उन विशाल पत्थरों को तोड़ कर छोटे छोटे कंकड़ों में परिणत कर दिया।'' आज भी ऐसे अनेक खेल हैं जिनमें पत्थर या गेंद को छड़ी या बल्ले से मारकर खेला जाता है। यह खेलने की इच्छा मूलतः भगवान् में पाई जाती है जिन्होंने खेल खेल में (*लीलया*) बलशाली द्विविद द्वारा फेंके गये बड़े बड़े शिलाखण्डों को चूर चूर कर दिया।

स बाहू तालसङ्काशौ मुष्टीकृत्य कपीश्वरः ।
आसाद्य रोहिणीपुत्रं ताभ्यां वक्षस्यरूरुजत् ॥ २४॥

शब्दार्थ

सः—वह; बाहू—दोनों भुजाएँ; ताल—ताड़ के वृक्ष; सङ्काशौ—जितनी बड़ी; मुष्टी—मुक्का में; कृत्य—करके; कपि—वानरों में; ईश्वरः—सबसे शक्तिशाली; आसाद्य—सामना करके; रोहिणी-पुत्रम्—रोहिणी के पुत्र बलराम को; ताभ्याम्—उन; वक्षसि—छाती पर; अरूरुजत्—मारा।

सर्वाधिक शक्तिशाली वानर द्विविद अब ताड़-वृक्ष जैसे आकार वाली भुजाओं के सिरे पर मुक्के बाँध कर बलराम के समक्ष आया और उनके शरीर पर अपने मुक्के मारे।

यादवेन्द्रोऽपि तं दोर्भ्यां त्यक्त्वा मुषललाङ्गले ।
जत्रावभ्यर्दयत्क्रुद्धः सोऽपतद्रुधिरं वमन् ॥ २५॥

शब्दार्थ

यादव-इन्द्रः—यादवों के प्रभु, बलराम ने; अपि—भी; तम्—उसको; दोर्भ्याम्—अपने हाथों से; त्यक्त्वा—एक ओर फेंक कर; मुषल-लाङ्गले—गदा तथा हल; जत्रौ—हँसली पर; अभ्यर्दयत्—जोर का प्रहार किया; क्रुद्धः—क्रुद्ध; सः—वह, द्विविद; अपतत्—गिर पड़ा; रुधिरम्—रक्त; वमन्—वमन करता हुआ।

तत्पश्चात् क्रुद्ध यादवेन्द्र ने अपनी गदा और हल को एक ओर फेंक दिया और अपने खाली हाथों से द्विविद की हँसली पर जोर का प्रहार किया। वह वानर रक्त वमन करता हुआ भूमि पर गिर पड़ा।

तात्पर्य : लीला पुरुषोत्तम *भगवान् श्रीकृष्ण* में श्रील प्रभुपाद ने लिखा है : "इस बार बलरामजी अत्यन्त क्रोधित हो उठे। क्योंकि वानर उन पर हाथों से प्रहार कर रहा था अतएव बलरामजी ने भी उस पर अपनी गदा या हल से प्रहार नहीं किया। वे केवल मुक्के से वानर की हँसली (गले के पास की हड्डी) पर प्रहार करने लगे। यह प्रहार द्विविद के लिए प्राणान्तक सिद्ध हुआ।"

चकम्पे तेन पतता सटङ्कः सवनस्पतिः ।
पर्वतः कुरुशार्दूल वायुना नौरिवाम्भसि ॥ २६॥

शब्दार्थ

चकम्पे—हिल उठा; तेन—उसके; पतता—गिरने से; स—सहित; टङ्कः—चोटियों; स—सहित; वनस्पतिः—वृक्ष; पर्वतः—पर्वत; कुरु-शार्दूल—हे कुरुओं में सिंह (महाराज परीक्षित); वायुना—वायु से; नौः—नाव; इव—मानो; अम्भसि—जल में।

हे कुरु-शार्दूल, जब वह गिरा तो रैवतक पर्वत अपनी चोटियों तथा वृक्षों समेत हिल उठा मानो समुद्र में वायु द्वारा हिलाई गई कोई नाव हो।

तात्पर्य : *टंक* शब्द न केवल पर्वत की चोटियों का सूचक है अपितु दरारों एवं पानी से भरे स्थानों का भी सूचक है। ये पर्वतीय क्षेत्र द्विविद के गिरने पर हिलने लगे।

जयशब्दो नमःशब्दः साधु साध्विति चाम्बरे ।
सुरसिद्धमुनीन्द्राणामासीत्कुसुमवर्षिणाम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

जय-शब्दः—जय (विजय) की ध्वनि; नमः-शब्दः—नमः (नमस्कार) की ध्वनि; साधु साधु इति—बहुत अच्छा, बहुत अच्छा की पुकार; च—तथा; अम्बरे—आकाश में; सुर—देवताओं के; सिद्ध—सिद्धों के; मुनि-इन्द्राणाम्—तथा मुनियों के; आसीत्—थे; कुसुम—फूल; वर्षिणाम्—वर्षा करते।

स्वर्ग में देवता, सिद्धगण तथा मुनिगण निनाद करने लगे, "आपकी जय हो, आपको

नमस्कार है, बहुत अच्छा, बहुत अच्छा हुआ!'' और भगवान् पर फूल बरसाने लगे।

एवं निहत्य द्विविदं जगद्व्यतिकरावहम् ।
संस्तूयमानो भगवाञ्जनैः स्वपुरमाविशत् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; निहत्य—मार कर; द्विविदम्—द्विविद को; जगत्—संसार के; व्यतिकर—उपद्रव; आवहम्—लाने वाले को; संस्तूयमानः—स्तुतियों द्वारा प्रशंसा किये जा रहे; भगवान्—भगवान् ने; जनैः—लोगों द्वारा; स्व—अपने; पुरम्—नगर (द्वारका) में; आविशत्—प्रवेश किया।

सारे संसार में उपद्रव मचाने वाले द्विविद को इस तरह मार कर भगवान् अपनी राजधानी लौट आये और लोगों ने रास्ते में उनका यशोगान किया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध अन्तर्गत ''बलराम द्वारा द्विविद वानर का वध'' नामक सतसठवें अध्याय के भक्तिवेदान्त स्वामी श्रील प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अड़सठ

साम्ब का विवाह

इस अध्याय में बतलाया गया है कि कौरवों ने किस तरह साम्ब को बन्दी बनाया और बलदेव ने किस तरह उसे छुड़ाने के लिए हस्तिनापुर नगरी को खींच डाला।

जाम्बवती का प्रिय पुत्र साम्ब दुर्योधन की पुत्री लक्ष्मणा को स्वयंवर सभा से बलपूर्वक भगा ले गया। कौरवों ने बदला लेने के लिए सेना जुटा कर उसे बन्दी बनाना चाहा। कुछ काल तक साम्ब उन सबों से अकेला लड़ता रहा और उसने आगे बढ़ने से रोके रखा किन्तु छः कौरव योद्धाओं ने उसे विरथ कर दिया, उसका धनुष तोड़ डाला और उसे पकड़ कर बाँध लिया। वे उसे तथा लक्ष्मणा को हस्तिनापुर वापस ले आये।

जब राजा उग्रसेन ने साम्ब के बन्दी बनाये जाने का समाचार सुना तो उन्होंने बदला लेने के लिए यादवों को बुलाया। वे सब क्रुद्ध होकर युद्ध करने के लिए तैयार हो गये किन्तु बलराम ने इस आशा से उन्हें शान्त करना चाहा कि कुरु तथा यदुवंशों के बीच कलह न हो। अत: वे अनेक ब्राह्मणों तथा वृद्ध यादवों को साथ लेकर हस्तिनापुर के लिए रवाना हो गये।

यादवों की टोली ने नगर के बाहर एक उद्यान में डेरा डाल दिया और बलराम ने राजा धृतराष्ट्र की

मनोवृत्ति जानने के लिए उद्धव को भेजा। जब उद्धव ने कौरव दरबार में जाकर बलराम के आगमन की घोषणा की तो कौरवों ने उद्धव की पूजा की और अपने साथ मांगलिक उपहार लेकर बलराम से मिलने गये। कौरवों ने अनुष्ठानों तथा आदर-सामग्री से बलराम का सत्कार किया किन्तु जब उन्होंने उग्रसेन की यह माँग पेश की कि साम्ब को मुक्त कर दिया जाय तो वे सभी नाराज हो गये। उन्होंने कहा, ''यह विचित्र बात है कि यादवगण कौरवों को आदेश देने का प्रयास कर रहे हैं। यह तो पाँव की जूती के किसी के सिर पर चढ़ने जैसा है। हमारे ही बल पर इन यादवों को राज-सिंहासन प्राप्त हुआ है। फिर भी वे अब अपने आप को हमारे समान समझने लगे हैं। अब हम उन्हें राज-सुविधाएँ देने से बाज आये।''

यह कह कर कौरवों के सरदार अपने नगर के भीतर चले गये। बलराम ने तय किया कि मिथ्या गर्व से उन्मत्त लोगों से निपटने का एकमात्र उपाय है कि उन्हें कठिन दण्ड दिया जाय। अतएव उन्होंने अपना हल उठाया और पृथ्वी को सभी कुरुओं से विहीन बनाने की इच्छा से हस्तिनापुर को गंगा की ओर खींचने लगे। यह देखकर कि उनका नगर नदी में गिरने ही वाला है, भयभीत कौरवों ने तुरन्त साम्ब तथा लक्ष्मणा को लाकर बलराम के समक्ष प्रस्तुत किया और उनका यशोगान करने लगे। उन्होंने प्रार्थना की, ''हे प्रभु! हमें क्षमा कर दें क्योंकि हम आपके असली स्वरूप से अनजान थे।''

बलराम ने कौरवों को आश्वासन दिया कि वे उन्हें क्षति नहीं पहुँचायेंगे। दुर्योधन ने अपनी पुत्री तथा अपने नवीन दामाद को विविध वस्तुएँ दहेज में भेंट कीं। फिर दुर्योधन ने यादवों का सत्कार करते हुए बलदेव से प्रार्थना की कि वे साम्ब तथा लक्ष्मणा को लेकर द्वारका लौट जाँय।

श्रीशुक उवाच
दुर्योधनसुतां राजन्लक्ष्मणां समितिंजयः ।
स्वयंवरस्थामहरत्साम्बो जाम्बवतीसुतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; दुर्योधन-सुताम्—दुर्योधन की पुत्री; राजन्—हे राजा (परीक्षित); लक्ष्मणाम्—लक्ष्मणा को; समितिम्-जयः—युद्ध में विजयी; स्वयं-वर—स्वयंवर समारोह में; स्थाम्—स्थित; अहरत्—चुरा लिया; साम्बः—साम्ब ने; जाम्बवती-सुतः—जाम्बवती का पुत्र।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, जाम्बवती के पुत्र साम्ब ने जो सदैव युद्ध में विजयी होता था, दुर्योधन की पुत्री लक्ष्मणा का उसके स्वयंवर समारोह से अपहरण कर लिया।

तात्पर्य : *भगवान् श्रीकृष्ण* में श्रील प्रभुपाद ने इस घटना का विवरण इस प्रकार दिया है : "धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन की पुत्री लक्ष्मणा विवाह के योग्य थी। वह कुरुवंश की एक अत्यन्त सुयोग्य कन्या थी और अनेक राजकुमार उससे विवाह करने के इच्छुक थे। ऐसी दशा में स्वयंवर संस्कार का आयोजन किया जाता है, जिससे कन्या अपनी रुचि के अनुसार वर का चुनाव कर सके। जब लक्ष्मणा स्वयंवर सभा में वर चुनने जा रही थी तभी साम्ब उस सभा में उपस्थित हुआ। साम्ब भगवान् श्रीकृष्ण की प्रमुख रानियों में से एक, श्रीमती जाम्बवती का पुत्र था। साम्ब को यह नाम इसलिए दिया गया था क्योंकि अति दुष्ट बालक होने से वह सदैव अपनी माता के पास रहता था। साम्ब नाम सूचित करता है कि यह पुत्र अपनी माता का लाडला था। *अम्बा* का अर्थ है "माता" और *स* का अर्थ है "साथ।" अतएव साम्ब को यह विशेष नाम इसलिए दिया गया क्योंकि वह सदैव अपनी माता के साथ रहता था। इसीलिए वह जाम्बवती-सुत भी कहलाता था। जैसाकि पहले बताया जा चुका है श्रीकृष्ण के सारे पुत्र अपने महान् पिता भगवान् कृष्ण के ही समान योग्य थे। यद्यपि लक्ष्मणा साम्ब से विवाह करने की इच्छुक नहीं थी तथापि साम्ब दुर्योधन की पुत्री लक्ष्मणा को प्राप्त करना चाहता था। इसलिए साम्ब ने स्वयंवर समारोह से लक्ष्मणा का बलपूर्वक अपहरण कर लिया।"

कौरवाः कुपिता ऊचुर्दुर्विनीतोऽयमर्भकः ।
कदर्थीकृत्य नः कन्यामकामामहरद्बलात् ॥ २॥

शब्दार्थ

कौरवाः—कुरुओं ने; कुपिताः—क्रुद्ध; ऊचुः—कहा; दुर्विनीतः—बुरे आचरण वाला; अयम्—यह; अर्भकः—बालक; कदर्थी-कृत्य—अपमानित करके; नः—हमको; कन्याम्—कुमारी लड़की को; अकामाम्—अनचाहे; अहरत्—ले गया; बलात्—बलपूर्वक।

क्रुद्ध कौरवों ने कहा : इस बुरे आचरण वाले बालक ने हमारी अविवाहिता कन्या को उसकी इच्छा के विरुद्ध बलपूर्वक हर कर हमारा अपमान किया है।

बध्नीतेमं दुर्विनीतं किं करिष्यन्ति वृष्णयः ।
येऽस्मत्प्रसादोपचितां दत्तां नो भुञ्जते महीम् ॥ ॥

शब्दार्थ

बध्नीत—बन्दी बना लो; इमम्—इस; दुर्विनीतम्—बुरे आचरण वाले को; किम्—क्या; करिष्यन्ति—कर लेंगे; वृष्णयः—वृष्णिजन; ये—जो; अस्मत्—हमारी; प्रसाद—कृपा से; उपचिताम्—अर्जित; दत्ताम्—प्रदत्त; नः—हमारा; भुञ्जते—भोग रहे हैं; महीम्—पृथ्वी को।

बुरे आचरण वाले इस साम्ब को बन्दी बना लो। आखिर वृष्णिजन हमारा क्या कर लेंगे? वे हमारी ही कृपा से हमारे द्वारा प्रदत्त पृथ्वी पर शासन कर रहे हैं।

निगृहीतं सुतं श्रुत्वा यद्येष्यन्तीह वृष्णयः ।
भग्नदर्पाः शमं यान्ति प्राणा इव सुसंयताः ॥ ४॥

शब्दार्थ

निगृहीतम्—बन्दी बनाया; सुतम्—अपने पुत्र को; श्रुत्वा—सुन कर; यदि—यदि; एष्यन्ति—आयेंगे; इह—यहाँ; वृष्णयः—वृष्णिजन; भग्न—चूर चूर; दर्पाः—जिनका घमंड; शमम्—शान्ति; यान्ति—प्राप्त करेंगे; प्राणाः—इन्द्रियाँ; इव—सदृश; सु—उचित रीति से; संयताः—वशीभूत।

यदि वृष्णि लोग यह सुनकर कि उनका पुत्र पकड़ा गया है यहाँ आते हैं, तो हम उनके घमंड को तोड़ डालेंगे। इस प्रकार से वे उसी तरह दमित हो जायेंगे जिस तरह कठोर नियंत्रण के अन्तर्गत शारीरिक इन्द्रियाँ दमित हो जाती हैं।

इति कर्णः शलो भूरिर्यज्ञकेतुः सुयोधनः ।
साम्बमारेभिरे योद्धुं कुरुवृद्धानुमोदिताः ॥ ५॥

शब्दार्थ

इति—यह कह कर; कर्णः शलः भूरिः—कर्ण, शल तथा भूरि (सौमदत्ति); यज्ञकेतुः सुयोधनः—यज्ञकेतु (भूरिश्रवा) तथा दुर्योधन; साम्बम्—साम्ब के विरुद्ध; आरेभिरे—रवाना हो गये; योद्धुम्—युद्ध करने के लिए; कुरु-वृद्ध—कुरुओं के गुरुजन (भीष्म) द्वारा; अनुमोदिताः—स्वीकृति दिये जाने पर।

यह कह कर तथा कुरुवंश के वयोवृद्ध सदस्य द्वारा अपनी योजना की स्वीकृति लेने पर कर्ण, शल, भूरि, यज्ञकेतु तथा सुयोधन साम्ब पर आक्रमण करने के लिए कूच कर गए।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि यहाँ पर जिस कुरु-वृद्ध का उल्लेख है, वह भीष्म हैं जिन्होंने अपने कनिष्टजनों को इस प्रकार अनुमति दी, "चूँकि साम्ब ने इस कुमारी का स्पर्श कर लिया है अतएव यह दूसरा पति स्वीकार नहीं कर सकती। उसे ही इसका पति बनना होगा। तो भी तुम इसे बन्दी बना लो और इससे अपने अनुचित कार्य एवं हमारे पराक्रम के विषय में वक्तव्य दिला दो। लेकिन उसे किसी भी हालत में जान से न मारा जाय।" आचार्य का यह भी कहना है कि भीष्म इस श्लोक में वर्णित पाँचों योद्धाओं के साथ गये।

दृष्ट्वानुधावतः साम्बो धार्तराष्ट्रान्महारथः ।
प्रगृह्य रुचिरं चापं तस्थौ सिंह इवैकलः ॥ ६॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देख कर; अनुधावतः—अपनी ओर दौड़ते हुए; साम्बः—साम्ब; धार्तराष्ट्रान्—धृतराष्ट्र के अनुयायियों को; महारथः—महान् रथ-योद्धा; प्रगृह्य—पकड़ कर; रुचिरम्—सुन्दर; चापम्—अपना धनुष; तस्थौ—खड़ा रहा; सिंहः—सिंह; इव—सदृश; एकलः—अकेला।

दुर्योधन तथा उसके साथियों को अपनी ओर दौड़ते देखकर, महारथी साम्ब ने अपना सुन्दर धनुष धारण कर लिया और वह सिंह की तरह अकेला खड़ा हो गया।

तं ते जिघृक्षवः क्रुद्धास्तिष्ठ तिष्ठेति भाषिणः ।
आसाद्य धन्विनो बाणैः कर्णाग्रण्यः समाकिरन् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; ते—वे; जिघृक्षवः—पकड़ने के लिए दृढ़-संकल्प; क्रुद्धाः—क्रुद्ध; तिष्ठ तिष्ठ इति—जरा ठहरो, ठहरो; भाषिणः—कहते हुए; आसाद्य—सामने आकर; धन्विनः—धनुर्धर; बाणैः—अपने बाणों से; कर्ण-अग्रण्यः—कर्ण इत्यादि ने; समाकिरन्—उस पर वर्षा की।

पकड़ने के लिए कृतसंकल्प, क्रुद्ध कर्ण इत्यादि धनुर्धरों ने जोर-जोर से साम्ब से कहा, ''ठहरो और युद्ध करो, ठहरो और युद्ध करो।'' वे उसके पास आये और उस पर बाणों की वर्षा करने लगे।

सोऽपविद्धः कुरुश्रेष्ठ कुरुभिर्यदुनन्दनः ।
नामृष्यत्तदचिन्त्यार्भः सिंह क्षुद्रमृगैरिव ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अपविद्धः—अन्यायपूर्वक आक्रमण किया गया; कुरु-श्रेष्ठ—हे कुरु-श्रेष्ठ (परीक्षित महाराज); कुरुभिः—कुरुओं द्वारा; यदु-नन्दनः—यदुकुल के प्रिय पुत्र ने; न अमृष्यत्—सहन नहीं किया; तत्—उसे; अचिन्त्य—भगवान् कृष्ण का; अर्भः—बालक; सिंहः—सिंह; क्षुद्र—नगण्य; मृगैः—पशुओं द्वारा; इव—सदृश।

हे कुरु-श्रेष्ठ, चूँकि कृष्ण के पुत्र साम्ब को कुरुगण अनैतिक रीति से तंग कर रहे थे अतः यदुकुल का वह प्रिय पुत्र उनके आक्रमण को सहन नहीं कर सका जिस तरह एक सिंह क्षुद्र पशुओं के आक्रमण को सहन नहीं कर पाता।

तात्पर्य : *अचिन्त्यार्भ* शब्द की टीका करते हुए, लीला पुरुषोत्तम *भगवान् श्रीकृष्ण* में श्रील प्रभुपाद ने लिखा है : ''भगवान् श्रीकृष्ण के पुत्र-रूप में यदुवंश का गौरवपूर्ण पुत्र साम्ब अचिन्त्य शक्तियों से समन्वित था।''

विस्फूर्ज्य रुचिरं चापं सर्वान्विव्याध सायकैः ।

कर्णादीन्षड्रथान्वीरस्तावद्भिर्युगपत्पृथक् ॥ ९॥
चतुर्भिश्चतुरो वाहानेकैकेन च सारथीन् ।
रथिनश्च महेष्वासांस्तस्य तत्तेऽभ्यपूजयन् ॥ ॥

शब्दार्थ

विस्फूर्ज्य—टंकार करके; रुचिरम्—आकर्षक; चापम्—अपने धनुष को; सर्वान्—सबों को; विव्याध—बेध डाला; सायकैः—बाणों से; कर्ण-आदीन्—कर्ण तथा अन्यों को; षट्—छः; रथान्—रथों को; वीरः—वीर, साम्ब ने; तावद्भिः—उतने ही; युगपत्—एकसाथ; पृथक्—अलग अलग; चतुर्भिः—चार (बाणों) से; चतुरः—चार; वाहान्—घोड़ों को (प्रत्येक रथ के); एक-एकेन—एक-एक से; च—तथा; सारथीन्—सारथियों को; रथिनः—रथ की बागडोर सँभालने वाले योद्धाओं को; च—तथा; महा-इषु-आसान्—बड़े बड़े धनुर्धरों को; तस्य—उसका; तत्—वह; ते—उन्होंने; अभ्यपूजयन्—आदर किया।

अपने अद्भुत धनुष को टंकार करके वीर साम्ब ने बाणों से कर्ण आदि छहों योद्धाओं पर प्रहार किया। उसने छहों रथों को उतने ही बाणों से, चारों घोड़ों की टोली को चार बाणों से और प्रत्येक सारथी को एक एक बाण से बेध डाला। इसी तरह उसने रथों की बागडोर सँभालने वाले (रथी) महान् धनुर्धरों पर भी प्रहार किया। शत्रु योद्धाओं ने साम्ब को उसके इस पराक्रम प्रदर्शन के लिए बधाई दी।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद की टीका है : "जब साम्ब इस प्रकार अकेले ही बड़े पराक्रम से छहों महान् योद्धाओं से युद्ध कर रहा था तब उन योद्धाओं ने बालक साम्ब की अचिन्त्य शक्ति की सराहना की। युद्ध के बीच भी उन्होंने स्पष्टतः स्वीकार किया कि यह बालक साम्ब अद्भुत है।"

तं तु ते विरथं चक्रुश्चत्वारश्चतुरो हयान् ।
एकस्तु सारथिं जघ्ने चिच्छेदण्यः शरासनम् ॥ ११॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; तु—लेकिन; ते—उन्होंने; विरथम्—रथविहीन; चक्रुः—किया गया; चत्वारः—चार; चतुरः—उनमें से चार; हयान्—घोड़ों को; एकः—एक ने; तु—तथा; सारथिम्—सारथी को; जघ्ने—मारा; चिछेद—चीर डाला; अन्यः—दूसरा; शर-असनम्—उसके धनुष को।

किन्तु उन्होंने उसे रथ से नीचे उतरने पर विवश कर दिया और उसके बाद उनमें से चार ने उसके चारों घोड़ों को मार दिया, एक ने उसके सारथी को मार डाला और दूसरे ने उसके धनुष को तोड़ डाला।

तं बद्ध्वा विरथीकृत्य कृच्छ्रेण कुरवो युधि ।
कुमारं स्वस्य कन्यां च स्वपुरं जयिनोऽविशन् ॥ १२॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; बद्ध्वा—बाँधकर; विरथी-कृत्य—उसको रथ से विहीन करके; कृच्छ्रेण—कठिनाई से; कुरवः—कुरुओं ने; युधि—युद्ध में; कुमारम्—कुमार या बालक को; स्वस्य—अपनी; कन्याम्—पुत्री; च—तथा; स्व-पुरम्—अपने नगर; जयिनः—विजयी; अविशन्—प्रवेश किया।

युद्ध के दौरान साम्ब को रथविहीन करके कुरु-योद्धाओं ने बड़ी मुश्किल से उसे बाँध लिया और तब वे उस कुमार तथा अपनी राजकुमारी को लेकर विजयी भाव से अपने नगर में प्रविष्ट हुए।

तच्छ्रुत्वा नारदोक्तेन राजन्सञ्जातमन्यवः ।
कुरून्प्रत्युद्यमं चक्रुरुग्रसेनप्रचोदिताः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

तत्—यह; श्रुत्वा—सुनकर; नारद—नारदमुनि के; उक्तेन—कथनों से; राजन्—हे राजा (परीक्षित); सञ्जात—जागा हुआ; मन्यवः—जिसका क्रोध; कुरून्—कुरुओं के; प्रति—प्रति; उद्यमम्—युद्ध की तैयारियाँ; चक्रुः—कीं; उग्रसेन—उग्रसेन द्वारा; प्रचोदिताः—प्रेरित।

हे राजन्, जब यादवों ने श्री नारद से यह समाचार सुना तो वे क्रुद्ध हो उठे। राजा उग्रसेन द्वारा प्रेरित किये जाने पर उन्होंने कुरुओं के विरुद्ध युद्ध की तैयारी कर ली।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं: ''महर्षि नारद ने तुरन्त यदुवंश को जानकारी दी कि साम्ब बन्दी बना लिया गया है। उन्होंने यदुवंशियों को सारी कथा कह सुनाई। साम्ब को छह योद्धाओं द्वारा अनुचित रीति से बन्दी बनाये जाने पर यदुवंशी अत्यधिक क्रुद्ध हो गये। अतः यदुवंश के प्रधान राजा उग्रसेन से अनुमति प्राप्त करके वे कुरुवंश की राजधानी पर आक्रमण करने को तत्पर हो गये।''

सान्त्वयित्वा तु तान्रामः सन्नद्धान्वृष्णिपुङ्गवान् ।
नैच्छत्कुरूणां वृष्णीनां कलिं कलिमलापहः ॥ १४॥
जगाम हास्तिनपुरं रथेनादित्यवर्चसा ।
ब्राह्मणैः कुलवृद्धैश्च वृतश्चन्द्र इव ग्रहैः ॥ १५॥

शब्दार्थ

सान्त्वयित्वा—शान्त करके; तु—लेकिन; तान्—उनको; रामः—बलराम; सन्नद्धान्—कवच पहने; वृष्णि-पुङ्गवान्—वृष्णिवंशी वीरों को; न ऐच्छत्—नहीं चाहा; कुरूणाम् वृष्णीनाम्—कुरुओं तथा वृष्णियों के मध्य; कलिम्—कलह, झगड़ा; कलि—कलह के युग का; मल—कल्मष; अपहः—हटाने वाले; जगाम—गया; हास्तिन-पुरम्—हस्तिनापुर; रथेन—अपने रथ से; आदित्य—सूर्य (सदृश); वर्चसा—तेज वाले; ब्राह्मणैः—ब्राह्मणों के साथ; कुल—परिवार के; वृद्धैः—गुरुजनों के साथ; च—तथा; वृतः—घिरे हुए; चन्द्रः—चन्द्रमा; इव—सदृश; ग्रहैः—सात ग्रहों से।

किन्तु भगवान् बलराम ने वृष्णि-वीरों के क्रोध को शान्त किया जिन्होंने पहले से अपने कवच धारण कर लिये थे। कलह के युग को शुद्ध करने वाले (बलराम) कुरुओं तथा वृष्णियों

के बीच कलह नहीं चाहते थे। अत: वे ब्राह्मणों तथा परिवार के गुरुजनों (बड़े-बूढ़ों) के साथ अपने रथ पर हस्तिनापुर गये। उनका रथ सूर्य की तरह तेजोमय था। जब वे जा रहे थे तो ऐसे लग रहे थे मानो प्रधान ग्रहों द्वारा घिरा चन्द्रमा हो।

गत्वा गजाह्वयं रामो बाह्योपवनमास्थितः ।
उद्धवं प्रेषयामास धृतराष्ट्रं बुभुत्सया ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

गत्वा—जाकर; गजाह्वयम्—हस्तिनापुर; रामः—बलराम; बाह्य—बाहर; उपवनम्—बगीचे में; आस्थितः—ठहर गये; उद्धवम्—उद्धव को; प्रेषयाम् आस—भेजा; धृतराष्ट्रम्—धृतराष्ट्र के विषय में; बुभुत्सया—जानने की इच्छा से।

हस्तिनापुर पहुँचकर बलराम नगर के बाहर एक बगीचे में रह गए और उद्धव को धृतराष्ट्र के इरादों का पता लगाने के लिए आगे भेज दिया।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं: ''जब श्री बलराम हस्तिनापुर की सीमा पर पहुँचे तो उन्होंने नगर में प्रवेश नहीं किया अपितु नगर के बाहर एक छोटे-से उद्यान-गृह में डेरा लगा दिया। तब उन्होंने उद्धव से कहा कि वे कुरुवंश के प्रमुखों से भेंट करके उनसे पूछें कि वे यदुवंश से युद्ध करना चाहते हैं या समझौता करना चाहते हैं।''

सोऽभिवन्द्याम्बिकापुत्रं भीष्मं द्रोणं च बाह्लिकम् ।
दुर्योधनं च विधिवद्राममागतं अब्रवीत् ॥ १७॥

शब्दार्थ

सः—वह, उद्धव; अभिवन्द्य—वन्दना करके; अम्बिका-पुत्रम्—अम्बिका-पुत्र, धृतराष्ट्र को; भीष्मम् द्रोणम् च—भीष्म तथा द्रोण को; बाह्लिकम् दुर्योधनम् च—तथा बाह्लिक और दुर्योधन को; विधि-वत्—शास्त्रों के आदेशानुसार; रामम्—बलराम को; आगतम्—आया हुआ; अब्रवीत्—उसने कहा।

अम्बिका-पुत्र (धृतराष्ट्र) तथा भीष्म, द्रोण, बाह्लिक तथा दुर्योधन को समुचित आदर देकर उद्धव ने उन्हें बतलाया कि भगवान् बलराम आ गये हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इंगित करते हैं कि यहाँ पर उद्धव द्वारा युधिष्ठिर तथा उनके संगियों को नमस्कार किये जाने का उल्लेख नहीं है क्योंकि उन दिनों पाण्डवजन इन्द्रप्रस्थ में ठहरे हुए थे।

तेऽतिप्रीतास्तमाकर्ण्य प्राप्तं रामं सुहृत्तमम् ।

तमर्चयित्वाभिययुः सर्वे मङ्गलपाणयः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; अति—अत्यन्त; प्रीताः—प्रसन्न; तम्—उससे; आकर्ण्य—सुनकर; प्राप्तम्—आया हुआ; रामम्—बलराम को; सुहृत्-तमम्—अपने प्रियतम मित्र; तम्—उसको, उद्धव को; अर्चयित्वा—पूज कर; अभिययुः—गये; सर्वे—वे सभी; मङ्गल—शुभ भेंटें; पाणयः—अपने हाथों में।

यह सुनकर कि उनके प्रियतम मित्र बलराम आ चुके हैं, वे अत्यधिक प्रसन्न हुए और सर्वप्रथम उन्होंने उद्धव का आदर किया। तत्पश्चात् वे अपने हाथों में शुभ भेंटें लेकर भगवान् से मिलने गये।

तात्पर्य : *भगवान् श्रीकृष्ण* में श्रील प्रभुपाद लिखते हैं: "कुरुवंश के प्रधानगण, विशेष रूप से धृतराष्ट्र तथा दुर्योधन अत्यन्त हर्षित थे क्योंकि उन्हें यह भलीभाँति पता था कि भगवान् श्री बलराम उनके परिवार के महान् शुभचिन्तक हैं। यह समाचार सुनकर उनके हर्ष की सीमा न रही अतएव उन्होंने तत्काल उद्धव का स्वागत किया। भगवान् बलराम का उचित स्वागत करने के लिए वे अपने अपने हाथों में उनके स्वागत की शुभ सामग्री ले लेकर उनसे भेंट करने नगरद्वार के बाहर गये।"

तं सङ्गम्य यथान्यायं गामर्घ्यं च न्यवेदयन् ।
तेषां ये तत्प्रभावज्ञाः प्रणेमुः शिरसा बलम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसके; सङ्गम्य—पास जाकर; यथा—जिस तरह; न्यायम्—उचित; गाम्—गौवें; अर्घ्यम्—अर्घ्यजल; च—तथा; न्यवेदयन्—भेंट किया; तेषाम्—उनमें से; ये—जो; तत्—उसकी; प्रभाव—शक्ति; ज्ञाः—जानने वाले; प्रणेमुः—प्रणाम किया; शिरसा—अपने सिरों से; बलम्—बलराम को।

वे भगवान् बलराम के पास गये और गौवों तथा अर्घ्य की भेंटों से, यथोचित विधि से उनकी पूजा की। कुरुओं में से उन लोगों ने जो उनकी असली शक्ति से परिचित थे भूमि को सिर से छू कर उन्हें प्रणाम किया।

तात्पर्य : आचार्यों का कहना है कि भीष्मदेव जैसे गुरुजनों ने भी भगवान् बलदेव को नमस्कार किया।

बन्धून्कुशलिनः श्रुत्वा पृष्ट्वा शिवमनामयम् ।
परस्परमथो रामो बभाषेऽविक्लवं वचः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

बन्धून्—उनके सम्बन्धियों को; कुशलिनः—कुशलपूर्वक; श्रुत्वा—सुनकर; पृष्ट्वा—पूछ कर; शिवम्—उनकी कुशल-मंगल; अनामयम्—तथा स्वास्थ्य; परस्परम्—एक-दूसरे में; अथ उ—तत्पश्चात; रामः—बलराम; बभाषे—बोला; अविक्लवम्—सीधे; वचः—शब्द।

जब दोनों पक्षों ने सुन लिया कि उनके सम्बन्धीगण कुशल-मंगल से हैं और दोनों ने एक-दूसरे से कुशल-मंगल तथा स्वास्थ्य के विषय में पूछताछ कर ली तो बलराम ने कुरुओं से सीधे तौर पर इस प्रकार से कहा।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''परस्पर एक-दूसरे की कुशलता पूछ कर उन्होंने एक-दूसरे का स्वागत किया और जब यह औपचारिकता पूरी हो गई तो बलराम ने गम्भीर स्वर में तथा अत्यन्त धैर्यपूर्वक उनके विचारार्थ निम्नांकित शब्द प्रस्तुत किये।''

उग्रसेनः क्षितेशेशो यद्व आज्ञापयत्प्रभुः ।
तदव्यग्रधियः श्रुत्वा कुरुध्वमविलम्बितम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

उग्रसेनः—राजा उग्रसेन ने; क्षित—पृथ्वी के; ईश—शासकों का; ईशः—शासक; यत्—जो; वः—तुमसे; आज्ञापयत्—यह माँग की है; प्रभुः—हमारे स्वामी; तत्—वह; अव्यग्र-धियः—एकाग्र होकर; श्रुत्वा—सुनकर; कुरुध्वम्—तुम लोगों को करना चाहिए; अविलम्बितम्—बिना देर लगाये।

[बलरामजी ने कहा] : राजा उग्रसेन हमारे स्वामी तथा राजाओं के भी शासक हैं। तुम लोग एकाग्र चित्त से उसे सुन लो जो उन्होंने तुम लोगों को करने के लिए कहा है और तब उसे तुरन्त करो।

यद्यूयं बहवस्त्वेकं जित्वाधर्मेण धार्मिकम् ।
अबध्नीताथ तन्मृष्ये बन्धूनामैक्यकाम्यया ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; यूयम्—तुम सभी; बहवः—अनेक; तु—लेकिन; एकम्—एक व्यक्ति को; जित्वा—जीत कर; अधर्मेण—धर्म के विरुद्ध; धार्मिकम्—धर्म का पालन करने वाले को; अबध्नीत—तुमने बाँध लिया है; अथ—ऐसा होते हुए भी; तत्—वह; मृष्ये—मैं सहन कर रहा हूँ; बन्धूनाम्—सम्बन्धियों के बीच; ऐक्य—एकता के लिए; काम्यया—इच्छा से।

[राजा उग्रसेन ने कहा है] : यद्यपि तुम में से कई ने अधर्म का सहारा लेकर धर्म के सिद्धान्तों पर चलने वाले अकेले प्रतिद्वन्द्वी को पराजित किया है फिर भी मैं पारिवारिक सदस्यों में एकता बनाये रखने के लिए यह सब सहन कर रहा हूँ।

तात्पर्य : यहाँ उग्रसेन के कहने का आशय यह है कि कुरु तुरन्त साम्ब को लेकर बलराम को सौंप दें।

वीर्यशौर्यबलोन्नद्धमात्मशक्तिसमं वचः ।
कुरवो बलदेवस्य निशम्योचुः प्रकोपिताः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

वीर्य—शक्ति; शौर्य—साहस; बल—तथा बल से; उन्नद्धम्—पूरित; आत्म—अपनी; शक्ति—शक्ति; समम्—उपयुक्त; वचः—शब्द; कुरवः—कौरवजन; बलदेवस्य—बलदेव के; निशम्य—सुनकर; ऊचुः—बोले; प्रकोपिताः—क्रुद्ध।

बलराम के पराक्रम, साहस तथा बल से पूरित एवं उनकी शक्ति के समरुप इन शब्दों को सुनकर कौरवगण क्रुद्ध हो उठे और इस प्रकार बोले।

अहो महच्चित्रमिदं कालगत्या दुरत्यया ।
आरुरुक्षत्युपानद्वै शिरो मुकुटसेवितम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; महत्—अतीव; चित्रम्—आश्चर्य; इदम्—यह; काल—समय की; गत्या—गति से; दुरत्यया—दुर्निवार, दुर्लंघ्य; आरुरक्षति—चोटी पर चढ़ना चाहता है; उपानत्—जूता; वै—निस्सन्देह; शिरः—सिर; मुकुट—मुकुट से युक्त; सेवितम्—सुशोभित।

[कुरुनायकों ने कहा] : ओह, यह कितनी विचित्र बात है! काल की गति निस्सन्देह दुर्लंघ्य है—अब (पैरों की) एक जूती उस सिर पर चढ़ना चाहती है, जिसमें राजमुकुट सुशोभित है।

तात्पर्य : *काल-गत्या दुरत्यया* शब्दों से असहिष्णु कुरुगण यह निष्कर्ष निकाल रहे हैं कि अधम कलियुग आने वाला है। यहाँ कुरुगण यह संकेत करते हैं कि अधम कलियुग शुरू हो चुका है क्योंकि वे यह दावा कर रहे हैं कि "एक जूती उस सिर पर चढ़ना चाहती है, जिस पर राजमुकुट रखा है।" दूसरे शब्दों में, उन्होंने सोचा कि ये अधम यदुगण राजसी कुरुओं से ऊपर उठ जाना चाहते हैं।

एते यौनेन सम्बद्धाः सहशय्यासनाशनाः ।
वृष्णयस्तुल्यतां नीता अस्मद्दत्तनृपासनाः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

एते—ये; यौनेन—वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा; सम्बद्धाः—जुड़े हुए; सह—साथ साथ; शय्या—बिस्तर; आसन—आसन; अशनाः—तथा भोजन; वृष्णयः—वृष्णिगण; तुल्यताम्—समानता पर; नीताः—लाये गये; अस्मत्—हमारे द्वारा; दत्त—दिया हुआ; नृप-आसनाः—राज-सिंहासन।

चूँकि ये वृष्णिजन हमसे वैवाहिक सम्बन्धों से बँधे हैं इसलिए हमने इन्हें अपनी शय्या, आसन तथा भोजन में बराबरी का पद दे रखा है। असल में तो हमीं ने इन्हें राज-सिंहासन प्रदान किया है।

चामरव्यजने शङ्खमातपत्रं च पाण्डुरम् ।
किरीटमासनं शय्यां भुञ्जतेऽस्मदुपेक्षया ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

चामर—चमरी की पूँछ के बाल के; व्यजने—दो पंखे; शङ्खम्—शंख; आतपत्रम्—छाता; च—तथा; पाण्डुरम्—श्वेत; किरीटम्—मुकुट; आसनम्—आसन; शय्याम्—राजशय्या का; भुञ्जते—भोग करते हैं; अस्मत्—हमारी; उपेक्षया—उपेक्षा से।

चूँकि हमने परवाह नहीं की इसलिए वे चमरी के पंखे तथा शंख, श्वेत छाता, सिंहासन तथा राजशय्या का भोग कर सके।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं कि कुरुगण सोच रहे थे कि ''यदुओं को चाहिए था कि हमारी उपस्थिति में ऐसी राजसी सामग्री का उपयोग न करते किन्तु हमने अपने पारिवारिक सम्बन्धों के कारण उन्हें ऐसा करने से रोका नहीं।'' *अस्मद्-उपेक्षया* शब्दों का प्रयोग करके कुरुगण यह कहना चाहते हैं: ''वे इन राजसी ठाट-बाटों का उपयोग इसलिए कर सके कि हमने इस बात को गम्भीरता से नहीं लिया।'' जैसी कि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने व्याख्या की है, कुरुओं ने सोचा, ''उनके द्वारा इन वस्तुओं का उपयोग करने के विषय में चिन्ता करना आदरसूचक हो सकता था किन्तु वास्तव में उनके प्रति हममें ऐसा कोई आदर-भाव नहीं है...चूँकि वे निम्न कुल के हैं अतएव उनका आदर नहीं होना चाहिए अत: हम उनका आदर नहीं करते।''

अलं यदूनां नरदेवलाञ्छनै-
र्दातुः प्रतीपैः फणिनामिवामृतम् ।
येऽस्मत्प्रसादोपचिता हि यादवा
आज्ञापयन्त्यद्य गतत्रपा बत ॥ २७॥

शब्दार्थ

अलम्—बस; यदूनाम्—यदुओं के लिए; नर-देव—राजाओं के; लाञ्छनैः—प्रतीकों से; दातुः—देने वाले के लिए; प्रतीपैः—विपरीत; फणिनाम्—साँपों के लिए; इव—सदृश; अमृतम्—अमृत; ये—जो; अस्मत्—हमारी; प्रसाद—कृपा से; उपचिताः—समृद्ध बने हुए; हि—निस्सन्देह; यादवाः—यदुगण; आज्ञापयन्ति—आदेश दे रहे हैं; अद्य—अब; गत-त्रपाः—लाज खोकर; बत—निस्सन्देह।

अब यदुओं को इससे आगे इन राजसी प्रतीकों का उपयोग न करने दिया जाय क्योंकि अब ये प्रदान करने वालों के लिए कष्टप्रद बन रहे हैं जिस तरह विषैले साँपों को पिलाया गया दूध। ये यादवगण हमारी कृपा से समृद्ध बनकर अब सारी लाज शर्म खो चुके हैं और हमें आदेश देने का दुस्साहस कर रहे हैं।

कथमिन्द्रोऽपि कुरुभिर्भीष्मद्रोणार्जुनादिभि: ।
अदत्तमवरुन्धीत सिंहग्रस्तमिवोरण: ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

कथम्—कैसे; इन्द्र:—इन्द्र; अपि—भी; कुरुभि:—कुरुओं के द्वारा; भीष्म-द्रोण-अर्जुन-आदिभि:—भीष्म, द्रोण, अर्जुन इत्यादि के द्वारा; अदत्तम्—न दिया हुआ; अवरुन्धीत—हड़प कर लेंगे; सिंह—सिंह द्वारा; ग्रस्तम्—पकड़ी गयी; इव—सदृश; उरण:—भेड़, मेमना।

भला इन्द्र भी किसी वस्तु को हड़पने का दुस्साहस कैसे कर सकता है, जिसे भीष्म, द्रोण, अर्जुन या अन्य कुरुजनों ने उसे नहीं दिया है? यह तो वैसा ही है जैसे मेमना सिंह के वध की माँग करे।

श्रीबादरायणिरुवाच
जन्मबन्धुश्रीयोन्नद्धमदास्ते भरतर्षभ ।
आश्राव्य रामं दुर्वाच्यमसभ्या: पुरमाविशन् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायनि: उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; जन्म—जन्म; बन्धु—तथा सम्बन्ध का; श्रीया—ऐश्वर्य से; उन्नद्ध—महान् बनाया गया; मदा:—नशा; ते—वे; भरत-ऋषभ—हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ; आश्राव्य—सुनवाकर; रामम्—बलराम को; दुर्वाच्यम्—कटु वचन; असभ्या:—गँवार व्यक्ति; पुरम्—नगर में; आविशन्—प्रविष्ट हुए।

श्रीबादरायण ने कहा, हे भारतों में श्रेष्ठ, अपने उच्च जन्म तथा सम्बन्धों के ऐश्वर्य से फूल कर कुप्पा हुए घमंडी कुरु जब ये कटु वचन बलराम से कह चुके तो वे अपने नगर को वापस चले गये।

दृष्ट्वा कुरूनां दौ:शील्यं श्रुत्वावाच्यानि चाच्युत: ।
अवोचत्कोपसंरब्धो दुष्प्रेक्ष्य: प्रहसन्मुहु: ॥ ० ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; कुरूणाम्—कुरुओं का; दौ:शील्यम्—दुश्चरित्र; श्रुत्वा—सुनकर; अवाच्यानि—न कहने योग्य शब्द; च—तथा; अच्युत:—अच्युत बलराम ने; अवोचत्—कहा; कोप—क्रोध से; संरब्ध:—क्रुद्ध; दुष्प्रेक्ष्य:—देखना कठिन; प्रहसन्—हँसते हुए; मुहु:—बारम्बार।

कुरुओं के दुराचरण को देखकर तथा उनके भद्दे शब्दों को सुनकर अच्युत भगवान् बलराम क्रोध से उबल पड़े। उनका मुखमण्डल देखने में भयावना था और बारम्बार हँसते हुए वे इस प्रकार बोले।

नूनं नानामदोन्नद्धाः शान्तिं नेच्छन्त्यसाधवः ।
तेषां हि प्रशमो दण्डः पशूनां लगुडो यथा ॥ १ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निश्चय ही; नाना—विविध; मद—कामवासनाओं से; उन्नद्धाः—फूलकर कुप्पा हुए; शान्तिम्—शान्ति; न इच्छन्ति—इच्छा नहीं करते; असाधवः—बदमाश; तेषाम्—उनके; हि—निस्सन्देह; प्रशमः—समझाना-बुझाना; दण्डः—शारीरिक दण्ड; पशूनाम्—पशुओं के लिए; लगुडः—लाठी; यथा—जिस तरह।

[भगवान् बलराम ने कहा] : ''स्पष्ट है कि इन बदमाशों की विविध वासनाओं ने इन्हें इतना दम्भी बना दिया है कि वे शान्ति चाहते ही नहीं। तो फिर इन्हें शारीरिक दण्ड द्वारा समझाना-बुझाना होगा जिस तरह लाठी से पशुओं को सीधा किया जाता है।

अहो यदून्सुसंरब्धान्कृष्णं च कुपितं शनैः ।
सान्त्वयित्वाहमेतेषां शममिच्छन्निहागतः ॥ २ ॥
त इमे मन्दमतयः कलहाभिरताः खलाः ।
तं मामवज्ञाय मुहुर्दुर्भाषान्मानिनोऽब्रुवन् ॥ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; यदून्—यदुओं को; सु-संरब्धान्—क्रोध से उबल रहे; कृष्णम्—कृष्ण को; च—भी; कुपितम्—क्रुद्ध; शनैः—धीरे धीरे; सान्त्वयित्वा—शान्त करके; अहम्—मैं; एतेषाम्—इन (कौरवों) के लिए; शमम्—शान्ति; इच्छन्—चाहते हुए; इह—यहाँ; आगतः—आया; ते इमे—वे ही (कुरुजन); मन्द-मतयः—दुर्बुद्धि; कलह—झगड़ने के लिए; अभिरताः—इच्छुक, लिप्त; खलाः—दुष्ट; तम्—उसको; माम्—मुझको; अवज्ञाय—अनादर करके; मुहुः—बारम्बार; दुर्भाषान्—कटु वचन; मानिनः—गर्वित होकर; अब्रुवन्—उन्होंने कहे हैं।

''ओह! मैं धीरे धीरे ही क्रुद्ध यदुजनों तथा कृष्ण को भी, जिन्हें क्रोध आ गया था शान्त कर सका था। मैं इन कौरवों के लिए शान्ति की कामना करते हुए यहाँ आया। किन्तु ये इतने मूर्ख, स्वभाव से कलह-प्रिय तथा दुष्ट हैं कि इन्होंने बारम्बार मेरा अनादर किया है। दम्भ के कारण इन्होंने मुझसे कटु वचन कहने का दुस्साहस किया है।

नोग्रसेनः किल विभुर्भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः ।
शक्रादयो लोकपाला यस्यादेशानुवर्तिनः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; उग्रसेनः—राजा उग्रसेन; किल—निस्सन्देह; विभुः—आदेश देने के योग्य; भोज-वृष्णि-अन्धक—भोजों, वृष्णियों तथा अन्धकों के; ईश्वरः—स्वामी; शक्र-आदयः—इन्द्र तथा अन्य देवता; लोक—लोकों के; पालाः—शासक; यस्य—जिसकी; आदेश—आज्ञा के; अनुवर्तिनः—अनुयायी।

''क्या भोजों, वृष्णियों तथा अन्धकों के स्वामी राजा उग्रसेन आदेश देने योग्य नहीं हैं जबकि इन्द्र तथा अन्य लोकपालक उनके आदेशों का पालन करते हैं?

सुधर्माक्रम्यते येन पारिजातोऽमराङ्घ्रिपः ।
आनीय भुज्यते सोऽसौ न किलाध्यासनार्हणः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सुधर्मा—स्वर्ग का राज सभाभवन, सुधर्मा; आक्रम्यते—अधिकार में रखता है; येन—जिसके (कृष्ण) द्वारा; पारिजातः—पारिजात नामक; अमर—अमर देवताओं का; अङ्घ्रिपः—वृक्ष; आनीय—लाकर; भुज्यते—भोगा जाता है; सः असौ—वही पुरुष; न—नहीं; किल—निस्सन्देह; अध्यासन—उच्च आसन; अर्हणः—योग्य।

''वही कृष्ण जो सुधर्मा सभाभवन के अधिकारी हैं और जिन्होंने अपने आनन्द के लिए अमर देवताओं से पारिजात वृक्ष ले लिया—क्या वही कृष्ण राजसिंहासन पर बैठने योग्य नहीं हैं?

तात्पर्य : यहाँ बलराम क्रोध में आकर कहते हैं, ''यदुओं पर ध्यान न दें—ये धूर्त कौरव भगवान् कृष्ण तक का अपमान करने का साहस करते हैं!''

यस्य पादयुगं साक्षाच्छ्रीरुपास्तेऽखिलेश्वरी ।
स नार्हति किल श्रीशो नरदेवपरिच्छदान् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; पाद-युगम्—दो पैर; साक्षात्—स्वयं; श्रीः—लक्ष्मीजी; उपास्ते—पूजा करती हैं; अखिल—समस्त ब्रह्माण्ड की; ईश्वरी—स्वामिनी; सः—वह; न अर्हति—योग्य नहीं हैं; किल—निस्सन्देह; श्री-ईशः—लक्ष्मी के पति; नर-देव—मानव राजा की; परिच्छदान्—साज-सामग्री।

''समस्त ब्रह्माण्ड की स्वामिनी साक्षात् लक्ष्मीजी उनके पैरों की पूजा करती हैं। और उन्हीं लक्ष्मी के पति क्या मर्त्य राजा की साजसामग्री के पात्र नहीं हैं?

यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजोऽखिललोकपालै-
मौल्युत्तमैर्धृतमुपासिततीर्थतीर्थम् ।
ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य कलाः कलायाः
श्रीश्चोद्वहेम चिरमस्य नृपासनं क्व ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; अङ्घ्रि—पैरों की; पङ्कज—कमल सदृश; रजः—धूल; अखिल—समस्त; लोक—लोकों के; पालैः—शासकों द्वारा; मौलि—मुकुट; उत्तमैः—उत्तम, श्रेष्ठ; धृतम्—धारण किया हुआ; उपासित—पूज्य; तीर्थ—तीर्थस्थानों का; तीर्थम्—तीर्थ, पवित्रता का उद्गम; ब्रह्मा-लोर्द् ब्रह्मा; भवः—ब्रह्मा; अहम्—; अपि—; यस्य—; कलाः—; कलायाः—; श्रीः—; च—; उद्वहेम—; चिरम्—; अस्य—; नृप-आसनम्—; क्व—.

यस्य—जिसके; अङ्घ्र—पैरों की; पङ्कज—कमल सदृश; रजः—धूल; अखिल—समस्त; लोक—लोकों के; पालै—शासकों द्वारा; मौलि—मुकुट; उत्तमै—उत्तम, श्रेष्ठ; धृतम्—धारण किया हुआ; उपासित—पूज्य; तीर्थ—तीर्थस्थानों का; तीर्थम्—तीर्थ,

पवित्रता का उद्‌गम; ब्रह्मा—ब्रह्मा; भवः—शिव; अहम्—मैं; अपि—भी; यस्य—जिसके; कलाः—अंश; कलाया—अंश के; श्रीः—लक्ष्मी; च—भी; उद्वहेम—धारण करते हैं; चिरम्—निरन्तर; अस्य—उसका; नृप-आसनम्—राजसिंहासन; क्व—कहाँ।

"कृष्ण के चरण-कमलों की धूल, जो सभी तीर्थस्थानों के लिए पवित्रता की उद्‌गम है बड़े बड़े देवताओं द्वारा पूजी जाती है। समस्त लोकों के प्रधान देवता उनकी सेवा में लगे रहते हैं और अपने मुकुटों पर कृष्ण के चरणकमलों की धूल धारण करके अपने को परम भाग्यशाली मानते हैं। ब्रह्मा तथा शिवजी जैसे बड़े बड़े देवता, यहाँ तक कि लक्ष्मीजी और मैं भी उनके दिव्य व्यक्तित्व के अंश हैं और हम भी उस धूल को बड़ी सावधानी से अपने सिरों पर धारण करते हैं। क्या इतने पर भी कृष्ण राजप्रतीकों का उपयोग करने या राजसिंहासन पर बैठने के योग्य नहीं हैं?

तात्पर्य : उपर्युक्त भावार्थ श्रील प्रभुपाद कृत *भगवान् कृष्ण* पर आधारित है। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार यहाँ पर विशेष रूप से उल्लिखित तीर्थस्थान गंगा नदी है। गंगाजल सारे जगत को आप्लावित करता है और चूँकि गंगा कृष्ण के चरणकमलों से निकलती है, अतः इसके तट महान् तीर्थस्थान बन गये हैं।

भुञ्जते कुरुभिर्दत्तं भूखण्डं वृष्णयः किल ।
उपानहः किल वयं स्वयं तु कुरवः शिरः ॥ ८॥

शब्दार्थ

भुञ्जते—भोग करते हैं; कुरुभिः—कुरुओं द्वारा; दत्तम्—दिया हुआ; भू—भूमि; खण्डम्—सीमित भाग; वृष्णयः—वृष्णिगण; किल—निस्सन्देह; उपानहः—जूते; किल—निस्सन्देह; वयम्—हम; स्वयम्—स्वयं; तु—लेकिन; कुरवः—कुरुगण; शिरः—सिर।

"हम वृष्णिगण केवल उस छोटे से भूभाग का भोग करते हैं जिस किसी की कुरुगण हमें अनुमति देते हैं? और हम निस्सन्देह जूते हैं जबकि कुरुगण सिर हैं?

अहो ऐश्वर्यमत्तानां मत्तानामिव मानिनाम् ।
असम्बद्धा गिरऋओ रुक्षाः कः सहेतानुशासीता ॥ ९॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; ऐश्वर्य—अपनी शासनशक्ति से; मत्तानाम्—उन्मत्तों के; मत्तानाम्—शारीरिक रूप से उन्मत्तों के; इव—मानो; मानिनाम्—अभिमानी; असम्बद्धाः—बेतुके तथा बिना सिर-पैर के; गिरः—शब्द; रुक्षाः—कर्कश; कः—कौन; सहेत—सह सकता है; अनुशासीता—आदेश देने वाला।

"जरा देखो तो इन अभिमानी कुरुओं को जो सामान्य शराबियों की तरह अपने तथाकथित

अधिकार से उन्मत्त हैं! ऐसा कौन वास्तविक शासक, जो आदेश देने के अधिकार से युक्त है, उनके मूर्खतापूर्ण एवं बेतुके शब्दों को सह सकेगा?''

अद्य निष्कौरवां पृथ्वीं करिष्यामीत्यमर्षितः ।
गृहीत्वा हलमुत्तस्थौ दहन्निव जगत्त्रयम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

अद्य—आज; निष्कौरवां—कौरवों से विहीन; पृथ्वीम्—पृथ्वी; करिष्यामि—करूँगा; इति—इस प्रकार कह कर; अमर्षितः—क्रुद्ध; गृहीत्वा—लेकर; हलम्—अपना हल; उत्तस्थौ—उठ खड़े हुए; दहन्—जलाते हुए; इव—मानो; जगत्—लोकों को; त्रयम्—तीनों।

क्रुद्ध बलराम ने घोषणा की, ''आज मैं पृथ्वी को कौरवों से विहीन कर दूँगा।'' यह कहकर उन्होंने अपना हलायुध ले लिया और उठ खड़े हुए मानो तीनों लोकों को स्वाहा करने जा रहे हों।

लाङ्गलाग्रेण नगरमुद्विदार्य गजाह्वयम् ।
विचकर्ष स गङ्गायां प्रहरिष्यन्नमर्षितः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

लाङ्गल—हल की; अग्रेण—नोक से; नगरम्—नगर को; उद्विदार्य—फाड़कर; गजाह्वयम्—हस्तिनापुर को; विचकर्ष—खींचा; सः—उसने; गङ्गायाम्—गंगा में; प्रहरिष्यन्—फेंकने ही वाले; अमर्षितः—क्रुद्ध।

भगवान् ने क्रुद्ध होकर अपने हल की नोक से हस्तिनापुर को उखाड़ा और सम्पूर्ण नगर को गंगा नदी में फेंकने की मंशा से उसे घसीटने लगे।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं: ''बलराम इतने क्रुद्ध लग रहे थे मानो सारे संसार को जलाकर राख कर देंगे। वे दृढ़तापूर्वक खड़े हो गये और हल को हाथ में लेकर उससे भूमि पर प्रहार करने लगे। इस तरह सम्पूर्ण हस्तिनापुर नगर पृथ्वी से विलग हो गया। तत्पश्चात् बलराम उस नगर को गंगा नदी की बहती जलधारा की ओर घसीटने लगे। इससे पूरे हस्तिनापुर में ऐसा कम्पन हुआ मानो भूकम्प आया हो और ऐसा लगा कि सारा नगर नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि भगवान् की इच्छा से उनके हल का आकार बढ़ गया और जब बलराम हस्तिनापुर को जल की ओर घसीटने लगे तो उन्होंने गंगा नदी को आदेश दिया, ''तुम साम्ब को छोड़कर सबों पर आक्रमण करो और अपने जल से नगर के हर व्यक्ति को मार डालो।'' इस तरह वे पृथ्वी को कौरवविहीन करने की प्रतिज्ञा पूरी कर सकेंगे और साथ ही आश्वस्त हो रहे थे कि साम्ब को कुछ नहीं होगा।

जलयानमिवाघूर्णं गङ्गायां नगरं पतत् ।
आकृष्यमाणमालोक्य कौरवाः जातसम्भ्रमाः ॥ ४२ ॥
तमेव शरणं जग्मुः सकुटुम्बा जिजीविषवः ।
सलक्ष्मणं पुरस्कृत्य साम्बं प्राञ्जलयः प्रभुम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

जल-यानम्—नाव, घन्नाई; इव—मानो; आघूर्णम्—इधर-उधर डगमगाती; गङ्गायाम्—गंगा में; नगरम्—नगर को; पतत्—गिरते हुए; आकृष्यमाणम्—खींचे जाकर; आलोक्य—देखकर; कौरवाः—सारे कौरव; जात—होकर; सम्भ्रमाः—उत्तेजित एवं मोहित; तम्—उसकी, बलराम की; एव—निस्सन्देह; शरणम्—शरण के लिए; जग्मुः—गये; स—सहित; कुटुम्बः—उनके परिवार; जिजीविषवः—जीवित रहने की इच्छा करते हुए; स—सहित; लक्ष्मणम्—लक्ष्मणा को; पुरः-कृत्य—आगे करके; साम्बम्—साम्ब को; प्राञ्जलयः—आदरपूर्वक हाथ जोड़ कर; प्रभुम्—प्रभु को।

घसीटे जा रहे अपने नगर को समुद्र में घन्नाई की तरह डगमगाते तथा गंगा में गिरने ही वाला देखकर, सारे कौरव भयभीत हो उठे। वे अपने प्राण बचाने के लिए अपने साथ अपने परिवारों को लेकर भगवान् की शरण लेने गये। साम्ब तथा लक्ष्मणा को आगे करके उन्होंने विनयपूर्वक अपने हाथ जोड़ लिये।

तात्पर्य : हस्तिनापुर नगर इस तरह डगमगाने लगा मानो तूफानग्रस्त समुद्र में घन्नाई हो। भयभीत कौरवों ने भगवान् को शांत करने के लिए साम्ब तथा लक्ष्मणा को तुरन्त लाकर उनके सामने कर दिया।

राम रामाखिलाधार प्रभावं न विदाम ते ।
मूढानां नः कुबुद्धीनां क्षन्तुमर्हस्यतिक्रमम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

राम राम—हे राम, हे राम; अखिल—हर वस्तु के; आधार—आधार; प्रभावम्—शक्ति; न विदाम—हम नहीं जानते हैं; ते—तुम्हारा; मूढानाम्—मूर्ख बने पुरुषों के; नः—हमको; कु—बुरा; बुद्धीनाम्—बुद्धि वालों के; क्षन्तुम् अर्हसि—कृपया क्षमा कर दें; अतिक्रमम्—अपराध को।

[कौरवों ने कहा] : हे राम, हे सर्वाधार राम, हम आपकी शक्ति के बारे में कुछ भी नहीं जानते। कृपया हमारा अपराध क्षमा कर दें क्योंकि हम अज्ञानी हैं तथा बहकावे में आ गये थे।

स्थित्युत्पत्त्यप्ययानां त्वमेको हेतुर्निराश्रयः ।
लोकान्क्रीडनकानीश क्रीडतस्ते वदन्ति हि ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

स्थिति—पालन; उत्पत्ति—सृजन; अप्ययानाम्—तथा संहार के; त्वम्—तुमको; एकः—एकमात्र; हेतुः—कारण; निराश्रयः—किसी अन्य आधार के बिना; लोकान्—लोकों को; क्रीडनकान्—गेंदों को; ईश—हे प्रभु; क्रीडतः—खेल रहे; ते—तुम्हारे; वदन्ति—वे कहते हैं; हि—निस्सन्देह।

आप अकेले जगत का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं और आपका कोई पूर्व हेतु (कारण) नहीं है। दरअसल, हे प्रभु, विद्वानों का कहना है कि जब आप अपनी लीलाएँ करते हैं, तो सारे संसार आपके खिलौने जैसे होते हैं।

त्वमेव मूर्ध्नीदमनन्त लीलया
भूमण्डलं बिभर्षि सहस्रमूर्धन् ।
अन्ते च यः स्वात्मनिरुद्धविश्वः
शेषेऽद्वितीयः परिशिष्यमाणः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; एव—ही; मूर्ध्नि—सिर पर; इदम्—यह; अनन्त—हे असीम; लीलया—लीला के रूप में, आसानी से; भू—पृथ्वी के; मण्डलम्—गोले को; बिभर्षि—वहन करते हो; सहस्र-मूर्धन्—हे हजार सिरों वाले; अन्ते—अन्त में; च—तथा; यः—जो; स्व—अपना; आत्म—शरीर के भीतर; निरुद्ध—लीन करके; विश्वः—ब्रह्माण्ड; शेषे—लेट जाते हो; अद्वितीयः—अद्वितीय; परिशिष्यमाणः—शेष।.

हे हजार सिरों वाले अनन्त, आप अपनी लीला के रूप में इस भूमण्डल को अपने एक सिर पर धारण करते हैं। संहार के समय आप सारे ब्रह्माण्ड को अपने शरीर के भीतर लीन कर लेते हैं और अकेले बचकर विश्राम करने के लिए लेट जाते हैं।

कोपस्तेऽखिलशिक्षार्थं न द्वेषान्न च मत्सरात् ।
बिभ्रतो भगवन्सत्त्वं स्थितिपालनतत्परः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

कोपः—क्रोध; ते—तुम्हारा; अखिल—हर एक को; शिक्षा—शिक्षा; अर्थम्—के लिए; न—नहीं; द्वेषात्—घृणा से; न च—न तो; मत्सरात्—ईर्ष्या से; बिभ्रतः—धारण करने वाले; भगवन्—भगवान्; सत्त्वम्—सतोगुण; स्थिति—स्थिति; पालन—तथा रक्षण; तत्-परः—आशय के रूप में।.

आपका क्रोध हर एक को शिक्षा देने के निमित्त है, यह घृणा या द्वेष की अभिव्यक्ति नहीं हैं। हे परमेश्वर, आप शुद्ध सतोगुण को धारण करते हैं और इस जगत को बनाये रखने तथा इसकी रक्षा करने के लिए ही क्रुद्ध होते हैं।

तात्पर्य : कुरुगण स्वीकार करते हैं कि भगवान् बलराम का क्रोध सब प्रकार से उचित था और वास्तव में उन्हीं के लाभ के लिए था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार कौरव कहना चाहते थे, ''चूँकि आपने अपना क्रोध प्रदर्शित किया है अतएव हम सभ्य बन गये हैं। इसके पूर्व हम दुष्ट थे और दर्प से अन्धे होने के कारण आपको देख नहीं सके थे।''

नमस्ते सर्वभूतात्मन्सर्वशक्तिधराव्यय ।
विश्वकर्मन्नमस्तेऽस्तु त्वां वयं शरणं गताः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्ते; ते—तुमको; सर्व—सभी; भूत—जीवों के; आत्मन्—हे आत्मा; सर्व—समस्त; शक्ति—शक्तियों के; धर—हे धारण करने वाले; अव्यय—हे अव्यय; विश्व—ब्रह्माण्ड के; कर्मन्—हे बनाने वाले; नमः—नमस्कार; ते—तुमको; अस्तु—हो; त्वाम्—तुमको; वयम्—हम; शरणम्—शरण लेने; गताः—आये हैं।

हे समस्त जीवों के आत्मा, हे समस्त शक्तियों को धारण करने वाले, हे ब्रह्माण्ड के अव्यय स्त्रष्टा, हम आपको नमस्कार करते हैं और नमस्कार करते हुए आपकी शरण ग्रहण करते हैं।

तात्पर्य : कौरवों को स्पष्ट रूप से अनुभव हो गया कि उनके जीवन तथा प्रारब्ध भगवान् के हाथों में थे।

श्रीशुक उवाच
एवं प्रपन्नैः संविग्नैर्वेपमानायनैर्बलः ।
प्रसादितः सुप्रसन्नो मा भैष्टेत्यभयं ददौ ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; प्रपन्नैः—शरणागतों द्वारा; संविग्नैः—अत्यन्त दुखी; वेपमान—हिलते हुए; अयनैः—घरों वाले; बलः—बलराम; प्रसादितः—शान्त हुए; सु—अत्यन्त; प्रसन्नः—शान्त तथा मृदुल; मा भैष्ट—मत डरो; इति—इस प्रकार कहकर; अभयम्—भय से छुटकारा; ददौ—दे दिया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जिन कौरवों का नगर डगमगा रहा था और जो अत्यन्त कष्ट में होने से उनकी शरण में आ रहे थे, ऐसे कौरवों द्वारा स्तुति किये जाने पर बलराम शान्त हो गये और उनके प्रति कृपालु हो गये। उन्होंने कहा "डरो मत।" फिर उनके भय को हर लिया।

दुर्योधनः पारिबर्हं कुञ्जरान्षष्टिहायनान् ।
ददौ च द्वादशशतान्ययुतानि तुरङ्गमान् ॥ ५० ॥
रथानां षट्सहस्राणि रौक्माणां सूर्यवर्चसाम् ।
दासीनां निष्ककण्ठीनां सहस्रं दुहितृवत्सलः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

दुर्योधनः—दुर्योधन ने; पारिबर्हम्—दहेज के रूप में; कुञ्जरान्—हाथी; षष्टि—साठ; हायनान्—वर्ष आयु के; ददौ—दिया; च—तथा; द्वादश—बारह; शतानि—सौ; अयुतानि—दस हजार; तुरङ्गमान्—घोड़े; रथानाम्—रथों के; षट्-सहस्राणि—छः हजार; रौक्माणाम्—सोने के; सूर्य—सूर्य (जैसे); वर्चसाम्—तेजवान्; दासीनाम्—दासियों के; निष्क—रत्नजटित हार; कण्ट्थीनाम्—जिनके गलों में; सहस्रम्—एक हजार; दुहितृ—अपनी पुत्री के लिए; वत्सलः—पितृ-स्नेह से युक्त।

अपनी पुत्री के प्रति अत्यन्त वत्सल दुर्योधन ने उसे दहेज में १,२०० साठ वर्षीय हाथी,

१,२०,००० घोड़े, ६,००० सूर्य जैसे चमकते सुनहरे रथ तथा १,००० दासियाँ दीं जो गलों में रत्नजटित हार पहने थीं।

प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं भगवान्सात्वतर्षभः ।
ससुतः सस्नुषः प्रायात्सुहृद्भिरभिनन्दितः ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

प्रतिगृह्य—स्वीकार करके; तु—तथा; तत्—उसको; सर्वम्—समस्त; भगवान्—भगवान्; सात्वत—यादवों के; ऋषभः—प्रधान; स—सहित; सुतः—पुत्र; स—सहित; स्नुषः—पतोहू, पुत्रवधू; प्रायात्—प्रस्थान किया; सु-हृद्भिः—शुभचिन्तकों (कौरवों) द्वारा; अभिनन्दितः—विदा किया गया।

यादवों के प्रमुख भगवान् ने इन सारे उपहारों को स्वीकार किया और तब अपने पुत्र तथा अपनी पुत्रवधू सहित वहाँ से प्रस्थान किया और उनके शुभचिन्तकों ने उन्हें विदाई दी।

ततः प्रविष्टः स्वपुरं हलायुधः
समेत्य बन्धूननुरक्तचेतसः ।
शशंस सर्वं यदुपुङ्गवानां
मध्ये सभायां कुरुषु स्वचेष्टितम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; प्रविष्टः—प्रवेश करके; स्व—अपने; पुरम्—नगर में; हल-आयुधः—हल ही जिनका हथियार है, बलराम; समेत्य—मिलकर; बन्धून्—अपने सम्बन्धियों को; अनुरक्त—उनसे अनुरक्त; चेतसः—हृदयों वाले; शशंस—बतलाया; सर्वम्—हर बात; यदु-पुङ्गवानाम्—यदुओं के नायकों के; मध्ये—बीच में; सभायाम्—सभा के; कुरुषु—कुरुओं में; स्व—अपना; चेष्टितम्—कार्य।

तब भगवान् हलायुध अपने नगर (द्वारका) में प्रविष्ट हुए और अपने सम्बन्धियों से मिले जिनके हृदय उनसे अनुराग में बँधे थे। सभाभवन में उन्होंने कुरुओं के साथ हुई प्रत्येक घटना यदुओं से कह सुनाई।

अद्यापि च पुरं ह्येतत्सूचयद्रामविक्रमम् ।
समुन्नतं दक्षिणतो गङ्गायामनुदृश्यते ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

अद्य—आज; अपि—भी; च—तथा; पुरम्—नगर; हि—निस्सन्देह; एतत्—यह; सूचयत्—सूचना देता है; राम—बलराम के; विक्रमम्—पराक्रम को; समुन्नतम्—उठा हुआ; दक्षिणतः—दक्षिण की ओर; गङ्गायाम्—गंगा में; अनुदृश्यते—दिखाई देता है।

आज भी हस्तिनापुर नगर गंगा के तट पर दक्षिणी दिशा में उठा हुआ दिखता है। इस तरह यह भगवान् बलराम के पराक्रम का सूचक है।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं: ''क्षत्रिय राजाओं में अधिकतर यह प्रथा थी कि विवाह के पूर्व वर तथा वधू पक्ष के लोगों के बीच किसी प्रकार का युद्ध हो। जब साम्ब ने बलात लक्ष्मणा का हरण किया था तब कुरुवंश के प्रौढ़ सदस्य यह देखकर प्रसन्न हुए थे कि वह सचमुच उसके योग्य वर था। फिर भी व्यक्तिगत शक्ति को परखने के लिए उन्होंने उससे युद्ध किया और युद्ध के नियमों का अनादर करते हुए उसे बन्दी बना लिया। जब यदुवंश ने साम्ब को कौरवों के बन्धन से मुक्त कराने का निश्चय किया, तो स्वयं बलराम समझौता कराने आये। वे एक बलशाली क्षत्रिय थे अतएव उन्होंने कौरवों को तत्काल ही साम्ब को मुक्त करने का आदेश दिया। इस आदेश से कौरवों ने स्वयं को बाहरी तौर पर अपमानित समझा अत: उन्होंने बलराम की शक्ति को चुनौती दे दी। वे केवल इतना चाहते थे कि बलराम अपनी अचिन्त्य शक्ति का प्रदर्शन करें। इस प्रकार अतीव प्रसन्नतापूर्वक उन्होंने अपनी कन्या साम्ब को दे दी और सारा मामला तय हो गया। दुर्योधन अपनी पुत्री लक्ष्मणा को बहुत चाहता था अतएव उसने बड़ी धूमधाम के साथ उसका विवाह साम्ब के साथ कर दिया...कौरव पक्ष की ओर से अपने भव्य स्वागत के बाद बलराम अत्यन्त सन्तुष्ट हो गये और वे नवविवाहित दम्पत्ति को साथ लेकर अपनी राजधानी द्वारका के लिए चल पड़े।

विजयी होकर बलराम द्वारका पहुँचे जहाँ उनकी भेंट अनेक नागरिकों से हुई। वे सभी उनके भक्त तथा मित्र थे। जब वे सब एकत्र हो गये तो बलराम ने विवाह की सारी कथा कह सुनाई। वे यह सुनकर चकित थे कि बलराम ने किस तरह हस्तिनापुर को कंपित कर दिया।''

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत 'साम्ब का विवाह' नामक अरसठवें अध्याय के भक्तिवेदान्त स्वामी श्रील प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter उनहत्तर

नारद मुनि द्वारा द्वारका में भगवान् कृष्ण के महलों को देखना

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह नारद मुनि भगवान् कृष्ण की गृहस्थ लीलाओं को देखकर चकित हुए और किस तरह उन्होंने भगवान् की स्तुति की।

नरकासुर को मारने के बाद भगवान् कृष्ण ने एकसाथ सोलह हजार कुमारियों को ब्याहा और नारद मुनि ने भगवान् की इस अद्वितीय पारिवारिक स्थिति में उनके विविध कार्यकलापों का अवलोकन करना चाहा। अत: वे द्वारका गये। नारद मुनि सोलह हजार महलों में से एक में प्रविष्ट हुए और उन्होंने देखा कि स्वयं रुक्मिणीदेवी हजारों दासियों के होते हुए भी श्रीकृष्ण की सेवा स्वयं कर रही थीं। ज्योंही भगवान् कृष्ण ने नारद को देखा तो वे अपने बिस्तर से उठ खड़े हुए, उन्हें प्रणाम किया और तब उन्हें अपने आसन पर बैठाया। तब भगवान् ने नारद के पाँव पखारे और उस जल को अपने सिर के ऊपर छिड़का। भगवान् का आचरण इतना आदर्शात्मक था।

भगवान् से थोड़ी देर बातें करने के बाद नारद उनके एक अन्य महल में गये जहाँ उन्होंने श्रीकृष्ण को उनकी रानी तथा उद्धव के साथ चौसर खेलते देखा। वहाँ से दूसरे महल में जाकर देखा कि भगवान् कृष्ण अपने छोटे से शिशुओं को दुलार रहे थे। जब वे एक अन्य महल में गये तो उन्हें स्नान के लिए जाते देखा, उससे आगे वाले में यज्ञ करते, फिर उससे भी आगे वाले में ब्राह्मणों को भोजन कराते और अन्य महल में ब्राह्मणों का जूठन खाते देखा। एक महल में भगवान् दोपहर का अनुष्ठान कर रहे थे, अन्य में गायत्री मंत्र का मौन जप कर रहे थे, अगले वाले महल में अपने बिस्तर पर सो रहे थे, उससे अगले वाले में अपने मंत्रियों से विचार-विमर्श कर रहे थे और उससे भी आगे वाले में वे सखियों के साथ जल-क्रीड़ा कर रहे थे। कहीं भगवान् ब्राह्मणों को दान दे रहे थे तो अन्य स्थान पर वे अपनी प्रेयसी से हँसी-मजाक कर रहे थे। कहीं और वे परमात्मा का ध्यान कर रहे थे तो कहीं वे अपने आध्यात्मिक गुरु की सेवा कर रहे थे। कहीं वे अपने पुत्र-पुत्रियों के विवाह की व्यवस्था कर रहे थे तो अन्य कहीं वे पशुओं का शिकार करने जा रहे थे। अन्यत्र वे वेश बदल कर यह पता लगा रहे थे कि नागरिक उनके बारे में क्या सोचते हैं।

यह सब देखकर नारद ने भगवान् कृष्ण से कहा, ''मैं आपकी योगमाया शक्ति की इन विविधताओं को, जिन्हें मोहग्रस्त सामान्य जीव अनुभव नहीं कर सकते, समझ सकता हूँ क्योंकि मैंने आपके चरणकमलों की सेवा की है। इस तरह मैं परम भाग्यशाली हूँ और मेरी यही इच्छा है कि समस्त लोकों को शुद्ध करने वाली आपकी लीलाओं की महिमा का तीनों लोकों में घूम कर कीर्तन करूँ।''

श्रीकृष्ण ने नारद से कहा कि आप भगवान् के दिव्य ऐश्वर्य को देखकर हैरान न हों और उन्होंने नारद से इस संसार में अपने प्राकट्य का उद्देश्य बतलाया। तत्पश्चात् धर्म के अनुसार मुनि का समुचित आदर किया और नारदजी भगवान् का निरंतर ध्यान करते हुए वहाँ से विदा हुए।

श्रीशुक उवाच

नरकं निहतं श्रुत्वा तथोद्वाहं च योषिताम् ।
कृष्णेनैकेन बह्वीनां तद्दिदृक्षुः स्म नारदः ॥ १ ॥

चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत्पृथक् ।
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत् ॥ २ ॥

इत्युत्सुको द्वारवतीं देवर्षिर्द्रष्टुमागमत् ।
पुष्पितोपवनारामद्विजालिकुलनादिताम् ॥ ॥

उत्फुल्लेन्दीवराम्भोजकह्लारकुमुदोत्पलैः ।
छुरितेषु सरःसूच्चैः कूजितां हंससारसैः ॥ ४ ॥

प्रासादलक्षैर्नवभिर्जुष्टां स्फाटिकराजतैः ।
महामरकतप्रख्यैः स्वर्णरत्नपरिच्छदैः ॥ ५ ॥

विभक्तरथ्यापथचत्वरापणैः
शालासभाभी रुचिरां सुरालयैः ।
संसिक्तमार्गाङ्गनवीथिदेहलीं
पतत्पताकध्वजवारितातपाम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; नरकम्—नरकासुर को; निहतम्—मारा गया; श्रुत्वा—सुनकर; तथा—भी; उद्वाहम्—विवाह; च—तथा; योषिताम्—स्त्रियों के साथ; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; एकेन—एक; बह्वीनाम्—अनेकों के साथ; तत्—वह; दिदृक्षुः—देखना चाहते हुए; स्म—निस्सन्देह; नारदः—नारद; चित्रम्—अद्भुत; बत—हाय; एतत्—यह; एकेन—एकाकी; वपुषा—शरीर से; युगपत्—एकसाथ; पृथक्—भिन्न; गृहेषु—घरों में; द्वि—दो बार; अष्ट—आठ; साहस्रम्—हजार; स्त्रियः—स्त्रियाँ; एकः—अकेला; उदावहत्—विवाह कर लिया; इति—इस प्रकार; उत्सुकः—उत्सुक; द्वारवतीम्—द्वारका में; देव—देवताओं के; ऋषिः—मुनि, नारद; द्रष्टुम्—देखने के लिए; आगमत्—आये; पुष्पित—फूल खिला हुआ; उपवन—बागों में; आराम—तथा विहार उद्यानों; द्विज—पक्षियों; अलि—तथा भौंरों के; कुल—झुंडों के साथ; नादिताम्—ध्वनित; उत्फुल्ल—खिला हुआ; इन्दीवर—नीले कमल; अम्भोज—दिन में खिलने वाले कमल; कह्लार—सफेद कमल; कुमुद—चाँदनी रात में खिलने वाला कमल; उत्पलैः—जल की कुमुदिनियों से; छुरितेषु—पूरित; सरःसु—झीलों में; उच्चैः—जोर जोर; कूजिताम्—आवाज से पूरित; हंस—हंस; सारसैः—तथा सारसों से; प्रासाद—महलों; लक्षैः—लाखों; नवभिः—नौ; जुष्टाम्—अलंकृत; स्फाटिक—स्फटिक के; राजतैः—तथा चाँदी से बने; महा-मरकत—महान् मरकत मणियों से; प्रख्यैः—जगमगाते; स्वर्ण—सोने; रत्न—तथा रत्नों के; परिच्छदैः—सजावटों से; विभक्त—क्रम से विभाजित; रथ्या—मुख्य गलियों; पथ—सड़कों; चत्वर—चौराहों; आपणैः—तथा बाजार-स्थलों से; शाला-सभाभिः—घरों के समूह सहित; रुचिराम्—मनोहर; सुर—देवताओं के; आलयैः—मन्दिरों से; संसिक्त—जल से सींची; मार्ग—सड़कें; अङ्गन—आँगन; वीथि—व्यापारिक मार्ग; देहलीम्—तथा उपवन; पतत्—उड़ते हुए; पताक—झंडों से युक्त; ध्वज—झंडे के डंडों से (ध्वज दण्ड); वारित—दूर किये हुए; आतपाम्—सूर्य की गर्मी से।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब नारदमुनि ने सुना कि भगवान् कृष्ण ने नरकासुर का वध कर दिया है और अकेले अनेक स्त्रियों के साथ विवाह कर लिया है, तो नारदमुनि के मन में

भगवान् को इस स्थिति में देखने की इच्छा हुई। उन्होंने सोचा, ''यह अत्यन्त आश्चर्यजनक है कि एक ही शरीर में भगवान् ने एकसाथ सोलह हजार स्त्रियों से विवाह कर लिया और वह भी अलग अलग महलों में।'' इस तरह देवर्षि उत्सुकतापूर्वक द्वारका गये।

यह नगर बगीचों तथा उद्यानों से युक्त था जिसके आसपास पक्षियों तथा भौंरों की ध्वनि गुंजरित थी। इसके सरोवर खिले हुए इन्दीवर, अम्भोज, कह्लार, कुमुद तथा उत्पल से भरे हुए थे और हंसों तथा सारसों की बोलियों से गुंजायमान थे। द्वारका को नौ लाख राजमहलों के होने का गर्व था। ये सारे महल स्फटिक तथा चाँदी के बने थे और विशाल मरकत मणियों से जाज्वल्यमान थे। इन महलों के भीतर साज-सामान पर सोने तथा रत्नों की सजावट थी। यातायात के लिए व्यवस्थित गलियाँ, सड़कें, चौराहे तथा बाजार थे और इस मनोहर नगर में अनेक सभाभवन तथा देवमन्दिर शोभा को बढ़ाने वाले थे। सड़कें, आँगन, व्यापारिक मार्ग तथा घरों के आँगन जल से सींचे हुए थे और लट्ठों से लहरा रहे झंडों से सूर्य की गर्मी से छाया पा रहे थे।

तात्पर्य : लीला पुरुषोत्तम *भगवान् श्रीकृष्ण* में श्रील प्रभुपाद ने द्वारका नगरी का सुन्दर वर्णन इस प्रकार किया है : ''इस विषय में कि श्रीकृष्ण अनेक पत्नियों के साथ किस तरह गृहस्थी चला रहे हैं जिज्ञासा होने के कारण नारदजी को इन लीलाओं के दर्शन करने की इच्छा हुई। अतएव वे श्रीकृष्ण के विभिन्न घरों को देखने चल पड़े। जब नारद द्वारका पहुँचे तो उन्होंने देखा कि वाटिकाएँ और उद्यान रंगबिरंगे फूलों से पूर्ण हैं और फलों की वाटिकाएँ अनेक प्रकार के फलों से लदी हुई हैं। सुन्दर पक्षी चहचहा रहे थे और मोर हर्ष से कुहक रहे थे। वहाँ ताल तथा सरोवर भी थे, जो रक्तकमलों तथा नीलकमलों से भरे थे और किसी किसी जगह पर नाना प्रकार की कुमुदिनियाँ खिली थीं। जलाशयों में सुन्दर हंस तथा सारस भरे हुए थे और उनकी ध्वनि चारों ओर गूँज रही थी। नगर में चाँदी से बने हुए द्वारों वाले, उच्च कोटि के संगमरमर से बने हुए नौ लाख विशाल महल थे। गृहों तथा महलों के स्तम्भ पारस पत्थर, नीलम तथा मरकत मणियों से सज्जित थे और फर्श से सुन्दर प्रभा चमकती थी। मुख्य पथ, गलियाँ, चौराहें तथा बाजार बहुत ही सुन्दर ढंग से सजाये गये थे। सम्पूर्ण नगर विविध प्रकार के शिल्प सौन्दर्य वाले गृहों, सभाभवनों तथा देवमन्दिरों से पूर्ण था। ये सब मिलकर द्वारका को देदीप्यमान

नगर बना रहे थे। प्रशस्त पथ, चौराहें, गलियाँ तथा मार्ग और प्रत्येक घर के आँगन अत्यन्त स्वच्छ थे। प्रत्येक मार्ग के दोनों ओर झाड़ियाँ तथा समान अन्तर पर बड़े बड़े वृक्ष थे, जो छाया प्रदान करते थे ताकि पथिकों को धूप से कष्ट न हो।''

तस्यामन्त:पुरं श्रीमदर्चितं सर्वधिष्ण्यपै: ।
हरे: स्वकौशलं यत्र त्वष्ट्रा कार्त्स्न्येन दर्शितम् ॥ ७॥
तत्र षोडशभि: सद्मसहस्रै: समलङ्कृतम् ।
विवेशैकतोमं शौरे: पत्नीनां भवनं महत् ॥ ८॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उस (द्वारका) में; अन्त:-पुरम्—रनिवास; श्री-मत्—ऐश्वर्यवान; अर्चितम्—पूजित; सर्व—सभी; धिष्ण्य—विभिन्न लोकों के; पै:—पालकों द्वारा; हरे:—भगवान् हरि का; स्व—निजी; कौशलम्—कौशल; यत्र—जहाँ; त्वष्ट्रा—त्वष्टा (स्वर्ग के शिल्पी विश्वकर्मा); कार्त्स्न्येन—पूर्णतया; दर्शितम्—दिखलाया गया; तत्र—वहाँ; षोडशभि:—सोलह; सद्म—घरों द्वारा; सहस्रै:—हजार; समलङ्कृतम्—सुंदर बनाया हुआ; विवेश—(नारद) प्रविष्ट हुए; एकतमम्—उनमें से एक; शौरे:—भगवान् कृष्ण की; पत्नीनाम्—पत्नियों के; भवनम्—महल; महत्—विशाल।

द्वारका नगर में एक सुन्दर अन्त:पुर था, जो लोकपालों द्वारा पूजित था। यह प्रदेश, जहाँ विश्वकर्मा ने अपनी सारी दैवी निपुणता दिखलाई थी भगवान् हरि का रिहायशी क्षेत्र था अत: इसे भगवान् कृष्ण की रानियों के सोलह हजार महलों से खूब सजाया गया था। नारदमुनि इन्हीं विशाल महलों में से एक में प्रविष्ट हुए।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी इंगित करते हैं कि त्वष्टा अर्थात् विश्वकर्मा ने भगवान् की निपुणता प्रदर्शित की अत: वह ऐसे सुन्दर महल बना सका। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं: ''संसार के बड़े बड़े राजा तथा राजकुमार इन महलों को देखने के लिए (भगवान् कृष्ण की) पूजा करने आते थे। इसकी शिल्प योजना देवताओं के शिल्पी स्वयं विश्वकर्मा ने बनाई थी और इन महलों के निर्माण में उसने अपनी सारी प्रतिभा तथा कौशल का प्रदर्शन किया था।''

विष्टब्धं विद्रुमस्तम्भैर्वैदूर्यफलकोत्तमै: ।
इन्द्रनीलमयै: कुड्यैर्जगत्या चाहतत्विषा ॥ ९॥
वितानैर्निर्मितैस्त्वष्ट्रा मुक्तादामविलम्बिभि: ।
दान्तैरासनपर्यङ्कैर्मण्युत्तमपरिष्कृतै: ॥ ॥
दासीभिर्निष्ककण्ठीभि: सुवासोभिरलङ्कृतम् ।
पुम्भि: सकञ्चुकोष्णीष सुवस्त्रमणिकुण्डलै: ॥ ११॥

रत्नप्रदीपनिकरद्युतिभिर्निरस्त-
ध्वान्तं विचित्रवलभीषु शिखण्डिनोऽङ्ग ।
नृत्यन्ति यत्र विहितागुरुधूपमक्षै-
र्निर्यान्तमीक्ष्य घनबुद्धय उन्नदन्तः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

विष्टब्धम्—टिका; विद्रुम—मूँगे के; स्तम्भैः—ख भों द्वारा; वैदूर्य—वैदूर्य मणियों के; फलक—सजावटी आवरणों से युक्त; उत्तमैः—उत्कृष्ट; इन्द्रनील-मयैः—नीलम से सज्जित; कुड्यैः—दीवालों से; जगत्या—फर्श से; च—तथा; अहत—निरन्तर; त्विषा—तेज से; वितानैः—चँदोवों से; निर्मितैः—निर्मित; त्वष्ट्रा—विश्वकर्मा द्वारा; मुक्ता-दाम—मोतियों की लड़ियों से; विलम्बिभिः—लटकनों से; दान्तैः—हाथी दाँत के; आसन—आसनों से; पर्यङ्कैः—तथा पलँगों से; मणि—मणियों; उत्तम—अतीव सुन्दर; परिष्कृतैः—अलंकृत; दासीभिः—दासियों से; निष्क—गले का पेंडल, लॉकेट; कण्ठीभिः—जिनके कण्ठों में; सु-वासोभिः—सुन्दर वस्त्र पहने; अलङ्कृतम्—अलंकृत; पुम्भिः—मनुष्यों द्वारा; स-कञ्चुक—कवच पहने; उष्णीष—साफा; सु-वस्त्र—सुन्दर कपड़े; मणि—मणिजटित; कुण्डलैः—तथा कुण्डलों से; रत्न—रत्नजटित; प्रदीप—दीपकों के; निकर—समूह; द्युतिभिः—प्रकाश से; निरस्त—भगाया हुआ; ध्वान्तम्—अँधेरा; विचित्र—विविध प्रकार के; वलभीषु—छज्जों पर; शिखण्डिनः—मोर; अङ्ग—हे प्रिय (राजा परीक्षित); नृत्यन्ति—नाचते हैं; यत्र—जहाँ; विहित—रखे गये; अगुरु—अगुरु; धूपम्—धूप; अक्षैः—झरोखों से; निर्यान्तम्—बाहर जाती हुई; ईक्ष्य—देखकर; घन—बादल; बुद्धयः—समझते हुए; उन्नदन्तः—जोर से चिल्लाते, कूकते।

महल को साधने वाले मूँगे के ख भों में वैदूर्य मणि जड़े थे। दीवालों पर नीलम जड़े थे और फर्श स्थायी-चमक से चमक रहे थे। उस महल में त्वष्टा ने चँदोवे बनाये थे जिनसे मोती की लड़ें लटक रही थीं। आसन तथा पलँग हाथी के दाँत तथा बहुमूल्य रत्नों से बने हुए थे। उनकी सेवा में अनेक सुवस्त्राभूषित दासियाँ थीं जो अपने गलों में लॉकेट पहने थीं। साथ ही कवचधारी रक्षक थे, जो साफा, सुन्दर वर्दी तथा रत्नजटित कुण्डल पहने थे। अनेक रत्नजटित दीपों का प्रकाश महल के अंधकार को दूर करने वाला था। हे राजन्, महल के छज्जों पर जोर जोर से कुहक रहे मोर नाच रहे थे, जो जालीदार खिड़कियों के छेदों से निकल रहे सुगन्धित अगुरु को देखकर भ्रम से बादल समझ रहे थे।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "इतना अधिक सुगंधित धूप जलाया जा रहा था कि सुगंधित धुआँ खिड़कियों के बाहर आ रहा था। मयूरों को उस धुएँ से भ्रम हो गया जिससे वे उन्हें मेघ समझ कर हर्ष से नृत्य करने लगे थे। अनेक दासियों ने सोने के हार, चूड़ियाँ तथा सुन्दर साड़ियाँ पहन रखी थीं। अनेक दासों ने उत्तम कुर्ते, साफे तथा रत्नजटित कुण्डल पहन रखे थे। वे सभी दास-दासियाँ अत्यन्त सुन्दर थे और विभिन्न गृहकार्यों में संलग्न थे।"

तस्मिन्समानगुणरूपवयःसुवेष-
दासीसहस्रयुतयानुसवं गृहिण्या ।

विप्रो ददर्श चमरव्यजनेन रुक्म-
दण्डेन सात्वतपतिं परिवीजयन्त्या ॥ १ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उसमें; समान—बराबर; गुण—निजी गुण; रूप—सौन्दर्य; वयः—तारुण्य तथा सुन्दर वेशभूषा; सु-वेष—तथा सुंदर वस्त्र; दासी—दासियों द्वारा; सहस्र—एक हजार; युतया—युक्त; अनुसवम्—प्रतिक्षण; गृहिण्या—अपनी पत्नी समेत; विप्रः—विद्वान ब्राह्मण (नारद) ने; ददर्श—देखा; चमर—चमरी की पूँछ के; व्यजनेन—पंखे से; रुक्म—सोने के; दण्डेन—मूठ वाली; सात्वत-पतिम्—सात्वतों के स्वामी, श्रीकृष्ण; परिवीजयन्त्या—पंखा झलते हुए।

उस महल में विद्वान ब्राह्मण ने सात्वत पति श्रीकृष्ण को उनकी पत्नी के साथ देखा जो सोने की मूठ वाली चामर से पंखा झल रही थीं। वे इस तरह से स्वयं उनकी सेवा कर रही थीं यद्यपि उनकी सेवा में निरन्तर एक हजार दासियाँ लगी थीं जो अपने निजी चरित्र, सौन्दर्य, तारुण्य तथा सुन्दर वेशभूषा में उन्हीं के समान थीं।

तं सन्निरीक्ष्य भगवान्सहसोत्थितश्री-
पर्यङ्कतः सकलधर्मभृतां वरिष्ठः ।
आनम्य पादयुगलं शिरसा किरीट-
जुष्टेन साञ्जलिरवीविशदासने स्वे ॥ १४॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (नारद को); सन्निरीक्ष्य—देखकर; भगवान्—भगवान्; सहसा—तुरन्त; उत्थित—उठ गये; श्री—लक्ष्मी, रानी रुक्मिणी के; पर्यङ्कतः—पलंग से; सकल—सारे; धर्म—धर्म के; भृताम्—धारण करने वाले; वरिष्ठः—श्रेष्ठ; आनम्य—झुककर; पाद-युगलम्—दोनों पैरों को; शिरसा—अपने सिर से; किरीट—मुकुट से; जुष्टेन—युक्त; स-अञ्जलिः—हाथ जोड़कर; अवीविशत्—बैठाया; आसने—आसन पर; स्वे—अपने, निजी।

भगवान् धर्म के सबसे बड़े धारक हैं। अतएव जब उन्होंने नारद को देखा तो वे तुरन्त श्री देवी के पलंग पर से उठ खड़े हुए, नारद के चरणों पर मुकुट युक्त सिर को नवाया और अपने हाथ जोड़कर मुनि को अपने आसन पर बिठाया।

तस्यावनिज्य चरणौ तदपः स्वमूर्ध्ना
बिभ्रज्जगद्गुरुतमोऽपि सतां पतिर्हि ।
ब्रह्मण्यदेव इति यद्गुणनाम युक्तं
तस्यैव यच्चरणशौचमशेषतीर्थम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके; अवनिज्य—धोकर; चरणौ—पाँव; तत्—वह; अपः—जल; स्व—अपने; मूर्ध्ना—सिर पर; बिभ्रत्—लेते हुए; जगत्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के; गुरु-तमः—परम गुरु; अपि—यद्यपि; सताम्—सन्त भक्तों के; पतिः—स्वामी; हि—निस्सन्देह; ब्रह्मण्य—ब्राह्मणों का पक्ष लेने वाले; देवः—प्रभु; इति—इस प्रकार कहे गये; यत्—चूँकि; गुण—गुण; नाम—नाम; युक्तम्—उपयुक्त; तस्य—उसका; एव—निस्सन्देह; यत्—जिसके; चरण—चरणों का; शौचम्—धोना, प्रक्षालन; अशेष—पूर्ण; तीर्थम्—पवित्र स्थान।

भगवान् ने नारद के चरण पखारे और उस जल को अपने सिर पर धारण किया। यद्यपि भगवान् कृष्ण ब्रह्माण्ड के परम गुरु हैं तथा अपने भक्तों के स्वामी हैं किन्तु इस तरह से आचरण करना उनके लिए उपयुक्त था क्योंकि उनका नाम ब्रह्मण्यदेव है अर्थात् ''ब्राह्मणों का पक्ष लेने वाले भगवान्।'' इस तरह श्रीकृष्ण ने नारदमुनि के चरण पखार कर उनका सम्मान किया यद्यपि भगवान् के ही चरणों को धोने वाला जल गंगा बन जाता है, जोकि परम तीर्थ हैं।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् कृष्ण के चरणकमल सर्वाधिक पावन गंगा के उद्‌गम हैं अतएव नारदमुनि के चरण पखार कर भगवान् के लिए अपने आप को शुद्ध करना आवश्यक नहीं था। प्रत्युत, जैसाकि श्रील प्रभुपाद बतलाते हैं, ''द्वारका में भगवान् कृष्ण पूर्ण मानव की लीला का आनन्द ले रहे थे। अतएव जब उन्होंने नारदमुनि के चरणों को पखारकर उस जल को अपने सिर पर धारण किया, तो नारद ने आपत्ति नहीं की क्योंकि वे अच्छी तरह जानते थे कि भगवान् ने हर एक को यह शिक्षा देने के लिए ऐसा किया है कि किस तरह सन्त पुरुषों का आदर किया जाता है।''

सम्पूज्य देवऋषिवर्यमृषिः पुराणो
नारायणो नरसखो विधिनोदितेन ।
वाण्याभिभाष्य मितयामृतमिष्टया तं
प्राह प्रभो भगवते करवाम हे किम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सम्पूज्य—अच्छी तरह पूजा करके; देव—देवताओं में; ऋषि—ऋषि; वर्यम्—सर्वोच्च; ऋषिः—ऋषि; पुराणः—आदि; नारायणः—भगवान् नारायण; नर-सखः—नर के मित्र; विधिना—शास्त्र द्वारा; उदितेन—आदिष्ट; वाण्या—वाणी से; अभिभाष्य—कह कर; मितया—नपी-तुली; अमृत—अमृत से; मिष्टया—मधुर; तम्—उसे, नारद को; प्राह—सम्बोधित किया; प्रभो—हे स्वामी; भगवते—भगवान् के लिए; करवाम—हम कर सकते हैं; हे—ओ; किम्—क्या।

वैदिक आदेशों के अनुसार देवर्षि की समुचित पूजा करने के बाद, नर के मित्र आदि ऋषि नारायण, भगवान् कृष्ण, ने नारद से बातें कीं और भगवान् की नपी-तुली वाणी अमृत की तरह मधुर थी। अन्त में भगवान् ने नारद से पूछा, ''हे प्रभु एवं स्वामी, हम आपके लिए क्या कर सकते हैं?''

तात्पर्य : इस श्लोक में *नारायणो नरसखः* शब्द सूचित करते हैं कि कृष्ण साक्षात् नारायण हैं, जो ऋषि नर के मित्र रूप में प्रकट हुए थे। दूसरे शब्दों में, कृष्ण *ऋषि पुराणः* हैं अर्थात् आदि तथा परम गुरु हैं। फिर भी, वैदिक आदेशों का पालन करते हुए (*विधिनोदितेन*) कि क्षत्रिय को ब्राह्मणों की

पूजा करनी चाहिए। भगवान् कृष्ण ने हर्ष पूर्वक अपने शुद्ध भक्त नारद मुनि की पूजा की।

श्रीनारद उवाच

नैवाद्भुतं त्वयि विभोऽखिललोकनाथे
मैत्री जनेषु सकलेषु दमः खलानाम् ।
निःश्रेयसाय हि जगत्स्थितिरक्षणाभ्यां
स्वैरावतार उरुगाय विदाम सुष्ठु ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद ने कहा; न—नहीं; एव—तनिक भी; अद्भुतम्—आश्चर्यजनक; त्वयि—आपके लिए; विभो—हे सर्वशक्तिमान; अखिल—समस्त; लोक—लोकों के; नाथे—शासक के लिए; मैत्री—मित्रता; जनेषु—लोगों में; सकलेषु—समस्त; दमः—दमन; खलानाम्—ईर्ष्यालुओं के; निःश्रेयसाय—सर्वोच्च लाभ के लिए; हि—निस्सन्देह; जगत्—ब्रह्माण्ड के; स्थिति—पालन; रक्षणाभ्याम्—तथा सुरक्षा द्वारा; स्वैर—स्वेच्छा से; अवतारः—अवतार; उरु-गाय—हे विश्ववन्द्य; विदाम—हम जानते हैं; सुष्ठु—भलीभाँति।

श्री नारद ने कहा : हे सर्वशक्तिमान, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि समस्त जगतों के शासक आप सारे लोगों से मित्रता प्रदर्शित करते हुए भी दुष्टों का दमन करते हैं। जैसा कि हम सभी लोग भलीभाँति जानते हैं आप इस ब्रह्माण्ड में इसके पालन तथा रक्षण के द्वारा परम लाभ प्रदान करने के लिए स्वेच्छा से अवतरित होते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं वस्तुतः सारे जीव भगवान् के दास हैं। उन्होंने व्याख्या के लिए *पद्म पुराण* का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

अकारेणोच्यते विष्णुः श्रीरुकारेण कथ्यते।

मकारस्तु तयोर्दासः पञ्चविंशः प्रकीर्तितः ॥

“[ॐ मंत्र में] अ अक्षर भगवान् विष्णु का सूचक है और उ देवीश्री का तथा म उनके दास का सूचक है, जो पच्चीसवाँ तत्त्व है।” पच्चीसवाँ तत्त्व *जीव* है। प्रत्येक जीव ईश्वर का दास है और ईश्वर हर जीव के असली मित्र हैं। इस तरह जब भगवान्, जरासन्ध जैसे दुष्ट व्यक्तियों को दण्डित भी करते हैं, तो वह दण्ड एक तरह से मित्रता जैसा होता है क्योंकि भगवान् द्वारा दिया जाने वाला दण्ड तथा उनका आशीर्वाद दोनों ही जीव के लाभ हेतु हैं।

दृष्टं तवाङ्घ्रियुगलं जनतापवर्गं
ब्रह्मादिभिर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः ।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं

ध्यायंश्चराम्यनुगृहाण यथा स्मृतिः स्यात् ॥ १८॥

शब्दार्थ

दृष्टम्—देखे हुए; तव—तुम्हारे; अङ्घ्रि—पैरों की; युगलम्—जोड़ी; जनता—अपने भक्तों के लिए; अपवर्गम्—मोक्ष का उद्गम; ब्रह्म-आदिभिः—ब्रह्मा जैसे व्यक्तियों के द्वारा; हृदि—हृदय में; विचिन्त्यम्—सोचते हुए; अगाध—अथाह; बोधैः—बुद्धि से; संसार—भौतिक जीवन रूपी; कूप—कुएँ में; पतित—गिरे हुओं के; उत्तरण—उद्धार के लिए; अवलम्बम्—शरण; ध्यायन्—निरन्तर सोचते हुए; चरामि—विचरण करता हूँ; अनुगृहाण—आशीर्वाद दें; यथा—जिससे; स्मृतिः—स्मरणशक्ति; स्यात्—हो।

अब मैंने आपके उन चरणों के दर्शन किये हैं, जो आपके भक्तों को मोक्ष प्रदान करते हैं तथा जिन्हें ब्रह्मा तथा अन्य अथाह बुद्धि वाले महापुरुष भी केवल अपने हृदयों में ध्यान कर सकते हैं किन्तु जो भवकूप में गिर चुके हैं, वे उद्धार हेतु जिनकी शरण ग्रहण करते हैं। आप मुझ पर कृपालु हों जिससे विचरण करते हुए मैं निरन्तर आपका स्मरण कर सकूँ। कृपा करके मुझे शक्ति दें कि मैं आपका स्मरण कर सकूँ।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ने नारद मुनि से पूछा था, ''हम आपके लिए क्या कर सकते हैं?'' और यहाँ नारद उत्तर दे रहे हैं। नारद मुनि भगवान् कृष्ण के शुद्ध भक्त हैं अतः उनकी प्रार्थना दिव्य है।

ततोऽन्यदाविशद्गेहं कृष्णपत्न्याः स नारदः ।
योगेश्वरेश्वरस्याङ्ग योगमायाविवित्सया ॥ १९॥

शब्दार्थ

ततः—तब; अन्यत्—दूसरे; आविशत्—प्रवेश किया; गेहम्—आवास में; कृष्ण-पत्न्याः—कृष्ण की पत्नी के; सः—वह; नारदः—नारदमुनि; योग-ईश्वर—योगेश्वरों के; ईश्वरस्य—ईश्वर के; अङ्ग—हे राजा; योग-माया—मोह की आध्यात्मिक शक्ति; विवित्सया—जानने की इच्छा से।

हे राजन्, तब नारद ने भगवान् कृष्ण की दूसरी पत्नी के महल में प्रवेश किया। वे योगेश्वरों के ईश्वर की आध्यात्मिक शक्ति देखने के लिए उत्सुक थे।

दीव्यन्तमक्षैस्तत्रापि प्रियया चोद्धवेन च ।
पूजितः परया भक्त्या प्रत्युत्थानासनादिभिः ॥ २०॥
पृष्टश्चाविदुषेवासौ कदायातो भवानिति ।
क्रियते किं नु पूर्णानामपूर्णैरस्मदादिभिः ॥ २१॥
अथापि ब्रूहि नो ब्रह्मन्जन्मैतच्छोभनं कुरु ।
स तु विस्मित उत्थाय तूष्णीमन्यदगाद्गृहम् ॥ २२॥

शब्दार्थ

दीव्यन्तम्—खेलते हुए; अक्षैः—चौसर से; तत्र—वहाँ; अपि—निस्सन्देह; प्रियया—अपनी प्रिया के साथ; च—तथा; उद्धवेन—उद्धव के साथ; च—भी; पूजितः—पूजित; परया—दिव्य; भक्त्या—भक्ति द्वारा; प्रत्युत्थान—अपने आसन से खड़े

होकर; आसन—आसन प्रदान करके; आदिभि:—इत्यादि से; पृष्ट:—पूछा; च—तथा; अविदुषा—अज्ञानी द्वारा; इव—मानो; असौ—वह, नारद; कदा—कब; आयात:—आये हुए; भवान्—आप; इति—इस प्रकार; क्रियते—करने की इच्छा से; किम्—क्या; नु—निस्सन्देह; पूर्णानाम्—जो पूर्ण हैं उनके द्वारा; अपूर्णै:—जो पूर्ण नहीं हैं उनके द्वारा; अस्मत्-आदिभि:—हम जैसों के द्वारा; अथ अपि—तो भी; ब्रूहि—कृपा करके कहें; न:—हमसे; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; जन्म—हमारा जन्म; एतत्—यह; शोभनम्—शुभ; कुरु—कीजिये; स:—वह, नारद; तु—लेकिन; विस्मित:—चकित; उत्थाय—उठकर; तूष्णीम्—चुपचाप; अन्यत्—अन्यत्र; अगात्—चले गये; गृहम्—महल में।.

वहाँ उन्होंने भगवान् को अपनी प्रिया तथा अपने मित्र उद्धव के साथ चौसर खेलते देखा। भगवान् कृष्ण ने खड़े होकर और उन्हें आसन देकर नारदजी की पूजा की और तब उनसे इस तरह पूछा मानो वे कुछ जानते ही न हों, ''आप कब आये? हम जैसे अपूर्ण व्यक्ति आप जैसे पूर्ण व्यक्तियों के लिए क्या कर सकते हैं? हे ब्राह्मण, जैसा भी हो, कृपा करके मेरे जीवन को शुभ बना दें।'' ऐसा कहे जाने पर नारद चकित हो गए। वे चुपचाप खड़े रहे और अन्य महल में चले गये।

तात्पर्य : *भगवान् श्रीकृष्ण* में श्रील प्रभुपाद बतलाते हैं कि जब नारद दूसरे महल में आये तो ''कृष्ण ने ऐसा अभिनय किया मानो रुक्मिणी के महल में जो कुछ हुआ था उसे वे जानते ही न हों।'' नारद समझ गये कि कृष्ण एक ही समय दोनों महलों में उपस्थित थे और विभिन्न कार्य कर रहे थे अतएव ''वे भगवान् के कार्यों पर अत्यधिक आश्चर्य करके चुपचाप उस महल से चलते बने।''

तत्राप्यचष्ट गोविन्दं लालयन्तं सुताञ्शिशून् ।
ततोऽन्यस्मिन्गृहेऽपश्यन्मज्जनाय कृतोद्यमम् ॥ २॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अपि—और; अचष्ट—देखा; गोविन्दम्—भगवान् कृष्ण को; लालयन्तम्—दुलारते हुए; सुतान्—बच्चों को; शिशून्—छोटे; तत:—तब; अन्यस्मिन्—दूसरे; गृहे—महल में; अपश्यत्—देखा (कृष्ण को); मज्जनाय—स्नान करने के लिए; कृत-उद्यमम्—तैयारी करते हुए।.

इस बार नारदजी ने देखा कि भगवान् कृष्ण अपने छोटे छोटे बच्चों को वत्सल पिता की तरह दुलार रहे थे। वहाँ से वे अन्य महल में गये और उन्होंने देखा कि भगवान् कृष्ण स्नान करने के लिए तैयारी कर रहे हैं।

तात्पर्य : उपर्युक्त भावार्थ श्रील प्रभुपाद कृत *भगवान् श्रीकृष्ण* से लिया गया है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती टीका करते हैं कि नारद प्राय: जितने महलों में गये भगवान् कृष्ण ने वहाँ वहाँ उनकी पूजा की और सम्मान प्रदान किया।

जुह्वन्तं च वितानाग्नीन्यजन्तं पञ्चभिर्मखैः ।
भोजयन्तं द्विजान्क्वापि भुञ्जानमवशेषितम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

जुह्वन्तम्—आहुति डालते; च—तथा; वितान-अग्नीन्—यज्ञ अग्नि में; यजन्तम्—पूजा करते हुए; पञ्चभिः—पाँच; मखैः—अनिवार्य अनुष्ठानों (यज्ञ) द्वारा; भोजयन्तम्—खिलाते हुए; द्विजान्—ब्राह्मणों को; क्व अपि—कहीं; भुञ्जानम्—खाते हुए; अवशेषितम्—उच्छिष्ट।

एक स्थान पर भगवान् यज्ञ-अग्नियों में आहुतियाँ डाल रहे थे, दूसरे में पाँच महायज्ञों द्वारा पूजा कर रहे थे, अन्यत्र वे ब्राह्मणों को भोजन करा रहे थे तो कहीं पर ब्राह्मणों के द्वारा छोड़े गए भोजन को खा रहे थे।

तात्पर्य : पंच महायज्ञों की परिभाषा इस प्रकार है *पाठो होमश्च चातिथीनां सपर्या तर्पणं बलि:*—वेद पाठ, यज्ञअग्नि में आहुति डालना, अतिथियों की सेवा, पूर्वजों को बलि देना तथा सामान्य जीवों को (अपने भोजन में से) एक भाग देना।''

श्रील प्रभुपाद ने इन यज्ञों के बारे में निम्नलिखित टीका की है : ''अन्य महल में श्रीकृष्ण गृहस्थों के लिए आवश्यक पंचयज्ञ नामक यज्ञ करते हुए पाये गये। इस यज्ञ को पंचसूना के नाम से भी जाना जाता है। ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से प्रत्येक व्यक्ति, विशेष रूप से गृहस्थ, पाँच प्रकार के पापकर्म करता है। जब हम घड़े से जल लेते हैं, तो हम उसमें रहने वाले अनेक कीटाणुओं का वध करते हैं। उसी तरह जब हम चक्की चलाते हैं अथवा भोजन करते हैं, तो हम अनेक कीटाणुओं का वध करते हैं। झाड़ू लगाते समय अथवा आग जलाते समय भी हम अनेक कीटाणुओं का वध करते हैं। जब हम सड़क पर चलते हैं, तो हम अनेक चीटियों तथा अन्य कीड़ों-मकोड़ों का वध कर जाते हैं। चेतन अथवा अचेतन अवस्था में हम समस्त विभिन्न गतिविधियों में हत्या करते हैं। इसलिए इन पापकर्मों के फल से मुक्ति पाने के लिए पंचसूना यज्ञ करना प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनिवार्य है।''

इस श्लोक की टीका करते हुए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती पुन: इंगित करते हैं कि भगवान् कृष्ण के महलों में दिन के विभिन्न समय घटित हो रहे थे। नारद ने अग्नियज्ञ—प्रात:कालीन अनुष्ठान—कराते तथा लगभग उसी समय भगवान् कृष्ण को ब्राह्मणों को भोजन कराते तथा उनके उच्छिष्ट को ग्रहण करते देखा—जो दोपहर के कार्य हैं।

क्वापि सन्ध्यामुपासीनं जपन्तं ब्रह्म वाग्यतम् ।

एकत्र चासिचर्माभ्यां चरन्तमसिवर्त्मसु ॥ २५॥

शब्दार्थ

क्व अपि—कहीं; सन्ध्याम्—संध्याकालीन अनुष्ठान; उपासीनम्—पूजा करते; जपन्तम्—मौन होकर जप करते; ब्रह्म—वैदिक मंत्र (गायत्री); वाक्-यतम्—अपनी वाणी को संयत करते; एकत्र—एक स्थान में; च—तथा; असि—तलवार; चर्माभ्याम्—तथा ढाल को; चरन्तम्—चलाते; असि-वर्त्मसु—तलवार चलाने के अभ्यास हेतु नियत दालानों में।

कहीं पर भगवान् मौन रहकर तथा मन ही मन गायत्री मंत्र का जप करते हुए संध्याकालीन पूजा के लिए अनुष्ठान कर रहे थे तो कुछ स्थानों पर जो तलवार के अभ्यास के लिए नियत थे, वे तलवार-ढाल चला रहे थे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार *सन्ध्याम् उपासीनम्* शब्द संध्याकालीन अनुष्ठान के सूचक हैं जबकि *असि-चर्माभ्याम् चरन्तम्* तलवार चलाने के अभ्यास के सूचक हैं जिसे अधिक सुबह किया जाता है।

अश्वैर्गजै रथैः क्वापि विचरन्तं गदाग्रजम् ।
क्वचिच्छयानं पर्यङ्के स्तूयमानं च वन्दिभिः ॥ २६॥

शब्दार्थ

अश्वैः—घोड़ों पर; गजैः—हाथियों पर; रथैः—रथों पर; क्व अपि—कहीं; विचरन्तम्—सवारी करते; गद-अग्रजम्—गद के बड़े भाई, कृष्ण को; क्वचित्—कहीं; शयानम्—लेटे हुए; पर्यङ्के—पलंग में; स्तूयमानम्—प्रशंसा किये जाते; च—तथा; वन्दिभिः—वन्दीजनों (भाटों) द्वारा।

एक स्थान पर भगवान् गदाग्रज घोड़ों, हाथियों तथा रथों पर सवारी कर रहे थे और दूसरे स्थान पर वे अपने पलंग पर लेटे थे तथा भाट उनकी महिमा का गायन कर रहे थे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि घोड़ों तथा हाथियों पर सवारी करना दोपहर का कार्य है, जबकि लेटना रात के दूसरे पहर का।

मन्त्रयन्तं च कस्मिंश्चिन्मन्त्रिभिश्चोद्धवादिभिः ।
जलक्रीडारतं क्वापि वारमुख्याबलावृतम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

मन्त्रयन्तम्—विचार-विमर्श करते; च—तथा; कस्मिंश्चित्—कहीं; मन्त्रि-भिः—मंत्रियों के साथ; च—तथा; उद्धव-आदिभिः—उद्धव तथा अन्य; जल—जल में; क्रीडा—खिलवाड़ में; रतम्—व्यस्त; क्व अपि—कहीं; वार-मुख्या—राजसी नृत्यांगनाओं द्वारा; अबला—तथा अन्य स्त्रियों के; वृतम्—साथ में।

कहीं वे उद्धव तथा अन्य राजमंत्रियों से सलाह-मशविरा कर रहे थे तो कहीं पर वे अनेक नृत्यांगनाओं तथा अन्य तरुणियों से घिरकर जल-क्रीड़ा कर रहे थे।

तात्पर्य : यह भावार्थ श्रील प्रभुपाद द्वारा रचित भगवान् श्रीकृष्ण पर आधारित है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार, भगवान् कृष्ण अपने मंत्रियों से संध्या के लगभग मिले और जल-क्रीड़ा की लीला दोपहर के बाद हुई।

कुत्रचिदि्द्वजमुख्येभ्यो ददतं गाः स्वलङ्कृताः ।
इतिहासपुराणानि शृण्वन्तं मङ्गलानि च ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

कुत्रचित्—कहीं; द्विज—ब्राह्मणों को; मुख्येभ्यः—सर्वश्रेष्ठ; ददतम्—देते हुए; गाः—गौवें; सु—अच्छी तरह; अलङ्कृताः—आभूषित; इतिहास—प्राचीन इतिहास; पुराणानि—तथा पुराणों को; शृण्वन्तम्—सुनते हुए; मङ्गलानि—शुभ; च—तथा।

कहीं वे उत्तम ब्राह्मणों को भलीभाँति अलंकृत गौवें दान दे रहे थे और कहीं वे महाकाव्य के इतिहासों तथा पुराणों का शुभ वृत्तान्त सुन रहे थे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि गौवों का दान प्रात:काल दिया जाता है, जबकि इतिहास श्रवण अपराह्न में सम्पन्न होता है।

हसन्तं हासकथया कदाचित्प्रियया गृहे ।
क्वापि धर्मं सेवमानमर्थकामौ च कुत्रचित् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

हसन्तम्—हँसते हुए; हास-कथया—हँसी-मजाक के वार्तालाप से; कदाचित्—किसी समय; प्रियया—अपनी पत्नी से; गृहे—महल में; क्व अपि—कहीं; धर्मम्—धर्म का; सेवमानम्—अभ्यास करते हुए; अर्थ—आर्थिक विकास; कामौ—इन्द्रिय-तृप्ति; च—तथा; कुत्रचित्—कहीं।

कहीं पर भगवान् कृष्ण किसी एक पत्नी के साथ हास-परिहास करते देखे गये। कहीं और वे अपनी पत्नी समेत धार्मिक-अनुष्ठान के कृत्यों में व्यस्त पाये गये। कहीं कृष्ण आर्थिक विकास के मामलों में तो कहीं शास्त्रों के नियमानुसार गृहस्थ जीवन का भोग करते पाये गये।

तात्पर्य : उक्त भावार्थ श्रील प्रभुपाद कृत *भगवान् श्रीकृष्ण* पर आधारित है।

हँसी-मजाक रात के समय किया जाता है, जबकि धार्मिक अनुष्ठान, आर्थिक विकास का कार्य तथा गृहस्थ जीवन का भोग दिन तथा रात दोनों ही में चलता है।

ध्यायन्तमेकमासीनं पुरुषं प्रकृतेः परम् ।
शुश्रूषन्तं गुरून्क्वापि कामैर्भोगैः सपर्यया ॥ ० ॥

शब्दार्थ

ध्यायन्तम्—ध्यान करते हुए; एकम्—एकाकी; आसीनम्—बैठे हुए; पुरुषम्—भगवान् को; प्रकृतेः—भौतिक प्रकृति का; परम्—दिव्य; शुश्रूषन्तम्—क्षुद्र सेवा करते हुए; गुरून्—अपने से बड़ों की; क्व अपि—कहीं; कामैः—इच्छित; भोगैः—भोग्य वस्तुओं से; सपर्यया—तथा पूजा से।

कहीं वे अकेले बैठे हुए भौतिक प्रकृति से परे भगवान् का ध्यान कर रहे थे और कहीं पर वे अपने से बड़ों को इच्छित वस्तुएँ देकर तथा उनकी आदरपूर्वक पूजा करके उनकी दासोचित सेवा कर रहे थे।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद की टीका है : "जैसाकि प्रामाणिक ग्रंथों में कहा गया है ध्यान भगवान् विष्णु पर चित्त को एकाग्र करने के लिए किया जाता है। भगवान् कृष्ण स्वयं ही आदि विष्णु हैं किन्तु एक मानव की भूमिका मे रहने के कारण अपने व्यक्तिगत व्यवहार द्वारा उन्होंने हमें निश्चित रूप से यह शिक्षा दी कि ध्यान का क्या अर्थ है।"

ध्यान का यह कार्य *ब्राह्म मुहूर्त* अर्थात् सूर्योदय के पूर्व भोर समय का सूचक है।

कुर्वन्तं विग्रहं कैश्चित्सन्धिं चान्यत्र केशवम् ।
कुत्रापि सह रामेण चिन्तयन्तं सतां शिवम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

कुर्वन्तम्—करते हुए; विग्रहम्—युद्ध; कैश्चित्—किसी व्यक्ति से; सन्धिम्—मेल-जोल; च—तथा; अन्यत्र—और कहीं; केशवम्—भगवान् कृष्ण को; कुत्र अपि—कहीं; सह—साथ; रामेण—बलराम के; चिन्तयन्तम्—सोचते हुए; सताम्—साधुओं के; शिवम्—कल्याण हेतु।

एक स्थान पर वे अपने कुछ सलाहकारों के साथ विचार-विमर्श करके युद्धों की योजना बना रहे थे और अन्य स्थान पर वे शान्ति स्थापित कर रहे थे। कहीं पर केशव तथा बलराम मिलकर पवित्र लोगों के कल्याण के विषय में चिन्तन कर रहे थे।

पुत्राणां दुहितॄणां च काले विध्युपयापनम् ।
दारैर्वरैस्तत्सदृशैः कल्पयन्तं विभूतिभिः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

पुत्राणाम्—पुत्रों के; दुहितॄणाम्—पुत्रियों के; च—तथा; काले—उपयुक्त समय पर; विधि—धर्म के अनुसार; उपयापनम्—उन्हें विवाहित करके; दारैः—पत्नियों के साथ; वरैः—तथा पतियों के साथ; तत्—उनके; सदृशैः—अनुरूप; कल्पयन्तम्—व्यवस्था करते हुए; विभूतिभिः—ऐश्वर्य की दृष्टि से।

नारद ने देखा कि भगवान् कृष्ण अपने पुत्रों तथा पुत्रियों का उचित समय पर उपयुक्त पत्नियों तथा पतियों के साथ विवाह करा रहे हैं और ये विवाहोत्सव बड़ी धूमधाम से सम्पन्न हो

रहे हैं।

तात्पर्य : उक्त भावार्थ श्रील प्रभुपाद कृत *भगवान् श्रीकृष्ण* पर आधारित है।

यहाँ पर *काले* शब्द का अर्थ है कि जब भगवान् कृष्ण के पुत्र तथा पुत्रियाँ समुचित आयु की हो गईं तो उनके विवाह की व्यवस्था की गई।

प्रस्थापनोपनयनैरपत्यानां महोत्सवान् ।
वीक्ष्य योगेश्वरेशस्य येषां लोका विसिस्मिरे ॥ ॥

शब्दार्थ

प्रस्थापन—विदा करके; उपनयनैः—अगवानी करके; अपत्यानाम्—अपनी सन्तानों के; महा—महान्; उत्सवान्—उछाह; वीक्ष्य—देखकर; योग-ईश्वर—योग के स्वामियों के; ईशस्य—परम प्रभु को; येषाम्—जिसके; लोकाः—लोग; विसिस्मिरे—विस्मित थे।.

नारद ने देखा कि किस तरह समस्त योगेश्वरों के स्वामी श्रीकृष्ण ने अपनी पुत्रियों तथा दामादों की विदाई की तथा पुनः महोत्सवों के अवसरों पर उनका घर में स्वागत करने की व्यवस्था की। सारे नागरिक इन उत्सवों को देखकर विस्मित थे।

यजन्तं सकलान्देवान्क्वापि क्रतुभिरूर्जितैः ।
पूर्तयन्तं क्वचिद्धर्मं कूर्पाराममठादिभिः ॥ ४॥

शब्दार्थ

यजन्तम्—पूजा करते; सकलान्—समस्त; देवान्—देवताओं की; क्व अपि—कहीं; क्रतुभिः—यज्ञों से; ऊर्जितैः—पूरी तरह विकसित; पूर्तयन्तम्—लोकसेवा पूरी करते हुए; क्वचित्—कहीं; धर्मम्—धार्मिक बन्धन; कूर्प—कुओं से; आराम—जन उद्यान; मठ—मठ; आदिभिः—इत्यादि से।.

कहीं पर वे विस्तृत यज्ञों द्वारा देवताओं को पूज रहे थे और कहीं वे जनकल्याण कार्य यथा कुएँ, जन उद्यान तथा मठ बनवाकर अपना धार्मिक कर्तव्य पूरा कर रहे थे।

चरन्तं मृगयां क्वापि हयमारुह्य सैन्धवम् ।
घ्नन्तं तत्र पशून्मेध्यान्परीतं यदुपुङ्गवैः ॥ ५॥

शब्दार्थ

चरन्तम्—विचरण करते; मृगयाम्—शिकार करने के लिए; क्व अपि—कहीं; हयम्—घोड़े पर; आरुह्य—सवार होकर; सैन्धवम्—सिन्धु देश के; घ्नन्तम्—वध करते हुए; तत्र—वहाँ; पशून्—पशुओं को; मेध्यान्—यज्ञ में बलि के योग्य; परीतम्—घिरकर; यदु-पुङ्गवैः—अत्यन्त वीर यदुओं से।.

अन्य स्थान पर वे आखेट पर गये थे। वे अपने सिन्धी घोड़े पर सवार होकर तथा अत्यन्त वीर यदुओं के संग यज्ञ में बलि के निमित्त पशुओं का वध कर रहे थे।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद की टीका है, ''वैदिक नियमों के अनुसार क्षत्रियों को वन में शान्ति बनाये रखने के लिए अथवा यज्ञ में बलि देने के लिए कतिपय अवसरों पर निर्दिष्ट पशुओं का शिकार करने की अनुमति थी। क्षत्रियों को वध करने की इस कला का अभ्यास करने की छूट है क्योंकि उन्हें समाज में शान्ति बनाये रखने के लिए अपने शत्रुओं का निर्ममतापूर्वक वध करना होता है।''

अव्यक्तलिन्गं प्रकृतिष्वन्तःपुरगृहादिषु ।
क्वचिच्चरन्तं योगेशं तत्तद्भावबुभुत्सया ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अव्यक्त—गुप्त; लिङ्गम्—उनकी पहचान; प्रकृतिषु—अपने मंत्रियों में; अन्तः-पुर—रनिवास के; गृह-आदिषु—आवासों आदि में.; क्वचित्—कहीं; चरन्तम्—विचरण करते; योग-ईशम्—योगेश्वर को; तत्-तत्—उनमें से हर एक का; भाव—मनोभाव; बुभुत्सया—जानने की इच्छा से।.

कहीं योगेश्वर कृष्ण वेश बदलकर मंत्रियों तथा अन्य नागरिकों के घरों में यह जानने के लिए कि उनमें से हर कोई क्या सोच रहा है, इधर उधर घूम रहे थे।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् कृष्ण सर्वज्ञ हैं किन्तु राजा की भाँति लीला करते हुए कभी कभी वेश बदलकर अपने राज्य की आवश्यक जानकारी प्राप्त करने के लिए विचरण करते थे।

अथोवाच हृषीकेशं नारदः प्रहसन्निव ।
योगमायोदयं वीक्ष्य मानुषीमीयुषो गतिम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात; उवाच—कहा; हृषीकेशम्—भगवान् कृष्ण से; नारदः—नारद ने; प्रहसन्—हँसते हुए; इव—थोड़ा थोड़ा; योग-माया—उनकी आध्यात्मिक मोहक शक्ति का; उदयम्—प्राकट्य; वीक्ष्य—देखकर; मानुषीम्—मनुष्य की; ईयुषः—धारण करने वाले; गतिम्—चाल-ढाल का।.

इस प्रकार भगवान् की योगमाया का यह दृश्य देखकर नारद मुसकाये और तब उन्होंने भगवान् हृषीकेश को सम्बोधित किया जो मनुष्य का आचरण कर रहे थे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार नारदमुनि भगवान् की सर्वज्ञता को पूरी तरह समझते थे अतः जब उन्होंने भगवान् को वेश बदलकर अपने मंत्रियों के भाव जानने का प्रयत्न करते देखा तो नारद अपनी हँसी रोक न सके। किन्तु भगवान् के परम पद का स्मरण करते हुए उन्होंने अपनी हँसी को कुछ कुछ रोक लिया।

विदाम योगमायास्ते दुर्दर्शा अपि मायिनाम् ।
योगेश्वरात्मन्निर्भाता भवत्पादनिषेवया ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

विदाम—हम जानते हैं; योग-मायाः—योगशक्तियाँ; ते—तुम्हारी; दुर्दर्शाः—देख पाना असम्भव; अपि—होते हुए भी; मायिनाम्—महान् योगियों के लिए; योग-ईश्वर—हे योगेश्वर; आत्मन्—हे परमात्मा; निर्भाताः—अनुभूति हुई; भवत्—आपके; पाद—चरणों की; निषेवया—सेवा से।

[नारद ने कहा] : हे परमात्मा, हे योगेश्वर, अब हम आपकी योगशक्तियों को समझ सके हैं, जिन्हें बड़े बड़े योगी भी मुश्किल से समझ पाते हैं। एकमात्र आपके चरणों की सेवा करने से मैं आपकी शक्तियों का अनुभव कर सका हूँ।

तात्पर्य : आचार्यों के अनुसार यह श्लोक इंगित करता है कि ब्रह्मा तथा शिव जैसे बड़े बड़े योगी भी भगवान् की योगशक्ति को पूरी तरह समझ नहीं पाते।

अनुजानीहि मां देव लोकांस्ते यशसाप्लुतान् ।
पर्यटामि तवोद्गायन्लीला भुवनपावनीः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अनुजानीहि—मुझे जाने की आज्ञा दें, विदा करें; माम्—मुझको; देव—हे प्रभु; लोकान्—लोकों को; ते—तुम्हारे; यशसा—यश से; आप्लुतान्—आप्लावित परिपूर्ण; पर्यटामि—विचरण करूँगा; तव—तुम्हारी; उद्गायन्—जोर जोर से गाते हुए; लीलाः—लीलाएँ; भुवन—सारे लोकों को; पावनीः—पवित्र करने वाली।

हे प्रभु, मुझे जाने की आज्ञा दें। मैं उन लोकों में, जो आपके यश से आप्लावित हैं, ब्रह्माण्ड को पवित्र करने वाली आपकी लीलाओं का जोर जोर से गायन करते हुए विचरण करूँगा।

तात्पर्य : नारद मुनि तक भगवान् कृष्ण की मानव रूप में की जा रही आश्चर्यमयी लीलाओं को देखकर मोहित थे। अतएव वे *अनुजानीहि मां देव* शब्दों के द्वारा अपने पर्यटन तथा प्रचार के सामान्य कार्य में वापस जाने की अनुमति चाहते हैं। जो कुछ उन्होंने देखा था उससे प्रोत्साहित होकर वे भगवान् श्रीकृष्ण के यश का दूर दूर तक प्रचार करना चाह रहे थे।

श्रीभगवानुवाच
ब्रह्मन्धर्मस्य वक्ताहं कर्ता तदनुमोदिता ।
तच्छिक्षयन्लोकमिममास्थितः पुत्र मा खिदः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; धर्मस्य—धर्म का; वक्ता—उपदेशक; अहम्—मैं; कर्ता—करने वाला; तत्—उसका; अनुमोदिता—स्वीकृति देने वाला; तत्—वह; शिक्षयन्—शिक्षा देते हुए; लोकम्—संसार को; इमम्—इस; आस्थितः—स्थित; पुत्र—हे पुत्र; मा खिदः—क्षुब्ध न होना।

भगवान् ने कहा : हे ब्राह्मण, मैं धर्म का उपदेशक, उसका कर्ता तथा अनुमोदनकर्ता हूँ। हे पुत्र, मैं जगत को शिक्षा देने के लिए धर्म का पालन करता हूँ, अतएव तुम विक्षुब्ध मत होना।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि भगवान् कृष्ण नारद के उस आकुलता को दूर करना चाहते थे जिसे उन्होंने भगवान् कृष्ण द्वारा देवताओं की तथा स्वयं की पूजा करते देखकर अनुभव किया था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कृष्ण के भावों की निम्नलिखित व्याख्या देते हैं ''जैसाकि मैंने *भगवद्गीता* में कहा है—*यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः*—महापुरुष जो भी करता है सामान्यजन उसी का अनुसरण करते हैं। इसीलिए मैंने धर्म के नियमों का विस्तार करने के लिए ही आज आपके चरण पखारे हैं। भूतकाल में, अभी मैंने धर्म के नियमों का सीधे उपदेश देने की लीला प्रारम्भ नहीं की थी कि तुमने मेरे द्वारा केशी असुर के मारे जाने पर मेरी स्तुति की थी, किन्तु मैं तुम्हारी विस्तृत स्तुतियों तथा यशोगान को केवल सुनता रहा और तुम्हारा सम्मान नहीं किया। इसे स्मरण करके केवल विचार करो।

तुम मेरे द्वारा आज अपने चरण पखारे जाने और चरणोदक को स्वीकार करने की अनुमति देने को अपराध न मानो? जिस तरह बालक अपने पिता की गोद में बैठे हुए अपने पाँव छुआकर पिता का अपमान नहीं करता उसी तरह, हे पुत्र! तुम भी समझो कि तुमने कोई अपराध नहीं किया।''

श्रीशुक उवाच
इत्याचरन्तं सद्धर्मान्पावनान्गृहमेधिनाम् ।
तमेव सर्वगेहेषु सन्तमेकं ददर्श ह ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; आचरन्तम्—करते हुए; सत्—आध्यात्मिक; धर्मान्—धर्म के नियमों को; पावनान्—पवित्र करने वाले; गृह-मेधिनाम्—गृहस्थियों के लिए; तम्—उसको; एव—निस्सन्देह; सर्व—सभी; गेहेषु—महलों में; सन्तम्—उपस्थित; एकम्—एक रूप में; ददर्श ह—देखा।.

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार नारद ने हर महल में भगवान् को एक ही स्वरूप में, गृहकार्यों में व्यस्त रहने वालों को शुद्ध करने वाले दिव्य धार्मिक नियमों को सम्पन्न करते देखा।

तात्पर्य : इस श्लोक में शुकदेव गोस्वामी उसी को दुहराते हैं, जो स्वयं भगवान् ने बतलाया है। *भगवान् कृष्ण* में श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''लोगों को यह शिक्षा देने के लिए कि किस प्रकार भौतिक जगत के बन्धनों से बद्ध होकर भी मनुष्य अपने गृहस्थ जीवन को पवित्र बना सकता है, भगवान्

तथाकथित गृहकार्यों में संलग्न थे। वास्तव में गृहस्थ जीवन के कारण ही मनुष्य इस संसार में जीवित रहने के लिए बाध्य है। किन्तु गृहस्थों पर अत्यन्त कृपालु होने के कारण भगवान् ने साधारण गृहस्थ जीवन को पवित्र करने वाला मार्ग प्रदर्शित किया। कृष्ण समस्त गतिविधियों के केन्द्र हैं अतएव कृष्णभावनाभावित गृहस्थ का जीवन वैदिक आदेशों से ऊपर है और स्वत: पवित्र बन जाता है।''

जैसाकि इस अध्याय के श्लोक २ में कहा गया है, भगवान् द्वारा अनेक महलों में एक ही आध्यात्मिक स्वरूप (*एकेन वपुषा*) द्वारा सारे कार्य सम्पन्न हो रहे थे, जो एक साथ अनेक स्थानों में दिख रहे थे। नारद को यह दृश्य इसलिए प्रकट कराया गया क्योंकि वे इसे देखना चाहते थे और भगवान् उन्हें दिखाना चाहते थे। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि द्वारका के अन्य वासी नगर के उसी भाग में कृष्ण को देख सकते थे जहाँ वे रह रहे थे, अन्य स्थानों पर नहीं, भले ही वे किसी काम से वहाँ गये हों। इस तरह भगवान् ने अपने प्रिय भक्त नारद मुनि को अपनी लीलाओं की विशेष झाँकी दिखलाई।

कृष्णस्यानन्तवीर्यस्य योगमायामहोदयम् ।
मुहुर्दृष्ट्वा ऋषिरभूद्विस्मितो जातकौतुक: ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

कृष्णस्य—कृष्ण के; अनन्त—असीम; वीर्यस्य—पराक्रम को; योग-माया—ठगने वाली शक्ति की; महा—विस्तृत; उदयम्—अभिव्यक्ति; मुहु:—बारम्बार; दृष्ट्वा—देख लेने के बाद; ऋषि:—ऋषि, नारद; अभूत्—हो गये; विस्मित:—चकित; जातकौतुक:—आश्चर्यपूरित।

असीम शक्ति वाले भगवान् कृष्ण के विस्तृत योग प्रदर्शन को बारम्बार देख लेने के बाद ऋषि चकित एवं आश्चर्य से पूरित हो गये।

इत्यर्थकामधर्मेषु कृष्णेन श्रद्धितात्मना ।
सम्यक्सभाजित: प्रीतस्तमेवानुस्मरन्ययौ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अर्थ—आर्थिक विकास के लिए उपयोगी वस्तुओं से; काम—इन्द्रिय-तृप्ति के; धर्मेषु—तथा धर्म के; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; श्रद्धित—श्रद्धावान; आत्मना—हृदय वाला; सम्यक्—भलीभाँति; सभाजित:—सम्मानित; प्रीत:—प्रसन्न; तम्—उसको; एव—निस्सन्देह; अनुस्मरन्—सदैव स्मरण करते; ययौ—चले गए।

भगवान् कृष्ण ने नारद का अत्यधिक सम्मान किया और उन्हें श्रद्धापूर्वक आर्थिक समृद्धि, इन्द्रिय-तृप्ति तथा धार्मिक कर्तव्यों से सम्बन्धित उपहार भेंट किये। इस तरह ऋषि पूरी तरह तुष्ट

होकर अनवतर भगवान् का स्मरण करते हुए वहाँ से चले गये।

तात्पर्य : जैसाकि श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् श्रीकृष्ण* में इंगित किया है *अर्थकामधर्मेषु* वाक्यांश सूचित करता है कि कृष्ण उस सामान्य गृहस्थ की तरह आचरण कर रहे थे, जो आर्थिक विकास, इन्द्रिय-तृप्ति तथा धार्मिक कार्यों में अत्यधिक रुचि रखता है। नारदमुनि भगवान् के उद्देश्य को समझ सके और वे श्रीकृष्ण के आदर्श आचरण से अतीव प्रसन्न हो गए। इस तरह शुद्ध कृष्णभावनामृत से परिबुद्ध होकर वे वहाँ से चले गये।

एवं मनुष्यपदवीमनुवर्तमानो
नारायणोऽखिलभवाय गृहीतशक्तिः ।
रेमेऽङ्ग षोडशसहस्रवराङ्गनानां
सव्रीडसौहृदनिरीक्षणहासजुष्टः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; मनुष्य—मनुष्य के; पदवीम्—पथ को; अनुवर्तमानः—अनुसरण करते हुए; नारायणः—भगवान् नारायण; अखिल—हर एक के; भवाय—कल्याण हेतु; गृहीत—प्रकट करके; शक्तिः—शक्तियाँ; रेमे—रमण किया; अङ्ग—हे प्रिय (परीक्षित); षोडश—सोलह; सहस्र—हजार; वर—अति उत्तम; अङ्गनानाम्—स्त्रियों के; स-व्रीड—लजीली; सौहृद—तथा स्नेहमयी; निरीक्षण—चितवनों; हास—तथा हँसी से; जुष्टः—तुष्ट।

इस तरह भगवान् नारायण ने सभी जीवों के लाभ हेतु अपनी दैवी शक्तियों को प्रकट करके सामान्य मनुष्यों की चाल-ढाल का अनुकरण किया। हे राजन्, इस प्रकार उन्होंने अपनी उन सोलह हजार वरिष्ठ प्रेयसियों के साथ रमण किया जो अपनी लजीली स्नेहमयी चितवनों तथा मुसकान से भगवान् की सेवा करती थीं।

यानीह विश्वविलयोद्भववृत्तिहेतुः
कर्माण्यनन्यविषयाणि हरीश्चकार ।
यस्त्वङ्ग गायति शृणोत्यनुमोदते वा
भक्तिर्भवेद्भगवति ह्यपवर्गमार्गे ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

यानि—जो; इह—इस संसार में; विश्व—ब्रह्माण्ड के; विलय—संहार; उद्भव—सृजन; वृत्ति—तथा पालन के; हेतुः—कारण, स्वरूप; कर्माणि—कर्म; अनन्य—अन्य किसी के नहीं; विषयाणि—कार्यक्रम; हरिः—भगवान् कृष्ण ने; चकार—सम्पन्न किया; यः—जो भी; तु—निस्सन्देह; अङ्ग—मेरे प्रिय राजा; गायति—उच्चारण करता है; शृणोति—सुनता है; अनुमोदते—अनुमोदन करता है; वा—अथवा; भक्तिः—भक्ति; भवेत्—उत्पन्न होती है; भगवति—भगवान् के प्रति; हि—निस्सन्देह; अपवर्ग—मोक्ष के; मार्गे—मार्ग में।

भगवान् हरि ही ब्रह्माण्ड की सृष्टि, पालन तथा संहार के चरम कारण हैं। हे राजन्, जो भी

उनके द्वारा इस संसार में सम्पन्न अद्वितीय कार्यों के विषय में कीर्तन करता है, सुनता है या केवल प्रशंसा करता है, जिनका अनुकरण करना असम्भव है, वह अवश्य ही मोक्ष के प्रदाता भगवान् के प्रति भक्ति उत्पन्न कर लेगा।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने *अनन्य विषयाणि* शब्द के अनेक अर्थ दिये हैं। यह शब्द सूचित करता है कि भगवान् ने द्वारका में ऐसे कार्य सम्पन्न किये जो उनके स्वांशों के लिए भी असामान्य थे, दूसरों का तो कहना ही क्या? अथवा इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि भगवान् ने ये कार्यकलाप अपने शुद्ध अनन्य भक्तों के हेतु सम्पन्न किये। कुछ भी हो, जो भी इन लीलाओं के विषय में सुनता-सुनाता है, वह अवश्य ही कृष्णभावनामृत में लग जाएगा जैसाकि श्रील प्रभुपाद लिखते हैं "निश्चय ही उसे मुक्ति पथ को पार करने में तथा भगवान् के चरणकमलों के अमृत का आस्वादन करने में आसानी होगी।" श्रील प्रभुपाद यह भी इंगित करते हैं कि *अनुमोदते* शब्द यहाँ पर इस बात का सूचक है कि जो "कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रचारक का अनुमोदन करता है" वह भी यहाँ पर उल्लिखित लाभ प्राप्त करेगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत "नारद मुनि द्वारा द्वारका में भगवान् कृष्ण के महलों को देखना" नामक उनहत्तरवें अध्याय का श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Preliminary pages for bh. starts from here

Preliminary Page1

श्री श्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

कृष्णद्वैपायन व्यास

कृत

श्रीमद्भागवतम्

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः ।

रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद्व्रजवल्लभीनाम् ॥ ६० ॥

— *भागवत* .४७.६०

श्रीमद्भागवतम्

(भगवत्-सन्देश)

दशम स्कन्ध

''परम पुरुषार्थ''

(भाग तीन—अध्याय ४५६९)

मूल संस्कृत पाठ, शब्दार्थ तथा विस्तृत तात्पर्य कृष्णकृपामूर्ति

श्री श्रीमद् अभयचरणारविन्द भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

संस्थापकाचार्य: अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ के शिष्यों द्वारा

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

श्रीमद्भागवतम् एवं सम्पादकीय बोर्ड

(संस्कृत से अंग्रेजी)

हृदयानन्द दास गोस्वामी

प्रोजेक्ट डायरेक्टर, अनुवादक, तात्पर्य लेखक एवं प्रधान संपादक

गोपीप्राणधन दास अधिकारी

अनुवादक, तात्पर्य लेखक एवं संस्कृत संपादक

द्रविड़ दास ब्रह्मचारी

अंग्रेजी संपादक

विषय-सूची

प्राक्कथन
आमुख
प्रस्तावना
परिचय
अध्याय पैतालीस
कृष्ण द्वारा अपने गुरु-पुत्र की रक्षा
अध्याय का सारांश
कृष्ण द्वारा वसुदेव तथा देवकी को ढाढ़स बँधाना
कोई अपने माता पिता से उऋण नहीं हो सकता
वसुदेव तथा देवकी भाव-विभोर
कृष्ण द्वारा वनवासी जातियों का पुनर्वास
शीघ्र ही व्रज लौटने का नन्द से कृष्ण का वायदा
कृष्ण तथा बलराम का द्विज संस्कार
शिक्षा के लिए कृष्ण तथा बलराम का सान्दीपनि मुनि के पास जाना
दोनों प्रभुओं द्वारा चौंसठ दिनों में चौसठों कलाएँ सीखना
कृष्ण द्वारा पञ्चजन असुर का वध
भगवान् द्वारा गुरु के पुत्र को वापस लाया जाना
कृष्ण तथा बलराम के लौटने पर मथुरावासियों में हर्ष की लहर
अध्याय छियालीस
उद्धव की वृन्दावन यात्रा
अध्याय का सारांश
कृष्ण द्वारा उद्धव को वृन्दावन भेजा जाना
उद्धव का सूर्यास्त के समय व्रज पहुँचना
नन्द द्वारा उद्धव का सत्कार
नन्द द्वारा कृष्ण की याद
गोपराज द्वारा कृष्ण की लीलाओं का स्मरण
माता यशोदा के नेत्रों से आँसुओं की झड़ी तथा
स्तनों से दुग्ध का बहना उद्धव द्वारा नन्द तथा यशोदा की प्रशंसा
उद्धव का नन्द तथा यशोदा को दिव्य दर्शन द्वारा समझाना
प्रात: जागकर गोपियों द्वारा दधिमन्थन
अध्याय सैंतालीस
भ्रमर गीत
अध्याय का सारांश
गोपियों का उद्धव को घेर लेना
गोपियों द्वारा कृष्ण के प्रति प्रेममय क्रोध की अभिव्यक्ति
राधारानी द्वारा प्रेमोन्मादवश भ्रमर को कृष्ण-दूत समझना

भ्रमर गीत
उद्धव द्वारा गोपियों की प्रशंसा तथा उनसे कृष्ण सन्देश कहना
गोपियों से कृष्ण का कथन, ''तुम मुझसे कभी भी विलग नहीं''
''मैं तुम्हारे ध्यान को प्रगाढ़ करना चाहता था।''
कृष्ण का सन्देश सुनकर गोपियाँ प्रसन्न
मान के साथ वे उनकी वापसी की आकांक्षा व्यक्त करती हैं
गोपियाँ कृष्ण से पुनर्मिलन की आशा छोड़ने वाली नहीं
गोपियाँ कृष्ण के लिए रोने लगती हैं
वृन्दावन के लोगों को सान्त्वना देने के लिए उद्धव का कई मास तक वहाँ रहते जाना
उद्धव गोपियों की प्रशंसा में गाते हैं
लक्ष्मी जी भी गोपियों के समान भाग्यशालिनी नहीं
उद्धव का गोपियों को पुन: पुन: नमस्कार करना
उद्धव का मथुरा लौटना
अध्याय अड़तालीस
कृष्ण द्वारा अपने भक्तों की तुष्टि
अध्याय का सारांश
कृष्ण तथा उद्धव का त्रिवक्रा के घर जाना
त्रिवक्रा द्वारा अतिथियों का सत्कार
कृष्ण का त्रिवक्रा के साथ रमण
त्रिवक्रा का कृष्ण से रुकने के लिए याचना
कृष्ण, बलराम तथा उद्धव का अक्रूर के यहाँ जाना
अक्रूर द्वारा कृष्ण तथा बलराम की पूजा
अक्रूर द्वारा कृष्ण का यशोगान
अक्रूर द्वारा भौतिक स्नेह से विरक्ति की प्रार्थना
कृष्ण द्वारा अक्रूर की बड़ाई तथा उन्हें हस्तिनापुर भेजना
अध्याय उनचास
अक्रूर का हस्तिनापुर जाना
अध्याय का सारांश
अपने पौरव मित्रों तथा सम्बन्धियों द्वारा अक्रूर का सत्कार
कुन्ती देवी तथा विदुर द्वारा अक्रूर से धृतराष्ट्र के पुत्रों के षड्यंत्र बाबत बताया जाना
महारानी कुन्ती का विलाप
विदुर तथा अक्रूर का कुन्ती को ढाढस बँधाना
अक्रूर का धृतराष्ट्र को नेक सलाह देना
धृतराष्ट्र द्वारा अक्रूर के उपदेशों की सराहना किन्तु उनका पालन करने में अक्षमता
अक्रूर का मथुरा लौट कर कृष्ण तथा बलराम को सूचना देना
अध्याय पचास

कृष्ण द्वारा द्वारका पुरी की स्थापना
अध्याय का सारांश
जरासन्ध द्वारा तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर मथुरा को घेर लेना
कृष्ण द्वारा जरासन्ध की सेनाओं के विनाश का निश्चय किन्तु सम्प्रति उसे छोड़ देना
आकाश से दो दैवी रथों का उतरना
जरासन्ध से लड़ने के लिए कृष्ण, बलराम तथा छोटी-सी
सैनिक टुकड़ी का मथुरा से बाहर जाना
जरासन्ध द्वारा कृष्ण का अपमान तथा बलराम का ललकारा जाना
जरासन्ध द्वारा कृष्ण तथा बलराम पर आक्रमण
अविरत बाण वर्षा से कृष्ण द्वारा जरासन्ध की सेनाओं का विनाश
युद्ध-भूमि में भीषण नरसंहार
जरासन्ध को बन्दी बनाकर छोड़ा जाना
खिन्न होकर जरासन्ध का मगध लौटना
मथुरा में कृष्ण का वीरोचित सम्मान
जरासन्ध द्वारा मथुरा पर सत्रह बार आक्रमण और उसकी हार
कालयवन द्वारा मथुरा का घेरा जाना
कृष्ण द्वारा द्वारका का निर्माण
कृष्ण द्वारा प्रजा को द्वारका पहुँचाया जाना
अध्याय इक्यावन
मुचुकुन्द का उद्धार
अध्याय का सारांश
कृष्ण का निरस्त्र होकर मथुरा से बहिर्गमन
कृष्ण द्वारा कालयवन को पर्वत गुफा की ओर ले जाया जाना
मुचुकुन्द का कालयवन को अपनी दृष्टिपात से भस्म करना मुचुकुन्द की कथा
मुचुकुन्द का देवताओं से निद्रा का वरदान प्राप्त करना
मुचुकुन्द द्वारा कृष्ण सौन्दर्य निहारा जाना तथा उनसे अपनी कथा बतलाना
भगवान् कृष्ण द्वारा मुचुकुन्द को अपनी महिमा बतलाना
कृष्ण द्वारा मुचुकुन्द को मनचाहा वरदान देना
मुचुकुन्द का भौतिक जीवन में अपनी दशा पर शोक व्यक्त किया जाना
मुचुकुन्द को राजपद अस्वीकार होना
मुचुकुन्द द्वारा कृष्ण के चरणकमलों की सेवा का वर माँगा जाना
कृष्ण द्वारा मुचुकुन्द को शुद्ध-भक्ति का आशीर्वाद देना
अध्याय बावन
भगवान् कृष्ण के लिए रुक्मिणी-सन्देश
अध्याय का सारांश
मुचुकुन्द का बदरिकाश्रम जाकर भगवान् की पूजा के लिए घोर तपस्या करना

कृष्ण तथा बलराम का जरासन्ध की सेनाओं से डरकर भागना
कृष्ण तथा बलराम का प्रवर्षण पर्वत पर चढ़ना
पर्वत से कूद कर दोनों का द्वारका वापस जाना
राजा परीक्षित द्वारा शुकदेव गोस्वामी से रुक्मिणी के साथ कृष्ण के विवाह के विषय में प्रश्न पूछा जाना
रुक्मिणी द्वारा कृष्ण के विषय में सुनकर एकमात्र उन्हीं से विवाह करने का निश्चय करना
रुक्मिणी द्वारा ब्राह्मण से कृष्ण के पास द्वारका सन्देश भेजा जाना
कृष्ण द्वारा ब्राह्मण का सत्कार तथा उसके आने का प्रयोजन पूछा जाना
कृष्ण को रुक्मिणी का सन्देश

अध्याय तिरपन

कृष्ण द्वारा रुक्मिणी का अपहरण

अध्याय का सारांश
भगवान् कृष्ण का तुरंत ही विदर्भ जाना
राजा भीष्मक तथा दमघोष द्वारा विवाह के पूर्व के कृत्य सम्पन्न
शिशुपाल तथा अन्य ईर्ष्यालु राजाओं द्वारा कृष्ण से युद्ध करने का व्रत लेना
कृष्ण के न आने से राजकुमारी रुक्मिणी का पश्चाताप
ब्राह्मण का आगमन और कृष्ण के आने की सूचना की घोषणा
राजा भीष्मक द्वारा कृष्ण तथा बलराम की आवभगत
विदर्भवासी अपने नेत्रों से कृष्ण के कमल-मुख का मधुपान करते हैं
रुक्मिणी का अम्बिका मन्दिर जाना
कृष्ण द्वारा सुन्दरी रुक्मिणी का अपहरण
सिंह की तरह कृष्ण द्वारा सियार जैसे राजाओं के बीच से रुक्मिणी का हरण

अध्याय चौवन

कृष्ण-रुक्मिणी विवाह

अध्याय का सारांश
ईर्ष्यालु राजाओं द्वारा यदुसेना पर आक्रमण और उनकी पराजय
जरासन्ध द्वारा शिशुपाल को सान्त्वना देना
बदला लेने के लिए रुक्मी द्वारा अकेले ही कृष्ण का पीछा करना
रुक्मी द्वारा कृष्ण को युद्ध के लिए ललकारना
कृष्ण द्वारा रुक्मी का विरूपित और अपमानित होना
बलराम का कृष्ण तथा रुक्मिणी को उपदेश देना
हताश रुक्मी द्वारा भोजकट नगरी का निर्माण करना
द्वारका में कृष्ण तथा रुक्मिणी का विवाह
कृष्ण तथा रुक्मिणी के मिलन से द्वारकावासी अति प्रसन्न

अध्याय पचपन

प्रद्युम्न-कथा

अध्याय का सारांश
कामदेव का शरीर धारण किये प्रद्युम्न का जन्म
शम्बर असुर द्वारा प्रद्युम्न अपहरण और समुद्र में फेंका जाना
शम्बर के रसोईघर में मछली के पेट से प्रद्युम्न का प्रकट होना
मायावती प्रद्युम्न के प्रति प्रेमासक्त
मायावती द्वारा कामदेव की पत्नी रति के रूप में अपनी पहचान का उद्‌घाटन
प्रद्युम्न तथा शम्बर के मध्य युद्ध
प्रद्युम्न द्वारा शम्बर का शिरच्छेदन
रति द्वारा प्रद्युम्न को द्वारका पहुँचाया जाना
रुक्मिणी का अपने बिछड़े पुत्र से मिलन
प्रद्युम्न की वापसी पर द्वारका में आनन्द मंगल

अध्याय छप्पन

स्यमन्तक मणि

अध्याय का सारांश
सूर्यदेव द्वारा सत्राजित को स्यमन्तक मणि का दिया जाना
सत्राजित द्वारा द्वारकावासियों को मणि के तेज से चौंधियाना
स्यमन्तक मणि के गुण
सत्राजित के भाई का वध तथा मणि की चोरी
अपने कलंक को दूर करने के लिए कृष्ण द्वारा प्रसेन का जंगल में खोजा जाना
कृष्ण द्वारा मणि का जाम्बवान की गुफा में पाया जाना
कृष्ण तथा जाम्बवान में युद्ध
जाम्बवान द्वारा भगवान् कृष्ण को आत्म-समर्पण
कृष्ण द्वारा जाम्बवान को आशीर्वाद
जाम्बवान द्वारा कृष्ण को मणि तथा अपनी पुत्री जाम्बवती का दिया जाना
मणि तथा जाम्बवती को लेकर कृष्ण के द्वारका लौटने पर वहाँ के निवासियों में हर्षोल्लास
कृष्ण द्वारा सत्राजित को मणि लौटाना
सत्राजित द्वारा कृष्ण को मणि तथा अपनी पुत्री सत्यभामा की भेंट
कृष्ण द्वारा सत्राजित को पुनः मणि लौटाया जाना

अध्याय सत्तावन

सत्राजित की हत्या और मणि की वापसी

अध्याय का सारांश
पाण्डवों की 'मृत्यु' पर कृष्ण द्वारा शोक का दिखावा
शतधन्वा द्वारा सत्राजित की हत्या तथा स्यमन्तक मणि लिया जाना
अक्रूर तथा कृतवर्मा द्वारा शतधन्वा की सहायता किये जाने से इनकार
भयभीत शतधन्वा द्वारा अक्रूर को मणि का दिया जाना और घोड़े पर चढ़कर द्वारका से भागना
कृष्ण द्वारा शतधन्वा का सिर काटा जाना और उसके शरीर में मणि की खोज

बलराम द्वारा मिथिला के राजा के यहाँ जाना
कृतवर्मा तथा अक्रूर का द्वारका से भागना
द्वारका में उत्पात
भगवान् कृष्ण द्वारा अक्रूर को द्वारका बुलाया जाना
मणि दिखाकर अक्रूर द्वारा भगवान् के विषय में उड़ती अफवाहों का खंडन
श्रोताओं को आशीर्वाद
अध्याय अट्ठावन
श्रीकृष्ण का पाँच कुमारियों से विवाह
अध्याय का सारांश
पाण्डवों से भेंट करने कृष्ण का इन्द्रप्रस्थ जाना
महारानी कुन्ती द्वारा बड़े स्नेह से कृष्ण का सत्कार
कृष्ण द्वारा इन्द्रप्रस्थ में वर्षाऋतु का बिताया जाना
अर्जुन तथा कृष्ण का जंगल में एक सुन्दरी देखना
श्रीकालिन्दी का अर्जुन को अपनी पहचान बताना
कालिन्दी को कृष्ण द्वारा इन्द्रप्रस्थ ले जाया जाना
अग्नि द्वारा अर्जुन को धनुष, घोड़े, रथ, तरकस तथा कवच का दान
कृष्ण का द्वारका लौटना और कालिन्दी से विवाह करना
भगवान् द्वारा मित्रविन्दा का अपहरण और विवाह
राजकुमारी नाग्नजिती द्वारा कृष्ण को पति रूप में पाने की प्रार्थना
सातों साँड़ों को दमित करके कृष्ण द्वारा नाग्नजिती के साथ विवाह करना
कौशल राज्य में हर्षोल्लास
कृष्ण द्वारा भद्रा तथा लक्ष्मणा से विवाह करना
अध्याय उनसठ
नरकासुर का वध
अध्याय का सारांश
गरुड़ पर सवार होकर सत्यभामा के साथ कृष्ण की प्राग्ज्योषितपुर की यात्रा
कृष्ण द्वारा नगरी के दुर्ग का विनाश
पाँच सिरों वाले मुर असुर का गरुड़ से युद्ध
कृष्ण द्वारा मुर के शिरों का काटा जाना और उसके सात पुत्रों का वध
कृष्ण द्वारा नरक की सेना का विध्वंस
कृष्ण द्वारा नरक का शिरच्छेद
भूमिदेवी पृथ्वी द्वारा भगवान् की प्रशंसा तथा नमस्कार करना
नरकासुर को आशीर्वाद देकर उसके महल में कृष्ण का प्रवेश
नरकासुर द्वारा अपहरण की गई सोलह हजार एक सौ कुमारियों को कृष्ण द्वारा द्वारका भेजा जाना
सत्यभामा को प्रसन्न करने के लिए कृष्ण द्वारा इन्द्रलोक से पारिजात वृक्ष की चोरी
द्वारका में कृष्ण द्वारा भिन्न रूपों में विस्तार और राजकुमारियों के साथ विवाह

कृष्ण की रानियों द्वारा विविध प्रकार से उनकी सेवा

अध्याय साठ

रुक्मिणी के साथ कृष्ण का परिहास

अध्याय का सारांश

रुक्मिणी के भव्य कक्षों का वर्णन

रुक्मिणी द्वारा कृष्ण पर पंखा झलना

कृष्ण का रानी रुक्मिणी को परिहास में तंग करना

कृष्ण की घोषणा, ''हम स्त्रियों, बच्चों या सम्पत्ति की तनिक भी परवाह नहीं करते''

कृष्ण के वचनों के आघात से रुक्मिणी मूर्छित

कृष्ण द्वारा रुक्मिणी को सान्त्वना

रुक्मिणी शान्त हुईं

रानी रुक्मिणी द्वारा कृष्ण के परिहास का चातुरीपूर्वक उत्तर

''आपके सेवक साम्राज्य के अवसर को दुत्कार देते हैं''

''सम्पत्ति से अन्धे लोग आपको कालरूप नहीं पहचानते''

''अन्य किसी राजकुमार को वरण करने में मेरी कौन सी रुचि होगी''

''आपके चरणकमलों की सुगंध सूँघने के बाद ऐसी कौन स्त्री
होगी जो अन्य पुरुष की शरण में जायेगी?''

''जो स्त्री आपका वहिष्कार करती है उसे जीवित शव को
अपना पति स्वीकार करना चाहिए''

कृष्ण द्वारा रुक्मिणी की प्रशंसा तथा भौतिकतावादियों की निन्दा

अध्याय इकसठ

बलराम द्वारा रुक्मी का वध

अध्याय का सारांश

कृष्ण की प्रत्येक रानी का अपने को पति-प्रिया मानना

रानियाँ कृष्ण की इन्द्रियों को चंचल नहीं बना सकतीं

भगवान् की प्रमुख रानियों तथा उनके पुत्रों की सूची

रुक्मिणी को प्रसन्न करने के लिए रुक्मी अपनी पुत्री का विवाह
प्रद्युम्न के साथ करने के लिए सहमत

दुष्ट राजाओं द्वारा पाँसे के खेल में बलराम को धोखा देने के लिए रुक्मी को उकसाना

रुक्मी द्वारा बलराम का अपमान करना और बलराम का गदा द्वारा रुक्मी की हत्या करना

अध्याय बासठ

उषा-अनिरुद्ध मिलन

अध्याय का सारांश

बाणासुर की कथा

मूर्ख बाण द्वारा शिव के क्रोध को भड़काया जाना

बाणपुत्री उषा को स्वप्न में अपना प्रेमी अनिरुद्ध दिखना

चित्रलेखा द्वारा उषा के स्वप्न के बारे में पूछताछ
चित्रलेखा द्वारा उषा के सम्भावित प्रेमियों का रेखांकन
अनिरुद्ध का द्वारका से शोणितपुर उड़ा ले जाया जाना
उषा का अनिरुद्ध के साथ महल के एकान्त कक्षों में रमण
बाण को उषा के साथ अनिरुद्ध के मिलन का पता चलना
बाण द्वारा नागपाश से अनिरुद्ध का बाँधा जाना
अध्याय तिरसठ
बाणासुर और भगवान् कृष्ण का युद्ध
अध्याय का सारांश
अनिरुद्ध को छुड़ाने के लिए कृष्ण तथा बलराम आदि वृष्णियों का शोणितपुर जाना
शिवजी की सहायता से बाण का वृष्णि सेना पर धावा बोलना
कृष्ण तथा शिव के मध्य युद्ध
प्रद्युम्न तथा बलराम द्वारा शत्रुओं का विनाश
बाण द्वारा कृष्ण पर आक्रमण और बाण की नग्न माता द्वारा उसकी रक्षा करना
शिव-ज्वर तथा विष्णु-ज्वर के बीच युद्ध
शिव-ज्वर द्वारा कृष्ण की स्तुति
शिव-ज्वर को कृष्ण का आशीर्वाद
बाण द्वारा कृष्ण पर आक्रमण और कृष्ण द्वारा उसकी भुजाओं का काटा जाना
बाण की ओर से शिव द्वारा कृष्ण की स्तुति
''हे प्रभु, आपका तिरस्कार करने वाला विषपान करता है''
कृष्ण द्वारा बाण को छोड़ा जाना और वर दिया जाना
कृष्ण, अनिरुद्ध, उषा तथा उनके दल का विजयी होकर द्वारका में प्रवेश
अध्याय चौंसठ
राजा नृग का उद्धार
अध्याय का सारांश
यदुवंश के नवयुवकों द्वारा कुएँ में बड़ी छिपकली देखना
कृष्ण द्वारा इस छिपकली का कुएँ से आसानी से निकाला जाना
राजा नृग द्वारा अपनी कथा बताया जाना
दानी नृग द्वारा भूल से ऐसी गाय का दान दिया जाना जो उसकी नहीं थी
दो ब्राह्मणों द्वारा एक ही गाय हेतु अधिकार जताया जाना
नृग का छिपकली बनना
राजा नृग द्वारा कृष्ण की महिमा का गायन
कृष्ण द्वारा तरुण यदुओं को ब्राह्मण की सम्पत्ति की पवित्रता के विषय में उपदेश
ब्राह्मण की सम्पत्ति चुराने वालों को नरक तथा कीट-जीवन मिलना
अध्याय पैंसठ
बलराम का वृन्दावन जाना

अध्याय का सारांश
रथ द्वारा बलराम की वृन्दावन की यात्रा
नन्द तथा यशोदा द्वारा बलराम का हर्ष के आँसुओं से सिक्त किया जाना
बलराम का गोपों से कुशल मंगल पूछना
गोपियों का बलराम से कृष्ण के बारे में पूछना
कृष्ण के विरहभाव में गोपियों का विलाप
बलराम द्वारा गोपियों को सान्त्वना देना
वृन्दावन के जंगल में गोपियों के साथ बलराम द्वारा रमण
मदोन्मत्त हुए बलराम द्वारा यमुना नदी को बुलाया जाना
यमुना देवी द्वारा बलराम से कृपा याचना करना
यमुना में गोपियों के साथ बलराम द्वारा क्रीड़ा

अध्याय छियासठ

पौण्ड्रक—छद्म वासुदेव

अध्याय का सारांश
मन्द बुद्धि पौण्ड्रक द्वारा वासुदेव होने का दावा
इस बहरूपिए को दण्ड देने के लिए कृष्ण की काशी यात्रा
पौण्ड्रक, काशिराज तथा तीन सेनाओं का कृष्ण से युद्ध
कृष्ण द्वारा शत्रुसेना का संहार तथा पौण्ड्रक और काशिराज के सिरों का काटा जाना
पौण्ड्रक को वैकुण्ठ भेजा जाना
काशी के निवासियों द्वारा अपने राजा की मृत्यु पर शोक
सुदक्षिण द्वारा कृष्ण का वध करने के लिए अग्नि असुर का आह्वान
कृष्ण द्वारा द्वारका के भयभीत निवासियों को सुरक्षा का आश्वासन
भगवान् के सुदर्शन-चक्र द्वारा अभिचार असुर का मोड़ा जाना
जिससे सुदक्षिण भस्म हो जाता है
कृष्ण के चक्र द्वारा वाराणसी का विध्वंस
श्रोताओं को आशीर्वाद

अध्याय सतसठ

बलराम द्वारा द्विविद वानर का वध

अध्याय का सारांश
द्विविद वानर द्वारा उत्पात
वानर द्वारा बलराम तथा उनकी सखियों का सताया जाना
द्विविद द्वारा वारुणी पात्र का तोड़ा जाना जिससे बलराम क्रुद्ध होते हैं
बलराम तथा द्विविद के मध्य युद्ध
द्विविद द्वारा बलराम पर पत्थरों की वर्षा
बलराम द्वारा अपनी गदा से द्विविदा का प्राणान्त करना

अध्याय अडसठ

साम्ब का विवाह
अध्याय का सारांश
साम्ब द्वारा लक्ष्मणा का अपहरण
साम्ब द्वारा कुरुओं के दल से युद्ध
छह कुरुओं द्वारा साम्ब को बन्दी बनाया जाना
बलराम का अपने संगियों के साथ हस्तिनापुर की यात्रा करना
कुरुओं द्वारा बलराम की पूजा
बलराम द्वारा साम्ब को छोड़ने के लिए राजा उग्रसेन का आदेश बतलाना
कुरुओं द्वारा यदुओं को छोटा करके मानना और उग्रसेन की माँग को ठुकराना
कुरुओं की धृष्टता से बलराम क्रुद्ध
''जरा देखो तो कुरुगण अपनी तथाकथित शक्ति से कितने गर्वित हैं!''
बलराम द्वारा अपने हल से हस्तिनापुर को गंगा के भीतर खींचना
कौरवों द्वारा बलराम से दया की भीख
बलराम द्वारा कुरुओं की सुरक्षा का आश्वासन
साम्ब तथा लक्ष्मणा के साथ बलराम का द्वारका लौटना
अध्याय उनहत्तर
नारद मुनि द्वारा द्वारका में भगवान् कृष्ण के महलों को देखना
अध्याय का सारांश
नारद मुनि का रमणीय द्वारका में प्रवेश
नारद द्वारा कृष्ण को एक महल में अपनी रानी के साथ विश्राम करते देखना
भगवान् कृष्ण द्वारा नारद का सम्मान तथा पूजन
नारद द्वारा कृष्ण से उन्हें सदैव स्मरण रखने की शक्ति प्रदान करने की याचना
महर्षि द्वारा कृष्ण को विभिन्न महलों में अति व्यस्त देखना
कहीं कृष्ण यज्ञाग्नि में आहुतियाँ डाल रहे हैं
कहीं कृष्ण घोड़े, हाथी तथा रथों पर सवारी करते हैं
कहीं पर वे भगवान् का ध्यान करते होते हैं
कहीं पर कृष्ण देवताओं की पूजा करते हैं
नारद द्वारा योगेश्वर कृष्ण की स्तुति
सबों के लाभ हेतु भगवान् नारायण द्वारा सामान्य मनुष्य की
चालढाल का इस तरह अनुकरण करना
परिशिष्ट

Chapter सत्तर

भगवान् कृष्ण की दैनिक चर्या

इस अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण की दैनिक चर्या तथा उनके समक्ष, पहला, द्वारका से आये दूत का तथा दूसरा, नारदमुनि द्वारा रखे गये दो प्रस्तावों का वर्णन हुआ है।

भगवान् कृष्ण ब्राह्म-मुहूर्त में उठकर स्वच्छ जल में स्नान करते थे। प्रात:कालीन अनुष्ठान तथा अन्य धार्मिक कृत्य करने के बाद वे पवित्र अग्नि में होम करते, गायत्री मंत्र का जाप करते, देवताओं, ऋषियों तथा पूर्वजों को नमस्कार करके पूजा करते और विद्वान ब्राह्मणों को सम्मान देते थे। तत्पश्चात् वे शुभ वस्तुओं का स्पर्श करते, अपने को दिव्य आभूषणों से सजाते और अपनी प्रजा को उनकी मनचाही वस्तुएँ देकर तुष्ट करते थे।

तब उनका सारथी दारुक रथ लाता और वे उसमें चढ़ कर राजसभा-भवन जाते। जब वे यादवों से घिर कर सभा में अपना आसन ग्रहण करते, तो वे नक्षत्रों से घिरे चन्द्रमा की तरह प्रतीत होते। चारण एवं भाट ढोल, मंजीरे, वीणा तथा अन्य वाद्ययंत्रों के साथ उनका यशोगान करते।

एक बार द्वारपाल एक दूत को सभाभवन में ले आए। उस दूत ने भगवान् को दण्डवत्-प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उनसे निवेदन किया, ''प्रभु! जरासन्ध ने बीस हजार राजाओं को पकड़ कर उन्हें बन्दी बना लिया है। कृपया कुछ करें, क्योंकि ये सारे राजा आपके शरणागत भक्त हैं।''

तभी नारदमुनि प्रकट हुए। भगवान् श्रीकृष्ण तथा सभा के सारे सदस्य खड़े हो गये और अपने शीश नवा कर नारदजी को नमस्कार किया। जब ऋषि आसन ग्रहण कर चुके, तो भगवान् ने विनयपूर्वक उनसे प्रश्न किया, ''चूँकि आप ब्रह्माण्ड-भर में भ्रमण करते रहते हैं, अतएव हमें बतलायें कि पाँचों पांडव क्या करने की योजना बना रहे हैं?'' तब नारद ने भगवान् की प्रशंसा की और उत्तर दिया, ''राजा युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ सम्पन्न करना चाह रहे हैं। इसके लिए वे आपकी स्वीकृति तथा आपकी उपस्थिति के लिए अनुरोध करते हैं। वहाँ पर अनेक देवता तथा विख्यात राजा केवल आपके दर्शनार्थ आयेंगे।''

यह जान कर कि यादव चाहते हैं कि वे जरासन्ध को परास्त करें, भगवान् कृष्ण ने अपने चतुर

मंत्री उद्धव से कहा कि वे यह निश्चित करें कि सामने आए दोनों मामलों में से पहले जरासन्ध को परास्त करना जरूरी है या कि राजसूय यज्ञ में उनकी उपस्थिति।

श्रीशुक उवाच
अथोषस्युपवृत्तायां कुक्कुटान्कूजतोऽशपन् ।
गृहीतकण्ठ्यः पतिभिर्माधव्यो विरहातुराः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—तब; उषसि—भोर में ; उपवृत्तायाम्—निकट आ रहे; कुक्कुटान्—मुर्गों को; कूजतः—बाँग देते; अशपन्—शाप दिया; गृहीत—पकड़ा हुआ; कण्ठ्यः—गले से; पतिभिः—अपने पतियों (अनेक रूपों में कृष्ण) द्वारा; माधव्यः—भगवान् कृष्ण की पत्नियाँ; विरह—वियोग के कारण; आतुराः—क्षुब्ध।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जैसे जैसे प्रभात निकट आने लगा वैसे वैसे भगवान् माधव की सारी पत्नियाँ जो पति द्वारा गले में आलिंगित थीं, बाँग देते मुर्गों को कोसने लगीं। ये स्त्रियाँ विक्षुब्ध थीं क्योंकि अब वे उनसे विलग हो जायेंगी।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण की दैनिक चर्या का यह वर्णन मुर्गे की बाँग से प्रारम्भ होता है। भगवान् कृष्ण की पत्नियाँ जानती थीं कि भगवान् नियमपूर्वक उठ कर अपने प्रात:कालीन अनुष्ठान में लग जायेंगे। इस तरह शीघ्र ही उनसे विलग हुई जाने के कारण वे क्षुब्ध थीं और मुर्गों को कोस रही थीं।

वयांस्यरोरुवन्कृष्णं बोधयन्तीव वन्दिनः ।
गायत्स्वलिष्वनिद्राणि मन्दारवनवायुभिः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

वयांसि—पक्षियों को; अरोरुवन्—जोर से शब्द करती हुई; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण को; बोधयन्ति—जगाती हुई; इव—मानो; वन्दिनः—भाट; गायत्सु—गाने लगे; अलिषु—भौंरे; अनिद्राणि—निद्रा से जगाये गये; मन्दार—पारिजात वृक्ष के; वन—उद्यान से; वायुभिः—मन्द वायु द्वारा।

पारिजात उद्यान से आने वाली सुगंधित वायु से उत्पन्न भौंरों की गुनगुनाहट ने पक्षियों को नींद से जगा दिया। और जब ये पक्षी जोर जोर से चहचहाने लगे, तो उन्होंने भगवान् कृष्ण को जगा दिया मानो दरबारी कवि उनके यश का गायन कर रहे हों।

मुहूर्तं तं तु वैदर्भी नामृष्यदतिशोभनम् ।
परिरम्भणविश्लेषात्प्रियबाह्वन्तरं गता ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

मुहूर्तम्—दिन का समय, घड़ी को; तम्—उस; तु—लेकिन; वैदर्भी—महारानी रुक्मिणी ने; न अमृष्यत्—पसन्द नहीं किया; अति—अत्यन्त; शोभनम्—शुभ; परिरम्भण—उनके आलिंगन की; विश्लेषात्—हानि से; प्रिय—अपने प्रियतम की; बाहु—भुजाओं के; अन्तरम्—बीच में; गता—स्थित।

अपने प्रियतम की बाहों में लेटी हुई महारानी वैदर्भी को यह परम शुभ वेला नहीं भाती थी क्योंकि इसका अर्थ यह था कि वे उनके आलिंगन से विहीन हो जायेंगी।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि महारानी वैदर्भी अर्थात् रुक्मिणीदेवी की प्रतिक्रिया समस्त रानियों के मनोभावों की द्योतक है।

ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय वार्युपस्पृश्य माधवः ।
दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम् ॥ ॥
एकं स्वयंज्योतिरनन्यमव्ययं
स्वसंस्थया नित्यनिरस्तकल्मषम् ।
ब्रह्माख्यमस्योद्भवनाशहेतुभिः
स्वशक्तिभिर्लक्षितभावनिर्वृतिम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मे मुहूर्ते—सूर्योदय से पूर्व, भोर में जो आध्यात्मिक कार्यों के लिए दिन का सर्वाधिक उत्तम समय है; उत्थाय—उठकर; वारि—जल; उपस्पृश्य—छूकर; माधवः—भगवान् कृष्ण ने; दध्यौ—ध्यान किया; प्रसन्न—विमल; करणः—मन; आत्मानम्—अपने ऊपर; तमसः—अज्ञान; परम्—परे; एकम्—एकमात्र; स्वयम्-ज्योतिः—आत्म-प्रकाशित; अनन्यम्—अनन्य; अव्ययम्—अव्यय; स्व-संस्थया—अपने स्वभाव से; नित्य—नित्य; निरस्त—भगाते हुए; कल्मषम्—दूषण को; ब्रह्म-आख्यम्—ब्रह्म या परम सत्य नाम से विख्यात; अस्य—इस (ब्रह्माण्ड) का; उद्भव—सृष्टि; नाश—तथा संहार; हेतुभिः—कारणों से; स्व—निजी; शक्तिभिः—शक्तियों से; लक्षित—प्रकट; भाव—अस्तित्व; निर्वृतिम्—हर्ष।

भगवान् माधव ब्राह्म मुहूर्त में उठा करते और जल का स्पर्श किया करते थे। तब स्वच्छ मन से वे एकाकी, आत्म-प्रकाशित, अनन्य तथा अच्युत परम सत्य ब्रह्म-रूप स्वयं का ध्यान करते, जो स्वभाव से ही सारे कल्मष को दूर करने वाला है और जो अपनी उन निजी शक्तियों के द्वारा, जो इस ब्रह्माण्ड का सृजन और संहार करती हैं, अपना ही शुद्ध तथा आनन्दमय स्वरूप प्रकट करता है।

तात्पर्य : विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इंगित करते हैं कि इस श्लोक में *भाव* शब्द समस्त उत्पन्न प्राणियों का सूचक है। इस तरह समास-युक्त शब्द *लक्षित-भाव-निर्वृतिम्* का अर्थ होगा कि भगवान् कृष्ण उत्पन्न जीवों को अपनी विविध शक्तियों से आनन्द प्रदान करते हैं। निस्सन्देह आत्मा कभी उत्पन्न नहीं किया जाता किन्तु हमारा भौतिक बद्धशरीर भगवान् की शक्तियों की अन्योन्य क्रिया से उत्पन्न होता है।

जिसे भगवान् की अन्तरंगा शक्ति की कृपा प्राप्त होती है, वही ब्रह्म या परम सत्य के स्वभाव को समझ सकता है। यह समझ कृष्णभावनामृत कहलाती है। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण बतलाते हैं कि उनकी शक्तियाँ अपरा और परा अथवा भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियों में विभाजित हैं। *ब्रह्म-संहिता* में आगे यह बतलाया गया है कि भौतिक शक्ति छाया की तरह कार्य करती है, जो आध्यात्मिक सच्चाई की, जो कि साक्षात् भगवान् तथा उनकी आध्यात्मिक शक्ति है, गतियों का अनुगमन करती है। जब किसी पर भगवान् कृष्ण की कृपा होती है, तो वे शरणागत आत्मा के समक्ष प्रकट होते हैं और वही सृष्टि, जो पहले आत्मा को आच्छादित किये रहती थी, अब आध्यात्मिक प्रकाश के लिए प्रेरणाप्रद बन जाती है।

अथाप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि
क्रियाकलापं परिधाय वाससी ।
चकार सन्ध्योपगमादि सत्तमो
हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; आप्लुतः—स्नान करके; अम्भसि—जल में; अमले—स्वच्छ; यथा-विधि—वैदिक नियमों के अनुसार; क्रिया—अनुष्ठान के; कलापम्—समस्त अनुक्रम; परिधाय—पहन कर; वाससी—अधो तथा ऊपरी वस्त्र; चकार—किया; सन्ध्या-उपगम—प्रातःकालीन पूजा; आदि—इत्यादि; सत्-तमः—साधु-पुरुष; हुत—आहुति देकर; अनलः—पवित्र अग्नि को; ब्रह्म—वेदों का मंत्र (गायत्री); जजाप—मौन रहकर उच्चारण किया; वाक्—वाणी; यतः—नियंत्रित करते हुए।

तब पुरुषों में अत्यन्त साधु सदृश भगवान् कृष्ण पवित्र जल में स्नान करते, अपने अधो वस्त्र तथा ऊपरी वस्त्र पहनते और प्रातःकालीन पूजा इत्यादि सारे नियमित क्रिया-कलाप सम्पन्न करते। फिर पवित्र अग्नि में आहुति देकर वे मन ही मन गायत्री मंत्र का जाप करते।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी इंगित करते हैं कि भगवान् कृष्ण कण्व मुनि की शिष्य-परम्परा में थे, अतएव उन्होंने सूर्योदय के पूर्व अग्नि में आहुति डाली। तब उन्होंने गायत्री मंत्र का जाप किया।

उपस्थायार्कमुद्यन्तं तर्पयित्वात्मनः कलाः ।
देवानृषीन्पितृन्वृद्धान्विप्रानभ्यर्च्य चात्मवान् ॥ ७ ॥
धेनूनां रुक्मशृङ्गीनां साध्वीनां मौक्तिकस्रजाम् ।
पयस्विनीनां गृष्टीनां सवत्सानां सुवाससाम् ॥ ८ ॥
ददौ रूप्यखुराग्राणां क्षौमाजिनतिलैः सह ।
अलङ्कृतेभ्यो विप्रेभ्यो बद्वं बद्वं दिने दिने ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

उपस्थाय—पूजा करके; अर्कम्—सूर्य को; उद्यन्तम्—उदय होते; तर्पयित्वा—तर्पण करके; आत्मनः—अपने; कलाः—अंशों को; देवान्—देवताओं को; ऋषीन्—ऋषियों को; पितृन्—तथा पितरों को; वृद्धान्—अपने गुरुजनों को; विप्रान्—तथा ब्राह्मणों को; अभ्यर्च्य—पूज कर; च—तथा; आत्म-वान्—अपनी ही; धेनूनाम्—गौवों के; रुक्म—सोने (से मढ़ी); शृङ्गीनाम्—सींगों वाली; साध्वीनाम्—अच्छे स्वभाव वाली; मौक्तिक—मोतियों की; स्रजाम्—मालाओं से; पयस्विनीनाम्—दूध देने वाली; गृष्टीनाम्—एक बार ब्याई; स-वत्सानाम्—अपने बछड़ों समेत; सु-वाससाम्—अच्छी तरह से वस्त्र पहने; ददौ—दिया; रूप्य—चाँदी (से मढ़ी); खुर—खुरों वाली; अग्राणाम्—अगले; क्षौम—मलमल; अजिन—मृगचर्म; तिलैः—तथा तिल; सह—के साथ साथ; अलङ्कृतेभ्यः—आभूषण दिये गये; विप्रेभ्यः—ब्राह्मणों को; बद्वम् बद्वम्—(एक सौ सात) १३,०८ के समूह (पूर्ण संख्या ०,०००) ; दिने दिने—प्रतिदिन।

प्रतिदिन भगवान् उदय होते सूर्य की पूजा करते और अपने अंशरूप देवताओं, ऋषियों तथा पितरों का तर्पण करते। तत्पश्चात् आत्म-समृद्ध भगवान् अपने गुरुजनों तथा ब्राह्मणों की ध्यानपूर्वक पूजा करते। वे सुवस्त्राभूषित ब्राह्मणों को, पालतू तथा शान्त गौवों का झुंड दान में देते, जिनके सींग सोने से मढ़े होते और गले में मोतियों की मालाएँ रहती थीं। ये गौवें सुन्दर वस्त्रों से भी विभूषित रहतीं और उनके खुरों के अगले हिस्से चाँदी से मढ़े होते। ये प्रचुर दूध देने वाली तथा एक बार (ब्याँती) वाली होतीं और इनके साथ इनके बछड़े होते। भगवान् प्रतिदिन १३,०८ गौवों के अनेक झुंड विद्वा न ब्राह्मणों को देते और साथ में मलमल, मृगचर्म तथा तिल भी दान देते।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी ने यह दिखाने के लिए कई शास्त्रों से उद्धरण दिये हैं कि वैदिक अनुष्ठान के सन्दर्भ में *बद्व* १३,०८ गौवों का सूचक है। *बद्वं बद्वं दिने दिने* शब्दों से सूचित होता है कि भगवान् कृष्ण नित्य ही विद्वान ब्राह्मणों को गौवों के ऐसे अनेक झुंड दान देते थे। श्रीधर स्वामी यह भी प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि प्राचीन युग में महान् सन्त राजा ७ बद्व (७ – १३,०८) गौवें दान में देते थे। इस तरह इस यज्ञ में, जिसका नाम *मञ्चार* है, कुल १ लाख गौवें दी गईं।

अलंकृतेभ्यो विप्रेभ्यः शब्द सूचक हैं कि भगवान् कृष्ण के राज्य में ब्राह्मणों को सुन्दर सुन्दर वस्त्र और आभूषण दिये जाते थे। इस तरह वे अच्छी वेशभूषा में रहते थे।

श्रीकृष्ण में श्रील प्रभुपाद ने भगवान् कृष्ण की इन लीलाओं के विषय में गहरी अन्तर्दृष्टि प्रस्तुत की है। पाठकों को इस पुस्तक को पढ़ना चाहिए क्योंकि इस पुस्तक में *श्रीमद्भागवत* के दशम स्कंध में वर्णित लीलाओं के विषय में पर्याप्त जानकारी तथा व्याख्या मिलती है। यहाँ पर किया गया हमारा विनीत प्रयास हमारे गुरुवर की शुद्धता तथा दक्षता के समक्ष नगण्य है। फिर भी उनके चरणकमलों की

सेवा में हम दशम स्कंध के मूलपाठ के शब्दार्थ, उनकी स्पष्ट एवं आवश्यक टीका प्रस्तुत कर रहे हैं, जो प्राय: हमारी परम्परा के महान् गुरुओं के कथनों पर आधारित है।

गोविप्रदेवतावृद्धगुरून्भूतानि सर्वशः ।
नमस्कृत्यात्मसम्भूतीर्मङ्गलानि समस्पृशत् ॥ ॥

शब्दार्थ

गो—गौवों; विप्र—ब्राह्मणों; देवता—देवताओं; वृद्ध—वरेषुजन; गुरून्—तथा गुरुओं को; भूतानि—जीवों को; सर्वशः—समस्त; नमस्कृत्य—नमस्कार करके; आत्म—अपने; सम्भूतीः—अंशों को; मङ्गलानि—शुभ वस्तुएँ (यथा भूरी गाय); समस्पृशत्—स्पर्श किया।

भगवान् कृष्ण गौवों, ब्राह्मणों तथा देवताओं, अपने वरेषुजनों तथा गुरुओं और समस्त जीवों को—जो उन परम पुरुष के ही अंशरूप हैं—नमस्कार करते। तब वे शुभ वस्तुओं का स्पर्श करते।

आत्मानं भूषयामास नरलोकविभूषणम् ।
वासोभिर्भूषणैः स्वीयैर्दिव्यस्त्रगनुलेपनैः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—स्वयं को; भूषयाम् आस—सजाते; नर-लोक—मानव समाज के; विभूषणम्—आभूषण; वासोभिः—वस्त्रों से; भूषणैः—तथा रत्नों से; स्वीयैः—अपने ही; दिव्य—दैवी; स्त्रक्—फूल की मालाओं से; अनुलेपनैः—तथा लेपों से।

वे मानव समाज के आभूषण स्वरूप अपने शरीर को अपने विशेष वस्त्रों तथा रत्नों से और दैवी फूल-मालाओं एवं लेपों से सजाते।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी इंगित करते हैं कि भगवान् के "निजी वस्त्रों तथा आभूषणों" में भगवान् का सुप्रसिद्ध पीताम्बर तथा कौस्तुभ मणि इत्यादि सम्मिलित हैं।

अवेक्ष्याज्यं तथादर्शं गोवृषद्विजदेवताः ।
कामांश्च सर्ववर्णानां पौरान्तःपुरचारिणाम् ।
प्रदाप्य प्रकृतीः कामैः प्रतोष्य प्रत्यनन्दत ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अवेक्ष्य—देखकर; आज्यम्—घी की ओर; तथा—और भी; आदर्शम्—शीशे की ओर; गो—गौवें; वृष—साँड़ों; द्विज—ब्राह्मणों; देवताः—देवतागण; कामान्—इच्छित वस्तुओं; च—तथा; सर्व—सभी; वर्णानाम्—जातियों के लोगों को; पौर—नगर में; अन्तः-पुर—महल के भीतर; चारिणाम्—रहने वाले; प्रदाप्य—देने का प्रबन्ध करके; प्रकृतीः—मंत्रीगण; कामैः—अपनी इच्छाओं के पूर्ण होने से; प्रतोष्य—पूरी तरह तुष्ट करके; प्रत्यनन्दत—सत्कार किया।

तब वे घी, दर्पण, गौवों तथा साँड़ों, ब्राह्मणों और देवताओं की ओर देखते और आश्वस्त

होते कि महल के भीतर तथा पूरे नगर में रहने वाले सभी जातियों के लोग इन उपहारों से सन्तुष्ट तो हैं। तत्पश्चात् अपने मंत्रियों की इच्छाओं को पूरा करके उनका अभिवादन और सत्कार करते।

संविभज्याग्रतो विप्रान्स्रक्ताम्बूलानुलेपनैः ।
सुहृदः प्रकृतीर्दारानुपायुङ्क्त ततः स्वयम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

संविभज्य—बाँट कर; अग्रतः—पहले; विप्रान्—ब्राह्मणों को; स्रक्—मालाएँ; ताम्बूल—पान; अनुलेपनैः—तथा चन्दन-लेप से; सुहृदः—अपने मित्रों; प्रकृतीः—अपने मंत्रियों; दारान्—अपनी पत्नियों; उपायुङ्क्त —काम में लाते; ततः—तब; स्वयम्—स्वयम्।

सर्वप्रथम ब्राह्मणों को पुष्प-मालाएँ, पान तथा चन्दन-लेप बाँटकर इन्हीं उपहारों को अपने मित्रों, मंत्रियों तथा पत्नियों को देते और अन्त में स्वयं इनका उपभोग करते।

तावत्सूत उपानीय स्यन्दनं परमाद्भुतम् ।
सुग्रीवाद्यैर्हयैर्युक्तं प्रणम्यावस्थितोऽग्रतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब तक; सूतः—सारथी; उपानीय—लाकर; स्यन्दनम्—रथ को; परम—अत्यन्त; अद्भुतम्—अद्‌भुत; सुग्रीव-आद्यैः—सुग्रीव नाम के तथा अन्य; हयैः—घोड़ों से; युक्तम्—जुता हुआ; प्रणम्य—प्रणाम करके; अवस्थितः—खड़ा हुआ; अग्रतः—उनके सामने।

तब तक भगवान् का सारथी उनके अत्यन्त अद्‌भुत रथ को ले आता जिसमें सुग्रीव तथा उनके अन्य घोड़े जुते होते। तत्पश्चात् उनका सारथी उन्हें नमस्कार करता और उनके समक्ष आ खड़ा होता।

गृहीत्वा पाणिना पाणी सारथेस्तमथारुहत् ।
सात्यक्युद्धवसंयुक्तः पूर्वाद्रिमिव भास्करः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

गृहीत्वा—पकड़ कर; पाणिना—अपने हाथ से; पाणी—हाथ; सारथेः—अपने सारथी के; तम्—उसको; अथ—तब; आरुहत्—चढ़ गये; सात्यकि-उद्धव—सात्यकि तथा उद्धव से; संयुक्तः—संग में; पूर्व—पूर्व की ओर का; अद्रिम्—पर्वत; इव—मानो; भास्करः—सूर्य।

अपने सारथी के हाथों को पकड़ कर भगवान् कृष्ण सात्यकि तथा उद्धव के साथ साथ रथ पर इस तरह चढ़ते मानो सूर्य पूर्व के पर्वत (उदयाचल) पर उदय हो रहा हो।

तात्पर्य : आचार्यगण इंगित करते हैं कि सारथी हाथ जोड़े खड़ा रहता और भगवान् अपने दाहिने हाथ से उसके जुड़े हाथों को पकड़ कर रथ पर चढ़ते।

ईक्षितोऽन्तःपुरस्त्रीणां सव्रीडप्रेमवीक्षितैः ।
कृच्छ्राद्विसृष्टो निरगाज्जातहासो हरन्मनः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ईक्षितः—देखे गये; अन्तः-पुर—महल की; स्त्रीणाम्—स्त्रियों के; स-व्रीड—लजीली; प्रेम—तथा प्रेमपूर्ण; वीक्षितैः—चितवनों से; कृच्छ्रात्—कठिनाई से; विसृष्टः—छूट कर; निरगात्—छुटकारा पाकर; जात—प्रकट; हासः—हँसी; हरन्—चुराते; मनः—उनके मनों को।.

महल की स्त्रियाँ भगवान् कृष्ण को लजीली प्रेममयी चितवनों से देखतीं और इस तरह वे मुश्किल से उनसे छूट पाते। तत्पश्चात् वे अपने हँसीयुक्त मुख से उनके मन को चुराते हुए चल पड़ते।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती उक्त दृश्य का वर्णन इस प्रकार करते हैं: ''अन्त:पुर की महिलाओं की लजीली प्रेम-भरी चितवनें, जो उनकी चंचलता का संकेत दे रही थीं, मानों कह रही हों, ''हम आपसे विलग होने के इस कष्ट को कैसे सह सकती हैं?'' भाव यह है कि चूँकि भगवान् उनके स्नेह के वशीभूत हो रहे थे अतएव वे यह इंगित करते हुए मुसकाने लगे, ''प्रिय चंचल स्त्रियो! इस छोटे-से वियोग से तुम लोग इतनी अभिभूत हो गई हो। मैं आज ही बाद में तुम सबों के साथ रमण करने के लिए वापस आ रहा हूँ।'' और तब वे उन सबों के मन को मोहने वाली हँसी के साथ अपने को उन सबों की प्रेमभरी चितवनों के बंधन से छुड़ाकर बड़ी मुश्किल से बाहर निकल पाये।''

सुधर्माख्यां सभां सर्वैर्वृष्णिभिः परिवारितः ।
प्राविशद्यन्निविष्टानां न सन्त्यङ्ग षडूर्मयः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

सुधर्मा-आख्याम्—सुधर्मा नामक; सभाम्—राजसभो-भवन में; सर्वैः—सभी; वृष्णिभिः—वृष्णियों द्वारा; परिवारितः—सम्मिलित हुए; प्राविशत्—प्रविष्ट हुए; यत्—जो; निविस्तानाम्—प्रविष्ट हुओं के लिए; न सन्ति—नहीं हैं; अङ्ग—हे राजा (परीक्षित); षट्—छः; ऊर्मयः—तरंगें।.

हे राजन्, भगवान् समस्त वृष्णियों के साथ साथ उस सुधर्मा सभाभवन में प्रवेश करते, जो उसमें प्रवेश करने वालों को भौतिक जीवन की छह तरंगों से रक्षा करता है।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं: ''यह स्मरण रखना होगा कि सुधर्मा सभाभवन स्वर्गलोक से लाकर द्वारकापुरी नगरी में फिर से स्थापित किया गया था। इस सभाभवन की विशेषता यह थी कि जो भी इसमें प्रवेश करता वह छह प्रकार के भौतिक कष्टों—भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु—से

मुक्त हो जाता था। इस संसार में कोड़े लगते रहते हैं किन्तु जब तक कोई सुधर्मा सभाभवन में रहता तब तक वह इन छ: भौतिक कोड़ों से प्रभावित नहीं होता था।''

इस सम्बन्ध में श्रीधर स्वामी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती की व्याख्या है कि जब भगवान् कृष्ण अपने अनेक महलों में से होकर अलग अलग बाहर निकलते तो उनका प्रत्येक रूप उन विशेष महलों के प्रांगणों में उपस्थित रहने वालों को तथा पड़ोसी निवासियों को दृष्टिगोचर होता किन्तु अन्यों को नहीं। तत्पश्चात् सुधर्मा सभाभवन के द्वार पर भगवान् के सारे रूप एक में मिल जाते और इस तरह वे सभाभवन में प्रवेश करते।

तत्रोपविस्त: परमासने विभु-
र्बभौ स्वभासा ककुभोऽवभासयन् ।
वृतो नृसिंहैर्यदुभिर्यदूत्तमो
यथोडुराजो दिवि तारकागणै: ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; उपविष्ट:—बैठे; परम-आसने—उच्च सिंहासन पर; विभु:—सर्वशक्तिमान प्रभु; बभौ—चमकते; स्व—अपने; भासा—तेज से; ककुभ:—आकाश के कोने; अवभासयन्—प्रकाशित करते हुए; वृत:—घिरे हुए; नृ—मनुष्य के रूप; सिंहै:—सिंहों द्वारा; यदुभि:—यदुओं द्वारा; यदु-उत्तम:—यदुओं में सर्वश्रेष्ठ; यथा—जिस तरह; उडु-राज:—चन्द्रमा; दिवि—आकाश में; तारका-गणै:—तारों से (घिरा हुआ)।

जब उस सभाभवन में सर्वशक्तिमान भगवान् अपने श्रेष्ठ सिंहासन पर विराजमान होते तो वे अपने अद्वितीय तेज से आकाश की दिशाओं को प्रकाशित करते हुए शोभायमान होते। पुरुषों में सिंह रूप यदुओं से घिर कर वे यदुश्रेष्ठ वैसे ही प्रतीत होते जैसे कि अनेक तारों के बीच चन्द्रमा।

तत्रोपमन्त्रिणो राजन्नानाहास्यरसैर्विभुम् ।
उपतस्थुर्नटाचार्या नर्तक्यस्ताण्डवै: पृथक् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; उपमन्त्रिण:—विदूषक; राजन्—हे राजन्; नाना—विविध; हास्य—हास्य; रसै:—रसों के द्वारा; विभुम्—भगवान् को; उपतस्थु:—उन्होंने सेवा की; नट-आचार्या:—दक्ष मनोविनोद करने वाले; नर्तक्य:—नर्तकियाँ; ताण्दवै:—कलापूर्ण नृत्य से; पृथक्—अलग से।

हे राजन्, वहाँ पर विदूषक विविध हास्य रसों का प्रदर्शन करके भगवान् का मनोरंजन करते, दक्ष नर्तक उनके लिए अभिनय करते और नर्तकियाँ ओजपूर्ण नृत्य प्रस्तुत करतीं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि *नटाचार्य* शब्द और बातों के साथ साथ दक्ष

जादूगरों का द्योतक है। ये तरह तरह के मनोविनोद प्रस्तुतकर्ता राजसभा में एक के बाद एक, भगवान् के लिए प्रदर्शन करते।

मृदङ्गवीणामुरजवेणुतालदरस्वनैः ।
ननृतुर्जगुस्तुष्टुवुश्च सूतमागधवन्दिनः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

मृदङ्ग—मृदंग; वीणा—वीणा; मुरज—तथा मुरज का, एक प्रकार का अन्य ढोल; वेणु—बाँसुरी; ताल—मंजीरें; दर—तथा शंख के; स्वनैः—ध्वनि सहित; ननृतुः—नृत्य किया; जगुः—गाया; तुष्टुवुः—प्रशंसा की; च—तथा; सूत—भाट; मागध—तथा चारण; वन्दिनः—तथा वंदीजन।

ये अभिनयकर्ता मृदंग, वीणा, मुरज, वंशी, मंजीरा तथा शंख की ध्वनि के साथ नाचते और गाते, जबकि पेशेवर कवि, मागध तथा वन्दीजन भगवान् के यश का गायन करते।

तत्राहुर्ब्राह्मणाः केचिदासीना ब्रह्मवादिनः ।
पूर्वेषां पुण्ययशसां राज्ञां चाकथयन्कथाः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; आहुः—बोले; ब्राह्मणाः—ब्राह्मणगण; केचित्—कुछ; आसीनाः—बैठे हुए; ब्रह्म—वेदों के; वादिनः—ज्ञाता; पूर्वेषाम्—भूतकाल के; पुण्य—पवित्र; यशसाम्—जिनका यश; राज्ञाम्—राजाओं का; च—तथा; आकथयन्—सुनाते; कथाः—कथाएँ।

कुछ ब्राह्मण उस सभाभवन में बैठ कर वैदिक मंत्रों का सस्वर पाठ करते और कुछ पूर्वकालीन पवित्र कीर्ति वाले राजाओं की कथाएँ कह कर सुनाते।

तत्रैकः पुरुषो राजन्नागतोऽपूर्वदर्शनः ।
विज्ञापितो भगवते प्रतीहारैः प्रवेशितः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; एकः—एक; पुरुषः—व्यक्ति; राजन्—हे राजा (परीक्षित); आगतः—आया; अपूर्व—जिसके पहले कभी नहीं; दर्शनः—जिसका प्राकटय; विज्ञापितः—आने की सूचना दी; भगवते—भगवान् से; प्रतीहारैः—द्वारपालों के द्वारा; प्रवेशितः—भीतर जाने दिया गया।

हे राजन्, एक बार एक व्यक्ति उस सभा में आया जो इसके पूर्व वहाँ कभी नहीं देखा गया था। द्वारपालों ने उसके आने की जानकारी भगवान् को दी और तब वे उसे भीतर लेकर आये।

स नमस्कृत्य कृष्णाय परेशाय कृताञ्जलिः ।
राज्ञामावेदयद्दुःखं जरासन्धनिरोधजम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने; नमस्कृत्य—नमस्कार करके; कृष्णाय—भगवान् कृष्ण को; पर-ईशाय—परमेश्वर; कृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़ कर; राज्ञाम्—राजाओं के; आवेदयत्—निवेदन किया; दुःखम्—कष्ट; जरासन्ध—जरासन्ध द्वारा; निरोध-जम्—बन्दी बनाये जाने के कारण।.

उस व्यक्ति ने भगवान् कृष्ण को नमस्कार किया और हाथ जोड़ कर उनको बतलाया कि जरासन्ध द्वारा बन्दी बनाये जाने के कारण किस तरह अनेक राजा कष्ट भोग रहे हैं।

ये च दिग्विजये तस्य सन्नतिं न ययुर्नृपाः ।
प्रसह्य रुद्धास्तेनासन्नयुते द्वे गिरिव्रजे ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ये—जो; च—तथा; दिक्-विजये—सभी दिशाओं में विजय के समय; तस्य—उसकी (जरासन्ध की); सन्नतिम्—पूर्ण अधीनता; न ययुः—स्वीकार नहीं किया; नृपाः—राजा; प्रसह्य—बलपूर्वक; रुद्धाः—बन्दी बनाये गये; तेन—उसके द्वारा; आसन्—थे; अयुते—दस हजार; द्वे—दो; गिरि-व्रजे—गिरिव्रज नामक किले में।.

जिन बीस हजार राजाओं ने जरासन्ध की दिग्विजय के समय पूर्ण अधीनता स्वीकार नहीं की थी, वे उसके द्वारा बलपूर्वक गिरिव्रज नामक किले में बन्दी बना लिये गये थे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि ये वे राजा थे जिन्होंने भेंट देने तथा अन्य प्रकार की अधीनता स्वीकार करने से इनकार कर दिया था। *महाभारत* तथा अन्य ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण विवरण मिलता है कि जरासन्ध ने एक लाख राजाओं की बलि देकर महाभैरव की पूजा करनी चाही थी।

राजान ऊचुः
कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन्प्रपन्नभयभञ्जन ।
वयं त्वां शरणं यामो भवभीताः पृथग्धियः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

राजानः—राजाओं ने; ऊचुः—कहा; कृष्ण कृष्ण—हे कृष्ण, हे कृष्ण; अप्रमेय-आत्मन्—हे अमाप्य आत्मा; प्रपन्न—शरणागत लोगों के; भय—डर के; भञ्जन—हे नष्ट करने वाले; वयम्—हम; त्वाम्—तुम्हारी; शरणम्—शरण में; यामः—आये हैं; भव—संसार से; भीताः—डरे हुए; पृथक्—अलग; धियः—जिनकी मनोवृत्ति।.

[दूत के द्वारा दिये गये वृत्तान्त के अनुसार] राजाओं ने कहा : हे कृष्ण, हे कृष्ण, हे अप्रमेय आत्मा, हे शरणागतों के भय के विनाशक, हम पृथक् पृथक् मत रखने के बावजूद संसार से भयभीत होकर आपके पास शरण लेने आये हैं।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी व्याख्या करते हैं कि इस श्लोक में तथा अगले पाँच श्लोकों में राजाओं का

निवेदन प्रस्तुत हुआ है। इस श्लोक में वे भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं, अगले तीन श्लोकों में वे अपने भय का वर्णन करते हैं और अन्तिम दो श्लोकों में वे अपनी प्रार्थनाएँ प्रस्तुत करते हैं।

लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः
कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे ।
यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां
सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

लोकः—सारा संसार; विकर्म—पापकर्मों में; निरतः—सदैव लिप्त; कुशले—उनके लाभ के लिए; प्रमत्तः—मोहग्रस्त; कर्मणि—कार्यों में; अयम्—यह (जगत); त्वत्—तुम्हारे द्वारा; उदिते—कहे गये; भवत्—आपका; अर्चने—पूजा में; स्वे—अपनी (लाभप्रद कार्य); यः—जो; तावत्—तब तक; अस्य—इस (जगत का); बल-वान्—शक्तिशाली; इह—इस जीवन में; जीवित—दीर्घायु के लिए; आशाम्—आशा; सद्यः—सहसा; छिनत्ति—काट देता है; अनिमिषाय—पलक झपकने तक के समय को; नमः—नमस्कार; अस्तु—हो; तस्मै—उसको।

इस जगत में लोग सदैव पापकर्मों में लगे रहते हैं और इस तरह वे अपने असली कर्तव्य के विषय में, जो आपके आदेशानुसार आपकी पूजा करना है, विभ्रमित रहते हैं। इस कार्य से सचमुच ही उन्हें सौभाग्य प्राप्त हो सकता है। हम सर्वशक्तिमान भगवान् को नमस्कार करते हैं, जो काल रूप में प्रकट होते हैं और इस जगत में दीर्घायु की प्रबल आशा को सहसा छिन्न कर देते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२७) में भगवान् कृष्ण कहते हैं :

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

"हे कौन्तेय! तुम जो भी करो, जो भी खाओ, जो भी मुझे अर्पित करो या दान दो और जो भी तपस्या करो, उसे मुझे भेंट के रूप में करो।"

यही परमेश्वर का अध्यादेश है किन्तु लोग सामान्यतः विभ्रमित रहते हैं और इस शुभ कार्य की उपेक्षा करके भयानक कष्ट देने वाले पापपूर्ण कर्मों को चुनते हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन भगवद्भक्ति के इस अत्यावश्यक कार्य के विषय में संसार को प्रबुद्ध करने का कार्य कर रहा है।

लोके भवाञ्जगदिनः कलयावतीर्णः
सद्रक्षणाय खलनिग्रहणाय चान्यः ।

कश्चित्त्वदीयमतियाति निदेशमीश
किं वा जनः स्वकृतमृच्छति तन्न विद्मः ॥ २७॥

शब्दार्थ

लोके—इस जगत में; भवान्—आप; जगत्—ब्रह्माण्ड का; इनः—प्रधान; कलया—अपने अंश बलदेव के साथ अथवा अपनी कालशक्ति के साथ; अवतीर्णः—अवतरित होकर; सत्—सन्त पुरुषों की; रक्षणाय—रक्षा करने हेतु; खल—दुष्ट का; निग्रहणाय—दमन करने के लिए; च—तथा; अन्यः—दूसरा; कश्चित्—कोई; त्वदीयम्—तुम्हारे; अतियाति—उल्लंघन करता है; निदेशम्—नियम का; ईश—हे प्रभु; किम् वा—अथवा; जनः—कोई व्यक्ति; स्व—अपने से; कृतम्—बनाया गया; ऋच्छति—पा लेता है; तत्—उसे; न विद्मः—हम नहीं जानते।.

आप विश्व के अधिष्ठाता प्रभु हैं और आप इस जगत में सन्तों की रक्षा करने तथा दुष्टों का दमन करने के लिए अपनी निजी शक्ति के साथ अवतरित हुए हैं। हे प्रभु, हम यह समझ नहीं पाते कि कोई आपके नियम का उल्लंघन करने पर भी अपने कर्म के फलों को कैसे भोग सकता है?

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि राजा लोग अपने ऊपर आई विपत्ति के कारण विभ्रमित थे। वे इस श्लोक में यह बतलाते हैं कि भगवान् इस जगत में पुण्यात्माओं की रक्षा करने और दुष्टों को दण्ड देने के लिए अवतरित हुए हैं, तो फिर भगवान् के आदेश का सरासर उल्लंघन करने वाला यह जरासन्ध किस तरह अपने दुष्ट कर्म करता जा रहा है, जबकि सारे राजा दयनीय स्थिति में धकेल दिये गये हैं? इसी तरह श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि राजा लोग यह न समझ पाये कि जरासन्ध, जो कि सन्त भक्तों को सताये जा रहा था और दुष्टों का पोषण कर रहा था, किस तरह उन्नति करता रहा, जबकि राजागण उस दुष्ट जरासन्ध द्वारा उत्पीड़ित किये जा रहे थे। इसी प्रकार *भगवान् श्रीकृष्ण* में श्रील प्रभुपाद राजाओं के विषय में उद्धरण देते हैं, "हे प्रभु! आप समस्त जगतों के मालिक हैं और आप अपने स्वांश बलराम के साथ अवतरित हुए हैं। यह कहा जाता है कि आपका यह अवतार श्रद्धालुओं की रक्षा करने और दुष्टों को विनष्ट करने के लिए हुआ है। ऐसी परिस्थितियों में यह कैसे सम्भव है कि आपके होते हुए जरासन्ध जैसा दुष्ट हमें इस दयनीय स्थिति में ला दे? हम इस स्थिति से भौंचक्के हैं और यह नहीं समझ पा रहे कि यह कैसे हो रहा है? हो सकता है कि हमारे विगत कर्मों के कारण कष्ट देने के लिए जरासन्ध को नियुक्त किया गया हो! किन्तु हमने शास्त्रों से यही सुना है कि जो कोई आपके चरणों की शरण ग्रहण करता है, वह तुरन्त ही पापपूर्ण जीवन के फलों के प्रति निश्चेष्ट हो जाता है—अतएव हम पूरी तरह से आपके शरणागत हैं और हमें आशा है कि आप हमें पूर्ण संरक्षण प्रदान करेंगे।"

स्वप्नायितं नृपसुखं परतन्त्रमीश
शश्वद्भयेन मृतकेन धुरं वहामः ।
हित्वा तदात्मनि सुखं त्वदनीहलभ्यं
क्लिश्यामहेऽतिकृपणास्तव माययेह ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

स्वप्नायितम्—स्वप्न की तरह; नृप—राजाओं के; सुखम्—सुख को; पर-तन्त्रम्—बद्ध; ईश—हे प्रभु; शश्वत्—नित्य; भयेन—भय से; मृतकेन—इस शव से; धुरम्—बोझ को; वहामः—ढो रहे हैं; हित्वा—छोड़ कर; तत्—उस; आत्मनि—आत्मा के भीतर; सुखम्—सुख को; त्वत्—आपके लिए किया गया; अनीह—निःस्वार्थ कार्य से; लभ्यम्—प्राप्त होने वाले; क्लिश्यामहे—कष्ट भोगते हैं; अति—अत्यधिक; कृपणाः—अभागे; तव—आपकी; मायया—माया से; इह—इस संसार में।

हे प्रभु, इस शवतुल्य शरीर से, जो कि सदैव भय से ओतप्रोत रहता है, हम राजा लोग सुख के बोझ को स्वप्न की तरह वहन करते हैं। इस तरह हमने असली आत्म-सुख को त्याग दिया है, जो आपकी निस्वार्थ सेवा करने से प्राप्त होता है। इतने अधिक अभागे होने से हम आपकी माया के पाश के अन्तर्गत कष्ट भोग रहे हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में अपना सन्देह व्यक्त करने के बाद यहाँ पर सारे राजा यह स्वीकार करते हैं कि वे अपनी मूर्खता के कारण ही कष्ट भोग रहे हैं, क्योंकि तथाकथित राजपद के क्षणिक तथा बद्धसुख के बदले में उन्होंने नित्य आत्म-सुख का परित्याग कर दिया है। अधिकांश लोग अपनी आत्मा के बदले सम्पत्ति, शक्ति, सम्मान, राजवंश इत्यादि की कामना करने के कारण ऐसी भूल करते हैं। सारे राजा यह स्वीकार करते हैं कि वे भगवान् की माया के पाश में फँस चुके हैं और उन्होंने राजनीतिक अगुआई की महान् चिन्ता को ही सुख मान लिया है।

तन्नो भवान्प्रणतशोकहराङ्घ्रियुग्मो
बद्धान्वियुङ्क्ष्व मगधाह्वयकर्मपाशात् ।
यो भूभुजोऽयुतमतङ्गजवीर्यमेको
बिभ्रद्रुरोध भवने मृगराडिवावीः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; नः—हमको; भवान्—आप; प्रणत—शरणागतों के; शोक—शोक; हर—हरने वाले; अङ्घ्रि—पाँवों की; युग्मः—जोड़ी; बद्धान्—बद्ध; वियुङ्क्ष्व—कृपया छुड़ा दें; मगध-आह्वय—मगध नामक (जरासन्ध); कर्म—सकाम कर्म की; पाशात्—जंजीरों से; यः—जो; भू-भुजः—राजा का; अयुत—दस हजार; मतम्—उन्मत्त; गज—हाथियों के; वीर्यम्—पराक्रम; एकः—अकेले; बिभ्रत्—वश में करके; रुरोध—बन्दी बना लिया; भवने—अपने घर में; मृग-राट्—पशुओं का राजा, सिंह; इव—जिस तरह; अवीः—भेड़ों को।

इसलिए आप हम बन्दियों को कर्म के बन्धनों से, जो कि मगध के राजा के रूप में प्रकट

हुए हैं, मुक्त कीजिये, क्योंकि आपके चरण उन लोगों के शोक को हरने वाले हैं, जो उनकी शरण में जाते हैं। दस हजार उन्मत्त हाथियों के पराक्रम को वश में करके अकेले उसने हम सबों को अपने घर में उसी तरह बन्दी कर रखा है, जिस तरह कोई सिंह भेड़ों को पकड़ लेता है।

तात्पर्य : सारे राजा भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं कि वे उन्हें कर्म के बन्धन से मुक्त कर दें, जो कि भगवान् की भौतिक शक्ति से उत्पन्न है। वे यह स्पष्ट कर देते हैं कि जरासन्ध इतना प्रबल है कि उनके लिए अपनी शक्ति के बल पर उससे छूट पाने की कोई आशा नहीं हैं।

यो वै त्वया द्विनवकृत्व उदात्तचक्र
भग्नो मृधे खलु भवन्तमनन्तवीर्यम् ।
जित्वा नृलोकनिरतं सकृदूढदर्पो
युष्मत्प्रजा रुजति नोऽजित तद्विधेहि ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यः—जो; वै—निस्सन्देह; त्वया—तुम्हारे द्वारा; द्वि—दो बार; नव—नौ; कृत्वः—गुणित; उदात्त—ऊपर उठा हुआ; चक्र—हे चक्रधारी; भग्नः—कुचला हुआ; मृधे—युद्ध में; खलु—निश्चय ही; भवन्तम्—आप; अनन्त—असीम; वीर्यम्—शक्ति; जित्वा—जीतकर; नृ-लोक—मानवीय मामलों में; निरतम्—लीन; सकृत्—केवल एक बार; ऊढ—बढ़ा हुआ; दर्पः—गर्व; युष्मत्—तुम्हारी; प्रजाः—जनता; रुजति—सताती है; नः—हमको; अजित—हे अजित; तत्—उसे; विधेहि—कृपा करके ठीक कर दें।

हे चक्रधारी, आपकी शक्ति अथाह है और इस तरह आपने जरासन्ध को युद्ध में सत्रह बार कुचला है। किन्तु मानवीय कामकाज में लीन होने से आपने उसे आप को पराजित करने का एक बार अवसर दिया है। अब वह गर्व से इस कदर फूला हुआ है कि आपकी जनता रूप हम सबों को, सताने का दुस्साहस कर रहा है। हे अजित, आप इस स्थिति को सुधारें।

तात्पर्य : *नृलोकनिरतम्* शब्द सूचित करता है कि भगवान् मानवी जगत के भीतर क्रीड़ा करने में लीन थे। इस तरह मानवीय राजा की भाँति अभिनय करते हुए उन्होंने जरासन्ध को सत्रह बार पराजित करने के बाद एक युद्ध में उसे विजयी होने दिया। यहाँ पर राजा यह कहना चाहते हैं कि जरासन्ध उन्हें इसलिए सता रहा है, क्योंकि वे लोग कृष्ण के शरणागत हैं। इसलिए वे भगवान् से याचना करते हैं, ''हे चक्र-शस्त्र को ऊँचा रखने वाले! आप समुचित प्रबन्ध करें।''

श्रील प्रभुपाद ने राजाओं की भावनाओं को इस प्रकार व्यक्त किया है, ''हे प्रभु! आप अब तक क्रमशः अठारह बार जरासंध से युद्ध कर चुके हैं, जिसमें से उसकी असाधारण शक्तिशाली स्थिति पर

विजयी होकर आपने उसे सत्रह बार हराया है। परन्तु अठारहवें युद्ध में आपने अपना मानवीय आचरण प्रदर्शित किया, जिससे ऐसा लगा कि आप पराजित हो गये। प्रिय प्रभु! हम यह भलीभाँति जानते हैं कि जरासन्ध आपको कभी भी नहीं हरा सकता, क्योंकि आपकी शक्ति, क्षमता, साधन और अधिकार सभी अनन्त हैं। न तो कोई आपकी समता कर सकता है, न आपसे बढ़कर हो सकता है। अठारहवें युद्ध में जरासन्ध के द्वारा आपकी हार की प्रतीति मानव आचरण का एक प्रदर्शन मात्र है। दुर्भाग्यवश, मूर्ख जरासन्ध आपकी चातुरी को नहीं समझ पाया और तब से वह अपनी भौतिक शक्ति तथा प्रतिष्ठा के गर्व से फूला हुआ है। विशेष रूप से उसने हमें बन्दी बना लिया है, यह भलीभाँति जानते हुए कि आपके भक्त होने से हम आपकी सत्ता के अधीन हैं।''

दूत उवाच
इति मागधसंरुद्धा भवद्दर्शनकङ्क्षिणः ।
प्रपन्नाः पादमूलं ते दीनानां शं विधीयताम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

दूतः उवाच—सन्देशवाहक ने कहा; इति—इस प्रकार; मागध—जरासन्ध द्वारा; संरुद्धाः—बन्दी बनाये गये; भवत्—आपके; दर्शन—दर्शन के लिए; काङ्क्षिणः—उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करते हुए; प्रपन्नाः—शरणागत; पाद—चरणों के; मूलम्—तले; ते—तुम्हारे; दीनानाम्—दीनों के; शम्—लाभ; विधीयताम्—कृपया प्रदान करें।

दूत ने आगे कहा : यह जरासन्ध के द्वारा बन्दी बनाये गये राजाओं का सन्देश है। वे सभी आपके दर्शनों के लिए लालायित हैं, क्योंकि उन्होंने अपने को आपके चरणों में समर्पित कर दिया है। कृपा करके इन बेचारों को सौभाग्य प्रदान करें।

श्रीशुक उवाच
राजदूते ब्रुवत्येवं देवर्षिः परमद्युतिः ।
बिभ्रत्पिङ्गजटाभारं प्रादुरासीद्यथा रविः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; राज—राजाओं के; दूते—दूत के; ब्रुवति—बोल चुकने पर; एवम्—इस प्रकार; देव—देवताओं के; ऋषिः—ऋषि (नारदमुनि); परम—परम; द्युतिः—तेज; बिभ्रत्—धारण किये; पिङ्ग—पीला सा; जटा—बालों के समूह के; भारम्—भार; प्रादुरासीत्—प्रकट हुए; यथा—जिस तरह; रविः—सूर्य।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब राजाओं का दूत इस तरह बोल चुका, तो देवर्षि नारद सहसा प्रकट हुए। सिर पर सुनहरे रंग की जटा धारण किये परम तेजस्वी ऋषि प्रकाशमान सूर्य की तरह लग रहे थे।

तं दृष्ट्वा भगवान्कृष्णः सर्वलोकेश्वरेश्वरः ।
ववन्द उत्थितः शीर्ष्णा ससभ्यः सानुगो मुदा ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; दृष्ट्वा—देखकर; भगवन्—भगवान्; कृष्णः—कृष्ण ने; सर्व—समस्त; लोक—लोकों के; ईश्वर—नियन्ताओं के भी; ईश्वरः—नियन्ता; ववन्द—नमस्कार किया; उत्थितः—उठकर; शीर्ष्णा—अपने सिर के बल; स—सहित; सभ्यः—सभा के सदस्यों; स—सहित; अनुगः—अनुयायियों; मुदा—हर्ष के साथ।.

भगवान् कृष्ण जो ब्रह्मा तथा शिव जैसे लोकेश्वरों के भी पूज्य स्वामी हैं फिर भी ज्योंही उन्होंने नारदमुनि को आते देखा, तो वे अपने मंत्रियों तथा सचिवों समेत महर्षि का स्वागत करने तथा अपना सिर झुकाकर उन्हें सादर नमस्कार करने के लिए सहर्ष खड़े हो गये।

तात्पर्य : यह भावार्थ श्रील प्रभुपाद कृत *श्रीकृष्ण* पर आधारित है। *मुदा* शब्द यह सूचित करता है कि नारद को आया देखकर भगवान् कृष्ण मुदित थे।

सभाजयित्वा विधिवत्कृतासनपरिग्रहम् ।
बभाषे सुनृतैर्वाक्यैः श्रद्धया तर्पयन्मुनिम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सभाजयित्वा—पूजा करके; विधि-वत्—शास्त्रों के आदेशानुसार; कृत—जिसने किया था उसको (नारद को); आसन—आसन का; परिग्रहम्—स्वीकार किया जाना; बभाषे—(श्रीकृष्ण) बोले; सु-नृतैः—सत्य तथा मधुर; वाक्यैः—शब्दों से; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; तर्पयन्—तुष्ट करते हुए; मुनिम्—मुनि को।.

जब नारद, उन्हें निवेदित किया गया आसन ग्रहण कर चुके, तो भगवान् ने शास्त्रीय विधियों से मुनि का स्वागत किया और सम्मानपूर्वक तुष्ट करते हुए उनसे निम्नलिखित सत्यनिष्ठ तथा मधुर शब्द कहे।

अपि स्विदद्य लोकानां त्रयाणामकुतोभयम् ।
ननु भूयान्भगवतो लोकान्पर्यटतो गुणः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

अपि स्वित्—निश्चय ही; अद्य—आज; लोकानाम्—लोकों के; त्रयाणाम्—तीनों; अकुतः-भयम्—भय से पूर्ण मुक्ति; ननु—निस्सन्देह; भूयान्—महान्; भगवतः—शक्तिशाली पुरुष का; लोकान्—समस्त लोकों में; पर्यटतः—विचरण करने वाले; गुणः—गुण।.

[भगवान् कृष्ण ने कहा] : यह निश्चित है कि आज तीनों लोकों ने समस्त भय से मुक्ति प्राप्त कर ली है, क्योंकि यह आप जैसे सारे लोकों में स्वच्छन्द विचरण करने वाले महापुरुष का प्रताप है।

न हि तेऽविदितं किञ्चिल्लोकेष्वीश्वरकर्तृषु ।
अथ पृच्छामहे युष्मान्पाण्डवानां चिकीर्षितम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; ते—तुमको; अविदितम्—अज्ञात; किञ्चित्—कुछ भी; लोकेषु—लोकों में; ईश्वर—परमेश्वर; कर्तृषु—बनाने वाले; अथ—इस तरह; पृच्छामहे—हम जिज्ञासा करें; युष्मान्—आपसे; पाण्डवानाम्—पाण्डु-पुत्रों के; चिकीर्षितम्—मनोभावों के विषय में।

ईश्वर की सृष्टि के भीतर ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो आपको ज्ञात न हो। अतएव कृपा करके हमें बतलायें कि पाण्डव क्या करना चाहते हैं?

श्रीनारद उवाच

दृष्टा माया ते बहुशो दुरत्यया
माया विभो विश्वसृजश्च मायिनः ।
भूतेषु भूमंश्चरतः स्वशक्तिभि-
र्वह्नेरिव च्छन्नरुचो न मेऽद्भुतम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद ने कहा; दृष्टा—देखी गयी; मया—मेरे द्वारा; ते—तुम्हारी; बहुशः—अनेक बार; दुरत्यया—दुर्लंघ्य; माया—मोहिनी शक्ति; विभो—हे सर्वशक्तिमान; विश्व—ब्रह्माण्ड के; सृजः—स्रष्टा (ब्रह्मा) का; च—तथा; मायिनः—मोहने वाले (आप) का; भूतेषु—जीवों में; भूमन्—हे सर्वव्यापक; चरतः—विचरण करने वाले (आपका); स्व—अपनी; शक्तिभिः—शक्तियों से; वह्नेः—अग्नि की; इव—तरह; छन्न—ढका हुआ; रुचः—प्रकाश; न—नहीं; मे—मेरे लिए; अद्भुतम्—अद्भुत।

श्री नारद ने कहा : हे सर्वशक्तिमान, मैं आपकी माया की दुर्लंघ्य शक्ति को, जिससे ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्मा तक को आप मोहित कर लेते हैं, कई बार देख चुका हूँ। हे भूमन्, इसमें मुझे तनिक भी आश्चर्य नहीं लगता कि आप जीवों के बीच विचरण करते हुए अपने को अपनी ही शक्तियों से छिपा लेते हैं, जिस तरह अग्नि अपने ही प्रकाश को धुएँ से ढक लेती है।

तात्पर्य : जब भगवान् ने नारदमुनि से पाण्डवों के मनोभावों के विषय में पूछा, तो मुनि ने उत्तर दिया कि भगवान् स्वयं ही सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ हैं, यहाँ तक कि वे ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्मा को भी मोह सकते हैं। नारद जान गये थे कि भगवान् कृष्ण जरासन्ध का वध करना चाहते हैं और नारद से पाण्डवों के मनोभावों के विषय में पूछ कर इस लीला की तैयारी प्रारम्भ कर रहे हैं। भगवान् के इस मनोभाव को जान कर नारद को तनिक भी आश्चर्य नहीं हुआ, जब भगवान् कृष्ण ने उनसे समाचार जानना चाहा।

तवेहितं कोऽर्हति साधु वेदितुं
स्वमाययेदं सृजतो नियच्छतः ।
यद्विद्यमानात्मतयावभासते
तस्मै नमस्ते स्वविलक्षणात्मने ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

तव—तुम्हारा; ईहितम्—उद्देश्य; कः—कौन; अर्हति—समर्थ है; साधु—उचित रीति से; वेदितुम्—समझ पाने के लिए; स्व—अपनी; मायया—भौतिक शक्ति से; इदम्—इस (ब्रह्माण्ड) को; सृजतः—बनाता है; नियच्छतः—तथा विलीन कर देता है; यत्—जो; विद्यमान—उपस्थित होना; आत्मतया—आप परमात्मा के सम्बन्ध द्वारा; अवभासते—प्रतीत होता है; तस्मै—उसे; नमः—नमस्कार; ते—तुमको; स्व—अपनी ही प्रकृति द्वारा; विलक्षण-आत्मने—अचिन्त्य।

भला आपके उद्देश्य को सही सही कौन समझ सकता है? अपनी भौतिक शक्ति से आप इस सृष्टि का विस्तार करते हैं और फिर इसे अपने में लीन कर लेते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि इसका वास्तविक अस्तित्व है। आपको नमस्कार है, जिनकी दिव्य स्थिति अचिन्त्य है।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने नारद की अनुभूति का वर्णन इस प्रकार किया है—"प्रिय प्रभु! आप अपनी अचिन्त्य शक्तियों द्वारा इस विराट जगत की सृष्टि करते हैं, इसका पालन करते हैं और फिर इसका संहार कर देते हैं। ऐसा आपकी अचिन्त्य शक्ति के बल पर ही होता है कि यद्यपि यह भौतिक जगत वैकुण्ठ-लोक का छाया-निरूपण ही है, तथापि यह वास्तविक प्रतीत होता है। कोई समझ नहीं पाता कि आप भविष्य में क्या करने वाले हैं। आपकी दिव्य स्थिति सबके लिए सदैव अचिन्त्य है। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मैं आपको बारम्बार नमस्कार ही कर सकता हूँ।"

स्वविलक्षणात्मने शब्द यह भी सूचित करता है कि भगवान् कृष्ण का अपना अद्वितीय स्वभाव तथा गुण है। कोई न तो ईश्वर के तुल्य है, न उनसे बढ़कर है।

जीवस्य यः संसरतो विमोक्षणं
न जानतोऽनर्थवहाच्छरीरतः ।
लीलावतारैः स्वयशः प्रदीपकं
प्राज्वालयत्त्वा तमहं प्रपद्ये ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

जीवस्य—बद्धजीव के लिए; यः—जो (भगवान्); संसरतः—जन्म-मृत्यु के चक्र में जकड़ा (बद्धजीव); विमोक्षणम्—मुक्ति; न जानतः—न जानते हुए; अनर्थ—अवांछित वस्तुएँ; वहात्—जो लाता है; शरीरतः—भौतिक शरीर से; लीला—लीलाओं के लिए; अवतारैः—इस जगत में अवतार लेकर; स्व—अपना; यशः—यश; प्रदीपकम्—दीपक; प्राज्वालयत्—जलवाया; त्वा—तुम; तम्—उस भगवान् की; अहम्—मैं; प्रपद्ये—शरण में जाता हूँ।

जन्म तथा मृत्यु के चक्र में फँसा जीव यह नहीं जानता कि भौतिक शरीर से, जिससे उसे

इतना कष्ट मिलता है, किस प्रकार छुटकारा पाया जाये। किन्तु हे परमेश्वर, आप विविध स्वरूपों में इस जगत में अवतरित होते हैं और अपनी लीलाएँ करके अपने यश की प्रज्वलित मशाल से जीव के मार्ग को आलोकित कर देते हैं। इसलिए मैं आपकी शरण में जाता हूँ।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "[नारद ने कहा] ज्ञान की शारीरिक धारणा में प्रत्येक व्यक्ति भौतिक इच्छाओं से प्रेरित होता है, अतएव प्रत्येक व्यक्ति जन्म और मृत्यु के चक्र में एक के बाद एक नवीन भौतिक शरीर धारण करता रहता है। जगत की ऐसी धारणा में लीन रहने से वह यह नहीं जान पाता कि भौतिक शरीर के इस बन्धन से किस प्रकार छूटा जाय। हे भगवन्! अपनी अहैतुकी कृपा से आप अपनी विभिन्न दिव्य लीलाएँ दिखलाने के लिए अवतरित होते हैं, जो प्रदीप्त एवं यश से पूर्ण हैं। अतएव आपकी वन्दना करने के सिवाय मेरे पास अन्य कोई विकल्प नहीं है। हे प्रभु! आप परम पुरुष है, परब्रह्म हैं और सामान्य पुरुष के रूप में आपकी लीलाएँ अन्य युक्तिपूर्ण साधन हैं, ठीक वैसे ही जैसे कि मंच पर हो रहे नाटक में नट अपनी निजी पहचान से भिन्न अभिनय करता है।"

अथाप्याश्रावये ब्रह्म नरलोकविडम्बनम् ।
राज्ञः पैतृष्वस्रेयस्य भक्तस्य च चिकीर्षितम् ॥ ० ॥

शब्दार्थ

अथ अपि—फिर भी; आश्रावये—मैं बतलाऊँगा; ब्रह्म—हे परम सत्य; नर-लोक—मानव समाज के; विडम्बनम्—(आपसे) जो अनुकरण करते हैं; राज्ञः—राजा (युधिष्ठिर) का; पैतृ—आपके पिता की; स्वस्रेयस्य—बहन के पुत्र के; भक्तस्य—आपके भक्त; च—तथा; चिकीर्षितम्—मनोभाव।

तो भी, मनुष्य का अभिनय कर रहे हे परम सत्य, मैं आपको बतलाऊँगा कि आपके बुआ के पुत्र युधिष्ठिर महाराज क्या करना चाहते हैं।

यक्ष्यति त्वां मखेन्द्रेण राजसूयेन पाण्डवः ।
पारमेष्ठ्यकामो नृपतिस्तद्भवाननुमोदताम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

यक्ष्यति—यज्ञ करेगा; त्वाम्—तुमको; मख—यज्ञ का; इन्द्रेण—सबसे बड़े; राजसूयेन—राजसूय के द्वारा; पाण्डवः—पाण्डु के पुत्र; पारमेष्ठ्य—एकछत्र सत्ता; कामः—इच्छा करते हुए; नृ-पतिः—राजा; तत्—उस; भवान्—आप; अनुमोदताम्—कृपया अनुमोदन कीजिये।

राजा युधिष्ठिर एकछत्र सत्ता की इच्छा से राजसूय नामक महानतम यज्ञ द्वारा आपकी पूजा करना चाहते हैं। कृपा करके उनके इस प्रयास के लिए आशीर्वाद प्रदान करें।

तात्पर्य : यहाँ पर राजा युधिष्ठिर को *पारमेष्ठ्यकाम* अर्थात् ''पारमेष्ठ्य की इच्छा करने वाला'' कहा गया है। *पारमेष्ठ्य* शब्द का अर्थ है ''एकछत्र सत्ता'' और ''भगवान् जो संसार-भर में सबसे ऊँचे हैं'' का भी सूचक है। इसलिए श्रील प्रभुपाद नारद के संदेश का इस प्रकार भावार्थ देते हैं—

आपने फुफेरे भाई पाण्डवों का शुभचिन्तक बनकर उनके विषय में जिज्ञासा की है, अतएव मैं उनके मनोभावों के विषय में आपको बतला रहा हूँ। अब कृपा करके मुझसे सुनिये। सर्वप्रथम, आपको बतला दूँ कि राजा युधिष्ठिर के पास वह सारा भौतिक ऐश्वर्य है, जो सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक में पाया जा सकता है। उनके पास किसी भी भौतिक ऐश्वर्य की कमी नहीं है, जिसकी वह इच्छा करे, फिर भी वे आपकी संगति प्राप्त करने और आपको प्रसन्न करने के लिए राजसूय यज्ञ करना चाहते हैं। वे आपकी अहैतुकी कृपा प्राप्त करने के उद्देश्य से आपकी पूजा भी करना चाहते हैं और मेरा निवेदन है कि आप उनकी इस इच्छा को पूरा करें।''

चूँकि *पारमेष्ठ्य* शब्द ब्रह्मा के पद का भी सूचक हो सकता है, इसलिए श्रील प्रभुपाद ने *पारमेष्ठ्यकाम* शब्द का अर्थ न केवल यह सूचित करने के लिए किया कि राजा युधिष्ठिर ने भगवान् कृष्ण की संगति तथा कृपा पाने की इच्छा की, अपितु यह भी कि राजा युधिष्ठिर के पास ब्रह्मा का सारा ऐश्वर्य अर्थात् *पारमेष्ठ्य* था।

तस्मिन्देव क्रतुवरे भवन्तं वै सुरादयः ।
दिदृक्षवः समेष्यन्ति राजानश्च यशस्विनः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उसमें; देव—हे प्रभु; क्रतु—यज्ञों के; वरे—श्रेष्ठ; भवन्तम्—आप; वै—निस्सन्देह; सुर—देवता; आदयः—तथा अन्य महापुरुष; दिदृक्षवः—देखने के इच्छुक; समेष्यन्ति—सभी आयेंगे; राजानः—सारे राजा; च—भी; यशस्विनः—यशस्वी।

हे प्रभु, आपको देखने के इच्छुक सारे श्रेष्ठ देवता तथा यशस्वी राजा उस श्रेष्ठ यज्ञ में आयेंगे।

तात्पर्य : आचार्यों की व्याख्या है कि नारद यह कहना चाहते हैं कि चूँकि भगवान् कृष्ण का दर्शन करने सारे महापुरुष आयेंगे, इसलिए उन्हें भी चाहिए कि इस यज्ञ में आयें।

श्रवणात्कीर्तनाद्ध्यानात्पूयन्तेऽन्तेवसायिनः ।

तव ब्रह्ममयस्येश किमुतेक्षाभिमर्शिनः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्रवणात्—सुनने से; कीर्तनात्—कीर्तन करने से; ध्यानात्—तथा ध्यान करने से; पूयन्ते—पवित्र हो जाते हैं; अन्ते-वसायिनः—जाति से निकाले अन्त्यज; तव—आपके विषय में; ब्रह्म-मयस्य—परम सत्य की पूर्ण अभिव्यक्ति; ईश—हे प्रभु; किम् उत—तो फिर क्या कहा जाय; ईक्षा—देखने वाले; अभिमर्शिनः—तथा स्पर्श करने वाले।

हे प्रभु, आपके यश का श्रवण तथा कीर्तन करने से तथा ब्रह्मरूप आपका ध्यान करने से जाति से निकाले गये (अन्त्यज) लोग भी शुद्ध हो जाते हैं। तो फिर उनके विषय में क्या कहा जाय जो आपको देखते हैं और आपका स्पर्श करते हैं?

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने *ब्रह्ममयस्य* की व्याख्या *ब्रह्मघनमूर्तेः* अथवा परम सत्य के सान्द्रित रूप में की है।

यस्यामलं दिवि यशः प्रथितं रसायां
भूमौ च ते भुवनमङ्गल दिग्वितानम् ।
मन्दाकिनीति दिवि भोगवतीति चाधो
गङ्गेति चेह चरणाम्बु पुनाति विश्वम् ॥ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; अमलम्—विशुद्ध; दिवि—स्वर्ग में; यशः—यश; प्रथितम्—विस्तीर्ण; रसायाम्—रसातल में; भूमौ—पृथ्वी पर; च—तथा; ते—तुम्हारा; भुवन—सारे लोकों के लिए; मङ्गल—हे सौभाग्यदाता; दिक्—दिशाओं में; वितानम्—चँदोवा, प्रसार; मन्दाकिनी इति—मन्दाकिनी नाम से; दिवि—स्वर्ग में; भोगवती इति—भोगवती नामक; च—तथा; अधः—नीचे; गङ्गा इति—गंगा नाम से; च—तथा; इह—यहाँ, पृथ्वी पर; चरण—आपके चरणों से; अम्बु—जल; पुनाति—पवित्र करती है; विश्वम्—सारे ब्रह्माण्ड को।

हे प्रभु, आप सभी मंगलों के प्रतीक हैं। आपका दिव्य नाम तथा यश ब्रह्माण्ड के उच्चतर, मध्य तथा अधो लोक सहित समस्त लोकों के ऊपर छत्र के समान फैला हुआ है। आपके चरणकमलों को प्रक्षालित करने वाला दिव्य जल उच्चतर लोकों में मन्दाकिनी नदी के नाम से, अधो लोक में भोगवती के नाम से और इस पृथ्वी लोक में गंगा के नाम से विख्यात है। यह पवित्र दिव्य जल सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में प्रवाहित होता है और जहाँ भी जाता है, उसे पवित्र कर देता है।

तात्पर्य : यह भावार्थ श्रील प्रभुपाद कृत *श्रीकृष्ण* पर आधारित है। श्रीधर स्वामी कहते हैं कि *दिग्वितानम्* शब्द सूचित करता है कि भगवान् कृष्ण की दिव्य कीर्ति ब्रह्माण्ड-भर में उसी तरह फैली है, जिस तरह सारी दिशाओं के ऊपर शीतल करने वाला कोई चँदोवा हो। दूसरे शब्दों में, भगवान् के

चरणकमलों की शीतल छाया में सारे जगत को शरण मिल सकती है। इस प्रकार भगवान् *भुवन-मंगल* हैं, अर्थात् इस जगत में प्रत्येक शुभ वस्तु के प्रतीक हैं।

श्रीशुक उवाच
तत्र तेष्वात्मपक्षेष्वगृणत्सु विजिगीषया ।
वाचः पेशैः स्मयन्भृत्यमुद्धवं प्राह केशवः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; तत्र—वहाँ; तेषु—उन (यादवों); आत्म—अपना; पक्षेषु—पक्षधरों में; अगृणत्सु—न मानने वाले; विजिगीषया—जीतने की इच्छा से (जरासन्ध); वाचः—वाणी के; पेशैः—मधुर प्रयोग से; स्मयन्—हँसते हुए; भृत्यम्—दास; उद्धवम्—श्री उद्धव से; प्राह—कहा; केशवः—कृष्ण ने।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब जरासन्ध को हराने की इच्छा से भगवान् के पक्षधर यादवों ने इस प्रस्ताव का विरोध किया, तो भगवान् केशव अपने अनुचर उद्धव की ओर मुड़े और हँसते हुए उत्तम शब्दों में उनसे बोले।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद की व्याख्या है, ''द्वारका के सुधर्मा सभाभवन में महर्षि नारद के आगमन के पूर्व भगवान् श्रीकृष्ण एवं उनके मंत्री तथा सचिव इस विषय पर चर्चा कर रहे थे कि किस प्रकार जरासन्ध के राज्य पर आक्रमण किया जाय। चूँकि वे इस विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर रहे थे इसलिए नारदजी का यह प्रस्ताव कि भगवान् कृष्ण हस्तिनापुर जाकर महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उपस्थित हों, उन्हें अधिक आकर्षक नहीं लगा। भगवान् कृष्ण अपने साथियों के अभिप्राय को समझ गये थे, क्योंकि वे ब्रह्माजी के भी शासक हैं। इसलिए उन्हें सान्त्वना देने के लिए उन्होंने उद्धव से मुसकरा कर कहा।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि भगवान् इसलिए मुसकाये क्योंकि वे यह दिखाने जा रहे थे कि कठिन परिस्थितियों में भी सलाह देने की क्षमता उद्धव में है।

श्रीभगवानुवाच
त्वं हि नः परमं चक्षुः सुहृन्मन्त्रार्थतत्त्ववित् ।
अथात्र ब्रूह्यनुष्ठेयं श्रद्दध्मः करवाम तत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; त्वम्—तुम; हि—निस्सन्देह; नः—हमारे; परमम्—परम; चक्षुः—आँख; सुहृत्—शुभचिन्तक मित्र; मन्त्र—सलाह का; अर्थ—मूल्य; तत्त्व-वित्—ठीक से जानने वाले; अथ—इस प्रकार; अत्र—इस सम्बन्ध में; ब्रूहि—कहें; अनुष्ठेयम्—करणीय; श्रद्दध्मः—हमें विश्वास है; करवाम—करेंगे; तत्—वही।

भगवान् ने कहा : निस्सन्देह तुम हमारे उत्तम नेत्र तथा घनिष्ठ मित्र हो, क्योंकि विविध प्रकार की सलाहों के आपेक्षिक मूल्य को पूर्णतः जानते हो। इसलिए तुम हमसे कहो कि इस स्थिति में हमें क्या करना चाहिए। हमें तुम्हारे निर्णय पर विश्वास है और तुम जैसा कहोगे हम वैसा ही करेंगे।

इत्युपामन्त्रितो भर्त्रा सर्वज्ञेनापि मुग्धवत् ।
निदेशं शिरसाधाय उद्धवः प्रत्यभाषत ॥ ७॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उपामन्त्रितः—अनुरोध किये जाने पर; भर्त्रा—अपने स्वामी द्वारा; सर्व-ज्ञेन—सर्वज्ञ; अपि—यद्यपि; मुग्ध—मोहग्रस्त; वत्—मानो; निदेशम्—आज्ञा को; शिरस—सिर पर; आधाय—धारण करके; उद्धवः—उद्धव ने; प्रत्यभाषत—उत्तर दिया।.

[शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा] : इस तरह अपने स्वामी द्वारा अनुरोध किये जाने पर, जो कि सर्वज्ञ होते हुए भी मोहित होने का अभिनय कर रहे थे, उद्धव ने उनके इस आदेश को शिरोधार्य किया और इस प्रकार उत्तर दिया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''भगवान् कृष्ण की दैनिक चर्या'' नामक सत्तरवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter इकहत्तर

भगवान् की इन्द्रप्रस्थ यात्रा

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह भगवान् कृष्ण ने उद्धव की सलाह मानी और इन्द्रप्रस्थ गये, जहाँ पाण्डवों ने बड़ी धूमधाम से उनकी अगवानी की।

भगवान् कृष्ण की आन्तरिक इच्छा जानकर चतुर उद्धव ने भगवान् को इस प्रकार सलाह दी, ''दिग्विजय तथा राजसूय यज्ञ कर लेने पर राजा युधिष्ठिर अपने सारे मन्तव्यों को—जरासन्ध को पराजित करना तथा आपकी शरण में आने वालों की रक्षा करना तथा राजसूय यज्ञ करना—पूरा कर लेंगे। इस तरह यादवों के शक्तिशाली शत्रु विनष्ट हो जायेंगे और बन्दी राजा छूट जायेंगे तथा दोनों कार्य आपको यश प्रदान करेंगे।

''राजा जरासन्ध का वध केवल भीम कर सकता है और चूँकि जरासन्ध ब्राह्मणों का भक्त है, अत:

भीम को ब्राह्मण का वेश धारण करके जरासन्ध के पास जाकर युद्ध की भिक्षा माँगनी चाहिए। तब आपकी उपस्थिति में भीम उस असुर को पराजित करेगा।''

नारद मुनि, वरिष्ठ यादवगण तथा भगवान् कृष्ण सभी ने उद्धव की योजना की प्रशंसा की। भगवान् कृष्ण अपने रथ पर चढ़ कर इन्द्रप्रस्थ के लिए प्रस्थान कर गये और उनके पीछे पीछे उनकी श्रद्धालु रानियाँ थीं। भगवान् कृष्ण शीघ्र ही उस नगरी में जा पहुँचे। भगवान् का आगमन सुन कर राजा युधिष्ठिर उनका सम्मान करने तुरन्त नगर के बाहर आ गये। युधिष्ठिर ने बारम्बार भगवान् कृष्ण का आलिंगन किया, जिस हर्ष भाव के कारण, उनकी बाह्य जगत की सुधि जाती रही। तब भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा अन्यों ने एक एक करके यथोचित रीति के अनुसार आलिंगन किया या उनके समक्ष नतमस्तक हुए।

जब कृष्ण सबों का उचित सम्मान कर चुके, तो वे नगर में प्रविष्ट हुए। उस समय अनेक वाद्ययंत्रों पर बाजे बज रहे थे और आदरसूचक स्तुतियाँ की जा रही थीं। नगर की स्त्रियों ने अटारियों से उन पर पुष्पों की वर्षा की और भगवान् की रानियों के परम सौभाग्य की प्रशंसा की।

श्रीकृष्ण ने राजमहल में प्रविष्ट होने पर महारानी कुन्ती को नमस्कार किया। उन्होंने भी अपने भतीजे को गले लगाया। द्रौपदी तथा सुभद्रा ने भगवान् को नमस्कार किया। तब कुन्तीदेवी ने द्रौपदी से कहा कि वह कृष्ण की पत्नियों की पूजा करे।

भगवान् कृष्ण ने वहाँ पर कुछ मास रहकर राजा युधिष्ठिर को अनुगृहीत किया। वहाँ रहते हुए वे इधर-उधर भ्रमण करने जाते। वे अर्जुन के साथ रथ हाँकते और उनके पीछे अनेक योद्धा तथा सैनिक रहते।

श्रीशुक उवाच
इत्युदीरितमाकर्ण्य देवऋषेरुद्धवोऽब्रवीत् ।
सभ्यानां मतमाज्ञाय कृष्णस्य च महामतिः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उदीरितम्—कहा गया; आकर्ण्य—सुन कर; देव-ऋषेः—देवर्षि नारद द्वारा; उद्धवः—उद्धव; अब्रवीत्—बोले; सभ्यानाम्—राजसभा के सदस्यों के; मतम्—मतको; आज्ञाय—जान कर; कृष्णस्य—कृष्ण के; च—तथा; महा-मतिः—अतीव बुद्धिमान।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह देवर्षि नारद के कथनों को सुनकर और सभाजनों तथा

कृष्ण दोनों के मतों को जानकर महामति उद्धव इस प्रकार बोले।

श्रीउद्धव उवाच
यदुक्तमृषिना देव साचिव्यं यक्ष्यतस्त्वया ।
कार्यं पैतृष्वस्त्रेयस्य रक्षा च शरणैषिणाम् ॥ २॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; यत्—जो; उक्तम्—कहा गया था; ऋषिना—ऋषि (नारद) द्वारा; देव—हे प्रभु; साचिव्यम्—सहायता; यक्ष्यतः—यज्ञ करने के इच्छुक (युधिष्ठिर); त्वया—तुम्हारे द्वारा; कार्यम्—की जानी चाहिए; पैतृ-ष्वस्त्रेयस्य—पिता की बहन का पुत्र का; रक्षा—रक्षा; च—भी; शरण—शरण; एषिणाम्—इच्छुकों का।

श्री उद्धव ने कहा : हे प्रभु, जैसी ऋषि ने सलाह दी है, आपको चाहिए कि आप राजसूय यज्ञ सम्पन्न करने की योजना में अपने फुफेरे भाई युधिष्ठिर की सहायता करें। आपको उन राजाओं की भी रक्षा करनी चाहिए, जो आपकी शरण के लिए याचना कर रहे हैं।

तात्पर्य : देवर्षि नारद चाहते थे कि कृष्ण इन्द्रप्रस्थ जाँय और अपने फुफेरे भाई युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ पूरा करने में सहायता दें। साथ ही राजसभा के लोगों की प्रबल इच्छा थी कि भगवान् कृष्ण जरासन्ध को हरा कर बन्दी बनाये गये राजाओं को छुड़ायें। महामति उद्धव समझ गए कि भगवान् कृष्ण ये दोनों ही काम करना चाहते हैं, अतएव उन्होंने बुद्धिमत्तापूर्वक सलाह दी, जिससे दोनों काम एकसाथ पूरे हो सकें।

यष्टव्यम्राजसूयेन दिक्चक्रजयिना विभो ।
अतो जरासुतजय उभयार्थो मतो मम ॥ ३॥

शब्दार्थ

यष्टव्यम्—यज्ञ सम्पन्न; राजसूयेन—राजसूय अनुष्ठान समेत; दिक्—दिशाओं के; चक्र—पूरा गोला; जयिना—जीतने वाले के द्वारा; विभो—हे सर्वशक्तिमान; अतः—अतएव; जरा-सुत—जरा के पुत्र पर; जयः—विजय; उभय—दोनों; अर्थः—उद्देश्य सहित; मतः—मत; मम—मेरा।

हे सर्वशक्तिमान विभु, जिसने दिग्विजय कर ली हो, वही राजसूय यज्ञ कर सकता है। इस तरह मेरे विचार से जरासन्ध पर विजय पाने से दोनों उद्देश्य पूरे हो सकेंगे।

तात्पर्य : यहाँ पर उद्धव बतलाते हैं कि जिसने सारी दिशाओं पर विजय प्राप्त कर ली हो (दिग्विजयी), वही राजसूय यज्ञ कर सकता है। इसलिए कृष्ण को चाहिए कि इस यज्ञ में सम्मिलित होने का निमंत्रण तुरन्त स्वीकार कर लें, किन्तु उसी के साथ यह आवश्यक है कि जरासन्ध को मारने की व्यवस्था हो जाए। इस तरह राजाओं द्वारा सुरक्षा की याचना स्वयमेव पूरी हो सकेगी। इस तरह यदि

भगवान् एक ही नीति—राजसूय यज्ञ भलीभाँति सम्पन्न होने की नीति—पर अडिग रहेंगे तो सारे उद्देश्य पूरे हो सकेंगे।

श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृतसिंधु* में भगवान् कृष्ण के गुणों में से एक गुण "चतुर" का उल्लेख किया है, जिसका अर्थ होता है, एकसाथ अनेक कार्य करने की क्षमता। इस तरह भगवान् कृष्ण युधिष्ठिर द्वारा राजसूय यज्ञ सम्पन्न करने की इच्छा तथा बन्दी राजाओं की मुक्त होने की इच्छा की जटिल समस्या को निस्सन्देह आसानी से हल कर सकते थे। किन्तु कृष्ण अपने प्रिय भक्त उद्धव को इस समाधान का श्रेय प्रदान करना चाहते थे, इसीलिए वे व्यग्र दिख रहे थे।

अस्माकं च महानर्थो ह्येतेनैव भविष्यति ।
यशश्च तव गोविन्द राज्ञो बद्धान्विमुञ्चतः ॥ ॥

शब्दार्थ

अस्माकम्—हमारे लिए; च—तथा; महान्—महान्; अर्थः—लाभ; हि—निस्सन्देह; एतेन—इससे; एव—ही; भविष्यति—होगा; यशः—यश; च—तथा; तव—तुम्हारा; गोविन्द—हे गोविन्द; राज्ञः—राजाओं को; बद्धान्—बन्दी बनाये गये; विमुञ्चतः—मुक्त कर देगा।

इस निर्णय से हमें बहुत बड़ा लाभ होगा और आप राजाओं को बचा सकेंगे। इस तरह, हे गोविन्द, आपका यश बढ़ेगा।

स वै दुर्विषहो राजा नागायुतसमो बले ।
बलिनामपि चान्येषां भीमं समबलं विना ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, जरासन्ध; वै—निस्सन्देह; दुर्विषहः—दुर्जय; राजा—राजा; नाग—हाथी; अयुत—दस हजार; समः—समान; बले—बल में; बलिनाम्—बलशालियों में; अपि—निस्सन्देह; च—तथा; अन्येषाम्—अन्य; भीमम्—भीम को; सम-बलम्—बल में समान; विना—के अलावा।

दुर्जेय जरासन्ध दस हजार हाथियों जितना बलवान् है। निस्सन्देह अन्य बलशाली योद्धा उसे पराजित नहीं कर सकते। केवल भीम ही बल में उसके समान है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी कहते हैं कि सारे यादव जरासन्ध के वध के लिए उत्सुक थे, अत: सचेत करने के लिए ही उद्धव ने यह श्लोक कहा था। जरासन्ध की मृत्यु एकमात्र भीम के हाथों सम्भव थी। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि उद्धव ने *ज्योति राग* से तथा अपने गुरु बृहस्पति से सीखे अन्य ज्योतिष ग्रन्थों से यह पहले ही निष्कर्ष निकाल लिया था।

द्वैरथे स तु जेतव्यो मा शताक्षौहिणीयुत: ।
ब्राह्मण्योऽभ्यर्थितो विप्रैर्न प्रत्याख्याति कर्हिचित् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

द्वै-रथे—केवल दो रथों से लड़े जाने वाले युद्ध में; स:—वह; तु—लेकिन; जेतव्य:—हराया जा सकता है; मा—नहीं; शत—एक सौ; अक्षौहिणी—अक्षौहिणी सेना से; युत:—युक्त; ब्राह्मण्य:—ब्राह्मण संस्कृति के प्रति श्रद्धालु; अभ्यर्थित:—सत्कार किया गया; विप्रै:—ब्राह्मणों द्वारा; न प्रत्याख्याति—मना नहीं करता; कर्हिचित्—कभी भी।

उसे एकाकी रथों की प्रतियोगिता में हराया जा सकेगा किन्तु अपनी एक सौ अक्षौहिणी सेना के साथ होने पर वह नहीं हराया जा सकता। और, जरासन्ध ब्राह्मण संस्कृति के प्रति इतना अनुरक्त है कि वह ब्राह्मणों की याचनाओं को कभी मना नहीं करता।

तात्पर्य : यह तर्क किया जा सकता है कि चूँकि भीम ही जरासन्ध के समान बलशाली है, अतएव विशाल सेना के साथ होने पर जरासन्ध और भी शक्तिशाली हो जायेगा। इसीलिए उद्धव एकाकी युद्ध की संस्तुति करते हैं। लेकिन जरासन्ध को उसकी शक्तिशाली सेना से विलग कैसे किया जा सकता था? यहाँ उद्धव संकेत देते हैं कि जरासन्ध ब्राह्मणों की याचना को कभी नहीं ठुकरा सकता, क्योंकि वह ब्राह्मण संस्कृति के प्रति अनुरक्त है।

ब्रह्मवेषधरो गत्वा तं भिक्षेत वृकोदर: ।
हनिष्यति न सन्देहो द्वैरथे तव सन्निधौ ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म—ब्राह्मण का; वेष—वेश; धर:—धारण करके; गत्वा—जाकर; तम्—उससे, जरासन्ध से; भिक्षेत—माँगे; वृक-उदर:—भीम; हनिष्यति—मारेगा; न—नहीं; सन्देह:—सन्देह; द्वै-रथे—रथ से रथ के युद्ध में; तव—तुम्हारी; सन्निधौ—उपस्थिति में।

भीम ब्राह्मण का वेश बनाकर उसके पास जाये और दान माँगे। इस तरह उसे जरासन्ध के साथ द्वन्द्व युद्ध की प्राप्ति होगी और आपकी उपस्थिति में भीम अवश्य ही उसको मार डालेगा।

तात्पर्य : भाव यह है कि भीम को चाहिए कि जरासन्ध से द्वन्द्व युद्ध करने की भीख माँगे।

निमित्तं परमीशस्य विश्वसर्गनिरोधयो: ।
हिरण्यगर्भ: शर्वश्च कालस्यारूपिणस्तव ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

निमित्तम्—कारण; परम्—केवल; ईशस्य—भगवान् को; विश्व—ब्रह्माण्ड के; सर्ग—सृजन; निरोधयो:—तथा संहार में; हिरण्यगर्भ:—ब्रह्मा; शर्व:—शिवजी; च—तथा; कालस्य—काल का; अरूपिण:—निराकार; तव—तुम्हारा।

ब्रह्माण्ड के सृजन तथा संहार में ब्रह्मा तथा शिव भी आपके उपकरण की तरह कार्य करते

हैं, जिन्हें अन्ततः आप काल के अपने अदृश्य रूप में सम्पन्न करते हैं।

तात्पर्य : उद्धव यहाँ बतलाते हैं कि वस्तुतः भगवान् कृष्ण स्वयं ही जरासन्ध की मृत्यु के कारण बनेंगे, भीम तो मात्र उपकरण रहेंगे। भगवान् अपनी अदृश्य काल-शक्ति के द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सृजन और संहार करते हैं, जबकि ब्रह्मा तथा शिव जैसे बड़े बड़े देवता भगवान् की इच्छा के उपकरण मात्र रहते हैं। अतएव भीम को बलशाली जरासन्ध का वध करने में तनिक भी कठिनाई नहीं होगी, क्योंकि वे भगवान् के उपकरण की तरह कार्य करेंगे। इस तरह भगवान् की व्यवस्था से उनका भक्त भीम यशस्वी होगा।

गायन्ति ते विशदकर्म गृहेषु देव्यो
राज्ञां स्वशत्रुवधमात्मविमोक्षणं च ।
गोप्यश्च कुञ्जरपतेर्जनकात्मजायाः
पित्रोश्च लब्धशरणा मुनयो वयं च ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

गायन्ति—गाते हैं; ते—तुम्हारा; विशद—निर्मल; कर्म—कर्म; गृहेषु—अपने अपने घरों में; देव्यः—देवताओं की पत्नियाँ; राज्ञाम्—राजाओं की; स्व—अपने; शत्रु—शत्रु; वधम्—वध; आत्म—स्वयंके; विमोक्षणम्—उद्धार; च—तथा; गोप्यः—व्रजबालाएँ; च—तथा; कुञ्जर—हाथियों के; पतेः—स्वामी के; जनक—राजा जनक की; आत्म-जायाः—पुत्री (सीतादेवी, रामचन्द्र की पत्नी) के; पित्रोः—तुम्हारे माता-पिता के; च—तथा; लब्ध—प्राप्त हुए; शरणाः—शरण; मुनयः—मुनिगण; वयम्—हम; च—भी।

बन्दी राजाओं की दैवी पत्नियाँ आपके नेक कार्यों का—कि आप किस तरह उनके पतियों के शत्रुओं को मार कर उनका उद्धार करेंगे—गायन करती हैं। गोपियाँ भी आपका यशोगान करती हैं कि आपने किस तरह गजेन्द्र के शत्रु को, जनक की पुत्री सीता के शत्रु को तथा अपने माता-पिता के शत्रु को मारा। इसी तरह जिन मुनियों ने आपकी शरण ले रखी है, वे हमारी ही तरह आपका यशोगान करते हैं।

तात्पर्य : ऋषियों-मुनियों ने बन्दी राजाओं की शोकाकुल पत्नियों को बता रखा था कि भगवान् कृष्ण जरासन्ध के वध की व्यवस्था करके उन्हें इस संकट से बचायेंगे। इस तरह ये दैवी स्त्रियाँ अपने घर पर भगवान् के यश का गान करेंगी और जब बच्चे अपने पिता के लिए रोएँगे तो उनकी माताएँ उन्हें बतलायेंगी "बच्चे! मत रो। श्रीकृष्ण तुम्हारे पिता की रक्षा करेंगे।" वस्तुतः भगवान् ने विगत भूतकाल में अनेक भक्तों को बचाया है, जैसाकि यहाँ बतलाया गया है।

जरासन्धवधः कृष्ण भूर्यर्थायोपकल्पते ।
प्रायः पाकविपाकेन तव चाभिमतः क्रतुः ॥ ॥

शब्दार्थ

जरासन्ध-वधः—जरासन्ध का वध; कृष्ण—हे कृष्ण; भूरि—बहुत अधिक; अर्थाय—महत्त्व; उपकल्पते—उत्पन्न करेगा; प्रायः—निश्चय ही; पाक—संचित कर्म का; विपाकेन—कर्मफल के रूप में; तव—तुम्हारा; च—तथा; अभिमतः—इच्छित; क्रतुः—यज्ञ।

हे कृष्ण, जरासन्ध का वध निश्चित ही उसके विगत पापों का ही फल है। इससे प्रभूत लाभ होगा। निस्सन्देह इससे आपका मनवांछित यज्ञ सम्भव हो सकेगा।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी व्याख्या करते हैं कि *भूर्यर्थ* शब्द बतलाता है कि जरासन्ध की मृत्यु होने से शिशुपाल को मारना तथा अन्य लक्ष्यों को पूरा करना आसान हो जायेगा। महान् भाष्यकार श्रीधर स्वामी यह भी बतलाते हैं कि *पाक* शब्द सूचित करता है कि राजा लोग अपनी शुद्धता के कारण बचा लिये जायेंगे और *विपाकेन* सूचित करता है कि जरासन्ध अपनी दुष्टता के कारण मरेगा। हर हालत में, उद्धव द्वारा बताई गई योजना राजसूय यज्ञ सम्पन्न किये जाने के लिए अत्यन्त उपयुक्त है, जो भगवान् तथा युधिष्ठिर इत्यादि भगवान् के शुद्ध भक्त पाण्डवों की इच्छा थी।

श्रीशुक उवाच
इत्युद्धववचो राजन्सर्वतोभद्रमच्युतम् ।
देवर्षिर्यदुवृद्धाश्च कृष्णश्च प्रत्यपूजयन् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार कहे जाने पर; उद्धव-वचः—उद्धव के शब्द; राजन्—हे राजन् (परीक्षित); सर्वतः—सभी प्रकार से; भद्रम्—शुभ; अच्युतम्—अच्युत; देव-ऋषिः—देवताओं के ऋषि, नारद; यदु-वृद्धाः—वरिष्ठ यदुगण; च—तथा; कृष्णः—कृष्ण; च—और भी; प्रत्यपूजयन्—बदले में प्रशंसा की।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, देवर्षि नारद, वरिष्ठ यादवजन तथा कृष्ण—सबों ने उद्धव के प्रस्ताव का स्वागत किया, क्योंकि जो सर्वथा शुभ तथा अच्युत था।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी व्याख्या करते हैं कि *अच्युतम्* शब्द सूचित करता है कि उद्धव का प्रस्ताव "तर्क से पुष्ट" था। यही नहीं, शुकदेव गोस्वामी *यदु वृद्धाः* शब्द द्वारा विशेष रूप से सूचित करते हैं कि इस प्रस्ताव का स्वागत कनिष्ठ लोग नहीं अपितु वरिष्ठ कर रहे थे। अनिरुद्ध जैसे युवक राजकुमारों को उद्धव का प्रस्ताव रुचिकर नहीं लगा, क्योंकि वे जरासन्ध की सेना से तुरन्त युद्ध करना चाह रहे थे।

अथादिशत्प्रयाणाय भगवान्देवकीसुतः ।
भृत्यान्दारुकजैत्रादीननुज्ञाप्य गुरून्विभुः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; आदिशत्—आज्ञा दी; प्रयाणाय—विदा होने के लिए; भगवान्—भगवान्; देवकी-सुतः—देवकी-पुत्र ने; भृत्यान्—सेवकों को; दारुक-जैत्र-आदीन्—दारुक, जैत्र इत्यादि; अनुज्ञाप्य—अनुमति लेकर; गुरून्—अपने गुरुजनों से; विभुः—सर्वशक्तिमान।

देवकी-पुत्र सर्वशक्तिमान भगवान् ने अपने वरिष्ठ से विदा होने की अनुमति माँगी। तत्पश्चात् उन्होंने दारुक, जैत्र इत्यादि सेवकों को प्रस्थान की तैयारी करने का आदेश दिया।

तात्पर्य : यहाँ जिन वरिष्ठजनों का उल्लेख है वे कृष्ण के पिता वसुदेव जैसे महान् व्यक्ति हैं।

निर्गमय्यावरोधान्स्वान्ससुतान्सपरिच्छदान् ।
सङ्कर्षणमनुज्ञाप्य यदुराजं च शत्रुहन् ।
सूतोपनीतं स्वरथमारुहद्गरुडध्वजम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

निर्गमय्य—भेज कर; अवरोधान्—पत्नियों को; स्वान्—अपनी; स—सहित; सुतान्—पुत्रों; स—सहित; परिच्छदान्—उनका सामान; सङ्कर्षणम्—बलराम से; अनुज्ञाप्य—विदा होकर; यदु-राजम्—यदुओं के राजा (उग्रसेन) से; च—तथा; शत्रु-हन्—हे शत्रुओं के हन्ता (परीक्षित); सूत—सारथी द्वारा; उपनीतम्—लाया गया; स्व—अपने; रथम्—रथ में; आरुहत्—चढ़ गये; गरुड—गरुड़; ध्वजम्—ध्वजा है, जिसकी।

हे शत्रुहन्ता, अपनी पत्नियों, पुत्रों तथा सामान को भेजे जाने की व्यवस्था कर देने के बाद और संकर्षण तथा राजा उग्रसेन से विदा लेने के बाद भगवान् कृष्ण अपने रथ पर चढ़ गये, जिसे उनका सारथी ले आया था। इस पर गरुड़-चिन्हित पताका फहरा रही थी।

तात्पर्य : उद्धव के प्रस्ताव को मान कर सर्वप्रथम कृष्ण अपनी पत्नियों, परिवार तथा संगी-साथियों सहित पाण्डवों की राजधानी इन्द्रप्रस्थ के लिए चल पड़े। इस अध्याय के शेष भाग में कृष्ण द्वारा इस नगर की यात्रा का और फिर उनके प्रिय भक्तों द्वारा उनके स्वागत किये जाने का वर्णन है। इन्द्रप्रस्थ में कृष्ण ने पाण्डवों को पहले जरासन्ध का वध करके बाद में राजसूय यज्ञ करने की योजना बतलाई। फिर उनकी सहमति से वे भीमसेन समेत दुष्ट राजा से हिसाब-किताब निपटाने गये।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि कृष्ण की पत्नियों को भी राजसूय यज्ञ में बुलाया गया था, अतः वे जाने के लिए उत्सुक थीं। अगले श्लोक से रंग-बिरंगे राजसी जुलूस का वर्णन प्रारम्भ होता है।

ततो रथद्विपभटसादिनायकैः
करालया परिवृत आत्मसेनया ।
मृदङ्गभेर्यानकशङ्खगोमुखैः
प्रघोषघोषितककुभो निरक्रमत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; रथ—रथों; द्विप—हाथियों; भट—पैदल सेना; सादि—तथा घुड़सवार; नायकैः—नायकों समेत; करालया—भयानक; परिवृतः—घिरे; आत्म—निजी; सेनया—सेना से; मृदङ्ग—मृदंग; भेरी—भेरी वाद्य; आनक—दुंदुभी; शङ्ख—शंख; गो-मुखैः—तथा गोमुख शृंगों द्वारा; प्रघोष—शब्द करते हुए; घोषित—ध्वनि-तरंगों से पूरित; ककुभः—सारी दिशाएँ; निरक्रमत्—विदा हुए।

ज्योंही मृदंग, भेरी, दुदुंभी, शंख तथा गोमुख की ध्वनि-तरंगों से सारी दिशाएँ गूँजने लगीं, त्योंही भगवान् कृष्ण अपनी यात्रा के लिए चल पड़े। उनके साथ में रथों, हाथियों, पैदलों तथा घुड़सवारों के सेनादलों के मुख्य अधिकारी थे और चारों ओर से वे अपने भयानक निजी रक्षकों द्वारा घिरे थे।

नृवाजिकाञ्चनशिबिकाभिरच्युतं
सहात्मजाः पतिमनु सुव्रता ययुः ।
वराम्बराभरणविलेपनस्त्रजः
सुसंवृता नृभिरसिचर्मपाणिभिः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

नृ—मनुष्य; वाजि—शक्तिशाली वाहकों से; काञ्चन—सुनहली; शिबिकाभिः—पालकियों से; अच्युतम्—कृष्ण; सह-आत्मजाः—अपनी सन्तानों समेत; पतिम्—पति को; अनु—पीछे करती हुई; सु-व्रताः—उनकी साध्वी पत्नियाँ; ययुः—गईं; वर—उत्तम; अम्बर—वस्त्र; आभरण—गहने; विलेपन—सुगंधित तेल तथा लेप; स्त्रजः—मालाएँ; सु—अच्छी तरह; संवृताः—घिरी हुई; नृभिः—सैनिकों द्वारा; असि—तलवार; चर्म—तथा ढाल; पाणिभिः—जिनके हाथों में।

भगवान् अच्युत की सती-साध्वी पत्नियाँ अपनी सन्तानों सहित सोने की पालकियों में भगवान् के पीछे पीछे चलीं, जिन्हें शक्तिशाली पुरुष उठाये ले जा रहे थे। रानियाँ सुन्दर वस्त्रों, आभूषणों, सुगन्धित तेलों तथा फूल की मालाओं से सजी थीं और चारों ओर से सैनिकों द्वारा घिरी थीं, जो अपने हाथों में तलवार-ढाल लिये थे।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी के अनुसार *वाजि* शब्द सूचित करता है कि भगवान् की कुछ रानियों को घोड़ागाड़ियों द्वारा ले जाया जा रहा था।

नरोष्ट्रगोमहिषखराश्वतर्यनः-

करेणुभिः परिजनवारयोषितः ।
स्वलङ्कृताः कटकुटिकम्बलाम्बराद्य-
उपस्करा ययुरधियुज्य सर्वतः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

नर—पुरुष वाहक; उष्ट्र—ऊँट; गो—बैल; महिष—भैंसा; खर—गदहा; अश्वतरी—खच्चर; अनः—बैलगाड़ी; करेणुभिः—हथिनियों द्वारा; परिजन—घर के; वार—तथा जन साधारण के उपयोग वाली; योषितः—स्त्रियाँ; सु-अलङ्कृताः—खूब सजी; कट—घास की बनी; कुटि—झोपड़ियाँ; कम्बल—कम्बल; अम्बर—वस्त्र; आदि—इत्यादि; उपस्कराः—साज-सामान; ययुः—गये; अधियुज्य—लाद कर; सर्वतः—सभी ओर से।

उनके चारों ओर खूब सजी-धजी स्त्रियाँ—जो कि राजघराने की सेविकाएँ तथा राज-दरबारियों की पत्नियाँ थीं—चल रही थीं। वे पालकियों तथा ऊँटों, बैलों, भैंसों, गधों, खच्चरों, बैलगाड़ियों तथा हाथियों पर सवार थीं। उनके वाहन घास के तम्बुओं, कम्बलों, वस्त्रों तथा यात्रा की अन्य सामग्रियों से खचाखच भरे थे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि यहाँ पर घरबार के जिन चाकरों का उल्लेख हुआ है, उनमें धोबिनें तथा अन्य सहायिकाएँ सम्मिलित थीं।

बलं बृहद्ध्वजपटछत्रचामरै-
र्वरायुधाभरणकिरीटवर्मभिः ।
दिवांशुभिस्तुमुलरवं बभौ रवे-
र्यथार्णवः क्षुभिततिमिङ्गिलोर्मिभिः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

बलम्—सेना; बृहत्—विशाल; ध्वज—डंडों सहित; पट—झंडों; छत्र—छातों; चामरैः—तथा चामर पंखों से; वर—उत्तम; आयुध—हथियार; आभरण—गहने; किरीट—मुकुट; वर्मभिः—तथा कवच से; दिवा—दिन में; अंशुभिः—सूर्य-किरणों से; तुमुल—बेहद; रवम्—ध्वनि; बभौ—तेजी से चमक रहे थे; रवेः—सूर्य के; यथा—जिस तरह; अर्णवः—समुद्र; क्षुभित—क्षुब्ध; तिमिङ्गिल—तिमिंगिल मछली; ऊर्मिभिः—लहरों से।

भगवान् की सेना राजसी छाते, चामर-पंखों तथा लहराती पताकाओं के विशाल ध्वज-दंडों से युक्त थी। दिन के समय सूर्य की किरणें सैनिकों के उत्तम हथियारों, गहनों, किरीट तथा कवचों से परावर्तित होकर चमक रही थीं। इस तरह जयजयकार तथा कोलाहल करती कृष्ण की सेना ऐसी लग रही थी मानों क्षुब्ध लहरों तथा तिमिंगल मछलियों से आलोड़ित समुद्र हो।

अथो मुनिर्यदुपतिना सभाजितः
प्रणम्य तं हृदि विदधद्विहायसा ।
निशम्य तद्व्यवसितमाहृतार्हणो

मुकुन्दसन्दरशननिर्वृतेन्द्रियः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अथ उ—और तब; मुनिः—ऋषि (नारद); यदु-पतिना—यदुओं के स्वामी कृष्ण द्वारा; सभाजितः—सम्मानित; प्रणम्य—झुक कर; तम्—उनको; हृदि—हृदय में; विदधत्—रखते हुए; विहायसा—आकाश से होकर; निशम्य—सुनकर; तत्—उनका; व्यवसितम्—दृढ़संकल्प; आहृत—स्वीकार की गयी; अर्हणः—पूजा; मुकुन्द—भगवान् कृष्ण की; सन्दरशन—भेंट से; निर्वृत—शान्त; इन्द्रियः—इन्द्रियों वाला।

यदुओं के प्रमुख श्रीकृष्ण द्वारा सम्मानित होकर नारदमुनि ने भगवान् को नमस्कार किया। भगवान् कृष्ण से मिल कर नारद की सारी इन्द्रियाँ तुष्ट हो चुकी थीं। इस तरह भगवान् के निर्णय को सुन कर तथा उनकी पूजा स्वीकार करके, उन्हें अपने हृदय में दृढ़ता से धारण करके, नारद आकाश से होकर चले गये।

राजदूतमुवाचेदं भगवान्प्रीणयन्गिरा ।
मा भैष्ट दूत भद्रं वो घातयिष्यामि मागधम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

राज—राजाओं के; दूतम्—दूत से; उवाच—कहा; इदम्—यह; भगवान्—भगवान् ने; प्रीणयन्—उसे प्रसन्न करते हुए; गिरा—वाणी से; मा भैष्ट—मत डरो; दूत—हे दूत; भद्रम्—कल्याण हो; वः—तुम्हारा; घाटयिष्यामि—वध की व्यवस्था करूँगा; मागधम्—मगध के राजा (जरासन्ध) के।

राजाओं द्वारा भेजे गये दूत को भगवान् ने मीठे शब्दों में सम्बोधित किया, "हे दूत, मैं तुम्हारे सौभाग्य की कामना करता हूँ। मैं मगध के राजा के वध की व्यवस्था करूँगा। डरना मत।"

तात्पर्य : *मा भैष्ट* कथन बहुवचन में है, जो दूत तथा राजाओं के लिए है। इसी प्रकार *भद्रं वः* भी बहुवचन में है, जिसका मनोभाव भी ऐसा ही है।

इत्युक्तः प्रस्थितो दूतो यथावदवदन्नृपान् ।
तेऽपि सन्दर्शनं शौरेः प्रत्यैक्षन्यन्मुमुक्षवः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्तः—कहे जाने पर; प्रस्थितः—चला गया; दूतः—दूत; यथा-वत्—सही-सही; अवदत्—कहा; नृपान्—राजाओं से; ते—वे; अपि—तथा; सन्दर्शनम्—श्रोता; शौरेः—भगवान् कृष्ण के; प्रत्यैक्षन्—प्रतीक्षा करने लगे; यत्—क्योंकि; मुमुक्षवः—मुक्ति के लिए उत्सुक होने से।

इस प्रकार कहे जाने पर दूत चला गया और जाकर राजाओं से भगवान् का सन्देश सही सही सुना दिया। तब स्वतंत्र होने के लिए उत्सुक वे सभी भगवान् कृष्ण से भेंट करने के लिए आशान्वित होकर प्रतीक्षा करने लगे।

तात्पर्य : महान् वैष्णव पंडित श्रील जीव गोस्वामी यहाँ टीका करते हैं कि परिस्थितिवश सारे राजा एकमात्र कृष्ण पर अपनी दृष्टि जमाये रहे।

आनर्तसौवीरमरूंस्तीर्त्वा विनशनं हरिः ।
गिरीन्नदीरतीयाय पुरग्रामव्रजाकरान् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

आनर्त-सौवीर-मरून्—आनर्त (द्वारका राज्य), सौवीर (पूर्वी गुजरात) तथा (राजस्थान का) मरुस्थल; तीर्त्वा—पार करके; विनशनम्—विनशन, कुरुक्षेत्र जनपद; हरिः—भगवान् कृष्ण; गिरीन्—पर्वतों; नदीः—तथा नदियों को; अतीयाय—पार करके; पुर—नगर; ग्राम—गाँव; व्रज—चरागाह; आकरान्—तथा खानों को।

आनर्त, सौवीर, मरुदेश तथा विनशन प्रदेशों से होकर यात्रा करते हुए भगवान् हरि ने नदियाँ पार कीं और वे पर्वतों, नगरों, ग्रामों, चरागाहों तथा खानों से होकर गुजरे।

ततो दृषद्वतीं तीर्त्वा मुकुन्दोऽथ सरस्वतीम् ।
पञ्चालानथ मत्स्यांश्च शक्रप्रस्थमथागमत् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; दृषद्वतीम्—दृषद्वती नदी को; तीर्त्वा—पार करके; मुकुन्दः—कृष्ण; अथ—तब; सरस्वतीम्—सरस्वती नदी को; पञ्चालान्—पञ्चाल प्रदेश; अथ—तब; मत्स्यान्—मत्स्य प्रदेश को; च—भी; शक्र-प्रस्थम्—इन्द्रप्रस्थ में; अथ—और; आगमत्—आये।

दृषदूती और सरस्वती नदियों को पार करने के पश्चात् वे पंचाल तथा मत्स्य प्रदेशों में से गुजरते हुए अन्त में इन्द्रप्रस्थ पहुँचे।

तमुपागतमाकर्ण्य प्रीतो दुर्दर्शनं नृनाम् ।
अजातशत्रुर्निरगात्सोपध्यायः सुहृद्वृतः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; उपागतम्—आया हुआ; आकर्ण्य—सुन कर; प्रीतः—प्रसन्न; दुर्दर्शनम्—विरले ही दिखने वाले; नृणाम्—मनुष्यों द्वारा; अजात-शत्रुः—जिसका शत्रु न हो, युधिष्ठिर; निरगात्—बाहर आया; स—सहित; उपध्यायः—पुरोहितों; सुहृत्—सम्बन्धियों से; वृतः—घिरा।

राजा युधिष्ठिर यह सुनकर अतीव प्रसन्न हुए कि दुर्लभ दर्शन देने वाले भगवान् आ चुके हैं। भगवान् कृष्ण से मिलने के लिए राजा अपने पुरोहितों तथा प्रिय संगियों समेत बाहर आ गये।

गीतवादित्रघोषेण ब्रह्मघोषेण भूयसा ।
अभ्ययात्स हृषीकेशं प्राणाः प्राणमिवादृतः ॥ २॥

शब्दार्थ

गीत—गीत; वादित्र—तथा वाद्य-संगीत को; घोषेण—शब्द से; ब्रह्म—वेदों की; घोषेण—ध्वनि से; भूयसा—प्रचुर; अभ्ययात्—आगे गया; सः—वह; हृषीकेशम्—भगवान् कृष्ण को; प्राणाः—इन्द्रियों के; प्राणम्—प्राण या चेतना को; इव—सदृश; आदृतः—पूज्य।

वैदिक स्तुतियों की उच्च ध्वनि के साथ साथ गीत तथा संगीत-वाद्य गूंजने लगे और राजा बड़े ही आदर के साथ भगवान् हृषीकेश से मिलने के लिए आगे बढ़े, जिस तरह इन्द्रियाँ प्राणों से मिलने आगे बढ़ती हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् कृष्ण को हृषीकेश अर्थात् इन्द्रियों का स्वामी और राजा युधिष्ठिर द्वारा भगवान् के पास तेजी से जाने को चेतना से इन्द्रियों के उत्सुकतापूर्ण मिलने के समान बतलाया गया है। चेतना के बिना इन्द्रियाँ व्यर्थ हैं—इन्द्रियाँ चेतना के माध्यम से ही कार्य करती हैं। इसी प्रकार जब व्यष्टि आत्माएँ कृष्णभावनामृत अर्थात् भगवत्प्रेम से विहीन हो जाती हैं, तो वे व्यर्थ एवं मायामय संघर्ष में, जिसे *भव* या संसार कहते हैं, प्रवेश करती हैं। राजा युधिष्ठिर जैसे शुद्ध भक्त कभी भी भगवान् की संगति से विहीन नहीं होते, क्योंकि वे भगवान् को सदा अपने हृदय में रखते हैं। फिर भी जब वे दीर्घकालीन वियोग के पश्चात् उनका दर्शन करते हैं, तो उन्हें विशेष आनन्द की अनुभूति होती है, जैसाकि यहाँ पर वर्णन हुआ है।

दृष्ट्वा विक्लिन्नहृदयः कृष्णं स्नेहेन पाण्डवः ।
चिराद्दृष्टं प्रियतमं सस्वजेऽथ पुनः पुनः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; विक्लिन्न—द्रवित; हृदयः—उनका हृदय; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण को; स्नेहेन—स्नेह से; पाण्डवः—पाण्डु-पुत्र; चिरात्—दीर्घकाल से; दृष्टम्—देखे हुये; प्रिय-तमम्—अपने अत्यन्त प्रिय मित्र को; सस्वजे—आलिंगन किया; अथ—तत्पश्चात्; पुनः पुनः—फिर फिर।

जब राजा युधिष्ठिर ने अपने परमप्रिय मित्र भगवान् कृष्ण को इतने दीर्घ वियोग के बाद देखा, तो उनका हृदय स्नेह से द्रवित हो उठा और उन्होंने भगवान् का बारम्बार आलिंगन किया।

दोर्भ्यां परिष्वज्य रमामलालयं
मुकुन्दगात्रं नृपतिर्हताशुभः ।
लेभे परां निर्वृतिमश्रुलोचनो
हृष्यत्तनुर्विस्मृतलोकविभ्रमः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

दोर्भ्याम्—अपनी भुजाओं से; परिष्वज्य—आलिंगन करके; रमा—लक्ष्मी के; अमल—निर्मल; अलयम्—घर को; मुकुन्द—भगवान् कृष्ण के; गात्रम्—शरीर को; नृ-पतिः—राजा; हत—विनष्ट; अशुभः—अशुभ; लेभे—प्राप्त किया; पराम्—सर्वोच्च; निर्वृतिम्—हर्ष; अश्रु—आँसू; लोचनः—जिसकी आँखों में; हृष्यत्—प्रसन्न हुआ; तनुः—शरीर; विस्मृत—भूल कर; लोक—संसारी जगत के; विभ्रमः—मायावी कार्यकलाप।

भगवान् कृष्ण का नित्य स्वरूप लक्ष्मीजी का सनातन निवास है। ज्योंही युधिष्ठिर ने उनका आलिंगन किया, वे समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त हो गये। उन्हें तुरन्त दिव्य आनन्द की अनुभूति हुई और वे सुख-सागर में निमग्न हो गये। उनकी आँखों में आँसू आ गये और भावाविष्ट होने से उनका शरीर थरथराने लगा। वे पूरी तरह से भूल गये कि वे इस भौतिक जगत में रह रहे हैं।

तात्पर्य : उपर्युक्त भावार्थ श्रील प्रभुपाद कृत *भगवान् श्रीकृष्ण* से है।

तं मातुलेयं परिरभ्य निर्वृतो
भीमः स्मयन्प्रेमजलाकुलेन्द्रियः ।
यमौ किरीटी च सुहृत्तमं मुदा
प्रवृद्धबाष्पाः परिरेभिरेऽच्युतम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; मातुलेयम्—मामा के पुत्र को; परिरभ्य—आलिंगन करके; निर्वृतः—हर्ष से पूरित; भीमः—भीमसेन; स्मयन्—हँसते हुए; प्रेम—प्रेमवश; जल—जल (आँसू) से; आकुल—पूरित; इन्द्रियः—आँखें; यमौ—जुड़वाँ (नकुल तथा सहदेव); किरीती—अर्जुन; च—तथा; सुहृत्-तमम्—उनके सबसे प्रिय मित्र; मुदा—हर्षपूर्वक; प्रवृद्ध—अत्यधिक; बाष्पाः—आँसू; परिरेभिरे—आलिंगन किया; अच्युतम्—अच्युत भगवान् को।

तब आँखों में आँसू भरे भीम ने अपने ममेरे भाई कृष्ण का आलिंगन किया और फिर हर्ष से हँसने लगे। अर्जुन तथा जुड़वाँ भाई—नकुल तथा सहदेव ने भी अपने सर्वाधिक प्रिय मित्र अच्युत भगवान् का हर्षपूर्वक आलिंगन किया और जोर-जोर से रोने लगे।

अर्जुनेन परिष्वक्तो यमाभ्यामभिवादितः ।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य वृद्धेभ्यश्च यथार्हतः ।
मानिनो मानयामास कुरुसृञ्जयकैकयान् ॥ २८॥

शब्दार्थ

अर्जुनेन—अर्जुन द्वारा; परिष्वक्तः—आलिंगित; यमाभ्याम्—जुड़वों द्वारा; अभिवादितः—नमस्कार किया गया; ब्राह्मणेभ्यः—ब्राह्मणों को; नमस्कृत्य—नमस्कार करके; वृद्धेभ्यः—वरिष्ठजनों को; च—तथा; यथा-अर्हतः—शिष्टाचार के अनुसार; मानिनः—माननीय व्यक्ति; मानयाम् आस—सम्मान किया; कुरु-सृञ्जय-कैकयान्—कुरुओं, सृञ्जयों तथा कैकयों को।

जब अर्जुन उनका पुनः आलिंगन कर चुके और नकुल तथा सहदेव उन्हें नमस्कार कर चुके, तो श्रीकृष्ण ने ब्राह्मणों तथा उपस्थित बड़े-बूढ़ों को नमस्कार किया। इस तरह उन्होंने कुरु, सृञ्जय तथा कैकय वंशों के माननीय सदस्यों का सत्कार किया।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने उल्लेख किया है कि चूँकि अर्जुन कृष्ण के समान समझे जाते थे, अतएव जब अर्जुन ने उन्हें नमस्कार करना चाहा, तो कृष्ण ने अर्जुन की बाहें पकड़ लीं, जिससे वह उनका केवल आलिंगन कर सके। किन्तु जुड़वों ने कनिष्ठ होने के कारण झुक कर नमस्कार किया और कृष्ण के चरण पकड़ लिये।

सूतमागधगन्धर्वा वन्दिनश्चोपमन्त्रिणः ।
मृदङ्गशङ्खपटह वीणापणवगोमुखैः ।
ब्राह्मणाश्चारविन्दाक्षं तुष्टुवुर्ननृतुर्जगुः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सूत—सूत; मागध—मागध; गन्धर्वाः—देवता जो गाने के लिए प्रसिद्ध हैं; वन्दिनः—वन्दीजन; च—तथा; उपमन्त्रिणः—विदूषक; मृदङ्ग—मृदंग; शङ्ख—शंख; पटह—दुंदुभी; वीणा—वीणा; पणव—छोटे ढोल; गोमुखैः—तथा गोमुख शृंगी से; ब्राह्मणाः—ब्राह्मण; च—तथा; अरविन्द-अक्षम्—कमल-नेत्र भगवान्; तुष्टुवुः—स्तुतियों से यशोगान किया; ननृतुः—नाचा; जगुः—गाया।

सूतों, मागधों, गन्धर्वों, वन्दीजनों, विदूषकों तथा ब्राह्मणों में से कुछ ने स्तुति करके, कुछ ने नाच-गाकर कमल-नेत्र भगवान् का यशोगान किया। मृदंग, शंख, दुंदुभी, वीणा, पणव तथा गोमुख गूंजने लगे।

एवं सुहृद्भिः पर्यस्तः पुण्यश्लोकशिखामणिः ।
संस्तूयमानो भगवान्विवेशालङ्कृतं पुरम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सु-हृद्भिः—अपने शुभचिन्तक सम्बन्धियों द्वारा; पर्यस्तः—घिरे हुए; पुण्य-श्लोक—पवित्र ख्याति के व्यक्तियों के; शिखा-मणिः—शिरोमणि; संस्तूयमानः—यशोगान किये जा रहे; भगवान्—भगवान्; विवेश—प्रविष्ट हुए; अलङ्कृतम्—अलंकृत; पुरम्—नगर में।

इस तरह अपने शुभचिन्तक सम्बन्धियों से घिर कर तथा चारों ओर से प्रशंसित होकर विख्यातों के शिरोमणि भगवान् कृष्ण सजे सजाये नगर में प्रविष्ट हुए।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''जब भगवान् कृष्ण शहर में प्रवेश कर रहे थे तो सारे लोग परस्पर भगवान् के यश की चर्चा कर रहे थे और उनके दिव्य नाम, गुण, रूप इत्यादि की प्रशंसा कर रहे थे।''

संसिक्तवर्त्म करिणां मदगन्धतोयैश्

चित्रध्वजैः कनकतोरणपूर्णकुम्भैः ।
मृष्टात्मभिर्नवदुकूलविभूषणस्त्रग्-
गन्धैर्नृभिर्युवतिभिश्च विराजमानम् ॥ ३१ ॥
उद्दीप्तदीपबलिभिः प्रतिसद्म जाल-
निर्यातधूपरुचिरं विलसत्पताकम् ।
मूर्धन्यहेमकलशै रजतोरुशृङ्गै-
र्जुष्टं ददर्श भवनैः कुरुराजधाम ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

संसिक्त—जल से छिड़काव की गई; वर्त्म—सड़कें; करिणाम्—हाथियों के; मद—मस्तक से निकलने वाले तरल के; गन्ध—सुगन्धित; तोयैः—जल से; चित्र—रंग-बिरंगे; ध्वजैः—ध्वजाओं से; कनक—सुनहरे; तोरण—द्वारों से; पूर्ण-कुम्भैः—तथा पूर्ण जलपात्रों से; मृष्ट—सजे हुए; आत्मभिः—शरीरों से; नव—नवीन; दुकूल—उत्तम वस्त्रों से; विभूषण—गहने; स्त्रक्—फूल की मालाएँ; गन्धैः—तथा सुगन्धित चन्दन-लेप से; नृभिः—मनुष्यों से; युवतिभिः—तरुणियों से; च—भी; विराजमानम्—जगमगाते; उद्दीप्त—जलाये गये; दीप—दीपकों से; बलिभिः—तथा भेंटों से; प्रति—प्रत्येक; सद्म—घर; जाल—खिड़कियों के झरोखों से; निर्यात—बाहर निकल कर; धूप—अगुरु का धुआँ; रुचिरम्—आकर्षक; विलसत्—हिलते-डुलते; पताकम्—झंडियों से; मूर्धन्य—छतों पर; हेम—सोने के; कलशैः—कलशों (गुम्बदों) से; रजत—चाँदी के; उरु—विशाल; शृङ्गैः—मंचों से; जुष्टम्—अलंकृत; ददर्श—देखा; भवनैः—घरों से; कुरु-राज—कुरुओं के राजा के; धाम—राज्य।

इन्द्रप्रस्थ की सड़कें हाथियों के मस्तक से निकले द्रव से सुगंधित किये गये जल से छिड़की गई थीं। रंगबिरंगी झंडिया, सुनहरे द्वार तथा पूर्ण जलघटों से नगर की भव्यता बढ़ गई थी। पुरुष तथा तरुणियाँ उत्तम नए वस्त्रों से सुन्दर ढंग से सजी थीं, फूलों की मालाओं तथा गहनों से अलंकृत थीं तथा सुगन्धित चन्दन-लेप से लेपित थीं। हर घर में जगमगाते दीपक दिख रहे थे और सादर भेंटे दी जा रही थीं। जालीदार खिड़कियों के छिद्रों से अगुरु का धुँआ निकल रहा था, जिससे नगर की सुन्दरता और भी बढ़ रही थी। झंडियाँ हिल रही थीं और छतों को चाँदी के चौड़े आधारों पर रखे सुनहरे कलशों से सजाया गया था। इस प्रकार भगवान् कृष्ण ने कुरुराज के राजसी नगर को देखा।

तात्पर्य : इस सम्बन्ध में श्रील प्रभुपाद कहते हैं, ''इस प्रकार भगवान् कृष्ण पाण्डवों के नगर में प्रविष्ट हुए, वहाँ के सुन्दर वातावरण का आनन्द लिया और धीरे-धीरे आगे बढ़ते गये।''

प्राप्तं निशम्य नरलोचनपानपात्र-
मौत्सुक्यविश्लथितकेशदुकूलबन्धाः ।
सद्यो विसृज्य गृहकर्म पतींश्च तल्पे
द्रष्टुं ययुर्युवतयः स्म नरेन्द्रमार्गे ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

प्राप्तम्—आया हुआ; निशम्य—सुन कर; नर—मनुष्यों के; लोचन—आँखों के; पान—पीने के; पात्रम्—वस्तु या आगार; औत्सुक्य—उत्सुकतावश; विश्लथित—ढीले हुए; केश—बाल; दुकूल—वस्त्रों के; बन्धाः—तथा गाँठें; सद्यः—तुरन्त; विसृज्य—त्याग कर; गृह—गृहस्थी के; कर्म—कार्य; पतीन्—अपने पतियों को; च—तथा; तल्पे—पलंग में; द्रष्टुम्—देखने के लिए; ययुः—गयी; युवतयः—युवतियाँ; स्म—निस्सन्देह; नर-इन्द्र—राजा के; मार्गे—पथ पर।

जब नगर की युवतियों ने सुना कि मनुष्यों के नेत्रों के लिए आनन्द के आगार भगवान् कृष्ण आए हैं, तो उन्हें देखने के लिए वे जल्दी जल्दी राजमार्ग तक पहुंच गईं। उन्होंने अपने घर के कार्यों (टहल) को त्याग दिया, यहाँ तक कि अपने पतियों को भी पलंग में ही छोड़ आईं। उत्सुकतावश उनके बालों की गाँठें तथा वस्त्र ढीले पड़ गये।

तस्मिन्सुसङ्कु ल इभाश्वरथद्विपद्भिः
कृष्णम्सभार्यमुपलभ्य गृहाधिरूढाः ।
नार्यो विकीर्य कुसुमैर्मनसोपगुह्य
सुस्वागतं विदधुरुत्स्मयवीक्षितेन ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस (मार्ग) पर; सु—अत्यधिक; सङ्कु ले—भीड़युक्त; इभ—हाथियों; अश्व—घोड़ों; रथ—रथों; द्वि-पद्भिः—तथा पैदल सिपाहियों से युक्त; कृष्णम्—कृष्ण को; स-भार्यम्—अपनी पत्नियों सहित; उपलभ्य—देखकर; गृह—घरों के; अधिरूढाः—छतों पर चढ़ीं; नार्यः—स्त्रियाँ; विकीर्य—बिखेर कर; कुसुमैः—फूलों से; मनसा—मनों में; उपगुह्य—आलिंगन करके; सु-स्वागतम्—हार्दिक स्वागत; विदधुः—उसे दिया; उत्स्मय—हँसती हुई; वीक्षितेन—चितवनों से।

राजमार्ग पर हाथियों, घोड़ों, रथों तथा पैदल सैनिकों की खूब भीड़ थी, इसलिए स्त्रियाँ अपने घरों की छतों पर चढ़ गईं, जहाँ से उन्होंने कृष्ण तथा उनकी रानियों को देखा। नगर की स्त्रियों ने भगवान् पर फूल बरसाये, मन ही मन उनका आलिंगन किया और हँसीयुक्त चितवनों से अपना हार्दिक स्वागत व्यक्त किया।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी की टीका है कि स्त्रियों ने अपनी स्नेहमयी चितवनों के माध्यम से भगवान् की यात्रा की सुविधा आदि के बारे में उत्सुक प्रश्न पूछे। दूसरे शब्दों में, अपने आनन्द में उन्होंने भगवान् की सेवा करने की तीव्र इच्छा व्यक्त की।

ऊचुः स्त्रियः पथि निरीक्ष्य मुकुन्दपत्नी-
स्तारा यथोडुपसहाः किमकार्यमूभिः ।
यच्चक्षुषां पुरुषमौलिरुदारहास-
लीलावलोककलयोत्सवमातनोति ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

ऊचुः—कहा; स्त्रियः—स्त्रियों ने; पथि—मार्ग पर; निरीक्ष्य—देखकर; मुकुन्द—भगवान् कृष्ण की; पत्नीः—पत्नियों को; ताराः—तारे; यथा—जिस तरह; उडु-प—चन्द्रमा; सहाः—साथ साथ; किम्—क्या; अकारि—किया गया था; अमूभिः—उनके द्वारा; यत्—क्योंकि; चक्षुषाम्—उनकी आँखों के लिए; पुरुष—पुरुषों के; मौलिः—चोटी; उदार—विस्तृत; हास—हँसी से; लीला—क्रीड़ायुक्त; अवलोक—चितवनोंका; कलया—लघु अंश से; उत्सवम्—उत्सव; आतनोति—प्रदान करता है।

मार्ग पर मुकुन्द की पत्नियों को चन्द्रमा के साथ तारों की तरह गुजरते देखकर स्त्रियाँ चिल्ला उठीं, "इन स्त्रियों ने कौन-सा कर्म किया है, जिससे उत्तमोत्तम व्यक्ति अपनी उदार मुसकान तथा क्रीड़ायुक्त दीर्घ चितवनों से उनके नेत्रों को सुख प्रदान कर रहे हैं?"

तत्र तत्रोपसङ्गम्य पौरा मङ्गलपाणयः ।
चक्रुः सपर्यां कृष्णाय श्रेणीमुख्या हतैनसः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तत्र तत्र—विविध स्थानों में; उपसङ्गम्य—पहुँच कर; पौराः—नगरवासी; मङ्गल—शुभ भेंटें; पाणयः—अपने हाथों में; चक्रुः—सम्पन्न किया; सपर्याम्—पूजा; कृष्णाय—कृष्ण के लिए; श्रेणी—व्यवसायियों के; मुख्याः—प्रमुख नेता; हत—विनष्ट; एनसः—पाप।

विभिन्न स्थानों पर नगरवासी अपने हाथों में कृष्ण के लिए शुभ भेंटें लेकर आये और प्रमुख निष्पाप व्यापारी भगवान् की पूजा करने के लिए आगे बढ़े।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "जब भगवान् कृष्ण मार्ग से जा रहे थे, तो शहर के कुछ धनी प्रतिष्ठित और निष्पाप नागरिकों ने नगर-प्रवेश के कारण उनका स्वागत करने के लिए भगवान् को शुभ वस्तुएँ भेंट कीं। इस तरह उन्होंने विनम्र सेवकों के रूप में उनकी पूजा की।"

अन्तःपुरजनैः प्रीत्या मुकुन्दः फुल्ललोचनैः ।
ससम्भ्रमैरभ्युपेतः प्राविशद्राजमन्दिरम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

अन्तः-पुर—रनिवास के; जनैः—लोगों के द्वारा; प्रीत्या—प्रेमपूर्वक; मुकुन्दः—भगवान् कृष्ण; फुल्ल—प्रफुल्ल; लोचनैः—आँखों से; स-सम्भ्रमैः—जोश में; अभ्युपेतः—स्वागत करने आईं; प्राविशत्—प्रवेश किया; राज—राजसी; मन्दिरम्—महल में।

प्रफुल्ल नेत्रों से अन्तःपुर के सदस्य भगवान् मुकुन्द का प्रेमपूर्वक स्वागत करने जोश से आगे बढ़े और इस तरह भगवान् राजमहल में प्रविष्ट हुए।

पृथा विलोक्य भ्रात्रेयं कृष्णं त्रिभुवनेश्वरम् ।
प्रीतात्मोत्थाय पर्यङ्कात्सस्नुषा परिषस्वजे ॥ ३८॥

शब्दार्थ

पृथा—रानी कुन्ती; विलोक्य—देख कर; भ्रात्रेयम्—अपने भाई के पुत्र; कृष्णम्—कृष्ण को; त्रि-भुवन—तीनों लोकों के; ईश्वरम्—स्वामी; प्रीत—प्रेमपूर्ण; आत्मा—हृदय; उत्थाय—उठ कर; पर्यङ्कात्—अपने पलंग से; स-स्नुषा—अपनी पुत्रवधू (द्रौपदी) सहित; परिषस्वजे—आलिंगन किया।

जब महारानी कुन्ती ने अपने भतीजे कृष्ण को, जो तीनों लोकों के स्वामी हैं, देखा तो उनका हृदय प्रेम से भर गया। वे अपनी पुत्रवधू सहित अपने पलंग से उठीं और उन्होंने भगवान् का आलिंगन किया।

तात्पर्य : महारानी कुन्ती की पुत्रवधू सुविख्यात द्रौपदी हैं।

गोविन्दं गृहमानीय देवदेवेशमादृतः ।
पूजायां नाविदत्कृत्यं प्रमोदोपहतो नृपः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

गोविन्दम्—भगवान् कृष्ण को; गृहम्—अपने घर में; आनीय—लाकर; देव—सारे देवताओं के; देव-ईशम्—परमेश्वर तथा नियन्ता; आदृतः—पूज्य; पूजायाम्—पूजा में; न अविदत्—नहीं जान पाये; कृत्यम्—विस्तृत क्रिया; प्रमोद—उनके अधिक हर्ष से; उपहतः—अभिभूत; नृपः—राजा।

देवताओं के परमेश्वर, भगवान् गोविन्द को राजा युधिष्ठिर अपने निजी निवासस्थान में ले आये। राजा हर्ष से इतने विभोर हो गये कि उन्हें पूजा का सारा अनुष्ठान विस्मृत हो गया।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "ज्योंही वे कृष्ण को महल के भीतर ले आये, राजा युधिष्ठिर हर्ष से इतने विभोर हो गये कि एक तरह से वे भूल ही गये कि कृष्ण का स्वागत करने तथा उनकी ठीक से पूजा करने के लिए उन्हें क्या करना चाहिए।"

पितृस्वसुर्गुरुस्त्रीणां कृष्णश्चक्रेऽभिवादनम् ।
स्वयं च कृष्णया राजन्भगिन्या चाभिवन्दितः ॥ ० ॥

शब्दार्थ

पितृ—उनके पिता की; स्वसुः—बहन (कुन्ती) के; गुरु—गुरुजनों के; स्त्रीणाम्—तथा पत्नियों के; कृष्णः—भगवान् कृष्ण ने; चक्रे—सम्पन्न किया; अभिवादनम्—नमस्कार; स्वयम्—स्वयं; च—तथा; कृष्णया—कृष्णा (द्रौपदी) द्वारा; राजन्—हे राजा (परीक्षित); भगिन्या—अपनी बहन (सुभद्रा) द्वारा; च—भी; अभिवन्दितः—नमस्कार किये गये।

हे राजन्, भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी बुआ तथा उनके गुरुजनों की पत्नियों को नमस्कार किया। तब द्रौपदी तथा भगवान् की बहन ने उन्हें नमस्कार किया।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "भगवान् कृष्ण ने हर्षपूर्वक कुन्ती को तथा महल की बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों को नमस्कार किया। वहीं पर उनकी छोटी बहन सुभद्रा भी द्रौपदी के साथ खड़ी थी। इन दोनों ने भगवान् के चरणकमलों पर अपना नमस्कार निवेदित किया।

श्वश्रृवा सञ्चोदिता कृष्णा कृष्णपत्नीश्च सर्वशः ।
आनर्च रुक्मिणीं सत्यां भद्रां जाम्बवतीं तथा ॥ १ ॥

कालिन्दीं मित्रविन्दां च शैब्यां नाग्नजितीं सतीम् ।
अन्याश्चाभ्यागता यास्तु वासःस्त्रङ्मण्डनादिभिः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्वश्र्वा—अपनी सास (कुन्ती) द्वारा; सञ्चोदिता—प्रोत्साहित; कृष्णा—द्रौपदी; कृष्ण-पत्नीः—कृष्ण की पत्नियाँ; च—तथा; सर्वशः—सारे लोग; आनर्च—पूजा की; रुक्मिणीम्—रुक्मिणी की; सत्याम्—सत्यभामा की; भद्राम् जाम्बवतीम्—भद्रा तथा जाम्बवती की; तथा—भी; कालिन्दीम् मित्रविन्दाम् च—कालिन्दी तथा मित्रविन्दा की; शैब्याम्—राजा शिबि की वंशजा; नाग्नजितीम्—नाग्नजिती की; सतीम्—सती; अन्याः—अन्य; च—भी; अभ्यागताः—वहाँ पर आये हुए; याः—जो; तु—तथा; वासः—वस्त्र समेत; स्त्रक्—फूल की माला; मण्डन—आभूषण; आदिभिः—इत्यादि से।

अपनी सास से अभिप्रेरित होकर द्रौपदी ने भगवान् कृष्ण की पत्नियों-रुक्मिणी, सत्यभामा, भद्रा, जाम्बवती, कालिन्दी, शिबि की वंशजा मित्रविन्दा, सती नाग्नजिती को तथा वहाँ पर उपस्थित भगवान् की अन्य रानियों को नमस्कार किया। द्रौपदी ने वस्त्र, फूल-मालाएँ तथा रत्नाभूषण जैसे उपहारों से उन सबों का सत्कार किया।

सुखं निवासयामास धर्मराजो जनार्दनम् ।
ससैन्यं सानुगामत्यं सभार्यं च नवं नवम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सुखम्—सुखपूर्वक; निवासयाम् आस—ठहराया; धर्म-राजः—धर्म के राजा युधिष्ठिर ने; जनार्दनम्—भगवान् कृष्ण को; स-सैन्यम्—सेना समेत; स-अनुग—सेवकों समेत; अमत्यम्—तथा मंत्रीगण; स-भार्यम्—अपनी पत्नियों सहित; च—तथा; नवम् नवम्—एक से एक नवीन।

राजा युधिष्ठिर ने कृष्ण के विश्राम का प्रबन्ध किया और इसका ध्यान रखा कि जितने सारे लोग उनके साथ आये हैं—यथा उनकी रानियाँ, सैनिक, मंत्री तथा सचिव—वे सुखपूर्वक ठहर जाँय। उन्होंने ऐसी व्यवस्था की कि जब तक वे पाण्डवों के अतिथि रूप में रहें, प्रतिदिन उनका नया नया स्वागत हो।

तात्पर्य : उपर्युक्त भावार्थ श्रील प्रभुपाद कृत *श्रीकृष्ण* से लिया गया है।

तर्पयित्वा खाण्डवेन वह्निं फाल्गुनसंयुतः ।
मोचयित्वा मयं येन राज्ञे दिव्या सभा कृता ॥ ॥

उवास कतिचिन्मासान्राज्ञः प्रियचिकीर्षया ।
विहरन्रथमारुह्य फाल्गुनेन भटैर्वृतः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तर्पयित्वा—तुष्ट करके; खाण्डवेन—खाण्डव वन सहित; वह्निम्—अग्निदेव को; फाल्गुन—अर्जुन द्वारा; संयुतः—साथ में; मोचयित्वा—छुड़ाकर; मयम्—मय दानव को; येन—जिसके द्वारा; राज्ञे—राजा (युधिष्ठिर) के लिए; दिव्या—दैवी; सभा—सभाभवन; कृता—बनाया गया; उवास—वे रहते रहे; कतिचित्—कई; मासान्—महीने; राज्ञः—राजा को; प्रिय—खुशी; चिकीर्षया—देने की इच्छा से; विहरन्—विहार करते; रथम्—रथ में; आरुह्य—चढ़ कर; फाल्गुनेन—अर्जुन सहित; भटैः—रक्षकों द्वारा; वृतः—घिरे।

राजा युधिष्ठिर को तुष्ट करने की इच्छा से भगवान् कई मास इन्द्रप्रस्थ में रहते रहे। अपने आवास-काल के समय उन्होंने तथा अर्जुन ने अग्निदेव को खाण्डव वन भेंट करके तुष्ट किया। उन्होंने मय दानव को बचाया जिसने बाद में राजा युधिष्ठिर के लिए दैवी सभाभवन बनाया। अर्जुन के साथ सैनिकों से घिर कर भगवान् ने अपने रथ पर सवारी करने के अवसर का भी लाभ उठाया।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद *श्रीकृष्ण* में लिखते हैं, ''इसी समय भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन की सहायता से अग्निदेव की तुष्टि के लिए अग्निदेव को खाण्डव वन निगलने की अनुमति दी। वन में प्रज्वलित अग्नि के मध्य श्रीकृष्ण ने मयासुर की रक्षा की, जो जंगल में छिपा था। अपने बचाये जाने पर मयासुर ने स्वयं पाण्डवों एवं भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति आभार माना तथा उसने इन्द्रप्रस्थ में एक अद्भुत सभाभवन का निर्माण किया। इस प्रकार युधिष्ठिर को प्रसन्न करने के लिए वे महीनों इन्द्रप्रस्थ में रहे। अपने निवास की अवधि में श्रीकृष्णको इधर-उधर भ्रमण में बड़ा आनन्द आया। वे अर्जुन के साथ रथ में जाया करते थे और अनेक वीर तथा सैनिक उनके पीछे पीछे चलते थे।''

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''भगवान् की इन्द्रप्रस्थ यात्रा'' नामक इकहत्तरवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बहत्तर

जरासन्ध असुर का वध

इस अध्याय में बतलाया गया है कि भगवान् कृष्ण ने किस तरह राजा युधिष्ठिर की विनती सुनी और तब जरासन्ध को पराजित करने के लिए भीमसेन को नियुक्त किया।

एक दिन जब भगवान् कृष्ण राजसभा में बैठे थे तो राजा युधिष्ठिर ने उन्हें सम्बोधित किया, ''हे प्रभु! मैं राजसूय यज्ञ करना चाहता हूँ। जिनकी रुचि आपकी भक्ति में नहीं है, वे आपके भक्तों की

श्रेष्ठता तथा अभक्तों की निकृष्टता का स्वयं अवलोकन इस यज्ञ में कर सकेंगे। वे आपके चरणकमलों का दर्शन भी कर सकेंगे।''

भगवान् कृष्ण ने राजा युधिष्ठिर के प्रस्ताव की बढ़ा-चढ़ा कर प्रशंसा करते हुए कहा, ''आपकी योजना इतनी उत्तम है कि इससे आपकी ख्याति विश्व-भर में फैल जायेगी। निस्सन्देह सारे जीवों को इस यज्ञ के सम्पन्न होने की कामना करनी चाहिए। किन्तु इस यज्ञ को सम्भव बनाने के पूर्व आपको पृथ्वी के सारे राजाओं को परास्त करना होगा और इसके लिए आवश्यक सामग्री जुटानी होगी।''

भगवान् कृष्ण के शब्दों से तुष्ट होकर युधिष्ठिर ने अपने भाइयों को विविध दिशाओं को जीतने के लिए भेज दिया। अपनी अपनी नियत दिशाओं के राजाओं को—या उनकी वफादारी को—जीत कर वे युधिष्ठिर के लिए अथाह सम्पत्ति साथ में ले आये। किन्तु उन्होंने यह जानकारी दी कि जरासन्ध पराजित नहीं किया जा सका। जब युधिष्ठिर मन में यह विचार कर रहे थे कि जरासन्ध को किस तरह दमित किया जाय, तो श्रीकृष्ण ने उद्धव की सलाह का पालन करते हुए युधिष्ठिर से इसे पूरा करने के साधनों को प्रकट कर दिया।

तब भीम, अर्जुन तथा श्रीकृष्ण ने ब्राह्मणों का वेश बनाया और फिर जरासन्ध के महल में गये। जरासन्ध ब्राह्मणों का भक्त था। उन्होंने राजा जरासन्ध से अपना परिचय अपने को ब्राह्मण बतला कर दिया और उसके सत्कार की ख्याति की प्रशंसा की तथा अपनी इच्छा पूरी करने के लिए उससे याचना की। उनके अंगों पर धनुष की डोरी के निशान देखकर जरासन्ध समझ गया कि ये तीनों योद्धा हैं, ब्राह्मण नहीं, अत: भयभीत होते हुए भी उसने उनकी इच्छा पूरी करने का वचन दिया। तभी भगवान् कृष्ण ने अपना वेश उतार फेंका और जरासंध से द्वन्द्व युद्ध करने के लिए कहा। किन्तु जरासन्ध ने यह कहकर इनकार कर दिया कि तुम कायर हो क्योंकि एक बार युद्धभूमि से भाग चुके हो। जरासन्ध ने अर्जुन से भी इसलिए लड़ने से इनकार कर दिया, क्योंकि वह आयु तथा आकार में उससे निकृष्ट था। किन्तु भीम को उसने योग्य प्रतिद्वन्द्वी स्वीकार किया। इस प्रकार जरासन्ध ने भीम को एक गदा दी और स्वयं भी एक गदा ले ली और दोनों युद्ध करने के लिए नगर से बाहर चले गये।

जब कुछ समय तक युद्ध चलता रहा तो यह स्पष्ट हो गया कि दोनों ही विजय पाने के लिए समान रूप से बलशाली हैं। तब कृष्ण ने वृक्ष की एक छोटी टहनी को तोड़ कर दो खण्ड कर दिये और इस

तरह भीम को दिखला दिया कि जरासन्ध को वह कैसे मारे। भीम ने जरासन्ध को भूमि पर पटक दिया, उसके एक पाँव पर अपना पाँव रखा और दूसरे पाँव को अपने हाथों से पकड़ कर गुदा से लेकर सिर तक चीर डाला।

जरासन्ध को मरा हुआ देखकर उसके सम्बन्धी तथा उसकी प्रजा शोक से रोने-चिल्लाने लगीं। तब भगवान् कृष्ण ने जरासन्ध के पुत्र को मगध का राजा नियुक्त किया और उन राजाओं को मुक्त किया, जिन्हें जरासन्ध ने बन्दी बना रखा था।

श्रीशुक उवाच

एकदा तु सभामध्य आस्थितो मुनिभिर्वृतः ।
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैर्भ्रातृभिश्च युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
आचार्यैः कुलवृद्धैश्च ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ।
शृण्वतामेव चैतेषामाभाष्येदमुवाच ह ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एकदा—एक बार; तु—तथा; सभा—राजसभा के; मध्ये—बीच में; आस्थितः—आसीन; मुनिभिः—मुनियों द्वारा; वृतः—घिरे हुए; ब्राह्मणैः क्षत्रियैः वैश्यैः—ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों से; भ्रातृभिः—भाइयों से; च—तथा; युधिष्ठिरः—युधिष्ठिर; आचार्यैः—अपने गुरुओं से; कुल—परिवार के; वृद्धैः—बड़े-बूढ़ों से; च—भी; ज्ञाति—सगे; सम्बन्धि—सम्बन्धियों; बान्धवैः—तथा मित्रों से; शृण्वताम्—सुनते ही; एव—निस्सन्देह; च—तथा; एतेषाम्—सारे के सारे; आभाष्य—(कृष्ण को) सम्बोधित करके; इदम्—यह; उवाच ह—कहा।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : एक दिन जब राजा युधिष्ठिर राजसभा में प्रख्यात मुनियों, ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों तथा अपने भाइयों, गुरुओं, परिवार के बड़े-बूढ़ों, सगे-सम्बन्धियों ससुराल वालों तथा मित्रों से घिर कर बैठे हुए थे, तो उन्होंने भगवान् कृष्ण को सम्बोधित किया, जबकि दूसरे सभी व्यक्ति सुन रहे थे।

श्रीयुधिष्ठिर उवाच

क्रतुराजेन गोविन्द राजसूयेन पावनीः ।
यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत्सम्पादय नः प्रभो ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-युधिष्ठिरः उवाच—श्री युधिष्ठिर ने कहा; क्रतु—मुख्य अग्नि यज्ञों के; राजेन—राजा; गोविन्द—हे कृष्ण; राजसूयेन—राजसूय से; पावनीः—पवित्र करने वाला; यक्ष्ये—मैं पूजा करना चाहता हूँ; विभूतीः—ऐश्वर्यशाली अंशों द्वारा; भवतः—आपकी; तत्—उस; सम्पादय—कृपया करने की अनुमति दें; नः—हमें; प्रभो—हे स्वामी।

श्री युधिष्ठिर ने कहा : हे गोविन्द, मैं आपके शुभ ऐश्वर्यशाली अंशों की पूजा वैदिक उत्सवों के राजा, राजसूय यज्ञ द्वारा करना चाहता हूँ। हे प्रभु, हमारे इस प्रयास को सफल बनायें।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी कहते हैं कि *विभूतिभि:* शब्द भगवान् कृष्ण के अंशों (अंशान्) का द्योतक है और श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इससे भी आगे कहते हैं कि *विभूतिभि:* शब्द इस संसार के भीतर भगवान् कृष्ण के ऐश्वर्यवान् अंशों यथा देवताओं तथा शक्तिप्रदत्त जीवों का सूचक है। अत: श्रील प्रभुपाद ने *श्रीकृष्ण* में इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है ''प्रिय कृष्ण! राजसूय यज्ञ नाम वाला यज्ञ सम्राट द्वारा सम्पन्न किया जाता है और उसे समस्त यज्ञों का राजा कहा जाता है। इस यज्ञ को सम्पन्न करके मैं उन सारे देवताओं को तुष्ट करना चाहता हूँ, जो इस भौतिक जगत में आपके शक्तिप्रदत्त प्रतिनिधि हैं। मैं चाहूँगा कि आप कृपा करके इस महान् कार्य में मेरी सहायता करें, जिससे इसे सफलतापूर्वक सम्पन्न किया जा सके। जहाँ तक हम पाण्डवों का प्रश्न है, देवताओं से हमें कुछ भी नहीं माँगना है। हम आपके भक्त बनकर निजी रूप से सन्तुष्ट हैं। जैसाकि आपने *भगवद्गीता* में कहा है ''जो लोग भौतिक इच्छाओं से मोहग्रस्त हैं, वे ही देवताओं को पूजते हैं।'' किन्तु हमारा उद्देश्य भिन्न है। मैं यह राजसूय यज्ञ करना चाहता हूँ और देवताओं को आमंत्रित करके यह दिखलाना चाहता हूँ कि आपके बिना उनके पास स्वयं कोई शक्ति नहीं होती। वे सभी आपके दास हैं और आप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। अल्पज्ञान की कमी के कारण मूर्ख व्यक्ति आपको सामान्य मनुष्य मानते हैं। कभी वे आपमें दोष निकालने का प्रयत्न करते हैं, तो कभी वे आपको बदनाम करना चाहते हैं। अतएव मैं यह राजसूय यज्ञ सम्पन्न करना चाहता हूँ। मैं ब्रह्मा, शिव तथा स्वर्गलोक के सभी अन्य प्रमुख देवताओं को आमंत्रित करना चाहता हूँ। ब्रह्माण्ड के सारे भागों से आये देवताओं की उस महान् सभा में मैं यह प्रमाणित करना चाहता हूँ कि आप भगवान् हैं और प्रत्येक व्यक्ति आपका दास है।''

त्वत्पादुके अविरतं परि ये चरन्ति
ध्यायन्त्यभद्रनशने शुचयो गृणन्ति ।
विन्दन्ति ते कमलनाभ भवापवर्ग-
माशासते यदि त आशिष ईश नान्ये ॥ ॥

शब्दार्थ

त्वत्—तुम्हारे; पादुके—खड़ाऊँ को; अविरतम्—निरन्तर; परि—पूर्णतया; ये—जो; चरन्ति—सेवा करते हैं; ध्यायन्ति—ध्यान करते हैं; अभद्र—अशुभ वस्तुओं के; नशने—विनाश करने वाली; शुचय:—पवित्र; गृणन्ति—तथा शब्दों द्वारा वर्णन करते हैं; विन्दन्ति—प्राप्त करते हैं; ते—वे; कमल—कमल (सदृश); नाभ—हे कमलनाभ; भव—भौतिक जीवन का; अपवर्गम्—मोक्ष; आशासते—इच्छा लगाये रहते हैं; यदि—यदि; ते—वे; आशिष:—इच्छित वस्तुएँ प्राप्त करते हैं; ईश—हे प्रभु; न—नहीं; अन्ये—अन्य पुरुष।

हे कमलनाभ, वे पवित्र व्यक्ति जो निरन्तर आपकी उन पादुकाओं की सेवा करते हैं, ध्यान करते हैं और उनका यशोगान करते हैं, जो समस्त अशुभ वस्तुओं को विनष्ट करने वाली हैं, उन्हें निश्चित रूप से इस भौतिक संसार से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। यदि वे इस जगत में किसी वस्तु की आकांक्षा करते हैं, तो वे उसे प्राप्त करते हैं, किन्तु हे प्रभु, अन्य लोग, जो आपकी शरण ग्रहण नहीं करते, कभी भी तुष्ट नहीं होते।

तात्पर्य : इस संदर्भ में श्रील प्रभुपाद लिखते हैं कि मुक्त कृष्णभावनाभावित व्यक्ति ''न तो इस भौतिक जगत से मुक्त ही होना चाहते हैं, न भौतिक ऐश्वर्य का भोग करना चाहते हैं, उनकी इच्छाओं की पूर्ति कृष्णभावनाभावित कार्यों से हो जाती है। जहाँ तक हमारा (राजा युधिष्ठिर का) प्रश्न है, हम तो पूर्णतया आपके चरणकमलों में शरणागत हैं और आपकी कृपा से आपका साक्षात् दर्शन कर पाने के भाग्यशाली हैं। अत: स्वाभाविक है कि हमें भौतिक ऐश्वर्यों की कोई इच्छा नहीं है। वैदिक ज्ञान का निर्णय है कि आप भगवान् हैं। मैं इस तथ्य को स्थापित करना चाहता हूँ और मैं दुनिया को आपको भगवान् के रूप में तथा सामान्य शक्तिशाली ऐतिहासिक पुरुष के रूप में स्वीकार करने के अन्तर को दिखलाना चाहता हूँ। मैं दुनिया को यह दिखला देना चाहता हूँ कि आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण करने मात्र से जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त की जा सकती है, जिस तरह जड़ों को सींचकर पूरे वृक्ष की शाखाओं, पत्तियों तथा फूलों को तुष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार यदि कोई कृष्णभावनामृत को ग्रहण करता है, तो उसका जीवन भौतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण बन जाता है।''

इसी तरह से युधिष्ठिर के कथन की श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती, व्याख्या करते हैं: न तो हमें राजसूय यज्ञ करने की उतावली है, न ही इसमें हमारा कोई स्वार्थ निहित है, क्योंकि हम आपके चरणकमलों का दर्शन तो पा ही रहे हैं और आपकी असीम कृपा से हमें आपका सान्निध्य भी प्राप्त है। किन्तु इस संसार में कुछ ऐसे लोग भी हैं, जिनके हृदय दूषित हैं, अत: वे लोग सोचते हैं कि आप भगवान् न होकर सामान्य व्यक्ति हैं। या फिर वे आपमें दोष निकालते हैं और आपकी आलोचना तक कर डालते हैं। यह तीर हमारे हृदयों में बेध रहा है।

अतएव अपने हृदयों से इस तीर को निकालने के लिए हमें इस स्थान पर—राजसूय के बहाने—ब्रह्मा, रुद्र तथा अन्य चतुर ब्रह्मचारियों एवं देवताओं को बुलाना चाहिए, जो चौदहों लोकों में निवास

करते हैं। जब ऐसी उच्च श्रेणी की भीड़ एकत्र हो जायेगी, तो परमावश्यक हो जायेगा कि सबसे पहले *अग्रपूजा* के लिए व्यवस्था की जाय। और जब उन्हें यह प्रत्यक्ष दिखला दिया जायेगा कि आप, अर्थात् कृष्ण ही पूर्णपुरुषोत्तम भगवान् हैं, तो हमारे हृदयों को बेधने वाला तीर निकल जायेगा।''

तद्देवदेव भवतश्चरणारविन्द-
सेवानुभावमिह पश्यतु लोक एषः ।
ये त्वां भजन्ति न भजन्त्युत वोभयेषां
निष्ठां प्रदर्शय विभो कुरुसृञ्जयानाम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; देव-देव—हे स्वामियों के स्वामी; भवतः—आपके; चरण-अरविन्द—चरणकमलों की; सेवा—सेवा की; अनुभावम्—शक्ति; इह—इस संसार में; पश्यतु—वे देख सकें; लोकः—जनता; एषः—यह; ये—जो; त्वाम्—तुमको; भजन्ति—पूजते हैं; न भजन्ति—पूजा नहीं करते; उत वा—अथवा अन्य कुछ; उभयेषाम्—दोनों की; निष्ठाम्—पद को; प्रदर्शय—दिखलाइये; विभो—हे सर्वशक्तिमान; कुरु-सृञ्जयानाम्—कुरुओं तथा सृञ्जयों के।

अतएव हे देव-देव, इस संसार के लोग देख लें कि आपके चरणकमलों में की गई भक्ति की शक्ति कितनी है। हे सर्वशक्तिमान, आप उन्हें उन कुरुओं तथा सृञ्जयों की शक्ति दिखला दें, जो आपकी पूजा करते हैं और उनकी भी स्थिति दिखला दें, जो पूजा नहीं करते।

तात्पर्य : यहाँ पर हमें प्रचारक का हृदय स्पष्ट दिखता है। महान् भक्त युधिष्ठिर महाराज भगवान् कृष्ण से याचना करते हैं कि वे अपनी पूजा करने तथा पूजा न करने का फल स्पष्ट दिखला दें। यदि संसार के लोग इसे समझ सकते, तो वे पहचानने लगते कि कृष्ण ही परमेश्वर हैं और हर व्यक्ति का स्वार्थ इसी में निहित है कि उनकी शरण में जाये। जैसाकि महाजनों ने पुष्टि की है, युधिष्ठिर महाराज शुद्ध भगवद्भक्त हैं, अतः राजा के रूप में कर्तव्य निर्वाह करने के पीछे असली मन्तव्य भगवान् कृष्ण की श्रेष्ठता स्थापित करना था। यही है असली सार पाण्डवों के कार्यों का जिन्हें *श्रीमद्भागवत* तथा *महाभारत* दोनों में वर्णित किया गया है।

न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तव स्यात्
सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेः ।
संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ब्रह्मणः—ब्रह्म का; स्व—अपना; पर—तथा पराया; भेद—भेदभाव, भेद; मतिः—प्रवृत्ति; तव—तुम्हारी; स्यात्—शायद हो; सर्व—सारी वस्तुओं के; आत्मनः—आत्मा के; सम—समान; दृशः—जिसका दर्शन; स्व—अपने भीतर; सुख—सुख का; अनुभूतेः—अनुभूति की; संसेवताम्—उचित रीति से पूजा करने वालों के लिए; सुर-तरोः—कल्पवृक्ष के; इव—मानो; ते—तुम्हारी; प्रसादः—कृपा; सेवा—सेवा के साथ; अनुरूपम्—अनुरूप; उदयः—इच्छित फल; न—नहीं; विपर्ययः—उलटा; अत्र—इसमें।

आपके मन के भीतर ''यह मेरा है और वह दूसरे का है'' इस प्रकार का भेदभाव नहीं हो सकता, क्योंकि आप परम सत्य हैं, समस्त जीवों के आत्मा, सदैव समभाव रखने वाले और अपने अन्तर में दिव्य आनन्द का भोग करने वाले हैं। आप कल्पवृक्ष की तरह अपने उचित रूप से हर पूजने वाले को आशीर्वाद देते हैं और उनके द्वारा की गई सेवा के अनुपात में उन्हें इच्छित फल देते हैं। इसमें कोई भी दोष नहीं है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि कल्पवृक्ष में न तो कोई भौतिक अनुरक्ति रहती है, न पक्षपात। वह तो एकमात्र पात्रों को अपना फल प्रदान करता है, अन्यों को नहीं। जीव गोस्वामी प्रभुपाद कहते हैं कि कल्पवृक्ष को यह सोचना नहीं पड़ता कि ''यह पुरुष मेरी पूजा करने योग्य है और वह व्यक्ति नहीं है।'' प्रत्युत कल्पवृक्ष उन सबों से प्रसन्न रहता है, जो ठीक से उसकी सेवा करते हैं और भगवान् भी इसी तरह कार्य करते हैं, जैसाकि राजा युधिष्ठिर ने यहाँ बतलाया है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती आगे कहते हैं कि किसी को भगवान् कृष्ण पर यह दोषारोपण नहीं करना चाहिए कि वे एक व्यक्ति से ईर्ष्या करते हैं और दूसरे के साथ पक्षपात करते हैं। चूँकि भगवान् *स्व-सुखानुभूति* हैं अर्थात् वे अपने भीतर अपना सुख का अनुभव करने वाले हैं, अतएव बद्धजीवों से उन्हें कुछ भी लेना-देना नहीं रहता। प्रत्युत वे उसी तरह प्रतिदान करते हैं, जिस तरह वे उनके पास जाते हैं। श्रील प्रभुपाद ने इसी बात को राजा युधिष्ठिर के कथन की व्याख्या करते हुए बहुत ही सुन्दर ढंग से बतलाया है—''यदि कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत को ग्रहण कर ले, तो उसका जीवन भौतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि आप कृष्ण-भक्त का पक्षपात करते हैं तथा अभक्त के प्रति उदासीन रहते हैं। आप तो सबों के लिए एक से हैं। यह आपकी घोषणा है। आप एक व्यक्ति का पक्षपात करके दूसरों से अनासक्त नहीं हो सकते, क्योंकि आप परमात्मा रूप में सबों में विद्यमान हैं और हर व्यक्ति को उसके सकाम कर्मों का फल देते हैं। आप हर जीवात्मा को इच्छानुसार इस भौतिक जगत का भोग करने का अवसर प्रदान करते हैं। परमात्मा होने से आप जीवात्मा के साथ शरीर में विद्यमान हैं और जीवात्मा को उसके किये हुए कर्म का फल देते हैं। साथ

ही कृष्णभावनामृत को विकसित करके आप भक्तिमयी सेवा करने का सुअवसर भी प्रदान करते हैं। आप यह स्पष्ट घोषणा करते हैं कि अन्य सारे धर्मों को त्याग कर मेरी शरण में आओ। आप यह भी घोषित करते हैं कि आप सभी पापकर्मों के फलों से उसे मुक्त करके उसे संभाल लेंगे। आप स्वर्ग के कल्पवृक्ष की भाँति हैं, जो हर एक को इच्छाफल देता है। हर व्यक्ति सर्वोच्च सिद्धि पाने के लिए स्वतंत्र है, किन्तु यदि कोई ऐसी इच्छा नहीं करता, तो आपके द्वारा उसे कम वर दिया जाना पक्षपातवश नहीं होता।''

श्रीभगवानुवाच
सम्यग्व्यवसितं राजन्भवता शत्रुकर्शन ।
कल्याणी येन ते कीर्तिर्लोकाननुभविष्यति ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; सम्यक्—पूरी तरह से; व्यवसितम्—संकल्प किया हुआ; राजन्—हे राजन्; भवता—आपके द्वारा; शत्रु—शत्रुओं को; कर्शन—हे सताने वाले; कल्याणी—शुभ; येन—जिससे; ते—तुम्हारी; कीर्तिः—ख्याति; लोकान्—सारे लोकों को; अनुभविष्यति—देखेगी।

भगवान् ने कहा : हे राजन्, तुम्हारा निर्णय सही है, अतएव हे शत्रुकर्शन, तुम्हारी कल्याणकारी ख्याति सभी लोकों में फैलेगी।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् कृष्ण राजा युधिष्ठिर के इस निर्णय पर सहमति देते हैं कि राजसूय यज्ञ सम्पन्न किया जाय। भगवान् इस कथन से भी सहमत हैं कि इस तथ्य में कुछ भी अनुचित नहीं है कि जो उनकी पूजा करते हैं उन्हें एक तरह का फल मिलता है और जो ऐसा नहीं करते उन्हें दूसरी तरह का फल मिलता है। *भागवत* के महान् टीकाकार इंगित करते हैं कि युधिष्ठिर को *शत्रुकर्शन* के नाम से सम्बोधित करके भगवान् कृष्ण उन्हें समस्त शत्रु-राजाओं को जीतने की शक्ति प्रदान कर रहे हैं। इस प्रकार कृष्ण ने भविष्यवाणी की कि युधिष्ठिर की सुख्याति लोकों में फैलेगी और सचमुच वैसा ही हुआ।

ऋषीणां पितृदेवानां सुहृदामपि नः प्रभो ।
सर्वेषामपि भूतानामीप्सितः क्रतुराडयम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

ऋषीणाम्—ऋषियों के लिए; पितृ—मृत पूर्वज; देवानाम्—तथा देवताओं के लिए; सुहृदाम्—मित्रों के लिए; अपि—भी; नः—हमारा; प्रभोः—हे प्रभु; सर्वेषाम्—सबों के लिए; अपि—भी; भूतानाम्—जीवों के लिए; ईप्सितः—वांछनीय, अभीष्ट; क्रतु—प्रमुख वैदिक यज्ञों के; राट्—राजा; अयम्—इस।

हे प्रभु, निस्सन्देह महर्षियों, पितरों तथा देवताओं के लिए, हमारे शुभचिन्तक मित्रों के लिए और दरअसल सारे जीवों के लिए इस वैदिक यज्ञों के राजा का सम्पन्न होना वांछनीय है।

विजित्य नृपतीन्सर्वान्कृत्वा च जगतीं वशे ।
सम्भृत्य सर्वसम्भारानाहरस्व महाक्रतुम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

विजित्य—जीत कर; नृ-पतीन्—राजाओं को; सर्वान्—समस्त; कृत्वा—करके; च—तथा; जगतीम्—पृथ्वी को; वशे—अपने वश में; सम्भृत्य—एकत्र करके; सर्व—सारी; सम्भारान्—सामग्री; आहरस्व—सम्पन्न करो; महा—महान्; क्रतुम्—यज्ञ को।

सबसे पहले सारे राजाओं को जीतो, पृथ्वी को अपने अधीन करो और आवश्यक साज-सामग्री एकत्र करो, तब इस महान् यज्ञ को सम्पन्न करो।

एते ते भ्रातरो राजँल्लोकपालांशसम्भवाः ।
जितोऽस्म्यात्मवता तेऽहं दुर्जयो योऽकृतात्मभिः ॥ ॥

शब्दार्थ

एते—ये; ते—तुम्हारे; भ्रातरः—भाई; राजन्—हे राजन्; लोक—लोकों पर; पाल—शासन करने वाले देवताओं से; अंश—अंशरूप; सम्भवाः—उत्पन्न; जितः—जीता हुआ; अस्मि—हूँ; आत्म-वता—आत्मसंयमी; ते—तुम्हारे द्वारा; अहम्—मैं; दुर्जयः—न जीता जा सकने वाला; यः—जो; अकृत-आत्मभिः—जो आत्मसंयमी नहीं है, उनके द्वारा।

हे राजन्, तुम्हारे इन भाइयों ने विभिन्न लोकपालों के अंशों के रूप में जन्म लिया है। और तुम तो इतने आत्मसंयमी हो कि तुमने मुझे भी जीत लिया है, जबकि मैं उन लोगों के लिए दुर्जय हूँ, जिनकी इन्द्रियाँ उनके वश में नहीं हैं।

तात्पर्य : *श्रीकृष्ण* में श्रील प्रभुपाद ने लिखा है, ''कहा जाता है कि भीम वायुदेव से उत्पन्न थे और अर्जुन इन्द्रदेव से जबकि स्वयं युधिष्ठिर यमराज से उत्पन्न थे। श्रील प्रभुपाद आगे लिखते हैं कि भगवान् कृष्ण ने राजा युधिष्ठिर से कहा कि वे उस व्यक्ति के प्रेम द्वारा जीत लिये जाते हैं, जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया हो। जिसने अपनी इन्द्रियों को नहीं जीता है, वह भगवान् को नहीं जीत सकता। भक्ति का यह रहस्य है। इन्द्रियों को जीतने का अर्थ है, उन्हें निरन्तर भगवान् की सेवा में लगाना। सभी पाण्डवों का विशेष गुण यह था कि वे सदैव अपनी इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाये रखते थे। जो व्यक्ति इस तरह अपनी इन्द्रियों को लगाता है, वह शुद्ध हो जाता है और शुद्ध

इन्द्रियों से मनुष्य वास्तव में भगवान् की सेवा कर सकता है। इस तरह भगवान् दिव्य प्रेमाभक्ति के माध्यम से भक्त द्वारा जीते जा सकते हैं।''

न कश्चिन्मत्परं लोके तेजसा यशसा श्रिया ।
विभूतिभिर्वाभिभवेद्देवोऽपि किमु पार्थिवः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; कश्चित्—कोई व्यक्ति; मत्—मेरे प्रति; परम्—समर्पित; लोके—इस जगत में; तेजसा—अपनी शक्ति से; यशसा—यश से; श्रिया—सौन्दर्य से; विभूतिभिः—ऐश्वर्य से; वा—अथवा; अभिभवेत्—जीत सकता है; देवः—देवता; अपि—भी; किम् उ—क्या कहा जाय; पार्थिवः—पृथ्वी का शासक।

इस जगत में मेरे भक्त को देवता भी अपने बल, सौन्दर्य, यश या सम्पत्ति से नहीं हरा सकते, पृथ्वी के शासक की तो बात ही क्या?

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् कृष्ण राजा युधिष्ठिर को आश्वस्त करते हैं कि संसारी राजाओं को जीतना कोई समस्या नहीं है, क्योंकि वह स्वयं शुद्ध भक्त है और भगवान् का शुद्ध भक्त देवताओं तक से नहीं जीता जा सकता। यद्यपि भौतिकतावादी लोगों को अपनी शक्ति, यश, सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य का गर्व रहता है, किन्तु वे कभी भी इनमें से किसी दिशा में भगवान् के शुद्ध भक्त से आगे नहीं निकल सकते।

श्रीशुक उवाच
निशम्य भगवद्गीतं प्रीतः फुल्लमुखाम्बुजः ।
भ्रातृन्दिग्विजयेऽयुङ्क्त विष्णुतेजोपबृंहितान् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुक ने कहा; निशम्य—सुनकर; भगवत्—भगवान् के; गीतम्—गीत; प्रीतः—प्रसन्न; फुल्ल—खिला हुआ; मुख—उसका मुँह; अम्बुजः—कमल जैसा; भ्रातृन्—उसके भाइयों को; दिक्—सारी दिशाओं की; विजये—विजय में; अयुङ्क्त—व्यस्त; विष्णु—भगवान् विष्णु के; तेजः—तेज से; उपबृंहितान्—प्रबलित, पुष्ट।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् द्वारा इन शब्दों रूपी गायन को सुनकर युधिष्ठिर हर्षित हो उठे और उनका मुख कमल सदृश खिल गया। इस तरह उन्होंने अपने भाइयों को, जो भगवान् विष्णु की शक्ति से समन्वित थे, सभी दिशाओं पर विजय के लिए भेज दिया।

सहदेवं दक्षिणस्यामादिशत्सह सृञ्जयैः ।
दिशि प्रतीच्यां नकुलमुदीच्यां सव्यसाचिनम् ।

प्राच्यां वृकोदरं मत्स्यैः केकयैः सह मद्रकैः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सहदेवम्—सहदेव को; दक्षिणस्याम्—दक्षिण की ओर; आदिशत्—आज्ञा दी; सह—साथ; सृञ्जयैः—सृञ्जय जाति के योद्धाओं के; दिशि—दिशा की ओर; प्रतीच्याम्—पश्चिमी; नकुलम्—नकुल को; उदीच्याम्—उत्तर की ओर; सव्यसाचिनम्—अर्जुन को; प्राच्याम्—पूर्व की ओर; वृकोदरम्—भीम को; मत्स्यैः—मत्स्यों; केकयैः—केकयों के; सह—साथ; मद्रकैः—तथा मद्रकों के साथ।

उन्होंने सहदेव को सृञ्जयों के साथ दक्षिण, नकुल को मत्स्यों के साथ पश्चिम, अर्जुन को केकयों के साथ उत्तर तथा भीम को मद्रकों के साथ पूर्व दिशा में भेज दिया।

ते विजित्य नृपान्वीरा आजह्रुर्दिग्भ्य ओजसा ।
अजातशत्रवे भूरि द्रविणं नृप यक्ष्यते ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; विजित्य—हराकर; नृपान्—राजाओं को; वीराः—वीर; आजह्रुः—ले आये; दिग्भ्यः—विभिन्न दिशाओं से; ओजसा—अपनी शक्ति से; अजात-शत्रवे—युधिष्ठिर महाराज के लिए; भूरि—प्रचुर; द्रविणम्—धन; नृप—हे राजा (परीक्षित); यक्ष्यते—यज्ञ करने का इच्छुक।

हे राजन्, अपने बल से अनेक राजाओं को हराकर ये वीर भाई यज्ञ करने के इच्छुक युधिष्ठिर महाराज के लिए प्रचुर धन लेते आये।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ‘‘यह ध्यान देने की बात है कि अपने कनिष्ठ भाइयों को विभिन्न दिशाओं में विजय प्राप्त करने के लिए भेजने में महाराज युधिष्ठिर का वास्तविक उद्देश्य यह नहीं था कि वे राजाओं पर हमला बोल दें। वास्तव में, उनके भाई विभिन्न दिशाओं में राजाओं को महाराज युधिष्ठिर द्वारा राजसूय यज्ञ सम्पन्न करने के विचार का समाचार देने गये। राजाओं को इस तरह यह सूचित किया गया कि यज्ञ को पूरा करने के लिए उन्हें कर (टैक्स) देना होगा। राजा युधिष्ठिर को कर देने का अर्थ होता था कि उस राजा ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली है। इस प्रकार के कार्य को जब कोई राजा अस्वीकार कर देता तो ऐसी स्थिति में युद्ध अवश्यम्भावी हो जाता। अत: उनकी शक्ति एवं प्रभाव के द्वारा उनके भाइयों ने विभिन्न दिशाओं में राजाओं को पराजित किया और पर्याप्त कर एवं उपहार एकत्र कर लिये। इन्हें राजा युधिष्ठिर के समक्ष उनके भाइयों ने लाकर प्रस्तुत किया।’’

श्रुत्वाजितं जरासन्धं नृपतेर्ध्यायतो हरिः ।
आहोपायं तमेवाद्य उद्धवो यमुवाच ह ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर; अजितम्—बिना जीता हुआ; जरासन्धम्—जरासन्ध को; नृपतेः—राजा के; ध्यायतः—मनन करते समय; हरिः—भगवान् हरि ने; आह—बतलाया; उपायम्—उपाय; तम्—उसको; एव—निस्सन्देह; आद्यः—आदि पुरुष; उद्धवः—उद्धव ने; यम्—जिसको; उवाच ह—कहा था।

जब राजा युधिष्ठिर ने सुना कि जरासन्ध पराजित नहीं किया जा सका तो वे सोच-विचार में पड़ गये और तब आदि भगवान् हरि ने उन्हें वह उपाय बताया, जिसे उद्धव ने जरासन्ध को हराने के लिए कह सुनाया था।

भीमसेनोऽर्जुनः कृष्णो ब्रह्मलिन्गधरास्त्रयः ।
जग्मुर्गिरिव्रजं तात बृहद्रथसुतो यतः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

भीमसेनः अर्जुनः कृष्णः—भीमसेन, अर्जुन तथा कृष्ण; ब्रह्म—ब्राह्मणों के; लिङ्ग—वेश; धराः—धारण करके; त्रयः—तीनों; जग्मुः—गये; गिरिव्रजम्—गिरिव्रज के किले वाले नगर में; तात—हे प्रिय (परीक्षित); बृहद्रथ-सुतः—बृहद्रथ का पुत्र (जरासन्ध); यतः—जिधर।

इस तरह भीमसेन, अर्जुन तथा कृष्ण ने ब्राह्मणों का वेश बनाया और हे राजा, वे गिरिव्रज गये जहाँ बृहद्रथ का पुत्र था।

ते गत्वातिथ्यवेलायां गृहेषु गृहमेधिनम् ।
ब्रह्मण्यं समयाचेरन्राजन्या ब्रह्मलिङ्गिनः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; गत्वा—जाकर; आतिथ्य—अतिथियों के स्वागतार्थ; वेलायाम्—निश्चित समय पर; गृहेषु—उसके आवास स्थान में; गृह-मेधिनम्—धार्मिक गृहस्थों से; ब्रह्मण्यम्—ब्राह्मणों के प्रति आदर से पूर्ण; समयाचेरन्—याचना की; राजन्याः—राजागण; ब्रह्म-लिङ्गिनः—ब्राह्मणों के चिह्नों से युक्त होकर।

ब्राह्मणों का वेश धारण करके ये राजवंशी योद्धा जरासन्ध के घर, अतिथियों का स्वागत करने के लिए निश्चित समय पर, पहुँचे। उन्होंने उस कर्तव्यनिष्ठ गृहस्थ के समक्ष याचना की, क्योंकि वह ब्राह्मण वर्ग का विशेष रूप से आदर करता था।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ‘‘जरासन्ध एक कर्तव्यपरायण गृहस्थ था और वह ब्राह्मणों का अत्यधिक आदर करता था। वह एक महान् योद्धा, क्षत्रिय राजा था किन्तु वह वैदिक आदेशों की कभी भी उपेक्षा नहीं करता था। ब्राह्मणों को वैदिक आदेशों के अनुसार अन्य सारी जातियों का आध्यात्मिक गुरु माना जाता है। श्रीकृष्ण, अर्जुन एवं भीमसेन वास्तव में क्षत्रिय थे परन्तु उन्होंने ब्राह्मण का वेश बना रखा था। जिस समय जरासन्ध ब्राह्मणों को दान दिया करता था और अतिथियों के रूप में उनका स्वागत किया करता था, उसी समय ये तीनों उसके पास पहुँचे।’’

राजन्विद्ध्यतिथीन्प्राप्तानर्थिनो दूरमागतान् ।
तन्नः प्रयच्छ भद्रं ते यद्वयं कामयामहे ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

राजन्—हे राजन्; विद्धि—कृपया जानो; अतिथीन्—अतिथियों को; प्राप्तान्—आया हुआ; अर्थिनः—पाने के इच्छुक; दूरम्—दूर से; आगतान्—आये हुए; तत्—वह; नः—हमको; प्रयच्छ—दो; भद्रम्—शुभ, मंगल; ते—तुम से; यत्—जो भी; वयम्—हम; कामयामहे—इच्छा कर रहे हैं।

[कृष्ण, अर्जुन तथा भीम ने कहा] हे राजा, आप हमें दीन अतिथि जानें, जो आपके पास बहुत दूर से आये हैं। हम आपका कल्याण चाहते हैं। हम जो भी चाहें, कृपया उसे हमें दें।

किं दुर्मर्षं तितिक्षूणां किमकार्यमसाधुभिः ।
किं न देयं वदान्यानां कः परः समदर्शिनाम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; दुर्मर्षम्—असह्य; तितिक्षूणाम्—सहनशील के लिए; किम्—क्या; अकार्यम्—करना असम्भव; असाधुभिः—असाधु के लिए; किम्—क्या; न देयम्—दे पाना असम्भव; वदान्यानाम्—उदार के लिए; कः—कौन; परः—पृथक्; सम—समान; दर्शिनाम्—दृष्टि वालों को।

सहनशील व्यक्ति क्या नहीं सह सकता? दुष्ट क्या नहीं करेगा? उदार व्यक्ति दान में क्या नहीं दे देगा? और समदृष्टि वाले के लिए बाहरी कौन है?

तात्पर्य : पिछले श्लोक में भगवान् कृष्ण तथा दोनों पाण्डव-भाइयों, भीम और अर्जुन ने जरासन्ध से अनुरोध किया कि वे जो कुछ माँगें उन्हें दिया जाय। यहाँ पर वे बतलाते हैं कि उन्हें अपनी इच्छा को स्पष्ट करने की आवश्यकता क्यों नहीं है।

आचार्यों ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है—जरासन्ध ने सोचा होगा, "चाहो तो मेरा पुत्र माँगो, जिससे बिछुड़ना असह्य होगा।"

इस संभव आपत्ति पर कृष्ण तथा पाण्डवों का उत्तर होगा—"सहनशील व्यक्ति के लिए कुछ भी असह्य नहीं है।"

इसी प्रकार जरासन्ध आपत्ति कर सकता था, "इससे क्या! यदि तुम मुझसे मेरा शरीर या मेरे बहुमूल्य मणि तथा अन्य आभूषण देने को कहो जो मेरे पुत्रों के लिए हैं, सामान्य भिक्षुओं के लिए नहीं?"

इस पर वे बोले होंगे, "जो उदार है, वह दान में क्या नहीं दे डालता!" दूसरे शब्दों में हर वस्तु

देय है।

जरासन्ध को यह भी आपत्ति हो सकती है कि वह अपने शत्रुओं को दान क्यों दे। इस पर उसके अतिथियों ने प्रत्युत्तर में कहा होगा *कः परः समदर्शिनः* जो समदर्शी हैं, उसके लिए पराया कौन है?

इस तरह श्रीकृष्ण तथा पाण्डवों ने जरासन्ध को प्रोत्साहित किया, जिससे बिना और अधिक वादविवाद के, वह उनकी प्रार्थना मान ले।

योऽनित्येन शरीरेण सतां गेयं यशो ध्रुवम् ।
नाचिनोति स्वयं कल्पः स वाच्यः शोच्य एव सः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यः—जो; अनित्येन—क्षणिक; शरीरेण—भौतिक शरीर से; सताम्—सन्तों द्वारा; गेयम्—गायन के लिए; यशः—यश; ध्रुवम्—स्थायी; न आचिनोति—अर्जित नहीं करता; स्वयम्—स्वयं; कल्पः—सक्षम; सः—वह; वाच्यः—निन्दनीय; शोच्यः—शोचनीय; एव—निस्सन्देह; सः—वह।

वह निस्सन्देह निन्दनीय तथा दयनीय है, जो अपने क्षणिक शरीर से महान् सन्तों द्वारा गाई गई चिर ख्याति को प्राप्त करने में असफल रहता है, यद्यपि वह ऐसा करने में सक्षम होता है।

हरिश्चन्द्रो रन्तिदेव उञ्छवृत्तिः शिबिर्बलिः ।
व्याधः कपोतो बहवो ह्यध्रुवेण ध्रुवं गताः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

हरिश्चन्द्रः रन्तिदेवः—हरिश्चन्द्र तथा रन्तिदेव; उञ्छ-वृत्तिः—फसल के गिरे दानों को बीन कर जीविका चलाने वाला, मुद्गल; शिबिः बलिः—शिबि तथा बलि; व्याधः—शिकारी; कपोतः—कबूतर; बहवः—अनेक; हि—निस्सन्देह; अध्रुवेण—क्षणिक द्वारा; ध्रुवम्—स्थायी तक; गताः—गये हुए।

हरिश्चन्द्र, रन्तिदेव, उञ्छवृत्ति मुद्गल, शिबि, बलि, पौराणिक शिकारी तथा कबूतर एवं अन्य अनेकों ने क्षणभंगुर के द्वारा अविनाशी को प्राप्त किया है।

तात्पर्य : यहाँ पर श्रीकृष्ण तथा दोनों पाण्डव जरासन्ध को संकेत कर रहे हैं कि मनुष्य नाशवान् भौतिक शरीर का उपयोग जीवन की अविनश्वर दशा प्राप्त करने के लिए कर सकता है। चूँकि जरासन्ध भौतिकतावादी था, इसलिए उन्होंने उसे स्वर्ग का लोभ दिलाया जहाँ जीवन इतने दीर्घ समय तक चलता रहता है कि पृथ्वीवासियों को वह अविनश्वर प्रतीत होता है।

श्रील श्रीधर स्वामी ने इस श्लोक में उल्लिखित महापुरुषों के इतिहास का सारांश दिया है "विश्वामित्र का ऋण चुकाने के लिए हरिश्चन्द ने अपनी स्त्री तथा पुत्रों समेत सभी कुछ बेच दिया। वे

चाण्डाल पद प्राप्त करके भी हतोत्साहित नहीं हुए। इस तरह वे अयोध्या के समस्त वासियों सहित स्वर्गलोक गये। रन्तिदेव ने ८ दिनों तक प्यासे र हने के बाद किसी तरह कुछ भोजन तथा जल प्राप्त किया, किन्तु तभी कुछ भिक्षुक आ गये, तो उन्होंने उन्हें सब दे दिया। इस तरह वे ब्रह्मलोक गये। मुद्गल फसल कटने के बाद खेतों से गिरा हुआ अन्न बीना करते थे फिर भी वे बिना आमंत्रण सहसा आए अतिथियों की अत्यधिक आवभगत करते थे, यद्यपि उनका परिवार छह मास से निर्धनता से जूझ रहा था। इस तरह वे भी ब्रह्मलोक गये।

शरण में आये कबूतर (कपोत) की रक्षा करने के लिए राजा शिबि ने बाज को अपना मांस देकर स्वर्ग-प्राप्ति की। बलि महाराज ने भगवान् हरि को अपना सर्वस्व दान में दे दिया, जब भगवान् ने बौने ब्राह्मण (वामनदेव) का वेश बना लिया था। इस तरह बलि को भगवान् का सान्निध्य प्राप्त हो सका। कबूतर तथा उसकी संगिनी ने बहेलिये को अपना मांस आतिथ्य प्रदर्शित करने के लिए दे दिया। इस तरह उन्हें विमान द्वारा स्वर्ग ले जाया गया। जब बहेलिये ने उनकी सात्विक दशा समझी, तो वह भी विरक्त हो गया। उसने इस तरह शिकार करना छोड़ दिया और वह तपस्या करने चला गया। चूँकि वह सारे पापों से मुक्त हो चुका था, अत: जब जंगल की आग में उसका शरीर जल गया, तो वह स्वर्गलोक चला गया। इस तरह अनेक पुरुषों ने नाशवान् भौतिक शरीर के द्वारा ही उच्च लोकों में चिरस्थायी जीवन प्राप्त किया।''

श्रीशुक उवाच

स्वैराकृतिभिस्तांस्तु प्रकोष्ठैर्ज्याहतैरपि ।
राजन्यबन्धून्विज्ञाय दृष्टपूर्वानचिन्तयत् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; स्वरै:—उनके स्वरों से; आकृतिभि:—शारीरिक डीलडौल से; तान्—उनको; तु—फिर भी; प्रकोष्ठै:—उनकी कलाइयों को (देख) कर; ज्या—धनुष की डोरियों से; हतै:—चिन्हित; अपि—भी; राजन्य—राजसी; बन्धून्—पारिवारिक सदस्यों के रूप में; विज्ञाय—पहचान कर; दृष्ट—देखा हुआ; पूर्वान्—इससे पहले से; अचिन्तयत्—उसने विचार किया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : उनकी आवाज, उनके शारीरिक डीलडौल तथा उनकी कलाइयों पर धनुष की डोरियों से बने चिन्हों से जरासन्ध यह जान गया कि उसके अतिथि राजन्य हैं। वह सोचने लगा कि इसके पूर्व मैंने उन्हें कहीं न कहीं देखा है।

तात्पर्य : आचार्यगण इंगित करते हैं कि जरासन्ध द्रौपदी स्वयंवर में कृष्ण, भीमसेन तथा अर्जुन

को देख चुका था। चूँकि वे ब्राह्मण का वेश बनाकर भीख माँगने आये थे, अत: जरासन्ध ने सोचा कि ये निम्नवर्ग के क्षत्रिय हैं, जैसाकि *राजन्य-बन्धून्* शब्द से सूचित होता है।

राजन्यबन्धवो ह्येते ब्रह्मलिङ्गानि बिभ्रति ।
ददानि भिक्षितं तेभ्य आत्मानमपि दुस्त्यजम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

राजन्य-बन्धवः—क्षत्रियों के सम्बन्धी; हि—निस्सन्देह; एते—ये; ब्रह्म—ब्राह्मणों के; लिङ्गानि—चिह्न; बिभ्रति—धारण करने वाले हैं; ददानि—मुझे देना चाहिए; भिक्षितम्—माँगा हुआ; तेभ्यः—उनको; आत्मानम्—अपना शरीर; अपि—भी; दुस्त्यजम्—जिसे छोड़ पाना असम्भव है।

[जरासन्ध ने सोचा] : ये निश्चित रूप से क्षत्रिय कुल के सदस्य हैं, जिन्होंने ब्राह्मणों का वेश बना रखा है, फिर भी मुझे इनको दान देना चाहिए भले ही वे मुझसे छोड़ने में दुष्कर मेरा शरीर ही क्यों न माँग लें।

तात्पर्य : यहाँ पर जरासन्ध दान के प्रति अपनी प्रबल प्रतिबद्धता प्रकट करता है, विशेष कर जब ब्राह्मण माँग रहे हों।

बलेर्नु श्रूयते कीर्तिर्वितता दिक्ष्वकल्मषा ।
ऐश्वर्याद्भ्रंशितस्यापि विप्रव्याजेन विष्णुना ॥ २ ॥
श्रियं जिहीर्षतेन्द्रस्य विष्णवे द्विजरूपिणे ।
जानन्नपि महीम्प्रादाद्वार्यमाणोऽपि दैत्यराट् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

बलेः—बलि की; नु—नहीं; श्रूयते—सुनी जाती है; कीर्तिः—कीर्ति, ख्याति; वितता—विस्तीर्ण; दिक्षु—सभी दिशाओं में; अकल्मषा—निष्कलंक; ऐश्वर्यात्—उसके प्रबल पद से; भ्रंशितस्य—गिराये गये; अपि—भी; विप्र—ब्राह्मण के; व्याजेन—वेश में; विष्णुना—विष्णु द्वारा; श्रीयम्—ऐश्वर्य; जिहीर्षता—लेने की इच्छा से; इन्द्रस्य—इन्द्र का; विष्णवे—विष्णु के; द्विज-रूपिणे—ब्राह्मण के रूप में प्रकट होकर; जानन्—जानते हुए; अपि—यद्यपि; महीम्—सारी पृथ्वी; प्रादात्—दे दिया; वार्यमाणः—मना किये जाने पर; अपि—भी; दैत्य—असुरों के; राट्—राजा ने।

निस्सन्देह, बलि महाराज की निष्कलंक ख्याति विश्व-भर में सुनाई पड़ती है। भगवान् विष्णु, बलि से इन्द्र का ऐश्वर्य वापस लेने की इच्छा से, उसके समक्ष ब्राह्मण के वेश में प्रकट हुए और उसके शक्तिशाली पद से उसे नीचे गिरा दिया। यद्यपि दैत्यराज बलि इस छल से परिचित थे और अपने गुरु द्वारा मना भी किये गये थे, तो भी उन्होंने विष्णु को दान में सारी पृथ्वी दे दी।

जीवता ब्राह्मणार्थाय को न्वर्थः क्षत्रबन्धुना ।
देहेन पतमानेन नेहता विपुलं यशः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

जीवता—जीवित रहने वाला; ब्राह्मण-अर्थाय—ब्राह्मणों के लाभार्थ; कः—कौन; नु—तनिक भी; अर्थः—लाभ; क्षत्र-बन्धुना—पतित क्षत्रिय से; देहेन—शरीर से; पतमानेन—पतित होने ही वाले; न ईहता—प्रयास न करते हुए; विपुलम्—विस्तृत; यशः—यश के लिए।

उस अयोग्य क्षत्रिय से क्या लाभ जो जीवित तो रहता है, किन्तु अपने नश्वर शरीर से ब्राह्मणों के लाभार्थ कार्य करते हुए स्थायी यश प्राप्त करने में असफल रहता है?

इत्युदारमतिः प्राह कृष्णार्जुनवृकोदरान् ।
हे विप्रा व्रियतां कामो ददाम्यात्मशिरोऽपि वः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उदार—उदार; मतिः—मानसिकता वालों ने; प्राह—कहा; कृष्ण-अर्जुन-वृकोदरान्—कृष्ण, अर्जुन तथा भीम; हे विप्राः—हे विद्वान ब्राह्मणो; व्रियताम्—आप चुनाव कर लें; कामः—जो चाहें; ददामि—मैं दूँगा; आत्म—अपना; शिरः—सिर; अपि—भी; वः—तुम सबों को।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : इस प्रकार संकल्प करके उदार जरासन्ध ने कृष्ण, अर्जुन तथा भीम से कहा : "हे विद्वान ब्राह्मणों, तुम जो भी चाहो चुन सकते हो। मैं तुम्हें दूँगा, चाहे वह मेरा सिर ही क्यों न हो।"

श्रीभगवानुवाच
युद्धं नो देहि राजेन्द्र द्वन्द्वशो यदि मन्यसे ।
युद्धार्थिनो वयं प्राप्ता राजन्या नान्यकाङ्क्षिणः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् (कृष्ण) ने कहा; युद्धम्—युद्ध; नः—हमको; देहि—दीजिये; राज-इन्द्र—हे महान् राजा; द्वन्द्वशः—एक-एक से भिड़न्त; यदि—यदि; मन्यसे—उचित समझते हो; युद्ध—युद्ध के लिए; अर्थिनः—इच्छुक; वयम्—हम तीनों; प्राप्ताः—यहाँ आये हुए हैं; राजन्याः—राजसी वर्ग के सदस्य; न—नहीं; अन्य—और कुछ; काङ्क्षिणः—इच्छुक।

भगवान् ने कहा : हे राजेन्द्र, यदि आप उचित समझते हों, तो हमें एक द्वन्द्व के रूप में युद्ध दीजिये। हम राजकुमार हैं और युद्ध की भिक्षा माँगने आये हैं। हमें आपसे कोई अन्य भिक्षा नहीं चाहिए।

असौ वृकोदरः पार्थस्तस्य भ्रातार्जुनो ह्ययम् ।
अनयोर्मातुलेयं मां कृष्णं जानीहि ते रिपुम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

असौ—यह; वृकोदरः—भीम; पार्थः—पृथा का पुत्र; तस्य—उसका; भ्राता—भाई; अर्जुनः—अर्जुन; हि—निस्सन्देह; अयम्—यह; अनयोः—दोनों में से; मातुलेयम्—मामा के लड़के; माम्—मुझको; कृष्णम्—कृष्ण; जानीहि—जानो; ते—तुम्हारा; रिपुम्—शत्रु।

वह रहा पृथा-पुत्र भीम और यह उसका भाई अर्जुन है। मुझे इनका ममेरा भाई और अपना शत्रु कृष्ण जानो।

एवमावेदितो राजा जहासोच्चैः स्म मागधः ।
आह चामर्षितो मन्दा युद्धं तर्हि ददामि वः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; आवेदितः—आमंत्रित; राज—राजा; जहास—हँसा; उच्चैः—जोर से; स्म—निस्सन्देह; मागधः—जरासन्ध ने; आह—कहा; च—तथा; अमर्षितः—असहिष्णु; मन्दाः—अरे मूर्खो; युद्धम्—युद्ध; तर्हि—तब; ददामि—मैं दूँगा; वः—तुमको।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : इस प्रकार ललकारे जाने पर, मगधराज जोर से हँसा और उपेक्षापूर्वक बोला, ''बहुत अच्छा। अरे मूर्खो! मैं तुमसे द्वन्द्व युद्ध करूँगा।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने टीका की है कि जरासन्ध को आन्तरिक सन्तोष मिला, क्योंकि उसने सोचा कि उसके पास आने के लिए उसके शत्रुओं को ब्राह्मण का वेश बनाकर अपमानित होना पड़ा है। अतः आचार्य विश्वनाथ जरासन्ध के मन को इस प्रकार समझते हैं ''अरे निर्बलो! युद्ध करने की झंझट भूल जाओ! तुम मेरा सिर क्यों नहीं माँग लेते? तुम लोगों ने भीख माँगने वाले ब्राह्मणों का वेश बनाकर वीरता को सूर्य की भाँति डुबो दिया है, किन्तु यदि तुमने अपना साहस नहीं खोया है, तो मैं तुम्हारे साथ युद्ध करूँगा।''

आचार्य अन्ततः इंगित करते हैं कि देवी सरस्वती की मंशा है कि *अमर्षितो मन्दाः* को *अमर्षितोमन्दाः* पढ़ा जाय। दूसरे शब्दों में, भगवान् कृष्ण तथा पाण्डव *अमन्दाः* ''मूर्ख नहीं'' हैं, इसीलिए उन्होंने क्रूर जरासन्ध को सदा सदा के लिए समाप्त करने के लिए सर्वश्रेष्ठ विधि को चुना।

न त्वया भीरुणा योत्स्ये युधि विक्लवतेजसा ।
मथुरां स्वपुरीं त्यक्त्वा समुद्रं शरणं गतः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; त्वया—तुम्हारे साथ; भीरुणा—कायर; योत्स्ये—मैं लड़ूँगा; युधि—युद्ध में; विक्लव—क्षीण किया गया; तेजसा—तेज से; मथुराम्—मथुरा; स्व—निजी; पुरीम्—नगरी को; त्यक्त्वा—छोड़कर; समुद्रम्—समुद्र में; शरणम्—शरण के लिए; गतः—गया हुआ।

''लेकिन हे कृष्ण, मैं तुमसे युद्ध नहीं करूँगा, क्योंकि तुम कायर हो। तुम्हारे बल ने युद्ध

के बीच में ही तुम्हारा साथ छोड़ दिया था और तुम अपनी ही राजधानी मथुरा से समुद्र में शरण लेने के लिए भाग गये थे।

अयं तु वयसातुल्यो नातिसत्त्वो न मे समः ।
अर्जुनो न भवेद्योद्धा भीमस्तुल्यबलो मम ॥ ३२॥

शब्दार्थ

अयम्—यह; तु—दूसरी ओर; वयसा—उम्र में; अतुल्यः—समान नहीं; न—नहीं; अति—अत्यधिक; सत्त्वः—बल से युक्त; न—नहीं; मे—मेरे; समः—समान; अर्जुनः—अर्जुन; न भवेत्—नहीं होना चाहिए; योद्धा—स्पर्धा करने वाला, लड़ाकू; भीमः—भीम; तुल्य—समान; बलः—बल में; मम—मेरे।

''जहाँ तक इस अर्जुन की बात है, वह न तो आयु में मेरे समान है न ही अत्यधिक बलशाली है। चूँकि वह मेरी जोड़ का नहीं है, अतः उसे योद्धा नहीं बनना चाहिए। किन्तु भीम मेरे ही समान बलशाली है।''

इत्युक्त्वा भीमसेनाय प्रादाय महतीं गदाम् ।
द्वितीयां स्वयमादाय निर्जगाम पुराद्बहिः ॥ ३३॥

शब्दार्थ

इति—ऐसा; उक्त्वा—कहकर; भीमसेनाय—भीमसेन के लिए; प्रादाय—देकर; महतीम्—विशाल; गदाम्—गदा; द्वितीयाम्—दूसरी; स्वयम्—खुद; आदाय—लेकर; निर्जगाम—निकल गया; पुरात्—नगर से; बहिः—बाहर।

यह कहकर जरासन्ध ने भीमसेन को एक बड़ी गदा दी, दूसरी गदा स्वयं ली और शहर के बाहर चला गया।

ततः समेखले वीरौ संयुक्तावितरेतरम् ।
जघ्नतुर्वज्रकल्पाभ्यां गदाभ्यां रणदुर्मदौ ॥ ३॥

शब्दार्थ

ततः—तब; समेखले—समतल अखाड़े में; वीरौ—दोनों वीर; संयुक्तौ—लगे हुए; इतर-इतरम्—एक दूसरे से; जघ्नतुः—प्रहार किया; वज्र-कल्पाभ्याम्—बिजली की भाँति; गदाभ्याम्—अपनी गदाओं से; रण—युद्ध में; दुर्मदौ—उन्मत्त।

इस तरह दोनों वीर नगर के बाहर समतल अखाड़े में एक दूसरे से युद्ध करने लगे। युद्ध के क्रोध से पगलाये हुए वे एक दूसरे पर वज्र जैसी गदाओं से प्रहार करने लगे।

मण्डलानि विचित्राणि सव्यं दक्षिणमेव च ।
चरतोः शुशुभे युद्धं नटयोरिव रङ्गिणोः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

मण्डलानि—घेरे; विचित्राणि—दक्ष; सव्यम्—बाईं ओर; दक्षिणम्—दाहिनी ओर; एव च—भी; चरतोः—गति करने वालों के; शुशुभे—भव्य लग रहे थे; युद्धम्—युद्ध; नटयोः—अभिनेताओं के; इव—सदृश; रङ्गिणोः—मंच पर।

जब वे दक्षता से दाएँ तथा बाएँ चक्कर काट रहे थे, जिस तरह कि मंच पर अभिनेता नाचते हैं, तब यह युद्ध भव्य दृश्य उपस्थित कर रहा था।

तात्पर्य : यहाँ पर जरासन्ध तथा भीम गदा चलाने में अपनी दक्षता प्रदर्शित कर रहे हैं। इस तरह यह जाना जा सकता है कि दोनों योद्धा निडर थे और युद्ध के क्रोध में भी अचल थे।

ततश्चटचटाशब्दो वज्रनिष्पेससन्निभः ।
गदयोः क्षिप्तयो राजन्दन्तयोरिव दन्तिनोः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; चट-चटा-शब्दः—चटचटाने की ध्वनि; वज्र—बिजली के; निष्पेष—गिरने, टूटने; सन्निभः—के समान; गदयोः—उनकी गदाओं के; क्षिप्तयोः—घुमाने से; राजन्—हे राजन् (परीक्षित); दन्तयोः—दाँतों के; इव—मानो; दन्तिनोः—हाथियों के।

हे राजन्, जब जरासन्ध तथा भीमसेन की गदाएँ जोर-जोर से एक दूसरे से टकरातीं, तो उनसे जो ध्वनि निकलती थी, वह दो लड़ते हुए हाथियों के दाँतों की टक्कर के समान या तूफान के समय चमकने वाली बिजली के गिरने के धमाके जैसी थी।

तात्पर्य : उपयुक्त भावार्थ श्रील प्रभुपाद कृत *श्रीकृष्ण* पर आधारित है।

ते वै गदे भुजजवेन निपात्यमाने
अन्योन्यतोऽंसकटिपादकरोरुजत्रुम् ।
चूर्णीबभूवतुरुपेत्य यथार्कशाखे
संयुध्यतोर्द्विरदयोरिव दीप्तमन्व्योः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; वै—निस्सन्देह; गदे—दोनों गदाएँ; भुज—उनके हाथों की; जवेन—वेग से; निपात्यमाने—बलपूर्वक घुमाई जाने से; अन्योन्यतः—एक-दूसरे के विरुद्ध; अंस—कन्धे; कटि—कमर; पाद—पाँव; कर—हाथ; ऊरु—जाँघें; जत्रुम्—तथा कन्धे की हड्डियाँ, हँसली; चूर्णी—चूर्ण की हुई; बभूवतुः—बन गईं; उपेत्य—स्पर्श करके; यथा—जिस तरह; अर्क-शाखे—अर्क (मदार) की दो टहनियाँ; संयुध्यतोः—तेजी से लड़ते हुए; द्विरदयोः—हाथियों की जोड़ी के; इव—सदृश; दीप्त—बढ़ा हुआ; मन्व्योः—जिनका क्रोध।

वे एक-दूसरे पर इतने बल और वेग से अपनी गदाएँ चलाने लगे कि जब ये उनके कंधों, कमर, पाँवों, हाथों, जाँघों तथा हँसलियों पर चोट करतीं, तो वे गदाएँ उसी तरह चूर्ण हो जातीं, जिस तरह कि एक दूसरे पर क्रुद्ध होकर आक्रमण कर रहे दो हाथियों से मदार की टहनियाँ

पिस जाती हैं।

इत्थं तयोः प्रहतयोर्गदयोर्नृवीरौ
क्रुद्धौ स्वमुष्टिभिरयःस्परशैरपिष्टाम् ।
शब्दस्तयोः प्रहरतोरिभयोरिवासीन्
निर्घातवज्रपरुषस्तलताडनोत्थः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस तरह से; तयोः—उन दोनों की; प्रहतयोः—नष्ट हुई; गदयोः—गदाएँ; नृ—मनुष्यों में; वीरौ—दो महान् वीर; क्रुद्धौ—क्रुद्ध; स्व—अपनी; मुष्टिभिः—घूँसों से; अयः—लोहे जैसे; स्परशैः—स्पर्श से; अपिष्टाम्—चूर-चूर किया; शब्दः—ध्वनि; तयोः—उन दोनों के; प्रहरतोः—प्रहार करते; इभयोः—दो हाथियों के; इव—सदृश; आसीत्—बन गये; निर्घात—कड़कड़ाहट; वज्र—वज्र के समान; परुषः—कठोर; तल—हथेलियों के; ताडन—मारने से; उत्थः—उठी हुई।

जब उनकी गदाएँ विनष्ट हो गईं, तो पुरुषों में महान् वे वीर क्रोधपूर्वक अपने लोहे जैसे कठोर घूँसों से एक-दूसरे पर आघात करने लगे। जब वे एक-दूसरे पर घूंसे मार रहे थे, तो उससे निकलने वाली ध्वनि हाथियों के परस्पर लड़ने-भिड़ने या बिजली की कठोर कड़कड़ाहट जैसी लग रही थी।

तयोरेवं प्रहरतोः समशिक्षाबलौजसोः ।
निर्विशेषमभूद्युद्धमक्षीणजवयोर्नृप ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तयोः—दोनों के; एवम्—इस प्रकार; प्रहरतोः—प्रहार करते हुए; सम—समान; शिक्षा—प्रशिक्षण; बल—बल; ओजसोः—तथा उत्साह; निर्विशेषम्—अनिश्चित; अभूत्—था; युद्धम्—युद्ध; अक्षीण—कम न होने वाला; जवयोः—जिनकी थकान; नृप—हे राजा।

इस प्रकार उन दोनों के लड़ते हुए समान प्रशिक्षण, बल तथा उत्साह वाले प्रतिद्वन्द्वियों की यह प्रतियोगिता समाप्त नहीं हो रही थी। इस तरह हे राजन्, वे बिना किसी ढील के लड़े जा रहे थे।

तात्पर्य : इस अध्याय में कुछ आचार्य निम्नलिखित दो श्लोकों को भी सम्मिलित करते हैं और श्रील प्रभुपाद ने अपनी पुस्तक *श्रीकृष्ण* में भी इनका भावार्थ दिया है—

एवं तयोर्महाराज युध्यतोः सप्तविंशतिः ।

दिनानि निरगंस्तत्र सुहृद्वन् निशि तिष्ठतोः ॥

एकदा मातुलेयं वै प्राह राजन् वृकोदरः ।

न शक्तो ऽहं जरासन्धं निर्जेतुं युधि माधव॥

"इस प्रकार हे राजन्! वे सत्ताइस दिनों तक लड़ते रहे। प्रत्येक दिन युद्ध समाप्त होने पर दोनों जरासन्ध के महल में रात में मित्रों की भाँति रहते थे। तब हे राजन्! अट्ठाइसवें दिन वृकोदर (भीम) ने अपने ममेरे भाई से कहा, "माधव! मैं जरासन्ध को युद्ध में पराजित नहीं कर सकता।"

शत्रोर्जन्ममृती विद्वाञ्जीवितं च जराकृतम् ।
पार्थमाप्याययन्स्वेन तेजसाचिन्तयद्धरिः ॥ ० ॥

शब्दार्थ

शत्रोः—शत्रु का; जन्म—जन्म; मृती—तथा मृत्यु; विद्वान्—जानते हुए; जीवितम्—जीवनदान; च—तथा; जरा—जरा नामक राक्षसी द्वारा; कृतम्—किया गया; पार्थम्—पृथा-पुत्र भीम को; आप्याययन्—शक्ति प्रदान करते हुए; स्वेन—अपनी ही; तेजसा—शक्ति से; अचिन्तयत्—सोचा; हरिः—भगवान् कृष्ण ने।

भगवान् कृष्ण अपने शत्रु जरासन्ध के जन्म तथा मृत्यु के रहस्य के बारे में जानते थे। वे यह भी जानते थे कि किस प्रकार जरा नामक राक्षसी ने उसे जीवनदान दिया। यह सब विचार करके कृष्ण ने भीम को अपनी विशेष शक्ति प्रदान कर दी।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण "जरासन्ध के जन्म का रहस्य जानते थे। जरासन्ध दो भिन्न माताओं से दो भिन्न भागों में जन्मा था। जब उसके पिता ने देखा कि यह शिशु बेकार का है, तो उसने दोनों भागों को जंगल में फेंक दिया, जहाँ जरा नामक किसी चुड़ैल ने उन्हें पा लिया। उसने किसी तरह शिशु के दोनों भागों को सिर से पैर तक जोड़ दिया। इसे जानने के कारण कृष्ण यह भी जानते थे कि उसे किस तरह मारा जाय।"

सञ्चिन्त्यारीवधोपायं भीमस्यामोघदर्शनः ।
दर्शयामास विटपं पाटयन्निव संज्ञया ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सञ्चिन्त्य—विचार करके; अरि—शत्रु के; वध—मारने के लिए; उपायम्—साधनों के विषय में; भीमस्य—भीम के; अमोघ-दर्शनः—जिनका दर्शन अमोघ है, ऐसे भगवान्; दर्शयाम् आस—दिखलाया; विटपम्—वृक्ष की एक शाखा; पाटयन्—बीच से चीरते हुए; इव—सदृश; संज्ञया—संकेत के रूप में।

शत्रु को किस तरह मारा जाय इसका निश्चय करके उन अमोघ-दर्शन भगवान् ने एक वृक्ष की टहनी को बीच से चीर कर भीम को संकेत किया।

तद्विज्ञाय महासत्त्वो भीमः प्रहरतां वरः ।
गृहीत्वा पादयोः शत्रुं पातयामास भूतले ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तत्—उसे; विज्ञाय—समझ कर; महा—महान्; सत्त्वः—शक्ति वाले; भीमः—भीम ने; प्रहरताम्—योद्धाओं में; वरः—श्रेष्ठतम; गृहीत्वा—पकड़ कर; पादयोः—पाँवों से; शत्रुम्—शत्रु को; पातयाम् अस—पटक दिया; भू-तले—भूमि पर।

इस संकेत को समझ कर, योद्धाओं में सर्वश्रेष्ठ उस बलशाली भीम ने अपने प्रतिद्वन्द्वी के पैर पकड़ कर उसे भूमि पर पटक दिया।

एकम्पादं पदाक्रम्य दोर्भ्यामन्यं प्रगृह्य सः ।
गुदतः पाटयामास शाखमिव महागजः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

एकम्—एक; पादम्—पैर; पदा—अपने पैर से; आक्रम्य—ऊपर खड़े होकर; दोर्भ्याम्—अपने दोनों हाथों से; अन्यम्—दूसरा; प्रगृह्य—पकड़ कर; सः—उसने; गुदतः—गुदा से लेकर; पाटयाम् आस—चीर डाला; शाखाम्—वृक्ष की शाखा को; इव—सदृश; महा—विशाल; गजः—हाथी।

भीम ने अपने पाँव से जरासन्ध के एक पाँव को दबा लिया और दूसरे पाँव को अपने हाथों से पकड़ लिया। फिर जिस तरह कोई विशाल हाथी किसी वृक्ष से एक शाखा तोड़ ले, उसी तरह भीम ने जरासन्ध को गुदा से लेकर ऊपर तक चीर डाला।

एकपादोरुवृषणकटिपृष्ठस्तनांसके ।
एकबाह्वक्षिभ्रूकर्णे शकले ददृशुः प्रजाः ॥ ॥

शब्दार्थ

एक—एक; पाद—पाँव से; ऊरु—जाँघ; वृषण—अण्डकोश; कति—कमर; पृष्ठ—पीठ; स्तन—छाती; अंसके—तथा कंधा; एक—एक; बाहु—भुजा से; अक्षि—आँख; भ्रू—भौंह; कर्णे—तथा कान; शकले—दो खंडों में; ददृशुः—देखा; प्रजाः—प्रजा ने।

तब राजा की प्रजा ने उसे दो अलग-अलग खण्डों में पड़ा हुआ देखा। प्रत्येक खण्ड में एक-एक पाँव, जाँघ, अण्डकोश, कमर, कंधा, बाँह, आँख, भौंह, कान तथा आधी पीठ एवं छाती थे।

हाहाकारो महानासीन्निहते मगधेश्वरे ।
पूजयामासतुर्भीमं परिरभ्य जयाच्यतौ ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

हाहा-कारः—शोक की चीख; महान्—अत्यधिक; आसीत्—उठी; निहते—मारे जाने पर; मगध-ईश्वरे—मगध के राजा के; पूजयाम् आसतुः—दोनों ने सम्मान किया; भीमम्—भीम को; परिरभ्य—आलिंगन करके; जय—अर्जुन; अच्युतौ—तथा कृष्ण ने।

मगधराज की मृत्यु होते ही हाहाकार होने लगा, जबकि अर्जुन तथा कृष्ण ने भीम का आलिंगन करके उसे बधाई दी।

सहदेवं तत्तनयं भगवान्भूतभावनः ।
अभ्यषिञ्चदमेयात्मा मगधानां पतिं प्रभुः ।
मोचयामास राजन्यान्संरुद्धा मागधेन ये ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सहदेवम्—सहदेव नामक; तत्—उसके (जरासन्ध का); तनयम्—पुत्र को; भगवान्—भगवान्; भूत—सारे जीवों के; भावनः—पालनकर्ता; अभ्यषिञ्चत्—अभिषेक कर दिया; अमेय-आत्मा—अपरिमेय; मगधानाम्—मगधवासियों के; पतिम्—स्वामी के रूप में; प्रभुः—प्रभु ने; मोचयाम् आस—छोड़ दिया; राजन्यान्—राजाओं को; संरुद्धाः—बन्दी बनाये गये; मागधेन—जरासन्ध द्वारा; ये—जो।

समस्त जीवों के पालनकर्ता तथा हितकारी अपरिमेय भगवान् ने जरासन्ध के पुत्र सहदेव का अभिषेक मगधवासियों के नवीन राजा के रूप में कर दिया। तब भगवान् ने उन समस्त राजाओं को मुक्त किया, जिन्हें जरासन्ध ने बन्दी बना रखा था।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं ''यद्यपि जरासन्ध का वध हो गया किन्तु न तो कृष्ण ने, न ही दोनों पाण्डव-भाइयों ने सिंहासन पर अपना अधिकार जतलाया। जरासन्ध का वध करने के पीछे उनका उद्देश्य विश्वशान्ति बनाये रखने के विरुद्ध उसके उत्पात को रोकना था। असुर सदैव उत्पात मचाता है, जबकि देवतागण विश्व में शान्ति बनाये रखने का प्रयास करते हैं। भगवान् कृष्ण का उद्देश्य सत्पुरुषों को संरक्षण प्रदान करना और अशान्ति फैलाने वाले असुरों को मारना है। इसलिए कृष्ण ने तुरन्त ही जरासन्ध के पुत्र को बुलवाया, जिसका नाम सहदेव था और उपयुक्त क्रियाकर्म के बाद उसे अपने पिता का आसन ग्रहण करने तथा शान्तिपूर्वक राज्य चलाने का आदेश दिया। भगवान् कृष्ण सम्पूर्ण विश्व के स्वामी हैं। वे चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति शान्तिपूर्वक रहे और कृष्णभावनामृत सम्पन्न करे। सहदेव को सिंहासन पर बैठाकर उन्होंने सारे राजाओं तथा राजकुमारों को मुक्त कर दिया, जिन्हें जरासन्ध ने व्यर्थ ही बन्दी बना रखा था।''

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''जरासन्ध असुर का वध'' नामक बहत्तरवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तिहत्तर

बन्दी-गृह से छुड़ाये गये राजाओं को कृष्ण द्वारा आशीर्वाद

इस अध्याय में बतलाया गया है कि जरासन्ध द्वारा बन्दी बनाये गये राजाओं को छुड़ाने के बाद श्रीकृष्ण ने किस तरह उन्हें दर्शन दिया और उन्हें राजकीय उपहार प्रदान किये।

जब कृष्ण ने जरासन्ध द्वारा बन्दी बनाये गये २०,८०० राजाओं को छुड़ा दिया तो तुरन्त ही उन्होंने भूमि पर गिर कर उन्हें नमस्कार किया। फिर वे हाथ जोड़ कर खड़े हो गये और उनकी स्तुति करने लगे। अपने बन्दी होने को, अपने मिथ्या अहंकार को चूर करने के लिए भगवान् की कृपा मानते हुए, राजाओं ने यही प्रार्थना की कि उन्हें वही वर मिले, जिससे भगवान् के चरणकमलों को वे निरन्तर स्मरण करते रहें।

भगवान् ने उन्हें आश्वासन दिया कि उनकी प्रार्थना पूरी की जायेगी। उन्होंने उन्हें अनुदेश दिया, ‘‘तुम लोग वैदिक यज्ञ करते हुए मेरी पूजा करना और धर्म के नियमों के अनुसार अपनी प्रजा की रक्षा करना। तुम अपने मन को मुझमें स्थिर करके सन्तानें उत्पन्न करना और सुख तथा दुख में समभाव बने रहना। इस तरह अपने जीवन के अन्त में तुम अवश्य ही मुझे प्राप्त करोगे।’’

इसके बाद कृष्ण ने उन राजाओं को ठीक से नहलवाया तथा वस्त्र पहनवाये और सहदेव से फूलों की मालाएँ, चन्दन-लेप, सुन्दर वस्त्र तथा अन्य राजोचित वस्तुएँ दिलवाईं। उन्हें रत्नों तथा स्वर्णभूषणों से सज्जित कराकर और रथों पर बैठवा कर उनके अपने अपने राज्यों में भिजवा दिया। वे वहाँ जाकर भगवान् द्वारा दिये गये आदेशों के अनुसार फिर से अपने कर्तव्य निभाने लगे।

तब कृष्ण, भीम तथा अर्जुन इन्द्रप्रस्थ के लिए विदा हुए, जहाँ राजा युधिष्ठिर से भेंट करके उन्होंने उन्हें जो कुछ घटा था सब कह सुनाया।

श्रीशुक उवाच
अयुते द्वे शतान्यष्टौ निरुद्धा युधि निर्जिताः ।
ते निर्गता गिरिद्रोण्यां मलिना मलवाससः ॥ १ ॥

क्षुत्क्षामाः शुष्कवदनाः संरोधपरिकर्शिताः ।
ददृशुस्ते घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् ॥ २ ॥

श्रीवत्साङ्कं चतुर्बाहुं पद्मगर्भारुणेक्षणम् ।
चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ ३ ॥

पद्महस्तं गदाशङ्ख रथाङ्गैरुपलक्षितम् ।
किरीटहारकटककटिसूत्राङ्गदाञ्चितम् ॥ ॥

भ्राजद्वरमणिग्रीवं निवीतं वनमालया ।
पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया ॥ ५ ॥

जिघ्रन्त इव नासाभ्यां रम्भन्त इव बाहुभिः ।
प्रणेमुर्हतपाप्मानो मूर्धभिः पादयोर्हरेः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अयुते—दस हजार; द्वे—दो; शतानि—सौ; अष्टौ—आठ; निरुद्धाः—बन्दी बनाये गये; युधि—युद्ध में; निर्जिताः—पराजित; ते—वे; निर्गताः—बाहर आये; गिरिद्रोण्याम्—जरासन्ध की राजधानी गिरिद्रोणी के किले से; मलिनाः—गन्दे; मल—मलिन; वाससः—जिनके वस्त्र; क्षुत्—भूख से; क्षामाः—दुर्बल; शुष्क—सूखे; वदनाः—मुख; संरोध—बन्धन से; परिकर्शिताः—अत्यधिक क्षीण; ददृशुः—देखा; ते—उन्होंने; घन—बादल की तरह; श्यामम्—गहरा नीला; पीत—पीला; कौशेय—रेशम का; वाससम्—वस्त्र वाले; श्रीवत्स—श्रीवत्स नामक चिह्न द्वारा; अङ्कम्—चिन्हित; चतुः—चार; बाहुम्—भुजाओं वाले; पद्म—कमल के; गर्भ—कोश जैसा; अरुण—गुलाबी; ईक्षणम्—आँखें; चारु—मनोहर; प्रसन्न—तथा प्रसन्न; वदनम्—मुख; स्फुरत्—चमकते; मकर—मगर की आकृति के; कुण्डलम्—कुण्डलों को; पद्म—कमल; हस्तम्—हाथ में; गदा—गदा; शङ्ख—शंख; रथ-अङ्गैः—तथा चक्र से; उपलक्षितम्—पहचाने गये; किरीट—मुकुट; हार—रत्नजटित गले की माला; कटक—सोने के कड़े; कटि-सूत्र—करधनी; अङ्गद—तथा बाजूबन्द; अञ्चितम्—सुसज्जित; भ्राजत्—चमकीले; वर—सुन्दर; मणि—कौस्तुभ-मणि; ग्रीवम्—गर्दन में; निवीतम्—लटकते; वन—जंगली फूलों की; मालया—माला से; पिबन्तः—पीते हुए; इव—मानो; चक्षुर्भ्याम्—अपनी आँखों से; लिहन्तः—चाटते हुए; इव—मानो; जिह्वया—अपनी जीभों से; जिघ्रन्तः—सूँघते हुए; इव—मानो; नासाभ्याम्—अपने नथुनों से; रम्भन्तः—आलिंगन करते हुए; इव—मानो; बाहुभिः—अपनी भुजाओं से; प्रणेमुः—झुक कर प्रणाम किया; हत—नष्ट; पाप्मानः—पाप समूह; मूर्धभिः—अपने सिरों से; पादयोः—चरणों पर; हरेः—भगवान् कृष्ण के।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जरासन्ध ने २०,८०० राजाओं को युद्ध में पराजित करके उन्हें बन्दीखाने में डाल दिया था। जब ये राजा गिरिद्रोणी किले से बाहर आये, तो वे मलिन लग रहे थे और मैले वस्त्र पहने हुए थे। वे भूख के मारे दुबले हो गए थे, उनके चेहरे सूख गये थे और दीर्घकाल तक बन्दी रहने से अत्यधिक कमजोर हो गये थे।

तब राजाओं ने भगवान् को अपने समक्ष देखा। उनका रंग बादल के समान गहरा नीला था और वे पीले रेशम का वस्त्र पहने थे। वे अपने वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिन्ह, अपने चार विशाल भुजाओं, कमल के कोश जैसी गुलाबी रंग की आँखों, अपने सुन्दर हँसमुख चेहरे, अपने चमकते मकर कुण्डलों तथा हाथों में कमल, गदा, शंख तथा चक्र धारण करने से पहचाने जाते थे। उनके शरीर में मुकुट, रत्नजटित गले की माला, सुनहरी करधनी, सुनहले कड़े तथा बाजूबन्द सुशोभित थे और वे अपने गले में चमकीली, मूल्यवान कौस्तुभ मणि तथा जंगली फूलों की माला पहने थे। सारे राजा मानो अपनी आँखों से उनके सौन्दर्य का पान कर रहे थे,

अपनी जीभों से उन्हें चाट रहे थे, अपने नथुनों से उनकी सुगन्धि का आस्वादन कर रहे थे और अपनी भुजाओं से उनका आलिंगन कर रहे थे। अब उनके विगत पापों का उन्मूलन हो चुका था। राजाओं ने भगवान् हरि के चरणों पर अपने अपने शीश रख कर उन्हें प्रणाम किया।

कृष्णसन्दर्शनाह्लाद ध्वस्तसंरोधनक्लमाः ।
प्रशशंसुर्हृषीकेशं गीर्भिः प्राञ्जलयो नृपाः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

कृष्ण-सन्दर्शन—भगवान् कृष्ण के दर्शन से; आह्लाद—प्रसन्नता; ध्वस्त—उन्मूलित; संरोधन—बन्दी होने के; क्लमाः—थकान; प्रशशंसुः—प्रशंसा की; हृषीका-ईशम्—इन्द्रियों के परम स्वामी को; गीर्भिः—अपने शब्दों में; प्राञ्जलयः—हाथ जोड़े; नृपाः—राजागण।.

भगवान् कृष्ण को देखने के आनन्द से उनके बन्दी होने की थकावट दूर हो जाने पर सारे राजा हाथ जोड़ कर खड़े हो गये और उन्होंने हृषीकेश की प्रशंसा की।

राजान ऊचुः
नमस्ते देवदेवेश प्रपन्नार्तिहराव्यय ।
प्रपन्नान्पाहि नः कृष्ण निर्विण्णान्घोरसंसृतेः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

राजानः ऊचुः—राजाओं ने कहा; नमः—नमस्कार; ते—आपको; देव—देवताओं के; देव—स्वामियों के; ईश—हे परमेश्वर; प्रपन्न—शरणागतों के; आर्ति—क्लेश के; हर—हे हरने वाले; अव्यय—हे अव्यय; प्रपन्नान्—शरणागत; पाहि—बचाइये; नः—हमको; कृष्ण—हे कृष्ण; निर्विण्णान्—निराशों को; घोर—भीषण; संसृतेः—संसार से।.

राजाओं ने कहा : हे शासनकर्ता देवताओं के स्वामी, हे शरणागत भक्तों के क्लेश को नष्ट करने वाले, हम आपको नमस्कार करते हैं। चूँकि हमने आपकी शरण ग्रहण की है, अतः हे अव्यय कृष्ण, हमें इस विकट भौतिक जीवन से बचाइये, जिसने हमें इतना निराश बना दिया है।

नैनं नाथानुसूयामो मागधं मधुसूदन ।
अनुग्रहो यद्भवतो राज्ञां राज्यच्युतिर्विभो ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एनम्—यह; नाथ—हे स्वामी; अनुसूयामः—दोष निकालते हैं; मागधम्—मगध के राजा को; मधुसूदन—हे कृष्ण; अनुग्रहः—कृपा; यत्—चूँकि; भवतः—आपका; राज्ञाम्—राजाओं के; राज्य—राज्य से; च्युतिः—पतन; विभो—हे सर्वशक्तिमान।.

हे प्रभु मधुसूदन, हम इस मगधराज को दोष नहीं देते क्योंकि वास्तव में यह तो आपकी कृपा है कि हे विभु, सारे राजा अपने राज-पद से नीचे गिरते हैं।

तात्पर्य : यह महत्त्वपूर्ण बात है कि कृष्ण का दर्शन कर लेने पर तथा अपने पापों से शुद्ध हो जाने से राजाओं को जरासन्ध के प्रति कोई भौतिक घृणा या कटुता का अनुभव नहीं हुआ यद्यपि उसने उन्हें बन्दी बनाकर रखा था। कृष्ण का दर्शन करने मात्र से ही राजागण कृष्णभावनामृत की स्थिति को प्राप्त हो गये और ये श्लोक बोलने लगे जो गहन आध्यात्मिक ज्ञान को दर्शाने वाले हैं।

राज्यैश्वर्यमदोन्नद्धो न श्रेयो विन्दते नृपः ।
त्वन्मायामोहितोऽनित्या मन्यते सम्पदोऽचलाः ॥ ॥

शब्दार्थ

राज्य—राज्य; ऐश्वर्य—तथा ऐश्वर्य से; मद—नशे से; उन्नद्धः—वश में न आकर; न—नहीं; श्रेयः—असली लाभ; विन्दते—प्राप्त करते हैं; नृपः—राजा; त्वत्—आपकी; माया—मायाशक्ति से; मोहितः—मोहित; अनित्याः—क्षणिक; मन्यते—सोचता है; सम्पदः—सम्पत्ति; अचलाः—स्थायी।

अपने ऐश्वर्य तथा शासनशक्ति के मद से चूर राजा आत्मसंयम खो देता है और अपना असली कल्याण प्राप्त नहीं कर सकता। इस तरह आपकी मायाशक्ति से मोहग्रस्त होकर वह अपनी क्षणिक सम्पदा को स्थायी मान बैठता है।

तात्पर्य : *उन्नद्ध* शब्द सूचित करता है कि जो मिथ्या अहंकार से मदान्ध हो जाता है, वह सदाचार की सीमा तोड़ देता है। मनुष्य-जीवन धर्म के द्वारा अनुशासित होने के लिए है, जिससे धीरे-धीरे कृष्णभावनामृत की पूर्णता तक बढ़ा जा सके। किन्तु मूर्ख व्यक्ति सम्पत्ति तथा शक्ति से अन्धा होकर ईश्वर तथा प्रकृति के नियमों के विरुद्ध मनमाने ढंग से कर्म करने में हिचकता नहीं। दुर्भाग्यवश आज सम्पन्न पाश्चात्य देशों में यही स्थिति है।

मृगतृष्णां यथा बाला मन्यन्त उदकाशयम् ।
एवं वैकारिकीं मायामयुक्ता वस्तु चक्षते ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

मृग-तृष्णाम्—मृगतृष्णा; यथा—जिस तरह; बालाः—बच्चों जैसी बुद्धि वाले व्यक्ति; मन्यन्ते—विचार करते हैं; उदक—जल के; आशयम्—आगार को; एवम्—उसी तरह; वैकारिकीम्—विकारों के अधीन; मायाम्—माया को; अयुक्ताः—विवेकहीन; वस्तु—चीज जैसा; चक्षते—दिखता है।

जिस तरह बालबुद्धि वाले लोग मरूस्थल में मृगतृष्णा को जलाशय मान लेते हैं, उसी तरह जो अविवेकी हैं, वे माया के विकारों को वास्तविक मान लेते हैं।

वयं पुरा श्रीमदनष्टदृष्टयो
जिगीषयास्या इतरेतरस्पृधः ।
घ्नन्तः प्रजाः स्वा अतिनिर्घृणाः प्रभो
मृत्युं पुरस्त्वाविगणय्य दुर्मदाः ॥ १२ ॥
त एव कृष्णाद्य गभीररंहसा
दुरन्तेवीर्येण विचालिताः श्रियः ।
कालेन तन्वा भवतोऽनुकम्पया
विनष्टदर्पाश्चरणौ स्मराम ते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

वयम्—हम; पुरा—इसके पूर्व; श्री—ऐश्वर्य के; मद—नशे से; नष्ट—विनष्ट; दृष्टयः—जिसकी दृष्टि; जिगीषया—जीतने की इच्छा से; अस्याः—इस (पृथ्वी); इतर-इतर—एक-दूसरे से; स्पृधः—लड़ते-झगड़ते; घ्नन्तः—आक्रमण करते; प्रजाः—नागरिक; स्वाः—अपना, निजी; अति—अत्यधिक; निर्घृणाः—क्रूर; प्रभो—हे प्रभु; मृत्युम्—मृत्यु को; पुरः—समक्ष; त्वा—आपको; अविगणय्य—परवाह न करके; दुर्मदाः—उद्धत; ते—वे (हमीं); एव—निस्सन्देह; कृष्ण—हे कृष्ण; अद्य—अब; गभीर—रहस्यमय; रंहसा—गतिशीलता; दुरन्त—दुर्दम; वीर्येण—बल से; विचालिताः—चले जाने के लिए बाध्य हुए; श्रियः—हमारे ऐश्वर्य से; कालेन—समय से; तन्वा—आपका साकार रूप; भवतः—आपकी; अनुकम्पया—कृपा से; विनष्ट—विनष्ट; दर्पाः—जिनके गर्व; चरणौ—दो पाँवों को; स्मराम—स्मरण करें; ते—तुम्हारे।

इसके पूर्व धन के मद से अन्धे होकर हमने इस पृथ्वी को जीतना चाहा था और इस तरह हम अपनी ही प्रजा को क्रूरतापूर्वक यातना देते हुए विजय पाने के लिए एक-दूसरे से लड़ते रहे। हे प्रभु, हमने दम्भ में आकर अपने समक्ष मृत्यु रूप में उपस्थित आपका अनादर किया। किन्तु हे कृष्ण, अब आपका वह शक्तिशाली स्वरूप जो काल कहलाता है और रहस्यमय ढंग से तथा दुर्दम रूप में गतिशील है उसने हमसे हमारे ऐश्वर्य छीन लिये हैं। चूँकि अब आपने दया करके हमारे गर्व को नष्ट कर दिया है, अतएव हमारी आपसे याचना है कि हम केवल आपके चरणकमलों का स्मरण करते रहें।

अथो न राज्यम्मृगतृष्णिरूपितं
देहेन शश्वत्पतता रुजां भुवा ।
उपासितव्यं स्पृहयामहे विभो
क्रियाफलं प्रेत्य च कर्णरोचनम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

अथ उ—इसके आगे; न—नहीं; राज्यम्—राज्य; मृग-तृष्णि—मृगतृष्णा की तरह; रूपितम्—प्रकट होने वाला; देहेन—भौतिक शरीर से; शश्वत्—निरन्तर; पतता—मर्त्य; रुजाम्—रोगों के; भुवा—जन्मस्थान; उपासितव्यम्—सेवा किये जाने के लिए; स्पृहयामहे—हम लालायित रहते हैं; विभो—हे सर्वशक्तिमान; क्रिया—पुण्यकार्य का; फलम्—फल; प्रेत्य—अगले जन्म में जाकर; च—तथा; कर्ण—कानों के लिए; रोचनम्—लोभ।

अब हम कभी भी मृगतृष्णा तुल्य ऐसे राज्य के लिए लालायित नहीं होंगे जो इस मर्त्य शरीर

द्वारा सेवित हो वह शरीर जो रोग तथा कष्ट का कारण हो और प्रत्येक क्षण क्षीण होने वाला हो। हे विभु, न ही हम अगले जन्म में पुण्यकर्म के दिव्य फल भोगने की लालसा रखेंगे, क्योंकि ऐसे फलों का वायदा कानों के लिए रिक्त बहलावे के समान है।

तात्पर्य : राज्य को अथवा राजनीतिक प्रभुता को बनाये रखने के लिए मनुष्य को कठिन श्रम करना होता है। फिर भी वह शरीर जो कि मनुष्य की राजनैतिक शक्ति को बनाये रखने के लिए कठिन परिश्रम करता है, स्वयं नश्वर है। प्रति क्षण यह शरीर मृत्यु की ओर बढ़ता रहता है और इसे अनेक कष्टप्रद रोग भोगने पड़ सकते हैं। इस तरह शुद्ध आत्मा के लिए संसारी शक्ति का यह सारा खेल समय का अपव्यय है। उसे तो अपनी सुप्त कृष्णचेतना को जागृत करने की आवश्यकता रहती है।

वैदिक शास्त्रों तथा अन्य धार्मिक ग्रंथों में उन लोगों के लिए, जो इस जीवन में पुण्यकर्म करते हैं, अगले जन्म में समृद्धि तथा स्वर्गिक भोग दिलाने के अनेक वायदे मिलते हैं। ऐसे वायदे सुनने में मधुर लगते हैं, किन्तु वे इससे अधिक कुछ नहीं हैं। भौतिक भोग चाहे स्वर्ग का हो या नरक का, शुद्ध आत्मा के लिए एक प्रकार का मोह है। भाग्यशाली राजाओं को अब, जबकि उन्हें भगवान् कृष्ण का सान्निध्य मिला है, भौतिक सृष्टि के मायाजाल से परे उच्चतर आध्यात्मिक सत्य की अनुभूति हो गई है।

तं नः समादिशोपायं येन ते चरणाब्जयोः ।
स्मृतिर्यथा न विरमेदपि संसरतामिह ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; नः—हमको; समादिश—कृपया आदेश दें; उपायम्—उपाय; येन—जिससे; ते—तुम्हारे; चरण—चरणों के; अब्जयोः—कमल सदृश; स्मृतिः—याद; यथा—जिस तरह; न विरमेत्—रुके नहीं; अपि—भी; संसरताम्—जन्म-मृत्यु के चक्र में घूम रहे हैं, जो, उनके लिए; इह—इस संसार में।

कृपया हमें बतलाएँ कि हम किस तरह आपके चरणकमलों का निरन्तर स्मरण कर सकें, यद्यपि हम इस संसार में जन्म-मृत्यु के चक्र में घूम रहे हैं।

तात्पर्य : भगवत्कृपा होने पर ही हम भगवान् का निरन्तर स्मरण कर सकते हैं। परम मोक्ष प्राप्त करने की सबसे आसान विधि ऐसा ही स्मरण है, जैसी कि *भगवद्गीता* (८.१) में बतलायी गयी है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

"जो बिना किसी प्रकार के विचलन के मेरा स्मरण सदैव करता है हे पार्थ! मैं उसके भक्ति में निरन्तर लगे रहने के कारण उसके लिए आसानी से सुलभ हो जाता हूँ।"

अपि संसरताम् इह शब्द सूचित करते हैं कि राजागण न केवल मुक्ति के लिए कृष्ण के पास पहुँच रहे थे अपितु उनके चरणकमलों को सदैव स्मरण करते रहने में समर्थ होने का वर प्राप्त करने के लिए ऐसा कर रहे थे। ऐसा निरन्तर स्मरण प्रेम का लक्षण है और भगवत्प्रेम जीवन का वास्तविक लक्ष्य है।

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

कृष्णाय—कृष्ण के प्रति; वासुदेवाय—वसुदेव के पुत्र के प्रति; हरये—भगवान् हरि के प्रति; परम-आत्मने—परमात्मा; प्रणत—शरणागत; क्लेश—कष्ट के; नाशाय—नष्ट करने वाले के प्रति; गोविन्दाय—गोविन्द के प्रति; नमः नमः—बारम्बार नमस्कार।.

हम वसुदेव के पुत्र भगवान् कृष्ण अर्थात् हरि को बारम्बार नमस्कार करते हैं। वह परमात्मा गोविन्द उन सबों के कष्टों को दूर कर देता है, जो उनकी शरण में जाते हैं।

श्रीशुक उवाच
संस्तूयमानो भगवान्राजभिर्मुक्तबन्धनैः ।
तानाह करुणस्तात शरण्यः श्लक्ष्णया गिरा ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; संस्तूयमाणः—अत्यन्त प्रशंसा किये जा रहे; भगवान्—भगवान् ने; राजभिः—राजाओं द्वारा; मुक्त—मुक्त किये गये; बन्धनैः—बन्धन से; तान्—उनसे; आह—कहा; करुणः—दयालु; तात—हे प्रिय (राजा परीक्षित); शरण्यः—शरण देने वाले; श्लक्ष्णया—मधुर; गिरा—वाणी से।.

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह बन्धन से मुक्त हुए राजाओं ने भगवान् की खूब प्रशंसा की। तब हे परीक्षित, दयालु शरणदाता ने मधुर वाणी में उनसे कहा।

श्रीभगवानुवाच
अद्य प्रभृति वो भूपा मय्यात्मन्यखिलेश्वरे ।
सुदृढा जायते भक्तिर्बाढमाशंसितं तथा ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अद्य प्रभृति—आज से; वः—तुम्हारा; भू-पाः—हे राजाओ; मयि—मुझमें; आत्मनि—आत्मा में; अखिल—समस्त; ईश्वरे—नियन्ता में; सु—अत्यन्त; दृढा—स्थिर; जायते—उत्पन्न होगी; भक्तिः—भक्ति; बाढम्—निश्चित रूप से; आशंसितम्—अभीष्ट; तथा—उसी तरह।.

भगवान् ने कहा : हे राजाओ, आज से तुम लोगों को मुझ परमात्मा तथा ईश्वर में दृढ़ भक्ति

प्राप्त होगी। मैं विश्वास दिलाता हूँ कि तुम जैसे चाहोगे वैसे ही यह भक्ति चलती रहेगी।

दिष्ट्या व्यवसितं भूपा भवन्त ऋतभाषिणः ।
श्रीयैश्वर्यमदोन्नाहं पश्य उन्मादकं नृणाम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

दिष्ट्या—भाग्यवान; व्यवसितम्—संकल्प; भूपाः—हे राजाओ; भवन्तः—आप लोग; ऋत—सच सच; भाषिणः—बोलने वाले; श्री—सम्पत्ति; ऐश्वर्य—तथा शक्ति के; मद—नशे में; उन्नाहम्—संयम का अभाव; पश्ये—देखता हूँ; उन्मादकम्—मतवाला बनाते हुए; नृणाम्—मनुष्यों के लिए।

हे राजाओ, सौभाग्यवश तुम लोगों ने सही निर्णय किया है और जो कुछ कहा है, वह सच है। मैं देख रहा हूँ कि मनुष्यों में आत्मसंयम के अभाव से जो कि ऐश्वर्य तथा शक्ति के मद के कारण उत्पन्न होता है, मादकता ही आती है।

हैहयो नहुषो वेणो रावणो नरकोऽपरे ।
श्रीमदाद्भ्रंशिताः स्थानाद्देवदैत्यनरेश्वराः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

हैहयः नहुषः वेणः—हैहय (कार्तवीर्य), नहुष तथा वेण; रावणः नरकः—रावण तथा नरक; अपरे—तथा अन्य; श्री—ऐश्वर्य के कारण; मदात्—अपने नशे के कारण; भ्रंशिताः—नीचे गिराये गये; स्थानात्—अपने पदों से; देव—देवताओं के; दैत्य—असुरों के; नर—मनुष्यों के; ईश्वराः—शासकगण।

हैहय, नहुष, वेण, रावण, नरक तथा देवताओं, पुरुषों और असुरों के अन्य अनेक शासक अपने अपने ऊँचे पदों से इसीलिए नीचे गिरे, क्योंकि वे भौतिक ऐश्वर्य से मदोन्मत्त हो उठे थे।

तात्पर्य : जैसाकि श्रीधर स्वामी ने विवरण दिया है, चूँकि हैहय ने परशुराम के पिता जमदग्नि की कामधेनु गाय चुरा ली थी, इसलिए परशुराम ने उसे उसके दम्भी पुत्रों सहित मार डाला। नहुष ने जब अस्थायी रूप से इन्द्र का पद ग्रहण किया, तो उसे गर्व हो आया। जब उसने कुछ ब्राह्मणों को आदेश दिया कि वे उसे पालकी पर चढ़ाकर इन्द्र की सती पत्नी शची के पास अवैध भेंट कराने ले चलें तो ब्राह्मणों ने उसे उसके पद से च्युत कर दिया और उसे एक वृद्ध पुरुष बना दिया। इसी तरह राजा वेण भी उन्मत्त था और जब उसने ब्राह्मणों का अपमान किया, तो उन्होंने *हुम* अक्षर का उच्चारण करके उसे मार डाला। रावण राक्षसों का विख्यात शासक था किन्तु काम के वशीभूत होकर उसने माता सीता का अपहरण कर लिया, अत: सीतापति भगवान् रामचन्द्र ने उसका वध कर दिया। नरक दैत्यों का शासक था जिसने माता अदिति के कुण्डल चुराने का दुस्साहस किया था जिस अपराध के लिए उसे भी मार

डाला गया। इस तरह इतिहास-भर में शक्तिशाली राजा अपने पदों से च्युत होते रहे हैं, क्योंकि वे अपने तथाकथित ऐश्वर्य से मदोन्मत्त होते रहे हैं।

भवन्त एतद्विज्ञाय देहाद्युत्पाद्यमन्तवत् ।
मां यजन्तोऽध्वरैर्युक्ताः प्रजा धर्मेण रक्ष्यथ ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

भवन्तः—आप लोग; एतत्—यह; विज्ञाय—जान कर; देह-आदि—भौतिक शरीर तथा अन्य बातें; उत्पाद्यम्—जन्म के अधीन; अन्त-वत्—अन्त होने वाला; माम्—मुझको; यजन्तः—पूजा करते हुए; अध्वरैः—वैदिक यज्ञों के द्वारा; युक्ताः—विमल बुद्धि से युक्त; प्रजाः—अपनी प्रजा की; धर्मेण—धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार; रक्ष्यथ—रक्षा करनी चाहिए।

यह समझते हुए कि यह भौतिक शरीर तथा इससे सम्बद्ध हर वस्तु का आदि तथा अन्त है, वैदिक यज्ञों के द्वारा मेरी पूजा करो और धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार विमल बुद्धि से अपनी प्रजा की रक्षा करो।

सन्तन्वन्तः प्रजातन्तून्सुखं दुःखं भवाभवौ ।
प्राप्तं प्राप्तं च सेवन्तो मच्चित्ता विचरिष्यथ ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सन्तन्वन्तः—उत्पन्न करते हुए; प्रजा—सन्तान के; तन्तून्—रेशे (पीढ़ियाँ); सुखम्—सुख; दुःखम्—दुख; भव—जन्म; अभवौ—तथा मृत्यु; प्राप्तम् प्राप्तम्—ज्यों ज्यों सामना पड़े; च—तथा; सेवन्तः—स्वीकार करते हुए; मत्-चित्ताः—मुझ पर अपने मन को स्थिर करके; विचरिष्यथ—इधर-उधर विचरण करना चाहिए।

सन्तान की पीढ़ियों की पीढ़ियाँ उत्पन्न करते तथा सुख-दुख, जन्म एवं मृत्यु का सामना करते तुम लोग जीवन बिताते समय सदैव अपने मनों को मुझ पर स्थिर रखना।

उदासीनाश्च देहादावात्मारामा धृतव्रताः ।
मय्यावेश्य मनः सम्यङ्मामन्ते ब्रह्म यास्यथ ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

उदासीनाः—अन्यमनस्क; च—तथा; देह-आदौ—शरीर इत्यादि के प्रति; आत्म-आरामाः—आत्मतुष्ट; धृत—दृढ़ता से पकड़े हुए; व्रताः—अपने व्रतों को; मयि—मुझ में; आवेश्य—एकाग्र करके; मनः—मन को; सम्यक्—पूर्णरूपेण; माम्—मुझको; अन्ते—अन्त में; ब्रह्म—परम सत्य; यास्यथ—प्राप्त करोगे।

शरीर तथा उससे सम्बद्ध हर वस्तु से विरक्त हो जाओ। आत्मतुष्ट रह कर अपने मन को मुझमें एकाग्र करते हुए अपने व्रतों का दृढ़ता से पालन करो। इस तरह तुम लोग अन्त में मुझ परम सत्य को प्राप्त कर सकोगे।

श्रीशुक उवाच
इत्यादिश्य नृपान्कृष्णो भगवान्भुवनेश्वरः ।
तेषां न्ययुङ्क्त पुरुषान्स्त्रियो मज्जनकर्मणि ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; आदिश्य—आदेश देकर; नृपान्—राजाओं को; कृष्णः—कृष्ण; भगवान्—भगवान्; भुवन—सारे लोकों के; ईश्वरः—स्वामी; तेषाम्—उनके; न्ययुङ्क्त—लगाया; पुरुषान्—सेवकों; स्त्रियः—तथा स्त्रियों को; मज्जन—धोने के; कर्मणि—काम में।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार राजाओं को आदेश देकर समस्त लोकों के परम स्वामी भगवान् कृष्ण ने समस्त सेवकों तथा सेविकाओं को उन्हें स्नान कराने तथा सँवारने के काम में लगा दिया।

सपर्यां कारयामास सहदेवेन भारत ।
नरदेवोचितैर्वस्त्रैर्भूषणैः स्रग्विलेपनैः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सपर्याम्—सेवा; कारयाम् आस—करवाई; सहदेवेन—जरासन्ध के पुत्र सहदेव से; भारत—हे भरतवंशी; नर-देव—राजागण; उचितैः—अनुकूल; वस्त्रैः—वस्त्रों से; भूषणैः—गहनों से; स्रक्—फूल-मालाओं से; विलेपनैः—तथा चन्दन-लेप से।

हे भारत, तब भगवान् ने राजा सहदेव से वस्त्र, आभूषण, मालाएँ तथा चन्दन-लेप आदि राजोचित भेंटें दिलाकर उन राजाओं का सम्मान कराया।

भोजयित्वा वरान्नेन सुस्नातान्समलङ्कृतान् ।
भोगैश्च विविधैर्युक्तांस्ताम्बूलाद्यैर्नृपोचितैः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

भोजयित्वा—भोजन कराकर; वर—उत्तम; अन्नेन—भोजन से; सु—उचित ढंग से; स्नातान्—नहलाये; समलङ्कृतान्—सुसज्जित; भोगैः—भोग की सामग्रियों से; च—तथा; विविधैः—विविध; युक्तान्—प्रदत्त; ताम्बूल—पान; आद्यैः—इत्यादि; नृप—राजाओं के लिए; उचितैः—उचित।

जब वे सब भलीभाँति नहा चुके और सज-धज गये तो भगवान् कृष्ण ने उनके लिए उत्तम भोजन की व्यवस्था कराई। उन्होंने उन सबों को राजोचित वस्तुएँ यथा पान इत्यादि वस्तुएँ भी भेंट कीं।

ते पूजिता मुकुन्देन राजानो मृष्टकुण्डलाः ।
विरेजुर्मोचिताः क्लेशात्प्रावृडन्ते यथा ग्रहाः ॥ २७॥

शब्दार्थ

ते—वे; पूजिताः—सम्मानित; मुकुन्देन—कृष्ण द्वारा; राजानः—राजागण; मृष्ट—चमकते; कुण्डलाः—कुण्डलों वाले; विरेजुः—भव्य लगते थे; मोचिताः—छुड़ाये गये; क्लेशात्—कष्ट से; प्रावृट्—वर्षा ऋतु के; अन्ते—अन्त में; यथा—जिस तरह; ग्रहाः—लोक (यथा चन्द्रमा)।

भगवान् मुकुन्द द्वारा सम्मानित किये गये एवं कष्ट से मुक्त हुए राजागण अपने कानों के चमकते कुण्डलों सहित वैसे ही शोभायमान हुए जिस तरह वर्षा ऋतु की समाप्ति पर आकाश में चन्द्रमा तथा अन्य ग्रह खूब चमकने लगते हैं।

रथान्सदश्वानारोप्य मणिकाञ्चनभूषितान् ।
प्रीणय्य सुनृतैर्वाक्यैः स्वदेशान्प्रत्ययापयत् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

रथान्—रथों पर; सत्—उत्तम; अश्वान्—घोड़ों सहित; आरोप्य—चढ़ाकर; मणि—रत्न; काञ्चन—तथा सोना; भूषितान्—सुसज्जित; प्रीणय्य—तुष्ट करके; सुनृतैः—मधुर; वाक्यैः—शब्दों से; स्व—अपने अपने; देशान्—राज्यों को; प्रत्ययापयत्—वापस भेज दिया।

तत्पश्चात् भगवान् ने उन राजाओं को सुन्दर घोड़ों से खींचे जाने वाले तथा रत्नों एवं स्वर्ण से सुसज्जित रथों पर चढ़वाकर और मधुर शब्दों से प्रसन्न करके उन्हें उनके राज्यों में वापस भिजवा दिया।

त एवं मोचिताः कृच्छ्रात्कृष्णेन सुमहात्मना ।
ययुस्तमेव ध्यायन्तः कृतानि च जगत्पतेः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; एवम्—इस प्रकार; मोचिताः—मुक्त हुए; कृच्छ्रात्—मुश्किल से; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; सु-महा-आत्मना—महापुरुष; ययुः—चले गये; तम्—उनको; एव—एकमात्र; ध्यायन्तः—ध्यान करते; कृतानि—कार्यों को; च—तथा; जगत्-पतेः—ब्रह्माण्ड के स्वामी के।

इस तरह पुरुषों में महानतम कृष्ण द्वारा सारे कष्टों से मुक्त किये गये राजागण विदा हुए और जब वे जा रहे थे, तो वे एकमात्र उन ब्रह्माण्ड के स्वामी तथा उनके अद्भुत कृत्यों के विषय में ही सोच रहे थे।

जगदुः प्रकृतिभ्यस्ते महापुरुषचेष्टितम् ।
यथान्वशासद्भगवांस्तथा चक्रुरतन्द्रिताः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

जगदुः—बतलाया; प्रकृतिभ्यः—अपने मंत्रियों तथा अन्य संगियों से; ते—उन (राजाओं ने); महा-पुरुष—परम पुरुष के; चेष्टितम्—कार्यकलापों को; यथा—जिस तरह; अन्वशासत्—आदेश दिया; भगवान्—भगवान् ने; तथा—उसी तरह; चक्रुः—उन्होंने किया; अतन्द्रिताः—बिना किसी ढिलाई के।

राजाओं ने जाकर अपने मंत्रियों तथा अन्य संगियों से वे सारी बातें बतलाईं जो भगवान् ने की थीं और तब उन्होंने जो जो आदेश दिये थे, उनका कर्मठता के साथ पालन किया।

जरासन्धं घातयित्वा भीमसेनेन केशवः ।
पार्थाभ्यां संयुतः प्रायात्सहदेवेन पूजितः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

जरासन्धम्—जरासन्ध को; घातयित्वा—वध करवाकर; भीमसेनेन—भीमसेन द्वारा; केशवः—कृष्ण; पार्थाभ्यम्—पृथा के दोनों पुत्रों (भीम तथा अर्जुन) के; संयुतः—साथ साथ; प्रायात्—विदा हुए; सहदेवेन—सहदेव द्वारा; पूजितः—पूजा किये जाकर।.

भीमसेन द्वारा जरासन्ध का वध करवाकर, भगवान् कृष्ण ने राजा सहदेव की पूजा स्वीकार की और तब पृथा के दोनों पुत्रों के साथ विदा हुए।

गत्वा ते खाण्डवप्रस्थं शङ्खान्दध्मुर्जितारयः ।
हर्षयन्तः स्वसुहृदो दुर्हृदां चासुखावहाः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

गत्वा—जाकर; ते—उन्होंने; खाण्डव-प्रस्थम्—इन्द्रप्रस्थ में; शङ्खान्—अपने अपने शंख; दध्मुः—बजाये; जित—जीत कर; अरयः—शत्रु को; हर्षयन्तः—हर्षित करते; स्व—अपने; सुहृदः—शुभचिन्तकों; दुर्हृदाम्—तथा शत्रुओं को; च—तथा; असुख—अप्रसन्नता; आवहाः—लाते हुए।.

जब वे इन्द्रप्रस्थ आ गये तो विजयी वीरों ने अपने शंख बजाये, जिससे उनके शुभचिन्तक मित्रों को तो हर्ष हुआ, किन्तु उनके शत्रुओं को संताप पहुँचा।

तच्छ्रुत्वा प्रीतमनस इन्द्रप्रस्थनिवासिनः ।
मेनिरे मागधं शान्तं राजा चाप्तमनोरथः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; श्रुत्वा—सुन कर; प्रीत—प्रसन्न; मनसः—मन में; इन्द्रप्रस्थ-निवासिनः—इन्द्रप्रस्थ के वासी; मेनिरे—समझ गये; मागधम्—जरासन्ध को; शान्तम्—अन्त कर दिया; राजा—राजा (युधिष्ठिर); च—तथा; आप्त—प्राप्त किया; मनः-रथः—इच्छाएँ।.

उस ध्वनि को सुन कर इन्द्रप्रस्थ के निवासी अत्यन्त प्रसन्न हुए, क्योंकि वे समझ गये कि मगध के राजा का अब अन्त कर दिया गया है। राजा युधिष्ठिर ने अनुभव किया कि अब उनके मनोरथ पूरे हो गये।

अभिवन्द्याथ राजानं भीमार्जुनजनार्दनाः ।

सर्वमाश्रावयां चक्रुरात्मना यदनुष्ठितम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अभिवन्द्य—नमस्कार करके; अथ—तब; राजानम्—राजा को; भीम-अर्जुन-जनार्दनाः—भीम, अर्जुन तथा कृष्ण; सर्वम्—सारी बातें; आश्रावयाम् चक्रुः—बतलाईं; आत्मना—स्वयमेव; यत्—जो; अनुष्ठितम्—सम्पन्न हुईं।

भीम, अर्जुन तथा जनार्दन ने राजा को प्रणाम किया और जो कुछ उन्होंने किया था, वह सब उनसे कह सुनाया।

निशम्य धर्मराजस्तत्केशवेनानुकम्पितम् ।
आनन्दाश्रुकलां मुञ्चन्प्रेम्णा नोवाच किञ्चन ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुन कर; धर्म-राजः—धर्म के राजा, युधिष्ठिर ने; तत्—वह; केशवेन—कृष्ण द्वारा; अनुकम्पितम्—अनुकम्पा, कृपा; आनन्द—आनन्द के; अश्रु-कलाम्—अश्रु; मुञ्चन्—गिराते हुए; प्रेम्णा—प्रेमवश; न उवाच—नहीं कहा; किञ्चन—कुछ भी।

भगवान् कृष्ण ने उन पर जो महती कृपा की थी उसका विवरण सुन कर धर्मराज ने भावातिरेक के अश्रु बहाये। उन्हें इतने प्रेम का अनुभव हुआ कि वे कुछ भी नहीं कह पाये।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत् के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''बन्दी-गृह से छुड़ाये गये राजाओं को कृष्ण द्वारा आशीर्वाद'' नामक तिहत्तरवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौहत्तर

राजसूय यज्ञ में शिशुपाल का उद्धार

इस अध्याय में बतलाया गया है कि भगवान् कृष्ण ने किस तरह राजसूय यज्ञ के अवसर पर अग्रपूजा का सम्मान प्राप्त किया और शिशुपाल का किस तरह वध किया।

कृष्ण की स्तुति करने के बाद राजा युधिष्ठिर ने भरद्वाज, गौतम तथा वसिष्ठ जैसे योग्य ब्राह्मणों को राजसूय यज्ञ के पुरोहित के कार्य के लिए चुना। फिर चारों वर्णों के अनेक सम्मानित अतिथि यज्ञ देखने के लिए आये।

जब यज्ञ चलने लगा तो ''अग्रपूजा'' का अनुष्ठान सम्पन्न किया जाना था, अतः सभासदों को यह निश्चय करने के लिए पूछा गया कि यह सम्मान किसे मिले। सहदेव ने उठकर कहा, ''निस्सन्देह भगवान् श्रीकृष्ण ही सर्वाधिक पूज्य पुरुष हैं, क्योंकि वैदिक यज्ञ द्वारा पूजित समस्त अर्चाविग्रह उन्हीं

में समाये हुए हैं। हृदय में परमात्मा के रूप में विराजमान वे ब्रह्माण्ड के हर व्यक्ति को उसके विशेष कार्य में लगाने वाले हैं और एकमात्र उन्हीं की कृपा से मनुष्य विविध पुण्यकर्म कर सकते हैं तथा उनका फल भोगते हैं। जो व्यक्ति उन्हें पूजता है, वह सारे जीवों को पूजता है। निश्चय ही भगवान् कृष्ण की अग्रपूजा होनी चाहिए।''

सभा का प्राय: हर व्यक्ति सहदेव के प्रस्ताव से सहमत था और सबों ने उच्च स्वर से उन्हें बधाई दी। इस तरह राजा युधिष्ठिर ने प्रसन्नतापूर्वक भगवान् कृष्ण की पूजा की। उन्होंने उनके चरण धोये और चरणोदक को अपने सिर पर छिड़का। उनकी पत्नियों, भाइयों, मंत्रियों तथा सम्बन्धियों ने भी वह चरणोदक अपने अपने सिरों पर छिड़का। फिर सबों ने जय-जयकार की और भगवान् कृष्ण को शीश झुकाया तथा ऊपर से फूलों की वर्षा हुई।

किन्तु श्रीकृष्ण की यह पूजा तथा यशोगान शिशुपाल से सहन न हो पाया। वह अपने आसन से उठ कर खड़ा हो गया और कृष्ण को अग्रपूजा के लिए चुनने के हेतु अपने बुद्धिमान अग्रजों को बुरी तरह से फटकारने लगा। उसने कहा, ''यह कृष्ण वैदिक वर्णाश्रम धर्म तथा सम्मान्य परिवारों के समाज से बाहर है। यह न तो किसी धर्म का पालन करता है, न इसमें सद्गुण ही हैं।''

जब शिशुपाल इस प्रकार से भगवान् कृष्ण की अवमानना किये जा रहा था, तो वे मौन रहे। किन्तु सभा के अनेक सदस्य अपने कान मूँदकर सभाभवन से बाहर चले गये जबकि पाण्डवों ने अपने हथियार उठाकर शिशुपाल को मार डालने की तैयारी कर ली। कृष्ण ने उन्हें ऐसा करने से रोका, किन्तु उन्होंने स्वयं ही अपने सुदर्शन चक्र से उसका सिर काट लिया। उस समय शिशुपाल के मृत शरीर से एक तेज पुंज निकला और वह भगवान् कृष्ण के दिव्य शरीर में प्रविष्ट हो गया। तीन जन्मों तक भगवान् का शत्रु बन कर जीवित रहने के बाद अब जाकर शिशुपाल को निरन्तर भगवान् कृष्ण का ध्यान करते रहने से *सायुज्य* मुक्ति प्राप्त हुई।

तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिर ने सभा के पूज्य अतिथियों तथा पुरोहितों को प्रचुर भेंटें दीं और अन्त में *प्रायश्चित्त होम* किया, जिससे यज्ञ के समय हुई त्रुटियों का शमन हो सके। अब जबकि युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ पूरा हो गया था, तो कृष्ण ने राजा से विदा ली और अपनी पत्नियों तथा मंत्रियों को साथ लेकर द्वारका के लिए प्रस्थान किया।

दुर्योधन से राजा युधिष्ठिर की सम्पन्नता का यह विराट प्रदर्शन सहन न हो सका, किन्तु उसके अतिरिक्त हर व्यक्ति ने राजसूय यज्ञ की और समस्त यज्ञों के स्वामी श्रीकृष्ण की महिमाओं की प्रसन्नतापूर्वक बड़ाई की।

श्रीशुक उवाच
एवं युधिष्ठिरो राजा जरासन्धवधं विभोः ।
कृष्णस्य चानुभावं तं श्रुत्वा प्रीतस्तमब्रवीत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; युधिष्ठिरः—युधिष्ठिर; राजा—राजा; जरासन्ध-वधम्—जरासन्ध का वध; विभोः—सर्वशक्तिमान का; कृष्णस्य—कृष्ण का; च—तथा; अनुभावम्—बल (का प्रदर्शन); तम्—उसको; श्रुत्वा—सुनकर; प्रीतः—प्रसन्न; तम्—उनसे; अब्रवीत्—बोले।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार जरासन्ध वध तथा सर्वशक्तिमान कृष्ण की अद्भुत शक्ति के विषय में भी सुनकर राजा युधिष्ठिर ने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक भगवान् से इस प्रकार कहा।

श्रीयुधिष्ठिर उवाच
ये स्युस्त्रैलोक्यगुरवः सर्वे लोका महेश्वराः ।
वहन्ति दुर्लभं लब्ध्वा शिरसैवानुशासनम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-युधिष्ठिरः उवाच—श्री युधिष्ठिर ने कहा; ये—जो; स्युः—हैं; त्रै-लोक्य—तीनों लोकों के; गुरवः—गुरु; सर्वे—सारे; लोकाः—लोकों (के निवासी); महा-ईश्वराः—तथा महान् नियन्ता देवता; वहन्ति—ले जाते हैं; दुर्लभम्—विरले ही प्राप्य; लब्ध्वा—प्राप्त करके; शिरसा—सिरों के बल; एव—निस्सन्देह; अनुशासनम्—(आपका) आदेश।

श्री युधिष्ठिर ने कहा : तीनों लोकों के प्रतिष्ठित गुरु तथा विभिन्न लोकों के निवासी एवं शासक आपके आदेश को, जो विरले ही किसी को मिलता है, सिर-आँखों पर लेते हैं।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने महाराज युधिष्ठिर के कथन को निम्नवत् उद्धृत किया है, ''हे कृष्ण! हे सच्चिदानन्द स्वरूप! इस भौतिक जगत के कार्य-व्यापार के सभी पूज्य संचालक जिनमें ब्रह्मा, शिव तथा इन्द्र सम्मिलित हैं, आपका आदेश प्राप्त करने और उसको पूरा करने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं और जब ऐसा आदेश प्राप्त करने का उन्हें सौभाग्य प्राप्त होता है, तो वे उन आदेशों को तुरन्त ग्रहण करके उन्हें अपने हृदयों में धारण कर लेते हैं।''

स भवानरविन्दाक्षो दीनानामीशमानिनाम् ।
धत्तेऽनुशासनं भूमंस्तदत्यन्तविडम्बनम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सः—वही; भवान्—आप; अरविन्द-अक्षः—कमल-नेत्र भगवान्; दीनानाम्—उनके, जो कि दुखी हैं; ईश—शासक; मानिनाम्—मानने वालों के; धत्ते—अपने ऊपर लेते हैं; अनुशासनम्—आदेश; भूमन्—हे सर्वव्यापी; तत्—वह; अत्यन्त—बहुत बड़ा; विडम्बनम्—आडम्बर, धोखा।

वही कमल-नेत्र भगवान् आप उन दीन मूर्खों के आदेशों को स्वीकार करते हैं, जो अपने आपको शासक मान बैठते हैं, जबकि हे सर्वव्यापी, यह आपके पक्ष में महान् आडम्बर है।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं "[युधिष्ठिर ने कहा] : हे कृष्ण, आप अनन्त हैं और यद्यपि हम अपने आपको कभी कभी संसार का राजा तथा शासक मानते हैं और अपने तुच्छ पदों पर इतराने लगते हैं, किन्तु हमारे हृदय अत्यन्त निर्धन हैं। वस्तुत: हम आपके द्वारा दण्डित किये जाने के योग्य हैं। किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि आप हमें दण्डित करने की बजाय अत्यन्त कृपापूर्वक हमारे आदेशों को मान कर उनका समुचित ढंग से निर्वहन करते हैं। अन्य लोगों को अत्यन्त आश्चर्य होता है कि आप एक सामान्य मनुष्य की भूमिका निभा सकते हैं, किन्तु हम समझते हैं कि आप ये सारे कार्य एक नट (नाटक के कलाकार) की भाँति करते हैं।"

न ह्येकस्याद्वितीयस्य ब्रह्मण: परमात्मन: ।
कर्मभिर्वर्धते तेजो ह्रसते च यथा रवे: ॥ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; एकस्य—एक का; अद्वितीयस्य—अद्वितीय का; ब्रह्मणः—ब्रह्म; परम-आत्मनः—परमात्मा; कर्मभिः—कर्मों से; वर्धते—बढ़ता है; तेजः—बल, तेज; ह्रसते—घटता है; च—तथा; यथा—जिस तरह; रवेः—सूर्य का।

किन्तु वस्तुत: परम सत्य, परमात्मा, अद्वितीय आदि पुरुष का तेज उनके कर्मों से न तो किसी प्रकार बढ़ता है, न घटता है, जिस प्रकार सूर्य का तेज उसकी गति से घटता-बढ़ता नहीं है।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद अपनी पुस्तक *श्रीकृष्ण* में लिखते हैं "[राजा युधिष्ठिर ने कहा] आपकी वास्तविक स्थिति सदैव उच्चस्थ है, ठीक सूर्य के समान, जो अपने उदय और अस्त होते समय एक ही तापमान पर बना रहता है। यद्यपि उदय होते और अस्तमान सूर्य के बीच तापमान में हम अन्तर अनुभव करते हैं तथापि सूर्य का तापमान कभी बदलता नहीं। आप सदैव दिव्यरूप से सम अवस्था में रहते हैं, अत: आप भौतिक कार्यकलापों की किसी भी परिस्थिति से प्रसन्न अथवा बेचैन नहीं होते। आप

परब्रह्म, भगवान् हैं और आपके लिए कोई सपिक्षता नहीं होती हैं।''

श्रील श्रीधर स्वामी भी वैदिक मंत्रों में से ऐसा ही कथन उद्धृत करते हैं *न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्* (शतपथ ब्राह्मण १.७.२.२८, तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१२.९.७ तथा बृहदारण्यक उपनिषद् ..२३)—वे अपने कर्मों से न तो बढ़ ाते हैं, न ही घटाते हैं। जैसाकि यहाँ पर राजा युधिष्ठिर ने बतलाया है, भगवान् अद्वय हैं। उनकी समानता करने वाला कोई अन्य जीव नहीं है और यह तो उनकी अहैतुकी कृपा ही है कि वे महाराज युधिष्ठिर जैसे अपने शुद्ध भक्त के आदेशों को मानने के लिए तैयार हो जाते हैं। जब वे अपने शरणागत भक्तों पर अपनी अहैतुकी कृपा प्रदर्शित करते हैं, तो निश्चित ही इससे भगवान् के पद में कोई कमी नहीं आती।

न वै तेऽजित भक्तानां ममाहमिति माधव ।
त्वं तवेति च नानाधीः पशूनामिव वैकृती ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वै—निस्सन्देह; ते—तुम्हारा; अजित—हे अजेय; भक्तानाम्—भक्तों के; मम अहम् इति—''मेरा तथा मैं''; माधव—हे कृष्ण; त्वम् तव इति—''तुम और तुम्हारा''; च—तथा; नाना—अन्तरों की; धीः—प्रवृत्ति; पशूनाम्—पशुओं की; इव—मानो; वैकृती—विकृत।.

हे अजित माधव, आपके भक्त तक ''मैं तथा मेरा'' और ''तुम तथा तुम्हारा'' में कोई अन्तर नहीं मानते, क्योंकि यह तो पशुओं की विकृत प्रवृत्ति है।

तात्पर्य : एक सामान्य व्यक्ति सोचता है ''मैं इतना सुन्दर, बुद्धिमान तथा धनी हूँ कि सारे लोग मेरी सेवा करें और वही करें जो मैं चाहूँ। मैं किसी दूसरे की आज्ञा क्यों मानूँ?'' यह दर्पपूर्ण अलगाववादी प्रवृत्ति पशुओं में भी पाई जाती है, जो श्रेष्ठता के लिए एक-दूसरे से लड़ते रहते हैं। किन्तु उच्चस्थ भक्त के मन में ऐसी प्रवृत्ति का स्पष्टतया अभाव रहता है और सर्वज्ञ तथा दिव्य भगवान् में यह प्रवृत्ति निश्चित रूप से अनुपस्थित रहती है।

श्रीशुक उवाच
इत्युक्त्वा यज्ञिये काले वव्रे युक्तान्स ऋत्विजः ।
कृष्णानुमोदितः पार्थो ब्राह्मणान्ब्रह्मवादिनः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कह कर; यज्ञिये—यज्ञ के अनुकूल; काले—समय पर; वव्रे—चुना; युक्तान्—उपयुक्त; सः—उसने; ऋत्विजः—यज्ञ कराने वाले पुरोहित; कृष्ण—कृष्ण द्वारा; अनुमोदितः—स्वीकृत; पार्थः—पृथा-पुत्र (युधिष्ठिर) ने; ब्राह्मणान्—ब्राह्मणों को; ब्रह्म—वेदों के; वादिनः—कुशल विद्वान।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : यह कह कर राजा युधिष्ठिर ने तब तक प्रतीक्षा की जब तक यज्ञ का उपयुक्त समय निकट नहीं आ गया। तब उन्होंने भगवान् कृष्ण की अनुमति से यज्ञ कराने के लिए उन उपयुक्त पुरोहितों का चुनाव किया, जो कुशल विद्वान थे।

तात्पर्य : *भागवत* के महान् टीकाकार श्रीधर स्वामी की व्याख्या है कि यहाँ पर उल्लिखित यज्ञ का उपयुक्त समय वसन्त था।

द्वैपायनो भरद्वाजः सुमन्तुर्गोतमोऽसितः ।
वसिष्ठश्च्यवनः कण्वो मैत्रेयः कवषस्त्रितः ॥ ७॥
विश्वामित्रो वामदेवः सुमतिर्जैमिनिः क्रतुः ।
पैलः पराशरो गर्गो वैशम्पायन एव च ॥ ८॥
अथर्वा कश्यपो धौम्यो रामो भार्गव आसुरिः ।
वीतिहोत्रो मधुच्छन्दा वीरसेनोऽकृतव्रणः ॥ ९॥

शब्दार्थ

द्वैपायनः भरद्वाजः—द्वैपायन (व्यासदेव) तथा भरद्वाज; सुमन्तुः गोतमः असितः—सुमन्तु, गोतम तथा असित; वसिष्ठः च्यवनः कण्वः—वशिष्ठ, च्यवन तथा कण्व; मैत्रेयः कवषः त्रितः—मैत्रेय, कवष तथा त्रित; विश्वामित्रः वामदेवः—विश्वामित्र तथा वामदेव; सुमतिः जैमिनिः क्रतुः—सुमति, जैमिनि तथा क्रतु; पैलः पराशरः गर्गः—पैल, पराशर तथा गर्ग; वैशम्पायनः—वैशम्पायन; एव च—भी; अथर्वा कश्यपः धौम्यः—अथर्वा, कश्यप तथा धौम्य; रामः भार्गवः—भृगुवंशी परशुराम; आसुरिः—आसुरि; वीतिहोत्रः मधुच्छन्दाः—वीतिहोत्र तथा मधुच्छन्दा; वीरसेनः अकृतव्रणः—वीरसेन तथा अकृतव्रणः।

उन्होंने कृष्णद्वैपायन, भरद्वाज, सुमन्त, गोतम तथा असित के साथ ही वसिष्ठ, च्यवन, कण्व, मैत्रेय, कवष तथा त्रित को चुना। उन्होंने विश्वामित्र, वामदेव, सुमति, जैमिनि, क्रतु, पैल तथा पराशर एवं गर्ग, वैशम्पायन, अथर्वा, कश्यप, धौम्य, भृगुवंशी परशुराम, आसुरि, वीतिहोत्र, मधुच्छन्दा, वीरसेन तथा अकृतव्रण को भी चुना।

तात्पर्य : राजा युधिष्ठिर ने इन उच्च ब्राह्मणों को पुरोहितों, सलाहकारों इत्यादि विविध पदों पर कार्य करने के लिए आमंत्रित किया।

उपहूतास्तथा चान्ये द्रोणभीष्मकृपादयः ।
धृतराष्ट्रः सहसुतो विदुरश्च महामतिः ॥ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा यज्ञदिदृक्षवः ।

तत्रेयुः सर्वराजानो राज्ञां प्रकृतयो नृप ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

उपहूताः—आमंत्रित; तथा—भी; च—और; अन्ये—अन्य; द्रोण-भीष्म-कृप-आदयः—द्रोण, भीष्म, कृप इत्यादि; धृतराष्ट्रः—धृतराष्ट्र; सह-सुतः—पुत्रों सहित; विदुरः—विदुर; च—तथा; महा-मतिः—अत्यन्त बुद्धिमान; ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्राः—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रगण; यज्ञ—यज्ञ; दिदृक्षवः—देखने के लिए उत्सुक; तत्र—वहाँ; ईयुः—आये; सर्व—सारे; राजानः—राजा; राज्ञाम्—राजाओं के; प्रकृतयः—दल-बल सहित; नृप—हे राजन्।

हे राजन्, जिन अन्य लोगों को आमंत्रित किया गया था उनमें द्रोण, भीष्म, कृप, पुत्रों सहित धृतराष्ट्र, महामति विदुर तथा यज्ञ देखने के लिए उत्सुक अन्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सम्मिलित थे। हाँ, सारे राजा दल-बल सहित वहाँ पधारे थे।

ततस्ते देवयजनं ब्राह्मणाः स्वर्णलाङ्गलैः ।
कृष्ट्वा तत्र यथाम्नायं दीक्षयां चक्रिरे नृपम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; ते—उन; देव-यजनम्—देवताओं के पूजा-स्थल को; ब्राह्मणाः—ब्राह्मणों ने; स्वर्ण—सोने के; लाङ्गलैः—हलों से; कृष्ट्वा—जोत कर; तत्र—वहाँ; यथा-आम्नायम्—प्रामाणिक अधिकारियों के अनुसार; दीक्षयाम् चक्रिरे—दीक्षा दी; नृपम्—राजाओं को।

तत्पश्चात् ब्राह्मण पुरोहितों ने यज्ञस्थली की सोने के हल से जुताई की और प्रामाणिक विद्वानों द्वारा नियत प्रथाओं के अनुसार यज्ञ के लिए राजा युधिष्ठिर को दीक्षा दी।

हैमाः किलोपकरणा वरुणस्य यथा पुरा ।
इन्द्रादयो लोकपाला विरिञ्चिभवसंयुताः ।
सगणाः सिद्धगन्धर्वा विद्याधरमहोरगाः ॥ १३ ॥
मुनयो यक्षरक्षांसि खगकिन्नरचारणाः ।
राजानश्च समाहूता राजपत्न्यश्च सर्वशः ॥ १ ॥
राजसूयं समीयुः स्म राज्ञः पाण्डुसुतस्य वै ।
मेनिरे कृष्णभक्तस्य सूपपन्नमविस्मिताः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

हैमाः—सोने के बने; किल—निस्सन्देह; उपकरणाः—बर्तन; वरुणस्य—वरुण के; यथा—जिस तरह; पुरा—प्राचीनकाल में; इन्द्र-आदयः—इन्द्र इत्यादि; लोक-पालाः—लोकों के शासनकर्ता; विरिञ्चि-भव-संयुताः—ब्रह्मातथा शिव समेत; स-गणाः—उनके सेवकों सहित; सिद्ध-गन्धर्वाः—सिद्ध तथा गन्धर्वगण; विद्याधर—विद्याधर; महा-उरगाः—तथा महान् सर्पगण; मुनयः—मुनिगण; यक्ष-रक्षांसि—यक्ष तथा राक्षसगण; खग-किन्नर-चारणाः—दैवी पक्षी, किन्नर तथा चारण; राजानः—राजा; च—तथा; समाहूताः—बुलाये गये; राज—राजाओं की; पत्न्यः—पत्नियाँ; च—भी; सर्वशः—सभी स्थानों से; राजसूयम्—राजसूय यज्ञ में; समीयुः स्म—आईं; राज्ञः—राजा के; पाण्डु-सुतस्य—पाण्डु के पुत्रों के; वै—निस्सन्देह; मेनिरे—विचार किया; कृष्ण-भक्तस्य—कृष्णभक्त के लिए; सु-उपपन्नम्—नितान्त उपयुक्त; अविस्मिताः—चकित नहीं।

यज्ञ के निमित्त पात्र सोने के बने थे जिस तरह कि प्राचीनकाल में भगवान् वरुण द्वारा

सम्पन्न हुए यज्ञ में थे। इन्द्र, ब्रह्मा, शिव और अनेक लोकपाल, सिद्ध तथा गन्धर्व एवं उनके पार्षद, विद्याधर, महान् सर्प, मुनि, यक्ष, राक्षस, दैवी पक्षी, किन्नर, चारण तथा पार्थिव राजा— सभी को आमंत्रित किया गया था और वे पाण्डु-पुत्र राजा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सभी दिशाओं से आये भी थे। वे यज्ञ के ऐश्वर्य को देख कर रंचमात्र भी चकित नहीं हुए, क्योंकि कृष्णभक्त के लिए यही सर्वथा उपयुक्त था।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर विश्व-भर में महान् कृष्णभक्त के रूप में विख्यात थे, अतएव उनके लिए कुछ भी असम्भव नहीं था।

अयाजयन्महाराजं याजका देववर्चसः ।
राजसूयेन विधिवत्प्रचेतसमिवामराः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अयाजयन्—यज्ञ सम्पन्न किया; महा-राजम्—महान् राजा के लिए; याजकाः—यज्ञ-पुरोहितों ने; देव—देवताओं के; वर्चसः—बलशाली; राजसूयेन—राजसूय द्वारा; विधि-वत्—वेदों के आदेशानुसार; प्रचेतसम्—वरुण को; इव—जिस तरह; अमराः—देवताओं ने।

देवताओं के सदृश शक्तिसम्पन्न पुरोहितों ने वैदिक आदेशों के अनुसार राजा युधिष्ठिर के लिए उसी तरह राजसूय यज्ञ सम्पादित किया जिस तरह पूर्वकाल में देवताओं ने वरुण के लिए किया था।

सूत्येऽहन्यवनीपालो याजकान्सदसस्पतीन् ।
अपूजयन्महाभागान्यथावत्सुसमाहितः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

सूत्ये—सोमरस निकालने के लिए; अहनि—दिन में; अवनी-पालः—राजा ने; याजकान्—यज्ञ कराने वालों की; सदसः—सभा के; पतीन्—प्रमुखों की; अपूजयत्—पूजा; महा-भागान्—महान्; यथावत्—उचित रीति से; सु-समाहितः—मनोयोग से।

सोमरस निकालने के दिन राजा युधिष्ठिर ने अच्छी तरह तथा बड़े ही ध्यानपूर्वक पुरोहितों की एवं सभा के श्रेष्ठ पुरुषों की पूजा की।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद *श्रीकृष्ण* में लिखते हैं—"वैदिक पद्धति के अनुसार जब भी यज्ञ की व्यवस्था की जाती है तब यज्ञ में भाग लेने वाले सदस्यों को *सोम* नामक पौधे का रस पिलाया जाता है। सोमरस एक प्रकार का प्राणदायक पेय है। सोमरस निकालने के दिन महाराज युधिष्ठिर ने उस विशिष्ट पुजारी का सादर स्वागत किया जिसे यज्ञ सम्बन्धी विधियों की औपचारिक त्रुटियाँ ढूँढ़

निकालने के लिए लगाया गया था। भाव यह है कि वैदिक मंत्रों का सही ढंग से उच्चारण किया जाना चाहिए और सही स्वराघात के साथ जाप किया जाना चाहिए। यदि इस कार्य में लगे पुजारीगण कोई त्रुटि करते हैं, तो जाँच करने वाला या निर्णायक पुजारी तुरन्त सुधार कर देता है, जिससे नियत कर्मकाण्ड सही ढंग से सम्पन्न हो जाता है। जब तक यज्ञ को सही ढंग से सम्पन्न नहीं किया जाता तब तक यज्ञ से वांछित फल प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस कलिकाल में ऐसा कोई विद्वान ब्राह्मण या पुरोहित उपलब्ध नहीं इसीलिए ऐसे यज्ञ करने की मनाही है। शास्त्रों में जिस एकमात्र यज्ञ की संस्तुति हुई है, वह है *हरे कृष्ण मन्त्र* का कीर्तन।''

सदस्याछ्यार्हणार्हं वै विमृशन्तः सभासदः ।
नाध्यगच्छन्नैकान्त्यात्सहदेवस्तदाब्रवीत् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सदस्य—सभा का सदस्य; अछ्य—प्रथम; अर्हण—पूजा; अर्हम्—पात्र; वै—निस्सन्देह; विमृशन्तः—विचार-विमर्श करते हुए; सभा—सभा में; सदः—आसीन; न अध्यगच्छन्—किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाये; अनैक-अन्त्यात्—बड़ी संख्या होने से (योग्य पात्रों के); सहदेवः—महाराज युधिष्ठिर का छोटा भाई सहदेव; तदा—तब; अब्रवीत्—बोला।

तब सभासदों ने विचार-विमर्श किया कि उनमें से किसकी सबसे पहले पूजा की जाय। किन्तु क्योंकि अनेक व्यक्ति इस सम्मान के योग्य थे अतः वे निश्चय कर पाने में असमर्थ थे। अन्त में सहदेव बोल पड़े।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''दूसरी महत्त्वपूर्ण विधि है कि ऐसे यज्ञ-उत्सव की सभा में अत्यन्त योग्य महापुरुष की सबसे पहले पूजा की जाय। यह विशेष उत्सव *अग्र-पूजा* कहलाता है। *अग्र* का अर्थ है ''पहला'' और *पूजा* का अर्थ है ''पूजा।'' यह अग्रपूजा राष्ट्रपति के चुनाव की तरह है। उस यज्ञ-उत्सव में सारे सदस्य अत्यन्त सुयोग्य थे। अग्रपूजा के लिए किसी ने किसी का नाम प्रस्तावित किया और किसी ने अन्य किसी का।''

जैसाकि महान् आचार्य जीव गोस्वामी इंगित करते हैं, इस अध्याय का श्लोक १५ बतलाता है कि सभा के सदस्य यज्ञ के ऐश्वर्य को देख कर चकित नहीं थे क्योंकि वे जानते थे कि राजा युधिष्ठिर कृष्णभक्त थे। तो भी श्लोक १८ बतलाता है कि सभा अग्रपूजा के लिए सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्ति का चुनाव नहीं कर सकी। इससे सूचित होता है कि वहाँ पर उपस्थित कई ब्राह्मण स्वरूपसिद्ध अध्यात्मवादी नहीं थे अपितु वे रूढ़िवादी ब्राह्मण थे, जो वैदिक-ज्ञान के परम निर्णय के प्रति अनिश्चित

थे।

इसी तरह आचार्य विश्वनाथ टीका करते हैं कि सभा के अस्थिरचित्त वाले सदस्य अल्पज्ञ थे, वे ब्रह्मा, शिव तथा द्वैपायन व्यासदेव जैसे महापुरुष नहीं थे, जो सोच रहे थे, "चूँकि कोई हमारा मत नहीं जानना चाहता तो हम कुछ क्यों कहें? यही नहीं, उनमें सहदेव हैं, जो सभी परिस्थितियों का विश्लेषण करने में अपनी तीक्ष्ण सलाह के लिए विख्यात हैं। वे अग्रपूजा के लिए व्यक्ति का चुनाव करने में सहायता दे सकते हैं। यदि वे किसी कारणवश ऐसा नहीं करते या परिस्थिति को समझ नहीं सकते तभी बिना किसी के पूछे जाने पर हम बोलेंगे।" इस तरह अपने मन को स्थिर करके सारे महापुरुष मौन रहे। उस सभा में जो हुआ उसे समझने के लिए श्रील विश्वनाथ यही जानकारी देते हैं।

अर्हति ह्यच्युतः श्रैष्ठ्यं भगवान्सात्वतां पतिः ।
एष वै देवताः सर्वा देशकालधनादयः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अर्हति—योग्य है; हि—निस्सन्देह; अच्युतः—अच्युत कृष्ण; श्रैष्ठ्यम्—श्रेष्ठ पद; भगवान्—भगवान्; सात्वताम्—यादवों के; पतिः—प्रधान; एषः—वह; वै—निश्चय ही; देवताः—देवतागण; सर्वाः—सभी; देश—स्थान (यज्ञ के लिए); काल—समय; धन—भौतिक साज-सामान; आदयः—इत्यादि।

[सहदेव ने कहा]: निश्चय ही भगवान् अच्युत तथा यादवों के प्रमुख ही इस सर्वोच्च पद के योग्य हैं। सच तो यह है कि वे यज्ञ में पूजे जाने वाले समस्त देवताओं से तथा साथ ही पूजा के पवित्र स्थान, समय तथा साज-सामान जैसे पक्षों से समन्वित हैं।

यदात्मकमिदं विश्वं क्रतवश्च यदात्मकाः ।
अग्निराहुतयो मन्त्रा साङ्ख्यं योगश्च यत्परः ॥ २० ॥
एक एवाद्वितीयोऽसावैतदात्म्यमिदं जगत् ।
आत्मनात्माश्रयः सभ्याः सृजत्यवति हन्त्यजः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यत्-आत्मकम्—जिस पर टिका; इदम्—यह; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; क्रतवः—बड़े बड़े यज्ञों का सम्पन्न किया जाना; च—तथा; यत्-आत्मकाः—जिस पर टिका; अग्निः—पवित्र अग्नि; आहुतयः—आहुतियाँ; मन्त्राः—मंत्र; साङ्ख्यम्—दार्शनिक खोज का सिद्धान्त; योगः—ध्यान की कला; च—तथा; यत्—जिस पर; परः—लक्षित; एकः—एक; एव—अकेला; अद्वितीयः—अद्वितीय; असौ—वह; ऐतत्-आत्म्यम्—अपने माध्यम से (अर्थात् अपनी शक्तियों से); इदम्—यह; जगत्—संसार; आत्मना—अपने द्वारा (अर्थात् शक्तियों से); आत्म—स्वयं ही; आश्रयः—उनका आश्रय पाकर; सभ्याः—हे सभा के सदस्यो; सृजति—उत्पन्न करता है; अवति—पालता है; हन्ति—तथा संहार करता है; अजः—अजन्मा।

यह समस्त ब्रह्माण्ड उन्हीं पर टिका है और वैसे ही महान् यज्ञों का सम्पन्न किया जाना,

उनकी पवित्र अग्नियाँ, आहुतियाँ तथा मंत्र भी उन्हीं पर टिकी हैं। सांख्य तथा योग दोनों ही उन अद्वितीय को अपना लक्ष्य बनाते हैं। हे सभासदो, वह अजन्मा भगवान् एकमात्र अपने पर निर्भर रहते हुए इस जगत को अपनी निजी शक्तियों से उत्पन्न करता है, पालता और विनष्ट करता है। इस तरह इस ब्रह्माण्ड का अस्तित्व एकमात्र उन्हीं पर निर्भर करता है।

विविधानीह कर्माणि जनयन्यदवेक्षया ।
ईहते यदयं सर्वः श्रेयो धर्मादिलक्षणम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

विविधानि—विविध; इह—इस संसार में; कर्माणि—भौतिक कर्म; जनयन्—उत्पन्न करते हुए; यत्—जिसके द्वारा; अवेक्षया—कृपा; ईहते—प्रयत्न करते हैं; यत्—जो; अयम्—यह संसार; सर्वः—सारा; श्रेयः—आदर्शों के लिए; धर्म-आदि—धार्मिकता इत्यादि; लक्षणम्—लक्षण।

वे इस जगत में विविध कर्मों को उत्पन्न करते हैं और इस तरह उनकी ही कृपा से सारा संसार धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के आदर्शों के लिए प्रयत्नशील रहता है।

तस्मात्कृष्णाय महते दीयतां परमार्हणम् ।
एवं चेत्सर्वभूतानामात्मनश्चार्हणं भवेत् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; कृष्णाय—कृष्ण को; महते—परम; दीयताम्—दिया जाना चाहिए; परम—सर्वोच्च; अर्हणम्—सम्मान; एवम्—इस प्रकार; चेत्—यदि; सर्व—समस्त; भूतानाम्—जीवों का; आत्मनः—अपने; च—तथा; अर्हणम्—आदर करना; भवेत्—होगा।

इसलिए हमें चाहिए कि भगवान् कृष्ण को सर्वोच्च सम्मान दें। यदि हम ऐसा करते हैं, तो हम सारे जीवों का सम्मान तो करेंगे ही, साथ ही अपने आपको भी सम्मान देंगे।

सर्वभूतात्मभूताय कृष्णायानन्यदर्शिने ।
देयं शान्ताय पूर्णाय दत्तस्यानन्त्यमिच्छता ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सर्व—सारे; भूत—जीवों का; आत्म—आत्मा; भूताय—से युक्त; कृष्णाय—कृष्ण को; अनन्य—कभी भी पृथक् के रूप में नहीं; दर्शिने—द्रष्टा; देयम्—(मान) दिया जाय; शान्ताय—शान्त रहने वाले को; पूर्णाय—पूर्ण को; दत्तस्य—दिये हुए का; आनन्त्यम्—असीम वृद्धि; इच्छता—चाहने वाले के द्वारा।

जो भी व्यक्ति यह चाहता हो कि दिये गये सम्मान का असीम प्रतिदान मिले उसे कृष्ण का सम्मान करना चाहिए जो पूर्णतया शान्त हैं, समस्त जीवों की पूर्ण आत्मा भगवान् हैं और जो किसी भी वस्तु को अपने से पृथक् नहीं मानते।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद इस प्रकार लिखते हैं, "[सहदेव ने कहा] देवियो और सज्जनो! श्रीकृष्ण के विषय में चर्चा करना अनावश्यक है, क्योंकि आप सभी श्रेष्ठजन परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण को जानते हैं। श्रीकृष्ण के लिए शरीर एवं आत्मा, शक्ति एवं शक्तिमान, अथवा शरीर के विभिन्न अंगों के बीच कोई विशेष भौतिक अन्तर नहीं है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति कृष्ण का ही अंश है, अतः कृष्ण तथा अनेक जीवों में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं है। प्रत्येक वस्तु कृष्ण की भौतिक एवं दिव्य शक्तियों से उद्भूत है। श्रीकृष्ण की शक्तियाँ अग्नि की उष्मा तथा प्रकाश के समान हैं। उष्मा एवं प्रकाश तथा स्वयं अग्नि के गुण में कोई अन्तर नहीं होता, अतएव महायज्ञ की अग्रपूजा कृष्ण को अर्पित करनी चाहिए और किसी भी व्यक्ति को इससे असहमत नहीं होना चाहिए—परम आत्मा के रूप में श्रीकृष्ण प्रत्येक जीवात्मा में विद्यमान हैं और यदि हम उन्हें सन्तुष्ट कर सकते हैं, तो स्वयं ही प्रत्येक जीवात्मा सन्तुष्ट हो जायेगा।"

इत्युक्त्वा सहदेवोऽभूत्तूष्णीं कृष्णानुभाववित् ।
तच्छ्रुत्वा तुष्टुवुः सर्वे साधु साध्विति सत्तमाः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कह कर; सहदेवः—सहदेव; अभूत्—हो गये; तूष्णीम्—मौन; कृष्ण—कृष्ण का; अनुभाव—प्रभाव; वित्—अच्छी तरह जानने वाला; तत्—यह; श्रुत्वा—सुन कर; तुष्टुवुः—प्रशंसा की; सर्वे—समस्त; साधु साधु इति—'बहुत अच्छा' 'बहुत अच्छा'; सत्—सन्त-पुरुषों में; तमाः—सर्वश्रेष्ठ।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : यह कह कर, भगवान् कृष्ण की शक्तियों को समझने वाले सहदेव मौन हो गये। और उनके शब्द सुनकर वहाँ पर उपस्थित सभी सज्जनों ने "बहुत अच्छा, बहुत अच्छा" कह कर उन्हें बधाई दी।

श्रुत्वा द्विजेरितं राजा ज्ञात्वा हार्दं सभासदाम् ।
समर्हयद्धृषीकेशं प्रीतः प्रणयविह्वलः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुन कर; द्विज—ब्राह्मणों द्वारा; ईरितम्—कहा गया; राजा—राजा युधिष्ठिर; ज्ञात्वा—जान कर; हार्दम्—मनोभाव; सभा-सदाम्—सभा के सदस्यों के; समर्हयत्—अच्छी तरह पूजा की; हृषीकेशम्—भगवान् कृष्ण की; प्रीतः—प्रसन्न; प्रणय—प्रेम से; विह्वलः—विभोर।

राजा ब्राह्मणों की इस घोषणा से अत्यन्त प्रसन्न हुए क्योंकि वे इससे सम्पूर्ण सभा की मनोदशा को समझ गये। उन्होंने प्रेम से विभोर होकर इन्द्रियों के स्वामी भगवान् कृष्ण की पूजा

की।

तत्पादाववनिज्याप: शिरसा लोकपावनी: ।
सभार्य: सानुजामात्य: सकुटुम्बो वहन्मुदा ॥ २७॥
वासोभि: पीतकौषेयैर्भूषणैश्च महाधनै: ।
अर्हयित्वाश्रुपूर्णाक्षो नाशकत्समवेक्षितुम् ॥ २८॥

शब्दार्थ

तत्—उसको; पादौ—चरणों को; अवनिज्य—धोकर; आप:—जल; शिरसा—अपने सिर पर; लोक—संसार को; पावनी:—पवित्र करने वाली; स—सहित; भार्य:—अपनी पत्नी; स—सहित; अनुज—अपने भाइयों; अमात्य:—तथा अपने मंत्रियों; स—सहित; कुटुम्ब:—अपने परिवार; वहन्—ले जाते हुए; मुदा—हर्षपूर्वक; वासोभि:—वस्त्रों सहित; पीत—पीले; कौषेयै:—रेशमी; भूषणै:—गहनों सहित; च—तथा; महा-धनै:—मूल्यवान; अर्हयित्वा—सम्मान करके; अश्रु—आँसुओं से; पूर्ण—भरे; अक्ष:—नेत्रों से; न अशकत्—वह असमर्थ था; समवेक्षितुम्—उनकी ओर ताकने में।

भगवान् कृष्ण के चरण पखारने के बाद महाराज युधिष्ठिर ने प्रसन्नतापूर्वक उस जल को अपने सिर पर छिड़का और उसके बाद अपनी पत्नी, भाइयों, अन्य पारिवारिक जनों तथा मंत्रियों के सिरों पर छिड़का। वह जल सारे संसार को पवित्र करने वाला है। जब उन्होंने पीले रेशमी वस्त्रों तथा बहुमूल्य रत्नजटित आभूषणों की भेंटों से भगवान् को सम्मानित किया, तो राजा के अश्रुपूरित नेत्र भगवान् को सीधे देख पाने में बाधक बन रहे थे।

इत्थं सभाजितं वीक्ष्य सर्वे प्राञ्जलयो जना: ।
नमो जयेति नेमुस्तं निपेतु: पुष्पवृष्टय: ॥ २९॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; सभाजितम्—सम्मानित हुआ; वीक्ष्य—देख कर; सर्वे—सभी; प्राञ्जलय:—हाथ जोड़े; जना:—लोग; नम:—''आपको नमस्कार''; जय—''जय हो''; इति—इस प्रकार कहते हुए; नेमु:—शीश नवाया; तम्—उसको; निपेतु:—गिरने लगी; पुष्प—फूलों की; वृष्टय:—वर्षा।

कृष्ण को इस तरह सम्मानित होते देखकर वहाँ पर उपस्थित प्राय: सभी लोग सम्मान में अपने हाथ जोड़कर बोल उठे, ''आपको नमस्कार, आपकी जय हो।'' और तब उन्हें शीश नवाया। ऊपर से फूलों की वर्षा होने लगी।

इत्थं निशम्य दमघोषसुत: स्वपीठा-
दुत्थाय कृष्णगुणवर्णनजातमन्यु: ।
उत्क्षिप्य बाहुमिदमाह सदस्यमर्षी
संश्रावयन्भगवते परुषाण्यभीत: ॥ ३०॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; निशम्य—सुन कर; दमघोष-सुतः—दमघोष का पुत्र (शिशुपाल); स्व—अपने; पीठात्—आसन से; उत्थाय—उठ कर; कृष्ण-गुण—भगवान् कृष्ण के गुणों का; वर्णन—वर्णन; जात—उत्पन्न; मन्युः—क्रोध; उत्क्षिप्य—हिलाते हुए; बाहुम्—अपनी भुजाएँ; इदम्—यह; आह—कहा; सदसि—सभा के मध्य; अमर्षी—असहिष्णु; संश्रावयन्—सम्बोधित करते हुए; भगवते—भगवान् पर; परुषाणि—कटु वचन; अभीतः—बिना किसी भय के।

दमघोष का असहिष्णु पुत्र कृष्ण के दिव्यगुणों की प्रशंसा होते सुन कर क्रुद्ध हो उठा। वह अपने आसन से उठ कर खड़ा हो गया और क्रोध से अपने हाथ हिलाते हुए निर्भय होकर सारी सभा के समक्ष भगवान् के विरुद्ध निम्नानुसार कटु शब्द कहने लगा।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''उस सभा में शिशुपाल भी उपस्थित था। अनेक कारणों से वह श्रीकृष्ण का घोर शत्रु मानता था, विशेषकर इसलिए कि श्रीकृष्ण ने विवाहोत्सव से रुक्मिणीदेवी का हरण कर लिया था। इसलिए वह कृष्ण का इतना सम्मान एवं उनके गुणों की प्रशंसा को सहन नहीं कर सका। वह भगवान् की कीर्ति को सुनकर सुखी होने की बजाय अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती उल्लेख करते हैं कि जब सहदेव ने अग्रपूजा के लिए कृष्ण के नाम का प्रस्ताव रखा तो शिशुपाल ने कोई आपत्ति नहीं की क्योंकि वह युधिष्ठिर के यज्ञ का विध्वंस करना चाहता था। यदि शिशुपाल पहले ही कृष्ण के नाम का विरोध करता और कोई अन्य व्यक्ति चुन लिया जाता तब तो यह यज्ञ ठीक से सम्पन्न हो जाता। इसलिए शिशुपाल ने कृष्ण को चुन लिया जाने दिया। उसने पूजा समाप्त होने तक प्रतीक्षा की और तब इस आशा से बोला कि इस प्रकार वह दिखला सकेगा कि यह यज्ञ विध्वंस हो चुका है। इस तरह वह महाराज युधिष्ठिर के प्रयास को नष्ट कर देगा। इस प्रसंग में आचार्य ने 'स्मृति' से निम्नलिखित सन्दर्भ उद्धृत किया है—*अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानां च व्यतिक्रम:* जहाँ अपूज्यों की पूजा होती है, वहाँ असली पूजनीयों की पूजा होना अपराध है। एक अन्य कथन भी है—*प्रतिबध्नाति हि श्रेय: पूज्यापूज्यव्यतिक्रम:* कौन पूज्य है और कौन अपूज्य, इसे ठीक से न समझने से जीवन की प्रगति अवरुद्ध होगी।

ईशो दुरत्ययः काल इति सत्यवती श्रुतिः ।
वृद्धानामपि यद्बुद्धिर्बालवाक्यैर्विभिद्यते ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

ईशः—ईश्वर; दुरत्ययः—जिससे बचा न जा सके; कालः—समय; इति—इस प्रकार; सत्य-वती—सच; श्रुतिः—वेद-वाक्य; वृद्धानाम्—गुरुजनों की; अपि—भी; यत्—चूँकि; बुद्धिः—बुद्धि; बाल—बालक के; वाक्यैः—शब्दों से; विभिद्यते—चकरा जाती है।

[शिशुपाल ने कहा] : वेदों का यह कथन कि समय ही सबका अनिवार्य ईश्वर है निस्सन्देह सत्य सिद्ध हुआ है, क्योंकि बुद्धिमान गुरुजनों की बुद्धि निरे बालक के शब्दों से अब चकरा गई है।

यूयं पात्रविदां श्रेष्ठा मा मन्ध्वं बालभाषीतम् ।
सदसस्पतयः सर्वे कृष्णो यत्सम्मतोऽर्हणे ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यूयम्—तुम सभी; पात्र—योग्यजनों के; विदाम्—जानने वालों के; श्रेष्ठाः—सर्वोत्तम; मा मन्ध्वम्—परवाह न करें; बाल—बालक के; भाषितम्—कथनों को; सदसः-पतयः—हे सभा के नायकों; सर्वे—सभी; कृष्णः—कृष्ण; यत्—क्योंकि; सम्मतः—चुना हुआ; अर्हणे—सम्मान किये जाने हेतु।

हे सभा-नायको, आप लोग अच्छी तरह जानते हैं कि सम्मान किये जाने के लिए उपयुक्त पात्र कौन है। अतः आप लोग इस बालक के वचनों की परवाह न करें कि वह यह दावा कर रहा है कि कृष्ण पूजा के योग्य हैं।

तपोविद्याव्रतधरान्ज्ञानविध्वस्तकल्मषान् ।
परमऋषीन्ब्रह्मनिष्ठाँल्लोकपालैश्च पूजितान् ॥ ३३ ॥
सदस्पतीनतिक्रम्य गोपालः कुलपांसनः ।
यथा काकः पुरोडाशं सपर्यां कथमर्हति ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तपः—तपस्या; विद्या—वैदिक ज्ञान; व्रत—कठिन व्रत; धरान्—धारण करने वाले; ज्ञान—आध्यात्मिक ज्ञान से; विध्वस्त—उन्मूलित; कल्मषान्—जिनके विकार; परम—सर्वोच्च; ऋषीन्—ऋषियों को; ब्रह्म—परम सत्य के प्रति; निष्ठान्—समर्पित; लोक-पालैः—लोकों के शासकों द्वारा; च—तथा; पूजितान्—पूजित; सदः-पतीन्—सभापतियों को; अतिक्रम्य—लाँघ कर; गोपालः—ग्वाला; कुल—अपने कुल का; पांसनः—कलंक; यथा—जिस तरह; काकः—कौवा; पुरोडाशम्—पवित्र खीर (देवताओं को अर्पित की गई); सपर्याम्—पूजा के; कथम्—कैसे; अर्हति—योग्य हो सकता है।

आप लोग इस सभा के सर्वाधिक उन्नत सदस्यों को—ब्रह्म के प्रति समर्पित तपस्या की शक्ति, दैवी अन्तर्दृष्टि तथा कठोर व्रत में लगे रहने वाले, ज्ञान से पवित्र हुए तथा ब्रह्माण्ड के शासकों द्वारा भी पूजित सर्वोच्च ऋषियों को—कैसे छोड़ सकते हैं? यह ग्वालबाल, जो कि अपने कुल के लिए कलंक है, आप लोगों की पूजा के योग्य कैसे हो सकता है? क्या कौवा पवित्र प्रसाद की खीर खाने का पात्र बन सकता है?

तात्पर्य : महान् टीकाकार श्रीधर स्वामी ने शिशुपाल के शब्दों का विश्लेषण इस प्रकार से किया है—*गोपाल* शब्द का अर्थ न केवल "ग्वाला" होता है अपितु "वेदों तथा पृथ्वी का रक्षक" भी है।

इसी प्रकार *कुल-पांसन* के दो अर्थ हैं। शिशुपाल इस शब्द से ''अपने कुल का कलंक'' कहना चाह रहा था, जो अर्थ इस तरह विग्रह करने से निकलता है, किन्तु इसका विश्लेषण *कु-लपाम् अंसन* के रूप में करने से सर्वथा भिन्न अर्थ निकलता है। *कुलपाम्* उनका सूचक है, जो वेदों के विपरीत कुटिल शब्दों से खिलवाड़ करते हैं। *अंसन* की व्युत्पत्ति *अंसयति* क्रिया से है, जिसका अर्थ है ''नष्ट करने वाला।'' दूसरे शब्दों में वह भगवान् कृष्ण की प्रशंसा इस रूप में कर रहा था:''वह जो सत्य की प्रकृति के बारे में सारे भ्रान्त तथा बेहूदे अनुमानों को दूर कर देता है।'' इसी प्रकार यद्यपि शिशुपाल *यथा अकाक:* द्वारा भगवान् कृष्ण की तुलना कौवे से करना चाह रहा था किन्तु इन शब्दों का भी विग्रह *यथा-काक:* के रूप में किया जा सकता है। उस दशा में, श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *काक* शब्द *क* तथा *आक* के संयोग से बना है, जो भौतिक सुख तथा दुख को सूचित करते हैं। इस तरह भगवान् कृष्ण इस दृष्टि से *अकाक* हैं, क्योंकि वे शुद्ध दिव्य पद पर होने से समस्त भौतिक दुख तथा सुख से परे हैं। अन्त में, शिशुपाल का यह कहना ठीक था कि कृष्ण केवल *पुरोडाश* के ही पात्र न थे, जो छोटे देवों को सोम रस के स्थान पर दिया जाता है वस्तुत: भगवान् कृष्ण हमारे पास की हर वस्तु प्राप्त करने के पात्र हैं, क्योंकि वे हर वस्तु के, जिसमें हम भी सम्मिलित हैं, चरम स्वामी हैं। अत: हमें चाहिए कि हम अपना जीवन उन्हें दें, न कि केवल पुरोडाश की औपचारिक भेंट।

वर्णाश्रमकुलापेत: सर्वधर्मबहिष्कृत: ।
स्वैरवर्ती गुणैर्हीन: सपर्यां कथमर्हति ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

वर्ण—जाति; आश्रम—चार आध्यात्मिक आश्रम; कुल—तथा परिवार से; अपेत:—विहीन; सर्व—सभी; धर्म—धार्मिक कर्तव्य के नियम; बहि:-कृत:—बाहर किया गया; स्वैर—स्वतंत्र रूप से; वर्ती—आचरण करता हुआ; गुणै:—गुणों से; हीन:—रहित; सपर्याम्—पूजा; कथम्—कैसे; अर्हति—योग्य है।

जो वर्ण तथा आश्रम के या पारिवारिक शिष्टाचार के किसी भी सिद्धान्त का पालन नहीं करता, जो सारे धार्मिक कर्तव्यों से बहिष्कृत कर दिया गया है, जो मनमाना आचरण करता है तथा जिसमें कोई सद्गुण नहीं है, भला ऐसा व्यक्ति किस तरह पूजा किये जाने योग्य हो सकता है?

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद की टीका है ''वास्तव में श्रीकृष्ण की न तो कोई जाति है न उसे किसी वृत्तिपरक कर्तव्य का पालन करना पड़ता है। वेदों में यह कहा गया है कि परमेश्वर को एक भी

निर्धारित कर्तव्य नहीं करना पड़ता। उन्हें जो कुछ भी करना होता है, उसे उनकी विभिन्न शक्तियाँ सम्पन्न करती हैं...शिशुपाल ने परोक्ष में यह कहकर कृष्ण की प्रशंसा की कि वे वैदिक आदेश की सीमा के भीतर नहीं रहते। यह सत्य है क्योंकि वे भगवान् हैं। उनके कुछ भी गुण नहीं हैं का अर्थ है कि श्रीकृष्ण के एक भी भौतिक गुण नहीं हैं। क्योंकि वे भगवान् हैं अतएव वे परम्परा या सामाजिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों की परवाह किये बिना स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं।''

ययातिनैषां हि कुलं शप्तं सद्भिर्बहिष्कृतम् ।
वृथापानरतं शश्वत्सपर्यां कथमर्हति ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

ययातिना—ययाति द्वारा; एषाम्—उनका; हि—निस्सन्देह; कुलम्—कुल; शप्तम्—शापित; सद्भिः—शिष्ट लोगों द्वारा; बहिः-कृतम्—निकाला हुआ; वृथा—व्यर्थ; पान—सुरापान; रतम्—लत लगी हुई; शश्वत्—सदैव; सपर्याम्—पूजा के लिए; कथम्—कैसे; अर्हति—वह योग्य है।

ययाति ने इन यादवों के कुल को शाप दिया था, तभी से ये लोग ईमानदार व्यक्तियों द्वारा बहिष्कृत कर दिये गये और इन्हें सुरापान की लत पड़ गई। तब भला कृष्ण पूजा के योग्य कैसे है?

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने शिशुपाल के वचनों का श्लिष्ट अर्थ यह दिखाने के लिए दिया है कि वह किस तरह कृष्ण तथा उनके यदुवंश की अनचाहे प्रशंसा करता रहा, ''यद्यपि यदुवंशियों को ययाति ने शाप दिया था किन्तु महान् सन्तों द्वारा वे इस शाप से मुक्त किये जा चुके थे (बहिष्कृतम्) जिसके फलस्वरूप कार्तवीर्य जैसे पुरुषों द्वारा राज-पद तक ऊपर ले जाये गये थे। इस तरह वे *पान* अर्थात् यदुओं के प्रधान श्रीकृष्ण *वृथा* पूजा के योग्य कैसे हो सकते हैं? उनकी तो ऐश्वर्यमयी पूजा होनी चाहिए।''

ब्रह्मर्षिसेवितान्देशान्हित्वैतेऽब्रह्मवर्चसम् ।
समुद्रं दुर्गमाश्रित्य बाधन्ते दस्यवः प्रजाः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-ऋषि—महान् ब्राह्मण-ऋषियों द्वारा; सेवितान्—सेवित; देशान्—देशों को (यथा मथुरा); हित्वा—त्याग कर; एते—ये (यादवजन); अब्रह्म-वर्चसम्—जहाँ ब्राह्मण नियमों का पालन नहीं किया जाता; समुद्रम्—समुद्र में; दुर्गम्—किले में; आश्रित्य—शरण लेकर; बाधन्ते—बाधा पहुँचाते हैं; दस्यवः—चोर; प्रजाः—जनता को।

इन यादवों ने ब्रह्मर्षियों द्वारा बसाई गई पवित्र भूमि को छोड़ दिया है और समुद्र में एक

किले में जाकर शरण ली है, जहाँ ब्राह्मण-नियमों का पालन नहीं होता। वहाँ ये चोरों की तरह अपनी प्रजा को तंग करते हैं।

तात्पर्य : *ब्रह्मर्षि-सेवितान् देशान्* (सन्त-पुरुषों द्वारा निवास की जानेवाली पवित्र भूमि) से मथुरा जनपद अभीष्ट है। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं ''शिशुपाल इसलिए बावला हो रहा था, क्योंकि कृष्ण को उस सभा में अग्रपूजा के लिए चुना गया था और वह इतनी लापरवाही से बोल रहा था, मानो उसका सारा सौभाग्य नष्ट हो चुका हो।''

एवमादीन्यभद्राणि बभाषे नष्टमङ्गलः ।
नोवाच किञ्चिद्भगवान्यथा सिंहः शिवारुतम् ॥ ३८॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; आदीनि—और अधिक; अभद्राणि—कटु वचन; बभाषे—बोलता रहा; नष्ट—विनष्ट; मङ्गलः—सौभाग्य; न उवाच—नहीं कहा; किञ्चित्—कुछ भी; भगवान्—भगवान् ने; यथा—जिस तरह; सिंहः—सिंह; शिवा—सियार के; रुतम्—रोदन पर।

[शुकदेव गोस्वामी कहते हैं]: समस्त सौभाग्य से वंचित शिशुपाल ऐसे ही तथा अन्य अपमानसूचक शब्द बोलता रहा, किन्तु भगवान् ने कुछ भी नहीं कहा, जिस तरह सिंह सियार के रोदन की परवाह नहीं करता।

भगवन्निन्दनं श्रुत्वा दुःसहं तत्सभासदः ।
कर्णौ पिधाय निर्जग्मुः शपन्तश्चेदिपं रुषा ॥ ३९॥

शब्दार्थ

भगवत्—भगवान् की; निन्दनम्—निन्दा, आलोचना; श्रुत्वा—सुन कर; दुःसहम्—असह्य; तत्—वह; सभा-सदः—सभा के सदस्य; कर्णौ—अपने कानों को; पिधाय—मूँद कर; निर्जग्मुः—बाहर चले गये; शपन्तः—कोसते हुए; चेदि-पम्—चेदि के राजा (शिशुपाल) को; रुषा—क्रुद्ध होकर।

भगवान् की ऐसी असह्य निन्दा सुनकर सभा के कई सदस्यों ने अपने कान बंद लिये और गुस्से में चेदि-नरेश को कोसते हुए बाहर चले गये।

निन्दां भगवतः शृण्वंस्तत्परस्य जनस्य वा ।
ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्च्युतः ॥ ०॥

शब्दार्थ

निन्दाम्—निन्दा, आलोचना; भगवतः—भगवान् की; शृण्वन्—सुनते हुए; तत्—उससे; परस्य—श्रद्धावान; जनस्य—पुरुष की; वा—अथवा; ततः—वहाँ से; न अपैति—नहीं चला जाता; यः—जो; सः—वह; अपि—निस्सन्देह; याति—जाता है; अधः—नीचे; सु-कृतात्—अपने पुण्यकर्मों के उत्तम फलों से; च्युतः—गिरा हुआ।

जिस स्थान पर भगवान् या उनके श्रद्धावान् भक्त की निन्दा होती हो, यदि मनुष्य उस स्थान को तुरन्त छोड़ कर चला नहीं जाता, तो निश्चय ही वह अपने पुण्यकर्मों के फल से वंचित होकर नीचे आ गिरेगा।

ततः पाण्डुसुताः क्रुद्धा मत्स्यकैकयसृञ्जयाः ।
उदायुधाः समुत्तस्थुः शिशुपालजिघांसवः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; पाण्डु-सुताः—पाण्डु के पुत्र; क्रुद्धाः—क्रुद्ध; मत्स्य-कैकय-सृञ्जयाः—मत्स्य, कैकय तथा सृञ्जयगण; उत्-आयुधाः—अपने हथियार उठाये; समुत्तस्थुः—खड़े हो गये; शिशुपाल-जिघांसवः—शिशुपाल को मारने की इच्छा से।

तब पाण्डु-पुत्र क्रुद्ध हो उठे और मत्स्य, कैकय तथा सृञ्जय वंशों के योद्धाओं के साथ वे अपने अपने स्थानों पर शिशुपाल को मारने के लिए तत्पर हथियार उठाते हुए खड़े हो गये।

ततश्चैद्यस्त्वसम्भ्रान्तो जगृहे खड्गचर्मणी ।
भर्त्सयन्कृष्णपक्षीयान्राज्ञः सदसि भारत ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; चैद्यः—शिशुपाल ने; तु—लेकिन; असम्भ्रान्तः—अडिग; जगृहे—ले लिया; खड्ग—तलवार; चर्मणी—तथा ढाल; भर्त्सयन्—निन्दा करते हुए; कृष्ण—कृष्ण के; पक्षीयान्—पक्ष वाले; राज्ञः—राजा; सदसि—सभा में; भारत—हे भरतवंशी।

हे भारत, तब शिशुपाल ने किसी की परवाह न करते हुए वहाँ पर जुटे सारे राजाओं के बीच अपनी तलवार तथा ढाल ले ली और वह भगवान् कृष्ण के पक्षधरों का अपमान करने लगा।

तावदुत्थाय भगवान्स्वान्निवार्य स्वयं रुषा ।
शिरः क्षुरान्तचक्रेण जहार पततो रिपोः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तावत्—उस समय; उत्थाय—उठ कर; भगवान्—भगवान् ने; स्वान्—अपने (भक्तों) को; निवार्य—रोक कर; स्वयम्—खुद; रुषा—क्रोध से; शिरः—सिर; क्षुर—तेज; अन्त—धार वाले; चक्रेण—अपने चक्र से; जहार—काट लिया; पततः—आक्रमण करते हुए; रिपोः—अपने शत्रु का।

उस समय भगवान् उठ खड़े हुए और उन्होंने अपने भक्तों को रोका। फिर उन्होंने क्रुद्ध होकर अपने तेज धार वाले चक्र को चलाया और आक्रमण कर रहे अपने शत्रु का सिर काट दिया।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भगवान् के कार्य की व्याख्या इस प्रकार की है : यदि

भगवान् कृष्ण कुछ न करते तो यज्ञशाला में ही विकराल युद्ध हुआ होता और इस तरह सारे यज्ञ में खून बह गया होता और पवित्र वातावरण विनष्ट हो जाता। इसलिए कृष्ण ने अपने प्रिय भक्त युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ की रक्षा करने के लिए तुरन्त ही अपने तेज धार वाले चक्र से शिशुपाल का सिर इस तरह काटा कि यज्ञभूमि में रक्त की एक बूँद भी न गिरने पाई।

शब्दः कोलाहलोऽथासीच्छिशुपाले हते महान् ।
तस्यानुयायिनो भूपा दुद्रुवुर्जीवितैषिणः ॥ ॥

शब्दार्थ

शब्दः—ध्वनि; कोलाहलः—हो-हल्ला; अथ—तत्पश्चात्; आसीत्—था; शिशुपाले—शिशुपाल के; हते—मारे जाने पर; महान्—विशाल; तस्य—उसके; अनुयायिनः—अनुगामी; भूपाः—राजागण; दुद्रुवुः—भाग गये; जीवित—अपना जीवन; एषिणः—बचाने की आशा से।

जब इस तरह शिशुपाल मार डाला गया तो भीड़ में से भारी शोर उठने लगा। इस उपद्रव का लाभ उठाकर शिशुपाल के समर्थक कुछ राजा तुरन्त ही अपने प्राणों के भय से सभा छोड़कर भाग गये।

तात्पर्य : उपर्युक्त भावार्थ श्रील प्रभुपाद की पुस्तक *श्रीकृष्ण* से लिया गया है।

चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिर्वासुदेवमुपाविशत् ।
पश्यतां सर्वभूतानामुल्केव भुवि खाच्च्युता ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

चैद्य—शिशुपाल; देह—शरीर से; उत्थितम्—उठी हुई; ज्योतिः—ज्योति, प्रकाश; वासुदेवम्—भगवान् श्रीकृष्ण में; उपाविशत्—प्रविष्ट हुई; पश्यताम्—देखते देखते; सर्व—सभी; भूतानाम्—जीवों के; उल्का—पुच्छतारा; इव—सदृश; भुवि—पृथ्वी में; खात्—आकाश से; च्युता—गिरा हुआ।

शिशुपाल के शरीर से एक तेजोमय प्रकाशपुञ्ज उठा और सबों के देखते देखते वह भगवान् कृष्ण में उसी तरह प्रविष्ट हो गया, जिस तरह आकाश से गिरता हुआ पुच्छल तारा पृथ्वी में समा जाता है।

तात्पर्य : इस सम्बन्ध में आचार्यगण हमें स्मरण दिलाते हैं कि शिशुपाल भगवान् का ही एक नित्य-पार्षद था, जो युद्धरत असुर की भूमिका निभा रहा था। इस तरह अधिकांश दर्शकों को लगा कि शिशुपाल को भगवान् के शारीरिक तेज में लीन होने की निर्विशेष मुक्ति प्राप्त हो गई। वस्तुतः अपने मर्त्य शरीर से मुक्त होने के बाद शिशुपाल अपने स्वामी, वैकुण्ठ के अधिपति, की ओर लौट गया।

अगले श्लोक में इसकी और अधिक व्याख्या हुई है।

जन्मत्रयानुगुणितवैरसंरब्धया धिया ।
ध्यायंस्तन्मयतां यातो भावो हि भवकारणम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

जन्म—जन्मों; त्रय—तीन; अनुगुणित—तक चलने वाली; वैर—शत्रुता; संरब्धया—अभिवृद्धि होने से; धिया—मनोवृत्ति से; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; तत्-मयताम्—उनसे तादात्म्य; यातः—प्राप्त किया; भावः—मनोभाव; हि—निस्सन्देह; भव—पुनर्जन्म का; कारणम्—कारण।

तीन जन्मों से भगवान् कृष्ण के प्रति द्वेष में अभिवृद्धि से शिशुपाल को भगवान् का दिव्यरूप प्राप्त हुआ। दरअसल मनुष्य की चेतना से उसका भावी जन्म निश्चित होता है।

तात्पर्य : शिशुपाल तथा उसका मित्र दन्तवक्र, अध्याय ७८ में कृष्ण द्वारा जिसके वध का वर्णन होगा, पूर्वजन्म में जय तथा विजय नामक वैकुण्ठ के द्वारपाल थे। अपराध होने से चार कुमारों ने उन्हें भौतिक जगत में असुरों के रूप में तीन बार जन्म लेने का शाप दे दिया। प्रथम जन्म में वे हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु हुए, दूसरे जन्म में रावण तथा कुम्भकर्ण बने और तीसरे जन्म में शिशुपाल तथा दन्तवक्र बने। प्रत्येक जन्म में वे भगवान् के प्रति वैर-भाव में लीन रहे और उनके द्वारा मारे गये।

श्रील प्रभुपाद ने शिशुपाल की स्थिति की व्याख्या इस प्रकार की है—"यद्यपि शिशुपाल श्रीकृष्ण का शत्रु बनकर कार्य कर रहा था तथापि वह एक क्षण के लिए भी कृष्णभावनामृत से दूर नहीं था। वह सदैव श्रीकृष्ण के ध्यान में लीन रहता था। अतएव सर्वप्रथम उसे सायुज्य-मुक्ति प्राप्त हुई और अन्ततः साकार सेवा की अपनी मूल-स्थिति को फिर से प्राप्त हो सका। *भगवद्गीता* से इसकी पुष्टि होती है कि यदि मृत्यु के समय व्यक्ति परमेश्वर के ध्यान में मग्न रहता है, तो वह भौतिक शरीर त्यागने के पश्चात् तुरन्त ही भगवद्धाम में प्रवेश करता है।"

श्रीमद्भागवत के तृतीय तथा सातवें स्कन्धों में इस घटना का विस्तृत वर्णन है, जिसमें भगवान् के निजी पार्षदों को शाप मिला था कि वे उनके शत्रु बनकर भौतिक जगत में जन्म लें। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने निम्नलिखित श्लोक (*भागवत* ७.१.७) उद्धृत किया है :

वैरानुबन्धतीव्रेण ध्यानेनाच्युतसात्मताम्।

नीतौ पुनर्हरेः पार्श्वं जग्मतुर्विष्णुपार्षदौ॥

"भगवान् विष्णु के ये दोनों पार्षद—जय तथा विजय—दीर्घकाल तक शत्रु-भाव बनाये रहे। इस

तरह कृष्ण के विषय में सदैव ध्यान करने से उन्हें भगवद्धाम वापस जाने पर पुन: भगवान् की शरण प्राप्त हुई।''

ऋत्विग्भ्य: ससदस्येभ्यो दक्षिनां विपुलामदात् ।
सर्वान्सम्पूज्य विधिवच्चक्रेऽवभृथमेकराट् ॥ ७॥

शब्दार्थ

ऋत्विग्भ्य:—पुरोहितों को; स-सदस्येभ्य:—सभा के सदस्यों सहित; दक्षिणाम्—दक्षिणा; विपुलाम्—प्रचुर; अदात्—दिया; सर्वान्—सबों को; सम्पूज्य—भलीभाँति पूज कर; विधि-वत्—शास्त्रीय आदेशों के अनुसार; चक्रे—सम्पन्न किया; अवभृथम्—यज्ञ के यजमान की शुद्धि के लिए स्नान तथा यज्ञ पात्रों का प्रक्षालन (यज्ञान्त-स्नान); एक-राट्—सम्राट युधिष्ठिर।

सम्राट युधिष्ठिर ने यज्ञ के पुरोहितों को तथा सभासदों को उदार भाव से उपहार दिये और वेदों में संस्तुत विधि से उन सबका समुचित सम्मान किया। तत्पश्चात् उन्होंने *अवभृथ* स्नान किया।

साधयित्वा क्रतु: राज्ञ: कृष्णो योगेश्वरेश्वर: ।
उवास कतिचिन्मासान्सुहृद्भिरभियाचित: ॥ ८॥

शब्दार्थ

साधयित्वा—सम्पन्न करके; क्रतु:—सोम यज्ञ; राज्ञ:—राजा का; कृष्ण:—कृष्ण ने; योग-ईश्वर—योगशक्ति के स्वामियों के; ईश्वर:—परम स्वामी; उवास—निवास किया; कतिचित्—कुछ; मासान्—महीनों; सु-हृद्भि:—उनके शुभचिन्तकों द्वारा; अभियाचित:—याचना किये गये।

इस प्रकार योग के समस्त ईश्वरों के स्वामी श्रीकृष्ण ने राजा युधिष्ठिर की ओर से इस महान् यज्ञ का सफल समापन करवाया। तत्पश्चात् अपने घनिष्ठ मित्रों के हार्दिक अनुरोध पर वे कुछ महीनों तक वहाँ रुके रहे।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् कृष्ण समस्त योगेश्वरों जैसे कि शिवजी के ईश्वर हैं फिर भी वे राजा युधिष्ठिर के शुद्ध प्रेम के वशीभूत थे। इसलिए भगवान् ने राजा के यज्ञ की सफलतापूर्वक समापान का स्वयं ध्यान रखा। तत्पश्चात् वे इन्द्रप्रस्थ में अपने प्रिय मित्रों के साथ कुछ महीने और टिके रहने के लिए राजी हो गये।

ततोऽनुज्ञाप्य राजानमनिच्छन्तमपीश्वर: ।
ययौ सभार्य: सामात्य: स्वपुरं देवकीसुत: ॥ ९॥

शब्दार्थ

ततः—तब; अनुज्ञाप्य—प्रस्थान के लिए अनुरोध करके; राजानम्—राजा के; अनिच्छन्तम्—न चाहते हुए; अपि—यद्यपि; ईश्वरः—भगवान्; ययौ—चले गये; स-भार्यः—अपनी पत्नियों सहित; स-अमात्यः—अपने मंत्रियों सहित; स्व—अपने; पुरम्—नगर; देवकी-सुतः—देवकी-पुत्र।

तब देवकी-पुत्र भगवान् ने, न चाहते हुए भी, राजा से अनुमति ली और वे अपनी पत्नियों तथा मंत्रियों सहित अपनी राजधानी लौट आये।

वर्णितं तदुपाख्यानं मया ते बहुविस्तरम् ।
वैकुण्ठवासिनोर्जन्म विप्रशापात्पुनः पुनः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

वर्णितम्—बतलाये; तत्—उस; उपाख्यानम्—विवरण को; मया—मेरे द्वारा; ते—तुम्हें; बहु—अधिक; विस्तरम्—विस्तार से; वैकुण्ठ-वासिनोः—ईश्वर के नित्य धाम के दो निवासियों (जय तथा विजय नामक द्वारपालों) के; जन्म—जन्म; विप्र—ब्राह्मणों (चारों कुमारों) के; शापात्—श्राप से; पुनः पुनः—फिर फिर।

मैं पहले ही तुमसे वैकुण्ठ के उन दो वासियों का विस्तार से वर्णन कर चुका हूँ, जिन्हें ब्राह्मणों द्वारा शापित होने से भौतिक जगत में बारम्बार जन्म लेना पड़ा।

राजसूयावभृथ्येन स्नातो राजा युधिष्ठिरः ।
ब्रह्मक्षत्रसभामध्ये शुशुभे सुरराडिव ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

राजसूय—राजसूय यज्ञ के; अवभृथ्येन—अन्तिम अवभृथ्य अनुष्ठान द्वारा; स्नातः—नहाया; राजा युधिष्ठिरः—राजा युधिष्ठिर; ब्रह्म-क्षत्र—ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की; सभा—सभा के; मध्ये—मध्य में; शुशुभे—तेजोमय लगा; सुर—देवताओं का; राट्—राजा (इन्द्र); इव—सदृश।

अन्तिम *अवभृथ्य* अनुष्ठान में, जो कि राजसूय यज्ञ के सफल समापन का सूचक था, पवित्र होकर राजा युधिष्ठिर एकत्र ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के बीच इस तरह चमक रहे थे, मानो साक्षात् देवराज इन्द्र हों।

राज्ञा सभाजिताः सर्वे सुरमानवखेचराः ।
कृष्णं क्रतुं च शंसन्तः स्वधामानि ययुर्मुदा ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

राज्ञा—राजा द्वारा; सभाजिताः—सम्मानित; सर्वे—सभी; सुर—देवता; मानव—मनुष्य; खे-चराः—तथा आकाश में विचरण करने वाले (उपदेवता तथा असुर); कृष्णम्—कृष्ण को; क्रतुम्—यज्ञ को; च—तथा; शंसन्तः—प्रशंसा करते हुए; स्व—अपने अपने; धामानि—धामों को; ययुः—चले गये; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक।

राजा द्वारा समुचित सम्मान दिये जाकर देवता, मनुष्य तथा मध्यलोक के निवासी प्रसन्नतापूर्वक कृष्ण तथा महान् यज्ञ की प्रशंसा करते हुए अपने अपने लोकों के लिए रवाना हो

गये।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी के अनुसार यहाँ पर *खेचरा:* शब्द *प्रमथों* अर्थात् शिवजी के साथ रहने वाले योगियों का द्योतक है।

दुर्योधनमृते पापं कलिं कुरुकुलामयम् ।
यो न सेहे श्रीयं स्फीतां दृष्ट्वा पाण्डुसुतस्य ताम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

दुर्योधनम्—दुर्योधन को; ऋते—छोड़ कर; पापम्—पापी; कलिम्—कलियुग का शक्त्याविष्ट अंश; कुरु-कुल—कुरुवंश का; आमयम्—रोग; य:—जो; न सेहे—नहीं सहन कर सका; श्रीयम्—ऐश्वर्य को; स्फीताम्—पुष्पित-पल्लवित होते; दृष्ट्वा—देख कर; पाण्डु-सुतस्य—पाण्डु-पुत्र का; ताम्—उस।

पापी दुर्योधन को छोड़ कर (सारे लोग संतुष्ट थे), क्योंकि वह तो साक्षात् कलिकाल था और कुरुवंश का रोग था। वह पाण्डु-पुत्र के वृद्धिमान ऐश्वर्य का देखना सहन नहीं कर सका।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''दुर्योधन स्वभाव से अत्यन्त ईर्ष्यालु था, क्योंकि उसका जीवन पापमय था और वह कुरुवंश में सम्पूर्ण वंश को नष्ट करने के लिए साक्षात् असाध्य रोग के रूप में प्रकट हुआ था।'' श्रील श्रीधर स्वामी कहते हैं कि दुर्योधन शुद्ध धार्मिक सिद्धान्तों से घृणा करता था।

य इदं कीर्तयेद्विष्णो: कर्म चैद्यवधादिकम् ।
राजमोक्षं वितानं च सर्वपापै: प्रमुच्यते ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

य:—जो; इदम्—ये; कीर्तयेत्—कीर्तन करता है; विष्णो:—भगवान् विष्णु के; कर्म—कार्यकलाप; चैद्य-वध—शिशुपाल का वध; आदिकम्—इत्यादि; राज—राजाओं का (जो जरासन्ध द्वारा बन्दी बनाये गये थे); मोक्षम्—मोक्ष; वितानम्—यज्ञ; च—तथा; सर्व—सभी; पापै:—पाप के फलों से; प्रमुच्यते—मुक्त कर दिया जाता है।

जो व्यक्ति भगवान् विष्णु के इन कार्यकलापों को, जिनमें शिशुपाल वध, राजाओं का मुक्त किया जाना तथा राजसूय यज्ञ का निष्पादन सम्मिलित हैं, सुनाता है, वह समस्त पापों से छूट जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''राजसूय यज्ञ में शिशुपाल का उद्धार'' नामक चौहत्तरवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पचहत्तर

दुर्योधन का मानमर्दन

इस अध्याय में राजसूय यज्ञ के भव्य समापन तथा राजा युधिष्ठिर के महल में राजकुमार दुर्योधन के मानमर्दन का वर्णन हुआ है।

महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय उनके अनेक सम्बन्धियों तथा हितैषियों ने आवश्यक सेवाएँ करके उन्हें प्रसन्न करने का प्रयास किया। जब यज्ञ पूर्ण हो गया, तो राजा ने पुरोहितों, उच्च सभासदों तथा अपने सम्बन्धियों को सुगन्धित चन्दन-लेप, फूल-मालाओं तथा उत्तम वस्त्रों से अलंकृत किया। तत्पश्चात् सारे लोग यमुना नदी के तट पर यज्ञ के बाद स्नान-कृत्य सम्पन्न करने गये, जो यजमान के यज्ञ की अवधि के समापन का सूचक है। इस अन्तिम स्नान के पूर्व पुरुषों तथा स्त्रियों ने जल-क्रीड़ा का आनन्द लिया। सुगन्धित जल तथा अन्य द्रव से छिड़के जाने के कारण द्रौपदी तथा अन्य स्त्रियाँ अत्यन्त सुन्दर लग रही थीं और उनके मुख सलज्ज हास से चमक रहे थे।

जब पुरोहितगण अन्तिम अनुष्ठान सम्पन्न करा चुके, तो राजा तथा उनकी रानी श्रीमती द्रौपदी ने यमुना में स्नान किया। तत्पश्चात् वर्णाश्रम-धर्म के मानने वाले वहाँ पर उपस्थित सबों ने स्नान किया। युधिष्ठिर ने नये वस्त्र पहने और विद्वान ब्राह्मणों, अपने परिवारवालों, मित्रों तथा हितैषियों की यथोचित पूजा की और उन्हें विविध उपहार दिये। तत्पश्चात् सारे अतिथि अपने अपने घरों को विदा हो गये। किन्तु राजा युधिष्ठिर अपने प्रियजनों के आसन्न वियोग से इतने चिन्तित थे कि उन्होंने अपने कई सम्बन्धियों तथा कृष्ण समेत अनेक घनिष्ठ मित्रों को इन्द्रप्रस्थ में कुछ दिन और रुके रहने के लिए बाध्य कर दिया।

राजा युधिष्ठिर का राजमहल मय दानव द्वारा बनाया गया था, जिसने इसे अनेक अद्‌भुत गुणों तथा ऐश्वर्यों से युक्त कर दिया था। जब राजा दुर्योधन ने यह ठाट-बाट देखा, तो वह ईर्ष्या से जलने लगा। एक दिन युधिष्ठिर कृष्ण के साथ अपने सभाभवन में बैठे थे। अपने अनुचरों तथा परिवारजनों के द्वारा सेवित उनकी भव्यता राजा इन्द्र के समान प्रदर्शित हो रही थी। उसी समय दुर्योधन उन्मत्तावस्था में उस सभाभवन में प्रविष्ट हुआ। मयदानव की योग शिल्पकला से मोहग्रस्त दुर्योधन ने ठोस फर्श के कुछ भाग को जल समझ कर अपने वस्त्र उठा लिये और एक स्थान को ठोस फर्श समझ कर वह जल में गिर गया। जब भीमसेन, दरबार की महिलाओं तथा राजकुमारों ने यह देखा, तो सभी हँसने लगे।

यद्यपि महाराज युधिष्ठिर ने उन्हें रोकने का प्रयास किया, किन्तु भगवान् कृष्ण ने इस हँसी को प्रोत्साहित किया। दुर्योधन पूरी तरह क्षुब्ध होकर क्रोधवश सभाभवन से निकल आया और उसने तुरन्त हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान कर दिया।

श्रीराजोवाच
अजातशत्रोस्तम्दृष्ट्वा राजसूयमहोदयम् ।
सर्वे मुमुदिरे ब्रह्मन्नृदेवा ये समागताः ॥ १ ॥
दुर्योधनं वर्जयित्वा राजानः सर्षयः सुराः ।
इति श्रुतं नो भगवंस्तत्र कारणमुच्यताम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा (परीक्षित) ने कहा; अजात-शत्रोः—युधिष्ठिर का, जिसके शत्रु जन्मे ही नहीं; तम्—उसको; दृष्ट्वा—देख कर; राजसूय—राजसूय यज्ञ का; महा—महान्; उदयम्—उत्सव; सर्वे—सभी; मुमुदिरे—प्रसन्न थे; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण (शुकदेव); नृ-देवाः—राजागण; ये—जो; समागताः—एकत्र हुए; दुर्योधनम्—दुर्योधन को; वर्जयित्वा—छोड़ कर, के अतिरिक्त; राजानः—राजा; स—सहित; ऋषयः—ऋषिगण; सुराः—तथा देवतागण; इति—इस प्रकार; श्रुतम्—सुना हुआ; नः—हमारे द्वारा; भगवन्—हे प्रभु; तत्र—उस; कारणम्—कारण को; उच्यताम्—कृपया कहें या बतलायें।

महाराज परीक्षित ने कहा : हे ब्राह्मण, मैंने आपसे जो कुछ सुना उसके अनुसार, एकमात्र दुर्योधन के अतिरिक्त, वहाँ एकत्रित समस्त राजा, ऋषि तथा देवतागण अजातशत्रु राजा के राजसूय यज्ञ के अद्‌भुत उत्सव को देख कर परम हर्षित थे। हे प्रभु, कृपा करके मुझसे कहें कि ऐसा क्यों हुआ?

श्रीबादरायणिरुवाच
पितामहस्य ते यज्ञे राजसूये महात्मनः ।
बान्धवाः परिचर्यायां तस्यासन्प्रेमबन्धनाः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-बाडरायनिः उवाच—श्री बादरायणि (शुकदेव गोस्वामी) ने कहा; पितामहस्य—दादा के; ते—तुम्हारे; यज्ञे—यज्ञ में; राजसूये—राजसूय; महा-आत्मनः—महात्मा के; बान्धवाः—पारिवारिक जन; परिचर्यायाम्—विनीत सेवा में; तस्य—उसकी; आसन्—स्थित थे; प्रेम—प्रेम से; बन्धनाः—बँधे हुए।

श्री बादरायणि ने कहा : तुम्हारे सन्त सदृश दादा के राजसूय यज्ञ में उनके प्रेम से बँधे हुए उनके पारिवारिक सदस्य उनकी ओर से विनीत सेवा-कार्य में संलग्न थे।

तात्पर्य : राजा युधिष्ठिर ने यज्ञ के अवसर पर किसी भी सम्बन्धी को किसी काम में लगने के लिए बाध्य नहीं किया प्रत्युत वे सब उनके प्रेमवश, स्वेच्छा से ऐसे कार्यों में लगे हुए थे।

भीमो महानसाध्यक्षो धनाध्यक्षः सुयोधनः ।
सहदेवस्तु पूजायां नकुलो द्रव्यसाधने ॥ ॥
गुरुशुश्रूषणे जिष्णुः कृष्णः पादावनेजने ।
परिवेषणे द्रुपदजा कर्णो दाने महामनाः ॥ ५ ॥
युयुधानो विकर्णश्च हार्दिक्यो विदुरादयः ।
बाह्लीकपुत्रा भूर्याद्या ये च सन्तर्दनादयः ॥ ६ ॥
निरूपिता महायज्ञे नानाकर्मसु ते तदा ।
प्रवर्तन्ते स्म राजेन्द्र राज्ञः प्रियचिकीर्षवः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

भीमः—भीम; महानस—रसोई का; अध्यक्षः—निरीक्षक; धन—कोश का; अध्यक्षः—निरीक्षक; सुयोधनः—सुयोधन (दुर्योधन); सहदेवः—सहदेव; तु—और; पूजायाम्—(अतिथियों के आने पर) पूजा करने में; नकुलः—नकुल; द्रव्य—आवश्यक सामग्री; साधने—प्राप्त करने में; गुरु—सम्माननीय गुरुजनों के; शुश्रूषणे—सेवा करने में; जिष्णुः—अर्जुन; कृष्णः—कृष्ण; पाद—पाँव; अवनेजने—धोने में; परिवेषणे—(भोजन) परोसने में; द्रुपद-जा—द्रुपद की पुत्री (द्रौपदी); कर्णः—कर्ण; दाने—दान देने में; महामनाः—उदार; युयुधानः विकर्णः च—युयुधान तथा विकर्ण; हार्दिक्यः विदुर-आदयः—हार्दिक्य (कृतवर्मा), विदुर तथा अन्य; बाह्लीक-पुत्राः—बाह्लीक राजा के पुत्र; भून्-आद्याः—भूरिश्रवा इत्यादि; ये—जो; च—तथा; सन्तर्दन-आदयः—सन्तर्दन तथा अन्य; निरूपिताः—संलग्न; महा—विस्तीर्ण; यज्ञे—यज्ञ में; नाना—विविध; कर्मसु—कामों में; ते—वे; तदा—उस समय; प्रवर्तन्ते स्म—पूरा किया; राज-इन्द्र—हे राजश्रेष्ठ (परीक्षित); राज्ञः—राजा (युधिष्ठिर) के; प्रिय—प्रिय; चिकीर्षवः—करने की इच्छा से।.

भीम रसोई की देख-रेख कर रहे थे, दुर्योधन कोष की देखभाल कर रहा था और सहदेव अतिथियों के सादर स्वागत में लगे थे। नकुल सारी सामग्री जुटा रहे थे, अर्जुन गुरुजनों की सेवा में रत थे जबकि कृष्ण हर एक के पाँव पखार रहे थे। द्रौपदी भोजन परोस रही थीं और दानी कर्ण उपहार दे रहे थे। अन्य अनेक लोग यथा युयुधान, विकर्ण, हार्दिक्य, विदुर, भूरिश्रवा तथा बाह्लीक के अन्य पुत्र एवं सन्तर्दन भी उस विशाल यज्ञ में विविध कार्यों में स्वेच्छा से लगे हुए थे। हे राजश्रेष्ठ, उन्होंने महाराज युधिष्ठिर को प्रसन्न करने की अपनी उत्सुकता से ही ऐसा किया।

ऋत्विक्सदस्यबहुवित्सु सुहृत्तमेषु
स्विष्टेषु सूनृतसमर्हणदक्षिणाभिः ।
चैद्ये च सात्वतपतेश्चरणं प्रविष्टे
चक्रुस्ततस्त्ववभृथस्नपनं द्युनद्याम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

ऋत्विक्—पुरोहित; सदस्य—यज्ञ में सहायता करने वाले सदस्य; बहु-वित्सु—अत्यंत विद्वान; सुहृत्-तमेषु—तथा सर्वश्रेष्ठ हितैषीजन; सु—भलीभाँति; इष्टेषु—सम्मानित; सूनृत—मधुर शब्दों से; समर्हण—शुभ भेंटें; दक्षिणाभिः—तथा दक्षिणा से; चैद्ये—चेदि के राजा (शिशुपाल); च—तथा; सात्वत-पतेः—सात्वतों के स्वामी (कृष्ण); चरणम्—पाँवों में; प्रविष्टे—प्रविष्ट होकर; चक्रुः—पूरा किया; ततः—तब; तु—तथा; अवभृथ-स्नपनम्—अवभृथ स्नान, जिससे यज्ञ पूर्ण हुआ; द्यु—स्वर्ग की; नद्याम्—नदी में (यमुना में)।.

जब सारे पुरोहित, प्रमुख प्रतिनिधि, विद्वान सन्त तथा राजा के घनिष्ठ हितैषी मधुर शब्दों,

शुभ उपहारों तथा विविध भेंटों रूपी दक्षिणा से भलीभाँति सम्मानित किये जा चुके और जब चेदिराज सात्वतों के प्रभु के चरणकमलों में प्रविष्ट हो चुका, तो दैवी नदी यमुना में *अवभृथ* स्नान सम्पन्न किया गया।

तात्पर्य : प्रमुख अतिथियों को दिये गये उपहारों में बहुमूल्य आभूषण भी थे।

मृदङ्गशङ्खपणवधुन्धुर्यानकगोमुखाः ।
वादित्राणि विचित्राणि नेदुरावभृथोत्सवे ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

मृदङ्ग—मृदंग; शङ्ख—शंख; पणव—छोटे ढोल; धुन्धुरि—बृहद् सैनिक ढोल; आनक—नगाड़ा; गो-मुखाः—एक वाद्य; वादित्राणि—संगीत; विचित्राणि—विविध; नेदुः—बज उठे; आवभृथ—अवभृथ स्नान के; उत्सवे—उत्सव में।.

***अवभृथ* स्नानोत्सव के समय अनेक प्रकार के बाजे बजने लगे, जिनमें मृदंग, शंख, पणव, धुन्धुरि, आनक तथा गोमुख थे।**

नार्तक्यो ननृतुर्हृष्टा गायका यूथशो जगुः ।
वीणावेणुतलोन्नादस्तेषां स दिवमस्पृशत् ॥ ॥

शब्दार्थ

नार्तक्यः—नर्तकियाँ; ननृतुः—नाचीं; हृष्टाः—प्रसन्नचित्त; गायकाः—गाने वालों ने; यूथशः—टोलियों में; जगुः—गाया; वीणा—वीणा; वेणु—वंशी; तल—तथा मंजीरे की; उन्नादः—तेज आवाज; तेषाम्—उनकी; सः—वह; दिवम्—स्वर्ग को; अस्पृशत्—छूने लगी।.

नर्तकियों ने अत्याधिक मुदित होकर नृत्य किया, गायकों ने सामूहिक रूप में गाया और वीणा, वंशी तथा मंजीरे की तेज आवाज बहुत दूर स्वर्गलोक तक पहुँच गई।

चित्रध्वजपताकाग्रैरिभेन्द्रस्यन्दनार्वभिः ।
स्वलङ्कृतैर्भटैर्भूपा निर्ययू रुक्ममालिनः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

चित्र—रंगबिरंगी; ध्वज—झंडियाँ; पताक—तथा झंडे; अग्रैः—उत्तम; इभ—हाथियों से; इन्द्र—राजसी; स्यन्दन—रथ; अर्वभिः—तथा घोड़ों से; सु-अलङ्कृतैः—खूब सजे; भटैः—पैदल सिपाहियों सहित; भू-पाः—राजागण; निर्ययुः—चल पड़े; रुक्म—सोने के; मालिनः—हार पहने।.

तब सोने के हार पहने हुए सारे राजा यमुना नदी की ओर चल पड़े। उनके साथ रंग-बिरंगे झंडे तथा पताकाएँ थीं और उनके साथ साथ पैदल सेना एवं शाही हाथियों, रथों तथा घोड़ों पर सवार सुसज्जित सिपाही थे।

यदुसृञ्जयकाम्बोजकुरुकेकयकोशलाः ।
कम्पयन्तो भुवं सैन्यैर्यजमानपुरःसराः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यदु-सृञ्जय-काम्बोज—यदुगण, सृञ्जयगण तथा काम्बोजगण; कुरु-केकय-कोशलाः—कुरुवासी, केकयवासी तथा कोशलवासी; कम्पयन्तः—हिलाते हुए; भुवम्—पृथ्वी को; सैन्यैः—अपनी सेनाओं से; यजमान—यज्ञ करने वाला (महाराज युधिष्ठिर); पुरः-सराः—आगे आगे करके।

जुलूस में यजमान युधिष्ठिर महाराज के पीछे पीछे चल रहीं यदुओं, सृंजयों, काम्बोजों, कुरुओं, केकयों तथा कोशलवासियों की समुच्चित सेनाओं ने धरती को हिला दिया।

सदस्यर्त्विग्द्विजश्रेष्ठा ब्रह्मघोषेण भूयसा ।
देवर्षिपितृगन्धर्वास्तुष्टुवुः पुष्पवर्षिणः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सदस्य—सदस्य; ऋत्विक्—पुरोहित; द्विज—तथा ब्राह्मण; श्रेष्ठाः—श्रेष्ठ; ब्रह्म—वेदों के; घोषेण—ध्वनि से; भूयसा—प्रचुर; देव—देवता; ऋषि—ऋषिगण; पितृ—पुरखे; गन्धर्वाः—तथा स्वर्ग के गवैयों ने; तुष्टुवुः—यशोगान किया; पुष्प—फूलों की; वर्षिणः—वर्षा करते हुए।

सभासदों, पुरोहितों तथा अन्य उत्तम ब्राह्मणों ने जोर-जोर से वैदिक मंत्रों का उच्चारण किया, जबकि देवताओं, ऋषियों, पितरों तथा गन्धर्वों ने यशोगान किया और फूलों की वर्षा की।

स्वलण्कृता नरा नार्यो गन्धस्त्रग्भूषणाम्बरैः ।
विलिम्पन्त्योऽभिसिञ्चन्त्यो विजह्रुर्विविधै रसैः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सु-अलङ्कृताः—अच्छी तरह सजे-धजे; नराः—पुरुष; नार्यः—तथा स्त्रियाँ; गन्ध—चन्दन-लेप; स्त्रक्—फूल की मालाओं; भूषण—आभूषणों; अम्बरैः—तथा वस्त्रों से; विलिम्पन्त्यः—चुपड़ कर; अभिषिञ्चन्त्यः—तथा छिड़क कर; विजह्रुः—खेलने लगे; विविधैः—विविध; रसैः—तरल पदार्थों से।

चन्दन-लेप, पुष्प-मालाओं, आभूषण तथा उत्तम वस्त्र से सज्जित सारे पुरुषों तथा स्त्रियों ने विविध द्रवों को एक-दूसरे पर मल कर तथा छिड़क कर खूब खिलवाड़ किया।

तैलगोरसगन्धोदहरिद्रासान्द्रकुङ्कुमैः ।
पुम्भिर्लिप्ताः प्रलिम्पन्त्यो विजह्रुर्वारयोषितः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तैल—वानस्पतिक तेल; गो-रस—दही; गन्ध-उद—सुगन्धित जल; हरिद्रा—हल्दी; सान्द्र—प्रचुर; कुङ्कुमैः—तथा सिंदूर से; पुम्भिः—पुरुषों द्वारा; लिप्ताः—लपेटे हुए; प्रलिम्पन्त्यः—उलट कर पोतते हुए; विजह्रुः—खिलवाड़ किया; वार-योषितः—वारांगनाओं ने।

पुरुषों ने वारांगनाओं के शरीरों को बहुत सारा तेल, दही, सुगन्धित जल, हल्दी तथा कुंकुम चूर्ण से पोत दिया और पलटकर उन स्त्रियों ने पुरुषों के शरीरों में वैसी ही वस्तुएँ दे पोतीं।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने इस दृश्य का वर्णन इस प्रकार किया है : "इन्द्रप्रस्थ के पुरुषों एवं स्त्रियों के शरीर विभिन्न प्रकार के इत्र एवं पुष्प-तेलों से चुपड़े थे। वे सभी सुन्दर-सुन्दर रंगीन वस्त्र धारण किये थे और मालाओं, रत्नों तथा आभूषणों से अलंकृत थे। वे सभी उस समारोह का आनन्द उठा रहे थे और एक-दूसरे पर जल, तेल, दूध, मक्खन एवं दही जैसे तरल पदार्थों को फेंक रहे थे। कुछ लोगों ने तो इन पदार्थों को एक-दूसरे के शरीर पर पोत डाला। इस प्रकार वे उत्सव का आनन्द उठा रहे थे। वारांगनाएँ भी आनन्दविभोर होकर इन तरल पदार्थों को पुरुषों के शरीरों पर लगाने में जुटी थीं तथा पुरुष भी स्त्रियों के साथ उसी प्रकार कर रहे थे। सभी तरल पदार्थों से हल्दी एवं केसर में मिलाये गये थे, जिससे उसका रंग चमकदार पीला था।"

गुप्ता नृभिर्निरगमन्नुपलब्धुमेतद्
देव्यो यथा दिवि विमानवरैर्नृदेव्यो ।
ता मातुलेयसखिभिः परिषिच्यमानाः
सव्रीडहासविकसद्वदना विरेजुः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

गुप्ताः—सुरक्षित; नृभिः—सैनिकों द्वारा; निरगमन्—बाहर गये; उपलब्धुम्—स्वयं देखने के लिए; एतत्—यह; देव्यः—देवताओं की स्त्रियाँ; यथा—जिस तरह; दिवि—आकाश में; विमान—अपने अपने विमानों में; वरैः—श्रेष्ठ; नृ-देव्यः—रानियाँ (युधिष्ठिर की); ताः—वे; मातुलेय—अपने ममेरे भाइयों (कृष्ण तथा उनके भाई यथा गद तथा सारण) द्वारा; सखिभिः—अपने मित्रों (यथा भीम तथा अर्जुन) द्वारा; परिषिच्यमानाः—छिड़के जाकर; स-व्रीड—लज्जित; हास—हँसी से युक्त; विकसत्—प्रफुल्लित; वदनाः—मुख वाली; विरेजुः—भव्य लग रहे थे।

इस तमाशे को देखने के लिए अपने अपने रथों में सवार होकर तथा अंगरक्षकों से घिर कर राजा युधिष्ठिर की रानियाँ बाहर आ गईं, मानों आकाश में दैवी विमानों में देवताओं की पत्नियाँ प्रकट हुई हों। जब ममेरे भाइयों तथा उनके घनिष्ठ मित्रों ने रानियों पर द्रव पदार्थ छिड़के, तो उनके मुख लजीली मुसकान से खिल उठे, जिससे उनके भव्य सौन्दर्य में वृद्धि हो गई।

तात्पर्य : यहाँ पर जिन ममेरे भाइयों का उल्लेख हुआ है, वे कृष्ण तथा उनके भाई गद तथा सारण हैं और जिन मित्रों का उल्लेख है, वे हैं भीम तथा अर्जुन जैसे व्यक्ति।

ता देवरानुत सखीन्सिषिचुर्दृतीभिः
क्लिन्नाम्बरा विवृतगात्रकुचोरुमध्याः ।
औत्सुक्यमुक्तकवराच्च्यवमानमाल्याः
क्षोभं दधुर्मलधियां रुचिरैर्विहारैः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

ताः—वे रानियाँ; देवरान्—अपने पति के भाइयों को; उत—तथा भी; सखीन्—उनके मित्रों को; सिषिचुः—भिगो दिया; दृतीभिः—पिचकारियों से; क्लिन्न—भीगे, सराबोर; अम्बराः—वस्त्र; विवृत—दृश्य; गात्र—जिनकी भुजाएँ; कुच—स्तन; ऊरु—जाँघें; मध्याः—तथा कमर; औत्सुक्य—उत्सुकता के कारण; मुक्त—शिथिल; कवरात्—बालों की चोटी से; च्यवमान—फिसलते हुए; माल्याः—फूल की छोटी मालाएँ; क्षोभम्—हिलना-डुलना; दधुः—उत्पन्न किया; मल—गंदी; धियाम्—चेतना वालों के लिए; रुचिरैः—आकर्षक; विहारैः—अपने खेलवाड़ से।

जब रानियों ने अपने देवरों तथा अन्य पुरुष संगियों पर पिचकारियों से पानी दे मारा, तो उनके वस्त्र भीग गये, जिससे उनकी बाँहें, स्तन, जाँघें तथा कमर झलकने लगे। उल्लास में उनके जूड़े ढीले होने से उनमें बँधे फूल गिर गये। इन मनोहारी लीलाओं से उन्होंने उन लोगों को उत्तेजित कर दिया, जिनकी चेतना दूषित थी।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं कि ''शुद्ध नर-नारियों के मध्य ऐसा आचरण आनन्दप्रद होता है, किन्तु जो लोग भौतिक रूप से कलुषित होते हैं, वे कामुक हो उठते हैं।''

स सम्राड्रथमारुढः सदश्वं रुक्ममालिनम् ।
व्यरोचत स्वपत्नीभिः क्रियाभिः क्रतुराडिव ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; सम्राट्—राजा युधिष्ठिर; रथम्—अपने रथ पर; आरुढः—चढ़ा हुआ; सत्—उत्तम; अश्वम्—घोड़े वाला; रुक्म—सुनहले; मालिनम्—लटकनों से; व्यरोचत—चमक रहा था; स्व-पत्नीभिः—अपनी पत्नियों के साथ; क्रियाभिः—अपने कृत्यों से; क्रतु—यज्ञ का; राट्—राजा (राजसूय); इव—मानो।

गले की सुनहरी झालरों से युक्त उत्तम घोड़ों से खींचे जाने वाले अपने रथ पर आरूढ़ सम्राट अपनी पत्नियों के संग इतने भव्य लग रहे थे, मानों तेजस्वी राजसूय यज्ञ अपने विविध कृत्यों से घिरा हुआ हो।

तात्पर्य : अपनी पत्नियों के साथ राजा युधिष्ठिर ऐसे लग रहे थे, मानो अपने सुन्दर कृत्यों से घिरा साक्षात् राजसूय यज्ञ हो।

पत्नीसम्याजावभृथ्यैश्चरित्वा ते तमृत्विजः ।

आचान्तं स्नापयां चक्रुर्गङ्गायां सह कृष्णया ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

पत्नी-संयाज—यज्ञकर्ता तथा उसकी पत्नी द्वारा सम्पन्न अनुष्ठान, जिसमें सोम, त्वष्टा, कुछ देवियों तथा अग्नि का तर्पण सम्मिलित हैं; अवभृथ्यै:—यज्ञ-पूर्ति के लिए किये गये अनुष्ठान; चरित्वा—सम्पन्न करके; ते—वे; तम्—उसको; ऋत्विज:—पुरोहितगण; आचान्तम्—शुद्धि के लिए जल सुड़क कर आचमन करके; स्नापयाम् चक्रु:—उन्हें नहलाया; गङ्गायाम्—गंगा नदी में; सह—साथ साथ; कृष्णया—द्रौपदी के।

पुरोहितों ने राजा से *पत्नी-संयाज* तथा *अवभृथ्य* के अन्तिम अनुष्ठान पूर्ण कराये। तब उन्होंने राजा तथा रानी द्रौपदी से शुद्धि के लिए जल आचमन करने एवं गंगा नदी में स्नान करने के लिए कहा।

देवदुन्दुभयो नेदुर्नरदुन्दुभिभि: समम् ।
मुमुचु: पुष्पवर्षाणि देवर्षिपितृमानवा: ॥ २० ॥

शब्दार्थ

देव—देवताओं की; दुन्दुभय:—दुन्दुभियाँ, नगाड़े; नेदु:—बज उठीं; नर—मनुष्यों की; दुन्दुभिभि:—दुन्दुभियों से; समम्—साथ साथ; मुमुचु:—बरसाया; पुष्प—फूलों की; वर्षाणि—वर्षा; देव—देवतागण; ऋषि—ऋषिगण; पितृ—पितरगण; मानवा:—तथा मनुष्यों ने।

देवताओं की दुन्दुभियाँ मनुष्यों की दुन्दुभियों के साथ साथ बज उठीं। देवताओं, ऋषियों, पितरों तथा मनुष्यों ने फूलों की वर्षा की।

सस्नुस्तत्र तत: सर्वे वर्णाश्रमयुता नरा: ।
महापातक्यपि यत: सद्यो मुच्येत किल्बिषात् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सस्नु:—स्नान किया; तत्र—वहाँ; तत:—इसके बाद; सर्वे—सभी; वर्ण-आश्रम—सारे वृत्तिपरक सामाजिक तंत्र तथा आध्यात्मिक आश्रम; युता:—के; नरा:—मनुष्य; महा—अत्यन्त; पातकी—पापी; अपि—भी; यत:—जिससे; सद्य:—तुरन्त; मुच्येत—मुक्त किया जा सके; किल्बिषात्—कल्मष से।

तत्पश्चात् विभिन्न वर्णों तथा आश्रमों से सम्बद्ध नागरिकों ने उस स्थान पर स्नान किया, जहाँ पर स्नान करने से बड़ा से बड़ा पापी भी पापों के फल से तुरन्त मुक्त हो जाता है।

अथ राजाहते क्षौमे परिधाय स्वलङ्कृत: ।
ऋत्विक्सदस्यविप्रादीनानर्चाभरणाम्बरै: ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; राजा—राजा; अहते—कोरा, बिना पहना; क्षौमे—रेशमी वस्त्र का जोड़ा; परिधाय—पहन कर; सु-अलङ्कृत:—सुन्दर ढंग से सज्जित; ऋत्विक्—पुरोहितगण; सदस्य—सभा के कार्यकारी सदस्य; विप्र—ब्राह्मण; आदीन्—इत्यादि; आनर्च—पूजा की; आभरण—गहनों से; अम्बरै:—तथा वस्त्रों से।

इसके बाद राजा ने नये रेशमी वस्त्र धारण किये और अपने को सुन्दर आभूषणों से अलंकृत किया। तत्पश्चात् उन्होंने पुरोहितों, सभा के सदस्यों, विद्वान ब्राह्मणों तथा अन्य अतिथियों को आभूषण तथा वस्त्र भेंट करके उनका सम्मान किया।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''राजा ने न केवल स्वयं वस्त्र धारण किये और अपने आप को अलंकृत किया, अपितु उन्होंने सारे पुरोहितों तथा यज्ञ में भाग लेने वाले सारे लोगों को भी वस्त्र तथा आभूषण प्रदान किये। इस तरह उन्होंने सबों की पूजा की।''

बन्धूञ्ज्ञातीन्नृपान्मित्रसुहृदोऽन्यांश्च सर्वशः ।
अभीक्ष्णं पूजयामास नारायणपरो नृपः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

बन्धून्—दूर के सम्बन्धियों; ज्ञातीन्—परिवार के निकटजनों; नृपान्—राजाओं; मित्र—मित्रों; सुहृदः—तथा शुभचिन्तकों को; अन्यान्—अन्यों को; च—भी; सर्वशः—सभी प्रकार से; अभीक्ष्णम्—निरन्तर; पूजयाम् आस—पूजा की; नारायण-परः—नारायण-भक्त; नृपः—राजा ने।

भगवान् नारायण के प्रति पूर्णतया समर्पित राजा युधिष्ठिर ने अपने सम्बन्धियों, परिवार वालों, अन्य राजाओं, अपने मित्रों, अपने शुभचिन्तकों तथा वहाँ पर उपस्थित सारे लोगों का निरन्तर सम्मान करते रहे।

सर्वे जनाः सुररुचो मणिकुण्डलस्र-
गुष्णीषकञ्चुकदुकूलमहार्घ्यहाराः ।
नार्यश्च कुण्डलयुगालकवृन्दजुष्ट-
वक्त्रश्रियः कनकमेखलया विरेजुः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—सभी; जनाः—पुरुष; सुर—देवताओं की तरह; रुचः—तेजस्वी रंग वाले; मणि—मणि; कुण्डल—कान के कुण्डलों से; स्रक्—फूल-मालाओं; उष्णीष—पगड़ी; कञ्चुक—ऊपरी वस्त्र, उत्तरीय; दुकूल—रेशमी वस्त्र; महा-अर्घ्य—अत्यन्त कीमती; हाराः—तथा मोती की मालाएँ; नार्यः—स्त्रियाँ; च—तथा; कुण्डल—कुण्डलों की; युग—जोड़ी; अलक-वृन्द—केशराशि (जूड़ा); जुष्ट—सुसज्जित; वक्त्र—मुखड़ों की; श्रियः—सुन्दरता; कनक—सोने की; मेखलया—करधनी से; विरेजुः—चमचमा रही थीं।

वहाँ पर उपस्थित सारे पुरुष देवताओं जैसे चमक रहे थे। वे रत्नजटित कुण्डलों, फूल की मालाओं, पगड़ियों, अंगरखों, रेशमी धोतियों तथा कीमती मोतियों की मालाओं से सज्जित थे। स्त्रियों के सुन्दर मुखड़े उनसे मेल खा रहे कुण्डलों तथा केश-गुच्छों से सुशोभित हो रहे थे और वे सुनहरी करधनियाँ पहने थीं।

अथर्त्विजो महाशीलाः सदस्या ब्रह्मवादिनः ।
ब्रह्मक्षत्रियविट्शुद्राराजानो ये समागताः ॥ २५॥

देवर्षिपितृभूतानि लोकपालाः सहानुगाः ।
पूजितास्तमनुज्ञाप्य स्वधामानि ययुर्नृप ॥ २६॥

शब्दार्थ

अथ—तब; ऋत्विजः—पुरोहितगण; महा-शीलाः—उच्च चरित्र वाले; सदस्याः—यज्ञ के अधिकारीगण; ब्रह्म—वेदों के; वादिनः—विशेषज्ञ; ब्रह्म—ब्राह्मण; क्षत्रिय—क्षत्रिय; विट्—वैश्य; शूद्राः—तथा शूद्रगण; आजानः—राजा; ये—जो; समागताः—आये हुए; देव—देवता; ऋषि—ऋषिगण; पितृ—पितरगण; भूतानि—तथा भूत-प्रेत; लोक—लोकों के; पालाः—शासक; सह—सहित; अनुगाः—अनुयायी; पूजिताः—पूजित; तम्—उससे; अनुज्ञाप्य—अनुमति लेकर; स्व—अपने; धामानि—घरों को; ययुः—चले गये; नृप—हे राजा (परीक्षित)।

तत्पश्चात्, हे राजन्, अत्यन्त सुसंस्कृत पुरोहितजन, महान् वैदिक विशेषज्ञ, जो यज्ञ-साक्षियों के रूप में सेवा कर चुके थे, विशेष रूप से आमंत्रित राजागण, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, देवता, ऋषि, पितर, भूत-प्रेत एवं मुख्य लोकपाल तथा उनके अनुयायीगण—ये सारे लोग राजा युधिष्ठिर से पूजे जाने के बाद उनकी अनुमति लेकर अपने अपने घरों के लिए प्रस्थान कर गये।

हरिदासस्य राजर्षे राजसूयमहोदयम् ।
नैवातृप्यन्प्रशंसन्तः पिबन्मर्त्योऽमृतं यथा ॥ २७॥

शब्दार्थ

हरि—भगवान् कृष्ण के; दासस्य—सेवक के; राज-ऋषेः—राजर्षि के; राजसूय—राजसूय यज्ञ के; महा-उदयम्—महान् उत्सव; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; अतृप्यन्—सन्तुष्ट हो गये; प्रशंसन्तः—प्रशंसा करते हुए; पिबन्—पीते हुए; मर्त्यः—मरणशील मनुष्य; अमृतम्—अमृत; यथा—जिस तरह।

वे उस राजर्षि तथा हरि-सेवक द्वारा सम्पन्न अद्भुत राजसूय यज्ञ की प्रशंसा करते अघा नहीं रहे थे, जिस तरह सामान्य व्यक्ति अमृत पीते नहीं अघाता।

ततो युधिष्ठिरो राजा सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान् ।
प्रेम्णा निवारयामास कृष्णं च त्यागकातरः ॥ २८॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; युधिष्ठिरः राजा—राजा युधिष्ठिर; सुहृत्—अपने मित्रों; सम्बन्धि—सम्बन्धी लोग; बान्धवान्—तथा बान्धव; प्रेम्णा—प्रेम के वशीभूत; निवारयाम् आस—उन्हें रोका; कृष्णम्—कृष्ण को; च—तथा; त्याग—वियोग से; कातरः—दुखी।

उस समय राजा युधिष्ठिर ने अपने अनेक मित्रों, निकट सम्बन्धियों तथा बान्धवों को जाने से रोक लिया, जिनमें कृष्ण भी थे। प्रेम के वशीभूत युधिष्ठिर ने उन्हें जाने नहीं दिया, क्योंकि उन्हें आसन्न विरह की पीड़ा अनुभव हो रही थी।

भगवानपि तत्राङ्ग न्यावात्सीत्तत्प्रियंकरः ।
प्रस्थाप्य यदुवीरांश्च साम्बादींश्च कुशस्थलीम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; अपि—तथा; तत्र—वहाँ; अङ्ग—प्रिय (राजा परीक्षित); न्यावात्सीत्—रह गए; तत्—उसके लिए (युधिष्ठिर के लिए); प्रियम्—आनन्द; करः—करते हुए; प्रस्थाप्य—भेज कर; यदु-वीरान्—यदुवंश के वीरों को; च—तथा; साम्ब-आदीन्—साम्ब इत्यादि; च—तथा; कुशस्थलीम्—द्वारका।

हे परीक्षित, साम्ब तथा अन्य यदु-वीरों को द्वारका वापस भेज कर भगवान् राजा को प्रसन्न करने के लिए कुछ काल तक वहाँ ठहर गए।

इत्थं राजा धर्मसुतो मनोरथमहार्णवम् ।
सुदुस्तरं समुत्तीर्य कृष्णेनासीद्गतज्वरः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस तरह से; राजा—राजा; धर्म—धर्म के (यमराज); सुतः—पुत्र; मनः-रथ—अपनी इच्छाओं के; महा—विशाल; अर्णवम्—समुद्र को; सु—अत्यन्त; दुस्तरम्—पार करना कठिन; समुत्तीर्य—भलीभाँति पार करके; कृष्णेन—कृष्ण के माध्यम से; आसीत्—हो गया; गत-ज्वरः—ज्वर से मुक्त।

इस तरह धर्म-पुत्र राजा युधिष्ठिर भगवान् कृष्ण की कृपा से अपनी इच्छाओं के विशाल एवं दुर्लंघ्य समुद्र को भलीभाँति पार करके अपनी उत्कट महत्त्वाकांक्षा से मुक्त हो गये।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के पिछले अध्यायों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि राजा युधिष्ठिर विश्व को भगवान् कृष्ण की श्रेष्ठता एवं शरणागतों को प्राप्त आशीषों का प्रदर्शन कराना चाहते थे। ऐसा करने के लिए ही राजा युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ सम्पन्न किया, जो अत्यन्त दुस्सह कार्य है।

इस प्रसंग में श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''इस भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति की कुछ विशेष प्रकार की इच्छाएँ होती हैं, परन्तु वह उन्हें पूर्ण सन्तुष्टि के साथ पूरी नहीं कर पाता। परन्तु श्रीकृष्ण के प्रति अपनी अटल भक्ति के कारण महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ निष्पादित करके अपनी सारी इच्छाओं को सफलतापूर्वक पूरा किया। जिस तरह राजसूय यज्ञ सम्पन्न हुआ उसके वर्णन से ऐसा लगता है कि ऐसा उत्सव ऐश्वर्यमयी इच्छाओं का महासागर होता है। साधारण व्यक्ति के लिए ऐसे महासागर को पार कर पाना सम्भव नहीं है। तो भी भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से राजा युधिष्ठिर ने अत्यन्त सहजता से उस सागर को पार कर लिया और इस तरह वे सारी चिन्ताओं से मुक्त हो गये।''

एकदान्तःपुरे तस्य वीक्ष्य दुर्योधनः श्रियम् ।
अतप्यद्राजसूयस्य महित्वं चाच्युतात्मनः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक दिन; अन्तः-पुरे—महल के भीतर; तस्य—उसके (युधिष्ठिर के); वीक्ष्य—देख कर; दुर्योधनः—दुर्योधन; श्रीयम्—ऐश्वर्य; अतप्यत्—दुखी हुआ; राजसूयस्य—राजसूय यज्ञ की; महित्वम्—महानता को; च—तथा; अच्युत-आत्मनः—उसका (युधिष्ठिर का) जिसकी आत्मा भगवान् अच्युत थे।

एक दिन दुर्योधन राजा युधिष्ठिर के महल के ऐश्वर्य को देख कर राजसूय यज्ञ तथा यज्ञकर्ता राजा की महानता से, जिसका जीवन तथा आत्मा अच्युत भगवान् थे, अत्यधिक विचलित हुआ।

यस्मिंस्नरेन्द्रदितिजेन्द्रसुरेन्द्रलक्ष्मी-
नाना विभान्ति किल विश्वसृजोपक्लिप्ताः ।
ताभिः पतीन्द्रुपदराजसुतोपतस्थे
यस्यां विषक्तहृदयः कुरुराडतप्यत् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें (महल में); नर-इन्द्र—मनुष्यों के राजा के; दितिज-इन्द्र—असुरराज के; सुर-इन्द्र—तथा देवताओं के राजा के; लक्ष्मीः—ऐश्वर्य; नाना—विविध; विभान्ति—प्रकट थे; किल—निस्सन्देह; विश्व-सृजा—विराट स्रष्टा (मय दानव); उपक्लिप्ताः—प्रदान किया; ताभिः—उनसे; पतीन्—उसके पति, पाण्डव; द्रुपद-राज—राजा द्रुपद की; सुता—पुत्री, द्रौपदी ने; उपतस्थे—सेवा की; यस्याम्—जिसकी; विषक्त—अनुरक्त; हृदयः—हृदय वाले; कुरु-राट्—कुरु-कुमार दुर्योधन; अतप्यत्—सन्ताप करने लगा।

उस महल में मनुष्यों, दानवों तथा देवताओं के राजाओं के समस्त संचित ऐश्वर्य जगमगा रहे थे, जो विश्व के अन्वेषक मय दानव द्वारा ले आया गया था। उस ऐश्वर्य से द्रौपदी अपने पतियों की सेवा करती थी, किन्तु कुरु-राजकुमार दुर्योधन संतप्त था, क्योंकि वह उसके प्रति अत्यधिक आकृष्ट था।

यस्मिन्तदा मधुपतेर्महिषीसहस्रं
श्रोणीभरेण शनकैः क्वणदङ्घ्रिशोभम् ।
मध्ये सुचारु कुचकुङ्कुमशोणहारं
श्रीमन्मुखं प्रचलकुण्डलकुन्तलाढ्यम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; तदा—उस समय; मधु—मथुरा के; पतेः—स्वामी की; महिषी—रानियाँ; सहस्रम्—हजारों; श्रोणी—अपने नितम्बों के; भरेण—भार से; शनकैः—धीरे-धीरे; क्वणत्—शब्द करती हुई; अङ्घ्रि—पाँव; शोभम्—शोभा; मध्ये—बीच में (कमर में); सु-चारु—अत्यन्त मनोहर; कुच—उनके स्तनों से; कुङ्कुम—कुंकुम-चूर्ण से; शोण—रक्तिम; हारम्—मोती की माला; श्री-मत्—सुन्दर; मुखम्—मुखों वाली; प्रचल—हिलते, गतिमान्; कुण्डल—कुण्डलों से; कुन्तल—बालों के गुच्छे; आढ्यम्—धनी।

भगवान् मधुपति की हजारों रानियाँ भी महल में ठहरी हुई थीं। उनके पाँव नितम्बों के भार

से धीरे-धीरे गति करते थे और उनके पाँवों के पायजेब मनोहर शब्द करते थे। उनकी कटि अत्यन्त पतली थी, उनके स्तनों पर लगे कुंकुम से उनकी मोती की मालाएँ लाल-लाल हो गयी थीं। उनके हिलते कुण्डलों तथा लहराते बालों से उनके मुखों की भव्य शोभा बढ़ रही थी।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''महाराज युधिष्ठिर के महल में ऐसी सुन्दरियों को देख कर दुर्योधन को ईर्ष्या होने लगी। वह द्रौपदी देवी की सुन्दरता को देख कर विशेष रूप से कामुक तथा ईर्ष्यालु हो उठा क्योंकि पाण्डवों के साथ द्रौपदी के विवाह के समय से ही दुर्योधन उसके प्रति विशेष आकर्षित था। द्रौपदी के स्वयंवर समारोह में दुर्योधन भी उपस्थित था और अन्य राजकुमारों की भाँति वह भी द्रौपदी की सुन्दरता पर मोहित हो उठा था, परन्तु उन्हें प्राप्त करने के प्रयास में वह असफल रहा था।''

सभायां मयक्लिप्तायां क्वापि धर्मसुतोऽधिराट् ।
वृतोऽनुगैर्बन्धुभिश्च कृष्णेनापि स्वचक्षुषा ॥ ३ ॥
आसीनः काञ्चने साक्षादासने मघवानिव ।
पारमेष्ठ्यश्रीया जुष्टः स्तूयमानश्च वन्दिभिः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सभायाम्—सभाभवन में; मय—मय दानव द्वारा; क्लिप्तायाम्—बनाया; क्व अपि—एक अवसर पर; धर्म-सुतः—यमराज के पुत्र (युधिष्ठिर); अधिराट्—सम्राट; वृतः—घिरे हुए; अनुगैः—अपने सेवकों से; बन्धुभिः—पारिवारिक सदस्यों से; च—तथा; कृष्णेन—भगवान् कृष्ण द्वारा; अपि—भी; स्व—अपनी; चक्षुषा—आँख से; आसीनः—बैठा; काञ्चने—सोने से बने; साक्षात्—स्वयं; आसने—सिंहासन पर; मघवान्—इन्द्र; इव—मानो; पारमेष्ठ्य—ब्रह्मा का, परम सत्ता के; श्रिया—ऐश्वर्य से; जुष्टः—जुड़ा; स्तूयमानः—प्रशंसित होकर; च—तथा; वन्दिभिः—राजकवियों द्वारा।

ऐसा हुआ कि धर्म-पुत्र सम्राट युधिष्ठिर मय दानव द्वारा निर्मित सभाभवन में स्वर्ण सिंहासन पर इन्द्र के समान विराजमान थे। उनके साथ उनके परिचारक तथा परिवार वाले लोगों के अतिरिक्त उनके विशेष नेत्रस्वरूप भगवान् कृष्ण भी थे। साक्षात् ब्रह्मा के ऐश्वर्य को प्रदर्शित कर रहे राजा युधिष्ठिर राजकवियों द्वारा प्रशंसित हो रहे थे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि यहाँ पर भगवान् कृष्ण को युधिष्ठिर की विशेष आँख (नेत्र) कहा गया है, क्योंकि वे ही राजा को सलाह देते थे कि क्या लाभप्रद है और क्या नहीं है।

तत्र दुर्योधनो मानी परीतो भ्रातृभिर्नृप ।
किरीटमाली न्यविशदसिहस्तः क्षिपन्रुषा ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; दुर्योधनः—दुर्योधन; मानी—अभिमानी; परीतः—घिरा हुआ; भ्रातृभिः—अपने भाइयों से; नृप—हे राजा; किरीट—मुकुट; माली—तथा हार पहने; न्यविशत्—प्रविष्ट हुआ; असि—तलवार; हस्तः—हाथ में; क्षिपन्—(द्वारपालों को) अपमानित करते हुए; रुषा—क्रोध से भरा हुआ।

अभिमानी दुर्योधन अपने हाथ में तलवार लिये और मुकुट तथा हार पहने क्रोध से भरा अपने भाइयों के साथ महल में गया। हे राजन्, घुसते समय उसने द्वारपालों का अपमान किया।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं कि दुर्योधन "सदैव ईर्ष्यालु तथा क्रुद्ध रहता था इसलिए थोड़ी-सी उत्तेजना पर वह द्वारपालों से तीखेपन से बोला और क्रोधित हो गया।"

स्थलेऽभ्यगृह्णाद्वस्त्रान्तं जलं मत्वा स्थलेऽपतत् ।
जले च स्थलवद्भ्रान्त्या मयमायाविमोहितः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

स्थले—स्थल पर; अभ्यगृह्णात्—ऊपर उठा लिया; वस्त्र—अपने वस्त्र का; अन्तम्—छोर; जलम्—जल; मत्वा—मान कर; स्थले—तथा अन्य स्थान पर; अपतत्—गिर गया; जले—जल में; च—तथा; स्थल—स्थल; वत्—मानो; भ्रान्त्या—भ्रम से; मय—मय दानव के; माया—जादू से; विमोहितः—मोहग्रस्त।

मय दानव के जादू से निर्मित भ्रम से मोहग्रस्त होकर दुर्योधन ठोस फर्श को जल समझ बैठा, अतः उसने अपने वस्त्र का निचला सिरा ऊपर उठा लिया। अन्यत्र जल को ठोस फर्श समझ लेने से वह जल में गिर गया।

जहास भीमस्तं दृष्ट्वा स्त्रियो नृपतयो परे ।
निवार्यमाणा अप्यङ्ग राज्ञा कृष्णानुमोदिताः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

जहास—हँस पड़ा; भीमः—भीमसेन; तम्—उसको; दृष्ट्वा—देख कर; स्त्रियः—स्त्रियाँ; नृ-पतयः—राजागण; अपरे—तथा अन्य; निवार्यमाणाः—रोके जाने पर; अपि—भी; अङ्ग—हे प्रिय (परीक्षित); राज्ञा—राजा (युधिष्ठिर) द्वारा; कृष्ण—कृष्ण द्वारा; अनुमोदिताः—समर्थित, सहमत।

हे परीक्षित, यह देख कर भीम हँस पड़े और उसी तरह स्त्रियाँ, राजा तथा अन्य लोग भी हँसे। राजा युधिष्ठिर ने उन्हें रोकना चाहा, किन्तु भगवान् कृष्ण ने अपनी सहमति प्रदर्शित की।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती उल्लेख करते हैं कि राजा युधिष्ठिर ने स्त्रियों तथा भीम को तिरछी नजर से देख कर उनकी हँसी रुकवानी चाही। किन्तु भगवान् कृष्ण ने अपने भौंहों के इशारे से हँसी के लिए अपनी सहमति दे दी। भगवान् इस धरा पर दुष्ट राजाओं का भार दूर करने आये थे और यह घटना भगवान् के अभिप्राय से असम्बद्ध नहीं थी।

स व्रीडितोऽवग्वदनो रुषा ज्वलन्
निष्क्रम्य तूष्णीं प्रययौ गजाह्वयम् ।
हाहेति शब्दः सुमहानभूत्सता-
मजातशत्रुर्विमना इवाभवत् ।
बभूव तूष्णीं भगवान्भुवो भरं
समुज्जिहीर्षुर्भ्रमति स्म यद्दृशा ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, दुर्योधन; व्रीडितः—उद्विग्न; अवाक्—हक्का-बक्का; वदनः—मुख; रुषा—क्रोध से; ज्वलन्—जलता हुआ; निष्क्रम्य—बाहर निकल कर; तूष्णीम्—चुपके से; प्रययौ—चला गया; गज-आह्वयम्—हस्तिनापुर; हा-हा इति—हाय हाय; शब्दः—शब्द; सु-महान्—भीषण; अभूत्—उठा; सताम्—सन्त-पुरुषों से; अजात-शत्रुः—राजा युधिष्ठिर; विमनाः—उदास; इव—कुछ कुछ; अभवत्—हो गया; बभूव—था; तूष्णीम्—मौन; भगवान्—भगवान्; भुवः—पृथ्वी का; भरम्—भार; समुज्जिहीर्षुः—हटाने की इच्छा से; भ्रमति स्म—(दुर्योधन) ठगा गया; यत्—जिसकी; दृशा—दृष्टि से।

लज्जित एवं क्रोध से जलाभुना दुर्योधन अपना मुँह नीचा किये, बिना कुछ कहे, वहाँ से निकल गया और हस्तिनापुर चला गया। उपस्थित सन्त-पुरुष जोर-जोर से कह उठे, ''हाय! हाय!'' और राजा युधिष्ठिर कुछ दुखी हो गये। किन्तु भगवान्, जिनकी चितवन् मात्र से दुर्योधन मोहित हो गया था, मौन बैठे रहे, क्योंकि उनकी मंशा पृथ्वी के भार को हटाने की थी।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''जब दुर्योधन इतना क्रोधित होकर वहाँ से चला गया तो सबों ने इस घटना पर खेद प्रकट किया और महाराज युधिष्ठिर भी बहुत उदास हो गये। परन्तु इन सब घटनाओं के बावजूद भी कृष्ण शान्त थे। वे घटना के पक्ष में या विरोध में कुछ नहीं बोले। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि भगवान् श्रीकृष्ण की परम इच्छा के कारण वह इस भ्रम में डाला गया था। इस प्रकार यह कुरुवंश के दो पक्षों में शत्रुता का सूत्रपात था। ऐसा प्रतीत होता था कि यह संसार के भार को कम करने के कृष्ण के उद्देश्य की योजना का एक अंश था।''

एतत्तेऽभिहितं राजन्यत्पृष्टोऽहमिह त्वया ।
सुयोधनस्य दौरात्म्यं राजसूये महाक्रतौ ॥ ० ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; ते—तुमसे; अभिहितम्—कहा गया; राजन्—हे राजन; यत्—जो; पृष्टः—पूछा गया; अहम्—मैंने; इह—इस सम्बन्ध में; त्वया—तुम्हारे द्वारा; सुयोधनस्य—सुयोधन (दुर्योधन) का; दौरात्म्यम्—असंतोष; राजसूये—राजसूय यज्ञ के दौरान; महा-क्रतौ—महान् यज्ञ।

हे राजन्, अब मैं तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर दे चुका हूँ कि दुर्योधन महान् राजसूय यज्ञ के अवसर पर क्यों असन्तुष्ट था।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''दुर्योधन का मानमर्दन'' नामक पचहत्तरवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छिहत्तर

शाल्व तथा वृष्णियों के मध्य युद्ध

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह शाल्व नामक असुर ने एक विशाल तथा भयानक विमान प्राप्त किया और किस तरह इसका उपयोग द्वारका में वृष्णियों पर आक्रमण करने के लिए किया और किस तरह उस युद्ध के दौरान प्रद्युम्न को युद्धस्थल से हर लिया गया।

शाल्व उन राजाओं में से एक था, जो रुक्मिणीदेवी के विवाह के समय पराजित हुए थे। उसने तब यह प्रतिज्ञा की थी कि वह पृथ्वी पर से समस्त यादवों का सफाया कर देगा, अत: वह प्रतिदिन मुट्ठी-भर धूल फाँक कर शिवजी की पूजा करने लगा। जब एक साल बीता तो शिवजी शाल्व के समक्ष प्रकट हुए और उससे वर माँगने के लिए कहा। शाल्व ने ऐसे उड़न-यंत्र का वर माँगा, जो कहीं भी जा सके और देवों, असुरों तथा मनुष्यों को भयभीत बना दे। शिवजी ने उसकी विनती मान ली और मय दानव से सौभ नामक एक उड़ता हुआ लोहे का नगर बनवाया। शाल्व यह यान लेकर द्वारका गया, जहाँ उसने अपनी विशाल सेना के साथ नगर में घेरा डाल दिया। उसने अपने विमान से द्वारका पर पेड़ों के तनों, पत्थरों तथा अन्य प्रक्षेप्यों से बमबारी की और ऐसा चक्रवात उत्पन्न कर दिया, जिसकी धूल से सब कुछ ओझल हो उठा।

जब प्रद्युम्न, सात्यकि तथा अन्य यदुवीरों ने द्वारका तथा द्वारकावासियों की दयनीय दशा देखी, तो वे शाल्व की सेना से लड़ने के लिए गये। योद्धाओं में श्रेष्ठ प्रद्युम्न ने अपने दैवी हथियारों से शाल्व का सारा भ्रामक जादू ध्वस्त कर दिया और शाल्व को भी मोहित कर दिया। इस तरह शाल्व का विमान पृथ्वी में, आकाश में तथा पर्वत की चोटियों पर निरुद्देश्य चक्कर लगाने लगा। किन्तु तब शाल्व के अनुयायी द्युमान ने प्रद्युम्न की छाती पर अपनी गदा से वार किया। प्रद्युम्न का सारथी अपने स्वामी को बुरी तरह घायल देख कर उन्हें युद्धस्थल से बाहर ले आया, किन्तु प्रद्युम्न को शीघ्र ही चेत हुआ, तो उन्होंने अपने सारथी को इस तरह के कार्य के लिए बुरी तरह से फटकारा।

श्रीशुक उवाच
अथान्यदपि कृष्णस्य शृणु कर्माद्भुतं नृप ।
क्रीडानरशरीरस्य यथा सौभपतिर्हतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—अब; अन्यत्—दूसरा; अपि—भी; कृष्णस्य—कृष्ण का; शृणु—सुनो; कर्म—कार्य; अद्भुतम्—विचित्र; नृप—हे राजा; क्रीडा—खिलवाड़ करने के लिए; नर—मनुष्य जैसा; शरीरस्य—शरीर का; यथा—कैसे; सौभ-पतिः—सौभ का स्वामी (शाल्व); हतः—मारा गया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, अब उन भगवान् कृष्ण द्वारा सम्पन्न एक अन्य अद्‌भुत् कार्य सुनो, जो दिव्य लीलाओं का आनन्द लेने के लिए अपने मानव शरीर में प्रकट हुए। अब सुनो कि उन्होंने किस तरह सौभपति का वध किया।

शिशुपालसखः शाल्वो रुक्मिण्युद्वाह आगतः ।
यदुभिर्निर्जितः सङ्ख्ये जरासन्धादयस्तथा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

शिशुपाल-सखः—शिशुपाल का मित्र; शाल्वः—शाल्व नामक; रुक्मिणी-उद्वाहे—रुक्मिणी के विवाह में; आगतः—आया हुआ; यदुभिः—यदुओं द्वारा; निर्जितः—परास्त; सङ्ख्ये—युद्ध में; जरासन्ध-आदयः—जरासन्ध इत्यादि; तथा—भी।

शाल्व शिशुपाल का मित्र था। जब वह रुक्मिणी के विवाह में सम्मिलित हुआ था, तो यदुवीरों ने उसे जरासन्ध तथा अन्य राजाओं समेत युद्ध में परास्त कर दिया था।

शाल्वः प्रतिज्ञामकरोच्छृण्वतां सर्वभूभुजाम् ।
अयादवां क्ष्मां करिष्ये पौरुषं मम पश्यत ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

शाल्वः—शाल्व ने; प्रतिज्ञाम्—प्रतिज्ञा; अकरोत्—की; शृण्वताम्—सुनते हुए; सर्व—सभी; भू-भुजाम्—राजाओं के; अयादवाम्—यादवों से विहीन; क्ष्माम्—पृथ्वी को; करिष्ये—करूँगा; पौरुषम्—पराक्रम; मम—मेरा; पश्यत—जरा देखो।

शाल्व ने समस्त राजाओं के समक्ष प्रतिज्ञा की, ''मैं पृथ्वी को यादवों से विहीन कर दूँगा। जरा मेरे पराक्रम को देखो।''

इति मूढः प्रतिज्ञाय देवं पशुपतिं प्रभुम् ।
आराधयामास नृपः पांशुमुष्टिं सकृद्ग्रसन् ॥ ॥

शब्दार्थ

इति—इन शब्दों से; मूढः—मूर्ख ने; प्रतिज्ञाय—प्रतिज्ञा करके; देवम्—स्वामी; पशु-पतिम्—पशु सदृश पुरुषों के रक्षक, शिव को; प्रभुम्—अपने स्वामी; आरधयाम् आस—पूजा की; नृपः—राजा; पांशु—धूल की; मुष्टिम्—मुट्ठी; सकृत्—एक बार (नित्य ही); ग्रसन्—खाते हुए।

यह प्रतिज्ञा कर चुकने के बाद वह मूर्ख राजा प्रतिदिन मात्र एक मुट्ठी धूल फाँक कर भगवान् पशुपति (शिव) की पूजा करने लगा।

संवत्सरान्ते भगवानाशुतोष उमापतिः ।
वरेण च्छन्दयामास शाल्वं शरणमागतम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

संवत्सर—एक वर्ष के; अन्ते—अन्त में; भगवान्—भगवान्; आशु-तोषः—तुरन्त प्रसन्न होने वाले; उमा-पतिः—उमा के पति; वरेण—वर से; छन्दयाम् आस—चुनने के लिए; शाल्वम्—शाल्व को; शरणम्—शरण लेने के लिए; आगतम्—आया हुआ।

भगवान् उमापति शीघ्र प्रसन्न होने वाले अर्थात् आशुतोष कहलाते हैं, फिर भी उन्होंने अपनी शरण में आये शाल्व को एक वर्ष के बाद ही यह कह कर तुष्ट किया कि तुम जो वर चाहो माँग सकते हो।

तात्पर्य : शाल्व ने आशुतोष नाम से विख्यात शिवजी की पूजा की। फिर भी शिवजी पूरे एक वर्ष तक उसके समझ नहीं आये क्योंकि भगवान् अर्थात् सर्वज्ञ और महान् होने के नाते वे जान गये थे कि भगवान् कृष्ण के शत्रु को दिया गया कोई भी वर निष्फल होगा तो भी जैसाकि *शरणम् आगतम्* शब्दों से विदित होता है, शाल्व शिवजी की शरण में आया था और प्रामाणिक नियम को बनाये रखने के लिए कि पूजा करने वाले को वर मिलना ही चाहिए इस दृष्टि से शिवजी ने शाल्व को एक वर दिया।

देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
अभेद्यं कामगं वव्रे स यानं वृष्णिभीषणम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

देव—देवताओं द्वारा; असुर—असुरों; मनुष्याणाम्—तथा मनुष्यों को; गन्धर्व—गन्धर्वों द्वारा; उरग—दैवी सर्प; रक्षसाम्—तथा राक्षसगण को; अभेद्यम्—नष्ट न किया जा सकने वाला; काम—इच्छानुसार; गम्—भ्रमण करते हुए; वव्रे—चुना; सः—उसने; यानम्—सवारी, यान; वृष्णि—वृष्णियों को; भीषणम्—भयभीत बनाने के लिए।

शाल्व ने ऐसा यान चुना, जो न तो देवताओं, असुरों, मनुष्यों, गन्धर्वों, उरगों और न ही राक्षसों द्वारा नष्ट किया जा सके और जो उसकी इच्छानुसार कहीं भी यात्रा करा सके और वृष्णियों को भयभीर करा सके।

तथेति गिरिशादिष्टो मयः परपुरंजयः ।
पुरं निर्माय शाल्वाय प्रादात्सौभमयस्मयम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

तथा—ऐसा ही हो; इति—ऐसा कहने के बाद; गिरि-श—शिव द्वारा; आदिष्टः—आदेश दिया; मयः—मय दानव; पर—शत्रु के; पुरम्—नगरों को; जयः—जीतने वाला; पुरम्—नगर; निर्माय—बनाने के लिए; शाल्वाय—शाल्व के लिए; प्रादात्—दिया; सौभम्—सौभ नामक; अयः—लोहे का; मयम्—निर्मित।

शिवजी ने कहा, "ऐसा ही हो।" उनके आदेश पर अपने शत्रुओं के नगरों को जीत लेने वाले मय दानव ने एक लोहे की उड़न नगरी बनाई, जिसका नाम सौभ था और लाकर शाल्व को भेंट कर दी।

स लब्ध्वा कामगं यानं तमोधाम दुरासदम् ।
ययस्द्वारवतीं शाल्वो वैरं वृष्णिकृतं स्मरन् ॥ ८॥

शब्दार्थ

सः—वह; लब्ध्वा—प्राप्त करके; काम-गम्—इच्छानुसार भ्रमण करने वाला; यानम्—यान को; तमः—अंधकार का; धाम—घर; दुरासदम्—जहाँ पहुँचा न जा सके; ययौ—गया; द्वारवतीम्—द्वारका; शाल्वः—शाल्व; वैरम्—शत्रुता; वृष्णि-कृतम्—वृष्णियों द्वारा की गई; स्मरन्—स्मरण करते हुए।

यह दुर्दम्य यान अंधकार से पूर्ण था और कहीं भी जा सकता था। इसे प्राप्त करने पर शाल्व अपने प्रति वृष्णियों की शत्रुता स्मरण करते हुए द्वारका गया।

निरुध्य सेनया शाल्वो महत्या भरतर्षभ ।
पुरीं बभञ्जोपवनानुद्यानानि च सर्वशः ॥ ९॥
सगोपुराणि द्वाराणि प्रासादाट्टालतोलिकाः ।
विहारान्स विमानाछ्यान्निपेतुः शस्त्रवृष्टयः ॥ ॥
शिलाद्रुमाश्चाशनयः सर्पा आसारशर्कराः ।
प्रचण्डश्चक्रवातोऽभूद्रजसाच्छादिता दिशः ॥ ११॥

शब्दार्थ

निरुध्य—घेरा डाल कर; सेनया—सेना के साथ; शाल्वः—शाल्व; महत्या—महान्; भरत-ऋषभ—हे भरत-श्रेष्ठ; पुरीम्—नगर को; बभञ्ज—तोड़ डाला; उपवनान्—वाटिकाओं को; उद्यानानि—बगीचे; च—तथा; सर्वशः—चारों ओर; स-गोपुराणि—बुर्जियों समेत; द्वाराणि—तथा द्वार; प्रासाद—महल; अट्टाल—अटारियाँ; तोलिकाः—तथा चार दीवारियाँ; विहारान्—मनोरंजन के स्थलों को; सः—वह, शाल्व; विमान—हवाईजहाज से; अछ्यात्—सर्वश्रेष्ठ; निपेतुः—गिराया; शस्त्र—हथियारों की; वृष्टयः—वर्षा; शिला—पत्थर; द्रुमाः—तथा वृक्ष; च—भी; अशनयः—वज्र; सर्पाः—सर्प; आसार-शर्कराः—तथा ओले; प्रचण्डः—भयानक; चक्रवातः—बवण्डर; अभूत्—उठा; रजसा—धूल से; आच्छादिताः—ढकी हुई; दिशः—समस्त दिशाएँ।

हे भरतश्रेष्ठ, शाल्व ने विशाल सेना के साथ नगर को घेर लिया और बाहरी वाटिकाओं तथा उद्यानों, अट्टालिकाओं समेत महलों, गोपुरों तथा चार दीवारियों के साथ साथ सार्वजनिक

मनोरंजन स्थलों को भी ध्वस्त कर दिया। उसने अपने इस उत्कृष्ट यान से पत्थरों, वृक्ष के तनों, वज्रों, सर्पों, ओलों इत्यादि हथियारों की वर्षा की। एक भीषण बवण्डर उठ खड़ा हुआ और उसने धूल से सारी दिशाओं को ओझल बना दिया।

इत्यर्द्यमाना सौभेन कृष्णस्य नगरी भृशम् ।
नाभ्यपद्यत शं राजंस्त्रिपुरेण यथा मही ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अर्द्यमाना—सतायी हुई; सौभेन—सौभ नामक विमान से; कृष्णस्य—कृष्ण की; नगरी—पुरी; भृशम्—बुरी तरह से; न अभ्यपद्यत—नहीं पा सका; शम्—शान्ति; राजन्—हे राजन्; त्रि-पुरेण—असुरों की तीन हवाई-नगरियों द्वारा; यथा—जिस तरह; मही—पृथ्वी।

हे राजन्, इस तरह सौभ विमान द्वारा बुरी तरह सताये जाने से कृष्ण की पुरी में अमन-चैन नहीं रहा, जिस तरह असुरों की तीन हवाई-नगरियों द्वारा आक्रमण किये जाने पर पृथ्वी अशान्त हो गई थी।

प्रद्युम्नो भगवान्वीक्ष्य बाध्यमाना निजाः प्रजाः ।
म भैष्टेत्यभ्यधाद्वीरो रथारूढो महायशाः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

प्रद्युम्नः—प्रद्युम्न; भगवान्—भगवान्; वीक्ष्य—देख कर; बाध्यमानाः—सताया जाकर; निजाः—अपनी; प्रजाः—प्रजा; मा भैष्ट—मत डरो; इति—इस प्रकार; अभ्यधात्—सम्बोधित किये गये; वीरः—महान् वीर; रथ—अपने रथ पर; आरूढः—सवार हुआ; महा—महान्; यशाः—कीर्ति वाला।

अपनी प्रजा को इस प्रकार सताई जाते देखकर यशस्वी तथा वीर भगवान् प्रद्युम्न ने उनसे इस प्रकार कहा, ''डरो मत'' तथा वह अपने रथ पर सवार हो गया।

सात्यकिश्चारुदेष्णश्च साम्बोऽक्रूरः सहानुजः ।
हार्दिक्यो भानुविन्दश्च गदश्च शुकसारणौ ॥ १ ॥
अपरे च महेष्वासा रथयूथपयूथपाः ।
निर्ययुर्दंशिता गुप्ता रथेभाश्वपदातिभिः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

सात्यकिः चारुदेष्णः च—सात्यकि तथा चारुदेष्ण; साम्बः—साम्ब; अक्रूरः—एवं अक्रूर; सह—साथ; अनुजः—छोटे भाई; हार्दिक्यः—हार्दिक्य; भानुविन्दः—भानुविन्द; च—तथा; गदः—गद; च—तथा; शुक-सारणौ—शुक एवं सारण; अपरे—अन्य; च—भी; महा—प्रमुख; इष्व्-आसाः—धनुर्धर; रथ—रथ के (योद्धा); यूथ-प—नेताओं के; यूथ-पाः—नेता; निर्ययुः—बाहर चले गये; दंशिताः—कवच धारण किये; गुप्ताः—सुरक्षित; रथ—रथों (पर सवार सैनिकों) द्वारा; इभ—हाथियों; अश्व—तथा घोड़ों; पदातिभिः—तथा पैदल सैनिकों से।

रथियों के प्रमुख सेनापति यथा सात्यकि, चारुदेष्ण, साम्ब, अक्रूर तथा उसके छोटे भाई और उनके साथ ही हार्दिक्य, भानुविन्द, गद, शुक तथा सारण अनेक अन्य प्रमुख धनुर्धरों के साथ कवच धारण करके तथा रथों, हाथियों और घोड़ों पर सवार सैनिकों एवं पैदल सिपाहियों की टुकड़ियों से सुरक्षित होकर नगर से बाहर आ गये।

ततः प्रववृते युद्धं शाल्वानां यदुभिः सह ।
यथासुराणां विबुधैस्तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; प्रववृते—शुरू कर दिया; युद्धम्—युद्ध; शाल्वानाम्—शाल्व के अनुयायियों का; यदुभिः सह—यदुओं के साथ; यथा—जिस तरह; असुराणाम्—असुरों का; विबुधैः—देवताओं के साथ; तुमुलम्—घनघोर; लोम-हर्षणम्—रोंगटे खड़ा करने वाला।.

तब शाल्व की सेनाओं तथा यदुओं के बीच रोंगटे खड़ा कर देने वाला भीषण युद्ध प्रारम्भ हुआ। यह असुरों तथा देवताओं के मध्य हुए महान् युद्ध के तुल्य था।

ताश्च सौभपतेर्माया दिव्यास्त्रै रुक्मिणीसुतः ।
क्षणेन नाशयामास नैशं तम इवोष्णगुः ॥ १७॥

शब्दार्थ

ताः—वे; च—तथा; सौभ-पतेः—सौभ के स्वामी की; मायाः—जादुई माया; दिव्य—दैवी; अस्त्रैः—हथियारों से; रुक्मिणी-सुतः—रुक्मिणी-पुत्र (प्रद्युम्न); क्षणेन—क्षण में; नाशयाम् आस—नष्ट कर दिया; नैशम्—रात्रि का; तमः—अंधकार; इव—सदृश; उष्ण—गर्म; गुः—जिसकी किरणें (सूर्य)।.

प्रद्युम्न ने अपने दैवी हथियारों से शाल्व की सारी माया को क्षण-भर में उसी तरह नष्ट कर दिया, जिस तरह सूर्य की तप्त किरणें रात्रि के अँधेरे को दूर कर देती हैं।

विव्याध पञ्चविंशत्या स्वर्णपुङ्खैरयोमुखैः ।
शाल्वस्य ध्वजिनीपालं शरैः सन्नतपर्वभिः ॥ १८॥
शतेनाताडयच्छाल्वमेकैकेनास्य सैनिकान् ।
दशभिर्दशभिर्नेतृन्वाहनानि त्रिभिस्त्रिभिः ॥ १९॥

शब्दार्थ

विव्याध—चलाया; पञ्च—पाँच; विंशत्या—बीस; स्वर्ण—सोना; पुङ्खैः—जिनके पुछल्ले; अयः—लोहा के; मुखैः—जिनके सिरे; शाल्वस्य—शाल्व का; ध्वजिनी-पालम्—प्रधान सेनापति; शरैः—तीरों से; सन्नत—समतल; पर्वभिः—जोड़ों से; शतेन—एक सौ; अताडयत्—प्रहार किया; शाल्वम्—शाल्व को; एक-एकेन—प्रत्येक को एक-एक से; अस्य—उसका; सैनिकान्—सिपाही; दशभिः दशभिः—दस-दस करके; नेतृन्—रथ हाँकने वाले; वाहनानि—वाहनों को; त्रिभिः त्रिभिः—प्रत्येक को तीन-तीन से।.

प्रद्युम्न के सारे तीरों के पुछल्ले सोने के, सिरे लोहे के तथा जोड़ एकदम सपाट थे। उसने पच्चीस तीरों से शाल्व के प्रधान सेनापति द्युमान् को मार गिराया और एक सौ तीरों से शाल्व पर प्रहार किया। फिर उसने शाल्व के हर अधिकारी को एक-एक तीर से, सारथियों में से प्रत्येक को दस-दस तीरों से तथा उसके घोड़ों एवं अन्य वाहनों को तीन-तीन बाणों से बेध डाला।

तदद्भुतं महत्कर्म प्रद्युम्नस्य महात्मनः ।
दृष्ट्वा तं पूजयामासुः सर्वे स्वपरसैनिकाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तत्—उस; अद्भुतम्—चकित करने वाले; महत्—बलशाली; कर्म—कर्तब; प्रद्युम्नस्य—प्रद्युम्न का; महा-आत्मनः—महापुरुष; दृष्ट्वा—देखकर; तम्—उसको; पूजयाम् आसुः—आदर-सम्मान किया; सर्वे—सभी; स्व—अपने पक्ष के; पर—तथा शत्रु पक्ष के; सैनिकाः—सिपाही।.

जब उन्होंने यशस्वी प्रद्युम्न को वह चकित करने वाला तथा बलशाली ऐसा करतब करते देखा, तो दोनों पक्षों के सैनिकों ने उसकी प्रशंसा की।

बहुरूपैकरूपं तद्दृश्यते न च दृश्यते ।
मायामयं मयकृतं दुर्विभाव्यं परैरभूत् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

बहु—अनेक; रूप—रूपों के साथ; एक—एक; रूपम्—रूप के साथ; तत्—वह (सौभ विमान); दृश्यते—दिखाई पड़ता है; न—नहीं; च—तथा; दृश्यते—दिखता है; माया-मयम्—जादूमय; मय—मय दानव द्वारा; कृतम्—बनाया गया; दुर्विभाव्यम्—ढूँढ़ पाना कठिन; परैः—शत्रु (यादवों) द्वारा; अभूत्—बन गया।.

मय दानव द्वारा निर्मित यह मायावी विमान एक क्षण अनेक एक जैसे रूपों में प्रकट होता और दूसरे क्षण पुनः केवल एक रूप में दिखता। कभी यह दिखता और कभी नहीं दिखता था। इस तरह शाल्व के विरोधी यह निश्चित नहीं कर पाते थे कि वह कहाँ है।

क्वचिद्भूमौ क्वचिद्व्योम्नि गिरिमूर्ध्नि जले क्वचित् ।
अलातचक्रवद्भ्राम्यत्सौभं तद्दुरवस्थितम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—एक क्षण में; भूमौ—पृथ्वी पर; क्वचित्—एक क्षण में; व्योम्नि—आकाश में; गिरि—पर्वत की; मूर्ध्नि—चोटी पर; जले—जल में; क्वचित्—कभी; अलात-चक्र—आग का गोला; वत्—सदृश; भ्राम्यत्—घूमते हुए; सौभम्—सौभ को; तत्—उस; दुरवस्थितम्—कभी एक स्थान में न रहते हुए।.

एक क्षण से दूसरे क्षण में सौभ विमान पृथ्वी में, आकाश में, पर्वत की चोटी पर या जल में दिखता था। घूमते हुए अग्नि-पुंज की तरह वह कभी एक स्थान पर नहीं टिकता था।

यत्र यत्रोपलक्ष्येत ससौभः सहसैनिकः ।
शाल्वस्ततस्ततोऽमुञ्चञ्छरान्सात्वतयूथपाः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यत्र यत्र—जहाँ जहाँ; उपलक्ष्येत—दिखता; स-सौभः—सौभ के साथ; सह-सैनिकः—अपने सिपाहियों के साथ; शाल्वः—शाल्व; ततः ततः—वहाँ वहाँ; अमुञ्चन्—छोड़ा, चलाया; शरान्—अपने बाणों को; सात्वत—यदुओं के; यूथ-पाः—सेना के प्रधानों ने।

शाल्व जहाँ जहाँ अपने सौभ यान तथा अपनी सेना के साथ प्रकट होता, वहाँ वहाँ यदु-सेनापति अपने बाण छोड़ते।

शरैरग्न्यर्कसंस्पर्शैराशीविषदुरासदैः ।
पीड्यमानपुरानीकः शाल्वोऽमुह्यत्परेरितैः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

शरैः—बाणों से; अग्नि—अग्नि के समान; अर्क—तथा सूर्य के समान; संस्पर्शैः—स्पर्श से; आशी—सर्प के; विष—विष की तरह; दुरासदैः—असह्य; पीड्यमान—पीड़ित; पुर—वायव-पुरी; अनीकः—तथा जिसकी सेना; शाल्वः—शाल्व; अमुह्यत्—मोहित हो गया; पर—शत्रु द्वारा; ईरितैः—चलाया या छोड़ा गया।

अपने शत्रु के बाणों से त्रस्त हो रही अपनी सेना तथा वायव-पुरी को देखकर शाल्व मोहग्रस्त हो गया, क्योंकि शत्रु के बाण अग्नि तथा सूर्य की तरह प्रहार कर रहे थे और सर्प-विष की तरह असह्य हो रहे थे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि यदु-सेनापतियों के बाण अग्नि की तरह जल रहे थे, चारों ओर से सूर्य की किरणों के समान प्रहार कर रहे थे और सर्प-विष की तरह एक ही बार स्पर्श करने पर प्राणघातक थे।

शाल्वानीकपशस्त्रौघैर्वृष्णिवीरा भृशार्दिताः ।
न तत्यजू रणं स्वं स्वं लोकद्वयजिगीषवः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

शाल्व—शाल्व की; अनीक-प—सेना के नायकों के; शस्त्र—हथियारों की; ओघैः—बाढ़ से; वृष्णि-वीराः—वृष्णि-कुल के वीर; भृश—अत्यन्त; अर्दिताः—पीड़ित; न तत्यजुः—नहीं छोड़ा; रणम्—युद्धभूमि में नियत स्थानों को; स्वम् स्वम्—अपने अपने; लोक—लोक; द्वय—दो; जिगीषवः—जीतने की इच्छा करते हुए।

चूँकि वृष्णि-कुल के वीरगण इस जगत में तथा अगले लोक में विजय पाने के लिए उत्सुक थे, इसलिए उन्होंने रणभूमि में अपने नियत स्थानों का परित्याग नहीं किया, यद्यपि शाल्व के सेनापतियों द्वारा चलाये गये हथियारों की वर्षा से उन्हें त्रास हो रहा था।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''यदुकुल के वीर युद्धभूमि में प्राण गँवाने या विजय प्राप्त करने के लिए कृतसंकल्प थे। उन्हें विश्वास था कि यदि वे लड़ते हुए मरेंगे तो उन्हें स्वर्गलोक की प्राप्ति होगी और यदि वे विजयी हुए तो इस संसार का भोग करेंगे।''

शाल्वामात्यो द्युमान्नाम प्रद्युम्नं प्रक्प्रपीडितः ।
आसाद्य गदया मौर्व्या व्याहत्य व्यनदद्बली ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

शाल्व-अमात्यः—शाल्व का मंत्री; द्युमान् नाम—जिसका नाम द्युमान् था; प्रद्युम्नम्—प्रद्युम्न को; प्राक्—पहले; प्रपीडितः—आघात किया था; आसाद्य—सामना करते हुए; गदया—अपनी गदा से; मौर्व्या—लोहे से बनी; व्याहत्य—प्रहार करके; व्यनदत्—गर्जना की; बली—शक्तिशाली।

शाल्व का मंत्री द्युमान्, जो इसके पूर्व श्री प्रद्युम्न द्वारा घायल कर दिया गया था, अब जोर से गरजता हुआ उनके पास आया और उसने उन पर काले इस्पात की बनी अपनी गदा से प्रहार किया।

प्रद्युम्नं गदया सीर्णवक्षःस्थलमरिंदमम् ।
अपोवाह रणात्सूतो धर्मविद्दारुकात्मजः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

प्रद्युम्नम्—प्रद्युम्न को; गदया—गदा से; शीर्ण—क्षत-विक्षत; वक्षः-स्थलम्—छाती; अरिम्—शत्रुओं के; दमम्—दमनकर्ता ने; अपोवाह—हटा लिया; रणात्—युद्धक्षेत्र से; सूतः—अपना सारथी; धर्म—अपने धर्म के; वित्—जानकार; दारुक-आत्मजः—दारुक-पुत्र (कृष्ण का सारथी)।

प्रद्युम्न के सारथी दारुक-पुत्र ने सोचा कि उसके वीर स्वामी की छाती गदा से क्षत-विक्षत हो चुकी है, अतः उसने अपने धार्मिक कर्तव्य को भलीभाँति जानते हुए प्रद्युम्न को युद्धभूमि से हटा लिया।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि प्रद्युम्न का शरीर सच्चिदानन्द स्वरूप था, जो कभी भी संसारी हथियारों से घायल नहीं हो सकता था। किन्तु दारुक का पुत्र भगवान् का महान् भक्त था और प्रगाढ़ प्रेम के कारण अपने स्वामी को विपत्ति में जान कर उसने उन्हें युद्धक्षेत्र से हटा दिया।

श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''शाल्व के सेनापति का नाम द्युमान् था। वह अत्यन्त बलवान था और यद्यपि वह प्रद्युम्न के पच्चीस बाणों का मजा चख चुका था किन्तु उसने सहसा अपनी भयानक गदा से प्रद्युम्न पर आक्रमण कर दिया और इतनी तेजी से प्रहार किया कि प्रद्युम्न अचेत हो गया। तुरन्त ही

गर्जना हुई, ''अब वह मर गया! अब वह मर गया!'' गदा का प्रहार प्रद्युम्न की छाती पर इतना गम्भीर था कि उससे सामान्य व्यक्ति की छाती क्षत-विक्षत हो जाती।''

लब्धसञ्ज्ञो मुहूर्तेन कार्ष्णिः सारथिमब्रवीत् ।
अहो असाध्विदं सूत यद्रणान्मेऽपसर्पणम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

लब्ध—प्राप्त करके; संज्ञः—होश; मुहूर्तेन—क्षण-भर में; कार्ष्णिः—कृष्ण के पुत्र ने; सारथिम्—सारथी से; अब्रवीत्—कहा; अहो—ओह; असाधु—अनुचित; इदम्—यह; सूत—हे सारथी; यत्—जो; रणात्—युद्धभूमि से; मे—मेरा; अपसर्पणम्—ले जाया गया हुआ।

तुरन्त ही होश आने पर भगवान् कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न ने अपने सारथी से कहा, ''हे सारथी, यह निन्दनीय है कि तुम मुझे युद्धक्षेत्र से हटा लाये हो।''

न यदूनां कुले जातः श्रूयते रणविच्युतः ।
विना मत्क्लीबचित्तेन सूतेन प्राप्तकिल्बिषात् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यदूनाम्—यदुओं के; कुले—परिवार में; जातः—उत्पन्न; श्रूयते—सुना जाता है; रण—युद्धक्षेत्र से; विच्युतः—परित्यक्त; विना—के अलावा; मत्—मुझको; क्लीब—नपुंसक की तरह; चित्तेन—जिसकी मनोवृत्ति; सूतेन—सारथी के कारण; प्राप्त—पाया हुआ; किल्बिषात्—दाग।

''मेरे अतिरिक्त यदुवंश के जन्मे किसी ने कभी युद्धभूमि का परित्याग नहीं किया। अब तो मेरी ख्याति एक सारथी द्वारा कलंकित हो चुकी है, जो एक नपुंसक की तरह सोचता है।''

किं नु वक्ष्येऽभिसङ्गम्य पितरौ रामकेशवौ ।
युद्धात्सम्यगपक्रान्तः पृष्टस्तत्रात्मनः क्षमम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; नु—तब; वक्ष्ये—कहूँगा; अभिसङ्गम्य—भेंट करके; पितरौ—अपने दोनों पिताओं से; राम-केशवौ—बलराम तथा कृष्ण; युद्धात्—युद्ध से; सम्यक्—सर्वथा; अपक्रान्तः—भागा हुआ; पृष्टः—पूछे जाने पर; तत्र—उस अवस्था में; आत्मनः—अपने; क्षमम्—योग्य।

मैं अपने पिता-द्वय राम तथा केशव से क्या कहूँगा, जब युद्ध से यों ही भाग कर मैं उनके पास वापस जाऊँगा? मैं उनसे क्या कह पाऊँगा, जो मेरी प्रतिष्ठा के अनुरूप हो?

तात्पर्य : श्री प्रद्युम्न ने यहाँ पर *पितरौ* शब्द का प्रयोग यो ही गलती से किया है। भगवान् बलराम तो उनके ताऊ थे।

व्यक्तं मे कथयिष्यन्ति हसन्त्यो भ्रातृजामयः ।
क्लैब्यं कथं कथं वीर तवान्यैः कथ्यतां मृधे ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

व्यक्तम्—निश्चय ही; मे—मेरी; कथयिष्यन्ति—कहेंगे; हसन्त्यः—हँस हँस कर; भ्रातृ-जामयः—भाभियाँ; क्लैब्यम्—क्लीवता; कथम्—कैसे; कथम्—कैसे; वीर—हे वीर; तव—तुम्हारा; अन्यैः—तुम्हारे शत्रुओं द्वारा; कथ्यताम्—बतलाओ; मृधे—युद्ध में।

"निश्चय ही मेरी भाभियाँ मुझ पर हँसेंगी और कहेंगी, "हे वीर, हमें यह तो बताओ कि किस तरह इस संसार में तुम्हारे शत्रुओं ने तुम्हें युद्ध में ऐसा कायर बना दिया।"

सारथिरुवाच
धर्मं विजानतायुष्मन्कृतमेतन्मया विभो ।
सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेद्रथिनं सारथिं रथी ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

सारथिः उवाच—सारथी ने कहा; धर्मम्—धर्म द्वारा संस्तुत; विजानता—अच्छी तरह जानने वाले के द्वारा; आयुः-मन्—हे दीर्घजीवी; कृतम्—किया गया; एतत्—यह; मया—मेरे द्वारा; विभो—हे प्रभु; सूतः—सारथी; कृच्छ्र—कठिनाई में; गतम्—गया हुआ; रक्षेत्—रक्षा करनी चाहिए; रथिनम्—रथ के स्वामी की; सारथिम्—अपने सारथी को; रथी—रथ का स्वामी।

सारथी ने उत्तर दिया : हे दीर्घायु, मैंने अपने निर्दिष्ट कर्तव्य को अच्छी तरह जानते हुए ही ऐसा किया है। हे प्रभु, सारथी को चाहिए कि जब उसका स्वामी संकट में हो, तो उसकी रक्षा करे और स्वामी को भी चाहिए कि वह अपने सारथी की रक्षा करे।

एतद्विदित्वा तु भवान्मयापोवाहितो रणात् ।
उपसृष्टः परेणेति मूर्च्छितो गदया हतः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; विदित्वा—जान कर; तु—निस्सन्देह; भवान्—आप; मया—मेरे द्वारा; अपोवाहितः—हटाये गये; रणात्—युद्धभूमि से; उपसृष्टः—चोट खाये; परेण—शत्रु द्वारा; इति—इस तरह सोचते हुए; मूर्च्छितः—बेहोश; गदया—अपनी गदा से; हतः—प्रहार किया हुआ।

इस नियम को मन में रखते हुए मैंने आपको युद्धस्थल से हटा लिया, क्योंकि आप अपने शत्रु की गदा से आहत होकर बेहोश हो गये थे और मैंने सोचा कि आप बुरी तरह से घायल हैं।

इस तरह श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत "शाल्व तथा वृष्णियों के मध्य युद्ध" नामक छिहत्तरवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सतहत्तर

कृष्ण द्वारा शाल्व का वध

इस अध्याय में इसका वर्णन है कि भगवान् कृष्ण ने किस तरह मायाजाल के स्वामी, शाल्व का अन्त करके उसके विमान, सौभ को नष्ट कर दिया।

युद्धक्षेत्र से हटाये जाने पर प्रद्युम्न अत्यधिक लज्जित था, अत: उसने अपने सारथी को आज्ञा दी कि वह पुन: द्युमान् के सामने उसके रथ को ले चले। जब प्रद्युम्न द्युमान् से लड़ रहा था, तो गद, सात्यकि तथा साम्ब जैसे यदुवीरों ने शाल्व की सेना में भगदड़ मचा दी। इस तरह यह युद्ध सत्ताइस दिन-रात चलता रहा।

जब भगवान् कृष्ण द्वारका लौटे, तो इसे उन्होंने घिरा पाया। उन्होंने तुरन्त दारुक को आज्ञा दी कि वह उन्हें युद्धक्षेत्र ले चले। सहसा शाल्व ने भगवान् को देख लिया और उसने कृष्ण के सारथी पर अपना भाला फेंका, लेकिन भगवान् ने इसको सैकड़ों टुकड़ों में खण्ड-खण्ड कर डाला और शाल्व तथा उसके सौभ-यान को अनेक बाणों से बेध डाला। शाल्व ने बदले में एक तीर छोड़ा, जो कृष्ण की बाईं भुजा में लगा। विचित्र बात यह हुई कि इस हाथ से पकड़ा हुआ उनका शार्ङ्ग धनुष गिर पड़ा। इस तरह धनुष को गिरते देखकर युद्ध देख रहे देवतागण इसे संकट का संकेत समझ कर चिल्ला पड़े, किन्तु शाल्व ने इस अवसर का उपयोग कृष्ण को अपमानित करने के लिए किया।

तब कृष्ण ने अपनी गदा से शाल्व पर प्रहार तो किया, लेकिन वह असुर रक्त वमन करता हुआ अदृश्य हो गया। एक क्षण के पश्चात् कृष्ण के समक्ष एक व्यक्ति आया और प्रणाम करने के बाद अपना परिचय देवकी माता के दूत के रूप में दिया। उस व्यक्ति ने भगवान् को जानकारी दी कि उनके पिता वसुदेव का अपहरण शाल्व ने कर लिया है। यह सुनकर भगवान् कृष्ण सामान्य व्यक्ति की भाँति शोक करते प्रतीत होने लगे। तब शाल्व वसुदेव जैसे ही एक व्यक्ति को आगे करके आता दिखा। उसने उसका सिर काटकर अपने सौभ विमान में रख लिया। किन्तु भगवान् कृष्ण शाल्व की जादूगरी की चाल समझ गये। अत: उन्होंने शाल्व को बाणों की बौछार से बेध डाला और सौभ-यान पर अपनी गदा का प्रहार करके उसे नष्ट कर दिया। शाल्व अपने विमान से उतर कर कृष्ण पर आक्रमण करने के लिए लपका, किन्तु भगवान् ने अपना सुदर्शन चक्र उठाया और शाल्व का सिर काट लिया।

शाल्व के मरते समय देवताओं ने हर्ष से आकाश में दुन्दुभियाँ बजाईं। तब उसके मित्र दन्तवक्र ने शाल्व की मृत्यु का बदला लेने का प्रण किया।

श्रीशुक उवाच
स उपस्पृश्य सलिलं दंशितो धृतकार्मुकः ।
नय मां द्युमतः पार्श्वं वीरस्येत्याह सारथिम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सः—वह (प्रद्युम्न); उपस्पृश्य—छूकर; सलिलम्—जल; दंशितः—अपना कवच पहन कर; धृत—धारण करके; कार्मुकः—अपना धनुष; नय—ले चलो; माम्—मुझको; द्युमतः—द्युमान् के; पार्श्वम्—पास; वीरस्य—वीर के; इति—इस प्रकार; आह—बोला; सारथिम्—अपने रथचालक से।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जल से अपने को तरोताजा करने के बाद, अपना कवच पहन कर तथा अपना धनुष लेकर भगवान् प्रद्युम्न ने अपने सारथी से कहा, ''मुझे वहीं वापस ले चलो, जहाँ वीर द्युमान् खड़ा है।''

तात्पर्य : प्रद्युम्न अपनी इस त्रुटि को सुधारना चाह रहे थे कि उनके बेहोश होने पर उनका सारथी उन्हें युद्धभूमि से हटा कर ले आया था।

विधमन्तं स्वसैन्यानि द्युमन्तं रुक्मिणीसुतः ।
प्रतिहत्य प्रत्यविध्यान्नाराचैरष्टभिः स्मयन् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

विधमन्तम्—तहस-नहस करके; स्व—अपने; सैन्यानि—सैनिकों को; द्युमन्तम्—द्युमान् को; रुक्मिणी-सुतः—रुक्मिणी-पुत्र (प्रद्युम्न); प्रतिहत्य—उलट कर आक्रमण करके; प्रत्यविध्यात्—उलट कर वार किया; नाराचैः—लोह के बने विशेष बाणों से; अष्टभिः—आठ; स्मयन्—हँसते हुए।

प्रद्युम्न की अनुपस्थिति में द्युमान् उसकी सेना को तहस-नहस किये जा रहा था, किन्तु अब प्रद्युम्न ने द्युमान् पर बदले में आक्रमण कर दिया और हँसते हुए आठ *नाराच* बाणों से उसे बेध दिया।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका है कि प्रद्युम्न ने द्युमान् को यह कहकर ललकारा, ''अब जरा मुझे मार कर देखो!'' यह कहकर तथा द्युमान् को अस्त्र चलाने का अवसर देकर प्रद्युम्न ने अपने घातक बाण छोड़े।

चतुर्भिश्चतुरो वाहान्सूतमेकेन चाहनत् ।
द्वाभ्यं धनुश्च केतुं च शरेणान्येन वै शिरः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

चतुर्भिः—चार (बाणों) से; चतुरः—चार; वाहान्—सवारियों को; सूतम्—सारथी को; एकेन—एक से; च—तथा; अहनत्—मारा; द्वाभ्याम्—दो से; धनुः—धनुष; च—तथा; केतुम्—झंडे को; च—तथा; शरेण—बाण से; अन्येन—दूसरे; वै—निस्सन्देह; शिरः—सिर।

इन बाणों में से चार से उसने द्युमान् के चार घोड़ों को, एक बाण से उसके सारथी को तथा दो अन्य बाणों से उसके धनुष तथा रथ के झंडे को और अन्तिम बाण से द्युमान् के सिर पर प्रहार किया।

गदसात्यकिसाम्बाद्या जघ्नुः सौभपतेर्बलम् ।
पेतुः समुद्रे सौभेयाः सर्वे सञ्छिन्नकन्धराः ॥ ॥

शब्दार्थ

गद-सात्यकि-साम्ब-आद्याः—गद, सात्यकि, साम्ब तथा अन्यों ने; जघ्नुः—मार डाला; सौभ-पतेः—सौभ के स्वामी (शाल्व) की; बलम्—सेना को; पेतुः—वे गिर पड़े; समुद्रे—समुद्र में; सौभेयाः—सौभ के भीतर खड़े हुए; सर्वे—सारे लोग; सञ्छिन्न—कटी हुई; कन्धराः—गर्दनों वाले।

गद, सात्यकि, साम्ब तथा अन्य वीर शाल्व की सेना का संहार करने लगे और इस तरह विमान के भीतर के सारे सिपाही गर्दनें कट जाने से समुद्र में गिरने लगे।

एवं यदूनां शाल्वानां निघ्नतामितरेतरम् ।
युद्धं त्रिनवरात्रं तदभूत्तुमुलमुल्बणम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; यदूनाम्—यदुओं के; शाल्वानाम्—तथा शाल्व के अनुयायियों के; निघ्नताम्—प्रहार करते हुए; इतर-इतरम्—एक-दूसरे पर; युद्धम्—युद्ध; त्रि—तीन बार; नव—नौ; रात्रम्—रातों तक; तत्—वह; अभूत्—था; तुमुलम्—घनघोर; उल्बणम्—भयावना।

इस तरह यदुगण तथा शाल्व के अनुयायी एक-दूसरे पर आक्रमण करते रहे और यह घनघोर भयानक युद्ध सत्ताईस दिनों तथा रातों तक चलता रहा।

इन्द्रप्रस्थं गतः कृष्ण आहूतो धर्मसूनुना ।
राजसूयेऽथ निवृत्ते शिशुपाले च संस्थिते ॥ ६ ॥
कुरुवृद्धाननुज्ञाप्य मुनींश्च ससुतां पृथाम् ।
निमित्तान्यतिघोराणि पश्यन्द्वारवतीं ययौ ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रप्रस्थम्—पाण्डवों की राजधानी इन्द्रप्रस्थ को; गतः—गये हुए; कृष्णः—भगवान् कृष्ण; आहूतः—बुलाये गये; धर्म-सूनुना—साक्षात् धर्म, यमराज, के पुत्र (राजा युधिष्ठिर) द्वारा; राजसूये—राजसूय यज्ञ में; अथ—तब; निवृत्ते—पूर्ण होने पर; शिशुपाले—शिशुपाल के; च—और; संस्थिते—मारे जाने पर; कुरु-वृद्धान्—कुरुवंश के बड़े-बूढ़ों से; अनुज्ञाप्य—विदा

लेकर; मुनीन्—मुनियों से; च—तथा; स—सहित; सुताम्—पुत्रों (पाण्डवगण) को; पृथाम्—रानी कुन्ती को; निमित्तानि—अपशकुन; अति—अत्यन्त; घोराणि—भयानक; पश्यन्—देखते हुए; द्वारवतीम्—द्वारका; ययौ—चले गये।

धर्म-पुत्र युधिष्ठिर द्वारा आमंत्रित किये जाने पर भगवान् कृष्ण इन्द्रप्रस्थ गये हुए थे। अब जब राजसूय यज्ञ पूरा हो चुका था और शिशुपाल मारा जा चुका था, तो भगवान् को अपशकुन दिखने लगे। अतः उन्होंने कुरुवंशी बड़े-बूढ़ों तथा महान् ऋषियों से एवं अपनी बुआ—पृथा तथा उनके पुत्रों से भी विदा ली और द्वारका लौट आये।

आह चाहमिहायात आर्यमिश्राभिसङ्गतः ।
राजन्याश्चैद्यपक्षीया नूनं हन्युः पुरीं मम ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

आह—उन्होंने कहा; च—तथा; अहम्—मैं; इह—इस स्थान में (इन्द्रप्रस्थ); आयातः—आया हुआ; आर्य—मेरे अग्रज (बलराम); मिश्र—प्रसिद्ध पुरुष; अभिसङ्गतः—साथ में; राजन्याः—राजा; चैद्य-पक्षीयाः—चैद्य (शिशुपाल) के पक्षधर; नूनम्—निश्चय ही; हन्युः—आक्रमण कर रहे होंगे; पुरीम्—नगरी; मम—मेरी।

भगवान् ने अपने आप (मन ही मन) कहा : चूँकि मैं यहाँ अपने पूज्य ज्येष्ठ भ्राता सहित आया हूँ, शिशुपाल के पक्षधर राजा निश्चित ही मेरी राजधानी पर आक्रमण कर रहे होंगे।

वीक्ष्य तत्कदनं स्वानां निरूप्य पुररक्षणम् ।
सौभं च शाल्वराजं च दारुकं प्राह केशवः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

वीक्ष्य—देखकर; तत्—वह; कदनम्—विनाश; स्वानाम्—अपने व्यक्तियों का; निरूप्य—व्यवस्था करके; पुर—पुरी का; रक्षणम्—रक्षा के लिए; सौभम्—सौभ-यान; च—तथा; शाल्व-राजम्—शाल्व प्रदेश का राजा; च—तथा; दारुकम्—अपने सारथी दारुक से; प्राह—बोले; केशवः—भगवान् कृष्ण।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : द्वारका पहुँचने पर, उन्होंने देखा कि लोग किस तरह विनाश से भयभीत हैं और शाल्व तथा उसके सौभ विमान को भी देखा, तो केशव ने नगरी की सुरक्षा के लिए आयोजना की और फिर दारुक से निम्नवत् बोले।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ने श्री बलराम को नगरी की सुरक्षा करने के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान पर तैनात कर दिया और श्री रुक्मिणी तथा अन्तःपुर की अन्य रानियों के लिए विशेष रक्षक नियुक्त कर दिया। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार विशिष्ट सैनिक गुप्त रास्ते से रानियों को द्वारका के भीतर सुरक्षित स्थान पर सकुशल ले गये।

रथं प्रापय मे सूत शाल्वस्यान्तिकमाशु वै ।
सम्भ्रमस्ते न कर्तव्यो मायावी सौभराडयम् ॥ ॥

शब्दार्थ

रथम्—रथ को; प्रापय—लाओ; मे—मेरे; सूत—हे सारथी; शाल्वस्य—शाल्व के; अन्तिकम्—निकट; आशु—तेजी से; वै—निस्सन्देह; सम्भ्रमः—मोह; ते—तुम्हारे द्वारा; न कर्तव्यः—अनुभव नहीं होना चाहिए; माया-वी—महान् जादूगर; सौभ-राट्—सौभ का स्वामी; अयम्—यह।

[भगवान् कृष्ण ने कहा]: हे सारथी, शीघ्र ही मेरा रथ शाल्व के निकट ले चलो। यह सौभ-पति शक्तिशाली जादूगर है, तुम उससे विमोहित नहीं होना।

इत्युक्तश्चोदयामास रथमास्थाय दारुकः ।
विशन्तं ददृशुः सर्वे स्वे परे चारुणानुजम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्तः—कहा गया; चोदयाम् आस—आगे बढ़ाया; रथम्—रथ को; आस्थाय—नियंत्रण अपने हाथ में लेकर; दारुकः—दारुक ने; विशन्तम्—घुसते हुए; ददृशुः—देखा; सर्वे—सबों के; स्वे—अपने; परे—विपक्षी दल में; च—भी; अरुण-अनुजम्—अरुण के छोटे भाई (गरुड़, जो कृष्ण की ध्वजा में थे) को।

इस तरह आदेश दिये जाने पर दारुक ने भगवान् के रथ की रास सँभाली और उसे आगे हाँका। ज्योंही रथ युद्धभूमि में प्रविष्ट हुआ, तो वहाँ पर उपस्थित शत्रु तथा मित्र हर एक की गरुड़ के प्रतीक की ओर दृष्टि पड़ी।

शाल्वश्च कृष्णमालोक्य हतप्रायबलेश्वरः ।
प्राहरत्कृष्णसूतय शक्तिं भीमरवां मृधे ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

शाल्वः—शाल्व ने; च—तथा; कृष्णम्—कृष्ण को; आलोक्य—देखकर; हत—नष्ट; प्राय—लगभग; बल—सेना का; ईश्वरः—स्वामी; प्राहरत्—उसने चलाया; कृष्ण-सूताय—कृष्ण के सारथी पर; शक्तिम्—अपना भाला; भीम—डरावना; रवाम्—गर्जन की ध्वनि; मृधे—युद्धस्थल में।

जब नष्ट-प्राय सेना के स्वामी शाल्व ने कृष्ण को पास आते देखा, तो उसने भगवान् के सारथी पर अपना भाला फेंका। यह भाला युद्धभूमि में से होकर उड़ते समय भयावह गर्जना कर रहा था।

तामापतन्तीं नभसि महोल्कामिव रंहसा ।
भासयन्तीं दिशः शौरिः सायकैः शतधाच्छिनत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उसको; आपतन्तीम्—उड़ते हुए; नभसि—आकाश में; महा—महान्; उल्काम्—टूटता तारा; इव—सदृश; रंहसा—तेजी से; भासयन्तीम्—प्रकाश करते हुए; दिशः—दिशाओं को; शौरिः—भगवान् कृष्ण ने; सायकैः—बाणों से; शतधा—सैकड़ों खण्डों में; अच्छिनत्—काट दिया।

शाल्व द्वारा फेंके गये भाले ने सारे आकाश को अत्यन्त तेजवान् उल्का तारे की तरह प्रकाशित कर दिया, किन्तु भगवान् शौरि ने अपने बाणों से इस महान् अस्त्र को सैकड़ों खण्डों में छिन्न-भिन्न कर डाला।

तं च षोडशभिर्विद्ध्वा बानैः सौभं च खे भ्रमत् ।
अविध्यच्छरसन्दोहैः खं सूर्य इव रश्मिभिः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको, शाल्व को; च—तथा; षोडशभिः—सोलह; विद्ध्वा—बेध कर; बाणैः—बाणों से; सौभम्—सौभ को; च—भी; खे—आकाश में; भ्रमत्—घूमते हुए; अविध्यत्—प्रहार किया; शर—बाणों से; सन्दोहैः—मूसलाधार वर्षा से; खम्—आकाश को; सूर्यः—सूर्य; इव—सदृश; रश्मिभिः—अपनी किरणों से।

तब भगवान् कृष्ण ने शाल्व को सोलह बाणों से बेध दिया तथा आकाश में इधर-उधर घूमते हुए सौभ विमान पर बाणों की वर्षा से प्रहार किया। बाणों की वर्षा करते हुए भगवान् उस सूर्य की तरह लग रहे थे, जो अपनी किरणों से आकाश को आप्लावित करता है।

शाल्वः शौरेस्तु दोः सव्यं सशार्ङ्गं शार्ङ्गधन्वनः ।
बिभेद न्यपतद्धस्ताच्छार्ङ्गमासीत्तदद्भुतम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

शाल्वः—शाल्व; शौरेः—भगवान् कृष्ण के; तु—लेकिन; दोः—बाहु; सव्यम्—बाईं; स—सहित; शार्ङ्गम्—भगवान् का धनुष, जो शार्ङ्ग कहलाता है; शार्ङ्ग-धन्वनः—शाङ्र्गधन्वा कहलाने वाले; बिभेद—प्रहार किया; न्यपतत्—गिर पड़ा; हस्तात्—हाथ से; शार्ङ्गम्—शार्ङ्ग धनुष; असीत्—था; तत्—यह; अद्भुतम्—विचित्र।

तब शाल्व ने भगवान् कृष्ण की बाईं बाँह पर प्रहार किया, जिसमें वे अपना शार्ङ्ग धनुष पकड़े थे। विचित्र बात यह हुई कि यह धनुष उनके हाथ से गिर गया।

हाहाकारो महानासीद्भूतानां तत्र पश्यताम् ।
निनद्य सौभराडुच्चैरिदमाह जनार्दनम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

हाहा-कारः—निराशा की चिल्लाहट; महान्—अत्यधिक; आसीत्—हुई; भूतानाम्—जीवों में; तत्र—वहाँ; पश्यताम्—देख रहे; निनद्य—गरजकर; सौभ-राट्—सौभ के स्वामी ने; उच्चैः—तेजी से; इदम्—यह; आह—कहा; जनार्दनम्—कृष्ण से।

जो यह घटना देख रहे थे, वे सब हाहाकार करने लगे। तब सौभ के स्वामी ने जोर-जोर से गरजकर जनार्दन से इस प्रकार कहा।

यत्त्वया मूढ नः सख्युर्भ्रातुर्भार्या हृतेक्षताम् ।
प्रमत्तः स सभामध्ये त्वया व्यापादितः सखा ॥ १७॥
तं त्वाद्य निशितैर्बाणैरपराजितमानिनम् ।
नयाम्यपुनरावृत्तिं यदि तिष्ठेर्ममाग्रतः ॥ १८॥

शब्दार्थ

यत्—चूँकि; त्वया—तुम्हारे द्वारा; मूढ—हे मूर्ख; नः—हमारे; सख्युः—मित्र (शिशुपाल) की; भ्रातुः—(अपने) भाई की; भार्या—पत्नी; हृता—हरण की गई; ईक्षताम्—हमारे देखते-देखते; प्रमत्तः—लापरवाह; सः—वह, शिशुपाल; सभा—(राजसूय यज्ञ की) सभा; मध्ये—में; त्वया—तुम्हारे द्वारा; व्यापादितः—मारा गया; सखा—मेरा मित्र; तम् त्वा—वही तुम; अद्य—आज; निशितैः—तीक्ष्ण; बाणैः—बाणों से; अपराजित—न जीता जा सकने वाला; मानिनम्—माने वाले; नयामि—भेज दूँगा; अपुनः-आवृत्तिम्—ऐसे लोक में जहाँ से लौटना नहीं होगा; यदि—यदि; तिष्ठेः—तुम खड़े होगे; मम—मेरे; अग्रतः—सामने।

[शाल्व ने कहा] : रे मूर्ख! चूँकि हमारी उपस्थिति में तुमने हमारे मित्र और अपने ही भाई शिशुपाल की मंगेतर का अपहरण किया है और उसके बाद जब वह सतर्क नहीं था, तो पवित्र सभा में तुमने उसकी हत्या कर दी है, इसलिए आज मैं अपने तेज बाणों से तुम्हें ऐसे लोक में भेज दूँगा, जहाँ से लौटना नहीं होता। यद्यपि तुम अपने को अपराजेय मानते हो, किन्तु यदि तुम मेरे समक्ष खड़े होने का साहस करो, तो मैं तुम्हें अभी मार डालूँगा।

श्रीभगवानुवाच
वृथा त्वं कत्थसे मन्द न पश्यस्यन्तिकेऽन्तकम् ।
पौरुसं दर्शयन्ति स्म शूरा न बहुभाषिणः ॥ १९॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; वृथा—व्यर्थ ही; त्वम्—तुम; कत्थसे—डींग मारते हो; मन्द—हे मूर्ख; न पश्यसि—नहीं देख रहे; अन्तिके—निकट; अन्तकम्—मृत्यु; पौरुषम्—अपना पराक्रम; दर्शयन्ति—दिखलाते हैं; स्म—निस्सन्देह; शूराः—बहादुर जन; न—नहीं; बहु—अधिक; भाषिणः—बोलने वाले।

भगवान् ने कहा : रे मूर्ख! तुम व्यर्थ ही डींग मार रहे हो, क्योंकि तुम अपने निकट खड़ी मृत्यु को देख नहीं पा रहे हो। असली वीर कभी अधिक बातें नहीं करते, अपितु कार्य करके अपना पौरुष प्रदर्शित करते हैं।

इत्युक्त्वा भगवाञ्छाल्वं गदया भीमवेगया ।
तताड जत्रौ संरब्धः स चकम्पे वमन्नसृक् ॥ २०॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कह कर; भगवान्—भगवान् ने; शाल्वम्—शाल्व को; गदया—अपनी गदा से; भीम—भयानक; वेगया—वेग से; तताड—प्रहार किया; जत्रौ—कंधे की हड्डी पर; संरब्धः—क्रुद्ध; सः—वह; चकम्पे—काँप उठा; वमन्—कै करता; असृक्—रक्त।

ऐसा कह कर क्रुद्ध हुए भगवान् ने भयावनी शक्ति तथा अत्यन्त वेग से अपनी गदा घुमाई और उसे शाल्व के कंधे की हड्डी पर दे मारा, जिससे वह छटपटा उठा और रक्त वमन करने लगा।

गदायां सन्निवृत्तायां शाल्वस्त्वन्तरधीयत ।
ततो मुहूर्त आगत्य पुरुषः शिरसाच्युतम् ।
देवक्या प्रहितोऽस्मीति नत्वा प्राह वचो रुदन् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

गदायाम्—गदा के; सन्निवृत्तायाम्—वापस आ जाने पर; शाल्वः—शाल्व; तु—लेकिन; अन्तरधीयत—अदृश्य हो गया; ततः—तब; मुहूर्ते—क्षण-भर में; आगत्य—आकर; पुरुषः—व्यक्ति; शिरसा—अपने सिर से; अच्युतम्—भगवान् कृष्ण को; देवक्या—माता देवकी द्वारा; प्रहितः—भेजा गया; अस्मि—हूँ; इति—ऐसा कहते हुए; नत्वा—नमन करके; प्राह—बोला; वचः—ये शब्द; रुदन्—रोते हुए।

लेकिन भगवान् अच्युत द्वारा अपनी गदा वापस लेते ही शाल्व दृष्टि से ओझल हो गया और उसके एक पल बाद एक व्यक्ति भगवान् के पास आया। उनके समक्ष नतमस्तक होकर उसने कहा, ''मुझे देवकी ने भेजा है'' और रोते हुए उसने निम्नलिखित शब्द कहे।

कृष्ण कृष्ण महाबाहो पिता ते पितृवत्सल ।
बद्ध्वापनीतः शाल्वेन सौनिकेन यथा पशुः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

कृष्ण कृष्ण—हे कृष्ण, हे कृष्ण; महा-बाहो—हे बलशाली भुजाओं वाले; पिता—पिता; ते—तुम्हारा; पितृ—अपने माता-पिता के; वत्सल—हे प्रिय; बद्ध्वा—बाँध करके; अपनीतः—ले जाये गये; शाल्वेन—शाल्व द्वारा; सौनिकेन—कसाई द्वारा; यथा—जिस तरह; पशुः—घरेलू पशु।

[उस व्यक्ति ने कहा] : हे कृष्ण, हे कृष्ण, हे महाबाहु, हे अपने माता-पिता के प्रिय, शाल्व तुम्हारे पिता को बाँध कर उसी तरह ले गया है, जिस तरह कसाई किसी पशु का वध करने के लिए ले जाता है।

निशम्य विप्रियं कृष्णो मानुसीं प्रकृतिं गतः ।
विमनस्को घृणी स्नेहाद्बभाषे प्राकृतो यथा ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; विप्रियम्—क्षुब्ध करने वाले शब्दों को; कृष्णः—भगवान् कृष्ण ने; मानुषीम्—मनुष्य की तरह; प्रकृतिम्—स्वभाव; गतः—बनाकर; विमनस्कः—दुखी; घृणी—करुणापूर्ण; स्नेहात्—स्नेह के वशीभूत; बभाषे—बोले; प्राकृतः—सामान्य व्यक्ति; यथा—जिस तरह।

जब उन्होंने यह क्षुब्धकारी समाचार सुना, तो सामान्य मनुष्य की भूमिका निर्वाह कर रहे भगवान् कृष्ण ने खेद तथा करुणा व्यक्त की और अपने माता-पिता के प्रति प्रेमवश उन्होंने सामान्य बद्धजीव जैसे शब्द कहे।

कथं राममसम्भ्रान्तं जित्वाजेयं सुरासुरैः ।
शाल्वेनाल्पीयसा नीतः पिता मे बलवान्विधिः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

कथम्—किस तरह; रामम्—बलराम को; असम्भ्रान्तम्—विचलित न होने वाले; जित्वा—जीत कर; अजेयम्—अजेय; सुर—देवताओं द्वारा; असुरैः—तथा असुरों द्वारा; शाल्वेन—शाल्व द्वारा; अल्पीयसा—अत्यल्प; नीतः—ले जाया गया; पिता—पिता; मे—मेरा; बल-वान्—शक्तिशाली; विधिः—भाग्य।

[भगवान् कृष्ण ने कहा] : "बलराम सदैव सतर्क रहने वाले हैं और कोई देवता या असुर उन्हें पराजित नहीं कर सकता। तो यह क्षुद्र शाल्व किस तरह उन्हें पराजित करके मेरे पिता का अपहरण कर सकता है? निस्सन्देह, भाग्य सर्वशक्तिमान होता है।"

इति ब्रुवाणे गोविन्दे सौभराट्प्रत्युपस्थितः ।
वसुदेवमिवानीय कृष्णं चेदमुवाच सः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ब्रुवाणे—कहते हुए; गोविन्दे—कृष्ण के; सौभ-राट्—सौभ का स्वामी (शाल्व); प्रत्युपस्थितः—आगे आया; वसुदेवम्—कृष्ण के पिता वसुदेव; इव—सदृश; आनीय—आगे करके; कृष्णम्—कृष्ण से; च—तथा; इदम्—यह; उवाच—कहा; सः—उसने।

जब गोविन्द ये शब्द कह चुके, तो भगवान् के समक्ष वसुदेव जैसे दिखने वाले किसी पुरुष को लेकर सौभ-पति पुनः प्रकट हुआ। तब शाल्व ने इस प्रकार कहा।

एष ते जनिता तातो यदर्थमिह जीवसि ।
वधिष्ये वीक्षतस्तेऽमुमीशश्चेत्पाहि बालिश ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; ते—तुम्हारा; जनिता—जन्म देने वाला पिता; तातः—प्रिय; यत्-अर्थम्—जिसके लिए; इह—इस जगत में; जीवसि—तुम जीवित हो; वधिष्ये—मैं मार डालूँगा; वीक्षतः ते—तुम्हारे देखते-देखते; अमुम्—उसको; ईशः—समर्थ; चेत्—यदि; पाहि—उसकी रक्षा करो; बालिश—रे मूर्ख।

[शाल्व ने कहा] : यह रहा तुम्हें जन्म देने वाला तुम्हारा पिता, जिसके लिए तुम इस जगत

में जीवित हो। अब मैं तुम्हारी आँखों के सामने इसका वध कर दूँगा। रे मूर्ख! यदि तुम इसे बचा सको तो बचाओ।

एवं निर्भर्त्स्य मायावी खड्गेनानकदुन्दुभेः ।
उत्कृत्य शिर आदाय खस्थं सौभं समाविशत् ॥ २७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; निर्भर्त्स्य—मजाक उड़ाते हुए; माया-वी—जादूगर; खड्गेन—अपनी तलवार से; आनकदुन्दुभेः—श्री वसुदेव का; उत्कृत्य—काट कर; शिरः—सिर; आदाय—लेकर; ख—आकाश में; स्थम्—स्थित; सौभम्—सौभ में; समाविशत्—घुस गया।

इस प्रकार भगवान् की हँसी उड़ा कर जादूगर शाल्व अपनी तलवार से वसुदेव का सिर काटता हुआ प्रतीत हुआ। वह उस सिर को अपने साथ लेकर आकाश में मँडरा रहे सौभ यान में घुस गया।

ततो मुहूर्तं प्रकृतावुपप्लुतः
स्वबोध आस्ते स्वजनानुषङ्गतः ।
महानुभावस्तदबुध्यदासुरीं
मायां स शाल्वप्रसृतां मयोदिताम् ॥ २८॥

शब्दार्थ

ततः—तब; मुहूर्तम्—एक क्षण के लिए; प्रकृतौ—सामान्य (मानव) स्वभाव में; उपप्लुतः—लीन; स्व-बोधः—(यद्यपि) पूर्णतया आत्मबोध से युक्त; आस्ते—रहा; स्व-जन—अपने प्रियजनों के लिए; अनुषङ्गतः—स्नेह के कारण; महा-अनुभावः—अनुभूति की महान् शक्ति का स्वामी; तत्—वह; अबुध्यत्—पहचान लिया; आसुरीम्—असुरों से सम्बद्ध; मायाम्—मोहक जादू; सः—वह; शाल्व—शाल्व द्वारा; प्रसृताम्—काम में लाई हुई; मय—मय दानवद्वारा; उदिताम्—विकसित।

भगवान् कृष्ण स्वभाव से ही ज्ञान से परिपूर्ण हैं और उनमें असीम अनुभूति की शक्ति है। तो भी प्रियजनों के प्रति महान् स्नेहवश एक क्षण के लिए वे सामान्य प्राणी की मुद्रा में लीन हो गये। लेकिन उन्हें तुरन्त ही स्मरण हो आया कि यह तो मय दानव द्वारा सृजित आसुरी माया है, जिसे शाल्व काम में ला रहा है।

न तत्र दूतं न पितुः कलेवरं
प्रबुद्ध आजौ समपश्यदच्युतः ।
स्वाप्नं यथा चाम्बरचारिणं रिपुं
सौभस्थमालोक्य निहन्तुमुद्यतः ॥ २९॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तत्र—वहाँ; दूतम्—सन्देशवाहक; न—न तो; पितुः—पिता का; कलेवरम्—शरीर; प्रबुद्धः—सतर्क; आजौ—युद्धभूमि में; समपश्यत्—देखा; अच्युतः—भगवान् कृष्ण ने; स्वाप्नम्—स्वप्न में; यथा—जिस तरह; च—तथा; अम्बर—आकाश में; चारिणम्—विचरण करते हुए; रिपुम्—शत्रु (शाल्व) को; सौभ-स्थम्—सौभ यान में बैठा हुआ; आलोक्य—देखकर; निहन्तुम्—मारने के लिए; उद्यतः—तैयार।

अब असली परिस्थिति के प्रति सतर्क भगवान् अच्युत ने अपने समक्ष युद्धभूमि में न तो दूत को देखा न अपने पिता के शरीर को। ऐसा लग रहा था, मानो वे स्वप्न से जागे हों। तब अपने शत्रु को अपने ऊपर सौभ-यान में उड़ता देखकर भगवान् ने उसे मार डालने की ठानी।

एवं वदन्ति राजर्षे ऋषयः के च नान्विताः ।
यत्स्ववाचो विरुध्येत नूनं ते न स्मरन्त्युत ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; वदन्ति—कहते हैं; राज-ऋषे—हे राजर्षि (परीक्षित); ऋषयः—ऋषिगण; के च—कुछ; न—नहीं; अन्विताः—सही ढंग से तर्क करते हुए; यत्—चूँकि; स्व—अपने; वाचः—शब्द; विरुध्येत—विपरीत हो जाते हैं; नूनम्—निश्चय ही; ते—वे; न स्मरन्ति—स्मरण नहीं करते; उत—निस्सन्देह।

हे राजर्षि, यह विवरण कुछ ऋषियों द्वारा दिया हुआ है, किन्तु जो इस तरह अतार्किक ढंग से बोलते हैं, वे अपने ही पूर्ववर्ती कथनों को भुला कर अपनी ही बात काटते हैं।

तात्पर्य : यदि कोई यह सोचता है कि कृष्ण सचमुच ही शाल्व के जादू से मोहग्रस्त हो गये और सामान्य जन की तरह शोक कर रहे थे, तो ऐसा मत अतार्किक एवं विपरीतार्थी है, क्योंकि यह सर्वविदित है कि कृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, दिव्य हैं और परम पूर्ण हैं। इसकी और अधिक व्याख्या अगले श्लोकों में है।

क्व शोकमोहौ स्नेहो वा भयं वा येऽज्ञसम्भवाः ।
क्व चाखण्डितविज्ञानज्ञानैश्वर्यस्त्वखण्डितः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

क्व—कहाँ; शोक—शोक; मोहौ—तथा मोह; स्नेहः—भौतिक स्नेह; वा—अथवा; भयम्—भय; वा—अथवा; ये—जो; अज्ञा—अज्ञानवश; सम्भवाः—उत्पन्न; क्व च—और कहाँ, दूसरी ओर; अखण्डित—अनन्त; विज्ञान—जिनकी अनुभूति; ज्ञान—ज्ञान; ऐश्वर्यः—तथा शक्ति; तु—लेकिन; अखण्डितः—अनन्त भगवान्।

भला शोक, मोह, स्नेह या भय, जो कि अज्ञानजनित हैं, किस तरह से अनन्त भगवान् को प्रभावित कर सकते हैं, जिनकी अनुभूति, ज्ञान तथा शक्ति—सारे के सारे भगवान् की तरह ही अनन्त हैं?

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ‘‘शोक, संताप तथा मोह तो बद्धजीवों के लक्षण हैं, किन्तु

भला ऐसी बातें परम पुरुष को किस तरह प्रभावित कर सकती हैं, जो ज्ञान, शक्ति एवं समस्त ऐश्वर्य से परिपूर्ण हैं? वास्तव में, यह बिल्कुल सम्भव नहीं है कि भगवान् कृष्ण शाल्व के योगमय जादूगरी से गुमराह हो गये हों। वे तो मनुष्य लीला कर रहे थे।''

भागवत के सारे महान् टीकाकार इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि शोक, मोह, आसक्ति तथा भय—जो कि जीव के अज्ञान से उत्पन्न हैं, कभी भी भगवान् की दिव्य लीलाओं में उपस्थित नहीं रह सकते। श्रील रूप गोस्वामी ने इस बात को समझाने के लिए कृष्ण की लीलाओं से अनेक उदाहरण दिये हैं। उदाहरणार्थ, जब ग्वालबाल अघासुर के मुँह में चले गये थे, तो कृष्ण को ऊपरी आश्चर्य हुआ था। इसी तरह जब ब्रह्माजी कृष्ण के ग्वालमित्रों तथा बछड़ों को ले गये थे, तो भगवान् पहले तो उन सबकी खोज करते रहे, मानो वे जानते ही न हों कि वे सब कहाँ हैं? इस तरह भगवान् सामान्य मनुष्य की भूमिका अदा करते हैं, ताकि वे अपने भक्तों के साथ दिव्य लीलाओं का आस्वादन कर सकें। मनुष्य को चाहिए कि कभी भी वह भगवान् को सामान्य व्यक्ति न माने, जैसाकि शुकदेव गोस्वामी इस श्लोक में तथा इसके आगे के श्लोकों में बतलाते हैं।

यत्पादसेवोर्जितयात्मविद्यया
हिन्वन्त्यनाद्यात्मविपर्ययग्रहम् ।
लभन्त आत्मीयमनन्तमैश्वरं
कुतो नु मोहः परमस्य सद्गतेः ॥ ३२॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; पाद—पैरों की; सेवा—सेवा करने से; ऊर्जितया—सशक्त बना हुआ; आत्म-विद्यया—आत्म-साक्षात्कार द्वारा; हिन्वन्ति—दूर कर देते हैं; अनादि—जिसका आदि न हो; आत्म—आत्मा की; विपर्यय-ग्रहम्—गलत पहचान; लभन्ते—प्राप्त करते हैं; आत्मीयम्—उनके साथ निजी सम्बन्ध में; अनन्तम्—नित्य; ऐश्वरम्—कीर्ति; कुतः—कैसे; नु—निस्सन्देह; मोहः—मोह; परमस्य—ब्रह्म के; सत्—सन्त-भक्तों का; गतेः—गन्तव्य।

भगवान् के भक्तगण भगवान् के चरणों पर की गई सेवा से प्रबलित आत्म-साक्षात्कार के कारण देहात्मबुद्धि को दूर कर देते हैं, जो अनन्त काल से आत्मा को मोहग्रस्त करती रही है। इस तरह वे उनकी निजी संगति में नित्य कीर्ति प्राप्त करते हैं। तब भला वे परम सत्य, जो कि समस्त विशुद्ध सन्तों के गन्तव्य हैं, मोह के वशीभूत कैसे हो सकते हैं?

तात्पर्य : उपवास करने से शरीर कमजोर हो जाता है और मनुष्य सोचता है कि मैं क्षीण हो गया हूँ। इसी तरह कभी कभी बद्धजीव सोचता है कि मैं सुखी हूँ या दुखी हूँ—ये देहात्मबुद्धि पर आधारित

विचार हैं। किन्तु भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की सेवा करके ही भक्तगण देहात्मबुद्धि से मुक्त हो जाते हैं। तो फिर भगवान् को ऐसा मोह किसी भी समय कैसे प्रभावित कर सकता है?

तं शस्त्रपूगैः प्रहरन्तमोजसा
शाल्वं शरैः शौरिरमोघविक्रमः ।
विद्ध्वाच्छिनद्वर्म धनुः शिरोमणिं
सौभं च शत्रोर्गदया रुरोज ह ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; शस्त्र—हथियारों की; पूगैः—झड़ी से; प्रहरन्तम्—आक्रमण करते हुए; ओजसा—बड़े ही बल से; शाल्वम्—शाल्व को; शरैः—बाणों से; शौरिः—कृष्ण ने; अमोघ—अचूक; विक्रमः—जिसका पराक्रम; विद्ध्वा—बेध कर; अच्छिनत्—उसने तोड़ दिया; वर्म—कवच; धनुः—धनुष; शिरः—शिर के; मणिम्—मणि को; सौभम्—सौभ-यान को; च—तथा; शत्रोः—अपने शत्रु के; गदया—अपनी गदा से; रुरोज—तोड़ दिया; ह—निस्सन्देह।

जब शाल्व बड़े वेग से उन पर अस्त्रों की झड़ी लगाये हुए था, तो अमोघ पराक्रम वाले भगवान् कृष्ण ने शाल्व पर अपने बाण छोड़े, जिससे वह घायल हो गया और उसका कवच, धनुष तथा मुकुट का मणि ध्वस्त हो गये। तब उन्होंने अपनी गदा से अपने शत्रु के सौभ-यान को छिन्न-भिन्न कर डाला।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''जब शाल्व ने सोचा कि कृष्ण उसके योगिक प्रदर्शन से विमोहित हो गये हैं, तो वह प्रोत्साहित हो उठा और अधिक शक्ति तथा बल से भगवान् पर अनेकानेक बाणों की वर्षा करने लगा। किन्तु शाल्व के उत्साह की तुलना अग्नि में तेजी से गिरने वाले पतंगों से की जा सकती है। भगवान् कृष्ण ने अपार शक्ति के साथ बाण फेंक कर शाल्व को घायल कर दिया, जिससे उसके कवच, धनुष तथा रत्नजटित मुकुट टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गये। कृष्ण की गदा के प्रहार से शाल्व का अद्भुत विमान चूर-चूर होकर समुद्र में गिर गया।''

शाल्व की नगण्य योगशक्ति कृष्ण को विमोहित नहीं कर सकी। इसी तथ्य को यहाँ पर जोर देते हुए दर्शाया गया है।

तत्कृष्णहस्तेरितया विचूर्णितं
पपात तोये गदया सहस्रधा ।
विसृज्य तद्भूतलमास्थितो गदा-
मुद्यम्य शाल्वोऽच्युतमभ्यगाद्द्रुतम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह (सौभ); कृष्ण-हस्त—कृष्ण के हाथ से; ईरितया—घुमाया; विचूर्णितम्—चूर-चूर किया हुआ; पपात—गिर गया; तोये—जल में; गदया—गदा से; सहस्रधा—हजारों खण्डों में; विसृज्य—छोड़ कर; तत्—इस; भू-तलम्—पृथ्वी पर; आस्थितः—खड़ा हुआ; गदाम्—अपनी गदा; उद्यम्य—लेकर; शाल्वः—शाल्व ने; अच्युतम्—भगवान् कृष्ण पर; अभ्यगात्—आक्रमण किया; द्रुतम्—तेजी से।

भगवान् कृष्ण की गदा से हजारों खण्डों में चूर-चूर हुआ सौभ विमान समुद्र में गिर गया। शाल्व ने इसे छोड़ दिया और पृथ्वी पर खड़ा हो गया। उसने अपनी गदा उठाई और भगवान् अच्युत की ओर लपका।

आधावतः सगदं तस्य बाहुं
भल्लेन छित्त्वाथ रथाङ्गमद्भुतम् ।
वधाय शाल्वस्य लयार्कसन्निभं
बिभ्रद्बभौ सार्क इवोदयाचलः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

आधावतः—उसकी ओर दौड़ता हुआ; स-गदम्—अपनी गदा लिए; तस्य—उसके; बाहुम्—बाहु को; भल्लेन—विशेष प्रकार के बाण से; छित्त्वा—काट कर; अथ—तब; रथ-अङ्गम्—अपने चक्र से; अद्भुतम्—अद्भुत; वधाय—मारने के लिए; शाल्वस्य—शाल्व के; लय—संहार के समय; अर्क—सूर्य; सन्निभम्—हूबहू; बिभ्रत्—पकड़े हुए; बभौ—चमकने लगा; स-अर्कः—सूर्य समेत; इव—मानो; उदय—सूर्योदय का; अचलः—पर्वत।

जब शाल्व उनकी ओर झपटा, तो भगवान् ने एक भाला छोड़ा और उसकी उस बाँह को काट लिया, जिसमें गदा पकड़ी थी। अन्त में शाल्व का वध करने का निश्चय करके भगवान् कृष्ण ने अपना सुदर्शन चक्र उठाया, जो ब्रह्माण्ड के प्रलय के समय दिखने वाले सूर्य जैसा लग रहा था। तेज से चमकते हुए भगवान् उदयाचल जैसे प्रतीत हो रहे थे, जो उदय होते सूर्य को धारण करता है।

जहार तेनैव शिरः सकुण्डलं
किरीटयुक्तं पुरुमायिनो हरिः ।
वज्रेण वृत्रस्य यथा पुरन्दरो
बभूव हाहेति वचस्तदा नृणाम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

जहार—काट लिया; तेन—इससे; एव—निस्सन्देह; शिरः—सिर; स—सहित; कुण्डलम्—कुण्डल; किरीट—मुकुट; युक्तम्—पहने हुए; पुरु—विस्तृत; मायिनः—जादू-शक्ति से युक्त; हरिः—भगवान् कृष्ण ने; वज्रेण—वज्र से; वृत्रस्य—वृत्रासुर का; यथा—जिस तरह; पुरन्दरः—इन्द्र ने; बभूव—उठा; हा-हा इति—हाय हाय, हाहाकार; वचः—ध्वनियाँ; तदा—तब; नृणाम्—(शाल्व के) मनुष्यों की।

भगवान् हरि ने अपने चक्र का इस्तेमाल करते हुए उस महान् जादूगर के सिर को कुण्डलों

तथा किरीट सहित विलग कर दिया, जिस तरह पुरन्दर ने वृत्रासुर के सिर काटने के लिए अपने वज्र का इस्तेमाल किया था। यह देखकर शाल्व के सारे अनुयायी ''हाय हाय'' कहकर चीत्कार उठे।

तस्मिन्निपतिते पापे सौभे च गदया हते ।
नेदुर्दुन्दुभयो राजन्दिवि देवगणेरिताः ।
सखीनामपचितिं कुर्वन्दन्तवक्रो रुषाभ्यगात् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उसके; निपतिते—गिरने पर; पापे—पापी; सौभे—सौभ-यान में; च—तथा; गदया—गदा से; हते—विनष्ट किये जाने पर; नेदुः—बज उठीं; दुन्दुभयः—दुन्दुभियाँ; राजन्—हे राजा (परीक्षित); दिवि—आकाश में; देव-गण—देवताओं का समूह; ईरिताः—खेलते हुए; सखीनाम्—मित्रों के लिए; अपचितिम्—बदला; कुर्वन्—लेने के विचार से; दन्तवक्रः—दन्तवक्र; रूषा—क्रोध से; अभ्यगात्—आगे दौड़ा।

अब पापी शाल्व के मृत हो जाने तथा उसके सौभ-यान के विनष्ट हो जाने से, देवताओं द्वारा बजाई गई दुन्दुभियों से आकाश गूँज उठा। तब अपने मित्र की मृत्यु का बदला लेने की इच्छा से दन्तवक्र ने बहुत कुपित होकर भगवान् पर आक्रमण कर दिया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''भगवान् कृष्ण द्वारा शाल्व की बध'' नामक सतहत्तरवें अध्याय के श्रील भक्तिसिद्धान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अठहत्तर

दन्तवक्र, विदूरथ तथा रोमहर्षण का वध

यह अध्याय बतलाता है कि भगवान् कृष्ण ने किस तरह दन्तवक्र तथा विदूरथ को मारा और वे कैसे वृन्दावन गये तथा फिर द्वारका लौट आये। इसमें यह भी वर्णन है कि बलदेव ने किस तरह युद्ध के लिए आये रोमहर्षण सूत को मारा।

अपने मित्र शाल्व की मृत्यु का बदला लेने पर उतारू दन्तवक्र अपने हाथ में गदा लिए युद्धभूमि में प्रकट हुआ। श्रीकृष्ण ने भी अपनी गदा उठाई और उसके समक्ष आये। तब दन्तवक्र ने कटु वचन कहकर भगवान् का अपमान किया और उनके सिर पर भीषण प्रहार किया। इससे कृष्ण बिल्कुल हिले-डुले नहीं, अपितु दन्तवक्र की छाती को चीर कर उसके हृदय को छिन्न-भिन्न कर दिया। दन्तवक्र

का एक भाई था, जिसका नाम विदूरथ था। वह दन्तवक्र की मृत्यु सुनकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। वह अपनी तलवार लेकर कृष्ण का सामना करने आया, किन्तु भगवान् ने अपने सुदर्शन चक्र से उसका सिर काट लिया। तब भगवान् कृष्ण दो मास के लिए वृन्दावन गये और अन्त में द्वारका लौट आये।

जब बलदेवजी ने सुना कि कौरव तथा पाण्डव युद्ध करने ही वाले हैं, तो तटस्थ बने रहने के उद्देश्य से तीर्थयात्रा पर जाने के बहाने उन्होंने द्वारका को छोड़ दिया। उन्होंने प्रभास, त्रितकूप तथा विशाल जैसे पवित्र स्थानों में स्नान किया और अन्त में पवित्र नैमिषारण्य वन में पहुँचे, जहाँ बड़े-बड़े ऋषि अग्नि यज्ञ कर रहे थे। जहाँ एक ओर एकत्र ऋषियों द्वारा पूजित होकर उन्हें सम्मानित-पद प्रदान किया गया, वहीं वक्ता के आसन पर बैठा रोमहर्षण सूत उनके सम्मान में खड़ा नहीं हुआ। इस अपराध से अत्यन्त कुपित होकर बलराम ने कुश घास के तिनके की नोक से छूकर रोमहर्षण को मार डाला।

एकत्र ऋषिगण बलदेव के इस कृत्य से विचलित हो गये और उनसे इस प्रकार बोले, "आपने अनजाने एक ब्राह्मण का वध किया है, अतः हमारी विनती है कि यद्यपि आप वैदिक आदेशों से ऊपर हैं आप इस पाप का प्रायश्चित्त करके आम जनता के लिए एक पूर्ण आदर्श स्थापित करें।" तब श्रीबलदेव ने इस वैदिक कथन का कि 'पुत्र स्वयं पिता के रूप में जन्म लेता है' अनुसरण करके रोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा को पुराणों के वक्ता का पद प्रदान किया और ऋषियों की इच्छानुसार उग्रश्रवा को अचूक संवेदनात्मक क्षमता सहित दीर्घायु प्रदान करने का वायदा किया।

ऋषियों के लिए कुछ और करने की इच्छा से बलदेव ने बल्वल नामक असुर का वध करने का वचन दिया, जिसने यज्ञशाला को दूषित कर रखा था। अन्त में ऋषियों के कहने पर वे भारत वर्ष के समस्त पवित्र स्थानों की एक वर्ष तक तीर्थयात्रा करने के लिए सहमत हो गए।

श्रीशुक उवाच

शिशुपालस्य शाल्वस्य पौण्ड्रकस्यापि दुर्मतिः ।
परलोकगतानां च कुर्वन्पारोक्ष्यसौहृदम् ॥ १ ॥
एकः पदातिः सङ्क्रुद्धो गदापाणिः प्रकम्पयन् ।
पद्भ्यामिमां महाराज महासत्त्वो व्यदृश्यत ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; शिशुपालस्य—शिशुपाल का; शाल्वस्य—शाल्व का; पौण्ड्रकस्य—पौण्ड्रक का; अपि—भी; दुर्मतिः—बुरे हृदय वाला (दन्तवक्र); पर-लोक—अन्य लोक को; गतानां—गये हुओं का; च—तथा;

कुर्वन्—करते हुए; पारोक्ष्य—दिवंगतों के लिए; सौहृदम्—मैत्री कर्म; एकः—अकेला; पदातिः—पैदल; सङ्क्रुद्धः—क्रुद्ध; गदा—गदा; पाणिः—अपने हाथ में; प्रकम्पयन्—हिलाते हुए; पद्भ्याम्—अपने पैरों से; इमम्—इस (पृथ्वी) को; महा-राज—हे महान् राजा (परीक्षित); महा—महान्; सत्त्वः—शारीरिक शक्ति वाला; व्यदृश्यत—देखा गया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : अन्य लोकों को गये हुए शिशुपाल, शाल्व तथा पौण्ड्रक के प्रति मैत्री-भाव होने से दुष्ट दन्तवक्र बहुत ही क्रुद्ध होकर युद्धभूमि में प्रकट हुआ। हे राजन्, एकदम अकेला, पैदल एवं हाथ में गदा लिए उस बलशाली योद्धा ने अपने पदचाप से पृथ्वी को हिला दिया।

तं तथायान्तमालोक्य गदामादाय सत्वरः ।
अवप्लुत्य रथात्कृष्णः सिन्धुं वेलेव प्रत्यधात् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; तथा—इस तरह; आयान्तम्—पास आते हुए; आलोक्य—देखकर; गदाम्—अपनी गदा; आदाय—लेकर; सत्वरः—तेजी से; अवप्लुत्य—नीचे कूद कर; रथात्—अपने रथ से; कृष्णः—भगवान् कृष्ण; सिन्धुम्—समुद्र को; वेला—किनारा; इव—सदृश; प्रत्यधात्—रोका।

दन्तवक्र को पास आते देखकर भगवान् कृष्ण ने तुरन्त अपनी गदा उठा ली। वे अपने रथ से नीचे कूद पड़े और आगे बढ़ रहे अपने प्रतिद्वन्द्वी को रोका, जिस तरह तट समुद्र को रोके रहता है।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "जैसे ही कृष्ण दन्तवक्र के समक्ष प्रकट हुए उसकी वीरतापूर्ण अग्रगति तुरन्त रुक गयी, जिस तरह सागर की अत्यन्त भयावनी लहरें किनारे द्वारा रोक ली जाती हैं।"

गदामुद्यम्य कारूषो मुकुन्दं प्राह दुर्मदः ।
दिष्ट्या दिष्ट्या भवानद्य मम दृष्टिपथं गतः ॥ ॥

शब्दार्थ

गदाम्—अपनी गदा को; उद्यम्य—घुमाकर; कारूषः—करूष का राजा (दन्तवक्र); मुकुन्दम्—कृष्ण से; प्राह—बोला; दुर्मदः—मिथ्या गर्व से उन्मत्त; दिष्ट्या—सौभाग्य से; दिष्ट्या—सौभाग्य से; भवान्—आप; अद्य—आज; मम—मेरी; दृष्टि—दृष्टि के; पथम्—पथ पर; गतः—आये हुए।

अपनी गदा उठाते हुए करूष के दुर्मद राजा ने भगवान् मुकुन्द से कहा, "अहो भाग्य! अहो भाग्य! कि तुम आज मेरे समक्ष आये हो।"

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि तीन जन्मों तक प्रतीक्षा करते रहने के बाद दन्तवक्र, जो पहले वैकुण्ठ में द्वारपाल था, अब वैकुण्ठ-लोक जा सका। अतएव उसके कथन का दिव्य भाव यह है : "मैं कितना भाग्यशाली हूँ कि आज मैं वैकुण्ठ में अपनी वास्तविक स्थिति में वापस जा

सकता हूँ।''

अगले श्लोक में दन्तवक्र श्रीकृष्ण को *मातुलेय* अर्थात् ममेरा भाई कहता है। दन्तवक्र की माता श्रुतश्रवा कृष्ण के पिता वसुदेव की बहन थी।

त्वं मातुलेयो नः कृष्ण मित्रध्रुङ्मां जिघांससि ।
अतस्त्वां गदया मन्द हनिष्ये वज्रकल्पया ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; मातुलेयः—मामा का लड़का; नः—हमारे; कृष्ण—हे कृष्ण; मित्र—मेरे मित्रों के साथ; ध्रुक्—हिंसा करने वाले; माम्—मुझको; जिघांससि—मारना चाहते हो; अतः—इसलिए; त्वाम्—तुमको; गदया—अपनी गदा से; मन्द—रे मूर्ख; हनिष्ये—मैं मार डालूँगा; वज्र-कल्पया—वज्र सरीखी।

''हे कृष्ण तुम मेरे ममेरे भाई हो, किन्तु तुमने मेरे मित्रों के साथ हिंसा की है और अब मुझे भी मार डालना चाहते हो। इसलिए रे मूर्ख! मैं तुम्हें अपनी वज्र सरीखी गदा से मार डालूँगा।

तात्पर्य : आचार्यों ने इस श्लोक के तृतीय पद का वैकल्पिक व्याकरणिक विभाजन इस प्रकार किया है—*अतस् त्वां गदया अमन्द।* इस तरह दन्तवक्र कहता है, ''हे कृष्ण, तुम *अमन्द* (मूर्ख नहीं) हो इसलिए अपनी शक्तिशाली गदा से तुम मुझे भगवद्धाम भेज दोगे।'' यही इस श्लोक का गूढ़ार्थ है।

तर्ह्यानृण्यमुपैम्यज्ञ मित्राणां मित्रवत्सलः ।
बन्धुरूपमरिं हत्वा व्याधिं देहचरं यथा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तर्हि—तब; आनृण्यम्—ऋण से उऋण; उपैमि—हो सकूँगा; अज्ञ—रे मूर्ख; मित्राणाम्—मित्रों के; मित्र-वत्सलः—अपने मित्रों का प्रिय; बन्धु—पारिवारिक सदस्य के; रूपम्—रूप में; अरिम्—शत्रु को; हत्वा—मार कर; व्याधिम्—रोग; देह-चरम्—शरीर में; यथा—जिस तरह।

''हे बुद्धिहीन! अपने मित्रों का कृतज्ञ मैं तुम्हें मार कर तब उनके ऋण से उऋण हो जाऊँगा। सम्बन्धी के रूप में तुम मेरे शरीर के भीतर रोग की तरह प्रच्छन्न शत्रु हो।''

तात्पर्य : आचार्यों के अनुसार *अज्ञ* शब्द सूचित करता है कि भगवान् कृष्ण की तुलना में कोई भी व्यक्ति उनसे अधिक बुद्धिमान नहीं है। यही नहीं, *बन्धु-रूपम्* शब्द सूचित करता है कि कृष्ण वास्तव में हर एक के असली मित्र हैं। *व्याधिम्* शब्द बतलाता है कि भगवान् कृष्ण परमात्मा हैं, हृदय के भीतर ध्यान करने की वस्तु हैं और वे हमारे मानसिक क्लेश को दूर करते हैं। आचार्य लोग *हत्वा* का *ज्ञात्वा* करते हैं। दूसरे शब्दों में, कृष्ण को सही ढंग से जान लेने पर मनुष्य अपने सारे मित्रों को मुक्त बना

सकता है।

एवं रूक्षैस्तुदन्वाक्यैः कृष्णं तोत्रैरिव द्विपम् ।
गदयाताडयन्मूर्ध्नि सिंहवद्व्यनदच्च सः ॥ ७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; रूक्षैः—कर्कश, कटु; तुदन्—कष्ट देने वाले; वाक्यैः—शब्दों से; कृष्णम्—कृष्ण को; तोत्रैः—अंकुशों से; इव—सदृश; द्विपम्—हाथी को; गदया—अपनी गदा से; अताडयत्—उन पर प्रहार किया; मूर्ध्नि—सिर पर; सिंह-वत्—शेर की तरह; व्यनदत्—गर्जना की; च—तथा; सः—उसने।

इस तरह कटु वचनों से कृष्ण को उत्पीड़ित करने का प्रयास करते हुए, जिस तरह किसी हाथी को तेज अंकुश चुभाया जा रहा हो, दन्तवक्र ने अपनी गदा से भगवान् के सिर पर आघात किया और शेर की तरह गर्जना की।

गदयाभिहतोऽप्याजौ न चचाल यदूद्वहः ।
कृष्णोऽपि तमहन्गुर्व्या कौमोदक्या स्तनान्तरे ॥ ८॥

शब्दार्थ

गदया—गदा से; अभिहतः—प्रताड़ित; अपि—यद्यपि; आजौ—युद्धक्षेत्र में; न चचाल—हिला-डुला नहीं; यदु-उद्वहः—यदुओं के उद्धारक; कृष्णः—कृष्ण ने; अपि—भी; तम्—उसको (दन्तवक्र को); अहन्—मारा; गुर्व्या—भारी; कौमोदक्या—अपनी कौमोदकी गदा से; स्तन-अन्तरे—छाती के बीच।

यद्यपि दन्तवक्र की गदा से उन पर आघात हुआ, किन्तु यदुओं के उद्धारक कृष्ण युद्धस्थल में अपने स्थान से रंच-भर भी नहीं हिले। प्रत्युत अपनी भारी कौमोदकी गदा से उन्होंने दन्तवक्र की छाती के बीचों-बीच प्रहार किया।

गदानिर्भिन्नहृदय उद्वमन्रुधिरं मुखात् ।
प्रसार्य केशबाह्वङ्घ्रीन्धरण्यां न्यपतद्व्यसुः ॥ ९॥

शब्दार्थ

गदा—गदा से; निर्भिन्न—खण्ड-खण्ड हुआ; हृदयः—हृदय; उद्वमन्—वमन करते हुए; रुधिरम्—रक्त; मुखात्—मुख से; प्रसार्य—बाहर फेंक कर; केश—बाल; बाहु—भुजाएँ; अङ्घ्रीन्—तथा पाँव; धरण्याम्—धरती पर; न्यपतत्—गिर पड़ा; व्यसुः—निर्जीव।

गदा के प्रहार से दन्तवक्र का हृदय छितरा गया, जिससे वह रुधिर वमन करने लगा और निर्जीव होकर भूमि पर गिर गया, उसके बाल बिखर गये तथा उसकी भुजाएँ और पाँव छितरा गये।

ततः सूक्ष्मतरं ज्योतिः कृष्णमाविशदद्धुतम् ।
पश्यतां सर्वभूतानां यथा चैद्यवधे नृप ॥ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; सूक्ष्म-तरम्—अत्यन्त सूक्ष्म; ज्योतिः—प्रकाश; कृष्णम्—कृष्ण में; आविशत्—प्रविष्ट हुआ; अद्भुतम्—विचित्र; पश्यताम्—देखते-देखते; सर्व—सभी; भूतानाम्—जीवों के; यथा—जिस तरह; चैद्य-वधे—जब शिशुपाल मारा गया था; नृप—हे राजा (परीक्षित)।

हे राजन्, तब (उस असुर के शरीर से) एक अत्यन्त सूक्ष्म एवं अद्भुत प्रकाश की चिनगारी सबों के देखते-देखते (निकली और) कृष्ण में प्रवेश कर गई, ठीक उसी तरह जब शिशुपाल मारा गया था।

विदूरथस्तु तद्भ्राता भ्रातृशोकपरिप्लुतः ।
आगच्छदसिचर्माभ्यामुच्छ्वसंस्तज्जिघांसया ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

विदूरथः—विदूरथ; तु—लेकिन; तत्—उसका, दन्तवक्र का; भ्राता—भाई; भ्रातृ—भाई के; शोक—शोक में; परिप्लुतः—मग्न; आगच्छत्—आया; असि—तलवार; चर्माभ्याम्—तथा ढाल समेत; उच्छ्वसन्—तेजी से साँस लेता, हाँफता; तत्—उसको (कृष्ण को); जिघांसया—मारने की इच्छा से।

लेकिन तभी दन्तवक्र का भाई विदूरथ अपने भाई की मृत्यु के शोक में डूबा हाँफता हुआ आया और वह अपने हाथ में तलवार तथा ढाल लिए हुए था। वह भगवान् को मार डालना चाहता था।

तस्य चापततः कृष्णश्चक्रेण क्षुरनेमिना ।
शिरो जहार राजेन्द्र सकिरीटं सकुण्डलम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके; च—तथा; आपततः—आक्रमण कर रहे; कृष्णः—कृष्ण ने; चक्रेण—अपने सुदर्शन चक्र से; क्षुर—छूरे की तरह; नेमिना—धार वाले; शिरः—सिर; जहार—काट लिया; राज-इन्द्र—हे राजाओं में श्रेष्ठ; स—सहित; किरीटम्—मुकुट; स—सहित; कुण्डलम्—कुण्डल।

हे राजेन्द्र, ज्योंही विदूरथ ने कृष्ण पर आक्रमण किया, उन्होंने अपने छुरे जैसी धार वाले सुदर्शन चक्र से उसके सिर को मुकुट तथा कुंडलों समेत काट डाला।

एवं सौभं च शाल्वं च दन्तवक्रं सहानुजम् ।
हत्वा दुर्विषहानन्यैरीडितः सुरमानवैः ॥ १३ ॥
मुनिभिः सिद्धगन्धर्वैर्विद्याधरमहोरगैः ।
अप्सरोभिः पितृगणैर्यक्षैः किन्नरचारणैः ॥ १ ॥

उपगीयमानविजयः कुसुमैरभिवर्षितः ।
वृतश्च वृष्णिप्रवरैर्विवेशालङ्कृतां पुरीम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सौभम्—सौभ-यान को; च—तथा; शाल्वम्—शाल्व को; च—तथा; दन्तवक्रम्—दन्तवक्र को; सह—सहित; अनुजम्—उसके छोटे भाई विदूरथ को; हत्वा—मार कर; दुर्विषहान्—दुर्लंघ्य; अन्यैः—अन्यों द्वारा; ईडितः—प्रशंसित; सुर—देवताओं; मानवैः—तथा मनुष्यों द्वारा; मुनिभिः—तथा मुनियों द्वारा; सिद्ध—सिद्धों; गन्धर्वैः—तथा गन्धर्वों द्वारा; विद्याधर—विद्याधर लोक के निवासियों द्वारा; महा-उरगैः—तथा दैवी सर्पों द्वारा; अप्सरोभिः—स्वर्ग की नर्तकियों द्वारा; पितृ-गणैः—पितरों द्वारा; यक्षैः—यक्षों द्वारा; किन्नर-चारणैः—किन्नरों तथा चारणों द्वारा; उपगीयमान—स्तुति किये गये; विजयः—विजय; कुसुमैः—फूलों से; अभिवर्षितः—वर्षा किये गये; वृतः—घिरा हुआ; च—तथा; वृष्णि-प्रवरैः—अग्रणी वृष्णियों द्वारा; विवेश—प्रवेश किया; अलङ्कृताम्—सजी हुई; पुरीम्—अपनी राजधानी द्वारका में।

शाल्व तथा उसके सौभ-यान के साथ साथ दन्तवक्र तथा उसके छोटे भाई को, जो सब किसी अन्य प्रतिद्वन्द्वी के समक्ष अजेय थे, इस तरह विनष्ट करने के बाद देवताओं, मनुष्यों, ऋषियों, सिद्धों, गन्धर्वों, विद्याधरों, महोरगों के अतिरिक्त अप्सराओं, पितरों, यक्षों, किन्नरों तथा चारणों ने भगवान् की प्रशंसा की। जब ये सब उनका यशोगान कर रहे थे और उन पर फूल बरसा रहे थे, तो भगवान् गण्य-मान्य वृष्णियों के साथ साथ उत्सवपूर्वक सजाई हुई अपनी राजधानी में प्रविष्ट हुए।

एवं योगेश्वरः कृष्णो भगवान्जगदीश्वरः ।
ईयते पशुदृष्टीनां निर्जितो जयतीति सः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; योग—योग के; ईश्वरः—स्वामी; कृष्णः—कृष्ण; भगवान्—भगवान्; जगत्—ब्रह्माण्ड के; ईश्वरः—स्वामी; ईयते—प्रतीत होते हैं; पशु—पशुओं की तरह; दृष्टीनाम्—दृष्टिवानों को; निर्जितः—पराजित; जयति—विजयी होते हैं; इति—मानो; सः—वह।

इस तरह समस्त योगशक्ति के स्वामी तथा ब्रह्माण्ड के स्वामी, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण सदैव विजयी होते हैं। एकमात्र पाशविक दृष्टि वाले ही यह सोचते हैं कि कभी कभी उनकी हार होती है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने श्रीमद्भागवत के इस अनुभाग की विस्तृत व्याख्या की है, जो निम्नवत् है :

दन्तवक्र वध के विषय में *पद्म पुराण* के उत्तर खण्ड (२७९) में निम्नलिखित गद्यांश में विस्तृत जानकारी पाई जाती है *अथ शिशुपालं निहतं श्रुत्वा दन्तवक्रः कृष्णेन सह योद्धुं मथुराम् आजगाम्। कृष्णस्तु तच्छ्रुत्वा रथमारुह्य मथुराम् आययौ।* "तब यह सुन कर कि शिशुपाल मारा गया है, दन्तवक्र

कृष्ण के विरुद्ध लड़ने मथुरा गया। अत: जब कृष्ण ने यह सुना, तो वे अपने रथ पर सवार होकर मथुरा गये।''

तयोर्दन्तवक्रवासुदेवयोरहोरात्रं मथुराद्वारि संग्राम: समवर्तत/कृष्णस्तु गदया तं जघान। स तु चूर्णितसर्वांगो वज्रनिर्भिन्नो महीधर इव गतासुरवनितले निपतात। सोऽपि हरे: सारूप्येण योगिगम्यं नित्यानन्दसुखदं शाश्वतं परमं पदमवाप—''उन दोनों—दन्तवक्र तथा वासुदेव—के बीच मथुरा के द्वार पर युद्ध शुरू हुआ जो पूरे दिन तथा पूरी रात चलता रहा। अन्त में कृष्ण ने अपनी गदा से दन्तवक्र पर प्रहार किया, जिससे दन्तवक्र निर्जीव होकर भूमि पर गिर गया। उसके सारे अंग उसी तरह चकना चूर हो गये, जिस तरह वज्र से पर्वत क्षत-विक्षत हो जाता है। दन्तवक्र को सारूप्य मुक्ति मिली और इस तरह उसने भगवान् के शाश्वत परम धाम को प्राप्त किया जो पूर्ण योगियों को प्राप्त हो पाता है और जो शाश्वत आध्यात्मिक आनन्द प्रदान करने वाला है।''

इत्थं जयविजयौ सनकादिशापव्याजेन केवलं भगवतो लीलार्थं संसृतावववतीर्य जन्मत्रयेऽपि तेनैव निहतौ जन्मत्रयावसाने मुक्तिं अवाप्तौ—''इस तरह जय-विजय ने बाहरी तौर पर सनक तथा उसके भाइयों द्वारा शापित होने किन्तु आन्तरिक रूप से भगवान् की लीलाओं को सुगम बनाने के लिए इस जगत में अवतार लिया था और लगातार तीन जन्मों तक भगवान् के हाथों से मारे जाते रहे। तत्पश्चात् तीन जन्मों के पूरा होने पर उन्होंने मुक्ति प्राप्त की।''

पद्म पुराण के इस गद्यांश में *कृष्णस्तु तच्छ्रुत्वा* शब्दों से सूचित होता है कि कृष्ण ने नारद से ही जो मन की तीव्र गति से भ्रमण करते हैं, सुना होगा कि दन्तवक्र मथुरा गया हुआ है। इसलिए शाल्व को मारने के तुरन्त बाद, द्वारका में प्रविष्ट होने के पूर्व अपने तेज रथ पर चढ़ कर जो मन की तीव्र गति से चलता है एक ही क्षण में मथुरा के निकट जा पहुँचे और वहाँ दन्तवक्र को देखा। इसीलिए आज भी द्वारका की ओर अभिमुख मथुरा के द्वार के पास दतिहा नामक ग्राम है। यह नाम संस्कृत के *दन्तवक्र-हा*—दन्तवक्र को मारने वाला—से निकला है। इस ग्राम की स्थापना कृष्ण के प्रपौत्र वज्र ने की थी।

पद्म पुराण के इसी विभाग में आगे कहा गया है : कृष्णोऽपि तं हत्वा यमुनाम् उत्तीर्य नन्दव्रजं गत्वा सोत्कण्ठौ पितरावभिवाद्याश्वास्य ताभ्यां साश्रुसेकम् आलिंगित: सकलगोपवृद्धान् प्रणम्य बहुवस्त्राभरणादिभिस्तत्रस्थान् सन्तर्पयामास—''उसे (विदूरथ को) मारने के बाद कृष्ण ने यमुना पार

की और नन्द के ग्वालग्राम गये जहाँ उन्होंने अपने शोकसंतप्त माता-पिता को आदर सहित सान्त्वना प्रदान की। उन्होंने अपने आँसुओं से कृष्ण को भिगो दिया और उनका आलिंगन किया। तब भगवान् ने ज्येष्ठ गोपों को नमस्कार किया तथा वस्त्रों, आभूषणों इत्यादि विविध भेंटों से सारे निवासियों को कृतकृत्य किया।''

कालिन्द्याः पुलिने रम्ये पुण्यवृक्षसमाचिते।

गोपनारीभिरनिशं क्रीडयामास केशवः॥

रम्यकेलिसुखेनैव गोपवेशधरः प्रभुः।

बहुप्रेमरसेनात्र मासद्वयमुवास ह॥

''भगवान् केशव ने कालिन्दी के मनोहर तट पर, जो पवित्र वृक्षों से भरा-पुरा था, गोपियों के साथ लगातार क्रीड़ा की। इस तरह भगवान् गोप का स्वरूप बनाकर वहाँ दो मास तक पारस्परिक प्रेम के विविध रसों में अन्तरंग लीलाओं का आनन्द लूटते रहे।''

अथ तत्रस्था नन्दगोपादयः सर्वे जनाः पुत्रदारादिसहिता वासुदेवप्रसादेन दिव्यरूपधरा विमानम् आरूढाः परमं वैकुण्ठलोकम् अवापुः। कृष्णस्तु नन्दगोप व्रजौकसां सर्वेषां निरामयं स्वपदं दत्त्वा दिवि देवगणै संस्तूयमानो द्वारावतीं विवेश—''तब भगवान् वासुदेव की कृपा से नन्द तथा उस स्थान के अन्य सारे वासियों ने अपने बच्चों और पत्नियों सहित अपने नित्य आध्यात्मिक स्वरूप धारण किये, दैवी विमान में चढ़े और परम वैकुण्ठ-लोक (गोलोक वृन्दावन) चले गये। किन्तु भगवान् कृष्ण नन्दगोप तथा व्रज के अन्य वासियों को अपना दिव्यधाम जो सभी प्रकार के रोगों से रहित है, प्रदान करने के बाद आकाश-मार्ग से यात्रा करके द्वारका लौट आये, जबकि देवतागण उनकी स्तुति कर रहे थे।''

श्रील रूप गोस्वामी ने *लघु भागवतामृत* (१.८८-८९) में इस गद्यांश की नि म्नलिखित टीका की है—

व्रजेशादेर् अंशभूता ये द्रोणाद्या अवातरन्।

कृष्णस्तान् एव वैकुण्ठे प्राहिणोदिति साम्प्रतम्॥

प्रेष्ठेभ्योऽपि प्रियतमैर्जनैर्गोकुलवासिभिः।

वृन्दारण्ये सदैवासौ विहारं कुरुते हरिः॥

"चूँकि द्रोण तथा अन्य देवता पहले ही व्रजराज तथा वृन्दावन के अन्य भक्तों में भिन्नांशों के रूप में लीन होने के लिए पृथ्वी पर अवतारित हुए थे, इसलिए इस बार भगवान् कृष्ण ने इन्हीं देव अंशों को वैकुण्ठ भेजा। भगवान् कृष्ण वृन्दावन में अपने गोकुल निवासी घनिष्ठ भक्तों के साथ निरन्तर लीलाओं का आनन्द लूटते हैं। ये लोग उन्हें अपने अन्य प्रिय भक्तों से भी बढ़कर प्रिय हैं।"

पद्म पुराण के गद्यांश में *नन्दगोपादय: सर्वे जना: पुत्रदारादि सहिता:* (नंद, गोप और अन्य में, उनकी संतान व पत्नियाँ सम्मिलित हैं) में *पुत्र* शब्द सूचक है कृष्ण, श्रीदामा तथा सुबल जैसे पुत्रों का और *दारा* शब्द यशोदा तथा राधारानी की माता कीर्तिदा जैसी पत्नियों का द्योतक है। *सर्वे जना:* (सब व्यक्ति) पद व्रज जनपद में रहने वाले हर व्यक्ति का द्योतक है। इस तरह वे सभी सर्वोच्च वैकुण्ठ-लोक—गोलोक—गये। *दिव्यरूपधरा:* पद सूचित करता है कि गोलोक में वे देवोचित लीलाओं में लगे रहते हैं, गोकुल की जैसी मानवोचित लीलाओं में नहीं। जिस तरह भगवान् रामचन्द्र के राजतिलक के समय सारे अयोध्यावासी सशरीर वैकुण्ठ ले जाये गये थे, उसी तरह कृष्ण के इस राजतिलक में व्रज के वासी गोलोक गये।

द्वारका से व्रज तक की कृष्ण की यात्रा की पुष्टि श्रीमद्भागवत के इस अंश (१.११.९) से होती है—यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान् कुरून् मधून् वाथ सुहृद्दिदृक्षया।तत्राब्दकोटिप्रतिम: क्षणो भवेत्—"हे कमलनयन भगवान्! जब भी आप अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों से भेंट करने मथुरा, वृन्दावन या हस्तिनापुर चले जाते हैं, तो आपकी अनुपस्थिति का हर क्षण लाख वर्षों-सा प्रतीत होता है।" जब से बलदेव व्रज गये थे तभी से भगवान् कृष्ण वज्र जाकर अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों से भेंट करने की इच्छा मन में सँजोये थे, लेकिन द्वारका स्थित उनके माता-पिता तथा अन्य वृद्धजनों ने उन्हें अनुमति देने से इनकार कर रखा था। किन्तु अब शाल्व को मारने के बाद जब कृष्ण ने नारद से सुना कि दन्तवक्र मथुरा गया है, तो द्वारका में प्रवेश करने के पूर्व शीघ्र मथुरा जाने से कोई उन्हें मना नहीं कर सका। और दन्तवक्र को मारने के बाद उन्हें व्रज में रह रहे मित्रों तथा सम्बन्धियों से भेंट करने का सुअवसर भी प्राप्त होगा।

इस तरह सोचकर एवं गोपियों के प्रति उद्धव के द्वारा इंगित इन शब्दों *गायन्ति ते विशदकर्म* (भागवत .७१.९) का स्मरण करके वे वहाँ के निवासियों के विरह-भावों को दूर करने के लिए

व्रज गये। वे वृन्दावन में दो मास तक उसी तरह आनन्दपूर्वक रहे जिस तरह कंस को मारने के लिए मथुरा जाने के पूर्व रह रहे थे। तब, दो मास के बाद अपने माता-पिता तथा सम्बन्धियों-मित्रों के दैविक भागों को वैकुण्ठ ले जाकर संसार की नजरों से अपनी व्रज-लीलाएँ समेट लीं। इस तरह एक लोक के पूर्ण प्राकट्य में वे गोलोक गये, दूसरे में वे भौतिक आँखों से अदृश्य होकर व्रज में निरन्तर आनन्द लूटते रहे और उसके आगे वाले लोक में वे अपने रथ पर चढ़ कर अकेले ही द्वारका लौट आये। शौरसेन प्रदेश के लोगों ने सोचा कि दन्तवक्र का वध करने के बाद कृष्ण अपने माता-पिता तथा अन्य प्रियजनों से मिलने आये थे और अब द्वारका वापस जा रहे हैं। किन्तु व्रज के लोग यह न समझ पाये कि कृष्ण सहसा कहाँ अदृश्य हो गये, अत: वे सभी आश्चर्यचकित थे।

यही नहीं, शुकदेव गोस्वामी ने विचार किया कि महाराज परीक्षित शायद यह सोच सकते हैं कि "जिन कृष्ण ने ग्वालों को सशरीर वैकुण्ठ प्राप्त करा दिया उन्हीं कृष्ण ने अपनी *मौषल लीला* में द्वारकावासियों को अशुभ स्थिति में क्यों पहुँचा दिया?" इस तरह राजा, यदुओं के प्रति झुकाव होने से, इस व्यवस्था को अनुचित मान सकते हैं। इसीलिए शुकदेव गोस्वामी ने उन्हें *श्री पद्म पुराण* के उत्तर खण्ड में कही गई उपर्युक्त लीला को सुनने की अनुमति नहीं दी।

दसवें स्कंध पर सनातन गोस्वामी की *वैष्णव तोषणी* टीका में हमें लीलाओं का यह अनुक्रम प्राप्त होता है—सूर्यग्रहण के अवसर पर यात्रा, फिर राजसूय सभा, फिर द्यूत क्रीड़ा तथा द्रौपदी चीरहरण का प्रयास, तब पाण्डवों का बनवास, फिर शाल्व तथा दन्तवक्र का वध, तब कृष्ण का वृन्दावन जाना और अन्त में वृन्दावन लीलाओं का समापन।

श्रुत्वा युद्धोद्यमं रामः कुरूणां सह पाण्डवैः ।
तीर्थाभिषेकव्याजेन मध्यस्थः प्रययौ किल ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर; युद्ध—युद्ध के लिए; उद्यमम्—तैयारियाँ; रामः—बलराम ने; कुरूणाम्—कुरुओं के; सह—साथ; पाण्डवैः—पाण्डवों की; तीर्थ—तीर्थस्थानों में; अभिषेक—स्नान के; व्याजेन—बहाने; मध्य-स्थः—तटस्थ, बीच-बचाव करने वाले; प्रययौ—कूच किया; किल—निस्सन्देह।

तब बलराम ने सुना कि कुरुगण पाण्डवों के साथ युद्ध की तैयारी कर रहे हैं। तटस्थ होने के कारण वे तीर्थस्थानों में स्नान के लिए जाने का बहाना करके वहाँ से कूच कर गये।

तात्पर्य : बलराम को दुर्योधन तथा युधिष्ठिर दोनों ही प्रिय थे, अतएव विषम स्थिति से बचने के

लिए वे चले गये। यही नहीं, विदूरथ को मारने के बाद भगवान् कृष्ण ने अपने हथियार रख दिये, किन्तु बलराम को तो अभी भी रोमहर्षण तथा बल्वल को मार कर पृथ्वी को असुरों के भार से छुटकारा दिलाना शेष था।

स्नात्वा प्रभासे सन्तर्प्य देवर्षिपितृमानवान् ।
सरस्वतीं प्रतिस्रोतं ययौ ब्राह्मणसंवृतः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

स्नात्वा—स्नान करके; प्रभासे—प्रभास में; सन्तर्प्य—तथा सम्मान देकर; देव—देवताओं; ऋषि—ऋषियों; पितृ—पूर्वजों; मानवान्—तथा मनुष्यों को; सरस्वतीम्—सरस्वती नदी को; प्रति-स्रोतम्—समुद्र की ओर बहने वाली; ययौ—गये; ब्राह्मण-संवृतः—ब्राह्मणों से घिरे हुए।

प्रभास में स्नान करके तथा देवताओं, ऋषियों, पितरों एवं वरेषु मानवों का सम्मान करने के बाद वे ब्राह्मणों को साथ लेकर सरस्वती के उस भाग में गये, जो पश्चिम में समुद्र की ओर बहती है।

पृथूदकं बिन्दुसरस्त्रितकूपं सुदर्शनम् ।
विशालं ब्रह्मतीर्थं च चक्रं प्राचीं सरस्वतीम् ॥ १९ ॥
यमुनामनु यान्येव गङ्गामनु च भारत ।
जगाम नैमिषं यत्र ऋषयः सत्रमासते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

पृथु—चौड़ा; उदकम्—जल, पाट; बिन्दु-सरः—बिन्दु सरोवर; त्रित-कूपम् सुदर्शनम्—त्रितकूप तथा सुदर्शन नामक तीर्थस्थल; विशालम् ब्रह्म-तीर्थम् च—विशाल तथा ब्रह्मतीर्थ; चक्रम्—चक्रतीर्थ; प्राचीम्—पूर्व की ओर बहती; सरस्वतीम्—सरस्वती नदी; यमुनाम्—यमुना नदी के; अनु—किनारे-किनारे; यानि—जो; एव—सभी; गङ्गाम्—गंगा नदी के; अनु—किनारे-किनारे; च—भी; भारत—हे भरतवंशी (परीक्षित महाराज); जगाम—देखने गये; नैमिषम्—नैमिषारण्य; यत्र—जहाँ; ऋषयः—बड़े-बड़े मुनि; सत्रम्—विशाल यज्ञ; आसते—सम्पन्न कर रहे थे।

भगवान् बलराम ने चौड़े बिन्दु-सरस सरोवर, त्रितकूप, सुदर्शन, विशाल, ब्रह्मतीर्थ, चक्रतीर्थ तथा पूर्ववाहिनी सरस्वती को देखा। हे भारत, वे यमुना तथा गंगा नदियों के तटवर्ती सारे तीर्थस्थानों में गये और तब वे नैमिषारण्य आये, जहाँ ऋषिगण बृहद् यज्ञ (सत्र) सम्पन्न कर रहे थे।

तमागतमभिप्रेत्य मुनयो दीर्घसत्रिणः ।
अभिनन्द्य यथान्यायं प्रणम्योत्थाय चार्चयन् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; आगतम्—आया हुआ; अभिप्रेत्य—पहचान कर; मुनयः—मुनियों ने; दीर्घ—लम्बे समय तक; सत्रिणः—यज्ञ सम्पन्न कर रहे; अभिनन्द्य—सत्कार करके; यथा—जिस तरह; न्यायम्—उचित, सही; प्रणम्य—नमस्कार करके; उत्थाय—उठ कर; च—तथा; आर्चयन्—पूजा की।.

भगवान् के आगमन पर उन्हें पहचान लेने पर दीर्घकाल से यज्ञ कर रहे मुनियों ने खड़े होकर, नमस्कार करके तथा उनकी पूजा करके समुचित ढंग से उनका सत्कार किया।

सोऽर्चितः सपरीवारः कृतासनपरिग्रहः ।
रोमहर्षणमासीनं महर्षेः शिष्यमैक्षत ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अर्चितः—पूजित; स—सहित; परीवारः—अपनी टोली; कृत—कर चुकने पर; आसन—आसन की; परिग्रहः—स्वीकृति; रोमहर्षणम्—रोमहर्षण सूत को; आसीनम्—बैठा हुआ; महा-ऋषेः—ऋषियों में सबसे बड़े व्यासदेव के; शिष्यम्—शिष्य को; ऐक्षत—देखा।.

अपनी टोली समेत इस प्रकार पूजित होकर भगवान् ने सम्मान-आसन ग्रहण किया। तब उन्होंने देखा कि व्यासदेव का शिष्य रोमहर्षण बैठा ही रहा था।

अप्रत्युत्थायिनं सूतमकृतप्रह्वणाञ्जलिम् ।
अध्यासीनं च तान्विप्रांश्चुकोपोद्वीक्ष्य माधवः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अप्रत्युत्थायिनम्—खड़ा न होने वाले; सूतम्—सूत पुत्र (क्षत्रिय पिता तथा ब्राह्मण माता के संकर विवाह से उत्पन्न) को; अकृत—जिसने नहीं किया; प्रह्वण—नमस्कार; अञ्जलिम्—हाथ जोड़ना; अध्यासीनम्—ऊँचे स्थान पर आसीन; च—तथा; तान्—उन; विप्रान्—विद्वान ब्राह्मणों की अपेक्षा; चुकोप—क्रुद्ध हुआ; उद्वीक्ष्य—देखकर; माधवः—बलराम।.

श्री बलराम यह देखकर अत्यन्त क्रुद्ध हुए कि सूत जाति का यह सदस्य किस तरह उठकर खड़े होने, नमस्कार करने या हाथ जोड़ने में विफल रहा है और किस तरह समस्त विद्वान ब्राह्मणों से ऊपर बैठा हुआ है।

तात्पर्य : रोमहर्षण ने वरिष्ठ पुरुष का स्वागत करने की आदर्श विधियों में से किसी के द्वारा बलराम का सत्कार नहीं किया। साथ ही, निम्न जाति का होने पर भी वह श्रेष्ठ ब्राह्मणों की सभा में ऊँचे आसन पर बैठा रहा।

यस्मादसाविमान्विप्रानध्यास्ते प्रतिलोमजः ।
धर्मपालांस्तथैवास्मान्वधमर्हति दुर्मतिः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यस्मात्—चूँकि; असौ—वह; इमान्—इन; विप्रान्—ब्राह्मणों की अपेक्षा; अध्यास्ते—ऊँचे स्थान पर बैठा है; प्रतिलोम-जः—अनुचित संकर विवाह से उत्पन्न; धर्म—धर्म के सिद्धान्तों का; पालान्—रक्षक; तथा एव—भी; अस्मान्—मुझसे; वधम्—मृत्यु; अर्हति—पात्र है; दुर्मतिः—मूर्ख।

[बलराम ने कहा]: चूँकि अनुचित रीति से संकर विवाह से उत्पन्न यह मूर्ख इन सारे ब्राह्मणों से ऊपर बैठा है और मुझ धर्म-रक्षक से भी ऊपर, इसलिए यह मृत्यु का पात्र है।

ऋषेर्भगवतो भूत्वा शिष्योऽधीत्य बहूनि च ।
सेतिहासपुराणानि धर्मशास्त्राणि सर्वशः ॥ २५ ॥
अदान्तस्याविनीतस्य वृथा पण्डितमानिनः ।
न गुणाय भवन्ति स्म नटस्येवाजितात्मनः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

ऋषेः—ऋषि (व्यासदेव) का; भगवतः—ईश्वर के अवतार; भूत्वा—बन कर; शिष्यः—शिष्य; अधीत्य—अध्ययन करके; बहूनि—अनेक; च—तथा; स—सहित; इतिहास—पौराणिक इतिहास; पुराणानि—तथा पुराण; धर्म-शास्त्राणि—मनुष्य के धार्मिक कर्तव्यों को बताने वाले शास्त्र; सर्वशः—पूर्णरूपेण; अदान्तस्य—उसके लिए जो आत्मसंयमी नहीं है; अविनीतस्य—अविनीत; वृथा—व्यर्थ ही; पण्डित—विद्वान; मानिनः—अपने को सोचते हुए; न गुणाय—सद्गुणों वाला नहीं; भवन्ति स्म—वे हो गये हैं; नटस्य—मंच पर नाटक करने वालों का; इव—सदृश; अजित—न जीता हुआ; आत्मनः—जिसका मन।

यद्यपि वह दिव्य मुनि व्यास का शिष्य है और उसने उनसे अनेक शास्त्रों को भलीभाँति सीखा है, जिसमें धार्मिक कर्तव्यों की संहिताएँ, इतिहास तथा पुराण सम्मिलित हैं, किन्तु इस सारे अध्ययन से उसमें सद्गुण उत्पन्न नहीं हुए हैं। प्रत्युत उसका शास्त्र अध्ययन किसी नट के द्वारा अपना अंश अध्ययन करने की तरह है, क्योंकि वह न तो आत्मसंयमी है, न विनीत है। वह व्यर्थ ही विद्वान होने का स्वाँग रचता है, यद्यपि वह अपने मन को जीत सकने में विफल रहा है।

तात्पर्य : कोई यह तर्क कर सकता है कि रोमहर्षण ने बलराम को न पहचानने की निर्दोष भूल की, किन्तु ऐसे तर्क का निराकरण बलराम द्वारा की गई तीखी आलोचना से हो जाता है।

एतदर्थो हि लोकेऽस्मिन्नवतारो मया कृतः ।
वध्या मे धर्मध्वजिनस्ते हि पातकिनोऽधिकाः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

एतत्—इसी; अर्थः—प्रयोजन के लिए; हि—निस्सन्देह; लोके—संसार में; अस्मिन्—इस; अवतारः—अवतार; मया—मेरे द्वारा; कृतः—किया गया; वध्याः—मारे जाने के लिए; मे—मेरे द्वारा; धर्म-ध्वजिनः—धार्मिक बनने का स्वाँग रचने वाले; ते—वे; हि—निस्सन्देह; पातकिनः—पापी; अधिकाः—सर्वाधिक।

इस संसार में मेरे अवतार का उद्देश्य ही यह है कि ऐसे दिखावटी लोगों का वध किया जाय, जो धार्मिक बनने का स्वाँग रचते हैं। निस्सन्देह, वे सबसे बड़े पापी धूर्त हैं।

तात्पर्य : भगवान् बलदेव रोमहर्षण के अपराध की अनदेखी नहीं करना चाह रहे थे। भगवान् ने इसीलिए अवतार लिया था कि जो अपने को महान् धार्मिक नेता घोषित करते हैं, किन्तु भगवान् तक का आदर नहीं करते, वे उनका सफाया कर दें।

एतावदुक्त्वा भगवान्निवृत्तोऽसद्वधादपि ।
भावित्वात्तं कुशाग्रेण करस्थेनाहनत्प्रभुः ॥ २८॥

शब्दार्थ

एतावत्—इतना; उक्त्वा—कह कर; भगवान्—भगवान्; निवृत्तः—रुक गये; असत्—अशुभ; वधात्—मारने से; अपि—यद्यपि; भावित्वात्—यद्यपि हटाया नहीं जा सकता था; तम्—उसको, रोमहर्षण को; कुश—कुश तृण की; अग्रेण—नोक से; कर—हाथ में; स्थेन—पकड़ा हुआ; अहनत्—मार डाला; प्रभुः—भगवान् ने।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : यद्यपि भगवान् बलराम ने अपवित्र लोगों को मारना बन्द कर दिया था, किन्तु रोमहर्षण की मृत्यु तो होनी ही थी। इसलिए ऐसा कहकर भगवान् ने कुश घास का एक तिनका उठाकर और उसकी नोक से छूकर उसे मार डाला।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "श्री बलराम ने कुरुक्षेत्र के युद्ध में भाग लेने से अपने को दूर रखा था फिर भी अपने पद के कारण धार्मिक सिद्धान्तों की पुनर्स्थापना उनका प्रमुख कर्तव्य था। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने कुश के तिनके से प्रहार करके रोमहर्षण सूत को मार डाला। वह तिनका घास की एक पत्ती मात्र था। यदि कोई व्यक्ति यह प्रश्न करे कि बलरामजी ने एक कुश के प्रहार से रोमहर्षण का वध किस प्रकार कर दिया, तो इसका उत्तर *श्रीमद्भागवत* में *प्रभु* शब्द के प्रयोग द्वारा दिया गया है। भगवान् का पद सदैव दिव्य है; क्योंकि वे सर्वशक्तिमान हैं, अतएव वे भौतिक नियमों तथा सिद्धान्तों का पालन किए बिना इच्छानुसार कार्य कर सकते हैं। अतएव एक कुश के प्रहार से रोमहर्षण सूत का वध करना उनके लिए सम्भव था।"

हाहेतिवादिनः सर्वे मुनयः खिन्नमानसाः ।
ऊचुः सङ्कर्षणं देवमधर्मस्ते कृतः प्रभो ॥ २९॥

शब्दार्थ

हा-हा—हाय, हाय; इति—इस प्रकार; वादिनः—कहते हुए; सर्वे—सभी; मुनयः—मुनिगण; खिन्न—विचलित; मानसाः—मन वाले; ऊचुः—बोले; सङ्कर्षणम्—बलराम को; देवम्—भगवान्; अधर्मः—अधार्मिक कृत्य; ते—तुम्हारे द्वारा; कृतः—किया गया; प्रभो—हे प्रभु।

सारे मुनि अत्यन्त कातरता से "हाय हाय" कह कर चिल्ला पड़े। उन्होंने भगवान् संकर्षण

से कहा, ''हे प्रभु, आपने यह एक अधार्मिक कृत्य किया है।''

अस्य ब्रह्मासनं दत्तमस्माभिर्यदुनन्दन ।
आयुश्चात्माक्लमं तावद्यावत्सत्रं समाप्यते ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अस्य—इसका; ब्रह्म-आसनम्—गुरु का आसन; दत्तम्—दिया हुआ; अस्माभिः—हमारे द्वारा; यदु-नन्दन—हे यदुओं के प्रिय; आयुः—दीर्घ जीवन; च—तथा; आत्म—शरीर से; अक्लमम्—कष्ट से मुक्ति; तावत्—तब तक के लिए; यावत्—जब तक; सत्रम्—यज्ञ; समाप्यते—समाप्त हो जाता है।

''हे यदुओं के प्रिय, हमने उसे आध्यात्मिक गुरु का आसन प्रदान किया था और उसे दीर्घ आयु के लिए एवं जब तक यह सत्र चलता है तब तक भौतिक पीड़ा से मुक्ति के लिए वचन दिया था।

तात्पर्य : यद्यपि रोमहर्षण ब्राह्मण नहीं था, वह संकर विवाह से उत्पन्न प्रतिलोमज था, किन्तु उसे एकत्रित मुनियों ने वह पद प्रदान किया था और इस तरह उसे *ब्रह्मासन* अर्थात् प्रमुख कार्यकारी पुरोहित का आसन प्राप्त था।

अजानतैवाचरितस्त्वया ब्रह्मवधो यथा ।
योगेश्वरस्य भवतो नाम्नायोऽपि नियामकः ॥ ३१ ॥
यद्येतद्ब्रह्महत्यायाः पावनं लोकपावन ।
चरिष्यति भवाँल्लोकसङ्ग्रहोऽनन्यचोदितः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अजानता—न जानते हुए; एव—केवल; आचरितः—किया गया; त्वया—तुम्हारे द्वारा; ब्रह्म—ब्राह्मण का; वधः—वध; यथा—वास्तव में; योग—योगशक्ति के; ईश्वरस्य—भगवान् का; भवतः—आप; न—नहीं; आम्नायः—शास्त्रों का आदेश; अपि—भी; नियामकः—नियंत्रित करने वाला; यदि—यदि; एतत्—इसके लिए; ब्रह्म—ब्राह्मण की; हत्यायाः—हत्या; पावनम्—शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त; लोक—संसार का; पावन—हे पवित्रकर्ता; चरिष्यति—सम्पन्न करता है; भवान्—आप; लोक-सङ्ग्रहः—आम लोगों की भलाई; अनन्य—अन्य किसी के द्वारा नहीं; चोदितः—प्रेरित।

''आपने अनजाने में एक ब्राह्मण का वध कर दिया है। हे योगेश्वर, शास्त्रों के आदेश भी आपको आज्ञा नहीं दे सकते। किन्तु यदि आप स्वेच्छा से ब्राह्मण के इस वध के लिए संस्तुत शुद्धि कर लेंगे, तो हे सारे जगत के शुद्धिकर्ता, सामान्य लोग आपके उदाहरण से अत्यधिक लाभान्वित होंगे।''

श्रीभगवानुवाच

चरिष्ये वधनिर्वेशं लोकानुग्रहकाम्यया ।
नियमः प्रथमे कल्पे यावान्स तु विधीयताम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; चरिष्ये—मैं करूँगा; वध—हत्या करने के लिए; निर्वेशम्—प्रायश्चित्त; लोक—सामान्य लोगों के लिए; अनुग्रह—दया; काम्यया—दिखाने की इच्छा से; नियमः—आदेश; प्रथमे—प्रथम श्रेणी का; कल्पे—अनुष्ठान; यावान्—जितना; सः—वह; तु—निस्सन्देह; विधीयताम्—आप विधान करें, निर्धारित करें।

भगवान् ने कहा : मैं इस हत्या के लिए अवश्य ही प्रायश्चित करूँगा क्योंकि मैं सामान्य लोगों के प्रति दया दिखाना चाहता हूँ। इसलिए कृपा करके मुझे जो कुछ अनुष्ठान सर्वप्रथम करना हो, उसका निर्धारण करें।

दीर्घमायुर्बतैतस्य सत्त्वमिन्द्रियमेव च ।
आशासितं यत्तद्ब्रूते साधये योगमायया ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

दीर्घम्—लम्बी; आयुः—उम्र; बत—ओह; एतस्य—इसके लिए; सत्त्वम्—शक्ति; इन्द्रियम्—इन्द्रिय शक्ति; एव च—तथा; आशासितम्—वचन दिया हुआ; यत्—जो; तत्—वह; ब्रूते—कहिये; साधये—मैं करवा दूँगा; योग-मायया—अपनी योगशक्ति से।

हे मुनियो, कुछ कहिये तो। आपने उसे जो भी दीर्घायु, शक्ति तथा इन्द्रिय शक्ति के लिए वचन दिये हैं, उन्हें मैं पूरा करवा दूँगा।

ऋषय ऊचुः

अस्त्रस्य तव वीर्यस्य मृत्योरस्माकमेव च ।
यथा भवेद्वचः सत्यं तथा राम विधीयताम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

ऋषयः ऊचुः—ऋषियों ने कहा; अस्त्रस्य—(कुश) हथियार का; तव—तुम्हारे; वीर्यस्य—शक्ति का; मृत्योः—मृत्यु का; अस्माकम्—हमारा; एव च—भी; यथा—जिससे; भवेत्—बना रह सके; वचः—वचन; सत्यम्—सच; तथा—इस प्रकार; राम—हे राम; विधीयताम्—व्यवस्था कर दें।

ऋषियों ने कहा : हे राम, आप ऐसा करें कि आपकी तथा आपके कुश अस्त्र की शक्ति एवं साथ ही हमारा वचन तथा रोमहर्षण की मृत्यु—ये सभी बने रहें।

श्रीभगवानुवाच

आत्मा वै पुत्र उत्पन्न इति वेदानुशासनम् ।
तस्मादस्य भवेद्वक्ता आयुरिन्द्रियसत्त्ववान् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; आत्मा—आत्मा; वै—निस्सन्देह; पुत्रः—पुत्र; उत्पन्नः—उत्पन्न; इति—इस प्रकार; वेद-अनुशासनम्—वेदों का आदेश; तस्मात्—इसलिए; अस्य—इसका (पुत्र); भवेत्—होगा; वक्ता—व्याख्यान देने वाला, वाचक; आयुः—दीर्घायु; इन्द्रिय—प्रबल इन्द्रियाँ; सत्त्व—तथा शारीरिक बल; वान्—से युक्त।

भगवान् ने कहा : वेद हमें उपदेश देते हैं कि मनुष्य की आत्मा ही पुत्र रूप में पुनः जन्म लेती है। इस तरह रोमहर्षण का पुत्र पुराणों का वक्ता बने और वह दीर्घायु, प्रबल इन्द्रियों तथा बल से युक्त हो।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने भगवान् बलराम द्वारा बतलाये गये सिद्धान्त की व्याख्या के लिए निम्नलिखित वैदिक श्लोक उद्धृत किया है—

अंगाद् अंगात् सम्भवसि

हृदयाद् अभिजायसे।

आत्मा वै पुत्रनामासि

संजीव शरदः शतम्॥

"तुमने मेरे विविध अंगों से जन्म लिया है और मेरे हृदय से ही उत्पन्न हुए हो। तुम मेरे पुत्र के रूप में मेरे आत्मा हो। तुम सौ शरद् ऋतुओं तक जीवित रहो।" यह श्लोक *शतपथ ब्राह्मण* (१.९.८.) में तथा *बृहदारण्यक उपनिषद्* (६..८) में आया है।

किं वः कामो मुनिश्रेष्ठा ब्रूताहं करवाण्यथ ।
अजानतस्त्वपचितिं यथा मे चिन्त्यतां बुधाः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; वः—तुम्हारी; कामः—इच्छा; मुनि—मुनियों में; श्रेष्ठाः—हे श्रेष्ठ; ब्रूत—कहें; अहम्—मैं; करवाणि—करूँगा; अथ—और तब; अजानतः—कौन नहीं जानता; तु—निस्सन्देह; अपचितिम्—प्रायश्चित्त; यथा—उचित रीति से; मे—मेरे लिए; चिन्त्यताम्—सोचें; बुधाः—हे बुद्धिमान जनो।

हे मुनिश्रेष्ठो, आप मुझे अपनी इच्छा बतला दें। मैं उसे अवश्य पूरा करूँगा। और हे बुद्धिमान आत्माओ, मेरे लिए समुचित प्रायश्चित्त का भलीभाँति निर्धारण कर दें, क्योंकि मैं यह नहीं जानता कि वह क्या हो सकता है।

तात्पर्य : भगवान् बलराम सुयोग्य ब्राह्मणों के समक्ष विनीत बनकर आम जनता के लिए पक्का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

ऋषय ऊचुः
इल्वलस्य सुतो घोरो बल्वलो नाम दानवः ।
स दूषयति नः सत्रमेत्य पर्वणि पर्वणि ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

ऋषयः ऊचुः—ऋषियों ने कहा; इल्वलस्य—इल्वल का; सुतः—पुत्र; घोरः—भयावह; बल्वलः नाम—बल्वल नामक; दानवः—असुर; सः—वह; दूषयति—दूषित कर देता है; नः—हमारा; सत्रम्—यज्ञ; एत्य—आकर; पर्वणि पर्वणि—हर प्रतिपदा को।

ऋषियों ने कहा : एक भयावना असुर, जिसका नाम बल्वल है और जो इल्वल का पुत्र है, हर प्रतिपदा को अर्थात् शुक्लपक्ष के पहले दिन यहाँ आता है और हमारे यज्ञ को दूषित कर देता है।

तात्पर्य : सर्वप्रथम ऋषिगण बलरामजी को बतलाते हैं कि वे उनसे क्या अनुग्रह चाहते हैं।

तं पापं जहि दाशार्ह तन्नः शुश्रूषणं परम् ।
पूयशोणितविन्मूत्रसुरामांसाभिवर्षिणम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; पापम्—पापी व्यक्ति को; जहि—मार डालिये; दाशार्ह—हे दशार्ह के वंशज; तत्—वह; नः—हमारी; शुश्रूषणम्—सेवा; परम्—सर्वश्रेष्ठ; पूय—पीब; शोणित—रक्त; वित्—मल; मूत्र—मूत्र; सुरा—शराब; मांस—तथा मांस; अभिवर्षिणम्—नीचे गिराता है।

हे दशार्ह-वंशज, कृपा करके उस पापी असुर का वध कर दें, जो हमारे ऊपर पीब, रक्त, मल, मूत्र, शराब तथा मांस डाल जाता है। आप हमारे लिए यही सबसे उत्तम सेवा कर सकते हैं।

ततश्च भारतं वर्षं परीत्य सुसमाहितः ।
चरित्वा द्वादशमासांस्तीर्थस्नायी विशुध्यसि ॥ ० ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; च—तथा; भारतम् वर्षम्—भारतवर्ष की; परीत्य—परिक्रमा करके; सु-समाहितः—गम्भीर मुद्रा में; चरित्वा—तपस्या करके; द्वादश—बारह; मासान्—महीनों; तीर्थ—तीर्थस्थल; स्नायी—स्नान करके; विशुध्यसि—शुद्ध हो सकोगे।

तत्पश्चात् आप बारह महीनों तक गम्भीर ध्यान के भाव में भारतवर्ष की परिक्रमा करें और तपस्या करते हुए विविध पवित्र तीर्थस्थानों में स्नान करें। इस तरह आप विशुद्ध हो सकेंगे।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी इंगित करते हैं कि *विशुध्यसि* शब्द का अर्थ है कि सामान्य जनता के समक्ष ऐसा सम्यक उदाहरण प्रस्तुत करके बलराम निर्मल यश प्राप्त करेंगे।

श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''ब्राह्मणजन भगवान् का तात्पर्य समझ गये इसलिए उन्होंने सुझाव दिया कि वे ऐसा प्रायश्चित्त करें जिससे उन सबों को लाभ हो।''

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''दन्तवक्र, विदूरथ तथा रोमहर्षण का वध'' नामक अठहत्तरवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter उन्यासी

भगवान् बलराम की तीर्थयात्रा

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह बलदेव ने बल्वल को मार कर *ब्राह्मणों* को तुष्ट किया, फिर विविध पवित्र तीर्थस्थानों में स्नान किया और तदन्तर भीमसेन तथा दुर्योधन को युद्ध करने से रोकने का प्रयास किया।

नैमिषारण्य वन में मुनियों की यज्ञशाला में प्रतिपदा के दिन भीषण हवा चलने लगी, जिससे पीब की दुर्गन्ध फैलने लगी और धूल से हर वस्तु ओझल होने लगी। तभी बल्वल असुर हाथ में त्रिशूल लिए प्रकट हुआ। उसका विशाल शरीर अत्यधिक काला था और मुँह अत्यन्त भयावना था। भगवान् बलदेव ने उस असुर को अपने हल से पकड़ लिया और तब अपनी गदा से उसके सिर पर ऐसा भीषण प्रहार किया कि वह मर गया। ऋषियों ने बलदेव का यशोगान किया और उन्हें अनेक भेंटें दीं।

तब बलदेव ने अपनी तीर्थयात्रा प्रारम्भ की। इस अवधि में वे अनेक पवित्र तीर्थों में गये। जब उन्होंने कौरवों तथा पाण्डवों के बीच युद्ध की खबर सुनी, तो वे भीम तथा दुर्योधन के बीच द्वन्द्व युद्ध रोकने के प्रयास के लिए कुरुक्षेत्र गये। किन्तु उन दोनों की शत्रुता इतनी गहरी थी कि वे उन्हें युद्ध करने से रोक नहीं सके। यह समझ कर कि वह युद्ध विधि का विधान है, भगवान् बलदेव युद्धभूमि छोड़ कर द्वारका लौट आये।

कुछ काल बाद बलराम पुनः नैमिषारण्य वन में गये, जहाँ ऋषियों ने उनकी ओर से अनेक अग्नि-यज्ञ सम्पन्न किये। बदले में बलराम ने ऋषियों को दिव्य ज्ञान प्रदान किया और उन्हें अपनी शाश्वत पहचान बतलाई।

श्रीशुक उवाच

ततः पर्वण्युपावृत्ते प्रचण्डः पांशुवर्षणः ।

भीमो वायुरभूद्राजन्पूयगन्धस्तु सर्वश: ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; तत:—तत्पश्चात्; पर्वणि—प्रतिपदा का दिन; उपावृत्ते—आने पर; प्रचण्ड:—भयानक; पांशु—धूल; वर्षण:—वर्षा; भीम:—डरावनी; वायु:—हवा; अभूत्—उठी; राजन्—हे राजन् (परीक्षित); पूय—पीब की; गन्ध:—गन्ध; तु—तथा; सर्वश:—सर्वत्र।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, तब प्रतिपदा के दिन (शुक्लपक्ष का पहला दिन) एक प्रचण्ड तथा भयावना झंझावात आया, जिससे चारों ओर धूल बिखर गई और सर्वत्र पीब की दुर्गन्ध फैल गई।

ततोऽमेध्यमयं वर्षं बल्वलेन विनिर्मितम् ।
अभवद्यज्ञशालायां सोऽन्वदृश्यत शूलधृक् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तत:—तब; अमेध्य—गर्हित वस्तुएँ; मयम्—से पूर्ण; वर्षम्—वर्षा; बल्वलेन—बल्वल द्वारा; विनिर्मितम्—उत्पन्न किया गया; अभवत्—हुआ; यज्ञ—यज्ञ की; शालायाम्—शाला में; स:—वह, बल्वल; अन्वदृश्यत—इसके बाद प्रकट हुआ; शूल—त्रिशूल; धृक्—लिए हुए।

इसके बाद यज्ञशाला के क्षेत्र में बल्वल द्वारा भेजी गई घृणित वस्तुओं की वर्षा होने लगी। तत्पश्चात् वह असुर हाथ में त्रिशूल लिए साक्षात् प्रकट हुआ।

तं विलोक्य बृहत्कायं भिन्नाञ्जनचयोपमम् ।
तप्तताम्रशिखाश्मश्रुं दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीमुखम् ॥ ३ ॥
सस्मार मूषलं राम: परसैन्यविदारणम् ।
हलं च दैत्यदमनं ते तूर्णमुपतस्थतु: ॥ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; विलोक्य—देखकर; बृहत्—विशाल; कायम्—शरीर वाले; भिन्न—टूटा; अञ्जन—काजल का; चय—ढेर; उपमम्—सदृश; तप्त—जलता हुआ; ताम्र—ताँबे (जैसे रंग वाला); शिखा—चोटी; श्मश्रुम्—तथा दाढ़ी; दंष्ट्रा—दाँत सहित; उग्र—भयावह; भ्रु—भौंहों के; कुटी—खाँचों से युक्त; मुखम्—मुख वाला; सस्मार—स्मरण किया; मूषलम्—अपनी गदा (मूसल); राम:—बलराम ने; पर—आमने-सामने; सैन्य—सेनाएँ; विदारणम्—फाड़ने के लिए; हलम्—अपना हल; च—तथा; दैत्य—असुर; दमनम्—दमन करने वाला; ते—वे; तूर्णम्—तुरन्त; उपतस्थतु:—प्रस्तुत किया, उपस्थित हुआ।

विशालकाय असुर काले कज्जल के पिंड जैसा लग रहा था। उसकी चोटी तथा दाढ़ी पिघले ताँबे जैसी थी और उसके चेहरे में भयावने दाँत थे तथा भौंहें गढ़े में घुसी थीं। उसे देखकर बलराम ने शत्रु-सेनाओं को खण्ड-खण्ड कर देने वाली अपनी गदा और असुरों को दण्ड देने वाले अपने हल का स्मरण किया। इस प्रकार बुलाये जाने पर उनके दोनों हथियार तुरन्त ही उनके समक्ष प्रकट हो गये।

तमाकृष्य हलाग्रेण बल्वलं गगनेचरम् ।
मूषलेनाहनत्क्रुद्धो मूर्ध्नि ब्रह्मद्रुहं बलः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; आकृष्य—अपनी ओर खींच कर; हल—हल के; अग्रेण—अगले भाग से; बल्वलम्—बल्वल को; गगने—आकाश में; चरम्—विचरण करने वाले; मूषलेन—अपनी गदा से; अहनत्—प्रहार किया; क्रुद्धः—नाराज; मूर्ध्नि—सिर पर; ब्रह्म—ब्राह्मणों का; द्रुहम्—तंग करने वाला; बलः—बलराम ने।

ज्योंही बल्वल असुर आकाश से उड़ा, भगवान् बलराम ने अपने हल की नोंक से उसे पकड़ लिया और इस ब्राह्मण-उत्पीड़क के सिर पर अत्यन्त क्रुद्ध होकर अपनी गदा से प्रहार किया।

सोऽपतद्भुवि निर्भिन्नललाटोऽसृक्समुत्सृजन् ।
मुञ्चन्नार्तस्वरं शैलो यथा वज्रहतोऽरुणः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, बल्वल; अपतत्—गिर पड़ा; भुवि—पृथ्वी पर; निर्भिन्न—फट गया; ललाटः—कपाल; असृक्—रक्त; समुत्सृजन्—फव्वारे की तरह निकलता हुआ; मुञ्चन्—छोड़ते हुए; आर्त—पीड़ा के; स्वरम्—शब्द; शैलः—पर्वत; यथा—जिस तरह; वज्र—विद्युत्पात से; हतः—प्रहार किया हुआ; अरुणः—लाल-लाल।

बल्वल पीड़ा से चिल्ला उठा और पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसका सिर फट गया और उसमें से खून का फव्वारा निकलने लगा। वह विद्युत्पात से प्रताड़ित लाल (गेरू) पर्वत जैसा लग रहा था।

तात्पर्य : आचार्यों के अनुसार वह असुर रक्त से लाल-लाल दिख रहा था, मानो गेरू से लाल हुआ कोई पर्वत हो।

संस्तुत्य मुनयो रामं प्रयुज्यावितथाशिषः ।
अभ्यषिञ्चन्महाभागा वृत्रघ्नं विबुधा यथा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

संस्तुत्य—प्रशंसा करके; मुनयः—मुनिगण; रामम्—बलराम की; प्रयुज्य—प्रदान करके; अवितथ—अच्युत; आशिषः—वर; अभ्यषिञ्चन्—जैसे उत्सव में नहलाया हुआ; महा-भागाः—महापुरुष; वृत्र—वृत्रासुर का; घ्नम्—मारने वाला (इन्द्र); विबुधाः—देवतागण; यथा—जिस प्रकार।

पूज्य ऋषियों ने हार्दिक स्तुतियों से बलराम का सम्मान किया और उन्हें अमोघ वर दिये। तब उन्होंने उनका अनुष्ठानिक स्नान कराया, जिस तरह देवताओं ने इन्द्र को औपचारिक स्नान कराया था, जब उसने वृत्र का वध किया था।

वैजयन्तीं ददुर्मालां श्रीधामाम्लानपङ्कजां ।
रामाय वाससी दिव्ये दिव्यान्याभरणानि च ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

वैजयन्तीम्—वैजयन्ती नामक; ददुः—दिया; मालाम्—फूलों की माला; श्री—लक्ष्मी के; धाम—घर; अम्लान—कभी न मुरझाने वाली; पङ्कजाम्—कमल-फूलों से बनी; रामाय—बलराम को; वाससी—वस्त्रों की जोड़ी (ऊपरी तथा निचले); दिव्ये—दिव्य; दिव्यानि—दिव्य; आभरणानि—आभूषण; च—तथा।

उन्होंने बलरामजी को कभी न मुरझाने वाली कमल के फूलों से बनी वैजयन्ती नामक माला दी, जिसमें लक्ष्मीजी रहती हैं। उन्होंने बलराम को दिव्य वस्त्रों की जोड़ी तथा आभूषण भी दिये।

अथ तैरभ्यनुज्ञातः कौशिकीमेत्य ब्राह्मणैः ।
स्नात्वा सरोवरमगाद्यतः सरयूरास्रवत् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; तैः—उनके द्वारा; अभ्यनुज्ञातः—विदा किये गये; कौशिकीम्—कौशिकी नदी में; एत्य—आकर; ब्राह्मणैः—ब्राह्मणों के साथ; स्नात्वा—नहाकर; सरोवरम्—झील के निकट; अगात्—गये; यतः—जिसमें से; सरयूः—सरयू नदी; आस्रवत्—निकलती है।

तत्पश्चात् ऋषियों से विदा होकर भगवान् ब्राह्मणों की टोली के साथ कौशिकी नदी गये, जहाँ उन्होंने स्नान किया। वहाँ से वे उस सरोवर पर गये, जिससे सरयू नदी निकलती है।

अनुस्रोतेन सरयूं प्रयागमुपगम्य सः ।
स्नात्वा सन्तर्प्य देवादीन्जगाम पुलहाश्रमम् ॥ ॥

शब्दार्थ

अनु—पीछे-पीछे; स्रोतेन—धारा; सरयूम्—सरयू के किनारे-किनारे; प्रयागम्—प्रयाग तक; उपगम्य—आकर; सः—वह; स्नात्वा—स्नान करके; सन्तर्प्य—तर्पण करके; देव-आदीन्—देवताओं आदि को; जगाम—गया; पुलह-आश्रमम्—पुलह ऋषि की कुटिया में।

भगवान् सरयू नदी की धारा का अनुसरण करते हुए प्रयाग आये, जहाँ उन्होंने स्नान किया और देवताओं तथा अन्य जीवों को तर्पण करने का अनुष्ठान सम्पन्न किया। इसके बाद वे पुलह ऋषि के आश्रम गये।

तात्पर्य : पुलह आश्रम हरिक्षेत्र के नाम से भी विख्यात है।

गोमतीं गण्डकीं स्नात्वा विपाशां शोण आप्लुतः ।
गयां गत्वा पितृनिष्ट्वा गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ११ ॥
उपस्पृश्य महेन्द्राद्रौ रामं दृष्ट्वाभिवाद्य च ।
सप्तगोदावरीं वेणां पम्पां भीमरथीं ततः ॥ १२ ॥

स्कन्दं दृष्ट्वा ययौ रामः श्रीशैलं गिरिशालयम् ।
द्रविडेषु महापुण्यं दृष्ट्वाद्रिं वेङ्कटं प्रभुः ॥ १३ ॥
कामकोष्णीं पुरीं काञ्चीं कावेरीं च सरिद्वराम् ।
श्रीरङ्गाख्यं महापुण्यं यत्र सन्निहितो हरिः ॥ १ ॥
ऋषभाद्रिं हरेः क्षेत्रं दक्षिणां मथुरां तथा ।
सामुद्रं सेतुमगमत्महापातकनाशनम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

गोमतीम्—गोमती नदी में; गण्डकीम्—गण्डकी नदी में; स्नात्वा—स्नान करके; विपाशाम्—विपाशा नदी में; शोणे—शोण नदी में; आप्लुतः—घुस करके; गयाम्—गया; गत्वा—जाकर; पितॄन्—अपने पितरों को; इष्ट्वा—पूजा करके; गङ्गा—गंगा; सागर—तथा समुद्र के; सङ्गमे—संगम में; उपस्पृश्य—जल का स्पर्श करके (नहाकर); महा-इन्द्र-अद्रौ—महेन्द्र पर्वत पर; रामम्—परशुराम को; दृष्ट्वा—देखकर; अभिवाद्य—सम्मान करके; च—तथा; सप्त-गोदावरीम्—सात गोदावरियों के मिलन स्थल पर (जाकर); वेणाम्—वेणा नदी; पम्पाम्—पम्पा नदी; भीमरथीम्—तथा भीमरथी नदी; ततः—तब; स्कन्दम्—भगवान् स्कन्द (कार्तिकेय) को; दृष्ट्वा—देखकर; ययौ—गया; रामः—बलराम; श्री-शैलम्—श्रीशैल; गिरि-श—शिवजी के; आलयम्—वासस्थान; द्रविडेषु—दक्षिणी प्रान्तों में; महा—अत्यन्त; पुण्यम्—पवित्र; दृष्ट्वा—देखकर; अद्रिम्—पर्वत को; वेङ्कटम्—वेंकट नामक (जो बालाजी का धाम है); प्रभुः—भगवान्; काम-कोष्णीम्—कामकोष्णी; पुरीम् काञ्चीम्—काञ्चीपुरम् को; कावेरीम्—कावेरी को; च—तथा; सरित्—नदियों के; वराम्—सबसे बड़े; श्री-रङ्ग-आख्यम्—श्रीरंग नामक; महा-पुण्यम्—अत्यन्त पवित्र स्थान; यत्र—जहाँ; सन्निहितः—प्रकट; हरिः—भगवान् कृष्ण (रंगनाथ के रूप में); ऋषभ-अद्रिम्—ऋषभ पर्वत; हरेः—भगवान् विष्णु के; क्षेत्रम्—स्थान; दक्षिणाम् मथुराम्—दक्षिणी मथुरा (मदुराई, देवी मीनाक्षी का धाम); तथा—भी; सामुद्रम्—समुद्र पर; सेतुम्—पुल (सेतुबन्ध); अगमत्—गया; महा—सबसे बड़े; पातक—पापों का; नाशनम्—नष्ट करने वाला।

भगवान् बलराम ने गोमती, गण्डकी तथा विपाशा नदियों में स्नान किया और शोण में भी डुबकी लगाई। वे गया गये, जहाँ अपने पितरों की पूजा की। गंगामुख जाकर उन्होंने शुद्धि के लिए स्नान किया। महेन्द्र पर्वत पर उन्होंने परशुराम के दर्शन किये और उनकी स्तुति की। तत्पश्चात् उन्होंने गोदावरी नदी की सातों शाखाओं में स्नान किया। उन्होंने वेणा, पम्पा तथा भीमरथी नदियों में भी स्नान किया। फिर बलराम भगवान् स्कन्द से मिले और भगवान् गिरिश के धाम श्रीशैल गये। दक्षिणी प्रान्तों में, जिन्हें द्रविड़ देश कहा जाता है, भगवान् ने पवित्र वेंकट पर्वत, कामकोष्णी तथा कांची नामक शहर, पवित्र कावेरी नदी तथा अत्यन्त पवित्र श्रीरंग को देखा, जहाँ साक्षात् भगवान् कृष्ण प्रकट हुए थे। वहाँ से वे ऋषभ पर्वत गये, जहाँ पर कृष्ण भी रहते हैं और फिर दक्षिण मथुरा गये। तत्पश्चात् वे सेतुबन्ध गये, जहाँ बड़े से बड़े पाप नष्ट हो जाते हैं।

तात्पर्य : वैसे तो लोग मृत पूर्वजों की पूजा करने गया जाते हैं, किन्तु जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि यद्यपि बलरामजी के पिता तथा पितामह जीवित थे तो भी उनके पिता का आदेश था कि वे गया में अपने पूर्वजों की ठीक से पूजा करें। *वैष्णव तोषणी* के आधार पर आचार्य ने

यह भी बतलाया है कि यद्यपि बलरामजी जगन्नाथपुरी के बहुत ही निकट थे फिर भी वे वहाँ नहीं गये क्योंकि वे श्रीकृष्ण, बलभद्र तथा सुभद्रा के स्वरूपों के साथ अपने स्वरूप की पूजा करने से उत्पन्न उलझन से बचना चाहते थे।

तत्रायुतमदाद्धेनूर्ब्राह्मणेभ्यो हलायुधः ।
कृतमालां ताम्रपर्णीं मलयं च कुलाचलम् ।
तत्रागस्त्यं समासीनं नमस्कृत्याभिवाद्य च ॥ १६ ॥
योजितस्तेन चाशीर्भिरनुज्ञातो गतोऽर्णवम् ।
दक्षिणं तत्र कन्याख्यां दुर्गां देवीं ददर्श सः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ (सेतुबन्ध या रामेश्वरम में); अयुतम्—दस हजार; अदात्—दान में दी; धेनूः—गौवें; ब्रह्मणेभ्यः—ब्राह्मणों को; हल-आयुधः—जिसका हथियार हल है, बलराम ने; कृतमालाम्—कृतमाला नदी; ताम्रपर्णीम्—ताम्रपर्णी नदी; मलयम्—मलय; च—तथा; कुल-अचलम्—प्रमुख पर्वत श्रेणी; तत्र—वहाँ; अगस्त्यम्—अगस्त्य ऋषि को; समासीनम्—(ध्यान में) बैठे हुए; नमस्कृत्य—नमस्कार करके; अभिवाद्य—महिमा-गायन करके; च—तथा; योजितः—प्रदत्त; तेन—उसके द्वारा; च—तथा; आशीर्भिः—आशीर्वादों से; अनुज्ञातः—जाने की अनुमति पाकर; गतः—चले गये; अर्णवम्—समुद्र; दक्षिणम्—दक्षिणी; तत्र—वहाँ; कन्या-आख्याम्—कन्याकुमारी नामक; दुर्गाम् देवीम्—दुर्गादेवी को; ददर्श—देखा; सः—उसने।

सेतुबन्ध (रामेश्वरम) में भगवान् हलायुध ने ब्राह्मणों को दान में दस हजार गौवें दीं। फिर वे कृतमाला तथा ताम्रपर्णी नदियों एवं विशाल मलय पर्वत गये। मलय-श्रेणी में भगवान् बलराम को ध्यानमग्न अगस्त्य ऋषि मिले। ऋषि को नमस्कार करके भगवान् ने स्तुति की और उनसे आशीर्वाद प्राप्त किया। अगस्त्य से विदा होकर वे दक्षिणी सागर के तट पर गये, जहाँ उन्होंने कन्याकुमारी के रूप में दुर्गादेवी को देखा।

ततः फाल्गुनमासाद्य पञ्चाप्सरसमुत्तमम् ।
विष्णुः सन्निहितो यत्र स्नात्वास्पर्शद्गवायुतम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; फाल्गुनम्—फाल्गुन; आसाद्य—पहुँच कर; पञ्च-अप्सरसम्—पाँच अप्सराओं की झील; उत्तमम्—उत्तम; विष्णुः—भगवान् विष्णु; सन्निहितः—प्रकट; यत्र—जहाँ पर; स्नात्वा—स्नान करके; अस्पर्शत्—स्पर्श किया (दान देते समय अनुष्ठान के रूप में); गव—गौवों को; अयुतम्—दस हजार।

इसके बाद वे फाल्गुन तीर्थ गये और उन्होंने पवित्र पञ्चाप्सरा सरोवर में स्नान किया, जहाँ साक्षात् भगवान् विष्णु प्रकट हुए थे। यहाँ पर उन्होंने और दस हजार गौवें दान में दीं।

ततोऽभिव्रज्य भगवान्केरलांस्तु त्रिगर्तकान् ।

गोकर्णाख्यं शिवक्षेत्रं सान्निध्यं यत्र धूर्जटेः ॥ १९ ॥

आर्यां द्वैपायनीं दृष्ट्वा शूर्पारकमगाद्बलः ।
तापीं पयोष्णीं निर्विन्ध्यामुपस्पृश्याथ दण्डकम् ॥ २० ॥

प्रविश्य रेवामगमद्यत्र माहिष्मती पुरी ।
मनुतीर्थमुपस्पृश्य प्रभासं पुनरागमत् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; अभिव्रज्य—यात्रा करके; भगवान्—भगवान्; केरलान्—केरल राज्य से होकर; तु—तथा; त्रिगर्तकान्—त्रिगर्त से होकर; गोकर्ण-आख्यम्—(उत्तरी कर्णाटक में अरब सागर के तट पर) गोकर्ण नामक; शिव-क्षेत्रम्—शिवजी के पवित्र स्थल; सान्निध्यम्—प्राकट्य; यत्र—जहाँ; धूर्जटेः—शिवजी की; आर्याम्—सम्मानित देवी (पार्वती, शिव-पत्नी); द्वैप—द्वीप में (गोकर्ण के निकट के तट से दूर); अयनीम्—रहने वाला; दृष्ट्वा—देखकर; शूर्पारकम्—शूर्पारक के पवित्र जिले में; अगात्—गये; बलः—बलराम; तापीम् पयोष्णीम् निर्विन्ध्याम्—तापी, पयोष्णी तथा निर्विन्ध्या नदियों में; उपस्पृश्य—जल छूकर; अथ—उसके बाद; दण्डकम्—दण्डक वन में; प्रविश्य—प्रवेश करके; रेवाम्—रेवा नदी तक; अगमत्—गये; यत्र—जहाँ; माहिष्मती पुरी—माहिष्मती नगरी में; मनु-तीर्थम्—मनुतीर्थ को; उपस्पृश्य—जल छूकर; प्रभासम्—प्रभास; पुनः—फिर; आगमत्—आये।

तब भगवान् ने केरल तथा त्रिगर्त राज्यों से होकर यात्रा करते हुए भगवान् शिव की पवित्र नगरी गोकर्ण देखी, जहाँ साक्षात् भगवान् धूर्जटि (शिव) प्रकट होते हैं। इसके बाद एक द्वीप में निवास करने वाली देवी पार्वती का दर्शन करके बलरामजी पवित्र शूर्पारक जिले से होकर गुजरे और तापी, पयोष्णी तथा निर्विन्ध्या नदियों में स्नान किया। तत्पश्चात् वे दण्डकारण्य में प्रविष्ट हुए और रेवा नदी गये, जिसके किनारे माहिष्मती नगरी स्थित है। फिर उन्होंने मनुतीर्थ में स्नान किया और अन्त में प्रभास लौट आये।

श्रुत्वा द्विजैः कथ्यमानं कुरुपाण्डवसंयुगे ।
सर्वराजन्यनिधनं भारं मेने हृतं भुवः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर; द्विजैः—ब्राह्मणों द्वारा; कथ्यमानम्—सुनाये जा रहे; कुरु-पाण्डव—कुरुओं तथा पाण्डवों के बीच; संयुगे—युद्ध में; सर्व—सभी; राजन्य—राजाओं के; निधनम्—संहार को; भारम्—भार को; मेने—सोचा; हृतम्—हटाया हुआ; भुवः—पृथ्वी के।

भगवान् ने कुछ ब्राह्मणों से सुना कि किस तरह कुरुओं तथा पाण्डवों के बीच युद्ध में भाग लेने वाले सारे राजा मारे जा चुके थे। इससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि अब पृथ्वी अपने भार से मुक्त हो गई है।

स भीमदुर्योधनयोर्गदाभ्यां युध्यतोर्मृधे ।
वारयिष्यन्विनशनं जगाम यदुनन्दनः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने, बलरामजी ने; भीम-दुर्योधनयोः—भीम तथा दुर्योधन के बीच; गदाभ्याम्—गदाओं से; युध्यतोः—लड़ते हुए; मृधे—युद्धक्षेत्र में; वारयिष्यन्—मना करने की इच्छा करते हुए; विनशनम्—युद्धक्षेत्र तक; जगाम—गये; यदु—यदुओं के; नन्दनः—प्रिय पुत्र (बलराम)।

उस समय युद्धक्षेत्र में भीम तथा दुर्योधन के मध्य चल रहे गदा-युद्ध को रोकने की इच्छा से बलरामजी कुरुक्षेत्र गये।

युधिष्ठिरस्तु तं दृष्ट्वा यमौ कृष्णार्जुनावपि ।
अभिवाद्याभवंस्तुष्णीं किं विवक्षुरिहागतः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

युधिष्ठिरः—राजा युधिष्ठिर ने; तु—लेकिन; तम्—उसे, बलराम को; दृष्ट्वा—देखकर; यमौ—जुड़वाँ भाई, नकुल तथा सहदेव ने; कृष्ण-अर्जुनौ—कृष्ण तथा अर्जुन ने; अपि—भी; अभिवाद्य—नमस्कार करके; अभवन्—थे; तुष्णीम्—मौन; किम्—क्या; विवक्षुः—कहना चाहते हुए; इह—यहाँ; आगतः—आया है।

जब युधिष्ठिर, कृष्ण, अर्जुन तथा जुड़वाँ भाई नकुल तथा सहदेव ने बलराम को देखा, तो उन सबों ने उन्हें नमस्कार किया, किन्तु यह सोचते हुए कि ''ये हमें क्या बतलाने आये हैं'' वे सब मौन रहे।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, ''उनके मौन रहने का कारण यह था कि बलरामजी दुर्योधन के प्रति कुछ-कुछ स्नेहिल थे, क्योंकि उसने उनसे गदा-युद्ध की कला सीखी थी। इसलिए जब युद्ध चल रहा था, तो राजा युधिष्ठिर तथा अन्यों ने सोचा कि हो सकता है कि बलरामजी दुर्योधन के पक्ष में कुछ कहने आये हों। इसीलिए वे मौन रहे।''

गदापाणी उभौ दृष्ट्वा संरब्धौ विजयैषिणौ ।
मण्डलानि विचित्राणि चरन्ताविदमब्रवीत् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

गदा—गदाएँ; पाणी—हाथ में लिए; उभौ—दोनों को, दुर्योधन तथा भीम को; दृष्ट्वा—देखकर; संरब्धौ—क्रुद्ध; विजय—जीत; एषिणौ—के लिए प्रयत्नशील; मण्डलानि—चक्र, गोले; विचित्राणि—कलात्मक; चरन्तौ—घूमते हुए; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा।

बलराम ने देखा कि दुर्योधन तथा भीम अपने अपने हाथों में गदा लिए कलात्मक ढंग से चक्कर लगाते क्रोध से भरे हुए एक-दूसरे पर विजय पाने के लिए प्रयत्नशील हैं। भगवान् ने उन्हें इस प्रकार सम्बोधित किया।

युवां तुल्यबलौ वीरौ हे राजन्हे वृकोदर ।
एकं प्राणाधिकं मन्ये उतैकं शिक्षयाधिकम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

युवाम्—तुम दोनों; तुल्य—समान; बलौ—बल या पौरुष में; वीरौ—योद्धा; हे राजन्—हे राजन् (दुर्योधन); हे वृकोदर—हे भीम; एकम्—एक; प्राण—जीवनी-शक्ति में; अधिकम्—अधिक; मन्ये—मानता हूँ; उत—दूसरी ओर; एकम्—एक; शिक्षया—प्रशिक्षण में; अधिकम्—बढ़कर।

[बलरामजी ने कहा] : हे राजा दुर्योधन, हे भीम, सुनो तो, तुम दोनों योद्धा युद्ध-बल में समान हो। मैं जानता हूँ कि तुम दोनों में से एक में शारीरिक बल अधिक है, जबकि दूसरा कला में अधिक प्रशिक्षित है।

तात्पर्य : भीम शारीरिक दृष्टि से अधिक बलवान था, किन्तु दुर्योधन गदा चलाने की कला में अधिक निपुण था।

तस्मादेकतरस्येह युवयोः समवीर्ययोः ।
न लक्ष्यते जयोऽन्यो वा विरमत्वफलो रणः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; एकतरस्य—दोनों में से किसी एक का; इह—यहाँ; युवयोः—तुम दोनों का; सम—तुल्य; वीर्ययोः—पौरुष वाले; न लक्ष्यते—दिखाई नहीं पड़ता; जयः—विजय; अन्यः—विपरीत (हार); वा—अथवा; विरमतु—रुक जाना चाहिए; अफलः—व्यर्थ; रणः—युद्ध।

चूँकि तुम दोनों युद्ध-बल में बिल्कुल एक-जैसे हो अतः मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि इस द्वन्द्व में तुम में से कोई कैसे जीतेगा या हारेगा। अतएव कृपा करके इस व्यर्थ के युद्ध को बन्द कर दो।

न तद्वाक्यं जगृहतुर्बद्धवैरौ नृपार्थवत् ।
अनुस्मरन्तावन्योन्यं दुरुक्तं दुष्कृतानि च ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तत्—उसके; वाक्यम्—शब्दों को; जगृहतुः—दोनों ने स्वीकार किया; बद्ध—स्थिर; वैरौ—शत्रुता; नृप—हे राजा (परीक्षित); अर्थ-वत्—विवेकशील; अनुस्मरन्तौ—स्मरण रखते हुए; अन्योन्यम्—एक-दूसरे को; दुरुक्तम्—कटु वचन; दुष्कृतानि—दुष्कर्म; च—भी।

[शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा] : हे राजन्, तर्कपूर्ण होने पर भी बलरामजी के अनुरोध को उन दोनों ने स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उनकी पारस्परिक शत्रुता कट्टर थी। वे दोनों ही एक-दूसरे पर किये गये अपमानों तथा आघातों को निरन्तर स्मरण करते आ रहे थे।

दिष्टं तदनुमन्वानो रामो द्वारवतीं ययौ ।
उग्रसेनादिभिः प्रीतैर्ज्ञातिभिः समुपागतः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

दिष्टम्—भाग्य को; तत्—उस; अनुमन्वानः—निश्चित करते हुए; रामः—बलरामजी; द्वारवतीम्—द्वारका; ययौ—चले गये; उग्रसेन-आदिभिः—उग्रसेन इत्यादि द्वारा; प्रीतैः—प्रफुल्लित; ज्ञातिभिः—अपने पारिवारिक जनों द्वारा; समुपागतः—सत्कार किया गया।

इस निष्कर्ष पर पहुँचते हुए कि युद्ध विधाता द्वारा आयोजित होता है, बलरामजी द्वारका लौट गये। वहाँ उग्रसेन ने तथा उनके अन्य सम्बन्धियों ने उनका स्वागत किया, जो सभी उन्हें देखकर प्रफुल्लित थे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती *दिष्टम्* शब्द अर्थात् भाग्य की व्याख्या करते हुए यह कहते हैं कि यह शब्द सूचित करता है कि भीम तथा दुर्योधन के मध्य का युद्ध भगवान् कृष्ण के आदेश के कारण था और उन्हीं के द्वारा आरम्भ करवाया गया था।

तं पुनर्नैमिषं प्राप्तमृषयोऽयाजयन्मुदा ।
क्रत्वङ्गं क्रतुभिः सर्वैर्निवृत्ताखिलविग्रहम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको, बलराम को; पुनः—फिर; नैमिषम्—नैमिषारण्य; प्राप्तम्—पहुँचे हुए; ऋषयः—ऋषिगण; अयाजयन्—वैदिक यज्ञ में व्यस्त; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक; क्रतु—समस्त यज्ञों के; अङ्गम्—अंगस्वरूप; क्रतुभिः—अनुष्ठानों से; सर्वैः—सभी प्रकार के; निवृत्त—परित्यक्त किया गया; अखिल—समस्त; विग्रहम्—युद्ध।

बाद में बलरामजी नैमिषारण्य लौट आये, जहाँ ऋषियों ने समस्त यज्ञों के साक्षात् रूप उन्हें प्रसन्नतापूर्वक विविध प्रकार के वैदिक यज्ञों को सम्पन्न करने में लगा दिया। अब बलरामजी समस्त युद्धों से निवृत्ति प्राप्त कर चुके थे।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं: "[जब बलराम] पवित्र तीर्थस्थल नैमिषारण्य गये तो ऋषियों, सन्त-पुरुषों तथा ब्राह्मणों ने खड़े होकर उनका स्वागत किया। वे समझ गये कि यद्यपि बलराम क्षत्रिय हैं, किन्तु अब युद्ध-कार्य से निवृत्ति प्राप्त कर चुके हैं। सदैव सुख-शान्ति के पक्षधर ब्राह्मण तथा ऋषिगण इससे अत्यन्त प्रसन्न हुए। सभी ने अत्यन्त स्नेहपूर्वक श्री बलरामजी का आलिंगन किया तथा नैमिषारण्य नामक पवित्र स्थान में विभिन्न प्रकार के यज्ञ सम्पन्न करने के लिए उन्हें प्रेरित किया। वास्तव में बलराम का साधारण मनुष्यों के लिए संस्तुत यज्ञ से कोई प्रयोजन नहीं था, वे तो भगवान् हैं, अतएव वे स्वयं ऐसे समस्त यज्ञों के भोक्ता हैं। फलतः यज्ञ निष्पादित करने का उनका अनुकरणीय

कार्य सामान्य जन को यह पाठ पढ़ाने के हेतु था कि किस तरह वेदों के आदेशों का पालन करना चाहिए।''

तेभ्यो विशुद्धं विज्ञानं भगवान्व्यतरद्विभुः ।
येनैवात्मन्यदो विश्वमात्मानं विश्वगं विदुः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तेभ्यः—उन्हें; विशुद्धम्—एकदम शुद्ध; विज्ञानम्—दैवी ज्ञान; भगवान्—भगवान् ने; व्यतरत्—प्रदान किया; विभुः—सर्वशक्तिमान; येन—जिससे; एव—निस्सन्देह; आत्मनि—अपने भीतर; अदः—यह; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; आत्मानम्—अपने को; विश्व-गम्—ब्रह्माण्ड में व्याप्त; विदुः—वे अनुभव कर सके।

सर्वशक्तिमान भगवान् बलराम ने ऋषियों को शुद्ध आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान किया, जिससे वे सभी बलरामजी के भीतर सारे ब्रह्माण्ड को देख सकें और यह भी देख सकें कि वे हर वस्तु में समाये हुए हैं।

स्वपत्यावभृथस्नातो ज्ञातिबन्धुसुहृद्वृतः ।
रेजे स्वज्योत्स्नयेवेन्दुः सुवासाः सुष्ठ्वलङ्कृतः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

स्व—अपनी; पत्या—पत्नी सहित; अवभृथ—यज्ञ-दीक्षा के अन्त का सूचक अवभृथ अनुष्ठान; स्नातः—स्नान किये हुए; ज्ञाति—अपने निकट सम्बन्धियों द्वारा; बन्धु—अन्य सम्बन्धीजन; सुहृत्—तथा मित्रगण; वृतः—घिरे हुए; रेजे—भव्य लग रहे थे; स्व-ज्योत्स्नया—अपनी ही किरणों समेत; इव—सदृश; इन्दुः—चन्द्रमा; सु—सुन्दर; वासाः—वस्त्र पहने; सुष्ठु—सुन्दर; अलङ्कृतः—सजे हुए।

अपनी पत्नी के साथ *अवभृथ* स्नान करने के बाद सुन्दर वस्त्रों से सज्जित और अलंकारों से विभूषित तथा अपने निकट सम्बन्धियों, अन्य परिवार वालों एवं मित्रों से घिरे बलरामजी ऐसे भव्य लग रहे थे, मानो तेजयुक्त अपनी किरणों से घिरा हुआ चन्द्रमा हो।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने इस दृश्य का सुन्दर ढंग से इस प्रकार वर्णन किया है : ''तत्पश्चात् श्री बलराम ने *अवभृथ* स्नान किया जिसे यज्ञ-सम्बन्धी क्रियाओं की समाप्ति होने पर सम्पन्न किया जाता है। स्नान करने के पश्चात् उन्होंने नवीन कौशेय (रेशमी) वस्त्र धारण किये और अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों के मध्य स्वयं को सुन्दर आभूषणों से सज्जित किया। वे आकाश में अनेक नक्षत्रों के बीच प्रकाशमान पूर्ण-चन्द्रमा के समान प्रतीत हो रहे थे।

ईदृग्विधान्यसङ्ख्यानि बलस्य बलशालिनः ।

अनन्तस्याप्रमेयस्य मायामर्त्यस्य सन्ति हि ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ईदृक्-विधानि—इस प्रकार के; असङ्ख्यानि—अनगिनत; बलस्य—बलराम के; बल-शालिनः—बलशाली; अनन्तस्य—अनन्त; अप्रमेयस्य—अप्रमेय, असीम; माया—अपनी माया-शक्ति द्वारा; मर्त्यस्य—मर्त्यों के; सन्ति—हैं; हि—निस्सन्देह।

उन अनन्त तथा अप्रमेय बलशाली भगवान् बलराम द्वारा असंख्य अन्य लीलाएँ सम्पन्न की गईं, जो अपनी योगमाया से मनुष्य के रूप में दिखते हैं।

योऽनुस्मरेत रामस्य कर्माण्यद्भुतकर्मणः ।
सायं प्रातरनन्तस्य विष्णोः स दयितो भवेत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यः—जो भी; अनुस्मरेत—नियमित रूप से; रामस्य—बलराम के; कर्माणि—कार्यकलाप; अद्भुत—आश्चर्यजनक; कर्मणः—जिनके सारे कर्म; सायम्—सायंकाल; प्रातः—प्रातःकाल; अनन्तस्य—अनन्त के; विष्णोः—विष्णु का; सः—वह; दयितः—प्रिय; भवेत्—बन जाता है।

अनन्त भगवान् बलराम के सारे कार्यकलाप चकित कर देने वाले हैं। जो कोई भी प्रातः तथा सायं उनका निरन्तर स्मरण करता है, वह भगवान् श्री विष्णु का अत्यन्त प्रिय बन जाता है।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद लिखते हैं: ''श्री बलराम मूल विष्णु हैं, अतएव जो व्यक्ति प्रात:काल तथा सायंकाल भगवान् बलराम की लीलाओं का स्मरण करेगा वह निश्चय ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का महान् भक्त बनेगा और इस प्रकार प्रत्येक दृष्टि से उसका जीवन सफल हो जायेगा।''

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''भगवान् बलराम की तीर्थयात्रा'' नामक उन्यासिवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अस्सी

द्वारका में भगवान् श्रीकृष्ण से ब्राह्मण सुदामा की भेंट

इस अध्याय में बतलाया गया है कि भगवान् कृष्ण ने किस तरह अपने ब्राह्मण मित्र की पूजा की, जो उनके महल में दान माँगने आया था और किस तरह उन्होंने उन लीलाओं की चर्चा की, जिनमें उन्होंने अपने गुरु सान्दीपनि मुनि के घर में रहते हुए भाग लिया था।

भगवान् कृष्ण का अन्तरंग मित्र ब्राह्मण सुदामा पूरी तरह निष्काम था। उसे जो कुछ अपने आप मिल जाता, उसी से वह अपना तथा अपनी पत्नी का भरण-पोषण करता था। इस तरह वे निर्धनता में जी रहे थे। एक दिन, जब सुदामा की पत्नी अपने पति के लिए भोजन तैयार करने के लिए कुछ न

जुटा पाई, तो वह सुदामा के पास गई और उससे कहा कि वह द्वारका में रह रहे अपने मित्र कृष्ण के पास जाकर कुछ दान माँगे। सुदामा पहले तो हिचका, किन्तु जब पत्नी ने बहुत आग्रह किया, तो वह यह सोच कर जाने के लिए तैयार हो गया कि भगवान् से भेंट करने का यह अतीव शुभ अवसर होगा। उसकी पत्नी श्रीकृष्ण को उपहार में देने के लिए मुट्ठी-भर चावल माँग लाई और सुदामा द्वारका के लिए प्रस्थान कर गया।

जब सुदामा भगवान् कृष्ण की पटरानी रुक्मिणीदेवी के महल के निकट पहुँचा, तो भगवान् ने उसे दूर से ही देख लिया। कृष्ण तुरन्त ही रुक्मिणी के बिस्तर से उठ खड़े हुए और उन्होंने अतीव हर्षपूर्वक अपने मित्र का आलिंगन किया। फिर उन्होंने सुदामा को बिस्तर पर बिठाया, अपने हाथों से उसके पाँव धोये और इस जल को अपने सिर पर छिड़का। इसके बाद उन्होंने उसे अनेक भेंटें दीं और धूप, दीप इत्यादि से उसकी पूजा की। इस बीच रुक्मिणी उस फटे-पुराने वस्त्रधारी ब्राह्मण पर चामर झलती रहीं। इससे महल के वासियों को आश्चर्य हुआ।

तब कृष्ण ने अपने मित्र का हाथ अपने हाथ में ले लिया और अपने गुरु की पाठशाला में बहुत काल पूर्व रहते हुए, जो कुछ उन्होंने मिल कर किया था उसका स्मरण करते रहे। सुदामा ने यह इंगित किया कि कृष्ण शिक्षा प्राप्त करने की लीला में इसीलिए प्रवृत्त होते हैं कि मानव समाज के समक्ष आदर्श उपस्थित हो सके।

श्रीराजोवाच
भगवन्यानि चान्यानि मुकुन्दस्य महात्मनः ।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य श्रोतुमिच्छामि हे प्रभो ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा (परीक्षित) ने कहा; भगवन्—हे प्रभु (शुकदेव गोस्वामी); यानि—जो; च—तथा; अन्यानि—अन्य लोगों के; मुकुन्दस्य—भगवान् कृष्ण का; महा-आत्मनः—परमात्मा; वीर्याणि—वीरतापूर्ण कार्य; अनन्त—असंख्य; वीर्यस्य—बहादुरी के; श्रोतुम्—सुनने के लिए; इच्छामि—इच्छा करता हूँ; हे प्रभो—हे स्वामी।

राजा परीक्षित ने कहा : हे प्रभु, हे स्वामी, मैं उन असीम शौर्य वाले भगवान् मुकुन्द द्वारा सम्पन्न अन्य शौर्यपूर्ण कार्यों के विषय में सुनना चाहता हूँ।

को नु श्रुत्वासकृद्ब्रह्मन्नुत्तमःश्लोकसत्कथाः ।

विरमेत विशेषज्ञो विषण्णः काममार्गणैः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन; नु—निस्सन्देह; श्रुत्वा—सुनकर; असकृत्—बारम्बार; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; उत्तमः-श्लोक—भगवान् कृष्ण की; सत्—दिव्य; कथाः—कथाएँ; विरमेत—अपने को अलग रख सकता है; विशेष—(जीवन) का सार; ज्ञः—जानने वाला; विषण्णः—खिन्न; काम—भौतिक इच्छा की; मार्गणैः—खोज के साथ।

हे ब्राह्मण, जो जीवन के सार को जानता है और इन्द्रिय-तृप्ति के लिए प्रयास करने से ऊब चुका हो, वह भगवान् उत्तमश्लोक की दिव्य कथाओं को बारम्बार सुनने के बाद भला उनका परित्याग कैसे कर सकता है?

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती यहाँ पर यह टीका करते हैं कि ऐसे अनेक लोग देखे जाते हैं, जो भगवान् की कथाओं को बारम्बार सुनने के बाद भी अपना आध्यात्मिक समर्पण त्याग देते हैं। आचार्य यह उत्तर देते हैं कि इसीलिए *विशेषज्ञ* शब्द यहाँ पर सार्थक है। जिन्होंने वास्तव में जीवन-सार को समझ लिया है वे कृष्णभावनामृत का परित्याग नहीं करते। जो अन्य योग्यता होनी चाहिए वह है *विषण्णः काममार्गणै*—भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति से खिन्न होना। ये दोनों गुण पूरक हैं। जिसने कृष्णभावनामृत का असली आस्वादन कर लिया है, वह भौतिक आनन्द के निकृष्ट आस्वाद से स्वयमेव ऊब जाता है। कृष्ण-कथाओं का ऐसा प्रामाणिक श्रोता भगवान् की मोहक लीलाओं के श्रवण का कभी भी परित्याग नहीं कर सकता।

सा वाग्यया तस्य गुणान्गृणीते
करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च ।
स्मरेद्वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु
शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सा—वही (है); वाक्—बोलने की शक्ति, वाणी; यया—जिससे; तस्य—उसके; गुणान्—गुणों को; गृणीते—वर्णन करती है; करौ—दो हाथ; च—तथा; तत्—उसके; कर्म—कार्य; करौ—करते हुए; मनः—मन; च—तथा; स्मरेत्—स्मरण करता है; वसन्तम्—निवास करते हुए; स्थिर—जड़; जङ्गमेषु—चेतन के भीतर; शृणोति—सुनता है; तत्—उसके; पुण्य—पवित्र करने वाली; कथाः—कथाएँ; सः—वही (है); कर्णः—कान।

असली वाणी वही है, जो भगवान् के गुणों का वर्णन करती है, असली हाथ वे हैं, जो उनके लिए कार्य करते हैं, असली मन वह है, जो प्रत्येक जड़-चेतन के भीतर निवास करने वाले उन भगवान् का सदैव स्मरण करता है और असली कान वे हैं, जो निरन्तर उनकी पुण्य कथाओं का श्रवण करते हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में भगवान् को समर्पित श्रवणेन्द्रिय की प्रशंसा कर चुकने के बाद, राजा परीक्षित अन्य इन्द्रियों का भी उल्लेख करते हैं, जिससे हमें कृष्णभावनामृत का पूरा चित्र प्राप्त हो सके। यहाँ वे बतलाते हैं कि शरीर के सारे अंग व्यर्थ हो जाते हैं, यदि उनका सम्बन्ध कृष्ण से नहीं रहता। द्वितीय स्कंध के तीसरे अध्याय में श्लोक २० से २ में शौनक ऋषि द्वार । ऐसा ही कथन दिया गया है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती उल्लेख करते हैं कि कृष्णभावनामृत में सारी इन्द्रियों को मिल-जुलकर कार्य करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, आँखें या कान चाहें जो भी अनुभव करें, मन को तो एकमात्र अन्तर्यामी कृष्ण का ही स्मरण करना चाहिए।

शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमान-
मेत्तदेव यत्पश्यति तद्धि चक्षुः ।
अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां
पादोदकं यानि भजन्ति नित्यम् ॥ ॥

शब्दार्थ

शिरः—सिर; तु—तथा; तस्य—उसका; उभय—दोनों; लिङ्गम्—अभिव्यक्ति के लिए; आनमेत्—नमन करता है; तत्—वही; एव—एकमात्र; यत्—जो; पश्यति—देखती है; तत्—वह; हि—निस्सन्देह; चक्षुः—आँख; अङ्गानि—अंग; विष्णोः—भगवान् विष्णु का; अथ—अथवा; तत्—उसके; जनानाम्—भक्तों के; पाद-उदकम्—चरणों के धोने से प्राप्त जल को; यानि—जो; भजन्ति—सम्मान करते हैं; नित्यम्—नियमित रूप से।

वास्तविक सिर वही है, जो जड़-चेतन के बीच भगवान् की अभिव्यक्तियों को नमन करता है। असली आँखें वे हैं, जो एकमात्र भगवान् का दर्शन करती हैं और असली अंग वे हैं, जो भगवान् या उनके भक्तों के चरणों को पखारने से प्राप्त जल का नियमित रूप से आदर करते हैं।

सूत उवाच
विष्णुरातेन सम्पृष्टो भगवान्बादरायणिः ।
वासुदेवे भगवति निमग्नहृदयोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; विष्णु-रातेन—विष्णुरात (महाराज परीक्षित) द्वारा; सम्पृष्टः—भलीभाँति पूछे गये; भगवान्—शक्तिमान ऋषि; बादरायणिः—शुकदेव; वासुदेवे—वासुदेव में; भगवति—भगवान्; निमग्न—पूर्णतया मग्न; हृदयः—हृदय वाले; अब्रवीत्—बोले।

सूत गोस्वामी ने कहा : विष्णुरात द्वारा इस तरह प्रश्न किये जाने पर शक्तिसम्पन्न ऋषि बादरायणि ने, जिनका हृदय भगवान् वासुदेव के ध्यान में पूर्णतया लीन रहता था, यह उत्तर दिया।

श्रीशुक उवाच
कृष्णस्यासीत्सखा कश्चिद्ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः ।
विरक्त इन्द्रियार्थेषु प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; कृष्णस्य—कृष्ण का; आसीत्—था; सखा—मित्र (सुदामा नामक); कश्चित्—कोई; ब्राह्मणः—ब्राह्मण; ब्रह्म—वेदों का; वित्-तमः—अत्यन्त विद्वान; विरक्तः—उदासीन; इन्द्रिय-अर्थेषु—इन्द्रिय-भोग की वस्तुओं से; प्रशान्त—शान्त; आत्मा—मन वाला; जित—जीती हुई; इन्द्रियः—जिसकी इन्द्रियाँ।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् कृष्ण का एक ब्राह्मण मित्र (सुदामा नामक) था, जो वैदिक ज्ञान में प्रकाण्ड पंडित था और समस्त इन्द्रिय-भोग से उदासीन था। इससे भी बढ़कर, उसका मन शान्त था और उसकी इन्द्रियाँ संयमित थीं।

यदृच्छयोपपन्नेन वर्तमानो गृहाश्रमी ।
तस्य भार्या कुचैलस्य क्षुत्क्षामा च तथाविधा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

यदृच्छया—स्वेच्छा से; उपपन्नेन—जो कुछ मिलता था, उससे; वर्तमानः—उस समय; गृह-आश्रमी—गृहस्थ जीवन में; तस्य—उसकी; भार्या—पत्नी; कु-चैलस्य—मैले-कुचैले वस्त्र पहने; क्षुत्—भूख से; क्षामा—दुर्बल; च—तथा; तथा-विधा—उसी तरह।

गृहस्थ के भाँति रहते हुए जो कुछ उसे अपने आप मिल जाता वह उसी से भरण-पोषण करता था। मैले-कुचैले वस्त्रधारी उस ब्राह्मण की पत्नी उसके साथ कष्ट भोग रही थी और भूख के कारण दुबली हो गई थी।

तात्पर्य : सुदामा की पतिव्रता पत्नी भी मैले-कुचैले वस्त्र पहनती थी और उसे जो भी भोजन मिलता वह अपने पति को ही दे देती थी। इस तरह वह भूख से थकी-थकी रहती थी।

पतिव्रता पतिं प्राह म्लायता वदनेन सा ।
दरिद्रं सीदमाना वै वेपमानाभिगम्य च ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

पति-व्रता—अपने पति के प्रति आज्ञाकारिणी; पतिम्—अपने पति से; प्राह—कहा; म्लायता—मुरझाये हुए; वदनेन—मुख से; सा—उसने; दरिद्रम्—गरीब; सीदमाना—पीड़ित; वै—निस्सन्देह; वेपमाना—काँपते हुए; अभिगम्य—पास आकर; च—तथा।

एक बार उस गरीब ब्राह्मण की सती-साध्वी पत्नी उसके पास आई। उसका मुख त्रास के कारण सूखा था। भय से काँपते हुए वह इस प्रकार बोली।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी के अनुसार वह पतिव्रता स्त्री विशेष रूप से दुखी थी, क्योंकि उसे अपने पति को खिलाने के लिए भोजन नहीं मिल रहा था। साथ ही वह अपने पति के पास जाने से डर रही थी, क्योंकि वह जानती थी कि उसका पति भगवान् की भक्ति के सिवा अन्य किसी वस्तु की याचना नहीं करना चाहता था।

ननु ब्रह्मन्भगवतः सखा साक्षाच्छ्रियः पतिः ।
ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च भगवान्सात्वतर्षभः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ननु—निस्सन्देह; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; भगवतः—आपका; सखा—मित्र; साक्षात्—प्रत्यक्ष; श्रियः—लक्ष्मी का; पतिः—पति; ब्रह्मण्यः—ब्राह्मणों के प्रति सदय; च—तथा; शरण्यः—शरण देने के लिए इच्छुक; च—तथा; भगवान्—भगवान्; सात्वत—यादवों में; ऋषभः—श्रेष्ठ।

[सुदामा की पत्नी ने कहा] : हे ब्राह्मण, क्या यह सत्य नहीं है कि लक्ष्मीजी के पति आपके निजी मित्र हैं? यादवों में सर्वश्रेष्ठ वे भगवान् कृष्ण ब्राह्मणों पर दयालु हैं और उन्हें अपनी शरण देने के लिए अतीव इच्छुक हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती टीका करते हुए बतलाते हैं कि ब्राह्मण की पत्नी ने किस तरह अपने पति द्वारा सभी संभव आपत्तियों की पहले से ही कल्पना करके अनुमान लगा लिया था, जो कृष्ण के पास दान लेने जाने के उसके आग्रह पर वह आपत्ति उठा सकता था। यदि ब्राह्मण यह कहेगा कि "लक्ष्मीपति किस तरह से मुझ जैसे दरिद्र को अपना मित्र बनायेगा, तो वह यह उत्तर देगी कि भगवान् कृष्ण *ब्रह्मण्य* हैं अर्थात् ब्राह्मणों पर अनुकूल भाव रखने वाले हैं। यदि सुदामा यह कहेगा कि उनमें उसकी सच्ची भक्ति नहीं है, तो वह यह कहेगी कि तुम महान् एवं बुद्धिमान पुरुष हो जिसे अवश्य ही भगवान् शरण तथा कृपा प्रदान करेंगे (*शरण्यम्*)। यदि ब्राह्मण यह आपत्ति करेगा कि भगवान् उन असंख्य दुखियारे बद्धजीवों पर समान रूप से कृपा करने वाले हैं, जो अपने कर्मों के फल भोग रहे हैं, तो वह उत्तर देगी कि भगवान् कृष्ण भगवद्भक्तों पर विशेष रूप से कृपालु हैं। अतएव यदि वे स्वयं सुदामा पर कृपा नहीं भी करेंगे तो उनकी सेवा में लगे भक्तगण अवश्य ही उस पर दया

करके दान में कुछ न कुछ देंगे। चूँकि भगवान् सात्वतों अर्थात् यदुवंशियों की रक्षा करने वाले हैं, अतः उन्हें सुदामा जैसे विनीत ब्राह्मण की रक्षा करने में कौन-सी कठिनाई हो सकती है और उनके ऐसा करने में कौन-सी त्रुटि हो सकती है?

तमुपैहि महाभाग साधूनां च परायणम् ।
दास्यति द्रविणं भूरि सीदते ते कुटुम्बिने ॥ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसके; उपैहि—पास जाओ; महा-भग—हे भाग्यवान्; साधूनाम्—साधुओं के; च—तथा; पर-अयणम्—चरम शरण; दास्यति—देगा; द्रविणम्—सम्पत्ति; भूरि—प्रचुर; सीदते—कष्ट पा रहे; ते—तुम्हें; कुटुम्बिने—परिवार का पालन-पोषण कर रहे।.

हे भाग्यवान्, आप समस्त सन्तों के असली शरण, उनके पास जाइये। वे निश्चय ही आप जैसे कष्ट भोगने वाले गृहस्थ को प्रचुर सम्पदा प्रदान करेंगे।

आस्तेऽधुना द्वारवत्यां भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः ।
स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति ।
किं न्वर्थकामान्भजतो नात्यभीष्टान्जगद्गुरुः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

आस्ते—उपस्थित हैं; अधुना—इस समय; द्वारवत्याम्—द्वारका में; भोज-वृष्णि-अन्धक—भोजों, वृष्णियों तथा अन्धकों के; ईश्वरः—स्वामी; स्मरतः—स्मरण करने वाले को; पाद-कमलम्—उनके चरणकमलों को; आत्मनाम्—स्वयं को; अपि—यहाँ तक कि; यच्छति—देता है; किम् नु—तो फिर क्या कहा जाय; अर्थ—आर्थिक सफलता; कामान्—तथा इन्द्रिय-तृप्ति को; भजतः—उनकी पूजा करने वाले को; न—नहीं; अति—अत्यधिक; अभीष्टान्—इच्छित; जगत्—सारे ब्रह्माण्ड के; गुरुः—गुरु।.

इस समय भगवान् कृष्ण भोजों, वृष्णियों तथा अन्धकों के शासक हैं और द्वारका में रह रहे हैं। चूँकि वे ऐसे भी व्यक्ति को, जो उनके चरणकमलों का केवल स्मरण करता हो अपने आपको दे देने वाले हैं, तो फिर इसमें क्या संशय है कि ब्रह्माण्ड के गुरु स्वरूप वे अपने निष्ठावान् आराधक को वैभव तथा भौतिक भोग प्रदान करेंगे, जो कोई विशेष अभीष्ट वस्तुएँ नहीं हैं?

तात्पर्य : यहाँ ब्राह्मण-पत्नी इतना ही कहना चाहती है कि चूँकि भगवान् कृष्ण भोजों, वृष्णियों तथा अन्धकों के शासक हैं, अतएव यदि ये ऐश्वर्यशाली शासकगण सुदामा को कृष्ण का अभिन्न मित्र मात्र मान लें, तो वे उसे हर वांछित वस्तु प्रदान कर सकते हैं।

इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती यह टीका करते हैं कि चूँकि इस समय कृष्ण अपने हथियार त्याग चुके थे, अतएव वे अपनी राजधानी द्वारका के बाहर यात्रा करने नहीं जाते। ऐसा ही श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् श्रीकृष्ण* में लिखा है "[ब्राह्मण-पत्नी ने कहा]मैंने तो सुना है कि वे कभी भी अपनी राजधानी द्वारका नहीं छोड़ते। वे वहाँ किसी बाह्य कार्य में व्यस्त हुए बिना रह रहे हैं।"

जैसाकि यहाँ पर उल्लेख हुआ है, भौतिक सम्पत्ति तथा इन्द्रिय-तृप्ति अत्यधिक वांछनीय नहीं हैं। इसका असली कारण यह है कि अन्ततोगत्वा इनसे असली तुष्टि प्राप्त नहीं हो पाती। तो भी सुदामा की पत्नी ने सोचा कि यदि सुदामा द्वारका जाँय और भगवान् के समक्ष मौन भी रहें फिर भी वे उन्हें प्रचुर सम्पदा तथा अपने चरणकमलों पर शरण प्रदान करेंगे जो कि सुदामा का असली ध्येय था।

स एवं भार्यया विप्रो बहुशः प्रार्थितो मुहुः ।
अयं हि परमो लाभ उत्तमःश्लोकदर्शनम् ॥ १२॥
इति सञ्चिन्त्य मनसा गमनाय मतिं दधे ।
अप्यस्त्युपायनं किञ्चिद्गृहे कल्याणि दीयताम् ॥ १३॥

शब्दार्थ

सः—वह; एवम्—इस प्रकार; भार्यया—अपनी पत्नी द्वारा; विप्रः—ब्राह्मण; बहुशः—अनेक प्रकार से; प्रार्थितः—प्रार्थना किया गया; मुहुः—पुनः पुनः; अयम्—यह; हि—निस्सन्देह; परमः—परम; लाभः—लाभ; उत्तमः-श्लोक—भगवान् कृष्ण का; दर्शनम्—दर्शन; इति—इस प्रकार; सञ्चिन्त्य—सोच कर; मनसा—अपने मन में; गमनाय—जाने के लिए; मतिम् दधे—निर्णय किया; अपि—क्या; अस्ति—है; उपायनम्—उपहार; किञ्चित्—कुछ; गृहे—घर में; कल्याणि—मेरी अच्छी स्त्री; दीयताम्—मुझे दो।

[शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा]: जब उसकी पत्नी ने उससे नाना प्रकार से अनुरोध किया, तो ब्राह्मण ने अपने मन में सोचा, "भगवान् कृष्ण के दर्शन करना निस्सन्देह जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है।" अतएव उसने जाने का निश्चय कर लिया, किन्तु उसने पहले अपनी पत्नी से यों कहा, "हे कल्याणी, यदि घर में ऐसी कोई वस्तु हो, जिसे मैं भेंट रूप में ले जा सकूँ, तो मुझे दो।"

तात्पर्य : सुदामा प्रकृति से विनीत था और यद्यपि वह अपनी पत्नी के प्रस्ताव से पहले असन्तुष्ट था, किन्तु अन्त में उसने मन को स्थिर किया और जाने का निश्चय किया। अब उसे अपने मित्र के लिए कुछ उपहार चाहिए था।

याचित्वा चतुरो मुष्टीन्विप्रान्पृथुकतण्डुलान् ।
चैलखण्डेन तान्बद्ध्वा भर्त्रे प्रादादुपायनम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

याचित्वा—माँग कर; चतुरः—चार; मुष्टीन्—मुट्ठियाँ भर के; विप्रान्—(पड़ोसी) ब्राह्मणों से; पृथुक-तण्डुलान्—चिउड़ा, चावल; चैल—वस्त्र के; खण्डेन—टुकड़े से; तान्—उन्हें; बद्ध्वा—बाँध कर; भर्त्रे—अपने पति को; प्रादात्—दे दिया; उपायनम्—उपहार।

सुदामा की पत्नी अपने पड़ोसी ब्राह्मणों से चार मुट्ठी चावल (चिउड़ा) माँग लाई, उन्हें फटे वस्त्र के एक टुकड़े में बाँधा और भगवान् कृष्ण के लिए उपहार रूप में उसे अपने पति को दे दिया।

स तानादाय विप्राछ्यः प्रययौ द्वारकां किल ।
कृष्णसन्दर्शनं मह्यं कथं स्यादिति चिन्तयन् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; तान्—उन्हें; आदाय—लेकर; विप्र-अछ्यः—ब्राह्मण-श्रेष्ठ; प्रययौ—चला गया; द्वारकाम्—द्वारका; किल—निस्सन्देह; कृष्ण-सन्दर्शनम्—भगवान् कृष्ण के दर्शन; मह्यम्—मुझे; कथम्—कैसे; स्यात्—हो सकेगा; इति—इस प्रकार; चिन्तयन्—सोचते हुए।

वह साधु ब्राह्मण चिउड़ा लेकर द्वारका के लिए रवाना हो गया और लगातार विस्मित होता रहा, "मैं किस तरह कृष्ण के दर्शन कर सकूँगा?"

तात्पर्य : अन्य बातों में से सुदामा ने यह कल्पना की कि द्वारपाल उसे रोक लेंगे।

त्रीणि गुल्मान्यतीयाय तिस्रः कक्षाश्च सद्विजः ।
विप्रोऽगम्यान्धकवृष्णीनां गृहेष्वच्युतधर्मिणाम् ॥ १६ ॥
गृहं द्व्यष्टसहस्राणां महिषीणां हरेर्द्विजः ।
विवेशैकतमं श्रीमद्ब्रह्मानन्दं गतो यथा ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

त्रीणि—तीन; गुल्मानि—रक्षकों की टोलियाँ; अतीयाय—पार करके; तिस्रः—तीन; कक्षाः—दरवाजे, ड्योढ़ियाँ; च—तथा; स-द्विजः—ब्राह्मण सहित; विप्रः—विद्वान ब्राह्मण; अगम्य—दुर्गम; अन्धक-वृष्णीनाम्—अन्धकों तथा वृष्णियों के; गृहेषु—घरों के बीच; अच्युत—भगवान् कृष्ण; धर्मिणाम्—आज्ञाकारियों के; गृहम्—घर; द्वि—दो; अष्ट—आठ गुना; सहस्राणाम्—हजार; महिषीणाम्—रानियों के; हरेः—कृष्ण के; द्विजः—ब्राह्मण ने; विवेश—प्रवेश किया; एकतमम्—उनमें से एक; श्री-मत्—ऐश्वर्यवान; ब्रह्म-आनन्दम्—निर्विशेष मुक्ति का आनन्द; गतः—प्राप्त; यथा—मानो।

विद्वान ब्राह्मण ने कुछ स्थानीय ब्राह्मणों के साथ मिलकर तीन सुरक्षा चौकियाँ पार कर लीं और तब वह तीन ड्योढ़ियों से होकर भगवान् कृष्ण के आज्ञाकारी भक्तों, अन्धकों तथा वृष्णियों के घरों के पास से गुजरा, जहाँ सामान्यतया कोई भी नहीं जा सकता था। तत्पश्चात् वह भगवान्

हरि की सोलह हजार रानियों के ऐश्वर्यशाली महलों में से एक में घुसा और ऐसा करते समय उसे ऐसा अनुभव हुआ, मानो वह ब्रह्मानन्द प्राप्त कर रहा हो।

तात्पर्य : जब वह साधु सदृश ब्राह्मण भगवान् कृष्ण के महलों के अहाते में प्रविष्ट हुआ और फिर वस्तुतः उनमें से एक महल के भीतर गया तो उसे सबकुछ भूल गया। इस तरह उसकी मानसिक स्थिति की तुलना उस व्यक्ति से की जा सकती है, जिसे अभी अभी ब्रह्मानन्द प्राप्त हुआ हो। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने *पद्म पुराण* के उत्तर खण्ड से एक उद्धरण दिया है, जिससे हमें पता चलता है कि यह ब्राह्मण वास्तव में रुक्मिणी के महल में घुसा था—*स तु रुक्मिण्यन्तःपुरद्वारि कृष्णं तूष्णीं स्थितः*—वह रानी रुक्मिणी के महल के दरवाजे पर क्षण-भर चुप होकर खड़ा रहा।

तं विलोक्याच्युतो दूरात्प्रियापर्यङ्कमास्थितः ।
सहसोत्थाय चाभ्येत्य दोर्भ्यां पर्यग्रहीन्मुदा ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; विलोक्य—देखकर; अच्युतः—भगवान् कृष्ण ने; दूरात्—दूर से ही; प्रिया—अपनी प्रियतमा के; पर्यङ्कम्—बिस्तर पर; आस्थितः—आसीन; सहसा—तुरन्त; उत्थाय—उठ कर; च—तथा; अभ्येत्य—आगे बढ़कर; दोर्भ्याम्—अपनी भुजाओं में; पर्यग्रहीत्—आलिंगन किया; मुदा—आनन्दपूर्वक।

उस समय भगवान् अच्युत अपनी प्रियतमा के पलंग पर विराजमान थे। उस ब्राह्मण को कुछ दूरी पर देखकर भगवान् तुरन्त उठ खड़े हुए और मिलने के लिए आगे गये और बड़े ही हर्ष से उसका आलिंगन किया।

सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः ।
प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून्नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सख्युः—अपने मित्र के; प्रियस्य—प्रिय; विप्र-ऋषेः—ब्राह्मण; अङ्ग—शरीर का; सङ्ग—संगति से; अति—अत्यधिक; निर्वृतः—आनन्दमय; प्रीतः—स्नेहिल; व्यमुञ्चत्—मुक्त किया; अप्—जल की; बिन्दून्—बूँदें; नेत्राभ्याम्—अपनी आँखों से; पुष्कर-ईक्षणः—कमल-नेत्र भगवान्।

कमलनयन भगवान् को अपने प्रिय मित्र विद्वान ब्राह्मण के शरीर का स्पर्श करने पर गहन आनन्द की अनुभूति हुई और उनकी आँखों से प्रेम के आँसू झरने लगे।

अथोपवेश्य पर्यङ्के स्वयम्सख्युः समर्हणम् ।
उपहृत्यावनिज्यास्य पादौ पादावनेजनीः ॥ २० ॥

अग्रहीच्छिरसा राजन्भगवाँल्लोकपावनः ।
व्यलिम्पद्दिव्यगन्धेन चन्दनागुरुकुङ्कमैः ॥ २१ ॥
धूपैः सुरभिभिर्मित्रं प्रदीपावलिभिर्मुदा ।
अर्चित्वावेद्य ताम्बूलं गां च स्वागतमब्रवीत् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; उपवेश्य—बैठाकर; पर्यङ्के—पलंग पर; स्वयम्—स्वयं; सख्युः—अपने मित्र के लिए; समर्हणम्—पूजा की सामग्री; उपहृत्य—लाकर; अवनिज्य—धोकर; अस्य—उसके; पादौ—दोनों पाँव; पाद-अवनेजनीः—उसके पाँवों को धोने वाला जल; अग्रहीत्—धारण किया; शिरसा—सिर पर; राजन्—हे राजा (परीक्षित्); भगवान्—भगवान् ने; लोक—सारे लोकों के; पावनः—पवित्र करने वाले; व्यलिम्पत्—लेप किया; दिव्य—दैवी; गन्धेन—गन्ध से; चन्दन—चन्दन-लेप से; अगुरु—अगुरु; कुङ्कमैः—तथा सिन्दूर से; धूपैः—धूप से; सुरभिभिः—सुगन्धित; मित्रम्—अपने मित्र को; प्रदीप—दीपकों की; अवलिभिः—पंक्तियों से; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक; अर्चित्वा—पूजा करके; आवेद्य—नाश्ता कराकर; ताम्बूलम्—पान; गाम्—गाय; च—तथा; सु-आगतम्—स्वागत; अब्रवीत्—बोले।

भगवान् कृष्ण ने अपने मित्र सुदामा को बिस्तर पर बैठाया। फिर समस्त जगत को पवित्र करने वाले भगवान् ने स्वयं नाना प्रकार से उसका आदर किया और हे राजन्, उसके पाँव धोये तथा उसी जल को अपने सिर के ऊपर छिड़का। उन्होंने उसके शरीर पर दिव्य सुगन्धित चन्दन, अगुरु तथा कुंकुम का लेप किया और सुगन्धित धूप तथा दीपों की पंक्तियों से खुशी-खुशी उसकी पूजा की। अन्त में पान देने के बाद उसे दान में गाय दी और मधुर शब्दों से उसका स्वागत किया।

कुचैलं मलिनं क्षामं द्विजं धमनिसन्ततम् ।
देवी पर्यचरत्साक्षाच्चामरव्यजनेन वै ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

कु—फटे-पुराने, बुरे; चैलम्—वस्त्र वाले; मलिनम्—मैले; क्षामम्—दुबले; द्विजम्—ब्राह्मण को; धमनि-सन्ततम्—जिसकी नसें दिख रही हों; देवी—धन की देवी, लक्ष्मी; पर्यचरत्—सेवा की; साक्षात्—सशरीर; चामर—चमरी गाय की पूछ से बने; व्यजनेन—पंखे से; वै—निस्सन्देह।

साक्षात् लक्ष्मी देवी ने अपनी चामर से पंखा झल कर, उस गरीब ब्राह्मण की सेवा की, जिसके वस्त्र फटे हुए और मैले थे और जो इतना दुर्बल था कि उसके सारे शरीर की नसें दिख रही थीं।

अन्तःपुरजनो दृष्ट्वा कृष्णेनामलकीर्तिना ।
विस्मितोऽभूदतिप्रीत्या अवधूतं सभाजितम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

अन्तः-पुर—राजमहल के; जनः—लोग; दृष्ट्वा—देखकर; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; अमल—निर्मल, स्वच्छ; कीर्तिना—कीर्ति वाले; विस्मितः—चकित; अभूत्—हो गये; अति—अत्यधिक; प्रीत्या—स्नेहपूर्वक; अवधूतम्—अस्त-व्यस्त ब्राह्मण को; सभाजितम्—सम्मानित किया हुआ।

राजमहल के निवासी निर्मल कीर्ति वाले भगवान् कृष्ण को इस फटे-पुराने और मैले वस्त्र पहने ब्राह्मण का इतने प्रेम से सम्मान करते देख कर चकित हो गए।

किमनेन कृतं पुण्यमवधूतेन भिक्षुणा ।
श्रिया हीनेन लोकेऽस्मिन्गर्हितेनाधमेन च ॥ २५॥
योऽसौ त्रिलोकगुरुणा श्रीनिवासेन सम्भृतः ।
पर्यङ्कस्थां श्रियं हित्वा परिष्वक्तोऽग्रजो यथा ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; अनेन—उसके द्वारा; कृतम्—किया गया; पुण्यम्—पुण्य-कार्य; अवधूतेन—अस्वच्छ; भिक्षुणा—भिक्षुक या संन्यासी द्वारा; श्रिया—धन से; हीनेन—हीन, रहित; लोके—संसार में; अस्मिन्—इस; गर्हितेन—निन्दनीय; अधमेन—नीच; च—तथा; यः—जो; असौ—वही; त्रि—तीन; लोक—लोकों के; गुरुणा—गुरु द्वारा; श्री—लक्ष्मी के; निवासेन—घर से; सम्भृतः—सत्कारित; पर्यङ्क—सेजपर; स्थाम्—आसीन; श्रीयम्—लक्ष्मी को; हित्वा—त्याग कर; परिष्वक्तः—आलिंगन किया; अग्र-जः—बड़ा भाई; यथा—मानो।

[राजमहल के निवासियों ने कहा] : इस अस्त-व्यस्त निर्धन ब्राह्मण ने कौन-सा पुण्य-कर्म किया है? लोग उसे नीच तथा निन्दनीय मानते हैं फिर भी तीनों लोकों के गुरु और श्रीदेवी के धाम आदरपूर्वक उसकी सेवा कर रहे हैं। लक्ष्मी को अपने पलंग पर बैठा हुआ छोड़ कर भगवान् ने इस ब्राह्मण का आलिंगन किया है, मानो वह उनका बड़ा भाई हो।

कथयां चक्रतुर्गाथाः पूर्वा गुरुकुले सतोः ।
आत्मनोर्ललिता राजन्करौ गृह्य परस्परम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

कथयाम् चक्रतुः—परस्पर विचार-विमर्श किया; गाथाः—कथाएँ; पूर्वाः—पुरानी; गुरु-कुले—अपने गुरु की पाठशाला में; सतोः—निवास कर रहे; आत्मनोः—अपनी अपनी; ललिताः—मनोहर; राजन्—हे राजा (परीक्षित); करौ—हाथों को; गृह्य—पकड़ कर; परस्परम्—एक-दूसरे के।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : हे राजन्, एक-दूसरे का हाथ पकड़ कर कृष्ण तथा सुदामा अत्यन्त हर्ष के साथ बातें करते रहे कि किस तरह कभी वे दोनों अपने गुरु की पाठशाला में साथ-साथ रहे थे।

श्रीभगवानुवाच
अपि ब्रह्मन्गुरुकुलाद्भवता लब्धदक्षिणात् ।

समावृत्तेन धर्मज्ञ भार्योढा सदृशी न वा ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अपि—क्या; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; गुरु-कुलात्—गुरु की पाठशाला से; भवता—आपके द्वारा; लब्ध—प्राप्त कर लेने पर; दक्षिणात्—दक्षिणा से; समावृत्तेन—लौट आया; धर्म—धर्म के; ज्ञ—हे जानने वाले; भार्या—पत्नी; ऊढा—विवाहिता; सदृशी—अनुरूप; न—नहीं; वा—अथवा।

भगवान् ने कहा : हे ब्राह्मण, आप धर्म को भलीभाँति जानने वाले हैं। क्या गुरु-दक्षिणा देने के बाद तथा पाठशाला से घर लौटने के बाद आपने अपने अनुरूप पत्नी से विवाह किया या नहीं?

तात्पर्य : सुसंस्कृत मनुष्यों में *आश्रम* का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। दूसरे शब्दों में, हर मनुष्य को चाहिए कि वह ब्रह्मचारी, विवाहित, वानप्रस्थ या संन्यासी के लिए संस्तुत कर्तव्यों का पालन करे। चूँकि भगवान् कृष्ण देख रहे थे कि ब्राह्मण बहुत ही रद्दी वस्त्र पहने था अत: उन्होंने पूछा कि वह उचित रीति से विवाह करके गृहस्थ जीवन के कर्तव्यों को सम्पन्न कर रहा है कि नहीं। चूँकि उसने संन्यासी जैसा वेश नहीं बना रखा था, अत: जब तक वह ठीक से विवाहित न हो तब तक वह उपयुक्त आश्रम से विहीन होगा।

प्रायो गृहेषु ते चित्तमकामविहितं तथा ।
नैवातिप्रीयसे विद्वन्धनेषु विदितं हि मे ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

प्राय:—अधिकांशत:; गृहेषु—घरेलू कार्यों में; ते—तुम्हारा; चित्तम्—मन; अकाम-विहितम्—भौतिक इच्छाओं से अप्रभावित; तथा—भी; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; अति—अत्यधिक; प्रीयसे—रुचि लेते हो; विद्वन्—हे विद्वान; धनेषु—भौतिक सम्पत्ति की खोज में; विदितम्—यह ज्ञात है; हि—निस्सन्देह; मे—मेरे द्वारा।

यद्यपि आप गृहकार्यों में प्राय: व्यस्त रहते हैं, किन्तु आपका मन भौतिक इच्छाओं से प्रभावित नहीं होता। न ही, हे विद्वान, आप भौतिक सम्पत्ति के पीछे पड़ने में अधिक रुचि लेते हैं। मैं यह भलीभाँति जानता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण यहाँ पर प्रकट कर देते हैं कि वे अपने मित्र की स्थिति से पूर्णतया अवगत थे। सुदामा वास्तव में विद्वान और आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत था। इसलिए साधारण मनुष्य की तरह उसकी रुचि सामान्य इन्द्रिय-तृप्ति में नहीं थी।

केचित्कुर्वन्ति कर्माणि कामैरहतचेतस: ।

त्यजन्तः प्रकृतीर्दैवीर्यथाहं लोकसङ्ग्रहम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

केचित्—कुछ लोग; कुर्वन्ति—करते हैं; कर्माणि—सांसारिक कर्तव्य; कामैः—इच्छाओं से; अहत—अविचल; चेतसः—मन वाला; त्ययन्तः—त्यागते हुए; प्रकृतीः—लालसाएँ; दैवीः—भगवान् की भौतिक शक्ति द्वारा उत्पन्न; यथा—जिस तरह; अहम्—मैं; लोक-सङ्ग्रहम्—सामान्य जनों को शिक्षा देने के लिए।

कुछ लोग भगवान् की मायाशक्ति से उत्पन्न समस्त भौतिक लिप्साओं का परित्याग करके सांसारिक इच्छाओं से मन को अविचल रखते हुए सांसारिक कर्म सम्पन्न करते हैं। जिस तरह मैं सामान्य जनों को शिक्षा देने के लिए कर्म करता हूँ, वे उसी तरह कर्म करते हैं।

कच्चिद्गुरुकुले वासं ब्रह्मन्स्मरसि नौ यतः ।
द्विजो विज्ञाय विज्ञेयं तमसः पारमश्नुते ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; गुरु-कुले—गुरु की पाठशाला में; वासम्—आवास; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; स्मरसि—स्मरण करते हो; नौ—हम दोनों के; यतः—जिस (गुरु) से; द्विजः—दो बार जन्मा पुरुष; विज्ञाय—जान कर; विज्ञेयम्—जानने के योग्य; तमसः—अज्ञान का; पारम्—पार करके; अश्नुते—अनुभव करता है।

हे ब्राह्मण, क्या आपको स्मरण है कि हम किस तरह अपने गुरु की पाठशाला में एकसाथ रहते थे? जब कोई द्विज विद्यार्थी अपने गुरु से सीखने योग्य सबकुछ सीख चुकता है, तो वह आध्यात्मिक जीवन का आनन्द उठा सकता है, जो समस्त अज्ञान से परे है।

स वै सत्कर्मणां साक्षाद्द्विजातेरिह सम्भवः ।
आद्योऽङ्ग यत्राश्रमिणां यथाहं ज्ञानदो गुरुः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निस्सन्देह; सत्—पवित्र, शुद्ध किया; कर्मणाम्—कर्मों का; साक्षात्—प्रत्यक्ष; द्वि-जातेः—दो बार जन्म लेने वाले के; इह—इस भौतिक जगत में; सम्भवः—जन्म; आद्यः—प्रथम; अङ्ग—हे प्रिय मित्र; यत्र—जिससे होकर; आश्रमिणाम्—सभी आश्रमों के सदस्यों के लिए; यथा—जिस तरह; अहम्—मैं; ज्ञान—दैवी ज्ञान को; दः—देने वाला; गुरुः—गुरु।

हे मित्र, व्यक्ति को भौतिक जन्म देने वाला ही उसका प्रथम गुरु होता है और जो उसे द्विज के रूप में ब्राह्मण की दीक्षा देता है तथा धर्म-कृत्यों में लगाता है, वह निस्सन्देह उसका अधिक प्रत्यक्ष गुरु होता है। किन्तु जो सभी आध्यात्मिक आश्रमों के सदस्यों को दिव्य ज्ञान प्रदान करता है, वह उसका परम गुरु होता है। निस्सन्देह वह मुझ जैसा होता है।

नन्वर्थकोविदा ब्रह्मन्वर्णाश्रमवतामिह ।

ये मया गुरुणा वाचा तरन्त्यञ्जो भवार्णवम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ननु—निश्चय ही; अर्थ—उनके असली कल्याण हेतु; कोविदाः—विशेषज्ञ; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; वर्णाश्रम-वताम्—वर्णाश्रम प्रणाली में लगे हुओं में से; इह—इस संसार में; ये—जो; मया—मेरे द्वारा; गुरुणा—गुरु के रूप में; वाचा—वाणी से; तरन्ति—पार कर लेते हैं; अञ्जः—सरलता से; भव—भौतिक जीवन रूपी; अर्णवम्—समुद्र को।

हे ब्राह्मण, यह निश्चित है कि वर्णाश्रम प्रणाली के सारे अनुयायियों में से, जो लोग गुरु रूप में मेरे द्वारा कहे गये शब्दों से लाभ उठाते हैं और भवसागर को सरलता से पार कर लेते हैं, वे ही अपने असली कल्याण को सबसे अच्छी तरह समझ पाते हैं।

तात्पर्य : मनुष्य का पिता उस धार्मिक नेता की तरह पूजनीय है, जो पवित्र संस्कार कराता है और सामान्य विद्या प्रदान करता है। किन्तु अन्ततोगत्वा ऐसा प्रामाणिक गुरु जो दिव्य विज्ञान में पारंगत होता है और जन्म-मृत्यु के सागर से पार कराकर वैकुण्ठ ले जाने में समर्थ होता है, वह सर्वाधिक पूज्य तथा आदरणीय होता है, क्योंकि वह भगवान् का साक्षात् प्रतिनिधि होता है, जैसाकि यहाँ कहा गया है।

नाहमिज्याप्रजातिभ्यां तपसोपशमेन वा ।
तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; इज्या—अनुष्ठानिक पूजा द्वारा; प्रजातिभ्याम्—ब्राह्मण दीक्षा के उच्चतर जन्म से; तपसा—तपस्या द्वारा; उपशमेन—आत्मसंयम द्वारा; वा—अथवा; तुष्येयम्—तुष्ट किया जा सकता हूँ; सर्व—सभी; भूत—जीवों का; आत्मा—आत्मा; गुरु—अपने गुरु की; शुश्रूषया—श्रद्धापूर्ण सेवा द्वारा; यथा—जिस तरह।

सभी जीवों का आत्मा स्वरूप मैं अनुष्ठानिक पूजा, ब्राह्मण-दीक्षा, तपस्या अथवा आत्मानुशासन द्वारा उतना तुष्ट नहीं होता, जितना कि मनुष्य की अपने गुरु के प्रति की गई श्रद्धापूर्ण सेवा द्वारा तुष्ट होता हूँ।

तात्पर्य : *प्रजाति* शब्द यहाँ पर सूचक है या तो अच्छी सन्तान उत्पन्न करने या वैदिक संस्कृति में दीक्षा द्वारा द्वितीय जन्म ग्रहण करने का। यद्यपि ये दोनों ही प्रशंसनीय हैं, किन्तु भगवान् कृष्ण कहते हैं कि प्रामाणिक गुरु के प्रति की गई श्रद्धापूर्ण सेवा अधिक उच्चतर है।

अपि नः स्मर्यते ब्रह्मन्वृत्तं निवसतां गुरौ ।
गुरुदारैश्चोदितानामिन्धनानयने क्वचित् ॥ ३५ ॥

प्रविष्टानां महारण्यमपर्तौ सुमहद्द्विज ।
वातवर्षमभूत्तीव्रं निष्ठुराः स्तनयित्नवः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

अपि—क्या; नः—हमारा; स्मर्यते—स्मरण है; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; वृत्तम्—हमने जो कुछ किया; निवसताम्—एकसाथ रहते हुए; गुरौ—अपने गुरु के साथ; गुरु—गुरु की; दारैः—पत्नी के द्वारा; चोदितानाम्—भेजे गये; इन्धन—ईंधन; अनयने—लाने के लिए; क्वचित्—एक बार; प्रविष्टानाम्—प्रवेश कर चुके; महा-अरण्यम्—विशाल जंगल में; अप-ऋतौ—बिना ऋतु के, असामयिक; सु-महत्—अत्यन्त विशाल; द्विज—हे द्विजन्मा; वात—तेज हवा; वर्षम्—तथा वर्षा; अभूत्—होने लगी; तीव्रम्—भयानक; निष्ठुराः—कर्कश; स्तनयित्नवः—गर्जना।

हे ब्राह्मण, क्या आपको स्मरण है कि जब हम अपने गुरु के साथ रह रहे थे, तो हमारे साथ क्या घटना घटी थी? एक बार हमारे गुरु की पत्नी ने हमें जलाऊ लकड़ी लाने के लिए भेजा और हे द्विज, जब हम एक विशाल जंगल में प्रविष्ट हुए, तो तीव्र हवा और वर्षा के साथ साथ कर्कश गर्जन से युक्त असामयिक तूफान आ गया था।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि यह तूफान जाड़े की ऋतु में उठा था इसलिए असामयिक था।

सूर्यश्चास्तं गतस्तावत्तमसा चावृता दिशः ।
निम्नं कूलं जलमयं न प्राज्ञायत किञ्चन ॥ ३७॥

शब्दार्थ

सूर्यः—सूर्य; च—तथा; अस्तम् गतः—डूब चुका था; तावत्—तत्पश्चात्; तमसा—अँधेरे से; च—और; आवृताः—ढकी हुई; दिशः—सारी दिशाएँ; निम्नम्—निचली; कूलम्—ऊँची भूमि; जल-मयम्—जलमग्न; न प्राज्ञायत—पहचाना नहीं जा सकता था; किञ्चन—कुछ भी।

तब सूर्यास्त होते ही जंगल प्रत्येक दिशा में अंधकार से ढक गया और बाढ़ आ जाने से हम ऊँची तथा नीची भूमि में अन्तर नहीं कर पा रहे थे।

वयं भृशम्तत्र महानिलाम्बुभिर्
निहन्यमाना महुरम्बुसम्प्लवे ।
दिशोऽविदन्तोऽथ परस्परं वने
गृहीतहस्ताः परिबभ्रिमातुराः ॥ ३८॥

शब्दार्थ

वयम्—हम; भृशम्—पूर्णतया; तत्र—वहाँ; महा—महान्; अनिल—तेज हवा; अम्बुभिः—तथा जल से; निहन्यमानाः—घिरे हुए; मुहुः—लगातार; अम्बु-सम्प्लवे—बाढ़ में; दिशः—दिशाएँ; अविदन्तः—पहचान में न आ सकना; अथ—तब; परस्परम्—एक-दूसरे को; वने—जंगल में; गृहीत—पकड़े हुए; हस्ताः—हाथ; परिबभ्रिम—हम घूमते रहे; आतुराः—दुखी।

जोरदार हवा और अनवरत वर्षा की चपेट में आकर हम बाढ़ के जल में अपना रास्ता भटक गये। हमने एक-दूसरे का हाथ पकड़ लिया और अत्यन्त संकट में पड़ कर, हम जंगल में निरुद्देश्य घूमते रहे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी इंगित करते हैं कि *परिबभ्रिम* क्रिया में *परि* उपसर्ग है *भृ* या *भ्रम्* धातु के साथ। *भ्रम्* से सूचित होता है कि कृष्ण तथा सुदामा इधर-उधर भटकते रहे और *भृ* होने से, चूँकि इसका अर्थ "ले जाना" है यह सूचित होता है कि जब दोनों युवक इधर-उधर घूम रहे थे तब वे अपने गुरु के लिए एकत्र किये लकड़ियों को अपने साथ उठाये हुए थे।

एतद्विदित्वा उदिते रवौ सान्दीपनिर्गुरुः ।
अन्वेषमाणो नः शिष्यानाचार्योऽपश्यदातुरान् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; विदित्वा—जान कर; उदिते—उदय होने पर; रवौ—सूर्य के; सान्दीपनिः—सान्दीपनि; गुरुः—हमारे गुरु; अन्वेषमाणः—ढूँढ़ते हुए; नः—हम; शिष्यान्—शिष्यों को; आचार्यः—हमारे शिक्षक ने; अपश्यत्—देखा; आतुरान्—आतुर, कष्ट पा रहे।

हमारे गुरु सान्दीपनि हमारी विषम स्थिति को समझ कर सूर्योदय होने पर हम शिष्यों की खोज करने के लिए निकल पड़े और हमें विपत्ति में फँसा पाया।

अहो हे पुत्रका यूयमस्मदर्थेऽतिदु:खिताः ।
आत्मा वै प्राणिनाम्प्रेष्ठस्तमनादृत्य मत्पराः ॥ ० ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; हे पुत्रकः—मेरे बच्चो; यूयम्—तुम दोनों ने; अस्मत्—हमारे; अर्थे—लिए; अति—अत्यन्त; दु:खिताः—कष्ट उठाया; आत्मा—शरीर; वै—निस्सन्देह; प्राणिनाम्—सारे जीवों के लिए; प्रेष्ठः—अत्यन्त प्रिय; तम्—उसकी; अनादृत्य—परवाह न करके; मत्—मेरे प्रति; पराः—समर्पित।

[सान्दीपनि ने कहा] : मेरे बच्चो, तुमने मेरे लिए इतना कष्ट सहा है, हर जीव को अपना शरीर अत्यन्त प्रिय है, किन्तु तुम मेरे प्रति इतने समर्पित हो कि तुमने अपनी सुविधा की बिल्कुल परवाह नहीं की।

एतदेव हि सच्छिष्यैः कर्तव्यं गुरुनिष्कृतम् ।
यद्वै विशुद्धभावेन सर्वार्थात्मार्पणं गुरौ ॥ १ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; एव—अकेला; हि—निश्चय ही; सत्—असली; शिष्यैः—शिष्यों द्वारा; कर्तव्यम्—करणीय; गुरु—गुरु से; निष्कृतम्—उऋण होना; यत्—जो; वै—निस्सन्देह; विशुद्ध—नितान्त शुद्ध; भावेन—विचार से; सर्व—समस्त; अर्थ—सम्पत्ति; आत्मा—तथा शरीर का; अर्पणम्—समर्पण; गुरौ—गुरु को।

दरअसल सारे सच्चे शिष्यों का यही कर्तव्य है कि वे विशुद्ध हृदय से अपने धन तथा अपने प्राणों तक को अर्पित करके अपने गुरु के ऋण से उऋण हों।

तात्पर्य : कोई भी मनुष्य अपने कार्य की पूर्ति के लिए अपना शरीर लगाता है। यह शरीर "मैं" नामक भौतिक विचार का भी आधार है और मनुष्य का धन "मेरा" का। किन्तु गुरु को अपनी हर वस्तु अर्पित कर देने पर मनुष्य अपने को भगवान् का नित्य दास मानने लगता है। गुरु भी शिष्य को कुमार्ग पर नहीं ले जाता अपितु शिष्य के नित्य लाभ के लिए उसे पूर्णतया कृष्णभावनामृत में लगाता है।

तुष्टोऽहं भो द्विजश्रेष्ठाः सत्याः सन्तु मनोरथाः ।
छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तुष्टः—संतुष्ट; अहम्—मैं; भो—हे प्रिय; द्विज—ब्राह्मणों में; श्रेष्ठाः—श्रेष्ठ; सत्याः—पूर्ण; सन्तु—हों; मनः-रथाः—तुम्हारी इच्छाएँ; छन्दांसि—वैदिक मंत्र; अयात-यामानि—कभी वृद्ध न हों; भवन्तु—हों; इह—इस जगत में; परत्र—अगले जगत में; च—तथा।

हे बालको, तुम उत्तम श्रेणी के ब्राह्मण हो और मैं तुमसे संतुष्ट हूँ। तुम्हारी सारी इच्छाएँ पूरी हों और तुमने जो वैदिक मंत्र सीखे हैं, वे इस जगत में या अगले जगत में तुम्हारे लिए कभी अपना अर्थ न खोयें।

तात्पर्य : तीन घंटे तक रखा गया पका हुआ भोजन *यात-याम* कहलाता है, जिससे यह सूचित होता है कि इसमें स्वाद नहीं रहा। इसी तरह यदि कोई भक्त कृष्णभावनामृत में स्थिर नहीं रहता तो वह दिव्य ज्ञान जो कभी उसे आध्यात्मिक मार्ग पर चलने के लिए उद्वेलित करता था उसके लिए अपना स्वाद या अर्थ खो देता है। अतः सान्दीपनि मुनि ने अपने शिष्यों को आशीर्वाद दिया कि ब्रह्म को प्रकट कराने वाले वैदिक मंत्र उनके लिए कभी अपना अर्थ नहीं खोयें अपितु उनके मस्तिष्क में सदैव ताजे बने रहें।

इत्थंविधान्यनेकानि वसतां गुरुवेश्मनि ।
गुरोरनुग्रहेणैव पुमान्पूर्णः प्रशान्तये ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्-विधानि—इस तरह की; अनेकानि—अनेक बातें; वसताम्—रहते समय हमें; गुरु—गुरु के; वेश्मनि—घर में; गुरोः—गुरु की; अनुग्रहेण—कृपा से; एव—केवल; पुमान्—पुरुष; पूर्णः—पूर्ण; प्रशान्तये—पूर्ण शान्ति प्राप्त करने के लिए।

[भगवान् कृष्ण ने आगे कहा]: अपने गुरु के घर में रहते समय हमें इस तरह के अनेकानेक अनुभव हुए। कोई भी व्यक्ति अपने गुरु की कृपा मात्र से जीवन के प्रयोजन को पूरा

कर सकता है और शाश्वत शान्ति पा सकता है।

श्रीब्राह्मण उवाच
किमस्माभिरनिर्वृत्तं देवदेव जगद्गुरो ।
भवता सत्यकामेन येषां वासो गुरोरभूत् ॥ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्राह्मणः उवाच—ब्राह्मण ने कहा; किम्—क्या; अस्माभिः—हमारे द्वारा; अनिर्वृत्तम्—नहीं प्राप्त किया गया; देव-देव—हे देवों के ईश्वर; जगत्—ब्रह्माण्ड के; गुरो—हे गुरु; भवता—आपसे; सत्य—पूर्ण; कामेन—इच्छाओं से; येषाम्—जिनके; वासः—निवास; गुरोः—गुरु के घर पर; अभूत्—था।

ब्राह्मण ने कहा : हे देवों के देव, हे जगद्गुरु, चूँकि मैं पूर्णकाम अपने गुरु के घर पर आपके साथ रह सका, अतः मुझे अब प्राप्त करने के लिए बचा ही क्या है?

तात्पर्य : सुदामा ब्राह्मण अच्छी तरह समझता था कि यह तो उसका परम सौभाग्य था कि वह अपने गुरु के घर पर श्रीकृष्ण के साथ रह सका। इसलिये उन्हें जो भी कठिनाइयाँ हुईं वे गुरु की सेवा की महत्ता बताने के लिए भगवान् की कृपा की अभिव्यक्ति थीं।

श्रील प्रभुपाद ने विद्वान ब्राह्मण के भावों को इस प्रकार व्यक्त किया है : "[सुदामा ने कहा] हे कृष्ण! आप भगवान् हैं और सबों के परम गुरु हैं और चूँकि मैं अपने गुरु के घर पर आपके साथ रहने का सुअवसर प्राप्त कर सका अतएव मेरी समझ में नियत वैदिक कर्मों के विषय में अब कुछ और करना शेष नहीं रहा।"

यस्य च्छन्दोमयं ब्रह्म देह आवपनं विभो ।
श्रेयसां तस्य गुरुषु वासोऽत्यन्तविडम्बनम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; छन्दः—वेदों; मयम्—से युक्त; ब्रह्म—परम सत्य; देहे—शरीर के भीतर; आवपनम्—बोया गया खेत; विभो—हे सर्वशक्तिमान; श्रेयसाम्—शुभ लक्ष्यों का; तस्य—उसका; गुरुषु—गुरुओं के साथ; वासः—निवासस्थान; अत्यन्त—अत्यधिक; विडम्बनम्—विडम्बना।

हे विभु, आपका शरीर वेदों के रूप में ब्रह्ममय है और इस तरह जीवन के समस्त शुभ लक्ष्यों का स्रोत है। आपने गुरु की पाठशाला में जो निवास किया, वह तो आपकी लीलाओं में से एक है, जिसमें आप मनुष्य की भूमिका का निर्वाह करते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत "द्वारका में भगवान् श्रीकृष्ण से ब्राह्मण सुदामा की भेंट" नामक अस्सीवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा

रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter इक्यासी

भगवान् द्वारा सुदामा ब्राह्मण को वरदान

इस अध्याय में बतलाया गया है कि भगवान् कृष्ण ने किस तरह अपने मित्र सुदामा द्वारा लाये गये तंदुल का एक कौर खाकर, उसे स्वर्ग के राजा से भी बढ़कर सम्पदा प्रदान की।

भगवान् कृष्ण ने अपने मित्र सुदामा से प्यार-भरी बातें करते हुए कहा, ''हे ब्राह्मण! क्या तुम घर से मेरे लिए कोई उपहार लाये हो? मैं अपने प्रिय भक्त की तुच्छ से तुच्छ भेंट को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानता हूँ।'' लेकिन बेचारा ब्राह्मण तन्दुल की तुच्छ भेंट देते हुए लज्जित था। किन्तु भगवान् कृष्ण समस्त हृदयों में वास करने वाले परमात्मा होने से जानते थे कि सुदामा उनसे भेंट करने क्यों आया है। इसलिए उन्होंने सुदामा द्वारा छिपाई हुई तन्दुल की पोटली छीन ली और उसमें से वे मुट्ठी-भर प्रसन्नतापूर्वक खाने लगे। वे दूसरा कौर खाने वाले ही थे कि रुक्मिणीदेवी ने उन्हें रोक दिया।

यह अनुभव करते हुए कि मैं ईश्वर के पास वापस आ गया हूँ, सुदामा ने कृष्ण के महल में वह रात सुखपूर्वक बिताई और सुबह होते ही वह घर के लिए चल पड़ा। जब वह राजमार्ग से जा रहा था, तो वह सोच रहा था कि मैं कितना भाग्यशाली हूँ कि श्रीकृष्ण ने मेरा इतना आदर किया। इसी ध्यान में मग्न सुदामा उस स्थान पर पहुँचा जहाँ पहले उसका मकान था। वह बड़े ही आश्चर्य में पड़ गया। अपनी टूटी कुटिया के स्थान पर उसने वैभवशाली महलों की शृंखला देखी। जब वह आश्चर्यचकित खड़ा था, तो सुन्दर नर-नारियों की एक टोली गायन-वादन करती उसका स्वागत करने आई। ब्राह्मण की पत्नी तो दिव्य आभूषणों से सजी हुई महल के बाहर आई और उसने बड़े प्रेम तथा सम्मान से उसका स्वागत किया। सुदामा अपनी पत्नी के साथ अपने घर में यह सोचते हुए घुसा कि यह असाधारण परिवर्तन भगवान् की कृपा के फलस्वरूप ही हुआ होगा।

उसी के बाद से सुदामा धनी का-सा जीवन बिताने लगा, किन्तु साथ ही उसमें विरक्ति-भाव बना रहा और वह भगवान् श्रीकृष्ण का निरन्तर यशोगान करता रहा। उसने अल्प काल में सारे दैहिक आसक्ति के बन्धनों को तोड़ कर भगवद्धाम प्राप्त किया।

श्रीशुक उवाच

स इत्थं द्विजमुख्येन सह सङ्कथयन्हरिः ।
सर्वभूतमनोऽभिज्ञः स्मयमान उवाच तम् ॥ १ ॥

ब्रह्मण्यो ब्राह्मणं कृष्णो भगवान्प्रहसन्प्रियम् ।
प्रेम्णा निरीक्षणेनैव प्रेक्षन्खलु सतां गतिः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सः—वह; इत्थम्—इस प्रकार; द्विज—ब्राह्मणों में; मुख्येन—श्रेष्ठ के; सह—साथ; सङ्कथयन्—बात करते हुए; हरिः—भगवान् हरि ने; सर्व—समस्त; भूत—जीवों के; मनः—मनों को; अभिज्ञः—जानने वाले; स्मयमानः—हँसते हुए; उवाच—कहा; तम्—उस; ब्रह्मण्यः—ब्राह्मण-भक्त; ब्राह्मणम्—ब्राह्मण को; कृष्णः—कृष्ण ने; भगवान्—भगवान्; प्रहसन्—हँसते हुए; प्रियम्—अपने प्रिय मित्र पर; प्रेम्णा—प्रेमपूर्वक; निरीक्षणेन—तिरछी नजर से; एव—निस्सन्देह; प्रेक्षन्—देखते हुए; खलु—निस्सन्देह; सताम्—साधु-भक्तों के; गतिः—लक्ष्य।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा]: भगवान् हरि अर्थात् कृष्ण सभी जीवों के हृदयों से भलीभाँति परिचित हैं और वे ब्राह्मणों के प्रति विशेष रूप से अनुरक्त रहते हैं। समस्त सन्त-पुरुषों के लक्ष्य भगवान् सर्वश्रेष्ठ द्विज से इस तरह बातें करते हुए हँसने लगे और अपने प्रिय मित्र ब्राह्मण सुदामा की ओर स्नेहपूर्वक देखते हुए तथा मुसकाते हुए निम्नलिखित शब्द कहे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *सर्वभूतमनोऽभिज्ञ* शब्द यह सूचित करते हैं कि चूँकि भगवान् कृष्ण हर एक के मन की बात जानते हैं, अतः वे तुरन्त बतला सकते थे कि उनका मित्र सुदामा अपने साथ उनके लिए कुछ तंदुल लाया है, जिन्हें भेंट करते हुए वह सकुचा रहा है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस श्लोक की आगे व्याख्या करते हुए यह लिखा है कि उस क्षण भगवान् कृष्ण यह सोचकर मुसकाये कि "रुको, मैं तुम्हें बतलाये दे रहा हूँ कि तुम मेरे लिए क्या लाये हो।" उनकी मुसकान तब अट्टहास में बदल गई जब उन्होंने सोचा, "तुम आखिर कितनी देर तक अपने वस्त्र में छिपे इस बहुमूल्य उपहार को रखे रहोगे?"

कृष्ण ने अपने मित्र के वस्त्र के भीतर छिपी पोटली पर दृष्टि डाली और अपनी प्रेम-भरी चितवन से सुदामा को बतला दिया, "तुम्हारी दुर्बल चमड़ी के नीचे से झलकती नसें तथा तुम्हारे फटे-पुराने वस्त्र यहाँ पर उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति को आश्चर्य में डालने वाले हैं, किन्तु दरिद्रता के ये लक्षण केवल कल प्रातःकाल तक ही टिक पायेंगे।"

यद्यपि कृष्ण परम स्वतंत्र भगवान् हैं, किन्तु वे अपने प्रियजनों से, अपने स्नेहिल दासों से आदान-प्रदान करने में सदैव प्रसन्न रहते हैं। वे ब्राह्मण वर्ग के कृपालु संरक्षक होने के नाते ब्राह्मणों का जो

अपनी निरपेक्ष भक्ति के कारण अतिरिक्त योग्यता रखते हैं, पक्ष लेते हुए आनन्दित होते हैं।

श्रीभगवानुवाच
किमुपायनमानीतं ब्रह्मन्मे भवता गृहात् ।
अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भुर्येव मे भवेत् ।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ॥ ३॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; किम्—क्या; उपायनम्—भेंट; आनीतम्—लाई हुई; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; मे—मेरे लिए; भवता—आपके द्वारा; गृहात्—अपने घर से; अणु—अति तुच्छ; अपि—भी; उपाहृतम्—दी गई वस्तु; भक्तैः—भक्तों द्वारा; प्रेम्णा—शुद्ध प्रेम से; भूरि—बहुत; एव—निस्सन्देह; मे—मेरे लिए; भवेत्—हो जाती है; भूरि—प्रचुर; अपि—भी; अभक्त—अभक्तों द्वारा; उपहृतम्—भेंट किया गया; न—नहीं; मे—मेरी; तोषाय—तुष्टि के लिए; कल्पते—कुशल (दक्ष) है।

भगवान् ने कहा : हे ब्राह्मण, तुम अपने घर से मेरे लिए कौन-सा उपहार लाये हो? शुद्ध प्रेमवश अपने भक्तों द्वारा प्रस्तुत की गई छोटी से छोटी भेंट को भी मैं बड़ी मानता हूँ, किन्तु अभक्तों द्वारा चढ़ाई गई बड़ी से बड़ी भेंट भी मुझे तुष्ट नहीं कर पाती।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ ॥

शब्दार्थ

पत्रम्—पत्ती; पुष्पम्—फूल; फलम्—फल; तोयम्—जल; यः—जो कोई भी; मे—मुझको; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; प्रयच्छति—प्रदान करता है; तत्—वह; अहम्—मैं; भक्ति-उपहृतम्—भक्ति की भेंट; अश्नामि—स्वीकार करता हूँ; प्रयत-आत्मनः—शुद्ध चेतना वाले से।

यदि कोई मुझे प्रेम तथा भक्ति के साथ एक पत्ती, फूल, फल या जल अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।

तात्पर्य : ये सुप्रसिद्ध शब्द भगवान् द्वारा *भगवद्गीता* (९.२६)में भी कहे गये हैं। उपर्युक्त भावार्थ तथा शब्दार्थ श्रील प्रभुपाद के *भगवद्गीता यथारूप* से लिये गये हैं।

सुदामा के द्वारका गमन की वर्णित घटना के प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती भगवान् कृष्ण के वाक्यों की व्याख्या करते हुए कहते हैं—यह श्लोक सुदामा की उस चिन्ता का उत्तर है कि उसके द्वारा लाई गई अनुपयुक्त भेंट की सोच अविवेकपूर्ण थी। *भक्त्या प्रयच्छति* तथा *भक्त्युपहृतम्* शब्द भले ही अनावश्यक लगें, क्योंकि दोनों का अर्थ "भक्तिपूर्वक भेंट करना" है किन्तु *भक्त्या* शब्द यह सूचित करता है कि भगवान् प्रेमपूर्वक भेंट करने वाले की भक्ति का किस तरह से आदान-प्रदान करते हैं।

दूसरे शब्दों में, भगवान् कृष्ण यह घोषित करते हैं कि शुद्ध प्रेम-विनिमय भेंट के बाह्य गुण पर निर्भर नहीं करता। कृष्ण कहते हैं, ''कोई वस्तु भले ही अपने में प्रभावशाली अथवा सुखद हो या न हो किन्तु जब भक्त उस वस्तु को भक्तिपूर्वक मुझे इस आशा के साथ अर्पित करता है कि मैं उसका आस्वादन करूँगा तो इससे मुझे अतिशय आनन्द होता है। इसमें मैं कोई भेदभाव नहीं बरतता।'' *अश्नामि* क्रिया का भाव यह है कि भगवान् कृष्ण फूल तक को खा लेते हैं, जो सूँघने की वस्तु है, क्योंकि अपने भक्त के लिए अनुभव किये जाने वाले भावमय प्रेम में वे विभोर हो जाते हैं।

हो सकता है कि भगवान् से कोई यह प्रश्न करे, ''तो क्या आप भक्त द्वारा किसी अन्य अर्चाविग्रह को अर्पित वस्तु नकार देंगे?'' भगवान् उत्तर देते हैं, ''हाँ, मैं उसे खाने से इनकार कर दूँगा।'' इसे भगवान् *प्रयतात्मन:* शब्द द्वारा कहते हैं जिसका अर्थ है ''मेरी भक्ति के द्वारा ही मनुष्य शुद्ध हृदय वाला बन सकता है।''

इत्युक्तोऽपि द्विजस्तस्मै व्रीडितः पतये श्रियः ।
पृथुकप्रसृतिं राजन्न प्रायच्छदवाङ्मुखः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्तः—कहा गया; अपि—यद्यपि; द्विजः—ब्राह्मण; तस्मै—उसको; व्रीडितः—व्यग्र; पतये—पति को; श्रियः—लक्ष्मी के; पृथुक—तंदुल की; प्रसृतिम्—मुट्ठी को; राजन्—हे राजा (परीक्षित); न प्रायच्छत्—प्रदान नहीं किया; अवाक्—नमित; मुखः—सिर किये।

[शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा]: हे राजन्, इस प्रकार सम्बोधित किये जाने पर भी वह ब्राह्मण लक्ष्मी के पति को मुट्ठी-भर तंदुल देने में अत्यधिक हिचकिचा रहा था। बस, वह लज्जा के मारे अपना सिर नीचे किये रहा।

तात्पर्य : आचार्य विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार कृष्ण को ''लक्ष्मीपति'' कहने का आशय यह है कि सुदामा ने अपने आप से पूछा, ''भला श्रीपति इस कड़े बासी चावल को कैसे खा सकेंगे?'' सिर नीचा करके ब्राह्मण ने अपने इस ध्यान को प्रकट किया है कि ''हे प्रभु! आप मुझे इस तरह लज्जित न करें। यदि आप बारम्बार भी अनुरोध करें तो भी मैं आपको इसे नहीं दूँगा। मैंने यह संकल्प कर लिया है।'' लेकिन भगवान् ने अपने विचार से उसका प्रत्युत्तर दिया, ''चूँकि तुम मेरे भक्त हो अतएव आते समय तुमने जो भी मन में इरादा स्थिर किया हो, उसे विमुख नहीं होना चाहिए।''

सर्वभूतात्मदृक्साक्षात्तस्यागमनकारणम् ।
विज्ञायाचिन्तयन्नायं श्रीकामो माभजत्पुरा ॥ ६ ॥
पत्न्याः पतिव्रतायास्तु सखा प्रियचिकीर्षया ।
प्राप्तो मामस्य दास्यामि सम्पदोऽमर्त्यदुर्लभाः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सर्व—समस्त; भूत—जीवों के; आत्म—हृदयों के; दृक्—साक्षी; साक्षात्—प्रत्यक्ष; तस्य—उसके (सुदामा के); आगमन—आने का; कारणम्—कारण; विज्ञाय—भलीभाँति समझ कर; अचिन्तयत्—सोचा; न—नहीं; अयम्—यह; श्री—ऐश्वर्य का; कामः—इच्छुक; मा—मुझको; अभजत्—पूजता रहा; पुरा—भूतकाल में; पत्न्याः—अपनी पत्नी के; पति—अपने पति के प्रति; व्रतायाः—अनुरक्त; तु—लेकिन; सखा—मित्र; प्रिय—संतोष; चिकीर्षया—प्राप्त करने की इच्छा से; प्राप्तः—आया हुआ; माम्—मुझको; अस्य—इसको; दास्यामि—दूँगा; सम्पदः—सम्पदा; अमर्त्य—देवताओं के द्वारा; दुर्लभाः—अलभ्य।

समस्त जीवों के हृदयों में प्रत्यक्ष साक्षी स्वरूप होने के कारण भगवान् कृष्ण भलीभाँति समझ गये कि सुदामा उनसे मिलने क्यों आया है। अतः उन्होंने सोचा, "इसके पूर्व मेरे मित्र ने कभी भी भौतिक ऐश्वर्य की इच्छा से मेरी पूजा नहीं की है, किन्तु अब वही अपनी सती तथा पति-परायणा पत्नी को सन्तुष्ट करने के लिए मेरे पास आया है। मैं उसे वह सम्पदा प्रदान करूँगा, जो अमर देवतागण भी कभी प्राप्त नहीं कर सकते।"

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती टीका करते हैं कि भगवान् को क्षणिक आश्चर्य हुआ, "मेरी सर्वज्ञता के बावजूद यह किस तरह सम्भव हो सका कि मेरा यह भक्त इतनी दरिद्रता को प्राप्त हुआ?" फिर तुरन्त स्थिति समझते हुए उन्होंने अपने आपसे इस श्लोक में दिये गये शब्द कहे।

किन्तु कोई यह कह सकता है कि सुदामा को इतना दरिद्र नहीं होना चाहिए था क्योंकि समुचित भोग तो ईश-सेवा का उपफल होता है और ऐसा किसी परोक्ष अभिप्राय से रहित भक्त के लिए भी सत्य है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.२२) में हुई है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

"जो लोग मेरे दिव्य स्वरूप का ध्यान करते हुए अनन्य भक्ति के साथ मेरी पूजा करते हैं उन्हें मैं वह देता हूँ जो उनके पास नहीं होता और उनके पास जो होता है उसको सुरक्षित रखता हूँ।"

इस बात के उत्तर के रूप में दो प्रकार के विरक्त भक्तों में अन्तर करना आवश्यक है—एक प्रकार का भक्त इन्द्रिय-तृप्ति का शत्रु है और दूसरा उसके प्रति उदासीन रहता है। भगवान् कभी भी उस भक्त पर इन्द्रिय-तृप्ति नहीं थोपते जो सांसारिक भोगों से अन्यमनस्क होता है। जड़ भरत जैसे महान् विरक्तों

में ऐसा देखा जाता है। दूसरी ओर, भगवान् भक्त को अपार सम्पत्ति तथा शक्ति प्रदान कर सकते हैं, जो भौतिक वस्तुओं के द्वारा न तो आकृष्ट होते हैं न विकर्षित होते हैं, यथा प्रह्लाद महाराज। सुदामा अपने जीवन में अब तक इन्द्रिय-तृप्ति के प्रति पूर्णतया अन्यमनस्क था, किन्तु अब वह अपनी पति-परायणा पत्नी के प्रति दयाभाव से—और इसलिए भी कि उसमें कृष्ण का दर्शन करने की लालसा थी—वह भगवान् के पास याचना करने गया।

इत्थं विचिन्त्य वसनाच्चीरबद्धान्द्विजन्मनः ।
स्वयं जहार किमिदमिति पृथुकतण्डुलान् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस तरह; विचिन्त्य—सोच कर; वसनात्—कपड़े से; चीर—कपड़े के टुकड़े में; बद्धान्—बँधा हुआ; द्वि-जन्मनः—ब्राह्मण के; स्वयम्—खुद; जहार—छीन लिया; किम्—क्या; इदम्—यह; इति—ऐसा कहते हुए; पृथुक-तण्डुलान्—तन्दुल के दानों को।

इस प्रकार सोचते हुए भगवान् ने ब्राह्मण के वस्त्र में से कपड़े के पुराने टुकड़े में बँधे तन्दुल के दानों को छीन लिया और कह उठे, "यह क्या है?"

नन्वेतदुपनीतं मे परमप्रीणनं सखे ।
तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुलाः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ननु—क्या; एतत्—यह; उपनीतम्—लाया गया; मे—मेरे लिए; परम—परम; प्रीणनम्—संतोष प्रदान करते हुए; सखे—हे मित्र; तर्पयन्ति—कृपापात्र बनते हैं; अङ्ग—हे प्रिय; माम्—मुझको; विश्वम्—सारे ब्रह्माण्ड (स्वरूप में); एते—ये; पृठुक-तण्डुलाः—तन्दुल के दाने।

"हे मित्र, क्या इसे मेरे लिए लाये हो? इससे मुझे बहुत खुशी हो रही है। निस्सन्देह तन्दुल के ये थोड़े-से दाने न केवल मुझे, अपितु सारे ब्रह्माण्ड को तुष्ट करने वाले हैं।"

तात्पर्य : *भगवान् श्रीकृष्ण* में श्रील प्रभुपाद लिखते हैं: "इस कथन से यह समझा जाता है कि प्रत्येक वस्तु के मूल स्रोत भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण सृष्टि के कारण हैं। जिस प्रकार वृक्ष की जड़ में पानी डालने से सम्पूर्ण वृक्ष के प्रत्येक भाग को पानी मिलता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण को अर्पण की गई वस्तु को, अथवा श्रीकृष्ण के लिए किए गये किसी भी कार्य को सभी के लिए सर्वोच्च कल्याणकारी कार्य समझना चाहिए, क्योंकि ऐसे अर्पण के लाभ को सम्पूर्ण सृष्टि में वितरित किया जाता है। श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम सभी जीवात्माओं में वितरित हो जाता है।"

इति मुष्टिं सकृज्जग्ध्वा द्वितीयां जग्धुमाददे ।
तावच्छ्रीर्जगृहे हस्तं तत्परा परमेष्ठिनः ॥ ॥

शब्दार्थ

इति—ऐसा कहकर; मुष्टिम्—मुट्ठी-भर; सकृत्—एक बार; जग्ध्वा—खाकर; द्वितीयम्—दूसरी; जग्धुम्—खाने के लिए; आददे—लिया; तावत्—तब तो; श्रीः—लक्ष्मी (रुक्मिणीदेवी) ने; जगृहे—पकड़ लिया; हस्तम्—हाथ; तत्—उस; परा—अनुरक्त; परमे-स्थिनः—भगवान्।.

यह कहकर भगवान् ने एक मुट्ठी खाई और दूसरी मुट्ठी खाने ही वाले थे कि पति-परायणा देवी रुक्मिणी ने उनका हाथ पकड़ लिया।

तात्पर्य : महारानी रुक्मिणी ने कृष्ण का हाथ तन्दुल खाने से इसलिए पकड़ लिया जिससे वे और अधिक न खायें। श्रीपाद श्रीधर स्वामी के अनुसार इस संकेत द्वारा वे भगवान् को बता देना चाहती थीं कि "आपकी इतनी-सी कृपा से किसी को अथाह धन मिल सकता है, जो मेरी चितवन का खिलवाड़ मात्र है। लेकिन आप मुझे इसके लिए बाध्य न करें कि मुझे इस ब्राह्मण को आत्मसमर्पण करना पड़े, जो कि आपके द्वारा एक और मुट्ठी खाने पर हो जायेगा।"

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की व्याख्या है कि रुक्मिणी द्वारा भगवान् कृष्ण का हाथ पकड़ने के पीछे भाव यह है कि, "यदि आप अपने मित्र द्वारा घर से लाये गये इस सारे तन्दुल को खा जायेंगे तो मेरी सहेलियों, सौतों, नौकरों तथा मेरे लिए क्या बचेगा? तब तो हममें से किसी को एक-एक दाना भी नहीं मिल पायेगा।" और उन्होंने संकेत द्वारा अपनी नौकरानियों से कहा, "इन कड़े चावलों से मेरे स्वामी का मुलायम पेट बिगड़ जायेगा।"

श्रील प्रभुपाद की टीका है कि "जब भगवान् श्रीकृष्ण को प्रेम एवं भक्ति के साथ अन्न अर्पित किया जाता है तथा वे प्रसन्न होकर भक्त की इस भेंट को स्वीकार कर लेते हैं, तो रुक्मिणी देवी जोकि लक्ष्मी हैं उस भक्त के प्रति इतनी कृतज्ञ हो उठती हैं कि उन्हें उस भक्त के निवासस्थान पर जाकर उसे विश्व के सर्वाधिक वैभवशाली घर में परिवर्तित करना पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति श्री नारायण को अच्छी तरह से खिलाता है, तो लक्ष्मीजी स्वयं ही उसके घर की अतिथि बनती हैं, जिसका अर्थ है कि उसका घर वैभव से युक्त हो जाता है।"

एतावतालं विश्वात्मन्सर्वसम्पत्समृद्धये ।

अस्मिन्लोकेऽथ वामुष्मिन्पुंसस्त्वत्तोषकारणम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

एतावता—इतना; अलम्—पर्याप्त; विश्व—ब्रह्माण्ड के; आत्मन्—हे आत्मा; सर्व—समस्त; सम्पत्—सम्पदा का; समृद्धये—समृद्धि के लिए; अस्मिन्—इस; लोके—संसार में; अथ वा—या फिर; अमुष्मिन्—अगले में; पुंसः—मनुष्य के लिए; त्वत्—तुम्हारे; तोष—संतोष; कारणम्—कारणस्वरूप।

[महारानी रुक्मिणी ने कहा] : हे ब्रह्माण्ड के आत्मा, इस जगत में तथा अगले जगत में सभी प्रकार की प्रभूत सम्पदा दिलाने के लिए यह पर्याप्त है। आखिर, किसी की समृद्धि आपकी तुष्टि पर ही तो निर्भर है।

ब्राह्मणस्तां तु रजनीमुषित्वाच्युतमन्दिरे ।
भुक्त्वा पीत्वा सुखं मेने आत्मानं स्वर्गतं यथा ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणः—ब्राह्मण; ताम्—उस; तु—तथा; रजनीम्—रात; उषित्वा—रह कर; अच्युत—भगवान् कृष्ण के; मन्दिरे—महल में; भुक्त्वा—खाकर; पीत्वा—पीकर; सुखम्—सुखपूर्वक; मेने—सोचा; आत्मानम्—अपने से; स्वः—आध्यात्मिक जगत, वैकुण्ठ-लोक; गतम्—प्राप्त करके; यथा—मानो।

[शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा] : उस ब्राह्मण ने जी-भरकर खाने-पीने के बाद वह रात्रि भगवान् अच्युत के महल में बिताई। उसे ऐसा अनुभव हुआ, मानो वह वैकुण्ठ-लोक में आ गया हो।

श्वोभूते विश्वभावेन स्वसुखेनाभिवन्दितः ।
जगाम स्वालयं तात पथ्यनव्रज्य नन्दितः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

श्वः-भूते—अगले दिन; विश्व—ब्रह्माण्ड के; भावेन—पालनकर्ता द्वारा; स्व—अपने भीतर; सुखेन—सुख का अनुभव करने वाले; अभिवन्दितः—आदरित; जगाम—चला गया; स्व—अपने; आलयम्—घर; तात—हे प्रिय (राजा परीक्षित); पथि—रास्ते में; अनुव्रज्य—चलते हुए; नन्दितः—हर्षित।

अगले दिन ब्रह्माण्ड के पालनकर्ता आत्माराम भगवान् कृष्ण द्वारा सम्मानित होकर सुदामा घर के लिए चल पड़ा। हे राजन्, वह ब्राह्मण मार्ग पर चलते हुए अत्यधिक हर्षित था।

तात्पर्य : हमें यहाँ स्मरण दिलाया जा रहा है कि भगवान् कृष्ण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को इच्छित वस्तुएँ प्रदान करते हैं। इसलिए यह समझना होगा कि वे सुदामा के लिए इन्द्र से भी बढ़कर ऐश्वर्य देने जा रहे थे। *स्वसुख* अर्थात् अपने आनंद में पूर्ण होने के कारण उनमें उपहार (वर) देने की असीम क्षमता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार *अभिवन्दितः* शब्द सूचित करता है कि श्रीकृष्ण

सुदामा के साथ मार्ग पर कुछ दूरी तक गये और अन्त में उस ब्राह्मण को शीश झुकाकर तथा आदरपूर्ण शब्द कहकर उससे विदा ली।

स चालब्ध्वा धनं कृष्णान्न तु याचितवान्स्वयम् ।
स्वगृहान्व्रीडितोऽगच्छन्महद्दर्शननिर्वृतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; च—तथा; अलब्ध्वा—न पाकर; धनम्—धन; कृष्णात्—कृष्ण से; न—नहीं; तु—फिर भी; याचितवान्—माँगा; स्वयम्—अपने से; स्व—अपने; गृहान्—घर को; व्रीडितः—खिन्न; अगच्छत्—चला गया; महत्—भगवान् के; दर्शन—दर्शन से; निर्वृतः—हर्षित होकर।

यद्यपि सुदामा को बाह्य रूप से भगवान् कृष्ण से कोई धन प्राप्त नहीं हुआ था, फिर भी वह अपनी ओर से कुछ भी माँगने में अत्यधिक सकुचा रहा था। वह यह अनुभव करते हुए पूर्ण सन्तुष्ट होकर लौटा कि उसने भगवान् के दर्शन पा लिये हैं।

अहो ब्रह्मण्यदेवस्य दृष्टा ब्रह्मण्यता मया ।
यद्दरिद्रतमो लक्ष्मीमाश्लिष्टो बिभ्रतोरसि ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अहो—आह; ब्रह्मण्य—ब्राह्मणों के प्रति श्रद्धावान्; देवस्य—भगवान् का; दृष्ट—देखा हुआ; ब्रह्मण्यता—ब्राह्मण भक्ति; मया—मेरे द्वारा; यत्—जो भी; दरिद्र-तमः—सबसे निर्धन व्यक्ति; लक्ष्मीम्—लक्ष्मी को; आश्लिष्टः—आलिंगन किया; बिभ्रता—धारण करने वाले के द्वारा; उरसि—अपने वक्षस्थल पर।

[सुदामा ने सोचा] : भगवान् कृष्ण ब्राह्मण-भक्त के रूप में विख्यात हैं और अब मैंने स्वयं इस भक्ति को देख लिया है। निस्सन्देह लक्ष्मीजी को अपने वक्षस्थल पर धारण करने वाले उन्होंने सबसे दरिद्र भिखारी का आलिंगन किया है।

क्वाहं दरिद्रः पापीयान्क्व कृष्णः श्रीनिकेतनः ।
ब्रह्मबन्धुरिति स्माहं बाहुभ्यां परिरम्भितः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

क्व—कौन; अहम्—मैं हूँ; दरिद्रः—निर्धन; पापीयान्—पापी; क्व—कौन; कृष्णः—भगवान् कृष्ण हैं; श्री-निकेतनः—समस्त ऐश्वर्य के दिव्य स्वरूप; ब्रह्म-बन्धुः—ब्राह्मण का मित्र, ब्राह्मण न कहलाने योग्य; इति—इस प्रकार; स्म—निश्चय ही; अहम्—मैं; बाहुभ्याम्—भुजाओं से; परिरम्भितः—आलिंगित।

मैं कौन हूँ? एक पापी, निर्धन ब्राह्मण और कृष्ण कौन हैं? भगवान्, छहों ऐश्वर्यों से पूर्ण। तो भी उन्होंने अपनी दोनों भुजाओं से मेरा आलिंगन किया है।

तात्पर्य : उपर्युक्त भावार्थ श्रील प्रभुपाद द्वारा प्रस्तुत *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य ७.१३) के अँग्रेजी

पाठ के आधार पर किया गया है। सुदामा इतना दीन था कि वह अपनी निर्धनता को अपने ही दोष या पाप का फल मान रहा था। ऐसी मनोवृत्ति इस कहावत के अनुसार है कि *दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी*—निर्धन होने के दोष से तमाम सद्गुण नष्ट हो जाते हैं।

निवासितः प्रियाजुष्टे पर्यङ्के भ्रातरो यथा ।
महिष्या वीजितः श्रान्तो बालव्यजनहस्तया ॥ १७॥

शब्दार्थ

निवासितः—बैठाया गया; प्रिया—अपनी प्रियतमा द्वारा; जुष्टे—काम में लाये जाने वाले; पर्यङ्के—पलंग पर; भ्रातरः—भाइयों को; यथा—जिस तरह; महिष्या—अपनी रानी द्वारा; वीजितः—पंखा झला; श्रान्तः—थका हुआ; बाल—(चमरी के) बाल का; व्यजन—पंखा; हस्तया—हाथ से।

उन्होंने मेरे साथ अपने भाइयों जैसा वर्ताव किया और अपनी प्रियतमा के पलंग पर बैठाया। और चूँकि मैं थका हुआ था, इसलिए उनकी रानी ने *चामर* से स्वयं मुझ पर पंखा झला।

शुश्रूषया परमया पादसंवाहनादिभिः ।
पूजितो देवदेवेन विप्रदेवेन देववत् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

शुश्रूषया—सेवा से; परमया—निष्ठावान; पाद—पाँव की; संवाहन—मालिश; आदिभिः—इत्यादि से; पूजितः—पूजित; देव-देवेन—समस्त देवताओं के स्वामी द्वारा; विप्र-देवेन—ब्राह्मणों के स्वामी द्वारा; देव—देवता; वत्—सदृश।

यद्यपि वे समस्त देवताओं के स्वामी हैं और समस्त ब्राह्मणों के पूज्य हैं, फिर भी उन्होंने मेरे पाँवों की मालिश करके तथा अन्य विनीत सुश्रूषाओं द्वारा मेरी इस तरह पूजा की, मानो मैं ही देवता हूँ।

स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम् ।
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

स्वर्ग—स्वर्ग; अपवर्गयोः—तथा चरम मोक्ष का; पुंसाम्—सारे मनुष्यों के लिए; रसायाम्—रसातल में; भुवि—तथा पृथ्वी पर; सम्पदाम्—सम्पदा के; सर्वासाम्—समस्त; अपि—भी; सिद्धीनाम्—सिद्धियों के; मूलम्—मूल कारण; तत्—उनके; चरण—चरणों की; अर्चनम्—पूजा।

मनुष्य स्वर्ग में, मोक्ष में, रसातल में तथा इस पृथ्वी पर जितनी भी सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है, उसका आधारभूत कारण उनके चरणकमलों की भक्ति है।

अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत् ।
इति कारुणिको नूनं धनं मेऽभूरि नाददात् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अधनः—निर्धन व्यक्ति; अयम्—यह; धनम्—धन; प्राप्य—प्राप्त करके; माद्यन्—प्रसन्न होते हुए; उच्चैः—अत्यधिक; न—नहीं; माम्—मुझको; स्मरेत्—स्मरण करेगा; इति—इस प्रकार सोचते हुए; कारुणिकः—दयालु; नूनम्—निस्सन्देह; धनम्—धन; मे—मुझको; अभूरि—कुछ, रंच; न आददात्—नहीं दिया।

यह सोचकर कि यदि यह निर्धन बेचारा सहसा धनी हो जायेगा, तो वह मदमत्त करने वाले सुख में मुझे भूल जायेगा, दयालु भगवान् ने मुझे रंचमात्र भी धन नहीं दिया।

तात्पर्य : सुदामा के इस कथन से कि भगवान् कृष्ण ने उसे रंच-भर भी धन नहीं दिया यह अर्थ निकाला जा सकता है कि *अभूरि*—अल्प, रंच—धन देने की बजाय भगवान् ने उसे अपनी संगति का बृहत् कोष दे दिया। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने यह वैकल्पिक अर्थ सुझाया है।

इति तच्चिन्तयन्नन्तः प्राप्तो नियगृहान्तिकम् ।
सूर्यानलेन्दुसङ्काशैर्विमानैः सर्वतो वृतम् ॥ २१ ॥
विचित्रोपवनोद्यानैः कूजद्द्विजकुलाकुलैः ।
प्रोत्फुल्लकमुदाम्भोजकह्लारोत्पलवारिभिः ॥ २२ ॥
जुष्टं स्वलङ्कृतैः पुम्भिः स्त्रीभिश्च हरिणाक्षिभिः ।
किमिदं कस्य वा स्थानं कथं तदिदमित्यभूत् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; तत्—यह; चिन्तयन्—सोचते हुए; अन्तः—अन्दर ही अन्दर; प्राप्तः—आ गया; निज—अपने; गृह—घर के; अन्तिकम्—पड़ोस में; सूर्य—सूर्य; अनल—अग्नि; इन्दु—तथा चन्द्रमा; सङ्काशैः—होड़ में; विमानैः—दैवी महलों से; सर्वतः—सभी दिशाओं से; वृतम्—घिरा हुआ; विचित्र—आश्चर्यपूर्ण; उपवन—आँगन; उद्यानैः—तथा बगीचों से; कूजत्—कू-कू करते; द्विज—पक्षियों के; कुल—झुंडों समेत; आकुलैः—झुंड बनाते; प्रोत्फुल्ल—पूरी तरह खिले; कुमुद—कमलिनियों से युक्त; अम्भोज—दिन में खिलने वाले कमलों; कह्लार—श्वेत कमलों; उत्पल—तथा जल कुमुदिनी; वारिभिः—जलाशयों से; जुष्टम्—सुशोभित; सु—सुन्दर; अलङ्कृतैः—सजे; पुम्भिः—पुरुषों से; स्त्रीभिः—स्त्रियों से; च—तथा; हरिणा—हिरनी जैसी; अक्षिभिः—आँखों से; किम्—क्या; इदम्—यह; कस्य—किसका; वा—अथवा; स्थानम्—स्थान; कथम्—कैसे; तत्—वह; इदम्—यह; इति—इस तरह; अभूत्—हो गया है।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : इस प्रकार अपने आप सोचते-सोचते सुदामा अन्ततः उस स्थान पर आ पहुँचा, जहाँ उसका घर हुआ करता था। किन्तु अब वह स्थान सभी ओर से ऊँचे भव्य महलों से घनीभूत था, जो सूर्य, अग्नि तथा चन्द्रमा के सम्मिलित तेज से होड़ ले रहे थे। वहाँ आलीशान आँगन तथा बगीचे थे, जो कूजन करते हुए पक्षियों के झुंडों से भरे थे और जलाशयों से सुशोभित थे, जिनमें कुमुद, अम्भोज, कह्लार तथा उत्पल नामक कमल खिले हुए थे। अगवानी के लिए उत्तम वस्त्र धारण किये पुरुष तथा हिरनियों जैसी आँखों वाली स्त्रियाँ

खड़ी थीं। सुदामा चकित था कि यह सब क्या है? यह किसकी संपत्ति है? और यह सब कैसे हुआ?

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने ब्राह्मण के विचारों के क्रम को इस प्रकार बतलाया है—सर्वप्रथम महान् अपरिचित तेज देखकर उसने सोचा यह क्या है? फिर महलों को देखकर उसने अपने मन में कहा कि यह किसका स्थान है? और उसे अपना ही पहचान कर वह आश्चर्य करने लगा कि यह किस तरह इतना बदल गया है।

एवं मीमांसमानं तं नरा नार्योऽमरप्रभाः ।
प्रत्यगृह्णन्महाभागं गीतवाद्येन भूयसा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; मीमांसमानम्—गम्भीरता से विचार करता हुआ; तम्—उसको; नराः—पुरुष; नार्यः—तथा स्त्रियाँ; अमर—देवताओं के समान; प्रभाः—तेजमय मुखड़ों वाले; प्रत्यगृह्णन्—सत्कार किया गया; महा-भागम्—अत्यन्त भाग्यशाली; गीत—गायन; वाद्येन—तथा बाजे से; भूयसा—उच्च।.

जब वह इस तरह सोच-विचार में डूबा था, तो देवताओं जैसे तेजवान सुन्दर पुरुष तथा दासियाँ उँचे स्वर में गीत गाती तथा बाजे के साथ अपने अत्यन्त भाग्यशाली स्वामी का सत्कार करने आगे आईं।

तात्पर्य : जैसाकि आचार्य विश्वनाथ चक्रवर्ती ने बतलाया है, *प्रत्यगृह्णन* (बदले में कृतज्ञता ज्ञापित किया) सूचित करता है कि सर्वप्रथम सुदामा ने अपने मन में यह निश्चय करते हुए कि भगवान् चाहते हैं कि ये मेरे सेवक हों, उन्हें स्वीकार किया और उनके मनोभाव में परिवर्तन देखकर वे सेवक अपने स्वामी के पास आये।

पतिमागतमाकर्ण्य पत्न्युद्धर्षातिसम्भ्रमा ।
निश्चक्राम गृहात्तूर्णं रूपिणी श्रीरिवालयात् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

पतिम्—अपने पति को; आगतम्—आया हुआ; आकर्ण्य—सुन कर; पत्नी—उसकी पत्नी; उद्धर्षा—हर्षित; अति—अत्यधिक; सम्भ्रमा—उत्तेजित; निश्चक्राम—बाहर आ गई; गृहात्—घर से; तूर्णम्—तेजी से; रूपिणी—स्वरूप वाली; श्रीः—लक्ष्मी के; इव—मानो; आलयात्—अपने धाम से।.

जब ब्राह्मण की पत्नी ने सुना कि उसका पति आया है, तो वह हर्ष के मारे तुरन्त घर से बाहर निकल आई। वह दिव्य धाम से निकलने वाली साक्षात् लक्ष्मी जैसी लग रही थी।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी इंगित करते हैं कि चूँकि भगवान् कृष्ण ने सुदामा के घर को स्वर्गधाम बना दिया था इसलिए वहाँ रह रहा प्रत्येक व्यक्ति अब सुन्दर शरीर वाला और स्वर्ग के उपयुक्त वेशभूषा से युक्त था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने यह अन्तर्दृष्टि जोड़ी है—सुदामा की निर्धन तथा क्षीण पत्नी ने, जो कि एक रात पूर्व टूटी-फूटी कुटिया के नीचे चीथड़ों में सो रही थी प्रात: जगने पर पाया कि वह तथा उसका घर विचित्र रीति से बदल गये हैं। वह एक क्षण तक भौंचक्की रह गई। तब उसे अनुभूति हुई कि यह ऐश्वर्य उसके पति को जो इस समय रास्ते में कहीं होगा भगवान् द्वारा दिया हुआ उपहार है। अतएव वह उसके सत्कार की तैयारी करने लगी।

पतिव्रता पतिं दृष्ट्वा प्रेमोत्कण्ठाश्रुलोचना ।
मीलिताक्ष्यनमद्बुद्ध्या मनसा परिषस्वजे ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

पति-व्रता—पति-परायणा; पतिम्—पति को; दृष्ट्वा—देखकर; प्रेम—प्रेम की; उत्कण्ठ—उत्सुकता से; अश्रु—आँसू से भरे; लोचना—आँखों वाली; मीलित—बन्द किये; अक्षी—आँखें; अनमत्—प्रणाम किया; बुद्ध्या—विचारमग्न; मनसा—हृदय से; परिषस्वजे—आलिंगन किया।

जब उस पतिव्रता स्त्री ने अपने पति को देखा, तो उसकी आँखें प्रेम तथा उत्सुकता के आँसुओं से भर आईं। अपनी आँखें बन्द किये विचारमग्न होकर उसने पतिको प्रणाम किया और मन ही मन उसका आलिंगन कर लिया।

पत्नीं वीक्ष्य विस्फुरन्तीं देवीं वैमानिकीमिव ।
दासीनां निष्ककण्ठीनां मध्ये भान्तीं स विस्मितः ॥ २७॥

शब्दार्थ

पत्नीम्—अपनी पत्नी को; वीक्ष्य—देखकर; विस्फुरन्तीम्—तेजवान लग रही; देवीम्—देवी को; वैमानिकीम्—विमान पर आरूढ़; इव—सदृश; दासीनाम्—दासियों के; निष्क—लॉकेट; कण्ठीनाम्—जिनके गलों में; मध्ये—बीचोबीच; भान्तीम्—चमकती हुई; सः—वह; विस्मितः—चकित।

सुदामा अपनी पत्नी को देखकर चकित था। रत्नजटित लॉकेटों से अलंकृत दासियों के बीच चमक रही वह उसी तरह तेजोमय लग रही थी, जिस तरह कोई देवी अपने दैवी-विमान में दीपित हो।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि अभी तक भगवान् उस ब्राह्मण को दरिद्र अवस्था में रखे रहे, जिससे उसकी पत्नी उसे पहचान सके।

प्रीतः स्वयं तया युक्तः प्रविष्टो निजमन्दिरम् ।
मणिस्तम्भशतोपेतं महेन्द्रभवनं यथा ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

प्रीतः—प्रसन्न; स्वयम्—खुद; तया—उसके; युक्तः—साथ होकर; प्रविष्टः—भीतर जाकर; निज—अपने; मन्दिरम्—घर में; मणि—मणियों वाले; स्तम्भ—ख भों; शत—सैकड़ों; उपेतम्—से युक्त; महा-इन्द्र—स्वर्ग के राजा महान् इन्द्र का; भवनम्—महल; यथा—सदृश।

उसने आनन्दपूर्वक अपनी पत्नी को साथ लिए अपने घर में प्रवेश किया, जहाँ सैकड़ों रत्नजटित ख भे थे, जैसे देवराज महेन्द्र के महल में हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती टीका करते हैं कि सुदामा अपनी स्त्री को देखकर चकित था। जब वह आश्चर्य में था कि यह देव-पत्नी कौन है, जो मुझ जैसे पतितात्मा के पास आई है, तो दासियों ने सूचित किया कि यह उसी की पत्नी है। उसी क्षण सुदामा का शरीर तरुण तथा सुन्दर बन गया जो उत्तम वस्त्र तथा आभूषण से सुसज्जित था। *प्रीत:* शब्द यहाँ इसका सूचक है कि इन परिवर्तनों से उसे बेहद खुशी हुई।

महाभारत में *विष्णु सहस्रनाम* में सुदामा के एकाएक ऐश्वर्य का अमर वर्णन इन शब्दों में हुआ है—*श्रीदामा रंक-भक्तार्थभूम्यानीतेन्द्र वैभव:*—भगवान् विष्णु को अपने दयनीय भक्त श्रीदामा (सुदामा) के लाभार्थ इस धरा पर इन्द्र के तेज को लाने वाला भी कहा जाता है।

पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः ।
पर्यङ्का हेमदण्डानि चामरव्यजनानि च ॥ २९ ॥
आसनानि च हैमानि मृदूपस्तरणानि च ।
मुक्तादामविलम्बीनि वितानानि द्युमन्ति च ॥ ३० ॥
स्वच्छस्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च ।
रत्नदीपान्भ्राजमानान्ललना रत्नसंयुताः ॥ ३१ ॥
विलोक्य ब्राह्मणस्तत्र समृद्धीः सर्वसम्पदाम् ।
तर्कयामास निर्व्यग्रः स्वसमृद्धिमहैतुकीम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

पयः—दूध के; फेन—झाग के; निभाः—सदृश; शय्याः—सेज, पलंग; दान्ताः—हाथी-दाँत से बनी; रुक्म—सुनहले; परिच्छदाः—सजावट; पर्यङ्काः—पलंग, आसन; हेम—सोने के; दण्डानि—जिसके पाए; चामर-व्यजनानि—चमरी गाय की पूँछ के बने पंखे; च—तथा; आसनानि—कुर्सियाँ; च—तथा; हैमानि—सुनहरे; मृदु—मुलायम; उपस्तरणानि—गद्दों; च—तथा; मुक्ता-दाम—मोती की लड़ों से; विलम्बीनि—लटकती; वितानानि—चँदोवों; द्युमन्ति—चमचमाते हुए; च—तथा; स्वच्छ—साफ; स्फटिक—संगमरमर की; कुड्येषु—दीवालों पर; महा-मारकतेषु—बहुमूल्य मरकत-मणियों से; च—भी;

रत्न—रत्नजटित; दीपान्—दीपकों; भ्राजमानान्—चमकते; ललना:—स्त्रियाँ; रत्न—रत्नों से; संयुता:—सजी; विलोक्य—देखकर; ब्राह्मण:—ब्राह्मण ने; तत्र—वहाँ; समृद्धी:—वृद्धि की ओर उन्मुख; सर्व—समस्त; सम्पदाम्—ऐश्वर्य का; तर्कयाम् आस—अनुमान लगाया; निर्व्यग्र:—अविचलित; स्व—अपनी; समृद्धिम्—सम्पन्नता के विषय में; अहैतुकीम्—जिसकी आशा नहीं की गई थी।

सुदामा के घर में दूध के झाग सदृश कोमल तथा सफेद पलंग थे, जिनके पाए हाथी-दाँत के बने थे और सोने से अलंकृत थे। वहाँ कुछ सोफे भी थे, जिनके पाए सोने के थे। साथ ही राजसी चामर पंखे, सुनहरे सिंहासन, मुलायम गद्दे तथा मोती की लड़ों से लटकते चमचमाते चँदोवे थे। चमकते स्फटिक की दीवालों पर बहुमूल्य मरकत-मणि (पन्ने) जड़े थे और रत्नजटित दीपक प्रकाशमान थे। उस महल की सारी स्त्रियाँ बहुमूल्य रत्नों से अलंकृत थीं। जब उस ब्राह्मण ने सभी प्रकार का यह विलासमय ऐश्वर्य देखा, तो उसने शान्त भाव से इस आकस्मिक समृद्धि के विषय में अपने मन में तर्क किया।

नूनं बतैतन्मम दुर्भगस्य
शश्वद्दरिद्रस्य समृद्धिहेतुः ।
महाविभूतेरवलोकतोऽन्यो
नैवोपपद्येत यदूत्तमस्य ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

नूनम् बत—निश्चय ही; एतत्—इस; मम—मुझ; दुर्भगस्य—अभागे का; शश्वत्—सदैव; दरिद्रस्य—निर्धन की; समृद्धि—सम्पन्नता के; हेतु:—कारण; महा-विभूते:—सर्वाधिक ऐश्वर्यशाली की; अवलोकत:—चितवन के अतिरिक्त; अन्य:—अन्य; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; उपपद्येत—पाया जाना चाहिए; यदु-उत्तमस्य—यदुओं में श्रेष्ठ की।

[सुदामा ने सोचा]: मैं सदैव से निर्धन रहा हूँ। निश्चय ही मुझ जैसे अभागे व्यक्ति का एकाएक धनी हो जाने का एकमात्र सम्भावित कारण यही हो सकता है कि यदुवंश के परम ऐश्वर्यशाली प्रधान भगवान् कृष्ण ने मुझ पर अपनी कृपा-दृष्टि की है।

नन्वब्रुवाणो दिशते समक्षं
याचिष्णवे भूर्यपि भूरिभोजः ।
पर्जन्यवत्तत्स्वयमीक्षमाणो
दाशार्हकाणामृषभः सखा मे ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ननु—आखिर; अब्रुवान:—न बोलते हुए; दिशते—दिया है; समक्षम्—उपस्थिति में; याचिष्णवे—याचना करने की इच्छा करने वाले को; भूरि—प्रचुर (धन); अपि—भी; भूरि—प्रचुर (धन); भोज:—भोक्ता; पर्जन्य-वत्—बादल के समान; तत्—वह; स्वयम्—स्वयं; ईक्षमाण:—देखते हुए; दाशार्हकाणाम्—राजा दाशार्ह के वंशजों में; ऋषभ:—सर्वश्रेष्ठ; सखा—मित्र; मे—मेरा।

आखिर, दाशार्हों में सर्वश्रेष्ठ तथा असीम सम्पदा के भोक्ता, मेरे मित्र कृष्ण ने देखा कि मैं चुपके से उनसे माँगना चाहता था। इस तरह जब मैं उनके समक्ष खड़ा था, तो यद्यपि उन्होंने इसके विषय में कुछ कहा नहीं, तो भी उन्होंने मुझे प्रचुर सम्पदा प्रदान की है। उन्होंने दयावान वर्षा वाले बादल जैसा कार्य किया है।

तात्पर्य : श्रीकृष्ण *भूरि-भोज* अर्थात् असीम भोक्ता हैं। उन्होंने सुदामा को यह नहीं बतलाया कि वे किस तरह उसकी अनकही याचना को पूरा करने जा रहे हैं, क्योंकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार वे उस समय यह सोच रहे थे, "मेरे प्रिय सखा ने मुझे जो तन्दुल के दाने दिये हैं, वे मेरे पास के सारे कोषों से बढ़कर हैं। यद्यपि उसके घर में मेरे पास लाने के लायक कोई ऐसी भेंट नहीं थी फिर भी उसने अपने पड़ोसी से माँगने का कष्ट उठाया। इसलिए उचित यही होगा कि मैं अपने पास जो कुछ है उससे भी बढ़कर कोई वस्तु उसे दूँ। किन्तु मेरे पास जो कुछ है उसके समान या उससे बढ़कर कुछ भी नहीं है, अतएव मैं इतना ही कर सकता हूँ कि इसे इन्द्र, ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं के कोष जैसी तुच्छ वस्तुएँ दे दूँ।" अपने भक्त की भेंट का समुचित प्रतिदान न कर पाने से उद्विग्न भगवान् कृष्ण ने उस ब्राह्मण को चुपके से अपनी कृपा प्रदान की। भगवान् ने उस वदान्य वर्षा वाले बादल की तरह कार्य किया जो अपने निकट और दूर के हर व्यक्ति की जीवन-आवश्यकताएँ प्रदान करने पर भी यह सोचता है कि किसानों द्वारा अर्पित की जाने वाली भेंटों की तुलना में उसकी यह वर्षा-रूपी भेंट तुच्छ है। लज्जावश बादल रात की प्रतीक्षा करता है और जब किसान सोये रहते हैं, तो वर्षा करता है।

भगवान् कृष्ण को जिस दाशार्ह वंश के प्रधानों में गिना गया है वे अपनी उदारता के लिए विख्यात थे।

किञ्चित्करोत्युर्वपि यत्स्वदत्तं
सुहृत्कृतं फल्ग्वपि भूरिकारी ।
मयोपणीतं पृथुकैकमुष्टिं
प्रत्यग्रहीत्प्रीतियुतो महात्मा ॥ ३५॥

शब्दार्थ

किञ्चित्—तुच्छ; करोति—करता है; उरु—महान्; अपि—भी; यत्—जो; स्व—स्वयं द्वारा; दत्तम्—दिया हुआ; सुहृत्—शुभचिन्तक मित्र द्वारा; कृतम्—किया गया; फल्गु—न्यून; अपि—भी; भूरि—अधिक; कारी—करने वाला; मया—मेरे द्वारा;

उपनीतम्—लाया हुआ; पृथुक—तन्दुल; एक—एक; मुष्टिम्—मुट्ठी-भर; प्रत्यग्रहीत्—स्वीकार किया; प्रीति-युतः—प्रसन्नतापूर्वक; महा-आत्मा—परमात्मा ने।

भगवान् अपने बड़े से बड़े वर को तुच्छ मानते हैं, किन्तु अपने शुभचिन्तक भक्त द्वारा की गई तुच्छ सेवा को बहुत बढ़ा देते हैं। इस तरह परमात्मा ने मेरे द्वारा लाये गये एक मुट्ठी तंदुल को सहर्ष स्वीकार कर लिया।

तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्री-
दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात् ।
महानुभावेन गुणालयेन
विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसङ्गः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके लिए; एव—निस्सन्देह; मे—मेरा; सौहृद—प्रेम, सौहार्द; सख्य—मित्रता; मैत्री—सहानुभूति; दास्यम्—तथा दास्य भाव; पुनः—बारम्बार; जन्मनि जन्मनि—जन्म-जन्मांतर; स्यात्—होए; महा-अनुभावेन—परम दयालु भगवान् से; गुण—दिव्य गुणों के; आलयेन—आगार; विषज्जतः—अनुरक्त; तत्—उसके; पुरुष—भक्तों की; प्रसङ्गः—बहुमूल्य संगति।

भगवान् समस्त दिव्य गुणों के परम दयामय आगार हैं। मैं जन्म-जन्मांतर प्रेम, मित्रता तथा सहानुभूति के साथ उनकी सेवा करूँ और उनके भक्तों के बहुमूल्य सान्निध्य से ऐसी दृढ़ अनुरक्ति उत्पन्न करूँ।

तात्पर्य : जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने बतलाया है यहाँ पर *सुहृदम्* उन भगवान् के प्रति स्नेह का सूचक है, जो अपने भक्तों के प्रति इतने दयालु हैं। *सख्यम्* वह आसक्ति है, जो उनके संग में रहने की इच्छा से प्रकट होती है, *मैत्री* घनिष्ठ मित्रता की प्रवृत्ति है और *दास्यम्* सेवा करने की उत्कण्ठा है।

भक्ताय चित्रा भगवान्हि सम्पदो
राज्यं विभूतीर्न समर्थयत्यजः ।
अदीर्घबोधाय विचक्षणः स्वयं
पश्यन्निपातं धनिनां मदोद्भवम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

भक्ताय—उनके भक्त के लिए; चित्राः—विचित्र; भगवान्—भगवान्; हि—निस्सन्देह; सम्पदः—ऐश्वर्य; राज्यम्—राज्य; विभूतीः—भौतिक सम्पत्ति; न समर्थयति—प्रदान नहीं करता; अजः—अजन्मा; अदीर्घ—छोटा; बोधाय—जिसकी समझ; विचक्षणः—चतुर; स्वयम्—स्वयं; पश्यन्—देखते हुए; निपातम्—पतन; धनिनाम्—धनी का; मद—गर्व से उत्पन्न नशे का; उद्भवम्—उत्थान।

जिस भक्त में आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि (समझ) नहीं होती, उसे भगवान् कभी भी इस जगत

का विचित्र ऐश्वर्य—राजसी शक्ति तथा भौतिक सम्पत्ति—नहीं सौंपते। दरअसल अपने अथाह ज्ञान से अजन्मा भगवान् भलीभाँति जानते हैं कि किस तरह गर्व का नशा किसी धनी का पतन कर सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती द्वारा व्याख्या की गयी है, विनम्र ब्राह्मण सुदामाने अपने आपको भगवान् के दुर्लभ बहुमूल्य वर, शुद्ध भक्ति, के लिए सर्वथा अयोग्य माना था। उसने तर्क दिया कि यदि वास्तव में उसमें शुद्ध भक्ति रहती तो भगवान् निश्चित रूप से उसे अविचल संपूर्ण भक्ति प्रदान करते न कि भौतिक सम्पत्ति तथा दास-दासी का सुख। भगवान् कृष्ण ऐसे विपथनों को न प्रदान करके एक गम्भीर भक्त की रक्षा करते। भगवान् एक निष्ठावान् किन्तु अल्पज्ञ भक्त को उसकी इच्छित सम्पत्ति प्रदान नहीं करते अपितु उतना ही प्रदान करते हैं जितने से उसकी भक्ति अग्रसर होती रहे। सुदामा ने सोचा, ''प्रह्लाद महाराज जैसे महान् सन्त तो अपार सम्पत्ति, बल तथा यश से दूषित होने से बच सकते हैं, किन्तु मुझे अपनी इस नवीन परिस्थिति में लोभ से सदैव सावधान रहना होगा।''

हम यह समझ सकते हैं कि इस दीन-भाव से भगवान् कृष्ण की महिमा के श्रवण एवं कीर्तन की प्रामाणिक प्रक्रिया द्वारा भक्तियोग को पूरा करने में विप्र सुदामा को सफलता प्राप्त हो सकी।

इत्थं व्यवसितो बुद्ध्या भक्तोऽतीव जनार्दने ।
विषयान्जायया त्यक्ष्यन्बुभुजे नातिलम्पटः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; व्यवसितः—संकल्प को स्थिर करते हुए; बुद्ध्या—बुद्धि से; भक्तः—अनुरक्त; अतीव—पूर्णतया; जनार्दने—समस्त जीवों के आश्रय भगवान् कृष्ण के प्रति; विषयान्—इन्द्रिय-तृप्ति की वस्तुएँ; जायया—अपनी पत्नी के साथ; त्यक्ष्यन्—त्याग करने की इच्छा से; बुभुजे—भोग किया; न—नहीं; अतिलम्पटः—धनलोलुप।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : इस तरह अपनी आध्यात्मिक बुद्धि के द्वारा अपने संकल्प को दृढ़ करते हुए सुदामा समस्त जीवों के आश्रय भगवान् कृष्ण के प्रति पूर्णतया अनुरक्त बना रहा। उसने धनलिप्ता से रहित होकर अपनी पत्नी के साथ साथ उस इन्द्रिय-सुख का भोग, अन्ततः समस्त इन्द्रिय-तृप्ति का परित्याग करने के विचार (अनासक्त भाव) से किया जो उसे प्रदान किया गया था।

तस्य वै देवदेवस्य हरेर्यज्ञपतेः प्रभोः ।

ब्राह्मणाः प्रभवो दैवं न तेभ्यो विद्यते परम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; वै—भी; देव-देवस्य—ईश्वरों के ईश्वर; हरेः—कृष्ण का; यज्ञ—वैदिक यज्ञ के; पतेः—नियामक का; प्रभोः—परम स्वामी; ब्राह्मणाः—ब्राह्मणजन; प्रभवः—स्वामी; दैवम्—अर्चाविग्रह; न—नहीं; तेभ्यः—उनकी अपेक्षा; विद्यते—विद्यमान है; परम्—महान।

भगवान् हरि समस्त ईश्वरों के ईश्वर, समस्त यज्ञों के स्वामी तथा सृष्टि के परम शासक हैं। लेकिन वे सन्त ब्राह्मणों को अपना स्वामी मानते हैं, अतः उनसे बढ़कर कोई अन्य देव नहीं रह जाता।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती यह इंगित करते हैं कि यद्यपि श्रीकृष्ण इस सृष्टि के परम शासक हैं, तो भी वे ब्राह्मणों को अपने स्वामी के रूप में मानते हैं। यद्यपि वे समस्त ईश्वरों के ईश्वर हैं, तो भी वे ब्राह्मणों को अपना आराध्यदेव मानते हैं। वे समस्त यज्ञों के स्वामी होते हुए भी ब्राह्मणों की पूजा करने के लिए यज्ञ करते हैं।

एवं स विप्रो भगवत्सुहृत्तदा
दृष्ट्वा स्वभृत्यैरजितं पराजितम् ।
तद्ध्यानवेगोद्ग्रथितात्मबन्धन-
स्तद्धाम लेभेऽचिरतः सतां गतिम् ॥ ० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सः—वह; विप्रः—ब्राह्मण; भगवत्—भगवान् का; सुहृत्—मित्र; तदा—तब; दृष्ट्वा—देखकर; स्व—निजी; भृत्यैः—दासों द्वारा; अजितम्—अजेय; पराजितम्—पराजित, हारा हुआ; तत्—उस पर; ध्यान—उसके ध्यान का; वेग—जोर या प्रवाह से; उद्ग्रथित—जुड़ा; आत्म—आत्मा को; बन्धनः—बन्धन; तत्—उसका; धाम—निवासस्थान; लेभे—प्राप्त किया; अचिरतः—अल्प समय में; सताम्—साधुओं की; गतिम्—गन्तव्य, लक्ष्य।

इस तरह यह देखते हुए कि अजेय भगवान् किस प्रकार से अपने दासों द्वारा जीत लिये जाते हैं, भगवान् के प्रिय ब्राह्मण मित्र को अनुभव हुआ कि उसके हृदय में भौतिक आसक्ति की जो ग्रंथियाँ शेष रह गई थीं, वे भगवान् के निरन्तर ध्यान के बल पर कट गई हैं। उसने अल्प काल में भगवान् कृष्ण का परम धाम प्राप्त किया, जो महान् सन्तों का गन्तव्य है।

तात्पर्य : सुदामा के पार्थिव वैभव का वर्णन कर चुकने के बाद अब शुकदेव गोस्वामी यह बतलाते हैं कि अगले लोक में उस ब्राह्मण ने किस ऐश्वर्य का भोग किया। श्रील जीव गोस्वामी उल्लेख करते हैं कि सुदामा में इस लेशमात्र भ्रम या माया का सूक्ष्म गर्व बचा हुआ था कि वह विरक्तया अर्थात् अनासक्त ब्राह्मण है। जब उसने भगवान् द्वारा अपने भक्तों के समक्ष आत्मसमर्पण का ध्यान किया, तो

यह लेशमात्र भाव भी जाता रहा।

एतद्ब्रह्मण्यदेवस्य श्रुत्वा ब्रह्मण्यतां नरः ।
लब्धभावो भगवति कर्मबन्धाद्विमुच्यते ॥ १ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; ब्रह्मण्य-देवस्य—ब्राह्मणों के पक्षपाती भगवान् का; श्रुत्वा—सुन कर; ब्रह्मण्यताम्—ब्राह्मणों के प्रति दयाभाव को; नरः—मनुष्य; लब्ध—प्राप्त करते हुए; भावः—प्रेम; भगवति—भगवान् के प्रति; कर्म—भौतिक कार्य के; बन्धात्—बन्धन से; विमुच्यते—छूट जाता है।.

भगवान् सदैव ही ब्राह्मणों के प्रति विशेष कृपा दर्शाते हैं। जो भी ब्राह्मणों के प्रति भगवान् की दया के इस विवरण को सुनेगा, उसमें भगवत्प्रेम उत्पन्न होगा और इस तरह वह भौतिक कर्म के बन्धन से छूट जायेगा।

तात्पर्य : *भगवान् श्रीकृष्ण* नामक पुस्तक के उस अध्याय की भूमिका में जिसमें इस लीला का वर्णन हुआ है कृष्ण कृपामूर्ति श्रील प्रभुपाद ने टीका की है, ''समस्त जीवों के परमात्मा भगवान् कृष्ण हर एक के हृदय को भलीभाँति जानते हैं। ब्राह्मण भक्तों के प्रति उनका विशेष रूप से झुकाव रहता है। भगवान् कृष्ण *ब्रह्मण्यदेव* भी कहलाते हैं, जिसका अर्थ है कि वे ब्राह्मणों द्वारा पूजित हैं। अतएव यह मानी हुई बात है कि जो भक्त भगवान् के प्रति पूर्णतया समर्पित है उसे पहले से ही ब्राह्मण-पद प्राप्त हो चुका होता है। ब्राह्मण बने बिना कोई व्यक्ति परम ब्रह्म भगवान् कृष्ण तक नहीं पहुँच सकता। कृष्ण अपने भक्तों के दुख को मिटाने के लिए विशेष रूप से चिन्तित रहते हैं और वे अपने भक्तों के एकमात्र आश्रय हैं।''

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध अन्तर्गत ''भगवान् द्वारा सुदामा ब्राह्मण को वरदान'' नामक इक्यासीवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बयासी

वृन्दावनवासियों से कृष्ण तथा बलराम की भेंट

इस अध्याय में यह बतलाया गया है कि सूर्य-ग्रहण के अवसर पर किस तरह यदुगण तथा अनेक अन्य राजा कुरुक्षेत्र में मिले और उन्होंने भगवान् कृष्ण से सम्बन्धित कथाओं की चर्चा चलाई। इसमें

यह भी बतलाया गया है कि किस तरह कुरुक्षेत्र में कृष्ण ने नन्द महाराज तथा अन्य वृन्दावनवासियों से मिलकर, उन्हें परम आनन्द प्रदान किया।

यह सुनकर कि पूर्ण सूर्य-ग्रहण पड़ने वाला है सारे भारतवर्ष के लोग, जिनमें यादवगण भी सम्मिलित थे, विशेष पुण्य पाने के लिए कुरुक्षेत्र में एकत्र हुए। जब सारे यदुजन स्नान करके अन्य आवश्यक अनुष्ठान कर चुके, तो उन्होंने देखा कि मत्स्य, उशीनर तथा अन्य स्थानों के राजा भी आये हुए हैं। यही नहीं, कृष्ण के विरह से गहन चिन्ता का अनुभव करने वाले नन्द महाराज तथा व्रज के सारे ग्वाले भी आये हुए हैं। अपने इन पुराने मित्रों को देखकर, जब सारे यादवों ने अति प्रसन्न होकर एक-दूसरे का आलिंगन किया, तो प्रेम के अश्रु गिरने लगे। उनकी पत्नियों ने भी अत्यन्त हर्षपूर्वक एक-दूसरे का आलिंगन किया।

जब महारानी कुन्ती ने अपने भाई वसुदेव तथा अपने परिवार के अन्य सदस्यों को देखा, तो उनका शोक जाता रहा। फिर भी उन्होंने वसुदेव से कहा, "हे भ्राता! मैं अत्यन्त अभागिनी हूँ, क्योंकि मेरे कष्ट के समय तुम सबों ने मुझे भुला दिया। हाय, जिस पर विधि विपरीत होता है, उसे उसके सम्बन्धी भी भूल जाते हैं।"

वसुदेव ने उत्तर दिया, "हे बहिन! हर व्यक्ति विधाता की कठपुतली है। हम यादवों को कंस ने इतना सताया कि तितर-बितर होकर हमें पराये देशों में शरण लेनी पड़ी। अतएव तुम्हारे साथ सम्पर्क बनाये रखने का हमारे पास कोई साधन ही न रहा।"

वहाँ उपस्थित राजागण भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनकी पत्नियों को देखकर आश्चर्यचकित थे और वे यादवों की प्रशंसा इस बात के लिए करने लगे कि उन्हें भगवान् का सान्निध्य प्राप्त है। नन्द महाराज को देखकर सारे यादव फूले नहीं समाये और उन सबों ने उनका कस कर आलिंगन किया। वसुदेव ने भी बड़े हर्ष से नन्द का आलिंगन किया और स्मरण किया कि जब वे कंस द्वारा सताये जा रहे थे, तो नन्द ने उनके पुत्रों—कृष्ण तथा बलराम—को किस तरह अपने संरक्षण में रखा। बलराम तथा कृष्ण ने माता यशोदा का आलिंगन किया और उन्हें शीश नवाया, किन्तु भावातिरेक से उनके गले रुँध गये, जिससे वे कुछ बोल नहीं पाये। नन्द तथा यशोदा ने अपने दोनों पुत्रों को गोद में उठाकर उनका आलिंगन किया और इस तरह उन्होंने विरह-दुख से अपने को विमुक्त किया। रोहिणी तथा देवकी

दोनों ने यशोदा का आलिंगन किया और अपने प्रति दिखाई गई मित्रता का स्मरण करके उन्हें बतलाया कि कृष्ण तथा बलराम का पालन-पोषण करके उन्होंने जो अनुग्रह किया है, उसका बदला इन्द्र की सम्पत्ति द्वारा भी नहीं चुकाया जा सकता।

तत्पश्चात् भगवान् तरुण गोपियों से एकान्त स्थान में मिले। उन्होंने उन्हें यह कह कर सान्त्वना दी कि मैं समस्त शक्तियों का स्रोत होने से सर्वव्यापी हूँ। इस तरह उनके कहने का मन्तव्य था कि गोपियाँ उनसे कभी भी पृथक् नहीं हो सकतीं। बहुत काल बाद कृष्ण से पुनः मिलकर गोपियों ने इतनी ही प्रार्थना की कि उनके चरणकमल उनके हृदयों में प्रकट हों।

श्रीशुक उवाच
अथैकदा द्वारवत्यां वसतो रामकृष्णयोः ।
सूर्योपरागः सुमहानासीत्कल्पक्षये यथा ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—तब; एकदा—एक बार; द्वारवत्याम्—द्वारका में; वसतोः—रहते हुए; राम-कृष्णयोः—बलराम तथा कृष्ण के; सूर्य—सूर्य का; उपरागः—ग्रहण; सु-महान्—अत्यन्त विशाल; आसीत्—था; कल्प—ब्रह्मा के एक दिन के; क्षये—अन्त होने पर; यथा—जिस तरह।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : एक बार जब बलराम तथा कृष्ण द्वारका में रह रहे थे, तो ऐसा विराट सूर्य-ग्रहण पड़ा मानो, भगवान् ब्रह्मा के दिन का अन्त हो गया हो।

तात्पर्य : जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इंगित करते हैं *अथ* तथा *एकदा* शब्द संस्कृत साहित्य में प्रायः नवीन कथा की शुरुआत करने के लिए प्रयुक्त होते हैं। यहाँ ये शब्द विशेष रूप से सूचित करते हैं कि कुरुक्षेत्र में यदुओं तथा वृष्णियों का पुनः मिलाप क्रमबद्ध रूप में सुनाया जा रहा है।

श्रील सनातन गोस्वामी ने *वैष्णव तोषणी* टीका में बतलाया है कि इस बयासीवें अध्याय की घटनाएँ भगवान् बलदेव की व्रज-यात्रा (अध्याय ६५) के बाद तथा महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ (अध्याय ७) के पूर्व की हैं। आचार्य तर्क देते हैं कि ऐसा हो सकता है क्योंकि सूर्यग्रहण के समय सारे कुरुओं ने, जिनमें धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर, भीष्म तथा द्रोण सम्मिलित थे, श्रीकृष्ण से मित्र की तरह मिल कर उनकी संगति का प्रसन्नतापूर्वक लाभ उठाया हो। दूसरी ओर, राजसूय यज्ञ में दुर्योधन की पाण्डवों के प्रति जोर की ईर्ष्या भड़क उठी। इसी के तुरन्त बाद दुर्योधन ने युधिष्ठिर तथा उनके भाइयों को जुआ

खेलने के लिए आमंत्रित किया, जिसमें छल से उनका साम्राज्य लेकर उन्हें बनवास दे दिया। बनवास से पाण्डवों की वापसी के तुरन्त बाद ही कुरुक्षेत्र का महायुद्ध हुआ जिसमें भीष्म तथा द्रोण मारे गये। अतएव ऐसा किसी भी तर्क के अन्तर्गत सम्भव नहीं है कि कुरुक्षेत्र में सूर्य-ग्रहण राजसूय यज्ञ के बाद पड़ा हो।

तं ज्ञात्वा मनुजा राजन्पुरस्तादेव सर्वतः ।
समन्तपञ्चकं क्षेत्रं ययुः श्रेयोविधित्सया ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; ज्ञात्वा—जान कर; मनुजाः—लोग; राजन्—हे राजा (परीक्षित); पुरस्तात्—पहले से; एव—भी; सर्वतः—सभी जगहों से; समन्त-पञ्चकम्—समन्तपंचक नामक (जो कुरुक्षेत्र जनपद के अन्तर्गत है); क्षेत्रम्—स्थान में; ययुः—गये; श्रेयः—लाभ; विधित्सया—उत्पन्न करने की इच्छा से।

हे राजन्, पहले से इस ग्रहण के विषय में जानते हुए अनेक लोग पुण्य अर्जित करने की मंशा से समन्तपञ्चक नामक पवित्र स्थान में गये।

तात्पर्य : ५,००० वर्ष पूर्व के वैदिक ज्योतिर्विद सूर्य तथा चन्द्र-ग्रहणों की भविष्यवाणी उसी प्रकार कर सकते थे, जिस तरह हमारे आधुनिक ज्योतिर्विद करते हैं। किन्तु प्राचीन ज्योतिर्विदों का ज्ञान और भी आगे बढ़ा हुआ था, क्योंकि वे ऐसी घटनाओं के कर्मफल को समझते थे। सूर्य तथा चन्द्र-ग्रहण सामान्य रूप से, कतिपय अपवादों को छोड़कर, अत्यन्त अशुभ होते हैं। किन्तु जिस तरह अन्यथा अशुभ एकादशी भगवान् हरि के गुणगान करने से लाभप्रद बन जाती है, उसी तरह किसी ग्रहण का समय भी उपवास तथा पूजा के लिए उपयोगी है।

समन्तपञ्चक नामक पवित्र तीर्थस्थल कुरुक्षेत्र में स्थित है, जहाँ कुरु-राजाओं के पूर्वजों ने अनेक वैदिक यज्ञ सम्पन्न किये। इसलिए कुरुओं को विद्वान ब्राह्मणों ने सलाह दी थी कि ग्रहण के समय व्रत रखने के लिए यह सर्वोत्तम स्थान होगा। उनसे बहुत काल पूर्व परशुराम ने अपने द्वारा की गई हत्याओं का प्रायश्चित्त करने के लिए कुरुक्षेत्र में तपस्या की थी। उन्होंने वहाँ जो पाँच तालाब—समन्तपञ्चक—खोदे थे वे द्वापर युग के अन्त तक बने हुए थे और वे आज भी हैं।

निःक्षत्रियां महीं कुर्वन् रामः शस्त्रभृतां वरः ।
नृपाणां रुधिरौघेण यत्र चक्रे महाहृदान् ।

ईजे च भगवान् रामो यत्रास्पृष्टोऽपि कर्मणा ॥ ३ ॥

लोकं सङ्ग्राहयन्नीशो यथान्योऽघापनुत्तये ।
महत्यां तीर्थयात्रायां तत्रागन् भारती: प्रजा: ॥ ॥

वृष्णयश्च तथाक्रूरवसुदेवाहुकादय: ।
ययुर्भारत तत्क्षेत्रं स्वमघं क्षपयिष्णव: ॥ ५ ॥

गदप्रद्युम्नसाम्बाद्या: सुचन्द्रशुकसारणै: ।
आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायां कृतवर्मा च यूथप: ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

नि:क्षत्रियाम्—राजाओं से विहीन; महीम्—पृथ्वी को; कुर्वन्—करके; राम:—परशुराम ने; शस्त्र—हथियारों को; भृताम्—धारण करने वालों के; वर:—सबसे श्रेष्ठ; नृपाणाम्—राजाओं के; रुधिर—खून की; ओघेण—बाढ़ से; यत्र—जहाँ; चक्रे—बनाया; महा—विशाल; ह्रदान्—सरोवर, झीलें; ईजे—पूजा किया; च—तथा; भगवान्—भगवान्; राम:—परशुराम ने; यत्र—जहाँ; अस्पृष्ट:—अछूता; अपि—यद्यपि; कर्मणा—कर्म तथा उसके फल से; लोकम्—संसार को; सङ्ग्राहयन्—उपदेश देते हुए; ईश:—भगवान्; यथा—मानो; अन्य:—दूसरा व्यक्ति; अघ—पाप; अपनुत्तये—दूर करने के लिए; महत्याम्—विशाल; तीर्थ-यात्रायाम्—पवित्र तीर्थयात्रा के अवसर पर; तत्र—वहाँ; आगन्—आये; भारती:—भारतवर्ष के; प्रजा:—लोग; वृष्णय:—वृष्णि-जाति के सदस्य; च—तथा; तथा—भी; अक्रूर-वसुदेव-आहुक-आदय:—अक्रूर, वसुदेव, आहुक (उग्रसेन) तथा अन्य; ययु:—गये; भारत—हे भरतवंशी (परीक्षित); तत्—उस; क्षेत्रम्—पवित्र स्थान में; स्वम्—अपने अपने; अघम्—पापों को; क्षपयिष्णव:—उखाड़ फेंकने के इच्छुक; गद-प्रद्युम्न-साम्ब-आद्या:—गद, प्रद्युम्न, साम्ब इत्यादि; सुचन्द्र-शुक-सारणै:—सुचन्द्र, शुक तथा सारण के साथ; आस्ते—रहे; अनिरुद्ध:—अनिरुद्ध; रक्षायाम्—रक्षा करने के लिए; कृतवर्मा—कृतवर्मा; च—तथा; यूथ-प:—सेना-नायक।

पृथ्वी को राजाओं से विहीन करने के बाद योद्धाओं में सर्वोपरि भगवान् परशुराम ने समन्तपञ्चक में राजाओं के रक्त से विशाल सरोवरों की उत्पत्ति की। यद्यपि परशुराम पर कर्मफलों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा था, फिर भी सामान्य जनता को शिक्षा देने के लिए उन्होंने वहाँ पर यज्ञ किया। इस तरह अपने को पापों से मुक्त करने के लिए उन्होंने सामान्य व्यक्ति जैसा आचरण किया। अब इस समन्तपञ्चक में तीर्थयात्रा के लिए भारतवर्ष के सभी भागों से बहुत बड़ी संख्या में लोग आये थे। हे भरतवंशी, इस तीर्थस्थल में आये हुए लोगों में अनेकवृष्णिजन—यथा गद, प्रद्युम्न तथा साम्ब—अपने-अपने पापों से छुटकारा पाने के लिए आये थे। अक्रूर, वसुदेव, आहुक तथा अन्य राजा भी वहाँ गये थे। द्वारका की रक्षा करने के लिए सुचन्द्र, शुक तथा सारण के साथ अनिरुद्ध एवं उन्हीं के साथ उनकी सशस्त्र सेनाओं के नायक कृतवर्मा भी रह गये थे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार नगर की रक्षा करने के लिए श्रीकृष्ण का पौत्र अनिरुद्ध द्वारका में इसीलिए रह गया क्योंकि वह दिव्य-लोक श्वेत-द्वीप के रक्षक के रूप में भगवान् विष्णु का आदि रूप है।

ते रथैर्देवधिष्ण्याभैर्हयैश्च तरलप्लवैः ।
गजैर्नदद्भिरभ्राभैर्नृभिर्विद्याधरद्युभिः ॥ ७॥
व्यरोचन्त महातेजाः पथि काञ्चनमालिनः ।
दिव्यस्त्रग्वस्त्रसन्नाहाः कलत्रैः खेचरा इव ॥ ८॥

शब्दार्थ

ते—वे; रथैः—रथों (पर सवार सैनिकों) सहित; देव—देवताओं के; धिष्ण्य—विमानों; आभैः—के अनुरूप; हयैः—घोड़ों के साथ; च—तथा; तरल—लहरों (के समान); प्लवैः—जिसकी गति; गजैः—हाथियों के साथ; नदद्भिः—चिग्घाड़ करते; अभ्र—बादल; आभैः—के सदृश; नृभिः—तथा पैदल सिपाहियों के सहित; विद्याधर—विद्याधर देवताओं (जैसे); द्युभिः—तेज से; व्यरोचन्त—(यादव राजकुमार) तेजवान प्रतीत हो रहे थे; महा—अत्यन्त; तेजाः—शक्तिशाली; पथि—मार्ग पर; काञ्चन—सोने की; मालिनः—मालाएँ पहने; दिव्य—दैवी; स्त्रक्—फूलों की माला; वस्त्र—वस्त्र; सन्नाहाः—तथा कवच; कलत्रैः—अपनी पत्नियों के साथ; खे-चराः—आकाश में विचरण करने वाले देवताओं के; इव—समान।

बलशाली यदुगण बड़ी शान से मार्ग से होकर गुजरे। उनके साथ साथ उनके सैनिक थे, जो स्वर्ग के विमानों से होड़ लेने वाले रथों पर, ताल-ताल पर पग रख कर चल रहे घोड़ों पर तथा बादलों जैसे विशाल एवं चिंग्घाड़ते हाथियों पर सवार थे। उनके साथ दैवी विद्याधरों के ही समान तेजवान अनेक पैदल सिपाही भी थे। सोने के हारों तथा फूल की मालाओं से सज्जित एवं कवच धारण किये हुये यदुगण दैवी वेशभूषा में इस तरह शोभा दे रहे थे कि जब वे अपनी पत्नियों के साथ मार्ग पर आगे बढ़ रहे थे, तो ऐसा लग रहा था, मानो आकाश-मार्ग से होकर देवतागण उड़ रहे हों।

तत्र स्नात्वा महाभागा उपोष्य सुसमाहिताः ।
ब्राह्मणेभ्यो ददुर्धेनूर्वासःस्त्रग्रुक्ममालिनीः ॥ ९॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; स्नात्वा—स्नान करके; महा-भागाः—परम पुण्यात्मा (यादवगण); उपोष्य—उपवास करके; सु-समाहिताः—बड़े ही ध्यानपूर्वक; ब्राह्मणेभ्यः—ब्राह्मणों को; ददुः—दान दिया; धेनूः—गौवें; वासः—वस्त्र; स्त्रक्—फूल-मालाओं; रुक्म—सोने की; मालिनीः—तथा मालाओं से युक्त।

समन्तपञ्चक में सन्त स्वभाव वाले उन यादवों ने स्नान किया और फिर अत्यन्त सावधानी के साथ उपवास रखा। तत्पश्चात् उन्होंने ब्राह्मणों को वस्त्रों, फूल-मालाओं तथा सोने के हारों से सज्जित गौवें दान में दीं।

रामह्रदेषु विधिवत्पुनराप्लुत्य वृष्णयः ।
ददः स्वन्नं द्विजाछयेभ्यः कृष्णे नो भक्तिरस्त्विति ॥ ॥

शब्दार्थ

राम—परशुराम के; ह्रदेषु—सरोवरों में; विधि-वत्—शास्त्रीय आदेशों के अनुसार; पुनः—फिर; आप्लुत्य—स्नान करके; वृष्णयः—वृष्णिजनों ने; ददुः—दान दिया; सु—सुन्दर; अन्नम्—भोजन; द्विज—ब्राह्मणों को; अछयेभ्यः—सर्वोत्तम; कृष्णे—कृष्ण के प्रति; नः—हमारी; भक्तिः—भक्ति; अस्तु—हो; इति—इस प्रकार।

तत्पश्चात् वृष्णिवंशियों ने शास्त्रीय आदेशों के अनुसार एक बार फिर परशुराम के सरोवरों में स्नान किया और उत्तम कोटि के ब्राह्मणों को अच्छा भोजन कराया। उन्होंने उस समय यही प्रार्थना की, ''हमें भगवान् कृष्ण की भक्ति प्राप्त हो।''

तात्पर्य : यह द्वितीय स्नान अगले दिन उनके उपवास की समाप्ति का द्योतक है।

स्वयं च तदनुज्ञाता वृष्णयः कृष्णदेवताः ।
भुक्त्वोपविविशुः कामं स्निग्धच्छायाङ्घ्रिपाङ्घ्रिषु ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

स्वयम्—अपने से; च—तथा; तत्—उनके (कृष्ण) द्वारा; अनुज्ञाताः—अनुमति दिये गये; वृष्णयः—वृष्णियों ने; कृष्ण—भगवान् कृष्ण; देवताः—एकमात्र देव; भुक्त्वा—खाकर; उपविविशुः—बैठ गये; कामम्—इच्छानुसार; स्निग्ध—शीतल; छाया—छाया वाले; अङ्घ्रिप—वृक्षों के; अङ्घ्रिषु—पैरों पर, नीचे।

फिर अपने एकमात्र आराध्यदेव भगवान् कृष्ण की अनुमति से वृष्णियों ने कलेवा किया और फुरसत में होने पर शीतल छाया प्रदान करने वाले वृक्षों के नीचे बैठ गये।

तत्रागतांस्ते ददृशुः सुहृत्सम्बन्धिनो नृपान् ।
मत्स्योशीनरकौशल्यविदर्भकुरुसृञ्जयान् ।
काम्बोजकैकयान्मद्रान्कुन्तीनानर्तकेरलान् ॥ १२ ॥
अन्यांश्चैवात्मपक्षीयान्परांश्च शतशो नृप ।
नन्दादीन्सुहृदो गोपान्गोपीश्चोत्कण्ठिताश्चिरम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; आगतान्—आये हुए; ते—उन्होंने (यादवों ने); ददृशुः—देखा; सुहृत्—मित्रों; सम्बन्धिनः—तथा सम्बन्धीजनों; नृपान्—राजाओं को; मत्स्य-उशीनर-कौशल्य-विदर्भ-कुरु-सृञ्जयान्—मत्स्यों, उशीनरों, कौशलों, विदर्भों, कुरुओं तथा सृञ्जयों को; काम्बोज-कैकयान्—काम्बोजों तथा कैकयों को; मद्रान्—मद्रों को; कुन्तीन्—कुन्तियों को; आनर्त-केरलान्—आनर्तों तथा केरलों को; अन्यान्—अन्यों को; च एव—भी; आत्म-पक्षीयान्—अपनी टोली वालों; परान्—विपक्षियों को; च—तथा; शतशः—सैकड़ों; नृप—हे राजा (परीक्षित); नन्द-आदीन्—नन्द महाराज इत्यादि; सुहृदः—उनके प्रिय मित्र; गोपान्—ग्वालों को; गोपीः—गोपियों को; च—तथा; उत्कण्ठिताः—चिन्तित; चिरम्—दीर्घकाल से।

यादवों ने देखा कि वहाँ पर आये अनेक राजा उनके पुराने मित्र तथा सम्बन्धी—मत्स्य, उशीनर, कौशल्य, विदर्भ, कुरु, सृञ्जय, काम्बोज, कैकय, मद्र, कुन्ती तथा आनर्त एवं केरल देशों के राजा थे। उन्होंने अन्य सैकड़ों राजाओं को भी देखा, जो स्वपक्षी तथा विपक्षी दोनों ही थे। इसके अतिरिक्त हे राजा परीक्षित, उन्होंने अपने प्रिय मित्रों, नन्द महाराज तथा ग्वालों और

गोपियों को देखा, जो दीर्घकाल से चिन्तित होने के कारण दुखी थे।

अन्योन्यसन्दर्शनहर्षरंहसा
प्रोत्फुल्लहृद्वक्त्रसरोरुहश्रियः ।
आश्लिष्य गाढं नयनैः स्रवज्जला
हृष्यत्त्वचो रुद्धगिरो ययुर्मुदम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

अन्योन्य—एक-दूसरे के; सन्दर्शन—देखने से; हर्ष—हर्ष के; रंहसा—आवेग से; प्रोत्फुल्ल—विकसित, प्रफुल्लित; हृत्—अपने हृदयों; वक्त्र—तथा मुखों के; सरोरुह—कमलों के; श्रियः—सौन्दर्य वाले; आश्लिष्य—आलिंगन करके; गाढम्—खूब तेजी से; नयनैः—आँखों से; स्रवत्—गिराते हुए; जलाः—जल (अश्रु); हृष्यत्—रोमांचित; त्वचः—चमड़ी; रुद्ध—रुँधी हुई; गिरः—वाणी; ययुः—अनुभव किया; मुदम्—हर्ष, प्रसन्नता।

जब एक-दूसरे को देखने की अत्याधिक हर्ष से उनके हृदय तथा मुखकमल नवीन सौन्दर्य से खिल उठे, तो पुरुषों ने एक-दूसरे का उल्लासपूर्वक आलिंगन किया। अपने नेत्रों से अश्रु गिराते हुए, रोमांचित शरीर वाले तथा रुँधी वाणी से उन्होंने उत्कट आनन्द का अनुभव किया।

स्त्रियश्च संवीक्ष्य मिथोऽतिसौहृद-
स्मितामलापाङ्गदृशोऽभिरेभिरे ।
स्तनैः स्तनान्कुङ्कुमपङ्करूषितान्
निहत्य दोर्भिः प्रणयाश्रुलोचनाः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

स्त्रियः—स्त्रियाँ; च—तथा; संवीक्ष्य—देखकर; मिथः—परस्पर; अति—अत्यन्त; सौहृद—मित्रवत् स्नेह के साथ; स्मित—मुसकाते हुए; अमल—निर्मल; अपाङ्ग—तिरछी नजर, चितवन; दृशः—आँखों वाली; अभिरेभिरे—आलिंगन किया; स्तनैः—स्तनों से; स्तनान्—स्तनों को; कुङ्कुम—केसर के; पङ्क—लेप से; रूषितान्—लेपित; निहत्य—दबाकर; दोर्भिः—अपनी बाहुओं से; प्रणय—प्रेम के; अश्रु—आँसुओं से पूर्ण; लोचनाः—आँखें।

स्त्रियों ने प्रेममयी मैत्री की शुद्ध मुसकानों से एक-दूसरे को निहारा। और जब उन्होंने आलिंगन किया, तो केसर के लेप से लेपित उनके स्तन एक-दूसरे के जोर से दब गये और उनके नेत्रों में स्नेह के आँसू भर आये।

ततोऽभिवाद्य ते वृद्धान्यविष्ठैरभिवादिताः ।
स्वागतं कुशलं पृष्ट्वा चक्रुः कृष्णकथा मिथः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; अभिवाद्य—नमस्कार करके; ते—वे; वृद्धान्—अपने वरिष्ठजनों को; यविष्ठैः—अपने से छोटे सम्बन्धियों के द्वारा; अभिवादिताः—अभिवादन की गई; सु-आगतम्—सुखपूर्वक आगमन; कुशलम्—तथा कुशल-क्षेम; पृष्ट्वा—पूछ कर; चक्रुः—किया; कृष्ण—कृष्ण के बारे में; कथाः—वार्ता; मिथः—परस्पर।

तब उन सबों ने अपने वरिष्ठजनों को नमस्कार किया और अपने से छोटे सम्बन्धियों से आदर प्राप्त किया। एक-दूसरे से यात्रा की सुख-सुविधा एवं कुशल-क्षेम पूछने के बाद, वे कृष्ण के विषय में बातें करने लगीं।

तात्पर्य : ये वैष्णवों के विशेष आचार-विचार हैं। सामान्य बद्धजीवों को भ्रमित करने वाली पारिवारिक झंझटें उन लोगों को उलझन में नहीं डालतीं, जिनके परिवार वाले शुद्ध भगवद्भक्त होते हैं। निर्विशेषवादियों में इन घनिष्ठ व्यवहारों को समझने की क्षमता नहीं पाई जाती, क्योंकि उनका दर्शन किसी प्रकार के वैयक्तिक भावात्मक जगत को मायामय कह कर त्याज्य समझता है। जब निर्विशेषवाद के अनुयायी कृष्ण तथा उनके भक्तों के प्रेमपूर्ण सम्बन्धों को समझने का बहाना बनाते हैं, तो वे न केवल अपने लिए अपितु सुनने वालों के लिए भी विनाश की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं।

पृथा भ्रातृन्स्वसृर्वीक्ष्य तत्पुत्रान्पितरावपि ।
भ्रातृपत्नीर्मुकुन्दं च जहौ सङ्कथया शुचः ॥ १७॥

शब्दार्थ

पृथा—कुन्ती; भ्रातृन्—अपने भाइयों को; स्वसृः—तथा बहनों को; वीक्ष्य—देखकर; तत्—उनके; पुत्रान्—पुत्रों को; पितरौ—अपने माता-पिता को; अपि—भी; भ्रातृ—अपने भाइयों की; पत्नीः—पत्नियों; मुकुन्दम्—भगवान् कृष्ण को; च—भी; जहौ—त्याग दिया; सङ्कथया—बातें करते हुए; शुचः—अपना शोक।

महारानी कुन्ती अपने भाइयों तथा बहनों और उनके बच्चों से मिलीं। वे अपने माता-पिता, अपने भाइयों की पत्नियों (भाभियों) तथा भगवान् मुकुन्द से भी मिलीं। उनसे बातें करती हुईं वे अपना शोक भूल गईं।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त की निरन्तर चिन्ता भी, जो निर्विशेषवादियों की *शान्ति* से सर्वथा विपरीत होती है, भगवत्प्रेम की सुन्दर अभिव्यक्ति बन सकती है, जैसाकि पाण्डवों की माता तथा कृष्ण की बुआ श्रीमती कुन्तीदेवी के उदाहरण में देखी जाती है।

कुन्त्युवाच

आर्य भ्रातरहं मन्ये आत्मानमकृताशिषम् ।
यद्वा आपत्सु मद्वार्तां नानुस्मरथ सत्तमाः ॥ १८॥

शब्दार्थ

कुन्ती उवाच—महारानी कुन्ती ने कहा; आर्य—हे आदरणीय; भ्रातः—भाई; अहम्—मैं; मन्ये—सोचती हूँ; आत्मानम्—अपने को; अकृत—प्राप्त करने में असफल; आशिषम्—इच्छाएँ; यत्—चूँकि; वै—निस्सन्देह; आपत्सु—संकट के समय; मत्—मुझको; वार्ताम्—जो घटित हुआ; न अनुस्मरथ—तुम लोग स्मरण नहीं करते; सत्-तमाः—सर्वाधिक साधु स्वभाव वाले।

महारानी कुन्ती ने कहा : हे मेरे सम्माननीय भाई, मैं अनुभव करती हूँ कि मेरी इच्छाएँ विफल रही हैं, क्योंकि यद्यपि आप सभी अत्यन्त साधु स्वभाव वाले हो, किन्तु मेरी विपदाओं के दिनों में आपने मुझे भुला दिया।

तात्पर्य : यहाँ महारानी कुन्ती अपने भाई वसुदेव को सम्बोधित कर रही हैं।

सुहृदो ज्ञातयः पुत्रा भ्रातरः पितरावपि ।
नानुस्मरन्ति स्वजनं यस्य दैवमदक्षिणम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सुहृदः—मित्रगण; ज्ञातयः—तथा सम्बन्धी; पुत्राः—पुत्र; भ्रातरः—भाई; पितरौ—माता-पिता; अपि—भी; न अनुस्मरन्ति—स्मरण नहीं करते; स्व-जनम्—प्रियजन; यस्य—जिसका; दैवम्—विधाता; अदक्षिणम्—प्रतिकूल।

जिस पर विधाता अनुकूल नहीं रहता, उसके मित्र तथा परिवार वाले, यहाँ तक कि बच्चे, भाई तथा माता-पिता भी अपने प्रियजन को भूल जाते हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर दोनों ने ही टीका दी हैं कि कुन्ती अपने कष्ट के लिए अपने सम्बन्धियों को दोष नहीं देतीं। वे उन्हें अत्यन्त साधु स्वभाव वाला कहती हैं। वे अपने दुख के कारण के लिए अपने दुर्भाग्य को कोसती हैं।

श्रीवसुदेव उवाच
अम्ब मास्मानसूयेथा दैवक्रीडनकान्नरान् ।
ईशस्य हि वशे लोकः कुरुते कार्यतेऽथ वा ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्री-वसुदेवः उवाच—श्री वसुदेव ने कहा; अम्ब—हे बहन; मा—मत; अस्मान्—हमसे; असूयेथाः—क्रुद्ध होओ; दैव—भाग्य के; क्रीडनकान्—खिलौनों; नरान्—मनुष्यों को; ईशस्य—भगवान् के; हि—निस्सन्देह; वशे—अधीन; लोकः—व्यक्ति; कुरुते—अपने मन से करता है; कार्यते—औरों के द्वारा कराया जाता है; अथ वा—या फिर।

श्री वसुदेव ने कहा : हे बहन, तुम हम पर नाराज न होओ। हम सामान्य व्यक्ति भाग्य के खिलौने हैं। निस्सन्देह, मनुष्य चाहे अपने आप कार्य करे या अन्यों द्वारा करने को बाध्य किया जाय, वह सदैव भगवान् के नियंत्रण में रहता है।

कंसप्रतापिताः सर्वे वयं याता दिशं दिशम् ।

एतर्ह्येव पुनः स्थानं दैवेनासादिताः स्वसः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कंस—कंस द्वारा; प्रतापिताः—खूब सताये गये; सर्वे—सभी; वयम्—हम; याताः—भाग गये; दिशम् दिशम्—विभिन्न दिशाओं में; एतर्हि एव—अभी अभी; पुनः—फिर; स्थानम्—अपने अपने स्थानों को; दैवेन—विधाता द्वारा; आसादिताः—लाये गये; स्वसः—हे बहन।

हे बहन, कंस द्वारा सताये हुए हम विभिन्न दिशाओं में भाग गये थे, किन्तु विधाता की कृपा से अन्ततोगत्वा हम अब अपने अपने घरों में लौट सके हैं।

श्रीशुक उवाच

वसुदेवोग्रसेनाद्यैर्यदुभिस्तेऽर्चिता नृपाः ।
आसन्नच्युतसन्दर्शपरमानन्दनिर्वृताः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; वसुदेव-उग्रसेन-आद्यैः—वसुदेव, उग्रसेन इत्यादि; यदुभिः—यादवों द्वारा; ते—वे; अर्चिताः—सम्मानित; नृपाः—राजागण; आसन्—हो गये; अच्युत—भगवान् कृष्ण के; सन्दर्श—दर्शन से; परम—परम; आनन्द—आनन्द में; निर्वृताः—शान्त।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : वसुदेव, उग्रसेन तथा अन्य यदुओं ने उन विविध राजाओं का सम्मान किया, जो भगवान् अच्युत को देखकर अत्यधिक आनन्द विभोर और संतुष्ट हो गये।

भीष्मो द्रोणोऽम्बिकापुत्रो गान्धारी ससुता तथा ।
सदाराः पाण्डवाः कुन्ती सञ्जयो विदुरः कृपः ॥ २३ ॥
कुन्तीभोजो विराटश्च भीष्मको नग्नजिन्महान् ।
पुरुजिद्द्रुपदः शल्यो धृष्टकेतुः स काशिराट् ॥ २ ॥
दमघोषो विशालाक्षो मैथिलो मद्रकेकयौ ।
युधामन्युः सुशर्मा च ससुता बाह्लिकादयः ॥ २५ ॥
राजानो ये च राजेन्द्र युधिष्ठिरमनुव्रताः ।
श्रीनिकेतं वपुः शौरेः सस्त्रीकं वीक्ष्य विस्मिताः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

भीष्मः द्रोणः अम्बिका-पुत्रः—भीष्म, द्रोण तथा अम्बिका के पुत्र (धृतराष्ट्र); गान्धारी—गान्धारी; स—सहित; सुताः—उसके पुत्र; तथा—भी; स-दाराः—पत्नियों सहित; पाण्डवाः—पाण्डु-पुत्र; कुन्ती—कुन्ती; सञ्जयः विदुरः कृपः—संजय, विदुर तथा कृप; कुन्तीभोजः विराटः च—कुन्तीभोज तथा विराट; भीष्मकः—भीष्मक; नग्नजित्—नग्नजित; महान्—महान्; पुरुजित् द्रुपदः शल्यः—पुरुजित, द्रुपद तथा शल्य; धृष्टकेतुः—धृष्टकेतु; सः—वह; काशि-राट्—काशी का राजा; दमघोषः विशालाक्षः—दमघोष तथा विशालाक्ष; मैथिलः—मिथिलाराज; मद्र-केकयौ—मद्र तथा केकय के राजा; युधामन्युः सुशर्मा च—युधामन्यु तथा सुशर्मा; स-सुताः—अपने पुत्रों समेत; बाह्लिक-आदयः—बाह्लिक तथा अन्य; राजानः—राजागण; ये—जो; च—तथा; राज-इन्द्र—हे राजाओं में श्रेष्ठ (परीक्षित); युधिष्ठिरम्—युधिष्ठिर को; अनुव्रताः—अनुसरण करते हुए; श्री—ऐश्वर्य तथा सौन्दर्य के; निकेतम्—धाम; वपुः—शरीर; शौरेः—भगवान् कृष्ण का; स-स्तृईकम्—पत्नियों सहित; वीक्ष्य—देखकर; विस्मिताः—चकित।

हे राजाओं में श्रेष्ठ परिक्षित, भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र, गान्धारी तथा उनके पुत्र, पाण्डव तथा

उनकी पत्नियाँ, कुन्ती, सञ्जय, विदुर, कृपाचार्य, कुन्तीभोज, विराट, भीष्मक, महान् नग्नजित, पुरुजित, द्रुपद, शल्य, धृष्टकेतु, काशिराज, दमघोष, विशालाक्ष, मैथिल, मद्र, केकय, युधामन्यु, सुशर्मा, बाह्लिक तथा उसके संगी और उन सबों के पुत्र एवं महाराज युधिष्ठिर के अधीन अन्य अनेक राजा—ये सारे के सारे अपने समक्ष समस्त ऐश्वर्य तथा सौन्दर्य के धाम अपनी पत्नियों के साथ खड़े भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य रूप को देखकर चकित हो गये।

तात्पर्य : ये सारे राजा अब युधिष्ठिर के अनुयायी थे, क्योंकि राजसूय यज्ञ करने के विशेषाधिकार से वे इन सबों को अधीन बना चुके थे। वैदिक आदेश के अनुसार जो क्षत्रिय स्वर्ग जाने के लिए राजसूय यज्ञ करना चाहता है, उसे स्वतंत्र विचरण करने के लिए एक "विजय अश्व" छोड़ना पड़ता है। जिस किसी राजा के राज्य में यह घोड़ा प्रवेश करता है, उसे या तो स्वेच्छा से अधीनता स्वीकार करनी होती है या फिर उस क्षत्रिय से या उसके प्रतिनिधियों से युद्ध करना होता है।

अथ ते रामकृष्णाभ्यां सम्यक्प्राप्तसमर्हणाः ।
प्रशशंसुर्मुदा युक्ता वृष्णीन्कृष्णपरिग्रहान् ॥ २७॥

शब्दार्थ

अथ—तब; ते—वे, उन्होंने; राम-कृष्णाभ्याम्—बलराम तथा कृष्ण द्वारा; सम्यक्—भलीभाँति; प्राप्त—पाकर के; समर्हणाः—उचित सम्मान; प्रशशंसुः—प्रशंसा की; मुदा—हर्ष से; युक्ताः—पूर्ण; वृष्णीन्—वृष्णियों को; कृष्ण—कृष्ण के; परिग्रहान्—निजी संगियों को।

जब बलराम तथा कृष्ण उदारतापूर्वक उनका आदर कर चुके, तो ये राजा अतीव प्रसन्नता एवं उत्साह के साथ श्रीकृष्ण के निजी संगियों की प्रशंसा करने लगे, जो वृष्णि-कुल के सदस्य थे।

अहो भोजपते यूयं जन्मभाजो नृणामिह ।
यत्पश्यथासकृत्कृष्णं दुर्दर्शमपि योगिनाम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; भोज-पते—हे भोजों के स्वामी, उग्रसेन; यूयम्—तुम; जन्म-भाजः—सफल जीवन पाकर; नृणाम्—मनुष्यों के बीच; इह—इस संसार में; यत्—क्योंकि; पश्यथ—देखते हो; असकृत्—बारम्बार; कृष्णम्—कृष्ण को; दुर्दर्शम्—विरले ही देखे जाने वाले; अपि—भी; योगिनाम्—योगियों द्वारा।

[राजाओं ने कहा] : हे भोजराज, आप ही एकमात्र ऐसे हैं, जिन्होंने मनुष्यों में सचमुच उच्च जन्म प्राप्त किया है, क्योंकि आप भगवान् श्रीकृष्ण को निरन्तर देखते हैं, जो बड़े से बड़े

योगियों को भी विरले ही दिखते हैं।

यद्विश्रुतिः श्रुतिनुतेदमलं पुनाति
पादावनेजनपयश्च वचश्च शास्त्रम् ।
भूः कालभर्जितभगापि यदङ्घ्रिपद्म-
स्पर्शोत्थशक्तिरभिवर्षति नोऽखिलार्थान् ॥ २९॥

तद्दर्शनस्पर्शनानुपथप्रजल्प-
शय्यासनाशनसयौनसपिण्डबन्धः ।
येषां गृहे निरयवर्त्मनि वर्ततां वः
स्वर्गापवर्गविरमः स्वयमास विष्णुः ॥ ३०॥

शब्दार्थ

यत्—जिसका; विश्रुतिः—यश; श्रुति—वेदों द्वारा; नुता—गुँजाया; इदम्—इस (ब्रह्माण्ड) को; अलम्—पूरी तरह; पुनाति—पवित्र बनाता है; पाद—जिसके चरणों का; अवनेजन—प्रक्षालन; पयः—जल; च—तथा; वचः—शब्द; च—तथा; शास्त्रम्—शास्त्रों को; भूः—पृथ्वी; काल—समय द्वारा; भर्जित—विनष्ट; भगा—जिसका सौभाग्य; अपि—भी; यत्—जिसके; अङ्घ्रि—पैरों के; पद्म—कमल-सदृश; स्पर्श—छूने से; उत्थ—जागृत; शक्तिः—जिसकी शक्ति; अभिवर्षति—प्रचुर वर्षा करती है; नः—हम पर; अखिल—समस्त; अर्थान्—वांछित वस्तुएँ; तत्—उसके; दर्शन—देखने; स्पर्शन—छूने; अनुपथ—साथ-साथ चलने; प्रजल्प—बातचीत करने; शय्या—विश्राम करने के लिए लेट जाना; आसन—बैठना; अशन—भोजन करना; स-यौन—वैवाहिक सम्बन्धों में; स-पिण्ड—तथा रक्त के सम्बन्ध में; बन्धः—सम्बन्ध; येषाम्—जिनके; गृहे—गृहस्थ-जीवन में; निरय—नरक के; वर्त्मनि—मार्ग पर; वर्तताम्—चलने वाले; वः—तुम्हारे; स्वर्ग—स्वर्ग (प्राप्त करने की इच्छा के); अपवर्ग—तथा मोक्ष; विरमः—विराम (का कारण); स्वयम्—स्वयं; आस—उपस्थित था; विष्णुः—भगवान् विष्णु।

वेदों द्वारा प्रसारित उनका यश, उनके चरणों को प्रक्षलित करने वाला जल और शास्त्रों के रूप में उनके द्वारा कहे गये शब्द—ये सभी इस ब्रह्माण्ड को पूरी तरह शुद्ध करने वाले हैं। यद्यपि काल के द्वारा पृथ्वी का सौभाग्य नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था, किन्तु उनके चरणकमलों के स्पर्श से उसे पुनः जीवनदान मिला है, अतः पृथ्वी हमारी समस्त इच्छाओं की पूर्ति की वर्षा हम पर कर रही है। जो विष्णु स्वर्ग तथा मोक्ष के लक्ष्यों को भुलवा देते हैं, वे आपके साथ वैवाहिक और रक्त सम्बन्ध स्थापित कर चुके हैं, अन्यथा आप लोग गृहस्थ-जीवन के नारकीय पथ पर विचरण करते हैं। निस्सन्देह ऐसे सम्बन्ध होने से आप लोग उन्हें देखते हैं, उनका स्पर्श करते हैं, उनके साथ चलते हैं, उनसे बातें करते हैं, उनके साथ लेट कर आराम करते हैं, उठते-बैठते हैं और भोजन करते हैं।

तात्पर्य : समस्त वैदिक मंत्र भगवान् विष्णु की महिमा का बखान करते हैं। इस सत्य की पुष्टि विद्वान आचार्यों ने विफुल साक्ष्य द्वारा की है—यथा रामानुज ने *वेदार्थ संग्रह* तथा मध्व ने *ऋग्वेद भाष्य* द्वारा की है। भगवान् विष्णु जिन शब्दों को कहते हैं यथा *भगवद्गीता,* वे समस्त शास्त्रों के गुह्य सार

होते हैं। व्यासदेव के रूप में भगवान् ने *वेदान्त सूत्र* तथा *महाभारत* की रचना की और इस *महाभारत* में श्रीकृष्ण के निजी वाक्य हैं—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्।* ''समस्त वेदों के द्वारा मैं जाना जा सकता हूँ। निस्सन्देह मैं वेदान्त का संकलनकर्ता हूँ और वेदों का जानने वाला हूँ।'' (*भगवद्गीता* १५.१५)

जब भगवान् विष्णु बलि महाराज के समक्ष तीन पग भूमि माँगने के लिए प्रकट हुए तो भगवान् का दूसरा पग ब्रह्माण्ड के आवरण में धँस गया। इससे ब्रह्माण्ड के बाहर स्थित दिव्य विरजा नदी का जल भीतर चला आया जो भगवान् वामन के पाँव का प्रक्षालन करके गंगा नदी के रूप में बहने लगा। अपनी पावन उत्पत्ति के कारण ही गंगा सामान्यतया सर्वाधिक पवित्र नदी मानी जाती है। किन्तु इससे भी शक्तिशाली यमुना का जल है, जिसमें भगवान् विष्णु ने अपना आदि-रूप गोविन्द धारण करके अपने घनिष्ठ संगियों के साथ क्रीड़ा की।

इन दो श्लोकों में वहाँ एकत्रित राजा भगवान् कृष्ण के यदुकुल की विशेषताओं की प्रशंसा कर रहे हैं। वे न केवल कृष्ण का दर्शन पाते हैं, अपितु वैवाहिक तथा रक्त सम्बन्ध के द्विविध बन्धनों से उनसे सीधे तौर पर जुड़े हुए हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती सुझाव रखते हैं कि *बन्ध* शब्द अधिक स्पष्ट अर्थ ''सम्बन्ध'' के अतिरिक्त ''पकड़ना'' अर्थ भी देता है, जिससे व्यक्त होता है कि यदुओं में भगवान् के प्रति जो प्रेम है, उससे बँधे रहकर वे सदैव उनके साथ रहते हैं।

श्रीशुक उवाच

नन्दस्तत्र यदून्प्राप्तान्ज्ञात्वा कृष्णपुरोगमान् ।
तत्रागमद्वृतो गोपैरनःस्थार्थैर्दिदृक्षया ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; नन्दः—नन्द महाराज; तत्र—वहाँ; यदून्—यदुओं को; प्राप्तान्—आये हुए; ज्ञात्वा—पाकर; कृष्ण—कृष्ण; पुरः-गमान्—आगे करके; तत्र—वहाँ; अगमत्—गये; वृतः—साथ साथ; गोपैः—ग्वालों के द्वारा; अनः—अपनी अपनी बैलगाड़ियों पर; स्थ—रखी; अर्थैः—सामग्री से; दिदृक्षया—जानने की इच्छा से।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब नन्द महाराज को ज्ञात हुआ कि कृष्ण के नेतृत्व में यदुगण आ चुके हैं, तो वे तुरन्त उनसे भेंट करने गये। सारे ग्वाले अपनी अपनी बैलगाड़ियों में विविध वस्तुएँ लाद कर उनके साथ हो लिए।

तात्पर्य : व्रज के ग्वाले कुरुक्षेत्र में कुछ दिन रुकने की योजना बना रहे थे, इसलिए वे पर्याप्त

सामग्री से साथ लेकर—विशेष रूप से कृष्ण तथा बलराम की रुचि की दूध की बनी तथा अन्य प्रकार की खाद्य वस्तुएँ लेकर—आये थे।

तं दृष्ट्वा वृष्णयो हृष्टास्तन्वः प्राणमिवोत्थिताः ।
परिषस्वजिरे गाढं चिरदर्शनकातराः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको, नन्द को; दृष्ट्वा—देखकर; वृष्णयः—वृष्णिजन; हृष्टाः—प्रसन्न; तन्वः—सजीव शरीर; प्राणम्—प्राण; इव—मानो; उत्थिताः—उठ कर; परिषश्वजिरे—उनका आलिंगन किया; गाढम्—दृढ़ता से; चिर—दीर्घकाल के बाद; दर्शन—देखने से; कातराः—क्षुब्ध।

नन्द को देखकर सारे वृष्णि प्रसन्न हो उठे और इस तरह खड़े हो गये, मानो मृत शरीरों में फिर से प्राण संचार हो गया हो। दीर्घकाल से न देखने के कारण अधिक कष्ट का अनुभव करते हुए, उन्होंने नन्द प्रगाढ़ आलिंगन किया।

वसुदेवः परिष्वज्य सम्प्रीतः प्रेमविह्वलः ।
स्मरन्कंसकृतान्क्लेशान्पुत्रन्यासं च गोकुले ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

वसुदेवः—वसुदेव; परिष्वज्य—(नन्द महाराज का) आलिंगन करके; सम्प्रीतः—अत्यधिक प्रसन्न; प्रेम—प्रेम के कारण; विह्वलः—अपने आप में न रहना; स्मरन्—स्मरण करते हुए; कंस-कृतान्—कंस द्वारा उत्पन्न; क्लेशान्—कष्टों को; पुत्र—अपने पुत्रों की; न्यासम्—विदाई; च—तथा; गोकुले—गोकुल में।

वसुदेव ने बड़े ही हर्ष से नन्द महाराज का आलिंगन किया। प्रेमविह्वल होकर वसुदेव ने कंस द्वारा पहुँचाए गये कष्टों का स्मरण किया, जिसके कारण उन्हें अपने पुत्रों को उनकी रक्षा के लिए गोकुल में छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा।

कृष्णरामौ परिष्वज्य पितरावभिवाद्य च ।
न किञ्चनोचतुः प्रेम्णा साश्रुकण्ठौ कुरूद्वह ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

कृष्ण-रामौ—कृष्ण तथा बलराम; परिष्वज्य—आलिंगन करके; पितरौ—अपने माता-पिता को; अभिवाद्य—अभिवादन करके; च—तथा; न किञ्चन—कुछ नहीं; ऊचतुः—कहा; प्रेम्णा—प्रेमवश; स-अश्रु—आँसुओं से पूर्ण; कण्ठौ—जिनके कण्ठ हैं; कुरु-उद्वह—हे कुरुओं में सर्वाधिक वीर।

हे कुरुओं के वीर, कृष्ण तथा बलराम ने अपने पोषक माता-पिता का आलिंगन किया और उनको नमन किया, लेकिन प्रेमाश्रुओं से उनके गले इतने रुंध गये थे कि वे दोनों कुछ भी नहीं कह पाये।

तात्पर्य : दीर्घकालीन विछोह के बाद आज्ञाकारी बालक को सर्वप्रथम अपने माता-पिता का अभिवादन करना चाहिए। किन्तु नन्द तथा यशोदा ने अपने पुत्रों को इसका अवसर ही नहीं प्रदान किया, क्योंकि ज्योंही उन्होंने अपने पुत्रों को देखा, उन्होंने उनका आलिंगन किया। उसके बाद ही कृष्ण तथा बलराम उन्हें अपना उचित अभिवादन प्रदान कर सके।

तावात्मासनमारोप्य बाहुभ्यां परिरभ्य च ।
यशोदा च महाभागा सुतौ विजहतुः शुचः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

तौ—वे दोनों; आत्म-आसनम्—अपनी गोदों में; आरोप्य—उठाकर; बाहुभ्याम्—अपनी बाहुओं से; परिरभ्य—आलिंगन करके; च—तथा; यशोदा—माता यशोदा; च—भी; महा-भागा—सन्त स्वभाव वाली; सुतौ—अपने पुत्रों को; विजहतुः—त्याग दिया; शुचः—अपना शोक।

अपने दोनों पुत्रों को अपनी गोद में उठाकर और अपनी बाहुओं में भर कर, नन्द तथा सन्त स्वभाव वाली माता यशोदा अपना शोक भूल गये।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि प्रारम्भिक आलिंगन तथा नमस्कार के बाद वसुदेव नन्द तथा यशोदा को अपने डेरे में ले गये। ये कृष्ण तथा बलराम का हाथ पकड़े थे। उनके पीछे पीछे अन्दर जाने वाली रोहिणी, व्रज की अन्य स्त्रियाँ तथा पुरुष एवं अनेक दास थे। भीतर जाकर नन्द तथा यशोदा ने दोनों बालकों को अपनी गोद में ले लिया। द्वारका के दोनों प्रभुओं के यशोगान सुनने के बावजूद तथा अब अपनी आँखों से इन ऐश्वर्यों को देख कर नन्द तथा यशोदा उन्हें अब भी आठ वर्ष के बालक ही समझ रहे थे।

रोहिणी देवकी चाथ परिष्वज्य व्रजेश्वरीम् ।
स्मरन्त्यौ तत्कृतां मैत्रीं बाष्पकण्ठ्यौ समूचतुः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

रोहिणी—रोहिणी; देवकी—देवकी; च—और; अथ—तब; परिष्वज्य—आलिंगन करके; व्रज-ईश्वरीम्—व्रज की रानी (यशोदा) को; स्मरन्त्यौ—स्मरण करते हुए; तत्—अपने; कृतम्—किये हुए; मैतृईम्—दोस्ती; बाष्प—आँसू; कण्ठ्यौ—कण्ठों में; समूचतुः—उन्होंने उससे कहा।

तत्पश्चात् रोहिणी तथा देवकी दोनों ने व्रज की रानी का आलिंगन किया और उन्होंने उनके प्रति, जो सच्ची मित्रता प्रदर्शित की थी, उसका स्मरण करते हुए अश्रु से रुंधे गले से इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार यहाँ पर श्री वसुदेव ने नन्द को उग्रसेन तथा अन्य वरिष्ठ यदुओं से मिलाने के लिए बाहर बुलाया। इस बीच रोहिणी तथा देवकी यशोदारानी से बातें करने लगीं।

का विस्मरेत वां मैत्रीमनिवृत्तां व्रजेश्वरि ।
अवाप्याप्यैन्द्रमैश्वर्यं यस्या नेह प्रतिक्रिया ॥ ३७॥

शब्दार्थ

का—कौन-सी स्त्री; विस्मरेत—भूल सकती है; वाम्—तुम दोनों (यशोदा तथा नन्द) को; मैत्रीम्—मित्रता; अनिवृत्ताम्—निरन्तर; व्रज-ईश्वरि—हे व्रज की रानी; अवाप्य—प्राप्त करके; अपि—भी; ऐन्द्रम्—इन्द्र का; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; यस्याः—जिसके लिए; न—नहीं; इह—इस जगत में; प्रति-क्रिया—उऋण होना या बदला चुकाना।

[रोहिणी तथा देवकी ने कहा] : हे व्रज की रानी, भला ऐसी कौन स्त्री होगी, जो आप तथा नन्द द्वारा हम लोगों के प्रति प्रदर्शित सतत मित्रता को भूल सके? इस संसार में आपका बदला चुकाने का कोई उपाय नहीं है, यहाँ तक कि इन्द्र की सम्पदा से भी नहीं।

एतावदृष्टपितरौ युवयोः स्म पित्रोः
सम्प्रीणनाभ्युदयपोषणपालनानि ।
प्राप्योषतुर्भवति पक्ष्म ह यद्वदक्ष्णो-
र्न्यस्तावकुत्र च भयौ न सतां परः स्वः ॥ ३८॥

शब्दार्थ

एतौ—ये दोनों; अदृष्ट—न देखकर; पितरौ—उनके माता-पिता; युवयोः—तुम दोनों के; स्म—निस्सन्देह; पित्रोः—माता-पिता के; सम्प्रीणन—दुलारना; अभ्युदय—पालन; पोषण—पोषण; पालनानि—तथा सुरक्षा; प्राप्य—प्राप्त करके; ऊषतुः—वे रहते थे; भवति—हे उत्तम नारी; पक्ष्म—पलकें; ह—निस्सन्देह; यद्वत्—जिस तरह; अक्ष्णोः—आँखों की; न्यस्तौ—गिरवी रखना; अकुत्र—कही नहीं; च—तथा; भयौ—जिसका डर; न—नहीं; सताम्—साधु-पुरुषों के लिए; परः—अन्य; स्वः—निजी।

इसके पूर्व कि इन दोनों बालकों ने अपने असली माता-पिता को देखा, आप दोनों ने उनके संरक्षक का कार्य किया और उन्हें सभी तरह से स्नेहपूर्ण देखभाल, प्रशिक्षण, पोषण तथा सुरक्षा प्रदान की। हे उत्तम नारी, वे कभी भी डरे नहीं, क्योंकि आप उनकी वैसे ही रक्षा करती रहीं, जिस तरह पलकें आँखों की रक्षा करती हैं। निस्सन्देह, आप-जैसी सन्त स्वभाव वाली नारियाँ कभी भी अपनों और परायों में कोई भेदभाव नहीं बरततीं।

तात्पर्य : जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती व्याख्या करते हैं, कृष्ण तथा बलराम ने अपने माता-पिता को दो कारणों से नहीं देखा था: एक तो व्रज में उनका भेजे जाना और दूसरे यह कि वे वास्तव में

जन्मे नहीं थे अतएव उनके कोई माता-पिता नहीं थे।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इसका भी वर्णन करते हैं कि देवकी ने यह श्लोक कहने के पूर्व क्या सोचा होगा, ''हाय! चूँकि इतने समय से ये मेरे दोनों पुत्र तुम यशोदा को अपनी संरक्षिका तथा माता मानते आये हैं और तुम्हारे प्रेमपूर्ण व्यवहार के विशाल सागर में इतने निमग्न रहे हैं और अब जब फिर तुम इनके सामने उपस्थित हो तो वे मेरी ओर निहार भी नहीं रहे। यही नहीं, तुम अविवेकी तथा उनके प्रति प्रेमान्ध की तरह आचरण कर रही हो और मेरी अपेक्षा लाखों गुना मातृ-स्नेह प्रदान कर रही हो। इसलिए तुम हम मित्रों को बिना पहचाने हमारी ओर ताक-भर रही हो। इसलिए कुछ स्नेहिल शब्द कहने के बहाने मैं तुम्हें वास्तविकता पर वापस लाऊँगी।''

जब देवकी ने यशोदा को सम्बोधित करने पर भी कोई उत्तर नहीं पाया तो रोहिणी ने कहा, ''हे देवकी! इस समय इन्हें इस भाव-समाधि से निकाल पाना असम्भव है। हम अरण्य-रोदन कर रही हैं। इनके दोनों पुत्र स्नेह-रज्जुओं द्वारा इन्हीं के समान इनसे बँधे हैं। इसलिए चलिये, हम बाहर चल कर पृथा, द्रौपदी और सबों से भेंट करें।''

श्रीशुक उवाच

गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं
यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति ।
दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वा-
स्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; गोप्यः—तरुण गोपियाँ; च—तथा; कृष्णम्—कृष्ण को; उपलभ्य—निहार कर; चिरात्—बहुत दिनों से; अभीष्टम्—अपनी इच्छित वस्तु को; यत्—जिसको; प्रेक्षणे—देखते हुए; दृशिषु—उनकी आँखों पर; पक्ष्म—पलकों के; कृतम्—बनाने वाले को; शपन्ति—कोसती हैं; दृग्भिः—उनकी आँखों से; हृदी-कृतम्—अपने हृदयों में बसाये हुए; अलम्—जी-भरकर; परिरभ्य—आलिंगन करके; सर्वाः—वे सभी; तत्—उसकी; भावम्—प्रेम-तल्लीनता; आपुः—प्राप्त की; अपि—यद्यपि; नित्य—निरन्तर; युजाम्—योगविद्या में लगे रहने वालों के लिए; दुरापम्—प्राप्त करना कठिन, दुष्प्राप्य।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : अपने प्रिय कृष्ण पर टकटकी लगाये हुई तरुण गोपियाँ अपनी पलकों के सृजनकर्ता को कोसा करती थीं (क्योंकि वे उनका दर्शन करने में कुछ पलों के लिए बाधक होती थीं)। अब दीर्घकालीन विछोह के बाद कृष्ण को पुनः देखकर उन्हें अपनी आँखों के द्वारा ले जाकर, उन्होंने अपने हृदय में बिठा लिया और वहीं उनका जी-भरकर आलिंगन

किया। इस तरह वे उनके आनन्दमय ध्यान में पूरी तरह निमग्न हो गईं, यद्यपि योगविद्या का निरन्तर अभ्यास करने वाले को ऐसी तल्लीनता प्राप्त कर पाना कठिन होता है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार तभी बलराम ने गोपियों को कुछ दूरी पर खड़े देखा। उन्हें कृष्ण से भेंट करने की उत्सुकता से काँपती हुई और न मिल पा सकने पर वे अपना प्राण तक दे सकने की अवस्था देखकर उन्होंने चतुराई से उठ कर अलग चले जाने और किसी दूसरे कार्य में लग जाने का निश्चय किया। तब गोपियों को इस श्लोक में वर्णित अवस्था प्राप्त हुई। गोपियों द्वारा ''पलकों के सृजनकर्ता'' ब्रह्मा के प्रति असह्य अनादर का उल्लेख करके शुकदेव गोस्वामी ने गोपियों के पक्ष के प्रति सूक्ष्म ईर्ष्या व्यक्त की है।

श्रील जीव गोस्वामी ने *नित्ययुजाम्* पद का अन्य अर्थ दिया है ''भगवान् की पटरानियों तक का, जिन्हें कृष्ण के निरन्तर सान्निध्य का गर्व प्रतीत होता था।''

भगवान् श्रीकृष्ण में श्रील प्रभुपाद लिखते हैं—

''चूँकि वे श्रीकृष्ण से इतने अधिक वर्षों तक अलग रही थीं, अतएव नन्द महाराज और माता यशोदा के साथ आकर और श्रीकृष्ण को देखकर गोपियों को परमानन्द का अनुभव हुआ। कोई भी व्यक्ति इस बात की कल्पना नहीं कर सकता कि श्रीकृष्ण को पुनः देखने के लिए गोपियाँ कितनी उत्सुक थीं। जैसे ही उन्हें श्रीकृष्ण दिखे वैसे ही उन्होंने अपने नेत्रों के द्वारा उन्हें अपने हृदय में बिठा लिया और तब तक आलिंगन करती रहीं, जब तक सन्तुष्ट नहीं हो लीं। यद्यपि वे कृष्ण का आलिंगन मन ही मन कर रही थीं तथापि आनन्द के कारण वे इतनी भाव-विभोर हो उठीं कि कुछ समय के लिए वे अपने आप को पूरी तरह से भूल गईं। गोपियों ने कृष्ण का मन ही मन आलिंगन करके जो परमानन्द प्राप्त किया था उस दिव्यानन्द को प्राप्त कर पाना उन महान् योगियों के लिए भी असम्भव है, जो सदैव भगवान् के चिन्तन में लीन रहते हैं। श्रीकृष्ण को यह भान था कि गोपियाँ मन ही मन उनका आलिंगन करके परमानन्द में लीन थीं, किन्तु सबों के हृदय में उपस्थित होने से उन्होंने भी प्रत्युत्तर में मन ही मन गोपियों का आलिंगन किया।''

भगवांस्तास्तथाभूता विविक्त उपसङ्गतः ।

आश्लिष्यानामयं पृष्ट्वा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ ० ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् ने; ताः—उनको; तथा-भूताः—ऐसी दशा में होते हुए; विविक्ते—एकान्त स्थान में; उपसङ्गतः—जाकर; आश्लिष्य—आलिंगन करके; अनामयम्—स्वास्थ्य के (कुशलता) विषय में; पृष्ट्वा—पूछ कर; प्रहसन्—हँसते हुए; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा।

जब गोपियाँ भावमग्न खड़ी थीं, तो भगवान् एकान्त स्थान में उनके पास पहुँचे। हर एक का आलिंगन करने तथा उनकी कुशल-क्षेम पूछने के बाद वे हँसने लगे और इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका है कि कृष्ण ने अपनी *विभूति शक्ति* से प्रत्येक गोपी का आलिंगन करने के लिए अपना विस्तार किया और इस तरह हर एक की समाधि तोड़ी। उन्होंने पूछा, ''अब अपनी विछोह-पीड़ा से मुक्त हुई कि नहीं ?'' और उनका जी हल्का करने के लिए हँसने लगे।

अपि स्मरथ नः सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षया ।
गतांश्चिरायिताञ्छत्रुपक्षक्षपणचेतसः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

अपि—क्या; स्मरथ—तुम स्मरण करती हो; नः—हमको; सख्यः—सखियाँ; स्वानाम्—अपने प्रियजनों के; अर्थ—हेतु; चिकीर्षया—करने की इच्छा से; गतान्—गये हुए; चिरायितान्—दीर्घकाल तक रहते हुए; शत्रु—हमारे शत्रुओं के; पक्ष—टोली; क्षपण—विनष्ट करने की; चेतसः—मनोभाव वाले।

[भगवान् कृष्ण ने कहा] : हे सखियो, क्या अब भी तुम लोग मेरी याद करती हो ? मैं अपने सम्बन्धियों के लिए ही हमारे शत्रुओं का विनाश करने के लिए इतने लम्बे समय तक दूर रहता रहा।

अप्यवध्यायथास्मान्स्विदकृतज्ञाविशङ्कया ।
नूनं भूतानि भगवान्युनक्ति वियुनक्ति च ॥ २ ॥

शब्दार्थ

अपि—भी; अवध्यायथ—घृणा करती हो; अस्मान्—हमें; स्वित्—शायद; अकृत-ज्ञ—कृतघ्न के रूप में; आविशङ्कया—सन्देह से; नूनम्—निस्सन्देह; भूतानि—सारे जीव; भगवान्—भगवान्; युनक्ति—मिलाता है; वियुनक्ति—विलग करता है; च—तथा।

शायद तुम सोचती हो कि मैं कृतघ्न हूँ और इसलिए मुझे घृणा से देखती हो ? अन्ततोगत्वा, सारे जीवों को पास लाने वाला और फिर उन्हें विलग करने वाला, तो भगवान् ही है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती गोपियों के भावों को इस प्रकार उद्घाटित करते हैं, ''हम तुम

जैसी नहीं हैं, जिसने दिन-रात हमारा स्मरण करते हुए अपना मन तोड़ दिया और विछोह के शोक में सारे इन्द्रिय-भोगों का परित्याग कर दिया हो। प्रत्युत हमने तुम्हारी रंच-भर भी याद नहीं की। वास्तव में, हम तो तुम्हारे बिना परम प्रसन्न रही हैं।'' इसके उत्तर में कृष्ण यहाँ पूछते हैं कि क्या वे सब उनकी अकृतज्ञता से नाराज हैं।

वायुर्यथा घनानीकं तृणं तूलं रजांसि च ।
संयोज्याक्षिपते भूयस्तथा भूतानि भूतकृत् ॥ ३॥

शब्दार्थ

वायुः—वायु; यथा—जिस तरह; घन—बादलों के; अनीकम्—समूहों को; तृणम्—तिनकों को; तूलम्—रुई को; रजांसि—धूल को; च—तथा; संयोज्य—पास लाकर; आक्षिपते—दूर-दूर फेंक देती है; भूयः—एक बार फिर; तथा—उसी प्रकार; भूतानि—जीवों को; भूत—जीवों के; कृत्—बनाने वाले।

जिस तरह वायु बादलों के समूहों, घास की पत्तियों, रुई के फाहों तथा धूल के कणों को पुनः बिखेर देने के लिए ही पास पास लाती है, उसी तरह स्रष्टा अपने द्वारा सृजित जीवों के साथ व्यवहार करता है।

मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ॥ ॥

शब्दार्थ

मयि—मुझमें; भक्तिः—भक्ति; हि—निस्सन्देह; भूतानाम्—जीवों के लिए; अमृतत्वाय—अमरता के लिए; कल्पते—ले जाता है; दिष्ट्या—सौभाग्य से; यत्—जो; आसीत्—बनाया; मत्—मेरे लिए; स्नेहः—स्नेह; भवतीनाम्—आप लोगों के लिए; मत्—मुझको; आपनः—प्राप्त करने का कारणस्वरूप।

कोई भी जीव मेरी भक्ति करके शाश्वत जीवन प्राप्त करने के लिए सुयोग्य बन जाता है। किन्तु तुम लोगों ने अपने सौभाग्य से मेरे प्रति ऐसी विशेष प्रेममय प्रवृत्ति विकसित कर ली है, जिसके द्वारा तुम सबों ने मुझे पा लिया है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार तब गोपियों ने उत्तर दिया, ''हे वक्ताओं में सर्वाधिक चतुर! तुम जिस परमेश्वर को दोष दे रहे हो वह साक्षात् तुम्हीं हो। विश्व का हर प्राणी इसे जानता है। तो भला हम इस तथ्य से अनजान क्यों बनी रहतीं?'' तब भगवान् कृष्ण ने उनसे कहा, ''यदि यह सच है, तो मैं ईश्वर हो सकता हूँ, किन्तु तो भी मैं तुम्हारे प्रेम-व्यापार से जीत लिया गया हूँ।''

**अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः ।
भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः ॥ ५ ॥**

शब्दार्थ

अहम्—मैं; हि—निस्सन्देह; सर्व—समस्त; भूतानाम्—जीवों का; आदिः—प्रारम्भ; अन्तः—अन्त; अन्तरम्—भीतर; बहिः—बाहर; भौतिकानाम्—समस्त भौतिक वस्तुओं का; यथा—जिस तरह; खम्—आकाश; वाः—जल; भूः—पृथ्वी; वायुः—वायु; ज्योतिः—तथा अग्नि; अङ्गनाः—हे स्त्रियो।.

हे स्त्रियो, मैं सारे जीवों का आदि तथा अन्त हूँ और मैं उनके भीतर तथा बाहर उसी तरह विद्यमान हूँ, जिस तरह आकाश, जल, पृथ्वी, वायु तथा अग्नि समस्त भौतिक वस्तुओं के आदि एवं अन्त हैं और उनके भीतर-बाहर विद्यमान रहते हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी तथा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार इस श्लोक में भगवान् कृष्ण यह कहना चाहते हैं, ''यदि तुम जानती हो कि मैं भगवान् हूँ, तो मेरे विछोह से तुम्हें कष्ट उठाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि मैं सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त हूँ। तुम्हारा दुख तुम्हारे विवेक के अभाव के कारण हुआ होगा। अतएव मुझसे यह शिक्षा लो, जिससे तुम्हारा अज्ञान जाता रहेगा।

किन्तु सच तो यह है कि तुम गोपियाँ पिछले जन्म में योगेश्वर थीं, अतएव तुम पहले से ही *ज्ञान योग* को जानती रही होगी। यही नहीं, मैं तुम्हें चाहे इसके बारे में सीधे शिक्षा दूँ या अपने प्रतिनिधि के माध्यम से यथा उद्धव द्वारा, तो इससे वांछित फल प्राप्त नहीं होगा। *ज्ञान योग* उन लोगों को कष्ट पहुँचाने वाला है, जो भगवान् के शुद्ध प्रेम में पूरी तरह लीन रहते हैं।''

**एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्मात्मना ततः ।
उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे ॥ ६ ॥**

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; हि—निस्सन्देह; एतानि—ये; भूतानि—सारे जीव; भूतेषु—सृष्टि के तत्त्वों के भीतर; आत्मा—आत्मा; आत्मना—अपने असली स्वरूप में; ततः—व्याप्त; उभयम्—दोनों; मयि—मेरे भीतर; अथ—अर्थात्; परे—परम सत्य के भीतर; पश्यत—तुम्हें देखना चाहिए; आभातम्—प्रकट; अक्षरे-विथिन् थे इम्पेरिशब्ले.

इस तरह समस्त उत्पन्न की गई वस्तुएँ सृष्टि के मूलभूत तत्त्वों के भीतर निवास करती हैं और अपने असली स्वरूप में बनी रहती हैं, किन्तु आत्मा सारी सृष्टि में व्याप्त रहता है। तुम्हें इन दोनों ही को—भौतिक सृष्टि तथा आत्मा को—मुझ अक्षर ब्रह्म के भीतर प्रकट देखना चाहिए।

तात्पर्य : मनुष्य को इस जगत की भौतिक वस्तुओं, इनमें निहित मूलभूत तत्त्वों, अनेक आत्माओं

तथा एक परमात्मा के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध को भलीभाँति समझना चाहिए। भौतिक भोग की विविध वस्तुएँ—यथा बर्तन, नदियाँ एवं पर्वत—मूलभूत भौतिक तत्त्वों—पृथ्वी, जल, अग्नि इत्यादि से बनी हैं। ये तत्त्व भौतिक वस्तुओं में हेतु-रूप में व्यापक रहते हैं, जबकि आत्माएँ उनके भोक्ता के विशेष रूप में (*स्वात्मना*) उनके भीतर व्याप्त रहती हैं। अन्ततः ये सारे भौतिक तत्त्व, उनसे बने पदार्थ तथा सारे जीव अविनाशी, सम्पूर्ण परमात्मा कृष्ण के भीतर प्रकट होते हैं और उन्हीं में व्याप्त रहते हैं।

इन तथ्यों की अनुभूति वाले ज्ञानी को किसी भी स्थिति में भगवान् से विछोह का अनुभव नहीं करना चाहिए। लेकिन व्रज की गोपियाँ कृष्णभावनामृत में सामान्य ज्ञानियों से अधिक उन्नत हैं। मानव रूप सर्व-आकर्षक ग्वालबाल के रूप में कृष्ण के प्रति गहन प्रेम के कारण कृष्ण की अन्तरंगा शक्ति योगमाया ने भगवान् के सर्वव्यापक होने जैसे उनके सारे तेजस्वी पहलुओं के ज्ञान को आच्छादित कर दिया। इस तरह उनके विछोह से उत्पन्न प्रेम में गोपियाँ गहन प्रेम का आनन्द पा सकीं। कृष्ण विनोदवश उनमें आध्यात्मिक विवेक का अभाव बतलाते हैं।

श्रीशुक उवाच
अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षिताः ।
तदनुस्मरणध्वस्तजीवकोशास्तमध्यगन् ॥ ७॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अध्यात्म—आत्मा विषयक; शिक्षया—शिक्षा से; गोप्यः—गोपियाँ; एवम्—इस प्रकार; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; शिक्षिताः—पढ़ाई गई; तत्—उनका; अनुस्मरण—निरन्तर ध्यान से; ध्वस्त—विनष्ट; जीव-कोशाः—आत्मा का सूक्ष्म आवरण (मिथ्या अहंकार); तम्—उसको; अध्यगन्—समझ सकीं।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : कृष्ण द्वारा आध्यात्मिक विषयों में शिक्षा दिये जाने पर गोपियाँ मिथ्या अहंकार के समस्त कलुषों से मुक्त हो गईं क्योंकि वे उनका निरन्तर ध्यान करती थीं। वे उनमें अपनी गहन निमग्नता के कारण उन्हें पूरी तरह समझ सकीं।

तात्पर्य : *लीली पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण* में श्रील प्रभुपाद इस उद्धरण को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—"भेदाभेद दर्शन के विषय में श्रीकृष्ण द्वारा शिक्षा दिये जाने पर गोपियाँ सदैव कृष्णभावनामृत में रहती रहीं और इस तरह वे भौतिक दूषण से मुक्त हो गईं। उस जीवात्मा की चेतना *जीव कोश* कहलाती है, जो मिथ्या रूप से स्वयं को भौतिक जगत का भोक्ता मानता है। *जीव कोश* का अर्थ है मिथ्या अहंकार द्वारा बन्धन। केवल गोपियाँ ही नहीं अपितु कोई भी व्यक्ति जो श्रीकृष्ण के इन उपदेशों

का पालन करता है तुरन्त जीव कोश के बन्धन से मुक्त हो जाता है। कृष्णभावनामृत में पूर्णतया स्थित व्यक्ति सदैव ही मिथ्या अहंकार से मुक्त हो जाता है, वह प्रत्येक वस्तु का उपयोग कृष्ण-सेवा में करने लगता है और क्षण-भर के लिए भी श्रीकृष्ण से विलग नहीं होता।''

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः ।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
गेहं जुषामपि मनस्युदियात्सदा नः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

आहुः—गोपियों ने कहा; च—तथा; ते—तुम्हारा; नलिन-नभ—कमल के फूल जैसी नाभि वाले, हे भगवान्; पद-अरविन्दम्—चरणकमलों को; योग-ईश्वरैः—बड़े-बड़े योगियों द्वारा; हृदि—हृदय के भीतर; विचिन्त्यम्—ध्यान करने योग्य; अगाध-बोधैः—जो प्रकाण्ड दार्शनिक थे; संसार-कूप—इस संसाररूपी अँधेरे कुएँ में; पतित—गिरे हुओं के; उत्तरण—उद्धारकों के; अवलम्बम्—एकमात्र आश्रय को; गेहम्—पारिवारिक मामले; जुषाम्—लगे हुओं के; अपि—यद्यपि; मनसि—मनों में; उदियात्—उदित हो; सदा—सदैव; नः—हमारे।

गोपियाँ इस प्रकार बोलीं : हे कमलनाभ प्रभु, आपके चरणकमल उन लोगों के लिए एकमात्र शरण हैं, जो भौतिक संसाररूपी गहरे कुएँ में गिर गये हैं। आपके चरणों की पूजा तथा ध्यान बड़े बड़े योगी तथा प्रकाण्ड दार्शनिक करते हैं। हमारी यही इच्छा है कि ये चरणकमल हमारे हृदयों के भीतर उदित हों, यद्यपि हम सभी गृहस्थकार्यों में व्यस्त रहने वाली सामान्य प्राणी मात्र हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक के शब्दार्थ तथा भावार्थ श्रील प्रभुपाद कृत *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (मध्य १.८१) में आये श्लोक के अंग्रेजी पाठ के अनुसार हैं।

गोपियाँ जिस ईर्ष्या की मुद्रा में ये आदरपूर्ण वाक्य छलपूर्वक कहती हैं उसका उद्घाटन करते हुए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती उनके कथन को इस प्रकार देते हैं—''हे प्रभु! हे प्रत्यक्ष परमात्मा, हे ज्ञानोपदेशकों के मुकुटमणि! घर, सम्पत्ति तथा परिवार के प्रति हमारी अत्यधिक अनुरक्ति से आप भलीभाँति अवगत हैं। इसीलिए आपने हमारे अज्ञान को दूर करने के लिए पहले उद्धव को भेजा था और अब वही कार्य स्वयं किया है। इस तरह आपने हमारे हृदय की मलिनता दूर कर दी है। फलस्वरूप हम अपने प्रति आपके शुद्ध प्रेम को समझती हैं, जो हमारे मोक्ष के अतिरिक्त और किसी उद्देश्य से नहीं है। लेकिन हम अज्ञानी ग्वालिनें हैं, भला यह ज्ञान हमारे हृदयों में किस तरह स्थिर बना

रह सकता है? हम आपके उन चरणों का स्थायी रूप से ध्यान भी नहीं कर पातीं, जो ब्रह्मा जैसे महात्माओं के लिए आपके साक्षात्कार के लक्ष्य हैं। आप हम पर कृपालु हों और ऐसा करें कि हम आपमें अपने को किंचित् मात्र एकाग्र कर सकें। हम अब भी अपने कर्मफल भोग रही हैं, अतएव हम आपका ध्यान कैसे कर सकती हैं, जो महान् योगियों के भी लक्ष्य हैं? ऐसे योगी अपार बुद्धिमान होते हैं, किन्तु हम तो दुर्बल मनवाली स्त्रियाँ हैं। आप कुछ ऐसा करें, जिससे भौतिक जीवन के इस गहरे कूप से हम उबर सकें।

शुद्ध भक्तों को न तो भौतिक उत्थान की, न ही आध्यात्मिक मोक्ष की कभी इच्छा रहती है। और यदि भगवान् उन्हें ऐसे वर प्रदान करते हैं, तो भक्तगण प्राय: उन्हें अंगीकार करने से मना कर देते हैं। जैसाकि भगवान् कृष्ण ने *श्रीमद्भागवत* के ग्यारहवें स्कन्ध में(११.२०.३) कहा है—

न किञ्चित् साधवो धीरा भक्त ह्येकान्तिनो मम।

वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥

"चूँकि मेरे भक्तों में सन्त स्वभाव तथा गम्भीर बुद्धि रहती है, अतएव वे पूर्णतया मुझमें आत्मसमर्पण कर देते हैं और मेरे अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की इच्छा नहीं करते। दरअसल, यदि मैं उन्हें जन्म-मरण से मुक्ति भी प्रदान करूँ तो वे उसे स्वीकार नहीं करते।" इसीलिए यह उचित ही है कि जब कृष्ण उन्हें ज्ञान योग की शिक्षा देने का प्रयास करते हैं, तो वे किञ्चित ईर्ष्यापूर्ण क्रोध से उत्तर देती हैं।

इस तरह श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार, इस श्लोक में गोपियाँ जो वचन कहती हैं उसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है, "हे अज्ञान के अंधकार को दूर करने वाले सूर्य! हम इस दार्शनिक ज्ञानरूपी सूर्य की किरणों से झुलस रही हैं। हम तो चकोर हैं, जो आपके सुन्दर मुखमण्डल से निकलती हुई ज्योत्स्ना पर निर्भर करती हैं। कृपया हमारे साथ वृन्दावन वापस चलें और हमें पुन: जीवनदान दें।"

और यदि कृष्ण यह कहें कि "द्वारका चलो, वहाँ हम मिल कर आनन्द लूटेंगे" तो वे उत्तर देंगी कि श्री वृन्दावन उनका घर है और वे उससे इतनी अनुरक्त हैं कि अन्यत्र कहीं निवास नहीं कर सकतीं। केवल वहीं पर, गोपियों का अभिप्राय है, कृष्ण अपनी पाग में मोरपंख खोंस कर तथा अपनी वंशी के

मोहक संगीत से उन्हें आकृष्ट कर सकेंगे। यदि वे वृन्दावन में फिर से प्रकट हों तभी गोपियाँ बच सकती हैं, किसी प्रकार के ध्यान या आत्मा सम्बन्धी सैद्धान्तिक ज्ञान से नहीं।''

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''वृन्दावनवासियों से कृष्ण तथा बलराम की भेंट'' नामक बयासिवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तिरासी

कृष्ण की रानियों से द्रौपदी की भेंट

इस अध्याय में उस वार्ता का वर्णन हुआ है, जो द्रौपदी तथा भगवान् कृष्ण की पटरानियों के बीच हुई, जिसमें हर रानी यह बतलाती है कि भगवान् ने किस प्रकार उनके साथ ब्याह किया।

गोपियों से मिलने के बाद श्रीकृष्ण ने लौट कर राजा युधिष्ठिर तथा उनके अन्य सम्बन्धियों की कुशल-क्षेम पूछी। उन्होंने उत्तर दिया, ''हे नाथ! जिसने एक बार भी अपने कानों को आपकी लीलाओं के मधु से आपूरित कर लिया है, वह दुर्भाग्य को जानता ही नहीं।''

तत्पश्चात् द्रौपदी ने भगवान् कृष्ण की पत्नियों से पूछा कि भगवान् ने किस तरह उनसे विवाह किया? सर्वप्रथम महारानी रुक्मिणी बोलीं, ''जरासन्ध आदि अनेक राजा मुझे शिशुपाल को प्रदान करने पर तुले थे। इसलिए वे मेरी शादी के समय अपने हाथों में धनुष धारण किये किसी विपक्षी के विरुद्ध शिशुपाल की सहायता करने के लिए सन्नद्ध थे। किन्तु कृष्ण आये और बलपूर्वक मुझे उसी तरह ले गये, जिस तरह बकरियों तथा भेड़ों के बीच से सिंह अपना शिकार ले जाता है।''

रानी सत्यभामा ने कहा, ''जब मेरे चाचा प्रसेन मार डाले गये, तो मेरे पिता सत्राजित ने कृष्ण पर हत्या का झूठा आरोप लगाया। अपने नाम को निष्कलंक करने के लिए कृष्ण ने जाम्बवान को हराया, स्यमन्तक मणि प्राप्त की और उसे लाकर सत्राजित को दे दी। मेरे पिता को पछतावा हुआ, अत: उन्होंने वह मणि तथा उसी के साथ मुझको भी उनके हाथों सौंप दिया।''

रानी जाम्बवती ने कहा, ''जब श्रीकृष्ण स्यमन्तक मणि की खोज करते-करते मेरे पिता की गुफा में घुसे, तो पहले तो मेरे पिता जाम्बवान यह समझ ही नहीं पाये कि वे कौन थे। अतएव मेरे पिता

उनसे सत्ताइस दिनों और रातों तक निरन्तर युद्ध करते रहे। अन्त में जाम्बवान को समझ में आया कि कृष्ण अन्य कोई न होकर, उनके आराध्य भगवान् रामचन्द्र हैं। इस तरह उन्होंने कृष्ण को मेरे सहित स्यमन्तक मणि दे दी।''

कालिन्दी ने कहा, ''मुझे कृष्ण को पति रूप में पाने के लिए कठिन तपस्या करनी पड़ी। एक दिन भगवान् कृष्ण अर्जुन के साथ मेरे पास आये और उस समय भगवान् ने मुझसे ब्याह करना स्वीकार कर लिया।''

मित्रविन्दा ने कहा, ''श्रीकृष्ण मेरे स्वयंवर उत्सव में आये थे, जहाँ वे विरोध कर रहे सारे राजाओं को हराकर, मुझे अपनी नगरी द्वारका ले गये।''

महारानी सत्या ने कहा, ''मेरे पिता ने यह प्रण ठान रखा था कि जो कोई सात बलशाली साँड़ों को वश में करके उन्हें बाँध लेगा, उसी को मेरा हाथ देंगे। इस चुनौती को स्वीकार करते हुए भगवान् कृष्ण ने खेल खेल में ही उनका दमन किया और विवाह के सारे प्रतिद्वन्द्वी इच्छुकों को हराकर मुझे ब्याहा।''

रानी भद्रा ने कहा, ''मेरे पिता ने अपने भांजे कृष्ण को निमंत्रण दिया, क्योंकि मैं पहले ही उन्हें अपना दिल दे चुकी थी। अत: उन्होंने मुझे उनकी दुलहन के रूप में सौंप दिया। दहेज में पूरी सैनिक टुकड़ी तथा मेरी अनेक सहेलियाँ दी गई थीं।''

रानी लक्ष्मणा ने द्रौपदी से कहा, ''मेरे स्वयंवर में तुम्हारे ही स्वयंवर की तरह छत से एक मछली बाँध दी गई थी। लेकिन वह मछली चारों ओर से ढक दी गई थी। केवल उसकी छाया नीचे जल-भरे पात्र में देखी जा सकती थी। कई राजाओं ने बाण से मछली को बेधना चाहा, किन्तु ऐसा कर नहीं पाये। तब अर्जुन ने प्रयास किया। उन्होंने जल में मछली की छाया पर निशाना साध कर, जब बाण छोड़ा, तो वह लक्ष्य को केवल छूता हुआ निकल गया। तब श्रीकृष्ण ने अपने धनुष पर बाण चढ़ाया और ऐसा निशाना लगाया कि मछली जमीन पर आ गिरी। मैंने विजयमाला श्रीकृष्ण के गले में डाल दी, किन्तु जो राजा असफल हुए थे उन्होंने तीव्र विरोध किया। भगवान् कृष्ण उनसे वीरतापूर्वक लड़े और उनमें से कइयों के सिर, भुजाएँ तथा पाँव काट डाले और जो बचे वे अपनी जान लेकर भाग गये। तब भगवान् भव्य विवाह करने के लिए मुझे द्वारका ले गये।''

रोहिणीदेवी ने अन्य सभी रानियों की ओर से बतलाया कि वे भौमासुर द्वारा पराजित राजाओं की

कन्याएँ थीं। उस असुर ने उन्हें बन्दी बना रखा था, किन्तु जब भगवान् कृष्ण ने उसे मार कर सबों को छुड़ाया, तो उन्होंने उन सबों के साथ विवाह कर लिया।

श्रीशुक उवाच
तथानुगृह्य भगवान्गोपीनां स गुरुर्गतिः ।
युधिष्ठिरमथापृच्छत्सर्वांश्च सुहृदोऽव्ययम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; तथा—इस तरह से; अनुगृह्य—अनुग्रह दिखलाकर; भगवान्—भगवान् ने; गोपीनाम्—तरुण गोपियों के; सः—वह; गुरुः—उनका गुरु; गतिः—तथा लक्ष्य; युधिष्ठिरम्—युधिष्ठिर से; अथ—तब; अपृच्छत्—पूछा; सर्वान्—सबों के; च—तथा; सु-हृदः—अपने शुभचिन्तक परिवार वालों; अव्ययम्—कुशल-क्षेम।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह गोपियों के आध्यात्मिक गुरु तथा उनके जीवन के गन्तव्य भगवान् कृष्ण ने उन पर अपनी कृपा प्रदर्शित की। तत्पश्चात् वे युधिष्ठिर तथा अपने अन्य सभी सम्बन्धियों से मिले और उनसे उनकी कुशलता पूछी।

तात्पर्य : यहाँ पर *गुरुर्गतिः* शब्दों का ''गुरु तथा गन्तव्य'' के रूप में किया गया है। किन्तु श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने एक और अर्थ दिया है। जहाँ भगवान् कृष्ण सामान्यतः सभी साधुओं के लक्ष्य हैं, वहीं गोपियों के लिए वे विशेष रूप से वह गन्तव्य हैं, जो गुरु है—इस बात में ''प्रधान'' हैं क्योंकि अन्य सारे सम्भावित गन्तव्यों को वे पूरी तरह ग्रस लेते हैं।

त एवं लोकनाथेन परिपृष्टाः सुसत्कृताः ।
प्रत्यूचुर्हृष्टमनसस्तत्पादेक्षाहतांहसः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ते—वे (युधिष्ठिर तथा भगवान् कृष्ण के अन्य सम्बन्धी); एवम्—इस प्रकार; लोक—ब्रह्माण्ड के; नाथेन—स्वामी द्वारा; परिपृष्टाः—पूछे जाकर; सु—अत्यधिक; सत्-कृताः—सम्मानित; प्रत्यूचुः—उत्तर दिया; हृष्ट—प्रसन्न; मनसः—मन वाले; तत्—उसका; पाद—पैर; ईक्षा—देखने से; हत—विनष्ट; अंहसः—जिसके पाप।

ब्रह्माण्ड के स्वामी के चरणों को देखकर समस्त पापों से मुक्त राजा युधिष्ठिर तथा अन्यों ने अत्यधिक सम्मानित अनुभव करते हुए उनके प्रश्नों का खुशी खुशी उत्तर दिया।

कुतोऽशिवं त्वच्चरणाम्बुजासवं
महन्मनस्तो मुखनिःसृतं क्वचित् ।
पिबन्ति ये कर्णपुटैरलं प्रभो
देहंभृतां देहकृदस्मृतिच्छिदम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

कुतः—कहाँ से; अशिवम्—अशुभ; त्वत्—तुम्हारे; चरण—पाँवों के; अम्बुज—कमलवत्; आसवम्—मदोन्मत्तकारी अमृत को; महत्—महात्माओं के; मनस्तः—मनों से; मुख—उनके मुँहों से होकर; निःसृतम्—निकला हुआ; क्वचित्—किसी समय; पिबन्ति—पीते हैं; ये—जो; कर्ण—उनके कानों के; पुटैः—प्यालों से; अलम्—इच्छानुसार; प्रभो—हे प्रभु; देहम्—भौतिक शरीर; भृताम्—धारण करने वालों के लिए; देह—देहों के; कृत्—स्रष्टा के विषय में; अस्मृति—विस्मरण के; छिदम्—उच्छेदक।

[भगवान् कृष्ण के सम्बन्धियों ने कहा] : हे प्रभु, उन लोगों का अमंगल कैसे हो सकता है, जिन्होंने आपके चरणकमलों से निकले अमृत का छक कर पान किया हो? यह मदोन्मत्तकारी तरल बड़े बड़े भक्तों के मनों से बहता हुआ, उनके मुखों से निकल कर, उनके कान रूपी प्यालों में उड़ेला जाता है। यह देहधारी जीवात्माओं द्वारा अपने शरीर के बनाने वाले के प्रति विस्मृति को विनष्ट करता है।

हि त्वात्म धामविधुतात्मकृतत्र्यवस्था-
मानन्दसम्प्लवमखण्डमकुण्ठबोधम् ।
कालोपसृष्टनिगमावन आत्तयोग-
मायाकृतिं परमहंसगतिं नताः स्म ॥ ॥

शब्दार्थ

हि—निस्सन्देह; त्वा—तुमको; आत्म—आपके साकार रूप का; धाम—प्रकाश द्वारा; विधुत—दूर किया हुआ; आत्म—भौतिक चेतना द्वारा; कृत—उत्पन्न; त्रि—तीन; अवस्थाम्—भौतिक अवस्थाएँ; आनन्द—आनन्द में; सम्प्लवम्—(जिसके भीतर) पूर्णतया निमग्न; अखण्डम्—अनन्त; अकुण्ठ—अनियंत्रित; बोधम्—जिसका ज्ञान; काल—समय द्वारा; उपसृष्ट—संकटग्रस्त; निगम—वेदों के; अवने—संरक्षण के लिए; आत्त—धारण करते हुए; योग-माया—अपनी योगमाया द्वारा; आकृतिम्—इस स्वरूप को; परम-हंस—पूर्ण-सन्तों के; गतिम्—लक्ष्य को; नताः स्म—(हम) नतमस्तक हैं।

आपके स्वरूप का तेज भौतिक चेतना के त्रिगुण प्रभावों को दूर करता है और आपके अनुग्रह से हम पूर्ण सुख में निमग्न हो जाते हैं। आपका ज्ञान अविभाज्य तथा असीम है। अपनी योगमाया शक्ति से आपने उन वेदों की रक्षा करने के लिए यह मानव रूप धारण किया है, जो कालक्रम से संकटग्रस्त हो गये थे। हे पूर्ण-सन्तों के चरम लक्ष्य, हम आपके समक्ष नतमस्तक हैं।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण के सुन्दर स्वरूप से निकलने वाले तेजोमय प्रकाश से ही मनुष्य की बुद्धि सारे भौतिक कल्मष से शुद्ध हो जाती है। इस तरह सतो, रजो तथा तमो गुणों में आत्मा के विविध बन्धन छूट जाते हैं। भगवान् के सम्बन्धियों के कहने का मन्तव्य है कि "तब भला कभी भी हमारा अमंगल कैसे हो सकता है? हम सदैव परम सुख में निमग्न रहते हैं।" कृष्ण द्वारा कुशल-क्षेम पूछे

जाने पर यही उनका उत्तर था।

श्रीऋषिरुवाच
इत्युत्तमःश्लोकशिखामणिं जने-
ष्वभिष्टुवत्स्वन्धककौरवस्त्रियः ।
समेत्य गोविन्दकथा मिथोऽगृनं-
स्त्रिलोकगीताः शृणु वर्णयामि ते ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

श्री-ऋषिः उवाच—ऋषि, शुकदेव ने कहा; इति—इस प्रकार; उत्तमः-श्लोक—महापुरुषों के जिनका यशोगान उत्तम श्लोकों द्वारा किया जाता है; शिखा-मणिम्—शिरोमणि (भगवान् कृष्ण); जनेषु—अपने भक्तों में; अभिष्टुवत्सु—महिमागान करते हुए; अन्धक-कौरव—अन्धक तथा कौरव वंशों की; स्त्रियः—स्त्रियाँ; समेत्य—मिल कर; गोविन्द-कथाः—भगवान् गोविन्द की कथाएँ; मिथः—परस्पर; अगृणन्—कहा; त्रि—तीन; लोक—लोकों में; गीताः—गाई गई; शृणु—सुनो; वर्णयामि—मैं वर्णन करूँगा; ते—तुमसे (परीक्षित महाराज से)।

ऋषिवर शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब युधिष्ठिर तथा अन्य लोग महापुरुषों में शिरोमणि भगवान् कृष्ण की इस तरह प्रशंसा कर रहे थे, तो अन्धक तथा कौरव वंश की महिलाएँ एक-दूसरे से मिलीं और तीनों लोकों में गाई जाने वाली गोविन्द विषयक कथाओं की चर्चा करने लगीं। कृपया सुनो, क्योंकि मैं तुमसे इनका वर्णन करने जा रहा हूँ।

श्रीद्रौपद्युवाच
हे वैदर्भ्यच्युतो भद्रे हे जाम्बवति कौशले ।
हे सत्यभामे कालिन्दि शैब्ये रोहिणि लक्ष्मणे ॥ ६ ॥
हे कृष्णपत्न्य एतन्नो ब्रूते वो भगवान्स्वयम् ।
उपयेमे यथा लोकमनुकुर्वन्स्वमायया ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

श्री-द्रौपदी उवाच—श्री द्रौपदी ने कहा; हे वैदर्भि—हे विदर्भ-पुत्री (रुक्मिणी); अच्युतः—भगवान् कृष्ण; भद्रे—हे भद्रा; हे जाम्बवति—हे जाम्बवान-पुत्री; कौशले—हे नाग्नजिती; हे सत्यभामे—हे सत्यभामा; कालिन्दि—हे कालिन्दी; शैब्ये—हे मित्रविन्दा; रोहिणि—हे रोहिणी (नरकासुर के वध के बाद सोलह हजार एक सौ रानियों में से एक, जिसके साथ कृष्ण ने ब्याह किया था); लक्ष्मणे—हे लक्ष्मणा; हे कृष्ण-पत्न्यः—हे कृष्ण की (अन्य) पत्नियो; एतत्—यह; नः—हमसे; ब्रूते—कहें; वः—तुम; भगवान्—भगवान् ने; स्वयम्—साक्षात्; उपयेमे—ब्याहा; यथा—कैसे; लोकम्—सामान्य समाज; अनुकुर्वन्—अनुकरण करते हुए; स्व-मायया—अपनी योगशक्ति से।

श्री द्रौपदी ने कहा : हे वैदर्भी, हे भद्रा, हे जाम्बवती, हे कौशला, हे सत्यभामा तथा कालिन्दी, हे शैब्या, रोहिणी, लक्ष्मणा तथा कृष्ण की अन्य पत्नियो, कृपा करके मुझे बतलाइये कि भगवान् अच्युत ने किस तरह अपनी योगशक्ति से इस संसार की रीति का अनुकरण करते हुए आपमें से हर एक से विवाह किया।

तात्पर्य : यहाँ पर द्रौपदी ने जिस रोहिणी को सम्बोधित किया है, वह बलराम की माता नहीं अपितु अन्य रोहिणी है, जो भौमासुर के कारागार से भगवान् कृष्ण द्वारा छुड़ाई गई सोलह हजार एक सौ राजकुमारियों में अग्रगण्य है। द्रौपदी उसे सोलह हजार एक सौ रानियों की प्रतिनिधि मान कर उसकी ओर अग्रसर होती है। उसे वह श्रीकृष्ण की आठ पटरानियों के तुल्य ही मानती है।

श्रीरुक्मिण्युवाच

चैद्याय मार्पयितुमुद्यतकार्मुकेषु
राजस्वजेयभटशेखरिताङ्घ्रिरेणुः ।
निन्ये मृगेन्द्र इव भागमजावियूथात्
तच्छ्रीनिकेतचरणोऽस्तु ममार्चनाय ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-रुक्मिणी उवाच—श्री रुक्मिणी ने कहा; चैद्याय—शिशुपाल को; मा—मुझको; अर्पयितुम्—प्रदान करने के लिए; उद्यत—तैयार; कार्मुकेषु—जिनके धनुष; राजसु—जब राजा; अजेय—दुर्जय; भट—सैनिकों के; शेखरित—सिर पर रखे; अङ्घ्रि—जिसके पाँवों की; रेणुः—धूलि; निन्ये—हर ले गया; मृगेन्द्रः—सिंह; इव—मानो; भागम्—अपना हिस्सा; अज—बकरियों; अवि—तथा भेड़ों के; यूथात्—रेवड़ से; तत्—उसका; श्री—लक्ष्मीजी का; निकेत—धाम; चरणः—पाँव; अस्तु—होयें; मम—मेरी; अर्चनाय—पूजा के लिए।

श्री रुक्मिणी ने कहा : जब सारे राजा अपने अपने धनुष लिए यह आश्वासन देने के लिए तैयार खड़े थे कि शिशुपाल को मैं अर्पित कर दी जाऊँ, तो अजेय योद्धाओं के सिरों पर अपनी चरण-धूलि रखने वाले ने उनके बीच में से उसी तरह मेरा हरण कर लिया, जिस तरह एक सिंह अपने शिकार को बकरियों तथा भेड़ों के बीच से बलपूर्वक ले जाता है। मैं चाहूँगी कि लक्ष्मीधाम भगवान् कृष्ण के उन पाँवों की पूजा मुझे करने को मिले।

तात्पर्य : कृष्ण द्वारा रुक्मिणी-हरण लीला का वर्णन श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत अध्याय ५२ से ५ तक विस्तार से हुआ है।

श्रीसत्यभामोवाच

यो मे सनाभिवधतप्तहृदा ततेन
लिप्ताभिशापमपमार्ष्टुमुपाजहार ।
जित्वर्क्षराजमथ रत्नमदात्स तेन
भीतः पितादिशत मां प्रभवेऽपि दत्ताम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्री-सत्यभामा उवाच—सत्यभामा ने कहा; यः—जो; मे—मेरा; सनाभि—मेरे भाई के; वध—मारने से; तप्त—दुखी; हृदा—जिसका हृदय; ततेन—मेरे पिता द्वारा; लिप्त—रँगा हुआ; अभिशापम्—गर्हणा से; अपमार्ष्टुम्—स्वच्छ करने के लिए;

उपाजहार—हटा दिया; जित्वा—जीत कर; ऋक्ष-राजम्—रीछों के राजा जाम्बवान को; अथ—तब; रत्नम्—(स्यमन्तक) मणि; अदात्—दे दिया; सः—उसने; तेन—इसके कारण; भीतः—भयभीत; पिता—मेरे पिता; अदिशत—अर्पित कर दिया; माम्—मुझको; प्रभवे—प्रभु को; अपि—यद्यपि; दत्ताम्—पहले ही प्रदत्त।

श्री सत्यभामा ने कहा : मेरे पिता का हृदय अपने भाई की हत्या से दुखित था, इसलिए उन्होंने भगवान् कृष्ण को इस अपराध के लिए दोषी ठहराया। भगवान् ने अपने यश पर लगे इस धब्बे को मिटाने के लिए रीछों के राजा को हराया और स्यमन्तक मणि वापस लेकर उसे मेरे पिता को लौटा दिया। अपने अपराध के फल से भयभीत मेरे पिता ने मुझे भगवान् को प्रदान कर दिया, यद्यपि मुझे अन्यों को दिये जाने का वायदा (वाग्दान) किया जा चुका था।

तात्पर्य : इस स्कन्ध के छप्पनवें अध्याय में वर्णन हो चुका है कि राजा सत्राजित ने अपनी पुत्री का हाथ पहले अक्रूर को और बाद में स्वयंवर में आये अनेक राजकुमारों को देने का वायदा करके अपने आपसे समझौता कर लिया था। किन्तु जब स्यमन्तक मणि लौट आया तो लज्जावश प्रेरित होकर उसने अपनी पुत्री भगवान् कृष्ण को अर्पित कर दी। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *प्रभवे* (भगवान् को) शब्द से उस शंका का समाधान हो जाता है, जिसमें दूसरों को वचन द्वारा दी गई वधू को कृष्ण को अर्पित करने के औचित्य की बात उठाई जाती है। यह एकदम उचित है कि मनुष्य के पास जो भी वस्तु हो वह उन्हें अर्पित की जाय तथा उनसे किसी वस्तु को रोके रखना अनुचित है।

श्रीजाम्बवत्युवाच

प्राज्ञाय देहकृदमुं निजनाथदैवं
सीतापतिं त्रिनवहान्यमुनाभ्ययुध्यत् ।
ज्ञात्वा परीक्षित उपाहरदर्हणं मां
पादौ प्रगृह्य मणिनाहममुष्य दासी ॥ ॥

शब्दार्थ

श्री-जाम्बवती उवाच—श्री जाम्बवती ने कहा; प्राज्ञाय—अनभिज्ञ; देह—शरीर का; कृत्—बनाने वाला (मेरा पिता); अमुम्—उसको; निज—अपना; नाथ—स्वामी रूप; दैवम्—तथा पूज्य देव; सीता—देवी सीता के; पतिम्—पति को; त्रि—तीन; नव—गुणे नौ; अहानि—दिन; अमुना—उसके साथ; अभ्ययुध्यत्—युद्ध किया; ज्ञात्वा—पहचान कर; परीक्षितः—ठीक से जानकर; उपाहरत्—भेंट कर दिया; अर्हणम्—सादर भेंट तुल्य; माम्—मुझको; पादौ—उनके चरणों को; प्रगृह्य—पकड़ कर; मणिना—मणि के साथ; अहम्—मैं; अमुष्य—उसकी; दासी—नौकरानी।

श्री जाम्बवती ने कहा : यह न जानते हुए कि भगवान् कृष्ण उन्हीं के स्वामी तथा आराध्यदेव, देवी सीता के पति हैं, मेरे पिता उनके साथ सत्ताईस दिनों तक युद्ध करते रहे। अन्त

में जब मेरे पिता को ज्ञान हुआ और उन्होंने प्रभु को पहचाना, तो उन्होंने उनके चरण पकड़ लिये और मुझे तथा स्यमंतक मणि दोनों को आदर के प्रतीक रूप में अर्पित कर दिया। मैं तो प्रभु की दासी मात्र हूँ।

तात्पर्य : जाम्बवान् कई हजारों वर्ष पूर्व भगवान् रामचन्द्र का सेवक था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इसका उल्लेख करते हैं कि जाम्बवती की कथा सुनते हुए वहाँ पर उपस्थित स्त्रियों ने उसे उस लड़की के रूप में पहचान लिया जिसे जाम्बवान् ने एक बार भगवान् राम को उनकी पत्नी के रूप में प्रदान किया था। चूँकि राम ने एक पत्नी-व्रत धारण कर रखा था इसलिए तब उसे वे स्वीकार नहीं कर सके किन्तु जब वे द्वापर युग में कृष्ण के रूप में वापस आये तो उन्होंने ऐसा किया। अन्य रानियों ने इसके लिये जाम्बवती को सम्मान देना चाहा किन्तु उसने विनीत भाव से उत्तर दिया, ''मैं तो भगवान् की दासी मात्र हूँ।''

जाम्बवती तथा सत्यभामा किस तरह कृष्ण की पत्नियाँ बनीं इसका वर्णन दशम स्कंध के छप्पनवें अध्याय में किया जा चुका है।

श्रीकालिन्द्युवाच

तपश्चरन्तीमाज्ञाय स्वपादस्पर्शनाशया ।
सख्योपेत्याग्रहीत्पाणिं योऽहं तद्गृहमार्जनी ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-कालिन्दी उवाच—श्री कालिन्दी ने कहा; तपः—तपस्या; चरन्तीम्—करते हुए; आज्ञाय—जानते हुए; स्व—उनके; पाद—पैरों के; स्पर्शन—स्पर्श की; आशया—इच्छा से; सख्या—अपने मित्र (अर्जुन) सहित; उपेत्य—आकर; अग्रहीत्—ग्रहण किया; पाणिम्—मेरा हाथ; यः—जो; अहम्—मैं; तत्—उसके; गृह—घर की; मार्जनी—बुहारने वाली।

श्री कालिन्दी ने कहा : भगवान् जानते थे कि मैं इस आशा से कठिन तपस्या कर रही हूँ कि एक दिन मुझे उनके चरणकमल स्पर्श करने को मिलेंगे। अतएव वे अपने मित्र के साथ मेरे पास आये और मेरा पाणिग्रहण किया। अब मैं उनके महल को बुहारने वाली दासी के रूप में लगी रहती हूँ।

श्रीमित्रविन्दोवाच

यो मां स्वयंवर उपेत्य विजित्य भूपान्
निन्ये श्वयूथगं इवात्मबलिं द्विपारिः ।

भ्रातृंश्च मेऽपकुरुतः स्वपुरं श्रियौक-
स्तस्यास्तु मेऽनुभवमङ्घ्र्यवनेजनत्वम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

श्री-मित्रविन्दा उवाच—श्री मित्रविन्दा ने कहा; यः—जो; माम्—मुझको; स्वयं-वरे—मेरे स्वयंवर के समय (उत्सव जिसमें राजकुमारी कई योग्य वरों में से पति का वरण करती है); उपेत्य—आकर; विजित्य—हराकर; भू-पान्—राजाओंको; निन्ये—ले गया; श्व—कुत्तों के; यूथ—समूह में; गम्—गया हुआ; इव—मानो; आत्म—निजी; बलिम्—भाग को; द्विप-अरिः—हाथियों का शत्रु, सिंह; भ्रातृन्—भाइयों को; च—तथा; मे—मेरा; अपकुरुतः—उनकी निन्दा करने वाले; स्व—अपनी; पुरम्—राजधानी; श्री—लक्ष्मी के; ओकः—निवास; तस्य—उसका; अस्तु—होए; मे—मेरे लिए; अनु-भवम्—जन्म-जन्मांतर; अङ्घ्रि—पाँव; अवनेजनत्वम्—प्रक्षालन करने का पद।

श्री मित्रविन्दा ने कहा : मेरे स्वयंवर समारोह में वे आगे बढ़ आये, वहाँ पर उपस्थित सारे राजाओं को, जिनमें उनका अपमान करने का दुस्साहस करने वाले मेरे भाई भी थे, हरा दिया और मुझे उसी तरह उठा ले गये, जिस तरह सिंह कुत्तों के झुंड में से अपना शिकार उठा ले जाता है। इस तरह लक्ष्मीनिवास भगवान् कृष्ण मुझे अपनी राजधानी में ले आये। मैं चाहती हूँ कि मुझे जन्म-जन्मांतर उनके चरण धोने की सेवा करने का अवसर मिलता रहे।

श्रीसत्योवाच
सप्तोक्षणोऽतिबलवीर्यसुतीक्ष्णशृङ्गान्
पित्रा कृतान्क्षितिपवीर्यपरीक्षणाय ।
तान्वीरदुर्मदहनस्तरसा निगृह्य
क्रीडन्बबन्ध ह यथा शिशवोऽजतोकान् ॥ १३ ॥
य इत्थं वीर्यशुल्कां मां दासीभिश्चतुरङ्गिणीम् ।
पथि निर्जित्य राजन्यान्निन्ये तद्दास्यमस्तु मे ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-सत्या उवाच—श्री सत्या ने कहा; सप्त—सात; उक्षणः—साँड़; अति—विशाल; बल—बलवान्; वीर्य—तथा वीर्यवान्; सु—अत्यधिक; तीक्ष्ण—पैने; शृङ्गान्—जिनके सींगों को; पित्रा—मेरे पिता द्वारा; कृतान्—बनाये गये; क्षितिप—राजाओं के; वीर्य—पराक्रम के; परीक्षणाय—परीक्षा लेने के लिए; तान्—उन (साँड़ों) को; वीर—वीरों के; दुर्मद—मिथ्या अहंकार को; हनः—विनष्ट करने वाले; तरसा—फुर्ती से; निगृह्य—दमन करके; क्रीडन्—खेल करते हुए; बबन्ध ह—बाँध लिया; यथा—जिस तरह; शिशवः—बच्चे; अज—बकरी के; तोकान्—बच्चों को; यः—जो; इत्थम्—इस तरह; वीर्य—बहादुरी; शुल्काम्—मूल्य वाले; माम्—मुझको; दासीभिः—दासियों समेत; चतुः-अङ्गिणीम्—चार टुकड़ियों (रथ, घोड़े, हाथी तथा पैदल) वाली सेना से सुरक्षित; पथि—रास्ते में; निर्जित्य—हराकर; राजन्यान्—राजाओं को; निन्ये—मुझे उठा ले गये; तत्—उनके प्रति; दास्यम्—दास्य भाव; अस्तु—होए; मे—मेरा।

श्री सत्या ने कहा : मेरे पिता ने मेरे साथ पाणिग्रहण के इच्छुक राजाओं के पराक्रम की परीक्षा लेने के लिए घातक पैने सींगों वाले सात अत्यन्त बलशाली तथा जोशीले साँड़ों की व्यवस्था की। यद्यपि ये साँड़ अनेक वीरों के मिथ्या गर्व को चूर-चूर कर चुके थे, किन्तु भगवान् कृष्ण ने बिना प्रयास के ही उन्हें वश में करके बाँध लिया, जिस तरह बच्चे खेल-खेल

में बकरी के बच्चों को बाँध लेते हैं। इस तरह उन्होंने मुझे अपने शौर्य के बल पर मोल ले लिया। तत्पश्चात् वे मेरे मार्ग में विरोध करने वाले सारे राजाओं को हराते हुए मुझे मेरी दासियों तथा चतुरंगिणी सेना समेत ले गये। मेरी यही अभिलाषा है कि उन प्रभु की सेवा करने का सुअवसर मुझे प्राप्त होता रहे।

श्रीभद्रोवाच

पिता मे मातुलेयाय स्वयमाहूय दत्तवान् ।
कृष्णे कृष्णाय तच्चित्तामक्षौहिण्या सखीजनैः ॥ १५ ॥
अस्य मे पादसंस्पर्शो भवेज्जन्मनि जन्मनि ।
कर्मभिर्भ्राम्यमाणाया येन तच्छ्रेय आत्मनः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-भद्रा उवाच—श्री भद्रा ने कहा; पिता—पिता ने; मे—मेरे; मातुलेयाय—मेरे मामा के पुत्र को; स्वयम्—स्वेच्छा से; आहूय—बुलाकर; दत्तवान्—दिया; कृष्णे—हे कृष्णा (द्रौपदी); कृष्णाय—भगवान् कृष्णको; तत्—जिसमें समाया; चित्ताम्—जिसका हृदय; अक्षौहिण्या—एक अक्षौहिणी सैनिक रक्षक सहित; सखी-जनैः—अपनी सखियों के साथ; अस्य—उसका; मे—मेरे लिए; पाद—पाँवों का; संस्पर्शः—स्पर्श; भवेत्—शायद हो; जन्मनि जन्मनि—जन्म-जन्मांतर तक; कर्मभिः—भौतिक कार्यों के फलस्वरूप; भ्राम्यमाणायाः—जो घूम रहा होगा; येन—जिससे; तत्—वह; श्रेयः—चरम सिद्धि; आत्मनः—अपने को।.

श्री भद्रा ने कहा : हे द्रौपदी, मेरे पिता ने स्वयं ही मेरे मामा के पुत्र कृष्ण को बुलाया था, जिन्हें मैं पहले ही अपना हृदय सौंप चुकी थी और उन्होंने मुझे उनकी दुलहन के रूप में अर्पित कर दिया। मेरे पिता ने मेरे साथ उन्हें एक अक्षौहिणी सैन्य रक्षक और मेरी सखियों की एक टोली भी दी थी। मेरी चरम सिद्धि यही होगी कि जब मैं अपने कर्म से बँध कर एक जन्म से दूसरे जन्म में भ्रमण करूँ, तो मुझे भगवान् कृष्ण के चरणकमलों को स्पर्श करने की अनुमति सदैव मिलती रहे।

तात्पर्य : *आत्मनः* शब्द के प्रयोग द्वारा रानी भद्रा न केवल अपनी बात कहती है, अपितु सारे जीवों की बात कहती है। आत्मा की सिद्धि (*श्रेय आत्मनः*) भगवान् कृष्ण की भक्ति है, जिससे इस लोक में तथा इससे परे भी मुक्ति मिलती है।

श्रील जीव गोस्वामी की टीका है कि यद्यपि सुसंस्कृत समाज में अपने गुरु या पति का नाम सबके सामने लेना असम्मानजनक माना जाता है, किन्तु कृष्ण का नाम अद्वितीय है—केवल कृष्ण-नाम का उच्चारण ही ईश्वर के प्रति सर्वाधिक आदर का सूचक है। *श्वेताश्वतर उपनिषद* (.१९) में कहा गया

है—*यस्य नाम महद् यशः*—भगवान् का पवित्र नाम परम यशस्वी है।

श्रीलक्ष्मणोवाच
ममापि राज्ञ्यच्युतजन्मकर्म
श्रुत्वा मुहुर्नारदगीतमास ह ।
चित्तं मुकुन्दे किल पद्महस्तया
वृतः सुसम्मृश्य विहाय लोकपान् ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्री-लक्ष्मणा उवाच—श्री लक्ष्मणा ने कहा; मम—मेरा; अपि—भी; राज्ञि—हे रानी; अच्युत—भगवान् कृष्ण के; जन्म—जन्मों; कर्म—तथा कर्मों के विषय में; श्रुत्वा—सुन कर; मुहुः—बारम्बार; नारद—नारदमुनि द्वारा; गीतम्—उच्चारित; आस ह—बन गया; चित्तम्—मेरा हृदय; मुकुन्दे—मुकुन्द पर (टिका); किल—निस्सन्देह; पद्म-हस्तया—हाथ में पद्म धारण किये लक्ष्मी द्वारा; वृतः—चुनी हुई; सु—सावधानीपूर्वक; सम्मृश्य—विचार करके; विहाय—त्याग कर; लोक—लोकों के; पान्—शासकगण को।

श्री लक्ष्मणा ने कहा : हे रानी, मैंने नारद मुनि को भगवान् अच्युत के अवतारों तथा कार्यों की बारम्बार महिमा गाते सुना और इस तरह मेरा मन भी उन्हीं भगवान् मुकुन्द के प्रति आसक्त हो गया। दरअसल, देवी पद्महस्ता ने विविध लोकों पर शासन करने वाले बड़े बड़े देवताओं को तिरस्कृत करके काफी ध्यानपूर्वक विचार करने के बाद, उन्हें अपने पति के रूप में चुना है।

ज्ञात्वा मम मतं साध्वि पिता दुहितृवत्सलः ।
बृहत्सेन इति ख्यातस्तत्रोपायमचीकरत् ॥ १८॥

शब्दार्थ

ज्ञात्वा—जान कर; मम—मेरी; मतम्—मानसिकता; साध्वि—हे साधु स्वभाव वाली स्त्री; पिता—मेरा पिता; दुहितृ—अपनी पुत्री के प्रति; वत्सलः—स्नेही; बृहत्सेनः इति ख्यातः—बृहत्सेन के रूप में विख्यात; तत्र—उस दिशा में; उपायम्—साधन की; अचीकरत्—व्यवस्था कर दी।

मेरे पिता बृहत्सेन स्वभाव से अपनी पुत्री के ऊपर अनुकम्पावान थे और हे साध्वी, यह जानते हुए कि मैं कैसा अनुभव कर रही हूँ, उन्होंने मेरी इच्छा पूरी करने की व्यवस्था कर दी।

यथा स्वयंवरे राज्ञि मत्स्यः पार्थेप्सया कृतः ।
अयं तु बहिराच्छन्नो दृश्यते स जले परम् ॥ १९॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; स्वयम्-वरे—(तुम्हारे) स्वयंवर में; राज्ञि—हे रानी; मत्स्यः—एक मछली; पार्थ—अर्जुन को; ईप्सया—प्राप्त करने की इच्छा से; कृतः—(लक्ष्य) बनाया; अयम्—यह (मछली); तु—किन्तु; बहिः—बाहर से; आच्छन्नः—ढकी; दृश्यते—देखा जा सकता था; सः—वह; जले—जल में; परम्—एकमात्र।

हे रानी, जिस तरह आपके स्वयंवर समारोह में एक मछली का प्रयोग लक्ष्य के तौर पर यह

निश्चित करने के लिए हुआ था कि आप अर्जुन को पति रूप में पा सकें, उसी तरह मेरे स्वयंवर में भी एक मछली का ही प्रयोग हुआ। किन्तु मेरे संबंध में यह मछली चारों ओर से ढक दी गई थी और नीचे रखे जल-पात्र में इसका प्रतिबिम्ब ही देखा जा सकता था।

तात्पर्य : अर्जुन सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर के रूप में विख्यात हैं। तो फिर वे श्रीमती लक्ष्मणा के स्वयंवर में उसी तरह मत्स्य-बेध क्यों नहीं कर सके, जिस तरह एक बार पहले द्रौपदी को जीतने के समय किया था? श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं: द्रौपदी के स्वयंवर में लक्ष्य को अंशत: ढका गया था जिससे बेधने वाला उसे देख सकता था, यदि वह उस स्तम्भ जिस पर वह रखी थी को सीधे ऊपर की ओर देखता। किन्तु लक्ष्मणा के लक्ष्य-वेध के लिए एक साथ ऊपर-नीचे देख कर निशाना लगाना आवश्यक था, जो किसी भी मनुष्य के लिए असम्भव कौशल था। इसीलिए उस लक्ष्य को केवल कृष्ण ही बेध सके।

श्रुत्वैतत्सर्वतो भूपा आययुर्मत्पितु: पुरम् ।
सर्वास्त्रशस्त्रतत्त्वज्ञा: सोपाध्याया: सहस्रश: ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर; एतत्—इसके; सर्वत:—चारों ओर से; भू-पा:—राजागण; आययु:—आये; मत्—मेरे; पितु:—पिता के; पुरम्—नगर में; सर्व—समस्त; अस्त्र—तीर जैसे हथियार; शस्त्र—तथा अन्य हथियार; तत्त्व—विज्ञान के; ज्ञा:—कुशल ज्ञाता; स—सहित; उपाध्याया:—अपने अपने गुरुओं; सहस्रश:—हजारों में।

यह सुन कर बाण चलाने तथा अन्य हथियारों को उपयोग में लाने में दक्ष हजारों राजा अपने सैन्य शिक्षकों के साथ मेरे पिता के नगर में सभी दिशाओं से एकत्र हुए।

पित्रा सम्पूजिता: सर्वे यथावीर्यं यथावय: ।
आददु: सशरं चापं वेद्धुं पर्षदि मद्धिय: ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

पित्रा—मेरे पिता द्वारा; सम्पूजिता:—पूर्णतया आदरित; सर्वे—सारे जन; यथा—अनुरूप; वीर्यम्—शक्ति के; यथा—अनुरूप; वय:—आयु के; आददु:—उठा लिया; स—सहित; शरम्—बाण; चापम्—धनुष; वेद्धुम्—(लक्ष्य) बेधने के लिए; पर्षदि—सभा में; मत्—मुझ पर (स्थिर); धिय:—मनों वाले।

मेरे पिता ने हर राजा को उसके बल तथा वरिष्ठता के अनुसार उचित सम्मान दिया। तब जिन लोगों के मन मुझ पर टिके थे, उन्होंने अपना धनुष-बाण उठाया और सभा के मध्य एक-एक करके, लक्ष्य को बेधने का प्रयत्न करने लगे।

तात्पर्य : आचार्यों के अनुसार केवल वे ही राजा जो राजकुमारी को पाने पर पूरी तरह मन बना चुके थे लक्ष्य-बेध करने का साहस जुटा पाये।

आदाय व्यसृजन्केचित्सज्यं कर्तुमनीश्वराः ।
आकोष्ठं ज्यां समुत्कृष्य पेतुरेकेऽमुनाहताः ॥ २२॥

शब्दार्थ

आदाय—उठाकर; व्यसृजन्—जाने दिया; केचित्—उनमें से कुछ ने; सज्यम्—डोरी; कर्तुम्—चढ़ाने में; अनीश्वराः—असमर्थ; आ-कोष्ठम्—(धनुष के) सिरे तक; ज्याम्—धनुष की डोरी को; समुत्कृष्य—खींच कर; पेतुः—गिर पड़े; एके—कुछ; अमुना—इस (धनुष) से; हताः—चोट खाये।

उनमें से कुछ ने धनुष उठाया, किन्तु उसकी डोरी नहीं चढ़ा सके, अतएव हताश होकर उन्होंने उसे एक ओर फेंक दिया। कुछ ने धनुष की डोरी को धनुष के एक सिरे तक खींच तो लिया, किन्तु इससे धनुष पीछे उछला और उन्हें ही जमीन पर पटक दिया।

सज्यं कृत्वापरे वीरा मागधाम्बष्ठचेदिपाः ।
भीमो दुर्योधनः कर्णो नाविदंस्तदवस्थितिम् ॥ २३॥

शब्दार्थ

सज्यम्—साज; कृत्वा—करके; अपरे—अन्य; वीराः—वीर पुरुष; मागध—मगध का राजा (जरासन्ध); अम्बष्ठ—अम्बष्ठ का राजा; चेदि-पाः—चेदि का शासक (शिशुपाल); भीमः दुर्योधनः कर्णः—भीम, दुर्योधन तथा कर्ण; न अविदन्—नहीं ढूँढ़ पाये; तद्—इस (लक्ष्य) की; अवस्थितिम्—स्थिति, स्थान।

कुछ वीर यथा जरासन्ध, शिशुपाल, भीम, दुर्योधन, कर्ण तथा अम्बष्ठराज धनुष पर डोरी चढ़ाने में सफल तो रहे, किन्तु इनमें से कोई भी लक्ष्य को ढूँढ़ नहीं सका।

तात्पर्य : ये राजा शरीर से अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट थे किन्तु लक्ष्य ढूँढ़ने में काफी दक्ष नहीं थे।

मत्स्याभासं जले वीक्ष्य ज्ञात्वा च तदवस्थितिम् ।
पार्थो यत्तोऽसृजद्बाणं नाच्छिनत्पस्पृशे परम् ॥ २॥

शब्दार्थ

मत्स्य—मछली की; आभासम्—परछाईं; जले—जल में; वीक्ष्य—देखकर; ज्ञात्वा—जान कर; च—तथा; तत्—उसकी; अवस्थितिम्—स्थिति; पार्थः—अर्जुन ने; यत्तः—सावधानी से निशाना लगाते हुए; असृजत्—छोड़ा; बाणम्—बाण; न अच्छिनत्—बेधा नहीं; पस्पृशे—छुआ; परम्—केवल।

तब अर्जुन ने जल में मछली की परछाईं की ओर देखा और उसकी स्थिति निर्धारित की। किन्तु जब उसने सावधानी से उस पर अपना बाण छोड़ा, तो वह लक्ष्य को बेध नहीं पाया, अपितु मात्र उसको स्पर्श करके निकल गया।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी की व्याख्या के अनुसार अर्जुन अन्य राजाओं की अपेक्षा अधिक कुशल निशानेबाज था, किन्तु उसकी शारीरिक शक्ति पर्याप्त न थी कि वह उसे बिल्कुल ठीक तरह से बेध सकता।

राजन्येषु निवृत्तेषु भग्नमानेषु मानिषु ।
भगवान्धनुरादाय सज्यं कृत्वाथ लीलया ॥ २५ ॥
तस्मिन्सन्धाय विशिखं मत्स्यं वीक्ष्य सकृज्जले ।
छित्त्वेषुणापातयत्तं सूर्ये चाभिजिति स्थिते ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

राजन्येषु—जब राजाओं ने; निवृत्तेषु—त्याग दिया; भग्न—पराजित; मानेषु—जिनका गर्व; मानिषु—घमंडी; भगवान्—भगवान् ने; धनुः—धनुष; आदाय—लेकर; सज्यम् कृत्वा—डोरी चढ़ाकर; अथ—तब; लीलया—खेल-खेल में; तस्मिन्—उसमें; सन्धाय—स्थिर करके; विशिखम्—बाण; मत्स्यम्—मछली को; वीक्ष्य—देखकर; सकृत्—केवल एक बार; जले—जल में; छित्त्वा—भेद कर; इषुणा—बाण से; अपातयत्—गिरा दिया; तम्—उसको; सूर्ये—जब सूर्य; च—तथा; अभिजिते—अभिजित नक्षत्र में; स्थिते—स्थित।

जब सारे दम्भी राजाओं का घमंड चूर-चूर हो गया और उन्होंने यह प्रयास त्याग दिया, तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने धनुष उठाया, आसानी से डोरी चढ़ाई और तब उस पर बाण स्थिर किया। ज्योंही सूर्य अभिजित नक्षत्र में आया, तो उन्होंने जल में मछली को केवल एक बार देखा और फिर उसे बाण से बेध कर जमीन पर गिरा दिया।

तात्पर्य : प्रतिदिन सूर्य एक बार अभिजित नक्षत्र से होकर गुजरता है, जिससे वह समय विजय के लिए सबसे शुभ हो जाता है। जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इंगित किया है कि इस विशेष दिन अभिजित मुहूर्त मध्याह्न से मेल खा रहा था, जिससे भगवान् कृष्ण की महानता की और भी पुष्टि होती है, क्योंकि इससे निशाने को देख पाना और भी कठिन हो जाता है।

दिवि दुन्दुभयो नेदुर्जयशब्दयुता भुवि ।
देवाश्च कुसुमासारान्मुमुचुर्हर्षविह्वलाः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

दिवि—आकाश में; दुन्दुभयः—दुन्दुभियाँ; नेदुः—ध्वनि करने लगीं; जय—विजय; शब्द—ध्वनि; युताः—के साथ; भुवि—पृथ्वी पर; देवाः—देवतागण; च—तथा; कुसुम—फूलों की; आसारान्—वर्षा; मुमुचुः—उन्मुक्त की; हर्ष—हर्ष से; विह्वलाः—विह्वल।

आकाश में दुन्दुभियाँ बजने लगीं और पृथ्वी पर लोग जय! जय! की ध्वनि करने लगे। देवताओं ने अति प्रसन्न होकर फूल बरसाये।

तद्रङ्गमाविशमहं कलनूपुराभ्यां
पद्भ्यां प्रगृह्य कनकोज्ज्वलरत्नमालाम् ।
नूत्ने निवीय परिधाय च कौशिकाछ्ये
सव्रीडहासवदना कवरीधृतस्रक् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तत्—तब; रङ्गम्—रंगशाला में; आविशम्—प्रविष्ट हुई; अहम्—मैं; कल—मधुर ध्वनि करते; नूपुराभ्याम्—नूपुरों से; पद्भ्याम्—पाँवों से; प्रगृह्य—पकड़ कर; कनक—सोने के; उज्ज्वल—चमकीले; रत्न—रत्नों से; मालाम्—हार; नूत्ने—नवीन; निवीय—करधनी से बाँध कर; परिधाय—पहन कर; च—तथा; कौशिक—रेशमी वस्त्रों की जोड़ी; अछ्ये—उत्तम; स-व्रीड—लज्जालु; हास—हँसी से युक्त; वदना—मुख वाली; कवरी—बालों का गुच्छा; धृत—धारण किये; स्रक्—फूलों की माला।

तभी मैं रंगशाला में गई। मेरे पाँवों के नूपुर मन्द ध्वनि कर रहे थे। मैं उत्तम कोटि के रेशम के नये वस्त्र पहने थी, जिसके ऊपर करधनी बँधी थी और मैं सोने तथा रत्नों से बना चमकीला हार धारण किये थी। मेरे मुख पर लजीली मुसकान थी और मेरे बालों में फूलों की माला थी।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी कहते हैं कि श्री लक्ष्मणा यह स्मरण करके कि उसने भगवान् को किस प्रकार प्राप्त किया अत्यन्त उत्तेजित थी, इसलिए वह अपनी सहज लज्जा भूल कर अपनी सफलता का बखान करने लगी।

उन्नीय वक्त्रमुरुकुन्तलकुण्डलत्विड्-
गण्डस्थलं शिशिरहासकटाक्षमोक्षैः ।
राज्ञो निरीक्ष्य परितः शनकैर्मुरारे-
रंसेऽनुरक्तहृदया निदधे स्वमालाम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

उन्नीय—उठाकर; वक्त्रम्—मुखमंडल; उरु—प्रचुर; कुन्तल—बालों के गुच्छों से; कुण्डल—कान के आभूषणों के; त्विट्—तथा तेज से; गण्ड-स्थलम्—गाल; शिशिर—शीतल; हास—हँसी से युक्त; कट-अक्ष—तिरछी चितवनों के; मोक्षैः—डालने से; राज्ञः—राजाओं को; निरीक्ष्य—देख कर; परितः—चारों ओर; शनकैः—धीरे-धीरे; मुरारेः—कृष्ण के; अंसे—कंधे पर; अनुरक्त—आकृष्ट; हृदया—हृदय वाली; निदधे—मैंने पहना दिया; स्व—अपना; मालाम्—गले का हार।

मैंने अपना सिर उठाया, जो मेरे प्रचुर बालों के गुच्छों तथा मेरे गालों से परावर्तित मेरे कुण्डलों की चमक के तेज से घिरा था। मैंने शान्त भाव से मन्द-हास के साथ इधर-उधर दृष्टि फेरी। तब चारों ओर सारे राजाओं को देखते हुए, मैंने धीरे से हार को मुरारी के कन्धों (गले) पर डाल दिया, जिसने मेरे मन को हर रखा था।

तावन्मृदङ्गपटहाः शङ्खभेर्यानकादयः ।

निनेदुर्नटनर्तक्यो ननृतुर्गायका जगुः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तावत्—तभी; मृदङ्ग-पटहाः—मृदंग तथा पटह; शङ्ख—शंख; भेरी—दुन्दुभी; आनक—बड़े बड़े सैन्य नगाड़े; आदयः—इत्यादि; निनेदुः—गूँजने लगे; नट—पुरुष नर्तक; नर्तक्यः—तथा नर्तकियाँ; ननृतुः—नाचने लगीं; गायकाः—गाने वाले; जगुः—गाने लगे।

तभी शंखों तथा मृदंग, पटह, भेरी और आनक नगाड़ों एवं अन्य वाद्य जोर-जोर से बजने लगे। नट तथा नर्तकियाँ नाचने लगे और गवैये गाने लगे।

एवं वृते भगवति मयेशे नृपयूथपाः ।
न सेहिरे याज्ञसेनि स्पर्धन्तो हृच्छयातुराः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; वृते—चुने जाने पर; भगवति—भगवान् के; मया—मेरे द्वारा; ईशे—स्वामी; नृप—राजाओं के; यूथ-पाः—नायक; न सेहिरे—सहन नहीं कर सके; याज्ञसेनि—हे द्रौपदी; स्पर्धन्तः—लड़ते-झगड़ते; हृत्-शय—काम द्वारा; आतुराः—पीड़ित।

हे द्रौपदी, मेरे द्वारा भगवान् का चुना जाना प्रमुख राजाओं को सहन नहीं हो सका। वे कामातुर होने के कारण लड़ने-झगड़ने लगे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी की टीका है कि काम के दूषण से वे राजा मूर्खतापूर्वक भगवान् से झगड़ने लगे, यद्यपि उन्होंने उनकी परम शक्ति देख ली थी।

मां तावद्रथमारोप्य हयरत्नचतुष्टयम् ।
शार्ङ्गमुद्यम्य सन्नद्धस्तस्थावाजौ चतुर्भुजः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; तावत्—उस समय; रथम्—रथ पर; आरोप्य—चढ़ाकर; हय—घोड़ों में; रत्न—रत्न; चतुष्टयम्—चार; शार्ङ्गम्—शार्ङ्ग नामक अपना धनुष; उद्यम्य—तैयार करके; सन्नद्धः—कवच पहन कर; तस्थौ—खड़े रहे; आजौ—युद्धभूमि में; चतुः—चार; भुजः—भुजाओं वाले।

तत्पश्चात् भगवान् ने मुझे चार अतीव उत्तम घोड़ों से खींचे जाने वाले अपने रथ में बिठा लिया। अपना कवच पहन कर तथा अपना शार्ङ्ग धनुष तैयार करके, वे रथ पर खड़े हो गये और युद्धभूमि में उन्होंने अपनी चार भुजाएँ प्रकट कीं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार भगवान् कृष्ण ने अपनी चार भुजाओं में से दो से अपनी पत्नी का आलिंगन किया और अन्य दो से धनुष-बाण ग्रहण किया।

दारुकश्चोदयामास काञ्चनोपस्करं रथम् ।
मिषतां भूभुजां राज्ञि मृगाणां मृगराडिव ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

दारुकः—दारुक (कृष्ण के सारथी) ने; चोदयाम् आस—हाँक दिया; काञ्चन—सोने के; उपस्करम्—किनारों वाला; रथम्—रथ; मिषताम्—उनके देखते-देखते; भू-भुजाम्—राजाओं के; राज्ञि—हे रानी; मृगाणाम्—पशुओं के; मृग-राट्—पशुओं का राजा, सिंह; इव—सदृश।

हे रानी, सारथी दारुक राजाओं के देखते-देखते भगवान् के सुनहरे किनारों वाले रथ को उसी तरह हाँक ले गया, जिस तरह छोटे छोटे पशु निस्सहाय होकर सिंह को देखते रह जाते हैं।

तेऽन्वसज्जन्त राजन्या निषेद्धुं पथि केचन ।
संयत्ता उद्धृतेष्वासा ग्रामसिंहा यथा हरिम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; अन्वसज्जन्त—पीछा करते हुए; राजन्याः—राजागण; निषेद्धुम्—रोकने के लिए; पथि—रास्ते में; केचन—उनमें से कुछ; संयत्ताः—सन्नद्ध; उद्धृत—उठे हुए; इषु-आसाः—बाणों वाले; ग्राम-सिंहा—गाँव के शेर (कुत्ते); यथा—जिस तरह; हरिम्—सिंह को।

राजाओं ने भगवान् का पीछा किया, जिस तरह सिंह का पीछा गाँव के कुत्ते करते हैं। कुछ राजा अपने धनुष उठाये हुए, उन्हें जाने से रोकने के लिए मार्ग में आ डटे।

ते शार्ङ्गच्युतबाणौघैः कृत्तबाह्वङ्घ्रिकन्धराः ।
निपेतुः प्रधने केचिदेके सन्त्यज्य दुद्रुवुः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; शार्ङ्ग—कृष्ण के धनुष से; च्युत—छोड़े गये, निकले; बाण—बाणों की; ओघैः—बाढ़ से; कृत्त—घायल; बाहु—बाहुओं वाले; अङ्घ्रि—पैर; कन्धराः—तथा गर्दनें; निपेतुः—गिरा दिया; प्रधने—युद्धस्थल में; केचित्—कुछ; एके—कुछ; सन्त्यज्य—त्याग कर; दुद्रुवुः—भाग गये।

ये योद्धा भगवान् के शार्ङ्ग धनुष द्वारा छोड़े गये बाणों से अभिभूत हो गये। कुछ राजाओं की भुजाएँ, टांगें तथा गर्दनें कट गईं और वे युद्धभूमि में गिर पड़े। शेष लड़ना छोड़ कर भाग गये।

ततः पुरीं यदुपतिरत्यलङ्कृतां
रविच्छदध्वजपटचित्रतोरणाम् ।
कुशस्थलीं दिवि भुवि चाभिसंस्तुतां
समाविशत्तरणिरिव स्वकेतनम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; पुरीम्—नगरी; यदु-पतिः—यादवों के स्वामी; अति—अत्यधिक; अलङ्कृताम्—अलंकृत; रवि—सूर्य; छद—रोकते हुए; ध्वज—दंडों पर; पट—पताकाओं समेत; चित्र—विचित्र; तोरणाम्—तथा तोरण से युक्त; कुशस्थलीम्—द्वारका; दिवि—स्वर्ग में; भुवि—पृथ्वी पर; च—तथा; अभिसंस्तुताम्—प्रशंसित; समाविशत्—प्रवेश किया; तरणिः—सूर्य; इव—सदृश; स्व—अपने; केतनम्—धाम में।

तब यदुपति ने अपनी राजधानी कुशस्थली (द्वारका) में प्रवेश किया, जो स्वर्ग में तथा पृथ्वी पर प्रशंसित है। नगर को पताकाओं से युक्त दंडों से सजाया गया था, जो सूर्य को ढक दे रहे थे तथा शानदार तोरण भी लगाये गये थे। जब कृष्ण ने प्रवेश किया, तो वे ऐसे लग रहे थे, मानो सूर्य देव अपने धाम में प्रवेश कर रहे हों।

तात्पर्य : सूर्य का धाम पश्चिमी पर्वत मालाएँ हैं जहाँ हर संध्या को सूर्य अस्त होता है।

पिता मे पूजयामास सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान् ।
महार्हवासोऽलङ्कारैः शय्यासनपरिच्छदैः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

पिता—पिता ने; मे—मेरे; पूजयाम् आस—पूजा की; सुहृत्—अपने मित्रों; सम्बन्धि—सम्बन्धी लोगों; बान्धवान्—तथा अन्य पारिवारिक सदस्यों की; महा—अत्यन्त; अर्ह—मूल्यवान; वासः—वस्त्रों; अलङ्कारैः—तथा आभूषणों से; शय्या—पलंग; आसन—सिंहासन; परिच्छदैः—तथा अन्य साज-सामान से।

मेरे पिताजी ने अपने मित्रों, परिवार वालों तथा मेरे ससुराल वालों का सम्मान बहुमूल्य वस्त्रों, आभूषणों, राजसी पलंगों, सिंहासनों तथा अन्य साज-सामग्री से किया।

दासीभिः सर्वसम्पद्भिर्भटेभरथवाजिभिः ।
आयुधानि महार्हाणि ददौ पूर्णस्य भक्तितः ॥ ३८॥

शब्दार्थ

दासीभिः—दासियों के साथ; सर्व—समस्त; सम्पद्भिः—धन से; भट—पैदल सिपाहियों से; इभ—हाथी पर सवार सैनिकों से; रथ—रथ पर सवार सैनिकों से; वाजिभिः—तथा घोड़े पर सवार सैनिकों से; आयुधानि—हथियार; महा-अर्हाणि—अत्यन्त मूल्यवान; ददौ—दिया; पूर्णस्य—परम पूर्ण भगवान् को; भक्तितः—भक्तिवश।

उन्होंने परमपूर्ण भगवान् को भक्तिपूर्वक अनेक दासियाँ दीं, जो बहुमूल्य आभूषणों से अलंकृत थीं। इन दासियों के साथ अंगरक्षक थे, जिनमें से कुछ पैदल थे, तो कुछ हाथियों, रथों और घोड़ों पर सवार थे। उन्होंने भगवान् को अत्यन्त मूल्यवान हथियार भी दिये।

तात्पर्य : भगवान् अपने आप में पूर्ण हैं। उन्हें अपनी तुष्टि के लिए कुछ भी नहीं चाहिए। यह जानते हुए भी भक्त प्रेमवश, *भक्तितः* अर्थात, किसी भौतिक लाभ की आशा किये बिना भेंट चढ़ाता है। और भगवान् प्रेमपूर्वक चढ़ाई छोटी से छोटी भेंट—फूल, तुलसी दल तथा जल—को स्वीकार कर लेते

हैं।

आत्मारामस्य तस्येमा वयं वै गृहदासिकाः ।
सर्वसङ्गनिवृत्त्याद्धा तपसा च बभूविम ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

आत्म-आरामस्य—आत्मतुष्ट की; तस्य—उस; इमाः—ये; वयम्—हम; वै—निस्सन्देह; गृह—घर में; दासिकाः—दासियाँ; सर्व—सभी; सङ्ग—भौतिक संगति के; निवृत्त्या—परित्याग से; अद्धा—प्रत्यक्ष; तपसा—तपस्या द्वारा; च—तथा; बभूविम—बन गई हैं।

इस तरह समस्त भौतिक संगति का परित्याग करके तथा तपस्या करके, हम सारी रानियाँ आत्माराम भगवान् की दासियाँ बन चुकी हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के मतानुसार श्रीमती लक्ष्मणा को अत्यन्त द्विविधा हो गई जब उन्हें ध्यान आया कि वे अपने विषय में इतनी देर से बातें कहे जा रही हैं, इसलिए उन्होंने यह श्लोक अपनी सौतों (सपत्नियों) की प्रशंसा करने के लिए कहा। लक्ष्मणा ने विनम्रतापूर्ण स्वीकार किया कि कृष्ण की रानियाँ सामान्य पत्नियों से सर्वथा भिन्न होने से अपने पति को अपने वश में न कर सकीं इसलिए वे अपने को उनकी दासियाँ ही कह सकती थीं। किन्तु वास्तव में भगवान् की रानियाँ तो उनकी अन्तरंगा ह्लादिनी शक्ति की प्रत्यक्ष अंशरूप हैं, अतएव वे अपने अपने प्रेम से उन्हें पूर्णतया वशीभूत किये थीं।

महिष्य ऊचुः
भौमं निहत्य सगणं युधि तेन रुद्धा
ज्ञात्वाथ नः क्षितिजये जितराजकन्याः ।
निर्मुच्य संसृतिविमोक्षमनुस्मरन्तीः
पादाम्बुजं परिणिनाय य आप्तकामः ॥ ० ॥

शब्दार्थ

महिष्यः ऊचुः—(अन्य) रानियों ने कहा; भौमम्—भौम असुर को; निहत्य—मार कर; स—सहित; गणम्—अपने अनुचरों के; युधि—युद्ध में; तेन—उस (भौम) के द्वारा; रुद्धाः—बन्दी बनाई; ज्ञात्वा—जान कर; अथ—तब; नः—हमको; क्षिति-जये—(भौम द्वारा) पृथ्वी पर विजय के समय; जित—पराजित; राज—राजाओं की; कन्याः—पुत्रियों को; निर्मुच्य—छुड़ाकर; संसृति—संसार से; विमोक्षम्—मोक्ष (के स्रोत); अनुस्मरन्तीः—निरन्तर स्मरण करती हुई; पाद-अम्बुजम्—उनके चरणकमल; परिणिनाय—विवाह किया; यः—जो; आप्त-कामः—जिनकी सारी इच्छाएँ पहले से पूर्ण हो चुकी हैं।

अन्य रानियों की ओर से रोहिणीदेवी ने कहा : भौमासुर तथा उसके अनुयायियों का वध करने के बाद भगवान् ने हमें उस असुर के बन्दीगृह में पाया और वे यह समझ गये कि हम उन

राजाओं की कन्याएँ हैं, जिन्हें भौम ने पृथ्वी पर विजय करते समय पराजित किया था। भगवान् ने हमें बन्दी-गृह से मुक्त कराया और चूँकि हम भौतिक बन्धन से मोक्ष के स्रोत उन भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर ध्यान करती रही थीं, इसलिए वे हमसे विवाह करने के लिए राजी हो गये, यद्यपि उनकी हर इच्छा पहले से पूरी रहती है।

तात्पर्य : रोहिणीदेवी उन नौ रानियों में से हैं, जिनसे द्रौपदी ने श्लोक ६ तथा ७ में प्रश्न किया था। इसलिए यहाँ पर मान लिया गया है कि वह अन्य १६,०९९ रानियों की ओर से बोल रही हैं। श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् श्रीकृष्ण* में इसकी पुष्टि की है।

न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भौज्यमप्युत ।
वैराज्यं पारमेष्ठ्यं च आनन्त्यं वा हरेः पदम् ॥ १ ॥
कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः ।
कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वयम्—हम; साध्वि—हे सन्त स्वभाव वाली (द्रौपदी); साम्राज्यम्—समस्त पृथ्वी पर शासन; स्वा-राज्यम्—स्वर्ग के राजा इन्द्र का पद; भौज्यम्—भोग की असीम शक्ति; अपि उत—भी; वैराज्यम्—योगशक्ति; पारमेष्ठ्यम्—ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्मा का पद; च—तथा; आनन्त्यम्—अमरता; वा—अथवा; हरेः—भगवान् के; पदम्—धाम की; कामयामहे—कामना करती हैं; एतस्य—उनके; श्री-मत्—दैवी; पाद—पैरों की; रजः—धूल; श्रियः—लक्ष्मी के; कुच—स्तन से; कुङ्कुम—सुगन्धित चूर्ण की; गन्ध—सुगन्ध से; आढ्यम्—समृद्ध, युक्त; मूर्ध्ना—अपने सिरों पर; वोढुम्—धारण करने के लिए; गदाभृतः—गदा चलाने वाले भगवान् कृष्ण के।

हे साध्वी, हमें पृथ्वी पर शासन, इन्द्र का पद, भोग की असीम सुविधा, योगशक्ति, ब्रह्मा का पद, अमरता या भगवद्धाम प्राप्त करने की भी इच्छा नहीं है। हम केवल इतना ही चाहती हैं कि भगवान् कृष्ण के उन चरणों की यशस्वी धूल को अपने सिर पर धारण करें, जो उनकी प्रियतमा के स्तन के कुंकुम की सुगन्धि से युक्त है।

तात्पर्य : *राज्* क्रिया का अर्थ है "शासन करना।" इसीसे *साम्राज्यम्* शब्द निकला है, जिसका अर्थ है "समूची पृथ्वी पर शासन" तथा *स्वाराज्यम्* का अर्थ है "स्वर्ग पर शासन।" *भौज्यम्* शब्द *भुज्* क्रिया से ("भोग करना") निकला है अतएव इसका अर्थ हुआ इच्छानुसार भोग करने की क्षमता। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *विराट्* की व्याख्या *विविधं विराजते* (अनेक प्रकार का ऐश्वर्य भोगने वाला) पद के रूप में की है और आठ सिद्धियों—अणिमा इत्यादि—का विशेष उल्लेख किया है।

श्रील श्रीधर स्वामी ने इन शब्दों की वैकल्पिक व्याख्या की है। उनका कहना है कि *बह्वृचच*

ब्राह्मण के अनुसार ये चारों शब्द चारों दिशाओं के ऊपर पूर्णसत्ता की शक्ति को बतलाने वाले हैं—*साम्राज्य*—पूर्व के लिए, *भौज्य*—दक्षिण के लिए, *स्वाराज्य*—पश्चिम के लिए और *वैराज्य*—उत्तर दिशा के लिए।

भगवान् कृष्ण की रानियाँ स्पष्ट कहती हैं कि उन्हें इनमें से एक भी शक्ति की इच्छा नहीं है, यहाँ तक कि ब्रह्मा के पद, मुक्ति या भगवद्धाम में जाने तक की इच्छा नहीं है। वे तो श्रीकृष्ण के उन चरणकमलों की धूल की ही कामना करती हैं, जिनकी पूजा स्वयं लक्ष्मीजी करती हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती हमें बतलाते हैं कि यहाँ जिस लक्ष्मी का उल्लेख है, वह नारायण-पत्नी लक्ष्मी नहीं हैं। आचार्य की व्याख्या है कि देवी लक्ष्मी को दीर्घकालीन तपस्या के बावजूद कृष्ण की प्रत्यक्ष संगति प्राप्त नहीं हो पाई थी, जैसाकि उद्धव कहते हैं—*नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः* (*भागवत* .७.६०)। प्रत्युत, यहाँ जिस लक्ष्मी क   ा प्रसंग आया है, उसकी पहचान *बृहद्गौतमीय तंत्र* द्वारा होती है—

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।

सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा॥

"दिव्य देवी श्रीमती राधारानी भगवान् श्रीकृष्ण की प्रत्यक्ष अर्धांगिणी हैं। वे समस्त लक्ष्मियों में प्रमुख हैं। उनमें सर्वाकर्षक भगवान् को आकृष्ट करने के लिए समस्त आकर्षण हैं। वे भगवान् की आदि अन्तरंगा शक्ति हैं।"

व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति पुलिन्द्यस्तृणवीरुधः ।
गावश्चारयतो गोपाः पदस्पर्शं महात्मनः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

व्रज—व्रज की; स्त्रियः—स्त्रियाँ; यत्—जैसा; वाञ्छन्ति—चाहती हैं; पुलिन्द्यः—व्रज में पुलिन्द आदिवासी स्त्रियाँ; तृण—घास; वीरुधः—तथा पौधों से; गावः—गौवें; चारयतः—चराने वाले; गोपाः—ग्वालबाल; पाद—पाँवों के; स्पर्शम्—स्पर्श; महा-आत्मनः—परमात्मा के।

हम भगवान् के चरणों का वही स्पर्श चाहती हैं, जो व्रज की तरुणियों, ग्वालबालों तथा आदिवासिनी पुलिन्द स्त्रियाँ चाहती हैं—वह है, भगवान् द्वारा अपनी गौवें चराते समय पौधों तथा घास पर उनके द्वारा, छोड़ी गई धूल का स्पर्श।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती हमें उस ईर्ष्या या स्पर्धा का स्मरण दिलाते हैं, जो द्वारका की

रानियों तथा व्रज की गोपियों में सदैव बनी रही। गोपियाँ द्वारका की सुसंस्कृत स्त्रियों को श्रीकृष्ण पर अपना अधिकार बनाये रखने में सबसे बड़ा खतरा मानती थीं। उन्होंने इस चिन्ता को उद्धव के समक्ष स्वीकार किया है—*कस्मात् कृष्ण इहायाति प्राप्तराज्यो हताहित:। नरेन्द्रकन्या उद्वाह्य*—राज्य जीतने, अपने शत्रुओं का वध कर लेने तथा राजाओं की कन्याओं के साथ विवाह कर चुकने के बाद कृष्ण भला यहाँ क्यों आने लगे? (भागवत .७.५)

रुक्मिणी तथा अन्य सात प्रमुख सपत्नियाँ अपने को द्वारका में कृष्ण के साथ अपने सम्बन्धों के कारण इतनी सौभाग्यशालिनी मानती थीं कि वे नहीं चाहती थीं कि वे ऐसे दिखें जैसे वे वृन्दावन में थे। किन्तु सोलह हजार अवर रानियाँ उद्धव द्वारा श्री राधा के सर्वोच्च गुणों का वर्णन सुनने के बाद चाहने लगीं कि उन्हें श्रीकृष्ण के पैरों की उस धूलि का स्पर्श हो पाये जो वृन्दावन की घास तथा पौधों पर गिरती है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि कुछ टीकाकार इसी को वह कारण बताते हैं जिससे *मौषल लीला* के बाद अर्जुन से सोलह हजार रानियाँ कृष्ण द्वारा सोलह हजार गोपों के वेश में हरण करके गोकुल ले जाई गईं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''कृष्ण की रानियों से द्रौपदी की भेंट'' नामक तिरासिवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौरासी

कुरुक्षेत्र में ऋषियों के उपदेश

इस अध्याय में सूर्यग्रहण का शुभ अवसर मनाने के लिए ऋषियों का कुरुक्षेत्र में आगमन, ऋषियों द्वारा भगवान् कृष्ण की महिमा का तथा वसुदेव द्वारा उत्साहपूर्वक यज्ञ सम्पन्न किये जाने का वर्णन हुआ है।

सूर्यग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र में कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा जैसी भद्र महिलाओं को भगवान् कृष्ण की रानियों से सान्निध्य प्राप्त करने का सुयोग प्राप्त हुआ। यह देखकर कि भगवान् की प्रियाएँ अपने पति को कितना प्यार करती हैं, वे सभी आश्चर्यचकित थीं। जब स्त्रियाँ परस्पर वार्तालाप कर रही थीं

और पुरुष भी वैसा ही कर रहे थे, तभी नारद, व्यासदेव इत्यादि मुनि भगवान् कृष्ण का दर्शन करने की इच्छा से वहाँ आ पधारे। अनेक राजा तथा अन्य प्रमुख व्यक्ति जो आराम से बैठे थे, जिनमें पाण्डव, कृष्ण तथा बलराम भी सम्मिलित थे। इन ऋषियों को देखते ही सब उठ कर खड़े हो गये। सबों ने उन महात्माओं को शीश, उनकी कुशल-क्षेत्र पूछी और उन्हें आसन, जल इत्यादि प्रदान करके, उनकी पूजा की। तब भगवान् कृष्ण ने कहा, ''अब हमारे जीवन सफल हुए, क्योंकि हमने ऋषियों तथा योगेश्वरों का दर्शन पाकर, जीवन-लक्ष्य प्राप्त कर लिया है, जो देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। किसी तीर्थस्थल का जल तथा देवताओं के अर्चाविग्रह दीर्घकाल के बाद ही किसी को पवित्र बना सकते हैं, किन्तु सन्त मुनिगण तो देखने-मात्र से पवित्र बना देते हैं। जो लोग अपनी पहचान अपने शरीरों के रूप में करते हैं और आप जैसे दिव्य मुनियों का सम्मान नहीं करते, वे गधों के तुल्य हैं।''

भगवान् कृष्ण के मुख से मर्त्य की-सी मुद्रा में इन शब्दों को सुनकर मुनिगण कुछ काल तक मौन तथा मोहग्रस्त रहे। तब उन्होंने कहा, ''हमारे प्रभु कितने विचित्र हैं! वे मनुष्य जैसे कार्यकलापों के द्वारा अपनी वास्तविक पहचान को आच्छादित कर देते हैं और ऐसा प्रदर्शित करते हैं कि वे किसी उच्च नियंत्रण के अधीन हैं। निश्चित रूप से उन्होंने सामान्य जनता को प्रबुद्ध करने के उद्देश्य से इस तरह कहा है। उनका ऐसा आचरण अचिन्त्य है।'' मुनिगण उनकी महिमा का गान भगवान्, अर्थात् परमात्मा एवं ब्राह्मणों के मित्र तथा आराधक के रूप में करते रहे।

जब मुनिगण उनकी प्रशंसा कर चुके, तो भगवान् कृष्ण ने उन्हें नमस्कार किया और मुनियों ने उनसे अपनी अपनी कुटियों में लौट जाने की अनुमति माँगी। किन्तु तभी वसुदेव आ गये। उन्होंने मुनियों को नमन करने के बाद पूछा, ''सकाम कर्म के बन्धन से छूटने के लिए मनुष्य को कौन-से कार्य करने चाहिए?'' मुनियों ने उत्तर दिया, ''वैदिक यज्ञों के द्वारा भगवान् हरि की पूजा करके आप सकाम कर्म के बन्धन से मुक्त हो सकेंगे।'' तब वसुदेव ने मुनियों से उनके पुरोहित बनने की प्रार्थना की और उन्होंने बड़ी सज-धज से वैदिक यज्ञों के सम्पन्न किये जाने की व्यवस्था कराई। बाद में वसुदेव ने इन पुरोहितों को गौवें तथा मूल्यवान आभूषण दान में दिये। यही नहीं, विवाह योग्य ब्राह्मण-कन्याएँ भी भेंट कीं। तत्पश्चात् उन्होंने *अवभृथ* स्नान अनुष्ठान सम्पन्न किया, जो यज्ञ की समाप्ति का सूचक था और हर एक को, यहाँ तक कि ग्रामीण कुत्तों को भी भोजन कराया। इसके बाद उन्होंने

अपने सम्बन्धियों, विविध राजाओं तथा अन्यों को पर्याप्त भेंटें दीं और वे सभी कृष्ण से विदा लेकर, अपने अपने घर लौट गये।

नन्द महाराज अपने सम्बन्धियों से गहन स्नेह के कारण विदा नहीं हो सके, इसलिए वे कुरुक्षेत्र में यादवों द्वारा सम्मानपूर्वक सेवित होकर तीन मास तक रहते रहे। एक अवसर पर वसुदेव नन्द द्वारा प्रदर्शित गहरी मित्रता का वर्णन करते करते खुल कर अश्रुपात करने लगे। तीन मास बाद नन्द महाराज मथुरा के लिए रवाना हुए, तो सभी यादवों ने उनको प्रेमपूर्वक विदा दी। जब यादवों ने अन्त में देखा कि वर्षाऋतु आने वाली है, तो वे द्वारका लौट गये और राजधानी में जाकर, उन्होंने वहाँ के वासियों को कुरुक्षेत्र की सारी घटनाएँ कह सुनाईं।

श्रीशुक उवाच

श्रुत्वा पृथा सुबलपुत्र्यथ याज्ञसेनी
माधव्यथ क्षितिपपत्न्य उत स्वगोप्य: ।
कृष्णेऽखिलात्मनि हरौ प्रणयानुबन्धं
सर्वा विसिस्म्युरलमश्रुकलाकुलाक्ष्य: ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; श्रुत्वा—सुनकर; पृथा—कुन्ती; सुबल-पुत्री—सुबल की पुत्री गान्धारी; अथ—तथा; याज्ञसेनी—द्रौपदी; माधवी—सुभद्रा; अथ—तथा; क्षिति-प—राजाओं की; पत्न्य:—पत्नियाँ; उत—भी; स्व—(भगवान् कृष्ण की) निजी; गोप्य:—गोपियाँ; कृष्णे—कृष्ण को; अखिल—सबों के; आत्मनि—आत्मा; हरौ—भगवान् हरि को; प्रणय—प्रेममय; अनुबन्धम्—आसक्ति; सर्वा:—सभी; विसिस्म्यु:—विस्मित हुईं; अलम्—अत्यधिक; अश्रु-कल—आँसुओं से; आकुल—पूर्ण; अक्ष्य:—नेत्रों वाली।.

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : पृथा, गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा, अन्य राजाओं की पत्नियाँ तथा भगवान् की ग्वालिन सखियाँ सभी जीवों के आत्मा तथा भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति उनकी रानियों के अगाध प्रेम को सुनकर चकित थीं और उनके नेत्रों में आँसू डबडबा आये थे।

तात्पर्य : भद्र महिलाओं की इस गोष्ठी की प्रमुख श्रोता द्रौपदी हैं, क्योंकि श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार द्रौपदी ने ही प्रश्न किया था, जिसका उत्तर कृष्ण की रानियों ने अपनी अपनी कथा सुनाकर दिया। चूँकि पिछले अध्याय में उपस्थित जनों में गान्धारी तथा अन्य स्त्रियों का जिनका नाम यहाँ बताया गया है, उल्लेख नहीं हुआ है, अतएव आचार्य श्रीधर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उन्होंने रानियों की कथाओं को दूसरे के मुखों से सुना होगा। निस्सन्देह द्रौपदी अपने से वयोवृद्ध पृथा तथा गान्धारी की उपस्थिति में इतनी स्वतंत्रता से कभी नहीं बोली होंगी, न ही उन गोपियों के समक्ष जिनकी

मनोवृत्ति द्वारका की रानियों के प्रति संवेदनात्मक नहीं थी। यद्यपि गोपियों के भी आँसू आ गये, किन्तु ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि उन्हें श्रीकृष्ण की लीलाओं का स्मरण हो आया था न कि उन रानियों के प्रति उनको कोई प्रेम-सामीप्य था।

वस्तुत: हमें स्मरण रखना होगा कि आध्यात्मिक स्तर पर सदैव पूर्ण सामंजस्य रहता है। शुद्ध भक्तों में जो विरोध झलकता है, वह संसारी ईर्ष्या तथा लड़ाई-झगड़े जैसा नहीं होता। गोपियों की ईर्ष्या वास्तविकता न होकर मात्र आभास थी, जो कृष्ण के प्रति छल के स्नेह का आनन्दमय प्रतीक थी। श्रील श्रीधर स्वामीपाद *स्व-गोप्य:* की व्याख्या यह कह कर करते हैं कि गोपियाँ रानियों की *स्व-स्वरूप* थीं।

इति सम्भाषमाणासु स्त्रीभि: स्त्रीषु नृभिर्नृषु ।
आययुर्मुनयस्तत्र कृष्णरामदिदृक्षया ॥ २॥
द्वैपायनो नारदश्च च्यवनो देवलोऽसित: ।
विश्वामित्र: शतानन्दो भरद्वाजोऽथ गौतम: ॥ ३॥
राम: सशिष्यो भगवान्वसिष्ठो गालवो भृगु: ।
पुलस्त्य: कश्यपोऽत्रिश्च मार्कण्डेयो बृहस्पति: ॥ ॥
द्वितस्त्रितश्चैकतश्च ब्रह्मपुत्रास्तथाङ्गिरा: ।
अगस्त्यो याज्ञवल्क्यश्च वामदेवादयोऽपरे ॥ ५॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; सम्भाषमाणासु—बात करती हुईं; स्त्रीभि:—स्त्रियों के साथ; स्त्रीषु—स्त्रियाँ; नृभि:—पुरुषों के साथ; नृषु—पुरुष; आययु:—आ गये; मुनय:—मुनिगण; तत्र—वहाँ पर; कृष्ण-राम—कृष्ण तथा बलराम का; दिदृक्षया—दर्शन करने की इच्छा से; द्वैपायन:—द्वैपायन वेदव्यास; नारद:—नारद; च—तथा; च्यवन: देवल: असित:—च्यवन, देवल तथा असित; विश्वामित्र: शतानन्द:—विश्वामित्र तथा शतानन्द; भरद्वाज: अथ गौतम:—भरद्वाज तथा गौतम; राम:—परशुराम; स—सहित; शिष्य:—उनके शिष्यगण; भगवान्—भगवान्; वसिष्ठ: गालव: भृगु:—वसिष्ठ, गालव तथा भृगु; पुलस्त्य: कश्यप: अत्रि: च—पुलस्त्य, कश्यप तथा अत्रि; मार्कण्डेय: बृहस्पति:—मार्कण्डेय तथा बृहस्पति; द्वित: त्रित: च एकत: च—द्वित, त्रित तथा एकत; ब्रह्म-पुत्रा:—ब्रह्मा के पुत्र (सनक, सनत, सनन्द तथा सनातन); तथा—और; अङ्गिरा:—अंगिरा; अगस्त्य: याज्ञवल्क्य: च—अगस्त्य तथा याज्ञवल्क्य; वामदेव-आदय:—वामदेव इत्यादि; अपरे—अन्य मुनि।

जब स्त्रियाँ स्त्रियों से और पुरुष पुरुषों से परस्पर बातें कर रहे थे, तो अनेक मुनिगण वहाँ आ पधारे। वे सभी के सभी कृष्ण तथा बलराम का दर्शन पाने के लिए उत्सुक थे। इनमें द्वैपायन, नारद, च्यवन, देवल तथा असित, विश्वामित्र, शतानन्द, भरद्वाज तथा गौतम, परशुराम तथा उनके शिष्य, वसिष्ठ, गालव, भृगु, पुलस्त्य तथा कश्यप, अत्रि, मार्कण्डेय तथा बृहस्पति, द्वित, त्रित, एकत तथा चारों कुमार एवं अंगिरा, अगस्त्य, याज्ञवल्क्य तथा वामदेव सम्मिलित थे।

तान्दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रागासीना नृपादयः ।
पाण्डवाः कृष्णरामौ च प्रणेमुर्विश्ववन्दितान् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; दृष्ट्वा—देखकर; सहसा—तुरन्त; उत्थाय—उठकर; प्राक्—अभी तक; आसीनाः—बैठे हुए; नृप-आदयः—राजा तथा अन्य लोग; पाण्डवाः—पाँचों पाण्डव; कृष्ण-रामौ—कृष्ण तथा बलराम; च—भी; प्रणेमुः—प्रणाम किया; विश्व—विश्व-भर के द्वारा; वन्दितान्—सम्मानितों को।

ज्योंही, उन्होंने मुनियों को आते देखा, सारे राजा तथा अन्य लोग, जो वहाँ बैठे थे, तुरन्त उठ खड़े हुए, जिनमें पाँचों पाण्डव तथा कृष्ण एवं बलराम भी थे। तब सबों ने उन विश्ववन्द्य मुनियों को प्रणाम किया।

तानानर्चुर्यथा सर्वे सहरामोऽच्युतोऽर्चयत् ।
स्वागतासनपाद्यार्घ्यमाल्यधूपानुलेपनैः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; आनर्चुः—उन्होंने पूजा की; यथा—उचित रीति से; सर्वे—उन सबों की; सह-राम—बलराम सहित; अच्युतः—तथा कृष्ण ने; अर्चयत्—उनकी पूजा की; स्व्-आगत—स्वागत; आसन—बैठने के स्थान; पाद्य—पाँव धोने के लिए जल; अर्घ्य—पीने के लिए जल; माल्य—फूलों की मालाएँ; धूप—अगुरु; अनुलेपनैः—तथा चन्दन-लेप से।

भगवान् कृष्ण, बलराम तथा अन्य राजाओं एवं प्रमुख व्यक्तियों ने उन मुनियों का, सत्कार, आसन, पाद-प्रक्षालन का जल, पीने के लिए जल, फूल-मालाएँ, अगुरु तथा चन्दन-लेप अर्पित करते हुए विधिपूर्वक पूजा की।

उवाच सुखमासीनान्भगवान्धर्मगुप्तनुः ।
सदसस्तस्य महतो यतवाचोऽनुशृण्वतः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

उवाच—कहा; सुखम्—सुखपूर्वक; आसीनान्—बैठे हुओं को; भगवान्—भगवान्; धर्म—धर्म के; गुप्—रक्षा के साधन; तनुः—शरीर वाले; सदसः—सभा में; तस्य—उस; महतः—महात्माओं को; यत—संयमित; वाचः—वाणी वाले; अनुशृण्वतः—ध्यानपूर्वक सुनते हुए।

जब सारे मुनि सुखपूर्वक बैठ गये, तो धर्म की रक्षा के निमित्त दिव्य शरीर धारण करने वाले भगवान् कृष्ण ने उस विराट सभा में उन्हें सम्बोधित किया। हर व्यक्ति ने मौन होकर बड़े ही ध्यान से सुना।

श्रीभगवानुवाच

अहो वयं जन्मभृतो लब्धं कार्त्स्न्येन तत्फलम् ।
देवानामपि दुष्प्रापं यद्योगेश्वरदर्शनम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अहो—ओह; वयम्—हम सभी; जन्म-भृतः—सफलतापूर्वक जन्म लेने वाले; लब्धम्—प्राप्त किये हुए; कार्त्स्न्येन—एकसाथ; तत्—उसका (जन्म का); फलम्—फल; देवानाम्—देवताओं के लिए; अपि—भी; दुष्प्रापम्—दुष्प्राप्य; यत्—जो; योग-ईश्वर—योगेश्वर का; दर्शनम्—दर्शन।

भगवान् ने कहा : अब हमारे जीवन निश्चित रूप से सफल हो गये, क्योंकि हमें जीवन का चरम लक्ष्य—महान् योगेश्वरों के दर्शन, जो देवताओं को भी विरले ही मिल पाता है—प्राप्त हो गया है।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के प्रशासकों के रूप में बड़े बड़े अधिकारों का भोग करते हुए भी देवतागण विरले ही नारद तथा व्यासदेव जैसे मुनियों का दर्शन कर पाते हैं। तो भला पृथ्वी के राजाओं तथा मात्र ग्वालों के लिए उनका दर्शन कर पाना कितना दुर्लभ होगा? यहाँ पर भगवान् कृष्ण समन्तपञ्चक में एकत्रित सारे राजाओं तथा अन्यों को अपना ही मानते हुए उनकी ओर से बोल रहे हैं।

किं स्वल्पतपसां नृणामर्चायां देवचक्षुषाम् ।
दर्शनस्पर्शनप्रश्नप्रह्वपादार्चनादिकम् ॥ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; सु-अल्प—अत्यन्त न्यून; तपसाम्—तपस्या वाले; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; अर्चायाम्—मन्दिर के अर्चाविग्रह में; देव—ईश्वर; चक्षुषाम्—जिनका देखना; दर्शन—देखना; स्पर्शन—छूना; प्रश्न—प्रश्न करना; प्रह्व—नमस्कार करना; पाद-अर्चन—पाँवों की पूजा करना; आदिकम्—इत्यादि।

वे लोग जो अधिक तपस्वी नहीं और जो ईश्वर को मन्दिर में उनके अर्चाविग्रह के रूप में ही पहचानते हैं, भला ऐसे लोग अब आपको कैसे देख सकते हैं, छू सकते हैं, आपसे प्रश्न कर सकते हैं, आपको नमस्कार कर सकते हैं, आपके चरणों की पूजा कर सकते हैं और अन्य विधियों से आपकी सेवा कर सकते हैं?

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अप्—जल से; मयानि—निर्मित; तीर्थानि—तीर्थस्थानों को; न—नहीं; देवाः—अर्चाविग्रह; मृत्—मिट्टी; शिला—तथा पत्थर; मयाः—निर्मित; ते—वे; पुनन्ति—पवित्र बनाते हैं; उरु-कालेन—दीर्घकाल के बाद; दर्शनात्—दर्शन करने से; एव—केवल; साधवः—साधुजन।

केवल जलमय स्थान ही असली पवित्र तीर्थस्थान नहीं होते, न ही मिट्टी तथा पत्थर की कोरी

प्रतिमाएँ असली आराध्यदेव हैं। ये किसी को दीर्घकाल के बाद ही पवित्र कर पाते हैं, किन्तु सन्त स्वभाव वाले मुनिजन दर्शन मात्र से पवित्र कर देते हैं।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् सर्वोपरि हैं—परमात्मा हैं—अत: उनका कोई भी स्वरूप चाहे वह पत्थर, रंग, ध्वनि या अन्य प्रामाणिक माध्यम से ही प्रकट क्यों न हो, सर्वोच्च दिव्य लोक—गोलोक वृन्दावन—में उनके आदि-रूप से अभिन्न होता है। किन्तु सामान्य देवता सर्वोच्च नहीं होते, वे अति सूक्ष्म आत्माएँ हैं। इस तरह देवताओं के स्वरूप कभी भी उनके समरूप नहीं होते। जिन लोगों में भगवान् के प्रति आध्यात्मिक श्रद्धा का अभाव होता है, उन्हें पवित्र स्थानों में देव-पूजा करने या विधिपूर्वक स्नान करने से केवल सीमित लाभ मिल पाता है।

दूसरी ओर, व्यासदेव, नारद तथा चारों कुमार जैसे महान् वैष्णव सन्त सदैव कृष्णभावनामृत में लीन रहते हैं। इस तरह वे सच्चे सचल तीर्थों के तुल्य होते हैं। क्षण-भर भी उनकी संगति करने से, विशेष रूप से उनके द्वारा भगवान् की महिमा का गान सुनने से, मनुष्य सारे भौतिक बन्धन से उबर सकता है। जैसाकि राजा युधिष्ठिर ने विदुर से कहा है—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूता: स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्त:स्थेन गदाभृता॥

"हे प्रभु! आप जैसे भक्त साक्षात् तीर्थस्थल हैं। चूँकि आप अपने हृदय में भगवान् को धारण करते हैं, अतएव आप सारे स्थानों को तीर्थों में बदल देते हैं।" (*भागवत* १.१३.)

नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारका
न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मन: ।
उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं
विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया ॥ १२॥

शब्दार्थ

न—न तो; अग्नि:—अग्नि; न—न तो; सूर्य:—सूर्य; न—न ही; च—तथा; चन्द्र—चन्द्रमा; तारका:—तथा तारे; न—न तो; भू:—पृथ्वी; जलम्—जल; खम्—आकाश; श्वसन:—श्वास; अथ—अथवा; वाक्—वाणी; मन:—तथा मन; उपासिता:—पूजित; भेद—अन्तर (उसके तथा अन्य जीवों के बीच); कृत:—उत्पन्न करने वाले के; हरन्ति—छीन लेते हैं; अघम्—पापों को; विपश्चित:—ज्ञानी लोग; घ्नन्ति—नष्ट कर देते हैं; मुहूर्त—कुछ मिनटों की ही; सेवया—सेवा के द्वारा।

न तो अग्नि के नियामक देवता सूर्य तथा चन्द्रमा, न ही पृथ्वी, तारागण, जल, आकाश, वायु, वाणी तथा मन के अधिष्ठाता देवता अपने उन पूजकों के पापों को हर पाते हैं, जो द्वैत के

दृष्टिकोण से देखने के अभ्यस्त हैं। किन्तु ज्ञानी मुनिजन आदरपूर्वक कुछ ही क्षणों तक भी सेवा किये जाने पर, मनुष्य के पापों को नष्ट कर देते हैं।

तात्पर्य : भगवान् का बचकाना भक्त भगवान् के अर्चाविग्रह को ही दिव्य मानकर अन्य सारी वस्तुओं को भौतिक समझ सकता है—यहाँ तक कि भगवान् के विश्वस्त सेवकों को भी। इतने पर भी चूँकि वह भगवान् विष्णु के परम पद को पहचान लेता है, इसलिए वह देवताओं के भौतिकतावादी पूजकों से श्रेष्ठतर पद पर स्थित होता है, अतएव वह आदर के योग्य है।

इस श्लोक में उस व्यक्ति के लिए जो भक्तिमय जीवन की निम्न अवस्थाओं से ऊपर उठना चाहता है उन्हें उच्च विचार वाले मुनियों की संगति करने की संस्तुति की गई है—यह संगति चाहे प्रत्यक्ष हो या उनके उपदेशों के श्रवण रूप में। एक नवदीक्षित भक्त अबोध प्राणियों के तथा अपने ही शरीर तथा मन के प्रति अधिक स्पष्ट हिंसक पापों से भले ही मुक्त हो, किन्तु जब तक वह भक्ति-मार्ग पर बहुत उन्नत न हो जाये उसे चाहिए कि मिथ्या अहंकार, पूज्य वैष्णवों के प्रति अनादर और कष्ट भोग रहे जीवों के प्रति दया के अभाव जैसे सूक्ष्म दोषों से बचे। अप्रौढ़ता के इन लक्षणों के निवारण का सर्वोत्तम उपाय है, शुद्ध वैष्णवों का सम्मान करना और उनसे उपदेश लेना तथा पतित हो चुके बद्ध जीवों का उद्धार करने के काम में उनका सहयोग करना।

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि-
ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसकी; आत्म—आत्मा के रूप में; बुद्धिः—विचार; कुणपे—शव में; त्रि-धातुके—तीन मूल तत्त्वों से बनी; स्व—निज के रूप में; धीः—विचार; कलत्र-आदिषु—पत्नी इत्यादि में; भौमे—पृथ्वी पर; इज्य—पूज्य के रूप में; धीः—विचार; यत्—जिसका; तीर्थ—तीर्थस्थान के रूप में; बुद्धिः—विचार; सलिले—जल में; न कर्हिचित्—कभी नहीं; जनेषु—लोगों में; अभिज्ञेषु—ज्ञानी; सः—वह; एव—निस्सन्देह; गः—गाय; खरः—या गधा।

जो व्यक्ति कफ, पित्त तथा वायु से बने निष्क्रिय काया को स्वयं मान बैठता है, जो अपनी पत्नी तथा अपने परिवार को स्थायी रूप से अपना मानता है, जो मिट्टी की प्रतिमा या अपनी जन्मभूमि को पूज्य मानता है या जो तीर्थस्थल को केवल जल मानता है, किन्तु आध्यात्मिक ज्ञानियों को अपना ही रूप नहीं मानता, उनसे सम्बन्ध का अनुभव नहीं करता, उनकी पूजा नहीं करता अथवा उनके दर्शन नहीं करता—ऐसा व्यक्ति गाय या गधे के तुल्य है।

तात्पर्य : असली बुद्धि तो आत्म की मिथ्या पहचान से मनुष्य की उन्मुक्तता द्वारा प्रदर्शित होती है। जैसाकि *बृहस्पति संहिता* में कहा गया है—

अज्ञात भगवद्धर्मा मन्त्रविज्ञानसंविद:।

नरास्ते गोखरा ज्ञेया अपि भूपालवन्दिता:॥

''जो लोग भगवान् की भक्ति के सिद्धान्तों को नहीं जानते, उन्हें गौवें तथा गधे के रूप में जानना चाहिए भले ही वे वैदिक मन्त्रों की पारिभाषिक व्याख्या करने में पटु क्यों न हों और विश्व-नेताओं द्वारा क्यों न पूजे जाते हों।''

द्वितीय श्रेणी के पद की ओर अग्रसर होने वाला अपूर्ण वैष्णव अपनी पहचान उन मुनियों से करता है, जो सत्य आध्यात्मिक मार्ग स्थापित कर चुके होते हैं, भले ही उसमें अब भी शरीर, परिवार इत्यादि के प्रति निम्न भौतिक आसक्ति क्यों न बनी हो। ऐसा भगवद्भक्त न तो मूर्ख गाय होता है, न ही अधिकांश भौतिकतावादियों की तरह अड़ियल गधा। किन्तु सर्वोत्तम वैष्णव वह है, जिसने भगवान् की विशेष कृपा प्राप्त कर ली है और जिसने माया और आसक्ति के बन्धनों से अपने को सर्वथा मुक्त कर लिया है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार *भौम-इज्य-धी:* शब्द जिसका अर्थ ''जो मिट्टी की बनी प्रतिमा को पूज्य मानता है'' है, वह मन्दिर में भगवान् के अर्चाविग्रह का नहीं, अपितु देवताओं के अर्चाविग्रहों का सूचक है। इसी तरह *यत्-तीर्थ-बुद्धि: सलिले* पद जिसका अर्थ ''जो तीर्थस्थल को केवल जल मानता है'' है, वह गंगा-यमुना जैसी पवित्र नदियों का नहीं, अपितु छोटी-छोटी नदियों का द्योतक है।

श्रीशुक उवाच

निशम्येत्थं भगवत: कृष्णस्याकुण्ठमेधस: ।
वचो दुरन्वयं विप्रास्तूष्णीमासन्भ्रमद्धिय: ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; निशम्य—सुनकर; इत्थम्—ऐसा; भगवत:—भगवान्; कृष्णस्य—कृष्ण का; अकुण्ठ—असीम; मेधस:—बुद्धि; वच:—शब्द; दुरन्वयम्—समझ पाना कठिन; विप्रा:—विद्वान ब्राह्मण; तूष्णीम्—मौन; आसन्—थे; भ्रमत्—चलायमान; धिय:—मन वाले।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : असीम ज्ञानी भगवान् कृष्ण से ऐसा अगाध शब्द सुनकर विद्वान

ब्राह्मण मौन रह गये। उनके मन भ्रमित थे।

चिरं विमृश्य मुनय ईश्वरस्येशितव्यताम् ।
जनसङ्ग्रह इत्यूचुः स्मयन्तस्तं जगद्गुरुम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

चिरम्—कुछ काल तक; विमृश्य—सोचकर; मुनयः—मुनियों ने; ईश्वरस्य—परम नियन्ता के; ईशितव्यताम्—नियंत्रित होने की स्थिति; जन-सङ्ग्रहः—सामान्य लोगों की जागृति; इति—इस तरह (निष्कर्ष निकालते हुए); ऊचुः—कहा; स्मयन्तः—हँसते हुए; तम्—उन; जगत्—ब्रह्माण्ड के; गुरुम्—गुरु से।

मुनिगण कुछ समय तक भगवान् के इस आचरण पर विचार करते रहे, जो एक अधीनस्थ जीव के आचरण जैसा लग रहा था। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि वे सामान्य जनों को उपदेश देने के लिए ऐसा अभिनय कर रहे हैं। अतः वे मुस्कराये और जगद्गुरु से इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने *ईशितव्यता* शब्द की व्याख्या "किसी के नियन्ता न होने" के द्योतक के रूप में की है अथवा दूसरे शब्दों में, यह कर्म-नियम के अधीन होने अर्थात् कर्म करने और उसके फल को भोगने का द्योतक है। मुनियों को सम्बोधित करते समय भगवान् कृष्ण ने सन्त वैष्णवों को सुनने और उनकी सेवा करने पर बल देने के लिए एक अधीन-जीव की भूमिका अपनायी। भगवान् तो आध्यात्मिक समर्पण के भी परम शिक्षक हैं।

श्रीमुनय ऊचुः
यन्मायया तत्त्वविदुत्तमा वयं
विमोहिता विश्वसृजामधीश्वराः ।
यदीशितव्यायति गूढ ईहया
अहो विचित्रम्भगवद्विचेष्टितम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-मुनयः ऊचुः—मुनियों ने कहा; यत्—जिसकी; मायया—माया-शक्ति से; तत्त्व—सत्य के; वित्—वेत्ता; उत्तमाः—सर्वश्रेष्ठ; वयम्—हम; विमोहिताः—विचलित; विश्व—ब्रह्माण्ड के; सृजाम्—स्रष्टाओं के; अधीश्वरः—प्रमुख; यत्—जिससे; ईशितव्यायति—(भगवान्) अपने को उच्चतर नियंत्रण के अधीन मानता है; गूढः—छिपा; ईहया—कार्यों द्वारा; अहो—ओह; विचित्रम्—आश्चर्यजनक; भगवत्—भगवान् का; विचेष्टितम्—कार्य, चेष्टा।

उन महान् मुनियों ने कहा : आपकी माया-शक्ति ने सत्य को सर्वोत्तम ढंग से जानने वाले तथा विश्व के प्रमुख स्रष्टा हम सबों को मोहित कर लिया है। ओह! भगवान् का आचरण कितना आश्चर्यजनक है! वे अपने को मानव जैसे कार्यों से आच्छादित करके अपने को किसी श्रेष्ठ

नियंत्रण के अधीन होने का स्वाँग रच रहे हैं।

तात्पर्य : मुनियों ने भगवान् के कथन को *दुरन्वयम्* अर्थात् अतर्क्य कहा है। यह इस तरह कैसे है उसको यहाँ बतलाया गया है—उनके शब्द तथा कार्य बड़े से बड़े विद्वानों को भी चकित करने वाले हैं जब वे अपने को अपने ही दासों के अधीन मान कर कार्य करते हैं।

अनीह एतद्बहुधैक आत्मना
सृजत्यवत्यत्ति न बध्यते यथा ।
भौमैर्हि भूमिर्बहुनामरूपिणी
अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

अनीहः—बिना चेष्टा किये; एतत्—यह (ब्रह्माण्ड); बहुधा—नाना प्रकार; एकः—अकेला; आत्मना—अपने द्वारा; सृजति—उत्पन्न करता है; अवति—पालन करता है; अत्ति—संहार करता है; न बध्यते—बँधता नहीं है; यथा—जिस तरह; भौमैः—पृथ्वी के रूपान्तरों (विकारों) से; हि—निस्सन्देह; भूमिः—पृथ्वी; बहु—अनेक; नाम-रूपिणी—नाम तथा रूपों वाली; अहो—ओह; विभूम्नः—सर्वशक्तिमान भगवान् का; चरितम्—कार्यकलाप; विडम्बनम्—बहाना।

निस्सन्देह, सर्वशक्तिमान की मनुष्य जैसी लीलाएँ केवल बहाना हैं। वे बिना प्रयास के ही अपने में से इस रंगबिरंगी सृष्टि को उत्पन्न करते हैं, इसका पालन करते हैं और फिर इसे निगल जाते हैं। आप यह सब बिना बँधे ही करते हैं, जिस तरह पृथ्वी-तत्त्व अपने विविध रूपान्तरों (विकारों) में अनेक नाम तथा रूप ग्रहण करती रहती है।

तात्पर्य : एक ही परम पुरुष अपनी पूर्णता में किसी ह्रास के बिना अपने आपको अनेक रूपों में विस्तार करते हैं। वे बिना प्रयास के, किसी पर किसी भी प्रकार से निर्भर हुए बिना ऐसा करते हैं। आत्मप्रसार की यह रहस्यमयी विधि उनके अलावा अन्य किसी की समझ में नहीं आती। किन्तु पृथ्वी तथा उसके विविध विकारों का उदाहरण कुछ न कुछ समता का आभास देता है। यही उदाहरण प्राय: उद्धृत *छांदोग्य उपनिषद* के इस अंश (६.१) द्वारा भी प्रस्तुत किया जाता है—*वाचारम्भनं विकारो नामध्येयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्*—पृथ्वी के रूपान्तर केवल नाम रखने की शाब्दिक उत्पत्तियाँ हैं, मात्र पृथ्वी ही सत्य है।

श्रील श्रीधर स्वामी का सुझाव है कि *श्रीमद्भागवत* का यह श्लोक कृष्ण पर संभवत: लगाये जा सकने वाले उस आक्षेप का कि "यदि मैं वसुदेव का पुत्र हूँ तो भला मैं इस ब्रह्माण्ड का सृजन, पालन और संहार किस तरह कर सकता हूँ?" का उत्तर है। यह उत्तर *अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम्* शब्दों

द्वारा दिया गया है, जिसका अर्थ है "आप परम पूर्ण हैं और आपका जन्म तथा आपके कार्यकलाप इस भौतिक जगत में सामान्य पुरुषों के कार्यकलापों के अनुकरण मात्र हैं। आप अपने को किसी उच्चतर नियंत्रण के अधीन होने का केवल स्वाँग भरते हैं।"

अथापि काले स्वजनाभिगुप्तये
बिभर्षि सत्त्वं खलनिग्रहाय च ।
स्वलीलया वेदपथं सनातनं
वर्णाश्रमात्मा पुरुषः परो भवान् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अथ अपि—तो भी; काले—सही समय पर; स्व-जन—अपने भक्तों की; अभिगुप्तये—रक्षा के लिए; बिभर्षि—धारण करते हो; सत्त्वम्—सतोगुण; खल—दुष्टों को; निग्रहाय—दण्ड देने के लिए; च—तथा; स्व—अपनी; लीलया—लीलाओं से; वेद-पथम्—वेदों का मार्ग; सनातनम्—नित्य; वर्ण-आश्रम—वर्णों तथा आश्रमों का; आत्मा—आत्मा; पुरुषः—भगवान्; परः—सर्वोच्च; भवान्—आप।

तो भी उचित अवसरों पर आप अपने भक्तों की रक्षा करने तथा दुष्टों को दण्ड देने के लिए शुद्ध सतोगुणी रूप धारण करते हैं। इस तरह वर्णाश्रम के आत्मास्वरूप आप भगवान् अपनी आनन्द-लीलाओं का भोग करते हुए वेदों के शाश्वत पथ को बनाये रखते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् द्वारा जनसामान्य को प्रबुद्ध करने (*जनसंग्रहः*) तथा सांसारिक आचरण का अनुकरण करने का वर्णन है। चूँकि भगवान् सदैव पूर्ण बने रहते हैं, अतएव वे इस जगत में आकर जिस शरीर को प्रकट करते हैं वह भौतिक सत्त्व से छुआ नहीं जाता, प्रत्युत वह *विशुद्ध सत्त्व* की अभिव्यक्ति होता है अर्थात् वही दिव्य तत्त्व जिससे उनका मूल-स्वरूप बनता है।

ब्रह्म ते हृदयं शुक्लं तपःस्वाध्यायसंयमैः ।
यत्रोपलब्धं सद्व्यक्तमव्यक्तं च ततः परम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म—वेद; ते—तुम्हारे; हृदयम्—हृदय; शुक्लम्—शुद्ध; तपः—तपस्या; स्वाध्याय—अध्ययन; संयमैः—तथा आत्मसंयम द्वारा; यत्र—जिसमें; उपलब्धम्—अनुभव किये गये; सत्—शुद्ध आध्यात्मिक; व्यक्तम्—प्रकट (भौतिक सृष्टि का प्रतिफल); अव्यक्तम्—अप्रकट (सृष्टि के सूक्ष्म कारण); च—तथा; ततः—उसको; परम्—दिव्य को।

वेद आपके निर्मल हृदय हैं और उनके माध्यम से तपस्या, अध्ययन एवं आत्मसंयम द्वारा मनुष्य प्रकट, अप्रकट तथा इन दोनों से परे शुद्ध अस्तित्व को देख सकता है।

तात्पर्य : *व्यक्त* के अन्तर्गत इस जगत की दृश्य वस्तुएँ आती हैं और *अव्यक्त* के अन्तर्गत विराट

सृष्टि के सूक्ष्म आधारभूत कारण आते हैं। सारे वेद भौतिक कार्य-कारण से परे ब्रह्म के दिव्य प्रक्षेत्र की ओर इंगित करने वाले हैं।

तस्माद्ब्रह्मकुलं ब्रह्मन्शास्त्रयोनेस्त्वमात्मनः ।
सभाजयसि सद्धाम तद्ब्रह्मण्याग्रणीर्भवान् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसीलिए; ब्रह्म—ब्राह्मणों के; कुलम्—वंश को; ब्रह्मन्—हे परम सत्य; शास्त्र—शास्त्र; योनेः—अनुभूति के साधन रूप; त्वम्—तुमको; आत्मनः—अपने आप; सभाजयसि—सम्मान प्रदर्शित करते हैं; सत्—पूर्ण; धाम—वास, स्थान; तत्—फलस्वरूप; ब्रह्मण्य—ब्राह्मण संस्कृति का आदर करने वालों के; अग्रणीः—नायक; भवान्—आप।

अतएव हे परब्रह्म, आप ब्राह्मण कुल के सदस्यों का आदर करते हैं, क्योंकि वे ही पूर्ण अभिकर्ता हैं, जिनके माध्यम से वेदों के साक्ष्य द्वारा कोई व्यक्ति आपका साक्षात्कार कर सकता है। इसी कारण से आप ब्राह्मणों के अग्रणी पूजक हैं।

अद्य नो जन्मसाफल्यं विद्यायास्तपसो दृशः ।
त्वया सङ्गम्य सद्गत्या यदन्तः श्रेयसां परः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अद्य—आज; नः—हमारा; जन्म—जन्म का; साफल्यम्—फलीभूत; विद्यायाः—शिक्षा का; तपसः—तपस्या का; दृशः—देखने की शक्ति का; त्वया—तुम्हारे द्वारा; सङ्गम्य—संगति दी जाकर; सत्—साधु-पुरुषों की; गत्या—गन्तव्य; यत्—क्योंकि; अन्तः—सीमा; श्रेयसाम्—लाभों की; परः—चरम।

आज हमारा जन्म, शिक्षा, तपस्या तथा दृष्टि सभी पूर्ण हो चुके हैं, क्योंकि हम समस्त सन्त-पुरुषों के लक्ष्य, आपसे सान्निध्य प्राप्त करने में समर्थ हो सके हैं। निस्सन्देह आप स्वयं ही अनन्तिम, अर्थात् परम आशीर्वाद हैं।

तात्पर्य : मुनिगण यहाँ पर भगवान् के प्रति अपने आदर एवं उसके बदले उनके द्वारा मुनियों की पूजा की तुलना करते हैं। भगवान् कृष्ण ब्राह्मणों का आदर इसलिए करते हैं, क्योंकि अल्पज्ञों को उपदेश देने के वे साधन स्वरूप हैं, जबकि वास्तव में भगवान् स्वयं परम स्वतंत्र हैं। दूसरी ओर उनकी पूजा करने वाले ब्राह्मण कल्पना से बढ़कर लाभ प्राप्त करते हैं।

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्ने परमात्मने ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; तस्मै—उस; भगवते—भगवान् को; कृष्णाय—कृष्ण को; अकुण्ठ—असीम; मेधसे—बुद्धिमान; स्व—निजी; योग-मायया—अन्तरंगा माया-शक्ति द्वारा; आच्छन्न—ढका; महिम्ने—महिमा वाले; परम-आत्मने—परमात्मा को।.

हम अनन्त बुद्धि वाले परमात्मा अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार करते हैं, जिन्होंने अपनी योगमाया द्वारा अपनी महानता को छिपा रखा है।

तात्पर्य : भगवान् की पूजा करने से जो भावी लाभ होगा उसके अतिरिक्त हर मनुष्य का यह परमावश्यक कर्तव्य है कि वह अधीनता तथा दासता की कृतज्ञता के रूप में उनको नमस्कार करे। भगवान् कृष्ण ने इसकी संस्तुति की है (*भगवद्गीता* ९.३)—

मन्मना भव मदभक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि युक्त्वैवं आत्मानं मत्परायण: ॥

"अपने मन को सदैव मेरे चिन्तन में लगाओ, मेरे भक्त बनो, मुझे नमस्कार करो और मेरी ही पूजा करो। मुझमें पूर्णतया लीन होने पर तुम निश्चय ही मेरे पास आओगे।"

न यं विदन्त्यमी भूपा एकारामाश्च वृष्णयः ।
मायाजवनिकाच्छन्नमात्मानं कालमीश्वरम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यम्—जिसको; विदन्ति—जानते हैं; अमी—ये; भू-पाः—राजागण; एक—एकसाथ; आरामाः—भोग करने वाले; च—तथा; वृष्णयः—वृष्णिगण; माया—माया की दैवी शक्ति के; जवनिका—पर्दे द्वारा; आच्छन्नम्—आच्छादित; आत्मानम्—परमात्मा को; कालम्—काल को; ईश्वरम्-थे सुप्रेमे चोन्त्रोल्लेर्.

न तो ये राजा, न ही वृष्णिगण, जो आपकी घनिष्ठ संगति का आनन्द उठाते हैं, आपको समस्त सृष्टि के आत्मा, काल की शक्ति तथा परम नियन्ता के रूप में जानते हैं। उनके लिए तो आप माया के पर्दे से ढके रहते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की व्याख्या है कि भगवान् कृष्ण का परिवार अर्थात् वृष्णिजन उनसे भलीभाँति परिचित थे, किन्तु वे यह अनुभव नहीं कर सकते थे कि वे हर प्राणी के हृदय में वास करने वाले परमात्मा हैं। और कुरुक्षेत्र में आये वे राजा जो कृष्णभक्त नहीं थे, उन्हें काल के रूप में अर्थात् हर वस्तु के संहारक के रूप में नहीं पहचान सके। भक्त तथा अभक्त दोनों ही माया द्वारा आच्छन्न होते हैं, किन्तु भिन्न भिन्न तरीकों से। भौतिकतावादियों के लिए माया मोह होती है, किन्तु वैष्णवों के साथ वह योगमाया के रूप में कार्य करती है और वह भगवान् की महानता के प्रति उनकी भिज्ञता को आच्छादित करती है और उन्हें उनकी नित्य आनन्द-लीलाओं में लगाती है।

यथा शयानः पुरुष आत्मानं गुणतत्त्वदृक् ।
नाममात्रेन्द्रियाभातं न वेद रहितं परम् ॥ २॥
एवं त्वा नाममात्रेषु विषयेष्विन्द्रियेहया ।
मायया विभ्रमच्चित्तो न वेद स्मृत्युपप्लवात् ॥ २५॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; शयानः—सोता हुआ; पुरुषः—व्यक्ति; आत्मानम्—अपने को; गुण—गौण; तत्त्व—यथार्थ के; दृक्—जिसकी दृष्टि; नाम—नामों; मात्र—तथा स्वरूपों के साथ; इन्द्रिय—उसके मन से; आभातम्—प्रकट; न वेद—नहीं जानता; रहितम्—पृथक्; परम्—प्रत्युत; एवम्—इसी तरह; त्वा—तुम; नाम-मात्रेषु—नामों तथा स्वरूपों से युक्त; विषयेषु—भौतिक अनुभूति की वस्तुओं में; इन्द्रिय—इन्द्रियों की; ईहया—क्रियाशीलता से; मायया—आपकी माया के प्रभाव से; विभ्रमत्—मोहग्रस्त होकर; चित्तः—चेतना वाला; न वेद—नहीं जानता; स्मृति—अपनी स्मरणशक्ति के; उपप्लवात्—भंग हो जाने से।

सोया हुआ व्यक्ति अपने को एक वैकल्पिक सत्य मानता है और स्वयं यह देखते हुए कि उसके विविध नाम तथा रूप हैं, वह अपनी जाग्रत पहचान को भूल जाता है, जो उसके स्वप्न से सर्वथा पृथक् होती है। इसी प्रकार जिसकी चेतना माया द्वारा मोहित हो जाती है, वह भौतिक वस्तुओं के ही नामों तथा स्वरूपों को देखता है। इस तरह ऐसा पुरुष अपनी स्मरणशक्ति खो देता है और आपको जान नहीं सकता।

तात्पर्य : जिस तरह मनुष्य का स्वप्न उसकी स्मृतियों तथा इच्छाओं के संग्रह से उत्पन्न गौण वास्तविकता होता है, उसी तरह यह ब्रह्माण्ड परमेश्वर की निकृष्ट सृष्टि के रूप में विद्यमान रहता है, जो वास्तव में उनसे पृथक् नहीं होता। और जिस तरह निद्रा से जगा हुआ पुरुष अपने जाग्रत जीवन की उच्चतर वास्तविकता का अनुभव करता है, वैसे ही भगवान् की भी अपनी पृथक् उच्चतर वास्तविकता होती है, जो इस जगत में ज्ञेय किसी भी वस्तु से परे है। भगवान् के ही शब्दों में (*भगवद्गीता* ९.-५)—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

"मेरे अव्यक्त रूप में यह समूचा ब्रह्माण्ड मुझसे व्याप्त है। सारे जीव मुझमें हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ। फिर भी प्रत्येक सृजित वस्तु मुझमें स्थित नहीं है। मेरे योग-ऐश्वर्य को देखो! यद्यपि मैं सारे

जीवों का पालनहार हूँ और मैं हर वस्तु हूँ फिर भी मैं इस विराट जगत का अंश नहीं हूँ, क्योंकि मैं ही सृष्टि का उद्‍गम हूँ।''

तस्याद्य ते ददृशिमाङ्‌घ्रिमघौघमर्ष-
तीर्थास्पदं हृदि कृतं सुविपक्वयोगैः ।
उत्सिक्तभक्त्युपहताशय जीवकोशा
आपुर्भवद्‍गतिमथानुगृहान भक्तान् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अद्य—आज; ते—तुम्हारा; ददृशिम—हम देख चुके हैं; अङ्‌घ्रिम्—पैरों को; अघ—पापों की; ओघ—बाढ़ें; मर्ष—नष्ट करते हैं; तीर्थ—तीर्थस्थानों (गंगा नदी) के; आस्पदम्—स्रोत; हृदि—हृदय में; कृतम्—रखा; सु—अच्छी तरह; विपक्व—पका हुआ; योगैः—उनके द्वारा जिनका योगाभ्यास; उत्सिक्त—पूर्णतया विकसित; भक्ति—भक्ति द्वारा; उपहत—विनष्ट; आशय—भौतिक मनोवृत्ति; जीव—जीवात्मा का; कोशाः—बाह्य आवरण; आपुः—उन्होंने प्राप्त किया; भवत्—आपका; गतिम्—गन्तव्य; अथ—इसलिए; अनुगृहाण—कृपा प्रदर्शित कीजिये; भक्तान्—अपने भक्तों पर।

आज हमने आपके उन चरणों का प्रत्यक्ष दर्शन पा लिया, जो उस पवित्र गंगा नदी के उद्‍गम हैं, जो पापों के ढेरों को धो डालती है। पूर्णयोगी आपके चरणों का ध्यान उत्तम विधि से अपने हृदयों में कर सकते हैं, किन्तु केवल वे, जो आपकी पूरे मन से भक्ति करते हैं और इस तरह आत्मा के आवरण—भौतिक मन—को दूर करते हैं, वे आपको अपने अन्तिम गन्तव्य के रूप में प्राप्त करते हैं। अतएव आप हम अपने भक्तों पर कृपा प्रदर्शित करें।

तात्पर्य : पवित्र गंगा नदी में सारे पापों को नष्ट करने की क्षमता है, क्योंकि यह भगवान् के चरणकमलों से निकलती है और इस तरह इसमें उनके चरणों की धूल मिली रहती है। इस श्लोक की व्याख्या करते हुए श्रील श्रीधर स्वामी कहते हैं, ''यदि भगवान् मुनियों को यह सलाह दें कि उन्हें भक्ति नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वे पहले से आध्यात्मिक ज्ञान तथा तपस्या में बढ़े-चढ़े हैं, तो वे यहाँ पर आदरपूर्वक ऐसे सुझाव का तिरस्कार यह इंगित करते हुए कर रहे हैं कि जिन योगियों ने भक्तिपूर्वक कृष्ण की शरण में जाकर अपने भौतिक मन तथा अहंकार को विनष्ट कर दिया है वे ही पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। वे अपनी स्तुति यह कहकर समाप्त करते हैं कि वे उन्हें अपना भक्त बनाकर उन पर अपनी महान् कृपा प्रदर्शित करें।''

श्रीशुक उवाच
इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरम् ।

राजर्षे स्वाश्रमानान्तुं मुनयो दधिरे मनः ॥ २७॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार कह कर; अनुज्ञाप्य—विदा होने की अनुमति लेकर; दाशार्हम्—महाराज दाशार्ह के वंशज कृष्ण से; धृतराष्ट्रम्—धृतराष्ट्र से; युधिष्ठिरम्—युधिष्ठिर से; राज—राजाओं में से; ऋषे—हे ऋषि; स्व—अपने अपने; आश्रमान्—कुटियों को; गन्तुम्—जाने में; मुनयः—मुनिगण; दधिरे—उन्मुख किया; मनः—अपने मनों को।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे ज्ञानवान राजा, इस तरह कहकर मुनियों ने दाशार्ह, धृतराष्ट्र तथा युधिष्ठिर से विदा होने की अनुमति ली और अपने अपने आश्रमों को जाने के लिए तैयार होने लगे।

तद्वीक्ष्य तानुपव्रज्य वसुदेवो महायशाः ।
प्रणम्य चोपसङ्गृह्य बभाषेदं सुयन्त्रितः ॥ २८॥

शब्दार्थ

तत्—यह; वीक्ष्य—देखकर; तान्—उनको; उपव्रज्य—पास आकर; वसुदेवः—वसुदेव ने; महा—महान्; यशाः—यशस्वी; प्रणम्य—प्रणाम करके; च—तथा; उपसङ्गृह्य—उनके चरण पकड़ कर; बभाष—कहा; इदम्—यह; सु—अत्यन्त; यन्त्रितः—सावधानी के साथ बनाया हुआ।

यह देखकर कि वे साधु प्रस्थान करने वाले हैं, सम्मान्य वसुदेव उनके पास पहुँचे और उन्हें नमस्कार करने एवं उनके चरण-स्पर्श करने के बाद, उन्होंने अत्यन्त सावधानी से चुने हुए शब्दों में उनसे कहा।

श्रीवसुदेव उवाच
नमो वः सर्वदेवेभ्य ऋषयः श्रोतुमर्हथ ।
कर्मणा कर्मनिर्हारो यथा स्यान्नस्तदुच्यताम् ॥ २९॥

शब्दार्थ

श्री-वसुदेवः उवाच—श्री वसुदेव ने कहा; नमः—नमस्कार; वः—आपको; सर्व—समस्त; देवेभ्यः—देवताओं के; ऋषयः—हे ऋषि; श्रोतुम् अर्हथ—कृपया सुनें; कर्मणा—भौतिक कार्य द्वारा; कर्म—(पूर्व) कार्य का; निर्हारः—निराकरण, नाश; यथा—कैसे; स्यात्—हो; नः—हमको; तत्—वह; उच्यताम्—कृपया कहें।

श्री वसुदेव ने कहा : हे समस्त देवताओं के आश्रय, आपको नमस्कार है। हे ऋषियो, कृपा करके मेरी बात सुनें। कृपा करके हमें यह बतलायें कि मनुष्य का कर्मफल किस तरह आगे और कर्म करके विनष्ट किया जा सकता है?

तात्पर्य : यहाँ पर वसुदेव ने ऋषियों को "समस्त देवताओं का निवास" कहकर सम्बोधित किया है। इस कथन की पुष्टि उस प्रामाणिक *श्रुति-मन्त्र* से होती है, जिसमें कहा गया है *यावतीर्वै देवतास्ताः*

सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति—जो भी देवता हैं, वे सब उस ब्राह्मण में वास करते हैं, जो वेद को जानता है।

श्रीनारद उवाच
नातिचित्रमिदं विप्रा वसुदेवो बुभुत्सया ।
कृष्णम्मत्वार्भकं यन्नः पृच्छति श्रेय आत्मनः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद ने कहा; न—नहीं; अति—अत्यन्त; चित्रम्—विचित्र; इदम्—यह; विप्राः—हे ब्राह्मणो; वसुदेवः—वसुदेव; बुभुत्सया—जानने की इच्छा से; कृष्णम्—कृष्ण को; मत्वा—सोच कर; अर्भकम्—बालक; यत्—यह तथ्य कि; नः—हमसे; पृच्छति—पूछता है; श्रेयः—सर्वोच्च मंगल के विषय में; आत्मनः—अपने लिए।

श्री नारद मुनि ने कहा : हे ब्राह्मणो, यह उतना आश्चर्यजनक नहीं है कि जानने की उत्सुकता से वसुदेव ने अपने चरम लाभ के विषय में हमसे प्रश्न किया है, क्योंकि वे कृष्ण को मात्र एक बालक ही मानते हैं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी नारद के विचारों का वर्णन करते हुए लिखते हैं: श्री नारद समझ गये कि किस तरह वसुदेव ने अपने को सामान्य गृहस्थ मानते हुए मुनियों से *कर्मयोग* के विषय में पूछा यद्यपि उन्हें पहले ही वह आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्त हो चुका था, जिसे बड़े-बड़े योगी तथा ऋषि भी प्राप्त नहीं कर पाते। तो भी नारद को चिन्ता हुई कि वसुदेव इतने सारे मुनियों के सामने कहीं भगवान् कृष्ण को निरा बालक समझ कर कोई दुविधाजनक भाव न उत्पन्न कर दें। नारद तथा अन्य मुनियों ने भगवान् कृष्ण के प्रति आदर-भाव बनाये रखना उचित समझा, इसीलिए कृष्ण की अवहेलना करके वसुदेव को उत्तर क्योंकर देने देते? इसी परेशानी से बचने के लिए नारद ने वहाँ पर उपस्थित सारे व्यक्तियों के समक्ष श्रीकृष्ण की सर्वश्रेष्ठता का स्मरण दिलाना चाहा।

सन्निकर्षोऽत्र मर्त्यानामनादरणकारणम् ।
गाङ्गं हित्वा यथान्याम्भस्तत्रत्यो याति शुद्धये ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

सन्निकर्षः—निकटता; अत्र—यहाँ (इस जगत में); मर्त्यानाम्—मर्त्यों के लिए; अनादरण—अनादर का; कारणम्—कारण; गाङ्गम्—गंगा (के जल) को; हित्वा—त्याग कर; यथा—जिस तरह; अन्य—दूसरा; अम्भः—पानी; तत्रत्यः—उसके पास रहने वाला; याति—जाता है; शुद्धये—शुद्धि के लिए।

इस संसार में परिचय बढ़ने से अनादर पनपता है। उदाहरणार्थ जो व्यक्ति गंगा के तट पर रहता है, वह अपनी शुद्धि के लिए गंगा की उपेक्षा करके अन्य किसी जलाशय को जाय।

यस्यानुभूतिः कालेन लयोत्पत्त्यादिनास्य वै ।
स्वतोऽन्यस्माच्च गुणतो न कुतश्चन रिष्यति ॥ ३२ ॥

तं क्लेशकर्मपरिपाकगुणप्रवाहै-
रव्याहतानुभवमीश्वरमद्वितीयम् ।
प्राणादिभिः स्वविभवैरुपगूढमन्यो
मन्येत सूर्यमिव मेघहिमोपरागैः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसकी; अनुभूतिः—जानकारी से; कालेन—समय द्वारा उत्पन्न; लय—विनाश; उत्पत्ति—सृष्टि; आदिना—इत्यादि के द्वारा; अस्य—इस (ब्रह्माण्ड) का; वै—निस्सन्देह; स्वतः—अपने से; अन्यस्मात्—किसी अन्य कारण से; च—अथवा; गुणतः—अपने गुणों के रूप में; न—नहीं; कुतश्चन—किसी कारण से; रिष्यति—टूट जाता है; तम्—उसको; क्लेश—भौतिक कष्ट; कर्म—भौतिक कार्यकलाप; परिपाक—उनके परिणाम; गुण—प्रकृति के गुणों के; प्रवाहैः—तथा प्रवाह द्वारा; अव्याहत—अप्रभावित; अनुभवम्—जिसकी चेतना; ईश्वरम्—परम नियन्ता को; अद्वितीयम्—अद्वितीय; प्राण—प्राणवायु; आदिभिः—इत्यादि से; स्व—निजी; विभवैः—अंशों द्वारा; उपगूढम्—दूसरे वेश में; अन्यः—अन्य कुछ; मन्येत—मानता है; सूर्यम् इव—सूर्य की तरह; मेघ—बादलों के द्वारा; हिम—बर्फ; उपरागैः—तथा ग्रहणों के द्वारा।

भगवान् की चेतना कभी भी काल द्वारा, ब्रह्माण्ड की सृष्टि तथा संहार द्वारा, अपने ही गुणों में परिवर्तन द्वारा, या किसी अन्य कारण से, चाहे वह स्वजनित हो या बाह्य हो, विचलित नहीं होती। भले ही अद्वितीय भगवान् की चेतना भौतिक कष्ट द्वारा, भौतिक कर्म द्वारा या प्रकृति के गुणों के निरन्तर प्रवाह द्वारा प्रभावित न होती हो, किन्तु तो भी सामान्य व्यक्ति यही सोचते हैं कि भगवान् प्राण तथा अन्य भौतिक तत्त्वों की अपनी ही सृष्टियों से आच्छादित हैं, जिस तरह कोई व्यक्ति यह सोच सकता है कि सूर्य बादल, बर्फ या ग्रहण से ढक गया है।

तात्पर्य : इस संसार की वस्तुएँ किसी न किसी कारण से नष्ट हो जाती हैं। काल स्वयं ही प्रत्येक सृजित वस्तु का अन्त में क्षय करता है। उदाहरणार्थ, एक फल पहले पकता है, किन्तु उसके बाद किसी के द्वारा उसे खाया जायेगा या फिर सड़ जायेगा। कुछ वस्तुएँ, यथा आकाश की बिजली प्रकट होते ही नष्ट हो जाती हैं, जबकि अन्य वस्तुएँ बाह्य अभिकर्ताओं द्वारा सहसा नष्ट कर दी जाती हैं, जैसे कि मिट्टी का पात्र हथौड़े के द्वारा नष्ट किया जा सकता है। जीवित वस्तुओं तथा अन्य वस्तुओं में, जिनका अस्तित्व अल्पकालिक है, गुणों का प्रवाह निरन्तर होता रहता है। वे विनष्ट की जाती हैं और उनके स्थान पर दूसरी वस्तुएँ ला दी जाती हैं।

इन सबके विपरीत भगवान् की चेतना कभी भी किसी वस्तु द्वारा बाधित नहीं होती। मनुष्य अपने अज्ञान के ही कारण भगवान् को भौतिक परिस्थितियों के अधीन सामान्य मनुष्य समझ लेता है। मर्त्य

लोग अपने कर्मबन्धन तथा उसके फलस्वरूप सुख-दुख के द्वारा आच्छादित रहते हैं, किन्तु भगवान् कभी भी अपने ही अंशों द्वारा आच्छादित नहीं हो सकते। इसी तरह बृहद सूर्य बादलों, बर्फ तथा ग्रहणों जैसी क्षुद्र घटनाओं का स्रोत है, इसलिए वह कभी इनसे आच्छादित नहीं हो सकता, भले ही सामान्य प्रेक्षक (दर्शक) ऐसा सोचता हो।

अथोचुर्मुनयो राजन्नाभाष्यानल्सदुन्दभिम् ।
सर्वेषां शृण्वतां राज्ञां तथैवाच्युतरामयोः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; ऊचुः—कहा; मुनयः—मुनियों ने; राजन्—हे राजा (परीक्षित); आभाष्य—कहकर; आनक-दुन्दुभिम्—वसुदेव को; सर्वेषाम्—समस्त; शृण्वताम्—सुनते हुए; राज्ञाम्—राजाओं के; तथा एव—भी; अच्युत-रामयोः—कृष्ण तथा बलराम के।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : हे राजन्, तब मुनियों ने वसुदेव को सम्बोधित करते हुए फिर से कहा, जबकि भगवान् अच्युत तथा बलराम के साथ ही साथ सारे राजा सुन रहे थे।

कर्मणा कर्मनिर्हार एष साधुनिरूपितः ।
यच्छ्रद्धया यजेद्विष्णुं सर्वयज्ञेश्वरं मखैः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

कर्मणा—कर्म द्वारा; कर्म—विगत कर्मों के फलों के; निर्हारः—प्रतिक्रिया, निष्फल करना; एषः—यह; साधु—सही-सही; निरूपितः—निश्चित किया गया; यत्—जो; श्रद्धया—श्रद्धा के साथ; यजेत्—पूजा करे; विष्णुम्—विष्णु की; सर्व—समस्त; यज्ञ—यज्ञों के; ईश्वरम्—ईश्वर की; मखैः—वैदिक अग्नि-अनुष्ठानों द्वारा।

[मुनियों ने कहा] : यह निश्चित निष्कर्ष निकाला जा चुका है कि कर्म को उसके आगे और भी कर्म करके निष्फल किया जाता है जब मनुष्य श्रद्धापूर्वक समस्त यज्ञों के स्वामी विष्णु की पूजा करने के साधनस्वरूप वैदिक यज्ञ सम्पन्न करता है।

चित्तस्योपशमोऽयं वै कविभिः शास्त्रचक्षुसा ।
दर्शितः सुगमो योगो धर्मश्चात्ममुदावहः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

चित्तस्य—मन की; उपशमः—शान्ति; अयम्—यह; वै—निस्सन्देह; कविभिः—विद्वानों द्वारा; शास्त्र—शास्त्र रूप; चक्षुषा—आँख से; दर्शितः—दिखलाया हुआ; सु-गमः—सरलता से सम्पन्न; योगः—मोक्ष प्राप्त करने का साधन; धर्मः—धार्मिक कर्तव्य; च—तथा; आत्म—हृदय को; मुत्—आनन्द; आवहः—लाने वाला।

शास्त्र की आँख से देखने वाले विद्वानों ने यह प्रदर्शित कर दिया है कि क्षुब्ध मन को दमन करने तथा मोक्ष प्राप्त करने की यही सबसे सुगम विधि है और यही पवित्र धर्म है, जिससे मन

को आनन्द प्राप्त होता है।

अयं स्वस्त्ययन: पन्था द्विजातेर्गृहमेधिन: ।
यच्छ्रद्धयाप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुष: ॥ ३७॥

शब्दार्थ

अयम्—यह; स्वस्ति—मंगल, कल्याण; अयन:—लाने वाला; पन्था—पथ; द्वि-जाते:—द्विज के लिए; गृह—घर पर; मेधिन:—यज्ञ करने वाला; यत्—जो; श्रद्धया—नि:स्वार्थपूर्वक; आप्त—सही साधनों से प्राप्त; वित्तेन—अपने धन से; शुक्लेन—निर्मल; ईज्येत—पूजा करे; पूरुष:—भगवान् की।

धार्मिक द्विज गृहस्थ के लिए सर्वाधिक शुभ पथ यही है कि वह ईमानदारी से प्राप्त की गई सम्पदा से भगवान् की पूजा नि:स्वार्थ भाव से करे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी तथा श्री जीव गोस्वामी दोनों ही एकमत हैं कि वैदिक यज्ञों का आनुष्ठानिक कर्म आसक्त गृहस्थों (गृहमेधियों) के लिए होता है। जो लोग पहले से कृष्णभावनामृत में वैराग्य प्राप्त हैं यथा स्वयं वसुदेव, उन्हें *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* में बताया गया है, भगवान् के भक्तों, उनके अर्चाविग्रह रूप के, उनके नाम, प्रसादम् तथा उनकी शिक्षाओं के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने की ही आवश्यकता रहती है।

वित्तैषणां यज्ञदानैर्गृहैर्दारसुतैषणाम् ।
आत्मलोकैषणां देव कालेन विसृजेद्बुध: ।
ग्रामे त्यक्तैषणा: सर्वे ययुर्धीरास्तपोवनम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

वित्त—सम्पदा की; एषणाम्—इच्छा को; यज्ञ—यज्ञ से; दानै:—तथा दान द्वारा; गृहै:—गृहस्थी के कार्यों में व्यस्तता द्वारा; दार—पत्नी; सुत—तथा सन्तान की; एषणाम्—इच्छा को; आत्म—अपने लिए; लोक—(अगले जन्म में) उच्च लोक के लिए; एषणाम्—इच्छा; देव—हे सन्त स्वभाव वाले वसुदेव; कालेन—काल के कारण; विसृजेत्—त्याग देना चाहिए; बुध:—बुद्धिमान को; ग्रामे—गृहस्थ जीवन के लिए; त्यक्त—छोड़ी हुई; एषणा:—इच्छाएँ; सर्वे—समस्त; ययु:—चले गये; धीरा:—गम्भीर मुनिगण; तप:—तपस्या के; वनम्—वन को।

बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि यज्ञ करके तथा दान-कर्मों के द्वारा धन-सम्पदा की अपनी इच्छा का परित्याग करना सीखे। उसे गृहस्थ जीवन के अनुभव से पत्नी तथा सन्तान की अपनी इच्छा का परित्याग करना सीखना चाहिए। हे सन्त वसुदेव, उसे काल के प्रभाव का अध्ययन करके अगले जीवन में उच्चतर लोक में जाने की अपनी इच्छा का परित्याग करना सीखना चाहिए। जिन आत्मसंयमी मुनियों ने गृहस्थ जीवन के प्रति अपनी आसक्ति का इस तरह परित्याग

कर दिया है, वे तपस्या करने के लिए वन में चले जाते हैं।

ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षिपितृणां प्रभो ।
यज्ञाध्ययनपुत्रैस्तान्यनिस्तीर्य त्यजन्पतेत् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

ऋणैः—ऋणों से; त्रिभिः—तीनों; द्वि-जः—द्विज जाति का सदस्य; जातः—उत्पन्न होता है; देव—देवताओं को; ऋषि—मुनिगण; पितृणाम्—तथा पूर्वजों के; प्रभो—हे स्वामी (वसुदेव); यज्ञ—यज्ञ; अध्ययन—शास्त्र का अध्ययन; पुत्रैः—तथा सन्तान (उत्पन्न करने) से; तानि—ये (ऋण); अनिस्तीर्य—न समाप्त करके, उऋण हुए बिना; त्यजन्—(अपना शरीर) त्यागते हुए; पतेत्—नीचे गिर जाता है।

हे प्रभु, एक द्विज तीन प्रकार के ऋण—देवताओं के प्रति ऋण, मुनियों के प्रति ऋण तथा अपने पुरखों के प्रति ऋण—लेकर उत्पन्न होता है। यदि वह यज्ञ, शास्त्र-अध्ययन तथा सन्तानोत्पत्ति द्वारा इन ऋणों को चुकता किये बिना अपना शरीर त्याग देता है, तो वह नरक में जा गिरेगा।

तात्पर्य : ब्राह्मण के विशेष कर्तव्यों के विषय में श्रुति का कथन है *जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिऋणवाञ्जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्य: प्रजया पितृभ्य:*—"जब भी ब्राह्मण जन्म लेता है उसके साथ साथ तीन ऋण जन्म लेते हैं। वह मुनियों का ऋण ब्रह्मचर्य द्वारा चुका सकता है, देवताओं का ऋण यज्ञ द्वारा चुका सकता है और अपने पुरखों का ऋण सन्तान उत्पन्न करके चुकता कर सकता है।"

त्वं त्वद्य मुक्तो द्वाभ्यां वै ऋषिपित्रोर्महामते ।
यज्ञैर्देवर्णमुन्मुच्य निरृणोऽशरणो भव ॥ ० ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; तु—लेकिन; अद्य—आज; मुक्तः—मुक्त, स्वतंत्र; द्वाभ्याम्—दो (ऋणों) से; वै—निश्चय ही; ऋषि—ऋषियों; पित्रोः—तथा पूर्वजों के प्रति; महा-मते—हे उदार; यज्ञैः—वैदिक यज्ञों द्वारा; देव—देवताओं के प्रति; ऋणम्—ऋण से; उन्मुच्य—अपने को छुड़ाकर; निरृणः—उऋण; अशरणः—शरणविहीन; भव—बनो।

किन्तु हे महामते, आप तो पहले ही अपने दो ऋणों—मुनियों के तथा पुरखों के ऋणों—से मुक्त हैं। अब आप वैदिक यज्ञ सम्पन्न करके देव-ऋण से भी उऋण हो लें। इस तरह आप अपने को ऋण से पूरी तरह मुक्त कर लें और समस्त भौतिक आश्रय का परित्याग कर दें।

वसुदेव भवान्नूनं भक्त्या परमया हरिम् ।

जगतामीश्वरं प्रार्चः स यद्वां पुत्रतां गतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

वसुदेव—हे वसुदेव; भवान्—आप; नूनम्—निस्सन्देह; भक्त्या—भक्ति से; परमया—परम; हरिम्—भगवान् कृष्ण को; जगताम्—सारे जगतों के; ईश्वरम्—परम नियन्ता को; प्रार्चः—ढंग से पूजा की है; सः—वह; यत्—जितना कि; वाम्—तुम दोनों (वसुदेव-देवकी) के; पुत्रताम्—पुत्र के कार्य को; गतः—ग्रहण किया हुआ।

हे वसुदेव, निस्सन्देह इसके पूर्व आपने समस्त जगतों के स्वामी भगवान् हरि की पूजा की होगी। आप तथा आपकी पत्नी दोनों ने ही परम भक्ति के साथ उनकी पूरी तरह से पूजा की होगी, क्योंकि उन्होंने आपके पुत्र की भूमिका स्वीकार की है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने मुनियों के भावों का इस प्रकार उद्धृत किया है ''हमने आपको उसी प्रकार सामान्य ढंग से उत्तर दिया, जिस तरह आपने सामान्य वार्ता के रूप में प्रश्न किये हैं। किन्तु वास्तव में आप भगवान् के नित्यमुक्त पिता हैं, अतएव न तो सांसारिक रीति-रिवाज का, न ही शास्त्रीय आदेशों का आपके ऊपर कोई अधिकार है।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार *वसुदेव* नाम ही बतलाने वाला है कि वसुदेव शुद्ध भक्ति की सर्वोत्तम सम्पत्ति (वसु) को तेज के साथ प्रकट करते हैं (*दीव्यति*)। ग्यारहवें स्कन्ध में नारद पुनः वसुदेव से मिलेंगे तो उन्हें स्मरण दिलायेंगे कि—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां
न किंकरो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

''हे राजन्! जिसने सारे भौतिक कर्तव्यों का परित्याग कर दिया है और सबों के आश्रयदाता मुकुन्द के चरणकमलों की पूर्ण शरण ग्रहण कर ली है, वह देवताओं, ऋषियों, सामान्य जीवों, सम्बन्धियों, मित्रों, मानव जाति या दिवंगत पूर्वजों का ऋणी नहीं रहता। चूँकि ऐसे सभी प्रकार के जीव भगवान् के अंश हैं, अतः जिसने भगवान् की सेवा में अपने को समर्पित कर दिया है, उसे ऐसे व्यक्तियों की पृथक् से सेवा करने की आवश्यकता नहीं रहती।'' (*भागवत* ११.५.१)

श्रीशुक उवाच

इति तद्वचनं श्रुत्वा वसुदेवो महामनाः ।

तानृषीनृत्विजो वव्रे मूर्ध्नानम्य प्रसाद्य च ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—ऐसा कहे जाने पर; तत्—उनके; वचनम्—शब्दों को; श्रुत्वा—सुनकर; वसुदेवः—वसुदेव ने; महा-मनाः—उदार; तान्—उन; ऋषीन्—ऋषियों को; ऋत्विजः—पुरोहितों के रूप में; वव्रे—चुना; मूर्ध्ना—अपने सिर से; आनम्य—झुक कर; प्रसाद्य—तुष्ट करके; च—तथा।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : ऋषियों के इन कथनों को सुनकर उदार वसुदेव ने भूमि तक अपना सिर झुकाया और उनकी प्रशंसा करते हुए, उनसे अनुरोध किया कि वे उनके पुरोहित बन जायँ।

त एनमृषयो राजन्वृता धर्मेण धार्मिकम् ।
तस्मिन्नयाजयन्क्षेत्रे मखैरुत्तमकल्पकैः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ते—उन; एनम्—उसको; ऋषयः—ऋषियों ने; राजन्—हे राजा (परीक्षित); वृताः—चुने हुए; धर्मेण—धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार; धार्मिकम्—धार्मिक; तस्मिन्—उसमें; अयाजयन्—यज्ञ करने लग गये; क्षेत्रे—पवित्र क्षेत्र (कुरुक्षेत्र के) में; मखैः—यज्ञों के द्वारा; उत्तम—श्रेष्ठ; कल्पकैः—जिसकी व्यवस्था।

हे राजन्, इस तरह अनुरोध किये जाने पर ऋषियों ने पवित्र वसुदेव को कुरुक्षेत्र के पावन स्थान पर कठोर धार्मिक नियमों के अनुसार तथा उत्तम अनुष्ठानिक व्यवस्था के अनुसार अग्नि यज्ञ करने में लगा लिया।

तद्दीक्षायां प्रवृत्तायां वृष्णयः पुष्करस्त्रजः ।
स्नाताः सुवाससो राजन्राजानः सुष्ठ्वलङ्कृताः ॥ ॥
तन्महिष्यश्च मुदिता निष्ककण्ठ्यः सुवाससः ।
दीक्षाशालामुपाजग्मुरालिप्ता वस्तुपाणयः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तत्—उनकी (वसुदेव की); दीक्षायाम्—यज्ञ के लिए दीक्षा; प्रवृत्तायाम्—जब यह शुरू होने वाला था; वृष्णयः—वृष्णिगण; पुष्कर—कमलों की; स्त्रजः—माला पहने; स्नाताः—स्नान किये हुए; सुवाससः—अच्छे वस्त्र धारण किये; राजन्—हे राजा; राजानः—(अन्य) राजा; सुष्ठु—भव्य रीति से; अलङ्कृताः—आभूषित; तत्—उनकी; महिष्यः—रानियाँ; च—तथा; मुदिताः—प्रसन्नचित्त; निष्क—रत्नजटित हार; कण्ठ्यः—जिनके गलों में; सु-वाससः—सुन्दर वस्त्रों से युक्त; दीक्षा—दीक्षा के लिए; शालाम्—मंच, स्थल पर; उपाजग्मुः—गये; आलिप्ताः—लेप किये; वस्तु—शुभ वस्तुओं से; पाणयः—जिसके हाथों में।

हे राजन्, जब महाराज वसुदेव यज्ञ के लिए दीक्षित किये जाने वाले थे, तो वृष्णिजन स्नान करके तथा सुन्दर वस्त्र पहने एवं कमल की मालाएँ पहने दीक्षा-स्थल पर आये। अन्य राजा भी खूब सज-धज कर आये। उनके साथ उनकी प्रसन्नचित्त रानियाँ भी थीं। वे अपने गलों में रत्नजटित हार पहने थीं तथा सुन्दर वस्त्र धारण किये थीं। ये रानियाँ चन्दन का लेप किये थीं

और हाथों में पूजा की शुभ सामग्री लिये थीं।

नेदुर्मृदङ्गपटहशङ्खभेर्यानकादयः ।
ननृतुर्नटनर्तक्यस्तुष्टुवुः सूतमागधाः ।
जगुः सुकण्ठ्यो गन्धर्व्यः सङ्गीतं सहभर्तृकाः ॥ ६॥

शब्दार्थ

नेदुः—बजने लगे; मृदङ्ग-पटह—मृदंग तथा पटह जैसे ढोल; शङ्ख—शंख; भेरी-आनक—भेरि तथा आनक जैसे ढोल; आदयः—तथा अन्य बाजे; ननृतुः—नाचने लगे; नट-नर्तक्यः—पुरुष नर्तक तथा स्त्री नर्तकियाँ; तुष्टुवुः—यशोगान किया; सूत-मागधाः—सूतों तथा मागधों ने; जगुः—गाया; सु-कण्ठ्यः—मधुर वाणी वाली; गन्धर्व्यः—गन्धर्वियों ने; सङ्गीतम्—गीत; सह—साथ; भर्तृकाः—अपने पतियों के।

मृदंग, पटह, शंख, भेरी, आनक तथा अन्य वाद्य बजने लगे। नर्तकों तथा नर्तकियों ने नृत्य किया और सूतों तथा मागधों ने यशोगान किया। मधुर वाणी वाली गन्धर्वियों ने अपने अपने पतियों के साथ गीत गाये।

तमभ्यषिञ्चन्विधिवदक्तमभ्यक्तमृत्विजः ।
पत्नीभिरष्टादशभिः सोमराजमिवोडुभिः ॥ ७॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; अभ्यषिञ्चन्—पवित्र जल छिड़कते हुए; विधिवत्—शास्त्रीय नियमों के अनुसार; अक्तम्—आँखों में अंजन लगाये; अभ्यक्तम्—ताजे नवनीत से शरीर को लेप किये; ऋत्विजः—पुरोहितगण; पत्नीभिः—अपनी अपनी पत्नियों के साथ; अष्टा-दशभिः—अठारह; सोम-राजम्—राजसी; इव—सदृश; उडुभिः—तारों से।

वसुदेव की आँखों में काजल लगाने तथा उनके शरीर को ताजे मक्खन से लेप करने के बाद पुरोहितों ने शास्त्रीय विधि के अनुसार उन पर तथा उनकी अठारह रानियों पर पवित्र जल छिड़क कर उन्हें दीक्षा दी। वे अपनी पत्नियों से घिर कर तारों से घिरे राजसी चन्द्रमा जैसे लग रहे थे।

तात्पर्य : देवकी वसुदेव की मुख्य पत्नी (पटरानी) थीं किन्तु उनकी कई सौतें थीं जिनमें उनकी छः बहनें सम्मिलित थीं। *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध में यह बात अभिलिखित है।

देवकश्चोग्रसेनश्च चत्वारो देवकात्मजा: ॥

देववानुपदेवश्च सुदेवो देववर्धन: ।

तेषां स्वसार: सप्तासन धृतदेवादयो नृप ॥

शान्तिदेवोपदेवा च श्रीदेवा देवरक्षिता ।

सहदेवा देवकी च वसुदेव उवाह ताः ॥

"आहुक के दो पुत्र थे जिनके नाम थे देवक तथा उग्रसेन। देवक के चार पुत्र हुए—देववान्, उपदेव, सुदेव तथा देववर्धन। उसके सात पुत्रियाँ भी थीं जिनके नाम थे शान्तिदेवा, उपदेवा, श्रीदेवा, देवरक्षिता, सहदेवा, देवकी तथा धृतदेवा। धृतदेवा सबसे बड़ी थी। कृष्ण के पिता वसुदेव ने इन सभी बहनों के साथ विवाह किया।" (*भागवत* ९.२.२१-२३)

वसुदेव की कुछ अन्य पत्नियों का उल्लेख थोड़े-से श्लोकों के बाद ही हुआ है—

पौरवी रोहिणी भद्रा मदिरा रोचना इला।

देवकीप्रमुखाश्चासन् पत्न्य आनकदुन्दुभेः ॥

"देवकी, पौरवी, रोहिणी, भद्रा, मदिरा, रोचना, इला इत्यादि आनकदुन्दुभि (वसुदेव) की पत्नियाँ थीं। उन सबों में देवकी मुख्य थीं।" (*भागवत* ९.२.५)

ताभिर्दुकूलवलयैर्हारनूपुरकुण्डलैः ।
स्वलङ्कृताभिर्विबभौ दीक्षितोऽजिनसंवृतः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

ताभिः—उनके साथ; दुकूल—रेशमी साड़ियों के साथ; वलयैः—तथा चूड़ियों से; हार—गले का हार; नूपुर—पायल; कुण्डलैः—तथा कान के कुण्डलों से; सु—सुन्दर; अलङ्कृताभिः—सजी हुई; विबभौ—खूब चमक रहा था; दीक्षितः—दीक्षित होकर; अजिन—मृगचर्म से; संवृतः—आवृत, लपेटा हुआ।

वसुदेव ने अपनी पत्नियों के साथ साथ दीक्षा ग्रहण की। उनकी पत्नियाँ रेशमी साड़ियाँ पहने थीं और चूड़ियों, हारों, पायलों तथा कुण्डलों से सजी थीं। वसुदेव का शरीर मृगचर्म से लपेटा हुआ था, जिससे वे खूब शोभायमान हो रहे थे।

तस्यर्त्विजो महाराज रत्नकौशेयवाससः ।
ससदस्या विरेजुस्ते यथा वृत्रहणोऽध्वरे ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके; ऋत्विजः—पुरोहितगण; महा-राज—हे महान् राजा (परीक्षित); रत्न—रत्नों से; कौशेय—रेशमी; वाससः—तथा वस्त्र; स—सहित; सदस्याः—सभा के सदस्य; विरेजुः—तेजवान प्रतीत हो रहे थे; ते—वे; यथा—मानो; वृत्र-हणः—वृत्र को मारने वाले इन्द्र के; अध्वरे—यज्ञ में।

हे महाराज परीक्षित, रेशमी धोतियाँ पहने तथा रत्नजटित आभूषणों से अलंकृत वसुदेव के पुरोहितगण तथा सभा के कार्यकर्ता सदस्य इतने तेजवान दिख रहे थे, मानो वे वृत्र के मारने

वाले इन्द्र की यज्ञशाला में खड़े हों।

तदा रामश्च कृष्णश्च स्वैः स्वैर्बन्धुभिरन्वितौ ।
रेजतुः स्वसुतैर्दारैर्जीवेशौ स्वविभूतिभिः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; रामः—बलराम; च—तथा; कृष्णः—कृष्ण; च—भी; स्वैः स्वैः—अपने अपने; बन्धुभिः—सम्बन्धियों से; अन्वितौ—साथ में; रेजतुः—शोभायमान हो रहे थे; स्व—अपने; सुतैः—पुत्रों के साथ; दारैः—तथा पत्नियों के साथ; जीव—सारे जीवों के; ईशौ—दोनों प्रभु; स्व-विभूतिभिः—अपने ऐश्वर्य के अंशों सहित।

उस समय समस्त जीवों के प्रभु बलराम तथा कृष्ण अपने अपने पुत्रों, पत्नियों तथा अन्य पारिवारिक सदस्यों के साथ, जो उनके ऐश्वर्य के अंशरूप थे, अत्यधिक शोभायमान हो रहे थे।

ईजेऽनुयज्ञं विधिना अग्निहोत्रादिलक्षणैः ।
प्राकृतैर्वैकृतैर्यज्ञैर्द्रव्यज्ञानक्रियेश्वरम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

ईजे—पूजा की; अनु-यज्ञम्—हर तरह के यज्ञ से; विधिना—समुचित नियमों के द्वारा; अग्नि-होत्र—पवित्र अग्नि में आहुतियाँ डाल कर; आदि—इत्यादि; लक्षणैः—लक्षणों से युक्त; प्राकृतैः—बिना किसी संशोधन के, श्रुति के आदेशों के सर्वथा अनुकूल; वैकृतैः—संशोधित, अन्य स्रोतों के लक्षणों के अनुसार समंजित; यज्ञैः—यज्ञों से; द्रव्य—यज्ञ की साज-सामग्री के; ज्ञान—मंत्रों के ज्ञान के; क्रिया—तथा अनुष्ठानों के; ईश्वरम्—प्रभु को।

विविध प्रकार के वैदिक यज्ञों को समुचित विधि-विधानों के अनुसार सम्पन्न करते हुए वसुदेव ने समस्त यज्ञों की साज-सामग्री सहित, मंत्रों तथा अनुष्ठानों द्वारा ईश्वर की पूजा की। उन्होंने पवित्र अग्नि में आहुतियाँ डाल कर तथा यज्ञ-पूजा के अन्य पक्षों का पालन करते हुए मुख्य तथा गौण यज्ञों को सम्पन्न किया।

तात्पर्य : वैदिक अग्नि-यज्ञों के अनेक प्रकार हैं और हर एक यज्ञ के विशद विधि-विधान हैं। वैदिक श्रुति के *ब्राह्मण* अंश खण्ड में केवल कुछेक विशिष्ट यज्ञों का पदशः उल्लेख मिलता है—यथा ज्योतिष्टोम तथा दर्श-पूर्णमास यज्ञ। ये *प्राकृत* या मूल यज्ञ कहलाते हैं। अन्य यज्ञों का विस्तृत विवरण *मीमांसा शास्त्र* के कड़े नियमों के अनुसार इन प्राकृत आदेशों के ही ढाँचे से प्राप्त किया जाता है। चूँकि अन्य यज्ञ प्राकृत यज्ञों के आधार पर प्राप्त किये जाते हैं इसलिए वे *वैकृत* अर्थात् ‘‘परिवर्तित’’ कहलाते हैं।

अथर्त्विग्भ्योऽददात्काले यथाम्नातं स दक्षिणाः ।

स्वलङ्कृतेभ्योऽलङ्कृत्य गोभूकन्या महाधनाः ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; ऋत्विग्भ्यः—पुरोहितों को; अददात्—दिया; काले—उचित समय पर; यथा-आम्नातम्—शास्त्रों के अनुसार; सः—उसने; दक्षिणाः—धन्यवाद की भेंटें; सु-अलङ्कृतेभ्यः—सुन्दर ढंग से सजाई; अलङ्कृत्य—खूब सजाकर; गो—गौवें; भू—भूमि; कन्याः—तथा विवाहयोग्य कन्याएँ; महा—अत्यधिक; धनाः—मूल्यवान।

तब उचित समय पर तथा शास्त्रों के अनुसार वसुदेव ने पुरोहितों को मूल्यवान आभूषणों से अलंकृत किया, यद्यपि वे पहले से सुसज्जित थे और उन्हें गौवें, भूमि तथा विवाह योग्य कन्याओं के मूल्यवान उपहार दान में दिये।

पत्नीसंयाजावभृथ्यैश्चरित्वा ते महर्षयः ।
सस्नू रामह्रदे विप्रा यजमानपुरःसराः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

पत्नी-संयाज—अपनी पत्नी के साथ मिलकर किया गया अनुष्ठान; अवभृथ्यैः—तथा अवभृथ्य नामक अन्तिम अनुष्ठान से; चरित्वा—सम्पन्न करके; ते—उन; महा-ऋषयः—महर्षियों ने; सस्नुः—स्नान किया; राम—परशुराम के; ह्रदे—सरोवर में; विप्राः—ब्राह्मणों ने; यजमान—यज्ञकर्ता (वसुदेव) को; पुरः-सराः—आगे करके।

पत्नीसंयाज तथा *अवभृथ्य* अनुष्ठानों को सम्पन्न कराने के बाद महान् ब्रह्मर्षियों ने यज्ञ के कर्ता वसुदेव को आगे करके, परशुराम सरोवर में स्नान किया।

स्नातोऽलङ्कारवासांसि वन्दिभ्योऽदात्तथा स्त्रियः ।
ततः स्वलङ्कृतो वर्णानाश्वभ्योऽन्नेन पूजयत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

स्नातः—स्नान किये; अलङ्कार—आभूषण; वासांसि—तथा वस्त्र; वन्दिभ्यः—वन्दीजनों को; अदात्—दिया; तथा—भी; स्त्रियः—स्त्रियाँ; ततः—तब; सु-अलङ्कृतः—सुन्दर आभूषणों से युक्त; वर्णान्—सारी जातियों के लोग; आ—तक; श्वभ्यः—कुत्तों को; अन्नेन—भोजन से; पूजयत्—सम्मान किया।

पवित्र स्नान पूरा हो जाने पर, वसुदेव ने अपनी पत्नियों के साथ साथ पेशेवर वन्दीजनों को वे आभूषण तथा वस्त्र दान में दिये, जिन्हें वे पहने हुए थे। तब वसुदेव ने नवीन वस्त्र धारण किये और उसके बाद सभी वर्णों के लोगों को, यहाँ तक कि कुत्तों को भी, भोजन कराकर सम्मानित किया।

बन्धून्सदारान्ससुतान्पारिबर्हेण भूयसा ।
विदर्भकोशलकुरून्काशिकेकयसृञ्जयान् ॥ ५५ ॥
सदस्यर्त्विक्सुरगणान्नृभूतपितृचारणान् ।

श्रीनिकेतमनुज्ञाप्य शंसन्तः प्रययुः क्रतुम् ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

बन्धून्—अपने सम्बन्धियों; स-दारान्—पत्नियों समेत; स-सुतान्—अपने पुत्रों सहित; पारिबर्हेण—भेंटों सहित; भूयसा—ऐश्वर्यवान्; विदर्भ-कोशल-कुरून्—विदर्भ, कोशल तथा कुरुवंशियों के प्रमुखों को; काशि-केकय-सृञ्जयान्—काशी, केकय तथा सृञ्जयवंशियों को भी; सदस्य—यज्ञसभा के सदस्यों; ऋत्विक्—पुरोहितों; सुर-गणान्—विविध श्रेणी के देवताओं को; नृ—मनुष्यों; भूत—भूत-पिशाचों; पितृ—पूर्वजों; चारणान्—चारणों को, जो देवताओं की क्षुद्र श्रेणी के सदस्य हैं; श्री-निकेतम्—लक्ष्मी के निवास श्रीकृष्ण से; अनुज्ञाप्य—विदा लेकर; शंसन्तः—प्रशंसा करते हुए; प्रययुः—विदा ली; क्रतुम्—यज्ञ समाप्ति की।

उन्होंने अपनी पत्नियों तथा पुत्रों सहित अपने सारे सम्बन्धियों, विदर्भ, कोशल, कुरु, काशी, केकय तथा सृञ्जय राज्यों के राजाओं, सभा के कार्यकर्ता सदस्यों तथा पुरोहितों, दर्शक देवताओं, मनुष्यों, भूत-प्रेतों, पितरों तथा चारणों को बड़ी बड़ी भेंटें दीं। तब लक्ष्मीनिवास भगवान् कृष्ण से अनुमति लेकर विविध अतिथि वसुदेव के यज्ञ की महिमा का गुणगान करते वहाँ से विदा हुए।

धृतराष्ट्रोऽनुजः पार्था भीष्मो द्रोणः पृथा यमौ ।
नारदो भगवान्व्यासः सुहृत्सम्बन्धिबान्धवाः ॥ ५७ ॥
बन्धून्परिष्वज्य यदून्सौहृदाक्लिन्नचेतसः ।
ययुर्विरहकृच्छ्रेण स्वदेशांश्चापरे जनाः ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

धृतराष्ट्रः—धृतराष्ट्र; अनुजः—(धृतराष्ट्र का) छोटा भाई (विदुर); पार्थाः—पृथा के पुत्र (युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन); भीष्मः—भीष्म; द्रोणः—द्रोण; पृथा—कुन्ती; यमौ—जुड़वाँ (नकुल-सहदेव); नारदः—नारद; भगवान् व्यासः—व्यासदेव; सुहृत्—मित्र; सम्बन्धि—निकट सम्बन्धीगण; बान्धवाः—तथा अन्य सम्बन्धी; बन्धून्—सम्बन्धी तथा मित्रों को; परिष्वज्य—आलिंगन करके; यदून्—यदुओं को; सौहृद—मैत्री भाववश; आक्लिन्न—द्रवित; चेतसः—हृदयों वाले; ययुः—चले गये; विरह—विछोह से; कृच्छ्रेण—कठिनाई से; स्व—अपने अपने; देशान्—राज्यों को; च—भी; अपरे—अन्य; जनाः—लोग।

यदुओं के मित्रों, निकट परिवार के सदस्यों तथा अन्य सम्बन्धियों ने, जिनमें धृतराष्ट्र तथा उसके छोटे भाई विदुर, पृथा तथा उसके पुत्र, भीष्म, द्रोण, जुड़वाँ भाई नकुल एवं सहदेव, नारद तथा भगवान् व्यासदेव सम्मिलित थे, यदुओं का आलिंगन किया। स्नेह से द्रवित हृदयों वाले ये तथा अन्य अतिथिगण अपने अपने राज्यों के लिए प्रस्थान कर गये, किन्तु इनकी गति विरह की पीड़ा के कारण मन्द पड़ गई थी।

नन्दस्तु सह गोपालैर्बृहत्या पूजयार्चितः ।
कृष्णरामोग्रसेनाद्यैर्न्यवात्सीद्बन्धुवत्सलः ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

नन्दः—नन्द महाराज; तु—तथा; सह—साथ; गोपालैः—ग्वालों के; बृहत्या—विशेष रूप से ऐश्वर्यवान्; पूजया—पूजा सहित; अर्चितः—सम्मानित; कृष्ण-राम-उग्रसेन-आद्यैः—कृष्ण, बलराम, उग्रसेन तथा अन्यों द्वारा; न्यवात्सीत्—रुक गये; बन्धु—अपने सम्बन्धियों के प्रति; वत्सलः—स्नेहिल।

ग्वालों समेत नन्द महाराज ने अपने यदु-सम्बन्धियों के साथ वहाँ कुछ दिन और रह कर अपना स्नेह दर्शाया। उनके इस विश्राम-काल में कृष्ण, बलराम, उग्रसेन तथा अन्यों ने उनकी वृहद् ऐश्वर्ययुक्त पूजा करके उनका सम्मान किया।

वसुदेवोऽञ्जसोत्तीर्य मनोरथमहार्णवम् ।
सुहृद्वृतः प्रीतमना नन्दमाह करे स्पृशन् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

वसुदेवः—वसुदेव; अञ्जसा—आसानी से; उत्तीर्य—पार करके; मनः-रथ—अपनी इच्छाओं (यज्ञ करने की) के; महा—विशाल; अर्णवम्—सागर को; सुहृत्—अपने शुभचिन्तकों द्वारा; वृतः—घिरे हुए; प्रीत—प्रसन्न; मनाः—अपने मन में; नन्दम्—नन्द से; आह—कहा; करे—हाथ का; स्पृशन्—स्पर्श करते हुए।

अपनी इच्छाओं रूपी विशाल सागर को इतनी आसानी से पार कर लेने पर वसुदेव को पूर्ण तुष्टि का अनुभव हुआ। उन्होंने अपने अनेक शुभचिन्तकों की संगति में उन्होंने नन्द महाराज का हाथ पकड़ कर, उनसे इस प्रकार कहा।

श्रीवसुदेव उवाच
भ्रातरीशकृतः पाशो नृनां यः स्नेहसंज्ञितः ।
तं दुस्त्यजमहं मन्ये शूराणामपि योगिनाम् ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

श्री-वसुदेवः उवाच—श्री वसुदेव ने कहा; भ्रातः—हे भाई; ईश—भगवान् द्वारा; कृतः—तैयार किया गया; पाशः—फन्दा, बन्धन; नृणाम्—मनुष्यों के; यः—जो; स्नेह—स्नेह; संज्ञितः—नामक; तम्—उसको; दुस्त्यजम्—छुड़ा पाना कठिन; अहम्—मैं; मन्ये—सोचता हूँ; शूराणाम्—वीरों के लिए; अपि—भी; योगिनाम्—तथा योगियों के लिए।

श्री वसुदेव ने कहा : हे भ्राता, स्वयं भगवान् ने स्नेह नामक गाँठ बाँधी है, जो मनुष्यों को दृढ़तापूर्वक एक-दूसरे से बाँधे रखती है। मुझे लगता है कि बड़े बड़े वीरों तथा योगियों तक को इससे छूट पाना कठिन होता है।

तात्पर्य : मनुष्यों के वीर नेता अपने क्षुद्र बन्धनों को इच्छाशक्ति से पार करने का प्रयास करते हैं, जबकि अन्तर्मुखी योगी इस कार्य के लिए ज्ञान का उपयोग करते हैं। लेकिन भगवान् की मायाशक्ति किसी भी बद्धजीव की तुलना में अधिक बलवान है। मायापति भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करने से ही उस माया के प्रभाव से अप्रभावित रहा जा सकता है।

अस्मास्वप्रतिकल्पेयं यत्कृताज्ञेषु सत्तमैः ।
मैत्र्यर्पिताफला चापि न निवर्तेत कर्हिचित् ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

अस्मासु—हमारे लिए; अप्रतिकल्पा—अतुलनीय; इयम्—यह; यत्—चूँकि; कृत-अज्ञेषु—अपने ऊपर दिखाई गई दया के प्रति जो विस्मरणशील हैं; सत्-तमैः—अत्यन्त साधु-पुरुषों द्वारा; मैत्री—मित्रता; अर्पिता—अर्पित की हुई; अफला—जिससे आदान-प्रदान न हुआ हो; च अपि—यद्यपि; न निवर्तेत—रुकती नहीं; कर्हिचित्—कभी।

निस्सन्देह, भगवान् ने ही स्नेह के बन्धनों की रचना की होगी, क्योंकि आप जैसे महान् सन्तों ने कभी भी हम अकृतज्ञों के प्रति अपनी अद्वितीय मैत्री प्रदर्शित करना बन्द नहीं किया, यद्यपि इसका समुचित आदान-प्रदान नहीं हुआ।

प्रागकल्पाच्च कुशलं भ्रातर्वो नाचराम हि ।
अधुना श्रीमदान्धाक्षा न पश्यामः पुरः सतः ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

प्राक्—पूर्वकाल में; अकल्पात्—अक्षमता के कारण; च—तथा; कुशलम्—कुशलता; भ्रातः—हे भाई; वः—तुम्हारा; न आचराम—हमने माना नहीं; हि—निस्सन्देह; अधुना—अब; श्री—ऐश्वर्य; मद—नशे के कारण; अन्ध—अन्धी बन कर; अक्षाः—जिनकी आँखें; न पश्यामः—हम देख नहीं पाते; पुरः—सामने; सतः—उपस्थित, वर्तमान।

हे भ्राता, इसके पूर्व हमने आपके लाभ की कोई बात नहीं की, क्योंकि हम ऐसा करने में अशक्त थे। तो भी इस समय, यद्यपि आप हमारे समक्ष उपस्थित हैं, हमारी आँखें भौतिक सौभाग्य के मद से इस तरह अन्धी हो चुकी हैं कि हम आपकी उपेक्षा करते ही जा रहे हैं।

तात्पर्य : कंस की नृशंसता के अन्तर्गत रहते हुए वसुदेव नन्द की कुछ भी सहायता करने में असमर्थ थे और कृष्ण तथा बलराम का वध करने के लिए भेजे जाने वाले अनेक असुरों से अपनी रक्षा नन्द की प्रजा को स्वयं करनी पड़ती थी।

मा राज्यश्रीरभूत्पुंसः श्रेयस्कामस्य मानद ।
स्वजनानुत बन्धून्वा न पश्यति ययान्धदृक् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मा—मत; राज्य—राजा की; श्रीः—लक्ष्मी; अभूत्—उदय होती है; पुंसः—एक व्यक्ति के लिए; श्रेयः—जीवन का असली लाभ; कामस्य—चाहने वाले का; मान-द—हे सम्मान प्रदान करने वाले; स्व-जनान्—अपने निकट सम्बन्धियों को; उत—भी; बन्धून्—अपने मित्रों के; वा—अथवा; न पश्यति—नहीं देखता; यया—जिस (ऐश्वर्य) से; अन्ध—अन्धी हुई; दृक्—दृष्टि।

हे अत्यन्त आदरणीय, ईश्वर करे कि जो व्यक्ति जीवन में सर्वोच्च लाभ प्राप्त करना चाहते हैं, वे कभी भी राजसी ऐश्वर्य प्राप्त न कर पायें, क्योंकि इससे वे अपने परिवार तथा मित्रों की

आवश्यकताओं के प्रति अंधे बन जाते हैं।

तात्पर्य : वस्तुतः यह तो वसुदेव की गहन उदारता है कि वे अपने को तुच्छ मान रहे हैं लेकिन उनके द्वारा ऐश्वर्य की जो भर्त्सना की गई है, वह सामान्यतया वैध है। इसी स्कन्ध में इसके पूर्व नारद मुनि ने स्वर्ग के कोषाध्यक्ष कुवेर के दो धनी पुत्रों—नलकूवर तथा मणिग्रीव की तीखी आलोचना की थी। गर्व तथा मदिरा के द्वारा उन्मत्त हुए वे दोनों नारद का उस समय समुचित सत्कार नहीं कर पाये, जब वे दोनों कुछ तरुणियों के साथ मन्दाकिनी नदी में नग्न-क्रीड़ा कर रहे थे और नारद उधर से गुजरे थे। उन्हें ऐसी लज्जास्पद स्थिति में देखकर नारद ने कहा—

न ह्यन्यो जुषतो जोष्यान् बुद्धिभ्रंशो रजोगुणः ।
श्रीमदाद् आभिजात्यादिर्यत्र स्त्री द्यूतमासवः ॥

"भौतिक भोग के समस्त आकर्षणों में से धन के प्रति आकर्षण ऐसा है, जो मनुष्य की बुद्धि को सुन्दर शारीरिक स्वरूप प्राप्त करने, राजसी परिवार में जन्म लेने तथा विद्वान होने से कहीं अधिक मोहित कर लेता है। जब कोई अशिक्षित होता है, किन्तु धन के कारण झूठे ही फूल कर कुप्पा हुआ रहता है, तो इसका परिणाम यह होता है कि वह अपनी सम्पत्ति को सुरा, सुन्दरी तथा द्यूत क्रीड़ा का आनन्द उठाने में लगाता है।" (*भागवत ..८*)

श्रीशुक उवाच
एवं सौहृदशैथिल्यचित्त आनकदुन्दुभिः ।
रुरोद तत्कृतां मैत्रीं स्मरन्नश्रुविलोचनः ॥ ६५॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस तरह; सौहृद—घनिष्ठ संवेदना द्वारा; शैथिल्य—मृदु बनाये गये; चित्तः—हृदय वाले; आनकदुन्दुभिः—वसुदेव द्वारा; रुरोद—रो पड़ा; तत्—उसके (नन्द के) द्वारा; कृताम्—किया गया; मैत्रीम्—मित्रता के कार्य; स्मरन्—स्मरण करते हुए; अश्रु—आँसू; विलोचनः—आँखों में।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : घनिष्ठ संवेदना के कारण हृदय द्रवित होने से वसुदेव रो पड़े। उनके नेत्र आँसुओं से डबडबा आये, जब उन्होंने अपने प्रति प्रदर्शित नन्द की मित्रता का स्मरण किया।

नन्दस्तु सख्युः प्रियकृत्प्रेम्णा गोविन्दरामयोः ।

अद्य श्व इति मासांस्त्रीन्यदुभिर्मानितोऽवसत् ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

नन्दः—नन्द; तु—तथा; सख्युः—अपने मित्रों को; प्रिय—स्नेह; कृत्—दिखलाने वाला; प्रेम्णा—प्रेमवश; गोविन्द-रामयोः—कृष्ण तथा बलराम के लिए; अद्य—आज (देर से जाऊँगा); श्वः—(मैं) कल (जाऊँगा); इति—इस प्रकार; मासान्—महीने; त्रीन्—तीन; यदुभिः—यदुओं द्वारा; मानितः—सम्मानित; अवसत्—रहता रहा।

नन्द भी अपने मित्र वसुदेव के प्रति स्नेह से भरपूर थे। अतः बात के दिनों में नन्द बारम्बार यही कहते, "मैं आज ही कुछ समय के बाद जाने वाला हूँ" तथा "मैं कल जाऊँगा।" किन्तु कृष्ण तथा बलराम के स्नेह के कारण, वे समस्त यदुओं द्वारा सम्मानित होकर और तीन मास तक रहते रहे।

तात्पर्य : यह निश्चित कर लेने के बाद कि वे प्रातः जायेंगे, बाद में वे निश्चित करते "मैं आज ही देर से जाऊँगा" और जब दोपहर बीत जाती तो वे कहते, "मैं कल तक रुकूँगा।" श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने उनकी इस टालमटोल का एक संभव कारण सुझाया—नन्द चुपके से कृष्ण को अपने साथ व्रज ले जाना चाहते थे, किन्तु वसुदेव का हृदय नहीं तोड़ना चाहते थे। अनिश्चय की यह स्थिति तीन मास तक बनी रही।

ततः कामैः पूर्यमाणः सव्रजः सहबान्धवः ।
परार्ध्याभरणक्षौमनानानर्घ्यपरिच्छदैः ॥ ६७ ॥
वसुदेवोग्रसेनाभ्यां कृष्णोद्धवबलादिभिः ।
दत्तमादाय पारिबर्हं यापितो यदुभिर्ययौ ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; कामैः—इच्छित वस्तुओं से; पूर्यमाणः—तृप्त; स-व्रजः—व्रजवासियों सहित; सह-बान्धवः—अपने परिवार वालों के साथ; पर—अत्यन्त; अर्ध्य—मूल्यवान; आभरण—आभूषणों से; क्षौम—महीन मखमल; नाना—विविध; अनर्घ्य—अमूल्य; परिच्छदैः—तथा घरेलू साज-सामान से; वसुदेव-उग्रसेनाभ्याम्—वसुदेव तथा उग्रसेन द्वारा; कृष्ण-उद्धव-बल-आदिभिः—तथा कृष्ण, उद्धव, बलराम आदि के द्वारा; दत्तम्—दिया हुआ; आदाय—लेकर; पारिबर्हम्—उपहारों को; यापितः—विदा किया; यदुभिः—यदुओं द्वारा; ययौ—विदा हो गया।

जब वसुदेव, उग्रसेन, कृष्ण, उद्धव, बलराम तथा अन्य लोग नन्द की इच्छाएँ पूरी कर चुके तथा बहुमूल्य आभूषण, महीन मलमल तथा नाना प्रकार की बहुमूल्य घरेलू सामग्री भेंट कर चुके, तो नन्द महाराज ने ये सारी भेंटें स्वीकार कर लीं और सभी यदुओं से विदा ली तथा वे अपने पारिवारिक सदस्यों तथा व्रजवासियों के साथ रवाना हो गये।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार, तीन मास बाद नन्द महाराज कृष्ण के पास पहुँचे

और उनसे बोले, ''हे पुत्र! तुम्हारे दिव्य मुख से बहे पसीने की एक बूँद पर मैं असंख्य जीवन देने को तैयार हूँ। अब व्रज चलो। मैं अब एक क्षण भी यहाँ नहीं बिता सकता।'' तब वे वसुदेव के पास गये और उनसे कहा, ''हे मित्र! कृपया कृष्ण को व्रज भेज दीजिये'' और उग्रसेन से प्रार्थना की, ''आप मेरे मित्र को ऐसा करने का आदेश दें। यदि आप ऐसा नहीं करेंगे, तो मैं अपने आपको यहाँ परशुराम सरोवर में डुबो दूँगा। यदि मुझ पर विश्वास न हो तो देख ही लें। हम व्रज के लोग यहाँ पर सूर्यग्रहण के अवसर पर शुद्धि पाने के लिए नहीं आये अपितु हम कृष्ण को वापस ले जाना चाहते हैं, अन्यथा हम मर जायेंगे।'' नन्द के बौखलाए शब्द सुनकर वसुदेव तथा अन्यों ने मूल्यवान भेंटें देकर उन्हें शान्त करना चाहा।

राजनीति की कला में पटु वसुदेव ने अपने विश्वस्त सलाहकारों से सलाह ली और नन्द को यह कह कर सन्तुष्ट किया, ''मेरे मित्र, हे व्रजराज! यह सच है कि कृष्ण के बिना तुम में से कोई भी जीवित नहीं रह सकता। और हम आपको किस तरह मरने दे सकते हैं? इसलिए मुझे तो कृष्ण को किसी-न-किसी तरह व्रज वापस भेजना ही है। जब हम उनके साथ अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों को लेकर जिनमें अनेक निस्सहाय महिलाएँ भी होंगी, द्वारका वापस जायेंगे तो उसके बाद मैं ऐसा करूँगा। तब अगले ही दिन उन्हें किसी भी प्रकार की रुकावट न डाल कर शुभ समय पर व्रज के लिए रवाना होने दूँगा। मैं तुमसे एक हजार बार कसमें खाकर कहता हूँ। आखिर, हम जो कि कृष्ण के साथ यहाँ आये हैं, उनके बिना घर कैसे जा सकते हैं? लोग हमारे विषय में क्या कहेंगे? आप सभी मामलों में पंडित हैं, अतएव आपसे यह अनुरोध करता हूँ। इसके लिए मुझे क्षमा करेंगे।''

इसके बाद उग्रसेन ने नन्द महाराज से कहा, ''हे व्रजपति! मैं वसुदेव के कथन का साक्षी हूँ और यह प्रण करता हूँ कि यदि मुझे बल का भी प्रयोग करना पड़े तो भी मैं कृष्ण को व्रज वापस भेजूँगा।''

तब उद्धव तथा बलराम को साथ लेकर भगवान् कृष्ण ने नन्द से एकान्त में कहा, ''हे पिताश्री! यदि मैं इन वृष्णियों को छोड़ कर आज सीधे व्रज जाता हूँ, तो वे मेरे विछोह की पीड़ा से मर जायेंगे। तब केशी तथा अरिष्ट से कहीं अधिक शक्तिशाली हजारों शत्रु इन सारे राजाओं का सफाया करने आयेंगे।

''चूँकि मैं सर्वज्ञ हूँ, अतएव मैं जानता हूँ कि मुझ पर क्या अनिवार्य रूप से घटित होने वाला है।

यदि सुनें तो मैं आपसे बतलाऊँ। द्वारका लौटने पर मुझे युधिष्ठिर से निमंत्रण प्राप्त होगा और मैं उनके राजयूय यज्ञ में सम्मिलित होने इन्द्रप्रस्थ जाऊँगा। वहाँ पर मैं शिशुपाल का वध करूँगा और फिर द्वारका लौटने पर शाल्व को मारूँगा। इसके बाद मैं मथुरा से दक्षिण स्थित स्थान की यात्रा करूँगा जहाँ पर दन्तवक्र का वध करके, मैं आपको बचाऊँगा। इसके बाद मैं व्रज आऊँगा, अपने सारे मित्रों से मिलूँगा और फिर बड़े आनन्द से आपकी गोद से बैठूँगा। निस्सन्देह, मैं शेष जीवन आपके साथ अत्यन्त सुखपूर्वक बिताऊँगा। विधाता ने मेरे मस्तक पर यह भाग्य लिख दिया है और आपके मस्तक पर भी यह लिखा हुआ है कि जब तक मैं वापस न आऊँ तब तक आप मेरे विछोह को सहें। हममें से किसी का भी भाग्य बदल नहीं सकता, अतएव मुझे यहाँ छोड़ने तथा व्रज जाने के लिए साहस जुटाइये।

''यदि इसी बीच, हे मेरे माता-पिता तथा हे मेरे प्रिय मित्रो! आप अपने मस्तकों पर लिखे अमिट भाग्य से दुखी होते हों, तो जब भी आप लोग मुझे कोई अच्छी वस्तु खिलाना चाहें या मेरे साथ कोई क्रीड़ा करना चाहें या मेरा दर्शन करना चाहें तो अपनी आँखें बन्द कर लीजिए और मैं आपकी इच्छापूर्ति के लिए आपके सामने प्रकट हो जाऊँगा और आप के दुख को आकाश-पुष्पों में बदल कर आपकी सभी कामनाएँ पूरी कर दूँगा। मैं आपसे यह वादा करता हूँ और जंगल की अग्नि से अपने जिन युवक मित्रों की मैंने जान बचाई थी, वे इसके लिए साक्षी हैं।''

इन तर्कों से आश्वस्त होकर कि मेरे पुत्र का सुख सर्वोपरि है, नन्द ने सारी भेंटें स्वीकार कर लीं और विदा लेकर यदुओं की विशाल सेना के साथ वहाँ से चल पड़े।

नन्दो गोपास्' च गोप्यश्च गोविन्दचरणाम्बुजे ।
मनः क्षिप्तं पुनर्हर्तुमनीशा मथुरां ययुः ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

नन्दः—नन्द; गोपाः—ग्वाले; च—तथा; गोप्यः—गोपियाँ; च—भी; गोविन्द—कृष्ण के; चरण-अम्बुजे—चरणकमलों पर; मनः—उनके मन; क्षिप्तम्—फेंके हुए; पुनः—फिर; हर्तुम्—दूर करने के लिए; अनीशाः—असमर्थ; मथुराम्—मथुरा; ययुः—चले गये।

भगवान् गोविन्द के चरणकमलों पर समर्पित अपने मन को वहाँ से विलग कर पाने में असमर्थ नन्द तथा ग्वाल-ग्वालिनें मथुरा लौट गए।

बन्धुषु प्रतियातेषु वृष्णयः कृष्णदेवताः ।
वीक्ष्य प्रावृषमासन्नाद्ययुर्द्वारवतीं पुनः ॥ ७० ॥

शब्दार्थ

बन्धुषु—अपने सम्बन्धियों से; प्रतियातेषु—विदा होकर; वृष्णयः—वृष्णिजन; कृष्ण-देवताः—जिनके आराध्यदेव कृष्ण थे; वीक्ष्य—देखकर; प्रावृषम्—वर्षाऋतु; आसन्नात्—सन्निकट; ययुः—गये; द्वारवतीम्—द्वारका; पुनः—फिर।

इस तरह जब उनके सम्बन्धी विदा हो चुके और जब उन्होंने वर्षाऋतु को निकट आते देखा, तो वृष्णिजन, जिनके एकमात्र स्वामी कृष्ण थे, द्वारका वापस चले गये।

जनेभ्यः कथयां चक्रुर्यदुदेवमहोत्सवम् ।
यदासीत्तीर्थयात्रायां सुहृत्सन्दर्शनादिकम् ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ

जनेभ्यः—लोगों को; कथयाम् चक्रुः—कह सुनाया; यदु-देव—यदुओं के स्वामी वसुदेव का; महा-उत्सवम्—महान् उत्सव; यत्—जो; आसीत्—घटना घटी; तीर्थ-यात्रायाम्—तीर्थयात्रा के दौरान; सुहृत्—मित्रों के; सन्दर्शन—दर्शन करने; आदिकम्—इत्यादि।

उन्होंने नगर के लोगों को यदुओं के स्वामी वसुदेव द्वारा सम्पन्न यज्ञोत्सवों के बारे में तथा उनकी तीर्थयात्रा के दौरान, जो भी घटनाएँ घटी थीं, विशेष रूप से, जिस तरह वे अपने प्रियजनों से मिले, इन सबके बारे में कह सुनाया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''कुरुक्षेत्र में ऋषियों के उपदेश'' नामक चौरासिवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पिचासी

कृष्ण द्वारा वसुदेव को उपदेश दिया जाना तथा देवकी-पुत्रों की वापसी

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह कृष्ण ने अपने पिता को दिव्य ज्ञान दिया और बलराम के साथ मिल कर अपनी माता के मृत पुत्रों का उद्धार किया।

वहाँ आये हुए मुनियों द्वारा कृष्ण की प्रशंसा सुन कर वसुदेव ने उन्हें तथा बलराम को अपना पुत्र मानना छोड़ कर भगवान् के रूप में उनकी सर्वशक्तिमत्ता, सर्वव्यापकता तथा सर्वज्ञता की प्रशंसा करना आरम्भ कर दिया। अपने पुत्रों की महिमा का गुणगान करने के बाद वसुदेव भगवान् कृष्ण के

चरणकमलों पर गिर पड़े और उनसे प्रार्थना की कि वे उनके मन से यह धारणा दूर कर दें कि भगवान् उनके पुत्र हैं। ऐसा न करके भगवान् कृष्ण ने वसुदेव को भगवत्-विद्या का उपदेश देकर उस धारणा को पुनः ला दिया और इन उपदेशों को सुन कर वसुदेव शान्त तथा संशयमुक्त हो गये।

तब माता देवकी ने कृष्ण तथा बलराम की प्रशंसा, उन्हें यह स्मरण दिलाते हुए की कि उन दोनों ने किस तरह अपने गुरु के मृत पुत्र को पुनः जीवित कर दिया था। उन्होंने कहा, ''कृपा करके आप मेरी इच्छा वैसे ही पूरी करें। कृपा करके मेरे उन पुत्रों को वापस ला दें, जिन्हें कंस ने मार डाला था, जिससे मैं उन्हें एक बार फिर देख सकूँ।'' इस तरह अपनी माता द्वारा याचना किये जाने पर दोनों भाई भूगर्भीय सुतल लोक गये, जहाँ वे बलि महाराज के पास पहुँचे। बलि महाराज ने उन्हें सम्मानपूर्वक आसन देकर उनकी पूजा की तथा स्तुतियों द्वारा उनका सत्कार किया। तब कृष्ण तथा बलराम ने बलि से देवकी के मृत पुत्रों को लौटाने के लिए अनुरोध किया। दोनों ने बलि से उन बालकों को प्राप्त करके देवकी को लौटा दिया। स्नेह उमड़ने से उनके स्तनों से दूध बहने लगा। देवकी ने अत्यधिक प्रसन्न होकर अपने बच्चों को अपना दूध पिलाया। भगवान् कृष्ण द्वारा जूठा किया हुआ दूध पीकर, वे देवता स्वरूप अपने आदि रूपों को प्राप्त करके स्वर्ग वापस चले गये।

श्रीबादरायणिरुवाच
अथैकदात्मजौ प्राप्तौ कृतपादाभिवन्दनौ ।
वसुदेवोऽभिनन्द्याह प्रीत्या सङ्कर्षणाच्युतौ ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्री बादरायणि (शुकदेव गोस्वामी) ने कहा; अथ—तब; एकदा—एक दिन; आत्मजौ—दोनों पुत्र; प्राप्तौ—उनके पास आये; कृत—करके; पाद—चरणों का; अभिवन्दनौ—आदर; वसुदेवः—वसुदेव ने; अभिनन्द्य—उनका सत्कार करके; आह—कहा; प्रीत्या—स्नेहपूर्वक; सङ्कर्षण-अच्युतौ—बलराम तथा कृष्ण से।

श्री बादरायणि ने कहा : एक दिन वसुदेव के दोनों पुत्र संकर्षण तथा अच्युत उनके (वसुदेव के) पास आये और उनके चरणों पर नतमस्तक होकर प्रणाम किया। वसुदेव ने बड़े ही स्नेह से उनका सत्कार किया और उनसे इस प्रकार बोले।

मुनीनां स वचः श्रुत्वा पुत्रयोर्धामसूचकम् ।
तद्वीर्यैर्जातविश्रम्भः परिभाष्याभ्यभाषत ॥ २ ॥

शब्दार्थ

मुनीनाम्—मुनियों के; सः—उसने; वचः—शब्द; श्रुत्वा—सुन कर; पुत्रयोः—अपने दोनों पुत्रों की; धाम—शक्ति; सूचकम्—बताने वाले; तत्—उनके; वीर्यैः—वीरतापूर्ण कार्यों से; जात—उत्पन्न; विस्रम्भः—संकल्प; परिभाष्य—नाम लेकर; अभ्यभाषत—उनसे कहा।

अपने दोनों पुत्रों की शक्ति के विषय में महर्षियों के कथन सुन कर तथा उनके वीरतापूर्ण कार्यों को देख कर वसुदेव को उनकी दिव्यता पर पूरा-पूरा विश्वास हो गया। अतः उनका नाम लेकर, वे उनसे इस प्रकार बोले।

कृष्ण कृष्ण महायोगिन्सङ्कर्षण सनातन ।
जाने वामस्य यत्साक्षात्प्रधानपुरुषौ परौ ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

कृष्ण कृष्ण—हे कृष्ण, हे कृष्ण; महा-योगिन्—हे महान् योगी; सङ्कर्षण—हे बलराम; सनातन—नित्य; जाने—मैं जानता हूँ; वाम्—तुम दोनों को; अस्य—इस (ब्रह्माण्ड) के; यत्—जो; साक्षात्—प्रत्यक्ष; प्रधान—प्रकृति का सृजनात्मक तत्त्व; पुरुषौ—तथा स्रष्टा भगवान्; परौ—परम।

[वसुदेव ने कहा]: हे कृष्ण, हे कृष्ण, हे योगीश्रेष्ठ, हे नित्य संकर्षण, मैं जानता हूँ कि तुम दोनों निजी तौर पर ब्रह्माण्ड की सृष्टि के कारणस्वरूप और साथ ही साथ सृष्टि के अवयव भी हो।

तात्पर्य : जैसाकि भगवान् कपिलदेव के सांख्य मत में शिक्षा दी गई है *परम पुरुष* की सृजनात्मक शक्ति *प्रधान* है। इस तरह इन दोनों तत्त्वों में *प्रधान* अधिशासित शक्ति, स्त्री है, जो स्वतंत्र कार्य करने में अक्षम है, जबकि *पुरुष* परम स्वतंत्र है और वह आदि-स्रष्टा तथा भोक्ता है। न तो कृष्ण, न ही उनके भाई बलराम किसी अधीन शक्ति की कोटि में आते हैं प्रत्युत वे दोनों मिलकर आदि *पुरुष* हैं, जिनके साथ उनकी आनन्द, ज्ञान तथा सृजन की बहुत-सी शक्तियाँ आकर मिल जाती हैं।

यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथा यदा ।
स्यादिदं भगवान्साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरः ॥ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जिसमें; येन—जिसके द्वारा; यतः—जिससे; यस्य—जिसका; यस्मै—जिसको; यत् यत्—जो जो; यथा—फिर भी; यदा—जब भी; स्यात्—हो; इदम्—इस (सृष्टि) को; भगवान्—भगवान्; साक्षात्—अपनी उपस्थिति में; प्रधान-पुरुष—प्रकृति तथा उसके स्रष्टा (महाविष्णु) के; ईश्वरः—अधिष्ठता।

आप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, जो प्रकृति तथा प्रकृति के स्रष्टा (महाविष्णु) दोनों के स्वामी के रूप में प्रकट होते हैं। फिर भी प्रत्येक वस्तु जिस का अस्तित्व बनता है और जब कभी ऐसा होता है, वह आपके भीतर, आपके द्वारा, आपसे, आपके लिए तथा आपसे ही सम्बन्धित

होती है।

तात्पर्य : सामान्य दर्शक को यह ज्ञात जगत कई भिन्न भिन्न कारकों से उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। इस विचार का अच्छा सूचन स्वयं भाषा है, जिसके द्वारा परंपरागत संस्कृत के वैयाकरणों की व्याख्या के अनुसार, प्रकृति की दृश्य विविधता प्रतिबिम्बित होती है। पाणिनि मुनि द्वारा सिखाई गई प्रामाणिक संस्कृत व्याकरण के अनुसार क्रिया को ही वाक्य का सार माना जाता है और शेष शब्द तो उससे सम्बन्ध बताने वाले होते हैं। उदाहरणार्थ, किसी वाक्य में संज्ञा को किसी भी कारक में क्रिया से उसका सम्बन्ध बताने के लिए रखा जाता है। क्रिया से संज्ञा का सम्बन्ध *कारक* कहलाता है—उदाहरणार्थ, कर्ता कारक, कर्म कारक, करण कारक, सम्प्रदान कारक, अपदान कारक तथा अधिकरण कारक। इन कारकों के अतिरिक्त कभी कभी संज्ञाएँ अन्य सम्बन्धसूचक संज्ञाओं को बतला सकती हैं। इसी तरह क्रियाविशेषण भी—स्थान, काल, विधि इत्यादि के सूचक हैं। इस तरह भाषा यद्यपि अनेक कर्ताओं की प्रकट सृष्टि में क्रियाशीलता का द्योतन करती है, किन्तु अधिकतर सच्चाई यह है कि सारे व्याकरणिक रूप मूलतः भगवान् के सूचक हैं। इस श्लोक में वसुदेव ने विभिन्न व्याकरणिक रूपों द्वारा अपने दोनों बढ़े चढ़े पुत्रों की प्रशंसा की है।

एतन्नानाविधं विश्वमात्मसृष्टमधोक्षज ।
आत्मनानुप्रविश्यात्मन्प्राणो जीवो बिभर्ष्यज ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

एतत्—इस; नाना-विधम्—विविध; विश्वम्—ब्रह्माण्ड को; आत्म—अपने द्वारा; सृष्टम्—उत्पन्न किये गये; अधोक्षज—हे दिव्य प्रभु; आत्मना—अपने में (परमात्मा रूप में); अनुप्रविश्य—भीतर प्रवेश करके; आत्मन्—हे परमात्मा; प्राणः—प्राण, तत्त्व; जीवः—तथा चेतना तत्त्व; बिभर्षि—पालन करते हो; अज—हे अजन्मा।.

हे दिव्य प्रभु, आपने इस विचित्र ब्रह्माण्ड की रचना अपने में से की और तब अपने परमात्मा स्वरूप में आप इसके भीतर प्रविष्ट हुए। इस तरह हे अजन्मा परमात्मा, आप प्रत्येक व्यक्ति के प्राण तथा चेतना के रूप में सृष्टि का पालन करने वाले हैं।

तात्पर्य : भौतिक ब्रह्माण्ड का सृजन करते समय भगवान् अपना विस्तार परमात्मा के रूप में करते हैं और सृष्टि को अपने विराट शरीर के रूप में अपनाते हैं। कोई भी भौतिक शरीर किसी न किसी जीवात्मा के भोगने की इच्छा के बिना विद्यमान नहीं रह सकता और कोई भी *जीव* अपने मार्गदर्शन के लिए परमात्मा का साथ किये बिना शरीर को स्वतः नहीं बनाये रख सकता। वैष्णव आचार्यों ने

श्रीमद्‌भागवत के द्वितीय स्कंध की टीका करते हुए व्याख्या की है कि गर्भोदकशायी विष्णु की कमल-नाभि से उत्पन्न होने के पूर्व भी ब्रह्मा सर्वप्रथम इस सम्पूर्ण भौतिक शक्ति अर्थात् *महत् तत्त्व* को अपने शरीर रूप में अपनाते हैं। इस तरह ब्रह्मा ब्रह्माण्ड से युक्त *जीव* हैं और विष्णु परमात्मा हैं, जो उनके साथ रहते हैं। ब्रह्मा को सृष्टि के विशिष्ट स्वरूप को संघटित करना होता है, किन्तु वे तब तक ऐसा नहीं कर पाते जब तक भगवान् विष्णु क्रिया की सूक्ष्म शक्ति—*सूत्र-तत्त्व* या प्राण-वायु—के रूप में तथा चेतना की सृजनात्मक शक्ति, अर्थात् *बुद्धि-तत्त्व* के रूप में अपना पुनः विस्तार नहीं कर लेते।

प्राणादीनां विश्वसृजां शक्तयो याः परस्य ताः ।
पारतन्त्र्याद्वैसादृष्याद्द्वयोश्चेष्टैव चेष्टताम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

प्राण—प्राण; आदीनाम्—इत्यादि का; विश्व—ब्रह्माण्ड का; सृजाम्—सृजनकारी तत्त्व; शक्तयः—शक्तियाँ; याः—जो; परस्य—परमात्मा की; ताः—वे; पारतन्त्र्यात्—परतंत्रता के कारण; वैसादृश्यात्—असमानता के कारण; द्वयोः—दोनों (चराचर) की; चेष्टा—क्रियाशीलता; एव—केवल; चेष्टताम्—सक्रिय जीवों की (प्राण इत्यादि की)।

प्राण तथा ब्रह्माण्ड-सृजन के अन्य तत्त्व, जो भी शक्तियाँ प्रदर्शित करते हैं, वे वास्तव में भगवान् की निजी शक्तियाँ हैं, क्योंकि प्राण तथा पदार्थ दोनों ही उनके अधीन तथा उनके आश्रित हैं और एक-दूसरे से भिन्न भी हैं। इस तरह इस भौतिक जगत की प्रत्येक सक्रिय वस्तु भगवान् द्वारा ही गतिशील बनाई जाती है।

तात्पर्य : प्राण सामान्य वायु से, जिसका हम स्पर्श कर सकते हैं, अधिक सूक्ष्म है। चूँकि प्राण इतना सूक्ष्म है—सृष्टि की किसी भी सूक्ष्म वस्तु से महीन, इसलिए इसे कभी कभी प्रत्येक वस्तु का चरम स्रोत माना जाता है। किन्तु प्राण जैसी सूक्ष्म शक्तियाँ भी अपनी कार्य-क्षमता के लिए परम सूक्ष्म परमात्मा पर निर्भर करती है। इस श्लोक में वसुदेव *पारतन्त्रा* शब्द से यही भाव व्यक्त कर रहे हैं। जिस तरह तीर का वेग तीर छोड़ने वाले तीरन्दाज की शक्ति से प्राप्त होता है, उसी तरह सारी परतंत्र शक्तियाँ परमेश्वर की शक्ति पर निर्भर रहती हैं। यही नहीं, विभिन्न सूक्ष्म कारण कर्म करने की शक्ति प्रदान किये जाने पर भी परमात्मा के समन्वयात्मक निर्देश के बिना तालमेल में कार्य नहीं कर सकते। *श्रीमद्‌भागवत* के द्वितीय स्कंध में ब्रह्मा ने अपनी सृष्टि का विवरण दिया है—

यदैतेऽसंगता भावा भूतेन्द्रियमनोगुणाः ।

यदायतननिर्माणे न शेकुर्ब्रह्मवित्तम ॥

तदा संहत्य चान्योन्यं भगवच्छक्तिचोदिता: ।

सदसत्त्वमुपादाय चोभयं ससृजुर्ह्यद: ॥

"हे योगीश्रेष्ठ नारद! शरीर का स्वरूप तब तक प्रकट नहीं होता जब तक सृजित अंश—यथा तत्त्व, इन्द्रियाँ, मन तथा प्रकृति के गुण—एकत्र नहीं हो जाते। अत: जब भगवान् की शक्ति के वेग से ये सभी एकत्र हो गये तभी यह ब्रह्माण्ड सृष्टि के मूल तथा गौण कारणों को स्वीकार करके प्रकट हुआ।" (*भागवत* २.५.३२-३३)

कान्तिस्तेज: प्रभा सत्ता चन्द्राग्न्यर्कर्क्षविद्युताम् ।
यत्स्थैर्यं भूभृतां भूमेर्वृत्तिर्गन्धोऽर्थतो भवान् ॥ ७॥

शब्दार्थ

कान्ति:—आकर्षक चमक; तेज:—चटक; प्रभा—प्रकाश; सत्ता—तथा विशिष्ट अस्तित्व; चन्द्र—चन्द्रमा; अग्नि—आग; अर्क—सूर्य; ऋक्ष—तारे; विद्युताम्—तथा बिजली के; यत्—जो; स्थैर्यम्—स्थायित्व; भू-भृताम्—पर्वतों के; भूमे:—पृथ्वी के; वृत्ति:—धारणशक्ति का गुण; गन्ध:—सुगन्धि; अर्थत:—सचमुच; भवान्—आप।

चन्द्रमा की कान्ति, अग्नि का तेज, सूर्य की चमक, तारों का टिमटिमाना, बिजली की दमक, पर्वतों का स्थायित्व तथा पृथ्वी की सुगंध एवं धारणशक्ति—ये सब वास्तव में आप ही हैं।

तात्पर्य : श्री वसुदेव द्वारा कृष्ण को यह बतलाना कि वे ही सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, बिजली तथा अग्नि के सार हैं, वास्तव में श्रुति तथा स्मृति दोनों ही के मत की पुष्टि मात्र है। उदाहरणार्थ, *श्वेताश्वतर उपनिषद* (६.१) में कहा गया है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं

नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि: ।

तमेव भान्तमनु भाति सर्वं

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

"(आध्यात्मिक आकाश में) वहाँ न तो सूर्य चमकता है न चन्द्रमा, न तारे, न ही बिजली, तो फिर सामान्य अग्नि के बारे में क्या कहा जाय? यह तो आध्यात्मिक आकाश के तेज का प्रतिबिम्ब है कि अन्य सारी वस्तुएँ प्रकाश देती हैं और इस तरह उसकी चमक से सारा ब्रह्माण्ड प्रकाशित होता है।" और *श्रीमद्भगवद्गीता* (१५.१२) में भगवान् कहते हैं—

यद् आदित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्।

यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विधि मामकम्॥

"सूर्य का तेज, जो कि सारे जगत के अंधकार को दूर करता है, मुझसे उत्पन्न है। तथा चन्द्रमा और अग्नि का तेज भी मुझी से उत्पन्न है।"

तर्पणं प्राणनमपां देव त्वं ताश्च तद्रसः ।
ओजः सहो बलं चेष्टा गतिर्वायोस्तवेश्वर ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तर्पणम्—संतोष उत्पन्न करने की क्षमता; प्राणनम्—जीवनदान; अपाम्—जल का; देव—हे प्रभु; त्वम्—तुम; ताः—वही (जल); च—तथा; तत्—उस (जल) का; रसः—आस्वाद; ओजः—शारीरिक उष्णता तथा प्राण-वायु के कारण जीवन-शक्ति; सहः—मानसिक शक्ति; बलम्—शारीरिक शक्ति; चेष्टा—प्रयास; गतिः—तथा चाल-फेर; वायोः—वायु का; तव—तुम्हारा; ईश्वर—हे परम नियन्ता।

हे प्रभु, आप जल हैं और इसका आस्वाद तथा प्यास बुझाने एवं जीवन धारण करने की क्षमता भी हैं। आप अपनी शक्तियों का प्रदर्शन वायु के द्वारा शरीर की उष्णता, जीवन-शक्ति, मानसिक शक्ति, शारीरिक शक्ति, प्रयास तथा गति के रूप में करते हैं।

दिशां त्वमवकाशोऽसि दिशः खं स्फोट आश्रयः ।
नादो वर्णस्त्वम्ॐकार आकृतीनां पृथक्कृतिः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

दिशाम्—दिशाओं के; त्वम्—तुम; अवकाशः—सहनशक्ति; असि—हो; दिशः—दिशाएँ; खम्—आकाश; स्फोटः—ध्वनि; आश्रयः—अपने आधार के रूप (आकाश); नादः—अप्रकट गूँज के रूप में ध्वनि; वर्णः—आदि अक्षर; त्वम्—तुम; ॐ-कारः—ओम्; आकृतीनाम्—विशेष रूपों के; पृथक्-कृतिः—अन्तर का कारण (अर्थात् प्रकट भाषा)।

आप ही दिशाएँ एवं उनकी अनुकूलन-क्षमता, सर्वव्यापक आकाश तथा इसके भीतर वास करने वाली ध्वनि (स्फोट) हैं। आप आदि अप्रकट ध्वनि रूप हैं, आप ही प्रथम अक्षर ॐ हैं और आप ही श्रव्य वाणी हैं, जिसके द्वारा शब्दों के रूप में ध्वनि विशिष्ट प्रसंग बन जाती है।

तात्पर्य : सामान्य सृजन प्रक्रिया के अनुसार वाणी कई अवस्थाओं में से गुजर कर श्रव्य बनती है, जिसमें सूक्ष्म आन्तरिक दोलन से लेकर बाह्य अभिव्यक्ति तक सम्मिलित हैं। *ऋग्वेद* के मंत्र (१.१६.५) में इन अवस्थाओं का उल्लेख हुआ है—

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि

तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।

गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति

तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

"विद्वान ब्राह्मण भाषा की चार क्रमिक अवस्थाओं को जानते हैं। इनमें से तीन तो हृदय के भीतर अश्रव्य स्पन्दनों के रूप में छिपी रहती हैं जबकि चौथी अवस्था वह है, जिसे लोग सामान्यतया वाणी के रूप में समझते हैं।"

इन्द्रियं त्विन्द्रियाणां त्वं देवाश्च तदनुग्रहः ।
अवबोधो भवान्बुद्धेर्जीवस्यानुस्मृतिः सती ॥ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रियम्—वस्तुओं को प्रकाशित करने की शक्ति; तु—तथा; इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों के; त्वम्—तुम; देवाः—देवता (जो विविध इन्द्रियों का नियमन करते हैं); च—एवं; तत्—उनका (देवताओं की); अनुग्रहः—कृपा (जिसके द्वारा इन्द्रियाँ कार्य कर सकती हैं); अवबोधः—निर्णय लेने की शक्ति; भवान्—आप; बुद्धेः—बुद्धि की; जीवस्य—जीव की; अनुस्मृतिः—स्मरण रखने की शक्ति; सती—सही सही।

आप वस्तुओं को प्रकट करने की इन्द्रिय-शक्ति, इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता तथा ऐन्द्रिय कार्यों को करने के इन देवताओं द्वारा दिये गये अधिकार हैं। आप निर्णय लेने की बुद्धि-क्षमता तथा जीव द्वारा वस्तुओं को सही सही स्मरण रखने की क्षमता हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इंगित किया है कि जब भी कोई इन्द्रिय अपने विषय में व्यस्त रहती है, तो उस विशेष इन्द्रिय अंग के अधिष्ठाता देवता को अपनी स्वीकृति देनी होती है। आचार्य विश्वनाथ चक्रतर्वी ने इस श्लोक में आये *अनुस्मृति* शब्द का एक उच्च भाव दिया है—नित्य आत्मा के रूप में अपने आपको मान्यता देना।

भूतानामसि भूतादिरिन्द्रियाणां च तैजसः ।
वैकारिको विकल्पानां प्रधानमनुशायिनम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

भूतानाम्—भौतिक तत्त्वों के; असि—हो; भूत-आदिः—उनका स्रोत, तमोगुणी मिथ्या अहंकार; इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों के; च—तथा; तैजसः—रजोगुणी मिथ्या अहंकार; वैकारिकः—सतोगुणी मिथ्या अहंकार; विकल्पानाम्—सृजनकारी देवताओं के; प्रधानम्—अप्रकट सम्पूर्ण भौतिक शक्ति; अनुशायिनम्—आधारभूत।

आप ही तमोगुणी मिथ्या अहंकार हैं, जो भौतिक तत्त्वों का स्रोत है; आप रजोगुणी मिथ्या अहंकार हैं, जो शारीरिक इन्द्रियों का स्रोत है; सतोगुणी मिथ्या अहंकार हैं, जो देवताओं का स्रोत है तथा आप ही अप्रकट सम्पूर्ण भौतिक शक्ति हैं, जो हर वस्तु की मूलाधार है।

नश्वरेष्विह भावेषु तदसि त्वमनश्वरम् ।
यथा द्रव्यविकारेषु द्रव्यमात्रं निरूपितम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

नश्वरेषु—नश्वर; इह—इस संसार में; भावेषु—जीवों में; तत्—वह; असि—हो; त्वम्—तुम; अनश्वरम्—अनश्वर; यथा—जिस तरह; द्रव्य—पदार्थ के; विकारेषु—रूपान्तरों में; द्रव्य-मात्रम्—स्वयंपदार्थ; निरूपितम्—सुनिश्चित किया हुआ।

आप इस जगत की समस्त नश्वर वस्तुओं में से एकमात्र अनश्वर जीव हैं, जिस तरह कोई मूलभूत वस्तु अपरिवर्तित रहती दिखती है, जबकि उससे बनी वस्तुओं में रूपान्तर आ जाता है।

सत्त्वम्रजस्तम इति गुणास्तद्वृत्तयश्च याः ।
त्वय्यद्धा ब्रह्मणि परे कल्पिता योगमायया ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम् रजः तमः इति—सतो, रजो तथा तमोगुण नामक; गुणाः—प्रकृति के गुण; तत्—उनके; वृत्तयः—कार्य; च—तथा; याः—जो; त्वयि—तुममें; अद्धाः—प्रकट रूप से; ब्रह्मणि—परब्रह्म में; परे—परम; कल्पिताः—नियोजित; योग-मायया—योगमाया (भगवान् की अन्तरंगा शक्ति जो उनकी लीलाओं को सुगम बनाती है) द्वारा।

प्रकृति के गुण—यथा सतो, रजो तथा तमो गुण—अपने सारे कार्यों समेत आप अर्थात् परम सत्य के भीतर आपकी योगमाया की व्यवस्था के द्वारा सीधे प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : वसुदेव के इस वर्णन का कि परमेश्वर किस तरह अपना विस्तार तीनों गुणों के फलों के रूप में करते हैं, संभवतः यह गलत अर्थ लगाया जा सकता है कि भगवान् का गुणों द्वारा स्पर्श होता है या कि उनका भी संहार हो सकता है। इन भ्रान्तियों के निराकरण हेतु वसुदेव कहते हैं कि तीनों गुण तथा उनके फल भगवान् की सृजनात्मक शक्ति योगमाया की व्यवस्था से कार्य करते हैं। यह योगमाया पूरी तरह भगवान् के नियंत्रण में रहती है। इस तरह भगवान् कभी भी किसी भौतिक स्पर्श से लेशमात्र भी कलुषित नहीं होते।

तस्मान्न सन्त्यमी भावा यर्हि त्वयि विकल्पिताः ।
त्वं चामीषु विकारेषु ह्यन्यदाव्यावहारिकः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; न—नहीं; सन्ति—हैं; अमी—ये; भावाः—जीव; यर्हि—जब; त्वयि—तुममें; विकल्पिताः—व्यवस्थित; त्वम्—तुम; च—भी; अमीषु—इनके भीतर; विकारेषु—सृष्टि के फल, विकार; हि—निस्सन्देह; अन्यदा—किसी अन्य समय; अव्यावहारिकः—अ-भौतिक।

इस तरह प्रकृति के विकार स्वरूप ये सृजित जीव तभी विद्यमान रहते हैं, जब भौतिक

प्रकृति उन्हें आपके भीतर प्रकट करती है। उस समय आप भी उनके भीतर प्रकट होते हैं। किन्तु सृजन के ऐसे अवसरों के अतिरिक्त आप दिव्य सत्य की भाँति अकेले रहते हैं।

तात्पर्य : जब सामयिक संहार के समय यह ब्रह्माण्ड समाप्त कर दिया जाता है, तो सारे जड़ पदार्थ तथा जीवों के शरीर जो अभी तक भगवान् की माया द्वारा प्रकट थे अब उनकी दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। तब चूँकि भगवान् ब्रह्माण्ड के विलय के समय उनके साथ कोई संसर्ग नहीं रखते, इसलिए वे वस्तुएँ आगे अस्तित्व में नहीं रहती। दूसरे शब्दों में, जब भगवान् भौतिक जगत की सृष्टि तथा उसके पालन की ओर ध्यान फेरते हैं, तभी भौतिक स्वरूपों का असली कार्यात्मक अस्तित्व होता है। भगवान् कभी भी किसी भी भौतिक अर्थ में इन पदार्थों के "भीतर" नहीं रहते लेकिन निर्विशेष ब्रह्म के रूप में वे उन सबों में कृपा करके व्याप्त रहते हैं और परमात्मा के रूप में वे अणु अणु में प्रवेश करते हैं और जीवात्माओं के साथ उनके प्रत्येक शरीर में भी रहते हैं। *भगवद्गीता* (९.-५) में भगवान् ने इसी बात का वर्णन अपनी वाणी के द्वारा किया है—

मया ततमिदं सर्वम् जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्वस्थित:॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावन:॥

"मेरे अव्यक्त रूप में यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मेरे द्वारा व्याप्त रहता है। सारे जीव मुझमें हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं रहता। तो भी हर वस्तु जिसका सृजन होता है, वह मुझमें स्थित नहीं रहती। मेरे योग-ऐश्वर्य को तो देखो! यद्यपि मैं सारे जीवों का पालनकर्ता हूँ और यद्यपि मैं सर्वत्र हूँ, तो भी मैं इस विराट जगत का अंश नहीं हूँ, क्योंकि मैं ही सृष्टि का मूल स्रोत हूँ।"

गुणप्रवाह एतस्मिन्नबुधास्त्वखिलात्मन: ।
गतिं सूक्ष्मामबोधेन संसरन्तीह कर्मभि: ॥ १५॥

शब्दार्थ

गुण—गुणों के; प्रवाहे—प्रवाह में; एतस्मिन्—इस; अबुधा:—अज्ञानी; तु—लेकिन; अखिल—हर वस्तु का; आत्मन:—आत्मा का; गतिम्—गन्तव्य; सूक्ष्माम्—दिव्य; अबोधेन—ज्ञान का अभाव होने से; संसरन्ति—जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमते हैं; इह—इस जगत में; कर्मभि:—भौतिक कार्य से बाध्य होकर।

वे सचमुच अज्ञानी हैं, जो इस जगत में भौतिक गुणों के निरन्तर प्रवाह के भीतर बन्दी रहते

हुए आपको अपने चरम सूक्ष्म गन्तव्य परमात्मा स्वरूप जान नहीं पाते। अपने अज्ञान के कारण भौतिक कर्म का बन्धन ऐसे जीवों को जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमने के लिए बाध्य कर देता है।

तात्पर्य : जो व्यक्ति ईश्वर के दास रूप में अपनी सच्ची पहचान भूल जाता है, वह इस जगत में भौतिक शरीरों की शृंखला में बन्दी बनाये जाने के लिए भेज दिया जाता है। भूल से इन शरीरों के साथ अपनी पहचान करने के कारण ऐसा बद्धजीव कर्मफल के फलस्वरूप उत्पन्न दुख का भोग करता है। दयावान वैष्णव होने के नाते वसुदेव उन बद्धजीवों के कष्ट के प्रति शोक प्रकट करते हैं, जिनके दुख को, जो उनके अज्ञान का परिणाम है भगवान् कृष्ण की भक्ति के नियमों की जानकारी से दूर किया जा सकता है।

यदृच्छया नृतां प्राप्य सुकल्पामिह दुर्लभाम् ।
स्वार्थे प्रमत्तस्य वयो गतं त्वन्माययेश्वर ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यदृच्छया—जैसे तैसे; नृताम्—मानव पद; प्राप्य—प्राप्त करके; सु-कल्पाम्—उपयुक्त; इह—इस जीवन में; दुर्लभाम्—प्राप्त करना कठिन; स्व—अपने; अर्थे—कल्याण के विषय में; प्रमत्तस्य—प्रमत्त अर्थात् मूढ़ के; वयः—आयु; गतम्—बीती हुई; त्वत्—तुम्हारी; मायया—माया द्वारा; ईश्वर—हे प्रभु।

सौभाग्य से जीव स्वस्थ मनुष्य-जीवन प्राप्त कर सकता है, जो कि विरले ही प्राप्त होने वाला सुअवसर होता है। किन्तु हे प्रभु, यदि इतने पर भी वह अपने लिए, जो सर्वोत्तम है, उसके विषय में मोहग्रस्त रहता है, तो आपकी माया उसको अपना सारा जीवन नष्ट करने के लिए बाध्य कर सकती है।

असावहम्ममैवैते देहे चास्यान्वयादिषु ।
स्नेहपाशैर्निबध्नाति भवान्सर्वमिदं जगत् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

असौ—यह; अहम्—मैं; मम—मेरा; एव—निस्सन्देह; एते—ये; देहे—शरीर में; च—तथा; अस्य—इसका; अन्वय-आदिषु—सन्तान तथा अन्य सम्बद्ध वस्तुओं में; स्नेह—स्नेह को; पाशैः—रस्सियों से; निबध्नाति—बाँधते हैं; भवान्—आप; सर्वम्—समस्त; इदम्—इस; जगत्—संसार को।

आप स्नेह की रस्सियों से इस सारे संसार को बाँधे रहते हैं, अतः जब लोग अपने भौतिक शरीरों पर विचार करते हैं, तो वे सोचते हैं, ''यह मेरा है'' और जब वे अपनी सन्तान तथा अन्य सम्बन्धियों पर विचार करते हैं, तो वे सोचते हैं, ''ये मेरे हैं।''

युवां न नः सुतौ साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरौ ।
भूभारक्षत्रक्षपण अवतीर्णौ तथात्थ ह ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

युवाम्—तुम दोनों; न—नहीं; नः—हमारे; सुतौ—पुत्र; साक्षात्—प्रत्यक्ष; प्रधान-पुरुष—प्रकृति तथा इसके स्रष्टा (महाविष्णु) के; ईश्वरौ—परम नियन्ता; भू—पृथ्वी के; भार—बोझा; क्षत्र—राजा; क्षपणे—विनाश करने के लिए; अवतीर्णौ—अवतरित हुए; तथा—ऐसा; आत्थ—आपने कहा है; ह—निस्सन्देह।

आप दोनों हमारे पुत्र नहीं हैं, अपितु प्रकृति तथा उसके स्रष्टा (महाविष्णु) दोनों ही के स्वामी हैं। जैसा कि आपने स्वयं हमसे कहा है, आप पृथ्वी को उन शासकों से मुक्त करने के लिए अवतरित हुए हैं, जो उस पर अत्यधिक भार बने हुए हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार इस श्लोक में वसुदेव स्वयं तथा अपनी पत्नी को ऐसे उत्तम उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जो भौतिक रूप से भ्रमित हैं। यद्यपि कंस के बंदीगृह में अपने जन्म के समय कृष्ण ने वसुदेव तथा देवकी को बतला दिया था कि उनका मन्तव्य अवांछित क्षत्रियों से पृथ्वी को मुक्त करना है, फिर भी उनके माता-पिता उन्हें अपने असहाय पुत्र के रूप में मानते रहे, जिसे राजा कंस से सुरक्षा की आवश्यकता थी। वास्तव में वसुदेव तथा देवकी दोनों भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के पूर्ण निर्देशन में भगवान् की दिव्य जन्म-लीला में भाग ले रहे थे। वसुदेव आध्यात्मिक दीनतावश इस तरह स्वयं की आलोचना कर रहे हैं।

तत्ते गतोऽस्म्यरणमद्य पदारविन्द-
मापन्नसंसृतिभयापहमार्तबन्धो ।
एतावतालमलमिन्द्रियलालसेन
मर्त्यात्मदृक्त्वयि परे यदपत्यबुद्धिः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; ते—तुम्हारी; गतः—आया हुआ; अस्मि—हूँ; अरणम्—शरण के लिए; अद्य—आज; पाद-अरविन्दम्—चरणकमलों पर; आपन्न—शरणागतों के लिए; संसृति—भौतिक बन्धन का; भय—डर; अपहम्—जो दूर करते हैं; आर्त—दुखियों के; बन्धो—हे मित्र; एतावता—इतना; अलम् अलम्—बस, बस (बहुत हुआ); इन्द्रिय—इन्द्रिय-भोग के लिए; लालसेन—लालसा से; मर्त्य—मरणशील (भौतिक देह) के रूप में; आत्म—स्वयं; दृक्—जिनकी दृष्टि; त्वयि—तुम्हारे प्रति; परे—परम; यत्—जिसके कारण (लालसा); अपत्य—सन्तान; बुद्धिः—मानसिकता।

इसलिए, हे दुखियों के मित्र, अब मैं शरण के लिए आपके चरणकमलों के पास आया हूँ—ये वही चरणकमल हैं, जो शरणागतों के सारे संसारिक भय को दूर करने वाले हैं। बस, इन्द्रिय-भोग की लालसा बहुत हो चुकी, जिसके कारण मैं अपनी पहचान इस मर्त्य शरीर से

करता हूँ और आपको अर्थात् परम पुरुष को अपना पुत्र समझता हूँ।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी का सुझाव है कि वसुदेव यहाँ अपनी भर्त्सना कर रहे हैं कि वे भगवान् के पिता होने के नाते विशेष ऐश्वर्य पाने का विचार कर रहे हैं। इस तरह वसुदेव अपने को व्रजराज नन्द से विपरीत मानते हैं, जो शुद्ध भगवत्प्रेम से तुष्ट थे और जिन्हें और कुछ भी नहीं चाहिए था।

सूतीगृहे ननु जगाद भवानजो नौ
सञ्जज्ञ इत्यनुयुगं निजधर्मगुप्त्यै ।
नानातनूर्गगनवद्विदधज्जहासि
को वेद भूम्न उरुगाय विभूतिमायाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सूती-गृहे—प्रसूति-गृह में; ननु—निस्सन्देह; जगाद—कहा; भवान्—आप; अजः—अजन्मा भगवान्; नौ—हमको; सञ्जज्ञे—आपने जन्म लिया; इति—इस प्रकार; अनु-युगम्—युग-युग में; निज—अपना; धर्म—धर्म; गुप्त्यै—रक्षा करने के लिए; नाना—विविध; तनूः—दैवी शरीर; गगन-वत्—बादल की तरह; विदधत्—धारण करके; जहासि—छिपा देते हो; कः—कौन; वेद—जान सकता है; भूम्नः—सर्वव्यापी भगवान् का; उरु-गाय—हे अत्यधिक प्रशंसित; विभूति—ऐश्वर्यशाली अंशों के; मायाम्—योगमयी मोहक शक्ति।

निस्सन्देह आपने हमें प्रसूति-गृह में ही बतला दिया था कि आप अजन्मा हैं और इसके पूर्व के युगों में कई बार हमारे पुत्र के रूप में जन्म ले चुके हैं। आपने अपने धर्म की रक्षा करने के लिए इन दिव्य शरीरों को प्रकट करने के बाद उन्हें छिपा लिया, जिस तरह बादल प्रकट होते हैं और लुप्त हो जाते हैं। हे परम महिमामय सर्वव्यापक भगवान्, आपके विभूति अंशों की भ्रान्तिपूर्ण माया को कौन समझ सकता है?

तात्पर्य : पिछले जन्मों में सुतपा तथा पृश्नि के रूप में वसुदेव तथा देवकी के यहाँ भगवान् कृष्ण ने सर्वप्रथम जन्म लिया था। बाद में वे कश्यप तथा अदिति के नाम से उनके माता-पिता बने। अब तीसरी बार वे वसुदेव-देवकी के पुत्र रूप में प्रकट हुए थे।

श्रीशुक उवाच
आकर्ण्येत्थं पितुर्वाक्यं भगवान्सात्वतर्षभः ।
प्रत्याह प्रश्रयानम्रः प्रहसञ्श्लक्ष्णया गिरा ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; आकर्ण्य—सुनकर; इत्थम्—इस तरह से; पितुः—अपने पिता के; वाक्यम्—कथन; भगवान्—भगवान् ने; सात्वत-ऋषभः—यदुओं में श्रेष्ठ; प्रत्याह—उत्तर दिया; प्रश्रय—विनयपूर्वक; आनम्रः—झुकाकर (अपना सिर); प्रहसन्—जोर से हँसते हुए; श्लक्ष्णया—धीमी; गिरा—वाणी से।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : अपने पिता के वचनों को सुनने के बाद सात्वतों के नायक भगवान् ने विनयपूर्वक अपना सिर झुकाया और मन्द-मन्द हँसे और फिर मृदुल वाणी में उत्तर दिया।

तात्पर्य : कृष्ण ने अपने पिता द्वारा अपनी प्रशंसा सुनने के बाद जो कुछ सोचा उसका वर्णन श्रील जीव गोस्वामी करते हैं, ''वसुदेव को शाश्वत रूप से मेरा पिता होने का सम्मान प्राप्त हुआ है, जिसकी कामना ब्रह्मा जैसे देवता भी नहीं कर सकते। इसलिए उन्हें चाहिए कि वे मेरे ईश्वरत्व के पक्ष के बारे में इतने निमग्न न हों। साथ ही, उनके प्रति आदर-भाव से मुझे बहुत उलझन हो रही है। इसीलिए मैंने कंस का वध करने के बाद अपने तथा बलराम के प्रति उनके शुद्ध पितृ-प्रेम को प्रबल करने के लिए विशेष प्रयास किया था। किन्तु दुर्भाग्यवश, अब इन मुनियों के कथनों से वसुदेव तथा देवकी में मेरे ईश्वरत्व के प्रति पूर्व की कुछ जानकारी पुनः जागृत की जा रही है।

श्रीभगवानुवाच

वचो वः समवेतार्थं तातैतदुपमन्महे ।
यन्नः पुत्रान्समुद्दिश्य तत्त्वग्राम उदाहृतः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; वचः—शब्द; वः—आपके; समवेत—उपयुक्त; अर्थम्—अर्थ वाले; तात—हे पिता; एतत्—ये; उपमन्महे—मैं मानता हूँ; यत्—क्योंकि; नः—हम; पुत्रान्—आपके पुत्रों को; समुद्दिश्य—बतलाकर; तत्त्व—तथ्यों की कोटियों के; ग्रामः—सम्पूर्ण रूप से; उदाहृतः—सामने रखा।

भगवान् ने कहा : हे पिताश्री, मैं आपके वचनों को सर्वथा उपयुक्त मानता हूँ, क्योंकि आपने हमें अर्थात् अपने पुत्रों का सन्दर्भ देते हुए संसार की विविध कोटियों की व्याख्या की है।

तात्पर्य : अपने को वसुदेव के आश्रित पुत्र के रूप में मानते हुए भगवान् कृष्ण अपने पिता द्वारा दिये गये शिक्षाप्रद उपदेशों के लिए कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

अहं यूयमसावार्य इमे च द्वारकाउकसः ।
सर्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ विमृग्याः सचराचरम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; यूयम्—आपको; असौ—वह; आर्यः—मेरे पूज्य भ्राता (बलराम); इमे—ये; च—तथा; द्वारका-ओकसः—द्वारकावासी; सर्वे—सभी; अपि—ही; एवम्—इसी तरह से; यदु-श्रेष्ठ—हे यदुश्रेष्ठ; विमृग्याः—माना जाना चाहिए; स—सहित; चर—चेतन; अचरम्—जड़।

हे यदुश्रेष्ठ, न केवल मुझे, अपितु आपको, मेरे पूज्य भ्राता को तथा ये द्वारकावासी इन सबों को भी इसी दार्शनिक आलोक में देखा जाना चाहिए। दरअसल हमें जड़ तथा चेतन दोनों ही प्रकार के समस्त सृष्टि को इसमें सम्मिलित करना चाहिए।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण अपने प्रति अपने माता-पिता के घनिष्ठ सम्बन्ध को संरक्षित करने के लिए अपने पिता वसुदेव से इस कथन में समस्त जगत के एकत्व पर बल दे रहे हैं। वसुदेव को अपने पुत्रों की महानता का स्मरण कुरुक्षेत्र में एकत्र हुए मुनियों की बातों को सुनकर हो आया। किन्तु तो भी उनके विस्मय की अनुभूति कृष्ण के साथ उनके घनिष्ठ पितृ-सम्बन्ध को नष्ट कर रही थी इसलिए कृष्ण इस आश्चर्य को दूर करना चाहते थे।

यहाँ भगवान् जिस ''एकत्व'' की बात कह रहे हैं उसका हमें गलत अर्थ नहीं लगाना चाहिये। उपनिषदों के सूक्ष्म वचन प्राय: निर्विशेषवादियों को यह विश्वास करने के लिए दिग्भ्रमित करते हैं कि सारा जगत एक है, उसमें विविधता है ही नहीं। कुछ उपनिषद मंत्र ईश्वर तथा उनकी सृष्टि के एकत्व पर बल देते हैं जबकि कुछ उनमें अन्तर बताते हैं। उदाहरणार्थ, *तत् त्वम् असि श्वेतकेतो* (हे श्वेतकेतु, तुम वही हो)—यह *अभेदवाक्य* है—ऐसा मंत्र जो इसकी पुष्टि करता है कि सारी वस्तुएँ ईश्वर से एकाकार हैं और वे उनके आश्रित अंश हैं। किन्तु उपनिषदों में ऐसे कई *भेदवाक्य* भी हैं जिनमें ब्रह्म के विभेदक गुणों का वर्णन हुआ है। यथा यह कथन—*क एवान्यात् कः प्राण्याद् यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात्, एष एवानन्दयति*—''यदि यह अनन्त ब्रह्म मूल भोक्ता न होता तो सृष्टि को गतिशीलता तथा सारे जीवों को जीवनदान कौन देता? निस्सन्देह, एकमात्र वह ही समस्त आनन्द का स्रोत है।'' (*तैत्तिरीय उपनिषद* २.७.१) भगवान् की मोहमयी माया के वश में आकर ईर्ष्यालु निर्विशेषवादी *अभेदवाक्यों* का शाब्दिक अर्थ लगाते हैं और *भेदवाक्यों* का आलंकारिक अर्थ ग्रहण करते हैं। दूसरी ओर अधिकारी वैष्णव टीकाकार वैदिक मीमांसा के विश्लेषणात्मक नियमों के अनुसार तथा वेदान्त के तर्कसंगत स्थापित निर्णयों के अनुसार बाहरी तौर पर दिखने वाले परस्पर विरोधों के साथ समन्वय करके देखते हैं।

आत्मा ह्येकः स्वयंज्योतिर्नित्योऽन्यो निर्गुणो गुणैः ।
आत्मसृष्टैस्तत्कृतेषु भूतेषु बहुधेयते ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

आत्मा—परमात्मा; हि—निस्सन्देह; एकः—एक; स्वयम्-ज्योतिः—आत्मज्योतित; नित्यः—नित्य; अन्यः—पृथक् (भौतिक शक्ति से); निर्गुणः—भौतिक गुणों से मुक्त; गुणैः—गुणों के द्वारा; आत्म—स्वयं से; सृष्टैः—उत्पन्न; तत्—अपने फलों में; कृतेषु—उत्पादन; भूतेषु—भौतिक जीवों में; बहुधा—कई प्रकार का; ईयते—प्रतीत होता है।

दरअसल परमात्मा एक है। वह आत्मज्योतित तथा नित्य, दिव्य एवं भौतिक गुणों से रहित है। किन्तु इन्हीं गुणों के माध्यम से उसने सृष्टि की है, जिससे एक ही परम सत्य उन गुणों के अंशों में अनेक रूप में प्रकट होता है।

खं वायुर्ज्योतिरापो भूस्तत्कृतेषु यथाशयम् ।
आविस्तिरोऽल्पभूर्येको नानात्वं यात्यसावपि ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

खम्—आकाश; वायुः—वायु; ज्योतिः—अग्नि; आपः—जल; भूः—पृथ्वी; तत्—उनके; कृतेषु—फलों में; यथा-आशयम्—विशेष स्थितियों के अनुसार; आविः—व्यक्त; तिरः—अव्यक्त; अल्प—लघु; भूरि—बृहत्; एकः—एक; नानात्वम्—अनेकरूपता; याति—धारण करता है; असौ—वह; अपि—भी।

आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी—ये तत्त्व विविध वस्तुओं में प्रकट होते समय दृश्य, अदृश्य, लघु या विशाल बन जाते हैं। इसी तरह परमात्मा एक होते हुए भी अनेक प्रतीत होता है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने उक्त श्लोक तथा पिछले श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है : एक परमात्मा अपने ही द्वारा उत्पन्न गुणों के प्रभाव से अनेक प्रतीत होता है। ऐसा कैसे है ? यद्यपि परमात्मा स्वयंप्रकाशित, नित्य, हर वस्तु से पृथक्, प्रकृति के गुणों से रहित हैं, किन्तु जब वे अपने स्वरूपों में प्रकट होते हैं, तो वे सर्वथा विपरीत लगते हैं—गुणों से युक्त नाना प्रकार के नश्वर पदार्थ। जिस तरह आकाश इत्यादि तत्त्व घटों में तथा अन्य वस्तुओं में प्रकट होने पर प्रकट तथा अप्रकट होते प्रतीत होते हैं उसी तरह परमात्मा अपने विविध रूपों में प्रकट तथा अप्रकट होते हुये प्रतीत होते हैं।

श्रीशुक उवाच
एवं भगवता राजन्वसुदेव उदाहृतः ।
श्रुत्वा विनष्टनानाधीस्तूष्णीं प्रीतमना अभूत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; भगवता—भगवान् द्वारा; राजन्—हे राजा (परीक्षित); वसुदेवः—वसुदेव; उदाहृतः—कहे गये; श्रुत्वा—सुनकर; विनष्ट—विनष्ट; नाना—द्वैतयुक्त; धीः—बुद्धि; तूष्णीम्—मौन; प्रीत—तुष्ट; मनाः—अपने मन में; अभूत्—था।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, भगवान् द्वारा कहे गये इन उपदेशों को सुनकर वसुदेव समस्त द्वैत-भाव से मुक्त हो गये। हृदय में तुष्ट होकर वे मौन रहे।

अथ तत्र कुरुश्रेष्ठ देवकी सर्वदेवता ।
श्रुत्वानीतं गुरोः पुत्रमात्मजाभ्यां सुविस्मिता ॥ २७॥
कृष्णरामौ समाश्राव्य पुत्रान्कंसविहिंसितान् ।
स्मरन्ती कृपणं प्राह वैक्लव्यादश्रुलोचना ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; तत्र—उसी स्थान पर; कुरु-श्रेष्ठ—हे कुरुश्रेष्ठ; देवकी—माता देवकी ने; सर्व—सबों की; देवता—पूज्य देवी; श्रुत्वा—सुनकर; नीतम्—वापस लाये हुए; गुरोः—अपने गुरुओं के; पुत्रम्—पुत्र को; आत्मजाभ्याम्—अपने दोनों पुत्रों द्वारा; सु—अत्यधिक; विस्मिता—चकित; कृष्ण-रामौ—कृष्ण तथा बलराम; समाश्राव्य—स्पष्ट रूप से सम्बोधित करके; पुत्रान्—अपने पुत्रों को; कंस-विहिंसितान्—कंस द्वारा मारे गये; स्मरन्ती—स्मरण करती हुई; कृपणम्—दीनतापूर्वक; प्राह—कहा; वैक्लव्यात्—विकलता के कारण; अश्रु—आँसुओं (से पूरित); लोचना—आँखें।.

हे कुरुश्रेष्ठ, उसी समय सर्वत्र पूजनीय देवकी ने अपने दोनों पुत्रों, कृष्ण तथा बलराम को सम्बोधित करने का अवसर पाया। इसके पूर्व उन्होंने अत्यन्त विस्मय के साथ यह सुन रखा था कि उनके ये पुत्र अपने गुरु के पुत्र को मृत्यु से वापस ले आये थे। अब वे कंस द्वारा वध किये गये अपने पुत्रों का चिन्तन करते हुये अत्यन्त दुखी हुईं और अश्रुपूरित नेत्रों से कृष्ण तथा बलराम से दीनतापूर्वक बोलीं।

तात्पर्य : कृष्ण के प्रति वसुदेव का प्रेम विचलित हो गया था, क्योंकि उन्हें अपने पुत्र रूप में देखने और कृष्ण के ऐश्वर्य के प्रति उनकी भिज्ञता के बीच विरोध उत्पन्न हो रहा था। देवकी का प्रेम भी अपने मृत पुत्रों के लिए शोक करने के कारण अन्य रीति से कुछ कुछ विचलित हो रहा था। इसलिए कृष्ण उनके इस भ्रांत विचार को दूर करने की व्यवस्था की कि उनके सिवा कोई और ही उनका असली पुत्र है। चूँकि देवकी समस्त महापुरुषों द्वारा पूजित थीं, अतएव मातृ-स्नेह का प्रदर्शन भगवान् की योगमाया का ही प्रभाव रहा होगा, जो उनकी लीलाओं के आनंद में वृद्धि करती है। इसीलिए श्लोक ५ में देवकी को *मोहिता मायया विष्णोः*—भगवान् विष्णु की अन्तरंगा शक्ति द्वारा मोहग्रस्त—कहा गया है।

श्रीदेवक्युवाच

राम रामाप्रमेयात्मन्कृष्ण योगेश्वरेश्वर ।

वेदाहं वां विश्वसृजामीश्वरावादिपूरुषौ ॥ २९॥

शब्दार्थ

श्री-देवकी उवाच—श्री देवकी ने कहा; राम राम—अरे राम, अरे राम; अप्रमेय-आत्मन्—हे अमाप्य परमात्मा; कृष्ण—हे कृष्ण; योग-ईश्वर—योग के स्वामियों के; ईश्वर—हे स्वामी; वेद—जानती हूँ; अहम्—मैं; वाम्—तुम दोनों को; विश्व—ब्रह्माण्ड के; सृजाम्—स्रष्टाओं के; ईश्वरौ—स्वामी; आदि—मूल; पूरुषौ—दो पुरुष।

श्री देवकी ने कहा : हे राम, हे राम, हे अप्रमेय परमात्मा, हे कृष्ण, हे सभी योगेश्वरों के स्वामी, मैं जानती हूँ कि तुम दोनों समस्त ब्रह्माण्ड सृष्टिकार्ताओं के परम शासक आदि भगवान् हो।

कलविध्वस्तसत्त्वानां राज्ञामुच्छास्त्रवर्तिनाम् ।
भूमेर्भारायमाणानामवतीर्णौ किलाद्य मे ॥ ३०॥

शब्दार्थ

काल—समय द्वारा; विध्वस्त—विनष्ट; सत्त्वानाम्—अच्छे गुणों वाले; राज्ञाम्—राजाओं (के मारने) के लिए; उत्-शास्त्र—शास्त्रीय नियमों से बाहर; वर्तिनाम्—कार्य करने वाले; भूमेः—पृथ्वी के लिए; भारायमाणानाम्—भार बनते हुए; अवतीर्णौ—(तुम दोनों) अवतरित हुए हो; किल—निस्सन्देह; अद्य—आज; मे—मुझसे।

मुझसे जन्म लेकर तुम इस जगत में उन राजाओं का वध करने के लिए अवतरित हुए हो, जिनके उत्तम गुण वर्तमान युग के द्वारा विनष्ट हो चुके हैं और जो इस प्रकार से शास्त्रों की सत्ता का उल्लंघन करते हैं और पृथ्वी का भार बनते हैं।

यस्यांशांशांशभागेन विश्वोत्पत्तिलयोदयाः ।
भवन्ति किल विश्वात्मंस्तं त्वाद्याहं गतिं गता ॥ ३१॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; अंश—अंश के; अंश—अंश के; अंश—अंश के; भागेन—एक अंश द्वारा; विश्व—ब्रह्माण्ड की; उत्पत्ति—जन्म; लय—विलय; उदयाः—तथा सम्पन्नता; भवन्ति—उदय होते हैं; किल—निस्सन्देह; विश्व-आत्मन्—हे विश्व के आत्मा; तत्—उसके पास; त्वा—तुम; अद्य—आज; अहम्—मैं; गतिम्—शरण के लिए; गता—आई हुई।

हे विश्वात्मा, ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, पालन तथा संहार—ये सभी आपके अंश के अंश के अंश के भी एक अंश द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। हे भगवान्, मैं आज आपकी शरण में आई हूँ।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है : वैकुण्ठपति नारायण श्रीकृष्ण के केवल एक अंश हैं। महाविष्णु जो कि प्रथम स्रष्टा हैं, वे भगवान् नारायण के अंश हैं। सम्पूर्ण भौतिक शक्ति महाविष्णु की चितवन से निकलती है और तीनों गुण इसी सम्पूर्ण भौतिक शक्ति के विभिन्नांश हैं। इस तरह अपने अंशों के माध्यम से काम करने वाले श्रीकृष्ण ही ब्रह्माण्ड का सृजन,

पालन तथा संहार करते हैं।

चिरान्मृतसुतादाने गुरुणा किल चोदितौ ।
आनिन्यथुः पितृस्थानाद्गुरवे गुरुदक्षिणाम् ॥ ३२॥
तथा मे कुरुतं कामं युवां योगेश्वरेश्वरौ ।
भोजराजहतान्पुत्रान्कामये द्रष्टुमाहृतान् ॥ ३३॥

शब्दार्थ

चिरात्—बहुत समय से; मृत—मरे हुए; सुत—पुत्र; आदाने—वापस लाने के लिए; गुरुणा—अपने गुरु द्वारा; किल—ऐसा सुना गया है; चोदितौ—आज्ञा दिये जाकर; आनिन्यथुः—तुम उसे ले आये; पितृ—पूर्वजों के; स्थानात्—स्थान से; गुरवे—अपने गुरु को; गुरु-दक्षिणाम्—गुरु-दक्षिणा के रूप में; तथा—उसी तरह; मे—मेरी; कुरुतम्—पूरा करो; कामम्—इच्छा; युवाम्—तुम दोनों; योग-ईश्वर—योग के स्वामियों के; ईश्वरौ—हे प्रभुओ; भोज-राज—भोज के राजा (कंस) द्वारा; हतान्—मारे हुए; पुत्रान्—पुत्रों को; कामये—मैं चाहती हूँ; द्रष्टुम्—देखना; आहृतान्—वापस लाये हुए।

ऐसा कहा जाता है कि जब आपके गुरु ने अपने बहुत पहले मर चुके पुत्र को वापस लाने के लिए आपको आदेश दिया, तो आप गुरु-दक्षिणा के प्रतीकस्वरूप उसे पूर्वजों के धाम से वापस ले आये। हे योगेश्वरों के भी ईश्वर, मेरी इच्छा को भी उसी तरह पूरी कीजिये। कृपया भोजराज द्वारा मारे गये मेरे पुत्रों को वापस ला दीजिये, जिससे मैं उन्हें फिर से देख सकूँ।

ऋषिरुवाच
एवं सञ्चोदितौ मात्रा रामः कृष्णश्च भारत ।
सुतलं संविविशतुर्योगमायामुपाश्रितौ ॥ ३॥

शब्दार्थ

ऋषिः उवाच—ऋषि (श्रीशुकदेव) ने कहा; एवम्—इस तरह; सञ्चोदितौ—याचना किये जाने पर; मात्रा—माता द्वारा; रामः—बलराम; कृष्णः—कृष्ण; च—तथा; भारत—हे भरतवंशी (परीक्षित); सुतलम्—सुतल नामक अधोलोक, जिसमें बलि महाराज शासन करते हैं; संविविशतुः—प्रवेश किया; योग-मायायम्—अपनी योगमाया को; उपाश्रितौ—काम में लाते हुए।

शुकदेव मुनि ने कहा : हे भारत, अपनी माता द्वारा इस प्रकार याचना किये जाने पर कृष्ण तथा बलराम ने अपनी योगमाया शक्ति का प्रयोग करके सुतल लोक में प्रवेश किया।

तस्मिन्प्रविष्टावुपलभ्य दैत्यराड्
विश्वात्मदैवं सुतरां तथात्मनः ।
तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुताशयः
सद्यः समुत्थाय ननाम सान्वयः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—वहाँ; प्रविष्टौ—(दोनों ने) प्रवेश करके; उपलभ्य—देखकर; दैत्य-राट्—दैत्यों के राजा (बलि); विश्व—सारे विश्व के; आत्म—आत्मा; दैवम्—तथा पर-देव; सुतराम्—विशेष रूप से; तथा—भी; आत्मनः—अपना; तत्—उनका; दर्शन—

दर्शन करने के कारण; आह्लाद—प्रसन्नता से; परिप्लुत—विभोर; आशयः—हृदय वाले; सद्यः—तुरन्त; समुत्थाय—खड़े होकर; ननाम—उसने प्रणाम किया; स—सहित; अन्वयः—उनके संगियों (कुटुम्बियों)।

जब दैत्यराज बलि ने दोनों प्रभुओं को आते देखा, तो उसका हृदय प्रसन्नता के मारे फूल उठा, क्योंकि वह उन्हें परमात्मा तथा सम्पूर्ण विश्व के पूज्य देव के रूप में, विशेष रूप से अपने पूज्य देव के रूप में, जानता था। अत: वह तुरन्त उठ खड़ा हुआ और अपने सारे पार्षदों सहित उसने उन्हें झुक कर प्रणाम किया।

तयोः समानीय वरासनं मुदा
निविष्टयोस्तत्र महात्मनोस्तयोः ।
दधार पादाववनिज्य तज्जलं
सवृन्द आब्रह्म पुनद्यदम्बु ह ॥ ३६॥

शब्दार्थ

तयोः—उनके लिए; समानीय—लाकर; वर—उच्च; आसनम्—आसन; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक; निविष्टयोः—आसन ग्रहण किये हुए; तत्र—वहाँ; महा-आत्मनोः—महापुरुषों के; तयोः—उनके; दधार—पकड़ लिया; पादौ—पाँव; अवनिज्य—धोकर; तत्—उस; जलम्—जल को; स—सहित; वृन्दः—अपने अनुयायियों; आ-ब्रह्म—ब्रह्मा तक को; पुनत्—पवित्र बनाने वाला; यत्—जो; अम्बु—जल; ह—निस्सन्देह।

बलि ने प्रसन्नतापूर्वक उन्हें उच्च आसन प्रदान किया। जब वे बैठ गये, तो उसने दोनों प्रभुओं के पाँव पखारे। फिर उसने उस जल को, जो ब्रह्मापर्यन्त सारे जगत को पवित्र बनाने वाला है, लेकर अपने तथा अपने अनुयायियों के ऊपर छिड़का।

समर्हयामास स तौ विभूतिभि-
र्महार्हवस्त्राभरणानुलेपनैः ।
ताम्बूलदीपामृतभक्षणादिभिः
स्वगोत्रवित्तात्मसमर्पणेन च ॥ ३७॥

शब्दार्थ

समर्हयाम् आस—पूजा की; सः—उसने; तौ—उनको; विभूतिभिः—अपनी सम्पत्ति से; महा-अर्ह—अत्यन्त मूल्यवान; वस्त्र—वस्त्रों; आभरण—आभूषणों; अनुलेपनैः—तथा सुगन्धित लेप से; ताम्बूल—पान; दीप—दीपक; अमृत—अमृत तुल्य; भक्षण—भोजन; आदिभिः—इत्यादि से; स्व—अपने; गोत्र—परिवार; वित्त—सम्पत्ति का; आत्म—तथा स्व; समर्पणेन—समर्पण द्वारा; च—तथा।

उसने अपने पास उपलब्ध सारी सम्पदा—बहुमूल्य वस्त्र, गहने, सुगन्धित चन्दन-लेप, पान, दीपक, अमृत तुल्य भोजन इत्यादि—से उन दोनों की पूजा की। इस तरह उसने उन्हें अपने परिवार की सारी धन-सम्पदा तथा स्वयं अपने को भी अर्पित कर दिया।

तात्पर्य : बलि महाराज की भक्तिमयी प्रवृत्ति का यथेष्ठ उदाहरण पूर्ण समर्पण के रूप में विख्यात

है। जब विष्णु भगवान् ब्रह्मचारी वेश में दान लेने उनके पास गये तो बलि ने अपना सर्वस्व दे डाला और जब उनके पास देने को कुछ भी शेष न रहा तो उन्होंने स्वयं को भगवान् के नित्यदास के रूप में अर्पित कर दिया।

भक्ति की नौ मानक विधियाँ हैं जिनमें अन्तिम *आत्म-समर्पण* सारे प्रयत्नों की चरम परिणति है, जैसाकि बलि दैत्यराज ने शिक्षा दी है। यदि कोई व्यक्ति धन, बल, बुद्धि इत्यादि के द्वारा भगवान् पर अपना प्रभाव डालना चाहता है, किन्तु अपने को उनका दास नहीं समझता, तो उसकी तथाकथित भक्ति दिखावा मात्र है।

स इन्द्रसेनो भगवत्पदाम्बुजं
बिभ्रन्मुहुः प्रेमविभिन्नया धिया ।
उवाच हानन्दजलाकुलेक्षणः
प्रहृष्टरोमा नृप गद्गदाक्षरम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; इन्द्र-सेनः—इन्द्र की सेना को जीतने वाला, बलि; भगवत्—दोनों विभुओं के; पाद-अम्बुजम्—चरणकमलों को; बिभ्रत्—पकड़ते हुए; मुहुः—बारम्बार; प्रेम—प्रेमवश; विभिन्नया—द्रवित हो रहे; धिया—हृदयसे; उवाच ह—कहा; आनन्द—अपने आनन्द से उत्पन्न; जल—जल (अश्रु) से; आकुल—पूरित; ईक्षणः—नेत्रों वाला; प्रहृष्ट—सीधे खड़े होते हुए; रोमा—शरीर के रोएँ; नृप—हे राजा (परीक्षित); गद्गद—रुद्ध; अक्षरम्—जिनके शब्द।

दोनों विभुओं के चरणकमलों को बारम्बार पकड़ते हुए, इन्द्र की सेना के विजेता, गहन प्रेम से द्रवित हृदय वाले बलि ने कहा : हे राजन्, उनकी आँखों में प्रेमाश्रु भरे थे और उनके अंगों के रोएँ खड़े हुए थे। वह लड़खड़ाती वाणी से बोलने लगा।

तात्पर्य : *भगवान् श्रीकृष्ण* में लीला पुरुषोत्तम श्रील प्रभुपाद ने इस दृश्य का वर्णन इस प्रकार किया है : ''राजा बलि को ऐसे दिव्य सुख का अनुभव हो रहा था कि वे बारम्बार भगवान् के चरणकमलों को पकड़ कर अपने वक्षस्थल पर रख लेते थे, तो कभी उन श्रीचरणों को अपने मस्तक पर रख लेते थे। इस प्रकार वे दिव्य आनन्द का अनुभव कर रहे थे। उनके नेत्रों से प्रेमवश अश्रु प्रवाहित होने लगे तथा उन्हें रोमांच हो आया।''

बलिरुवाच
नमोऽनन्ताय बृहते नमः कृष्णाय वेधसे ।
साङ्ख्ययोगवितानाय ब्रह्मणे परमात्मने ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

बलिः उवाच—बलि ने कहा; नमः—नमस्ते; अनन्ताय—अनन्त को; बृहते—महानतम जीव; नमः—नमस्कार; कृष्णाय—कृष्ण को; वेधसे—स्रष्टा; साङ्ख्य—सांख्य विश्लेषण के; योग—तथा योग के; वितानाय—प्रसार करने वाले को; ब्रह्मणे—ब्रह्म को; परम-आत्मने—परमात्मा।

राजा बलि ने कहा : समस्त जीवों में महानतम अनन्त देव को नमस्कार है। ब्रह्माण्ड के स्रष्टा भगवान् कृष्ण को नमस्कार है, जो सांख्य तथा योग के सिद्धान्तों का प्रसार करने के लिए निर्विशेष ब्रह्म तथा परमात्मा के रूप में प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती यहाँ पर कथित अनन्त की पहचान बलरामजी के रूप में करते हैं, जिनसे दिव्य सर्प अनन्त शेष का विस्तार होता है। निर्विशेष ब्रह्म सांख्य दार्शनिकों के ग्रंथों के उद्गम हैं, जबकि योग के ग्रंथ भगवान् के साकार रूप परमात्मा से प्रसारित होते हैं।

दर्शनं वां हि भूतानां दुष्प्रापं चाप्यदुर्लभम् ।
रजस्तमःस्वभावानां यन्नः प्राप्तौ यदृच्छया ॥ ०॥

शब्दार्थ

दर्शनम्—दर्शन; वाम्—तुम दोनों का; हि—निस्सन्देह; भूतानाम्—सारे जीवों के लिए; दुष्प्रापम्—विरले ही प्राप्त होने वाला; च अपि—फिर भी; अदुर्लभम्—प्राप्त करना कठिन नहीं; रजः—रजो; तमः—तथा तमो गुण; स्वभावानाम्—स्वभाव वालों के लिए; यत्—जिसमें; नः—हमारे द्वारा; प्राप्तौ—प्राप्त; यदृच्छया—अहैतुक रूप में।

अनेक जीवों के लिए आप दोनों विभुओं के दर्शन दुर्लभ हैं, किन्तु तमोगुण तथा रजोगुण में स्थित हमारे जैसे व्यक्ति भी सुगमता से आपके दर्शन पा सकते हैं, जब आप स्वेच्छा से प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : दैत्यों के कुल में जन्म लेने के कारण निम्न पद पर स्थित बतलाते हुए बलि महाराज ने अपने को सारे गुणों से रहित बताया, अतः कृष्ण तथा बलराम उन्हें क्योंकर दर्शन देते? बलि ने सोचा कि मुझ जैसे दैत्य तो क्या बड़े बड़े ज्ञानी तथा योगी भी भगवान् को प्रसन्न नहीं कर पाते, जब तक वे अपना गर्व तथा ईर्ष्या त्याग नहीं देते।

दैत्यदानवगन्धर्वाः सिद्धविद्याध्रचारणाः ।
यक्षरक्षःपिशाचाश्च भूतप्रमथनायकाः ॥ १॥
विशुद्धसत्त्वधाम्न्यद्धा त्वयि शास्त्रशरीरिणि ।
नित्यं निबद्धवैरास्ते वयं चान्ये च तादृशाः ॥ २॥
केचनोद्बद्धवैरेण भक्त्या केचन कामतः ।

न तथा सत्त्वसंरब्धाः सन्निकृष्टाः सुरादयः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

दैत्य-दानव—दैत्य तथा दानव; गन्धर्वाः—गन्धर्वगण; सिद्ध-विद्याधर-चारणाः—सिद्ध, विद्याधर तथा चारण देवतागण; यक्ष—यक्षगण; रक्षः—राक्षसगण (मनुष्यों को खा जाने वाले भूत-प्रेत); पिशाचाः—मांसाहारी पिशाचगण; च—तथा; भूत—भूत-प्रेत; प्रमथ-नायकाः—प्रमथ तथा नायक नामक भूत-प्रेत; विशुद्ध—नितान्त शुद्ध; सत्त्व—सतोगुण के; धाम्नि—धाम; अद्धा—प्रत्यक्ष; त्वयि—तुम में; शास्त्र—शास्त्रों से युक्त; शरीरिणि—ऐसे शरीर के स्वामी; नित्यम्—सदैव; निबद्ध—स्थिर; वैराः—शत्रुता में; ते—वे; वयम्—हम; च—भी; अन्ये—अन्य; च—तथा; तादृशाः—उन्हीं की तरह; केचन—कुछ; उद्बद्ध—विशेष दुराग्रही, जिद्दी; वैरेण—तिरस्कार से; भक्त्या—भक्ति से; केचन—कोई; कामतः—काम से उत्पन्न; न—नहीं; तथा—उसी तरह; सत्त्व—सतोगुण द्वारा; संरब्धाः—अधीन; सन्निकृष्टाः—आकृष्ट; सुर—देवतागण; आदयः—इत्यादि।

ऐसे अनेक लोग जो आपके प्रति शत्रुता में निरन्तर लीन रहते थे, अंत में आपके प्रति आकृष्ट हो गये, क्योंकि आप शुद्ध सत्त्वगुण के साकार रूप हैं और आपका दिव्य स्वरूप शास्त्रों से युक्त है। इन सुधरे हुए शत्रुओं में दैत्य, दानव, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर, चारण, यक्ष, राक्षस, पिशाच, भूत, प्रमथ तथा नायक एवं हम तथा हमारे जैसे अनेक लोग सम्मिलित हैं। हममें से कुछ तो विशेष घृणा के कारण और कुछ काम-वासना पर आधारित भक्तिभाव से आपके प्रति आकृष्ट हुए हैं। किन्तु देवता तथा भौतिक सतोगुण से मुग्ध अन्य लोग आपके प्रति वैसे आकर्षण का अनुभव नहीं कर पाते।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने इन श्लोकों की व्याख्या इस प्रकार की है : जब गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर तथा चारण दैत्यों तथा दानवों का नायकत्व स्वीकार करते हैं, तो वे भगवान् के प्रतिद्वन्द्वी होते हैं। यक्ष, राक्षस, पिशाच इत्यादि इसलिए शत्रुता रखते हैं क्योंकि वे सामान्यतया अज्ञान (तमोगुण) से आच्छादित रहते हैं। कुछ धूर्त शुद्ध तमोगुणी हैं यथा शिशुपाल तथा पौण्ड्रक जो भगवान् को शत्रु के रूप में ध्यान करने में निमग्न रहते हैं और इसी स्थिर चेतना से उन्हें मोक्ष प्राप्त हो सका। अन्य लोग जो रजो तथा तमो गुणों की मिश्रित स्थिति में रहते हैं पद तथा प्रतिष्ठा की इच्छा से भगवान् की संगति करते हैं। महाराज बलि अपने को इसी कोटि का मानते हैं। फिर भी भगवान् विष्णु ने सुतल लोक के भूमिगत क्षेत्र में बलि का द्वारपाल बन कर उन पर कृपा की जिस तरह असुरों को मार कर और गन्धर्वों को अपने यश का गुणगान करने में लगाकर उन्हें मोक्ष प्रदान किया। दूसरी ओर, भगवान् उन देवताओं की इन्द्रिय-तृप्ति कराते हैं, जो सतोगुणी होने पर गर्वित हैं और इस तरह वे मोहग्रस्त होकर भगवान् को भूल जाते हैं।

इदमित्थमिति प्रायस्तव योगेश्वरेश्वर ।
न विदन्त्यपि योगेशा योगमायां कुतो वयम् ॥ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; इत्थम्—इस तरह के लक्षणों से युक्त; इति—ऐसी बातों से; प्रायः—अधिकांशतः; तव—तुम्हारा; योग-ईश्वर—योग के स्वामियों के; ईश्वर—हे परम स्वामी; न विदन्ति—नहीं जानते; अपि—भी; योग-ईशाः—योग के स्वामी; योग-मायाम्—मोहने की अपनी आध्यात्मिक शक्ति को; कुतः—तो क्या; वयम्—हम।

हे पूर्णयोगियों के स्वामी, हम अपने बारे में क्या कहें, बड़े से बड़े योगी भी यह नहीं जानते कि आपकी योगमाया क्या है, अथवा वह कैसे कार्य करती है?

तात्पर्य : किसी भी वस्तु की क्रमबद्ध जानकारी में उसके *स्वरूप* तथा उसके *विशेष* (लक्षण) निहित होते हैं, जिससे अन्य वस्तुओं से उसे पृथक् किया जा सके। माया जो सभी भौतिक सृष्टि की मूल शक्ति है, सामान्य घटनाओं से अधिक सूक्ष्म है, अतएव केवल ईश्वर तथा उनके मुक्त भक्त ही उसके स्वरूप तथा लक्षण को जान सकते हैं।

तन्नः प्रसीद निरपेक्षविमृग्ययुष्मत्-
पादारविन्दधिषणान्यगृहान्धकूपात् ।
निष्क्रम्य विश्वशरणाङ्घ्र्युपलब्धवृत्तिः
शान्तो यथैक उत सर्वसखैश्चरामि ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तत्—इस तरह से; नः—हम पर; प्रसीद—कृपालु होयें; निरपेक्ष—किसी भौतिक इच्छा से रहित हैं, जो; विमृग्य—खोजे जाकर; युष्मत्—तुम्हारे; पाद—चरण; अरविन्द—कमल; धिषण—आश्रय; अन्य—अन्य; गृह—घर से; अन्ध—अन्धे; कूपात्—कुएँ से; निष्क्रम्य—निकल कर; विश्व—सारे जगत के; शरण—उनके, जो कि सहायक हैं (वृक्ष); अङ्घ्रि—पाँवों पर; उपलब्ध—प्राप्त; वृत्तिः—जिसकी जीविका; शान्तः—शान्त; यथा—जिस तरह; एकः—अकेला; उत—अथवा अन्य कुछ; सर्व—सभी का; सखैः—मित्रों के साथ; चरामि—विचरण कर सकता हूँ।

कृपया मुझ पर दया करें, जिससे मैं गृहस्थ जीवन के अंध कूप से—अपने मिथ्या घर से—बाहर निकल सकूँ और आपके चरणकमलों की सच्ची शरण ग्रहण कर सकूँ, जिसकी खोज निष्काम सदैव साधु करते रहते हैं। तब मैं या तो अकेले या सबों के मित्र स्वरूप महान् सन्तों के साथ मुक्तरूप से विचरण कर सकूँ और विश्व-भर को दान देने वाले वृक्षों के नीचे जीवन की आवश्यकताएँ पूरी कर सकूँ।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि बलि की स्तुति के बदले श्रीकृष्ण ने उनसे वर माँगने को कहा और इस श्लोक में बलि अपना अनुरोध प्रकट कर रहे हैं। बलि भौतिक जीवन के पाश से मुक्त किये जाने के लिए याचना करते हैं, जिससे वे घर छोड़ कर एकान्त में विचरण कर सकें और

भगवान् के चरणकमल ही उनके एकमात्र आश्रय हों। बलि प्रस्ताव करते हैं कि अपने जीवनयापन के लिए वे जंगल के वृक्षों की सहायता लेंगे, जिनके नीचे पत्तों पर आवश्यकता पड़ने पर सोया जा सकता और जिनके फलों को खाया जा सकता है। और यदि भगवान् उन पर विशेष कृपालु हों तो बलि यह आशा करते हैं कि उन्हें अकेले न घूमना पड़े, अपितु भगवान् कृष्ण के भक्तों के साथ विचरण करने दिया जाय।

शाध्यस्मानीशितव्येश निष्पापान्कुरु नः प्रभो ।
पुमान्यच्छ्रद्धयातिष्ठंश्चोदनाया विमुच्यते ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

शाधि—कृपया आदेश दें; अस्मान्—हमको; ईशितव्य—हम अधीनों के; ईश—हे नियन्ता; निष्पापान्—पापरहित; कुरु—करें; नः—हमको; प्रभो—हे प्रभु; पुमान्—व्यक्ति; यत्—जो; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; आतिष्ठन्—सम्पन्न करते हुए; चोदनायाः—शास्त्रीय विधियों के; विमुच्यते—मुक्त हो जाता है।

हे समस्त अधीन प्राणियों के स्वामी, कृपा करके हमें बतायें कि हम क्या करें और इस तरह हमें सारे पापों से मुक्त कर दें। हे प्रभु, जो व्यक्ति आपके आदेश का श्रद्धापूर्वक पालन करता है, उसे सामान्य वैदिक अनुष्ठानों का पालन करना अनिवार्य नहीं है।

तात्पर्य : आचार्यों ने बलि के विचारों को इस प्रकार व्यक्त किया है : यह सोच कर कि उसकी तुरन्त उद्धार की प्रार्थना संभवतः अत्यधिक वाचाल मानी जाय, बलि महाराज विचार करते हैं कि सर्वप्रथम उन्हें पर्याप्त शुद्ध होना पड़ेगा। जो भी हो, भगवान् कृष्ण तथा बलराम अवश्य ही किसी विशेष उद्देश्य से उनके पास आये होंगे, अतः यदि वे उनका आदेश पाकर उसका पालन करें, तो शुद्धि के लिए यह अनुपम अवसर होगा। निस्सन्देह जैसाकि बलि कहते हैं, भगवान् के आदेश के अनुसार कार्य करने वाले भक्त को शास्त्रों के आदेशों तथा वेदों के निषेधों को पालन करने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

श्रीभगवानुवाच
आसन्मरीचेः षट्पुत्रा ऊर्णायां प्रथमेऽन्तरे ।
देवाः कं जहसुर्वीक्ष्य सुतं यभितुमुद्यतम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; आसन्—थे; मरीचेः—मरीचि के; षट्—छः; पुत्राः—पुत्र; ऊर्णायाम्—ऊर्णा (मरीचि की पत्नी) से; प्रथमे—प्रथम; अन्तरे—मनु के राज्य में; देवाः—देवतागण; कम्—ब्रह्मा पर; जहसुः—हँस दिया; वीक्ष्य—देखकर; सुताम्—अपनी पुत्री (सरस्वती) के साथ; यभितुम्—संभोग करने के लिए; उद्यतम्—उद्यत।

भगवान् ने कहा : प्रथम मनु के युग में मरीचि ऋषि की पत्नी ऊर्णा से छः पुत्र उत्पन्न हुए। वे सभी उच्च देवता थे, किन्तु एक बार, जब उन्होंने ब्रह्मा को अपनी ही पुत्री के साथ संभोग करने के लिए उद्यत देखा, तो उन्हें हँसी आ गई।

तेनासुरीमगन्योनिमधुनावद्यकर्मणा ।
हिरण्यकशिपोर्जाता नीतास्ते योगमायया ॥ ८ ॥
देवक्या उदरे जाता राजन्कंसविहिंसिताः ।
सा तान्शोचत्यात्मजान्स्वांस्त इमेऽध्यासतेऽन्तिके ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तेन—उससे; आसुरीम्—असुरों की; अगन्—प्रविष्ट हुए; योनिम्—गर्भ में; अधुना—तुरन्त; अवद्य—अनुचित; कर्मणा—कर्म द्वारा; हिरण्यकशिपोः—हिरण्यकशिपु के यहाँ; जाताः—उत्पन्न; नीताः—लाया गया; ते—वे; योग-मायया—भगवान् की दैवी मोहिनी शक्ति द्वारा; देवक्याः—देवकी के; उदरे—गर्भ से; जाताः—उत्पन्न; राजन्—हे राजा (बलि); कंस—कंस द्वारा; विहिंसिताः—हत्या की गई; सा—वह; तान्—उन; शोचति—शोक करती है; आत्म-जान्—पुत्रों के लिए; स्वान्—अपने; ते—वे; इमे—वे ही; अध्यासते—जीवित हैं; अन्तिके—पास ही।

उस अनुचित कार्य के लिए, वे तुरन्त आसुरी योनि में प्रविष्ट हुए और इस तरह उन्होंने हिरण्यकशिपु के पुत्रों के रूप में जन्म लिया। देवी योगमाया ने इन सबों को हिरण्यकशिपु से छीन लिया और वे पुनः देवकी के गर्भ से उत्पन्न हुए। इसके बाद हे राजा, कंस ने उन सबका वध कर दिया। देवकी आज भी उन अपने पुत्रों का स्मरण कर-करके शोक करती हैं। मरीचि के वे ही पुत्र अब आपके साथ यहाँ रह रहे हैं।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती दोनों ही आचार्य बतलाते हैं कि भगवान् कृष्ण की योगमाया ने हिरण्यकशिपु से मरीचि के छहों पुत्रों को लेकर एक बार उन्हें फिर से महान् दैत्य कालनेमि के पुत्रों के रूप में जन्म दिलाया और अन्त में उन्हें देवकी के गर्भ में स्थानान्तरित किया।

इत एतान्प्रणेष्यामो मातृशोकापनुत्तये ।
ततः शापाद्विनिर्मुक्ता लोकं यास्यन्ति विज्वराः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

इतः—यहाँ से; एतान्—उन्हें; प्रणेष्यामः—हम ले जाना चाहते हैं; मातृ—उनकी माता का; शोक—शोक; अपनुत्तये—दूर करने के लिए; ततः—तब; शापात्—अपने शाप से; विनिर्मुक्ताः—मुक्त; लोकम्—अपने (देवताओं के) लोक; यास्यन्ति—जायेंगे; विज्वराः—ज्वर से मुक्त।

हम उन्हें इनकी माता का शोक दूर करने के लिए इस स्थान से ले जाना चाहते हैं। तब अपने शाप से विमुक्त होकर तथा समस्त कष्टों से छूट कर, वे स्वर्ग में अपने घर लौट जायेंगे।

तात्पर्य : इस स्कंध के अध्याय दो के श्लोक ५ तथा ८ के तात्पर्यों में श्रील प्रभुपाद ने इंगित किया है कि मरीचि के पुत्रों को ब्रह्मा के प्रति किये गये अपराध के कारण अपमानित किया गया। यही नहीं, हिरण्यकशिपु ने एक बार श्राप दिया था कि भावी जीवन में उन्हें अपने पिता के द्वारा मारा जायेगा। इस शाप की पूर्ति तब हुई जब वसुदेव ने एक-एक करके अपने पुत्रों का वध कंस द्वारा होने दिया।

स्मरोद्गीथः परिष्वङ्गः पतङ्गः क्षुद्रभृद्धृणी ।
षडिमे मत्प्रसादेन पुनर्यास्यन्ति सद्गतिम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

स्मर-उद्गीथः परिष्वङ्गः—स्मर, उद्गीथ तथा परिष्वंग; पतङ्गः क्षुद्रभृत् घृणी—पतंग, क्षुद्रभृत तथा घृणी; षट्—छः; इमे—ये; मत्—मेरी; प्रसादेन—कृपा से; पुनः—फिर से; यास्यन्ति—जायेंगे; सत्—अच्छे पुरुषों के; गतिम्—गन्तव्य को।

मेरी कृपा से स्मर, उद्गीथ, परिष्वंग, पतंग, क्षुद्रभृत तथा घृणी—ये छहों शुद्ध सन्तों के धाम वापस जायेंगे।

तात्पर्य : ये उन छह बालकों के नाम है जब वे मरीचि के पुत्र रूप में थे। इनमें सबसे बड़ा स्मर जब पुनः वसुदेव के यहाँ उत्पन्न हुआ तो कीर्तिमान कहलाया जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (.१.५७) में अंकित है—

कीर्तिमन्तं प्रथमजं कंसायानकदुन्दुभिः ।

अर्पयामास कृच्छ्रेण सोऽनृतादतिविह्वलः ॥

''वसुदेव भयभीत थे कि वचन-भंग होने से वे झूठे बन जायेंगे। इसलिए बहुत ही पीड़ा के साथ उन्होंने अपने प्रथमजात पुत्र कीर्तिमान को कंस के हाथों में सौंप दिया।''

इत्युक्त्वा तान्समादाय इन्द्रसेनेन पूजितौ ।
पुनर्द्वारवतीमेत्य मातुः पुत्रानयच्छताम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; तान्—उनको; समादाय—लेकर; इन्द्रसेनेन—बलि महाराज द्वारा; पूजितौ—दोनों सम्मानित हुए; पुनः—फिर से; द्वारवतीम्—द्वारका तक; एत्य—जाकर; मातुः—अपनी माता के; पुत्रान्—पुत्रों को; अयच्छताम्—सौंप दिया।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : यह कहकर भगवान् कृष्ण तथा बलराम बलि महाराज द्वारा भलीभाँति पूजित होकर छहों पुत्रों को लेकर द्वारका लौट आये, जहाँ पर उन्हें उनकी माता को सौंप दिया।

तान्दृष्ट्वा बालकान्देवी पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी ।
परिष्वज्याङ्कमारोप्य मूर्ध्न्यजिघ्रदभीक्ष्णशः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

तान्—उन; दृष्ट्वा—देखकर; बालकान्—बालकों को; देवी—देवी (देवकी); पुत्र—अपने पुत्रों के लिए; स्नेह—स्नेह के कारण; स्नुत—बहते हुए; स्तनी—स्तनों वाली; परिष्वज्य—आलिंगन करके; अङ्कम्—अपनी गोद में; आरोप्य—रख कर; मूर्ध्नि—उनके सिरों को; अजिघ्रत्—सूँघा; अभीक्ष्णशः—बारम्बार।

जब देवी देवकी ने अपने खोये हुए बालकों को देखा, तो उनके प्रति उन्हें इतना स्नेह उमड़ा कि उनके स्तनों से दूध बह चला। उन्होंने उनका आलिंगन किया और अपनी गोद में बैठाकर बारम्बार उनका सिर सूँघा।

अपाययत्स्तनं प्रीता सुतस्पर्शपरिस्नुतम् ।
मोहिता मायया विष्णोर्यया सृष्टिः प्रवर्तते ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अपाययत्—पीने दिया; स्तनम्—स्तनों को; प्रीता—प्रेमपूर्वक; सुत—अपने पुत्रों का; स्पर्श—स्पर्श करने से; परिस्नुतम्—सराबोर (भीगी हुई); मोहिता—मोहग्रस्त; मायया—माया द्वारा; विष्णोः—भगवान् विष्णु की; यया—जिसके द्वारा; सृष्टिः—सृष्टि; प्रवर्तते—उत्पन्न हुई।

उन्होंने अपने पुत्रों को बड़े ही प्रेम से स्तन-पान करने दिया और उनके स्पर्श से उनके स्तन दूध से भीग गये। वे उसी विष्णु-माया से मोहित हो गईं, जो इस ब्रह्माण्ड का सृजन करती है।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के मतानुसार यहाँ पर आये *सृष्टि* शब्द से वह सृजन विधि भी सूचित होती है, जिससे विष्णु की योगमाया उनकी लीलाओं की पृष्ठभूमि तैयार करती है। माया के भौतिक पक्ष द्वारा माता देवकी के प्रभावित होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

पीत्वामृतं पयस्तस्याः पीतशेषं गदाभृतः ।
नारायणाङ्गसंस्पर्शप्रतिलब्धात्मदर्शनाः ॥ ५५ ॥

**ते नमस्कृत्य गोविन्दं देवकीं पितरं बलम् ।
मिषतां सर्वभूतानां ययुर्धाम दिवौकसाम् ॥ ५६ ॥**

शब्दार्थ

पीत्वा—पीकर; अमृतम्—अमृत तुल्य; पयः—दूध; तस्याः—उनका; पीत—पिया हुआ; शेषम्—बचा हुआ; गदा-भृतः—गदा चलाने वाले कृष्ण का; नारायण—नारायण (कृष्ण) के; अङ्ग—शरीर के; संस्पर्श—स्पर्श से; प्रतिलब्ध—फिर से पा लिया; आत्म—(देवताओं के रूप में) अपने मूल स्वरूपों के; दर्शनाः—अनुभूति; ते—वे; नमस्कृत्य—नमस्कार करके; गोविन्दम्—भगवान् कृष्ण को; देवकीम्—देवकी को; पितरम्—अपने पिता को; बलम्—तथा बलराम को; मिषताम्—देखते-देखते; सर्व—समस्त; भूतानाम्—लोगों के; ययुः—चले गये; धाम—स्थान; दिव-ओकसाम्—देवताओं के ।

कृष्ण ने इससे पूर्व पीकर जो कुछ बाकी छोड़ा था, उस अमृत तुल्य दूध को पीकर छहों पुत्रों ने नारायण के दिव्य शरीर का स्पर्श किया और इस स्पर्श से उनकी मूल पहचान उनमें जाग गईं। उन्होंने गोविन्द, देवकी, अपने पिता तथा बलराम को नमस्कार किया और फिर हर एक के देखते-देखते, वे देवताओं के धाम के लिए रवाना हो गये।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण देवकी तथा वसुदेव के पास शिशु के रूप में अत्यल्प समय तक ही रहे। पहले तो भगवान् उनके समक्ष चतुर्भुजी रूप में प्रकट हुए और उनकी स्तुतियाँ सुनने के बाद उनको आनन्दित करने के लिए सामान्य शिशु में परिणत हो गये। किन्तु कृष्ण को अपने भाइयों की तरह दुर्भाग्य-पूर्ण दुख उठाने से बचाने के लिए वसुदेव तुरन्त ही उन्हें कंस के कारागार से बाहर ले गये। वसुदेव द्वारा ले जाने के तुरन्त पूर्व माता देवकी ने कृष्ण को एक बार स्तन-पान कराया जिससे वे नन्द-व्रज की लम्बी यात्रा के दौरान प्यासे न हों। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका में यह लिखा हुआ है।

**तं दृष्ट्वा देवकी देवी मृतागमननिर्गमम् ।
मेने सुविस्मिता मायां कृष्णस्य रचितां नृप ॥ ५७ ॥**

शब्दार्थ

तम्—यह; दृष्ट्वा—देखकर; देवकी—देवकी; देवी—देवी; मृत—मरे हुए (पुत्रों) के; आगमन—वापस आना; निर्गमम्—तथा विदाई; मेने—उसने सोचा; सु—अत्यधिक; विस्मिता—चकित; मायाम्—जादू को; कृष्णस्य—कृष्ण के; रचिताम्—उत्पन्न; नृप—हे राजा परीक्षित ।

हे राजन्, अपने पुत्रों को मृत्यु से वापस आते और फिर विदा होते देखकर सन्त स्वभाव वाली देवकी को आश्चर्य हुआ। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि यह कृष्ण द्वारा उत्पन्न माया मात्र थी।

एवंविधान्यद्भुतानि कृष्णस्य परमात्मनः ।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य सन्त्यनन्तानि भारत ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

एवम्-विधानि—इस तरह; अद्भुतानि—अद्भुत; कृष्णस्य—कृष्ण की; परम-आत्मनः—परमात्मा; वीर्याणि—लीलाएँ; अनन्त—असीम; वीर्यस्य—जिसका पराक्रम; सन्ति—हैं; अनन्तानि—अपार; भारत—हे भरतवंशी।

हे भारत, असीम पराक्रम वाले प्रभु, परमात्मा श्रीकृष्ण ने इस तरह की आश्चर्यजनक असंख्य लीलाएँ सम्पन्न कीं।

श्रीसूत उवाच
य इदमनुशृणोति श्रावयेद्वा मुरारे-
श्चरितममृतकीर्तेर्वर्णितं व्यासपुत्रैः ।
जगदघभिदलं तद्भक्तसत्कर्णपूरं
भगवति कृतचित्तो याति तत्क्षेमधाम ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

श्री-सूतः उवाच—श्री सूत ने (उन मुनियों से, जो नैमिषारण्य में एकत्र हुए, उनसे) कहा; यः—जो भी; इदम्—इसे; अनुशृणोति—ठीक से सुनता है; श्रावयेत्—अन्यों को सुनाता है; वा—अथवा; मुरारेः—मुर नामक असुर को मारने वाले, कृष्ण की; चरितम्—लीला को; अमृत—अमर; कीर्तेः—जिसकी कीर्ति; वर्णितम्—वर्णित; व्यास-पुत्रैः—व्यासदेव के पुत्र द्वारा; जगत्—ब्रह्माण्ड के; अघ—पापों को; भित्—जो (लीला) विनष्ट करती है; अलम्—पूरी तरह; तत्—उसके; भक्त—भक्तों के लिए; सत्—दिव्य; कर्ण-पूरम्—कान का आभूषण; भगवति—भगवान् में; कृत—स्थित करते हुए; चित्तः—अपना मन; याति—वह जाता है; तत्—उसके; क्षेम—शुभ; धाम—निजी आवास।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : नित्य कीर्ति वाले भगवान् मुरारी द्वारा की गई यह लीला ब्रह्माण्ड के सारे पापों को पूरी तरह नष्ट करती है और भक्तों के कानों के लिए दिव्य आभूषण जैसा काम करती है। जो भी व्यासदेव के पूज्य पुत्र द्वारा सुनाई गई इस कथा को ध्यानपूर्वक सुनता या सुनाता है, वह भगवान् के ध्यान में अपने मन को स्थिर कर सकेगा और ईश्वर के सर्वमंगलमय धाम को प्राप्त करेगा।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार भगवान् कृष्ण के जीवन की अद्भुत घटनाओं का श्रवण करना पापों का नाश इस विधि से करता है, जो पूर्ण (*अलम्*) है, क्योंकि यह आसान है। कोई भी इस श्रवण में भाग ले सकता है और जो लोग कृष्ण के भक्त बन जाते हैं, वे उनसे सम्बद्ध कथाओं रूपी आभूषणों को अपने कानों में धारण करने का आनंद लेते हैं। इन घटनाओं के अवसर पर जो लोग उपस्थित थे, न केवल वे ही अपितु शुकदेव गोस्वामी, सूत गोस्वामी समेत सभी लोग, जिन्होंने सुना है या आगे जो भी सुनेंगे, वे कृष्ण की दिव्य कीर्ति के सतत वाचन द्वारा आशीष के भागी होंगे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''कृष्ण द्वारा वसुदेव को उपदेश दिया जाना तथा देवकी-पुत्रों की वापसी'' नामक पिचासिवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छियासी

अर्जुन द्वारा सुभद्रा-हरण तथा कृष्ण द्वारा अपने भक्तों को आशीर्वाद दिया जाना

इस अध्याय में यह वर्णन हुआ है कि अर्जुन ने किस तरह सुभद्रा का हरण किया और किस तरह भगवान् कृष्ण बहुलाश्व तथा श्रुतदेव नामक भक्तों को आशीर्वाद देने मिथिला गये।

जब राजा परीक्षित ने अपनी दादी सुभद्रादेवी के विवाह के विषय में जानने की इच्छा व्यक्त की, तो शुकदेव गोस्वामी ने बतलाया, ''अर्जुन ने अपनी तीर्थयात्रा के दौरान यह सुना कि बलदेव अपनी बहन सुभद्रा का पाणिग्रहण दुर्योधन से करना चाहते हैं। सुभद्रा को हरण करके उसके साथ स्वयं विवाह करने की इच्छा से अर्जुन ने एक संन्यासी का वेश बनाया और द्वारका गये। उनका वेश ऐसा प्रभावशाली था कि न तो बलराम, न ही द्वारका का कोई अन्य वासी उन्हें पहचान पाया, प्रत्युत उन सबों ने एक वैष्णव संन्यासी के योग्य उन्हें आदर दिया। इस तरह वर्षा ऋतु के चार मास बीत गये। एक दिन अर्जुन को बलराम के घर पर भोजन करने का निमंत्रण मिला। वहाँ उन्होंने सुभद्रा को देखा और वे तुरन्त ही उसे प्राप्त करने की इच्छा से अभिभूत हो गये। सुभद्रा भी अर्जुन को पति रूप में पाने के लिये इच्छा करने लगी, अतएव उसने लजाई हुई दृष्टि से उन्हें देखा। कुछ दिन बाद सुभद्रा रथ-उत्सव में भाग लेने महल से बाहर आई। इस अवसर का लाभ उठाकर, अर्जुन सुभद्रा को हर ले गये और जिन यादवों ने उन्हें रोकना चाहा, उन्हें परास्त कर दिया। यह सुन कर पहले तो बलराम अत्यधिक क्रुद्ध हुए, किन्तु जब कृष्ण तथा अन्य परिवार वालों ने उन्हें शान्त कराया, तो वे प्रसन्न हो उठे और वर तथा वधू को पर्याप्त दहेज के साथ विदा किया।''

श्रुतदेव नामक एक ब्राह्मण श्रीकृष्ण का भक्त था, जो मिथिला नगरी में रहता था। दैववश वह अपने तथा अपने परिवार के पेट-पालन भर के लिए ही कमा पाता था। फिर भी वह सदैव तुष्ट रहता

था और अपना सारा समय धार्मिक कार्यों में बिताता था। राजा बहुलाश्व एक दूसरा भागवत था, जो मिथिला में ही रहता था। वह राजा जनक का वंशज था और पूरे विदेह पर शासन करता था, फिर भी वह श्रुतदेव की ही तरह भौतिक सम्पत्ति से विरक्त रहता था। इन दोनों महात्माओं की भक्ति-प्रवृत्ति से प्रसन्न होकर, भगवान् कृष्ण इन्हें मिलने के लिए रथ पर चढ़ कर मिथिला गये। अपने साथ वे नारद तथा अन्य कई विद्वान ऋषियों को भी लेते गये। मिथिलावासियों ने भगवान् तथा उनकी सन्त टोली का बड़े हर्ष से स्वागत किया। वे कृष्ण के लिए विविध भेंटें लेकर आये और उन्होंने उन्हें तथा सन्तों को नमस्कार किया।

बहुलाश्व तथा श्रुतदेव दोनों ने आगे बढ़कर श्रीकृष्ण से आदरपूर्वक अनुरोध किया कि वे उनके घरों में पधारें। उन दोनों को तुष्ट करने के लिए भगवान् ने अपना विस्तार किया और एक ही समय उन दोनों के घरों में पहुँचे। उनमें से हर एक ने उनकी समुचित पूजा की, उनकी स्तुति की, उनके पाँव पखारे और इस पाद-प्रक्षालित जल को अपने तथा अपने परिवार वालों के ऊपर छिड़का। तब भगवान् कृष्ण ने अपने साथ आये ऋषियों की प्रशंसा की और सामान्य रूप से सभी ब्राह्मणों की महिमा कह सुनाई। उन्होंने अपने आतिथेयों को भी भक्ति-विषयक उपदेश दिया। इन उपदेशों को समझते हुए श्रुतदेव तथा बहुलाश्व दोनों ने ही ऋषियों तथा भगवान् श्रीकृष्ण को एकचित्त-भक्ति से आदर दिया। इसके बाद कृष्ण द्वारका लौट गये।

श्रीराजोवाच
ब्रह्मन्वेदितुमिच्छामः स्वसारां रामकृष्णयोः ।
यथोपयेमे विजयो या ममासीत्पितामही ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा (परीक्षित) ने कहा; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण (शुकदेव); वेदितुम्—जानना; इच्छामः—चाहते हैं; स्वसारम्—बहन को; राम-कृष्णयोः—बलराम तथा कृष्ण की; यथा—कैसे; उपयेमे—विवाह किया; विजयः—अर्जुन; या—जो; मम—मेरी; आसीत्—थी; पितामही—दादी।.

राजा परीक्षित ने कहा : हे ब्राह्मण, हम जानना चाहेंगे कि किस तरह अर्जुन ने बलराम तथा कृष्ण की बहन से विवाह किया, जो मेरी दादी थीं।

तात्पर्य : अब परीक्षित महाराज भगवान् की बहन सुभद्रा के विवाह की कथा की ओर ध्यान ले जाते हैं। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार यहाँ पर राजा परीक्षित का प्रश्न पिछली कथा से निकलता है,

क्योंकि अर्जुन द्वारा सुभद्रा के साथ पाणिग्रहण करना उतनी ही कठिन करामात थी, जितनी कि कृष्ण द्वारा देवकी के पुत्रों को मृत्युलोक से वापस ले आना, क्योंकि अर्जुन के साथ सुभद्रा के विवाह का स्वयं बलराम विरोध कर रहे थे।

श्रीशुक उवाच
अर्जुनस्तीर्थयात्रायां पर्यटन्नवनीं प्रभुः ।
गतः प्रभासमश‍ृणोन्मातुलेयीं स आत्मनः ॥ २॥
दुर्योधनाय रामस्तां दास्यतीति न चापरे ।
तल्लिप्सुः स यतिर्भूत्वा त्रिदण्डी द्वारकामगात् ॥ ३॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अर्जुनः—अर्जुन; तीर्थ—पवित्र स्थानों की; यात्रायाम्—यात्रा करते समय; पर्यटन्—भ्रमण करते हुए; अवनीम्—पृथ्वी; प्रभुः—स्वामी; गतः—गये हुए; प्रभासम्—प्रभास को; अश‍ृणोत्—सुना; मातुलेयीम्—मामा की कन्या; सः—उसने; आत्मनः—अपने; दुर्योधनाय—दुर्योधन को; रामः—बलराम; ताम्—उसको; दास्यति—देना चाहता है; इति—इस प्रकार; न—नहीं; च—तथा; अपरे—अन्य कोई; तत्—उसके; लिप्सुः—प्राप्त करने की इच्छुक; सः—वह, अर्जुन; यतिः—संन्यासी; भूत्वा—बन कर; त्रि-दण्डी—दण्ड धारण किये; द्वारकाम्—द्वारका; अगात्—गया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : दूर दूर तक यात्रा करते हुए और विविध तीर्थस्थानों का दर्शन करके अर्जुन प्रभास आये। वहाँ उन्होंने सुना कि बलराम अपने मामा की लड़की का विवाह दुर्योधन के साथ करना चाहते हैं और कोई भी उनकी इस योजना का समर्थन नहीं करता। अर्जुन स्वयं उसके साथ विवाह करना चाहते थे, अतः उन्होंने त्रिदंड से सज्जित होकर सन्यासी का वेश बना लिया और द्वारका गये।

तात्पर्य : भले ही सुभद्रा को पत्नी रूप में पाने की अर्जुन की योजना प्रथा के विरुद्ध प्रतीत हुई हो, किन्तु वे प्रोत्साहनवश ही ऐसा करने जा रहे थे। दरअसल भगवान् कृष्ण ही उनके मुख्य सह-षडयंत्रकर्ता थे। द्वारका में राजवंश के अधिकांश सदस्य, विशेष रूप से वसुदेव अपनी प्यारी पुत्री दुर्योधन को देने के प्रस्ताव के कारण दुखी थे।

तत्र वै वार्षितान्मासानवात्सीत्स्वार्थसाधकः ।
पौरैः सभाजितोऽभीक्ष्णं रामेणाजानता च सः ॥ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; वै—निस्सन्देह; वार्षिकान्—वर्षाऋतु के; मासान्—मासों; अवात्सीत्—रहता रहा; स्व—अपने; अर्थ—प्रयोजन; साधकः—प्राप्त करने का प्रयत्न करते हुए; पौरैः—नगर के लोगों के द्वारा; सभाजितः—सम्मानित; अभीक्ष्णम्—निरन्तर; रामेण—बलराम द्वारा; अजानता—अनभिज्ञ; च—तथा; सः—वह।

अपने प्रयोजन की पूर्ति के लिए, वे वर्षाऋतु-भर वहीं रहते रहे। बलराम तथा नगर के अन्य वासियों ने उन्हें न पहचानते हुए, उनका सभी तरह से सम्मान तथा सत्कार किया।

एकदा गृहमानीय आतिथ्येन निमन्त्र्य तम् ।
श्रद्धयोपहृतं भैक्ष्यं बलेन बुभुजे किल ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; गृहम्—अपने (बलराम के) घर पर; आनीय—लाकर; आतिथ्येन—अतिथि के रूप में; निमन्त्र्य—निमंत्रित करके; तम्—उस (अर्जुन) को; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; उपहृतम्—भेंट किया; भैक्ष्यम्—भोजन; बलेन—बलराम द्वारा; बुभुजे—खाया; किल—निस्सन्देह।

एक दिन बलराम, उन्हें अपने घर आमंत्रित अतिथि के रूप में ले आये और अर्जुन ने बलराम द्वारा आदरपूर्वक अर्पित भोजन ग्रहण किया।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती द्वारा प्रस्तुत व्याख्या से यह पता चलता है कि संन्यासी की भूमिका में अर्जुन ने वर्षाऋतु के चातुर्मास व्रत को पूरा किया और उसके बाद अब वे गृहस्थों के सामान्य आमंत्रण फिर स्वीकार कर सकते थे। अतएव उस समय बलराम के घर जाने के पीछे असामान्य मन्तव्य के प्रति किसी को शंका नहीं हुई।

सोऽपश्यत्तत्र महतीं कन्यां वीरमनोहराम् ।
प्रीत्युत्फुल्लेक्षणस्तस्यां भावक्षुब्धं मनो दधे ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने; अपश्यत्—देखा; तत्र—वहाँ; महतीम्—अद्भुत; कन्याम्—लड़की को; वीर—वीरों को; मनः-हराम्—मुग्ध करते हुए; प्रीति—सुखपूर्वक; उत्फुल्ल—प्रफुल्लित; ईक्षनः—उसकी आँखें; तस्याम्—उस पर; भाव—भाव द्वारा; क्षुब्धम्—विचलित; मनः—मन; दधे—रखा, लगाया।

वहाँ उन्होंने अद्भुत कुमारी सुभद्रा को देखा, जो वीरों को मोहने वाली थी। उनकी आँखे हर्ष से खुली की खुली रह गईं, उनका मन विचलित हो उठा और उसी के विचारों में लीन हो गया।

सापि तं चकमे वीक्ष्य नारीणां हृदयंगमम् ।
हसन्ती व्रीडितापङ्गी तन्न्यस्तहृदयेक्षणा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; अपि—भी; तम्—उसको; चकमे—चाहने लगी; वीक्ष्य—देखकर; नारीणाम्—स्त्रियों के; हृदयम्-गमम्—हृदयों को चुराने वाली; हसन्ती—हँसती हुई; व्रीडिता—लज्जा से युक्त; अपाङ्गी—तिरछी दृष्टि डालती; तत्—उस पर; न्यस्त—स्थिर; हृदय—हृदय; ईक्षणा—तथा आँखें।

अर्जुन स्त्रियों के लिए अतीव आकर्षक थे, अत: ज्योंही सुभद्रा ने उन्हें देखा, वे उन्हें पति रूप में पाने की इच्छा करने लगीं। लजीली हँसी से तथा तिरछी चितवनों से उसने अपना हृदय तथा अपनी आँखें उन्हीं पर गड़ा दीं।

तात्पर्य : देखते ही सुभद्रा जान गई कि अर्जुन कोई संन्यासी नहीं अपितु उसके होने वाले प्रियतम हैं। *भगवान् श्रीकृष्ण* में श्रील प्रभुपाद इसका विस्तार से वर्णन करते हैं, ''महाराज परीक्षित के पितामह अर्जुन स्वयं असाधारण रूप से सुन्दर थे और उनका शारीरिक गठन सुभद्रा के लिए अत्यन्त आकर्षक था। सुभद्रा ने भी मन ही मन निश्चय कर लिया कि वह केवल अर्जुन को ही अपने पति रूप में स्वीकार करेगी। सामान्य लड़की की तरह वह अर्जुन को देखकर बड़े हर्ष से मुसकरा रही थी।''

तां परं समनुध्यायन्नन्तरं प्रेप्सुरर्जुन: ।
न लेभे शं भ्रमच्चित्त: कामेनातिबलीयसा ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उस पर; परम्—एकमात्र; समनुध्यायन्—ध्यान करती; अन्तरम्—उचित अवसर; प्रेप्सु:—प्राप्त करने की प्रतीक्षा हुए; अर्जुन:—अर्जुन; न लेभे—अनुभव नहीं कर सका; शम्—शान्ति; भ्रमत्—विचलित; चित्त:—हृदय; कामेन—काम द्वारा; अति-बलीयसा—अत्यन्त प्रबल।

उसी का ध्यान करते तथा उसे उठा ले जाने के अवसर की प्रतीक्षा करते हुए अर्जुन को चैन नहीं मिल पा रहा था। उनका हृदय कामेच्छा से धकधका रहा था।

तात्पर्य : बलराम द्वारा सम्मानित किये जाने पर भी अर्जुन उनके शिष्ट आतिथ्य की सराहना नहीं कर सका, क्योंकि वह अत्यधिक विचलित था। अर्जुन का विचलित होना तथा बलराम द्वारा वेश बदले अर्जुन को न पहचाना जाना—ये दोनों भगवान् द्वारा अपनी दिव्य लीलाओं का आनन्द लेने की योजनाएँ थीं।

महत्यां देवयात्रायां रथस्थां दुर्गनिर्गतां ।
जहारानुमत: पित्रो: कृष्णस्य च महारथ: ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

महत्याम्—महत्त्वपूर्ण; देव—भगवान् के लिए; यात्रायाम्—उत्सव के मध्य; रथ—रथ पर; स्थाम्—आरूढ़; दुर्ग—किले से; निर्गताम्—बाहर आई हुई; जहार—उसे पकड़ लिया; अनुमतः—अनुमति से; पित्रोः—अपने माता-पिता की; कृष्णस्य—कृष्ण की; च—तथा; महा-रथः—अन्य बलशाली रथी योद्धा।

एक बार भगवान् के सम्मान में विशाल मन्दिर-उत्सव के अवसर पर, सुभद्रा रथ पर आरूढ़ होकर दुर्ग जैसे महल से बाहर आई। उस समय महारथी अर्जुन को उसका हरण करने का अवसर प्राप्त हुआ। सुभद्रा के माता-पिता तथा कृष्ण ने इसकी स्वीकृति दे दी थी।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इस उत्सव को भगवान् विष्णु की वार्षिक रथ-यात्रा मानते हैं, जब भगवान् चातुर्मास्य की समाप्ति पर योगनिद्रा से उठते हैं। सुभद्रा के माता-पिता वसुदेव तथा देवकी हैं।

रथस्थो धनुरादाय शूरांश्चारुन्धतो भटान् ।
विद्राव्य क्रोशतां स्वानां स्वभागं मृगराडिव ॥ ॥

शब्दार्थ

रथ—रथ पर; स्थः—खड़े; धनुः—अपना धनुष; आदाय—लेकर; शूरान्—वीरों को; च—तथा; अरुन्धतः—उसे रोकने का प्रयत्न करते हुए; भटान्—तथा रक्षकों को; विद्राव्य—भगाकर; क्रोशताम्—क्रोध से चिल्लाते; स्वानाम्—उसके सम्बन्धियों के; स्व—अपना; भागम्—उचित अंश; मृग-राट्—पशुओं का राजा, सिंह; इव—सदृश।

अपने रथ पर खड़े होकर अर्जुन ने अपना धनुष धारण किया और उन बहादुर योद्धाओं तथा महल के रक्षकों को मार भगाया, जो उसका रास्ता रोकना चाह रहे थे। जब सुभद्रा के सम्बन्धी क्रोध से शोर मचाने लगे, तो उसने सुभद्रा को उसी तरह उठा लिया, जिस तरह सिंह छोटे-छोटे पशुओं के बीच से अपना शिकार ले जाता है।

तच्छ्रुत्वा क्षुभितो रामः पर्वणीव महार्णवः ।
गृहीतपादः कृष्णेन सुहृद्भिश्चानुसान्त्वितः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तत्—यह; श्रुत्वा—सुनकर; क्षुभितः—विचलित; रामः—बलराम; पर्वणि—मास की सन्धि आने पर; इव—मानो; महा-अर्णवः—सागर; गृहीत—पकड़ने पर; पादः—पाँव; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; सुहृद्भिः—अपने पारिवारिक सदस्यों द्वारा; च—तथा; अनुसान्त्वितः—सावधानी से सान्त्वना दिये गये।

जब बलराम ने सुभद्रा के अपहरण के विषय में सुना, तो वे उसी तरह विचलित हो उठे, जिस तरह पूर्णिमा के अवसर पर सागर क्षुब्ध होता है। किन्तु भगवान् कृष्ण ने अपने परिवार के अन्य सदस्यों सहित आदरपूर्वक उनके पैर पकड़ लिये और सारा मामला समझाकर उन्हें शान्त किया।

प्राहिणोत्पारिबर्हाणि वरवध्वोर्मुदा बलः ।
महाधनोपस्करेभरथाश्वनरयोषितः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

प्राहिणोत्—भेजा; पारिबर्हाणि—दहेज के रूप में; वर-वध्वोः—दूल्हे तथा दुलहिन के लिए; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक; बलः—बलराम ने; महा-धन—अत्यन्त मूल्यवान; उपस्कर—भेंटें; इभ—हाथी; रथ—रथ; अस्व—घोड़े; नर—पुरुष; योषितः—तथा स्त्रियाँ।

तब बलराम ने खुशी खुशी वर-वधू के पास अत्यन्त मूल्यवान दहेज की वस्तुएँ भेजीं, जिनमें हाथी, रथ, घोड़े तथा दास और दासियाँ सम्मिलित थे।

श्रीशुक उवाच
कृष्णस्यासीद् द्विजश्रेष्ठः श्रुतदेव इति श्रुतः ।
कृष्णैकभक्त्या पूर्णार्थः शान्तः कविरलम्पतः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव ने कहा; कृष्णस्य—भगवान् कृष्ण का; आसीत्—था; द्विज—ब्राह्मणों में; श्रेष्ठः—उत्तम; श्रुतदेवः—श्रुतदेव; इति—इस प्रकार; श्रुतः—प्रसिद्ध; कृष्ण—कृष्ण को; एक—एकमात्र; भक्त्या—भक्ति द्वारा; पूर्ण—पूर्ण; अर्थः—इच्छा के समस्त लक्ष्यों में; शान्तः—शान्त; कविः—विद्वान तथा विवेकशील; अलम्पटः—इन्द्रिय-तृप्ति के लिए अनिच्छुक।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : श्रुतदेव नामक कृष्ण का एक भक्त था, जो उच्च कोटि का ब्राह्मण था। भगवान् कृष्ण की अनन्य भक्ति करने से पूर्णतया तुष्ट होने के कारण, वह शान्त एवं विद्वान था तथा इन्द्रिय-तृप्ति से सर्वथा मुक्त था।

स उवास विदेहेषु मिथिलायां गृहाश्रमी ।
अनीहयागताहार्यनिर्वर्तितनिजक्रियः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; उवास—रहता था; विदेहेषु—विदेह के राज्य में; मिथिलायाम्—मिथिला नामक नगरी में; गृह-आश्रमी—गृहस्थ के रूप में; अनीहया—बिना प्रयास के; आगत—उसके पास आया; आहार्य—भोजन तथा अन्य उदर-पोषण के साधनों द्वारा; निर्वर्तित—पूरा करता था; निज—अपने; क्रियः—करणीय कार्य।

विदेह के राज्य में मिथिला नामक नगरी में धार्मिक गृहस्थ के रूप में रहते हुए, वह अपने कर्तव्यों को पूरा करता था और जो कुछ उसे आसानी से मिल जाता था, उसी से अपना निर्वाह करता था।

यात्रामात्रं त्वहरहर्दैवादुपनमत्युत ।

नाधिकं तावता तुष्टः क्रिया चक्रे यथोचिताः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यात्रा-मात्रम्—मात्र उदर-भरण; तु—तथा; अहः अहः—दिन प्रतिदिन; दैवात्—अपने भाग्य से; उपनमति—उसको मिल जाता था; उत—निस्सन्देह; न अधिकम्—अधिक नहीं; तावता—उसी से; तुष्टः—सन्तुष्ट; क्रियाः—कर्तव्य; चक्रे—वह करता था; यथा—जैसा; उचिताः—उपयुक्त।

विधाता की इच्छा से उसे प्रतिदिन अपने उदर-भरण के लिए उतना मिल जाता, जितने की उसे आवश्यकता होती—उससे अधिक नहीं। इतने से ही तुष्ट हुआ, वह अपने धार्मिक कार्यों को उचित रीति से सम्पन्न करता था।

तात्पर्य : एक आदर्श वैष्णव ब्राह्मण को पारिवारिक जीवन के बन्धनों से बोझिल होते हुए भी अपने कर्तव्यों को पूरा करने के लिए उतना ही कठिन श्रम करना चाहिए, जितना कि आवश्यक हो। भौतिक उन्नति के लिए व्यर्थ ही क्षुब्ध हुए बिना उसे अपने समय तथा सम्पत्ति के सर्वश्रेष्ठ भाग को भगवान् की सेवा में उच्चतर कार्यों में लगाना चाहिए। यदि इस पतित युग की अनिवार्य परेशानियों के बावजूद कोई गृहस्थ इस कार्यक्रम में सफल होता है, तो वह भगवान् कृष्ण का निजी सान्निध्य प्राप्त करने की आशा कर सकता है, जैसाकि मिथिला के सिद्ध ब्राह्मण श्रुतदेव के प्रसंग में देखा जायेगा।

तथा तद्राष्ट्रपालोऽङ्ग बहुलाश्व इति श्रुतः ।
मैथिलो निरहम्मान उभावप्यच्युतप्रियौ ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तथा—भी (कृष्ण-भक्त); तत्—उस; राष्ट्र—राज्य का; पालः—शासक; अङ्ग—हे प्रिय (परीक्षित); बहुलाश्वः इति श्रुतः—बहुलाश्व नाम से विख्यात; मैथिलः—राजा मिथिल (जनक) के राजवंश के; निरहम्-मानः—मिथ्या अहंकार से रहित; उभौ—दोनों; अपि—निस्सन्देह; अच्युत-प्रियौ—भगवान् अच्युत को प्रिय।

हे परीक्षित, इसी तरह से उस राज्य का मिथिलवंशी शासक, जिसका नाम बहुलाश्व था, मिथ्या अहंकार से रहित था। ये दोनों ही भक्त भगवान् अच्युत को अत्यन्त प्रिय थे।

तयोः प्रसन्नो भगवान्दारुकेणाहृतं रथम् ।
आरुह्य साकं मुनिभिर्विदेहान्प्रययौ प्रभुः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तयोः—उन दोनों से; प्रसन्नः—प्रसन्न; भगवान्—भगवान्; दारुकेण—दारुक द्वारा; आहृतम्—लाये गये; रथम्—अपने रथ पर; आरुह्य—चढ़ कर; साकम्—साथ; मुनिभिः—मुनियों के; विदेहान्—विदेह राज्य में; प्रययौ—गये; प्रभुः—स्वामी।

इन दोनों से प्रसन्न होकर, दारुक द्वारा लाये गये अपने रथ पर चढ़ कर, भगवान् ने मुनियों की टोली समेत विदेह की यात्रा की।

तात्पर्य : इस श्लोक की टीका करते हुए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि श्रुतदेव तथा बहुलाश्व दोनों ही कृष्ण का दर्शन करने के लिए द्वारका जाने में असमर्थ थे, क्योंकि दोनों ने अपने घर पर अपने निजी अर्चाविग्रह की नियमित पूजा करने का व्रत ले रखा था। श्रीकृष्ण इन दोनों को दर्शन देने के लिए अपने नियम का अपवाद करने में परम प्रसन्न थे और जब वे द्वारका से चलने लगे, तो उन्होंने मुनियों से कहा कि जो लोग उनके साथ चलना चाहें वे उनके रथ पर सवार हो सकते हैं, अन्यथा पैदल चलने से वे थक जायेंगे। विख्यात मुनि सामान्यतया ऐसे ऐश्वर्यशाली वाहन में यात्रा करने की बात को सोच भी नहीं सकते, किन्तु भगवान् का आदेश पाने पर उन्होंने अपनी स्वाभाविक अरुचि छोड़ दी और उनके साथ रथ पर हो लिए।

नारदो वामदेवोऽत्रिः कृष्णो रामोऽसितोऽरुणिः ।
अहं बृहस्पतिः कण्वो मैत्रेयश्च्यवनादयः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

नारदः वामदेवः अत्रिः—नारद, वामदेव तथा अत्रि मुनि; कृष्णः—कृष्णद्वैपायन व्यास; रामः—परशुराम; असितः अरुणिः—असित तथा अरुणि; अहम्—मैं (शुकदेव); बृहस्पतिः कण्वः—बृहस्पति तथा कण्व; मैत्रेयः—मैत्रेय; च्यवन—च्यवन; आदयः—इत्यादि।

इन मुनियों में नारद, वामदेव, अत्रि, कृष्णद्वैपायन व्यास, परशुराम, असित, अरुणि, स्वयं मैं, बृहस्पति, कण्व, मैत्रेय तथा च्यवन सम्मिलित थे।

तत्र तत्र तमायान्तं पौरा जानपदा नृप ।
उपतस्थुः सार्घ्यहस्ता ग्रहैः सूर्यमिवोदितम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तत्र तत्र—प्रत्येक स्थान में; तम्—उसको; आयान्तम्—आया हुआ; पौराः—नगर निवासी; जानपदाः—तथा ग्रामवासी; नृप—हे राजा (परीक्षित); उपतस्थुः—स्वागत करने आये; स—सहित; अर्घ्य—आदरसूचक जल की भेंट; हस्ताः—अपने हाथों में; ग्रहैः—ग्रहों से; सूर्यम्—सूर्य; इव—सदृश; उदितम्—उदित।

हे राजन्, भगवान् जिस जिस नगर तथा ग्राम से होकर गुजरे, वहाँ के निवासी अपने अपने हाथों में अर्घ्य की भेंट लेकर उनकी पूजा करने हेतु आगे आये, मानो वे ग्रहों से घिरे हुए सूर्य की पूजा करने आये हों।

तात्पर्य : यहाँ पर कृष्ण के साथ रथ पर यात्रा कर रहे मुनियों की उपमा सूर्य के चारों ओर के ग्रहों से दी गई है।

आनर्तधन्वकुरुजाङ्गलकङ्कमत्स्य-
पाञ्चालकुन्तिमधुकेकयकोशलार्णाः ।
अन्ये च तन्मुखसरोजमुदारहास-
स्निग्धेक्षणं नृप पपुर्दृशिभिर्नृनार्यः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

आनर्त—आनर्त (वह प्रदेश जिसमें द्वारका स्थित है) के लोग; धन्व—मरुथल (गुजरात या राजस्थान का); कुरु-जाङ्गल—कुरु जंगलों का प्रदेश (जिसमें थानेश्वर तथा कुरुक्षेत्र के जिले आते हैं); कङ्क—कंक; मत्स्य—मत्स्य (जयपुर तथा अलवर के राज्य); पाञ्चाल—गंगा नदी के दोनों किनारों वाले जिले; कुन्ति—मालव; मधु—मथुरा; केकय—उत्तर पूर्व पंजाब में, शतद्रु तथा विपाशा नदियों के बीच का प्रदेश; कोशल—भगवान् रामचन्द्र का प्राचीन राज्य जो काशी के उत्तरी छोर से हिमालय तक विस्तृत था; अर्णाः—तथा पूर्व में मिथिला से लगा राज्य; अन्ये—अन्य; च—भी; तत्—उसके; मुख—मुँह; सरोजम्—कमल को; उदार—उदार; हास—हँसी से युक्त; स्निग्ध—तथा स्नेहिल; ईक्षणम्—चितवन; नृप—हे राजा; पपुः—पिया; दृशिभिः—अपनी आँखों से; नृ-नार्यः—पुरुषों तथा स्त्रियों ने।

आनर्त, धन्व, कुरु-जांगल, कंक, मत्स्य, पाञ्चाल, कुन्ति, मधु, केकय, कोशल, अर्ण तथा अन्य कई राज्यों के पुरुषों तथा स्त्रियों ने भगवान् कृष्ण के कमल सदृश मुख की अमृतमयी सुन्दरता का अपने नेत्रों से पान किया, जो उदार हँसी तथा स्नेहिल चितवन से सुशोभित था।

तेभ्यः स्ववीक्षणविनष्टतमिस्रदृग्भ्यः
क्षेमं त्रिलोकगुरुरर्थदृशं च यच्छन् ।
शृण्वन्दिगन्तधवलं स्वयशोऽशुभघ्नं
गीतं सुरैर्नृभिरगाच्छनकैर्विदेहान् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तेभ्यः—उनको; स्व—अपनी; वीक्षण—चितवन से; विनष्ट—नष्ट किया हुआ; तमिस्र—अँधेरा; दृग्भ्यः—जिसकी आँखों का; क्षेमम्—निर्भीकता; त्रि—तीनों; लोक—जगतों के; गुरुः—गुरु; अर्थ-दृशम्—आध्यात्मिक दृष्टि; च—तथा; यच्छन्—प्रदान करते हुए; शृण्वन्—सुनते हुए; दिक्—दिशाओं के; अन्त—छोर; धवलम्—शुद्ध करने वाले; स्व—अपना; यशः—यश; अशुभ—अशुभ; घ्नम्—विनष्ट करने वाले; गीतम्—गाये हुए; सुरैः—देवताओं द्वारा; नृभिः—तथा मनुष्यों द्वारा; अगात्—आये; शनकैः—धीरे धीरे; विदेहान्—विदेह के राज्य में।

तीनों लोकों के गुरु भगवान् कृष्ण ने उन सबों पर, जो उनको देखने आये थे, मात्र अपनी दृष्टि डालते हुए, उन्हें भौतिकतावाद के अंधकार से उबार लिया। इस तरह उन्हें निर्भीकता तथा दिव्य दृष्टि देते हुए भगवान् ने देवताओं तथा मनुष्यों को उन्हीं का यश गाते सुना, जो सारे ब्रह्माण्ड को शुद्ध करने वाला है और सारे दुर्भाग्य को विनष्ट करता है। धीरे धीरे वे विदेह पहुँच गये।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी यह तार्किक प्रश्न उठाते हैं कि रास्ते के किनारे खड़े सामान्य पुरुषों ने भला भगवान् को कैसे देखा होगा क्योंकि उनकी आँखें अज्ञान से आच्छादित तो थी हीं और भगवान्

का रथ हवा से बढ़कर तेज गति से जा रहा था? इसका उत्तर प्रस्तुत करते हुए श्रील जीव गोस्वामी इंगित करते हैं कि कृष्ण की विशेष कृपादृष्टि से उन्हें वह आध्यात्मिक पवित्रता मिल सकी, जो कृष्ण की संगति पाने के लिए आवश्यक होती है। अन्यथा, वे उनकी दृष्टि से ओझल रह जाते, जैसाकि उन्होंने उद्धव को दिये गये अपने उपदेशों में कहा है : *भक्त्याहमेकया ग्राह्यः*—मुझे केवल भक्ति से अनुभव किया जा सकता है (*भागवत* ११.१.२१)। समास बनाने की *एक-शेष* विधि के अनुसार *स्व-वीक्षण-विनष्ट-तमिस्र-दृग्भ्यः* यद्यपि मूल अर्थ में पुल्लिंग संज्ञा है, किन्तु इससे पुरुषों तथा स्त्रियों दोनों का बोध हो सकता है।

तेऽच्युतं प्राप्तमाकर्ण्य पौरा जानपदा नृप ।
अभीयुर्मुदितास्तस्मै गृहीतार्हणपाणयः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; अच्युतम्—भगवान् कृष्ण को; प्राप्तम्—आया हुआ; आकर्ण्य—सुन कर; पौराः—नगरवासी; जानपदाः—तथा ग्रामवासी; नृप—हे राजा; अभीयुः—आगे आये; मुदिताः—प्रसन्न मुख; तस्मै—उसको; गृहीत—पकड़े हुए; अर्हण—उन्हें अर्पित करने के लिए भेंटें; पाणयः—अपने हाथों में।

हे राजा, यह सुनकर कि भगवान् अच्युत आ चुके हैं, विदेह के नगर तथा ग्रामनिवासी हर्षपूर्वक अपने अपने हाथों में भेंटें लेकर, उनका स्वागत करने आये।

दृष्ट्वा त उत्तमःश्लोकं प्रीत्युत्फुलाननाशयाः ।
कैर्धृताञ्जलिभिर्नेमुः श्रुतपूर्वांस्तथा मुनीन् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देख कर; ते—वे; उत्तमः-श्लोकम्—उत्तम श्लोकों से प्रशंसित भगवान् कृष्ण को; प्रीति—प्रेमपूर्वक; उत्फुल्ल—प्रफुल्लित; आनन—उनके मुखड़े; आशयाः—तथा उनके हृदय; कैः—अपने सिरों पर; धृत—धारण किये; अञ्जलिभिः—अंजुलियों से; नेमुः—प्रणाम किया; श्रुत—सुना गया; पूर्वान्—पहले; तथा—भी; मुनीन्—मुनियों को।

ज्योंही लोगों ने उत्तमश्लोक भगवान् को देखा, उनके मुखड़े तथा हृदय स्नेह से प्रफुल्लित हो उठे। अपने सिरों के ऊपर अंजुली बाँध कर, उन्होंने भगवान् को तथा उनके साथ आये मुनियों को प्रणाम किया, जिनके विषय में उन्होंने पहले केवल सुन रखा था।

स्वानुग्रहाय सम्प्राप्तं मन्वानौ तं जगद्गुरुम् ।
मैथिलः श्रुतदेवश्च पादयोः पेततुः प्रभोः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

स्त—अपने को; अनुग्रहाय—अनुग्रह करने के लिए; सम्प्राप्तम्—अब; मन्वानौ—दोनों सोचते हुए; तम्—उस; जगत्—ब्रह्माण्ड के; गुरुम्—गुरु को; मैथिलः—मिथिला का राजा; श्रुतदेवः—श्रुतदेव; च—तथा; पादयोः—चरणों पर; पेततुः—गिर पड़े; प्रभोः—प्रभु के।

मिथिला का राजा तथा श्रुतदेव दोनों ही प्रभु के चरणों पर गिर पड़े और उनमें से हर एक यही सोच रहा था कि ब्रह्माण्ड के गुरु उन पर अनुग्रह करने आये हैं।

न्यमन्त्रयेतां दाशार्हमातिथ्येन सह द्विजैः ।
मैथिलः श्रुतदेवश्च युगपत्संहताञ्जली ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

न्यमन्त्रयेताम्—दोनों ने निमंत्रित किया; दाशार्हम्—दशार्ह वंशज कृष्ण को; आतिथ्येन—अपना अतिथि बनने के लिए; सह—साथ; द्विजैः—ब्राह्मणों के; मैथिलः—बहुलाश्व; श्रुतदेवः—श्रुतदेव; च—तथा; युगपत्—एकसाथ; संहत—दृढ़ता से पकड़े हुए; अञ्जली—दोनों हथेलियाँ।

एक ही समय पर मैथिलराज तथा श्रुतदेव हाथ जोड़े हुए आगे आये और दशार्हों के स्वामी को ब्राह्मण मुनियों समेत अपने अतिथि बनने के लिए आमंत्रित किया।

भगवांस्तदभिप्रेत्य द्वयोः प्रियचिकीर्षया ।
उभयोराविशद्गेहमुभाभ्यां तदलक्षितः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् ने; तत्—इसे; अभिप्रेत्य—स्वीकार करके; द्वयोः—उन दोनों के; प्रिय—अच्छा लगने वाला; चिकीर्षया—करने की इच्छा से; उभयोः—दोनों के; आविशत्—प्रवेश किया; गेहम्—घरों में; उभाभ्याम्—दोनों; तत्—उस (दूसरे के घर में प्रवेश करने) में; अलक्षितः—अनदेखा।

दोनों ही को प्रसन्न करने की इच्छा से भगवान् ने दोनों का निमंत्रण स्वीकार कर लिया। इस तरह एक ही समय वे दोनों के घरों में गये और उनमें से कोई भी उन्हें दूसरे के घर में प्रवेश करते नहीं देख सका।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार कृष्ण एक ही समय दो रूपों में प्रकट होकर मुनियों के साथ श्रुतदेव तथा बहुलाश्व के यहाँ गये। इस तरह बहुलाश्व ने सोचा कि भगवान् कृष्ण केवल उसी के घर आये हैं और श्रुतदेव को निराश घर लौटा दिया है, जबकि श्रुतदेव ने इसके ठीक विपरीत सोचा। *श्रीकृष्ण* में श्रील प्रभुपाद कहते हैं, ''यद्यपि ब्राह्मण तथा राजा यह सोच रहे थे कि भगवान् केवल उसके ही घर पर उपस्थित हैं, किन्तु भगवान् तथा उनके संगी दोनों ही घरों में उपस्थित थे। यह भगवान् का एक अन्य ऐश्वर्य है। शास्त्रों में इस ऐश्वर्य का वर्णन *वैभव प्रकाश* के रूप में किया जाता है। इसी तरह जब भगवान् कृष्ण ने सोलह हजार रानियों से विवाह किया था तब उन्होंने सोलह हजार

रूपों में अपना विस्तार (प्रकाश) किया था और उनमें से प्रत्येक स्वयं उनके ही समान शक्तिशाली था। इसी तरह, जब ब्रह्मा ने वृन्दावन में कृष्ण की गौवें, बछड़े तथा ग्वालबालों को चुरा लिया था, तब श्रीकृष्ण ने अनेक नवीन गौवों, बछड़ों तथा ग्वालबालों के रूप में अपना विस्तार किया था।''

श्रान्तानप्यथ तान्दूराज्जनकः स्वगृहागतान् ।
आनीतेष्वासनाछ्येषु सुखासीनान्महामनाः ॥ २७॥
प्रवृद्धभक्त्या उद्धर्षहृदयास्त्राविलेक्षणः ।
नत्वा तदङ्घ्रीन्प्रक्षाल्य तदपो लोकपावनीः ॥ २८॥
सकुटुम्बो वहन्मूर्ध्ना पूजयां चक्र ईश्वरान् ।
गन्धमाल्याम्बराकल्पधूपदीपार्घ्यगोवृषैः ॥ २९॥

शब्दार्थ

श्रान्तान्—थके हुए; अपि—निस्सन्देह; अथ—तब; तान्—उन्हें; दूरात्—दूर से; जनकः—जनक का वंशज, राजा बहुलाश्व; स्व—अपने; गृह—घर; आगतान्—आये हुए; आनीतेषु—जो लाये गये; आसन—आसनों पर; अछ्येषु—उत्तम; सुख—सुखपूर्वक; आसीनान्—बैठे हुए; महा-मनाः—अत्यन्त बुद्धिमान; प्रवृद्ध—गहन; भक्त्या—भक्ति के साथ; उत्-धर्ष—आह्लादित; हृदय—हृदय वाले; अस्त्र—आँसुओं से; आविल—धूमिल; ईक्षणः—आँखों वाले; नत्वा—नमन करके; तत्—उनके; अङ्घ्रीन्—पाँवों को; प्रक्षाल्य—धोकर; तत्—उस; अपः—जल से; लोक—सारे जगत को; पावनीः—शुद्ध करने में समर्थ; स—सहित; कुटुम्बः—अपने परिवार; वहन्—लेकर; मूर्ध्ना—अपने सिर पर; पूजयाम् चक्रे—पूजा की; ईश्वरान्—ईश्वरों की; गन्ध—सुगन्धित (चन्दन के) लेप से; माल्य—फूल की मालाओं; अम्बर—वस्त्र; आकल्प—आभूषण; धूप—अगुरु; दीप—दीपक; अर्घ्य—अर्घ्य जल; गो—गौवों; वृषैः—तथा साँढड़ों से।

जब जनकवंशी बहुलाश्व ने दूर से भगवान् कृष्ण को मुनियों समेत, जो यात्रा से कुछ कुछ थके थे, अपने घर की ओर आते देखा, तो उसने तुरन्त उनके लिए सम्मानित आसन लाये जाने की व्यवस्था की। जब वे सब सुखपूर्वक बैठ गये, तो बुद्धिमान राजा ने, जिसका हृदय प्रसन्नता से आप्लावित हो रहा था और जिसके नेत्र अश्रुओं से धूमिल हो रहे थे, उन सबों को नमन किया और गहन भक्ति के साथ उनके चरण पखारे। फिर इस प्रक्षालन-जल को, जो सारे संसार को शुद्ध कर सकता था, उन्होंने अपने सिर पर तथा अपने परिवार के सदस्यों के सिरों पर छिड़का। तत्पश्चात् उसने सुगंधित चन्दन-लेप, फूल की मालाओं, सुन्दर वस्त्र तथा आभूषणों, अगुरु, दीपक, अर्घ्य तथा गौवों और साँड़ों की भेंट देते हुए, उन महानुभावों की पूजा की।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद टीका करते हैं, ''विदेहराज बहुलाश्व अत्यन्त बुद्धिमान तथा पूर्णतया भद्र पुरुष था। श्रीभगवान् सहित इतने महापुरुषों को अपने घर में प्रत्यक्ष उपस्थित देखकर वह चकित था। उसे भलीभाँति ज्ञात था कि बद्धात्माएँ, विशेष रूप से सांसारिक कार्यों में संलग्न व्यक्ति शत प्रतिशत

शुद्ध नहीं हो सकते, जबकि भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्त सांसारिक कल्मष से परे होते हैं। अतएव जब उसने देखा कि भगवान् कृष्ण तथा समस्त महान् ऋषिगण उसके घर पर हैं, तो वह चकित हुआ और वह भगवान् कृष्ण को उनकी इस अहैतुकी कृपा के लिए धन्यवाद देने लगा।''

इस श्लोक में *ईश्वर* शब्द न केवल भगवान् का अपितु उनके साथ आए महामुनियों का भी द्योतक है। आचार्य श्रीधर स्वामी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती द्वारा इसकी पुष्टि की गई है।

वाचा मधुरया प्रीणन्निदमाहान्नतर्पितान् ।
पादावङ्कगतौ विष्णोः संस्पृशञ्छनकैर्मुदा ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

वाचा—वाणी से; मधुरया—मधुर, धीमी; प्रीणन्—प्रसन्न करने का प्रयास करते हुए; इदम्—यह; आह—कहा; अन्न—भोजन से; तर्पितान्—कृतकृत्य किये गये; पादौ—पाँवों को; अङ्क—अपनी गोद में; गतौ—स्थित; विष्णोः—भगवान् कृष्ण के; संस्पृशन्—दबाते हुए; शनकैः—धीरे धीरे; मुदा—सुखपूर्वक।

जब वे जी-भरकर भोजन कर चुके, तो उनको और प्रसन्न करने के लिए भगवान् विष्णु के चरणों को अपनी गोद में रखकर और उन्हें सुखपूर्वक दबाते हुए राजा धीरे धीरे तथा मृदुल वाणी में बोला।

श्रीबहुलाश्व उवाच
भवान्हि सर्वभूतानामात्मा साक्षी स्वदृग्विभो ।
अथ नस्त्वत्पदाम्भोजं स्मरतां दर्शनं गतः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-बहुलाश्वः उवाच—श्री बहुलाश्व ने कहा; भवान्—आप; हि—निस्सन्देह; सर्व—समस्त; भूतानाम्—जीवों के; आत्मा—परमात्मा; साक्षी—गवाह; स्व-दृक्—आत्म-प्रकाशित; विभो—हे सर्वशक्तिमान; अथ—इस प्रकार; नः—हमको; त्वत्—तुम्हारे; पद-अम्भोजम्—चरणकमलों को; स्मरताम्—स्मरण करने वालों को; दर्शनम् गतः—दिख रहे हैं।

श्री बहुलाश्व ने कहा : हे सर्वशक्तिमान प्रभु, आप समस्त जीवों के आत्मा एवं उनके स्व-प्रकाशित साक्षी हैं और अब आप हम सबों को, जो निरन्तर आपके चरणकमलों का ध्यान करते हैं, अपना दर्शन दे रहे हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बहुलाश्व के आन्तरिक भावों को इस प्रकार प्रकट करते हैं: बहुलाश्व भगवान् कृष्ण का यशोगान समस्त जीवों के प्रेरक आत्मा तथा चेतना के रूप में यह सोच कर करता है कि उस जैसे जड़ में भी उनकी कृपा से भक्ति जागृत हो सकी है। वह समस्त शुभ तथा अशुभ कार्यों के साक्षी रूप में भगवान् की प्रशंसा करता है और विश्वास करता है कि उसने जो भी किंचित

भक्ति की है, वह भगवान् को अवश्य ही स्मरण होगी। वह उन्हें स्व-प्रकाशित, किसी बाह्य साधन से कभी भी प्रकाशित या सूचित होने की आवश्यकता न रखने वाले तथा बहुलाश्व द्वारा उनका दर्शन पाने की चिर गुप्त अभिलाषा से अवगत बतलाता है।

स्ववचस्तदृतं कर्तुमस्मद्दृग्गोचरो भवान् ।
यदात्थैकान्तभक्तान्मे नानन्तः श्रीरजः प्रियः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

स्व—अपना; वचः—कथन; तत्—उस; ऋतम्—सत्य; कर्तुम्—बनाने के लिए; अस्मत्—हमारी; दृक्—आँखों को; गोचरः—दिखने वाला; भवान्—आप; यत्—जो; आत्थ—कहा; एक-अन्त—एक ही उद्देश्य से; भक्तात्—भक्त की अपेक्षा; मे—मेरा; न—नहीं; अनन्तः—भगवान् अनन्त; श्रीः—श्री देवी; अजः—अजन्मा ब्रह्मा; प्रियः—प्रिय।

आपने कहा है, "मुझे अपने अनन्य भक्त की तुलना में न तो अनन्त, देवी श्री या न ही अजन्मा ब्रह्मा अधिक प्रिय हैं।" अपने ही शब्दों को सत्य सिद्ध करने के लिए, अब आपने हमारे नेत्रों के समक्ष अपने को प्रकट किया है।

को नु त्वच्चरणाम्भोजमेवंविद्विसृजेत्पुमान् ।
निष्किञ्चनानां शान्तानां मुनीनां यस्त्वमात्मदः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन; नु—तनिक भी; त्वत्—तुम्हारे; चरण-अम्भोजम्—चरणकमलों को; एवम्—इस तरह; वित्—जानते हुए; विसृजेत्—त्याग देंगे; पुमान्—व्यक्ति को; निष्किञ्चनानाम्—निष्काम व्यक्तियों के लिए; शान्तानाम्—शान्त; मुनीनाम्—मुनियों के लिए; यः—जो; त्वम्—तुम; आत्म—स्वयं को; दः—देने वाले।

ऐसा कौन पुरुष है, जो इस सत्य को जानते हुए कभी आपके चरणकमलों का परित्याग करेगा, जब आप उन शान्त मुनियों को अपने आप तक को दे डालने के लिए उद्यत रहते हैं, जो किसी भी वस्तु को अपनी नहीं कहते?

योऽवतीर्य यदोर्वंशे नृणां संसरतामिह ।
यशो वितेने तच्छान्त्यै त्रैलोक्यवृजिनापहम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; अवतीर्य—अवतरित होकर; यदोः—यदु के; वंशे—वंश में; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; संसरताम्—जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसे हुए; इह—इस संसार में; यशः—आपका यश; वितेने—प्रसार कर चुका है; तत्—उस (जगत) के; शान्त्यै—शमन के लिए; त्रै-लोक्य—तीनों लोकों के; वृजिन—पाप; अपहम्—दूर करने वाला।

आपने यदुवंश में प्रकट होकर तीनों लोकों के समस्त पापों को दूर कर सकने में समर्थ अपने यश का विस्तार, जन्म-मृत्यु के चक्कर में फँसे हुओं का उद्धार करने के लिए ही किया है।

**नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
नारायणाय ऋषये सुशान्तं तप ईयुषे ॥ ३५॥**

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; तुभ्यम्—तुमको; भगवते—भगवान्; कृष्णाय—कृष्ण को; अकुण्ठ—विस्तृत; मेधसे—बुद्धि वाले; नारायणाय ऋषये—ऋषि नर-नारायण को; सु-शान्तम्—पूर्णतया शान्त; तपः—तपस्या में; ईयुषे—संलग्न।

हे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण, आपको नमस्कार है, जिनकी बुद्धि सदैव ही असीम है। ऋषि नर-नारायण को नमस्कार है, जो पूर्ण शान्ति में रह कर सदैव तपस्या करते रहते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका है कि राजा ने भगवान् कृष्ण की स्तुति इसलिए की, जिससे वे कुछ दिन उसके घर पर रह जायें। राजा ने सोचा, "चूँकि भगवान् के संसर्ग से भ्रान्ति तथा सन्देह दूर हो सकते हैं, अतः मेरे घर पर कृष्ण की उपस्थिति से मेरी बुद्धि सुदृढ़ होगी जिससे मैं भौतिक इच्छाओं के घात-प्रतिघात सह सकूँगा। नर-नारायण ऋषि के अपने अंशरूप में भगवान् भारतभूमि के मंगल हेतु सदैव बदरिकाश्रम में निवास करते हैं, अतएव वे कुछ दिनों तक मिथिला में रह कर इस भूमि के लिए भी सौभाग्य उत्पन्न कर सकेंगे। चूँकि कृष्ण का छुकाव शान्ति तथा सादगी के प्रति है, अतएव उन्हें द्वारका के अत्यधिक ऐश्वर्य की अपेक्षा मेरा सादा घर अवश्य पसन्द आयेगा।"

**दिनानि कतिचिद्भूमन्गृहान्नो निवस द्विजैः ।
समेतः पादरजसा पुनीहीदं निमेः कुलम् ॥ ३६॥**

शब्दार्थ

दिनानि—दिन; कतिचित्—कुछ; भूमन्—हे सर्वव्यापी; गृहान्—घर में; नः—हमारे; निवस—कृपया निवास करें; द्विजैः—ब्राह्मणों द्वारा; समेतः—सम्मिलित; पाद—अपने चरणों की; रजसा—धूल से; पुनीहि—पवित्र करें; इदम्—इस; निमेः—राजा निमि के; कुलम्—वंश को।

हे सर्वव्यापी, कृपया इन ब्राह्मणों समेत मेरे घर में कुछ दिन ठहरें और अपने चरणों की धूलि से इस निमिवंश को पवित्र बनायें।

**इत्युपामन्त्रितो राज्ञा भगवाँल्लोकभावनः ।
उवास कुर्वन्कल्याणं मिथिलानरयोषिताम् ॥ ३७॥**

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उपामन्त्रितः—आमंत्रित; रज्ञा—राजा द्वारा; भगवान्—भगवान् ने; लोक—पूरे संसार के; भावनः—पालनकर्ता; उवास—निवास किया; कुर्वन्—उत्पन्न करते हुए; कल्याणम्—सौभाग्य; मिथिला—मिथिला नगरी के; नर—मनुष्यों; योषिताम्—तथा स्त्रियों के।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : राजा द्वारा इस तरह आमंत्रित किये जाने पर जगत के पालनकर्ता भगवान् ने मिथिला के नर-नारियों को सौभाग्य प्रदान करने हेतु कुछ समय तक ठहरने की सहमति दे दी।

श्रुतदेवोऽच्युतं प्राप्तं स्वगृहाञ्जनको यथा ।
नत्वा मुनीन्सुसंहृष्टो धुन्वन्वासो ननर्त ह ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

श्रुतदेवः—श्रुतदेव; अच्युतम्—भगवान् कृष्ण को; प्राप्तम्—पाया हुआ; स्व-गृहान्—अपने घर में; जनकः—बहुलाश्व ने; यथा—जिस तरह; नत्वा—नमस्कार करके; मुनीन्—मुनियों को; सु—अत्यधिक; संहृष्टः—प्रसन्न; धुन्वन्—हिलाते हुए; वासः—अपना वस्त्र; ननर्त ह—नाचने लगा।

श्रुतदेव ने अपने घर में भगवान् अच्युत का उतने ही उत्साह के साथ स्वागत किया, जैसा कि राजा बहुलाश्व ने प्रदर्शित किया था। भगवान् तथा मुनियों को नमस्कार करके श्रुतदेव अपना दुशाला हिला-हिला कर परम हर्ष से नाचने लगा।

तृणपीठबृषीष्वेतानानीतेषूपवेश्य सः ।
स्वागतेनाभिनन्द्याङ्घ्रीन्सभार्योऽवनिजे मुदा ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तृण—घास के; पीठ—आसनों पर; बृषीषु—तथा दर्भ की बनी चटाइयों पर; एतान्—उन्हें; आनीतेषु—लाये गये; उपवेश्य—बैठाकर; सः—वह; स्व-आगतेन—स्वागत के शब्दों से; अभिनन्द्य—अभिनन्दन करके; अङ्घ्रीन्—चरणों को; स-भार्यः—अपनी पत्नी सहित; अवनिजे—धोया; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक।

घास तथा दर्भ तृण से बनी चटाइयाँ लाकर तथा अपने अतिथियों को उन पर बैठाकर, उसने स्वागत के शब्दों द्वारा उनका सत्कार किया। तब उसने तथा उसकी पत्नी ने बड़ी ही प्रसन्नता के साथ उनके चरण पखारे।

तात्पर्य : इस सामान्य स्वागत के लिए भी श्रुतदेव को अपने पड़ोस में जाकर अतिरिक्त चटाइयाँ उधार लानी पड़ीं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने यह भीतरी बात बतलाई है।

तदम्भसा महाभाग आत्मानं सगृहान्वयम् ।
स्नापयां चक्र उद्धर्षो लब्धसर्वमनोरथः ॥ ० ॥

शब्दार्थ

तत्—उस; अम्भसा—जल से; महा-भागः—अत्यन्त पवित्र; आत्मानम्—स्वयं को; स—सहित; गृह—अपने घर; अन्वयम्—तथा अपने परिवार; स्नापयाम् चक्रे—स्नान किया; उद्धर्षः—अत्यधिक हर्षित; लब्ध—प्राप्त की हुई; सर्व—समस्त; मनः-रथः—इच्छाएँ।.

उस चरणोदक को महाभाग श्रुतदेव ने अपने, अपने घर तथा अपने परिवार वालों पर जी भर कर छिड़का। अति हर्षित होकर उसने अनुभव किया कि अब उसकी सारी इच्छाएँ पूरी हो गई हैं।

फलार्हणोशीरशिवामृताम्बुभि-
मृदा सुरभ्या तुलसीकुशाम्बुयैः ।
आराधयामास यथोपपन्नया
सपर्यया सत्त्वविवर्धनान्धसा ॥ १ ॥

शब्दार्थ

फल—फलों की; अर्हण—भेंट से; उशीर—खस से; शिव—शुद्ध; अमृत—अमृत जैसे मीठे; अम्बुभिः—तथा जल से; मृदा—मिट्टी; सुरभ्या—सुगंधित; तुलसी—तुलसी दलों; कुश—कुश घास; अम्बुजैः—तथा कमल के फूलों से; आराधयाम् आस—उसने उनकी पूजा की; यथा—जिस तरह; उपपन्नया—प्राप्त किया जा सके; सपर्यया—पूजा सामग्री सहित; सत्त्व—सतोगुण; विवर्धन—वृद्धि; अन्धसा—भोजन से।.

उसने सहज उपलब्ध होने वाली शुभ सामग्री यथा फल, उशीर, शुद्ध अमृत तुल्य जल, सुगंधित मिट्टी, तुलसी दल, कुश तृण तथा कमल के फूल अर्पित करते हुए उनकी पूजा की। तब उसने उन्हें वह भोजन परोसा, जो सतोगुण को बढ़ाता है।

स तर्कयामास कुतो ममान्वभूत्
गृहान्धकूपे पतितस्य सङ्गमः ।
यः सर्वतीर्थास्पदपादरेणुभिः
कृष्णेन चास्यात्मनिकेतभूसुरैः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने; तर्कयाम् आस—समझने की कोशिश की; कुतः—किस कारण से; मम—मेरे; अनु—निस्सन्देह; अभूत्—हुआ है; गृह—घर रूपी; अन्ध—अंधे; कूपे—कुएँ में; पतितस्य—गिरे हुए; सङ्गमः—संगति; यः—जो; सर्व—सभी; तीर्थ—तीर्थस्थानों के; आस्पद—शरण स्वरूप; पाद—जिसके पाँवों की; रेणुभिः—धूलि से; कृष्णेन—कृष्ण से; च—भी; अस्य—इसके; आत्म—स्वयं का; निकेत—घर स्वरूप; भू-सुरैः—ब्राह्मणों से।.

वह आश्चर्य करने लगा कि गृहस्थ जीवन के अंध कूप में गिरा हुआ, मैं भगवान् कृष्ण से भेंट करने में कैसे समर्थ हो सका? और मुझे कैसे इन महान् ब्राह्मणों से मिलने दिया गया, जो अपने हृदयों में सदैव भगवान् को धारण किये रहते हैं? निस्सन्देह उनके चरणों की धूलि समस्त तीर्थस्थानों के आश्रय रूप है।

सूपविष्टान्कृतातिथ्याञ्श्रुतदेव उपस्थितः ।
सभार्यस्वजनापत्य उवाचाङ्घ्र्यभिमर्शनः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सु-उपविष्टान्—सुखपूर्वक बैठे हुए; कृत—की गई; आतिथ्यान्—मेहमानगिरी, सत्कार; श्रुतदेवः—श्रुतदेव; उपस्थितः—उनके पास बैठा हुआ; स-भार्य—अपनी पत्नी के साथ; स्व-जन—सम्बन्धीजन; अपत्यः—तथा सन्तानें; उवाच—बोला; अङ्घ्रि—(भगवान् कृष्ण के) पाँव; अभिमर्शनः—दबाते हुए।

जब उसके अतिथि समुचित सम्मान प्राप्त करके सुखपूर्वक बैठ गये, तो श्रुतदेव उनके निकट गया और अपनी पत्नी, बच्चों तथा अन्य आश्रितों समेत उनके समीप बैठ गया। तत्पश्चात् भगवान् के चरणों को दबाते हुए, उसने कृष्ण तथा मुनियों को सम्बोधित किया।

श्रुतदेव उवाच
नाद्य नो दर्शनं प्राप्तः परं परमपूरुषः ।
यर्हीदं शक्तिभिः सृष्ट्वा प्रविष्टो ह्यात्मसत्तया ॥ ॥

शब्दार्थ

श्रुतदेवः उवाच—श्रुतदेव ने कहा; न—नहीं; अद्य—आज; नः—हमारे द्वारा; दर्शनम्—दर्शन; प्राप्तः—प्राप्त किया हुआ; परम्—एकमात्र; परम—सर्वोच्च; पूरुषः—पुरुष; यर्हि—जब; इदम्—यह (ब्रह्माण्ड); शक्तिभिः—अपनी शक्तियों सहित; सृष्ट्वा—उत्पन्न करके; प्रविष्टः—प्रविष्ट; हि—निस्सन्देह; आत्म—अपनी; सत्तया—सत्ता से।

श्रुतदेव ने कहा : ऐसा नहीं है कि हमने केवल आज ही परम पुरुष का दर्शन किया है, क्योंकि जब से उन्होंने अपनी शक्तियों से इस ब्रह्माण्ड की रचना की है और अपने दिव्य रूप से उसमें प्रविष्ट हुए हैं, तब से हम उनका सान्निध्य प्राप्त करते रहे हैं।

यथा शयानः पुरुषो मनसैवात्ममायया ।
सृष्ट्वा लोकं परं स्वाप्नमनुविश्यावभासते ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; शयानः—सोते हुए; पुरुषः—व्यक्ति; मनसा—मस्तिष्क से; एव—केवल; आत्म—अपना; मायया—कल्पना से; सृष्ट्वा—सृजन करके; लोकम्—जगत; परम्—पृथक्; स्वाप्नम्—स्वप्न; अनुविश्य—प्रवेश करके; अवभासते—प्रकट होता है।

भगवान् उस सोये हुए व्यक्ति की तरह हैं, जो अपनी कल्पना में पृथक् जगत का निर्माण करता है और तब अपने ही स्वप्न में प्रवेश करता है तथा उसके भीतर अपने को देखता है।

तात्पर्य : सोया हुआ व्यक्ति अपने स्वप्न के मोह में एक काल्पनिक जगत की सृष्टि करता है, जिसमें उसकी कल्पनाओं से जनित तमाम बसे हुए शहर होते है। कुछ इसी तरह से भगवान् विराट

ब्रह्माण्ड को प्रकट करते हैं। निस्सन्देह, भगवान् के लिए यह सृष्टि मायामयी (भ्रामक) नहीं है, किन्तु उनके लिए है, जो उनकी मायाशक्ति के अधीन होते हैं। भगवान् की सेवा के रूप में माया बद्धजीवों को अपने असार नश्वर स्वरूप को असली मानने को भ्रमित करती है।

शृण्वतां गदतां शश्वदर्चतां त्वाभिवन्दताम् ।
णृणां संवदतामन्तर्हृदि भास्यमलात्मनाम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

शृण्वताम्—सुनने वालों के लिए; गदताम्—बोलते हुए; शश्वत्—निरन्तर; अर्चताम्—पूजा करते हुए; त्वा—तुम; अभिवन्दताम्—प्रशंसा करते हुए; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; संवदताम्—बातें करते हुए; अन्तः—भीतर; हृदि—हृदय में; भासि—तुम प्रकट होते हो; अमल—निर्मल; आत्मनाम्—मन वालों के लिए।

आप उन शुद्ध चेतना वाले मनुष्यों के हृदयों के भीतर अपने को प्रकट करते हैं, जो निरन्तर आपके विषय में सुनते हैं, आपका कीर्तन करते हैं, आपकी पूजा करते हैं, आपका गुणगान करते हैं और आपके ही विषय में एक-दूसरे से चर्चायें करते हैं।

हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थः कर्मविक्षिप्तचेतसाम् ।
आत्मशक्तिभिरग्राह्योऽप्यन्त्युपेतगुणात्मनाम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

हृदि—हृदय में; स्थः—स्थित; अपि—यद्यपि; अति—अत्यन्त; दूर-स्थः—बहुत दूर; कर्म—भौतिक कार्यों द्वारा; विक्षिप्त—विचलित; चेतसाम्—मन वालों के लिए; आत्म—अपनी; शक्तिभिः—शक्तियों से; अग्राह्यः—ग्रहण न किया जा सकने वाला; अपि—यद्यपि; अन्ति—निकट; उपेत—अनुभूति किया हुआ; गुण—आपके गुण; आत्मनाम्—हृदय वालों द्वारा।

किन्तु हृदय के भीतर वास करते हुए भी आप उनसे बहुत दूर रहते हैं, जिनके मन भौतिक कार्यों में उलझने से विचलित रहते हैं। दरअसल कोई भी आपको भौतिक शक्तियों द्वारा पकड़ नहीं सकता, क्योंकि आप केवल उन लोगों के हृदयों में प्रकट होते हैं, जिन्होंने आपके दिव्य गुणों की प्रशंसा करनी सीख ली है।

तात्पर्य : सर्व-दयालु भगवान् जन-जन के हृदय में हैं। किन्तु उन्हें हृदयों में देख पाना तभी सम्भव है, जब किसी का हृदय पूर्णतया शुद्ध हो। भौतिकतावादी यह माँग पेश कर सकते हैं कि उनकी अनुभवसिद्ध खोजों के फलस्वरूप ईश्वर उनके समक्ष दिखकर अपने अस्तित्व को सिद्ध करे, किन्तु ईश्वर को ऐसी धृष्टता का उत्तर देने की आवश्यकता नहीं है। जैसाकि भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.२५) में कहा है—

नाहं प्रकाश: सर्वस्य योगमायासमावृत: ।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

“मैं कभी भी मूर्ख तथा अज्ञानी के समक्ष प्रकट नहीं होता। उनके लिए मैं अपनी अन्तरंगा शक्ति से ढका रहता हूँ, इसलिए वे यह नहीं जान पाते कि मैं अजन्मा तथा अव्यय हूँ।”

नमोऽस्तु तेऽध्यात्मविदां परात्मने
अनात्मने स्वात्मविभक्तमृत्यवे ।
सकारणाकारणलिङ्गमीयुषे
स्वमाययासंवृतरुद्धदृष्टये ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; अस्तु—हो; ते—तुमको; अध्यात्म—परम सत्य; विदाम्—जानने वालों के लिए; पर-आत्मने—परमात्मा को; अनात्मने—बद्ध जीवात्मा को; स्व-आत्म—(काल रूप में) आपसे; विभक्त—देने वाला; मृत्यवे—मृत्यु को; स-कारण—कारणयुक्त; अकारण—कारणरहित; लिङ्गम्—स्वरूप (ब्रह्माण्ड तथा आपके आदि स्वरूप); ईयुषे—धारण करने वाले; स्व-मायया—अपनी योगशक्ति से; असंवृत—खुला; रुद्ध—तथा रुकी; दृष्टये—दृष्टि।

मैं आपको नमस्कार करता हूँ। परम सत्य को जानने वालों द्वारा आप परमात्मा के रूप में अनुभव किये जाते हैं, जबकि काल रूप में आप विस्मरणशील जीवों के लिए मृत्यु स्वरूप हैं। आप अपने अहैतुक आध्यात्मिक रूप में तथा इस ब्रह्माण्ड के सृजित रूप में प्रकट होते हैं। इस तरह आप एक ही समय अपने भक्तों की आँखें खोलते हैं और अभक्तों की दृष्टि को बाधित करते हैं।

तात्पर्य : जब भगवान् अपने नित्य आध्यात्मिक रूप में अपने भक्तों के समक्ष प्रकट होते हैं, तो उनकी आँखें “खुल” जाती हैं—अर्थात् उनका सारा भ्रम जाता रहता है और वे परम सत्य भगवान् के सुन्दर दृश्य का पान करते हैं। दूसरी ओर, अभक्तों के लिए भगवान् भौतिक प्रकृति अर्थात् अपने विराट रूप में “प्रकट” होते हैं और इस तरह वे उनकी दृष्टि पर पर्दा डाल देते हैं, जिससे उनका आध्यात्मिक साकार रूप उनसे ओझल हो जाता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस श्लोक की अन्य व्याख्या दी है, जो *अनात्मा* शब्द के रूप *अनात्मने* शब्द के वैकल्पिक अर्थ पर आधारित है। “विभिन्न श्रेणियों के लोग परम सत्य को विभिन्न प्रकारों से जानते हैं। शान्त रस में स्थित भक्तगण ब्रह्म का ध्यान दैवी साकार रूप (*आत्मा* या *श्रीविग्रह*) में करते हैं, जो भौतिक मोह के सारे पक्षों को लाँघ जाता है। निर्विशेषवादी ज्ञानीजन उन्हें निराकार (*अनात्मा*)

रूप में मानते हैं और ईर्ष्यालु असुर उन्हें मृत्यु रूप में देखते हैं।''

स त्वं शाधि स्वभृत्यान्नः किं देव करवाम हे ।
एतदन्तो नृणां क्लेशो यद्भवानक्षिगोचरः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; त्वम्—तुम; शाधि—आज्ञा दें; स्व—अपने; भृत्यान्—दासों को; नः—हम; किम्—क्या; देव—हे प्रभु; करवाम—हमें करना चाहिए; हे—ओह; एतत्—यह; अन्तः—इसके अन्त के रूप में; नृणाम्—मनुष्यों के; क्लेशः—क्लेश; यत्—जो; भवान्—आपकी; अक्षि—आँखों को; गो-चरः—दृश्य।

हे प्रभु, आप ही वह परमात्मा हैं और हम आपके दास हैं। हम आपकी किस तरह सेवा करें? हे प्रभु, आपके दर्शन मात्र से मनुष्य-जीवन के सारे क्लेशों का अन्त हो जाता है।

श्रीशुक उवाच
तदुक्तमित्युपाकर्ण्य भगवान्प्रणतार्तिहा ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रहसंस्तमुवाच ह ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; तत्—उस (श्रुतदेव) के द्वारा; उक्तम्—कहा गया; इति—इस प्रकार; उपाकर्ण्य—सुन कर; भगवान्—भगवान्; प्रणत—शरणागत के; आर्ति—कष्ट का; हा—विनाश करने वाला; गृहीत्वा—पकड़ कर; पाणिना—अपने हाथ से; पाणिम्—उसका हाथ; प्रहसन्—खिलखिलाकर हँसते हुए; तम्—उससे; उवाच ह—कहा।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : श्रुतदेव को ये शब्द कहते सुन कर, शरणागतों के कष्ट को दूर करने वाले भगवान् ने श्रुतदेव के हाथ को अपने हाथ में ले लिया और हँसते हुए, उससे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : आचार्य विश्वनाथ की टीका है कि भगवान् मैत्री के संकेत रूप में श्रुतदेव का हाथ पकड़ कर इसलिए हँसे, क्योंकि वे उसे बतलाना चाहते थे कि ''ठीक, तुम मेरे विषय में सही सही जानते हो और मैं भी तुम्हारे विषय में सबकुछ जानता हूँ। अतएव अब मैं तुमसे कुछ विशेष बात कहूँगा।''

श्रीभगवानुवाच
ब्रह्मंस्तेऽनुग्रहार्थाय सम्प्राप्तान्विद्ध्यमून्मुनीन् ।
सञ्चरन्ति मया लोकान्पुनन्तः पादरेणुभिः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; ते—तुम्हारा; अनुग्रह—आशीर्वाद देने के; अर्थाय—हेतु; सम्प्राप्तान्—आये हुए; विद्धि—जानो; अमून्—इन; मुनीन्—मुनियों को; सञ्चरन्ति—भ्रमण करते हैं; मया—मेरे साथ साथ; लोकान्—सारे जगतों को; पुनन्तः—शुद्ध करते हुए; पाद—अपने पैरों की; रेणुभिः—धूल से।

भगवान् ने कहा : हे ब्राह्मण, तुम यह जान लो कि ये महान् ऋषिगण यहाँ तुम्हें आशीर्वाद

देने ही आये हैं। ये मेरे साथ साथ सारे जगतों में भ्रमण करते हैं और अपने चरणों की धूल से, उन्हें पवित्र करते हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि भगवान् कृष्ण ने सोचा कि श्रुतदेव ने मेरा तो बहुत आदर किया, किन्तु इन मुनियों का उतना आदर नहीं किया, इसलिए उन्होंने ब्राह्मण का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट किया।

देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि दर्शनस्पर्शनार्चनैः ।
शनैः पुनन्ति कालेन तदप्यर्हत्तमेक्षया ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

देवाः—मन्दिर के अर्चाविग्रह; क्षेत्राणि—तीर्थस्थल; तीर्थानि—तथा पवित्र नदियाँ; दर्शन—दर्शन करने से; स्पर्शन—स्पर्श से; अर्चनैः—तथा पूजा करने से; शनैः—धीरे धीरे; पुनन्ति—पवित्र करते हैं; कालेन—समय से; तत् अपि—वे ही; अर्हत्-तम—सर्वाधिक पूज्यों (ब्राह्मणों) की; ईक्षया—चितवन से।

मनुष्य मन्दिर के अर्चाविग्रहों, तीर्थस्थलों तथा पवित्र नदियों के दर्शन, स्पर्श तथा पूजन से धीरे धीरे शुद्ध बन सकता है। किन्तु महान् मुनियों की कृपादृष्टि प्राप्त करने मात्र से, उसे तत्काल वही फल प्राप्त हो सकता है।

तात्पर्य : उच्च कोटि के वैष्णव ब्राह्मण एकान्तवास करने तथा अपनी सिद्धि में ही एकाग्र रहने की अपेक्षा भगवान् की भक्ति का आशीर्वाद बाँटने में अपना जीवन अर्पित कर देते हैं। राजा प्राचीनबर्हि के पुत्रों के शब्दों में—

तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया।
भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः ॥

"हे प्रभु! आपके निजी संगी अर्थात् आपके भक्त सारे विश्व में पावन तीर्थस्थानों तक को पवित्र करने के लिए भ्रमण करते रहते हैं। क्या जो लोग भवसागर से भयभीत हैं उन्हें ऐसा कार्य रुचिकर नहीं है? (*भागवत* .३०.३७) तथा प्रह्लाद महाराज कहते हैं—

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणम् भ्रमतोऽनुपश्ये ॥

"हे नृसिंह देव! मैं देखता हूँ कि दरअसल सन्त-पुरुष तो अनेक हैं, किन्तु वे अपने ही मोक्ष में रुचि रखते हैं। वे बड़े बड़े नगरों की परवाह न करके हिमालय या किसी जंगल में मौन व्रत के साथ ध्यान करने के लिए जाते हैं। वे अन्यों का उद्धार करने में तनिक भी रुचि नहीं रखते। किन्तु, जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं इन बेचारे मूर्खों तथा मूढ़ों को छोड़ कर अकेले मोक्ष नहीं चाहता। मैं जानता हूँ कि कृष्ण-भावना के बिना, आपके चरणकमलों की शरण लिए बिना कोई सुखी नहीं रह सकता। अतएव मैं उन सबों को आपके चरणकमलों की शरण में वापस लाना चाहता हूँ।" (*भागवत* ७.९.)

ब्राह्मणो जन्मना श्रेयान्सर्वेषाम्प्राणिनामिह ।
तपसा विद्यया तुष्ट्या किमु मत्कलया युतः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणः—ब्राह्मण; जन्मना—जन्म से; श्रेयान्—सर्वोत्तम; सर्वेषाम्—सभी; प्राणिनाम्—जीवों में; इह—इस जगत में; तपसा—अपनी तपस्या से; विद्यया—अपनी विद्या से; तुष्ट्या—तथा अपने संतोष से; किम् उ—तब और क्या; मत्—मुझ पर; कलया—प्रेमपूर्ण ध्यान से; युतः—युक्त।

ब्राह्मण अपने जन्म से ही इस जगत में समस्त जीवों में श्रेष्ठ है, किन्तु वह तब और भी उच्चस्थ बन जाता है, जब वह तपस्या, विद्या तथा आत्म-संतोष से युक्त होता है। यदि मेरे प्रति उसकी भक्ति हो, तो फिर कहना ही क्या है।

न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम् ।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ब्राह्मणात्—ब्राह्मण की अपेक्षा; मे—मुझको; दयितम्—अधिक प्रिय; रूपम्—स्वरूप; एतत्—यह; चतुः-भुजम्—चार भुजाओं वाला; सर्व—समस्त; वेद—वेदों से; मयः—युक्त; विप्रः—विद्वान ब्राह्मण; सर्व—समस्त; देव—देवताओं से; मयः—युक्त; हि—निस्सन्देह; अहम्—मैं।

यहाँ तक कि मुझे *ब्राह्मणों* की तुलना में अपना चतुर्भुजी रूप अधिक प्रिय नहीं है। एक विद्वान *ब्राह्मण* में सारे *वेद* उसी तरह रहते हैं, जिस तरह मेरे भीतर सारे देवता रहते हैं।

तात्पर्य : *न्यायशास्त्र* से पता चलता है कि किसी वस्तु का ज्ञान (*प्रमेय*) उसे जानने के वैध साधनों (*प्रमाण*) पर निर्भर करता है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को केवल वेदों के द्वारा जाना जा सकता है, इसलिए भगवान् को स्वयं को प्रकट करने के लिए उन ब्राह्मण मुनियों पर निर्भर रहना होता है, जो साक्षात् वेदस्वरूप हैं। यद्यपि भगवान् कृष्ण समस्त देवताओं तथा नारायण के विष्णु-तत्त्व अंशों से

समन्वित हैं, तो भी वे अपने को ब्राह्मणों का कृतज्ञ मानते हैं।

दुष्प्रज्ञा अविदित्वैवमवजानन्त्यसूयवः ।
गुरुं मां विप्रमात्मानमर्चादाविज्यदृष्टयः ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

दुष्प्रज्ञाः—विकृत बुद्धि वाले; अविदित्वा—न समझ कर; एवम्—इस प्रकार; अवजानन्ति—उपेक्षा करते हैं; असूयवः—तथा ईर्ष्यापूर्ण व्यवहार करते हैं; गुरुम्—अपने गुरु के प्रति; माम्—तथा मुझको; विप्रम्—विद्वान ब्राह्मण को; आत्मानम्—अपने आपको; अर्चा-आदऊ—भगवान् के अर्चाविग्रह में; इज्य—पूज्य के रूप में; दृष्टयः—जिनकी दृष्टि।

इस सत्य से अनजान मूर्ख लोग उस विद्वान ब्राह्मण की उपेक्षा करते हैं और ईर्ष्यावश अपमान करते हैं, जो मुझसे अभिन्न होने के कारण, उनका आत्मा तथा गुरु होता है। वे मेरे अर्चाविग्रह स्वरूप जैसे स्पष्ट दैवी प्राकटयों को ही, एकमात्र पूज्य स्वरूप मानते हैं।

चराचरमिदं विश्वं भावा ये चास्य हेतवः ।
मद्रूपाणीति चेतस्याधत्ते विप्रो मदीक्षया ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

चर—चेतन; अचरम्—तथा जड़; इदम्—इस; विश्वम्—जगत को; भावाः—तात्विक कोटियाँ; ये—जो; च—तथा; अस्य—इसका; हेतवः—स्रोत; मत्—मेरे; रूपाणि—स्वरूप; इति—ऐसा विचार; चेतसि—मन के भीतर; आधत्ते—रखता है; विप्रः—ब्राह्मण; मत्—मेरा; ईक्षया—अपनी अनुभूति द्वारा।

मेरा साक्षात्कार प्राप्त किये होने से, ब्राह्मण इस ज्ञान में सुस्थिर रहता है कि इस ब्रह्माण्ड की सारी जड़ तथा चेतन वस्तुएँ एवं इसकी सृष्टि के मूल तत्त्व भी, मुझसे ही विस्तारित हुए प्रकट-रूप हैं।

तस्माद्ब्रह्मऋषीनेतान्ब्रह्मन्मच्छ्रद्धयार्चय ।
एवं चेदर्चितोऽस्म्यद्धा नान्यथा भूरिभूतिभिः ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; ब्रह्म-ऋषीन्—ब्रह्मर्षियों को; एतान्—इन; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण (श्रुतदेव); मत्—(जैसाकि तुम रखते हो) मेरे लिए; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; अर्चय—पूजा करो; एवम्—इस प्रकार; चेत्—यदि (तुम करोगे); अर्चितः—पूजित; अस्मि—होऊँगा; अद्धा—प्रत्यक्ष; न—नहीं; अन्यथा—अन्यथा; भूरि—विस्तृत; भूतिभिः—धन से।

अतः हे ब्राह्मण, तुम्हें चाहिए कि इन ब्रह्मर्षियों की पूजा उसी श्रद्धा से करो, जो तुम्हें मुझमें है। यदि तुम ऐसा करते हो, तो तुम मेरी प्रत्यक्ष पूजा करोगे, जिसे तुम प्रचुर धन अर्पित करके करके भी नहीं कर सकते।

श्रीशुक उवाच

स इत्थं प्रभुनादिष्टः सहकृष्णान् द्विजोत्तमान् ।
आराध्यैकात्मभावेन मैथिलश्चाप सद्‌गतिम् ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सः—वह (श्रुतदेव); इत्थम्—इस प्रकार से; प्रभुना—अपने स्वामी द्वारा; आदिष्टः—आदेश दिया जाकर; सह—साथ में; कृष्णान्—भगवान् कृष्ण को; द्विज—ब्राह्मणों को; उत्तमान्—श्रेष्ठ; आराध्य—पूजा द्वारा; एक-आत्म—एकान्त मन से; भावेन—भक्ति से; मैथिलः—मिथिला का राजा; च—भी; आप—प्राप्त किया; सत्—दिव्य; गतिम्—चरम गन्तव्य।

श्रीशुकदेव ने कहा : अपने प्रभु से इस तरह आदेश पाकर श्रुतदेव ने एकात्म भाव से श्रीकृष्ण की तथा उनके साथ आये सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मणों की पूजा की। राजा बहुलाश्व ने भी ऐसा ही किया। इस तरह श्रुतदेव तथा राजा दोनों ही को चरम दिव्य गन्तव्य प्राप्त हुआ।

एवं स्वभक्तयो राजन्भगवान्भक्तभक्तिमान् ।
उषित्वादिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारवतीमगात् ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; स्व—अपने; भक्तयोः—दो भक्तों से; राजन्—हे राजा (परीक्षित); भगवान्—भगवान्; भक्त—अपने भक्तों के प्रति; भक्ति-मन्—भक्ति में लगा; उषित्वा—ठहर कर; आदिश्य—शिक्षा देकर; सत्—शुद्ध सन्तों के; मार्गम्—पथ पर; पुनः—फिर; द्वारवतीम्—द्वारका; अगात्—चले गए।

हे राजन्, इस तरह अपने भक्तों के प्रति अनुरक्त भगवान् अपने दो महान् भक्तों, श्रुतदेव तथा बहुलाश्व के साथ कुछ समय तक उन्हें पूर्ण सन्तों के आचरण की शिक्षा देते हुए वही रहते रहे। तब भगवान् द्वारका लौट गये।

तात्पर्य : *भगवान् श्रीकृष्ण* में श्रील प्रभुपाद इस लीला का वर्णन करते हुए इस तरह समापन करते हैं: ‘‘हम इस घटना से यह शिक्षा पाते हैं कि भगवान् ने राजा बहुलाश्व तथा ब्राह्मण श्रुतदेव का एक ही स्तर पर स्वागत किया, क्योंकि दोनों ही विशुद्ध भक्त थे। भगवान् द्वारा पहचाने जाने के लिए यही वास्तविक योग्यता है। क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण परिवार में जन्म लेकर झूठा गर्व करना आज के युग का प्रचलन बन गया है। अतएव हम पाते हैं कि जन्म के अतिरिक्त अन्य किसी योग्यता के न होते हुए लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य होने का दावा करते हैं, किन्तु जैसाकि शास्त्रों में कहा गया है *कलौ शूद्रसम्भवः*—इस कलियुग में प्रत्येक व्यक्ति शूद्र पैदा होता है। इसका कारण संस्कार नामक शुद्धिकरण की विधियों का निष्पादन नहीं होना है, जिनका शुभारम्भ माता के गर्भधारण से होता है तथा जो व्यक्ति के मृत्युपर्यन्त चलते रहते हैं। किसी भी व्यक्ति को जन्मजात अधिकार के आधार पर किसी विशेष

वर्ण, विशेष रूप से उच्च वर्ण जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य वर्ण के सदस्य के रूप में वर्गीकृत नहीं किया जा सकता है। यदि गर्भाधान संस्कार द्वारा किसी का शुद्धिकरण नहीं किया जाता, तो उसे तत्काल ही शूद्रों में वर्गीकृत किया जाता है, क्योंकि केवल शूद्र ही यह शुद्धिकरण नहीं करते। कृष्णभावनामृत की शुद्धिकरण प्रक्रिया से रहित ऐन्द्रिय मैथुनिक जीवन शूद्रों अथवा पशुओं की गर्भाधान प्रक्रिया मात्र है। किन्तु कृष्णभावनामृत सर्वोच्च सिद्धि है, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति वैष्णव पद को पा सकता है। इसमें समस्त ब्राह्मणोचित योग्यताओं से युक्त होना भी सम्मिलित है। वैष्णवों को ऐसी शिक्षा दी जाती है, जिससे वे चारों प्रकार के पापकर्मों से मुक्त हो सकें। ये चार पापकर्म हैं—अवैध यौन, मादक पदार्थों का सेवन, जुआ खेलना तथा मांसाहार। इन प्रारम्भिक योग्यताओं के बिना कोई भी ब्राह्मणत्व के स्तर पर नहीं रह सकता तथा योग्य ब्राह्मण बने बिना, वह शुद्ध भक्त नहीं बन सकता।''

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''अर्जुन द्वारा सुभद्रा-हरण तथा कृष्ण द्वारा अपने भक्तों को आशीर्वाद दिया जाना'' नामक छियासिवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सत्तासी

साक्षात् वेदों द्वारा स्तुति

इस अध्याय में भगवान् नारायण के साकार तथा निर्विशेष पक्षों की महिमा गाने वाली, साक्षात् वेदों द्वारा स्तुतियाँ प्रस्तुत की गई हैं।

राजा परीक्षित ने श्रील शुकदेव गोस्वामी से पूछा कि वेद किस तरह परब्रह्म का प्रत्यक्ष रूप से उल्लेख कर सकते हैं, जबकि वेदों में तीन गुणों द्वारा नियंत्रित भौतिक जगत का वर्णन है और ब्रह्म इन तीनों गुणों से सर्वथा परे हैं। इसके उत्तर में शुकदेव गोस्वामी ने बदरिकाश्रम में श्री नारायण ऋषि तथा नारद मुनि के बीच हुई एक प्राचीन आकस्मिक भेंट का वर्णन किया। विचरण करते हुए उस पवित्र कुटिया में पहुँच कर नारद ने देखा कि भगवान् कलाप नामक निकटवर्ती ग्राम के उच्च स्तर के वासियों से घिरे हुए हैं। नारायण ऋषि तथा उनके संगियों को नमस्कार करके नारद ने उनसे यही प्रश्न पूछा।

उत्तर में नारायण ऋषि ने इसका वर्णन किया कि किस तरह बहुत पहले जनलोक में रह रहे महर्षियों के बीच इसी प्रश्न पर वाद-विवाद हुआ था। एक बार परम सत्य के स्वभाव को जानने के इच्छुक, इन ऋषियों ने सनन्दन कुमार को इस विषय पर बोलने के लिए चुना था। सनन्दन ने उन्हें बतलाया कि किस तरह सृष्टि के पूर्व अनेक देहधारी वेदों ने, भगवान् नारायण के श्वास लेने से उत्पन्न प्रथम उद्भवों के रूप में, उनकी महिमा विषयक स्तुतियाँ कीं। तब सनन्दन ने ये विस्तृत स्तुतियाँ सुनाईं।

जनलोक के निवासी सनन्दन से देहधारी वेदों की स्तुतियाँ सुनकर परम प्रसन्न हुए। इन स्तुतियों ने परब्रह्म के असली स्वभाव के बारे में प्रकाश डाला। तब उन्होंने सनन्दन का आदर किया और उनकी पूजा की। नारद मुनि श्री नारायण ऋषि के मुख से यह वृत्तान्त सुनकर अतीव प्रसन्न हुए। इस तरह नारद ने भगवान् को नमस्कार किया और फिर अपने शिष्य वेदव्यास को देखने गये, जिनको उन्होंने सुनी हुई सारी बातें बतला दीं।

श्रीपरीक्षिदुवाच
ब्रह्मन्ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः ।
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात्सदसतः परे ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-परीक्षित् उवाच—श्री परीक्षित ने कहा; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण (शुकदेव); ब्रह्मणि—परब्रह्म में; अनिर्देश्ये—जिसका शब्दों में वर्णन करना कठिन हो; निर्गुणे—गुणरहित; गुण—प्रकृति के गुण; वृत्तयः—जिसका कार्यक्षेत्र; कथम्—कैसे; चरन्ति—कार्य करते हैं; श्रुतयः—वेद; साक्षात्—प्रत्यक्षतः; सत्—भौतिक वस्तु को; असतः—तथा इसके सूक्ष्म कारण; परे—उसमें, जो दिव्य है।

श्री परीक्षित ने कहा : हे ब्राह्मण, भला वेद उस परम सत्य का प्रत्यक्ष वर्णन कैसे कर सकते हैं, जिसे शब्दों द्वारा बतलाया नहीं जा सकता? वेद भौतिक प्रकृति के गुणों के वर्णन तक ही सीमित हैं, किन्तु ब्रह्म समस्त भौतिक स्वरूपों तथा उनके कारणों को लाँघ जाने के कारण इन गुणों से रहित है।

तात्पर्य : इस अध्याय की टीका आरम्भ करने के पूर्व श्रील श्रीधर स्वामी स्तुति करते हैं—

वागीशा यस्य वदने लक्ष्मीर्यस्य च वक्षसि।

यस्यास्ते हृदये संवित् तं नृसिंहमहंभजे॥

“मैं नृसिंह भगवान् की पूजा करता हूँ, जिनके मुख के भीतर वाणी के महान् स्वामी निवास करते हैं, जिनके वक्षस्थल पर लक्ष्मी वास करती है और जिनके हृदय में चेतना की दैवीशक्ति निवास करती

है।''

सम्प्रदाय विशुद्ध्यर्थं स्वीयनिर्बन्धयन्त्रितः।

श्रुतिस्तुतिमितव्याख्यां करिष्यामि यथामति॥

''अपने सम्प्रदाय को विशुद्ध बनाने की इच्छा से तथा कर्तव्य से बँधा होने के कारण मैं अपनी बुद्धि के अनुसार साक्षात् वेदों की स्तुतियों के विषय में संक्षिप्त टीका करूँगा।''

श्रीमद्भागवतं पूर्वै सारतः सन्निषेवितम्।

मया तु तदुपस्पृष्टम् उच्छिष्टमुपचीयते॥

''चूँकि मेरे पूर्ववर्तियों की व्याख्या से *श्रीमद्भागवत* पहले ही पूर्णतया आदरित है, अतएव मैं उनके द्वारा किये गये आदर का जूठन ही संग्रह कर सकता हूँ।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती अपनी ओर से ईश वन्दना प्रस्तुत करते हैं—

मम रत्नवणिग्भावं रत्नान्यपरिचिन्वतः।

हसन्तु सन्तो जिह्रेमि न स्वस्वान्तविनोदकृत्॥

''सन्त-भक्त मुझ पर रत्न का व्यापारी होने के लिए हँस सकते हैं, यद्यपि मैं बहुमूल्य रत्नों के विषय में कुछ नहीं जानता। किन्तु मुझे कोई लाज नहीं लगती, क्योंकि कम-से-कम मैं उनका मनोरंजन तो कर ही सकता हूँ।''

न मे ऽस्ति वैदुष्यपि नापि भक्ति-

र्विरक्तिरक्तिर्न तथापि लौल्यात्।

सुदुर्गमादेव भवामि वेद-

स्तुत्यर्थचिन्तामणिराशिगृध्नुः॥

''यद्यपि मुझ में विद्या, भक्ति या विरक्ति नहीं है, तो भी मैं उस दुर्ग से वेदों की स्तुति रूपी चिन्तामणि को ग्रहण करने के लिए ललचाया रहता हूँ, जिसमें यह रखा हुआ है।''

मां नीचतायामविवेकवायुः

प्रवर्तते पातयितुं बलाच्चेत्।

लिखाम्यतः स्वामिसनातनश्री-

कृष्णाङ्घ्रिभास्तम्भकृतावलम्बः ॥

''यदि मेरी अविवेक रूपी वायु—मेरी निम्न स्थिति को स्वीकार करने की अक्षमता—मुझे गिरा देने के लिए धमकाती है, तो इस टीका को लिखते हुए मुझे श्रीधर स्वामी, सनातन गोस्वामी तथा भगवान् श्रीकृष्ण के चरण रूपी तेजस्वी ख भों को पकड़ना होगा।''

प्रणम्य श्रीगुरुं भूयः श्रीकृष्णं करुणार्णवम्।

लोकनाथं जगच्चक्षुः श्रीशुकं तं उपाश्रये॥

''बारम्बार अपने आध्यात्मिक गुरु को तथा कृपा के सागर भगवान् श्रीकृष्ण को शीश झुकाकर मैं श्रीशुकदेव गोस्वामी की शरण ग्रहण करता हूँ, जो संसार के रक्षक तथा जगत भर के नेत्र हैं।''

पिछले अध्याय के अन्त में शुकदेव गोस्वामी ने परीक्षित महाराज को बतलाया था—

एवं स्व भक्तयो राजन् भगवान् भक्तभक्तिमान्।

उषित्वादिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारवतीमगात्॥

''हे राजन्! इस तरह अपने भक्तों के भक्त भगवान् अपने दो महान् भक्तों, श्रुतदेव तथा बहुलाश्व के साथ कुछ समय तक उन्हें सिद्ध सन्तों के आचरण की शिक्षा देते हुए रहते रहे। तब भगवान् द्वारका लौट गये।'' इस श्लोक के *सन्मार्ग* शब्द को कम-से-कम तीन प्रकार से समझा जा सकता है। पहले प्रकार में *सत्* का अर्थ ''भगवान् का भक्त'' लिया जाता है और इस तरह *सन्मार्ग* का अर्थ ''भक्तियोग का मार्ग'' होता है। दूसरे प्रकार में *सत्* का अर्थ ''दिव्य ज्ञान की खोज करने वाला'' है, अतः *सन्मार्ग* का अर्थ होगा ''ज्ञान का दार्शनिक मार्ग'' जिसका मुख्य लक्ष्य निर्विशेष ब्रह्म होता है। तीसरे प्रकार में *सत्* का अर्थ ''वेदों की दिव्य ध्वनि'' लें, तो *सन्मार्ग* का अर्थ होगा ''वैदिक आदेशों के पालन की प्रक्रिया।'' इनमें से सन्मार्ग के द्वितीय तथा तृतीय अर्थों से यह प्रश्न उठता है कि वेद किस तरह परम सत्य का वर्णन कर सकते हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी ने इस समस्या का परम्परागत संस्कृत काव्य शास्त्र की दृष्टि से विस्तृत विश्लेषण किया है। हमें मानना चाहिए कि शब्दों में तीन प्रकार की अभिव्यक्ति-शक्तियाँ होती हैं, जिन्हें *शब्द वृत्तियाँ* कहा जाता है। ये वे विविध प्रकार हैं, जिनसे किसी शब्द के अर्थ निकलते हैं। ये हैं—*मुख्य वृत्ति, लक्षणा वृत्ति* तथा *गौण वृत्ति*। *मुख्य वृत्ति* शब्द के मूल शाब्दिक अर्थ को बतलाती

है—इसे *अभिधा* शक्ति भी कहते हैं अर्थात् मुख्यार्थ अथवा शब्दकोषार्थ। *मुख्य वृत्ति* के दो उपविभाग हैं *रूढि* तथा *योग।* मूल अर्थ जब परम्परागत प्रयोग पर आधारित होता है, तो वह *रूढि* कहलाता है, जब किसी अन्य शब्द के अर्थ से व्युत्पत्तिविषयक नियमों से अर्थ निकले तो उसे *योग* कहते हैं। उदाहरणार्थ, *गो* शब्द *रूढि* का उदाहरण है, क्योंकि इसके शाब्दिक अर्थ से इसका सम्बन्ध परम्परागत है। इसके विपरीत *पाचक* शब्द *योग वृत्ति* है, जो *पच्* धातु में *क* प्रत्यय जोड़कर बना है।

मुख्यवृत्ति के अतिरिक्त कोई शब्द गौण, अलंकारिक रूप में भी प्रयुक्त हो सकता है। यह प्रयोग *लक्षणा* कहलाता है। नियम यह है कि यदि मुख्यवृत्ति से किसी शब्द का अर्थ उस प्रसंग में लग जाता है, तो फिर अलंकारिक अर्थ ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती। मुख्यवृत्ति के द्वारा किसी शब्द के अर्थ बताने में असफल होने पर ही *लक्षणा वृत्ति* का सहारा लिया जाता है। काव्य शास्त्र में *लक्षणा* के कार्य की विवेचना मिलती है। यह है : विस्तृत संदर्भ जो शाब्दिक अर्थ के साथ सम्बन्ध रखने वाले किसी शब्द की ओर संकेत करता है। इस प्रकार *गंगायां घोष:* पद का शाब्दिक अर्थ होगा ''गंगा में ग्वालों का गाँव'' किन्तु ऐसा भाव निरर्थक होगा अत: *गंगायाम्* का अर्थ लक्षणा द्वारा ''गंगा नदी के किनारे'' निकाला जाता है, क्योंकि किनारा नदी से सम्बद्ध है। *गौण वृत्ति* लक्षणा का विशिष्ट प्रकार है, जिसमें अर्थ को समान भाव तक विस्तार दिया जाता है। उदाहरणार्थ, *सिंहो देवदत्त:* (देवदत्त सिंह है) में वीर देवदत्त को अलंकार के माध्यम से सिंह कहा गया है क्योंकि उसमें सिंह जैसे गुण हैं। इसके विपरीत सामान्य लक्षणा में, यथा *गंगायाम् घोष:* में स्थान का सम्बन्ध तो रहता है, समानता का नहीं।

सत्तासीवें अध्याय के इस प्रथम श्लोक में परीक्षित महाराज यह संदेह व्यक्त करते हैं कि वेदों के शब्द किस तरह *शब्द वृत्ति* के किसी भी मान्य प्रकार से परम सत्य के द्योतक हो सकते हैं। वे पूछते हैं *कथं साक्षात् चरन्ति*—वेद किस तरह *रूढ मुख्यवत्ति* के अनुसार ब्रह्म का वर्णन कर सकते हैं? ब्रह्म तो *अनिर्देश्य* है अर्थात् उनका अता-पता नहीं है। और किस तरह वेद *गौण वृत्ति* द्वारा ब्रह्म का वर्णन कर सकते हैं? वेद तो *गुणवृत्तय:* हैं अर्थात् गुणों के विवरणों से ओत-प्रोत हैं, किन्तु ब्रह्म तो *निर्गुण* है अर्थात् गुणों से रहित है। स्पष्ट है कि कोई भी अलंकार जो समान गुणों पर आधारित हो बिना गुणों वाली वस्तु पर लागू नहीं हो सकता। यही नहीं, परीक्षित महाराज इंगित करते हैं कि ब्रह्म तो *सदसत: परम्*—कार्यकारण से परे हैं। सूक्ष्म या स्थूल जगत से किसी तरह सम्बन्धित न होने से ब्रह्म न तो *योग*

वृत्ति द्वारा न ही *लक्षणा* द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, क्योंकि इन दोनों में ब्रह्म के साथ अन्य जीवों का कोई न कोई सम्बन्ध होना चाहिए।

अत: राजा परीक्षित इस दुविधा में हैं कि वेदों के शब्द किस तरह ब्रह्म का प्रत्यक्ष वर्णन कर सकते हैं।

श्रीशुक उवाच
बुद्धीन्द्रियमन:प्राणान्जनानामसृजत्प्रभु: ।
मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; बुद्धि—बुद्धि; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; मन:—मन; प्राणान्—तथा प्राण; जनाणाम्—जीवों के; असृजत्—उत्पन्न किया; प्रभु:—भगवान् ने; मात्र—इन्द्रिय-तृप्ति के; अर्थम्—हेतु; च—तथा; भव—जन्म (तथा उसके बाद के कार्यों) के; अर्थम्—हेतु; च—तथा; आत्मने—आत्मा (तथा अगले जीवन में उसके सुख की प्राप्ति) के लिए; अकल्पनाय—भौतिक उद्देश्यों के परित्याग के लिए; च—तथा।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् ने जीवों की भौतिक बुद्धि, इन्द्रियाँ, मन तथा प्राण को प्रकट किया, जिससे वे अपनी इच्छाओं को इन्द्रिय-तृप्ति में लगा सकें, सकाम कर्म में संलग्न होने के लिए बारम्बार जन्म ले सकें, अगले जन्म में ऊपर उठ सकें तथा अन्तत: मोक्ष प्राप्त कर सकें।

तात्पर्य : सृष्टि के उदयकाल में जब बद्धजीव भगवान् विष्णु के दिव्य शरीर के भीतर सुप्त पड़े थे, तो जीवों के लाभ हेतु भगवान् ने बुद्धि, मन आदि आवरणों को भेज कर सृष्टि प्रक्रम आरंभ किया। जैसाकि यहाँ कहा गया है, विष्णु स्वतंत्र स्वामी हैं (प्रभु) और सारे जीव उनके *जन* अर्थात् अधीन हैं। अत: हमें समझना चाहिए कि प्रभु ने जीवों के लिए ही इस विराट जगत की सृष्टि की। इसमें उनका एकमात्र उद्देश्य *दया* था।

भगवान् जीवों को स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर प्रदान करके उन्हें इन्द्रिय-तृप्ति में और मनुष्य योनि में धर्म, अर्थ तथा मोक्ष में लगाते हैं। बद्धजीव प्रत्येक शरीर में अपनी इन्द्रियों का उपयोग भोग करने के काम में लगाता है और जब उसे मनुष्य का शरीर मिलता है, तो उसे जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में विविध नियत कार्य भी करने होते हैं। यदि वह श्रद्धापूर्वक इन कर्तव्यों को निभाता है, तो भविष्य में उसे और अधिक उत्तम सुख मिलता है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो वह पतित हो जाता है। जब जीव

भौतिक जीवन से मुक्त होने के लिए लालायित होता है, तो मुक्ति का मार्ग उसे सदा उपलब्ध रहता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका है कि इस श्लोक में *च* शब्द का बारम्बार आना इसका सूचक है कि भगवान् जो कुछ भी प्रदान करते हैं—न केवल मुक्ति का मार्ग अपितु धार्मिक जीवन में क्रमश: उन्नति तथा समुचित इन्द्रियतृप्ति—उसका महत्त्व है।

इन सारे प्रयासों में जीव अपनी सफलता के लिए भगवत्कृपा पर निर्भर करते हैं। बुद्धि, इन्द्रिय, मन तथा प्राण के बिना जीव कुछ भी उपलब्ध नहीं कर सकते—न तो स्वर्ग की प्राप्ति, न ज्ञान द्वारा शुद्धि, न योग में ध्यान की आठ सिद्धियाँ, न भक्तियोग द्वारा प्राप्त की जाने वाली शुद्ध भक्ति जो भगवान् के नामों के श्रवण और कीर्तन से प्रारम्भ होती है।

यदि परमेश्वर बद्धजीवों के कल्याण हेतु ये सारी सुविधाएँ जुटाता है, तो फिर वह निर्विशेष कैसे हो सकता है? उपनिषद् परम सत्य को निर्विशेष के रूप में प्रस्तुत न करके उस के साकार गुणों के विषय में विस्तार से बतलाते हैं। उपनिषदों द्वारा वर्णित ब्रह्म समस्त निम्न भौतिक गुणों से मुक्त हैं, तो भी वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सबों का स्वामी तथा नियन्ता, ब्रह्माण्ड-भर में पूज्य, हर एक के कर्म का फल देने वाला तथा सच्चिदानन्द रूप हैं। *मुण्डक उपनिषद्* (१.१.९) में कहा गया है—*य: सर्वज्ञ: स सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तप:* जो सर्वज्ञ हैं और जिनसे समस्त ज्ञान की शक्ति प्राप्त होती है वे सबसे अधिक बुद्धिमान हैं। *बृहदारण्यक उपनिषद्* के शब्दों में (..२२; ३.७.३. तथा १.२.) *सर्वस्य वशी सर्वस्येशान:*—वे हर एक के स्वामी तथा नियंत्रक हैं। *य: पृथिव्यां तिष्टन् पृथिव्या आन्तर:*—वे जो पृथ्वी के भीतर वास करते हैं तथा उसमें व्याप्त हैं। *सोऽकामयत बहु स्याम्*—उन्होंने इच्छा की कि मैं अनेक हो जाऊँ। इसी प्रकार *ऐतरेय उपनिषद्* (३.११) में कहा गया है *स ऐक्षत तत् तेजोऽसृजत*—उन्होंने अपनी शक्ति के ऊपर दृष्टि फेरी, जिसके बाद उन्होंने सृष्टि प्रकट की। *तैत्तिरीय उपनिषद्* (२.१.१) की घोषणा है—*सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म*—ब्रह्म असीम सत्य तथा ज्ञान है।

तत् त्वम् असि वाक्यांश (*छान्दोग्य उपनिषद* ६.८.७) को प्राय: निर्विशेषवादी सान्त जीवात्मा तथा उसके स्रष्टा में तादात्म्य की पुष्टि के लिए उद्धृत करते हैं। शंकराचार्य तथा उनके अनुयायीगण इन शब्दों को उन कुछ *महावाक्यों* का रूप देते हैं, जिनसे वेदान्त का सार व्यक्त होता है। किन्तु वेदान्त के आदर्श वैष्णव मतानुयायी इस व्याख्या का डट कर विरोध करते हैं। आचार्य रामानुज, मध्व, बलदेव

विद्याभूषण इत्यादि ने उपनिषदों तथा अन्य श्रुतियों के क्रमबद्ध अध्ययन के आधार पर कई वैकल्पिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं।

यहाँ पर महाराज परीक्षित द्वारा पूछे गये इस प्रश्न का कि "वेद किस तरह प्रत्यक्ष रूप से परम सत्य का द्योतन कर सकते हैं?" शुकदेव गोस्वामी ने इस प्रकार उत्तर दिया है, "भगवान् ने बद्धजीवों के लिए बुद्धि तथा अन्य तत्त्वों की रचना की।" संशयवादी आपत्ति कर सकता है कि यह उत्तर अप्रासंगिक है। किन्तु शुकदेव गोस्वामी का उत्तर वास्तव में अप्रासंगिक नहीं है, जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती व्याख्या करते हैं। सूक्ष्म प्रश्नों के उत्तर प्राय: अप्रत्यक्ष रीति से दिये जाते हैं। जैसाकि स्वयं भगवान् ने उद्धव को दिये गये अपने उपदेशों में (*भागवत* ११.२१.३५) कहा है—*परोक्षवादा ऋषय: परोक्षं मम च प्रियम्*—वैदिक भविष्य द्रष्टा तथा मंत्र गुह्य शब्दावली का प्रयोग करते हैं और मैं भी ऐसे ही गोपनीय वर्णनों से प्रसन्न रहता हूँ। इस वर्तमान प्रसंग में वे निर्विशेषवादी, जिनकी ओर से परीक्षित महाराज ने यह प्रश्न पूछा है, प्रत्यक्ष उत्तर को नहीं समझ सकते, इसीलिए शुकदेव गोस्वामी यह परोक्ष उत्तर देते हैं, "तुम कहते हो कि ब्रह्म का वर्णन शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि भगवान् ने बुद्धि, मन तथा इन्द्रियाँ न बनाई होतीं तो ध्वनि आदि अनुभव की जाने वाली वस्तुएँ तुम्हारे ब्रह्म की ही तरह अवर्णनीय रह जातीं। तब तो तुम जन्म से अंधे तथा बहरे रहते और भौतिक स्वरूपों तथा ध्वनियों के बारे में कुछ भी न जानते, ब्रह्म की बात तो कोसों दूर रहती। अत: जिस तरह दयालु ईश्वर ने हमें अनुभव करने की अनुभूति तथा दृष्टि, ध्वनि आदि की अनुभूति का अन्यों को वर्णन करने के साधन प्रदान किये हैं उसी तरह वही ईश्वर किसी न किसी को ब्रह्म की अनुभूति करने की ग्रहणशील क्षमता प्रदान कर सकता है। यदि वह चाहे तो शब्दों से किसी असाधारण विधि से काम करा सकता है—भौतिक पदार्थों, गुणों, श्रेणियों तथा कार्यों की ओर सामान्य संदर्भ बताने के अलावा—जिससे वे ब्रह्म को व्यक्त कर सकें। अन्तत: वह सर्वशक्तिमान स्वामी (*प्रभु*) है और अवर्णनीय को वर्णनीय बना सकता है।"

मत्स्यराज राजा सत्यव्रत को विश्वास दिलाते हैं कि ब्रह्म को वेदों के शब्दों से जाना जा सकता है—

मदीयं महिमानं च परं ब्रह्मेति शब्दितम्।

वेत्सस्यनुग्रहीतं मे सम्प्रश्नैर्विवृतं हृदि ॥

"मैं तुम्हें ठीक से सलाह दूँगा और तुम पर दया करूँगा और चूँकि तुमने प्रश्न किया है, इसलिए मेरी महिमा से सम्बन्धित हर बात, जो कि परब्रह्म के नाम से विख्यात है तुम्हारे हृदय में प्रकट हो जायेगी। इस तरह तुम मेरे विषय में सब कुछ जान सकोगे।" (*भागवत* ८.२.३८)

जिस भाग्यशाली जीव को भगवान् ने दैवी उत्सुकता प्रदान की है, वह ब्रह्म के स्वभाव के बारे में प्रश्न करेगा और महान् ऋषियों द्वारा दिये गये उत्तरों को सुनकर, जो वेदों में उद्धृत है, वह भगवान् को यथारूप में जान सकेगा। अतएव परम पुरुष की विशेष कृपा से ही ब्रह्म *शब्दितम्* (शब्दों द्वारा निरूपित) बनता है। अन्यथा वेदों के शब्द भगवान् की विशेष कृपा के बिना परम ब्रह्म को प्रकट नहीं कर सकते।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती का सुझाव है कि इस श्लोक में शुकदेव गोस्वामी द्वारा कहा गया *बुद्धि* शब्द *महत् तत्त्व* को सूचित करने वाला हो सकता है, जिससे आकाश के विभिन्न अंश (यथा ध्वनि) निकलते हैं, जिन्हें यहाँ पर *इन्द्रिय* कहा गया है। तब *मात्रार्थम्* का अर्थ होगा "ब्रह्म का वर्णन करने के लिए दिव्य ध्वनि का प्रयोग करने के हेतु" क्योंकि इसी निश्चित कार्य के लिए भगवान् ने प्रकृति को आकाश तथा ध्वनि उत्पन्न करने के लिए प्रेरित किया।

सृष्टि के प्रयोजन को आगे समझाने के लिए *भवार्थम्* तथा *आत्मने कल्पनाय* (*अकल्पनाय* के स्थान पर *कल्पनाय* लेने पर) शब्दों का प्रयोग हुआ है। *भवार्थम्* का अर्थ है "जीवों के कल्याण हेतु।" परमात्मा (*आत्मने*) की पूजा (*कल्पनम्*) ही वह साधन है, जिससे सारे जीव उस दैवी प्रयोजन को पूरा कर सकते हैं, जिसके लिए वे जीवित हैं। बुद्धि, मन तथा इन्द्रियाँ भगवान् की पूजा करने के ही निमित्त प्रयुक्त होनी चाहिए, चाहे जीव उन्हें आध्यात्मिक शुद्धता के स्तर पर लाया हो या नहीं।

किस तरह शुद्ध तथा अशुद्ध भक्त अपनी बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों का उपयोग भगवान् की पूजा करने में लगायें इसका वर्णन *गोपालतापनी उपनिषद्* में (*पूर्व* १२) में मिलता है—

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्।

द्विभुजं मौनमुद्राध्यं वनमालिनमीश्वरम् ॥

"द्विभुजी रूप में प्रकट होने वाले भगवान् के दिव्य नेत्र कमल जैसे, वर्ण बादलों के रंग का तथा वस्त्र बिजली की चमक जैसे थे। वे जंगली फूलों की माला पहने थे तथा उनका सौन्दर्य उनकी मौन मुद्रा के कारण बढ़ गया था।" चूँकि भगवान् के पूर्ण भक्तों की दिव्य बुद्धि तथा इन्द्रियाँ भगवान् के शुद्ध आध्यात्मिक सौन्दर्य को ठीक से देखती हैं और उनकी अनुभूतियों की प्रतिध्वनि *गोपालतापनी श्रुति* के वर्णन में प्रतिध्वनित होती हैं, जिसमें भगवान् कृष्ण के नेत्रों, शरीर तथा वस्त्र की उपमा कमल, बादल तथा बिजली से दी गई है। दूसरी ओर, साधन भक्ति के स्तर पर भक्तों को जो शुद्ध होने की प्रक्रिया से गुजर रहे होते हैं भगवान् के असीम दिव्य सौन्दर्य का कुछ कुछ ही अनुभव रहता है। फिर भी *गोपालतापनी उपनिषद्* जैसे शास्त्रों से इस जैसे उद्धरणों को सुनकर वे अपनी बुद्धि के अनुसार भगवान् के ध्यान में लग जाते हैं। यद्यपि नवदीक्षित भक्त भगवान् की पूर्ण अनुभूति प्राप्त करना या स्थिर होकर उनके शरीर को घेरने वाले ऐश्वर्य पर ध्यान करना पूरी तरह नहीं सीख पाते, फिर भी वे यह कल्पना करने में आनन्द पाते हैं कि "हम अपने प्रभु का ध्यान कर रहे हैं।" और भगवान् अपनी अपार कृपा की तरंगों में बह कर स्वयं सोचते हैं, "ये भक्तगण मेरा ध्यान कर रहे हैं।" जब उनकी भक्ति परिपक्व हो जाती है, तो वे उन्हें अपने चरणों की घनिष्ठ सेवा करने की ओर खींच लेते हैं। इस तरह यह निष्कर्ष निकला कि ब्रह्म की कृपा से ही वेद ब्रह्म के साकार स्वरूप तक पहुँच सकते हैं।

सैषा ह्युपनिषद्ब्राह्मी पूर्वेशां पूर्वजैर्धृता ।
श्रद्धया धारयेद्यस्तां क्षेमं गच्छेदकिञ्चनः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सा एषा—वही; हि—निस्सन्देह; उपनिषत्—उपनिषद्; ब्राह्मी—ब्रह्म से सम्बन्धित; पूर्वेषाम्—हमारे पूर्वजों (यथा नारद) के; पूर्व-जैः—पूर्वजों द्वारा (यथा सनक); धृत—ध्यान किया गया; श्रद्धया—श्रद्धा के साथ; धारयेत्—ध्यान करता है; यः—जो भी; ताम्—उस पर; क्षेमम्—चरम सफलता; गच्छेत्—प्राप्त करेगा; अकिञ्चनः—भौतिक सम्बन्ध से रहित।

हमारे प्राचीन पूर्वजों से भी पूर्व, जो लोग हो चुके हैं, उन्होंने भी परम सत्य के इसी गुह्य ज्ञान का ही ध्यान किया है। निस्सन्देह, जो भी श्रद्धापूर्वक इस ज्ञान में एकाग्र होता है, वह भौतिक आसक्ति से छूट जायेगा और जीवन के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा।

तात्पर्य : ब्रह्म विषयक गुह्य ज्ञान के विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह अनन्त काल से विद्वान मुनियों की प्रामाणिक श्रेणी द्वारा हमें प्राप्त हुआ है। जो कोई सकाम अनुष्ठानों और मानसिक अनुमानों की विभ्रान्तियों को त्याग कर आदरपूर्वक ब्रह्म-ज्ञान का अनुशीलन करता है, वह भौतिक देह

तथा सांसारिक समाज की झूठी उपाधियों को त्यागना सीख जायेगा और सिद्धि प्राप्ति के योग्य बन सकेगा।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार इस अध्याय के प्रथम दो श्लोक ब्रह्म के विषय में उपनिषद् माने जा सकते हैं। शुकदेव गोस्वामी अपने को इसका लेखक नहीं बताते, क्योंकि यह उपनिषद् इसके पूर्व नारद ने कही, जिसे उन्होंने सनककुमार से सुना था।

अत्र ते वर्णयिष्यामि गाथां नारायणान्विताम् ।
नारदस्य च संवादमृषेर्नारायणस्य च ॥ ॥

शब्दार्थ

अत्र—इस सम्बन्ध में; ते—तुमसे; वर्णयिष्यामि—वर्णन करूँगा; गाथाम्—विवरण; नारायण-अन्विताम्—भगवान् नारायण से सम्बन्धित; नारदस्य—नारद की; च—तथा; संवादम्—वार्ता; ऋषेः नारायणस्य—श्री नारायण ऋषि की; च—तथा।.

इस सम्बन्ध में मैं तुम से भगवान् नारायण विषयक एक गाथा कहूँगा। यह उस वार्ता के विषय में है, जो श्री नारायण ऋषि तथा नारद मुनि के मध्य हुई थी।

तात्पर्य : भगवान् नारायण निम्नलिखित गाथा से दो प्रकार से जुड़े हैं—उसके वक्ता तथा उसके विषय के रूप में।

एकदा नारदो लोकान्पर्यटन्भगवत्प्रियः ।
सनातनमृषिं द्रष्टुं ययौ नारायणाश्रमम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; नारदः—नारद मुनि; लोकान्—लोकों में; पर्यटन्—भ्रमण करते हुए; भगवत्—भगवान् के; प्रियः—प्रिय; सनातनम्—आदि; ऋषिम्—ऋषि को; द्रष्टुम्—देखने के लिए; ययौ—गये; नारायण-आश्रमम्—नारायण ऋषि की कुटिया में।.

एक बार ब्रह्माण्ड के विविध लोकों का भ्रमण करते हुए, भगवान् के प्रिय भक्त नारद आदि ऋषि नारायण से मिलने, उनके आश्रम में गये।

यो वै भारतवर्षेऽस्मिन्क्षेमाय स्वस्तये नृणाम् ।
धर्मज्ञानशमोपेतमाकल्पादास्थितस्तपः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; वै—निस्सन्देह; भारत-वर्षे—भारत की पवित्र भूमि पर; अस्मिन्—इस; क्षेमाय—इस जीवन में कल्याण के लिए; स्वस्तये—तथा अगले जीवन में कल्याण के लिए; नृणाम्—मनुष्यों के; धर्म—धर्म; ज्ञान—आध्यात्मिक ज्ञान; शम—तथा आत्म-संयम से; उपेतम्—समृद्ध; आ-कल्पात्—कल्प (ब्रह्मा के दिन) के प्रारम्भ से; आस्थितः—करते हुए; तपः—तपस्या।.

कल्प के शुभारम्भ से ही नारायण ऋषि इस भारत-भूमि में धार्मिक कर्तव्यों को पूरी तरह सम्पन्न करते हुए एवं मनुष्यों के इस लोक तथा अगले लोक में लाभ के लिए आध्यात्मिक ज्ञान तथा आत्म-संयम को आदर्श रूप प्रदान करते हुए तपस्या कर रहे थे।

तत्रोपविष्टमृषिभिः कलापग्रामवासिभिः ।
परीतं प्रणतोऽपृच्छदिदमेव कुरूद्वह ॥ ७॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; उपविष्टम्—बैठे हुए; ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा; कलाप-ग्राम—कलाप नामक ग्राम में (जो बदरिकाश्रम के निकट है); वासिभिः—वास कर रहे; परीतम्—घिरे हुए; प्रणतः—झुक कर; अपृच्छत्—पूछा; इदम् एव—यही (प्रश्न); कुरु-उद्वह—हे कुरुश्रेष्ठ।

वहाँ नारद भगवान् नारायण ऋषि के पास पहुँचे, जो कलाप ग्राम के मुनियों के बीच में बैठे हुए थे। हे कुरुवीर, भगवान् को नमस्कार करने के बाद नारद ने उनसे यही प्रश्न पूछा, जो तुमने मुझसे पूछा है।

तस्मै ह्यवोचद्भगवानृषीणां शृण्वतामिदम् ।
यो ब्रह्मवादः पूर्वेषां जनलोकनिवासिनाम् ॥ ८॥

शब्दार्थ

तस्मै—उससे; हि—निस्सन्देह; अवोचत्—बोले; भगवान्—भगवान्; ऋषीणाम्—मुनियों के; शृण्वताम्—सुन रहे; इदम्—यह; यः—जो; ब्रह्म—ब्रह्म के विषय में; वादः—चर्चा; पूर्वेषाम्—प्राचीन; जन-लोक-निवासिनाम्—जनलोक के निवासियों के बीच।

ऋषियों के सुनते-सुनते नारायण ऋषि ने नारद को परम ब्रह्म विषयक, वह प्राचीन चर्चा सुनाई, जो जनलोक के वासियों के बीच हुई थी।

श्रीभगवानुवाच
स्वायम्भुव ब्रह्मसत्रं जनलोकेऽभवत्पुरा ।
तत्रस्थानां मानसानां मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ॥ ९॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; स्वायम्भुव—हे स्व-जन्मा ब्रह्मा के पुत्र; ब्रह्म—दिव्य ध्वनि के उच्चारण से सम्पन्न; सत्रम्—यज्ञ; जन-लोके—जनलोक में; अभवत्—हुआ; पुरा—भूतकाल में; तत्र—वहाँ; स्थानाम्—वहाँ रहने वालों के; मानसानाम्—मन से उत्पन्न (ब्रह्मा) के; मुनीनाम्—मुनियों के मध्य; ऊर्ध्व—ऊपर की ओर (गति करने वाले); रेतसाम्—वीर्य वाले।

भगवान् ने कहा : हे स्वजन्मा ब्रह्मा के पुत्र, एक बार बहुत समय पहले, जनलोक में रहने वाले विद्वान मुनियों ने दिव्य ध्वनि का उच्चारण करते हुए एक महान् ब्रह्म यज्ञ सम्पन्न किया। ये

सारे मुनि, जो ब्रह्मा के मानस पुत्र थे, पूर्ण ब्रह्मचारी थे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी की व्याख्या है कि यहाँ पर *सत्रम्* शब्द वैदिक यज्ञ का द्योतक है, जिसमें भाग लेने वाले सारे लोग पुरोहित की तरह कार्य करने के लिए समान रूप से पात्र होते हैं। यहाँ पर, जनलोक का प्रत्येक ऋषि ब्रह्म के विषय में अच्छी तरह बोल सकता था।

श्वेतद्वीपं गतवति त्वयि द्रष्टुं तदीश्वरम् ।
ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः श्रुतयो यत्र शेरते ।
तत्र हायमभूत्प्रश्नस्त्वं मां यमनुपृच्छसि ॥ ॥

शब्दार्थ

श्वेतद्वीपम्—श्वेतद्वीप में; गतवति—जाकर; त्वयि—तुम (नारद); द्रष्टुम्—देखने के लिए; तत्—इसका; ईश्वरम्—स्वामी (अनिरुद्ध); ब्रह्म—ब्रह्म विषयक; वादः—गोष्ठी; सु—उत्साहपूर्वक; संवृत्तः—प्रारम्भ हुई; श्रुतयः—वेद; यत्र—जिसमें (अनिरुद्ध जोकि क्षीरोदकशायी विष्णु भी कहलाते हैं); शेरते—शयन करने लगे; तत्र—उसके विषय में; ह—निस्सन्देह; अयम्—यह; अभूत्—उठा; प्रश्नः—प्रश्न; त्वम्—तुम; माम्—मुझसे; यम्—जो; अनुपृच्छसि—फिर से पूछ रहे हो।.

उस समय तुम श्वेतद्वीप में भगवान् का दर्शन करने गये हुए थे—जिनके भीतर ब्रह्माण्ड के संहार काल के समय सारे वेद विश्राम करते हैं। जनलोक में परब्रह्म के स्वभाव के विषय में ऋषियों के मध्य जीवन्त वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ। निस्सन्देह, तब यही प्रश्न उठा था, जिसे तुम अब मुझ से पूछ रहे हो।

तुल्यश्रुततपःशीलास्तुल्यस्वीयारिमध्यमाः ।
अपि चक्रुः प्रवचनमेकं शुश्रूषवोऽपरे ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तुल्य—समान; श्रुत—वेदों से सुनने में; तपः—तथा तपस्या; शीलाः—जिनके चरित्र; तुल्य—समान; स्वीय—मित्रों का; अरि—शत्रु; मध्यमाः—तथा उदासीन या निष्पक्ष; अपि—यद्यपि; चक्रुः—बनाया; प्रवचनम्—वक्ता को; एकम्—उनमें से एक; शुश्रूषवः—उत्सुक श्रोतागण; अपरे—अन्य।.

यद्यपि वेदाध्ययन तथा तपस्या के मामले में ये ऋषि समान रूप से योग्य थे और मित्रों, शत्रुओं तथा निष्पक्षों को समान दृष्टि से देखते थे, फिर भी उन्होंने अपने में से एक को वक्ता बनाया और शेष जन उत्सुक श्रोता बन गये।

श्रीसनन्दन उवाच
स्वसृष्टमिदमापीय शयानं सह शक्तिभिः ।
तदन्ते बोधयां चक्रुस्तल्लिङ्गैः श्रुतयः परम् ॥ १२ ॥

यथा शयानं संराजं वन्दिनस्तत्पराक्रमैः ।
प्रत्यूषेऽभेत्य सुश्लोकैर्बोधयन्त्यनुजीविनः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

श्री-सनन्दनः—श्री सनन्दन (ब्रह्मा का मानस पुत्र, जिसे ऋषियों के प्रश्न का उत्तर देने के लिए चुना गया) ने; उवाच—कहा; स्व—अपने से; सृष्टम्—उत्पन्न; इदम्—यह (ब्रह्माण्ड); आपीय—समेट कर के; शयानम्—सोया हुआ; सह—साथ; शक्तिभिः—अपनी शक्तियों के; तत्—उस (प्रलयकाल) के; अन्ते—अन्त में; बोधयाम् चक्रुः—उसे जगाया; तत्—उसके; लिङ्गैः—गुणों (के वर्णन) से; श्रुतयः—वेद; परम्—ब्रह्म; यथा—जिस तरह; शयानम्—सोया हुआ; संराजम्—राजा को; वन्दिनः—उसके दरबारी कवि; तत्—उसके; पराक्रमैः—वीरतापूर्ण कार्यों (के वर्णन) से; प्रत्यूषे—प्रातःकाल; अभेत्य—पास पहुँच कर; सुश्लोकैः—कवित्वमय; बोधयन्ति—जगाते हैं; अनुजीविनः—उसके सेवक।

श्री सनन्दन ने उत्तर दिया : जब भगवान् ने अपने द्वारा पूर्व-निर्मित ब्रह्माण्ड को समेट लिया, तो वे कुछ काल तक ऐसे लेटे रहे, मानो सोये हुए हैं और उनकी सारी शक्तियाँ उनमें सुप्त पड़ी रहीं। जब अगली सृष्टि करने का समय आया, तो साक्षात् वेदों ने उनकी महिमाओं का गायन करते हुए उन्हें जगाया, जिस तरह राजा की सेवा में लगे कविगण प्रातःकाल उसके पास जाकर उसके वीरतापूर्ण कार्यों को सुनाकर, उसे जगाते हैं।

तात्पर्य : सृष्टि के समय महाविष्णु की श्वास से सर्वप्रथम वेद प्रकट होते हैं और वे साकार रूप में उन्हें योगनिद्रा से जगाकर उनकी सेवा करते हैं। सनन्दन के इस कथन से यह अर्थ निकलता है कि सनक तथा अन्य ऋषियों ने उनसे वही प्रश्न पूछा था, जो नारद ने नारायण ऋषि से तथा महाराज परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा था। सनन्दन फिर से इस प्रश्न का सन्दर्भ साक्षात् वेदों द्वारा महाविष्णु से पूछे गये प्रश्न से जोड़ते हैं। यद्यपि वेद जानते थे कि सर्वज्ञ होने के कारण भगवान् को उनकी महिमा बताने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु उन्होंने इस अवसर का लाभ उत्साहपूर्वक उनकी प्रशंसा करने के लिए उठाया।

श्रीश्रुतय ऊचुः
जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां
त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः ।
अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते
क्वचिदजयात्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-श्रुतयः ऊचुः—वेदों ने कहा; जयजय—आपकी जय हो, जय हो; जहि—परास्त करें; अजाम्—माया को; अजित—हे अजित; दोष—दोष उत्पन्न करने के लिए; गृभीत—धारण किये हुए; गुणाम्—पदार्थ के गुण; त्वम्—तुम; असि—हो; यत्—क्योंकि; आत्मना—अपनी मूल स्थिति मे; समवरुद्ध—पूर्ण; समस्त—समस्त; भगः—ऐश्वर्य में; अग—अचर; जगत्—तथा चर; ओकसाम्—भौतिक शरीर वालों के; अखिल—समस्त; शक्ति—शक्तियाँ; अवबोधक—हे जागृत करने वाले; ते—तुम;

क्वचित्—कभी कभी; अजया—अपनी भौतिक शक्ति से; आत्मना—तथा अपनी अन्तरंगा आध्यात्मिक शक्ति से; च—भी; चरतः—व्यस्त रखते हुए; अनुचरेत्—समझ सकता है; निगमः—वेद।

श्रुतियों ने कहा : हे अजित, आपकी जय हो, जय हो, अपने स्वभाव से आप समस्त ऐश्वर्य से परिपूर्ण हैं, अतएव आप माया की शाश्वत शक्ति को परास्त करें, जो बद्धजीवों के लिए कठिनाइयाँ उत्पन्न करने के लिए तीनों गुणों को अपने वश में कर लेती है। चर तथा अचर देहधारियों की समस्त शक्ति को जागृत करने वाले, कभी कभी जब आप अपनी भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों के साथ क्रीड़ा करते हैं, तो वेद आपको पहचान लेते हैं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार साक्षात् वेदों की स्तुतियों के २८ श्लोक (श्लोक १ से १ तक) अट्ठाइस प्रमुख श्रुतियों के मतों को प्रस्तुत करने वाले हैं। ये मुख्य उपनिषद् तथा अन्य श्रुतियाँ ब्रह्म के विविध पक्षों से सम्बद्ध हैं और इनमें से वे श्रुतियाँ सर्वश्रेष्ठ हैं, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शुद्ध अनन्य भक्ति पर बल देती हैं। उपनिषद् उसका निषेध करते हैं, जो सर्वप्रथम भगवान् से पृथक् है और तब उनके कुछ मुख्य गुणों का वर्णन करके हमारा ध्यान भगवान् की ओर आकृष्ट करते हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस स्तुति में सर्वप्रथम आए *जय जय* शब्दों की व्याख्या "कृपया अपनी सर्वोच्चता प्रकट कीजिये" के रूप में की है। *जय* शब्द की पुनरुक्ति आदर या हर्षवश हुई है।

भगवान् पूछ सकते हैं, "मैं अपनी सर्वोच्चता किस तरह प्रकट करूँ?"

श्रुतियाँ इसका उत्तर भगवान् से यह प्रार्थना करते हुए देती हैं कि वे सारे जीवों पर कृपा करके उनके अज्ञान को नष्ट कर दें और उन्हें अपने चरणकमलों की ओर आकृष्ट करें।

भगवान् कहते हैं, "लेकिन जीवों पर अज्ञान लादने वाली माया उत्तम गुणों से युक्त है (*गृभीत गुणान्*)। तो मैं उसका विरोध क्यों करूँ?"

वेद उत्तर देते हैं, "ठीक है, लेकिन उसने बद्धजीवों को मोहित करने के लिए तथा झूठे ही भौतिक शरीरों से अपनी पहचान करने के लिए तीनों गुणों को धारण कर रखा है। उसके तीनों गुण—सतो, रजो तथा तमोगुण—दोषयुक्त (*दोष-गृभीत*) हैं, क्योंकि आप उनकी उपस्थिति में प्रकट नहीं होते।"

श्रुतियाँ भगवान् को *अजित* कहती हैं जिसका अर्थ है कि "केवल आप ही ऐसे हैं, जो माया द्वारा

जीते नहीं जाते, जबकि ब्रह्मा जैसे अन्य लोग अपनी ही त्रुटियों द्वारा परास्त कर दिये जाते हैं।''

भगवान् उत्तर देते हैं, ''लेकिन तुम्हारे पास इसका कौन-सा प्रमाण है कि वह मुझे नहीं जीत पाती ?''

''इसका प्रमाण इस तथ्य में निहित है कि आपने अपनी मूल स्थिति में समस्त ऐश्वर्य की सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हैं।''

इस बात पर भगवान् को यह आपत्ति हो सकती है कि जीवों का अज्ञान नष्ट कर देने से ही वे मेरे चरणकमलों में नहीं चले आयेंगे, क्योंकि अज्ञान दूर किये जाने पर भी जीवात्मा भक्ति किये बिना भगवान् को प्राप्त नहीं कर सकता। स्वयं भगवान् का कथन है (*भागवत* ११.१.२१)—*भक्त्याहमेकया ग्राह्य:*—केवल भक्ति द्वारा मुझे प्राप्त किया जा सकता है।

इस आपत्ति का उत्तर श्रुतियाँ देती हैं, ''हे समस्त शक्तियों को जगाने वाले प्रभु! आप जीवों में बुद्धि तथा इन्द्रियाँ उत्पन्न करके उन्हें कठिन श्रम करने तथा अपने श्रम का फल भोगने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। इसके अतिरिक्त ज्ञान, योग तथा भक्ति के उन्नतिशील मार्गों का अनुसरण करने के लिए उनकी क्षमता को जागृत करते हुए आप उन्हें क्रमश: अपने ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् तीनों पक्षों की ओर अग्रसर होने देते हैं। जब ज्ञान, योग तथा भक्ति प्रौढ़ होते हैं, तो आप जीवों को अपने तीनों पक्षों का साक्षात्कार करने देते हैं।''

यदि भगवान् साक्षात् वेदों के इस कथन का समर्थन करने वाला प्रामाणिक साक्ष्य माँगते तो वेद विनयपूर्वक उत्तर देते, ''हम स्वयं साक्ष्य हैं। कुछ अवसरों पर—जैसे कि अब, सृष्टि के समय—आप अपनी बहिरंगा शक्ति माया के साथ क्रीड़ा करते हैं, जबकि आपकी अन्तरंगा शक्ति सदैव आपके साथ रहती है। वर्तमान के ही जैसे समयों पर जब आपकी सक्रियता बाह्य रूप से प्रकट होती है कि हम वेद आपको आपकी क्रीड़ा में पहचान लेते हैं।''

इस तरह भगवान् के साथ अपने निजी संसर्ग से प्राप्त अधिकार से श्रुतियाँ कर्म, ज्ञान योग तथा भक्ति को विविध साधनों के रूप में प्रयुक्त करती हैं, जिससे बद्धजीव ब्रह्म की खोज में अपनी बुद्धि, इन्द्रियाँ, मन तथा प्राण का प्रयोग कर सकें।

कई स्थानों पर वेद ब्रह्म के दिव्य साकार गुणों की प्रशंसा करते हैं। निम्नलिखित श्लोक *श्वेताश्वतर*

उपनिषद् (६.११), *गोपालतापनी उपनिषद्* (उत्तर ९७) तथा *ब्रह्म उपनिषद्* (.१) में आया है—

एको देव: सर्वभूतेषु गूढ:

सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

कर्माध्यक्ष: सर्वभूताधिवास:

साक्षी: चेता: केवलो निर्गुणश्च॥

''एक ही भगवान् उत्पन्न की गई सारी वस्तुओं के भीतर छिपा हुआ है। वह समस्त पदार्थ में व्याप्त है और सारे जीवों के हृदयों के भीतर स्थित है। वह अन्त:वासी परमात्मा के रूप में उनकी भौतिक गतिविधियों का निरीक्षण करता है। इस तरह स्वयं निर्गुण होते हुए वह अद्वितीय साक्षी एवं चेतना देने वाला है।''

ब्रह्म के साकार गुणों का अधिक वर्णन उपनिषदों के निम्नलिखित उद्धरणों में पाया जाता है—*य: सर्वज्ञ स सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तप:* जो सब जानने वाला है, जिससे समस्त ज्ञान की शक्ति आती है—वह सबों में से अधिक ज्ञानी है (*मुण्डक उपनिषद् १.१.९*)। *सर्वस्य वशी सर्वस्येशान:*—वह हर एक का स्वामी तथा नियन्ता है (*बृहदारण्यक उपनिषद् ..२२*); तथा *य: पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या आन्तरो यं पृथिवी न वेद*—वह जो पृथ्वी के भीतर रहता है और उसमें व्याप्त है और जिसे पृथ्वी नहीं जानती (*बृहदारण्यकउपनिषद्* ३.७.३)।

सृष्टि करने में भगवान् की भूमिका का उल्लेख अनेक श्रुति-कथनों में हुआ है। *बृहदारण्यक उपनिषद्* (१.२.) का कथन है— *सोऽकामयत बहु स्याम्*—उसने इच्छा की कि मैं अनेक हो जाऊँ। *सोऽकामयत* (उसने इच्छा की) का यहाँ यह अर्थ है कि भगवान् का व्यक्तित्व शाश्वत हैं, क्योंकि सृष्टि के भी पूर्व ब्रह्म को इच्छा हुई और इच्छा तो व्यक्तियों का अद्वितीय लक्षण है। *ऐतरेय उपनिषद्* (३.११) में भी इसी तरह का कथन आया है—*स ऐक्षत तत्तेजोऽसृजत*—उसने देखा और उसकी शक्ति ने सृष्टि कर दी। यहाँ पर *तत्तेज:* शब्द भगवान् के अंशरूप महाविष्णु का द्योतक है, जो माया पर दृष्टि डालता है, जिससे भौतिक सृष्टि प्रकट होती है। अथवा *तत्तेज:* से भगवान् के निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप का, उनकी सर्वव्यापक शक्ति, शाश्वत उपस्थिति का द्योतन हो सकता है। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.०) में वर्णन हुआ है—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-

कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्।

तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जो महान् शक्ति से सम्पन्न हैं। उनके दिव्य स्वरूप का प्रकाशमान तेज निर्विशेष ब्रह्म है, जो परम, पूर्ण तथा अनन्त है और जो कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों में असंख्य लोकों (ग्रहों) को उनके पृथक् पृथक् ऐश्वर्यों के समेत प्रदर्शित करता है।"

इस श्लोक का सार-समाहार करते हुए श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

जय जयाजित जह्यगजंगमा-

वृतिमजामुपनीतमृषागुणाम् ।

न हि भवन्तमृते प्रभवन्त्यामी

निगमगीतगुणार्णवता तव॥

"हे अजित! आपकी जय हो, जय हो। कृपा करके अपनी नित्य माया के प्रभाव को परास्त करें, जो समस्त चराचर प्राणियों को आच्छादित करती है और मोह के गुणों पर शासन चलाती है। आपके प्रभाव के बिना ये सारे वैदिक-मंत्र आपका गुणगान दिव्य गुणों के सागर के रूप में करने में असमर्थ रहेंगे।"

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया
यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाविकृतात् ।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं
कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

बृहत्—ब्रह्म के रूप में; उपलब्धम्—अनुभूत; एतत्—यह (जगत); अवयन्ति—वे मानते हैं; अवशेषतया—जगत की सर्वव्यापी नींव के रूप में; यतः—चूँकि; उदय—उत्पत्ति; अस्तम्-अयौ—तथा विलय; विकृतेः—विकार का; मृदि—मिट्टी का; वा—मानो; अविकृतात्—विकार रहित (ब्रह्म); अतः—इसलिए; ऋषयः—ऋषियों ने (जिन्होंने वैदिक मंत्रों का संगलन किया); दधुः—स्थापित किया, रखा; त्वयि—तुम में; मनः—अपने मन; वचन—शब्द; आचरितम्—तथा कर्म; कथम्—कैसे; अयथा—जिस रूप में हैं, उस रूप में नहीं; भवन्ति—हो जाते हैं; भुवि—भूमि पर; दत्त—रखे हुए; पदानि—पग; नृणाम्—मनुष्यों के।

इस दृश्य जगत की पहचान ब्रह्म से की जाती है, क्योंकि परब्रह्म समस्त जगत की अनन्तिम

नींव है। यद्यपि समस्त उत्पन्न वस्तुएँ उनसे उद्भूत होती हैं और अन्त में उसी में लीन होती हैं, तो भी ब्रह्म अपरिवर्तित रहता है, जिस तरह कि मिट्टी जिससे अनेक वस्तुएँ बनाई जाती हैं और वे वस्तुएँ फिर उसी में लीन हो जाती हैं, वह अपरिवर्तित रहती है। इसीलिए सारे वैदिक ऋषि अपने विचारों, अपने शब्दों तथा अपने कर्मों को आपको ही अर्पित करते हैं। भला ऐसा कैसे हो सकता है कि जिस पृथ्वी पर मनुष्य रहते हैं, उसे उनके पैर स्पर्श न कर सकें?

तात्पर्य : इसमें सन्देह हो सकता है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पहचान करते समय सारे वैदिक मंत्र एकमत हैं। आखिर, कुछ मंत्र कहते हैं *इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा*—इन्द्र ही सारे चर-अचर प्राणियों का राजा है (ऋग्वेद १.३२.१५)। और कुछ मंत्र यह कहते हैं *अग्निर्मूर्धा दिवः*—अग्नि ही स्वर्ग का प्रमुख है। तिस पर भी अन्य मंत्र विभिन्न देवताओं को ब्रह्म बतलाते हैं। तो ऐसा प्रतीत होगा कि वेद एक बहु-आस्तिकतावादी सांसारिक दृश्य प्रस्तुत करते हैं।

स्वयं वेद इस संदेह का उत्तर देते हुए इस श्लोक में बतलाते हैं कि ब्रह्माण्ड की सृष्टि का एक ही स्रोत हो सकता है, जिसे ब्रह्म या *बृहत्* कहते हैं, जो सम्पूर्ण जगत में व्याप्त एवं निहित एकमात्र सत्य है। कोई भी एक देवता यथा इन्द्र या अग्नि इस अद्वितीय भूमिका को पूरा नहीं कर सकता, न ही श्रुतियाँ इतनी अज्ञानी हैं कि ऐसा विचार प्रस्तावित करेंगी। जैसाकि यहाँ *त्वयि* शब्द से सूचित होता है :एकमात्र विष्णु ही परम सत्य हैं। इन्द्र तथा अन्य देवताओं की महिमा का वर्णन भले ही विविध प्रकारों से किया जाता है, किन्तु उनमें वही शक्तियाँ पाई जाती हैं, जो श्री विष्णु ने उन्हें प्रदान की हैं।

वैदिक ऋषि समझते हैं कि यह समस्त जगत—जिसमें इन्द्र, अग्नि तथा आँखों, कानों इत्यादि इन्द्रियों से जो भी अनुभवगम्य है सभी सम्मिलित हैं—एक परम ब्रह्म या भगवान् से एकरूप है, जो *बृहत्* कहलाता है, क्योंकि वही *अवशेष* है अर्थात् "चरम वस्तु जो बची रहती है।" सृष्टि के समय भगवान् से ही प्रत्येक वस्तु का विस्तार होता है और प्रलय के समय सारी वस्तुएँ उन्हीं में विलीन हो जाती हैं। भौतिक जगत के पूर्व तथा पश्चात् केवल वे ही स्थिर आधार के रूप में विद्यमान रहते हैं, जिन्हें दार्शनिक जन *उपादान* (अवयव कारण) कहते हैं। यद्यपि भगवान् में से असंख्य रूप उद्भूत होते हैं, किन्तु वे सदा अपरिवर्तित रहते हैं—इसी विचार को श्रुतियों ने यहाँ *अविकृतात्* शब्द से द्योतित किया है।

मृदि वा शब्दों में (जैसा मिट्टी के उदाहरण में) एक प्रसिद्ध रूपक निहित है, जिसे उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से *छान्दोग्य उपनिषद्* (६..१) में कहा था *वाचारंभनं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्*—भौतिक जगत की वस्तुएँ केवल नाम के रूप में—जिसे भाषा के आधार पर विकार कहते हैं—विद्यमान रहती हैं, जबकि मुख्य अवयव कारण (उपादान) यथा मिट्टी जिससे बर्तन बनाये जाते हैं असली सत्य है। मिट्टी का लोंदा विभिन्न बर्तनों, मूर्तियों इत्यादि का उपादान है, किन्तु मिट्टी ही अपरिवर्तित सार है। अन्ततोगत्वा बर्तन तथा अन्य वस्तुएँ नष्ट होकर उसी मिट्टी में मिल जायेंगी जिससे वे बनी थीं। इसी प्रकार भगवान् सम्पूर्ण अवयव कारण हैं फिर भी वे विकार से सदैव अस्पृश्य रहते हैं। यही सार है इस कथन का *सर्वं खल्विदं ब्रह्म* (छान्दोग्य उपनिषद् ३.१.१)। इस रहस्य पर आश्चर्य प्रकट करते हुए महान् भक्त गजेन्द्र ने प्रार्थना की थी—

नमो नमस्तेऽखिलकारणाय

निष्कारणायाद्‌भुतकारणाय ॥

"समस्त सृष्टि के उद्‌गम, आपको बारम्बार नमस्कार है। आप समस्त कारणों के अचिन्त्य कारण हैं और आपका कोई अन्य कारण नहीं है।" (*भागवत* ८.३.१५)

भौतिक प्रकृति को पाश्चात्य विज्ञान में तथा वेदों में भी प्राय: सृष्टि का उपादान—अवयव कारण—माना जाता है। किन्तु इससे भगवान् के अन्तिम कारण होने के तथ्य का विरोध नहीं होता, क्योंकि प्रकृति उनकी शक्ति है और स्वयं परिवर्तनशील है। *श्रीमद्‌भागवत* (११.२.१९) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

प्रकृतिर्यस्योपादानम् आधार: पुरुष: पर:।

सतोऽभिव्यञ्जक: कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वहम्॥

"भौतिक ब्रह्माण्ड सत्य है, जिसका मूल अवयव तथा अन्तिम स्थिति प्रकृति है। महाविष्णु प्रकृति के आधार हैं, जो कालशक्ति द्वारा प्रकट होती है। इस तरह प्रकृति, सर्वशक्तिमान विष्णु तथा काल—ये मुझ परम सत्य से पृथक् नहीं हैं।" यद्यपि प्रकृति में विकार आता है, किन्तु परम पुरुष भगवान् में नहीं आता। प्रकृति भगवान् की बहिरंगा शक्ति है, किन्तु भगवान् के एक दूसरी शक्ति—अन्तरंगा शक्ति—है, जो *स्वरूपभूता* है अर्थात् उनसे सर्वथा अभिन्न है। भगवान् की अन्तरंगा शक्ति उन्हीं की तरह

अपरिवर्तनशील है।

इसीलिए वेदों के मंत्र तथा वे ऋषि जिन्होंने इन मंत्रों को ध्यान में प्राप्त किया है और मानव कल्याण के लिए जिनका प्रसार किया है, अपना ध्यान मूलत: भगवान् की ओर देते हैं। वैदिक ऋषि अपने मन तथा वचनों के कार्यकलापों को—अर्थात् अपने वचनों के आन्तरिक एवं शाब्दिक अर्थों (अभिद्या-वृत्ति) को—सर्वप्रथम भगवान् को ही अर्पित करते हैं और गौण रूप में ही प्रकृति के भिन्न विकारों यथा इन्द्र आदि देवताओं को अर्पित करते हैं।

जिस तरह मनुष्य के पग चाहे वे कीचड़, पत्थर या ईंट पर पड़ें, पृथ्वी को छुए बिना नहीं रहते, उसी तरह वेद जो भी भौतिक सृष्टि के विषय में चर्चा करते हैं उसका सम्बन्ध परम सत्य से होता है। संसारी साहित्य सीमित घटनाओं का ही वर्णन करता है और इसके विषयों का संपूर्ण वास्तविकता से सम्बन्ध की उपेक्षा करता है, जबकि वेदों की दृष्टि सदैव ब्रह्म पर रहती है। *छान्दोग्य उपनिषद्* से इसकी पुष्टि होती है—*मृत्तिकेत्येव सत्यम्* तथा *सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—वास्तविकता की पूरी पहचान तभी होती है, जब प्रत्येक वस्तु को अस्तित्व के लिए ब्रह्म पर आश्रित देखा जाता है। एकमात्र ब्रह्म सत्य है—इसलिए नहीं कि इस जगत में हम जो कुछ देखते हैं वह सत्य नहीं हैं, अपितु ब्रह्म प्रत्येक वस्तु का चरम अन्तिम कारण है। इस तरह *मृत्तिकेत्येव सत्यम्* में आये शब्द *सत्यम्* की परिभाषा एक अन्य प्रसंग में स्वयं भगवान् कृष्ण ने ''उपादान'' के रूप में की है—

यद् उपादाय पूर्वस्तु भावो विकुरुते परम्।
आदिरन्तो यदा यस्य तत् सत्यमभिधीयते॥

''एक आवश्यक अवयव से बनी हुई भौतिक वस्तु एक अन्य भौतिक वस्तु को विकार के माध्यम से जन्म देती है। इस तरह एक सृजित वस्तु दूसरी सृजित वस्तु का कारण तथा आधार बनती है। कोई वस्तु इसलिए असली (सत्य) कही जा सकती है, क्योंकि इसमें उस वस्तु का मूलभूत स्वभाव होता है, जो इसका कारणस्वरूप होता है।'' (*भागवत* ११.२.१८)

श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् श्रीकृष्ण* में *ब्रह्म* शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है, ''ब्रह्म शब्द सबसे महान् तथा प्रत्येक जीव के पालनकर्ता का सूचक है। निर्विशेषवादी आकाश की महानता की ओर आकृष्ट होते हैं किन्तु अपनी अल्पज्ञता के कारण ही वे श्रीकृष्ण की महानता की ओर आकृष्ट नहीं हो

पाते। हम अपने व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति विशेष की महानता द्वारा आकृष्ट होते हैं, किन्तु किसी पर्वत की महानता द्वारा नहीं। वस्तुतः ब्रह्म शब्द का प्रयोग केवल श्रीकृष्ण के लिए ही किया जा सकता है। अतएव *भगवद्गीता* में अर्जुन ने स्वीकार किया है कि श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं अर्थात् वे प्रत्येक वस्तु के परम आश्रय हैं।

अपने अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्तियों, अनन्त बल, अनन्त प्रभाव, अनन्त सौन्दर्य तथा अनन्त त्याग के कारण ही श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं। अतएव ब्रह्म शब्द केवल श्रीकृष्ण के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है। अर्जुन इस तथ्य की पुष्टि करता है कि श्रीकृष्ण के दिव्य शरीर से उद्भूत किरणों के रूप में तेज ही निराकार ब्रह्म है, अतएव श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं। प्रत्येक वस्तु ब्रह्म पर आश्रित है किन्तु ब्रह्म श्रीकृष्ण पर आश्रित है। अतएव श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं। भौतिक तत्त्वों को श्रीकृष्ण की निम्न (कनिष्ठ) शक्तियों के रूप में माना जाता है, क्योंकि उनकी अन्योन्य क्रिया से सृष्टि का निर्माण होता है, कृष्ण पर टिकी रहती है तथा प्रलय के बाद श्रीकृष्ण की सूक्ष्म शक्ति के रूप में उनके शरीर में पुनः प्रवेश करती है। अतएव सृष्टि की उत्पत्ति तथा प्रलय दोनों के कारण श्रीकृष्ण हैं।''

सारांश रूप में श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

द्रुहिणवह्निरवीन्द्रमुखामरा

जगदिदं न भवेत् पृथगुत्थितम्।

बहुमुखैरपि मन्त्रगणैरज-

स्त्वमुरुमूर्तिरतो विनिगद्यसे॥

''शिव, अग्नि, सूर्य, इन्द्र इत्यादि देवता तथा ब्रह्माण्ड के सारे जीव आपसे स्वतंत्र रहकर उत्पन्न नहीं होते। यद्यपि वेद मंत्र विविध दृष्टियों से बोलते हैं किन्तु वे सभी विविध रूपों में प्रकट होने वाले अजन्मा आप ही के बारे में कहते हैं।''

इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल-
क्षपणकथामृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः ।
किमुत पुनः स्वधामविधुताशयकालगुणाः
परम भजन्ति ये पदमजस्रसुखानुभवम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; तव—तुम्हारा; सूरयः—ज्ञानी सन्त; त्रि—तीन (लोकों के); अधिपते—हे स्वामी; अखिल—समस्त; लोक—लोकों का; मल—दूषण; क्षपण—उन्मूल करने वाले; कथा—चर्चा के; अमृत—अमृत; अब्धिम्—समुद्र में; अवगाह्य—डुबकी लगाकर; तपांसि—अपने कष्टों को; जहुः—त्याग दिया है; किम् उत—क्या कहा जा सकता है; पुनः—और भी; स्व—अपनी; धाम—शक्ति से; विधुत—दूर किया हुआ; आशय—मनों के; काल—तथा समय के; गुणाः—(अवांछित) गुण; परम—हे सर्वश्रेष्ठ; भजन्ति—पूजा करते हैं; ये—जो; पदम्—आपके असली स्वभाव को; अजस्र—निर्बाध; सुख—सुख का; अनुभवम्—अनुभव।

अतएव हे त्रिलोकपति, बुद्धिमान लोग आपकी कथाओं के अमृतमय सागर में गहरी डुबकी लगाकर समस्त क्लेशों से छुटकारा पा लेते हैं, क्योंकि आपकी कथाएँ ब्रह्माण्ड के सारे दूषण को धो डालती हैं। तो फिर उन लोगों के बारे में क्या कहा जाय, जिन्होंने आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा अपने मनों को बुरी आदतों से और स्वयं को काल से मुक्त कर लिया है और, हे परम पुरुष, आपके असली स्वभाव की, जिसके भीतर निर्बाध आनन्द भरा है, पूजा करने में समर्थ हैं?

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार पिछले श्लोक में उन श्रुतियाँ ने जिनके ब्रह्म-विषयक वर्णन निर्विशेष लगे हों अपने असली प्रयोजन को स्पष्ट कर दिया। अब इस श्लोक में वे श्रुतियाँ जो अपना ध्यान दिव्य भगवान् पर ही केन्द्रित करती हैं और उन्हीं की दिव्य लीलाओं का वर्णन करती हैं उनकी प्रशंसा कर रही हैं।

चूँकि सारे वेद भगवान् की श्रेष्ठता *सर्वकारण कारणं* के रूप में घोषित करते हैं, अतएव विवेकशील व्यक्तियों को चाहिए कि उन भगवान् की पूजा करना स्वीकार करें। उनके महिमाओं रूपी समुद्र में गोता लगाकर बुद्धिमान भक्त समस्त जीवों के कष्टों को भगाने में सहायता करते हैं और भौतिक जीवन के प्रति अपनी आसक्ति को शिथिल बनाते हैं। ये प्रगतिशील भक्त धीरे धीरे सारी भौतिक आसक्तियाँ त्याग देते हैं और कर्म, ज्ञान तथा योग की कष्टप्रद तपस्या के प्रति, जो किसी समय उनकी रुचि थी, उसे समाप्त कर देते हैं।

इन भक्तों से भी परे श्रुतियाँ हैं, जो दिव्य सत्य की पारखी हैं और भगवान् के यश रूपी अमृतमय समुद्र में गोता लगाकर इसका सम्मान करती हैं। भगवान् के ये परिपक्व भक्त आशातीत सिद्धि प्राप्त करते हैं। भगवान् इनके निष्ठावान् प्रयासों से आदान-प्रदान करके इन्हें शक्ति प्रदान करते हैं कि ये उनके साकार रूप की अनुभूति कर सकें। प्रसन्नतापूर्वक भगवान् की अन्तरंगा लीलाओं तथा वातावरण का स्मरण करके ये मानसिक दूषण के अन्तिम सूक्ष्म चिह्नों से तथा रोग एवं बुढ़ापे की दुर्निवार पीड़ा के

प्रति संवेदनशीलता से सर्वथा स्वत: मुक्त हो जाते हैं।

भक्ति की शुद्धि करने की शक्ति का उल्लेख करते हुए श्रुतियाँ कहती हैं *तद् यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवम् एवंविधि पापं कर्म न श्लिष्यते*—जिस तरह कमल के पत्ते पर जल नहीं ठहरता उसी तरह पापपूर्ण कर्म उस पर नहीं ठहरते, जो सत्य को इस तरह से जानता है। *शतपथ ब्राह्मण* (१.७.२८), *तैत्तिरीय ब्राह्मण* (३.१२.९.८), *बृहदारण्यक उपनिषद्* (..२८) तथा *बौधायन-धर्म-शास्त्र* (२.६.११.३०) सभी एकमत हैं कि *न कर्मणा लिप्यते पापकेन*—इस तरह पापपूर्ण कर्म द्वारा दूषित होने से बचा जा सकता है।

ऋग्वेद (१.१५.१) में भगवान् की लीलाओं का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—*विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं य: पार्थिवानि विममे रजांसि*—जो कोई संसार-भर के सभी धूल-कणों को गिन सकता है केवल वही भगवान् विष्णु के वीरतापूर्ण कार्यों को पूरी तरह प्रतिपादित कर सकता है। अनेक श्रुति मंत्रों में भगवद्भक्ति की प्रशंसा की गई है। यथा—*एको वशी सर्वगो येऽनुभजन्ति धीरास्। तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्*—वे ही एक सर्वव्यापक प्रभु तथा नियन्ता हैं, केवल वे चतुर आत्माएँ, जो उनकी पूजा करती हैं शाश्वत सुखपाती हैं, अन्य आत्माएँ नहीं।

इस प्रसंग में श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

सकलवेदगणेरितसद्गुणस्त्वम्

इति सर्वमनीषिजना रता: ।

त्वयि सुभद्रगुणश्रवणादिभिस्तव

पदस्मरणेन गतक्लमा: ॥

"चूँकि सारे वेद आपके दिव्य गुणों का वर्णन करते हैं इसलिए सारे विचारशील व्यक्ति आपके सर्वमंगलकारी गुणों के सुनने और उनका कीर्तन करने की ओर आकर्षित होते हैं। इस तरह आपके चरणकमलों का स्मरण करके वे भौतिक दुख से मुक्त हो जाते हैं।"

दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा
महदहमादयोऽण्डमसृजन्यदनुग्रहत: ।
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु य:

सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

दृतयः—धौंकनी; इव—सदृश; श्वसन्ति—श्वास लेते हैं; असु-भृतः—जीवित; यदि—यदि; ते—तुम्हारे; अनुविधाः—स्वामि-भक्त अनुयायी; महत्—सम्पूर्ण भौतिक शक्ति; अहम्—मिथ्या अहंकार; आदयः—तथा सृष्टि के अन्य तत्त्व; अण्डम्—ब्रह्माण्ड को; असृजन्—उत्पन्न किया; यत्—जिसकी; अनुग्रहतः—कृपा से; पुरुष—जीविका; विधः—विशिष्ट स्वरूपों के अनुसार; अन्वयः—जिनका प्रवेश; अत्र—इनमें से; चरमः—चरम; अन्न-मय-आदिषु—अन्नमय नामक अभिव्यक्तियों में; यः—जो; सत्-असतः—स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थ से; परम्—पृथक्; त्वम्—तुम; अथ—और भी आगे; यत्—जो; एषु—इनमें से; अवशेषम्—निहित; ऋतम्—वास्तविकता।

यदि वे आपके श्रद्धालु अनुयायी बन जाते हैं, तभी वे साँस लेते हुए वास्तव में जीवित हैं, अन्यथा उनका साँस लेना धौंकनी जैसा है। यह तो आपकी एकमात्र कृपा ही है कि महत् तत्त्व तथा मिथ्या अहंकार से प्रारम्भ होने वाले तत्त्वों ने इस ब्रह्माण्ड रूपी अंडे को जन्म दिया। अन्नमय इत्यादि स्वरूपों में आप ही चरम हैं, जो जीव के साथ भौतिक आवरणों में प्रवेश करके उसके ही जैसे स्वरूप ग्रहण करते हैं। स्थूल तथा सूक्ष्म भौतिक स्वरूपों से भिन्न, आप उन सबों में निहित वास्तविकता हैं।

तात्पर्य : उसके लिए जीवन प्रयोजनरहित है, जो अपने अत्यन्त हितैषी के प्रति अज्ञानी बना रहता है और उसकी पूजा नहीं करता। ऐसे व्यक्ति का श्वास लेना लुहार की धौंकनी के साँस लेने जैसा है। बद्धजीव के लिए मानव-जीवन की भेंट एक सुअवसर है, लेकिन अपने स्वामी से मुख मोड़ कर जीव आध्यात्मिक आत्महत्या कर लेता है। *श्री ईशोपनिषद* (३) के शब्दों में—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

"आत्मा का हन्ता, चाहे वह जो कोई भी हो, उसे श्रद्धाविहीन अंधकार तथा अज्ञान से पूर्ण लोकों के नाम से अभिहित लोकों में प्रवेश करना होगा।" *असूर्याः* का अर्थ है "दानवों द्वारा प्राप्त किया जाना" और दानव ऐसे व्यक्ति हैं, जिनमें भगवान् विष्णु के प्रति कोई भक्ति नहीं होती। *अग्नि पुराण* में यह परिभाषा दी गई है—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।

विष्णुभक्तिपरो दैव आसुरस्तद्विपर्ययः॥

"इस संसार में दो प्रकार की उत्पन्न प्राणी हैं दैवी तथा दानवी। जो भगवान् विष्णु की भक्ति में लगे रहते हैं, वे दैवी हैं और जो ऐसी सेवा के विरोधी हैं, वे दानवी हैं।"

इसी तरह बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है न चेद् अवेदीन् महती विनष्टिः... ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुखम् एवोपयन्ति—यदि कोई व्यक्ति ब्रह्म को नहीं जानता तो उसको सर्वनाश देखना पड़ता है...जो ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं, वे अमर हो जाते हैं, किन्तु अन्य लोगों को अवश्य ही दुख भोगना पड़ता है। अज्ञान से जनित कष्ट से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को अपनी कृष्णचेतना को जागृत करना चाहिए, किन्तु जिस विधि से इसे किया जाता है उसका कठिन होना आवश्यक नहीं है, जैसाकि भगवान् कृष्ण हमें *भगवद्गीता* (९.३) में आश्वासन देते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि युक्त्वैवम् आत्मानं मत्परायणः॥

''अपने मन को सदैव मेरा चिन्तन करने में लगाओ, मेरे भक्त बनो, मुझे ही नमस्कार करो तथा मेरी पूजा करो। पूरी तरह से मुझमें लीन होने पर तुम अवश्य ही मेरे पास आओगे।'' अयोग्यताओं तथा दुर्बलताओं के बावजूद मनुष्य को स्वेच्छा से *अनुविध* अर्थात् भगवान् का विश्वासपात्र तथा विश्वासी दास बन जाना चाहिए। *कठ उपनिषद्* की घोषणा है (२.२.१३)

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्

एको बहूनां यो विदधाति कामान्।

तं पीठगं येऽनुपश्यन्ति धीरास्

तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥

''समस्त नित्य एवं चेतन जीवों में एक ऐसा है, जो हर एक की आवश्यकताएँ पूरी करता है। जो बुद्धिमान आत्माएँ उनके धाम में उनकी पूजा करती हैं, उन्हें शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है। अन्य को नहीं।''

क्या जीवित है और क्या मृत है? भौतिकतावादी अभक्तों के शरीर तथा मन जीवन के लक्षण तो प्रदर्शित करते हैं, लेकिन यह स्वरूप भ्रामक है। वस्तुतः बद्धजीव का अपने शारीरिक अस्तित्व पर कोई नियंत्रण नहीं रहता। अपनी इच्छा के विरुद्ध वह मल त्यागता है, समय समय पर बीमार पड़ता है और वृद्ध होकर अन्त में मर जाता है। वह अपने मन में अनिच्छित ही क्रोध, लालसा तथा शोक का भोग करता है। भगवान् कृष्ण इस स्थिति को *यन्त्रारूढानि मायया* (*भगवद्गीता* १८.६१) कहते हैं अर्थात्

यात्री-यंत्र में असहाय-सा आरूढ़ होना। आत्मा तो निस्सन्देह जीवित रहता है और इसका जीना अटल है, लेकिन अपने अज्ञान के कारण आन्तरिक जीवन प्रच्छन्न तथा विस्मृत रहता है। इसके स्थान पर बाह्य मन तथा शरीर प्रकृति के गुणों के आदेश पालन करते हैं, जिससे मनुष्य आत्मा की सुप्त आवश्यकताओं से असम्बद्ध होकर कर्म करता है। *श्वेताश्वतर उपनिषद्* (२.५) माया के इन भुलक्कड़ बन्दियों को पुकार पुकार कर कहती है—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्त पुत्रा

आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।

''हे अमरता के पुत्रो, जो कभी दैवी लोक में वास करते थे, सुनो!''

अतएव एक ओर सामान्यतया जिसे सजीव माना जाता है यह भौतिक शरीर वास्तव में मृत यंत्र है, जो प्रकृति के गुणों द्वारा संचालित है। दूसरी ओर भौतिकतावादी जिसे शोषण के लिए जड़ पदार्थ मानता है, वह अज्ञात अनिवार्यता से सजीव बुद्धि से सम्बन्धित होता है, जो उसकी अपनी बुद्धि से अधिक शक्तिशाली है। प्रकृति के पीछे जो बुद्धि कार्य करती है, उसे वैदिक सभ्यता उन देवताओं से सम्बन्धित मानती है, जो विविध तत्त्वों के अधिष्ठाता हैं और अन्त में इसे स्वयं भगवान् से सम्बन्धित मानती है। वस्तुतः पदार्थ किसी सजीव शक्ति की प्रेरणा तथा निर्देशन के बिना ठीक से कार्य नहीं कर सकता। जैसाकि कृष्ण ने *भगवद्गीता* (९.) में कहा है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते॥

''हे कुन्ती-पुत्र! यह भौतिक प्रकृति, जो कि मेरी एक शक्ति है मेरी अध्यक्षता में कार्य कर रही है और समस्त जड़ तथा चेतन प्राणियों को उत्पन्न करती है। उसके शासन के अन्तर्गत ही यह जगत बारम्बार उत्पन्न होता है और नष्ट होता है।''

सृष्टि के प्रारम्भ में महाविष्णु ने सुप्त प्रकृति पर दृष्टि डाली। अतः जागकर सूक्ष्म प्रकृति अधिक संहत स्वरूपों को जन्म देने लगी पहले पहल *महत्* बना, फिर प्रकृति के तीनों गुणों के संयोग से *अहं* और तब धीरे धीरे विभिन्न तत्त्व यथा बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ तथा पाँच भौतिक तत्त्व और उनके अधिष्ठाता देवता बने। किन्तु पृथक् रूप पा चुकने के बाद भी ये देवता जो विविध तत्त्वों के अधिष्ठाता हैं, तब

तक दृश्य जगत का निर्माण नहीं कर पाये, जब तक भगवान् विष्णु ने अपनी विशेष कृपा प्रदान करके एक बार फिर अन्तराक्षेप नहीं किया। इसका वर्णन *श्रीमद्भागवत* के तृतीय स्कंध (३.५.३८-३९) में मिलता है—

एते देवा: कला विष्णो: कालमायांशलिंगिन:।

नानात्वात् स्वक्रियानीशा: प्रोचु: प्राञ्जलयो विभुम्॥

देवा ऊचु:

ननाम ते देव पदारविन्दं प्रपन्नतापोपशमातपत्रम्।

यन्मूलकेता यतयोऽञ्जसोरुसंसारदु:खं बहिरुत्क्षिपन्ति॥

''इन भौतिक तत्त्वों के अधिष्ठाता देव भगवान् विष्णु के शक्त्याविष्ट अंश हैं। वे बहिरंगा शक्ति के अधीन शाश्वत काल द्वारा देह पाते हैं और वे उनके विभिन्नांश हैं। जब उन्हें विश्व के विविध कार्य सौंप दिये गये और वे उन्हें नहीं कर पाये, तो उन्होंने भगवान् की सम्मोहक स्तुति की। देवताओं ने कहा, ''हे प्रभु! आपके चरणकमल शरणागतों के लिए छाते के समान हैं, जो समस्त भौतिक क्लेशों से उनकी रक्षा करते हैं। सारे ऋषि-मुनि उसी की छाया में समस्त भौतिक क्लेशों से छूट जाते हैं। अतएव हम आपके चरणकमलों को सादर नमस्कार करते हैं।''

एकत्र हुए उन तत्त्वों के देवों की प्रार्थना सुनकर भगवान् ने उन पर कृपा प्रदर्शित की (*भागवत* ३.६.१-३)

इति तासां स्वशक्तीनां सतीनाम् असमेत्य स:।

प्रसुप्तलोकतन्त्राणां निशाम्य गतिमीश्वर:॥

कालसंज्ञां तदा देवीं बिभ्रच्छक्तिम् उरुक्रम:।

त्रयोविंशति तत्त्वानां गणं युगपद् आविशत्॥

सोऽनुप्रविष्टो भगवांश्चेष्टारूपेण तं गणम्।

भिन्नं संयोजयामास सुप्तं कर्म प्रबोधयन्॥

''इस तरह भगवान् ने अपनी शक्तियों यथा *महत् तत्त्व* के संयोग न होने से ब्रह्माण्ड के सृजन-कार्य को ठप होते सुना। तब परम शक्तिमान भगवान् अपनी बहिरंगा शक्ति देवी काली सहित तेईसों

तत्त्वों के भीतर एक ही समय प्रविष्ट हुए। यह काली देवी ही समस्त तत्त्वों को एक में मिलाने वाली है। इस तरह जब भगवान् अपनी शक्ति के द्वारा तत्त्वों में प्रविष्ट हो गये, तो सारे जीव जागकर विभिन्न कर्मों में लग गये, जिस तरह कोई व्यक्ति निद्रा से जाग कर अपना कार्य करने लगे।''

श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् श्रीकृष्ण* में आत्मा को आच्छादित करने वाले अहंकार के पाँच कोशों की व्याख्या की है, ''शरीर के भीतर जीवन के पाँच विभिन्न विभाग हैं, जो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय नाम से जाने जाते हैं। [इनका उल्लेख *तैत्तिरीय उपनिषद्* के *ब्रह्मानन्द वल्ली* में हुआ है]। जीवन के प्रारम्भ में प्रत्येक प्राणी भोजन के प्रति सचेष्ट रहता है। बालक अथवा पशु केवल उत्तम भोजन पा कर ही सन्तुष्ट होते हैं। चेतना का यह स्तर, जिसमें भर-पेट भोजन ही ध्येय होता है, *अन्नमय* कहा जाता है। अन्न का अर्थ है भोजन। इसके बाद जीवित रहने की चेतना आती है। यदि बिना किसी आक्रमण या संहार के व्यक्ति अपना जीवन बिता सकता है, तो वह स्वयं को सुखी मानता है। इस स्थिति को *प्राणमय* अर्थात् अपने अस्तित्व के प्रति चेतना कहते हैं। इसके पश्चात् जब व्यक्ति मानसिक स्तर पर जीवित रहता है, तो उस चेतना को *मनोमय* कहते हैं। भौतिक सभ्यता मूलत: अन्नमय, प्राणमय तथा मनोमय—इन्हीं तीन कोशों पर आधारित है। सभ्य व्यक्तियों की प्रथम चिन्ता आर्थिक विकास, द्वितीय चिन्ता विनाश से सुरक्षा और इसके बाद मानसिक विचार की चेतना होती है, जो कि जीवन मूल्यों के प्रति दार्शनिक पक्ष है।

यदि दार्शनिक जीवन की विकास-प्रक्रिया द्वारा वह बौद्धिक जीवन के स्तर पर पहुँच जाता है और यह समझ पाता है कि वह यह भौतिक शरीर नहीं अपितु आत्मा है, तो वह *विज्ञानमय* अवस्था को प्राप्त होता है। तब आध्यात्मिक जीवन के विकास द्वारा वह भगवान् या परमात्मा को समझ पाता है। जब व्यक्ति भगवान् से अपना सम्बन्ध विकसित कर लेता है और भक्ति करता है, तो जीवन की वह अवस्था कृष्णभावनामृत अथवा *आनन्दमय* अवस्था कहलाती है। *आनन्दमय* ज्ञान तथा शाश्वतता का आनन्दपूर्ण जीवन है। जैसाकि *वेदान्त सूत्र* में कहा गया है—*आनन्दमयोऽभ्यासात्।* परब्रह्म तथा ब्रह्म अथवा भगवान् तथा जीव दोनों ही स्वभाव से आनन्दमय हैं। जब तक जीव अन्नमय, प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय नामक चार निम्न कोशों में रहते हैं, तब तक उन्हें जीवन की भौतिक अवस्था में स्थित माना जाता है। किन्तु जैसे ही वह आनन्दमय स्थिति को प्राप्त कर लेता है, वह मुक्तात्मा बन जाता है।

भगवद्गीता में इस आनन्दमय स्थिति को *ब्रह्मभूत* स्थिति कहा गया है। इस स्थिति में कोई उद्वेग अथवा कोई तृष्णा नहीं रह जाती। इस स्थिति का प्रारम्भ तब होता है, जब व्यक्ति समस्त जीवों पर समभाव रखने लगता है। इसके बाद इसका विस्तार कृष्णभावनामृत स्थिति में होता है, जिसमें व्यक्ति सदैव भगवत्सेवा के लिए लालायित रहता है। भक्ति में आगे बढ़ने की यह लालसा भौतिक जगत में इन्द्रियतृप्ति की लालसा जैसी नहीं होती। दूसरे शब्दों में, आध्यात्मिक जीवन में भी लालसा रहती है, किन्तु वह निर्मल हो जाती है। जब हमारी इन्द्रियाँ निर्मल हो जाती हैं, तो वे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय समस्त भौतिक स्थितियों से मुक्त हो जाती हैं और वे कृष्णभावनामृत के आनन्दमय जीवन में अर्थात् आनन्दमय नामक सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त होती हैं।

मायावादी दार्शनिक आनन्दमय स्थिति को परब्रह्म में लीन होने की स्थिति कहते हैं। उनके लिए आनन्दमय का अर्थ है : परमात्मा तथा जीवात्मा का तादात्म्य। किन्तु वास्तविक तथ्य यह है कि एकात्म हो जाने का अर्थ परब्रह्म में समा जाना और अपना व्यक्तिगत अस्तित्व खोना नहीं है। आध्यात्मिक अस्तित्व में लीन होने का अर्थ है कि जीव अपनी गुणात्मक एकता परमेश्वर के सत्–चित् गुणों के साथ समझ लेता है। वह समझ जाता है कि शाश्वतता तथा ज्ञान जैसे परमेश्वर के गुण उसमें भी हैं। वास्तविक आनन्दमय स्थिति तभी प्राप्त होती है, जब व्यक्ति भक्ति में संलग्न होता है। इस तथ्य की पुष्टि *भगवद्गीता* में की गई है। *मद्भक्तिं लभते पराम्*—ब्रह्मभूत आनन्दमय स्थिति तभी पूर्ण होती है, जब परमात्मा तथा अधीनस्थ जीवात्माओं के मध्य प्रेम का आदान–प्रदान होता है। जब तक व्यक्ति जीवन के इस आनन्दमय स्तर को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक उसका श्वास लेना लुहार की धौंकनी के श्वास लेने के समान है। उसकी आयु वृक्ष की आयु की तरह है और वह निम्नतर पशुओं जैसे ऊँट, शूकर तथा कुत्तों से किसी भाँति श्रेष्ठ नहीं है।''

माया के कोशों के भीतर जीव के साथ रहते हुए भी परमात्मा जीव की तरह कर्म के पाश से बँधा नहीं रहता। इन कोशों के साथ परमात्मा का सम्बन्ध वैसे ही रहता है, जैसे चन्द्रमा और वृक्ष की कुछ शाखाओं के बीच, जिनमें से चन्द्रमा दिखता है, होता है। परमात्मा *सदसत: परम्* अर्थात् अन्नमय आदि के सूक्ष्म तथा स्थूल रूपों से परे है, यद्यपि वह उनके भीतर समस्त कर्मों के साक्षी रूप में प्रवेश करता है। अन्तिम कारण के रूप में एक तरह से परमात्मा सृष्टि के व्यक्त पदार्थों से अभिन्न है, किन्तु उसकी

आदि पहचान (*स्वरूप*) पृथक् रहती है। इस दूसरे अर्थ में वह एकमात्र आनन्दमय है, जो कि पाँच कोशों में अन्तिम है। इसीलिए श्रुतियाँ उसे यहाँ पर *अवशेषम्* कहकर पुकारती हैं। *तैत्तिरीय उपनिषद्* में भी (२.७) यही बात कही गई है *रसो वै सः।* परमेश्वर अपने भीतर *रस* का आनन्द लेते हैं, जो कि भक्ति-रस के विनिमय स्वरूप है। रसों का कार्य अभिन्न अंगस्वरूप सिद्धजीवों का उसमें सम्मिलित होना है। *रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति*—वह साक्षात् रस है और जीव, जो इस रस की अनुभूति करता है पूर्णतया आनन्दमय हो जाता है। अर्थात् साक्षात् वेदों द्वारा इस श्लोक में कहे गये शब्दों के रूप में परमात्मा *ऋतम्* है, जिसकी व्याख्या श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने "महर्षियों द्वारा अनुभूत" के रूप में की है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के मतानुसार समस्त प्रामाणिक शास्त्रों का अन्तिम शब्द (*सर्वान्तिम श्रुति*) यह नीतिवाक्य—*रसो वै सः*—है, जो भगवान् श्रीकृष्ण के प्रसंग में दिव्य आनंद के अनंत प्रसारण के रूप में प्रदर्शित होता है (*सर्ववृहत्तमानन्द*)। *गोपालतापनी उपनिषद्* (*उत्तर* ९६) में कहा गया है—*योऽसौ जाग्रत-स्वप्न सुषुप्तिम् अतीत्य तुर्यातीतो गोपालः*—गोप कृष्ण न केवल जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति की भौतिक चेतना को लाँघने वाला है अपितु शुद्ध आध्यात्मिक चेतना के चौथे क्षेत्र को भी लाँघ जाता है। आनन्दमय परमात्मा आदि गोविन्द का एक पक्ष है, जैसाकि उन्होंने स्वयं कहा है *विष्टभ्याहम् इदं कृत्स्नम् एकांशेन स्थितो जगत्*—मैं अपने एक अंश मात्र से इस समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त हूँ और इसका पालन करता हूँ (*भगवद्गीता* .२)।

इस प्रकार श्रुतियाँ बड़ी ही विद्वतता से कहती हैं कि ईश्वर के अनेक साकार रूपों में भी कृष्ण सर्वोच्च हैं। यह समझते हुए नारद मुनि आगे चलकर भगवान् कृष्ण की स्तुति *नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामलकीर्तये* (श्लोक ६) शब्दों द्वारा करते हैं, यद्यपि वे भगवान् नारायण ऋषि के समक्ष खड़े हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी इस श्लोक की टीका निम्नलिखित स्तुति के साथ समाप्त करते हैं—

नरवपुः प्रतिपाद्य यदि त्वयि

श्रवणवर्णनसंस्मरणादिभिः।

नरहरे न भजन्ति नृणाम् इदं

दृतिवद् उच्छ्वसितं विफलं ततः ॥

"हे नरहरि! जिन लोगों ने यह मनुष्य-जीवन प्राप्त किया है, यदि वे आपका श्रवण, कीर्तन, स्मरण तथा अन्य भक्ति-कार्य करके आपकी पूजा करने से चूक जाते है, तो वे व्यर्थ ही जीवित हैं और धौंकनी के समान ही श्वास लेते रहते हैं।"

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः
परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम् ।
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं
पुनरिह यत्समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

उदरम्—पेट; उपासते—पूजते हैं; ये—जो; ऋषि—ऋषियों की; वर्त्मसु—मानक विधियों के अनुसार; कूर्प—स्थूल; दृशः—उनकी दृष्टि; परिसर—जिससे सारी प्राणिक शाखाएँ (नाड़ियाँ) फूटती हैं; पद्धतिम्—शिरोविन्दु; हृदयम्—हृदय; आरुणयः—आरुणि ऋषिगण; दहरम्—सूक्ष्म; ततः—तब से; उदगात्—(आत्मा) ऊपर उठता है; अनन्त—हे अनन्त; तव—तुम्हारा; धाम—प्रकट होने का स्थान; शिरः—सिर; परमम्—सर्वोच्च गन्तव्य; पुनः—फिर; इह—इस जगत में; यत्—जो; समेत्य—पहुँच कर; न पतन्ति—नीचे नहीं गिरते हैं; कृत-अन्त—मृत्यु के; मुखे—मुख में।

बड़े बड़े ऋषियों द्वारा निर्दिष्ट विधियों के अनुयायियों में से, जिनकी दृष्टि कुछ कम परिष्कृत होती है, वे ब्रह्म को उदर क्षेत्र में उपस्थित मानकर पूजा करते हैं, किन्तु आरुणिगण उसे हृदय में उपस्थित मानकर पूजा करते हैं, जो सूक्ष्म केन्द्र है जहाँ से सारी प्राणिक शाखाएँ (नाड़ियाँ) निकलती हैं। हे अनन्त, ये पूजक अपनी चेतना को वहाँ से ऊपर उठाकर सिर की चोटी तक ले जाते हैं, जहाँ वे आपको प्रत्यक्ष देख सकते हैं। तत्पश्चात् सिर की चोटी से चरम गन्तव्य की ओर बढ़ते हुए वे उस स्थान पर पहुँच जाते हैं, जहाँ से वे पुनः इस जगत में, जो मृत्यु के मुख स्वरूप हैं, नहीं गिरेंगे।

तात्पर्य : यहाँ पर ध्यानमय योग की शिक्षा देने वाली श्रुतियाँ भगवान् की महिमा का गान करती हैं। योग की विविध-विधियाँ अधिकतर धीमी हैं तथा विपथ कराने की आशंकाओ से भरे हैं। फिर भी योग की प्रामाणिक विधियाँ उस परमात्मा के ध्यान को अपना लक्ष्य बनाती हैं, जो जीवात्मा के साथ साथ हृदय-क्षेत्र में निवास करता है। हृदय में परमात्मा की अभिव्यक्ति अत्यन्त सूक्ष्म तथा अनुभव करने में कठिन (*दहरम्*) है, अतएव बढ़े-चढ़े योगी ही उसका साक्षात्कार कर सकते हैं।

प्रायः नवदीक्षित ध्यान करने वाले लोग जीवती शक्ति के किसी निम्न केन्द्र में परमात्मा की गौण

उपस्थिति पर ध्यान केन्द्रित करने का अभ्यास करते हैं यथा मूलाधार चक्र (रीढ़ की हड्डी के तले), स्वाधिष्ठान चक्र (गुदा-क्षेत्र में), मणिपूर चक्र (पेट में)। भगवान् कृष्ण मणिपूर चक्र में परमात्मा-रूप में अपने अंश का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमास्थित:।

प्राणापानसमायुक्त: पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥

''मैं समस्त जीवों के शरीरों में पाचन-अग्नि हूँ और मैं बाहर जाने वाली तथा भीतर आने वाली प्राण-वायु के साथ मिलकर चार प्रकार का भोजन पचाता हूँ।'' (*भगवद्गीता* १५.१) वैश्वानर देवता पाचन का अधिष्ठाता है और वह पशुओं, मनुष्यों तथा देवताओं को चलने-फिरने की क्षमता प्रदान करता है। इस श्लोक में बोल रही श्रुतियों के निर्णय के अनुसार जो लोग अपने ध्यान को भगवान् के इसी रूप तक सीमित रखते हैं, वे अल्पज्ञ हैं—*कूर्पदृश:* हैं जिसका शाब्दिक अर्थ है ''धूल से धूमिल आँखों वाला।''

दूसरी ओर आरुणि नाम से विख्यात उच्च योगी ब्रह्म के उस रूप को पूजते हैं, जो जीव के संगी के रूप में हृदय के भीतर रहता है, जो अपने अधीनस्थ जीव को ज्ञान-शक्ति देता है और व्यावहारिक बुद्धि द्वारा उसे प्रेरित करता है। जिस तरह भौतिक हृदय रक्तसंचार का केन्द्र होता है, उसी तरह सूक्ष्म हृदय चक्र प्राण की असंख्य शाखाओं का, जिन्हें नाड़ी कहते हैं, मिलनस्थल है। ये नाड़ियाँ बाहर की ओर शरीर के सारे भागों को जाती हैं। जब ये नाड़ियाँ काफी शुद्ध कर दी जाती हैं, तो आरुणि योगीजन हृदय क्षेत्र को छोड़कर मस्तिष्क के तालु पर स्थित चक्र की ओर बढ़ते हैं। जो योगी इस *ब्रह्मरन्ध्र चक्र* से होकर अपना शरीर त्याग करते हैं, वे सीधे भगवद्धाम जाते हैं, जहाँ से लौटकर फिर से जन्म लेने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इस तरह ध्यानमय योग की अनिश्चित विधि भी ठीक से पालन किये जाने पर शुद्ध भक्ति का फल दे सकती है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ऐसे कई श्रुति मंत्र उद्धृत करते हैं, जो इस श्लोक के शब्दों को प्रतिध्वनित करते हैं: *उदरं ब्रह्मेति शार्कराक्षा उपासते हृदयं ब्रह्मेत्यारुणयो ब्रह्मा है वैता इत ऊर्ध्वं त्वेवोदसर्पत् तच्छिरोऽश्रयते*—जिनकी दृष्टि पर परदा पड़ा रहता है वे ब्रह्म की पहचान उदर से करते हैं, जबकि आरुणिजन ब्रह्म की पूजा हृदय में करते हैं। जिसने सचमुच ही ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया

है, वह हृदय से ऊपर उठता हुआ सिर की चोटी पर भगवान् की शरण लेने पहुँचता है, जहाँ वे प्रकट होते हैं।''

शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-

स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।

तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विश्व-

न्न अन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥

''हृदय से निकलने वाली १ सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं। इनमें से एक—सुषुम्ना—सिर की चोटी तक जाती है। इस नाड़ी से ऊपर की ओर होते हुए मनुष्य मृत्यु को पार कर जाता है। अन्य नाड़ियाँ समस्त दिशाओं में जाती हैं, जो विविध प्रकार के पुनर्जन्म तुल्य हैं।'' (*छान्दोग्य उपनिषद्* ८.६.६)

उपनिषदों में अन्तर्यामी परमात्मा का बारम्बार उल्लेख मिलता है। *श्री श्वेताश्वतर उपनिषद्* (३.१२-१३) में परमात्मा का वर्णन निम्नवत् है—

महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः।

सुनिर्मलां इमां प्राप्तिम् ईशानो ज्योतिरव्ययः॥

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽअन्तरात्मा

सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।

हृदा मनीषा मनसाभिक्ल्प्तो

य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

''इस ब्रह्माण्ड का विस्तार करने के लिए पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् पुरुष बनते हैं। वे योगियों के शुद्ध पूर्ण गन्तव्य हैं, जो तेजवान तथा अच्युत परम नियन्ता हैं। एक अँगूठे की माप वाले ये पुरुष समस्त जीवों के हृदयों में परमात्मा रूप में सदैव उपस्थित रहते हैं। बुद्धि का उचित प्रयोग करके मनुष्य उनका साक्षात्कार हृदय के भीतर कर सकता है। जो यह विधि सीख लेते हैं उन्हें अमरता प्राप्त होती है।''

अन्त में श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

उदरादिषु यः पुंसां चिन्तितो मुनिवर्त्मभिः।

हन्ति मृत्युभयं देवो हृद्गतं तमुपास्महे ॥

"आओ, हम उन भगवान् की पूजा करें, जो हृदय में वास करते हैं। जब मर्त्य प्राणी महर्षियों द्वारा स्थापित मानक विधियों से उदर में तथा शरीर के अन्य भागों में उनके अंशों के रूप में उनका ध्यान करते हैं, तो भगवान् मृत्यु के भय को विनष्ट करते हुए प्रत्युत्तर देते हैं।"

स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया
तरतमतश्चकास्स्यनलवत्स्वकृतानुकृतिः ।
अथ वितथास्वमूष्ववितथां तव धाम समं
विरजधियोऽनुयन्त्यभिविपण्यव एकरसम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

स्व—अपने द्वारा; कृत—बनाया हुआ; विचित्र—विविध; योनिषु—योनियों में; विशन्—प्रवेश करते हुए; इव—सदृश; हेतुतया—कारणस्वरूप; तरतमतः—कोटियों के अनुसार; चकास्सि—दृश्य बनते हो; अनल-वत्—आग की तरह; स्व—अपनी; कृत—सृष्टि; अनुकृतिः—अनुकरण करते हुए; अथ—इसलिए; वितथासु—नकली; अमूषु—इन (योनियों) में से; अवितथम्—नकली नहीं; तव—तुम्हारा; धाम—प्राकट्य; समम्—अभिन्न; विरज—निर्मल; धियः—जिनके मन; अनुयन्ति—समझते हैं; अभिविपण्यवः—सारे भौतिक बन्धों (पण) से मुक्त हैं, जो; एक-रसम्—अपरिवर्तित।

आपने जीवों की जो विविध योनियाँ उत्पन्न की हैं, उनमें प्रवेश करके, उनकी उच्च तथा निम्न अवस्थाओं के अनुसार आप अपने को प्रकट करते हैं और उन्हें कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं, जिस प्रकार अग्नि अपने द्वारा जलाई जाने वाली वस्तु के अनुसार अपने को विविध रूपों में प्रकट करती है। अतएव जो लोग भौतिक आसक्तियों से सर्वथा मुक्त हैं, ऐसे निर्मल बुद्धि वाले लोग आपके अभिन्न तथा अपरिवर्तनशील आत्मा को इन तमाम अस्थायी योनियों में स्थायी सत्य के रूप में साक्षात्कार करते हैं।

तात्पर्य : साक्षात् वेदों की इन स्तुतियों को, जिनमें श्रुतियाँ परमात्मा को असंख्य प्रकार के भौतिक शरीरों में प्रविष्ट करते हुए बताती हैं, सुनकर आलोचक यह प्रश्न उठा सकता है कि ब्रह्म सीमित हुए बिना ऐसा कैसे कर सकता है? निस्सन्देह अद्वैत दर्शन का समर्थक परमात्मा तथा उनकी सृष्टि में कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं देखता। निर्विशेष विचारधारा के अनुसार ब्रह्म माया के जाल में बुरी तरह फँस कर पहले साकार ईश्वर बना और तब वह देवता, मनुष्य, पशु, पौधे और अन्त में पदार्थ बना। शंकराचार्य तथा उनके अनुयायी इस सिद्धान्त के समर्थन में कि ब्रह्म पर माया कैसे थोपी जाती है वैदिक प्रमाण जुटाने में काफी श्रम करते हैं। किन्तु वेद स्वयं यहाँ पर अपने विषय में उठाये जाने वाले

आक्षेप का उत्तर देते हैं और मायावादी निर्विशेषवाद का समर्थन नहीं करते।

सृजन की प्रक्रिया पारिभाषिक दृष्टि से *सृष्टि* (''बाहर निकालना'') कहलाती है। भगवान् अपनी विविध शक्तियों को बाहर निकालते हैं और ये शक्तियाँ उनसे पृथक् रहकर उनकी प्रकृति में भाग लेती हैं। यह तथ्य *अचिन्त्यभेदाभेद* के असली वैदिक दर्शन में व्यक्त हुआ है। इस तरह यद्यपि असंख्य व्यष्टि जीवों में हर एक की पृथक् पहचान (सत्ता) है, किन्तु हर जीव उसी आध्यात्मिक वस्तु से बना होता है, जिससे ब्रह्म बना है। चूँकि सारे जीव भगवान् के आध्यात्मिक सार में सम्मिलित हैं, अतएव वे अजन्मा तथा नित्य हैं, जिस तरह ब्रह्म है। भगवान् कृष्ण ने कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन से कहते हुए इसकी पुष्टि की है—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपा: ।

न चैव न भविष्याम: सर्वे वयमत: परम् ॥

''ऐसा कोई काल नहीं था जब मैं नहीं था या तुम नहीं थे अथवा ये सारे राजा नहीं थे। न ही भविष्य में हममें से कोई भी नहीं रहेगा।'' (भगवद्गीता २.१२) भौतिक सृष्टि उन जीवों के लिए विशेष आयोजन है, जो भगवान् की सेवा से अपने को पृथक् करना चाहते हैं। इस तरह सृष्टि का अर्थ है एक नकली जगत की उत्पत्ति जहाँ ऐसे जीव अपने को स्वतंत्र मान सकें।

भौतिक जीवन की नाना योनियाँ उत्पन्न करने के बाद भगवान् प्रत्येक जीव को बुद्धि तथा प्रेरणा, जिसकी उसे अपने दैनिक जीवन में आवश्यकता पड़ती है, प्रदान करने के लिए, अपनी ही सृष्टि में परमात्मा के रूप में विस्तरित होते हैं। जैसाकि *तैत्तिरीय उपनिषद्* (२.६.२) में कहा गया है—*तत् सृष्ट्वा तद् एवानुप्राविशत्*—इस जगत को उत्पन्न करने के बाद वे इसमें प्रविष्ट हो गये। किन्तु भगवान् इस भौतिक जगत में इससे किसी प्रकार का सम्बन्ध रखे बिना प्रवेश करते हैं—इसे ही श्रुतियाँ यहाँ पर *विशन्निव* पद (केवल प्रविष्ट प्रतीत होते हुए) द्वारा घोषित करती हैं। *तरतमश्चकास्सि* का अर्थ है कि परमात्मा महान् देवता ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र कीटाणु तक हर जीव के शरीर में प्रवेश करते हैं और प्रत्येक जीव के प्रबुद्ध होने की क्षमता के अनुसार विभिन्न मात्राओं में अपनी शक्ति दर्शाते हैं। *अनलवत् स्वकृतानुकृति:*—जिस तरह से विभिन्न वस्तुओं में लगाई गई अग्नि उन वस्तुओं के आकार के अनुसार जलती है, उसी तरह परमात्मा सभी जीवों के शरीरों में प्रवेश करके उसकी क्षमता के अनुसार ही

प्रत्येक बद्धजीव को प्रकाश प्रदान करता है।

सृष्टि तथा संहार के बीच भी समस्त जीवों का स्वामी नित्य अपरिवर्तित है, जैसाकि *एकरसम्* शब्द से द्योतन हुआ है। दूसरे शब्दों में, भगवान् अपने अपरिमेय, शुद्ध दिव्य आनन्द वाले साकार स्वरूप को सदैव बनाये रखता है। वे विरले जीव जो भौतिक व्यापारों से अर्थात् *पण* (इस तरह *अभिविपण्यव:* बनकर) अपने को पूर्णतया विलग (*अभितस्*) रखते हैं, वे ही परमेश्वर को यथार्थ रूप में जान पाते हैं। हर बुद्धिमान व्यक्ति को इन्हीं महात्माओं का अनुसरण करना चाहिए और उनसे यह याचना करनी चाहिए कि उन्हें भी भगवद्भक्ति में लगा दें।

श्रुतियों द्वारा की गई इस स्तुति का भाव *श्वेताश्वतर उपनिषद्* के निम्नलिखित मंत्र (६.११) से साम्य रखता है—

एको देव: सर्वभूतेषु गूढ:
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्ष: सर्वभूताधिवास:
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

"एक परमेश्वर समस्त सृजित वस्तुओं के भीतर छिपा रहता है। वह समस्त पदार्थ में व्याप्त है और सारे जीवों के हृदयों के भीतर स्थित रहता है। अन्त:वासी परमात्मा के रूप में वह उनके कार्यकलापों का निरीक्षण करता है। इस तरह स्वयं निर्गुण होते हुए भी वह अद्वितीय साक्षी है तथा चेतना देने वाला है।"

श्रील श्रीधर स्वामी अपनी प्रार्थना प्रस्तुत करते हैं :

स्वनिर्मितेषु कार्येषु तारतम्यविवर्जितम्।
सर्वानुस्यूतसन्मात्रं भगवन्तं भजामहे॥

"हम उन परमेश्वर की पूजा करें, जो अपनी ही सृष्टि के पदार्थों में प्रवेश करते हैं, फिर भी उनकी उत्तम तथा निम्न भौतिक कोटियों से वे पृथक् रहते हैं। वे शुद्ध, विभेदरहित अस्तित्ववाले है और सर्वव्यापी हैं।"

स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं
तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोऽंशकृतम् ।
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं
भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवम्भुवि विश्वसिताः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

स्व—अपने द्वारा; कृत—उत्पन्न; पुरेषु—शरीरों में; अमीषु—इन; अबहिः—बाहरी रूप से नहीं; अन्तर—अथवा आन्तरिक रूप से; संवरणम्—जिसका वास्तविक विकास; तव—तुम्हारा; पुरुषम्—जीव; वदन्ति—वेद कहते हैं; अखिल—समस्त; शक्ति—शक्तियों के; धृतः—स्वामी के; अंश—अंशरूप; कृतम्—प्रकट; इति—इस प्रकार; नृ—जीव का; गतिम्—पद; विविच्य—निश्चित करके; कवयः—विद्वान मुनिजन; निगम—वेदों के; आवपनम्—खेत, जिसमें सारी भेंटें बोई जाती हैं; भवतः—आपके; उपासते—पूजा करते हैं; अङ्घ्रिम्—पैरों की; अभवम्—जो संसार का संहार करने वाले हैं; भुवि—पृथ्वी पर; विश्वसिताः—विश्वास रखने वाले।

प्रत्येक जीव अपने कर्म द्वारा सृजित भौतिक शरीरों में निवास करते हुए, वास्तव में, स्थूल या सूक्ष्म पदार्थ से आच्छादित हुए बिना रहता है। जैसा कि वेदों में वर्णन हुआ है, ऐसा इसलिए है, क्योंकि वह समस्त शक्तियों के स्वामी, आपका ही भिन्नांश है। जीव की ऐसी स्थिति को निश्चित करके ही, विद्वान मुनिजन श्रद्धा से पूरित होकर, आपके उन चरणकमलों की पूजा करते हैं, जो मुक्ति के स्रोत हैं और जिन पर इस संसार की सारी वैदिक भेंटें अर्पित की जाती हैं।

तात्पर्य : बद्धजीवों के शरीरों के भीतर निवास करते समय न केवल भगवान् पूर्णतया अदूषित रहते हैं, अपितु सूक्ष्म जीवात्माएँ भी जन्म-मृत्यु के चक्र में से बारम्बार गुजरते समय अर्जित अज्ञान तथा काम के आवरणों से कभी छुई तक नहीं जातीं। इस प्रकार *तैत्तिरीय उपनिषद्* (३..५)

इस स्तुति में साक्षात् वेद भौतिक शरीरों के निश्चित भोक्ता (जीवात्मा) को समस्त शक्तियों के दिव्य आगार, परमेश्वर, के अंशरूप में बतलाते हैं। इस सन्दर्भ में *अंशकृतम्* अर्थात् उसके अंश जैसा बनाया हुआ को सही सही समझना होगा। *जीव* का न तो कभी सृजन होता है, न ही वह *विष्णुतत्त्व* अंश जैसा अंश है। परमात्मा सबों के द्वारा पूज्य है और अधीन जीव परमात्मा का पूजक होने के लिए है। परमेश्वर अपने व्यक्तित्व के असंख्य रूप प्रदर्शित करके अपनी लीलाएँ करता है, जबकि जीव को अपने संचित कर्मों के आदेशों के अनुसार अपना शरीर बदलने को बाध्य होना पड़ता है। *श्री नारद पञ्चरात्र* के अनुसार

यत् तटस्थं तु चिद्रूपं स्वसंवेद्याद् विनिर्गतम्।

रञ्जितं गुणरागेण सजीव इति कथ्यते॥

"तटस्था शक्ति जो स्वभावत: आध्यात्मिक है, स्व-सचेत संवित् शक्ति से उत्पन्न होती है और

भौतिक गुणों के प्रति आसक्त होने से कलुषित हो जाती है, *जीव* कहलाती है।''

यद्यपि जीवात्मा भी भगवान् कृष्ण का अंश है, किन्तु वह कृष्ण के स्वतंत्र अंश विष्णु से इस बात में भिन्न है कि वह वैधानिक स्थिति से आत्मा तथा पदार्थ के बीच तटस्थ है। *महावराह पुराण* में बतलाया गया है—

स्वांशश्चाथ विभिन्नांश इति द्विधा श इष्यते।

अंशिनो यत्तु सामर्थ्यं यत्स्वरूपं यथा स्थितिः॥

तदेव नाणुमात्रोऽपि भेदं स्वांशांशिनोः क्वचित्।

विभिन्नांशोऽल्पशक्तिः स्यात् किञ्चित् सामर्थ्यमात्रयुक्॥

''भगवान् दो प्रकार से जाना जाता है अपने स्वांश रूपों में तथा अपने भिन्नांशों के रूप में। स्वांशों तथा उनके स्रोत के मध्य कभी भी न तो सामर्थ्यों में, न रूपों या स्थितियों में कोई अनिवार्य भेद पाया जाता है। दूसरी ओर विभिन्नांशों में केवल अल्प शक्ति होती है, क्योंकि भगवान् की शक्ति का अल्प अंश ही इन्हें प्रदत्त किया जाता है।''

इस जगत में बद्धजीव इस तरह प्रकट होता है, मानो भीतर तथा बाहर से पदार्थ द्वारा आच्छादित हो। बाह्य रूप से स्थूल पदार्थ उसके शरीर तथा परिवेश के रूप में आच्छादित किये रहता है, जबकि भीतर से इच्छा तथा द्वेष उसकी चेतना को कोंचते रहते हैं। किन्तु स्वरूपसिद्ध मुनियों की दिव्य दृष्टि में ये दोनों प्रकार के आवरण निरर्थक हैं। तर्क द्वारा सारी भौतिक पहचानों का, जो आत्मा के स्थूल तथा सूक्ष्म आवरणों पर आधारित भ्रांत धारणाएँ हैं, निषेध कर देने पर विचारवान व्यक्ति यह पायेगा कि आत्मा तनिक भी भौतिक नहीं है, प्रत्युत यह दैवी आत्मा का स्फुलिंग है और भगवान् का दास है। यह समझ कर मनुष्य को भगवान् के चरणकमलों की पूजा करनी चाहिए। ऐसी पूजा वैदिक अनुष्ठान रूपी वृक्ष का पूर्ण विकसित पुष्प है। भगवान् के चरणकमलों के वैभव की अनुभूति होने पर जो धीरे धीरे वैदिक यज्ञों के करने से पनपती है, संसार से मोक्ष का फल अपने आप मिल जाता है और भगवान् की कृपा में अटूट श्रद्धा उत्पन्न होती है। इस जगत में रहते हुए भी यह सब प्राप्त किया जा सकता है। भगवान् कृष्ण ने *गोपालतापनी उपनिषद्* (उत्तर ७) में कहा है—

मथुरामण्डले यस्तु जम्बूद्वीपे स्थितोऽथ वा।

योऽर्चयेत् प्रतिमां प्रति स मे प्रियतरो भुवि॥

“जो व्यक्ति मथुरा जनपद में या जम्बूद्वीप में कहीं भी रहकर मेरे अर्चाविग्रह के रूप में मेरी पूजा करता है, वह इस जगत में मेरा सर्वाधिक प्रिय बन जाता है।”

श्रील श्रीधर स्वामी स्तुति करते हैं—

त्वदंशस्य ममेशान त्वन्मायाकृतबन्धनम्।

त्वदंघ्रिसेवामादिश्य परानन्द निवर्तय॥

“हे प्रभु! मैं आपका भिन्नांश हूँ, मुझे अपनी माया द्वारा बनाये हुए बन्धन से मुक्त कीजिये। हे परमानन्द के धाम! आप मुझे अपने चरणों की सेवा में लगाकर ऐसा कीजिये।”

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनोश्
चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः ।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

दुरवगम—समझ पाना कठिन; आत्म—आत्मा का; तत्त्व—सत्य; निगमाय—प्रसार करने हेतु; तव—तुम्हारा; आत्त—धारण करने वाले; तनोः—आपके स्वरूप; चरित—लीलाओं के; महा—विस्तीर्ण; अमृत—अमृत के; अब्धि—सागर में; परिवर्त—गोता लगाकर; परिश्रमणाः—थकान से उबारे हुए; न परिलषन्ति—इच्छा नहीं करते; केचित्—कुछ ही व्यक्ति; अपवर्गम्—मोक्ष की; अपि—भी; ईश्वर—हे प्रभु; ते—तुम्हारे; चरण—चरणों पर; सरोज—कमल रूपी; हंस—हंसों के; कुल—समुदाय; सङ्ग—साथ; विसृष्ट—परित्यक्त; गृहाः—जिनके घर।

हे प्रभु, कुछ भाग्यशाली आत्माओं ने आपकी उन लीलाओं के विस्तृत अमृत सागर में गोता लगाकर भौतिक जीवन की थकान से मुक्ति पा ली है, जिन लीलाओं को आप अगाध आत्म-तत्त्व का प्रचार करने के लिए साकार रूप धारण करके सम्पन्न करते हैं। ये विरली आत्माएँ, मुक्ति की भी परवाह न करके घर-बार के सुख का परित्याग कर देती हैं, क्योंकि उन्हें आपके चरणकमलों का आनन्द लूटने वाले हंसों के समूह सदृश भक्तों की संगति प्राप्त हो जाती है।

तात्पर्य : आनुष्ठानिक ब्राह्मण (स्मार्त) तथा मायावादी लोग भक्तियोग की प्रक्रिया को तुच्छ ठहराते हैं। उनका कथन है कि भगवद्भक्ति तो भावुक व्यक्तियों की वस्तु है, जिनमें कठोर विधि-विधानों को पालन करने या ज्ञान का कड़ा अनुशीलन करने की परिपक्वता का अभाव होता है।

किन्तु इस श्लोक में साक्षात् वेद भक्ति की सर्वश्रेष्ठता की घोषणा कर रहे हैं और इसकी पहचान

स्पष्टया *आत्मतत्त्व* के रूप में करते हैं, जिसे मायावादी बड़े गर्व से अपना क्षेत्र बतलाते हैं। श्रील जीव गोस्वामी इस *आत्मतत्त्व* की परिभाषा भगवान् के साकार रूपों, गुणों तथा लीलाओं के गुह्य रहस्य के रूप में देते हैं। वे *आत्मतनोः* का दूसरा अर्थ भी देते हैं, जो ''विभिन्न शरीर धारण करने वाला'' की बजाय ''जो अपने दिव्य शरीर की ओर प्रत्येक को आकृष्ट करे'' है।

भगवान् कृष्ण तथा उनके विविध अंशों और अवतारों की लीलाएँ आनन्द के अथाह सागर हैं। जब मनुष्य अपने भौतिक कार्यकलापों से पूरी तरह ऊब जाता है, चाहे वह भौतिक सफलता की तलाश में लगा हो, अथवा आध्यात्मिक संहार के निर्विशेष भाव में, तो वह इस अमृत में डुबकी लगाकर राहत प्राप्त कर सकता है। जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने भक्तियोग के विज्ञान सम्बन्धी अपनी पुस्तक *भक्तिरसामृतसिन्धु* में कहा है कि जो कोई इस विस्तृत सागर की एक बूँद का भी आस्वादन कर लेता है, उसे किसी भी वस्तु की कोई इच्छा नहीं रह जाती।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती *परिश्रमणाः* शब्द की दूसरी व्याख्या करते हुए टीका करते हैं कि यद्यपि भक्तगण भगवान् की आनन्द-लीलाओं के सागर की अनंत लहरों तथा अन्तर्धाराओं में बारम्बार गोता लगाकर थक जाते हैं, किन्तु ये भक्तगण भगवान् की सेवा के अतिरिक्त कोई अन्य सुख नहीं चाहते, यहाँ तक कि मोक्ष-सुख भी नहीं। प्रत्युत उनकी थकान ही उनके लिए आनन्द बन जाती है, जिस तरह संभोग से उत्पन्न थकान यौन की लत वाले व्यक्ति को सुखद लगती है। भगवान् के शुद्ध भक्त भगवान् की लीलाओं की मनोहर कथाएँ सुनकर अनुप्राणित होते हैं और नाचने, गाने, जोर से चिल्लाने, अपनी एड़ियों को पटकने, मूर्छित होने, सिसकने तथा उन्मत्तों की तरह इधर-उधर दौड़ने के लिए उत्प्रेरित हो जाते हैं। इस तरह वे शारीरिक थकान का अनुभव किये बिना आनन्द-विभोर रहते हैं।

शुद्ध वैष्णवों को तो मोक्ष भी नहीं चाहिए, अन्य ऐच्छिक लक्ष्यों जैसे स्वर्ग का शासक पद की तो बात ही नहीं उठती। इतना समर्पण-भाव इस जगत में निश्चित रूप से दुर्लभ है, जैसाकि इस श्लोक में श्रुतियों द्वारा प्रयुक्त *केचित्* शब्द से प्रकट होता है। शुद्ध भक्त न केवल भावी लाभ की लालसा का परित्याग कर देते हैं, अपितु सम्प्रति उनके पास जो कुछ यथा घर तथा पारिवारिक जीवन की सारी सामान्य सुख-सुविधाएँ होती हैं, उसके प्रति भी उनका आकर्षण जाता रहता है। उनके लिए सन्त वैष्णवों परम्परागत गुरुओं, शिष्यों तथा प्रशिष्यों—की संगति ही उनका असली परिवार बन जाता है,

जिसमें श्री शुकदेव गोस्वामी जैसे हंस रूपी महापुरुष होते हैं। ये महापुरुष भगवान् के चरणकमलों की सेवा का मधुर अमृत नित्य ही पान करते हैं।

उपनिषदों तथा अन्य श्रुतियों के अनेक मंत्र मोक्ष की अपेक्षा भक्ति को खुले तौर पर श्रेष्ठ घोषित करने वाले हैं। *नृसिंह पूर्व तापनी उपनिषद्* के शब्दों के अनुसार—*यं सर्वे वेदा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च*—सारे वेद, सारे मुमुक्ष तथा ब्रह्म के जिज्ञासु व्यक्ति उन्हें ही नमस्कार करते हैं। इस मंत्र की टीका करते हुए श्री शंकराचार्य यह स्वीकार करते हैं—*मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भजन्ति*—मुक्तात्माएँ भी भगवान् का अर्चाविग्रह स्थापित करके उनकी पूजा करने में हर्ष अनुभव करते हैं। इस प्रसंग में आचार्य शंकर के महान् प्रतिद्वन्द्वी श्रील मध्वाचार्य आनन्दतीर्थ अपने प्रिय श्रुति-मंत्र उद्धृत करते हैं जैसे—*मुक्ता ह्येतम् उपासते मुक्तानामपि भक्तिर्हि परमानन्दरूपिणी*—"मुक्त लोग भी उनकी पूजा करते हैं और उनके लिए भी भक्ति परम आनन्द रूपिणी है।" तथा *अमृतस्य धारा बहुधा दोहमानं। चरणं नो लोके सुधितां दधातु। ॐ तत्सत्*—जिनके चरणों से अमृत की धारा बहती है वे चरण हम इस जगत के निवासियों को ज्ञान प्रदान करें।

संक्षेप में, श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

त्वत् कथामृत पाथोधौ विहरन्तो महामुदः।

कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम्॥

"वे विरले भाग्यशाली व्यक्ति जो आपकी कथाओं के अमृत सागर में क्रीड़ा करके परम आनन्द प्राप्त करते हैं, वे जीवन के महान् चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष) को *तृणवत्* समझते हैं।"

त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियवच्
चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च ।
न बत रमन्त्यहो असदुपासनयात्महनो
यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

त्वत्—तुम; अनुपथम्—सेवा के लिए उपयोगी; कुलायम्—शरीर; इदम्—यह; आत्म—स्वयं; सुहृत्—मित्र; प्रिय—तथा प्रिय; वत्—सदृश; चरति—कार्य करता है; तथा—तो भी; उन्मुखे—उन्मुख; त्वयि—तुममें; हिते—सहायक; प्रिये—प्रिय; आत्मनि—आत्मा; च—तथा; न—नहीं; बत—हाय; रमन्ति—आनन्द लूटते हैं; अहो—ओह; असत्—असत्य की; उपासनया—पूजा द्वारा; आत्म—स्वयं को; हनः—मारना; यत्—जिस (असत्य की पूजा) में; अनुशयाः—जिनकी निरन्तर इच्छा है; भ्रमन्ति—घूमते रहते हैं; उरु—अत्यधिक; भये—भयावह (जगत) में; कु—निम्न; शरीर—शरीर; भृतः—धारण किये।

जब यह मानवीय शरीर आपकी पूजा के निमित्त काम में लाया जाता है, तो यह आत्मा, मित्र तथा प्रेमी की तरह कार्य करता है। किन्तु दुर्भाग्यवश, यद्यपि आप बद्धजीवों के प्रति सदैव कृपा प्रदर्शित करते हैं और हर तरह से स्नेहपूर्वक सहायता करते हैं और यद्यपि आप उनके असली आत्मा हैं, किन्तु सामान्य लोग आप में आनन्द नहीं लेते। उल्टे वे माया की पूजा करके आध्यात्मिक आत्महत्या करते हैं। हाय! असत्य के प्रति भक्ति करके, वे निरन्तर सफलता की आशा करते हैं, किन्तु वे विविध निम्न शरीर धारण करके इस अत्यन्त भयावह जगत में निरन्तर इधर-उधर भटकते रहते हैं।

तात्पर्य : जो लोग सर्वदयामय भगवान् की सेवा न करके माया में रहते रहना चाहते हैं, उनके लिए वेद बड़े ही कटु शब्दों का प्रयोग करते हैं। *बृहदारण्यक उपनिषद्* का कथन है (.३.१५)— *आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन। न तम् विदाथ य इमा जनानान्यद्युष्माकम् अन्तरं बभूव। नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति*—''हर व्यक्ति उस स्थान को देख सकता है, जहाँ अपने आनन्द हेतु इस जगत में भगवान् ने अपने आपको प्रकट किया, तो भी कोई उन्हें नहीं देख पाता। जिन्होंने इन समस्त जीवों को उत्पन्न किया, उन्हें आप में से कोई नहीं जानता। अतएव तुम्हारी तथा भगवान् की दृष्टि में बहुत बड़ा अन्तर है। माया के कुहासे से आवृत तुम वैदिक अनुष्ठानकर्ता व्यर्थ की बातों में लगे रहते हो और अपनी इन्द्रियों की तुष्टि के लिए ही जीते हो।''

भगवान् इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं, जैसाकि वे *भगवद्गीता* (९.) में कहते हैं *मया ततं इदं सर्वं जगत्।* इस जगत की कोई भी वस्तु, यहाँ तक कि मिट्टी का अत्यन्त तुच्छ पात्र या वस्त्र का टुकड़ा भी उनकी उपस्थिति से रहित नहीं है। चूँकि वे अपने को ईर्ष्यालु आँखों से अदृश्य (*अव्यक्तमूर्तिना*) रखते हैं, अतएव भौतिकतावादी उनकी भौतिक शक्ति से गुमराह होकर यह सोचते हैं कि भौतिक सृष्टि का स्रोत परमाणुओं तथा भौतिक शक्तियों का मिश्रण है।

ऐसे मूर्ख भौतिकतावादियों पर अनुग्रह प्रदर्शित करते हुए साक्षात् वेद इस स्तुति में उन्हें जीवन के असली उद्देश्य को स्मरण रखने की सलाह देते हैं यह उद्देश्य है अपने सबसे बड़े हितैषी प्रभु की प्रेमाभक्ति द्वारा सेवा करना। मनुष्य-शरीर आध्यात्मिक चेतना को जागृत करने के लिए आदर्श सुविधा है इसके अंग—कान, जीभ, आँखें इत्यादि—भगवान् के विषय में श्रवण करने, उनके यश का कीर्तन

करने, उनकी पूजा करने तथा अन्य सभी आवश्यक भक्ति-कार्य करने के लिए अतीव उपयुक्त हैं।

मनुष्य का भौतिक शरीर कुछ ही समय तक ठीक-ठाक रहने वाला है अतएव इसे *कुलायम्* कहा गया है—पृथ्वी में विलीन होते हुए (*कौलीयते*)। तो भी यदि इसे उचित ढंग से उपयोग में लाया जाय, तो यह मनुष्य का श्रेष्ठ मित्र हो सकता है। किन्तु जब मनुष्य भौतिक चेतना में निमग्न रहता है, तो शरीर झूठा मित्र बन जाता है और मोहग्रस्त जीव को अपने असली स्वार्थ से हटा देता है। जो लोग अपने अपने पतियों अथवा पत्नियों, अपनी सन्तानों, पालतू पशुओं इत्यादि के शरीरों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं, वे अपनी भक्ति को माया अर्थात् *असद् उपासना* की ओर निर्देशित करते हैं। इस तरह से ऐसे लोग आध्यात्मिक आत्महत्या करते हैं, जैसाकि श्रुतियों ने यहाँ पर कहा है। इससे वे मानवीय जीवन के उच्चतर कर्तव्यों का पालन न करने के लिए भावी दण्ड के भागी होते हैं। *ईशोपनिषद्* (३) में घोषणा की गई है—

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता:।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना:॥

''आत्मा को मारने वाला चाहे जो भी हो उसे श्रद्धाविहीन (असूर्या) नामक लोक में जाना होगा, जो अंधकार तथा अज्ञान से पूर्ण है।''

जो लोग इन्द्रिय-तृप्ति के प्रति अत्यधिक आसक्त हैं या जो लोग झूठे भौतिकतावादी शास्त्रों तथा दर्शनों के रूप में अस्थायी की पूजा करते हैं, वे उन इच्छाओं को बनाये रखते हैं, जो उन्हें क्रमश: निम्न से निम्नतर शरीरों में ले जाती हैं। चूँकि वे सदा के लिए संसार-चक्र में फँसे रहते हैं, अत: उनके उद्धार की एकमात्र आशा यही है कि भगवद्भक्तों के द्वारा दी गई दयापूर्ण शिक्षाओं को सुनने का अवसर पा सकें।

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

त्वय्यात्मनि जगन्नाथे मन्मनो रमतामिह।

कदा ममेदृशं जन्म मानुषं सम्भविष्यति॥

''मुझे कब वह मनुष्य-जन्म प्राप्त होगा, जिसमें मेरा मन परमात्मा एवं जगत के ईश्वर आपमें आनन्द ले सकेगा?''

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यन्
मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात् ।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

निभृत—वशीभूत; मरुत्—श्वास लेते हुए; मनः—मन; अक्ष—तथा इन्द्रियों समेत; दृढ-योग—स्थिर योग में; युजः—लगा हुआ; हृदि—हृदय में; यत्—जो; मुनयः—मुनिगण; उपासते—पूजा करते हैं; तत्—वह; अरयः—शत्रुगण; अपि—भी; ययुः—प्राप्त किया; स्मरणात्—स्मरण करने से; स्त्रियः—स्त्रियाँ; उरग-इन्द्र—राजसी सर्प के; भोग—शरीर (सदृश); भुज—बाँहें; दण्ड—डंडे जैसी; विषक्त—आसक्त; धियः—जिनके मन; वयम्—हम; अपि—भी; ते—तुमको; समाः—समान; सम—समान; दृशः—जिनकी दृष्टि; अङ्घ्रि—चरणों के; सरोज—कमलवत्; सुधाः—अमृत (का पान करते हुए)।

भगवान् के शत्रुओं ने भी, निरन्तर मात्र उनका चिन्तन करते रहने से, उसी परम सत्य को प्राप्त किया, जिसे योगीजन अपने श्वास, अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में करके योग-पूजा में स्थिर कर लेते हैं। इसी तरह हम श्रुतियाँ, जो सामान्यतः आपको सर्वव्यापी देखती हैं, आपके चरणकमलों से वही अमृत प्राप्त कर सकेंगी, जिसका आनन्द आपकी प्रियतमाएँ, आपकी विशाल सर्प सदृश बाहुओं के प्रति अपने प्रेमाकर्षण के कारण लूटती हैं, क्योंकि आप हमें तथा अपनी प्रियतमाओं को एक ही तरह से देखते हैं।

तात्पर्य : आचार्य श्री जीव गोस्वामी के अनुसार कुछ श्रुतियाँ, जैसे कि *गोपालतापनी उपनिषद्* जो गोप कृष्ण एवं उच्चतम परब्रह्म को एक मानती हैं अभी तक बोलने के लिए धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करती रहीं। किन्तु अन्य श्रुतियों को खुलकर भगवान् की प्रशंसा करते सुन कर ये घनिष्ठ श्रुतियाँ अधिक समय तक धैर्य धारण नहीं रख सकीं, अतएव अपनी बारी आये बिना ही इस श्लोक में बोल पड़ीं।

योगमाया के मार्ग के अनुयायी श्वास रोक कर तथा कठिन तपस्या द्वारा अपनी इन्द्रियों तथा मन को वश में करते हैं। यदि वे इस प्रकार से अपने को पूरी तरह शुद्ध बना पाते हैं, तो वे अन्त में अपने हृदय में ब्रह्म के साकार रूप परमात्मा का साक्षात्कार करने लगते हैं। और यदि वे दीर्घकाल तक बिना किसी अवरोध के यह ध्यान चालू रखते हैं, तो अन्त में उन्हें असली ईश-चेतना प्राप्त हो सकती है। किन्तु इस कठिन एवं अनिश्चित विधि से जो लक्ष्य प्राप्त होता है, उसी को उन असुरों ने भी प्राप्त किया, जिन्हें भगवान् कृष्ण ने इस धरा पर अपनी लीलाओं के दौरान मारा था। कंस तथा शिशुपाल जैसे असुरों ने जो कृष्ण के प्रति ईर्ष्या से भरे हुए थे भगवान् द्वारा मात्र वध किये जाने पर शीघ्र मोक्ष प्राप्त

किया।

किन्तु साक्षात् वेद अपनी बात बतलाते हुए यहाँ कहते हैं कि वे भगवान् कृष्ण के विश्वस्त भक्तों विशेष रूप से व्रज की युवा गोपियों से भगवान् कृष्ण के प्रति समर्पण का अनुकरण करके भगवत्प्रेम उत्पन्न करना श्रेयस्कर समझेंगे। यद्यपि ये गोपियाँ भगवान् के शारीरिक सौन्दर्य एवं बल से आकृष्ट सामान्य स्त्रियाँ प्रतीत होती थीं, किन्तु ये व्रज की देवियाँ ध्यान की सर्वोच्च पूर्णता प्रदर्शित कर सकीं। श्रुतियाँ उन्हीं की तरह बनना चाहती हैं।

इस सन्दर्भ में ब्रह्माजी निम्नलिखित ऐतिहासिक विवरण सुनाते हैं, जो *बृहद्वामन पुराण* के पूरक में है—

ब्रह्मानन्दमयो लोको व्यापी वैकुण्ठसंज्ञित:।

तल्लोकवासी तत्रस्थै स्तुतो वेदै परात्पर:॥

''आध्यात्मिक आनन्द का अनन्त जगत वैकुण्ठ कहलाता है। वहाँ पर परम सत्य साक्षात् वेदों द्वारा प्रशंसित होकर रहते हैं और वहीं वेद भी रहते हैं।''

चिरं स्तुत्वा ततस्तुष्ट: परोक्षं प्राह तान् गिरा।

तुष्टोऽस्मि ब्रूता भो प्राज्ञा वरं यं मनसेप्सितम्॥

''जब वेद उनकी खूब प्रशंसा कर चुके, तो एक बार भगवान् अपने आप में विशेष रूप से तुष्ट अनुभव करने लगे और उनसे ऐसी वाणी में बोले, जिसका स्रोत अदृश्य बना रहा: ''हे मुनियो! मैं तुम सबों से अतीव प्रसन्न हूँ। तुम मुझसे कोई वर माँगो, जिसे तुम गुप्त रीति से चाहते हो।''

श्रुतय ऊचु:

यथा तल्लोकवासिन्य: कामतत्त्वेन गोपिका:।

भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षाजनि नस्तथा॥

''श्रुतियों ने उत्तर दिया: हममें मर्त्यलोक की गोपियों जैसा बनने की इच्छा जागृत हुई है, जो काम से प्रोत्साहित होकर प्रेमी के भाव में आपकी पूजा करती हैं।''

श्रीभगवान् उवाच

दुर्लभो दुर्घटश्चैव युष्माकं स मनोरथः।

मयानुमोदितः सम्यक् सत्यो भवितुमर्हति॥

"तब भगवान् ने कहा: "तुम लोगों की इस इच्छा को पूरा कर पाना कठिन है। प्रायः असम्भव है। लेकिन क्योंकि मैं वर दे रहा हूँ, इसलिए तुम लोगों की यह इच्छा अवश्य पूरी होगी।"

आगामिनि विरिञ्चौ तु जाते सृष्ट्यार्थमुदिते।

कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ॥

"जब अगला ब्रह्मा सृजन-कर्म के अपने कर्तव्य को निष्ठापूर्वक पूरा करने के लिए जन्म लेगा और जब उसके जीवन का दिन—सारस्वत कल्प—आयेगा तो तुम लोग व्रज में गोपियों के रूप में उत्पन्न होंगी।"

पृथिव्यां भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले॥

वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान् वो रासमण्डले॥

"पृथ्वी पर भारतभूमि में अपने ही जनपद मथुरा में, वृन्दावन जंगल में, मैं रास-नृत्य के मण्डल में तुम्हारा प्रिय बनूँगा।"

जारधर्मेण सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोऽधिकम्।

मयि सम्प्राप्य सर्वेऽपि कृतकृत्या भविष्यथ॥

"इस तरह तुम मुझे अपने परपति (जार) के रूप में पाकर पुनः मेरा सर्वोच्च एवं दृढ़ विशुद्ध प्रेम प्राप्त कर सकोगी और इस तरह तुम अपनी सारी कामनाएँ पूरी कर सकोगी।"

ब्रह्मोवाच

श्रुत्वैतच्चिन्तयन्त्यस्ता रूपं भगवतश्चिरम्।

उक्तकालं समासाद्य गोप्यो भूत्वा हरिं गताः॥

"ब्रह्मा ने कहा: इन शब्दों को सुनकर श्रुतियाँ दीर्घकाल तक भगवान् के सौन्दर्य का ध्यान करती रहीं। जब अन्ततः नियत समय आया, तो वे सब गोपियाँ बन गईं और उन्होंने कृष्ण का सान्निध्य प्राप्त

किया।''

पद्म पुराण के *सृष्टि खण्ड* में भी ऐसा ही विवरण मिलता है, जिसमें बतलाया गया है कि गायत्री मंत्र भी गोपी बन गया।

भक्ति के विकास के सम्बन्ध में भगवान् कृष्ण गोपालतापनी उपनिषद् (उत्तर) में इसके आगे कहते हैं—अपूत: पूतो भवति यं मां स्मृत्वा, अव्रती व्रती भवति यं मां स्मृत्वा, निष्काम: सकामो भवति यं मां स्मृत्वा, अश्रोत्री श्रोत्री भवति यं मां स्मृत्वा—''मेरा स्मरण करने से अशुद्ध भी शुद्ध बन जाता है। मेरा स्मरण करने से कोई भी व्रत न लेने वाला व्रतधारी बन जाता है। मेरा स्मरण करने से जो निष्काम है, वह [मेरी सेवा करने की] इच्छा से युक्त (सकाम) हो जाता है। मेरा स्मरण करने से वैदिक मंत्रों का अध्ययन न करने वाला वेदों का निपुण ज्ञाता बन जाता है।''

बृहदारण्यक उपनिषद् (.५.६) में कृष्णभावनाभावित होने के क्रमिक पदों का वर्णन हुआ है—*आत्मा वा अरे दृष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:*—आत्मा का ही प्रेक्षण, श्रवण, चिंतन तथा स्थिर चित्त से ध्यान किया जाना चाहिए। भाव यह है कि मनुष्य को चाहिए कि परमात्मा को निम्नलिखित विधियों से अपने पूर्ण व्यक्तित्व में सीधे दृश्य मान कर साक्षात् करे: सर्वप्रथम परमात्मा के किसी योग्य प्रतिनिधि से उपदेश सुने और ऐसे गुरु की विनम्र सेवा करते हुए तथा सभी प्रकार से उसे प्रसन्न करने का प्रयास करते हुए उसके वचनों को हृदयंगम करे। फिर अपने संशयों तथा भ्रान्तियों को दूर करने के उद्देश्य से गुरु के दिव्य संदेश पर निरन्तर मनन करे। तभी वह पूरे संकल्प एवं दृढ़ विश्वास के साथ भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करना प्रारम्भ कर सकता है।

तथाकथित ज्ञानी यह सोच सकते हैं कि उपनिषदों में ब्रह्म की *निर्विशेष* अनुभूति को *सविशेष* पूजा से अधिक पूर्ण तथा अन्तिम मान कर प्रशंसा की गई है। किन्तु सारे निष्ठावान वैष्णव परमेश्वर की भक्ति में लगे रहते हैं और उनके अत्यन्त अद्‌भुत विविध गुणों का आनन्दपूर्वक ध्यान करते हैं। श्रुति मंत्रों के अनुसार—*यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्*—परमात्मा जिस व्यक्ति को चुनता है, उसे वह उपलब्ध हो जाता है। उसे ही परमात्मा अपना साकार रूप प्रकट करता है। (*कठ उपनिषद्* १.२.२३ *तथा मुण्डक उपनिषद्* ३.२.३)

श्रील श्रीधर स्वामी निम्नलिखित स्तुति से टीका समाप्त करते हैं—

चरणस्मरणं प्रेम्णा तव देव सुदुर्लभम्।

यथा कथञ्चिद् नृहरे मम भूयाद् अहर्निशम्॥

"हे प्रभु! आपके चरणकमलों का प्रेमपूर्ण स्मरण बड़ी मुश्किल से हो पाता है। हे नरहरि! आप ऐसा करें कि रात-दिन मैं उनका स्मरण कर सकूँ।"

क इह नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं
यत उदगादृषिर्यमनु देवगणा उभये ।
तर्हि न सन्न चासदुभयं न च कालजवः
किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा ॥ २॥

शब्दार्थ

कः—कौन; इह—इस संसार में; नु—निस्सन्देह; वेद—जानता है; बत—ओह; अवर—अर्वाचीन; जन्म—जिसका जन्म; लयः—तथा संहार; अग्र-सरम्—पहले आया हुआ; यतः—जिससे; उदगात्—उत्पन्न हुआ; ऋषिः—ऋषि, ब्रह्मा; यम् अनु—जिसके (ब्रह्मा के) पीछे पीछे; देव-गणाः—देवताओं का समूह; उभये—दोनों (जो इन्द्रियों को वश में रखते हैं और जो स्वर्गलोक के भी ऊपर वाले क्षेत्रों में रहते हैं); तर्हि—उस समय; न—नहीं; सत्—स्थूल पदार्थ; न—नहीं; च—भी; असत्—सूक्ष्म पदार्थ; उभयम्—जो दोनों से युक्त है (अर्थात् भौतिक शरीर); न च—न तो; काल—समय का; जवः—प्रवाह; किम् अपि न—किसी भी तरह से नहीं; तत्र—वहाँ; शास्त्रम्—शास्त्र को; अवकृष्य—निकाल कर के; शयीत—(भगवान्) सो जाता है; यदा—जब।

इस जगत का हर व्यक्ति हाल ही में उत्पन्न हुआ है और शीघ्र ही मर जायेगा। अतएव यहाँ का कोई भी व्यक्ति, उसे कैसे जान सकता है, जो हर वस्तु के पूर्व से विद्यमान है और जिसने प्रथम विद्वान ऋषि ब्रह्मा को और उसके बाद के छोटे तथा बड़े देवताओं को जन्म दिया है? जब वह लेट जाता है और हर वस्तु को अपने भीतर समेट लेता है, तो कुछ भी नहीं बचता—न तो स्थूल या सूक्ष्म पदार्थ, न ही इनसे बने शरीर, न ही काल की शक्ति और न शास्त्र।

तात्पर्य : यहाँ पर श्रुतियाँ परम पुरुष को जानने की कठिनाई बतलाती हैं। साक्षात् वेदों द्वारा इन श्लोकों में भक्तियोग का जैसा वर्णन हुआ है, वह भगवान् को जानने तथा मोक्ष पाने का सबसे सुगम तथा निश्चित मार्ग है। इसकी तुलना में ज्ञानयोग अत्यन्त कठिन है, यद्यपि यह भौतिक जीवन से ऊबे हुओं को, जो अब भी भगवान् की शरण में नहीं जाना चाहते, प्रिय है। जब तक जीव भगवान् की सर्वश्रेष्ठता से ईर्ष्या रखता है, तब तक भगवान् उसे दर्शन नहीं देते। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२५) में भगवान् ने कहा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

''मैं मूर्ख तथा अज्ञानी के सामने कभी प्रकट नहीं होता। उनके लिए मैं अपनी अन्तरंगा शक्ति से ढका रहता हूँ, इसलिए वे यह नहीं जानते कि मैं अजन्मा तथा अच्युत हूँ।'' ब्रह्मा के शब्दों में (*ब्रह्मसंहिता* ५.३)—

पन्थास्तु कोटिशतवत्सरसम्प्रगम्यो

वायोरथापि मनसो मुनिपुंगवानाम्।

सोऽप्यस्ति यत्प्रपदसिम्न्यविचिन्त्यतत्त्वे

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जिनके चरणकमलों के अँगूठे के छोर तक ही वे योगीजन पहुँच पाते हैं, जो ब्रह्म की कामना करते हैं और श्वास खींचकर प्राणायाम करते हैं या वे ज्ञानीजन जो करोड़ों वर्षों तक संसार का निषेध करके विभेद रहित ब्रह्म की खोज में लगे रहते हैं।''

इस ब्रह्माण्ड के प्रथम जन्मा जीव ब्रह्मा प्रथम ऋषि भी हैं। उनका जन्म नारायण से हुआ है और उनसे उत्पन्न हैं तमाम देवता, जिनमें पृथ्वी के कार्यों के नियन्ता तथा स्वर्ग के शासक भी सम्मिलित हैं। ये सारे शक्तिमान तथा बुद्धिमान जीव भगवान् की सर्जक शक्ति के अर्वाचीन उत्पाद हैं। ब्रह्मा ही वेदों के पहले वक्ता हैं, अतएव उन्हें वेदों का तात्पर्य जानना चाहिए, कम-से-कम इतना जितना और कोई अधिकारी जानता है, किन्तु वे भी भगवान् को थोड़ा ही समझते हैं। *श्रीमद्भागवत* (१.३.३५) में कहा गया है—*वेद गुह्यानि हृत्पतेः*—हृदय का स्वामी वैदिक ध्वनि की गुप्त कन्दराओं की गहराई में अपने को छिपा लेता है। यदि ब्रह्मा तथा उनसे उत्पन्न देवता उन परमेश्वर को आसानी से नहीं जान पाते, तो भला मर्त्य प्राणी किस तरह उनके स्वतंत्र ज्ञान की खोज में सफल होने की आशा कर सकते हैं?

जब तक यह सृष्टि चलती है जीवों को ज्ञान के मार्ग में अनेक बाधाएँ आती हैं। चूँकि वे अपने को शरीर, मन तथा अहंकार से निर्मित भौतिक आवरण मान बैठते हैं, इसलिए उनमें नाना प्रकार के पूर्वाग्रह तथा भ्रान्तियाँ जन्म लेती हैं। चाहे शास्त्र ही उनका मार्गदर्शन क्यों न करें और कर्म, ज्ञान तथा योग की संस्तुत विधियों को अपनाने का उन्हें अवसर क्यों न दिया जाय, बद्धजीवों में ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त कर सकने की तनिक भी क्षमता नहीं होती। जब प्रलय का समय आता है, तो वैदिक शास्त्र तथा उनके

विधि–विधान सब लुप्त हो जाते हैं और निष्क्रिय जीव नितान्त अंधकार में रह जाता है। इसलिए भक्ति से रहित ज्ञान के लिए व्यर्थ प्रयास करना छोड़ कर हमें ब्रह्मा का उपदेश मानकर अपने को भगवान् की कृपा पर छोड़ देना चाहिए।

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव

जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।

स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिः

ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥

''जो लोग अपने प्रतिष्ठित सामाजिक पदों पर बने रहते हुए भी अनुमानित ज्ञान की विधि का बहिष्कार कर देते हैं और मनसा वाचा कर्मणा आपके तथा आपके कार्यों के विवरणों का आदर करते हैं और इन कथाओं में जो कि आपके द्वारा तथा आपके शुद्ध भक्तों द्वारा उच्चारित होती हैं अपना जीवन समर्पित कर देते हैं, वे अवश्य ही आपको जीत लेते हैं, यद्यपि आप तीनों लोकों में किसी के द्वारा जीते नहीं जा सकते (*भागवत* .१.३)।

इस सन्दर्भ में *तैत्तिरीय उपनिषद्* का ब्रह्म विषयक उल्लेख (२..१) है— *यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह*—जहाँ शब्द नहीं रहते तथा जहाँ मन नहीं पहुँचता। *ईशोपनिषद्* () का कथन है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो

नैतद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्।

तद्धावतोऽन्यान् अत्येति तिष्ठत्

तस्मिन् अपो मातरिष्वा दधाति॥

''अपने धाम में स्थिर रहने पर भी भगवान् मन से भी अधिक तेज हैं और अन्य सारे धावकों को पछाड़ सकते हैं। शक्तिशाली देवता उनके पास फटक नहीं सकते। एक स्थान पर रहते हुए भी वे वर्षा तथा वायु की पूर्ति करने वालों को नियंत्रित करते हैं। वे श्रेष्ठता में सबसे बढ़कर हैं।'' ऋग्वेद (३.५.५) में यह मंत्र आता है—

कोऽद्धा वेद क इह प्रवोचत्

कुत आयाता: कुत इयं विसृष्टि:।

अर्वाग् देवा विसर्जनेना-

था को वेद यत आ बभूव॥

"इस जगत में ऐसा कौन है, जो वास्तव में जानता है और यह बतला सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से आई? सारे देवता सृष्टि से छोटे हैं। तब कौन बतला सकता है कि यह जगत कहाँ से आया?"

श्रील श्रीधर स्वामी इस प्रकार प्रार्थना करते हैं—

क्वाहं बुद्ध्यादिसंरुद्ध: क्व च भूमन्महस्तव।

दीनबन्धो दयासिन्धो भक्तिं मे नृहरे दिश॥

"मैं क्या हूँ—सांसारिक बुद्धि इत्यादि के भौतिक आवरणों से बँधा-जीव? हे सर्वशक्तिमान! आपकी महिमा से इसकी क्या तुलना है? हे पतितों के मित्र, हे दया के सागर! भगवान् नरहरि! आप मुझे अपनी भक्ति का वर दें।"

जनिमसत: सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां
विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितै: ।
त्रिगुणमय: पुमानिति भिदा यदबोधकृता
त्वयि न तत: परत्र स भवेदवबोधरसे ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

जनिम्—सृष्टि; असत:—(अणुओं से बने) दृश्य जगत के; सत:—शाश्वत; मृतिम्—संहार; उत—भी; आत्मनि—आत्मा में; ये—जो; च—तथा; भिदाम्—द्वैत; विपणम्—सांसारिक व्यापार; ऋतम्—असली; स्मरन्ति—घोषित करते हैं; उपदिशन्ति—शिक्षा देते हैं; ते—वे; आरुपितै:—सत्य पर चढ़ाया गया मोह; त्रि—तीन; गुण—गुणों से; मय:—निर्मित; पुमान्—जीव; इति—इस प्रकार; भिदा—द्वैत की धारणा; यत्—जो; अबोध—अज्ञान से; कृता—उत्पन्न; त्वयि—तुममें; न—नहीं; तत:—उससे; परत्र—परे; स:—वह (अज्ञान); भवेत्—रह सकता है; अवबोध—पूर्ण चेतना; रसे—संरचना में।

माने हुए विद्वान जो यह घोषित करते हैं कि पदार्थ ही जगत का उद्गम है, कि आत्मा के स्थायी गुणों को नष्ट किया जा सकता है, कि आत्मा तथा पदार्थ के पृथक् पक्षों से मिलकर आत्मा बना है या कि भौतिक व्यापारों से सच्चाई बनी हुई है—ऐसे विद्वान उन भ्रान्त विचारों पर अपनी शिक्षाओं को आधारित करते हैं, जो सत्य को छिपाते हैं। यह द्वैत धारणा कि जीव प्रकृति के तीन गुणों से उत्पन्न है, अज्ञानजन्य मात्र है। ऐसी धारणा का आपमें कोई आधार नहीं है, क्योंकि आप समस्त भ्रम (मोह) से परे हैं और पूर्ण चेतना का भोग करने वाले हैं।

तात्पर्य : परम पुरुष की वास्तविक स्थिति अत्यन्त रहस्यमय है और उसी तरह जीवात्मा की अधीनावस्था भी। अधिकांश विचारक इन सच्चाइयों के विषय में किसी न किसी हद तक भ्रमित हैं, क्योंकि आत्मा को आच्छादित करने वाली अनेक मिथ्या उपाधियाँ हैं, जो भ्रम उत्पन्न कर सकती हैं। मूर्ख बद्धजीव इन भ्रमों को तो स्वीकार करते ही हैं, लेकिन बड़े बड़े दार्शनिकों तथा योगियों तक की बुद्धि को माया की भ्रामक शक्ति उलट सकती है। इसलिए सत्य के मूल सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने वाले अनेक परस्पर विरोधी सिद्धान्त हैं।

परम्परागत भारतीय दर्शन में वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग तथा मीमांसा दर्शनों के अनुयायी अपने-अपने भ्रान्तिमूलक विचार रखते हैं, जिसकी ओर साक्षात् वेद इस स्तुति में इंगित कर रहे हैं। वैशेषिकजन कहते हैं कि इस दृश्य ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति परमाणुओं की मूलराशि से हुई (*जनिम् असतः*)। जैसाकि कणाद ऋषि के *वैशेषिक सूत्रों* (७.१.२०) में कहा गया है *नित्यं परिमण्डलम्प* परमाणु जो सबसे लघु आकार का है, नित्य है। कणाद तथा उनके अनुयायी अन्य अ-परमाणुक जीवों के लिए, जिनमें वे आत्माएँ सम्मिलित हैं, जो देहधारी बन जाती हैं, यहाँ तक कि परमात्मा तक के लिए नित्यता की कल्पना करते हैं। लेकिन वैशेषिक दर्शन में आत्माएँ तथा परमात्मा ब्रह्माण्ड की परमाणु रचना में प्रतीकात्मक भूमिका निभाते हैं। श्रील कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने इस मत की आलोचना अपने *वेदान्त सूत्र* (२.२.१२) में की है *उभयथापि न कर्मातस्तदभावः।* इस सूत्र के अनुसार कोई यह दावा नहीं कर सकता कि सृष्टि के समय परमाणु पहले परस्पर संयोग करते हैं, क्योंकि वे उन्हीं में संलग्न किसी कर्म स्पन्दन से प्रेरित होते हैं। किन्तु संयोग करने के पूर्व परमाणुओं की आदि अवस्था में कोई ऐसा नैतिक उत्तरदायित्व नहीं होता, जिससे वे पाप तथा पुण्य अर्जित कर सकें। न ही परमाणुओं के आदि संयोग की विवेचना जीवों के शेष कर्म के प्रतिफल के रूप में की जा सकती है, क्योंकि ये प्रतिफल जीव के अपने होते हैं और वे एक जीव से दूसरे में स्थानान्तरित नहीं हो सकते, तो फिर निष्क्रिय परमाणुओं का तो कहना ही क्या।

विकल्प के रूप में *जनिम् असतः* से पतञ्जलि ऋषि के योगदर्शन का भाव लिया जा सकता है, क्योंकि उनके योगसूत्र में शिक्षा दी गई है कि किस तरह कोई आसन तथा ध्यान की यांत्रिक विधि से ब्रह्मत्व प्राप्त कर सकता है। पतञ्जलि की योग विधि को यहाँ *असत्* कहा गया है क्योंकि इसमें भक्ति

के अनिवार्य पक्ष—परम पुरुष के प्रति आत्मसमर्पण—की अवहेलना की गई है। जैसाकि भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (१७.२८) में कहा है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह॥

"हे पृथा-पुत्र! यज्ञ, दान या तप के रूप में श्रद्धा के बिना की गई कोई भी वस्तु अस्थायी है। वह असत् कहलाती है और इस जीवन में तथा अगले जीवन दोनों के लिए व्यर्थ होती है।"

योगसूत्र प्रकारान्तर से भगवान् को केवल सहायक के रूप में स्वीकार करता है, जिसका उपयोग बढ़े-चढ़े योगी कर सकते हैं। *ईश्वरप्रणिधानाद् वा*—ईश्वर का भक्तिमय-ध्यान एकाग्रता पाने का एक अन्य साधन है। (*योगसूत्र* १.२३) इसके विपरीत बादरायण वेदव्यास के वेदान्त दर्शन में भक्ति को न केवल मोक्ष का मूल साधन माना गया है, अपितु मोक्ष से अभिन्न माना गया है। *आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्*—भगवान् की पूजा मोक्ष प्राप्त होने तक चलती रहती है और जैसाकि वेद बतलाते हैं मुक्तावस्था में भी चालू रहती है। (*वेदान्त सूत्र* .१.१२)

गौतम ऋषि ने *न्यायसूत्र* में प्रस्तावित किया है कि मोह तथा दुख का निषेध करके मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है—*दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानाम् उत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावाद् अपवर्गः*—मिथ्या धारणा, बुरा चरित्र, बन्धनकारी कर्म, पुनर्जन्म तथा दुख को क्रमशः दूर करने से ही अन्तिम मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है (*न्यायसूत्र* १.१.२)। क्योंकि एक के मिट जाने से दूसरा मिटने लगता है, लेकिन न्याय दर्शनवेत्ताओं का विश्वास है कि चेतना आत्मा का अनिवार्य गुण नहीं है इसलिए वे शिक्षा देते हैं कि मुक्तात्मा में कोई चेतना नहीं रहती। इस तरह मुक्ति का न्याय विचार आत्मा को मृत पत्थर की अवस्था में रखता है। न्याय दर्शनवेत्ताओं द्वारा आत्मा की आन्तरिक चेतना को मारने के प्रयास को ही यहाँ पर साक्षात् वेदों द्वारा *सतो मृतिम्* कहा गया है। लेकिन *वेदान्त सूत्र* (२.३.१७) एकस्वर से कहता है *ज्ञोऽत एव*—जीवात्मा सदैव ज्ञाता है।

यद्यपि आत्मा चेतन तथा सक्रिय दोनों है, किन्तु सांख्य दर्शन के समर्थक जीवनी शक्ति के इन दोनों कार्यों को गलती से पृथक् करते हैं (*आत्मनि ये च भिदाम्*) और चेतना को आत्मा (*पुरुष*) से तथा सक्रियता को *प्रकृति* से जोड़ते हैं। *सांख्य कारिका* के अनुसार (१९-२०)—

तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वं पुरुषस्य।

कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वम् अकर्तृभावश्च॥

''इस प्रकार पुरुषों के मध्य जो अन्तर है, वह ऊपरी है (प्रकृति के गुणों द्वारा आवृत होने से), पुरुष की असली स्थिति साक्षी की है, जो पृथकत्व, अन्यमनस्कता, साक्षी होने के पद तथा उसकी निष्क्रियता से लक्षित है।''

तस्मात् तत्संयोगाद् अचेतनं चेतनावद् इव लिंगम्।

गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः॥

''इस तरह आत्मा के संसर्ग से अचेतन सूक्ष्मजीव चेतन जान पड़ता है। जबकि आत्मा कर्ता प्रतीत होता है, यद्यपि वह प्रकृति के गुणों की सक्रियता से पृथक् है।''

श्रील व्यासदेव ने *वेदान्त सूत्र* (२.३.३१-३९) के एक अनुभाग में जो *कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्* से प्रारम्भ होता है, इस विचार का खण्डन किया है ''जीवात्मा को कर्मों का कर्ता होना चाहिए, क्योंकि शास्त्रों के आदेशों का कुछ प्रयोजन होता है।'' आचार्य बलदेव विद्याभूषण ने *गोविन्दभाष्य* में बतलाया है कि ''जीव कर्ता है न कि प्रकृति के गुण। क्यों? क्योंकि शास्त्रों के आदेशों का कुछ प्रयोजन होना चाहिए (*शास्त्रार्थवत्त्वात्*)। उदाहरणार्थ ऐसा शास्त्रीय आदेश कि *स्वर्गकामो यजेत* (स्वर्ग की कामना रखने वाले को यज्ञ करना चाहिए) तथा *आत्मानम् एव लोकम् उपासीत* (बृहदारण्यक उपनिषद् १..१५) (वैकुण्ठ प्राप्ति के उद्देश्य से पूजा करनी चाहिए) तभी सार्थक हैं, जब किसी चेतन कर्ता का अस्तित्व हो। यदि प्रकृति के गुण कर्ता हों, तो ऐसे कथनों से कोई काम नहीं सरेगा। शास्त्रीय आदेश जीव को नियत कर्मों को करने में इसीलिए लगाते हैं, जिससे उसे कुछ भोगने योग्य फल मिलें। अचेतन गुण में ऐसी प्रवृत्ति को जागृत नहीं किया जा सकता।''

जैमिनि ऋषि ने *पूर्वमीमांसा सूत्र* में भौतिक कर्म तथा उसके फल को सत्य रूप में (*विपणम् ऋतम्*) प्रस्तुत किया है। वे तथा कर्म मीमांसा के अनेक धुरंधर यह शिक्षा देते हैं कि यह जगत असीम है और कोई मुक्ति नहीं है। उनके लिए कर्म चक्र शाश्वत है और अधिक से अधिक यह लक्ष्य बनाया जा सकता है कि देवताओं के बीच जन्म हो। अतएव वे यही कहते हैं कि वेदों का सारा उद्देश्य मनुष्यों को सद्कर्म उत्पन्न करने के लिए विधि-विधानों में लगाना है। इस तरह परिपक्व आत्मा का

मुख्य कर्तव्य वेदों के यज्ञ विषयक आदेशों के सही अर्थ को समझना और उन्हें सम्पन्न करना है। *चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः*—कर्तव्य वह है, जो वेदों के आदेशों द्वारा सूचित होता है। (*पूर्वमीमांसा सूत्र* १.१.२)

किन्तु *वेदान्त सूत्र* के चतुर्थ अध्याय में, जिसमें जीवन के चरम लक्ष्य का वर्णन हुआ है, जन्म तथा मृत्यु से मोक्ष प्राप्त करने की आत्मा की क्षमता का विस्तृत वर्णन मिलता है, जिसमें यज्ञ के विधि-विधानों को आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता में सहायता देने के अधीन माना गया है। जैसाकि *वेदान्त सूत्र* (.१.१६) में कहा गया है *अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद् दर्शनात्* अग्निहोत्र तथा अन्य वैदिक यज्ञ ज्ञान उत्पन्न करने के निमित्त हैं, जैसाकि वेदों के कथन से दर्शित होता है। *वेदान्त सूत्र* (..२२) के अन्तिम शब्दों में भी यही घोषणा है कि *अनावृत्तिः शब्दात्*—जैसाकि शास्त्र वचन देते हैं, मुक्तात्मा कभी इस जगत में वापस नहीं आता।

इस तरह अनुमान पर आधारित ज्ञानियों के भ्रमकारी निष्कर्ष सिद्ध करते हैं कि बड़े-बड़े विद्वान तथा मुनिजन भी प्रायः अपनी ईश्वरप्रदत्त बुद्धि के दुष्प्रयोग से मोहग्रस्त हो जाते हैं। *कठ उपनिषद्* का कथन है (१.२.५)—

अविद्यायाम् अन्तरे वर्तमानाः

स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।

जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा

अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

"अज्ञान के चंगुल में पड़ कर तथाकथित विशिष्टजन अपने आपको विद्वान मान लेते हैं। वे इस संसार में मूर्ख बनकर उसी तरह घूमते हैं, जैसे कि किसी एक अन्धे के द्वारा ले जाया जाने वाला अन्य अंधा।"

सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदान्त इन छः परंपरागत वैदिक दर्शनों में से केवल बादरायण व्यास कृत वेदान्त ही त्रुटिरहित है और वह भी जब उसकी व्याख्या प्रामाणिक वैष्णव आचार्यों द्वारा हुई हो। तो भी इन छहों मतों में से हर एक का वैदिक शिक्षा के विषय में कुछ न कुछ योगदान है। नास्तिक सांख्य प्राकृतिक तत्त्वों का विकास सूक्ष्म तत्त्वों से स्थूल की ओर बतलाता है,

पतञ्जलि का योग ध्यान की आठ विधियों का वर्णन करता है, न्याय तर्क की विधियाँ प्रस्तुत करता है, वैशेषिक सत्य की मूलभूत आध्यात्मिक कोटियों पर विचार करता है और मीमांसा शास्त्रों की व्याख्या के मानक उपकरण जुटाता है। इस छहों के अतिरिक्त भी बौद्ध, जैन तथा चार्वाक दर्शन हैं, जिनके शून्यवाद तथा भौतिकतावाद नित्य आत्मा की आध्यात्मिकता से इनकार करते हैं।

अन्ततोगत्वा केवल ईश्वर ही ज्ञान के विश्वसनीय स्रोत बचते हैं। भगवान् *अवबोध-रस*—अबाध दृष्टि के असीम आगार हैं। जो दृढ़ संकल्प के साथ उन पर निर्भर रहते हैं, उन्हें वे ज्ञान का दिव्य चक्षु प्रदान करते हैं। अन्य लोग जो अपने अपने सिद्धान्तों में लगे रहते हैं, उन्हें माया के धुंधले पर्दे से होकर सत्य को खोजना पड़ता है।

श्रील श्रीधर स्वामी स्तुति करते हैं—

मिथ्या तर्क सुकर्कशेरितमहा वादान्धकारान्तर-

भ्राम्यन्मन्दमतेरमन्दमहिमंस्त्वद्ज्ञानवर्त्मास्फुटम् ।

श्रीमन्माधव वामन त्रिनयन श्रीशंकर श्रीपते

गोविन्देति मुदा वदन् मधुपते मुक्तः कदा स्यामहम् ॥

"मिथ्या तर्क की कटु विधियों द्वारा पल्लवित उन उच्च दर्शनों के अंधकार में घूमने वाली मोहग्रस्त आत्मा के लिए, हे दिव्य यश के स्वामी! आपका असली ज्ञान अलक्षित रहता है। हे मधुपति, लक्ष्मीपति! मैं माधव, वामन, त्रिनयन, श्रीशंकर, श्रीपति तथा गोविन्द आदि आपके नामों का प्रसन्नतापूर्वक उच्चारण करते हुए कब मुक्ति प्राप्त करूँगा?

सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात्
सदभिमृशन्त्यशेषमिदमात्मतयात्मविदः ।
न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया
स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सत्—सत्य; इव—मानो; मनः—मन (तथा इसके प्राकट्य); त्रि-वृत्—तीन (प्रकृति के गुण); त्वयि—तुममें; विभाति—प्रकट होता है; असत्—असत्य; आ-मनुजात्—मनुष्यों तक; सत्—सत्य स्वरूप; अभिमृशन्ति—वे मानते हैं; अशेषम्—सम्पूर्ण; इदम्—इस (जगत) को; आत्मतया—आत्मा से अभिन्न रूप में; आत्म-विदः—आत्मा को जानने वाले; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; विकृतिम्—विकारों को; त्यजन्ति—परित्याग कर देते हैं; कनकस्य—स्वर्ण का; तत्-आत्मतया—जितना कि वे इससे अभिन्न हैं; स्व—अपने द्वारा; कृतम्—उत्पन्न; अनुप्रविष्टम्—तथा प्रविष्ट हुए; इदम्—इस; आत्मतया—अपने से अभिन्न; अवसितम्—सुनिश्चित।

इस जगत में सारी वस्तुएँ—सरलतम घटना से लेकर जटिल मानव-शरीर तक—प्रकृति के तीन गुणों से बनी हैं। यद्यपि ये घटनाएँ सत्य प्रतीत होती हैं, किन्तु वे आध्यात्मिक सत्य की मिथ्या प्रतिबिम्ब होती हैं, वे आप पर मन के अध्यारोपण हैं। फिर भी जो लोग परमात्मा को जानते हैं, वे सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि को सत्य तथा साथ ही साथ आपसे अभिन्न मानते हैं। जिस तरह स्वर्ण की बनी वस्तुओं को, इसलिए अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे असली सोने की बनी हैं, उसी तरह यह जगत उन भगवान् से अभिन्न है, जिसने इसे बनाया और फिर वे उसमें प्रविष्ट हो गये।

तात्पर्य : एक दृष्टि से दृश्य जगत सत्य (*सत्*) है और दूसरे वह नहीं (*असत्*) भी है। इस ब्रह्माण्ड का सार-तत्त्व यथार्थ है, क्योंकि वह भगवान् की बहिरंगा शक्ति है, किन्तु माया इस वस्तु को जो-जो स्वरूप धारण कराती है केवल वे नश्वर हैं। चूँकि ये स्वभौतिक स्वरूप क्षणिक (नाशवान्) हैं अतएव जो उन्हें स्थायी मानते हैं, वे भ्रम में हैं। किन्तु निर्विशेषवादी पंडित *सत्* तथा *असत्* के विभाजन की गलत व्याख्या करते हैं, वे सामान्य सच्चाई की अवहेलना करते हुए यह घोषित करते हैं कि न केवल भौतिक स्वरूप अपितु भौतिक वस्तु भी असत्य है और वे अपनी आत्मा को परम पूर्ण होने की गलती कर बैठते हैं। पिछली स्तुति में साक्षात् वेदों द्वारा कहे गये इन शब्दों *त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा* को मायावादी दार्शनिक परमात्मा तथा जीवात्मा का अन्तर नहीं मानते। वे यह कहेंगे कि जीव का भौतिक स्वरूप तीन गुणों का क्षणिक प्रदर्शन है, अतएव जब ज्ञान द्वारा जीव का अज्ञान नष्ट हो जाता है, तो वह परमात्मा बन जाता है। बन्धन, मुक्ति तथा दृश्य जगत अज्ञान की ही असत्य सृष्टियाँ हैं। ऐसे विचारों के उत्तर स्वरूप वेद यहाँ पर सत् तथा असत् के वास्तविक सम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं।

श्रुतियों में हमें यह कथन मिलता है *असतोऽधिमनोऽसृज्यत, मनः प्रजापतिम् असृजत्, प्रजापतिः प्रजा असृजत्, तद्वा इदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठितं यदिदं किं च* प्रारम्भ में परम मन की सृष्टि असत् से हुई। इस मन से प्रजापति की और प्रजापति से सारे जीवों की सृष्टि हुई। इस तरह इस जगत में विद्यमान सारी वस्तुओं की चरम नींव एकमात्र मन है। यद्यपि निर्विशेषवादी इसका यह अर्थ लगा सकते हैं कि सारा दृश्य जगत मोह की असत्यता (असत्) पर आधारित है, जबकि यहाँ पर असत् शब्द का वास्तविक अर्थ मूल कारण, परमेश्वर है, क्योंकि वे भौतिक जगत से परे (सत्) हैं। वेदान्त सूत्र का

तर्क (२.१.१७) इस व्याख्या की पुष्टि करता है और निर्विशेषवादियों की गलत व्याख्या को नहीं मानता *असद् व्यपदेशान् नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्यदि* किसी को यह आपत्ति है कि यह भौतिक जगत तथा इसका स्रोत एक ही वस्तु नहीं हो सकते, क्योंकि जगत को *असत्* कहा गया है, तो हमारा उत्तर होगा, ''नहीं! क्योंकि यह कथन कि ब्रह्म *असत्* है, उनके गुण सृष्टि से भिन्न होने के कारण सार्थक है।'' इस प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् (२.७.१) में कहा गया है *असद् वा इदमग्र आसीत्* इस सृष्टि के प्रारम्भ में केवल असत् विद्यमान था।

श्रील जीव गोस्वामी के मतानुसार उपर्युक्त अंश में आया हुआ *अधिमनः* शब्द ब्रह्माण्ड के संयुक्त मन के शासक, भगवान् अनिरुद्ध का द्योतक है, जो श्री नारायण के स्वांश रूप में तब प्रकट होता है, जब वे सृष्टि करना चाहते हैं। प्रजापति तो ब्रह्मा हैं और अन्य सभी उत्पन्न जीवों के पिता हैं। इसका वर्णन *महानारायण उपनिषद्* (१.) में मिलता है *अथ पुनरेव नारायणः सोऽन्यं कामं मनसा ध्यायेत। तस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललनात् स्वेदोऽपतत्। ता इमा प्रतताप तासु तेजो हिरण्मयम् अण्डं तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायत*। ''तब नारायण ने अपनी दूसरी इच्छा का ध्यान किया और जब वे सोच रहे थे, तो उनके मस्तक से पसीने की एक बूँद गिरी। इसी बूँद के खमीर बनने से समस्त भौतिक सृष्टि का विकास हुआ। उसमें से अग्नि तुल्य ब्रह्माण्ड का सुनहरी अण्डा निकला और उसके भीतर चतुर्मुख ब्रह्मा ने जन्म लिया।''

जब कोई वस्तु बनाई जाती है, तो वह उसके अवयव कारण के विकार रूप में प्रकट होती है, जैसे कि सोने से बने आभूषण। जिस व्यक्ति को स्वर्ण की इच्छा होगी वह सोने के कुण्डलों या हार को ठुकरायेगा नहीं, क्योंकि ये वस्तुएँ भी स्वर्ण हैं, यद्यपि ये परिवर्धित हैं। इस सांसारिक उदाहरण में सच्चे ज्ञानी लोग पुरुष तथा उनके भौतिक और दिव्य दोनों प्रकार के अंशों में भेदाभेद साम्य देखते हैं। इस तरह यह दिव्य ज्ञान उन्हें मोह के बंधन से मुक्त कराता है, क्योंकि तब वे भगवान् की समूची सृष्टि में भगवान् का दर्शन पा सकते हैं।

श्री श्रीधर स्वामी स्तुति करते हैं—

यत् सत्त्वतः सदा भाति जगदेतद् असत् स्वतः।

सदाभासमसत्यस्मिन् भगवन्तं भजाम तम्॥

"हम उन भगवान् की पूजा करें, जिनके भौतिक अस्तित्व से यह सृष्ट जगत शाश्वत रूप से विद्यमान प्रतीत होता है, यद्यपि यह *असत्* है। परमात्मा रूप में वे इस *असत्* के भीतर *सत्* का प्रतिनिधित्व करते हैं।"

तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया
त उत पदाक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निरृतेः ।
परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि तांस्
त्वयि कृतसौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः ॥ २७॥

शब्दार्थ

तव—तुम्हारी; परि ये चरन्ति—जो पूजा करते हैं; अखिल—सबों के; सत्त्व—उत्पन्न जीव; निकेततया—आश्रय के रूप में; ते—वे; उत—केवल; पदा—अपने पैरों से; आक्रमन्ति—रखते हैं; अविगणय्य—अवहेलना करके; शिरः—सिर पर; निरृतेः—मृत्यु के; परिवयसे—तुम बाँध देते हो; पशून् इव—पशुओं की तरह; गिरा—आपके (वेद के) शब्दों से; विबुधान्—चतुर; अपि—भी; तान्—उनके; त्वयि—जिसको; कृत—बनाने वाले; सौहृदाः—मैत्री; खलु—निस्सन्देह; पुनन्ति—पवित्र करते हैं; न—नहीं; ये—जो; विमुखाः—शत्रुतापूर्ण।

जो भक्त आपको समस्त जीवों के आश्रय रूप में पूजते हैं, वे मृत्यु की परवाह नहीं करते और उनके सिर पर आप अपना चरण रखते हैं, लेकिन आप वेदों के शब्दों से अभक्तों को पशुओं की तरह बाँध लेते हैं, भले ही वे प्रकाण्ड विद्वान क्यों न हों। आपके स्नेहिल भक्तगण ही अपने को तथा अन्यों को शुद्ध कर सकते हैं, आपके प्रति शत्रु-भाव रखने वाले नहीं।

तात्पर्य : अब साक्षात् वेद अनेक विरोधी मतों के त्रुटिपूर्ण दर्शनों को एक तरफ रख देते हैं वैशेषिकों का *असद् उत्पत्तिवाद,* जो सृष्टि का स्रोत भौतिक मानते हैं, नैयायिकों का *सद्विनाशवाद,* जो मुक्तात्मा को चेतनारहित बताते हैं, सांख्यों का *सगुणत्वभेदवाद,* जो आत्मा को उसके ऊपरी गुणों से पृथक् कर देते हैं, मीमांसकों का *विपणवाद,* जो कर्म-व्यापार में आत्मा के नित्य संलग्न रहने की भर्त्सना करते हैं तथा मायावादियों का *विवर्तवाद* जो इस जगत में आत्मा के असली जीवन को मायाजाल (भ्रम) तक नीचे ला देते हैं। साक्षात् वेद इन सारे वादों को नकार कर अब भक्ति का दर्शन, *परिचर्यावाद* प्रस्तुत कर रहे हैं।

इस दर्शन को मानने वाले वैष्णव यह शिक्षा देते हैं कि जीवात्मा उस आध्यात्मिक पुरुष का एक परमाणु-कण है, जिसमें सूक्ष्म ज्ञान होता है, जो स्वतंत्र नहीं होता तथा जिसमें भौतिक गुण नहीं होते। सूक्ष्म होने से वह भौतिक शक्ति के वशीभूत हो सकता है, जहाँ वह भौतिक जीवन के कष्ट सहता है।

वह भगवान् की भक्ति करके ही अपने कष्टों को दूर कर सकता है तथा भगवान् की दिव्य अन्तरंगा शक्ति की शरण फिर से पा सकता है न कि सकाम कर्म, कल्पित ज्ञान या अन्य किसी विधि से।

भगवान् कृष्ण अपने ही शब्दों में (*भागवत* ११.१.२१) कहते हैं—

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्।

भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकान् अपि सम्भवात्॥

''पूर्ण श्रद्धा के साथ मेरी अनन्य भक्ति करके ही मनुष्य मुझ भगवान् को प्राप्त कर सकता है। मैं स्वभावतः अपने भक्तों को प्रिय हूँ, जो मुझे अपनी प्रेमपूर्ण सेवा का एकमात्र लक्ष्य समझते हैं। ऐसी शुद्ध भक्ति में लगने से चाण्डाल भी अपने अधम जन्म के कल्मष को धो डालते हैं।''

भगवान् के भक्त उनकी पूजा प्रत्येक विद्यमान वस्तु (अखिल सत्त्व) के आश्रय (*निकेत*) के रूप में करते हैं। ये वैष्णव भक्त *अखिल-सत्त्व-निकेत* कहे जा सकते हैं, क्योंकि इनका धाम तथा आश्रय भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही जगतों की सत्यता (*सत्त्वम्*) का दार्शनिक सत्य होता है। इसीलिए श्रीपाद मध्वाचार्य ने अपने *वेदान्त सूत्र भाष्य* में यह श्रुतिमंत्र उद्धृत किया है *सत्यं ह्येवेदं विश्वमसृजत* उसने इस जगत की सत्य रूप में रचना की। *श्रीमद्भागवत* के सप्तम स्कंध (७.१.११) में *प्रधान पुम्भ्यां नरदेव सत्यकृत* अर्थात् परमेश्वर को पदार्थ तथा जीवों के असली ब्रह्माण्ड का स्रष्टा कहा है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *अखिल-सत्त्व-निकेत* का एक अन्य ही गुह्य अर्थ सुझाया है कि भगवान् के निजी धाम किसी तरह भी *खिल* अर्थात् अपूर्ण नहीं हैं, अतएव वैकुण्ठ अर्थात् चिन्ता तथा सीमा से मुक्त प्रदेश कहलाते हैं। भगवान् ने कृपा करके जिन वैष्णवों की भक्ति स्वीकार कर ली है वे भगवान् द्वारा अपनी सुरक्षा के प्रति इतने निश्चिन्त रहते हैं कि वे मृत्यु से डरते नहीं। मृत्यु उनके लिए अपने नित्य धाम वापस जाने की सहज सीढ़ी बन जाती है।

किन्तु क्या मृत्यु-भय से मुक्ति के हेतु भगवद्भक्त ही योग्य होते हैं? अन्य सभी योगी और विद्वान क्यों अयोग्य हैं? यहाँ पर श्रुतियाँ उत्तर देती हैं''जो भी विमुख है, अर्थात् जिसने उनकी कृपा पाने के लिए उनकी ओर अपना मुख भी नहीं फेरा वह वेदों के उन्हीं शब्दों के द्वारा मोहबद्ध हो जाता है, जो शरणागत भक्तों को प्रकाशित करते हैं।'' वेद स्वयं चेतावनी देते हैं *तस्य वाक्तन्तिर्नामानि दामानि। तस्येदं वाचा तन्त्या नामभिर्दामभिः सर्वं सितम्* ''इस दिव्य ध्वनि के धागों से पवित्र नामों की डोरी

बनती है, किन्तु इन्हीं से बाँधने की रस्सियाँ भी। सारे वेद अपने आदेशों की रस्सी से सम्पूर्ण संसार को बाँध देते हैं, जिससे सारे जीव मिथ्या उपाधि से जकड़ जाते हैं।''

आत्मा तथा परमात्मा की सत्यता *अपरोक्ष-बोधगम्य* है, किन्तु केवल उसके लिए जिसे दिव्य दृष्टि प्राप्त हो। अशुद्ध हृदय वाले दार्शनिकजन भूलवश मान बैठते हैं कि यह सत्य *परोक्ष* है अर्थात् इसका चिन्तन तो किया जा सकता है, प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया जा सकता। ऐसे विचारकों का ज्ञान सत्य के छोटे-छोटे पक्षों के विषय में उनके संन्देहों और भ्रांतियों को दूर करने में सहायता कर सकता है, किन्तु भौतिक मोह को लाँघने तथा ब्रह्म के निकट पहुँचने के लिए यह व्यर्थ है। समान्यतया केवल वे भक्त *अपरोक्ष ज्ञान* के रूप में उनकी महानता और अद्‌भुत दया का सीधा साक्षात्कार प्राप्त करते रहते हैं, जो पूर्ण शुद्धि पाने तक भगवान् की प्रेमाभक्ति करते रहते हैं। हाँ, भगवान् चाहें तो अयोग्य पर भी कृपा प्रदान कर सकते हैं, जैसाकि वे आक्रमणकारी असुरों का वध करते समय करते हैं, किन्तु वे मायावादियों तथा अन्य नास्तिक दार्शनिकों को आशीर्वाद नहीं देना चाहते।

किन्तु यह नहीं सोचना चाहिए कि विष्णु के भक्त अज्ञानी हैं, क्योंकि वे दार्शनिक विश्लेषण तथा तर्क में दक्ष नहीं भी हो सकते। आत्मा का पूर्ण साक्षात्कार केवल अपने प्रयासों से मानसिक चिंतन के द्वारा नहीं, अपितु भगवान् की दया प्राप्त करके किया जा सकता है। यह बात हमें वैदिक प्रमाण में (*कठ उपनिषद्* २.२.२३ *तथा मुण्डक उपनिषद्* ३.२.३) सुनाई पड़ती है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो

न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य

स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

''इस परमात्मा तक न तो तर्क द्वारा, न ही स्वतंत्र मस्तिष्क-शक्ति लगाकर, न अनेक शास्त्रों का अध्ययन करके पहुँचा जा सकता है। प्रत्युत वह व्यक्ति ही उसे पा सकता है, जिसको वह स्वयं कृपा करने के लिए चुन ले। उस व्यक्ति को आत्मा अपना असली साकार स्वरूप प्रकट कर देता है।''

श्रुति में अन्यत्र भक्त की सफलता का वर्णन मिलता है—*देहान्ते देव: परमं ब्रह्म तारकं व्यचष्टे* इस शरीर का अन्त होने पर पवित्र आत्मा परमेश्वर को उतना ही स्पष्ट देखता है, जितना आकाश के तारे

दिखते हैं। *श्वेताश्वतर उपनिषद्* के अन्तिम कथन में (६.२३) कामना करने वाले वैष्णवों को यह प्रोत्साहन दिया गया है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

''जिन महात्माओं को भगवान् तथा गुरु में अटूट श्रद्धा होती है उन्हें ही वैदिक ज्ञान के सारे भावार्थ स्वतः प्रकट होते हैं।''

इस सम्बन्ध में श्रील जीव गोस्वामी *श्वेताश्वतर उपनिषद्* के अन्य श्लोक (.७-८ तथा .१३) उद्धृत करते हैं—

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्

अस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

ऋचोऽक्षरे परे व्योमन् यस्मिन्

देवा अधि विश्वे निषेदुः।

यस्तं वेद किम् ऋचा करिष्यति

य इत् तद् विदुस्त इमे समासते॥

''परमेश्वर वह है, जिसका उल्लेख ऋग्वेद के मंत्रों में होता है, जो सर्वोच्च नित्य आकाश में रहता है तथा जो अपने सन्त-भक्तों को उसी पद की साझेदारी करने के लिए ऊँचे उठाता है। जिसने उसके प्रति शुद्ध प्रेम उत्पन्न कर लिया है और जो उनकी अद्वितीयता को समझता है, वह तब उनके यश की प्रशंसा करता है तथा दुख से मुक्त हो जाता है। जो व्यक्ति उस परमेश्वर को जानता है भला उसका ऋग्वेद के मंत्र और कौन-सा कल्याण कर सकते हैं? जो कोई भी उन्हें जान लेता है परमगति को प्राप्त होता है।

यो वेदानां अधिपो यस्मिल्लोका अधिश्रिताः।

य ईशोऽस्य द्विपदश्चतुष्पदस्तस्मै देवाय हविषा विधेम्॥

''जो सारे वेदों के स्वामी हैं, जिनमें सारे लोक टिके हैं, जो समस्त ज्ञात जीवों, दो पैर वालों तथा चौपायों के स्वामी हैं, हम उन्हीं भगवान् की पूजा घी की आहुतियों से करते हैं।''

श्रील श्रीधर स्वामी मुमुक्षुओं का उल्लेख करते हुए प्रार्थना करते हैं—

तपन्तु तापै प्रपतन्तु पर्वताद् अटन्तु तीर्थानि पठन्तु चागमान्।

यजन्तु यागैर्विवदन्तु वादैर्हरिम् विना नैव मृतिम् तरन्ति॥

"भले ही वे तपस्या करें, अपने को पर्वत की चोटियों से गिरायें, तीर्थस्थलों की यात्रा करें, शास्त्र पढ़ें, अग्नि यज्ञों से पूजा करें और अनेक दर्शनों के विषय में तर्क करें, किन्तु हरि के बिना वे मृत्यु से आगे तैर नहीं सकते।"

त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधरस्
तव बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषाः ।
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो
विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; अकरणः—भौतिक इन्द्रियों से विहीन; स्व-राट्—आत्म तेजोमय; अखिल—समस्त; कारक—एन्द्रिय कार्यों की; शक्ति—शक्तियों के; धरः—धारण करने वाले; तव—तुम्हारी; बलिम्—भेंट; उद्वहन्ति—ले जाते हैं; समदन्ति—हिस्सा बँटाते हैं; अजया—प्रकृति के साथ; अनिमिषाः—देवतागण; वर्ष—राज्य के जनपदों के; भुजः—शासक; अखिल—समस्त; क्षिति—पृथ्वी के; पतेः—स्वामी के; इव—सदृश; विश्व—ब्रह्माण्ड के; सृजः—स्रष्टा; विदधति—सम्पन्न करते हैं; यत्र—जिसमें; ये—वे; तु—निस्सन्देह; अधिकृता—नियत; भवतः—आपका; चकिताः—भयभीत।

यद्यपि आपकी भौतिक इन्द्रियाँ नहीं हैं, किन्तु आप हर एक की इन्द्रिय-शक्ति के आत्म-तेजवान धारणकर्ता हैं। देवता तथा प्रकृति स्वयं आपकी पूजा करते हैं, जबकि अपने पूजा करने वालों द्वारा अर्पित भेंट का भोग भी करते हैं, जिस तरह किसी राज्य के विविध जनपदों के अधीन शासक अपने स्वामी को, जो कि पृथ्वी का चरम स्वामी होता है, भेंटें प्रदान करते हैं और साथ ही स्वयं अपनी प्रजा द्वारा प्रदत्त भेंट का भोग भी करते हैं। इस तरह आपके भय से ब्रह्माण्ड के स्रष्टा अपने अपने नियत कार्यों को श्रद्धापूर्वक सम्पन्न करते हैं।

तात्पर्य : सारे बुद्धिमान जीवों को भगवान् की सर्वसत्ता स्वीकार करनी चाहिए और स्वेच्छा से उनकी भक्ति में संलग्न होना चाहिए। साक्षात् वेदों का यही एकमत है। किन्तु इन स्तुतियों को सुनते समय नारायण ने ठीक ही पूछा होगा, "चूँकि इन्द्रियों तथा अंगों से युक्त मेरा भी शारीरिक रूप है, तो फिर क्या मैं दूसरा कर्ता तथा भोक्ता नहीं हूँ? विशेषरूप से तब जबकि मैं परमात्मा रूप में प्रत्येक जीव के हृदय में रहकर असंख्य अंगों-प्रत्यंगों का निरीक्षण करता हूँ, तो यह कैसे हो सकता है कि मैं सबों

की समूची इन्द्रिय-तृप्ति में न गिना जाऊँ?" समवेत श्रुतियाँ यहाँ मिलकर कहती हैं, "नहीं। आपके भौतिक इन्द्रियाँ नहीं हैं, तो भी आप सबों के परम नियन्ता हैं।" जैसाकि *श्वेताश्वतर उपनिषद्* (३.१८) में व्यक्त हुआ है—

अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्॥

"उसके पैर या हाथ नहीं हैं, फिर भी वह सबसे तेज दौड़ने वाला है और किसी भी वस्तु को पकड़ सकता है। यद्यपि वह आँखों या कानों से रहित है, तो भी वह देखता-सुनता है। उसे कोई नहीं जानता फिर भी वह ज्ञाता तथा ज्ञेय है। मुनिगण उसे परम आदि भगवान् के रूप में बतलाते हैं।"

परम पुरुष के हाथ, पाँव, आँखें तथा कान सामान्य बद्ध आत्मा जैसे नहीं होते, जो मिथ्या अहंकार से एवं भौतिक पदार्थ होते हैं। प्रत्युत भगवान् का दिव्य सुन्दर स्वरूप उनकी अन्तरंगा प्रकृति की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार बद्धजीवों के आत्मा तथा शरीर से भिन्न भगवान् तथा उनका स्वरूप सभी प्रकार से एकरूप हैं। साथ ही, उनके कमल-हाथ, कमल-चरण, कमल-नेत्र तथा अन्य अंग अपने कार्यों तक सीमित नहीं होते। भगवान् द्वारा उत्पन्न प्रथम जीव ब्रह्मा ने इसीलिए उनका यशोगान किया है—

अंगानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति

पश्यन्ति पान्ति कलयन्ति चिरं जगन्ति।

आनन्दचिन्मयसदुज्ज्वलविग्रहस्य

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जिनका दिव्य रूप आनन्द, सत्य तथा सार से पूर्ण है और जिससे अत्यन्त तेजपूर्ण प्रकाश निकलता है। उस दिव्य शरीर का प्रत्येक अंग सारे अंगों के सारे कार्यकलापों से युक्त होता है और आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों ही अनन्त ब्रह्माण्डों को नित्य देखता, पालन करता और प्रकट करता है।" (*ब्रह्म-संहिता* ५.३२)

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने *अखिल शक्तिधर* का दूसरा अर्थ भी दिया है भगवान् जिस शक्ति को अपने भीतर धारण करते हैं वह *अखिल* है अर्थात् *खिल* या निम्न तथा तुच्छ के प्रतिबन्धों से मुक्त है।

वह जीव की इन्द्रियों को शक्ति प्रदान करता है, जैसाकि *केन उपनिषदथ* (१.२) में कहा गया है *श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो ह वाचम्व* ''वह कान का कान, मन का मन और वाणी की वाणी शक्ति है।'' और *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में भी (६.८) घोषणा है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते

न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

''उन्हें कोई कार्य नहीं करना पड़ता, न ही उनके कोई भौतिक इन्द्रियाँ होती हैं, जिनसे यह कार्य किया जाय। न तो कोई उनके तुल्य है, न उनसे बढ़कर है। वेदों से हम सुनते हैं कि भगवान् की नाना प्रकार की शक्तियाँ हैं यथा ज्ञान, बल तथा क्रिया की शक्तियाँ जिनमें से हर एक स्वतंत्र रूप से कार्य करती है।''

मर्त्य जीवों पर शासन करने वाले इन्द्र तथा अन्य देवता तो स्वयं भगवान् के दास हैं। वैसे ही इनसे भी श्रेष्ठ ब्रह्मा तथा उनके पुत्र भी दास हैं। ये सारे महान् देवता तथा ऋषिगण ब्रह्माण्ड का पालन करने तथा मानव जाति को धार्मिक मार्गदर्शन प्रदान करने के अपने अपने कार्य करके भगवान् की पूजा करते हैं।

ब्रह्माण्ड के शक्तिशाली नियन्ता भयपूर्ण आदर से परम नियन्ता श्री विष्णु की शरण ग्रहण करते हैं। जैसाकि *तैत्तिरीय उपनिषद्* (२.८.१) में कहा गया है—

भीषास्माद् वातः पवते भीषाद् एति सूर्यः।

भीषास्माद् अग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

''वायु उनके भय से चलता है। उनके ही भय से सूर्य गति करता है और अग्नि तथा इन्द्र अपना अपना कार्य करते हैं। और मृत्यु, जिसका स्थान पाँचवा है, उनके भय से भागता रहता है।''

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

अनिन्द्रियोऽपि यो देवः सर्वकारकशक्तिधृक्।

सर्वज्ञः सर्वकर्ता च सर्वसेव्यं नमामि तम्॥

“भगवान् के कोई इन्द्रिय नहीं है, फिर भी वह प्रत्येक जीव के ऐन्द्रिय कार्यों को नियंत्रित करता है। वे हर वस्तु के जानने वाले, समस्त कार्य के चरमकर्ता तथा हर एक की भक्ति के समुचित लक्ष्य हैं। मैं उनको नमस्कार करता हूँ।”

स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो
विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः ।
न हि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवेद्
वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

स्थिर—जड़; चर—तथा चेतन; जातयः—योनियाँ; स्युः—प्रकट हुईं; अजया—भौतिक शक्ति से; उत्थ—जागृत की गई; निमित्त—कारण (तथा ऐसे कारण से क्रियाशील बनाये गये सूक्ष्म शरीर); युजः—धारण करके; विहरः—खेल; उदीक्षया—आपकी टुक चितवन से; यदि—यदि; परस्य—उसका, जो पृथक् रहता है; विमुक्त—हे नित्य मुक्त; ततः—उससे; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; परमस्य—परम का; कश्चित्—कोई; अपरः—पराया नहीं; न—न तो; परः—पराया; च—भी; भवेत्—हो सकता है; वियतः—आकाश के लिए; इव—सदृश; अपदस्य—अनुभवगम्य गुणों से विहीन; तव—तुम्हारा; शून्य—शून्य; तुलाम्—तुलना; दधतः—जो धारण करते हैं।

हे नित्यमुक्त दिव्य भगवान्, आपकी भौतिक शक्ति विविध जड़ तथा चेतन जीव योनियों को उनकी भौतिक इच्छाएँ जगाकर प्रकट कराती है, लेकिन ऐसा तभी होता है, जब आप उस पर अल्प दृष्टि डालकर उसके साथ क्रीड़ा करते हैं।

हे भगवान्, आप किसी को न तो अपना घनिष्ठ मित्र मानते हैं, न ही पराया, ठीक उसी तरह जिस तरह आकाश का अनुभवगम्य गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस मामले में आप शून्य के समान हैं।

तात्पर्य : न केवल सारे जीव अपने पालन-पोषण तथा कल्याण के लिए सर्वशक्तिमान स्वतंत्र भगवान् पर पूरी तरह निर्भर रहते हैं, अपितु उनका सारा देहधारी अस्तित्व उनकी अपार दया के ही कारण होता है। भगवान् को भौतिक व्यापारों में कोई रुचि नहीं रहती, क्योंकि उन्हें इस जगत के क्षुद्र आनन्दों से कुछ भी नहीं लेना होता। वे ईर्ष्या या वासना के किसी भी कल्मष से पूरी तरह मुक्त रहते हैं। वे अपनी दैवी शक्तियों के भीतरी लोक में अपने शुद्ध भक्तों के साथ गुह्य प्रेम-लीलाओं में पूरी तरह व्यस्त रहते हैं। अतएव यदि वे भौतिक सृष्टि के कार्य की ओर कभी मुड़ते हैं, तो उन पतितात्माओं को अपने नित्य आनन्द लोक में खींचकर लाने के लिए ऐसा करते हैं।

भगवान् से पृथक् जीवन बिताने के लिए विद्रोही आत्माओं को उपयुक्त शरीर तथा मोहमय परिवेश

प्रदान किया जाना चाहिए, जिसमें वे स्वतंत्रतापूर्वक विलास-कार्य कर सकें। दयामय प्रभु उन्हें अपनी राह में चल कर अपने आप सीखने के लिए सहमत हो जाते हैं, अतएव वे अपनी भौतिक सृजन की शक्ति महामाया पर दृष्टि डालते हैं। इस दृष्टि के पड़ने से ही वह जाग जाती है और उनकी ओर से सारी व्यवस्था करने लगती है। वह तथा उसके सहायकगण देवताओं, मनुष्यों, पशुओं आदि के असंख्य स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर निर्मित करते हैं। उसी के साथ वे स्वर्ग तथा नरक-लोकों में असंख्य परिस्थितियाँ भी उत्पन्न करते हैं, जिससे बद्धजीवों को उनकी इच्छानुसार तथा योग्यतानुसार सुविधाएँ प्राप्त हो सकें।

भले ही कोई अनजान व्यक्ति प्राणियों के कष्ट के लिए ईश्वर को दोष दे, किन्तु वैदिक वाङ्मय का सच्चा अध्येता प्रत्येक आत्मा के लिए भगवान् की एकसमान चिन्ता की प्रशंसा किये बिना नहीं रहता। चूँकि उन्हें कुछ लेना-देना नहीं रहता, इसलिए वे मित्रों तथा विरोधियों में भेदभाव क्यों रखें? भले ही हम उनका विरोध करने की ठान लें और उन्हें भुलाने के सारे प्रयत्न करें, किन्तु वे हमें कभी नहीं भूलते, न ही वे हमें हमारी सभी आवश्यक वस्तुओं को देना तथा अदृश्य मार्गदर्शन देना बन्द करते हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

त्वदीक्षणवशक्षोभमायाबोधितकर्मभिः ।

जातान् संसरतः खिन्नान् नृहरे पाहि नः पितः ॥

"हे पिता, हे नृसिंह! जो जन्म-मृत्यु के अन्तहीन चक्र में जन्म ले चुके हैं, उनकी रक्षा कीजिये। ये आत्माएँ अपने कर्म-बन्धन से दुखी हैं, जिसे माया ने तब जागृत किया, जब आपने उसे क्रियाशील बनाने के लिए अपनी दृष्टि डाली।"

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगतास्
तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा ।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अपरिमिताः—असंख्य; ध्रुवाः—स्थायी; तनु-भृतः—देहधारी जीव; यदि—यदि; सर्व-गताः—सर्वव्यापी; तर्हि—तब; न—नहीं; शास्यता—प्रभुसत्ता; इति—इस प्रकार; नियमः—नियम; ध्रुव—हे अपरिवर्तित; न—नहीं; इतरथा—अन्यथा; अजनि—उत्पन्न किया गया था; च—तथा; यत्-मयम्—जिसके सार से; तत्—उससे; अविमुच्य—अपने को विलग न करते हुए; नियन्तृ—

नियन्ता; भवेत्—होना चाहिए; समम्—सम रूप से उपस्थित; अनुजानताम्—जानने वालों का; यत्—जो; अमतम्—गलत समझा हुआ; मत—ज्ञान; दुष्टतया—अपूर्णता के कारण।.

यदि ये असंख्य जीव सर्वव्यापी होते और अपरिवर्तनशील शरीरों से युक्त होते, तो हे निर्विकल्प, आप संभवतः उनके परम शासक न हुए होते। लेकिन चूँकि वे आपके स्थानिक अंश हैं और उनके स्वरूप परिवर्तनशील हैं, अतएव आप उनका नियंत्रण करते हैं। निस्सन्देह, जो किसी वस्तु की उत्पत्ति के लिए अवयव की आपूर्ति करता है, वह अवश्यमेव उसका नियन्ता है, क्योंकि कोई भी उत्पाद अपने अवयव कारण से पृथक् विद्यमान नहीं रहता। यदि कोई यह सोचे कि उसने भगवान् को, जो अपने प्रत्येक अंश में समरूप से रहते हैं जान लिया है, तो यह मात्र उसका भ्रम है, क्योंकि मनुष्य जो भी ज्ञान भौतिक साधनों से अर्जित करता है, वह अपूर्ण होगा।

तात्पर्य : चूँकि बद्धजीव परम पुरुष को प्रत्यक्ष नहीं समझ पाता, अतएव वेद सामान्यतया उसको ब्रह्म और *ॐ तत् सत्* जैसे निर्विशेष रूप में बतलाते हैं। यदि कोई सामान्य विद्वान यह माने कि उसने इन प्रतीकात्मक शब्दों का गुह्य अर्थ समझ लिया है, तो उसे धूर्त समझकर त्याग देना चाहिए। *श्री केन उपनिषद्* (२.१) के शब्दों में—*यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रम् एवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं, यदस्य त्वं यदस्य देवेषु*—"यदि तुम सोचते हो कि तुम ब्रह्म को भलीभाँति जानते हो, तो तुम्हारा ज्ञान बहुत ही कम है। यदि तुम यह सोचते हो कि देवताओं के बीच ब्रह्म के रूप को पहचान सकते हो, तो निस्सन्देह तुम बहुत कम जानते हो।" पुनः

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विज्ञानतां विज्ञातमविजानताम्॥

"जो कोई परम सत्य के विषय में किसी प्रकार का मत रखने से इनकार करता है उसका मत सही होता है, किन्तु जो ब्रह्म के विषय में अपना मत रखता है, वह उन्हें नहीं जानता। जो यह दावा करते हैं कि वे उन्हें जानते हैं उनसे वे अज्ञात होते हैं, वे उन्हीं के द्वारा जाने जाते हैं, जो उन्हें जानने का दावा नहीं करते।" (*केन उपनिषद्* २.३)

आचार्य श्रीधर स्वामी ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है अनेक दार्शनिकों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से जीवन के रहस्यों का अध्ययन किया है और व्यापक दृष्टि से भिन्नता के सिद्धान्त बनाये हैं। उदाहरणार्थ, अद्वैत मायावादी यह सुझाव रखते हैं कि जीव केवल एक है और उसे आच्छादित किए

हुए एक *अविद्या* की शक्ति है, जो अनेक रूप उत्पन्न करती है। किन्तु इस परिकल्पना से यह बेतुका निष्कर्ष निकलता है कि जब कोई जीव मुक्त हो जाता है, तो सभी मुक्त हो जाते हैं। दूसरी ओर यदि एक जीव को आच्छादित करने वाली अनेक अविद्याएँ होंगी तो प्रत्येक अविद्या उस जीव के कुछ ही हिस्से को ढकेगी और तब हमें यह कहना होगा कि किसी विशेष समय पर वह अंशत: मुक्त होता है और उसके शेष अंश बन्धन में पड़े रहते हैं। यह सर्वथा बेहूदा विचार है। इस तरह जीवों की बहुरूपता से बचा नहीं जा सकता।

यही नहीं, अन्य सिद्धान्तवादी भी हैं, यथा न्याय तथा वैशेषिक के समर्थक, जो यह दावा करते हैं कि जीवात्मा का आकार अनिश्चित है। इन विद्वानों का तर्क है कि यदि आत्माएँ सूक्ष्म होतीं, तो वे अपने ही शरीरों में व्याप्त न होतीं और यदि वे मध्यम आकार की होतीं, तो वे खंडों में विभाजित हो सकतीं और तब नित्य न होतीं। यह धारणा कम-से-कम न्याय-वैशेषिका तत्त्व-मीमांसा के अनुसार मानी जाती है, किन्तु यदि असंख्य नित्य जीवात्माएँ असीमत: विशाल हों, तो वे बन्धन की किसी शक्ति से किस तरह आच्छादित हो सकतीं, चाहे वे अविद्या से सम्बद्ध होतीं या स्वयं परमेश्वर से? इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा के लिए न तो कोई अविद्या हो सकती है न ही उसे किसी प्रतिबन्ध से मुक्त होना है। अनन्त आत्माओं को बिना परिवर्तन के नित्य उसी रूप में रहे आना है। इसका अर्थ यह होगा कि सभी आत्माएँ ईश्वर के तुल्य होंगी, क्योंकि ईश्वर को इन सर्वव्यापी अपरिवर्तनशील प्रतिद्वन्द्वियों को नियंत्रित करने के लिए अवसर ही नहीं मिलेगा।

वे वैदिक श्रुति मंत्र जो एक स्वर से व्यष्टि आत्माओं पर ईश्वर की प्रभुता को बतलाते हैं, उनका तर्कसंगत खंडन नहीं किया जा सकता। असली दार्शनिक को श्रुति के कथनों को सभी चर्चित विषयों में विश्वसनीय प्रमाण मानना चाहिए। निस्सन्देह अनेक स्थानों पर वैदिक वाङ्मय में परमेश्वर की शाश्वत अपरिवर्तनशील अभिन्नता को जन्म-मृत्यु के चक्कर में फँसे हुए जीवों की परिवर्तनशील देहों से भिन्न बतलाया गया है।

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

अन्तर्यन्ता सर्वलोकस्य गीत: श्रुत्या युक्त्या चैवम् एवावसेय:।

य: सर्वज्ञ: सर्वशक्तिर्नृसिंह: श्रीमन्तं तं चेतसैवावलम्बे॥

"मैं अपने हृदय में उसकी शरण ग्रहण करता हूँ, जिनका सारे जगतों के आन्तरिक नियन्ता के रूप में महिमागान किया जाता है और जिसकी पुष्टि सारे वेद तर्क द्वारा करते हैं। वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान लक्ष्मीपति नृसिंह हैं।"

न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोरजयोर्
उभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत् ।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

न घटते—घटित नहीं होता; उद्भवः—सृजन; प्रकृति—प्रकृति का; पूरुषयोः—तथा उसके भोक्ता आत्मा का; अजयोः—अजन्मा; उभय—दोनों के; युजा—संयोग से; भवन्ति—उत्पन्न होते हैं; असु-भृतः—जीव; जल—जल पर; बुद्बुद—बुलबुला; वत्—सदृश; त्वयि—तुममें; ते इमे—ये (जीव); ततः—इसलिए; विविध—तरह-तरह के; नाम—नामों; गुणैः—तथा गुणों से; परमे—परम में; सरितः—नदियाँ; इव—सदृश; अर्णवे—समुद्र में; मधुनि—शहद में; लिल्युः—लीन हो जाती हैं; अशेष—पूरा; रसाः—स्वाद।

न तो प्रकृति, न ही उसका भोग करने के लिए प्रयत्नशील आत्मा कभी जन्म लेते हैं, फिर भी जब ये दोनों संयोग करते हैं, तो जीवों का जन्म होता है, जिस तरह जहाँ जहाँ जल से वायु मिलती है, वहाँ वहाँ बुलबुले बनते हैं। जिस तरह नदियाँ समुद्र में मिलती हैं या विभिन्न फूलों का रस शहद में मिल जाता है, उसी तरह ये सारे बद्धजीव अन्ततोगत्वा अपने विविध नामों तथा गुणों समेत आप ब्रह्म में पुनः लीन हो जाते हैं।

तात्पर्य : समुचित आध्यात्मिक मार्गदर्शन के बिना कोई भी व्यक्ति भगवान् से उद्भूत जीवों के वेदों द्वारा प्रस्तुत वर्णन का यह गलत अर्थ लगा सकता है कि इस तरह से उत्पन्न जीव अन्ततोगत्वा अनस्तित्व में चले जायेंगे। किन्तु यदि जीवों का इस तरह केवल क्षणिक अस्तित्व होना था, तो जब उनमें से कोई मरता, तो उसके बचे हुए कर्म बिना उपयोग में लाये जाकर विलीन हो जाते और जब आत्मा फिर से जन्म लेता तो वह बिना हिसाब के कई कर्मों के साथ उत्पन्न होता, जिन्हें कमाने के लिए उसने कुछ न किया होता। यही नहीं, जीव की मुक्ति का अर्थ होता उसकी पहचान तथा सत्ता का समूल विनाश होना।

किन्तु सच तो यह है कि आत्मा का सार ब्रह्म से तादात्म्य है, जिस तरह मिट्टी के पात्र की दीवालों के छोटे छोटे छिद्र सारतः विस्तीर्ण आकाश से एकाकार हैं। मिट्टी के पात्र के बनाने तथा टूटने की ही

तरह किसी व्यष्टि आत्मा का ''जन्म'' पहले भौतिक शरीर से उसके आच्छादित होने में है और उसकी ''मृत्यु'' या मोक्ष उसके स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों का एक ही बार में सदा के लिए विनाश है। निश्चय ही ऐसा ''जन्म'' तथा ''मृत्यु'' परमेश्वर की कृपा से ही घटित होते हैं।

प्रकृति का उसके नियन्ता से जो भौतिक सृष्टि में असंख्य बद्धजीव उत्पन्न करता है, संयोग होने की उपमा जल तथा वायु के संयोग से दी गई है, जिससे समुद्र की सतह पर फेन के असंख्य बुलबुले उत्पन्न होते हैं। जिस तरह सक्षम कारणरूपी वायु उपादान कारण रूपी जल को बुलबुला बनने के लिए बाध्य करता है, उसी तरह परम पुरुष अपने दृष्टिपात से प्रकृति को भौतिक तत्त्वों तथा इन तत्त्वों से बनने वाले अनेक पदार्थों के रूप में परिवर्तित होने के लिए प्रेरित करता है। इस तरह प्रकृति सृष्टि का *उपादान कारण* अर्थात् सृजन का अवयव रूपी कारण है। किन्तु अन्तत: वह परमेश्वर का अंश भी है, इसलिए परमेश्वर ही एकमात्र उपादान कारण तथा सक्षम कारण भी हैं। *तैत्तिरीय उपनिषद्* (२.२.१) में इसका वर्णन हुआ है *तस्माद् वा एतस्माद् आत्मन आकाश: सम्भूत:* इस परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ तथा *सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय* उसने इच्छा की कि सन्तति में विस्तार करके मैं अनेक हो जाऊँ।

जब जीवात्माएँ परमेश्वर तथा प्रकृति से ''जन्म'' लेती हैं, तब न तो वे उत्पन्न होती हैं, न ही जब वे भगवान् के नित्य धाम की ह्लादिनी लीलाओं में उनसे मिलने के लिए उनमें वापस ''लीन'' होती हैं, तो वे विनष्ट होती हैं। इसी तरह जिस प्रकार अति सूक्ष्म जीव बिना किसी वास्तविक परिवर्तन के जन्मते तथा मरते प्रतीत होते हैं उसी तरह परमात्मा बिना किसी विकार के अपने उद्‌भवों को बाहर निकाल सकता है और भीतर खींच सकता है। इस प्रकार *बृहादरण्यक उपनिषद्* पुष्टि करता है (.५.१) कि *अविनाशी वारेऽयम् आत्मा*—यह आत्मा निस्सन्देह अविनाशी है। यह कथन परमात्मा तथा उसके अधीन जीवात्मा दोनों पर लागू हो सकता है।

जैसाकि श्रील श्रीधर स्वामी ने बतलाया है कि जीव की भौतिक अवस्था का विलय दो प्रकार से होता है आंशिक तथा पूर्ण। आंशिक विलय तब होता है, जब आत्मा को स्वप्नरहित निद्रा आती है, जब वह अपने शरीर को त्यागता है और जब सारी आत्माएँ फिर से ब्रह्माण्ड के प्रलय के समय महाविष्णु के शरीर में प्रवेश करती हैं। ये विभिन्न प्रकार के विलय विभिन्न प्रकार के फूलों से

मधुमक्खियों द्वारा लाये गये मधु को मिलाने के समान हैं। मधु के विभिन्न स्वाद-गंध प्रत्येक जीव के सुप्त कर्मफलों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो अस्तित्व में रहने पर भी एक दूसरे से पहचाने नहीं जा सकते। तुलनात्मक दृष्टि से, जीवात्मा की भौतिक अवस्था का अन्तिम विलय संसार से उसकी मुक्ति है, जो नदियों का समुद्र में मिलने जैसी है। जिस तरह समुद्र में प्रवेश करने के बाद विभिन्न नदियों का जल परस्पर मिल जाता है और एक-दूसरे से पहचाना नहीं जा सकता, उसी तरह मुक्ति के साथ जीव की सारी झूठी भौतिक उपाधियाँ छूट जाती हैं और सारे मुक्त जीव पुन: भगवान् के सेवकों की भाँति समभाव से स्थित हो जाते हैं।

उपनिषदों में इन विलयों का वर्णन इस प्रकार हुआ है यथा *सौम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान् समवहारम् एकतां संगयन्ति। ते यथा तत्र न विवेकं लभन्ते अमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सौम्येमा: सर्वा: प्रजा: सति सम्पदय न विदु: सति सम्पाद्यामहे* ''हे बालक! यह (आंशिक विलय) वैसा ही है, जैसाकि मधुमक्खियों द्वारा विविध प्रकार के वृक्षों के फूलों से निकाले रस को मिलाकर एक मिश्रण रूप में बनाया गया मधु होता है। जिस प्रकार मिश्रित रस यह अन्तर नहीं कर पाते कि मैं अमुक फूल का रस हूँ या कि किसी अन्य फूल का रस हूँ, उसी तरह हे बालक! जब ये सारे जीव परस्पर मिल जाते हैं, तो वे यह नहीं सोच पाते कि ''अब हम एक दूसरे से मिल गये हैं।'' (छन्दोग्य उपनिषद् ६.९.१-२)

यथा नद्य: स्यन्दमाना: समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।

तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्त: परात्परं पुरुषं उपैति दिव्यम्॥

''जिस तरह नदियाँ अपने गन्तव्य पर पहुँच कर अपने नामों तथा रूपों को त्याग कर समुद्र में मिलकर विलीन हो जाती हैं, उसी तरह विद्वान व्यक्ति भौतिक नामों तथा स्वरूपों से मुक्त होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है, जो अद्‌भुत भगवान् हैं।'' (*मुण्डक उपनिषद* ३.२.८)

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

यस्मिन्नुद्यद्विलयमपि यद् भाति विश्वं लयादौ

जीवोपेतं गुरुकरुणया केवलात्मावबोधे।

अत्यन्तान्तं व्रजति सहसा सिन्धुवत् सिन्धुमध्ये

मध्ये चित्तं त्रिभुवनगुरुं भावये तं नृसिंहम्॥

"परमेश्वर आत्म-प्रकाशित होने से सर्वज्ञ हैं। उनकी परम कृपा से, यह ब्रह्माण्ड जो कि बारम्बार उत्पन्न होता और लय होता है, विश्व-प्रलय के समय जीवों के साथ साथ उनमें विलीन होने के बाद उन्हीं में उपस्थित रहता है। ब्रह्माण्ड का यह पूर्ण विलय सहसा होता है, जिस तरह कि समुद्र में जाकर नदी मिल जाती है। मैं अपने हृदय के भीतर तीनों लोकों के स्वामी नृसिंह भगवान् का ध्यान करता हूँ।"

नृषु तव मयया भ्रमममीष्ववगत्य भृशं
त्वयि सुधियोऽभवे दधति भावमनुप्रभवम् ।
कथमनुवर्ततां भवभयं तव यद्भ्रुकुटिः
सृजति मुहुस्त्रिनेमिरभवच्छरणेषु भयम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

नृषु—मनुष्यों के बीच; तव—तुम्हारी; मायया—माया से; भ्रमम्—मोह; अमीषु—इनमें; अवगत्य—समझकर; भृशम्—अत्यधिक; त्वयि—तुममें; सु-धियः—विद्वान; अभवे—मोक्ष के स्रोत में; दधति—करता है; भावम्—प्रेमाभक्ति; अनुप्रभवम्—शक्तिमान, उत्कट; कथम्—कैसे; अनुवर्तताम्—अनुयायियों के लिए; भव—भौतिक जीवन का; भयम्—डर; तव—तुम्हारा; यत्—चूँकि; भ्रु—भौंहों का; कुटिः—टेढ़ा होना; सृजति—उत्पन्न करती है; मुहुः—बारम्बार; त्रि-नेमिः—तीन आरों वाली (भूत, वर्तमान तथा भविष्यये काल की तीन अवस्थाएँ); अ—नहीं; भवत्—आप से; शरणेषु—शरणागतों के लिए; भयम्—डर।

विद्वान आत्माएँ, जो यह समझते हैं कि आपकी माया, किस तरह सारे मनुष्यों को मोहती है, वे आपकी उत्कट प्रेमाभक्ति करते हैं, क्योंकि आप जन्म तथा मृत्यु से मुक्ति के स्रोत हैं। भला आपके श्रद्धावान सेवकों को भौतिक जीवन का भय कैसे सता सकता है? दूसरी ओर, आपकी कुटिल भौंहें, जो कालचक्र की *तिहरी-नेमि* हैं बारम्बार उन्हें भयभीत बनाती हैं, जो आपकी शरण ग्रहण करने से इनकार करते हैं।

तात्पर्य : वेद अपने सर्वाधिक रहस्य भगवद्भक्ति—को उन्हें ही प्रकट करते हैं, जो उस भौतिक मोह से ऊब चुके हैं जो भगवान् से स्वतंत्र सत्ता के झूठे भाव पर आधारित है। *श्वेत यजुर्वेद* की *वाजसनेयी संहिता* (३२.११) में निम्नलिखित मंत्र है—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।

उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानम् अभिसंविवेश॥

"सारी जीव-योनियों, सारे लोकों तथा सारी दिशाओं में अन्तरिक्ष की सारी सीमाओं को पार

करके मनुष्य मूल अमर आत्मा के पास पहुँचता है। तब उसे उनके राज्य में स्थायी रूप से प्रवेश करने तथा उनकी साक्षात् पूजा करने का अवसर प्राप्त होता है।''

भले ही विविध परस्पर विरोधी भौतिक दर्शनों के समर्थक अपने को अत्यन्त बुद्धिमान मानें, किन्तु वे सबके सब भगवान् की माया द्वारा मोहित हैं। वैष्णवजन सामान्य मोह की इस रीति को जानते हैं, इसलिए वे दास्य, सख्य इत्यादि भक्ति-रसों में भगवान् के प्रति अपने को समर्पित करते हैं। वे दार्शनिक वाद-विवाद की गर्मी और झगड़े में न पड़कर प्रतिक्षण आनन्द का अनुभव करते हैं, क्योंकि उनके प्रेम का लक्ष्य वह है, जो भवबन्धन को अन्त करने वाला है। भगवान् विष्णु के भक्त न केवल इस जीवन में अपितु अगले जीवनों में भी निरन्तर आनन्द का भोग करते हैं। वे चाहे जो भी जन्म लें, वे भगवान् के साथ प्रेमाभक्ति के आदान-प्रदान का आनंद लेते रहते हैं। इस प्रकार निष्ठावान वैष्णव प्रार्थना करता है—

नाथ योनि सहस्रेषु येषु येषु भ्रमाम्यहम्।

तत्र तत्राच्युता भक्तिरच्युतास्तु दृढा त्वयि॥

''हे नाथ! मैं जीवन की हजारों योनियों में जहाँ-जहाँ घूमूँ प्रत्येक अवस्था में हे अच्युत! मैं आपकी दृढ़ भक्ति पाऊँ।'' (*विष्णु पुराण*)

कुछ दार्शनिक यह प्रश्न उठा सकते हैं कि वैष्णवजन *त्वम्* (तुम, जीव) तथा *तत्* (वह, ब्रह्म) के पूर्ण वैश्लेषिक ज्ञान के बिना एवं भौतिक जीवन के प्रति पर्याप्त घृणा उत्पन्न किये बिना इस भवबन्धन को कैसे जीत सकते हैं? यहाँ पर साक्षात् वेद उत्तर देते हैं कि भगवद्भक्तों पर भौतिक मोह बने रहने की गुंजाईश नहीं रहती, क्योंकि भक्ति की प्रारम्भिक अवस्थाओं में ही भगवत्कृपा से सारा भय तथा आसक्ति दूर हो जाते हैं।

इस जगत में समय (काल) ही समस्त भय का कारण है। वह भूत, वर्तमान तथा भविष्य इन अपने तीन विभागों से रोग, मृत्यु तथा नरक-यातना का भय उत्पन्न करता है, किन्तु केवल उनके लिए जिन्होंने भगवान् के चरणों की शरण नहीं ग्रहण की है। जैसाकि स्वयं भगवान् ने *रामायण* (लंका खण्ड १८.३३) में कहा है—

सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च याचते।

अभयं सर्वदा तस्मै ददाम्येतद् व्रतं मम॥

‘‘यदि कोई एक बार भी यह याचना करते हुए कि ‘‘मैं आपका हूँ’’ मेरी शरण में आता है, उसे मैं शाश्वत अभय प्रदान करता हूँ। यह मेरा दृढ़ व्रत है।’’ साथ ही, *भगवद्गीता* (७.१) में भगवान् कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायां एतां तरन्ति ते॥

‘‘तीन गुणों से युक्त मेरी इस दैवी शक्ति से पार पाना कठिन है। किन्तु जिन्होंने मेरी शरण ग्रहण कर ली है, वे आसानी से इसे पार कर सकते हैं।’’

वैष्णवजन शुष्क दार्शनिक विषयों में दीर्घ समय के लिए व्यर्थ बहस में सिर खपाकर अपना समय नहीं गँवाना चाहते। वे किसी दार्शनिक प्रतिद्वन्द्वी से झगड़ने की बजाय भगवान् की पूजा करना चाहेंगे। वैष्णवों की समझ शास्त्र के आवश्यक सन्देश से मेल खाती है। इन भक्तों की परब्रह्म के प्रति धारणा, जो कि कृष्ण, राम आदि दैवी रूपों की प्रेममयी लीलाओं तथा अगाध समुद्र के रूप में है और स्वयं में भगवान् के नित्य दास की कल्पना *तत्* तथा *त्वम्* जैसे वेदान्त दर्शन के पूर्ण निष्कर्ष के तुल्य है।

भगवान् तथा उनके उद्भव यथा जीवात्माएँ एक ही समय भिन्न तथा अभिन्न हैं, जिस तरह कि सूर्य तथा उसकी विस्तारशील किरणें। जीवों की इतनी संख्या है कि उनकी गिनती नहीं की जा सकती और इनमें से हर एक सदैव चेतना से युक्त सजीव है, जैसाकि श्रुतियाँ पुष्टि करती हैं—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्* (*कठ उपनिषद्* ५.१३ तथा *श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.१३)। जब भौतिक सृष्टि के प्रारम्भ में महाविष्णु के शरीर से ये जीव बाहर निकलते हैं, तो वे भगवान् की तटस्था शक्ति के सूक्ष्म कण होने के कारण एकसमान होते हैं। किन्तु विभिन्न अवस्थाओं के कारण वे चार समूहों में बँट जाते हैं कुछ तो अज्ञान से ढके रहते हैं, जो उनकी दृष्टि को बादल के समान ढाँप लेती है। कुछ ज्ञान तथा भक्ति के मिश्रण से अज्ञान से मुक्त हो जाते हैं। तीसरा समूह नितान्त शुद्ध भक्ति से पूर्ण होता है, जिनमें कल्पित ज्ञान तथा सकाम कर्म की कुछ कुछ मिश्रित इच्छा रहती है। ऐसे जीवों को पूर्ण ज्ञान तथा आनन्द से युक्त शुद्ध शरीर प्राप्त होता है, जिससे वे भगवद्भक्ति में लग सकते हैं। अन्तिम समूह उनका है, जिनका अज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वे भगवान् के नित्य संगी हैं।

नारद पञ्चरात्र में जीवात्मा की तटस्थ स्थिति का वर्णन हुआ है—

यत् तटस्थं तु चिद्रूपं स्वसंवेद्याद् विनिर्गतम्।

रञ्जितं गुणरागेण स जीव इति कथ्यते॥

''तटस्थ शक्ति को भगवान् की *संवित्* (ज्ञान) शक्ति से उद्भूत समझना चाहिए। यह उद्भव, *जीव* कहलाता है, जो प्रकृति के गुणों द्वारा बद्ध हो जाता है।'' चूँकि जीव भगवान् की बहिरंगा शक्ति, माया और उनकी अन्तरंगा दिव्य शक्ति चित् के मध्य स्थित है, इसलिए जीव *तटस्थ* कहलाता है। किन्तु जब भगवद्भक्ति का अनुशीलन करके वह मुक्ति पा लेता है, तो वह पूर्णतया भगवान् की अन्तरंगा शक्ति की शरण में आ जाता है। तब वह प्रकृति के गुणों से कलुषित नहीं होता। इसकी पुष्टि भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (१.२६) में की है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

''जो प्रत्येक दशा में एकान्तिक भाव से पूर्ण भक्ति में अपने को लगाता है, वह तुरन्त ही प्रकृति के गुणों को लाँघकर ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।''

आत्मा की पूजा का लक्ष्य तीन प्रकार से अनुभव किया जाता है ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्। निर्विशेष ब्रह्म सूर्य के चमकीले तेज जैसा है, परमात्मा सूर्य-मंडल जैसा है और भगवान् सूर्य के भीतर का अधिष्ठाता देव है, जिसके साथ विस्तृत साज-सामान रहता है। अथवा एक अन्य दृष्टान्त दिया जा सकता है, उन यात्रियों का जो किसी शहर की ओर आते हुए, उसके चिह्नों को शुरु में दूर से नहीं पहचान पाते—उन्हें अपने सामने अस्पष्ट-सा चमकता हुआ कुछ दिखता रहता है। किन्तु जब वे पास आते हैं, तो कुछ ऊँची इमारतें दिखने लगती हैं और जब वे बिल्कुल निकट पहुँच जाते हैं, तो शहर को भलीभाँति देख सकते हैं—मकानों, मार्गों, सार्वजनिक इमारतों, उद्यानों तथा नागरिकों की चहल-पहल से भरा शहर। इसी तरह जो लोग निर्विशेष ध्यान की ओर प्रवृत्ति रखते हैं, उन्हें भगवान् के तेज का कुछ कुछ साक्षात्कार (ब्रह्म) हो सकता है, जो और अधिक निकट जाते हैं, वे उन्हें हृदय में परमात्मा रूप में देख सकते हैं और जो उनके बिल्कुल पास आते हैं, वे उन्हें पूरी तरह साक्षात् रूप में (भगवान्) जान सकते हैं।

सार रूप में श्रील श्रीधर स्वामी स्तुति करते हैं—

संसारचक्रक्रकचैर्विदीर्णम् उदीर्णनानाभवतापतप्तम्।

कथञ्चिदापन्नमिह प्रपन्नं त्वमुद्धर श्रीनृहरे नृलोकम्॥

"हे नरहरि! कृपा करके उन जीवों का उद्धार कीजिये, जिन्होंने नाना प्रकार के कष्ट सहे हैं और संसार के चक्र की तेज धार से विदीर्ण कर दिये गये हैं, किन्तु जिन्होंने किसी तरह से अब आपको ढूँढ़ लिया है और अपने को आपकी शरण में समर्पित कर रहे हैं।"

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं
य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः ।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं
वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

विजित—जीता हुआ; हृषीक—इन्द्रियों से; वायुभिः—तथा प्राण से; अदान्त—अवश; मनः—मन रूपी; तुर-गम्—घोड़े को; ये—जो; इह—इस जगत में; यतन्ति—प्रयास करते हैं; यन्तुम्—नियमित बनाने के लिए; अति—अत्यन्त; लोलम्—चलायमान; उपाय—उपायों से; खिदः—सताया हुआ; व्यसन—उत्पात; शत—सैकड़ों; अन्विताः—से युक्त; समवहाय—त्याग कर; गुरोः—गुरु के; चरणम्—चरणों को; वणिजः—व्यापारीगण; इव—सदृश; अज—हे अजन्मा; सन्ति—हैं; अकृत—ग्रहण न करके; कर्ण-धराः—नाविक; जल-धौ—समुद्र में।

मन ऐसे उच्छृंखल घोड़े की तरह है, जिसको अपनी इन्द्रियों एवं श्वास को संयमित कर चुके व्यक्ति भी वश में नहीं कर सकते। इस संसार में वे लोग, जो अवश मन को वश में करना चाहते हैं, किन्तु अपने गुरु के चरणों का परित्याग कर देते हैं, उन्हें विविध दुखदायी विधियों के अनुशीलन में सैकड़ों बाधाओं का सामना करना पड़ता है। हे अजन्मा भगवान्, वे समुद्र में नाव पर बैठे उन व्यापारियों के समान हैं, जो किसी नाविक को भाड़े पर नहीं लेते।

तात्पर्य : ईश्वर का प्रेम, जो कि मुक्ति का पक्व फल है, प्राप्त करने के योग्य बनने के लिए सर्वप्रथम विद्रोही भौतिक मन को वश में लाना होता है। यद्यपि ऐसा कर पाना कठिन है, किन्तु जब मनुष्य इन्द्रिय-तृप्ति की अपनी लत को हटाकर आध्यात्मिक जीवन के उच्चतर आनंद का आस्वाद करने लगता है, तो वह ऐसा कर सकता है। किन्तु भगवान् के प्रतिनिधि गुरु की ही कृपा से यह उच्चतर आस्वाद प्राप्त किया जा सकता है।

गुरु दिव्य जगत के आश्चर्यों को देख सकने के लिए शिष्य की आँखें खोल देता है, जैसाकि गायत्री

स्तुति में दैवी ज्ञान *ऐं* के बीज मंत्र में है।

मुण्डक उपनिषद् (१.२.१२) का कथन है—

तद्विज्ञानर्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्

समित्पाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

"इन बातों की सही जानकारी प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अपने हाथ में समिधा लेकर गुरु के पास जाना चाहिए, जो वेदों में पारंगत होता है और परम सत्य में दृढ़-भक्ति रखता है।" तथा *कठ उपनिषद्* (२.९) की घोषणा है—

नैषा तर्केन मतिरापनेया

प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।

"हे बालक! यह अनुभूति तर्क द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती। इसे समझ सकने में सक्षम शिष्य से अत्यधिक योग्य गुरु को ही बतलाना चाहिए।"

प्राय: अवैष्णव जन गुरु के प्रति जो शिष्य परंपरा की प्रमाणित पंक्ति में चला आ रहा है, समर्पण भाव की महत्ता की अवहेलना करते हैं। इसके बजाय, अपनी योग्यता पर निर्भर रहकर अभिमानी योगी तथा ज्ञानीजन विश्व पर रोब जमाने के लिए ऊपर से दिखने वाली अपनी अपनी सफलता प्रदर्शित करते हैं, किन्तु उनका यह यश क्षणिक होता है—

युञ्जानानां अभक्तानां प्राणायामादिभिर्मन:।

अक्षीणवासनं राजन् दृश्यते पुनरुत्थितम्॥

"जो अभक्त प्राणायाम् जैसी विधियों में अपने मनों को लगाते हैं, वे भौतिक इच्छाओं से पूरी तरह रहित नहीं हो पाते। अत: हे राजन्! उनके मन में भौतिक इच्छाएँ पुन: उदय होती देखी जाती हैं।" (*भागवत* .५१.६०)

दूसरी ओर, भगवान् विष्णु तथा वैष्णवों का विनीत दृढ़-संकल्प भक्त अजेय मन पर आसानी से विजय पा लेता है। उसे मन को स्थिर बनाने के लिए न तो अष्टांग योग करने की आवश्यकता पड़ती है, न ही अन्य साधन अपनाने पड़ते हैं। *सर्वं चैतद् गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्*—एकमात्र गुरु-भक्ति के द्वारा मनुष्य इन सारे लक्ष्यों को प्राप्त कर सकता है। अन्यथा एक अभक्त अपनी इन्द्रियों तथा

प्राण–वायु को जीत कर भी अपने मन को वश में नहीं कर सकता, जो लगाम से छूटे घोड़े की तरह स्वच्छंद दौड़ता रहेगा। उसे अनेक आध्यात्मिक विधियों का पालन करने में अपार चिन्ता भोगनी पड़ेगी और अंत में वह इस विशाल भवसागर में पहले की ही तरह भूला–भटका रहता रहेगा। यहाँ पर दिया गया दृष्टान्त उपयुक्त है : वे व्यापारी जो महान् लाभ की इच्छा से जल्दी जल्दी में समुद्र–यात्रा करते हैं, किन्तु अपनी नाव के लिए योग्य नाविक नहीं लेते, उन्हें महान् कष्ट उठाना पड़ता है।

भागवत में अनेक स्थलों पर प्रामाणिक गुरु की महत्ता घोषित की गई है। यथा, ग्यारहवें स्कंध के निम्नलिखित श्लोक में (२०.१७)—

नृदेहमाद्यम् सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।

मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

''जीवन में सारे लाभ दिलाने वाला मनुष्य–शरीर प्रकृति के नियमों द्वारा स्वतः प्राप्त होता है, यद्यपि यह विरल उपलब्धि है। इस मनुष्य–शरीर की उपमा सुनिर्मित नाव से दी जा सकती है, जिसका कर्णधार गुरु होता है और भगवान् के आदेश मार्ग में अनुकूल वायु के तुल्य होते हैं। इन सभी लाभों पर विचार करके जो मनुष्य अपने मनुष्य–शरीर का उपयोग भवसागर को पार करने के लिए नहीं करता, उसे अपनी ही आत्मा का हत्यारा माना जाना चाहिए।'' अतएव मनुष्य–जीवन का संजीदगी से उपयोग करने वाले का पहला कर्तव्य यह होता है कि वह ऐसे गुरु की खोज करे जो कृष्णभावनामृत में उसका मार्गदर्शन कर सके।

श्रील श्रीधर स्वामी स्तुति करते हैं—

यदा परानन्दगुरो भवत्पदे पदं मनो मे भगवल्लभेत।

तदा निरस्ताखिलसाधनश्रमः श्रयेय सौख्यं भवतः कृपातः॥

''हे दिव्य आनन्दमय गुरु! जब मेरा मन आपके चरणकमलों पर स्थान पा लेगा, तो मेरी आध्यात्मिक साधना का श्रम दूर हो जायेगा और आपकी कृपा से मुझे परम सुख का अनुभव होगा।''

स्वजनसुतात्मदारधनधामधरासुरथै-
स्त्वयि सति किं नृणाम्श्रयत आत्मनि सर्वरसे ।
इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां

सुखयति को न्विह स्वविहते स्वनिरस्तभगे ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

स्वजन—सेवकों; सुत—बच्चों; आत्म—शरीर; दार—पत्नी; धन—धन; धाम—घर; धरा—पृथ्वी; असु—प्राण; रथैः—तथा वाहनों से; त्वयि—जब तुम; सति—बन गये हो; किम्—क्या (लाभ); नृणाम्—मनुष्यों के लिए; श्रयतः—शरण में आये हुए; आत्मनि—उनकी आत्मा; सर्व-रसे—समस्त आनन्द के स्वरूप; इति—इस प्रकार; सत्—सत्य; अजानताम्—न जानने वालों के लिए; मिथुनतः—संभोग से; रतये—रति के लिए; चरताम्—करते हुए; सुखयति—सुख देता है; कः—क्या; नु—तनिक भी; इह—इस (जगत) में; स्व—अपने आप; विहते—विनाशशील; स्व—अपने आप; निरस्त—रहित; भगे—किसी सार से।

जो व्यक्ति आपकी शरण ग्रहण करते हैं, उन्हें आप परमात्मा स्वरूप दिखते हैं, जो समस्त दिव्य-आनन्द स्वरूप है। ऐसे भक्तों के लिए अपने सेवकों, बच्चों या शरीरों, अपनी पत्नियों, धन या घरों, अपनी भूमि, स्वास्थ्य या वाहनों का क्या उपयोग रह जाता है? और जो आपके विषय में सच्चाई को समझने में असफल होते हैं तथा यौन-आनन्द के पीछे भागते रहते हैं, उनके लिए इस सम्पूर्ण जगत में, जो सदैव विनाशशील है और महत्त्व से विहीन है, ऐसा क्या है, जो उन्हें असली सुख प्रदान कर सके?।

तात्पर्य : वह विष्णु-भक्ति शुद्ध मानी जाती है, जिसमें मनुष्य की एकमात्र इच्छा भगवान् को प्रसन्न करना हो। उस पूर्ण चेतना में स्थित वैष्णव को सांसारिक उपलब्धि में कोई रुचि नहीं रहती, इसलिए वह यज्ञ करने तथा योग का कठिन अभ्यास करने के किसी कर्तव्य से मुक्त कर दिया जाता है। जैसाकि *मुण्डक उपनिषद्* (१.२.१२) में कहा गया है—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो

निर्वेदम् आयान् नास्त्यकृतः कृतेन॥

"जब ब्राह्मण यह जान लेता है कि स्वर्ग जाना कर्म का दूसरा संचय मात्र ही है, तो वह विरक्त हो जाता है और अपने कर्मों से दूषित नहीं होता।" बृहदारण्यक उपनिषद् (..९) तथा *कठ उपनिषद्* (६.१) से इसकी पुष्टि होती है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रीताः।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

"जब कोई व्यक्ति अपने हृदय की सारी पापपूर्ण इच्छाएँ त्याग देता है, तो मृत्यु के बदले वह शाश्वत आध्यात्मिक जीवन लेता है और ब्रह्म में असली सुख पाता है। *गोपालतापनी उपनिषद्* (पूर्व १५) में यह निष्कर्ष दिया गया है कि *भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येन् आमुष्मिन् मनःकल्पनम्*

एतदेव नैष्कर्म्यम्—"भक्ति तो परमेश्वर की पूजा करने की विधि है। इसमें सारी भौतिक उपाधियों से चाहे वे इस जीवन की हों या अगले की, मुँह मोड़ कर उन्हीं पर मन को स्थिर करना होता है। यही असली वैराग्य है।"

श्रुतियों ने यहाँ पर जिन वस्तुओं के नाम गिनाये हैं, वे सभी सांसारिक सफलता के मापदण्ड हैं—*स्वजनाः* (सेवक), *आत्मा* (सुन्दर शरीर), *सुताः* (गर्व करने योग्य पुत्र), *दाराः* (सुन्दर आकर्षक पत्नी), *धनम्* (धन), *धाम* (प्रतिष्ठापूर्णघर), *धरा* (भूमि), *असवः* (स्वास्थ्य तथा शक्ति) तथा *रथाः* (मोटर-कार तथा अन्य वाहन जो प्रतिष्ठा को प्रदर्शित करते हैं)। किन्तु जिसने भक्ति के आनन्द का अनुभव करना प्रारम्भ कर दिया है, वह इन सारी वस्तुओं का आकर्षण त्याग देता है, क्योंकि उसे समस्त आनन्द के आगार भगवान् में, जो अपने आनन्द को अपने सेवकों में बाँटते हैं असली तुष्टि मिलती है।

हममें से हर व्यक्ति अपना जीवन-मार्ग चुनने के लिए स्वतंत्र है—हम चाहें तो अपना शरीर, मन, वचन, प्रतिभा तथा धन भगवान् के यश को अर्पित कर दें या फिर हम उनकी उपेक्षा करके अपने निजी सुख के लिए संघर्ष करें। यह दूसरा मार्ग यौन तथा अभिलाषा की दासता की ओर ले जाने वाला है, जिसमें आत्मा को कभी असली संतोष नहीं मिलता, अपितु वह निरन्तर कष्ट उठाता रहता है। वैष्णवजन भौतिकतावादियों को इस तरह भोगते देखकर दुखी होते हैं, अतएव वे उन्हें प्रबोधित करने का प्रयास करते रहते हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

भजतो हि भवान् साक्षात् परमानन्दचिद्धनः।
आत्मैव किमतः कृत्यं तुच्छदारसुतादिभिः॥

"जो आपकी पूजा करते हैं उनके लिए आप उनकी आत्मा और सर्वोच्च आनन्द के आध्यात्मिक कोष बन जाते हैं। उन्हें संसारी पत्नियों, बच्चों इत्यादि से क्या काम?"

भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनान्यृषयो विमदा-
स्त उत भवत्पदाम्बुजहृदोऽघभिदङ्घ्रिजलाः ।
दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे

न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

भुवि—पृथ्वी पर; पुरु—अत्यधिक; पुण्य—पवित्र; तीर्थ—तीर्थस्थान; सदनानि—तथा भगवान् के निजी धाम; ऋषयः—ऋषिगण; विमदः—मिथ्या गर्व से रहित; ते—वे; उत—निस्सन्देह; भवत्—आपके; पद—पाँव; अम्बुज—कमलवत्; हृदः—जिनके हृदयों में; अघ—पाप; भित्—विनाश करने वाले; अङ्घ्रि—जिनके चरणों (को धोने से); जलाः—जल; दधति—बदल जाता है; सकृत्—एक बार भी; मनः—जिनके मन; त्वयि—तुममें; ये—जो; आत्मनि—परमात्मा के प्रति; नित्य—सदैव; सुखे—सुख में; न पुनः—फिर कभी नहीं; उपासते—पूजा करते हैं; पुरुष—मनुष्य के; सार—आवश्यक गुण; हर—हर लेते हैं; आवसथान्—उनके संसारी घर।

ऋषिगण मिथ्या गर्व से रहित होकर पवित्र तीर्थस्थानों तथा जहाँ जहाँ भगवान् ने अपनी लीलाएँ प्रदर्शित की हैं, उनका भ्रमण करते हुए इस पृथ्वी पर निवास करते हैं। चूँकि ऐसे भक्त आपके चरणकमलों को अपने हृदयों में रखते हैं, अतः उनके पाँवों को धोने वाला जल सारे पापों को नष्ट कर देता है। जो कोई अपने मन को एक बार भी समस्त जगत के नित्य आनन्दमय आत्मा आपकी ओर मोड़ता है, वह घर पर ऐसे पारिवारिक जीवन के अधीन नहीं रहता, जिससे मनुष्य के अच्छे गुण छीन लिये जाते हैं।

तात्पर्य : महत्त्वाकांक्षी ऋषि का गुण यह है कि उसने आदर्श विद्वानों से परम सत्य के विषय में सीखा होता है और वैराग्य का सौम्य भाव विकसित कर लिया होता है। अनावश्यक एवं आवश्यक में भेद करने की क्षमता विकसित करने के लिए ही ऐसा व्यक्ति प्रायः एक पवित्र स्थान से दूसरे पवित्र स्थान में घूमता रहता है और इन स्थानों में बसने वाले या आने वाले महात्माओं की संगति का लाभ उठाता है। यदि अपनी यात्राओं के दौरान ऐसा ऋषि अपने हृदय के भीतर भगवान् के चरणकमलों की अनुभूति करना आरम्भ कर सकता है, तो वह मिथ्या अहंकार के मोह से तथा काम, ईर्ष्या एवं लोभ के दुखद बन्धन से छूट जायेगा। यद्यपि वह तब भी अपने पाप धो डालने के लिए तीर्थस्थानों में जा सकता है, किन्तु अब इस शुद्ध संत में अपने चरणोदक से और अपने अनुभवजनित उपदेशों से अन्यों को पवित्र बनाने की शक्ति आ जाती है। ऐसे एक ऋषि का वर्णन *मुण्डक उपनिषद्* (२.२.९) में मिलता है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

"जब वह परमेश्वर को सर्वत्र, सभी उच्च तथा निम्न जीवों के भीतर, देखता है, तो हृदय-ग्रन्थि का भेदन हो जाता है, सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और सकाम कर्मों की शृंखला टूट जाती है।" इस

अवस्था को प्राप्त ऋषियों को अपना नमस्कार करते हुए *मुण्डक उपनिषद्* (३.२.११) में कहा गया है—*नमः परमर्षिभ्यः, नमः परमर्षिभ्यः*—परम ऋषियों को नमस्कार है, परम ऋषियों को नमस्कार है।

सन्त वैष्णवजन स्त्रियों, बच्चों, मित्रों तथा अनुयायियों की प्रिय संगति छोड़ कर उन पवित्र धामों की यात्रा करते रहते हैं, जहाँ परमेश्वर की पूजा सफलतापूर्वक सम्पन्न की जा सके—ऐसे स्थान जैसे वृन्दावन, मायापुर तथा जगन्नाथ पुरी या फिर जहाँ कहीं भगवान् विष्णु के निष्ठावान भक्त एकत्र होते हैं। यहाँ तक कि ऐसे वैष्णव भी जिन्होंने संन्यास ग्रहण नहीं किया और अब भी अपने घर में या अपने गुरु के आश्रम में रह रहे हैं, किन्तु जिन्होंने भक्ति के दिव्य आनन्द की एक बूँद एक बार भी चखी है, वे भौतिकतावादी गृहस्थ-जीवन के आनन्दों का चिन्तन करने में तनिक भी रुचि नहीं रखेंगे, क्योंकि गृहस्थ-जीवन मनुष्य से उसका विवेक, संकल्प, गम्भीरता, सहिष्णुता तथा मन:शान्ति को हर लेता है।

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

मुञ्चन्नंग तदंगसंगमनीशं त्वामेव सञ्चितयन्
सन्तः सन्ति यतो यतो गतमदास्तान् आश्रमान् आवसन्।
नित्यं तन्मुखपंकजाद् विगलितत्वत्पुण्यगाथामृत-
स्रोतःसम्प्लवसम्प्तुो नरहरे न स्याम् अहं देहभृत्॥

"हे प्रभु! जब मैं अपनी सारी इन्द्रिय-तृप्ति त्याग दूँगा और निरन्तर आपका ध्यान धरने में लग जाऊँगा और जब मैं मिथ्या गर्व से रहित सन्त सदृश भक्तों की कुटियाओं में निवास करने लगूँगा, तब मैं आपकी पवित्र कथाओं का उच्चारण कर रहे भक्तों के कमल-मुखों से निकली अमृत की बाढ़ में पूरी तरह डूब जाऊँगा। और हे नरहरि! तब मुझे पुनः भौतिक शरीर धारण नहीं करना होगा।"

सत इदं उत्थितं सदिति चेन्ननु तर्कहतं
व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक् ।
व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया
भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजडान् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सतः—स्थायी से; इदम्—इस (ब्रह्माण्ड); उत्थितम्—निकले हुए; सत्—स्थायी; इति—इस प्रकार; चेत्—यदि (कोई प्रस्ताव करे); ननु—निश्चय ही; तर्क—तार्किक विरोध से; हतम्—निषिद्ध; व्यभिचरति—सामान्य नहीं रहता; क्व च—कुछ बातों में; क्व च—अन्य बातों में; मृषा—भ्रम; न—नहीं; तथा—उस तरह; उभय—दोनों (सत्य तथा भ्रम); युक्—संयोग; व्यवहृतये—सामान्य मामलों में; विकल्पः—काल्पनिक स्थिति; इषितः—वांछित; अन्ध—अन्धे व्यक्तियों की; परम्परया—परम्परा से;

भ्रमयति—मोहित करती है; भारती—ज्ञान के शब्द; ते—तुम्हारे; उरु—अनेक; वृत्तिभिः—अपने पेशों से; उक्थ—कहे गये; जडान्—जड़।

यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि यह जगत स्थायी रूप से सत्य है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति स्थायी सत्य से हुई है, किन्तु इसका तार्किक खण्डन हो सकता है। निस्सन्देह, कभी कभी कार्य-कारण का ऊपरी अभेद सत्य नहीं सिद्ध हो पाता और कभी तो सत्य वस्तु का फल भ्रामक होता है। यही नहीं, यह जगत स्थायी रूप से सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि यह केवल परमसत्य के ही स्वभावों में भाग नहीं लेता, अपितु उस सत्य को छिपाने वाले भ्रम में भी लेता है। वस्तुतः इस दृश्य जगत के दृश्य-रूप उन अज्ञानी पुरुषों की परम्परा द्वारा अपनाई गई काल्पनिक व्यवस्था है, जो अपने भौतिक मामलों को सुगम बनाना चाहते थे। आपके वेदों के बुद्धिमत्तापूर्ण शब्द अपने विविध अर्थों तथा अन्तर्निहित व्यवहारों से उन सारे पुरुषों को मोहित कर लेते हैं, जिनके मन यज्ञों के मंत्रोच्चारों को सुनते-सुनते जड़ हो चुके हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार उपनिषद् यह शिक्षा देते हैं कि यह जगत सत्य किन्तु नश्वर है। भगवान् विष्णु के भक्त इसी ज्ञान को मानते हैं। किन्तु ऐसे भौतिकतावादी दार्शनिक भी हैं—यथा जैमिनि ऋषि की कर्म-मीमांसा के समर्थक—जो यह मानते हैं कि यह जगत ही एकमात्र सत्य है और यह शाश्वत रूप से विद्यमान रहता है। जैमिनि के अनुसार कर्म तथा उसके प्रतिफल का चक्र शाश्वत है, जिनसे छूट कर भिन्न दिव्य जगत में जाने की संभावना नहीं है। किन्तु उपनिषदों के मंत्रों के, जिनमें उच्चतर दिव्य जगत के अनेक वर्णन मिलते हैं ध्यानपूर्वक परीक्षण से यह दृष्टिकोण भ्रामक प्रदर्शित होता है। उदाहरणार्थ, *सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्*—हे बालक! इस सृष्टि से पूर्व एकमात्र ब्रह्म था, जो अद्वितीय है। (*छान्दोग्य उपनिषद्* ६.२.१)। यही नहीं, *विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म*—ब्रह्म दिव्य ज्ञान तथा आनन्द है (*बृहदारण्यक उपनिषद्* ३.९.३)।

साक्षात् वेदों की इस स्तुति में भौतिकतावादियों के तर्क को *सत इदम् उत्थितं सत्* शब्दों द्वारा सारांश रूप में कहा गया है। सामान्य रूप से यह तर्क सही है कि किसी वस्तु से उत्पन्न वस्तु उस वस्तु से बनी होती है। उदाहरणार्थ, सोने से बने कुण्डल तथा अन्य गहने सोना ही हैं। इस तरह मीमांसक जन इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह जगत भी शाश्वत सत्य है क्योंकि जिस रूप में हम इस जगत को जानते हैं वह नित्य सत्य की अभिव्यक्ति है। किन्तु संस्कृत का अपादान कारक *सतः* (शाश्वत सत्य से)

कार्य तथा कारण में निश्चित पृथकता को बतलाने वाला है। अतएव *सत्* से जो भी उत्पन्न होता है, वह उससे सार्थक रूप से भिन्न होगा—अर्थात् क्षणिक होगा। इस तरह भौतिकतावादियों का तर्क दोषपूर्ण होता है, क्योंकि इससे जो सिद्ध करना होता है उसके विरुद्ध सिद्ध होता है (*तर्कहतम्*) अर्थात् इस जगत को जैसा हम जानते हैं, केवल वैसा ही है, यह नित्य है और इससे पृथक् कोई दिव्य सत्य नहीं है।

प्रतिरक्षा पक्ष में मीमांसक यह दावा कर सकते हैं कि वे अभेद नहीं सिद्ध करना चाहते, अपितु भेद की संभावना को अथवा दूसरे शब्दों में ज्ञात जगत से भिन्न किसी सत्य की संभावना को गलत सिद्ध करना चाहते हैं। मीमांसा तर्क के समर्थन का यह प्रयास *व्यभिचरति क्व च* जैसे पद से आसानी से निराकरित हो जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सामान्य नियम का विरोध करने वाले उदाहरण भी मिलते हैं। हाँ, कभी कभी स्रोत अपने से उत्पन्न वस्तु से अत्यधिक भिन्न होता है, जैसे कि मनुष्य तथा उसका युवक पुत्र या हथौड़ा तथा मिट्टी के घड़े का विनाश।

किन्तु मीमांसक उत्तर देते हैं कि ब्रह्माण्ड की सृष्टि उस तरह की नहीं है जैसे कि आपके अन्य *विपरीत उदाहरण* हैं: पिता तथा हथौड़ा मात्र सक्षम कारण हैं, जबकि सत् भी इस ब्रह्माण्ड का उपादान कारण है। इस उत्तर की आशा *क्व च मृषा* (कभी कभी कार्य भ्रामक होता है) शब्दों से की जाती है। जब पृथ्वी पर रस्सी में सर्प का भ्रम होता है, तो रस्सी सर्प के भ्रम का उपादान कारण है, जो काल्पनिक सर्प से कई मामलों में, विशेष रूप से सत्य होने के कारण भिन्न है।

मीमांसक फिर उत्तर देते हैं कि काल्पनिक सर्प का उपादान कारण रस्सी ही नहीं है—यह तो रस्सी अप्रेक्षक की अज्ञानता (*अविद्या*) है। चूँकि *अविद्या* वस्तु नहीं है, अतएव इससे उत्पन्न सर्प भ्रम कहलाता है। साक्षात् वेद उत्तर देते हैं कि इतने पर भी यह सत्य है कि अज्ञान के साथ सत् से (*तथोभययुक्*) ब्रह्माण्ड की सृष्टि होती है। यहाँ पर भ्रम का काल्पनिक तत्त्व, माया, जीवों की यह भ्रान्त धारणा है कि उनके अपने शरीर तथा परिवर्तनशील अन्य भौतिक स्वरूप स्थायी हैं।

लेकिन मीमांसक प्रत्युत्तर देते हैं कि इस संसार विषयक हमारा अनुभव वैध है, क्योंकि जिन वस्तुओं का हम अनुभव करते हैं, वे हमारे व्यावहारिक कार्य के लिए उपयोगी हैं। यदि हमारे अनुभव वैध न होते तो हम कभी निश्चित न कर पाते कि हमारी अनुभूतियाँ तथ्यों के संगत हैं। हमारी दशा उस

मनुष्य जैसी होती जो पूरी जाँच-पड़ताल के बाद भी संशय करता कि रस्सी साँप हो सकती है। किन्तु नहीं। श्रुतियाँ यहाँ उत्तर देती हैं कि पदार्थ का नश्वर स्वरूप नित्य आध्यात्मिक सत्य का भ्रामक अनुकरण है, जिसे बद्धजीवों की भौतिक कर्म करने की इच्छा पूरी करने के लिए चतुराई से गढ़ा गया है (*व्यवहृतये विकल्प इषित:*)। इस जगत के स्थायित्व का भ्रम उन अन्धे पुरुषों की परम्परा द्वारा चालू रहता है, जो अपने पूर्वगामियों से भौतिकतावादी विचार सीखते हैं और अपने वंशजों को यह भ्रम हस्तान्तरित करते जाते हैं। कोई भी यह देख सकता है कि प्राय: भ्रम के आधार को हटा देने पर भी स्थायी मानसिक प्रभाव के बल के अन्तर्गत उसकी मानसिक छाप बनी रहती है। इस तरह पूरे इतिहास में अंधे दार्शनिकों ने अन्य अन्धे व्यक्तियों को यह आश्वस्त करके दिग्भ्रमित किया है कि वे संसारी अनुष्ठान करके सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। मूर्ख लोग भले ही जाली सिक्कों में पारस्परिक आदान-प्रदान कर लें, किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति जानता है कि ऐसा धन भोजन, दवा तथा अन्य व्यापार की वस्तुएँ खरीदने के लिए व्यर्थ है। यदि इस जाली धन को दान में दिया जाय, तो इससे पुण्य भी नहीं मिलेगा।

लेकिन मीमांसक कहते हैं कि वैदिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने वाला निष्ठावान व्यक्ति मोहग्रस्त मूर्ख कैसे हो सकता है, क्योंकि वैदिक शास्त्रों की संहिताएँ तथा ब्राह्मण यह स्थापित करते हैं कि कर्म का फल शाश्वत है? उदाहरणार्थ, *अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिन: सुकृतं भवति*—चातुर्मास व्रत रखने वाले को अक्षय सद्कर्म मिलते हैं तथा *अपाम सोमम् अमृता बभूम*—हमने सोम रस पिया है और अमर हो चुके हैं (*ऋग्वेद* ८.३.३)।

यह इंगित करके श्रुतियाँ उत्तर देती हैं कि ईश्वर के बुद्धिमत्तापूर्ण शब्द, जिनसे वेद बने हैं, उनको मोहित करते हैं, जिनकी क्षीण बुद्धि कर्म में अत्यधिक श्रद्धा के भार से कुचली जा चुकी है। यहाँ पर *उरु-वृत्तिभि:* विशिष्ट शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो बतलाता है कि वैदिक मंत्र गौण, लक्षणा आदि भाषा-वैज्ञानिक अर्थों से नाना प्रकार के भ्रामक अर्थ प्रदान करके अपने रहस्य की रक्षा सभी से करते हैं, सिवाय उनसे जिनकी श्रद्धा भगवान् विष्णु में है। अपने आदेशों में वास्तव में वेद यह नहीं कहते कि कर्म के फल शाश्वत हैं, अपितु रूपकों के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप में नियमित यज्ञों की प्रशंसा करते हैं। *छान्दोग्य उपनिषद्* निश्चित रूप से कहता है कि अनुष्ठानिक कर्म के फल अस्थायी होते हैं—*तद् यथेह कर्मचितो लोक: क्षीयते एवम् एवामुत्र पुण्यचितो लोक: क्षीयते*—जिस तरह इस जगत में कठिन

श्रम करके मनुष्य जो भी लाभ उठाना चाहता है, वह अन्ततः समाप्त हो जाता है, उसी तरह अपनी शुद्धता से मनुष्य अगले लोक में अपने लिए जो भी जीवन कमाता है, वह भी समाप्त हो जायेगा। (*छान्दोग्य उपनिषद् ८.१.१६*) अनेक श्रुति मंत्रों के प्रमाण के अनुसार सम्पूर्ण भौतिक जगत परम सत्य का क्षणिक उद्‌भव है। उदाहरणार्थ, *मुण्डक उपनिषद्* (१.१.७) कहता है—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च

यथा पृथिव्याम् ओषधयः सम्भवन्ति।

यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि

तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥

"जिस तरह मकड़ी द्वारा जाल का विस्तार किया जाता है और फिर समेट लिया जाता है, जिस तरह पौधे पृथ्वी से उगते हैं और जिस तरह जीवित व्यक्ति के सिर तथा शरीर पर बाल उगते हैं, उसी तरह यह ब्रह्माण्ड अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न होता है।"

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

उद्‌भूतं भवतः सतोऽपि भुवनं सन्नैव सर्पः स्रजः

कुर्वत् कार्यं अपीह कूतकनकं वेदोऽपि नैवं परः।

अद्वैतं तव सत्परं तु परमानन्दं पदं तन्मुदा

वन्दे सुन्दरमिन्दिरानुत हरे मा मुञ्च मामानतम्॥

"यद्यपि यह जगत सत्य के सार रूप आप से उदय हुआ है, किन्तु यह शाश्वत रूप से सत्य नहीं है। रस्सी से प्रकट होने वाला भ्रामक सर्प स्थायी वास्तविकता नहीं होता, न ही स्वर्ण से उत्पन्न विकार ही। वेद कभी यह नहीं कहते कि ये वास्तविक हैं। वास्तविक दिव्य अद्वैत सत्य आपका परम आनन्दमय निजी धाम है। मैं उस धाम को नमस्कार करता हूँ। हे हरि! मैं भी आपको नमस्कार करता हूँ, जिन्हें देवी इन्दिरा सदैव नमस्कार करती हैं। इसलिए आप मुझे कभी भी छोड़ें नहीं।"

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधना-
दनु मितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे ।
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै-

वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यत्—क्योंकि; इदम्—यह (ब्रह्माण्ड); अग्रे—प्रारम्भ में; आस—था; न भविष्यत्—न होगा; अतः—अतः; निधनात् अनु—इसके संहार के बाद; मितम्—प्राप्त; अन्तरा—इस बीच; त्वयि—तुममें; विभाति—प्रकट होता है; मृषा—झूठा; एकरसे—जिसका आनन्द का अनुभव अपरिवर्तित रहता है; अतः—इस प्रकार; उपमीयते—तुलना से जाना जाता है; द्रविण—भौतिक वस्तु का; जाति—कोटियों में; विकल्प—विकारों के; पथैः—किस्मों से; वितथ—तथ्य से विपरीत; मनः—मन; विलासम्—विलास; ऋतम्—असली, सत्य; इति—ऐसा; अवयन्ति—सोचते हैं; अबुधः—बुद्धिहीन, अज्ञानी।

चूँकि यह ब्रह्माण्ड अपनी सृष्टि के पूर्व विद्यमान नहीं था और अपने संहार के बाद विद्यमान नहीं रहेगा, अतः हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि मध्यावधि में यह आपके भीतर दृश्य रूप में कल्पित होता है, जिनका आध्यात्मिक आनन्द कभी नहीं बदलता। हम इस ब्रह्माण्ड की तुलना विविध भौतिक वस्तुओं के विकारों से करते हैं। निश्चय ही, जो यह विश्वास करते हैं कि यह छोटी-सी कल्पना सत्य है, वे अल्पज्ञ हैं।

तात्पर्य : इस प्रकार अनुष्ठानवादियों द्वारा भौतिक सृष्टि की सत्यता स्थापित करने के सारे प्रयासों को विफल करने के बाद साक्षात् वेद इसके विरोध में साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं—कि यह संसार असत्य है, क्योंकि क्षणिक है। ब्रह्माण्ड की सृष्टि के पूर्व तथा इसके संहार के बाद एकमात्र दिव्य भगवान्, उनके धाम तथा साज-सामान की सत्यता ही बची रहती है। श्रुतियाँ इसकी पुष्टि करती हैं—*आत्मा वा इदम् एक एवाग्र आसीत्*—इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि के पूर्व एकमात्र आत्मा विद्यमान था। (*ऐतरेय उपनिषद्* १.१) *नासद् आसीन् नो सद् आसीत् तदानीम्*—उस समय पदार्थ के न तो सूक्ष्म, न ही स्थूल पक्ष वर्तमान थे। (*ऋग्वेद* .१२९.१)

सृष्टि की सापेक्षता को एक दृष्टान्त द्वारा समझा जा सकता है। जब मिट्टी तथा धातु को विभिन्न आकार की वस्तुओं में ढाल दिया जाता है. तो बनी हुई वस्तुएँ मिट्टी तथा धातु से केवल नाम तथा रूप के कारण पृथक् विद्यमान रहती हैं। उनकी मूलभूत वस्तु तो वही रहती है। इसी तरह से जब भगवान् की शक्तियाँ इस जगत की ज्ञात वस्तुओं में बदल जाती हैं, तो ये वस्तुएँ केवल नाम तथा रूप में भगवान् से पृथक् उपस्थित रहती हैं। *छान्दोग्य उपनिषद्* (६.१.-६) में उद्दालक ऋ षि ऐसा ही दृष्टान्त देकर अपने पुत्र को समझाते हैं—*यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्*—हे बालक! उदाहरणार्थ, मिट्टी के एक ढेले को समझ लेने पर मिट्टी से बनी हर वस्तु को समझा जा सकता है। रूपान्तरित पदार्थों की उपस्थिति केवल भाषा की

उपज है, उपाधियाँ प्रदान करने की बात है—केवल मिट्टी ही सत्य है।

निष्कर्ष के रूप में कोई ऐसा विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिलता कि इस जगत की वस्तुएँ शाश्वत हैं, जबकि उनके नश्वर होने तथा मिथ्या उपाधियों से बद्ध होने के अनेक प्रमाण हैं। इसलिए अज्ञानी व्यक्ति ही पदार्थ के काल्पनिक रूपों को सत्य मान सकते हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

मुकुटकुंडलकंकणकिंकिणीपरिणतं कनकं परमार्थत:।

महदहंकृतिखप्रमुखं तथा नरहरेर्न परं परमार्थत:॥

"मुकुट, कुण्डल, चूड़ियाँ तथा नूपुर जैसे स्वर्ण के रूपान्तर स्वर्ण से पृथक् नहीं हैं। इसी तरह से *महत्,* मिथ्या अहंकार तथा आकाश इत्यादि भौतिक तत्त्व अन्तत: भगवान् नरहरि से पृथक् नहीं हैं।"

स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन्
भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभग: ।
त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो
महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभग: ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

स:—वह (जीव); यत्—क्योंकि; अजया—भौतिक शक्ति के प्रभाव से; तु—लेकिन; अजाम्—वह भौतिक शक्ति; अनुशयीत—लेट जाती है; गुणान्—अपने गुणों को; च—तथा; जुषन्—धारण करके; भजति—ग्रहण करता है; स-रूपताम्—(प्रकृति के गुणों के) सदृश रूप; तत्-अनु—उसके पीछे; मृत्युम्—मृत्यु; अपेत—रहित; भग:—सम्पत्ति का; त्वम्—तुम; उत—दूसरी ओर; जहासि—छोड़ देते हो; ताम्—उस (भौतिक शक्ति) को; अहि:—सर्प; इव—सदृश; त्वचम्—अपनी (पुरानी) खाल, केंचुल; आत्त-भग:—समस्त सम्पत्ति से युक्त; महसि—आपकी आध्यात्मिक शक्तियों में; महीयसे—आपकी महिमा गाई जाती है; अष्ट-गुणिते—आठगुनी; अपरिमेय—असीम; भग:—महानता।

मोहिनी प्रकृति सूक्ष्म जीव को, उसका आलिंगन करने के लिए आकृष्ट करती है और फलस्वरूप जीव उसके गुणों से बने रूप धारण करता है। बाद में वह अपने सारे आध्यात्मिक गुण खो देता है और उसे बारम्बार मृत्यु भोगनी पड़ती है। किन्तु आप भौतिक शक्ति से अपने को उसी तरह बचाते रहते हैं, जिस तरह सर्प पुरानी केंचुल त्यागता है। आप आठ योगसिद्धियों से महिमायुक्त स्वामी हैं और असीम ऐश्वर्य का भोग करते हैं।

तात्पर्य : यद्यपि जीव शुद्ध आत्मा है और गुणात्मक दृष्टि से परमेश्वर के ही समान है, किन्तु वह भौतिक मोह (माया) के अज्ञान का आलिंगन करने से नीचे गिरता रहता है। जब वह माया के बहकावों में फँस जाता है, तो वह ऐसे शरीर तथा इन्द्रियाँ अपनाता है, जो उसे विस्मृति की ओर ले

जाने वाले होते हैं। माया के तीन गुणों—सतो, रजो, तमो—रूपी कच्चे माल से बने ये शरीर आत्मा को नाना प्रकार के दुखों में फँसा देते हैं, जिनका अन्त मृत्यु तथा पुनर्जन्म में होता है।

परमात्मा तथा आत्मा एक ही आध्यात्मिक प्रकृति में साझेदार हैं, किन्तु परमात्मा अपने सूक्ष्म साथी की तरह अज्ञान के जाल में नहीं फँसता। भले ही धुआँ ताँबे के छोटे-से पिघले हुए गोले की चमक को छिपा ले, किन्तु सूर्य का विशाल मंडल उसी प्रकार से आच्छादित नहीं हो सकता। आखिर माया भगवान् की आज्ञाकारिणी दासी है और उनकी अन्तरंगा शक्ति योगमाया का बाहरी अंश है। *श्री नारद पञ्चरात्र* में श्रुति तथा विद्या के मध्य बातचीत में कहा गया है—

अस्या आवरिकाशक्तिर्महामायाखिलेश्वरी।

यया मुग्धं जगत् सर्वं सर्वे देहाभिमानिनः॥

''उससे निकली आवरण शक्ति महामाया है, जो प्रत्येक भौतिक वस्तु की नियामक है। सारा ब्रह्माण्ड उसके द्वारा मोहग्रस्त हो जाता है और इस तरह प्रत्येक जीव अपनी पहचान गलती से अपने भौतिक शरीर से करता है।''

जिस प्रकार सर्प अपनी पुरानी केंचुल यह जानते हुए भी निकाल फेंकता है कि यह उसकी असली पहचान का भाग नहीं है, उसी तरह भगवान् भी अपनी बहिरंगा शक्ति माया से सदैव अपने को बचाते हैं। उनके आठ प्रकार के योग-ऐश्वर्यों—यथा *अणिमा* (सूक्ष्म होने की शक्ति), *महिमा* (परम विशाल होने की शक्ति) आदि में न तो कोई कमी है, न ही कोई सीमा। अतएव उनकी अद्वितीय तेजस्वी महिमा में भौतिक अंधकार की छाया के प्रवेश करने की गुंजाईश नहीं रह जाती।

जिनमें आध्यात्मिक जीवन की अनुभूति धीरे-धीरे जागृत हो रही होती है उनके लिए कभी कभी उपनिषद् *आत्मा* या ब्रह्म जैसे सामान्य शब्दों का प्रयोग करते हैं—वे परमात्मा तथा जीवात्मा के भेद को खुल कर स्पष्ट नहीं करते। किन्तु प्रायः वे इस द्वैत को स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥

''एक ही पीपल वृक्ष की शरण में दो संगी पक्षी बैठते हैं, उनमें से एक वृक्ष के फलों का आस्वाद ले रहा है, जबकि दूसरा खाने से विमुख रह कर अपने मित्र को देखता रहता है।'' (*श्वेताश्वतर*

उपनिषद् .६) इस दृष्टान्त में दो पक्षी आत्म । तथा परमात्मा हैं, वृक्ष शरीर है और फलों का स्वाद नाना प्रकार के इन्द्रिय-सुख हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

नृत्यन्ती तव वीक्षणांगणगता कालस्वभावादिभिर्

भावान् सत्त्वरजस्तमोगुणमयान् उन्मीलयन्ती बहून्।

मामाक्रम्य पदा शिरस्यतिभरं सम्मर्दयन्त्यातुरं

माया ते शरणं गतोऽस्मि नृहरे त्वामेव तां वारय॥

"आप अपनी प्रेयसी पर वह दृष्टि डालते हैं, जो काल, जीवों की भौतिक लालसाओं इत्यादि से युक्त है। यह दृष्टि उसके मुख पर नाचती है और इस तरह असंख्य उत्पन्न जीवों को जगाने वाली है, जो सतो, रजो तथा तमो गुणों में जन्म लेते हैं। हे भगवान् नरहरि! आपकी माया ने अपना पाँव मेरे सिर पर रख दिया है और वह मुझे बुरी तरह दबा रही है, जिससे मुझे अपार कष्ट हो रहा है। अब मैं आपके पास शरण के लिए आया हूँ। कृपया उसे रोकें।"

यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा
दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणिः ।
असुतृपयोगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगव-
न्ननपगतान्तकादनधिरूढपदाद्भवतः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; न समुद्धरन्ति—उखाड़ नहीं फेंकते; यतयः—संन्यासी लोग; हृदि—अपने हृदयों में; काम—कामेच्छा के; जटाः—चिह्न; दुरधिगमः—साक्षात्कार करना असम्भव; असताम्—अशुद्ध के लिए; हृदि—हृदय में; गतः—प्रवेश करके; अस्मृत—विस्मृत; कण्ठ—गर्दन पर; मणिः—मणि; असु—प्राण; तृप—तृप्ति करने वाला; योगिनाम्—योगियों के लिए; उभयतः—दोनों (संसारों) में; अपि—भी; असुखम्—दुख; भगवन्—हे भगवान्; अनपगत—नहीं गया हुआ; अन्तकात्—मृत्यु से; अनधिरूढ—अप्राप्त; पदात्—जिसका राज्य; भवतः—आपसे।

सन्यास-आश्रम के जो सदस्य अपने हृदय से भौतिक इच्छा को समूल उखाड़ कर फेंक नहीं देते, वे अशुद्ध बने रहते हैं और इस तरह आप उन्हें अपने को समझने नहीं देते। यद्यपि आप उनके हृदयों में वर्तमान रहते हैं, किन्तु उनके लिए आप उस मणि की तरह हैं, जिसे मनुष्य गले में पहने हुए भी भूल जाता है कि वह गले में है। हे प्रभु, जो लोग केवल इन्द्रिय-तृप्ति के लिए योगाभ्यास करते हैं, उन्हें इस जीवन में तथा अगले जीवन में भी उस मृत्यु से, जो उन्हें नहीं

छोड़ेगी, दण्ड मिलना चाहिए और आपसे भी, जिनके धाम तक, वे नहीं पहुँच सकते।

तात्पर्य : वैराग्य के दिखावा मात्र से कोई व्यक्ति भगवद्धाम में प्रवेश नहीं पा सकता। उसे पूरी तरह से अपना हृदय परिवर्तित करना होगा, जिससे इन्द्रिय-तृप्ति की आत्मनाशी, सूक्ष्म तथा स्थूल, आदतें पूरी तरह नष्ट हो जाँय। असली ऋषि को न केवल अवैध यौन, मांसाहार, नशा तथा जुआ खेलने के विचार तक से दूर रहना चाहिए, अपितु उसे ख्याति तथा पद की इच्छाओं को भी त्यागना होगा। ये सारी बातें भयानक चुनौती स्वरूप हैं, लेकिन कृष्णभावनामृत में असली वैराग्य का फल जीवन-भर प्रयास करते रहने के योग्य है।

मुण्डक उपनिषद् (३.२.२) से इस श्लोक के कथन की पुष्टि होती है—*कामान् य: कामयते मन्यमान: स कर्मभिर्जायते तत्र तत्र*—यदि एक विचारशील संन्यासी भी सांसारिक इच्छाएँ रखता है, तो उसे विभिन्न परिस्थितियों में अपने कर्मफलों के अनुसार बारम्बार जन्म लेने के लिए विवश होना पड़ेगा। दार्शनिक तथा योगीजन जन्म-मृत्यु से मुक्त होने के लिए कठिन श्रम करते हैं, लेकिन अपनी गर्वीली स्वतंत्रता को समर्पित न करने की इच्छा के कारण उनका ध्यान भगवद्भक्ति से रहित होता है और इस तरह वे संन्यास की सिद्धि से—शुद्ध भगवत्प्रेम से—विहीन रह जाते हैं। यही शुद्ध प्रेम सच्चे वैष्णवों का एकमात्र लक्ष्य होता है, अतएव उसे लाभ, प्रशंसा तथा ख्याति के स्वाभाविक लोभों का सचेत रह कर सामना करना चाहिए। साथ ही निर्विशेष में तादाकार होने की आन्तरिक इच्छा का भी विरोध करना चाहिए जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृतसिंधु* (१.१.११) में कहा है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

''जब उच्च कोटि की भक्ति उत्पन्न हो, तो मनुष्य को समस्त भौतिक इच्छाओं, एकेश्वरवाद से प्राप्त ज्ञान तथा सकाम कर्म से रहित होना चाहिए। भक्त को चाहिए कि वह कृष्ण की सदैव अनुकूल सेवा करे, जैसाकि कृष्ण चाहते हैं।''

जो लोग अपनी इन्द्रियों को प्रसन्न रखने के लिए ही कठिन योगाभ्यास करते हैं, उन्हें दीर्घकालीन कष्ट भोगना ही पड़ेगा। भूख, रोग, बुढ़ापा, दुर्घटना से चोट, अन्यों से हिंसा—ये कष्ट के असंख्य प्रकारों में से कुछेक कष्ट हैं, जिन्हें इस संसार में कम-ज्यादा मात्रा में उठाना पड़ सकता है। अन्ततः

मृत्यु प्रतीक्षा करती रहती है, जिसके बाद पाप कार्यों के लिए पीड़ाजनक दंड मिलता है। विशेष रूप से वे, जो अन्यों के जीवन के बल पर स्वतंत्र रूप से ऐन्द्रिय भोग-विलास करते हैं, वे कल्पनातीत कठोर दण्ड की आशा रख सकते हैं। लेकिन भौतिक जीवन का सबसे बड़ा कष्ट इस जीवन में दुर्भाग्य या मृत्यु के बाद नरक भेजा जाना न होकर, भगवान् से अपने नित्य सम्बन्ध की विस्मृति से उत्पन्न रिक्तता है।

श्रील श्रीधर स्वामी स्तुति करते हैं—

दम्भन्यासमिषेण वञ्चितजनं भोगैकचिन्तातुरं

सम्मुह्यन्तमहरनिशं विरचितोद्योगक्लमैराकुलम्।

आज्ञालंघिनमज्ञमज्ञजनता सम्माननासन्मदं

दीनानाथ दयानिधान परमानन्द प्रभो पाहि माम्॥

"जो वञ्चक संन्यास के बहाने अपने को धोखा देता है, वह केवल इन्द्रिय-भोग का चिन्तन करने के कारण निरन्तर कष्ट पाता रहता है। वह दिन-रात मोहग्रस्त हुआ अपने लिए किए गए अथक प्रयासों के विफल होने से निराश होता है। यह मूर्ख आपके नियमों का उल्लंघन करता है और अन्य मूर्खों से आदर पाने के लोभ में भ्रष्ट हो जाता है। हे पतितों के रक्षक, हे दया के देने वाले, हे परम आनन्दमय स्वामी! आप उस व्यक्ति को, जो कि मैं हूँ, बचाइये।"

त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयो-
गुणविगुणान्वयांस्तर्हि देहभृतां च गिरः ।
अनुयुगमन्वहं सगुण गीतपरम्परया
श्रवणभृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः ॥ ० ॥

शब्दार्थ

त्वत्—तुम्हें; अवगमी—जानने वाला; न वेत्ति—परवाह नहीं करता; भवत्—आप से; उत्थ—उठ कर; शुभ-अशुभयोः—शुभ तथा अशुभ का; गुण-विगुण—अच्छे-बुरे का; अन्वयान्—लक्षणों को; तर्हि—फलस्वरूप; देह-भृताम्—देहधारी जीवों का; च—भी; गिरः—शब्द; अनु-युगम्—हर युग में; अनु-अहम्—प्रतिदिन; स-गुण—हे गुणों से युक्त; गीत—गीत की; परम्परया—परम्परा से; श्रवण—सुन कर के; भृतः—ले जाया गया; यतः—इसके कारण; त्वम्—तुम; अपवर्ग—मोक्ष का; गतिः—चरम लक्ष्य; मनुजैः—मनुष्यों द्वारा, मनु के वंशजों द्वारा।

जब मनुष्य आपका साक्षात्कार कर लेता है, तो वह अपने विगत पवित्र तथा पापमय कर्मों से उदित होने वाले अच्छे तथा बुरे भाग्य की परवाह नहीं करता, क्योंकि इस अच्छे तथा बुरे

भाग्य को नियंत्रित करने वाले एकमात्र आप हैं। ऐसा स्वरूपसिद्ध भक्त इसकी भी परवाह नहीं करता कि सामान्य जन उसके विषय में क्या कह रहे हैं। वह प्रतिदिन अपने कानों को आपके यशों से भरता रहता है, जो हर युग में मनु के वंशजों की अविच्छिन्न परम्परा से गाये जाते हैं। इस तरह आप उसका चरम मोक्ष बन जाते हैं।

तात्पर्य : श्लोक ३९ में स्पष्ट कहा गया है कि निर्विशेषवादी सन्यासियों को जन्म-जन्मांतर कष्ट भोगना होगा। कोई यह प्रश्न कर सकता है कि क्या यह कष्ट उचित है, क्योंकि उस संन्यासी में भक्ति की प्रवृत्ति हो या न हो, उसके पद के कारण उसे कष्ट से विमुक्त रखा जाना चाहिये? जैसाकि श्रुति मंत्र कहता है—*एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्*—ब्राह्मण की शाश्वत महिमा उसके किसी कर्म से कभी घटती-बढ़ती नहीं है (*बृहदारण्यक उपनिषद्* .-२८)। इस उठाये गये आक्षेप के प्रत्युत्तर में ही साक्षात् वेद यह स्तुति कर रहे हैं।

निर्विशेषवादी ज्ञानी तथा योगी कर्मफल से पूरी छूट पाने के योग्य नहीं होते, क्योंकि यह छूट तो केवल उनके लिए सुरक्षित होती है, जो *त्वदवगमी* हैं—अर्थात् शुद्ध भक्त जो भगवान् विषयक कथाओं को सुनने तथा उनका कीर्तन करने में निरन्तर लगे रहते हैं। ये भक्त अपने कठोर कृष्णभावनामृत के द्वारा भगवान् के चरणकमलों पर दृढ़ता से टिके रहते हैं, अतएव उन्हें वेदों की विधियों तथा निषेधों का दृढ़ता से पालन करने की आवश्यकता नहीं रहती। वे भगवान् की प्रसन्नता के लिए ही कर्म करते हैं, अतएव वे निर्भय होकर इन कर्मों के अच्छे तथा बुरे बाहरी फलों की उपेक्षा कर सकते हैं। इसी तरह वे अपनी बड़ाई या बुराई में कहे गये अन्यों के शब्दों की भी उपेक्षा कर सकते हैं। एक विनीत वैष्णव, जो कि संकीर्तन के आनन्द में लीन रहता है, अपनी प्रशंसा की जिसे वह गलत मानता है, परवाह नहीं करता, परन्तु अपनी आलोचना प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करता है, क्योंकि इसे वह उपयुक्त समझता है।

भगवान् की महिमा का प्रामाणिक कीर्तन ''मनु के पुत्रों'' से निष्ठापूर्वक सुन कर प्राप्त किया जाता है, क्योंकि यह युग-युगों से चली आ रही सन्त वैष्णवों की शिष्य-परम्परा है। ये ऋषि मनुष्य के पूर्वज स्वायंभुव मनु के उदाहरण का अनुकरण करते हैं—

अयातयामास्तस्यासन् यामाः स्वान्तरयापनाः।
शृण्वतो ध्यायतो विष्णोः कुर्वतो ब्रुवतः कथाः॥

''यद्यपि स्वायम्भुव का दीर्घ जीवन धीरे-धीरे समाप्त हो रहा था, जो एक मन्वन्तर युग का था, किन्तु वह व्यर्थ में नहीं बीता, क्योंकि वह भगवान् की लीलाओं को सुनने, मनन करने, लिखने तथा उच्चारण करने में सदैव लगा रहता था।'' (*भागवत* ३.२२.३५)

यदि कोई नवदीक्षित भक्त भी अपने पूर्व दुर्गुणों के कारण उचित आचरण के मानदण्ड से नीचे गिरता है, तब भी सर्व-दयामय भगवान् उसका परित्याग नहीं करेंगे। जैसाकि भगवान् कृष्ण कहते हैं—

तैरहं पूजनीयो वै भद्रकृष्णनिवासिभि: ।

तद्धर्मगतिहीना ये तस्यां मयि परायणा: ॥

कलिना ग्रसिता ये वै तेषां तस्यामवस्थिति: ।

यथा त्वं सह पुत्रैश्च यथा रुद्रो गणै सह ।

यथा श्रियाभियुक्तोऽहं तथा भक्तो मम प्रिय: ॥

''जो लोग भद्रकृष्ण (मथुरा जनपद) में रहते हैं, उनके लिए मैं ही पूजनीय हूँ। यदि उस स्थान के निवासी किसी पवित्र स्थान में पालन किये जाने वाले धार्मिक नियमों का ढंग से अनुशीलन नहीं भी करते, तो भी वे वहाँ रहने के कारण मेरी भक्ति में लगे रहते हैं। चाहे कलि (आधुनिक कलहपूर्ण युग) भी उन्हें अपने चंगुल में क्यों न कर ले, तो भी उन्हें इस स्थान में रहने का श्रेय मिलता है। मथुरावासी मेरा भक्त मुझे उतना ही प्रिय है, जितना कि आप (ब्रह्मा) तथा आपके पुत्र—रुद्र तथा उनके अनुयायी—एवं देवी लक्ष्मी तथा स्वयं मैं।''

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

अवगमं तव मे दिश माधव स्फुरति यन्न सुखासुखसंगम: ।

श्रवणवर्णनभावमथापि वा न हि भवामि यथा विधिकिंकर: ॥

''हे माधव! ऐसा करें कि मैं आपको समझूँ, जिससे मैं भौतिक सुख तथा दुख के पाश का और अधिक अनुभव न कर सकूँ। या फिर अच्छा हो कि आप अपने विषय में श्रवण तथा कीर्तन करने का आस्वाद मुझे प्रदान करें। उस स्थिति में मैं आनुष्ठानिक आधिदेशों का दास नहीं रह जाऊँगा।''

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया

त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः ।
ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय-
स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

द्यु—स्वर्ग के; पतयः—स्वामी; एव—भी; ते—तुम्हारा; न ययुः—नहीं पहुँच सकते; अन्तम्—अन्त; अनन्ततया—अनन्त होने से; त्वम्—तुम; अपि—भी; यत्—जिसको; अन्तर—भीतर; अण्ड—ब्रह्माण्डों के; निचयाः—समूह; ननु—निस्सन्देह; स—सहित; आवरनाः—अपने बाहरी खोल; खे—आकाश में; इव—सदृश; रजांसि—धूल के कण; वान्ति—इधर-उधर उड़ते हैं; वयसा सह—कालचक्र के साथ; यत्—क्योंकि; श्रुतयः—वेद; त्वयि—तुममें; हि—निस्सन्देह; फलन्ति—फलते हैं; अतत्—ब्रह्म से भिन्न है, जो, उसका; निरसनेन—निरस्त करने से; भवत्—आप में; निधनाः—जिनका अन्तिम निष्कर्ष।

चूँकि आप असीम हैं, अतः न तो स्वर्ग के अधिपति, न ही स्वयं आप अपनी महिमा के छोर तक पहुँच सकते हैं। असंख्य ब्रह्माण्ड अपने अपने खोलों में लिपटे हुए कालचक्र के द्वारा आपके भीतर घूमने के लिए उसी तरह बाध्य हैं, जिस तरह कि आकाश में धूल के कण इधर-उधर उड़ते रहते हैं। श्रुतियाँ आपको अपने अन्तिम निष्कर्ष के रूप में प्रकट करके सफल बनती हैं, क्योंकि वे आपसे पृथक् हर वस्तु को अपनी निरसन विधि से विलुप्त कर देती हैं।

तात्पर्य : अपनी अन्तिम स्तुति में साक्षात् वेद इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सारी श्रुतियाँ अपने विविध शाब्दिक तथा अलंकारिक संदर्भों द्वारा भगवान् की पहचान और उनके निजी गुणों तथा शक्तियों का ही वर्णन करती हैं। उपनिषद् तो उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं—*यद् ऊर्ध्वं गार्गि दिवो यदर्वाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद् भूतं भवच्च भविष्यच्च*—हे गर्गपुत्री! उसकी महानता हमारे ऊपर स्वर्ग की प्रत्येक वस्तु को, पृथ्वी के नीचे की प्रत्येक वस्तु को, स्वर्ग और पृथ्वी के बीच की प्रत्येक वस्तु को तथा प्रत्येक वस्तु, जो कभी थी, अब है या आगे होगी, उन सबको समाविष्ट करने वाली है (*बृहदारण्यक उपनिषद्* ३.८.)।

श्रुतियों की इस अन्तिम स्तुति के अर्थ पर प्रकाश डालने के लिए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर भगवान् नारायण तथा साक्षात् वेदों के बीच हुई निम्नलिखित वार्ता प्रस्तुत करते हैं—

वेदों ने कहा: ''ब्रह्मा तथा स्वर्गलोकों के अन्य शासक अभी तक आपके यश के अन्तिम छोर तक नहीं पहुँच पाये हैं। तो हम क्या कर सकते हैं, क्योंकि इन महान् देवताओं की तुलना में हम तुच्छ हैं?''

भगवान् नारायण ने कहा: ''नहीं, तुम श्रुतियाँ इस ब्रह्माण्ड पर शासन करने वाले देवताओं की अपेक्षा अधिक दिव्यदृष्टि वाली हो। यदि तुम नहीं रुकोगी तो तुम मेरी महिमा का पार पा सकती हो।''

''लेकिन आप भी अपनी सीमा नहीं पा सकते।''

''यदि ऐसा ही है, तो फिर तुम सब मुझे सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान क्यों कहती हो?''

''हमने तो यह निष्कर्ष निकाला है कि आप में ये गुण विद्यमान हैं; इस आधार पर निकाला है कि आप असीम हैं। निस्सन्देह यदि कोई व्यक्ति ऐसी वस्तु से अनजान है, जिसका अस्तित्व ही नहीं होता जैसे कि खरहे के सींग, तो इसके कारण वह अपनी सर्वज्ञता से विपथ नहीं होता और यदि वह ऐसी न होने वाली वस्तु को खोज नहीं पाता तो इससे उसकी सर्वशक्तिमत्ता सीमित नहीं हो जाती। आप इतने विशाल हैं कि आपके भीतर ब्रह्माण्डों के समूह के समूह तैरते रहते हैं। इनमें से हर ब्रह्माण्ड भौतिक तत्त्वों से बने सात आवरणों से घिरा रहता है और इनमें से प्रत्येक एक केन्द्रीय आवरण अपने से भीतर वाले से दस गुना बड़ा होता है। यद्यपि हम आपके विषय में सत्य का पूरा वर्णन कभी नहीं कर पायेंगी, किन्तु यह घोषित करके कि आप ही वेदों के असली विषय हैं, अपने अस्तित्व को सफल बनाती हैं।''

''लेकिन तुम असन्तुष्ट क्यों लगती हो?''

''क्योंकि श्रील वेदव्यास ने वेदों में ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के दिव्य अस्तित्व के विषय में संक्षिप्त विवरण दिया है। जब उन्होंने ब्रह्म विषयक अपने वर्णन को विशद बनाने की आवश्यकता अनुभव की, तो उन्होंने ब्रह्म के निर्विशेष पक्ष को ही चुना जो *तत्* है और ब्रह्म का, उनसे भिन्न जो कुछ है, उसे नकार कर ही, वर्णन किया। जिस तरह किसी खेत में अकस्मात् बिखेरे गये मणियों को अनावश्यक पत्थर एवं घास-फूस हटा कर बटोरा जा सकता है, उसी तरह माया तथा उसकी सृष्टियों के दृश्य जगत में ब्रह्म को निरसन विधि द्वारा खोजा जा सकता है। चूँकि वेद जगत में प्रत्येक वस्तु, उसकी सत्ता, गुण इत्यादि को आदि से अन्त तक गिना नहीं सकते और चूँकि ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् विषयक सत्य इतने पर भी अछूता रहता रहेगा, अतः यदि हम सभी वस्तुओं का वर्णन भी करें और फिर उनको त्याग दें, तो भी हम जाँच-पड़ताल की इस विधि से आपकी अन्तिम परिभाषा तक नहीं पहुँच सकतीं। आपकी कृपा से ही हम परम अगम्य ब्रह्म आपके पास तक पहुँचने का प्रयास कर सकती हैं।''

श्रुतियों के ऐसे अनेक कथन हैं, जो *अतन्निरसनम्* अर्थात् अधम वस्तुओं से ब्रह्म को पहचानने और अलग बताने की विधि का कार्य करते हैं। उदाहरणार्थ, *बृहदारण्यक उपनिषद्* का कथन है

(३.८.८)—*अस्थूलमनणु*

अह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसंगमरसमगन्धमचक्षुष्कम-

श्रोत्रमगमनोऽतेजस्कमप्राणमसुखममात्रमनन्तरमबाह्यम्—"यह न तो बड़ा है न छोटा, न नाटा न लम्बा, न गर्म न ठंडा, न छाया में न अंधकार में। न ही यह वायु है न आकाश। यह किसी वस्तु के सम्पर्क में नहीं है। इसमें भीतर या बाहर कोई स्वाद, गंध, आँखें, कान, गति, शक्ति, प्राण, आनन्द, माप नहीं है।" *केन उपनिषद* (३) की घोषणा है—*अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि*—जो ज्ञात है और अभी जिसे ज्ञात होना है उससे ब्रह्म भिन्न है। तथा *कठ उपनिषद्* का कथन है (२.१)— *अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्*—ब्रह्म धर्म तथा अधर्म, पाप तथा पुण्यकर्मों के क्षेत्र से बाहर है।

भाषाविज्ञान तथा तर्क के नियमों के अनुसार निषेध असीम नहीं हो सकता, इसका कोई प्रतिपक्ष भी होना चाहिए, जिसका यह निषेध होता है। वेदों के *अतन्निरसनम्* में उनके इस निषेध का कि कोई भी वस्तु पूर्णतया सत्य है, इसका प्रतिपक्ष भगवान् श्रीकृष्ण हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

द्युपतयो विदुरन्तमनन्त ते न च भवान् न गिरः श्रुतिमौलयः।
त्वयि फलन्ति यतो नम इत्यतो जय जयेति भजे तव तत्पदम्॥

"हे अनन्त! स्वर्ग के देवता आपकी सीमा नहीं जानते, यहाँ तक कि आप भी इसे नहीं जानते। चूँकि सर्वोच्च श्रुतियों के दिव्य शब्द आपको प्रकट करने से फलदायी हो जाते हैं, अतएव मैं आपको नमस्कार करता हूँ। इस तरह मैं "आपकी जय हो, आपकी जय हो" यह कह कर ब्रह्म के रूप में आपकी पूजा करता हूँ।"

श्रीभगवानुवाच
इत्येतद्ब्रह्मणः पुत्रा आश्रुत्यात्मानुशासनम् ।
सनन्दनमथानर्चुः सिद्धा ज्ञात्वात्मनो गतिम् ॥ २॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्री भगवान् (नारायण ऋषि) ने कहा; इति—इस तरह; एतत्—यह; ब्रह्मणः—ब्रह्मा के; पुत्राः—पुत्रगण; आश्रुत्य—सुन कर; आत्म—आत्मा के विषय में; अनुशासनम्—उपदेश; सनन्दनम्—सनन्दन ऋषि की; अथ—तब; आनर्चुः—उन्होंने पूजा की; सिद्धाः—पूर्णतया तुष्ट; ज्ञात्वा—जान कर; आत्मनः—अपना; गतिम्—चरम गन्तव्य।.

भगवान् श्री नारायण ऋषि ने कहा : परमात्मा के विषय में ये आदेश सुन कर ब्रह्मा के पुत्रों

को अपना चरम गन्तव्य समझ में आ गया। वे पूरी तरह सन्तुष्ट हो गये और उन्होंने सनन्दन की पूजा करके उनका सम्मान किया।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि *आत्मानुशासनम्* को जीवात्माओं के लाभ हेतु दिये गये उपदेश तथा समस्त जगत के आधार के साथ जीव के सम्बन्ध के विषय में उपदेश—दोनों ही समझा जा सकता है। इसी प्रकार *आत्मनो गतिम्* से जीवात्मा का गन्तव्य तथा परमात्मा तक पहुँचने के साधन दोनों ही अर्थ निकलते हैं। साक्षात् वेदों की अट्ठाइस स्तुतियाँ सुन कर जो इस अध्याय के प्रारम्भ में कही गईं ब्रह्मोपनिषद् की व्याख्या है, ब्रह्मलोक में समवेत ऋषियों को शुद्ध भगवत्प्रेम के लक्ष्य की ओर बढ़ने में अत्यन्त सहायता मिली।

इत्यशेषसमाम्नायपुराणोपनिषद्रसः ।
समुद्धृतः पूर्वजातैर्व्योमयानैर्महात्मभिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अशेष—समस्त; समाम्नाय—वेदों; पुराण—तथा पुराणों का; उपनिषत्—गुह्य रहस्य; रसः—रस; समुद्धृतः—निचोड़ा हुआ; पूर्व—विगत भूत में; जातैः—उत्पन्न हुओं से; व्योम—ब्रह्माण्ड के उच्चतर भागों में; यानैः—यात्रा करने वाले; महा-आत्मभिः—सन्त-पुरुषों द्वारा।

इस तरह उच्चतर स्वर्गलोकों में विचरण करने वाले प्राचीन सन्तों ने सारे वेदों तथा पुराणों के इस अमृतमय तथा गुह्य रस को निचोड़ लिया।

त्वं चैतद्ब्रह्मदायाद श्रद्धयात्मानुशासनम् ।
धारयंश्चर गां कामं कामानां भर्जनं नृणाम् ॥ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; च—तथा; एतत्—यह; ब्रह्म—ब्रह्मा के; दायाद—हे उत्तराधिकारी (नारद); श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; आत्म-आनुशासनम्—आत्मा के विषय में उपदेशों पर; धारयन्—ध्यान करते हुए; चर—विचरण करते हैं; गाम्—पृथ्वी पर; कामम्—अपनी इच्छानुसार; कामानाम्—भौतिक इच्छाओं को; भर्जनम्—जो जलाने वाले हैं; नृणाम्—मनुष्यों की।

और चूँकि तुम पृथ्वी पर इच्छानुसार विचरण करते हो, अतः, हे ब्रह्मा-पुत्र, तुम्हें आत्मविज्ञान विषयक इन उपदेशों पर श्रद्धापूर्वक ध्यान करना चाहिए, क्योंकि ये सारे मनुष्यों की भौतिक इच्छाओं को भस्म कर देते हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा के पुत्र नारद ने यह विवरण श्री नारायण ऋषि से सुना। *ब्रह्मदायाद* का यह भी अर्थ है कि नारद ने बिना प्रयास के ही ब्रह्म पा लिया, मानो यह उसका जन्मसिद्ध अधिकार हो।

श्रीशुक उवाच

एवं स ऋषिणादिष्टं गृहीत्वा श्रद्धयात्मवान् ।
पूर्णः श्रुतधरो राजन्नाह वीरव्रतो मुनिः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार से; सः—वह (नारद); ऋषिणा—ऋषि (नारायण ऋषि) द्वारा; आदिष्टम्—आदेश दिया गया; गृहीत्वा—स्वीकार करके; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; आत्म-वान्—आत्मवान; पूर्णः—अपने कार्यों में सफल; श्रुत—उसने जो कुछ सुना था, उस पर; धरः—ध्यान करते हुए; राजन्—हे राजा (परीक्षित); आह—कहा; वीर—वीर क्षत्रिय की तरह; व्रतः—जिसका व्रत; मुनिः—मुनि ने।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब श्री नारायण ऋषि ने उन्हें इस तरह आदेश दिया, तो आत्मवान नारद मुनि ने उस आदेश को दृढ़ निष्ठा के साथ स्वीकार कर लिया, क्योंकि उनका व्रत एक योद्धा जैसा वीत्वपूर्ण होता है। हे राजन्, अब अपने सारे कार्यों में सफल होकर, उन्होंने जो कुछ सुना था, उस पर विचार किया और भगवान् को इस प्रकार उत्तर दिया।

श्रीनारद उवाच

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामलकीर्तये ।
यो धत्ते सर्वभूतानामभवायोशती: कला: ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद ने कहा; नमः—नमस्कार; तस्मै—उस; भगवते—भगवान्; कृष्णाय—कृष्ण को; अमल—निष्कलुष; कीर्तये—जिसकी कीर्ति; यः—जो; धत्ते—प्रकट करता है; सर्व—सारे; भूतानाम्—जीवों के; अभवाय—मुक्ति हेतु; उशती:—सर्व-आकर्षक; कलाः—अंश।

श्री नारद ने कहा : मैं उन निर्मल कीर्ति वाले भगवान् कृष्ण को नमस्कार करता हूँ, जो अपने सर्व-आकर्षक साकार अंशों को इसलिए प्रकट करते हैं, जिससे सारे जीव मुक्ति प्राप्त कर सकें।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी की टिप्पणी है कि श्री नारायण ऋषि को नारद द्वारा भगवान् कृष्ण के अवतार रूप में सम्बोधित किया जाना सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि यह *श्रीमद्भागवत* के निम्न कथन (१.३.२८) के अनुकूल है—*एते चांशकलाः पुंसः/कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*—उपर्युक्त सारे अवतार (नारायण ऋषि सहित) या तो स्वांश हैं या भगवान् के स्वांश के अंश हैं, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण आदि भगवान् हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस श्लोक की टीका में भगवान् नारायण ऋषि द्वारा पुछवाया है, "तुम अपने समक्ष खड़े अपने गुरु मुझे नमस्कार न करके कृष्ण को क्यों नमस्कार कर रहे हो?" नारद अपने

कार्य की यह कह कर व्याख्या करते हैं कि भगवान् कृष्ण बद्धजीवों के भौतिक जीवन का अन्त करने के लिए श्री नारायण ऋषि जैसे सर्वाकर्षक रूप में अवतरित होते हैं। अतएव श्रीकृष्ण को नमस्कार करने से नारद नारायण ऋषि तथा ईश्वर के अन्य समस्त स्वरूपों का भी आदर करते हैं।

नारद की यह स्तुति वह अमृत है, जिसे उन्होंने साक्षात् वेदों की स्तुतियों से निकाला है और ये स्तुतियाँ वेदों तथा पुराणों के समस्त रहस्यों के मधुर समुद्र से मंथन करके निकाली गई हैं। जैसी कि *गोपालतापनी उपनिषद्* (पूर्व ५०) की संस्तुति है—*तस्मात् कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत् तं रसयेत् तं भजेत् तं यजेद् इति। ॐ तत्सत्।* ''इसलिए कृष्ण परम ईश्वर हैं। मनुष्य को चाहिए कि उन्हीं का ध्यान करे, उन्हीं से प्रेम के आदान-प्रदान का स्वाद ले, उन्हें ही पूजे और उन्हीं को यज्ञ अर्पित करे।''

इत्याद्यमृषिमानम्य तच्छिष्यांश्च महात्मनः ।
ततोऽगादाश्रमं साक्षात्पितुर्द्वैपायनस्य मे ॥ ७॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार बोलते हुए; आद्यम्—आदि; ऋषिम्—ऋषि (नारायण ऋषि) को; आनम्य—शीश झुकाकर; तत्—उसके; शिष्यान्—शिष्यों को; च—तथा; महा-आत्मनः—महान् सन्त; ततः—वहाँ (नैमिषारण्य) से; अगात्—चला गया; आश्रमम्—कुटिया में; साक्षात्—प्रत्यक्ष; पितुः—पिता; द्वैपायनस्य—द्वैपायन वेदव्यास की; मे—मेरे।

[शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा]: यह कहने के बाद नारद ने ऋषियों में अग्रणी श्री नारायण ऋषि को तथा उनके सन्त सदृश शिष्यों को भी शीश झुकाया। तब वे मेरे पिता द्वैपायन व्यास की कुटिया में लौट आये।

सभाजितो भगवता कृतासनपरिग्रहः ।
तस्मै तद्वर्णयामास नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥ ८॥

शब्दार्थ

सभाजितः—सम्मानित; भगवता—भगवान् के स्वांश (व्यासदेव) द्वारा; कृत—कर चुकने पर; आसन—आसन की; परिग्रहः—स्वीकृति; तस्मै—उसको; तत्—वह; वर्णयाम् आस—कह सुनाया; नारायण-मुखात्—श्री नारायण ऋषि के मुख से; श्रुतम्—जो उसने सुना था।

भगवान् के अवतार व्यासदेव ने नारद मुनि का सत्कार किया और उन्हें बैठने के लिए आसन दिया, जिसे उन्होंने स्वीकार किया। तब नारद ने व्यास से वह कह सुनाया, जो उन्होंने श्री नारायण ऋषि के मुख से सुना था।

इत्येतद्वर्णितं राजन्यन्नः प्रश्नः कृतस्त्वया ।
यथा ब्रह्मण्यनिर्देश्ये नीऋगुणेऽपि मनश्चरेत् ॥ ९॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; एतत्—यह; वर्णितम्—सुनाया गया; राजन्—हे राजा (परीक्षित); यत्—जो; नः—हम से; प्रश्नः—प्रश्न; कृतः—किया गया; त्वया—तुम्हारे द्वारा; यथा—कैसे; ब्रह्मणि—ब्रह्म में; अनिर्देश्ये—शब्दों में जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता; निर्गुणे—निर्गुण; अपि—भी; मनः—मन; चरेत्—जाता है।

हे राजन्, इस प्रकार मैंने तुम्हारे उस प्रश्न का उत्तर दे दिया है, जो इस विषय में तुमने मुझसे पूछा था कि मन उस ब्रह्म तक कैसे पहुँचता है, जो भौतिक शब्दों द्वारा वर्णनीय नहीं है और भौतिक गुणों से रहित है।

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः ।
यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्त्रं हरिम् ॥ ५०॥

शब्दार्थ

यः—जो; अस्य—इस (ब्रह्माण्ड) का; उत्प्रेक्षकः—निगरानी रखने वाला; आदि—इसके प्रारम्भ में; मध्य—बीच में; निधने—तथा अन्त में; यः—जो; अव्यक्त—अप्रकट (प्रकृति) का; जीव—तथा जीवों का; ईश्वरः—स्वामी; यः—जो; सृष्ट्वा—उत्पन्न करके; इदम्—इस (ब्रह्माण्ड) में; अनुप्रविश्य—प्रवेश करके; ऋषिणा—जीवात्मा के साथ; चक्रे—उत्पन्न किया; पुरः—शरीर; शास्ति—नियमन करता है; ताः—उन्हें; यम्—जिसको; सम्पद्य—शरणागत होकर; जहाति—त्याग देता है; अजाम्—अजन्मा (प्रकृति) का; अनुशयी—आलिंगन करते हुए; सुप्तः—सोया पुरुष; कुलायम्—उसका शरीर; यथा—जिस तरह; तम्—उस पर; कैवल्य—अपनी शुद्ध आध्यात्मिक स्थिति से; निरस्त—दूर रखा हुआ; योनिम्—जन्म; अभयम्—निर्भयता के लिए; ध्यायेत्—ध्यान करना चाहिए; अजस्त्रम्—सतत; हरिम्—भगवान् कृष्ण को।

वह ही स्वामी है, जो इस ब्रह्माण्ड की निरन्तर निगरानी करता है, जो इसके प्रकट होने के पूर्व, उसके बीच में तथा उसके बाद विद्यमान रहता है। वह अव्यक्त भौतिक प्रकृति तथा आत्मा दोनों का स्वामी है। इस सृष्टि को उत्पन्न करके, वह इसके भीतर प्रवेश कर जाता है और प्रत्येक जीव के साथ रहता है। वहाँ पर वह भौतिक देहों की सृष्टि करता है और फिर उनके नियामक के रूप में रहने लगता है। उनकी शरण में जाकर मनुष्य माया के आलिंगन से बच सकता है, जिस तरह स्वप्न देख रहा व्यक्ति अपने शरीर को भूल जाता है। जो व्यक्ति भय से मुक्ति चाहता है, उसे चाहिए कि उस भगवान् हरि का निरन्तर ध्यान धरे, जो सदैव सिद्धावस्था में रहता है और कभी भी भौतिक जन्म नहीं लेता।

तात्पर्य : जीवात्मा की सृष्टि करते समय भगवान् सुप्त ब्रह्माण्ड पर दृष्टि डाल कर उनकी सारी आवश्यकताएँ पूरी करते हैं। वे उन जीवों को जो सकाम कर्मी हैं भौतिक कार्य में सफलता पाने के

लिए आवश्यक बुद्धि तथा इन्द्रियाँ प्रदान करते हैं। जो दिव्य ज्ञान की खोज करते हैं उन्हें वे वह बुद्धि प्रदान करते हैं, जिससे वे ईश्वर के आध्यात्मिक तेज में लीन होकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। और भक्तों को तो वे वह समझ देते हैं, जिससे उन्हें शुद्ध भगवद्भक्ति प्राप्त हो।

इन विविध सुविधाओं की व्यवस्था करने के लिए भगवान् प्रकृति को उत्प्रेरित करते हैं कि वह ब्रह्माण्ड के विकास का कार्य प्रारम्भ करे। इस प्रकार भगवान् सृष्टि के *निमित्त कारणम्* अर्थात् प्रभावी कारण हैं। वे इसके *उपादान कारण* अर्थात अवयव कारण भी हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु उन्हीं से उद्भूत होती है और वे ही अकेले ऐसे हैं, जो सृजित जगत के पूर्व, बीच में तथा उसके अन्त में सदा-सर्वदा वर्तमान रहते हैं। *चतुःश्लोकी भागवत* में भगवान् नारायण स्वयं कहते हैं—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत् सदसत्परम्।

पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्यते सोऽस्म्यहम्॥

"मैं ही वह भगवान् हूँ जो सृष्टि के पूर्व था जब मेरे सिवा और कुछ भी न था। न ही इस सृष्टि की कारणस्वरूप प्रकृति ही थी। इस समय जो तुम देखते हो, वह भी मैं भगवान् ही हूँ और प्रलय के बाद जो कुछ शेष रहेगा, वह भी मैं भगवान् ही हूँ।" (*भागवत* २.९.३३) आदि माया तथा जीवात्मा को क्रमशः सृष्टि के *उपादान* तथा *निमित्त* कारण कहा जा सकता है किन्तु भगवान् अन्ततः इन दोनों ही के उद्गम हैं।

जब तक जीवात्मा भगवान् की दया को स्वीकार नहीं करता वह *अनुशयी* है अर्थात् माया के आलिंगन में असहाय की तरह बँधा हुआ रहता है। जब वह भगवान् की पूजा करने लगता है, तो वह भिन्न अर्थ में *अनुशयी* रहता है—भगवान् के चरणकमलों में प्रणाम करने के लिए दण्ड की तरह गिरा हुआ रहता है। इस समर्पण से आत्मा अपने मोह को आसानी से उतार फेंकता है। यद्यपि मुक्तात्मा अब भी भौतिक शरीर में रहता प्रतीत होता है, किन्तु उससे उसका सम्बन्ध बाहरी दिखावे का ही रहता है। वह उसकी ओर उससे भी कम ध्यान देता है, जितना कि सोया हुआ व्यक्ति स्वप्नलोक में खोये रहने से अपने शरीर के प्रति देता है।

मनुष्य अपने भौतिक शरीर से अपनी झूठी पहचान करना छोड़ने से अज्ञान का परित्याग करता है। कभी कभी इस अवस्था को प्राप्त करने में कई जन्मों तक कठोर प्रयास करना पड़ सकता है, किन्तु

किसी-किसी के साथ भगवान् अपनी विशेष कृपा दिखा सकते हैं और ऐसा करते समय वे इसकी परवाह नहीं करते कि उस जीवात्मा ने नियमित अभ्यास से कितना पुण्य संचित किया है। श्री भीष्मदेव के शब्दों में—*यमिह निरीक्ष्य हता गता: स्वरूपम्*—जिन्होंने कृष्ण को कुरुक्षेत्र युद्ध-स्थल में देखा उन्होंने मारे जाने के बाद अपना मूल स्वरूप प्राप्त कर लिया। (*भागवत* १.९.३९) अघ, बक तथा केशी जैसे असुरों को बिना कोई आध्यात्मिक अभ्यास किये ही कृष्ण ने मोक्ष प्रदान किया—यह इस बात का संकेत है कि वे आदि भगवान् के अद्वितीय पद पर स्थित हैं। यह जान कर हमें अपना सारा भय तथा संशय ताक पर रख कर भक्ति की प्रक्रिया में दत्तचित्त होना चाहिए।

इस अध्याय की टीका के अन्तिम शब्दों के रूप में श्रील श्रीधर स्वामी लिखते हैं—

सर्वश्रुतिशिरोरत्ननीराजितपदाम्बुजम्।

भोगयोगप्रदं वन्दे माधवं कर्मिनम्रयो:॥

"श्रुतियों में सर्वश्रेष्ठ श्रुतियाँ अपने तेज से भगवान् माधव के चरणकमलों की आरती उतारती हैं। मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ, जो भौतिक कर्मियों द्वारा सम्मानित भौतिक भोग प्रदान करने वाले हैं और जो उन्हें आदरपूर्वक शीश झुकाते हैं, उन्हें वे अपने साथ दिव्य सम्बन्ध प्रदान करते हैं।"

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर भी इस अवसर का लाभ उठाकर यह विनीत प्रार्थना करते हैं—

हे भक्ता द्वार्ययं चञ्चद्वालधी रौति वो मनाक्।

प्रसादं लभतां यस्माद् विशिष्ट: श्वेवनाथति॥

"हे भक्तो! यह निरीह प्राणी आपके द्वार पर अपनी पूँछ हिलाता और भौंकता हुआ खड़ा है। कृपा करके इसे थोड़ा प्रसादम् दे दें, जिससे यह कुत्तों में अद्वितीय बन कर अपने मालिक के तौर पर सर्वश्रेष्ठ स्वामी पा सके।" यहाँ पर आचार्य अपने ही नाम पर व्यंग्य करते हैं *विश* (इष्ट:) "अद्वितीय," *श्व* (इव) "कुत्ते जैसा" *नाथ* (अति) "स्वामी वाला" वैष्णव दीनता की ऐसी पूर्णता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत "साक्षात् वेदों द्वारा स्तुति" नामक सत्तासिवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अट्ठासी

वृकासुर से शिवजी की रक्षा

इस अध्याय में बतलाया गया है कि विष्णु के भक्तों को मोक्ष कैसे मिलता है, जबकि अन्य देवताओं के भक्तों को भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

भगवान् विष्णु सर्व ऐश्वर्ययुक्त हैं, किन्तु शिवजी दरिद्रता में रहते हैं। तो भी भगवान् विष्णु के भक्त सामान्यतया दरिद्रता में जीते हैं, जबकि शिव के भक्त प्रचुर सम्पत्ति प्राप्त करते हैं। जब महाराज परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से इस रहस्यमय तथ्य को समझाने के लिए कहा, तो मुनि ने इस प्रकार उत्तर दिया, ''शिवजी प्रकृति के तीनों गुणों के अनुसार तीन प्रकार से मिथ्या अहंकार-रूप में प्रकट होते हैं। इस अहंकार से पाँच भौतिक तत्त्व तथा भौतिक प्रकृति के अन्य विकार उत्पन्न होते हैं, जिनकी कुल संख्या सोलह है। जब शिवजी का भक्त इन तत्त्वों में से किसी रूप में उनकी पूजा करता है, तो भक्त को उसी तत्त्व से संगत भोग्य ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं। किन्तु श्री हरि प्रकृति के गुणों से अतीत हैं, अतएव उनके भक्त भी दिव्य बन जाते हैं।

अश्वमेध यज्ञ की समाप्ति पर राजा युधिष्ठिर ने यही प्रश्न भगवान् कृष्ण से पूछा था, तो उन्होंने उत्तर दिया था, ''जब मैं किसी पर विशेष कृपा करता हूँ, तब मैं धीरे धीरे उसको उसकी धन-सम्पदा से वंचित कर देता हूँ, तब उस दरिद्र व्यक्ति के बच्चे, पत्नी तथा अन्य सम्बन्धी उसे छोड़ देते हैं। जब वह अपने परिवार का समर्थन पाने के लिए फिर से सम्पत्ति प्राप्त करने का प्रयास करता है, तो मैं उस पर दया करके उसे हताश कर देता हूँ, जिससे वह सकाम कर्म से मुख मोड़ लेता है और मेरे भक्तों को मित्र बनाता है। उस समय मैं उस पर असाधारण दया दिखाता हूँ। तब वह भौतिक जीवन के बन्धन से छूट कर भगवद्धाम वैकुण्ठ को प्राप्त कर सकता है।''

ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव में से हर एक वर दे सकते हैं या वरों को देने से इनकार कर सकते हैं, किन्तु ब्रह्मा तथा शिव जल्दी ही प्रसन्न या क्रुद्ध होते हैं, जबकि विष्णु ऐसे नहीं हैं। इस प्रसंग में वैदिक वाङ्मय में निम्नलिखित कथा मिलती है।

एक बार वृकासुर ने नारद से पूछा कि कौन-सा देवता जल्दी प्रसन्न हो जाता है, तो नारद ने उत्तर दिया कि शिवजी। अत: वृकासुर केदारनाथ नामक तीर्थस्थान पर गया और अग्नि में अपने मांस के टुकड़ों की आहुतियाँ देकर शिव की पूजा करने लगा। किन्तु शिवजी प्रकट नहीं हुए। अतएव उसने

अपना सिर काट कर आत्महत्या करने का निश्चय किया। उसी क्षण यज्ञ-अग्नि से शिवजी प्रकट हुए और उसे मनवांछित वर देने को सहमत होकर ऐसा करने से रोका। वृक ने कहा, ''मैं जिसके भी सिर पर हाथ रखूँ वह मर जाय।'' शिव उसकी विनती पूरी करने पर विवश हो गए। दुष्ट वृक ने तत्क्षण इस वर की परीक्षा भगवान् के ही सिर पर हाथ रख कर करनी चाही। शिवजी अपना जीवन बचाने के लिए भयभीत होकर भागे और भागते हुए वे स्वर्ग तथा मर्त्यलोक की बाह्य सीमाओं तक गये। अन्त में वे श्वेतद्वीप लोक में पहुँचे, जहाँ विष्णुजी का निवास है। दूर से ही हताश शिव को देखकर, उन्होंने एक युवक विद्यार्थी का वेश बना लिया और वृकासुर के समक्ष गये और मधुर वाणी में उसे सम्बोधित किया, ''हे वृक! थोड़ा विश्राम करो और हमें बताओ कि तुम क्या करना चाहते हो।'' भगवान् के शब्दों से मोहित होकर उसने जो कुछ हुआ था, वह बता दिया। भगवान् ने कहा, ''जब से प्रजापति दक्ष ने शिवजी को शाप दिया है, तब से वे मांसभक्षी भूत-प्रेत बन गये हैं। अतः तुम्हें उनके शब्दों पर विश्वास नहीं करना चाहिए। अच्छा हो कि उनके वर की परीक्षा अपने सिरपर हाथ रखकर कर लो।'' इन शब्दों से मोहित होकर उस मूर्ख असुर ने, ज्योंही अपना सिर छुआ कि उसका सिर टूक-टूक होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। आकाश से ''जय हो'' ''नमस्कार'' तथा ''बहुत अच्छा किया'' की ध्वनियाँ सुनाई पड़ीं तथा देवताओं, ऋषियों, दिव्य पूर्वजों तथा गन्धर्वों ने उन पर फूलों की वर्षा करते हुए, उन्हें बधाई दी।

श्रीराजोवाच

देवासुरमनुष्येसु ये भजन्त्यशिवं शिवम् ।
प्रायस्ते धनिनो भोजा न तु लक्ष्म्याः पतिं हरिम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा (परीक्षित) ने कहा; देव—देवताओं; असुर—असुरों; मनुष्येषु—तथा मनुष्यों में से; ये—जो; भजन्ति—पूजा करते हैं; अशिवम्—विरागी; शिवम्—शिव को; प्रायः—सामान्यतया; ते—वे; धनिनः—धनी; भोजाः—इन्द्रिय-तृप्ति के भोक्ता; न—नहीं; तु—फिर भी; लक्ष्म्याः—लक्ष्मी के; पतिम्—पति; हरिम्—भगवान् हरि को।

राजा परीक्षित ने कहा : जो देवता, असुर तथा मनुष्य परम वैरागी शिव की पूजा करते हैं, वे सामान्यतया धन सम्पदा तथा इन्द्रिय-तृप्ति का आनन्द लूटते हैं, जबकि लक्ष्मीपति भगवान् हरि की पूजा करने वाले, ऐसा नहीं कर पाते।

एतद्वेदितुमिच्छामः सन्देहोऽत्र महान्हि नः ।
विरुद्धशीलयोः प्रभ्वोर्विरुद्धा भजतां गतिः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; वेदितुम्—जानने के लिए; इच्छामः—इच्छुक हैं; सन्देहः—सन्देह; अत्र—इस मामले में; महान्—महान्; हि—निस्सन्देह; नः—हम पर से; विरुद्ध—उल्टा; शीलयोः—जिनके चरित्र; प्रभ्वोः—दोनों प्रभुओं के; विरुद्धा—विपरीत; भजताम्—पूजा करने वालों का; गतिः—गन्तव्य।

हम इस विषय को ठीक से समझना चाहते हैं, क्योंकि यह हमें अत्यधिक परेशान किये हुए है। दरअसल इन विपरीत चरित्रों वाले दोनों प्रभुओं की पूजा करने वालों को, जो फल मिलते हैं, वे अपेक्षा के विपरीत होते हैं।

तात्पर्य : पिछले अध्याय की समाप्ति इस संस्तुति के साथ हुई है कि हर एक को चाहिए कि मुक्तिदाता भगवान् हरि का ध्यान करे। इस सम्बन्ध में महाराज परीक्षित ने सामान्य जनों में व्याप्त एक सामान्य भय को व्यक्त किया है कि भगवान् विष्णु का भक्त बनने से मनुष्य सम्पत्ति तथा सामाजिक पद से हाथ धो बैठेगा। अतः अल्प श्रद्धा वाले ऐसे व्यक्तियों के लाभ के लिए राजा परीक्षित श्रील शुकदेव गोस्वामी से इस विरोधाभास को बतलाने की प्रार्थना करते हैं: भिक्षुक की तरह बिन अपने घर के रहने वाले शिव अपने भक्तों को धनी तथा शक्तिवान बना देते हैं, जबकि सर्वस्व अधिपति भगवान् विष्णु अपने सेवक को दरिद्रता के द्वार तक पहुँचा देते हैं। इसका उत्तर शुकदेव गोस्वामी तर्कपूर्ण व्याख्या सहित और वृक असुर का प्राचीन वृत्तान्त प्रस्तुत करके देंगे।

श्रीशुक उवाच
शिवः शक्तियुतः शश्वत्त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः ।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुक ने कहा; शिवः—शिव; शक्ति—अपनी भौतिक शक्ति, प्रकृति से; यतः—युक्त; शश्वत्—सदैव; त्रि—तीन; लिङ्गः—प्रकट स्वरूप वाले; गुण—गुणों से; संवृतः—अनुरोध किये गये; वैकारिकः—सतोगुणी अहंकार; तैजसः—रजोगुणी अहंकार; च—तथा; तामसः—तमोगुणी अहंकार; च—तथा; इति—इस प्रकार; अहम्—अहंकार का तत्त्व; त्रिधा—तीन गुना।

श्रीशुकदेव ने कहा : शिवजी सदैव अपनी निजी शक्ति, प्रकृति के साथ, संयुक्त रहते हैं। प्रकृति के तीन गुणों के अनुरोध पर अपने को तीन रूपों में प्रकट करते हुए वे सतो, रजो तथा तमोगुणी अहंकार के त्रितत्त्व को धारण करने वाले हैं।

ततो विकारा अभवन्षोडशामीषु कञ्चन ।
उपधावन्विभूतीनां सर्वासामश्नुते गतिम् ॥ ॥

शब्दार्थ

ततः—उस (अहंकार) से; विकाराः—रूपान्तरेण; अभवन्—प्रकट हुए; षोडश—सोलह; अमीषु—इनमें से; कञ्चन—कोई; उपधावन्—पूजा करते हुए; विभूतीनाम्—भौतिक सम्पत्ति का; सर्वासाम्—समस्त; अश्नुते—भोग करता है; गतिम्—उपलब्धि ।.

उसी मिथ्या अहंकार से सोलह तत्त्व विकार-रूप में निकले हैं। जब शिव-भक्त इन तत्त्वों में से किसी भी विकार की पूजा करता है, तो उसे सभी प्रकार का उसी तत्त्व के संगत भोग्य ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

तात्पर्य : मिथ्या अहंकार के सोलह विकार हैं—मन, दस इन्द्रियाँ (आँखें, कान, नाक, जीभ, चर्म, हाथ, पाँव, वाणी, जननांग तथा गुदा) एवं पाँच भौतिक तत्त्व (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश)। शिवजी इन सोलहों वस्तुओं में से हर एक में एक विशेष लिंग रूप में प्रकट होते हैं, जो ब्रह्माण्ड के विभिन्न पवित्र स्थानों में अर्चाविग्रहों के रूप में पूजे जाते हैं। शिव-भक्त इनमें से किसी विशेष लिंग की पूजा करके तत्सम्बन्धी ऐश्वर्य प्राप्त कर सकता है। जैसे कि शिवजी का *आकाशलिंग* आकाश का ऐश्वर्य प्रदान करता है और उनका *ज्योतिर्लिंग* अग्नि का ऐश्वर्य प्रदान करता है इत्यादि।

हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः ।
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन्निर्गुणो भवेत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

हरिः—भगवान् हरि; हि—निस्सन्देह; निर्गुणः—गुणों से अछूता; साक्षात्—परम रूप से; पुरुषः—ईश्वर; प्रकृतेः—प्रकृति के; परः—दिव्य; सः—वह; सर्व—हर वस्तु; दृक्—देखते हुए; उपद्रष्टा—साक्षी; तम्—उसकी; भजन्—पूजा करके; निर्गुणः—भौतिक गुणों से मुक्त; भवेत्—बन जाता है ।.

किन्तु भगवान् हरि का भौतिक गुणों से कोई सरोकार नहीं रहता। वे सर्वद्रष्टा नित्य साक्षी भगवान् हैं, जो भौतिक प्रकृति के परे हैं। जो उनकी पूजा करता है, वह भी उन्हीं की तरह भौतिक गुणों से मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु भौतिक शक्ति से परे अपने दिव्य पद पर स्थित हैं। तो फिर उनकी पूजा से भौतिक ऐश्वर्य का फल किस तरह मिलता है ? भगवान् विष्णु की पूजा करने का असली फल दिव्य ज्ञान है। इस तरह विष्णु का पूजक भौतिक सम्पत्ति से अंधा होने की बजाय दिव्य ज्ञान-चक्षु प्राप्त

करता है। भगवान् भौतिक सृष्टि के एक विरक्त साक्षी हैं, इसलिए उनका भक्त भी भगवान् की कनिष्ठा शक्तियों की अन्योन्य क्रिया से पृथक् रहता है।

श्रील श्रीधर स्वामी ने वैदिक साहित्य से निम्नलिखित उद्धरण दिये हैं—

वस्तुनो गुणसम्बन्धे रूपद्वयमिहेष्यते।

तद्धर्मायोगयोगाभ्यां बिम्बवत् प्रतिबिम्बवत्॥

''जब परम सत्य प्रकृति के गुणों के साथ रहता है, तो भगवान् इस जगत में दो भिन्न प्रकार के रूप धारण करते हैं, जिनका आधार इस बात पर होता है कि उनके दिव्य गुण प्रकट हैं अथवा नहीं। इस तरह वे प्रतिबिम्ब और फिर उसके भी प्रतिबिम्ब की तरह कार्य करते हैं।''

गुणाः सत्त्वादयः शान्तघोरमूढाः स्वभावतः।

विष्णुब्रह्मशिवानां च गुणयन्तृस्वरूपिणाम्॥

''सतो, रजो तथा तमोगुण जिनके स्वभाव क्रमशः शान्त, उद्धत तथा मूर्ख हैं, स्वयं विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव द्वारा नियमित होते हैं।''

नातिभेदो भवेद् भेदो गुणधर्मैरिहांशतः।

सत्त्वस्य शान्त्या नो जातु विष्णोर्विक्षेपमूढते॥

''विष्णु का शान्त सतोगुण उनके आदि आध्यात्मिक गुणों से कुछ विशेष मात्रा में भिन्न नहीं होता, यद्यपि इस जगत में यह उनकी आंशिक अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार भगवान् विष्णु का सतोगुण कभी भी क्षोभ (रजोगुण में) या मोह (तमोगुण में) से कलुषित नहीं होता।''

रजस्तमोगुणाभ्यां तु भवेतां ब्रह्मरुद्रयोः।

गुणोपमर्दतो भूयस्तदंशानां च भिन्नता॥

''दूसरी ओर रजो तथा तमोगुण से ब्रह्मा तथा रुद्र के आदि आध्यात्मिक गुण छिप जाते हैं। इस तरह ये आध्यात्मिक गुण, अंशतः पृथक्, भौतिक गुणों के रूप में प्रकट होते हैं।''

अतः समग्रसत्त्वस्य विष्णोर्मोक्षकरी मतिः।

अंशतो भूतिहेतुश्च तथानन्दमयी स्वतः॥

''इसलिए समस्त सत्त्व के रूप भगवान् विष्णु पर चेतना को केन्द्रित करने से मुक्ति प्राप्त होती है।

ऐसी ईश-चेतना से उपजात के रूप में भौतिक सफलता भी उत्पन्न होती है, किन्तु इसकी सही प्रकृति शुद्ध आध्यात्मिक आनन्द है।''

अंशतस्तारतम्येन ब्रह्मरुद्रादिसेविनाम्।

विभूतयो भवन्त्येव शनैर्मोक्षोऽप्यनंशत:॥

''ब्रह्मा, रुद्र तथा अन्य देवताओं के भक्त अपनी पूजा के गुण के अनुसार भौतिक ऐश्वर्य की सीमित सफलता प्राप्त करते हैं। अन्तत: वे संभवत: पूर्ण मुक्ति के पात्र बन सकते हैं।''

यही भाव *श्रीमद्भागवत* के इस कथन (१.२.२३) से ध्वनित होता है—*श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्यु:*—इन तीनों (ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव) में से सारे मनुष्य चरम लाभ विष्णु से पा सकते हैं, जो सतोगुण स्वरूप हैं।''

निवृत्तेष्वश्वमेधेषु राजा युष्मत्पितामह: ।
शृण्वन्भगवतो धर्मानपृच्छदिदमच्युतम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

निवृत्तेषु—पूर्ण हुए; अश्व-मेधेषु—अश्वमेध यज्ञ के; राजा—राजा (युधिष्ठिर); युष्मत्—तुम्हारे (परीक्षित के); पितामहा:—बाबा; शृण्वन्—सुनते हुए; भगवत:—भगवान् (श्रीकृष्ण) से; धर्मान्—धार्मिक सिद्धान्तों को; अपृच्छत्—पूछा; इदम्—यह; अच्युतम्—भगवान् कृष्ण से।

तुम्हारे बाबा राजा युधिष्ठिर ने अपना अश्वमेध यज्ञ पूरा कर लेने के बाद भगवान् अच्युत से यही प्रश्न पूछा था, जब वे भगवान् से धर्म की व्याख्या सुन रहे थे।

स आह भगवांस्तस्मै प्रीत: शुश्रूषवे प्रभु: ।
नृणां नि:श्रेयसार्थाय योऽवतीर्णो यदो: कुले ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

स:—उसने; आह—कहा; भगवान्—भगवान्; तस्मै—उसको; प्रीत:—प्रसन्न; शुश्रूषवे—सुनने का इच्छुक; प्रभु:—स्वामी; नृणाम्—सारे मनुष्यों के; नि:श्रेयस—चरम लाभ के; अर्थाय—हेतु; य:—जो; अवतीर्ण:—अवतरित; यदो:—राजा यदु के; कुले—वंश में।

राजा के स्वामी तथा प्रभु श्रीकृष्ण, जो सारे लोगों को परम लाभ प्रदान करने के उद्देश्य से यदुकुल में अवतीर्ण हुए थे, इस प्रश्न से प्रसन्न हुए। भगवान् ने निम्नवत् उत्तर दिया, जिसे राजा ने उत्सुकतापूर्वक सुना।

श्रीभगवानुवाच
यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः ।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; यस्य—जिस पर; अहम्—मैं; अनुगृह्णामि—अनुग्रह करता हूँ; हरिष्ये—हरण कर लेता हूँ; तत्—उसका; धनम्—धन; शनैः—धीरे धीरे; ततः—तब; अधनम्—निर्धन; त्यजन्ति—छोड़ देते हैं; अस्य—उसके; स्व-जनाः—सम्बन्धी तथा मित्र; दुःख-दुःखितम्—एक के बाद, एक दुख से दुखी।

भगवान् ने कहा : यदि मैं किसी पर विशेष रूप से कृपा करता हूँ, तो मैं धीरे धीरे उसे उसके धन से वंचित करता जाता हूँ। तब ऐसे निर्धन व्यक्ति के स्वजन तथा मित्र उसका परित्याग कर देते हैं। इस प्रकार वह कष्ट पर कष्ट सहता है।

तात्पर्य : भगवद्भक्तों को सुख तथा दुख दोनों का अनुभव करना पड़ता है—इसलिए नहीं कि ये भौतिक कर्म के फल हैं, अपितु भगवान् से प्रेम करने के आपाद्कालिक प्रतिफल होते हैं। श्रील रूप गोस्वामी ने *श्री भक्तिरसामृतसिन्धु* में जो उनका भक्ति-प्रक्रिया पर पारिभाषिक शोध-प्रबंध है, बतलाया है कि किस तरह एक वैष्णव सारे कर्मफलों से छूट जाता है—इन फलों में *अप्रारब्ध*—(जो अभी प्रकट नहीं हुए); *कूट* (जो प्रारम्भ होने वाले हैं), *बीज* (जो प्रकट हो रहे होते हैं) तथा *प्रारब्ध* (जो पूरी तरह से प्रकट हो चुके हैं) सम्मिलित हैं। जिस प्रकार कमल की पंखुड़ियाँ धीरे धीरे गिर जाती हैं, उसी तरह भक्ति का आश्रय लिये व्यक्ति के सारे कर्मफल विनष्ट होते जाते हैं।

गोपालतापनी श्रुति (पूर्व १५) के निम्नलिखित गद्यांश से भी इसकी पुष्टि होती है कि भगवान् कृष्ण की भक्ति से सारे कर्मफल समूल नष्ट हो जाते हैं—*भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येनामुष्मिन् मनःकल्पनम् एतदेव नैकष्कर्म्यम्*—"भक्ति भगवान् की पूजा करने की विधि है। इसमें सारी भौतिक उपाधियों से, चाहे वे इस जन्म में हों या अगले जन्म में, विरक्त होकर उन पर ध्यान एकाग्र करना होता है। इससे सारे कर्मों का विलय हो जाता है।" यह सच है कि जो भक्ति करते हैं, वे कुछ काल तक इस भौतिक शरीर में और भौतिक स्थितियों में रहते हैं, किन्तु यह भगवान् की अचिन्त्य दया की अभिव्यक्ति मात्र है और उन्हें केवल शुद्ध होने पर भक्ति का फल मिलता है। किन्तु भक्ति की प्रत्येक अवस्था में भगवान् अपने भक्त पर नजर रखते हैं और देखते हैं कि उसके कर्म का धीरे धीरे निरसन होता रहे। इस तथ्य के बावजूद कि भक्त जिस सुख-दुख का अनुभव करते हैं वह सामान्य कर्मफलों के समान ही होता है, किन्तु इन्हें देने वाले स्वयं भगवान् होते हैं। जैसाकि

भागवत (.८७.०) में कहा गया है— *भवदुत्थ शुभाशुभयोः*—प्रौढ़ भक्त जानता है कि बाहर से दिखने वाली अच्छी तथा बुरी परिस्थितियाँ जिन्हें वह झेल रहा है उसके शुभेच्छु भगवान् के प्रत्यक्ष मार्गदर्शन के संकेत हैं।

किन्तु यदि भगवान् अपने भक्तों के प्रति दयालु हैं, तो वे उन्हें विशेष कष्ट क्यों देते हैं? इसका उत्तर एक दृष्टान्त द्वारा दिया जा रहा है। एक अत्यन्त स्नेही पिता अपने बच्चों को खेलने से रोक कर उन्हें पढ़ने के लिए पाठशाला भेजने का उत्तरदायित्व लेता है। वह जानता है कि बच्चों के प्रति यह सही प्रेम की अभिव्यक्ति है भले ही बच्चे इसे न समझ पायें। इसी तरह से भगवान् विष्णु अपने सभी भक्तों पर दयापूर्ण होते हुए भी कठोर हैं केवल अप्रौढ़ भक्तों पर नहीं जो अभी योग्य बनने के लिए संघर्ष कर रहे होते हैं। यहाँ तक कि प्रह्लाद, ध्रुव तथा युधिष्ठिर जैसे पूर्ण सन्तों को महान् कष्ट झेलने पड़े और यह सब उन्हीं के गौरव हेतु था। कुरुक्षेत्र के युद्ध के बाद श्री भीष्मदेव ने इस पर राजा युधिष्ठिर से अपना आश्चर्य व्यक्त किया—

यत्र धर्मसुतो राजा गदापाणिर्वृकोदरः।
कृष्णोऽस्त्री गाण्डिवं चापं सुहृत् कृष्णस्ततो विपत्॥
न ह्यस्य कर्हिचिद् राजन् पुमान् वेत्ति विधित्सितम्।
यद्विजिज्ञासया युक्ता मुह्यन्ति कवयोऽपि हि॥

"ओह! अपरिहार्य काल का प्रभाव कितना विचित्र है। यह अनुर्कमणीय है अन्यथा धर्मसुत राजा युधिष्ठिर, गदाधारी भीम, गाण्डीवधारी महान् योद्धा अर्जुन तथा इन सबों के ऊपर पाण्डवों के परम शुभचिन्तक भगवान् की उपस्थिति में ऐसी विपदाएँ क्यों आतीं? हे राजन्! कोई भी भगवान् (कृष्ण) की योजना को नहीं जान सकता। यद्यपि बड़े बड़े दार्शनिक पूर्ण जिज्ञासा करते हैं, किन्तु वे भी मोहग्रस्त हो जाते हैं।" (*भागवत* १.९.१५-१६)

यद्यपि वैष्णव के सुख तथा दुख सामान्य कर्मफलों जैसे अनुभव किये जाते हैं, किन्तु एक महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण से वे पृथक् होते हैं। कर्म से उत्पन्न भौतिक सुख तथा दुख एक सूक्ष्म अवशेष छोड़ जाते हैं—जो भावी बन्धन का बीज बनता है। ऐसे सुख तथा दुख से पतन होने की सम्भावना रहती है तथा नरक में जाने का खतरा बढ़ जाता है। किन्तु भगवान् की इच्छाओं से उत्पन्न सुख तथा

दुख अपना तात्कालिक उद्देश्य पूरा हो जाने के पश्चात् ऐसा कोई अवशेष नहीं छोड़ते। यही नहीं, जो वैष्णव भगवान् के साथ ऐसा आदान-प्रदान करता है, उसे अज्ञान में गिरने का खतरा नहीं रहता। जैसाकि मृत्यु के देवता एवं सभी मृत-जीवों के निर्णायक यमराज ने कहा है—

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयम्

चेतश्च न स्मरति तच्चरणाविन्दम्।

कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि

तान् आनयध्वम् असतोऽकृतविष्णुकृत्यान्॥

''मेरे सेवको! तुम मेरे पास केवल उन्हीं पापी व्यक्तियों को लाओ जो अपनी जीभों का प्रयोग कृष्ण के पवित्र नाम तथा गुणों का कीर्तन करने के लिए न करते हों, जिनके हृदय एक बार भी कृष्ण के चरणकमलों का स्मरण न करते हों और जिनके सिर एक बार भी कृष्ण के समक्ष न झुकते हों। मेरे पास केवल उनको भेजो जो विष्णु के प्रति अपना कर्तव्य नहीं निभाते, जो मनुष्य-जीवन का एकमात्र कर्तव्य है। मेरे पास ऐसे सारे मूर्खों तथा धूर्तों को लाओ।'' (*भागवत* ६.३.२९)।

भगवान् के प्रिय भक्तगण अपने ऊपर भगवान् द्वारा लादे गये कष्टों को अत्यन्त दुखदायी नहीं मानते। वे देखते हैं कि अन्त में इनसे उन्हें असीम आनन्द प्राप्त होता है, जिस तरह वैद्य द्वारा अपने रोगी की दुखती आँख में लगाया गया कडुआ लेप उसके कष्ट को दूर कर देता है। कष्ट से भक्ति की गुह्यता की रक्षा होती है, क्योंकि श्रद्धाविहीन लोग इसके भीतर प्रवेश करने का साहस नहीं कर पाते और इससे वह उत्सुकता बढ़ती है, जिससे भक्तगण भगवान् को प्रकट होने के लिए पुकारते हैं। यदि भगवान् विष्णु के भक्त संतुष्ट होकर सदैव सुखी रहते, तो उन्हें कृष्ण, रामचन्द्र, नृसिंह आदि के रूप में इस जगत में प्रकट होने की जरूरत ही न पड़ती। जैसाकि *भगवद्गीता* (.८) में स्वयं कृष्ण कहते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

''साधुओं का उद्धार करने तथा दुष्टों का संहार करने एवं धर्म की पुनः स्थापना करने के लिए मैं युग युग में प्रकट होता हूँ।'' यदि भगवान् अपने मूल कृष्ण-रूप में तथा विविध अवतारों के रूप में

अपने को न दिखलायें, तो इस जगत में उनके श्रद्धालु सेवकों को उनकी रासलीला तथा अन्य लीलाओं का आनन्द लेने का अवसर ही प्राप्त न हो सके।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती यहाँ एक सम्भावित आपत्ति प्रस्तुत करते हैं, ''यदि ईश्वर सन्त-पुरुषों को कष्टों से उबारने के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से अवतार लें, तो उसमें कौन-सा हर्ज होगा?'' विद्वान आचार्य इसका उत्तर देते हैं, ''हाँ, भाइयो! यह ठीक तो है, लेकिन तुम लोग आध्यात्मिक रस समझने में दक्ष नहीं हो। तो सुनो: रात में ही सूर्योदय आकर्षक लगता है, ग्रीष्म की गर्मी में ही शीतल जल सुख देता है और जाड़े के शीतकाल में ही गर्म जल सुहाता है। दीपक का प्रकाश अँधेरे में आकर्षक लगता है, दिन के तेज प्रकाश में नहीं और जब किसी को भूख लगी होती है, तो भोजन विशेष तौर से अच्छा लगता है।'' दूसरे शब्दों में, अपने भक्तों के उन पर आश्रित रहने के भाव को तथा प्रेम को दृढ़ करने के लिए ही भगवान् भक्तों को कुछ कष्ट देते हैं और जब वे उनका उद्धार करने के लिए प्रकट होते हैं, तो उनकी कृतज्ञता तथा उनका दिव्य आनन्द असीम होता है।

स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद्धनेहया ।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; यदा—जब; वितथ—व्यर्थ; उद्योगः—प्रयास; निर्विण्णः—विफल; स्यात्—हो जाता है; धन—धन के लिए; ईहया—अपने प्रयास से; मत्—मेरे; परैः—भक्तों के साथ; कृत—बनाने वाले के लिए; मैत्रस्य—मित्रता; करिष्ये—दिखलाऊँगा; मत्—मेरी; अनुग्रहम्—कृपा।

जब वह धन कमाने के अपने प्रयासों में विफल होकर मेरे भक्तों को अपना मित्र बनाता है, तो मैं उस पर विशेष अनुग्रह प्रदर्शित करता हूँ।

तद्ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम् ।
विज्ञायात्मतया धीरः संसारात्परिमुच्यते ॥ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; ब्रह्म—निर्विशेष ब्रह्म; परमम्—परम; सूक्ष्मम्—सूक्ष्म; चित्—आत्मा; मात्रम्—शुद्ध; सत्—नित्य जगत; अनन्तकम्—अन्तहीन; विज्ञाय—भलीभाँति जान कर; आत्मतया—अपने ही आत्मा के रूप में; धीरः—धीर; संसारात्—भौतिक जीवन से; परिमुच्यते—छूट जाता है।

इस तरह धीर बना हुआ व्यक्ति ब्रह्म को, जो आत्मा की सर्वाधिक सूक्ष्म तथा पूर्ण अभिव्यक्ति से एवं अन्तहीन जगत से परे है, सर्वोच्च सत्य के रूप में पूरी तरह से अनुभव करता

है। इस तरह यह अनुभव करते हुए कि परम सत्य उसके अपने अस्तित्व का आधार है, वह भौतिक जीवन के चक्र से मुक्त हो जाता है।

अतो मां सुदुराराध्यं हित्वान्यान्भजते जनः ।
ततस्त आशुतोषेभ्यो लब्धराज्यश्रियोद्धताः ।
मत्ताः प्रमत्ता वरदान्विस्मयन्त्यवजानते ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अतः—इसलिए; माम्—मुझको; सु—अत्यन्त; दुराराध्यम्—पूजा करने में कठिन; हित्वा—छोड़ कर; अन्यान्—अन्यों को; भजते—पूजता है; जनः—सामान्य व्यक्ति; ततः—फलस्वरूप; ते—वे; आशु—शीघ्र ही; तोषेभ्यः—संतुष्ट लोगों से; लब्ध—प्राप्त; राज्य—राजसी; श्रिया—ऐश्वर्य से; उद्धताः—उद्धत बनाये गये; मत्ताः—मद से चूर; प्रमत्ताः—परवाह न करने वाले; वर—वरों के; दान्—दाता; विस्मयन्ति—अत्यन्त निडर बन कर; अवजानते—अपमान (तिरस्कार) करते हैं।

चूँकि मुझे पूजना कठिन है, इसलिए सामान्यतया लोग मुझसे कतराते हैं और बजाय इसके में उन अन्य देवों की पूजा करते हैं, जो शीघ्र ही तुष्ट हो जाते हैं। जब लोग इन देवों से राजसी ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं, तो वे उद्धत, गर्वोन्मत्त तथा अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करने वाले बन जाते हैं। वे उन देवताओं को भी अपमानित करने का दुस्साहस करते हैं, जिन्होंने उन्हें वर दिये हैं।

श्रीशुक उवाच
शापप्रसादयोरीशा ब्रह्मविष्णुशिवादयः ।
सद्यः शापप्रसादोऽङ्ग शिवो ब्रह्मा न चाच्युतः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; शाप—शाप देने; प्रसादयोः—दया दिखाने में; ईशाः—समर्थ; ब्रह्म-विष्णु-शिव-आदयः—ब्रह्मा, विष्णु, शिव इत्यादि; सद्यः—शीघ्र; शाप-प्रसादः—जिनके शाप तथा वरदान; अङ्ग—हे प्रिय (राजा परीक्षित); शिवः—शिव; ब्रह्मा—ब्रह्मा; न—नहीं; च—तथा; अच्युतः—भगवान् विष्णु।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा अन्य देवता किसी को शाप या आशीर्वाद देने में समर्थ हैं। शिव तथा ब्रह्मा शाप देने या वर देने में बहुत शीघ्रता करते हैं, किन्तु हे राजन्, भगवान् अच्युत ऐसे नहीं हैं।

अत्र चोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
वृकासुराय गिरिशो वरं दत्त्वाप सङ्कटम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अत्र—इस सम्बन्ध में; च—तथा; उदाहरन्ति—उदाहरण के रूप में बतलाते हैं; इमम्—यह (आगे दिया); इतिहासम्—ऐतिहासिक विवरण; पुरातनम्—प्राचीन; वृक-असुराय—वृक असुर के लिए; गिरि-शः—कैलाश पर्वत के स्वामी शिवजी ने; वरम्—वर; दत्त्वा—देकर; आप—प्राप्त किया; सङ्कटम्—भयावह स्थिति।

इस सम्बन्ध में एक प्राचीन ऐतिहासिक विवरण बतलाया जाता है कि किस तरह वृक असुर को वर माँगने के लिए कहने से कैलाश पर्वत के स्वामी संकट में पड़ गये।

वृको नामासुरः पुत्रः शकुनेः पथि नारदम् ।
दृष्ट्वाशुतोषं पप्रच्छ देवेषु त्रिषु दुर्मतिः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

वृकः—वृक; नाम—नामक; असुरः—असुर; पुत्रः—पुत्र; शकुनेः—शकुनि का; पथि—मार्ग में; नारदम्—नारद मुनि को; दृष्ट्वा—देख कर; आशु—शीघ्र; तोषम्—प्रसन्न होने वाला; पप्रच्छ—पूछा; देवेषु—देवताओं में से; त्रिषु—तीन; दुर्मतिः—दुष्ट ने।

एक बार मार्ग में शकुनि-पुत्र वृक नामक असुर की नारद से भेंट हो गयी। इस दुष्ट ने उनसे पूछा कि तीन प्रमुख देवों में से, किसे सबसे जल्दी प्रसन्न किया जा सकता है।

स आह देवं गिरिशमुपाधावाशु सिद्ध्यसि ।
योऽल्पाभ्यां गुणदोषाभ्यामाशु तुष्यति कुप्यति ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने (नारद ने); आह—कहा; देवम्—देव; गिरिशम्—शिव को; उपाधाव—पूजो; आशु—शीघ्र; सिद्ध्यसि—सफल होगे; यः—जो; अल्पाभ्याम्—कुछ; गुण—उत्तम गुणों से; दोषाभ्याम्—तथा दोषों से; आशु—जल्दी; तुष्यति—तुष्ट होता है; कुप्यति—क्रुद्ध होता है।

नारद ने उससे कहा : तुम शिव की पूजा करो, तो तुम्हें शीघ्र ही सफलता प्राप्त हो सकेगी। वे अपनी पूजा करने वालों के रंचमात्र भी उत्तम गुणों को देख कर तुरन्त प्रसन्न हो जाते हैं और उनकी रंचमात्र भी त्रुटि देख कर तुरन्त कुपित होते हैं।

दशास्यबाणयोस्तुष्टः स्तुवतोर्वन्दिनोरिव ।
ऐश्वर्यमतुलं दत्त्वा तत आप सुसङ्कटम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

दश-आस्य—दस सिरों वाले रावण से; बाणयोः—तथा बाण से; तुष्टः—संतुष्ट; स्तुवतोः—उनकी स्तुति का गान करने वाले; वन्दिनोः इव—गायकों की तरह; ऐश्वर्यम्—शक्ति; अतुलम्—अद्वितीय; दत्त्वा—देकर; ततः—तब; आप—प्राप्त किया; सु—महान्; सङ्कटम्—विपत्ति।

वे दस-सिर वाले रावण से तथा बाण से तब प्रसन्न हो उठे, जब उनमें से प्रत्येक ने राज्य दरबार के वन्दीजनों की तरह उनके यश का गायन किया। तब शिवजी ने उन दोनों को अभूतपूर्व शक्ति प्रदान की, किन्तु इसके फलस्वरूप, उन्हें दोनों के कारण महान् संकट उठाना पड़ा।

तात्पर्य : रावण ने शक्ति प्राप्त करने के लिए शिवजी की पूजा की और तब इस शक्ति का दुरुपयोग शिवजी के ही आवास पवित्र कैलाश पर्वत को नष्ट करने में किया। बाणासुर की याचना पर शिवजी बाण की राजधानी की रखवाली स्वयं करने के लिए राजी हो गये किन्तु बाद में उन्हें बाण के लिए श्रीकृष्ण तथा उनके पुत्रों से युद्ध करना पड़ा।

इत्यादिष्टस्तमसुर उपाधावत्स्वगात्रतः ।
केदार आत्मक्रव्येण जुह्वानो ग्निमुखं हरम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; आदिष्टः—आदेश दिया गया; तम्—उस (शिव) की; असुरः—असुर ने; उपाधावत्—पूजा की; स्व—अपने; गात्रतः—शरीर के अंगों से; केदारे—केदारनाथ नामक पवित्र स्थान पर; आत्म—अपने; क्रव्येण—मांस से; जुह्वानः—आहुतियाँ देते हुए; अग्नि—अग्नि रूपी; मुखम्—मुख में; हरम्—शिव के।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : इस प्रकार उपदेश पाकर, वह असुर केदारनाथ में शिवजी की पूजा करने गया, जहाँ वह अपने शरीर से मांस के टुकड़े काट-काट कर पवित्र अग्नि में, जो कि शिवमुख है, आहुतियाँ देने लगा।

देवोपलब्धिमप्राप्य निर्वेदात्सप्तमेऽहनि ।
शिरोऽवृश्चत्सुधितिना तत्तीर्थक्लिन्नमूर्धजम् ॥ १८ ॥
तदा महाकारुणिको स धूर्जटि-
र्यथा वयं चाग्निरिवोत्थितोऽनलात् ।
निगृह्य दोर्भ्यां भुजयोर्न्यवारयत्
तत्स्पर्शनाद्भूय उपस्कृताकृतिः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

देव—देवता का; उपलब्धिम्—दर्शन; अप्राप्य—न पाकर; निर्वेदात्—हताशा से; सप्तमे—सातवें; अहनि—दिन; शिरः—सिर; अवृश्चत्—काटने वाला था; सुधितिना—कुल्हाड़े से; तत्—उस (केदारनाथ) का; तीर्थ—तीर्थस्थान (के जल) में; क्लिन्न—सिक्त; मूर्ध-जम्—सिर के बाल; तदा—तब; महा—परम; कारुणिकः—दयालु; सः—वह; धूर्जटिः—शिवजी; यथा—जिस तरह; वयम्—हम; च—भी; अग्निः—अग्नि देव; इव—की तरह प्रकट होकर; उत्थितः—उठा हुआ; अनलात्—अग्नि से; निगृह्य—पकड़ कर; दोर्भ्याम्—अपनी बाँहों से; भुजयोः—उसकी (वृक की) बाँहें; न्यवारयत्—रोका; तत्—उसका (शिव का); स्पर्शनात्—स्पर्श से; भूयः—पुनः; उपस्कृत—सुनिर्मित; आकृतिः—शरीर।

देवता का दर्शन न पाकर वृकासुर हताश हो गया। अन्त में सातवें दिन केदारनाथ की पवित्र नदी में अपने बाल भिगोकर तथा उन्हें गीला ही रहने देकर, उसने एक कुल्हाड़ा उठाया और अपना सिर काटने लगा। लेकिन उसी क्षण परम दयालु शिवजी यज्ञ-अग्नि से प्रकट हुए, जो साक्षात् अग्नि देव जैसे लग रहे थे। उन्होंने असुर को आत्महत्या करने से रोकने के लिए उसकी

दोनों बाँहें पकड़ लीं, जिस तरह ऐसी परिस्थिति में हम करेंगे। शिवजी का स्पर्श करने से वृकासुर, एक बार फिर पूर्ण हो गया।

तमाह चाङ्गालमलं वृणीष्व मे
यथाभिकामं वितरामि ते वरम् ।
प्रीयेय तोयेन नृणां प्रपद्यता-
महो त्वयात्मा भृशमर्द्यते वृथा ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तम्—उससे; आह—(शिव ने) कहा; च—तथा; अङ्ग—हे प्रिय; अलम् अलम्—बस बस; वृणीष्व—वर माँगो; मे—मुझसे; यथा—जैसा; अभिकामम्—चाहते हो; वितरामि—प्रदान करूँगा; ते—तुम्हें; वरम्—तुम्हारा चुना वर; प्रीयेय—प्रसन्न होता हूँ; तोयेन—जल से; नृणाम्—मनुष्यों के; प्रपद्यताम्—शरणागत; अहो—ओह; त्वया—तुम्हारे द्वारा; आत्मा—तुम्हारा शरीर; भृशम्—अत्यधिक; अर्द्यते—पीड़ा पहुँचाया गया; वृथा—व्यर्थ।

शिवजी ने उससे कहा : हे मित्र, बस करो, बस करो, तुम जो भी चाहो, मुझसे माँगो। मैं तुम्हें वही वर दूँगा। हाय! तुमने वृथा ही अपने शरीर को इतनी पीड़ा पहुँचाई, क्योंकि जो लोग शरण के लिए मेरे पास पहुँचते हैं, उनके द्वारा मात्र जल की भेंट से मैं प्रसन्न हो जाता हूँ।

देवं स वव्रे पापीयान्वरं भूतभयावहम् ।
यस्य यस्य करं शीर्ष्णि धास्ये स म्रियतामिति ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

देवम्—देव से; सः—उसने; वव्रे—माँगा; पापीयान्—पापी असुर; वरम्—वर; भूत—सारे जीवों को; भय—डर; आवहम्—लाने वाला; यस्य यस्य—जिस जिसके; करम्—हाथ; शीर्ष्णि—सिर पर; धास्ये—मैं रखूँ; सः—वह; म्रियताम्—मर जाये; इति—इस प्रकार।

[शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा]: उस पापी वृक ने भगवान् से जो वर माँगा, वह सारे जीवों को भयाकान्त करने वाला था। वृक ने कहा, "मैं जिसके भी सिर पर अपना हाथ रखूँ, उसकी मृत्यु हो जाये।"

तच्छ्रुत्वा भगवान्रुद्रो दुर्मना इव भारत ।
ॐ इति प्रहसंस्तस्मै ददेऽहेरमृतं यथा ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तत्—यह; श्रुत्वा—सुनकर; भगवान् रुद्रः—भगवान् रुद्र ने; दुर्मनाः—अप्रसन्न; इव—मानो; भारत—हे भरतवंशी; ॐ इति—स्वीकृति के रूप में ॐ शब्द का उच्चारण करते हुए; प्रहसन्—हँसते हुए; तस्मै—उसे; ददे—दे दिया; अहेः—साँप को; अमृतम्—अमृत; यथा—जिस तरह।

यह सुनकर भगवान् रुद्र कुछ विचलित से लगे। फिर भी हे भारत, उन्होंने अपनी सहमति

दिखाने के लिए ॐ का उच्चारण किया और व्यंग्य-हँसी के साथ वृक को वर दे दिया कि, मानो विषैले सर्प को दूध दे दिया हो।

स तद्वरपरीक्षार्थं शम्भोर्मूर्ध्नि किलासुरः ।
स्वहस्तं धातुमारेभे सोऽबिभ्यत्स्वकृताच्छिवः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; तत्—उसके (शिव के); वर—वरदान की; परीक्षा-अर्थम्—परीक्षा लेने के लिए; शम्भोः—शिवजी के; मूर्ध्नि—सिर पर; किल—निस्सन्देह; असुरः—असुर ने; स्व—अपना; हस्तम्—हाथ; धातुम्—रखने के लिए; आरेभे—प्रयत्न किया; सः—उसने; अबिभ्यत्—डर गया; स्व—अपने द्वारा; कृतात्—किये हुए से; शिवः—शिव।

भगवान् शम्भु के वर की परीक्षा करने के लिए असुर ने उन्हीं के सिर पर हाथ रखने का प्रयास किया। तब शिवजी को अपने किये हुए पर भय लगने लगा।

तेनोपसृष्टः सन्त्रस्तः पराधावन्सवेपथुः ।
यावदन्तं दिवो भूमेः कष्ठानामुदगादुदक् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तेन—उसके द्वारा; उपसृष्टः—पीछा किया जाते; सन्त्रस्तः—भयभीत; पराधावन्—दौड़ते हुए; स—सहित; वेपथुः—काँपते हुए; यावत्—जहाँ तक; अन्तम्—छोर; दिवः—आकाश का; भूमेः—पृथ्वी का; काष्ठानाम्—तथा दिशाओं का; उदगात्—तेजी से गया; उदक्—उत्तर दिशा से।

जब असुर उनका पीछा करने लगा, तो शिवजी भय से काँपते हुए उत्तर में स्थित अपने निवास से तेजी से भागने लगे। जहाँ तक पृथ्वी, आकाश तथा ब्रह्माण्ड के छोर हैं, वहाँ तक वे दौते रहे।

अजानन्तः प्रतिविधिं तूष्णीमासन्सुरेश्वराः ।
ततो वैकुण्ठमगमद्भास्वरं तमसः परम् ॥ २५ ॥
यत्र नारायणः साक्षान्न्यासिनां परमो गतिः ।
शान्तानां न्यस्तदण्डानां यतो नावर्तते गतः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अजानन्तः—न जानते हुए; प्रति-विधिम्—निराकरण; तूष्णीम्—मौन; आसन्—हो गये; सुर—देवताओं के; ईश्वराः—स्वामी; ततः—तब; वैकुण्ठम्—ईश्वर के धाम, वैकुण्ठ; अगमत्—गया; भास्वरम्—तेजवान; तमसः—अंधकार; परम्—परे; यत्र—जहाँ; नारायणः—नारायण; साक्षात्—प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर; न्यासिनाम्—सन्यासियों के; परमः—परमेश्वर; गतिः—लक्ष्य; शान्तानाम्—शान्त रहने वालों का; न्यस्त—विरक्त; दण्डानाम्—हिंसा के; यतः—जिससे; न आवर्तते—नहीं लौटता; गतः—जाकर।

बड़े बड़े देवता, यह न जानने से कि वर का निराकरण कैसे किया जाये, केवल मौन रह

सकते हैं। शिवजी समस्त अंधकार के परे वैकुण्ठ के तेजस्वी धाम पहुँचे, जहाँ साक्षात् भगवान् नारायण प्रकट होते हैं। यह धाम उन विरक्तों का गन्तव्य है, जिन्हें शान्ति प्राप्त हो चुकी है और जो अन्य प्राणियों के प्रति हिंसा छोड़ चुके हैं। वहाँ जाकर कोई फिर से नहीं लौटता।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार शिवजी श्वेतद्वीप में प्रविष्ट हुए, जो भौतिक ब्रह्माण्ड की सीमा के ही भीतर आध्यात्मिक जगत के विशेष चौकसी-स्थल के रूप में है। यहाँ पर दिव्य दुग्धसागर से घिरे सुन्दर श्वेतद्वीप में भगवान् विष्णु अनन्त-शेष की शय्या में शयन करते रहते हैं और सहायता की आवश्यकता पड़ने पर वे देवताओं को उपलब्ध होते हैं।

तं तथा व्यसनं दृष्ट्वा भगवान्वृजिनार्दनः ।
दूरात्प्रत्युदियाद्भूत्वा बटुको योगमायया ॥ २७॥
मेखलाजिनदण्डाक्षैस्तेजसाग्निरिव ज्वलन् ।
अभिवादयामास च तं कुशपाणिर्विनीतवत् ॥ २८॥

शब्दार्थ

तम्—उस; तथा—इस प्रकार; व्यसनम्—संकट को; दृष्ट्वा—देखकर; भगवान्—भगवान्; वृजिन—कष्ट को; अर्दनः—नष्ट करने वाले; दूरात्—दूर से; प्रत्युदियात्—(वृकासुर के) सामने आ गये; भूत्वा—बन कर; बटुकः—ब्रह्मचारी छात्र; योग-मायया—अपनी अन्तरंगा योगशक्ति से; मेखल—छात्र की पेटी; अजिन—मृगचर्म; दण्ड—डण्डा; अक्षैः—तथा जप-माला से युक्त; तेजसा—अपने तेज से; अग्निः इव—अग्नि की तरह; ज्वलन्—प्रकाश करते; अभिवादयाम् आस—आदरपूर्वक सत्कार किया; च—तथा; तम्—उसको; कुश-पाणिः—हाथ में कुशा लिए; विनीत-वत्—विनीत होकर।

अपने भक्तों के कष्टों को हरने वाले भगवान् ने दूर से ही देख लिया कि शिवजी संकट में हैं। अतएव अपनी योग-माया शक्ति से उन्होंने ब्रह्मचारी छात्र का रूप धारण कर लिया, जो उपयुक्त मेखला, मृगचर्म, दण्ड तथा जप-माला से युक्त था और वृकासुर के समक्ष आये। भगवान् की आभा अग्नि के समान चमचमा रही थी। अपने हाथ में कुशा घास पकड़े हुए, उन्होंने असुर का विनीत भाव से स्वागत किया।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने वेशधारी भगवान् नारायण के मुख से निकले इन शब्दों को उद्धृत किया है, "हम जो कि ब्रह्मवेत्ता हैं, उनके लिए सारे जीव आदर के पात्र हैं। और चूँकि तुम शकुनि के पुत्र हो, जो अत्यन्त ज्ञानी तथा तपस्वी था, अतएव मुझ जैसे युवक ब्रह्मचारी से सत्कार किये जाने के पात्र हो।"

श्रीभगवानुवाच

शाकुनेय भवान्व्यक्तं श्रान्तः किं दूरमागतः ।
क्षणं विश्रम्यतां पुंस आत्मायं सर्वकामधुक् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; शाकुनेय—हे शकुनि-पुत्र; भवान्—आप; व्यक्तम्—स्पष्टतः; श्रान्तः—थके हुए; किम्—किस कारण; दूरम्—दूर से; आगतः—आये हैं; क्षणम्—क्षण-भर के लिए; विश्रम्यताम्—कृपया आराम करें; पुंसः—पुरुष का; आत्मा—शरीर; अयम्—यह; सर्व—समस्त; काम—इच्छाएँ; धुक्—गाय के दूध के समान देते हुए।

भगवान् ने कहा : हे शकुनि-पुत्र, तुम थके लग रहे हो। तुम इतनी दूर क्यों आये हो? कुछ क्षण के लिए विश्राम कर लो। आखिर मनुष्य का शरीर ही सारी इच्छाओं को पूरा करने वाला है।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद *भगवान् श्रीकृष्ण* में टीका करते हैं, ‘‘इसके पूर्व कि असुर यह तर्क करे कि विश्राम करने की उसे फुरसत नहीं है, भगवान् उसे शरीर का महत्त्व बतलाने लगे और वह असुर आश्वस्त हो गया। कोई भी व्यक्ति, विशेष रूप से असुर, शरीर को बहुत महत्त्वपूर्ण मानता है।’’

यदि नः श्रवणायालं युष्मद्व्यवसितं विभो ।
भण्यतां प्रायशः पुम्भिर्धृतैः स्वार्थान्समीहते ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; नः—हमारा; श्रवणाय—सुनने के लिए; अलम्—उपयुक्त; युष्मत्—तुम्हारा; व्यवसितम्—विचार; विभो—हे शक्तिशाली; भण्यताम्—कृपया बतलायें; प्रायशः—सामान्यतया; पुम्भिः—व्यक्तियों से; धृतैः—धारण किया हुआ; स्व—अपने; अर्थान्—प्रयोजन के लिए; समीहते—सम्पन्न करता है।

हे विभो, यदि आप हमें इस योग्य समझते हैं, तो हमें बतलाइये कि आप क्या करना चाहते हैं। सामान्यतया मनुष्य अन्यों से सहायता लेकर अपने कार्यों को सिद्ध करता है।

तात्पर्य : ईर्ष्यालु असुर भी अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए ब्राह्मण की शक्ति का लाभ उठाने से इनकार नहीं करेगा।

श्रीशुक उवाच

एवं भगवता पृष्टो वचसामृतवर्षिणा ।
गतक्लमोऽब्रवीत्तस्मै यथापूर्वमनुष्ठितम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; भगवता—भगवान् द्वारा; पृष्टः—पूछे जाने पर; वचसा—वाणी से; अमृत—अमृत; वर्षिणा—वर्षा करने वाली; गत—समाप्त; क्लमः—थकान; अब्रवीत्—कहा; तस्मै—उनसे; यथा—जिस तरह; पूर्वम्—पहले; अनुष्ठितम्—सम्पन्न किया हुआ।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह मधुर अमृत की वर्षा करने वाली वाणी में भगवान्

द्वारा प्रश्न किये जाने पर वृक को लगा कि उसकी थकावट मिट गई है। उसने भगवान् से अपने द्वारा की गई हर बात बतला दी।

श्रीभगवानुवाच
एवं चेत्तर्हि तद्वाक्यं न वयं श्रद्दधीमहि ।
यो दक्षशापात्पैशाच्यं प्राप्तः प्रेतपिशाचराट् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; एवम्—ऐसा; चेत्—यदि; तर्हि—तो; तत्—उसके; वाक्यम्—कथनों में; न—नहीं; वयम्—हम; श्रद्दधीमहि—विश्वास कर सकते हैं; यः—जो; दक्ष-शापात्—दक्ष प्रजापति के शाप से; पैशाच्यम्—पिशाचों के गुण; प्राप्तः—प्राप्त; प्रेत-पिशाच—प्रेतों तथा पिशाचों का; राट्—राजा।

भगवान् ने कहा : यदि ऐसा ही है, तो हम शिव के कहने पर विश्वास नहीं कर सकते। शिव तो प्रेतों तथा पिशाचों के वही स्वामी हैं, जिन्हें दक्ष ने एक मानव-भक्षी पिशाच बनने का शाप दिया था।

यदि वस्तत्र विश्रम्भो दानवेन्द्र जगद्गुरौ ।
तर्ह्यङ्गाशु स्वशिरसि हस्तं न्यस्य प्रतीयताम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; वः—तुम्हारा; तत्र—उसमें; विश्रम्भः—विश्वास; दानव-इन्द्र—हे असुरों में श्रेष्ठ; जगत्—ब्रह्माण्ड के; गुरौ—गुरु की तरह; तर्हि—तो; अङ्ग—हे मित्र; आशु—अभी यहीं पर; स्व—अपने; शिरसि—सिर पर; हस्तम्—अपना हाथ; न्यस्य—रख कर; प्रतीयताम्—देख लो।

हे असुर-श्रेष्ठ, यदि उन पर तुम्हें विश्वास है, क्योंकि वे ब्रह्माण्ड के गुरु हैं, तो अविलम्ब तुम अपना हाथ अपने सिर पर रखो और देख लो कि क्या होता है।

यद्यसत्यं वचः शम्भोः कथञ्चिद्दानवर्षभ ।
तदैनं जह्यसद्वाचं न यद्वक्तानृतं पुनः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; असत्यम्—झूठ; वचः—शब्द; शम्भोः—शिव के; कथञ्चित्—किसी भी तरह; दानव-ऋषभ—हे दानव-श्रेष्ठ; तदा—तो; एनम्—उसको; जहि—मार डालो; असत्—असत्य; वाचम्—जिसके शब्द; न—नहीं; यत्—जिससे; वक्ता—बोल सके; अनृतम्—झूठ; पुनः—फिर।

हे दानव-श्रेष्ठ, यदि किसी तरह भगवान् शम्भु के शब्द असत्य सिद्ध होते हैं, तो उस झूठे का वध कर दो, जिससे वह दुबारा झूठ न बोल सके।

तात्पर्य : हो सकता है कि मारे जाने के बाद शिव में पुनः जीवित हो जाने की शक्ति हो, किन्तु

कम से कम वे फिर से झूठ नहीं बोल सकेंगे।

इत्थं भगवतश्चित्रैर्वचोभि: स सुपेशलै: ।
भिन्नधीर्विस्मृत: शीर्ष्णि स्वहस्तं कुमतिर्न्यधात् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार से; भगवत:—भगवान् के; चित्रै:—अद्‌भुत; वचोभि:—शब्दों से; स:—उसने (वृक); सु—अत्यन्त; पेशलै:—चतुर; भिन्न—मोहग्रस्त; धी:—उसका मन; विस्मृत:—भूल कर; शीर्ष्णि—सिर पर; स्व—अपना; हस्तम्—हाथ; कु-मति:—मूर्ख ने; न्यधात्—रख दिया।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] : इस प्रकार भगवान् के मोहक चतुर शब्दों से मोहित होकर मूर्ख वृक ने बिना समझे कि वह क्या कर रहा है, अपने सिर पर अपना हाथ रख दिया।

अथापतद् भिन्नशिरा: वज्राहत इव क्षणात् ।
जयशब्दो नम:शब्द: साधुशब्दोऽभवद्दिवि ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; अपतत्—गिर पड़ा; भिन्न—छिन्न-भिन्न हुआ; शिरा:—उसका सिर; वज्र—वज्र से; आहत:—चोट खाया; इव—मानो; क्षणात्—क्षण-भर में; जय—''जय हो''; शब्द:—ध्वनि; नम:—''नमस्कार है''; शब्द:—ध्वनि; साधु—''साधु साधु''; शब्द:—ध्वनि; अभवत्—हुई; दिवि—आकाश में।

उसका सिर तत्क्षण विदीर्ण हो गया, मानो वज्र द्वारा प्रहार हुआ हो और वह असुर भूमि पर गिर कर मर गया। आकाश से ''जय हो,'' ''नमस्कार है'' तथा ''साधु साधु'' जैसी ध्वनियाँ सुनाई पड़ीं।

मुमुचु: पुष्पवर्षाणि हते पापे वृकासुरे ।
देवर्षिपितृगन्धर्वा मोचित: सङ्कटाच्छिव: ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

मुमुचु:—कराई; पुष्प—फूलों की; वर्षाणि—वर्षा; हते—मारे जाने पर; पापे—पापी; वृक-असुरे—वृकासुर के; देव-ऋषि—दैवी ऋषियों; पितृ—पुरखों; गन्धर्वा:—तथा स्वर्ग के गवैयों ने; मोचित:—छुटकारा पाये हुए; सङ्कटात्—संकट से; शिव:—शिव।

पापी वृकासुर के मारे जाने पर उत्सव मनाने के लिए दैवी ऋषियों, पितरों तथा गन्धर्वों ने फूलों की वर्षा की। अब शिवजी खतरे से बाहर थे।

मुक्तं गिरिशमभ्याह भगवान्पुरुषोत्तम: ।
अहो देव महादेव पापोऽयं स्वेन पाप्मना ॥ ३८ ॥

हतः को नु महत्स्वीश जन्तुर्वै कृतकिल्बिषः ।
क्षेमी स्यात्किमु विश्वेशे कृतागस्को जगद्गुरौ ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

मुक्तम्—मुक्त हुए; गिरिशम्—शिव को; अभ्याह—सम्बोधित किया; भगवान् पुरुष-उत्तमः—भगवान् (नारायण) ने; अहो—ओह; देव—हे स्वामी; महा-देव—शिव; पापः—पापी; अयम्—यह व्यक्ति; स्वेन—अपने; पाप्मना—पापों से; हतः—मारा गया; कः—क्या; नु—निस्सन्देह; महत्सु—बड़े सन्तों के प्रति; ईश—हे स्वामी; जन्तुः—जीव; वै—निस्सन्देह; कृत—किया गया; किल्बिषः—अपराध; क्षेमी—भाग्यवान्; स्यात्—हो सकता है; किम् उ—क्या कहा जा सकता है, और भी; विश्व—ब्रह्माण्ड के; ईशे—ईश्वर (आप) के विरुद्ध; कृत-आगस्कः—अपराध करके; जगत्—ब्रह्माण्ड के; गुरौ—गुरु के।

तब पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने खतरे से बाहर हुए गिरिश को सम्बोधित किया, "हे महादेव, मेरे प्रभु, देखें न, यह दुष्ट व्यक्ति अपने ही पाप के फलों से किस तरह मारा गया है। निस्सन्देह, यदि कोई जीव महान् सन्तों का अपमान करता है, तो वह सौभाग्य की आशा कैसे कर सकता है? ब्रह्माण्ड के स्वामी तथा गुरु के प्रति अपराध करने के विषय में, तो कहा ही क्या जा सकता।"

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार भगवान् विष्णु का यह कथन मीठी फटकार के रूप में है, "हे असीम दृष्टि के स्वामी! हे विशुद्ध बुद्धि वाले! दुष्ट असुरों को इस तरह वर नहीं देने चाहिए। आप तो मार डाले गये होते! किन्तु आप तो इस बेचारे को बचाने में लगे थे और इसकी परवाह ही नहीं की कि फलस्वरूप आपको क्या हो सकता है।" इस तरह आचार्य विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि भगवान् नारायण की यह मीठी फटकार शिवजी की अद्वितीय दयालुता को भी प्रकाश में लाती है।

य एवमव्याकृतशक्त्युदन्वतः
परस्य साक्षात्परमात्मनो हरेः ।
गिरित्रमोक्षं कथयेच्छृणोति वा
विमुच्यते संसृतिभिस्तथारिभिः ॥ ० ॥

शब्दार्थ

यः—जो भी; एवम्—इस प्रकार; अव्याकृत—अचिन्त्य; शक्ति—शक्तियों के; उदन्वतः—सागर; परस्य—परम की; साक्षात्—स्वयं प्रकट; परम-आत्मनः—परमात्मा; हरेः—भगवान् हरि के; गिरित्र—शिव के; मोक्षम्—बचाव को; कथयेत्—सुनाता है; शृणोति—सुनता है; वा—अथवा; विमुच्यते—छूट जाता है; संसृतिभिः—बारम्बार जन्म तथा मृत्यु से; तथा—भी; अरिभिः—शत्रुओं से।

भगवान् हरि साक्षात् प्रकट परम सत्य, परमात्मा तथा अचिन्त्य शक्तियों के असीम सागर हैं। जो कोई भी, उनके द्वारा शिव को बचाने की इस लीला को कहेगा या सुनेगा, वह सारे शत्रुओं

तथा जन्म-मृत्यु के आवागमन से मुक्त हो जायेगा।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी इस अध्याय का समापन इस कथन के साथ करते हैं—

भक्तसंकटमालोक्य कृपापूर्णहृदम्बुज: ।

गिरित्रं चित्रवाक्यात्तु मोक्षयामास केशव: ॥

''जब भगवान् केशव ने देखा कि उनके भक्त पर संकट आया है, तो उनका कमलवत् हृदय अनुकम्पा से भर गया। इस प्रकार उन्होंने शिव को उनके वाक्पटु शब्दों के परिणामों से उबार लिया।''

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''वृकासुर से शिवजी की रक्षा'' नामक अट्ठासिवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter नवासी

कृष्ण तथा अर्जुन द्वारा ब्राह्मण-पुत्रों का वापस लाया जाना

इस अध्याय में बताया गया है कि किस तरह भृगु मुनि ने भगवान् विष्णु की श्रेष्ठता सिद्ध की और भगवान् कृष्ण तथा अर्जुन किस तरह द्वारका में एक दुखियारे ब्राह्मण के मृत पुत्रों को फिर से वापस लाये।

बहुत काल पहले, एक बार सरस्वती नदी के तट पर ऋषियों के एक समूह में यह वार्ता छिड़ी कि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव—इन तीनों देवों में सबसे बड़ा कौन है। इसका पता लगाने के लिए उन्होंने भृगु मुनि को नियुक्त किया।

भृगु ने देवों की सहनशक्ति की परीक्षा करने का निश्चय किया, क्योंकि यह गुण महानता का निश्चित लक्षण है। अतएव, वे सर्वप्रथम अपने पिता ब्रह्माजी के दरबार में, उन्हें प्रणाम किये बिना ही प्रविष्ट हुए। इससे ब्रह्मा को क्रोध आ गया, किन्तु उन्होंने इस क्रोध को दबा लिया, क्योंकि भृगु उनके पुत्र थे। इसके बाद भृगु अपने बड़े भाई शिव के पास गये जिन्होंने अपने आसन से उठ कर उनका आलिंगन किया। किन्तु भृगु ने शिवजी को पथभ्रष्ट विधर्मी कहते हुए उनके आलिंगन को स्वीकार नहीं किया। ज्योंही वे अपने त्रिशूल से भृगु को मारने जा रहे थे कि देवी पार्वती ने रोक दिया और अपने

पति को शान्त किया। इसके बाद भगवान् नारायण की परीक्षा लेने भृगु वैकुण्ठ-लोक गये। भगवान् देवी लक्ष्मी की गोद में अपना सिर रखे लेटे थे, तभी उनके पास जाकर भृगु ने उनकी छाती पर लात मारी। किन्तु क्रुद्ध होने की बजाय भगवान् तथा उनकी प्रेयसी, दोनों ने खड़े होकर भृगु का स्वागत किया। भगवान् ने कहा, ''स्वागत है। बैठ जाइये और थोड़े समय के लिए विश्राम कीजिये। हे प्रभु! हमें क्षमा करें, क्योंकि हमने आपको आते नहीं देखा।'' जब भृगु ने ऋषियों की सभा में जाकर उन्हें जो कुछ हुआ था बतलाया, तो उन्होंने यही निष्कर्ष निकाला कि विष्णु निश्चय ही सर्वश्रेष्ठ हैं।

एक बार, द्वारका में एक ब्राह्मण की पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया, जो तुरन्त मर गया। ब्राह्मण अपने मृत पुत्र को राजा उग्रसेन के दरबार में ले गया और राजा को भला-बुरा कहने लगा, ''इस छद्मी, ब्राह्मणों के लोभी शत्रु ने मेरे पुत्र की मृत्यु कराई है, क्योंकि इसने अपने कर्तव्यों का सही पालन नहीं किया।'' इस ब्राह्मण के साथ यही दुर्घटना हर बार घटती रही और वह अपने मृत पुत्र का शरीर राज-दरबार में लाता और राजा को भला-बुरा कहता। जब उसका नौवाँ पुत्र जन्म लेते ही मर गया तो अर्जुन ने अचानक ब्राह्मण की शिकायत सुन ली, अतः उन्होंने कहा, ''हे प्रभु! मैं आपकी सन्तान की रक्षा करूँगा और यदि मैं नहीं कर पाया, तो अपने पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए अग्नि में प्रविष्ट हो जाऊँगा।''

कुछ काल बाद ब्राह्मणी को दसवीं बार पुत्र होने वाला था। जब अर्जुन को पता चला, तो वे प्रसूति-गृह गये और उसे बाणों के रक्षात्मक पिंजरे से घेर दिया। किन्तु अर्जुन का प्रयास व्यर्थ हुआ, क्योंकि शिशु जन्म लेते ही रोने लगा और आकाश-मार्ग में लुप्त हो गया। जब ब्राह्मण ने अर्जुन का खूब उपहास किया, तो वह योद्धा मृत्यु के देवता यमराज के घर के लिए चल पड़ा। किन्तु अर्जुन को ब्राह्मण का पुत्र वहाँ नहीं मिला और चौदहों लोकों को छान मारने पर भी, उस शिशु का नाम-निशान भी नहीं मिल पाया।

ब्राह्मण के पुत्र की रक्षा न कर पाने के कारण, अब अर्जुन पवित्र अग्नि में प्रवेश करके मरने पर तुले थे। जब वे ऐसा करने जा ही रहे थे, तो कृष्ण ने उन्हें रोकते हुए कहा, ''मैं तुमको ब्राह्मण के सारे पुत्र दिखलाऊँगा। तुम अपने को इस प्रकार मत कोसो।'' तब भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को अपने दिव्य रथ पर चढ़ाया और दोनों ने सात द्वीपों तथा सात समुद्रों को पार किया, फिर लोकालोक पर्वतश्रेणी को

पार करते हुए गहन अंधकार के प्रदेश में प्रविष्ट हुए। चूँकि घोड़े अपना रास्ता नहीं ढूँढ़ पा रहे थे, इसलिए अंधकार को भेदने के लिए कृष्ण ने अपना ज्वलित सुदर्शन चक्र आगे-आगे भेजा। धीरे-धीरे वे कारण सागर में आये, जिसके भीतर उन्हें महाविष्णु की नगरी मिली। वहाँ उन्होंने एक हजार फनों वाले सर्प अनन्त को देखा, जिसके ऊपर महाविष्णु लेटे थे। महाप्रभु ने श्रीकृष्ण तथा अर्जुन का यह कहते हुए सत्कार किया, ''मैं ब्राह्मण के पुत्रों को यहाँ, इसीलिए ले आया था, क्योंकि मैं तुम दोनों को देखना चाहता था। कृपया नर-नारायण ऋषियों के रूपों में सामान्य जनों को अपना धार्मिक व्यवहार दिखाते हुए लाभान्वित करते रहो।''

तब भगवान् कृष्ण तथा अर्जुन ने ब्राह्मण-पुत्रों को लिया और द्वारका लौट आये जहाँ, इन शिशुओं को उनके पिता को दे दिया। श्रीकृष्ण की महानता का प्रत्यक्ष अनुभव करके, अर्जुन चकित थे। उन्होंने यही निष्कर्ष निकाला कि एकमात्र भगवान् की कृपा से कोई जीव कोई शक्ति या ऐश्वर्य प्रदर्शित कर सकता है।

श्रीशुक उवाच
सरस्वत्यास्तटे राजन्नृषयः सत्रमासत ।
वितर्कः समभूत्तेषां त्रिष्वधीशेषु को महान् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सरस्वत्याः—सरस्वती नदी के; तटे—किनारे; राजन्—हे राजा (परीक्षित); ऋषयः—ऋषिगण; सत्रम्—वैदिक यज्ञ; आसत—कर रहे थे; वितर्कः—वाद-विवाद; समभूत्—उठ खड़ा हुआ; तेषाम्—उनमें से; त्रिषु—तीन; अधीशेषु—मुख्य स्वामियों में से; कः—कौन; महान्—सबसे बड़ा।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, एक बार जब सरस्वती नदी के तट पर ऋषियों का समूह वैदिक यज्ञ कर रहा था, तो उनके बीच यह वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ कि तीन मुख्य देवों में से सर्वश्रेष्ठ कौन है।

तात्पर्य : तीन मुख्य देव हैं—विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव।

तस्य जिज्ञासया ते वै भृगुं ब्रह्मसुतं नृप ।
तज्ज्ञप्त्यै प्रेषयामासुः सोऽभ्जगाद्ब्रह्मणः सभाम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तस्य—इसके विषय में; जिज्ञासया—जानने की इच्छा से; ते—वे; वै—निस्सन्देह; भृगुम्—भृगु मुनि को; ब्रह्म-सुतम्—ब्रह्मा के पुत्र; नृप—हे राजा; तत्—यह; ज्ञप्त्यै—ढूँढ़ निकालने के लिए; प्रेषयाम् आसुः—उन्होंने भेजा; सः—वह; अभ्यगात्—गया; ब्रह्मणः—ब्रह्मा के; सभाम्—दरबार में।

हे राजन्, इस प्रश्न का हल ढूँढ़ निकालने के इच्छुक ऋषियों ने ब्रह्मा के पुत्र भृगु को उत्तर खोजने के लिए भेजा। वे सर्वप्रथम, अपने पिता ब्रह्मा के दरबार में गये।

तात्पर्य : *भगवान् श्रीकृष्ण* में श्रील प्रभुपाद बतलाते हैं: ''ऋषियों ने जो योजना बनाई वह यह थी कि प्रमुख देवताओं के सद्गुणों की परीक्षा करने के लिए भृगु को भेजा जाय।'' सतोगुणी व्यक्ति में सहिष्णुता तथा समता जैसे सद्गुण पाये जाते हैं, किन्तु रजोगुणी तथा तमोगुणी तुरन्त ही क्रुद्ध हो उठते हैं।

न तस्मै प्रह्वणं स्तोत्रं चक्रे सत्त्वपरीक्षया ।
तस्मै चुक्रोध भगवान्प्रज्वलन्स्वेन तेजसा ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तस्मै—उस (ब्रह्मा) को; प्रह्वणम्—नमस्कार करना; स्तोत्रम्—स्तुति; चक्रे—की; सत्त्व—सतोगुण में स्थिति; परीक्षया—परीक्षण करने के उद्देश्य से; तस्मै—उसको; चुक्रोध—क्रुद्ध हो गया; भगवान्—प्रभु; प्रज्वलन्—जल उठे; स्वेन—अपने ही; तेजसा—भावावेश से।

यह परीक्षा लेने के लिए कि ब्रह्माजी कहाँ तक सतोगुण को प्राप्त हैं, भृगु ने न तो उन्हें प्रणाम किया न ही स्तुतियों द्वारा उनका महिमा-गान किया। अत: वे अपने ही भावावेश से जल-भुन कर भृगु पर क्रुद्ध हो उठे।

स आत्मन्युत्थितम्मन्युमात्मजायात्मना प्रभुः ।
अशीशमद्यथा वह्निं स्वयोन्या वारिणात्मभूः ॥ ॥

शब्दार्थ

सः—उस; आत्मनि—अपने भीतर; उत्थितम्—उठे हुए; मन्युम्—क्रोध; आत्म-जाय—अपने पुत्र के प्रति; आत्मना—अपनी बुद्धि से; प्रभुः—प्रभु ने; अशीशमत्—दमन कर लिया; यथा—जिस तरह; वह्निम्—आग; स्व—अपने; योन्या—उद्गम से; वारिणा—जल से; आत्म-भूः—अपने से उत्पन्न ब्रह्मा।

यद्यपि उनके हृदय के भीतर अपने पुत्र के प्रति क्रोध उठ रहा था, किन्तु ब्रह्माजी ने अपनी बुद्धि के प्रयोग से, उसे वैसे ही दबा लिया, जिस तरह अग्नि अपने ही उत्पाद जल से बुझ जाती है।

तात्पर्य : कभी कभी ब्रह्माजी रजोगुण के संसर्ग से प्रभावित हो उठते हैं। लेकिन *आदि कवि* होने से अर्थात् सर्वप्रथम जन्मे तथा सर्वोच्च विद्वान होने से, जब उनका क्रोध उनके मन को विचलित करने

लगता है, तो वे विवेकपूर्ण आत्म-परीक्षण द्वारा उस पर नियंत्रण प्राप्त कर लेते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में उन्होंने अपने आपको याद दिलाया कि भृगु तुम्हारा ही पुत्र है। इस तरह इस श्लोक में शुकदेव गोस्वामी यह दृष्टान्त देते हैं कि ब्रह्मा के ही अंश (पुत्र) ने उनके क्रोध को उसी तरह शान्त कर दिया, जिस तरह पुरातन सृष्टि में अग्नि से ही उत्पन्न हुआ जल अग्नि को बुझा देता है।

ततः कैलासमगमत्स तं देवो महेश्वरः ।
परिरब्धुं समारेभ उत्थाय भ्रातरं मुदा ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; कैलासम्—कैलास पर्वत पर; अगमत्—गया; सः—वह (भृगु); तम्—उसको; देवः महा-ईश्वरः—शिव ने; परिरब्धुम्—आलिंगन करने के लिए; समारेभे—प्रयास किया; उत्थाय—उठ कर; भ्रातरम्—अपने भाई को; मुदा—हर्षपूर्वक।

तब भृगु कैलास पर्वत गये। वहाँ पर शिवजी उठ खड़े हुए और अपने भाई का आलिंगन करने प्रसन्नतापूर्वक आगे बढ़े।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता में अपने परिवार के सदस्यों का उचित रीति से स्वागत करना, विशेष रूप से जब उन्हें बहुत समय से न देखा हो, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। योग्य पुत्र को चाहिए कि अपने पिता का आदर करे, छोटे भाई को चाहिए कि बड़े भाई का आदर करे और बड़े भाई को चाहिए कि बदले में छोटे भाई पर स्नेह प्रदर्शित करे।

नैच्छत्त्वमस्युत्पथग इति देवश्चुकोप ह ।
शूलमुद्यम्य तं हन्तुमारेभे तिग्मलोचनः ॥ ६ ॥
पतित्वा पादयोर्देवी सान्त्वयामास तं गिरा ।
अथो जगाम वैकुण्ठं यत्र देवो जनार्दनः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

न ऐच्छत्—उसने इसे (आलिंगन को) नहीं स्वीकारा; त्वम्—तुम; असि—हो; उत्पथ-गः—(धर्म) पथ का उल्लंघन करने वाले; इति—इस तरह कहते हुए; देवः—देवता (शिव); चुकोप ह—क्रुद्ध हो गये; शूलम्—अपना त्रिशूल; उद्यम्य—उठाकर; तम्—उस (भृगु) को; हन्तुम्—मार डालने के लिए; आरेभे—उद्यत; तिग्म—भयानक; लोचनः—जिसकी आँखें; पतित्वा—गिरते हुए; पादयोः—(शिव के) पैरों पर; देवी—देवी ने; सान्त्वयाम् आस—शान्त किया; तम्—उसको; गिरा—शब्दों से; अथ उ—तब; जगाम—(भृगु) चला गया; वैकुण्ठम्—वैकुण्ठ नामक आध्यात्मिक लोक को; यत्र—जहाँ; देवः जनार्दनः—भगवान् जनार्दन (विष्णु)।

किन्तु भृगु ने यह कहते हुए उनके आलिंगन का त्याग कर दिया कि आप तो विपथगामी हैं। इस पर शिवजी क्रुद्ध हो उठे और उनकी आँखें भयावने रूप से जलने लगीं। उन्होंने अपना त्रिशूल उठा लिया और भृगु को जान से मारने ही वाले थे कि देवी उनके चरणों पर गिर पड़ीं

और उन्होंने उन्हें शान्त करने के लिए कुछ शब्द कहे। तब भृगु उस स्थान से चल पड़े और वैकुण्ठ गये, जहाँ भगवान् जनार्दन निवास करते हैं।

तात्पर्य : *भगवान् श्रीकृष्ण* में श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "कहा जाता है कि कोई अपराध शरीर से, मन से या फिर वाणी से किया जाता है। भृगु मुनि ने ब्रह्मा के प्रति, जो पहला अपराध किया था वह मन से किया गया अपराध था। उन्होंने दूसरा अपराध शिवजी के प्रति वाणी से किया, जिसमें उन्होंने शिवजी का अपमान करते हुए उनकी गन्दी आदतों की आलोचना की। चूँकि शिव में तमोगुण की प्रधानता रहती है, अतएव जब उन्होंने भृगु द्वारा किया गया अपमान सुना, तो तुरन्त ही उनकी आँखें क्रोध से लाल हो उठीं। उन्होंने अनियंत्रित क्रोध के साथ अपना त्रिशूल उठा लिया और भृगु मुनि को मारने को उद्यत हो गये। उस समय शिवजी की पत्नी पार्वती वहाँ उपस्थित थीं। वे तीन गुणों के मिश्रण से बनी हुई हैं, अतएव वे त्रिगुणमयी कहलाती हैं। यहाँ पर उन्होंने शिवजी में सतोगुण का आह्वान करके स्थिति सँभाल ली।"

श्रील जीव गोस्वामी की टिप्पणी है कि यहाँ पर उल्लिखित वैकुण्ठ-लोक श्वेतद्वीप है।

शयानं श्रिय उत्सङ्गे पदा वक्षस्यताडयत् ।
तत उत्थाय भगवान्सह लक्ष्म्या सतां गतिः ।
स्वतल्पादवरुह्याथ ननाम शिरसा मुनिम् ॥ ८ ॥
आह ते स्वागतं ब्रह्मन्निषीदात्रासने क्षणम् ।
अजानतामागतान्वः क्षन्तुमर्हथ नः प्रभो ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

शयानम्—लेटे हुए; श्रियः—लक्ष्मी की; उत्सङ्गे—गोद में; पदा—अपने पाँव से; वक्षसि—उनकी छाती पर; अताडयत्—प्रहार किया; ततः—तब; उत्थाय—उठ कर; भगवान्—भगवान्; सह लक्ष्म्या—लक्ष्मीजी समेत; सताम्—शुद्ध भक्तों के; गतिः—गन्तव्य; स्व—अपने; तल्पात्—बिस्तर से; अवरुह्य—उतर कर; अथ—तब; ननाम—नमस्कार किया; शिरसा—सिर द्वारा; मुनिम्—मुनि को; आह—उन्होंने कहा; ते—तुम्हारा; सु-आगतम्—स्वागत है; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; निषीद—बैठिये; अत्र—इस; आसने—आसन पर; क्षणम्—क्षण-भर के लिए; अजानताम्—अनजानों को; आगतान्—आये हुए; वः—तुम्हारे; क्षन्तुम्—क्षमा; अर्हथ—करना चाहिए; नः—हमको; प्रभो—हे प्रभु।

वे भगवान् के पास तक गये, जो अपना सिर अपनी प्रियतमा श्री की गोद में रख कर लेटे थे और वहाँ भृगुने उनकी छाती पर पाँव से प्रहार किया। तब भगवान् आदर सूचित करने के लिए देवी लक्ष्मी सहित उठ कर खड़े हो गये। अपने बिस्तर से उतर कर शुद्ध भक्तों के चरम लक्ष्य भगवान् ने मुनि के समक्ष अपना सिर झुकाया और उनसे कहा, "हे ब्राह्मण, आपका स्वागत है।

आप इस आसन पर बैठें और कुछ क्षण विश्राम करें। हे प्रभु, आपके आगमन पर ध्यान न दे पाने के लिए हमें क्षमा कर दें।''

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार इस लीला के समय तक भृगु मुनि शुद्ध वैष्णव नहीं बन पाये थे अन्यथा भगवान् के साथ इतनी जल्दबाजी में काम न करते। उस समय भगवान् विष्णु न केवल विश्राम कर रहे थे, अपितु वे अपना सिर अपनी पत्नी की गोद में रख कर लेटे थे। इस स्थिति में उन पर प्रहार करना—वह भी हाथ से नहीं अपितु पाँव से प्रहार करना—भृगु के लिए इससे बुरा अन्य अपराध नहीं हो सकता था।

श्रील प्रभुपाद टीका करते हैं, ''निस्सन्देह, भगवान् विष्णु परम दयालु हैं। वे भृगु मुनि की करतूत पर क्रुद्ध नहीं हुए, क्योंकि भृगु मुनि महान् ब्राह्मण थे। कभी कभी अपराध करने पर भी ब्राह्मण को क्षमा कर देना चाहिए और भगवान् विष्णु ने यही दृष्टान्त प्रस्तुत किया। तो भी यह कहा जाता है कि इस घटना के समय से ही लक्ष्मी देवी ब्राह्मणों के प्रति अधिक अनुकूल नहीं रहतीं और चूँकि लक्ष्मीजी ब्राह्मणों को वर नहीं देतीं, इसीलिए वे सामान्यतया अत्यन्त निर्धन होते हैं।''

पुनीहि सहलोकं मां लोकपालांश्च मद्गतान् ।
पादोदकेन भवतस्तीर्थानां तीर्थकारिणा ॥ ॥
अद्याहं भगवँल्लक्ष्म्या आसमेकान्तभाजनम् ।
वत्स्यत्युरसि मे भूतिर्भवत्पादहतांहसः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

पुनीहि—कृपया पवित्र करें; सह—सहित; लोकम्—मेरे लोक; माम्—मुझको; लोक—विभिन्न लोकों के; पालान्—शासकों को; च—तथा; मत्-गतान्—मेरे भक्तों को; पाद—पाँवों (को धो दिया है); उदकेन—जल से; भवतः—आप ही के; तीर्थानाम्—तीर्थस्थलों के; तीर्थ—उनकी पवित्रता; कारिणा—उत्पन्न करने वाला; अद्य—आज; अहम्—मैं; भगवन्—हे प्रभु; लक्ष्म्याः—लक्ष्मी का; आसम्—बन गये हो; एक-अन्त—एकमात्र; भाजनम्—आश्रय; वत्स्यति—निवास करेगी; उरसि—छाती पर; मे—मेरी; भूतिः—लक्ष्मी; भवत्—आपके; पाद—पाँव से; हत—समूल नष्ट किये गये; अंहसः—जिसके पापों के फल।

''कृपा करके, अपने पाँवों के प्रक्षालित जल को मुझे देकर मुझे, मेरे धाम तथा मेरे लोकपालक भक्तों के राज्यों को पवित्र कीजिये। निस्सन्देह यही पवित्र जल तीर्थस्थानों को पवित्र बनाता है। हे प्रभु, आज मैं लक्ष्मी का एकमात्र आश्रय बन गया हूँ। वह मेरी छाती पर निवास करने के लिए सहमत होंगी, क्योंकि आपके पाँव ने इसके सारे पापों को दूर कर दिया है।''

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद अपनी टीका में आगे कहते हैं, ''कलियुग के तथाकथित ब्राह्मण कभी कभी अत्यन्त गर्व करते हैं कि वे भगवान् विष्णु की छाती को अपने पाँव से छू सकते हैं। किन्तु जब भृगु मुनि ने अपने पाँव से भगवान् विष्णु की छाती का स्पर्श किया, तो वह बात भिन्न थी, क्योंकि सबसे बड़ा अपराध होते हुए भी अत्यन्त वदान्य होने के कारण भगवान् विष्णु ने इस पर अधिक ध्यान नहीं दिया।''

श्रीमद्भागवत के कुछ संस्करणों के श्लोक ११ तथा १२ के बीच निम्नलिखित श्लोक पाया जाता है, जिसे श्रील प्रभुपाद ने भी दसवें स्कंध की अपनी संक्षिप्त टीका *भगवान् श्रीकृष्ण* में सम्मिलित कर लिया है—

अतीवकोमलौ तात चरणौ ते महामुने।

इत्युक्त्वा विप्रचरणौ मर्दयन् स्वेन पाणिना॥

''[भगवान् ने ब्राह्मण भृगु से कहा], 'हे महान् मुनि! आपके चरण निस्सन्देह अतीव कोमल हैं': यह कहते हुए भगवान् विष्णु अपने हाथों से ब्राह्मण के चरण दबाने लगे।''

श्रीशुक उवाच
एवं ब्रुवाणे वैकुण्ठे भृगुस्तन्मन्द्रया गिरा ।
निर्वृतस्तर्पितस्तूष्णीं भक्त्युत्कण्ठोऽश्रुलोचनः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस तरह; ब्रुवाणे—कहने पर; वैकुण्ठे—भगवान् विष्णु के; भृगुः—भृगु; तत्—उस; मन्द्रया—गम्भीर; गिरा—वाणी से; निर्वृतः—प्रसन्न हुए; तर्पितः—तुष्ट; तूष्णीम्—चुप था; भक्ति—भक्ति से; उत्कण्ठः—भावविह्वल; अश्रु—आँसू; लोचनः—जिसकी आँखों में।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् वैकुण्ठ द्वारा कहे गये गम्भीर शब्दों को सुन कर भृगु संतुष्ट तथा प्रसन्न हो उठे। वे भक्तिमय आनन्द से विह्वल होकर निःशब्द हो गए और उनकी आँखें अश्रुओं से भर आईं।

तात्पर्य : भृगु भगवान् की प्रशंसा नहीं कर सके, क्योंकि आनन्द के आँसुओं से उनका गला भर आया था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के मत से भृगु मुनि को आक्रामक व्यवहार के लिए भला-बुरा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इस दिव्य लीला में उनकी भूमिका भगवान् द्वारा नियोजित थी।

पुनश्च सत्रमाव्रज्य मुनीनां ब्रह्मवादिनाम् ।
स्वानुभूतमशेषेण राजन्भृगुरवर्णयत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

पुनः—फिर; च—तथा; सत्रम्—यज्ञ तक; आव्रज्य—जाकर; मुनीनाम्—मुनियों के; ब्रह्म-वादिनाम्—वेदों के ज्ञान में दक्ष; स्व—अपने द्वारा; अनुभूतम्—अनुभव किया गया; अशेषेण—पूर्णतया; राजन्—हे राजा (परीक्षित); भृगुः—भृगु ने; अवर्णयत्—वर्णन किया।

हे राजन्, तब भृगु वैदिक विद्वानों की यज्ञशाला में लौट आये और उनसे अपना सारा अनुभव कह सुनाया।

तन्निशम्याथ मुनयो विस्मिता मुक्तसंशयाः ।
भूयांसं श्रद्दधुर्विष्णुं यतः शान्तिर्यतोऽभयम् ॥ १ ॥
धर्मः साक्षाद्यतो ज्ञानं वैराग्यं च तदन्वितम् ।
ऐश्वर्यं चाष्टधा यस्माद्यशश्चात्ममलापहम् ॥ १५ ॥
मुनीनां न्यस्तदण्डानां शान्तानां समचेतसाम् ।
अकिञ्चनानां साधूनां यमाहुः परमां गतिम् ॥ १६ ॥
सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिर्ब्राह्मणास्त्विष्टदेवताः ।
भजन्त्यनाशिषः शान्ता यं वा निपुणबुद्धयः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तत्—यह; निशम्य—सुन कर; अथ—तब; मुनयः—मुनिगण; विस्मिताः—चकित; मुक्त—रहित; संशयाः—अपने संदेहों से; भूयांसम्—सबसे महान् के रूप में; श्रद्दधुः—उन्होंने श्रद्धा व्यक्त की; विष्णुम्—विष्णु में; यतः—जिससे; शान्तिः—शान्ति; यतः—जिससे; अभयम्—निर्भयता; धर्मः—धर्म; साक्षात्—साक्षात् रूप में; यतः—जिससे; ज्ञानम्—ज्ञान; वैराग्यम्—विरक्ति; च—तथा; तत्—यह (ज्ञान); अन्वितम्—समेत; ऐश्वर्यम्—योगशक्ति (योगाभ्यास द्वारा प्राप्त); च—तथा; अष्टधा—आठ प्रकार की; यस्मात्—जिससे; यशः—उनका यश; च—भी; आत्म—मन का; मल—दूषण; अपहम्—दूर करने वाला; मुनीनाम्—मुनियों के; न्यस्त—जिन्होंने त्याग दिया है, त्यक्त; दण्डानाम्—हिंसा; शान्तानाम्—शान्त; सम—समभाव; चेतसाम्—मनों वाले; अकिञ्चनानाम्—स्वार्थरहित; साधूनाम्—सन्त स्वभाव के; यम्—जिसको; आहुः—वे कहते हैं; परमाम्—परम; गतिम्—लक्ष्य; सत्त्वम्—सतोगुण; यस्य—जिसका; प्रिया—प्रिय; मूर्तिः—स्वरूप; ब्राह्मणाः—ब्राह्मणजन; तु—तथा; इष्ट—पूजित; देवताः—अर्चाविग्रह; भजन्ति—वे पूजा करते हैं; अनाशिषः—बिना किसी कामना के; शान्ताः—आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त कर चुके; यम्—जिसको; वा—निस्सन्देह; निपुण—चतुर; बुद्धयः—जिसकी बुद्धि की क्षमताएँ।

भृगु के विवरण को सुन कर चकित हुए मुनियों के सारे सन्देह दूर हो गये और वे आश्वस्त हो गये कि विष्णु सबसे बड़े देव हैं। उन्हीं से शान्ति, निर्भयता, धर्म के अनिवार्य सिद्धान्त, ज्ञान सहित वैराग्य, आठों योगशक्तियाँ तथा मन के सारे कल्मषों को धो डालने वाली उनकी महिमा प्राप्त होती है। वे शान्त तथा समभाव वाले स्वार्थरहित निपुण उन मुनियों के परम गन्तव्य जाने जाते हैं, जिन्होंने सारी हिंसा का परित्याग कर दिया है। उनका सबसे प्रिय स्वरूप शुद्ध सत्त्वमय है और ब्राह्मण उनके पूज्य देव हैं। तीव्र बुद्धि वाले व्यक्ति, जिन्होंने आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त कर ली है, निःस्वार्थ भाव से उनकी पूजा करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् की भक्ति करने पर मनुष्य को बिना किसी विशेष प्रयास के दिव्य ज्ञान तथा इन्द्रिय-तृप्ति से विरक्ति प्राप्त हो जाती है। जैसाकि *श्रीमद्‌भागवत* के ग्यारहवें स्कन्ध (११.२.२) में कहा गया है—

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः।

प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥

''जिसने भगवान् की शरण ग्रहण कर ली है उसे भक्ति, भगवान् का प्रत्यक्ष अनुभव तथा अन्य बातों से विरक्ति—ये तीनों एकसाथ मिल जाते हैं, जिस तरह कि भोजन करने में व्यस्त व्यक्ति को हर कौर से अधिकाधिक आनन्द, पोषण तथा भूख से राहत एकसाथ प्राप्त होते हैं।'' इसी प्रकार प्रथम स्कंध (१.२.७) में श्रील सूत गोस्वामी कहते हैं—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥

''भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति करने से मनुष्य को तुरन्त ही अहैतुक ज्ञान तथा संसार से विरक्ति प्राप्त होती है।''

अपनी माता देवहूति को उपदेश देते हुए भगवान् श्री कपिल सुझाव रखते हैं कि योग की आठ प्रकार की शक्तियाँ भक्ति का समकालिक फल भी हैं—

अथो विभूतिं मम मायाविनस्ताम्

ऐश्वर्यमष्टांगमनुप्रवृत्तम् ।

श्रियं भागवतीं वास्पृहयन्ति भद्रां

परस्य मे तेऽश्नुवते हि लोके॥

''चूँकि मेरा भक्त मेरे चिन्तन में पूर्णतया लीन रहता है, इसलिए उसे सत्यलोक जैसे उच्च लोकों में भी प्राप्य सर्वोच्च वर की इच्छा नहीं होती। वह न तो योग से प्राप्त होने वाली अष्ट भौतिक सिद्धियों की इच्छा रखता है, न ही भगवद्धाम जाना चाहता है। इन सबकी इच्छा न रखते हुए भी मेरा भक्त इसी जीवन में सारे प्रदत्त वरों का भोग करता है।'' (*भागवत* ३.२५.३७)

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती संकेत करते हैं कि श्लोक १६ में तीन प्रकार के ब्रह्मवादियों के नाम

गिनाये गये हैं—मुनि, शान्त तथा साधु। ये तीनों महत्त्व की दृष्टि से क्रमशः वे व्यक्ति हैं, जो मुक्ति के लिए प्रयासरत रहते हैं, जिन्होंने मुक्ति पा ली है तथा जो भगवान् विष्णु की शुद्ध भक्ति में लगे हैं।

त्रिविधाकृतयस्तस्य राक्षसा असुराः सुराः ।
गुणिन्या मायया सृष्टाः सत्त्वं तत्तीर्थसाधनम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

त्रि-विध—तीन प्रकार के; आकृतयः—स्वरूप; तस्य—उसके; राक्षसाः—अज्ञानी प्रेत; असुराः—असुर; सुराः—तथा देवतागण; गुणिन्याः—गुणों से युक्त; मायया—उनकी भौतिक शक्ति से; सृष्टाः—उत्पन्न; सत्त्वम्—सतोगुण; तत्—उनमें से; तीर्थ—जीवन में सफलता के; साधनम्—प्राप्ति के साधन।

भगवान् तीन प्रकार के व्यक्त प्राणियों में विस्तार करते हैं—ये हैं राक्षस, असुर तथा देवता। ये तीनों ही भगवान् की भौतिक शक्ति से उत्पन्न हैं और उसके गुणों से बद्ध हैं। किन्तु इन तीन गुणों में से सतोगुण ही जीवन की अन्तिम सफलता प्राप्त करने का साधन है।

तात्पर्य : *भगवान् श्रीकृष्ण* में श्रील प्रभुपाद ने लिखा है, "अनेक प्रकार के लोग हैं, जिनमें विभिन्न भौतिक गुण पाये जाते हैं। जो तमोगुणी हैं, वे राक्षस कहलाते हैं; जो रजोगुणी हैं, वे असुर कहलाते हैं और जो सतोगुणी हैं, वे सुर अर्थात् देवता कहलाते हैं। मनुष्यों की ये तीन श्रेणियाँ भगवान् के निर्देशन में भौतिक प्रकृति द्वारा उत्पन्न की जाती है, किन्तु जो सतोगुणी हैं, उन्हें भगवद्धाम वापस जाने का अवसर अधिक है।"

श्रीशुक उवाच
इत्थं सारस्वता विप्रा नृणाम्संशयनुत्तये ।
पुरुषस्य पदाम्भोजसेवया तद्गतिं गताः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इत्थम्—इस प्रकार से; सारस्वताः—सरस्वती नदी के तट पर रहने वाले; विप्राः—विद्वान ब्राह्मणों ने; नृणाम्—लोगों के; संशय—सन्देह; नुत्तये—दूर करने के लिए; पुरुषस्य—परम पुरुष के; पद-अम्भोज—चरणकमलों की; सेवया—सेवा से; तत्—उसके; गतिम्—गन्तव्य, धाम को; गताः—प्राप्त किया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : सरस्वती नदी के तट पर रहने वाले विद्वान ब्राह्मणों ने समस्त लोगों के संशयों को दूर करने के लिए यह निष्कर्ष निकाला। तत्पश्चात् उन्होंने भगवान् के चरणकमलों की भक्ति की और वे सभी उनके धाम को प्राप्त हुए।

श्रीसूत उवाच

इत्येतन्मुनितनयास्यपद्मगन्ध-
पीयूषं भवभयभित्परस्य पुंसः ।
सुश्लोकं श्रवणपुटैः पिबत्यभीक्ष्णम्
पान्थोऽध्वभ्रमणपरिश्रमं जहाति ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्री-सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार कहने के बाद; एतत्—यह; मुनि—मुनि (वेदव्यास) के; तनय—पुत्र (शुकदेव) के; आस्य—मुख से; पद्म—कमल (सदृश); गन्ध—सुगन्धि से; पीयूषम्—अमृत; भव—भौतिक जीवन के; भय—डर को; भित्—छिन्न छिन्न करने वाला; परस्य—परम के; पुंसः—भगवान्; सु-श्लोकम्—महिमावान्; श्रवण—कानों के; पुटैः—रन्ध्रों से; पिबति—पीता है; अभीक्ष्णम्—निरन्तर; पान्थः—यात्री; अध्व—मार्ग पर; भ्रमण—भ्रमण करने से; परिश्रमम्—थकान; जहाति—त्याग देता है।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : व्यासदेव मुनि के पुत्र शुकदेव गोस्वामी के मुख कमल से इस प्रकार सुगन्धित अमृत बहा। परम पुरुष का यह अद्‌भुत महिमा-गायन भौतिक संसार के सारे भय को नष्ट करने वाला है। जो यात्री इस अमृत को अपने कान के छेदों से निरन्तर पीता रहता है, वह सांसारिक जीवन के मार्गों पर भ्रमण करने से उत्पन्न थकान को भूल जायेगा।

तात्पर्य : श्रील शुकदेव गोस्वामी द्वारा कही गई यह कथा दो प्रकार से मूल्यवान है—जो लोग आध्यात्मिक दुर्बलता के शिकार हैं उनके मोह-रोग को अच्छा करने के लिए यह प्रभावशाली ओषधि है। और शरणागत वैष्णवों के लिए यह स्वादिष्ट तथा शक्तिवर्धक पेय है, जो श्री शुकदेव की अनुभूतियों की सुगन्धि से सुगन्धित है।

श्रीशुक उवाच
एकदा द्वारवत्यां तु विप्रपत्न्याः कुमारकः ।
जातमात्रो भुवं स्पृष्ट्वा ममार किल भारत ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एकदा—एक बार; द्वारवत्याम्—द्वारका में; तु—और; विप्र—एक ब्राह्मण की; पत्न्याः—पत्नी के; कुमारकः—शिशु पुत्र; जात—उत्पन्न; मात्रः—एकमात्र; भुवम्—पृथ्वी को; स्पृष्ट्वा—छूते ही; ममार—मर गया; किल—निस्सन्देह; भारत—हे भरतवंशी (परीक्षित महाराज)।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : एक बार द्वारका में एक ब्राह्मण की पत्नी ने पुत्र को जन्म दिया किन्तु, हे भारत, यह नवजात शिशु पृथ्वी का स्पर्श करते ही मर गया।

तात्पर्य : इस अध्याय में भगवान् विष्णु का यशोगान भगवान् के रूप में किया गया। अब शुकदेव गोस्वामी कृष्ण के अद्वितीय दिव्य गुणों को प्रकाश में लाने वाली एक अन्य लीला का वर्णन करके, उन्हें भगवान् के तुल्य बताने जा रहे हैं।

विप्रो गृहीत्वा मृतकं राजद्वार्युपधाय सः ।
इदं प्रोवाच विलपन्नातुरो दीनमानसः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

विप्रः—ब्राह्मण ने; गृहीत्वा—लेकर; मृतकम्—शव को; राज—राजा (उग्रसेन) के; द्वारि—दरवाजे पर; उपधाय—प्रस्तुत करके; सः—उसने; इदम्—यह; प्रोवाच—कहा; विलपन्—शोक करते हुए; आतुरः—विक्षुब्ध; दीन—दुखियारा; मानसः—मन वाला।

ब्राह्मण ने उस मृत शरीर को ले जाकर राजा उग्रसेन के दरबार के द्वार पर रख दिया। फिर क्षुब्ध तथा दीन-हीन भाव से शोक-विलाप करता, वह इस प्रकार बोला।

ब्रह्मद्विषः शठधियो लुब्धस्य विषयात्मनः ।
क्षत्रबन्धोः कर्मदोषात्पञ्चत्वं मे गतोऽर्भकः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म—ब्राह्मणों के विरुद्ध; द्विषः—द्वेषपूर्ण; शठ—शैतान; धियः—बुद्धि वाला; लुब्धस्य—लोभी; विषय-आत्मनः—इन्द्रिय-तृप्ति में लिप्त रहने वाला; क्षत्र-बन्धोः—अयोग्य क्षत्रिय का; कर्म—कर्तव्य पूरा करने में; दोषात्—त्रुटि से; पञ्चत्वम्—मृत्यु को; मे—मेरा; गतः—प्राप्त हुआ; अर्भकः—पुत्र।

[ब्राह्मण ने कहा] : ब्राह्मणों के इस शठ, लालची शत्रु तथा इन्द्रिय-सुख में लिप्त रहने वाले अयोग्य शासक द्वारा, अपने कर्तव्यों को सम्पन्न करने में हुई, किसी त्रुटि के कारण मेरे पुत्र की मृत्यु हुई है।

तात्पर्य : यह मानकर कि ब्राह्मण ने स्वयं कुछ ऐसा नहीं किया, जिससे उसके पुत्र की मृत्यु हुई है, उसने राजा उग्रसेन को इसके लिए दोषी ठहराना उचित समझा वैदिक सामाजिक पद्धति में राजा को उसके राज्य में घटने वाली प्रत्येक अच्छी या बुरी बात के लिए उत्तरदायी माना जाता है यहाँ तक कि प्रजातंत्र में भी किसी समूह या प्रायोजना का भार सँभालने वाले प्रबन्धक को किसी दोष के लिए स्वयं उत्तरदायी होना पड़ता है न अपने अधीस्थों या अपने से वरिष्ठों पर आरोप लगाने का प्रयास करने से काम नहीं चलता।

हिंसाविहारं नृपतिं दुःशीलमजितेन्द्रियम् ।
प्रजा भजन्त्यः सीदन्ति दरिद्रा नित्यदुःखिताः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

हिंसा—हिंसा; विहारम्—जिसका खिलवाड़; नृ-पतिम्—इस राजा को; दु:शीलम्—दुष्ट; अजित—अजेय; इन्द्रियम्—जिसकी इन्द्रियाँ; प्रजा:—नागरिक जन; भजन्त्य:—सेवा करते हुए; सीदन्ति—कष्ट उठाते हैं; दरिद्रा:—निर्धन; नित्य—सदैव; दु:खिता:—दुखी.

हिंसा में सुख पाने वाले तथा अपनी इन्द्रियों को वश में न कर सकने वाले दुष्ट राजा की सेवा करने वाले नागरिकों को निरन्तर निर्धनता तथा दुख का सामना करना पड़ता है।

एवं द्वितीयं विप्रर्षिस्तृतीयं त्वेवमेव च ।
विसृज्य स नृपद्वारि तां गाथां समगायत ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इसी प्रकार से; द्वितीयम्—दुबारा; विप्र-ऋषि:—बुद्धिमान ब्राह्मण; तृतीयम्—तिबारा; तु—तथा; एवम् एव च—इसी प्रकार से; विसृज्य—छोड़ कर (अपने पुत्र को); स:—वह; नृप-द्वारि—राजा के दरवाजे पर; ताम्—उसी; गाथाम्—गीत को; समगायत—गाता रहा।.

उस बुद्धिमान ब्राह्मण को अपने दूसरे तथा तीसरे पुत्र के साथ भी यही दुख भोगना पड़ा प्रत्येक बार वह अपने मृत पुत्र का शरीर राजा के दरवाजे पर छोड़ जाता और वही शोक-गीत गाता।

तामर्जुन उपश्रुत्य कर्हिचित्केशवान्तिके ।
परेते नवमे बाले ब्राह्मणं समभाषत ॥ २६ ॥
किं स्विद्ब्रह्मंस्त्वन्निवासे इह नास्ति धनुर्धर: ।
राजन्यबन्धुरेते वै ब्राह्मणा: सत्रमासते ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उस (विलाप) को; अर्जुन:—अर्जुन ने; उपश्रुत्य—सुन कर; कर्हिचित्—एक बार; केशव—भगवान् कृष्ण के; अन्तिके—निकट; परेते—मृत; नवमे—नौवें; बाले—शिशु; ब्राह्मणम्—ब्राह्मण से; समभाषत—कहा; किम् स्वित्—क्या; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; त्वत्—तुम्हारे; निवासे—घर पर; इह—यहाँ; न अस्ति—नहीं है; धनु:-धर:—हाथ में धनुष लिए; राजन्य-बन्धु:—राज-परिवार का पतित सदस्य; एते—ये (क्षत्रिय); वै—निस्सन्देह; ब्राह्मणा:—ब्राह्मणों (की तरह); सत्रे—प्रमुख यज्ञ में; आसते—उपस्थित हैं।.

जब उस ब्राह्मण का नौवाँ पुत्र मरा, तो भगवान् केशव के निकट खड़े अर्जुन ने उस ब्राह्मण के विलाप को सुना अत: अर्जुन ने ब्राह्मण से कहा, "हे ब्राह्मण, क्या बात है? क्या यहाँ पर कोई राजसी दरबार का निम्न सदस्य अर्थात् क्षत्रिय-बन्धु नहीं है, जो कम-से-कम अपने हाथ में धनुष लेकर आपके घर के सामने खड़ा रहे? ये क्षत्रिय ऐसा आचरण कर रहे हैं, मानो यज्ञ में व्यर्थ ही लगे हुए ब्राह्मण हों।

धनदारात्मजापृक्ता यत्र शोचन्ति ब्राह्मणाः ।
ते वै राजन्यवेषेण नटा जीवन्त्यसुम्भराः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

धन—सम्पत्ति; दार—पत्नी; आत्मज—तथा पुत्रों से; अपृक्ताः—पृथक्; यत्र—जिस (स्थिति) में; शोचन्ति—शोक करते हैं; ब्राह्मणाः—ब्राह्मणजन; ते—वे; वै—निस्सन्देह; राजन्य-वेषेण—राजाओं के वेश में; नटाः—अभिनेता; जीवन्ति—जीते हैं; असुम्-भराः—अपना पेट पालते हुए।

"जिस राज्य में ब्राह्मण अपनी नष्ट हुई सम्पत्ति, पत्नियों तथा सन्तानों के लिए शोक करते हैं, उसके शासक निरे वञ्चक हैं, जो अपना उदर-पोषण करने के लिए राजाओं का अभिनय करते हैं।"

अहं प्रजाः वां भगवन्रक्षिष्ये दीनयोरिह ।
अनिस्तीर्णप्रतिज्ञोऽग्निं प्रवेक्ष्ये हतकल्मषः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; प्रजाः—सन्तान; वाम्—तुम दोनों की (पति-पत्नी की); भगवन्—हे प्रभु; रक्षिष्ये—रक्षा करूँगा; दीनयोः—दीन; इह—इस मामले में; अनिस्तीर्ण—पूरा न कर पाने पर; प्रतिज्ञः—वायदा (प्रतिज्ञा); अग्निम्—अग्नि में; प्रवेक्ष्ये—प्रविष्ट करूँगा; हत—विनष्ट; कल्मषः—जिसके कल्मष।

"हे प्रभु, मैं ऐसे अत्यन्त दुखियारे आप तथा आपकी पत्नी की सन्तान की रक्षा करूँगा यदि मैं यह वचन पूरा न कर सका, तो मैं अपने पाप का प्रायश्चित करने के लिए अग्नि में प्रवेश करूँगा।"

तात्पर्य : वीर अर्जुन अपना वचन पूरा न कर सकने की लज्जा को सहन नहीं कर सका जैसाकि *भगवद्गीता* (२.३) में कृष्ण ने कहा है— *सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणाद् अतिरिच्यते*—सम्मानित व्यक्ति के लिए अनादर मृत्यु से भी बुरा है।

श्रीब्राह्मण उवाच

सङ्कर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नो धन्विनां वरः ।
अनिरुद्धोऽप्रतिरथो न त्रातुं शक्नुवन्ति यत् ॥ ३० ॥
तत्कथं नु भवान्कर्म दुष्करं जगदीश्वरैः ।
त्वं चिकीर्षसि बालिश्यात्तन्न श्रद्दध्महे वयम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्राह्मणः उवाच—ब्राह्मण ने कहा; सङ्कर्षणः—संकर्षण (बलराम); वासुदेवः—वासुदेव (कृष्ण); प्रद्युम्नः—प्रद्युम्न; धन्विनाम्—धनुर्धारियों के; वरः—सबसे बड़े; अनिरुद्धः—अनिरुद्ध; अप्रति-रथः—अद्वितीय रथी; न—नहीं; त्रातुम्—बचाने के लिए; शक्नुवन्ति—समर्थ थे; यत्—इतना कि; तत्—इस प्रकार; कथम्—क्यों; नु—निस्सन्देह; भवान्—आप; कर्म—

कौशल; दुष्करम्—कर पाना असम्भव; जगत्—ब्रह्माण्ड के; ईश्वरैः—ईश्वरों द्वारा; त्वम्—तुम; चिकीर्षसि—करना चाहते; बालिश्यात्—बदमाशी से; तत्—इसलिए; न श्रद्दध्महे—विश्वास नहीं करते; वयम्—हम।

ब्राह्मण ने कहा : न तो संकर्षण, वासुदेव, सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर प्रद्युम्न, न अद्वितीय योद्धा अनिरुद्ध ही, मेरे पुत्रों को बचा सके तो फिर तुम क्यों ऐसा कौशल करने का मूर्खतापूर्ण प्रयास करने जा रहे हो, जिसे ब्रह्माण्ड के स्वामी भी नहीं कर सके? हमें तुम पर विश्वास नहीं हो रहा।

श्रीअर्जुन उवाच
नाहं सङ्कर्षणो ब्रह्मन्न कृष्णः कार्ष्णिरेव च ।
अहं वा अर्जुनो नाम गाण्डीवं यस्य वै धनुः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

श्री-अर्जुनः उवाच—श्री अर्जुन ने कहा; न—नहीं; अहम्—मैं; सङ्कर्षणः—बलराम; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; न—न तो; कृष्णः—कृष्ण; कार्ष्णिः—कृष्ण का वंशज; एव च—ही; अहम्—मैं; वै—निस्सन्देह; अर्जुनः नाम—अर्जुन नाम वाला; गाण्डीवम्—गांडीव; यस्य—जिसका; वै—निस्सन्देह; धनुः—धनुष।

श्री अर्जुन ने कहा : हे ब्राह्मण, मैं न तो संकर्षण हूँ, न कृष्ण और न ही कृष्ण का पुत्र, प्रत्युत मैं गाण्डीव धनुष धारण करने वाला अर्जुन हूँ।

मावमंस्था मम ब्रह्मन्वीर्यं त्र्यम्बकतोषणम् ।
मृत्युं विजित्य प्रधने आनेष्ये ते प्रजाः प्रभो ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

मा अवमंस्थाः—मत छोटा मानो; मम—मेरा; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; वीर्यम्—पराक्रम; त्रि-अम्बक—शिवजी; तोषणम्—संतुष्ट करने के लिए; मृत्युम्—मृत्यु को; विजित्य—हराकर; प्रधने—युद्ध में; आनेष्ये—वापस लाऊँगा; ते—तुम्हारी; प्रजाः—सन्तानें; प्रभो—हे स्वामी।

हे ब्राह्मण, मेरी उस क्षमता को कम न करें, जो शिवजी को भी तुष्ट करने में सफल हुई थी। हे स्वामी, मैं आपके पुत्रों को वापस ले आऊँगा, चाहे मुझे युद्ध में साक्षात् काल को ही क्यों न पराजित करना पड़े।

एवं विश्रम्भितो विप्रः फाल्गुनेन परन्तप ।
जगाम स्वगृहं प्रीतः पार्थवीर्यं निशामयन् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विश्रम्भितः—विश्वास दिलाया गया; विप्रः—ब्राह्मण; फाल्गुनेन—अर्जुन द्वारा; परम्—शत्रुओं का; तप—हे सताने वाले (परीक्षित महाराज); जगाम—गया; स्व—अपने; गृहम्—घर; प्रीतः—तुष्ट होकर; पार्थ—पृथा के पुत्र का; वीर्यम्—पराक्रम को; निशामयन्—सुनता हुआ।

हे शत्रुओं को सताने वाले, इस तरह अर्जुन द्वारा आश्वस्त किये जाने पर अर्जुन के पराक्रम

की घोषणा सुन कर तुष्ट हुआ ब्राह्मण अपने घर चला गया।

प्रसूतिकाल आसन्ने भार्याया द्विजसत्तमः ।
पाहि पाहि प्रजां मृत्योरित्याहार्जुनमातुरः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

प्रसूति—प्रसव; काले—के समय; आसन्ने—निकट होने पर; भार्यायाः—उसकी पत्नी के; द्विज—ब्राह्मण; सत्-तमः—अत्यन्त पूज्य; पाहि—रक्षा कीजिये; पाहि—रक्षा कीजिये; प्रजाम्—मेरे बच्चे की; मृत्योः—मृत्यु से; इति—इस प्रकार; आह—उसने कहा; अर्जुनम्—अर्जुन से; आतुरः—किंकर्तव्यविमूढ़।

जब पुनः उस पूज्य ब्राह्मण की पत्नी के बच्चा जनने वाली थी, तो वह अत्यन्त चिन्तित होकर अर्जुन के पास गया और उनसे याचना की, "कृपा करके मेरे बच्चे को मृत्यु से बचा लें, बचा लें।"

स उपस्पृश्य शुच्यम्भो नमस्कृत्य महेश्वरम् ।
दिव्यान्यस्त्राणि संस्मृत्य सज्यं गाण्डीवमाददे ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (अर्जुन); उपस्पृश्य—स्पर्श करके; शुचि—शुद्ध; अम्भः—जल; नमः-कृत्य—नमस्कार करके; महा-ईश्वरम्—शिवजी को; दिव्यानि—दैवी; अस्त्राणि—अपने प्रक्षेपास्त्रों को; संस्मृत्य—स्मरण करके; सज्यम्—धनुष की डोरी को; गाण्डीवम्—अपने धनुष गाण्डीव पर; आददे—स्थिर किया।

शुद्ध जल का स्पर्श करके, भगवान् महेश्वर को नमस्कार करके तथा अपने दैवी अस्त्रों के लिए मंत्रों का स्मरण करके अर्जुन ने अपने धनुष गाण्डीव की डोरी चढ़ाई।

तात्पर्य : आचार्यों ने यह इंगित किया है कि चूँकि ब्राह्मण ने भगवान् कृष्ण का अनादर किया था इसलिए अर्जुन ने बहुत ही चतुराई से शिवजी को नमस्कार किया, जिन्होंने उसे पाशुपातास्त्र के मंत्रों का प्रयोग करने की विधि बतलाई थी।

न्यरुणत्सूतिकागारं शरैर्नानास्त्रयोजितैः ।
तिर्यगूर्ध्वमधः पार्थश्चकार शरपञ्जरम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

न्यरुणत्—घेर दिया; सूतिका-आगारम्—सौरी (प्रसूति) गृह को; शरैः—बाणों से; नाना—विविध; अस्त्र—प्रक्षेपास्त्रों से; योजितैः—जुड़े; तिर्यक्—समतल रीति से; ऊर्ध्वम्—ऊपर; अधः—नीचे; पार्थः—अर्जुन ने; चकार—बना दिया; शर—बाणों का; पञ्जरम्—पिंजरा।

अर्जुन ने विविध प्रक्षेपास्त्रों से लगे बाणों द्वारा उस सौरी-गृह को घेर दिया इस तरह पृथा-

पुत्र ने बाणों का एक सुरक्षात्मक पिंजरा बना कर उस गृह को ऊपर से, नीचे से तथा अगल-बगल से आच्छादित कर दिया।

ततः कुमारः सञ्जातो विप्रपत्न्या रुदन्मुहुः ।
सद्योऽदर्शनमापेदे सशरीरो विहायसा ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; कुमारः—बालक; सञ्जातः—उत्पन्न हुआ; विप्र—ब्राह्मण की; पत्न्याः—पत्नी के; रुदन्—रोता हुआ; मुहुः—कुछ काल तक; सद्यः—सहसा; अदर्शनम् आपेदे—विलुप्त हो गया; स—सहित; शरीरः—अपने शरीर; विहायसा—आकाश से होकर।

तब ब्राह्मण की पत्नी ने बालक को जन्म दिया वह नवजात शिशु कुछ समय तक तो रोता रहा, किन्तु सहसा वह सशरीर आकाश में अदृश्य हो गया।

तदाह विप्रो विजयं विनिन्दन्कृष्णसन्निधौ ।
मौढ्यं पश्यत मे योऽहं श्रद्दधे क्लीबकत्थनम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तदा—तब; आह—कहा; विप्रः—ब्राह्मण ने; विजयम्—अर्जुन से; विनिन्दन्—आलोचना करते हुए; कृष्ण-सन्निधौ—भगवान् कृष्ण की उपस्थिति में; मौढ्यम्—मूर्खता; पश्यत—देखो तो; मे—मेरी; यः—जो; अहम्—मैंने; श्रद्दधे—विश्वास किया; क्लीब—नपुंसक की; कत्थनम्—डींग पर।

तब उस ब्राह्मण ने भगवान् कृष्ण की उपस्थिति में अर्जुन का उपहास किया, ''जरा देखो तो मैं कितना मूर्ख हूँ कि मैंने इस डींग मारने वाले नपुंसक पर विश्वास किया।''

न प्रद्युम्नो नानिरुद्धो न रामो न च केशवः ।
यस्य शेकुः परित्रातुं कोऽन्यस्तदवितेश्वरः ॥ ० ॥

शब्दार्थ

न—न तो; प्रद्युम्नः—प्रद्युम्न; न—न ही; अनिरुद्धः—अनिरुद्ध; न—न; रामः—बलराम; न—नहीं; च—भी; केशवः—कृष्ण; यस्य—जिनके (बालक); शेकुः—समर्थ थे; परित्रातुम्—रक्षा करने में; कः—कौन; अन्यः—अन्य; तत्—इस परिस्थिति में; अविता—रक्षक के रूप में; ईश्वरः—समर्थ।

''जब न ही प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, राम और न ही केशव किसी व्यक्ति को बचा सकते हैं, तो भला अन्य कौन उसकी रक्षा कर सकता है?

धिगर्जुनं मृषावादं धिगात्मश्लाघिनो धनुः ।
दैवोपसृष्टं यो मौढ्यादानिनीषति दुर्मतिः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

धिक्—धिक्कार है; अर्जुनम्—अर्जुन को; मृषा—झूठी; वादम्—जिसकी वाणी; धिक्—धिक्कार है; आत्म—अपनी; श्लाघिनः—प्रशंसा करने वाले की; धनुः—धनुष पर; दैव—भाग्यवश; उपसृष्टम्—लिये हुए; यः—जो; मौढ्यात्—मोहवश; आनिनीषति—वापस लाना चाहता है; दुर्मतिः—मूर्ख।

''उस झूठे अर्जुन को धिक्कार है उस आत्म-प्रशंसक के धनुष को धिक्कार है, वह इतना मूर्ख है कि वह यह सोचते हुए कि ऐसे व्यक्ति को वापस ला सकता है, जिसे विधाता ने उठा लिया है, मोहग्रस्त हो चुका है।''

एवं शपति विप्रर्षौ विद्यामास्थाय फाल्गुनः ।
ययौ संयमनीमाशु यत्रास्ते भगवान्यमः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; शपति—शाप देते हुए; विप्र-ऋषौ—ज्ञानी ब्राह्मण; विद्याम्—योगविद्या; आस्थाय—करके; फाल्गुनः—अर्जुन; ययौ—गया; संयमनीम्—संयमनी नामक स्वर्गपुरी में; असु—तुरन्त; यत्र—जहाँ; आस्ते—रहता है; भगवान् यमः-लोर्द् यमराज.

जब वह बुद्धिमान ब्राह्मण अर्जुन को भला-बुरा कह कर अपमानित कर रहा था, तो अर्जुन ने तुरन्त ही संयमनी पुरी जाने के लिए, जहाँ यमराज का वास है, योगविद्या का प्रयोग किया।

विप्रापत्यमचक्षाणस्तत ऐन्द्रीमगात्पुरीम् ।
आग्नेयीं नैरृतीं सौम्यां वायव्यां वारुणीमथ ।
रसातलं नाकपृष्ठं धिष्ण्यान्यन्यान्युदायुधः ॥ ३ ॥
ततोऽलब्धद्विजसुतो ह्यनिस्तीर्णप्रतिश्रुतः ।
अग्निं विविक्षुः कृष्णेन प्रत्युक्तः प्रतिषेधता ॥ ॥

शब्दार्थ

विप्र—ब्राह्मण के; अपत्यम्—बालक को; अचक्षाणः—न देखकर; ततः—वहाँ से; ऐन्द्रीम्—इन्द्र की; अगात्—गया; पुरीम्—नगरी में; आग्नेयीम्—अग्नि देव की पुरी; नैरृतीम्—मृत्यु के कनिष्ठ देवता (जो यमराज से भिन्न है) की नगरी; सौम्यम्—चन्द्र देव की नगरी; वायव्याम्—वायु देव की नगरी; वारुणीम्—वरुण देव की नगरी; अथ—तब; रसातलम्—अधोलोक; नाक-पृष्ठम्—स्वर्ग के ऊपर; धिष्ण्यानि—प्रदेश; अन्यानि—अन्य; उदायुधः—हथियार उठाये हुए; ततः—वहाँ से; अलब्ध—न पाकर; द्विज—ब्राह्मण के; सुतः—पुत्र को; हि—निस्सन्देह; अनिस्तीर्ण—पूरा न कर सकने से; प्रतिश्रुतः—वायदा किया हुआ; अग्निम्—अग्नि में; विविक्षुः—प्रवेश करने ही वाला था; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; प्रत्युक्तः—विरोध किया गया; प्रतिषेधता—विरत करने का प्रयास कर रहे।

वहाँ ब्राह्मण-पुत्र को न देखकर अर्जुन अग्नि, निर्ऋति, सोम, वायु तथा वरुण की पुरियों में गया। हाथ में हथियार तैयार रखे हुए उसने अधोलोक से लेकर स्वर्ग के ऊपर तक ब्रह्माण्ड के सारे प्रदेशों को खोज मारा। अन्त में ब्राह्मण के पुत्र को कहीं भी न पाकर, अर्जुन ने अपना वायदा पूरा न करने के कारण पवित्र अग्नि में प्रवेश करने का निश्चय किया किन्तु जब वह ऐसा

करने जा ही रहा था, तो भगवान् कृष्ण ने उसे रोक लिया और उससे निम्नलिखित शब्द कहे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका है कि परोक्ष में अर्जुन शिव को अपना गुरु मानता था, इसलिए उसने शिव-लोक को ढूँढ़ने की परवाह नहीं की।

दर्शये द्विजसूनूंस्ते मावज्ञात्मानमात्मना ।
ये ते नः कीर्तिं विमलां मनुष्याः स्थापयिष्यन्ति ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

दर्शये—मैं दिखला दूँगा; द्विज—ब्राह्मण के; सूनून्—पुत्रों को; ते—तुमको; मा—मत; अवज्ञ—छोटा करो; आत्मानम्—अपने आपको; आत्मना—अपने मन से; ये—जो; ते—वे (आलोचक); नः—हम दोनों के; कीर्तिम्—यश; विमलाम्—निर्मल; मनुष्याः—मनुष्यगण; स्थापयिष्यन्ति—स्थापना करने जा रहे हैं।

[भगवान् कृष्ण ने कहा] : मैं तुम्हें ब्राह्मण के पुत्र दिखलाऊँगा, अतः तुम अपने आपको इस प्रकार छोटा मत बनाओ। यही मनुष्य, जो अभी हमारी आलोचना करते हैं, शीघ्र ही हमारी निष्कलुष कीर्ति को स्थापित करेंगे।

इति सम्भाष्य भगवानर्जुनेन सहेश्वरः ।
दिव्यं स्वरथमास्थाय प्रतीचीं दिशमाविशत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; सम्भाष्य—वार्तालाप करके; भगवान्—भगवान्; अर्जुनेन सह—अर्जुन के साथ; ईश्वरः—ईश्वर; दिव्यम्—दिव्य; स्व—अपने; रथम्—रथ पर; आस्थाय—चढ़ कर; प्रतीचीम्—पश्चिम की; दिशम्—दिशा में; आविशत्—प्रविष्ट हुआ।

अर्जुन को इस प्रकार सलाह देकर भगवान् ने अर्जुन को अपने दैवीरथ में बैठाया और वे दोनों एकसाथ पश्चिम दिशा की ओर रवाना हो गये।

सप्त द्वीपान्ससिन्धूंश्च सप्त सप्त गिरीनथ ।
लोकालोकं तथातीत्य विवेश सुमहत्तमः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सप्त—सात; द्वीपान्—द्वीपों; स—सहित; सिन्धून्—समुद्रों; च—तथा; सप्त सप्त—सात सात; गिरीन्—पर्वतों को; अथ—तब; लोक-अलोकम्—अंधकार से प्रकाश को पृथक् करने वाली पर्वत माला को; तथा—भी; अतीत्य—लाँघ कर; विवेश—प्रविष्ट हुआ; सु-महत्—विशाल; तमः—अंधकार।

भगवान् का रथ मध्यवर्ती ब्रह्माण्ड के सात द्वीपों के ऊपर से गुजरा, जिनके अपने अपने समुद्र तथा सात सात मुख्य पर्वत थे। तब उस रथ ने लोकालोक सीमा पार की और पूर्ण अंधकार के विशाल क्षेत्र में प्रवेश किया।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् श्रीकृष्ण* में लिखा है, ''कृष्ण इन सारे लोकों से होते हुए ब्रह्माण्ड के आवरण में जा पहुँचे। *श्रीमद्भागवत* में इस आवरण को महत्–अंधकार कहा गया है। यह पूरा भौतिक संसार अंधकारमय कहा जाता है। खुले भाग में सूर्य–प्रकाश रहता है, अतएव वह प्रकाशित रहता है, किन्तु सूर्य–प्रकाश की अनुपस्थिति के कारण, आवरण स्वाभाविक रूप से अंधकारमय रहता है।''

तत्राश्वाः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकाः ।
तमसि भ्रष्टगतयो बभूवुर्भरतर्षभ ॥ ८ ॥
तान्दृष्ट्वा भगवान्कृष्णो महायोगेश्वरेश्वरः ।
सहस्रादित्यसङ्काशं स्वचक्रं प्राहिणोत्पुरः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तत्र—उस स्थान पर; अश्वाः—घोड़े; शैब्य-सुग्रीव-मेघपुष्प-बलाहकाः—शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प तथा बलाहक नाम वाले; तमसि—अंधकार में; भ्रष्ट—भ्रष्ट; गतयः—अपना मार्ग; बभूवुः—हो गये; भरत-ऋषभ—हे भारतों मेंश्रेष्ठ; तान्—उनको; दृष्ट्वा—देखकर; भगवान्—भगवान्; कृष्णः—कृष्ण; महा—परम; योग-ईश्वर—योग के स्वामियों के; ईश्वरः—स्वामी; सहस्र—एक हजार; आदित्य—सूर्य; सङ्काशम्—के सदृश; स्व—अपने; चक्रम्—चक्र को; प्राहिणोत्—भेजा; पुरः—आगे।

उस अंधकार में रथ के शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प तथा बलाहक नामक घोड़े अपना मार्ग भटक गये। हे भारत-श्रेष्ठ, उन्हें इस अवस्था में देखकर, योगेश्वरों के भी परम स्वामी भगवान् कृष्ण ने अपने रथ के आगे, अपने सुदर्शन चक्र को भेज दिया।वह चक्र सैकड़ों सूर्यों की तरह चमक रहा था।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस श्लोक के विषय में निम्नलिखित अन्तर्दृष्टि दी है। भगवान् कृष्ण के घोड़े भगवान् की धरा–लीलाओं में भाग लेने के लिए वैकुण्ठ से आये थे। चूँकि भगवान् स्वयं सीमित मनुष्य होने का अभिनय कर रहे थे, अतएव उनके घोड़े भी संभ्रमित होने का अभिनय कर रहे थे, ताकि उन लोगों के लिए जो एक दिन इस लीला को सुनेंगे, इस दृश्य की नाटकीयता में वृद्धि हो सके।

तमः सुघोरं गहनं कृतं महद्
विदारयद्भूरितरेण रोचिषा ।
मनोजवं निर्विविशे सुदर्शनं
गुणच्युतो रामशरो यथा चमूः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

तमः—अंधकार; सु—अत्यन्त; घोरम्—भयावह; गहनम्—घना; कृतम्—भौतिक सृष्टि की अभिव्यक्ति; महत्—महान्; विदारयत्—चीरते हुए; भूरि-तरेण—अत्यन्त विस्तृत; रोचिषा—तेज से; मनः—मन की; जवम्—गति वाले; निर्विविशे—प्रविष्ट हुए; सुदर्शनम्—सुदर्शन चक्र; गुण—डोरी से; च्युतः—छोड़ा गया; राम—भगवान् रामचन्द्र का; शरः—बाण; यथा—जिस तरह; चमूः—सेना पर।

भगवान् का सुदर्शन चक्र अपने प्रज्वलित तेज के साथ अंधकार में प्रविष्ट हुआ। मन की गति से आगे बढ़ते हुए उसने आदि पदार्थ से विस्तीर्ण भयावह घने अंधकार को उसी तरह काट दिया, जिस तरह भगवान् राम के धनुष से छूटा तीर उनके शत्रु की सेना को काटता हुआ निकल जाता है।

द्वारेण चक्रानुपथेन तत्तमः
परं परं ज्योतिरनन्तपारम् ।
समश्नुवानं प्रसमीक्ष्य फाल्गुनः
प्रताडिताक्षो पिदधेऽक्षिणी उभे ॥५१॥

शब्दार्थ

द्वारेण—मार्ग से; चक्र—सुदर्शन चक्र; अनुपथेन—पीछा करता; तत्—वह; तमः—अंधकार; परम्—परे; परम्—दिव्य; ज्योतिः—प्रकाश; अनन्त—असीम; पारम्—जिसका विस्तार; समश्नुवानम्—सर्वव्यापी; प्रसमीक्ष्य—देखकर; फाल्गुनः—अर्जुन; प्रताडित—पीड़ित; अक्षः—आँखों वाला; अपिदधे—बन्द कर लीं; अक्षिणी—अपनी आँखें; उभे—दोनों।

सुदर्शन चक्र के पीछे-पीछे जाता हुआ, रथ अंधकार को पार करके सर्वव्यापी ब्रह्मज्योति के अनन्त आध्यात्मिक प्रकाश में जा पहुँचा। ज्योंही अर्जुन ने इस चमचमाते तेज को देखा, उसकी आँखें दुखने लगीं, अतः उसने उन्हें बन्द कर लिया।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के आठों संकेन्द्रित आवरणों को क्रमशः भेदते हुए सुदर्शन चक्र कृष्ण के रथ को असीम आत्मतेजवान वैकुण्ठ-लोक के वायुमंडल में ले गया। श्रीकृष्ण तथा अर्जुन द्वारा वैकुण्ठ-लोक की यह यात्रा *श्री हरिवंश* में भी वर्णित है, जहाँ भगवान् अपने साथी से यह कहते हैं—

ब्रह्मतेजोमयं दिव्यं महत् यद् दृष्टवान् असि

अहं स भरतश्रेष्ठ मत्तेजस्तत् सनातनम् ॥

"हे भारत-श्रेष्ठ! तुमने जिस ब्रह्मतेज के दिव्य प्रसार को देखा है, वह मैं ही हूँ। यह मेरा ही नित्य तेज है।"

प्रकृतिः सा मम परा व्यक्ताव्यक्ता सनातनी

तां प्रविश्य भवन्तीह मुक्ता योगविदुत्तमाः ॥

''यह मेरी व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों ही प्रकार की नित्य आध्यात्मिक शक्तियों से युक्त है। इस जगत के सर्वश्रेष्ठ योगी इसके भीतर प्रवेश करते हैं और मुक्त हो जाते हैं।''

सा सांख्यानां गतिः पार्थ योगिनां च तपस्विनाम्

तत्परं परमं ब्रह्म सर्वं विभजते जगत्

ममैव तद् घनं तेजो ज्ञातुमर्हसि भारत॥

''हे पार्थ! यह सांख्य अनुयायियों के साथ साथ योगियों तथा तपस्वियों का भी परम लक्ष्य है। सम्पूर्ण सृजित जगत की विविधता को प्रकट करने वाला यही परब्रह्म है। हे भारत! तुम इस ब्रह्मज्योति को मेरा केन्द्रीभूत साकार तेज समझो।''

ततः प्रविष्टः सलिलं नभस्वता
बलीयसैजद्बृहदूर्मिभूषणम् ।
तत्राद्भुतं वै भवनं द्युमत्तमं
भ्राजन्मणिस्तम्भसहस्रशोभितम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

ततः—वहाँ से; प्रविष्टः—प्रवेश किया; सलिलम्—जल में; नभस्वता—वायु द्वारा; बलीयसा—शक्तिशाली; एजत्—हिलाया; बृहत्—विशाल; ऊर्मि—लहरें; भूषणम्—जिसके आभूषण; तत्र—वहाँ पर; अद्भुतम्—विचित्र; वै—निस्सन्देह; भवनम्—घर; द्युमत्-तमम्—अत्यधिक तेजयुक्त; भ्राजत्—चमकते हुए; मणि—मणियों से युक्त; स्तम्भ—ख भों के; सहस्र—हजारों; शोभितम्—सुन्दर लग रहे।

उस क्षेत्र से वे जलराशि में प्रविष्ट हुए, जो शक्तिशाली वायु द्वारा मथी जा रही विशाल लहरों से तेजयुक्त थी। उस समुद्र के भीतर अर्जुन ने एक अद्‌भुत महल देखा, जो उसके द्वारा अभी तक देखी गई हर वस्तु से अधिक चमकीला था। इसका सौन्दर्य चमकीले मणियों से जड़े हुए हजारों अलंकृत ख भों के कारण बढ़ गया था।

तस्मिन्महाभोगमनन्तमद्भुतं
सहस्रमूर्धन्यफणामणिद्युभिः ।
विभ्राजमानं द्विगुणेक्षणोल्बणं
सिताचलाभं शितिकण्ठजिह्वम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—वहाँ; महा—विशाल; भोगम्—सर्प; अनन्तम्—भगवान् अनन्त को; अद्भुतम्—आश्चर्यजनक; सहस्र—हजार; मूर्धन्य—उनके सिरों पर; फणा—फनों पर; मणि—मणियों की; द्युभिः—तेज की किरणों से; विभ्राजमानम्—चमकते हुए;

द्वि—दो; गुण—गुना; ईक्षण—जिसकी आँखें; उल्बणम्—भयावनी; सित—श्वेत; अचल—पर्वत (कैलास); आभम्—जिसकी तुलना; शिति—गहरा नीला; कण्ठ—जिसकी गर्दनें; जिह्वम्—तथा जीभें।

उस स्थान पर विशाल विस्मयकारी अनन्त शेष सर्प था। वह अपने हजारों फनों पर स्थित मणियों से निकलने वाले प्रकाश से चमचमा रहा था, जो कि फनों से दुगुनी भयावनी आँखों से परावर्तित हो रहा था। वह श्वेत कैलास पर्वत की तरह लग रहा था और उसकी गर्दनें तथा जीभें गहरे नीले रंग की थीं।

ददर्श तद्भोगसुखासनं विभुं
महानुभावं पुरुषोत्तमोत्तमम् ।
सान्द्राम्बुदाभं सुपिशङ्गवाससं
प्रसन्नवक्त्रं रुचिरायतेक्षणम् ॥ ५ ॥
महामणिव्रातकिरीटकुण्डल-
प्रभापरिक्षिप्तसहस्त्रकुन्तलम् ।
प्रलम्बचार्वष्टभुजं सकौस्तुभं
श्रीवत्सलक्ष्मं वनमालयावृतम् ॥ ५५ ॥
सुनन्दनन्दप्रमुखैः स्वपार्षदै-
श्चक्रादिभिर्मूर्तिधरैर्निजायुधैः ।
पुष्ट्या श्रीया कीर्त्यजयाखिलर्धिभि-
र्निषेव्यमानं परमेष्ठिनां पतिम् ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

ददर्श—(अर्जुन ने) देखा; तत्—वह; भोग—सर्प; सुख—आरामदेह; आसनम्—आसन; विभुम्—सर्वव्यापी; महा-अनुभावम्—सर्वशक्तिमान; पुरुष-उत्तम—भगवान् के; उत्तमम्—परम; सान्द्र—सघन; अम्बुद—बादल; आभम्—के ही समान (उनके नीले वर्ण से); सु—सुन्दर; पिशङ्ग—पीला; वाससम्—जिसका वस्त्र; प्रसन्न—सुहावना; वक्त्रम्—जिसका मुखमण्डल; रुचिर—आकर्षक; आयत—चौड़ी; ईक्षणम्—जिसकी आँखें; महा—विशाल; मणि—मणियों के; व्रात—गुच्छों से; किरीट—मुकुट; कुण्डल—तथा कुण्डलों की; प्रभा—परावर्तित चमक से; परिक्षिप्त—इधर-उधर बिखरी हुई; सहस्त्र—हजारों; कुन्तलम्—जिसके बालों के गुच्छे; प्रलम्ब—लम्बा; चारु—मनोहर; अष्ट—आठ; भुजम्—भुजाएँ; स—सहित; कौस्तुभम्—कौस्तुभ मणि; श्रीवत्स-लक्ष्मम्—तथा श्रीवत्स का विशिष्ट चिह्न प्रदर्शित करते; वन—जंगली फूलों की; मालया—माला से; आवृतम्—चुम्बित; सुनन्द-नन्द-प्रमुखैः—सुनन्द तथा नन्द इत्यादि; स्व-पार्षदैः—अपने निजी संगियों सहित; चक्र-आदिभिः—चक्र इत्यादि; मूर्ति—स्वरूपों को; धरैः—प्रकट करते हुए; निज—अपने; आयुधैः—हथियारों से; पुष्ट्या श्रिया कीर्ति-अजया—पुष्टि, श्री, कीर्ति तथा अजा नामक अपनी शक्तियों से; अखिल—समस्त; ऋधिभिः—योगशक्तियों से; निषेव्यमानम्—सेवित; परमेष्ठिनम्—ब्रह्माण्ड के शासकों के; पतिम्—प्रधान को।

तत्पश्चात् अर्जुन ने सर्वव्यापक तथा सर्वशक्तिमान भगवान् महाविष्णु को सर्पशय्या पर सुखपूर्वक बैठे देखा। उनका नील वर्ण घने बादल के रंग का था, वे सुन्दर पीताम्बर पहने थे और उनका मुखमण्डल मनोहर लग रहा था। उनकी चौड़ी आँखें अत्यन्त आकर्षक थीं और उनके आठ लम्बे सुन्दर बाजू थे। उनके बालों के घने गुच्छे उनके मुकुट तथा कुण्डलों को

विभूषित करने वाले बहुमूल्य मणियों के गुच्छों से परावर्तित प्रकाश से सभी ओर से नहाये हुए थे। वे कौस्तुभ मणि, श्रीवत्स चिन्ह तथा जंगली फूलों की माला धारण किये हुए थे। सर्वोच्च ईश्वर की सेवा में सुनन्द तथा नन्द जैसे निजी संगी, उनका चक्र तथा अन्य हथियार साकार होकर उनकी संगिनी शक्तियाँ पुष्टि, श्री, कीर्ति तथा अजा एवं उनकी विविध योगशक्तियाँ थीं।

तात्पर्य : श्रील प्रभुपाद ने उल्लेख किया है कि, "भगवान् के अनेक शक्तियाँ हैं और वे भी साकार होकर खड़ी थीं। उनमें से सर्वप्रमुख थीं—पुष्टि, जो कि पोषण की शक्ति है, श्री, जो कि सौन्दर्य की शक्ति है, कीर्ति, जो कि यश की शक्ति है तथा अजा, जो कि भौतिक सृजन की शक्ति है। ये सारी शक्तियाँ भौतिक जगत के प्रशासकों अर्थात् ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु में तथा स्वर्गलोक के राजाओं, इन्द्र, चन्द्र, वरुण तथा सूर्य देव में निहित हैं। दूसरे शब्दों में, ये सारे देवता भगवान् द्वारा कुछ शक्तियों से सम्पन्न किये जाकर भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहते हैं।"

ववन्द आत्मानमनन्तमच्युतो
जिष्णुश्च तद्दर्शनजातसाध्वसः ।
तावाह भूमा परमेष्ठिनां प्रभु-
र्बेद्धाञ्जली सस्मितमूर्जया गिरा ॥ ५७॥

शब्दार्थ

ववन्द—सत्कार किया; आत्मानम्—अपना; अनन्तम्—अपने असंख्य रूप में; अच्युतः—अच्युत भगवान् कृष्ण; जिष्णुः—अर्जुन; च—भी; तत्—उसके; दर्शन—दर्शन से; जात—उत्पन्न; साध्वसः—जिसका आश्चर्य; तौ—उन दोनों से; आह—कहा; भूमा—सर्वशक्तिमान ईश्वर (महाविष्णु) ने; परमे-स्थिनाम्—ब्रह्माण्ड के शासकों में से; प्रभुः—स्वामी; बद्ध-अञ्जली—आदर हेतु हाथ जोड़े हुए; स—सहित; स्मितम्—हँसी; ऊर्जया—शक्तिमान; गिरा—वाणी में।

भगवान् कृष्ण ने इस अनन्त रूप में अपनी ही वन्दना की और अर्जुन ने भी महाविष्णु के दर्शन से चकित होकर उन्हें नमस्कार किया। तत्पश्चात्, जब ये दोनों हाथ जोड़ कर उनके समक्ष खड़े थे, तो ब्रह्माण्ड के समस्त पालकों के परम स्वामी महाविष्णु मुसकाये और अत्यन्त गम्भीर वाणी में उनसे बोले।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस श्लोक पर निम्नलिखित टिप्पणी की है : जिस तरह भगवान् कृष्ण ने गोवर्धन पूजा के समय अपने ही अर्चाविग्रह को नमस्कार किया था उसी तरह अब उन्होंने अपनी लीला हेतु अपने विष्णु अंश की वन्दना की। भगवान् *अनन्त* हैं अर्थात् असंख्यरूपों वाले हैं और यह आठ-भुजी रूप उन्हीं में से है। वे *अच्युत* हैं अर्थात् अपने पद से कभी च्युत नहीं होते,

क्योंकि वे वृन्दावन के ग्वालबाल के रूप में अपनी मानवी लीलाएँ करने में कभी कोई विराम नहीं लेते। अतएव कृष्ण के रूप में अपनी मानवी लीलाओं की विशेष पवित्रता बनाये रखने के लिए ही उन्होंने अपने स्वांश को नमस्कार किया।

कृष्ण तथा अर्जुन के समक्ष महाविष्णु *भूमा* अर्थात् परम ऐश्वर्यवान के रूप में तथा *परमेष्ठिनां प्रभुः* अर्थात् करोड़ों ब्रह्माण्डों पर शासन करने वाले असंख्य ब्रह्माओं के स्वामी के रूप में प्रकट हुए। वे श्रीकृष्ण की आन्तरिक इच्छा के अनुसार ही अर्जुन से ऐसी गम्भीर वाणी में बोले कि अर्जुन मोहग्रस्त हो जाय। उनकी हँसी उनके गुप्त विचारों का संकेत दे रही थी जिसे श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने हम सबों के लाभार्थ प्रकट किया है, ''हे कृष्ण! यद्यपि मैं आपका अंश हूँ, किन्तु आपकी इच्छानुसार मैं अपनी श्रेष्ठता का वर्णन करूँगा। साथ ही मेरे कथन में सूक्ष्मता से आपके सौन्दर्य, चरित्र तथा शक्ति की सर्वोच्चता निहित रहेगी और यह तथ्य भी रहेगा कि आप ही वह उद्गम हैं, जहाँ से मैं उद्भूत हूँ। देखो न, मेरी चतुराई! मैं अर्जुन के सामने रहस्यात्मक ढंग से अपनी असली पहचान प्रकट कर रहा हूँ, जो आप से अभिन्न है।''

द्विजात्मजा मे युवयोर्दिदृक्षुणा
मयोपनीता भुवि धर्मगुप्तये ।
कलावतीर्णाववनेर्भरासुरान्
हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

द्विज—ब्राह्मण के; आत्म-जाः—पुत्र; मे—मेरा; युवयोः—तुम दोनों; दिदृक्षुणा—जो देखना चाहता था; मया—मेरे द्वारा; उपनीताः—लाया गया; भुवि—पृथ्वी पर; धर्म—धर्म के नियमों की; गुप्तये—रक्षा के लिए; कला—(मेरे) अंशरूप; अवतीर्णौ—अवतरित; अवनेः—पृथ्वी के; भर—भारस्वरूप; असुरान्—असुरों को; हत्वा—मार कर; इह—यहाँ; भूयः—फिर; त्वरया—जल्दी से; इतम्—चले आना; अन्ति—निकट; मे—मेरे।

[महाविष्णु ने कहा] : मैं ब्राह्मणों के पुत्रों को यहाँ ले आया था, क्योंकि मैं आप दोनों के दर्शन करना चाह रहा था। आप मेरे अंश हैं, जो धर्म की रक्षा हेतु पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं। ज्योंही आप पृथ्वी के भारस्वरूप असुरों का वध कर चुकें आप तुरन्त ही मेरे पास यहाँ वापस आ जायँ।

तात्पर्य : जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने व्याख्या की है अर्जुन की प्रशंसा में कहे गये इन शब्दों का गुह्य आशय इस प्रकार है, ''तुम दोनों, जो कि अपनी कलाओं अर्थात् निजी शक्तियों के साथ

अवतरित हुए हो पृथ्वी के भारस्वरूप असुरों का वध करने के बाद मेरे पास लौट आओ। तुम इन असुरों को उनकी मुक्ति हेतु मेरे पास यहाँ शीघ्र भेज दो।'' *श्री हरिवंश* तथा *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कंध में कहा गया है कि क्रमिक मुक्ति का मार्ग इस ब्रह्माण्ड के आठवें आवरण के बाहर स्थित महाविष्णु के धाम के मध्यवर्ती केन्द्र से होकर गुजरता है।

पूर्णकामावपि युवां नरनारायणावृषी ।
धर्ममाचरतां स्थित्यै ऋषभौ लोकसङ्ग्रहम् ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

पूर्ण—पूर्ण; कामौ—सारी इच्छाओं में; अपि—यद्यपि; युवाम्—तुम दोनों; नर-नारायणौ ऋषी—नर तथा नारायण मुनियों के रूप में; धर्मम्—धर्म को; आचरताम्—पूरा करना चाहिए; स्थित्यै—पालन करने के लिए; ऋषभौ—समस्त पुरुषों में श्रेष्ठ; लोक-सङ्ग्रहम्—सामान्य जनों के लाभ हेतु।

हे महापुरुषों में श्रेष्ठ, यद्यपि आपकी सारी इच्छाएँ पूर्ण हो चुकी हैं, किन्तु सामान्य जनों के लाभ हेतु आप नर तथा नारायण मुनियों के रूप में अपने धार्मिक आचरण का आदर्श प्रस्तुत करते रहें।

इत्यादिष्टौ भगवता तौ कृष्णौ परमेष्ठिना ।
ॐ इत्यानम्य भूमानमादाय द्विजदारकान् ॥ ६० ॥
न्यवर्तेतां स्वकं धाम सम्प्रहृष्टौ यथागतम् ।
विप्राय ददतुः पुत्रान्यथारूपं यथावयः ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

इति—इन शब्दों से; आदिष्टौ—आदेश दिये गये; भगवता—भगवान् द्वारा; तौ—वे दोनों; कृष्णौ—दो कृष्ण (कृष्ण तथा अर्जुन); परमे-ष्ठिना—परम धाम के स्वामी द्वारा; ॐ इति—सहमति जताने के लिए ॐ का उच्चारण करते हुए; आनम्य—झुक कर; भूमानम्—परम शक्तिशाली भगवान् को; आदाय—तथा लेकर; द्विज—ब्राह्मण के; दारकान्—पुत्रों को; न्यवर्तेताम्—लौट गये; स्वकम्—अपने; धाम—घर (द्वारका) को; सम्प्रहृष्टौ—प्रसन्न; यथा—जिस तरह; गतम्—वे आये थे; विप्राय—ब्राह्मण को; ददतुः—दे दिया; पुत्रान्—उसके पुत्र; यथा—उसी; रूपम्—स्वरूप में; यथा—उसी; वयः—आयु में।

सर्वोच्च लोक के परमेश्वर द्वारा इस तरह आदेश दिये जाकर कृष्ण तथा अर्जुन ने ॐ का उच्चारण करके अपनी सहमति व्यक्त की और तब सर्वशक्तिमान महाविष्णु को नमन किया। अपने साथ ब्राह्मण के पुत्रों को लेकर वे परम प्रसन्नतापूर्वक उसी मार्ग से द्वारका लौट गये, जिससे होकर वे आये थे। वहाँ उन्होंने ब्राह्मण को उसके पुत्र सौंप दिये, जो वैसे ही शैशव शरीर में थे, जिसमें वे खो गये थे।

**निशाम्य वैष्णवं धाम पार्थः परमविस्मितः ।
यत्किञ्चित्पौरुषं पुंसां मेने कृष्णानुकम्पितम् ॥ ६२॥**

शब्दार्थ

निशाम्य—देखकर; वैष्णवम्—भगवान् विष्णु के; धाम—धाम; पार्थः—अर्जुन ने; परम—परम; विस्मितः—चकित; यत् किञ्चित्—जो भी; पौरुषम्—विशेष शक्ति; पुंसाम्—जीवों से सम्बद्ध; मेने—निष्कर्ष निकाला; कृष्ण—कृष्ण की; अनुकम्पितम्—प्रदर्शित अनुग्रह।

भगवान् विष्णु के धाम को देखने के बाद अर्जुन पूर्णतया विस्मित थे। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य, जो भी अद्वितीय शक्ति प्रदर्शित करता है, वह कृष्ण की कृपा की अभिव्यक्ति मात्र हो सकती है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती अर्जुन के विस्मय का वर्णन इस प्रकार करते हैं: उसने सोचा, ''देखो न! यद्यपि मैं मर्त्य हूँ, किन्तु कृष्ण की कृपा से मैंने हर वस्तु के मूल कारण भगवान् का दर्शन किया है।'' क्षण-भर बाद उसने पुनः सोचा, ''किन्तु भगवान् विष्णु ने यह क्यों कहा कि कृष्ण का दर्शन करने की कामना से ही वे ब्राह्मण के पुत्रों को ले आये थे? भला भगवान् अपने ही अंश का दर्शन करने के लिए क्यों लालायित हैं? यह किसी विशेष क्षणिक परिस्थिति का प्रभाव हो सकता है, किन्तु चूँकि उन्होंने *दिदृक्षता* न कह कर *दिदृक्षुणा* कहा है—*षुणा* प्रत्यय स्थायी गुण का सूचक है, नश्वरता का नहीं—अतः इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वे कृष्ण तथा मुझको देखने के लिए सदैव इच्छुक रहे हैं। यदि यह भी मान लिया जाय, तो फिर उन्होंने द्वारका में कृष्ण का दर्शन क्यों नहीं किया? आखिर, भगवान् महाविष्णु ब्रह्माण्ड के सर्वव्यापक स्रष्टा हैं और वे इस ब्रह्माण्ड को आमलक फल की भाँति अपने हस्त में धारण करते हैं। क्या ऐसा तो नहीं है कि वे द्वारका में कृष्ण का दर्शन नहीं कर पाये, क्योंकि कृष्ण अपनी विशेष अनुमति के बिना किसी को अपना दर्शन नहीं देते?''

और फिर ब्राह्मणों के दयालु स्वामी महाविष्णु वर्षानुवर्ष एक उच्च ब्राह्मण को क्यों कष्ट पहुँचाते रहे? उन्होंने ऐसा असामान्य व्यवहार इसीलिए किया होगा, क्योंकि वे कृष्ण का दर्शन करने की अपनी उत्कट अभिलाषा का परित्याग नहीं कर पाये होंगे। माना कि उन्होंने इसीलिए यह अनुचित कार्य किया होगा, किन्तु उन्होंने ब्राह्मण के पुत्रों का अपहरण करने के लिए अपना दास क्यों नहीं भेजा? उन्हें द्वारका क्यों आना पड़ा? क्या कृष्ण की राजधानी से उन्हें चुरा कर ले जाना इतना कठिन था कि भगवान् विष्णु के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता था? मेरी समझ में उन्होंने भगवान् कृष्ण की पुरी के ब्राह्मण को इसीलिए इतना सताना चाहा था कि कृष्ण इसे सहन न कर सकें, तब वे भगवान्

विष्णु को अपना दर्शन देने की स्वीकृति दे सकेंगे। भगवान् विष्णु ने संतप्त ब्राह्मण को प्रेरित किया कि वह स्वयं जाकर कृष्ण से शिकायत करे। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीकृष्ण का ईश्वरत्व पद महाविष्णु के पद से वरिष्ठ है।

इस तरह सोच कर अर्जुन पूर्णतया विस्मित था। उसने भगवान् कृष्ण से पूछा कि क्या यह सही तथ्य है और भगवान् ने जो उत्तर दिया वह *हरिवंश* में इस प्रकार वर्णित है—

मद्दर्शनार्थं ते बाला हृतास्तेन महात्मना।

विप्रार्थम् एष्यते कृष्णो मत्समीपं न चान्यथा॥

''परमात्मा ने मेरा दर्शन पाने के लिए ही उन बालकों को चुराया था। उनका विश्वास था कि कृष्ण एकमात्र ब्राह्मण का पक्ष लेकर मुझे देखने आयेंगे, अन्यथा नहीं।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से आगे कहा, ''किन्तु मैं ब्राह्मण के लिए वहाँ नहीं गया। हे मित्र! मैं तो तुम्हारे प्राण बचाने के लिए वहाँ गया। यदि ब्राह्मण के लिए मैंने ऐसा किया होता, तो उसके पहले बालक के अपहरण के बाद ही मैं वैकुण्ठ पहुँचा होता।''

श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार यद्यपि यह लीला कुरुक्षेत्र युद्ध के पूर्व घटी, किन्तु भगवान् कृष्ण की महिमा की श्रेष्ठता के अन्तर्गत इनको दशम स्कंध के अन्त में फिर से दुहराया गया है।

इतीदृशान्यनेकानि वीर्याणीह प्रदर्शयन् ।
बुभुजे विषयान्ग्राम्यानीजे चात्युर्जितैर्मखैः ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ईदृशानि—इस जैसे; अनेकानि—अनेक; वीर्याणि—बहादुरी के कार्य; इह—इस जगत में; प्रदर्शयन्—प्रदर्शित करते हुए; बुभुजे—(भगवान् कृष्ण ने) भोग किया; विषयान्—इन्द्रिय-सुख की वस्तुएँ; ग्राम्यान्—सामान्य; ईजे—पूजा की; च—तथा; अति—अत्यन्त; उर्जितैः—सशक्त; मखैः—वैदिक यज्ञों से।

भगवान् कृष्ण ने इस जगत में ऐसी ही अन्य अनेक लीलाएँ कीं। उन्होंने ऊपर से सामान्य मानव-जीवन के आनन्दों का भोग किया और अत्यन्त सशक्त यज्ञ सम्पन्न किये।

प्रववर्षाखिलान्कामान्प्रजासु ब्राह्मणादिषु ।
यथाकालं यथैवेन्द्रो भगवान्श्रैष्ठ्यमास्थितः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

प्रववर्ष—वर्षा की; अखिलान्—समस्त; कामान्—इच्छित वस्तुओं की; प्रजासु—अपनी प्रजा पर; ब्राह्मण-आदिषु—ब्राह्मण इत्यादि पर; यथा-कालम्—उपयुक्त अवसरों पर; यथा एव—उसी तरह से; इन्द्रः—(जिस तरह) इन्द्र; भगवान्—भगवान्; श्रैष्ठ्यम्—अपनी सर्वश्रेष्ठता में; आस्थितः—स्थित।

अपनी सर्वश्रेष्ठता का प्रदर्शन कर चुकने के बाद भगवान् ने उपयुक्त अवसरों पर ब्राह्मणों तथा अपनी प्रजा पर उसी तरह इच्छित वस्तुओं की वर्षा की, जिस तरह इन्द्र जल की वर्षा करता है।

हत्वा नृपानधर्मिष्ठान्घाटयित्वार्जुनादिभिः ।
अञ्जसा वर्तयामास धर्मं धर्मसुतादिभिः ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

हत्वा—मार कर के; नृपान्—राजाओं को; अधर्मिष्ठान्—अत्यन्त अधार्मिक; घातयित्वा—उनको मरवाकर; अर्जुन-आदिभिः—अर्जुन तथा अन्यों द्वारा; अञ्जसा—सरलतापूर्वक; वर्तयाम् आस—पालन करवाया; धर्मम्—धर्म के सिद्धान्तों को; धर्म-सुत-आदिभिः—(धर्म के पुत्र) युधिष्ठिर तथा अन्यों द्वारा।

अब, जब कि उन्होंने अनेक दुष्ट राजाओं का वध कर दिया था और अन्यों को मारने के लिए अर्जुन जैसे भक्तों को लगा दिया था, तो वे युधिष्ठिर जैसे पवित्र शासकों के माध्यम से धार्मिक सिद्धान्तों के सम्पन्न होने के लिए सरलता से आश्वासन दे सके।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत "कृष्ण तथा अर्जुन द्वारा ब्राह्मण-पुत्रों का वापस लाया जाना" नामक नवासिवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter नब्बे

भगवान् कृष्ण की महिमाओं का सारांश

इस अध्याय में बतलाया गया है कि भगवान् कृष्ण ने किस तरह अपनी रानियों के साथ द्वारका की सरोवरों में विहार किया। इसमें रानियों द्वारा उनके उत्कट विरह से उत्पन्न भावपूर्ण स्तुतियाँ भी हैं और भगवान् की लीलाओं का सार-समाहार भी हुआ है।

भगवान् श्रीकृष्ण द्वारका स्थित अपनी ऐश्वर्यशाली राजधानी में यदुओं तथा अपनी रानियों के साथ रहते रहे। वे महल के भीतर बने तालाबों में अपनी पत्नियों के साथ पिचकारी से उन पर जल छिड़क कर तथा छिड़काकर क्रीड़ा का आनन्द लेते। वे अपने शालीन संकेतों, प्रेमपूर्ण वचनों तथा दीर्घ

चितवनों से उनके हृदयों को मुग्ध करते। इस तरह से रानियाँ उन्हीं के विचारों में निमग्न रहतीं। कभी कभी भगवान् से जल-क्रीड़ा कर चुकने के बाद, वे विविध प्राणियों को यथा कुररी और चक्रवाक पक्षियों, समुद्र, चन्द्रमा, बादल, कोयल, पर्वत, नदी इत्यादि को सम्बोधित करके कहतीं कि श्रीकृष्ण से उनकी आसक्ति प्रगाढ़ है। ऐसा कह कर वे इन प्राणियों से सहानुभूति प्रकट करना चाहती थीं।

श्रीकृष्ण ने प्रत्येक रानी के गर्भ से दस-दस पुत्र उत्पन्न किये। इनमें से प्रद्युम्न सर्व प्रमुख था, जो समस्त दिव्य गुणों में अपने पिता के ही समान था। प्रद्युम्न ने रुक्मी की कन्या से विवाह किया, जिसके गर्भ से अनिरुद्ध ने जन्म लिया। तब अनिरुद्ध ने रुक्मी की नातिन से विवाह किया, जिससे वज्र उत्पन्न हुआ, जो प्रभास में छिड़े लौह-गदा-युद्ध में बचा एकमात्र यदु-कुमार था। वज्र से ही शेष यदुवंश चला, जिसमें प्रतिबाहु सर्वप्रथम था। इस यदुवंश के सदस्य असंख्य हैं। यदुओं को अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए ३,८८,००,००० शिक्षक लगाने पड़े थे।

भगवान् कृष्ण के प्रकट होने के पूर्व संसार के लोगों को सताने तथा ब्राह्मण-संस्कृति को विनष्ट करने के लिए अनेक राक्षसों ने मानव-परिवारों में जन्म लिया था। उनका दमन करने के लिए भगवान् ने देवताओं को यदुवंश में अवतार लेने के लिए आदेश दिया, जो १   जातियों में फैल गया। सारे यदु श्रीकृष्ण को भगवान् मानते थे और उन पर अटूट श्रद्धा रखते थे। विश्राम, भोजन, भ्रमण इत्यादि करते समय, वे प्रायः उनके संग ही रहते थे और अपने दिव्य सुख में अपने शरीरों को भूल जाते थे।

दसवें स्कंध का समापन निष्ठावान श्रोता की सफलता के लिए इस वचन के साथ होता है : ''अधिकाधिक निष्ठा के साथ भगवान् मुकुन्द की सुन्दर कथाओं का नियमित श्रवण, कीर्तन तथा ध्यान करने से मर्त्य जीव को भगवद्धाम प्राप्त होगा, जहाँ काल की अमोघ शक्ति का कोई भय नहीं है।''

श्रीशुक उवाच

सुखं स्वपुर्यां निवसन्द्वारकायां श्रियः पतिः ।
सर्वसम्पत्समृद्धायां जुष्टायां वृष्णिपुङ्गवैः ॥ १ ॥
स्त्रीभिश्चोत्तमवेषाभिर्नवयौवनकान्तिभिः ।
कन्दुकादिभिर्हर्म्येषु क्रीडन्तीभिस्तडिद्द्युभिः ॥ २ ॥
नित्यं सङ्कुलमार्गायां मदच्युद्भिर्मतङ्गजैः ।
स्वलङ्कृतैर्भटैरश्वै रथैश्च कनकोज्ज्वलैः ॥ ३ ॥

उद्यानोपवनाढ्यायां पुष्पितद्रुमराजिषु ।
निर्विशद्भृङ्गविहगैर्नादितायां समन्ततः ॥ ॥

रेमे षोडशसाहस्रपत्नीनां एकवल्लभः ।
तावद्विचित्ररूपोऽसौ तद्गेहेषु महर्द्धिषु ॥ ५ ॥

प्रोत्फुल्लोत्पलकह्लारकुमुदाम्भोजरेणुभिः ।
वासितामलतोयेषु कूजद्द्विजकुलेषु च ॥ ६ ॥

विजहार विगाह्याम्भो ह्रदिनीषु महोदयः ।
कुचकुङ्कुमलिप्ताङ्गः परिरब्धश्च योषिताम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सुखम्—सुखपूर्वक; स्व—अपनी; पुर्याम्—नगरी में; निवसन्—निवास करते हुए; द्वारकायाम्—द्वारका में; श्रियः—लक्ष्मी के; पतिः—पति; सर्व—समस्त; सम्पत्—ऐश्वर्यमय गुणों में; समृद्धायाम्—सम्पन्न था; जुष्टायाम्—आबाद; वृष्णि-पुङ्गवैः—सर्वप्रमुख वृष्णियों द्वारा; स्त्रीभिः—स्त्रियों द्वारा; च—तथा; उत्तम—उत्तम; वेषाभिः—वेश वाली; नव—नवीन; यौवन—यौवन की; कान्तिभिः—सुन्दरता द्वारा; कन्दुक-आदिभिः—गेंदों तथा अन्य खिलौनों से; हर्म्येषु—छतों पर; क्रीडन्तीभिः—खेलती हुई; तडित्—बिजली जैसे; द्युभिः—तेज से; नित्यम्—सदैव; सङ्कुल—भीड़-भाड़ से भरी हुई; मार्गायाम्—जिसकी सड़कें; मद-च्युद्भिः—मद चुआते; मतम्—उन्मत्त; गजैः—हाथियों से; सु—अच्छी तरह; अलङ्कृतैः—सुसज्जित; भटैः—पैदल सैनिकों से; अश्वैः—घोड़ों से; रथैः—रथों से; च—तथा; कनक—सोने से; उज्ज्वलैः—चमकीले; उद्यान—बगीचों; उपवन—तथा पार्कों से; आढ्यायाम्—युक्त; पुष्पित—फूले हुए; द्रुम—वृक्षों की; राजिषु—पंक्तियों से; निर्विशत्—प्रवेश करते; भृङ्ग—भौंरों; विहगैः—तथा पक्षियों से; नादितायाम्—गुञ्जरित; समन्ततः—चारों ओर; रेमे—रमण किया; षोडश—सोलह; साहस्र—हजार; पत्नीनाम्—पत्नियों के; एक—एकमात्र; वल्लभः—प्रियतम; तावत्—उतने ही; विचित्र—विविध; रूपः—रूपों वाला; असौ—वह; तत्—उनके; गेहेषु—घरों में; महा-ऋद्धिषु—अत्यधिक सजे-धजे; प्रोत्फुल्ल—खिले हुए; उत्पल—कमलिनियों; कह्लार—श्वेत कमल; कुमुद—रात में खिलने वाले कमल; अम्भोज—तथा दिन में खिलने वाले कमलों के; रेणुभिः—पराग से; वासिता—सुगन्धित; अमल—निर्मल; तोयेषु—जल में; कूजत्—कूकते हुए; द्विज—पक्षियों के; कुलेषु—झुंडों में; च—तथा; विजहार—क्रीड़ा की; विगाह्य—डुबकी लगाकर; अम्भः—जल में; ह्रदिनीषु—नदियों में; महा-उदयः—सर्वशक्तिमान भगवान्; कुच—उनके स्तनों से; कुङ्कुम—लाल रंग के अंगराग, गेरू; लिप्त—लेप किया हुआ; अङ्गः—उनका शरीर; परिरब्धः—आलिंगित; च—तथा; योषिताम्—स्त्रियों द्वारा।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : लक्ष्मीपति भगवान् सुखपूर्वक अपनी राजधानी द्वारका पुरी में रहने लगे, जो समस्त ऐश्वर्यों से युक्त थी और गण्य-मान्य वृष्णियों तथा आलंकारिक वेशभूषा से सजी उनकी पत्नियों द्वारा आबाद थी। जब ये यौवन-भरी सुन्दर स्त्रियाँ शहर की छतों पर गेंद तथा अन्य खिलौने खेलतीं, तो वे बिजली की चमक जैसी चमचमातीं। नगर के प्रमुख मार्गों में मद चुवाते उन्मत्त हाथियों और खूब सजे घुड़सवारों, खूब सजे-धजे पैदल सैनिकों तथा सोने से सुसज्जित चमचमाते रथों पर सवार सिपाहियों की भीड़ लगी रहती। शहर में पुष्पित वृक्षों की पंक्तियों वाले अनेक उद्यान तथा वाटिकाएँ थी, जहाँ भौंरे तथा पक्षी एकत्र होते और अपने गीतों से सारी दिशाओं को व्याप्त कर देते।

भगवान् कृष्ण अपनी सोलह हजार पत्नियों के एकमात्र प्रियतम थे। इतने ही रूपों में अपना विस्तार करके, उन्होंने प्रत्येक रानी के साथ उनके भरपूर सुसज्जित आवासों में रमण किया। इन

महलों के प्रांगण में निर्मल तालाब थे, जो खिले हुए उत्पल, कह्लार, कुमुद तथा अम्भोज कमलों के पराग-कणों से सुगन्धित थे और कूजते हुए पक्षियों के झुडों से भरे थे। सर्वशक्तिमान प्रभु इन तालाबों में तथा विविध नदियों में प्रवेश कर जल-क्रीड़ा का आनन्द लूटते और उनकी पत्नियाँ उनका आलिंगन करतीं, जिससे उनके स्तनों पर लेपित लाल कुंकम उनके शरीर पर लग जाता।

तात्पर्य : वैष्णव लेखकों ने अपनी काव्य रचना के लिए नियम बना रखा है *मधुरेण समापयेत्*—किसी भी साहित्यिक कृति का समापन विशिष्ट मधुर रस से किया जाना चाहिए। दिव्य कथाओं के सर्वाधिक मधुर वक्ता श्रील शुकदेव गोस्वामी ने तदनुसार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के इस अन्तिम अध्याय में द्वारका के मनोहारी वातावरण में भगवान् कृष्ण के रमणीय जल-विहार दृश्य के पश्चात् रानियों की उल्लासजनक स्तुतियाँ प्रस्तुत की हैं।

उपगीयमानो गन्धर्वैर्मृदङ्गपणवानकान् ।
वादयद्भिर्मुदा वीणां सूतमागधवन्दिभिः ॥ ८ ॥
सिच्यमानोऽच्युतस्ताभिर्हसन्तीभिः स्म रेचकैः ।
प्रतिषिञ्चन्विचिक्रीडे यक्षीभिर्यक्षराडिव ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

उपगीयमानः—गीतों द्वारा प्रशंसित; गन्धर्वैः—गन्धर्वों द्वारा; मृदङ्ग-पणव-आनकान्—मृदंग, पणव तथा आनक नामक ढोलों; वादयद्भिः—बजा रहे; मुदा—हर्षपूर्वक; वीणाम्—वीणाओं को; सूत-मागध-वन्दिभिः—सूतों, मागधों तथा वन्दियों द्वारा; सिच्यमानः—भिगोई जा रही; अच्युतः—भगवान् कृष्ण; ताभिः—अपनी पत्नियों द्वारा; हसन्तीभिः—हँस रही; स्म—निस्सन्देह; रेचकैः—पिचकारियों से; प्रतिषिञ्चन्—उलट कर भिगोये जाते; विचिक्रीडे—उन्होंने क्रीड़ा की; यक्षीभिः—यक्षियों से; यक्ष-राट्—यक्षों के स्वामी (कुबेर); इव—सदृश।

जब गन्धर्वों ने हर्षपूर्वक मृदङ्ग, पणव *तथा आनक* नामक ढोलों के साथ उनकी प्रशंसा में गीत गाये एवं सूतों, मागधों तथा वन्दियों ने वीणा बजाकर उनकी प्रशंसा में कविताएँ सुनाईं, तो भगवान् कृष्ण अपनी पत्नियों के साथ जल-क्रीड़ा करने लगे। रानियाँ ठिठोली करती हुईं, उन पर पिचकारियों से पानी के फुहारे छोड़ती और वे भी प्रत्युत्तर में उन पर पानी छिड़क देते। इस प्रकार से कृष्ण ने अपनी रानियों के साथ उसी तरह क्रीड़ा की, जिस तरह यक्षराज 'यक्षी अप्सराओं' के साथ क्रीड़ा करता है।

ताः क्लिन्नवस्त्रविवृतोरुकुचप्रदेशाः
सिञ्चन्त्य उद्धृतबृहत्कवरप्रसूनाः ।

कान्तं स्म रेचकजिहीर्षयोपगुह्य
जातस्मरोत्स्मयलसद्वदना विरेजुः ॥ ॥

शब्दार्थ

ताः—वे (भगवान् कृष्ण की रानियाँ); क्लिन्न—भीगे; वस्त्र—वस्त्रों वाली; विवृत—खुली हुई; ऊरु—जाँघों; कुच—स्तन के; प्रदेशाः—भाग; सिञ्चन्त्यः—छिड़कते हुए; उद्धृत—बिखरे; बृहत्—विशाल; कवर—बालों की चोटी से; प्रसूनाः—फूल; कान्तम्—उनके प्रियतम को; स्म—निस्सन्देह; रेचक—उनकी पिचकारी; जिहीर्षयया—छीन लेने के विचार; उपगुह्य—आलिंगन करके; जात—उत्पन्न; स्मर—काम की इच्छा के; उत्स्मय—अट्टहास से; लसद्—चमकते; वदनाः—जिनके मुखमण्डल; विरेजुः—देदीप्यमान लग रहे थे।

रानियों के भीगे वस्त्रों के नीचे उनकी जाँघें तथा उनके स्तन दिख रहे थे। अपने प्रियतम पर जल छिड़कने से उनके विशाल जूड़ों से बँधे फूल बिखर गये। वे उनकी पिचकारी छीनने के बहाने, उनका आलिंगन कर लेती थीं। उनका स्पर्श करने से उनमें काम-भावना बढ़ जाती, जिससे उनके मुखमंडल हँसी से चमचमाने लगते। इस तरह कृष्ण की रानियाँ देदीप्यमान सौन्दर्य से चमचमा रही थीं।

कृष्णस्तु तत्स्तनविषज्जितकुङ्कुमस्रक्-
क्रीडाभिषङ्गधुतकुन्तलवृन्दबन्धः ।
सिञ्चन्मुहुर्युवतिभिः प्रतिषिच्यमानो
रेमे करेणुभिरिवेभपतिः परीतः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

कृष्णः—भगवान् कृष्ण ने; तु—तथा; तत्—उनके; स्तन—स्तनों से; विषज्जित—लिपटे हुए; कुङ्कुम—कुंकुम-चूर्ण; स्रक्—जिनकी फूल-माला; क्रीडा—क्रीड़ा में; अभिषङ्ग—लीन होने से; धुत—हिलाये गये; कुन्तल—बालों के गुच्छों के; वृन्द—समूह की; बन्धः—व्यवस्था, सज्जा; सिञ्चन्—छिड़कते हुए; मुहुः—बारम्बार; युवतिभिः—युवती स्त्रियों द्वारा; प्रतिषिच्यमानः—उलट कर छिड़के जाते हुए; रेमे—आनन्द लूटा; करेणुभिः—हथिनियों द्वारा; इव—सदृश; इभ-पतिः—हाथियों का राजा; परीतः—घिरा हुआ।

भगवान् कृष्ण की फूल-माला उनके स्तनों के कुंकुम से पुत गई और क्रीड़ा में लीन रहने के फलस्वरूप उनके बालों के बहुत-से गुच्छे अस्त-व्यस्त हो गये। जब भगवान् ने अपनी युवा प्रेमिकाओं पर बारम्बार जल छिड़का और उन्होंने भी उलटकर उन पर जल छिड़का, तो उन्होंने वैसा ही आनन्द लूटा, जिस तरह हाथियों का राजा हथिनियों के संग में आनंद लूटता है।

नटानां नर्तकीनां च गीतवाद्योपजीविनाम् ।
क्रीडालङ्कारवासांसि कृष्णोऽदात्तस्य च स्त्रियः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

नटानाम्—पुरुष नर्तकों को; नर्तकीनाम्—तथा स्त्री नर्तकियों को; च—तथा; गीत—गाने; वाद्य—तथा बाजे से; उपजीविनाम्—जीविका चलाने वाले; क्रीडा—अपने खिलवाड़ से; अलङ्कार—गहने; वासांसि—तथा वस्त्र; कृष्णः—भगवान् कृष्ण ने; अदात्—दे दिया; तस्य—उसका (अपना); च—तथा; स्त्रियः—पत्नियाँ।

तत्पश्चात्, भगवान् कृष्ण तथा उनकी पत्नियों ने जल-क्रीड़ा के दौरान अपने पहने हुए गहने तथा वस्त्र, उन नटों तथा नर्तकियों को दे दिये जो गाना गाकर तथा वाद्य बजाकर, अपनी जीविका कमाते थे।

कृष्णस्यैवं विहरतो गत्यालापेक्षितस्मितैः ।
नर्मक्ष्वेलिपरिष्वङ्गैः स्त्रीणां किल हृता धियः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

कृष्णस्य—कृष्ण के; एवम्—इस प्रकार; विहरतः—क्रीड़ा करते; गति—हिलने-डुलने; आलाप—बातचीत; ईक्षित—निहारने; स्मितैः—तथा हँसने से; नर्म—परिहास से; क्ष्वेलि—छेड़छाड़ से; परिष्वङ्गैः—तथा आलिंगन से; स्त्रीणाम्—स्त्रियों के; किल—निस्सन्देह; हृताः—चुराये गये; धियः—हृदय।

इस तरह भगवान् कृष्ण अपनी रानियों से क्रीड़ा करके और अपने हाव-भावों, बातों, चितवनों तथा हँसी से तथा अपने परिहास, छेड़छाड़ तथा आलिंगन द्वारा भी, उनके हृदयों को पूरी तरह मुग्ध कर लेते।

ऊचुर्मुकुन्दैकधियो गिर उन्मत्तवज्जडम् ।
चिन्तयन्त्योऽरविन्दाक्षं तानि मे गदतः शृणु ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ऊचुः—वे बोलीं; मुकुन्द—भगवान् कृष्ण; एक—एकमात्र; धियः—मन; गिरः—शब्द; उन्मत्त—उन्मादी व्यक्ति; वत्—सदृश; जडम्—जड़; चिन्तयन्त्यः—सोचते हुए; अरविन्द-अक्षम्—कमल जैसे नेत्र वाले प्रभु के विषय में; तानि—वे (शब्द); मे—मुझसे; गदतः—कह रहे; शृणु—सुनो।

रानियाँ भावमय आत्मविस्मृति में जड़ बन जातीं और उनके मन एकमात्र कृष्ण में लीन हो जाते। तब, वे अपने कमल नेत्र प्रभु के विषय में सोचती हुई इस तरह बोलतीं मानों पागल (उन्मादग्रस्त) हों। कृपया ये शब्द मुझसे सुनें, जैसे जैसे मैं उन्हें बतला रहा हूँ।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि भगवान् कृष्ण की रानियों में यह ऊपरी पागलपन का प्राकट्य मानो वे धतूरे या अन्य किसी भ्रांतिजनक औषधि से उन्मत्त हों वस्तुतः शुद्ध भगवद्प्रेम की क्रमिक छठी अवस्था की अभिव्यक्ति थी, जिसे *प्रेमवैचित्र्य* कहा जाता है। श्रील रूप गोस्वामी ने *उज्ज्वल नीलमणि* (१५.१३) में इस अनुराग के प्रकार का उल्लेख किया है—

प्रियस्य सन्निकर्षेऽपि

प्रेमोत्कर्ष-स्वभावत: ।

या विश्लेष-धियार्तिस्तत्

प्रेमवैचित्र्यमुच्यते ॥

"जब कोई अपने उत्कट प्रेम के सहज उपजात के रूप में विरह के दुख को अपने प्रिय की उपस्थिति भी अनुभव करता है, तो यह अवस्था *प्रेमवैचित्र्य* कहलाती है।"

महिष्य ऊचु:

कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे
स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोध: ।
वयमिव सखि कच्चिद्गाढनिर्विद्धचेता
नलिननयनहासोदारलीलेक्षितेन ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

महिष्य: ऊचु:—रानियों ने कहा; कुररि—हे कुररी पक्षी; विलपसि—विलाप करती हो; त्वम्—तुम; वीत—विहीन; निद्रा—नींद से; न शेषे—तुम विश्राम नहीं कर सकते; स्वपिति—सोती है; जगति—(कहीं) संसार में; रात्र्याम्—रात में; ईश्वर:—भगवान्; गुप्त—छिपे; बोध:—अता-पता; वयम्—हम; इव—जिस तरह; सखि—हे सखी; कच्चित्—क्या; गाढ—गहराई से; निर्विद्ध—बिंधा हुआ; चेता:—जिसका हृदय; नलिन—कमल (की तरह); नयन—जिसकी आँखें; हास—हँसती हुई; उदार—उदार; लीला—कौतुकपूर्ण; ईक्षितेन—चितवन से।

रानियों ने कहा : हे कुररी पक्षी, तुम विलाप कर रही हो। अब तो रात्रि है और भगवान् इस जगत में कहीं गुप्त स्थान में सोये हुए हैं। किन्तु हे सखी, तुम जगी हुई हो और सोने में असमर्थ हो। कहीं ऐसा तो नहीं है कि हमारी ही तरह कमलनेत्र भगवान् की उदार कौतुक-भरी हँसीली चितवन से तुम्हारा हृदय अन्दर तक बिंध गया हो?

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि रानियों के दिव्य उन्माद ने उनमें ऐसे आनंद भाव भर दिये कि उन्हें हर व्यक्ति और हर वस्तु में उनके भाव का ही प्रतिबिम्ब दिखने लगा था। यहाँ पर वे कुररी पक्षी को सम्बोधित कर रही हैं, जिसे वे कृष्ण के विरह में शोक करती हुई मानती हैं और संकेत करती हैं कि यदि सचमुच कृष्ण को उसकी या रानियों की चिन्ता होती, तो वे उस समय कहीं सुखपूर्वक सो न रहे होते। वे कुररी को आगाह करती हैं कि वह कृष्ण से अपने विलाप को सुनने तथा कुछ दया दिखाने की आशा न करे। यदि कुररी यह सोचती हो कि कृष्ण अपनी रानियों के साथ सो रहे हैं, तो वे यह कहकर इनकार करती हैं कि वे *गुप्त बोध* हैं—अर्थात् उनका अता-पता उन्हें ज्ञात नहीं है। वे इस रात में जगत में कहीं बाहर निकल गये हैं, किन्तु उन्हें यह पता नहीं कि वे उन्हें ढूँढ़ने

कहाँ जाँय। वे क्रन्दन करती हैं, "हाय, प्रिय पक्षी! यद्यपि तुम सीधे-सादे प्राणी हो, किन्तु तुम्हारा हृदय हमारी ही तरह अन्दर तक बिंध गया है। अवश्य ही हमारे कृष्ण से तुम्हारा किञ्चित स्पर्श हुआ होगा। उनसे तुम्हारी निराशाजनक आसक्ति तुम्हारे द्वारा त्यागी क्यों नहीं जा रही?"

नेत्रे निमीलयसि नक्तमदृष्टबन्धु-
स्त्वं रोरवीषि करुणं बत चक्रवाकि ।
दास्यं गत वयमिवाच्युतपादजुष्टां
किं वा स्त्रजं स्पृहयसे कवरेण वोढुम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

नेत्रे—आँखें; निमीलयसि—बन्द रखती हो; नक्तम्—रात्रि में; अदृष्ट—न देखा हुआ; बन्धुः—जिसका प्रेमी; त्वम्—तुम; रोरवीषि—क्रन्दन करती हो; करुणम्—करुणापूर्वक; बत—हाय; चक्रवाकि—हे चक्रवाकी; दास्यम्—दासता; गता—प्राप्त; वयम् इव—हमारी ही तरह; अच्युत—कृष्ण के; पाद—पैरों से; जुष्टाम्—आदरित; किम्—शायद; वा—अथवा; स्त्रजम्—फूल की माला को; स्पृहयसे—चाहती हो; कवरेण—अपने जूड़े में; वोढुम्—लगाने के लिए।

हे बेचारी चक्रवाकी, तुम अपनी आँखें मूँद कर भी अपने अदृष्ट जोड़े (साथी) के लिए रात-भर करुणापूर्वक बहकती रहती हो। अथवा कहीं ऐसा तो नहीं है कि हमारी ही तरह तुम भी अच्युत की दासी बन चुकी हो और अपने जूड़े में उस माला को लगाना चाहती हो, जिसे वे अपने पाद-स्पर्श से धन्य कर चुके हैं?

भो भोः सदा निष्टनसे उदन्व-
न्नलब्धनिद्रोऽधिगतप्रजागरः ।
किम्वा मुकुन्दापहृतात्मलाञ्छनः
प्राप्तां दशां त्वं च गतो दुरत्ययाम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

भोः—प्रिय; भोः—प्रिय; सदा—सदैव; निष्टनसे—तुम निरन्तर उच्च ध्वनि करते हो; उदन्वन्—हे समुद्र; अलब्ध—न पाकर; निद्रः—नींद; अधिगत—अनुभव करते हुए; प्रजागरः—उन्निद्र रोग; किम् वा—अथवा शायद; मुकुन्द—कृष्ण द्वारा; अपहृत—चुराये गये; आत्म—निजी; लाञ्छनः—चिह्न; प्राप्ताम्—(हमारे द्वारा) प्राप्त; दशाम्—अवस्था को; त्वम्—तुम; च—भी; गतः—प्राप्त हुए हो; दुरत्ययाम्—मुक्त हो पाना असम्भव।

हे प्रिय समुद्र, तुम सदैव गर्जते रहते हो, रात में सोते नहीं। क्या तुम्हें उन्निद्र रोग हो गया है? या कहीं ऐसा तो नहीं है कि मुकुन्द ने हमारी ही तरह, तुमसे तुम्हारे चिन्ह छीन लिए हैं और तुम उन्हें फिर पाने में निराश हो?

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी कहते हैं कि यहाँ पर भगवान् कृष्ण की रानियाँ द्वारका को घेरने वाले समुद्र को क्षीर सागर समझ बैठती हैं, जिससे बहुत पहले लक्ष्मी तथा कौस्तुभ मणि निकले थे। इन्हें

भगवान् विष्णु ने छीन लिया था (*अपहृत*) और अब वे उनके वक्षस्थल में वास करते हैं। रानियाँ कल्पना करती हैं कि समुद्र एक बार फिर भगवान् के वक्षस्थल पर लक्ष्मी के वास तथा कौस्तुभ मणि के चिह्न देखने को इच्छुक है और वे यह कह कर सहानुभूति अभिव्यक्त करती हैं कि वे भी इन चिह्नों को देखना चाहती हैं। किन्तु रानियाँ तो भगवान् के वक्षस्थल पर कुंकुम चिह्न देखने की अधिक इच्छुक हैं, जिसे कृष्ण इनके स्तनों से लेते गये थे, जब इन्होंने उनका आलिंगन किया था।

त्वं यक्ष्मणा बलवतासि गृहीत इन्दो
क्षीणस्तमो न निजदीधितिभिः क्षिणोषि ।
कच्चिन्मुकुन्दगदितानि यथा वयं त्वं
विस्मृत्य भोः स्थगितगीरुपलक्ष्यसे नः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; यक्ष्मणा—यक्ष्मा रोग से; बल-वता—शक्तिशाली; असि—हो; गृहीतः—पकड़े हुए; इन्दो—हे चन्द्रमा; क्षीणः—दुर्बल; तमः—अंधकार; न—नहीं; निज—अपनी; दीधितिभिः—किरणों से; क्षिणोषि—नष्ट करते हो; कच्चित्—क्या; मुकुन्द-गदितानि—मुकुन्द द्वारा कहे गये; यथा—जिस तरह; वयम्—हमको; त्वम्—तुम; विस्मृत्य—भुला कर; भोः—प्यारे; स्थगित—जड़ीभूत; गीः—जिसकी वाणी; उपलक्ष्यसे—प्रतीत होते हो; नः—हमको।

हे प्रिय चन्द्रमा, घोर यक्ष्मा रोग (क्षयरोग) से ग्रसित होने से तुम इतने क्षीण हो गये हो कि तुम अपनी किरणों से अंधकार को भगाने में असफल हो। या फिर कहीं ऐसा तो नहीं है कि तुम इसलिए अवाक् प्रतीत हो रहे हो, क्योंकि हमारी ही तरह तुम भी मुकुन्द द्वारा दिये गये, उत्साहप्रद वादों को स्मरण नहीं कर सकते हो ?

किं न्वाचरितमस्माभिर्मलयानिल तेऽप्रियम् ।
गोविन्दापाङ्गनिर्भिन्ने हृदीरयसि नः स्मरम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; नु—निस्सन्देह; आचरितम्—किया कार्य; अस्माभिः—हमारे द्वारा; मलय—मलय पर्वत के; अनिल—हे वायु; ते—तुमको; अप्रियम्—अच्छी न लगने वाली; गोविन्द—कृष्ण की; अपाङ्ग—चितवनों द्वारा; निर्भिन्ने—विदीर्ण; हृदि—हृदयों में; ईरयसि—प्रेरणा दे रहे हो; नः—हमारी; स्मरम्—काम-वासना को।

हे मलय समीर, ऐसा हमने क्या किया है कि तुम हमसे अप्रसन्न हो और हमारे उन हृदयों में काम-भावना जागृत कर रहे हो, जो पहले ही गोविन्द की चितवनों से विदीर्ण हो चुके हैं ?

मेघ श्रीमंस्त्वमसि दयितो यादवेन्द्रस्य नूनं
श्रीवत्साङ्कं वयमिव भवान्ध्यायति प्रेमबद्धः ।

अत्युत्कण्ठ: शवलहृदयोऽस्मद्विधो बाष्पधारा:
स्मृत्वा स्मृत्वा विसृजसि मुहुर्दु:खदस्तत्प्रसङ्गः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

मेघ—हे बादल; श्री-मन्—हे सम्मानित; त्वम्—तुम; असि—हो; दयित:—प्रिय मित्र; यादव-इन्द्रस्य—यादवों के प्रधान के; नूनम्—निश्चय ही; श्रीवत्स-अङ्कम्—श्रीवत्स नामक विशेष चिह्न धारण करने वाले (उनके वक्षस्थल पर); वयम्—हम; इव—जिस तरह; भवान्—आप; ध्यायति—ध्यान करते हैं; प्रेम—शुद्ध प्रेम द्वारा; बद्धः—बद्ध; अति—अत्यधिक; उत्कण्ठ:—उत्सुक; शवल—किंकर्तव्यविमूढ़; हृदय:—जिसका हृदय; अस्मत्—जिस तरह हमारे (हृदय); विध:—उसी तरह से; बाष्प—आँसुओं की; धारा:—धाराएँ; स्मृत्वा स्मृत्वा—बारम्बार स्मरण करके; विसृजसि—आप मुक्त करते हैं; मुहु:—बारम्बार; दु:ख—दुख; द:—देने वाले; तत्—उसके साथ; प्रसङ्गः—संगति।

हे पूज्य बादल, निसन्देह तुम यादवों के उन प्रधान के अत्यन्त प्रिय हो, जो श्रीवत्स का चिन्ह धारण किए हुए हैं। तुम भी हमारी ही तरह उनसे प्रेम द्वारा बद्ध हो और उनका ही चिन्तन करते हो। तुम्हारा हृदय हमारे हृदयों की ही तरह अत्यन्त उत्सुकता से किंकर्तव्यविमूढ़ है और जब तुम उनका बारम्बार स्मरण करते हो, तो आँसुओं की धारा बहाते हो। कृष्ण की संगति ऐसा ही दुख लाती है।

तात्पर्य : आचार्यों ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार से की है—बादल भगवान् कृष्ण के मित्र स्वरूप है, क्योंकि वह सूर्य की झुलसती किरणों से उनकी रक्षा करता है, अत: भगवान् के ऐसे सच्चे शुभचिन्तक को उनके कल्याण के बारे में निरन्तर ध्यान करना चाहिए। यद्यपि बादल भगवान् के नीले वर्ण में साथ देता है, किन्तु भगवान् कृष्ण के विशिष्ट लक्षण यथा उनका श्रीवत्स चिह्न, बादल के ध्यान को विशेष रूप से आकर्षित करते हैं। किन्तु इसका परिणाम क्या निकलता है? मात्र दुख—बादल हताश होता है और वह वर्षा का बहाना करके निरन्तर आँसू बहाता रहता हैं। अत: रानियाँ उसे सलाह देती हैं, ''तुम्हारे लिए यही अच्छा होगा कि तुम कृष्ण में इतनी रुचि मत लो।''

प्रियरावपदानि भाषसे मृत-
सञ्जीविकयानया गिरा ।
करवाणि किमद्य ते प्रियं
वद मे वल्गितकण्ठ कोकिल ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

प्रिय—प्रिय; राव—उसका जिसकी ध्वनियाँ; पदानि—झंकारें; भाषसे—तुम कह रहे हो; मृत—मरे हुए; सञ्जीविकया—पुन: जीवित करने वाला; अनया—इसमें; गिरा—वाणी; करवाणि—मुझे करना चाहिए; किम्—क्या; अद्य—आज; ते—तुम्हारे लिए; प्रियम्—अच्छा लगने वाला; वद—कहो; मे—मुझसे; वल्गित—इन ध्वनियों से मधुरित; कण्ठ—कण्ठ वाले; कोकिल—हे कोयल।

रे मधुर कंठ वाली कोयल, तुम मृत को भी जीवित करनेवाली वह बोली बोल रही हो, जिसे

हमने एक बार अत्यन्त मधुरभाषी अपने प्रेमी से सुनी थी। कृपा करके मुझे बताओ कि मैं तुम्हें प्रसन्न करने के लिए आज क्या कर सकती हूँ?

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती बतलाते हैं कि यद्यपि कोयल का गायन अत्यन्त सुहावना है, किन्तु भगवान् कृष्ण की पत्नियाँ इसे वेदनामयी अनुभव करती हैं, क्योंकि इससे उन्हें अपने प्रियतम कृष्ण की याद आ जाती है और उनकी विरह-पीड़ा बढ़ जाती हैं।

न चलसि न वदस्युदारबुद्धे
क्षितिधर चिन्तयसे महान्तमर्थम् ।
अपि बत वसुदेवनन्दनाङ्घ्रिं
वयमिव कामयसे स्तनैर्विधर्तुम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

न चलसि—तुम हिलते-डुलते नहीं हो; न वदसि—न बोलते हो; उदार—उदार; बुद्धे—जिसकी बुद्धि; क्षिति-धर—हे पर्वत; चिन्तयसे—तुम सोचते हो; महान्तम्—महान्; अर्थम्—बात के विषय में; अपि बत—शायद; वसुदेव-नन्दन—वसुदेव के लाड़ले पुत्र को; अङ्घ्रिम्—पाँवों को; वयम्—हम; इव—जिस तरह; कामयसे—तुम चाहते हो; स्तनैः—तुम्हारे स्तनों (चोटियों) पर; विधर्तुम्—धारण करने के लिए।

हे उदार पर्वत, तुम न तो हिलते-डुलते हो, न बोलते-चालते हो। तुम अवश्य ही किसी अत्यन्त महत्त्व वाली बात पर विचार कर रहे होगे। अथवा क्या तुम हमारी ही तरह अपने स्तनों (शिखिरों) पर वसुदेव के लाड़ले के पाँवों को धारण करना चाहते हो?

तात्पर्य : *स्तनैः* शब्द, जिसका अर्थ ''अपने स्तनों पर'' है यहाँ पर्वत की चोटियों का सूचक हैं।

शुष्यद्ध्रदाः करशिता बत सिन्धुपत्न्यः
सम्प्रत्यपास्तकमलश्रिय इष्टभर्तुः ।
यद्वद्वयं मधुपतेः प्रणयावलोक-
मप्राप्य मुष्टहृदयाः पुरुकर्शिताः स्म ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

शुष्यत्—सूखती हुई; ह्रदाः—जिसकी झीलें; करशिताः—दुबली-पतली; बत—हाय; सिन्धु—समुद्र की; पत्न्यः—हे पत्नियों; सम्प्रति—अब; अपास्त—खोया हुआ; कमल—कमलों का; श्रीयः—तेज; इष्ट—प्रिय; भर्तुः—पति का; यद्वत्—जिस तरह; वयम्—हम; मधु-पतेः—मधु के स्वामी; प्रणय—प्रेम; अवलोकम्—झलक; अप्राप्य—न पाते हुए; मुष्ट—ठगी हुई; हृदयाः—हृदयों वाली; पुरु—पूरी तरह; कर्शिताः—विदीर्ण; स्म—हो गई हैं।

हे समुद्र-पत्नी नदियो, अब तुम्हारे कुण्ड सूख गये हैं। हाय! तुम एकदम दुबली हो गई हो और तुम्हारी कमलों की सम्पत्ति लुप्त हो गई है। तो क्या तुम हमारी तरह हो, जो इसलिए म्लान हो रही हैं, क्योंकि उन्हें हृदयों को ठगने वाले अपने प्रिय पति मधुपति की स्नेहिल चितवन नहीं

मिल रही?

तात्पर्य : ग्रीष्म ऋतु में नदियों को अपने पति रूपी समुद्र से बादलों के द्वारा वर्षा की झड़ी नहीं मिल पाती। किन्तु नदियों के सूखने का असली कारण रानियों के अनुसार यह है कि वे समस्त सुख के आगार भगवान् कृष्ण की प्रेममयी चितवन पाने में विफल रही हैं।

हंस स्वागतमास्यतां पिब पयो ब्रूह्यङ्ग शौरेः कथां
दूतं त्वां नु विदाम कच्चिदजितः स्वस्त्यास्त उक्तं पुरा ।
किं वा नश्चलसौहृदः स्मरति तं कस्माद्भजामो वयं
क्षौद्रालापय कामदं श्रियमृते सैवैकनिष्ठा स्त्रियाम् ॥ २॥

शब्दार्थ

हंस—हे हंस; सु-आगतम्—स्वागत है; आस्यताम्—आओ और बैठो; पिब—पियो; पयः—दूध; ब्रूहि—हमें बतलाओ; अङ्ग—हे प्रिय; शौरेः—शौरि के; कथाम्—समाचार; दूतम्—संदेशवाहक को; त्वाम्—तुम; नु—निस्सन्देह; विदाम—हम पहचानती हैं; कच्चित्—क्या; अजितः—अजेय; स्वस्ति—कुशलपूर्वक; आस्ते—है; उक्तम्—कहा हुआ; पुरा—बहुत पहले; किम्—क्या; वा—अथवा; नः—हमको; चल—चलायमान; सौहृदः—जिसकी मित्रता; स्मरति—स्मरण करता है; तम्—उसको; कस्मात्—किस कारण से; भजामः—पूजा करें; वयम्—हम; क्षौद्र—हे क्षुद्र के सेवक; आलापय—उसे आने के लिए कहो; काम—इच्छा; दम्—देनेवाला; श्रियम्—लक्ष्मी के; ऋते—बिना; सा—वह; एव—अकेले; एक-निष्ठा—एकान्त भाव के अनुसार; स्त्रियाम्—स्त्रियों में से।

हे हंस, स्वागत है। कृपया यहाँ बैठो और थोड़ा दूध पियो। हमें अपने प्रिय शूरवंशी के कुछ समाचार बतलाओ। हम जानती हैं कि तुम उनके दूत हो। वे अजेय प्रभु कुशल से तो हैं? क्या हमारा वह अविश्वसनीय मित्र अब भी उन शब्दों का स्मरण करता है, जिन्हें उसने बहुत काल पूर्व कहा था? हम उसके पास क्यों जाँय और उसकी पूजा क्यों करें? हे क्षुद्र स्वामी के सेवक, जाकर उससे कहो कि वह लक्ष्मी के बिना यहाँ आकर हमारी इच्छाएँ पूरी करे। क्या वही एकमात्र स्त्री है, जो उसके प्रति विशेषरूप से अनुरक्त हो गया है?

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती रानियों तथा हंस के बीच हुई निम्नलिखित बातचीत सुनाते हैं—

रानियाँ पूछती हैं, "क्या अजेय प्रभु सकुशल हैं?"

हंस उत्तर देता है, "भला अपनी प्रिय पत्नियों के बिना कृष्ण कैसे कुशल से हो सकते है?"

"किन्तु क्या उसे स्मरण है, जो उसने एक बार हममें से एक, श्रीमती रुक्मिणी, से कहा था? क्या उसे स्मरण है कि उसने कहा था, "मैं सारे महलों में तुम जैसी प्रिया अन्य कोई पत्नी नहीं देखता हूँ।"

(भागवत .६०.५५ न त्वादृशीं प्रणयिनीं गृहिणीं गृहेषु पश्यामि)

“हाँ, उन्हें यह सब याद है, इसीलिए उन्होंने मुझे यहाँ भेजा है। तुम सब उनके पास जाओ और उनकी भक्ति में लगो।”

“यदि वह हमारे साथ रहने के लिए यहाँ आने से इनकार करता है, तो हम उसकी पूजा करने क्यों जायें?”

“किन्तु हे दयासिन्धो! वे तुम्हारी अनुपस्थिति से अत्यधिक कष्ट पा रहे हैं। वे इस कष्ट से कैसे बचाये जायें?”

“हे क्षुद्र स्वामी के सेवक! जरा सुनो तो, उसे यहाँ आने के लिए कहो, क्योंकि उसे आना चाहिए। यदि उसे कामेच्छा सता रही है, तो वह स्वयं दोषी हैं, क्योंकि काम-शक्ति का स्रष्टा वही है। हम आत्मसम्मान रखने वाली महिलाएँ उसकी माँग के सामने झुकने वाली नहीं हैं कि हम जाकर उसे ढूँढ़ें।”

“ऐसा ही हो, तब मैं विदा चाहूँगा।”

“नहीं, जरा एक मिनट! तुम यहाँ आने के लिए उसे कहो किन्तु लक्ष्मी के बिना, क्योंकि वह पूरे समय उसे अपने पास रख कर हमें सदैव ठगती है।”

“क्या तुम यह नहीं जानती कि लक्ष्मी देवी एकमात्र भगवान् के प्रति अनुरक्त हैं? भला वे उन्हें इस तरह क्यों छोड़ने लगे?”

“तो क्या संसार में वही एकमात्र ऐसी स्त्री है, जो उसके हाथ बिक चुकी है? हम कहाँ गईं?”

श्रीशुक उवाच
इतीदृशेन भावेन कृष्णे योगेश्वरेश्वरे ।
क्रियमाणेन माधव्यो लेभिरे परमां गतिम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस तरह कहते हुए; ईदृशेन—ऐसे; भावेन—भावपूर्ण प्रेम से; कृष्णे—कृष्ण के लिए; योग-ईश्वर—योग के स्वामियों के; ईश्वरे—स्वामी; क्रियमाणेन—आचरण करते हुए; माधव्यः—माधव की पत्नियों ने; लेभिरे—प्राप्त किया; परमाम्—चरम; गतिम्—गन्तव्य, लक्ष्य।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : योग के समस्त ईश्वरों के ईश्वर भगवान् कृष्ण के ऐसे भावमय प्रेम में बोलती तथा कार्य करती हुईं, उनकी प्रिय पत्नियों ने जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त किया।

तात्पर्य : आचार्य श्रील गोस्वामी के अनुसार यहाँ पर शुकदेव गोस्वामी *क्रियमाणेन* शब्द को

वर्तमान काल में यह सूचित करने के लिए प्रयुक्त करते हैं कि भगवान् की रानियों ने तुरन्त ही बिना विलम्ब उनके नित्य धाम को प्राप्त किया। इस अन्तर्दृष्टि से आचार्य इस झूठी कल्पना का निराकरण करते हैं कि इस लोक से कृष्ण के चले जाने पर कुछ आदिकालीन ग्वालों ने उनकी पत्नियों का तब अपहरण कर लिया, जब वे अर्जुन के संरक्षण में थीं। वस्तुत: जैसाकि स्वरूपसिद्ध वैष्णव टीकाकारों ने अन्यत्र व्याख्या की है भगवान् कृष्ण स्वयं ही उन चोरों के वेश में प्रकट हुए थे, जिन्होंने रानियों का अपहरण किया था। इस विषय पर अधिक जानकारी के लिए *श्रीमद्भागवत* (१.१५.२०) के श्रील प्रभुपाद द्वारा लिखित तात्पर्य को देखना चाहिए।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की टिप्पणी है कि इन भद्र महिलाओं ने जो चरम गति प्राप्त की वह निर्विशेष योगियों की मुक्ति नहीं थी अपितु *प्रेम-भक्ति* की पूर्ण दशा थी। निस्सन्देह, चूँकि वे प्रारम्भ से दिव्य भगवत्प्रेम से ओतप्रोत थीं, अतएव उन्हें सच्चिदानन्द विग्रह प्राप्त था, जिसमें वे भगवान् की अन्तरंग मधुर लीलाओं के आदान-प्रदान का आनन्द प्राप्त कर सकती थीं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के मतानुसार, उनका भगवत्प्रेम *भावोन्माद* में बदल चुका था, जिस तरह गोपियों के प्रेम के साथ हुआ था, जब कृष्ण उनके रासनृत्य के बीच से ही अदृश्य हो गये थे। उस समय गोपियों ने पूर्ण भावोन्माद का अनुभव किया था, जिसको उन्होंने जंगल के विविध जन्तुओं से पूछताछ करते हुए तथा इन शब्दों द्वारा *कृष्णोऽहं पश्यत गतिम्* (मैं कृष्ण हूँ। देखो न, मैं कितने गौरव से चल रही हूँ।'' (*भागवत* .३०.१९) व्यक्त किया था। इसी तरह भगवान् द्वार काधीश की प्रमुख पत्नियों के प्रेम-भाव या *विलास* ने उनमें *प्रेमवैचित्र्य* के लक्षण उत्पन्न किये, जिसे वे यहाँ प्रकट कर रही हैं।

श्रुतमात्रोऽपि यः स्त्रीणां प्रसह्याकर्षते मनः ।
उरुगायोरुगीतो वा पश्यन्तीनां च किं पुनः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्रुत—सुना हुआ; मात्रः—केवल; अपि—भी; यः—जो (भगवान् कृष्ण); स्त्रीणाम्—स्त्रियों के; प्रसह्य—बल से; आकर्षते—आकर्षित करता है; मनः—मनों को; उरु—अनेक; गाय—गीतों द्वारा; उरु—असंख्य प्रकारों से; गीतः—गाया हुआ; वा—दूसरी ओर; पश्यन्तीनाम्—उसे देखने वाली स्त्रियों के; च—तथा; किम्—क्या; पुनः—अधिक।

भगवान् जिनका महिमागान असंख्य गीतों द्वारा असंख्य प्रकार से होता हैं, वे उन समस्त स्त्रियों के मन को बलपूर्वक आकर्षित करते हैं, जो उनके विषय में श्रवण मात्र करती हैं। तो फिर उन स्त्रियों के विषय में क्या कहा जाय, जो प्रत्यक्ष रुप से उनका दर्शन करती हैं?

याः सम्पर्यचरन्प्रेम्णा पादसंवाहनादिभिः ।
जगद्गुरुं भर्तृबुद्ध्या तासां किम्वर्ण्यते तपः ॥ २७॥

शब्दार्थ

याः—जो; सम्पर्यचरन्—पूरी तरह सेवित; प्रेम्णा—शुद्ध प्रेम से; पाद—उनके पैर; संवाहन—मालिश; आदिभिः—इत्यादि के द्वारा; जगत्—ब्रह्माण्ड के; गुरुम्—गुरु को; भर्तृ—अपने पति रूप में; बुद्ध्या—प्रवृत्ति से; तासाम्—उनकी; किम्—कैसे; वर्ण्यते—वर्णन किया जा सकता है; तपः—तपस्या का।

और उन स्त्रियों द्वारा, जिन्होंने शुद्ध प्रेमभाव से ब्रह्माण्ड के गुरु की सेवा की उनके द्वारा सम्पन्न महान् तपस्या का भला कोई कैसे वर्णन कर सकता है? उन्हें अपना पति मानकर, उन्होंने उनके पाँव दबाने जैसी घनिष्ठ सेवाएँ कीं।

एवं वेदोदितं धर्ममनुतिष्ठन्सतां गतिः ।
गृहं धर्मार्थकामानां मुहुश्चादर्शयत्पदम् ॥ २८॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; वेद—वेदों द्वारा; उदितम्—कहा गया; धर्मम्—धर्म; अनुतिष्ठन्—सम्पन्न करते हुए; सताम्—सन्त-भक्तों के; गतिः—लक्ष्य; गृहम्—घर; धर्म—धार्मिकता; अर्थ—आर्थिक विकास; कामानाम्—तथा इन्द्रिय-तृप्ति के; मुहुः—बारम्बार; च—तथा; आदर्शयत्—उन्होंने प्रदर्शित किया; पदम्—स्थान के रूप में।

इस तरह वेदों द्वारा आदेशित कर्तव्यों का पालन करते हुए सन्त-भक्तों के लक्ष्य भगवान् कृष्ण ने बारम्बार प्रदर्शित किया कि कोई व्यक्ति घर पर किस तरह धर्म, आर्थिक विकास तथा नियमित इन्द्रिय-तृप्ति के लक्ष्यों को प्राप्त कर सकता है।

आस्थितस्य परं धर्मं कृष्णस्य गृहमेधिनाम् ।
आसन्षोडशसाहस्रं महिष्यश्च शताधिकम् ॥ २९॥

शब्दार्थ

आस्थितस्य—स्थित; परम्—सर्वोच्च; धर्मम्—धार्मिक सिद्धान्तों को; कृष्णस्य—कृष्ण के; गृह-मेधिनाम्—गृहस्थाश्रम वालों के; आसन्—थे; षोडश—सोलह; साहस्रम्—हजार; महिष्यः—रानियाँ; च—तथा; शत—एक सौ से; अधिकम्-प्लुस्.

धार्मिक गृहस्थ-जीवन के सर्वोच्च आदर्शों को पूरा करते हुए, भगवान् कृष्ण के १६,० से अधिक पत्नियाँ थीं।

तासां स्त्रीरत्नभूतानामष्टौ याः प्रागुदाहृताः ।
रुक्मिणीप्रमुखा राजंस्तत्पुत्राश्चानुपूर्वशः ॥ ३०॥

शब्दार्थ

तासाम्—उनमें से; स्त्री—स्त्रियों की; रत्न—रत्न या मणियों जैसी; भूतानाम्—थीं; अष्टौ—आठ; याः—जो; प्राक्—इसके पूर्व; उदाहृताः—वर्णित; रुक्मिणी-प्रमुखाः—रुक्मिणी इत्यादि; राजन्—हे राजा (परीक्षित); तत्—उनके; पुत्राः—पुत्र; च—भी; अनुपूर्वशः—उसी क्रम में।

इन रत्न जैसी स्त्रियों में से रुक्मिणी इत्यादि आठ प्रमुख रानियाँ थीं। हे राजन्, मैं पहले ही इनके पुत्रों के साथ-साथ इनका क्रमिक वर्णन कर चुका हूँ।

एकैकस्यां दश दश कृष्णोऽजीजनदात्मजान् ।
यावत्य आत्मनो भार्या अमोघगतिरीश्वरः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एक-एकस्याम्—उनमें से प्रत्येक के; दश दश—दस-दस; कृष्णः—कृष्ण ने; अजीजनत्—उत्पन्न किया; आत्म-जान्—पुत्रों को; यावत्यः—जितनी; आत्मनः—उनकी; भार्याः—पत्नियाँ; अमोघ—कभी विफल न होने वाला; गतिः—जिसका प्रयास; ईश्वरः—भगवान्।

ऐसे भगवान् कृष्ण ने, जिनका प्रयास कभी विफल नहीं होता, अपनी हर एक पत्नी से दस-दस पुत्र उत्पन्न किये।

तात्पर्य : इस तरह कृष्ण के पुत्रों की कुल संख्या १,६१,०८० थी और उनकी प्रत्येक पत्नी से एक-एक पुत्री भी थी।

तेषामुद्दामवीर्याणामष्टादश महारथाः ।
आसन्नुदारयशसस्तेषां नामानि मे शृणु ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—इन (पुत्रों) के; उद्दाम—असीम; वीर्याणाम्—जिनका पराक्रम; अष्टा-दश—अठारह; महा-रथाः—महारथों, सर्वोच्च श्रेणी के रथ-योद्धा; आसन्—थे; उदार—विस्तृत; यशसः—जिनकी ख्याति; तेषाम्—उनके; नामानि—नाम; मे—मुझसे; शृणु—सुनो।

इन असीम पराक्रम वाले पुत्रों में से अठारह महान् ख्याति वाले महारथ थे। अब मुझसे उनके नाम सुनो।

प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च दीप्तिमान्भानुरेव च ।
साम्बो मधुर्बृहद्भानुश्चित्रभानुर्वृकोऽरुणः ॥ ३३ ॥
पुष्करो वेदबाहुश्च श्रुतदेवः सुनन्दनः ।
चित्रबाहुर्विरूपश्च कविर्न्यग्रोध एव च ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

प्रद्युम्नः—प्रद्युम्न; च—तथा; अनिरुद्धः—अनिरुद्ध; च—तथा; दीप्तिमान् भानुः—दीप्तिमान तथा भानु; एव च—भी; साम्बः मधुः बृहत्-भानुः—साम्ब, मधु तथा बहद्भानु; चित्र-भानुः वृकः अरुणः—चित्रभानु, वृक तथा अरुण; पुष्करः वेद-बाहुः

च—पुष्कर तथा वेदबाहु; श्रुतदेवः सुनन्दनः—श्रुतदेव तथा सुनन्दन; चित्र-बाहुः विरूपः च—चित्रबाहु तथा विरूप; कविः न्यग्रोधः—कवि तथा न्यग्रोध; एव च—भी।

इनके नाम थे प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, दीप्तिमान्, भानु, साम्ब, मधु, बृहद्भानु, चित्रभानु, वृक, अरुण, पुष्कर, वेदबाहु, श्रुतदेव, सुनन्दन, चित्रबाहु, विरूप, कवि तथा न्यग्रोध।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार यहाँ पर उल्लिखित अनिरुद्ध भगवान् कृष्ण का पुत्र था, प्रद्युम्न से उत्पन्न उनका प्रसिद्ध पौत्र नहीं।

एतेषामपि राजेन्द्र तनुजानां मधुद्विषः ।
प्रद्युम्न आसीत्प्रथमः पितृवद् रुक्मिणीसुतः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

एतेषाम्—इनमें से; अपि—तथा; राज-इन्द्र—हे राजाओं में प्रधान; तनु-जानाम्—पुत्रों में से; मधु-द्विषः—मधु असुर के शत्रु कृष्ण के; प्रद्युम्नः—प्रद्युम्न; आसीत्—था; प्रथमः—पहला; पितृवत्—अपने पिता के ही समान; रुक्मिणी-सुतः—रुक्मिणी का पुत्र।

हे राजाओं में श्रेष्ठ, मधु के शत्रु भगवान् कृष्ण द्वारा उत्पन्न किये गये इन पुत्रों में से रुक्मिणी-पुत्र प्रद्युम्न सर्वप्रमुख था। वह अपने पिता के ही समान था।

स रुक्मिणो दुहितरमुपयेमे महारथः ।
तस्यां ततोऽनिरुद्धोऽभूत्नागायतबलान्वितः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने (प्रद्युम्न ने); रुक्मिणः—रुक्मी (रुक्मिणी के बड़े भाई) की; दुहितरम्—पुत्री, रुक्मवती से; उपयेमे—विवाह किया; महा-रथः—महारथी; तस्याम्—उससे; ततः—तब; अनिरुद्धः—अनिरुद्ध; अभूत्—उत्पन्न हुआ; नाग—हाथी के; अयुत—दस हजार; बल—बल से; अन्वितः—युक्त।

महारथी प्रद्युम्न ने रुक्मी की पुत्री (रुक्मवती) से विवाह किया, जिसने अनिरुद्ध को जन्म दिया। वह दस हजार हाथियों जितना बलवान् था।

स चापि रुक्मिणः पौत्रीं दौहित्रो जगृहे ततः ।
वज्रस्तस्याभवद्यस्तु मौषलादवशेषितः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने (अनिरुद्ध ने); च—तथा; अपि—आगे; रुक्मिणः—रुक्मी की; पौत्रीम्—पोती, (रोचना से); दौहित्रः—(रुक्मी) पुत्री का पुत्र; जगृहे—ग्रहण किया; ततः—तत्पश्चात्; वज्रः—वज्र ने; तस्य—उसके पुत्र रुप में; अभवत्—जन्म लिया; यः—जो; तु—लेकिन; मौषलात्—लोहे के बने मूसल से यदुओं की विनाश-लीला के बाद; अवशेषितः—बचा रहा।

रुक्मी की पुत्री के पुत्र (अनिरुद्ध) ने रुक्मी के पुत्र की कन्या (रोचना) से विवाह किया। उससे वज्र उत्पन्न हुआ, जो यदुओं के मूसल-युद्ध के बाद कुछ बचने वालों में से एक था।

प्रतिबाहुरभूत्तस्मात्सुबाहुस्तस्य चात्मजः ।
सुबाहोः शान्तसेनोऽभूच्छतसेनस्तु तत्सुतः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

प्रति-बाहुः—प्रतिबाहु; अभूत्—हुआ; तस्मात्—उस (वज्र) से; सुबाहुः—सुबाहु; तस्य—उसका; च—तथा; आत्म-जः—पुत्र; सु-बाहोः—सुबाहु से; शान्त-सेनः—शान्तसेन; अभूत्—हुआ; शत-सेनः—शतसेन; तु—तथा; तत्—उसका (शान्तसेन का); सुतः—पुत्र।

वज्र से प्रतिबाहु उत्पन्न हुआ, जिसका पुत्र सुबाहु था। सुबाहु का पुत्र शान्तसेन था और शान्तसेन से शतसेन उत्पन्न हुआ।

न ह्येतस्मिन्कुले जाता अधना अबहुप्रजाः ।
अल्पायुषोऽल्पवीर्याश्च अब्रह्मण्याश्च जज्ञिरे ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; एतस्मिन्—इस; कुले—परिवार में; जाताः—उत्पन्न; अधनः—निर्धन; अ-बहु—अनेक नहीं; प्रजाः—पुत्र; अल्प-आयुषः—कम उम्र वाले; अल्प—कम; वीर्याः—पराक्रम वाले; च—तथा; अब्रह्मण्याः—ब्राह्मण के प्रति निष्ठावान् नहीं; च—तथा; जज्ञिरे—उत्पन्न हुए।

इस परिवार के ऐसा कोई भी व्यक्ति उत्पन्न नहीं हुआ, जो निर्धन हो या सन्तानहीन, अल्पायु, निर्बल या ब्राह्मण संस्कृति के प्रति उपेक्षावान् हो।

यदुवंशप्रसूतानां पुंसां विख्यातकर्मणाम् ।
सङ्ख्या न शक्यते कर्तुमपि वर्षायुतैर्नृप ॥ ० ॥

शब्दार्थ

यदु-वंश—यदुवंश में; प्रसूतानाम्—जन्म लेने वाले; पुंसाम्—मनुष्यों को; विख्यात—प्रसिद्ध; कर्मणाम्—कर्मों वाले; सङ्ख्या—गिनती; न शक्यते—सम्भव नहीं; कर्तुम्—कर पाना; अपि—भी; वर्ष—वर्षों में; अयुतैः—दस हजार; नृप—हे राजा (परीक्षित)।

यदुवंश ने विख्यात कृत्यों वाले असंख्य महापुरुषों को जन्म दिया। हे राजन्, उन सबों की गिनती दस हजार से अधिक वर्षों में भी नहीं की जा सकती।

तिस्रः कोट्यः सहस्राणामष्टाशीतिशतानि च ।
आसन्यदुकुलाचार्याः कुमाराणामिति श्रुतम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

तिस्रः—तीन; कोट्यः—करोड़; सहस्राणाम्—हजार; अष्टा-अशीति—अट्ठासी; शतानि—सौ; च—तथा; आसन्—थे; यदु-कुल—यदुवंश के; आचार्याः—शिक्षक; कुमाराणाम्—बालकों के लिए; इति—इस प्रकार; श्रुतम्—सुना गया है।

मैंने प्रामाणिक स्रोतों से सुना है कि यदुवंश ने अपने बालकों को शिक्षा देने के लिए ही

३,८८,००,००० शिक्षक नियुक्त किये थे।

सङ्ख्यानं यादवानां कः करिष्यति महात्मनाम् ।
यत्रायुतानामयुतलक्षेणास्ते स आहुकः ॥ २॥

शब्दार्थ

सङ्ख्यानम्—गिनती; यादवानाम्—यादवों की; कः—कौन; करिष्यति—कर सकता है; महा-आत्मनाम्—महापुरुषों की; यत्र—जिनमें से; अयुतानाम्—दस हजारों के; अयुत—दस हजार (गुना); लक्षेण—(तीन) सौ हजार (व्यक्तियों) समेत; आस्ते—उपस्थित थे; सः—वह; आहुकः—उग्रसेन।.

भला महान् यादवों की गणना कौन कर सकता है, जबकि उनमें से राजा उग्रसेन के साथ तीन नील (३,००,००,००,००,००,०००) परिचारक रहते थे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इसकी व्याख्या की है कि राजा उग्रसेन के परिचारकों की संख्या असंख्य नीलों में न बताई जाकर तीन नील कही गई है। उन्होंने *कपिञ्जलाधिकरण* की व्याख्या (कबूतरों के संदर्भ) का नियम उद्धृत किया है। वेदों में कहीं पर आदेश है कि "मनुष्य को चाहिए कि कुछ कबूतरों की बलि दे।" इसका तात्पर्य असंख्य कबूतर नहीं अपितु केवल तीन कबूतर है क्योंकि वेद किसी विषय को अस्पष्ट नहीं छोड़ते हैं। मीमांसा के नियमानुसार, जब कोई संख्या न व्यक्त हो तो उसे तीन मानना चाहिए।

देवासुराहवहता दैतेया ये सुदारुणाः ।
ते चोत्पन्ना मनुष्येषु प्रजा दृप्ता बबाधिरे ॥ ३॥

शब्दार्थ

देव-असुर—देवताओं तथा असुरों के मध्य; आहव—युद्धों में; हताः—मारे गये; दैतेयाः—असुरगण; ये—जो; सु—अत्यन्त; दारुणाः—भयानक; ते—वे; च—तथा; उत्पन्नाः—उत्पन्न हुए; मनुष्येषु—मनुष्यों के बीच में; प्रजाः—जनता को; दृप्ताः—उद्धत; बबाधिरे—सताने लगे।.

दिति की जंगली सन्तानों ने जो भूतकाल में देवताओं तथा असुरों के मध्य हुए युद्धों में मारी गई थीं, मनुष्यों के बीच जन्म लिया और वे उद्धत होकर सामान्य जनता को सताने लगे थे।

तन्निग्रहाय हरिणा प्रोक्ता देवा यदोः कुले ।
अवतीर्णाः कुलशतं तेषामेकाधिकं नृप ॥ ॥

शब्दार्थ

तत्—उनके; निग्रहाय—दमन के लिए; हरिणा—भगवान् कृष्ण द्वारा; प्रोक्ताः—कहा गया; देवाः—देवतागण; यदोः—यदु के; कुले—कुल में; अवतीर्णाः—अवतरित; कुल—कुलों के; शतम्—एक सौ; तेषाम्—उनके; एक-अधिकम्—एक और; नृप—हे राजा (परीक्षित)।

इन असुरों का दमन करने के लिए भगवान् हरि ने देवताओं से यदुकुल में अवतार लेने के लिए कहा। हे राजन् ऐसे १ कुल थे।

तेषां प्रमाणं भगवान्प्रभुत्वेनाभवद्धरिः ।
ये चानुवर्तिनस्तस्य ववृधुः सर्वयादवाः ॥ ५॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उनमें से; प्रमाणम्—प्रमाण; भगवान्—भगवान्; प्रभुत्वेन—भगवान् होने के कारण; अभवत्—था; हरिः—भगवान् हरि; ये—जो; च—तथा; अनुवर्तिनः—निजी संगी; तस्य—उसके; ववृधुः—उन्नति की; सर्व—सारे; यादवाः—यादवों ने।

चूँकि श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, अतएत यादवों ने उन्हें अपना परम प्रमाण (सत्ता) मान लिया। और इन सबों में से, जो उनके घनिष्ठ संगी थे उन्होंने विशेष रूप से उन्नति की।

शय्यासनाटनालापक्रीडास्नानादिकर्मसु ।
न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः ॥ ६॥

शब्दार्थ

शय्या—सोते; आसन—बैठते; अटन—घूमते; आलाप—बात करते; क्रीड—खेलते; स्नान—नहाते; आदि—इत्यादि; कर्मसु—कार्यों में; न विदुः—वे अवगत न थे; सन्तम्—उपस्थित; आत्मानम्—वे स्वयं; वृष्णयः—वृष्णिजन; कृष्ण—कृष्ण में (लीन); चेतसः—जिनके मन।

वृष्णिजन कृष्णभावनामृत में इतने लीन थे कि वे सोते, बैठते, घूमते, बातें करते, खेलते, नहाते इत्यादि कार्य करते समय अपने ही शरीर की सुधि-बुधि भूल गये।

तीर्थं चक्रे नृपोनं यदजनि यदुषु स्वःसरित्पादशौचं
विद्विट्स्निग्धाः स्वरूपं ययुरजितपर श्रीर्यदर्थेऽन्ययत्नः ।
यन्नामामङ्गलघ्नं श्रुतमथ गदितं यत्कृतो गोत्रधर्मः
कृष्णस्यैतन्न चित्रं क्षितिभरहरणं कालचक्रायुधस्य ॥ ७॥

शब्दार्थ

तीर्थम्—तीर्थस्थान; चक्रे—बनाया; नृप—हे राजा (परीक्षित); ऊनम्—घट कर; यत्—जो (कृष्ण की महिमा); अजनि—उसने जन्म लिया; यदुषु—यदुओं के मध्य; स्वः—स्वर्ग की; सरित्—नदी; पाद—जिसके पैर; शौचम्—जो (जल) धोता है; विद्विट्—शत्रु; स्निग्धाः—तथा प्रियजन; स्वरूपम्—जिनके स्वरूप; ययुः—प्राप्त किया; अजित—अजेय; परा—तथा पूर्ण; श्रीः—लक्ष्मी; यत्—जिसके; अर्थे—हेतु; अन्य—अन्य; यत्नः—प्रयास; यत्—जिसका; नाम—नाम; अमङ्गल—अशुभ को; घ्नम्—नष्ट करने वाला; श्रुतम्—सुना हुआ; अथ—अथवा; गदितम्—कहा गया; यत्—जिसके द्वारा; कृतः—उत्पन्न; गोत्र—

(विभिन्न मुनियों के) गोत्रों में; धर्मः—धर्म; कृष्णस्य—कृष्ण के लिए; एतत्—यह; न—नहीं; चित्रम्—आश्चर्यजनक; क्षिति—पृथ्वी के; भर—भार के; हरणम्—उतारने के लिए; काल—समय का; चक्र—पहिया; आयुधस्य—जिसका हथियार।

स्वर्ग की गंगा पवित्र तीर्थ है, क्योंकि उसका जल भगवान् के चरणों को पखारता है। किन्तु जब भगवान् ने यदुओं के बीच अवतार लिया, तो उनके यश के कारण पवित्र स्थान के रूप में गंगा नदी का महत्त्व कम हो गया। किन्तु कृष्ण से घृणा करने वालों तथा उनसे प्रेम करने वालों ने आध्यात्मिक लोक में उन्हीं के समान नित्य स्वरूप प्राप्त किया। अप्राप्य तथा परम आत्मतुष्ट लक्ष्मी जिनकी कृपा के लिए हर कोई संघर्ष करता है एकमात्र उन्हीं की हैं। उनके नाम का श्रवण या कीर्तन करने से समस्त अमंगल नष्ट हो जाता है। एकमात्र उन्हीं ने ऋषियों की विविध शिष्य-परम्पराओं के सिद्धान्त निश्चित किये हैं। इसमें कौन-सा आश्चर्य है कि कालचक्र, जिसका हथियार हो, उसने पृथ्वी के भार को उतारा?

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध में आदि से अन्त तक वृन्दावन, मथुरा तथा द्वारका में कृष्ण की लीलाओं का वर्णन हुआ है। जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती संकेत करते हैं यह श्लोक भगवान् श्रीकृष्ण की उन पाँच विशिष्ट महिमाओं का उल्लेख करके दसवें स्कंध की इति कर देता है, जो उनके विस्तार, अंश और अवतार भी प्रदर्शित नहीं कर पाते।

प्रथम तो यह कि जब भगवान् कृष्ण यदुवंश में अवतरित हुए, तो उनके यश से पवित्र गंगा की ख्याति कम हो गई। इसके पूर्व माता गंगा समस्त तीर्थों में सर्वाधिक पवित्र मानी जाती थीं, क्योंकि इसी के जल ने भगवान् वामन देव के चरणों को धोया था। यमुना नामक अन्य नदी, व्रज तथा मथुरा में भगवान् कृष्ण के चरणों की धूल का स्पर्श करके गंगा से भी बढ़ गई।

गंगाशतगुणा प्रायो माथुरे मम मण्डले।

यमुना विश्रुता देवि नात्र कार्या विचारणा॥

"मेरे मथुरा राज्य में विख्यात यमुना नदी गंगा से सैकड़ों गुना बड़ी है। हे देवि! इसमें कोई मतभेद नहीं हो सकता।" (*वराह पुराण*)

दूसरे, भगवान् कृष्ण ने न केवल अपने शरणागत भक्तों को मोक्ष प्रदान किया, अपितु उन्हें भी, जो अपने को उनका शत्रु मानते थे। व्रज की गोपियों तथा अन्य भक्तों ने वैकुण्ठ में उनकी नित्य लीलाओं में सम्मिलित होकर उनका सान्निध्य प्राप्त किया, जबकि उनके द्वारा मारे गये शत्रु-असुरों को उनके

दिव्य स्वरूप में लीन होकर *सायुज्य मुक्ति* प्राप्त हुई। जब वे इस धराधाम में उपस्थित थे, तो उनकी कृपा उनके परिवार, मित्रों तथा सेवकों पर तो थी ही, प्रत्युत उनके शत्रुओं तथा उनके परिवारों, मित्रों तथा सेवकों पर भी थी। ब्रह्मा जैसे महापुरुषों ने इस तथ्य का उल्लेख किया हैं—*सद्वेषाद् इव पूतनापि सकुला त्वमेव देवापिता*—हे प्रभु! आपने पूतना तथा उसके परिवार वालों को अपने आपको इसीलिए दे डाला, क्योंकि उसने भक्त का वेश बना रखा था। (*भागवत* .१.३५)

तीसरे, भगवान् नारायण की नित्य संगिनी देवी लक्ष्मी को जिनकी कृपा पाने के लिए बड़े बड़े देवता तुच्छ सेवा-कार्य करते हैं, व्रज में भगवान् कृष्ण के भक्तों की साक्षात् संगति प्राप्त करने का सुयोग नहीं मिल पाया। रासनृत्य में तथा कृष्ण की अन्य लीलाओं में भाग लेने की उत्सुकता होने पर भी तथा इसके लिए कठिन तपस्या करने पर भी वे स्वाभाविक आदर-भाव का अतिक्रमण नहीं कर पाईं। वृन्दावन में प्रदर्शित भगवान् कृष्ण का माधुर्य तथा घनिष्ठता ऐसा अद्वितीय प्रकार का ऐश्वर्य है, जो वैकुण्ठ तक में कहीं नहीं पाया जाता। जैसाकि श्री उद्धव कहते हैं—

यन् मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्।

विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणांगम्॥

"अपनी आध्यात्मिक शक्ति के बल के प्रदर्शनार्थ भगवान् कृष्ण ने ऐसा रूप प्रकट किया, जो इस भौतिक जगत में उनकी मानव जैसी लीलाओं के उपयुक्त था। यह रूप उनके लिए भी अद्भुत सौभाग्य की सम्पत्ति का परम धाम था। इसके अंग इतने सुन्दर थे कि वे उनके शरीर के विभिन्न भागों में पहने गये आभूषणों के सौन्दर्य को बढ़ाने वाले थे।" (भागवत ३.२.१२)

चौथे, कृष्ण नाम नारायण नाम से तथा भगवान् कृष्ण के अन्य अंशों के नामों से श्रेष्ठ है। *कृष्* तथा *ण*—ये दो अक्षर मिलकर समस्त अमंगल तथा मोह को नष्ट करने वाले हैं। उच्चारण करने पर कृष्ण नाम *श्रुतमथ* बन जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि कृष्ण नाम का उच्चारण शास्त्रों (*श्रुत*) में वर्णित अन्य समस्त आध्यात्मिक विधियों की उत्तमता को पूर्णतया कुचल देता है (*मथ्नाति*)। *ब्रह्माण्ड पुराण* के शब्दों में—

सहस्रनाम्नां पुण्यानां त्रिरावृत्त्या तु यत्फलम्।

एकावृत्त्या तु कृष्णस्य मामैकं तत्प्रयच्छति॥

"केवल एक बार कृष्ण नाम उच्चारण करने से मनुष्य को वही लाभ मिलता है, जो तीन बार विष्णु के सहस्र नामों का उच्चारण करने पर मिलता है।"

पाँचवें, भगवान् कृष्ण ने दृढ़तापूर्वक धर्म रूपी बैल को उसके दया, तपस्या, शौच तथा सत्य रूपी चार पैरों पर पुन: स्थापित किया। इस तरह धर्म एक बार पुन: गोत्र अर्थात् पृथ्वी का रक्षक बन सका। श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय पर्वत, गौवों तथा ब्राह्मणों का सम्मान करने के लिए गोवर्धन पूजा के धार्मिक उत्सव को प्रचलित किया। वे स्वयं *गोत्र* अर्थात् पर्वत बने और उन्होंने ग्वालों की भेंटें स्वीकार कीं। यही नहीं, उन्होंने व्रज के दिव्य ग्वालों (गोपों) के *धर्म* अर्थात् प्रेममय स्वभाव का अनुशीलन किया, जिनका प्रेम उनके प्रति अद्वितीय था।

ये कुछेक अद्भुत गुण हैं भगवान् कृष्ण के अद्वितीय व्यक्तित्व के।

जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो
यदुवरपरिषत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम् ।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन
व्रजपुरवनितानां वर्धयन्कामदेवम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

जयति—शाश्वत यशस्वी बनकर जीवित रहता है; जन-निवास:—जो यदुवंश के सदस्यों जैसे मनुष्यों के बीच रहता है और जो समस्त जीवों का चरम आश्रय है; देवकी-जन्म-वाद:—देवकी के पुत्र रूप में जाने जाते हैं (भगवान् का कोई माता-पिता नहीं होता इसलिए वे देवकी के पुत्र जाने जाते हैं। इसी तरह वे यशोदा, वसुदेव तथा नन्द महाराज के पुत्र जाने जाते हैं); यदु-वर-परिषत्—यदुवंश के सदस्यों अथवा वृन्दावन के गोपों द्वारा सेवित (जो सभी भगवान् के नित्य संगी तथा नित्य दास हैं); स्वै: दोर्भि:—अपनी बाहुओं से या अर्जुन जैसे भक्तों से, जो उनकी भुजाओं जैसे हैं; अस्यन्—मारते हुए; अधर्मम्—असुरों को या अमंगलकारियों को; स्थिर-चर-वृजिन-घ्न:—समस्त चर तथा अचर जीवों के दुर्भाग्य के विनाशक; सु-स्मित—सदैव हँसते हुए; श्री-मुखेन—अपने सुन्दर मुखड़े से; व्रज-पुर-वनितानाम्—वृन्दावन की युवतियों की; वर्धयन्—बढ़ाते हुए; काम-देवम्—कामेच्छाओं को।

भगवान् श्रीकृष्ण जन-निवास के नाम से विख्यात हैं अर्थात् वे समस्त जीवों के परम आश्रय हैं। वे देवकीनन्दन या यशोदानन्दन भी कहलाते हैं। वे यदुकुल के पथ-प्रदर्शक हैं और वे अपनी बलशाली भुजाओं से समस्त अमंगल को तथा समस्त अपवित्र व्यक्तियों का वध करते हैं। वे अपनी उपस्थिति से समस्त चर तथा अचर प्राणियों के अमंगल को नष्ट करते हैं। उनका आनन्दपूर्ण मन्द हासयुक्त मुख वृन्दावन की गोपियों की कामेच्छाओं को बढ़ाने वाला है। उनकी जय हो और वे प्रसन्न हों।

तात्पर्य : इस श्लोक का भावार्थ तथा श्रील प्रभुपाद द्वारा *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (मध्य १३.७९) की

अंग्रेजी भाषा में की गई व्याख्या पर आधारित है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार श्रील शुकदेव गोस्वामी ने इस सुन्दर श्लोक की रचना उनको सान्त्वना प्रदान करने के लिए की जो यह शोक व्यक्त करते हैं कि भगवान् कृष्ण ने वर्तमान समय तक अपनी लीलाएँ प्रकट करना जारी क्यों नहीं रखा। यहाँ पर श्रीशुकदेव श्रोताओं को याद दिलाते हैं कि भगवान् इस संसार में—अपने पवित्र धाम, अपने नाम तथा अपनी महिमा के गायन में—शाश्वत रहते हैं। यह भाव *जयति* शब्द से व्यक्त किया गया है, जो वर्तमान काल का सूचक है, भूत काल का नहीं।

भगवान् श्रीकृष्ण में श्रील प्रभुपाद ने इस श्लोक की व्याख्या निम्नवत् की है, ''श्रील शुकदेव गोस्वामी भगवान् श्रीकृष्ण के सर्वश्रेष्ठ पद के विवरण को निम्न प्रकार से भगवान् का यशोगान करके समाप्त करते हैं ''हे भगवान् श्रीकृष्ण! आपकी जय हो। आप सबके हृदयों में परमात्मा रूप में स्थित हैं अतएव आप *जन-निवास* के नाम से विख्यात हैं—अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में निवास करने वाले। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है—*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*—परमात्मा रूप में भगवान् हर व्यक्ति के हृदय में निवास करते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि श्री भगवान् के रूप में श्रीकृष्ण का पृथक् अस्तित्व नहीं है। मायावादी दार्शनिक परब्रह्म की सर्वव्यापकता के लक्षण को स्वीकार करते हैं किन्तु जब परब्रह्म या परमेश्वर प्रकट होते हैं, तो वे विचार करते हैं कि परब्रह्म भौतिक प्रकृति के नियंत्रण में प्रकट होते हैं। क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण देवकीसुत के रूप में प्रकट हुए थे, अतः मायावादी दार्शनिक श्रीकृष्ण को इस भौतिक जगत में जन्म लेने वाला सामान्य प्राणी मानते हैं। अतएव शुकदेव गोस्वामी उनको चेतावनी देते हैं कि *देवकीजन्मवादः*, अर्थात् यद्यपि श्रीकृष्ण देवकी-पुत्र के रूप में प्रसिद्ध हैं, किन्तु वे परमात्मा अथवा सर्वव्यापी भगवान् हैं।

किन्तु भक्तगण इस *देवकीजन्मवादः* शब्द को भिन्न रूप में लेते हैं। वे समझते हैं कि वस्तुतः श्रीकृष्ण माता यशोदा के पुत्र थे। यद्यपि श्रीकृष्ण सर्वप्रथम देवकी के पुत्र रूप में प्रकट हुए, किन्तु तत्काल माता यशोदा की गोद में चले गये थे और माता यशोदा तथा नन्द महाराज ने उनकी बाल-लीलाओं का आनन्द लूटा। जब वसुदेव ने नन्द महाराज तथा यशोदा से कुरुक्षेत्र में भेंट की थी तो, उन्होंने यह तथ्य स्वयं स्वीकार किया था। उन्होंने यह स्वीकार किया था कि श्रीकृष्ण तथा बलराम वस्तुतः माता यशोदा तथा नन्द महाराज के पुत्र थे। देवकी तथा वसुदेव उनके नाम के माता-पिता थे।

तत्पश्चात् श्रीशुकदेव गोस्वामी ने *यदुवरपरिषत्*—अर्थात् यदुवंश की सभा द्वारा सम्मानित कह कर तथा अनेक प्रकार के असुरों का वध करने वाले के रूप में भगवान् की प्रशंसा की है। भगवान् श्रीकृष्ण अपनी विभिन्न भौतिक शक्तियों का प्रयोग करके सारे असुरों का वध कर सकते थे, किन्तु उन्हें मोक्ष देने के उद्देश्य से वे उनका वध अपने हाथों से करना चाहते थे। असुरों का वध करने के लिए ही श्रीकृष्ण को इस भौतिक जगत में आने की कोई आवश्यकता नहीं थी। उनके व्यक्तिगत प्रयास के बिना ही उनकी इच्छामात्र से सैकड़ों-हजारों असुरों का वध हो सकता था, किन्तु वस्तुत: वे अपने शुद्ध भक्तों के लिए, एक बालक के रूप में माता यशोदा तथा नन्द महाराज के साथ क्रीड़ा करने तथा द्वारकावासियों को सुख प्रदान करने के लिए अवतीर्ण हुए थे। असुरों का वध एवं भक्तों की रक्षा करके श्रीकृष्ण ने असली धर्म के सिद्धान्त की स्थापना की, जो कि केवल भगवत्प्रेम है। भगवान् के प्रति प्रेम के वास्तविक धर्म का अनुसरण करके *स्थिरचर* नाम से जाने जानेवाले जीव भी समस्त भौतिक दूषणों से मुक्त हो गये तथा आध्यात्मिक लोक चले गये। *स्थिर* का अर्थ है : पेड़-पौधे जो चल नहीं सकते तथा *चर* का अर्थ है : चलने-फिरने वाले पशु, विशेष रूप से गौवें। अपनी उपस्थिति में श्रीकृष्ण ने वृन्दावन में तथा द्वारका में अपने दर्शन करने वाले तथा सेवा करने वाले समस्त वृक्षों, वानरों तथा अन्य पौधों एवं पशुओं को मुक्त कर दिया।

''भगवान् का सुयश विशेष रूप से गोपियों तथा द्वारका की रानियों को सुख देने के कारण था। श्रीशुकदेव गोस्वामी भगवान् श्रीकृष्ण का यशोगान उनकी मोहनी मुस्कान के लिए करते हैं, जिसके द्वारा श्रीकृष्ण ने न केवल वृन्दावन की गोपियों को मुग्ध कर लिया, अपितु द्वारका में रानियों को भी मोह लिया। इस सम्बन्ध में प्रयुक्त शब्द *वर्धयन् कामदेवम्* है। वृन्दावन में अनेक गोपियों के किशोर सखा के रूप में तथा द्वारका में अनेक रानियों के पति रूप में श्रीकृष्ण ने उनके साथ आनन्द लेने के लिए उनकी कामेच्छा में अभिवृद्धि की। आत्म-साक्षात्कार या ईश-साक्षात्कार के लिए साधारणतया व्यक्ति को हजारों वर्षों तक कठोर तपस्या करनी पड़ती है, तब कहीं ईश्वर का साक्षात्कार सम्भव होता है। किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण को सखा अथवा पति के रूप में भोगने की अपनी कामेच्छा में अभिवृद्धि के द्वारा ही गोपियों तथा द्वारका की रानियों ने सर्वश्रेष्ठ प्रकार की मुक्ति प्राप्त की।''

इस तरह श्रील प्रभुपाद शुकदेव गोस्वामी द्वारा लिखित इस श्लोक के अर्थ पर अद्भुत प्रकाश

डालते हैं, जो भगवान् कृष्ण की लीलाओं का सारांश प्रस्तुत करता है।

इत्थं परस्य निजवर्त्मरिरक्षयात्त-
लीलातनोस्तदनुरूपविडम्बनानि ।
कर्माणि कर्मकषणानि यदूत्तमस्य
श्रूयादमुष्य पदयोरनुवृत्तिमिच्छन् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार से (वर्णित); परस्य—ब्रह्म का; निज—अपना; वर्त्म—मार्ग (भक्ति का); रिरक्षया—रक्षा करने की इच्छा से; आत्त—धारण किये हुए; लीला—लीलाओं के लिए; तनोः—विविध रूप; तत्—इनमें से प्रत्येक को; अनुरूप—उपयुक्त; विडम्बनानि—अनुकरण करते हुए; कर्माणि—कर्मों को; कर्म—भौतिक कर्म के फल; कषणानि—जो नष्ट करते हैं; यदु-उत्तमस्य—यदुओं में श्रेष्ठ के; श्रूयात्—मनुष्य सुने; अमुष्य—उसके; पदयोः—पैरों के; अनुवृत्तिम्—पालन करने का अधिकार; इच्छन्—इच्छा करते हुए।.

अपने प्रति भक्ति के सिद्धान्तों की रक्षा करने के लिए यदुश्रेष्ठ भगवान् कृष्ण उन लीला-रूपों को स्वीकार करते हैं, जिनका यहाँ पर *श्रीमद्भागवत* में महिमा-गान हुआ है। जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक उनके चरणकमलों की सेवा करने का इच्छुक हो, उसे उन कार्यकलापों को सुनना चाहिए, जिन्हें वे प्रत्येक अवतार में सम्पन्न करते हैं—वे कार्यकलाप, जो उनके द्वारा धारण किए जाने वाले रूपों के अनुरूप हैं। इन लीलाओं के वर्णनों को सुनने से सकाम कर्मों के फल विनष्ट होते हैं।

मर्त्यस्तयानुसवमेधितया मुकुन्द-
श्रीमत्कथाश्रवणकीर्तनचिन्तयैति ।
तद्धाम दुस्तरकृतान्तजवापवर्गं
ग्रामाद्वनं क्षितिभुजोऽपि ययुर्यदर्थाः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

मर्त्यः—मर्त्य; तया—ऐसे; अनुसवम्—निरन्तर; एधितया—वर्धमान; मुकुन्द—कृष्ण विषयक; श्रीमत्—सुन्दर; कथा—कथाओं के; श्रवण—सुनने; कीर्तन—कीर्तन करने; चिन्तया—तथा चिन्तन करने से; एति—जाता है; तत्—उसके; धाम—घर को; दुस्तर—जिससे बचा न जा सके; कृत-अन्त—मृत्यु के; जव—बल के; अपवर्गम्—मोक्ष को; ग्रामात्—संसारी घर से; वनम्—जंगल को; क्षिति-भुजः—राजा (यथा प्रियव्रत); अपि—भी; ययुः—गये; यत्—जिसको; अर्थाः—प्राप्त करने के लिए।.

नित्यप्रति अधिकाधिक निष्ठापूर्वक भगवान् मुकुन्द की सुन्दर कथाओं के नियमित श्रवण, कीर्तन तथा ध्यान से मर्त्य प्राणी को भगवान् का दैवीधाम प्राप्त होगा, जहाँ मृत्यु की दुस्तर शक्ति का शासन नहीं है। इसी उद्देश्य से अनेक व्यक्तियों ने, जिनमें बड़े-बड़े राजा सम्मिलित हैं अपने-अपने संसारी घरों को त्याग कर जंगल की राह ली।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के दशम स्कन्ध के लिए यह श्लोक फल-श्रुति है अर्थात् इसके श्रोता के लिए सफलता का वायदा है। भक्ति विधि का शुभारम्भ भगवान् विषयक कथाओं के श्रवण से होता है। जब कोई व्यक्ति इन कथाओं को समुचित रीति से सुन चुकता है, तो वह अन्यों के लाभ के लिए उनका कीर्तन कर सकता है और उनकी महत्ता पर विचार कर सकता है। इससे भक्ति के सिद्धान्तों में श्रद्धापूर्वक दृढ़ रहा जा सकता है और इसका समापन भगवान् कृष्ण की परम श्रद्धा में होता है। ऐसी पूर्ण श्रद्धा से मनुष्य को भगवान् की अन्तरंग सेवा करने का अधिकार प्राप्त होता है और यथासमय वह भगवद्धाम में शाश्वत दिव्य जीवन के लिए वापस जाता है।

दसवें स्कंध की टीका को अपने पूज्य भगवान् के चरणकमलों पर विनीत भाव से भेंट करते हुए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती प्रार्थना करते हैं—

मद्गवीरपि गोपाल: स्वीकुर्यात् कृपया यदि।

तदैवासां पय: पीत्वा हृष्येयुस्तत्प्रिया जना: ॥

''यदि भगवान् गोपाल कृपापूर्वक मेरी शब्द-रूपी गौवों को स्वीकार करें, तो उनके प्रिय भक्तगण उनको सुनने से उत्पन्न अमृत तुल्य दूध पीने का आनन्द उठा सकते हैं।''

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत ''भगवान् कृष्ण की महिमाओं का सारांश'' नामक नब्बेवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

श्रीमद्भागवत का दसवाँ स्कन्ध श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती की तिरोधान जयन्ती २७ दिसम्बर १९८८ को पूर्ण हुआ।

PRELIMINARY PAGES OF BH. BEGINS FROM HERE

श्री श्रीगुरु-गौराङ्गौ जयत:

कृष्णद्वैपायन व्यास

कृत

श्रीमद्भागवतम्

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके

स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।

यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्

जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥१३॥

(श्रीमद्भागवत .८.१३)

दशम स्कंध

''परम पुरुषार्थ''

(भाग चार—अध्याय ७०—९०)

मूल संस्कृत पाठ, शब्दार्थ,

तथा विस्तृत तात्पर्य कृष्णकृपामूर्ति

श्री श्रीमद् अभयचरणारविन्द भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

संस्थापकाचार्य: अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

के शिष्यों द्वारा

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

श्रीमद्भागवतम् एवं सम्पादकीय बोर्ड

(संस्कृत से अंग्रेजी)

हृदयानन्द दास गोस्वामी

प्रोजेक्ट डायरेक्टर, अनुवादक, तात्पर्य लेखक एवं प्रधान संपादक

गोपीप्राणधन दास अधिकारी

अनुवादक, तात्पर्य लेखक एवं संस्कृत संपादक

द्रविड़ दास ब्रह्मचारी

अंग्रेजी संपादक

विषय-सूची

प्राक्कथन
आमुख
प्रस्तावना
अध्याय सत्तर
भगवान् कृष्ण की दैनिक चर्या
अध्याय का सारांश
पक्षियों की चहचहाहट से भगवान् कृष्ण का जागना
भगवान् द्वारा स्वयं का ध्यान किया जाना
उदय होते सूर्य, गुरुजनों तथा ब्राह्मणों की कृष्ण द्वारा पूजा
भगवान् द्वारा अपने मंत्रियों का सत्कार
अन्त:पुर की स्त्रियों द्वारा कृष्ण को प्रेममयी लजीली चितवनों से देखना
सुधर्मा सभा में भगवान् यदुओं के बीच तारों के मध्य चन्द्रमा समान सुशोभित
सभा में एक दूत का आगमन
दूत द्वारा कृष्ण को बीस हजार बन्दी राजाओं की प्रार्थना बतलाना
''हे प्रभु! हमने आत्मा के असली सुख का बहिष्कार किया है''
''कृपया जरासन्ध को हरा कर, हमें मुक्त कराएँ''
नारद मुनि का सभा में प्रकट होना तथा कृष्ण की प्रशंसा करना
नारद का कथन, ''हे प्रभु! राजा युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करने का आशीर्वाद दें''
भगवान् कृष्ण का श्री उद्धव से सलाह लेना
अध्याय इकहत्तर
भगवान् की इन्द्रप्रस्थ यात्रा
अध्याय का सारांश
राजाओं को मुक्त करने तथा युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करने में
सहायता करने की उद्धव की कृष्ण को सलाह
''भीम ब्राह्मण-वेश में जरासन्ध से युद्ध करने की याचना करें''
''बन्दी राजाओं की पत्नियाँ तथा गोपियाँ आपका यशोगान करती हैं''
भव्य जुलूस के साथ भगवान् का इन्द्रप्रस्थ के लिए प्रस्थान
कृष्ण की रानियाँ सोने की पालकियों में सवार
बन्दी राजाओं के दूत से कृष्ण का वायदा कि जरासन्ध का वध होगा
राजा युधिष्ठिर द्वारा भावविभोर होकर भगवान् का आलिंगन
कृष्ण का आलिंगन किये जाने पर भीम का सहर्ष हँसना
सुन्दर इन्द्रप्रस्थ नगरी का वर्णन

कृष्ण को देखने के लिए नगर की स्त्रियों का अटारियों पर चढ़ना
रानी कुन्ती द्वारा अपने भतीजे कृष्ण का स्नेहपूर्ण आलिंगन
द्रौपदी द्वारा कृष्ण की सभी रानियों की पूजा करना
खाण्डव वन को जलाने की अनुमति देकर कृष्ण तथा अर्जुन द्वारा
अग्नि की तुष्टि किया जाना

अध्याय बहत्तर

जरासन्ध असुर का वध

अध्याय का सारांश
राजा युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ सम्पन्न किये जाने के अपने प्रयास
के हेतु कृष्ण से आशीर्वाद माँगना
''आपकी भक्ति की शक्ति को लोग देखें''
समस्त राजाओं को जीतने के बाद ही राजसूय यज्ञ करने की भगवान् की युधिष्ठिर को सलाह
भीम, अर्जुन, सहदेव तथा नकुल द्वारा जरासन्ध के अतिरिक्त समस्त राजाओं का जीता जाना
भीम, अर्जुन तथा कृष्ण का ब्राह्मण वेश में जरासन्ध से भेंट करने के लिए गिरिव्रज जाना
इन ब्राह्मणों का जरासन्ध से भीख माँगना
शंकालु जरासन्ध द्वारा अतिथियों को मनवांछित वर माँगने की स्वीकृति
कृष्ण द्वारा जरासन्ध से द्वन्द्व के लिए याचना भीम तथा जरासन्ध का गदायुद्ध
दोनों योद्धा क्रुद्ध हाथियों जैसे थे
भीम को कृष्ण द्वारा संकेत कि जरासंध को कैसे मारा जाये?
भीमसेन द्वारा जरासंध का दो भागों में चीरा जाना
कृष्ण द्वारा जरासन्ध के पुत्र सहदेव को मगध का राजा बनाया जाना

अध्याय तिहत्तर

बन्दी-गृह से छुड़ाये गये राजाओं को कृष्ण द्वारा आशीर्वाद

अध्याय का सारांश
बीस हजार राजाओं द्वारा बन्दी-गृह से छूटने पर कृष्ण का दर्शन
मुक्त किये गये राजाओं द्वारा स्तुतियाँ
''अब हम कभी भी मृगतृष्णा तुल्य राज्य की कामना नहीं करेंगे''
भगवान् कृष्ण का राजाओं से कहना कि अब से वे उनकी भक्ति में दृढ़ रहेंगे
भगवान् का कहना कि ''जीवन जीते समय सदैव अपने मन मुझमें स्थिर रखो''
सहदेव द्वारा राजाओं को राजसी उपहारों से सम्मानित करना
कृष्ण द्वारा राजाओं को उनके राज्यों में वापस भेजना
कृष्ण, अर्जुन तथा भीम की इन्द्रप्रस्थ वापसी
प्रेम तथा कृतज्ञता वश युधिष्ठिर गद्गद तथा अवाक्

अध्याय चौहत्तर

राजसूय यज्ञ में शिशुपाल का उद्धार

अध्याय का सारांश
राजा युधिष्ठिर द्वारा कृष्ण की स्तुति
यज्ञ सम्पन्न करने के लिए राजा द्वारा उपयुक्त पुरोहितों का चुनाव
यज्ञ देखने के लिए सभी दिशाओं से भीड़ का आगमन
इन्द्र, ब्रह्मा, शिव तथा बहुत-से अन्य देवताओं का आगमन
अग्रपूजा किसकी हो ?
सहदेव का कहना कि ''हम कृष्ण की अग्रपूजा करें''
सभी सन्त पुरुष सहदेव से सहमत
कृष्ण के प्रति दिखाये गये सम्मान से शिशुपाल क्रुद्ध
''गुणहीन व्यक्ति पूजा के योग्य कैसे ?''
कृष्ण का मौन रहना तथा अनेक लोगों का सभा से बहिर्गमन
कृष्ण का अपने सुदर्शन चक्र से शिशुपाल का शिरच्छेद
शिशुपाल की आत्मा का भगवान् के शरीर में लीन होना
राजा युधिष्ठिर द्वारा यज्ञ की समाप्ति पर अवभृथ स्नान
सभा में देवराज के समान युधिष्ठिर का तेज
श्रोताओं के लिए वरदान
अध्याय पचहत्तर
दुर्योधन का मानमर्दन
अध्याय का सारांश
राजसूय यज्ञ में भीम, अर्जुन, कृष्ण तथा अन्यों द्वारा आवश्यक सेवा कार्य
नर्तकों का प्रसन्न होकर नाचना तथा गवैयों द्वारा वाद्यों के साथ सहगान
पुरुषों तथा स्त्रियों द्वारा परस्पर तरल लेप लगाकर क्रीड़ा करना
सम्राट युधिष्ठिर का विविध कृत्यों से घिरे राजसूय यज्ञ
के ही समान तेजस्वी दिखना
युधिष्ठिर द्वारा सबों को उपहार दिया जाना
सबों के विदा हो जाने पर कृष्ण तथा अन्य लोगों से
थोड़ा समय और रुकने के लिए युधिष्ठिर की विनती
दुर्योधन को युधिष्ठिर के ऐश्वर्य से ईर्ष्या
मोहग्रस्त दुर्योधन का जल में गिरना
अध्याय छिहत्तर
शाल्व तथा वृष्णियों के मध्य युद्ध
अध्याय का सारांश
शाल्व द्वारा प्रतिदिन एक मुट्ठी धूल फाँककर शिवजी की पूजा
मयदानव द्वारा शाल्व के लिए सौभ यान का निर्माण
शाल्व तथा उसकी सेना द्वारा द्वारका का घेराव
अग्रणी वृष्णि योद्धाओं का नगर की रक्षा हेतु बाहर आना

भगवान् प्रद्युम्न द्वारा शाल्व के जादू का विनाश
शाल्व के विमान का अलात–चक्र के समान इधर उधर घूमना
द्युमान द्वारा प्रद्युम्न की छाती पर आघात
दारुक द्वारा प्रद्युम्न को युद्धभुमि से हटा ले जाना
प्रद्युम्न द्वारा दारुक को डाँटफटकार
अध्याय सतहत्तर
कृष्ण द्वारा असुर शाल्व का वध
अध्याय का सारांश
प्रद्युम्न द्वारा द्युमान का बाण द्वारा सिर अलग किया जाना
भयावने युद्ध का सत्ताईस दिनों तक चलना
कृष्ण का द्वारका लौटना और युद्ध क्षेत्र के लिए प्रस्थान
शाल्व द्वारा कृष्ण की बाँह पर बाण से प्रहार और उनके हाथ से शाङ्र्ग धनुष का गिरना
शाल्व द्वारा भगवान् का अपमान
असुर का अन्तर्धान होना और दूत द्वारा बुरा समाचार लाया जाना
शाल्व द्वारा छद्म वसुदेव का सिर काटा जाना
शाल्व का वध करने की कृष्ण द्वारा तैयारी
कृष्ण मोह के वशीभूत कैसे हो सकते हैं ?
कृष्ण की गदा से ध्वस्त सौभ–विमान का समुद्र में गिरना
कृष्ण का अपने सुदर्शन चक्र द्वारा शाल्व का शिरच्छेद
अध्याय अठहत्तर
दन्तवक्र, विदूरथ तथा रोमहर्षण का वध
अध्याय का सारांश
अपने मित्रों की मृत्यु का बदला लेने के उद्देश्य से
दन्तवक्र का कृष्ण पर आक्रमण
अपनी गदा से कृष्ण द्वारा दन्तवक्र का वध
विदूरथ का भगवान् पर आक्रमण करना और मारा जाना
भगवान् कृष्ण का वृन्दावन वापस आना
कृष्ण की परवर्ती लीलाओं का अनुक्रम
तीर्थयात्रा के लिए निकले बलराम का नैमिषारण्य पहुँचना
रोमहर्षण द्वारा अपमानित किये जाने पर बलराम का क्रुद्ध होना
कुश के तिनके से बलराम द्वारा रोमहर्षण की हत्या
ब्राह्मणों के अनुरोध पर बलराम का अपने पापों के लिए
प्रायश्चित्त करने के लिए राजी होना
बलराम द्वारा रोमहर्षण के पुत्र को सभा का नया वक्ता बनाया जाना
बलराम से बल्वल असुर को मारने तथा एक वर्ष की तीर्थ यात्रा पर जाने का अनुरोध
अध्याय उन्यासी

भगवान् बलराम की तीर्थ यात्रा

अध्याय का सारांश

भयावने बल्वल असुर को मारने के लिए बलराम द्वारा

अपने हल तथा गदा का आवाहन

असुर के मारे जाने पर ऋषियों द्वारा बलराम का सम्मान

बलरामजी का तीर्थयात्रा के लिए प्रस्थान

भारतवर्ष की परिक्रमा के बाद बलरामजी का प्रभास लौटना

भीम तथा दुर्योधन को गदायुद्ध बन्द करने की बलरामजी की सलाह

बलरामजी द्वारा नैमिषारण्य के ऋषियों को आशीर्वाद

श्रोताओं को आशीष

अध्याय अस्सी

द्वारका में भगवान् श्रीकृष्ण से ब्राह्मण सुदामा की भेंट

अध्याय का सारांश

भगवान् के गुणों का वर्णन करने वाली ही वाणी असली है

असली आँखें वे हैं, जो एकमात्र भगवान् का दर्शन करती हैं

विद्वान, शान्त, आत्मसंयमी, तपस्वी तथा दरिद्र ब्राह्मण सुदामा

सुदामा की पत्नी उससे कृष्ण के पास द्वारका जाकर दान माँगने के लिए याचना करती है

सुदामा का द्वारका के लिए प्रस्थान

महल में प्रवेश करने पर भगवान् द्वारा सुदामा का आलिंगन

अपने पुराने मित्र से मिलने पर कृष्ण भावाभिभूत

कृष्ण तथा सुदामा द्वारा सान्दीपनि मुनि की पाठशाला में बिताये गये दिनों का स्मरण

प्रामाणिक गुरु ईश्वर के ही समान

कृष्ण और सुदामा के ईंधन लेने गए समय असामयिक तूफान का आना

सान्दीपनि मुनि का कृष्ण तथा सुदामा को विपत्ति में फँसा देखना

असली शिष्यों का कर्तव्य है कि अपना सर्वस्व अपने गुरु को दे दें

शिष्य के रूप में कृष्ण की भूमिका मानवोचित लीलाओं के अनुरूप

अध्याय इक्यासी

भगवान् द्वारा सुदामा ब्राह्मण को वरदान

अध्याय का सारांश

प्रेमपूर्वक भेंट की गई किसी भी वस्तु से भगवान् प्रसन्न होते हैं

भगवान् द्वारा सुदामा की तन्दुल की तुच्छ पोटली का छीना जाना

कृष्ण का एक मुट्ठी तन्दुल खाना

सुदामा ऊपरी तौर से रिक्तहस्त घर के लिए रवाना

सुदामा द्वारा कृष्ण की कृपा का चिन्तन

सुदामा ब्राह्मण का आश्चर्यजनक ऐश्वर्य

ब्राह्मण-पत्नी अब देवी जैसी लग रही थीं
सुदामा का सोचना कि कृष्ण अपनी कृपा की वर्षा बादल की भाँति करते हैं
''मैं जन्म-जन्मांतर भगवान् की प्रेमपूर्वक सेवा करता रहूँ''
कृष्ण द्वारा ब्राह्मणों को अपने स्वामियों जैसा मानना
श्रोताओं को आशीष
अध्याय बयासी
वृन्दावनवासियों से कृष्ण तथा बलराम की भेंट
अध्याय का सारांश
सूर्यग्रहण के समय लोगों का समन्त-पञ्चक जाना
प्राय: सारे वृष्णियों का कुरुक्षेत्र की गोष्ठी में भाग लेना
वृष्णियों तथा उनके पुराने मित्रों का पुनर्मिलन
महारानी कुन्ती अपने पुराने बिछड़े सम्बन्धियों से मिलकर सान्त्वना प्राप्त करती हैं
वसुदेव द्वारा कुन्ती को आश्वासन देना
भगवान् कृष्ण के सौन्दर्य से सभी स्तम्भित
कृष्ण के यश, वाणी तथा चरणकमलों की महिमा
नंद महाराज को देखकर वृष्णिजन पुलकित
नन्द तथा यशोदा से मिलकर कृष्ण तथा बलराम गद्गद
रोहिणी तथा देवकी द्वारा माता यशोदा की प्रशंसा
गोपियों द्वारा अपने हृदयों के भीतर कृष्ण का आलिंगन
कृष्ण द्वारा गोपियों को सान्त्वना प्रदान करना
''अपने प्रेम से तुम लोगों ने मुझे पा लिया है''
गोपियाँ मिथ्या अहंकार के समस्त कल्मष से मुक्त
कृष्ण के चरणकमलों का निरन्तर स्मरण करते रहने की गोपियों की प्रार्थना
अध्याय तिरासी
कृष्ण की रानियों से द्रौपदी की भेंट
अध्याय का सारांश
जिन्होंने कृष्ण के चरणकमलों के यश का एक बार भी
श्रवण किया है, उन्हें विपत्ति कैसे घेर सकती है ?
द्रौपदी द्वारा कृष्ण की प्रमुख रानियों से उनके कृष्ण के साथ
ब्याह की बातें पूछे जाना
सत्यभामा द्वारा स्यमन्तक मणि की कथा सुनाया जाना
कालिन्दी द्वारा यह बताया जाना कि भगवान् के चरणकमलों का
स्पर्श करने के लिए उसने किस तरह प्रार्थना की थी
सत्या द्वारा यह बताया जाना कि उसे पाने के लिए
कृष्ण ने किस तरह सात साँड़ों को परास्त किया
लक्ष्मणा द्वारा बताया जाना कि किस तरह उसका पाणिग्रहण

करने के लिए कृष्ण ने मत्स्य-भेद किया
''केवल मत्स्य का प्रतिबिम्ब दिखता था''
''अनेक राजाओं ने हाथ आजमाये किन्तु असफल रहे''
''अन्त में कृष्ण ने अपने तीर से मछली को बेधकर
धरती पर गिरा दिया''
''मैंने कृष्ण को विजयमाल पहनाई''
''कृष्ण ने अपने सारे ईर्ष्यालु प्रतिद्वन्द्वियों को हराया''
रोहिणी द्वारा बतलाया जाना कि कृष्ण ने किस तरह उन्हें
तथा, अन्य कुमारियों को भौमासुर से छुड़ाकर
उनके साथ विवाह किया
रानियों की एकमात्र इच्छा कि कृष्ण के चरणकमलों की धूल मिले

अध्याय चौरासी

कुरुक्षेत्र में ऋषियों के उपदेश

अध्याय का सारांश
कुरुक्षेत्र में श्रील व्यासदेव, नारद मुनि तथा अनेक
अन्य महर्षियों का आगमन
कृष्ण बलराम तथा अन्य अग्रणियों द्वारा ऋषियों की पूजा
मुनियों को सम्बोधित करते हुए कृष्ण का कथन,
''हम सामान्यजनों को आप जैसे महापुरुषों का दर्शन कैसे हो सकता है?''
''विद्वान मुनिगण क्षणमात्र सेवा करने वालों के पापों को नष्ट कर देते हैं''
''महर्षियों की उपेक्षा करने वाला गधा है''
भगवान् कृष्ण के आचरण से मुनिगण चकित
अपने भक्तों की रक्षा करने तथा दुष्टों को दण्ड देने के लिए
कृष्ण सतोगुण का रूप धारण करते हैं
स्वयं कृष्ण चरम आशीर्वाद हैं
मुनियों द्वारा भगवान् के चरणकमलों का महिमागान
वसुदेव द्वारा मुनियों से पूछना कि कर्म से मुक्त
कैसे हुआ जा सकता है?
वैदिक यज्ञों द्वारा विष्णु-पूजन की मुनियों की संस्तुति
पुत्ररूप में कृष्ण प्राप्त होने के लिए मुनियों द्वारा वसुदेव की प्रशंसा
वसुदेव तथा उनकी पत्नियों द्वारा यज्ञ की तैयारी
वसुदेव द्वारा विविध यज्ञों का सम्पन्न किया जाना और पुरोहितों को दक्षिणा देना
वसुदेव द्वारा सभी उपस्थितों को भव्य भोजन खिलाकर और उपहार देकर सम्मान करना
सबों के विदा होने पर नन्द, कृष्ण, बलराम तथा अन्यों का कुछ और काल तक ठहरना
वसुदेव द्वारा नन्द से क्षमा याचना कि कंस के शासनकाल में वे उनकी सहायता नहीं कर पाये
कृष्ण, बलराम, वसुदेव तथा अन्यों के प्रेम में बँधकर नन्द का

कुरुक्षेत्र में तीन मास तक रहते जाना
नन्द तथा गोपों का केवल गोविन्द के चरणकमलों का
ध्यान करते हुए वृन्दावन के लिए प्रस्थान
अध्याय पचासी
कृष्ण द्वारा वसुदेव को उपदेश दिया जाना तथा देवकी-पुत्रों की वापसी
अध्याय का सारांश
वसुदेव द्वारा कृष्ण तथा बलराम की भगवान् रूप में स्तुति
''हे प्रभु! सर्वप्रथम आपने यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड रचा और
तब आप उसमें प्रविष्ट हुए''
''आप में चन्द्रमा की चमक तथा अग्नि का तेज हैं''
''आप इन्द्रियों द्वारा उनके विषयों को प्रकट करने की शक्ति हैं''
''जो अज्ञानी हैं, वे ही आपको अपना परम गन्तव्य नहीं मानते''
''आप हमारे पुत्र नहीं अपितु सर्वेश्वर हैं''
कृष्ण द्वारा अपने पिता के वत्सल भाव को वापस लाना
देवकी द्वारा अपने मृतपुत्रों को वापस लाने के लिए
कृष्ण तथा बलराम से याचना
कृष्ण तथा बलराम का बलि द्वारा शासित सुतल लोक में जाना
बलि द्वारा दोनों प्रभुओं का भव्य सत्कार
बलि द्वारा कृष्ण और बलराम का महिमागान
''आपके अनेक पुराने शत्रुओं ने घृणा से अपने मनों को
आपमें लीन करके सिद्धि प्राप्त की''
बलि द्वारा प्रभु की कृपा की याचना
देवकी के छह पुत्रों को लेकर दोनों प्रभुओं का घर के लिए विदा होना
देवकी अपने दीर्घकाल से बिछुड़े पुत्रों को पाकर स्नेहाभिभूत
छहों पुत्रों का देवकी का स्तनपान करके स्वर्गलोक के लिए प्रयाण
श्रोताओं के लिए आशीर्वाद
अध्याय छियासी
अर्जुन द्वारा सुभद्रा-हरण तथा कृष्ण द्वारा अपने भक्तों को आशीर्वाद दिया जाना
अध्याय का सारांश
संन्यासी का वेश धर कर अर्जुन का द्वारका जाना
बलराम द्वारा वेस बदले अर्जुन को अपने घर बुलाना
अर्जुन तथा सुभद्रा एक दूसरे को देखकर कामोन्मुख
उत्सव के समय अर्जुन द्वारा सुभद्रा हरण
कृष्ण द्वारा शान्त किये जाने पर बलराम द्वारा वर-वधु को प्रचुर दहेज दिया जाना
अपने प्रिय भक्तों श्रुतदेव तथा बहुलाश्व को देखने के लिए
कुछ मुनियों के साथ मिथिला के लिए कृष्ण द्वारा प्रस्थान

मिथिला के मार्ग में विभिन्न राज्यों के वासियों को अपनी चितवन से आशीर्वाद देना
मिथिला में श्रुतदेव तथा बहुलाश्व द्वारा भगवान् को प्रणाम करके
उन्हें अपने घर आने का आमंत्रण
भगवान् कृष्ण द्वारा दो रूपों में विस्तार तथा दोनों भक्तों के यहाँ एक ही समय जाना
पुलकित बहुलाश्व द्वारा कृष्ण तथा मुनियों का सत्कार एवं पूजा करना
बहुलाश्व द्वारा स्तुति
कृष्ण तथा मुनियों को कुछ काल रुकने तथा
आशीर्वाद देने के लिए बहुलाश्व का आमंत्रण
श्रुतदेव द्वारा कृष्ण तथा मुनियों का बहुलाश्व जैसा ही सत्कार
श्रुतदेव द्वारा स्तुति
भगवान् द्वारा साथ आये मुनियों की प्रशंसा
''ब्राह्मण जन्म से ही समस्त जीवों में श्रेष्ठ''
''मूर्खजन ही विद्वान ब्राह्मणों की उपेक्षा करके
मेरे अर्चाविग्रह की पूजा करते हैं।''
श्रुतदेव तथा बहुलाश्व दोनों को दिव्य चरमगति की प्राप्ति
अध्याय सत्तासी
साक्षात् वेदों द्वारा स्तुति
अध्याय का सारांश
राजा परीक्षित द्वारा शुकदेव गोस्वामी से पूछा जाना कि किस तरह
वेद परम सत्य का प्रत्यक्ष वर्णन कर सकते हैं
परमेश्वर द्वारा आत्माओं के भौतिक आवरण का
उनके चरम लाभ हेतु प्रदर्शन
नारद मुनि का श्रीनारायण ऋषि के आश्रम जाना
जनलोक में एक बार सम्पन्न यज्ञ के समय परीक्षित का यह प्रश्न उठाया गया था
श्री सनन्दन द्वारा बताया जाना कि किस तरह
ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के समय साक्षात् वेदों ने भगवान् को जगाया
श्रुतियों द्वारा स्तुति, ''हे अजेय! जय हो, जय हो''
''वेद अपने सारे विचार, शब्द तथा कार्य आपको ही समर्पित करते हैं''
''विद्वान लोग आपके कथामृत में गहरे गोते लगाते हैं''
''अभक्तों का साँस लेना धौंकनी जैसा''
''विद्वान मुनियों द्वारा आपके चरणकमलों की पूजा
जिन्हें समस्त यज्ञ समर्पित किए जाते हैं''
''आपके लीलामृत सागर में डूबकर भाग्यवान भौतिक कष्ट से पार होते हैं''
''भक्ति में लगे शरीर का अपने आत्मा, मित्र तथा प्रिय की तरह आचरण करना''
''पदार्थ से आत्मा की उत्पत्ति का विचार अज्ञान का परिणाम''
''यह जगत अपने स्रष्टा भगवान् से अभिन्न, जो इसी में प्रविष्ट हो गए''

''आपके भक्त साक्षात् काल के सिर पर पाँव रखते हैं''
''आपकी माया की कार्यशैली को जानने वाला विवेकी व्यक्ति
आपकी असली सेवा करता है''
''अपने शरणागत के समक्ष आप परमात्मा रूप में प्रकट होते हैं''
''यह ब्रह्माण्ड आपके भीतर दृष्टिगोचर प्रतीत होता है''
''इन्द्रियतृप्ति के लिए योगाभ्यास करने वाले कष्ट उठाते हैं''
''हम श्रुतियाँ आपको अपने अन्तिम निर्णय के रूप में प्रकट करके ही धन्य होती हैं''
वेदों की स्तुतियों की समाप्ति पर विचार करके
नारद मुनि का भगवान् कृष्ण को नमस्कार करना
निडर होने के लिए भगवान् हरि का स्मरण

अध्याय अट्ठासी

वृकासुर से शिवजी की रक्षा

अध्याय का सारांश
तपस्वी शिव के पूजकों को ऐश्वर्य तथा ऐश्वर्यवान्
विष्णु के पूजकों को निर्धनता क्यों?
शुकदेव गोस्वामी द्वारा राजा परीक्षित से विरोधाभास का बताया जाना
भगवान् कहते हैं, ''यदि मैं किसी पर विशेष कृपा करता हूँ
तो धीरे धीरे मैं उसकी सम्पत्ति हर लेता हूँ''
''ऐसा दीन तथा विक्षिप्त आत्मा मेरे भक्तों को
मित्र बनाता है, जिससे मेरी दया जागती है''
शीघ्र वर के लिए वृक द्वारा शिव की पूजा
वृक द्वारा आत्महत्या का प्रयास, किन्तु शिवजी द्वारा उसकी रक्षा
शिव का वृक को वरदान कि यह जिसका भी
अपने हाथ से स्पर्श करेगा, वह मर जायेगा
वृक द्वारा शिव का सारे ब्रह्माण्ड में पीछा किया जाना
ब्रह्मचारी वेश बनाकर वैकुण्ठ में विष्णु द्वारा वृक का ठगा जाना
विष्णु द्वारा शिव का उपहास तथा वृक को
अपने वरदान की अपने ऊपर परीक्षा करने की सलाह
वृक का अपने सिर पर हाथ रखना और
वज्रपात की भाँति उसका खण्ड खण्ड होना
श्रोताओं को आशीर्वाद

अध्याय नवासी

कृष्ण तथा अर्जुन द्वारा ब्राह्मण पुत्रों का वापस लाया जाना

अध्याय का सारांश
भृगुमुनि को यह निश्चित करने का काम सौंपा गया
कि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव में सबसे बड़े कौन?

भृगु द्वारा अपमानित करने पर ब्रह्मा अपना क्रोध प्रकट नहीं होने देते
भृगु द्वारा अपने भाई शिव का अपमान तथा उन्हें क्रुद्ध करना
भृगु द्वारा विष्णु के वक्षस्थल पर पादप्रहार किये जाने पर भी उनके द्वारा सत्कार किया जाना
मुनियों द्वारा भृगु के कथन को सुनकर विष्णु की श्रेष्ठता के लिए अनुभूति
श्रोताओं के लिए आशीर्वाद
द्वारका में ब्राह्मण पत्नी के नवजात शिशु की तत्क्षण मृत्यु
ब्राह्मण द्वारा राजा उग्रसेन की निन्दा
अर्जुन द्वारा ब्राह्मण पुत्रों की रक्षा का वचन
अर्जुन द्वारा ब्राह्मण के घर के चारों ओर बाणों का पिंजरा बनाया जाना
दसवें पुत्र के विलुप्त होने पर ब्राह्मण द्वारा अर्जुन का उपहास
अर्जुन द्वारा खोये पुत्र की सर्वत्र खोज
कृष्ण द्वारा अर्जुन को रथ पर बिठाकर पश्चिम दिशा में रवाना
अँधेरे में सुदर्शन चक्र द्वारा प्रकाश उत्पन्न किया जाना
अर्जुन का ब्रह्मज्योति देखना
एक भव्य महल में महाविष्णु का अनन्तशेष पर शयन
महा विष्णु का कथन ''मैं आप दोनों का
दर्शन करना चाह रहा था, इसलिए ब्राह्मण के पुत्र को यहाँ लाया''
ब्राह्मण के पुत्रों समेत कृष्ण तथा अर्जुन का द्वारका लौटना
राजा युधिष्ठिर तथा अन्य पवित्र राजाओं द्वारा
धर्मपालन के लिए भगवान् द्वारा आश्वासन
अध्याय नब्बे
भगवान् कृष्ण की महिमाओं का सारांश
अध्याय का सारांश
अपनी रानियों के साथ कृष्ण द्वारा जलक्रीड़ा
भगवान् तथा उनकी रानियों का एक दूसरे पर हर्षपूर्वक जल छिड़कना
रानियों का भावमय समाधि में प्रवेश
रानियाँ प्रार्थना करती हैं, ''हे कुररी पक्षी,
क्या कृष्ण की चितवनों से तुम्हारा हृदय बिंधा हुआ है?''
''हे चन्द्रमा, तुम्हें घोर यक्ष्मा रोग लग गया प्रतीत होता है''
''हे पर्वत, क्या तुम भी हमारी ही तरह
भगवान् कृष्ण के चरणों को अपने वक्षस्थल पर रखना चाहते हो?''
''हे हंस, हमें कृष्ण का कोई समाचार सुनाओ''
कृष्ण की रानियों का सौभाग्य अर्वणनीय
कृष्ण के पुत्रों में से अठारह पुत्र विख्यात महारथ थे
यदुओं के गदायुद्ध से बचने वालों में कृष्ण के प्रपौत्र वज्र भी एक
राजा उग्रसेन के असंख्य सेवक

लक्ष्मीजी एकमात्र कृष्ण की हैं
भगवान् कृष्ण की जय हो
श्रोताओं को आशीर्वाद
परिशिष्ट
लेखक परिचय

Chapter एक

यदुवंश को शाप

इस अध्याय में यदुवंश के विनाश का संकेत मिलता है, जो लोहे के मूसल की उत्पत्ति के कारण हुआ। इस वृत्तान्त को सुनकर भौतिक जगत से विरक्त होने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने बड़ी ही पटुता से कौरवों तथा पाण्डवों के बीच कुरुक्षेत्र युद्ध रचाया और बहुत हद तक पृथ्वी के भार को दूर किया। किन्तु भगवान्, जो कि अचिन्त्य प्रभावशाली हैं, इतने पर भी सन्तुष्ट नहीं हुए, क्योंकि अजेय यदुवंश का अस्तित्व बना हुआ था। वे यदुवंश का विनाश चाह रहे थे, जिससे वे इस धरा–धाम की अपनी लीलाएँ समाप्त करके स्वधाम वापस जा सकें। उन्होंने ब्राह्मण–सभा द्वारा दिये गये शाप के बहाने, अपने पूरे वंश को इस पृथ्वी से उठा लिया।

श्रीकृष्ण की इच्छानुसार द्वारका के निकट पिण्डारक नामक पवित्र स्थल पर नारद, विश्वामित्र इत्यादि अनेक महर्षियों की सभा एकत्र हुई, जहाँ यदुवंशी तरुण बालक खिलवाड़ करते हुए पहुँचे। इन्होंने साम्ब को एक आसन्न प्रसवा स्त्री का वेश धारण कराकर ऋषियों से साम्ब के तथाकथित गर्भ के फलित होने के विषय में पूछा। ऋषियों ने इन हास–परिहास करने वाले बालकों को शाप दे दिया कि यह स्त्री ऐसे मूसल को जन्म देगी, जो उनके कुल का विनाश करेगा। इन यदुवंशी बालकों ने शाप से भयभीत होकर तुरन्त ही साम्ब के पेट पर से वस्त्रों को उठाकर देखा, तो सचमुच ही उन्हें एक मूसल दिखा। वे तेजी से यदुओं के राजा उग्रसेन की सभा में पहुँचे और जो कुछ हुआ था, उसकी जानकारी दी। ब्राह्मणों के शाप से डरकर यदुराज उग्रसेन ने उस मूसल को चूर्ण चूर्ण कराकर समुद्र में फिकवा दिया। समुद्र में एक मछली ने लोहे के बचे एक टुकड़े को निगल लिया और चूर्ण के शेष टुकड़े लहरों से समुद्र तट पर जा लगे, जहाँ नरकुलों का एक कुँज बन गया। मछुआरों ने इस मछली को पकड़ा और जरा नामक बहेलिए ने मछली के पेट से निकले लोहे के टुकड़े से एक तीर बनाया। यद्यपि परमात्मा श्रीकृष्ण समझ गये थे कि क्या हो रहा है, किन्तु इसके निराकरण के लिए, उन्होंने कुछ भी नहीं करना चाहा, प्रत्युत काल रूप में, उन्होंने इन घटनाओं को अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी।

श्रीशुक उवाच

कृत्वा दैत्यवधं कृष्णः सरामो यदुभिर्वृतः ।
भुवोऽवतारयद्भारं जविष्ठं जनयन्कलिम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुक ने कहा; कृत्वा—सम्पन्न करने के बाद; दैत्य—असुरों का; वधम्—वध; कृष्णः—भगवान् कृष्ण ने; स-रामः—बलराम समेत; यदुभिः—यदुओं द्वारा; वृतः—घिरे हुए; भुवः—पृथ्वी के; अवतारयत्—कम कर दिया; भारम्—भार को; जविष्ठम्—हिंसा कराने वाले; जनयन्—उत्पन्न करते हुए; कलिम्—कलह की स्थिति।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् श्रीकृष्ण ने बलराम से मिलकर तथा यदुवंशियो से घिरे रह कर अनेक असुरों का वध किया। तत्पश्चात्, पृथ्वी का और भार हटाने के लिए भगवान् ने कुरुक्षेत्र के उस महान् युद्ध की योजना की, जो कुरुओं तथा पाण्डवों के बीच सहसा हिंसा के रूप में भड़क उठा।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* का ग्यारहवाँ स्कंध भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा दसवें स्कंध में सम्पन्न लीलाओं का सन्दर्भ देते हुए प्रारम्भ होता है। दसवें स्कंध के प्रारम्भ में इस बात का वर्णन हुआ है कि जब आसुरी शासकों द्वारा पृथ्वी पर अत्यधिक भार हो गया, तो भूमि-रूप साक्षात् पृथ्वी आँखों में आँसू भर कर ब्रह्माजी के पास गई और अपने उद्धार की याचना की। ब्रह्माजी तुरन्त ही देवताओं को साथ लेकर क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में भगवान् से मिलने गये। सारे देवता क्षीर सागर के तट पर आदरपूर्वक प्रतीक्षा करने लगे, तभी भगवान् ने ब्रह्मा के माध्यम से यह घोषित कराया कि वे शीघ्र ही पृथ्वी पर अवतरित होंगे और देवताओं को चाहिए कि उनकी लीलाओं में सहयोग देने के लिए स्वयं भी जन्म लें। इस तरह कृष्ण के आविर्भाव के समय से ही यह पता था कि वे पृथ्वी से असुरों को हटाने के लिए अवतार लेंगे।

जैसाकि श्रील प्रभुपाद ने *भगवद्गीता* (१६.६) की टीका में कहा है, जो लोग शास्त्रों के आदेशों का पालन करने के लिए राजी हो जाते हैं, वे देवता कहलाते हैं और जो लोग वैदिक शास्त्रों के आदेशों का उल्लंघन करते हैं, वे असुर कहलाते हैं। ब्रह्माण्ड में वैदिक वाङ्मय को इसलिए प्रस्तुत किया जाता रहा कि बद्धजीवों का मार्गदर्शन हो सके, क्योंकि वे भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों में फँसे रहकर जन्म-मृत्यु के निरन्तर चक्र में घूमते रहते हैं। वैदिक आदेशों का दृढ़तापूर्वक पालन करके हम अपनी भौतिक आवश्यकताओं की सहज ही पूर्ति कर सकते हैं और उसी के साथ भगवद्धाम वापस जाने का मार्ग भी प्रशस्त कर सकते हैं। इस तरह हम *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* जैसे वैदिक ग्रंथों में प्रस्तुत

भगवान् के उपदेशों का पालन करने मात्र से भगवद्धाम में आनन्द तथा ज्ञान से युक्त नित्य जीवन–लाभ कर सकते हैं। किन्तु असुरगण भगवान् की सत्ता तथा उनके उपदेशों को कम करके देखते हैं या उनकी हँसी उड़ाते हैं। चूँकि ये असुर भगवान् की सार्वभौम सत्ता से ईर्ष्या करते हैं, अत: वे भगवान् की श्वास से निकले वैदिक शास्त्रों की महत्ता को घटाते रहते हैं। ये असुर अपनी सनक के अनुसार समाज की स्थापना करते हैं और उन पवित्र जीवों के लिए जो ईश्वर की इच्छा का अनुसरण करना चाहते हैं, अव्यवस्था तथा कष्ट उत्पन्न करते हैं।

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि जब पृथ्वी पर इस तरह के अव्यवस्थित अधार्मिक समाजों का प्राधान्य होता है, तो वे इस असन्तुलन को ठीक करने के लिए स्वयं अवतरित होते हैं। इस प्रकार कृष्ण ने अपने दिव्य बाल्यकाल से ही, उन शक्तिशाली असुरों का योजनाबद्ध संहार किया, जो पृथ्वी के लिए असह्य भार बने हुए थे। श्रीकृष्ण की सहायता उनके भाई बलराम करते थे और वे भी भगवान् थे। यद्यपि ईश्वर एक हैं, किन्तु वे तुरन्त अनेक रूपों में आनंद लेने के लिए अपना विस्तार कर सकते हैं। यही उनकी सर्वव्यापकता है। ऐसा प्रथम विस्तार बलराम या बलदेव के रूप में हुआ। बलराम ने कई कुख्यात असुरों का वध किया, जिनमें धेनुकासुर, द्विविद एवं ईर्ष्यालु रुक्मी मुख्य हैं। कृष्ण के साथ यदुवंश के अनेक सदस्य भी रहते थे, जिनमें से अनेक, तो देवता थे, जो भगवान् की सहायता करने के लिए अवतरित हुए थे।

किन्तु श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने यह उद्घाटन किया है कि यद्यपि भगवान् की सहायता करने के लिए अनेक देवताओं ने यदुवंश में जन्म ले रखा था, तो भी यदुवंश के कुछ सदस्य कृष्ण के प्रति शत्रुभाव रखते थे। संसारी दृष्टि के कारण, वे अपने को कृष्ण के ही समान स्तर पर मानते थे। भगवान् के कुल में जन्म लेने के कारण, उनमें अचिन्त्य शक्ति थी, इसीलिए वे कृष्ण के परमपद को ठीक से नहीं समझ पाये। वे यह भूल गये कि कृष्ण भगवान् हैं, अत: वे पृथ्वी के लिए गुरु भार बन गये, जिसके फलस्वरूप कृष्ण को उन्हें इस पृथ्वी से हटाना पड़ा। एक लोकप्रिय कहावत है कि ''मान घटे नित घर के जाये।'' अपने ही वंश के ईर्ष्यालु सदस्यों का विनाश करने के लिए भगवान् ने उनमें झगड़ा करा दिया। इसके लिए उन्होंने नारद तथा अन्य मुनियों द्वारा कार्ष्णों अर्थात् अपने ही परिवार वाले के विरुद्ध क्रोध प्रदर्शित करने की व्यवस्था की। यद्यपि इस बन्धुघाती युद्ध में कृष्ण के

प्रति भक्ति रखने वाले अनेक व्यक्ति मारे गये, किन्तु कृष्ण ने उन्हें उनके आदि अर्थात् देवताओं के पदों पर वापस भेज दिया। *भगवद्गीता* में भगवान् की प्रतिज्ञा है कि वे अपने भक्तों की सदैव रक्षा करते हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक की अपनी टीका में पूरे ग्यारहवें स्कन्ध का सारांश दे दिया है, जो इस प्रकार है। अध्याय एक में *मौषल लीला* का शुभारम्भ है, जो कि यदुवंश के विनाश की भूमिका है, दूसरे अध्याय से पाँचवें अध्याय तक नौ योगेन्द्रों तथा राजा निमि के बीच हुई वार्ता दी गई है, छठे अध्याय में ब्रह्मा, शिव तथा स्वर्ग के अन्य वासियों द्वारा की गई स्तुतियाँ हैं, सातवें अध्याय से लेकर उन्तीसवें अध्याय तक कृष्ण तथा उद्धव के बीच हुई वार्ता है, जो *उद्धव-गीता* के नाम से जानी जाती है, तीसवें अध्याय में इस धरा से यदुवंश का विनाश और अन्तिम अध्याय में भगवान् कृष्ण के अन्तर्धान होने का वर्णन मिलता है।

ये कोपिताः सुबहु पाण्डुसुताः सपत्नैर्
दुर्द्यूतहेलनकचग्रहणादिभिस्तान् ।
कृत्वा निमित्तमितरेतरतः समेतान्
हत्वा नृपान्निरहरत्क्षितिभारमीशः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ये—वे जो; कोपिताः—क्रुद्ध थे; सु-बहु—बारम्बार; पाण्डु-सुताः—पाण्डु के पुत्र; सपत्नैः—अपने शत्रुओं द्वारा; दुः-द्यूत—कपटपूर्ण जुआ खेलने से; हेलन—अपमान; कच-ग्रहण—(द्रौपदी के) केश का खींचा जाना; आदिभिः—इत्यादि के द्वारा; तान्—उन (पाण्डवों) को; कृत्वा—बनाकर; निमित्तम्—कारण; इतर-इतरतः—एक दूसरे के आमने-सामने; समेतान्—एकत्र हुए; हत्वा—मार करके; नृपान्—राजाओं को; निरहरत्—सदैव के लिए हटा दिया; क्षिति—पृथ्वी के; भारम्—भार को; ईशः—परमेश्वर ने।

चूँकि पाण्डुपुत्र अपने शत्रुओं के अनेकानेक अपराधों से यथा कपटपूर्ण जुआ खेलने, बचनों द्वारा अपमान, द्रौपदी के केशकर्षण तथा अन्य अनेक क्रूर अत्याचारों से क्रुद्ध थे, इसलिए परमेश्वर ने उन पाण्डवों को अपनी इच्छा पूरी करने के लिए कारण-रूप में उपयोग किया। भगवान् कृष्ण ने कुरुक्षेत्र युद्ध के बहाने पृथ्वी पर भार बन रहे सारे राजाओं को अपनी अपनी सेनाओं समेत युद्धभूमि में दोनों ओर से एकत्र कराने की व्यवस्था की और जब भगवान् ने उन्हें युद्ध के माध्यम से मार डाला, तो पृथ्वी का भार हलका हो गया।

तात्पर्य : पाण्डवगण बारम्बार दुर्योधन तथा दुःशासन जैसे शत्रुओं द्वारा सताये जा रहे थे। निर्दोष युवा राजकुमारों के रूप में पाण्डवों का कोई शत्रु न था, किन्तु दुर्योधन अपने असहाय चचेरे भाइयों के

विरुद्ध निरन्तर षडयंत्र करता रहता था। पाण्डवों को लाक्षागृह में भेजा गया, जो बाद में जल कर राख हो गया, उन्हें विष दिया गया और उनकी सती साध्वी पत्नी द्रौपदी के केशों को खींचकर उसे नंगी करने के प्रयास द्वारा खुला अपमान किया गया। इन सारे संकटों में भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवों की निरंतर रक्षा करते रहे, क्योंकि वे पूर्णरूपेण उनकी शरण में थे और उनका भगवान् के सिवाय कोई दूसरा आश्रय नहीं था।

इस श्लोक में *इतरेतरत:* शब्द महत्त्वपूर्ण है। कुरुक्षेत्र युद्ध के पूर्व कृष्ण ने पूतना, केशी, अघासुर तथा कंस जैसे अनेक असुरों का वध कर डाला था। अब कृष्ण बच रहे अपवित्र लोगों का वध करके पृथ्वी का भार हटाने का अपना मन्तव्य पूरा करना चाह रहे थे। किन्तु जैसाकि यहाँ पर बतलाया गया है *कृत्वा निमित्तम्* भगवान् ने अपने हाथों से उनका वध नहीं किया, अपितु अर्जुन तथा अन्य पाण्डव स्वभक्तों को इन अपवित्र राजाओं को मारने के लिए शक्ति प्रदान की। इस तरह अपने निकटतम अंशरूप बलराम द्वारा कार्य कराकर और पांडवों जैसे शुद्ध भक्तों को शक्ति प्रदान करके धर्म की पुन:स्थापना करते हुए तथा संसार को असुरों से विहीन करते हुए *युगावतार* लीला का प्रदर्शन किया। यद्यपि कुरुक्षेत्र युद्ध का सामान्य उद्देश्य असुरों का संहार करना था, किन्तु कृष्ण की व्यवस्था से कुछ महान् भक्त यथा भीष्म कृष्ण के प्रति शत्रुवत् प्रतीत हो रहे थे। किन्तु जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.९.३९)के प्रथम स्कंध में *हतागता: स्वरूपम्* शब्दों द्वारा व्यक्त हुआ है, अनेक महान् भक्तों ने कृष्ण के साथ शत्रु का-सा व्यवहार किया और कृष्ण द्वारा मारे जाने पर, वे अपने मूल दिव्य शरीरों सहित तुरन्त वैकुण्ठ लोक चले गये। चूँकि ईश्वर सर्वोच्च हैं, अत: वध द्वारा वे पृथ्वी से असुरों को हटाने के साथ साथ अपने शुद्ध भक्तों को प्रोत्साहित भी करते हैं।

भूभारराजपृतना यदुभिर्निरस्य
गुप्तै: स्वबाहुभिरचिन्तयदप्रमेय: ।
मन्येऽवनेर्ननु गतोऽप्यगतं हि भारं
यद्यादवं कुलमहो अविषह्यमास्ते ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

भू-भार—पृथ्वी के भार स्वरूप; राज—राजाओं की; पृतना:—सेनाएँ; यदुभि:—यदुओं द्वारा; निरस्य—हटाकर; गुप्तै:—रक्षित; स्व-बहुभि:—अपनी भुजाओं द्वारा; अचिन्तयत्—उन्होंने विचार किया; अप्रमेय:—अगाध भगवान्; मन्ये—मैं सोचता हूँ; अवने:—पृथ्वी के; ननु—कोई कह सकता है; गत:—चले जाने पर; अपि—लेकिन; अगतम्—न गया हुआ; हि—

निस्सन्देह; भारम्—भार; यत्—क्योंकि; यादवम्—यदु के; कुलम्—कुल को; अहो—ओह; अविषह्यम्—असह्य; आस्ते—रहता है।

भगवान् ने अपने बाहुओं द्वारा संरक्षित यदुवंश का प्रयोग उन राजाओं का सफाया करने के लिए किया, जो अपनी सेनाओं सहित इस पृथ्वी के लिए भार बने हुए थे। तत्पश्चात् अगाध भगवान् ने मन ही मन सोचा, "भले ही कोई यह कहे कि अब पृथ्वी का भार समाप्त हो गया है, किन्तु मेरे मत से यह अब भी दूर नहीं हुआ, क्योंकि अब भी यादव-वंश बचा हुआ है, जिसकी शक्ति पृथ्वी के लिए असहनीय है।"

तात्पर्य : इस सम्बन्ध में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने टिप्पणी की है कि यद्यपि सामान्य लोग यह सोच सकते हैं कि असुरों का वध तथा धर्म की पुनर्स्थापना करके भगवान् ने पृथ्वी का भार हटा दिया था, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं पता लगा लिया था कि उनके अपने ही परिवार के सदस्यों के अधार्मिक कार्यों से और भी खतरा था। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि यदि किसी न्यायप्रिय राजा का अपना शत्रु निर्दोष है, तो वह उसे दण्ड देने से मना कर सकता है, किन्तु यदि उसका अपना पुत्र दण्डनीय हो, तो वह उसे दण्ड देगा। इस प्रकार यद्यपि लोक-दृष्टि में भगवान् के वंशज सदैव पूज्य थे, किन्तु भगवान् ने पता लगा लिया था कि यदुवंश के कुछ लोग उनकी घनिष्ठता प्राप्त करके उनकी इच्छा की परवाह नहीं करते हैं। चूँकि भगवान् के सम्बन्धी होने के कारण ऐसे सनकी यदुवंशी लोग मनमाना कार्य कर सकते थे, अतएव वे विश्व के लिए महान् संकट उत्पन्न करेंगे और मूर्ख व्यक्ति ऐसे मनमाने आचरण को कृष्ण की इच्छा मान बैठेंगे। इस तरह भगवान् जिनकी इच्छाएँ अचिन्त्य हैं, यदुवंश के लापरवाह एवं अपमानजनक सदस्यों का संहार करने की आवश्यकता पर विचार करने लगे।

सामान्य लोगों की दृष्टि में भगवान् ने द्वारका तथा मथुरा में अपनी लीलाओं के द्वारा तथा कुरुक्षेत्र के युद्ध में सारे असुरों का वध कर दिया था और अब पृथ्वी अपने भार से मुक्त हो चुकी थी। तो भी अपने ही परिवार के गर्वित सदस्यों के शेष भार से पृथ्वी को मुक्त कराने के लिए उनके बीच बंधुघाती कलह कराकर, उन्हें पृथ्वी से दूर हटा दिया। इस तरह उन्होंने पृथ्वी से अपने तिरोधान का रास्ता तैयार कर दिया।

श्रीधर स्वामी ने इंगित किया है कि *बाहुभि:* शब्द बहुवचन में यह दिखाने के लिए प्रयुक्त हुआ है कि भगवान् ने यदुवंश का विनाश अपने चतुर्भुजी रूप से किया। कृष्ण का आदि गोविन्द रूप द्विभुजी है, किन्तु भगवान् ने चतुर्भुजी नारायण के स्वांश रूप द्वारा इस पृथ्वी के सारे असुरों का संहार किया और अन्त में अपने ही परिवार के भारस्वरूप सदस्यों का सफाया किया। यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि यदुवंश के कुछ सदस्य भगवान् की इच्छा के विरुद्ध हो गये थे, तो फिर उन्होंने पृथ्वी से अपने हटाये जाने की भगवान् की योजना का विरोध क्यों नहीं किया? इसीलिए *अप्रमेय:* शब्द का प्रयोग हुआ है, जो इस बात का सूचक है कि कोई भी मनुष्य यहाँ तक कि भगवान् के परिवार वाले भी उनकी इच्छा को पूरी तरह समझ पाने में असमर्थ होते हैं।

श्रील जीव गोस्वामी ने यदुवंश के विनाश का अन्य कारण दिया है। वे इस बात पर बल देते हैं कि भगवान् के कार्यों को कभी भी सामान्य भौतिक कार्य नहीं समझना चाहिए। न ही भगवान् के संगियों को सामान्य व्यक्ति। यद्यपि भगवान् कृष्ण इस जगत में कुछ काल के लिए अवतरित होते हैं और फिर चले जाते हैं, किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि वे अपने संगियों सहित श्री गोकुल, मथुरा तथा द्वारका जैसे विविध धामों में नित्य स्थित रहते हैं। यदुवंश के सदस्य भगवान् के नित्य संगी हैं, अतएव भगवान् से विलग होना उन्हें सह्य नहीं है। चूँकि कृष्ण अपनी पार्थिव लीलाएँ समाप्त करने वाले थे, अत: यदि वे यदुवंशियों को इस धरा पर छोड़ जाते, तो वे उनकी अनुपस्थिति से इतने क्षुब्ध हो उठते कि सारी पृथ्वी को रौंदकर विनष्ट कर डालते। इसीलिए कृष्ण ने अपने अन्तर्धान होने से पहले यदुवंश के अन्तर्धान हो जाने की व्यवस्था पूरी की।

श्रील जीव गोस्वामी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदुवंशियों को अधार्मिक नहीं माना जाना चाहिए। वैष्णव आचार्यों ने उल्लेख किया है कि यदुवंश के अन्तर्धान होने की कथा बद्धजीवों को भवबन्धन से मुक्ति पाने में सहायक बनाने के लिए है। तीनों लोकों में यदुवंश के समान शक्तिशाली तथा ऐश्वर्यशाली कोई नहीं था। भगवान् असीम ऐश्वर्य—सौन्दर्य, शक्ति, ज्ञान, यश इत्यादि—के स्वामी हैं और यदुवंश के सदस्य भी भगवान् के निजी संगी होने के कारण अचिन्त्य ऐश्वर्य से युक्त थे। अतएव जब हम देखते हैं कि बन्धुघाती युद्ध ने किस तरह यदुवंशियों को उनकी सारी पार्थिव सम्पत्ति तथा उनके प्राणों तक से विहीन कर दिया, तो हम यह समझ सकते हैं कि इस भौतिक जगत में कोई भी

स्थायी पद नहीं है। दूसरे शब्दों में, यद्यपि यदुवंश के सदस्य कृष्ण के नित्य संगी थे और तुरन्त ही अन्य लोक को स्थानान्तरित कर दिये, गये जहाँ भगवान् प्रकट होने जा रहे थे, किन्तु बन्धुघाती युद्ध से उनका सहसा अन्तर्धान होना बद्धजीवों को यह बतलाने के लिए है कि यह संसार नश्वर है। इसलिए यदुवंश के कुछ सदस्यों का कृष्ण के प्रति विमुख होने या शत्रुता को उनकी अधार्मिकता के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए। यह सम्पूर्ण परिस्थिति बद्धजीवों को पाठ पढ़ाने की भगवान् कृष्ण की योजना थी। इस सन्दर्भ में श्रील जीव गोस्वामी ने *भागवत* से अनेक श्लोक उद्धृत करते हुए यह सिद्ध करना चाहा है कि यदुवंश के सदस्यों ने अनेक पुण्यकर्मों एवं भगवान् कृष्ण के विचार में पूर्ण निमग्नता के कारण ही भगवान् के परिवार में जन्म लिया था। वस्तुत: यह कहा जाता है कि वे कृष्ण का चिन्तन करने के कारण सोते, चलते, बैठते तथा बोलते हुए अपने आप को स्मरण रख पाने में असमर्थ थे।

श्रीमद्भागवत (१.१५-३३) के प्रथम स्कंध में श्रील प्रभुपाद ने यदुवंश के लोप होने पर निम्नवत् टीका की है, ''सूर्य का अस्त होना सूर्य के अन्त का द्योतक नहीं है। इसका अर्थ है कि सूर्य हमारी दृष्टि से ओझल है। इसी तरह किसी विशेष लोक या ब्रह्माण्ड में भगवान् के मिशन के अन्त का यही अभिप्राय है कि वे हमारी दृष्टि से ओझल रहते हैं। यदुवंश के अन्त का भी यह अर्थ नहीं है कि उसका विनाश हो गया। वह भगवान् के साथ ही हमारी दृष्टि से ओझल हो गया।''

नैवान्यत: परिभवोऽस्य भवेत्कथञ्चिन्
मत्संश्रयस्य विभवोन्नहनस्य नित्यम् ।
अन्त: कलिं यदुकुलस्य विधाय वेणु
स्तम्बस्य वह्निमिव शान्तिमुपैमि धाम ॥ ४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एव—निश्चय ही; अन्यत:—अन्य कारण से; परिभव:—हार; अस्य—इस (वंश) की; भवेत्—हो सकती है; कथञ्चित्—किसी भी तरह से; मत्-संश्रयस्य—मेरे शरणागत की; विभव—अपनी शक्ति के; उन्नहनस्य—असीम; नित्यम्—सदैव; अन्त:—भीतर; कलिम्—कलह; यदु-कुलस्य—यदुवंश का; विधाय—प्रोत्साहित करके; वेणु-स्तम्बस्य—बाँस के कुंज की; वह्निम्—आग; इव—मानो; शान्तिम्—शान्ति; उपैमि—प्राप्त करूँगा; धाम—अपना निजी नित्य वासस्थान।

भगवान् कृष्ण ने सोचा, ''इस यदुवंश के सदस्य सदैव मेरे पूरी तरह से शरणागत रहे हैं और इनका ऐश्वर्य असीम है, अत: कोई भी बाहरी ताकत इस वंश को पराजित नहीं कर पाई। किन्तु यदि मैं इस वंश के भीतर कलह को प्रोत्साहित करूँ, तो वह कलह बाँस के कुंज में घर्षण से

उत्पन्न अग्नि की तरह कार्य करेगा। तब मैं अपना असली मन्तव्य प्राप्त करके अपने नित्य धाम को लौट सकूँगा।''

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण यदुवंश के सदस्यों के लोप की व्यवस्था करना चाहते हुए भी स्वयं उनका उस तरह वध नहीं कर सकते थे, जिस तरह उन्होंने अनेक असुरों को मारा था, क्योंकि यदुवंश उनका अपना वंश था। तब यह प्रश्न किया जा सकता है कि कृष्ण ने अन्यों के द्वारा उनके वध किये जाने की व्यवस्था क्यों नहीं की? इसीलिए इस श्लोक में कहा गया है *नैवान्यतः परिभवोऽस्य भवेत् कथञ्चित्*—चूँकि यदुवंश उनका अपना वंश था, इसलिए ब्रह्माण्ड का कोई भी व्यक्ति, यहाँ तक कि देवता भी, उसका संहार करने में समर्थ नहीं थे। वास्तव में, जैसाकि विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर संकेत करते हैं, इस ब्रह्माण्ड के भीतर यदुवंश के सदस्यों का कोई अपमान भी नहीं कर सकता था, उन्हें हराने या मारने की बात तो दूर रही। इसका कारण *मत्संश्रयस्य* शब्दों द्वारा दिया गया है। यदुवंशियों ने कृष्ण की पूर्ण शरण ले रखी थी, अतएव उन्हें सदैव भगवान् का निजी संरक्षण प्राप्त था। कहा गया है—*मारे कृष्ण राखे के, राखे कृष्ण मारे के*—यदि कृष्ण किसी की रक्षा करते हैं, तो उसे कोई नहीं मार सकता और यदि कृष्ण मारना चाहते हैं, तो उसे कोई बचा नहीं सकता। कृष्ण ने पहले से अपने सारे संगियों तथा देवताओं से पृथ्वी में प्रकट होने के लिए अनुरोध कर रखा था, जिससे उनकी लीलाओं में वे सहायक बन सकें। अब जबकि इस विशेष लोक में उनकी लीलाओं का अन्त होने जा रहा था और वे लीलाएँ किसी अन्य ब्रह्माण्ड के अन्य किसी लोक में स्थानान्तरित होने जा रही थीं, तो कृष्ण अपने सारे संगियों को इस धरा से हटा देना चाहते थे जिससे उनकी अनुपस्थिति में वे भार न बन सकें। चूँकि भगवान् का अपना ही वंश होने तथा अपनी ही सेना होने से शक्तिशाली यदुवंश संभवतः किसी के द्वारा पराजित नहीं किया जा सकता था, इसलिए कृष्ण ने उसमें आन्तरिक कलह करायी, जिस तरह बाँस के जंगल में वायु बाँसों को परस्पर घर्षित करके अग्नि उत्पन्न कर देती है, जिससे सारा जंगल भस्म हो जाता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने संकेत किया है कि यदुवंश के साहसिक कार्यों को सुनकर सामान्य लोग यह सोच सकते हैं कि यदुवंश के वीर भी कृष्ण की ही तरह पूजनीय हैं या स्वतंत्र नियन्ता हैं। दूसरे शब्दों में, मायावाद-दर्शन से दूषित लोग यदुवंश को कृष्ण जैसे पद पर स्थित समझ सकते हैं।

इसलिए यह स्थापित करने के लिए कि सर्वाधिक शक्तिमान जीव तक कभी भी न तो भगवान् के समान हो सकता है, न उनसे आगे जा सकता है, कृष्ण ने यदुवंश के विनाश की व्यवस्था की।

एवं व्यवसितो राजन्सत्यसङ्कल्प ईश्वरः ।
शापव्याजेन विप्राणां सञ्जह्रे स्वकुलं विभुः ॥५॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; व्यवसितः—निश्चय करते हुए; राजन्—हे राजा; सत्य-सङ्कल्पः—जिसकी इच्छा सदैव सच सिद्ध है; ईश्वरः—भगवान् ने; शाप-व्याजेन—शाप के बहाने; विप्राणाम्—ब्राह्मणों के; सञ्जह्रे—समेट लिया; स्व-कुलम्—अपने वंश को; विभुः—सर्वशक्तिमान।

हे राजा परीक्षित, जब परम शक्तिशाली भगवान् ने, जिनकी इच्छा सदैव पूरी होकर रहती है, इस प्रकार अपने मन में निश्चय कर लिया, तो उन्होंने ब्राह्मणों की सभा द्वारा दिये गये शाप के बहाने अपने परिवार को समेट लिया।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने इस श्लोक पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीका की है। वे कहते हैं कि चूँकि भगवान् कृष्णचन्द्र के मनोभाव सदैव पूर्ण होते हैं, इसलिए पूरे विश्व के लाभ को ध्यान में रखते हुए ही उन्होंने ब्राह्मणों द्वारा शाप के बहाने अपने वंश का विनाश कर डाला। इस सम्बन्ध में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने श्री चैतन्य महाप्रभु की लीलाओं से साम्य दिखलाया है, जो कि साक्षात् कृष्ण हैं और अपने ही भक्त के रूप में प्रकट हुए थे।

श्री चैतन्य महाप्रभु अपने प्रथम स्वांश नित्यानन्द प्रभु एवं अद्वैत प्रभु के साथ साथ प्रकट हुए। ये तीनों—चैतन्य महाप्रभु, नित्यानन्द प्रभु तथा अद्वैत प्रभु वैष्णव आचार्यों द्वारा *विष्णुतत्त्व* अर्थात् भगवान् के संपूर्ण पद की कोटि में परिगणित होते हैं। इन तीनों प्रभुओं ने अनुभव किया कि भविष्य में इनके वीर्यज वंशज अवांछित मान्यता प्राप्त कर लेंगे और गर्वित होने से वास्तविक वैष्णव-गुरुओं अथवा भगवान् के प्रतिनिधियों के विरुद्ध शोचनीय अपराध करेंगे।

जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*ममैवांशः*), प्रत्येक जीव परमेश्वर का भिन्नांश है। मूलतः प्रत्येक जीव ईश्वर का पुत्र है, किन्तु अपनी लीलाएँ करने के लिए भगवान् कतिपय अतियोग्य जीवों को चुनकर उन्हें अपने सम्बन्धियों के रूप में जन्म लेने देते हैं। किन्तु ऐसे वंशज जो भगवान् के निजी परिवार के सदस्य के रूप में प्रकट होते हैं, अपने पद से निस्सन्देह गर्वित हो सकते हैं और सामान्य जनों से मिलने वाले महान् सम्मान का दुरुपयोग कर सकते हैं। इस तरह ऐसे लोग कृत्रिम रूप से

अनुचित सम्मान पाने के कारण उन लोगों को आध्यात्मिक प्रगति के पथ से भगवान् के प्रतिनिधि रूप शुद्ध भक्तों की शरण में जाने से दूसरी ओर मोड़ सकते हैं। *भगवद्गीता* के बारहवें अध्याय के अन्तिम आठ श्लोकों में भगवान् द्वारा उन भक्तों का वर्णन किया गया है, जिन्हें *आचार्य* का कार्य करने की अनुमति दी गई है। दूसरे शब्दों में, मात्र भगवान् कृष्ण के वंश में जन्म लेने से गुरु बनने की पात्रता प्राप्त नहीं होती, क्योंकि *भगवद्गीता* के अनुसार *पिताहमस्य जगतः*—हर जीव भगवान् के परिवार का सदस्य है। *भगवद्गीता* में कृष्ण कहते हैं *समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्तिन प्रियः*—मैं हर एक पर समभाव रखता हूँ, कोई न तो मेरा शत्रु है, न विशिष्ट मित्र है। यदि भगवान् का कोई विशेष परिवार है, जैसे कि यदुवंश, तो ऐसे परिवार की विशेष योजना बद्धजीवों को आकर्षित करने के लिए भगवान् की लीलाओं के कारण ही है। जब कृष्ण अवतरित होते हैं, तो वे सामान्य व्यक्ति की तरह कार्य करते हैं, जिससे जीव उनकी लीलाओं के प्रति आकृष्ट हों। इसलिए कृष्ण ऐसा कार्य करते थे, मानो यदुवंश उनका निजी परिवार हो, जबकि तथ्य यह है कि प्रत्येक जीव उनके परिवार का सदस्य है।

किन्तु सामान्य लोग आध्यात्मिक ज्ञान के उच्च सिद्धान्तों को न समझ पाने के कारण प्रामाणिक गुरु की योग्यताओं को आसानी से भूल जाते हैं और बजाय इसके वे भगवान् के तथाकथित परिवार में उत्पन्न लोगों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने कोई सन्तान न छोड़कर आध्यात्मिक प्रबुद्धता के मार्ग के इस अवरोध से अपने को बचाया। यद्यपि महाप्रभु के दो विवाह हुए, किन्तु वे निःसन्तान थे। भगवान् स्वरूप नित्यानन्द प्रभु ने भी अपने पुत्र श्री वीरभद्र के असली पुत्रों को स्वीकार नहीं किया। इसी प्रकार अद्वैत आचार्य ने अच्युतानन्द तथा दो अन्य पुत्रों के अतिरिक्त अन्य पुत्रों से रिश्ता तोड़ लिया था। अद्वैत आचार्य के अत्यन्त आज्ञाकारी पुत्र अच्युतानन्द के कोई सन्तान न थी और शेष छह पुत्रों में से तीन पुत्र भक्ति के मार्ग से च्युत हो गये थे, इसलए उन्हें परित्यक्त पुत्र माना जाता है। दूसरे शब्दों में, चैतन्य महाप्रभु के आविर्भाव से तथाकथित वीर्यज परिवार (सन्तान) की परम्परा चलाकर संभ्रान्ति पैदा करने की सुविधा नहीं मिली। जो व्यक्ति वैदिक प्रमाण से परम सत्य को समझता है, उसे चाहिए कि स्मार्तों द्वारा वीर्यज परम्परा को मान्यता प्रदान न करे।

अन्य आचार्यों ने भी अपने ही परिवारों में इस बात को करके दिखाया है। हमारे प्रिय गुरु श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद जो *श्रीमद्भागवतम्* के इस ग्रंथमाला के महान् भाष्यकार हैं, शुद्ध भक्तों के

परिवार में जन्मे थे और उनमें बाल्यकाल से ही शुद्ध भक्ति के लक्षण प्रकट थे। अन्त में श्रील प्रभुपाद पाश्चात्य देशों में आये और उन्होंने विश्व-भर में कृष्णभावनामृत आन्दोलन को स्थापित करने में अद्वितीय आध्यात्मिक शक्ति का प्रदर्शन किया। कुछ ही वर्षों में उन्होंने वैदिक दर्शन के पचास से अधिक बहुत खण्डों का अनुवाद किया। अपने व्यावहारिक कार्यों से वे भगवान् के सर्वाधिक शक्तिप्रदत्त प्रतिनिधि जाने जाते हैं। फिर भी उनके अपने परिवार के ही सदस्य, कृष्ण-भक्त होते हुए भी भक्ति के आदर्श मानदण्ड को प्राप्त नहीं कर सके, अत: इस्कॉन के सदस्यों ने उन पर ध्यान नहीं दिया। इस्कॉन के सदस्यों की सहज प्रवृत्ति श्रील प्रभुपाद के परिवार के सदस्यों के प्रति सम्मान एवं पूजा की होगी। किन्तु कृष्ण की व्यवस्था के फलस्वरूप ये सदस्य शुद्ध भक्ति के धरातल पर नहीं हैं, अत: इस्कॉन के सदस्य उन पर कोई ध्यान नहीं देते, अपितु उन उच्च वैष्णवों की पूजा करते हैं, जिनमें वैष्णवों के गुण होते हैं, चाहे वे कहीं भी जन्मे हों। दूसरे शब्दों में, सम्मानित व्यक्ति बनने के लिए जन्म कोई योग्यता नहीं है, भले ही वह भगवान् के ही परिवार में, या कि आचार्य के परिवार में क्यों न जन्मा हो; किसी सामान्य धनी या विद्वत् परविार का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

भारत में *नित्यानन्द वंश* नामक जाति के लोग हैं, जो अपने को नित्यानन्द का प्रत्यक्ष वंशज मानते हैं, अतएव भक्ति में सर्वोच्च सम्मानित पद का अधिकारी बताते हैं। इस सन्दर्भ में श्रील प्रभुपाद ने *भक्तिरसामृत सिन्धु* में लिखा है, ''मध्य युग में श्री चैतन्य महाप्रभु के महान् संगी नित्यानन्द के तिरोधान के बाद पुरोहितों के एक वर्ग ने अपने को नित्यानन्द के वंशज होने का दावा किया और अपने को *गोस्वामी* जाति का नाम दिया। उन्होंने यह भी दावा किया कि भक्ति करने और उसका प्रसार करने का अधिकार एकमात्र इसी जाति को है, जो *नित्यानन्द वंश* कहलाती है। इस तरह कुछ समय तक वे अपनी बनावटी शक्ति दिखलाते रहे, जब तक कि गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के शक्तिशाली आचार्य श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने उनके इस विचार को ध्वस्त नहीं कर दिया। कुछ समय तक विकट संघर्ष चला, किन्तु इसमें सफलता मिली और अब यह अच्छी तरह से स्थापित हो चुका है कि भक्ति किसी जातिविशेष के लोगों तक ही सीमित नहीं है। यही नहीं, जो कोई भी भक्ति में लगा है, वह पहले से ही उच्च जाति का ब्राह्मण है। इस तरह इस आन्दोलन के लिए श्रील भक्तिसिद्धान्त

सरस्वती ठाकुर का संघर्ष सफल हुआ है। उन्हीं के बल के आधार पर पर आज ब्रह्माण्ड के किसी भी भाग का कोई भी व्यक्ति गौड़ीय वैष्णव बन सकता है।''

दूसरे शब्दों में, आध्यात्मिक ज्ञान का सार यह है कि प्रत्येक जीव, चाहे वह आज जिस पद पर भी हो मूलत: भगवान् का दास है और भगवान् का यही मिशन है कि इन पतित जीवों का उद्धार किया जाय। कोई भी जीव जो भगवान् के या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि के चरणकमलों पर फिर से शरण लेना चाहता है, उसका भूतकाल कैसा भी रहा हो, वह भक्तियोग के विधि-विधानों का दृढ़ता से पालन करने से शुद्ध हो सकता है और उच्च कोटि के ब्राह्मण की तरह कर्म कर सकता है। तो भी, भगवान् के वंशज अपने को अपने पूर्वज के चरित्र तथा पद का उत्तराधिकारी माने रहते हैं। इस तरह भगवान् जो कि सम्पूर्ण विश्व के तथा विशेष रूप से अपने भक्तों के शुभचिन्तक हैं अपने वंशजों की विवेक शक्ति को इस तरह विमोहित करते हैं कि ये वंशज पथभ्रष्ट प्रतीत होने लगते हैं और भगवान् का प्रतिनिधि बनना अर्थात् कृष्ण की इच्छा पर आत्मसमर्पण प्रधान रह जाता है।

स्वमूर्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणाम् ।
गीर्भिस्ताः स्मरतां चित्तं पदैस्तानीक्षतां क्रियाः ॥ ६ ॥
आच्छिद्य कीर्तिं सुश्लोकां वितत्य ह्यञ्जसा नु कौ ।
तमोऽनया तरिष्यन्तीत्यगात्स्वं पदमीश्वरः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

स्व-मूर्त्या—अपने ही स्वरूप से; लोक—सारे जगतों के; लावण्य—सौन्दर्य; निर्मुक्त्या—खींच लेने वाले; लोचनम्—नेत्रों को; नृणाम्—मनुष्यों के; गीर्भिः—उसके शब्दों से; ताः स्मरताम्—उनका स्मरण करने वालों के; चित्तम्—मन को; पदैः—अपने चरणों से; तान् ईक्षताम्—उन्हें देखने वालों के; क्रियाः—शारीरिक कार्य (चलना, फिरना इत्यादि).); आच्छिद्य—आकर्षित करके; कीर्तिम्—उसकी कीर्ति को; सु-श्लोकाम्—सर्वश्रेष्ठ श्लोकों द्वारा प्रशंसित; वितत्य—प्रसार करके; हि—निश्चय ही; अञ्जसा—सरलतापूर्वक; नु—निस्सन्देह; कौ—पृथ्वी पर; तमः—अज्ञान; अनया—उस (कीर्ति) द्वारा; तरिष्यन्ति—लोग पार कर जाते हैं; इति—इस प्रकार सोचकर; अगात्—प्राप्त किया; स्वम् पदम्—अपना इच्छित स्थान; ईश्वरः—भगवान् ने।.

भगवान् कृष्ण समस्त सौन्दर्य के आगार हैं। सारी सुन्दर वस्तुएँ उन्हीं से निकलती हैं और उनका स्वरूप इतना आकर्षक है कि वह अन्य सारी वस्तुओं से आँखों को हटा देता है, अतः जो उनकी तुलना में सौन्दर्यविहीन प्रतीत होती हैं। जब भगवान् कृष्ण इस पृथ्वी पर थे, तो वे सबों के नेत्रों को आकर्षित कर लेते थे। जब कृष्ण बोलते थे, तो उनके शब्द उन सबों के मन को आकृष्ट कर लेते थे, जो उनका स्मरण करते थे। लोग कृष्ण के चरणचापों को देखकर आकृष्ट हो जाते थे और अपने शारीरिक कार्यों को वे उनके अनुयायी बनकर उन्हें ही अर्पित करने की

इच्छा करने लगते थे। इस तरह कृष्ण ने आसानी से अपनी कीर्ति का विस्तार कर लिया था, जिसका गायन अत्यन्त वदान्य एवं अनिवार्य वैदिक श्लोकों के रूप में विश्व-भर में किया जाता है। भगवान् कृष्ण मानते थे कि इस कीर्ति का श्रवण तथा कीर्तन करने से ही भविष्य में जन्म लेने वाले बद्धजीव अज्ञान के अंधकार को पार कर सकेंगे। इस व्यवस्था से तुष्ट होकर वे अपने इच्छित गन्तव्य के लिए विदा हो गये।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी के अनुसार ये दोनों श्लोक यह इंगित करते हैं कि जिन उद्देश्यों के लिए भगवान् कृष्ण ने अवतार लिया था, उन्हें पूरा प्राप्त कर लेने के बाद, वे अपने आध्यात्मिक जगत में लौट गये। इस भौतिक जगत में लोगों में सुन्दर वस्तु को देखने की लालसा होना स्वाभाविक है। किन्तु भौतिकतावादी जीवन में हमारी चेतना प्रकृति के तीनों गुणों से दूषित हो जाती है, जिससे हम सौन्दर्य तथा आनन्द प्रदान करने वाली भौतिक वस्तुओं के लिए लालायित रहते हैं। इन्द्रियतृप्ति की भौतिकतावादी विधि अधूरी है, क्योंकि प्रकृति के नियम हमें भौतिक जीवन में सुखी या तुष्ट नहीं रहने देते। स्वभावत: जीव परमेश्वर का नित्य दास है और वह भगवान् के असीम सौन्दर्य एवं आनन्द को सराहने के निमित्त है। भगवान् कृष्ण परम सत्य हैं और समस्त सौन्दर्य तथा आनन्द के आगार हैं। कृष्ण की सेवा करके हम भी उनके सौन्दर्य तथा आनन्द के सागर के भागी बन सकते हैं। इस तरह सुन्दर वस्तुओं को देखने तथा जीवन का भोग करने की हमारी इच्छा पूरी तरह संतुष्ट हो सकेगी। उदाहरण के रूप में, हाथ भोजन का स्वतंत्र रूप से भोग नहीं कर सकता, किन्तु आमाशय को भोजन प्रदान करके अप्रत्यक्षत: उसे आत्मसात् कर सकता है। इसी तरह कृष्ण की सेवा करके भगवान् का अंश-स्वरूप-जीव असीम सुख प्राप्त कर सकता है।

अचिन्त्य भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने असली रूप को प्रदर्शित करके जीवों को, अपने रूप के सिवा सौन्दर्य के दूसरे रूपों की व्यर्थ तलाश करने से मुक्त कर दिया है, क्योंकि उनका रूप समस्त सुन्दर वस्तुओं का स्रोत है। इससे उनके चरणकमलों के दर्शन मात्र से भाग्यशाली जीव, कर्मियों के अपवित्र प्रयासों—अपनी इन्द्रियतृप्ति के ही लिए स्थूल आनन्द की खोजों और भगवत्भक्ति से अपने कार्यकलापों पर परदा डालने के अभ्यास के बीच अन्तर कर सकता है। यद्यपि दार्शनिकगण ईश्वर के स्वभाव के बारे में निरन्तर अनुमान लगाते रहते हैं, किन्तु भगवान् कृष्ण ने अपने असली दिव्य रूप

तथा कर्मों को प्रदर्शित करके अपने विषय में अनुमान की भ्रान्तियों से जीव को मुक्त कर दिया। ऊपर से कृष्ण के रूप, वचन तथा कार्य सामान्य बद्धजीवों जैसे लगते हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि भगवान् तथा जीवों के कार्यों की यह ऊपरी समानता भगवान् द्वारा दी गई दयामय छूट है, जिससे बद्धजीव उनके प्रति आकृष्ट हों और आनन्द तथा ज्ञान के शाश्वत जीवन हेतु भगवद्धाम वापस जाने के योग्य बन सकें। जीवों की समझ में आने योग्य अपने ही आध्यात्मिक स्वरूप तथा धाम को उन्हें दिखलाकर, भगवान् कृष्ण ने उनकी मिथ्या भोगवादी प्रवृत्ति को भगाकर, अपने प्रति दीर्घकालीन उपेक्षा को दूर किया। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, यदि कोई व्यक्ति श्रीकृष्ण के पद को भगवान् के रूप में समझ लेता है, तो वह भौतिक माया के पाश में पुन: नहीं आता। ऐसे पतन को तभी बचाया जा सकता है, जब कोई व्यक्ति प्रामाणिक वैदिक ग्रंथों से भगवान् के अद्वितीय दिव्य रूप तथा सौन्दर्य के विषय में निरन्तर श्रवण करे।

जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४२-४३) में बतलाया गया है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्य विपश्चित: ।

वेदवादरता: पार्थ नान्यदस्तीति वादिन: ॥

कामात्मान: स्वर्ग परा जन्म कर्मफल प्रदाम् ।

क्रियाविशेष बहुलां भागैश्वर्यगतिं प्रति ॥

''अल्पज्ञानी मनुष्य वेदों के उन अलंकारिक शब्दों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं, जो स्वर्ग की प्राप्ति, अच्छे जन्म, शक्ति इत्यादि के लिए विविध सकाम कर्म करने की संस्तुति करते हैं। इन्द्रियतृप्ति तथा ऐश्वर्यमय जीवन की अभिलाषा के कारण ही वे ऐसा कहते हैं कि इससे बढ़कर और कुछ नहीं है।''

दूसरी ओर, वैदिक वाङ्मय के कुछ अंश बद्धजीव को भौतिक इन्द्रियतृप्ति प्रदान करने और साथ ही उसे वैदिक आदेशों का पालन करने के लिए धीरे धीरे अनुकूल बनाने के लिए हैं। वेदों के वे अंश, जो नियमित इन्द्रियतृप्ति के लिए सकाम कर्म की संस्तुति करते हैं स्वयं में घातक हैं, क्योंकि जो जीव इन कार्यों में लग जाता है, वह प्रदत्त भौतिक भोगों में आसानी से फँस जाता है और वेदों के चरम प्रयोजन की उपेक्षा करने लगता है। वैदिक वाङ्मय का चरम उद्देश्य जीव को उसकी मूल चेतना तक

वापस लाना है, जिसमें वह भगवान् के नित्य दास की तरह कार्य करता है। भगवान् की सेवा करके जीव भगवद्धाम में उनके सान्निध्य में असीम आध्यत्मिक आनन्द का भोग कर सकता है। अतएव, जो व्यक्ति सच्चे दिल से कृष्णभावनामृत में आगे बढ़ने का इच्छुक हो, उसे भगवान् की शुद्ध भक्ति से सम्बन्धित वैदिक साहित्य का श्रवण करना चाहिए। उसे कृष्णभावनामृत में आगे बढ़े हुए लोगों से सुनना चाहिए और ऐसी व्याख्याओं से बचना चाहिए, जो भोगेच्छाओं को उद्दीप्त करें।

जब क्षुद्र जीव अन्ततः इस जगत के क्षणिक कार्यकलापों एवं भगवान् त्रिविक्रम, कृष्ण, के दिव्य कार्यकलापों में अन्तर करने में समर्थ होता है, तो वह भगवान् की भक्ति में लग जाता है और अपने हृदय से भौतिकवाद के श्याम आवरण को हटा देता है। तब उसे इन्द्रियतृप्ति की कोई इच्छा नहीं होती, जिसे पाप तथा पुण्य के दो शीर्षकों के अन्तर्गत भोगा जाता है। दूसरे शब्दों में, यद्यपि इस जगत में लोगों को पापी या पुण्यात्मा माना जाता है, किन्तु भौतिक धरातल पर पाप तथा पुण्य दोनों ही निजी तृप्ति के लिए सम्पन्न किये जाते हैं। यदि मनुष्य यह समझ ले कि उसका असली सुख कृष्ण को आनन्द प्रदान करने में निहित है, तो भगवान् कृष्ण ऐसे भाग्यशाली जीव को अपने धाम ले जाते हैं, जो गोलोक वृन्दावन कहलाता है। भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार भगवान् सर्वप्रथम निष्ठावान् व्यक्ति को अपनी लीलाएँ सुनने का अवसर प्रदान करते हैं। जब भक्त ऐसी कथाओं के प्रति स्वेच्छा से आकृष्ट होने लगता है, तो वे इस जगत में प्रकट होने वाली अपनी आध्यात्मिक लीलाओं में उसे भाग लेने का अवसर प्रदान करते हैं। किसी एक ब्रह्माण्ड में हो रही भगवान् की लीलाओं में भाग लेने से जीव भौतिक जगत से पूरी तरह विरक्त हो जाता है और अन्त में भगवान् उसे दिव्य आकाश में अपने निजी धाम ले जाते हैं।

मूर्ख लोग भगवान् द्वारा प्रदत्त इस तात्विक लाभ को नहीं समझ पाते, किन्तु भगवान् कृष्ण ऐसे मूर्खों को नश्वर जगत के मिथ्या भोग में लीन होने से बचाकर, उन्हीं के लाभ के लिए कार्य करते हैं। वे उन्हें अपने अनुपम दिव्य सौन्दर्य, दिव्य वाणी तथा दिव्य कार्यकलाप दिखलाकर ऐसा करते हैं। श्रील जीव गोस्वामी ने इंगित किया है कि *तमोऽनया तरिष्यन्ति* यह सूचित करता है कि यद्यपि भगवान् कृष्ण ५,००० वर्ष पूर्व अवतीर्ण हुए थे, किन्तु जो व्यक्ति भगवान् के कार्यों, रूप तथा शब्दों को सुनता और उनका कीर्तन करता है, उसे वैसा ही लाभ प्राप्त होगा, जैसाकि कृष्ण के उन समसामयिकों को,

जिन्होंने इनका साक्षात् अनुभव किया था। दूसरे शब्दों में, वह भी भौतिक जगत के अंधकार को पार कर जायेगा और भगवद्धाम को प्राप्त होगा। इस प्रकार श्रील जीव गोस्वामी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि सारे जीवों को ऐसा उस्थ गन्तव्य उपलब्ध हो सकता है, तो भगवान् के निजी संगी यादवों को वह अवश्य ही प्राप्त हुआ होगा।

इस श्लोक में कहा गया है कि कृष्ण, अपने सौन्दर्य से, उन्हें देखने वालों की दृष्टि को चुरा लेते थे। कृष्ण की बोलचाल इतनी आकर्षक थी कि उन्हें सुनने वाले अवाक् रह जाते थे। चूँकि न बोलने वाले प्राय: बहरे भी होते हैं, अतएव भगवान् के शब्द सुनने वालों के कानों को भी चुरा लेते थे, क्योंकि वे भगवान् की वाणी के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सुनने में रुचि नहीं लेते थे। अपने पदचापों का सौन्दर्य दिखलाकर कृष्ण, उन लोगों की भौतिक कार्य करने की शक्ति को हर लेते थे, जो उन्हें देखते थे। इस तरह इस जगत में अपने प्राकट्य से कृष्ण ने मानव जाति की इन्द्रियों को हर लिया। दूसरे शब्दों में उन्होंने लोगों को अंधा, गूँगा, बहरा, उन्मत्त तथा अन्यथा अशक्त बना दिया। इसीलिए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर प्रश्न करते हैं, ''जब उन्होंने लोगों की हर वस्तु छीन ली तो उन्हें दयालु कौन कहेगा? वे तो एक चोर हैं।'' इस तरह अप्रत्यक्ष रूप में वे भगवान् के सौन्दर्य की सर्वाधिक प्रशंसा करते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर यह भी इंगित करते हैं कि यद्यपि कृष्ण ने असुरों का नाश करके उन्हें मुक्ति प्रदान की, किन्तु जो लोग उनके प्रति आकृष्ट थे उन्हें उन्होंने शुद्ध भगवत्प्रेम प्रदान दिया और उन्हें अपने सौन्दर्य-सागर में निमग्न कर दिया। इस तरह कृष्ण उस व्यक्ति के सदृश नहीं है, जो बिना सोचे-विचारे दान देता है। और कृष्ण इतने दयालु हैं कि उन्होंने न केवल पृथ्वी के निवासियों को ही सर्वोच्च वर दिया, अपितु व्यासदेव जैसे महान् सन्त-पुरुषों को सुन्दर काव्यमय श्लोकों में अपनी लीलाओं को वर्णन करने की शक्ति प्रदान की। इस तरह भविष्य में इस पृथ्वी पर उत्पन्न लोग उस कीर्ति-रूपी नौका से जन्म-मृत्यु के सागर को सरलता से पार कर सकेंगे। वस्तुत: आज हममें से, जो लोग श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद की कृपा से *श्रीमद्‌भागवत* के भक्तिवेदान्त तात्पर्य के पारदर्शी माध्यम से कृष्ण की महिमा का आनन्द लूट रहे हैं, वे कृष्ण-कृपा के भाग्यशाली प्राप्तकर्ता हैं, क्योंकि कृष्ण आगे उत्पन्न होने वालों पर भी दयालु हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *अमरकोश* से उद्धरण देते हुए यह भी कहा है *पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्म्यङ्घ्रि वस्तुषु* इसमें *पदम्* की संभव परिभाषाएँ इस प्रकार हो सकती हैं, ''जो निश्चित किया जा चुका है,'' ''उद्धार का स्थान,'' ''लक्ष्मी,'' ''पाँव'' अथवा ''वस्तु''। इस तरह वे *पदम्* का अर्थ *व्यवसित* भी देते हैं अर्थात् वह जो निश्चित हो चुका है। दूसरे शब्दों में *अगात् स्वं पदम् ईश्वरः*—यह कथन न केवल यह बतलाता है कि कृष्ण अपने धाम गये, अपितु यह भी कि कृष्ण ने अपने संकल्प को साकार किया। यदि हम यह कहते हैं कि कृष्ण अपने नित्य धाम लौट गये, तो इसका अर्थ यह होता है कि इसके पूर्व कृष्ण अपने धाम से अनुपस्थित थे और अब लौट रहे हैं। इसलिए विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर यह इंगित करते हैं कि सामान्य भाव में यह कहना सही नहीं है कि कृष्ण ''अपने धाम वापस गये।'' *ब्रह्म-संहिता* के अनुसार भगवान् कृष्ण वैकुण्ठ-लोक में अपने धाम में सदैव उपस्थित रहते हैं। फिर भी अपनी अहैतुकी कृपा से समय-समय पर वे अपने को भौतिक जगत में भी प्रकट करते हैं। दूसरे शब्दों में, ईश्वर सर्वव्यापक हैं। वे हमारे समक्ष उपस्थित होने पर भी, उसी समय अपने धाम में रहते हैं। सामान्य आत्मा अर्थात् जीव परमात्मा की तरह सर्वव्यापक नहीं है, इसलिए भौतिक जगत में अपनी उपस्थिति के कारण जीव आध्यात्मिक जगत से अनुपस्थित रहता है। वस्तुतः हम आध्यात्मिक जगत या वैकुण्ठ से अपनी अनुपस्थिति के कारण कष्ट पाते हैं। किन्तु भगवान् सर्वव्यापक हैं, इसीलिए विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *अगात् स्वं पदम्* शब्दों से यह अर्थ निकाला है कि कृष्ण ने जो इच्छा की, उन्हें वही प्राप्त हुआ। भगवान् सर्वव्यापक हैं और अपनी पूर्ण इच्छाओं को पूरा करने में स्वतंत्र हैं। इस जगत में उनके प्राकट्य तथा अन्तर्धान की तुलना सामान्य भौतिक कार्यों से कभी नहीं की जानी चाहिए।

विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *श्रीमद्भागवत* (३.२.७) के तृतीय स्कन्ध के प्रारम्भ में वर्णित उद्धव के कथन को उद्धृत किया है, जिसमें उद्धव ने कृष्ण के तिरोधान की तुलना सूर्यास्त से की है। इस श्लोक के तात्पर्य में श्रील प्रभुपाद ने लिखा है, ''सूर्य से कृष्ण की तुलना अत्यन्त उपयुक्त है। सूर्य के अस्त होते ही अंधकार स्वयमेव छा जाता है। किन्तु सामान्य लोग जिस अंधकार का अनुभव करते हैं, उससे न तो सूर्योदय के समय, न ही सूर्यास्त के समय, सूर्य प्रभावित होता है। कृष्ण का प्राकट्य तथा लोप सूर्य के ही समान हैं।'' वे असंख्य ब्रह्माण्डों में प्रकट और लोप होते रहते हैं और जब तक वे

किसी एक ब्रह्माण्ड में रहते हैं, तब तक उसमें दिव्य प्रकाश रहता है, किन्तु वे जिस लोक से चले जाते हैं, उसमें अंधकार छा जाता है। तो भी उनकी लीलाएँ सदा सदा चलने वाली हैं। भगवान् किसी न किसी ब्रह्माण्ड में सदैव उपस्थित रहते हैं, जिस तरह सूर्य पूर्वी या पश्चिमी गोलार्द्ध में से किसी में सदा उपस्थित रहता है। सूर्य सदैव ही भारत या अमेरिका में उपस्थित रहता है, किन्तु जब सूर्य भारत में रहता है, तो अमरीकी भूभाग में अंधकार रहता है और जब सूर्य अमेरिका में रहता है, तो भारतीय गोलार्द्ध अंधकार में रहता है।''

श्रील जीव गोस्वामी ने ग्यारहवें स्कंध के अन्त से एक श्लोक उद्धृत किया है, जिससे और भी स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् का धाम उन्हीं की तरह शाश्वत है ''हे महाराज! समुद्र तुरन्त ही द्वारका को निगल गया और अपने साथ भगवान् के निजी धाम को, जिसे उन्होंने त्याग दिया था, बहा ले गया। भगवान् मधुसूदन सदैव द्वारका में उपस्थित रहते हैं, जिसके स्मरण मात्र से हर प्रतिकूल वस्तु नष्ट हो जाती है। यह शुभ स्थानों में सर्वाधिक शुभ है।'' (भागवत ११.३१.२३-२४) जिस तरह रात्रि द्वारा सूर्य निगला जाता प्रतीत होता है, उसी तरह कृष्ण अथवा उनका धाम या उनका वंश भी लुप्त होता प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में भगवान् तथा उनका साज-सामान—धाम तथा वंश—उसी तरह नित्य हैं, जिस तरह सूर्य सदैव आकाश में रहता है। इस सन्दर्भ में श्रील प्रभुपाद कहते हैं, ''जिस प्रकार सूर्य प्रात:काल उदय होता है और क्रमश: सिर के ऊपर जाकर पुन: एक गोलार्ध में अस्त होता है और उसी समय दूसरे में उदय होता है, उसी तरह एक ब्रह्माण्ड में से भगवान् कृष्ण का लोप एवं साथ साथ अन्य लोक में उनकी विभिन्न लीलाओं का शुभारम्भ होता है। ज्योंही एक लीला समाप्त होती है, यह दूसरे ब्रह्माण्ड में प्रकट होती है। इस तरह उनकी नित्य लीला बिना अन्त के चलती रहती है।''

श्रीराजोवाच
ब्रह्मण्यानां वदान्यानां नित्यं वृद्धोपसेविनाम् ।
विप्रशापः कथमभूद्वृष्णीनां कृष्णचेतसाम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; ब्रह्मण्यानाम्—ब्राह्मणों के प्रति आदर-भाव रखने वालों का; वदान्यानाम्—दान देने वालों का; नित्यम्—सदैव; वृद्ध-उपसेविनाम्—वृद्धजनों की सेवा करने वालों का; विप्र-शापः—ब्राह्मणों का शाप; कथम्—कैसे; अभूत्—घटित हुआ; वृष्णीनाम्—वृष्णियों का; कृष्ण-चेतसाम्—कृष्ण के विचार में मग्न मन वालों का।

राजा परीक्षित ने पूछा : ब्राह्मणों ने उन वृष्णियों को कैसे शाप दिया, जो ब्राह्मणों के प्रति सदैव आदर-भाव रखते थे, दानी थे और वृद्ध तथा सम्मानित पुरुषों की सेवा करते थे तथा जिनके मन सदैव कृष्ण के विचारों में पूरी तरह लीन रहते थे?

तात्पर्य : सामान्यतया ब्राह्मण लोग उन व्यक्तियों से रुष्ट हो जाते हैं, जो ब्राह्मण जाति का अनादर करते हैं, जो दानी नहीं हैं और जो वृद्ध सम्मान्य व्यक्तियों की सेवा करने से मुकरते हैं। किन्तु वृष्णिजन ऐसे न थे, इसीलिए राजा परीक्षित ने उन्हें *ब्राह्मण्यानाम्* अर्थात् ब्राह्मण संस्कृति के निष्ठावान अनुयायी कहा है। यही नहीं, यदि ब्राह्मण लोग क्रुद्ध भी हो गये हों, तो वे कृष्ण के ही परिवार वालों को क्यों शाप देने लगे? चूँकि ब्राह्मण विद्वान थे, इसलिए वे यह जानते रहे होंगे कि भगवान् के निजी संगियों का विरोध करना अपराध होगा। यदुवंश को विशेष रूप से यहाँ पर *वृष्णीनाम* तथा *कृष्णचेतसाम्* कहा गया है। दूसरे शब्दों में, वे कृष्ण के निजी लोग थे और वे सदैव कृष्ण के चिन्तन में लीन रहते थे। इसलिए यदि किसी कारण से ब्राह्मणों ने उन्हें शाप दे भी दिया, तो वह शाप किस तरह प्रभाव डालता? परीक्षित महाराज के ये ही प्रश्न हैं।

यद्यपि इस श्लोक में वृष्णियों को *कृष्णचेतसाम्* अर्थात् सदैव कृष्ण-चिन्तन में लीन कहा गया है, किन्तु यह स्पष्ट संकेत है कि कृष्ण चाहते थे कि ब्राह्मण क्रुद्ध हों और यदुवंश को शाप दें। भगवान् अपने वंश को पृथ्वी से हटाना चाहते थे, इसीलिए कृष्ण के परिवार के छोकरों ने अप्रचलित पापपूर्ण आचरण प्रदर्शित किया।

इस घटना से यह समझना चाहिए कि जब कोई मनुष्य विष्णु के भक्तों से ईर्ष्या करता है और उनका मजाक उड़ाता है, तो उसकी *ब्रह्मण्यता* अर्थात् उच्च आध्यात्मिक योग्यता के साथ साथ श्रीकृष्ण के प्रति उसका सम्मान भी विनष्ट हो जाता है। सम्मान्य व्यक्तियों तथा असली ब्राह्मणों के निरादर तथा उपहास से सारे सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। यदि भगवान् के भक्तों के प्रति शिष्टाचार भंग होता है, तो भगवान् अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों तक से भी क्रुद्ध हो जाते हैं और जो उनके भक्तों का विरोध करते हैं, उनका विनाश करा देते हैं। यदि मूर्ख लोग कृष्ण के परिवार वालों के वेश में वैष्णवों के प्रति शत्रुता व्यक्त करते हैं, तो ऐसे अपराधी लोग कृष्ण-वंश की सन्तानें नहीं कहे जा सकते। यही भगवान् की सबसे बड़ी समता है।

यन्निमित्तः स वै शापो यादृशो द्विजसत्तम ।
कथमेकात्मनां भेद एतत्सर्वं वदस्व मे ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यत्-निमित्तः—जिस कारण से उत्पन्न; सः—वह; वै—निस्सन्देह; शापः—शाप; यादृशः—किस तरह का; द्विज-सत्-तम—हे द्विजश्रेष्ठ; कथम्—कैसे; एक-आत्मनाम्—एक आत्मा (श्रीकृष्ण) में हिस्सा बँटाने वालों का; भेदः—मतभेद; एतत्—यह; सर्वम्—समस्त; वदस्व—कृपया बतायें; मे—मुझको।

राजा परीक्षित पूछते रहे : इस शाप का क्या उद्देश्य था? हे द्विजश्रेष्ठ, यह किस तरह का था? और यदुओं में, जो एक ही जीवनलक्ष्य भागी थे, ऐसा मतभेद क्योंकर उत्पन्न हुआ? कृपया, मुझे ये सारी बातें बतलायें।

तात्पर्य : *एकात्मनाम्* का अर्थ है कि सारे यदु एक ही मत रखते थे—अर्थात् भगवान् कृष्ण ही उनके जीवन के लक्ष्य थे। इसलिए परीक्षित महाराज को यदुवंशियों में ऐसे विध्वंसक कलह का कोई स्पष्ट कारण नहीं दिख रहा था और वे वास्तविक कारण जानने के लिए उत्सुक थे।

श्रीबादरायणिरुवाच

बिभ्रद्वपुः सकलसुन्दरसन्निवेशं
कर्माचरन्भुवि सुमङ्गलमाप्तकामः ।
आस्थाय धाम रममाण उदारकीर्त्तिः
संहर्तुमैच्छत कुलं स्थितकृत्यशेषः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—बादरायण-पुत्र शुकदेव गोस्वामी ने कहा; बिभ्रत्—धारण करते हुए; वपुः—दैवी शरीर; सकल—समस्त; सुन्दर—सुन्दर वस्तुओं का; सन्निवेशम्—मिश्रण; कर्म—कार्यकलाप; आचरन्—करते हुए; भुवि—पृथ्वी पर; सु-मङ्गलम्—अत्यन्त शुभ; आप्त-कामः—समस्त इच्छाएँ तुष्ट होने से; आस्थाय—निवास करके; धाम—अपने धाम (द्वारका) में; रममाणः—रमण करते हुए; उदार-कीर्तिः—अत्यन्त उदार कीर्ति वाले; संहर्तुम्—विनष्ट करने के लिए; ऐच्छत—इच्छा की; कुलम्—अपने वंश का; स्थित—वहाँ रहते हुए; कृत्य—अपने कार्य का; शेषः—कुछ भाग।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : समस्त सुन्दर वस्तुओं के सं मिश्रणरूप अपने शरीर को धारण करने वाले भगवान् ने पृथ्वी पर रहते हुए अत्यन्त शुभ कार्यों को कर्तव्यपरायणता के साथ सम्पन्न किया, यद्यपि वे बिना किसी प्रयास के अपनी सारी इच्छाएँ पहले ही पूरी कर चुके थे। अपने धाम में रहते हुए तथा जीवन का आनन्द उठाते हुए अब भगवान् ने, जिनका महिमा-गायन स्वयं उदार है, अपने वंश का संहार करना चाहा, क्योंकि अब भी उन्हें कुछ थोड़ा-सा कर्म करना शेष था।

तात्पर्य : इस श्लोक में महाराज परीक्षित के इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि यदुवंश के शक्तिशाली सदस्यों को ब्राह्मणों द्वारा कैसे शाप दिया गया और उन्होंने अपने आपको किस तरह बंधुघाती युद्ध में विनष्ट कर दिया। *संहर्तुम् ऐच्छत कुलम्* शब्दों से यह स्पष्ट है कि भगवान् कृष्ण स्वयं ही अपने वंश को समेट लेना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने ब्राह्मणों को अपना अभिकर्ता बनाया। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर यहाँ पर टिप्पणी करते हैं कि श्रीकृष्ण अपना अपार सौन्दर्य तथा अपने रूप, लीला तथा आनन्द के पराक्रम, पृथ्वी के हर निवासी को प्रदर्शित कर चुके थे। इस तरह असुरों का वध करने, भक्तों को बचाने तथा धर्म की पुनर्स्थापना करने के हेतु लिया गया उनका अवतार पूरी तरह सफल हो चुका था। जब भगवान् कृष्ण ने देखा कि उनका मन्तव्य पूरा हो चुका है और हर काम पूरी तरह से सम्पन्न हो चुका है, तो वे वृष्णियों समेत अपने दिव्य धाम वापस जाने के लिए इच्छुक हो उठे। इस तरह भगवान् ने स्वयं ही यदुवंश को ब्राह्मणों द्वारा शापित कराने की व्यवस्था की।

विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *आप्तकाम:* का अर्थ यह है कि कृष्ण सदैव आत्मतुष्ट रहते हैं, तो भी अपनी दिव्य लीलाएँ सम्पन्न करने के लिए उन्होंने अपने ही वंश के विनाश की व्यवस्था की, जिसके तीन कारण थे उन देवताओं को पुन: स्वर्ग में स्थापित करना, जिन्होंने उनकी सहायता करने के लिए यदुवंश में जन्म लिया था, अपने विष्णुतत्त्वों को उनके धामों में यथा वैकुण्ठ, श्वेतद्वीप तथा बदरिकाश्रम में पुन: स्थापित करना तथा अपने को अपने नित्य संगियों समेत संसार की दृष्टि से ओझल कर देना।

इस प्रसंग में भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने यदुवंश के विनाश के विषय में कई महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। वे कहते हैं कि अनेक तथाकथित धार्मिक पुरुषों ने नाम कीर्तन के प्रति द्वितीय अपराध करके अर्थात् *विष्णौ सर्वेश्वरेशे तदितरसमधी:*—दूसरे जीव को सभी ईश्वरों के ईश्वर भगवान् विष्णु के समान मान करके अपने को पतित बनाया है। जो व्यक्ति मायावाद दर्शन के निर्विशेषवाद के चंगुल में आ जाता है, वह झूठे ही सोचने लगता है कि भगवान् की बहिरंगा भौतिक शक्ति उनकी अन्तरंगा दिव्य शक्ति के तुल्य है। इस तरह वह सामान्य जीव को भगवान् के तुल्य बतलाने लगता है और कृष्ण को *माया* का दूसरा पक्ष मानता है। यह दुर्भाग्यपूर्ण भ्रान्त धारणा है, क्योंकि इससे ईश्वर को यथारूप समझने का अवसर हाथ से चला जाता है।

जो लोग जीवन की इस मायावादी धारणा की ओर झुकाव रखते हैं, वे निश्चित रूप से यदुवंश के सदस्यों को सभी तरह से कृष्ण के समान मानेंगे और कृष्ण के भावी वंशजों को कृष्ण के समान ही पूजेंगे। इस तरह पृथ्वी पर यदुवंश का निरन्तर अस्तित्व आध्यात्मिक ज्ञान के मार्ग में बहुत बड़ा रोड़ा और पृथ्वी पर गुरु भार बन जायेगा। इसलिए विष्णु को विष्णु के वंश के समान बताने के अपराध के खतरे से संसार को बचाने के लिए ही भगवान् ने यदुवंश को कुचल डालने का निश्चय किया।

भगवान् कृष्ण अपने भक्तों पर सदैव वत्सल रहते हैं, किन्तु जब भगवान् कृष्ण के वंशज ही उनके शत्रु या तटस्थ बन जाते हैं और वे भगवान् के शुद्ध भक्तों को प्यार नहीं करते अथवा उनके दासों से मैत्री नहीं करते, तो भगवान् के ऐसे तथाकथित पारिवारिक जन उनकी इच्छा में अवरोधक बनते हैं। इस तरह इस बात का खतरा बना रहता है कि अज्ञानी जीव उनके ऐसे शत्रुओं की पूजा करने लगे और कृष्ण के घनिष्ठ संगियों के रूप में उनका आदर करे। उदाहरणार्थ, कंस को भगवान् कृष्ण का मामा मानकर उसे कृष्ण का आज्ञाकारी दास समझना पूर्णरूपेण त्रुटिपूर्ण निष्कर्ष होगा। ऐसी भ्रान्ति से ही भगवान् के विरोधियों को उनका घनिष्ठ संगी स्वीकार किया जा सकता है और कृष्ण के प्रति शत्रुभाव रखने वालों को उनके कुल में उत्पन्न शरणागत अधीन व्यक्ति माना जा सकता है। यदुवंश के विनाश का उद्देश्य मायावदियों के मिथ्या तर्क का उन्मूलन करना था, जो हर वस्तु को सभी प्रकार से एक-सा मानना चाहते हैं और यह अनुचित तर्क रखते हैं कि कृष्ण-भक्तों के शत्रु कृष्ण के पारिवारिक सदस्य हो सकते हैं।

कर्मानि पुण्यनिवहानि सुमङ्गलानि
गायज्जगत्कलिमलापहराणि कृत्वा ।
कालात्मना निवसता यदुदेवगेहे
पिण्डारकं समगमन्मुनयो निसृष्टाः ॥ ११ ॥
विश्वामित्रोऽसितः कण्वो दुर्वासा भृगुरङ्गिराः ।
कश्यपो वामदेवोऽत्रिर्वसिष्ठो नारदादयः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

कर्माणि—सकाम कर्मों को; पुण्य—पुण्य; निवहानि—प्रदान करने वाले; सु-मङ्गलानि—अत्यन्त मंगलकारी; गायत्—(जिसके विषय में) कीर्तन करते हुए; जगत्—सारे संसार के लिए; कलि—वर्तमान पतित युग; मल—अशुद्धियाँ; अपहराणि—हरण करने वाले; कृत्वा—सम्पन्न करके; काल-आत्मना—जो कालस्वरूप है, उसके द्वारा; निवसता—निवास करते हुए; यदु-देव—यदुओं के स्वामी (वसुदेव) के; गेहे—घर में; पिण्डारकम्—पिण्डारक नामक तीर्थस्थान में; समगमन्—वे गये; मुनयः—मुनिगण; निसृष्टाः—विदा कर दिये जाने पर; विश्वामित्रः असितः कण्वः—विश्वामित्र, असित तथा कण्व;

दुर्वासाः भृगुः अङ्गिराः—दुर्वासा, भृगु तथा अंगिरा; कश्यपः वामदेवः अत्रिः—कश्यप, वामदेव तथा अत्रि; वसिष्ठः नारद-आदयः—वसिष्ठ, नारद इत्यादि।

एक बार विश्वामित्र, असित, कण्व, दुर्वासा, भृगु, अंगिरा, कश्यप, वामदेव, अत्रि तथा वसिष्ठ मुनियों ने नारद तथा अन्यों के साथ मिलकर प्रचुर पुण्य प्रदान करने वाला, परम सुख लाने वाला तथा मात्र उच्चारण करने से समस्त जगत के कलियुग के पापों को दूर करने वाला एक सकाम अनुष्ठान किया। इन मुनियों ने इस अनुष्ठान को कृष्ण के पिता एवं यदुओं के अग्रणी वसुदेव के घर में सम्पन्न किया। जब उस समय वसुदेव के घर में कालरूप में निवास कर रहे कृष्ण उत्सव की समाप्ति होने पर मुनियों को आदरपूर्वक विदा कर चुके, तो वे मुनि पिण्डारक नामक पवित्र तीर्थस्थान चले गये।

तात्पर्य : इस श्लोक में शुकदेव गोस्वामी ब्राह्मण-शाप की कहानी कहते हैं, जो भगवान् की इच्छा से यदुवंश को दिया गया। श्रीधर स्वामी के अनुसार कुछ धार्मिक अनुष्ठानों से, यथा अश्वमेध यज्ञ से पुण्य-फल उत्पन्न होते हैं। दूसरी ओर, अपनी सन्तान के लालन-पालन जैसे कार्यकलापों से वर्तमानकाल में तुरन्त आनन्द मिलता है, जबकि प्रायश्चित्त के रूप में किये गये अनुष्ठान पापों को दूर भगाते हैं। किन्तु श्लोक ११ में जिन धार्मिक कार्यों का उल्लेख हुआ है और जिन्हें *कर्माणि पुण्यनिवहानि सुमंगलानि गायज्जगत्कलिमलापहराणि* शब्दों द्वारा सूचित किया गया है, वे सभी प्रकार से पवित्र थे। वे प्रचुर पुण्य एवं प्रसन्नता उत्पन्न करने वाले थे और इतने शक्तिशाली थे कि इन अनुष्ठानों के महिमा गान से ही कलियुग के सारे पाप दूर हो जाते थे।

ऐसे शुभ धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न करने के लिए वसुदेव के घर में बुलाये गये मुनियों को समुचित भेंटें देकर तुष्ट किया गया और फिर कृष्ण द्वारा उन्हें पिण्डारक के लिए विदा कर दिया गया, जो अरब सागर में गुजरात के समुद्री तट से लगभग दो मील दूरी पर स्थित है। आज भी इसका प्रचलित नाम पिण्डारक ही है।

यहाँ पर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कृष्ण को *कालात्मना* अर्थात् काल का रूप या परमात्मा कहा गया है। *भगवद्गीता* के ग्यारहवें अध्याय में भगवान् कृष्ण अर्जुन के समक्ष कुरुक्षेत्र के युद्ध में भारस्वरूप राजाओं तथा सेनाओं का संहार करने के लिए कालरूप में प्रकट होते हैं। इसी प्रकार *कालात्मना निवसता यदुदेवगेहे*—कृष्ण अपने पिता वसुदेव के घर में काल के रूप में निवास कर रहे

थे। इस प्रकार यह सूचित कर रहे थे कि उनकी इच्छानुसार उनके वंश के विनाश का समय निकट आ रहा था।

क्रीडन्तस्तानुपव्रज्य कुमारा यदुनन्दनाः ।
उपसङ्गृह्य पप्रच्छुरविनीता विनीतवत् ॥ १३ ॥
ते वेषयित्वा स्त्रीवेषैः साम्बं जाम्बवतीसुतम् ।
एषा पृच्छति वो विप्रा अन्तर्वत्न्यसितेक्षणा ॥ १४ ॥
प्रष्टुं विलज्जती साक्षात्प्रब्रूतामोघदर्शनाः ।
प्रसोष्यन्ती पुत्रकामा किं स्वित्सञ्जनयिष्यति ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

क्रीडन्तः—खेलते हुए; तान्—उन (मुनियों) को; उपव्रज्य—पास जाकर; कुमाराः—छोटे बालकों ने; यदु-नन्दनाः—यदुवंश के पुत्र; उपसङ्गृह्य—मुनियों के चरणों को पकड़ कर; पप्रच्छुः—पूछा; अविनीताः—विनीत नहीं, उद्दंड; विनीत-वत्—विनीत की तरह बनते हुए; ते—वे; वेषयित्वा—वेश बनाकर; स्त्री-वेषैः—स्त्री के वस्त्र तथा आभूषण पहन कर; साम्बम् जाम्बवती-सुतम्—जाम्बवती के पुत्र साम्ब को; एषा—यह स्त्री; पृच्छति—पूछ रही है; वः—तुमसे; विप्राः—हे विद्वान ब्राह्मणो; अन्तर्वत्नी—गर्भवती; असित-ईक्षना—श्याम नेत्रों वाली; प्रष्टुम्—पूछने के लिए; विलज्जती—शरमाई हुई; साक्षात्—प्रत्यक्ष अपने आप; प्रब्रूत—कृपया बोलें; अमोघ-दर्शनाः—आप, जिनकी दृष्टि कभी मोहित नहीं होती; प्रसोष्यन्ती—तुरन्त ही जन्म देने वाली; पुत्र-कामा—तथा पुत्र-लाभ की इच्छुक; किम् स्वित्—किसको (पुत्र या पुत्री); सञ्जनयिष्यति—जन्म देगी।.

उस तीर्थस्थान में यदुवंश के तरुण बालक जाम्बवती के पुत्र, साम्ब को स्त्री के वेश में ले आये थे। उन बालकों ने खिलवाड़ करते हुए वहाँ पर एकत्र महामुनियों के पास पहुँच कर उनके चरण पकड़ लिए और बनावटी विनयशीलता से उद्दंडतापूर्वक उनसे पूछा, "हे विद्वान ब्राह्मणो, यह श्याम नेत्रों वाली गर्भिणी स्त्री आप लोगों से कुछ पूछना चाहती है। वह अपने विषय में पूछने में अत्यधिक लजा रही है। वह शीघ्र ही बच्चे को जन्म देने वाली है और पुत्र प्राप्त करने के लिए अत्यन्त इच्छुक है। चूँकि आप सभी अच्युत दृष्टि वाले महामुनि हैं, अतः कृपा करके हमें बतायें कि इसकी सन्तान बालिका होगी या बालक।"

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने निम्नलिखित टीका की है—"नारद इत्यादि मुनि ब्राह्मण थे और भगवद्भक्त थे, अतः उनके प्रति यदुवंशी बालकों का उद्दण्ड व्यवहार भगवान् कृष्ण के मार्ग से विचलन का द्योतक था। इसी तरह, यद्यपि *प्राकृत सहजिया* अपने को कृष्ण का घनिष्ठ संगी मानते हैं, किन्तु ऐसे झूठे भक्तों को समाप्त करने के लिए परम दयालु भगवान् का संकल्प पूर्णतया उचित है। ऐसे धूर्त कभी भी कृष्ण की असली सेवा नहीं करते। *यदुकुमारों* का छल "ऊपर से विनीत" कहा गया है,

जिसका तात्पर्य यह है कि वे कुमार विनीत नहीं थे। इसलिए भगवान् के परिवार द्वारा वैष्णवों का उपहास किये जाने से भगवद्भक्तों के प्रति महान् अपराध हुआ।''

ऐसी ही घटना श्री चैतन्य महाप्रभु की लीलाओं के समय घटी, जब उनकी माता ने श्री अद्वैत आचार्य का अपमान किया। श्री चैतन्य महाप्रभु ने महान् वैष्णव के प्रति किये इस अपराध को स्वयं सुधारा और इस तरह महाप्रभु ने अपनी उदारता सिद्ध की। यदुवंश के विनाश की कृष्ण-लीला भी उनके भक्तों के प्रति दया का प्रदर्शन थी।

यदुकुमारों ने ब्राह्मणों, वैष्णवों तथा ऋषियों को इन्द्रियतृप्ति के भौतिक ज्ञान से मूर्खों की तरह विहीन मानकर ही जाम्बवती-पुत्र साम्ब को स्त्री का वेश धारण कराकर सन्त-सभा का मजाक उड़ाना चाहा था। भगवान् कृष्ण ने यह पाठ पढ़ाना चाहा कि महान् भगवद्भक्तों के प्रति अपने संगी साम्ब द्वारा किया गया ऐसा अपराध यदुवंश के विनाश का कारण बनेगा, जो कि उनकी लीला का ही अंग होगा।

आधुनिक काल में गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत भी ऐसा ही दुर्व्यवहार दिखलायी पड़ा। अवैध व्यक्ति अपने अनुयायियों को स्त्री का वेश प्रदान करने का छल चालू कर चुके हैं। यह कार्य कृष्ण के प्रति एक प्रकार का अपराध माना जाता है। कृष्णभक्ति को इस तरह सस्ता बनाने एवं उसका मजाक उड़ाने का ऐसा प्रयास वास्तव में असली वैष्णवों के प्रति द्वेष के कारण है, क्योंकि ये वैष्णव वैदिक वाङ्मय के विधि-विधानों के अनुसार श्रद्धापूर्वक भक्ति में लगे रहते हैं। इस प्रकार रूप गोस्वामी ने कहा है—

श्रुतिस्मृतिपुराणादि पञ्चरात्रविधिं विना।

ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते।

''यदि कोई भगवान् के प्रति अपनी अत्यधिक भक्ति दिखाना चाहता है, किन्तु यदि उसकी भक्ति-विधि श्रुति, स्मृति, पुराणों तथा नारद पञ्चरात्र जैसे शास्त्रों के आदर्श नियमों का उल्लंघन करती है, तो उसका तथाकथित भगवत्प्रेम लोगों को आध्यात्मिक प्रगति के शुभ मार्ग से हटाकर, केवल समाज में विघ्न उत्पन्न करेगा।'' (भक्तिरसामृतसिंधु १.२.१०१) *कृष्णलीला* में पुरुष द्वारा किसी स्त्री के वस्त्र निकाल लेने का मन्तव्य इस तथ्य की ओर संकेत करना था। ऐसा कर्म कृष्ण-भक्तों को ठगने तथा उनका मजाक उड़ाने के समान है। साम्ब भगवान् का निजी संगी था। किन्तु भावी संकट, जो कि श्री

चैतन्य महाप्रभु के सड़े-गले अनुयायियों द्वारा कलियुग में उत्पन्न होना था, उसका अग्रदूत बनकर साम्ब ने जीवों की सहायता करने के लिए उपदेशात्मक लीला प्रदर्शित की, जिससे वे भक्ति के सही मार्ग पर चल सकें।

इन बालकों ने मुनियों से कहा, ''हे ऋषियो, हे ब्राह्मणो, हे नारद तथा अन्य महापुरुषो! क्या आप लोग यह बता सकते हैं कि इस गर्भवती स्त्री के गर्भ से पुत्र उत्पन्न होगा या पुत्री?'' शुद्ध वैष्णवों को इस तरह सम्बोधित करके उन्होंने आधुनिक युग में *सखीभेक* की उस प्रथा चलाने वाले वंचक सम्प्रदायों का पूर्वानुमान कर लिया था, जिसमें पुरुषों को गोपियों की सखियों की तरह वस्त्र पहनाये जाते हैं। यह अवैध कार्य भगवान् के शुद्ध भक्तों का अपमान एवं उपहास स्वरूप है।

अनेक छद्म योगी जो यह सोचते हैं कि वे मोक्ष के मंच पर उच्च कोटि की भक्ति वितरण करते हैं, केवल उन व्यक्तियों को ''शुद्ध भक्त'' का पद प्रदान करने का प्रयास करते हैं, जो *मधुररति* (आध्यात्मिक जगत में भगवान् का माधुर्य प्रेम) के दिव्य आस्वाद से पूर्णतया अनजान होते हैं। यद्यपि वे यह जानते हैं कि सामान्य जनता भगवान् के मुक्त संगियों का अनुकरण करने के लिए अयोग्य हैं, किन्तु वे सामान्य व्यक्तियों को अश्रुओं, द्रवित हृदय तथा रोमांच जैसे आध्यात्मिक सिद्धि के अलंकारों से सज्जित कर देते हैं। इस तरह से कपटी योगी ऐसी विधि चला देते हैं, जिससे संसार भ्रमित होता है। चूँकि श्री चैतन्य महाप्रभु समझ चुके थे कि ऐसे छद्म योगियों या कुयोगियों के द्वारा उत्पन्न महान् संकट का पूर्वानुमान कर पाना कलियुग में असम्भव है, इसलिए उन्होंने उनमें कामोत्तेजक वस्तुओं के प्रति अविवेकपूर्ण इच्छाओं की छूत लगा दी, जिससे सामान्य व्यक्ति ऐसे छद्म योगियों को शुद्ध भक्ति के पथ से भटके हुए समझकर पहचान सकें।

यदुवंश के बालकों द्वारा, जिन्होंने साम्ब को स्त्री वेश में प्रस्तुत किया था, ब्राह्मणों तथा वैष्णवों का उपहास करके तथा उसके परिणाम स्वरूप यदुवंश का विनाश से अन्ततः अन्तिम रूप से *सहजिया सम्प्रदायों* की व्यर्थता को प्रकट कर दिया हैं।

श्रील जीव गोस्वामी ने पुष्टि की है कि यदुवंश के छोकरों द्वारा प्रदर्शित विनयशीलता का अभाव स्वयं भगवान् के द्वारा की गई व्यवस्था थी। दूसरे शब्दों में, यदुवंश के सदस्य अन्ततोगत्वा भगवान्

कृष्ण के संगी हैं और भगवान् की उपदेशात्मक लीला में सहायक बनने के लिए ही, उन्होंने अनैतिक प्रतीत होने वाले ढंग से आचरण किया।

एवं प्रलब्धा मुनयस्तानूचुः कुपिता नृप ।
जनयिष्यति वो मन्दा मुषलं कुलनाशनम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; प्रलब्धाः—धोखा दिये गये; मुन्ययः—मुनिगण; तान्—उन बालकों से; ऊचुः—बोले; कुपिताः—क्रुद्ध; नृप—हे राजा परीक्षित; जनयिष्यति—वह जन्म देगी; वः—तुम्हारे लिए; मन्दाः—रे मूर्खो; मुषलम्—मूसल को; कुल-नाशनम्—वंश का नाश करने वाले।

हे राजन्, धोखे से इस तरह उपहास का पात्र बनाये गये मुनि क्रुद्ध हो गये और उन्होंने बालकों से कहा, ''मूर्खो! वह तुम्हारे लिए लोहे का एक मूसल जनेगी, जो तुम्हारे समस्त कुल का विनाश करेगा।''

तात्पर्य : बद्धजीव में चार दोष पाये जाते हैं। ये हैं *भ्रम* (गलती करने की प्रवृत्ति), *प्रमाद* (माया), *करणापाटव* (अपूर्ण इन्द्रियाँ) तथा *विप्रलिप्सा* (धोखा देने की प्रवृत्ति)। किन्तु शुद्ध भगवद्भक्तों में ये दोष नहीं पाये जाते। फिर भी भगवान् कृष्ण ने अपने ही परिवार, यदुवंश के बालकों में मनुष्य की घातक निम्न लालसाओं को प्रकट होने की व्यवस्था की। इसलिए यादव बालकों ने छद्म भक्ति-सम्प्रदाय वालों के कार्यकलापों का अनुकरण किया।

अपने तिरोधान के पूर्व ही कृष्ण ने चाहा कि मुनिगण यदुवंश के बालकों पर क्रुद्ध हों, जिससे उन्हें यह शिक्षा मिल जाय कि वैष्णवों को मूर्ख, अज्ञानी या संसारी नहीं समझा जा सकता और इस तरह उनके परिवार वालों का मिथ्या अहंकार कम हो सके। कभी कभी दिग्भ्रमित लोग छद्म भक्तों की भूमिका अदा करके शुद्ध भक्ति की वास्तविक विधि तथा उसका प्रचार कर रहे शुद्ध भक्तों को कलंकित करते हैं। ऐसे मूर्ख छद्म भक्त सोचते हैं कि भगवान् के संदेश के वास्तविक प्रचार के प्रति उनका द्वेष या घृणा ही *भक्ति* है, किन्तु वास्तव में यह उनके लिए तथा उनके अभागे अनुयायियों के लिए मुसीबत का कारण बनती है। शुद्ध भक्ति के प्रचारक छद्म भक्तों के कुत्सित प्रयासों का पर्दाफाश कर देते हैं। इसी तरह नारद इत्यादि मुनियों ने, जो कि उच्च कोटि के भगवद्भक्त थे, यदुवंश के बालकों को मोहग्रस्त मूर्ख कहकर सम्बोधित किया और उन्हें बतलाया कि ''इस छद्म गर्भ के भीतर या साधु के छद्म वेश के भीतर से एक मूसल जन्म लेगा, जो तुम्हारे वंश के विनाश का कारण होगा।''

विशेषकर भारत में और अब तो पाश्चात्य देशों में भी दूषित इन्द्रिय भोग-कर्ताओं का एक वर्ग है, जो अपने को गौड़ीय वैष्णव भी कहते हैं और प्रेमभक्ति की सर्वोच्च दशा प्रदर्शित करने का स्वांग भरते हैं। वे घोषित करते हैं कि वे भक्ति की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त हैं और वृन्दावन में प्रदर्शित *माधुर्य लीला* के अन्तरंग कार्यों से ही उनका सरोकार है। कभी कभी वे गोपियों का वेश भी बनाते हैं और आदर्श नियमों का पालन किये बिना कृष्ण की लीलाओं में प्रवेश करने का झूठा प्रदर्शन करते हैं। *प्रेमभक्ति* के नाम पर वे कभी कभी शुद्ध कृष्ण-भक्तों के विरुद्ध घोर अपराध करते हैं। साम्ब के तथाकथित गर्भ से लोहे के मूसल के जन्म की इस घटना से स्वयं भगवान् ने ऐसी छद्म भक्ति के घातक प्रभावों की शिक्षा दी।

तच्छ्रुत्वा तेऽतिसन्त्रस्ता विमुच्य सहसोदरम् ।
साम्बस्य ददृशुस्तस्मिन्मुषलं खल्वयस्मयम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

तत्—वह; श्रुत्वा—सुनकर; ते—वे; अति-सन्त्रस्ताः—अत्यन्त भयभीत; विमुच्य—उघाड़ कर, खोल कर; सहसा—झटपट; उदरम्—पेट को; साम्बस्य—साम्ब के; ददृशुः—उन्होंने देखा; तस्मिन्—उसके भीतर; मुषलम्—मूसल; खलु—निस्सन्देह; अयः-मयम्—लोहे का बना हुआ।

मुनियों का शाप सुनकर भयभीत बालकों ने झटपट साम्ब के पेट से कपड़े हटवाये और सचमुच उन्होंने देखा कि उसके भीतर एक लोहे का मूसल था।

तात्पर्य : नारद इत्यादि वैष्णवों के शब्दों को सुनकर यदु-बालकों ने साम्ब के पेट के ऊपर पड़े हुए वस्त्रों को हटा दिया। इस तरह धोखा देकर वैष्णवों के प्रति, उन्होंने जो अपराध किया था, उसका फल उन्हें मिल गया। वहाँ उनके वंश को विनष्ट करने वाला सचमुच का मूसल था। यह उदाहरण दिखलाता है कि दूषित समाज में छद्म का मूसल भक्तों के समाज में पाई जाने वाली शान्ति कभी नहीं ला सकता। इसके विपरीत, छद्म समस्त भक्तिविहीन कार्यों एवं छद्म भक्तों के मनमाने सिद्धान्तों को ध्वस्त करता है। यदुकुल के बालक अपनी उच्च स्थिति को उलटने के विषय में सतर्क थे और यह सोच रहे थे कि जब तक वे अपनी चाल को छिपा रखेंगे, तब तक अन्य लोग ऐसी शिष्ट धोखेधड़ी को पहचान नहीं पायेंगे। इतने पर भी वे भगवान् के भक्तों के विरुद्ध अपने घोर अपराध के फलों से अपने वंश को बचा सकने में असमर्थ थे।

किं कृतं मन्दभाग्यैर्नः किं वदिष्यन्ति नो जनाः ।
इति विह्वलिता गेहानादाय मुषलं ययुः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; कृतम्—किया गया; मन्द-भाग्यैः—अभागों द्वारा; नः—हमारे द्वारा; किम्—क्या; वदिष्यन्ति—कहेंगे; नः—हमसे; जनाः—परिवार वाले; इति—इस प्रकार कहते हुए; विह्वलिताः—विह्वल; गेहान्—अपने घरों को; आदाय—लेकर; मुषलम्—मूसल को; ययुः—चले गये।

यदुवंश के तरुण लोगों ने कहा : "ओह! यह हमने क्या कर डाला? हम कितने अभागे हैं! हमारे परिवार वाले हमसे क्या कहेंगे?" ऐसा कहते हुए तथा अतीव विक्षुब्ध होकर, वे अपने साथ उस मूसल को लेकर अपने घरों को लौट गये।

तच्चोपनीय सदसि परिम्लानमुखश्रियः ।
राज्ञ आवेदयां चक्रुः सर्वयादवसन्निधौ ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह मूसल; च—तथा; उपनीय—लाकर; सदसि—सभा में; परिम्लान—पूरी तरह कुम्हलाया; मुख—उनके मुखों की; श्रीयः—सुन्दरता; राज्ञे—राजा से; आवेदयाम् चक्रुः—सूचित किया; सर्व-यादव—सभी यादवों की; सन्निधौ—उपस्थिति में।

वे यदु-बालक, जिनके मुख की कान्ति पूरी तरह फीकी पड़ चुकी थी, उस मूसल को राज-सभा में ले आये और समस्त यादवों की उपस्थिति में उन्होंने राजा उग्रसेन से, जो कुछ घटना घटी थी, कह सुनाई।

तात्पर्य : विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इंगित करते हैं कि *राज्ञे* शब्द राजा उग्रसेन के लिए आया है, श्रीकृष्ण के लिए नहीं। वे लड़के शर्म तथा भय के कारण भगवान् कृष्ण के पास नहीं गये।

श्रुत्वामोघं विप्रशापं दृष्ट्वा च मुषलं नृप ।
विस्मिता भयसन्त्रस्ता बभूवुर्द्वारकौकसः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर; अमोघम्—व्यर्थ न जाने वाला; विप्र-शापम्—ब्राह्मणों के शाप को; दृष्ट्वा—देखकर; च—तथा; मुषलम्—मूसल को; नृप—हे राजा; विस्मिताः—चकित; भय—भय से; सन्त्रस्ताः—किंकर्तव्यविमूढ़; बभूवुः—हो गये; द्वारका-ओकसः—द्वारका के निवासी।

हे राजा परीक्षित, जब द्वारकावासियों ने ब्राह्मणों के अमोघ शाप को सुना और मूसल को देखा, तो वे भय से विस्मित तथा किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये।

तच्चूर्णयित्वा मुषलं यदुराजः स आहुकः ।
समुद्रसलिले प्रास्यल्लोहं चास्यावशेषितम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तत्—उसको; चूर्णयित्वा—चूरे-चूरे कराकर; मुषलम्—मूसल को; यदु-राजः—यदुओं के राजा ने; सः—उस; आहुकः—आहुक (उग्रसेन) ने; समुद्र—समुद्र के; सलिले—जल में; प्रास्यत्—फेंक दिया; लोहम्—लोहे के; च—तथा; अस्य—मूसल के; अवशेषितम्—अवशिष्ट, बचे हुए।

मूसल को चूरे-चूरे में तुड़वा कर यदुओं के राजा आहुक (उग्रसेन) ने स्वयं उन खण्डों को तथा शेष बचे लोहे के टुकड़े को समुद्र के जल में फेंक दिया।

तात्पर्य : राजा उग्रसेन ने सोचा, ''साम्ब तथा अन्यों को शर्म या भय का अनुभव नहीं होना चाहिए।'' अतएव श्रीकृष्ण से सलाह किये बिना ही उसने मूसल के टुकड़े करके तथा बचे हुए लोहे के छोटे टुकड़े को नगण्य मानते हुए, उन्हें समुद्र में फेंकने का आदेश दे दिया।

कश्चिन्मत्स्योऽग्रसील्लोहं चूर्णानि तरलैस्ततः ।
उह्यमानानि वेलायां लग्नान्यासन्किलैरकाः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

कश्चित्—किसी; मत्स्यः—मछली ने; अग्रसीत्—निगल गई; लोहम्—लोहे को; चूर्णानि—चूरा; तरलैः—लहरों से; ततः—उस स्थान से; उह्यमानानि—ले जाया जाकर; वेलायाम्—तट पर; लग्नानि—चिपके हुए; आसन्—हो गये; किलु—निस्सन्देह; एरकाः—नरकट (विशेष प्रकार कि तूक्ष्ण धार वाली घास)।

किसी मछली ने वह लोहे का टुकड़ा निगल लिया और लोहे के शेष खण्ड लहरों द्वारा किनारे पर लग गये, जहाँ पर वे ऊँचे तीक्ष्ण नरकटों के रूप में उग आये।

मत्स्यो गृहीतो मत्स्यघ्नैर्जालेनान्यैः सहार्णवे ।
तस्योदरगतं लोहं स शल्ये लुब्धकोऽकरोत् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

मत्स्यः—मछली; गृहीतः—पकड़ी जाकर; मत्स्य-घ्नैः—मछुआरों द्वारा; जालेन—जाल से; अन्यैः सह—अन्य मछलियों के साथ; अर्णवे—समुद्र के भीतर; तस्य—मछली के; उदर-गतम्—पेट में गये हुए; लोहम्—लोहे के खण्ड को; सः—उस (जरा) ने; शल्ये—अपने तीर में; लुब्धकः—शिकारी ने; अकरोत्—लगा लिया।

यह मछली अन्य मछलियों के साथ समुद्र में मछुवारे के जाल में पकड़ ली गई। इस मछली के पेट में स्थित लोहे के टुकड़े को जरा नामक शिकारी ले गया, जिसने उसे अपने तीर की नोक में लगा लिया।

भगवान्ज्ञातसर्वार्थ ईश्वरोऽपि तदन्यथा ।
कर्तुं नैच्छद्विप्रशापं कालरूप्यन्वमोदत ॥ २४॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् ने; ज्ञात—जानते हुए; सर्व-अर्थ:—हर बात का अर्थ; ईश्वर:—पर्याप्त समर्थ; अपि—यद्यपि; तत्-अन्यथा—अन्यथा; कर्तुम्—करने के लिए; न ऐच्छत्—नहीं चाहा; विप्र-शापम्—ब्राह्मण के शाप को; काल-रूपी—काल के रूप में प्रकट; अन्वमोदत—प्रसन्नतापूर्वक स्वीकृति दे दी।

इन सारी घटनाओं की महत्ता को पूर्णतया जानते हुए ब्राह्मणों के शाप को पलट सकने में समर्थ होते हुए भी भगवान् ने ऐसा करना नहीं चाहा। प्रत्युत, काल के रूप में उन्होंने खुशी खुशी इन घटनाओं को स्वीकृति दे दी।

तात्पर्य : सामान्य लोगों को आश्चर्य हो सकता है, या वे मोहग्रस्त हो सकते हैं कि भगवान् ने हँसी-खुशी से अपने वंश के शापित होने तथा विनष्ट होने की स्वीकृति क्यों प्रदान कर दी। यहाँ पर प्रयुक्त *अन्वमोदत* शब्द किसी वस्तु में प्रसन्नता व्यक्त करने या सहमति प्रदान करने का सूचक है। *कालरूपी* शब्द भी प्रयुक्त हुआ है अर्थात् काल के रूप में कृष्ण ने प्रसन्नतापूर्वक ब्राह्मण-शाप की स्वीकृति दे दी। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपाद ने टीका की है कि भगवान् कृष्णचन्द्र ने शाप को अक्षत रखना चाहा, जिससे धर्म के असली नियमों का पालन हो सके एवं कृष्ण-वंश के धोखेबाज सदस्यों द्वारा किया गया अशोभनीय अपराध नष्ट हो सके। *भगवद्गीता* में स्पष्ट बतलाया गया है कि भगवान् के भौतिक संसार में अवतरित होने का एकमात्र उद्देश्य धर्म के मौलिक नियमों की पुनर्स्थापना करना है, जिनके द्वारा प्रकृति के नियमों से गहन दुख पा रहे बद्धजीव भगवान् कृष्ण के नित्यमुक्त दास के रूप में अपनी मूल स्थिति को फिर से प्राप्त कर सकें। इस भौतिक जगत में जीव इस कामना से आता है कि वह प्रकृति पर अपना प्रभुत्व जमा सके, यद्यपि जीव स्वामी न होकर नित्यदास होता है। अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए सम्पूर्ण जगत का उपभोग करने की इस विकृत प्रवृत्ति के कारण ही जीव आध्यात्मिक जीवन के सिद्धान्तों को विकृत करने के लिए सन्नद्ध दिखता है, जिससे धार्मिक नियम, उसकी भौतिक इन्द्रियतृप्ति के अनुकूल बन जाय। किन्तु धर्म का उद्देश्य, तो भगवान् के नियमों का पालन करते हुए उन्हें प्रसन्न करना है। इसीलिए भगवान् कृष्ण समय समय पर अपने चरणकमलों की भक्ति की सही विधि को पुनरुज्जीवित करने के लिए स्वयं आते हैं। *श्रीमद्भागवत* के ग्यारहवें स्कन्ध में यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् कृष्ण ने पृथ्वी पर अपनी अधिकांश लीलाएँ समाप्त कर ली थीं और अब वे अपने प्रस्थान की अन्तिम तैयारी कर रहे थे। इसलिए वे इस युग के जीवों के लिए स्पष्ट उपदेश छोड़ जाना चाहते थे कि तथाकथित धार्मिक व्यक्ति भले ही वह इतना उच्च हो कि उन्हीं के कुल में उत्पन्न हो भगवान् के शुद्ध भक्तों यथा नारद मुनि को दिये जाने वाले आदर तथा सम्मान का

उल्लंघन नहीं कर सकता। कृष्ण के शुद्ध भक्त की सेवा करने का सिद्धान्त आध्यात्मिक प्रगति के लिए इतना आवश्यक है कि भगवान् ने कलियुग के बद्धजीवों को यह बात बतलाने के लिए अपने समूचे वंश के विनाश की अचिन्त्य लीला सम्पन्न की।

श्रीमद्‌भागवतम् में उन संकटों की ओर इशारा किया गया है, जो भगवान् के लोप होने के बाद आयेंगे। ऐसे ही संकट श्री चैतन्य महाप्रभु के तिरोधान के बाद आए थे, क्योंकि गौड़ीय वैष्णव उन्हें साक्षात् कृष्ण मानते थे। *भागवतम्* अपनी विविध शिक्षाओं द्वारा धोखाधड़ी वाले उस छद्म धर्म को निकाल फेंकने के लिए कहती है, जो भगवान् के प्रस्थान के बाद मानव समाज में प्रचलित हो जाता है।

श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपनी वदान्य लीलाओं द्वारा दक्षिण भारत से उन अप-सम्प्रदायों के झूठे सिद्धान्तों को, अथवा उन छद्म भक्तों की तथाकथित शिष्य-परंपरा को उखाड़ फेंका था, जिन्होंने बौद्धों तथा जैनों के नास्तिकतावादी सिद्धान्तों को ग्रहण करके अपने को प्रभावशाली बना रखा था। इस तरह महाप्रभु ने समूचे भारत को कृष्ण-भक्ति की ओर उन्मुख किया, जिससे चैतन्य महाप्रभु और उनके अनुयायियों के विस्तृत प्रचार के कारण भगवद्‌भक्ति के अतिरिक्त इस विश्व में वार्ता का कोई अन्य विषय ही न रह पाये। त्रिदण्डिपाद प्रबोधानन्द सरस्वती ने अपने श्लोक *स्त्रीपुत्रादिकथां जहुर्विषयिनः* में इस तथ्य को विस्तार से लिखा है।

श्री नरहरि सरकार ठाकुर ने अपनी पुस्तक *कृष्णभजनामृत* में श्री चैतन्य महाप्रभु का अनुसरण करने का दावा करने वाले ग्यारह छद्म शिष्य परम्पराओं के गौरांगनागरी वादियों, सखीभेक वादियों इत्यादि के अनुचित कथनों को सुधारा है। ये अवैध व्यक्ति धर्म के बहाने धोखाधड़ी करते हैं और भगवान् की शुद्ध पूजा या *कथा* के नाम पर अपनी धोखेबाजी का विज्ञापन करते हैं। जिस तरह कृष्ण ने अपने ही परिवार को विनष्ट करने के लिए भीषण संघर्ष छेड़ दिया था, उसी तरह श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने प्रस्थान के बाद नाना प्रकार के मायावाद तथा कर्मवाद दर्शनों से सारे संसार को आप्लावित करा दिया। उन्होंने ऐसा इसलिए किया, जिससे ग्यारह अपसम्प्रदायों अथवा अवैध शिष्य-परंपराओं से सम्बद्ध लोग तथा अनेक अन्य अपसम्प्रदाय, जो भविष्य में पैदा हों, विनष्ट हो जाँय और वे श्री चैतन्य महाप्रभु के भक्त न कहला पायें। उसीके साथ साथ महाप्रभु ने अपने अनुयायियों को इन धोखेबाजों की

छद्म भक्ति से पृथक् रखने की भी व्यवस्था की। गौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु के भक्तगण भगवान् कृष्ण की लीलाओं में महाप्रभु की लीलाओं के रहस्य को ढूँढ़ सकते हैं। भगवान् के दिव्य शरीर की लीलाओं को सामान्य संसारी विधि से नहीं समझा जा सकता। यही इस अध्याय का सार है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के अन्तर्गत ''यदुवंश को शाप'' नामक पहले अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दो

नौ योगेन्द्रों से महाराज निमि की भेंट

इस अध्याय में नारद मुनि महाराज निमि तथा नौ योगेन्द्रों के बीच हुई वार्ता को श्रद्धालु तथा जिज्ञासु वसुदेव को सुनाकर भागवत धर्म की शिक्षा देते हैं।

भगवान् कृष्ण का दर्शन पाने के लिए परम इच्छुक देवर्षि नारद प्राय: द्वारका में ही रहते थे। पूर्वकाल में वसुदेव ने भगवान् की माया से मोहित होकर पुत्र-प्राप्ति के उद्देश्य से भगवान् अनन्त की पूजा की थी, किन्तु मुक्ति के लिए पूजा करने से चूक गये थे।

एक बार नारद मुनि वसुदेव के घर पधारे। वसुदेव ने उचित आदर देकर उनकी पूजा की, उनका सादर सत्कार किया और उस शुद्ध भक्ति के विषय में सुनाने के लिए उनसे प्रार्थना की, जो सभी प्रकार के भयों से मुक्त करने वाली है। नारद ने वसुदेव की स्थिर मति की प्रशंसा की और विदेह-राज निमि तथा ऋषभदेव के पुत्र, नौ योगेन्द्रों के मध्य हुई वार्ता का पुराना इतिहास कह सुनाया।

स्वायंभुव मनु का पुत्र प्रियव्रत था। उसका पुत्र आग्निध्र था, जिसका पुत्र नाभि हुआ। नाभि के पुत्र रूप, वासुदेव के स्वांश रूप में, ऋषभदेव ने अवतार लिया। ऋषभदेव के सौ पुत्र हुए, जिनमें से सबसे ज्येष्ठ पुत्र भरत था, जो नारायण का परम भक्त था, जिसके नाम पर यह पृथ्वी, भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके पूर्व वह अजनाभवर्ष कहलाती थी। ऋषभदेव के अन्य नौ पुत्र *नव योगेन्द्र* कहलाते थे—ये थे कवि, हविर्, अन्तरीक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस तथा करभाजन। वे आत्मज्ञान में निपुण थे और अपने लक्ष्य में स्थिर थे तथा सिद्धि के लिए सतत प्रयत्नशील रहते थे। ऋषभदेव के अन्य नौ पुत्रों ने क्षत्रिय धर्म स्वीकार किया और नवद्वीपों के स्वामी हुए, जिनसे मिलकर

भारतवर्ष बना था। उनके अन्य ८१ पुत्र श्रुतियों में पारंगत ब्राह्मण बने, जिन्होंने सकाम यज्ञ के मार्ग का प्रचार किया।

ये नौ योगेन्द्र बिना किसी बाधा के इच्छानुसार कहीं भी आ-जा सकते थे। ये भगवान् मधुसूदन के प्रत्यक्ष पार्षद थे और ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए मुक्तभाव से विचरण करते थे। मानव शरीर किसी भी क्षण नष्ट हो सकता है, तो भी यह अतीव दुर्लभ उपलब्धि है। इससे भी दुर्लभ है इस मानव शरीर के होते हुए भगवान् के वैकुण्ठवासी विश्वस्त भक्तों की संगति। ऐसे सन्त-पुरुषों की संगति, चाहे क्षण के भी भिन्नांश के लिए क्यों न हो, जीव को सारे लाभ प्रदान करने वाली है। इसलिए राजा निमि ने नवों योगेन्द्रों को समुचित आसन प्रदान किया, उनकी पूजा की, उन्हें विनीत होकर नमस्कार किया और उनसे प्रसन्नतापूर्वक *भागवत धर्म* के विषय में पूछा। भागवत धर्म या शुद्ध भगवद्भक्ति आत्मा के लिए एकमात्र परम सौभाग्य है। ऐसी सेवा से प्रसन्न होकर भगवान् भक्त को आत्मसमर्पण कर देते हैं।

राजा के प्रश्न का उत्तर देने के लिए नौ योगेन्द्रों में से कवि इस प्रकार बोला, ‘‘प्रगति के वे साधन, जिनका वर्णन स्वयं भगवान् ने किया है और जिनके द्वारा मूर्खों को भी पूर्ण आत्म-साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है, *भागवत धर्म* कहलाते हैं। यह भागवत् धर्म अच्युत भगवान् के चरणकमलों की सेवा के रूप में प्रकट होने वाला है और जीव के सारे भय का उन्मूलन करता है। इस भागवत धर्म का पालन करने पर यदि कोई व्यक्ति दोनों आँखें मूंद कर भी दौड़े, तो वह लड़खड़ायेगा नहीं और गिरेगा भी नहीं। मनुष्य अपने शरीर, मन, वचन, बुद्धि, चेतना, इन्द्रियों एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति इत्यादि से जो भी करता है, वह सब भगवान् नारायण को अर्पित किया जाना चाहिए। जो लोग भगवान् के चरणकमलों से प्रीति नहीं करते वे माया के वशीभूत हो जाते हैं। वे ईश्वर के स्वरूप को भूल जाते हैं और अपने को नश्वर शरीर मानने से माया के पाश में फँस जाते हैं। भौतिक आकर्षण के फेर में आकर वे अत्यन्त भयभीत हो उठते हैं। इसलिए उनके लिए सबसे अच्छी बात यही है कि वे योग्य गुरु को अपना जीवन अर्पित कर दें और पूर्ण भक्ति के साथ माया के परम नियन्ता भगवान् की पूजा करें। जिस प्रकार भोजन करने से धीरे धीरे भूख बुझती है और हर कौर से सन्तोष मिलता है, उसी तरह शरणागत भक्त को कृष्ण के

अतिरिक्त अन्य प्रत्येक वस्तु से विरक्ति होने लगती है, भगवान् का साकार अनुभव होता है और साथ साथ भगवत्प्रेम का आस्वादन मिलता है।''

इसके बाद हविर् ने प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय कोटि के भक्तों के लक्षण बतलाये। ''जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक भगवान् विष्णु के अर्चाविग्रह की नियमित पूजा करता है, किन्तु वैष्णवों के प्रति तथा विष्णु से सम्बन्धित वस्तुओं में अनुरक्ति नहीं रखता, वह भौतिकतावादी भक्त है। जो व्यक्ति भगवान् से प्रेम करता है, भगवद्भक्तों से मैत्री रखता है, अज्ञानियों पर दया दिखाता है और विष्णु तथा वैष्णवों के शत्रुओं के प्रति उदासीनता बरतता है, वह मध्यम भक्त है। और जो भक्त हर वस्तु में भगवान् की उपस्थिति देखता है और हर वस्तु को भगवान् के भीतर देखता है, वह सर्वोच्च भक्त है।'' प्रथम कोटि के भक्त का वर्णन आठ श्लोकों में हुआ है, जिनके अन्त में कहा गया है कि ऐसा प्रथम कोटि का भक्त भगवान् को सदैव प्रेम के बन्धन से अपने हृदय में बाँधे रखता है। भगवान् हरि ऐसे भक्त के हृदय से कभी दूर नहीं जाते।

श्रीशुक उवाच
गोविन्दभुजगुप्तायां द्वारवत्यां कुरूद्वह ।
अवात्सीन्नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुक ने कहा; गोविन्द—भगवान् गोविन्द की; भुज—बाहुओं से; गुप्तायाम्—सुरक्षित; द्वारवत्याम्—द्वारवती राजधानी में; कुरु-उद्वह—हे कुरुश्रेष्ठ; अवात्सीत्—रह रहे; नारदः—नारद मुनि; अभीक्ष्णम्—निरन्तर; कृष्ण-उपासन—कृष्ण की पूजा में लगे रहने की; लालसः—लालसा से।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे कुरुश्रेष्ठ, भगवान् कृष्ण की पूजा में संलग्न रहने के लिए उत्सुक नारद मुनि कुछ काल तक द्वारका में रहते रहे, जिसकी रक्षा गोविन्द सदैव अपनी बाहुओं से करते थे।

तात्पर्य : इस स्कन्ध के द्वितीय अध्याय में नारद मुनि जिज्ञासु वसुदेव से *भागवत धर्म* की व्याख्या कर रहे हैं। नारद मुनि राजा निमि तथा जायन्तेय के मध्य हुई वार्ता का उद्धरण देते हैं। जीव गोस्वामी के अनुसार *अभीक्ष्णम्* शब्द सूचित करता है कि यद्यपि भगवान् कृष्ण नारद को प्रायः इधर-उधर विभिन्न लीलाओं के लिए, यथा संसार का समाचार जानने के लिए भेजते रहते थे, किन्तु नारद मुनि द्वारका में रहने के लिए लगातार लौट आते थे। *कृष्णोपासन लालसः* शब्द सूचित करते हैं कि नारद

भगवान् कृष्ण के निकट रहकर उनकी पूजा करते रहने के लिए परम उत्सुक रहते थे। दक्ष के शाप के कारण नारद को किसी स्थान में लगातार रहने की अनुमति नहीं है। किन्तु श्रीधर स्वामी ने संकेत किया है *न तस्यां शापादे: प्रभाव:*—द्वारका में शापों या अन्य ऐसी बुराइयों का कोई प्रभाव नहीं होता है, क्योंकि द्वारका भगवान् का धाम है और सदैव उनकी भुजाओं से रक्षित रहता है जैसाकि *गोविन्द-भुज-गुप्तायाम्* शब्दों से प्रकट है। बद्धजीव माया के साम्राज्य के अन्तर्गत प्रकृति के क्रूर नियमों के विरुद्ध यथा जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से संघर्ष करते रहते हैं। किन्तु यदि इन्हीं बद्धजीवों को भगवान् की पुरी में द्वारका, मथुरा या वृन्दावन में प्रवेश करने का सौभाग्य मिलता है और वे भगवान् कृष्ण के सर्वशक्तिमान बाहुओं के प्रत्यक्ष संरक्षण में रहते हैं, तो वे असली जीवन के असीम आनन्द का अनुभव करेंगे, जो नित्य है और ईश्वर की निजी संगति में रहने के निमित्त है।

को नु राजन्निन्द्रियवान्मुकुन्दचरणाम्बुजम् ।
न भजेत्सर्वतोमृत्युरुपास्यममरोत्तमैः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन; नु—निस्सन्देह; राजन्—हे राजा; इन्द्रिय-वान्—इन्द्रियों से युक्त; मुकुन्द-चरण-अम्बुजम्—भगवान् मुकुन्द के चरणकमलों को; न भजेत्—नहीं पूजेगा; सर्वत:-मृत्युः—सभी ओर से मृत्यु का सामना करते हुए; उपाश्यम्—पूज्य; अमर-उत्तमैः—सर्वश्रेष्ठ मुक्त पुरुषों द्वारा।

हे राजन्, इस भौतिक जगत में बद्धजीवों को जीवन के पग-पग पर मृत्यु का सामना करना पड़ता है। इसलिए बद्धजीवों में ऐसा कौन होगा, जो बड़े से बड़े मुक्त पुरुष के लिए भी पूज्य भगवान् मुकुन्द के चरणकमलों की सेवा नहीं करेगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में *इन्द्रियवान्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है ''इन्द्रियों से युक्त''। यद्यपि हम भौतिक जगत के भीतर बद्ध हैं, किन्तु भगवान् की कृपा से हमें मनुष्य शरीर मिला हुआ है, जिसमें विभिन्न इन्द्रियाँ होती हैं यथा, आँखें, कान, जीभ, नाक तथा त्वचा। सामान्यतया बद्धजीव इन्द्रियतृप्ति के लिए इन इन्द्रियों का उपयोग भौतिक प्रकृति का शोषण करने के मिथ्या प्रयास में करते हैं। किन्तु हमारी भौतिक इन्द्रियाँ तथा उनके विषय क्षणिक हैं और माया द्वारा प्रदत्त इन क्षणिक विषयों से युक्त अपनी क्षणिक इन्द्रियों को तुष्ट करने के प्रयास में शान्त या सुखी रह पाना सम्भव नहीं है। वस्तुत: भौतिक इन्द्रियों को तुष्ट करने के हमारे अथक प्रयास अनिवार्य रूप से विपरीत परिणाम अर्थात् भौतिक कष्ट लाने वाले होते हैं। पुरुष स्त्री द्वारा आकृष्ट होता है। कामवासना जागृत होने से वह उसके साथ

विवाह कर लेता है और शीघ्र ही उसका परिवार बन जाता है, जिसे अधिकाधिक लालन-पालन करने की आवश्यकता होती है। इस तरह उसका निर्दोष तथा सरल जीवन समाप्त हो जाता है और वह अपने जीवन का अधिकांश अपने परिवार की आवश्यकताओं को पूरा करने में गधे की तरह कठिन श्रम करते हुए व्यतीत करता है। *श्रीमद्भागवत* के तृतीय स्कन्ध में भगवान् कपिल स्पष्ट बतलाते हैं कि आजीवन अथक कार्य करने के बावजूद परिवार के लोग पिता से असन्तुष्ट रहते हैं और जब थका-मांदा पिता वृद्धावस्था को प्राप्त होता है, तो परिवार के चिढ़े हुए सदस्य उससे उसी तरह व्यवहार करते हैं, जिस तरह किसान अपने बूढ़े तथा अनुपयोगी बैल से करता है। कभी कभी पुत्रगण अपने पिता के धन को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त करने के सपने देखते हैं और चुपके-चुपके उसके मरने की बाट जोहते हैं। आजकल लोग वृद्ध माता-पिता की शुश्रूषा करने के कष्ट से चिढ़ते हैं, अतएव उन्हें ऐसे संस्थानों में भेज देते हैं, जहाँ वे अपने तथाकथित प्रियजनों के लिए जीवन-भर कठोर श्रम करते रहने पर भी अकेले उपेक्षित मर जाते हैं। इंगलैड के एक डाक्टर का कष्ट-रहित-मृत्यु का सुझाव है कि जो वृद्ध व्यक्ति कार्य न कर सकें, उन्हें दवा देकर मार डाला जाय।

आजकल कुछ लोग भौतिक इन्द्रियतृप्ति की इच्छा करते हुए पारिवारिक जीवन की असुविधा से बचने की आशा से स्त्रियों के साथ ''मुक्त'' यौन सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं, जिससे विवाह की मुसीबत न उठानी पड़े। जन्म निरोध तथा गर्भपात द्वारा वे बच्चों के पालन-पोषण की झंझट से मुक्त हो लेते हैं। इस तरह बिना किसी भौतिक रुकावट के वे भौतिक इन्द्रियतृप्ति का आनन्द लूटने की आशा करते हैं। किन्तु प्रकृति के नियमों के द्वारा ऐसे व्यक्ति भगवान् के प्रति अपने असली कर्तव्य से बचने एवं अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए अन्यों को बिना किसी विचार के हिंसा तथा कष्ट पहुँचाने के कारण पाप के जाल में बंध जाते हैं। अपवित्र कार्यों के जाल में बँधकर वे अपनी मूल शुद्ध चेतना से दूर होते जाते हैं और धीरे धीरे प्रकृति के नियमों को समझने की सारी शक्ति गँवा बैठते हैं। इसीलिए यहाँ पर *सर्वतोमृत्यु:* कहा गया है। मृत्यु सहसा प्रकट होती है, जिससे ऐसे आश्वस्त इन्द्रियभोक्ता चौंक पड़ते हैं और मृत्यु उनके तथाकथित सारे भौतिक सुख के कार्यक्रमों को विनष्ट कर देती है। प्राय: ऐसे लोगों को भयानक रोग लग जाते हैं और उन्हें अकथनीय कष्ट भोगना पड़ता है, जिसका अन्त मृत्यु के साथ होता है। यदि कोई शुभेच्छु उनसे इन तथ्यों का संकेत करता है और उन्हें असलियत बताने का प्रयास

करता है, तो वे नाराज होकर उस पर धार्मिक मनचला या निराशावादी होने का दोषारोपण करते हैं। इस तरह से प्रकृति के नियमों की तनिक भी परवाह नहीं करते, जब तक कि ये नियम उसे ध्वस्त नहीं कर देते और उन्हें निराधार आशा के लोक से बाहर नहीं निकाल फेंकते। पापमय फलों के अत्यधिक संचयन के फलस्वरूप कर्म के नियमों द्वारा उन्हें महान् कष्ट भोगना पड़ता है। जीवन की निम्न योनियों में गिर कर वे स्थूल इन्द्रियों के परे सारी वस्तुओं की समस्त जागरूकता खो देते हैं।

कभी कभी जीव भौतिकतावादी इन्द्रियतृप्ति के दुखद प्रभाव को समझ पाता है। भौतिकतावादी जीवन की वेदना तथा कष्ट से हताश होकर तथा उच्चतर जीवन से अनजान होकर वह नव–बौद्ध दर्शन को ग्रहण करके तथाकथित शून्यवाद की शरण ढूँढ़ता है। किन्तु भगवान् के साम्राज्य में वास्तविक शून्य नहीं है। शून्य से तदाकार होने की इच्छा भौतिक पीड़ा के विरुद्ध प्रतिक्रिया होती है। यह ब्रह्म की कोई बोधगम्य धारणा नहीं है। उदाहरणार्थ, यदि मेरे पाँव में असह्य पीड़ा हो और वह ठीक न की जा सके, तो अन्ततोगत्वा मैं अपना पाँव कटाने के लिए तैयार हो जाऊँ। किन्तु पीड़ा को हटाना और अपने पाँव को बनाये रखना अधिक उत्तम होगा। इसी तरह हम मिथ्या अहंकारवश सोचते हैं, ''मैं सर्वेसर्वा हूँ। मैं सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हूँ। मेरे बराबर कोई बुद्धिमान नहीं।'' इस तरह सोचते हुए हम निरन्तर कष्ट पाते हैं और गहन चिन्ता का अनुभव करते हैं। किन्तु ज्योंही हम अपने को कृष्ण का क्षुद्र नित्य दास स्वीकार करके अहंकार को हटा देते हैं, त्योंही हमारा अहंकार हमें महान् आनन्द प्रदान करता है।

वैकुण्ठ के स्वामी श्रीकृष्ण सदैव दिव्य आनन्द में निमग्न रहते हैं। वस्तुतः श्रीकृष्ण समस्त आनन्द के आगार हैं। भौतिकतावादी भोग में डूबे लोग सर्वव्यापक मृत्यु के नियमों से बँधे हैं, किन्तु यदि हम भगवान् की सेवा करने का प्रयास करें, तो हम तुरन्त उनकी *ह्लादिनी शक्ति* से जुड़ जाते हैं। यदि हम कृष्ण के प्रामाणिक प्रतिनिधि, गुरु, के मार्गदर्शन में उनकी सेवा करें, तो हमें भौतिक कष्ट से तुरन्त छुटकारा मिल सकता है। तब हम शून्य के पीछे नहीं दौड़े, अपितु भगवान् की सेवा में असीम आध्यात्मिक आनन्द का आस्वाद अनुभव करेंगे।

सर्वतोमृत्युः यह भी सूचित करता है कि जन्म तथा मृत्यु ब्रह्माण्ड के प्रत्येक लोक में हैं। अतएव हमारे ये तथाकथित अन्तरिक्ष यात्रा तथा विश्वचेतना व्यर्थ हैं, क्योंकि मौलिक जगत में कहीं भी नित्य जीवन नहीं है। अन्त में कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की सेवा में लगने की व्यर्थता को समझना

और नित्य तथा आनन्दमय की सेवा करना बुद्धि का सर्वोच्च विकास है। यद्यपि हमारी वर्तमान बुद्धि संकुचित है और प्रकृति के नियमों द्वारा बद्ध है, किन्तु नश्वर तथा व्यर्थ एवं नित्य तथा असली के मध्य भेद करना सीख कर भगवान् मुकुन्द के चरणकमलों की शरण ग्रहण करके अपने लिए असीम सौभाग्य की सृष्टि कर सकते हैं।

तमेकदा तु देवर्षिं वसुदेवो गृहागतम् ।
अर्चितं सुखमासीनमभिवाद्येदमब्रवीत् ॥ ३॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; एकदा—एक बार; तु—तथा; देव-ऋषिम्—देवताओं के बीच ऋषि, नारद को; वसुदेवः—कृष्ण के पिता वसुदेव ने; गृह-आगतम्—अपने घर पर आये हुए; अर्चितम्—सामग्री द्वारा पूजन किया; सुखम् आसीनम्—सुखपूर्वक बैठे हुए; अभिवाद्य—आदरपूर्वक सत्कार करके; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा।

एक दिन देवर्षि नारद वसुदेव के घर आये। उनकी उपयुक्त सामग्री से पूजा करके, सुखपूर्वक बिठाने तथा सादर प्रणाम करने के बाद वसुदेव इस प्रकार बोले।

श्रीवसुदेव उवाच
भगवन्भवतो यात्रा स्वस्तये सर्वदेहिनाम् ।
कृपणानां यथा पित्रोरुत्तमश्लोकवर्त्मनाम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

श्री-वसुदेवः उवाच—श्री वसुदेव ने कहा; भगवन्—हे प्रभु; भवतः—आपका; यात्रा—आगमन; स्वस्तये—लाभ के लिए; सर्व-देहिनाम्—समस्त देहधारी प्राणियों के; कृपणानाम्—अत्यन्त दुखियारों के; यथा—जिस तरह; पित्रोः—पिता का; उत्तम-श्लोक—उत्तम श्लोकों से जिनकी प्रशंसा की जाती है, ऐसे भगवान्; वर्त्मनाम्—जो मार्ग पर स्थित हैं, उनके।

श्री वसुदेव ने कहा : हे प्रभु, जिस तरह पिता का आगमन उसके बच्चों के लिए लाभप्रद होता है, उसी तरह आपका आगमन सारे जीवों के लाभ के लिए है। आप उनमें से जो अत्यन्त दुखियारे हैं तथा साथ ही साथ वे जो उत्तमश्लोक भगवान् के पथ पर अग्रसर हैं, उनकी विशेष रूप से सहायता करते हैं।

तात्पर्य : वसुदेव यहाँ पर नारद मुनि की महिमा का वर्णन करते हैं। *कृपणानां यथा पित्रोरुत्तमश्लोकवर्त्मनाम्* पद महत्त्वपूर्ण है। *कृपणानाम्* द्योतक है अत्यन्त दीन-दुखियारों का तथा *उत्तमश्लोकवर्त्मनाम्* उन अत्यन्त भाग्यशालियों का जो कृष्णभावनामृत के मार्ग में अग्रसर हैं। श्रीधर स्वामी ने कहा है *तथा भगवद्रूपस्य भवतो यात्रा सर्वदेहिनां स्वस्तय इति। भगवद्रूपस्य* शब्द बताता है कि नारद मुनि भगवान् के अंश हैं, इसलिए उनके कार्य सारे जीवों के लिए अत्यन्त कल्याणप्रद हैं।

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध में नारद मुनि को भगवत्कृपा का मूर्तरूप बतलाया गया है। वहीं यह कहा गया है कि नारद को कृष्णभक्ति की कला का उपदेश देने की विशेष शक्ति प्रदत्त है। नारद मुनि बद्धजीवों को यह उपदेश देने में विशेष समर्थ हैं कि वे किस तरह अपने वर्तमान कार्यों को, अपने वर्तमान जीवन में किसी प्रकार का व्यतिक्रम उत्पन्न किये बिना ही, कृष्ण-भक्ति के साथ साथ सम्पन्न करें।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने *कृपण* शब्द की परिभाषा *बृहदारण्यक उपनिषद* से (३.९.१०) उद्धरण देते हुए दी है। *एतद् अक्षरं गार्गि अविदित्वासमाल्लोकात् प्रैति स कृपणः*—हे गर्गाचार्य की पुत्री! जो व्यक्ति अच्युत ब्रह्म के विषय में कुछ जाने बिना ही इस संसार से चला जाता है, वह कृपण या कंजूस है। दूसरे शब्दों में, हमें मनुष्य-जीवन इसलिए प्रदान किया जाता है कि हम भगवान् के साथ अपने नित्य आनन्दमय सम्बन्ध को समझ सकें। जैसाकि इसी अध्याय के दूसरे श्लोक में *इन्द्रियवान्* शब्द द्वारा सूचित है मनुष्य-शरीर विशेष रूप से इसलिए मिला है कि हम भगवान् कृष्ण की सेवा कर सकें। यह मानव-शरीर सबसे बड़ा सौभाग्य है, क्योंकि मनुष्य की अत्यन्त विकसित बुद्धि, उस परम सत्य कृष्ण को समझ पाने में सक्षम बनाती है। यदि हम ईश्वर के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को नहीं समझ सकते, तो हमें न तो इस वर्तमान जीवन का कोई लाभ मिल पायेगा, न ही हम अन्यों को लाभ दे पायेंगे। जो व्यक्ति विशाल खजाना पा जाने पर उसका उपयोग न तो अपने लिए करता है, न अन्यों के सुख के लिए समर्पित करता है, वह कृपण या कंजूस कहलाता है। इसलिए ऐसा व्यक्ति जो यह समझे बिना कि वह ईश्वर का दास है इस संसार से चला जाता है, कृपण या कंजूस कहलाता है।

यह श्लोक बतलाता है कि नारद मुनि कृष्ण-भक्ति में इतने शक्तिसम्पन्न हैं कि वे कंजूस मूढ़ों या धूर्तों तक को उनके मोह से उबार सकते हैं, जिस तरह कोई दयालु पिता अपने बच्चे को जगाकर दुखदायी डरावने सपने से बचा लेता है। हमारा वर्तमान भौतिकतावादी जीवन एक दुखद स्वप्न के तुल्य है, जिससे नारद जैसे महात्मा ही हमें जगा सकते हैं। नारद मुनि इतने शक्तिशाली हैं कि पहले से कृष्ण-भक्ति में अग्रसर लोग भी उनके उपदेशों को जो *श्रीमद्भागवतम्* के ग्यारहवें स्कंध में यहाँ दिये जाएँगे, सुनकर अपनी आध्यात्मिक स्थिति को आगे बढ़ा सकते हैं। इसीलिए श्री नारद समस्त जीवों के

गुरु तथा पिता हैं। ये सारे जीव मूलतः भगवद्भक्त हैं, किन्तु सम्प्रति मनुष्यों, पशुओं इत्यादि के भौतिक शरीरों में भौतिक जगत का कृत्रिम रूप से भोग करने का प्रयास कर रहे हैं।

भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च ।
सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

भूतानाम्—जीवों के; देव-चरितम्—देवताओं के कार्यकलाप; दुःखाय—दुख के लिए; च—भी; सुखाय—सुख में; च—तथा; सुखाय—सुख में; एव—केवल; हि—निस्सन्देह; साधूनाम्—सन्तों के; त्वादृशाम्—तुम्हारे समान; अच्युत—अच्युत भगवान्; आत्मनाम्—जिन्हें अपनी आत्मा के ही समान स्वीकार कर रखा है।.

देवताओं के कार्यकलापों से जीवों को दुख तथा सुख दोनों प्राप्त होते हैं, किन्तु अच्युत भगवान् को अपनी आत्मा मानने वाले, आप जैसे महान् सन्तों के कार्यों से समस्त प्राणियों को केवल सुख ही प्राप्त होता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि नारद मुनि जैसे शुद्ध भगवद्भक्तों को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर शासन करने के लिए परमेश्वर द्वारा शक्तिप्रदत्त जीवों अर्थात् देवताओं से भी बढ़कर मानना चाहिए। *भगवद्गीता* (३.१२) में कहा गया है :

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।

तैर्दत्तान् अप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥

''जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले विभिन्न देवता यज्ञ सम्पन्न होने पर प्रसन्न होकर तुम्हारी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे। किन्तु जो इन उपहारों को बदले में देवताओं को अर्पित किये बिना भोगता है, वह निश्चित रूप से चोर है।'' इस सन्दर्भ में श्रील प्रभुपाद ने देवताओं के विषय में यह टिप्पणी की है, ''देवतागण सांसारिक कार्यों के लिए अधिकार-प्राप्त प्रशासक हैं। प्रत्येक जीव के शरीर तथा आत्मा का पालन करने के लिए आवश्यक वायु, प्रकाश, जल तथा अन्य सारे वरदान देवताओं के अधिकार में हैं, जो भगवान् के शरीर के विभिन्न भागों में असंख्य सहायकों के रूप में स्थित हैं। उनकी प्रसन्नता तथा अप्रसन्नता मनुष्यों द्वारा सम्पन्न किये गये यज्ञों पर निर्भर करती है। दूसरे शब्दों में, भगवान् की व्यवस्था के अनुसार, भौतिक सम्पन्नता देवताओं की प्रसन्नता पर निर्भर करती है। यदि देवतागण यज्ञ न करने से या उन्हें अनुचित ढंग से करने के कारण असन्तुष्ट रहते हैं, तो उन्हें मनुष्यों को विविध प्रकार के कष्ट प्रदान करने का अधिकार प्राप्त रहता है। सामान्यतया यह कष्ट

भौतिक आवश्यकताओं की अत्यधिक या अपर्याप्त आपूर्ति के रूप में होता है। उदाहरणार्थ, जीवन के लिए सूर्य की धूप आवश्यक है, किन्तु यदि सूर्य की उष्मा अत्यधिक या कम रहे तो हमें कष्ट होता है। अत्यधिक या अपर्याप्त वर्षा भी कष्ट का कारण बन जाती है। इस तरह यज्ञ की सम्पन्नता के अनुसार ही देवतागण मनुष्यों को सुख या दुख प्रदान करते हैं।

किन्तु जैसाकि यहाँ पर कहा गया है, नारद मुनि जैसे महान् सन्त-पुरुष (साधु) सदैव समस्त जीवों पर दयालु रहते हैं—

तितिक्षव: कारुणिका: सुहृद: सर्वदेहिनाम्।

अजातशत्रव: शान्त: साधव: साधुभूषणा: ॥

''साधु के लक्षण हैं कि वह सहिष्णु, दयालु तथा समस्त जीवों का मित्र होता है, उसका कोई शत्रु नहीं होता, वह प्रशान्त होता है, वह शास्त्रों का पालन करता है और उसके सारे लक्षण उदात्त होते हैं।'' (भागवत ३.२५.२१) श्रील प्रभुपाद ने इस श्लोक की टीका करते हुए *साधु* का चित्रण इस प्रकार किया है, ''*साधु* का जिस तरह ऊपर वर्णन हुआ है, वह भगवान् का भक्त होता है। अत: उसका मुख्य कार्य लोगों में भगवान् की भक्ति जगाना है। यह उसकी दया है। वह जानता है कि भगवान् की भक्ति के बिना मनुष्य-जीवन चौपट हो जाता है। भक्त संसार-भर में भ्रमण करके द्वार-द्वार जाकर उपदेश देता है कि ''कृष्ण-भक्त बनो, अपनी पाशविक प्रवृत्तियों को ही पूरा करने में अपना जीवन नष्ट न करो। यह मानव-जीवन आत्म-साक्षात्कार या कृष्ण-भक्ति के लिए है।'' ये ही *साधु* के उपदेश हैं। वह अपने मोक्ष से सन्तुष्ट नहीं होता। वह सदैव अन्यों के विषय में सोचता रहता है। वह समस्त पतितात्माओं के प्रति अत्यन्त दयालु होता है। अत: उसका एक गुण है *कारुणिका* अर्थात् पतितात्माओं के प्रति करुणा या दया। उपदेश कार्य करते हुए उसे अनेक विरोधी तत्त्वों का सामना करना पड़ता है, अत: साधु या भगवद्भक्त को अत्यन्त सहिष्णु होना पड़ता है। कोई भी व्यक्ति उसके साथ दुर्व्यवहार कर सकता है, क्योंकि बद्धजीव भक्ति के दिव्य ज्ञान को प्राप्त करने के लिए सन्नद्ध नहीं होते। उन्हें यह पसन्द नहीं आता। यही उनका रोग है। साधु को भक्ति की महत्ता समझाने का अप्रशंसित कार्य करना होता है। कभी कभी भक्तों के ऊपर हिंसात्मक प्रहार भी होते हैं, जैसे कि जीसस क्राइस्ट को क्रूस पर चढ़ा दिया गया। हरिदास ठाकुर को बाइस बाजारों में बेंत से पीटा गया और श्री चैतन्य महाप्रभु के प्रमुख सहायक

नित्यानन्द पर जगाई–मधाई ने विकट प्रहार किया। तो भी वे सब सहिष्णु बने रहे, क्योंकि उन्हें पतितों का उद्धार जो करना था। साधु का एक गुण यह है कि वह अत्याधिक सहिष्णु तथा पतितों के प्रति दयालु होता है। वह दयालु इसलिए होता है, क्योंकि वह समस्त जीवों का शुभचिन्तक है। वह न केवल मानव समाज का शुभचिन्तक होता है, अपितु पशु समाज का भी। यहाँ पर *सर्व–देहिनाम्* कहा गया है, जो उन समस्त जीवों का सूचक है, जिन्हें भौतिक शरीर मिले हुए हैं। न केवल मनुष्यों को भौतिक शरीर प्राप्त है, अपितु अन्य जीवों को भी, यथा कुत्तों, बिल्लियों को भी भौतिक शरीर प्राप्त हैं। भगवद्भक्त प्रत्येक जीव के प्रति दयालु होता है, चाहे वह कुत्ता हो या बिल्ली, वृक्ष हो या अन्य कुछ। वह समस्त जीवों के साथ ऐसा व्यवहार करते हैं, जिससे अन्तत: वे इस भवबन्धन से मोक्ष पा सकें। भगवान् चैतन्य के एक शिष्य शिवानन्द सेन ने एक कुत्ते के साथ आध्यात्मिकता का व्यवहार करके उसे मोक्ष दिलाया। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनमें साधु की संगति से कुत्ते को मोक्ष प्राप्त हो सका, क्योंकि साधु समस्त जीवों के हितार्थ परोपकार में लगा रहता है। किसी से शत्रुता न रखने पर भी यह संसार इतना कृतघ्न है कि साधु के भी अनेक शत्रु बन जाते हैं।

एक शत्रु तथा मित्र में क्या अन्तर है? यह आचरण का अन्तर है। साधु सारे बद्धजीवों को भव–बन्धन से छुटकारा दिलाने के लिए ही सबों के साथ आचरण करता है, अत: वह बद्धजीवों को मोक्ष दिलाने वाला सबसे बड़ा मित्र है। साधु शान्त होता है और शान्तिपूर्वक शास्त्रीय नियमों का पालन करता है और साथ ही साथ भगवद्भक्त होता है। जो वास्तव में शास्त्रीय नियमों का पालन करता है, उसे भगवद्भक्त होना चाहिए, क्योंकि सारे शास्त्रों का यही आदेश है कि भगवान् के आदेशों का पालन किया जाय। अत: *साधु* का अर्थ है शास्त्रों के आदेशों का पालन करने वाला तथा भगवान् का भक्त। भक्त में ये सारे गुण पाये जाते हैं। भक्त में देवताओं के सारे गुण विकसित होते हैं, किन्तु अभक्त में चाहे वह विद्या की दृष्टि से कितना ही योग्य क्यों न हो, दिव्य साक्षात्कार के मापदण्ड के अनुसार वास्तविक सद्‌गुणों या लक्षणों का अभाव रहता है।''

इसीलिए वसुदेव ने नारद मुनि के लिए *साधु* शब्द का प्रयोग किया है, जो यह बताता है कि भगवद्भक्त का पद देवताओं के पद से भी बढ़कर है।

भजन्ति ये यथा देवान्देवा अपि तथैव तान् ।
छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

भजन्ति—पूजते हैं; ये—जो; यथा—जिस तरह; देवान्—देवताओं को; देवाः—देवतागण; अपि—भी; तथा एव—उसी तरह से; तान्—उनको; छाया—छाया में; इव—मानो; कर्म—भौतिक कर्म तथा उसके फल का; सचिवाः—अनुचर; साधवः—साधुगण; दीन-वत्सलाः—पतितों पर दयालु।

जो देवताओं की पूजा करते हैं, वे भेंट (उपहार) के अनुसार देवताओं से वैसा ही फल पाते हैं। देवतागण कर्म के उसी तरह अनुचर हैं, जिस तरह मनुष्य की छाया मनुष्य की अनुचर है, किन्तु साधुगण सचमुच ही पतितों पर दयालु होते हैं।

तात्पर्य : यहाँ *छायेव कर्मसचिवाः* पद महत्त्वपूर्ण है। शरीर की छाया शरीर की गतियों का अनुसरण करती है। छाया में वह शक्ति नहीं होती कि शरीर की गति से भिन्न प्रकार की गति कर सके। इसी प्रकार यह कथन है— *भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान्*—देवतागण जीवों को जो फल देते हैं, वह जीवों के कर्मों के अनुसार होते हैं। देवतागण भगवान् द्वारा शक्तिप्रदत्त होते हैं कि जीव को सुख तथा दुख प्रदान करने में वे जीव के कर्म का पूरी तरह से अनुसरण करें। जिस प्रकार छाया स्वतंत्र होकर गति नहीं कर सकती, उसी तरह देवता भी स्वतंत्र रूप से किसी जीव को दण्ड या पुरस्कार नहीं दे सकते। यद्यपि देवतागण पृथ्वी के मनुष्यों की तुलना में लाखों गुना शक्तिशाली होते हैं, किन्तु अन्ततः वे ईश्वर के क्षुद्र दास की तरह होते हैं, जिन्हें ब्रह्माण्ड के नियन्ताओं की तरह कार्य करने की ईश्वर अनुमति देते हैं। *श्रीमद्भागवत* के चौथे स्कन्ध में भगवान् के शक्त्यावतार पृथु महाराज कहते हैं कि यदि देवतागण भगवान् के नियमों से विपथ होते हैं, तो वे भी ईश्वर द्वारा दण्ड के भागी बनते हैं। दूसरी ओर, नारद मुनि जैसे भगवद्भक्त अपने शक्तिशाली प्रचार-कार्य द्वारा जीव को अपना सकाम कर्म तथा मानसिक चिन्तन छोड़ने के लिए तथा भगवान् की शरण में जाने के लिए फुसलाकर जीव के *कर्म* में बाधा डाल सकते हैं। इस संसार में मनुष्य अज्ञान के पाश के अन्तर्गत कठिन श्रम करता है। किन्तु यदि वह शुद्ध भगवद्भक्त की संगति से जागृत हो जाता है, तो वह ईश्वर के नित्य दास के रूप में अपनी वास्तविक स्थिति को समझ सकता है। ऐसी सेवा करके वह भवबन्धन को तथा अपने पूर्वकर्मों के फल को नष्ट कर देता है और शरणागत के रूप में उसे भगवान् की सेवा में असीम आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त हो जाती है। इस सम्बन्ध में *ब्रह्म-संहिता* का (५.५४) कहना है—

यस्त्विन्द्रगोपमथवेन्द्रमहो स्वकर्म-

बन्धानुरूपफलभाजनमातनोति ।

कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजां

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

''मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जो भक्तों के समस्त सकाम कार्यों की जड़ को जला डालते हैं। जो कर्म के पथ पर चलते हैं, वे उन्हें उनके द्वारा पूर्वजन्म में किये गये कर्मों के अनुसार निष्पक्ष भाव से कर्म का फल भोगने देते हैं, चाहे वह देवताओं का राजा इन्द्र हो या इन्द्रगोप नामक क्षुद्र कीट।'' देवतागण तक कर्म के नियमों से बँधे रहते हैं, किन्तु भगवान् का शुद्ध भक्त भौतिक भोग की इच्छा का पूरी तरह परित्याग करके कर्म के सभी चिह्नों को सफलतापूर्वक जलाकर क्षार कर डालता है।

इस सन्दर्भ में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने टीका की है कि जब तक मनुष्य भगवान् की भक्ति में शरणागत जीव की तरह संलग्न नहीं होता, तब तक उसे *निष्काम*—समस्त निजी इच्छाओं से मुक्त नहीं माना जा सकता। कभी कभी भौतिकतावादी व्यक्ति दान या परोपकार में लग कर अपने को निष्काम कर्ता मानता है। इसी प्रकार भगवान् के निर्विशेष ब्रह्म पक्ष में तदाकार होने के चरम लक्ष्य से मानसिक चिन्तन करने वाले भी अपने को निष्काम या कामनारहित विज्ञापित करते हैं। किन्तु श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती के अनुसार ऐसे *कर्मी* तथा *ज्ञानी* अपने तथाकथित ''निष्काम भाव'' में लगे रहने पर भी वास्तव में कामवासनाओं के दास होते हैं। दूसरे शब्दों में, वे ईश्वर के नित्य दास के रूप में अपनी स्थिति को सम्यक रीति से नहीं समझ पाते। परोपकारी कर्मी मिथ्या ही अपने को मानवता का सर्वश्रेष्ठ मित्र मानता है, यद्यपि वह अन्यों को वास्तविक लाभ दिला पाने में असमर्थ होता है, क्योंकि वह संसार के क्षणिक उन्माद के परे आनन्द तथा ज्ञान के नित्य जीवन से अनजान रहता है। इसी तरह यद्यपि ज्ञानी अपने को गर्व से ईश्वर घोषित करता है और अन्यों को भी ईश्वर बनने का न्यौता देता है, किन्तु वह यह बताने से कतराता रहता है कि ये तथाकथित ईश्वर किस तरह प्रकृति के नियमों से बँधे होते हैं। वास्तव में ईश्वर बनने का प्रयास ईश-प्रेम पर आधारित न होकर ईश्वर जैसा ही पद ग्रहण करने की इच्छा पर आधारित होता है। दूसरे शब्दों में, सभी तरह से ब्रह्म तुल्य बनने की इच्छा दूसरी तरह की एक भौतिकतावादी इच्छा है। इसीलिए कर्मी तथा ज्ञानीजन अपनी स्वयं की इच्छाओं को पूरा करने

के कुत्रिम प्रयत्नों में अपनी असंतुष्टि के कारण पतितात्माओं पर वास्तविक दया नहीं दिखला सकते, क्योंकि वे अपनी इच्छाओं को पूरा करने के कृत्रिम प्रयासों में लगे रहते हैं तथा तुष्ट नहीं हो पाते। इस सन्दर्भ में श्री मध्वाचार्य ने *उद्दाम संहिता* से यह उद्धरण दिया है—

सुखम् इच्छन्ति भूतानां प्रायो दुःखासहा नृणाम्।

तथापि तेभ्यः प्रवरा देवा एव हरेः प्रियाः॥

''ऋषिगण समस्त प्राणियों के लिए सुख की कामना करते हैं और मनुष्यों के दुख को सहने में लगभग सदा असमर्थ होते हैं। तो भी देवतागण श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे भगवान् हरि को अत्यन्त प्रिय हैं।'' यद्यपि श्रील मध्वाचार्य ने देवताओं को दयालु ऋषियों की अपेक्षा उच्च स्थान प्रदान किया है, किन्तु श्रील जीव गोस्वामी ने कहा है *साधुवस्तु न कर्मानुगताः* साधुगण देवताओं से श्रेष्ठ होते हैं, क्योंकि वे बद्धजीवों के पुण्य या पापमय कार्यों का विचार किये बिना दयालु होते हैं। मध्वाचार्य तथा श्रील जीव गोस्वामी के इस ऊपरी मतभेद का निपटारा भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने किया है। वे यह इंगित करते हैं कि श्रील मध्वाचार्य के कथन में *ऋषि* शब्द कर्मियों तथा ज्ञानियों में से तथाकथित साधुओं का सूचक है। सामान्य कर्मी तथा ज्ञानीजन अपने को नैतिकता तथा परोपकार के शिखर पर मानते हैं। किन्तु भगवान् के चरम पद से अनजान होने के कारण वे देवताओं के तुल्य नहीं माने जा सकते, क्योंकि देवतागण भगवद्भक्त होते हैं और इस तथ्य से अवगत होते हैं कि सारे जीव भगवान् के नित्य दास हैं। किन्तु ऐसे देवता भी नारद जैसे शुद्ध भक्तों के तुलनीय नहीं हैं। ऐसे शुद्ध भक्तों को पुण्यात्मा तथा पापी जीवों को जीवन की चरम सिद्धि प्रदान करने का अधिकार प्राप्त रहता है—जीवों को ऐसे शुद्ध भक्तों के आदेशों का केवल पालन करना होता है।

ब्रह्मंस्तथापि पृच्छामो धर्मान्भागवतांस्तव ।
यान्श्रुत्वा श्रद्धया मर्त्यो मुच्यते सर्वतो भयात् ॥ ७॥

शब्दार्थ

ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; **तथा अपि**—इतने पर भी (यद्यपि आपके दर्शनों से ही मैं पूर्ण सन्तुष्ट हूँ); **पृच्छामः**—मैं पूछ रहा हूँ; **धर्मान्**—धार्मिक कर्तव्यों को; **भागवतान्**—जो विशेष रुप से भगवान् को प्रसन्न करने के निमित्त हैं; **तव**—तुमसे; **यान्**—जिन्हें; **श्रुत्वा**—सुनकर; **श्रद्धया**—श्रद्धापूर्वक; **मर्त्यः**—जिसका मरण निश्चित है; **मुच्यते**—छूट जाता है; **सर्वतः**—समस्त; **भयात्**—भय से।

हे ब्राह्मण, यद्यपि मैं आपके दर्शन मात्र से सन्तुष्ट हूँ, तो भी आपसे मैं उन कर्तव्यों के विषय में पूछना चाहता हूँ, जो भगवान् को आनन्द प्रदान करने वाले हैं। जो भी मर्त्य प्राणी इनके विषय में श्रद्धापूर्वक श्रवण करता है, वह समस्त प्रकार के भय से मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार नारद मुनि वसुदेव को उपदेश देने में हिचकिचा रहे होंगे, क्योंकि कृष्ण के पिता होने से वे वसुदेव के उच्च पद का सहज आदर कर रहे थे। नारद ने सोचा होगा कि वसुदेव पहले से कृष्णभावनामृत में दक्ष हैं, अतएव उन्हें भक्ति की विधि का उपदेश देने की आवश्यकता नहीं है। इसीलिए, नारद की सम्भावित हिचक को भाँपकर ही, वसुदेव ने नारद से कृष्ण-भक्ति के विषय में उपदेश देने का विशेष अनुरोध किया। यह शुद्ध भक्त का लक्षण है। कृष्ण का शुद्ध भक्त कभी भी अपने को उच्च नहीं मानता, अपितु वह विनीत भाव से अनुभव करता है कि उसकी भक्ति अत्यन्त अपूर्ण है। किन्तु किसी तरह भगवान् कृष्ण अपनी अहैतुकी कृपावश, ऐसी अपूर्ण सेवा को स्वीकार कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में श्री चैतन्य महाप्रभु ने *शिक्षाष्टक* (३) में कहा है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।

अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

''अपने को सड़क के तृण से भी तुच्छ मानते हुए, मनुष्य मन की विनीत अवस्था में भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन कर सकता है। उसे वृक्ष से भी अधिक सहनशील, मिथ्या प्रतिष्ठा के भाव से रहित होना चाहिए, और अन्यों को सभी प्रकार से सम्मान देने के लिए तैयार रहना चाहिए।'' इस भौतिक जगत में बद्धजीव अपने तथाकथित वंश को लेकर मिथ्या गर्वित रहते हैं। यह गर्व मिथ्या है क्योंकि इस भौतिक जगत में जिसने भी जन्म लिया है, वह पतित अवस्था में होता है, भले ही वह कितनी ही अच्छी स्थिति में क्यों न हो। किन्तु वसुदेव, निश्चित ही पतित नहीं थे, क्योंकि उनका जन्म कृष्ण के परिवार में हुआ था। चूँकि वे कृष्ण के पिता थे, अतएव उनका पद अत्युच्च था, किन्तु शुद्ध भक्त होने के कारण वे कृष्ण के साथ विशिष्ट सम्बन्ध होने पर भी गर्वित नहीं थे। विपरीत इसके, अपने को आध्यात्मिक ज्ञान में न्यून मानकर, उन्होंने कृष्णभावनामृत के महान् उपदेशक नारद मुनि के आगमन का लाभ उठाने की दृष्टि से, तुरन्त ही उनसे भक्ति के विषय में जिज्ञासा प्रकट की। कृष्ण के

शुद्ध भक्त की यह अतुलनीय विनम्रता निर्विशेषवादी की उस मिथ्या विनम्रता से कहीं अधिक श्रेष्ठ है, जो ऊपर से विनीत साधु-व्यक्ति का आचरण करते हुए ईश्वर के समतुल्य बनने की इच्छा रखता है।

भयम् की उत्पत्ति कृष्ण से नहीं, अपितु किसी अन्य वस्तु को देखने से होती है (*द्वितीयाभिनिवेशत:*)। जैसाकि *वेदान्त सूत्र* में कहा गया है (*जन्माद्यस्य यत:*) तथा *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है (*अहं सर्वस्य प्रभव:, वसुदेव: सर्वमिति*—) प्रत्येक वस्तु वास्तव में भगवान् से ही उदभूत होती है। कृष्ण प्रत्येक जीव के शुभैषी मित्र हैं (*सुहृदं सर्वभूतानाम्*)। यदि जीव भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करने का दिग्भ्रमित प्रयास छोड़ देता है और भगवान् की शरण ग्रहण कर लेता है, तो निस्सन्देह, उसे कृष्ण के साथ अपने नित्य सम्बन्ध का दृढ़ विश्वास हो जाता है। शरणागत व्यक्ति वास्तव में अनुभव करता है कि कृष्ण उसके शुभैषी मित्र हैं, और चूँकि वह मित्र सारे जगत का परम नियन्ता होता है, अतएव भय का कोई कारण नहीं रहता। धनी पुरुष का पुत्र अपने पिता की जागीर में दौरा करते समय आश्वस्त रहता है। इसी तरह अधिकारप्रदत्त सरकारी प्रतिनिधि अपने कर्तव्य को सम्पन्न करने में आश्वस्त रहता है। इसी प्रकार, कृष्ण का भक्त भी, भगवान् के प्रतिनिधि के रूप में आश्वस्त रहता है, क्योंकि वह हर क्षण समझता रहता है कि समग्र भौतिक तथा आध्यात्मिक सृष्टि उसके उदार स्वामी के नियंत्रण में है। किन्तु अभक्त व्यक्ति, कृष्ण के पद को नहीं मानता और वह उसे कृष्ण से भिन्न रूप में कल्पना करता है। उदाहरणार्थ, यदि सरकारी सेवक सोचता है कि कोई ऐसी खतरनाक अड़चन आन पड़ी है, जिसे सरकारी शक्ति से वश में नहीं किया जा सकता, तो वह भयभीत हो उठता है। यदि कोई बच्चा यह सोचता है कि ऐसी भी कोई शक्ति है, जिसे उसका पिता नहीं दबा सकता, तो वह भयभीत हो जाता है। इसी तरह से, क्योंकि हम कृत्रिम रूप से यह सोचते हैं कि इस जगत में कुछ बातें ऐसी हैं, जो शुभेच्छु भगवान् के पूर्ण नियंत्रण में नहीं हैं, हम भयभीत हो उठते हैं। द्वितीय वस्तु की (कृष्ण के अतिरिक्त) ऐसी धारणा *द्वितीयाभिनिवेश* कहलाती है, जो तुरन्त ही *भयम्* का वातावरण उत्पन्न कर देती है। कृष्ण *अभयंकर* कहलाते हैं, जिसका अर्थ है कि वे अपने भक्त के हृदय के सारे भय को विनष्ट कर देते हैं।

कभी कभी अनेक वर्षों तक निर्विशेषवादी चिन्तन तथा भौतिकतावादी, जीवन के भोग के पश्चात् किंकर्तव्यविमूढ़ हुए तथाकथित विद्वान भयभीत तथा चिन्तातुर हो उठते हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त

सरस्वती ऐसे विचलित दार्शनिकों की तुलना *छान्दोग्य उपनिषद्* में वर्णित बद्ध गिद्ध से करते हैं। ऐसे चिन्तक भय से मुक्ति की कामना करते हुए दुर्भाग्य से काल्पनिक मोक्ष (*विमुक्तमानिनः*) को गढ़ लेते हैं और निर्विशेष या शून्य की शरण लेने का प्रयास करते हैं। किन्तु *भागवत* (१०.२.३२) में कहा गया है *आरुह्य कृच्छ्रेण परंपदं ततः। पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः* क्योंकि ऐसे चिन्तक भगवान् से अपने नित्य सम्बन्ध को नकारने की अपनी मूल त्रुटि को ठीक नहीं कर पाये हैं, अतः वे अपनी मनगढंत मुक्ति से नीचे गिरकर भयभीत अवस्था में रहते जाते हैं। किन्तु, वसुदेव कृष्ण की भक्ति के विषय में अधिकाधिक सुनने के लिए खुले तौर पर उत्सुक हैं, इसीलिए कहते हैं *यान् श्रुत्वा श्रद्धया मर्त्यो मुच्यते सर्वतो भयात्*—कृष्ण की शुद्ध भक्ति के विषय में केवल श्रवण करने से बद्धजीव सभी प्रकार के भय से मुक्त हो सकता है और यह दिव्य स्वतंत्रता निश्चय ही नित्य है।

अहं किल पुरानन्तं प्रजार्थो भुवि मुक्तिदम् ।
अपूजयं न मोक्षाय मोहितो देवमायया ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; किल—निस्सन्देह; पुर—बहुत काल पूर्व; अनन्तम्—भगवान्, जो अनन्त हैं; प्रजा-अर्थः—सन्तान की कामना करते हुए; भुवि—पृथ्वी पर; मुक्ति-दम्—मुक्ति देने वाले, भगवान्; अपूजयम्—मैंने पूजा की; न मोक्षाय—मुक्ति के लिए नहीं; मोहितः—मोहग्रस्त; देव-मायया—भगवान् की माया द्वारा।

इस पृथ्वी पर मैंने अपने पूर्वजन्म में मुक्तिप्रदाता भगवान् अनन्त की पूजा तो की, किन्तु मैं सन्तान का इच्छुक था, अतएव मैंने उनकी पूजा मुक्ति के लिए नहीं की थी। इस तरह मैं भगवान् की माया से मोहग्रस्त था।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी के अनुसार *किल* (जिसका अर्थ ''निस्सन्देह यह सत्य है,'' ''यह कहा जाता है'' या कि ''जैसा विदित है'' होता है) शब्द सूचित करता है कि वसुदेव उन शब्दों को स्मरण कर रहे थे, जिन्हें भगवान् ने उनसे अपने विष्णु के चतुर्भुजी रूप में कंस के बन्दीगृह में प्रकट होकर कहा था। श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि वसुदेव की चिन्ता से, जो कि इस श्लोक में *अपूजयं न मोक्षाय मोहितो देवमायया* शब्दों से व्यक्त होती है, यह पता चलता है कि यदुवंश को पिण्डारक में ब्राह्मणों ने जो शाप दिया था, उसे वसुदेव ने सुन रखा था और इससे वे समझ सकते थे कि भगवान् का इस संसार से तिरोधान आसन्न है। वसुदेव समझ गये कि इस ब्रह्माण्ड में भगवान् की व्यक्त लीलाओं

की इति होने वाली है, इसलिए अब वे पश्चात्ताप कर रहे थे कि उन्होंने कृष्ण की पूजा करने के सुअवसर का लाभ सीधे भगवद्धाम वापस जाने के लिए क्यों नहीं उठाया।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वसुदेव ने भगवान् के लिए *मुक्तिदम्* शब्द का प्रयोग किया है। *मुक्तिदम्* तथा मुकुन्द पर्यायवाची हैं, जिनके अर्थ हैं जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति दिलाने वाला। वैदिक वाङ्मय में कहा गया है कि देवता तक जन्म-मृत्यु के चक्र से बँधे हैं, यद्यपि पार्थिव गणना से उनकी आयु कल्पनातीत दीर्घ है। सर्वशक्तिमान ईश्वर ही बद्धजीव को उसके पूर्व पापों के फल से मुक्त कर सकते हैं और वे ही आनन्द तथा ज्ञान से युक्त नित्य जीवन प्रदान करने वाले हैं।

वसुदेव को पश्चाताप हो रहा था कि उन्होंने भगवान् कृष्ण से भगवद्धाम जाकर वैकुण्ठ में उनकी सेवा करने की चाह के बजाय कृष्ण को अपने पुत्र रुप में पाने की इच्छा व्यक्त की थी। *श्रीमद्भागवतम्* के दसवें स्कन्ध की इस घटना पर टीका करते हुए श्रील प्रभुपाद ने बलपूर्वक कहा है कि हमें भगवान् को पुत्र रूप में इस पृथ्वी पर लाने का प्रयास न करके भगवद्धाम वापस जाने की इच्छा करनी चाहिए। न ही हम वसुदेव तथा देवकी के समान हजारों दिव्य वर्षों तक कठिन तपस्या का कृत्रिम रूप से अनुकरण कर सकते हैं, जिसे उन्होंने सुतपा तथा पृश्नि के रूप में अपने पूर्वजन्म में किया था। इसी सन्दर्भ में श्रील प्रभुपाद कहते हैं, ''यदि हम भगवान् को इसी भौतिक जगत में अपने बीच देखना चाहते हैं, तो इसके लिए महान् तपस्या की आवश्यकता होगी। किन्तु यदि हम कृष्ण के पास लौट जाना चाहते हैं (*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन*), तो हमें उन्हें केवल जानने और उनसे प्रेम करने की आवश्यकता होगी। केवल प्रेम द्वारा ही हम भगवद्धाम वापस जा सकते हैं।'' श्रील प्रभुपाद आगे बतलाते हैं कि चैतन्य महाप्रभु मुक्त-भाव से कृष्ण-प्रेम का वर देते हैं, जिससे मनुष्य हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करके कृष्ण के धाम वापस जा सकता है। इस युग में यह कीर्तन-विधि कठिन तपस्या करने के कृत्रिम प्रयासों से कहीं अधिक प्रभावशाली है। श्रील प्रभुपाद अन्त में लिखते हैं, ''अतएव, किसी को हजारों वर्षों तक कठिन तपस्या करने की आवश्यकता नहीं है। उसे केवल इतना ही सीखना होगा कि कृष्ण से कैसे प्रेम किया जाय और उनकी सेवा में कैसे सदैव व्यस्त रहा जाय (*सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः*)। तब मनुष्य आसानी से भगवद्धाम वापस जा सकता है। भगवान् को किसी भौतिक प्रयोजन के लिए यथा पुत्र प्राप्ति आदि के लिए यहाँ लाने की अपेक्षा, यदि

हम भगवद्धाम वापस जाय, तो भगवान् से हमारा असली सम्बन्ध प्रकट होगा और हम शाश्वत रूप से अपने नित्य सम्बन्ध में लगे रहेंगे। हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करने से हम धीरे धीरे परम पुरुष के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को विकसित करते हैं और *स्वरूपसिद्धि* प्राप्त कर सकते हैं। हमें इस वर का लाभ उठाकर भगवद्धाम वापस जाना चाहिए।'' (भागवत १०.३.३८ तात्पर्य)

यद्यपि वसुदेव तथा देवकी ने चाहा था कि कृष्ण उनके पुत्र बनें, किन्तु यह समझना होगा कि ऐसे भी भक्त हैं, जो कृष्ण से शाश्वत प्रेम करते हैं। जैसाकि भगवान् ने स्वयं कहा है (भागवत १०.३.३९) *मोहितौ देवमायया*—भगवान् के शुद्ध भक्त वसुदेव तथा देवकी उनकी अन्तरंगा शक्ति से प्रच्छन्न थे। *श्रीमद्भागवतम्* के चौथे स्कन्ध (४.१.२०) में अत्रि मुनि ने भगवान् से प्रार्थना की *प्रजां आत्मसमां मह्यं प्रयच्छतु*—कृपया मुझे अपने ही समान पुत्र प्रदान करने के लिए प्रसन्न हों। अत्रि मुनि ने कहा कि उन्हें भगवान् के *समान* ही पुत्र चाहिए, अतएव वे शुद्ध भक्त नहीं थे, क्योंकि वे भौतिक इच्छा की पूर्ति चाहते थे। यदि उन्होंने भगवान् को ही अपने पुत्र रूप में चाहा होता, तो वे भौतिक इच्छाओं से पूर्णतया मुक्त रहते, क्योंकि उन्होंने तब परम सत्य को पाने की इच्छा की होती, किन्तु उन्होंने उन जैसा पुत्र चाहा, इसलिए उनकी इच्छा भौतिक थी। फलतः अत्रि मुनि की गणना शुद्ध भक्तों में नहीं की जा सकती। किन्तु वसुदेव तथा देवकी ने भगवान् को ही चाहा था, अतएव वे भगवान् के शुद्ध भक्त थे। इसलिए इस श्लोक में वसुदेव के कथन *अपूजयं न मोक्षाय मोहितो देवमायया* का यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए कि कृष्ण की अन्तरंगा शक्ति ने वसुदेव को मोह लिया, जिससे उन्होंने कृष्ण को अपने पुत्र रूप में चाहा। इससे भगवान् को अपने प्रिय भक्तों के पुत्र रूप में प्रकट होने का मार्ग प्रशस्त हो सका।

यथा विचित्रव्यसनाद्भवद्भिर्विश्वतोभयात् ।
मुच्येम ह्यञ्जसैवाद्धा तथा नः शाधि सुव्रत ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिससे; **विचित्र-व्यसनात्**—विभिन्न खतरों से पूर्ण; **भवद्भिः**—आपके ही कारण से; **विश्वतः-भयात्**—(इस जगत से) जो प्रत्येक ओर से भयावह है; **मुच्येम**—मुक्त हो सकूँ; **हि**—निस्सन्देह; **अञ्जसा**—आसानी से; **एव**—भी; **अद्धा**—प्रत्यक्षतः; **तथा**—इस तरह; **नः**—हमको; **शाधि**—कृपया आदेश दें; **सु-व्रत**—हे अपने व्रत के सच्चे।

हे प्रभु, आप सदैव अपने व्रत पर खरे उतरते हैं। कृपया मुझे स्पष्ट आदेश दें, जिससे आपकी दया से मैं अपने को इस संसार से आसानी से मुक्त कर सकूँ, जो अनेक संकटों से पूर्ण है और हमें सदैव भय से बाँधे रहता है।

तात्पर्य : यहाँ पर *मुच्येम* शब्द सार्थक है। पिछले श्लोक में वसुदेव ने कहा है कि चूँकि वे भगवान् की माया से मोहग्रस्त थे, अतएव भगवान् से मुक्ति का वर नहीं प्राप्त कर सके। इसलिए अब वे भगवान् के शुद्ध भक्त से कह रहे हैं और आश्वस्त हैं कि भगवद्भक्त की कृपा से उन्हें भवबन्धन से निश्चित रूप से मोक्ष प्राप्त हो सकेगा।

इस सन्दर्भ में *अञ्जसा* (सरलतापूर्वक) तथा *अद्धा* (प्रत्यक्षत:) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि मूर्ख लोग भगवान् के शुद्ध भक्त को गुरु रूप में स्वीकार किये बिना, भगवान् के समक्ष बड़े गर्व से कूद-फाँदकर पहुँच जाना चाहते हैं, किन्तु जो आत्मज्ञान के अनुभवी हैं, वे जानते हैं कि शुद्ध भक्त के चरणकमलों में आत्मसमर्पण करके तथा सेवा करके भगवान् से सीधा सम्पर्क प्राप्त किया जा सकता है। *श्रीमद्भागवत* (११.१७.२७) में भगवान् कृष्ण ने कहा है *आचार्यं मां विजानीयान् नावमन्येत कर्हिचित्।* इस तरह मनुष्य को यह समझना होगा कि कृष्ण का शुद्ध भक्त भगवान् जैसे ही आध्यात्मिक स्तर को प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शुद्ध भक्त भी ईश्वर होता है, बल्कि भगवान् के साथ घनिष्ठ प्रेममय सम्बन्ध के कारण वह भगवान् को आत्मवत् स्वीकार्य होता है। दूसरे शब्दों में, कृष्ण सदैव अपने शुद्ध भक्त के हृदय में रहते हैं और शुद्ध भक्त सदैव कृष्ण के हृदय में वास करते हैं। यद्यपि श्रीकृष्ण शाश्वत भगवान् हैं और अद्वितीय हैं, किन्तु वे अपने शुद्ध भक्त को पूजित होते देखकर अधिक प्रसन्न होते हैं। इसीलिए वे कहते हैं *आचार्यं मां विजानीयात्।* मनुष्य को चाहिए कि वैष्णव-आचार्य को वही सम्मान प्रदान करे, जो वह भगवान् को प्रदान करता है। इसलिए ज्योंही कोई व्यक्ति वैष्णव-गुरु को प्रसन्न कर लेता है, त्योंही वह कृष्ण को प्रसन्न कर लेता है और आध्यात्मिक प्रगति करने लगता है। *अञ्जसा* शब्द का अर्थ है कि यह प्रामाणिक विधि ही आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त करने की सरलतम विधि है। और चूँकि शुद्ध भक्त पारदर्शी माध्यम है, इसलिए *अद्धा* शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिससे यह सूचित होता है कि शुद्ध भक्तों के प्रति की गई सेवा प्रत्यक्ष रीति से कृष्ण के चरणकमलों

तक पहुँचती है, जबकि प्रामाणिक गुरु को छोड़कर मनमाने ढंग से की गई कृष्ण की सेवा स्वीकार नहीं होती और व्यर्थ जाती है।

जो सचमुच ही सर्वोच्च सिद्धि चाहते हैं, जो कि कृष्ण के नित्य आनन्दमय धाम वापस जाने में है, उन्हें चाहिए कि इन दो श्लोकों में श्री वसुदेव ने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, उसका ध्यान से अध्ययन करें। वे यह इंगित करते हैं कि यद्यपि भगवान् की प्रत्यक्ष पूजा करने से मोक्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता, किन्तु नारद जैसे कृष्ण के शुद्ध भक्त तथा उच्च वैष्णव संत के एक क्षण के सान्निध्य से जीवन में सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *विश्वतोभयात्* शब्द सूचित करता है कि वसुदेव ब्राह्मणों के शाप से अत्यन्त भयभीत थे। जिस तरह वैष्णवों की पूजा करके मनुष्य पूर्ण (सिद्ध) बन सकता है, उसी तरह उन्हें अप्रसन्न करने पर दुर्भाग्य भी प्राप्त कर सकता है। इसलिए पिण्डारक तीर्थ में ब्राह्मणों द्वारा दिये गये शाप से वसुदेव अत्यधिक भयभीत थे।

श्रीशुक उवाच
राजन्नेवं कृतप्रश्नो वसुदेवेन धीमता ।
प्रीतस्तमाह देवर्षिर्हरेः संस्मारितो गुणैः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; राजन्—हे राजा; एवम्—इस प्रकार; कृत-प्रश्नः—पूछे जाने के बाद; वसुदेवेन—वसुदेव द्वारा; धीमता—बुद्धिमान; प्रीतः—प्रसन्न; तम्—उनसे; आह—बोला; देव-ऋषिः—देवताओं में ऋषि; हरेः—भगवान् हरि के; संस्मारितः—स्मरण कराने वाले; गुणैः—गुणों के द्वारा।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, देवर्षि नारद अत्यन्त बुद्धिमान वसुदेव के प्रश्नों से अतीव प्रसन्न हुए। चूँकि वे प्रश्न भगवान् के दिव्य गुणों का स्मरण कराने वाले थे, अतएव उन्हें कृष्ण का स्मरण हो आया। अतः नारद ने वसुदेव को इस प्रकार उत्तर दिया।

श्रीनारद उवाच
सम्यगेतद्व्यवसितं भवता सात्वतर्षभ ।
यत्पृच्छसे भागवतान्धर्मांस्त्वं विश्वभावनान् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; सम्यक्—सही सही; एतत्—यह; व्यवसितम्—निश्चय, संकल्प; भवता—आपके द्वारा; सात्वत-ऋषभ—हे सात्वत वंश के सर्वश्रेष्ठ; यत्—चूँकि; पृच्छसे—पूछ रहे हो; भागवतान् धर्मान्—भगवान् के प्रति कर्तव्यों को; त्वम्—तुम; विश्व-भावनान्—समस्त विश्व को शुद्ध (पवित्र) कर सकने वाले।

श्री नारद ने कहा : हे सात्वत-श्रेष्ठ, तुमने ठीक ही भगवान् के प्रति जीव के शाश्वत कर्तव्य के विषय में मुझसे पूछा है। भगवान् के प्रति ऐसी भक्ति इतनी शक्तिशाली होती है कि इसके करने से सारा विश्व पवित्र हो सकता है।

तात्पर्य : द्वितीय स्कन्ध के प्रथम श्लोक में ऐसी ही बात श्री शुकदेव गोस्वामी ने कही थी, जब उन्होंने परीक्षित महाराज को कृष्ण के विषय में जिज्ञासा करने के लिए बधाई दी थी।

वरीयान् एष ते प्रश्नः कृतो लोकहितं नृप।

आत्मवित्सम्मतः पुंसां श्रोतव्यादिषु यः परः॥

"हे राजन्! आपका प्रश्न इतना श्रेष्ठ है कि यह सभी प्रकार के लोगों के लिए लाभप्रद है। इस प्रश्न का उत्तर सुनने योग्य है और इसका अनुमोदन सारे अध्यात्मवादियों ने किया है।"

इसी प्रकार श्रील सूत गोस्वामी ने नैमिषारण्य के जिज्ञासु मुनियों को निम्नलिखित शब्दों में बधाई दी—

मुनयः साधु पृष्टोऽहं भवद्भिर्लोकमङ्गलम्।

यत्कृतः कृष्णसम्प्रश्नो येनात्मा सुप्रसीदति॥

"हे मुनियो! आप लोगों ने मुझसे बहुत अच्छा प्रश्न पूछा है। आपके प्रश्न श्रेष्ठता-युक्त हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध भगवान् कृष्ण से है, अतएव वे विश्व के कल्याण से सम्बन्धित हैं। केवल इस तरह के प्रश्नों से आत्मा पूरी तरह तुष्ट हो सकता है।" (भागवत १.२.५)

अब नारद वसुदेव द्वारा पूछी गई भक्ति-विधि के विषय में उत्तर देंगे। आगे चलकर इस वार्ता के अन्त में वसुदेव के त्रुटिपूर्ण मनोभावों के उत्तर देंगे।

श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः ।
सद्यः पुनाति सद्धर्मो देवविश्वद्रुहोऽपि हि ॥ १२॥

शब्दार्थ

श्रुतः—सुना हुआ; अनुपठितः—बाद में सुनाया गया; ध्यातः—ध्यान किया हुआ; आदृतः—श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया गया; वा—अथवा; अनुमोदितः—अन्यों द्वारा किये जाने पर प्रशंसित; सद्यः—तुरन्त; पुनाति—पवित्र कर देता है; सत्-धर्मः—शुद्ध भक्ति; देव—देवताओं को; विश्व—तथा ब्रह्माण्ड को; द्रुहः—घृणा से भरे हुए; अपि हि—भी।

भगवान् के प्रति की गई शुद्ध भक्ति आध्यात्मिक रूप से इतनी प्रबल होती है कि ऐसी दिव्य सेवा के विषय में मात्र सुनने, सुनकर इसकी महिमा का गायन करने, इसका ध्यान करने,

आदरपूर्वक तथा श्रद्धापूर्वक इसे स्वीकार करने या अन्यों की भक्ति की प्रशंसा करने से, वे मनुष्य भी तुरन्त शुद्ध हो जाते हैं, जो देवताओं से तथा अन्य सारे जीवों से घृणा करते हैं।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने टीका की है कि *सद्धर्म* शब्द *भागवत-धर्म* का द्योतक है। श्रीधर स्वामी ने भी इसकी पुष्टि की है। *भागवत धर्म* आध्यात्मिक दृष्टि से इतना प्रबल होता है कि ऐसे लोग भी, जो सांसारिक मापदण्ड से कई तरह से पापपूर्ण आचरण में फँस जाते हैं, इस श्लोक में वर्णित किसी भी विधि को ग्रहण करने से सरलतापूर्वक पवित्र बनाये जा सकते हैं। सामान्य पुण्य प्रथा में, मनुष्य अपनी सेवा के बदले कुछ न कुछ प्राप्त करने की आशा से ईश्वर की पूजा करता है। इसी प्रकार निर्विशेषवादी अपनी मुक्ति के लिए आकांक्षा करता है और ऐसी इच्छा करते हुए यह सोचता रहता है कि वह ईश्वर के तुल्य बन जायेगा। किन्तु *भागवत धर्म* में ऐसी अशुद्धि नहीं पाई जाती। भागवत धर्म ऐसी भगवद्भक्ति है, जिसमें एकमात्र लक्ष्य ईश्वर की तुष्टि रहती है। यदि कोई व्यक्ति इस विधि को ठुकरा कर श्रवण करना, शिक्षा देना या अन्य विधि पर ध्यान करना चाहता है, तो शुद्धि का अवसर तुरन्त हाथ से निकल जाता है।

न तो सामान्य भौतिकतावादी योग-विधियाँ, जो योगशक्ति प्राप्त करने के लिए होती हैं, न ही चिन्तन पर आधारित निर्विशेष विधियाँ इतनी शक्तिसम्पन्न होती हैं कि वे पापपूर्ण आचरण में गिरे हुओं को तुरन्त ही शुद्ध कर दें। *सद्धर्म* या *भागवत धर्म* इस मामले में अद्वितीय हैं कि सबसे अधिक पतितात्मा भी कृष्ण के या उनके शुद्ध भक्त के चरणकमलों की शरण ग्रहण करके सर्वोच्च सिद्ध अवस्था प्राप्त कर सकता है। चैतन्य महाप्रभु के उपदेश-कार्य में, विशेषकर जगाई तथा माधाई नामक पापी भाइयों के मामले में इसका विशद प्रदर्शन हुआ है।

त्वया परमकल्याणः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।
स्मारितो भगवानद्य देवो नारायणो मम ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

त्वया—तुम्हारे द्वारा; परम—सर्वाधिक; कल्याणः—आनन्दपूर्ण; पुण्य—अत्यन्त पवित्र; श्रवण—सुनना; कीर्तनः—तथा कीर्तन (किसके विषय में); स्मारितः—स्मरण कराया गया; भगवान्—भगवान्; अद्य—आज; देवः नारायणः—भगवान् नारायण; मम—मेरे।

आपने आज मुझे अपने प्रभु, परम आनन्दमय भगवान् नारायण का स्मरण करा दिया। परमेश्वर इतने कल्याणमय हैं कि जो कोई भी उनका श्रवण एवं कीर्तन करता है, वह पूरी तरह से पवित्र बन जाता है।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने कहा है *नारायणस्तादृशधर्मे मदीय गुरुरूपो नारायणर्षिः।* इस श्लोक में *नारायण* शब्द नारायण ऋषि के अवतार का द्योतक है, जिन्होंने इस धर्म में नारद के गुरु की भूमिका निभाई। श्रील जीव गोस्वामी ने यह भी संकेत किया है *स्मारितइति कृष्णोपासनावेशेन तस्यापि विस्मरणात्। स्मारित* शब्द का अर्थ है ''उसका स्मरण हो आता है''। यह शब्द सूचित करता है कि कृष्ण की पूजा में लीन होने से नारद नर-नारायण को भूल गये थे। दूसरे शब्दों में, यदि भक्ति में गहन व्यस्तता किसी व्यक्ति को कभी-कभी भगवान् का विस्मरण करा देती है, तो कृष्ण की व्यवस्था से ऐसे निष्ठावान सेवक को फिर से भगवान् का स्मरण कराया जायेगा।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
आर्षभाणां च संवादं विदेहस्य महात्मनः ॥ १४॥

शब्दार्थ

अत्र अपि—इस मामले (भागवत धर्म का वर्णन करने) में; उदाहरन्ति—उदाहरण दिया जाता है; इमम्—यह; इतिहासम्—ऐतिहासिक वृत्तान्त; पुरातनम्—प्राचीन; आर्षभाणाम्—ऋषभ-पुत्रों का; च—तथा; संवादम्—वार्ता; विदेहस्य—विदेह के राजा जनक से; महा-आत्मनः—विशाल हृदय वाला आत्मा।

भगवान् की भक्तिमय सेवा की व्याख्या करने के लिए मुनियों ने महात्मा राजा विदेह तथा ऋषभ-पुत्रों के मध्य हुई वार्ता का प्राचीन इतिहास सुनाया है।

तात्पर्य : यहाँ पर *इतिहासम् पुरातनम्* ''प्राचीन ऐतिहासिक वृतांत'' शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। *श्रीमद्भागवत निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्*—अर्थात वैदिक ज्ञान रूपी कल्पवृक्ष का पका हुआ फल। *भागवत* के पृष्ठों में हमें भगवान् तथा बद्धजीवों के मोक्ष से सम्बन्धित वास्तविक ऐतिहासिक कथाएँ मिलती हैं। ये ऐतिहासिक विवरण न तो गल्प हैं, न पौराणिक कथाएँ, अपितु भगवान् तथा उनके भक्तों के अद्भुत कार्यकलापों का वर्णन करते हैं, जो इस निम्न युग के आगमन के पूर्ववर्ती युगों में घटित हुईं। यद्यपि संसारी विद्वानों ने *भागवत* को पौराणिक कथाकृति या अर्वाचीनकृति के रूप में अंकित करने का प्रयास किया है, लेकिन वास्तविक तथ्य यह है कि *श्रीमद्भागवत* पूर्ण-दिव्य वाङ्मय है, जिसमें भौतिक एवं दिव्य लोकों में, न केवल इस ब्रह्माण्ड की समूची स्थिति का वर्णन हुआ है, अपितु

इस ब्रह्माण्ड से परे स्थित ब्रह्माण्ड का भी वर्णन हुआ है। यदि कोई व्यक्ति *श्रीमद्भागवत* गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करे, तो वह अत्यन्त विद्वान आध्यात्मवेत्ता बन सकता है। श्री चैतन्य महाप्रभु चाहते हैं कि सारे पुण्यात्मा *श्रीमद्भागवत* सुनकर उच्च कोटि के विद्वान बनें और तब सारे विश्व में भगवान् की महिमा का वैज्ञानिक ढंग से प्रचार करें। यह अनिवार्य है कि हम नव-योगेन्द्रों तथा राजा विदेह के मध्य हुई वार्ताओं जैसी ऐतिहासिक कथाएँ पूर्ण श्रद्धा तथा विनयपूर्वक सुनें। तब जैसाकि इस अध्याय के श्लोक १२ में कहा गया है, यदि हमारा पूर्वजन्म घृणित कार्यों से पूर्ण भी रहा हो, तो हम *श्रीमद्भागवत* के श्रवण मात्र से भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्तों जैसे दिव्य पद को प्राप्त हो सकेंगे। यह *भागवत* इतिहास की अद्वितीय शक्ति है, जो उन व्यर्थ के संसारी ऐतिहासिक विवरणों के सर्वथा विपरीत है, जिनसे अन्ततः कोई उद्देश्य पूरा नहीं होता। यद्यपि संसारी इतिहासकार अपने कार्य के औचित्य की पुष्टि इस दलील से करते हैं कि हमें इतिहास से शिक्षा मिलती है, किन्तु हम स्पष्ट देख सकते हैं कि आज संसार की स्थिति इतनी तेजी से बिगड़ रही है कि असह्य संघर्ष तथा अव्यवस्था फैली हुई है और तथाकथित इतिहासकार विवश होकर देख रहे हैं। किन्तु जिन *भागवत*-इतिहासकारों ने *श्रीमद्भागवत* का श्रद्धापूर्वक श्रवण किया है, वे शान्त तथा आनन्दमय संसार की पुनर्प्राप्ति के लिए सम्यक तथा जीवन्त उपदेश दे सकते हैं। इसलिए जो लोग इतिहास के द्वारा अपने बौद्धिक जीवन को सम्पन्न बनाना चाहते हैं, उन्हें *श्रीमद्भागवत* की ऐतिहासिक कथाएँ पढ़नी चाहिए। इससे उनके बौद्धिक एवं आध्यात्मिक जीवन में पूर्णता प्राप्त हो सकेगी।

प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायम्भुवस्य यः ।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिरृषभस्तत्सुतः स्मृतः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

प्रियव्रतः—महाराज प्रियव्रत; नाम—नामक; सुतः—पुत्र; मनोः स्वायम्भुवस्य—स्वायम्भुव मनु का; यः—जो; तस्य—उसका; आग्नीध्रः—आग्नीध्र (पुत्र था); ततः—उससे (आग्नीध्र से); नाभिः—राजा नाभि; ऋषभः—भगवान् ऋषभदेव; तत्-सुतः—उसका पुत्र; स्मृतः—स्मरण किया जाता है।

स्वायम्भुव मनु को महाराज प्रियव्रत नामक पुत्र हुआ और प्रियव्रत के पुत्रों में से आग्नीध्र था, जिससे नाभि उत्पन्न हुआ। नाभि का पुत्र ऋषभदेव कहलाया।

तात्पर्य : इस श्लोक में ऋषभदेव के पुत्रों की वंशावली की पृष्ठ-भूमि दी हुई है।

तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया ।
अवतीर्णं सुतशतं तस्यासीद्ब्रह्मपारगम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसे; आहुः—कहते हैं; वासुदेव-अंशम्—भगवान् वासुदेव का अंश; मोक्ष-धर्म—मोक्ष प्राप्त करने की विधि; विवक्षया—शिक्षा देने की इच्छा से; अवतीर्णम्—इस संसार में प्रकट हुआ; सुत—पुत्र; शतम्—एक सौ; तस्य—उसके; आसीत्—थे; ब्रह्म—वेदों के; पार-गम्—पूर्णतया आत्मसात करने वाले।

श्री ऋषभदेव को भगवान् वासुदेव का अंश माना जाता है। उन्होंने इस जगत में उन धार्मिक सिद्धान्तों का प्रसार करने के लिए अवतार लिया था, जिनसे जीवों को चरम मोक्ष प्राप्त होता है। उनके एक सौ पुत्र थे, वे सभी वैदिक ज्ञान में पारंगत थे।

तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः ।
विख्यातं वर्षमेतद्यन्नाम्ना भारतमद्भुतम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उनमें से; वै—दरअसल; भरतः—भरत; ज्येष्ठः—सबसे बड़ा; नारायण-परायणः—भगवान् नारायण का भक्त; विख्यातम्—प्रसिद्ध है; वर्षम्—लोक; एतत्—यह; यत्-नाम्ना—जिसके नाम पर; भारतम्—भारतवर्ष; अद्भुतम्—अद्भुत।

भगवान् ऋषभदेव के एक सौ पुत्रों में से सबसे ज्येष्ठ भरत थे, जो भगवान् नारायण के प्रति पूर्णतया समर्पित थे। भरत की ख्याति के कारण ही यह लोक अब महान् भारतवर्ष के नाम से विख्यात है।

स भुक्तभोगां त्यक्त्वेमां निर्गतस्तपसा हरिम् ।
उपासीनस्तत्पदवीं लेभे वै जन्मभिस्त्रिभिः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; भुक्त—भोगे गये; भोगाम्—आनन्दों को; त्यक्त्वा—त्याग कर; इमाम्—इस (पृथ्वी) के; निर्गतः—घर छोड़कर; तपसा—तपस्या से; हरिम्—भगवान् हरि को; उपासीनः—पूजा करके; तत्-पदवीम्—उसका गन्तव्य; लेभे—प्राप्त किया; वै—निस्सन्देह; जन्मभिः—जन्मों में; त्रिभिः—तीन।

राजा भरत ने सारे भौतिक आनन्द को क्षणिक तथा व्यर्थ मानते हुए इस जगत का परित्याग कर दिया। अपनी सुन्दर युवा पत्नी तथा परिवार को छोड़कर उन्होंने कठोर तपस्या द्वारा भगवान् की पूजा की और तीन जन्मों के बाद भगवद्धाम प्राप्त किया।

तात्पर्य : भरत के तीन जन्मों तक राजा के रूप में, मृग के रूप में तथा उच्च परमहंस भक्त के रूप में पूर्ण विवरण *श्रीमद्भागवत* के पाँचवें स्कन्ध में दिया हुआ है।

तेषां नव नवद्वीपपतयोऽस्य समन्ततः ।
कर्मतन्त्रप्रणेतार एकाशीतिर्द्विजातयः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उन (ऋषभदेव के एक सौ पुत्रों) में से; नव—नौ; नव-द्वीप—नौ द्वीपों के (जिनमें भारतवर्ष बना है); पतयः—स्वामी; अस्य—इस वर्ष के; समन्ततः—इसे पूरी तरह से समेटते हुए; कर्म-तन्त्र—सकाम वैदिक यज्ञों के मार्ग के; प्रणेतारः—प्रणेता, प्रारम्भ करने वाले; एकाशीतिः—इक्यासी; द्वि-जातयः—द्विज ब्राह्मण।

ऋषभदेव के शेष पुत्रों में से नौ पुत्र भारतवर्ष के नौ द्वीपों के शासक बने। और उन्होंने इस लोक पर पूर्ण आधिपत्य जमाया। शेष इक्यासी पुत्र द्विज ब्राह्मण बन गये और उन्होंने सकाम यज्ञों (कर्मकाण्ड) के वैदिक मार्ग का शुभारम्भ करने में सहायता की।

तात्पर्य : ऋषभदेव के नौ पुत्रों द्वारा जिन नौ द्वीपों पर शासन चलाया गया वे जम्बूद्वीप के नौ *वर्ष* थे—ये हैं भारत, किन्नर, हरि, कुरु, हिरण्मय, रम्यक, इलावृत, भद्राश्व तथा केतुमाल।

नवाभवन्महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिनः ।
श्रमणा वातरसना आत्मविद्याविशारदाः ॥ २० ॥
कविर्हविरन्तरीक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः ।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

नव—नौ; अभवन्—थे; महा-भागाः—अत्यन्त भाग्यवान; मुनयः—मुनि; हि—निस्सन्देह; अर्थ-शंसिनः—परब्रह्म की व्याख्या करने में लगे हुए; श्रमणाः—इस तरह महान् प्रयास करते हुए; वात-रसनाः—वायु ओढ़े हुए (नंगे); आत्म-विद्या—आध्यात्मिक विज्ञान में; विशारदाः—विद्वान; कविः हविः अन्तरीक्षः—कवि, हविर्, तथा अन्तरीक्ष; प्रबुद्धः पिप्पलायनः—प्रबुद्ध तथा पिप्पलायन; आविर्होत्रः—आविर्होत्र; अथ—भी; द्रुमिलः—द्रुमिल; चमसः करभाजनः—चमस तथा करभाजन।

ऋषभदेव के शेष नौ पुत्र अत्यन्त भाग्यशाली मुनि थे, जिन्होंने परम सत्य के ज्ञान का विस्तार करने के लिए घोर परिश्रम किया। वे नंगे रहकर इधर-उधर विचरण करते थे और आध्यात्मिक विज्ञान में अतीव दक्ष थे। इनके नाम थे—कवि, हविर्, अन्तरीक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस तथा करभाजन।

तात्पर्य : विदेहराज निमि ने ऋषभदेव के साधु-पुत्रों, नौ योगेन्द्रों से निम्नलिखित नौ प्रश्न पूछे थे (१) सर्वोच्च शुभ क्या है? (२.३०); (२) धर्म, स्वभाव, आचार, वाक्य तथा भागवत के लक्षण क्या हैं? (२.४४); (३) भगवान् विष्णु की बहिरंगा शक्ति क्या है? (३.१); (४) इस माया से कैसे विलग हुआ जा सकता है? (३.१७); (५) ब्रह्म की असली पहचान क्या है? (३.३४); (६) कर्म के तीन प्रकार अर्थात् सकाम कर्म के फल-भोग पर आधारित कर्म, भगवान् को अर्पित कर्म तथा नैष्कर्म्य

कौन-कौन से हैं? (३.४१); (७) ईश्वर के विभिन्न अवतारों की कौन-कौन सी लीलाएँ हैं? (४.१); (८) भगवान् के विरोधी तथा भक्ति से विहीन (दूसरे शब्दों में अभक्त का)? का गन्तव्य क्या है (५.१); तथा (९) चारों युगावतारों के वर्ण, रूप तथा नाम क्या हैं और उनके पूजन की विधि क्या है? (५.१९)

इन प्रश्नों के दिव्य उत्तर महान् भक्तों कवि, हविर्, अन्तरीक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस तथा करभाजन द्वारा दिये गये। इन नवो परमहंसों ने बारी-बारी से नवों प्रश्नों के उत्तर दिये, जो निम्नलिखित श्लोकों में प्राप्त हैं(१) २.३३-४३, (२) २.४५-५५, (३) ३.३-१६, (४) ३.१८-३३, (५) ३.३५-४०, (६) ३.४३-५५, (७) ४.२-२३, (८) ५.२-१८ तथा (९) ५.२०-४२।

त एते भगवद्रूपं विश्वं सदसदात्मकम ।
आत्मनोऽव्यतिरेकेण पश्यन्तो व्यचरन्महीम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

ते एते—ये (नवों योगेन्द्र); भगवत्—भगवान् के; रूपम्—रूप; विश्वम्—समस्त ब्रह्माण्ड को; सत्-असत्-आत्मकम्—स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थों से युक्त; आत्मनः—आत्मा से; अव्यतिरेकेण—अभिन्न; पश्यन्तः—देखते हुए; व्यचरन्—घूमते थे; महीम्—पृथ्वी पर।

ये मुनि, समस्त ब्रह्माण्ड को इसके सारे स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थों सहित, भगवान् के प्राकट्य के रूप में तथा आत्मा से अभिन्न देखते हुए पृथ्वी पर विचरण करते थे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार इस श्लोक में तथा इसके आगे वाले श्लोक में स्पष्ट दिखलाया गया है कि ऋषभदेव के नौ साधु-सदृश पुत्र, जो *नव-योगेन्द्र* नाम से विख्यात थे, *पारमहंस्यचरितम्* नामक आध्यात्मिक सिद्धि की उच्चतम अवस्था में स्थित थे अर्थात् परमहंस के लक्षणों से युक्त थे। दूसरे शब्दों में, वे सब शुद्ध भगवद्भक्त थे। श्रीधर स्वामी तथा जीव गोस्वामी के अनुसार *आत्मनोऽव्यतिरेकेण* शब्द सूचित करते हैं कि नव-योगेन्द्र ब्रह्माण्ड को अपने से तथा साथ साथ परमात्मा, भगवान् कृष्ण से अभिन्न देखते थे। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इसके अतिरिक्त यह टीका की है *आत्मनः परमात्मनः सकाशाद् अव्यतिरेकेण, विश्वस्य तच्छक्तिमयत्वाद् इति भावः* "*आत्मनः* परमात्मा का सूचक है। यह ब्रह्माण्ड भगवान् या परमात्मा से अभिन्न है, क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उन्हीं की शक्ति से बना हुआ है।"

यद्यपि यहाँ पर उल्लेख हुआ है कि ब्रह्माण्ड जीव तथा भगवान् दोनों से अभिन्न है, किन्तु किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि जीव या परमेश्वर भौतिक है। वैदिक नीति कहती है *असंगो ह्ययं पुरुष:* जीव तथा भगवान् को इस भौतिक जगत से कोई सरोकार नहीं है। यही नहीं, *भगवद्गीता* कहती है कि आठ सूक्ष्म तथा स्थूल तत्त्वों से युक्त सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से भगवान् की *भिन्ना प्रकृति* या *अपरा प्रकृति*—पृथक्, निकृष्ट शक्ति—बनती है। भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा है कि उन्होंने ईश-लोक में अपना नित्य धाम स्थापित किया है, जहाँ जीवन नित्य, आनन्दमय तथा ज्ञानमय है और ईश्वर का अंशरूप जीव भी नित्य है (*ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:*)। यही नहीं, भगवान् के इस नित्यलोक में एक बार पहुँचकर जीव इस नश्वर जगत में फिर कभी नहीं लौटता (*यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम*)।

इसलिए यह पूछा जा सकता है कि जीव तथा भगवान् को भौतिक जगत से अभिन्न क्यों कहा गया है? इस प्रश्न का बहुत ही सुन्दर उत्तर नारद मुनि द्वारा *श्रीमद्भागवत्* के प्रथम स्कन्ध में दिया गया है। (१.५.२०) *इदं हि विश्वं भगवान् इवेतरो यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवा:* "भगवान् स्वयं ही यह विश्व हैं, फिर भी वे इससे पृथक् हैं। उन्हीं से ही यह विश्व उद्भूत हुआ है, उन्हीं पर टिका है और प्रलय के बाद उन्हीं में प्रवेश करता है।" नारद के इस कथन पर टीका करते हुए श्रील प्रभुपाद ने इस नाजुक दार्शनिक विन्दु की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है "शुद्ध भक्त के लिए मुकुन्द या भगवान् श्रीकृष्ण की धारणा सगुण तथा निर्गुण दोनों है। निराकार विश्वस्थिति भी मुकुन्द है, क्योंकि यह मुकुन्द की शक्ति का ही प्राकट्य है। उदाहरणार्थ, वृक्ष अपने में पूर्ण इकाई है, लेकिन पत्तियाँ तथा शाखाएँ वृक्ष के अंश (अंग) स्वरूप हैं। वे भी वृक्ष हैं, लेकिन वृक्ष स्वयं न तो पत्तियाँ है, न शाखाएँ। वेदों का यह कथन कि समस्त दृश्य जगत ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है, यह बताता है कि चूँकि प्रत्येक वस्तु परब्रह्म से उद्भूत है, अतएव उनसे भिन्न कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार अंगरूप हाथ तथा पाँव शरीर कहलाते हैं, लेकिन पूर्ण इकाई के रूप में शरीर न तो हाथ है, न पाँव। भगवान् तो दिव्य सच्चिदानन्द रूप हैं, अतएव भगवान् की शक्ति की सृष्टि भी अंशत: सच्चिदानन्द स्वरूप प्रतीत होती है।

वैदिक कथन के अनुसार भगवान् स्वभावत: पूर्ण शक्तिमान हैं और इस प्रकार उनकी परम शक्तियाँ सदैव पूर्ण तथा उनसे अभिन्न होती हैं। आध्यात्मिक तथा भौतिक आकाश एवं इन दोनों की सामग्रियाँ

भगवान् की अन्तरंगा तथा बहिरंगा शक्तियों की अभिव्यक्तियाँ हैं। बहिरंगा शक्ति अपेक्षतया निकृष्ट है और अन्तरंगा शक्ति श्रेष्ठ (परा) है। यह पराशक्ति जीवनी शक्ति है अतएव यह पूर्णतया (भगवान् से) अभिन्न है, लेकिन बहिरंगा शक्ति निष्क्रिय होने के कारण केवल अंशत: अभिन्न है। किन्तु ये दोनों ही शक्तियाँ न तो समस्त शक्तियों के जनक भगवान् के समान हैं, न उनसे बढ़कर हैं। ऐसी शक्तियाँ सदैव उनके अधीन होती हैं, जिस प्रकार कि विद्युत् शक्ति, चाहे वह कितनी ही बलशाली क्यों न हो, सदैव इंजीनियर के वश में होती है।

''मनुष्य तथा अन्य प्राणी उन्हीं भगवान् की अन्तरंगा शक्ति से उत्पन्न हैं। इस प्रकार जीव भी भगवान् से अभिन्न हैं। किन्तु वह कभी भी न तो भगवान् के तुल्य है और न उनसे बढ़कर।''

श्रील प्रभुपाद ने यहाँ यह स्पष्ट बतलाया है कि विराट जगत तथा जीव दोनों परमेश्वर से उद्भूत हैं—जैसाकि *वेदान्त सूत्र* में तथा *श्रीमद्भागवत* के इस प्रारम्भिक कथन *जन्माद्यस्य यत:*—परब्रह्म वह है, जिससे हर वस्तु उद्भूत है—से पुष्टि होती है। इसी प्रकार *ईशोपनिषद्* का कथन है—

ॐ पूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात पूर्णमुदच्यते।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

परमेश्वर *पूर्ण* हैं और चूँकि यह जगत उनकी शक्ति का प्राकट्य है, इसलिए यह भी *पूर्ण* प्रतीत होता है। दूसरे शब्दों में चूँकि यह भौतिक जगत भगवान् से उद्भूत है, अत: यह उनसे अभिन्न है, ठीक वैसे ही जैसे कि सूर्य की किरणें सूर्य-मण्डल से अभिन्न हैं, जो उन किरणों का उद्गम स्रोत है। इसी प्रकार सारे जीव भी, जो कि भगवान् की पराशक्ति के अंश हैं, कृष्ण से अभिन्न हैं, यद्यपि यह अभिन्नता गुणात्मक है, मात्रात्मक नहीं। अंगूठी और कंगन जैसे स्वर्ण आभूषणों में पाया जाने वाला स्वर्ण खान में पाये जाने वाले स्वर्ण से गुणात्मक रीति से अभिन्न है, किन्तु खान में पाया जाने वाला स्वर्ण मात्रा की दृष्टि से कंगन अथवा अंगूठी में पाये जाने वाले स्वर्ण की तुच्छ मात्रा से कहीं श्रेष्ठ होता है। इसी प्रकार, यद्यपि हम गुणात्मक दृष्टि से ईश्वर के ही समरूप हैं, किन्तु उनकी असीम शक्ति से उद्भूत होने से हम मात्रा की दृष्टि से अत्यन्त सूक्ष्म तथा भगवान् की परम शक्ति के नित्य अधीन हैं। इसीलिए भगवान् *विभु* अर्थात् असीम शक्तिमान कहलाते हैं और हम *अणु* अर्थात् सूक्ष्म तथा आश्रित होते हैं। इसकी और अधिक पुष्टि वैदिक वाङ्मय के इस कथन से होती है *नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम/एको बहूनां यो*

विदधाति कामान् (कठ उपनिषद् २.२.१३)। ऐसे असंख्य नित्य जीव हैं, जो परम एकाकी आत्मा, परमेश्वर पर सनातन रुप से तथा पूर्णरूपेण अधीन हैं। यह अधीनता भौतिक जगत द्वारा उत्पन्न माया नहीं, जैसाकि निर्विशेषवादी बतलाते हैं, प्रत्युत यह सनातन सम्बन्ध है जिसमें भगवान् सदैव श्रेष्ठ रहते हैं और हम सदैव तुच्छ। भगवान् नित्य स्वतंत्र हैं और हम नित्य अधीन। भगवान् अपने में नित्य चरम हैं और हम उनके नित्य सम्बन्धी हैं।

यद्यपि भगवान् अन्य किसी जीव से या सभी जीवों को मिला करके अतीव महान् हैं, किन्तु हर जीव भगवान् से गुणात्मक रूप से अभिन्न है क्योंकि सारे जीव उनके अंश रूप हैं (*ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:*) इस प्रकार, एक तरह से, जीव भौतिक जगत से भिन्न नहीं है, जो भगवान् की कनिष्ठा शक्ति है। जीव तथा भौतिक-प्रकृति दोनों ही *प्रकृति* हैं या *परम पुरुष* के स्त्रीवाचक आश्रित अंश हैं। अन्तर इतना ही है कि जीव भगवान् की श्रेष्ठ शक्ति है, क्योंकि जीव भगवान् की ही तरह चेतन तथा सनातन है, जबकि भौतिक शक्ति भगवान् की निकृष्ट शक्ति हैं, जो चेतना रहित तथा नित्य-स्वरूप से रहित है।

इस सन्दर्भ में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने जोर देते हुए कहा है कि परम वस्तु तो एक है और वह परमात्मा कहलाती है। जब किसी को परमात्मा का थोड़ा भी दर्शन मिल जाता है, तो उसकी जीवन की जानकारी *आत्म-दर्शन* या आत्म-साक्षात्कार कहलाती है। जब इस आंशिक जानकारी का अभाव होता है, तो उसका अस्तित्व *अनात्म-दर्शन*—या अपने विषय में अज्ञान कहलाता है। आत्मा से परमात्मा का अन्तर जाने बिना परमात्मा के आंशिक दर्शन में जीव को अपनी आध्यात्मिक उपलब्धि का गर्व हो सकता है, वह मनोरथ में बह सकता है और अपने को सभी प्रकार से ईश्वर के तुल्य मान सकता है। किन्तु *अनात्म-दर्शन* या भौतिक अज्ञान को प्राप्त जीव यह अनुभव करता है कि वह परमेश्वर से पूर्णतया भिन्न है और चूँकि हर व्यक्ति इस जगत में अपने में ही रुचि लेता है, इसलिए जीव यह सोचकर कि ईश्वर उससे सर्वथा भिन्न है, और उसमें तथा ईश्वर में विशेष सम्बन्ध नहीं है, ईश्वर को भूल जाता है। इस तरह निर्विशेष अध्यात्मवादी ईश्वर तथा जीव के एकत्व पर ही बल देते हैं, जबकि सामान्य भौतिकतावादीजन ईश्वर तथा जीव के अन्तर पर आवश्यकता से अधिक बल देते हैं। किन्तु चैतन्य महाप्रभु ने स्पष्ट बतलाया है कि परब्रह्म एक-साथ—एक तथा भिन्न है (*अचिन्त्य भेदाभेद*

तत्त्व)। वस्तुतः हम ईश्वर से शाश्वत रूप से भिन्न हैं। चूँकि ईश्वर तथा जीव शाश्वत रूप से पृथक्-पृथक् जीव हैं, अतएव उनमें नित्य सम्बन्ध की सम्भावना रहती हैं। और चूँकि हर जीव गुणात्मक रूप से परमेश्वर से अभिन्न है, अतएव यह सम्बन्ध हर जीव के लिए चरम सत्य का सार है। *चैतन्य चरितामृत* (मध्य २०.१०८) में कहा गया है *जीवेर स्वरूप' हय—कृष्णेर नित्यदास'* प्रत्येक जीव का परम आवश्यक स्वरूप ईश्वर के सेवक रूप में भगवान् से उसका सम्बन्ध है।

यदि कोई यह समझ ले कि वह भगवान् का नित्य दास है, तो वह यह सही ढंग से समझ सकता है कि जीव तथा भौतिक जगत दोनों ही कृष्ण से अभिन्न हैं, क्योंकि वे उनसे अद्‌भुत हैं, अतएव वे एक दूसरे से भी अभिन्न हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने कहा है, ''यह भौतिक जगत एकसाथ भेदाभेद तत्त्व की अभिव्यक्ति है और परमेश्वर का स्वरूप है। इस प्रकार नश्वर, क्षणिक एवं सदैव परिवर्तनशील भौतिक जगत वैकुण्ठ से अर्थात नित्य जगत से भिन्न है।''

इस श्लोक में ध्यान देने की बात है कि *सद्-असद्-आत्मकम्* शब्द भौतिक तथा आध्यात्मिक वस्तुओं के द्योतक नहीं हैं। यह जगत *सत्* तथा *असत्* अर्थात् सूक्ष्म तथा स्थूल भौतिक वस्तुओं से बना हुआ बतलाया जाता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार ''व्यक्त जगत के भीतर अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था अव्यक्त कहलाती है और व्यक्त जगत के परे जो जगत है, वह 'दिव्य' कहलाता है। व्यक्त को घेरने वाले आवरणों के भीतर, काल के क्षेत्र में, जगत की वह अवस्था होती है, जिसका अनुभव नियामक देवों द्वारा होता है। इसी अवस्था में कारण (*असत्*) तथा कार्य (*सत्*) विद्यमान रहते हैं। ब्रह्माण्ड जो कि तीसरा *तत्त्व* या वास्तविकता है और जो कि भगवान् का स्वरूप है, उसमें एक परम सत्य का किसी प्रकार का विरोध उत्पन्न कर पाना असम्भव है।'' दूसरे शब्दों में, यद्यपि अज्ञानी भौतिकतावादी वैज्ञानिक यह पता लगाने के लिए जोरदार खोज कर सकते हैं कि वह कौन-सा सिद्धान्त है, जो ईश्वर के अस्तित्व का निषेध कर सके, किन्तु श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती स्पष्ट कहते हैं कि यह ब्रह्माण्ड भगवान् से उद्‌भूत होने के कारण आध्यात्मिक दृष्टि से उनसे अभिन्न है, किन्तु इस जगत के भीतर कहीं भी ऐसा भौतिक सिद्धान्त नहीं पाया जा सकता, जो भगवान् की सर्वोच्चता का निषेध कर सके। वास्तव में, आध्यत्मिक आकाश के साथ साथ यह सम्पूर्ण जगत, भगवान् कृष्ण की असीम

महिमा के शाश्वत प्रमाण के रूप में विद्यमान है। इस ज्ञान के साथ नवों योगेन्द्र दिव्य आनन्द के साथ पृथ्वी में इधर-उधर विचरण कर रहे थे।

अव्याहतेष्टगतयः सुरसिद्धसाध्य
गन्धर्वयक्षनरकिन्नरनागलोकान् ।
मुक्ताश्चरन्ति मुनिचारणभूतनाथ-
विद्याधरद्विजगवां भुवनानि कामम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अव्याहत—बिना रोक-टोक के; इष्ट-गतयः—इच्छानुसार घूमते हुए; सुर—देवताओं के; सिद्ध—पूर्ण योगी; साध्य—साध्यगण; गन्धर्व—स्वर्ग के गवैये; यक्ष—कुवेर के संगी; नर—मनुष्य; किन्नर—छोटे देवता, जो इच्छानुसार अपना रूप बदल सकते हैं; नाग—तथा सर्प; लोकान्—लोकों में; मुक्ताः—स्वतंत्र, मुक्त; चरन्ति—विचरण करते हैं; मुनि—मुनियों के; चारण—गवैये; भूत-नाथ—शिवजी के भूत-प्रेत अनुयायीगण; विद्याधर—विद्याधरगण; द्विज—ब्राह्मण; गवाम्—तथा गायों के; भुवनानि—लोकों को; कामम्—जिसे भी वे चाहते हैं।

नवों योगेन्द्र मुक्तात्माएँ हैं, जो देवताओं, सिद्धों, साध्यों, गन्धर्वों, यक्षों, मानवों तथा किन्नरों एवं सर्पों के लोकों में मुक्त भाव से विचरण करते हैं। उनके मुक्त विचरण को कोई संसारी शक्ति रोक नहीं सकती और वे अपनी इच्छानुसार मुनियों, देवदूतों, शिवजी के भूत-प्रेत अनुयायियों, विद्याधरों, ब्राह्मणों तथा गौवों के लोकों में विचरण कर सकते हैं।

त एकदा निमेः सत्रमुपजग्मुर्यदृच्छया ।
वितायमानमृषिभिरजनाभे महात्मनः ॥ २४॥

शब्दार्थ

ते—वे; एकदा—एक बार; निमेः—राजा निमि के; सत्रम्—सोम यज्ञ में; उपजग्मुः—पहुँचे; यदृच्छया—इच्छानुसार; वितायमानम्—ले जाये जाकर; ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा; अजनाभे—अजनाभ (भारतवर्ष का प्राचीन नाम) में; महा-आत्मनः—महात्मा के।

एक बार वे अजनाभ में (पृथ्वी का पूर्ववर्ती नाम) महाराजा निमि के यज्ञ में पहुँचे, जो महर्षियों की देखरेख में सम्पन्न किया जा रहा था।

तान्दृष्ट्वा सूर्यसङ्काशान्महाभागवतान्नृप ।
यजमानोऽग्नयो विप्राः सर्व एवोपतस्थिरे ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; दृष्ट्वा—देखकर; सूर्य—सूर्य; सङ्काशान्—तेज में स्पर्धा कर रहे; महा-भागवतान्—भगवान् के शुद्ध भक्तों को; नृप—हे राजा (वसुदेव); यजमानः—यज्ञ सम्पन्न करने वाला (निमि महाराज); अग्नयः—अग्नियाँ; विप्राः—ब्राह्मणगण; सर्वे—सभी लोग; एव—भी; उपतस्थिरे—सम्मान में खड़े हो गये।

हे राजन्, तेज में सूर्य की बराबरी करने वाले उन भगवद्भक्तों को देखकर वहाँ पर उपस्थित सबके सब—यज्ञ सम्पन्न करने वाले, ब्राह्मण तथा यज्ञ की अग्नियाँ भी—सम्मान में उठकर खड़े हो गये।

विदेहस्तानभिप्रेत्य नारायणपरायणान् ।
प्रीतः सम्पूजयां चक्रे आसनस्थान्यथार्हतः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

विदेहः—निमि महाराज; तान्—उनको; अभिप्रेत्य—पहचान कर; नारायण-परायणान्—भक्तों को, जिनके एकमात्र लक्ष्य नारायण थे; प्रीतः—प्रसन्न; सम्पूजयाम् चक्रे—पूरी तरह से उनकी पूजा की; आसन-स्थान्—बैठाये गये; यथा-अर्हतः—जो जिस योग्य था।

राजा विदेह (निमि) समझ गये कि नवों मुनि भगवान् के परम भक्त थे। इसलिए उनके शुभ आगमन से अत्याधिक प्रफुल्लित होकर उन्होंने उन्हें उचित आसन प्रदान किया और उचित ढंग से पूजा की, जिस तरह कोई भगवान् की पूजा करता है।

तात्पर्य : यहाँ पर *यथार्हतः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार इसका अर्थ *यथोचितम्* अर्थात् "उचित शिष्टाचार के अनुसार" है। यहाँ स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि नवों योगेन्द्र *नारायण-परायण* थे अर्थात् भगवान् नारायण या कृष्ण के परम भक्त थे। अतएव *यथार्हतः* शब्द सूचित करता है कि राजा ने नवों मुनियों की पूजा आदर्श वैष्णव शिष्टाचार के अनुसार की। परम वैष्णवों की पूजा के लिए शिष्टाचार को विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *साक्षाद् धरित्वेन समस्तशास्त्रै* शब्दों द्वारा व्यक्त किया है इसका अर्थ है कि भगवान् का पूर्णतया शरणागत होने से उच्चस्थ वैष्णव को भगवान् की इच्छा का पारदर्शी माध्यम मान लेना चाहिए। *चैतन्य चरितामृत* में यह कहा गया है कि भगवान् के शुद्ध भक्तों की एक क्षण की भी संगति मिलने से जीवन की सारी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इसलिए जैसाकि *प्रीतः* शब्द से सूचित होता है, राजा निमि मुनियों के शुभागमन से अति प्रमुदित थे, अतएव उन्होंने उनकी उसी तरह पूजा की, जिस तरह भगवान् की पूजा की जाती है।

यद्यपि निर्विशेषवादी दार्शनिक यह दावा करते हैं कि प्रत्येक जीव ईश्वर के तुल्य है, किन्तु वे निष्ठुरता से अपने तथाकथित गुरुओं के विचारों की उपेक्षा करते हुए ब्रह्म के विषय में स्वतंत्र चिन्तन करते हैं और अपने तथाकथित गुरुओं की निर्विशेष सनकों के विरुद्ध अपने मनमाने विचार रखते हैं। दूसरे शब्दों में, यद्यपि मायावादी निर्विशेषवादी दावा करते हैं कि हर कोई ईश्वर हैं, किन्तु भगवान् के

शाश्वत रूप तथा लीलाओं की सत्यता को ठुकराकर वे अन्ततः भगवान् के प्रति अपराधमूलक प्रवृत्ति का प्रदर्शन करते हैं। इस तरह वे दुर्बुद्धि के कारण समस्त जीवों की नित्यता एवं भगवद्धाम में उनके कार्यकलापों को न मानकर उनकी शाश्वत स्थिति को तुच्छ बनाते हैं। निर्विशेषवादी अपनी कपोल कल्पनाओं द्वारा भगवान् तथा उनके अंशरूप जीवों के पद को नामरहित, रूपरहित प्रकाश में परिणत करके घटाना चाहते हैं, जो उनके मनोरथ के अनुसार परब्रह्म है। किन्तु वैष्णवजन भगवान् का स्वागत करते हैं और सरलता से यह समझ जाते हैं कि असीम भगवान् को इस जगत में पाये जाने वाले बद्ध, ससीम, संसारी व्यक्तियों से कुछ भी लेना-देना नहीं होता। ये निर्विशेषवादी दम्भपूर्वक यह कल्पना कर बैठते हैं कि उनके वर्तमान अनुभव के परे कोई दिव्य या असीम व्यक्ति नहीं है। किन्तु वैष्णवजन बुद्धिमान होने से यह समझते हैं कि हमारे सीमित अनुभव के परे भी अनेक अद्भुत वस्तुएँ हैं। अतएव वे कृष्ण के उन वचनों को स्वीकार कर लेते हैं, जिन्हें उन्होंने *भगवद्गीता* (१५.१९) में कहा है—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत॥

"जो कोई भी मुझे संशयरहित होकर पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में जानता है, वह सबकुछ जानने वाला है। अतएव हे भरत-पुत्र! वह व्यक्ति मेरी पूर्ण भक्ति में रत होता है।" इसी सन्दर्भ में श्रील प्रभुपाद कहते हैं कि जीव तथा भगवान् की स्वाभाविक स्थिति के बारे में अनेक दार्शनिक ऊहापोह करते हैं। इस श्लोक में भगवान् स्पष्ट बतलाते हैं कि जो भगवान् कृष्ण को परम पुरुष के रूप में जानता है, वह वास्तव में सारी वस्तुओं का ज्ञाता है। अपूर्ण ज्ञाता परम सत्य के विषय में केवल चिन्तन करता रहता है, जबकि पूर्ण ज्ञाता अमूल्य समय का अपव्यय किये बिना सीधे कृष्णभावनामृत में लग जाता है अर्थात् भगवद्भक्ति करने लगता है...। ऐसा नहीं कि मनुष्य केवल शुद्ध चिन्तन करता रहे। मनुष्य को विनीत भाव से *भगवद्गीता* से सुनना चाहिए कि सारे जीव सदैव भगवान् के अधीन हैं। जो भी इसे समझ लेता है, वही कृष्ण के कथनानुसार वेदों के प्रयोजन को समझता है, अन्य कोई इसे नहीं समझता।" इसीलिए नवों योगेन्द्रों जैसे परम भक्त भगवान् की सर्वोपरिता सदैव स्वीकार करते हैं, जैसाकि यहाँ पर *नारायण परायणान्* शब्दों द्वारा व्यक्त हुआ है।

राजा निमि वैष्णव थे, अतएव उन्होंने महर्षियों की पूजा उसी सम्मान के साथ की, जिस सम्मान से वे भगवान् की पूजा करते, जैसाकि *यथार्हत:* शब्द से दिखलाया गया है। यद्यपि निर्विशेषवादी मिथ्या ही यह दावा करते हैं कि प्रत्येक जीव ईश्वर के तुल्य है, किन्तु वे प्रत्येक जीव का उचित आदर भी नहीं कर सकते, क्योंकि भगवान् के चरणकमलों पर उन्होंने पहले ही अपराध किया है। उनकी तथाकथित पूजा, यहाँ तक कि उनके गुरुओं की भी पूजा अन्ततोगत्वा स्वार्थपरक और अवसरवादी होती है। जब कोई निर्विशेषवादी यह कल्पना करता है कि वह ईश्वर बन गया है, तो फिर उसे अपने तथाकथित गुरु की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। किन्तु वैष्णवजन तो भगवान् की सर्वश्रेष्ठता स्वीकार करने से समस्त जीवों को, विशेष रूप से उन परम भाग्यशाली जीवों को, जिन्होंने भगवान् के चरणकमलों की शरण ले रखी है, नित्य आदर प्रदान करने के लिए इच्छुक और तत्पर रहते हैं। वैष्णव द्वारा भगवान् के प्रतिनिधि की पूजा स्वार्थपरक या अवसरवादी नहीं होती, अपितु भगवान् तथा उनके प्रतिनिधियों के प्रति शाश्वत प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जैसाकि *प्रीत:* शब्द द्वारा यहाँ सूचित होता है। अतएव यह इस श्लोक से स्पष्ट है कि न केवल ऋषभदेव के नवों पुत्र, अपितु स्वयं राजा निमि भी निर्विशेषवाद की कृत्रिम एवं सीमित कल्पना के विरुद्ध, भगवान् के महान् भक्त थे।

तान्रोचमानान्स्वरुचा ब्रह्मपुत्रोपमान्नव ।
पप्रच्छ परमप्रीतः प्रश्रयावनतो नृपः ॥ २७॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; रोचमानान्—चमकते हुए; स्व-रुचा—अपने ही तेज से; ब्रह्म-पुत्र-उपमान्—ब्रह्मा के पुत्रों के समान; नव—नौ; पप्रच्छ—पूछा; परम-प्रीतः—आनन्दविभोर; प्रश्रय—विनयपूर्वक; अवनतः—नमस्कार किया; नृपः—राजा ने।

दिव्य आनन्द से विभोर होकर राजा ने विनयपूर्वक अपना शीश झुकाया और तब नौ मुनियों से प्रश्न पूछना शुरू किया। ये नवों महात्मा अपने ही तेज से चमक रहे थे और इस प्रकार से ब्रह्मा के पुत्रों अर्थात् चार कुमारों के समान प्रतीत हो रहे थे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने यह इंगित किया है कि *स्वरुचा* शब्द यह बताता है कि *नव-योगेन्द्र* अपने आध्यात्मिक तेज से चमक रहे थे, अपने आभूषणों या अन्य कारण से नहीं। परमात्मा अर्थात, भगवान् कृष्ण समस्त प्रकाश के आदि स्रोत हैं। उनका दैदीप्यमान शरीर उस सर्वव्यापी ब्रह्मज्योति का स्रोत है, जो असंख्य ब्रह्माण्डों को आश्रय देने वाली अनन्त दिव्य ज्योति है (*यस्य प्रभा प्रभवतो*

जगदण्डकोटि)। आत्मा भी भगवान् का अंश होने से आत्मतेजवान है। वस्तुत: भगवद्धाम की प्रत्येक वस्तु आत्मतेजवान है, जैसाकि *भगवद्‌गीता* (१५.६) में कहा गया है—

न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावक:।

यद्‌गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

यह पहले भी कई प्रकार से बतलाया जा चुका है कि *नव-योगेन्द्र* भगवान् के शुद्ध भक्त थे। पूर्णतया कृष्णभावनाभावित जीव होने से स्वभावत: उनसे आत्मा का प्रखर तेज बाहर निकलता रहता था, जैसाकि *स्वरुचा* शब्द से सूचित है। श्रील श्रीधर स्वामी ने यह भी इंगित किया है कि *ब्रह्मपुत्रोपमान्* शब्द सूचित करता है कि *नव-योगेन्द्र* चारों कुमारों के ही समान उच्च आध्यात्मिक पद को प्राप्त थे। चौथे स्कंध में बतलाया गया है कि महाराज पृथु ने चारों कुमारों का अत्यन्त प्रेम तथा सम्मान के साथ स्वागत किया था और यहाँ पर राजा निमि भी उसी तरह से भगवान् ऋषभदेव के नवों पुत्रों का स्वागत करते हैं। उन्नति तथा सुख की कामना करने वालों के लिए आदर्श आध्यात्मिक शिष्टाचार यही है कि उच्च वैष्णवों का स्वागत प्रेम तथा सम्मान के साथ किया जाय।

श्रीविदेह उवाच

मन्ये भगवत: साक्षात्पार्षदान्वो मधुद्विष: ।
विष्णोर्भूतानि लोकानां पावनाय चरन्ति हि ॥ २८॥

शब्दार्थ

श्री-विदेह: उवाच—राजा विदेह ने कहा; **मन्ये**—मानता हूँ; **भगवत:**—भगवान् के; **साक्षात्**—प्रत्यक्ष; **पार्षदान्**—निजी संगियों को; **व:**—तुम्हारे; **मधु-द्विष:**—मधु के शत्रु के; **विष्णो:**—भगवान् विष्णु के; **भूतानि**—सेवकों को; **लोकानाम्**—सारे लोकों के; **पावनाय**—पवित्र करने के लिए; **चरन्ति**—इधर-उधर विचरण करते हैं; **हि**—निस्सन्देह।

राजा विदेह ने कहा : मैं सोचता हूँ कि आप मधु असुर के शत्रु-रूप में प्रसिद्ध भगवान् के निजी संगी हैं। दरअसल, भगवान् विष्णु के शुद्ध भक्त ब्रह्माण्ड-भर में किसी स्वार्थवश नहीं, अपितु समस्त बद्धजीवों को पवित्र करने के निमित्त विचरण करते रहते हैं।

तात्पर्य : राजा निमि महर्षियों के दिव्य कार्यों की प्रशंसा करते हुए उनका स्वागत करते हैं। यह सुविदित है कि भगवान् प्रकृति के तीनों गुणों से परे हैं, जैसाकि *भगवद्‌गीता* (७.१३) में कहा गया है *मामेभ्य: परमव्ययम्।* इसी प्रकार उनके भक्त भी परम पद पर स्थित हैं। यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि भगवान् विष्णु के संगी जैसे दिव्य जीवों को किस तरह भौतिक जगत में देखा जा सकता है?

इसीलिए यहाँ पर कहा गया है *पावनाय चरन्ति हि*—भगवान् विष्णु के संगी विश्व-भर में भगवान् की ओर से पतित बद्ध आत्माओं का उद्धार करने के लिए विचरण करते रहते हैं। राज्यपाल का प्रतिनिधि बन्दीगृह के भीतर विचरण करता देखा जा सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं लगाया जाना चाहिए कि वह बद्ध बन्दी हो गया है। यह समझा जा सकता है कि वह बन्दीगृह के भीतर उन बन्दियों को संभवत: छुड़ाने के लिए समझौता करने आया है, जिन्होंने अपनी अपराधी वृत्ति को सुधार लिया है। इसी तरह भगवान् के भक्त, जिन्हें *परिव्राजकाचार्य* कहते हैं सारे विश्व में विचरण करते हुए हर एक को आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण शाश्वत जीवन के लिए भगवान् कृष्ण की शरण में आने और भगवद्धाम जाने का निमंत्रण देते रहते हैं।

श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध में अजामिल के मोक्ष के प्रसंग में भगवान् विष्णु के पार्षदों की दया का वर्णन हुआ है। श्रील भिक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि भगवान् विष्णु के पार्षद भगवान् की ही तरह दयालु होते हैं। यद्यपि मानव समाज के अज्ञानी सदस्य भगवान् विष्णु के इन दासों के पास पहुँचने में रुचि नहीं दिखाते, लेकिन भगवद्भक्त बिना किसी मिथ्या प्रतिष्ठा की भावना से, बद्धजीवों को उनके अनवरत दुर्भाग्य से मुक्त कराने के लिए कार्य करते रहते हैं।

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः ।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

दुर्लभः—प्राप्त करना कठिन; मानुषः—मनुष्य का; देहः—शरीर; देहिनाम्—देहधारियों के लिए; क्षण-भङ्गुरः—किसी भी क्षण विनष्ट हो जाने वाला; तत्र—उस मनुष्य-शरीर में; अपि—भी; दुर्लभम्—प्राप्त करना अधिक कठिन; मन्ये—मानता हूँ; वैकुण्ठप्रिय—जो भगवान् वैकुण्ठ को अत्यधिक प्रिय हैं, उनके; दर्शनम्—दर्शन को।

बद्धजीवों के लिए मनुष्य-शरीर प्राप्त कर पाना सबसे अधिक कठिन है और यह किसी भी क्षण नष्ट हो सकता है। किन्तु मैं सोचता हूँ कि जिन्होंने मनुष्य-जीवन प्राप्त कर भी लिया है, उनमें से विरले ही उन शुद्ध भक्तों की संगति प्राप्त कर पाते हैं, जो वैकुण्ठ के स्वामी को अत्यन्त प्रिय हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *देहिनाम्* शब्द का अर्थ है *बहवो देहा भवन्ति येषां ते*—बद्धजीव जो असंख्य भौतिक शरीर धारण करते हैं। कतिपय मनमाने चिन्तकों के अनुसार मनुष्य-जीवन को प्राप्त जीव कभी भी पशु या पादप योनि में नीचे नहीं जायेगा। किन्तु तो भी यह तथ्य है कि

अपने वर्तमान कार्यों के अनुसार हम ईश्वर के नियमों द्वारा ऊपर उठेंगे या नीचे गिरेंगे। सम्प्रति मानव समाज में जीवन के स्वभाव के बारे में कोई स्पष्ट या सही ज्ञान नहीं है। मूर्ख वैज्ञानिकों ने अबोध लोगों को विश्वास दिलाने के लिए अत्यन्त जटिल पारिभाषिक शब्द एवं सिद्धान्त गढ़ रखे हैं कि जीवन का उद्‌भव रासायनिक क्रियाओं से होता है। श्रील प्रभुपाद ने अपनी पुस्तक (*जीवन का स्रोत जीवन*) में इस धोखाधड़ी की पोल खोली है और यह इंगित किया है कि यद्यपि विज्ञानी लोग जीवन को रसायनों से उत्पन्न मानते हैं, किन्तु वे रसायनों की अनन्त मात्राओं द्वारा एक कीट तक भी नहीं बना सकते। वस्तुत: जीवन तथा चेतना आत्मा के लक्षण हैं।

श्रील प्रभुपाद ने अपनी पुस्तक (*जीवन का स्रोत जीवन*) में कहा है, ''जीवित प्राणी एक शरीर-रूप से, दूसरे में चले जाते हैं। ये स्वरूप पहले से विद्यमान रहते हैं। जीव केवल स्थानान्तरित होता है, जिस तरह मनुष्य एक कमरे से दूसरे में स्थानान्तरित हो जाता है। पहला कमरा प्रथम श्रेणी का है, दूसरा द्वितीय श्रेणी का और तीसरा तृतीय श्रेणी का। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति निचली श्रेणी के कमरे से प्रथम श्रेणी के कमरे में आता है। व्यक्ति वही रहता है, लेकिन अब अपने खर्च करने की क्षमता से अर्थात् *कर्म* के अनुसार वह उच्चतर कमरे में जा सकता है। असली विकास का अर्थ भौतिक विकास न होकर चेतना का विकास होता है।'' प्रत्येक जीव-योनि में चेतना होती है और यही चेतना जीव का लक्षण है, जो भगवान् की परा शक्ति है। चौरासी लाख योनियों में से होकर चेतन जीव के देहान्तरण के इस पक्ष को समझे बिना *दुर्लभो मानुषो देह:* (मानव जीवन दुर्लभ है) जैसे शब्द समझ में नहीं आ सकते।

अब लोगों को इस अनिवार्य ज्ञान से वंचित रखा जा रहा है। वे मनुष्य योनि के नीचे की अस्सी लाख योनियों में जा गिरने के खतरे से अवगत नहीं हैं। यह स्वाभाविक ही है कि मनुष्य प्रगति के विषय में सोचे। हम अनुभव करना चाहते हैं कि हमारा जीवन प्रगति पर है और हम अपने जीवन की गुणवत्ता को सुधार रहे हैं। इसलिए लोगों को यह बतलाया जाना अत्यावश्यक है कि मूल्यवान मनुष्य-जीवन का दुरुपयोग न हो और वे यह समझें कि मानव-जीवन जो सबसे बड़ा सुअवसर प्रदान कर सकता है, वह कृष्णभावनामृत को ग्रहण करना है। जिस प्रकार पृथ्वी पर रहने के प्रक्षेत्र उच्च, मध्यम तथा निम्न श्रेणियों में बँटे हुए हैं, उसी तरह ब्रह्माण्ड में उच्च, मध्यम तथा निम्न लोक हैं। योगाभ्यास से

अथवा धार्मिक कर्मकाण्डों द्वारा मनुष्य अपने को इस ब्रह्माण्ड के उच्चतर लोकों में स्थानान्तरित कर सकता है। दुसरी ओर धार्मिक सिद्धान्तों की उपेक्षा करने से वह निम्न लोक को चला जाता है। किन्तु भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (८.१६) में घोषित किया है *आब्रह्मभुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन।* इस तरह अन्त में यही निष्कर्ष निकला कि भौतिक ब्रह्माण्ड के भीतर प्रत्येक लोक अनुपयुक्त निवासस्थान है, क्योंकि प्रत्येक लोक में वृद्धावस्था तथा मृत्यु के मूलभूत दोष पाये जाते हैं। किन्तु भगवान् हमें आश्वासन देते हैं कि भौतिक जगत से परे स्थित भगवान् के दिव्य धाम में शाश्वत, आनन्दमय तथा ज्ञानयुक्त जीवन है। यह भौतिक जगत क्षणिक, दुखदायी तथा अज्ञान से पूर्ण है, किन्तु आध्यात्मिक जगत, जिसे वैकुण्ठ कहते हैं, नित्य, आनन्दमय तथा ज्ञान से पूर्ण है।

मनुष्य का अत्यन्त विकसित मस्तिष्क ईश्वर प्रदत्त उपहार है, अतएव हम नित्य तथा नश्वर में अन्तर करने के लिए अपनी बुद्धि का प्रयोग कर सकते हैं। *भगवद्गीता* (२.१६) में कहा गया है कि

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि:॥

''तत्त्वदर्शियों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पदार्थ का तो कोई चिर स्थायित्व नहीं है, किन्तु आत्मा अपरिवर्तित रहता है। उन्होंने इन दोनों की प्रकृति के अध्ययन द्वारा यह निष्कर्ष निकाला है।''

जिन्होंने भगवान् तथा उनके धाम को जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार किया है, वे *वैकुण्ठ-प्रिय* कहलाते हैं। यहाँ पर राजा निमि कहते हैं कि ऐसे विद्वान अध्यात्मवादियों की संगति प्राप्त करना निश्चय ही मानव-जीवन की सिद्धि है। इस सन्दर्भ में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर का सुझाव है कि हम निम्नलिखित श्लोक पर विचार करें—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं

प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।

मयानुकूलेन नभस्वतेरितं

पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

''[भगवान् ने कहा] : समस्त शरीरों में श्रेष्ठ मनुष्य-शरीर बहुत बड़ी उपलब्धि है, जिसे विरले ही पाते हैं और इसकी तुलना नाव से की जा सकती है। इस नाव का दक्ष कप्तान गुरु है और मैंने अनुकूल

वायु (वेद रूपी) भेज दी है। इस तरह मैंने भवसागर को पार करने की सारी सुविधाएँ उपलब्ध करा दी हैं। जिस मनुष्य ने मनुष्य–जीवन की ये उत्तम सुविधाएँ प्राप्त कर ली हैं, किन्तु वह भवसागर को पार नहीं करता, उसे अपनी ही आत्मा का मारने वाला मानना चाहिए।'' (भागवत ११.२०.१७)

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती के अनुसार दया की शक्तिशाली अनुभूतियों से नियंत्रित, भगवान् के नित्य दास, वैष्णवों के रूप में इस जगत में उन बद्धजीवों का उद्धार करने के लिए अवतरित होते है, जो अपने संसारी कार्यों के परिणाम स्वरूप बँधे हुए हैं। ऐसे वैष्णव उन व्यक्तियों पर भी दया दर्शाते हैं, जो कठोर परिश्रम के द्वारा निराकार ब्रह्म की खोज में लगे हुए हैं। श्री नारद मुनि ने कहा है कि बिना भगवत्प्रेम के ब्रह्म का ऐसा श्रमसाध्य निर्विशेष चिन्तन निश्चय ही कष्टकर है (*नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितम्*)। तो फिर सामान्य स्थूल भौतिकतावादी जीवन की असंख्य समस्याओं के विषय में क्या कहा जाय? हमें इसका व्यावहारिक अनुभव है कि पाश्चात्य देशों में अधिकांश लोग धन पाने के लिए और इन्द्रियतृप्ति के स्वर्गिक स्वप्नों के लिए कठोर श्रम करते हैं। अन्य लोग सामान्य भौतिकतावादी जीवन से ऊब कर अपने अस्तित्व का निषेध करके तथाकथित योग तथा ध्यान के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व में मिल जाना चाहते हैं। इन दोनों वर्गों के दुखी लोगों को कृष्णभावनामृत आन्दोलन की कृपा प्राप्त हो रही है, जिससे वे इन्द्रियतृप्ति के अपने सपनों के साथ साथ अपने दुखमय निर्विशेष चिन्तन को भी दूर करते हैं। वे ईश्वर के पवित्र नाम का कीर्तन करना, आनन्दमग्न होकर नाचना और भगवान् को अर्पित किये गये भोजन को ग्रहण करना सीख रहे हैं। वे *भगवद्गीता* में स्वयं भगवान् द्वारा कहे गये दिव्य ज्ञान से प्रोत्साहन प्राप्त करते हैं। जैसाकि भगवान् *भगवद्गीता* (९.२) में कहते हैं *सुसुखं कर्तुमव्ययम्।* आध्यात्मिक स्वतंत्रता की वास्तविक विधि को सम्पन्न करना प्रसन्नतापूर्ण है और उसे इन्द्रितृप्ति को लक्ष्य बनाकर किये जाने वाले सकाम कर्मों या शुष्क निर्विशेष चिंतन से कुछ भी लेना–देना नहीं रहता। अब अधिकाधिक लोग कृष्णभावनामृत विधि को स्वीकार करके हर्षित होते हैं और अन्यों को कृष्ण–कृपा का वितरण कर रहे हैं। इस तरह से सारा जगत जागृत हो उठेगा और कृष्णभावनामृत आन्दोलन से प्रोत्साहित हो उठेगा, जो कि वैष्णवों की कृपा का व्यावहारिक प्रदर्शन है।

अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघाः ।

संसारेऽस्मिन्क्षणार्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणाम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अतः—इसलिए; आत्यन्तिकम्—परम्; क्षेमम्—कल्याण; पृच्छामः—पूछ रहा हूँ; भवतः—आपसे; अनघाः—हे पापरहित; संसारे—जन्म-मृत्यु के चक्र में; अस्मिन्—इस; क्षण-अर्धः—आधा क्षण तक चलने वाले; अपि—ही; सत्-सङ्गः—भगवद्भक्तों की संगति; शेवधिः—महान् कोश, निधि; नृणाम्—मनुष्यों का।

अतएव हे अनघो, मैं आपसे पूछता हूँ कि कृपा करके मुझे यह बतायें कि परम कल्याण क्या है? इस जन्म-मृत्यु के जगत में शुद्ध भक्तों के साथ आधे क्षण की भी संगति किसी मनुष्य के लिए अमूल्य निधि है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *शेवधिः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है ''महान् खजाना या निधि''। जिस तरह सामान्य व्यक्ति सहसा कोई खजाना पाकर हर्ष से उछल पड़ता है, उसी तरह बुद्धिमान व्यक्ति भगवान् के शुद्ध भक्त की संगति पाकर पुलकित हो उठता है, क्योंकि इससे मनुष्य अपने जीवन को सफल बना सकता है। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *आत्यन्तिकम् क्षेमम्* अर्थात् ''परम कल्याण'' शब्द उस स्थिति के सूचक हैं, जिसमें तनिक भय स्पर्श तक नहीं कर सकता। अब हम जन्म, वृद्धावस्था, रोग तथा मृत्यु के चक्र में (*संसारे*) फँसे हुए हैं। चूँकि हमारी सारी स्थिति क्षण-भर में ध्वंस हो सकती है, अतएव हम निरन्तर भयभीत रहते हैं। किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्तगण इस भौतिक जगत से हमें मुक्त करने के लिए व्यावहारिक विधि बतला सकते हैं, जिससे हम सभी प्रकार के भयों को दूर कर सकते हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार आतिथेय को चाहिए कि सामान्य शिष्टाचार के नाते आये हुए अतिथि की कुशल-क्षेम तुरन्त पूछे। किन्तु भगवान् के आत्म-तुष्ट भक्तों से ऐसा प्रश्न करना ठीक नहीं है, क्योंकि ये भक्त स्वयं ही समस्त कल्याण के दाता हैं। श्रील विश्वनाथ के अनुसार राजा जानता था कि इन मुनियों से उनके कार्यकलापों के विषय में पूछना व्यर्थ है, क्योंकि भगवद्भक्तों का एकमात्र कार्य जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करना है। *भगवद्गीता* के अनुसार जीवन का लक्ष्य अपने को जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त करके ईश्वर के नित्यदास के रूप में आध्यात्मिक आनन्द के पद पर अपने को पुनः स्थापित करना है। भगवान् के शुद्ध भक्त संसारी कार्यों में अपना समय नहीं गँवाते। कभी कभी वैष्णव प्रचारक के मूर्ख सम्बन्धीगण पश्चाताप करते हैं कि ऐसे दिव्य प्रचारक ने अपने जीवन का उपयोग भौतिक कार्य के लिए क्यों नहीं किया और इस तरह आध्यात्मिक जीवन का

अभ्यास करने से इतना सारा धन खोया गया। ऐसे अज्ञानी लोग इसकी कल्पना नहीं कर पाते कि जिन लोगों ने भगवान् के मिशन हेतु अपना तन–मन अर्पित कर दिया है, उन्हें आध्यात्मिक धरातल पर असीम समृद्धि प्राप्त है। राजा निमि स्वयं विद्वान वैष्णव थे, इसलिए उन्होंने इन मुनियों से सामान्य सांसारिक बातों के विषय में मूर्खतापूर्ण प्रश्न नहीं किया। उसने तुरन्त ही जीवन के चरम लक्ष्य *आत्यन्तिकं क्षेमम्* के विषय में पूछा।

विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *अनघा:* शब्द के दो अर्थ हैं। यह शब्द सूचित करता है कि नव–योगेन्द्र स्वयं पापों से सर्वथा मुक्त थे। इससे यह भी सूचित होता है कि उनके दर्शन तथा विनम्र श्रवण मात्र का परम सौभाग्य मिलने से एक साधारण पापी व्यक्ति अपने पापों से मुक्त होकर इच्छित फल प्राप्त कर सकता है।

कोई यह आक्षेप कर सकता है कि ये महामुनि अभी अभी आये थे, अतएव राजा को इतनी जल्दी जीवन की सिद्धि के विषय में उनसे पूछने के लिए अधीर नहीं होना चाहिए था। कदाचित् राजा को चाहिए था कि जब तक मुनिगण उससे पूछने को स्वयं न कहते, वह प्रतीक्षा करता। किन्तु ऐसी काल्पनिक आपत्ति का उत्तर *क्षणार्धोऽपि* शब्दों से मिल जाता है। एक क्षण या आधे क्षण की भी साधु–संगति जीवन–सिद्धि प्रदान करने के लिए पर्याप्त है। सामान्य व्यक्ति को यदि बहुत बड़ा खजाना दिया जाय तो वह तुरन्त उसे लेना चाहेगा। इसी तरह राजा निमि सोच रहा था, "मैं इतने बड़े मुनियों को पाकर इन्हें दीर्घकाल तक रोके रहने में अपने को भाग्यशाली क्यों मानूँ? चूँकि मैं सामान्य व्यक्ति हूँ, अतएव आप लोग शीघ्र ही चले जायेंगे। अतएव क्यों न आपकी इस पवित्र संगति का लाभ उठा लूँ।"

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती के अनुसार इस जगत में दया के कई प्रकार होते हैं। किन्तु सामान्य दया से समस्त दुखों का अन्त सम्भव नहीं है। दूसरे शब्दों में, ऐसे अनेक मानवतावादी, परोपकारी तथा सामाजिक सुधारक हैं, जो निश्चय ही मानवता की भलाई के लिए कार्य करते हैं। ऐसे लोगों को एक स्वर से दयालु समझा जाता है। किन्तु इनकी दया के बावजूद मानवता को जन्म, बुढ़ापा, रोग तथा मृत्यु के चँगुल में कष्ट सहना पड़ता है। मैं गरीबों के लिए भले ही मुफ्त भोजन बाँटूँ, किन्तु वे इस दयापूर्ण उपहार को खा लेने के बाद पुन: भूखे होंगे या उन्हें कोई अन्य कष्ट उठाना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में, मात्र मानवतावाद या परोपकार से लोग वास्तव में सारे दुखों से मुक्त नहीं हो जाते। हाँ, उनका दुख केवल

बदल जाता है या आगे बढ़ जाता है। राजा निमि नव-योगेन्द्रों को देखकर प्रमुदित था, क्योंकि उसे ज्ञात था कि वे भगवान् के शाश्वत पार्षद थे। अतएव उसने सोचा, ''आप लोग मुझ जैसे संसारी अभागे व्यक्ति की तरह पाप कृत्यों की ओर उन्मुख नहीं हैं। अतएव आपके शब्दों में छल-छद्म नहीं है।''

संसारी बद्धजीव इन्द्रियतृप्ति विषयक विविध वार्ताओं की चर्चा रात-दिन करते रहते हैं। उन्हें दिव्य ज्ञान सुनने का कभी समय ही नहीं मिल पाता। किन्तु यदि वे संयोगवश से ही सही या अल्प समय के लिए ही, भगवान् के शुद्ध भक्त की संगति में *हरिकथा* सुनें, तो इस संसार में उनके कष्ट कम हो जाँय। जब कोई व्यक्ति मुक्त पुरुषों का दर्शन करता है, उनसे कृष्ण-कथा सुनता है, उनके साधु-आचरण का स्मरण करता है, तो इन्द्रियतृप्ति में अपने को बाँधे रखने की उसकी प्रवृत्ति घटती है और वह भगवान् की सेवा करने के लिए उत्सुक हो उठता है।

धर्मान्भागवतान्ब्रूत यदि नः श्रुतये क्षमम् ।
यैः प्रसन्नः प्रपन्नाय दास्यत्यात्मानमप्यजः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

धर्मान् भागवतान्—भक्ति का विज्ञान; ब्रूत—कृपया कहें; यदि—यदि; नः—हमारे; श्रुतये—ठीक से सुनने के लिए; क्षमम्—क्षमता है; यैः—जिस (भक्ति) से; प्रसन्नः—प्रसन्न होकर; प्रपन्नाय—शरणागत के लिए; दास्यति—देगा; आत्मानम्—स्वयं को; अपि—भी; अजः—अजन्मा भगवान्।

यदि आप यह समझें कि मैं इन कथाओं को ठीक तरह से सुनने में समर्थ हूँ, तो कृपा करके बतलायें कि भगवान् की भक्ति में किस तरह प्रवृत्त हुआ जाता है? जब कोई जीव भगवान् को अपनी सेवा अर्पित करता है, तो भगवान् तुरन्त प्रसन्न हो जाते हैं और बदले में शरणागत व्यक्ति को अपने आपको भी दे डालते हैं।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में दो प्रकार के सांसारिक दार्शनिक हैं, जो भगवान् के विषय में अपने मत प्रस्तुत करते हैं। कुछ तथाकथित धर्माचार्य दावा करते हैं कि हम ईश्वर से सर्वथा भिन्न हैं, अतएव वे ईश्वर को हमारी समझ में आने से परे मानते हैं। ऐसे अति द्वैतवादी दार्शनिक बाहर से अपने को पवित्र तथा ईश्वर में विश्वास रखने वाले होने का दावा करते हैं, किन्तु ईश्वर को जो कुछ हमारे अनुभव के अन्तर्गत है, उससे इतना भिन्न मानते हैं कि उनके अनुसार भगवान् के व्यक्तित्व या उनके गुणों के बारे में विचार-विमर्श करने का प्रयास व्यर्थ है। ऐसे बाहरी श्रद्धालु व्यक्ति सकाम कर्मों में तथा स्थूल

इन्द्रिय-भोग में फँसे रहते हैं, क्योंकि वे समाज, मित्रता और प्रेम के नामों के अन्तर्गत आने वाले सांसारिक सम्बन्धों में प्रेमांध हो जाते हैं।

अद्वैतवादी दार्शनिक दावा करते हैं कि ईश्वर तथा जीव में कोई अन्तर नहीं है और जीवन का चरम लक्ष्य है कि हम अपने निजी अस्तित्व को त्याग दें, जो माया के कारण है और निर्विशेष ब्रह्मज्योति में तदाकार हो लें, जो नाम, रूप, साज-सामग्री तथा व्यक्तित्व से रहित है। इस तरह इन दो श्रेणियों के दार्शनिकों में कोई भी दिव्य भगवान् को समझ पाने में समर्थ नहीं है।

श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने *अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्व* के दिव्य उपदेश में स्पष्ट प्रदर्शित किया है कि गुणात्मक दृष्टि से हम ईश्वर से एक हैं, किन्तु मात्रात्मक दृष्टि से भिन्न हैं। यही नहीं भगवान् साकार चेतनास्वरूप हैं और उनका साकार रूप होता है। इसी प्रकार हम साकार चेतना हैं और मुक्त होने पर हमारा भी नित्य रूप होता है। अन्तर इतना ही है कि भगवान् के नित्य रूप तथा व्यक्तित्व में असीम शक्ति एवं ऐश्वर्य होता है, जबकि हमारी शक्ति तथा ऐश्वर्य अल्प हैं। हम अपने शरीर के प्रति सचेत हैं जबकि भगवान् कृष्ण या परब्रह्म हर एक के शरीर के प्रति सचेत हैं, जैसाकि *भगवद्‌गीता* में बतलाया गया है (*क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत*)। यद्यपि ईश्वर जीव से अतीव महान् है, किन्तु ईश्वर तथा जीव दोनों ही रूप, कार्यों तथा भावों से युक्त नित्य पुरुष हैं।

भगवान् कृष्ण अपना विस्तार असंख्य जीवों में इसलिए करते हैं, जिससे उनके साथ वे *रसों* का भोग कर सकें। जीव भगवान् कृष्ण के भिन्नांश हैं और उनका कार्य प्रेमपूर्वक भगवान् की सेवा करना है। यद्यपि भगवान् सदैव प्रधान हैं तथा जीव नित्य ही अधीन है, किन्तु जब जीव बिना किसी निजी प्रतिफल की आशा से और प्रेमभाव से भगवान् की सेवा करते रहने की इच्छा से उनकी शरण में जाता है, तो भगवान् तुरन्त ही प्रसन्न हो जाते हैं, जिसको यहाँ पर *प्रसन्नः* शब्द से व्यक्त किया गया है। भगवान् कृष्ण इतने असीम दयालु तथा वदान्य (उदार) हैं कि शरणागत तथा प्रेम करने वाले सेवक के प्रति कृतज्ञता के फलस्वरूप वे उसे कोई भी वस्तु, यहाँ तक कि अपने आपको भी, तुरन्त दे डालने के लिए उन्मुख हो जाते हैं।

भगवान् की इस प्रेममयी लालसा के अनेक व्यावहारिक तथा ऐतिहासिक उदाहरण प्राप्त हैं। माता यशोदा के प्रेम में बालक कृष्ण ने, अपने दामोदर रूप में प्रेममयी माता के समक्ष अपने को अर्पित कर

दिया और दंडस्वरूप अपने को रस्सी से बँधवा लिया। इसी प्रकार पाण्डवों के गहन प्रेमवश अपने को ऋणी मानकर कृष्ण पार्थसारथी के रूप में कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन का रथ हाँकने के लिए तैयार हो गये। इसी प्रकार कृष्ण वृन्दावन में अपनी परम भक्त गोपियों को जो भगवान् की सर्वोच्च प्रेममयी भक्त मानी जाती हैं, प्रसन्न करने के तरीकों का सदैव चिन्तन करते रहते हैं।

भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्तों के बीच इस प्रकार गहन प्रेममय भावों का आदान-प्रदान सम्भव न हो पाता, यदि सारे जीव गुणात्मक दृष्टि से भगवान् जैसे न होते और उनके अविभाज्य अंश न होते। दूसरी ओर, चूँकि भगवान् तथा सारे जीव शाश्वत व्यक्ति हैं, जिनमें हर एक की अपनी पृथक् चेतना है, अतएव भगवद्धाम में ऐसे प्रेममय आदान-प्रदान वास्तविक हैं। दूसरे शब्दों में, ईश्वर से चरम तादात्म्य तथा ईश्वर से चरम अन्तर—ये तो विभिन्न दार्शनिकों की सैद्धान्तिक कल्पनाएँ हैं। आध्यात्मिक प्रेम की सिद्धि जैसाकि इस श्लोक में वर्णित है *अचिन्त्यभेदाभेद* में निहित है और इस चरम सत्य को स्वयं कृष्ण ने चैतन्य महाप्रभु के रूप में अपने ब्रह्म-अवतार में प्रस्तुत किया। चैतन्य महाप्रभु के अनुयायियों ने इस सम्यक सिद्धान्त की स्थापना अनेक ग्रंथों में की है, किन्तु इनका चरम उत्कर्ष भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के उपदेशों में पाया जाता है, जिन्होंने इस ज्ञान को पूर्णरूपेण इस प्रकार से प्रस्तुत किया है कि जो न केवल भारत में समझा जा सकता है, अपितु विश्व के सारे लोगों के लिए बोधगम्य है। हमारा यह वर्तमान तुच्छ प्रयास उनके द्वारा सम्पन्न होने वाली *श्रीमद्भागवत* का भावार्थ और टीका को पूरा करने का है और हम निरन्तर यही प्रार्थना करते रहते हैं कि उनकी इच्छा के अनुकूल ही यह कार्य सम्पन्न हो सके। यदि चैतन्य महाप्रभु की शिक्षाओं को जिस रूप में पाश्चात्य भाषाओं में प्रस्तुत किया जा रहा है, समझ लिया जाये, तो भगवान् आध्यात्मिक सत्य के ऐसे निष्ठावान खोजी से संतुष्ट होंगे।

श्रीनारद उवाच

एवं ते निमिना पृष्टा वसुदेव महत्तमाः ।
प्रतिपूज्याब्रुवन्प्रीत्या ससदस्यर्त्विजं नृपम् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद ने कहा; **एवम्**—इस प्रकार; **ते**—वे; **निमिना**—राजा निमि द्वारा; **पृष्टाः**—पूछे गये; **वसुदेव**—हे वसुदेव; **महत्-तमाः**—सन्तों में सर्वश्रेष्ठ; **प्रतिपूज्य**—बदले में आदरसूचक शब्द कहकर; **अब्रुवन्**—वे बोले; **प्रीत्या**—स्नेहपूर्वक; **स-सदस्य**—यज्ञ सभा के सदस्यों के सहित; **ऋत्विजम्**—तथा पुरोहितों द्वारा; **नृपम्**—राजा से।

श्री नारद ने कहा : हे वसुदेव, जब महाराज निमि नव-योगेन्द्रों से भगवद्भक्ति के विषय में पूछ चुके, तो उन साधु-श्रेष्ठों ने राजा को उसके प्रश्नों के लिए धन्यवाद दिया और यज्ञ सभा के सदस्यों तथा ब्राह्मण पुरोहितों की उपस्थिति में उससे स्नेहपूर्वक कहा।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी के अनुसार न केवल राजा अपितु सभा के सदस्य तथा यज्ञ करने वाले पुरोहित भी भगवान् का श्रवण तथा भक्ति की महिमा का कीर्तन करने में जुट गये थे। अब ये मुनि, कवि से प्रारम्भ करके बारी बारी से राजा के प्रश्नों का उत्तर देंगे।

श्रीकविरुवाच

मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य
पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम् ।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद्
विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

श्री-कविः उवाच—श्री कवि ने कहा; मन्ये—मैं मानता हूँ; अकुतश्चित्-भयम्—निर्भीकता; अच्युतस्य—अच्युत भगवान् की; पाद-अम्बुज—चरणकमलों की; उपासनम्—पूजा; अत्र—इस जगत में; नित्यम्—निरन्तर; उद्विग्न-बुद्धेः—विचलित बुद्धिवाले का; असत्—केवल क्षणभंगुर; आत्म-भावात्—आत्मा के रूप में सोचने से; विश्व-आत्मना—पूरी तरह से; यत्र—जिस (भगवद्भक्ति) में; निवर्तते—भाग जाता है; भीः—भय।

श्री कवि ने कहा : मैं मानता हूँ कि जिसकी बुद्धि भौतिक क्षणभंगुर जगत को ही मिथ्यापूर्वक आत्मस्वरूप मानने से निरन्तर विचलित रहती है, वह अच्युत भगवान् के चरणकमलों की पूजा द्वारा ही अपने भय से मुक्ति पा सकता है। ऐसी भक्ति में सारा भय दूर हो जाता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के मतानुसार इस श्लोक में आए *असद् आत्म भावात्* शब्द यह सूचित करते हैं कि जीव भय से निरन्तर उद्विग्न रहता है, क्योंकि वह अपनी नित्य पहचान क्षणभंगुर भौतिक शरीर तथा इसके साज-सामान से कर बैठता है। इसी प्रकार श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है *भक्तिप्रतिकूल देहगेहादिष्वासक्तिम्।* अपने क्षणभंगुर शरीर तथा अपने तथाकथित घर, परिवार, मित्रों इत्यादि से अनुरक्त होने के कारण मनुष्य की बुद्धि सदैव भय से उद्विग्न रहती है और वह भगवद्भक्ति को समझ पाने या उसका अभ्यास करने में असमर्थ होता है। देहात्म बुद्धि में रहते हुए सम्पन्न किये गये तथाकथित धार्मिक कार्यकलाप सदैव भय से और उनके अन्तिम फल की चिन्ता से

घिरे रहते हैं। किन्तु भगवान् की शुद्ध भक्ति मनुष्य के भय तथा चिन्ता को दूर कर देती है, क्योंकि यह भक्ति वैकुण्ठ के स्तर पर अथवा आध्यात्मिक स्तर पर की जाती है, जहाँ न भय रहता है न चिन्ता। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *भक्तियोग* की विधि इतनी प्रबल है कि *साधन भक्ति* की अवस्था में भी, जिसमें भक्ति को विधि-विधानों द्वारा सम्पन्न किया जाता है, नवदीक्षित भक्त को भगवान् की कृपा से निर्भयता का अनुभव होता है। ज्यों ज्यों भक्ति प्रौढ़ होती जाती है, भगवान् भक्त को अपना रूप दिखलाते हैं और तब सारा का सारा भय जाता रहता है।

हर जीव में ईश्वर की सेवा करने की स्वाभाविक लालसा पाई जाती है, किन्तु क्षणभंगुर शरीर से अपनी मिथ्या पहचान करने के कारण मनुष्य अपनी इस शुद्ध स्वाभाविक लालसा को खो देता है और वह शरीर, घर, परिवार इत्यादि के रूप में क्षणिक इन्द्रियतृप्ति के प्रति अनुरक्त हो जाता है। ऐसी मिथ्या अनुरक्ति का फल होता है निरन्तर कष्ट, जिसे एकमात्र भगवद्‌भक्ति द्वारा उखाड़ फेंका जा सकता है।

इस सन्दर्भ में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने निम्नलिखित श्लोक उद्‌धृत किया है—

तावद् भयं द्रविणदेहसुहृन्निमित्तं

शोकः स्पृहा परिभावो विपुलश्च लोभः।

तावन् ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं

यावन्न तेंऽघ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥

"हे प्रभु! संसार के लोग समस्त चिन्ताओं से व्यग्र हैं, वे सदैव डरे हुए रहते हैं। वे सदा अपनी सम्पत्ति, शरीर तथा मित्रों की रक्षा करना चाहते हैं, वे शोक तथा अवैध इच्छाओं एवं साज-सामग्री से परिपूर्ण हैं और वे 'मैं' तथा 'मेरे' जैसे नाशवान् अवधारणाओं पर अपने कार्यकलापों को निर्भर करते हैं। जब तक वे आपके निरापद चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं कर लेते, वे ऐसी चिन्ताओं से भरे रहेंगे।" (भागवत ३.९.६)

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये ।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

ये—जो; वै—निस्सन्देह; भगवता—भगवान् द्वारा; प्रोक्ताः—कहा हुआ; उपायाः—साधनों; हि—निस्सन्देह; आत्म-लब्धये—परमात्मा की अनुभूति करने के लिए; अञ्जः—सरलता से; पुंसाम्—जीव द्वारा; अविदुषाम्—अल्प बुद्धि वाले; विद्धि—जानते हैं; भागवतान्—भागवतधर्म बनने के लिए; हि—निश्चय ही; तान्—इन।

अज्ञानी जीव भी परमेश्वर को सरलता से जान पाते हैं, यदि वे उन साधनों को अपनाएँ, जिन्हें भगवान् ने स्वयं निर्दिष्ट किया है। भगवान् ने जो विधि संस्तुत की है, वह भागवतधर्म अथवा भगवान् की भक्ति है।

तात्पर्य : ऐसे अनेक वैदिक शास्त्र हैं, यथा *मनु-संहिता,* जो मानव समाज की शान्त व्यवस्था के लिए आदर्श अधिदेश प्रस्तुत करते हैं। ऐसा वैदिक ज्ञान *वर्णाश्रम* प्रणाली पर आधारित है, जो मानव समाज को वैज्ञानिक ढंग से चार वृत्तिपरक विभागों तथा चार आध्यात्मिक विभागों में विभक्त करता है। किन्तु श्रील श्रीधर गोस्वामी के अनुसार जो ज्ञान भगवान् के प्रत्यक्ष सम्पर्क में लाता है, वह *अतिरहस्यम्* अर्थात् सर्वाधिक गुप्त ज्ञान कहलाता है (*अतिरहस्यत्वात् स्वमुखेनैव भगवताविदुषाम् अपि पुंसाम् अञ्जः सुखेनैवात्म-लब्धये*)।

भागवतधर्म इतना रहस्यमय है कि यह साक्षात् भगवान् द्वारा व्यक्त किया गया है। भागवतधर्म का सार *भगवद्गीता* में दिया हुआ है, जिसमें कृष्ण स्वयं ही अर्जुन को उपदेश देते हैं। तो भी *श्रीमद्भागवत* के ग्यारहवें स्कन्ध में उद्धव को भगवान् जो उपदेश देंगे वे *भगवद्गीता* में अर्जुन को दिये गये उपदेशों से भी बढ़कर है। जैसाकि श्रील प्रभुपाद ने कहा है, "निस्सन्देह अर्जुन को युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने हेतु ही भगवान् ने कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में *भगवद्गीता* का प्रवचन किया था। फिर भी *भगवद्गीता* के दिव्य ज्ञान को पूरा करने के लिए उन्होंने उद्धव को उपदेश दिया। भगवान् ने चाहा था कि उद्धव उनके ध्येय को पूरा करें और उन्होंने जिस ज्ञान को *भगवद्गीता* में नहीं कहा था, उसका विस्तार करें।" (भागवत ३.४.३२ तात्पर्य) इसी प्रकार यह समझा जाता है कि यहाँ पर नव-योगेन्द्रों द्वारा, जो ज्ञान प्रस्तुत किया जायेगा, वह काल्पनिक नहीं है, अपितु भगवान् द्वारा मूलतः कहा गया, प्रामाणिक ज्ञान है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती के अनुसार सारे जीव जन्म-मृत्यु का चक्कर लगाते हुए भगवान् को बिल्कुल ही भूल जाते हैं। किन्तु जब वे अपने लाभ के लिए भगवान् द्वारा कही गई शुभ कथाओं को सुनते हैं और अपनी शाश्वत पहचान दिव्य आत्माओं के रूप में करते हैं, तो कृष्ण के नित्यदास रूप में अनुभूत उनका अनुभव *भागवतधर्म* का आधार बन जाता है। शुद्ध वैष्णव या ईश्वर के दास के रूप में

आत्मा के अनुभव में ईश्वर से भिन्न या ईश्वर के ही समान होने का भाव नहीं रहता, न ही कोई भौतिक इन्द्रियतृप्ति के लोक में रुचि रखता है। शुद्ध भक्त भगवान् के प्रति अपनी भक्ति का ही अनुभव करता है और अपने को परम आश्रय के भिन्नांश रूप में देखता है। शुद्ध भक्त अनुभव करता है कि वह अपने चरम आश्रय भगवान् के किसी निजी विस्तार से प्रेमाभक्ति की रज्जु से बँधा हुआ है। और ऐसी चेतना की पूर्णावस्था में भक्त परब्रह्म के सर्वव्यापी विविध रूपों को देख सकता है।

यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित् ।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यान्—जिन (साधनों) को; **आस्थाय**—स्वीकार करके; **नरः**—मनुष्य; **राजन्**—हे राजा; **न प्रमाद्येत**—मोहित नहीं होता; **कर्हिचित्**—कभी भी; **धावन्**—दौड़ते हुए; **निमील्य**—बन्द करके; **वा**—अथवा; **नेत्रे**—उसकी आँखों में; **न स्खलेत्**—च्युत नहीं होगा; **न पतेत्**—पतित नहीं होगा; **इह**—इस मार्ग पर।

हे राजन्, जो व्यक्ति भगवान् के प्रति इस भक्तियोग को स्वीकार कर लेता है, वह इस संसार में अपने मार्ग पर कभी कोई बड़ी भूल नहीं करेगा। यदि वह अपनी आँखें बन्द करके दौड़ लगा लो, तो भी वह न तो लड़खड़ाएगा न पतित होगा।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार पिछले श्लोक में प्रयुक्त *अञ्ज:* शब्द की व्याख्या इस श्लोक में हुई है। वे कहते हैं—*अञ्ज:पदेनोक्तं सुकरत्वं विवृणोति*—अञ्ज: शब्द से भक्तियोग सम्पन्न करने की सरलता स्थापित की गई है और इस श्लोक में इसका विस्तार किया जायेगा। *भगवद्गीता* (९.२) में स्वयं भगवान् कहते हैं *प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्* भगवान् की भक्ति करने की विधि नित्य है और बड़े ही प्रमुदित भाव से तथा स्वाभाविक ढंग से सम्पन्न की जाती है। इस पर श्रील प्रभुपाद की टीका है, ''भक्तियोग अत्यन्त सुखकर होता है। ऐसा क्यों? क्योंकि भक्ति में *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* रहता है, जिससे मनुष्य भगवान् की महिमा के कीर्तन को सुन सकता है या प्रामाणिक आचार्यों द्वारा दिये गये दिव्य ज्ञान के दार्शनिक भाषणों में उपस्थित रह सकता है। मनुष्य केवल बैठे रहकर सीख सकता है, ईश्वर को अर्पित किये हुए भोजन के बचे हुए भाग को—उत्तम स्वादिष्ट पकवान—खा सकता है। प्रत्येक दशा में भक्ति सुखमय है। मनुष्य गरीबी की हालत में भी भक्ति कर सकता है। भगवान् कहते हैं *पत्रं पुष्पं फलं तोयं* वे भक्त से किसी प्रकार की भी भेंट लेने को तैयार रहते हैं, चाहे वह पत्रा हो, पुष्प हो, फल हो या थोड़ा-सा जल हो, जो संसार के हर कोने में उपलब्ध है। किसी

व्यक्ति द्वारा उसकी सामाजिक स्थिति की परवाह किये बिना, जो भी अर्पित किया जाये वह भगवान् को स्वीकार है, यदि उसे प्रेमपूर्वक चढ़ाया जाय। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। भगवान् के चरणकमलों पर चढ़े तुलसीदल मात्र खाकर सनत्कुमार जैसे मुनि महान् भक्त बन गये। अत: भक्तियोग अति उत्तम है और इसे प्रसन्न मुद्रा में सम्पन्न किया जा सकता है। भगवान् को तो वह प्रेम ही प्रिय है, जिसमें उन्हें वस्तुएँ भेंट की जाती हैं।''

यहाँ जिस महत्त्वपूर्ण बात को समझना है, वह यह है कि जब जीव भगवान् की शरण ग्रहण कर लेता है, तो वह भगवान् से कहता है, ''हे प्रभु! यद्यपि मैं अत्यन्त पापी तथा अयोग्य हूँ और इतने काल तक आपको भूलने का प्रयत्न करता रहा हूँ, किन्तु अब मैं आपके चरणकमलों में शरण ले रहा हूँ। आज से मैं आपका हूँ। मेरे पास जो भी है—मेरा शरीर, मन, शब्द, परिवार, धन वह सब मैं आपके चरणकमलों पर अर्पित कर रहा हूँ। कृपया मेरे साथ जैसा चाहें करें।'' भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में बारम्बार आश्वासन दिया है कि वे ऐसे शरणागत जीव की रक्षा करेंगे और उसे भगवद्धाम वापस लाकर मुक्त करेंगे और अपने धाम में नित्य जीवन प्रदान करेंगे। इस तरह भगवान् की शरण में जाने की योग्यता इतनी महान् और आध्यात्मिक रूप से शक्तिशाली है कि यदि शरणागत जीव पवित्र जीवन के अन्य पक्षों में न्यून होता है, तो उसके उच्च पद की रक्षा स्वयं भगवान् करते हैं। किन्तु अन्य विधियों में, यथा *योग* में, मनुष्य अपने संकल्प तथा बुद्धि पर निर्भर रहता है और भगवान् की शरण नहीं खोजता तो वह किसी भी क्षण पतित हो सकता है, क्योंकि वह अपनी सीमित थोथी शक्ति द्वारा रक्षित होता है। इसलिए जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१०.२.३२) में कहा गया है—*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः/पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदंघ्रयः* यदि कोई व्यक्ति भगवान् के चरणकमलों की शरण त्यागकर अपने संकल्प के द्वारा योग-विधि में अग्रसर होने का प्रयास करता है या फिर अपनी चिन्तन शक्ति से ज्ञान में उन्नति करना चाहता है, तो अन्ततोगत्वा वह मध्यवर्ती भौतिक स्तर पर पुन: आ गिरेगा और उसकी अपनी च्युत शक्ति के अतिरिक्त कोई सुरक्षा नहीं होगी। इसीलिए वैष्णव आचार्यों ने इस श्लोक की टीका करते हुए कई प्रकार से भक्तियोग की श्रेष्ठता प्रदर्शित की है। इस सन्दर्भ में, श्रीधर स्वामी कहते हैं *निमील्य नेत्रे धावन्नपि इह एषु भागवतधर्मेषु न स्खलेत्। निमीलनं नामाज्ञानं, यथाहु:—'श्रुति-स्मृति उभे नेत्रे विप्रानां परिकीर्तिते।एकेन विकल: काणो द्वाभ्याम् अन्ध: प्रकीर्तित:' इति।* ''दोनों आँखें मूँदकर

दौड़ते हुए भी एक भक्त इस भागवतधर्म के पथ पर नहीं लड़खड़ायेगा। आँखें मूँदना द्योतक है (आदर्श वैदिक ग्रंथों से) अनभिज्ञता का। जैसाकि कहा गया है ''श्रुति तथा स्मृति शास्त्र तो ब्राह्मणों की दो आँखें हैं। इनमें से एक से रहित होने पर ब्राह्मण आधा अँधा (काना) है और दोनों से रहित होने पर पूरा अँधा माना जाता है।

भगवद्गीता (१०.१०-११) में भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि यदि कोई भक्त वैदिक ज्ञान से विहीन या वैष्णव साहित्य से अनजान भी क्यों न हो, किन्तु यदि वह सचमुच ही भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगा हुआ है, तो उसके भीतर से स्वयं भगवान् उसे ज्ञान प्रदान करते हैं। इस सम्बन्ध में श्रील प्रभुपाद कहते हैं, ''जब चैतन्य महाप्रभु हरे कृष्ण कीर्तन का प्रचार करने के लिए वाराणसी में थे तो हजारों लोग उनके अनुयायी बन गये थे। उस समय वाराणसी के अत्यन्त प्रभावशाली तथा प्रकाण्ड पंडित प्रकाशानन्द ने चैतन्य महाप्रभु को भाववादी (आवेशवादी) कहकर उपहास किया। कभी कभी दार्शनिकगण भक्तों की आलोचना करते हैं, क्योंकि वे यह सोचते हैं कि अधिकांश भक्त अज्ञान के अंधकार में रहते हैं और दर्शन की दृष्टि से नवभाववादी होते हैं। किन्तु वास्तव में यह यथार्थ नहीं है। ऐसे अत्यन्त ज्ञानी विद्वान हैं, जिन्होंने भक्तिदर्शन प्रस्तुत किया है, किन्तु भले ही कोई भक्त उनके साहित्य का या अपने गुरु का लाभ न भी उठाता हो, यदि वह अपनी भक्ति में निष्ठा रखता है, तो साक्षात् कृष्ण उसके हृदय के भीतर से उसकी सहायता करते हैं। इसलिए कृष्णभावनामृत में रत निष्ठावानभक्त ज्ञान से रहित नहीं हो सकता। एकमात्र योग्यता यही है कि वह पूर्ण कृष्णभावनामृत में भक्ति करे।''

तो भी भगवान् द्वारा प्रदत्त यह सुविधा रागानुगा भक्ति के नाम पर अप्रामाणिक विचारों के औचित्य को सिद्ध नहीं करती। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है *भगवत्प्राप्त्यर्थं पृथङ्मार्गकरणं त्वतिदूषणावहमेव* यदि भगवान् को प्राप्त करने के लिए कोई भक्ति की अपनी विधि बना लेता है, तो इस मनोकल्पना से पूर्ण विनाश हो जायेगा। वे इसके आगे उद्धरण देते हैं—

श्रुतिस्मृतिपुराणादिपञ्चरात्रविधिं विना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते॥

''यदि किसी की तथाकथित अनन्य हरि-भक्ति श्रुति, स्मृति, पुराणों तथा पञ्चरात्र के विधि-विधानों को समाहित नहीं करती, तो यह समाज में उत्पात के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।'' दूसरे शब्दों में भले ही कोई वैदिक वाङ्मय में पारंगत न हो, किन्तु यदि वह भगवद्भक्ति में लगा रहता है, तो उसे शुद्ध भक्त मानना चाहिए। यही नहीं, ऐसी प्रेमाभक्ति शास्त्रों के आदेशों का किसी तरह से विरोध नहीं कर सकती।

प्राकृतसहजिये वैष्णव धर्म के आदर्श नियमों की परवाह न करके अवैध निम्न कार्यों में लगे रहते हैं और रागानुगा भक्ति के नाम पर राधा-कृष्ण का वेश बनाते हैं। उनका कहना है कि चूँकि स्वयं भगवान् ने ऐसी रागानुगा भक्ति प्रकट की थी, इसलिए उन्हें आदर्श शास्त्रों का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है। इसी तरह विश्व-भर में ऐसे छद्म धर्मधुरीण हैं, जो अपनी विधियाँ गढ़ कर यह कहते हैं कि भगवान् उन्हें उनके हृदयों में से ज्ञान प्रदान कर रहे हैं। इसलिए यहाँ यह समझना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होगा कि हृदय के भीतर राग का प्राकट्य भगवान् की भक्ति की शाश्वत विधि को बदलने के लिए नहीं होता, अपितु निष्ठावान् भक्त के लिए पूरक सहायता प्रदान करने के लिए है, जो शास्त्रों से अनजान हो। दूसरे शब्दों में, शास्त्रों द्वारा भगवद्भक्ति की शाश्वत विधि का वर्णन किया जाता है। चूँकि भगवान् तथा जीव दोनों ही शाश्वत हैं, अतएव उनके प्रेम-सम्बन्ध भी शाश्वत हैं। न तो भगवान् अपना स्वभाव बदलते हैं, न ही जीव। अतएव भगवान् की प्रेमाभक्ति की अनिवार्य विधि को बदलने की आवश्यकता नहीं है। भगवान् द्वारा विशेष प्राकट्य अन्य साधनों द्वारा शास्त्रीय ज्ञान प्रदान करना है, शास्त्र ज्ञान का खण्डन नहीं।

दूसरी ओर, श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है कि यदि कोई भक्त भक्तियोग के सारे मूल सिद्धान्तों का पालन करता है और भक्ति में अग्रसर होता है, तो ऐसे वैष्णव की गौण विधियों की उपेक्षा करने के लिए आलोचना नहीं की जानी चाहिए। उदाहरणार्थ, श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद ने कृष्णभावनामृत का अभ्यास करने के लिए पाश्चात्य देशों में सैकड़ों आध्यात्मिक समुदायों की स्थापना की। इन समुदायों के भक्तगण अवैध यौन, द्यूतक्रीड़ा, नशा तथा मांसाहार का परित्याग करके निरन्तर कृष्णभक्ति में लगे रहते हैं। श्रील प्रभुपाद के ऐसे अनुयायी अद्भुत आध्यात्मिक प्रगति करने तथा हजारों लोगों को भक्तियोग के प्रति उन्मुख करने में समर्थ हैं। वस्तुत: इस्कॉन के सारे श्रद्धालु सदस्य

आदर्श विधियों का पालन करने से भौतिक दूषण से मुक्त रहते हैं और भगवद्धाम जाने की दिशा में स्पष्ट प्रगति करते हैं। इस्कॉन के ऐसे सदस्य वर्णाश्रम धर्म प्रणाली के सारे विधानों को संभवतः पूरा नहीं कर सकते। तथ्य तो यह है कि अनेक पाश्चात्य भक्त संस्कृत शब्दों का उच्चारण भी नहीं कर सकते और मंत्र का जाप करने तथा आहुतियाँ देने से सम्बद्ध विस्तृत यज्ञों को सम्पन्न करने में कुशल नहीं हैं। किन्तु चूँकि वे भौतिक इन्द्रियतृप्ति का परित्याग करके भक्तियोग के अनिवार्य नियमों का पालन करते हैं और कृष्ण की प्रेमाभक्ति में निरन्तर लगे रहते हैं, अतएव इस जीवन में तथा अगले जीवन में उनकी स्थिति सुनिश्चित है।

हमने ऐसे अनेक शिष्ट संस्कृत पंडितों तथा वैदिक यज्ञों में पटु विद्वानों को देखा है, जो मानव-जीवन के मूल सिद्धान्तों का भी मुश्किल से पालन करते हैं—ये हैं अवैध यौन, मांसाहार, द्यूतक्रीड़ा तथा नशा इन सबका निषेध। ऐसे प्रखर विद्वान तथा कर्मकाण्डी सामान्यतया भौतिकतावादी जीवन के प्रति अनुरक्त देखे जाते हैं और उन्हें मानसिक चिन्तन का शौक रहता है। यद्यपि भगवान् ने *भगवद्गीता* में सभी कालों के लिए पूर्ण ज्ञान प्रदान किया है, किन्तु तथाकथित पंडित अपने को भगवान् से बढ़कर बुद्धिमान मानते हैं और वैदिक वाङ्मय के अर्थ पर निजी ढंग से चिन्तन करते हैं। ऐसा चिन्तन पूर्ण आध्यात्मिक जीवन से नीचे गिराने वाला है, तो फिर सकाम कर्मों के विषय में क्या कहा जाय जो हर तरह से मायामय हैं। दिव्य भक्त सकाम कर्म तथा मानसिक चिन्तन के दूषण से दूर रहने में समर्थ चले आ रहे हैं और यही इस श्लोक का मूल तात्पर्य है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने आगाह किया है कि *यान् आस्थाय* शब्द यह सूचित करते हैं कि वैष्णव का उच्च पद उसे कभी भी नहीं दिया जा सकता, जो भक्तियोग के मूलभूत विधानों का पालन नहीं करता। न ही यह पद उसे दिया जा सकता है, जो मनमाने चिंतन से या सकाम कर्म से कभी तो कृष्ण की सेवा करता है और कभी माया की। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर अन्त में यह कहते हैं, "भागवतधर्म के अतिरिक्त सारे धर्मों में बद्धजीव की योग्यता पर विचार किया जाता है। किन्तु भगवान् की शरण में आया जीव कभी भी त्रुटि नहीं करता, भले ही वह अन्य पक्षों में अयोग्य क्यों न हो। उसके पैर कभी नहीं लड़खड़ाते और वह कभी नहीं गिरता। अपनी अचल पूजा के बल पर वह शुभ स्थान में वास करता है, भले ही वह संसार में मनमाने ढंग से विचरण क्यों न करता हो।

भागवतधर्म की-सी अद्वितीय शक्ति विश्व के अन्य किसी धर्म में नहीं देखी जाती। भागवतधर्म की शरण में आये व्यक्ति तथा अन्य किसी धर्मावलम्बी में कोई तुलना नहीं है।''

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात् ।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

कायेन—शरीर से; वाचा—वाणी से; मनसा—मन से; इन्द्रियै:—इन्द्रियों से; वा—अथवा; बुद्ध्या—बुद्धि से; आत्मना—शुद्ध चेतना से; वा—अथवा; अनुसृत—अनुसरण किया हुआ; स्वभावात्—किसी के स्वभाव के अनुसार; करोति—करता है; यत् यत्—जो जो; सकलम्—सभी; परस्मै—ब्रह्म को; नारायणाय इति—यह सोचते हुए कि यह नारायण के लिए है; समर्पयेत्—समर्पण करना चाहिए; तत्—वह।

बद्ध जीवन में अर्जित विशेष स्वभाव के अनुसार मनुष्य अपने शरीर, वचन, मन, इन्द्रिय, बुद्धि या शुद्ध चेतना से, जो कुछ करता है उसे यह सोचते हुए परमात्मा को अर्पित करना चाहिए कि यह भगवान् नारायण की प्रसन्नता के लिए है।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस सम्बन्ध में यह टीका की है कि जो व्यक्ति अपने शरीर के सारे ऐन्द्रिय कार्यों, मन, वचन, बुद्धि, अहंकार तथा चेतना को भगवान् की सेवा में लगाता है, उसे उस स्तर पर नहीं माना जा सकता जिस पर अपनी निजी इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करने वाला *कर्मी* होता है। बाह्य रूप से बद्धजीव होते हुए भी जो व्यक्ति अपने सारे कार्य भगवान् को अर्पित कर देता है, उसे भौतिकतावादी कार्यों के फलों से उत्पन्न असंख्य कष्ट छू तक नहीं पाते।

बद्धजीव की भगवान् तथा उनकी सर्वशक्तिमान सत्ता से शत्रुता होने के कारण वह भगवान् के आदेश के विरुद्ध कर्म करता है। तो भी स्वरूपसिद्ध जीव भगवान् के मिशन को पूरा करने के लिए इस संसार में सभी प्रकार के कार्य करते रहते हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार जो कर्मीजन अधिकाधिक पवित्र होते हैं, वे भगवान् के चरणकमलों पर अपने कर्मों के फलों को अर्पित करने का प्रयास करके स्वरूपसिद्ध जीवों के उदाहरण का अनुसरण करते हैं। यद्यपि इसे *कर्ममिश्र* भक्ति माना जाता है, किन्तु ऐसी मिश्रित भक्ति क्रमश: शुद्ध भक्ति में बदल जाती है। चूँकि पवित्र सकाम कर्मी क्रमश: अपने को अपने परिश्रम से अर्जित पुरस्कार के भोगने की बेहूदी विचारधारा से अपने को विलग कर लेते हैं, अतएव शुद्ध भक्ति से उन्हें भरपूर सौभाग्य प्राप्त होता है।

श्रील श्रीधर स्वामी ने टीका की है *आत्मना चित्तेनाहंकारेण वा अनुसृतो यः स्वभावस्तस्मात्* मनुष्य देहात्म बुद्धि में क्यों न हो, उसे अपने कर्म का फल भगवान् को अर्पित करना चाहिए। भगवान् के विषय में पुराणपंथी भौतिकतावादी विचार रखने वाले व्यक्ति भगवान् को मन्दिर या गिरजाघर में ही उपस्थित मानते हैं। वे पूजास्थल में भगवान् को कुछ भेंट चढ़ाते हैं, किन्तु अपने सामान्य कार्यों में वे स्वामित्व का दावा करते हैं और यह नहीं सोचते कि ईश्वर सर्वत्र तथा हर एक के भीतर वर्तमान हैं। हमें ऐसे अनेक धार्मिक पुरुषों का व्यावहारिक अनुभव है, जो अपने बच्चों को भगवान् का दास बनते देख अपमानित अनुभव करते हैं। वे सोचते हैं कि "मैं जो भी तुच्छ भेंट भगवान् पर चढ़ाऊँ उससे उन्हें प्रसन्न होना चाहिए, किन्तु मेरा परिवार तथा मेरे कामकाज मेरे हैं और वे मेरे अधीन हैं।" भगवान् या उनके स्वामित्व से किसी वस्तु के पृथक् होने की अनुभूति *माया* है। श्रील श्रीधर स्वामी ने उद्धरण दिया है *न केवलं विधितः कृतम् एवेति नियमः। स्वभावानुसारि लौकिकमपि* भगवान् की सेवा करने का विधान केवल संस्तुत धार्मिक पंथों और अनुष्ठानों को ही नहीं द्योतित करता, प्रत्युत इस संसार में मनुष्य अपनी निजी प्रकृति के अनुसार जितने भी कर्म करता है, उन्हें भगवान् को अर्पित किया जाना चाहिए।

इस श्लोक का यह अंश *करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत् तत्* अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ऐसा ही श्लोक *भगवद्गीता* (९.२७) में मिलता है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

"हे कुन्ती-पुत्र! तुम जो भी करते हो, जितना भी खाते हो, जो भी अर्पित करते हो और दान में देते हो तथा जितनी भी तपस्या करते हो उन सबों को मुझे अर्पण करते हुए किया जाना चाहिए।" यह आपत्ति की जा सकती है कि चूँकि हमारे सामान्य कार्य भौतिक शरीर तथा भौतिक मन द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं, आत्मा द्वारा नहीं, तो फिर ऐसे कार्यों को किस तरह भगवान् को अर्पित किया जा सकता है, जो भौतिक जगत से पूरी तरह परे हैं? ऐसे कार्यों को किस तरह आध्यात्मिक माना जा सकता है? इसके उत्तर में *विष्णु पुराण* (३.८.८) में कहा गया है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।

विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम्॥

जो व्यक्ति भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना चाहता है उसे *वर्णाश्रम धर्म* प्रणाली स्वीकार करनी चाहिए और अपने नियत कर्मों को सम्पन्न करके भगवान् की पूजा करनी चाहिए। *भगवद्गीता* (४.१३) में भगवान् वर्णाश्रम धर्म प्रणाली स्थापित करने का श्रेय स्वयं को देते हैं *चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।* इसलिए यदि कोई व्यक्ति वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत अपना कर्म भगवान् को अर्पित करता है, तो ऐसे कर्म की गणना भक्ति में की जाती है। अपने *स्वभाव* के अनुसार मनुष्य बुद्धिजीवी या पुरोहित, शासक या सैनिक, किसान या व्यापारी, अथवा श्रमिक या कलाकार के रूप में कर्म कर सकता है और ऐसा कर्म करते समय हर मनुष्य को चाहिए कि भगवान् का ध्यान *यत् सकलं परस्मै नारायणाय* सोचते हुए करे—अर्थात् मैं भगवान् के लिए कर्म कर रहा हूँ। मेरे कर्म से जो भी फल प्राप्त होगा उसका कम से कम मैं अपने निजी निर्वाह के लिए रखूँगा और शेष को नारायण के महिमा-गायन में अर्पित कर दूँगा।

श्रील जीव गोस्वामी ने इंगित किया है *कामिनां तु सर्वथैव न दुष्कर्मार्पणाम्*—मनुष्य भगवान् को *दुष्कर्म* अर्थात् पापपूर्ण दुष्ट कर्म अर्पित नहीं कर सकता। पापमय जीवन के चार स्तम्भ हैं—अवैध यौन, मांसाहार, द्यूतक्रीड़ा तथा नशा। ऐसे कर्म कभी भी भगवान् को भेंट के रूप में ग्राह्य नहीं होते। उदाहरणार्थ, यद्यपि मुक्त समाज में हर व्यक्ति को अपना पेशा चुनने की छूट दी जाती है, किन्तु प्रजातंत्र सरकार भी अपने नागरिक को चोर या हत्यारे का पेशा चुनने नहीं देगी। उसी तरह ईश्वर के नियमानुसार मनुष्य को वर्णाश्रम पद्धति में अपने स्वभाव के अनुसार कर्म करने के लिए आमंत्रित किया जाता है, किन्तु उसे ईश्वर के नियमों का उल्लंघन करते हुए पापपूर्ण कर्मों का अपराधी जीवन ग्रहण करने से मना किया जाता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इसका सुन्दर विवरण प्रस्तुत किया है कि भगवान् को किस तरह अपने सामान्य कर्म अर्पित किये जाँय। वे कहते हैं कि सामान्य इन्द्रिय भोक्ता प्रातःकाल शौच जाने, अपना मुख साफ करने, दाँत की सफाई करने, नहाने, मित्रों तथा परिवार वालों से मिलने और उनसे दिन के कार्यों के बारे में विचार-विमर्श करने से अपना कार्य शुरू करता है। इस तरह दिन में मनुष्य अनेक कार्य करता है और इन्द्रिय भोक्ता ये सारे कार्य अपने निजी भोग के लिए करता है। दूसरी ओर *कर्मी* वेदों के कर्मकाण्ड खण्ड के आदेशानुसार उन्हीं कार्यों को देवताओं तथा अपने पूर्वजों की

प्रसन्नता के लिए करता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भगवान् नारायण के भक्त को भी इसी तरह अपने सारे कार्य भगवान् की प्रसन्नता के लिए करना चाहिए। इस तरह पूरे दिन में हम जो कुछ भी करते हैं वह *भक्त्यंग* अर्थात् हमारी कृष्ण-भक्ति का पूरक पक्ष बन जायेगा।

यहाँ यह समझ लेना होगा कि जब तक मनुष्य अपनी पहचान कृष्ण के भिन्नांश रूप में न करके वर्णाश्रम-धर्म प्रणाली के रूप में करता है तब तक वह *अहंकार* के ही धरातल पर रहता है, क्योंकि वर्णाश्रम प्रणाली की रचना जीव द्वारा अपने भौतिक शरीर के माध्यम से अर्जित प्रकृति के गुणों के अनुसार की जाती है। किन्तु आचार्यों ने इस श्लोक की टीका करते हुए इस बात पर बल दिया है कि ऐसे अहंकार को भी, जिससे मनुष्य अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, संन्यासी, गृहस्थ इत्यादि के रूप में पहचानता है, भगवान् को अर्पित करना चाहिए।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार जब कोई व्यक्ति भगवान् के विषय में श्रवण तथा कीर्तन करने में अत्यन्त अनुरक्त होने लगता है और केवल अपने कर्म के फल भगवान् को अर्पित करने में नहीं, तो उसे *स्वरूपसिद्धा भक्ति* की अवस्था प्राप्त होती है अर्थात् वह अवस्था जिसमें भक्ति दृष्टिगोचर बन जाती है। उदाहरणार्थ, कोई भी अच्छा नागरिक सरकार को कर चुकाता है, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि सरकार या उसके नेताओं से वह प्रेम करता हो। इसी प्रकार एक पवित्र जीव यह समझ सकता है कि वह ईश्वर के नियमों के अधीन कर्म कर रहा है, इसलिए वैदिक या अन्य शास्त्रीय आदेशों के अनुसार वह अपनी सम्पत्ति का एक अंश भगवान् को धार्मिक उत्सवों के लिए दे देता है। किन्तु जब ऐसा पवित्र व्यक्ति वास्तव में भगवान् के गुणों का कीर्तन करने और उन्हें सुनने में अनुरक्त हो जाता है और जब प्रेम दृश्य होने लगता है, तो उसे जीवन की परिपक्वावस्था प्राप्त करते हुए माना जाता है। इस स्न्दर्भ में श्रील जीव गोस्वामी ने अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं, जो भगवत्प्रेम के विकास को सुन्दर ढंग से दिखलाने वाले हैं। *अनेन दुर्वासनादुःखदर्शनेन स करुणामयः करुणां करोतु*—पापपूर्ण इच्छाओं से उत्पन्न दुख प्रदर्शित करके कृपालु भगवान् मुझ पर दया दिखायें। *या प्रीतिरविवेकानां विसयेष्वनपायिनी। त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु*—अज्ञानी व्यक्तियों को इन्द्रियतृप्ति के पदार्थों में अटूट स्नेह होता है। इसी प्रकार मैं आपका सदैव स्मरण करूँ जिससे वही अनुरक्ति, जो आपके साथ की जाती है, कभी मेरे हृदय को न छोड़े। (विष्णु पुराण १.२०.१९) *युवतीनां यथा यूनि यूनां च युवतौ यथा। मनोऽभिरमते*

तद्वन्मनो मे रमतां त्वयि—जिस तरह युवतियों का मन किसी युवक के बारे में सोचने में आनन्दित होता है और युवकों का मन किसी युवती के बारे में सोचने में रमता है, उसी तरह मेरा मन आपमें रमे। *मम सुकर्मणि दुष्कर्मणि च यद् रागसामान्यम्। तद् सर्वतोभावेन भगवद्विषयम् एव भवतु*—पुण्य या पापों के लिए मुझमें जो भी अनुरक्ति हो वह अनुरक्ति पूर्णरूपेण आपमें लगे।

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः ।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ॥ ३७॥

शब्दार्थ

भयम्—भय; द्वितीय—भगवान् के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु में; अभिनिवेशतः—लीन रहने से; स्यात्—उत्पन्न होगी; ईशात्—भगवान् से; अपेतस्य—जिसने निकाल दिया उसके लिए; विपर्ययः—गलत पहचान; अस्मृतिः—विस्मरणशीलता; तत्—उस भगवान् की; मायया—माया से; अतः—इसलिए; बुधः—बुद्धिमान व्यक्ति; आभजेत्—पूरी तरह पूजा करे; तम्—उसको; भक्त्या—भक्ति के सहित; एकया—अनन्य; ईशम्—भगवान् को; गुरु-देवता-आत्मा—जो अपने गुरु को अपना स्वामी तथा आत्मा तक मानता है।

जब जीव भगवान् की बहिरंगा माया शक्ति में लीन होने के कारण भौतिक शरीर के रूप में गलत से अपनी पहचान करता है, तब भय उत्पन्न होता है। इस प्रकार जीव जब भगवान् से मुख मोड़ लेता है, तो वह भगवान् के दास रूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति को भी भूल जाता है। यह मोहने वाली भयपूर्ण दशा माया द्वारा प्रभावित होती है। इसलिए बुद्धिमान पुरुष को प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में भगवान् की अनन्य भक्ति में लगना चाहिए। और गुरु को ही अपना आराध्यदेव तथा अपना प्राणधन स्वीकार करना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार यह आपत्ति की जा सकती है कि चूँकि भय अज्ञानजन्य होता है, अतएव इसे ज्ञान द्वारा भगाया जा सकता है और भगवान् की पूजा करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। जीव मिथ्या ही अपनी पहचान अपने भौतिक शरीर, परिवार, समाज इत्यादि के रूप में करता है। उसे केवल इसी मिथ्या पहचान का परित्याग करना होता है। तब माया क्या कर सकेगी?

इस तर्क के प्रत्युत्तर में श्रील श्रीधर स्वामी ने *भगवद्गीता* का निम्नलिखित श्लोक (७.१४) उद्धृत किया है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

''तीन गुणों वाली मेरी इस माया को पार कर पाना मुश्किल है। किन्तु जिन्होंने मेरी शरण ग्रहण कर ली है वे सरलता से इसके उस पार जा सकते हैं।'' जीव या *जीवतत्त्व* भगवान् की शक्तियों में से एक है, किन्तु जीव की स्वाभाविक स्थिति *तटस्थ* अर्थात् सीमांत है। सूक्ष्म होने से हर जीव परम पुरुष कृष्ण पर निरन्तर आश्रित रहता है। इसकी पुष्टि वैदिक वाङ्मय में इस प्रकार हुई है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां। एको बहूनां यो विदधाति कामान्*—समस्त चेतनायुक्त प्राणियों में एक परम पुरुष है, जो अन्य असंख्य जीवों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर रहा है। (कठ उपनिषद् २.१.१२) कृष्णदास कविराज ने लिखा है *एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य*—कृष्ण ही एकमात्र स्वतंत्र नियन्ता है, अन्य सारे जीव उन पर आश्रित हैं। (चैतन्य-चरितामृत आदि ५.१४२) जिस तरह अँगुली शरीर का अंश है, अतएव उसे शारीरिक सेवा में सदैव लगे रहना चाहिए। उसी तरह कृष्ण के भिन्नांश (*ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:*) होने के कारण भगवान् की अनन्य शुद्ध सेवा में लगे रहना, हमारा नित्य कर्तव्य (*सनातनधर्म*) है।

भगवान् की सेवा करते समय हमें भगवान् की जो शक्ति प्रकाश देती है, वह *चित्शक्ति* कहलाती है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने टीका की है कि जब जीव में स्वतंत्रता का भाव उत्पन्न होता है, तो वह भौतिक जगत में आने के लिए बाध्य हो जाता है, जहाँ वह अनेक प्रकार के क्षुद्र तथा अवांछित आचरणों में भाग लेता है जिनसे उसके लिए भयावह स्थिति उत्पन्न हो जाती है। *बहिरंगा शक्ति* चित्शक्ति को पूरी तरह आच्छादित कर लेती है और जीव को उसके स्थूल पापमय भोग के लिए एक के बाद एक शरीर प्रदान करती रहती है। इस तरह जो जीव कृष्ण से अपने प्रेममय सम्बन्ध को त्याग देता है, वह दण्डस्वरूप अपने वास्तविक आश्रय भगवान् के नित्य आनन्दमय रूप को देखने की सारी शक्ति खो बैठता है। इसके बदले वह अनेक क्षणभंगुर मायाजाल वाले रूपों में अनुरक्त होता है यथा अपने शरीर, अपने परिवार के सदस्यों तथा मित्रों के शरीर, अपने राष्ट्र, अपने शहर, उसकी इमारतों तथा कारों और असंख्य प्रकार के भौतिक अल्पकालिक दृश्यों आदि में। ऐसी घोर अज्ञानता की स्थिति में अपने मूल स्वरूप में वापस लौट जाने का विचार भी उसके मन में नहीं उठता।

ईश्वर के नियमों के अनुसार भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों में निरन्तर संघर्ष चलता है, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है। *भागवत* में यही संघर्ष कई स्थानों पर *गुण–व्यतिकरम्* के रूप में वर्णित हुआ है। जब जीव भौतिक गुणों की क्रिया–प्रतिक्रिया से मोहग्रस्त हो जाता है, तो उसमें सापेक्षता का भाव उदय होता है और वह यह कल्पना करने लगता है कि ईश्वर तथा ईश्वर–पूजा प्रकृति के गुणों की विरोधी क्रियाओं का प्रतिफल है। मानव–वैज्ञानिक, समाज–वैज्ञानिक या मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के नाम पर जीव भौतिकतावादी अज्ञान के अंधकार में गहरे से गहरा गिरता जाता है और वह अपने को संसारी पवित्रता, आर्थिक विकास, इन्द्रियतृप्ति, या चिन्तन को समर्पित कर देता है, जिसमें वह परम को भिन्नता और व्यक्तित्व से रहित समझता है और इसे वह प्रकृति के गुणों की क्रिया–प्रक्रिया का प्रतिफल मान लेता है।

भगवान् की माया *दुरत्यया* है अर्थात् कृष्ण–कृपा के बिना इससे बच पाना असम्भव है (*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*)। यहाँ यह उदाहरण दिया जा सकता है कि जब सूर्य बादलों से ढक जाता है, तो कोई भी मानव–निर्मित यंत्र बादलों को आकाश से हटा नहीं सकता, किन्तु बादलों को उत्पन्न करने वाला सूर्य बादलों के आवरण को तुरन्त जलाकर अपने को प्रकट कर सकता है। इसी प्रकार जब हम भगवान् की माया से प्रच्छन्न हो जाते हैं, तो हम अपनी पहचान अपने क्षणिक भौतिक शरीर से करते हैं, जिससे हम सदैव भयभीत तथा चिन्तित रहते हैं। किन्तु जब हम भगवान् की शरण ग्रहण कर लेते हैं, तो वे हमें इस माया से तुरन्त मुक्त कर सकते हैं। भौतिक जगत तो *पदं पदं यद् विपदाम्* है अर्थात् पग पग पर संकटपूर्ण है। जब जीव यह समझ लेता है कि वह भौतिक शरीर नहीं अपितु भगवान् का नित्य दास है, तो उसका भय जाता रहता है। जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं *अत्र भक्तै संसारबन्धान्न भेतव्यं स हि भक्तौ प्रवर्तमानस्य स्वत एवापयाति*—इस भागवतधर्म में भक्तों को भवबन्धन से डरने की आवश्श्यकता नहीं है। जो व्यक्ति भक्ति में अपने को लगाता है, उसके लिए यह भय अपने आप हट जाता है।

यहाँ पर यह स्पष्ट करना महत्त्वपूर्ण है कि *भयम्* अर्थात् भय केवल *अहं ब्रह्मास्मि* जैसे शब्दों द्वारा व्यक्त निर्विशेष आत्म–साक्षात्कार द्वारा नहीं भगाया जा सकता। *श्रीमद्भागवत* (१.५.१२) में नारद मुनि व्यासदेव से कहते हैं *नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते*—केवल *नैष्कर्म्यम्* अर्थात् कर्म का त्याग

तथा जीवात्मबुद्धि की अस्वीकृति किसी की रक्षा नहीं कर सकता। जीव को आध्यात्मिक स्तर पर श्रेष्ठ आश्रय खोजना चाहिए, अन्यथा वह संसार की भयपूर्ण स्थिति में वापस लौट आयेगा। इसका कथन शास्त्र में हुआ है—*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदंघ्रय:* (भागवत १०.२.३२)। भले ही कोई परम श्रम तथा प्रयास से ब्रह्म पद तक पहुँच ले (*क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्*) किन्तु यदि वह उपयुक्त आश्रय नहीं ढूँढ़ लेता, तो वह भौतिक धरातल पर पुनः लौट आयेगा, अतएव उसकी तथाकथित मुक्ति *विमुक्तमान* अर्थात् कल्पना द्वारा मुक्ति है।

जीव स्वभाव से आनन्द खोजी—*आनन्दमय*—है। हम इसीलिए कष्ट पा रहे हैं, क्योंकि हम भौतिक स्तर पर झूठे ही आनन्द की खोज कर रहे हैं। फलस्वरूप हम जगत की पीड़ामयी जटिलताओं में फँस जाते हैं। किन्तु यदि हम आनन्द खोजने की लालसा को एकदम छोड़ने का प्रयास करते हैं, तो हम उद्विग्न होकर भौतिक आनन्द की खोज के स्तर पर लौट आते हैं। यद्यपि निर्विशेष अनुभूति के ब्रह्म पद पर शाश्वत जगत है, किन्तु वहाँ *आनन्द* नहीं है। विविधता आनन्द की जननी है। वैकुण्ठ-लोक में वास्तविक आध्यात्मिक आनन्द है। वहाँ पर कृष्ण अपने आनन्दमय आध्यात्मिक रूप में अपने आनन्दमय पार्षदों से घिरे रहते हैं, जो कि आनन्द तथा ज्ञान से नित्य पूर्ण होते हैं। उन्हें भौतिक जगत से कोई सरोकार नहीं रहता। आध्यात्मिक लोकों में पशु-पक्षी तथा प्राकृतिक दृश्य तक पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होते हैं और दिव्य आनन्द में मग्न रहते हैं। *यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम* (भगवद्गीता १५.६)। जो कृष्ण के आनन्दमय आध्यात्मिक लोक को जाता है, वह पूर्णतया सन्तुष्ट हो जाता है और फिर भौतिक धरातल पर वापस नहीं आता। इसीलिए विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है—*किं चात्र भक्तै संसारबन्धान्न भेतव्यम्।* केवल भक्त ही भय से मुक्त हो पाता है।

इस सम्बन्ध में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने प्रामाणिक गुरु स्वीकार करने पर बल दिया है, क्योंकि वह *व्रजेन्द्रनन्दन प्रेष्ठ*—नंद महाराज के पुत्र कृष्ण का सर्वाधिक प्रिय सेवक होता है। प्रामाणिक गुरु अन्य जीवों से तनिक भी द्वेष नहीं रखता, अतएव वह भगवद्भक्ति के ज्ञान को मुक्त-हस्त भाव से वितरित करता है। जब भगवान् की सेवा से शत्रुता रखने वाले जीव किसी तरह इस ज्ञान को विनीत भाव से सुनते हैं, तो वे भगवान् की उस माया से मुक्त हो जाते हैं, जो उन्हें आच्छादित करके जीवन की विविध दुखमय योनियों में डालती है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार

गुरु की कृपा से, श्रद्धालु शिष्य क्रमशः उन भगवान् नारायण के दिव्य पद को समझता है, जिनकी सेवा लाखों लक्ष्मियाँ आश्चर्य तथा आदर के साथ करती रहती हैं। ज्यों ज्यों शिष्य का दिव्य ज्ञान बढ़ता जाता है त्यों त्यों वैकुण्ठपति का *परमैश्वर्य* भी गोविन्द या कृष्ण के सौन्दर्य के आगे फीका पड़ने लगता है। गोविन्द में कीर्तन करने तथा आनन्द प्रदान करने की अचिन्त्य शक्ति है और गुरु की कृपा से शिष्य क्रमशः गोविन्द से अपना आनन्दमय सम्बन्ध (*रस*) स्थापित कर लेता है। लक्ष्मीनारायण, सीताराम, रुक्मिणी-द्वारकाधीश तथा अन्त में साक्षात् कृष्ण की आनन्दमय लीलाओं को समझ लेने पर शुद्ध हुए जीव को अद्वितीय अवसर प्रदान किया जाता है कि वह कृष्ण-भक्ति में प्रत्यक्ष सम्मिलित हो, क्योंकि कृष्ण उसके एकमात्र लक्ष्य तथा आश्रय बन जाते हैं।

अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो
ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा ।
तत्कर्मसङ्कल्पविकल्पकं मनो
बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

अविद्यमानः—वास्तव में उपस्थित नहीं; अपि—यद्यपि; अवभाति—प्रकट होता है; हि—निस्सन्देह; द्वयः—द्वैत; ध्यातुः—अनुभव करने वाले व्यक्ति की; धिया—बुद्धि से; स्वप्न—सपना; मनः-रथौ—अथवा इच्छा का उत्पन्न होना; यथा—जिस तरह; तत्—इसलिए; कर्म—कर्मों का; सङ्कल्प-विकल्पकम्—संकल्प-विकल्प को; मनः—मन; बुधः—बुद्धिमान व्यक्ति; निरुन्ध्यात्—वश में लाना चाहिए; अभयम्—निर्भीकता; ततः—इस तरह से; स्यात्—हो सकता है।

यद्यपि भौतिक जगत का द्वैत अन्ततः विद्यमान नहीं रहता, किन्तु बद्धजीव अपनी बद्ध-बुद्धि के प्रभाववश इसे असली अनुभव करता है। कृष्ण से पृथक् जगत के काल्पनिक अनुभव की तुलना स्वप्न देखने तथा इच्छा करने से की जा सकती है। जब बद्धजीव रात में इच्छित या भयावनी वस्तु का सपना देखता है अथवा जब वह जो कुछ चाहता है या जिससे दूर रहना चाहता है उनका दिवास्वप्न देखता है, तो वह ऐसी वास्तविकता को जन्म देता है, जिसका अस्तित्व उसकी कल्पना से परे नहीं होता। मन की प्रवृत्ति इन्द्रियतृप्ति पर आधारित विविध कार्यों को स्वीकार करने तथा उन्हें बहिष्कृत करने की होती है। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति को मन पर नियंत्रण रखना चाहिए और वस्तुओं को कृष्ण से पृथक् देखने के भ्रम से इसे अलग रखना चाहिए। जब मन इस तरह वश में हो जायेगा, तो उसे वास्तविक निर्भीकता का अनुभव होगा।

तात्पर्य : यद्यपि बद्ध-मन माया द्वारा प्रदत्त इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं से मोहित हो जाता है, किन्तु यदि कोई व्यक्ति भगवान् की अनन्य भक्ति स्वीकार कर ले तो ऐसी भौतिक इन्द्रियतृप्ति क्रमशः दूर हो जाती है, क्योंकि यह बद्धजीव का मनोरथ मात्र होती है। श्रील श्रीधर स्वामी ने *अव्यभिचारिणी भक्ति* शब्दों के प्रयोग से इस बात पर बल दिया है कि मनुष्य भौतिक इन्द्रियतृप्ति के भ्रम को तब तक दूर नहीं कर सकता, जब तक वह भगवान् की शुद्ध भक्ति स्वीकार न कर ले। श्रील रूप गोस्वामी ने (भक्तिरसामृतसिन्धु १.१.११) कहा है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

शुद्ध भक्ति को भौतिक इन्द्रियतृप्ति या मनोरथ के साथ मिश्रित नहीं किया जा सकता। सेवक को स्वामी की तुष्टि के लिए ही कर्म करना चाहिए। भगवान् कृष्ण ने इसी तरह *भगवद्गीता* में कहा है— *मामेकं शरणं व्रज।* मनुष्य को चाहिए कि वह केवल कृष्ण को सर्वत्र देखे और हर जीव के नित्य स्वामी भगवान् कृष्ण की प्रसन्नता के लिए ही कर्म करे।

श्रील मध्वाचार्य ने *हरिवंश* से अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं, जो यह बतलाते हैं कि जीव अपने को अपना शरीर, घर, परिवार, मित्र इत्यादि मानने के भ्रम से तथा जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसने से मायाजाल को सच्चाई मान लेता है। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *श्रवणकीर्तनादिलक्षणमात्रत्वं यतो न व्याहन्येत*—यदि कोई व्यक्ति भौतिक भ्रम के द्वैत को वास्तव में दूर करना चाहता है, तो उसे भगवान् के गुणों के कीर्तन तथा श्रवण करने की विधि ग्रहण करनी चाहिए। श्रील चैतन्य महाप्रभु ने भी निम्नलिखित वैदिक सन्दर्भ प्रस्तुत किया है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(*बृहन्नारदीय पुराण*)

वैदिक वाङ्मय के अनुसार इस कलियुग के जीवों में आध्यात्मिक ज्ञान समझने की शक्ति क्षीण हो चुकी है (*मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः*)। उनके मन सदैव विक्षुब्ध रहते हैं, वे आलसी होते हैं और अनेक नकली नेताओं द्वारा दिग्भ्रमित किये जाते हैं। *भागवत* में इन्हें ही *निःसत्त्वान्* (अधीर

तथा अपवित्र), *दुर्मेधान्* (मन्द बुद्धि वाले) तथा *ह्रसितायुषः* (अल्पजीवी) कहा है। इसलिए जो व्यक्ति भौतिक जीवन के अज्ञान को सच्चे अर्थों में जीतना चाहता है, उसे भगवन्नाम की कीर्तन तथा श्रवण-विधि के प्रति समर्पित हो जाना चाहिए। साथ ही भगवत्प्रदत्त *भगवद्‌गीता, श्रीमद्‌भागवत* तथा *चैतन्य-चरितामृत* जैसे दिव्य ग्रंथों को पढ़ना तथा सुनाना चाहिए। यह जान लेना चाहिए कि जीव पूर्णतया आध्यात्मिक है और भौतिक शक्ति से कभी मिश्रित नहीं होता (*असंगो ह्ययंपुरुषः*)। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार—*तस्मिन् शुद्धेऽपि कल्प्यते*—यद्यपि जीव *शुद्ध* है—शुद्ध आत्मा है—तो भी वह अपने को भौतिक सृष्टि के रूप में सोचता है और इस तरह अपने को माया के बंधन में, जिसे *देहापत्य कलत्रादि* कहते हैं, फँसा लेता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भौतिक जीवन के अनुभव को बताने के लिए *मानसप्रत्यक्ष* शब्द का प्रयोग किया है। इसका अर्थ है ''जिसका अनुभव केवल मन में ही किया जाय।'' वास्तविक *प्रत्यक्ष* का वर्णन *भगवद्‌गीता* (९.२) में हुआ है—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।

प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

जब मनुष्य *भगवद्‌गीता* में स्वयं भगवान् द्वारा दिये गये उपदेशों को सुनता है, तो वह प्रत्यक्ष रूप से अपने नित्य स्वभाव का अनुभव कर सकता है (*प्रत्यक्षावगमम्*), क्योंकि *भगवद्‌गीता राजविद्या* और *राजगुह्यम्* है और ऐसे निष्कलुष आध्यात्मिक ज्ञान के सान्निध्य से ही प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है (*पवित्रमिदमुत्तमम्*)। अपने नित्य स्वभाव का अनुभव करके मनुष्य पूरी तरह धार्मिक (*धर्म्यम्*), आनन्दमय (*सुसुखम्*) तथा भगवद्‌भक्ति में निरन्तर रत (*कर्तुमव्ययम्*) रहता है।

इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने यह श्रुति मंत्र उद्‌धृत किया है—*विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगम्*—जिन इन्द्रियों तथा प्राण-वायु को मनुष्य जीत लेता है, उन्हें ही मन फिर से खींच लेगा। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक का अर्थ *समवहाय गुरोश्चरणम्*—अपने गुरु के चरणकमलों को त्यागने पर मनुष्य की पूर्व आध्यात्मिक उन्नति शून्य हो जाती है। पिछले श्लोक में इसे *गरुदेवतात्मा* शब्दों से सूचित किया जा चुका है। जब तक हम वैध

परम्परा में प्रामाणिक गुरु को अपना पूज्य देव तथा प्राण नहीं मानते, तब तक भौतिक जीवन के द्वैत को जीत पाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस श्लोक की निम्नलिखित टीका की है "मन का नियंत्रण भगवद्भक्ति करने का फल है। स्थिर भक्ति के प्रभाव से स्वीकृत तथा अस्वीकृत करने वाला मन कृष्ण से पृथक् इन्द्रिय-भोग की प्यास को रोक सकता है। कृष्णभावनामृत में कोई विरोध, क्षुद्रता या आनन्दहीनता नहीं है। दूसरे शब्दों में, यह कोई भौतिक तत्त्व नहीं, जो क्षणभंगुर होता है और निरन्तर दुख लाता है। कृष्ण को भुलाने पर बद्धजीव अपनी ही तथाकथित बुद्धि के दिग्भ्रम तथा विकृति से कष्ट पाता है। सारे जीव परम आश्रय कृष्ण के भिन्नांश हैं, किन्तु भगवान् कृष्ण की दिव्य लीलाओं के धाम से च्युत हो गये हैं। भगवान् को भूल जाने से वे पापमय जीवन बिताते हैं और घातक भौतिक पदार्थों की ओर ध्यान देते हैं, जिससे उन्हें निरन्तर भय बना रहता है। यदि कोई मन को दमित करना चाहे तो उसे कृष्ण-भक्ति में लग जाना चाहिए, क्योंकि मन सदैव मनोरथ के द्वैत में पड़ा रहता है।"

शृण्वन्सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन्विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

शृण्वन्—सुनते हुए; सु-भद्राणि—सर्वमंगलमय; रथ-अङ्ग-पाणेः—जिनके हाथ में रथ का पहिया है, उनके; जन्मानि—जन्मों को; कर्माणि—कार्यों को; च—तथा; यानि—जिन जिन; लोके—इस लोक में; गीतानि—गाये जाते हैं; नामानि—नामों को; तत्-अर्थकानि—इन जन्मों तथा कर्मों को बताने वाले; गायन्—गाते हुए; विलज्जः—क्षोभ से मुक्त; विचरेत्—विचरण करना चाहिए; असङ्गः—भौतिक संगति के बिना।

जिस बुद्धिमान व्यक्ति ने अपने मन को वश में कर लिया है और भय पर विजय प्राप्त कर ली है, उसे पत्नी, परिवार, राष्ट्र जैसे भौतिक वस्तुओं के प्रति सारी आसक्ति को त्याग देना चाहिए और निर्द्वन्द्व होकर चक्रपाणि भगवान् के पवित्र नामों का श्रवण और कीर्तन करते हुए मुक्त भाव से विचरण करना चाहिए। कृष्ण के पवित्र नाम सर्वमंगलकारी हैं, क्योंकि वे उनके दिव्य जन्म तथा बद्धजीवों के मोक्ष के लिए इस जगत में किये जाने वाले उनके कार्यों का वर्णन करने वाले हैं। इस तरह भगवान् के पवित्र नामों का विश्व-भर में गायन होता है।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् के नाम, रूप तथा लीलाएँ अनन्त हैं, अतएव उन सबों को सुन पाना या उनका कीर्तन कर पाना किसी के लिए सम्भव नहीं है। अतएव *लोके* शब्द सूचित करता है कि इस विशेष लोक में भगवान् के पवित्र नाम जो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, उन्हीं का कीर्तन करना चाहिए। इस जगत में राम तथा कृष्ण अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उनके ग्रंथ *रामायण* तथा *भगवद्गीता* सारे संसार में पढ़े जाते हैं और उनका आस्वादन किया जाता है। इसी तरह चैतन्य महाप्रभु भी क्रमश: सारे विश्व में प्रसिद्ध हो रहे हैं, जैसाकि उन्होंने स्वयं भविष्यवाणी की थी। *पृथिवीते आछे यत नगरादि ग्राम।सर्वत्र प्रचार हैबे मोर नाम*—इस पृथ्वी के हर नगर तथा हर ग्राम में मेरे नाम के यश का कीर्तन किया जायेगा। अतएव *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक के प्रामाणिक कथन के ही अनुसार कृष्णभावनामृत आन्दोलन *महामन्त्र*—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे—एवं उसी के साथ *पञ्चतत्त्व महामन्त्र— श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु नित्यानन्द श्रीअद्वैत गदाधर श्रीवासादिगौरभक्तवृन्द*—पर बल देता है।

श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार किसी भौतिक भाव के बिना भगवन्नाम कीर्तन की यह आनन्दमय विधि *सुगमं मार्गम्* कहलाती है। इसी तरह भगवान् कृष्ण ने *भक्तियोग* की विधि को *सुसुखं कर्तुम्* कहा है और श्री लोचन दास ठाकुर ने गाया है कि—*सब अवतार सारशिरोमणि केवल आनन्दकाण्ड।* कृष्ण की पूजा करने के लिए चैतन्य महाप्रभु की विधि *केवल आनन्दकाण्ड*—केवल आनन्दमय—है। इस सम्बन्ध में श्रील प्रभुपाद ने कहा है कि संसार के किसी भी भाग में लोग एकत्र होकर हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन कर सकते हैं, *भगवद्गीता यथारूप* का पाठ कर सकते हैं और आनंदपूर्वक *कृष्ण-प्रसादम्* ग्रहण कर सकते हैं, जैसाकि चैतन्य महाप्रभु ने नवद्वीप में किया।

किन्तु इस कार्यक्रम के सफल होने के विषय में लोचन दास ठाकुर ने आगाह किया है *विषय छाडिया*—मनुष्य को इन्द्रियतृप्ति का परित्याग कर देना चाहिए। यदि कोई इन्द्रियतृप्ति में रत होता है, तो वह देहात्म-बुद्धि को प्राप्त होगा और जो ऐसी बुद्धि में होगा वह निस्सन्देह भगवान् की लीलाओं के सम्बन्ध में भौतिकतावादी दृष्टिकोण रखेगा। इस प्रकार भगवान् की लीलाओं को संसारी मानने से वह *मायावाद* या निर्विशेषवाद की श्रेणी में आ जायेगा, जिसमें भगवान् के दिव्य शरीर को भौतिक प्रकृति की सृष्टि माना जाता है। इसीलिए इस श्लोक में *असङ्ग:* शब्द अत्यन्त सार्थक है। मनुष्य को चाहिए कि बिना मानसिक चिन्तन के भगवन्नाम का कीर्तन करे। उसे चाहिए कि भगवान् कृष्ण को

उसी रूप में स्वीकार करे, जिसमें वे अपने को *भगवद्गीता* में प्रस्तुत करते हैं और यह कहते हैं कि वे ही एकमात्र पुरुषोत्तम अर्थात् भगवान् हैं और उनका दिव्य रूप शाश्वत है (*अजोऽपि सन्नव्ययात्मा*)

श्रील जीव गोस्वामी ने जोर देकर कहा है *यानिशास्त्रद्वारा सत्परम्पराद्वारा च लोके गीतानि जन्मानि कर्माणि च, तानि शृण्वन् गायंश्च*—यदि कोई व्यक्ति भगवन्नाम के श्रवण तथा कीर्तन में सफल होना चाहता है, तो उसे *सत्परम्परा* विधि ग्रहण करनी होगी। इस सत्परम्परा को प्रामाणिक वैदिक शास्त्रों से पहचाना जा सकता है। अज्ञानी आलोचकों के मत के विपरीत, कृष्णभावनामृत के अनुयायी मस्तिष्करहित या उन्मत्त नहीं होते। वे बुद्धिमानी के साथ *गुरु, साधु* तथा *शास्त्र* द्वारा जाँच-पड़ताल की प्रणाली का पालन करते हैं। अर्थात् मनुष्य को प्रामाणिक गुरु बनाना होगा, जिसकी पुष्टि महान् पुरुषों तथा शास्त्रों के मत द्वारा होती है। यदि कोई व्यक्ति प्रामाणिक गुरु बनाता है, महापुरुषों के उदाहरण का अनुसरण करता है तथा प्रामाणिक ग्रंथों से यथा *भगवद्गीता यथारूप* एवं *श्रीमद्भागवत* से परिचित हो जाता है, तो भगवान् के पवित्र नामों के कीर्तन एवं भगवान् की लीलाओं के श्रवण का उसका कार्यक्रम पूर्णतया सफल होगा। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.९) में कृष्ण कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यम् एवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो मेरे आविर्भाव तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति को तत्त्व से जानता है, वह इस शरीर को छोड़ने पर इस संसार में पुनः जन्म नहीं लेता, अपितु मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।"

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है कि भगवान् सारे जगत में अनेक नामों से, जिनमें से कुछ साधारण बोलचाल की भाषा में हैं जाने जाते हैं, किन्तु इस श्लोक के अनुसार कोई नाम, जो उन अद्वितीय भगवान् को इंगित करने के लिए प्रयुक्त होता है और जो भौतिक प्रकृति के परे हैं, ईश्वर के पवित्र नाम के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसको *लोके* शब्द से इंगित किया गया है।

किसी को *विचरेत्* शब्द से यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि कृष्ण-नाम का कीर्तन करते हुए कोई कहीं भी विचरण कर सकता है अथवा बिना भेद-विभेद के कोई भी कर्म कर सकता है। इसीलिए *विचरेद् असंगः* आया है—अर्थात् मनुष्य मुक्त भाव से विचरण तो कर सकता है, किन्तु उसे ऐसे लोगों की संगति से बचना चाहिए जो कृष्णभावनामृत में रुचि नहीं रखते हैं अथवा जो पापमय जीवन में लगे

हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*असत्-संग-त्याग—एइ वैष्णव आचार* (चैतन्य चरितामृत मध्य २२.८७)—वैष्णव समस्त संसारी संगति से पूर्णतया विरक्त होता है। यदि भगवान् की महिमा का कीर्तन करते हुए विचरण करते समय वैष्णव प्रचारक को कोई विनीत अभक्त मिले, जो कृष्ण के विषय में सुनना चाहता हो, तो प्रचारक ऐसे व्यक्ति को अपनी कृपालु संगति सदैव प्रदान करेगा। किन्तु वैष्णव उन लोगों से अवश्य बचे, जो कृष्ण के विषय में श्रवण करना नहीं चाहते।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार जो लोग चकित करने वाली भगवान् की लीलाओं तथा उनके पवित्र नामों को सुनने में अपने को नहीं लगाते और भगवान् की लीलाओं का आस्वादन नहीं करते वे केवल संसारी मायामय कार्यों को सम्पन्न करते हैं या मिथ्या भौतिकतावादी त्याग में अपने को लगाते हैं। कभी कभी हताश जीव शुष्क निर्विशेषवाद को स्वीकार कर लेते हैं और वे भगवान् के नित्य नाम, रूप, गुण, पार्षद तथा लीलाओं के वर्णन से बचते हैं। किन्तु यदि किसी को शुद्ध भक्त की संगति प्राप्त होती है, तो वह शुष्क चिन्तनपरक तर्क को त्याग देता है और भगवद्भक्ति के असली वैदिक मार्ग पर स्थित हो जाता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते हैं कि *द्वैत* शब्द इस मिथ्या ज्ञान को व्यक्त करता है कि कृष्ण से स्वतंत्र अस्तित्व वाली कोई वस्तु है। अद्वैत की मायावादी धारणा जो आध्यात्मिक विशेषता से रहित है, मन द्वारा स्वीकृति तथा निषेध की दूसरी अभिव्यक्ति है। भगवान् का नित्य प्राकट्य तथा उनकी लीलाएँ कभी भी *अद्वय ज्ञान* के चिन्तन के विरुद्ध नहीं होतीं।

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

एवम्-व्रतः—जब कोई कीर्तन करने तथा नाचने के व्रत में लगता है; स्व—अपना; प्रिय—अत्यन्त प्रिय; नाम—पवित्र नाम; कीर्त्य—कीर्तन के द्वारा; जात—इस तरह उत्पन्न; अनुरागः—अनुरक्ति; द्रुत-चित्तः—द्रवित हृदय; उच्चैः—उच्च स्वर से; हसति—हँसता है; अथो—भी; रोदिति—रोता है; रौति—विक्षुब्ध होता है; गायति—कीर्तन करता है; उन्माद-वत्—उन्मत्त की तरह; नृत्यति—नाचता है; लोक-बाह्यः—बाहरी लोगों की परवाह न करके।

भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करने से मनुष्य भगवत्प्रेम की अवस्था को प्राप्त करता है। तब भक्त भगवान् के नित्य दास रूपी व्रत में स्थिर हो जाता है और क्रमशः भगवान् के किसी

एक नाम तथा रूप के प्रति अत्यधिक अनुरक्त हो उठता है। जब उसका हृदय भावमय प्रेम से द्रवित होता है, तो वह जोर-जोर से हँसता या रोता है अथवा चिल्लाता है। कभी कभी वह उन्मत्त की तरह गाता और नाचता है, क्योंकि वह जन-मत के प्रति उदासीन रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में शुद्ध भगवत्प्रेम का वर्णन किया जा रहा है। श्रील श्रीधर स्वामी ने इस आध्यात्मिक स्थिति को *सम्प्राप्तप्रेमलक्षणभक्तियोगस्य संसारधर्मातीतां गतिम्* कहा है अर्थात् जीवन की ऐसी सिद्धावस्था जिसमें भगवद्भक्ति भावमय प्रेम द्वारा समृद्ध होती है। उस समय मनुष्य के आध्यात्मिक कार्य सांसारिक मामलों की सीमा से परे होते हैं।

श्रीचैतन्य-चरितामृत (आदि ७.७८) में श्री चैतन्य महाप्रभु का निम्नलिखित कथन प्राप्त है—

धैर्य धरिते नारि, हैलाम उन्मत्त।

हासि, कान्दि, नाचि, गाइ, यैछे मद-मत्त॥

''शुद्ध भाव में भगवन्नाम का कीर्तन करते हुए मैं अपने को खो देता हूँ और इस तरह मैं पागल की भाँति हँसता, चिल्लाता, नाचता तथा गाता हूँ।'' चैतन्य महाप्रभु तुरन्त अपने गुरु के पास यह पूछने के लिए पहुँचे कि वे कृष्ण के पवित्र नाम के कीर्तन से पागल जैसे क्यों दिखने लगे हैं। उनके गुरु ने उत्तर दिया—

कृष्णनाममहामन्त्रेर एइ तऽस्वभाव।

येइ जपे, तार कृष्णे उपजये भाव॥

''यह तो हरे कृष्ण महामंत्र की प्रकृति है कि जो भी इसका कीर्तन करता है, उसमें तुरन्त कृष्ण के प्रति प्रेम-भाव का विकास हो जाता है।'' (चैतन्य चरितामृत, आदि ७.८३) इस सन्दर्भ में श्रील प्रभुपाद ने टीका की है, ''ये लक्षण शुद्ध भक्त के शरीर में स्पष्ट दिखने लगते हैं। कभी कभी जब कृष्णभावनामृत आन्दोलन के हमारे छात्र कीर्तन करते और नाचते हैं, तो भारत-वर्ष के लोग भी यह देखकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं कि इन विदेशियों ने किस तरह इस भाव-शैली में कीर्तन करना तथा नाचना सीख लिया है। किन्तु जैसाकि चैतन्य महाप्रभु ने बतलाया है यह अभ्यासवश नहीं होता, क्योंकि ये लक्षण हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करने वाले किसी भी व्यक्ति में बिना किसी विशेष प्रयास के, प्रकट हो सकते हैं।''

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस सन्दर्भ में हमको अपवित्र *सहजियों* से आगाह किया है, जो अवैध रूप से भगवान् की लीलाओं का अनुकरण करते हैं और वैदिक शास्त्रों के आदर्श आदेशों की उपेक्षा करते हुए पुरुषोत्तम रूप कृष्ण के पद को मूर्खतापूर्वक नकल करने एवं इस तरह भगवान् की उच्च लीलाओं का भद्दा मजाक उड़ाने का प्रयत्न करते हैं। उनके तथाकथित भाव-लक्षणों यथा चिल्लाने, काँपने तथा पृथ्वी पर गिर पड़ने को भक्ति के उच्च लक्षणों से संभ्रामित नहीं करना चाहिए जिनका वर्णन श्रीधर स्वामी ने *सम्प्राप्तप्रेमलक्षणभक्तियोग* के रूप में किया है। इस सम्बन्ध में श्रील प्रभुपाद की टिप्पणी है कि ‘‘जिसने यह भाव-अवस्था प्राप्त कर ली है, वह माया के चंगुल में और अधिक समय तक नहीं रहता।’’ इसी प्रकार कृष्णदास कविराज कहते हैं—

पञ्चम पुरुषार्थ—प्रेमानन्दामृत-सिन्धु।

मोक्षादि आनन्द यार नहे एक बिन्दु॥

‘‘जिस भक्त ने भाव (भगवत्प्रेम) उत्पन्न कर लिया हो उसके लिए धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष से प्राप्त होने वाला आनन्द सागर की तुलना में एक बूँद जैसा प्रतीत होता है।’’ (*चैतन्य-चरितामृत, आदि* ७.८५) जैसाकि इस अध्याय के पिछले श्लोक में कहा गया है *गायन् विलज्जो विचरेद् असंग:*—जब मनुष्य असंग अर्थात् भौतिक इन्द्रियतृप्ति की आसक्ति से रहित होता है, तो उसमें भगवत्प्रेम के भाव-लक्षण प्रकट होते हैं।

इस श्लोक के *लोक-बाह्य:* शब्द से सूचित होता है कि प्रेम पद को प्राप्त शुद्ध भक्त देहात्म बुद्धि वाले सामान्य लोगों द्वारा किए गए उपहास, प्रशंसा, आदर अथवा आलोचना की परवाह नहीं करता। कृष्ण परब्रह्म भगवान् हैं और जब वे अपने शरणागत सेवक को अपना दर्शन देते हैं, तो ब्रह्म के स्वभाव के विषय में सारा सन्देह तथा चिन्तन छू-मन्तर हो जाता है।

इस सम्बन्ध में श्रीपाद मध्वाचार्य ने वराह पुराण का एक श्लोक उद्‌धृत किया है—

केचिद् उन्मादवद् भक्ता बाह्यय-लिंग-प्रदर्शका:।

केचिद् आन्तरभक्ता: स्यु: केचिच्चैवोभयात्मका:।

मुख प्रसादाद् दार्ढयाच्च भक्तिर्ज्ञेया न चान्यत:॥

''कुछ भगवद्भक्त पागलों की तरह के, कुछ अन्तर्मुखी भक्तों की तरह के और कुछ दोनों के स्वभावों के बाह्य लक्षण प्रदर्शित करते हैं। किसी के स्थैर्य तथा उसके मुख से निकलने वाले दयामय स्वरों से उसकी भक्ति जानी जा सकती है, अन्यथा नहीं।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भावमय प्रेम में हँसने तथा भगवत्प्रेम में अन्य लक्षणों को बतलाने वाला एक अतीव सुन्दर उदाहरण दिया है, ''ओह, वह यशोदा-पुत्र चोर कृष्ण मेरे घर में माखन चुराने के लिए घुसा है। उसे पकड़ो और उसे दूर रखो।'' एक वृद्ध *गोपी* जरती के ये धमकी-भरे शब्द सुनकर कृष्ण तुरन्त घर से भागने के लिए तैयार हो जाते हैं। जिस भक्त को यह दिव्य लीला प्रत्यक्ष प्रकट होती प्रतीत होती है, वह भावमय प्रेम में हँसता है, किन्तु सहसा उसे कृष्ण नहीं दिखने लगते। तब वह अतीव शोक में चिल्लाता है, ''ओह! मुझे संसार की सबसे बड़ी सम्पत्ति मिली थी, जो अब मेरे हाथों से सहसा छूट गई है।'' इस प्रकार भक्त जोर से चिल्लाता है, ''हे प्रभु! आप कहाँ हैं? आप जवाब दीजिये न!'' इस पर भगवान् उत्तर देते हैं, ''हे भक्त! मैंने तुम्हारी ऊँची आवाज में शिकायत सुन ली है, अतएव मैं फिर से तुम्हारे सामने आया हूँ।'' भगवान् कृष्ण को पुन: देखकर भक्त गा उठता है, ''आज मेरा जीवन सफल हो गया।'' इस तरह दिव्य आनन्द से अभिभूत होकर वह पागल की तरह नाचने लगता है।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर यह भी टिप्पणी करते हैं कि *द्रुतचित्त:* शब्द यह बतलाता है कि भगवान् का दर्शन करने की चिन्ता रूपी अग्नि से भक्त का हृदय पिघल कर जम्बू नदी के समान बन जाता है। वे यह भी इंगित करते हैं कि—*नामकीर्तनस्य सर्वोत्कर्षम्*—यह श्लोक तथा पिछला श्लोक *श्रवणं कीर्तनं विष्णो:* के उच्च पद को बतलाते हैं। चैतन्य महाप्रभु ने भी निम्नलिखित उद्धरण देते हुए इसी पर बल दिया है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

''इस कलियुग में आध्यात्मिक उन्नति के लिए भगवन्नाम के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं, कोई विकल्प नहीं, कोई विकल्प नहीं है।'' *चैतन्य-चरितामृत* के (*आदि* ७.७६) के तात्पर्य में श्रील प्रभुपाद ने इस श्लोक की विस्तृत व्याख्या की है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर की संस्तुति है कि हम इस प्रसंग के लिए निम्नलिखित श्लोक पढ़ें—

परिवदतु जनो यथा तथा वा

ननु मुखरो न वयं विचारयाम: ।

हरिरसमदिरामदातिमत्ता

भुवि विलुठामो नटामो निर्विशाम: ॥

''बातूनी जनता चाहे जो भी कह ले, हम उसकी परवाह नहीं करेंगे। कृष्ण-प्रेम की मतवाली सुरा के भाव से उन्मत्त हम इधर-उधर दौड़ते, पृथ्वी पर लुढ़कते-पुढ़कते तथा भावावेश में नाचते हुए जीवन का आनन्द लूटेंगे।'' (पद्यावली ७३)

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किं च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

खम्—शून्य; वायुम्—वायु; अग्निम्—अग्नि; सलिलम्—जल; महीम्—पृथ्वी; च—तथा; ज्योतींषि—सूर्य, चन्द्रमा तथा अन्य दैवी प्रकाशमान पिंड; सत्त्वानि—सारे जीव; दिशः—दिशाएँ; द्रुम-आदीन्—वृक्ष तथा अन्य अचर प्राणियों को; सरित्—नदियाँ; समुद्रान्—तथा समुद्र; च—भी; हरेः—भगवान् हरि के; शरीरम्—शरीर को; यत् किम् च—जिसे भी; भूतम्—सृष्ट जगत में; प्रणमेत्—प्रणाम करना चाहिए; अनन्यः—भगवान् से पृथक् कुछ भी नहीं है, इस प्रकार सोचते हुए।

भक्त को चाहिए कि किसी भी वस्तु को भगवान् कृष्ण से पृथक् नहीं देखे। शून्य, अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी, सूर्य तथा अन्य नक्षत्र, सारे जीव, दिशाएँ, वृक्ष तथा अन्य पौधे, नदियाँ तथा समुद्र इनमें से भक्त को जिस किसी का भी अनुभव हो, उसे वह कृष्ण का अंश माने। इस प्रकार सृष्टि के भीतर विद्यमान हर वस्तु को भगवान् हरि के शरीर के रूप में देखते हुए भक्त को चाहिए कि भगवान् के शरीर के सम्पूर्ण विस्तार के प्रति नमस्कार करे।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने पुराणों से यह उदाहरण दिया है—*यत् पश्यति, तत्त्वनुरागातिशयेन ''जगद्धनमयं लुब्धाः कामुकाः कामिनीमयम्'' इति-वत् हरेः शरीरम्*—''धनलोलुप होने से लोभी मनुष्य, जहाँ भी जाता है उसे धन अर्जित करने का अवसर दिखता है। इसी प्रकार अत्यन्त कामी पुरुष को सर्वत्र स्त्रियाँ दिखती हैं।'' इसी प्रकार शुद्ध भक्त को हर वस्तु के भीतर भगवान् का दिव्य स्वरूप

देखना चाहिए, क्योंकि हर वस्तु भगवान् का अंश है। यह हमारा व्यावहारिक अनुभव है कि लोभी व्यक्ति को सर्वत्र धन दिखेगा। यदि वह जंगल में जाता है, तो तुरन्त विचार करता है कि जंगल की भूमि खरीदना और उसके वृक्षों को किसी कागज–कारखाने को बेच देना लाभप्रद होगा या नहीं। इसी प्रकार यदि कामी पुरुष उसी जंगल में जाता है, तो वह चारों ओर सुन्दर स्त्री पर्यटकों के लिए, जो वहाँ गई हों, ताकेगा। किन्तु यदि उसी जंगल में एक भक्त जाता है, तो वह वहाँ कृष्ण का दर्शन करेगा, क्योंकि वह ठीक जानता है कि सारा जंगल, यहाँ तक कि उसके ऊपर का आकाश भी, भगवान् की अपरा शक्ति है। कृष्ण परम पवित्र हैं, क्योंकि वे भगवान् हैं और, चूँकि प्रत्येक वस्तु जिसका अस्तित्व है, वह भगवान् के शरीर से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विस्तार पाती है, अतएव जब स्वरूपसिद्ध मनुष्य की आँखों से ये वस्तुएँ देखी जाती हैं, तो पवित्र दिखती हैं। इसलिए जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है *प्रणमेत्*—अर्थात् हर वस्तु को सच्चे मन से प्रणाम करना चाहिए। श्रील जीव गोस्वामी ने उल्लेख किया है कि हमें सर्वत्र कृष्ण के साकार रूप का दर्शन करना चाहिए।

यह श्लोक इस निर्विशेष नास्तिकवादी दर्शन का समर्थन नहीं करता कि हर वस्तु ईश्वर है। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य ने *हरिवंश* से निम्नलिखित श्लोक प्रस्तुत किया है—

सर्वं हरेर्वशत्वेन शरीरं तस्य भण्यते।

अनन्याधिपतित्वाच्च तदनन्यमुदीर्यते।

न चाप्यभेदो जगतां विष्णोः पूर्णगुणस्य तु॥

"चूँकि हर वस्तु भगवान् हरि के नियंत्रण में है, अतएव हर वस्तु को उनका शरीर माना जाता है। वे हर वस्तु के आदि स्रोत तथा स्वामी हैं। अतएव उनसे पृथक् रूप में कुछ भी नहीं देखना चाहिए।" इतने पर भी किसी को मूर्खतापूर्वक यह नहीं समझ बैठना चाहिए कि भौतिक ब्रह्माण्ड तथा भगवान् विष्णु में, जो कि अपने अद्वितीय आध्यात्मिक गुणों से पूर्ण हैं, कोई भी अन्तर नहीं है।"

प्रायः सूर्य तथा सूर्य की किरणों का दृष्टान्त प्रस्तुत किया जाता है। सूर्य का प्रकाश सूर्यमण्डल का ही विस्तार होता है, अतएव गुणात्मक दृष्टि से सूर्य तथा इसकी किरणों में अन्तर नहीं होता। किन्तु सूर्य–प्रकाश के सर्वत्र होने एवं हर वस्तु को सूर्य की शक्ति का रूपान्तर होने पर भी सूर्य–प्रकाश का

स्रोत (सूर्यमण्डल) सर्वत्र नहीं रहता अपितु विशाल आकाश में एक विशेष स्थान पर स्थित होता है और उसका अपना विशिष्ट रूप होता है।

यदि हम सूर्यमण्डल के भीतर प्रवेश करें, तो हमें सूर्य-देव विवस्वान् मिलेंगे। यद्यपि वर्तमान युग के छद्म बौद्धिकजन, जो अपने सिर के बालों को भी नहीं गिन सकते, सूर्य-देव को एक पौराणिक व्यक्ति मानेंगे, किन्तु यह वास्तव में आधुनिक मनुष्यों की मूर्खता की बात होगी कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को उष्मा तथा प्रकाश देने वाला सूर्य जैसा परिष्कृत उपकरण बुद्धिमान प्रशासन के बिना कार्य कर सकता है। सूर्य की शक्ति के रूपान्तर से पृथ्वी पर जीवन सम्भव है, इसलिए पृथ्वी को सर्वव्यापी सौर-ऊर्जा के गौण रूपान्तरों की अनन्त विविधता से युक्त समझना चाहिए।

इस तरह सूर्य-लोक के भीतर विवस्वान है, जो सौर कार्यों का मुख्य प्रशासक है, सूर्यमण्डल स्वयं सीमित हैं, किन्तु सूर्य की किरणें सर्वत्र फैलती हैं। इसी तरह श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण आदि भगवान् हैं (*भगवान् स्वयम्*), वे अपना विस्तार प्रत्येक हृदय में स्थानीय अन्तर्यामी परमात्मा के रूप में करते हैं और अन्ततः अपनी शारीरिक चमक से, जो कि *ब्रह्मज्योति* है, अपनी शक्ति का विस्तार करते हैं। सम्पूर्ण विराट जगत इस *ब्रह्मज्योति* की किरणों के भीतर तैरता रहता है। जिस तरह पृथ्वी पर सारा जीवन सूर्य की सर्वव्यापी किरणों का रूपान्तर है, उसी तरह यह विराट जगत *ब्रह्मज्योति* की आध्यात्मिक किरणों का रूपान्तर है। *ब्रह्म-संहिता* (५.४०) में कहा गया है—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि

कोटिष्वशेषवसुधादि विभूतिभिन्नम्।

तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतां

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जो महान् शक्ति से युक्त हैं। उनके दिव्य रूप का चमकीला तेज निर्विशेष ब्रह्म है, जो परम, पूर्ण तथा असीम है और जो अपने विभिन्न ऐश्वर्यो से युक्त असंख्य लोकों की विविधता प्रदर्शित करता है।" इसलिए *ब्रह्मज्योति* वह आध्यात्मिक प्रकाश है, जो सीधे भगवान् के शरीर से उद्भूत होता है। यह ब्रह्माण्ड उसी आध्यात्मिक शक्ति का रूपान्तर है, इसलिए इसमें विद्यमान प्रत्येक वस्तु एक तरह से भगवान् के निजी शरीर से सीधे सम्बद्ध है।

यहाँ इस बात पर बल दिया गया है कि हमें हर विद्यमान वस्तु को भगवान् की शक्ति मान कर प्रणाम करना चाहिए। यहाँ पर यह दृष्टान्त दिया जा सकता है कि यदि कोई मनुष्य महत्त्वपूर्ण है, तो उसकी सम्पत्ति भी महत्त्वपूर्ण है। किसी देश का राष्ट्रपति उस देश का सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होता है और इसलिए हर व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति का आदर करना चाहिए। इसी तरह हर वस्तु, जो कि विद्यमान है भगवान् का अंश है और उसी के अनुसार समादरित होनी चाहिए। यदि हम प्रत्येक विद्यमान वस्तु को भगवान् की शक्ति के रूप में नहीं देख पाते, तो हम मायावाद दर्शन की ओर जाने का खतरा मोल लेते हैं, जो चैतन्य महाप्रभु के अनुसार वास्तविक आध्यात्मिक जीवन में प्रगति के इच्छुक व्यक्ति के लिए सर्वाधिक भयंकर विष है। *मायावादी भाष्य शुनिले हय सर्वनाश* (चैतन्य-चरितामृत मध्य ६.१६९)। यदि हम कृष्ण को उनकी शक्ति के विस्तार के बिना ही समझने का प्रयास करेंगे, तो हमें *भगवद्गीता* के *वासुदेव: सर्वम्* तथा *अहं सर्वस्य प्रभव:* जैसे कथन समझ में नहीं आयेंगे।

इस अध्याय में जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है *भयं द्वितीयाभिनिवेशत: स्यात्*—भय या मोह यह सोचने से उत्पन्न होता है कि भगवान् पर आधारित न रहने वाली भी कोई वस्तु है। अब इस श्लोक में इस भय-पूर्ण मोह को जीतने की विशेष विधि दी हुई है। मनुष्य को चाहिए कि विद्यमान प्रत्येक वस्तु को भगवान् की शक्ति के विस्तार के रूप में समझने के लिए अपने मन को प्रशिक्षित करे। हर वस्तु को नमस्कार करके तथा हर वस्तु को भगवान् के शरीर का अंश मान कर ध्यान करने से मनुष्य भय से मुक्त हो सकेगा। जैसाकि *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा गया है—*सुहृदं सर्वभूतानाम्*—कृष्ण हर जीव के हितैषी मित्र हैं। जब मनुष्य यह समझ लेता है कि प्रत्येक वस्तु उसके अत्यन्त प्रिय मित्र के नियंत्रण में है, तो वह ऐसी अवस्था को प्राप्त होता है, जिसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आनन्दमय धाम बन जाता है (*विश्वं पूर्णसुखायते*), क्योंकि उसे सर्वत्र ही कृष्ण दिखते हैं।

यदि कृष्ण का व्यक्तित्व हर वस्तु का स्रोत न होता और हर वस्तु कृष्ण से सम्बन्धित न होती, तो यह निष्कर्ष निकालना उचित ही होता कि कृष्ण का व्यक्तित्व किसी निर्विशेष सत्य की भौतिक अभिव्यक्ति है। जैसाकि *वेदान्त सूत्र* में कहा गया है *जन्माद्यस्य यत:*—परब्रह्म वह है, जिससे हर वस्तु उद्भूत होती है। इसी प्रकार कृष्ण कहते हैं *अहं सर्वस्य प्रभव:*—मैं प्रत्येक वस्तु का स्रोत हूँ। यदि हम

किसी वस्तु को कृष्ण के शरीर से पूर्णतया असम्बद्ध देखते हैं, तो हम सन्देह कर सकते हैं कि क्या कृष्ण का व्यक्तित्व वास्तव में वही परम स्रोत है, जिसका वर्णन *वेदान्त सूत्र* में मिलता है। ज्योंही कोई मनुष्य ऐसा अनुभव करता है, वह भयभीत हो उठता है और उसे भगवान् की मायाशक्ति के अधीन समझना चाहिए।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने हमें आगाह किया है कि यदि हम हर वस्तु को भगवान् की अभिव्यक्ति के रूप में नहीं देखते, तो हम *फल्गु-वैराग्य* अर्थात् अपरिपक्व वैराग्य के शिकार हो जायेंगे। हम कृष्ण से असम्बद्ध जो भी वस्तु देखेंगे उससे हमारे मन में कृष्ण की सेवा से कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं होगा, किन्तु यदि हम हर वस्तु को कृष्ण से सम्बन्धित देखते हैं, तो हम हर वस्तु का उपयोग कृष्ण की तुष्टि के लिए करेंगे। यह *युक्त-वैराग्य* कहलाता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार "जिसने अपनी सही-सही पहचान का अनुभव कर लिया है, वह यह समझता है कि सारी वस्तुएँ भगवान् को भावमय आनन्द प्रदान करने के लिए साज-सामग्री के रूप में विद्यमान हैं। इस तरह मनुष्य उस स्वतंत्रतावादी दृष्टि से मुक्त हो जाता है, जिसमें वह सारे संसार को अपने ही भोग के निमित्त विद्यमान मानता है। दिव्य अवस्था में भक्त जो भी वस्तु देखता है, वह उसे कृष्ण का स्मरण कराती है और इस तरह उसका दिव्य ज्ञान तथा आनन्द दोनों ही बढ़ते हैं।" चूँकि निर्विशेषवादी दार्शनिक हर वस्तु को कृष्ण के निजी स्वरूप से सम्बन्धित नहीं देख पाते, अतएव वे इस संसार को मिथ्या कहकर बहिष्कार करते हैं (*जगन् मिथ्या*)। किन्तु यह भौतिक जगत परम सत्य कृष्ण से उद्भूत है, इसलिए वास्तव में इसका अस्तित्व है। इसका अनस्तित्व कल्पनाजन्य है और मनुष्य ऐसे काल्पनिक स्तर पर कार्य नहीं कर सकता। इसलिए माया का सिद्धान्त प्रस्तावित करके और उस स्तर पर वास्तव में रहने में असमर्थ होने से निर्विशेषवादी परोपकारी या इन्द्रिय-तुष्टि करने वाले कार्यों के भौतिक स्तर पर उतर आते हैं। चूँकि निर्विशेषवादी भगवान् के निजी स्वामित्व को नहीं मानता, इसलिए वह यह नहीं जानता कि इस जगत की वस्तुओं को किस तरह अथवा किसके लिए प्रयोजित किया जाय और चूँकि इस जगत के भीतर रहते हुए इसको पूरी तरह ठुकरा पाना असम्भव है, अतएव वह भौतिक सकाम कर्मों में पुनः फँस सकता है। इसीलिए *भगवद्गीता* (१२.५) में कहा गया है—*क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्*—काल्पनिक दर्शन के निर्विशेष पथ पर चल पाना अत्यन्त कष्टप्रद है।

निष्कर्ष यह निकला कि यह श्लोक भगवद्भक्तों को कृष्णभावनामृत में अग्रसर होने में सहायता देने के लिए कहा गया है। इस अध्याय के पिछले श्लोकों से यह समझा जा सकता है कि चरम लक्ष्य तो कृष्ण की शुद्ध भक्ति है। यदि कोई धोखे से इस श्लोक को मायावाद दर्शन की पुष्टि करने वाला समझ बैठे—कि हर वस्तु ईश्वर है—तो वह मोहग्रस्त ही होगा और आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग से डिग जायेगा।

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः ।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्
तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

भक्तिः—भक्ति; पर-ईश—भगवान् की; अनुभवः—प्रत्यक्ष अनुभूति; विरक्तिः—विराग; अन्यत्र—अन्यत्र वस्तुओं से; च—तथा; एषः—यह; त्रिकः—तीन का समूह; एक-कालः—एक ही समय; प्रपद्यमानस्य—शरणागत होने वाले के लिए; यथा—जिस तरह; अश्नतः—भोजन करने में व्यस्त; स्युः—घटित होते हैं; तुष्टिः—तुष्टि; पुष्टिः—पोषण; क्षुत्-अपायः—भूख से छुटकारा; अनु-घासम्—प्रत्येक कौर के साथ बढ़ती हुई।

जिस व्यक्ति ने भगवान् की शरण ग्रहण कर ली है, उसके लिए भक्ति, भगवान् का प्रत्यक्ष अनुभव तथा अन्य वस्तुओं से विरक्ति—ये तीनों एक साथ वैसे ही घटित होते हैं, जिस तरह भोजन करने वाले व्यक्ति के लिए प्रत्येक कौर में आनन्द, पोषण तथा भूख से छुटकारा—ये सभी एकसाथ और अधिकाधिक होते जाते हैं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने इस साम्य की विवेचना इस प्रकार की है : *भक्ति* की तुलना *तुष्टि* से की जा सकती है, क्योंकि दोनों आनन्द रूप हैं। *परेशानुभव* तथा *पुष्टि* एकसमान हैं, क्योंकि दोनों ही जीवनदायी हैं। और *विरक्ति* तथा *क्षुद् अपाय* दोनों और अधिक लालसा से मुक्ति दिलाने वाले हैं, जिससे मनुष्य को *शान्ति* मिलती है।

भोजन कर रहा व्यक्ति न केवल अन्य कार्यों के प्रति अरुचि रखता है, अपितु अपनी तुष्टि के अनुसार वह भोजन में भी अरुचि दिखाने लगता है। दूसरी ओर, श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार यद्यपि भगवान् कृष्ण के आनन्दमय स्वरूप का अनुभव करने वाला व्यक्ति कृष्ण के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के प्रति अरुचि रखने लगता है, किन्तु कृष्ण के प्रति उसकी अनुरक्ति हर क्षण बढ़ती जाती है। इसलिए

यह समझ लेना चाहिए कि भगवान् का दिव्य सौन्दर्य तथा उनके गुण भौतिक नहीं हैं, क्योंकि भगवान् के आनन्द का आस्वादन करते हुए कभी कोई तृप्त नहीं होता।

इस श्लोक का *विरक्ति* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *विरक्ति* और *त्याग* में अन्तर है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार *त्याग* उस स्थिति में प्रयुक्त होता है जब कोई भोग्य वस्तु को छोड़ देने का विचार करता है। किन्तु जैसा पिछले श्लोक में वर्णित है, हर वस्तु को भगवान् कृष्ण की सेवा के लिए उपयुक्त सामग्री मानते हुए मनुष्य को मन में त्याग नहीं लाना चाहिए, क्योंकि हर वस्तु का उपयोग भगवान् की सेवा में उचित रूप में किया जाता है (*युक्तवैराग्यमुच्यते*)।

इस श्लोक में अच्छे भोजन का सुन्दर दृष्टान्त दिया गया है। भूखा व्यक्ति नाना प्रकार के व्यंजनों को खाते हुए आसपास घटित हो रही घटनाओं में रुचि नहीं लेता। वस्तुतः वह अन्य किसी विषय या कार्य को स्वादिष्ट भोजन पर लगे अपने ध्यान में बाधक मानता है। इसी प्रकार, ज्यों ज्यों मनुष्य कृष्ण-भक्ति में प्रगति करता है, उसे कृष्ण-भक्ति से सम्बन्ध न रखने वाली हर बात अनिष्टकारी एवं बाधक प्रतीत होती है। ऐसे एकाग्र भगवत्प्रेम का वर्णन भागवत के द्वितीय स्कन्ध (२.३.१०) में *तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्* द्वारा किया गया है। मनुष्य को चाहिए कि वह भौतिक जगत का दिखावटी त्याग न करे अपितु वह अपने मन को इस तरह विधिवत् प्रशिक्षित करे कि हर वस्तु भगवान् के ऐश्वर्य का अंश लगे। जिस तरह भूखा भौतिकतावादी व्यक्ति अच्छा भोजन देखकर तुरन्त उसे मुँह में डाल लेना चाहता है, उसी तरह प्रगत कृष्ण-भक्त भौतिक वस्तुओं को देखते ही कृष्ण के आनन्द के लिए उनका प्रयोग कर लेने के लिए उत्सुक हो जाता है। हर वस्तु को कृष्ण-सेवा में प्रयुक्त करने की स्वैच्छिक ललक तथा कृष्ण-प्रेम के सागर में गहरा गोता लगाये बिना तथाकथित ईश-साक्षात्कार या तथाकथित धार्मिक जीवन की बातें करना व्यर्थ है और इनका भगवद्धाम में प्रवेश करने से कोई सम्बन्ध नहीं है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *भक्तियोग* का मार्ग इतना आनन्दप्रद तथा व्यावहारिक है कि *साधन-भक्ति* की अवस्था में ही, जिसमें बिना अच्छी प्रकार से समझे मनुष्य नियमों एवं आदेशों का अनुसरण करता है, उसे चरम परिणाम की अनुभूति हो सकती है। जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने (भक्तिरसामृतसिंधु १.२.१८७) कहा है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

ज्योंही कोई व्यक्ति अन्य सारे कर्मों को त्याग कर (*विरक्तिरन्यत्र च*) भगवान् कृष्ण की शरण में आ जाता है (*प्रपद्यमानस्य*) त्योंही वह मुक्तात्मा (*जीवन्मुक्तः*) मान लिया जाता है। भगवान् कृष्ण इतने दयालु हैं कि जब कोई व्यक्ति यह समझ कर कि भगवान् हर वस्तु के उद्‌गम हैं उनकी शरण ग्रहण करता है, तो कृष्ण उसका भार अपने ऊपर ले लेते हैं और उसके हृदय के भीतर यह व्यक्त कर देते हैं कि वह उनके पूर्ण संरक्षण में है। इस तरह भक्ति, भगवान् का प्रत्यक्ष अनुभव तथा अन्य वस्तुओं से विरक्ति—ये तीनों भक्तियोग की प्रारम्भिक अवस्था से ही प्रकट होने लगते हैं, क्योंकि भक्तियोग का शुभारम्भ मोक्ष प्राप्ति के समय होता है। अन्य विधियों का चरम लक्ष्य मोक्ष ही होता है, किन्तु *भगवद्‌गीता* के अनुसार (१८.६६),

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

यदि कोई व्यक्ति कृष्ण की शरण में आ जाता है, तो वह तुरन्त मुक्त हो जाता है और इस तरह भगवान् के संरक्षण में पूर्ण विश्वास के साथ दिव्य भक्त के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ करता है।

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजं-
स्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अच्युत—अच्युत भगवान् के; अङ्घ्रिम्—चरणों को; भजतः—पूजा करने वाले को; अनुवृत्त्या—निरन्तर अभ्यास द्वारा; भक्तिः—भक्ति; विरक्तिः—विराग; भगवत्-प्रबोधः—भगवान् का ज्ञान; भवन्ति—प्रकट करते हैं; वै—निस्सन्देह; भागवतस्य—भक्त के लिए; राजन्—हे राजा निमि; ततः—तब; पराम् शान्तिम्—परम शान्ति; उपैति—प्राप्त करता है; साक्षात्—प्रत्यक्ष।

हे राजन्, जो भक्त अच्युत भगवान् के चरणकमलों की पूजा सतत प्रयत्नशील रहकर करता है, वह अचल भक्ति, विरक्ति तथा भगवान् का अनुभवगम्य ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार सफल भगवद्‌भक्त को परम आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त होती है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्‌गीता* (२.७१) में कहा गया है—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।

निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

''जिस व्यक्ति ने इन्द्रियतृप्ति की समस्त इच्छाओं का परित्याग कर दिया है, जो इच्छाओं से रहित है और जिसने सारी ममता त्याग दी है तथा अहंकार से रहित है, वही वास्तविक शान्ति को प्राप्त कर सकता है।'' श्रील प्रभुपाद की टीका है : ''निस्पृह होने का अर्थ है इन्द्रियतृप्ति के लिए कुछ भी इच्छा न करना। दूसरे शब्दों में, कृष्णभावनाभावित होने की इच्छा वास्तव में इच्छाशून्यता या निस्पृहता है। *चैतन्य-चरितामृत* में भी (मध्य १९.१४९) ऐसा ही कथन उपलब्ध है—

कृष्णभक्त—निष्काम, अतएव 'शान्त'।

भुक्ति-मुक्ति-सिद्धि-कामी—सकलि अशान्त॥

''चूँकि कृष्ण-भक्त इच्छारहित होता है, अतएव वह शान्त होता है। सकाम कर्मी भौतिक भोग चाहते हैं, ज्ञानी मुक्ति चाहते हैं, योगी भौतिक ऐश्वर्य चाहते हैं—अतएव ये सभी वासनाप्रिय हैं और शान्त नहीं हो सकते।''

सामान्यतया स्वार्थ-इच्छा से पीड़ित जीवों की तीन श्रेणियाँ हैं—*भुक्तिकामी, मुक्तिकामी* तथा *सिद्धिकामी। भुक्तिकामी* वे सामान्य व्यक्ति हैं, जो धन तथा धन से खरीदी जा सकने वाली हर वस्तु चाहते हैं। ऐसी प्राचीन मनोवृत्ति धन, यौन तथा सामाजिक प्रतिष्ठा भोगने की इच्छा पर आधारित होती है। जब जीव इस व्यामोह से अशान्त हो उठता है, तो वह मानसिक चिन्तन का सहारा लेता है और मोह के स्रोत तक पहुँचने का प्रयास करता है। ऐसा व्यक्ति *मुक्तिकामी* कहलाता है, क्योंकि वह भौतिक मोह को नकार कर चिन्ता से मुक्त निर्विशेष आध्यात्मिक अवस्था में तदाकार हो जाना चाहता है। मुक्तिकामी निजी इच्छा से भी प्रेरित होता है, यद्यपि यह इच्छा कुछ परिष्कृत होती है। इसी प्रकार *सिद्धिकामी* या *योगी* भी भौतिक या स्वार्थमय इच्छा से संदूषित होता है, क्योंकि वह अणिमा, लघिमा जैसी योगशक्तियों की इच्छा करता है। इसीलिए कहा गया है—*सकलि 'अशान्त'।* यदि किसी की निजी इच्छा होती है, चाहे वह भौतिक, दार्शनिक या यौगिक हो तो वह *अशान्त* होगा, क्योंकि वह अपने को तुष्टि का मुख्य लक्ष्य देखेगा। यह अहंवादी धारणा स्वयं में मोहमय है, अतएव अन्ततः अशान्त बनाने वाली है।

दूसरी ओर *कृष्ण-भक्त निष्काम, अतएव 'शान्त'*—कृष्ण-भक्त *निष्काम* होता है अर्थात् उसकी कोई निजी इच्छा नहीं होती। उसकी एकमात्र इच्छा कृष्ण को प्रसन्न करने की होती है। स्वयं शिवजी ने भगवद्भक्तों के इस अद्वितीय गुण की प्रशंसा इस प्रकार की है—

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।

स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः॥

''जो व्यक्ति भगवान् नारायण का भक्त होता है, वह किसी से नहीं डरता। भक्त के लिए स्वर्ग-प्राप्ति, नरक-गमन तथा भवबन्धन से मोक्ष—ये एक-से लगते हैं (भागवत ६.१७.२८)।'' यद्यपि निर्विशेषवादी दार्शनिक का प्रस्ताव होता है कि सारी वस्तुएँ एक हैं, किन्तु भगवद्भक्त वास्तव में *तुल्यार्थदर्शी*—अर्थात् एकत्व की दृष्टि से युक्त होता है। भक्त हर वस्तु को भगवान् की शक्ति के रूप में देखता है, अतएव भगवान् की तुष्टि के लिए वह हर वस्तु को भगवान् की सेवा में ही लगा देना चाहता है। चूँकि भक्त किसी वस्तु को *द्वितीय* अर्थात् भगवान् की शक्ति के क्षेत्र से बाहर नहीं देखता, अतएव हर अवस्था में वह सुखी रहता है। निजी कोई इच्छा न होने से कृष्ण-भक्त *शान्त* होता है, क्योंकि उसने जीवन की सिद्धि अर्थात् कृष्ण-प्रेम प्राप्त कर लिया होता है। वह वास्तव में सर्वशक्तिमान परमेश्वर कृष्ण की शरण एवं संरक्षण में होने से अपनी शाश्वत स्वाभाविक स्थिति में रहता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार यह श्लोक नौ योगेन्द्रों में से प्रथम योगेन्द्र, कवि द्वारा महाराज निमि के प्रथम प्रश्न ''सर्वोच्च शुभ क्या है?'' के उत्तर से समाप्त होता है।

श्रीराजोवाच
अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम्।
यथाचरति यद्ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रियः॥४४॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; अथ—इसके बाद; भागवतम्—भगवान् के भक्त के विषय में; ब्रूत—कृपया मुझे बतायें; यत्-धर्मः—जो धर्म है; यादृशः—जिस तरह का; नृणाम्—मनुष्यों में से; यथा—कैसे; आचरति—आचरण करता है; यत्—जो; ब्रूते—बोलता है; यैः—जिस; लिङ्गैः—दृश्य लक्षणों के द्वारा; भगवत्-प्रियः—भगवान् का प्रिय (कहलाता है)।

महाराज निमि ने कहा : अब कृपया मुझे भगवद्भक्तों के विषय में विस्तार से बतलायें। वे कौन से सहज लक्षण हैं, जिनके द्वारा मैं अत्यन्त बढ़े-चढ़े, मध्यम स्तर के तथा नवदीक्षित भक्तों में अन्तर कर सकूँ? वैष्णव के लाक्षणिक धार्मिक कर्तव्य क्या हैं? और वह कैसे बोलता है?

आप विशेष रूप से उन लक्षणों तथा गुणों का वर्णन करें, जिनसे वैष्णवजन भगवान् के प्रिय बनते हैं।

तात्पर्य : महामुनि कवि ने राजा निमि को भगवद्भक्त के बाह्य सामान्य लक्षणों के विषय में—उसके स्वरूप, उसके गुणों तथा कर्मों के विषय में बतलाया। किन्तु अब राजा निमि पूछ रहे हैं कि भगवान् के सेवकों में उसके आगे किस तरह अन्तर किया जाये, जिससे प्रथम कोटि, द्वितीय कोटि तथा निम्न कोटि के वैष्णवों की स्पष्ट पहचान की जा सके।

श्रील रूप गोस्वामी के अनुसार—*कृष्णेति यस्य गिरि तं मनसाद्रियेत*—जो भक्त कृष्ण के पवित्र नाम का कीर्तन करता है, उसका मन से आदर करना चाहिए। (उपदेशामृत ५) कोई भी जीव जो कि कृष्ण के नाम का श्रद्धापूर्वक कीर्तन करता हो, उसे वैष्णव मानना चाहिए और कम से कम मन ही मन उसका आदर होना चाहिए। किन्तु कृष्णभावनामृत में व्यावहारिक प्रगति के लिए उसे कम से कम द्वितीय कोटि के भक्त की संगति करनी चाहिए। और यदि उसे भगवान् के उच्च कोटि के भक्त की दया प्राप्त हो सके, तो उसकी सिद्धि सरलता से निश्चित हो जाती है। इस प्रकार निमि महाराज विनयपूर्वक प्रश्न कर रहे हैं, "भक्तों के लक्षण, स्वभाव तथा वचन क्या हैं?" राजा शरीर, मन तथा वाणी के विशिष्ट लक्षणों को जानना चाहता है, जिससे *उत्तम अधिकारी, मध्यम अधिकारी* तथा *कनिष्ठ अधिकारी* की भिन्न भिन्न कोटियाँ स्पष्टत: पहचानी जा सकें। राजा के प्रश्न के उत्तर में नव-योगेन्द्रों में से दूसरा, जिसका नाम हविर् था, कृष्णभावनामृत के विज्ञान को आगे विस्तार से बतायेगा।

श्रीहविरुवाच
सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

श्री-हविः उवाच—श्री हविर् ने कहा; सर्व-भूतेषु—सारे पदार्थों में (पदार्थ, आत्मा तथा पदार्थ एवं आत्मा का मेल); यः—जो कोई; पश्येत्—देखता है; भगवत्-भावम्—भगवद्भक्ति में लगे रहने की क्षमता; आत्मनः—परमात्मा का, भौतिक जीवन-बोध से परे अध्यात्म; भूतानि—सारे जीवों को; भगवति—भगवान् में; आत्मनि—समस्त जगत का मूल सार; एषः—यह; भागवत-उत्तमः—भक्ति में बढ़ा-चढ़ा व्यक्ति।

श्री हविर् ने कहा : सर्वाधिक उत्कृष्ट भक्त हर वस्तु के भीतर समस्त आत्माओं के आत्मा भगवान् कृष्ण को देखता है। फलस्वरूप वह हर वस्तु को भगवान् से सम्बन्धित देखता है और यह समझता है कि प्रत्येक विद्यमान वस्तु भगवान् के भीतर नित्य स्थित है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (६.३०) में भगवान् कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

"जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबकुछ मुझमें देखता है उसके लिए न तो मैं कभी अदृश्य होता हूँ और न वह मेरे लिए अदृश्य होता है।" श्रील प्रभुपाद टीका करते हैं, "कृष्णचेतनामय व्यक्ति भगवान् कृष्ण को सर्वत्र देखता है और सारी वस्तुओं को कृष्ण में देखता है। ऐसा व्यक्ति भले ही प्रकृति की पृथक्-पृथक् अभिव्यक्तियों को देखता प्रतीत हो, किन्तु वह प्रत्येक दशा में इस कृष्णभावनामृत से अवगत रहता है कि प्रत्येक वस्तु कृष्ण की ही शक्ति की अभिव्यक्ति है। कृष्णभावनामृत का मूल सिद्धान्त ही यही है कि कृष्ण के बिना किसी का अस्तित्व नहीं है और कृष्ण ही सर्वेश्वर हैं।

ब्रह्म-संहिता (५.३८) में कृष्ण को सर्वत्र देखने की योग्यता बतलाई गई है—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन

सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जो उस भक्त द्वारा सदैव देखे जाते हैं, जिसकी आँखों में प्रेम का अंजन लगा हुआ रहता है। वे भक्त के हृदय के भीतर अपने नित्य श्यामसुन्दर स्वरूप में स्थित देखे जाते हैं।" उत्तम कोटि का भक्त अपनी आध्यात्मिक दृष्टि की व्यापकता के लिए प्रशंसित होता है। उदाहरणार्थ, जब महान् असुर हिरण्यकशिपु ने अपने स्वरूपसिद्ध पुत्र प्रह्लाद महाराज से भगवान् का अता-पता पूछा तो *महाभागवत* अर्थात् शुद्ध भक्त होने के नाते प्रह्लाद ने सीधे यही उत्तर दिया कि परमेश्वर सर्वत्र हैं। तब असुर पिता ने पूछा कि क्या वह ईश्वर महल के ख भे में हैं? जब प्रह्लाद ने "हाँ" कहा तो प्रामाणिक असुर होने के नाते हिरण्यकशिपु ने ईश्वर को मारने या कम से कम उसके अस्तित्व को झुठलाने के प्रयास में उस ख भे पर अपनी तलवार से प्रहार किया। तब भगवान् के सबसे भयंकर रूप नृसिंह देव तुरन्त प्रकट हुए और हिरण्यकशिपु के अवैध कार्यक्रम का सदा के लिये सफाया कर दिया। इस तरह प्रह्लाद महाराज को *उत्तम अधिकारी भक्त* माना जा सकता है।

शुद्ध भक्त भगवान् की सेवा से विलग रहकर वस्तुओं को भोगने की प्रवृत्ति से सर्वथा मुक्त होता है। वह ब्रह्माण्ड में किसी भी वस्तु को प्रतिकूल नहीं देखता, क्योंकि वह हर वस्तु को भगवान् की विस्तीर्ण शक्ति के रूप में देखता है। ऐसे भक्त का जीवित रहने का उद्देश्य किसी न किसी प्रकार से भगवान् को आनन्द प्रदान करना है। अतएव शुद्ध भक्त जिस जिस वस्तु का अनुभव करता है, वह प्रति-क्षण उसकी भावमय प्रेम-इच्छा को बढ़ाता है, जिससे भगवान् की दिव्य इन्द्रियाँ तुष्ट हो सकें।

भौतिक प्रकृति के तीन गुण उस बद्धजीव को सताते रहते हैं, जो भगवान् की पृथक् भौतिक शक्ति अर्थात् *भिन्न प्रकृति* में अपने मन को लीन करता है। इसका कार्य जीव को इस असलियत से दूर ले जाना है कि कृष्ण हर वस्तु के भीतर हैं और हर वस्तु कृष्ण के भीतर है। निपट अज्ञान के द्वारा आच्छादित होने से मोहग्रस्त बद्धजीव यह विश्वास करता है कि उसकी सीमित दृष्टि की ही वस्तुएँ वास्तव में विद्यमान हैं। कभी कभी ऐसे मूर्ख लोग यह सोचते हैं कि यदि जंगल में सुनने वाला कोई न हो, तो वृक्ष के गिरने से कोई ध्वनि नहीं होगी। ये बद्धजीव यह विचार नहीं करते कि चूँकि भगवान् सर्वव्यापी हैं, अतएव किसी के न सुनने का कोई प्रश्न ही नहीं है। भगवान् सदैव सुनते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* के तेरहवें अध्याय (१३.१४) में कहा गया है—*सर्वत: श्रुतिमल्लोके।* भगवान् हर बात को सुनते हैं। वे *उपद्रष्टा* हैं—प्रत्येक वस्तु के साक्षी हैं। (भगवद्गीता १३.२३)

इस श्लोक में आगत *भागवतोत्तम:* शब्द सूचित करता है कि ऐसे लोग भी हैं, जो निपट भौतिकतावादी नहीं हैं, किन्तु वे सबसे ऊँचे भक्त भी नहीं हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार जो लोग भक्तों तथा अभक्तों में ठीक से भेद नहीं कर पाते और इसलिए शुद्ध भगवद्भक्तों की कभी पूजा नहीं करते वे *कनिष्ठ अधिकारी* कहलाते हैं। ऐसे लोग भगवान् की पूजा विशेषतया मन्दिर में करते हैं, किन्तु भगवद्भक्तों के प्रति उदासीन रहते हैं। इस तरह वे *पद्म पुराण* में शिव के इस कथन को ठीक से नहीं समझते—

आराधनानां सर्वेषांविष्णोराराधनं परम्।

तस्माद् परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्॥

‘‘हे देवि! पूजा की सर्वोत्तम विधि भगवान् विष्णु की पूजा है। इससे भी बड़ी है *तदीय* की पूजा अर्थात् विष्णु से सम्बन्धित किसी भी वस्तु की पूजा। श्रील प्रभुपाद ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार

की है—"श्री विष्णु सच्चिदानन्द विग्रह हैं। इसी प्रकार कृष्ण का सबसे विश्वासपात्र सेवक, गुरु तथा विष्णु के सारे भक्त *तदीय* हैं। सच्चिदानन्द विग्रह, गुरु, वैष्णवजन तथा उनके द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली वस्तुओं को *तदीय* मानना चाहिए और बिना किसी सन्देह के वे सभी जीवों द्वारा पूजनीय होनी चाहिए।" (चैतन्य-चरितामृत मध्य १२.३८ तात्पर्य)

विशेषतया, कनिष्ठ अधिकारी अपनी भौतिकतावादी योग्यताओं को भगवान् की सेवा में लगाने के लिए उत्सुक रहता है और वह गलती से इसे ही उच्च भक्ति का संकेत मानता है। किन्तु भगवान् तथा भगवान् के मिशन का प्रचार कर रहे भक्त की सेवा करते हुए कनिष्ठ अधिकारी भी अपनी अनुभूति में अग्रसर होता है और अपने सारे कार्यों को अधिक प्रगत वैष्णवों की सहायता करने में समर्पित करने लगता है। ऐसे कनिष्ठ अधिकारी भी अपनी संगति से सामान्य जीवों की सहायता कर सकते हैं, क्योंकि कनिष्ठ अधिकारियों में कम से कम यह श्रद्धा तो रहती ही है कि कृष्ण भगवान् हैं। इसी श्रद्धा के कारण वह धीरे धीरे उनका शत्रु बन जाता है, जो कृष्ण के विरोधी हैं। ज्यों ज्यों वह क्रमशः भगवान् की श्रेष्ठता से घृणा करने वालों का अधिकाधिक शत्रु बनता जाता है और भगवान् के अन्य श्रद्धालु सेवकों के साथ मैत्री के प्रति अधिक आकृष्ट होता जाता है, त्यों त्यों वह कनिष्ठ अधिकारी द्वितीय कोटि की अवस्था को, जिसे *मध्यम* कहते हैं, पहुँच जाता है। इस मध्यम अवस्था में वैष्णव भगवान् को समस्त कारणों का कारण और हर एक की प्रेममयी लालसा के मुख्य लक्ष्य के रूप में देखता है। वह इस दूषित संसार में वैष्णवों को ही अपना एकमात्र मित्र मानता है और वह अबोध लोगों को वैष्णव समाज की शरण के अन्तर्गत लाने के लिए उत्सुक रहता है। यही नहीं, मध्यम अधिकारी उनकी संगति करने से बचता है, जो अपने आपको ईश्वर का शत्रु घोषित करते हैं। जैसे ही ऐसी मध्यम योग्यता परिपक्व हो जाती है, तो परम योग्यता का भाव स्वयं ही आने लगता है अर्थात् वह *उत्तम अधिकारी* अवस्था को प्राप्त होता है।

ऐसा *कनिष्ठ अधिकारी गुरु* जो धार्मिक उत्सव सम्पन्न करने तथा अर्चाविग्रह की पूजा करने में लगा रहता है और अन्य वैष्णवों की, विशेष रूप से उनकी, जो भगवान् के मिशन का प्रचार करने में लगे रहते हैं, प्रशंसा नहीं करता, वह उन लोगों को विशेष अच्छा लगेगा, जो ज्ञान के शुष्क अनुशीलन में रुचि रखते हैं। जब जीव सांसारिक शुद्धि विकसित कर लेता है, तो वह गर्व से नियमित कर्म करने

लगता है और अपने कर्म के फल से अपने को विरक्त करने लगता है। ऐसे विरक्त नियमित कर्म से क्रमशः ज्ञान या बुद्धिमत्ता का उदय होता है। जब यह ज्ञान प्रमुख हो उठता है, तो पुण्यात्मा भौतिकतावादी व्यक्ति परोपकारी एवं दानशील कार्यों के प्रति आकृष्ट होता है और पापकर्मों को त्याग देता है। यदि वह भाग्यशाली हुआ, तो वह दिव्य भगवद्भक्ति के अनुकूल बन जाता है। ऐसा व्यक्ति भक्ति के बौद्धिक ज्ञान की इच्छा से कनिष्ठ अधिकारी की शरण में जा सकता है। यदि वह मध्यम योग्यता प्राप्त कर लेता है, तो वह कृष्णभावनामृत के प्रचार-कार्य में लगे वैष्णव के प्रति आकृष्ट होता है। और जब वह मध्यम भक्ति के पद पर पूर्णतः परिपक्व हो जाता है, तो वह *महाभागवत* पद के प्रति आकृष्ट होता है और तब कृष्ण की कृपा से उसे अपने हृदय में महाभागवत गुरु की उच्च स्थिति का दर्शन होता है। यदि कोई व्यक्ति क्रमशः भगवद्भक्ति करता रहता है, तो वह *परमहंस महाभागवत* बन जाता है। इस अवस्था में उसके सारे कार्य, उसकी गतिविधियाँ तथा प्रचार-कार्य एकमात्र कृष्ण की तुष्टि में समर्पित रहते हैं। ऐसे शुद्ध जीव को गिराने की या उसे आच्छादित करने की शक्ति *माया* में नहीं रहती। *उपदेशामृत* (५) में श्रील रूप गोस्वामी ने जीवन की इस अवस्था को *भजनविज्ञमनन्यमन्यनिन्दादिशून्यहृदम्* कहा है।

चूँकि महाभागवत, भगवान् योगेश्वर द्वारा शक्तिप्रदत्त होता है, इसलिए उसमें अति-दैवी शक्ति होती है, जिससे वह *मध्यम अधिकारी* को, जो उसके चरणचिह्नों पर चलता है, प्रेरणा तथा सफलता प्रदान कर सकता है और कनिष्ठ अधिकारी को क्रमशः मध्यम पद पर ला सकता है। ऐसी भक्तिमयी शक्ति शुद्ध भक्त के हृदय में प्राप्य करुणा के सागर से स्वयमेव उत्पन्न होती है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि *महाभागवत* में भगवान् के शत्रुओं को दण्ड देने की इच्छा नहीं रहती। प्रत्युत वह मध्यम अधिकारियों तथा कनिष्ठ अधिकारियों को उन विरोधी जीवों की दूषित मनोवृत्ति को शुद्ध करने के लिए प्रचार-कार्य में लगाता है, जो इस भौतिक जगत को भ्रमवश कृष्ण से पृथक् मानते हैं।

ऐसे अभागे जीव हैं, जो भक्ति के क्षेत्र में *कनिष्ठ अधिकारी* की महिमा को नहीं समझ पाते, न ही *मध्यम अधिकारी* की उच्चतर अवस्था की प्रशंसा कर सकते हैं तथा *उत्तम अधिकारी* की उच्चतम अवस्था को समझ सकते हैं। ऐसे अभागे लोग निर्विशेष मायावाद चिन्तन के प्रति आकृष्ट होकर कंस,

अघ, बक तथा पूतना के चरणचिह्नों का पूर्णतया अनुसरण करते हैं और इस तरह श्री हरि द्वारा मारे जाते हैं। इस तरह इन्द्रिय योगियों का समुदाय भगवान् के चरणकमलों में अरुचि रखे रहता है। तथाकथित स्वार्थ से विकृत अपनी दृष्टि के अनुसार प्रत्येक भौतिकतावादी विभिन्न योनियों में बारम्बार जन्म तथा मृत्यु के रूप में अपने दुर्भाग्य का चुनाव करता है। ऐसी ८४,००,००० योनियाँ हैं और भौतिकतावादी जीव तथाकथित भौतिक प्रगति के भ्रमवश अपने लिए जन्म, जरा, व्याधि तथा मृत्यु को दण्ड के रूप में स्वेच्छा से चुन लेता है।

यहाँ पर दृष्टान्त दिया गया है कि कामेच्छा के वशीभूत कामी पुरुष सारे जगत को कामुक स्त्रियों से पूर्ण देखता है। इसी तरह कृष्ण का शुद्ध भक्त सर्वत्र कृष्णभावनामृत का दर्शन करता है, भले ही वह अस्थायी रूप से आच्छादित क्यों न हो। इस तरह कोई मनुष्य अपनी ही तरह विश्व को देखता है (*आत्मवन् मन्यते जगत्*)। इस आधार पर यह तर्क किया जा सकता है कि महाभागवत की भी दृष्टि मोहित हो सकती है, क्योंकि *श्रीमद्‌भागवत* में सर्वत्र यह बात दुहराई गई है कि प्रकृति के गुणों से बद्ध लोग तनिक भी कृष्णभावनाभावित नहीं होते, अपितु वे कृष्ण के शत्रुवत् हैं। किन्तु भले ही बद्धजीव भगवान् के शत्रुवत् प्रतीत हों, तो भी यह तो शाश्वत अपरिवर्तनशील तथ्य है कि प्रत्येक जीव कृष्ण का भिन्नांश है। मनुष्य का कृष्ण के प्रति भावमय प्रेम भले ही अभी माया के प्रभाव से आच्छादित हो, किन्तु भगवान् की अहैतुकी कृपा से बद्धजीव क्रमशः कृष्णभावनामृत के पद को प्राप्त कर लेगा।

वस्तुतः हर व्यक्ति कृष्ण-विछोह की पीड़ा से त्रस्त है। चूँकि बद्धजीव यह कल्पना करता है कि कृष्ण से उसका नित्य सम्बन्ध नहीं है, किन्तु वह यह निश्चित नहीं कर पाता कि उसके सारे कष्ट इसी विछोह के कारण हैं। यही *माया* है—अर्थात् "वह जो नहीं है"। वस्तुतः यह सोचना कि दुख का कारण कृष्ण-विछोह के अतिरिक्त अन्य कुछ है, निरी भ्रान्ति है। अतएव जब शुद्ध भक्त जीवों को इस जगत में कष्ट भोगते देखता है, तो वह यह ठीक सोचता है कि जिस तरह मैं कृष्ण-विछोह के कारण कष्ट पा रहा हूँ, उसी तरह अन्य सारे जीव भी कृष्ण-विछोह के कारण कष्ट पा रहे हैं। अन्तर इतना ही है कि शुद्ध भक्त अपनी हृदय-वेदना के कारण को ठीक तरह से निश्चित कर पाता है, जबकि बद्धजीव माया द्वारा मोहित होने से कृष्ण के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को तथा इस सम्बन्ध की उपेक्षा से उत्पन्न असीम पीड़ा को नहीं समझ पाता।

श्रील जीव गोस्वामी ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं, जो भगवान् के सर्वोच्च भक्तों के प्रेममय भावों को प्रस्तुत करने वाले हैं। *श्रीमद्भागवत* के दसवें स्कन्ध (१०.३५.९) में व्रजदेवियाँ इस प्रकार कहती हैं :

वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं

व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलादया: ।

प्रणत भारविटपा मधुधारा:

प्रेमहृष्टतनवो ववृषु: स्म ॥

"वन की लताएँ तथा वृक्ष फूलों तथा फलों के पूरे भार से अवनत होकर ऐसे लग रहे थे, मानों अपने हृदयों के भीतर भगवान् विष्णु को प्रकट कर रहे हों। अपने शरीरों से रसोद्रेक प्रकट करते हुए वे मधु की वर्षा कर रहे थे।" दसवें स्कंध में ही अन्यत्र (भागवत १०.२१.१५) कहा गया है—

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीतम्

आवर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगा: ।

आलिंगनस्थगितम् ऊर्मिभुजैर्मुरारे-

र्गृहणन्ति पादयुगलं कमलोपहारा: ॥

"मुकुन्द की वंशी की तान सुनकर नदियों ने बहना बन्द कर दिया, यद्यपि भँवरों की उपस्थिति से नदियों के हृदयों को अब भी निश्चित किया जा सकता था। नदियों ने अपनी लहरों रूपी भुजाओं से कमलों के पौधों का सहारा लेकर मुरारी के दोनों चरणकमल पकड़ लिये और इस तरह वे उनके आलिंगन में बद्ध हो गए।" दसवें स्कन्ध के अन्तिम अध्याय (१०.९०.१५) में द्वारका की रानियाँ प्रार्थना करती हैं—

कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे

स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोध: ।

वयमिव सखि कच्चिद् गाढनिर्विद्धचेता

नलिननयनहासोदारलीलेक्षितेन ॥

"हे *कुररी!* अब बहुत रात हो गई। हर कोई सो रहा है। सारा संसार शान्त है। इस समय भगवान् सो रहे हैं, यद्यपि उनका ज्ञान किसी भी परिस्थिति में अविचलित रहता है, तो फिर तुम क्यों नहीं सोती? तुम इस तरह सारी रात क्यों विलाप कर रही हो? प्रिय सखी! कहीं ऐसा तो नहीं है कि तुम भी हमारी ही तरह भगवान् के कमल-नेत्रों द्वारा, उनकी मीठी मुसकान तथा आकर्षक शब्दों से आकृष्ट हो? क्या भगवान् के वे व्यवहार तुम्हारे हृदय को उसी तरह कोंच रहे हैं, जिस तरह हमारे हृदयों को कोंचते हैं?" श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भी माता यशोदा को *उत्तम अधिकारी* के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है, क्योंकि माता यशोदा ने भगवान् की वृन्दावन-लीला के समय कृष्ण के मुख के भीतर सारे जीवों को देखा था।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अपनी टीका में यह भी इंगित किया है—*अत्र पश्येदिति तथा दर्शनयोग्यतैव विवक्षिता, न तु तथा दर्शनस्य सार्वकालिकता।* "इस श्लोक में *पश्येत्* शब्द का अर्थ यह नहीं है कि कोई हर क्षण कृष्ण के स्वरूप को देख रहा है, प्रत्युत इसका अर्थ यह है कि उसे भक्ति का उच्च पद प्राप्त हो चुका है, जिस पर वह कृष्ण के रूप को देख सकता है या देख पाने में समर्थ है।" यदि केवल वे जो कृष्ण के स्वरूप को निरन्तर देखते हैं *उत्तम अधिकारी* माने जाँय तब तो नारद, व्यास तथा शुकदेव को सर्वोच्च भक्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि वे भगवान् को सदैव सर्वत्र नहीं देखते। निस्सन्देह, नारद, व्यास तथा शुकदेव को शुद्ध भक्ति का सर्वोच्च मानदण्ड माना जाता है, अतएव असली योग्यता *तद्दिदृक्षाधिक्य* है अर्थात् भगवान् को देखने की भावविह्वलता है। अतएव *भगवद्गीता* के इस कथन को कि भक्त को कृष्ण का सर्वत्र दर्शन करना चाहिए (*यो मां पश्यति सर्वत्र*) उस कामी पुरुष के उदाहरण के रूप में माना जा सकता है, जो सारे जगत को सुन्दर स्त्रियों से पूर्ण मानता है। इसी तरह मनुष्य को भगवान् का दर्शन करने के लिए आध्यात्मिक दृष्टि से इतना उत्सुक होना चाहिए कि वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में कृष्ण तथा उनकी शक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ भी न देख सके। *वासुदेव: सर्वमिति।* १९६९ में श्रील प्रभुपाद ने कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर जे. एफ. स्टाल के साथ हुए पत्र-व्यवहार में यह दावा किया था उनके सारे शिष्य, जो कृष्णभावनामृत के गहन कार्यक्रम का कड़ाई से पालन कर रहे थे, वास्तव में *सुदुर्लभ महात्मा* थे, जो *वासुदेव: सर्वम्* का दर्शन कर रहे थे। दूसरे शब्दों में, यदि कोई भगवान् को प्रसन्न करने की तीव्र इच्छा से कृष्णभावनामृत में निरंतर लगा

रहता है और किसी दिन उनका सान्निध्य प्राप्त कर लेता है, तो यह समझना होगा कि उसके जीवन में कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। किन्तु श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने हमें आगाह किया है कि सिद्धान्त रूप में या शैक्षिक रूप से यह समझ लेने से ही कि कृष्ण ही सर्वेसर्वा हैं, कोई उत्तम भक्त नहीं बन जाता। उसमें सचमुच कृष्ण के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ रहना चाहिए। अतएव यह लगभग समझ लेना चाहिए कि जो कोई भी उत्साहपूर्वक कृष्णभावनामृत कार्यक्रम को अपनाता है और अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत समिति के प्रचार-कार्य में उत्सुकता से हाथ बँटाता है, वह *मध्यम अधिकारी* भक्त के पद पर कार्य करता है। जब ऐसा भक्त कृष्ण की सेवा करने तथा उनकी संगति करने की इच्छा से अभिभूत हो जाता है, यहाँ तक कि वह इस ब्रह्माण्ड में अन्य किसी वस्तु के प्रति आकृष्ट नहीं होता, तो उसे *उत्तम अधिकारी* वैष्णव मानना चाहिए, जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख हुआ है।

ईस्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

ईश्वरे—भगवान् के प्रति; तत्-अधीनेषु—कृष्णभावनामृत के प्रति समर्पित लोगों को; बालिशेषु—अज्ञानी या नवदीक्षितों के प्रति; द्विषत्सु—कृष्ण तथा उनके भक्तों से द्वेष रखने वालों के प्रति; च—तथा; प्रेम—प्रेम; मैत्री—मित्रता; कृपा—दया; उपेक्षाः—उपेक्षा; यः—जो कोई; करोति—करता है; सः—वह; मध्यमः—द्वितीय कोटि का भक्त।

द्वितीय कोटि का भक्त, जो मध्यम अधिकारी कहलाता है, भगवान् को अपना प्रेम अर्पित करता है, वह भगवान् के समस्त भक्तों का निष्ठावान मित्र होता है, वह अज्ञानी व्यक्तियों पर दया करता है जो अबोध है और उनकी उपेक्षा करता है, जो भगवान् से द्वेष रखते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के अनुसार इस भौतिक जगत का प्रत्येक जीव भगवान् का सूक्ष्म अंश होता है। *ममैवांशो जीवलोके जीवभूता: सनातन:* (भगवद्गीता १५.७)। किन्तु माया के वशीभूत गर्वित बद्धजीव भगवान् की सेवा से तथा भगवान् के भक्तों से शत्रुता रखते हैं, वे भौतिकतावादी विषयी पुरुषों को अपना नेता चुनते हैं और इस तरह वंचकों तथा वंचितों के व्यर्थ समाज में व्यस्त रहते हैं, जिसमें एक अंधा व्यक्ति दूसरे अंधे को खाई में ले जाता है। यद्यपि वैष्णव समुदाय बद्धजीवों को उनकी स्वाभाविक वैधानिक स्थिति में लाने के लिए उत्सुक है, किन्तु भौतिकतावादी जीव माया के प्रभाव से निष्ठुर हो जाता है और भगवद्भक्तों की कृपा को ठुकरा देता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार यद्यपि मध्यम अधिकारी भक्त अबोध बद्धजीवों को उपदेश देने के लिए उत्सुक रहता है, किन्तु उसे नास्तिक व्यक्तियों से बचना चाहिए, जिससे वह उनकी संगति से स्वयं क्षुब्ध या दूषित न हो। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने पुष्टि की है कि वैष्णव को उन लोगों के प्रति उदासीन रहना चाहिए, जो भगवान् से ईर्ष्या करते हैं। यह प्रायः देखा जाता है कि जब ऐसे व्यक्तियों को भगवान् की महिमाओं की जानकारी दी जाती है, तो वे भगवान् का उपहास करने की चेष्टा करते हैं और इस तरह वे अपने दूषित जीवन को और भी बिगाड़ लेते हैं। इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *श्रीमद्भागवत* का निम्नलिखित श्लोक (१०.२०.३६) उद्धृत किया है—

गिरयो मुमुचुस्तोयं क्वचिन्न मुमुचुः शिवम्।

यथा ज्ञानामृतं काले ज्ञानिनो ददते न वा॥

''कभी कभी शीत ऋतु में जल पर्वतों की चोटियों से गिर कर शुद्ध जल प्रदान करता है और कभी कभी यह जल रुक जाता है। इसी प्रकार सन्त-पुरुष कभी तो शुद्ध ज्ञान का वितरण करते हैं और कभी मौन हो जाते हैं।''

इस सन्दर्भ में श्रील जीव गोस्वामी ने उल्लेख किया है कि यद्यपि उत्तम अधिकारी भक्त कभी कभी ऊपर से असुरों के प्रति घृणा प्रदर्शित कर सकते हैं, क्योंकि वे भगवान् की लीला के रस में प्रविष्ट रहते हैं, किन्तु मध्य अधिकारी को ऐसे भावों से बचना चाहिए। यही नहीं, मध्य अधिकारी को चाहिए कि वह कभी भी शक्तिशाली नास्तिक श्रेणी के मनुष्यों की संगति न करे, क्योंकि इसका खतरा रहता है कि ऐसी संगति से उसका मन मोहग्रस्त हो सकता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार यदि कोई वैष्णव प्रचारक ऐसे व्यक्ति से आकस्मिक मिलता है, जो उससे ईर्ष्या करता है, तो उसे चाहिए कि वह ऐसे व्यक्ति से दूर रहे। किन्तु वैष्णव प्रचारक ईर्ष्यालु व्यक्तियों को बचाने की विधियों पर चिन्तन करने लग सकता है। ऐसा चिन्तन *सदाचार* कहलाता है। श्रील जीव गोस्वामी ने प्रह्लाद महाराज को सदाचारी मनुष्य का उदाहरण कहा है। *श्रीमद्भागवत* (७.९.४३) में प्रह्लाद का निम्नलिखित वक्तव्य प्राप्त है—

नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्या

स्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः ।

शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ-

मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान्॥

"हे सर्वश्रेष्ठ महापुरुष! मैं संसार से तनिक भी भयभीत नहीं हूँ, क्योंकि मैं जहाँ कहीं भी रहता हूँ आपकी महिमा तथा कार्यों के विचार में ही लीन रहता हूँ। मेरी चिन्ता तो केवल उन मूर्खों तथा धूर्तों के लिए है, जो भौतिक सुख के लिए और अपने परिवारों, समाजों तथा देशों का पालन-पोषण करने के लिए विस्तृत योजनाएँ बनाते हैं। मैं केवल उनके प्रेम के विषय में चिन्तित रहता हूँ।" यद्यपि वैष्णव उपदेशक समस्त जीवों के कल्याण के विषय में निरन्तर चिन्तन करता रहता है, किन्तु वह उनकी संगति कभी नहीं करता, जो भगवान् कृष्ण के सन्देश को ग्रहण करना नहीं चाहते। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि भरत महाराज, व्यासदेव तथा शुकदेव गोस्वामी भी मनमाने ढंग से कृपा प्रदर्शित नहीं करते।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने यह सिद्ध करने के लिए विस्तृत व्याख्या की है कि मध्यम अधिकारी उपदेशक द्वारा प्रयुक्त भेदभाव में कृपा का अभाव नहीं दिखता। वे कहते हैं कि इस श्लोक में उल्लिखित *उपेक्षा* उन लोगों के लिए उचित ओषधि है, जो भगवान् तथा उनके भक्तों से शत्रुता रखते हैं। उपदेशक द्वारा प्रदर्शित उदासीनता दोनों पक्षों की शत्रुता को रोकती है। यद्यपि यह वैदिक आदेश है कि जो व्यक्ति भगवान् तथा उनके भक्तों का अपमान करे उसकी जीभ काट ली जाय, किन्तु इस युग में ऐसे भावी अपराधियों से बच कर रहना ही सर्वोत्तम है। इस तरह वे वैष्णवों के साथ और अधिक पापपूर्ण कृत्य नहीं कर सकेंगे। वैष्णव उपदेशक का यह कर्तव्य है कि परमेश्वर की शरण में जाने के अतिरिक्त अन्य किसी भी विधि की व्यर्थता बतलाये। किन्तु ईर्ष्यालु पुरुष वैष्णव द्वारा ऐसे प्रबल उपदेश-कार्य का विरोध करेगा और भक्त का अन्यों की व्यर्थ आलोचना करने के लिए अनादर करेगा। ऐसा व्यक्ति जो वैष्णव की कृपा की प्रशंसा न कर सके, उसकी उपेक्षा करनी चाहिए। अन्यथा, श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार उसकी ठगी मनोवृत्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जायेगी।

जो लोग श्री चैतन्य महाप्रभु के संकीर्तन आन्दोलन के प्रति आकृष्ट नहीं होते और चैतन्य महाप्रभु के निष्ठावान सेवकों का अनादर करते हैं, क्योंकि वे उनके संकीर्तन-आन्दोलन से सम्बन्धित शक्तिशाली कथनों को अपनी भगवद्भक्ति में रुकावट समझते हैं, वे कभी भी अपने मन को कृष्ण में स्थिर नहीं कर पायेंगे, अपितु वे भक्ति के मार्ग से नीचे गिर जायेंगे, क्योंकि उन्हें भौतिक जगत के बाह्य

क्रियाकलापों में भगवान् कृष्ण की वास्तविक पूजा का भ्रम रहता है। ऐसे मोह को *भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्* शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर उन मूर्ख व्यक्तियों का प्रबल बहिष्कार करते हैं, जो कृपा तथा समदृष्टि के तर्क के आधार पर यह अनुभव करते हैं कि श्रद्धाविहीन व्यक्ति भी भगवान् का भक्त है और जो इस तरह से ऐसे अपराधी लोगों पर हरिनाम थोपने का प्रयास करते हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने कहा है ''जब बचकाने लोग अपने को *महाभागवत* मानकर वैष्णव गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करते हैं, तो ऐसा आचरण उन्हें वैष्णव गुरु की दया का पात्र नहीं बनने देता। मिथ्या अहंकार से मोहित ये आत्मविज्ञापित भक्त मध्यम अधिकारियों द्वारा उपेक्षित समझे जाने के योग्य हो जाते हैं और उस कृपा से वंचित रह जाते हैं, जो भक्तों की तुष्टि से मिलती है। इस तरह वे कृष्ण–नाम का प्रचार करने वाले भक्तों के प्रति लगातार अपराध करते रहने से असाधु बन जाते हैं। इसलिए शुद्ध भक्त सभी परिस्थितियों में अपने को मिथ्या में *विशुद्ध भक्त* घोषित करने वालों से उदासीन रहने लगते हैं। यह उदासीनता ही उनकी कृपा की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है।'' दूसरे शब्दों में, जो लोग मध्यम अधिकारियों की आलोचना भगवान् की कृपा प्राप्त करने के पात्र और भगवान् के ईर्ष्यालुओं में अन्तर करने के कारण करते हैं, वे भगवान् के सन्देश को गलत समझते हैं। कृष्ण ने *भगवद्गीता* (४.८) में कहा है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

''पुण्यात्माओं का उद्धार करने और दुष्टों का संहार करने तथा धर्म के सिद्धान्तों को पुनः स्थापित करने के लिए ही मैं हर युग में अवतरित होता हूँ।'' इस ब्रह्माण्ड के बारह महाजनों में से एक परम वैष्णव शुकदेव गोस्वामी तक ने दुष्ट कंस के प्रति घृणा व्यक्त की है।

श्रील जीव गोस्वामी ने इंगित किया है कि भले ही महाभागवत–भक्त उपदेश देने के लिए द्वितीय श्रेणी के स्तर का कार्य करे, किन्तु उसके द्वारा ईर्ष्यालु जीवों का परित्याग उसके द्वारा भगवान् को सर्वव्यापी रूप में देखने में बाधक नहीं बनता। प्रत्युत जब उत्तम अधिकारी या मध्यम अधिकारी भी नास्तिक लोगों का बहिष्कार करता है, तो वह भगवान् के सन्देश को ही व्यक्त करता है। उत्तम या

मध्यम अधिकारी वैष्णव कभी भी दूसरे जीव से ईर्ष्या नहीं करता, किन्तु भगवान् के प्रति उत्कट प्रेम के कारण वह तब क्रुद्ध होता है, जब भगवान् का अपमान होता है। यही नहीं, भगवान् के सन्देश को समझते हुए वह विशेष जीव के पद के अनुसार भेदभाव बरतता है। ऐसे वैष्णव उपदेशक को सामान्य, ईर्ष्यालु व्यक्ति समझना या इसलिए सम्प्रदायवादी समझना कि वह आध्यात्मिक प्रगति के सभी साधनों से शुद्ध भक्ति को सर्वश्रेष्ठ बतलाता है, भौतिकतावादी दृष्टि का द्योतक है, जिसे *वैष्णवे जातिबुद्धिः* या *गुरुषु नरमतिः* कहते हैं। ऐसा अपराध अपराधी को प्रकृति के नियमों द्वारा नारकीय जीवन में धकेल देता है।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार यद्यपि महाभागवत हर जीव को शुद्ध आत्मा मानता है फिर भी ऐसा महाभागवत जब किसी अन्य वैष्णव से मिलता है, तो उसे विशेष आनन्दमय भावों तथा लक्षणों की अनुभूति होती है। यह सर्वोच्च भक्त के रूप में उसकी दृष्टि के विरुद्ध नहीं है, प्रत्युत कृष्ण के प्रति उसके प्रेम का प्रतीक है। शुद्ध भक्त हर जीव को कृष्ण के भिन्नांश रूप में देखता है, अतएव कृष्ण के सारे अंशों तथा सृष्टियों के लिए प्रेम के माध्यम से कृष्ण के प्रति अपना प्रेम व्यक्त करता है। तो भी ऐसा महाभागवत दूसरे जीव को भगवान् की इन्द्रियों को प्रसन्न करते देखकर विशेष भावमय प्रेम (रस) का अनुभव करता है। ऐसी भावनाएँ प्रचेताओं से शिवजी के कथन द्वारा प्रकट होती हैं—

क्षणार्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम्।

भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किं उताशिषः॥

"यदि संयोगवश किसी भक्त की संगति आधे क्षण के लिए भी मिल जाती है, तो मनुष्य कर्म या ज्ञान के फलों से आकृष्ट नहीं होता। तो भला उसे उन देवताओं के वरों में क्या रुचि हो सकती है, जो जन्म तथा मृत्यु के नियमों से बँधे हैं? (भागवत ४.२४.५७) इसी प्रकार शिवजी ने भी कहा है—

अथ भागवता यूयं प्रियाः स्थ भगवान् यथा।

न मद् भागवतानां च प्रेयान् अन्योऽस्ति कर्हिचित्॥

"तुम सब भगवद्भक्त हो, अतएव मैं समझता हूँ कि तुम लोग साक्षात् भगवान् की तरह आदरणीय हो। मैं जानता हूँ कि इस तरह भक्तगण मेरा भी आदर करते हैं और मैं उन्हें प्रिय हूँ। इस तरह भक्तों को कोई अन्य उतना प्रिय नहीं, जितना मैं हूँ।" (भागवत ४.२४.३०) इसी तरह

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध (१.७.११) में श्रील शुकदेव गोस्वामी को *नित्यं विष्णुजनप्रिय:* कहा गया है।

सर्वोच्च पद पर वैष्णवों के मध्य प्रेमपूर्ण बर्तावों का प्रदर्शन *चैतन्य-चरितामृत* की लीलाओं में मिलता है। दूसरे शब्दों में, यद्यपि वैष्णव हर जीव को कृष्ण के भिन्नांश रूप में देखता है, किन्तु उसे अपने बाह्य आचरण में भेदभाव करना चाहिए, जिससे भगवान् की सृष्टि के मूल उद्देश्य में कोई व्यवधान न आये—यह उद्देश्य है जीवों का सुधार करना, जिससे वे क्रमश: भगवद्धाम वापस जा सकें। शुद्ध भक्त समदृष्टि का मूर्खता से दिखावा करके ईर्ष्यालु व्यक्तियों के पास नहीं जाता, प्रत्युत वह भगवान् के उद्देश्य का आदर करता है, जैसाकि *भगवद्गीता* (४.११) में *ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्* शब्दों द्वारा व्यक्त हुआ है।

दूसरी ओर, यदि भगवान् की इच्छा हो, तो शुद्ध भक्त सारे जीवों को आदर प्रदान कर सकता है। उदाहरणार्थ, श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि उद्धव तथा भगवान् के अन्य भक्त दुर्योधन जैसे व्यक्तियों को भी नमस्कार करने के लिए सदैव तैयार रहते थे। किन्तु मध्यम अधिकारियों को उत्तम अधिकारियों के ऐसे आचरण की नकल नहीं करनी चाहिए। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने उत्तम तथा मध्यम अधिकारियों का अन्तर इस प्रकार बतलाया है—*अत्र सर्वभूतेषु, भगवद्दर्शनयोग्यता यस्य कदचिदपि न दृष्टा। मध्यम अधिकारी* कभी भी सारे जीवों के भीतर भगवान् की स्थिति का अनुभव नहीं कर पाता, जबकि उत्तम अधिकारी भगवान् के उद्देश्य को पूरा करने के लिए मध्यम पद पर कार्य करते हुए भी यह जानता रहता है कि प्रत्येक जीव अन्तत: विस्मरण करने वाला कृष्णभावनाभावित जीव है। अतएव बाहर से भक्त चाहे चार प्रकार के आचरणों में लगा रहे, जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख हुआ है—अर्थात् भगवान् की पूजा, भक्तों से मैत्री, अबोध को उपदेश देना तथा असुरों का बहिष्कार—किन्तु यह निश्चित नहीं कि वह मध्यम पद पर हो, क्योंकि उत्तम अधिकारी भी भगवान् के उद्देश्य को पूरा करने के लिए इन लक्षणों को प्रकट कर सकता है। इस सम्बन्ध में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि मध्यम अधिकारी अपने को उत्तम अधिकारी का दाहिना हाथ समझे और अन्यों के लाभ हेतु कर्म करने का तथा कृष्ण-प्रेम वितरित करने में सहायता करने का व्रत ले।

अन्त में, श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने *अर्चन* तथा *भजन* के अन्तर की सुन्दर व्याख्या की है। *अर्चन* द्योतक है *साधन-भक्ति* पद का, जिसमें मनुष्य विधि-विधानों का पालन करने के लिए भगवान् की सेवा करता है। जिसने भगवन्नाम् की शरण प्राप्त कर ली है और जो भगवान् की सेवा करने में पूरी तरह लगा रहता है, उसे *भजन* के पद पर मानना चाहिए, यद्यपि उसके बाह्य कार्यकलाप अर्चन में लगे नवदीक्षित के कार्यकलापों से कभी कभी कम कठोर होते हैं। तथापि ऊपरी तौर पर यह कड़ाई का अभाव शिथिलता का द्योतक है जो बुद्धिपरता के बर्ताव के मूल सिद्धान्तों और इन्द्रियतृप्ति की विरक्ति में नहीं वरन् वैष्णव अनुष्ठानों के विवरणों से होती है।

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

अर्चायाम्—अर्चाविग्रह के; एव—निश्चय ही; हरये—भगवान् हरि को; पूजाम्—पूजा; यः—जो; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; ईहते—लगाता है; न—नहीं; तत्—कृष्ण के; भक्तेषु—भक्तों के प्रति; च—तथा; अन्येषु—सामान्य लोगों के प्रति; सः—वह; भक्तः प्राकृतः—भौतिकतावादी भक्त; स्मृतः—कहलाता है।

जो भक्त मन्दिर में अर्चाविग्रह की श्रद्धापूर्वक पूजा में लगा रहता है, किन्तु अन्य भक्तों के प्रति या सामान्य जनता के प्रति उचित रीति का आचरण नहीं करता, वह प्राकृत भक्त अर्थात् भौतिकतावादी भक्त कहलाता है और निम्नतम पद पर स्थित माना जाता है।

तात्पर्य : श्रील मध्वाचार्य की टीका है कि भक्ति की निम्नतम अवस्था को प्राप्त व्यक्ति मन्दिर में अर्चाविग्रह की श्रद्धापूर्वक पूजा करता है, किन्तु वह यह नहीं जानता कि भगवान् सचमुच सर्वव्यापी हैं। यही मनोवृत्ति पाश्चात्य देशों में देखी जा सकती है, जहाँ लोग अपने घरों में तथा बाजारों में सभी तरह के पाप करते हैं, किन्तु पवित्र बन कर गिरजाघर जाते हैं और कृपा के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। वास्तव में, ईश्वर हमारे घर में हैं, ईश्वर बाजार में हैं, ईश्वर हमारे कार्यालय में हैं, जंगल में हैं, सर्वत्र हैं, अतएव भक्तियोग द्वारा ईश्वर के चरणकमलों की सर्वत्र पूजा की जानी चाहिए। जैसाकि इस अध्याय के ४१वें श्लोक में कहा गया है—

खं वायुमग्नि सलिलं महीं च

ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।

सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं

यत् किं च भूतं प्रणमेदनन्य: ॥

''भक्त को चाहिए कि किसी भी वस्तु को भगवान् कृष्ण से पृथक् नहीं देखे। शून्य, अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी, सूर्य तथा अन्य नक्षत्र, सारे जीव, दिशाएँ, वृक्ष, अन्य पौधे, नदियाँ तथा समुद्र—इनमें से जिस जिसका भक्त को अनुभव हो, वह उसे कृष्ण का अंश माने। इस प्रकार सृष्टि के भीतर विद्यमान हर वस्तु को भगवान् के शरीर के रूप में देखते हुए भक्त को चाहिए कि भगवान् के शरीर के सम्पूर्ण विस्तार के प्रति नमस्कार करे।'' भगवान् के महाभागवत भक्त की दृष्टि यही है।

श्रील मध्वाचार्य कहते हैं कि मध्यम अधिकारी भगवान् को सभी कारणों के कारण के रूप में देखता है और इसीलिए भगवान् के प्रति अपना प्रेम व्यक्त करता है। ऐसा भक्त अन्य भक्तों का सच्चा मित्र होता है, अज्ञानियों पर दयालु होता है और नास्तिकों से दूर रहता है। फिर भी, *तद्वशत्वं न जानाति सर्वस्य जगतोऽपि तु*—भगवान् के सर्वव्यापी तत्त्व के विषय में उसकी अनुभूति अपूर्ण होती है। यद्यपि उसे इस बात का सामान्य ज्ञान होता है कि अन्तत: हर व्यक्ति को भगवान् का भक्त होना है, और वह प्रत्येक वस्तु को कृष्ण की सेवा में, यह जानते हुए कि प्रत्येक वस्तु भगवान् की है, लगाने का प्रयास करता है। संभव है कि नास्तिकों की संगति के फलस्वरूप वह संभ्रमित हो जाए।

श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—*अचार्यामेव संस्थितम्। विष्णुं ज्ञातवा तदन्यत्र नैव जानाति य: पुमान्। कनिष्ठ अधिकारी* को यह अनुमान नहीं रहता कि भगवान् में गिरजाघर या मन्दिर के बाहर विद्यमान रहने की शक्ति होती है। यही नहीं, वह अपनी विधानपूर्ण पूजा से गर्वित होकर (*आत्मनो भक्तिदर्पत:*) यह कल्पना नहीं कर पाता कि उससे भी बढ़कर कोई पुण्यात्मा या धार्मिक है। उसे यह पता भी नहीं रहता कि अन्य भक्त उससे भी बड़े भक्त हैं। इस तरह वह भक्ति के *मध्यम* या *उत्तम* स्तर को नहीं समझ पाता और कभी कभी अपने मिथ्या अहंकार के वशीभूत होकर वह भगवान् के उच्च भक्तों की आलोचना करता है, उनकी उपेक्षा करता है या प्रचारक अथवा पूर्ण स्वरूपसिद्ध होने के उनके पदों का उसे कोई ज्ञान नहीं रहता।

कनिष्ठ अधिकारी का दूसरा लक्षण यह है कि वह तथाकथित महान् भौतिकतावादी पुरुषों की भौतिक योग्यताओं पर मुग्ध रहता है। देहात्म-बुद्धि से युक्त होने से वह भौतिक ऐश्वर्य द्वारा आकृष्ट होता है और इस तरह वह भगवान् विष्णु के पद को निम्न बनाता है। इसलिए ऐसा कनिष्ठ अधिकारी

विचलित हो उठता है, यदि मध्यम अधिकारी भगवान् के अभक्तों की आलोचना करता है। दया या करुणा के नाम पर कनिष्ठ अधिकारी ऐसे भौतिकतावादी व्यक्तियों के अभक्तिपूर्ण कार्यों की संपुष्टि करता है। चूँकि कनिष्ठ अधिकारी भक्ति के उच्च लोक से तथा कृष्णभावनामृत के असीम दिव्य आनन्द से अनजान रहता है, अतएव वह भक्ति को जीवन के धार्मिक पक्ष के रूप में देखता है, किन्तु यह सोचता है कि जीवन में अनेक भोग्य तथा उचित अभक्तिपूर्ण पहलू हैं। इसलिए जब कृष्ण को ही सर्वस्व मानने वाला कोई मध्यम अधिकारी अभक्तों की आलोचना करता है, तो वह क्रुद्ध हो उठता है। मध्वाचार्य कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति को कृष्ण में उसकी प्रारम्भिक श्रद्धा के कारण भक्त माना जाता है, किन्तु यह *भक्ताधम* अर्थात् निम्नतम स्तर का भक्त होता है। यदि ऐसे भौतिकतावादी भक्त अर्चापूजा के विधि-विधानों का पालन करते हैं, तो वे क्रमशः उच्च स्तर को प्राप्त करते हुए भगवान् के शुद्ध भक्त बन जाते हैं, बशर्ते कि वे अन्य भक्तों के प्रति अपराध न करें। ऐसी दशा में उनकी उन्नति रुक जाएगी।

श्रील मध्वाचार्य कहते हैं *तद्भक्तानाम् उपेक्षकाःकुर्युर्विष्णावपि द्वेषम्।* जो लोग भगवद्भक्तों की उपेक्षा करते हैं या उनके प्रति उदासी बरतते हैं उन्हें भगवान् विष्णु के चरणकमलों का अपराधी मानना चाहिए। इसी तरह जो देवताओं का अनादर करते हैं, वे भक्ति से वंचित हो जाएँगे और जन्म-मृत्यु के चक्र रूपी *संसार* में पुनः पुनः चक्कर लगाते रहने पर विवश हो जाएँगे। *पूज्या देवस्ततः सदा*—देवताओं का सदैव आदर करना चाहिए, क्योंकि वे भगवान् के भक्त होते हैं। यदि कोई व्यक्ति देवताओं से ईर्ष्या करता है, तो समझिये कि वह भगवान् से भी ईर्ष्या करता है। इसी तरह जो व्यक्ति देवताओं का सच्चा आदर करता है, उसे भगवान् की इच्छा का आदर करने वाला मानना चाहिए। वैष्णव मूर्खतावश यह नहीं सोचता कि देवता अनेक हैं। वह जानता है कि भगवान् तो एक है। किन्तु जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में अनेक बार कहा गया है, इस जगत में ईश्वर का एक उद्देश्य बद्धजीवों को प्रकृति के क्रूर नियमों से उबारने का है। इस जगत में भगवान् के उद्देश्य के अन्तर्गत देवताओं को भगवान् के शरीर के अंग मानना चाहिए। *भगवद्गीता* (७.२०) में कहा गया है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥

''जिनके मन भौतिक इच्छाओं द्वारा बिगड़ चुके हैं, वे देवताओं की शरण में जाते हैं और अपने स्वभावों के अनुसार पूजा के विधि-विधानों का अनुसरण करते हैं।'' किन्तु ऐसे भक्तों के भी कई उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने भगवान् कृष्ण की सेवा के लिए देवताओं से वर पाने के लिए उनकी पूजा की। गोपियों ने कृष्ण को पाने के लिए देवताओं की पूजा की। इसी तरह रुक्मिणी देवी ने अपने विवाह के दिन ऐसी ही देव-पूजा की, जबकि उनका एकमात्र लक्ष्य कृष्ण था। आज भी कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रचारक महत्त्वपूर्ण पुरुषों में दया तथा पटुता का भाव उत्पन्न करते हैं, जिससे ऐसे धनी या प्रभावशाली लोग अपने साधनों का उपयोग, विश्व-भर में कृष्ण की महिमा बताने के लिए, कृष्ण-भक्ति में करें। इसी प्रकार देवताओं का आदर करना, जिससे वे कृष्ण-भक्ति की सारी सुविधाएँ प्रदान कर सकें, *भक्ति-मार्ग* के विरुद्ध नहीं है, यद्यपि आजकल ऐसी देव-पूजा का भी ह्रास हो चुका है। इसीलिए, चैतन्य महाप्रभु ने इस युग के लिए हरिनाम संकीर्तन को एकमात्र यथार्थ विधि के रूप में संस्तुत किया है। तो भी भगवद्भक्त को देवपूजा के विरुद्ध *भगवद्गीता* के आदेशों को देवताओं का अपमान करने की छूट नहीं मान लेनी चाहिए, क्योंकि वे प्रामाणिक वैष्णव होते हैं।

श्रील मध्वाचार्य की टिप्पणी है—

विष्णोरुपेक्षकं सर्वे विद्विषन्त्यधिकं सुराः।

पतत्यवश्यं तमसि हरिणा तैश्च पातितः॥

''जो व्यक्ति भगवान् विष्णु का आदर नहीं करता, उसके प्रति सारे देवता शत्रुभाव रखते हैं। ऐसा व्यक्ति भगवान् तथा देवताओं द्वारा घोरतम नरक में गिरा दिया जाता है।'' श्रील मध्वाचार्य के इस कथन से देवताओं के भक्तिभाव को समझा जा सकता है। यह कहा गया है कि उत्तम अधिकारी द्वारा प्राप्त की गई परम मुक्ति में भक्त भगवान् तथा देवताओं के प्रत्यक्ष सान्निध्य का दिव्य आनन्द लेता है।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार ऐसा कनिष्ठ अधिकारी, जो अन्य भक्तों का उचित आदर नहीं कर सकता, उन सामान्य जीवों का भी, जो भक्त नहीं है, निश्चय ही आदर नहीं कर पायेगा। इसलिए वह प्रचार या उपदेश-कार्य के लिए तब तक व्यर्थ होता है, जब तक कि वह ज्ञान की उच्च अवस्था को प्राप्त नहीं हो लेता। वे कहते हैं—*इयं च श्रद्धा न शास्त्रार्थवधारणजाता।* चूँकि कनिष्ठ अधिकारी की श्रद्धा वैदिक वाङ्मय पर आधारित नहीं होती, अतएव वह भगवान् के उच्च पद को हर एक के हृदय में

नहीं समझ पाता। इसलिए वह न तो भगवत्प्रेम प्रकट कर पाता है, न ही भगवद्भक्तों के उच्च पद को समझ पाता है। कृष्ण इतने यशस्वी हैं कि उनके अन्तरंग संगी भी यशस्वी होने चाहिए। किन्तु कनिष्ठ अधिकारी इससे अवगत नहीं रहता। इसी तरह वैष्णव का यह अनिवार्य गुण है कि वह अन्यों को आदर प्रदान करे (*अमानिना मानदेनकीर्तनीय: सदा हरि:*), किन्तु कनिष्ठ अधिकारी में इसका भी अभाव रहता है। किन्तु यदि ऐसा व्यक्ति वैदिक वाङ्मय में श्रद्धा रखे और *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के कथनों को समझने का प्रयास करे तो वह धीरे धीरे मध्यम तथा उत्तम भक्ति-अवस्था तक उठ सकता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार कनिष्ठ अधिकारी को गम्भीरतापूर्वक अर्चाविग्रह की नियमित पूजा में लगे रहना चाहिए। अर्चाविग्रह भगवान् का विशिष्ट अवतार होता है। भगवान् कृष्ण अपने पूजक के समक्ष पाँच विभिन्न रूपों में अपने को प्रस्तुत कर सकते हैं। ये हैं—अपने आदि कृष्ण-रूप में (*पर*), अपने चतुर्व्यूह-अंश में (*व्यूह*), अपने लीला-अवतारों के रूप में (*वैभव*), परमात्मा-रूप में (*अन्तर्यामी*) तथा अर्चाविग्रह-रूप में (*अर्चा*)। इस अर्चा-रूप में परमात्मा होता है, जो भगवान् के वैभव-रूप में समाहित रहता है। भगवान् का यह *वैभव-प्रकाश* चतुर्व्यूह से निकलता है और यह चतुर्व्यूह परम सत्य वासुदेव में स्थित होता है, जो कि *स्वयंप्रकाश-तत्त्व* के भीतर स्थित होता है। इस *स्वयंप्रकाश* में वैकुण्ठ स्थित गोलोक वृन्दावनवासी कृष्ण के आदि रूप *स्वयंरूप-तत्त्व* के अंश निहित होते हैं। वैकुण्ठ-लोक में भगवान् के अंशों का यह अनुक्रम भौतिक जगत में भी अनुभव किया जाता है, जो कि भगवान् की सेवा करने की उत्सुकता के अनुसार है। भक्ति की निम्नतम अवस्था में एक नौसिखिये को चाहिए कि भगवान् की तुष्टि के लिए अपने सारे कर्म उन्हें समर्पित करे और मन्दिर में कृष्ण-पूजा का अनुशीलन करे।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार ऊपर वर्णित भगवान् के सारे स्वांश इस जगत में उतर कर अर्चाविग्रह में प्रवेश करते हैं, जो वैष्णव का दैनिक-जीवन संगी बनकर परमात्मा के कार्य को प्रकट करता है। यद्यपि भगवान् का लीला-अंश, *वैभव* विशिष्ट अवसरों पर अवतरित होता है (*रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्*) किन्तु परमात्मा-रूप तथा अर्चा-रूप तो भक्तों के आध्यात्मिक उन्नयन के लिए इस जगत में सदा ही उपलब्ध रहते हैं। जब कोई व्यक्ति *मध्यम अधिकारी* पद को प्राप्त

होता है, तो वह भगवान् के अंशों को समझ पाता है, जबकि कनिष्ठ अधिकारी का सारा ज्ञान अर्चा तक ही सीमित रहता है। तो भी कृष्ण इतने दयालु हैं कि निम्नतम श्रेणी के वैष्णवों को भी प्रोत्साहित करने के लिए वे अपने सारे विभिन्न रूपों को अर्चा में ही संघनित कर देते हैं, जिससे अर्चा की पूजा करते हुए कनिष्ठ अधिकारी सारे रूपों की पूजा कर लेता है। भक्त ज्यों ज्यों प्रगति करता जाता है, वह इन रूपों को, जैसे जैसे वे अपने ढंग से व्यक्त होते हैं, समझ सकता है, चाहे वे इस लोक में हों या वैकुण्ठ में।

तृतीय श्रेणी के स्तर पर रहते हुए, भक्त को भगवान् के साज-सज्जा तथा परिचर की आनंदमयी वास्तविकता का आध्यात्मिक अनुमान नहीं हो पाता। श्री चैतन्य महाप्रभु राजा प्रतापरुद्र से तब अत्यधिक प्रसन्न हुए थे, जब राजा महाप्रभु का बहिर्वसन प्राप्त करके, उसे तुरन्त अर्चा के रूप में स्थापित करके, उसकी साक्षात् भगवान् जैसी पूजा करने लगे। शिवजी ने स्वयं कहा है—*तस्माद् परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्।* भगवान् के साज-सज्जा, परिचर या उनके भक्तों की पूजा भगवान् की पूजा की अपेक्षा से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि भगवान् अपनी पूजा की अपेक्षा अपने भक्तों तथा परिचर की पूजा से अधिक प्रसन्न होते हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार *कनिष्ठ अधिकारी* द्वारा भगवान् के भक्तों, परिचर तथा साज-सज्जा को न समझ पाना, इसका सूचक है कि वह अब भी उन कर्मवादियों तथा मायावादियों के अनुमान-जनित ज्ञान से प्रभावित है, जो इन्द्रियतृप्ति तथा परम के बारे में निर्विशेषवादी चिंतन में तल्लीन हैं। श्रील प्रभुपाद प्रायः कहा करते थे कि निर्विशेषवादी ही कृष्ण का एकान्त दर्शन चाहता है, हम तो कृष्ण को उनकी गौवों, उनके मित्रों, उनके माता-पिता, उनकी गोपियों, उनकी वंशी, उनके आभूषण, वनश्री इत्यादि के साथ साथ देखना चाहते हैं। वृन्दावन की पृष्ठभूमि में कृष्ण भव्य लगते हैं। वृन्दावन की भूमि में ही अनेकानेक सुन्दर संगियों से घिरे हुए अपना अकथनीय सौन्दर्य प्रकट करते हैं। इसी तरह भगवान् की अद्वितीय कृपा उन शुद्ध भक्तों के कार्यों में प्रकट होती है, जो सारे विश्व में निस्वार्थ-भाव से यात्रा करते हुए बद्धजीवों के सिरों पर कृष्ण के चरणकमलों की धूल का वितरण करते हैं। जो व्यक्ति भगवान् के साज-सज्जा, परिचर तथा भक्तों में अरुचि रखता हो, उसे

भगवान् का अवरुद्ध ज्ञान होता है। यह सब जीवन के निर्विशेष तथा विषय-वासनामय ज्ञान के दूषण से होता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते हैं कि भगवान् वासुदेव के अर्चा की सैकड़ों जीवनों तक बाहरी साज-सामान से पूजा करने से ही, उसे भगवान् के दिव्य नाम तथा मंत्रों की सही प्रकृति की अनुभूति हो पाती है और इस तरह उसकी भौतिकतावादी मनोवृत्ति का बन्धन ढीला पड़ता है। इस तरह से जब कनिष्ठ अधिकारी धीरे धीरे भक्तों के मानसिक कार्यकलापों का अनुभव कर पाता है और उच्च अवस्था की ओर बढ़ने के लिए गम्भीरतापूर्वक प्रयास करता है, तो उसकी भौतिकतावादी धारणाएँ स्वयमेव दूर हो जाती हैं। तब वह भगवान् के प्रति प्रेमाभक्ति प्रकट करता है और उन भक्तों के साथ मैत्री करता है, जो भगवान् के परमप्रिय पुत्र हैं। वह कृष्ण-भक्ति के सार्वभौम गुण को पहचान कर अन्य भोले-भाले लोगों को भी भगवान् की सेवा में लगाने के लिए अत्यन्त उत्सुक होता है। इस तरह महत्त्वपूर्ण प्रगति करते हुए वह, जो भी वस्तु या मनुष्य, उसके आध्यात्मिक जीवन में बाधक बनता है, उसका शत्रु बनता जाता है और इस तरह वह उन नास्तिक लोगों से अपने को बचाता है, जो सदुपदेश से लाभ नहीं उठा सकते।

ॐ विष्णुपाद परमहंस परिव्राजकाचार्य १०८ श्री श्रीमद् भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद द्वारा संस्थापित अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ इतना उत्तम है कि जो भी इसकी सहायता करता है, वह भगवान् के प्रचार-कार्य में तुरन्त लग जाता है। इस तरह इस संघ के सदस्यों को तुरन्त ही मध्यम कोटि की भक्ति करने की सुविधा मिल जाती है। यदि कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत के नाम पर प्रचार-कार्य छोड़कर अपने निर्वाह हेतु धन एकत्र करने मात्र में रुचि लेने लगता है, तो वह अन्य जीवों के प्रति ईर्ष्या प्रदर्शित करता है। यह तो तृतीय कोटि के स्तर का लक्षण है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार ४५वें श्लोक से लेकर ४७वें श्लोक तक राजा निमि के इन दो प्रश्नों—"भगवद्भक्ति का स्वभाव क्या है?" और "वैष्णव के विशिष्ट कर्तव्य क्या हैं?"—के उत्तर दिये हुए हैं।

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान्यो न द्वेष्टि न हृष्यति ।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन्स वै भागवतोत्तमः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

गृहीत्वा—स्वीकार करके; अपि—यद्यपि; इन्द्रियैः—इन्द्रियों के द्वारा; अर्थान्—इन्द्रिय-विषयों को; यः—जो; न द्वेष्टि—ईर्ष्या नहीं करता; न हृष्यति—हर्षित नहीं होता; विष्णोः—भगवान् विष्णु की; मायाम्—माया को; इदम्—इस भौतिक ब्रह्माण्ड को; पश्यन्—देखते हुए; सः—वह; वै—निस्सन्देह; भागवत-उत्तमः—प्रथम कोटि का भक्त।

इन्द्रिय-विषयों में लगे रहकर भी, जो इस सम्पूर्ण जगत को भगवान् विष्णु की शक्ति के रूप में देखता है, वह न तो विकर्षित होता है, न हर्षित। वह निस्सन्देह, भक्तों में सबसे महान् होता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार उत्तम अधिकारी का पद इतना पूज्य है कि आठ श्लोकों में अब अतिरिक्त लक्षण दिये जा रहे हैं। यह समझ लेना होगा कि जब तक कोई भगवद्भक्त के चरणकमलों के सम्पर्क में नहीं आता, तब तक भौतिक मोह से छूटने का मार्ग समझ पाना कठिन है। *श्री उपदेशामृत* के पाँचवें श्लोक में श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है—*शुश्रूषया भजनविज्ञमनन्यमन्यनिन्दादिशून्यहृदम् ईप्सितसङ्गलब्ध्या*—मनुष्य को चाहिए कि उस शुद्ध भक्त की संगति करे और श्रद्धापूर्वक सेवा करे, जो अविचल भक्ति में आगे बढ़ा हुआ हो और जिसका हृदय अन्यों की आलोचना करने की लालसा से नितान्त रहित हो। श्रील प्रभुपाद ने इस पर टीका की है—"इस श्लोक में श्रील रूप गोस्वामी भक्त को सलाह देते हैं कि वह इतना बुद्धिमान हो कि कनिष्ठ अधिकारी, मध्यम अधिकारी तथा उत्तम अधिकारी के बीच अन्तर जान सके—नवदीक्षित वैष्णव तथा मध्यम पद पर स्थित वैष्णव भी शिष्य बना सकता है, किन्तु ऐसे शिष्यों को उसी पद पर होना चाहिए और यह समझ लेना चाहिए कि वे उसके अपर्याप्त मार्गदर्शन में जीवन के चरम उद्देश्य की ओर ठीक से प्रगति नहीं कर सकेंगे। इसलिए शिष्य को चाहिए कि सावधान रहते हुए उत्तम अधिकारी को ही अपना गुरु चुने। अत: अब अतिरिक्त लक्षण दिए जाएँगे, ताकि बद्धजीव जो भगवद्धाम लौटना चाहता है, प्रामाणिक गुरु को अच्छी प्रकार पहचान सके।"

श्रील श्रीधर स्वामी तथा श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार भगवान् के शुद्ध भक्त के साथ संगति करना इतना महत्त्वपूर्ण है कि भक्ति की विभिन्न श्रेणियों की व्याख्या के पश्चात् शुद्ध भक्त की योग्यताओं के विषय में आठ अतिरिक्त श्लोक दिये जा रहे हैं, ताकि श्रीमद्भागवतम् के विद्यार्थी इस दिशा में कोई त्रुटि न कर सकें। इसी प्रकार *भगवद्गीता* के द्वितीय अध्याय में अर्जुन ने कृष्ण से पूर्णतया कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के लक्षण पूछे हैं और कृष्ण ने *प्रज्ञा प्रतिष्ठिता*—अर्थात् कृष्णभावनामृत में प्रतिष्ठित व्यक्ति के लक्षणों की विस्तार से व्याख्या की है।

इस श्लोक में जिस विशिष्ट योग्यता का वर्णन हुआ है, वह है—*विष्णोर्मायामिदं पश्यन्*—मनुष्य को चाहिए कि सम्पूर्ण भौतिक जगत को भगवान् की माया की उपज माने। जो भगवान् की सम्पत्ति है उसके लिए शोक करने या प्रफुल्लित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस जगत में कोई व्यक्ति सामान्यतया वांछित वस्तु को खो देने पर शोक करता है और इच्छित वस्तु को पाने पर प्रफुल्लित होता है। किन्तु शुद्ध भक्त में कोई निजी इच्छा न होने से (*कृष्ण-भक्त निष्काम—अतएव 'शान्त'*) हानि या लाभ का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५४) में भगवान् कहते हैं—

ब्रह्मभूताः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

"जो दिव्य पद पर स्थित है, वह तुरन्त ही परब्रह्म का साक्षात्कार करके पूर्णतया आनंदित हो जाता है। वह न तो शोक करता है, न ही किसी वस्तु को पाने की इच्छा करता है। वह हर जीव के प्रति समभाव रखता है। ऐसी दशा में वह मेरी शुद्ध भक्ति प्राप्त करता है।" इसी प्रकार शिवजी राजा चित्रकेतु के चरित्र की प्रशंसा करते हुए अपनी पत्नी पार्वती से कहते हैं—

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।

स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः॥

"एकमात्र भगवान् नारायण की सेवा में लगे भक्तगण कभी भी जीवन की किसी दशा से डरते नहीं। उनके लिए स्वर्गलोक, मोक्ष तथा नरकलोक सभी एकसमान हैं, क्योंकि ऐसे भक्त एकमात्र भगवान् की सेवा में रुचि रखते हैं।" (भागवत ६.१७.२८)

कृष्ण-भक्ति में पूर्ण संतोष की यह अवस्था कृत्रिम ध्यान द्वारा प्राप्त होने वाला मानसिक चिन्तन नहीं है, अपितु आनन्दकन्द भगवान् की श्रेष्ठ प्रकृति का अनुभव करने का फल है। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.५९) में कहा गया है—*रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।* जब निर्विशेषवादी तथा शून्यवादी कृत्रिम रूप में भौतिक वस्तुओं को अपने मन से निकाल फेंकने का प्रयत्न करते हैं, तो उन्हें अपने कृत्रिम ध्यान में काफी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषां अव्यक्तासक्तचेतसाम्।

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(*भगवद्गीता* १२.५)

भगवान् कृष्ण के अनुसार निर्विशेष मोक्ष अनेक कष्टों तथा असुविधाओं के बाद मिलता है, क्योंकि हर जीव परम पुरुष कृष्ण का भिन्नांश होने से नित्य पुरुष है। आत्मस्वरूप को त्यागने की धारणा भौतिक अहंकार से उत्पन्न घोर हताशा का प्रतिफल होती है। यह कोई सकारात्मक कार्यक्रम नहीं है। यदि किसी के हाथ में असह्य पीड़ा हो तो वह अपना हाथ कटाने के लिए राजी हो सकता है, किन्तु असली हल तो यह होगा कि संदूषण को हटा दिया जाये, जिससे स्वस्थ हाथ आनन्द का स्रोत बन सके। इसी प्रकार अहंकार या "मैं" का भाव तभी असीम सुख का स्रोत हो सकता है, जब हम यह समझ सकें कि हम क्या हैं अर्थात् कृष्ण के दास हैं। निर्विशेष ध्यान नीरस तथा कष्टप्रद है। शुद्ध भक्त यह अनुभव करता है कि वह नित्य पुरुष है, परम पुरुष कृष्ण का भिन्नांश है और ईश्वर के पुत्र-रूप में उसे भगवान् की भावपूर्ण नित्य लीलाओं में भाग लेने, कृष्ण से प्रेम करने और सदैव उनके साथ खेलने का अधिकार प्राप्त है। ऐसे भक्त के लिए पीत भौतिक प्रकृति, जो आध्यात्मिक जगत का विकृत प्रतिबिम्ब मात्र है, पूर्णतया अनाकर्षक बन जाती है। अतएव जो व्यक्ति कृष्ण में पूर्णरूपेण अनुरक्त होता है और माया के विकारों में अरुचि दिखाता है, उसे *भागवतोत्तम* कहा जा सकता है, जैसाकि किसी पिछले श्लोक में वर्णन हुआ है (*भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र च*)।

श्रील मध्वाचार्य ने कहा है—*विष्णोर्मायां विष्णिवच्छाधीनाम्*—इस श्लोक के *विष्णोर्मायाम्* शब्द यह सूचित करते हैं कि माया सदैव विष्णु की इच्छा पर आश्रित रहती है। इसी प्रकार *ब्रह्म-संहिता* (५.४४) में कहा गया है—*सृष्टिस्थितिप्रलयसाधनशक्तिरेका छायेव यास्य भुवनानि बिभर्ति दुर्गा।* माया भगवान् की परछाईं के समान है, जो इस जगत के सृजन, पालन और प्रलय में उनकी सहायता करती है। जिस प्रकार परछाईं में स्वतंत्र गतिशक्ति नहीं होती, अपितु उस वस्तु का पीछा करती है, जिसकी वह छाया होती है, उसी तरह भगवान् की माया में कोई स्वतंत्र शक्ति नहीं होती, अपितु भगवान् की इच्छानुसार ही वह जीवों को मोहित करती है। कृष्ण के ऐश्वर्यों में से एक ऐश्वर्य यह है कि वे परम विरक्त हैं। जब कोई जीव उन्हें भुलाना चाहता है, तो वे अपनी माया को लगाकर उस बद्धजीव की ऐसी मूर्खता को जल्दी ही सरल बनाने में सहायता देते हैं।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान्* शब्द सूचित करते हैं कि भगवान् का शुद्ध भक्त इस जगत में कर्म करना बन्द नहीं करता, प्रत्युत वह अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश की सेवा में लगा देता है। *हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते।* श्रील रूप गोस्वामी ने बतलाया है कि यदि कोई उन भौतिक वस्तुओं का, जो कृष्ण की सेवा के लिए उपयुक्त हैं, भौतिक अत: आध्यात्मिक उन्नयन में अवरोधक मान कर परित्याग कर देता है, तो उसका त्याग केवल *फल्गु-वैराग्य* अर्थात् कच्चा तथा अधूरा वैराग्य होता है। दूसरी ओर, जो व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति की किसी निजी इच्छा के बिना कृष्ण-सेवा के लिए सारी भौतिक वस्तुओं को स्वीकार कर लेता है, वह वास्तव में विरक्त है (*युक्तं वैराग्यमुच्यते*)।

इस श्लोक की अपनी टीका में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने सावधान किया है कि भक्तों की तीन श्रेणियों—उत्तम अधिकारी, मध्यम अधिकारी तथा कनिष्ठ अधिकारी—में से किसी से भी ईर्ष्या करने पर मनुष्य निर्विशेष पद पर जा गिरता है और अपने को अथवा अन्यों को लाभ दिलाने की सारी शक्ति खो देता है। अतएव जो लोग कृष्णभावनामृत में आगे बढ़ना चाहते हैं, उन्हें अन्य वैष्णवों की व्यर्थ आलोचना करके अपने दिव्य अनुभव को खतरे में नहीं डालना चाहिए। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार, यदि कोई *फल्गु-वैराग्य* में रत होता है अर्थात् जो भगवान् की सेवा के लिए उपयुक्त वस्तुओं का परित्याग करता है, उसे निर्विशेष दर्शन से दूषित होने की सम्भावना रहती है। दूसरी ओर *युक्त-वैराग्य* के सिद्धान्त पर लगे रहकर, निजी इच्छा के बिना हर वस्तु को कृष्ण की सेवा में लगाते हुए मनुष्य भौतिक इन्द्रियतृप्ति के खतरे से अलग रह सकता है और धीरे-धीरे *महाभागवत* पद पर पहुँच सकता है, जैसाकि इस श्लोक में बतलाया गया है।

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो
जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः
स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

देह—शरीर की; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; प्राण—प्राण-वायु; मनः—मन; धियाम्—तथा बुद्धि; यः—जो; जन्म—जन्म; अप्यय—क्षय; क्षुत्—भूख; भय—डर; तर्ष—प्यास; कृच्छ्रैः—तथा थकान से; संसार—भौतिक जीवन के; धर्मैः—अभिन्न गुणों से; अविमुह्यमानः—मोहित नहीं; स्मृत्या—स्मृति के कारण; हरेः—भगवान् हरि के; भागवत-प्रधानः—भक्तों में सर्वप्रमुख।

इस भौतिक जगत में मनुष्य का भौतिक शरीर सदैव जन्म तथा मृत्यु के अधीन रहता है। इसी तरह प्राण को भूख तथा प्यास सताते हैं, मन सदैव चिन्तित रहता है, बुद्धि उसके लिए लालायित रहती है, जिसे प्राप्त नहीं किया जा सकता और ये सारी इन्द्रियाँ भौतिक प्रकृति से निरन्तर संघर्ष करते रहने से अन्ततः थक जाती हैं। जो व्यक्ति भौतिक जगत के अपरिहार्य दुखों से मोहग्रस्त नहीं होता और भगवान् के चरणकमलों के स्मरण मात्र से उन सबसे अलग रहता है, उसे ही भागवत-प्रधान अर्थात् भगवान् का अग्रणी भक्त कहा जाता है।

तात्पर्य : श्रील मध्वाचार्य के अनुसार इस जगत में बुद्धिमान जीवों की तीन श्रेणियाँ हैं—देवता, सामान्य मनुष्य तथा असुर। समस्त शुभ गुणों से युक्त जीव अर्थात् भगवान् का अत्युन्नत भक्त चाहे वह इस पृथ्वी पर हो या अन्य लोकों में हो, *देव* कहलाता है। सामान्य मनुष्यों में प्रायः अच्छे तथा बुरे गुण होते हैं और इस मिश्रण के अनुसार वे इस संसार में सुख तथा दुख भोगते हैं। किन्तु जिनमें अच्छे गुणों का अभाव होता है तथा जो पवित्र जीवन एवं भगवद्भक्ति के शत्रु बने रहते हैं, वे *असुर* कहलाते हैं।

इन तीनों श्रणियों में से सामान्य मनुष्यों तथा असुरों को जन्म, मृत्यु तथा भूख बुरी तरह सताते हैं, जबकि *देव* या देवतागण ऐसे शारीरिक कष्टों से दूर रहते हैं। वे इसलिए दूर रहते हैं क्योंकि वे अपने पुण्यकर्मों का फल भोगते हैं। *कर्म* के नियमों के अनुसार वे भौतिक जगत की स्थूल यातना से अपरिचित होते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२०) में भगवान् ने कहा है—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकम्
अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥

"जो वेदों का अध्ययन करते हैं तथा सोमरस का पान करते हैं, वे स्वर्ग-प्राप्ति की गवेषणा करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से मेरी पूजा करते हैं। वे इन्द्र के स्वर्गिक धाम में जन्म लेते हैं, जहाँ वे देवताओं का-सा आनन्द भोगते हैं।" किन्तु *भगवद्गीता* के अगले श्लोक में यह कहा गया है कि जब इन पुण्यकर्मों का फल चुक जाता है, तो उसे देवता-पद तथा उसी के साथ स्वर्ग का आनन्द छोड़ना पड़ता है और पृथ्वी पर *नर* अर्थात् सामान्य मनुष्य के रूप में लौटना होता है (*क्षीणे पुण्ये*

मर्त्यलोकंविशन्ति)। वस्तुतः प्रकृति के नियम इतने सूक्ष्म हैं कि हो सकता है कि कोई प्राणी पृथ्वी पर मनुष्य रूप में भी न लौट पाये बल्कि उसे अपने कर्म के अनुसार किसी कीट या वृक्ष का जन्म लेना पड़े।

किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त को भौतिक कष्ट नहीं होता, क्योंकि वह देहात्म-बुद्धि को छोड़ चुका होता है और अपने को भगवान् कृष्ण के नित्य दास के रूप में पहचानता है। जैसाकि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.२) में कहा है—*सुसुखं कर्तुमव्ययम्।* साधन-भक्ति की अवस्था में भी भक्तियोग अत्यन्त आनन्दप्रद है। इसी प्रकार श्री चैतन्य महाप्रभु के निकट समकालीन लोचन दास ठाकुर ने कहा है—*सब अवतार सार शिरोमणि केवल आनन्दकाण्ड।* यद्यपि वैदिक शास्त्रों में कई *काण्ड* अर्थात् विभाग हैं जैसे कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड इत्यादि, किन्तु चैतन्य महाप्रभु का केवल हरिनाम संकीर्तन आन्दोलन अर्थात् *आनन्दकाण्ड*—शुद्ध आनन्द का मार्ग है। केवल कृष्ण-नाम का कीर्तन करने, भगवान् को अर्पित भव्य भोजन का उच्छिष्ट खाने और भगवान् की मोहक लीलाओं के कीर्तन के श्रवण से मनुष्य आनन्द के सागर में, जिसे कृष्णभावनामृत कहते हैं, मग्न हो जाता है।

सौभाग्यवश यह आनन्दमय सागर हर जीव की नित्य स्थिति है बशर्ते कि वह अपने जीवन के सारे निरर्थक के विचार त्याग दे। मनुष्य को स्वयं को न तो स्थूल भौतिक देह मानना चाहिए, न चंचल मन, न कल्पना-प्रेरक बुद्धि, न ही मनुष्य को अपने को मूर्खतापूर्वक तथाकथित बौद्ध शून्यवाद से जोड़ना चाहिए। न ही उसे अपनी पहचान निर्विशेष आध्यात्मिक जीवन के सागर के रूप में करनी चाहिए, जिसे *ब्रह्मज्योति* कहते हैं और जो आच्छादित ब्रह्माण्ड से परे दिव्य आकाश के बाहरी भाग को प्रकाशित करती है। उसे तो अपने आपको परम पुरुष भगवान् का निजी नित्य दास समझना चाहिए। केवल अपनी इस स्वाभाविक स्थिति को मानने से तथा भगवान् के चरणकमलों की सेवा में रत रहने से ही मनुष्य को कृष्ण की नित्य लीलाओं में प्रत्यक्ष भाग लेने का अवसर मिल जाता है, जिस तरह अर्जुन को कृष्ण के साथ कुरुक्षेत्र युद्ध में योद्धा के रूप में कर्म करने का अवसर मिल गया था।

श्रील मध्वाचार्य ने उस विधि का विस्तृत वर्णन किया है, जिससे भौतिक कष्ट उत्पन्न होते हैं। जब आसुरी प्रवृत्ति वाला बद्धजीव अपनी पहचान स्थूल भौतिक शरीर के रूप में करता है, तो उसे अनवरत आलस तथा अतृप्त कामेच्छा सताते रहते हैं, जो उसकी मानसिक शान्ति तथा गम्भीरता को भस्म कर

देते हैं। जब कोई आसुरी व्यक्ति अपने को *प्राण* मानता है, तो उसे भूख सताती है और जब वह अपनी पहचान मन के रूप में करता है, तो उसे शंका, भय तथा लालसा सताती है, जिसका अन्त निराशा में होता है। जब वह अपनी पहचान बुद्धि के साथ करता है, तो उसे अपने अन्त:करण में कटुता तथा अशान्ति प्रतीत होती है। जब वह मिथ्या अहंकार के रूप में अपनी पहचान करता है, तो उसे यह सोच कर कि "मैं कितना नीच हूँ" निम्नता का अनुभव होता है। जब वह चेतना से अपनी पहचान करता है, तो उसे भूतकाल की स्मृतियाँ सताती हैं। जब वह असुर अपने को सारे जीवों का शासक बताना चाहता है, तो ये सारे कष्ट एक साथ बढ़ जाते हैं।

श्रीपाद मध्वाचार्य के अनुसार पापी जीवन सुख का आसुरी मानदण्ड है। हम देख सकते हैं कि आसुरी समाज में मनोरंजन कार्यों के लिए देर रात के अंधेरे पहर सर्वोपयुक्त माने जाते हैं। जब कोई असुर यह सुनता है कि कोई व्यक्ति ४ बजे प्रात:काल उठकर देवकालीन भोर का लाभ उठा रहा है, तो वह चकित तथा मोहित हो जाता है। इसलिए *भगवद्गीता* (२.६९) में कहा गया है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने:॥

"जो सभी प्राणियों के लिए रात होती है, वही आत्मसंयमी व्यक्तियों के लिए जगने का समय होता है और सारे जीवों के जागने का समय आत्मनिरीक्षक मुनि के निमित्त रात होती है।" श्रील प्रभुपाद ने टीका की है, "बुद्धिमान व्यक्तियों की दो श्रेणियाँ हैं। इनमें से एक इन्द्रियतृप्ति के भौतिक कार्यकलापों के लिए बुद्धिमान होता है और दूसरा आत्मनिरीक्षक है, जो आत्म-साक्षात्कार के अनुशीलन के लिए सचेत रहता है।" इस तरह, जो जितना ही अवैध यौन, नशा, मांसाहार तथा द्यूत-क्रीड़ा करता है, वह आसुरी समाज में उतना ही अधिक प्रतिष्ठित होता है, जबकि कृणभावनामृत पर आधारित पवित्र समाज में इन वस्तुओं का सर्वथा उन्मूलन हो जाता है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति ज्यों ज्यों कृष्ण के नाम तथा लीलाओं में आनन्दपूर्वक अनुरक्त होता है, त्यों त्यों वह उतना ही आसुरी समाज से कटता चला जाता है।

असुरगण परमेश्वर के आत्मघोषित शत्रु होते हैं और वे उनके साम्राज्य (धाम) का मजाक उड़ाते हैं। इसीलिए श्रील मध्वाचार्य उन्हें *अधोगते:* कहते हैं अर्थात् वे जिन्होंने नर्क के गहनतम भागों में जाने

का टिकट खरीद रखा है। दूसरी ओर, यदि कोई व्यक्ति भौतिक जीवन के कष्टों से अविचलित रहता है, तो वह भगवान् जैसे आध्यात्मिक पद को प्राप्त होता है। *भगवद्गीता* (२.१५) में कहा गया है—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।

समदु:खसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

"हे पुरुष-श्रेष्ठ (अर्जुन)! जो व्यक्ति सुख तथा दुख से विचलित नहीं होता और दोनों में स्थिर रहता है, वह निश्चित रूप से मोक्ष का पात्र है।" कोई व्यक्ति इस दिव्य अवस्था को भगवत्कृपा से ही प्राप्त कर सकता है। श्रील मध्वाचार्य के शब्दों में *सम्पूर्णानुग्रहाद् विष्णो:।*

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने उस विधि का वर्णन किया है, जिससे मनुष्य *उत्तम अधिकारी* बन सकता है। यदि कोई व्यक्ति भाग्यशाली होता है, तो वह क्रमश: कनिष्ठ अधिकारी की संकुचित दृष्टि तथा क्रियाओं से ऊब कर मध्यम अधिकारी की विस्तारित दृष्टि का आदर करने लगता है, जो यह पहचान सकता है कि हर जीव को कृष्ण-भक्त बनना चाहिए और कोई भी व्यक्ति उत्तम अधिकारी भक्त के चरण-चिह्नों का अनुसरण करके जीवन-सिद्धि प्राप्त कर सकता है। ज्यों ज्यों उसकी भक्ति गहन होती जाती है और वह शुद्ध भक्त की चरणधूलि में बार बार लोटता है, उसके मन को जन्म, मृत्यु, भूख, प्यास, भय इत्यादि की यातनाएँ विचलित करना बंद कर देती हैं। जैसाकि *भक्तिरसामृतसिन्धु* (१.२.११४) में कहा गया है—

अलब्धे वा विनष्टे वा भक्ष्याच्छादनसाधने।

अविक्लवमतिर्भूत्वा हरिमेव धिया स्मरेत्॥

"यदि कोई भक्त ठीक से भोजन करने या ठीक से कपड़े पहनने के प्रयास में अशान्त रहता है, तो उसे इस भौतिक असफलता द्वारा अपने मन को विचलित नहीं होने देना चाहिए। प्रत्युत उसे अपनी बुद्धि अपने स्वामी कृष्ण को स्मरण करने में लगानी चाहिए और इस तरह अविचलित रहना चाहिए।" जब कोई कृष्ण का सदैव स्मरण करने की इस विधि में परिपक्व हो जाता है, तो उसे *महाभागवत* की पदवी दी जाती है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त ने उदाहरण दिया है कि जिस तरह बच्चे की गेंद रस्सी के सिरे से बाँध दी जाती है, जिससे वह दूर न छिटक सके, उसी तरह कृष्ण की शरण में आया भक्त वैदिक आदेशों की

रस्सियों से बँध जाता है और सांसारिक मामलों में कभी मग्न नहीं होता। इस सन्दर्भ में उन्होंने ऋग्वेद का उद्धरण (१.१५६.३) दिया है—*ॐ अस्य जानतो नाम चिद् विवक्तन् महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ॐ तत् सत्* "हे विष्णु! आपका नाम पूर्णत: दिव्य है। इस तरह यह स्वत: प्रकट है। निस्सन्देह, आपके पवित्र नाम के कीर्तन की महिमा को ठीक से बिना समझे भी, यदि हम नाम का उच्चारण उसकी महिमा को थोड़ा-सा भी समझ कर करते हैं—अर्थात् आपके नाम के शब्दों को केवल दुहराते हैं, तो हम धीरे धीरे उसे समझ जाएँगे।" परम पुरुष, जिन्हें *प्रणव ॐ* द्वारा सूचित किये गये हैं, *सत्* हैं अर्थात् स्वत: प्रकट होने वाले हैं। इसलिए भय या ईर्ष्या से अशान्त होते हुए भी यदि कोई व्यक्ति भगवान् के पवित्र नाम का उच्चारण करता रहता है, तो उसे भगवान् का दिव्य स्वरूप प्रकट हो जायेगा। *श्रीमद्भागवत* (६.२.१४) में और आगे पुष्टि हुई है—

सांकेत्यम् पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनम् एव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणम् अशेषाघहरं विदु:॥

"जो व्यक्ति भगवन्नाम का कीर्तन करता है, वह अपार पापों के फलों से तुरन्त छूट जाता है, भले ही वह नाम का उच्चारण अप्रत्यक्षत:, हँसी में, संगीत-विनोद के लिए या उपेक्षा-भाव से क्यों न करता हो।" शास्त्रों के सारे विद्वान इसे स्वीकार करते हैं।"

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भव: ।
वासुदेवैकनिलय: स वै भागवतोत्तम: ॥५०॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; काम—काम-वासना; कर्म—सकाम कर्म; बीजानाम्—या भौतिक लालसाओं के, जो सकाम कर्म के बीज रूप हैं; यस्य—जिसका; चेतसि—मन में; सम्भव:—ऊपर उठने का अवसर; वासुदेव-एक-निलय:—जिसकी एकमात्र शरण भगवान् वासुदेव हों उसके लिए; स:—वह; वै—निस्सन्देह; भागवत-उत्तम:—प्रथम श्रेणी का भक्त है।.

जिसने एकमात्र भगवान् वासुदेव की शरण ले रखी है, वह उन सकाम कर्मों से मुक्त हो जाता है, जो भौतिक काम-वासना पर आधारित हैं। वस्तुत: जिसने भगवान् के चरणकमलों की शरण ले रखी है, वह भौतिक इन्द्रियतृप्ति को भोगने की इच्छा से भी मुक्त हो जाता है। उसके मन में यौन-जीवन, सामाजिक प्रतिष्ठा और धन का भोग करने की योजनाएँ उत्पन्न नहीं हो सकतीं। इस प्रकार वह भागवतोत्तम अर्थात् सर्वोच्च पद को प्राप्त भगवान् का शुद्ध भक्त माना जाता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार इस श्लोक में भगवद्भक्त के आचरण का वर्णन हुआ है। शुद्ध भक्त के कार्यकलाप भौतिक ईर्ष्या, मिथ्या गर्व, भ्रम तथा काम से रहित होते हैं। वैष्णव टीकाकारों के अनुसार इस श्लोक का *बीजानाम्* शब्द *वासना:* या प्रबल इच्छाओं का द्योतक है, जो धीरे धीरे उन कर्मों के रूप में फलित होती हैं, जिनके लिए जीव फलों का दास बनता है। इस तरह *काम-कर्म-बीजानाम्* सामासिक पद उस गहरे में गड़ी हुई इच्छा का सूचक है, जिससे यौन आनन्द और यौन-आनन्द के विस्तारित साधनों के भोग के माध्यम से भौतिक जगत पर रोब जमाया जाता है, जिसका उल्लेख *भागवत* (५.५.८) में *गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तै*—सुन्दर आवास, उदर भरण के लिए अच्छा भोजन उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त भूमि तथा बच्चे, मित्र, सामाजिक सम्पर्क एवं प्रचुर बैंक बचत के रुप में हुआ है। मनुष्य द्वारा पूरी तरह से यह भुलाने के लिए कि वह भगवान् का नित्य दास है, ये सारी भौतिक वस्तुएँ आवश्यक हैं। इसलिए जैसाकि *भागवत* में कहा गया है—*जनस्य मोहोऽयम् अहं ममेति*—भौतिक माया की इन वस्तुओं से उन्मत्त हुए बद्धजीव को यह विश्वास हो जाता है कि वह ब्रह्माण्ड का केन्द्रबिन्दु है और संसार की हर वस्तु उसकी इन्द्रियतृप्ति के लिए बनी है। जो कोई ऐसे मायामय भोग में बाधक बनता है, वह तुरन्त उसका शत्रु बन जाता है और मार डालने पर उतारु रहता है।

इस देहात्म-बुद्धि तथा माया के पाश के कारण सारा जगत ईर्ष्या तथा काम-वासना से उत्पन्न संघर्ष से बुरी तरह विचलित हो रहा है। इसका एकमात्र सम्भव हल यही है कि यहाँ पर वर्णित भगवान् के शुद्ध भक्तों के नेतृत्व को स्वीकार कर लिया जाये। "शक्ति से भ्रष्टाचार फैलता है और परम सत्ता तो पूर्णरूपेण भ्रष्ट करती है"—यह कहावत भले ही भौतिक जगत में वैध हो, किन्तु यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेख हुआ है कि भगवान् के चरणकमलों में शरण लेने वाला शुद्ध भक्त भौतिक ईर्ष्या तथा इन्द्रियतृप्ति में शामिल होने की बात सोच भी नहीं पाता। उसका मन सदैव निर्मल तथा गम्भीर रहता है और वह प्रत्येक जीव के चरम कल्याण से अवगत रहता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन पृथ्वी के कष्ट भोग रहे जीवों को यह बताने का भरसक प्रयत्न कर रहा है कि मानव समाज में मस्तिष्क की परम आवश्यकता है। ज्वर से विकृत मस्तिष्क उचित निर्देशन नहीं कर सकता और यदि समाज के तथाकथित चिन्तक स्वार्थ परक विचारों से जल रहे हैं, तो वे ज्वर से रुग्ण सन्निपातग्रस्त मस्तिष्क के

समान है। सन्निपातग्रस्त सरकारें धीरे धीरे मानव समाज के सारे सुख को चौपट किये दे रही हैं। इसलिए वैष्णव उपदेशकों का कर्तव्य है कि *भागवतोत्तम* पद पर कर्म करें, जिससे वे मानवता को स्पष्ट दिशा–निर्देश दे सकें और सन्त–पुरुषों को दिये जाने वाले भौतिक ऐश्वर्य द्वारा तनिक भी भ्रष्ट या आकर्षित न हो सकें। सारे बुद्धिमान मनुष्य, जो सीधे भक्तियोग विधि को ग्रहण नहीं कर सकते हैं, कम से कम इतने तो शिक्षित हों कि भगवान् के उत्तम कोटि के भक्त को मान्यता देकर उनका मार्गदर्शन स्वीकार करें। इस तरह मानव समाज अच्छे तरीके से संगठित किया जा सकता है, जिससे न केवल सभी मनुष्य अपितु पशु, पक्षी और वृक्ष भी जीवन में प्रगति कर सकते हैं और आनन्द तथा ज्ञान के नित्य जीवन हेतु क्रमशः भगवद्धाम वापस जा सकते हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने बल दिया है कि जो लोग कृष्णभावनामृत में पूर्णता प्राप्त करने के लिए सच्चे मन से इच्छुक हैं उन्हें वैष्णव समुदाय में रहना चाहिए। श्रील प्रभुपाद ने भी अपने ग्रंथों में कई बार उल्लेख किया है कि तब तक पूर्ण कृष्णभावनामृत की अवस्था प्राप्त नहीं की जा सकती, जब तक विश्व–भर में अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ द्वारा स्थापित कृष्णभावनाभावित समुदायों में रह कर शुद्ध भक्तों की शरण ग्रहण नहीं की जाती। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने बल दिया है कि इसका अर्थ यह नहीं है कि आध्यात्मिक जीवन मन्दिर परिसर में रहने वाले ब्रह्मचारियों तक ही सीमित है। गृहस्थ आश्रम के भक्तगण भी मन्दिर के उत्सवों में नियमित रूप से उपस्थित होकर वैष्णव समुदाय की शरण ले सकते हैं। जो लोग गृहस्थ जीवन बिता रहे हैं, उन्हें चाहिए कि नित्य ही भगवान् के अर्चाविग्रह का दर्शन करें, उनके सामने उनके नाम का कीर्तन करें और *भगवद्गीता* तथा *भागवत* पर विद्वानों की चर्चाएँ सुनें। कोई भी गृहस्थ जो इन आध्यात्मिक सुविधाओं का नियमित लाभ उठाता है और आध्यात्मिक जीवन के विधि–विधानों—मांसाहार न करने, अवैध यौन न करने, जुआ न खेलने तथा नशा न करने—का पालन करता है उसे वैष्णव समुदाय का वैध सदस्य मान लेना चाहिए। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार, जो लोग भगवद्भक्ति के शत्रु बने रहते हैं, उन्हें भगवान् की माया के हाथों की निर्जीव कठपुतलियाँ समझना चाहिए।

न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः ।

सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यस्य—जिसका; जन्म—अच्छे जन्म से; कर्मभ्याम्—या अच्छे कार्यों से; न—नहीं; वर्ण-आश्रम—वृत्तिपरक नियमों या धार्मिक कर्तव्य में दृढ़ रहकर; जातिभिः—अथवा किसी जाति से सम्बन्धित होने से; सज्जते—अपने को जोड़ता है; अस्मिन्—इस; अहम्-भावः—अहंकार की भावना; देहे—शरीर में; वै—निस्सन्देह; सः—वह; हरेः—भगवान् हरि को; प्रियः—प्रिय है।

उच्च कुल में जन्म तथा तपोमय एवं पुण्यकर्मों का निष्पादन निश्चय ही किसी को अपने ऊपर गर्व जताने वाले हैं। इसी तरह, यदि समाज में किसी को प्रतिष्ठा मिलती है, क्योंकि उसके माता-पिता वर्णाश्रम की सामाजिक प्रणाली में अत्यधिक आदरित हैं, तो वह और भी ज्यादा पागल हो जाता है। किन्तु यदि इतने उत्तम भौतिक गुणों के उपरांत भी कोई व्यक्ति अपने भीतर तनिक भी गर्व का अनुभव नहीं करता, तो उसे भगवान् का सर्वाधिक प्रिय सेवक माना जाना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *जन्म* शब्द *मूर्धावसिक्तः* (ब्राह्मण पिता तथा क्षत्रिय माता से उत्पन्न सन्तान) तथा *अम्बष्ठ* (ब्राह्मण पिता तथा वैश्य माता से उत्पन्न सन्तान) जातियों के लिए आया है और ये दोनों *अनुलोम* माने जाते हैं, क्योंकि पिता उच्च जाति का होता है। ऐसे विवाह जिनमें माता उच्च जाति की और पिता निम्न जाति का होता है *प्रतिलोम* कहलाते हैं। ऐसे में जो भी अपने तथाकथित प्रतिष्ठित जन्म पर गर्व करता है, वह निश्चित रूप से देहात्म बुद्धि को प्राप्त होता है। किसी भी भौतिक देह में जन्म गम्भीर समस्या है, जिसका समाधान भगवान् की शरण ग्रहण करके करना चाहिए। इस तरह वह तथाकथित उच्चकुलीन भौतिक शरीर की स्वर्णिम जंजीरों से अपने को छुड़ा सकता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार कनिष्ठ अधिकारी यह सोचते हैं कि *कर्ममिश्र भक्ति* ही आध्यात्मिक जीवन का चरम अवस्था है। वे ऐसे श्लोकों के प्रति अनुरक्त हो जाते हैं, जैसे कि—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।

विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम्॥

"भगवान् विष्णु की पूजा वर्ण तथा आश्रम प्रणाली में नियत कर्तव्यों के उचित सम्पादन द्वारा की जाती है। भगवान् को तुष्ट करने का इसके अतिरिक्त दूसरा साधन है भी नहीं। मनुष्य को चारों वर्णों तथा आश्रमों के संस्थान में स्थित होना चाहिए।" (विष्णु पुराण ३.८.९) इस प्रकार वे सोचते हैं कि

भौतिक कर्म, जिसमें फल का थोड़ा अंश ईश्वर को अर्पित किया जाता है, मनुष्य-जीवन का सर्वोच्च पद है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार ऐसे कई स्मृति ग्रंथ हैं, जिनमें ऐसी मिश्र भक्ति को प्रोत्साहन दिया गया है। भौतिक शरीर के प्रति अहंवादी लगाव के कारण भौतिकतावादी भक्त ऐसे ग्रंथों को भगवान् का नाम बदनाम करने का बहाना बना लेते हैं। इस तरह मनुष्य सोचता है कि वर्णाश्रम प्रणाली में जन्म तथा तथाकथित पुण्यकर्मों के अनुसार प्रतिष्ठित स्थान का होना जीवन में सफल होने के लिए अनिवार्य है।

किन्तु जिन लोगों ने वास्तव में कृष्ण-नाम की शरण ले रखी है, वे न तो इस जगत में अपने जन्म के विषय में डींग मारते हैं न ही भौतिक कर्म में अपनी तथाकथित पटुता पर गर्व करते हैं। जब तक मनुष्य की मनोवृत्ति वर्णाश्रम प्रणाली की भौतिक उपाधियों से बोझिल बनी रहेगी, तब तक भौतिक बन्धन से मुक्त होने और भगवान् का प्रिय बनने के बहुत कम अवसर हैं। इस सम्बन्ध में श्री चैतन्य महाप्रभु ने एकस्वर से घोषित किया था कि वे अपनी पहचान किसी वर्णाश्रम उपाधि से यथा महान् विद्वान या पुरोहित, भगवान् की सेना का साहसी योद्धा, भगवान् के लिए धन कमाने वाला प्रखर व्यापारी या भगवान् का सबसे कठिन काम करने वाले के रूप में नहीं कर सके। न ही वे अपने को महान् ब्रह्मचारी या उत्तम गृहस्थ या उच्च संन्यासी मानते थे। ये उपाधियाँ भौतिक गर्व को प्रतिबिम्बित करती हैं, जो भक्ति सम्पन्न करने में भीतर प्रवेश कर सकती हैं। यद्यपि भक्त वर्णाश्रम के आदर्श कर्तव्यों का निर्वाह कर सकता है, किन्तु उसकी एकमात्र उपाधि *गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः*—अर्थात् गोपियों के स्वामी भगवान् कृष्ण के दास के दास का भी दास है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार, जब भक्त समझ लेता है कि भक्तियोग की प्रक्रिया अपने आप में पूर्ण हो चुकी है और वह भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन में लीन रहने लगा है, तो परम करुणामय भगवान् ऐसे उत्तम भक्त को अपनी गोद में उठा लेते हैं। भगवान् को केवल अनन्य भक्ति द्वारा प्रसन्न किया जा सकता है—न तो पाँच तत्त्वों वाले इस स्थूल शरीर से, न ही चिन्तन तथा व्यर्थ के अहंकार से युक्त सूक्ष्म शरीर से। दूसरे शब्दों में, कृष्ण को कभी भी तथाकथित राजसी शरीर से, जिसे कीड़े या गीधें खा जायेंगी, प्रसन्न नहीं किया जा सकता। यदि कोई व्यक्ति अपने जन्म तथा तथाकथित पुण्यकर्मों से गर्वित होता है, तो इस मिथ्या गर्व से वह कर्मफल को त्यागने की

निर्विशेष मनोवृत्ति या फिर कर्मफल भोगने की कर्मी मनोवृत्ति उत्पन्न कर लेता है। न तो कर्मीजन, न ही ज्ञानीजन इस बात से अवगत होते हैं कि कर्मफल तो वास्तव में कृष्ण का है। निष्कर्ष यह निकलता है कि मनुष्य को सारा मिथ्या अहंकार छोड़ कर यह स्मरण रखना चाहिए कि वह कृष्ण का विनीत सेवक है। जैसाकि चैतन्य महाप्रभु ने कहा है *अमानिना मानदेन कीर्तनीय: सदा हरि:।*

न यस्य स्व: पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा ।
सर्वभूतसम: शान्त: स वै भागवतोत्तम: ॥५२॥

शब्दार्थ

न—नहीं है; यस्य—जिसका; स्व: पर: इति—अपना तथा पराया; वित्तेषु—अपनी सम्पत्ति के विषय में; आत्मनि—अपने शरीर के विषय में; वा—अथवा; भिदा—द्वैत के रूप में सोचते हुए; सर्व-भूत—सारे जीवों के प्रति; सम:—समान; शान्त:—शान्त; स:—वह; वै—निस्सन्देह; भागवत-उत्तम:—भक्तों में श्रेष्ठ।

जब भक्त उस स्वार्थमयी धारणा को त्याग देता है, जिससे मनुष्य सोचता है कि "यह मेरी सम्पत्ति है और वह पराई है" तथा जब वह अपने ही भौतिक शरीर से सम्बद्ध आनन्द अथवा अन्यों की असुविधाओं के प्रति उदासीनता से कोई वास्ता नहीं रखता, तो वह पूरी तरह शान्त तथा तुष्ट हो जाता है। वह अपने आपको उन जीवों में से एक मानता है, जो समान रूप से भगवान् के भिन्नांश हैं। ऐसा तुष्ट वैष्णव भक्ति के सर्वोच्च आदर्श पर स्थित माना जाता है।

तात्पर्य : *सर्वभूतसम:* वाक्यांश में भगवान् के प्रति दृष्टिकोण सम्मिलित नहीं है। इस सन्दर्भ में श्रील मध्वाचार्य ने *हरिवंश* से उद्धरण दिया है—

न क्वापि जीवं विष्णुत्वे
संसृतौ मोक्ष एव च।

"किसी भी अवस्था में चाहे बद्ध जीवन हो या मोक्ष, जीव को भगवान् विष्णु के तुल्य नहीं मानना चाहिए।" निर्विशेषवादी दार्शनिकों को यह चिन्तन करने में मजा आता है कि यद्यपि हम वर्तमान माया के भ्रम में पृथक्-पृथक् जीव प्रतीत होते हैं, किन्तु मोक्ष प्राप्त होने पर हम सभी लोग ईश्वर में मिलकर ईश्वर बन जायेंगे, किन्तु ऐसे मनमाने चिन्तक शायद इसका तर्क नहीं दे पायेंगे कि सर्वशक्तिमान ईश्वर किस तरह ऐसी आकुलतापूर्ण स्थिति में पहुँच सकेंगे, जिसमें उन्हें किसी योग-कक्ष में प्रवेश करना पड़े, साप्ताहिक फीस देनी पड़े, अपनी नासिका को दबाना पड़े और दिव्यता को पुन: प्राप्त करने के लिए मंत्रों के उच्चारण करने पड़े? जैसाकि वेदों में कहा गया है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको*

बहूनां यो विदधाति कामान्। जीव का एकत्व या नानात्व भौतिक जगत का परिणाम नहीं है। *नित्यानाम्* शब्द, जो कि नित्य जीवों की बहुलता का द्योतक है स्पष्ट सूचित करता है कि सारे जीव भगवान् के भिन्नांश हैं, जो कि एक अद्वितीय जीव है, जिसे यहाँ *एक:* कहा गया है। *भगवद्गीता* (१.२१) में अर्जुन ने कृष्ण से कहा—*रथं स्थापय मेऽच्युत*—हे अच्युत! मेरे रथ को सेनाओं के मध्य में ले चलो। यह शरीर भी *रथ* है, अतएव सबसे अच्छी नीति यही होगी कि अच्युत भगवान् से प्रार्थना की जाय कि हमारे बद्ध शरीर का जिम्मा लें और भगवद्धाम वापस जाने का मार्ग दिखलायें। *अच्युत* का अर्थ है "जो कभी गिरता नहीं"। विद्वान या विवेकवान मनुष्य इस मूर्खतापूर्ण मत को कभी नहीं मानेंगे कि सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ ईश्वर माया के कारण लड़खड़ाया और गिर गया है। कोई चाहे कितना ही क्यों न सोचे भगवान् के चरणकमलों पर हमारे नित्य दासत्व को कोई नहीं मिटा सकता।

वस्तुत: स्वयं भगवान् ने *वराह पुराण* में कहा है—

नैवं त्वयानुमन्तव्यं जीवात्माहमिति क्वचित्।
सर्वैर्गुणैर्सुसम्पन्नं दैवं मां ज्ञातुमर्हसि॥

"तुम मुझे कभी जीवात्माओं की श्रेणी में सामान्य जीव नहीं समझना। वस्तुत: मैं समस्त ऐश्वर्यों तथा दैवी गुणों का आगार हूँ, अतएव तुम्हें जान लेना चाहिए कि मैं परम ईश्वर हूँ।"

श्रील जीव गोस्वामी तथा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *श्रीमद्भागवत* का यह श्लोक किसी वस्तु को भगवान् की सेवा में प्रयुक्त करने से मना नहीं करता, क्योंकि भक्त को छूट है कि भगवान् कृष्ण की सेवा के लिए वह चाहे किसी भी उपयुक्त वस्तु का प्रयोग करे। कृष्ण की सेवा के लिए उपयुक्त वस्तुओं को स्वीकार करना *युक्त-वैराग्य* कहलाता है। जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है—*निर्बन्ध: कृष्णसम्बन्धे*—मनुष्य को कृष्ण के प्रति अनुरक्त होना चाहिए, अपने लिए तो कभी नहीं। यदि कोई इस श्लोक का यह अर्थ लगाता है कि किसी भी भौतिक वस्तु पर नियंत्रण नहीं रखना चाहिए, भले ही वह कृष्ण की सेवा के उपयुक्त हो, तो वह बुरे ज्ञान में जा गिरता है, जिसे *फल्गु-वैराग्य*—अधकचरा वैराग्य कहते हैं। महाराज युधिष्ठिर तथा महाराज परीक्षित जैसे बड़े बड़े राजाओं ने सारी पृथ्वी को और अन्य वैष्णवों ने सारे ब्रह्माण्ड को कृष्ण-सेवा में लगा दिया था। किन्तु उन्होंने अपने स्वामित्व भाव को पूरी तरह त्याग दिया था। यही बात इस श्लोक में कही गई है। जिस तरह

कोई व्यक्ति अपने शरीर की पीड़ा से चिन्तित हो उठता है, उसी तरह उसे बद्धजीवों को भक्ति के स्तर पर लाने के लिए चिन्तित होना चाहिए, जिससे उनके सारे कष्ट सदा सदा के लिए समाप्त हो जाँय। एक शरीर तथा दूसरे शरीर में अन्तर न करने का वास्तविक तात्पर्य यही है।

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाछ्यः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

त्रि-भुवन—भौतिक ब्रह्माण्ड के तीनों लोकों के; विभव-हेतवे—ऐश्वर्य हेतु; अपि—भी; अकुण्ठ-स्मृतिः—जिसकी स्मृति अविचल है; अजित-आत्म—अपराजेय भगवान् ही जिसकी आत्मा है उसकी; सुर-आदिभिः—देवताओं तथा अन्यों द्वारा; विमृग्यात्—खोजे जाते हैं; न चलति—चला नहीं जाता; भगवत्—भगवान् के; पद-अरविन्दात्—चरणकमलों से; लव—एक सेकंड के ८/४५ वें भाग के; निमिष—अथवा उससे तीन गुना का; अर्धम्—आधा; अपि—भी; यः—जो; सः—वह; वैष्णव-अछ्यः—भगवान् विष्णु के भक्तों में सर्वश्रेष्ठ।

भगवान् के चरणकमलों की खोज ब्रह्मा तथा शिव जैसे बड़े बड़े देवताओं द्वारा भी की जाती है, जिन्होंने भगवान् को अपना प्राण तथा आत्मा स्वीकार कर रखा है। भगवान् का शुद्ध भक्त उन चरणकमलों को किसी भी अवस्था में नहीं भूलता। वह भगवान् के चरणकमलों की शरण एक क्षण के लिए भी नहीं—आधे क्षण के लिए भी नहीं—छोड़ पाता भले ही बदले में उसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का शासन तथा ऐश्वर्य-भोग का वर क्यों न मिले। भगवान् के ऐसे भक्त को वैष्णवों में सर्वश्रेष्ठ मानना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार यह प्रश्न किया जा सकता है "यदि किसी को भगवान् के चरणकमलों को आधे क्षण भी छोड़ने के बदले सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का ऐश्वर्य मिल जाय तो इतने अल्प समय के लिए भगवान् के चरणकमलों को छोड़ने में क्या हानि हो जायेगी?" इसका उत्तर *अकुण्ठ-स्मृति* शब्द द्वारा दिया गया है। शुद्ध भक्त के लिए भगवान् के चरणकमलों का विस्मरण असम्भव है, क्योंकि प्रत्येक विद्यमान वस्तु वास्तव में भगवान् का अंश है। चूँकि कोई भी वस्तु भगवान् से पृथक् नहीं है, अतएव भगवान् का शुद्ध भक्त भगवान् के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं सोचता। न ही शुद्ध भक्त ब्रह्माण्ड के ऐश्वर्य को भोगने या उस पर शासन करने का विचार मन में ला सकता है। यदि उसे

ब्रह्माण्ड का सारा ऐश्वर्य दे भी दिया जाय, तो वह उसे तुरन्त भगवान् के चरणकमलों पर अर्पित कर देगा और भगवान् के विनीत दास की स्थिति में लौट आएगा।

अजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् शब्द इस श्लोक में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् कृष्ण के चरणकमल इतने ऐश्वर्यशाली हैं कि भौतिक ऐश्वर्य के स्वामी ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवता भी भगवान् के चरणकमलों की झलक पा लेने के लिए लालायित रहते हैं। *विमृग्यात्* शब्द सूचित करता है कि वास्तव में देवतागण भगवान् के चरणकमलों का दर्शन नहीं कर पाते, अपितु वे उनका दर्शन पाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इसका एक उदाहरण दसवें स्कन्ध में दिया हुआ है, जब विष्णु से प्रार्थना करते हुए ब्रह्मा उनसे पृथ्वी के उत्पात को दूर करने के लिए कहते हैं।

ऐसा ही श्लोक *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र (११.१४.१४) प्राप्त है :

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं

न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।

न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा

मय्यर्पितात्मेच्छति मद् विनान्यत्॥

"जो भक्त मुझे अपनी आत्मा अर्पित कर देता है, वह ऐसा कुछ भी नहीं चाहता, यदि वह मुझसे पृथक् है—न तो ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च देवता ब्रह्मा का पद, न इन्द्र का पद, न पूरी पृथ्वी के ऊपर अथवा अधोलोकों पर राज्य, न योग की सिद्धि, न ही पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति।"

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *अजितात्मा* शब्द का अर्थ *अजितेन्द्रिया:* भी हो सकता है अर्थात् वे जिनकी इन्द्रियाँ अनियंत्रित हैं। यद्यपि सभी देवताओं को विष्णु-भक्तों के रूप में सम्मान देना चाहिए, किन्तु उच्च लोकों में स्थूल भौतिक असुविधा का अभाव होने से वे देहात्म बुद्धि द्वारा प्रभावित होने लगते हैं और कभी कभी राजसी भौतिक सुविधाएँ प्राप्त होने के कारण उन्हें कुछ कुछ आध्यात्मिक कठिनाई भी होने लगती है। किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त के मन में ऐसे उत्पातों के लिए स्थान नहीं रहता, जैसाकि *अकुण्ठ-स्मृति* शब्द द्वारा इस श्लोक में सूचित किया गया है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार हम इस श्लोक से यह समझ सकते हैं कि क्योंकि भगवान् का शुद्ध भक्त ब्रह्माण्ड के किसी भी लोक में उपलब्ध किसी भी भौतिक सुविधा से विपथ नहीं हो

सकता, अत: ऐसा भक्त कभी भी संभवत: न तो भगवद्भक्ति से च्युत हो सकता है न उसका शत्रु बन सकता है।

भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखा-
नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे ।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स
प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः ॥ ५४॥

शब्दार्थ

भगवतः—भगवान् का; उरु-विक्रम—महान् वीरतापूर्ण कार्य कर चुका; अङ्घ्रि—चरणकमलों के; शाखा—अँगुलियों के; नख—नाखूनों के; मणि—मणियों सदृश; चन्द्रिकया—चाँदनी द्वारा; निरस्त-तापे—पीड़ा के दूर हो जाने पर; हृदि—हृदय में; कथम्—किस तरह भला; उपसीदताम्—पूजा करने वालों को; पुनः—फिर से; सः—वह पीड़ा; प्रभवति—अपना प्रभाव दिखाती है; चन्द्रे—चन्द्रमा के; इव—सदृश; उदिते—उदय होने पर; अर्क—सूर्य का; तापः—जलती गर्मी।

जो लोग भगवान् की पूजा करते हैं, उनके हृदयों को भौतिक कष्ट रूपी आग भला किस तरह जलाती रह सकती है? भगवान् के चरणकमलों ने अनेक वीरतापूर्ण कार्य किये हैं और उनके पाँव की अँगुलियों के नाखून मूल्यवान मणियों सदृश लगते हैं। इन नाखूनों से निकलने वाला तेज चन्द्रमा की शीतल चाँदनी सदृश है, क्योंकि वह शुद्ध भक्त के हृदय के भीतर के कष्ट को उसी तरह दूर करता है, जिस तरह चन्द्रमा की शीतल चाँदनी सूर्य के प्रखर ताप से छुटकारा दिलाती है।

तात्पर्य : जब चन्द्रोदय होता है, तो उसकी किरणों के विस्तार से सूर्य की भीषण गर्मी का कष्ट दूर हो जाता है। इसी तरह भगवान् के चरणकमलों के नाखूनों से निकलने वाली शीतल किरणें शुद्ध भक्त के सारे कष्ट दूर कर देती हैं। वैष्णव टीकाकारों के अनुसार इस श्लोक से यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए कि भौतिक काम-वासना अर्थात् अनियंत्रित कामेच्छा प्रज्ज्वलित अग्नि के तुल्य है। इस अग्नि की लपटें बद्धजीव की शान्ति तथा सुख को भस्म कर डालती हैं, जो निरन्तर ८४,००,००० योनियों में भटकता है और इस असह्य आग को बुझाने का व्यर्थ संघर्ष करता रहता है। भगवान् के शुद्ध भक्त मणि सदृश शीतलता प्रदान करने वाले भगवान् के चरणकमलों को अपने हृदय में रख लेते हैं और इस तरह संसार के सारे कष्ट तथा पीड़ा दूर हो जाते हैं।

उरु-विक्रमाङ्घ्र शब्द द्योतित करता है कि भगवान् के चरणकमल शौर्य से पूर्ण हैं। श्रीकृष्ण अपने वामन-अवतार के लिए प्रसिद्ध हैं, जिन्होंने अपने चरणों के सुन्दर अँगूठों को ब्रह्माण्ड की बाह्य सीमा

तक विस्तारित कर दिया और ब्रह्माण्ड के कोश में छेद बना दिया, जिससे पवित्र गंगाजल इस ब्रह्माण्ड में आ सका। इसी तरह जब भगवान् कृष्ण असुर-राज कंस को ललकारने मथुरा नगरी में प्रवेश कर रहे थे और कुवलयापीड़ नामक भयानक हाथी ने उनका मार्ग रोका, तो कृष्ण ने अपने पाद-प्रहार से उस हाथी को मार डाला और नगरी के द्वारों से होकर भीतर प्रवेश कर गये। भगवान् कृष्ण के चरणकमल इतने पूज्य हैं कि वैदिक वाङ्मय का कथन है कि सारा जगत उन्हीं के चरणकमलों के नीचे टिका है—*समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः।* (भागवत १०.१४.५८)

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरसनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

विसृजति—त्याग देता है; हृदयम्—हृदय को; न—कभी नहीं; यस्य—जिसका; साक्षात्—स्वयं; हरिः—भगवान् हरि; अवश—सहसा; अभिहितः—कहलाने वाला; अपि—यद्यपि; अघ—पापों के; ओघ—समूह; नाशः—नाश करने वाला; प्रणय—प्रेम की; रसनया—रस्सियों द्वारा; धृत—पकड़े; अङ्घ्रि-पद्मः—उनके चरणकमल; सः—वह; भवति—है; भागवत-प्रधानः—सर्वश्रेष्ठ भक्त; उक्तः—कहा गया।

भगवान् बद्धजीवों के प्रति इतने दयालु हैं कि यदि वे जीव अनजाने में भी उनका नाम लेकर पुकारते हैं, तो भगवान् उनके हृदयों में असंख्य पापों को नष्ट करने के लिए उद्यत रहते हैं। इसलिए जब उनके चरणों की शरण में आया हुआ भक्त प्रेमपूर्वक कृष्ण के पवित्र नाम का कीर्तन करता है, तो भगवान् ऐसे भक्त के हृदय को कभी भी नहीं छोड़ पाते। इस तरह जिसने भगवान् को अपने हृदय के भीतर बाँध रखा है, वह भागवत-प्रधान अर्थात् अत्यधिक उच्चस्थ भक्त कहलाता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार इस श्लोक में शुद्ध भक्त के गुणों का सार दिया गया है। शुद्ध भक्त वह है, जिसने अपने प्रेम से भगवान् को इस तरह आकृष्ट कर रखा है कि वे भक्त के हृदय को छोड़ नहीं सकते। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *साक्षात्* शब्द यह सूचित करता है कि सौन्दर्य समेत छहों ऐश्वर्यों के कारण सर्व-आकर्षक भगवान् कृष्ण को अपना हृदय दे देने के कारण शुद्ध भक्त को भगवान् का ज्ञान हो जाता है। शुद्ध भक्त कभी भी न तो स्त्रियों के मांसल स्तनों से, न तथाकथित समाज, मैत्री, एवं जगत-प्रेम के व्यामोह से आकृष्ट होता है। इसलिए उसका निर्मल हृदय भगवान् के

लिए उपयुक्त निवास बन जाता है। एक सभ्य व्यक्ति निर्मल स्थान में ही रहना चाहेगा। वह दूषित स्थान में नहीं रह सकता। पाश्चात्य देशों के शिक्षित जन आजकल शहरी औद्योगिक प्रतिष्ठानों द्वारा जल तथा वायु के प्रदूषण का अत्यधिक विरोध कर रहे हैं। वे स्वच्छ स्थान में रहने के अपने अधिकार की माँग कर रहे हैं। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण परम भद्र व्यक्ति हैं, अतएव वे न तो दूषित हृदय में रहना चाहेंगे, न ही वे बद्धजीव के दूषित मन में प्रकट होंगे। जब भक्त भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करता है और कृष्ण के सर्व-आकर्षक स्वभाव की प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा ईश्वर-प्रेमी बन जाता है, तो भगवान् ऐसे भक्त के निर्मल हृदय तथा मन को अपना निवासस्थान बना लेते हैं।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार—*य एतादृशप्रणयवांस्तेनानेन तु सर्वदा परमावशेनैव कीर्त्यमानः सुतराम् एवमेवाघौघनाशः स्यात्।* यदि भक्त भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति में मग्न रहता है, तो वह इस सेवा द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से भगवान् की महिमा का बखान करता रहता है। अतः यदि वह भगवान् की सेवा में मग्न रहने के कारण आधी-अधुरी सर्तकता से भी कृष्ण-नाम कीर्तन करता रहता है, तो भगवान् की दया से उसके हृदय के सारे पाप धुल जाते हैं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (२.१.११) में कहा गया है—

एतान्निर्विद्यमानानाम् इच्छताम् अकुतोभयम्।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्॥

"हे राजन्! महापुरुषों के पथ का अनुसरण करके भगवन्नाम का निरन्तर कीर्तन सबों के लिए संशयरहित तथा भयरहित सफलता का मार्ग है। इसमें वे सभी सम्मिलित हैं, जो सारी भौतिक इच्छाओं से मुक्त हैं, जो भौतिक भोग के इच्छुक हैं तथा वे भी जो दिव्य ज्ञान के बल पर आत्मतुष्ट हैं।" इसलिए यदि कोई दिव्य प्रेमाभक्ति के पद पर नहीं पहुँचा है, किन्तु कृष्ण-नाम का कीर्तन करता है, तो वह भी सारे पापों से मुक्त हो जायेगा। *श्रीमद्भागवत* के छठे स्कंध में अजामिल के जीवन के इतिहास का भावार्थ प्रस्तुत करते हुए श्रील प्रभुपाद ने विस्तार से बतलाया है कि पवित्र नाम में सामान्य व्यक्ति को भी शुद्ध करने की शक्ति है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भगवान् को वश में करने की सुन्दर विधि बतलाई है। माता यशोदा ने बालक कृष्ण को एक रस्सी द्वारा मूसल से बाँध दिया था। कृष्ण ने अपने भक्तों के अचिन्त्य

प्रेम के वशीभूत होकर अपने आपको बँधवा लिया। अतएव यद्यपि भगवान् कृष्ण सभी बद्धजीवों को अपनी माया की रस्सियों से बाँधते हैं, किन्तु वही बद्धजीव, शुद्ध भक्त बन जाते हैं, यदि वे कृष्ण को ईश्वर-प्रेम की जंजीरों से बाँध लें।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार पापकर्मों के कारण संसार की सारी अशुभ दशाएँ भगवन्नाम के कीर्तन से दूर की जा सकती हैं। भगवान् उन लोगों के हृदय को छोड़ कर कभी नहीं जाते, जो सारे पापपूर्ण आचरण त्याग कर भगवन्नाम का कीर्तन करते हैं। यदि ऐसा कीर्तन पूर्ण न भी हो, तो भगवान् की सेवा में नित्य लगे हुए भक्तों को क्रमशः *प्रेम-निष्ठा* अवस्था को प्राप्त होंगे। तब उन्हें *महाभागवत* माना जाना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत "महाराज निमि की नौ योगेन्द्रों से भेंट" नामक दूसरे अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तीन

माया से मुक्ति

इस अध्याय में महाराज निमि द्वारा पूछे गये, जिन चार प्रश्नों के उत्तर दिये गये हैं, वे हैं—माया का स्वभाव तथा कार्य, माया के दुर्लंघ्य पाश से मुक्त होने की विधि, भगवान् नारायण की दिव्य स्थिति तथा कर्म-योग की विधि, जिससे मनुष्य सारे भौतिक कार्यों से मुक्त हो जाता है।

समस्त कारणों के मूल कारण भगवान् ने पाँच तत्त्वों की सृष्टि की जिनसे बद्धजीवों के भौतिक शरीर बनते हैं, जिससे बद्धजीव चाहें तो इन्द्रिय-तृप्ति या परम मोक्ष का अनुशीलन कर सकते हैं। भगवान् परमात्मा के रूप में प्रकट होकर सृजित जीवों के भौतिक शरीरों में प्रवेश कर जाते हैं और बद्धजीव की ग्यारह इन्द्रियों को सक्रिय बनाते हैं। बद्धजीव भौतिक शरीर को ही आत्मा मान बैठता है और इस तरह वह विविध सकाम कर्मों में लग जाता है। वह अपने ही कर्मों के फलों से बाध्य होकर विविध योनियों में बारम्बार जन्म लेता है और प्रलय आने तक अत्यधिक कष्ट भोगता रहता है। जब प्रलय सन्निकट होता है, तो विराट स्वरूप की आत्मा सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि को अपने में समेट लेती है

और तब वह स्वयं समस्त कारणों के आदि-कारण में प्रवेश कर जाता है। इस प्रकार से भगवान् तीन गुणों वाली अपनी माया को भौतिक ब्रह्माण्ड के सृजन, पालन तथा संहार के लिए शक्ति प्रदान करते हैं।

इस भौतिक जगत में नर तथा नारी के रूप में बद्धजीव संभोगरत होते हैं। यद्यपि ये जीव अपने दुखों को दूर करने तथा अपने आनन्द को असीम रुप से बढ़ाने के लिए निरन्तर भौतिक प्रयास करते रहते हैं, किन्तु इससे सदैव विपरीत परिणाम प्राप्त होता रहता है।

स्थायी सुख इस जगत में ढूँढ़े नहीं मिलता, चाहे वह पृथ्वी-लोक हो या स्वर्ग-लोक हो, जिसे लोग अनुष्ठान तथा यज्ञ सम्पन्न करने के बाद अगले जीवन में प्राप्त कर सकते हैं। पृथ्वी तथा स्वर्ग दोनों ही में ईर्ष्या तथा स्पर्धा जीव का पीछा नहीं छोड़तीं।

इसलिए जो व्यक्ति संसार के कष्टों से स्थायी छुटकारा पाने का सचमुच इच्छुक है, उसे प्रामाणिक गुरु के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए। प्रामाणिक गुरु की योग्यता यह है कि वह विचार-विमर्श द्वारा वैदिक शास्त्रों के निष्कर्षों की अनुभूति कर चुका हो और इन निष्कर्षों द्वारा अन्यों को आश्वस्त कर सके। ऐसे महापुरुष, जिन्होंने सारे भौतिक मामलों को त्याग कर भगवान् की शरण ग्रहण कर ली है, उन्हें ही प्रामाणिक गुरु मानना चाहिए।

प्रामाणिक गुरु को ही अपना जीवन तथा आत्मा मान कर विनीत शिष्य को उससे शुद्ध भक्ति की विधि सीखनी चाहिए, जो भगवान् को तुष्ट करने वाली है। इस तरह शिष्य भक्ति-मार्ग पर चलकर क्रमशः समस्त सद्गुण प्राप्त कर लेता है।

मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के अद्भुत दिव्य कार्यकलापों, उनके प्राकट्य, गुणों तथा पवित्र नामों को सुने, उनका गुणगान करे और उनका ध्यान करे। उसे जो भी अच्छी लगने वाली या भोग्य वस्तु प्राप्त हो, वह भगवान् को तुरन्त अर्पित कर दे, यहाँ तक कि अपनी पत्नी, सन्तान, घर तथा अपने प्राण तक भगवान् के चरणकमलों में समर्पित कर दे। उसे अन्यों की सेवा करनी चाहिए और उनसे आदेश लेने चाहिए। विशेष रूप से जो भगवद्भक्त हैं, उनसे शिक्षा लेनी चाहिए और उनकी सेवा करनी चाहिए।

भक्तों की संगति में रह कर भगवान् की महिमा का कीर्तन करने से मनुष्य तुष्ट तथा सुखी हो जाता है और भक्तों से प्रेम-मैत्री स्थापित कर लेता है। इस तरह वह समस्त दुखों की कारणस्वरूप इन्द्रिय-तृप्ति को त्यागने में सक्षम हो जाता है। जब भक्त को भगवान् के शुद्ध प्रेम की अवस्था प्राप्त हो जाती है, तो उसे रोमांच हो आता है और वह अनेक भावलक्षण प्रकट करने लगता है। वह भगवान् से प्रत्यक्ष मिलता है और दिव्य आनन्द से पूरित हो उठता है। भक्तियोग की शिक्षा से तथा भगवद्भक्ति में लगने से, भक्त भगवत्प्रेम की अवस्था को प्राप्त होता है। भगवान् नारायण के प्रति पूर्णतया अनुरक्त होने पर, भक्त दुर्लंघ्य माया को पार कर लेता है।

भगवान् ब्रह्माण्ड की सृष्टि, पालन तथा संहार के कारणस्वरूप हैं, फिर भी उनका कोई पूर्व कारण नहीं है। नश्वर तथा निरन्तर परिवर्तनशील भौतिक जगत में स्थित रह कर, वे नित्य तथा अपरिवर्तित रहते हैं। वे मन तथा इन्द्रियों से किसी सहायता के बिना समझे नहीं जा सकते। वे भौतिक जगत के प्राकट्य से परे हैं, जो सूक्ष्म भौतिक वस्तुओं में दिखने वाले कार्य-कारण के रूप में होता है। मूलत: अपनी माया द्वारा एक से विस्तार करके वे नाना रूपों में प्रकट होते हैं। वे जन्म, विकास, क्षय तथा मृत्यु से सदैव मुक्त हैं और सर्वव्यापक साक्षी परमात्मा हैं, जो सारे जीवों की मनोवृत्तियों का निरीक्षण करता है। वे परम ब्रह्म हैं और नारायण कहलाते हैं।

जब कोई व्यक्ति गम्भीरतापूर्वक भगवान् नारायण के चरणकमलों में भक्ति करता है, तो उसकी प्रकृति के तीन गुणों के अन्तर्गत पूर्वकर्म के फलस्वरूप हृदय के भीतर स्थित अशुद्ध इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार हृदय निर्मल हो जाने पर, वह भगवान् को तथा अपने आपको दिव्य जीवात्माओं के रूप में देख सकता है।

दिव्य वैदिक वाङ्मय के प्रामाणिक अध्ययन से ही मनुष्य नियत कर्तव्यों, इन कर्तव्यों के सम्पन्न न होने तथा वर्जित कार्यों के अर्थ को ठीक तरह से समझ सकता है। इस कठिन विषय को कभी भी संसारी चिन्तन से नहीं समझा जा सकता। वैदिक आदेश मनुष्य को पहले सकाम धार्मिक कर्म करने की संस्तुति करके अप्रत्यक्षत: चरम मोक्ष के मार्ग पर ले जाते हैं, जिस तरह बच्चे को दवा खिलाने के लिए पिता उसे मिठाई देने का वचन देता है। यदि भौतिक इन्द्रियों को न जीत सकने वाला अज्ञानी व्यक्ति वैदिक आदेशों को पूरा नहीं करता, तो वह पापमय तथा अधार्मिक कर्मों में प्रवृत्त होगा। इस

तरह उसे बारम्बार जन्म तथा मृत्यु का पुरस्कार मिलेगा। दूसरी ओर, यदि कोई व्यक्ति वेदों द्वारा नियत किये गये नियमित कर्मों को अनासक्त होकर करता है और ऐसे कर्म का फल भगवान् को अर्पित करता है, तो उसे भौतिक कर्म के बन्धन से पूरी मुक्ति मिल जाती है। शास्त्रों में प्रदत्त भौतिक सकाम फल वैदिक ज्ञान के वास्तविक लक्ष्य नहीं, अपितु कर्म करने वाले में रुचि जागृत करने के लिए होते हैं। यदि बद्धजीव वैदिक ग्रंथों में, यथा तंत्रों में प्राप्य नियमों का पालन करते हुए भगवान् हरि की पूजा करता है, तो वह मिथ्या अहंकार के बन्धन से तुरन्त मुक्त हो जायेगा।

जब भक्त को वैदिक शास्त्रों के आदेशों को बतलाने वाले अपने गुरु की कृपा प्राप्त हो जाती है, तो वह भगवान् के अत्यन्त आकर्षक किसी स्वरूप की पूजा करता है। इस तरह वह भव-बन्धन से तुरन्त मुक्त हो जाता है।

श्रीराजोवाच
परस्य विष्णोरीशस्य मायिनामपि मोहिनीम् ।
मायां वेदितुमिच्छामो भगवन्तो ब्रुवन्तु नः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; **परस्य**—परम; **विष्णोः**—विष्णु का; **ईशस्य**—भगवान्; **मायिनाम्**—महान् योगशक्ति से सम्पन्नों के लिए; **अपि**—भी; **मोहिनीम्**—मोहने वाली; **मायाम्**—माया को; **वेदितुम्**—जानना; **इच्छामः**—हम चाहते हैं; **भगवन्तः**—हे प्रभुओ; **ब्रुवन्तु**—कहें; **नः**—हमसे।

राजा निमि ने कहा : अब हम भगवान् विष्णु की उस माया के विषय में जानना चाहते हैं, जो बड़े बड़े योगियों को भी मोह लेती है। हे प्रभुओ, कृपा करके हमें इस विषय में बतलायें।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार इस अध्याय में ऋषभदेव के विभिन्न साधु सदृश पुत्र माया, माया को तरने के साधनों, भगवान् के गुणों तथा मनुष्यों के लिए नियत कर्तव्यों का वर्णन करेंगे। पिछले अध्याय के ४८ वें श्लोक में कहा गया था—*विष्णोर्मायामिदम् पश्यन्*—कृष्ण-भक्त को चाहिए कि समग्र ब्रह्माण्ड को भगवान् की माया के रूप में देखे। इसलिए राजा निमि साधु योगेन्द्रों से इस विषय में अधिक विस्तार से बतलाने की प्रार्थना कर रहे हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार ब्रह्मा इत्यादि देवतागण तथा पृथ्वी के मनुष्य भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति के लिए अपनी विशेष इच्छा के द्वारा चालित होते हैं। इस तरह वे अपनी इन्द्रियों को भौतिक ज्ञान की खोज करने में लगाते हैं। देवताओं की सूक्ष्म दैवी इन्द्रियाँ तथा मनुष्यों की स्थूल

इन्द्रियाँ भौतिक इन्द्रिय-विषयों का मापतोल करने में लगी रहती हैं। राजा निमि नौ योगेन्द्रों में से अब श्री अन्तरीक्ष से उस माया के वास्तविक स्वभाव के विषय में पूरी तरह जानना चाहते हैं, जो बद्धजीव को कृष्णभावनामृत से विमुख कराकर, मोहने वाली भौतिक वस्तुओं के सामने घुटने टेकने के लिए बाध्य करती है।

नानुतृप्ये जुषन्युष्मद्वचो हरिकथामृतम् ।
संसारतापनिस्तप्तो मर्त्यस्तत्तापभेषजम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

न अनुतृप्ये—मैं फिर भी तृप्त नहीं हूँ; जुषन्—व्यस्त रहते हुए; युष्मत्—तुम्हारे; वचः—शब्दों में; हरि-कथा—भगवान् हरि की कथाओं के; अमृतम्—अमृत को; संसार—संसार के; ताप—कष्ट से; निस्तप्तः—सताया; मर्त्यः—मरणशील मनुष्य; तत्-ताप—उस पीड़ा की; भेषजम्—औषधि।

यद्यपि मैं आपके द्वारा कही जा रही भगवान् की महिमा का अमृत-आस्वाद कर रहा हूँ, फिर भी मेरी प्यास शान्त नहीं हुई। भगवान् तथा उनके भक्तों की ऐसी अमृतमयी कथाएँ संसार के तीन तापों से सताये जा रहे, मुझ जैसे बद्धजीवों के लिए औषधि का काम करने वाली हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार यह तर्क किया जा सकता है कि चूँकि भगवद्भक्त के लक्षणों का पहले ही विस्तार से वर्णन किया जा चुका है, अतएव पिछले श्लोक में वर्णित पद को प्राप्त करके मनुष्य अपना जीवन सफल बना सकता है, तो फिर आगे प्रश्न करने की क्या आवश्यकता है? लेकिन *हरिकथामृतम्*—अर्थात् भगवान् तथा उनके भक्तों की कथाएँ इतनी मनोहर तथा सुन्दर हैं कि मोक्ष के बाद भी कोई उनका सुनना छोड़ नहीं सकता। इस सम्बन्ध में श्री चैतन्य महाप्रभु ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।

कुर्वन्त्यहैतुकं भक्तिम् इत्थम्भूतगुणो हरिः ॥

"जो आत्माराम हैं और बाह्य भौतिक इच्छाओं से आकृष्ट नहीं होते वे भी उन श्रीकृष्ण की प्रेमाभक्ति द्वारा आकृष्ट होते हैं, जिनके गुण दिव्य तथा कार्यकलाप अद्भुत हैं। भगवान् हरि को कृष्ण कहते हैं, क्योंकि उनके अंग-प्रत्यंग दिव्य रूप से आकर्षक हैं।" (भागवत १.७.१०) यदि एक बार रोग अच्छा हो जाता है, तो फिर औषधि की आवश्यकता नहीं रह जाती, लेकिन परम पद पर कार्य

तथा कारण भिन्न नहीं होते। अतएव कृष्ण की महिमा का कीर्तन तथा श्रवण दिव्य आनन्द के कार्य-कारण हैं।

राजा निमि ने योगियों से कहा, ''आप लोग भगवत्प्रेम में लीन रहने वाले महान् साधु-पुरुष हैं। आप यद्यपि माया के बारे में कह रहे हैं, किन्तु इसका अर्थ कृष्णभावनामृत होगा। आप यह न सोचें कि आपने मुझे पहले ही सारी बातें बतला दी हैं। आपके उपदेशों के मादक अमृत ने मुझे भगवान् के विषय में अधिकाधिक सुनने के लिए उत्सुक बना दिया है।''

राजा निमि भी महान् भगवद्भक्त थे, अन्यथा नौ योगेन्द्रों जैसे महापुरुषों से बातचीत करने का कोई प्रश्न ही नहीं था। किन्तु विनीत वैष्णव के रूप में, उन्होंने अपने को भौतिक उपाधियों से प्रच्छन्न एक सामान्य बद्धजीव समझा। इस तरह उन्होंने माया का वास्तविक स्वभाव जानने के लिए उत्सुकता प्रकट की, जिससे वे माया द्वारा भव-अग्नि में गिराने के भावी प्रयासों से बचे रहे सकें।

श्रीअन्तरीक्ष उवाच

एभिर्भूतानि भूतात्मा महाभूतैर्महाभुज ।
ससर्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्मप्रसिद्धये ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-अन्तरीक्षः उवाच—श्री अन्तरीक्ष ने कहा; एभिः—इनके (भौतिक तत्त्वों के) द्वारा; भूतानि—प्राणी; भूत-आत्मा—सारी सृष्टि की आत्मा; महा-भूतैः—महत् तत्त्व के तत्त्वों द्वारा; महा-भुज—हे महाबाहु राजा; ससर्ज—उसने उत्पन्न किया; उच्च-अवचानि—ऊँच तथा नीच दोनों; आद्यः—आदि पुरुष; स्व—अपने अंशों के; मात्रा—इन्द्रिय-तृप्ति; आत्म—तथा आत्म-साक्षात्कार; प्रसिद्धये—सुविधा प्रदान करने के लिए।

श्री अन्तरीक्ष ने कहा : हे महाबाहु राजा, भौतिक तत्त्वों को क्रियाशील बनाकर समस्त सृष्टि के आदि आत्मा ने उच्चतर तथा निम्नतर योनियों के जीवों को उत्पन्न किया है, जिससे ये बद्धात्माएँ अपनी अपनी इच्छानुसार इन्द्रिय-तृप्ति अथवा चरम मोक्ष का अनुशीलन कर सकें।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक में माया का वर्णन उसकी शक्तियों अर्थात् गुणों के वर्णन के माध्यम से हुआ है। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण ने माया को *गुणमयी* अर्थात् ''भौतिक गुणों से युक्त'' कहा है। इस श्लोक में भौतिक गुणों को प्रच्छन्न रूप से *उच्चवचानि* अर्थात् ''उच्च तथा निम्न योनियाँ'' बतलाया गया है। जिस तरह विविध योनियाँ प्रकट होती हैं, उसी तरह उनमें सुन्दरता, कुरूपता, शक्तिमत्ता, दुर्बलता इत्यादि गुण उनमें प्रकृति के गुणों के समानुपात के अनुसार पाये जाते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१३.२२) में पुष्टि की गई है—*कारणं गुण सङ्गोऽस्य*

सदसद्योनिजन्मसु—अच्छी तथा बुरी योनियों में भौतिक प्रकृति के साथ जीव की संगति से ऐसा होता है। इसी तरह का अन्य कथन (भगवद्गीता १४.१८) देखें—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था

मध्ये तिष्ठन्ति राजसा: ।

जघन्यगुणवृत्तिस्था

अधो गच्छन्ति तामसा: ॥

''सतोगुणी व्यक्ति क्रमश: उच्च लोकों में जाते हैं, रजोगुणी इसी पृथ्वी-लोक में रहते हैं और जो तमोगुण में स्थित हैं, वे नीचे नरक-लोकों में जाते हैं।''

भौतिक जीवन के तीन सामान्य विभाग हैं—*देव, तिर्यक* तथा *नर*। विविध योनियों में भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति की विविध सुविधाएँ हैं। विभिन्न योनियाँ विभिन्न प्रकार की इन्द्रियों द्वारा—यथा जननांग, नथुने, जीभ, कान तथा आँखों द्वारा जानी जाती हैं। उदाहरणार्थ, कबूतरों को असीम संभोग की छूट दी गई है। भालुओं को सोने की बहुत अधिक छूट है। बाघों तथा सिंहों में लड़ने-भिड़ने एवं मांस खाने की प्रबल इच्छा रहती है, घोड़ों को तेज दौड़ने के लिए टाँगें और चील्हों-गिद्धों को तेज दृष्टि प्रदान की गई है, इत्यादि, इत्यादि। मनुष्य अपने बृहद मस्तिष्क द्वारा जाना जाता है, जो ईश्वर को समझने के निमित्त होता है।

इस श्लोक में *स्वमात्रात्मप्रसिद्धये* वाक्यांश महत्त्वपूर्ण है। *स्व* का अर्थ है स्वामित्व। सारे जीव भगवान् के हैं (*ममैवांशो जीवलोके जीवभूता: सनातना:*)। इसलिए इस श्लोक के अनुसार उनके पास दो विकल्प होते हैं—*मात्राप्रसिद्धये* तथा *आत्मप्रसिद्धये।*

मात्रा का अर्थ है भौतिक इन्द्रियाँ और *प्रसिद्धये* द्योतक है सम्पन्न होने का। अत: *मात्राप्रसिद्धये* का अर्थ हुआ ''इन्द्रिय-तृप्ति में दक्षतापूर्वक लगे रहना।''

दूसरी ओर *आत्मप्रसिद्धये* द्योतक है कृष्णभावनामृत का। *आत्मा* की दो कोटियाँ हैं—*जीवात्मा* जो कि आश्रित है और *परमात्मा* जो कि स्वतंत्र है। कुछ जीव दोनों ही प्रकार की आत्माओं को समझना चाहते हैं, अतएव इस श्लोक में *आत्मप्रसिद्धये* शब्द सूचित करता है कि उन जीवों को ऐसा ज्ञान प्रदान

करने के लिए तथा इस प्रकार भगवद्धाम, जहाँ जीवन शाश्वत है और आनन्द तथा ज्ञान से भरपूर है, वापस जाने के लिए इस जगत में अवसर प्रदान किया जाता है।

श्रील श्रीधर स्वामी ने *श्रीमद्भागवत* के *वेदश्रुति* से (१०.८७.२) निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करके पुष्टि की है—

बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानामसृजत्प्रभुः ।

मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च ॥

"भगवान् ने जीवों में बुद्धि, इन्द्रियाँ, मन तथा प्राण उत्पन्न किए, जिससे वे इन्द्रिय-तृप्ति कर सकें, उच्चतर जन्म पाने के लिए यज्ञ कर सकें और अन्ततोगत्वा परमात्मा के लिए यज्ञ कर सकें।"

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार भगवान् की सृष्टि का वास्तविक प्रयोजन केवल एक है—भगवान् की भक्ति को अग्रसर कराने के लिए सुविधा प्रदान करना। यद्यपि यह कहा गया है कि भगवान् इन्द्रिय-तृप्ति सुलभ बनाते हैं, किन्तु यह समझना होगा कि भगवान् बद्धजीवों की मूर्खता को अन्ततः कभी क्षमा नहीं करते। भगवान् इन्द्रिय-तृप्ति को सुलभ इसलिए बनाते हैं (*मात्राप्रसिद्धये*), जिससे जीवों को धीरे-धीरे ज्ञान हो जाय कि भगवान् के बिना भोग करना व्यर्थ है। हर जीव कृष्ण का जीवांश है। वैदिक वाङ्मय में भगवान् ने एक विधान दिया है, जिससे सारे जीव धीरे-धीरे अपनी मूर्खता की प्रवृत्ति को समाप्त कर लें और उनकी शरण में जाने के महत्त्व को समझें। भगवान् निस्सन्देह समस्त सौन्दर्य, आनन्द तथा संतोष के आगार हैं और हर जीव का धर्म है कि वह भगवान् की प्रेमाभक्ति में रत हो। यद्यपि ऊपर से सृष्टि के दो प्रयोजन लगते हैं, किन्तु यह समझ लेना होगा कि अन्ततः प्रयोजन केवल एक है। इन्द्रिय-तृप्ति की व्यवस्था अन्ततः जीवों को भगवद्धाम वापस ले जाने के एकमात्र प्रयोजन के लिए है।

एवं सृष्टानि भूतानि प्रविष्टः पञ्चधातुभिः ।
एकधा दशधात्मानं विभजञ्जुषते गुणान् ॥ ४॥

शब्दार्थ

एवम्—जैसाकि बतलाया गया, उस प्रकार से; सृष्टानि—उत्पन्न; भूतानि—जीवों को; प्रविष्टः—प्रवेश करके; पञ्च-धातुभिः—पाँच स्थूल तत्त्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश) द्वारा; एकधा—एक बार (मन के द्रष्टा रूप में); दशधा—दस बार (पाँच ज्ञान-इन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियों के द्रष्टा के रूप में); आत्मानम्—स्वयं को; विभजन्—विभाजित करते हुए; जुषते—लगाता है; गुणान्—भौतिक गुणों के साथ।

परमात्मा उत्पन्न किये गये प्राणियों के भौतिक शरीरों में प्रविष्ट होकर मन तथा इन्द्रियों को क्रियाशील बनाता है और इस तरह बद्धजीवों को इन्द्रिय-तृप्ति हेतु तीन गुणों तक पहुँचाता है।

तात्पर्य : इस श्लोक पर श्री भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर की टीका का सारांश इस प्रकार है—

एक परमात्मा स्थूल भौतिक तत्त्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश) में प्रवेश करता है और भौतिक मन को क्रियाशील बनाकर बद्धजीवों के ऐन्द्रिय कर्मों को पाँच ज्ञानेन्द्रियों (आँखों, नाक, कान, जीभ तथा त्वचा) में सूक्ष्मत: विभाजित कर देता है और इसके बाद पाँच स्थूल कर्मेन्द्रियों (हाथ, पाँव, वाणी, जननांग तथा गुदा) में विभाजित कर देता है। चूँकि मुक्तात्माओं में भगवान् की सेवा करने की प्रबल प्रवृत्ति पाई जाती है, अतएव वे अच्छाई-बुराई के द्वैत के प्रति आकृष्ट नहीं होते। वे उन भगवान् की भक्ति तथा प्रेम से अपना आनन्द प्राप्त करते हैं, जो भौतिक सृष्टि से परे अपनी दिव्य लीलाओं का नित्य आस्वादन करते रहते हैं।

जब बद्धजीव भगवान् के साथ अपने प्रेमपूर्ण सम्बन्ध को भूल जाते हैं, तो उनमें अवैध इच्छाएँ जागृत होती हैं। अतएव वे भगवान् विष्णु के रूप, स्वाद, गंध इत्यादि पक्षों की सेवा न कर सकने के कारण सकाम कर्म के कटु फलों से बँध जाते हैं। किन्तु यदि किसी तरह से उनका भगवत्प्रेम जागृत हो उठता है, तो बद्धजीव अपने सारे ऐन्द्रिय कर्मों को भगवान् की दिव्य लीलाओं की सेवा में लगा देते हैं।

वस्तुत: सारे भौतिक कार्यकलाप अत्यन्त अवांछनीय हैं। किन्तु माया के प्रभाव से बद्धजीव अच्छे-बुरे तथा सुख-दुख में अन्तर देखने लगता है। भगवान् या परमात्मा जीवों की व्यष्टि तथा समष्टि चेतना में प्रवेश कर चुकने के फलस्वरूप हर एक के हृदय की बात जानते हैं। अतएव जब निष्ठावान जीव आध्यात्मिक सिद्धि की कामना करता है, तो भगवान् उसे भव-बन्धन से मुक्त करके वैकुण्ठ-पति की सेवा करने की उसकी उत्कट इच्छा को जागृत कर देते हैं। यह भगवत्प्रेम दिव्य आनन्द के विविध रूपों में पल्लवित होता है। किन्तु अज्ञानवश बद्धजीव अपने को सेवा का सही लक्ष्य मानता है और सम्पूर्ण सांसारिक स्थिति को ठीक से नहीं समझ पाता।

गुणैर्गुणान्स भुञ्जान आत्मप्रद्योतितैः प्रभुः ।
मन्यमान इदं सृष्टमात्मानमिह सज्जते ॥५॥

शब्दार्थ

गुणैः—गुणों (इन्द्रियों) के द्वारा; गुणान्—गुणों को (इन्द्रिय-विषयों को); सः—वह (व्यष्टि); भुञ्जानः—भोग करते हुए; आत्म—परमात्मा द्वारा; प्रद्योतितैः—जागृत किया गया; प्रभुः—स्वामी; मन्यमानः—सोचते हुए; इदम्—यह; सृष्टम्—उत्पन्न (शरीर); आत्मानम्—अपने रूप में; इह—इस; सज्जते—फँस जाता है।.

भौतिक देह का स्वामी व्यष्टि जीव परमात्मा द्वारा सक्रिय की गई अपनी भौतिक इन्द्रियों द्वारा प्रकृति के तीन गुणों द्वारा बनाये गये इन्द्रिय-विषयों का भोग करने का प्रयास करता है। इस तरह वह उत्पन्न भौतिक शरीर को अजन्मे नित्य आत्मा के रूप में मानने के कारण भगवान् की माया में फँस जाता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में जीव को *प्रभुः* अर्थात् स्वामी कहा गया है, क्योंकि वह परम स्वामी कृष्ण का सूक्ष्म अंश होता है। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (१५.८) में जीव को *ईश्वरः* अर्थात् नियन्ता कहा है—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चप्युत्क्रामतीश्वरः ।

गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धान् इवाशयात् ॥

''जीव इस भौतिक जगत में जीवन की विविध धारणाओं को एक शरीर से दूसरे में वहन करता है, जिस प्रकार वायु गंध को ले जाती है।'' श्रील प्रभुपाद ने इसके तात्पर्य में लिखा है, ''यहाँ पर जीव को *ईश्वरः* अर्थात् अपने शरीर का नियामक कहा गया है। यदि वह चाहे तो अपने शरीर को त्याग कर उच्च योनि में जा सकता है और चाहे तो निम्न योनि में जा सकता है। इस विषय में उसे किंचित स्वतंत्रता प्राप्त है। शरीर में जो परिवर्तन होता है, वह उसी पर निर्भर करता है।'' यह कथन इस अध्याय के श्लोक ३ के *स्वमात्रा* तथा *आत्मप्रसिद्धये* शब्दों की पुष्टि करता है। यदि भगवान् जीव की अल्प स्वतंत्रता में बाधक बनें तो जीव भगवान् की भक्ति में लगे ही क्यों? क्योंकि प्रेम में प्रेमी की मुक्त पसन्द निहित रहती है। यहाँ पर *प्रभुः* शब्द सूचित करता है कि जिस तरह एक बच्चा अपने पिता से खिलौना-गाड़ी पाकर अपने पिता द्वारा असली मोटर-कार चलाने का अनुकरण करते हुए फुटपाथ पर अपनी गाड़ी चलाता है, उसी तरह जीव परमेश्वर द्वारा चुनी गई ८४,००,००० योनियों में विश्व-भर में असंख्य शरीर धारण करके भटकता रहता है। इस तरह जीव भौतिक शरीर के मिथ्या अहंकार द्वारा मुग्ध होकर ऐसी भयावह स्थिति उत्पन्न कर लेता है, जिसमें वह बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्कर लगाता है जैसाकि *भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्* (भागवत ११.२.३७) में कहा गया है।

श्रील जीव गोस्वामी ने इस श्लोक की व्याख्या दूसरी तरह से की है। यदि *प्रभुः* शब्द का अर्थ भगवान् लिया जाय तो *गुणै* का अर्थ "सद्गुण" लगाना पड़ेगा, क्योंकि *गुण* से या तो प्रकृति के गुण या प्रशंसनीय गुण (जैसाकि श्लोक *यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः* में है) का द्योतन होता है। तब इस श्लोक का अर्थ होगा कि भगवान् अपने दिव्य गुणों से (*गुणै*), यथा दया से, अपने भक्तों के गुणों का (*गुणान्*) आस्वादन कर सकते हैं। तब *आत्मप्रद्योतितै* यह बतलायेगा कि समस्त सद्गुणों के आगार भगवान् की शरण में जाकर शुद्ध भक्तों में उन्हीं जैसे दैवी गुण आ जाते हैं। *मन्यमान इदं सृष्टम् आत्मानम्* यह सूचित करेगा कि भगवान् अपने भक्तों के शरीर को अपने ही जैसे आध्यात्मिक स्तर पर मानते हैं, जैसाकि *आचार्यं मां विजानीयान् नावमन्येत कर्हिचित्* पंक्ति से सूचित होता है। भगवान् अपने शुद्ध भक्त की प्रेमाभक्ति से आकृष्ट होते हैं और इस प्रकार उसके प्रेमपाश में बँध जाते हैं। उदाहरणार्थ, कुरुक्षेत्र युद्ध के बाद जब कृष्ण अपनी नगरी द्वारका के लिए विदा हो रहे थे, तो महाराज युधिष्ठिर की प्रेमपूर्ण याचना से भगवान् को हस्तिनापुर में कई सप्ताहों तक रुक जाना पड़ा था। इसी तरह जब वृन्दावन की वृद्धा गोपिकाएँ ताली बजातीं, तो कृष्ण कठपुतली की तरह उनकी ताल पर नाचने लगते थे। इस विषय से सम्बन्धित श्रील जीव गोस्वामी ने *श्रीमद्भागवत* से (९.४.६८) निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।

मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

"शुद्ध भक्त सदैव मेरे हृदय में रहता है और मैं शुद्ध भक्त के हृदय में रहता हूँ। मेरे भक्त मेरे अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं जानते और मैं उनके अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं जानता।"

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *प्रभुः* शब्द को इस प्रकार समझा जा सकता है। *प्र* सूचक है *प्रकर्षेण* अर्थात् "अत्यधिक" और *भू* सूचक है *भवति* अर्थात् "जन्म लेना" का। इस प्रकार *प्रभुः* सूचक है *प्रकर्षेण देवतिर्यगादिषु भवतीति सः* अर्थात् बारम्बार देवताओं, पशुओं, मनुष्यों तथा अन्य योनियों में जन्म लेना।

शुद्ध भक्त के आध्यात्मीकृत शरीर के प्रति भगवान् की अनुरक्ति के सम्बन्ध में श्रील जीव गोस्वामी के कथन की पुष्टि करते हुए श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने *चैतन्य-चरितामृत* के दो श्लोक (अन्त्य ४.१९२-९३) उद्धृत किये हैं—

दीक्षाकाले भक्त करे आत्म-समर्पण।

सेइ-काले कृष्ण तारे करे आत्म-सम॥१९२

सेइ देह करे तार चिदानन्द-मय।

अप्राकृत-देहे ताङ्र चरण भजय॥१९३

''दीक्षा के समय जब भक्त भगवान् की सेवा में अपने को समर्पित करता है, तो कृष्ण उसे अपने ही समान स्वीकार करते हैं। जब इस तरह भक्त का शरीर चिदानन्दमय हो जाता है, तो भक्त उस दिव्य शरीर में भगवान् के चरणकमलों की सेवा करता है।''

कर्माणि कर्मभिः कुर्वन्सनिमित्तानि देहभृत् ।
तत्तत्कर्मफलं गृह्णन्भ्रमतीह सुखेतरम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

कर्माणि—विविध प्रकार के सकाम कर्मों को; कर्मभिः—कर्मेन्द्रियों द्वारा; कुर्वन्—करते हुए; स-निमित्तानि—प्रेरक इच्छाओं से युक्त; देह-भृत्—भौतिक शरीर का स्वामी; तत् तत्—विविध; कर्म-फलम्—कर्म के फलों को; गृह्णन्—स्वीकार करते हुए; भ्रमति—घूमता है; इह—इस संसार में; सुख—सुख; इतरम्—तथा अन्यथा।

तीव्र भौतिक इच्छाओं से प्रेरित देहधारी जीव अपनी कर्मेन्द्रियों को सकाम कर्म में लगाता है। तब वह इस जगत में घूमते हुए तथाकथित सुख-दुख में अपने भौतिक कर्मों के फलों का अनुभव करता है।

तात्पर्य : यह तर्क दिया जा सकता है कि यदि जीव अपने पूर्वकर्मों के फलों के अधीन रहे, तो उसे स्वतंत्र इच्छा के लिए अवकाश ही कहाँ रहा? एक बार पापकर्म कर लेने के बाद जीव दुख की अनन्त शृंखला में बँध जायेगा और निरन्तर पूर्व कर्मफलों के अधीन रहेगा। इस विचार के अनुसार ईश्वर न्यायप्रिय तथा सर्वज्ञ नहीं हो सकता, क्योंकि जीव अपने पूर्वकर्मों के फलों के अनुसार, जो इससे भी पूर्वकर्मों के फल होते हैं, पापकर्म करने के लिए बाध्य होता है। चूँकि सामान्य भद्र व्यक्ति भी निर्दोष व्यक्ति को अकारण दण्ड नहीं देगा, तो फिर ईश्वर इस तरह का कैसे हो सकता है, जो इस जगत में बद्धजीवों को असहाय दुख भोगते देख सके?

इस मूर्खतापूर्ण तर्क का खण्डन एक व्यावहारिक उदाहरण द्वारा किया जा सकता है। यदि मैं हवाई उड़ान के लिए टिकट खरीद लूँ और जहाज में चढ़ कर यात्रा शुरू कर दूँ, तो जहाज में मेरी यात्रा करने के निश्चय के अनुसार मुझे तब तक यात्रा करनी होगी, जब तक जहाज नीचे न उतरे। यद्यपि मुझे अपने इस निर्णय के परिणाम को स्वीकार करना ही होगा, किन्तु जहाज में चढ़े चढ़े मैं कई नये निर्णय कर सकता हूँ। मैं चाहूँ तो हवाई जहाज की परिचारिका द्वारा प्रदत्त भोजन तथा पेय स्वीकार करूँ या अस्वीकार कर दूँ, मैं पत्रिका या अखबार पढ़ूँ, सोऊँ, टहलूँ, यात्रियों से बातें करूँ इत्यादि-इत्यादि। दूसरे शब्दों में, यद्यपि जहाज में चढ़ने के पूर्व निर्णय के अनुसार किसी विशेष नगर तक यात्रा करते रहना मुझ पर थोपा हुआ है, किन्तु इस परिस्थिति के अन्तर्गत भी मैं नये नये निर्णय ले सकता हूँ, जिनके नये नये परिणाम हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, यदि मैं हवाई जहाज में उत्पात मचा दूँ, तो जहाज उतरने पर मुझे बन्दी बनाया जा सकता है। दूसरी ओर, यदि मैं अपनी बगल में बैठे किसी व्यापारी से मित्रता कर लूँ, तो भविष्य में मुझे व्यापारिक आदान-प्रदान में लाभ हो सकता है।

इसी तरह कर्म के नियमों के अनुसार यद्यपि जीव को बाध्य होकर एक विशिष्ट शरीर ग्रहण करना होता है, किन्तु मानव जीवन में सदा ही स्वतंत्र इच्छा तथा निर्णय लेने की गुँजाईश रहती है। भगवान् को इसलिए अन्यायी नहीं कहा जा सकता कि वे जीव को अपने वर्तमान कार्यों के लिए उत्तरदायी ठहराते हैं, यद्यपि जीव अपने पूर्वकर्म का फल भोग रहा है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार माया का प्रभाव इतना प्रबल है कि नरक में रहते हुए भी गर्वित बद्धजीव यही सोचता है कि वह जीवन का आनन्द लूट रहा है।

इत्थं कर्मगतीर्गच्छन्बह्वभद्रवहाः पुमान् ।
आभूतसम्प्लवात्सर्गप्रलयावश्नुतेऽवशः ॥७॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस तरह से; कर्म-गतीः—विगत कर्मों द्वारा निर्धारित गन्तव्य; गच्छन्—प्राप्त करते हुए; बहु-अभद्र—अत्यन्त अशुभ; वहाः—सम्मिलित करने वाले; पुमान्—जीव को; आभूत-सम्प्लवात्—इस ब्रह्माण्ड के प्रलय होने तक; सर्ग-प्रलयौ—जन्म तथा मृत्यु; अश्नुते—अनुभव करता है; अवशः—असहाय होकर।

इस तरह बद्धजीव को बारम्बार जन्म-मृत्य अनुभव करने के लिए बाध्य किया जाता है। अपने ही कर्मों के फल से प्रेरित होकर, वह एक अशुभ अवस्था से दूसरी अवस्था में असहाय होकर घूमता रहता है और सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर प्रलय होने तक कष्ट भोगता है।

तात्पर्य : श्रील मध्वाचार्य के अनुसार यह सुन लेने पर भी कि इस जगत में जीव को बारम्बार जन्म लेना और मरना होता है, यदि कोई व्यक्ति ऐसे असहाय जीव को सभी बातों में ईश्वर के तुल्य मानता है, तो वह निश्चय ही ब्रह्माण्ड के गहनतम अंधकार में गिरेगा, जहाँ से उसका निकल पाना कठिन है।

धातूपप्लव आसन्ने व्यक्तं द्रव्यगुणात्मकम् ।
अनादिनिधनः कालो ह्यव्यक्तायापकर्षति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

धातु—भौतिक तत्त्वों के; उपप्लवे—संहार में; आसन्ने—सन्निकट आये हुए; व्यक्तम्—व्यक्त जगत; द्रव्य—स्थूल पदार्थ; गुण—तथा सूक्ष्म गुण; आत्मकम्—से युक्त; अनादि—जिसका आदि न हो; निधनः—अथवा अन्त; कालः—समय; हि—निस्सन्देह; अव्यक्ताय—अव्यक्त में; अपकर्षति—खींचता है।

जब भौतिक तत्त्वों का संहार सन्निकट होता है, तो काल रूप में भगवान् स्थूल तथा सूक्ष्म गुणों वाले व्यक्त जगत को समेट लेते हैं और सारा ब्रह्माण्ड अव्यक्त रूप में लुप्त हो जाता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के तृतीय स्कंध में भगवान् कपिलदेव शिक्षा देते हैं कि प्रकृति मूलतः जड़ साम्यावस्था में रहती है, जिसे प्रधान कहते हैं। जब काल रूप में भगवान् विष्णु अपनी शक्तिशाली दृष्टि डालते हैं, तो भौतिक क्रियाएँ घटित होती हैं, जिनके फलस्वरूप विराट भौतिक जगत बनता है। इस श्लोक में कहा गया है कि विश्वकाल के अन्त में वही *काल* जिसने नारी प्रकृति को व्यक्त होने के लिए प्रेरित किया था, अब इस विश्व को जड़ अव्यक्त की मूल अवस्था में समेट लेता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार तब स्वयंकाल भी समेट लिया जाता है और वह परमात्मा में लीन हो जाता है, जो स्वयं को प्रकृति के मूल कारण के रूप में प्रकट करता है (*अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्*)।

सृष्टि तथा प्रलय, जन्म तथा मृत्यु के लिए ऐसी पारिभाषिक व्यवस्थाएँ भगवद्धाम में नहीं मिलतीं। वैकुण्ठ में भगवान् तथा उनके भक्तों का विविध आध्यात्मिक भोग इस भौतिक जगत में प्राप्य जन्म, पालन तथा विनाश के चक्र से अवरोधित नहीं होता।

शतवर्षा ह्यनावृष्टिर्भविष्यत्युल्बणा भुवि ।
तत्कालोपचितोष्णार्को लोकांस्त्रीन्प्रतपिष्यति ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

शत-वर्षा—एक सौ वर्षों तक चलने वाला; हि—निस्सन्देह; अनावृष्टिः—सूखा, अकाल; भविष्यति—होगा; उल्बणा—भयंकर; भुवि—पृथ्वी पर; तत्-काल—उस अवधि में; उपचित—संचित; उष्ण—गर्म; अर्कः—सूर्य; लोकान्—जगतों को; त्रीन्—तीनों; प्रतपिष्यति—बुरी तरह जला देगा।.

ज्यों ज्यों विश्व का संहार निकट आता जाता है, पृथ्वी पर एक सौ वर्षों का भयंकर सूखा पड़ता है। सूर्य की गर्मी (उष्णता) क्रमशः सौ वर्षों तक बढ़ती जाती है और इसकी प्रज्ज्वलित गर्मी तीनों लोकों को व्यग्र करने लगती है।

पातालतलमारभ्य सङ्कर्षणमुखानलः ।
दहन्नूर्ध्वशिखो विष्वग्वर्धते वायुनेरितः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

पाताल-तलम्—पाताल लोक से; आरभ्य—आरम्भ करके; सङ्कर्षण-मुख—भगवान् के संकर्षण रूप के मुख से; अनलः—अग्नि; दहन्—जलाते हुए; ऊर्ध्व-शिखः—ऊपर को निकलती लपटें; विष्वक्—सारी दिशाएँ; वर्धते—बढ़ती है; वायुना—वायु से; ईरितः—प्रेरित होकर।.

यह अग्नि, भगवान् संकर्षण के मुख से निकल कर पाताल लोक से शुरू होती हुई, बढ़ती जाती है। इसकी लपटें प्रबल वायु से प्रेरित होकर ऊपर उठने लगती हैं और यह चारों दिशाओं की हर वस्तु को झुलसा देती हैं।

संवर्तको मेघगणो वर्षति स्म शतं समाः ।
धाराभिर्हस्तिहस्ताभिर्लीयते सलिले विराट् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

संवर्तकः—प्रलय के; मेघ-गणः—बादलों का समूह; वर्षति—वर्षा करता है; स्म—निस्सन्देह; शतम् समाः—एक सौ वर्षों तक; धाराभिः—मूसलाधार; हस्ति-हस्ताभिः—हाथी की सूँड़ की माप वाली (बूँदें); लीयते—लीन हो जायेगा; सलिले—जल में; विराट्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड।.

संवर्तक नामक बादलों के समूह एक सौ वर्षों तक मूसलाधार वर्षा करते हैं। हाथी की सूँड़ जितनी लम्बी पानी की बूँदों की बाढ़ से विनाशकारी वर्षा समस्त ब्रह्माण्ड को जल में डुबो देती है।

ततो विराजमुत्सृज्य वैराजः पुरुषो नृप ।
अव्यक्तं विशते सूक्ष्मं निरिन्धन इवानलः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; विराजम्—ब्रह्माण्ड; उत्सृज्य—(अपने शरीर के रूप में) त्याग कर; वैराजः पुरुषः—विराट रूप वाला व्यक्ति (हिरण्यगर्भ ब्रह्मा); नृप—हे राजा निमि; अव्यक्तम्—अव्यक्त प्रकृति (प्रधान) में; विशते—प्रवेश करता है; सूक्ष्मम्—सूक्ष्म; निरिन्धनः—ईंधन से रहित; इव—सदृश; अनलः—अग्नि।

हे राजन्, तब विराट रूप का आत्मा वैराज ब्रह्मा अपने विराट शरीर को त्याग देता है और सूक्ष्म अव्यक्त प्रकृति में उसी तरह प्रवेश कर जाता है, जिस तरह ईंधन समाप्त हो जाने पर अग्नि।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक में *वैराजः* शब्द बद्धजीवों की सम्पूर्णता को सूचित करता है, जो मूलतः ब्रह्मा से जन्म लेते हैं और प्रलय के समय उसी में मिल जाते हैं। *विराट पुरुष* के प्रकट होने से इस भौतिक सृष्टि में कुछ काल के लिए रूपों, गुणों तथा कर्मों का प्रदर्शन होता है। किन्तु जब भगवान् इस सृष्टि को समेटते हैं, तो सारा विराट दृश्य जड़ रूपविहीनता में बदल जाता है। इसलिए भगवान् के विराट रूप को भगवान् का शाश्वत रूप नहीं माना जा सकता। माया के राज्य में यह तो उनके साकार रूप से क्षणिक काल्पनिक साम्य है। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम तथा द्वितीय स्कन्धों में भगवान् के विराट रूप को काल्पनिक बतलाया गया है, जो ईश्वर का ध्यान करने वाले नवदीक्षितों के लिए है। जो लोग निपट भौतिकतावादी हैं, वे यह समझ ही नहीं पाते कि भगवान् *सच्चिदानन्दविग्रह* हैं और भौतिक शक्ति के प्रदर्शन के परे हैं। अतएव ऐसे निपट भौतिकतावादियों को श्रद्धालु आस्तिक बनाने के लिए ही वैदिक वाङ्मय उन्हें परमेश्वर के विराट शरीर के रूप में इस भौतिक ब्रह्माण्ड का ध्यान करने का आदेश देता है। यह सर्वेश्वरवाद परमेश्वर की चरम सत्यता को नहीं बतलाता, अपितु यह मन को धीरे धीरे ईश्वर की ओर ले जाने की प्रविधि है।

श्रील श्रीधर स्वामी ने इसके साक्ष्य के लिए कि प्रलय के समय ब्रह्मा कों भगवद्धाम वापस चले जाना होता है निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।

परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥

"अन्तिम प्रलय के समय सारे स्वरूपसिद्ध जीवात्माएँ ब्रह्मा के साथ साथ परम धाम में प्रवेश करते हैं।" चूँकि ब्रह्मा को कभी कभी परमेश्वर का सर्वश्रेष्ठ भक्त माना जाता है, अतएव उन्हें *अव्यक्त* (भौतिक प्रकृति की अव्यक्त अवस्था) में प्रवेश ही नहीं करना चाहिए, अपितु मोक्ष प्राप्त करना चाहिए। इस सन्दर्भ में श्रील श्रीधर स्वामी इंगित करते हैं कि अभक्तों की एक श्रेणी ऐसी है, जो अश्वमेध यज्ञ तथा अन्य यज्ञ कर लेने पर ब्रह्मा के लोक को प्राप्त होते हैं। किन्हीं किन्हीं स्थितियों में

तो स्वयं ब्रह्मा भी भगवान् के भक्त नहीं होते। अत: *अव्यक्तं विशते सूक्ष्मम्* शब्दों से यह सूचित हो सकता है कि ऐसा अभक्त ब्रह्मा विराट पद प्राप्त कर लेने पर भी वैकुण्ठ में प्रवेश नहीं कर सकता। किन्तु जब ब्रह्मा भगवद्भक्त के रूप में होता है, तो *अव्यक्तम्* शब्द से *वैकुण्ठ* सूचित होता है। चूँकि बद्धजीवों को वैकुण्ठ व्यक्त नहीं है, अतएव इसे *अव्यक्त* माना जा सकता है। यदि ब्रह्मा तक भगवान् के शरणागत हुए बिना भगवद्धाम में प्रवेश नहीं कर सकते, तो अन्य तथाकथित पवित्र या पटु अभक्तों के विषय में क्या कहा जा सकता है?

इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इंगित किया है कि ब्रह्मा पद की तीन कोटियाँ हैं—कर्मी, ज्ञानी तथा भक्त। ब्रह्मा, जो कि ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च *कर्मी* हैं, उन्हें भौतिक जगत में वापस आना होगा, जिस जीव ने इस ब्रह्माण्ड में महान् चिन्तक एवं दार्शनिक के रूप में ब्रह्मा का पद प्राप्त किया है, वह निर्विशेष मोक्ष पा सकता है, किन्तु जिस जीव को भगवान् का परम भक्त होने के कारण ब्रह्मा का पद मिला है, वह भगवद्धाम में प्रवेश करता है। *श्रीमद्भागवत* (३.३२.१५) में एक अन्य प्रसंग भी वर्णित है : वह ब्रह्मा जो भगवद्भक्त होते हुए भी अपने को भगवान् से स्वतंत्र या भगवान् के तुल्य मानने की प्रवृत्ति रखता है प्रलय के समय महाविष्णु का धाम प्राप्त कर सकता है, किन्तु जब पुन: सृष्टि का शुभारम्भ होता है, तो उसे फिर से ब्रह्मा का पद सँभालना होता है। इसके लिए *भेदद्दष्ट्या* शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो अपने को स्वतंत्र रूप से शक्तिशाली सोचने की प्रवृत्ति को दर्शाता है। ब्रह्मा जैसे उच्च जीव के लिए सम्भव विविध गंतव्य यह सिद्ध करते हैं कि आनन्द तथा ज्ञानमय शाश्वत जीवन की गारंटी देने के लिए कोई भी भौतिक पद व्यर्थ है। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण वचन देते हैं कि जो व्यक्ति अन्य सारे तथाकथित कर्तव्यों को त्याग कर भगवान् की भक्ति में समर्पित हो जाता है, भगवान् उसकी स्वयं रक्षा करते हैं और उसे वैकुण्ठ धाम ले जाते हैं। अत: अपने कठोर परिश्रम द्वारा सिद्धि प्राप्त करने का प्रयास करना और कृष्ण के चरणकमलों की शरण में न जाना व्यर्थ तथा मूर्खतापूर्ण है। *भगवद्गीता* के अठारहवें अध्याय में ऐसे व्यर्थ प्रयास को *बहुलायासम्* कहा गया है, जो रजोगुणी कर्म का सूचक है। ब्रह्मा रजोगुण के स्वामी हैं और उनके द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सृष्टि तथा व्यवस्था निश्चय ही *बहुलायासम्* या कठोर श्रम है। किन्तु ऐसा सारा रजोगुणी कर्म, यहाँ तक कि ब्रह्मा का भी कर्म, अन्ततोगत्वा कृष्ण के चरणकमलों की शरण में गये बिना व्यर्थ है।

वायुना हृतगन्धा भूः सलिलत्वाय कल्पते ।
सलिलं तद्धृतरसं ज्योतिष्ट्वायोपकल्पते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

वायुना—वायु द्वारा; हृत—विहीन; गन्धा—गन्ध का; भूः—पृथ्वी तत्त्व; सलिलत्वाय कल्पते—जल बन जाता है; सलिलम्—जल को; तत्—उससे (वायु से); हृत-रसम्—आस्वाद गुण से रहित; ज्योतिष्ट्वाय उपकल्पते—अग्नि बन जाता है।

वायु द्वारा गन्ध-गुण से रहित होकर पृथ्वी तत्त्व जल में रूपान्तरित हो जाता है और उसी वायु से जल अपना स्वाद खोकर अग्नि में विलीन हो जाता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में भौतिक सृष्टि विषयक अनेक विवरण प्राप्त हैं, जिसमें वायु आकाश से, अग्नि वायु से, जल अग्नि से तथा पृथ्वी जल से विस्तार पाती है। इसके विपरीत क्रम में सृष्टि समेट ली जाती है। इस तरह पृथ्वी उस जल में विलीन हो जाती है, जिससे वह उत्पन्न होती है और जल अग्नि में विलीन हो जाता है।

हृतरूपं तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते ।
हृतस्पर्शोऽवकाशेन वायुर्नभसि लीयते ।
कालात्मना हृतगुणं नभ आत्मनि लीयते ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

हृत-रूपम्—रूप के गुण से विहीन; तु—निश्चय ही; तमसा—अंधकार से; वायौ—वायु में; ज्योतिः—अग्नि; प्रलीयते—विलीन हो जाती है; हृत-स्पर्शः—स्पर्श से रहित; अवकाशेन—अवकाश तत्त्व द्वारा; वायुः—वायु; नभसि—आकाश में; लीयते—विलीन हो जाता है; काल-आत्मन—काल रूप में परमात्मा द्वारा; हृत-गुणम्—अपने शब्द गुण से विहीन; नभः—आकाश; आत्मनि—तमोगुणी मिथ्या अहंकार में; लीयते—लीन हो जाता है।

अग्नि अंधकार द्वारा अपने रूप से विहीन होकर वायु तत्त्व में मिल जाती है। जब वायु अन्तराल के प्रभाव से अपना स्पर्श-गुण खो देता है, तो वह आकाश में मिल जाता है। जब आकाश काल रूप परमात्मा द्वारा अपने शब्द-गुण से विहीन कर दिया जाता है, तो वह तमोगुणी मिथ्या अहंकार में विलीन हो जाता है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सह वैकारिकैर्नृप ।
प्रविशन्ति ह्यहङ्कारं स्वगुणैरहमात्मनि ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; मनः—मन; बुद्धिः—बुद्धि; सह वैकारिकैः—देवताओं समेत, जो सतोगुण में अहंकार के प्रतिफल हैं; नृप—हे राजा; प्रविशन्ति—प्रवेश करते हैं; हि—निस्सन्देह; अहङ्कारम्—अहंकार तत्त्व; स्त-गुणैः—अपने गुणों (सतो, रजो तथा तमो) के साथ; अहम्—अहंकार; आत्मनि—महत तत्त्व में।

हे राजन्, भौतिक इन्द्रियाँ तथा बुद्धि रजोगुणी मिथ्या अहंकार में मिल जाते हैं, जहाँ से उनका उदय हुआ था। देवताओं के साथ साथ मन सतोगुणी मिथ्या अहंकार में मिल जाता है। तत्पश्चात्, सम्पूर्ण मिथ्या अहंकार अपने सारे गुणों समेत महत्-तत्त्व में लीन हो जाता है।

एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी ।
त्रिवर्णा वर्णितास्माभिः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एषा—यह; माया—भौतिक शक्ति; भगवतः—भगवान् की; सर्ग—सृजन; स्थिति—पालन-पोषण; अन्त—तथा (इस ब्रह्माण्ड के) प्रलय के; कारिणी—करने वाली; त्रि-वर्णा—तीन गुणों (सतो, रजो तथा तमो) वाली; वर्णिता—वर्णन की गई; अस्माभिः—हमारे द्वारा; किम्—क्या; भूयः—इसके आगे; श्रोतुम्—सुनने के लिए; इच्छसि—चाहते हो।

मैं अभी भगवान् की मोहिनी-शक्ति माया का वर्णन कर चुका हूँ। यह तीन गुणों वाली माया भगवान् द्वारा ब्रह्माण्ड के सृजन, पालन तथा संहार के लिए शक्तिप्रदत्त है। अब तुम और क्या सुनने के इच्छुक हो?

तात्पर्य : राजा निमि ने नौ योगेन्द्रों से भगवान् की मायाशक्ति के विषय में अपना भय व्यक्त किया था और उनसे अनुरोध किया था कि वे माया की विस्तृत व्याख्या करें, जिससे वह उसका शिकार बनने से बच जाये। अब श्री अन्तरीक्ष माया का वर्णन कर चुकने के बाद राजा निमि द्वारा पूछे जाने की प्रतीक्षा न करके स्वयं सुझाव दे रहे हैं, "अब माया के प्रभाव के विषय में सुन चुकने के बाद तुम्हें चाहिए कि ऐसे प्रभाव से पूर्णतः मुक्त होने की विधि पूछो।" श्रीधर स्वामी के अनुसार श्री अन्तरीक्ष के प्रश्न *किं भूयः श्रोतुमिच्छसि* का यही महत्त्व है।

पिछले श्लोकों में प्रलय की जो प्रक्रिया दी गई है, उसकी व्याख्या में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने जो कुछ लिखा है, उसका सारांश इस प्रकार है—भगवान् वासुदेव उस चेतना के अधिष्ठाता देव हैं, जो *महत तत्त्व* के भीतर प्रकट होती है। महत तत्त्व के और अधिक रूपान्तरों (विकारों) से तीन प्रकार के मिथ्या अहंकार प्रकट होते हैं—(१) *वैकारिक* अर्थात् सतोगुणी अहंकार से ग्यारहवीं इन्द्रिय अर्थात् मन प्रकट होता है, जिसका अधिष्ठाता अनिरुद्ध है। (२) *तैजस* अर्थात् रजोगुणी अहंकार से बुद्धि उत्पन्न होती है, जिसका अधिष्ठाता प्रद्युम्न है। साथ ही पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ भी अपने अपने अधिष्ठाताओं सहित उत्पन्न होती हैं। (३) तमोगुणी अहंकार से सूक्ष्म *शब्द* उत्पन्न होता है और तब शब्द से धीरे धीरे अन्य सारे भौतिक तत्त्व यथा आकाश और श्रवणेन्द्रिय इत्यादि उत्पन्न होते

हैं। इन तीनों प्रकार के अहंकार का अधिष्ठाता संकर्षण है। यह विवरण *श्रीमद्भागवत* के तृतीय स्कंध के अध्याय २६ के श्लोक २१, २७, २८, ३०, ३१, ३२ तथा ३५ से लिया गया है।

भगवान् की बहिरंगा शक्ति माया द्वारा भौतिक जगत की उत्पत्ति, पालन तथा संहार होता है। वह माया लाल, श्वेत तथा काला—इन तीन रंगों वाली है। लाल रंग में प्रकृति की सृष्टि होती है, श्वेत में उसका पालन होता है और काले में संहार हो जाता है। *महत तत्त्व* इसी माया से उत्पन्न होता है और महत तत्त्व से ही उपर्युक्त तीन प्रकार के मिथ्या अहंकार जन्म लेते हैं। प्रलय के समय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश—ये पाँच महातत्त्व उसी तमोगुणी अहंकार में मिल जाते हैं जिससे ये शुरू में उत्पन्न हुए थे। इसी तरह दसों इन्द्रियाँ तथा मन रजोगुणी मिथ्या अहंकार में मिल जाते हैं और मन देवताओं समेत सतोगुणी मिथ्या अहंकार में मिल जाता है, जो पुन: महत तत्त्व में और यह महत तत्त्व पुन: प्रकृति या अव्यक्त *प्रधान* में शरण लेता है।

जैसाकि ऊपर बतलाया गया है प्रत्येक स्थूल तत्त्व अपने विभेदकारी गुण के नष्ट होने पर समेट लिया जाता है, तब यह तत्त्व अपने पूर्ववर्ती तत्त्व में लीन हो जाता है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है—आकाश या अवकाश में ध्वनि का गुण होता है। वायु में ध्वनि तथा स्पर्श के गुण होते हैं। अग्नि में ध्वनि, स्पर्श तथा रूप होते हैं। जल में ध्वनि, स्पर्श, रूप तथा स्वाद होते हैं। पृथ्वी में ध्वनि, स्पर्श, रूप, स्वाद तथा गंध-गुण होते हैं। इसलिए आकाश से लेकर पृथ्वी तक प्रत्येक तत्त्व अपने अद्वितीय गुण के जोड़ने से जिसे *गुण विशेषम्* कहते हैं, जाना जाता है। जब उसका यह गुण चला जाता है, तो वह अपने पूर्ववर्ती तत्त्व से अभिन्न हो जाता है और इस तरह उसी में लीन होता जाता है। उदाहरणार्थ जब प्रबल वायु पृथ्वी से गंध बहा ले जाता है, तो पृथ्वी में केवल ध्वनि, स्पर्श, रूप तथा स्वाद रह जाते हैं और इस तरह वह जल से अभिन्न होकर उसी में मिल जाती है। इसी तरह जब जल *रस* या स्वाद खो देता है, तो इसमें केवल ध्वनि, स्पर्श तथा रूप बचते हैं और यह अग्नि से अभिन्न हो जाता है, जिसमें भी यही तीन गुण होते हैं। अत: वायु गंध को हटाकर पृथ्वी को जल में मिला देता है और जल का स्वाद हटाकर जल को अग्नि में लीन कर देता है। तत्पश्चात्, जब ब्रह्माण्ड का अंधकार अग्नि से रूप विलग कर देता है, तो अग्नि वायु में मिल जाती है। तब आकाश वायु से स्पर्श-गुण विलग कर लेता है और वायु आकाश में लीन हो जाता है। काल रूप में भगवान् ध्वनि को आकाश से विलग कर

लेते हैं, जिससे आकाश उसी तमोगुणी मिथ्या अहंकार में लीन हो जाता है, जिसमें से वह प्रकट हुआ था। अन्त में यह मिथ्या अहंकार *महत तत्त्व* में मिल जाता है, जो अव्यक्त प्रधान में लीन हो जाता है और इस तरह ब्रह्माण्ड का संहार हो जाता है।

श्रीराजोवाच
यथैतामैश्वरीं मायां दुस्तरामकृतात्मभिः ।
तरन्त्यञ्जः स्थूलधियो महर्ष इदमुच्यताम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा निमि ने कहा; यथा—जिस तरह; एताम्—यह; ऐश्वरीम्—भगवान् की; मायाम्—माया को; दुस्तराम्—दुर्लंघ्य; अकृत-आत्मभिः—जो आत्मसंयमी नहीं हैं उनके द्वारा; तरन्ति—पार कर जाते हैं; अञ्जः—आसानी से; स्थूल-धियः—भौतिकतावादी अनुरक्ति के कारण जिनकी बुद्धि मन्द पड़ चुकी हो ऐसे लोग; मह-ऋषे—हे महर्षि; इदम्—यह; उच्यताम्—आप कहें।

राजा निमि ने कहा है, अतः हे महर्षि, कृपया यह बतलायें कि किस तरह एक मूर्ख भौतिकतावादी भी आसानी से भगवान् की उस माया को पार कर सकता है, जो उन लोगों के लिए सदैव दुर्लंघ्य है, जिन्हें अपने ऊपर संयम नहीं होता।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार, *स्थूल-धियः* उनका द्योतक है, जो अज्ञान के कारण अपने को स्थूल भौतिक शरीर मानते हैं और प्रकृति के उन सूक्ष्म नियमों का विश्लेषण नहीं कर पाते, जिनसे आत्मा माया के कारण देहान्तरण करता है। श्रील जीव गोस्वामी टीका करते हैं कि *स्थूल-धियः* उन तथाकथित पुण्यात्माओं का भी सूचक है, जो भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति के लिए भव्य धार्मिक अनुष्ठान रचाते हैं, किन्तु भगवान् की सेवा करके भगवद्धाम वापस जाने की तैयारी नहीं करते।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार राजा निमि पहले से महाभागवत थे, अतएव वे जानते थे कि भगवान् के चरणकमलों में शरण लेकर तथा उनकी शुद्ध भक्ति करके मनुष्य माया को पार कर सकता है। इसलिए राजा उन लोगों के हितार्थ प्रश्न पूछ रहे थे, जो भ्रमवश अपने को महान् पण्डित समझते हैं, किन्तु वास्तव में भौतिकतावादी सकाम कर्मों में लिप्त रहने के कारण माया में अधिकाधिक फँसते जाते हैं। इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अमरकोश से उद्धरण दिया है कि *अकृतात्मभिः* सूचक है *अपूर्णत्वम्* का अर्थात् रक्ति जीवन वाले का।

हर जीव का नित्य सम्बन्ध परम पुरुष कृष्ण से है। कृष्ण को अपना नित्य स्वामी, घनिष्ठ मित्र, प्रिय सन्तान या माधुर्य प्रेम का लक्ष्य समझ कर प्रेम किया जा सकता है। हाँ, ऐसे भावों को कभी भी

सामान्य भौतिक भावावेशों से मिलाना नहीं चाहिए, जो आध्यात्मिक *रस* या सम्बन्धों के विकृत प्रतिबिम्ब होते हैं। हम भौतिक जगत में इन्हीं दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य रसों का आस्वादन करने का यत्न करते हैं, किन्तु ऐसे मनोभावों का स्थान नश्वर भौतिक शरीर होता है, जो प्रकृति के नियमों द्वारा तुरन्त नष्ट हो जाता है। इन प्रेम-उद्‌गारों को परम पुरुष कृष्ण के आध्यात्मिक शरीर की ओर निर्दिष्ट करना चाहिए, जो समस्त सौन्दर्य तथा दिव्य आनन्द के आगार हैं। जिसने अपने प्रेम को कृष्ण की ओर उन्मुख करने की कला नहीं सीखी है, वह *अपूर्ण* है अर्थात् उसका जीवन अन्ततः रिक्त है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार जिसका जीवन अपूर्ण होता है, अर्थात् जिसकी बुद्धि विस्तृत अनुभव के अभाव के कारण पंगु है, उसे भी *मन्दधीः* कहा जा सकता है। शुद्ध वैष्णव राजा निमि इतने दयालु थे कि उन्होंने पूछा, ''भला पंगु बुद्धि वाले ऐसे लोग सरलता से माया को कैसे पार कर सकते हैं, क्योंकि वे स्वभाव से आध्यात्मिक मामलों में अत्यन्त आलसी होते हैं?''

श्रीप्रबुद्ध उवाच
कर्माण्यारभमाणानां दुःखहत्यै सुखाय च ।
पश्येत्पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

श्री-प्रबुद्धः उवाच—श्री प्रबुद्ध ने कहा; कर्माणि—सकाम कर्म; आरभमाणानाम्—प्रयत्नशील; दुःख-हत्यै—दुख-निवारण के लिए; सुखाय च—तथा सुख पाने के लिए; पश्येत्—देखना चाहिए; पाक—परिणाम का; विपर्यासम्—विपरीत फल; मिथुनी-चारिणाम्—स्त्री तथा पुरुष के रूप में युगल जोड़ा; नृणाम्—ऐसे पुरुषों का।

श्री प्रबुद्ध ने कहा है, अतः मानव समाज में नर तथा नारी की भूमिकाएँ स्वीकार करते हुए बद्धजीव संभोगरत होते हैं। इस तरह वे अपने दुख के निवारणार्थ निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं और अपने आनन्द को असीम बनाना चाहते हैं। किन्तु यह देखना चाहिए कि उन्हें सदैव इसका बिल्कुल उल्टा परिणाम मिलता है। दूसरे शब्दों में, उनका सुख अनिवार्यतहै, अतः समाप्त हो जाता है और ज्यों ज्यों वे बूढ़े होते जाते हैं, उनकी भौतिक असुविधाएँ बढ़ती जाती हैं।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त की कृपा के बिना देहात्म बुद्धि से छूट पाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि यही यौन आकर्षण का मोहमय आधार है।

नित्यार्तिदेन वित्तेन दुर्लभेनात्ममृत्युना ।
गृहापत्याप्तपशुभिः का प्रीतिः साधितैश्चलैः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

नित्य—निरन्तर; आर्ति-देन—पीड़ादायक; वित्तेन—सम्पत्ति से; दुर्लभेन—मुश्किल से कमाई गई; आत्म-मृत्युना—आत्मा के लिए मृत्यु; गृह—अपने घर; अपत्य—सन्तानों; आप्त—सम्बन्धीजन; पशुभिः—तथा घर के पशुओं सहित; का—क्या; प्रीतिः—सुख; साधितैः—(उस सम्पत्ति से) प्राप्त किये गये; चलैः—चलायमान, अस्थिर।

सम्पत्ति दुख का अविच्छिन्न स्रोत है, इसे अर्जित करना सर्वाधिक कठिन है और एक तरह से यह आत्मा के लिए मृत्यु स्वरूप है। भला अपनी सम्पत्ति से किसी को कौन-सा लाभ मिलता है? इसी तरह कोई अपने तथाकथित घर, सन्तान, सम्बन्धीगण तथा घरेलू पशुओं से स्थायी सुख कैसे प्राप्त कर सकता है, जो उसकी कठिन कमाई से पालित-पोषित होते हैं?

एवं लोकं परम्विद्यान्नश्वरं कर्मनिर्मितम् ।
सतुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्तिनाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; लोकम्—संसार; परम्—(इस जीवन के बाद) अगला; विद्यात्—समझ लेने से; नश्वरम्—अस्थायी; कर्म-निर्मितम्—सकाम कर्म से उत्पन्न; स-तुल्य—बराबर वालों (की स्पर्धा) से विशेषित; अतिशय—तथा वरिष्ठ जन; ध्वंसम्—तथा विनाश से; यथा—जिस तरह; मण्डल-वर्तिनाम्—छोटे-छोटे राजाओं की (स्पर्धाएँ)।

मनुष्य को स्वर्गलोक में भी ऐसा स्थायी सुख नहीं मिल सकता, जिसे वह अनुष्ठानों तथा यज्ञों से अगले जीवन में प्राप्त कर सकता है। यहाँ तक कि भौतिक स्वर्ग में भी जीव अपने बराबर वालों की होड़ से तथा अपने से बड़ों की ईर्ष्या से विचलित रहता है। चूँकि पुण्यकर्मों की समाप्ति के साथ ही स्वर्ग का निवास समाप्त हो जाता है, अतएव स्वर्ग के देवतागण अपने स्वर्गिक जीवन के विनाश की आशंका से भयभीत रहते हैं। इस तरह उनकी दशा उन राजाओं की सी रहती है, जो सामान्य जनता द्वारा ईर्ष्यावश प्रशंसित होते हैं, किन्तु शत्रु-राजाओं द्वारा निरन्तर सताये जाते हैं, जिससे उन्हें कभी भी वास्तविक सुख नहीं मिल पाता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने *छान्दोग्य उपनिषद्* का यह श्लोक (८.१.६) उद्धृत किया है—*तद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवम् एवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते*—"मनुष्य का वर्तमान भौतिक सुख, जो उसके पूर्वकर्म का फल होता है, समय के साथ नष्ट हो जाता है। इसी तरह भले ही पुण्यकर्म करने से कोई अगले जन्म में उच्च पद प्राप्त कर ले, किन्तु यह भावी पद भी विनष्ट हो जायेगा।" भौतिक भोग का आधार वह शरीर विशेष है, जिसे मनुष्य ने अर्जित किया है। भौतिक शरीर *कर्मचितः*

है—अर्थात् पूर्वकर्मों का संचित फल है। यदि किसी को सौन्दर्य, शिक्षा, लोकप्रियता, बल इत्यादि से अलंकृत शरीर मिलता है, तो उसका भौतिक भोग का स्तर भी उच्च कोटि का होता है। दूसरी ओर यदि कोई कुरूप, मन्द बुद्धि, पंगु या घृणित होता है, तो उसे भौतिक सुख की बहुत कम आशा रहती है। किन्तु दोनों ही दशाओं में स्थिति टिमटिमाने वाली और क्षणिक है। जिसे सुन्दर शरीर मिला है, उसे फूल कर कुप्पा नहीं हो जाना चाहिए, क्योंकि मृत्यु शीघ्र ही ऐसी मदभरी स्थिति का अन्त कर देगी। इसी तरह, जिसने घृणित परिस्थिति में जन्म लिया है, उसे भी पछताना नहीं चाहिए, क्योंकि उसका भी दुख क्षणिक है। सुन्दर और कुरूप, धनी तथा निर्धन, शिक्षित तथा मूर्ख—सबों को कृष्णभावनाभावित बनने का प्रयास करना चाहिए, जिससे वे अपना स्वाभाविक पद प्राप्त कर सकें—जो कि इस भौतिक ब्रह्माण्ड के परे है। मूलतः प्रत्येक जीव कल्पना से परे सुन्दर, बुद्धिमान तथा धनी होता है और इतना बलशाली होता है कि उसका आध्यात्मिक शरीर सदैव जीवित रहता है। किन्तु हम मूर्खतावश इस शाश्वत आनन्दमय स्थिति को त्याग देते हैं, क्योंकि हम शाश्वत जीवन की शर्त को पूरा करना नहीं चाहते। शर्त यह है कि मनुष्य भगवान् कृष्ण का प्रेमी बने। यद्यपि कृष्ण-प्रेम अतिशय आनन्द है, जो भौतिक ब्रह्माण्ड के गहनतम आनन्द से भी लाखों गुना अधिक है, किन्तु मूर्खतावश हम भगवान् से अपना प्रेम-व्यापार तोड़ लेते हैं और आत्म-प्रवंचना तथा मिथ्या अभिमान के भौतिक परिवेश में स्वतंत्र भोक्ता बनने का कृत्रिम प्रयास करते हैं।

कोई व्यक्ति इस ब्रह्माण्ड के उच्चतम स्वर्गलोक को भले ही प्राप्त कर ले, किन्तु वह नाना प्रकार के तापों से पीड़ित रहेगा। इस भौतिक जगत में हर बद्ध आत्मा महानतम व्यक्ति बनना चाहता है। इसलिए वह समान इच्छा वाले लोगों द्वारा निरन्तर सताया जाता है। यह स्थिति प्रायः भौतिक जीवन की ''चूहा दौड़'' कहलाती है। यहाँ तक कि स्वर्गलोक में भी स्वर्गिक प्रसिद्धि के लिए ऐसी ही ''चूहा दौड़'' होती है। चूँकि कुछ व्यक्ति अनिवार्यतः हमारी उपलब्धियों से बढ़कर सिद्ध होते हैं, अतएव हम जिन पुरस्कारों के लिए प्रयत्न कर रहे थे, उन्हीं का भोग अन्यों द्वारा होते देखकर हमारे हृदय ईर्ष्या से जलते रहते हैं। और चूँकि हमारी सारी स्थिति क्षणिक होती है, इसलिए हमें भय, चिन्ता तथा मृत्यु का सामना स्वर्गलोक तक में करना ही होता है। यहाँ पर दिया हुआ उदाहरण अत्यन्त उत्तम है। छोटे छोटे राजाओं की प्रशंसा भले ही सामान्य नागरिकों द्वारा उनकी सम्पत्ति, शक्ति तथा यश के लिए की जाय,

किन्तु ऐसे राजा स्वयं भी अन्य राजाओं से प्रतिस्पर्धा तथा धमकी के कारण ईर्ष्या, असहमति तथा भय से निरन्तर दग्ध होते रहते हैं। इसी तरह आधुनिक राजनीतिज्ञ ईर्ष्या तथा भय से निरन्तर व्यथित होते रहते हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि भौतिक सुख की चाह से तथा दुख से बचने के लिए इच्छुक होने से बद्ध आत्माएँ यौन सम्बन्धों की शरण लेते हैं और इस तरह सकाम कर्मों के कठिन श्रम के समक्ष आत्मसमर्पण कर देते हैं। किन्तु जो प्रबुद्ध होते हैं, वे ऐसे स्थूल भौतिकतावादी प्रयासों की चरम व्यर्थता का अनुभव कर सकते हैं। मनुष्य के तथाकथित पत्नी, घर, बच्चे, सम्बन्धी, बैंक-खाता इत्यादि सभी नश्वर मायाजाल हैं और प्रकट होकर भी वे किसी की इन्द्रियों को असली सन्तोष प्रदान नहीं कर पाते। इस जगत में धन अर्जित करने के लिए प्राय: आत्महन्ता बनना पड़ता है। भौतिकतावादी कार्यों से आनन्द की प्राप्ति की सम्भावना नहीं रहती, क्योंकि नश्वर इन्द्रिय-विषयों का पीछा करने से, वे नश्वर इन्द्रियों द्वारा सम्पन्न होते हैं। जब बद्धजीव को उसका लक्ष्य प्राप्त हो जाता है, तो वह गर्वित हो उठता है और दूसरों के समक्ष डींगे मारने लगता है, मानो उसकी उपलब्धियाँ स्थायी हों। और जब वह पराजित होता है, तो शोक में डूब जाता है। अपने को कर्ता मानने की ऐसी प्रवृत्ति क्षीण बुद्धि की परिचायक है, क्योंकि वास्तव में जीव केवल भौतिक शरीर के भीतर इच्छा ही करता है। यह शरीर ईश्वर के नियंत्रण में प्रकृति की शक्तियों द्वारा गतिशील बनता है। स्वामी-सेवक, पिता-पुत्र, पति-पत्नी जैसे सम्बन्ध शुभकामना तथा सेवा के आदान-प्रदान पर आधारित होते हैं, जिनसे भौतिक तृप्ति की अनुभूति होती है, किन्तु ऐसी क्षणिक भक्ति से आत्मा को शाश्वत लाभ नहीं पहुँच सकता। ऐसी क्षणिक तृप्ति द्वारा माया बद्धजीव को सारे संसार में भटकाती रहती है और वह भौतिक प्रकृति द्वारा प्रदत्त कर्मफलों को भोगता रहता है। कर्म के सूक्ष्म नियमों के अनुसार ही जीव को सुख-दुख प्राप्त होते हैं। किसी को बलपूर्वक सुख नहीं मिल सकता, चाहे वह कितना ही कठिन या कितने ही समय तक प्रयास क्यों न करे। अतएव जिनकी बुद्धि विमल है, उन्हें भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की शरण में जाना चाहिए और स्थायी भौतिक सुख की हास्यास्पद तलाश छोड़ देनी चाहिए, क्योंकि ऐसी तलाश कुत्ते द्वारा अपनी पूँछ की तलाश के समान है।

तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; गुरुम्—गुरु की; प्रपद्येत—शरण ग्रहण करे; जिज्ञासुः—उत्सुक होकर; श्रेयः उत्तमम्—सर्वोच्च कल्याण के लिए; शाब्दे—वेदों में; परे—ब्रह्म में; च—तथा; निष्णातम्—पूर्णतया ज्ञेय; ब्रह्मणि—ब्रह्म के (इन दोनों पक्षों में); उपशम-आश्रयम्—भौतिक मामलों से विरक्त होने पर स्थित।

अतएव जो व्यक्ति गम्भीरतापूर्वक असली सुख की इच्छा रखता हो, उसे प्रामाणिक गुरु की खोज करनी चाहिए और दीक्षा द्वारा उसकी शरण ग्रहण करनी चाहिए। प्रामाणिक गुरु की योग्यता यह होती है कि वह विचार-विमर्श द्वारा शास्त्रों के निष्कर्षों से अवगत हो चुका होता है और इन निष्कर्षों के विषय में अन्यों को आश्वस्त करने में सक्षम होता है। ऐसे महापुरुष, जिन्होंने समस्त भौतिक धारणाओं को त्याग कर भगवान् की शरण ग्रहण कर ली है, उन्हें प्रामाणिक गुरु मानना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *शाब्दे* शब्द वैदिक वाङ्मय का द्योतक है और *परे* भगवान् का। प्रामाणिक गुरु को *निष्णातम्* होना चाहिए अर्थात् उसे प्रामाणिक वैदिक ग्रंथों का गहन अनुभव होना चाहिए और भगवान् की व्यावहारिक समझ होनी चाहिए। ऐसा न होने पर तथाकथित गुरु अपने शिष्यो के संशयों को दूर नहीं कर सकेगा और इस तरह निष्ठावान् छात्र को भगवद्धाम वापस ले जाने में असमर्थ होगा। वेदों तथा कृष्ण के अनुभूत ज्ञान का लक्षण *उपशमाश्रयम्* है। दूसरे शब्दों में, प्रामाणिक गुरु वह है, जो भौतिकतावादी समाज, मैत्री तथा प्रेम की चमक-दमक वाले मोह से विरक्त हो चुका हो।

भौतिक जगत के अन्तर्गत मनुष्य निश्चित रूप से महान् बुद्धिजीवी, सशक्त राजनीतिज्ञ, अनेक सुन्दर बच्चों का प्यारा पिता, सुसम्मानित कल्याण कार्यकर्ता या बहुप्रशंसित तथा सफल व्यापारी बनने के प्रति आकृष्ट रहता है। लेकिन इनमें से एक भी भौतिक पद न तो स्थायी है, न ही स्थायी सुख प्रदान करने वाला है, क्योंकि ये सारे के सारे उस मूलभूत भ्रान्ति पर आधारित हैं, जिससे मनुष्य अपनी पहचान भौतिक शरीर के रूप में करता है।

कोई भी व्यक्ति आसानी से अनुभव कर सकता है कि वह शरीर नहीं है, बल्कि चेतना है। यदि कोई अपने शरीर के किसी अंग को खो देता है, तो भी वह चेतन जीव ही रहता है। अन्ततोगत्वा मृत्यु के समय सारा शरीर नष्ट हो जाता है और जीव को नया शरीर मिलता है। चेतना के रूप में अपनी

पहचान का प्रारम्भिक ज्ञान आत्म-साक्षात्कार कहलाता है। किन्तु इस प्रारम्भिक ज्ञान के परे यह विस्तृत विषय है कि ८४,००,००० योनियों का चक्कर लगाते हुए आत्मा अस्तित्व में कैसे आया। और यदि जीव भौतिक शरीर न होकर चेतना है, तो उसका किसी उच्च पद पर कोई आदि स्थान होना चाहिए।

दण्ड में पुरस्कार भी छिपा रहता है। जो सशक्त व्यक्ति दण्ड दे सकता है, वह पुरस्कार भी दे सकता है। अतएव ऐसे जीव के लिए जो जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु से युक्त कष्टप्रद भौतिक शरीर धारण करने पर बाध्य होता है, दण्ड के विधान का अर्थ है कि उसके लिए पुरस्कार भी है। यद्यपि हम भूल से भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति को जीवन का चरम पुरस्कार मान बैठते हैं, किन्तु भौतिक सुख वास्तव में दण्ड का दूसरा रूप है, क्योंकि इससे मनुष्य जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमने के लिए लुब्ध होता है। पाश्चात्य देशों में उग्र कैदियों को एकान्तवास दिया जाता है, जबकि शिष्ट कैदियों को जेल अधिकारी के बाग में या पुस्तकालय में पुरस्कार स्वरूप काम करने दिया जाता है। किन्तु कारागार के भीतर का कोई भी पद आखिर दण्ड ही है। इसी तरह भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति की उच्च तथा निम्न कोटियाँ जीव के चरम पुरस्कार की व्याख्या नहीं कर सकती। असली पुरस्कार तो भगवद्धाम में आनन्द तथा ज्ञान से युक्त जीवन है, जहाँ किसी तरह का दण्ड नहीं होता। ईश्वर का धाम वैकुण्ठ है अर्थात् मुक्त आनन्द है। वैकुण्ठ में कोई दण्ड नहीं होता। यह तो नित-वर्धमान आनन्द का स्थान है।

प्रामाणिक गुरु वह है, जो इन विषयों में अपनी कल्पना के आधार पर नहीं, अपितु प्रामाणिक वैदिक साहित्य के परिपक्व ज्ञान में, जो भगवान् की अहैतुकी कृपा की साहित्यिक अभिव्यक्ति है, दक्ष होता है। भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.३) में कहा है—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।

अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

"हे परन्तप! जो लोग भक्ति में श्रद्धा नहीं रखते, वे मुझे प्राप्त नहीं कर पाते। अतः वे इस भौतिक जगत में जन्म-मृत्यु के मार्ग पर वापस आते रहते हैं।" इसलिए गुरु को चाहिए कि शिष्य में भक्ति जागृत करे। यहाँ पर उस माता का उदाहरण दिया जा सकता है, जो भोर में ही अपनी सन्तान के कमरे में जाकर उसे जगाती है, जिससे वह पाठशाला जा सके। यद्यपि बालक उठना नहीं चाहता, किन्तु ममतामयी माता उसे उठने के लिए बाध्य करती है, जिससे वह पाठशाला जाकर शिक्षित बन सके। इसी

तरह प्रामाणिक गुरु सुप्त जीव को जगाकर गुरुकुल या गुरु के आश्रम भेजता है, जहाँ उसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सके।

यदि शिष्य को कृष्णभावनामृत की महत्ता के विषय में शंका हो, तो प्रामाणिक गुरु को चाहिए कि श्रेष्ठ ज्ञान द्वारा उसे दूर करे। जो व्यक्ति कृष्ण या वैदिक ज्ञान के प्रमाण के विषय में शंका करता है, वह प्रामाणिक गुरु नहीं बन सकता। दूसरी ओर, *किबा विप्र, किबा न्यासी, शूद्र केन नय।येइ कृष्ण-तत्त्व-वेत्ता, सेइ 'गुरु' हय*—किसी भी जाति का व्यक्ति प्रामाणिक गुरु बन सकता है, यदि वह कृष्ण के विज्ञान को जानता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

यारे देख, तारे कह 'कृष्ण'-उपदेश।

आमार आज्ञाय गुरु हञा तार एइ देश॥

"हर व्यक्ति को भगवान् श्रीकृष्ण के उन आदेशों का पालन करने की शिक्षा दो, जो भगवद्‌गीता तथा श्रीमद्‌भागवत में दिये हुए हैं। इस तरह गुरु बन कर इस धरा के प्रत्येक निवासी का उद्धार करने का प्रयास करो।" (चैतन्य चरितामृत, मध्य ७.१२८) केवल भगवान् के आदेश से गुरु बना जा सकता है, अपने तथाकथित पाण्डित्य से नहीं।

प्रामाणिक गुरु का कर्तव्य है कि वह शिष्य को कृष्ण से जोड़े। कोई विद्वान या चिन्तक तब तक अन्य जीव को कृष्ण से जोड़ने की शक्ति नहीं रखता, जब तक वह स्वयं कृष्ण से जुड़ा न हो। यद्यपि बहुत-से क्रीड़ा-प्रशंसक व्यायाम सम्बन्धी स्पर्धाओं में उपस्थित रहते हैं और कठिन करतबों के प्रदर्शन में वाह-वाह करते हैं, किन्तु भगवान् ऐसे दर्शक नहीं, न ही वे योग के नाम पर मूर्ख व्यक्तियों द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले आसनों की वाहवाही करते हैं। न ही भगवान् दार्शनिक चिन्तन के घटिया दर्जे के प्रयासों से प्रभावित होते हैं, क्योंकि भगवान् पहले ही *भगवद्‌गीता* में अपने विचार व्यक्त कर चुके हैं (*शृणु मे परमं वचः*)। भगवान् के शब्द *परमं वचः* हैं—अर्थात् ज्ञान की पराकाष्ठा हैं और कृष्ण का कथन है *यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यम् अवशिष्यते*—जब तुम इस ज्ञान को जान लोगे, तो आगे जानने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहेगा। कृष्ण ने इस ज्ञान को *राज विद्या* भी कहा है।

यदि कोई व्यक्ति कृष्ण का प्रेमी नहीं बनता, तो कृष्ण से उसका सम्बन्ध अप्रत्यक्ष अर्थात् माया के माध्यम से होता है। यह विचार कि कोई व्यक्ति आसनों द्वारा या ब्रह्म के मूर्खतापूर्ण चिन्तन द्वारा

भगवान् को आकृष्ट कर सकता है, निस्सन्देह माया की उपज है। जो व्यक्ति भगवान् की बहिरंगा माया-शक्ति द्वारा कृष्ण से जुड़ता है, वह भौतिक गुरु के रूप में अपने तथाकथित शिष्यों को उसी माया से जोड़ सकता है। दूसरी ओर *भगवद्‌गीता* (९.१३) में कहा गया है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

''हे पार्थ! मोहमुक्त महात्माजन दैवी प्रकृति के संरक्षण में रहते हैं। वे पूर्णतः भक्ति में निमग्न रहते हैं, क्योंकि वे मुझे आदि तथा अविनाशी भगवान् के रूप में जानते हैं।'' जो लोग वास्तव में महात्मा हैं, वे भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के शरणागत होते हैं और वे अन्यों को अपनी ही तरह अंतरंगा ह्लादिनी शक्ति से जोड़ सकते हैं। *भगवद्‌गीता* में *महात्मा* का वर्णन इस प्रकार हुआ है : *वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः*—वह मुझे समस्त कारणों का और सारे के सारे अस्तित्व का कारण मानता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसे गुरु की, जो इस परिपक्व ज्ञान को प्राप्त हुआ रहता है कि वासुदेव ही सर्वस्व हैं, ही शरण ग्रहण की जानी चाहिए। नारद मुनि के अनुसार *यो विद्वान् स गुरुर्हरिः*—ऐसे महात्मा को साक्षात् कृष्ण की बाह्य अभिव्यक्ति मानना चाहिए। कृष्ण ने यह भी कहा है (भागवत ११.१७.२७) :

आचार्यं मां विजानीयन्नावमन्येत कर्हिचित्।

न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥

''मनुष्य को चाहिए कि आचार्य को साक्षात् मेरा स्वरूप माने और किसी तरह से उसका अनादर न करे। उसे सामान्य व्यक्ति समझ कर उससे ईर्ष्या न करे, क्योंकि वह समस्त देवताओं का प्रतिनिधि होता है।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार, यदि गुरु उच्च ज्ञान द्वारा अपने शिष्य की शंकाओं को दूर नहीं कर सकता, तो वह शिष्य धीरे-धीरे आध्यात्मिक जीवन के प्रति निराश हो जायेगा। चूँकि नकली गुरु अपने शिष्य को कृष्ण से नहीं मिला सकता, क्योंकि नियम है *रसवर्जं रसोऽप्यस्य,* अतः कृष्ण के सान्निध्य का आनन्द प्राप्त न कर सकने से शिष्य भौतिक सुख की ओर पुनः आकृष्ट होगा। ऐसे अशक्त गुरु का अशक्त शिष्य आत्म-साक्षात्कार के अपने प्रयास में धीरे धीरे हतोत्साहित हो उठेगा

और पुनः स्त्रियों, धन तथा कल्पना एवं चिन्तन पर आधारित तथाकथित बौद्धिकता जैसे माया के प्रलोभनों द्वारा मोहित हो जायेगा।

प्रामाणिक गुरु के और अधिक लक्षण *उपदेशामृत* (१) में दिये हुए हैं—

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं

जिह्वावेगम् उदरोपस्थवेगम्।

एतान् वेगान् यो विषहेत धीरः

सर्वाम् अपीमां पृथिवीं स शिष्यात्॥

"जो धीर पुरुष बोलने की उत्कंठा, मन की माँगों, क्रोध के कार्यों तथा वाणी, उदर और जननेन्द्रियों की उत्कंठाओं को सह सकता है, वह सारे विश्व में शिष्य बनाने के लिए योग्य है।" श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है—*उपशमाश्रयं क्रोधलोभाद्यवशीभूतम्*—प्रामाणिक गुरु सामान्य क्रोध, लोभ तथा काम-वासना के वशीभूत नहीं हो सकता।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार जिस व्यक्ति ने संसार की असारता को समझ लिया है, वही गुरु के निकट तक जा सकता है। पिछले दो श्लोकों में पार्थिव तथा स्वर्गिक इन्द्रिय-तृप्ति की व्यर्थता का वर्णन हुआ है। अब यह सहज निष्कर्ष निकलता है कि जिसने यह सब समझ लिया है, उसे प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए। प्रामाणिक गुरु वैकुण्ठ लोक जैसे दिव्य लोकों की ध्वनि को प्रसारित करता है। दिव्य लोकों के निवासी, जिनमें स्वयं भगवान् मुख्य हैं, न तो बहरे हैं और न गूंगे। वे असीम आनन्द तथा ज्ञान के माध्यम से निरन्तर संचार स्थापित किये रहते हैं और प्रामाणिक गुरु आनन्द तथा ज्ञान की इस ध्वनि को अपने शिष्य तक प्रेषित कर सकता है। जिस तरह रेडियो संसारी समाचार प्रसारित करता है, उसी तरह प्रामाणिक गुरु वैकुण्ठ के समाचार प्रसारित करता है। इसकी पुष्टि नरोत्तम दास ठाकुर द्वारा होती है : *गोलोकेर प्रेमधन, हरिनाम-सङ्कीर्तन।* गुरु अपने शिष्य तक कृष्ण के पवित्र नाम को भी प्रेषित करता है, जो साक्षात् कृष्ण से अभिन्न है। प्रामाणिक गुरु अपने शिष्य को बताता है कि हर जीव गुणात्मक रूप से भगवान् से एकाकार है, किन्तु मात्रा की दृष्टि से भिन्न है और इस तरह शिष्य को भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगाता है। चूँकि गुणात्मक दृष्टि से जीव भगवान् से एकाकार है और उनका अंश रूप है, इसलिए उन दोनों के मध्य नित्य प्रेम-सम्बन्ध होता है। और चूँकि

मात्रा की दृष्टि से जीव भगवान् से भिन्न है, अतः उसका सम्बन्ध शाश्वत दासता का होता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार भले ही किसी को अत्यन्त योग्य तथा प्रामाणिक गुरु प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हो, किन्तु यदि उसे सकाम कर्मों में या मानसिक चिन्तन में रुचि बनी रहती है, तो उसकी प्रगति रुक जाएगी। किन्तु यदि धीर शिष्य अपने प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण करता है, तो भगवद्भक्ति में पूर्ण ज्ञान तथा आनन्द के सम्प्रेषण में कोई अवरोध नहीं आता।

तत्र भागवतान्धर्मान्शिक्षेद्गुर्वात्मदैवतः ।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरिः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ (गुरु की संगति में); भागवतान् धर्मान्—भक्ति के विज्ञान को; शिक्षेत्—सीखना चाहिए; गुरु-आत्म-दैवतः—वह, जिसके लिए गुरु प्राण है और आराध्य देव है; अमायया—बिना धोखे के; अनुवृत्त्या—श्रद्धापूर्ण सेवा द्वारा; यैः—जिसके (भक्ति) द्वारा; तुष्येत्—तुष्ट किया जा सकता है; आत्मा—परमात्मा; आत्म-दः—आत्मा प्रदान करने वाला; हरिः—भगवान् हरि।

प्रामाणिक गुरु को प्राण एवं आत्मा तथा आराध्य देव मानते हुए शिष्य को चाहिए कि उससे शुद्ध भक्ति की विधि सीखे। समस्त आत्माओं के आत्मा भगवान् हरि अपने आपको अपने शुद्ध भक्तों को सौंपने के लिए उद्यत रहते हैं। इसलिए शिष्य को अपने गुरु से द्वैतरहित होकर भगवान् की श्रद्धापूर्ण तथा उपयुक्त विधि से सेवा करना सीखना चाहिए, जिससे वे तुष्ट होकर श्रद्धालु शिष्य को अपने आपको सौंप सकें।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार अपने शुद्ध भक्त को अपने को प्रदान करने की प्रवृति बलि महाराज के उदाहरण में देखी जा सकती है, जिन्होंने भगवान् वामनदेव के आनन्द हेतु अपना सारा राज्य बलिदान कर दिया। भगवान् वामन बलि महाराज की इस निष्काम शरणागति से इतने प्रसन्न हुए कि वे बलि के महल के द्वारपाल बने और उन्हें संसार में महान् नायक के रूप में पुनः स्थापित कर दिया गया।

श्रील जीव गोस्वामी का अभिमत है कि गुरु को शिष्य की *आत्मा* अर्थात् प्राण समझना चाहिए, क्योंकि असली जीवन तो प्रामाणिक गुरु द्वारा दीक्षा दिये जाने पर ही शुरू होता है। भले ही किसी को स्वप्न में अनेक अद्भुत या महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती हुई घटनाएँ घटती क्यों न दिखें, किन्तु असली जीवन तो तब आरम्भ होता है, जब वह जागता है। इसी प्रकार, चूँकि गुरु शिष्य में आध्यात्मिक जीवन जागृत

करके उसे जन्म देता है, इसलिए प्रामाणिक शिष्य समझता रहता है कि उसका गुरु ही उसके जीवन का आधार है।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार भगवान् समस्त आनन्द के आगार हैं, अतएव शुद्ध भक्त के हाथों भगवान् द्वारा अपने आपको सौंपना इस बात का सूचक है कि ऐसा भक्त सर्वोच्च आनन्द में निमग्न हो गया है। इस सम्बन्ध में एक श्रुति मंत्र है—*आनन्दाद् धीमानि भूतानिजायन्ते*—निश्चय ही आनन्दमय ब्रह्म से सारे प्राणियों का जन्म हुआ है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इसके आगे भी कहा है कि जब भगवान् किसी शुद्ध भक्त को अपने आपको अर्पित कर देते हैं, तो ऐसा भाग्यशाली भक्त भगवान् का दर्शन कर सकता है, उनका स्पर्श कर सकता है और उनकी प्रत्याक्षत: सेवा कर सकता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार गुरु को कभी भी न तो संसारी माना जाय, न ही अपने समान स्तर पर। गुरु को सदैव भगवान् के चरणकमलों की शरण में देखा जाना चाहिए। कभी भी गुरु पर रोब जमाने के विचार से गुरु से निजी सेवा नहीं लेनी चाहिए और न ही उनके माध्यम से कोई भौतिक लाभ प्राप्त करना चाहिए। जो व्यक्ति वास्तव में अग्रसर होता रहता है, वह गुरु की अधिकाधिक सेवा करने के लिए उन्मुख होता है और इस तरह ऐसे शिष्य को भगवान् के आनन्द का अनुभव होने लगता है।

श्रील रूप गोस्वामी ने निष्ठावान शिष्य की प्रगति के लिए चार प्रारम्भिक आवश्यकताएँ बतलाई हैं—

गुरुपादाश्रयस्तस्मात् कृष्णदीक्षादिशिक्षणम्।

विश्रम्भेण गुरोः सेवा साधुवर्त्मानुवर्तनम्॥

(१) ''प्रामाणिक गुरु के चरणकमलों की शरण ग्रहण करना (२) गुरु द्वारा दीक्षित किया जाना और उससे भक्ति करने की विधि सीखना (३) श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक गुरु के आदेशों का पालन करना तथा (४) गुरु के निर्देशन में महान् आचार्यों के पदचिह्नों का अनुसरण करना।'' (*भक्तिरसामृतसिन्धु* १.२.७४) जिसने इन प्रारम्भिक कर्तव्यों को पूरा कर लिया हो, वह *श्रीमद्भागवत* का आस्वाद करने का पात्र है।

जब कोई व्यक्ति सचमुच ही *श्रीमद्भागवत* की ध्वनि को यथारूप में सुनता है, तो वह इन्द्रिय-तृप्ति की इच्छा तथा मानसिक चिन्तन से मुक्त हो जाता है और भगवान् कृष्ण की सेवा में सुखी तथा प्रसन्न रहता है।

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे।

भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा॥

"श्रीमद्भागवत का श्रवण करने मात्र से शोक, मोह तथा भय की अग्नि को शमन करने के लिए भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति की भावना तुरन्त फूट पड़ती है।" (भागवत १.७.७) मनुष्य को चाहिए कि ऐसे प्रामाणिक गुरु से *श्रीमद्भागवत* सुने, जो *भागवत* की दिव्य ध्वनि सुनने से उत्पन्न लालसा को प्रेममय कृष्ण के प्रति प्रवृत्त कर सके। ऐसा दिव्य प्रामाणिक कार्य *भागवत धर्म* कहलाता है। इस्कॉन के अन्तर्गत ऐसे हजारों प्रचार सम्बन्धी अधिकृत कार्य हैं। *श्रीमद्भागवत* का श्रवण करके तथा ऐसे कार्यों को करके इस्कॉन के सदस्य शोक, मोह तथा भय से मुक्ति पाते हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर का मत है कि जिन लोगों ने *श्रीमद्भागवत* की दिव्य ध्वनि सुन कर परिपक्व ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वे इस स्कन्ध के तेरहवें अध्याय के हंसगीता में वर्णित *त्रिदण्डिसन्यास* ग्रहण कर सकते हैं। तथाकथित वैष्णव जो कि शरीर, मन तथा वाणी पर पूर्ण संयम की उपेक्षा सनकीपन से करता है, वह प्रामाणिक गुरु के चरणकमलों की शरण प्राप्त नहीं कर सकता। यदि ऐसा इन्द्रिय-भोक्ता वैष्णव संन्यास का वेश तथा दण्ड धारण करने का स्वाँग रचता भी है, तो उसे वाँछित फल—अर्थात् कृष्ण-प्रेम नहीं प्राप्त हो सकेगा। प्रामाणिक वैष्णव को चाहिए कि इन्द्रिय-तृप्ति तथा मानसिक चिन्तन के किसी भी प्रकार के मल से अपने को मुक्त करने के लिए निष्ठापूर्वक कार्य करे और प्रेमपूरित हृदय से गुरु के आदेशों का पालन करे। गुरु के उच्च पद को सदा स्मरण रखने से शिष्य को कृष्ण के चरणकमलों पर शरण प्राप्त हो सकेगी।

सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु ।
दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सर्वत:—सर्वत्र; मनस:—मन की; असङ्गम्—विरक्ति; आदौ—प्रारम्भ में; सङ्गम्—संगति; च—तथा; साधुषु—साधुओं की; दयाम्—दया; मैत्रीम्—मित्रता; प्रश्रयम्—आदर; च—तथा; भूतेषु—समस्त जीवों के प्रति; अद्धा—इस प्रकार; यथा उचितम्—जो उपयुक्त हो।

निष्ठावान् शिष्य को चाहिए कि मन को प्रत्येक भौतिक वस्तु से विलग रखना सीखे एवं अपने गुरु तथा अन्य साधु भक्तों की संगति का सकारात्मक रूप से अनुशीलन करे। उसे अपने से निम्न पद वालों के प्रति उदार होना चाहिए, समान पद वालों के साथ मैत्री करनी चाहिए और जो अपने से उच्चतर आध्यात्मिक पद पर हैं, उनकी विनीत भाव से सेवा करनी चाहिए। इस तरह उसे समस्त जीवों के साथ समुचित व्यवहार करना सीखना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील मध्वाचार्य ने *गरुड़ पुराण* से उद्धरण देकर बतलाया है कि इस ब्रह्माण्ड में जो लोग देवताओं, महर्षियों या पवित्र मनुष्यों की तरह जन्म लेते हैं, वे *सन्त:* माने जाते हैं। *भगवद्गीता* के अनुसार *त्रैगुण्यविषया वेदा:*—वैदिक साहित्य में वर्णित वर्णाश्रम संस्कृति उन लोगों से सम्बन्धित है, जो प्रकृति के तीनों गुणों से संघर्ष कर रहे हैं। वैदिक ग्रंथ ऐसे बद्धजीवों को यह शिक्षा देते हैं कि केवल पवित्र कार्य द्वारा ही भौतिक सुख प्राप्त किया जा सकता है। इस तरह देवताओं को प्रकृति के तीन गुणों के अन्तर्गत सर्वाधिक पवित्र जीव माना जाता है। विभिन्न लोकों की स्वेच्छा से विचरण करने वाले तथा योगशक्ति वाले ऋषिगण देवताओं से थोड़ा-सा नीचे माने जाते हैं और पृथ्वी के वे मनुष्य जो वैदिक अनुष्ठानों को पूर्णतया सम्पन्न करते हैं, सन्तों की निम्नतम अर्थात् तीसरी कोटि में माने जाते हैं। किन्तु भगवद्भक्त प्रकृति के तीनों गुणों से परे होता है। भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (१४.२६) में कहा है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

“जो समस्त परिस्थितियों में अच्युत भाव से पूर्ण भक्ति में प्रवृत्त होता है, वह तुरन्त ही प्रकृति के गुणों को लाँघ जाता है और इस प्रकार ब्रह्म के स्तर (पद) तक पहुँच जाता है।” इस तरह कृष्ण स्पष्ट कर देते हैं कि जो वैष्णव भक्तियोग के नियमों से च्युत नहीं होता, वह तीनों गुणों से परे है। भगवान् कृष्ण ने कृष्ण-भक्त अर्जुन को माया के तीनों गुणों को लाँघने की सलाह दी (*निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन*)। किन्तु *भगवद्गीता* के अठारहवें अध्याय (१८.४०) में भगवान् कहते हैं—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुन:।

सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥

''इस लोक में तथा स्वर्गलोकों में देवताओं के मध्य में कोई भी ऐसा व्यक्ति विद्यमान नहीं है, जो प्रकृति के तीन गुणों से मुक्त हो।'' इस तरह देवता प्रकृति के तीन गुणों के दूषण से मुक्त नहीं होते, जबकि शुद्ध भक्त वस्तुतः *गुणातीत* है अर्थात् माया के प्रभाव से परे है।

अतएव मनुष्य को *उत्तम अधिकारी* अर्थात् भगवान् के शुद्ध भक्त की संगति करनी चाहिए, जैसाकि पहले कहा जा चुका है (भागवत ११.३.२१)—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।

शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥

''अतएव जो व्यक्ति वास्तविक सुख का इच्छुक है, उसे चाहिए कि प्रामाणिक गुरु खोजे और दीक्षा लेकर उसकी शरण ग्रहण करे। प्रामाणिक गुरु का गुण यह है कि वह विचार-विमर्श द्वारा शास्त्रों के निष्कर्षों से अवगत रहता है और अन्यों को इन निष्कर्षों के विषय में विश्वस्त कर सकता है। ऐसे महापुरुष जिन्होंने सारे भौतिक अनुचिन्तन को त्याग कर भगवान् की शरण ले रखी है, उन्हें ही प्रामाणिक गुरु मानना चाहिए।''

दूसरी ओर, मनुष्य को चाहिए कि भौतिकतावादी व्यक्ति की संगति से बचे, भले ही वह ऊपर से कृष्ण के पवित्र नाम का उच्चारण करता हो। ऐसी दशा में श्रील रूप गोस्वामी का उपदेश है—

कृष्णेति यस्य गिरि तं मनसाद्रियेत

दीक्षास्ति चेत् प्रणतिभिश्च भजन्तमीशम्।

शुश्रूषया भजनविज्ञमनन्यमन्य-

निन्दादिशून्यहृदमीप्सितसंगलब्ध्या ॥

ऐसे किसी भी व्यक्ति को, जो कृष्ण-नाम का कीर्तन करता हो, मन ही मन नमस्कार किया जा सकता है, किन्तु भौतिकतावादी व्यक्तियों की घनिष्ठ संगति से बचना चाहिए, विशेष रूप से उनसे जो यौन-सुख में आसक्त रहते हैं। *तमोद्वारं योषितां संगि-संगम्।* यदि ऐसे कामी व्यक्ति की संगति की जाय, जिसे स्त्रियों की संगति प्रिय है, तो ऐसी संगति से मनुष्य निश्चित रूप से नर्क में जाता है।

किन्तु यदि कोई भौतिकतावादी व्यक्ति शुद्ध भक्त से आध्यात्मिक सुधार के विषय में सुनने की इच्छा से उससे सम्पर्क करता है, तो उस उच्च श्रेणी के भक्त को चाहिए कि दयापूर्वक उसे अपनी संगति प्रदान करे, बशर्ते कि ऐसी संगति का अभिप्राय कृष्ण-भक्ति में प्रगति हो। ऐसी संगति से भौतिकतावादी व्यक्ति भी क्रमशः शुद्ध कृष्ण-भक्त बन सकता है। यदि ऐसा प्रगत भक्त उस भौतिकतावादी व्यक्ति को कृष्ण-भक्ति में नहीं लगा पाता, तो ऐसी संगति वर्जित है।

गरुड़ पुराण में कहा गया है कि—

विशेषतः स्वोत्तमेषु विना संगं न मुच्यते।

स्वनीचेषु तु देवेषु विना संगं न पूर्यते॥

''भगवद्भक्त की संगति के बिना मोक्ष नहीं मिल सकता। और जब तक किसी निम्न पद वाले पर दया नहीं दिखलाई जाती, तब तक मनुष्य का जीवन सतही रहेगा।'' कृष्णभावनामृत आन्दोलन में हमारा यह व्यावहारिक अनुभव है कि जो लोग कृष्ण के संदेश का प्रचार करके अपनी दया को विस्तार दे रहे हैं, वे तेजी से आध्यात्मिक प्रगति कर रहे हैं और उनका जीवन दिव्य आनन्द से पूरित होता जाता है। जो लोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन के मिशनरी कार्यों में अरुचि होने से दया के गुण की उपेक्षा करते हैं, वे दिव्य आनन्द से पूरित नहीं होते, जिसका वर्णन *पूर्यते* शब्द से हुआ है। दिव्य आनन्द से पूरित न होने से ऐसे व्यक्ति अपने जीवन को इन्द्रिय-तृप्ति, मानसिक चिन्तन, स्त्री-संग, अनेक संसारी उपन्यासों, समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं इत्यादि के पठन द्वारा भौतिक आनन्द से पूरित करते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रचार कार्य को सतत वर्धमान आनन्द का सागर—*आनन्दाम्बुधिवर्धनम्*—कहा है। मिशनरी कार्य *दयाम्* अर्थात् पतितों पर दया के सिद्धान्त पर आधारित है। जो लोग प्रचार कार्य में लगे हैं, वे अन्य प्रचारकों की संगति से प्रोत्साहित होते हैं। यह सिद्धान्त *मैत्रीम्* अर्थात् समान व्यक्तियों में मित्रता कहलाता है। ऐसे प्रचार कार्य करने की शक्ति एवं कृष्ण का संदेश वितरित करने का उचित मार्गदर्शन, गुरु जैसे महापुरुषों के चरणकमलों की सेवा अर्थात् *प्रश्रयम्* सिद्धान्त से ही प्राप्त होते हैं। यदि गुरु के निर्देशन में तथा साथी प्रचारकों के संग रह कर कृष्णभावनामृत का निष्ठापूर्वक प्रचार किया जाय, तो भागवत के इस श्लोक की पूरी तरह पूर्ति होती है और *सर्वतो मनसोऽसंगम्*—अर्थात् भगवान् की माया से पूर्ण विरक्ति प्राप्त की जा सकती है।

चैतन्य महाप्रभु ने कहा है *लवमात्र साधुसंगे सर्वसिद्धि हय।* भगवद्भक्तों के प्रति लगाव होने से मनुष्य को जीवन की सिद्धि—भगवद्धाम वापस जाने—का लक्ष्य प्राप्त हो जायेगा।

यदि कोई व्यक्ति पापपूर्ण जीवन में व्यस्त रह कर भगवान् के आदेश की उपेक्षा करता है, तो वह दयालु नहीं है। जो व्यक्ति भगवान् के भिन्नांश होने के अपने नित्य पद की उपेक्षा करता है और इसके विपरीत अपने को इस प्रकार की अस्थायी उपाधियों के रूप में भौतिक मोहों से जैसे कि "मैं अमरीकी हूँ, मैं रूसी हूँ, मैं भारतीय हूँ, मैं काला हूँ, मैं गोरा हूँ"—आवृत कर लेता है, वह आत्महन्ता है और उसे दयालु नहीं माना जा सकता। इसी तरह जो लोग मांस, मछली तथा अंडे खाकर पशु-हत्या का समर्थन करते हैं, वे दयालु नहीं माने जा सकते। कभी कभी यह तर्क पेश किया जाता है कि यदि कोई व्यक्ति किसी को हानि नहीं पहुँचाता तो वह पूर्णरूपेण धार्मिक है। किन्तु हम अज्ञान में रहने के कारण यह नहीं समझ पाते कि हमारे वर्तमान कार्यों का भविष्य में क्या फल होगा। प्रकृति के सूक्ष्म नियमों को जाने बिना केवल इस डींग मारने से कि अमुक व्यक्ति किसी को हानि नहीं पहुँचा रहा, कोई धार्मिक नहीं बन सकता। कोई भी व्यक्ति ईश्वर द्वारा बनाये गये उन नियमों की शरण ग्रहण करके धार्मिक बनता है, जो *भगवद्गीता* में साक्षात् भगवान् द्वारा कहे गये हैं। जब तक मनुष्य अपनी ही कल्पना की लहरों में बहता रहता है, जो उसे सागर की तरंगों की भाँति दूर ले जाती हैं, तब तक वह भगवद्भक्ति की विधि को नहीं समझ पाता। भगवान् की माया की विविध सृष्टियों के बारे में अपनी अनुभवजन्य मनोकल्पना से पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। मनुष्य को भौतिकतावादी संगति का परित्याग करके, उन शुद्ध भगवद्भक्तों का साथ करना चाहिए, जो भगवान् को पूरी तरह प्रसन्न करने में चौबीसों घंटे लगे रहते हैं।

मनुष्य को उन लोगों की संगति करनी चाहिए, जो भक्ति में उससे उच्च स्तर पर हों। किसी की प्रगति को उसकी इन्द्रिय-तृप्ति से विरक्ति द्वारा तथा अन्यों को कृष्णभावनामृत वितरित करने की क्षमता द्वारा मापा जा सकता है। इस सम्बन्ध में श्रील नरोत्तम दास ठाकुर ने कहा है *छाडिया वैष्णवसेवा, निस्तार पायेछे केबा*—वैष्णव की सेवा का परित्याग करने वाले को मोक्ष कैसे मिल सकता है? शुद्ध भक्तों के चरणकमलों की सेवा करके आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। जिसे कृष्ण के शुद्ध भक्त के चरणकमलों की दया प्राप्त हो जाती है, उसके लिए भौतिक जगत के तथाकाथित सारे आनन्द,

जिनका अन्त नाना प्रकार की विषय-वासनाओं तथा अपने को ईश्वर समझने की दृष्टि पाने में होता है, व्यर्थ हो जाते हैं। इस समस्त भौतिक जगत की उपमा सागर के क्षुद्र बुलबुले से दी जाती है। यह भौतिक ब्रह्माण्ड भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति पर अर्थात् *ब्रह्मज्योति* पर उसी तरह टिका हुआ है, जिस तरह क्षुद्र बुलबुला असीम समुद्र की शक्ति पर टिका होता है। शुद्ध भक्त के चरणकमलों की सेवा करके मनुष्य नित्य आनन्द के सागर में प्रवेश कर सकता है और कृष्ण के नित्य दास के रूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति का अनुभव कर सकता है। वैष्णवों की दया असीम होती है और जिसने इस दया का आस्वाद कर लिया है, वह तथाकथित भौतिक सुख या मानसिक चिन्तन की परवाह न करके कृष्ण के चरणों के पीछे पागल हुआ रहता है। वैष्णवों की दया तात्त्विक है और कृष्ण के ही तुल्य शक्तिमान है, जबकि निर्विशेष चिन्तन तथा समाज, मैत्री एवं प्रेम विषयक व्यर्थ के स्वप्न वे साधन हैं, जिनसे माया बद्धजीवों को ठगती रहती है और उन्हें निरन्तर उद्विग्न बनाये रखती है।

शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः ॥ २४॥

शब्दार्थ

शौचम्—स्वच्छता; **तपः**—तपस्या; **तितिक्षाम्**—सहनशीलता; **च**—तथा; **मौनम्**—चुप्पी, मौन; **स्वाध्यायम्**—वेदाध्ययन; **आर्जवम्**—सादगी; **ब्रह्मचर्यम्**—ब्रह्मचर्य-व्रत; **अहिंसाम्**—अहिंसा; **च**—तथा; **समत्वम्**—समता; **द्वन्द्व-संज्ञयोः**—द्वैत के रूप में अनुभव की जाने वाली परिस्थितियों में।.

गुरु की सेवा करने के लिए शिष्य को स्वच्छता, तपस्या, सहनशीलता, मौन, वेदाध्ययन, सादगी, ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा गर्मी और शीत, सुख और दुख जैसे द्वैतों के समक्ष समत्व सीखना चाहिए।

तात्पर्य : *शौचम्* आन्तरिक तथा बाह्य शुद्धता का द्योतक है। बाहर से शुद्ध रहने के लिए दिन में कम से कम एक बार, अन्यथा तीन बार साबुन लगाकर पानी से स्नान करना चाहिए। जब मिथ्या अहंकार के दूषण से कोई मुक्त होता है, तो वह आन्तरिक रूप से शुद्ध माना जाता है। *तपः* का अर्थ है मन की अविवेकी तरंगों के बावजूद जीवन में उचित कर्तव्य को पूरा करने में डटे रहना। विशेषतः मनुष्य को क्रोधाग्नि पर नियंत्रण रखना चाहिए और मनमाने विलासी जीवन की आन्तरिक इच्छा से बचना चाहिए। यदि मनुष्य काम, क्रोध तथा लोभ के वेगों को रोक नहीं पाता, तो वह अपनी वास्तविक स्थिति को समझने की शक्ति खो देता है। यह मनुष्य-जीवन जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि

की विकट समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने के लिए स्वर्णिम अवसर है। *विष्णु पुराण* के अनुसार (३.८.९)—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।

विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम्॥

हर व्यक्ति अपने नियत कार्य के फलों को भगवान् विष्णु को समर्पित करके आध्यात्मिक सिद्धि पा सकता है। इसी तरह *भगवद्गीता* (१८.४५) में भगवान् कृष्ण स्पष्टरूपेण कहते हैं—*स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।* मनुष्य को न तो मठ में रहना होता है न ही योगी के रूप में जंगल में रहना होता है। वह अपने वृत्तिपरक कर्तव्यों को भगवान् को समर्पित करके सिद्धि पा सकता है। इसी प्रकार भक्तिविनोद ठाकुर ने कहा है *नामाश्रय करिऽयतने तुमि थकह आपन काजे।* यदि कोई व्यक्ति हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम हरे हरे कीर्तन करके भगवान् कृष्ण के नाम की शरण ग्रहण करता है, तो उसे अपने नैत्यिक कर्म करते हुए आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त हो जायेगी। दुर्भाग्यवश यदि मानव उस सभ्य जीवन के विधि-विधानों की परवाह नहीं करता, जो अवैध यौन, मांसाहार, नशा तथा जुआ खेलने का निषेध करते हैं, तो वह निश्चय ही काम तथा क्रोध की तरंगों से अभिभूत होगा। ये तरंगें मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन की चेतना को पूर्ण रूप से प्रच्छन्न करके नश्वर शरीर के मायाजाल की ओर खींच लायेंगी। *भगवद्गीता* (३.३९) में भगवान् कृष्ण ने कहा है—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।

कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥

"इस प्रकार जीवात्मा की शुद्ध चेतना, उसके काम-रूपी नित्य शत्रु से ढकी रहती है, जो कभी भी तुष्ट नहीं होता और अग्नि के समान जलता रहता है।" इसलिए इस श्लोक का *तपः* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य को अपना नियत कर्म करते रहना चाहिए और काम, क्रोध तथा लोभ की लहरों के कारण अधीर या अनियमित नहीं होना चाहिए।

तितिक्षाम् शब्द सूचित करता है कि अध्यात्मवादी को क्षमाशील होना चाहिए। यह भौतिक जगत झुँझलाहट लाने वाली तथा उत्तेजित करने वाली परिस्थितियों से पूर्ण है और जब तक वह अत्यधिक

क्षमाशील नहीं होगा, तब तक वह बदला लेने की भावना से संदूषित होता रहेगा, जिससे आध्यात्मिक चेतना नष्ट हो जायेगी। *मौनम्* का अर्थ है कि मनुष्य व्यर्थ या ओछे विषयों पर बात नहीं चलाये, अपितु मानव-जीवन के वास्तविक मामलों पर जैसे कि भगवद्धाम वापस जाने के मसले पर विचार-विमर्श करे। एकदम मौन रहना अज्ञानता का लक्षण है। एक पत्थर मौन रहता है, क्योंकि उसमें चेतना का अभाव है। चूँकि हर वस्तु का अपना आध्यात्मिक प्रतिपक्ष होता है, इसलिए वैदिक शास्त्रों में निषेधात्मक तथा सकारात्मक आदेश पाये जाते हैं। वाणी के विरुद्ध निषेधात्मक आदेश का संगत आदेश होगा कि मनुष्य सदैव कृष्ण के विषय में बातें करे। *सततं कीर्तयन्तो माम्।* मनुष्य को चाहिए कि वह सदैव ईश्वर के विषय में बातें करे, उनके पवित्र नाम, यश, लीला, परिकर इत्यादि के गुणों का गान करे। *श्रीमद्भागवत* में भी कहा गया है कि *श्रोतव्य: कीर्तितव्यश्च ध्येय: पूज्यश्च नित्यदा।* मनुष्य को चाहिए कि भगवान् कृष्ण के बारे में श्रवण करे, उनका गुणगान करे, ध्यान करे और पूजा करे। इस अध्याय के श्लोक २१ में कहा गया है कि *शब्दे परे च निष्णातम्।* प्रामाणिक गुरु *शब्दे परे* अर्थात् आध्यात्मिक जगत का वर्णन करने वाली दिव्य ध्वनि तरंगों में निपुण होता है। कोई व्यक्ति कृत्रिम रूप से विचारशून्य या वाणीशून्य नहीं रह सकता, जैसाकि ध्यान और योग की मनगढंत प्रणालियों के मूर्ख प्रचारक कहते हैं। किन्तु मनुष्य को कृष्ण की प्रेमाभक्ति में इतना लीन रहना चाहिए और कृष्ण की प्रशंसा करने के प्रति इतना आकृष्ट रहना चाहिए कि उसे व्यर्थ की बातें करने के लिए एक क्षण की भी फुर्सत न मिले। *मौनम्* शब्द का यही तात्पर्य है।

स्वाध्यायम् का अर्थ है कि मनुष्य अपनी क्षमता के अनुसार वैदिक साहित्य का अध्ययन करे और अन्यों को भी शिक्षा दे। *भगवद्गीता* में उल्लेख हुआ है कि ब्राह्मण में ज्ञान तथा विज्ञान के गुण होने चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि वह ऐसे ग्रंथ पढ़े, जो भगवान् की सेवा करने की उसकी इच्छा को बढ़ाने वाले हों। श्रीमद् भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद ने कुछ ही वर्षों में दिव्य ज्ञान का सच्चा पुस्तकालय लिख कर तैयार कर दिया है। यह लगभग विश्व-भर में देखा जा रहा है कि जब इन पुस्तकों में जैसे *श्रीमद्भागवतम्*, *भगवद्गीता* (यथार्थ रूप), *चैतन्य-चरितामृत* और *भक्तिरसामृतसिंधु* में *स्वाध्यायम्* सिद्धान्त लागू किया जाता है, तो निष्ठावान् पाठक में भगवान् की सेवा करने का भावमय संकल्प उदित होता है। सारे विश्व में इस्कॉन का विस्तार इसी दिव्य साहित्य के कारण हो रहा है। *स्वाध्यायम्* न तो

धार्मिक शास्त्रों का काल्पनिक विवेचन है, न ही तथाकथित पण्डित की मिथ्या प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए किसी को अनेक पुस्तकें पढ़ने का प्रयास करना चाहिए। मनुष्य को वे पुस्तकें पढ़नी चाहिए, जो ज्ञान तथा वैराग्य के विषय में व्यावहारिक आध्यात्मिक प्रगति की प्रेरणा दे सकें, जिस प्रकार कि श्रील प्रभुपाद की पुस्तकें देती हैं।

आर्जवम् शब्द सादगी या सरलता का सूचक है। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *स्वच्छताम्* इसका पर्याय है। जब तक मनुष्य की चेतना शुद्ध नहीं होगी, तब तक वह अनेक कुटिल साधनों को ग्रहण करेगा। आर्जवम् का अर्थ यह नहीं है कि ईमानदारी के नाम पर अन्यों का अपमान किया जाय, अपितु यह कि विनयपूर्ण सत्य कहा जाय। *ब्रह्मचर्यम्* शब्द सूचित करता है कि या तो स्त्री-संग का पूरी तरह परित्याग किया जाय या गृहस्थ जीवन का वैदिक नियमों के अनुसार कठोरता से पालन किया जाय। गृहस्थ जीवन साधु-सन्तान उत्पन्न करने के उद्देश्य से यौन जीवन को नियमित करने वाला है। *अहिंसाम्* यह सूचित करता है कि किसी जीव के प्रति हिंसा न की जाय। कर्म के नियमों से, जिनके अनुसार मनुष्य सुख-दुख भोगता है, अवगत हुए बिना मनुष्य ठीक से अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। अन्ततः भौतिक जगत में हिंसा का बोलबाला है और हर प्राणी पर बुढ़ापा, रोग तथा मृत्यु थोपने वाले प्रकृति के नियम स्वयं हिंसा से पूर्ण हैं। इसलिए यदि अन्यों को कृष्ण की शरण लेने और इस तरह उन्हें प्रकृति के कठोर नियमों से छूटने के प्रति आश्वस्त किया जा सके, तो यह अहिंसा की पूर्णता होगी।

समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः यह बतलाते हैं कि विचलित करने वाले भौतिक द्वन्द्वों के उपस्थित होने पर भी शान्तचित्त रहा जाय। *भगवद्गीता* में (२.१४) कृष्ण कहते हैं—

मात्रास्पर्शस्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

"हे कुन्ती-पुत्र! सुख तथा दुख का क्षणिक उदय तथा कालक्रम में उनका अन्तर्धान होना सर्दी तथा गर्मी की ऋतुओं के आने-जाने के समान है। हे भरतवंशी! वे इन्द्रिय-बोध से उत्पन्न होते हैं और मनुष्य को चाहिए कि अविचल भाव से उनको सहन करना सीखे।"

सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम् ।
विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सर्वत्र—सभी जगह; आत्म—अपनी आत्मा के लिए; ईश्वर—तथा भगवान् के लिए; अन्वीक्षाम्—सतत दृष्टि में रखते हुए ध्यान; कैवल्यम्—मोक्ष; अनिकेतताम्—जिसका कोई स्थायी घर न हो; विविक्त-चीर—चीथड़े; वसनम्—पहने हुए; सन्तोषम्—सन्तोष; येन केनचित्—किसी भी वस्तु से।

मनुष्य को चाहिए कि अपने को नित्य आत्मा के रूप में और भगवान् को हर वस्तु का परम नियन्ता देखते हुए ध्यान करे। ध्यान में वृद्धि लाने के लिए वह एकान्त स्थान में रहे और अपने घर तथा घर की सामग्री के प्रति झूठी आसक्ति को त्याग दे। नश्वर शरीर के अलंकरण को त्याग कर, मनुष्य अपने को चीथड़ों से या वृक्षों की छाल से ढके। इस तरह, उसे किसी भी भौतिक परिस्थिति में सन्तुष्ट रहना सीखना चाहिए।

तात्पर्य : *कैवल्यम्* का अर्थ है, एकान्तवास अर्थात् भौतिक उत्पातों से मुक्त स्थान। इसलिए मनुष्य को वैष्णवों की संगति में रहना चाहिए, जहाँ सबका लक्ष्य कृष्णभावनामृत में प्रगति करना रहता है। कलियुग में यदि अन्यों से शारीरिक रूप से विलग रहने का प्रयास किया जाता है, तो उसका परिणाम पतन या पागलपन होता है। *अनिकेतताम्* का अर्थ है कि मनुष्य को "अपनी प्रिय जन्मभूमि" की क्षणभंगुर तुष्टि से पगलाना नहीं चाहिए, क्योंकि यह किसी भी क्षण पूर्वकर्मों से उत्पन्न अदृश्य कारणों से लुप्त हो सकती है। इस युग में आधुनिक शहरों में, न तो वृक्ष की छाल पहनना सम्भव है, न ही चीथड़ा पहनना। पहले मानव संस्कृति आध्यात्मिक प्रगति के लिए तपस्या करने वालों को अपने में खपा लेती थी। किन्तु इस युग में सबसे बड़ी आवश्यकता है कि पूरे मानव समाज में *भगवद्गीता* के सन्देश का प्रचार किया जाय। इसीलिए यह संस्तुति की जाती है कि वैष्णवजन शरीर को सुचारु ढंग से ढकने वाले स्वच्छ वस्त्र धारण करें, जिससे बद्धजीव न तो वैष्णवों की उग्र तपस्या से भयभीत हों, न विकर्षित हों। कलियुग में बद्धजीव इन्द्रिय-तृप्ति में अत्यधिक रत रहते हैं और कठोर तपस्या का सम्मान नहीं करते, प्रत्युत शरीर का घृणाजनक निषेधकर्ता माने जाते हैं। वस्तुत: आध्यात्मिक उन्नति के लिए तपस्या आवश्यक है, किन्तु कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सफल प्रचार के लिए श्रील प्रभुपाद ने जो आदर्श स्थापित किया, वह यह था कि सारी भौतिक वस्तुओं का उपयोग लोगों को कृष्णभावनामृत की ओर आकृष्ट करने के लिए किया जाय। इसलिए वैष्णवजन समय समय पर कृष्णभावनामृत के वितरण सम्बन्धी उच्च आदर्श का पालन करने हेतु सामान्य वस्त्र भी धारण कर सकते हैं। मनुष्य को

प्रत्येक दशा में किसी भी भौतिक परिस्थिति से तुष्ट रहना सीखना चाहिए, जिससे मृत्यु की तैयारी हो सके। *भगवद्गीता* के अनुसार मृत्यु के समय इस जीवन में हम, जो भी चेतना उत्पन्न कर लेते हैं, वह हमें हमारी भावी स्थिति तक ले जाती है। इसलिए मनुष्य-जीवन एक प्रकार का अभ्यास है, जिसमें मनुष्य मृत्यु के समय कठिन परीक्षा के समय परम सत्य में अपने मन को सफलतापूर्वक टिका सके।

श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि ।
मनोवाक्कर्मदण्डं च सत्यं शमदमावपि ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्रद्धाम्—श्रद्धा; भागवते—भगवान् से सम्बद्ध; शास्त्रे—शास्त्र में; अनिन्दाम्—निन्दा न करना; अन्यत्र—दूसरे लोग; च—भी; अपि हि—निस्सन्देह; मनः—मन का; वाक्—वाणी; कर्म—तथा मनुष्य के कर्म; दण्डम्—कठोर नियंत्रण; च—तथा; सत्यम्—सच्चाई; शम—मन पर आत्म-नियंत्रण; दमौ—तथा बाह्य इन्द्रियों का; अपि—भी।.

मनुष्य को यह अटूट श्रद्धा होनी चाहिए कि उन शास्त्रों का अनुसरण करने से उसे जीवन में पूर्ण सफलता मिलेगी, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के यश का वर्णन करते हैं। इसी के साथ उसे अन्य शास्त्रों की निन्दा करने से अपने को बचाना चाहिए। उसे अपने मन, वाणी तथा शारीरिक कर्मों पर कठोर नियंत्रण रखना चाहिए, सदैव सच बोलना चाहिए और मन तथा इन्द्रियों को पूरी तरह वश में रखना चाहिए।

तात्पर्य : *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य २२.६२) में *श्रद्धा* की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

'श्रद्धा'-शब्दे—विश्वास कहे सुदृढ निश्चय।
कृष्णे भक्ति कैले सर्व-कर्म कृत हय॥

"कृष्ण की प्रेमाभक्ति करने पर मनुष्य समस्त गौण कर्मों को अपने आप कर लेता है। भक्ति सम्पन्न करने के लिए अनुकूल दृढ़ विश्वास ही *श्रद्धा* कहलाती है।" इस तरह भक्त को आश्वस्त रहना चाहिए कि *भागवत शास्त्र* के आदेशों का जो सीधे तौर पर भगवद्भक्ति का वर्णन करते हैं, पालन करते हुए वह समस्त ज्ञान तथा जीवन-सिद्धि आसानी से प्राप्त कर सकता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *मनोवाक्कायदण्डम्* का अर्थ है *मनसा-वाचिक-कायिक-विकर्म-राहित्यम्*—मन, वाणी तथा शरीर के सारे पापपूर्ण कार्यों का परित्याग। जैसाकि श्रील प्रभुपाद ने बारम्बार सुझाया है, इन्द्रिय-संयम का अर्थ इन्द्रियों के कार्यों को बन्द करके शव बनना नहीं

है, अपितु अपने मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक कार्यों को कृष्ण की सेवा में लगाना है। श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

''अपने शरीर, मन, बुद्धि तथा वाणी से कृष्ण की सेवा में कर्म करते हुए मनुष्य इस जगत में भी मुक्त पुरुष है, भले ही वह अनेक भौतिक कार्यों में क्यों न लगा हो।'' (भक्तिरसामृतसिन्धु १.२.१८७) इस तरह मनुष्य *विकर्मराहित्यम्* को प्राप्त होता है अर्थात् चौबीसों घण्टे कृष्ण की सेवा में अपनी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा वाणी लगाने से मनुष्य अवैध पापपूर्ण कार्यों से छुटकारा पा सकता है। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि केवल वे पुण्यात्मा जो *विकर्मरहित* हैं, अर्थात् पापमय जीवन से पूर्णतया मुक्त हैं, इस भौतिक प्रकृति के मोहमय द्वैत से छुटकारा पा सकते हैं (*समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः*)। भगवान् कहते हैं—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

''जिन मनुष्यों ने पूर्वजन्मों में तथा इस जन्म में पुण्यकर्म किये हैं और जिनके पापकर्मों का पूर्णतया उन्मूलन हो चुका होता है और जो मोह के द्वन्द्वों से मुक्त हो जाते हैं, संकल्पपूर्वक मेरी सेवा में तत्पर होते हैं।'' (भगवद्गीता ७.२८) इस श्लोक के तात्पर्य में श्रील प्रभुपाद ने कहा है, ''इस श्लोक में उन लोगों का उल्लेख है, जो दिव्य-पद प्राप्त करने के अधिकारी हैं। जो पापी, नास्तिक, मूर्ख तथा कपटी हैं, उनके लिए इच्छा तथा घृणा के द्वन्द्व को पार कर पाना कठिन है। केवल ऐसे पुरुष भक्ति स्वीकार करके क्रमशः भगवान् के शुद्ध ज्ञान को प्राप्त करते हैं, जिन्होंने धर्म के विधि-विधानों का अभ्यास करने में अपना जीवन लगाया है और पुण्यकर्म किए हैं और पापकर्मों को जीता है। फिर वे क्रमशः भगवान् का ध्यान समाधि में कर सकते हैं। आध्यात्मिक पद पर आसीन होने की यही विधि है। ऐसी पद-प्राप्ति शुद्ध भक्तों की संगति में कृष्णभावनामृत के अन्तर्गत ही सम्भव है, क्योंकि महान् भक्तों की संगति से ही मनुष्य मोह से उबर सकता है।''

श्रील मध्वाचार्य ने *ब्रह्माण्ड पुराण* से यह कथन उद्धृत किया है कि ''मनुष्य को दिव्य ग्रंथों में, जैसे कि *श्रीमद्भागवत* तथा भगवान् की महिमा से सम्बन्धित अन्य साहित्य में पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए। उसे वैष्णव तंत्रों, मूल वेदों तथा पंचम वेद माने जाने वाले ग्रंथ *महाभारत* में जिसका *भगवद्गीता* एक भाग है, विश्वास होना चाहिए। वैदिक ज्ञान मूलतः विष्णु की श्वास से उत्पन्न हुआ और विष्णु के अवतार श्रील व्यासदेव द्वारा वैदिक साहित्य का संकलन साहित्य-रूप में किया गया। इसलिए भगवान् विष्णु को समस्त वैदिक साहित्य का वक्ता मानना चाहिए।

अन्य वैदिक ग्रन्थ *कला विद्या* कहलाते हैं, जिनमें भौतिक कलाओं तथा विज्ञानों के विषय में शिक्षाएँ हैं। चूँकि इन समस्त वैदिक कलाओं तथा विज्ञानों का चरम उद्देश्य भगवान् केशव की भक्ति में उनको प्रयुक्त करना है, इसलिए सन्यासियों को ऐसे संसारी साहित्य की कभी निन्दा नहीं करनी चाहिए। चूँकि इन ग्रंथों का अप्रत्यक्ष सम्बन्ध भगवान् से रहता है, इसलिए इनकी निन्दा करने से नरक जाना पड़ सकता है।

''*श्रद्धा* सूचक है श्रद्धामयी मनोवृत्ति की, जिसे दो प्रकार से विश्लेषित किया जा सकता है। प्रथम प्रकार की श्रद्धा वह दृढ़ संकल्प है कि विविध वैदिक ग्रंथों के सभी कथन सत्य हैं। दूसरे शब्दों में, यह समझना है कि वैदिक ज्ञान अच्युत है, *श्रद्धा* है। दूसरे प्रकार की श्रद्धा यह विश्वास है कि कोई मनुष्य अपना जीवन-लक्ष्य प्राप्त करने के लिए किसी विशेष वैदिक आदेश को स्वयं पूरा करे। इस प्रकार भगवद्भक्त को चाहिए कि विविध *कला-विद्याओं* के प्रति प्रथम प्रकार की श्रद्धा का प्रयोग करे, किन्तु ऐसे शास्त्रों को अपने निजी जीवन-लक्ष्य का निर्देशक न माने। न ही वह किसी ऐसे वैदिक आदेश का पालन करे, जो *पञ्चरात्र* जैसे वैष्णव शास्त्रों के आदेशों के विरुद्ध हो।

''इस तरह मनुष्य को चाहिए कि भगवान् का वर्णन करने वाले समस्त वैदिक साहित्य को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करे और उसके किसी भी अंश की निन्दा न करे। किसी भी वैदिक साहित्य की निन्दा से ब्रह्मा से लेकर वृक्ष एवं पत्थर की जड़ योनियों तक के हर प्राणी को अज्ञान के अंधकार में गिर जाना होता है। इस तरह *सुरों* अर्थात् देवताओं या कि महर्षियों तथा भगवद्भक्तों को समझना चाहिए कि पञ्चरात्रिक ग्रंथ, चारों *वेद,* मूल *रामायण, श्रीमद्भागवत* तथा अन्य पुराण एवं *महाभारत*—ये सभी वैदिक साहित्य हैं, जो भगवान् की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध करते हैं और भगवद्भक्तों की आध्यात्मिक

प्रगति के अनुसार उनके अद्वितीय दिव्य पद को बतलाने वाले हैं। वैदिक साहित्य के प्रति अन्य कोई दृष्टिकोण मोह माना जायेगा। किसी भी धार्मिक शास्त्र का चरम लक्ष्य यह समझना है कि भगवान् हर एक के नियन्ता हैं और भगवद्भक्त उनसे भिन्न नहीं है यद्यपि ऐसे भगवद्भक्तों को उनकी आध्यात्मिक प्रगति के स्तर के अनुसार मानना चाहिए।''

भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में कहा है कि *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो। वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्*—समस्त वेदों से मुझे ही जानना चाहिए, मैं वेदान्त का रचयिता हूँ और वेदों का ज्ञाता हूँ। इसी प्रकार वे कहते हैं (भगवद्गीता १५.१८)—

यस्मात् क्षरमातीतोऽहम् अक्षरादपिचोत्तमः।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

''चूँकि मैं क्षर तथा अक्षर दोनों से परे हूँ और चूँकि मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ, अतएव मैं इस जगत में तथा वेदों में परम पुरुष के रूप में विख्यात हूँ।''

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते हैं कि प्रामाणिक वैष्णव गुरु के चरणकमलों की शरण ग्रहण किये बिना पिछले श्लोकों में वर्णित दैवी गुणों को उत्पन्न कर पाना कठिन है। *तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्*। इस सन्दर्भ में उन्होंने निम्नलिखित वक्तव्य उद्धृत किया है—

अर्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान् नार्चयेत् तु यः।

न स भागवतो ज्ञेयः केवलं दाम्भिकः स्मृतः॥

''जो व्यक्ति भगवान् गोविन्द की पूजा करता है, किन्तु उनके भक्तों की पूजा नहीं करता, उसे भगवद्भक्त नहीं, अपितु मिथ्या अहंकार से ग्रस्त समझना चाहिए।'' जिसने कृष्ण के शुद्ध भक्त के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली है, उसके लिए भगवान् की पूजा करना बहुत सरल हो जाता है।

ऐसे शरणागत के लिए कृत्रिम तपस्या की कोई आवश्यकता नहीं है। इस सन्दर्भ में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने *नारद पञ्चरात्र* से निम्नलिखित वचन उद्धृत किया है—

आराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किं

नाराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम्।

अन्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किं

नान्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम्॥

"यदि कोई भगवान् हरि की पूजा करता है, तो फिर बाह्य तपस्या करने से क्या लाभ? और यदि कोई भगवान् हरि को नहीं पूजता तो ऐसी तपस्या उसे बचा नहीं सकती। यदि कोई यह समझ लेता है कि हरि अन्दर तथा बाहर सर्वव्यापक हैं, तो फिर तपस्या करने की आवश्यकता क्या है? और यदि कोई यह नहीं समझ सकता कि हरि सर्वव्यापक हैं, तो उसकी सारी तपस्या व्यर्थ है।" एक वैष्णव कृष्ण की भक्ति करने में सदैव संलग्न रहता है। यदि किसी भक्त को अपनी तपस्या का मिथ्या गर्व हो जाता है और यदि वह कृष्ण की सेवा न करके भौतिक वस्तुओं को स्वीकार तथा अस्वीकार करने में मन लगाता है, तो उसकी तथाकथित तपस्या भक्ति के मार्ग में अवरोध बन जाती है।

भक्त को उन लोगों के वाग्जाल से विचलित नहीं होना चाहिए जो भगवद्भक्ति के विरुद्ध रहते हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने दो-टूक शब्दों में कहा है कि जीवन की अन्तिम सिद्धि पाने का एकमात्र साधन भगवान् के चरणकमलों की भक्ति है। इसलिए वैष्णव को *मौनम्* का अभ्यास करना चाहिए और उसे मायावादी साहित्य जो मिथ्या तर्कों से भरा पड़ा है तथा कर्मकाण्ड साहित्य जिनसे धार्मिक जीवन के नाम पर इन्द्रिय-तृप्ति को बढ़ावा मिलता है, इनकी उपेक्षा कर देनी चाहिए। यदि आत्म-साक्षात्कार में तुरन्त सफलता न मिलने से कोई व्यक्ति दुखी रहता है अथवा यदि कोई इन्द्रिय-तृप्ति से मोहग्रस्त हो जाता है और भौतिकतावादी पुरुषों तथा सिद्धान्तों की शरण में जाने का प्रयास करता है, तो उसकी भक्ति की प्रगति तुरन्त रुक जायेगी। इसी तरह यदि कोई भक्त कृष्ण से भिन्न वस्तुओं के प्रति प्रेमव्यक्त करता है या भक्ति की विधि अथवा *भगवद्गीता* के दर्शन में त्रुटियाँ निकालता है, जिससे वह कृष्ण से पृथक् वस्तुओं को देख कर इन्द्रियतृप्ति में लीन होने को उचित सिद्ध कर सके, तो आध्यात्मिक प्रकाश मिलने में उसे कठिनाई होगी। ऐसी मोहमयी विचारधारा *द्वितीयाभिनिवेश* अर्थात् मोह में तल्लीनता कहलाती है। इसके विपरीत, यदि कोई व्यक्ति वैष्णव परम्परा से स्वीकृत वैदिक ध्वनि के प्रति आकृष्ट होता है और *कृष्ण-नाम-कीर्तन* में उत्साहपूर्वक लग जाता है, तो उसका मौन अभ्यास पूर्ण है।

प्रजल्प अर्थात् भक्ति से सम्बन्ध न रखने वाली व्यर्थ की मनमानी बातों से बचना चाहिए। भगवान् की महिमा के कीर्तन तथा गायन के बिना दिखावटी रूप में इन्द्रिय-संयम रखना आध्यात्मिक सिद्धि

नहीं माना जा सकता। यहाँ पर यह उदाहरण दिया जा सकता है कि गोशाला के बहुत-से पालतू पशुओं को एक-दूसरे से विलग करके उन्हें ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कराया जाता है, किन्तु ऐसे पशुओं को ब्रह्मचारी नहीं कहा जा सकता। इसी तरह केवल शुष्क मनमाने तर्कों तथा क्षणिक तपस्या के आधार पर किसी को आध्यात्मिक रूप से बढ़ा-चढ़ा नहीं माना जा सकता। उसे विनीत भाव से वैदिक ध्वनि के सन्देश को, जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* में सार रूप में दिया है, सुनना चाहिए। *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।*

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने हमें आगाह किया है कि यदि व्यक्ति बौद्धों तथा जैनों के नास्तिक दर्शनों के प्रति आकृष्ट हो जाता है, जिनमें अहिंसा जैसे संसारी सिद्धान्त का गुणगान हुआ है, तो ईश्वरविहीन नीति-शास्त्र में उसकी श्रद्धा आत्मघाती है। कृत्रिम तपस्या द्वारा इन्द्रियों को वश में करना और सामूहिक इन्द्रिय-तृप्ति के लिए विशाल सामाजिक आयोजन करना, दोनों ही मानव-समाज को कृत्रिम रूप से नियमित करने का ईश्वरविहीन प्रयास है, जिससे समाज के प्राकृतिक नेता भगवान् के साथ हर व्यक्ति का नित्य सम्बन्ध छिप जाता है। जब तथाकथित नैतिक दार्शनिक मानव-जीवन के कृष्ण के साथ शाश्वत सम्बन्ध को पुनर्जीवित करने के अवसर को नष्ट कर देते हैं, तो ऐसे मूर्ख व्यक्ति नीति के नाम पर मानव समाज पर सबसे बड़ी हिंसा करते हैं। इसीलिए कृष्णदास कविराज गोस्वामी ने कहा है—

श्रीकृष्णचैतन्य-दया करह विचार।
विचार करिले चित्ते पाबे चमत्कार॥

"यदि आप सचमुच ही तर्क-शास्त्र में रुचि रखते हैं, तो उनका उपयोग श्री चैतन्य महाप्रभु की दया में कीजिए। यदि आप ऐसा करेंगे, तो आप देखेंगे कि ऐसी दया अतीव अद्भुत है।" (चैतन्य चरितामृत, आदि ८.१५)

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार *महाभागवत* वह है, जो केवल इतना ही नहीं देखता कि भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत दोनों ही भगवान् कृष्ण के अंश होने के कारण उनसे अभिन्न हैं, अपितु जो यह भी देखता है कि व्रजेन्द्र-नन्दन कृष्ण अपने सर्व-आकर्षण के अद्वितीय गुण के कारण अपने को सदैव पृथक् रखते हैं। इस तरह भगवान् का शुद्ध भक्त *अनिकेतन*—अर्थात् स्थायी

आवास से विहीन होता है, जिसका भाव यह है कि वह न तो स्थूल शरीर को, न ही सूक्ष्म शरीर को अपना नित्य आवास मानता है। चूँकि मनुष्य का तथाकथित घर तथा परिवार उसके शरीर के ही अंश होते हैं, इसलिए ऐसी भौतिक सृष्टियों को भी किसी का वास्तविक आवास नहीं माना जाना चाहिए। चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

अयि नन्दतनुज किंकरं पतितं माम् विषमे भवाम्बुधौ।

कृपया तव पादपंकजस्थितधूलिसदृशं विचिन्तय॥

"हे महाराज नन्द के पुत्र, कृष्ण! मैं आपका नित्य सेवक हूँ फिर भी मैं जन्म तथा मृत्यु के सागर में गिर गया हूँ। कृपया मुझे इस मृत्यु-सागर से उठा लें और अपने चरणकमलों में धूलिकण के रूप में स्थान दे दें।" (शिक्षाष्टक ५) इस तरह भक्त को समझना चाहिए कि उसका नित्य आवास भगवान् के चरणकमलों की धूलि में स्थित है। वैष्णव को सतोगुण के जंगल, रजोगुण के शहर या तमोगुण के जुआ-घर में रहने की स्थूल इन्द्रिय-तृप्ति को ठुकरा देना चाहिए। शुद्ध भक्त पूरे संसार में कृष्णभावनामृत का वितरण करते हुए यात्रा कर सकता है, किन्तु उसे किसी भौतिक स्थान को अपना वास्तविक आवास नहीं समझना चाहिए। जो इस ज्ञान में परिपक्व हो चुका हो, उसे भगवान् की शरण में *त्रिदण्डसंन्यास* धारण कर लेना चाहिए।

निर्विशेषवादी यह नहीं समझ सकता कि भगवद्भक्त किस तरह समस्त जगत को भगवान् से अभिन्न देखता है, जबकि वह स्वयं को भगवान् से नित्य भिन्न देखने की द्वैत-भावना में स्थिर है। जो लोग निर्विशेष चिन्तन द्वारा भौतिक विराट जगत के अपने तुच्छ अनुभव पर आधारित ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, वे *अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्व* की दिव्य वास्तविकता को नहीं समझ सकते। इस दिव्य ज्ञान को आत्मसात् करने की विधि *तस्माद् गुरुं प्रपद्येत* से प्रारम्भ होने वाले श्लोकों में दी गई है। मनुष्य के लिए यह संस्तुति की गई है कि वह प्रामाणिक गुरु बनाकर इन श्लोकों में दिये हुए निर्देशों के अनुसार उसकी सेवा करे। ऐसे आदेशों का सार यह है कि मनुष्य मायावादियों, सकाम कर्मियों तथा जीवन के चरम लक्ष्य के प्रति उदास रहने वालों का संग त्याग दे और भगवान् के भक्तों की संगति करे। मिथ्या गर्वित नवदीक्षित भक्त भगवान् के अनुयायियों की संगति न करने से अपने आपको

भगवान् का बहुत बड़ा भक्त मान सकता है, किन्तु ऐसी संगति के बिना कृष्णभावनामृत में प्रगति कर पाना सम्भव नहीं है।

श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः ।
जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ॥ २७॥
इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम् ।
दारान्सुतान्गृहान्प्राणान्यत्परस्मै निवेदनम् ॥ २८॥

शब्दार्थ

श्रवणम्—सुनना; कीर्तनम्—कीर्तन करना; ध्यानम्—तथा ध्यान करना; हरेः—भगवान् हरि के; अद्भुत-कर्मणः—जिनके कार्यकलाप अद्भुत हैं; जन्म—उसके अवतारों; कर्म—लीलाओं; गुणानाम्—गुणों के; च—तथा; तत्-अर्थे—उसके निमित्त; अखिल—समस्त; चेष्टितम्—प्रयास; इष्टम्—जो भी पूजा की जाती है; दत्तम्—जो भी दान; तपः—तपस्या; जप्तम्—जो भी मंत्र जपता है; वृत्तम्—पुण्यकर्म; यत्—जो; च—भी; आत्मनः—अपने लिए; प्रियम्—प्रिय; दारान्—पत्नी; सुतान्—पुत्रों; गृहान्—घर; प्राणान्—प्राण; यत्—जो; परस्मै—ब्रह्म को; निवेदनम्—भेंट।

मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के अद्भुत दिव्य कार्यकलापों के विषय में सुने, उनका गुणगान करे और ध्यान करे। उसे विशेष रूप से भगवान् के प्राकट्यों, कार्यकलापों, गुणों तथा पवित्र नामों में लीन रहना चाहिए। इस प्रकार प्रेरित होकर उसे अपने नैत्यिक समस्त कार्य भगवान् को अर्पित करते हुए सम्पन्न करने चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि केवल भगवान् की तुष्टि के लिए ही यज्ञ, दान तथा तप करे। इसी तरह वह केवल उन्हीं मंत्रों का उच्चारण करे, जो भगवान् की महिमा का गायन करते हों। उसके सारे धार्मिक कृत्य भगवान् की भेंट के रूप में सम्पन्न हों। उसे जो भी वस्तु अच्छी या भोग्य लगे, उसे वह तुरन्त भगवान् को अर्पित कर दे। यहाँ तक कि वह अपनी पत्नी, बच्चे, घर तथा अपने प्राण भी भगवान् के चरणकमलों पर अर्पित कर दे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२७) में भगवान् कृष्ण ने आदेश दिया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

"हे कुन्ती-पुत्र! तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ अर्पित करते हो या दान देते हो और जो भी तपस्या करते हो, उसे मुझे भेंट स्वरूप दो।" श्रील प्रभुपाद ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है, "इस प्रकार यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि अपने जीवन को इस प्रकार ढाले कि

वह किसी भी दशा में कृष्ण को भूल न पाये। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन-निर्वाह के लिए कर्म करना पड़ता है और कृष्ण यहाँ यह आदेश देते हैं कि हर व्यक्ति उनके लिए ही कर्म करे। प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने के लिए कुछ न कुछ खाना पड़ता है। अत: उसे चाहिए कि वह कृष्ण को अर्पित भोजन का उच्छिष्ट ग्रहण करे। किसी भी सभ्य व्यक्ति को कुछ न कुछ धार्मिक अनुष्ठान करने होते हैं, अत: कृष्ण की संस्तुति है, ''इसे मेरे हेतु करे, यही अर्चन है।'' प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ दान देता है, अत: कृष्ण कहते हैं, ''यह मुझे दो,'' जिसका अर्थ है कि फालतू बचे हुए धन का उपयोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन की उन्नति के लिए करो। आजकल लोग ध्यान-विधि के प्रति विशेष रुचि दिखाते हैं, यद्यपि इस युग के लिए यह व्यावहारिक नहीं है, किन्तु यदि कोई चौबीसों घण्टे हरे कृष्ण का जाप अपनी माला में करे, तो वह निश्चित रूप से महानतम योगी है, जिसकी पुष्टि भगवद्गीता के छठे अध्याय में की गई है।''

अनेक व्यक्ति, जो कृष्ण-भक्ति की ओर आकृष्ट होते हैं, वे अपने पूर्वकर्मों द्वारा संचित भौतिक सम्पत्ति, यश या निपुणता द्वारा मोहग्रस्त होते रहते हैं। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार ये दोनों श्लोक यह सूचित करते हैं कि पूर्वकर्म द्वारा किसी के संचित भौतिक ऐश्वर्य का उपयोग भगवान् को भेंटरूप में होना चाहिए। अपनी कीर्ति, शिक्षा, सम्पत्ति इत्यादि का उपयोग भगवान् के मिशन को पूरा करने में करना चाहिए। कभी कभी ईर्ष्यालु भौतिकतावादी यह प्रश्न करते हैं कि कोई अपनी सम्पत्ति तथा शिक्षा को भगवान् की सेवा में लगाकर क्यों व्यर्थ जाने दे, जबकि इनका उपयोग नश्वर शरीर की तुष्टि के हेतु इससे अच्छे ढंग से किया जा सकता है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि हमारे पास इस शरीर सहित जो कुछ भी है, वह अन्ततोगत्वा भगवान् की सम्पत्ति है, जो कि समस्त ब्रह्माण्ड का स्रष्टा, पालक तथा संहर्ता है। इसलिए अपने तथाकथित ऐश्वर्य को भगवान् की भक्ति में लगाकर धन्य हो जाना चाहिए। अन्यथा जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है *मृत्यु: सर्वहरश्चाहम्*—भगवान् मृत्यु के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होकर हमारा सबकुछ जबरदस्ती ले लेंगे। इसलिए ऐसी सम्पत्ति को जीवित रहते शान्तिपूर्वक भगवान् के चरणकमलों पर भेंट कर देना चाहिए, ताकि हम इस भेंट का पुण्य फल भोग सकें।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *तप:* का अर्थ है कि एकादशी जैसे व्रत रखे जाँय, जिनमें मनुष्य अन्न तथा बीज-फलियाँ मास में दो बार नहीं खाता। *जपम्* शब्द द्योतक है भगवान् के

नामों के उच्चारण का यथा हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे/हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे का कीर्तन। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने यह भी इंगित किया है कि मनुष्य अपने परिवार को भगवद्भक्त बनाकर अपनी पत्नी, पुत्र तथा घर भगवान् को अर्पित कर दे। तथाकाथित पद की खोज में गर्वित न रह कर परिवार को यह समझने के लिए प्रशिक्षित किया जाय कि वे भगवान् के नित्य दास हैं। और जब पूरा परिवार भगवान् की सेवा में दत्तचित्त रहता है, तो अतीव उत्तम स्थिति उत्पन्न होती है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने यह इंगित किया है कि यदि मनुष्य को *भागवत धर्म* में दीक्षित नहीं किया जाता, तो वह अपनी स्थूल इन्द्रियों से प्राप्त अनिश्चित ज्ञान पर निर्भर रहेगा। भगवान् के प्राकट्यों, लीलाओं तथा असंख्य दिव्य गुणों के उदात्त वर्णनों से उदासीन रह कर श्रद्धाहीन भौतिकतावादी व्यक्ति संसारी भोग के मंच पर विचरण करता है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति भगवान् की वास्तविकता को समझ लेता है, जैसाकि प्रामाणिक वैदिक साहित्य में उनका वर्णन हुआ है, तो उसे *त्रिदण्डसंन्यास* स्वीकार कर लेना चाहिए या कम से कम शरीर, मन तथा वाणी पर संयम का अभ्यास करना चाहिए और इस तरह आत्मसंयमी होना चाहिए तथा परम सत्य में स्थिर हो जाना चाहिए। तब उसकी सारी इच्छाएँ, उसका दिया हुआ सारा दान तथा उसकी सारी तपस्या एवं मंत्रों का उच्चारण—दूसरे शब्दों में उसका सारा व्यक्तित्व, घर, सन्तान, पत्नी और प्राण तक—भगवान् के प्रति हार्दिक भेंट बन जाते हैं। जब जीव भगवान् के प्रामाणिक विवरणों का निरन्तर श्रवण करता है और दूसरे कार्यकलापों से बच कर अपने सारे कार्यों को भगवान् की सेवा में लगा देता है, तो उसे *भागवत धर्म* के मंच पर स्थिर माना जाता है।

एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम् ।
परिचर्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु ॥ २९॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; कृष्ण-आत्म-नाथेषु—जो लोग कृष्ण को अपनी आत्मा का स्वामी मानते हैं, उन; मनुष्येषु—मनुष्यों के लिए; च—तथा; सौहृदम्—मैत्री; परिचर्याम्—सेवा; च—तथा; उभयत्र—(चर तथा अचर अथवा भगवान् तथा उनके भक्त) दोनों के प्रति की गई; महत्सु—(विशेषतया) भगवद्भक्तों में से; नृषु—मनुष्यों में से; साधुषु—सन्त आचरण वालों में से।.

जो अपने चरम स्वार्थ का इच्छुक है, उसे उन व्यक्तियों से मैत्री करनी चाहिए, जिन्होंने कृष्ण को अपना जीवन-नाथ मान लिया है। उसे समस्त जीवों के प्रति सेवाभाव भी उत्पन्न करना

चाहिए। उसे मनुष्य-रूप में पैदा हुए लोगों की और इनमें से विशेष रूप से उनकी सहायता करनी चाहिए, जो धार्मिक आचरण के सिद्धान्त को अपनाते हैं। धार्मिक व्यक्तियों में से भगवान् के शुद्ध भक्तों की सेवा की जानी चाहिए।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार भगवद्भक्तों का सर्वोपरि कर्तव्य है उन लोगों के साथ मैत्री स्थापित करना, जो पूर्ण रूप से कृष्ण के शरणागत हैं और इस तरह जिन्होंने *शरणागति* प्राप्त कर ली है। मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् तथा उनके भक्त दोनों की सेवा करे, क्योंकि अपने शुद्ध भक्तों की सेवा किये जाने से भगवान् अधिक प्रसन्न होते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह न केवल औपचारिक तौर पर भगवान्, उनके भक्तों तथा उनकी पूज्य साज-सामग्री को नमस्कार करे, अपितु वह वास्तव में भगवान् के प्रतिनिधियों की सेवा करे, जो *महाभागवत* कहलाते हैं।

परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः ।
मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

परस्पर—एक-दूसरे से; अनुकथनम्—विचार-विमर्श; पावनम्—पवित्रकारी; भगवत्—भगवान् की; यशः—कीर्ति; मिथः—परस्पर; रतिः—प्रेमाकर्षण; मिथः—परस्पर; तुष्टिः—तुष्टि; निवृत्तिः—भौतिक कष्टों की समाप्ति; मिथः—परस्पर; आत्मनः—आत्मा का।

मनुष्य को चाहिए कि भगवद्भक्तों के साथ एकत्र होकर भगवान् की महिमा-गायन के लिए उनकी संगति करना सीखे। यह विधि अत्यन्त शुद्ध बनाने वाली है। ज्योंही भक्तगण इस प्रकार प्रेमपूर्ण मैत्री स्थापित कर लेते हैं, त्योंही उन्हें परस्पर सुख तथा तुष्टि का अनुभव होता है। इस प्रकार एक-दूसरे को प्रोत्साहित करके, वे उस भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति को त्यागने में सक्षम होते हैं, जो समस्त कष्टों का कारण है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार जो लोग कृष्णभावनामृत में उन्नत हैं, उन्हें चाहिए कि वे न तो परस्पर ईर्ष्या करें, न झगड़ें। ऐसी संसारी भावनाएँ त्याग कर, उन्हें एक स्थान पर एकत्र होना चाहिए और परस्पर शुद्धि के लिए भगवान् के यश का गायन करना चाहिए। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इंगित किया है कि भगवान् का महिमा-गायन शुद्ध भक्तों की संगति में सम्पन्न होने पर विशेष रूप से शक्तिशाली होता है। जब भक्तगण संकीर्तन में संलग्न रहते हैं और भगवत् महिमा का गायन इकट्ठे मिल कर करते हैं, तो उन्हें सर्वोच्च आनन्द तथा तुष्टि मिलती है। इस तरह वे एक-दूसरे को उस

भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति का परित्याग करने के लिए प्रेरित करते हैं, जो स्त्रियों के साथ अवैध भोग-विलास करने पर आधारित होती है। एक भक्त दूसरे से कहता है, ''ओह! आपने तो इन्द्रिय तृप्ति छोड़ दी है। आज से मैं भी इसको छोड़े देता हूँ।''

मनुष्य को भक्तों के प्रति प्रेम बढ़ाना, उन्हें तुष्ट करना तथा कृष्ण-सेवा के प्रतिकूल इन्द्रिय-विषयों का परित्याग करना सीखना चाहिए। यही नहीं उसे इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को भगवान् की सेवा के लिए साज-सामग्री के रूप में देखना सीखना चाहिए। इन्द्रिय-विषयों को कृष्ण की सेवा में लगाने से मनुष्य स्वत: इन सबों से विरक्त हो जाता है। ज्यों ज्यों वह भगवद्‌भक्तों की संगति में अपने दिन बिताता है, उसका दिव्य आनन्द *श्रीमद्‌भागवत* तथा *भगवद्‌गीता* के वृत्तान्त और उनकी चर्चाएँ सुन कर बढ़ता जाता है। इसलिए जो व्यक्ति इन्द्रिय-तृप्ति के रूप में माया के उत्पीड़न से छूटना चाहता है, उसे उन शुद्ध भगवद्‌भक्तों की निरन्तर संगति करनी चाहिए, जिनके पास भगवान् के यशोगान तथा श्रवण और इस धरा पर उनके मिशन को पूरा करने के अतिरिक्त कोई अन्य कार्य नहीं है।

श्रील मध्वाचार्य ने इंगित किया है कि जिस तरह मनुष्य को भक्तों के साथ मित्रता करनी चाहिए, उसी तरह उसे देवताओं की ओर मैत्री की भावना का अनुशीलन करना चाहिए, क्योंकि देवगण ब्रह्माण्ड का भगवान् की ओर से संचालन करते हैं। इस तरह मनुष्य को इस संसार में शान्तिपूर्वक रहना चाहिए।

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् ।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

स्मरन्तः—स्मरण करते हुए; स्मारयन्तः च—तथा स्मरण दिलाते हुए; मिथः—परस्पर; अघ-ओघ-हरम्—भक्त से समस्त अशुभ वस्तुओं को ले लेने वाला; हरिम्—भगवान् को; भक्त्या—भक्ति द्वारा; सञ्जातया—जगाया हुआ; भक्त्या—भक्ति द्वारा; बिभ्रति—धारण करते हैं; उत्पुलकाम्—पुलकायमान; तनुम्—शरीर को।

भगवद्‌भक्तगण परस्पर भगवान् की महिमा का निरन्तर बखान करते हैं। इस प्रकार वे निरन्तर भगवान् का स्मरण करते हैं और एक-दूसरे को उनके गुणों तथा लीलाओं का स्मरण कराते हैं। इस तरह से भक्तियोग के नियमों के प्रति अपनी अनुरक्ति से भक्तगण भगवान् को प्रसन्न करते हैं, जो उनके सारे अशुभों को हर लेते हैं। समस्त व्यवधानों से शुद्ध होकर भक्तगण

शुद्ध भगवत्प्रेम जगा लेते हैं और इस प्रकार इस जगत में रहते हुए भी उनके आध्यात्मीकृत शरीरों में दिव्य आनन्द (भाव) के लक्षण—यथा रोमांच—प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : *अघौघहरम्* शब्द इस श्लोक में अत्यन्त सार्थक है। *अघ* द्योतक है अशुभ या पापमय का। जीव वस्तुत: *सच्चिदानन्द विग्रह* है, किन्तु भगवान् कृष्ण के साथ अपने नित्य सम्बन्ध की उपेक्षा करके वह पापकर्म करता है और भौतिक कष्ट के रूप में अशुभ फल भोगता है। पापकर्मों की शृंखला *ओघ* कहलाती है। कृष्ण *अघौघहरं हरिम्* हैं। वे अपने भक्तों के पापकर्मों को हर लेते हैं, जो इस तरह इस जगत में रहते हुए भी भगवद्धाम के अचिन्त्य आनन्द का अनुभव करने के अधिकारी हो जाते हैं।

भक्त्या सञ्जातया भक्त्या शब्द यह सूचित करते हैं कि भक्तियोग के दो विभाग हैं—*साधन भक्ति* तथा *रागानुग भक्ति।* श्रील प्रभुपाद ने *भक्तिरसामृतसिन्धु* नामक पुस्तक में साधन भक्ति अर्थात् विधि-विधान के पालन से रागानुग भक्ति अर्थात् भगवत् प्रेम में की गई सेवा तक भक्त के पहुँचने की विस्तार से व्याख्या की है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार मुक्त जीव अपने शरीर के भीतर दिव्य भाव प्रकट होने के कारण सदैव प्रोत्साहित रहता है। इस तरह वह भगवान् हरि के गुणों का गान करते हुए भावविभोर रहने की आकांक्षा करता है।

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिका: ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृता: ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; रुदन्ति—रोते हैं; अच्युत—अच्युत भगवान् के; चिन्तया—विचार से; क्वचित्—कभी; हसन्ति—हँसते हैं; नन्दन्ति—अतीव आनन्द लेते हैं; वदन्ति—बोलते हैं; अलौकिका:—आश्चर्यजनक रीति से अभिनय करते हुए; नृत्यन्ति—नाचते हैं; गायन्ति—गाते हैं; अनुशीलयन्ति—तथा अनुकरण करते हैं; अजम्—अजन्मा; भवन्ति—बन जाते हैं; तूष्णीम्—मौन; परम्—ब्रह्म; एत्य—प्राप्त करके; निर्वृता:—दुख से मुक्त।

भगवत्प्रेम प्राप्त कर लेने पर भक्तगण अच्युत भगवान् के विचार में मग्न होकर कभी जोर से निनाद हैं। कभी हँसते हैं, कभी अगाध आनन्द का अनुभव करते हैं, भगवान् से जोर से बातें करते हैं, नाचते या गाते हैं। ऐसे भक्तगण दिव्य भौतिक बद्धजीव की अवस्था को लाँघकर कभी कभी अजन्मा परमेश्वर की लीलाओं का अनुकरण करते हैं और कभी उनका दर्शन पाकर वे शान्त एवं मौन हो जाते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भगवत्प्रेम के लक्षणों की विवेचना की है। *रुदन्ति:* भक्तगण यह सोचकर चिल्लाते हैं कि "एक दिन और बीत गया किन्तु मुझे कृष्ण नहीं मिले। तो फिर मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किससे पूछूँ और कृष्ण तक पहुँचने में संभवत: कौन मेरी सहायता कर सकता है?" *हसन्ति:* रात काफी बीत चुकी है, आकाश में अंधकार छाया है और कृष्ण किसी वृद्धा गोपी के घर से चुराने की घात में हैं। वे किसी ग्वाले के आँगन के एक कोने में वृक्ष के नीचे छिपे हैं। यद्यपि कृष्ण सोचते हैं कि वे पूरी तरह छिपे हैं, किन्तु परिवार के किसी वृद्धजन की सहसा आवाज सुनते हैं, "तुम कौन हो? तुम हो कौन? मैं पूछता हूँ।" इस तरह कृष्ण पकड़े जाते हैं और वे आँगन से भागने लगते हैं। जब यह हँसी से युक्त दृश्य भक्त के समक्ष प्रकट होता है, तो वह जी-भरकर हँसता है। *नन्दन्ति:* जब कृष्ण अपना दिव्य रूप भक्त को दिखलाते हैं, तो उसे सर्वोच्च दिव्य आनन्द मिलता है। *वदन्ति:* भक्तगण भगवान् से कहते हैं, "हे कृष्ण! मैंने कितने दिनों के बाद आज तुम्हें पा ही लिया!"

जब भक्त की सारी इन्द्रियाँ श्रीकृष्ण में लीन हो जाती हैं, तो भक्त इस भव-सागर को सफलतापूर्वक पार कर जाता है। इसका संकेत *अलौकिका:* शब्द द्वारा हुआ है। *अलौकिका:* या दिव्य पद की व्याख्या *भगवद्गीता* (१४.२६) में मिलती है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो समस्त परिस्थितियों में एकान्त भाव से पूर्ण भक्ति में प्रवृत्त होता है और किसी भी परिस्थिति में गिरता नहीं, वह तुरन्त ही प्रकृति के गुणों को लाँघ जाता है और इस प्रकार ब्रह्म के पद तक पहुँच जाता है।"

श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *अजं हरिम्, अनुशीलयन्ति तल्लीलामभिनयन्ति।* "*अनुशीलयन्ति* यह सूचित करता है कि भक्तगण कभी कभी परम आनन्दित होकर भगवान् की लीलाओं का अनुकरण करते हैं।" यह भाव-लक्षण गोपियों द्वारा कृष्ण की अनुपस्थिति में वृन्दावन में प्रकट हुआ था।

इस अध्याय के २१वें श्लोक में यह कहा गया था कि जिसने यह समझ लिया है कि पृथ्वी पर या भौतिक स्वर्ग में कोई सुख नहीं है, उसे प्रामाणिक गुरु के चरणकमलों में शरण लेनी चाहिए। *तस्माद्*

गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासु: श्रेय उत्तमम्। उसके बाद के श्लोकों में प्रामाणिक शिष्य के कार्यों के सम्बन्ध में कई विस्तृत आदेश दिये गये। अब इस श्लोक में भक्ति के पक्व फल—शुद्ध भगवत्प्रेम—का वर्णन हुआ है। हर व्यक्ति को कृष्ण के प्रतिनिधि की चरण-धूलि सिर पर धारण करने पर यह दिव्य आनन्द प्राप्त होता है। उसे ईर्ष्या तथा मिथ्या प्रतिष्ठा की मनोवृत्ति त्याग कर भगवान् की कृपा की शरण ग्रहण करनी चाहिए। गुरु को भगवत्कृपा का अवतार मानना चाहिए। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि जो निष्ठावान व्यक्ति अपने प्रामाणिक गुरु की सेवा करता है, उसे जीवन की सर्वोच्च सिद्धि (*श्रेय उत्तमम्*) प्राप्त होगी। भगवद्धाम में वह दिव्य आनन्द तथा ज्ञान का भोग करेगा।

इति भागवतान्धर्मान्शिक्षन्भक्त्या तदुत्थया ।
नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; भागवतान् धर्मान्—भक्ति के विज्ञान को; शिक्षन्—अध्ययन करते हुए; भक्त्या—भक्ति द्वारा; तत्-उत्थया—इससे उत्पन्न; नारायण-परः—भगवान् नारायण में समर्पित; मायाम्—माया को; अञ्जः—सरलता से; तरति—पार कर जाता है; दुस्तराम्—लाँघ पाना कठिन।

इस तरह भक्ति-विज्ञान को सीख कर तथा भगवद्भक्ति में व्यावहारिक रूप से संलग्न रह कर भक्त भगवत्प्रेम की अवस्था को प्राप्त होता है। और भगवान् नारायण की पूर्ण भक्ति द्वारा भक्त सरलता से उस माया को पार कर लेता है, जिसे लाँघ पाना अत्यन्त ही कठिन है।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने संकेत किया है कि इस श्लोक में जिस मुक्ति का वर्णन *मायाम् अञ्जस् तरति दुस्तराम्* शब्दों द्वारा हुआ है, वह वास्तव में शुद्ध भगवत्प्रेम का गौण फल है। *श्रीमद्भागवतम्* के द्वितीय श्लोक में यह इंगित हुआ है—

धर्म: प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां।

वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्॥

श्रीमद्भागवत भक्ति-विज्ञान को सिखाता है, जिसमें चरम लक्ष्य शुद्ध भगवत्प्रेम होता है। वैष्णव आचार्यों के अनुसार, मुक्ति भगवत्प्रेम का गौण फल है। *शिवदम् तापत्रयोन्मूलनम्* मनुष्य को मुक्ति के लिए भगवान् के पास नहीं पहुँचना चाहिए क्योंकि भगवान् का आदेश पालन करने से वह स्वत: मुक्त हो जाता है। कृष्ण का आदेश *भगवद्गीता* के अन्त में दिया हुआ है : *सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।* हर जीव को अपनी संसारी विचारधारा त्याग कर भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करनी चाहिए।

इस आदेश का पालन करने वाले को भगवान् स्वयमेव मुक्ति प्रदान करते हैं। वास्तविक सुख किसी मानसिक चिन्तन या सकाम इच्छा के रंचमात्र के बिना प्रेमी ईश्वर से प्राप्त होता है।

अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

"मनुष्य को चाहिए कि अनुकूल होकर तथा सकाम कर्म या काल्पनिक ज्ञान द्वारा भौतिक लाभ की इच्छा से रहित होकर भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति करनी चाहिए। इसे ही शुद्ध भक्ति कहते हैं।" (भक्तिरसामृतसिन्धु १.१.११) इस तरह यहाँ पर वर्णित माया के दुर्लंघ्य समुद्र को पार करना भागवत धर्म का मुख्य फल नहीं है, अपित शुद्ध भगवत्प्रेम का गौण फल है।

श्रीराजोवाच
नारायणाभिधानस्य ब्रह्मणः परमात्मनः ।
निष्ठामर्हथ नो वक्तुं यूयं हि ब्रह्मवित्तमाः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; नारायण-अभिधानस्य—नारायण नामक भगवान् का; ब्रह्मणः—परब्रह्म का; परम-आत्मनः—परमात्मा का; निष्ठाम्—दिव्य स्थिति; अर्हथ—कृपया; नः—हमसे; वक्तुम्—कहें; यूयम्—आप सभी; हि—निस्सन्देह; ब्रह्म-वित्-तमाः—ब्रह्म के परम दक्ष ज्ञाता।

राजा निमि ने कहा : अतः कृपा करके मुझे उन भगवान् नारायण के दिव्य पद को बतलायें, जो साक्षात् परब्रह्म तथा हर एक के परमात्मा हैं। आप मुझसे कहें, क्योंकि आप सभी जन दिव्य ज्ञान में परम निष्णात हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार, पिछले श्लोक में मुनियों ने राजा को बतलाया कि *नारायणपरो मायाम् अञ्जस्तरति दुस्तराम्*—भगवान् नारायण की शुद्ध भक्ति से ही माया के सागर को सरलता से पार किया जा सकता है। इसलिए इस श्लोक में राजा भगवान् नारायण के विषय में उनसे विशेष जानकारी चाहता है। इस श्लोक की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि राजा ने भगवान् के लिए नारायण, ब्रह्म तथा परमात्मा का प्रयोग किया है। यद्यपि राजा निमि को भगवद्भक्त माना जाता है, किन्तु वह अपने प्रश्न द्वारा यह स्पष्ट कर देना चाहता है कि भगवान् सर्वोच्च दिव्य-सत्य हैं। *भागवत* (१.२.११) में कहा गया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते॥

''विद्वान अध्यात्मवादीजन, जिन्हें परब्रह्म का ज्ञान है, इस अद्वैत वस्तु को ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् कह कर पुकारते हैं।'' इसलिए इस श्लोक में आये *नारायण* शब्द से वैकुण्ठवासी परमेश्वर के भगवान् रूप को ही समझना चाहिए।

सामान्य रूप से काल्पनिक ज्ञानीजन परब्रह्म के निर्विशेष ब्रह्म रूप के प्रति आकृष्ट रहते हैं, जबकि योगीजन परमात्मा का ध्यान करते हैं, जो हर एक के हृदय में परमात्मा के रूप में स्थित हैं। दूसरी ओर, जिन्हें परिपक्व दिव्य ज्ञान प्राप्त हो चुका है, वे सीधे भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं, जो अपने धाम वैकुण्ठ धाम में नित्य निवास करते हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं *ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*—मैं निर्विशेष ब्रह्म का स्रोत हूँ। इसी प्रकार *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि क्षीरोदकशायी विष्णु, जो कि परमात्मा हैं, वे भगवान् कृष्ण के गौण स्वांश हैं। राजा निमि मुनियों से स्पष्ट कराना चाहते हैं कि भगवान् परब्रह्म के आदि स्वरूप हैं। इसलिए वे अपना यह प्रश्न नौ योगेन्द्रों में से पिप्पलायन के समक्ष रखते हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार *निष्ठा* शब्द का भावार्थ ''दृढ़ विश्वास'' के रुप में भी किया जा सकता है। इस अर्थ में, निमि महाराज भगवान् में पूर्ण श्रद्धा (*भगवन्निष्ठा*) उत्पन्न करने की विधि के विषय में पूछ रहे हैं।

श्रीपिप्पलायन उवाच

स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य
यत्स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद्बहिश्च ।
देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन
सञ्जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र ॥ ३५॥

शब्दार्थ

श्री-पिप्पलायनः उवाच—श्री पिप्पलायन ने कहा; स्थिति—सृजन; उद्भव—पालन; प्रलय—तथा संहार; हेतुः—कारण; अहेतुः—बिना कारण के; अस्य—इस भौतिक ब्रह्माण्ड का; यत्—जो; स्वप्न—स्वप्न; जागर—जागृति; सुषुप्तिषु—गहरी निद्रा या अचेतनावस्था में; सत्—जो विद्यमान है; बहिः च—तथा इनसे बाहर; देह—जीवों के भौतिक शरीरों की; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आसु—प्राण-वायु; हृदयानि—तथा मन; चरन्ति—कार्य करते हैं; येन—जिससे; सञ्जीवितानि—जीवन प्रदत्त; तत्—वह; अवेहि—जानो; परम्—ब्रह्म रूप में; नर-इन्द्र—हे राजा।

श्री पिप्पलायन ने कहा : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही इस ब्रह्माण्ड के सृजन, पालन तथा संहार के कारण हैं, फिर भी उनका कोई पूर्व कारण नहीं है। वे जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति जैसी

विविध अवस्थाओं में व्याप्त रहते हैं और इनसे परे भी विद्यमान हैं। वे हर जीव के शरीर में परमात्मा रूप में प्रवेश करके शरीर, प्राण-वायु तथा मानसिक क्रियाओं को जागृत करते हैं, जिससे शरीर के सभी सूक्ष्म तथा स्थूल अंग अपने अपने कार्य शुरू कर देते हैं। हे राजन्, यह जान लें कि भगवान् सर्वोपरि हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में राजा निमि ने परब्रह्म के विविध पक्षों—नारायण, ब्रह्म तथा परमात्मा—के विषय में प्रश्न किया था। अब श्री पिप्पलायन मुनि परब्रह्म के इन तीनों स्वरूपों का उसी क्रम से वर्णन कर रहे हैं, जिस क्रम में राजा ने उनका उल्लेख किया था। *स्थित्युद्भवप्रलय हेतु:* भगवान् का सूचक है, जो तीन पुरुष अवतारों के रूप में अपना विस्तार करते हैं—ये हैं महाविष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु। जैसाकि *भागवत* (१.३.१) में वर्णन आया है—

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभि: ।

सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया ॥

''सृष्टि के प्रारम्भ में भगवान् ने पुरुष अवतार का विराट रूप धारण किया और सृष्टि के समस्त अवयवों को प्रकट किया। इस प्रकार सर्वप्रथम सोलह तत्त्वों की सृष्टि हुई। ऐसा भौतिक ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने के लिए हुआ।'' इस प्रकार यहाँ पर भगवान् नारायण का उल्लेख *हेतु:* रूप में अर्थात् सृष्टि, पालन तथा संहार के परम कारण के रूप में हुआ है। तो भी भगवान् का कोई कारण नहीं है, वे *अहेतु:* हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में व्यक्त हुआ है—*अनादिरादिर्गोविन्द: सर्वकारणकारणम्।* भगवान् समस्त कारणों के कारण हैं और नित्य परब्रह्म होने के कारण उनका स्वयं का कोई कारण नहीं है। श्रील जीव गोस्वामी ने भी *अहेतु:* शब्द की व्याख्या यह बताने के लिए की है कि कृष्ण-लोक में भगवान् का अपना मौलिक रूप कृष्ण है। चूँकि कृष्ण अपने मुक्त संगियों के साथ सदैव आनन्दमयी लीलाओं में व्यस्त रहते हैं, अतएव वे इस जगत के व्यापारों से विलग बने रहते हैं, जो उनकी बहिरंगा शक्ति माया द्वारा उत्पन्न हुआ है। इसीलिए कहा गया है *जगृहे पौरुषं रूपम्।* बद्धजीवों के निपट मोह को बढ़ाने तथा क्रमिक शुद्धि के लिए भगवान् अपना विस्तार नारायण तथा विष्णु के रूप में करते हैं। भौतिक सृष्टि से भगवान् के अलग रहने का भी वर्णन वेदों में मिलता है—*न तस्य कार्यं करणं च विद्यते।* परब्रह्म को कुछ भी नहीं करना पड़ता, क्योंकि हर कार्य उनकी बहु-शक्तियों द्वारा सम्पन्न होता रहता है। श्रील

भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि यद्यपि भगवान् कृष्ण *अहेतु:* हैं, किन्तु इस श्लोक में उन्हें *हेतु:* भी कहा गया है, क्योंकि वे परमात्मा रूप में अपना विस्तार करते हैं और विराट जगत के आदि चालक के रूप में कार्य करते हैं।

अहेतु: शब्द को दूसरे प्रकार से भी समझा जा सकता है। *भगवद्गीता* (७.५) में भगवान् कहते हैं—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

''हे महाबाहु अर्जुन! इनके अतिरिक्त मेरी एक अन्य परा शक्ति है, जो उन जीवों से युक्त है, जो भौतिक अपरा प्रकृति के साधनों का विदोहन कर रहे हैं।''

बद्धजीव (*जीवभूत*) अपनी भौतिक इन्द्रियों के द्वारा (*मन:षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति*) इन्द्रिय-तृप्ति में लगना चाहते हैं। इस तरह भौतिक जगत का सृजन आवश्यक हो जाता है। वस्तुत: भौतिक जगत का अस्तित्व बना हुआ है, क्योंकि बद्धजीव इसका विदोहन करना चाहते हैं (*ययेदं धार्यते जगत्*)। सरकार का कर्तव्य है कि जो लोग अपराध करने की प्रवृत्ति रखते हैं, उन्हें कारागार में रखने की व्यवस्था करे। किसी भी नागरिक को कारागार की घृणित दशा में रहने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु क्योंकि जनता का कुछ अंश समाज विरोधी आचरण करने पर तुला रहता है, इसलिए कारागार अनिवार्य है। उच्चतर दृष्टिकोण से कैदियों को स्वयं एक तरह से कारागार बनाये जाने का *हेतु:* अर्थात् कारण माना जा सकता है। इसी तरह भगवान् अपने लिए तथा अपने शुद्ध भक्तों के आनन्द-वर्धन के लिए ही अपनी इच्छा से अपनी अन्तरंगा शक्ति का विस्तार करते हैं, किन्तु बद्धजीवों की अवैध इच्छाओं के प्रत्युत्तर में, जिसमें वे जान-बूझकर उनका विस्मरण करके इन्द्रिय-तृप्ति का जीवन बिता सकें, भौतिक जगत को प्रकट करते हैं। इसलिए बद्धजीवों को ही भौतिक जगत का *हेतु:* अर्थात् कारण माना जा सकता है। भगवान् की बहिरंगा शक्ति, माया, जिसे भौतिक जगत का कार्य सौंपा गया है, छाया कहलाती है अर्थात् वह भगवान् की अन्तरंगा शक्ति की छाया है। *सृष्टि-स्थिति-प्रलय-साधनाशक्तिरेकाछायेव यस्य भुवनानि बिभर्ति दुर्गा।* भगवान् छाया-शक्ति को प्रदर्शित करना नहीं चाहते, जिसे दुर्गा या माया कहा जाता है। नित्य प्रकट रहने वाले आनन्दमय आध्यात्मिक लोकों में भगवान् के

अंशरूप जीवों के लिए यथा सम्भव सर्वश्रेष्ठ सुविधाएँ रहती हैं। किन्तु बद्धजीव भगवान् द्वारा प्रदत्त अचिन्त्य, नित्य आवास-व्यवस्था को त्याग कर छाया-जगत में, जिसे भौतिक जगत कहते हैं, अपने दुर्भाग्य की खोज करते हैं। इस तरह दुर्गा तथा बद्धजीव दोनों ही भौतिक जगत के *हेतु:* या कारण माने जाते हैं। चूँकि भगवान् कृष्ण अन्ततोगत्वा *सर्वकारणकारणम्* हैं, इसलिए उन्हें परम कारण जानना चाहिए। किन्तु भौतिक जगत के परम कारण के रूप में भगवान् किस तरह कार्य करते हैं (*स्थित्युद्भवप्रलयहेतु:*) इसका वर्णन *भगवद्गीता* के तेरहवें अध्याय में हुआ है। *उपद्दष्टानुमन्ता च:* भगवान् उपद्रष्टा तथा अनुमति देनेवाले के रूप में कार्य करते हैं। भगवान् की वास्तविक इच्छा का स्पष्ट कथन *भगवद्गीता* में हुआ है : *सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।* भगवान् चाहते हैं कि हर जीव छाया-शक्ति माया का परित्याग करके वास्तविक वस्तु (*वास्तवं वस्तु*) में लौट आये और यह वस्तु शाश्वत भगवद्धाम है।

यद्यपि परम सत्य के नानाविध पक्षों का वर्णन किया जाता है, किन्तु परम सत्य तो एक ही है, जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है (*तदवेहि परं नरेन्द्र*)। राजा निमि ने ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा की और अब इस श्लोक में बतलाया जा रहा है—*यत् स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद् बहिश्च।* जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति के अन्तर्गत भगवान् का सर्वव्यापकत्व तथा इन तीन मानसिक अवस्थाओं से परे उनके अस्तित्व को ब्रह्म अर्थात् भगवान् की दिव्य शक्ति की ही अभिव्यक्तियाँ मानना होगा। अन्त में, इस कथन *देहेन्द्रियासुहृदयाणि चरन्ति येन संजीवितानि* से भगवान् के परमात्मा स्वरूप का द्योतन होता है। जब भगवान् अपने तृतीय विष्णु रूप, क्षीरोदकशायी विष्णु रूप में विस्तार करके प्रत्येक जीव के हृदय में प्रवेश करते हैं, तो शरीर के स्थूल तथा सूक्ष्म अंग कर्म कहलाने वाले सकाम कार्यकलापों की शृंखला को चालू करने के लिए जागृत हो उठते हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भगवान् के विविध रूप उनके अद्वय होने की श्रेष्ठता में बाधक नहीं होते। परब्रह्म तो *परमव्योमनाथ* हैं, जो श्यामसुन्दर द्विभुज रूप में, चतुर्भुज रूप में, अष्टभुज रूप में या सहस्रभुज रूप में प्रकट होते हैं। प्रत्येक रूप में उनका शरीर नित्य तथा आनन्द और ज्ञान से पूर्ण रहता है (*सच्चिदानन्दमूर्ति*)। पृथ्वी पर वे वासुदेव रूप में प्रकट होते हैं और कारणार्णव में महाविष्णु के रूप में। वे क्षीर सागर में क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में शयन करते हैं और नृसिंहदेव के

रूप में अपने असहाय नवयुवक भक्त की रक्षा करते हैं। वे रामचन्द्र के रूप में प्रकट होकर पूर्ण राजा की तरह कार्य करते हैं और कृष्ण के रूप में प्रकट होकर हर एक का, विशेष रूप से तरुण सुन्दरियों का हृदय चुराते हैं। भगवान् के ये सारे रूप *नारायण* शब्द द्वारा उसी तरह सूचित होते हैं, जिस तरह राष्ट्रपति कहने से न केवल उसके सरकारी कामकाजों का द्योतन होता है, अपितु उसके निजी पारिवारिक जीवन तथा घनिष्ठ मित्रों का भी होता है। *श्रीमद्भागवत* के अनुसार *कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।* जब कोई व्यक्ति भगवान् की औपचारिक जानकारी को लाँघ कर भगवत्प्रेम के उच्च पद को प्राप्त होता है, तो वह भगवान् को कृष्ण के रूप में समझ सकता है, जो समस्त कारणों के कारण हैं। भगवान् के असंख्य विष्णु अंशों को भी श्रीकृष्ण के स्वांश समझना चाहिए। *कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।* जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* में कहा है, *अहं सर्वस्य प्रभव:।* इन बातों का स्पष्टीकरण *श्रीमद्भागवत* के दसवें स्कंध के साथ-साथ प्रारम्भिक श्लोक *ॐ नमो भगवते वासुदेवाय। जन्माद्यस्य यतोऽन्वयाद् इतरश्चार्थेषु* में किया जा चुका है।

नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा
प्राणेन्द्रियाणि च यथानलमर्चिषः स्वाः ।
शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयात्ममूल-
मर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतत्—यह (परब्रह्म); मनः—मन; विशति—प्रवेश करता है; वाक्—वाणी का कार्य; उत—न तो; चक्षुः—दृष्टि; आत्मा—बुद्धि; प्राण—जीवन दायिनी सूक्ष्म वायु; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; च—अथवा; यथा—जिस तरह; अनलम्—अग्नि; अर्चिषः—चिनगारियाँ; स्वाः—अपना; शब्दः—वेद-ध्वनि; अपि—भी; बोधक—वाणी से बताने में समर्थ; निषेधतया—निषेध करने के कारण; आत्म—परमात्मा का; मूलम्—मुख्य प्रमाण; अर्थ-उक्तम्—अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त किया गया; आह—व्यक्त करता है; यत्-ऋते—जिसके (ब्रह्म के) बिना; न—नहीं है; निषेध—शास्त्रों के कथन का उल्टा; सिद्धिः—चरम प्रयोजन।

न तो मन, न ही वाणी, दृष्टि, बुद्धि, प्राण-वायु या किसी इन्द्रिय के कार्य उस परम सत्य में प्रवेश करने में सक्षम हैं, जिस तरह कि छोटी चिनगारियाँ उस मूल अग्नि को प्रभावित नहीं कर सकती हैं, जिससे वे उत्पन्न होती हैं। यहाँ तक कि वेदों की प्रामाणिक भाषा भी परम सत्य का बखान नहीं कर सकती है, क्योंकि स्वयं वेद ही इस सम्भावना से इनकार करते हैं कि सत्य को शब्दों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। किन्तु अप्रत्यक्ष निर्देश द्वारा वैदिक ध्वनि परम सत्य का

प्रमाण प्रस्तुत करती है, क्योंकि परम सत्य के अस्तित्व के बिना वेदों में प्राप्त विविध निषेधों का कोई चरम अभिप्राय नहीं होता।

तात्पर्य : प्रज्ज्वलित अग्नि में से निकलने वाली छोटी छोटी चिनगारियाँ, न तो मूल अग्नि को प्रकाशित कर सकती हैं, न उसे जला सकती हैं। मूल अग्नि में निहित उष्मा तथा प्रकाश की मात्रा क्षुद्र चिनगारियों को प्राप्त उष्मा तथा प्रकाश की मात्रा से सदैव श्रेष्ठ रहते हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म जीव भगवान् की अन्तरंगा शक्ति से उत्पन्न होता है, जैसाकि *वेदान्त सूत्र* में (*जन्माद्यस्य यत:*) तथा *भगवद्गीता* में (*अहं सर्वस्य प्रभव:, ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:*) कहा गया है। सूक्ष्म जीव भगवान् के *अंश* अर्थात् चिनगारियाँ होने से अपनी शक्ति की मात्रा में कभी भी भगवान् के तुल्य नहीं हो सकते। भगवान् में ज्ञान तथा आनन्द की मात्रा सदैव श्रेष्ठतम् होती है। अतएव जब मूर्ख बद्धजीव अपने क्षुद्र मस्तिष्क से सर्वोच्च सत्य के विषय को प्रकाशित करने का प्रयास करता है, तो वह अपनी मूर्खता को ही प्रकाशित करता है। भगवान् ने ही *भगवद्गीता* का प्रवचन किया, जो उस पूर्ण ज्ञान की प्रज्ज्वलित अग्नि है, जो तथाकथित दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों की परम सत्य विषयक क्षुद्र कल्पनाओं तथा सिद्धान्तों को जलाकर भस्म कर देती है।

भगवान् *हृषीकेश* अर्थात् इन्द्रियों के स्वामी कहलाते हैं। चूँकि भगवान् में चरम प्रेक्षण, श्रवण, स्पर्श, घ्राण तथा आस्वाद-शक्ति पाई जाती है, इसलिए सीमित अर्थ में जीव भी हृषिकेश की कृपा से देख, सुन, स्पर्श, सूँघ तथा आस्वाद कर सकते हैं। यह भाव *बृहदारण्यक उपनिषद्* (४.४.१८) में व्यक्त हुआ है : *प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदु:*—परमसत्य को हर एक के प्राणों की आधार प्राण-वायु, हर एक के नेत्रों की दृष्टि, कान की श्रवण-शक्ति तथा भोजन का भी आधार माना जाता है। इससे यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि परमसत्य को उनकी अहैतुकी कृपा द्वारा ही जाना जा सकता है, अपनी बुद्धि के घेरे में लाने के व्यर्थ प्रयासों द्वारा नहीं। *तैत्तिरीय उपनिषद्* (२.४.१) में कहा गया है *यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह*—वाणी की वाक्-शक्ति परमब्रह्म के जगत में असफल हो जाती है और मन की कल्पना-शक्ति उन्हें प्राप्त नहीं कर सकती।

किन्तु क्योंकि, वैदिक श्रुतियों के ऐसे कथन अपने आप में परम सत्य के विवरण हैं, इसलिए ऐसे वैदिक कथनों को विरोधी माना जा सकता है। इसलिए इस प्रसंग में कहा गया है कि *शब्दोऽपि*

बोधकनिषेधतयात्ममूलम् अर्थोक्तम् आह—यद्यपि वैदिक श्रुति (*शब्द*) हमें परम सत्य के बारे में कल्पना करने से मना करती है, किन्तु ऐसे निषेध परम व्यक्ति के अस्तित्व की अप्रत्यक्ष पुष्टि करने वाले हैं। वस्तुत: वैदिक निषेध मनुष्य को मानसिक कल्पना के गलत मार्ग से बचाकर भक्तिमयी शरण तक पहुँचाने वाले होते हैं। जैसाकि भगवान् कृष्ण ने स्वयं *भगवद्गीता* में कहा है—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:*—भगवान् को सारे वैदिक वाङ्मय द्वारा जानना चाहिए। इस बात पर जोर देना कि कोई विशेष विधि, जैसे मानसिक कल्पना व्यर्थ है (*यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह*) ब्रह्म को प्राप्त करने के सही पथ के होने की अप्रत्यक्ष पुष्टि है। जैसाकि श्रील श्रीधर स्वामी ने कहा है *सर्वस्य निषेधस्य सावधित्वात्*—हर निषेध की विशिष्ट अवधि या सीमा होती है। निषेध को सभी मामलों में लागू नहीं माना जा सकता। उदाहरणार्थ, एक निषेधात्मक आदेश है कि कोई भी जीव भगवान् के तुल्य या उनसे बड़ा नहीं हो सकता। किन्तु *श्रीमद्भागवत* में स्पष्ट कहा गया है कि वृन्दावनवासी कृष्ण के लिए प्रगाढ़ प्रेम के कारण कभी कभी श्रेष्ठ पद को प्राप्त होते हैं। इस तरह माता यशोदा कृष्ण को रस्सी से बाँधती हैं और कभी कभी प्रभावशाली ग्वालबाल कृष्ण के कंधों पर चढ़ जाते हैं या कुश्ती में उन्हें हरा देते हैं। इसलिए कभी कभी दिव्य परिस्थिति के अनुसार निषेधात्मक आदेशों को समंजित किया जा सकता है।

यद्यपि परमसत्य भौतिक सृष्टि से परे हैं, अत: भौतिक इन्द्रियों की सीमा से भी परे हैं, किन्तु जब ये ही इन्द्रियाँ भगवत्प्रेम से संतृप्त हो उठती हैं, तो वे आध्यात्मीकृत हो जाती हैं और परम सत्य की अनुभूति करने की शक्ति पा जाती हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.३८) में कहा गया है—

प्रेमांजनच्छुरितभक्तिविलोचनेन

सन्त: सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जो उस भक्त द्वारा सदैव देखे जाते हैं, जिसकी आँखों में प्रेम का अंजन लगा रहता है। वे भक्त के हृदय में अपने शाश्वत श्यामसुन्दर रूप में देखे जाते हैं।" *भगवद्गीता* (११.८) में भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुम्

अनेनैव स्वचक्षुषा।

दिव्यं ददामि ते चक्षुः

पश्य मे योगमैश्वरम्॥

''किन्तु तुम मुझे अपनी वर्तमान साधारण आँखों से नहीं देख सकते। अतः मैं तुम्हें दिव्य आँखें दे रहा हूँ। अब मेरी योग-विभूति को देखो।'' इसी प्रकार *श्रीमद्भागवत* में ऐसी अनेक घटनाएँ वर्णित हैं, जिनमें पूर्ण परम सत्य अपने भक्त के समक्ष प्रकट हुए हैं—यथा प्रह्लाद महाराज, ध्रुव महाराज, पृथु महाराज, कर्दम मुनि, पाण्डवगण तथा गोपियों के वृत्तान्त। इसलिए यह वैदिक कथन कि परब्रह्म आँखों की शक्ति के परे है, उनका द्योतक है, जिन्हें भगवत्कृपा से दिव्य आँखें प्राप्त नहीं हुईं। किन्तु भगवान् की अपनी इन्द्रियों की, जो हमारी सीमित इन्द्रियों की स्रोत हैं, पुष्टि *केन उपनिषद्* के इस कथन से (१.४) हो जाती है—*यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदं उपासते।* ब्रह्म वह है, जिसकी पुष्टि वाणी की भौतिक शक्ति से नहीं हो सकती, वाणी स्वयं उस परब्रह्म द्वारा प्रमाणित है। *येन वाग् अभ्युद्यते*—हमारी वाक्-शक्ति परब्रह्म द्वारा व्यक्त होती है—इस कथन से स्पष्ट रूप से यही व्यक्त होता है कि परब्रह्म की अपनी दिव्य इन्द्रियाँ होती हैं। इसीलिए वे हृषीकेश कहलाते हैं।

श्रील नारद मुनि ने कहा है *हृषीकेन हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते*—हमारी इन्द्रियाँ अपनी शक्ति से परब्रह्म तक नहीं पहुँच पातीं, किन्तु जब वे इन्द्रियों के स्वामी को तुष्ट करने के लिए प्रेमाभक्ति में लगी रहती हैं, तो हमारी सीमित इन्द्रियाँ भगवान् की असीम इन्द्रियों से जुड़ जाती हैं और इस तरह भगवान् की कृपा से उन्हें समझा जा सकता है।

श्रील मध्वाचार्य ने *ब्रह्मतर्क* से निम्नलिखित कथन उद्धृत किया है :

आनन्दो नेदृशानन्द इत्युक्ते लोकतः परम्।

प्रतिभाति न चाभाति यथावद् दर्शनं विना॥

''परब्रह्म के दिव्य आनन्द की तुलना भौतिक जगत के सामान्य सुख से नहीं की जा सकती।'' इसी प्रकार *वेदान्त सूत्र* में परम सत्य को *आनन्दमय* कहा गया है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक में श्री पिप्पलायन एक तरह से परब्रह्म के निर्विशेष स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं। नवों योगेन्द्र स्वयं भगवान् के साकार रूप के भक्त थे; इसलिए राजा निमि ने परब्रह्म के विभिन्न रूपों से सम्बद्ध यह प्रश्न इस बात को स्पष्ट करने के लिए पूछा कि भगवान् *अद्वयज्ञान* के विविध पक्षों के स्रोत हैं। इसकी अभिव्यक्ति श्रुति के निम्नलिखित कथन में भी हुई है—*त्वं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि*—मैं उपनिषदों में अभिव्यक्त परम पुरुष के विषय में पूछ रहा हूँ।

यदि शब्दों द्वारा परब्रह्म तक न पहुँचा जा सकता, तो वैदिक वाङ्मय का कोई अर्थ न रहता, जो दिव्य शब्दों का संग्रह है। चूँकि सत्य विषयक वैदिक विवरणों को अचूक मान लिया जाता है, इसलिए यह कह पाना असम्भव है कि वाक्-शक्ति सत्य का वर्णन कर पाने में अक्षम है। आखिर वैदिक मंत्र बोलने तथा सुनने के निमित्त ही होते हैं। अतएव यह आदेश कि न तो मन, न ही वाणी परब्रह्म तक पहुँच सकते हैं (*नैतन् मनो विशति वाग् उत*) सभी मामलों में लागू नहीं होता, प्रत्युत यह उन लोगों के लिए चेतावनी है, जो मूर्खतावश परब्रह्म की थाह अपनी घटिया चिन्तन-शक्ति द्वारा लेने का प्रयास करते हैं। चूँकि वैदिक आदेशों को, चाहे वे सकारात्मक हों या निषेधात्मक, परम सत्य का यथार्थ विवरण माना जाता है, अतएव वैदिक ज्ञान के श्रवण तथा कीर्तन की विधि (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*) को एक पृथक् विधि मानना चाहिए, जिसमें मनुष्य की श्रवण करने तथा बोलने की शक्ति दिव्य ज्ञान को विनीत भाव से ग्रहण करने से अध्यात्मीकरण हो जाती है। यह विधि भगवान् के भक्त रूप प्रामाणिक गुरु में श्रद्धा पर निर्भर करती है। इसीलिए कहा गया है (श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.२३)—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

"जो महात्मा भगवान् तथा गुरु में अटूट श्रद्धा रखते हैं, उन्हें ही वैदिक ज्ञान का आशय स्वयमेव प्रकट हो जाता है।" *हरिवंश* में स्वयं भगवान् कहते हैं—

तत्परं परमं ब्रह्म सर्वं विभजते जगत्।

ममैव तद् घनं तेजो ज्ञातुमर्हसि भारत॥

"परब्रह्म इस ब्रह्माण्ड की सारी विविधताओं में अपना प्रसार करता है। हे भारत! तुम इसे मेरा ही केन्द्रीभूत तेज समझो।" *ज्ञातुमर्हसि* "तुम इसे जानो"—ये शब्द भगवान् के हैं। जिससे यह सूचित

होता है कि परब्रह्म जानने योग्य है, किन्तु मनुष्य को व्यर्थ की कल्पना में समय न गँवाकर सत्य की शरण ग्रहण करनी चाहिए।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इंगित किया है कि वैदिक साहित्य के प्रामाणिक कथनों के अनुसार भगवान् का दिव्य रूप *ब्रह्ममय* अर्थात् पूर्णरूपेण आध्यात्मिक माना जाता है, जिसमें भौतिक कलुष का लेशमात्र भी नहीं रहता। अतएव *नीलोत्पलदलश्यामम्* जैसे कथनों से यह समझना चाहिए कि दिव्य श्याम रंग का वर्णन हो रहा है। फिर भी भगवान् अपने भक्तों पर अचिन्त्य रूप से दयालु हैं, यहाँ तक कि उन नवदीक्षितों पर भी, जो भगवत्प्रेम के पद तक पहुँचने का प्रयास करते होते हैं। इसलिए भगवान् उस बद्धजीव की इन्द्रियों को धीरे धीरे शुद्ध बनाते हैं, जो उन्हें समझने का प्रयास करता है और अन्त में वे ऐसे शुद्ध किये गये सेवक के समक्ष प्रकट होते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *प्राकृतनीलोत्पलवर्णत्वेन भक्तैर्ध्यातमाताद्दशं अपि*—प्रारम्भ में बद्धजीव पूर्व भौतिक कर्मों से बद्ध होने के कारण इस जगत के अन्तर्गत भौतिक स्वरूपों तथा रंगों के विषय में प्राप्त अपने अनुभव पर भगवान् के दिव्य रूप को आधार बनाकर ध्यान कर सकता है। भगवान् के दिव्य रूप को भौतिक रूपों तथा रंगों से कोई सरोकार नहीं होता, किन्तु इस ध्यान का विषय कृष्ण होने से यह ध्यान धीरे धीरे भगवान् के वास्तविक रूप, रंग, कार्य, लीला तथा साज-सामग्री के दिव्य अनुभव में परिणत हो जाता है। दूसरे शब्दों में, दिव्य ज्ञान भौतिक तर्क पर आश्रित न होकर भगवान् की प्रसन्नता पर आश्रित होता है। यदि भगवान् अपने भक्त द्वारा उन्हें समझने के निष्ठावान प्रयास से प्रसन्न हो जाते हैं, तो वे तथाकथित भौतिक तर्कों तथा वैदिक आदेशों की परवाह न करते हुए अपने शुद्ध भक्त के समक्ष तुरन्त प्रकट होते हैं। जब तक कोई व्यक्ति भगवान् की इस सर्वशक्तिमत्ता को स्वीकार नहीं करता, तब तक परब्रह्म के पास फटकने की आशा नहीं रहती। इसलिए *कठ उपनिषद्* (१.३.१२) में कहा गया है कि *दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया*—परब्रह्म दिव्य बुद्धि द्वारा देखा जा सकता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि भौतिक इन्द्रियों तथा प्रकृति के गुणों की अन्योन्य क्रिया से अर्जित ज्ञान मात्र काल्पनिक होता है, वास्तविक नहीं। अनुभवसिद्ध ज्ञान हमारे इन्द्रिय-विषयों के क्षणिक अनुभव से सम्बद्ध है, जो प्रकृति द्वारा उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ, इस समय राष्ट्रीयता की भ्रान्त धारणा के कारण अनेक युद्ध चल रहे हैं। इसी तरह विश्व-भर में संघर्ष छिड़ा हुआ

है और विश्व के बड़े बड़े नेता अपने अपने देश के आर्थिक विकास के हेतु कुत्तों-बिल्लियों की तरह लड़ते हैं। इस तरह आँख, नाक, जीभ, स्पर्श तथा स्वाद द्वारा अनुभव किये जाने वाले नश्वर पदार्थों को उपाधि देने के लिए भौतिक भाषा का प्रयोग किया जाता है। परब्रह्म के पास पहुँचने के लिए ऐसी भाषा तथा अनुभव व्यर्थ हैं। किन्तु वैकुण्ठ से आने वाली दिव्य ध्वनि का सर्वथा भिन्न प्रभाव पड़ता है। हमें चाहिए कि भगवान् को भौतिक जगत के एक पदार्थ के रूप में सम्मिलित करने के लिए मनगढंत भाषा का प्रयोग करने का मूर्ख प्रयास न करें। परमेश्वर नितान्त दिव्य हैं और *आत्म-प्रकाश* कहलाते हैं। इसलिए जैसाकि *पद्म पुराण* में कहा गयाहै—

अत: श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियै।

सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यद: ॥

''भौतिक इन्द्रियों द्वारा कृष्ण के पवित्र नाम, रूप, गुणों तथा लीलाओं को नहीं समझा जा सकता। किन्तु जब बद्धजीव कृष्णभावनामृत के प्रति जागृत हो उठता है और अपनी जीभ द्वारा भगवान् के नाम का उच्चारण करके भक्ति करता है, तथा भगवान् के भोजन का उच्छिष्ट खाता है, तो उसकी जीभ शुद्ध हो जाती है और मनुष्य धीरे धीरे यह जानने लगता है कि कृष्ण वास्तव में कौन है।'' यदि कोई व्यक्ति भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करके उन्हें आत्मसमर्पण कर देता है, तो उसकी चिन्मय इन्द्रियाँ धीरे धीरे भगवान् का अनुभव करने में समर्थ हो जाती हैं। मात्र अनुभववाद तथा भौतिक तर्क की सीमा भगवान् की बहिरंगा शक्ति के भीतर अत्यन्त संकुचित है और यह शाश्वत वस्तुओं पर लागू नहीं होती। इस सन्दर्भ में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने *श्रीमद्‌भागवत* का निम्नलिखित श्लोक (७.५.३२) उद्‌धृत किया है—

नैषां मतिस्तावद् उरुक्रमांघ्रिं

स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थ: ।

महीयसां पादरजोऽभिषेकं

निष्किंचनानां न वृणीत् यावत् ॥

''जब तक भौतिकतावाद के प्रति उन्मुख लोग अपने शरीर पर भौतिक कल्मष से मुक्त वैष्णव के चरणकमल की धूल धारण नहीं करते, तब तक वे उन भगवान् के चरणकमलों से जुड़ नहीं सकते,

जिनका महिमा-गायन उनके अद्वितीय कार्यों के लिए किया जाता है। कृष्णभावनाभावित होकर तथा भगवान् के चरणकमलों की शरण इस तरह ग्रहण करके ही मनुष्य भौतिक कल्मष से मुक्त हो सकता है।''

यद्यपि श्री पिप्पलायन यह कह रहे हैं कि भौतिक इन्द्रियों द्वारा परब्रह्म तक नहीं पहुँचा जा सकता, किन्तु मुनि स्वयं ही दिव्य इन्द्रियों से युक्त परम सत्य का वर्णन कर रहे हैं। राजा निमि इस दिव्य ध्वनि को समझ रहे हैं, क्योंकि उन्होंने भगवान् के शुद्ध भक्तों, नव-योगेन्द्रों के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली है। इसलिए किसी को इस श्लोक का अर्थ मूर्खतावश प्रसंग से कट कर निर्विशेषवादी प्रकार का नहीं लगना चाहिए, अपितु राजा निमि के उदाहरण का अनुसरण करना चाहिए, जो यह समझने का प्रयास कर रहे हैं कि भगवान् अंततः किस तरह हर वस्तु के स्रोत हैं।

सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकमादौ
सूत्रं महानहमिति प्रवदन्ति जीवम् ।
ज्ञानक्रियार्थफलरूपतयोरुशक्ति
ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतोगुण; रजः—रजोगुण; तमः—तथा तमोगुण; इति—इस प्रकार ज्ञात; त्रि-वृत्—तीनों; एकम्—एक; आदौ—प्रारम्भ में, सृष्टि से पूर्व; सूत्रम्—कर्म करने की शक्ति; महान्—चेतना-शक्ति; अहम्—तथा मिथ्या अहंकार; इति—इस प्रकार; प्रवदन्ति—कहलाता है; जीवम्—(मिथ्या अहंकार, जो आच्छादित करता है) जीव को; ज्ञान—ज्ञान के साक्षात् रूप देवतागण; क्रिया—इन्द्रियाँ; अर्थ—इन्द्रिय-विषय; फल—तथा सुख-दुख के रूप में सकाम फल; रूपतया—रूप धारण करके; उरु-शक्ति—अनेक प्रकार की शक्ति से सम्पन्न; ब्रह्म एव—केवल ब्रह्म; भाति—प्रकट होता है; सत् असत् च—स्थूल इन्द्रियाँ तथा उनके सूक्ष्म कारण; तयोः—दोनों; परम्—परे; यत्—जो है।

ब्रह्म जो मूलतः एक है, वह त्रिगुण होकर विख्यात है और प्रकृति के तीन गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुणों—के रूप में अपने को प्रकट करता है। ब्रह्म इससे भी आगे अपनी शक्ति का विस्तार करता है। इस तरह मिथ्या अहंकार के साथ साथ कार्य करने की शक्ति तथा चेतना-शक्ति प्रकट होती है, जो बद्ध जीव के स्वरूप को ढक लेती है। इस तरह ब्रह्म की बहुविध शक्तियों के विस्तार से देवतागण ज्ञान के साक्षात् रूप में प्रकट होते हैं और उनके साथ साथ भौतिक इन्द्रियाँ, उनके विषय तथा कर्मफल—सुख-दुख—प्रकट होते हैं। इस तरह भौतिक जगत की अभिव्यक्ति सूक्ष्म कारण के रूप में तथा स्थूल भौतिक पदार्थों में दृश्य भौतिक कार्य

के रूप में होती है। ब्रह्म, जो कि समस्त सूक्ष्म तथा स्थूल अभिव्यक्तियों का स्रोत है, परम होने के कारण, उनसे परे भी रहता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में पिप्पलायन मुनि ने ब्रह्म को भौतिक इन्द्रिय-अनुभूति तथा मानसिक चिन्तन के परे बतलाया है। साथ ही यह भी कहा गया है *आत्ममूलम् अर्थोक्तम् आह यद्दते न निषेध सिद्धिः*—वेदों के निषेधात्मक आदेश परोक्षत: परब्रह्म के अस्तित्व को बतलाने वाले हैं। इस परब्रह्म तक सही साधनों से पहुँचा जा सकता है। अब इस श्लोक में स्पष्ट वर्णन हुआ है कि परब्रह्म की असंख्य शक्तियाँ हैं (*उरुशक्ति ब्रह्मैव भाति*)। इस तरह परब्रह्म के विस्तार से भौतिक जगत के स्थूल तथा सूक्ष्म स्वरूप प्रकट होते हैं। जैसाकि श्रील श्रीधर स्वामी ने कहा है—*कार्यं कारणाद् भिन्नं न भवति*—कारण से कार्य भिन्न नहीं है। चूँकि ब्रह्म का नित्य अस्तित्व है, अतएव ब्रह्म की शक्ति होने से इस भौतिक जगत को भी वास्तविक मान लेना चाहिए, यद्यपि भौतिक जगत की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ नश्वर तथा भ्रामक हैं। भौतिक जगत को असली तत्त्वों की अन्योन्य क्रियाओं से युक्त समझना चाहिए। यह भौतिक जगत बौद्धों तथा मायावादियों की कल्पना की तरह मिथ्या नहीं है, जो यह कहते हैं कि द्रष्टा के मन के बाहर इस भौतिक जगत का अस्तित्व नहीं होता। ब्रह्म की शक्ति रूप में इस भौतिक जगत का असली अस्तित्व है। किन्तु जीव क्षणिक अभिव्यक्तियों को मूर्खतावश स्थायी मानकर मोहग्रस्त हो जाता है। इस तरह भौतिक जगत मोहक शक्ति (माया) की तरह कार्य करता है, जिससे जीव वैकुंठ-लोक को भूल जाता है, जहाँ पर जीवन सच्चिदानन्दमय और शाश्वत है। चूँकि भौतिक जगत बद्धजीव को मोहग्रस्त बनाता है, इसलिए यह मोहमय कहलाता है। जब जादूगर मंच पर अपनी कलाबाजी दिखलाता है, तो दर्शक, जो कुछ देखता है, वह इन्द्रजाल (भ्रम) होता है। किन्तु जादूगर वास्तव में विद्यमान रहता है और उसी तरह टोपी तथा खरगोश भी, यद्यपि टोपी में से खरगोश का निकलना भ्रम है। इसी प्रकार जब जीव यह सोचते हुए कि ‘‘मैं अमरीकी हूँ, मैं भारतीय हूँ, मैं रूसी हूँ, मैं काला हूँ, मैं गोरा हूँ’’ और अपने आपको भौतिक जगत का अंश मान लेता है, तो वह भगवान् की भ्रामक शक्ति के जादू से मोहित हो जाता है। बद्धजीव को यह समझना चाहिए कि ‘‘मैं शुद्ध आत्मा हूँ, मैं कृष्ण का अंश हूँ। अब मैं अपने व्यर्थ के कार्य बन्द करूँ और कृष्ण की सेवा करूँ, क्योंकि मैं उनका अंश हूँ।’’ तब वह माया के भ्रम से मुक्त हो पाता है। यदि कोई यह घोषित करके कि

माया तो है ही नहीं और यह जगत मिथ्या है, कृत्रिम ढंग से माया के पाश से बचना चाहे, तो वह माया द्वारा उत्पन्न दूसरे भ्रम में जा पड़ता है, जिससे वह अज्ञान में रहता रहे। कृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.१४) में कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

जब तक मनुष्य मायेश अर्थात् माया के स्वामी के चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं करता, तब तक भ्रम से बच पाने की सम्भावना नहीं रहती। बच्चों की तरह यह कहना कि माया तो है ही नहीं व्यर्थ है, क्योंकि माया तो *दुरत्यया* है, अर्थात् क्षुद्र जीव द्वारा अलंघ्य है। किन्तु सर्वशक्तिमान कृष्ण इस माया को तुरन्त समाप्त कर सकते हैं।

इस श्लोक में ब्रह्म से भौतिक जगत के विस्तार होने का वर्णन हुआ है। चूँकि ब्रह्म भगवान् का एक अधीनस्थ स्वरूप है (*ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते*) इसलिए, जो व्यक्ति इस भौतिक जगत को ब्रह्म के रूप में मानता है, वह अपनी इन्द्रिय-तृप्ति एवं काल्पनिक चिंतन के माध्यम से अपनी निजी तुष्टि के निमित्त भौतिक शक्ति के दोहन की प्रवृत्ति से मुक्त हो जाता है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि चूँकि ब्रह्म को *एकम्* बतलाया गया है, तो फिर वह भौतिक जगत के नाना रूपों में किस प्रकार प्रकट होता है? इसीलिए इस श्लोक में *उरु-शक्ति* शब्द का प्रयोग हुआ है। ब्रह्म की अनेक शक्तियाँ हैं, जैसाकि *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में कहा गया है—*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।* परब्रह्म *शक्ति* नहीं अपितु *शक्तिमान* हैं। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार मनुष्य को चाहिए कि परब्रह्म के इन वर्णनों को विनयपूर्वक सुने। जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है *यथानलम् अर्चिषः स्वाः*—अग्नि की क्षुद्र चिनगारियाँ तेज के स्रोत प्रज्ज्वलित अग्नि को प्रकाशित करने की क्षमता नहीं रखतीं। इसी प्रकार क्षुद्र जीव, जो कि भगवान् की चिनगारी के समान है, अपनी क्षुद्र बौद्धिक शक्ति से भगवान् को प्रकाशित नहीं कर सकता है। यह तर्क किया जा सकता है कि सूर्य अपनी किरणों के रूप में अपनी शक्ति का विस्तार करता है और इन्हीं किरणों के प्रकाश से हम सूर्य को देख पाते हैं। इसी तरह हमें परब्रह्म की शक्ति के प्रसार से परब्रह्म को देख पाने में सक्षम होना चाहिए। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यदि सूर्य आकाश को ढकने वाला बादल उत्पन्न कर

देता है, तो सूर्य की किरणों के होने पर भी सूर्य नहीं देखा जा सकता। इसलिए सूर्य को देखने की शक्ति न केवल सूर्य-किरणों पर निर्भर करती है, अपितु स्वच्छ आकाश की उपस्थिति पर निर्भर करती है, जो कि सूर्य द्वारा ही व्यवस्थित है। इसी तरह जैसा इस श्लोक में कहा गया है, परब्रह्म के अस्तित्व को उनकी शक्तियों के विस्तार द्वारा जाना जा सकता है।

यद्यपि पिछले श्लोक में भौतिक इन्द्रियों तथा मन की शक्ति को बहिष्कृत कर दिया गया था, किन्तु यहाँ पर दिया हुआ प्रामाणिक वर्णन यह सूचित करता है कि मनुष्य प्रत्येक वस्तु को भगवान् की शक्ति-रूप में देख सकता है। इस सम्बन्ध में, नारद मुनि ने राजा प्राचीनबर्हि को निम्नवत् उपदेश दिया था—

अतस्तद् अपवादार्थं भज सर्वात्मना हरिम्।

पश्यंस्तदात्मकं विश्वं स्थित्युत्पत्त्यप्यया यत:॥

"तुम्हें यह जानना चाहिए कि भगवान् की इच्छा से इस जगत का सृजन, पालन और संहार होता है। अतएव इस जगत के भीतर हर वस्तु भगवान् के अधीन है। इस पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को सदैव भगवान् की भक्ति में लगे रहना चाहिए।" (भागवत ४.२९.७९) जैसाकि यहाँ पर कहा गया है—*भज सर्वात्मना हरिम्*—मनुष्य को भगवान् की पूजा इसलिए करनी चाहिए, जिससे उसकी चेतना उसी तरह स्वच्छ हो जाय, जिस तरह नीला आसमान शक्तिमान सूर्य के पूरी तरह प्रकट होने पर स्वच्छ हो जाता है। जब कोई व्यक्ति सूर्य को देखता है, तो उसे सूर्य की किरणें अपनी पूरी शक्ति में दिखलाई पड़ती हैं। इसी तरह जब कोई व्यक्ति कृष्ण की भक्ति में लगता है, तो उसके मन की भौतिक धूल साफ हो जाती है। तब वह न केवल भगवान् को देखता है, अपितु भगवान् के अंशों को आध्यात्मिक जगत के रूप में, शुद्ध भक्तों के रूप में, परमात्मा के रूप में, निर्विशेष ब्रह्मज्योति के रूप में और भौतिक जगत की सृष्टि के रूप में देखता है, जो कि भगवद्धाम की छाया के रूप में है (*छायेव*), जिसमें न जाने कितनी भौतिक विविधताएँ प्रकट होती हैं।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *फलम्* शब्द से *पुरुषार्थस्वरूपम्*—अर्थात् जीवन-लक्ष्य का वास्तविक स्वरूप या कि साक्षात् भगवान् का दिव्य रूप अर्थग्रहण करना चाहिए। जीव अपनी मूल शुद्ध अवस्था में भगवान् से भिन्न नहीं है। इसी प्रकार अनन्त ऐश्वर्यपूर्ण भगवद्धाम, जो कि वैकुण्ठ

कहलाता है, गुण की दृष्टि से भगवान् से अभिन्न है। इस तरह जब भगवान् अपने अद्वितीय ऐश्वर्य तथा अपने शुद्ध आध्यात्मिक दासों अर्थात् जीवों के साथ उपस्थित होते हैं, तो अत्यन्त सुखद स्थिति उत्पन्न होती है। परिवार की संसारी धारणा उस सुखद स्थिति का विकृत रूप है, जिसमें भगवान् अपने पूर्ण दिव्य ऐश्वर्य में अपने शुद्ध भक्तों से संयुक्त होते हैं। हर जीव को भगवद्धाम में भगवान् से संयुक्त होने का विकल्प प्राप्त है। अत: इस श्लोक से यह समझना चाहिए कि स्थूल तथा सूक्ष्म जगतों की प्रत्येक वस्तु भगवान् की शक्ति है, अतएव भगवान् की सेवा के निमित्त है। *ईशावास्यमिदं सर्वम्।*

श्रील जीव गोस्वामी ने विस्तृत व्याख्या देकर सिद्ध किया है कि सम्पूर्ण विराट जगत परब्रह्म की प्राकृतिक शक्ति है। कभी कभी भगवान् के ज्ञान से विहीन अंधविश्वासी लोग यह कहते हैं कि सारे भौतिक कार्यों का नियंत्रण एक स्वतंत्र शैतान द्वारा होता है और ईश्वर को ऐसे शैतान से संघर्ष करना होता है। भगवान् की सर्वशक्तिमान सत्ता के प्रति ऐसे निपट अज्ञान को इस श्लोक का तात्पर्य समझ कर दूर किया जा सकता है। जिस तरह एक चिनगारी प्रज्ज्वलित अग्नि का एक लघु प्राकट्य है, उसी तरह यहाँ पर विद्यमान हर वस्तु भगवान् की शक्ति की क्षुद्र चिनगारी के रूप में है। इसीलिए भगवान् ने *भगवद्गीता* (१०.४२) में कहा है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

"किन्तु हे अर्जुन! इस सारे विशद ज्ञान की आवश्यकता क्या है? मैं तो अपने एक अंशमात्र से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर इसको धारण करता हूँ।" वास्तव में सर्वशक्तिमान भगवान् हर जीव के शुभैषी मित्र हैं (*सुहृदं सर्वभूतानाम्*)। इसलिए यदि विज्ञ की तरह यह समझ लिया जाय कि हर एक के शुभेच्छु मित्र कृष्ण ही हर विद्यमान वस्तु के परम स्रोत तथा नियन्ता हैं, तो उसे तुरन्त शान्ति-लाभ होता है (*ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति*)। भय तथा मोह, तो तब उत्पन्न होते हैं, जब मनुष्य मूर्खतावश यह सोचता है कि इस सृष्टि का एक कण भी भगवान् की शक्ति द्वारा संचालित नहीं होता। *भयं द्वितीयाभिनिवेशत: स्यात्।* भौतिक जगत के अस्तित्व का निषेध भी मोह की भयावह स्थिति उत्पन्न कर देता है। दोनों ही तरह की नास्तिकता—भौतिक जगत को अपने से सम्बद्ध देखना तथा भौतिक जगत के अनस्तित्व की घोषणा—हर वस्तु के स्वामी तथा भोक्ता भगवान् की अधीनता न स्वीकार करने के

व्यर्थ प्रयास हैं। श्रील जीव गोस्वामी ने *विष्णु पुराण* से (१.३.१) श्री पराशर से श्री मैत्रेय द्वारा पूछे गये प्रश्न को उद्धृत किया है—

निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धयस्याप्यमलात्मनः।

कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते॥

"हम यह कैसे समझें कि ब्रह्म या परमात्मा सृजन, पालन तथा संहार करने वाले हैं, यद्यपि वे गुणरहित, अगाध, अशरीरी तथा किसी दोष से रहित हैं?" इसके उत्तर में श्री पराशर ने कहा—

शक्तयः सर्वभावानाम् अचिन्त्यज्ञानगोचराः।

यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः।

भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता॥

"केवल तर्क द्वारा यह नहीं बतलाया जा सकता कि भौतिक वस्तुएँ भी अपनी शक्ति का किस तरह का विस्तार करती हैं। इन वस्तुओं को परिपक्व प्रेक्षण द्वारा समझा जा सकता है। परब्रह्म भौतिक जगत के सृजन, पालन तथा संहार में अपनी शक्ति का विस्तार, वैसे ही करते हैं जिस प्रकार अग्नि अपनी उष्मा-शक्ति का विस्तार करती है।" (विष्णु पुराण १.३.२) श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि मूल्यवान रत्न की कीमत केवल तर्क द्वारा नहीं आँकी जा सकती, अपितु उसके प्रभाव को देखने से आँकी जाती है। इसी तरह मंत्र-शक्ति को इसके विशेष प्रभाव प्राप्त करने की शक्ति को परख कर ही समझा जा सकता है। ऐसी शक्ति तर्क पर आश्रित नहीं होती। बीज के उगने और बढ़कर वृक्ष के रूप में मानव-शरीर को पोषण प्रदान करने वाले फल देने के पीछे कोई तार्किक आवश्यकता नहीं है। कोई यह तर्क दे सकता है कि समूचे वृक्ष का आनुवंशिक कूट बीज में निहित है। किन्तु बीज के अस्तित्व के पीछे या बीज का विशाल वृक्ष बनने के पीछे कोई तर्क नहीं है। अद्‌भुत भौतिक प्रकृति के प्राकट्य के बाद मूर्ख भौतिक वैज्ञानिक बीज की विस्तार-शक्ति को घटनाओं के ऊपरी मनोवैज्ञानिक क्रम में ढूँढ़ निकालता है, किन्तु तथाकथित शुद्ध तर्क-शास्त्र के भीतर ऐसा कुछ नहीं, जो यह आदेश दे सके कि बीज को विस्तार करके वृक्ष बन जाना चाहिए। प्रत्युत ऐसे विस्तार को वृक्ष की शक्ति मानना चाहिए। इसी प्रकार रत्न की शक्ति उसकी रहस्यमयी शक्ति है और विविध मंत्रों में भी आन्तरिक शक्तियाँ रहती हैं। अन्ततः महामंत्र—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे/हरे राम हरे राम राम राम

हरे हरे—में ऐसी शक्ति है कि वह मनुष्य को आनन्द तथा ज्ञान के आध्यात्मिक जगत में पहुँचा दे। इसी प्रकार परब्रह्म में अपने को असंख्य भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों में विस्तार करने का सहज गुण पाया जाता है। हम इस विस्तार को तथ्य के बाद, तर्क द्वारा बतला सकते हैं, किन्तु परब्रह्म के विस्तार से इनकार नहीं कर सकते। बद्धजीव, जो कि भक्ति के माध्यम से अपनी चेतना को शुद्ध करता है, यहाँ पर वर्णित परब्रह्म के विस्तार का प्रेक्षण वैज्ञानिक ढंग से कर सकता है, जिस तरह कि नेत्र वाला व्यक्ति (जो अंधा नहीं है) बीज को वृक्ष में बढ़ते देख सकता है। बीज की शक्ति को कल्पना से नहीं, अपितु व्यावहारिक प्रेक्षण द्वारा समझा जा सकता है। इसी तरह मनुष्य को चाहिए कि अपनी दृष्टि को शुद्ध बना ले, जिससे वह परब्रह्म के विस्तार को व्यावहारिक रूप से देख सके। ऐसा अवलोकन या तो कानों से या आँखों से सम्भव है। वैदिक ज्ञान *शब्द-ब्रह्म* है अर्थात् शब्द के रूप में दिव्य शक्ति है। इसलिए दिव्य ध्वनि के विनीत श्रवण द्वारा परब्रह्म के कार्यों का अवलोकन किया जा सकता है। *शास्त्र-चक्षुस्।* जब मनुष्य की चेतना पूर्णतया शुद्ध बन जाती है, तो वह परब्रह्म का अनुभव अपनी सारी आध्यात्मीकृत इन्द्रियों से कर सकता है।

परब्रह्म या ईश्वर भौतिक गुणों अर्थात् सतो, रजो तथा तमोगुणों से विहीन हैं, क्योंकि वे दिव्य गुणों के आगार हैं, अतएव उन्हें भौतिक जगत के निम्न गुणों की आवश्यकता नहीं होती। जैसाकि *श्वेताश्वतर उपनिषद्* (४.१०) में कहा गया है—*मायां तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनं तु महेश्वरम्*—जान लो कि माया भौतिक शक्ति है, जबकि भगवान् माया के स्वामी हैं। इसी प्रकार *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है—*मायां च तदपाश्रयाम्*—माया सदैव भगवान् के अधीन है।

जिस तरह उपर्युक्त विवेचना से ज्ञात होता है कि यह भौतिक जगत भगवान् की निर्विशेष ब्रह्म-शक्ति का उद्भव है, उसी तरह ब्रह्म कृष्ण की शक्ति का अंश है, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*)। (*ब्रह्म-संहिता* ५.४०)

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-

कोटिष्वशेषवसुधादि विभूतिभिन्नम्।

तद् ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि निर्विशेष ब्रह्म में न तो दिव्य कर्म होता है, न परम पुमर्थ या मानव-जीवन का लाभ अर्थात् प्रेम। इसलिए यदि कोई व्यक्ति भगवान् के शारीरिक तेज के अंश से, जिसे ब्रह्म कहा जाता है, चकाचौंध हो जाता है और भगवान् को ठीक से जान नहीं पाता, तो उसके द्वारा भगवान् के आनन्दमय अंश के रूप में अपनी नित्य पहचान होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। इस विषय का सार *चैतन्य चरितामृत* (आदि १.१.३) में दिया गया है—

यदद्वैतं ब्रह्मोपनिषदि तदप्यस्य तनुभा

य आत्मान्तर्यामी पुरुष इति सोऽस्यांशविभवः।

षड्-ऐश्वर्यैः पूर्णो य इह भगवान् स स्वयमयं

न चैतन्यात् कृष्णाज्जगति परतत्त्वं परमिह॥

नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ
न क्षीयते सवनविद्व्यभिचारिणां हि ।
सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं
प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; आत्मा—आत्मा; जजान—उत्पन्न हुआ था; न—कभी नहीं; मरिष्यति—मरेगा; न—कभी नहीं; एधते—बढ़ता है; असौ—यह; न—नहीं; क्षीयते—क्षीण होता है; सवन-वित्—काल की इन अवस्थाओं का ज्ञाता; व्यभिचारिणाम्—जैसाकि अन्य परिवर्तनशील प्राणियों में घटित होते हैं; हि—निस्सन्देह; सर्वत्र—सभी जगह; शश्वत्—निरन्तर; अनपायि—कभी अप्रकट न होकर; उपलब्धि-मात्रम्—शुद्ध चेतना; प्राणः यथा—जिस तरह शरीर के भीतर प्राण-वायु; इन्द्रिय-बलेन—इन्द्रियों के बल से; विकल्पितम्—विभक्त मानते हुए; सत्—होकर।

नित्य आत्मा ब्रह्म न तो कभी जन्मा था और न कभी मरेगा। न ही वह बड़ा होता है न उसका क्षय होता है। वह आध्यात्मिक आत्मा वास्तव में भौतिक शरीर की युवावस्था, मध्यावस्था तथा भौतिक शरीर की मृत्यु का ज्ञाता है। इस प्रकार आत्मा को शुद्ध चेतना माना जा सकता है, जो सभी काल में सर्वत्र विद्यमान रहता है और कभी विनष्ट नहीं होता। जिस प्रकार प्राण एक होते हुए भी शरीर के भीतर विभिन्न इन्द्रियों के सम्पर्क में अनेक रूप में प्रकट होता है, उसी तरह वह एक आत्मा भौतिक शरीर के सम्पर्क में विविध भौतिक उपाधियाँ धारण करता प्रतीत होता है।

तात्पर्य : *भागवत* के इस अध्याय में *सर्वं खल्विदं ब्रह्म* इस वैदिक सूक्ति की व्याख्या की गई है। भगवान् हर वस्तु के मूल स्रोत हैं। वे अपनी अन्तरंगा शक्ति का विस्तार करके आध्यात्मिक जगत प्रकट

करते हैं और अपनी बहिरंगा शक्ति के विस्तार से भौतिक जगत को प्रकट करते हैं। बद्धजीव मूलतः भगवान् की परा (श्रेष्ठ) अन्तरंगा शक्ति के अंश हैं किन्तु मोह के सम्पर्क में रहने से वह बहिरंगा शक्ति के पाश में जा गिरते हैं। चूँकि हर अवस्था में प्रत्येक वस्तु परब्रह्म की शक्ति का अंश है अतएव हर वस्तु भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति का अंश है। *भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्याद् ईशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।* जब जीव यह सोचता है कि भौतिक जगत भगवान् की शक्ति का अंश नहीं है अपितु उसका पृथक् अस्तित्व है, जो क्षुद्र जीवात्मा द्वारा नियंत्रित तथा भुक्त हो सकता है, तो वह *विपर्ययः* अर्थात् गलत विचार से ग्रस्त रहता है। *अस्मृतिः*—इस तरह जीव भूल जाता है कि भगवान् हर वस्तु के स्वामी हैं और हर वस्तु भगवान् की अंश है।

श्रील श्रीधर स्वामी ने संकेत किया है कि यद्यपि भगवान् की बहिरंगा शक्ति में जन्म, वृद्धि, क्षय तथा मृत्यु जैसे रूपान्तर (विकार) होते हैं, किन्तु इससे यह मूर्खतापूर्ण निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि भगवान् की अन्तरंगा शक्ति रूपी जीव भी इन परिवर्तनों के अधीन है। जीव तथा प्रकृति दोनों ही अन्ततः ब्रह्म हैं, क्योंकि वे परब्रह्म के अंश हैं। किन्तु वेदों का स्पष्ट कथन है *परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*—भगवान् की शक्तियाँ *विविधा* अर्थात् अनेकरूपा हैं। इस तरह इस श्लोक के अनुसार *नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ न क्षीयते*—आत्मा न तो कभी उत्पन्न होता है, न मरता है और भौतिक शरीर की तरह निश्चय ही यह न तो बढ़ता है न ही इसका क्षय होता है। यद्यपि दृश्य भौतिक शरीर बालपन, युवावस्था तथा वृद्धावस्था से होकर गुजरता है या कि कोई देवता, मनुष्य, पौधे या पशु के रूप में जन्म ग्रहण कर सकता है, किन्तु आत्मा कभी भी अपनी नित्य स्वाभाविक स्थिति को नहीं छोड़ता। प्रत्युत वह झूठे ही अपनी पहचान भौतिक शरीर के बाह्य रूपान्तरों से करता है और इस तरह वह मोह नामक मनोवैज्ञानिक स्थिति का शिकार बनता है। अपने को प्रकृति के नियमों द्वारा रूपान्तरित एवं विनष्ट होते देखने का दयनीय मोहमय अनुभव अपने नित्य पद को भगवान् की पराशक्ति के रूप में जान करके ही समाप्त किया जा सकता है।

इस श्लोक में *सर्वत्र* शब्द का अर्थ मूर्खतावश जीवात्मा का सर्वव्यापक होना नहीं लेना चाहिए। आत्मा न तो जन्म लेता है, न मरता है। तो भी अपनी वर्तमान बद्ध अवस्था में हम झूठे ही शरीर के जन्म तथा मृत्यु से अपनी पहचान करते हैं। चूँकि सर्वव्यापक आत्मा कभी मोहग्रस्त नहीं होता, अतएव

सर्वत्र शब्द यह सूचित नहीं कर सकता कि व्यष्टि आत्मा सर्वव्यापक है। मोह वास्तविकता के अपूर्ण ज्ञान को बताने वाला है, जो कि सर्वव्यापक जीव के लिए सम्भव नहीं है। इसलिए *सर्वत्र* शब्द का अर्थ यह लगाना चाहिए कि शुद्ध आध्यात्मिक आत्मा समस्त भौतिक दशाओं में विद्यमान रहता है। उदाहरणार्थ, सुषुप्ति में हो सकता है चेतना खुल्लमखुल्ला प्रकट नहीं हो, फिर भी शरीर के भीतर आत्मा को विद्यमान मान लिया जाता है। इसी प्रकार *भगवद्गीता* से यह जाना जाता है कि आत्मा अग्नि, जल या बाह्य अवकाश में भी विद्यमान रह सकता है (नित्य: सर्वगत:) क्योंकि आत्मा कभी भी भौतिक दशाओं पर आश्रित नहीं होता, अपितु वह एक शाश्वत तथ्य है। आत्मा की चेतना किसी विशेष भौतिक दशा द्वारा प्रदत्त सम्भावनाओं के अनुसार कम या ज्यादा प्रकट हो सकती है, जिस तरह विद्युत् प्रकाश उपलब्ध बल्ब (लट्टू) के अनुसार किसी विशेष प्रखरता तथा रंग में प्रकट होता है। विद्युत् शक्ति एक है, किन्तु भौतिक दशाओं के अनुसार विविध रूपों में प्रकट होती है।

यह तर्क दिया जा सकता है कि यद्यपि आत्मा शुद्ध चेतना है (*उपलब्धिमात्रम्*), किन्तु यह हमारा व्यावहारिक अनुभव है कि चेतना निरन्तर बदलती रहती है। यदि मैं आकाश जैसे नीले पदार्थ के विषय में सोच रहा हूँ, तो फूल जैसे किसी पीले पदार्थ के विषय में इसके पूर्व का मेरा विचार विनष्ट हो जाता है। इसी प्रकार यदि मुझे पता चल जाता है कि मैं भूखा हूँ, तो नीले आकाश की मेरी चेतना नष्ट हो जाती है। इस तरह चेतना निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। श्रील श्रीधर स्वामी ने उत्तर दिया है कि चेतना स्वयं तो नित्य है, किन्तु भौतिक इन्द्रियों के सम्पर्क में आने से यह अनेक प्रकार से प्रकट हो सकती है। प्राण का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। *प्राण* एक है, किन्तु विभिन्न इन्द्रियों के सम्पर्क में वह देखने, सुनने इत्यादि की शक्तियों के रूप में प्रकट होता है। इसी तरह आध्यात्मकि होने से चेतना अन्तत: एक है, किन्तु विविध इन्द्रियों के सम्पर्क में होने से इसे विशेष इन्द्रिय-व्यापार के रूप में अनुभव किया जा सकता है। किन्तु चेतना की अवस्था एक शाश्वत तथ्य है, जिसे बदला नहीं जा सकता, यद्यपि अस्थायी रूप से वह माया द्वारा आवृत हो सकती है।

जब कोई व्यक्ति कृष्णभावनाभावित हो जाता है, तो वह *धीर* मान लिया जाता है (*धीरस्तत्र न मुह्यति*)। उस समय वह अपनी चेतना की झूठी पहचान प्रकृति के रूपान्तरों के रूप में करके मोहग्रस्त नहीं होता।

छान्दोग्य उपनिषद् में प्राप्त *तत्त्वमसि* कथन से यह समझा जाना चाहिए कि आध्यात्मिक ज्ञान निर्विशेष नहीं है, अपितु भौतिक शरीर के भीतर शुद्ध आत्मा की क्रमिक अनुभूति करना है। जिस तरह *भगवद्गीता* में कृष्ण बारम्बार *अहम्* का प्रयोग करते हैं, उसी तरह इस वैदिक सूक्ति में *त्वम्* का प्रयोग यह सूचित करने के लिए हुआ है कि जिस तरह परब्रह्म भगवान् है, उसी तरह ब्रह्म (*तत्*) की हर चिनगारी भी नित्य पुरुष (*त्वम्*) है। इसलिए श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार ब्रह्म की हर चिनगारी नित्य चेतन है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने यह भी इंगित किया है कि सत्य के निर्विशेष पक्ष को समझने में समय न गँवाकर, अपने आप को *जीव* कोटि में नित्य चेतन जीव समझना चाहिए। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को चाहिए कि अपने को भगवान् का चेतन दास समझे।

इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य ने *महाभारत* के *मोक्ष-धर्म* खण्ड से निम्नलिखित वक्तव्य उद्धृत किया है—

अहं हि जीवसंज्ञो वै मयि जीवः सनातनः।
मैवं त्वयानुमन्तव्यं दृष्टो जीवो मयेति ह।
अहं श्रेयो विधास्यामि यथाधिकारमीश्वरः॥

"जीवात्मा मुझसे भिन्न नहीं है, क्योंकि वह मेरा अंश है। इस तरह जीव मेरे ही समान नित्य है और वह मेरे भीतर सदैव स्थित रहता है। किन्तु तुम कृत्रिम रूप से यह न सोच बैठना कि मैंने आत्मा को देख लिया है। प्रत्युत मैं भगवान् तुम्हें वह वर तब दूँगा, जब तुम सचमुच इसके योग्य हो जाओगे।"

अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु
प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र ।
सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते
कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः ॥ ३९॥

शब्दार्थ

अण्डेषु—अण्डों (से उत्पन्न योनियों) में; पेशिषु—भ्रूणों में; तरुषु—पौधों में; अविनिश्चितेषु—अनिश्चित उत्पत्ति वाली (पसीने से उत्पन्न) योनियों में; प्राणः—प्राण-वायु; हि—निश्चय ही; जीवम्—आत्मा; उपधावति—पीछा करता है; तत्र तत्र—एक योनि से दूसरी में; सन्ने—मिल जाते हैं; यत्—जब; इन्द्रिय-गणे—सारी इन्द्रियाँ; अहमि—मिथ्या अहंकार; च—भी; प्रसुप्ते—गहरी निद्रा में; कूट-स्थः—अपरिवर्तित; आशयम्—दूषित चेतना का सूक्ष्म आवरण, लिंग शरीर; ऋते—रहित; तत्—उसके; अनुस्मृतिः—पश्चर्ती स्मरणशक्ति; नः—हमारी।

इस भौतिक जगत में आत्मा कई जीव योनियों में जन्म लेता है। कुछ योनियाँ अंडों से उत्पन्न होती हैं, कुछ भ्रूण से, कुछ पौधों और वृक्षों के बीजों से तो कुछ स्वेद से उत्पन्न होती हैं। किन्तु समस्त योनियों में प्राण अपरिवर्तित रहता है और वह आत्मा के पीछे पीछे एक शरीर से दूसरे में चला जाता है। इसी प्रकार आत्मा विभिन्न जीवन-स्थितियों के बावजूद निरन्तर वही बना रहता है। हमें इसका व्यावहारिक अनुभव है। जब हम बिना स्वप्न देखे प्रगाढ़ निद्रा में होते हैं, तो भौतिक इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं, यहाँ तक कि मन तथा मिथ्या अहंकार भी निष्क्रिय हो जाते हैं, किन्तु जब मनुष्य जागता है, तो वह स्मरण करता है कि आत्मारूप वह शान्ति से सो रहा था, यद्यपि इन्द्रियाँ, मन और मिथ्या अहंकार निष्क्रिय थे।

तात्पर्य : जब जीव जगा रहता है, तो इन्द्रियाँ तथा मन निरन्तर सक्रिय रहते हैं। इसी तरह जब मनुष्य सोता है, तो मिथ्या अहंकार मनुष्य के जागृत अनुभवों का स्मरण करता है और इस तरह सोते समय स्वप्नों या स्वप्न-खण्डों का अनुभव होता है। किन्तु *प्रसुप्ति* अर्थात् गहरी निद्रा की अवस्था में मन तथा इन्द्रियाँ दोनों ही निष्क्रिय हो जाते हैं और मिथ्या अहंकार पहले के अनुभवों या इच्छाओं को स्मरण नहीं कर पाता। सूक्ष्म मन तथा मिथ्या अहंकार *लिंग-शरीर* अथवा सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं। यह लिंग-शरीर क्षणिक उपाधियों के रूप में—जैसे कि मैं धनी हूँ, मैं बली हूँ, मैं काला हूँ, मैं गोरा हूँ, मैं अमरीकी हूँ, मैं चीनी हूँ—के रूप में अनुभव किया जाता है। मनुष्य के भ्रामक विचारों का कुल योग *अहंकार* कहलाता है। और इस भ्रामक जीवन-विचार के ही कारण जीव एक योनि से दूसरी में देहान्तरण करता रहता है, जैसाकि *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है। किन्तु आत्मा अपने सच्चिदानन्द रूप को नहीं बदलता, भले ही आत्मा क्षण-भर के लिए इस स्थिति को भूल जाये। इस तरह की स्थिति का उदाहरण दिया जा सकता है : यदि कोई रात में यह स्वप्न देखे कि वह जंगल में घूम रहा है, तो इस स्वप्न से मनुष्य की यह वास्तविक स्थिति नहीं बदलती कि वह अपने कमरे में बिस्तर पर लेटा है। इस तरह इस श्लोक में कहा गया है *कूटस्थ आशयम् ऋते*—सूक्ष्म शरीर के परिवर्तन के बावजूद आत्मा परिवर्तित नहीं होता। श्रील श्रीधर स्वामी ने इस बात को निम्नलिखित उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। *एतावन्तं कालं सुखम् अहम् अस्वाप्सम् न किञ्चिद् अवेदिषम्।* मनुष्य प्राय: सोचता है कि ''मैं तो शान्ति से सो रहा था, यद्यपि न तो मैं स्वप्न देख रहा था, न ही मुझे किसी बात का पता था।'' यह तर्क

द्वारा समझा जा सकता है कि मनुष्य को जिस बात का अनुभव नहीं हुआ रहता, उसको वह स्मरण नहीं रख सकता। इसलिए चूँकि मनुष्य को शान्तिपूर्वक सोते रहना स्मरण है, यद्यपि उसे मानसिक या ऐन्द्रिय अनुभव नहीं था, ऐसी स्मृति को आत्मा का अस्पष्ट अनुभव मानना चाहिए।

श्रील मध्वाचार्य ने बतलाया है कि इस ब्रह्माण्ड के उच्चतर लोकों की मानव जैसी श्रेष्ठ जातियों वाले देवतागण सामान्य मनुष्यों की भाँति गहरी नींद के स्थूल अज्ञान में नहीं पड़ते। श्रेष्ठ बुद्धि वाले होने से देवतागण नींद के समय अज्ञान में लीन नहीं होते। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।* नींद *अपोहनम्* या विस्मृति है। कभी कभी स्वप्न देखते समय *स्मृति* अर्थात् वास्तविक स्थिति की याद रहती है, यद्यपि नींद में मनुष्य के परिवार वाले या मित्रगण परिवर्तित मोहमय अवस्था में दिखते हैं। किन्तु स्मृति तथा विस्मृति की ऐसी सारी अवस्थाएँ हृदय के भीतर परमात्मा की उपस्थिति के कारण होती हैं। परमात्मा की कृपा से मनुष्य को यह स्मरण करके कि वह बिना किसी मानसिक या ऐन्द्रिक अनुभव के ही किस तरह शान्तिपूर्वक विश्राम कर रहा था, आत्मा की प्रारम्भिक झाँकी मिल जाती है।

इस श्लोक में आये *अविनिश्चितेषु* शब्द का अर्थ प्रामाणिक टीकाओं के अनुसार *स्वेदजेषु* अर्थात् पसीने से उत्पन्न है। श्रील मध्वाचार्य ने संकेत किया है *भूस्वेदेन हि प्रायोजायन्ते*—पृथ्वी की ओस को पृथ्वी का पसीना मानना चाहिए और विविध योनियाँ ओस से उत्पन्न हैं। *मुण्डक उपनिषद्* (३.१.९) में प्राण के सम्बन्ध में आत्मा की स्थिति बतलाई गई है—

ऐषोऽनूरात्मा चेतसा वेदितव्यो

यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश।

प्राणैश्चित्तं सर्वमोतम् प्रजानां

यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥

"आत्मा परमाणु के आकार का होता है और परिपूर्ण बुद्धि के द्वारा ही अनुभवगम्य है। यह परमाणु तुल्य आत्मा पाँच प्रकार के वायु (प्राण, अपान, व्यान, समान तथा उदान) में तैरता रहता है। आत्मा हृदय के भीतर स्थित है और यह शरीरधारी जीवों के पूरे शरीर में अपना प्रभाव फैलाता है। जब

आत्मा को पाँच प्रकार की भौतिक वायु के कल्मष से शुद्ध कर दिया जाता है, तो इसका आध्यात्मिक प्रभाव प्रकट होता है।'' इस प्रकार असंख्य योनियों में आत्मा प्राण के भीतर स्थित रहता है।

यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या
चेतोमलानि विधमेद्गुणकर्मजानि ।
तस्मिन्विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं
शाक्षाद्यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यर्हि—जब; अब्ज-नाभ—जिसकी नाभि कमल जैसी है, ऐसे भगवान् के; चरण—चरण; एषणया—(केवल) इच्छा करने से; उरु-भक्त्या—शक्तिशाली भक्ति द्वारा; चेतः—हृदय की; मलानि—धूल; विधमेत्—धो डालती है; गुण-कर्म-जानि—प्रकृति के गुणों तथा इन गुणों के कार्यों से उत्पन्न; तस्मिन्—उस; विशुद्धे—पूर्णतया शुद्ध (हृदय); उपलभ्यते—अनुभव किया जाता है; आत्म-तत्त्वम्—आत्मा का असली स्वभाव; साक्षात्—प्रत्यक्ष; यथा—जिस तरह; अमल-दृशोः—शुद्ध आँखों के; सवितृ—सूर्य की; प्रकाशः—अभिव्यक्ति।

जब मनुष्य अपने हृदय में भगवान् के चरणकमलों को जीवन के एकमात्र लक्ष्य के रूप में स्थिर करके भगवान् की भक्ति में गम्भीरतापूर्वक संलग्न होता है, तो वह अपने हृदय के भीतर स्थित उन असंख्य अशुद्ध इच्छाओं को विनष्ट कर सकता है, जो प्रकृति के तीन गुणों के अन्तर्गत उसके पूर्वकर्मों के फल के कारण संचित होती हैं। जब इस तरह हृदय शुद्ध हो जाता है, तो वह भगवान् को तथा अपने को दिव्य जीवों के रूप में प्रत्यक्षतः अनुभव कर सकता है। इस तरह वह प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा आध्यात्मिक ज्ञान में निष्णात् हो जाता है, जिस तरह कि सामान्य स्वस्थ दृष्टि द्वारा सूर्य-प्रकाश का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में यह बताया जा चुका है कि मनुष्य नित्य अपरिवर्तित आत्मा की प्रारम्भिक झाँकी अपनी शान्त निद्रा के अनुभव का स्मरण करके प्राप्त कर सकता है, यद्यपि उस निद्रा में मन तथा इन्द्रियाँ पूरी तरह निष्क्रिय थीं। यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि गहरी निद्रा में आत्मा का प्रारम्भिक अनुभव हो जाता है, तो जागने पर मनुष्य क्यों मोहमय जगत में लौट आता है? इसका उत्तर यह होगा कि हृदय के भीतर भौतिक इच्छाएँ के घर कर जाने से बद्धजीव भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति के अज्ञान का आदी हो जाता है। कोई कैदी कारागार के भीतर से बाहर के प्रकाश की झाँकी पा सकता है, तो भी वह कारागार में बन्दी बना रहता है। इसी प्रकार यद्यपि बद्धजीव को आत्मा की झाँकी मिल जाती है, किन्तु वह भौतिक इच्छाओं के बन्धन में जकड़ा रहता है। इसलिए भले ही मनुष्य को नश्वर

शरीर के भीतर स्थित नित्य आत्मा की या कि हृदय के भीतर आत्मा के संग रहने वाले परमात्मा की प्रारम्भिक जानकारी हो जाय, किन्तु तो भी भौतिक इच्छा को हटाने के लिए विशेष विधि की आवश्यकता पड़ती है।

जैसाकि *भगवद्गीता* (८.६) में बतलाया गया है—

यं यं वापि स्मरन भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तं एवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित: ॥

''शरीर त्यागते समय मनुष्य जिस भी स्थिति का स्मरण करता है, वह उसे अवश्य प्राप्त करता है।'' मृत्यु के समय मनुष्य की इच्छा के ही अनुसार प्रकृति द्वारा उसे उपयुक्त भौतिक देह प्रदान की जाती है। *कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये*—मनुष्य की सकाम इच्छाओं तथा कर्मों के अनुसार एवं भगवान् के प्रतिनिधिरूप देवताओं की देखरेख में जीव को एक विशेष शरीर प्रदान किया जाता है, जिसे जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था तथा रोग जैसे कष्ट झेलने पड़ते हैं। यदि कोई किसी विशेष घटना के कारण को हटा सकता है, तो वह उसके प्रभाव(कार्य) को भी हटा सकता है। इसलिए यह श्लोक बतलाता है कि मनुष्य को भगवान् के चरणकमलों की शरण की ही कामना करनी चाहिए। उसे भौतिक समाज, मैत्री तथा प्रेम की भ्रामक इच्छाएँ त्याग देनी चाहिए, क्योंकि ऐसी इच्छाएँ और भी भौतिक बन्धन का कारण बनती हैं। मनुष्य को अपना मन भगवान् कृष्ण में स्थिर करना चाहिए, जिससे मृत्यु के समय वह कृष्ण को अवश्य स्मरण कर सके। जैसाकि *भगवद्गीता* (८.५) में भगवान् कहते हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन मुक्त्वा कलेवरम्।

य: प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशय: ॥

''जो कोई भी जीवन के अन्त में केवल मेरा स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करता है, वह तुरन्त मेरे स्वभाव को प्राप्त होता है, इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं है।'' भगवान् कृष्ण सबों के वास्तविक आश्रय हैं। और ज्योंही भक्तियोग के माध्यम से किसी का हृदय निर्मल हो जाता है, त्योंही वह भगवान् का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है।

भगवद्गीता में भगवान् को प्राप्त करने की अवस्था का वर्णन इन शब्दों में हुआ है—*ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्* और कभी कभी निर्विशेषवादी इन शब्दों को तोड़-मरोड़ कर इनमें *ब्रह्म-सायुज्यम्* का वर्णन पाते हैं। इस श्लोक में स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि मनुष्य को अपना मन तथा अपनी भक्ति *अब्ज-नाभ* अर्थात् भगवान् के चरणकमलों पर स्थिर करना चाहिए। यदि जीव भगवान् के तुल्य होता, तो वह अपनी शुद्धि के लिए केवल स्वयं को सोचता। किन्तु तब भी एक विरोधाभास उठ खड़ा होता—भगवान् को शुद्ध होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि *भगवद्गीता* में उन्हें परम शुद्ध—*पवित्रं परमम्*—कहा गया है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वैदिक साहित्य के कथनों को तोड़-मरोड़ कर निर्विशेषवादी अर्थ निकालने का प्रयत्न न करे।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है कि इस श्लोक में इंगित भक्ति की पूर्णावस्था को ध्रुव महाराज जैसे महान् भक्तों के कार्यों में देखा जा सकता है। ध्रुव महाराज भगवान् के पास भौतिक स्तर पर राजनीतिक समझौते की इच्छा से गये थे, किन्तु जब वे भगवन्नाम का कीर्तन करके शुद्ध हो गये (*ॐ नमो भगवते वासुदेवाय*) तो उन्हें और अधिक इन्द्रिय-तृप्ति की आवश्यकता नहीं रही। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कन्ध में कहा गया है *जनयत्याशु वैराग्यम्*—ज्योंही मनुष्य भक्ति में आगे बढ़ता है, तो वह ऊपरी भौतिक इच्छाओं की झंझट से मुक्त हो जाता है।

इस श्लोक में *उपलभ्यत आत्मतत्त्वम्* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि *आत्मतत्त्वम्* भगवान् के साथ साथ उनके विविध अंशों के ज्ञान को भी सूचित करता है—यथा निर्विशेष ब्रह्मज्योति तथा स्वयं तटस्थ जीव भी। *साक्षात्* शब्द से यह सूचित होता है कि भगवान् का दर्शन करने का अर्थ है भगवान् के साकार रूप, उनके हाथ-पाँव, उनके विविध दिव्य यानों तथा दासों आदि का साक्षात् दर्शन करना, जिस तरह सूर्य देव की भक्ति से क्रमशः सूर्य देव के शरीर के साथ साथ उनका रथ और उनके सेवक भी दिखने लगते हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने संकेत किया है कि ३५वें श्लोक से लेकर ३९वें श्लोक तक मानक तर्क की विविध अवस्थाओं का प्रदर्शन हुआ है। श्लोक ३५ में *विषय*—सामान्य विचारधारा की स्थापना की गई है, श्लोक ३६ में *संशय* व्यक्त हुआ है, श्लोक ३७ में *पूर्वपक्ष* अर्थात् विरोधी तर्क प्रस्तुत हुआ है, श्लोक ३८ में *सिद्धान्त* अर्थात् निष्कर्ष है और श्लोक ३९ में *संगति*—सारांश—दिया

गया है। संगति अर्थात् अन्तिम शब्द यह है कि मनुष्य को भगवान् का शुद्ध भक्त बन कर उनके चरणकमलों की पूजा करनी चाहिए। इस तरह अपने हृदय रूपी दर्पण को स्वच्छ करके भगवान् का दर्शन उसी तरह किया जा सकता है, जिस तरह स्वस्थ २०/२० दृष्टि वाला व्यक्ति सूर्य की प्रखर किरणों को देख सकता है या सूर्य देव का उच्च भक्त सूर्य देव के साकार शरीर को देख सकता है।

श्रीराजोवाच
कर्मयोगं वदत नः पुरुषो येन संस्कृतः ।
विधूयेहाशु कर्माणि नैष्कर्म्यं विन्दते परम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; कर्म-योगम्—ब्रह्म से अपने कर्म को जोड़ने का अभ्यास; वदत—कृपया बतलायें; नः—हमको; पुरुषः—व्यक्ति; येन—जिससे; संस्कृतः—परिष्कृत होकर; विधूय—छूट कर; इह—इस जीवन में; आशु—तुरन्त; कर्माणि—भौतिकतावादी कर्म; नैष्कर्म्यम्—सकाम कर्मफल से मुक्ति; विन्दते—भोग करता है; परम्—दिव्य।

राजा निमि ने कहा : हे मुनियो, हमें *कर्मयोग* की विधि के विषय में बतलायें। परम पुरुष को अपने व्यावहारिक कर्म समर्पित करने की इस विधि से शुद्ध होकर व्यक्ति अपने को इस जीवन में भी समस्त भौतिक कार्यों से मुक्त कर सकता है और इस तरह दिव्य पद पर शुद्ध जीवन का भोग कर सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (३.५) में कहा गया है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणै॥

"प्रत्येक व्यक्ति को प्रकृति से उत्पन्न गुणों के अनुसार विवश होकर कर्म करना पड़ता है, अतः कोई एक क्षण के लिए भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता।" चूँकि जीव निष्क्रिय नहीं रह सकता, अतएव उसे अपने कर्म भगवान् को समर्पित करना सीखना चाहिए। श्रील प्रभुपाद ने भगवद्गीता के इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है : "यह देहधारी जीवन का प्रश्न नहीं है, परन्तु आत्मा स्वभाव से ही सदैव सक्रिय रहता है। आत्मा की अनुपस्थिति में भौतिक शरीर हिल भी नहीं सकता। यह शरीर जड़ वाहन के समान है, जो आत्मा द्वारा चालित होता है, क्योंकि आत्मा सदैव गतिशील (सक्रिय) रहता है और वह एक क्षण के लिए भी नहीं रुक सकता। अतः आत्मा को कृष्णभावनामृत के सद्कर्म में प्रवृत्त रखना चाहिए, अन्यथा वह माया द्वारा शासित कार्यों में प्रवृत्त होता रहेगा। माया के संसर्ग में

आकर आत्मा भौतिक गुण प्राप्त कर लेता है और आत्मा को ऐसे आकर्षणों से शुद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट कर्मों में इसे संलग्न रखा जाय। किन्तु यदि आत्मा कृष्णभावनामृत के अपने स्वाभाविक कर्म में निरत रहता है, तो वह जो भी करता है, उसके लिए कल्याणप्रद होता है।''

सामान्य लोग प्रायः कृष्णभावनामृत आन्दोलन के भक्तों के व्यस्त कार्यों को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि वे ऐसे कार्यों को सामान्य भौतिक कार्य समझ बैठते हैं। श्रील जीव गोस्वामी ने इस सम्बन्ध में बतलाया है कि *काम्यकर्माण्येव त्याजितानि, न तु नित्यनैमित्तिकानि, फलस्यैव विनिन्दितत्वात्।* मनुष्य को अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए सम्पन्न किये जाने वाले स्वार्थमय कार्यों को त्याग देना चाहिए, क्योंकि ऐसे विचाररहित कर्म का फल और अधिक भव-बन्धन का कारण बनता है। किन्तु उसे चाहिए कि वह अपने नियमित अथवा वृत्तिपरक कार्यों को भगवान् को समर्पित करता चले। इस तरह ये कर्म दिव्य भक्ति बन जाते हैं। *तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्* शब्दों के द्वारा इस अध्याय में स्पष्ट बतलाया गया है कि अपने कर्मों को भगवान् की सेवा से जोड़ देना एक कला है, जिसे प्रामाणिक गुरु के चरणकमलों में बैठ कर सीखना चाहिए। अन्यथा सनक में आकर अपने भौतिकतावादी कर्म को दिव्य भक्ति घोषित कर बैठने से कोई वास्तविक परिणाम नहीं निकलेगा। इसलिए श्री जीव गोस्वामी के अनुसार *नैष्कर्म्यम्* शब्द से निष्क्रियता समझने की भूल नहीं करनी चाहिए, प्रत्युत यह शब्द भगवान् तथा उनके प्रतिनिधि के निर्देशन में दिव्य कर्म को सूचित करता है।

एवं प्रश्नमृषीन्पूर्वमपृच्छं पितुरन्तिके ।
नाब्रुवन्ब्रह्मणः पुत्रास्तत्र कारणमुच्यताम् ॥ ४२॥

शब्दार्थ

एवम्—इसी तरह का; प्रश्नम्—प्रश्न; ऋषीन्—ऋषियों से; पूर्वम्—इसके पहिले भी; अपृच्छम्—मैंने पूछा था; पितुः—अपने पिता (इक्ष्वाकु महाराज) के; अन्तिके—समक्ष; न अब्रुवन्—वे नहीं बोले; ब्रह्मणः—ब्रह्मा के; पुत्राः—पुत्र; तत्र—उसका; कारणम्—कारण; उच्यताम्—कहिये।

एक बार विगत काल में अपने पिता महाराज इक्ष्वाकु की उपस्थिति में मैंने ब्रह्मा के चार महर्षि पुत्रों से ऐसा ही प्रश्न पूछा था, किन्तु उन्होंने मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। कृपया इसका कारण बतलायें।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर के अनुसार *ब्रह्मण: पुत्रा:* शब्द सनक ऋषि आदि चार कुमारों के लिए प्रयुक्त हुआ है। श्रील मध्वाचार्य ने *तरंग भागवत* से एक श्लोक उद्धृत करते हुए बताया है कि महाजन तथा भक्ति-विज्ञान में दक्ष होते हुए भी ब्रह्मा के चार पुत्रों ने राजा निमि को उत्तर देने से इसलिए इनकार कर दिया था, क्योंकि वे यह दिखला देना चाहते थे कि ज्ञान के अनुशीलन में दक्ष लोग भी भक्ति के वास्तविक विज्ञान को नहीं समझ सकते। श्रील जीव गोस्वामी ने यह भी टीका की है कि ऋषियों ने राजा के प्रश्नों का उत्तर इसलिए नहीं दिया, क्योंकि उस समय राजा निमि बालक थे, अतएव वे उनके उत्तर को भलीभाँति समझने में परिपक्व नहीं थे।

श्रीआविर्होत्र उवाच
कर्माकर्म विकर्मेति वेदवादो न लौकिकः ।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

श्री-आविर्होत्रः उवाच—आविर्होत्र ने कहा; कर्म—शास्त्रों द्वारा संस्तुत कार्यों की सम्पन्नता; अकर्म—ऐसे कार्यों को कर पाने में असफलता; विकर्म—निषिद्ध कर्मों में लगना; इति—इस प्रकार; वेद-वादः—वेदों के माध्यम से समझा गया विषय; न—नहीं; लौकिकः—संसारी; वेदस्य—वेदों का; च—तथा; ईश्वर-आत्मत्वात्—भगवान् से आने के कारण; तत्र—इस विषय में; मुह्यन्ति—मोहग्रस्त हो जाते हैं; सूरयः—बड़े बड़े पंडित (भी)।

श्री आविर्होत्र ने उत्तर दिया : कर्म, अकर्म तथा विकर्म ऐसे विषय हैं, जिन्हें वैदिक साहित्य के प्रामाणिक अध्ययन द्वारा ही भलीभाँति समझा जा सकता है। इस कठिन विषय को संसारी कल्पना के द्वारा कभी भी नहीं समझा जा सकता। प्रामाणिक वैदिक साहित्य भगवान् का शब्दावतार है, इस प्रकार वैदिक ज्ञान पूर्ण है। वैदिक ज्ञान की सत्ता की उपेक्षा करने से बड़े बड़े पंडित तक कर्म-योग को समझने में भ्रमित हो जाते हैं।

तात्पर्य : शास्त्र द्वारा नियत कर्तव्य *कर्म* कहलाते हैं और अपने सर्वोच्च कर्तव्य को न सम्पन्न कर पाना *अकर्म* है। निषिद्ध कर्मों को सम्पन्न करना *विकर्म* कहलाता है। इस प्रकार, कर्म, अकर्म तथा विकर्म की स्थापना वैदिक साहित्य की प्रामाणिक व्याख्याओं द्वारा होती है। उन्हें मात्र तर्क की संसारी विधियों द्वारा निश्चित नहीं किया जा सकता। *श्रीमद्भागवत* (६.१६.५१) में भगवान् कहते हैं *शब्दब्रह्म परं ब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू:* मैं वेदों की दिव्य ध्वनि का स्वरूप हूँ, जो ॐकार तथा हरे कृष्ण हरे राम के रूप में हैं, और मैं परम सत्य हूँ। ये दोनों—दिव्य वैदिक ध्वनि तथा अर्चाविग्रह का नित्य आनन्दमय स्वरूप—मेरे शाश्वत रूप हैं, ये भौतिक नहीं हैं। इसी प्रकार *भागवत* में अन्यत्र (६.१.४०) कहा गया है

वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम—वेद प्रत्यक्ष रूप से भगवान् नारायण हैं और स्वयम्भू हैं। ऐसा हमने यमराज से सुना है। *पुरुष सूक्त* (*ऋग्वेद, मण्डल* १०, सूक्त ९०, मंत्र ९) में कहा गया है—*तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्*—उस यज्ञ से सभी की आहुतियाँ, आवाह्न स्तुतियाँ तथा प्रशंसा-गीत उत्पन्न हुए। वेदों के सारे मंत्र भगवान् से उत्पन्न हुए। भगवान् के सारे अवतार पूर्णतया दिव्य हैं और बद्ध जीवन के चार दोषों—भूल, मोह, ठगी तथा अपूर्ण इन्द्रियों—से मुक्त हैं। इस तरह वैदिक ज्ञान भगवान् का स्वांश होने से, उन्हीं की तरह अच्युत तथा दिव्य है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि भगवान् की माया से नियंत्रित इस भौतिक जगत में किसी शब्द-ध्वनि को उसके लक्ष्य को बताकर त्याग दिया जाता है। किन्तु वैकुण्ठ-लोक में कोई भी वस्तु नष्ट नहीं होती। इस तरह *शब्द ब्रह्म* नित्य है।

सामान्य बातचीत में शब्दों का अर्थ वक्ता के मनोभाव को समझ कर निश्चित किया जाता है। किन्तु वैदिक ज्ञान के *अपौरुषेय* अथवा दिव्य होने से उसे शिष्य-परम्परा से प्राप्त आदर्श विद्वान से ही सुन कर समझा जा सकता है। इस विधि की संस्तुति स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* में की है (*एवं परम्पराप्राप्तम्*)। इस तरह वैदिक ज्ञान के चरम अर्थ को निश्चित कर पाने में बड़े बड़े विद्वान जो अहंकार में इस परम्परा की उपेक्षा करते हैं, मोहग्रस्त हो जाते हैं, ब्रह्मा के चारों पुत्रों ने राजा निमि के प्रश्नों का उत्तर देने से इसलिए इनकार कर दिया, क्योंकि उस समय राजा निरे बालक थे, अतएव परम्परा-प्राप्त श्रवण-विधि की शरण में आ पाने में असमर्थ थे। श्रील मध्वाचार्य ने इस सम्बन्ध में इंगित किया है—*ईश्वरात्मत्वाद् ईश्वरविषयत्वात्।* चूँकि सारे वेद असीम भगवान् का वर्णन करते हैं, अतएव समझने की सांसारिक विधियों से वैदिक ज्ञान तक नहीं पहुँचा जा सकता।

परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् ।
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥ ४४॥

शब्दार्थ

परोक्ष-वादः—किसी वस्तु के असली स्वरूप को छिपाने के लिए उसे अन्य रूप में प्रस्तुत करना; वेदः—वेद; अयम्—ये; बालानाम्—बचकाने लोग; अनुशासनम्—निर्देशन; कर्म-मोक्षाय—भौतिक कार्यों से मुक्ति के लिए; कर्माणि—भौतिक कार्य; विधत्ते—संस्तुति करते हैं; हि—निस्सन्देह; अगदम्—औषधि; यथा—जिस तरह।

बचकाने तथा मूर्ख लोग भौतिकतावादी सकाम कर्मों के प्रति आसक्त रहते हैं, यद्यपि जीवन का वास्तविक लक्ष्य ऐसे कर्मों से मुक्त बनना है। इसलिए वैदिक आदेश सर्वप्रथम सकाम

धार्मिक कर्मों की संस्तुति करके मनुष्य को परोक्ष रीति से चरम मोक्ष के मार्ग पर ले जाते हैं, जिस तरह पिता अपने पुत्र को दवा पिलाने के लिए उसे मिठाई देने का वादा करता है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।* वेद प्रकृति के तीनों गुणों के ही अन्तर्गत सकाम फल प्रदान करते हैं। जो लोग सतोगुणी कर्मकाण्ड या तपस्या करते हैं, उन्हें स्वर्गलोक जाने का अवसर प्रदान किया जाता है। *अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।* इसी तरह जो लोग रजोगुण के अन्तर्गत कर्मकाण्ड या सकाम धार्मिक कर्म करते हैं उन्हें इसी पृथ्वी पर महान् शासक या धनिक बनने और महान् प्रतिष्ठा तथा पार्थिव शक्ति भोगने का अवसर दिया जाता है। किन्तु जैसाकि *मनु-संहिता* में कहा गया है : *प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला*—यद्यपि बद्धजीवों में कर्मकाण्ड अत्यन्त लोकप्रिय है, किन्तु वास्तविक जीवन-सिद्धि तो तब मिलती है, जब कोई व्यक्ति सारे सकाम प्रयास छोड़ देता है।

यदि पिता अपने बच्चे से कहता है, "मेरा आदेश है, तुम दवा पिओ" तो वह बच्चा डर सकता है और उत्पात मचाकर दवा को ग्रहण नहीं करता। इसलिए पिता उस सन्तान को यह कह कर लुभाता है, "मैं तुम्हें स्वादिष्ट मिठाई दूँगा, किन्तु तब, जब तुम यह दवा पी लो।" ऐसा अप्रत्यक्ष फुसलाना *परोक्षवाद:* कहलाता है—परोक्ष वर्णन जिसमें वास्तविक अभिप्राय को छिपा लिया जाता है। पिता अपनी सन्तान के समक्ष अपना प्रस्ताव इस रूप में रखता है, मानो असली उद्देश्य मिठाई प्राप्त करना है, जिसे पाने के लिए छोटी-सी शर्त पूरी करनी है। किन्तु वस्तुत: पिता का लक्ष्य बच्चे को दवा पिलाकर उसे रोग से मुक्त कराना है। इस प्रकार मूल प्रयोजन को परोक्ष रूप से बताना और गौण प्रस्ताव से उसे छिपाना *परोक्षवाद* कहलाता है।

चूँकि अधिकांश बद्धजीव इन्द्रिय-तृप्ति के आदी होते हैं (*प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्*) इसलिए वैदिक कर्मकाण्ड के अनुष्ठान उन्हें स्वर्ग जाने या पृथ्वी पर शासन करने का पद प्रदान करने जैसे लोभ दिखलाकर उन्हें क्षणिक भौतिकतावादी इन्द्रिय-तृप्ति से अपने को छुड़ाने का अवसर प्रदान करते हैं। समस्त वैदिक अनुष्ठानों में विष्णु की पूजा की जाती है। इस तरह मनुष्य को धीरे धीरे यह समझने दिया जाता है कि उसका हित विष्णु की शरण जाने में है। *न ते विदु: स्वार्थगतिं हि विष्णुम्।* ऐसी परोक्ष विधि *बालानाम्* अर्थात् मूर्खों के लिए है। बुद्धिमान व्यक्ति परोक्ष विधि से तुरन्त ही वैदिक साहित्य के

वास्तविक प्रयोजन को समझ लेता है, जैसाकि स्वयं भगवान् ने बतलाया है (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:*)। समस्त वैदिक ज्ञान का चरम लक्ष्य भगवान् के चरणकमलों की शरण प्राप्त करना है। ऐसी शरण के बिना मनुष्य माया द्वारा प्रदत्त ८४,००,००० योनियों में चक्कर लगाता रहता है। सामान्य रूप से भौतिक दृष्टि अपूर्ण ज्ञान प्रदान करती है, जो भ्रामक भौतिक भोग की इच्छा से विकृत होता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर की टीका है कि बद्धजीवों के लिए निर्विशेष आत्म-साक्षात्कार का अनुशीलन भी एक उत्पात है, क्योंकि निर्विशेष चिन्तन विधि एकदम रूपविहीन बनने का कृत्रिम प्रयास है। ऐसा प्रयास वेदों के उस सही निर्णय के अनुसार नहीं है, जिसका वर्णन *भगवद्गीता* में हुआ है (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:*)।

श्री चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन में व्यर्थ ही सकाम फल पाने की और धीरे धीरे वास्तविक ज्ञान की ओर खींचे जाने की आवश्यकता नहीं रहती। श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुसार—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

कलियुग में जीवन अत्यल्प है (*प्रायेणाल्पायुष:*) और लोग सामान्य रूप से उद्धत (*मन्दा:*), कुमार्गगामी (*सुमन्दमतय:*) तथा अपने पूर्वकर्मों के प्रतिकूल फलों से अभिभूत (*मन्दभाग्या:*) होते हैं। इस तरह उनके मन कभी भी शान्त नहीं रहते (*उपद्रुता:*) और उनकी अल्पायु उन्हें वैदिक कर्मकाण्ड के मार्ग से धीरे धीरे प्रगति करने की संभावना से विचलित करती है। इसलिए एकमात्र यही आशा बचती है कि भगवान् के नाम *हरेर्नाम* का कीर्तन किया जाय। *श्रीमद्भागवत* (१२.३.५१) में कहा गया है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुण:।

कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंग: परं व्रजेत्॥

कलियुग दिखावे तथा प्रदूषण का सागर है। कलियुग में सारे प्राकृतिक तत्त्व यथा जल, पृथ्वी, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—प्रदूषित हो चुके हैं। इस पतित युग का केवल एक ही शुभ पक्ष है और वह है भगवन्नाम का कीर्तन (*अस्ति ह्येको महान् गुण:*)। एकमात्र कृष्ण-कीर्तन की उल्लासमयी विधि से मनुष्य इस पतित युग के साथ जुड़े सम्बन्ध से मुक्त हो सकता है (*मुक्तसंग:*) और वापस घर

को अर्थात् भगवद्धाम जा सकता है (*परं व्रजेत्*)। कभी कभी कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रचारक भी *परोक्षवाद* का प्रयोग करते हैं—वे बद्धजीवों को मुग्ध करने के लिए अच्छी अच्छी मिठाइयाँ देते हैं, जिससे वे भगवान् के चरणकमलों में आयें। चैतन्य महाप्रभु का आन्दोलन *केवल आनन्दकाण्ड* अर्थात् केवल आनन्द है। किन्तु महाप्रभु की दया से कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रति परोक्ष रूप से आकृष्ट व्यक्ति भी शीघ्र ही जीवन-सिद्धि प्राप्त करके भगवद्धाम वापस जाता है।

नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः ।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

न आचरेत्—नहीं करता है; यः—जो; तु—लेकिन; वेद-उक्तम्—वेदों में संस्तुत किया हुआ; स्वयम्—खुद; अज्ञः—अज्ञानी; अजित-इन्द्रियः—जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं किया; विकर्मणा—शास्त्र-कर्म न करने से; हि—निस्सन्देह; अधर्मेण—अधर्म द्वारा; मृत्योः मृत्युम्—मृत्यु के बाद फिर मृत्यु; उपैति—प्राप्त करता है; सः—वह।

यदि कोई अज्ञानी जिसने भौतिक इन्द्रियों को वश में नहीं किया है, वह वैदिक आदेशों में अटल नहीं रहता, तो वह निश्चय ही पापमय तथा अधार्मिक कार्यों में लिप्त रहेगा। इस तरह उसको बारम्बार जन्म-मृत्यु भोगना पड़ेगा।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बतलाया गया था कि यद्यपि वेदों में सकाम कर्म की संस्तुति की गई है, किन्तु मनुष्य-जीवन का वास्तविक लक्ष्य अपने को समस्त भौतिकतावादी कार्यकलापों से मुक्त करना है। इसलिए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उन वैदिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने की कोई जरूरत नहीं है, जो संयमित इन्द्रिय-तृप्ति प्रदान करने वाले हैं। किन्तु अज्ञानी व्यक्ति, या यों कहें कि जिसने यह नहीं समझा कि वह भौतिक शरीर नहीं, अपितु कृष्ण का अंशरूप नित्य आत्मा है, वह अपनी भौतिक इन्द्रियों के वेगों को वश में करने में अक्षम होगा। इस तरह संयमित इन्द्रिय-तृप्ति का भोग बताने वाले वैदिक आदेशों की उपेक्षा करने वाला व्यक्ति पापपूर्ण असंयमित इन्द्रिय-तृप्ति के गड्ढे में जा गिरता है। उदाहरणार्थ, जो लोग मैथुन-इच्छा से पीड़ित रहते हैं, उन्हें *विवाह यज्ञ* करने का आदेश दिया जाता है। हम प्राय: देखते हैं कि तथाकथित ब्रह्मचारी मिथ्या गर्व के कारण विवाह को माया कह कर तिरस्कृत करते हैं। किन्तु यदि ऐसा ब्रह्मचारी अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रख पाता, तो वह निस्सन्देह अवैध यौन में रत होकर जिसका वैदिक संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं है, अपने को नीचे गिरायेगा। इसी तरह कृष्णभावनामृत के नौसिखिया को जी-भरकर *कृष्ण प्रसादम्* खाने के लिए

प्रोत्साहित किया जाता है। कभी कभी भक्तियोग का कच्चा अभ्यासकर्ता विकट भोजन की आदतें प्रदर्शित करने लगता है, जिसके कारण वह असंयमित तथा गर्हित भोज्य वस्तुएँ खाने लगता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *मृत्योर्मृत्युम् उपैति* शब्दों का अर्थ यह है कि मृत्यु के स्वामी यमराज पापी व्यक्ति को नर्क जाने का मुफ्त टिकट काट देते हैं। इसी का वर्णन वेदों में इस प्रकार हुआ है : *मृत्वा पुनर्मृत्युम् आपद्यते अर्द्यमान: स्वकर्मभि:*—जो लोग अपने भौतिकतावादी कर्मों से अपने को असह्य पीड़ा पहुँचाते हैं, उन्हें मृत्यु के समय शान्ति नहीं मिलती, क्योंकि उन्हें पुन: ऐसी स्थिति में डाल दिया जायेगा, जिसमें मृत्यु होनी है। इसलिए जिनकी इन्द्रियाँ अभी वश में नहीं हुई हैं, उन्हें वैदिक कर्मकाण्डों का यथा विवाह या *यज्ञशिष्ट* का परित्याग नहीं करना चाहिए।

पिछले श्लोक में बच्चे को दवा पिलाने के लिए पिता द्वारा मिठाई से, उसे लुभाये जाने का उदाहरण दिया गया था। यदि बच्चा यह सोच कर पिता की दी हुई मिठाई त्याग देता है कि वह अनावश्यक है, तो वह बालक उस दवा को पीने का अवसर हाथ से चला जाने देता है, जो उसे स्वस्थ बनाने वाली है। इसी तरह, यदि कोई भौतिकतावादी व्यक्ति निर्देश्य इन्द्रिय-तृप्ति के लिए वैदिक आदेशों को ठुकराता है, तो वह शुद्ध नहीं बन सकता, अपितु वह और भी पतित होगा। श्रील जीव गोस्वामी ने भौतिकतावादी व्यक्ति का वर्णन उस व्यक्ति के रूप में किया है, जिसका मन तथा बुद्धि भगवान् के सन्देश में श्रद्धापूर्वक स्थिर नहीं रहते। *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन द्वारा प्रतिनिधित्व करने वाले बद्धजीवों को जीवन के वास्तविक लक्ष्य के विषय में अद्भुत बातें बताई हैं। जो व्यक्ति इन उपदेशों में अपने मन को स्थिर नहीं कर पाता, उसे ऐसा भौतिकतावादी व्यक्ति मानना चाहिए, जो पापकर्मों में रुचि रखता है और अतएव जिसे आदर्श वैदिक आदेशों का पालन करना चाहिए। ऐसे वैदिक आदेश श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार सकाम होते हुए भी *पुण्य* माने जाते हैं, अतएव जो इनका दृढ़ता से पालन करता है, उसे नर्क नहीं जाना पड़ता। स्वयं भगवान् ने *भागवत* (११.२०.९) में कहा है—

तावत कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।

मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

“मनुष्य को तब तक वैदिक कर्मकाण्ड करते रहना चाहिए, जब तक वह भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति से विरक्त नहीं हो जाता और मेरे विषय में श्रवण तथा कीर्तन करने में श्रद्धा उत्पन्न नहीं कर लेता।”

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि वेदों में संस्तुति की गई है कि मनुष्य प्रातःकाल उठे, स्नान करे और गायत्री मंत्र का उच्चारण करे। यदि वह ऐसे अनुशासित संयमित जीवन को जान-बूझकर त्यागता है, तो वह धीरे धीरे स्थूल इन्द्रिय-तृप्ति के लिए कर्म करने लगता है—अर्थात् वह होटलों में भोजन करता है और स्त्रियों के साथ अवैध सम्बन्ध बनाता है। इस तरह अपनी इन्द्रियों को वश में न रख पाने से वह पशुवत् बन जाता है। श्रील मध्वाचार्य ने इस सन्दर्भ में टीका की है : *अज्ञः सन्नाचरन्नपि।* भले ही अज्ञान में सही, किन्तु अपने कर्मों का भावी फल न सोच कर वह कर्म करता जाता है। *भगवद्गीता* में अपने कर्मों के भावी फल के प्रति उदासीनता को तमोगुण का लक्षण बतलाया गया है। जिस प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति ऐसे मार्ग में मोटर-कार नहीं चलायेगा, जिसमें खतरा हो, उसी तरह बुद्धिमान व्यक्ति अवैदिक कर्म नहीं करेगा, यदि वह यह जानता है कि अन्तिम परिणाम विपत्ति के रूप में होगा, जिसे यहाँ *मृत्योः मृत्युमुपैति* शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने कहा है कि अज्ञानी व्यक्ति कभी कभी सोचते हैं कि मृत्यु के बाद मनुष्य को स्वयमेव शान्ति प्राप्त होगी। किन्तु पापकर्मों के फलस्वरूप मनुष्य को सबसे अधिक अशान्त दशा प्राप्त होती है, क्योंकि भौतिक कर्म के क्षणिक फल के बदले में मनुष्य को नर्क-यातना भोगनी ही पड़ेगी। ऐसी नारकीय दशा एक बार नहीं, अपितु सदा के लिए और बारम्बार भोगनी होगी, जब तक मनुष्य वैदिक आदेशों से विमुख रहेगा।

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे ।
नैष्कर्म्यं लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

वेद-उक्तम्—वेदों में वर्णित नियमित कर्म; एव—निश्चय ही; कुर्वाणः—करते हुए; निःसङ्गः—किसी आसक्ति के बिना; अर्पितम्—प्रदत्त; ईश्वरे—भगवान् को; नैष्कर्म्यम्—भौतिक कर्म तथा इसके फलों से मुक्ति के; लभते—प्राप्त करता है; सिद्धिम्—सिद्धि; रोचन-अर्था—प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से; फल-श्रुतिः—वैदिक शास्त्रों में दिये गये भौतिक फल के वायदे।

निर्लिप्त होकर वेदों द्वारा निर्दिष्ट नियमित कार्यों को सम्पन्न करने और ऐसे कार्य के फल भगवान् को अर्पित करने से मनुष्य को भौतिक कर्म के बन्धन से मुक्ति रूपी सिद्धि मिल जाती

है। प्रामाणिक शास्त्रों में प्रदत्त भौतिक कर्मफल वैदिक ज्ञान के चरम लक्ष्य नहीं हैं, अपितु कर्ता में रुचि उत्पन्न कराने के निमित्त हैं।

तात्पर्य : मनुष्य-जीवन प्रकृति के नियमों द्वारा बद्धजीव को प्रदत्त किया गया अवसर है, जिससे वह भगवान् के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को समझ सके। दुर्भाग्यवश मनुष्य-योनि में भी जीव भोजन, निद्रा, सुरक्षा तथा मैथुन जैसी पाशविक वृत्तियों के स्तर को बढ़ाने में लगा रहता है। लगभग कोई भी व्यक्ति जीवन की वास्तविक सफलता—कृष्णभावनामृत—के प्रति रुचि नहीं लेता।

श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रश: ।

अपश्यताम् आत्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम् ॥

''जो लोग भौतिकता में बुरी तरह उलझे हैं और परम सत्य के ज्ञान के विषय में अंधे हैं, उन्हें हे सम्राट! मानव समाज में सुनने के लिए अनेक विषय हैं।'' (भागवत २.१.२)

कहा गया है कि *परमकारुणिको वेद:*—वैदिक ज्ञान अत्यन्त कृपालु है—क्योंकि यह पाशविक वृत्ति वाले मनुष्यों को शुद्धि की क्रमिक प्रक्रिया में लगाता है, जिसकी चरम परिणति भगवान् कृष्ण की परम चेतना है। इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् द्वारा *भगवद्गीता* में हुई है (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:*)। अधिकांश मनुष्य भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति को सहसा त्याग नहीं पाते। यद्यपि वैदिक साहित्य से वे यह समझते हैं कि ऐसी इन्द्रिय-तृप्ति का भविष्य में घातक प्रभाव पड़ता है। हमें पाश्चात्य देशों में इसका व्यावहारिक अनुभव हुआ जब सरकार ने नागरिकों को सूचित किया कि सिगरेट पीने से फेफड़े का कैंसर होता है, तो अधिकांश लोग अपनी धूम्रपान की आदत नहीं छोड़ पाये। इसलिए वैदिक साहित्य शुद्धि की मन्द प्रक्रिया की संस्तुति करता है, जिसमें बद्धजीव अपने भौतिक कर्मों का फल भगवान् को अर्पित करना सीखता है और इस तरह उन कर्मों को आध्यात्मिक बनाता है। भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति दो अंगों पर आधारित है—स्वाद चखने के लिए जीभ तथा यौन-जीवन के लिए जननेन्द्रियाँ। कृष्ण के अर्चाविग्रह को स्वादिष्ट भोजन भेंट करके तब उच्छिष्ट को कृष्ण-प्रसादम् के रूप में खाने और वैदिक गृहस्थ जीवन के विधि-विधानों को स्वीकार कर कृष्णभावनाभावित सन्तान उत्पन्न करने से मनुष्य सारे भौतिक कर्मों को शुद्ध भक्ति का पद प्रदान करा सकता है। अपने सामान्य कार्यों के फल को भगवान् को अर्पित करने से मनुष्य धीरे धीरे समझता है कि साक्षात् भगवान् ही जीवन के वास्तविक लक्ष्य हैं,

भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति नहीं। भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में आगाह किया है कि यदि लोगों को समय से पूर्व गृहस्थ जीवन या भगवान् के भव्य प्रसाद के उच्छिष्ट को त्यागने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है, तो ऐसे कृत्रिम त्याग से विपरीत प्रभाव पड़ेगा।

ऐसे छद्मी लोगों का एक वर्ग है, जो वेदों के दिव्य प्रयोजन का गलत अर्थ लगाकर झूठे ही दावा करता है कि स्वर्ग जाने जैसा कर्मफल, जो कि अग्निष्टोम यज्ञ में प्रदान किया जाता है, वेदों का चरम लक्ष्य है। ऐसे मूर्ख लोगों का वर्णन भगवान् कृष्ण ने इस प्रकार किया है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥

"अल्पज्ञानी मनुष्य वेदों के उन अलंकारमय शब्दों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं, जो स्वर्ग की प्राप्ति, अच्छे जन्म, शक्ति इत्यादि के लिए विविध कर्म करने की संस्तुति करते हैं। इन्द्रिय-तृप्ति तथा ऐश्वर्यमय जीवन की अभिलाषा के कारण ही, वे ऐसा कहते हैं कि इससे बढ़कर और कुछ नहीं है।" (भगवद्गीता २.४२-४३) वैदिक अभिप्राय के ऐसे मूर्खतापूर्ण ज्ञान का खंडन करने के लिए इस श्लोक में *निःसंगः* शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है "भौतिक परिणाम के प्रति अनासक्ति।" वेदों का वास्तविक प्रयोजन *अर्पितम् ईश्वरे* अर्थात् भगवान् को हर वस्तु अर्पित करना है। परिणाम होता है *सिद्धिम्* अर्थात् जीवन की पूर्णता या कृष्णभावनामृत।

रोचनार्था फलश्रुतिः शब्द स्पष्ट इंगित करते हैं कि वैदिक साहित्य में जिन कर्मफलों का वायदा किया गया है वे भौतिकतावादी पुरुष में वैदिक आदेशों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कराने के लिए हैं। यहाँ पर यह उदाहरण दिया जाता है कि बच्चे को मिश्री से लेपित दवा दी जाती है। बालक दवा लेने के लिए इसलिए प्रोत्साहित होता है, क्योंकि उसमें मिश्री का लेप लगा है, जबकि प्रौढ़ व्यक्ति सीधे दवा ले लेगा, क्योंकि वह जानता रहता है कि यह दवा उसके वास्तविक हित में है। *बृहदारण्यक उपनिषद्* (४.४.२२) में वैदिक ज्ञान के परिपक्व पद का उल्लेख हुआ है : *तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन च*—वेदों की शिक्षा देने से तथा ब्रह्मचर्य, तपस्या,

श्रद्धा तथा नियमित भोजन से बड़े बड़े ब्राह्मणगण परम पुरुष को जान पाते हैं। यह परम पुरुष कृष्ण हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है। यद्यपि कभी कभी वेदों के बताये गये अनुष्ठान भौतिक सकाम कर्म के सदृश लग सकते हैं, किन्तु यह कर्म आध्यात्मिक बन जाता है, क्योंकि इसका फल ब्रह्म को अर्पित रहता है। मिश्री–लेपित दवा तथा सामान्य मिश्री देखने या स्वाद में एक–जैसी हो सकती है। किन्तु मिश्री–लेपित दवा में, जो औषधीय गुण है, वह सामान्य मिश्री में नहीं पाया जाता। इसी प्रकार इस श्लोक में आए शब्द *नैष्कर्म्यं लभते सिद्धिम्* से यह सूचित होता है कि वैदिक आदेशों का पालनकर्ता क्रमशः जीवन की सर्वोच्च सिद्धि, शुद्ध भगवत्प्रेम, को प्राप्त होता है जैसाकि चैतन्य महाप्रभु ने कहा है (*प्रेमा पुमर्थो महान्*)।

य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः ।
विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् ॥ ४७॥

शब्दार्थ

यः—जो; आशु—शीघ्रता से; हृदय-ग्रन्थिम्—हृदय की गाँठ को (भौतिक देह से झूठी पहचान); निर्जिहीर्षुः—काटने का इच्छुक; परात्मनः—दिव्य आत्मा का; विधिना—विधानों से; उपचरेत्—उसे पूजा करनी चाहिए; देवम्—भगवान्; तन्त्र-उक्तेन—तंत्रों द्वारा वर्णित; च—तथा (वेदोक्तम के अतिरिक्त); केशवम्—भगवान् केशव को।

जो व्यक्ति आत्मा को जकड़कर रखने वाली मिथ्या अहंकार की गाँठ को तुरन्त काट देने का इच्छुक होता है, उसे वैदिक ग्रंथों यथा तंत्रों में प्राप्त अनुष्ठानों के द्वारा, भगवान् केशव की पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : वैदिक ग्रंथों में परम सत्य के ऐसे गुह्य वर्णन मिलते हैं, जो दार्शनिक चिन्तन के लिए प्रेरित करते हैं। जो लोग कर्मकाण्ड का पालन करते हैं, उन्हें वेद स्वर्गिक फल प्रदान करते हैं। किन्तु जैसाकि इस अध्याय के श्लोक ४४ में कहा गया है वेदों के ऐसे ज्ञानकाण्ड तथा कर्मकाण्ड *बालानाम् अनुशासनम्* हैं—अर्थात् वेदों के ये खण्ड उन अल्पज्ञों या बचकाने लोगों को आकृष्ट करने के लिए हैं, जो ज्ञान तथा कर्म के प्रति आसक्त रहते हैं, ताकि वे वैदिक आदेशों का सहारा लेकर कृष्णभावनामृत के पूर्ण पद तक क्रमशः उन्नति कर सकें।

चूँकि भौतिकतावादी लोगों के लिए अनेक श्लोकों में मार्ग बतलाया जा चुका है, अतः यह श्लोक *विज्ञः* अर्थात् विद्वान अध्यात्मवादियों के लिए विधि बतलाने वाला है। ऐसे विद्वान अध्यात्मवादियों को नियमित पूजा करने की सलाह दी जाती है, जिसका वर्णन भगवान् को प्रत्यक्ष प्रसन्न करने के लिए *श्री*

नारदपञ्चरात्र जैसे वैष्णव तंत्रों में हुआ है। *उपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्* वाक्य यह इंगित करता है कि भगवान् केशव की प्रत्यक्ष पूजा की जाय, जो अपने भक्तों को प्रसन्न करने के लिए विविध अवतारों में प्रकट होते हैं। श्रील जयदेव गोस्वामी ने भगवान् की लीलाओं का वर्णन अपने उस गीत में किया है, जिसमें भगवान् केशव के प्रमुख दश अवतार वर्णित हैं—ये हैं मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंहदेव, वामन, परशुराम, रामचन्द्र, बलराम, बुद्ध तथा कल्कि। *उपचरेद् देवम्* शब्द भगवान् की भक्ति के सूचक हैं। इसलिए *तन्त्रोक्तेन* शब्द से श्री नारद पञ्चरात्र जैसे वैष्णव तंत्रों का अर्थ ग्रहण किया जाना चाहिए, जिसमें केशव की पूजा करने की स्पष्ट एवं विस्तृत विधि दी गई है। वेदों का द्योतन *निगम* शब्द द्वारा किया गया है। इन निगमों की विस्तृत व्याख्या *आगम* या *तंत्र* कहलाती है। जब दिव्य जीव भौतिक शरीर के द्वन्द्वों से बेहूदा तरीके से त्रस्त होने लगता है, तो वह अपनी दिव्य स्थिति के विषय में वेदों से सुनना चाहता है। *आशु* शब्द द्योतन करता है कि जो लोग इस संसार से जल्दी छुटकारा पाने के इच्छुक हैं और पूर्ण ज्ञान के नित्य आनन्दमय जीवन को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें पिछले श्लोकों में वर्णित प्राथमिक वैदिक अनुष्ठानों को एक ओर रख कर सीधे भगवान् कृष्ण की पूजा करनी चाहिए।

लब्ध्वानुग्रह आचार्यात्तेन सन्दर्शितागमः ।
महापुरुषमभ्यर्चेन्मूर्त्याभिमतयात्मनः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

लब्ध्वा—प्राप्त करके; अनुग्रहः—कृपा; आचार्यात्—गुरु से; तेन—उसके द्वारा; सन्दर्शित—दिखाया जाकर; आगमः—वैष्णव तंत्रों (द्वारा दी गई पूजा-विधि); महा-पुरुषम्—परम पुरुष को; अभ्यर्चेत्—शिष्य को चाहिए कि पूजे; मूर्त्या—विशेष साकार रूप में; अभिमतया—जिसे अच्छा समझा जाय; आत्मनः—अपने से।

शिष्य को वैदिक शास्त्रों के आदेश बतलाने वाले अपने गुरु की कृपा प्राप्त करके, उसे चाहिए कि वह भगवान् के अत्यन्त आकर्षक किसी विशिष्ट साकार रूप में, परमेश्वर की पूजा करे।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *लब्ध्वानुग्रहः* शब्द गुरु द्वारा औपचारिक दीक्षा का सूचक है। *पद्म पुराण* में कहा गया है—

षट्कर्मनिपुणो विप्रो मन्त्रतन्त्रविशारदः ।
अवैष्णवो गुरुर्न स्याद् वैष्णवः श्वपचो गुरुः ॥

प्रामाणिक गुरु को भगवान् के चरणकमलों में शरणागत जीव होना चाहिए। *ब्रह्मवैवर्त पुराण* में कहा गया है—

बोधः कलुषितस्तेन दौरात्म्यं प्रकटीकृतम्।

गुरुर्येन परित्यक्तस्तेन त्यक्तः पुरा हरिः॥

"जब कोई अपने ही गुरु को त्याग देता है, तो वह अपनी बुद्धि को कलुषित करता है और चरित्र की अतीव दुर्बलता को प्रकट करता है। निस्सन्देह ऐसा व्यक्ति भगवान् हरि को पहले ही त्याग चुका होता है।" प्रामाणिक शिष्य को सदैव स्मरण रखना चाहिए कि उसका सारा वैदिक ज्ञान उसके प्रामाणिक गुरु की कृपा से ही प्राप्त है। यदि कोई व्यक्ति ऊपर से या सनकवश प्रामाणिक वैष्णव गुरु को अपनाता तथा त्यागता है और कभी कभी अन्य गुरु की ओर आकृष्ट होता है, तो वह *वैष्णव अपराध* करता है, जो भगवद्भक्तों के विरुद्ध एक महान् अपराध होता है। कभी कभी मूर्ख नौसिखिया भूल से सोचता है कि गुरु के साथ उसका सम्बन्ध शिष्य की इन्दिय-तृप्ति के लिए है, इसलिए आध्यात्मिक आकांक्षाओं के नाम पर ऐसा मूर्ख अपने प्रामाणिक वैष्णव गुरु का परित्याग कर देता है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने को गुरु का नित्य दास माने। किन्तु श्रील जीव गोस्वामी ने *नारदपञ्चरात्र* से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

अवैष्णवोपदिष्टेन मन्त्रेण निरयं व्रजेत्।

पुनश्च विधिना सम्यग् ग्राहयेद् वैष्णवाद् गुरोः॥

"जिसने अवैष्णव से मंत्र-दीक्षा ली है, उसे नर्क जाना होगा। अतएव उसे निर्धारित विधि से वैष्णव गुरु द्वारा उचित ढंग से पुनः दीक्षित हो लेना चाहिए।" प्रामाणिक गुरु का यह कर्तव्य है कि वह शिष्य की योग्यता का सतर्कतापूर्वक परीक्षण करे। इसी तरह शिष्य को चाहिए कि वह प्रामाणिक गुरु के पास जाये। अन्यथा मूर्ख शिष्य तथा मनमाना गुरु दोनों ही प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित होते हैं।

मनुष्य को वैदिक ज्ञान की समस्त विवादास्पद लगने वाली शाखाओं को कृत्रिम रूप से आत्मसात् नहीं करना चाहिए। *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।* बद्धजीवों की विविध प्रकृतियाँ विरोधी हैं, जो विरोधी वैदिक आदेशों अर्थात् *प्रवृत्ति* तथा *निवृत्ति मार्ग* में लगी होती हैं। किन्तु सबसे सरल मार्ग है कि *अद्वय ज्ञान* भगवान् विष्णु की नियमित पूजन-विधि को ही सीखा जाय। वेदों में वर्णित सारे देवतागण भगवान्

विष्णु की सेवा के निमित्त साज-सामग्री हैं। इस दृश्य जगत में जो कुछ पाया जाता है, वह भी भगवान् की सेवा में लगाये जाने के निमित्त है, अन्यथा उसका कोई मूल्य नहीं है। यदि कोई व्यक्ति भगवान् की सेवा के लिए उपयोगी वस्तुओं का बनावटी परित्याग करता है, तो वह हर वस्तु को कृष्ण के आनन्द हेतु देखने की दिव्य योग्यता खो बैठता है और भौतिक वस्तुओं को अपनी इन्द्रियों के भोग हेतु मानने पर विवश हो जायेगा। दूसरे शब्दों में, भौतिक वस्तुओं को परमेश्वर के आनन्द के अनुसार स्वीकार करना या त्यागना चाहिए। अन्यथा वह शुद्ध भक्ति के पद से नीचे गिर जायेगा। जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है *लब्ध्वानुग्रह आचार्यात्*—ऐसा विवेक तभी सीखा जा सकता है, जब उसे प्रामाणिक गुरु की कृपा प्राप्त हो। गुरु ही सच्चे शिष्य को वैदिक ज्ञान की व्यावहारिकता बतलाता है।

शुचिः सम्मुखमासीनः प्राणसंयमनादिभिः ।
पिण्डं विशोध्य सन्न्यासकृतरक्षोऽर्चयेद्धरिम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

शुचिः—स्वच्छ; सम्मुखम्—(अर्चाविग्रह के) समक्ष; आसीनः—बैठे हुए; प्राण-संयमन-आदिभिः—प्राणायाम इत्यादि विधियों से; पिण्डम्—स्थूल शरीर; विशोध्य—शुद्ध करके; सन्न्यास—शरीर के विभिन्न स्थानों पर तिलक लगाकर; कृत-रक्षः—इस तरह भगवान् द्वारा सुरक्षा का आवाहन करके; अर्चयेत्—पूजे; हरिम्—भगवान् हरि को।

अपने को स्वच्छ बनाकर, शरीर को प्राणायाम, भूत-शुद्धि तथा अन्य विधियों से शुद्ध करके एवं सुरक्षा के लिए शरीर में पवित्र तिलक लगाकर, अर्चाविग्रह के समक्ष बैठ जाना चाहिए और भगवान् की पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : *प्राणायाम* शरीर के भीतर श्वास रोकने की प्रामाणिक वैदिक विधि है। इसी प्रकार *भूत-शुद्धि* शरीर को शुद्ध करने की विधि है। *शुचिः* शब्द का अर्थ है, वह जो भीतर तथा बाहर से शुद्ध है। शुचिः का अर्थ है कि केवल भगवान् की प्रसन्नता के लिए कर्म किया जाय। यदि भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन तथा श्रवण द्वारा भगवान् को किसी तरह निरंतर स्मरण किया जाय, तो मनुष्य को जीवन की शुद्ध अवस्था प्राप्त होगी, जैसाकि इस वैदिक मंत्र में वर्णन हुआ है—

ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।

यः स्मरेत पुण्डरीकाक्षं स बह्याभ्यन्तर शुचिः ॥

(*गरुड़ पुराण*)

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि चाहे कोई अपने शरीर में पवित्र तिलक छाप ले, चाहे मुद्राएँ करे और मंत्रोच्चार करे, किन्तु यदि वह अपने मन में इन्द्रिय-तृप्ति का चिन्तन करता रहता है, तो उसकी श्री हरि पूजा व्यर्थ है। अत: यहाँ पर *शुचि:* शब्द यह सूचित करता है कि भगवान् को पवित्र मान कर और अपने को भगवान् का तुच्छ दास समझ कर सही मन से भगवान् की पूजा की जाय। जो लोग भगवान् के प्रति उन्मुख नहीं होते, वे मन्दिर में अर्चाविग्रह की पूजा नहीं करना चाहते और लोगों को यह कह कर भगवान् के मन्दिर में जाने से हतोत्साहित करते हैं कि जब भगवान् सर्वव्यापक हैं, तो फिर ऐसा करने की क्या जरूरत? ऐसे ईर्ष्यालु व्यक्ति हठयोग या राजयोग को सम्पन्न करना अधिक ठीक समझते हैं। किन्तु स्वयं भगवान् के कथन, यथा *वासुदेव: सर्वमिति* तथा *मामेकं शरणं व्रज* यह सूचित करते हैं कि परिपक्व दिव्य अनुभूति होने पर मनुष्य यह समझता है कि भगवान् हर वस्तु के स्रोत हैं, अतएव वे ही एकमात्र आराध्य हैं। इस तरह, जो लोग पञ्चरात्र विधि से भगवान् के अर्चाविग्रह की पूजा करते हैं, वे भक्तियोग के अलावा अन्य किसी योग-विधि द्वारा आकृष्ट नहीं होते।

अर्चादौ हृदये चापि यथालब्धोपचारकै: ।
द्रव्यक्षित्यात्मलिण्गानि निष्पाद्य प्रोक्ष्य चासनम् ॥५०॥
पाद्यादीनुपकल्प्याथ सन्निधाप्य समाहित: ।
हृदादिभि: कृतन्यासो मूलमन्त्रेण चार्चयेत् ॥५१॥

शब्दार्थ

अर्चा-आदौ—अर्चाविग्रह तथा अपनी साज-सामग्री के रूप में; हृदये—हृदय में; च अपि—भी; यथा-लब्ध—जो भी प्राप्त हो; उपचारकै:—पूजा की सामग्री से; द्रव्य—अर्पित की जाने वाली वस्तुएँ; क्षिति—पृथ्वी; आत्म—अपना मन; लिङ्गानि—तथा अर्चाविग्रह; निष्पाद्य—तैयार करके; प्रोक्ष्य—शुद्धि के लिए जल छिड़क कर; च—तथा; आसनम्—बैठने का आसन; पाद्य-आदीन्—अर्चाविग्रह का चरण धोने तथा अन्य कार्यों के लिए जल; उपकल्प्य—तैयार होकर; अथ—तब; सन्निधाप्य—अर्चाविग्रह को उचित स्थान पर रख कर; समाहित:—मन को एकाग्र करके; हृत्-आदिभि:—अर्चाविग्रह के हृदय तथा अन्य अंगों में; कृत-न्यास:—पवित्र चिह्न बनाकर; मूल-मन्त्रेण—अर्चाविग्रह की पूजा के लिए उपयुक्त मंत्र से; च—तथा; अर्चयेत्—पूजा करे।

भक्त को चाहिए कि अर्चाविग्रह की पूजा के लिए, जो भी वस्तुएँ उपलब्ध हों, उन्हें एकत्र करे, भेंट सामग्री, भूमि, अपना मन तथा अर्चाविग्रह को तैयार करे, अपने बैठने के स्थान को शुद्ध करने के लिए पानी छिड़के और फिर स्नान के लिए जल तथा अन्य साज-सामग्री तैयार करे। इसके बाद भक्त को चाहिए कि अर्चाविग्रह को शरीर से तथा अपने मन से उसके सही

स्थान पर रखे, वह अपना ध्यान एकाग्र करे और अर्चाविग्रह के हृदय पर तथा शरीर के अन्य अंगों पर तिलक लगाये। तब उपयुक्त मंत्र द्वारा पूजा करे।

तात्पर्य : अत: श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियै।

सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यद: ॥

(*पद्म पुराण*)

परम सत्य को कभी भी सामान्य इन्द्रिय अनुभूति से नहीं जाना जा सकता। भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति के पीछे व्यर्थ ही व्यस्त रहने वाले बद्धजीव भगवान् की दिव्य प्रेमाभाक्ति से पूरी तरह अनमने रहते हैं। उनके भौतिकता से बद्ध मन सदैव भौतिक द्वन्द्वों—यथा सम्पन्नता-विपन्नता, ग्रीष्म-शीत, यश-अपयश, यौवन-जरा के अनन्त प्रवाह द्वारा क्षुब्ध एवं मलिन होते रहते हैं। ऐसे विचलित बद्धजीव अर्चाविग्रह के रूप में परब्रह्म की साकारता को नहीं पहचान सकते।

भगवान् का *अर्चा अवतार* उन भौतिकतावादी या नवदीक्षित भक्तों के लिए विशेष अभिव्यक्ति होती है, जो अभी तक भौतिक उपाधियों के प्रभाव के अन्तर्गत रहते हैं। वे भगवान् को उनके नित्य धाम में देख पाने में असमर्थ रहते हैं, इसलिए भगवान् अर्चा-अवतार के रूप में प्रकट होते हैं और *प्रकाश* अवतार तथा *स्वयंप्रकाश* अर्थात् अपने आदि रूप तक को प्रदर्शित करते हैं। *प्रकाश* अवतार इस जगत में विविध लीलाएँ प्रदर्शित करता है, जबकि *स्वयंप्रकाश* अर्थात् भगवान् का आदि रूप समस्त अवतारों का स्रोत है।

जो व्यक्ति निष्ठापूर्वक अर्चाविग्रह की पूजा करता है, उसके समक्ष अर्चाविग्रह भगवान् के रूप में प्रकट होता है। जो लोग अत्यन्त अभागे हैं, वे भगवान् को उनके दयालु अर्चा के रूप में भी पहचान नहीं पाते। वे अर्चाविग्रह को सामान्य भौतिक वस्तु मानते हैं। किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त प्रामाणिक गुरु के चरणकमलों की शरण ग्रहण करके अर्चाविग्रह की पूजा करना सीख सकता है, जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख हुआ है और इस तरह भगवान् के साथ अपने भूले सम्बन्ध को पुन: जागृत कर लेता है। जो व्यक्ति ऐसी दिव्य अर्चा-पूजा को मूर्ति-पूजा के तुल्य मानता है, वह प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा पूरी तरह प्रच्छन्न रहता है। आँखों में गुलाबी चश्मा पहनने वाले को सारी दुनिया गुलाबी दिखती है।

इसी तरह वे अभागे जीव, जो प्रकृति के गुणों से बुरी तरह प्रच्छन्न हैं, परमेश्वर समेत हर वस्तु को अपनी दूषित दृष्टि के कारण भौतिक रूप में देखते हैं।

साङ्गोपाङ्गां सपार्षदां तां तां मूर्तिं स्वमन्त्रतः ।
पाद्यार्घ्याचमनीयाद्यैः स्नानवासोविभूषणैः ॥ ५२ ॥
गन्धमाल्याक्षतस्रग्भिर्धूपदीपोपहारकैः ।
साङ्गम्सम्पूज्य विधिवत्स्तवैः स्तुत्वा नमेद्धरिम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

स-अङ्ग—उनके दिव्य शरीर के अंगों सहित; उपाङ्गाम्—तथा उनके विशिष्ट शारीरिक स्वरूप यथा उनका सुदर्शन चक्र तथा अन्य हथियार; स-पार्षदाम्—अपने निजी संगियों सहित; ताम् ताम्—उन उन; मूर्तिम्—अर्चाविग्रह; स्व-मन्त्रतः—अर्चाविग्रह के ही मंत्र द्वारा; पाद्य—चरण धोने के जल से; अर्घ्य—सत्कार के लिए सुगंधित जल; आचमनीय—मुख धोने का जल; आद्यैः—इत्यादि से; स्नान—स्नान करने के लिए जल; वासः—उत्तम वस्त्र; विभूषणैः—गहनों से; गन्ध—सुगन्ध से; माल्य—गले का हार; अक्षत—चावल; स्रग्भिः—तथा फूलों की मालाओं से; धूप—धूप से; दीप—तथा दीपकों से; उपहारकैः—ऐसी भेंटें; स-अङ्गम्—सभी तरह से; सम्पूज्य—अच्छी तरह पूज कर; विधिवत्—नियत विधानों के अनुसार; स्तवैः स्तुत्वा—स्तुतियों द्वारा अर्चाविग्रह का आदर करके; नमेत्—नमस्कार करे; हरिम्—भगवान् को।

मनुष्य को चाहिए कि अर्चाविग्रह के दिव्य शरीर के प्रत्येक अंग के साथ साथ उनके आयुधों यथा सुदर्शन चक्र उनके अन्य शारीरिक स्वरूपों तथा उनके निजी संगियों की पूजा करे। वह भगवान् के इन दिव्य पक्षों में से हर एक की पूजा, उसके मंत्र तथा पाँव धोने के लिए जल, सुगन्धित जल, मुख धोने का जल, स्नान के लिए जल, उत्तम वस्त्र तथा आभूषण, सुगन्धित तेल, मूल्यवान हार, अक्षत, फूल-मालाओं, धूप तथा दीपों से करे। इस तरह बताये गये विधानों के अनुसार सभी तरह से पूजा करके मनुष्य को चाहिए कि भगवान् हरि के अर्चाविग्रह का आदर स्तुतियों से करे और झुक कर उन्हें नमस्कार करे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने उल्लेख किया है कि *अक्षत* का उपयोग अर्चाविग्रह को तिलक से विभूषित करने के लिए होता है, वास्तविक पूजा में नहीं। *नाक्षतैरर्च्ययेद् विष्णुं न केतक्या महेश्वरम्*—भगवान् विष्णु की पूजा अक्षत से और शिव की केतकी पुष्पों से पूजा नहीं करनी चाहिए।

आत्मानम्तन्मयम्ध्यायन्मूर्तिं सम्पूजयेद्धरेः ।
शेषामाधाय शिरसा स्वधाम्न्युद्वास्य सत्कृतम् ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—स्वयं; तत्—भगवान् में; मयम्—लीन; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; मूर्तिम्—साकार रूप; सम्पूजयेत्—पूरी करह पूजे; हरेः—भगवान् हरि का; शेषाम्—पूजा का जूठन; आधाय—लेकर; शिरसा—अपने सिर पर; स्व-धाम्नि—अपने स्थान में; उद्वास्य—रह कर; सत्-कृतम्—आदरपूर्वक।

पूजा करने वाले को चाहिए कि अपने आपको भगवान् का नित्य दास मान कर ध्यान में पूर्णतया लीन हो जाय और इस तरह यह स्मरण करे कि अर्चाविग्रह उसके हृदय में भी स्थित है, अर्चाविग्रह की भलीभाँति पूजा करे। तत्पश्चात्, उसे अर्चाविग्रह के साज-सामान यथा बची हुई फूल-माला को अपने सिर पर धारण करे और आदरपूर्वक अर्चाविग्रह को उसके स्थान पर वापस रख कर पूजा का समापन करे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *तन्मयम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जो व्यक्ति भगवान् के अर्चाविग्रह रूप की पूजा करके शुद्ध बनता है, वह यह समझ सकता है कि वह अर्थात् पूजक भगवान् का नित्य दास है और गुणात्मक दृष्टि से भगवान् रूपी मूल अग्नि की छोटी चिनगी के समान है। इस सन्दर्भ में श्रील मध्वाचार्य ने कहा है—

विष्णोर्भृत्योऽहमित्येव सदा स्याद् भगवन्मयः।

नैवाहं विष्णुरस्मीति विष्णुः सर्वेश्वरो ह्यजः॥

''मनुष्य को सोचना चाहिए कि मैं विष्णु का नित्य दास हूँ और मैं उनसे एकाकार हूँ, क्योंकि मैं उनका नित्य भिन्नांश हूँ। किन्तु मैं भगवान् विष्णु नहीं हूँ, क्योंकि विष्णु तो हर वस्तु के परम नियन्ता हैं।''

अर्चापूजन का मूल सिद्धान्त यह है कि मनुष्य अपने को भगवान् का नित्य दास समझे। जो व्यक्ति यौन-तृप्ति का आदी है, और अपने को मूर्खतापूर्ण बाह्य भौतिक शरीर समझता है, वह अपने विषय में अपनी धारणा भोक्ता से भोक्त्य में नहीं बदल सकता। ऐसा व्यक्ति *तन्मयम्* का अर्थ यह लगाता है कि पूजक स्वयं भी पूज्य है। श्रील जीव गोस्वामी प्रभुपाद ने अपने ग्रंथ *दुर्ग संगमनी* में जो श्रील रूप गोस्वामी प्रभु के ग्रंथ भक्तिरसामृत—सिंधु पर टीका है, लिखा है कि *अहंग्रहोपासना*—अर्थात् ब्रह्म रूप में अपनी पूजा करने की विधि अपने को नित्य-शरण-रूप ब्रह्म से एकाकार होने की निपट भ्रान्त पहचान है। षड् गोस्वामियों ने बारम्बार यह बात स्पष्ट की है। किन्तु *प्राकृत सहजिया* जाति में अज्ञानी लोग मायावादी दार्शनिकों के व्यर्थ के विचारों से प्रभावित होते हैं और इस भ्रान्त धारणा के शिकार

होते हैं कि पूजक परम आश्रय बन जाता है। ऐसा व्यामोह *अपराध* है। इसलिए इस श्लोक में आये *तन्मय* शब्द से यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि पूजक अपने शाश्वत पूज्य पदार्थ के तुल्य बन जाता है।

एवमग्न्यर्कतोयादावतिथौ हृदये च यः ।
यजतीश्वरमात्मानमचिरान्मुच्यते हि सः ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; अग्नि—अग्नि; अर्क—सूर्य; तोय—जल; आदौ—इत्यादि में; अतिथौ—मेहमान में; हृदये—हृदय में; च—भी; यः—जो; यजति—पूजा करता है; ईश्वरम्—ईश्वर को; आत्मानम्—परमात्मा; अचिरात्—बिना विलम्ब किये; मुच्यते—छूट जाता है; हि—निस्सन्देह; सः—वह।

इस प्रकार भगवान् के पूजक को यह पहचान लेना चाहिए कि भगवान् सर्वव्यापक हैं और उन्हें अग्नि, सूर्य, जल तथा अन्य तत्त्वों में, घर में आये अतिथि के हृदय में तथा अपने ही हृदय में उपस्थित जान कर उनकी पूजा करनी चाहिए। इस प्रकार पूजक को तुरन्त ही मोक्ष प्राप्त हो जायेगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के अन्तर्गत "माया से मुक्ति" नामक तृतीय अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत शिष्यों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चार

राजा निमि से द्रुमिल द्वारा ईश्वर के अवतारों का वर्णन

इस अध्याय में भगवान् श्री हरि के भूत, वर्तमान तथा भावी अवतारों के विविध रूपों तथा इन अवतारों में से हर एक के दिव्य गुणों का वर्णन किया गया है।

भले ही इस पृथ्वी पर धूल के कणों की गणना की जा सके, किन्तु समस्त शक्तियों के आधार असीम भगवान् हरि के असंख्य दिव्य गुणों की गणना करने का प्रयास निरी मूर्खता होगी। भगवान् नारायण ने अपनी ही माया से निर्मित पंचतत्त्वों से ब्रह्माण्ड की सृष्टि की, फिर परमात्मा-रूप में उस ब्रह्माण्ड में प्रवेश किया और पुरुष-अवतार के नाम से विख्यात हुए। वे ब्रह्मा के सत्कार रूप में रजोगुण के अन्तर्गत सृष्टि का कार्य सम्पन्न करते हैं, यज्ञेश्वर विष्णु के रूप में सतोगुण द्वारा रक्षा का कार्य करते हैं तथा रुद्र के रूप में तमोगुण के अन्तर्गत संहार का कार्य करते हैं। दक्ष की पुत्री तथा धर्म की पत्नी मूर्ति के गर्भ से मुनियों में सर्वोच्च नर-नारायण के रूप में अवतार लेकर, उन्होंने अपने ही

व्यावहारिक दृष्टान्त द्वारा *नैष्कर्म्यम्* के विज्ञान का प्रदर्शन किया। जब राजा इन्द्र ने कन्दर्प तथा उनके अतिथेयों को बदरिकाश्रम भेज दिया, क्योंकि वह नर-नारायण की तपस्या देख कर भयभीत तथा ईर्ष्यालु हो उठा था, तब मुनि-श्रेष्ठों ने कन्दर्प का सम्मान अतिथि-रूप में किया। तब शान्त हुए कन्दर्प ने भगवान् नर-नारायण ऋषि की स्तुति की। ऋषि के आदेश से कन्दर्प वहाँ से उर्वशी समेत लौट गया और इन्द्र के समक्ष जाकर उससे सारी बातें कह सुनाईं।

भगवान् विष्णु सारे जगत के लाभ हेतु विविध अंशावतारों के रूप में प्रकट होते रहे हैं और उन्होंने हंस, दत्तात्रेय, सनक तथा अन्य कुमार-बन्धुओं एवं ऋषभदेव के रूप में आध्यात्मिक ज्ञान का उपदेश दिया। हयग्रीव के रूप में उन्होंने मधु असुर का वध किया और सारे वेदों को बचाया। मत्स्यावतार में उन्होंने पृथ्वी तथा सत्यव्रत मनु दोनों की रक्षा की। वराह अवतार में उन्होंने पृथ्वी का उद्धार किया और हिरण्याक्ष को विनष्ट किया। कूर्मावतार में उन्होंने मन्दर पर्वत को अपनी पीठ पर धारण किया। श्री हरि के रूप में उन्होंने गजराज को मोक्ष प्रदान किया। भगवान् ने गो-खुर में भरे जल में फँसे वालखिल्यों का उद्धार किया। उन्होंने ब्राह्मण की हत्या करने के पाप से इन्द्र का उद्धार किया और असुरों के महलों में बन्दी देव-पत्नियों को छुड़ाया। नृसिंह-अवतार में उन्होंने हिरण्यकशिपु का वध किया। प्रत्येक मन्वन्तर में वे असुरों का वध करते हैं, देवताओं की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं और सारे लोकों की रक्षा करते हैं। वामन-रूप में उन्होंने बलि महाराज को ठगा, परशुराम-रूप में उन्होंने पृथ्वी को २१ बार क्षत्रिय-विहीन किया और श्री राम के रूप में सागर को अपने अधीन बनाकर रावण का वध किया। यदुवंश में अवतरित होकर उन्होंने पृथ्वी का भार उतारा। बुद्ध-रूप में वेदों के विरुद्ध अपने तर्कयुत उपदेश द्वारा उन्होंने उन असुरों को मोहित किया जो यज्ञ करने के लिए अयोग्य थे। कलियुग के अन्त में वे कल्कि-रूप में शूद्र राजाओं का विनाश करेंगे। इस प्रकार भगवान् हरि के असंख्य प्राकट्यों तथा कार्यकलापों का वर्णन इसमें हुआ है।

श्रीराजोवाच

यानि यानीह कर्माणि यैर्यैः स्वच्छन्दजन्मभिः ।
चक्रे करोति कर्ता वा हरिस्तानि ब्रुवन्तु नः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; यानि यानि—प्रत्येक; इह—इस जगत में; कर्माणि—कर्मों के; यैः यैः—प्रत्येक द्वारा; स्वच्छन्द—स्वतंत्र रूप से; जन्मभिः—प्राकट्यों के; चक्रे—सम्पन्न किया; करोति—सम्पन्न करता है; कर्ता—सम्पन्न करेगा; वा—अथवा; हरिः—भगवान् हरि; तानि—उन्हें; ब्रुवन्तु—कहें; नः—हमसे।

राजा निमि ने कहा : भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति से तथा अपनी इच्छानुसार भौतिक जगत में अवतरित होते हैं। अतएव आप हमें भगवान् हरि की उन विविध लीलाओं को बतलायें, जिन्हें उन्होंने भूतकाल में सम्पन्न किया, इस समय कर रहे हैं और अपने विविध अवतारों में भविष्य में सम्पन्न करेंगे।

तात्पर्य : इस चौथे अध्याय में राजा जयन्ती-पुत्र द्रुमिल को सम्बोधित करेगा। तृतीय अध्याय के ४८वें श्लोक में कहा गया था *मूर्त्याभिमतयात्मनः*—भगवान् का वह रूप जो मनुष्य को सर्वाधिक आकर्षक लगे उस विशेष रूप की ही पूजा की जानी चाहिए। इसी तरह पिछले अध्याय में कहा गया था *स्तवै स्तुत्वा नमेद्धरिम्*—भगवान् हरि की स्तुतियों द्वारा प्रशंसा करने के बाद उनको नमस्कार करना चाहिए। इस तरह यह मान लिया जाता है कि पूजा करने वाले को पूर्ववर्णित पूजा-विधि सम्पन्न करने के लिए भगवान् के दिव्य गुणों तथा लीलाओं का पूरा-पूरा ज्ञान होता है। इसीलिए राजा निमि भगवान् के विविध अवतारों के बारे में उत्सुकता से पूछ रहे हैं, जिससे वे यह निश्चय कर सकें कि भगवान् का कौन-सा रूप उनके द्वारा पूजा के उपयुक्त होगा। यह विदित है कि राजा निमि वैष्णव हैं, जो भगवान् की प्रेमाभक्ति में अग्रसर होना चाहते हैं।

इस सन्दर्भ में यह ध्यान देना महत्त्वपूर्ण है कि *अभिमत-मूर्ति* शब्द इसका सूचक नहीं है कि कोई अपने मन से भगवान् का स्वरूप गढ़ ले। *अद्वैतम् अच्युतम् अनादिम् अनन्तरूपम्।* भगवान् के सारे स्वरूप *अनादिम्* अर्थात् नित्य हैं। अतएव किसी स्वरूप को मन से गढ़ने का प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि ऐसा मनगढन्त *आदि* अर्थात् मनगढन्त रूप का प्रारम्भ होगा। *अभिमत-मूर्ति* का अर्थ यह है कि मनुष्य को भगवान् के नित्य रूपों में से उस रूप को चुन लेना चाहिए, जो उसमें सर्वाधिक भगवत्प्रेम उत्पन्न कर सके। ऐसे प्रेम की नकल नहीं की जा सकती, अपितु स्वतः उभरता है, जब कोई व्यक्ति गुरु द्वारा बताये गये अधिकृत नियमों का पालन करता है और *श्रीमद्भागवत* के इन वर्णनों को विनीत भाव से सुनता है।

श्रीद्रुमिल उवाच

यो वा अनन्तस्य गुनाननन्तान्
अनुक्रमिष्यन्स तु बालबुद्धिः ।
रजांसि भूमेर्गणयेत्कथञ्चित्
कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-द्रुमिलः उवाच—श्री द्रुमिल ने कहा; यः—जो; वै—निस्सन्देह; अनन्तस्य—असीम भगवान् के; गुरुणा—दिव्य गुणों को; अनन्तान्—असीम; अनुक्रमिष्यन्—वर्णन करने का प्रयास करते हुए; सः—वह; तु—निश्चय ही; बाल-बुद्धिः—बालकों जैसी बुद्धि वाला मनुष्य है; रजांसि—धूल के कण; भूमेः—पृथ्वी पर; गणयेत्—गिन सकता है; कथञ्चित्—किसी तरह; कालेन—समय के साथ; न एव—किन्तु नहीं; अखिल-शक्ति-धाम्नः—समस्त शक्तियों के आगार के (गुणों)।

श्री द्रुमिल ने कहा : अनन्त भगवान् के अनन्त गुणों का वर्णन करने या गिनने का प्रयास करने वाले व्यक्ति की बुद्धि मूर्ख बालक जैसी होती है। भले ही कोई महान् प्रतिभाशाली व्यक्ति किसी तरह से पृथ्वी की सतह के धूल-कणों की गिनती करने का समय-अपव्ययी प्रयास कर ले, किन्तु ऐसा व्यक्ति भगवान् के आकर्षक गुणों की गणना नहीं कर सकता, क्योंकि भगवान् समस्त शक्तियों के आगार हैं।

तात्पर्य : राजा निमि की प्रार्थना करने पर कि नव-योगेन्द्र भगवान् के सभी गुणों और लीलाओं का वर्णन करें, उनमें से अब श्री द्रुमिल यहाँ बतलाते हैं कि जो अत्यन्त मूर्ख होगा, वही भगवान् के अनन्त गुणों और लीलाओं का वर्णन करने का प्रयास करेगा। किन्तु ऐसे मूर्ख बाल-तुल्य व्यक्ति उन अज्ञानी भौतिकतावादी विज्ञानियों से बहुत आगे बढ़े हुए हैं, जो भगवान् का उल्लेख किये बिना ही सम्पूर्ण ज्ञान का वर्णन करना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में, यद्यपि भगवान् का पूरी तरह वर्णन कर पाना असम्भव है, तो भी मूर्ख नास्तिक वैज्ञानिक भगवान् का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त किये बिना ही सम्पूर्ण ज्ञान का वर्णन करने का प्रयास करते हैं। ऐसे नास्तिक व्यक्तियों को संकुचित दृष्टि वाला और उनकी दिखावटी उपलब्धियों के बावजूद, जो अन्ततः दुख और विनाश में समाप्त होती हैं, मन्द बुद्धि वाला मानना चाहिए। कहा जाता है किस्वयं भगवान् अनन्तदेव अपनी असंख्य जीभों से भगवान् के यश का पूरी तरह उच्चारण नहीं कर सकते। यहाँ पर दिया गया उदाहरण अत्यन्त उत्तम है। कोई भी मनुष्य पृथ्वी की सतह के कणों को गिन पाने की आशा नहीं करता, अतएव उसे अपने क्षुद्र प्रयास से भगवान् को समझने का मूर्खतापूर्ण प्रयास नहीं करना चाहिए। उसे विनीत भाव से उस ईश-ज्ञान को सुनना चाहिए, जिसे स्वयं ईश्वर ने *भगवद्गीता* में कहा है और इस तरह उसे धीरे धीरे *श्रीमद्भागवत* श्रवण करने की अवस्था प्राप्त करनी चाहिए। चैतन्य महाप्रभु के अनुसार सागर की एक बूँद को चख कर

सारे सागर के स्वाद का पता लगाया जा सकता है। इसी तरह भगवान् के विषय में विनीत भाव से श्रवण करके मनुष्य परम सत्य को गुणात्मक दृष्टि से जान सकता है, यद्यपि यह ज्ञान मात्रा की दृष्टि से कभी पूरा नहीं हो सकता।

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः
पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् ।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधान-
मवाप नारायण आदिदेवः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

भूतैः—तत्त्वों के द्वारा; यदा—जब; पञ्चभिः—पाँच (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर); आत्म-सृष्टैः—अपने से उत्पन्न; पुरम्—शरीर; विराजम्—सूक्ष्म रूप ब्रह्माण्ड की; विरचय्य—रचना करके; तस्मिन्—उसके भीतर; स्व-अंशेन—अपने अंश के द्वारा; विष्टः—प्रवेश करते हुए; पुरुष-अभिधानम्—पुरुष-नाम; अवाप—धारण किया; नारायणः—नारायण; आदि-देवः—आदि भगवान्।

जब आदि भगवान् नारायण ने अपने में से उत्पन्न पाँच तत्त्वों से अपने विराट शरीर की रचना की और फिर अपने ही अंश से उस विराट शरीर में प्रविष्ट हो गये, तो वे पुरुष नाम से विख्यात हुए।

तात्पर्य : *इस श्लोक के भूतै पञ्चभि:* शब्द पाँच स्थूल तत्त्वों—क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर—के द्योतक हैं, जो भौतिक जगत की रचना करने वाले मूलभूत तत्त्व हैं। जब बद्धजीव इन पाँच तत्त्वों के भीतर प्रविष्ट होता है, तो मन तथा बुद्धि कार्य करने लगते हैं और चेतना प्रकट होती है। दुर्भाग्यवश प्रकृति के गुणों के अधीन जो चेतना प्रकट होती है, वह अहंकार द्वारा शासित होती है, जिसमें जीव गलती से अपने को भौतिक तत्त्वों का भोक्ता मान बैठता है। यद्यपि पुरुषोत्तम भगवान् वैकुण्ठ में स्थित रहते हैं, किन्तु यज्ञ के माध्यम से भौतिक तत्त्व भी उनके भोग के लिए होते हैं। यह भौतिक जगत देवी-धाम अर्थात् माया देवी का आवास कहलाता है। *ब्रह्म-संहिता* में बतलाया गया है कि भगवान् अपनी अपरा शक्ति माया द्वारा कभी भी आकृष्ट नहीं होते, किन्तु जब भौतिक सृष्टि का उपयोग भगवद्भक्ति में किया जाता है, तो वे जीव की भक्ति तथा त्याग से आकृष्ट होते हैं और इस तरह परोक्ष रूप में वे भौतिक जगत के भी भोक्ता हैं।

हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि इस ब्रह्माण्ड के स्रष्टा तथा परमात्मा के रूप में भगवान् नारायण की लीलाएँ उनकी वैकुण्ठ-लोक की नित्य लीलाओं से निम्नस्तरीय होती होंगी। यदि इस जगत के

अपने कार्यों में दिव्य ज्ञान और आनन्द में भगवान् नारायण को कोई कमी लानी होती, तो उन्हें माया के सम्पर्क से प्रभावित बद्धजीव माना गया होता। किन्तु माया के प्रभाव से शाश्वत पृथक् रहने वाले परमात्मा-रूप नारायण के इस ब्रह्माण्ड में दिव्य कार्यकलाप उनके वैकुण्ठ-लोक के कार्यकलापों जैसे ही हैं। भगवान् के सारे कार्यकलाप उनकी अनन्त आध्यात्मिक लीलाओं के अंशरूप हैं।

यत्काय एष भुवनत्रयसन्निवेशो
यस्येन्द्रियैस्तनुभृतामुभयेन्द्रियाणि ।
ज्ञानं स्वतः श्वसनतो बलमोज ईहा
सत्त्वादिभिः स्थितिलयोद्भव आदिकर्ता ॥ ४॥

शब्दार्थ

यत्-काये—जिनके शरीर के भीतर; एषः—यह; भुवन-त्रय—ब्रह्माण्ड के तीनों लोकों के; सन्निवेशः—विस्तृत व्यवस्था; यस्य—जिसकी; इन्द्रियैः—इन्द्रियों के द्वारा; तनु-भृताम्—देहधारी जीवों के; उभय-इन्द्रियाणि—दोनों प्रकार की (ज्ञानार्जन करने वाली तथा कर्म करने वाली) इन्द्रियाँ; ज्ञानम्—ज्ञान; स्वतः—अपने से; श्वसनतः—उनके श्वास से; बलम्—शारीरिक बल; ओजः—इन्द्रियों की शक्ति; ईहा—कार्यकलाप; सत्त्व-आदिभिः—सतो, रजो तथा तमोगुणों द्वारा; स्थिति—पालन; लय—संहार; उद्भवे—तथा सृष्टि में; आदि-कर्ता—आदि कर्म करने वाला।

उनके शरीर के भीतर इस ब्रह्माण्ड के तीनों लोक विस्तृत रूप से स्थित हैं। उनकी दिव्य इन्द्रियाँ समस्त देहधारी जीवों की ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों को उत्पन्न करती हैं। उनकी चेतना से बद्ध-ज्ञान उत्पन्न होता है और उनके प्रबल श्वास से देहधारी जीवों का शारीरिक बल, ऐन्द्रिय शक्ति तथा बद्ध-कर्म उत्पन्न होते हैं। वे सतो, रजो तथा तमोगुणों के माध्यम से आदि गति प्रदान करने वाले हैं। इस प्रकार ब्रह्माण्ड का सृजन, पालन और संहार होता है।

तात्पर्य : जब बद्धजीव अपने अति श्रमसाध्य कार्यों से थक जाता है या रोग, मृत्यु अथवा भय से पराजित हो जाता है, तो वह व्यावहारिक ज्ञान अथवा कर्म को प्रकट करने की सारी शक्ति खो बैठता है। इस तरह हमें यह समझना चाहिए कि भगवान् की कृपा के बिना न तो हम कार्य कर सकते हैं, न ज्ञान का अनुशीलन कर सकते हैं। भगवान् की कृपा से बद्धजीव को भौतिक शरीर प्राप्त होता है, जो भगवान् के असीम आध्यात्मिक शरीर का विकृत प्रतिबिम्ब होता है। इस तरह जीव समाज, मैत्री तथा प्रेम के अज्ञानपूर्ण भौतिकतावादी कार्यकलापों में व्यस्त रहता है। किन्तु भौतिक शरीर के अदृश्य विनाश के साथ ही सारा कार्यक्रम सहसा समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार हमारा भौतिक ज्ञान क्षण-भर में किसी भी समय शून्य हो सकता है, क्योंकि भौतिक प्रकृति स्वयं निरन्तर परिवर्तित होती रहती है।

भगवान् ही ब्रह्माण्ड के सृजन, पालन तथा संहार के आदि चालक हैं। जीव को चाहिए कि जिसने मोह की इतनी सुविधा उसे प्रदान की है, वह उस भगवान् को समझने का प्रयास करे। वास्तव में भगवान् चाहते हैं कि बद्धजीव उनकी शरण में जाये और भगवान् के यहाँ आनन्द तथा ज्ञान से युक्त नित्य जीवन पुनः प्राप्त करे। बद्धजीव को तर्क करना चाहिए, "यदि भगवान् मुझे अज्ञान में लीन होने के लिए इतनी सुविधा प्रदान कर रहे हैं, तो वे अवश्य ही इस अज्ञान से निकलने के लिए मुझे उससे भी अधिक सुविधाएँ प्रदान कर सकते हैं, यदि मैं मूर्खतापूर्ण चिन्तन न करके, उनके आदेश का विनयपूर्वक पालन करूँ।

इस श्लोक में गर्भोदकशायी विष्णु का अर्थात् भगवान् के पुरुष-अवतारों में दूसरी अवस्था का वर्णन हुआ है। यह गर्भोदकशायी विष्णु, जिसकी महिमा का वर्णन पुरुष सूक्त स्तुतियों में हुआ है, हर जीव के हृदय में प्रवेश करने के लिए परमात्मा-रूप में अपना विस्तार करता है। भगवान् के नाम—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—के कीर्तन द्वारा इस पतित युग में भी भगवान् को मनुष्य के हृदय में पाया जा सकता है। भगवान् हमारी ही तरह पुरुष हैं, किन्तु वे अनन्त हैं। फिर भी क्षुद्र जीव तथा अनन्त भगवान् के मध्य साकार प्रेमपूर्ण सम्बन्ध विद्यमान रहता है। इस साकार सम्बन्ध के प्रसंग में भक्तियोग एकमात्र उपयुक्त विधि है, जिससे हम भगवान् के नित्य दास के रूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति को जान सकते हैं।

आदावभूच्छतधृती रजसास्य सर्गे
विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः ।
रुद्रोऽप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्य
इत्युद्भवस्थितिलयाः सततं प्रजासु ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

आदौ—प्रारम्भ में; अभूत्—बना; शत-धृतिः—ब्रह्मा; रजसा—रजोगुण से; अस्य—इस जगत का; सर्गे—सृष्टि में; विष्णुः—भगवान् विष्णु; स्थितौ—पालन में; क्रतु-पतिः—यज्ञ का स्वामी; द्विज—द्विजन्मा ब्राह्मणों का; धर्म—धार्मिक कर्तव्यों का; सेतुः—रक्षक; रुद्रः—शिव; अप्ययाय—संहार हेतु; तमसा—तमोगुण द्वारा; पुरुषः—परम पुरुष; सः—वह; आद्यः—आदि; इति—इस प्रकार; उद्भव-स्थिति-लयाः—सृजन, पालन तथा संहार; सततम्—सदैव; प्रजासु—उत्पन्न किये गये प्राणियों में से।

प्रारम्भ में आदि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने के निमित्त रजोगुण के माध्यम से ब्रह्मा का रूप प्रकट किया। भगवान् ने ब्रह्माण्ड का पालन करने के लिए विष्णु-रूप में अपना स्वरूप प्रकट किया, जो यज्ञ का स्वामी है और द्विजन्मा ब्राह्मणों तथा उनके

धार्मिक कर्तव्यों का रक्षक है। और जब ब्रह्माण्ड का संहार करना होता है, तो यही भगवान् तमोगुण का प्रयोग करते हुए अपना रुद्र-रूप प्रकट करते हैं। इस तरह उत्पन्न किये गये जीव सदैव सृष्टि, पालन तथा संहार की शक्तियों के अधीन रहते हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में भगवान् को *आदि-कर्ता* अर्थात् भौतिक जगत के सृजन, पालन तथा संहार के लिए उत्तरदायी आदि पुरुष कहा गया था। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *आदि-कर्ता* का अर्थ परवर्ती सृजनकर्ता, पालक तथा संहारक है। अन्यथा *आदि* का कोई अर्थ नहीं होगा। इसलिए इस श्लोक में बतलाया गया है कि परमसत्य अपना विस्तार गुणावतारों के रूप में करते हैं, जो क्रमश: रजो, सतो तथा तमोगुणों के द्वारा ब्रह्माण्ड का सृजन, पालन और संहार करते हैं।

यहाँ यह महत्त्वपूर्ण बात है कि यद्यपि इस श्लोक में रजोगुण के माध्यम से सृष्टि और तमोगुण के माध्यम से संहार का वर्णन हुआ है, किन्तु सतोगुण द्वारा भगवान् विष्णु द्वारा पालन का उल्लेख नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि विष्णु *विशुद्ध सत्त्व* हैं। यद्यपि शिव तथा ब्रह्मा प्रकृति के गुणों के अधीक्षकों के रूप में अपने अपने कर्तव्यों द्वारा थोड़ा-बहुत प्रभावित होते हैं, किन्तु भगवान् विष्णु *विशुद्ध सत्त्व* हैं—वे सतोगुण के द्वारा भी कल्मष से परे हैं। जैसाकि वेदों में कहा गया है *न तस्य कार्यं करणंच विद्यते*—भगवान् के कोई वृत्तिपरक कर्तव्य नहीं है। एक ओर जहाँ शिव तथा ब्रह्मा को भगवान् के दासों के रूप में माना जाता है, वहीं विष्णु नितान्त दिव्य हैं।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार इस श्लोक में विष्णु को *क्रतुपति:* कहा गया है, जो इसके पूर्व युग में प्रजापति रुचि के पुत्र सुयज्ञ के अवतार समझे जाते हैं। ब्रह्मा तथा शिव तो भगवान् की सेवा में दत्तचित्त रहते हैं, किन्तु विष्णु साक्षात् भगवान् हैं, अतएव इस श्लोक में वर्णित ब्राह्मणों तथा धर्म का पालन करने के (*द्विजधर्म सेतु*) उनके कार्यकलाप वृत्तिपरक कर्तव्य नहीं अपितु *लीला* हैं। अत: श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *गुणावतार* होने के अतिरिक्त विष्णु *लीलावतार* भी हैं। *महाभारत* (शान्ति पर्व) में विष्णु से निकलने वाले कमल-पुष्प से ब्रह्मा का जन्म और तत्पश्चात् ब्रह्मा की क्रुद्ध आँखों से शिवजी का जन्म दिखलाया गया है। किन्तु विष्णु स्वयंप्रकाश भगवान् हैं, जो अपनी अन्तरंगा शक्ति से ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट होते हैं, जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (३.८.१५) में कहा गया है—

तल्लोकपद्मं स उ एव विष्णु: ।

प्रावीविशत् सर्वगुणावभासम् ॥

निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् विष्णु परम नियन्ता हैं, जिनका साकार रूप सच्चिदानन्द है, जो अनादि हैं, किन्तु सभी वस्तुओं के आदि हैं, जो गोविन्द-नाम से जाने जाते हैं और जो समस्त कारणों के कारण हैं, जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है। फिर भी वही नित्य भगवान् ब्रह्माजी तथा शिव के रूप में प्रकट होते हैं, क्योंकि ब्रह्मा तथा शिव आदि नियन्ताओं के रूप में भगवान् की शक्ति तथा परम इच्छा प्रकट करते हैं, यद्यपि वे स्वयं सर्वोच्च नहीं हैं।

धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां
नारायणो नर ऋषिप्रवरः प्रशान्तः ।
नैष्कर्म्यलक्षणमुवाच चचार कर्म
योऽद्यापि चास्त ऋषिवर्यनिषेविताङ्घ्रिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

धर्मस्य—धर्म की (पत्नी); दक्ष-दुहितरि—दक्ष की पुत्री द्वारा; अजनिष्ट—उत्पन्न हुआ था; मूर्त्याम्—मूर्ति द्वारा; नारायणः नरः—नर-नारायण; ऋषि-प्रवरः—ऋषि श्रेष्ठ; प्रशान्तः—अत्यन्त शान्त; नैष्कर्म्य-लक्षणम्—समस्त भौतिक कर्म की समाप्ति के लक्षण से युक्त; उवाच—कहा; चचार—तथा सम्पन्न किया; कर्म—कर्तव्य; यः—जो; अद्य अपि—आज भी; च—भी; आस्ते—जीवित है; ऋषि-वर्य—श्रेष्ठ ऋषियों द्वारा; निषेवित—सेवा किया जाकर; अङ्घ्रिः—पाँव।

परम शान्त तथा ऋषियों में श्रेष्ठ नर-नारायण ऋषि का जन्म धर्म तथा उनकी पत्नी दक्षपुत्री मुर्ति के पुत्र के रूप में हुआ था। नर-नारायण ऋषि ने भगवद्भक्ति की शिक्षा दी, जिससे भौतिक कर्म का अन्त हो जाता है और उन्होंने स्वयं इस ज्ञान का पूरी तरह से अभ्यास किया। वे आज भी जीवित हैं और उनके चरणकमलों की सेवा बड़े बड़े सन्त-पुरुषों द्वारा की जाती है।

तात्पर्य : ऐसा ज्ञात है कि नर-नारायण ऋषि ने नारद मुनि जैसे महान् सन्त-पुरुषों को दिव्य ज्ञान प्रदान किया। उन्हीं शिक्षाओं के बल पर नारद मुनि *नैष्कर्म्यम्* का वर्णन कर सके, जो कर्म का विनाश करने वाली भगवान् की भक्ति है, जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.३.८) में कहा गया है—*तन्त्रं सात्वतम् आचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः। आत्म-स्वरूप* या कि जीव का नित्य स्वरूप भगवान् की सेवा है। किन्तु हमारे नित्य स्वरूप की अनुभूति जीवन की भौतिक विचारधारा से प्रच्छन्न है, जिस प्रकार हमारे जीवन की सामान्य जानकारी स्वप्न द्वारा प्रच्छन्न है। *नैष्कर्म्यम्* केवल भगवद्भक्ति द्वारा सम्भव है जैसाकि स्वयं नारद मुनि ने कहा है : *नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानम् अलं निरञ्जनम्* (भागवत १.५.१२)। सामान्य कर्म को *नैष्कर्म्य* में बदलने की विधि का सारांश श्रील प्रभुपाद ने नारद मुनि द्वारा

कहे गये इस श्लोक की टीका में दिया है, "जिस सकाम कर्म में प्राय: सारे लोग लगे रहते हैं वह चाहे प्रारम्भ में हो या अन्त में, सदैव कष्टकर होता है। यह तभी फलप्रद हो सकता है, जब इसे भगवान् की सेवा के अधीन कर दिया जाय। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई है कि ऐसे सकाम कर्म के फल को भगवान् की सेवा में अर्पित कर दिया जाय, अन्यथा इससे भव-बन्धन उत्पन्न होता है। सकाम कर्मों का असली भोक्ता भगवान् है, अतएव जब इसे जीवों की इन्द्रिय-तृप्ति में लगाया जाता है, तो यह कष्ट का कारण बन जाता है।" *मत्स्य पुराण* के अनुसार (३.१०) नर-नारायण ऋषि के पिता, धर्म, का जन्म ब्रह्मा के दाहिने वक्षस्थल से हुआ था और बाद में प्रजापति दक्ष की तेरह पुत्रियों से उनका विवाह हुआ था। भगवान् स्वयं मूर्ति देवी की कुक्षि से उत्पन्न हुए।

इन्द्रो विशङ्क्य मम धाम जिघृक्षतीति
कामं न्ययुङ्क्त सगणं स बदर्युपाख्यम् ।
गत्वाप्सरोगणवसन्तसुमन्दवातैः
स्त्रीप्रेक्षणेषुभिरविध्यदतन्महिज्ञः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रः—इन्द्र; विशङ्क्य—डर कर; मम—मेरा; धाम—राज्य; जिघृक्षति—निगल जाना चाहता है; इति—इस प्रकार सोच कर; कामम्—कामदेव को; न्ययुङ्क्त—लगाया; स-गणम्—उसके संगियों समेत; सः—उस (कामदेव) ने; बदरी-उपाख्यम्—बदरिकाश्रम तक; गत्वा—जाकर; अप्सरः-गण—अप्सराओं के साथ; वसन्त—वसन्त ऋतु; सु-मन्द-वातैः—तथा मन्द वायु से; स्त्री-प्रेक्षण—स्त्रियों की चितवनों से (बने); इषुभिः—तीरों से; अविध्यत्—बींधने का प्रयास किया; अतत्-महि-ज्ञः—उनकी महानता को न जानते हुए।

यह सोच कर कि नर-नारायण ऋषि अपनी कठिन तपस्या से अत्यन्त शक्तिशाली बन कर उसका स्वर्ग का राज्य छीन लेंगे, राजा इन्द्र भयभीत हो उठा। इस तरह भगवान् के अवतार की दिव्य महिमा को न जानते हुए इन्द्र ने कामदेव तथा उसके संगियों को भगवान् के आवास बदरिकाश्रम भेजा। जब वसन्त ऋतु की मनोहारी मन्द वायु ने अत्यन्त कामुक वातावरण उत्पन्न कर दिया, तो स्वयं कामदेव ने सुन्दर स्त्रियों की बाँकी चितवनों के तीरों से भगवान् पर आक्रमण किया।

तात्पर्य : यह श्लोक तथा इसके आगे के ९ श्लोकों में भगवान् के परम वैराग्य-ऐश्वर्य को दर्शाया गया है। *अतन्-महि-ज्ञः* अर्थात् "भगवान् की महिमा को न समझते हुए" शब्द सूचित करता है कि भगवान् को इन्द्र अपने ही स्तर पर रख रहा था और उन्हें सामान्य भोक्ता समझ रहा था, जो संसारी

यौन-जीवन के प्रति आकृष्ट होता है। इन्द्र द्वारा नर-नारायण ऋषि को गिराने के षड्यंत्र से भगवान् तनिक भी प्रभावित नहीं हुए, किन्तु इससे इन्द्र की संकुचित दृष्टि प्रकट होती है। स्वर्गलोक से जुड़े होने के कारण इन्द्र यह मान बैठा था कि भगवान् स्वर्ग-धाम को लेने जैसे क्षणिक मायाजाल के लिए तपस्या कर रहे थे (*त्रिदशपूर आकाशपुष्पायते*)।

विज्ञाय शक्रकृतमक्रममादिदेवः
प्राह प्रहस्य गतविस्मय एजमानान् ।
मा भैर्विभो मदन मारुत देववध्वो
गृह्णीत नो बलिमशून्यमिमं कुरुध्वम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

विज्ञाय—जान कर; शक्र—इन्द्र द्वारा; कृतम्—किया गया; अक्रमम्—अपराध; आदि-देवः—आदि भगवान्; प्राह—बोले; प्रहस्य—हँस कर; गत-विस्मयः—गर्व से रहित; एजमानान्—थरथरा रहे; मा भैः—मत डरो; विभो—हे सर्वशक्तिमान; मदन—कामदेव; मारुत—हे वायु-देव; देव-वध्वः—हे देवताओं की पत्नियो; गृह्णीत—स्वीकार करो; नः—हमसे; बलिम्—ये उपहार; अशून्यम्—रिक्त नहीं; इमम्—इस (आश्रम) को; कुरुध्वम्—बनाइये।

इन्द्र द्वारा किये गये अपराध को समझते हुए आदि भगवान् गर्वित नहीं हुए। अपितु कामदेव तथा कँपकँपा रहे उसके साथियों से वे हँसते हुए इस प्रकार बोले, "हे शक्तिशाली मदन, हे वायु-देव तथा देवताओं की पत्नियो, डरो नहीं। कृपया मेरे द्वारा दी जाने वाली भेंटें स्वीकार करो और अपनी उपस्थिति से मेरे आश्रम को पवित्र बनाओ।"

तात्पर्य : *गतविस्मय* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि कोई व्यक्ति कठिन तपस्या करके गर्वित हो उठता है, तो ऐसी तपस्या को भौतिक माना जाता है। किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि मैं महान् तपस्वी हूँ। श्री नर-नारायण तुरन्त ही इन्द्र की मूर्खता समझ गये, इसीलिए उन्हें सारी स्थिति पर हँसी आ रही थी। कामदेव तथा स्वर्ग की स्त्रियाँ अपने महान् अपराध को समझ कर नर-नारायण के समक्ष इस भय से काँप रही थीं कि उन्हें प्रबल शाप मिलने वाला है। किन्तु भगवान् ने अत्यन्त उदात्त साधु-आचरण प्रदर्शित करते हुए उन्हें आश्वस्त किया *मा भै* अर्थात् घबड़ाओ नहीं और उन्हें उत्तम *प्रसादम्* तथा पूजा की अन्य वस्तुएँ भेंट कीं। उन्होंने कहा, "यदि आप लोग मुझे देवताओं तथा अन्य पूजनीय व्यक्तियों के लिए अपना आतिथ्य नहीं करने देंगे, तो फिर मेरे आश्रम का क्या लाभ है? मेरा आश्रम आप जैसे सम्मान्य व्यक्तियों का आदर किये बिना शून्य लगेगा।

इसी प्रकार कृष्णभावनामृत आन्दोलन विश्व के प्रमुख नगरों में सुन्दर केन्द्रों की स्थापना कर रहा है। इन केन्द्रों में से कुछ में, यथा लॉस ऐंजिलिस, मुम्बई, लन्दन, पेरिस तथा मेलबोर्न में भव्य प्रचार-आश्रम स्थापित हैं। किन्तु इन सुन्दर इमारतों में जो वैष्णव रह रहे हैं, वे यह अनुभव करते हैं कि यदि इनमें अतिथिगण कृष्ण के विषय में सुनने और उनके नाम-कीर्तन करने के लिए नहीं आते, तो वे शून्य (रिक्त) हैं। इस प्रकार सुन्दर आश्रमों की स्थापना अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए न करके शान्ति से कृष्णभावनामृत सम्पन्न करने और अन्यों को कृष्णभावनामृत अंगीकार करने के लिए प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से की जानी चाहिए।

इत्थं ब्रुवत्यभयदे नरदेव देवाः
सव्रीडनम्रशिरसः सघृणं तमूचुः ।
नैतद्विभो त्वयि परेऽविकृते विचित्रं
स्वारामधीरनिकरानतपादपद्मे ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस तरह से; ब्रुवति—बोल चुकने पर; अभय-दे—अभय प्रदान करने वाला; नर-देव—हे राजा (निमि); देवाः—देवतागण (कामदेव तथा उसके साथी); स-व्रीड—लज्जावश; नम्र—झुके हुए; शिरसः—अपने सिरों से; स-घृणम्—दया की भीख माँगते; तम्—उससे; ऊचुः—बोले; न—नहीं; एतत्—यह; विभो—हे सर्वशक्तिमान; त्वयि—तुम्हारे लिए; परे—परम; अविकृते—अपरिवर्तित; विचित्रम्—विस्मयकारी; स्व-आराम—आत्मतुष्ट; धीर—तथा गम्भीर मन वाले; निकर—समूह द्वारा; आनत—झुकाया गया; पाद-पद्मे—चरणकमलों पर।

हे राजा निमि, जब नर-नारायण ऋषि ने देवताओं के भय को दूर करते हुए इस प्रकार कहा, तो उन्होंने लज्जा से अपने सिर झुका लिये और भगवान् से दया की भीख माँगते हुए इस प्रकार बोले, "हे प्रभु, आप सदैव दिव्य हैं, मोह की पहुँच से परे हैं, अतएव आप नित्य अविकारी हैं। हमारे महान् अपराध के बावजूद आपकी अहैतुकी कृपा आपमें कोई असामान्य घटना नहीं है, क्योंकि असंख्य आत्माराम तथा क्रोध और मिथ्या अहंकार से मुक्त मुनिजन आपके चरणकमलों पर विनयपूर्वक अपना शीश झुकाते हैं।

तात्पर्य : देवताओं ने कहा : "हे प्रभु! यद्यपि देवता तथा साधारण मनुष्य जैसे सामान्य जीव गर्व तथा क्रोध से सदा विचलित होते रहते हैं, किन्तु आप दिव्य हैं। इसलिए यह आश्चर्यजनक नहीं है कि गलती करने वाले देवतागण आपकी महिमा को न समझ पाये हों।"

त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः
स्वौको विलङ्घ्य परमं व्रजतां पदं ते ।
नान्यस्य बर्हिषि बलीन्ददतः स्वभागान्
धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्ध्नि ॥ १० ॥

शब्दार्थ

त्वाम्—तुम; सेवताम्—सेवा करने वालों को; सुर-कृताः—देवताओं द्वारा बनाये गये; बहवः—अनेक; अन्तरायाः—उत्पात; स्व-ओकः—अपने ही धाम (देव-लोक); विलङ्घ्य—पार करके; परमम्—परम; व्रजताम्—जाने वाले; पदम्—धाम को; ते—तुम्हारे; न—ऐसे नहीं हैं; अन्यस्य—दूसरों के; बर्हिषि—यज्ञों में; बलीन्—भेंटें; ददतः—देने वाले के लिए; स्व-भागान्—अपने अपने हिस्सों को; धत्ते—(भक्तों के) स्थान; पदम्—पाँव; त्वम्—तुम; अविता—रक्षक; यदि—इसलिए; विघ्न—बाधा के; मूर्ध्नि—सिर पर।

देवतागण उन लोगों के मार्ग में अनेक अवरोध प्रस्तुत करते हैं, जो देवताओं के अस्थायी आवासों को लाँघ कर, आपके परम धाम पहुँचने के लिए आपकी पूजा करते हैं। वे लोग, जो यज्ञों में देवताओं को उनका नियत भाग भेंट में दे देते हैं, ऐसे किसी अवरोध का सामना नहीं करते। किन्तु क्योंकि आप अपने भक्त के प्रत्यक्ष रक्षक हैं, अतएव वह उन सभी अवरोधों को, जो उसके सामने देवताओं द्वारा रखे जाते हैं, लाँघ जाने में समर्थ होता है।

तात्पर्य : कामदेव समेत सारे देवतागण भगवान् नर-नारायण ऋषि के चरणकमलों पर किये गये अपराध को समझते हुए यहाँ पर भगवान् की तुलना में देवताओं के तुच्छ पद की ओर इंगित कर रहे हैं। जिस तरह किसान को अपनी कृषि-आय का कुछ हिस्सा कर के रूप में राजा को या राजनैतिक प्रधान को देना पड़ता है, उसी तरह सारे मनुष्यों को अपनी भौतिक सम्पत्ति का कुछ प्रतिशत देवताओं को यज्ञ-रूप में देना होता है। किन्तु *भगवद्गीता* में भगवान् ने बतलाया है कि देवता भी उनके सेवक हैं और वे स्वयं ही देवताओं के माध्यम से सारे वर देते हैं। *मयैव विहितान् हि तान्।* यद्यपि वैष्णव भक्त को देवताओं की पूजा करने की कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु देवतागण अपने उच्च पद से गर्वित होकर कभी कभी भगवान् के प्रति वैष्णव की एकनिष्ठता का विरोध करते हैं और भक्त को नीचे गिराने का प्रयास करते हैं, जैसाकि इस श्लोक में वर्णित है (*सुरकृता बहवोऽन्तरायाः*)। किन्तु देवतागण यहाँ इंगित करते हैं कि कृष्ण अपने भक्तों के प्रत्यक्ष रक्षक हैं। अतएव तथाकथित अवरोध एकनिष्ठ भक्त के लिए आध्यात्मिक उन्नति में योगदान करने वाले बन जाते हैं।

यहाँ पर देवता कहते हैं : "हे प्रभु! हमने सोचा कि हम अपनी मूर्खतापूर्ण चालों से आपकी चेतना को विचलित कर सकते हैं। किन्तु आपकी कृपा से आपके भक्त तक हमारी परवाह नहीं करते,

अतएव आप हमारे मूर्खतापूर्ण व्यवहार को गम्भीरता से क्यों लेने लगे?'' यहाँ पर *यदि* शब्द इस निश्चितता का सूचक है कि कृष्ण अपने शरणागतों के सदैव रक्षक हैं। यद्यपि भगवान् की महिमा का प्रचार करने वाले निष्ठावान भक्त के मार्ग में अनेक अवरोध हो सकते हैं, किन्तु ऐसे अवरोधों से भक्तों का संकल्प दृढ़ होता है। अतएव श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार देवताओं द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले अवरोध उस निसेनी या सीढ़ी के समान हैं, जिनसे चढ़ कर भक्त भलीभाँति भगवद्धाम पहुँच जाता है। ऐसा ही श्लोक *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र (१०.२.३३) आया है—

तथा न ते माधव तावका: क्वचिद्

भ्रश्यन्ति मार्गात् त्वयि बद्धसौहृदा:।

त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया

विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥

''हे माधव, हे लक्ष्मी-पति, यदि आपके प्रेमी भक्त कभी भक्ति के मार्ग से च्युत होते हैं, तो वे अभक्तों की तरह नहीं गिरते, क्योंकि आप तब भी उनकी रक्षा करते हैं। इस तरह वे अपने प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त करके निर्भय विचरण करते हैं और भक्ति में प्रगति करते जाते हैं।''

क्षुत्तृट्त्रिकालगुणमारुतजैह्वशैष्णा-
नस्मानपारजलधीनतितीर्य केचित् ।
क्रोधस्य यान्ति विफलस्य वशं पदे गो-
मज्जन्ति दुश्चरतपश्च वृथोत्सृजन्ति ॥ ११॥

शब्दार्थ

क्षुत्—भूख; तृट्—प्यास; त्रि-काल-गुण—काल की तीन अवस्थाओं की अभिव्यक्ति (यथा गर्मी, सर्दी, वर्षा आदि); मारुत—हवा; जैह्व—जीभ का भोग; शैष्णान्—तथा शिश्न के; अस्मान्—हम; अपार—असंख्य; जल-धीन्—समुद्र; अतितीर्य—पार करके; केचित्—कुछ मनुष्य; क्रोधस्य—क्रोध का; यान्ति—प्राप्त करते हैं; विफलस्य—जो कि व्यर्थ है; वशम्—वेग को; पदे—पाँव या खुर (के चिह्न) में; गो:—गाय के; मज्जन्ति—डूब जाते हैं; दुश्चर—कर पाना कठिन; तप:—तपस्या; च—तथा; वृथा—व्यर्थ; उत्सृजन्ति—वे फेंक देते हैं।

कुछ लोग तो ऐसे हैं, जो हमारे प्रभाव को लाँघने के उद्देश्य से कठिन तपस्या करते हैं, जो भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी तथा कालजनित अन्य परिस्थितियों यथा रसनेन्द्रिय और जननेन्द्रिय के वेगों की अन्तहीन लहरों से युक्त अगाध समुद्र की तरह है। इस तरह कठिन तपस्या के द्वारा इन्द्रिय-तृप्ति के इस समुद्र को पार कर लेने पर भी, ऐसे व्यक्ति व्यर्थ के क्रोध के वशीभूत होने

पर मूर्खता से गो-खुर में डूब जाते हैं। इस तरह वे अपनी कठिन तपस्या के लाभ को व्यर्थ गँवा बैठते हैं।

तात्पर्य : जो लोग भगवान् की भक्ति स्वीकार नहीं करते, उन्हें दो कोटियों में रखा जा सकता है। वे जो इन्द्रिय-तृप्ति में लगे हैं, देवताओं द्वारा भूख, प्यास, संभोग-इच्छा, अतीत के पश्चाताप तथा भविष्य की आशा जैसे हथियारों से सरलता से जीत लिये जाते हैं। ऐसे भौतिकतावादी मूर्ख देवताओं द्वारा सरलता से वश में कर लिये जाते हैं, क्योंकि देवता ही इन्द्रिय-तृप्ति प्रदान करने वाले होते हैं। किन्तु श्रीधर स्वामी के अनुसार जो लोग अपनी भौतिक इन्द्रियों की इच्छाओं का दमन करना चाहते हैं और भगवान् की शरण में गये बिना देवताओं के नियंत्रण से बचना चाहते हैं, वे इन्द्रिय-भोगियों से भी अधिक मूर्ख हैं। जो लोग भगवान् की सेवा न करके कठिन तपस्या करते हैं, वे भले ही इन्द्रिय-तृप्ति के सागर को पार कर लें, किन्तु अन्ततः क्रोध के क्षुद्र गड्ढे में डूब जाते हैं। जो केवल भौतिक तपस्या करता है, वह वास्तव में अपने हृदय को शुद्ध नहीं करता। भौतिक संकल्प से भले ही वह इन्द्रियों के कार्यकलापों को सीमित कर ले, किन्तु तो भी उसका हृदय भौतिक इच्छाओं से पूर्ण रहता है। इसका व्यावहारिक परिणाम होता है *क्रोध*। हमने ऐसे तमाम कृत्रिम तपस्वियों को देखा है, जो इन्द्रियों के निषेध के कारण अत्यन्त कटु तथा क्रुद्ध बन जाते हैं। ऐसे लोग भगवान् के प्रति अनमने होने से न तो चरम मोक्ष प्राप्त कर पाते हैं, न ही इन्द्रिय-तृप्ति का भोग कर पाते हैं, प्रत्युत वे क्रोधी बन जाते हैं और वे अपनी कठिन तपस्या का फल दूसरों को शाप देने या मिथ्या अहंकार जताने में गँवा देते हैं। यह ज्ञात है कि जब कोई योगी शाप देता है, तो वह अपनी संचित योगशक्ति को कम कर देता है। इस तरह क्रोध न तो मुक्ति दिला पाता है, न ही भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति, अपितु भौतिक तपस्या के समस्त फलों को जला देता है। ऐसा क्रोध व्यर्थ होने से गो-खुर के व्यर्थ कीचड़ की तरह है। इस प्रकार भगवान् के प्रति अनमने योगीजन इन्द्रिय-तृप्ति के सागर को पार करके क्रोध के कीचड़ में डूब जाते हैं। यद्यपि देवता यह स्वीकार करते हैं कि भगवद्भक्त वास्तव में भौतिक जीवन के कष्टों को जीत लेते हैं, किन्तु यहाँ यह प्रकट है कि जो योगी भगवान् की भक्ति में रुचि नहीं रखते, उन्हें ऐसा फल प्राप्त नहीं होता।

इति प्रगृणतां तेषां स्त्रियोऽत्यद्भुतदर्शनाः ।

दर्शयामास शुश्रूषां स्वर्चिताः कुर्वतीर्विभुः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; प्रगृणताम्—प्रशंसा कर रहे; तेषाम्—उनकी उपस्थिति में; स्त्रियः—स्त्रियाँ; अति-अद्भुत—अत्यन्त विचित्र; दर्शनाः—देखने में; दर्शयाम् आस—दिखलाया; शुश्रूषाम्—आदरपूर्ण सेवा; सु-अर्चिताः—अच्छी तरह से अलंकृत; कुर्वतीः—करते हुए; विभुः—सर्वशक्तिमान ईश्वर।

जब देवतागण इस तरह से भगवान् की प्रशंसा कर रहे थे, तो सर्वशक्तिमान प्रभु ने सहसा उनकी आँखों के सामने अनेक स्त्रियाँ प्रकट कर दीं, जो आश्चर्यजनक ढंग से भव्य लगती थीं और सुन्दर वस्त्रों तथा आभूषणों से सज्जित थीं और भगवान् की सेवा में लगी हुई थीं।

तात्पर्य : भगवान् नर-नारायण ने देवताओं की मिथ्या प्रतिष्ठा को दूर करते हुए उन पर अपनी अहैतुकी कृपा प्रदर्शित की। यद्यपि देवताओं को अपने सौन्दर्य तथा अपनी संगिनियों के ऊपर गर्व था, किन्तु भगवान् ने यह दिखला दिया कि पहले से उनकी सेवा असंख्य स्त्रियों द्वारा की जा रही है, जो देवताओं की किसी भी संगिनी से अधिक सुन्दर थीं। भगवान् ने अपनी योगशक्ति से अद्वितीय सुन्दरी स्त्रियाँ प्रकट कर दीं।

ते देवानुचरा दृष्ट्वा स्त्रियः श्रीरिव रूपिणीः ।
गन्धेन मुमुहुस्तासां रूपौदार्यहतश्रियः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; देव-अनुचराः—देवताओं के अनुयायी; दृष्ट्वा—देख कर; स्त्रियः—इन स्त्रियों को; श्रीः—लक्ष्मी देवी; इव—मानो; रूपिणीः—साक्षात्; गन्धेन—सुगन्ध से; मुमुहुः—मोहित हो गये; तासाम्—उन स्त्रियों के; रूप—सौन्दर्य के; औदार्य—भव्यता से; हत—विनष्ट; श्रियः—उनका ऐश्वर्य।

जब देवताओं के अनुयायियों ने नर-नारायण ऋषि द्वारा उत्पन्न स्त्रियों के मोहक सौन्दर्य की ओर निहारा और उनके शरीरों की सुगन्ध को सूँघा तो उनके मन मुग्ध हो गये। निस्सन्देह ऐसी स्त्रियों के सौन्दर्य तथा उनकी भव्यता को देख कर देवताओं के अनुयायी अपने ऐश्वर्य को तुच्छ समझने लगे।

तानाह देवदेवेशः प्रणतान्प्रहसन्निव ।
आसामेकतमां वृङ्ध्वं सवर्णां स्वर्गभूषणाम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

तान्—उनसे; आह—कहा; देव-देव-ईशः—समस्त देवताओं के परमेश्वर; प्रणतान्—जिन्होंने उनके समक्ष शीश झुकाया था; प्रहसन् इव—मानो हँस रहे हों; आसाम्—इन स्त्रियों के; एकतमाम्—एक; वृङ्ध्वम्—चुन लीजिये; स-वर्णाम्—उपयुक्त; स्वर्ग—स्वर्ग का; भूषणाम्—आभूषण।

तब देवों के परमेश्वर किंचित मुसकाये और अपने समक्ष नतमस्तक स्वर्ग के प्रतिनिधियों से कहा, ''तुम इन स्त्रियों में से जिस किसी को भी अपने उपयुक्त समझो, उसे चुन लो। वह स्वर्गलोक की आभूषण (शोभा बढ़ाने वाली) बन जायेगी।''

तात्पर्य : नर-नारायण ऋषि देवताओं की पराजय देख कर कुछ कुछ हँस रहे थे। किन्तु अत्यधिक गम्भीर होने के कारण वे वास्तव में हँसे नहीं। यद्यपि देवताओं ने सोचा होगा कि इन स्त्रियों की तुलना में हम अत्यन्त तुच्छ और मूर्ख हैं, इसलिए भगवान् ने उन्हें प्रोत्साहित किया कि वे उनमें से एक स्त्री चुन लें, जिसे वे अपने समान चरित्र वाली समझते हों। इस प्रकार चुना हुआ सौन्दर्य स्वर्ग का आभूषण बन जायेगा।

ओमित्यादेशमादाय नत्वा तं सुरवन्दिनः ।
उर्वशीमप्सरःश्रेष्ठां पुरस्कृत्य दिवं ययुः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

ओम् इति—स्वीकृति सूचक ॐ का उच्चारण करके; आदेशम्—उनका आदेश; आदाय—लेकर; नत्वा—नमस्कार करके; तम्—उसको; सुर—देवताओं के; वन्दिनः—उन सेवकों ने; उर्वशीम्—उर्वशी को; अप्सरः-श्रेष्ठाम्—अप्सराओं में सर्वश्रेष्ठ; पुरः-कृत्य—आदरवश आगे करके; दिवम्—स्वर्ग; ययुः—लौट गये।

देवताओं के उन सेवकों ने ॐ शब्द का उच्चारण करते हुए अप्सराओं में सर्वोत्कृष्ट उर्वशी को चुन लिया। वे आदरपूर्वक उसे आगे करके स्वर्गलोक लौट गए।

इन्द्रायानम्य सदसि शृण्वतां त्रिदिवौकसाम् ।
ऊचुर्नारायणबलं शक्रस्तत्रास विस्मितः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

इन्द्राय—इन्द्र को; आनम्य—झुक कर; सदसि—सभा में; शृण्वताम्—सुनने में व्यस्त; त्रि-दिव—तीनों स्वर्ग; ओकसाम्—जिनके निवासी; ऊचुः—उन्होंने कहा; नारायण-बलम्—भगवान् नारायण के बल के बारे में; शक्रः—इन्द्र; तत्र—उस पर; आस—हुआ; विस्मितः—चकित।

देवताओं के सेवक इन्द्र-सभा में जा पहुँचे और तीनों स्वर्गों के निवासियों के सुनते सुनते उन्होंने इन्द्र से नारायण के परम बल के बारे में बतलाया। जब इन्द्र ने नर-नारायण ऋषि के बारे में सुना और अपने अपराध के विषय में अवगत हुआ, तो वह डरा और चकित भी हुआ।

हंसस्वरूप्यवददच्युत आत्मयोगं
दत्तः कुमार ऋषभो भगवान्पिता नः ।

विष्णुः शिवाय जगतां कलयावतिर्ण-
स्तेनाहृता मधुभिदा श्रुतयो हयास्ये ॥ १७॥

शब्दार्थ

हंस-स्वरूपी—हंस-अवतार का अपना नित्य स्वरूप धारण किये; अवदत्—बोले; अच्युतः—अच्युत भगवान्; आत्म-योगम्—आत्म-साक्षात्कार; दत्तः—दत्तात्रेय; कुमारः—सनक इत्यादि कुमारगण; ऋषभः—ऋषभदेव; भगवान्—भगवान्; पिता—पिता; नः—हमारा; विष्णुः—भगवान् विष्णु; शिवाय—कल्याण हेतु; जगताम्—सारे जगत के; कलया—अपने गौण अंशों द्वारा, कलाओं द्वारा; अवतीर्णः—इस जगत में अवतरित होकर; तेन—उसके द्वारा; आहृताः—(पाताल-लोक से) वापस लाये गये; मधु-भिदा—मधु असुर के मारने वाले के द्वारा; श्रुतयः—वेदों के मूल ग्रंथ; हय-आस्ये—घोड़े के सिर वाले अवतार में।

अच्युत भगवान् विष्णु इस जगत में अपने विविध आंशिक अवतारों के रूप में अवतरित हुए हैं यथा हंस, दत्तात्रेय, चारों कुमार तथा हमारे अपने पिता, महान् ऋषभदेव। ऐसे अवतारों के द्वारा भगवान् सारे ब्रह्माण्ड के लाभ हेतु आत्म-साक्षात्कार का विज्ञान पढ़ाते हैं। उन्होंने हयग्रीव के रूप में प्रकट होकर मधु असुर का वध किया और इस तरह वे पाताल-लोक से वेदों को वापस लाये।

तात्पर्य : *स्कंध पुराण* में कहा गया है कि ब्रह्माण्ड के स्वामी स्वयं हरि एक बार कुमार नामक तरुण ब्रह्मचारी के रूप में प्रकट हुए और सनत्कुमार को दिव्य ज्ञान दिया।

गुप्तोऽप्यये मनुरिलौषधयश्च मात्स्ये
क्रौडे हतो दितिज उद्धरताम्भसः क्ष्माम् ।
कौर्मे धृतोऽद्रिरमृतोन्मथने स्वपृष्ठे
ग्राहात्प्रपन्नमिभराजममुञ्चदार्तम् ॥ १८॥

शब्दार्थ

गुप्तः—रक्षित; अप्यये—प्रलय के समय; मनुः—वैवस्वत मनु; इला—पृथ्वी-लोक; ओषधयः—वनस्पतियाँ; च—तथा; मात्स्ये—अपने मत्स्य अवतार में; क्रौडे—वराह अवतार में; हतः—मारा गया; दिति-जः—दिति-पुत्र हिरण्याक्ष; उद्धरता—उद्धारकर्ता द्वारा; अम्भसः—जल से; क्ष्माम्—पृथ्वी को; कौर्मे—कच्छप के रूप में; धृतः—धारण किया हुआ; अद्रिः—पर्वत (मन्दर); अमृत-उन्मथने—जब अमृत मन्थन हो रहा था (असुरों तथा देवों द्वारा एक साथ); स्व-पृष्ठे—अपनी पीठ पर; ग्राहात्—ग्राह या घड़ियाल से; प्रपन्नम्—शरणागत; इभ-राजम्—गजेन्द्र; अमुञ्चत्—छुड़ाया; आर्तम्—पीड़ित।

मत्स्य अवतार में भगवान् ने सत्यव्रत मनु, पृथ्वी तथा उसकी मूल्यवान औषधियों की रक्षा की। उन्होंने प्रलय-जल से उनकी रक्षा की। सूकर के रूप में भगवान् ने दिति-पुत्र हिरण्याक्ष का वध किया और ब्रह्माण्ड-जल से पृथ्वी का उद्धार किया। कच्छप-रूप में उन्होंने अपनी पीठ पर मन्दर पर्वत को उठा लिया, जिससे समुद्र को मथ कर अमृत निकाला जा सके। भगवान् ने शरणागत गजेन्द्र को बचाया, जो घड़ियाल के चँगुल में भीषण यातना पा रहा था।

संस्तुन्वतो निपतितान्श्रमणानृषींश्च
शक्रं च वृत्रवधतस्तमसि प्रविष्टम् ।
देवस्त्रियोऽसुरगृहे पिहिता अनाथा
जघ्नेऽसुरेन्द्रमभयाय सतां नृसिंहे ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

संस्तुन्वतः—स्तुति कर रहे; निपतितान्—(गो-खुर के जल में) गिरे हुए; श्रमणान्—साधुओं को; ऋषीन्—ऋषियों (वालखिल्यों) को; च—तथा; शक्रम्—इन्द्र को; च—तथा; वृत्र-वधतः—वृत्रासुर के वध से; तमसि—अंधकार में; प्रविष्टम्—लीन; देव-स्त्रियः—देव-पत्नियाँ; असुर-गृहे—असुर के महल में; पिहिताः—बन्दी बनाई गई; अनाथाः—असहाय; जघ्ने—मार डाला; असुर-इन्द्रम्—असुरों के राजा, हिरण्यकशिपु को; अभयाय—अभयदान के निमित्त; सताम्—सन्त-भक्तों को; नृसिंहे—नृसिंह-अवतार में।

भगवान् ने वालखिल्य नामक लघु-रुप मुनियों का भी उद्धार किया, जब वे गो-खुर-जल में गिर गये थे और इन्द्र उन पर हँस रहा था। तत्पश्चात्, भगवान् ने इन्द्र को भी बचाया, जो वृत्रासुर-वध के पापकर्म के फलस्वरूप अंधकार से प्रच्छन्न था। जब देव-पत्नियाँ असुरों के महल में असहाय होकर बन्दी बनाई गई थीं, तो भगवान् ने ही उन्हें बचाया। अपने नृसिंह-अवतार में भगवान् ने अपने सन्त-भक्तों का भय दूर करने के लिए असुरराज हिरण्यकशिपु का वध किया था।

देवासुरे युधि च दैत्यपतीन्सुरार्थे
हत्वान्तरेषु भुवनान्यदधात्कलाभिः ।
भूत्वाथ वामन इमामहरद्बलेः क्ष्मां
याच्ञाच्छलेन समदाददितेः सुतेभ्यः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

देव-असुरे—देवताओं तथा असुरों के; युधि—युद्ध में; च—तथा; दैत्य-पतीन्—असुरों-नायकों को; सुर-अर्थे—देवताओं के हेतु; हत्वा—मार कर; अन्तरेषु—प्रत्येक मन्वन्तर में; भुवनानि—सारे लोकों में; अदधात्—रक्षा की; कलाभिः—विविध कलाओं द्वारा; भूत्वा—बन कर; अथ—और भी; वामनः—बौने ब्राह्मण बालक के रूप में अवतार; इमाम्—यह; अहरत्—ले लिया; बलेः—बलि महाराज से; क्ष्माम्—पृथ्वी; याच्ञा-छलेन—दान माँगने के बहाने; समदात्—दिया; अदितेः—अदिति के; सुतेभ्यः—पुत्रों (देवताओं) को।

भगवान् देवताओं तथा असुरों के बीच होने वाले युद्धों का लाभ निरन्तर असुरों-नायकों को मारने के लिए उठाते हैं। इस प्रकार भगवान् प्रत्येक मन्वन्तर में अपने विभिन्न अवतारों के माध्यम से ब्रह्माण्ड की रक्षा करके देवताओं को प्रोत्साहित करते हैं। भगवान् वामन के रूप में भी प्रकट हुए और तीन पग भूमि माँगने के बहाने बलि महाराज से पृथ्वी ले ली। तत्पश्चात्, भगवान् ने अदिति-पुत्रों को सारा जगत वापस कर दिया।

निःक्षत्रियामकृत गां च त्रिःसप्तकृत्वो
रामस्तु हैहयकुलाप्ययभार्गवाग्निः ।
सोऽब्धिं बबन्ध दशवक्त्रमहन्सलङ्कं
सीतापतिर्जयति लोकमलघ्नकीर्त्तिः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

निःक्षत्रियाम्—क्षत्रियविहीन; अकृत—बना दिया; गाम्—पृथ्वी को; च—तथा; त्रिः-सप्त-कृत्वः—इक्कीस बार; रामः—परशुराम ने; तु—निस्सन्देह; हैहय-कुल—हैहयवंश के; अप्यय—विनाश; भार्गव—भृगुवंशी; अग्निः—अग्नि; सः—वह; अब्धिम्—सागर; बबन्ध—अपने अधीन कर लिया; दश-वक्त्रम्—दस सिर वाले रावण को; अहन्—मार डाला; स-लङ्कम्—अपने राज्य लंका के सैनिकों समेत; सीता-पतिः—सीता के पति भगवान् रामचन्द्र; जयति—सदैव विजयी होते हैं; लोक—सम्पूर्ण जगत के; मल—कल्मष; घ्न—नष्ट करने वाला; कीर्तिः—जिनके यश का वर्णन करने के कारण।

परशुराम का जन्म भृगुवंश में अग्नि के रूप में हुआ, जिसने हैहय कुल को जलाकर भस्म कर दिया। इस प्रकार भगवान् परशुराम ने पृथ्वी को इक्कीस बार क्षत्रियों से विहीन कर दिया। वही भगवान् सीतादेवी के पति रामचन्द्र के रूप में प्रकट हुए और उन्होंने दस सिरों वाले रावण को लंका के सारे सैनिकों समेत मारा। वे श्रीराम जिनकी कीर्ति संसार के कल्मष को नष्ट करती है सदैव विजयी हों!

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार भगवान् रामचन्द्र नव-योगेन्द्रों के समकालीन अवतार थे। इसीलिए उन्होंने भगवान् रामचन्द्र को विशेष आदर दिया, जैसाकि *जयति* शब्द से सूचित होता है।

भूमेर्भरावतरणाय यदुष्वजन्मा
जातः करिष्यति सुरैरपि दुष्कराणि ।
वादैर्विमोहयति यज्ञकृतोऽतदर्हान्
शूद्रान्कलौ क्षितिभुजो न्यहनिष्यदन्ते ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

भूमेः—पृथ्वी का; भर—भार; अवतरणाय—उतारने के लिए; यदुषु—यदुवंश में; अजन्मा—अजन्मा भगवान्; जातः—जन्म लेकर; करिष्यति—करेंगे; सुरैः—देवताओं द्वारा; अपि—भी; दुष्कराणि—कठिन कर्म; वादैः—तर्कों द्वारा; विमोहयति—मोहित करेंगे; यज्ञ-कृतः—वैदिक यज्ञों के कर्ता; अतत्-अर्हान्—जो इस तरह लगे रहने के योग्य नहीं हैं; शूद्रान्—शूद्रों को; कलौ—कलियुग में; क्षिति-भुजः—शासक; न्यहनिष्यत्—वध करेगा; अन्ते—अन्त में।

पृथ्वी का भार उतारने के लिए अजन्मा भगवान् यदुवंश में जन्म लेंगे और ऐसे कर्म करेंगे, जो देवताओं के लिए भी कर पाना असम्भव है। वे बुद्ध के रूप में तर्कदर्शन की स्थापना करते हुए अयोग्य वैदिक यज्ञकर्ताओं को मोहित करेंगे। और कल्कि के रूप में वे कलियुग के अन्त में अपने को शासक बतलाने वाले सारे निम्न श्रेणी के लोगों का वध करेंगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में यदुवंश में भगवान् के प्राकट्य से कृष्ण तथा बलराम दोनों के प्राकट्य का मन्तव्य निहित होना समझा जाता है, जिन्होंन मिलकर पृथ्वी के भारस्वरूप असुर शासकों का अन्त किया। श्रील जीव गोस्वामी ने यह इंगित किया है कि शूद्रों अर्थात् निम्न श्रेणी के लोगों से निपटने के लिए जिन अवतारों का वर्णन हुआ है, वे बुद्ध तथा कल्कि के सूचक हैं। जो लोग स्थूल इन्द्रिय-तृप्ति के लिए, यथा पशुओं की पापमय हत्या के लिए वैदिक यज्ञ करते हैं, वे निश्चय ही शूद्रों की कोटि में आते हैं, जिस तरह कि कलियुग के तथाकथित राजनीतकि नेता जो राज्य-व्यवस्था के नाम पर अनेक कहर ढाते हैं।

एवंविधानि जन्मानि कर्माणि च जगत्पतेः ।
भूरीणि भूरियशसो वर्णितानि महाभुज ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

एवम्-विधानि—इस तरह के; जन्मानि—जन्म; कर्माणि—कर्म; च—तथा; जगत्-पतेः—ब्रह्माण्ड के स्वामी के; भूरीणि—असंख्य; भूरि-यशसः—अत्यन्त यशस्वी; वर्णितानि—वर्णित; महा-भुज—हे बलशाली राजा निमि।

हे महाबाहु राजा, ब्रह्माण्ड के स्वामी भगवान् के ऐसे जन्म तथा कर्म असंख्य हैं, जिस तरह कि मैं वर्णन कर चुका हूँ। वस्तुतः भगवान् की कीर्ति अनन्त है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के अन्तर्गत "राजा निमि से द्रुमिल द्वारा ईश्वर के अवतारों का वर्णन" नामक चौथे अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पाँच

नारद द्वारा वसुदेव को दी गई शिक्षाओं का समापन

इस अध्याय में उन व्यक्तियों के गति की विवेचना की गई है, जो भगवान् हरि की पूजा से शत्रुता रखते हैं, जो अपनी इन्द्रियों को वश में रखने में असमर्थ हैं और जो शान्त नहीं हैं। साथ ही, प्रत्येक युग में भगवान् के विभिन्न नामों, रूपों और पूजा-विधियों का उल्लेख हुआ है।

आदि पुरुष विष्णु के मुख, बाहु, जँघा तथा पाँव से चार *वर्ण*—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—तथा चार विभिन्न *आश्रम* उत्पन्न हैं। यदि चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के लोग अपनी ही उत्पत्ति के

प्रत्यक्ष मूल भगवान् श्री हरि की पूजा नहीं करते, तो उनका पतन होता है। इन श्रेणियों में से स्त्रियाँ तथा शूद्र, जिनका *हरिकथा* के श्रवण तथा कीर्तन से सामान्यतया कोई सम्पर्क नहीं होता, अपने अज्ञान के कारण महापुरुषों की कृपा के विशेष पात्र हैं। अन्य तीन वर्णों के लोग वैदिक दीक्षा द्वारा द्वितीय जन्म पाकर *श्रौत-जन्म,* हरि के चरणकमल पाने के योग्य बनते हैं, तो भी वेदों की मनमानी व्याख्या से भ्रमित रहते हैं। कर्म के असली अर्थ को न समझते हुए भी अपने को महान् पंडित मान कर सकाम फल के लोभ में वे देवताओं की चाटुकारिता करते हैं और भगवान् के भक्तों का मजाक उड़ाते हैं। वे गृहस्थ जीवन में लगे रहते हैं, संसारी गपशप में रुचि रखते हैं और विष्णु तथा वैष्णवों की भक्ति से विमन रहते हैं। वे भौतिक ऐश्वर्य तथा आनन्द से उन्मत्त रहते हैं, विवेक तथा बुद्धि से विहीन होते हैं और सदैव मानसिक स्तर पर कर्म करते हैं। किन्तु गृहस्थ जीवन के प्रति ऐसी आसक्ति शास्त्र-विरुद्ध होते हुए भी जन-सामान्य में स्वाभाविक है। ऐसे जीवन के सभी पक्षों से अपने को छुड़ाना ही वेदों की मुख्य शिक्षा है। असली सम्पत्ति वह है, जो आत्मा का कर्तव्य करने के लिए अनुकूल हो, वह नहीं जो स्वार्थपूर्ण इन्द्रिय-तृप्ति की पूर्ति के लिए हो। इन्द्रियों में लिप्त रहने की इच्छा के फलस्वरूप ही, पुरुष तथा स्त्री सन्तान उत्पन्न करने के लिए संभोग करते हैं। यज्ञ सम्पन्न करने के लिए आवश्यकता से अधिक पशु-हत्या करके ये मनुष्यरूपी पशु अगले जीवन में हिंसा भोगते हैं। यदि अपने आनन्द के लिए अत्यधिक लोभवश कोई व्यक्ति जीवों के प्रति हिंसा करता है, तो वह श्रीहरि पर भी आक्रमण करता है, जो परमात्मा-रूप में सारे जीवों के शरीरों में उपस्थित हैं। भगवान् वासुदेव के विरोधी एवं अपने आपको धोखा देने वाले ये अज्ञानी अपना ही विनाश करते हैं और नरक जाते हैं।

भगवान् श्रीहरि प्रत्येक युग में विविध रंग, नाम तथा रूप धारण करते हैं और विविध स्वीकृत विधियों द्वारा पूजे जाते हैं। सत्ययुग में भगवान् का वर्ण श्वेत होता है, उनके चार भुजाएँ होती हैं, वे ब्रह्मचारी का वेश धारण करते हैं और हंस जैसे नामों से जाने एवं ध्यानयोग द्वारा पूजे जाते हैं। त्रेतायुग में उनका रंग लाल होता है और वे चतुर्भुजी होते हैं, वे साक्षात् यज्ञ रूप होते हैं और यज्ञ चम्मच, शुरुवा इत्यादि प्रतीकों से युक्त होकर यज्ञ जैसे नामों से पुकारे तथा वैदिक यज्ञों द्वारा पूजे जाते हैं। द्वापर युग में उनका वर्ण गहरा नीला होता है, वे पीताम्बर पहनते हैं, श्रीवत्स आदि चिह्न धारण करते हैं, उनके नाम वासुदेव आदि होते हैं और वेदों तथा तंत्रों के विधि-विधानों द्वारा अर्चारूप में पूजे जाते हैं।

कलियुग में उनका रंग सुनहरा (गौर) होता है, उनके साथ उनके प्राथमिक तथा गौण अंगों तथा हथियारों से युक्त संगी होते हैं, वे कृष्ण-कीर्तन में मग्न रहते हैं, और *सङ्कीर्तन यज्ञ* द्वारा पूजे जाते हैं। चूँकि कलियुग में मनुष्य-जीवन के सारे लक्ष्य एकमात्र भगवान् श्री हरि के नाम-कीर्तन द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं, इसलिए जो लोग वस्तुओं के वास्तविक सार को जानते हैं, वे कलियुग की प्रशंसा करते हैं। कलियुग में दक्षिण भारत (द्रविड़ देश) के उन स्थानों के लोग जहाँ ताम्रपर्णी, कृतमाला, कावेरी तथा महानदी नदियाँ बहती हैं, भगवान् की भक्ति में समर्पित होंगे।

जो लोग मिथ्या अहंकार त्याग देते हैं और पूर्णतया भगवान् हरि की शरण में जाते हैं, वे देवताओं के या अन्य किसी के ऋणी नहीं रहते। जो भक्त भगवान् श्रीहरि के अतिरिक्त अन्य कोई आश्रय नहीं जानते, उनके हृदयों में भगवान् श्रीहरि प्रकट होते हैं और उनके हृदयों की सारी दुर्भावनाएँ भगा देते हैं। विदेहराज निमि ने नव-योगेन्द्रों के मुखों से भागवत धर्म का विस्तृत वर्णन सुनने के बाद तुष्य मन से उनकी पूजा की। तब वे अन्तर्धान हो गये।

इसके बाद देवर्षि नारद ने वसुदेव को भक्ति की चरम शरण के विषय में उपदेश दिया। उन्होंने वसुदेव को बतलाया कि यद्यपि भगवान् पृथ्वी का भार दूर करने के लिए इस जगत में उनके पुत्र-रूप में प्रकट हुए हैं, तो भी उन्हें चाहिए कि वे कृष्ण को अपने पुत्र-रूप में न मान कर भगवान् मानें। शिशुपाल जैसे राजा शत्रुभाव रखते हुए भी कृष्ण का ध्यान करने से उन्हीं के समान पद को प्राप्त हुए। इसलिए कृष्ण से प्रेम-सम्बन्ध रखने वाले वसुदेव जैसे महात्मा की पूर्णलब्धि के विषय में कुछ कहना व्यर्थ होगा।

श्रीराजोवाच
भगवन्तं हरिं प्रायो न भजन्त्यात्मवित्तमाः ।
तेषामशान्तकामानां क निष्ठाविजितात्मनाम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा निमि ने पूछा; **भगवन्तम्**—भगवान्; **हरिम्**—हरि को; **प्रायः**—अधिकांशतया; **न**—नहीं; **भजन्ति**—पूजते हैं; **आत्म-वित्तमाः**—आत्मा के विज्ञान के विषय में आप सभी पूर्ण हैं; **तेषाम्**—उनके; **अशान्त**—अतृप्त; **कामानाम्**—भौतिक इच्छाओं के; **का**—क्या; **निष्ठा**—गन्तव्य; **अविजित**—वश में न कर सकने वाले; **आत्मनाम्**—अपनी।

राजा निमि ने आगे पूछा : हे योगेन्द्रो, आप सभी लोग आत्म-विज्ञान में परम दक्ष हैं, अतएव मुझे उन लोगों का गन्तव्य बतलाइये, जो प्राय: भगवान् हरि की पूजा नहीं करते, जो अपनी भौतिक इच्छाओं की प्यास नहीं बुझा पाते तथा जो अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर पाते।

तात्पर्य : ग्यारहवें स्कन्ध के इस पाँचवें अध्याय में चमस ऋषि उन लोगों के अशुभ मार्ग का वर्णन करते हैं, जो भगवान् विष्णु की भक्ति के प्रतिकूल रहते हैं और करभाजन ऋषि भगवान् के उन अवतारों का वर्णन करते हैं, जो विभिन्न युगों की प्रामाणिक धर्म-विधि को (*युग-धर्मावतार*) प्रस्तुत करने वाले हैं।

पिछले अध्याय में यह बतलाया जा चुका है कि यद्यपि देवतागण भगवान् के भक्तों के मार्ग में व्यवधान उत्पन्न करते हैं, किन्तु भगवत्कृपा से ये भक्त उन व्यवधानों को पद-दलित करते हुए परम गन्तव्य तक जा पहुँचते हैं। किन्तु अभक्तों के लिए ऐसी सुविधा नहीं है। ज्योंही बद्धजीव भगवद्भक्ति से अनमना होता है, त्योंही वह पदार्थ के क्षणिक प्रकारों के प्रति आकृष्ट होकर अशुभ इच्छाओं का दास बन जाता है। इस तरह भगवद्भक्ति से रहित बद्धजीव वैकुंठ के दिव्य आनन्द को पूर्णतया भूल जाता है, जो पंच दिव्यों रसों में भोगा जाता है। यद्यपि भक्तगण देवताओं द्वारा प्रदत्त इन्द्रिय-तृप्ति के वशीभूत नहीं होते, किन्तु देवता स्वयं ही भौतिक रूप, स्वाद तथा गंध में लीन हो जाते हैं। इसी तरह जो अभक्त हैं, वे भी भौतिक रूप, स्वाद तथा अन्य इन्द्रिय-विषयों में, यथा भोग-विलास में, बँध जाते हैं। इस तरह वे नाना प्रकार से इन्द्रिय-तृप्ति की कल्पनाएँ करके स्वप्न-लोक में विचरण करते रहते हैं और भगवान् के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को भूल जाते हैं। विदेहराज निमि अब चमस मुनि से ऐसे मोहग्रस्त व्यक्तियों के द्वारा प्राप्त किये जाने वाले गन्तव्य के विषय में पूछ रहे हैं।

श्रीचमस उवाच
मुखबाहूरुपादेभ्य: पुरुषस्याश्रमै: सह ।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादय: पृथक् ॥ २॥

शब्दार्थ

श्री-चमस: उवाच—श्री चमस ने कहा; मुख—मुख; बाहु—भुजाएँ; ऊरु—जाँघें; पादेभ्य:—पाँवों से; पुरुषस्य—परमेश्वर के; आश्रमै:—चारों आश्रम; सह—सहित; चत्वार:—चार; जज्ञिरे—उत्पन्न हुए थे; वर्णा:—जातियाँ; गुणै:—गुणों से; विप्र-आदय:—ब्राह्मण इत्यादि; पृथक्—विविध।

श्री चमस ने कहा : ब्राह्मण से शुरु होने वाले चारों वर्ण प्रकृति के गुणों के विभिन्न संयोगों से भगवान् के विराट रूप के मुख, बाहु, जाँघ तथा पाँव से उत्पन्न हुए। इसी तरह चार आध्यात्मिक आश्रम भी उत्पन्न हुए।

तात्पर्य : जो लोग भगवद्भक्ति की ओर स्वत: आकृष्ट नहीं होते, वे चार वर्णों तथा चार आश्रमों वाली वर्णाश्रम प्रणाली का पालन करके धीरे धीरे शुद्ध बन सकते हैं। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार ब्राह्मण सतोगुण से, क्षत्रिय सतो तथा रजोगुण के मिश्रण से, वैश्य रजो तथा तमोगुण के मिश्रण से और शूद्र तमोगुण से उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार चारों वर्ण भगवान् के विराट रूप के मुख, बाहु, जाँघ तथा पाँव से उत्पन्न हैं, उसी तरह ब्रह्मचारी भगवान् के हृदय से, गृहस्थ आश्रम उनके कटि से, वानप्रस्थ आश्रम उनके वक्षस्थल से और संन्यास आश्रम उनके सिर से उत्पन्न हैं।

ऐसा ही श्लोक *ऋक्-संहिता* (८.४.१९) में, *शुक्ल-यजुर्वेद* (३४.११) में तथा *अथर्ववेद* (१९.६६) में पाया जाता है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहु राजन्य: कृत: ।

ऊरु तदस्य यद् वैश्य: पद्भ्यां शूद्रोऽजायता ॥

''ब्राह्मण उनके मुख से, राजा उनके भुजाओं से, वैश्य उनकी जाँघों से और शूद्र उनके पैरों से उत्पन्न हुए।''

यह विदित है कि भगवद्भक्ति का वर्णन नौ-योगेन्द्रों में से दो—द्रुमिल तथा आविर्होत्र ने पहले ही किया है। चमस मुनि अब *वर्णाश्रम-धर्म* का वर्णन कर रहे हैं, क्योंकि यह प्रणाली उन लोगों को क्रमश: शुद्ध करने और उन्हें भगवत्प्रेम की वैधानिक स्थिति में वापस लाने के लिए है, जो भगवान् से शत्रुभाव रखते हैं। इसी प्रकार विराट रूप काल्पनिक रूप है, जो निपट भौतिकतावादियों को भगवान् की स्थिति को क्रमिक रूप से समझाने के लिए है। चूँकि मूर्ख भौतिकतावादी पदार्थ के परे कुछ भी नहीं समझ पाता, इसलिए उसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को भगवान् के साकार रूप में देखने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति की किसी धारणा के बिना निराकार की निर्विशेष धारणा क्षणिक भौतिक-विविधता का केवल निषेध है। निर्विशेष दृष्टिकोण भौतिक चिन्तन का दूसरा रूप है। भगवान् *ह्लादिनी, सन्धिनी* तथा *संवित्* शक्तियों के मुख्य शीर्षकों के अन्तर्गत दिव्य शक्तियों से पूर्ण हैं।

इस श्लोक से यह समझना होगा कि भगवान् के विराट रूप से उत्पन्न *वर्णाश्रम-धर्म* प्रणाली भगवान् द्वारा प्रदत्त ऐसा कार्यक्रम है, जो बद्धजीवों को नितान्त सामाजिक तथा धार्मिक प्रणाली में लगाकर, उन्हें क्रमशः भगवद्धाम की ओर ले जाने वाला है।

य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् ।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; एषाम्—उनके; पुरुषं—परमेश्वर को; साक्षात्—प्रत्यक्षतः; आत्म-प्रभवम्—अपनी उत्पत्ति के स्त्रोत; ईश्वरम्—परम नियन्ता; न—नहीं; भजन्ति—पूजते हैं; अवजानन्ति—अनादर करते हैं; स्थानात्—अपने पद से; भ्रष्टाः—पतित; पतन्ति—गिरते हैं; अधः—नीचे।

यदि चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों का कोई भी सदस्य उनकी अपनी उत्पत्ति के स्त्रोत भगवान् की पूजा नहीं करता या जान-बूझकर भगवान् का अनादर करता है, तो वे सभी अपने पद से गिर कर नारकीय दशा को प्राप्त होंगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *न भजन्ति* शब्द उन लोगों के द्योतक हैं, जो अज्ञानतावश भगवान् की पूजा नहीं करते, किन्तु *अवजानन्ति* शब्द उनका द्योतन करता है, जिन्हें भगवान् के सर्वोच्च पद की जानकारी है, किन्तु तो भी वे उनका अनादर करते हैं। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि चारों वर्ण तथा चारों आश्रम भगवान् के ही शरीर से उत्पन्न हैं। वस्तुतः परमेश्वर हर वस्तु के उद्गम हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.८) में वर्णन हुआ है : *अहं सर्वस्य प्रभवः ।* वे लोग जो मूर्खतावश भगवान् के पद के बारे में जिज्ञासा नहीं करते तथा वे जो उनके दिव्य पद के विषय में सुनने के बावजूद उनका अनादर करते हैं, निश्चय ही *वर्णाश्रम-धर्म* से नीचे गिर जाते हैं जैसाकि *स्थानाद् भ्रष्टाः* शब्दों द्वारा बतलाया गया है। *पतन्त्यधः* शब्द सूचित करता है कि जो व्यक्ति वर्णाश्रम प्रणाली से नीचे गिरता है, वह पापकर्मों से नहीं बच सकता, न ही ऐसे व्यक्ति को यज्ञ करने का श्रेय मिलता है। इस तरह वह धीरे धीरे नरक में अधम योनियों की ओर बढ़ता जाता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इंगित किया है कि भगवान् का अनादर करने और अपने पद से नीचे गिरने का मूल कारण यह है कि व्यक्ति ने गुरु की सही ढंग से पूजा करना नहीं सीखा। जिस व्यक्ति को गुरु को सादर नमस्कार करने और पूजा करने का अभ्यास है, वह अपने आप भगवान् की सही ढंग से पूजा करता है। गुरु की कृपा के बिना तथाकथित धार्मिक व्यक्ति भी क्रमशः नास्तिक बन जाता है, अपने मूर्खतापूर्ण चिन्तन से भगवान् का अपमान करता है और

नारकीय दशा को प्राप्त होता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि इस श्लोक में उल्लिखित *पुरुष* गर्भोदकशायी विष्णु हैं, जिनकी महिमा का वर्णन *पुरुष सूक्त* में हुआ है। यदि किसी को अपने उच्च सामाजिक पद का गर्व है और जो ईर्ष्यावश यह सोचता है कि भगवान् भी प्रकृति की उपज है और ऐसा कोई चरम जीव नहीं है, जो सारे जीवों का उद्गम हो, तो ऐसा गर्वित मूर्ख वर्णाश्रम प्रणाली से नीचे गिर जायेगा और असंयमी पशुवत् हो जायेगा।

दूरे हरिकथा: केचिद्दूरे चाच्युतकीर्तना: ।
स्त्रिय: शूद्रादयश्चैव तेऽनुकम्प्या भवादृशाम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

दूरे—बहुत दूर; हन्-कथा:—भगवान् हरि की बातों से; केचित्—कई लोग; दूरे—काफी दूर; च—तथा; अच्युत—त्रुटिरहित; कीर्तना:—कीर्ति; स्त्रिय:—स्त्रियाँ; शूद्र-आदय:—शूद्र तथा अन्य पतित जातियाँ; च—तथा; एव—निस्सन्देह; ते—वे; अनुकम्प्या:—अनुग्रह के पात्र हैं; भवादृशाम्—आप जैसे व्यक्तियों के।

ऐसे अनेक लोग हैं, जिन्हें भगवान् हरि विषयक वार्ताओं में भाग लेने का बहुत ही कम अवसर मिल पाता है, जिसके कारण भगवान् की अच्युत कीर्ति का कीर्तन कर पाना उनके लिए कठिन होता है। स्त्रियाँ, शूद्र तथा अन्य पतित जाति के व्यक्ति, सदा ही आप जैसे महापुरुषों की कृपा के पात्र हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बतलाया गया था कि कुछ व्यक्ति भगवान् की महिमा से अपरिचित होते हैं (*न भजन्ति*), जबकि अन्य लोग भगवान् से परिचित होते हुए भी उनका उपहास करते हैं या यह कहते हैं कि भगवान् भी भौतिक है (*अवजानन्ति*)। इस श्लोक में अज्ञानियों को शुद्ध भक्त की कृपा का उचित पात्र बतलाया गया है। दूरे शब्द उन लोगों का बताने वाला है, जिन्हें भगवान् की महिमा सुनने तथा गाने का कोई अवसर नहीं मिल पाता। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इन्हें *ये साधु-संग भाग्यहीना:* कहा जा सकता है—अर्थात् वे जो सन्त-पुरुषों तथा शुद्ध भक्तों की संगति से विहीन हैं। सामान्य रूप से कृष्णभावनामृत की अध्यात्म-विद्या में बढ़े-चढ़े लोग स्त्रियों तथा निम्न श्रेणी के व्यक्तियों की संगति से बचते हैं। सामान्य रूप से स्त्रियाँ कामुक होती हैं और शूद्र तथा अन्य निम्न श्रेणी के व्यक्ति धूम्रपान, सुरापान तथा स्त्री आखेट जैसी गन्दी आदतों में लिप्त रहते हैं। इसीलिए चैतन्य महाप्रभु ने साधुओं को स्त्रियों तथा शूद्रों के घनिष्ठ सम्बन्ध से बचने के प्रति आगाह किया है। ऐसे प्रतिबन्ध का व्यावहारिक परिणाम यह होता है कि प्राय: स्त्रियाँ तथा शूद्रजन साधुओं से भगवान्

की महिमा सुन पाने से वंचित रह जाते हैं। इसीलिए श्री चमस मुनि राजा को आदेश देते हैं कि वह ऐसे पतित लोगों पर अपनी विशेष दया प्रदर्शित करे।

हमारे गुरु श्रील प्रभुपाद की भारत में इसलिए कटु आलोचना हुई, क्योंकि उन्होंने कृष्णभावनामृत आन्दोलन में सभी जाति के पुरुषों तथा स्त्रियों को भाग लेने का अवसर प्रदान किया। निस्सन्देह भारत के ब्राह्मण जाति के लोग तथा केवल कर्मकाण्ड से सम्बन्ध रखने वाले अन्य लोग इसलिए आहत हुए, क्योंकि श्रील प्रभुपाद ने निम्न कुल में जन्म लेने वाले स्त्री–पुरुषों को वैष्णव संस्कृति में मुक्तभाव से भाग लेने, यहाँ तक कि अधिकृत ब्राह्मण के रूप में दीक्षित होने की, अनुमति दे दी थी। तथापि श्रील प्रभुपाद समझते थे कि इस युग में प्राय: हर व्यक्ति पतित है। उन्होंने देखा कि यदि आध्यात्मिक जीवन को तथाकथित उच्च जातियों तक ही सीमित कर दिया जाता है, तो विश्व–भर में असली आध्यात्मिक आन्दोलन के फैलने की सम्भावना नहीं रहेगी। श्रील चैतन्य महाप्रभु की कृपा इतनी महान् है और कृष्ण का पवित्र नाम इतना शक्तिशाली है कि कोई भी पुरुष, स्त्री, बालक या पशु तक कृष्ण–नाम का कीर्तन करके तथा प्रसादम् ग्रहण करके शुद्ध बन सकता है। श्री चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन में किसी भी निष्ठावान व्यक्ति को सर्वोच्च आत्मसिद्धि प्राप्त करने से रोका नहीं जा सकता। एक ओर जहाँ निर्विशेषवादी तथा योगीजन अपनी ही निजी अनुभूति तथा योगशक्ति की उपलब्धि के प्रति स्वार्थ–भाव से चिन्तित रहते हैं, वहीं वैष्णवों में यह प्रथा रही है कि वे सभी जातियों के जीवों के प्रति दयालु होते हैं।

ऐसा समझा जाता है कि नव–योगेन्द्रों तथा राजा निमि के बीच हुई यह वार्ता भगवान् रामचन्द्र के काल में, आज से कई हजार वर्ष पूर्व, हुई थी। किन्तु आज से केवल पाँच हजार वर्ष पूर्व कही गई *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण ने स्वयं यह भी कहा है कि कोई भी व्यक्ति, चाहे जीवन की किसी भी स्थिति में क्यों न हो, भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की पूर्ण शरण ग्रहण करके भगवान् का अत्यन्त प्रिय भक्त बन सकता है। इसलिए कलियुग के पतित लोगों को वैष्णवों की विशेष कृपा का लाभ उठाकर अपना जीवन पूर्ण बनाने और भगवद्धाम वापस जाने के लिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन में सम्मिलित हो जाना चाहिए।

विप्रो राजन्यवैश्यौ वा हरेः प्राप्ताः पदान्तिकम् ।
श्रौतेन जन्मनाथापि मुह्यन्त्याम्नायवादिनः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

विप्रः—ब्राह्मण; राजन्य-वैश्यौ—राजसी वर्ग तथा वैश्य लोग; वा—अथवा; हरेः—हरि के; प्राप्ताः—निकट जाने की अनुमति दिये जाने पर; पद-अन्तिकम्—चरणकमलों के पास; श्रौतेन जन्मना—वैदिक दीक्षा का द्वितीय जन्म प्राप्त कर चुकने पर; अथ—तत्पश्चात्; अपि—भी; मुह्यन्ति—मुग्ध हो जाते हैं; आम्नाय-वादिनः—अनेक दर्शनों को स्वीकार करते हुए।

दूसरी ओर ब्राह्मण, राजसी वर्ग के लोग तथा वैश्यजन वैदिक दीक्षा द्वारा द्वितीय जन्म प्राप्त करके (द्विज) भगवान् हरि के चरणकमलों के निकट जाने की अनुमति दिये जाने पर भी मोहित हो सकते हैं और विविध भौतिकतावादी दर्शन ग्रहण कर सकते हैं।

तात्पर्य : कहा गया है कि अल्पज्ञान अत्यन्त घातक हो सकता है। जो लोग सामाजिक पद से झूठे ही गर्वित होकर भगवान् की पूजा पूरी करने में लापरवाही बरतने लगते हैं, उनकी इस श्लोक में निन्दा की गई है। *मुह्यन्ति आम्नायवादिनः*—वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत ही उच्च पद की इन्द्रिय-तृप्ति के द्वारा आकृष्ट होकर ऐसे व्यक्ति परम सत्य की अपेक्षा भ्रामक भौतिक दर्शन की ओर अधिक आकृष्ट होते हैं। जैसाकि इस श्लोक में बताया गया है, ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों को वैदिक प्रणाली के अन्तर्गत गायत्री मंत्र की दीक्षा दी जाती है, और उन्हें द्विजन्मा अर्थात् अत्यधिक सुसंस्कृत माना जाता है। वैदिक साहित्य का अध्ययन करने, वैदिक मंत्रों का उच्चारण करने, कर्मकाण्ड सम्पन्न करने तथा गुरु एवं भगवान् की पूजा करने से ऐसे व्यक्ति क्रमशः भगवान् के चरणकमलों के निकट पहुँच पाते हैं। यदि ऐसे उच्च पद को प्राप्त कोई व्यक्ति अपने पद के प्रति गर्वित हो उठता है या वर्णाश्रम धर्म के अनुयायियों के लिए निस्सन्देह उपलब्ध स्वर्गिक भोग के प्रति मुग्ध हो जाता है, तो ऐसा विमुग्ध व्यक्ति जन्म तथा मृत्यु के भौतिक मायावी पद को प्राप्त होता है। यहाँ तक कि उच्च पद प्राप्त देवतागण भी माया-लोभ के शिकार बनते हैं जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रथम श्लोक में वर्णित है—*मुह्यन्ति यत् सूरयः।*

निर्जीव पदार्थ का भोग करने की मायावी इच्छा की संपुष्टि करने के लिए ऐसे मूर्ख लोग भगवान् के पूजन की आवश्यकता का अवमूल्यन करते हुए (*अवजानन्ति*) और वेदों के कर्मकाण्ड भाग को जो नियमित अनुष्ठानों के बदले स्वर्गिक इन्द्रियतृप्ति प्रदान करता है समान महत्ता प्रदान करने का झूठा प्रयास करते हुए अपनी ही अवमानना करते हैं। *भगवद्गीता* (२.४२) में ऐसे झूठे उदारचेताओं का वर्णन हुआ है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥

"अल्पज्ञानी मनुष्य वेदों के उन अलंकारमय शब्दों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं, जो स्वर्ग की प्राप्ति, अच्छे भावी जन्म, शक्ति इत्यादि के लिए विविध सकाम कर्म करने की संस्तुति करते हैं। इन्द्रिय-तृप्ति तथा ऐश्वर्यमय-जीवन की अभिलाषा के कारण, वे ऐसा कहते हैं कि इससे बढ़कर और कुछ नहीं है।"

श्रील प्रभुपाद ने *भगवद्गीता* के इस श्लोक के तात्पर्य में यहाँ पर वर्णित अपराधी वर्ग के लोगों का स्पष्ट चित्रण किया है। "सामान्यतः सब लोग अत्याधिक बुद्धिमान नहीं होते और वे अज्ञान के कारण वेदों के कर्मकाण्ड भाग में बताये गये सकाम कर्मों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं। वे स्वर्ग में जीवन का आनन्द उठाने के लिए इन्द्रिय-तृप्ति कराने वाले प्रस्तावों से अधिक और कुछ नहीं चाहते, जहाँ मदिरा तथा तरुणियाँ उपलब्ध हैं और भौतिक ऐश्वर्य सर्वसामान्य है। वेदों में स्वर्गलोक पहुँचने के लिए अनेक यज्ञों की संस्तुति है, जिनमें *ज्योतिष्टोम* यज्ञ प्रमुख है। वास्तव में वेदों में कहा गया है कि जो स्वर्ग जाना चाहता है, उसे ये यज्ञ सम्पन्न करने चाहिए और अल्पज्ञानी पुरुष सोचते हैं कि वैदिक ज्ञान का सारा अभिप्राय यही है। ऐसे अनुभवहीन लोगों के लिए कृष्णभावना के दृढ़ कर्म में स्थित हो पाना अत्यन्त कठिन है। जिस प्रकार मूर्ख लोग विषैले वृक्षों के फूलों के प्रति बिना यह जाने कि इस आकर्षण का क्या फल होगा आसक्त रहते हैं, उसी प्रकार अज्ञानी व्यक्ति ऐसे स्वर्गिक ऐश्वर्य तथा तज्जनित इन्द्रिय-भोग के प्रति आकृष्ट रहते हैं।

वेदों के कर्मकाण्ड भाग में कहा गया है, जो लोग चातुर्मास तप करते हैं, वे अमर तथा सदा सुखी रहने के लिए सोमरस पीने के अधिकारी बन जाते हैं। यहाँ तक कि इस पृथ्वी में भी कुछ लोग सोमरस के लिए अत्यन्त इच्छुक रहते हैं, जिससे वे बलवान बनें और इन्द्रिय-तृप्ति का सुख पाने में समर्थ हों। ऐसे लोगों को भव-बन्धन से मुक्ति में कोई श्रद्धा नहीं होती और वे वैदिक यज्ञों की तड़क-भड़क में विशेष आसक्त रहते हैं। वे सामान्यतया विषयी होते हैं और जीवन में स्वर्गिक आनन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहते। कहा जाता है कि स्वर्ग में नन्दनकानन नामक अनेक उद्यान हैं, जिनमें दैवी-सुन्दरी स्त्रियों का संग और प्रचुर मात्रा में सोमरस उपलब्ध रहता है। ऐसा शारीरिक सुख

निस्सन्देह विषयी है। अत: ये लोग वे हैं, जो भौतिक जगत के स्वामी बन कर, केवल ऐसे भौतिक क्षणिक सुख के प्रति आसक्त हैं।''

इस श्लोक में महत्त्वपूर्ण बिन्दू यह है कि ऐसे मोहग्रस्त भौतिकतावादी जो वेदों के कर्मकांड भाग के प्रति आकृष्ट हैं (*मुह्यन्त्याम्नायवादिन:*) वे परम भोक्ता भगवान् के परम स्वामित्व की उपेक्षा करना चाहते हैं (*भोक्तारं यज्ञतपसाम्*)। उसी के साथ वे वैदिक नियमों के महान् पालक का पद भी बनाए रखना चाहते हैं। ऐसे दोहरे विचार वाले व्यक्ति भौतिकतावादी दार्शनिकों की यथा जैमिनि की शरण ग्रहण करते हैं, जो ईश्वर के अस्तित्व को ठोस नियम के तौर पर नकारते हैं (*ईश्वरासिद्धे:*) और इसीलिए वे सकाम कर्मों को सर्वोच्च ज्ञेय सत्य के रूप में मानने की संस्तुति करते हैं। ऐसे तथाकथित वैदिक दार्शनिक सुसंस्कृत नास्तिकों जैसे ही हैं, इसलिए *अनीश्वरवादिन:* समझे जाते हैं। यद्यपि वर्णाश्रम प्रणाली के मूर्ख भौतिकतावादी अनुयायी अपना पद आर्यों या द्विजों के रूप में बनाये रखना चाहते हैं और उसी के साथ भगवान् की उपेक्षा करना चाहते हैं, किन्तु *भागवत* (११.५.३) में स्पष्ट कहा गया है *स्थानाद् भ्रष्टा: पतन्त्यध:*—ऐसे व्यक्ति अवश्य ही अपने पदों से गिर कर जीवन की निम्न अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं। जैसाकि इस श्लोक के *मुह्यन्ति* शब्द से पुष्टि होती है, वे अज्ञान के गर्त में जा गिरते हैं। ऐसे दिखावे वाले लोग कभी कभी अपने को *गुरु* रूप में भी प्रस्तुत करते हैं। किन्तु भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि वे ज्ञान में भारी या *गुरु* न होकर *लघु* होते हैं। यह तो मनुष्य का अपने प्रति (*स्वार्थगति*) तथा भगवान् के प्रति परम कर्तव्य है कि *कर्म* तथा *ज्ञान* द्वारा विशेषित भौतिकतावादी कर्म त्याग दे और भगवान् के चरणकमलों की शरण में जाय। केवल अभागे व्यक्ति ही मानेंगे कि गोकुलानन्द भगवान् के चरणकमलों पर भावमय शरणागति की अपेक्षा कोई और भी उच्चतर आनन्द है।

कर्मण्यकोविदा: स्तब्धा मूर्खा: पण्डितमानिन: ।
वदन्ति चाटुकान्मूढा यया माध्व्या गिरोत्सुका: ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

कर्मणि—सकाम कर्म के तथ्यों के बारे में; **अकोविदा:**—अज्ञान; **स्तब्धा:**—मिथ्या अहंकार से गर्वित; **मूर्खा:**—मूर्ख; **पण्डित-मानिन:**—अपने को विद्वान समझते हुए; **वदन्ति**—बोलते हैं; **चाटुकान्**—चाटुकार; **मूढा:**—मुग्ध, मोहग्रस्त; **यया**—जिससे; **माध्व्या**—मधुर; **गिरा**—शब्द; **उत्सुका:**—अत्यन्त उत्सुक।

कर्मकला से अनजान, वेदों के मधुर शब्दों से मोहित तथा जागृत ऐसे उद्धत गर्वित मूर्खजन अपने को विद्वान होने का ढोंग रचते हैं और देवताओं की चाटुकारिता करते हैं।

तात्पर्य : *कर्मण्यकोविदा:* उन लोगों का द्योतक है, जो कर्म करने की उस कला से अनजान होते हैं, जिससे उन्हें भविष्य में बन्धन न भोगना पड़े। यह कला *भगवद्गीता* में वर्णित है—*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन:।* कर्म तो विष्णु की तुष्टि हेतु सम्पन्न किया जाना चाहिए, अन्यथा कर्म बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्र के रूप में भावी बन्धन का कारण बनता है। *स्तब्धा:* शब्द सूचित करता है कि अज्ञानी व्यक्ति कर्म की कला को न जानते हुए भी, न तो विद्वान भक्तों से जिज्ञासा करते हैं, न भगवान् के ही जनों के उपदेश को मानते हैं। वेदों में प्रदत्त सकाम कर्मों से गर्वित होकर ऐसे मूर्ख सोचते हैं कि हम तो वेदों के पंडित हैं, हमने सबकुछ पूर्ण रूप से समझ लिया है। इस तरह वे ऐसे वैदिक कथनों की ओर आकृष्ट होते हैं यथा *अपाम् सोमम् अमृता अभूम* (हमने सोमरस पी लिया है, इसलिए अब हम अमर हैं), *अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिन: सुकृतं भवति* (जो चातुर्मास्य यज्ञ करता है उसे अक्षय पुण्य मिलता है), *यत्र नोष्णं न शीतं स्यान्न ग्लानिर्नाप्यरातय:* (चलो ऐसे भौतिक लोक में चलें, जहाँ न तो गर्मी है, न सर्दी, न ह्रास है न शत्रु है)। ऐसे मूर्खों को यह भी ज्ञान नहीं रहता कि ब्रह्माण्ड का स्रष्टा ब्रह्मा तक काल के अन्त में मरेगा, तो उन भौतिक वेद अनुयायियों के बारे में क्या कहा जाय जो उच्च कोटि की इन्द्रिय-तृप्ति की तलाश में विभिन्न दैवी लोकों में मेढ़कों, की तरह उछलते हैं? ऐसे मोहग्रस्त वैदिक पंडित उन अप्सराओं के साथ केलि करने का स्वप्न देखते हैं, जो उनके साथ नाचने, गाने तथा अनियंत्रित विषय-वासना उभाड़ने में निपुण हैं। इस तरह जो लोग वेदों के कर्मकाण्ड भाग द्वारा प्रदत्त स्वर्गिक मायाजाल के बहकावे में आ जाते हैं, वे क्रमश: नास्तिक प्रवृत्ति वाले बन जाते हैं। वस्तुत: यह समस्त ब्रह्माण्ड भगवान् विष्णु को यज्ञस्वरूप अर्पित करने के निमित्त है। इससे बद्धजीव क्रमश: भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति के व्यामोह से उठ कर नित्य धाम को जा सकता है। किन्तु मिथ्या अहंकार से फूले हुए वेदों के अनुयायी व्यक्ति भगवान् विष्णु की सर्वोच्चता तथा सौन्दर्य से निरन्तर अनभिज्ञ रहते हैं।

रजसा घोरसङ्कल्पा: कामुका अहिमन्यव: ।

दाम्भिका मानिनः पापा विहसन्त्यच्युतप्रियान् ॥ ७॥

शब्दार्थ

रजसा—रजोगुण की प्रधानता से; घोर-सङ्कल्पाः—उग्र इच्छाओं वाले; कामुकाः—विषयी; अहि-मन्यवः—सर्प जैसा क्रोध करने वाले; दाम्भिकाः—बनावटी; मानिनः—अत्यधिक गर्वीले; पापाः—पापी; विहसन्ति—हँसी उड़ाते हैं; अच्युत-प्रियान्—अच्युत भगवान् के प्रियजनों का।

रजोगुण के प्रभाव के कारण वेदों के भौतिकतावादी अनुयायी उग्र इच्छाओं के वशीभूत होकर अत्यधिक कामुक बन जाते हैं। उनका क्रोध सर्प जैसा होता है। वे चालबाज, अत्यधिक गर्वीले तथा आचरण में पापपूर्ण होने से भगवान् अच्युत के भक्तों की हँसी उड़ाते हैं।

तात्पर्य : *घोर-सङ्कल्पाः* द्योतक है उग्र इच्छाओं का जैसे कि यह सोचना कि अमुक व्यक्ति मेरा शत्रु है, इसलिए वह मर जाय। रजोगुण के कारण काम की तरंगें बद्धजीव को वशीभूत कर लेती हैं, जिससे वह साँप जैसा क्रुद्ध हो उठता है। ऐसा व्यक्ति गर्व तथा अहंकार से पूरित होने के कारण भगवद्भक्तों द्वारा कृष्णभावनामृत को वितरित करने के विनीत प्रयासों की बड़ाई नहीं कर पाता। वह यही सोचता है, "ये भिखमंगे अपना पेट भरने के लिए भगवान् विष्णु की पूजा करते हैं, किन्तु ये सुखी कभी नहीं हो सकते।" ऐसे भौतिकतावादी धूर्त उन भगवद्भक्तों के दिव्य पद को कभी नहीं समझ पायेंगे, जो स्वयं भगवान् द्वारा रक्षित एवं प्रोत्साहित होते हैं।

वदन्ति तेऽन्योन्यमुपासितस्त्रियो
गृहेषु मैथुन्यपरेषु चाशिषः ।
यजन्त्यसृष्टान्नविधानदक्षिणं
वृत्त्यै परं घ्नन्ति पशूनतद्विदः ॥ ८॥

शब्दार्थ

वदन्ति—बोलते हैं; ते—वे; अन्योन्यम्—एक-दूसरे से; उपासित-स्त्रियः—स्त्री-पूजा में व्यस्त रहने वाले; गृहेषु—अपने घरों में; मैथुन्य-परेषु—एकमात्र संभोग में लीन रहने वाले; च—तथा; आशिषः—आशीर्वाद, वर; यजन्ति—पूजा करते हैं; असृष्ट—बिना सम्पन्न किये; अन्न-विधान—भोजन-वितरण; दक्षिणम्—पुरोहितों को दिया जाने वाला दान, दक्षिणा; वृत्त्यै—अपनी जीविका के लिए; परम्—एकमात्र; घ्नन्ति—हत्या करते हैं; पशून्—पशुओं को; अतत्-विदः—ऐसे आचरण के परिणामों से अनभिज्ञ।

वैदिक विधानों के भौतिकतावादी अनुयायी भगवान् की पूजा का परित्याग करके अपनी पत्नियों की पूजा करते हैं और इस तरह उनके घर यौन-जीवन के लिए समर्पित हो जाते हैं। ऐसे भौतिकतावादी गृहस्थ इस प्रकार के मनमाने आचरण के लिए एक-दूसरे को प्रोत्साहित करते हैं। वे अनुष्ठानिक यज्ञ को शारीरिक निर्वाह के लिए आवश्यक साधन मान कर अवैध उत्सव

मनाते हैं, जिनमें न तो भोजन बाँटा जाता है, न ही ब्राह्मणों तथा अन्य सम्मान्य व्यक्तियों को दक्षिणा दी जाती है। विपरित इसके वे अपने कर्मों के कुपरिणामों को समझे बिना, क्रूरतापूर्वक बकरों जैसे पशुओं का वध करते हैं।

तात्पर्य : मिथ्या अभिमान विषय-भोग में लिप्त हुए बिना पूरा नहीं होता। इसलिए भौतिकतावादी गृहस्थ सन्त-पुरुषों की पूजा करने की ओर आकृष्ट नहीं होते, प्रत्युत वे निरन्तर विषय-भोग के स्रोत रूप अपनी पत्नियों की पूजा करते हैं। ऐसे गर्हित लोगों की मानसिकता का वर्णन स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (१६.१३) में किया है—

इदमद्य मयालब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।

इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥

''आसुरी व्यक्ति सोचता है कि आज मेरे पास इतना धन है और अपनी योजनाओं से मैं अधिक धन कमाऊँगा। इस समय मेरे पास इतना है, किन्तु भविष्य में वह बढ़कर और अधिक हो जायेगा।''

सामान्यतया भौतिकतावादी गृहस्थजन अपने आपको अत्यन्त धार्मिक मानते हैं। वस्तुतः वे अपने बहुत-से पारिवारिकजनों के पेट-पालन के लिए धन कमाकर उन ''अनुत्तरदायी'' साधुओं की अपेक्षा अपने आप को अधिक पुण्यात्मा मानते हैं, जो अपने पारिवारिकजनों के पालन-पोषण हेतु कोई संघर्ष नहीं करते। भौतिक शरीर की पूजा करते हुए वे उन दीन ब्राह्मणों का मानमर्दन करते हैं, जिनकी आर्थिक दशा बहुत अच्छी नहीं होती। वे ऐसे तथाकथित भिखारियों को दान के अयोग्य मानते हैं और इसकी बजाय अपने पारिवारिकजनों की मिथ्या प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए ही यज्ञ करते हैं। इस सन्दर्भ में मध्वाचार्य ने कहा है—*उपेक्ष्य वै हरिं ते तु भूत्वा यज्ञाः पतन्त्यधः।* अपने को सबसे बड़ा धर्मज्ञ मानते हुए भी जो लोग भगवान् तथा उनके भक्तों की उपेक्षा करते हैं, वे अवश्य ही नीचे गिरते हैं। ऐसे मूर्ख व्यक्ति कभी कभी एक-दूसरे को इस तरह आशीर्वाद देते हैं, ''आपको शानदार फूल-मालाएँ, चन्दन-लेप तथा सुन्दर स्त्रियाँ प्राप्त हों।''

जो पुरुष स्त्रियों के स्वभाव से नियंत्रित होते हैं, वे स्त्रियों जैसे ही बन जाते हैं। भौतिकताग्रस्त स्त्रियों की रुचि भगवद्भक्ति में नहीं होती। वे तो निजी सुख के लिए संघर्ष करती हैं। इसलिए वे अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक अपने पतियों से सेवा कराती हैं और यदि उनके पति भगवान् की सेवा करना

अधिक अच्छा समझते हैं, तो वे निरुत्साहित होने लगती हैं। इस तरह निराधार आशा में खोकर पति-पत्नी दोनों ही क्षणिक सुख के लिए एक-दूसरे को प्रोत्साहित करते हैं। वे भगवान् की लीलाओं को कहना या सुनना पसन्द नहीं करते, अपितु अपने परिवारों के विषय में विचार-विमर्श करना अधिक अच्छा समझते हैं। तो भी भगवद्भक्त सतोगुण में प्रौढ़ होने के कारण इन पशुवत् बद्धजीवों के प्रति दया दिखाने के लिए तत्पर रहते हैं। जब भगवद्भक्त यह उपदेश देते हैं कि मनुष्यों को पशु-हत्या नहीं करनी चाहिए, तो भौतिकताग्रस्त गृहस्थ प्राय: चकित हो उठते हैं और यह प्रश्न करते हैं कि क्या सचमुच शाकाहारी भोजन पर निर्भर रहा जा सकता है। इस तरह भौतिक सतोगुण से सर्वथा अनजान होकर, आध्यात्मिक ज्ञान का तो कहना ही क्या, ऐसे निकृष्ट भौतिकतावादी लोगों को भगवद्भक्तों की कृपा के अतिरिक्त अन्य कोई आशा नहीं दिखती।

श्रिया विभूत्याभिजनेन विद्यया
त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा ।
जातस्मयेनान्धधियः सहेश्वरान्
सतोऽवमन्यन्ति हरिप्रियान्खलाः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्रिया—अपने ऐश्वर्य (सम्पत्ति आदि) द्वारा; विभूत्या—विशिष्ट क्षमताओं द्वारा; अभिजनेन—उच्च कुल से; विद्यया—शिक्षा से; त्यागेन—त्याग से; रूपेण—सौन्दर्य से; बलेन—बल से; कर्मणा—कर्म द्वारा; जात—उत्पन्न; स्मयेन—ऐसे गर्व से; अन्ध—अन्धा हुआ; धियः—बुद्धि वाला; सह-ईश्वरान्—भगवान् सहित; सतः—सन्त स्वभाव वाले भक्तगण; अवमन्यन्ति—अनादर करते हैं; हरि-प्रियान्—भगवान् हरि के प्रियजनों को; खलाः—दुष्ट व्यक्ति।

दुर्मति व्यक्तियों की बुद्धि उस मिथ्या अहंकार से अन्धी हो जाती है, जो धन-सम्पदा, ऐश्वर्य, उच्च-कुलीनता, शिक्षा, त्याग, शारीरिक सौन्दर्य, शारीरिक शक्ति तथा वैदिक अनुष्ठानों की सफल सम्पन्नता पर आधारित होता है। इस मिथ्या अहंकार से मदान्ध होकर ऐसे दुष्ट व्यक्ति भगवान् तथा उनके भक्तों की निन्दा करते हैं।

तात्पर्य : बद्धजीवों द्वारा प्रदर्शित आकर्षक गुण मूलत: उन भगवान् के हैं, जो समस्त आकर्षक गुणों के आगार हैं। चन्द्रमा का प्रकाश वास्तव में सूर्य का प्रतिबिम्बित तेज होता है। इसी तरह जीव कुछ अल्पकाल तक भगवान् के ऐश्वर्य की किसी विशिष्ट मात्रा को प्रतिबिम्बित करता है। यह न जानने से नास्तिक व्यक्ति ऐसे प्रतिबिम्बित ऐश्वर्य से मदान्ध बन जाते हैं और इस तरह वे भगवान् तथा उनके

भक्तों की अधिकाधिक आलोचना करके अपने आपको निन्दित करते हैं। वे यह नहीं समझ पाते कि वे इतने गर्हित क्यों बन गये हैं। ऐसे लोगों को नरक जाने से रोक पाना कठिन है।

सर्वेषु शश्वत्तनुभृत्स्ववस्थितं
यथा खमात्मानमभीष्टमीश्वरम् ।
वेदोपगीतं च न शृण्वतेऽबुधा
मनोरथानां प्रवदन्ति वार्तया ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सर्वेषु—समस्त; शश्वत्—नित्य; तनु-भृत्सु—देहधारी जीवों में; अवस्थितम्—स्थित; यथा—जिस तरह; खम्—आकाश; आत्मानम्—परमात्मा को; अभीष्टम्—अत्यन्त पूज्य; ईश्वरम्—परम नियन्ता को; वेद-उपगीतम्—वेदों द्वारा प्रशंसित; च—भी; न शृण्वते—नहीं सुनते हैं; अबुधाः—अज्ञानीजन; मनः-रथानाम्—मनमाने आनन्द के; प्रवदन्ति—परस्पर विवाद करते जाते हैं; वार्तया—कथाएँ।

प्रत्येक देहधारी जीव के हृदय के भीतर शाश्वत स्थित रहते हुए भी भगवान् उनसे पृथक् रहते हैं, जिस तरह कि सर्वव्यापक आकाश किसी भौतिक वस्तु में घुल-मिल नहीं जाता। इस प्रकार भगवान् परम पूज्य हैं तथा हर वस्तु के परम नियन्ता हैं। वेदों में उनकी विस्तार से महिमा गाई जाती है, किन्तु जो लोग बुद्धिविहीन हैं, वे उनके विषय में सुनना नहीं चाहते। वे अपना समय अपने उन मनोरथों की चर्चा करने में बिताते हैं, जो यौन-जीवन तथा मांसाहार जैसी स्थूल इन्द्रिय-तृप्ति से सम्बन्धित होते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।* समस्त वैदिक ज्ञान का लक्ष्य परम सत्य को जानना है। यद्यपि वेदों का यह उद्देश्य स्वयं वैदिक साहित्य में तथा स्वरूपसिद्ध आचार्यों द्वारा स्पष्ट प्रकट किया जाता है, किन्तु मूर्ख लोग इस सरल सत्य को ग्रहण नहीं कर पाते। वे अपने लैंगिक साथियों और अपने अनुभवों की चर्चा करके अवैध यौन के ज्ञान का अनुशीलन करना अधिक पसन्द करते हैं। वे मांसाहार के लिए अपने दोस्तों को अच्छे से अच्छा भोजनालय बताते हैं और बड़े शौक से उसकी संस्तुति करते हैं और नशीली दवाओं तथा सुराओं के पापपूर्ण अनुभवों को बताकर उनकी प्रशंसा करने में रुचि लेते हैं। ये भौतिकतावादी इन्द्रिय-लोलुप व्यक्ति एक-दूसरे से बड़े शौक से टेलीफोन पर बात करते हैं, सभा-सोसाइटियों में एकत्र होते हैं और आखेट करने, शराब पीने तथा जुआ खेलने के पर्यटनों में रुचि लेते हैं और इस तरह तमोगुणी जीवन बिताते हैं। उनके पास परम सत्य कृष्ण के विषय में चर्चा करने के लिए न तो समय रहता है, न ही रुचि होती है। दुर्भाग्यवश वे

भगवान् की अनदेखी करते हैं, जिससे भगवान् उन्हें होश में लाने के लिए कठिन दण्ड देते हैं। प्रत्येक वस्तु भगवान् की है, अतएव प्रत्येक वस्तु भगवान् के भोग के निमित्त है। जब जीव अपने सारे कर्म भगवान् की प्रसन्नता के लिए करता है, तो उसे असीम सुख का अनुभव होता है। *येन सत्त्वं शुद्ध्येद् यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम्।* भौतिक प्रपंच में वस्तुत: कोई सुख नहीं है और भगवान् मदान्ध बद्धजीव को होश में लाने के लिए कृपापूर्वक दण्ड देते हैं।

दुर्भाग्यवश भौतिकतावादी लोग *भगवद्गीता* में दिये गये भगवान् के उपदेश की या भगवान् के प्रतिनिधियों द्वारा *श्रीमद्भागवत* जैसे सम्बन्धित साहित्य में से दिये जाने वाले प्रवचन की परवाह नहीं करते। उल्टे ऐसे विषयी लोग अपने को प्रकाण्ड वक्ता एवं विद्वान मानते हैं। हर भौतिकतावादी व्यक्ति अपने को सर्वाधिक बुद्धिमान मानता है, अतएव वास्तविक सत्य सुनने के लिए उसके पास समय नहीं रहता। फिर भी जैसाकि इस श्लोक में वर्णन हुआ है, भगवान् बद्धजीव के हृदय में धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते हुए, उसी के भीतर बैठे हुए परमात्मा को पहचानने के लिए उसे प्रोत्साहित करते हैं। बद्धजीव द्वारा इस तरह भगवान् को पहचानना कल्याण तथा सुख की शुरुआत है।

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा
नित्या हि जन्तोर्न हि तत्र चोदना ।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ
सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

लोके—भौतिक जगत में; व्यवाय—यौन-लिप्तता; आमिष—मांस; मद्य—तथा मदिरा का; सेवा:—सेवन; नित्या:—सदैव प्राप्त; हि—निस्सन्देह; जन्तो:—बद्धजीव में; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; तत्र—उस विषय में; चोदना—शास्त्र का आदेश; व्यवस्थिति:—संस्तुत व्यवस्था; तेषु—इनमें; विवाह—पवित्र विवाह द्वारा; यज्ञ—यज्ञ; सुरा-ग्रहै:—तथा शराब ग्रहण करने से; आसु—इनकी; निवृत्ति:—समाप्ति; इष्टा—अभीष्ट।

इस भौतिक जगत में बद्धजीव यौन, मांसाहार तथा नशे के प्रति सदैव उन्मुख रहता है। इसीलिए शास्त्र कभी भी ऐसे कार्यों को बढ़ावा नहीं देते। यद्यपि पवित्र विवाह के द्वारा यौन, यज्ञों द्वारा मांसाहार तथा उत्सवों में सुरा के प्याले ग्रहण करके नशे के लिए शास्त्रों का आदेश है, किन्तु ऐसे उत्सवों मन्तव्य उनकी ओर से विरक्ति उत्पन्न करना है।

तात्पर्य : जो लोग शुद्ध कृष्णभावनामृत को प्राप्त नहीं है, वे अवैध यौन, मांसाहार तथा नशे के रूप में भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति की ओर सदैव उन्मुख रहते हैं। वे खाने, पीने और मौज उड़ाने के

सामूहिक अवसरों की ही सदैव कामना करते हैं। ऐसे भौतिकतावादी व्यक्ति ऐसी क्षणिक तृप्ति को त्यागने के लिए तैयार नहीं होते, क्योंकि वे देहात्म बुद्धि से बुरी तरह जकड़े होते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए ऐसे अनेक वैदिक कर्मकाण्ड हैं, जो संयमित ढंग से भौतिक इन्द्रिय-सुख प्रदान करने वाले हैं। इस तरह बद्धजीव वैदिक जीवन शैली के आज्ञा-पालन के निमित्त नियंत्रित इन्द्रियतृप्ति की कठोरता को स्वीकार करके भगवान् की अप्रत्यक्ष पूजा करने का आदी बन जाता है। शुद्धि के माध्यम से ऐसा जीव क्रमश: उच्चतर रुचि उत्पन्न करता है और भगवान् के आध्यात्मिक स्वभाव के प्रति प्रत्यक्ष आकृष्ट हो जाता है।

कभी कभी वेदों के कर्मकाण्ड भाग के पतित अभ्यासकर्ता बल देते हैं कि वैदिक उत्सवों के सकाम फलों को कभी नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि वे धार्मिक शास्त्रों द्वारा संस्तुत हैं। उदाहरणार्थ एक वैदिक आदेश है कि रजस्वला होने के कम से कम पाँच दिन बाद जब पत्नी ऋतु-स्नान करके स्वच्छ हो ले, तो रात के समय पति अपनी पत्नी से उचित मौसम में संभोग करने जाये। इस तरह उत्तरदायी गृहस्थ धार्मिक यौन-जीवन में प्रवृत्त हुए।

यौन-जीवन के लिए अपनी पत्नी के पास जाने के वैदिक आदेश की व्याख्या वैष्णव आचार्यों ने इस प्रकार की है। भौतिक जगत में प्राय: प्रत्येक व्यक्ति अत्यन्त कामुक होता है और किसी भी आकर्षक स्त्री से मिलने पर उसमें कामेच्छा जागृत होती है। सामान्य भौतिकतावादी व्यक्ति के लिए अपनी वैध विवाहिता पत्नी तक ही सम्बन्धों को सीमित रखना एक उपलब्धि है। किन्तु परिचय से घृणा उत्पन्न होती है, अत: यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि पति धीरे धीरे अपनी पत्नी से ईर्ष्या या क्रोध करने लगता है और अन्य स्त्रियों से अवैध सम्बन्ध करना चाहता है। ऐसी प्रवृत्ति अत्यन्त पापपूर्ण तथा निन्दनीय है, इसीलिए वैदिक शास्त्र का आदेश है कि मनुष्य सन्तान उत्पन्न करने की इच्छा से अपनी वैध पत्नी के पास जाय और इस तरह अन्य स्त्रियों के साथ अवैध यौन-सम्बन्ध में कमी लाये। यदि पत्नी के पास जाने का वैदिक आदेश न होता, तो अनेक लोग अपनी पत्नियों का अनादर करके अवैध सम्बन्ध द्वारा अन्य स्त्रियों को दूषित करने के लिए उन्मुख हो जाते।

किन्तु बद्धजीवों पर लागू होने वाला ऐसा आदेश उन महात्माओं के लिए नहीं होता, जो आध्यात्मिक पद पर स्थिर हैं और भौतिक कामेच्छा से परे हैं। जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है

निवृत्तिरिष्टा—वैदिक शास्त्रों का वास्तविक प्रयोजन मनुष्य को भगवद्धाम वापस ले जाना है। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—*यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्*—मृत्यु के समय हम जो भी सोचते हैं, उसी से हमारा अगला शरीर निश्चित होता है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(*भगवद्गीता* ८.५)

यदि कोई व्यक्ति कृष्ण का स्मरण करता है, तो वह तुरन्त कृष्ण के नित्य लोक को चला जाता है। अतः चूँकि सारे वैदिक शास्त्र कृष्ण को जानने के लिए हैं (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*) इसलिए वेदों का चरम उद्देश्य कभी भी वैध या अवैध किसी भी प्रकार की भौतिक इन्द्रियों में तल्लीनता नहीं हो सकता। विवाहित यौन-जीवन सम्बन्धी वैदिक नियम वास्तव में पापपूर्ण अवैध यौन को रोकने के उद्देश्य से हैं। किन्तु किसी को मूर्खता से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि उसकी पत्नी के नग्न शरीर का कामुक आकर्षण ही आत्म-साक्षात्कार तथा वैदिक उत्थान की पूर्णता है। आध्यात्मिक जीवन की असली पूर्णता तो समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त होना, अर्थात् *निवृत्ति* और मन को कृष्ण पर एकाग्र करना है।

इसी प्रकार मद्यपान तथा मांसाहार के संयमित सेवन के सम्बन्ध में अन्य आदेश हैं। जो लोग मांसाहार के लिए उतावले रहते हैं, उन्हें ऐसे वैदिक उत्सव सम्पन्न करने का आदेश दिया जाता है, जिनसे उन्हें पाँच प्रकार के पाँच-नस्वरों वाले पशुओं को खाने की छूट दी जाती है। ये पशु हैं—गैंडा, कछुआ, खरगोश, स्याही तथा छिपकली। इसी प्रकार विशिष्ट सुरापान की अनुमति वर्ष के विशिष्ट दिनों में बहुत खर्च करके सम्पन्न होने वाले अति-सीमित यज्ञों में दी जाती है। इस तरह अन्य प्रकार का मद्यपान निषिद्ध तथा नृशंस पशु-हत्या निषिद्ध हैं। ऐसे यज्ञ सम्पन्न करने से मनुष्य धीरे धीरे शुद्ध हो जाता है और मांसाहार तथा सुरापान जैसे मूर्खतापूर्ण कार्यों के लिए अरुचि उत्पन्न कर लेता है। इन्द्रिय-तृप्ति पर क्रमशः नियंत्रण लगाने वाले वैदिक नियम *विधि* कहलाते हैं। *नियम* शब्द उन आदेशों का द्योतक है, जो ऐसे कार्यों पर नियंत्रण रखते हैं, जिन्हें मनुष्य सामान्य रूप से नहीं करना चाहते। उदाहरणार्थ, कहा गया है *अहरहःसन्ध्यामुपासीत*—मनुष्य को प्रतिदिन तीनों संधियों पर गायत्री मंत्र का

जप करना चाहिए। यह भी कहा गया है *माघस्नानं प्रकुर्वीत*—मनुष्य को कड़ाके के जाड़े में भी नित्य स्नान करना चाहिए। ऐसे आदेश उन कार्यों की संस्तुति करते हैं, जिनकी सामान्यतया उपेक्षा कर दी जाती है।

यद्यपि ऊपर इसका उल्लेख हुआ है कि अपनी वैध पत्नी की उपेक्षा करने के विरुद्ध आदेश हैं, किन्तु मांसाहार की पूरी तरह उपेक्षा करने के विरुद्ध कोई आदेश नहीं है। दूसरे शब्दों में, पशु-हत्या अत्यन्त निन्दनीय मानी जाती है और यद्यपि अधिक उग्र श्रेणी के लोगों के लिए कुछ छूट है, किन्तु मनुष्य को अपना क्रूर कर्म पूरी तरह से त्याग देना चाहिए, क्योंकि पशु-यज्ञ में थोड़ी-सी भी त्रुटि रह जाने से जीवन में उत्पात खड़ा हो सकता है।

यह समझ लेना होगा कि जो लोग श्री चैतन्य महाप्रभु के निर्देशन में हरे कृष्ण *मन्त्र* का कीर्तन करते हुए, उच्च पद को प्राप्त हो चुके हैं, उनसे आशा की जाती है कि वे भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति का पूर्णरूपेण परित्याग कर दें। यदि कोई कृष्ण-भक्त छल से मांसाहार, नशा या यौन-सुख के लिए शास्त्रों की छूट का लाभ उठाना चाहता है, तो वह नाम-जप के विरुद्ध दसवाँ अपराध करता है। विशेष रूप से यदि किसी ने *त्रिदण्डि संन्यास* आश्रम स्वीकार किया है, तो गृहस्थों के लिए संयमित यौन-जीवन की संस्तुति करने वाले वैदिक आदेशों के प्रति उसका आकृष्ट होना अत्यन्त निन्दनीय तथा घृणित है। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार संन्यास आश्रम में कोई ऐसी छूट नहीं है। वैष्णव संन्यासियों को *मनु-संहिता* में दिये गये निम्नलिखित श्लोक जैसे कथनों से मूर्खतावश चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए—

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥

"ऐसा माना जा सकता है कि मांसाहार, नशा तथा यौन-लिप्तता बद्धजीवों की स्वाभाविक लालसाएँ हैं, अतएव इन कर्मों के लिए ऐसे व्यक्तियों की निन्दा नहीं की जानी चाहिए। किन्तु जब तक ऐसे पापकर्मों का परित्याग नहीं किया जाता, तब तक जीवन की असली सिद्धि पाने की सम्भावना नहीं है।"

क्रिया-विधान में बतलाया गया है कि *वामदेव यज्ञ* या फिर *गर्भाधान संस्कार* के अवसर पर ही धार्मिक संतान उत्पन्न करने के लिए मैथुन की अनुमति दी जाती है। यह भी कहा गया है कि कभी

कभी पितरों तथा देवों के प्रति किए गए यज्ञ के माध्यम से भगवान् हरि की पूजा करने में कुछ प्रकार के मांस प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार सोमरस के पान के माध्यम से नशे का एक रूप प्राप्त है। किन्तु यदि तथाकथित ब्राह्मण ऐसी भेंटों का आदी हो जाता है, तो वह तुरन्त दूषित हो जाता है। वस्तुत: जो ब्राह्मण स्वयं ऐसे यज्ञ करते थे, वे स्वयं न तो मांस ग्रहण करते थे, न मदिरा। ये वस्तुएँ क्षत्रियों द्वारा सेवन की जाती थीं, जिन्हें यज्ञ के ऐसे उच्छिष्ट पदार्थों को ग्रहण करने पर बुरा नहीं माना जाता था।

किन्तु चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन में यह देखा जा सकता है कि जो कृष्ण के उच्च भक्त बनने के इच्छुक होते हैं, वे ऐसे सकाम यज्ञों का तुरन्त परित्याग कर देते हैं। भक्ति में किसी भी प्रकार के सकाम यज्ञ के लिए स्थान नहीं है। श्री चैतन्य महाप्रभु चाहते थे कि उनके सारे निष्ठावान अनुयायी चौबीसों घण्टे *श्रवणं कीर्तनं विष्णो:* में लगे रहें। जो लोग अपने को चैतन्य महाप्रभु का अनुयायी बताते हैं और निकट भविष्य में भगवद्धाम वापस जाने के गंभीरता से इच्छुक हैं, उन्हें वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति आकृष्ट नहीं होना चाहिए, जो कि भौतिक देहात्म बुद्धि से बुरी तरह जकड़े रहने वालों के लिए हैं। चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी ऐसे कलुषित अनुष्ठानों से पृथक् रहते हैं।

धनं च धर्मैकफलं यतो वै
ज्ञानं सविज्ञानमनुप्रशान्ति ।
गृहेषु युञ्जन्ति कलेवरस्य
मृत्युं न पश्यन्ति दुरन्तवीर्यम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

धनम्—धन; च—भी; धर्म-एक-फलम्—धार्मिकता ही, जिसका एकमात्र उचित फल है; यत:—जिस (धार्मिक जीवन) से; वै—निस्सन्देह; ज्ञानम्—ज्ञान; स-विज्ञानम्—प्रत्यक्ष अनुभूति सहित; अनुप्रशान्ति—तथा तदुपरान्त कष्ट से मोक्ष; गृहेषु—अपने घरों में; युञ्जन्ति—उपयोग करते हैं; कलेवरस्य—अपने भौतिक शरीर का; मृत्युम्—मृत्यु; न पश्यन्ति—नहीं देख सकते; दुरन्त—दुर्लंघ्य; वीर्यम्—जिसकी शक्ति।

सञ्चित धन का एकमात्र उचित फल धार्मिकता है, जिसके आधार पर मनुष्य जीवन की दार्शनिक जानकारी प्राप्त कर सकता है, जो अन्तत: परब्रह्म की प्रत्यक्ष अनुभूति में और इस तरह समस्त कष्ट से मोक्ष में परिणत हो जाता है। किन्तु भौतिकतावादी व्यक्ति अपने धन का सदुपयोग अपनी पारिवारिक स्थिति की उन्नति में ही करते हैं। वे यह देख नहीं पाते कि दुर्लंघ्य मृत्यु शीघ्र ही उनके दुर्बल भौतिक शरीर को विनष्ट कर देगी।

तात्पर्य : वे वस्तुएँ, जो स्वामी के कब्जे में रहती हैं, *धनम्* कहलाती हैं। जब कोई मूर्ख व्यक्ति अपने शरीर तथा परिवार की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए अपनी सारी गाढ़ी कमाई को खर्च करने का आदी हो जाता है, तो वह यह नहीं देख पाता कि मृत्यु किस तरह दृढ़ गति से उसके शरीर तथा उसके परिवार एवं मित्रों के नश्वर शरीरों के निकट पहुँच रही है। *मृत्युः सर्वहरश्चाहम्*—भगवान् सर्वशक्तिमान मृत्यु के रूप में प्रकट होते हैं, जो समस्त भौतिक वस्तुओं को नष्ट कर देती है। वस्तुतः परिवार में भी अपने धन का उपयोग अपने तथा अपने परिवार के आध्यात्मिक उत्थान के लिए ही करना चाहिए। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में ऐसे बहुत-से धार्मिक गृहस्थ हैं, जो सरल शान्त जीवन बिताते हैं और अपने धन का उपयोग अपने घर पर कृष्णभावनाभावित कार्यों को करने तथा उन विरक्त ब्रह्मचारियों तथा संन्यासियों की सहायता करने में करते हैं, जो सार्वजनिक स्थानों में कृष्णभावनामृत का प्रचार करने में लगे हुए हैं। ऐसे गृहस्थ भी जो अपनी शतप्रतिशत शक्ति कृष्णभावनामृत में अर्पित नहीं कर पाते, धीरे धीरे जीवन के आध्यात्मिक सिद्धान्तों को ठीक से समझने लगते हैं और अंततः कृष्ण के चरणकमलों पर दृढ़तापूर्वक अध्यात्मवादी बन जाते हैं। इस तरह वे जन्म, जरा, व्याधि तथा मृत्यु—बद्ध जीवन की इन चिन्ताओं से अपने को मुक्त कर लेते हैं।

कृष्णभावनामृत के बिना जीवन वस्तुतः निर्धनता है, किन्तु निर्धनताग्रस्त भौतिकतावादी, जिसकी बुद्धि सीमित है, यह नहीं समझ पाता कि असली धन तो कृष्णभावनामृत या भगवत्प्रेम को सर्वोच्च शिखर तक पहुँचाना है। ऐसे लोग अपनी सन्तानों को पशुओं की तरह पाल-पोस कर बड़ा करते हैं, जिनका एकमात्र उद्देश्य झूठी प्रतिष्ठा तथा भौतिक इन्द्रिय-सुख रहता है। ऐसे भौतिकतावादी गृहस्थ डरते रहते हैं कि आध्यात्मिक जीवन में अधिक रुचि होने से, उनकी सन्तानों की झूठी प्रतिष्ठा प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा को कहीं क्षति न पहुँचे। वस्तुतः मृत्यु ऐसे आध्यात्मिकता से विहीन भौतिकतावादियों के सारे प्रयासों तथा योजनाओं को ध्वस्त कर देगी। यदि पारिवारिक जीवन तथा धन का उपयोग कृष्णभावनामृत में किया जाता है, तो मनुष्य नित्य-अनित्य, आत्मा-पदार्थ, सुख-दुख के बीच भेद करना सीखेगा और इस तरह जीव मुक्त हो सकेगा तथा सैद्धान्तिक ज्ञान से ऊपर उठ कर कृष्णभावनाभावित जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करेगा। सीमित संवेदनात्मक ज्ञान अर्थात् *प्रत्यक्ष ज्ञान*

सैद्धान्तिक आध्यात्मिक ज्ञान अर्थात् *परोक्ष ज्ञान* के बिना व्यर्थ है, क्योंकि परोक्ष ज्ञान सावधान के साथ अनुशीलन से क्रमशः पक्व होकर *अपरोक्ष ज्ञान* बन जाता है।

इस श्लोक में आया हुआ *अनुप्रशान्ति* शब्द सूचित करता है कि आध्यात्मिक ज्ञान (*विज्ञानम्*) द्वारा मनुष्य को नित्य शान्ति तथा आनन्द की परम उत्कृष्ट अवस्था प्राप्त होती है, जो भौतिकतावादी बद्धजीवों के स्वप्नों से बहुत आगे है।

यद्घ्राणभक्षो विहितः सुराया-
स्तथा पशोरालभनं न हिंसा ।
एवं व्यवायः प्रजया न रत्या
इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम् ॥ १३॥

शब्दार्थ

यत्—चूँकि; घ्राण—सूँघ कर; भक्षः—ग्रहण करना; विहितः—वैध है; सुरायाः—मदिरा का; तथा—उसी तरह; पशोः—बलि पशु का; आलभनम्—विहित वध; न—नहीं; हिंसा—अंधाधुंध हिंसा; एवम्—इसी प्रकार से; व्यवायः—यौन; प्रजया—सन्तान उत्पन्न करने के लिए; न—नहीं; रत्यै—इन्द्रिय-भोग के लिए; इमम्—यह (जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है); विशुद्धम्—अत्यन्त शुद्ध; न विदुः—वे नहीं समझ पाते; स्व-धर्मम्—अपने उचित कर्तव्य को।

वैदिक आदेशों के अनुसार, जब यज्ञोत्सवों में सुरा प्रदान की जाती है, तो उसका पीकर नहीं अपितु सूँघ कर उपभोग किया जाता है। इसी प्रकार यज्ञों में पशु-बलि की अनुमति है, किन्तु व्यापक पशु-हत्या के लिए कोई प्रावधान नहीं है। धार्मिक यौन-जीवन की भी छूट है, किन्तु विवाहोपरान्त सन्तान उत्पन्न करने के लिए, शरीर के विलासात्मक दोहन के लिए नहीं। किन्तु दुर्भाग्यवश मन्द बुद्धि भौतिकतावादी जन यह नहीं समझ पाते कि जीवन में उनके सारे कर्तव्य नितान्त आध्यात्मिक स्तर पर सम्पन्न होने चाहिए।

तात्पर्य : पशु–यज्ञ के सम्बन्ध में मध्वाचार्य ने निम्नलिखित कथन दिया है—

यज्ञेष्वालभनं प्रोक्तं देवतोद्देशतः पशोः।

हिंसानाम तदन्यत्र तस्मात् तां नाचरेद् बुधः॥

यतो यज्ञे मृता ऊर्ध्वं यान्ति देवे च पैतृके।

अतो लाभादालभनं स्वर्गस्य न तु मारणम्॥

इस कथन के अनुसार कभी कभी वेद भगवान् या किसी देवता विशेष की तुष्टि के लिए पशु–यज्ञ करने की संस्तुति करते हैं। किन्तु यदि कोई व्यक्ति वैदिक नियमों का दृढ़ता से पालन न करते हुए

अंधाधुंध पशु-वध करता है, तो ऐसा वध वास्तविक हिंसा है और किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति द्वारा स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। यदि पशु-यज्ञ सही ढंग से सम्पन्न किया जाता है, तो बलि किया गया पशु तुरन्त देवलोक तथा पितृलोक को चला जाता है। इसलिए ऐसा यज्ञ पशुओं का वध नहीं है, अपितु वैदिक मंत्रों की शक्ति-प्रदर्शन के लिए होता है, जिसकी शक्ति से बलि किया हुआ पशु, तुरन्त उच्च लोकों को प्राप्त होता है।

किन्तु चैतन्य महाप्रभु ने इस युग में ऐसे पशु-यज्ञ का निषेध किया है, क्योंकि मंत्रों का उच्चारण करने वाले योग्य ब्राह्मणों का अभाव है और तथाकथित यज्ञशाला सामान्य कसाई-घर का रूप धारण कर लेती है। इसके पूर्व के युग में जब पाखण्डी लोग वैदिक यज्ञों का गलत अर्थ लगाकर, यह सिद्ध करना चाहते थे कि पशु-वध तथा मांसाहार वैध है, तो स्वयं भगवान् बुद्ध ने अवतार लिया और उनकी घृणित उक्ति को अस्वीकार किया। इसका वर्णन जयदेव गोस्वामी ने किया है—

निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातं

सदयहृदय दर्शित पशुघातम्।

केशव धृतबुद्धशरीर

जय जगदीश हरे॥

दुर्भाग्यवश बद्धजीव चार प्रकार की अपूर्णताओं से पीड़ित रहते हैं, जिनमें से एक है ठगने की प्रवृत्ति और इस तरह वे धार्मिक शास्त्रों में भगवान् द्वारा दी गई छूटों का दुरुपयोग अपनी क्रमिक शुद्धि के लिए करते हैं। वे वैदिक आदेशों का पालन अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करने के साथ साथ क्रमशः ऊपर उठने के लिए नहीं करते। ऐसे बद्धजीव भौतिकतावादी उत्सवों के वास्तविक प्रयोजनों की अवमानना करके देहात्म बुद्धि के कारण अधिकाधिक पतित होते जाते हैं। इस तरह वे वर्णाश्रम प्रणाली से नीचे गिर जाते हैं और हिंसक अवैदिक समाजों में जन्म लेकर मूर्खता से यह कल्पना कर बैठते हैं कि विश्व-धर्म के छोटे-छोटे खण्ड ही आत्मा का एकमात्र धर्म है। परिणामस्वरूप वे सनकी बन जाते हैं और धर्म के साम्प्रदायिक तथा अन्धविश्वासी दृष्टिकोण को अपनाते हैं। ऐसे अभागे लोग अपने ही जीवन के नित्य कर्म से अलग-थलग होकर वस्तुओं को उस रूप में लेते हैं, जो वास्तविकता से कोसों दूर होती है।

ये त्वनेवंविदोऽसन्तः स्तब्धाः सदभिमानिनः ।
पशून्द्रुह्यन्ति विश्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान् ॥ १४॥

शब्दार्थ

ये—जो; तु—लेकिन; अनेवम्-विदः—इन तथ्यों को न जानते हुए; असन्तः—अपवित्र; स्तब्धाः—बनावटी; सत्-अभिमानिनः—अपने को साधु मानने वाले; पशून्—पशुओं को; द्रुह्यन्ति—क्षति पहुँचाते हैं; विश्रब्धाः—अबोध होने से विश्वास कर लेने वाले; प्रेत्य—इस शरीर को त्यागने पर; खादन्ति—खाते हैं; ते—वे पशु; च—तथा; तान्—उनको।

वे पापी व्यक्ति, जो असली धर्म से अनजान होते हुए भी अपने को पूर्णरूपेण पवित्र समझते हैं, उन निरीह पशुओं के प्रति बिना पश्चाताप किये हिंसा करते हैं, जो उनके प्रति पूर्णतया आश्वस्त होते हैं। ऐसे पापी व्यक्ति अगले जन्मों में उन्हीं पशुओं द्वारा भक्षण किये जाएँगे, जिनका वे इस जगत में वध किये रहते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में हमें उन व्यक्तियों की बड़ी बड़ी त्रुटियों का दिग्दर्शन होता है, जो भगवान् तथा उनके नियम की शरण में नहीं जाते। जैसाकि *भागवत* में कहा गया है—*हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा*—जो लोग भगवान् की सर्वोच्चता को स्वीकार नहीं करते, वे ऐसी पापमय प्रवृत्तियों से दूषित हो जाते हैं जिनसे अभक्तों पर भीषण कष्ट टूट पड़ते हैं। अमरीका जैसे पाश्चात्य देशों में अनेक लोग गर्व के साथ अपने आपको अत्यन्त पवित्र धर्मी मानते हैं और कभी कभी अपने को देवदूत या ईश्वर का प्रतिनिधि तक कहते हैं। ऐसे मूर्खलोग धार्मिकता की डींग मारते हुए न तो कसाई-घरों में असंख्य पशुओं की हत्या करते हुए न ही अपनी भ्रामिक इन्द्रिय-तृप्ति के लिए उनका शिकार करते हुए डरते हैं। मिसिसिपी राज्य में कभी कभी सुअर-वध का उत्सव मनाया जाता है, जिसमें परिवार के परिवार अपनी आँखों के सामने सुअर की बर्बरतापूर्ण हत्या का आनन्द लूटते हैं। इसी प्रकार टेक्सास के निवासी और संयुक्त राज्य के पूर्व अध्यक्ष गो-हत्या के बिना किसी भी सामाजिक उत्सव को पूरा नहीं मानते थे। ऐसे लोग भूल से अपने को ईश्वर के नियमों का पालन करने वाले मानते हैं और अपनी गर्वित मूर्खता के कारण वास्तविकता से कोसों दूर चले जाते हैं। जब कोई मनुष्य वध करने के लिए किसी पशु का पालन करता है, तो वह पशु को अच्छा भोजन देता है, जिससे वह मोटा-ताजा हो सके। इस तरह पशु धीरे धीरे अपने भावी हन्ता को अपना रक्षक और स्वामी मान बैठता है। किन्तु जब यही स्वामी तेज चाकू या बन्दूक लेकर निरीह पशु के पास पहुँचता है, तो पशु सोचता है, "मेरा स्वामी मुझसे खिलवाड़ करने जा रहा है।" वह केवल अन्तिम क्षण में यह समझ पाता है कि मेरा तथाकथित

स्वामी साक्षात् काल है। वैदिक साहित्य में स्पष्ट कथन है कि ऐसे क्रूर स्वामी जो निरीह पशुओं का वध करते हैं, अगले जन्म में अवश्य ही इसी तरह मारे जायेंगे।

मां स भक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।

एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिण: ॥

''मैं जिस पशु का इस समय यहाँ पर मांस खा रहा हूँ, वह अगले जन्म में मुझे खायेगा। इसीलिए विद्वान इसे *मांस* कहते हैं।'' पशु-हत्यारों के ऐसे खीझने वाले भाग्य का वर्णन नारद मुनि ने श्रीमद्भागवतम् में उस राजा प्राचीनबर्हि से किया है, जो यज्ञों में पशुओं का अन्धाधुन्ध वध करता था।

भो भो: प्रजापते राजन् पशून् पश्य त्वयाध्वरे।

संज्ञापितान् जीवसंघान् निर्घृणेन सहस्रश: ॥

एते त्वां सम्प्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशशं तव।

सम्परेतम् अय:कूटैश्छिन्दन्त्युत्थितमन्यव: ॥

''हे नागरिकों के शासक राजा! तुमने यज्ञशाला में जिन पशुओं की निर्दयतापूर्वक बलि दी है, उन्हें आकाश में देखो। वे सारे पशु तुम्हारी मृत्यु की प्रतीक्षा में हैं, कि तुमने उन्हें जो क्षति पहुँचाई है, उसका वे बदला ले सकें। तुम्हारे मरने पर वे क्रुद्ध होकर तुम्हारे शरीर में लोहे के सींग छेद देंगे।'' (भागवत ४.२५.७-८) ऐसा दण्ड मृत्यु-लोक में यमराज के निरीक्षण में पशु-हत्यारों को दिया जाता है। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति किसी पशु को मारता है या जो मांस खाता है, वह उस जीव का ऋणी होता है, जिसने मांसभक्षक की तुष्टि के लिए अपना शरीर अर्पित किया है। मांसभक्षक को अगले जन्म में अपना शरीर भक्षण के लिए देकर यह ऋण चुकाना होता है। वैदिक साहित्य से इस तरह अपना शरीर देकर ऋण चुकाने की पुष्टि होती है।

द्विषन्त: परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम् ।
मृतके सानुबन्धेऽस्मिन्बद्धस्नेहा: पतन्त्यध: ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

द्विषन्त:—द्वेष करते हुए; **पर-कायेषु**—अन्यों के शरीरों के भीतर (आत्माएँ); **स्व-आत्मानम्**—अपने आपको; **हरिम् ईश्वरम्**—भगवान् हरि को; **मृतके**—लाश में; **स-अनुबन्धे**—अपने सम्बन्धियों समेत; **अस्मिन्**—इस; **बद्ध-स्नेहा:**—स्थिर स्नेह वाले; **पतन्ति**—गिरते हैं; **अध:**—नीचे की ओर।

बद्धजीव अपने शवतुल्य भौतिक शरीरों तथा अपने सम्बन्धियों एवं साज-सामान के प्रति स्नेह से पूरी तरह बँध जाते हैं। ऐसी गर्वित एवं मूर्खतापूर्ण स्थिति में बद्धजीव अन्य जीवों के साथ साथ समस्त जीवों के हृदय में वास करने वाले भगवान् हरि से भी द्वेष करने लगते हैं। इस प्रकार ईर्ष्यावश अन्यों का अपमान करने से बद्धजीव क्रमशः नरक में जा गिरते हैं।

तात्पर्य : भौतिकतावादी व्यक्ति पशुओं की बर्बर हत्या करके उनके प्रति अपनी ईर्ष्या जताते हैं। इसी तरह बद्धजीव अन्य मनुष्यों से भी और हर एक के शरीर के भीतर वास करने वाले स्वयं भगवान् से भी ईर्ष्या करने लगते हैं। वे नास्तिकता या छद्म-दर्शन के प्रचार करने से ईश्वर से अपनी ईर्ष्या व्यक्त करते हैं। इस तरह वे इस तथ्य का मजाक उड़ाते हैं कि हर व्यक्ति ईश्वर का नित्य दास है। ईर्ष्यालु व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से अपने कटु भावों को युद्ध, आतंकवाद, क्रूर सरकार तथा धोखाधड़ी उत्पन्न करके व्यक्त करते हैं। ऐसे ईर्ष्यालु व्यक्तियों के पापमय शरीर शवों के तुल्य होते हैं। फिर भी ईर्ष्यालु व्यक्ति शव-रूप अपने भौतिक शरीरों से आसक्त होते हैं और अपनी सन्तानों तथा शरीर से सम्बन्धित अन्य विस्तारों के प्रति सम्मोहित रहते हैं। ऐसे भाव मिथ्या अहंकार पर आधारित होते हैं। श्रील मध्वाचार्य ने *हरिवंश* से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

आप्तत्वाद् आत्मशब्दोक्तं स्वस्मिन्नपि परेषु च।

जीवाद् अन्यं न पश्यन्ति श्रुत्वैवं विद्विषन्ति च।

एतांस्त्वमासुरान् विद्धि लक्षणै पुरुषाधमान्॥

"ब्रह्म आत्मा कहलाता है, क्योंकि वह अपने में तथा अन्यों के भीतर पाया जाता है। कुछ लोग भगवान् का वर्णन सुन कर विचलित हो उठते हैं और खुले तौर पर यह कहते हैं कि स्वयं उनसे परे कोई श्रेष्ठ जीव नहीं है। ऐसे लोगों को असुर कहना चाहिए। अपने व्यावहारिक लक्षणों से ये सबसे नीच श्रेणी के पुरुष माने जाने चाहिए।"

ये कैवल्यमसम्प्राप्ता ये चातीताश्च मूढताम् ।
त्रैवर्गिका ह्यक्षणिका आत्मानं घातयन्ति ते ॥ १६॥

शब्दार्थ

ये—जो; कैवल्यम्—परब्रह्म का ज्ञान; असम्प्राप्ताः—जिन्होंने नहीं प्राप्त किया है; ये—जो; च—भी; अतीताः—पार कर चुके हैं; च—भी; मूढताम्—निपट मूर्खता; त्रै-वर्गिकाः—जीवन के तीनों लक्ष्यों के प्रति समर्पित अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम; हि—

निस्सन्देह; अक्षणिकाः—विचार करने के लिए, जिनके पास क्षण-भर भी समय नहीं है; आत्मानम्—अपने को; घातयन्ति—हत्या करते हैं; ते—वे।

जिन्होंने परम सत्य का ज्ञान प्राप्त नहीं किया है, फिर भी, जो निपट अज्ञानता के अंधकार से परे हैं, वे सामान्यतया धर्म, अर्थ तथा काम इन तीन पवित्र पुरुषार्थों का अनुसरण करते हैं। अन्य किसी उच्च उद्देश्य के बारे में विचार करने के लिए समय न होने से वे अपनी ही आत्मा के हत्यारे (आत्मघाती) बन जाते हैं।

तात्पर्य : जो अज्ञान के निपट अंधकार में हैं और इस तरह पवित्र भौतिक जीवन से वंचित हैं, वे असंख्य पापकर्म करते हैं और अत्यधिक कष्ट भोगते हैं। ऐसे घोर कष्ट के कारण कभी कभी ऐसे लोग भगवद्भक्तों की शरण में जाते हैं और ऐसी दिव्य संगति के आशीर्वाद से कभी कभी कृष्णभावनामृत की सर्वोच्च पूर्णावस्था तक पहुँच जाते हैं।

जो लोग पूर्णतया पापी नहीं हैं, वे अपने भौतिक कष्टों में कुछ कमी का अनुभव करते हैं और इस तरह इस जगत में कुशलता का झूठा भाव उत्पन्न कर लेते हैं। चूँकि जो भौतिक दृष्टि से पवित्र हैं, उन्हें सांसारिक समृद्धि, शारीरिक सौन्दर्य तथा सुन्दर परिवार प्राप्त होते हैं, अत: वे अपने पद से गर्वित हो उठते हैं और वे न तो भगवद्भक्तों की संगति करना चाहते हैं, न उनके उपदेशों को ग्रहण करते हैं। दुर्भाग्यवश पवित्र या अपवित्र सारे भौतिक कार्यकलाप अनिवार्यत: पापकर्म से संदूषित रहते हैं। जिन्हें अपनी पवित्रता का गर्व होता है और जो कृष्ण के विषय में सुनना नहीं चाहते, वे कभी न कभी अपने कृत्रिम पद से नीचे गिर जाते हैं। प्रत्येक जीव भगवान् कृष्ण का नित्य दास है, अतएव जब तक हम कृष्ण की शरण में नहीं जाते, हमारा पद सदा अपवित्र रहता है। इस श्लोक में *अक्षणिका:* शब्द महत्त्वपूर्ण है। भौतिकतावादी व्यक्ति अपने नित्य आत्मा के लिए एक क्षण भी खर्च करने के लिए तैयार नहीं होते। यह दुर्भाग्य की निशानी है। ऐसे लोग अपनी ही आत्मा की हत्या करते माने जाते हैं, क्योंकि अपनी हठधर्मिता के कारण, वे अपने लिए अपना भविष्य अंधकारपूर्ण बनाते हैं, जिससे वे दीर्घ समय के लिए नहीं बच सकेंगे।

एक बीमार व्यक्ति वैद्य की देखरेख के प्रारम्भिक परिणामों से प्रोत्साहित होता है, किन्तु यदि रोगी को प्रारम्भिक उपचार से हुई प्रगति पर मिथ्या गर्व होने लगे और अपने को स्वस्थ मान कर वैद्य के इलाज को समय से पहले छोड़ दे, तो निश्चित रूप से वह फिर से बीमार पड़ जायेगा। इस श्लोक में *ये*

कैवल्यमसम्प्राप्ता: पद स्पष्ट सूचित करता है कि भौतिक पवित्रता परब्रह्म के पूर्ण ज्ञान से कोसों दूर है। यदि कोई व्यक्ति भगवान् कृष्ण के चरणकमलों को प्राप्त करने के पूर्व ही अपनी आध्यात्मिक प्रगति छोड़ देता है, तो वह निश्चय ही अत्यन्त कटु भौतिक अवस्था में जा गिरता है, भले ही उसे ब्रह्मज्योति की निर्विशेष अनुभूति क्यों न हो चुकी हो। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है—*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं तत: पतन्त्यध:।*

एत आत्महनोऽशान्ता अज्ञाने ज्ञानमानिन: ।
सीदन्त्यकृतकृत्या वै कालध्वस्तमनोरथा: ॥ १७॥

शब्दार्थ

एते—ये; आत्म-हन:—आत्मा के हत्यारे; अशान्ता:—शान्ति से रहित; अज्ञाने—अज्ञान में; ज्ञान-मानिन:—ज्ञानवान् मानते हुए; सीदन्ति—कष्ट उठाते हैं; अकृत—कर न सकने से; कृत्या:—अपना कर्तव्य; वै—निस्सन्देह; काल—समय द्वारा; ध्वस्त—विनष्ट; मन:-रथा:—उनकी रंगीन इच्छाएँ।

इन आत्महन्ताओं को कभी भी शान्ति नहीं मिल पाती, क्योंकि वे यह मानते हैं कि मानवी बुद्धि अन्तत: भौतिक जीवन का विस्तार करने के लिए है। इस तरह अपने असली आध्यात्मिक कर्तव्य की उपेक्षा करते हुए, वे सदैव कष्ट पाते हैं। वे उच्च आशाओं एवं स्वप्नों से पूरित रहते हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश काल के अपरिहार्य प्रवाह के कारण ये सब सदैव ध्वस्त हो जाते हैं।

तात्पर्य : ऐसा ही श्लोक *श्री ईशोपनिषद* (३) में आता है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता:।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना: ॥

"आत्मा का हन्ता चाहे वह जो भी हो श्रद्धाविहीन, अंधकार तथा अज्ञान से पूर्ण लोकों में प्रवेश करता है।"

हित्वात्ममायारचिता गृहापत्यसुहृत्स्त्रिय: ।
तमो विशन्त्यनिच्छन्तो वासुदेवपराङ्मुखा: ॥ १८॥

शब्दार्थ

हित्वा—त्याग कर; आत्म-माया—परमात्मा की माया द्वारा; रचिता:—तैयार किये गये; गृह—घर; अपत्य—बच्चे; सुहृत्—मित्र; स्त्रिय:—पत्नियाँ; तम:—अंधकार में; विशन्ति—प्रवेश करते हैं; अनिच्छन्त:—न चाहते हुए; वसुदेव-पराक्-मुखा:—भगवान् वासुदेव से मुख फेरने वाले।

जिन लोगों ने ईश्वर की माया के जाल में आकर भगवान् वासुदेव से मुख मोड़ लिया है, उन्हें अन्त में बाध्य होकर अपने तथाकथित घर, बच्चे, मित्र, पत्नियाँ तथा प्रेमीजनों को छोड़ना पड़ता है, क्योंकि ये सब भगवान् की माया से उत्पन्न हुए थे और ऐसे लोग अपनी इच्छा के विरुद्ध ब्रह्माण्ड के घोर अंधकार में प्रवेश करते हैं।

तात्पर्य : जीव भगवान् की ओर पीठ फेर कर क्षणिक इन्द्रिय-तृप्ति भोगने का प्रयास करता है। इससे केवल चिन्ता का उदय होता है, क्योंकि बद्धजीव अपनी नश्वर पत्नी, बच्चों, मित्रों, घर, राष्ट्र इत्यादि का पालन-पोषण करने के लिए संघर्ष करता है। अन्त में ये सारी वस्तुएँ छिन जाती हैं और कभी कभी मोहग्रस्त व्यक्ति हताशा में निर्विशेष ईश्वर तथा मुक्ति की शरण ग्रहण करने का प्रयास करता है। इस तरह बद्धजीव सदैव अज्ञान में रहता है। या तो वह भ्रामक इन्द्रिय-तृप्ति के पीछे पड़ा रहता है या ब्रह्म के निर्विशेष पक्ष में लीन होकर इन्द्रिय-तृप्ति से अपने को बचाना चाहता है। किन्तु जीव की वास्तविक स्थिति तो उस परम पुरुष की सेवा करना है, जो उसका स्वामी है। जब तक मनुष्य भगवान् के प्रति शत्रु-भाव को त्याग नहीं देता, तब तक शान्ति या सुख का प्रश्न ही नहीं उठता।

कृष्णभक्त—निष्काम, अतएव 'शान्त'।
भुक्ति-मुक्ति-सिद्धि-कामी—सकलि 'अशान्त'॥

(*चैतन्य-चरितामृत मध्य* १९.१४९)

श्री राजोवाच
कस्मिन्काले स भगवान्किं वर्णः कीदृशो नृभिः ।
नाम्ना वा केन विधिना पूज्यते तदिहोच्यताम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; कस्मिन्—किस; काले—काल में; सः—वह; भगवान्—भगवान्; किम् वर्णः—किस रंग का; कीदृशः—किस रूप का; नृभिः—मनुष्यों द्वारा; नाम्ना—(किन) नामों से; वा—तथा; केन—किस; विधिना—विधि से; पूज्यते—पूजा जाता है; तत्—वह; इह—हमारी उपस्थिति में; उच्यताम्—कृपा करके कहें।

राजा निमि ने पूछा : भगवान् प्रत्येक युग में किन रंगों तथा रूपों में प्रकट होते हैं और वे किन नामों तथा किन-किन प्रकार के विधानों द्वारा मानव समाज में पूजे जाते हैं?

तात्पर्य : पिछले श्लोकों से स्पष्ट रूप से स्थापित हो चुका है कि यदि मनुष्य भगवान् की शरण में जाकर उनकी प्रेमाभक्ति नहीं करता है, तो मनुष्य-जीवन व्यर्थ जाता है। इसलिए राजा अब मुनियों से

भगवान् की पूजा के विषय में विशिष्ठ जानकारी का अनुरोध कर रहा है, क्योंकि इस भक्ति-विधि को बद्धजीव के उद्धार का एकमात्र व्यावहारिक उपाय बतलाया गया है।

श्रीकरभाजन उवाच

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरित्येषु केशवः ।
नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्री-करभाजनः उवाच—श्री करभाजन के कहा; कृतम्—सत्य; त्रेता—त्रेता; द्वापरम्—द्वापर; च—तथा; कलिः—कलि; इति—इस तरह के नाम वाले; एषु—इन युगों में; केशवः—भगवान् केशव; नाना—विविध; वर्ण—रंग वाले; अभिधा—नाम; आकारः—तथा स्वरूप; नाना—विविध; एव—इसी प्रकार; विधिना—विधियों से; इज्यते—पूजा जाता है।

श्री करभाजन ने उत्तर दिया—कृत, त्रेता, द्वापर तथा कलि इन चारों युगों में से प्रत्येक में भगवान् केशव विविध वर्णों, नामों तथा रूपों में प्रकट होते हैं और विविध विधियों से पूजे जाते हैं।

कृते शुक्लश्चतुर्बाहुर्जटिलो वल्कलाम्बरः ।
कृष्णाजिनोपवीताक्षान्बिभ्रद्दण्डकमण्डलू ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कृते—सत्ययुग में; शुक्लः—श्वेत; चतुः-बाहुः—चार भुजाओं वाले; जटिलः—जटाओं से युक्त; वल्कल-अम्बरः—वृक्ष की छाल पहने; कृष्ण-अजिन—काला हिरन; उपवीत—ब्राह्मण का जनेऊ; अक्षान्—अक्ष के बीजों की बनी जप-माला; बिभ्रत्—धारण किये; दन्द—डण्डा; कमण्डलू—तथा जल का पात्र, कमण्डलु।

सत्ययुग में भगवान् श्वेत वर्ण और चतुर्भुजी होते हैं, उनके सिर पर जटाएँ रहती है और वे वृक्ष की छाल का वस्त्र पहनते हैं। वे काले हिरन का चर्म, जनेऊ, जप-माला, डण्डा तथा ब्रह्मचारी का कमण्डल धारण किये रहते हैं।

मनुष्यास्तु तदा शान्ता निर्वैराः सुहृदः समाः ।
यजन्ति तपसा देवं शमेन च दमेन च ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

मनुष्याः—मनुष्य; तु—तथा; तदा—तब; शान्ताः—शान्त; निर्वैराः—ईर्ष्यारहित; सुहृदः—सबों का मित्र; समाः—समभाव; यजन्ति—पूजा करते हैं; तपसा—ध्यान की तपस्या द्वारा; देवम्—भगवान् को; शमेन—मन को वश में करके; च—भी; दमेन—इन्द्रियों को वश में करके; च—तथा।

सत्ययुग में लोग शान्त, ईर्ष्यारहित, प्रत्येक प्राणी के प्रति मैत्री-भाव से युक्त तथा समस्त स्थितियों में स्थिर रहते हैं। वे तपस्या द्वारा तथा आन्तरिक एवं बाह्य इन्द्रिय-संयम द्वारा भगवान् की पूजा करते हैं।

तात्पर्य : सत्ययुग में भगवान् चतुर्भुज ब्रह्मचारी के रूप में अवतरित होते हैं, जैसाकि पिछले श्लोक में वर्णन आया है और वे स्वयं ध्यान-विधि को प्रारंभ करते हैं।

हंसः सुपर्णो वैकुण्ठो धर्मो योगेश्वरोऽमलः ।
ईश्वरः पुरुषोऽव्यक्तः परमात्मेति गीयते ॥ २३॥

शब्दार्थ

हंसः—दिव्य हंस; सु-पर्णः—सुन्दर पंखों वाला; वैकुण्ठः—वैकुण्ठ धाम के स्वामी; धर्मः—धर्म धारण करने वाले; योग-ईश्वरः—योग-सिद्धि के स्वामी; अमलः—निर्मल; ईश्वरः—परम नियन्ता; पुरुषः—परम भोक्ता नर; अव्यक्तः—अप्रकट; परम-आत्मा—जीव के हृदय में निवास करने वाला परमात्मा; इति—इस प्रकार; गीयते—उनके नामों का कीर्तन होता है।

सत्ययुग में भगवान् की महिमा का गायन हंस, सुपर्ण, वैकुण्ठ, धर्म, योगेश्वर, अमल, ईश्वर, पुरुष, अव्यक्त तथा परमात्मा-नामों से किया जाता है।

तात्पर्य : करभाजन मुनि विदेहराज निमि द्वारा भगवान् के विविध अवतारों के बारे में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दे रहे हैं। सत्ययुग में भगवान् का वर्ण श्वेत होता है और वे आदर्श चिन्तक ब्रह्मचारी के रूप में वृक्ष की छाल तथा काले हिरन का चर्म पहनते हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने सत्ययुग में भगवान् के विविध नामों की व्याख्या इस प्रकार की है। जो लोग स्वरूपसिद्ध हैं, वे भगवान् की इस परम वास्तविकता को परमात्मा-रूप में जानते हैं। वर्णाश्रम धार्मिक प्रणाली में स्थित लोग उनका महिमा-गान *हंस* रुप में करते हैं, जो समस्त वर्णों तथा आश्रमों से परे है। स्थूल पदार्थ में लीन रहने वाले व्यक्ति उन्हें सुपर्ण अर्थात् सुन्दर पंखों वाला मानते हैं, जो कार्य-कारण विचारधारा का मूलाधार है और जैसाकि *छान्दोग्य उपनिषद्* में वर्णन आया है, वह आत्मा के सूक्ष्म आकाश में उड़ता है। भगवान् की माया द्वारा सृजित सूक्ष्म तथा स्थूल पदार्थ वाले इस ब्रह्माण्ड के भीतर विचरण करने के अभ्यस्त लोग उनके वैकुण्ठ नाम का कीर्तन करते हैं। दिव्य ध्यान (धारणा) शक्ति से विहीन लोग, जो कि धर्म-पथ से नीचे गिर रहे होते हैं, धर्म के रूप में उनकी महिमा का गायन करते हैं। जिन लोगों को माया के गुणों के अधीन होना पड़ता है और जिनके मन असंयमित तथा विचलित रहते हैं, वे उनकी महिमा का गायन पूर्णतया संयमित योगेश्वर के रूप में करते हैं। रजो तथा तमोगुणों के मिश्रण से दूषित

लोग उन्हें अमल अर्थात् अदूषित कहते हैं। शक्ति से हीन लोग उन्हें ईश्वर कहते हैं और जो लोग अपने को उनके शरणागत मानते हैं, वे उन्हें उत्तम पुरुष कहकर पुकारते हैं। जो लोग यह जानते हैं कि यह जगत नश्वर है, वे उन्हें अव्यक्त कहते हैं। इस प्रकार भगवान् वासुदेव सत्ययुग में विविध चतुर्भुज-रूपों में प्रकट होते हैं और सारे जीव अपनी अपनी विशेष पूजा-विधि से उनकी पूजा करते हैं। इसीलिए भगवान् के अनेक नाम हैं।

त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ चतुर्बाहुस्त्रिमेखलः ।
हिरण्यकेशस्त्रय्यात्मा स्रुक्स्रुवाद्युपलक्षणः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

त्रेतायाम्—त्रेतायुग में; रक्त-वर्णः—लाल रंग का; असौ—वह; चतुः-बाहुः—चतुर्भुज; त्रि-मेखलः—तीन पेटियाँ पहने (वैदिक दीक्षा की तीन अवस्थाओं की द्योतक); हिरण्य-केशः—सुनहरे बालों वाले; त्रयि-आत्मा—तीन वेदों के ज्ञान के साकार रूप; स्रक्-स्रुव-आदि—चमस, स्रुवा इत्यादि; उपलक्षणः—प्रतीकों वाले।

त्रेतायुग में भगवान् का वर्ण लाल होता है। उनकी चार भुजाएँ होती हैं, बाल सुनहरे होते हैं और वे तिहरी पेटी पहनते हैं, जो तीनों वेदों में दीक्षित होने की सूचक है। ऋक्, साम तथा यजुर्वेदों में निहित यज्ञ द्वारा पूजा के ज्ञान के साक्षात् रूप उन भगवान् के प्रतीक स्रुक्, स्रुवा इत्यादि यज्ञ के पात्र होते हैं।

तात्पर्य : *स्रुक्* विशेष पात्र होता है, जिससे यज्ञ में घी डाला जाता है। यह लगभग एक हाथ लम्बा होता है और *विकंटक* नामक विशेष लकड़ी से बना होता है। इसका हत्था दण्ड एवं टोंटी जैसा होता है और इसके सिरे पर एक उथला गढ़ा होता है, जो हंस की चोंच जैसा होता है। इसका अगला हिस्सा मुट्ठी के आकार के चम्मच जैसा होता है। *स्रुव* दूसरा उपकरण है, जो यज्ञ में आहुति डालने के लिए प्रयुक्त होता है। यह *खदिर* की लकड़ी से बना होता है और स्रुक् से छोटा होता है तथा इसमें घी डालने के लिए प्रयुक्त होता है। कभी कभी इसी से सीधे अग्नि में घी की आहुति डाली जाती है। ये हैं त्रेतायुग में भगवान् के प्रतीक, जब भगवान् यज्ञ का *युगधर्म* चालू करने के लिए अवतरित होते हैं।

तं तदा मनुजा देवं सर्वदेवमयं हरिम् ।
यजन्ति विद्यया त्रय्या धर्मिष्ठा ब्रह्मवादिनः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; तदा—तब; मनुजाः—मनुष्य; देवम्—भगवान् को; सर्व-देव-मयम्—समस्त देवताओं से युक्त; हरिम्—श्री हरि को; यजन्ति—पूजा करते हैं; विद्यया—अनुष्ठानों द्वारा; त्रय्या—तीन मुख्य वेदों के; धर्मिष्ठाः—धर्म में स्थिर; ब्रह्म-वादिनः—परब्रह्म की खोज करने वाले।

त्रेतायुग में मानव समाज के वे लोग, जो धर्मिष्ठ हैं और परम सत्य को प्राप्त करने में सच्ची रुचि रखते हैं, वे समस्त देवताओं से युक्त भगवान् हरि की पूजा करते हैं। इस युग में तीनों वेदों में दिये गये यज्ञ अनुष्ठानों के द्वारा भगवान् की पूजा की जाती है।

तात्पर्य : सत्ययुग में पृथ्वी के निवासियों को समस्त उत्तम गुणों से युक्त बतलाया गया है। त्रेतायुग में मानव समाज को *धर्मिष्ठाः* तथा *ब्रह्मवादिनः* कहा गया है। किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि सत्ययुग के लोगों के सारे सद्गुणों का उल्लेख इस श्लोक में नहीं हुआ है। दूसरे शब्दों में, सत्ययुग के लोग आत्माराम होते थे, जबकि त्रेतायुग में वे वैदिक यज्ञ सम्पन्न करके पूर्ण बनने की ओर उन्मुख होते थे। त्रेतायुग में मानव समाज सत्ययुग की तरह स्वतः कृष्णभावनाभावित नहीं था। फिर भी लोग कृष्णभावनाभावित होने के लिए प्रवृत्त थे, अतएव वे वैदिक आदेशों का दृढ़ता से पालन करते थे।

विष्णुर्यज्ञः पृश्निगर्भः सर्वदेव उरुक्रमः ।
वृषाकपिर्जयन्तश्च उरुगाय इतीर्यते ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

विष्णुः—सर्वव्यापी भगवान्; यज्ञः—यज्ञरूपी परम पुरुष; पृश्नि-गर्भः—पृश्नि तथा प्रजापति सुतपा के पुत्र; सर्व-देवः—समस्त देवताओं के स्वामी; उरु-क्रमः—अद्भुत कर्म करने वाले; वृषाकपिः—भगवान्, जो स्मरण करने मात्र से सारे कष्टों को दूर कर देते हैं तथा सारी इच्छाओं को पूरा करते हैं; जयन्तः—सर्वविजयी; च—तथा; उरु-गायः—अत्यन्त महिमावान्; इति—इन नामों से; ईर्यते-हे इस् चल्लेद्.

त्रेतायुग में विष्णु, यज्ञ, पृश्निगर्भ, सर्वदेव, उरुक्रम, वृषाकपि, जयन्त तथा उरुगाय नामों से भगवान् का गुणगान किया जाता है।

तात्पर्य : *पृश्निगर्भ* द्योतक है पृश्नि देवी तथा प्रजापति सुतपा के पुत्र-रूप में भगवान् कृष्ण के अवतार का। *वृषाकपि* यह सूचित करता है कि यदि जीव भगवान् का केवल स्मरण करें, तो वे उन्हें सारे वर देने को उद्यत रहते हैं और इस तरह उनकी इच्छाओं को पूरा करके उनके कष्टों को दूर करते हैं। चूँकि भगवान् सदैव विजयी होते हैं, अतएव वे जयन्त कहलाते हैं।

द्वापरे भगवाञ्श्यामः पीतवासा निजायुधः ।
श्रीवत्सादिभिरङ्कैश्च लक्षणैरुपलक्षितः ॥ २७॥

शब्दार्थ

द्वापरे—द्वापर युग में; भगवान्—भगवान्; श्यामः—साँवले रंग का; पीत-वासाः—पीत वस्त्र धारण किये हुए; निज-आयुधः—अपने विशिष्ट हथियारों सहित (चक्र, गदा, शंख तथा कमल-पुष्प से युक्त); श्रीवत्स-आदिभिः—श्रीवत्स तथा अन्यों से; अङ्कैः—शरीर के चिह्न; च—तथा; लक्षणैः—आभूषणों द्वारा; उपलक्षितः—विशेषित।

द्वापर युग में भगवान् श्याम-वर्ण से युक्त और पीताम्बर धारण किये प्रकट होते हैं। इस अवतार में भगवान् के दिव्य शरीर में श्रीवत्स तथा अन्य विशेष आभूषण अंकित रहते हैं और वे अपने निजी आयुध प्रकट करते हैं।

तात्पर्य : द्वापर युग में भगवान् के दिव्य शरीर की उपमा गहरे नीले फूल से दी जा सकती है। भगवान् अपने निजी दिव्य हथियारों को यथा सुदर्शन चक्र को प्रदर्शित करते हैं और उनके शरीर के सारे अंग, विशेष रूप से हाथ-पाँव शुभ प्रतीकों से यथा कमल तथा पताका से अलंकृत रहते हैं। वे अपने वक्षस्थल के दाईं ओर कौस्तुभ मणि तथा शुभ श्रीवत्स (बालों के गुच्छे का बाईं से दाईं ओर मुड़े रहना) धारण करते हैं। वस्तुतः कौस्तुभ तथा श्रीवत्स जैसे शुभ प्रतीक एवं हथियार सभी *विष्णु* तत्त्व-अवतारों में उपस्थित रहते हैं। श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि करभाजन द्वारा उल्लिखित भगवान् के ये सारे सार्वभौम लक्षण कृष्ण-अवतार के सूचक हैं। चूँकि कृष्ण समस्त अवतारों के स्रोत हैं, अतएव अन्य सारे अवतारों के समस्त प्रतीक उनके दिव्य शरीर में पाये जाते हैं।

तं तदा पुरुषं मर्त्या महाराजोपलक्षणम् ।
यजन्ति वेदतन्त्राभ्यां परं जिज्ञासवो नृप ॥ २८॥

शब्दार्थ

तम्—उस; तदा—उस युग में; पुरुषम्—परम भोक्ता को; मर्त्याः—मर्त्य लोग; महा-राज—महान् राजा; उपलक्षणम्—भूमिका अदा करते; यजन्ति—पूजा करते हैं; वेद-तन्त्राभ्याम्—मूल वेदों तथा कर्मकाण्डी तंत्रों के अनुसार; परम्—परम को; जिज्ञासवः—ज्ञानार्जन के इच्छुक; नृप—हे राजा।

हे राजन्, द्वापर युग में जो लोग परम भोक्ता भगवान् को जानने के इच्छुक होते हैं, वे वेदों तथा तंत्रों के आदेशानुसार, उन्हें महान् राजा के रूप में आदर देते हुए पूजा करते हैं।

तात्पर्य : जब श्री कृष्ण हस्तिनापुर से विदा हो रहे थे, तो अर्जुन उनके ऊपर छाता ताने हुए थे और उद्धव तथा सात्यकि उन पर अलंकृत पंखा झल रहे थे। (भागवत १.१०.१७-१८) इस तरह महाराज युधिष्ठिर तथा उनके अनुयायियों ने कृष्ण की पूजा सबसे महान् राजा के रूप में तथा भगवान् के रूप में की। इसी तरह राजसूय यज्ञ में विश्व के महापुरुषों ने कृष्ण को राज-राजेश्वर के रूप में

अग्रपूजा के लिए चुना। भगवान् की ऐसी आदरसमेत पूजा द्वापर युग की विशेषता है, जैसाकि इस श्लोक में वर्णन हुआ है (*महाराजोपलक्षणम्*)। प्रत्येक अगले युग में, अर्थात् सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग में मानव समाज की दशा क्रमश: बिगड़ती जाती है। जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख हुआ है द्वापर युग के वासियों का एकमात्र उपयुक्त गुण है कि वे *जिज्ञासव:* अर्थात् परब्रह्म को जानने के लिए अतीव इच्छुक होते हैं। अन्यथा अन्य कोई सद्गुण का उल्लेख नहीं है। सत्ययुग के निवासियों को *शान्ता:, निर्वैरा:, सुहृद:* तथा *समा:* कहा जाता है। इसी प्रकार त्रेतायुग के निवासियों को *धर्मिष्ठा:* तथा *ब्रह्मवादिन:* और वैदिक आदेशों का पालन करने वाले बतलाया गया है। इस श्लोक में द्वापर युग के निवसियों को केवल *जिज्ञासव:* कहा गया है। अन्यथा उन्हें *मर्त्या:* अर्थात् मर्त्य प्राणियों के गुणों वाले कहा जाता है। यदि द्वापर युग में भी मानव समाज सत्ययुग तथा त्रेतायुग की अपेक्षा निकृष्ट था, तो कलियुग में मानव समाज की जो दुर्दशा होगी, उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसलिए, जैसाकि अगले श्लोकों में वर्णन हुआ है, जिन लोगों ने इस कलियुग में जन्म लिया है, उन्हें अपनी मूर्खता से अपने आप को छुड़ाने के लिए चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन से दृढ़तापूर्वक जुड़ जाना चाहिए।

नमस्ते वासुदेवाय नम: सङ्कर्षणाय च ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नम: ॥ २९ ॥
नारायणाय ऋषये पुरुषाय महात्मने ।
विश्वेश्वराय विश्वाय सर्वभूतात्मने नम: ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

नम:—नमस्कार; ते—आप; वासुदेवाय—वासुदेव को; नम:—नमस्कार; सङ्कर्षणाय—संकर्षण को; च—तथा; प्रद्युम्नाय—प्रद्युम्न को; अनिरुद्धाय—अनिरुद्ध को; तुभ्यम्—आप; भगवते—भगवान् को; नम:—नमस्कार; नारायणाय ऋषये—नारायण ऋषि को; पुरुषाय—परम भोक्ता पुरुष तथा ब्रह्माण्ड स्रष्टा को; महा-आत्मने—परमात्मा को; विश्व-ईश्वराय—ब्रह्माण्ड के स्वामी को; विश्वाय—तथा साक्षात् विश्व-रूप को; सर्व-भूत-आत्मने—समस्त जीवों के परमात्मा को; नम:—नमस्कार।

"हे परम स्वामी वासुदेव, आपको तथा आपके संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध-रूपों को नमस्कार है। हे भगवान्, आपको नमस्कार है। हे नारायण ऋषि, हे ब्रह्माण्ड के स्रष्टा, पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ, इस जगत के स्वामी तथा ब्रह्माण्ड के आदि स्वरूप, हे समस्त जीवों के परमात्मा, आपको सादर नमस्कार है।"

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि यद्यपि भगवान् कृष्ण द्वापर युग के अन्त में प्रकट हुए थे, किन्तु महान् ऋषि-मुनि इस युग के प्रारम्भ से ही उनके प्राकट्य की आशा से इस श्लोक का उच्चारण कर रहे थे।

सामान्य जीव भगवान् के नित्य दास होकर भी भौतिक जगत पर अपना प्रभुत्व बनाने के प्रयास में तल्लीन रहते हैं, किन्तु तो भी वे परमेश्वर के नियंत्रण में रहते हैं। जीव की स्वाभाविक स्थिति भगवान् की सेवा में लगे रहना है। यही नहीं, प्रकृति की भी स्वाभाविक स्थिति है कि जीवों के द्वारा वह भगवान् की दिव्य इच्छाओं की पूर्ति में लगी रहे। इस तरह इस श्लोक में की गई स्तुतियाँ *पञ्चरात्र* तथा वैदिक मंत्रों के अनुसार हैं, जिससे लोग परम सत्य की शाश्वत अधीनता का स्मरण करते रहें।

परम पुरुष कृष्ण अपने आपको नित्य *चतुर्व्यूह रूप* में प्रकट करते हैं। इस स्तुति का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को मिथ्या अहंकार त्याग कर इस चतुर्व्यूह को नमस्कार करना चाहिए। यद्यपि परम सत्य अद्वय है, किन्तु परब्रह्म अपना विस्तार असंख्य स्वाँशों में करके अपने असीम ऐश्वर्य और शक्ति का प्रदर्शन करता है। इन विस्तारों में चतुर्व्यूह मुख्य है। आदि पुरुष तो वासुदेव हैं। जब ईश्वर अपनी आदि शक्ति तथा ऐश्वर्य को प्रकट करता है, तो वह संकर्षण कहलाता है। प्रद्युम्न समस्त ब्रह्माण्ड के आत्मा रूप विष्णु अंश का आधार है और अनिरुद्ध ब्रह्माण्ड के प्रत्येक जीव के परमात्मा रूप विष्णु की साकार अभिव्यक्ति का मूलाधार है। यहाँ पर उल्लिखित चारों स्वाँशों में से आदि अंश वासुदेव हैं और शेष तीन को उनकी विशेष अभिव्यक्तियाँ मानी जाती हैं।

जब जीव यह भूल जाता है कि वह तथा यह प्रकृति भगवान् की सेवा के निमित्त बने हैं, तो तमोगुण प्रधान हो उठता है और बद्धजीव स्वयं ही स्वामी बनने का इच्छुक हो उठता है। इस तरह बद्धजीव यह कल्पना करने लगता है कि वह मानव समाज में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्यक्ति है या कि वह महान् दार्शनिक है। वैदिक मंत्र तथा *पञ्चरात्र* में मनुष्यों के लिए भगवद्भक्ति विषयक आदेश हैं, जो मनुष्य को इस कल्मष से मुक्त करते हैं कि वह समाज का प्रतिष्ठित व्यक्ति अथवा महान् दार्शनिक है। ज्ञानी को चाहिए कि वह अपने को परम सत्य का एक तुच्छ दास समझे।

द्वापर युग में भगवान् की अर्चापूजा प्रमुख है। ऐसी पूजा का चरम उद्देश्य *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* ही है। भगवान् की महिमा का श्रवण तथा कीर्तन किये बिना अर्चापूजा कर पाना सम्भव नहीं। अर्चापूजा में

यह आवश्यक है कि पूजा करने वाला व्यक्ति भगवान् के नामों, रूपों, गुणों, साज-सामग्री, पार्षदों तथा लीलाओं का गुणगान करे। जब ऐसा गुणगान पूर्ण होता है, तो पूजा करने वाला व्यक्ति भगवान् का श्रवण करके दिव्य ज्ञान की अनुभूति का पात्र बन जाता है।

इति द्वापर उर्वीश स्तुवन्ति जगदीश्वरम् ।
नानातन्त्रविधानेन कलावपि तथा शृणु ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; द्वापरे—द्वापर युग में; उरु-ईश—हे राजा; स्तुवन्ति—स्तुति करते हैं; जगत्-ईश्वरम्—ब्रह्माण्ड के स्वामी की; नाना—विविध; तन्त्र—शास्त्रों के; विधानेन—नियमों द्वारा; कलौ—कलियुग में; अपि—भी; तथा—उसी तरह; शृणु—सुनो।

हे राजन्, इस तरह से द्वापर युग में लोग ब्रह्माण्ड के स्वामी का यशोगान करते थे। कलियुग में भी लोग शास्त्रों के विविध नियमों का पालन करते हुए भगवान् की पूजा करते हैं। अब कृपा करके आप मुझसे इसके बारे में सुनें।

तात्पर्य : *कलावपि* अर्थात् ''कलियुग में भी'' महत्त्वपूर्ण शब्द हैं। यह सुविदित है कि कलियुग एक अधार्मिक युग है। अतएव यह आश्चर्यजनक ही है कि ऐसे नितान्त अधार्मिक युग में भगवान् की पूजा होती है। इसीलिए *कलावपि* कहा गया है। कलियुग में भगवान् का अवतार प्रत्यक्ष रूप से अपने को ईश्वर नहीं कहता, अपितु उन्हें वैदिक शास्त्रों के अनुसार पटु भक्तों द्वारा पहचाना जाता है। इसी तरह प्रह्लाद महाराज *श्रीमद्भागवत* (७.९.३८) में कहते हैं—

इत्थं नृतिर्यगृषिदेवझषावतारै-
र्लोकान् विभावयसि हंसि जगत् प्रतीपान्।
धर्मं महापुरुष पासि युगानुवृत्त-
श्छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ स त्वम्॥

''हे प्रभु! इस तरह आप मनुष्य, पशु, महान सन्त, सदृश देवता, मछली या कच्छप इत्यादि विविध रूपों में अवतरित होते हैं और इस तरह विभिन्न लोकों में सम्पूर्ण सृष्टि का पालन-पोषण करते हैं तथा असुरों का वध करते हैं। हे प्रभु! आप युग के अनुसार धर्म के सिद्धान्तों की रक्षा करते हैं। किन्तु कलियुग में आप अपने को भगवान् होने की पुष्टि नहीं करते, अतएव आप त्रियुग अर्थात् तीन युगों में प्रकट होने वाले कहलाते हैं।'' इस तरह यह ज्ञात है कि कलियुग में सामान्य लोगों के लिए भगवान्

के अवतार को पहचान पाना कठिन है, क्योंकि इस युग में भगवान् का प्राकट्य कुछ कुछ प्रच्छन्न रहता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार *नानातन्त्रविधानेन* शब्द कलियुग में *पञ्चरात्र* या *सात्वत पञ्चरात्र* वैष्णव शास्त्रों की महत्ता को बताने वाले हैं। *भागवत* में कहा गया है *स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा*—कलियुग में सामान्य लोगों द्वारा उच्च कोटि के वैदिक यज्ञ कर पाना या योग-पद्धति की कठिन तपस्या कर पाना असम्भव है। ऐसी आदर्श वैदिक विधियाँ कलियुग की आध्यात्मिक रूप से मन्द जनता की पहुँच से बाहर हैं, इसलिए इस युग में भगवन्नाम के कीर्तन द्वारा भगवान् की स्तुति करने की सरल विधि अनिवार्य है। भगवन्नाम कीर्तन करने तथा भगवान् की अर्चा-पूजा करने की भक्तिमयी विधियों का वर्णन *पञ्चरात्र* नामक वैष्णव शास्त्रों में वर्णित हैं। इस श्लोक में ऐसे तांत्रिक शास्त्रों का उल्लेख हुआ है और यह कहा गया है कि कलियुग में ये भक्तिमयी विधियाँ, जिनकी शिक्षा नारद मुनि जैसे महान् आचार्यों द्वारा दी गई है, भगवान् की पूजा करने की एकमात्र व्यावहारिक विधियाँ हैं। अगले श्लोक में इसकी और अधिक स्पष्ट व्याख्या की गई है।

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम् ।
यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

कृष्ण-वर्णम्—कृष्ण में आये अक्षरों को दुहराना; त्विषा—कान्ति से; अकृष्णम्—काला नहीं (सुनहला); स-अङ्ग—संगियों समेत; उप-अङ्ग—सेवकगण; अस्त्र—हथियार; पार्षदम्—विश्वासपात्र साथी; यज्ञैः—यज्ञ द्वारा; सङ्कीर्तन-प्रायैः—मुख्य रूप से सामूहिक कीर्तन से युक्त; यजन्ति—पूजा करते हैं; हि—निश्चय ही; सु-मेधसः—बुद्धिमान व्यक्ति।

कलियुग में, बुद्धिमान व्यक्ति ईश्वर के उस अवतार की पूजा करने के लिए सामूहिक कीर्तन (संकीर्तन) करते हैं, जो निरन्तर कृष्ण के नाम का गायन करता है। यद्यपि उसका वर्ण श्यामल (कृष्ण) नहीं है किन्तु वह साक्षात् कृष्ण है। वह अपने संगियों, सेवकों, आयुधों तथा विश्वासपात्र साथियों की संगत में रहता है।

तात्पर्य : यही श्लोक *चैतन्य-चरितामृत* (आदि लीला ३.५२) में कृष्णदास कविराज द्वारा उद्धृत किया गया है। श्रील प्रभुपाद ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है—"यह पाठ *श्रीमद्भागवत* (११.५.३२) में आया है। श्रील जीव गोस्वामी ने *भागवत* पर की गई अपनी टीका *क्रम सन्दर्भ* में इस श्लोक की व्याख्या की है, जिसमें उन्होंने कहा है कि भगवान् कृष्ण सुनहरे रंग में भी प्रकट होते हैं। ये

सुनहरे भगवान् कृष्ण, भगवान् चैतन्य हैं, जिनकी पूजा इस युग में बुद्धिमान लोग करते हैं। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* में गर्ग मुनि द्वारा की गई है, जिन्होंने कहा था कि यद्यपि बालक कृष्ण श्यामल है, किन्तु वह तीन अन्य रंगों में—लाल, श्वेत तथा पीले रंग में भी प्रकट होता है। उन्होंने अपने श्वेत तथा लाल वर्णों का प्रदर्शन क्रमशः सत्ययुग तथा त्रेतायुग में किया। किन्तु उन्होंने पीले-सुनहरे रंग का प्रदर्शन तब तक नहीं किया, जब तक वह भगवान् चैतन्य के रूप में प्रकट नहीं हुए, जो गौर हरि के नाम से विख्यात हैं।

श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि *कृष्णवर्णम्* का अर्थ है, श्रीकृष्ण चैतन्य। कृष्णवर्णम् तथा कृष्णचैतन्य समतुल्य है। कृष्ण-नाम भगवान् कृष्ण तथा भगवान् चैतन्य कृष्ण दोनों में आता है। श्री चैतन्य महाप्रभु भगवान् हैं, किन्तु वे कृष्ण का वर्णन करने में सदैव लगे रहते हैं और इस तरह वे उनके नाम तथा रूप का कीर्तन करके तथा स्मरण करके दिव्य आनन्द पाते हैं। स्वयं भगवान् कृष्ण सर्वोच्च उपदेश देने के लिए चैतन्य के रूप में प्रकट होते हैं। *वर्णयति* का अर्थ है "कहता है" या "वर्णन करता है।" भगवान् चैतन्य सदैव कृष्ण-नाम का कीर्तन करते हैं और उसका गुणानुवाद भी करते हैं और चूँकि वे स्वयं कृष्ण हैं, अतएव जो भी उनसे मिलता है, वह स्वतः कृष्ण-नाम का कीर्तन करता है और बाद में अन्यों से उसका कथन करता है। वह दूसरे व्यक्ति में दिव्य कृष्णभावनामृत प्रविष्ट कर देता है, जिससे कीर्तन करने वाला दिव्य आनन्द में लीन हो जाता है। इसलिए वह सभी तरह से हर एक के समक्ष कृष्ण-रूप में प्रकट होता है चाहे व्यक्ति-रूप में हो या ध्वनि के रूप में। श्री चैतन्य का दर्शन करने से ही, उसे तुरन्त भगवान् कृष्ण का स्मरण हो आता है। इस तरह उन्हें *विष्णु तत्त्व* के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, श्री चैतन्य साक्षात् भगवान् कृष्ण हैं।

सांगोपांगास्त्रपार्षदम् भी यह सूचित करता है कि श्री चैतन्य भगवान् कृष्ण हैं। उनका शरीर सदैव चन्दन के आभूषणों तथा चन्दन-लेप से विभूषित रहता है। अपने अद्वितीय सौन्दर्य से वे अपने युग के सारे लोगों को दमित करते हैं। अन्य अवतारों में कभी कभी भगवान् ने अस्त्रों का उपयोग असुरों को परास्त करने के लिए किया था, किन्तु इस युग में भगवान् चैतन्य महाप्रभु जैसे सर्व आकर्षक रूप से उन असुरों का दमन करते हैं। श्रील जीव गोस्वामी व्याख्या करते हैं कि उनका सौन्दर्य असुरों को दमन करने के लिए उनके अस्त्र हैं। चूँकि वे सर्व आकर्षक हैं, अतएव यह समझना होगा कि सारे देवता

उनके संगियों जैसे रहते थे। उनके कर्म असाधारण थे और उनके संगी अद्‌भुत थे। जब उन्होंने संकीर्तन आन्दोलन का प्रसार किया, तब विशेषकर बंगाल तथा बिहार में अनेक विद्वानों तथा आचार्यों को आकृष्ट किया। श्री चैतन्य के साथ सदा ही उनके श्रेष्ठतम संगी, जैसे कि नित्यानन्द, अद्वैत, गदाधर तथा श्रीवास रहते थे।

''श्रील जीव गोस्वामी ने वैदिक साहित्य का एक श्लोक उद्‌धृत किया है, जिसमें कहा गया है कि यज्ञ-प्रदर्शनों या उत्सवों को मनाने की कोई आवश्यकता नहीं है। वे टीका करते हैं कि ऐसे बाहरी दिखलावटी प्रदर्शनों में न लगकर सारे लोगों को जाति तथा रंग का भेदभाव त्यागकर भगवान् चैतन्य की पूजा करने के लिए हरे कृष्ण महामंत्र का सामूहिक कीर्तन करना चाहिए। *कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्* यह सूचित करता है कि कृष्ण-नाम को वरीयता प्रदान की जानी चाहिए। श्री चैतन्य ने कृष्णभावनामृत की शिक्षा दी और कृष्ण-नाम का कीर्तन किया। इसलिए श्री चैतन्य की पूजा करने के लिए सभी लोगों को मिल कर *महामंत्र* का—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे/हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे का कीर्तन करना चाहिए। गिरजाघरों, मन्दिरों या मसजिदों में पूजा का प्रसार करना सम्भव नहीं रहा, क्योंकि लोगों को इसमें रुचि नहीं है। किन्तु हरे कृष्ण का कीर्तन कहीं भी किया जा सकता है। इस तरह से श्री चैतन्य की पूजा करते हुए सर्वोच्च कर्म किया जा सकता है और भगवान् को तुष्ट करने का सर्वोच्च धार्मिक उद्देश्य पूरा किया जा सकता है।

''श्री चैतन्य महाप्रभु के सुप्रसिद्ध शिष्य श्रील सार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा है, ''जब दिव्य भक्ति का सिद्धान्त लुप्त हो गया, तो श्रीकृष्ण चैतन्य भक्ति-विधि को पुन: बताने हेतु प्रकट हुए हैं। वे इतने दयालु हैं कि कृष्ण-प्रेम का वितरण कर रहे हैं। हर व्यक्ति को चाहिए कि उनके चरणकमलों की ओर अधिकाधिक आकृष्ट हो, जिस तरह कि गुनगुनाते भौंरे कमल-पुष्प की ओर आकृष्ट होते हैं।''

श्री चैतन्य महाप्रभु के अवतार का वर्णन *श्रीविष्णुसहस्रनाम* में भी हुआ है, जो *महाभारत* के दान-धर्म पर्व के अध्याय १८९ में आया है। श्रील जीव गोस्वामी ने इसका सन्दर्भ इस प्रकार दिया है—*सुवर्णवर्णो हेमांगो वरांगश्चन्दनांगदी*—अपनी प्रारम्भिक लीलाओं में वे सुनहले रंग वाले गृहस्थ के रूप में प्रकट होते हैं। उनके अंग सुन्दर हैं और उनका चंदन-लेपित शरीर पिघले सोने जैसा लगता है। उन्होंने यह भी उद्‌धृत किया है—*संन्यासकृच्छम: शान्तो निष्ठा शान्ति परायण:*—बाद की लीलाओं में वे

संन्यास धारण करते हैं और समभाव तथा शान्त रहते हैं। वे शान्ति तथा भक्ति के सर्वोच्च धाम हैं, क्योंकि वे निर्विशेषवादी अभक्तों को चुप करा देते हैं।

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ध्येयम्—ध्यान किये जाने के योग्य; सदा—सदैव; परिभव—भौतिक जगत के अपमान; घ्नम्—नष्ट करने वाला; अभीष्ट—आत्मा की असली इच्छा; दोहम्—ठीक से पुरस्कार करने वाले; तीर्थ—सारे पवित्र स्थानों तथा सन्त-महापुरुषों का; आस्पदम्—धाम; शिव-विरिञ्चि—शिव तथा ब्रह्मा जैसे महान् देवताओं द्वारा; नुतम्—झुके हुए; शरण्यम्—शरण ग्रहण करने के लिए सर्वाधिक योग्य; भृत्य—सेवकों के; आर्ति-हम्—कष्ट को दूर करने वाले; प्रणत-पाल—उन सबके रक्षक, जो आपको प्रणाम करते हैं; भव-अब्धि—जन्म-मृत्यु के सागर का; पोतम्—उपयुक्त नाव (पार करने के लिए); वन्दे—मैं वन्दना करता हूँ; महा-पुरुष—हे महाप्रभु; ते—तुम्हारे; चरण-अरविन्दम्—चरणकमलों की।

हे प्रभु, आप महापुरुष हैं और मैं आपके उन चरणकमलों की पूजा करता हूँ, जो शाश्वत ध्यान के एकमात्र लक्ष्य हैं। वे चरण भौतिक जीवन की चिन्ताओं को नष्ट करते हैं और आत्मा की सर्वोच्च इच्छा—शुद्ध भगवत्प्रेम की प्राप्ति—प्रदान करते हैं। हे प्रभु, आपके चरणकमल समस्त तीर्थस्थानों के तथा भक्ति-परम्परा के समस्त सन्त-महापुरुषों के आश्रय हैं और शिव तथा ब्रह्मा जैसे शक्तिशाली देवताओं द्वारा सम्मानित होते हैं। हे प्रभु, आप इतने दयालु हैं कि आप उन सबों की स्वेच्छा से रक्षा करते हैं, जो आदरपूर्वक आपको नमस्कार करते हैं। इस तरह आप अपने सेवकों के सारे कष्टों को दयापूर्वक दूर कर देते हैं। निष्कर्ष रूप में, हे प्रभु, आपके चरणकमल वास्तव में जन्म तथा मृत्यु के सागर को पार करने के लिए उपयुक्त नाव हैं, इसीलिए ब्रह्मा तथा शिव भी आपके चरणकमलों में आश्रय की तलाश करते रहते हैं।''

तात्पर्य : इस श्लोक में कलियुग में भगवान् के अवतार का वर्णन हुआ है और उसकी पूजा की गई है। विगत तीन युगों—सत्य, त्रेता तथा द्वापर—में ईश्वर के अवतारों का वर्णन करने के बाद करभाजन मुनि ने उपयुक्त स्तुतियाँ प्रस्तुत कीं, जो प्रत्येक युगविशेष में भगवान् की महिमा का वर्णन करने के लिए सदुपयोग किया जाता है। *कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्* श्लोक द्वारा कलियुग में भगवान् के अवतार का वर्णन करने के बाद इस तथा अगले श्लोक में चैतन्य महाप्रभु के रूप में कलियुग में भगवान् के प्राकट्य, *कृष्णवर्णं,* की महिमा का वर्णन है। चैतन्य महाप्रभु कलियुग में प्रकट होते हैं और

हर एक को कृष्ण–नाम का कीर्तन करना सिखाते हैं। इस्कॉन आन्दोलन के सदस्य *कृष्णवर्णं* अर्थात् कृष्ण–नाम के कीर्तन में इतना लीन रहते हैं कि कभी कभी सामान्य लोग उन्हें ''कृष्ण'' कहते हैं। इस तरह जो भी व्यक्ति चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन के सम्पर्क में आता है, वह उनके पवित्र नाम के कीर्तन से तुरन्त कृष्ण की पूजा करने लगता है।

ध्येयं सदा शब्द सूचित करते हैं कि कृष्ण के पवित्र नामों का कीर्तन करने के लिए इस युग में कोई कठोर नियम नहीं हैं। कलियुग में ध्यान की प्रामाणिक विधि भगवन्नाम का कीर्तन विशेष रूप से—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—महामंत्र का कीर्तन करना है। इस विधि को सदा एवं निरंतर सम्पन्न करना चाहिए। इसी प्रकार चैतन्य महाप्रभु ने कहा—*नाम्नाम् अकारि बहुधा निजसर्व–शक्तिस्तत्रार्पिता नियमित: स्मरणे न काल:*—कलियुग में भगवान् ने अपनी सारी शक्तियाँ अपने नाम में लगा दी हैं और इन नामों का कीर्तन करने की कोई घिसी–पिटी विधि नहीं है। ऐसे नियमों का उल्लेख *काल–देश–नियम* का द्योतक है। सामान्यतया काल, ऋतु, स्थान, दशा इत्यादि को नियंत्रित करने वाले कठोर नियम होते हैं, जिनके अनुसार कोई विशेष वैदिक उत्सव सम्पन्न किया जा सकता है या कि किसी विशेष मंत्र का उच्चारण किया जा सकता है। इसलिए मनुष्य को सर्वत्र तथा सदैव, चौबीसों घण्टे, कृष्ण–नाम का कीर्तन करना चाहिए। इस प्रकार काल तथा स्थान के रूप में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। चैतन्य महाप्रभु के कथन का यही अर्थ है।

इस श्लोक में *परिभव–घ्नम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। कलियुग में मानव समाज ईर्ष्या से दूषित रहता है। यहाँ तक कि एक ही परिवार के सदस्यों में भी अत्यधिक ईर्ष्या व्याप्त रहती है, जिससे वे इस युग में निरन्तर झगड़ते रहते हैं। इसी प्रकार पड़ोसी एक–दूसरे से तथा एक–दूसरे की सम्पत्ति तथा पद से ईर्ष्या रखते हैं और सम्पूर्ण राष्ट्र ईर्ष्या से जल कर व्यर्थ ही युद्धरत होते हैं, जिसमें भीषण आधुनिक अस्त्रों द्वारा नरसंहार का खतरा बना रहता है। किन्तु पारिवारिक सदस्यों, अनजानों, तथाकथित कृतघ्न मित्रों, विरोधी राष्ट्रों, आर्थिक स्पर्धा, सामाजिक अप्रतिष्ठा, कैंसर इत्यादि द्वारा उत्पन्न इन उत्पीड़नों से चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों की शरण ग्रहण करके बचा जा सकता है। भौतिक शरीर को तो नहीं बचाया जा सकता, किन्तु चैतन्य महाप्रभु की शरण में आने वाले व्यक्ति की कठोर हृदयग्रंथि खुल जाती है, जिसके कारण वह अपने को बाह्य शरीर या सूक्ष्म मन मान रहा होता है। एक बार इस झूठी पहचान के

टूट जाने पर मनुष्य किसी भी प्रतिकूल भौतिक परिस्थिति में आनन्दपूर्वक रह सकता है। जो लोग इस नश्वर शरीर को शाश्वत बनाना चाहते हैं, वे अपना समय तो गँवाते ही हैं, साथ ही वे अपने जीवन को स्थायी बनाने वाली उस वास्तविक विधि की उपेक्षा करते हैं, जो कि साक्षात् कृष्णरूपी चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों की शरण ग्रहण करना है।

इस श्लोक में *तीर्थास्पदम्* शब्द यह बताता है कि चैतन्य महाप्रभु के चरणकमल समस्त तीर्थस्थानों के आश्रय हैं। ज्यों ज्यों कृष्णभावनामृत आन्दोलन विश्व-भर में फैल रहा है, त्यों त्यों हम निर्धन तथा अविकसित देशों में प्राय: पाते हैं कि भारत में वृन्दावन तथा मायापुर जैसे अत्यन्त पवित्र स्थानों को देख पाने के लिए भ्रमण कर पाना अत्यन्त कठिन होता जा रहा है। विशेष रूप से दक्षिण अमरीका के बहुत-से भक्तों के लिए भारत में ऐसे स्थलों का भ्रमण करके अपने को शुद्ध करना काफी कठिन है। किन्तु चैतन्य महाप्रभु इतने दयालु हैं कि केवल उनकी पूजा करने से विश्व-भर के सारे वैष्णव महान् तीर्थों को अर्थात् चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों को देख पाने का लाभ प्राप्त करते हैं। इस तरह कृष्णभावनामृत आन्दोलन के अनुयायियों को उनकी बाहरी परिस्थिति के बावजूद किसी प्रकार की क्षति नहीं होती है।

इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है—*कलौ द्रव्यदेशक्रियादिजनितं दुर्वारमपावित्र्यमपि नाशंकनीयमिति भाव:।* इस युग में संसार पापमय जीवन से इतना दूषित हो चुका है कि कलियुग के सारे लक्षणों से मुक्त हो पाना अत्यन्त कठिन है। फिर भी चैतन्य महाप्रभु का प्रचार-कार्य करने वालों को कलियुग के यदा-कदा होने वाले आकस्मिक अनिवार्य लक्षणों से डरना नहीं चाहिए। चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी अवैध यौन, नशा, मांसाहार तथा जुआ—इन चार निषेधात्मक विधानों का कठोरता से पालन करते हैं। वे सदैव हरे कृष्ण कीर्तन करना और भगवान् की सेवा में लगे रहना चाहते हैं। किन्तु ऐसा हो सकता है कि भक्त के जीवन में कलियुग का कोई लक्षण—यथा ईर्ष्या, क्रोध, काम, लोभ क्षण-भर के लिए यदा-कदा प्रकट हो जाय। किन्तु यदि ऐसा भक्त सचमुच ही चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों में शरणागत होता है, तो उनकी कृपा से ऐसा अवांछित लक्षण या *अनर्थ* तुरन्त लुप्त हो जायेगा। इसलिए भगवान् के निष्ठावान भक्त को अपना नियत कर्तव्य पूरा करने में हतोत्साहित नहीं होना चाहिए, बल्कि उसे आश्वस्त होना चाहिए कि चैतन्य महाप्रभु उसकी रक्षा करेंगे।

इस श्लोक में *शिवविरिञ्चिनुतम्* शब्द भी आया है। इस ब्रह्माण्ड में शिव तथा ब्रह्मा निस्सन्देह दो अत्यन्त शक्तिशाली पुरुष हैं। फिर भी वे चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों की अविचल भाव से पूजा करते हैं। क्यों? *शरण्यम्।* ब्रह्मा तथा शिव भी भगवान् के चरणकमलों की शरण के बिना सुरक्षित नहीं हैं।

भृत्यार्तिहं प्रणतपाल शब्द यह इंगित करते हैं कि यदि बिना द्वैत के कोई व्यक्ति भगवान् के चरणों पर शीश झुकाता है (*प्रणत*), तो भगवान् ऐसे निष्ठावान व्यक्ति को समस्त सुरक्षा प्रदान करते हैं। इस श्लोक में इसका उल्लेख नहीं है कि मनुष्य को भगवान् का उच्च कोटि का भक्त होना चाहिए। प्रत्युत यह कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति भगवान् के चरणकमलों पर केवल शीश झुकाता है, तो उसे सारी सुरक्षा प्रदान की जाती है और यह उस पर भी लागू होता है, जो चैतन्य महाप्रभु के मिशन की सेवा करने का प्रयास करता है। यहाँ तक कि नवदीक्षित को भी भगवत्कृपा से समस्त संरक्षण प्राप्त हो जायेगा।

भवाब्धि-पोतम् के विषय में *श्रीमद्भागवत* में ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं का निम्नलिखित कथन पाया जाता है *त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम्*—अज्ञान सागर को पार करने के लिए आपके चरणकमल को नाव मान कर मनुष्य महाजनों के पदचिह्नों पर चलता है और उस सागर को उसी सरलता से पार कर सकता है, जिस तरह गो-खुर के ऊपर से लाँघा जाता है। श्रील रूप गोस्वामी के अनुसार चैतन्य महाप्रभु का अनुयायी *जीवन्मुक्त* होता है। इस प्रकार भक्त अपने भावी गन्तव्य के लिए परेशान नहीं रहता, क्योंकि वह आश्वस्त रहता है कि भगवान् उसे इस भवसागर से तुरन्त पार करा देंगे। *उपदेशामृत* में ऐसे विश्वास को *निश्चयात्* शब्द द्वारा द्योतित किया गया है, जिसका अर्थ भक्तियोग की शक्ति के विषय में दृढ़ विश्वास है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *शिवविरिञ्चिनुतम्* कथन से यह भी सूचित होता है कि चैतन्य महाप्रभु की पूजा शिव के अवतार अद्वैत आचार्य द्वारा और ब्रह्मा के अवतार हरिदास ठाकुर द्वारा की जाती है।

इस श्लोक में चैतन्य महाप्रभु को *महापुरुष* के रूप में सम्बोधित किया गया है, जिसका अर्थ है *पुरुषोत्तम* अर्थात् भगवान्। इसी प्रकार *श्वेताश्वतर उपनिषद्* (३.१२) में महाप्रभु का निर्देश हुआ है—*महान् प्रभुर्वै पुरुष: सत्त्वष्यैश प्रवर्तक:*—महाप्रभु ईश्वर हैं, जो सम्पूर्ण जगत के प्रवर्तक हैं। इसी प्रकार

इस श्लोक में श्री गौरकृष्ण को *महापुरुष* कह कर सम्बोधित किया गया है और इस श्लोक का पूर्ण मन्तव्य भगवान् के चरणकमलों पर नमस्कार अर्पित करना है। ऐसे चरणकमल ध्यान के वास्तविक नित्य लक्ष्य हैं, क्योंकि वे भौतिक जीवन के बन्धन को काट देते हैं और भक्तों की इच्छाएँ पूरी करते हैं। यद्यपि बद्धजीव माया के अधीन होकर कठिन श्रम करते हुए जीवन में कई क्षणिक लक्ष्यों का अनुसरण करते हैं, किन्तु इस तरह से वे वास्तविक आनन्द या ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। ऐसा नित्य आनन्द तथा ज्ञान ही वास्तव में सम्पत्ति है। मनुष्य को चाहिए कि चैतन्य महाप्रभु को सामान्य व्यक्ति समझ कर और उनके चरणकमलों की उपेक्षा करके भगवान् की माया द्वारा प्रदत्त व्यर्थ की नश्वर शरण ग्रहण न करे।

वे योगी जो भगवान् के चरणकमलों के अतिरिक्त अपने ध्यान का अन्य कोई लक्ष्य बनाते हैं अपने ही नित्य जीवन के मार्ग में रोड़े खड़े करते हैं। जब ध्याता, ध्यान तथा ध्येय ये सभी भगवान् के नित्य पद को प्राप्त होते हैं, तो समझिये असली शरण प्राप्त हो चुकी। सामान्यतया बद्धजीव *भोगत्याग* में लगे रहते हैं। कभी वे भौतिक प्रतिष्ठा तथा इन्द्रिय-तृप्ति के पीछे उन्मत्त होकर दौड़ते हैं, तो कभी वे हताश होकर इन वस्तुओं का परित्याग कर देना चाहते हैं। किन्तु भगवान् के चरणकमल इन्द्रिय-तृप्ति तथा परित्याग के फेर-बदल के इस चक्र से परे हैं और जीव के लिए वे शान्ति तथा सुख के चरम धाम हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस श्लोक पर निम्नलिखित अतिरिक्त टिप्पणियाँ दी हैं—

ध्येयम्—लक्ष्य जिसका संकेत गायत्री मंत्र के धीमहि शब्द द्वारा हुआ है।

तीर्थास्पदम्—श्री गौक्षेत्र तथा व्रजमण्डल इत्यादि तीर्थस्थलों का मूल आश्रय, अथवा श्रवण-परम्परा के ब्रह्म-सम्प्रदाय के महान् भक्तों, भगवान् के चरणकमल का मूल आश्रय। यह श्रवण-परम्परा श्रीमद् आनन्दतीर्थ (मध्वाचार्य) से प्रारम्भ होती है और रूपानुग महाभागवतों अर्थात् रूप गोस्वामी तथा चैतन्य महाप्रभु के महान् अनुयायियों द्वारा आगे बढ़ती है।

शिवविरिञ्चिनुतम्—वह जिसकी पूजा शिव के अवतार श्रीमद् अद्वैताचार्य प्रभु तथा विरिञ्चि के अवतार श्रीमान् आचार्य हरिदास प्रभु द्वारा की जाती है।

भृत्यार्तिहम्—जिसने अपनी अहैतुकी कृपा से अपने ही दास, ब्राह्मण वासुदेव के कष्ट को दूर किया, जिसे *चैतन्य लीला* में कोढ़ हो गया था।

भवाब्धिपोतम्—संसार सागर को पार करने का साधन; अथवा उन लोगों के आश्रय जो अपने को उस भौतिक संसार से मुक्त करते हैं, जो यह संसार मोक्ष या भौतिक भोग की लालसा के रूप में जीव को पीड़ित करता है। ऐसे व्यक्तियों में से, जिन्होंने भगवान् के चरणकमल रूपी इस नाव का लाभ उठाया, सार्वभौम भट्टाचार्य तथा प्रतापरुद्र महाराज हैं, जिन्हें क्रमश: *मुक्तिकाम* तथा *भुक्तिकाम* से बचाया गया था।

त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं
धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम् ।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

त्यक्त्वा—त्याग कर; सु-दुस्त्यज—त्याग पाना अत्यन्त कठिन; सुर-ईप्सित—देवताओं द्वारा वांछित; राज्य-लक्ष्मीम्—लक्ष्मी तथा उसका ऐश्वर्य; धर्मिष्ठ:—अत्यन्त धार्मिक; आर्य-वचसा—ब्राह्मण के वचनों के अनुसार; यत्—जो; अगात्—गया; अरण्यम्—(संन्यास लेकर) जंगल में; माया-मृगम्—बद्धजीव जो सदैव भ्रामक भोग की तलाश करता है; दयितया—कृपावश; ईप्सितम्—वांछित वस्तु; अन्वधावत्—पीछे पीछे दौड़ते; वन्दे—नमस्कार करता हूँ; महा-पुरुष—हे महाप्रभु; ते—तुम्हारे; चरण-अरविन्दम्—चरणकमलों को।

हे महापुरुष, मैं आपके चरणकमलों की पूजा करता हूँ। आपने लक्ष्मी देवी तथा उनके सारे ऐश्वर्य का परित्याग कर दिया, जिसे त्याग पाना अतीव कठिन है और जिसकी कामना बड़े बड़े देवता तक करते हैं। इस तरह धर्मपथ के अत्यन्त श्रद्धालु अनुयायी होकर आप ब्राह्मण के शाप को मान कर जंगल के लिए चल पड़े। आपने मात्र अपनी दयालुतावश पतित बद्धजीवों का पीछा किया, जो सदैव माया के मिथ्या भोग के पीछे दौड़ते हैं और उसी के साथ अपनी वांछित वस्तु भगवान् श्यामसुन्दर की खोज में लगे भी रहते हैं।

तात्पर्य : वैष्णव आचार्यों के अनुसार *श्रीमद्भागवत* के इस महत्त्वपूर्ण श्लोक में चैतन्य महाप्रभु, भगवान् कृष्ण तथा श्री रामचन्द्रजी का भी वर्णन हुआ है। यह श्लोक करभाजन द्वारा युगावतारों अर्थात् भगवान् के विविध अवतारों, जो बद्धजीवों को भवबन्धन से छुड़वाते हैं, की व्याख्या के अन्तर्गत आया है। *वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्* से अन्त होने वाली स्तुति कलियुग में भगवान् कृष्ण के अवतार रूप चैतन्य महाप्रभु की प्रशंसा है। चैतन्य महाप्रभु नवद्वीप में गृहस्थ रूप में चौबीस वर्षों तक रहे और विद्वानों तथा सामान्यजनों के बीच उन्होंने काफी लोकप्रियता अर्जित की। उनके संकीर्तन आन्दोलन को

स्थानीय सरकार का पूर्ण समर्थन प्राप्त था, यद्यपि यह इस्लामी सरकार थी। चैतन्य महाप्रभु को लक्ष्मी से विवाह करने का सौभाग्य प्राप्त था। कोई भी सामान्य स्त्री चाहे वह कितनी सजी-धजी क्यों न हो लक्ष्मी की बराबरी नहीं कर सकती। ब्रह्माण्ड का हर व्यक्ति, यहाँ तक कि ब्रह्मा भी लक्ष्मी की खोज में रहते हैं। इसीलिए यहाँ *सुरेप्सित* शब्द आया है।

किन्तु चैतन्य महाप्रभु ब्राह्मण रूप में भगवान् कृष्ण हैं, अतएव वे निश्चय ही *धर्मिष्ठ:* अर्थात् अत्यन्त धार्मिक हैं। ईश्वर तो सदैव धर्मिष्ठ होता है, चाहे वह ग्वालबाल के रूप में प्रकट हो अथवा महान् राजा या ब्राह्मण के रूप में जन्म ले, क्योंकि स्वयं भगवान् समस्त धर्मों के मूल उत्स तथा साकार रूप हैं। किन्तु चैतन्य महाप्रभु की लीलाओं में बहुत ही कम राजनीतिक या आर्थिक कार्यकलाप हैं। चैतन्य महाप्रभु एक महान् दार्शनिक ब्राह्मण के रूप में प्रकट हुए थे, अतएव वे निश्चित रूप से *धर्मिष्ठ:* हैं। *चैतन्य-चरितामृत* (आदि लीला, अध्याय १७) में यह वर्णन आया है कि एक ब्राह्मण जो अत्यन्त कटु स्वभाव का तथा अन्यों को कोसने वाला था, उस कक्ष में नहीं घुस सका, जिसमें महाप्रभु कीर्तन कर रहे थे, क्योंकि दरवाजा बन्द था। इससे अत्यन्त क्षुब्ध होकर तथा अपना जनेऊ तोड़ते हुए उसने अगले दिन चैतन्य महाप्रभु को कोसते हुए गंगातट पर यह कहा, ''मैं अब तुम्हें शाप दे रहा हूँ, क्योंकि तुम्हारे आचरण से मुझे पीड़ा पहुँची है। तुम समस्त भौतिक सुख से वंचित हो जाओगे।'' किन्तु इससे चैतन्य महाप्रभु को अपने मन में बहुत खुशी हुई, क्योंकि उनका मिशन था—*वैराग्यविद्या निजभक्तियोग* अर्थात् भौतिक इन्द्रियतृप्ति की माया का परित्याग और चौबीसों घण्टे दृढ़ता से प्रतिदिन भगवद्भक्ति में रत रहना। इसलिए चैतन्य महाप्रभु ने इस शाप को वरदान माना और उसके तुरन्त बाद संन्यास ग्रहण किया। इस तरह इस श्लोक में कहा गया है कि *आर्यवचसा* अर्थात् ब्राह्मण के शब्दों से चैतन्य महाप्रभु ने संन्यास ग्रहण किया (*यद् अगाद् अरण्यम्*) और विभिन्न जंगलों से होकर वृन्दावन तथा उसके बाद दक्षिण भारत की यात्रा की। वे विशेष रूप से ब्राह्मण-जाति की प्रतिष्ठा बनाये रखना चाहते थे, इसलिए उन्होंने ब्राह्मण के शाप को अक्षत रखने का निश्चय किया।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *मायामृगम्* शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है। *माया* का अर्थ है अपनी तथाकथित पत्नी, सन्तान तथा बैंक-खाता जो मनुष्य को देहात्म बुद्धि से जकड़े रखते हैं। *मृगम्* शब्द *मृग्यति* अर्थात् ''खोजने'' का सूचक है। इस प्रकार *मायामृगम्* सूचक है उस बद्धजीव का, जो

समाज, मैत्री तथा प्रेम के भौतिक देहात्म बोध में अधुनातम इन्द्रिय-तृप्ति की खोज के पीछे दीवाना रहता है। *अन्वधावत्* बताता है कि चैतन्य महाप्रभु निरन्तर पतित जीवों की खोज में इधर-उधर दौड़ते रहते थे। कभी कभी वे बद्धजीवों को धार्मिक मैत्री या आनन्द के बहाने गले लगाते थे। किन्तु वास्तविकता तो यह थी कि वे बद्धजीवों के शरीरों का स्पर्श उन्हें भवसागर से खींच कर भगवत्प्रेम के सिन्धु में डालने के लिए करते थे। इस तरह चैतन्य महाप्रभु सर्वाधिक दयालु तथा वदान्य भगवत् अवतार थे, जिनकी दया जातिपाँति तथा रंग के सांसारिक भेदभाव की सीमाओं को लाँघ चुकी थी।

दयितया शब्द की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है। यह संस्कृत शब्द *दया* से निकला है और यह सूचित करता है कि महाप्रभु अत्यन्त दयालु हाने के कारण भगवान् की बहिरंगा माया से मोहित तथा विचलित बद्धजीवों को बचाने में लगे रहते थे। अत्यन्त दयालु होने का गुण *महापुरुष* अथवा भगवान् के चरित्र का अंश है।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार इस श्लोक में भगवान् कृष्ण के आदि श्यामल रूप अवतार का भी वर्णन हुआ है। इस प्रकार *सुरेप्सितराज्यलक्ष्मीम्* शब्द *श्रीमथुरासम्पत्तिम्* अर्थात् मथुरा के ऐश्वर्य को सूचित करते हैं। वैदिक साहित्य में मथुरा को समस्त ऐश्वर्य का आगार कहा गया है क्योंकि उस भूभाग को भगवान् के चरणकमल का स्पर्श प्राप्त हुआ है। किन्तु कृष्ण ऐश्वर्यशाली मथुरा में जन्म लेकर भी वनग्राम वृन्दावन चले गये थे। *आर्यवचसा* शब्द इस सन्दर्भ में कृष्ण के माता-पिता वसुदेव-देवकी के आदेश का सूचक है। *श्रीमद्भागवत* (१०.३.२२, २९) में वसुदेव तथा देवकी दोनों ही कंस की धमकी के कारण भयभीत रहते हैं, क्योंकि उसने कृष्ण के बड़े भाइयों को पहले ही मार डाला था। इस तरह *आर्यवचसा* शब्द सूचित करता है कि उन्होंने बड़े ही प्यार से कृष्ण से प्रार्थना की कि वे किसी तरह कंस से बचने का प्रबन्ध करें। इसलिए उनके आदेश का पालन करने के लिए उन्होंने अपने को वृन्दावन में स्थानान्तरित कर दिया। (*यद् अगाद् अरण्यम्*)

इस सन्दर्भ में *मायामृगम्* शब्द श्रीमती राधारानी तथा श्रीकृष्ण के मध्य विशेष उच्च सम्बन्ध का सूचक है। *माया* के द्वारा कृष्ण की अन्तरंगा शक्ति *योगमाया* भी सूचित होती है। कृष्ण की अन्तरंगा शक्ति का आदि रूप श्रीमती राधारानी है। श्रीमती राधारानी के अचिन्त्य प्रेम के कारण भगवान् कृष्ण उनके वश में रहते हैं। इस प्रकार यहाँ पर *मृगम्* अर्थात् ''पशु'' *क्रीड़ामृगम्* अर्थात् पशु-खिलौने का

सूचक है। जिस तरह कोई सुन्दर बालिका अनेक गुड़ियों या पशु-खिलौनों से खेल सकती है, उसी तरह भगवान् कृष्ण सर्वाधिक सुन्दरी तरुणी श्रीमती राधारानी, के हाथ के खिलौने बने रहते हैं। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार श्रीमती राधारानी ने श्रीकृष्ण को बाँधने के लिए अनेक प्रकार से पूजा की थी, क्योंकि वे कृष्ण के बिना रह नहीं सकतीं। इस तरह श्रीमती राधारानी के *आराधन* के कारण कृष्ण कभी भी वृन्दावन नहीं छोड़ सकते। वे वृन्दावन में गौवों की रक्षा करते हुए, अपने मित्रों के साथ खेलते तथा श्रीमती राधारानी और गोपियों के साथ अनेक प्रकार से प्रेम-क्रीड़ाएँ करते हुए इधर-उधर दौड़ते रहते हैं। *अन्वधावत्* शब्द कृष्ण द्वारा श्रीमती राधारानी के प्रेम के वशीभूत होकर वृन्दावन की दिव्य भूमि में दौड़ते हुए बाल-क्रीड़ाएँ करने का द्योतक है।

श्रील श्रीधर स्वामी ने व्याख्या की है कि किस तरह यह श्लोक श्री रामचन्द्र के अवतार का भी वर्णन करता है। यद्यपि भगवान् पूर्ण स्वतंत्र हैं और हर वस्तु से विलग हैं, किन्तु वे अपने शुद्ध भक्तों के प्रेम के वशीभूत हो जाते हैं। महान् राजधानी अयोध्या में सारे नागरिक उन्हें जितना वर्णन किया जा सके उससे भी अधिक प्रेम करते थे। इस सन्दर्भ में *आर्यवचसा* का यह अर्थ है कि अपने गुरु तुल्य पिता के आदेश पर सर्वस्व छोड़ कर रामचन्द्रजी वन को चले गये। वहाँ उन्होंने सीताजी के प्रति अगाध स्नेह प्रदर्शित करते हुए *मायामृगम्*—रावण द्वारा धोखे से उत्पन्न माया रूपी मृग का पीछा किया। इस स्वर्ण-मृग के लिए श्रीमती सीतादेवी ने विशेष चाह व्यक्त की थी इसकी सूचना *दयितयेप्सितम्* शब्द से मिलती है।

भगवान् के दिव्य शरीर के सारे अंग अभिन्न हैं और उनमें परस्पर-विनिमय हो सकता है। इसका कथन *ब्रह्म-संहिता* (५.३२) में मिलता है—

अङ्गानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति
पश्यन्ति पान्ति कलयन्ति चिरं जगन्ति।
आनन्दचिन्मयसदुज्ज्वलविग्रहस्य
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

भगवान् के सारे अंग (*अङ्गानि*) *सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति* अन्य सारे अंगों का कार्य करते हैं। इस तरह भगवान् के दोनों चरणकमल भगवान् के आदि स्वरूप हैं और भगवान् के चरणकमलों की पूजा

करने से पूजा करने वाले को दिव्य आनन्द की प्राप्ति होती है। जहाँ तक आध्यात्मिक गुणों की बात है चैतन्य महाप्रभु, भगवान् कृष्ण तथा भगवान् रामचन्द्र के अवतारों में कोई अन्तर नहीं है। वैदिक वाङ्मय में कहा भी गया है *अद्वैतम् अच्युतम् अनादिम् अनन्तरूपम्।* इसलिए आचार्यों में तनिक भी मतान्तर नहीं है कि यह श्लोक एक ही परम सत्य के तीन भिन्न स्वरूपों की महिमा प्रस्तुत करता है। चैतन्य महाप्रभु निस्सन्देह भगवान् हैं। उनके दिव्य गुण वैदिक वाङ्मय में दिये हुए परब्रह्म के गुणों को हर दृष्टिकोण से पूरा करने वाले हैं। *चैतन्य-चरितामृत* (आदि लीला, अध्याय ३) में कृष्णदास कविराज गोस्वामी तथा श्रील प्रभुपाद ने श्री चैतन्य महाप्रभु के दिव्य पद की विस्तृत व्याख्या दी है, जिसे पाठक अधिक जानकारी के लिए देख सकते हैं।

हर व्यक्ति को करभाजन मुनि के आदर्श का पालन करना चाहिए और महाप्रभु, महापुरुष श्री चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों की पूजा करनी चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि मानसिक चिन्तन तथा मनमानी व्याख्याओं में अपने को सड़ने न देकर चैतन्य महाप्रभु की शरण में जाकर परम सत्य से अपने सम्बन्ध को पुनरुज्जीवित करे। जो लोग श्री चैतन्य महाप्रभु की पूजा कर रहे हैं उन्हें अद्भुत आध्यात्मिक फल मिल रहा है और वे कृष्ण-प्रेम रूपी फल का आस्वाद ले रहे हैं। अतएव *वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्:* हम आदि भगवान् चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों को नमस्कार करें जिनकी महिमा *श्रीमद्भागवत* में *महापुरुष* के रूप में गाई गई है।

इस श्लोक की व्याख्या के अनुरूप चैतन्य महाप्रभु के अनुयायीगण उनके *षड्भुज* रूप की भी पूजा करते हैं। इस रूप की दो भुजाओं में संन्यासी चैतन्य महाप्रभु का कमण्डल तथा दण्ड रहते हैं, दो भुजाओं में भगवान् कृष्ण की बाँसुरी रहती है और दो हाथों में भगवान् रामचन्द्रजी के धनुष-बाण रहते हैं। यह *षड्भुज* रूप ही *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक का वास्तविक तात्पर्य है।

एवं युगानुरूपाभ्यां भगवान्युगवर्तिभिः ।
मनुजैरिज्यते राजन्श्रेयसामीश्वरो हरिः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; **युग-अनुरूपाभ्याम्**—प्रत्येक युग के अनुरूप (विशिष्ट नामों तथा रूपों द्वारा); **भगवान्**—भगवान्; **युग-वर्तिभिः**—विभिन्न युगों में रहने वालों द्वारा; **मनुजैः**—मनुष्यों के द्वारा; **इज्यते**—पूजा जाता है; **राजन्**—हे राजा; **श्रेयसाम्**—समस्त आध्यात्मिक लाभ का; **ईश्वरः**—नियंत्रक; **हरिः**—भगवान् हरि।

इस प्रकार हे राजन्, भगवान् हरि जीवन के समस्त वांछित फलों को देने वाले हैं। बुद्धिमान मनुष्य भगवान् के उन विशेष रूपों तथा नामों की पूजा करते हैं, जिन्हें भगवान् विभिन्न युगों में प्रकट करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर *युगानुरूपाभ्याम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *अनुरूप* का अर्थ है "उचित"। भगवान् कृष्ण चाहते हैं कि सारे बद्धजीव आनन्द तथा ज्ञानमय जीवन के लिए भगवद्धाम वापस आयें। इस तरह चारों युगों में—सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलि में—भगवान् ऐसे रूप में प्रकट होते हैं, जो उस युग के मनुष्यों द्वारा पूजने के अनुरूप होता है। श्रील रूप गोस्वामी ने *लघु भागवतामृत* (पूर्वखण्ड १.२५) में कहा है—

कथ्यते वर्णनामाभ्यां शुक्ल:सत्ययुगे हरि: ।

रक्त: श्याम: कर्मात् कृष्णस्त्रेतायां द्वापरे कलौ ॥

"भगवान् हरि को उनके रंग तथा नामों के अनुसार सत्ययुग में शुक्ल (श्वेत अथवा परम शुद्ध) तथा त्रेता, द्वापर और कलियुग में क्रमश: रक्त, श्याम तथा काला कहा जाता है।" इस तरह उन्हें प्रत्येक युग में महिमा-गायन के उपयुक्त नाम दिये जाते हैं—यथा सत्ययुग में हंस तथा सुपर्ण, त्रेतायुग में विष्णु तथा यज्ञ और द्वापर युग में वासुदेव तथा संकर्षण, किन्तु कलियुग में ऐसे नाम नहीं रखे जाते, यद्यपि ऐसे नाम होते हैं ताकि इससे श्री चैतन्य महाप्रभु के अवतार की सत्यता को हल्के-फुल्के ढंग से प्रकट करने से बचा जा सके।

कलियुग में मानव समाज दिखावे तथा ओछेपन से व्याप्त है। इस युग में नकल तथा धूर्तता की प्रबल प्रवृत्ति पाई जाती है। इसीलिए वैदिक वाङ्मय में श्री चैतन्य महाप्रभु के अवतार को गोपनीय रखा गया है, जिससे केवल वे अधिकृत भक्त ही जान सकें, जो उनके बाद पृथ्वी पर उनके संदेश का प्रसार कर सकते हों। सचमुच ही इस आधुनिक युग में अनेक मूर्ख तथा सामान्य व्यक्ति अपने को ईश्वर या अवतार कहते देखे जाते हैं। ऐसे अनेक सस्ते दर्शन तथा ऐसी अकादमियाँ हैं, जो थोड़ी-सी फीस (शुल्क) लेकर मनुष्य को अल्पकाल में ईश्वर बनाने का वचन देती हैं। अमरीका का एक धार्मिक समुदाय अपने अनुयायियों को यह वचन देता है कि वे स्वर्ग में ईश्वर बन जायेंगे। ईसाइयत के नाम पर

ऐसा भ्रष्ट प्रचार हो रहा है। अतएव यदि वैदिक वाङ्मय में चैतन्य महाप्रभु के नाम का खुलकर कथन किया जाता, तो संसार में नकली चैतन्य महाप्रभुओं की बाढ़ आ जाती।

इसीलिए कलियुग में इस तरह की भगदड़ से बचाने के लिए वैदिक ग्रंथों में विवेक का सहारा लिया गया है और वैदिक संस्कृति के अनुयायियों को गंभीर और गुह्य विधि से वैदिक मंत्रों द्वारा श्री चैतन्य महाप्रभु के अवतरण की सूचना दी जाती है। कलियुग में अपने प्राकट्य के लिए भगवान् ने जो यह विवेकपूर्ण विधि चुनी है, वह इस धरा लोक पर काफी सफल सिद्ध हो रही है। इस तरह विश्व-भर में करोड़ों लोग लाखों नकली चैतन्य महाप्रभुओं के असह्य उत्पीड़न के बिना ही कृष्ण-नाम का कीर्तन कर रहे हैं। जो लोग भगवान् के पास पहुँचने के लिए सचमुच ही इच्छुक हैं, वे महाप्रभु के मिशन को आसानी से समझ सकते हैं, जबकि झूठी प्रतिष्ठा से फूले हुए और अपनी बुद्धि को कृष्ण की बुद्धि से बड़ी मानते हुए उन्मत्त भौतिकतावादी धूर्तगण इस जगत में सुचारु रूप से भगवान् द्वारा बनाई गई अवतार लेने की व्याख्या को नहीं समझ सकते। इस तरह यद्यपि कृष्ण *श्रेयसाम् ईश्वरः*—अर्थात् समस्त वरों के स्वामी हैं, किन्तु ऐसे मूर्खजन भगवान् के मिशन से पराङ्मुख होकर अपने को जीवन के असली लाभ से वंचित रखते हैं।

कलिं सभाजयन्त्यार्या गुण ज्ञाः सारभागिनः ।
यत्र सङ्कीर्तनेनैव सर्वस्वार्थोऽभिलभ्यते ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

कलिम्—कलियुग की; सभाजयन्ति—प्रशंसा करते हैं; आर्याः—प्रगतिशील लोग; गुण-ज्ञः—(युग की) असलियत को जानने वाले; सार-भागिनः—सार ग्रहण करने वाले; यत्र—जिसमें; सङ्कीर्तनेन—भगवान् के नाम का सामूहिक कीर्तन करके; एव—मात्र; सर्व—सभी; स्व-अर्थः—इच्छित लक्ष्य; अभिलभ्यते—प्राप्त किये जाते हैं।

जो लोग सचमुच ज्ञानी हैं, वे इस कलियुग के असली महत्व को समझ सकते हैं। ऐसे प्रबुद्ध लोग कलियुग की पूजा करते हैं, क्योंकि इस पतित युग में जीवन की सम्पूर्ण सिद्धि संकीर्तन सम्पन्न करके आसानी से प्राप्त की जा सकती है।

तात्पर्य : यहाँ पर बतलाया गया है कि सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलि—इन चार युगों में कलियुग ही सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इस युग में भगवान् चेतना की सर्वोच्च सिद्धि, कृष्णभावनामृत, का मुक्तहस्त से वितरण करते हैं। *आर्य* शब्द की परिभाषा श्रील प्रभुपाद ने "वह व्यक्ति जो आध्यात्मिक उन्नति कर रहा हो" के रूप में की है। प्रबुद्ध व्यक्ति का स्वभाव जीवन के सार की खोज करना है। उदाहरणार्थ,

भौतिक शरीर का सार शरीर न होकर शरीर के भीतर स्थित आत्मा है। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति नश्वर शरीर की अपेक्षा शाश्वत आत्मा की ओर अधिक ध्यान देता है। इसी तरह यद्यपि कलियुग को कल्मष का सागर माना जाता है, किन्तु कलियुग में भाग्य का समुद्र भी है—वह है संकीर्तन आन्दोलन। दूसरे शब्दों में, इस युग के सारे अधम गुणों का पूर्ण निराकरण भगवन्नाम कीर्तन करने से हो जाता है। अतएव वैदिक भाषा में कहा गया है—

ध्यायन्कृते यजन्यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।

यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥

''सत्ययुग में ध्यान द्वारा, त्रेता में यज्ञ द्वारा तथा द्वापर में पूजा द्वारा जो कुछ अर्जित किया जाता है, उसे कलियुग में सामूहिक रूप से केशव नाम का कीर्तन करके प्राप्त किया जाता है।''

वैदिक विधि बद्धजीव को धीरे धीरे अहंकार के अंधकार अर्थात् स्थूल भौतिक शरीर से झूठी पहचान से ऊपर उठाती है और आत्म-साक्षात् अथवा *अहं ब्रह्मास्मि*—अर्थात् मैं आत्मा हूँ, मैं नित्य हूँ—के पद तक ले जाती है। फिर उसे यह खोजना होता है कि यद्यपि मैं नित्य हूँ, किन्तु एक परम शाश्वत पुरुष है, जो ब्रह्माण्ड के कण-कण के भीतर तथा हर एक के हृदय के भीतर स्थित साक्षात् भगवान् है। इस आत्म-साक्षात्कार की द्वितीय अवस्था के आगे भी सिद्धि की तीसरी एवं अन्तिम अवस्था होती है, जो भगवान् के धाम में भगवान् का साक्षात्कार है।

भगवान् मूलत: इस जगत के अधीक्षक नहीं प्रत्युत अपने ही जगत के भोक्ता हैं, जो बद्धजीव के अतिकाल्पनिक स्वप्नों से भी परे हैं। दूसरे शब्दों में, यद्यपि राजा या देश का राष्ट्रपति जेल-विभाग का नियंत्रक होता है, किन्तु उसे वास्तविक सुख अपने ही घर में मिलता है, मूर्ख बन्दियों को फैसला सुनाने में नहीं। इसी तरह भगवान् भौतिक सृष्टि का संचालन करने हेतु देवताओं को नियुक्त करते हैं और स्वयं अपने दिव्य धाम में दिव्य आनन्द-सागर में मग्न रहते हैं। इस तरह भगवान् के ही धाम में उनका साक्षात्कार करना—इस भौतिक जगत रूपी कारागार के स्रष्टा के रूप में भगवान् को समझना अधिक श्रेष्ठ है। भगवान् का यह साक्षात्कार इस समझ से प्राप्त होता है कि आध्यात्मिक आकाश में असंख्य वैकुण्ठ-लोक हैं और इनमें हर एक में नारायण का अंश-विशेष अपने उन असंख्य भक्तों के साथ निवास करता है, जो उस विशेष रूप के साथ जुड़े रहते हैं। आध्यात्मिक आकाश का केन्द्रीय एवं

मुख्य लोक कृष्ण-लोक कहलाता है और यहाँ पर भगवान् अपने परम एवं आदि गोविन्द रूप को प्रकट करते हैं। *गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि* द्वारा ब्रह्मा ने इसकी पुष्टि की है। ब्रह्मा ने *ब्रह्म-संहिता* (५.१) में यह भी कहा है—

ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्दविग्रह:।

अनादिरादि गोविन्द: सर्वकारणकारणम्॥

इस तरह कृष्ण-प्रेम तथा आध्यात्मिक आकाश में कृष्ण-लोक के भीतर प्रवेश पाना कहीं भी और किसी भी काल में संपूर्ण सृष्टि में जीवन की सर्वोच्च तथा भव्य स्थिति है। यह पूर्णता कलियुग में मात्र भगवन्नाम कीर्तन करने से उपलब्ध है। अतएव हर विवेकशील पुरुष, स्त्री या बालक को चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रदत्त सुअवसर को गम्भीरतापूर्वक समझना चाहिए और इस कीर्तन को अपनाना चाहिए। केवल अभागे तथा अनुदार व्यक्ति ही इस दिव्य अवसर की उपेक्षा करेंगे।

न ह्यत: परमो लाभो देहिनां भ्राम्यतामिह ।
यतो विन्देत परमां शान्तिं नश्यति संसृति: ॥ ३७॥

शब्दार्थ

न—नहीं है; हि—निस्सन्देह; अत:—इस (संकीर्तन विधि) की अपेक्षा; परम:—महान्; लाभ:—प्राप्त करने योग्य वस्तु; देहिनाम्—देहधारियों के लिए; भ्राम्यताम्—विचरण करने के बाध्य हुए; इह—इस ब्रह्माण्ड-भर में; यत:—जिससे; विन्देत—प्राप्त करता है; परमाम्—परम; शान्तिम्—शान्ति; नश्यति—तथा नष्ट करता है; संसृति:—जन्म-मृत्यु के आवागमन को।

निस्सन्देह, भौतिक जगत में विचरण करने के लिए बाध्य किये गये देहधारी जीवों के लिए भगवान् के संकीर्तन आन्दोलन से बढ़कर और कोई सम्भावित लाभ नहीं है, जिसके द्वारा वह परम शान्ति पा सके और अपने को बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्र से छुड़ा सके।

तात्पर्य : *स्कन्द पुराण* तथा अन्य पुराणों में निम्नलिखित वक्तव्य प्राप्य है—*महाभागवता नित्यं कलौ कुर्वन्ति कीर्तनम्*—कलियुग में भगवान् के महान् भक्तगण सदैव कीर्तन में व्यस्त रहते हैं। भगवान् स्वभाव से दयालु हैं और वे उन पर विशेष रूप से कृपालु रहते हैं, जो असहायावस्था में उनके चरणकमलों में पूरी तरह आत्म-समर्पण कर देते हैं। कोई भी व्यक्ति भगवान् के पवित्र नामों का कीर्तन करके तुरन्त भगवान् के चरणकमलों में शरण पा सकता है। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार पूर्वयुगों में भी, यहाँ तक कि सत्ययुग में भी, जीवों के लिए सिद्धि प्राप्त करना सम्भव न था, जितना कि कलियुग में है। श्रील जीव गोस्वामी ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—प्राचीन युगों में, यथा सत्ययुग में

मनुष्य पूर्णतया योग्य होते थे और वे बिना खाये-पिये या सोये हुए हजारों वर्षों तक ध्यान करते हुए कठिन से कठिन आध्यात्मिक विधियाँ सम्पन्न कर सकते थे। इस तरह यद्यपि भगवान् के नाम की शरण ग्रहण करने वाला कोई भी व्यक्ति सारी सिद्धि पा सकता है, किन्तु सत्ययुग के अत्यन्त योग्य व्यक्ति यह नहीं मानते थे कि मात्र जीभ और होंठ हिलाना अर्थात् भगवन्नाम कीर्तन करना पूर्ण विधि है और भगवान् का पवित्र नाम ही सारे ब्रह्माण्ड में एकमात्र आश्रय है, इसलिए वे ध्यान, आसन, प्राणायाम और समाधि जैसी कठिन एवं विस्तृत योग-विधियों के प्रति आकृष्ट होते थे। सत्ययुग में पापमय जीवन का नाम तक नहीं था, इसलिए उस युग के लोग कलियुग में दिखाई पड़ने वाले कर्मफलों—यथा विश्वयुद्ध, दुर्भिक्ष, प्लेग, सूखा, पागलपन इत्यादि के द्वारा पीड़ित नहीं होते थे। यद्यपि सत्ययुग में लोग भगवान् को जीवन का चरम लक्ष्य मान कर पूजते थे और दृढ़तापूर्वक *धर्म* का पालन करते थे, किन्तु वे अपने को असहाय नहीं मानते, फलत: उन्हें भगवान् के प्रति गहन प्रेम का अनुभव नहीं हो पाता।

किन्तु कलियुग में जीवन-परिस्थितियाँ इतनी असहनीय हैं, आधुनिक सरकारें इतनी घिनौनी हैं, हमारे शरीर कायिक तथा मानसिक रोग से इतने त्रस्त हैं और आत्मसंयम भी इतना कष्टकर हो चुका है कि बद्धजीव इस युग के घातक हमले से बचाव के लिए याचना करते हुए जोर से कृष्ण-कृष्ण चिल्ला उठते हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्यों को इस युग में मानव समाज में व्याप्त विरोधाभासों का प्रत्यक्ष एवं अविस्मरणीय अनुभव है, अतएव उन्हें विश्वास है कि भगवान् की कृपा के अतिरिक्त अन्य कुछ प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है। विश्व-भर में हमारे इस्कॉन केन्द्रों में अत्यन्त अद्‌भुत ढंग से भावपूर्ण कीर्तन किये जाते हैं, जिसमें सभी क्षेत्रों के पुरुष, स्त्री तथा बालक बड़े ही उत्साह से कृष्ण-नाम का कीर्तन करते हैं और आनन्दमग्न होकर नाचते हैं और वे तथाकथित जन-भूत की बिल्कुल परवाह नहीं करते। अमरीका में ओबरलिन कालेज के एक प्रोफेसर कैलीफोर्निया में स्थित एक हरे कृष्ण केन्द्र देखने आये, तो कृष्ण के पवित्र नाम के सामूहिक संकीर्तन में, भक्तों के उत्साह को देखकर चकित रह गये।

इस तरह अपनी असहाय तथा दीन अवस्था के कारण कलियुग में सारे जीवों में कृष्ण-नाम के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण की अन्त:प्रेरणा है और वे अपनी सारी आशाएँ तथा विश्वास कृष्ण-नाम पर ही केन्द्रित करते हैं। इसलिए कलियुग सर्वोत्तम युग है, क्योंकि इस युग में सत्ययुग या अन्य युगों की

अपेक्षा कहीं अधिक तीव्रता से बद्धजीव माया के राज्य से विमुख होकर कृष्ण के पवित्र नाम की शरण ग्रहण करते हैं। पूर्ण समर्पण की यह दशा *परमाम् शान्तिम्* कहलाती है।

श्रील मध्वाचार्य ने *स्वाभाव्य* नामक ग्रंथ से इस आशय का एक उद्धरण दिया है कि परम्परा-प्राप्त प्रामाणिक गुरु अपने शिष्यों की मनोवृत्ति तथा क्षमताओं को समझ सकता है और उनको उपयुक्त पूजा-विधि में लगा सकता है। इस तरह गुरु अपने शिष्यों के मार्ग के सारे अवरोधों को दूर कर देता है। सामान्य नियम यह है कि कोई भी व्यक्ति अपने वर्तमान युग में प्रकट होने वाले भगवान् के विशेष स्वरूप की पूजा करे। उसे भगवान् के उन अन्य रूपों से भी प्रेम और उनकी पूजा करनी चाहिए, जो अन्य युगों में प्रकट होते हैं। यह विशेष संस्तुति की जाती है कि समस्त प्रकार की सुरक्षा पाने के लिए नृसिंहदेव के नाम का कीर्तन किया जाय। इस्कॉन आन्दोलन में इन सारे आदेशों को व्यवहार में लाया जाता है। कृष्णभावनामृत समाज के अन्तर्गत सारे मनुष्यों, स्त्रियों तथा बच्चों को उनके स्वभाव के अनुसार भगवान् की पूजा में लगाया जाता है। इसके अतिरिक्त चैतन्य महाप्रभु के आदेशानुसार हम द्वापर युग में प्रकट हुए कृष्ण तथा बलराम की भी पूजा करते हैं, क्योंकि वे आदि भगवान् हैं। इसी तरह दशावतार स्तोत्र, *जय जगदीश हरे* का कीर्तन करके और *श्रीमद्भागवत* का पठन करके इस्कॉन के सदस्य भगवान् के समस्त स्वांशों की पूजा करते हैं। प्रत्येक आरति के पश्चात् इस आन्दोलन की रक्षा के लिए नृसिंहदेव की स्तुति की जाती है, जो मानव समाज के लिए अत्यावश्यक है।

कृतादिषु प्रजा राजन्कलाविच्छन्ति सम्भवम् ।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः ।
क्वचित्क्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः ॥ ३८॥
ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी ।
कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी ॥ ३९॥
ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर ।
प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः ॥ ४०॥

शब्दार्थ

कृत-आदिषु—सत्ययुग तथा अन्य पूर्ववर्ती युगों के; प्रजाः—निवासी; राजन्—हे राजा; कलौ—कलियुग में; इच्छन्ति—इच्छा करते हैं; सम्भवम्—जन्म; कलौ—कलियुग में; खलु—निश्चय ही; भविष्यन्ति—होंगे; नारायण-परायणाः—भगवान् नारायण की सेवा में समर्पित लोग; क्वचित् क्वचित्—इधर-उधर; महा-राज—हे महान् राजा; द्रविडेषु—दक्षिण भारत के राज्यों में; च—लेकिन; भूरिशः—विशेष रूप से अधिक मात्रा में; ताम्रपर्णी—ताम्रपर्णी नामक; नदी—नदी; यत्र—जहाँ; कृतमाला—कृतमाला; पयस्विनी—पयस्विनी; कावेरी—कावेरी; च—तथा; महा-पुण्या—अत्यन्त पवित्र; प्रतीची—प्रतीची नामक; च—

तथा; महा-नदी—महानदी; ये—जो; पिबन्ति—पीते हैं; जलम्—जल; तासाम्—उनके; मनुजाः—मनुष्यगण; मनुज-ईश्वर—हे मनुष्यों के स्वामी (निमि); प्रायः—अधिकांशतः; भक्ताः—भक्तगण; भगवति—भगवान् के; वासुदेवे—वासुदेव में; अमल-आशयाः—विमल हृदय वाले।

हे राजन्, सत्ययुग तथा उसके पूर्व के अन्य युगों के निवासी इस कलियुग में जन्म लेने की तीव्र कामना करते हैं, क्योंकि इस युग में भगवान् नारायण के अनेक भक्त होंगे। ये भक्तगण विविध लोकों में प्रकट होंगे, किन्तु दक्षिण भारत में विशेष रूप से जन्म लेंगे। हे मनुष्यों के स्वामी, कलियुग में जो व्यक्ति द्रविड़ देश की पवित्र नदियों, यथा ताम्रपर्णी, कृतमाला, पयस्विनी, अतीव पवित्र कावेरी तथा प्रतीची महानदी का जलपान करेंगे, वे सारे के सारे भगवान् वासुदेव के शुद्ध हृदय वाले भक्त होंगे।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड-भर में भूत, वर्तमान तथा भविष्य की जीवन-स्थितियों की जानकारी वेदों में मिलती है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उदाहरणार्थ, यद्यपि इस समय भारत में वसन्त ऋतु है, किन्तु हमें पता है कि इसके बाद भीषण ग्रीष्म आयेगी, तत्पश्चात् वर्षाऋतु, शरद, शिशिर, हेमन्त और पुनः वसन्त ऋतु आयेगी। इसी तरह हम यह जानते हैं कि भूतकाल में ये ऋतुएँ आती-जाती रही हैं। जिस तरह सामान्य मानव-प्राणी पृथ्वी की भूत, वर्तमान तथा भावी ऋतुओं को समझ सकते हैं, उसी तरह वैदिक संस्कृति के मुक्त अनुयायी भी पृथ्वी तथा अन्य लोकों के भूत, वर्तमान तथा भावी ऋतु-चक्रों को समझते हैं। सत्ययुग के निवासी निश्चित रूप से कलियुग की दशाओं से परिचित रहते हैं। वे जानते हैं कि कलियुग में कठिन भौतिक स्थिति जीव को भगवान् की पूर्ण शरणागति के लिए बाध्य करती है और कलियुग के निवासी अपने में उच्च कोटि का भगवत्प्रेम उत्पन्न करते हैं। इसीलिए सत्ययुग के निवासी अन्य युगों की अपेक्षा अधिक पापरहित, सत्यनिष्ठ तथा आत्मसंयमी होते हुए भी शुद्ध कृष्ण-प्रेम का आस्वादन करने के लिए कलियुग में जन्म लेना चाहते हैं।

भगवान् के भक्तों की संगति किये बिना कोई भी व्यक्ति भगवान् का उच्च भक्त नहीं बन सकता। चूँकि कलियुग में प्रतिकूल परिस्थिति के कारण अन्य वैदिक विधियाँ विफल हो जाती हैं और चूँकि भगवन्नाम कीर्तन की विधि ही हर एक के लिए एकमात्र उपलब्ध विधि बची रहती है, अतएव इस युग में असंख्य वैष्णव अथवा भगवद्भक्त होंगे। जो व्यक्ति भक्तों की संगति करने का इच्छुक रहता है, उसके लिए इस युग में जन्म लेना अत्यन्त अनुकूल होता है। निस्सन्देह कृष्णभावनामृत आन्दोलन

विश्व-भर में प्रामाणिक वैष्णव मन्दिरों की स्थापना कर रहा है, जिससे असंख्य क्षेत्रों के लोग शुद्ध वैष्णवों की संगति का लाभ उठा सकें।

भगवद्भक्तों की संगति केवल आत्मसंयमी, निष्पाप अथवा वैदिक पाण्डित्य में दक्ष व्यक्तियों की संगति से कहीं अधिक मूल्यवान है। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* (६.१४.५) में कहा गया है—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायण:।

सुदुर्लभ: प्रसन्नात्मा कोटिष्वपि महामुने॥

"हे साधु! करोड़ों मुक्तों तथा मुक्तिज्ञान में पूर्ण व्यक्तियों में शायद ही कोई एक व्यक्ति नारायण अथवा कृष्ण भक्त होता है। ऐसे भक्त जो पूर्णतया शान्त हों, अत्यन्त दुर्लभ हैं।" इसी तरह *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य २२.५४) में कहा गया है—

'साधु-संग', 'साधु-संग'—सर्वशास्त्रे कय।

लव-मात्र साधु-संगे सर्व-सिद्धि हय॥

"सभी शास्त्रों का यही निर्णय है कि शुद्ध भक्त के साथ एक क्षण की भी संगति से सारी सफलता प्राप्त की जा सकती है।"

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार इस श्लोक में आगत *क्वचित् क्वचित्* शब्द यह सूचित करते हैं कि कलियुग में श्रीकृष्ण चैतन्य नदिया जिले के गौड़ देश में प्रकट होंगे और इसी केन्द्रबिन्दु से वे ईश-प्रेम की बाढ़ को धीरे धीरे विस्तारित करेंगे, जिससे सम्पूर्ण धरती आप्लावित हो उठेगी। अनेक भक्त यथा श्री अद्वैताचार्य भी गौड़ देश में जन्म लेंगे।

कृष्ण-कीर्तन कलियुग तक ही सीमित नहीं है। *विष्णु धर्म* में क्षत्रिय-पुत्र के पतन की कथा के प्रसंग में कहा गया है कि—

न देश नियमस्तत्र न काल नियमस्तथा।

नोच्छिष्टादौ निषेधश्च श्रीहरेर्नाम्नि लुब्धक:॥

"न तो देश या काल का बन्धन है, न ही उच्छिष्ट भोजन ग्रहण करने की निषेधाज्ञा है, यदि कोई व्यक्ति श्री हरि के नाम का कीर्तन करने का लोभी हो जाय।" इसी प्रकार *स्कन्द पुराण, विष्णु धर्म* एवं

पद्म पुराण के *वैशाख माहात्म्य* में कहा गया है— *चक्रायुधस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेत्*—चक्रधारी भगवान् के नामों का सदैव एवं सर्वत्र कीर्तन करना चाहिए। इसी प्रकार *स्कन्द पुराण* में कहा गया है—

न देश कालावस्थात्मशुद्ध्यादिकम् अपेक्षते।

किन्तु स्वतन्त्रमेवैतं नाम कामितकामदम्॥

''भगवन्नाम का कीर्तन देश, काल, परिस्थिति, आत्मशुद्धि या किसी अन्य कारण से नहीं किया जाना चाहिए, प्रत्युत यह अन्य समस्त विधियों से पूर्णतया स्वतंत्र है और उन सबको इच्छित फल देने वाला है, जो उत्सुकतापूर्वक इसका उच्चारण करते हैं।'' इसी प्रकार *विष्णु धर्म* में कहा गया है—

कलौ कृतयुगं तस्य कलिस्तस्य कृते युगे।

यस्य चेतसि गोविन्दो हृदये यस्य नाच्युतः॥

''जिसके हृदय में भगवान् गोविन्द होते हैं, उसके लिए कलियुग में सत्ययुग प्रकट हो जाता है, किन्तु जिसके हृदय में अच्युत भगवान् नहीं होते उसके लिए सत्ययुग भी कलियुग बन जाता है।'' कृष्ण-नाम सर्वत्र, सदैव तथा सभी परिस्थितियों में शक्तिशाली होता है, इसलिए मनुष्य को सदा ही भगवन्नाम का कीर्तन करना चाहिए, चाहे वह कलियुग हो या सत्ययुग, स्वर्ग हो या नरक या वैकुण्ठ-लोक। कृष्णनाम कृष्ण से अभिन्न है और कृष्ण शाश्वत भगवान् हैं। इस तरह इसी युग में पवित्र नाम शक्तिशाली हो, क्योंकि अन्य विधियाँ प्रभावशाली नहीं हैं, ऐसी बात नहीं है।

श्री विष्णु पुराण में यह भी कहा गया है कि भगवन्नाम का कीर्तन करना भगवान् को ध्यान द्वारा स्मरण करने के प्रयास की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है। *श्रीमद्भागवत* (२.१.११) में शुकदेव गोस्वामी ने कहा है—

एतन्निर्विद्यमानानाम् इच्छतामकुतोभयम्।

योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्॥

''हे राजन्! महापुरुषों का अनुसरण करते हुए भगवन्नाम का कीर्तन सबों के लिए सफलता का संशयरहित तथा भयरहित मार्ग है, जिसमें समस्त भौतिक इच्छाओं से रहित, समस्त भौतिक-भोगों के इच्छुक तथा दिव्य ज्ञान से आत्मतुष्ट रहने वाले सभी सम्मिलित हैं।'' *भागवतम्* के इस श्लोक की टीका करते हुए श्रील प्रभुपाद ने लिखा है, ''श्री शुकदेव गोस्वामी के अनुसार, सफलता प्राप्त करने का

यह मार्ग एक सुस्थापित यथार्थ है, जिस पर अकेले वे ही नहीं, अपितु अन्य पूर्ववर्ती आचार्य भी पहुँचे हैं। इसलिए और अधिक साक्ष्य की आवश्यकता नहीं है।'' पाठक को भगवन्नाम कीर्तन तथा ऐसे कीर्तन के समय अपराधों से बचे रहने के विषय में जानने के लिए, प्रभुपाद द्वारा दिये गये इस श्लोक के तात्पर्य को पढ़ना चाहिए।

वैष्णवचिन्तामणि में निम्नलिखित कथन है—

अघच्छित् स्मरणं विष्णोर्बह्वआयासेन साध्यते।

ओष्ठस्पन्दनमात्रेण कीर्तनं तु ततो वरम्॥

''यद्यपि भगवान् विष्णु का स्मरण सभी पापों को नष्ट करने में समर्थ है, किन्तु यह असाधारण प्रयास के बाद ही सम्पन्न हो पाता है। दूसरी ओर, मात्र होंठ हिलाकर कृष्ण-कीर्तन किया जा सकता है और इस तरह यह विधि श्रेष्ठ है।'' श्रील जीव गोस्वामी ने निम्नलिखित श्लोक को भी उद्धृत किया है—

येन जन्मशतै पूर्वं वासुदेवः समार्चितः।

तन्मुखे हरिनामानि सदा तिष्ठन्ति भारत॥

''हे भरतवंशी! जिसने पहले वासुदेव की पूजा सैकड़ों जीवनकाल में पूर्णरूपेण की है, उसके मुख में भगवान् विष्णु के नाम सदैव उच्चरित होते रहते हैं।'' यही भाव *श्रीमद्भागवत* (३.३३.७) में श्रीमती देवहूति द्वारा अपने पुत्र कपिल से कहे गये, वचनों में व्यक्त हुआ है—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्

यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।

तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या

ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

''ओह! कितने धन्य है वे, जिनकी जीभों पर आपका पवित्र नाम रहता है। ऐसे लोग चांडालों के परिवारों में उत्पन्न होकर भी पूज्य हैं। जो लोग आपके नाम का उच्चारण करते हैं, उन्होंने सभी प्रकार के तप तथा अग्नि यज्ञ किये होंगे और आर्यों के उत्तम आचरणों को प्राप्त किया होगा। आपका पवित्र

नाम उच्चारण करते रहने के लिए, उन्होंने तीर्थस्थानों में स्नान किया होगा, वेदों का अध्ययन किया होगा और जो भी उचित रहा होगा, उसे पूरा किया होगा।''

इसलिए श्रील जीव गोस्वामी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सभी युगों में कीर्तन करना समान रूप से सम्भव है। फिर भी कलियुग में भगवान् अपनी अहैतुकी कृपा से जीवों को पवित्र नाम लेने के लिए प्रेरित करते हैं। इस तरह भक्तिविनोद ठाकुर ने भगवान् के निम्नलिखित कथन को उद्धृत किया है—

एनेचि औषधि माया नाशिबार लागिऽ।

हरि-नाम महा-मन्त्र लाओ तुमि मागिऽ॥

''माया जादूगरिनी की गोद में सोने वाले मूर्ख बद्धजीवो! मैं तुम्हारे रोग को दूर करने की एक उत्तम दवा लाया हूँ। यह दवा *हरि-नाम* है। यह मेरा पवित्र नाम है और इस दवा के खाने से तुम्हें जीवन में सारी सिद्धि मिल सकेगी। इसलिए मेरा अनुरोध है कि इस दवा को ग्रहण करो, जो मैं तुम्हारे लिए स्वयं लाया हूँ।''

इस अध्याय के श्लोक ३२ में कहा गया था—*यज्ञै सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधस:।* श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *सङ्कीर्तनप्रायै,* जिसका अर्थ ''मुख्यत: संकीर्तन द्वारा'' है, शब्दों से यह इंगित होता है कि यद्यपि कलियुग में अर्चाविग्रह पूजा जैसी अन्य विधियाँ कुछ सीमा तक अपनाई जा सकती हैं, किन्तु इन्हें सफल बनाने के लिए भगवन्नाम कीर्तन से जोड़ा जाना चाहिए। जो व्यक्ति कृष्ण-अर्चाविग्रह की पूजा करता हो, उसे यह जानना चाहिए कि इस अर्चापूजा का मुख्य अंश भगवन्नाम का निरन्तर कीर्तन करना है। दूसरी ओर, जिस व्यक्ति ने ठीक से भगवन्नाम कीर्तन किया है, उसे अन्य विधियों पर आश्रित रहने की आवश्यकता नहीं रह जाती, जैसाकि इस सुप्रसिद्ध मंत्र में कहा गया है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

''इस कलियुग में आध्यात्मिक उन्नति के लिए भगवान् के पवित्र नाम के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं है, नहीं है, नहीं है।'' (बृहन्नारदीय पुराण ३८.१२६) जैसाकि इन सारे साक्ष्यों से सिद्ध होता है, *भागवत* का यह कथन (*कलिं सभाजयन्त्यार्या:*) कि कलियुग में भगवान् द्वारा सुविधाएँ प्रदान करने के कारण ही आर्यगण पूजा करते हैं, तनिक भी विरुद्ध नहीं है।

इस अध्याय के ४०वें श्लोक के अन्त में कहा गया है *प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः*—सामान्य रूप से जो लोग दक्षिण भारत की पवित्र नदियों के जल का नियमित पान कर पाते हैं, वे भगवान् वासुदेव के शुद्ध हृदय वाले भक्त होंगे। *प्रायः* अर्थात् "सामान्यतः" सूचित करता है कि जो लोग भगवान् के भक्तों का अपमान करते हैं, वे भले ही अपने को भक्त कहें, किन्तु उनकी गणना *अमलाशयों* अर्थात् शुद्ध हृदय वालों में नहीं की जाती। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि लोगों को दक्षिण भारत के निवासियों की बाहरी दरिद्रता देखकर मोहग्रस्त नहीं होना चाहिए। इस श्लोक में उल्लिखित स्थानों के लोग आज भी बहुत कम भोजन तथा वस्त्र से गुजारा करते हैं और भगवान् के महान् विरक्त भक्तों के रूप में रहते हैं। दूसरे शब्दों में, वस्त्रों से मनुष्य बड़ा नहीं बनता। अपने को खूब सजा-धजाकर परिष्कृत पशु की तरह जीवन बिताना और अच्छा भोजन करके जीभ को धन्य करना, उच्च अध्यात्मवादी का असली लक्षण नहीं है। यद्यपि दक्षिण भारत के लोग सामान्यतया श्री वैष्णव हैं अथवा लक्ष्मी सम्प्रदाय के भक्त हैं, किन्तु चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी उन्हें भगवद्भक्त मानते हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार इन लोगों के तपस्वी जीवन को सुयोग्यता मानना चाहिए, अयोग्यता नहीं।

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां
न किङ्करो नायमृणी च राजन् ।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

देव—देवताओं के; ऋषि—ऋषियों के; भूत—सामान्य जीवों के; आप्त—मित्रों तथा सम्बन्धियों के; नृणाम्—सामान्य लोगों के; पितृणाम्—पूर्वजों के; न—नहीं; किङ्करः—सेवक; न—न तो; अयम्—यह; ऋणी—कर्जदार; च—भी; राजन्—हे राजा; सर्व-आत्मना—अपने पूरे मन से; यः—जो व्यक्ति; शरणम्—शरण; शरण्यम्—सबों को शरण देने वाला, भगवान्; गतः—पास आया हुआ; मुकुन्दम्—मुकुन्द को; परिहृत्य—त्याग कर; कर्तम्—कर्तव्य।

हे राजन्, जिस व्यक्ति ने सारे भौतिक कार्यों को त्याग कर उन मुकुन्द के चरणकमलों में पूरी तरह शरण ले रखी है, जो सबों को आश्रय देते हैं, ऐसा व्यक्ति देवताओं, ऋषियों, सामान्य जीवों, सम्बन्धियों, मित्रों, मनुष्यों या दिवंगत हो चुके पितरों का ऋणी नहीं रहता। चूँकि इन सभी श्रेणियों के जीव भगवान् के ही भिन्नांश हैं, अतः जिसने भगवान् की सेवा में अपने को

समर्पित कर दिया है, उसे ऐसे व्यक्तियों की अलग से सेवा करने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

तात्पर्य : जिस व्यक्ति ने भगवान् की भक्ति में अपने को पूरी तरह से समर्पित नहीं किया है, उसे निस्सन्देह अनेक भौतिक कार्य करने पड़ते हैं। प्रत्येक बद्धजीव को उन देवताओं से असंख्य लाभ प्राप्त होते रहते हैं, जो धूप तथा चाँदनी, वर्षा, वायु, भोजन तथा उसका शरीर तक प्रदान करने वाले हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है *स्तेन एव स:*—जो व्यक्ति देवताओं को बलि नहीं चढ़ाता वह *स्तेन* अर्थात् चोर है। इसी प्रकार अन्य जीव, यथा गौवें हमें असंख्य सुस्वादु तथा पौष्टिक भोजन सामग्री प्रदान करती हैं। प्रात:काल जब हम जागते हैं; पक्षियों के मधुर संगीत से हमारा मन ताजा हो उठता है और गर्म दिन में जंगल के वृक्षों की शीतल छाया तथा मंद वायु का हम आनन्द उठाते हैं। हम असंख्य जीवों की सेवा स्वीकार करते हैं और उन्हें प्रतिदान करने के लिए हम बाध्य हैं। *आप्त* का अर्थ है अपने परिवार के सदस्य, जिनके प्रति मनुष्य को सामान्य नैतिकता के अनुसार ऋणी होना पड़ता है तथा *नृणाम्* का अर्थ है मानव समाज। जब तक कोई व्यक्ति भगवान् का भक्त नहीं बन जाता, तब तक वह अपने समाज की ही उपज होता है। हम जिस समाज में रहते हैं, उसी से संसारी शिक्षा, संस्कृति, परम्परा तथा सुरक्षा प्राप्त करते हैं। वस्तुत: समाज के प्रति हमारा ऋण न केवल वर्तमान व्यवस्था के प्रति है, अपितु उन अपने सारे पूर्वजों तथा बाप-दादों के प्रति भी हम ऋणी हैं, जिन्होंने सावधानी से नैतिक तथा सामाजिक रीति-रिवाजों को बनाये रखा, जिससे उनके वंशज हम शान्तिमय जीवन बिता सकें। इसलिए *पितृणाम्* शब्द अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ियों के प्रति हमार ऊपर ऋण का सूचक है।

वस्तुत: कभी कभी भौतिकतावादी लोग कृष्णभावनामृत समाज के सदस्यों की आलोचना यह कह कर करते हैं कि वे उपर्युक्त ऋणों को न निभाकर कृष्ण पर अधिक ध्यान देते हैं। इसके उत्तर में *भागवत* का (४.३१.१४) कथन है—*यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखा:।* यदि वृक्ष की जड़ों को सींचा जाय, तो सभी शाखाएँ, पत्तियाँ स्वयमेव ही *पोषित* होती रहती हैं। उन्हें अलग से सींचने की कोई आवश्यकता नहीं है, न ही इसका प्रभाव पड़ेगा। जल को जड़ों में ही डालना होगा। इसी तरह *प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणाम्*—भोजन को आमाशय में जाना चाहिए, जहाँ से वह शरीर के सभी अंगों में स्वत: वितरित होता है। सभी अंगों पर भोजन मल कर सारे शरीर को पोषित करना

मूर्खता होगी। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण सारे जगत के उद्गम हैं। हर वस्तु उनसे उद्भूत होती है, उन्हीं के द्वारा पालित होती है और अन्त में उन्हीं में विलीन हो जाएगी। भगवान् कृष्ण सारे जीवों के परम हितैषी, मित्र, रक्षक तथा शुभचिन्तक हैं। यदि वे प्रसन्न हो जाते हैं, तो सारा संसार अपने आप प्रसन्न हो उठता है, जिस तरह आमाशय में भोजन पहुँचने पर शरीर के सारे अंग बलवान् एवं पुष्ट हो जाते हैं।

यहाँ उस व्यक्ति का उदाहरण दिया जा सकता है, जो किसी बड़े राजा का निजी सचिव होने पर क्षुद्र राजाओं के प्रति किसी तरह ऋणी नहीं होता। सामान्य व्यक्ति के लिए इस भौतिक जगत में अनेक दयित्व हैं। किन्तु *भगवद्गीता* के अनुसार *मयैव विहितान् हि तान्*—वास्तव में परमेश्वर ही सारे वर देता है। उदाहरणार्थ, मनुष्य को अपना शरीर अपने माता-पिता की कृपा से मिलता है। किन्तु कभी कभी किसी विशेष समय पर पुरुष या स्त्री नपुंसक या बाँझ हो सकते हैं। कभी कभी विकृत शिशु जन्म लेता है और कभी शिशु मृत पैदा होता है। कभी कभी संभोग करने पर भी संतति उत्पन्न ही नहीं होती। अतएव यद्यपि सारे ही माता-पिता सुन्दर तथा योग्य शिशु चाहते हैं, किन्तु प्राय: ऐसा नहीं हो पाता। अत: यह समझा जा सकता है कि अन्ततोगत्वा यह परमेश्वर की कृपा पर निर्भर करता है कि पुरुष तथा स्त्री संभोग द्वारा शिशु उत्पन्न कर पाते हैं। भगवान् की कृपा होने पर ही मनुष्य का वीर्य और स्त्री का रज उर्वर बनते हैं। इसी तरह भगवान् की ही दया से स्वस्थ शिशु उत्पन्न होता है और शारीरिक स्वस्थता प्राप्त करके अपना जीवन-निर्वाह करता है। यदि मानव-विकास की किसी भी अवस्था में भगवान् की कृपा न रहे, तो आकस्मिक मृत्यु या अपंगता हो सकती है।

देवता भी स्वतंत्र नहीं हैं। *परिहृत्य कर्तम्* अर्थात् ''अन्य कर्तव्यों को त्याग कर'' सूचित करता है कि ऐसी कोई भी धारणा त्यागनी होगी कि देवतागण कृष्ण से विलग हैं। वैदिक वाङ्मय में स्पष्ट कहा गया है कि देवतागण भगवान् के विराट शरीर के विभिन्न अंग हैं। यही नहीं, *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् हर एक के हृदय में स्थित हैं और वे ही बुद्धि तथा स्मृति प्रदान करने वाले हैं। इस तरह हमारे पूर्वज, जिन्होंने सावधानी के साथ सांस्कृतिक परम्पराओं को सुरक्षित रखा है, परमेश्वर द्वारा प्रदत्त बुद्धि से कार्य करते रहे हैं। वे अपनी स्वतंत्र बुद्धि से कार्य नहीं कर रहे थे। कोई भी व्यक्ति मस्तिष्क के बिना बुद्धिमान नहीं हो सकता और यह तो कृष्ण की कृपा है कि हमें मनुष्य का मस्तिष्क मिला है। इसलिए यदि हम सावधानी के साथ विभिन्न श्रेणी के जीवों के प्रति अपने ऋणों का विश्लेषण करें, तो

हम पायेंगे कि अन्ततः भगवान् की दया से ही हमें जीवन में कोई वर प्राप्त होता है। इस तरह यद्यपि सामान्य व्यक्ति को उन लोगों को प्रसन्न करने के लिए, जिन्होंने उसे लाभ पहुँचाया है, विभिन्न प्रकार के त्यागों तथा दान-कार्यों द्वारा अपने ऋण चुकाने होते हैं, किन्तु जो व्यक्ति सीधे भगवान् कृष्ण की सेवा करता है, वह ऐसे सारे ऋणों को तुरन्त चुकता कर देता है, क्योंकि सारे वर उसे परिवार, पूर्वजों, देवताओं इत्यादि के माध्यम से भगवान् से ही मिले होते हैं।

यहाँ पर एक उदाहरण दिया जा सकता है, जिसमें कभी कभी राज्य सरकार को केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये गये लाभांश को वितरित करना होता है। इस तरह जो व्यक्ति केन्द्रीय सरकार के मुख्य प्रशासक का निजी सचिव या मंत्री बन जाता है, उसे राज्य सरकार के कम महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधियों का ऋणी नहीं बनना होता। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* (११.२०.९) में कहा गया है—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।

मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

"जब तक मनुष्य भगवान् के श्रवण तथा कीर्तन द्वारा भक्ति के प्रति रुचि उत्पन्न नहीं कर लेता और सकाम कर्म से तृप्त नहीं हो जाता, तब तक उसे वैदिक आदेशों के अनुसार कर्म करना पड़ता है।" निष्कर्ष यह निकला कि जिसने भगवान् की भक्ति में अपने को पूरी तरह समर्पित कर दिया है, वह उच्च कोटि का मनुष्य है।

सामान्यतया लोग देवताओं, पारिवारिकजनों तथा समाज से वर प्राप्त करने के इच्छुक रहते हैं, क्योंकि ऐसे वर भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति के पोषक होते हैं। अल्पज्ञ तो ऐसी भौतिक उन्नति को ही जीवन-लक्ष्य मान बैठते हैं, अतएव शुद्ध भगवद्भक्ति का उच्च पद उनकी समझ में नहीं आता। *भक्तियोग* भगवान् की इन्द्रियों को प्रसन्न करने के निमित्त है। ईर्ष्यालु भौतिकतावादी लोग अनेक प्रकार के तर्क देकर इसका निषेध करते हैं कि भगवान् के दिव्य इन्द्रियाँ भी हैं। किन्तु भक्तगण भगवान् के अचिन्त्य सौन्दर्य, बल, वैभव तथा रमणीयता के बारे में किसी प्रकार का सन्देह करके समय नष्ट नहीं करते, अपितु प्रेमाभक्ति द्वारा उनकी इन्द्रियों को प्रसन्न करते हैं और इस तरह भगवद्धाम वापस जाने का परम वर प्राप्त करते हैं। भक्तगण भगवद्धाम वापस जाते हैं, जहाँ का जीवन सच्चिदानन्द स्वरूप है। कोई देवता, पारिवारिकजन अथवा पूर्वज किसी को सच्चिदानन्द स्वरूप जीवन प्रदान नहीं कर सकता।

किन्तु यदि कोई मूर्खतावश भगवान् के चरणकमलों की उपेक्षा करके नश्वर भौतिक शरीर को ही सबकुछ मान बैठता है, तो ऊपर कहे गये ऋणों से उऋण होने के लिए उसे महान् यज्ञ, तप तथा दान करने पड़ते हैं। अन्यथा वह भौतिक दृष्टिकोण से भी पूर्णत: पापी तथा निन्दनीय बन जाता है।

स्वपादमूलम्भजत: प्रियस्य
त्यक्तान्यभावस्य हरि: परेश: ।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्ट: ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

स्व-पाद-मूलम्—भक्तों के शरण, कृष्ण के चरणकमल; भजत:—पूजा में लगा हुआ; प्रियस्य—कृष्ण को अत्यन्त प्रिय; त्यक्त—त्यागा हुआ; अन्य—दूसरों के लिए; भावस्य—स्वभाव वाले का; हरि:—भगवान्; पर-ईश:—भगवान्; विकर्म—पापकर्म; यत्—जो भी; च—तथा; उत्पतितम्—घटित; कथञ्चित्—जैसे-तैसे; धुनोति—हटाता है; सर्वम्—समस्त; हृदि—हृदय में; सन्निविष्ट:—प्रविष्ट।

जिस मनुष्य ने अन्य सारे कार्यकलापों को त्याग कर भगवान् हरि के चरणकमलों की पूर्ण शरण ग्रहण कर ली है, वह भगवान् को अत्यन्त प्रिय है। निस्संदेह यदि ऐसा शरणागत जीव संयोगवश कोई पापकर्म कर भी बैठे है, तो प्रत्येक हृदय के भीतर स्थित भगवान्, तुरन्त ही ऐसे पाप के फल को समाप्त कर देते हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् के पूर्ण-शरणागत भक्त को सामान्य सांसारिक कर्म करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। अब इस श्लोक में यह प्रकट किया गया है कि भक्ति इतनी शुद्ध तथा शक्तिशाली होती है कि भगवद्भक्त को किसी अन्य प्रकार की शुद्धि नहीं करनी होती। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के छठे स्कंध में कहा गया है, शरणागत भक्त से सहसा पापकर्म हो जाने पर *प्रायश्चित्त* करने की आवश्यकता नहीं होती। चूँकि भक्ति स्वयं ही अत्यन्त शुद्धिकारी है, अतएव संयोगवश मार्ग से च्युत हुए भक्त को तुरन्त ही भगवान् के चरणकमलों की भक्ति पुन: चालू कर देनी चाहिए। इस तरह भगवान् उसको बचायेंगे, जैसाकि *भगवद्गीता* (९.३०) में कहा गया है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्य: सम्यग्व्यवसितो हि स: ॥

प्रस्तुत श्लोक में *त्यक्तान्यभावस्य* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है शुद्ध भक्त जानता रहता है कि ब्रह्मा तथा शिव समेत सारे जीव भगवान् के भिन्नांश हैं, अतएव उनका

कोई पृथक् या स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। यह अनुभव करते हुए कि प्रत्येक वस्तु एवं प्रत्येक जीव भगवान् का भिन्नांश है, भक्त ईश्वर के आदेश का अतिक्रमण करके पापकर्म करने के प्रति उन्मुख नहीं होता। किन्तु भौतिक प्रकृति के प्रबल प्रभाव के कारण निष्ठावान भक्त भी क्षण-भर के लिए मोहग्रस्त हो सकता है और शुद्ध भक्ति के मार्ग से विचलित हो सकता है। ऐसी अवस्था में भगवान् कृष्ण स्वयं ही हृदय के भीतर से कार्य करते हुए ऐसे पापकर्मों को दूर कर देते हैं। यहाँ तक कि यमराज भी ऐसे शरणागत भक्त को, जिसने संयोगवश कोई पापकर्म किया हो दण्ड नहीं दे सकता। जैसाकि यहाँ पर कहा गया है कृष्ण *परेश* हैं, अत: देवता जैसे गौण स्वामी भगवान् के निजी भक्तों को डरा-धमका नहीं सकते। अजामिल अपनी युवावस्था में भगवान् की सेवा में लगा रहने वाला पवित्र ब्राह्मण था। तत्पश्चात्, वेश्या की कुसंगति से वह संसार का अत्यन्त अधम व्यक्ति बन गया। उसके जीवन के अन्त समय मैं यमराज ने अपने दूतों को पापी अजामिल की आत्मा को घसीट लाने के लिए भेजा, किन्तु भगवान् ने तुरन्त ही अजामिल को बचाने तथा यमराज को यह दिखाने के लिए कि कोई भी गौण व्यक्ति भगवान् के निजी भक्तों को सता नहीं सकता, तुरन्त ही अपने निजी दूतों को भेजा। *भगवद्गीता* में कहा गया है—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति*।

यह तर्क किया जा सकता है कि *स्मृति-शास्त्र* का तो कहना है—*श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे*—वैदिक शास्त्र भगवान् के प्रत्यक्ष आदेश हैं। इसलिए यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि भगवान् को यह कैसे सहन हो सकता है कि यदा-कदा उनके आदेशों की उपेक्षा उनके भक्त भी करें? इस आक्षेप का उत्तर देने के लिए ही इस श्लोक में *प्रियस्य* शब्द का प्रयोग हुआ है। भगवान् के भक्त भगवान् को अत्यन्त प्रिय होते हैं। यद्यपि प्यारा शिशु संयोगवश कोई निन्दनीय कार्य कर सकता है, किन्तु प्रेमी पिता उस शिशु के वास्तविक मनोभावों को ध्यान में रखते हुए, उसे क्षमा कर देता है। इस तरह भगवद्भक्त कभी अपने भावी कष्ट को दूर करने के लिए भगवान् से प्रार्थना नहीं करता, किन्तु भगवान् अपनी ओर से भक्त के आकस्मिक पतन के फल से उसे मुक्त कर देते हैं।

अपने भक्त पर भगवान् की यह अहैतुकी कृपा उनका *परमैश्वर्यम्* है। श्रद्धावान् भक्त क्रमश: आकस्मिक पतन से भी मुक्त हो जाता है, क्योंकि भगवान् के चरणकमलों के स्मरण मात्र से उसका हृदय शुद्ध हो जाता है, भगवान् की वास्तविक भक्ति का तो कहना ही क्या? यद्यपि भगवान् के

शरणागत भक्त कभी कभी भौतिक प्रवृत्तियों से प्रभावित प्रतीत होते हैं, किन्तु कृपालु ईश्वर उनकी सदैव रक्षा करते हैं और जीवन में उनकी कभी पराजय नहीं होती।

श्रीनारद उवाच
धर्मान्भागवतानित्थं श्रुत्वाथ मिथिलेश्वरः ।
जायन्तेयान्मुनीन्प्रीतः सोपाध्यायो ह्यपूजयत् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; धर्मान् भागवतान्—भगवान् की भक्ति का विज्ञान; इत्थम्—इस प्रकार से; श्रुत्वा—सुन कर; अथ—तब; मिथिला-ईश्वरः—मिथिला राज्य के स्वामी, राजा निमि ने; जायन्तेयान्—जयन्ती के पुत्रों को; मुनीन्—मुनियों को; प्रीतः—प्रसन्न होकर; स-उपाध्यायः—पुरोहितों सहित; हि—निस्सन्देह; अपूजयत्—पूजा की।

नारद मुनि ने कहा : इस तरह भक्तियोग की बातें सुनकर मिथिला के राजा निमि अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और अपने यज्ञ-पुरोहितों सहित जयन्ती के मेधावी पुत्रों का सत्कार किया।

तात्पर्य : *जायन्तेयान* नव-योगेन्द्रों का द्योतक है, जो ऋषभदेव की पत्नी जयन्ती के गर्भ से उत्पन्न हुए थे।

ततोऽन्तर्दधिरे सिद्धाः सर्वलोकस्य पश्यतः ।
राजा धर्मानुपातिष्ठन्नवाप परमां गतिम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; अन्तर्दधिरे—अन्तर्धान हो गये; सिद्धाः—कवि इत्यादि मुनिगण; सर्व-लोकस्य—वहाँ पर उपस्थित सबों के; पश्यतः—देखते देखते; राजा—राजा; धर्मान्—आध्यात्मिक जीवन के इन नियमों को; उपातिष्ठन्—श्रद्धापूर्वक पालन करते हुए; अवाप—प्राप्त किया; परमाम्—परम; गतिम्—लक्ष्य।

तब वे सिद्ध मुनिगण वहाँ पर उपस्थित सबों की आँखों के सामने से अदृश्य हो गये। राजा निमि ने उनसे सीखे गये आध्यात्मिक जीवन के नियमों का श्रद्धापूर्वक अभ्यास किया और इस तरह जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त किया।

त्वमप्येतान्महाभाग धर्मान्भागवताञ्श्रुतान् ।
आस्थितः श्रद्धया युक्तो निःसङ्गो यास्यसे परम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम (वसुदेव); अपि—भी; एतान्—इन; महा-भाग—हे परम भाग्यशाली; धर्मान्—नियमों को; भागवतान्—भक्ति के; श्रुतान्—सुने हुए; आस्थितः—को प्राप्त; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; युक्तः—समन्वित; निःसङ्गः—भौतिक संगति से मुक्त; यास्यसे—जाओगे; परम्—परम को।

हे परम भाग्यशाली वसुदेव, आपने भक्ति के जिन नियमों को सुना है, उनका श्रद्धापूर्वक व्यवहार करें और इस तरह भौतिक संगति से छूट कर, आप परम पुरुष को प्राप्त होंगे।

तात्पर्य : नारद मुनि ने कृष्ण को पिता वसुदेव से राजा निमि के ज्ञान प्राप्त करने की पूरी कथा कही। अब नारद मुनि यह रहस्योद्घाटन करते हैं कि स्वयं वसुदेव भी नौ योगेन्द्रों द्वारा बहुत समय पहले बताये गये उन्हीं सिद्धान्तों का अभ्यास करने पर परम सिद्धि प्राप्त कर सकेंगे। वस्तुतः वसुदेव पहले से ही भगवान् के निजी संगी थे, किन्तु महाभागवत के रूप में अपनी सहज विनयशीलता के कारण उन्होंने कृष्ण के प्रति अपने प्रेम को परिपूर्ण बनाने का निश्चय किया था। इस तरह हम भगवान् के माता-पिता के उच्च पद को समझ सकते हैं।

सामान्य लोग अनुभव करते हैं कि भगवान् की पूजा सदैव परम पिता के रूप में की जाती है, जो जीवों को हर वस्तु प्रदान करता है। ऐसा मनोभाव भगवत्प्रेम की सिद्धि नहीं है, क्योंकि जब पुत्र छोटा होता है, तो वह अपने माता-पिता की अधिक सेवा नहीं कर पाता। जब बालक छोटा रहता है, तो माता-पिता ही उसकी निरन्तर सेवा करते हैं। अतएव जब कोई भक्त कृष्ण के माता या पिता की भूमिका निभाता है, तो उस भगवान् की, जिसे कोई भक्त भाव में आकर अपने पुत्र-रूप में स्वीकार करता है, सेवा करने का असीम अवसर प्राप्त होता है। यह तो वसुदेव का सौभाग्य था कि नारद मुनि ने स्वयं ही राजा निमि को बहुत काल पूर्व नवयोगेन्द्रों द्वारा दी गई अद्‌भुत शिक्षाएँ, उनके समक्ष प्रस्तुत कीं।

युवयोः खलु दम्पत्योर्यशसा पूरितं जगत् ।
पुत्रतामगमद्यद्वां भगवानीश्वरो हरिः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

युवयोः—तुम दोनों के; खलु—निस्सन्देह; दम्-पत्योः—पति-पत्नी के; यशसा—यश से; पूरितम्—पूर्ण हो गयी है; जगत्—पृथ्वी; पुत्रताम्—पुत्र का स्थान; अगमत्—धारण की हुई; यत्—क्योंकि; वाम्—तुम्हारा; भगवान्—भगवान्; ईश्वरः—परमेश्वर; हरिः—हरि।

निस्सन्देह, सारा संसार आप तथा आपकी पत्नी के यश से भरा-पुरा हो चुका है, क्योंकि भगवान् हरि ने आपके पुत्र का स्थान अपनाया है।

तात्पर्य : इस श्लोक में नारद मुनि *यशसा पूरितं जगत्* कह कर कृष्ण तथा बलराम के माता-पिता वसुदेव-देवकी के यश की ओर संकेत करते हैं। दूसरे शब्दों में, यद्यपि वसुदेव ने नारद से आध्यात्मिक

प्रगति के विषय में पूछा था, किन्तु नारद मुनि यहाँ पर बतलाते हैं, "आप पहले से पूर्ण यशस्वी हैं, क्योंकि आप भगवान् के प्रति असाधारण भक्ति रखते हैं।"

दर्शनालिङ्गनालापैः शयनासनभोजनैः ।
आत्मा वां पावितः कृष्णे पुत्रस्नेहं प्रकुर्वतोः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

दर्शन—देखने से; आलिङ्गन—आलिंगन करने से; आलापैः—तथा बातें करने से; शयन—सोने में; आसन—बैठने; भोजनैः—तथा भोजन करने से; आत्मा—हृदय; वाम्—तुम दोनों के; पावितः—शुद्ध हो चुके हैं; कृष्णे—भगवान् कृष्ण के लिए; पुत्र-स्नेहम्—पुत्र के प्रति स्नेह; प्रकुर्वतोः—प्रकट करने वाले।

हे वसुदेव, आप तथा आपकी उत्तम पत्नी देवकी ने कृष्ण को अपने पुत्र रूप में स्वीकार करके उनके प्रति महान् दिव्य प्रेम दर्शाया है। निस्सन्देह आप दोनों भगवान् का सदैव दर्शन तथा आलिंगन करते रहे हैं, उनसे बातें करते रहे हैं, उनके साथ विश्राम करते तथा उठते-बैठते तथा उनके साथ अपना भोजन करते रहे हैं। भगवान् के साथ ऐसे स्नेहपूर्ण तथा घनिष्ठ संग से आप दोनों ने अपने हृदयों को पूरी तरह शुद्ध बना लिया है। दूसरे शब्दों में, आप दोनों पहले से पूर्ण हो।

तात्पर्य : इस श्लोक में *आत्मा वां पावितः* शब्द अत्यन्त सार्थक हैं। सामान्य बद्धजीवों को भक्तियोग के विधानों का अभ्यास करके तथा यह सीखकर कि भगवान् की सेवा में अपने सारे कर्मों को किस तरह अर्पित किया जाता है, अपने शरीर को शुद्ध करना पड़ता है। किन्तु जो महापुरुष भगवान् की सेवा उनके माता-पिता, सखा, सखी, सलाहकार, पुत्र इत्यादि के रूप में करते हैं, उन पर यह नियामक क्रमिक विधि लागू नहीं की जा सकती। कृष्ण के प्रति अपने पुत्र रूप में वसुदेव तथा देवकी के गहन प्रेम के कारण उन्होंने पहले ही जीवन की सर्वोच्च सिद्धावस्था प्राप्त कर ली थी। यद्यपि पिछले श्लोक में नारद मुनि ने वसुदेव को सूचित किया था कि वे तथा उनकी पत्नी कृष्ण को पुत्र रूप में जन्म देने से यशस्वी बन चुके हैं, किन्तु वसुदेव यह तर्क कर सकते थे कि भगवान् के अन्य निजी संगी, यथा जय तथा विजय ब्राह्मण वर्ग का अपमान करने के कारण नीचे गिर गए थे। इसीलिए नारद ने इस श्लोक में *पावितः* शब्द का प्रयोग किया है, "आप पूर्णतया शुद्ध हैं अतएव कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेम होने से अपनी भक्ति में रंचमात्र भी त्रुटि से पूर्णतया मुक्त हैं।"

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका से यह जाना जाता है कि कृष्ण के लीला-पिता श्री वसुदेव वास्तव में भगवान् के *नित्य-सिद्ध* संगी हैं। वसुदेव का शरीर कृष्ण की ही तरह आध्यात्मिक है और वे अपने सुन्दर पुत्र श्रीकृष्ण की सेवा करने के लिए भावमग्न रहते हैं। किन्तु नारद यह जान गये कि वसुदेव अतीव विनयशीलता के कारण अपने को सामान्य व्यक्ति मान रहे हैं और भगवद्भक्ति के विषय में दिव्य उपदेश सुनने के लिए उत्सुक हैं। वसुदेव की भावमयी विनयशीलता को स्वीकार करते हुए एवं उन्हें चिन्तामुक्त करने के लिए श्री नारद ने उन्हें *भक्तियोग* के विषय में, वैसे ही उपदेश दिये, जैसे कि किसी सामान्य व्यक्ति को दिये जाते हैं। किन्तु साथ ही नारद ने यह स्पष्ट कर दिया कि श्री वसुदेव तथा देवकी पहले से यशस्वी हैं, क्योंकि सौभाग्य से उन्हें कृष्ण तथा बलराम जैसे पुत्र प्राप्त हैं। इसीलिए वसुदेव से नारद कह रहे हैं, "हे वसुदेव! आप अपने पद के बारे में किसी तरह भी निरुत्साहित या सशंक मत होएँ। निस्सन्देह, आप शीघ्र ही भगवद्धाम जाने वाले हैं। वस्तुतः आप तथा आपकी पत्नी सर्वाधिक भाग्यशाली हैं।"

निष्कर्ष यह है कि हर एक को अपना सुसुप्त कृष्ण-प्रेम जागृत करके भाग्यशाली बनना चाहिए। ऐसे अनेक भयानक असुरों ने, जिन्होंने कृष्ण का विरोध किया, उनकी संगति से अंततः सुखमय जीवन प्राप्त किया। अतएव, जो भक्त रात-दिन कृष्ण को ही प्रसन्न करने की सोचते रहते हैं, उन्हें परमानन्द की प्राप्ति में कोई सन्देह नहीं है।

वैरेण यं नृपतयः शिशुपालपौण्ड्र-
शाल्वादयो गतिविलासविलोकनाद्यैः ।
ध्यायन्त आकृतधियः शयनासनादौ
तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

वैरेण—ईर्ष्या से; यम्—जिस (कृष्ण) को; नृ-पतयः—राजागण; शिशुपाल-पौण्ड्र-शाल्व-आदयः—शिशुपाल, पौण्ड्रक, शाल्व इत्यादि की तरह.; गति—उनकी गतिविधियों; विलास—क्रीड़ा; विलोकन—चितवन; आद्यैः—इत्यादि से; ध्यायन्तः—ध्यान करते हुए; आकृत—स्थिर; धियः—जिनके मन; शयन—सोते; आसन-आदौ—बैठते इत्यादि में; तत्-साम्यम्—उन्हीं जैसा पद (वैकुण्ठ में स्थान); आपुः—प्राप्त किया; अनुरक्त-धियाम्—जिनके मन अनुकूल ढंग से अनुरक्त हैं; पुनः किम्—तुलना में और क्या कहा जाय।

शिशुपाल, पौण्ड्रक तथा शाल्व जैसे विरोधी राजा, भगवान् कृष्ण के विषय में निरन्तर सोचते रहते थे। सोते, बैठते या अन्य कार्य करते हुए भी वे भगवान् के चलने-फिरने, उनकी

क्रीड़ाओं, भक्तों पर उनकी प्रेमपूर्ण चितवन तथा उनके द्वारा प्रदर्शित अन्य आकर्षक स्वरूपों के विषय में ईर्ष्याभाव से ध्यान करते रहते थे। इस तरह कृष्ण में सदैव लीन रह कर, उन्होंने भगवान् के धाम में मुक्ति प्राप्त की। तो फिर उन लोगों को दिये जाने वाले वरों के विषय में क्या कहा जाय, जो अनुकूल प्रेमभाव से निरन्तर भगवान् कृष्ण पर ही अपने मन को एकाग्र रखते हैं?

तात्पर्य : इस जगत से भगवान् कृष्ण के अन्तर्धान होते समय वसुदेव यह सोचकर शोकसन्तप्त थे कि उन्होंने भगवान् की उपस्थिति का समुचित लाभ उठाकर अपने को पूर्णतया कृष्णभावनाभावित क्यों नहीं किया। किन्तु नारद मुनि ने श्री वसुदेव को आश्वस्त किया कि वसुदेव तथा उनकी पत्नी देवकी के यश का पूरे ब्रह्माण्ड में कीर्तन हो रहा है, क्योंकि देवता तक भगवान् के माता-पिता के उच्च पद की पूजा करते हैं। वसुदेव न केवल अपने आध्यात्मिक पद के लिए चिन्तित थे, अपितु यदुवंश के लिए भी शोकसंतप्त थे, जो नारद जैसे महान् ब्राह्मण के शाप से भ्रातृ-युद्ध में बुरी तरह से इस जगत से लुप्त होने जा रहा था। यद्यपि यदुवंश के सदस्य कृष्ण के निजी संगी थे, किन्तु उनका विनाश एक तरह से अशुभ था, इसलिए वसुदेव उनकी अन्तिम गति के विषय में चिन्तित थे। इसीलिए यहाँ पर नारद उन्हें आश्वस्त कर रहे हैं कि कृष्ण का विरोध करने वाले शिशुपाल, पौण्ड्रक तथा शाल्व जैसे असुरों को भगवद्धाम की प्राप्ति हुई, क्योंकि वे लोग कृष्ण के विषय में निरन्तर सोचते रहते थे। अतएव यदुवंश के सम्मानित सदस्यों के विषय में क्या कहा जा सकता है, जो कृष्ण से अत्यधिक प्रेम करते थे (*अनुरक्तधियांपुन: किम्*) ? इसी प्रकार *गरुड़ पुराण* में कहा गया है—

अज्ञानिन: सुरवरं समधिक्षिपन्तो

यं पापिनोऽपि शिशुपालसुयोधनाद्या:।

मुक्तिं गता: स्मरणमात्र विधूतपापा:

क: संशय: परमभक्तिमतां जनानाम्॥

''शिशुपाल तथा दुर्योधन जैसे मूर्ख पापी, जो कृष्ण को गाली देते थे, भगवान् कृष्ण का स्मरण करने मात्र से समस्त पापों से छूट गये। उनके मन किसी न किसी तरह कृष्ण में लीन रहते थे, फलत: उन्होंने मुक्ति प्राप्त की। तो फिर उनकी गति के विषय में क्या संशय है, जो भगवद्भक्ति से सदैव अभिभूत रहते हैं?''

वसुदेव को भी उलझन मालूम हो रही थी, क्योंकि एक ओर वे इस तथ्य से अवगत थे कि कृष्ण भगवान् हैं और दूसरी ओर वे भगवान् को अपना प्रिय पुत्र मान रहे थे। पिता-पुत्र के सम्बन्ध में, कभी कभी पिता को चाहिए कि पुत्र को दण्ड दे और अनेक प्रकार से उस पर प्रतिबन्ध लगा दे। इस तरह वसुदेव ऐसा अनुभव कर रहे थे कि भगवान् कृष्ण को अपने पुत्र के रूप में प्रशिक्षित करने के प्रयास द्वारा, उन्होंने भगवान् का अपमान किया है। किन्तु भगवान् कृष्ण वास्तव में प्रसन्न होते हैं, जब शुद्ध भक्त उनके वात्सल्य-प्रेम में मग्न हो जाता है और उनकी देखरेख उसी तरह करता है, जिस तरह छोटे शिशु की उसके माता-पिता करते हैं। कृष्ण ऐसे भक्तों की प्रगाढ़ भक्तिमयी भावनाओं के बदले में उनके समक्ष एक बालक के रूप में प्रकट होते हैं, मानो उनके पुत्र हों।

जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख है, असुरगण कृष्ण को ईर्ष्याभाव से दंडित करते थे। तो भी ऐसे असुरों को कृष्ण में विचारमग्न रहने के कारण मोक्ष प्राप्त हुआ। अतएव वसुदेव की गति के विषय में क्या कहा जा सकता है, जिन्होंने वात्सल्य-प्रेमवश भगवान् को दण्डित किया? निष्कर्ष यह है कि भगवद्भक्तों को चाहिए कि वसुदेव-देवकी को सामान्य बद्धजीव न समझें। भगवान् कृष्ण के साथ उनका सम्बन्ध पूर्णतया वात्सल्य-रस के दिव्य स्तर पर है। इसका भौतिक जगत के वात्सल्य-प्रेम से कुछ लेना-देना नहीं है, क्योंकि माता-पिता अपनी सन्तान को भौतिक भोग की वस्तु मानते हैं, अतएव यह इन्द्रिय-तृप्ति रस पर आधारित होती है।

मापत्यबुद्धिमकृथाः कृष्णे सर्वात्मनीश्वरे ।
मायामनुष्यभावेन गूढैश्वर्ये परेऽव्यये ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

मा—मत; अपत्य-बुद्धिम्—आपका पुत्र होने का विचार; अकृथाः—लादो; कृष्णे—कृष्ण पर; सर्व-आत्मनि—सबों के परमात्मा; ईश्वरे—ईश्वर; माया—अपनी मायाशक्ति द्वारा; मनुष्य-भावेन—सामान्य पुरुष की भाँति प्रकट होकर; गूढ-ऐश्वर्ये—अपने ऐश्वर्य को छिपाते हुए; परे—परम; अव्यये—अच्युत।

कृष्ण को सामान्य बालक मत समझिये, क्योंकि वे भगवान्, अव्यय तथा सबों के आत्मा हैं। भगवान् ने अपने अचिन्त्य ऐश्वर्य को छिपा रखा है, इसीलिए वे बाहर से सामान्य मनुष्य जैसे प्रतीत होते हैं।

तात्पर्य : परम सत्य के समस्त स्वांश अवतारों के मूल स्रोत श्रीकृष्ण हैं। *कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।* उनका असीम ऐश्वर्य अक्षय है और इस तरह वे समग्र सृष्टि को आसानी से अपने वश में कर लेते हैं।

भगवान् कृष्ण हर जीव के हितैषी हैं, अतएव वसुदव को अपने भावी गन्तव्य के विषय में न तो चिन्ता करने की कोई बात थी, न ही कृष्ण के अन्य संगियों यथा यदुकुल के सदस्यों की। इसी अध्याय के ४६वें श्लोक में नारद मुनि ने वसुदेव को बतलाया था—*पुत्रतामगमद् यद् वां भगवान् ईश्वरो हरिः*—"अब आप तथा आपकी पत्नी ब्रह्माण्ड-भर में प्रशंसित हो चुके हैं, क्योंकि साक्षात् भगवान् कृष्ण आपके पुत्र बने हैं।" इस तरह नारद ने वसुदेव को उत्साहित किया कि वे कृष्ण से अपने सर्वप्रिय पुत्र के रूप में प्रेम करते रहें, क्योंकि ऐसे भक्तिपूर्ण भावों को कभी भी त्यागना नहीं चाहिए। किन्तु इसी के साथ वसुदेव के भविष्य विषयक संशय को दूर करते हुए नारद आश्वस्त करते हैं "कृष्ण के प्रेम के कारण आप उन्हें सामान्य व्यक्ति मान सकते हैं। आप मनुष्य रूप में प्रकट हुए हैं और कृष्ण आपसे मात्र आदान-प्रदान कर रहे हैं। अपने को आपके पुत्र रूप में प्यार करते रहने के लिए प्रोत्साहित करने के लिए वे अपने को आपके वश में किये हुए हैं। इस तरह उनकी अचिन्त्य शक्ति तथा ऐश्वर्य आपसे छिपे हुए हैं। किन्तु यह मत मान लीजिएगा कि इस जगत की घटनाओं के कारण कोई विकट स्थिति आ सकती है। यद्यपि कृष्ण आपके वश में प्रतीत होते हैं, किन्तु वे हैं परम नियन्ता। इसलिए उन्हें मनुष्य मत मानिये। वे तो सदैव भगवान् हैं।"

इस श्लोक का *माया* शब्द सूचित करता है कि कृष्ण की मनुष्य जैसी क्रियाएँ सामान्य व्यक्ति को भ्रम में डालने वाली हैं, क्योंकि कृष्ण भगवान् हैं। *माया* का अन्य अर्थ "दिव्य शक्ति" भी है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*सम्भवाम्यात्ममायया*—भगवान् अपने दिव्य रूप में दिव्य शक्तियों से पूरित होकर अवतरित होते हैं। इस तरह *मायामनुष्यभावेन* शब्दों से कृष्ण का आदि स्वरूप सूचित होता है, जो इस जगत में मनुष्य जैसा लगता है। संस्कृत कोश के अनुसार माया "कृपा" का भी सूचक है, अतएव भगवान् के अवतार को बद्धजीवों पर उनकी अहैतुकी कृपा भी माना जाता है। भगवान् का अवतरण उन मुक्तात्माओं पर भी उनकी अहैतुकी कृपा है, जो भगवान् की लीलाओं तथा कीर्तन एवं श्रवण जैसे कार्यों में परमानन्द का अनुभव करते हैं (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*)।

अपने प्रति वसुदेव के प्रेम का प्रतिदान करने के उद्देश्य से कृष्ण अपने असीम ऐश्वर्य को गुप्त रखते हैं। इस तरह भक्त को भगवान् के साथ अपना विशेष प्रेम-सम्बन्ध बनाये रखने में प्रोत्साहन मिलता है। किन्तु जब वसुदेव ब्राह्मण-शाप से उत्पन्न भीषण स्थिति से चिन्तामग्न थे, तो नारद ने स्मरण

कराया कि ऐसी चिन्ता व्यर्थ है, क्योंकि ये सारी घटनाएँ भगवान् के अधीन हैं। अतएव वे वैष्णव *परमहंस,* जो भगवान् के माता-पिता के पद पर हैं, सदैव भगवान् की शरण में रहते हैं और भगवद्भक्ति से कभी विचलित नहीं होते। वे देहात्म बुद्धि वाले सामान्य माता-पिता से विपरीत सभी परिस्थितियों में दिव्य स्थिति में लीन रहे आते हैं।

भूभारासुरराजन्यहन्तवे गुप्तये सताम् ।
अवतीर्णस्य निर्वृत्यै यशो लोके वितन्यते ॥५०॥

शब्दार्थ

भू-भार—पृथ्वी के भारस्वरूप; असुर—असुर; राजन्य—राज-परिवार के सदस्य; हन्तवे—मारने के उद्देश्य से; गुप्तये—रक्षा के लिए; सताम्—सन्त-भक्तों की; अवितीर्णस्य—अवतार लेने वाले के; निर्वृत्यै—तथा मुक्ति प्रदान करने के लिए भी; यशः—यश; लोके—संसार-भर में; वितन्यते—फैल गया है।

भगवान् पृथ्वी के भारस्वरूप आसुरी राजाओं का वध करने तथा सन्त-भक्तों की रक्षा करने के लिए अवतरित हुए हैं। किन्तु असुर तथा भक्त दोनों ही को भगवत्कृपा से मुक्ति प्रदान की जाती है। इस तरह उनका दिव्य यश ब्रह्माण्ड-भर में फैल गया है।

तात्पर्य : यह सन्देह उठ सकता है कि भगवान् इस जगत में किस तरह अवतरित होते हैं। चूँकि वे करोड़ों ब्रह्माण्डों के सर्वशक्तिमान स्रष्टा हैं, तो फिर भक्तगण पूतना जैसी चुड़ैल का स्तन-पान करके उसके वध किये जाने जैसे कार्यकलापों को भगवान् का अद्भुत कार्य क्यों मानते हैं? यद्यपि ऐसे कार्य सामान्य मनुष्यों की परिधि के परे हैं, तो सर्वशक्तिमान भगवान् द्वारा सम्पन्न होने पर इन्हें अद्भुत क्यों माना जाता है? इसका उत्तर इस श्लोक में *निर्वृत्यै* शब्द द्वारा दिया गया है। भगवान् ने असुरों को इसलिए नहीं मारा, क्योंकि वे उनसे द्वेष रखते थे, अपितु उन्हें मोक्ष प्रदान करने के लिए ऐसा किया। इस तरह अपनी अचिन्त्य लीलाओं द्वारा भक्त तथा असुर दोनों ही को मोक्ष प्रदान करने की भगवान् की अहैतुकी कृपा भगवान् को मनुष्य या देवता से स्पष्टतः विभेदित करती है। कहा गया है—*मुक्तिप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः*—एकमात्र विष्णु ही जन्म-मृत्यु से परे मोक्ष के दाता हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने संकेत किया है कि सामान्य रूप से असुरों को ब्रह्मज्योति में निर्विशेष मुक्ति प्रदान की जाती है, जबकि भक्तों को वैकुण्ठ में भगवत् प्रेम का श्रेष्ठ वर दिया जाता है। इस तरह भगवान् सभी श्रेणी के जीवों पर अपनी अहैतुकी कृपा प्रदर्शित करते हैं, जिससे ब्रह्माण्ड-भर में उनका यश फैलता है। चूँकि कृष्ण दिव्य हैं अतएव उनका यश उनके साकार अवतार से भिन्न नहीं है, अतः ज्यों

ज्यों भगवान् के यश का विस्तार होता है, त्यों त्यों सारा ब्रह्माण्ड क्रमशः मुक्त होता जाता है। भगवान् के ये कुछ अद्वितीय लक्षण हैं।

श्रीशुक उवाच
एतच्छ्रुत्वा महाभागो वसुदेवोऽतिविस्मितः ।
देवकी च महाभागा जहतुर्मोहमात्मनः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एतत्—यह; श्रुत्वा—सुनकर; महा-भागः—परम भाग्यशाली; वसुदेवः—राजा वसुदेव; अति-विस्मितः—अत्यन्त चकित; देवकी—माता देवकी; च—तथा; महा-भागा—परम भाग्यशालिनी; जहतुः—दोनों ने त्याग दिया; मोहम्—भ्रम; आत्मनः—अपना।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : यह कथा सुनकर परम भाग्यशाली वसुदेव पूर्णतया आश्चर्यचकित हो गए। इस प्रकार उन्होंने तथा उनकी परम भाग्यशालिनी पत्नी देवकी ने उस भ्रम तथा चिन्ता को त्याग दिया, जो उनके हृदयों में घर कर चुके थे।

इतिहासमिमं पुण्यं धारयेद्यः समाहितः ।
स विधूयेह शमलं ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

इतिहासम्—ऐतिहासिक विवरण; इमम्—इसको; पुण्यम्—पवित्र; धारयेत्—ध्यान करता है; यः—जो; समाहितः—स्थिर चित्त से; सः—वह; विधूय—धोते हुए; इह—इसी जीवन में; शमलम्—कल्मष को; ब्रह्म-भूयाय—परम सिद्धि; कल्पते—प्राप्त करता है।

जो स्थिर चित्त होकर इस पवित्र ऐतिहासिक कथा का ध्यान करता है, वह इसी जीवन में अपने सारे कल्मष धोकर सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करेगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के अन्तर्गत "नारद द्वारा वसुदेव को दी जाने वाली शिक्षाएँ समापन" नामक पाँचवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छह

यदुवंश का प्रभास गमन

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं ने श्रीकृष्ण की स्तुति करने के बाद उनसे अपने धाम लौट जाने के लिए अनुरोध किया और किस तरह भगवान् से वियोग

की पूर्व कल्पना करके उद्धव अत्यन्त दुखी हुए और कृष्ण से प्रार्थना करने लगे कि वह भी उनके साथ भगवद्धाम लौट जाना चाहता है।

श्रीकृष्ण को उनके सर्वमोहक मनुष्य रूप में देखने की इच्छा से सारे गन्धर्व, अप्सरा, नाग, ऋषि, पितरगण, विद्याधर, किन्नर एवं ब्रह्मा, शिव, इन्द्र इत्यादि अन्य देवता द्वारका नगरी आये। उन्होंने स्वर्ग के नन्दनकानन से चुने हुए फूलों की मालाएँ कृष्ण को पहनाते हुए उनकी दिव्य शक्ति तथा गुणों का बखान करते हुए, उनकी प्रशंसा की।

ब्रह्मा इत्यादि सारे जीव भगवान् श्रीकृष्ण के अधीन हैं। कृष्ण अपने अंश महाविष्णु को शक्ति प्रदान करके ब्रह्माण्ड का सृजन करते हैं। यद्यपि कृष्ण अपनी भौतिक शक्ति से इस संसार का सृजन, पालन और संहार करते हैं, किन्तु वे भौतिक शक्ति से परे रहते हैं और पूर्णतया आत्मतुष्ट रहते हैं। वे अपनी सोलह हजार रानियों के बीच में रहकर भी उद्विग्न नहीं होते।

सकाम यज्ञों के करने वाले तथा योगशक्ति के इच्छुक योगीजन अपने भौतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए श्रीकृष्ण के चरणकमलों का ध्यान करते हैं। किन्तु अत्यन्त बढ़े-चढ़े भक्तगण, जो भौतिक कर्म के बन्धन से मुक्ति की कामना करते हैं, भगवान् के चरणकमलों का प्रेमपूर्वक ध्यान करते हैं, क्योंकि वे चरणकमल अग्नि तुल्य हैं, जो समस्त इन्द्रिय-तृप्ति की इच्छाओं को नष्ट करने वाली है। कोई व्यक्ति सामान्य पूजा, तप तथा ऐसी ही अन्य विधियों से मन को शुद्ध नहीं बना सकता। इन्द्रिय-तृप्ति द्वारा कलुषित मन को सतोगुण में प्रौढ़ विश्वास द्वारा ही शुद्ध किया जा सकता है, जो कि कृष्ण की महिमा के श्रवण से उत्पन्न होता है। इसलिए वर्णाश्रम प्रणाली में स्थित बुद्धिमान व्यक्ति दो प्रकार के तीर्थस्थलों की सेवा करते हैं—वे हैं कृष्ण-कथा की अमृतमयी नदियाँ तथा भगवान् के चरणकमलों से बहने वाली अमृतमयी नदियाँ।

कृष्ण ने यदुवंश में अवतार लेकर अपनी दिव्य लीलाओं का प्रदर्शन करके सारे ब्रह्माण्ड के लिए सर्वोच्च मंगलकारी कार्य किया। इन लीलाओं के श्रवण तथा कीर्तन मात्र से कलियुग में पवित्र व्यक्ति भौतिक मोह के सागर को अवश्यमेव पार कर लेते हैं। जब भगवान् ने अपने अवतार के प्रयोजन को पूरा कर लिया और यदुवंश ब्राह्मणों के शाप से आसन्न विनाश का सामना कर रहा था, तो भगवान् ने अपनी लीलाओं को समेट लेना चाहा। जब ब्रह्मा ने अपने तथा अन्य देवताओं के उद्धार हेतु भगवान्

कृष्ण के चरणकमलों में प्रार्थना की, तो उत्तर में कृष्ण ने यही कहा कि यदुवंश के विनाश के पश्चात्, वे अपने धाम लौट जायेंगे।

संसार के आसन्न संहार के सूचक भीषण उपद्रवों को देखकर कृष्ण ने यदुवंश के चतुर सदस्यों को बुलाकर, उन्हें ब्राह्मणों के शाप का स्मरण कराया। भगवान् ने उन्हें प्रभास-तीर्थ जाने के लिए राजी किया, जहाँ वे औपचारिक स्नान, दान इत्यादि सम्पन्न करके अपने को बचा सकेंगे। कृष्ण की इच्छा का पालन करते हुए यदुओं ने प्रभास की यात्रा करने के लिए तैयारी की।

यदुवंश के साथ कृष्ण की वार्ता को देख-सुनकर उद्धव एकान्त में श्रीकृष्ण से मिले, उन्हें पूर्ण नमस्कार किया और हाथ जोड़ कर भगवान् के विछोह को सहन न कर पाने की अक्षमता व्यक्त की। उन्होंने उनसे याचना की कि वे उन्हें भी अपने धाम ले चलें।

यदि कोई व्यक्ति कृष्ण की लीलाओं का अमृत-आस्वादन अपने कानों से कर लेता है, तो वह अन्य वस्तुओं के लिए लालायित नहीं रहता। जो व्यक्ति खाते, खेलते, सोते, बैठते कृष्ण की सेवा में लगातार लगे रहते हैं, वे कृष्ण का वियोग सहन नहीं कर पाते। वे श्रीकृष्ण के सभी प्रकार के जूठन का आदर करते हैं और इस तरह भगवान् की माया को जीत लेते हैं। संन्यास आश्रम के शान्ति-प्रिय सदस्य कठोर एवं कष्टप्रद तपस्या के बाद ही ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं, जबकि भगवद्भक्त कृष्ण की विभिन्न लीलाओं और उपदेशों की परस्पर चर्चा, कीर्तन तथा स्मरण करके अपने आप दुर्लंघ्य माया को पार कर जाते हैं।

श्रीशुक उवाच
अथ ब्रह्मात्मजैः देवैः प्रजेशैरावृतोऽभ्यगात् ।
भवश्च भूतभव्येशो ययौ भूतगणैर्वृतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—तब; ब्रह्मा—ब्रह्मा; आत्म-जैः—अपने पुत्रों (सनक इत्यादि) द्वारा; देवैः—देवताओं द्वारा; प्रजा-ईशैः—प्रजापतियों (मरीचि इत्यादि) द्वारा; आवृतः—घिरा हुआ; अभ्यगात्—(द्वारका) गये; भवः—शिवजी; च—भी; भूत—सारे जीवों को; भव्य-ईशः—कल्याणप्रदाता; ययौ—गये; भूत गणैः—भूत-प्रेतों के झुंड से; वृतः—घिरे।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : तब ब्रह्माजी अपने पुत्रों तथा देवताओं एवं महान् प्रजापतियों को साथ लेकर द्वारका के लिए रवाना हुए। सारे जीवों के कल्याणप्रदाता शिवजी भी अनेक भूत-प्रेतों से घिर कर द्वारका गये।

इन्द्रो मरुद्भिर्भगवानादित्या वसवोऽश्विनौ ।
ऋभवोऽङ्गिरसो रुद्रा विश्वे साध्याश्च देवता: ॥ २॥
गन्धर्वाप्सरसो नागा: सिद्धचारणगुह्यका: ।
ऋषय: पितरश्चैव सविद्याधरकिन्नरा: ॥ ३॥
द्वारकामुपसञ्जग्मु: सर्वे कृष्णदिदृक्षव: ।
वपुषा येन भगवान्नरलोकमनोरम: ।
यशो वितेने लोकेषु सर्वलोकमलापहम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

इन्द्र:—इन्द्र; मरुद्भि:—वायु-देवों के साथ; भगवान्—शक्तिशाली नियन्ता; आदित्या:—बारह मुख्य देवता, जो कि अदिति के पुत्र हैं; वसव:—आठ वसु देवता; अश्विनौ—दो अश्विनी कुमार; ऋभव:—तथा ऋभुगण; अङ्गिरस:—अंगिरा मुनि के वंशज; रुद्रा:—शिवजी के अंश; विश्वे साध्या:—विश्वेदेवा तथा साध्य के नाम से विख्यात; च—भी; देवता:—अन्य देवता; गन्धर्व-अप्सरस:—स्वर्गलोक के गवैये तथा नर्तकियाँ; नागा:—दैवी सर्प; सिद्ध-चारण—सिद्धगण तथा चारणगण; गुह्यका:—तथा पिशाच; ऋषय:—ऋषिगण; पितर:—पूर्वज; च—भी; एव—निस्सन्देह; स—सहित; विद्याधर-किन्नरा:—विद्याधर तथा किन्नरगण; द्वारकाम्—द्वारका; उपसञ्जग्मु:—साथ पहुँचे; सर्वे—सभी; कृष्ण-दिदृक्षव:—कृष्ण को देखने के लिए उत्सुक; वपुषा—दिव्य शरीर से; येन—जो; भगवान्—भगवान्; नर-लोक—समस्त मानव समाज को; मन:-रम:—मोहने वाला; यश:—यश; वितेने—विस्तार किया; लोकेषु—सारे ब्रह्माण्ड-भर में; सर्व-लोक—सारे लोकों में; मल—अशुद्धियाँ; अपहम्—जो समूल नष्ट करती है।

कृष्ण का दर्शन करने की आशा से शक्तिशाली इन्द्र अपने साथ मरुतों, आदित्यों, वसुओं, अश्विनियों, ऋभुओं, अंगिराओं, रुद्रों, विश्वेदेवों, साध्यों, गन्धर्वों, अप्सराओं, नागों, सिद्धों, चारणों, गुह्यकों, महान् ऋषियों, पितरों तथा विद्याधरों एवं किन्नरों को लेकर द्वारका नगरी पहुँचे। कृष्ण ने अपने दिव्य स्वरूप द्वारा सारे मनुष्यों को मोह लिया और समस्त जगतों में अपनी महिमा फैला दी। भगवान् का यश ब्रह्माण्ड के भीतर समस्त कल्मष को नष्ट करने वाला है।

तात्पर्य : देवताओं की विराट व्यवस्था में हाथ बटाने के लिए भगवान् भौतिक जगत में अवतरित होते हैं। इसलिए देवतागण सामान्यतया भगवान् के उपेन्द्र जैसे रूपों को देख सकते हैं। किन्तु यहाँ यह इंगित किया गया है कि देवतागण यद्यपि भगवान् के विविध विष्णु-रूपों को देखने के अभ्यस्त थे, किन्तु वे भगवान् के सबसे सुन्दर कृष्ण स्वरूप को देखने के लिए विशेष रूप से उत्सुक थे। *देह-देहि-विभागश्च नेश्वरे विद्यते क्वचित्*—भगवान् तथा उनके निजी शरीर में कोई अन्तर नहीं है। जीवात्मा उनके शरीर से भिन्न है, किन्तु भगवान् का सुन्दर दिव्य रूप सभी प्रकार से भगवान् से अभिन्न है।

तस्यां विभ्राजमानायां समृद्धायां महर्द्धिभि: ।
व्यचक्षतावितृप्ताक्षा: कृष्णमद्भुतदर्शनम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उस (द्वारका) में; विभ्राजमानायाम्—सुशोभित; समृद्धायाम्—अत्यन्त धनी; महा-ऋद्धिभिः—महान् ऐश्वर्य से; व्यचक्षत—उन्होंने देखा; अवितृप्त—असन्तुष्ट; अक्षाः—नेत्रों वाले; कृष्णम्—कृष्ण को; अद्भुत-दर्शनम्—आश्चर्ययुक्त होकर देखना।

समस्त प्रकार के श्रेष्ठ ऐश्वर्यों से समृद्ध उस द्वारका की सुशोभित नगरी में देवताओं ने श्रीकृष्ण के अद्भुत रूप को अतृप्त नेत्रों से देखा।

स्वर्गोद्यानोपगैर्माल्यैश्छादयन्तो युदूत्तमम् ।
गीर्भिश्चित्रपदार्थाभिस्तुष्टुवुर्जगदीश्वरम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

स्वर्ग-उद्यान—देवताओं के स्वर्गलोक के बगीचों से; उपगैः—प्राप्त किया गया; माल्यैः—फूल की मालाओं से; छादयन्तः—ढकते हुए; यदु-उत्तमम्—यदुश्रेष्ठ; गीर्भिः—वाणी से; चित्र—मोहक; पद-अर्थाभिः—जिससे युक्त शब्दों तथा विचारों से; तुष्टुवुः—प्रशंसा की; जगत्-ईश्वरम्—ब्रह्माण्ड के स्वामी को।

देवताओं ने समस्त ब्रह्माण्डों के परम स्वामी को स्वर्ग के उद्यानों से लाये गये फूलों के हारों से ढक दिया। तब उन्होंने यदुवंश शिरोमणि भगवान् की मोहक शब्दों तथा भावमय वचनों से प्रशंसा की।

श्रीदेवा ऊचुः
नताः स्म ते नाथ पदारविन्दं
बुद्धीन्द्रियप्राणमनोवचोभिः ।
यच्चिन्त्यतेऽन्तर्हृदि भावयुक्तैर्
मुमुक्षुभिः कर्ममयोरुपाशात् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

श्री-देवाः ऊचुः—देवताओं ने कहा; नताः स्म—हम नतमस्तक हैं; ते—तुम्हारे; नाथ—हे स्वामी; पद-अरविन्दम्—चरणकमलों को; बुद्धि—अपनी बुद्धि से; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; प्राण—प्राण-वायु; मनः—मन; वचोभिः—तथा शब्दों से; यत्—जो; चिन्त्यते—चिन्तन किये जाते हैं; अन्तः हृदि—हृदय के भीतर; भाव-युक्तैः—योगाभ्यास में स्थिर चित्त वालों को; मुमुक्षुभिः—मुक्ति के लिए प्रयत्नशीलों के द्वारा; कर्म-मय—सकाम कर्म के फलों के; उरु-पाशात्—महान् बन्धन से।

देवता कहने लगे : हे प्रभु, बड़े बड़े योगी कठिन कर्म-बन्धन से मुक्ति पाने का प्रयास करते हुए अपने हृदयों में आपके चरणकमलों का ध्यान अतीव भक्तिपूर्वक करते हैं। हम देवतागण अपनी बुद्धि, इन्द्रियाँ, प्राण, मन तथा वाणी आपको समर्पित करते हुए, आपके चरणकमलों पर नत होते हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार इस श्लोक का *स्म* शब्द *विस्मय* का सूचक है। देवता इसलिए चकित थे, क्योंकि बड़े बड़े योगी अपने हृदयों के भीतर ही भगवान् के चरणकमलों का

चिन्तन कर पाते हैं, किन्तु द्वारका आने पर देवतागण अपने समक्ष भगवान् के सम्पूर्ण शरीर को देख सके। इसलिए शक्तिशाली देवताओं ने भगवान् को दण्डवत् प्रणाम किया। ऐसे दण्डवत् प्रणाम का वर्णन नीचे किया गया है—

दोर्भ्यां पदाभ्यां जानुभ्याम्

उरसा शिरसा दृशा।

मनसा वचसा चेति

प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः॥

"आठ अंगों से किये जाने वाले प्रणाम (साष्टाङ्ग प्रणाम) में दो बाहें, दो पाँव, दो घुटने, वक्षस्थल, सिर, आँखें, मन तथा वाक्शक्ति शामिल रहती हैं।"

भौतिक प्रकृति की धाराएँ अत्यन्त प्रबल हैं और इसलिए मनुष्य को चाहिए कि मजबूती से भगवान् के चरणकमलों से चिपक जाय। अन्यथा इन्द्रिय-तृप्ति एवं मानसिक चिन्तन की उग्र लहरें मनुष्य को उसकी स्वाभाविक स्थिति से, जो कि भगवान् के प्रेमी दास के रूप में है, दूर बहा ले जायेंगी और मनुष्य *उरु-पाशात्* जैसे कठोर बन्धन में गिर जायेगा।

त्वं मायया त्रिगुणयात्मनि दुर्विभाव्यं
व्यक्तं सृजस्यवसि लुम्पसि तद्गुणस्थः ।
नैतैर्भवानजित कर्मभिरज्यते वै
यत्स्वे सुखेऽव्यवहितेऽभिरतोऽनवद्यः ॥ ८॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; मायया—भौतिक शक्ति द्वारा; त्रि-गुणया—तीन गुणों से निर्मित; आत्मनि—अपने भीतर; दुर्विभाव्यम्—अचिन्त्य; व्यक्तम्—प्रकट जगत; सृजसि—उत्पन्न करते हो; अवसि—रक्षा करते हो; लुम्पसि—तथा संहार करते हो; तत्—उस प्रकृति का; गुण—गुणों (सतो, रजो तथा तमो) के भीतर; स्थः—स्थित; न—नहीं; एतैः—इनके द्वारा; भवान्—आप; अजित—हे अजेय स्वामी; कर्मभिः—कर्मों से; अज्यते—फँस जाते हैं; वै—तनिक; यत्—क्योंकि; स्वे—अपने; सुखे—सुख में; अव्यवहिते—बिना किसी रोक के; अभिरतः—सदैव लीन रहते हो; अनवद्यः—दोषरहित प्रभु।

हे अजित प्रभुक, आप तीन गुणों से बनी अपनी मायाशक्ति को अपने ही भीतर अचिन्त्य व्यक्त जगत के सृजन, पालन तथा संहार में लगाते हैं। आप माया के परम नियन्ता के रूप में प्रकृति के गुणों की अन्योन्य क्रिया में स्थित जान पड़ते हैं, किन्तु आप भौतिक कार्यों द्वारा कभी प्रभावित नहीं होते। आप अपने नित्य आध्यात्मिक आनन्द में ही लगे रहते हैं, अतएव आप पर किसी भौतिक संदूषण का दोषारोपण नहीं किया जा सकता।

तात्पर्य : यहाँ *दुर्विभाव्यम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। संसार के सृजन तथा संहार का अन्तिम कारण बड़े बड़े संसारी विज्ञानियों के लिए भी अचिन्त्य है, जो अपना जीवन व्यर्थ तथा निष्फल चिन्तन में बिताते हैं। फिर भी महाविष्णु, जो भगवान् कृष्ण के अंश के गौण अंश हैं, सारे ब्रह्माण्ड को तुच्छ परमाणु के समान देखते हैं। अत: जो मूर्ख तथाकथित वैज्ञानी, कृष्ण को अपनी हास्यास्पद प्रयोग-शक्ति द्वारा समझने का प्रयास करते हैं, उनसे क्या आशा की जा सकती है ? इसीलिए *अनवद्य* शब्द प्रयुक्त हुआ है। कोई भी व्यक्ति भगवान् के शरीर, चरित्र, कार्य या आदेशों में कोई त्रुटि या दोष नहीं निकाल सकता। भगवान् कभी भी भौतिकता से अनजान नहीं हैं इसलिए वे कभी भी क्रूरता, आलस्य, मूर्खता, अन्धता या भौतिक नशे का प्रदर्शन नहीं करते। इसी तरह चूँकि भगवान् कभी भी भौतिक काम-वासना से दूषित नहीं होते इसलिए उनमें कभी भी गर्व, शोक, कामना या हिंसा प्रदर्शित नहीं होते और चूँकि भगवान् भौतिक गुणों से रहित हैं, वे कभी भी उच्च भौतिकतावादी मनोवृत्ति से भौतिक जगत का शान्तिपूर्वक भोग करने का प्रयास नहीं करते।

जैसाकि यहाँ पर कहा गया है (*स्वे सुखेऽव्यवहितेऽभिरत:*) कृष्ण अपने दिव्य धाम में अहर्निश अपने असंख्य संगियों की अचिन्त्य प्रेमाभक्ति का आस्वादन करने में व्यस्त रहते हैं। वे उनका आलिंगन करते हैं और संगी उनका आलिंगन करते हैं। वे अपने प्रियजनों के साथ हँसी-मजाक करते हैं और वे उनकी हँसी-मजाक सुनते हैं। भगवान् फूलों तथा फलों से लदे जंगलों में विचरते हैं, अमृत-तुल्य यमुना नदी में क्रीड़ा करते हैं और वृन्दावन की गोपियों के साथ गोपनीय एवं दिव्य प्रेमालाप करते हैं। कृष्ण-लोक तथा अन्य वैकुण्ठ-लोकों में ये लीलाएँ नित्य, त्रुटिरहित हैं तथा दिव्य सुख की सागर हैं। भगवान् कभी भी भौतिक सुख के शुष्क धरातल पर नहीं आते। भगवान् को किसी से कुछ लेना नहीं, अतएव भगवान् में सकाम कर्म विद्यमान नहीं रह सकता।

शुद्धिर्नृणां न तु तथेड्य दुराशयानां
विद्याश्रुताध्ययनदानतप:क्रियाभि: ।
सत्त्वात्मनामृषभ ते यशसि प्रवृद्ध-
सच्छ्रद्धया श्रवणसम्भृतया यथा स्यात् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

शुद्धि:—शुद्धि; नृणाम्—मनुष्यों की; न—नहीं; तु—लेकिन; तथा—इस तरह; ईड्य—हे पूज्य; दुराशयानाम्—उनके, जिनकी चेतना कलुषित है; विद्या—सामान्य पूजा द्वारा; श्रुत—वेदों का श्रवण तथा उनके आदेशों का पालन; अध्ययन—विभिन्न शास्त्रों

का अध्ययन; दान—दान; तपः—तपस्या; क्रियाभिः—तथा अनुष्ठानों द्वारा; सत्त्व-आत्मनाम्—सतोगुणियों के; ऋषभ—हे सर्वश्रेष्ठ; ते—तुम्हारा; यशसि—यश में; प्रवृद्ध—पूर्णतया परिपक्व; सत्—दिव्य; श्रद्धया—श्रद्धा द्वारा; श्रवण-सम्भृतया—सुनने की विधि से पुष्ट हुआ; यथा—जिस तरह; स्यात्—है।

हे सर्वश्रेष्ठ, जिनकी चेतना मोह से कलुषित है, वे केवल सामान्य पूजा, वेदाध्ययन, दान, तप तथा अनुष्ठानों द्वारा अपने को शुद्ध नहीं कर सकते। हमारे स्वामी, जिन शुद्ध आत्माओं ने आपके यश के प्रति दिव्य प्रबल श्रद्धा उत्पन्न कर ली है, उन्हें ऐसा शुद्ध जन्म प्राप्त होता है, जो ऐसी श्रद्धा से रहित लोगों को कभी प्राप्त नहीं हो पाता।

तात्पर्य : यदि शुद्ध भक्त में वेदाध्ययन तथा तपस्या जैसे गुणों का अभाव रहे भी, किन्तु यदि वह भगवान् कृष्ण में दृढ़ श्रद्धा रखता हो, तो भगवान् उसकी भक्ति के कारण उसे बचा लेंगे। दूसरी ओर, यदि मनुष्य अपने भौतिक गुणों से, जिनमें दया भी सम्मिलित है, मिथ्या तौर पर गर्वित हो उठे, किन्तु कृष्ण के यशोगान तथा श्रवण में रुचि न ले, तो उसका प्रयास निष्फल होगा। दिव्य आत्मा को भौतिक दया, दान या पाण्डित्य की किसी भी मात्रा द्वारा शुद्ध नहीं किया जा सकता। केवल दिव्य भगवान् ही अपने अन्तर से अपनी दया का दान देकर दिव्य जीव को शुद्ध कर सकते हैं। देवतागण उनके सौभाग्य से चकित थे। कृष्ण का श्रवण करने मात्र से ही मनुष्य को सारी सिद्धि मिल सकती है, किन्तु वे भगवान् की पुरी में प्रविष्ट हो चुके थे और भगवान् को अपने समक्ष खड़े देख रहे थे।

स्यान्नस्तवाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः
क्षेमाय यो मुनिभिरार्द्रहृदोह्यमानः ।
यः सात्वतैः समविभूतय आत्मवद्भिर्
व्यूहेऽर्चितः सवनशः स्वरतिक्रमाय ॥ १० ॥

शब्दार्थ

स्यात्—वे हों; नः—हमारे लिए; तव—तुम्हारे; अङ्घ्रिः—चरणकमल; अशुभ-आशय—हमारी अशुभ मनोवृत्ति के; धूम-केतुः—प्रलयंकारी अग्नि; क्षेमाय—असली लाभ पाने के लिए; यः—जो; मुनिभिः—मुनियों द्वारा; आर्द्र-हृदा—पिघले हृदयों से; उह्यमानः—ले जाये जा रहे हैं; यः—जो; सात्वतैः—भगवान् के भक्तों द्वारा; सम-विभूतये—उनके ही जैसा ऐश्वर्य पाने के लिए; आत्म-वद्भिः—आत्मसंयमियों के द्वारा; व्यूहे—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध इन चार स्वांशों द्वारा; अर्चितः—पूजित; सवनशः—प्रत्येक दिन की तीन संधियों पर; स्वः-अतिक्रमाय—इस जगत के स्वर्ग से परे जाने के लिए।

जीवन में सर्वोच्च लाभ की कामना करने वाले बड़े बड़े मुनि अपने उन हृदयों के भीतर सदैव आपके चरणकमलों का स्मरण करते हैं, जो आपके प्रेम में द्रवित हैं। इसी तरह आपके आत्मसंयमी भक्तगण, आपके ही समान ऐश्वर्य पाने के लिए स्वर्ग से परे जाने की इच्छा से, आपके चरणकमलों की पूजा प्रातः, दोपहर तथा संध्या समय करते हैं। इस तरह वे आपके

चतुर्व्यूह रूप का ध्यान करते हैं। आपके चरणकमल उस प्रज्ज्वलित अग्नि के तुल्य है, जो भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति विषयक समस्त अशुभ इच्छाओं को भस्म कर देती है।

तात्पर्य : बद्धजीव भगवान् के दिव्य यश में केवल अटूट श्रद्धा रख कर अपने जीवन को शुद्ध कर सकता है। तो फिर उन देवताओं के अद्वितीय सौभाग्य के विषय में क्या कहा जा सकता है, जो भगवान् कृष्ण के चरणकमलों का साक्षात् दर्शन कर रहे थे? यद्यपि इस समय हम असंख्य भौतिक इच्छाओं से त्रस्त हैं, किन्तु ये इच्छाएँ क्षणिक हैं। यह नित्य जीव परम पुरुष भगवान् से प्रेममय सम्बन्ध की अनुभूति पाने के लिए है और भगवान् की शुद्ध भक्ति करने से जीव का हृदय पूरी तरह तुष्ट हो जाता है।

इस श्लोक में *धूमकेतु* शब्द ज्वलित पुच्छल तारे अथवा अग्नि का सूचक है, जो शिवजी का प्रतिनिधित्व करता है। शिवजी तमोगुण के स्वामी हैं और कृष्ण के चरणकमलों की उपमा धूमकेतु से दी गई है, जो शिव की शक्ति का प्रतीक है और जो हृदय के अज्ञान को विनष्ट करने वाला है। *सम-विभूतये* शब्द सूचित करता है कि शुद्ध भक्त भगवद्धाम जाते हैं और वैकुण्ठ का अमित आनन्द भोगते हैं। भगवान् कृष्ण के पास भोग के लिए प्रचुर ऐश्वर्यमयी साज-सामग्री है और जो मुक्तात्मा कृष्ण के धाम जाता है, उसे भगवान् की सेवा करने के लिए सारा ऐश्वर्य न्यौछावर कर दिया जाता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक में *व्यूहे* शब्द तीन पुरुष-अवतारों—महाविष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु के साथ साथ वासुदेव का सूचक है। यदि हम वैज्ञानिक तरीके से यह समझ लें कि इस भौतिक जगत को उत्पन्न करने के लिए कृष्ण किस तरह अपना विस्तार करते हैं, तो हम तुरन्त अनुभव करेंगे कि प्रत्येक वस्तु कृष्ण की सम्पत्ति है और इस तरह अपने स्वार्थों के लिए दोहन करने की इच्छा से मुक्त हो सकेंगे। कृष्ण परमेश्वर हैं, सबों के स्वामी हैं तथा सारे ऐश्वर्य के आगार हैं। मनुष्य को प्रात:, दोपहर तथा संध्या के समय उनके चरणकमलों का स्मरण करना चाहिए। जो व्यक्ति कृष्ण का सदैव स्मरण करता है और उन्हें कभी नहीं भूलता, वह माया की पीत छाया के परे असली आनन्दमय जीवन का अनुभव प्राप्त करेगा।

यश्चिन्त्यते प्रयतपाणिभिरध्वराग्नौ

त्रय्या निरुक्तविधिनेश हविर्गृहीत्वा ।
अध्यात्मयोग उत योगिभिरात्ममायां
जिज्ञासुभिः परमभागवतैः परीष्टः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; चिन्त्यते—ध्यान किया जाता है; प्रयत-पाणिभिः—हाथ जोड़े हुए लोगों के द्वारा; अध्वर-अग्नौ—यज्ञ की अग्नि में; त्रय्या—तीनों वेदों (ऋग्, यजुः तथा साम) के; निरुक्त—निरुक्त में दी हुई जानकारी; विधिना—विधि से; ईश—हे स्वामी; हविः—हवन करने के निमित्त घी; गृहीत्वा—लेकर; अध्यात्म-योगे—आत्मा की अनुभूति हेतु योग-पद्धति में; उत—भी; योगिभिः—योगियों द्वारा; आत्म-मायाम्—आपकी मोहने वाली माया के विषय में; जिज्ञासुभिः—जिज्ञासुओं द्वारा; परम-भागवतैः—अत्यन्त उन्नत हो चुके भक्तों द्वारा; परीष्टः—पूजित।

जो लोग ऋग्, यजुः तथा सामवेद में दी गई विधि के अनुसार यज्ञ की अग्नि में आहुति देते समय, वे आपके चरणकमलों का ध्यान करते हैं। इसी प्रकार योगीजन आपकी दिव्य योगशक्ति का ज्ञान प्राप्त करने की आशा से आपके चरणकमलों का ध्यान करते हैं और जो पूर्ण महाभागवत हैं, वे आपकी मायाशक्ति को पार करने की इच्छा से, आपके चरणकमलों की अच्छी तरह से पूजा करते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *आत्म-मायां जिज्ञासुभिः* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। योगीजन (*अध्यात्मयोग उत योगिभिः*) भगवान् की योगशक्तियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इच्छुक रहते हैं, जबकि शुद्ध भक्तगण (*परमभागवतै*) माया के परे जाना चाहते हैं, जिससे शुद्ध प्रेमाभाव से वे भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की सेवा कर सकें। प्रत्येक दशा में, हर व्यक्ति भगवान् की शक्ति में रुचि दिखाता है। नास्तिक विज्ञानीजन भी भगवान् की बहिरंगा शक्ति से मोहित होते हैं और निपट इन्द्रिय-लोभी अपने भौतिक शरीर द्वारा आकृष्ट होते हैं, जो कि *आत्ममाया* है अर्थात् भगवान् की शक्ति का अंश है। यद्यपि भगवान् की सारी शक्तियाँ गुणात्मक दृष्टि से भगवान् से और फलतः एक दूसरे से एकाकार हैं, फिर भी आनन्दमय आध्यात्मिक शक्ति सर्वोपरि है, क्योंकि नित्य आनन्द स्तर पर यह भगवान् तथा शुद्ध जीव के मध्य सम्बन्ध स्थापित करती है। प्रत्येक जीव मूलतः भगवान् का प्रेमी सेवक है और भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति जीव को उसके शुद्ध स्वाभाविक पद पर लाती है, जो माया के परे है।

हमारे स्वप्न तथा जाग्रत अनुभव, दोनों ही मन के कार्य हैं, फिर भी जाग्रत अवस्था में हम जितने कार्य करते हैं, वे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि वे हमें अपने स्थायी पद पर स्थापित कराने वाले हैं। इसी तरह, जीव हर क्षण भगवान् की अनन्त शक्तियों में किसी एक का अनुभव करता रहता है। तथापि

दिव्य शक्ति का अनुभव अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इससे जीव अपने नित्य स्वाभाविक पद पर भगवान् के श्रद्धालु सेवक के रूप में स्थापित हो जाता है।

देवतागण भगवान् के चरणकमलों की महिमा का वर्णन कर रहे हैं, क्योंकि वे लोग उन चरणों के सम्पर्क से शुद्ध होने के लिए उत्सुक हैं (*तवाङ्घ्रिरस्माकमशुभाशयधूमकेतु स्यात्*)। जब कोई निष्ठावान भक्त भगवान् के चरणकमलों की शरण पाना चाहता है, तो भगवान् उसे अपने धाम ले जाते हैं, जिस प्रकार देवतागण भगवान् कृष्ण की व्यवस्था द्वारा द्वारका लाये गये थे।

पर्युष्टया तव विभो वनमालयेयं
संस्पर्धिनी भगवती प्रतिपत्नीवच्छ्रीः ।
यः सुप्रणीतममुयार्हणमाददन्नो
भूयात्सदाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

पर्युष्टया—मुरझाई हुई, बासी; तव—तुम्हारा; विभो—सर्वशक्तिमान भगवान्; वनमालया—फूल की माला से; इयम्—वह; संस्पर्धिनी—स्पर्धा करती हुई; भगवती—भगवान् की स्त्री; प्रति-पत्नी-वत्—ईर्ष्यालु सौत की तरह; श्रीः—लक्ष्मीदेवी; यः—जो भगवान् (आप); सु-प्रणीतम्—जिससे भलीभाँति सम्पन्न हो सके; अमुया—इससे; अर्हणम्—भेंट; आददन्—स्वीकार करते हुए; नः—हमारा; भूयात्—हो; सदा—सदैव; अङ्घ्रिः—चरणकमल; अशुभ-आशय—हमारी शुद्ध इच्छाओं की; धूम-केतुः—विनाश की अग्नि।

हे सर्वशक्तिमान, आप अपने सेवकों के प्रति इतने दयालु हैं कि आपने उस मुरझाई हुई (बासी) फूलमाला को स्वीकार कर लिया है, जिसे हमने आपके वक्षस्थल पर चढ़ाया था। चूँकि लक्ष्मी देवी आपके दिव्य वक्षस्थल पर वास करती हैं, इसलिए निस्सन्देह वे हमारी भेंटों को उसी स्थान पर अर्पित करते देखकर उसी तरह ईर्ष्या करेंगी, जिस तरह एक सौत करती है। फिर भी आप इतने दयालु हैं कि आप अपनी नित्य संगिनी लक्ष्मी देवी की परवाह न करते हुए हमारी भेंट को सर्वोत्तम पूजा मान कर ग्रहण करते हैं। हे दयालु प्रभु, आपके चरणकमल हमारे हृदयों की अशुभ कामनाओं को भस्म करने के लिए प्रज्ज्वलित अग्नि का कार्य करें।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२६) में कहा गया है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहृतम अश्नामि प्रयतात्मनः ॥

भगवान् कृष्ण अपने प्रिय भक्त द्वारा चढ़ाई गई तुच्छ से तुच्छ भेंट को कृतज्ञता से तथा प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करते हैं। भगवान् कृष्ण अपने शुद्ध भक्तों के प्रेम द्वारा उसी तरह से जीत लिए जाते हैं, जिस तरह अपनी प्रिय सन्तान द्वारा दी गई तुच्छ से तुच्छ भेंट से पिता जीत लिया जाता है। अध्यात्मवादी जब तक देहात्म बुद्धि को पूरी तरह त्याग नहीं देता, तब तक वह भगवान् को ऐसी प्रेममयी भेंट चढ़ा नहीं सकता। कृष्ण को ध्यानयोग उतना प्रिय नहीं है, जितना कि भक्तियोग, क्योंकि ध्यान में योगी योगशक्ति प्राप्त करके अपनी तुष्टि करने का प्रयास करता है (भगवान् की नहीं)। इसी तरह भगवान् से भौतिक लाभ प्राप्त करने की इच्छा से सामान्य लोग मन्दिरों, मसजिदों तथा गिरजाघरों में ईश्वर को पूजते हैं। किन्तु जो व्यक्ति वास्तविक आध्यात्मिक सिद्धि चाहता है, उसे सदैव भगवान् की महिमा का कीर्तन एवं श्रवण करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। ऐसा भक्तिमय उत्साह भगवत्प्रेम से प्रेरित होता है और किसी भी स्वार्थपूर्ण आशा से रहित होता है।

भगवान् इतने दयालु हैं कि वे अपनी नित्य संगिनी लक्ष्मी को भी भूल जाते हैं और अपने दीन भक्त को वरीयता प्रदान करते हैं, जिस तरह कोई व्यक्ति अपनी पत्नी के प्रेमालिंगन की उपेक्षा करते हुए पास आ रहे अपने प्रिय पुत्र की भेंट को स्वीकार करता है। श्रील जीव गोस्वामी इंगित करते हैं कि भगवान् द्वारा पहनी हुई माला कभी मुरझा नहीं सकती, क्योंकि भगवान् की सारी साज-सामग्री नित्य तथा ऐश्वर्यमयी है। इसी तरह लक्ष्मीजी में भौतिक ईर्ष्या भाव के उदय होने की कोई सम्भावना नहीं रहती, क्योंकि वे भी भगवान् कृष्ण की ही तरह दिव्य हैं। इसलिए देवताओं के वचनों को प्रगाढ़ भगवत्प्रेम से प्रेरित विनोद मानना चाहिए। देवताओं को लक्ष्मी का और इस तरह भगवान् कृष्ण का संरक्षण प्राप्त रहता है और भगवान् तथा उनकी संगिनी के प्रति अपने प्रेम-सम्बन्ध पर अटूट विश्वास होने से ही, वे इस तरह का विनोद कर रहे हैं।

केतुस्त्रिविक्रमयुतस्त्रिपतत्पताको
यस्ते भयाभयकरोऽसुरदेवचम्वोः ।
स्वर्गाय साधुषु खलेष्वितराय भूमन्
पदः पुनातु भगवन्भजतामघं नः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

केतुः—झंडे का डंडा; त्रि-विक्रम—बलि महाराज को जीतने के लिए भरे गये तीन पग; यतः—अलंकृत; त्रि-पतत्—तीनों लोकों में गिरते हुए; पताकः—झंडा, जिस पर; यः—जो; ते—तुम्हारे (चरणकमल); भय-अभय—भय तथा निर्भीकता;

करः—करने वाले; असुर-देव—असुरों तथा देवताओं की; चम्वोः—सेनाओं के लिए; स्वर्गाय—स्वर्ग-प्राप्ति के लिए; साधुषु—साधु-देवताओं तथा भक्तों के बीच; खलेषु—दुष्ट; इतराय—इनसे विपरीतों के लिए; भूमन्—हे सर्वाधिक शक्तिशाली प्रभु; पादः—चरणकमल; पुनातु—पवित्र करें; भगवन्—हे भगवान्; भजताम्—आपकी पूजा में लगे हुए; अघम्—पापों को; नः—हमारे।

हे सर्वशक्तिमान प्रभु, आपने अपने त्रिविक्रम अवतार में ब्रह्माण्ड के कवच को तोड़ने के लिए अपना पैर ध्वज-दंड की तरह उठाया और पवित्र गंगा को तीन शाखाओं में तीनों लोकों में से होकर विजय-ध्वजा की भाँति बहने दिया। आपने अपने चरणकमलों के तीन बलशाली पगों से बलि महाराज को उनके विश्वव्यापी साम्राज्य सहित वश में कर लिया। आपके चरण असुरों में भय उत्पन्न करते हैं, जिससे वे नरक में भाग जाते हैं और आपके भक्तों में निर्भीकता उत्पन्न करके, उन्हें स्वर्ग-जीवन की सिद्धि प्रदान करते हैं। हे प्रभु, हम आपकी निष्ठापूर्वक पूजा करना चाह रहे हैं, इसलिए आपके चरणकमल कृपा करके हमारे सभी पापकर्मों से हमें मुक्त करें।

तात्पर्य : जैसाकि आठवें स्कंध में वर्णन हुआ है बलि महाराज द्वारा बलपूर्वक ग्रहण किये गये साम्राज्य को छीन कर देवताओं को देने के लिए भगवान् कृष्ण ने सुन्दर बौने ब्राह्मण अर्थात् वामन रूप धारण किया और अपना पाँव ब्रह्माण्ड की बाहरी सीमाओं की ओर बढ़ाया। जब भगवान् के पाँव से ब्रह्माण्ड की खोल में छेद हो गया, तो उसमें से गंगा नदी का जल बह निकला। यह दृश्य ऐसा लग रहा था, मानों कोई उठा हुआ दण्ड हो, जिसमें विजय-ध्वज फहरा रहा हो।

जैसा कि—*चरणं पवित्रं विततं पुराणं येन पूतस्तरति दुष्कृतानि*—"श्रुति-मंत्रों में कहे गये भगवान् के चरणकमल अत्यन्त पवित्र, सर्वव्यापक तथा प्राचीनतम हैं। जो इनके द्वारा पवित्र बना दिये जाते हैं, वे अपने पिछले सारे पापमय कर्मों को लाँघ जाते हैं।" ब्रह्माण्ड-भर में भगवान् के चरणकमलों का पूजन अत्यन्त प्रसिद्ध है।

नस्योतगाव इव यस्य वशे भवन्ति
ब्रह्मादयस्तनुभृतो मिथुरर्द्यमानाः ।
कालस्य ते प्रकृतिपूरुषयोः परस्य
शं नस्तनोतु चरणः पुरुषोत्तमस्य ॥ १४॥

शब्दार्थ

नसि—नाक से होकर; ओत—नथे हुए; गावः—बैल; इव—मानो; यस्य—जिसका; वशे—वश में; भवन्ति—होते हैं; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा तथा अन्य; तनु-भृतः—देहधारी जीव; मिथुः—परस्पर; अर्द्यमानाः—संघर्ष करते हुए; कालस्य—समय की

शक्ति से; ते—तुम्हारा; प्रकृति-पूरुषयोः—प्रकृति तथा जीव दोनों; परस्य—जो उनसे परे है; शम्—दिव्य भाग्य; नः—हमारे लिए; तनोतु—फैला सकें; चरणः—चरणकमल; पुरुष-उत्तमस्य—भगवान् के।.

आप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, दिव्य आत्मा हैं, जो भौतिक प्रकृति तथा इसके भोक्ता दोनों से श्रेष्ठ हैं। आपके चरणकमल हमें दिव्य आनन्द प्रदान करें। ब्रह्मा इत्यादि सारे बड़े बड़े देवता देहधारी जीव हैं। आपके काल के वश में एक-दूसरे से लड़ते-झगड़ते वे सब उन बैलों जैसे हैं, जिन्हें छिदे हुए उनकी नाक में पड़ी रस्सी (नथ) के द्वारा खींचा जाता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी कहते हैं—*ननु युद्धे देवासुरादयः परस्परं जयन्ति जयन्ते च किम् अहं तत्रेत्यत आहुः, नसीति। मिथुर्मिथोऽर्द्यमाना युद्धादिभिः पीडयमाना ब्रह्मादयोऽपि यस्य तव वशे भवन्ति न तु जये पराजये वा स्वतन्त्राः।* "देवताओं अथवा भगवद्भक्तों के मध्य तथा असुरों अथवा अभक्तों के मध्य अनवरत युद्धों में, हर पक्ष की कभी जीत होती है, तो कभी हार। कोई यह दलील दे सकता है कि इससे भगवान् का कोई वास्ता नहीं है, क्योंकि यह विरोधी जीवों की अन्योन्य क्रिया पर आधारित है। किन्तु हर जीव भगवान् के वश में होता है और जय तथा पराजय सदैव भगवान् के हाथ में है।" इससे जीव की स्वतंत्र इच्छा का विरोध नहीं होता, क्योंकि जय तथा पराजय जीवों की योग्यता के अनुसार भगवान् द्वारा प्रदान किये जाते हैं। कानूनी युद्ध में कानूनी प्रणाली को छोड़ कर स्वतंत्र रूप से न तो मुद्दई न मुद्दालेह कार्य कर सकता है। न्यायालय में जय तथा पराजय का निर्णय न्यायाधीश द्वारा दिया जाता है, किन्तु यह न्यायाधीश निष्पक्ष भाव से कानून के अनुसार निर्णय देता है।

इसी तरह ईश्वर हमें हमारे पूर्वकर्मों के फल प्रदान करते रहते हैं। ईश्वर को नकारने के लिए भौतिकतावादी प्रायः यह तर्क देते हैं कि प्रायः निर्दोष लोग कष्ट भोगते हैं, जबकि अपवित्र धूर्त लोग जीवन का आनन्द भोगते हैं। किन्तु तथ्य यह है कि ईश्वर कोई वैसे मूर्ख नहीं है, जिस तरह कि ऐसे तर्क प्रस्तुत करने वाले भौतिकतावादी व्यक्ति होते हैं। ईश्वर हमारे कई पूर्वजन्मों को देख सकते हैं, इसलिए वे किसी को न केवल वर्तमान कर्मों का फल भोगने देते हैं, अपितु पूर्वकर्मों के फल को भी भोगने देते हैं। उदाहरणार्थ, कठिन परिश्रम करके मनुष्य धन का संग्रह कर सकता है। किन्तु यदि ऐसा धनी व्यक्ति अपना काम छोड़ कर निम्न-जीवन व्यतीत करने लगता है, तो उसका धन तुरन्त ही लुप्त नहीं होता। दूसरी ओर, ऐसा व्यक्ति जिसके भाग्य में धनी बनना है, वह अनुशासन तथा तप के साथ कठोर परिश्रम करता रह सकता है, फिर भी वह पाई-पाई का मोहताज हो सकता है। इसलिए ऊपर से

देखने पर कठिन परिश्रम करने वाला व्यक्ति धनहीन के रूप में और आलसी व्यक्ति धनवान दिख सकता है। इसी तरह भौतिकतावादी मूर्ख भूत, वर्तमान तथा भविष्य का ज्ञान न होने से भगवान् के पूर्ण न्याय को समझ नहीं पाता।

इस श्लोक में कृष्ण की नियंत्रण शक्ति को बताने के लिए दिया गया उदाहरण उपयुक्त है। यद्यपि बैल अत्यन्त शक्तिशाली होता है, किन्तु उसे उसकी बिंधी नाक में रस्सी डाल कर आसानी से वश में किया जा सकता है। इसी तरह बड़े से बड़े राजनीतिज्ञ, विद्वान, देवता भी सर्वशक्तिमान भगवान् द्वारा तुरन्त असह्य स्थिति में डाले जा सकते हैं। इसलिए देवतागण द्वारका में अपनी व्यापक राजनैतिक तथा बौद्धिक शक्तियाँ प्रदर्शित करने नहीं, अपितु भगवान् के चरणकमलों पर विनयपूर्वक शरण ग्रहण करने आये हैं।

अस्यासि हेतुरुदयस्थितिसंयमाना-
मव्यक्तजीवमहतामपि कालमाहुः ।
सोऽयं त्रिणाभिरखिलापचये प्रवृत्तः
कालो गभीररय उत्तमपूरुषस्त्वम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अस्य—इस (ब्रह्माण्ड) का; असि—हो; हेतुः—कारण; उदय—सृष्टि; स्थिति—पालन; संयमानाम्—तथा संहार; अव्यक्त—अव्यक्त प्रकृति का; जीव—जीव; महताम्—तथा महत तत्त्व का; अपि—भी; कालम्—नियंत्रक काल; आहुः—कहलाते हो; सः अयम्—यही व्यक्ति; त्रि-णाभिः—तीन नाभियों वाला; अखिल—हर वस्तु के; अपचये—ह्रास में; प्रवृत्तः—लगा हुआ; कालः—काल, समय; गभीर—अदृश्य, गम्भीर; रयः—जिसकी गति; उत्तम-पूरुषः—भगवान्; त्वम्—तुम।

आप इस ब्रह्माण्ड के सृजन, पालन तथा संहार के कारण हैं। आप प्रकृति की स्थूल तथा सूक्ष्म दशाओं को नियमित करने वाले तथा हर जीव को अपने वश में करने वाले हैं। कालरूपी चक्र की तीन नाभियों के रूप में आप अपने गम्भीर कार्यों द्वारा सारी वस्तुओं का ह्रास करने वाले हैं और इस तरह आप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं।

तात्पर्य : *गभीररयः* शब्द जिसका अर्थ "अबाध गति तथा शक्ति" है महत्त्वपूर्ण है। हम यह देखते हैं कि प्रकृति के नियमों के द्वारा सारी वस्तुएँ, यहाँ तक कि हमारे शरीर, क्रमशः क्षीण होते जाते हैं। यद्यपि हम इस वार्धक्य प्रक्रम के दीर्घगामी प्रभाव का अवलोकन करते हैं, किन्तु इस प्रक्रम को अनुभव नहीं कर पाते। उदाहरणार्थ, कोई यह अनुभव नहीं कर पाता कि उसके बाल या नाखून किस तरह बढ़ते हैं। हम उनकी वृद्धि के संचित प्रभाव को देखते हैं, किन्तु क्षण क्षण हमें उसका अनुभव

नहीं हो पाता। इसी तरह कोई भी धीरे धीरे तब तक क्षीण होता जाता है, जब तक ध्वस्त नहीं हो जाता। यद्यपि हम क्षण क्षण इसका अनुभव नहीं कर पाते किन्तु दीर्घ समय के पश्चात्, घर की भग्नावस्था को हम देख सकते हैं। दूसरे शब्दों में, हम वृद्धावस्था तथा भग्नावस्था के परिणामों का अनुभव कर सकते हैं, किन्तु ये किस तरह घटित होते हैं, वह अदृश्य रहता है। यह कालरूप भगवान् की अद्भुत शक्ति है।

त्रि-नाभि: शब्द सूचित करता है कि सूर्य की गति की ज्योतिष-सम्बन्धी गणना के अनुसार वर्ष को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—ये हैं मेष, मिथुन, वृष तथा कर्क और सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक तथा धनु, मकर, कुम्भ, मीन।

उत्तम-पूरुष या *पुरुषोत्तम* शब्द की व्याख्या *भगवद्गीता* (१५.१८) में दी गई है—

यस्मात् क्षरमतीतोऽहम् अक्षरादपि चोत्तम: ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित: पुरुषोत्तम: ॥

"चूँकि मैं क्षर तथा अक्षर दोनों के परे हूँ और चूँकि मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ, अतएव इस जगत में तथा वेदों में परम पुरुष के रूप में विख्यात हूँ।"

त्वत्त: पुमान्समधिगम्य ययास्य वीर्यं
धत्ते महान्तमिव गर्भममोघवीर्य: ।
सोऽयं तयानुगत आत्मन आण्डकोशं
हैमं ससर्ज बहिरावरणैरुपेतम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

त्वत्त:—तुमसे; पुमान्—पुरुष-अवतार, महाविष्णु; समधिगम्य—प्राप्त करके; यया—जिससे; अस्य—इस सृष्टि का; वीर्यम्—बीज; धत्ते—स्थापित करता है; महान्तम्—महत तत्त्व; इव गर्भम्—सामान्य भ्रूण (गर्भ) की तरह; अमोघ-वीर्य:—वह जिसका वीर्य नष्ट नहीं होता; स: अयम्—वही (महत तत्त्व); तया—प्रकृति के साथ; अनुगत:—मिला हुआ; आत्मन:—अपने से; आण्ड-कोशम्—ब्रह्माण्ड; हैमम्—सोने का; ससर्ज—उत्पन्न किया; बहि:—बाहर की ओर; आवरणै:—खोलों सहित; उपेतम्—प्रदत्त, समन्वित।

हे प्रभु, आदि पुरुष-अवतार महाविष्णु अपनी सर्जक शक्ति आपसे ही प्राप्त करते हैं। इस तरह अच्युत शक्ति से युक्त वे प्रकृति में वीर्य स्थापित करके महत् तत्त्व उत्पन्न करते हैं। तब भगवान् की शक्ति से समन्वित यह महत् तत्त्व अपने में से ब्रह्माण्ड का आदि सुनहला अंडा उत्पन्न करता है, जो भौतिक तत्त्वों के कई आवरणों (परतों) से ढका होता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोकों में जीव तथा प्रकृति के सन्दर्भ में भगवान् की श्रेष्ठता स्थापित की जा चुकी है। इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् कृष्ण महाविष्णु के उद्गम हैं और ये महाविष्णु अपनी सृजन शक्ति भगवान् कृष्ण से ही प्राप्त करते हैं। इसलिए यह निष्कर्ष निकालना कि कृष्ण विष्णु के अंश है, मूर्खतापूर्ण होगा। इस प्रसंग में ब्रह्मा आदि देवताओं के मत को अन्तिम मान लेना चाहिए।

तत्तस्थूषश्च जगतश्च भवानधीशो
यन्माययोत्थगुणविक्रिययोपनीतान् ।
अर्थाञ्जुषन्नपि हृषीकपते न लिप्तो
येऽन्ये स्वतः परिहृतादपि बिभ्यति स्म ॥ १७॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; तस्थूषः—प्रत्येक अचर वस्तु का; च—तथा; जगतः—चर; च—भी; भवान्—आप (हैं); अधीशः—चरम नियन्ता; यत्—क्योंकि; मायया—प्रकृति द्वारा; उत्थ—उठा हुआ; गुण—(प्रकृति के) गुणोंका; विक्रियया—विकार से (जीवों की इन्द्रियों के कर्म से); उपनीतान्—पास पास लाये गये; अर्थान्—इन्द्रिय-विषय; जुषन्—लिप्त रहकर; अपि—यद्यपि; हृषीक-पते—हे इन्द्रियों के स्वामी; न लिप्तः—आपको छू नहीं पाते; ये—जो; अन्ये—अन्य; स्वतः—अपने बल पर; परिहृतात्—के कारण; अपि—भी; बिभ्यति—डरते हैं; स्म—निस्सन्देह।

हे प्रभु, आप इस ब्रह्माण्ड के परम स्त्रष्टा हैं और समस्त चर तथा अचर जीवों के परम नियन्ता हैं। आप हृषीकेश अर्थात् सभी इन्द्रिय-विषयक कार्यों के परम नियंता हैं और आप कभी भी इस भौतिक सृष्टि के भीतर अनन्त इन्द्रिय-विषय-कार्यों के अधीक्षण के समय संदूषित या लिप्त नहीं होते। दूसरी ओर, अन्य जीव, यहाँ तक कि योगी तथा दार्शनिक भी उन भौतिक वस्तुओं का स्मरण करके विचलित तथा भयभीत रहते हैं केवल उन भौतिक पदार्थों को याद करके जिनका परित्याग प्रकाश की खोज करते समय उन्होंने त्याग दिया था।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण प्रत्येक बद्धजीव के हृदय के भीतर हैं और इन्द्रिय-तृप्ति की खोज तथा अनुभव में हर जीव का मार्गदर्शन करते हैं। ऐसे कार्यों के निराशाजनक परिणाम बद्धजीव को आश्वस्त करते हैं कि वे भौतिक जीवन का परित्याग करके अपने हृदय के भीतर स्थित भगवान् की शरण में पुन: जाँय। भगवान् कृष्ण अपनी माया का आनन्द लेने वाले जीवों के व्यर्थ प्रयासों से कभी भी प्रभावित नहीं होते। ईश्वर के लिए भय या उत्पात की कोई सम्भावना नहीं है क्योंकि अंततः उनसे भिन्न कुछ भी नहीं है।

स्मायावलोकलवदर्शितभावहारि-
भ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः ।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणै-
र्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न विभ्व्यः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

स्माय—मुसकान; अवलोक—चितवन का; लव—अंश द्वारा; दर्शित—दिखलाया हुआ; भाव—उनके विचार; हारि—मोहक; भ्रू-मण्डल—भौंहों केअर्धवृत्र द्वारा; प्रहित—भेजा गया; सौरत—दाम्पत्य प्रेम का; मन्त्र—सन्देश; शौण्डैः—प्रगल्भ; पत्न्यः—पत्नियाँ; तु—लेकिन; षोडश-सहस्रम्—सोलह हजार; अनङ्ग—कामदेव के; बाणैः—बाणों द्वारा; यस्य—जिसकी; इन्द्रियम्—इन्द्रियाँ; विमथितुम्—विक्षुब्ध करने के लिए; करणैः—अपनी सारी युक्तियों से; न विभ्व्यः—समर्थ नहीं थे।

हे प्रभु, आप सोलह हजार अत्यन्त सुन्दर राजसी पत्नियों के साथ रह रहे हैं। अपनी अत्यन्त लजीली तथा मुस्कान-भरी चितवन तथा सुन्दर धनुष-रूपी भौंहों से वे आपको अपने उत्सुक प्रणय का सन्देश भेजती हैं। किन्तु वे आपके मन तथा इन्द्रियों को विचलित करने में पूरी तरह असमर्थ रहती हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में स्पष्ट कहा जा चुका है कि कोई भौतिक वस्तु भगवान् की इन्द्रियों को आकृष्ट नहीं कर सकती। अब इस श्लोक में यह दिखलाया गया है कि भगवान् को अपनी आध्यात्मिक इन्द्रिय-तृप्ति करने की इच्छा भी नहीं है। कृष्ण अपने आप में पूर्ण हैं। वे समस्त आनन्द के आगार हैं और उन्हें किसी भौतिक या आध्यात्मिक वस्तु की लालसा नहीं रहती। यह तर्क दिया जा सकता है कि कृष्ण ने अपनी पत्नी सत्यभामा को प्रसन्न करने के लिए स्वर्ग से पारिजात पुष्प चुराया था और इस तरह वे अपनी प्रिय पत्नी के वशीभूत पति थे। किन्तु भले ही कृष्ण कभी कभी अपने भक्तों के प्रेम से विजित हो जाते हों, किन्तु वे सामान्य कामुक व्यक्ति की तरह भोगेच्छा से कभी प्रभावित नहीं होते। अभक्तगण भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्तों के बीच प्रेमभावों के आदान-प्रदान को कभी भी नहीं समझ सकते। कृष्ण को हम उनके प्रति अपने प्रगाढ़ प्रेम द्वारा जीत सकते हैं और इस तरह शुद्ध भक्त भगवान् को अपने वश में कर लेते हैं। उदाहरणार्थ, वृन्दावन की प्रौढ़ गोपियाँ विभिन्न लय में ताली बजाकर कृष्ण को नचा सकती थीं और द्वारका में सत्यभामा ने कृष्ण को पत्नी-प्रेम के प्रमाणस्वरूप पारिजात पुष्प लाने का आदेश दिया था। षड् गोस्वामियों के प्रति लिखे गये गीत में श्रीनिवास आचार्य ने कहा है—*गोपीभावरसामृताब्धिलहरीकल्लोलमग्नौ मुहुः*—भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्त के बीच का प्रेम दिव्य आनन्द का सागर है। किन्तु उसी के साथ ही कृष्ण आत्माराम हैं। कृष्ण ने व्रजभूमि की अद्वितीय तरुण गोपियों का संग त्याग कर अपने चाचा अक्रूर के अनुरोध पर मथुरा के लिए प्रस्थान किया। इस

तरह न तो वृन्दावन की गोपियाँ, न ही द्वारका की रानियाँ कृष्ण के मन में भोग-भावना उत्पन्न कर पाईं। इस जगत में आनन्द का अर्थ सम्भोग (यौन) है। किन्तु यह संसारी यौन-आकर्षण वैकुण्ठ में कृष्ण तथा उनके संगियों के बीच के दिव्य प्रेम-व्यापार का विकृत प्रतिबिम्ब मात्र है। वृन्दावन की गोपियाँ देहाती ग्रामीण बालिकाएँ हैं, जबकि द्वारका की रानियाँ राजसी महिलाएँ हैं। किन्तु गोपियाँ तथा रानियाँ दोनों ही कृष्ण के प्रेम से अभिभूत रहती हैं। भगवान् के रूप में कृष्ण सौन्दर्य, बल, सम्पत्ति, यश, ज्ञान तथा परित्याग की पराकाष्ठा प्रदर्शित करते हैं और इस प्रकार वे अपने परम पद के द्वारा पूर्णतया तुष्ट रहते हैं। वे तो गोपियों तथा रानियों के निमित्त ही आध्यात्मिक प्रेम-व्यापार का आदान-प्रदान करते हैं। केवल मूर्ख ही यह सोचते हैं कि कृष्ण हम बेचारे बद्धजीवों की तरह अन्धे होकर विकृत मायावी सुखों के प्रति आकृष्ट रहते हैं। इसलिए सबों को चाहिए कि भगवान् के परम दिव्य पद को समझें और उनकी शरण में जायें। देवताओं के कहने का स्पष्ट आशय यही है।

विभ्व्यस्तवामृतकथोदवहास्त्रिलोक्याः
पादावनेजसरितः शमलानि हन्तुम् ।
आनुश्रवं श्रुतिभिरङ्घ्रिजमङ्गसङ्गै-
स्तीर्थद्वयं शुचिषदस्त उपस्पृशन्ति ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

विभ्व्यः—समर्थ हैं; तव—तुम्हारी; अमृत—अमृतमयी; कथा—कथाओं का; उद्-वहाः—जल धारण करने वाली नदियाँ; त्रि-लोक्याः—तीनों लोकों की; पाद-अवने—आपके चरणकमलों को स्नान कराने से; ज—उत्पन्न; सरितः—नदियाँ; शमलानि—सारा दूषण; हन्तुम्—नष्ट करने के लिए; आनुश्रवम्—प्रामाणिक व्यक्ति से श्रवण-विधि से युक्त; श्रुतिभिः—कानों से; अङ्घ्रि-जम्—आपके चरणकमलों से निकली (पवित्र नदी से युक्त); अङ्ग-सङ्गैः—सीधे शारीरिक सम्पर्क से; तीर्थ-द्वयम्—ये दो प्रकार के तीर्थस्थान; शुचि-षदः—शुद्धि के लिए प्रयत्नशील; ते—तुम्हारे; उपस्पृशन्ति—साथ रहने के लिए पास आते हैं।

आपके विषय में वार्ता रूपी अमृतवाहिनी नदियाँ तथा आपके चरणकमलों के धोने से उत्पन्न पवित्र नदियाँ तीनों लोकों के सारे कल्मष को विनष्ट करने में समर्थ हैं। जो शुद्धि के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, वे अपने कानों से सुनी हुई आपकी महिमा की पवित्र कथाओं का सान्निध्य पाते हैं और आपके चरणकमलों से निकलने वाली पवित्र नदियों से उनमें स्नान करके, सान्निध्य प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*अनुश्रवं गुरोरुच्चारणमनुश्रूयन्ते*—मनुष्य को गुरु से सुनकर, कृष्ण के विषय में सुनना चाहिए। प्रामाणिक गुरु अपने शिष्य से भगवान् की लीलाओं,

शक्तियों तथा अवतारों का वर्णन करता है। यदि गुरु प्रामाणिक है और शिष्य निष्ठावान तथा आज्ञाकारी है, तो गुरु तथा शिष्य के मध्य सम्प्रेषण दोनों के लिए अमृत तुल्य है। सामान्य व्यक्ति भगवद्भक्तों द्वारा अनुभव किये जाने वाले विशेष आनन्द की कल्पना भी नहीं कर सकते। ऐसा अमृत तुल्य बोलना तथा सुनना बद्धजीव के हृदय के भीतर के सारे कल्मष को विनष्ट करता है, प्राथमिक कल्मष कृष्ण की सेवा किये बिना जीने की इच्छा है।

यहाँ पर वर्णित दूसरा अमृत *चरणामृत* है। भगवान् वामनदेव ने ब्रह्माण्ड के आवरण में पाद-प्रहार द्वारा छेद करके अपने चरणकमल को धोया, जिससे पवित्र गंगाजल उनके अँगूठे को धोता हुआ ब्रह्माण्ड में गिरा। इसी तरह यमुना नदी ने भी कृष्ण के चरणकमलों को पखारा, जब वे ५,००० वर्ष पूर्व इस लोक में प्रकट हुए थे। कृष्ण नित्य ही अपने संगियों तथा संगिनियों के साथ यमुना नदी में खेला करते थे, इसीलिए वह नदी भी *चरणामृत* है। इसलिए मनुष्य को गंगा या यमुना में स्नान करने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस्कॉन मन्दिरों में हर प्रात:काल कृष्ण के अर्चाविग्रह को स्नान कराया जाता है और इस तरह से पवित्र हुआ जल भी *चरणामृत* कहलाता है। श्रील प्रभुपाद ने अपने शिष्यों तथा अनुयायियों को प्रतिदिन प्रात:काल अर्चाविग्रह के समक्ष जाने और अर्चाविग्रह के स्नान से प्राप्त *चरणामृत* की तीन बूँदें पीने की शिक्षा दी है।

इन सारी विधियों से मनुष्य अपने हृदय को शुद्ध बना सकता है और आध्यात्मिक आनन्द का आस्वादन कर सकता है। जब कोई आध्यात्मिक आनन्द के पद पर स्थित हो जाता है, तो उसे इस भौतिक जगत में दूसरा जन्म नहीं लेना पड़ता। इस श्लोक में *शुचिषद:* शब्द सार्थक है—मनुष्य को कृष्णभावनामृत के शुद्ध कार्यकलापों में अपने को लगाना चाहिए। मनुष्य को प्रामाणिक गुरु से भगवान् की सेवा करना सीखना चाहिए और गुरु के आदेशों को बिना सोचे-समझे मान लेना चाहिए। जो लोग इस जगत की मरीचिका से जुड़े हुए हैं, वे कभी कभी ईश-विषय में अपने विचार गढ़ लेते हैं। किन्तु प्रामाणिक गुरु से ही हम भगवान् तथा उनकी भक्ति के विषय में पूर्ण तथा शुद्ध ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। ऐसा ज्ञान श्रील प्रभुपाद के सभी ग्रंथों में पाया जा सकता है।

श्रीबादरायणिरुवाच
इत्यभिष्टूय विबुधैः सेशः शतधृतिर्हरिम् ।
अभ्यभाषत गोविन्दं प्रणम्याम्बरमाश्रितः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; अभिष्टूय—प्रशंसा करके; विबुधैः—सारे देवताओं के साथ; स-ईशः—शिव समेत; शत-धृतिः—ब्रह्मा; हरिम्—परमेश्वर से; अभ्यभाषत—कहा; गोविन्दम्—गोविन्द को; प्रणम्य—प्रणाम करके; अम्बरम्—आकाश में; आश्रितः—स्थित।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : इस तरह ब्रह्माजी शिव तथा अन्य देवताओं समेत भगवान् गोविन्द की स्तुति करने के बाद स्वयं आकाश में स्थित हो गये और उन्होंने भगवान् को इस प्रकार से सम्बोधित किया।

श्रीब्रह्मोवाच
भूमेर्भारावताराय पुरा विज्ञापितः प्रभो ।
त्वमस्माभिरशेषात्मन्तत्तथैवोपपादितम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्रह्मा उवाच—श्री ब्रह्मा ने कहा; भूमेः—पृथ्वी का; भार—बोझ; अवताराय—कम करने के लिए; पुरा—पहले; विज्ञापितः—प्रार्थना किये गये थे; प्रभो—हे प्रभु; त्वम्—तुम; अस्माभिः—हमारे द्वारा; अशेष-आत्मन्—हे सबों के असीम आत्मा; तत्—वह (प्रार्थना); तथा एव—जैसा हमने कहा, उसी तरह; उपपादितम्—पूरा हुआ।

ब्रह्मा ने कहा : हे प्रभु, इसके पूर्व हमने आपसे पृथ्वी का भार हटाने की प्रार्थना की थी। हे अनन्त भगवान्, हमारी वह प्रार्थना पूरी हुई है।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ने देवताओं से कहा होगा, ''वस्तुतः तुम लोगों ने क्षीरोदकशायी विष्णु से अवतार लेने के लिए कहा था, तो फिर यह क्यों कह रहे हो कि मुझसे प्रार्थना की थी ? मैं तो गोविन्द हूँ।'' इसीलिए ब्रह्मा ने उन्हें *अशेषात्मा* कह कर सम्बोधित किया है, जिसका अर्थ है कि असीम भगवान्, जिनसे विष्णु के सारे स्वांश उद्भूत होते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का ऐसा मत है।

धर्मश्च स्थापितः सत्सु सत्यसन्धेषु वै त्वया ।
कीर्तिश्च दिक्षु विक्षिप्ता सर्वलोकमलापहा ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

धर्मः—धर्म के सिद्धान्त; च—तथा; स्थापितः—स्थापित; सत्सु—पवित्र जनों में; सत्य-सन्धेषु—सत्य की खोज करने वालों में से; वै—निस्सन्देह; त्वया—तुम्हारे द्वारा; कीर्तिः—तुम्हारी कीर्ति; च—तथा; दिक्षु—सारी दिशाओं में; विक्षिप्ता—फैली हुई; सर्व-लोक—सारे लोकों के; मल—कल्मष; अपहा—दूर करने वाले।

हे प्रभु, आपने उन पवित्र लोगों के बीच धर्म की पुनर्स्थापना की है, जो सत्य से सदैव दृढ़तापूर्वक बँधे हुए हैं। आपने अपनी कीर्ति का भी सारे विश्व में वितरण किया है। इस तरह सारा संसार आपके विषय में श्रवण करके शुद्ध किया जा सकता है।

अवतीर्य यदोर्वंशे बिभ्रद्रूपमनुत्तमम् ।
कर्माण्युद्दामवृत्तानि हिताय जगतोऽकृथाः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अवतीर्य—अवतरित होकर; यदोः—राजा यदु के; वंशे—वंश में; बिभ्रत्—धारण करते हुए; रूपम्—दिव्य रूप; अनुत्तमम्—अद्वितीय; कर्माणि—कर्म; उद्दाम-वृत्तानि—उदार कार्यों से युक्त; हिताय—लाभ के लिए; जगतः—ब्रह्माण्ड के; अकृथाः—आपने सम्पन्न किया।

आपने यदुवंश में अवतार लेकर अपना अद्वितीय दिव्य रूप प्रकट किया है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के कल्याण हेतु आपने उदार दिव्य कृत्य किये हैं।

यानि ते चरितानीश मनुष्याः साधवः कलौ ।
शृण्वन्तः कीर्तयन्तश्च तरिष्यन्त्यञ्जसा तमः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

यानि—जिन; ते—तुम्हारे; चरितानि—लीलाओं को; ईश—हे परमेश्वर; मनुष्याः—मनुष्य; साधवः—सन्त-पुरुष; कलौ—कलियुग में; शृण्वन्तः—सुनते हुए; कीर्तयन्तः—कीर्तन करते हुए; च—तथा; तरिष्यन्ति—पार कर जायेंगे; अञ्जसा—सरलता से; तमः—अंधकार।

हे प्रभु, कलियुग में पवित्र तथा सन्त-पुरुष, जो आपके दिव्य कार्यों का श्रवण करते हैं और उनका यशोगान करते हैं, वे इस युग के अंधकार को सरलता से लाँघ जायेंगे।

तात्पर्य : दुर्भाग्यवश, कलियुग में बहुत से लोग प्रामाणिक वैदिक साहित्य के प्रति आकृष्ट नहीं होते। वे भगवान् की कीर्ति के श्रवण तथा कीर्तन की विधि को महत्त्व न देकर रेडियो तथा टेलीविजन की व्यर्थ तथा अंटशंट ध्वनियाँ सुनना चाहते हैं तथा अखबारों और पत्रिकाओं इत्यादि को पढ़ना चाहते हैं। वे किसी प्रामाणिक गुरु से कृष्ण के विषय में सुनने की अपेक्षा हर बात पर तब तक अपना मत व्यक्त करते रहते हैं, जब तक कि काल उन्हें घसीट नहीं ले जाता। वे भौतिक जगत के नश्वर तथा सीमित रूपों का अध्ययन करने के बाद, अधीर होकर इस निष्कर्ष पर जा पहुँचते हैं कि परम सत्य निराकार है। ऐसे लोग वस्तुतः कृष्ण की माया की पूजा करते हैं, जिसे बड़े से बड़े लोगों को लतियाने का अधिकार प्राप्त है। यदि इसके बदले में लोग प्रामाणिक स्रोतों से कृष्ण के विषय में सुनें, तो वे

अपने जीवन की सारी समस्याएँ आसानी से हल कर सकते हैं। कलियुग में लोग अनेक मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक तथा जीवन-सम्बन्धी समस्याओं से निरन्तर त्रस्त रहते हैं। किन्तु ये स्वप्नतुल्य समस्याएँ तुरन्त ही दूर हो जाती हैं, जब कोई व्यक्ति सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् की वास्तविकता के प्रति जागरूक हो उठता है। इस ब्रह्माण्ड में भगवान् इसीलिए प्रकट होते हैं, जिससे लोग उनके कार्यकलाप देख सकें, उनके बारे में सुन सकें और उनका यशोगान कर सकें। इस कलिकाल के कठिन युग में लोगों को इस अवसर का लाभ उठाना चाहिए।

यदुवंशेऽवतीर्णस्य भवतः पुरुषोत्तम ।
शरच्छतं व्यतीयाय पञ्चविंशाधिकं प्रभो ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यदु-वंशे—यदुकुल में; अवतीर्णस्य—अवतरित; भवतः—आपका; पुरुष-उत्तम—हे परम पुरुष; शरत्-शतम्—एक सौ शरद ऋतुएँ; व्यतीयाय—व्यतीत करके; पञ्च-विंश—पच्चीस; अधिकम्—अधिक; प्रभो—हे प्रभु।

हे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, हे प्रभु, आप यदुकुल में अवतरित हुए हैं और अपने भक्तों के साथ आपने एक सौ पच्चीस शरद ऋतुएँ बिताई हैं।

नाधुना तेऽखिलाधार देवकार्यावशेषितम् ।
कुलं च विप्रशापेन नष्टप्रायमभूदिदम् ॥ २६ ॥
ततः स्वधाम परमं विशस्व यदि मन्यसे ।
सलोकाल्लोकपालान्नः पाहि वैकुण्ठकिङ्करान् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

न अधुना— और अधिक नहीं; ते—तुम्हारे लिए; अखिल-आधार—सभी वस्तुओं के आधार; देव-कार्य—देवताओं की ओर से किया गया कार्य; अवशेषितम्—शेष भाग; कुलम्—आपका वंश; च—तथा; विप्र-शापेन—ब्राह्मण के शाप से; नष्ट-प्रायम्—एक तरह से विनष्ट; अभूत्—हो गया है; इदम्—यह; ततः—इसलिए; स्व-धाम—अपने धाम; परमम्—परम; विशस्व—प्रवेश कीजिए; यदि—यदि; मन्यसे—आप ऐसा मानते हैं; स-लोकान्—सारे लोकों के निवासियों सहित; लोक-पालान्—लोकों के संरक्षक; नः—हमको; पाहि—रक्षा करते रहें; वैकुण्ठ—विष्णु का वैकुण्ठ; किङ्करान्—सेवकों को।

हे प्रभु, इस समय देवताओं की ओर से, आपको करने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहा। आपने पहले ही अपने वंश को ब्राह्मण के शाप से उबार लिया है। हे प्रभु, आप सारी वस्तुओं के आधार हैं और यदि आप चाहें, तो अब वैकुण्ठ में अपने धाम को लौट जाय। साथ ही, हमारी विनती है कि आप सदैव हमारी रक्षा करते रहें। हम आपके विनीत दास हैं और आपकी ओर से

हम ब्रह्माण्ड का कार्यभार सँभाले हुए हैं। हमें अपने लोकों तथा अनुयायियों समेत आपके सतत संरक्षण की आवश्यकता है।

श्रीभगवानुवाच
अवधारितमेतन्मे यदात्थ विबुधेश्वर ।
कृतं वः कार्यमखिलं भूमेर्भारोऽवतारितः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अवधारितम्—समझा जाता है; एतत्—यह; मे—मेरे द्वारा; यत्—जो; आत्थ—आपने कहा है; विबुध-ईश्वर—हे देवताओं के नियन्ता, ब्रह्मा; कृतम्—पूर्ण हो चुका; वः—तुम्हारा; कार्यम्—कार्य; अखिलम्—सारा; भूमेः—पृथ्वी का; भारः—भार; अवतारितः—हटा दिया गया।

भगवान् ने कहा : हे देवताओं के अधीश ब्रह्मा, मैं तुम्हारी प्रार्थनाओं तथा अनुरोध को समझता हूँ। पृथ्वी का भार हटाकर मैं वह सारा कार्य सम्पन्न कर चुका, जिस कार्य की तुम लोगों से अपेक्षा थी।

तदिदं यादवकुलं वीर्यशौर्यश्रियोद्धतम् ।
लोकं जिघृक्षद्रुद्धं मे वेलयेव महार्णवः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तत् इदम्—इसी; यादव-कुलम्—यादव-वंश; वीर्य—उनकी शक्ति; शौर्य—साहस; श्रिया—तथा ऐश्वर्य से; उद्धतम्—प्रवर्धित; लोकम्—सारा जगत; जिघृक्षत्—निगल जाने की धमकी देते हुए; रुद्धम्—रोका हुआ; मे—मेरे द्वारा; वेलया—समुद्री तट द्वारा; इव—सदृश; महा-अर्णवः—महासागर।

वही यादव-कुल, जिसमें मैं प्रकट हुआ, ऐश्वर्य में, विशेष रूप से अपने शारीरिक बल तथा साहस में, इस हद तक बढ़ गया कि वे सारे जगत को ही निगल जाना चाहते थे। इसलिए मैंने उन्हें रोक दिया है, जिस तरह तट महासागर को रोके रहता है।

तात्पर्य : यदुवंश के वीर पुरुष इतने शक्तिशाली थे कि देवता तक उन्हें रोक नहीं सकते थे। यदुओं का उत्साह घातक युद्धों में विजय पाने के कारण अत्यधिक बढ़ चुका था और उनका वध नहीं किया जा सकता था। वे अपने शौर्य के कारण सारे संसार में अपना राज्य स्थापित करना चाहते थे, इसलिए भगवान् ने उन्हें रोका और पृथ्वी से उन्हें हटा लिया।

यद्यसंहृत्य दृप्तानां यदूनां विपुलं कुलम् ।
गन्तास्म्यनेन लोकोऽयमुद्वेलेन विनङ्क्ष्यति ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; असंहृत्य—बिना हटाये; दृप्तानाम्—घमंड से चूर रहने वाले; यदूनाम्—यदुओं के; विपुलम्—विशाल; कुलम्—वंश को; गन्ता अस्मि—मैं जाता हूँ; अनेन—इस कारण से; लोकः—जगत; अयम्—यह; उद्वेलेन—उफान (यदुओं के) से; विनङ्क्ष्यति—विनष्ट हो जायेगा।

यदि मुझे यदुवंश के इन अतिशय घमंड से चूर रहने वाले सदस्यों को हटाए बिना यह संसार त्यागना पड़ा, तो इनके असीम विस्तार के उफान से सारा संसार विनष्ट हो जायेगा।

तात्पर्य : जिस तरह ज्वार की लहरें समुद्र तट की सीमा को लाँघ कर निर्दोष लोगों पर कहर ढा देती हैं, उसी प्रकार यह खतरा सन्निकट था कि बलशाली यदुवंश सामाजिक तथा राजनीतिक नियंत्रण की सारी सीमाओं के परे विस्तार कर जाय। यदुवंशी लोग भगवान् से पारिवारिक सम्बन्ध होने के कारण अत्यन्त गर्वित हो उठे थे। यद्यपि वे अत्यन्त धार्मिक तथा ब्राह्मण संस्कृति के भक्त थे, किन्तु भगवान् कृष्ण से सम्बन्धित होने के कारण वे गर्वित थे जैसाकि *दृप्तानाम्* शब्द से सूचित होता है। इतनी ही नहीं, कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेम के कारण उनके वैकुण्ठ चले जाने के बाद इतना गहन वियोग, उन्हें सतायेगा कि वे उन्मत्त हो उठेंगे और पृथ्वी पर उनका भार असह्य हो उठेगा। किन्तु श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इंगित किया है कि पृथ्वी कृष्ण के प्रति अनुरक्त होने से स्वयं कृष्ण के परिवार वालों को भार मानते हुए भी उनका स्वागत करेगी। तो भी कृष्ण इस भार को हटा देना चाहते थे। यहाँ यह उदाहरण दिया गया है कि नई नवेली दुलहन अपने पति को प्रसन्न करने के लिए तमाम स्वर्ण-आभूषणों से सज सकती है। यद्यपि ये आभूषण उस सुकुमार दुलहन के लिए पीड़ादायक भार बनते हैं और वह इस भार को अपने पति के सुख के लिए सहन करने को तैयार रहती है, किन्तु उसका प्रिय पति अपनी पत्नी की खुशी के लिए इस भार को हटा देता है। इसलिए भगवान् सावधानी के रूप में यदुवंश के भार को पृथ्वी से हटा देना चाह रहे थे, जैसे कहा जाता है कि थोड़ी-सी सावधानी बहुत बड़े उपचार का काम करती है।

इदानीं नाश आरब्धः कुलस्य द्विजशापजः ।
यास्यामि भवनं ब्रह्मन्नेतदन्ते तवानघ ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

इदानीम्—इस समय; नाशः—विनाश; आरब्धः—शुरू हो चुका है; कुलस्य—वंश का; द्विज-शाप-जः—ब्राह्मणों के शाप के कारण; यास्यामि—मैं जाऊँगा; भवनम्—आवास-स्थान को; ब्रह्मन्—हे ब्रह्मा; एतत्-अन्ते—इसके पश्चात्; तव—तुम्हारे; अनघ—हे निष्पाप।

अब ब्राह्मणों के शाप के कारण मेरे परिवार का विनाश पहले ही शुरू हो चुका है। हे निष्पाप ब्रह्मा, जब यह विनाश पूरा हो चुकेगा और मैं वैकुण्ठ जा रहा होऊँगा, तो मैं थोड़े समय के लिए तुम्हारे वास-स्थान पर अवश्य आऊँगा।

तात्पर्य : यदुवंश के सदस्य भगवान् के नित्य दास हैं, इसलिए श्रील जीव गोस्वामी ने *नाश:* शब्द की व्याख्या *निगूढायां द्वारकायां प्रवेशनम् इत्यर्थ:*—यदुवंश के सदस्य वैकुण्ठ-लोक के गुह्य द्वारका में प्रविष्ट हुए, जो इस पृथ्वी पर प्रकट नहीं है। दूसरे शब्दों में, भगवान् का धाम द्वारका इस धरती पर प्रकट है, किन्तु जब पृथ्वी का द्वारका हटता है, तो वैकुण्ठ-लोक का नित्य द्वारका यथावत् बना रहता है। चूँकि यदुवंश के लोग भगवान् के नित्य संगी हैं, अतएव उनके विनाश का कोई प्रश्न नहीं है। केवल उनके प्राकट्य से सम्बन्धित हमारी बद्ध दृष्टि विनष्ट होती है। यही *नाश:* शब्द का अर्थ है।

श्रीशुक उवाच
इत्युक्तो लोकनाथेन स्वयम्भू: प्रणिपत्य तम् ।
सह देवगणैर्देव: स्वधाम समपद्यत ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उक्त:—कहे जाने पर; लोक-नाथेन—ब्रह्माण्ड के स्वामी श्रीकृष्ण द्वारा; स्वयम्-भू:—स्वत: जन्मे ब्रह्मा ने; प्रणिपत्य—गिर कर नमस्कार करते हुए; तम्—उनको; सह—सहित; देव-गणै:—सारे देवताओं; देव:—ब्रह्माजी; स्व-धाम—अपने निजी धाम; समपद्यत—लौट गये।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : ब्रह्माण्ड के स्वामी द्वारा ऐसा कहे जाने पर स्वयम्भू ब्रह्मा उनके चरणकमलों पर गिर पड़े और उन्हें नमस्कार किया। तब सारे देवताओं से घिरे हुए ब्रह्माजी अपने निजी धाम लौट गये।

अथ तस्यां महोत्पातान्द्वारवत्यां समुत्थितान् ।
विलोक्य भगवानाह यदुवृद्धान्समागतान् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; तस्याम्—उस नगरी में; महा-उत्पातान्—भयंकर उपद्रवों को; द्वारवत्याम्—द्वारका में; समुत्थितान्—उठ खड़े हुए; विलोक्य—देखकर; भगवान्—भगवान् ने; आह—कहा; यदु-वृद्धान्—वृद्ध यदुवंशियों से; समागतान्—एकत्रित।

तत्पश्चात्, भगवान् ने देखा कि पवित्र नगरी द्वारका में भयंकर उत्पात हो रहे हैं। अत: एकत्रित वृद्ध यदुवंशियों से भगवान् इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : *मुनिवासनिवासे किम् घटेतारिष्टदर्शनम्*—जहाँ पर सन्त लोग निवास कर रहे हैं, ऐसे पवित्र स्थानों में उत्पातों या अशुभ घटनाओं के घटने की कोई सम्भावना नहीं है। इस तरह द्वारका में हो रहे तथाकथित उत्पात भगवान् द्वारा अपने शुभ प्रयोजन हेतु कराये जा रहे थे।

श्रीभगवानुवाच
एते वै सुमहोत्पाता व्युत्तिष्ठन्तीह सर्वतः ।
शापश्च नः कुलस्यासीद्ब्राह्मणेभ्यो दुरत्ययः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; एते—ये; वै—निस्सन्देह; सु-महा-उत्पाताः—अतीव बड़े उत्पात; व्युत्तिष्ठन्ति—उठ खड़े हो रहे हैं; इह—यहाँ; सर्वतः—सभी दिशाओं में; शापः—शाप; च—तथा; नः—हमारे; कुलस्य—परिवार का; आसीत्—होता रहा है; ब्राह्मणेभ्यः—ब्राह्मणों द्वारा; दुरत्ययः—निराकरण कर पाना (टाल सकना) असम्भव।

भगवान् ने कहा : ब्राह्मणों ने हमारे वंश को शाप दिया है। ऐसे शाप का परिहार असम्भव है, इसीलिए हमारे चारों ओर महान् उत्पात हो रहे हैं।

न वस्तव्यमिहास्माभिर्जिजीविषुभिरार्यकाः ।
प्रभासं सुमहत्पुण्यं यास्यामोऽद्यैव मा चिरम् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

न वस्तव्यम्—नहीं निवास करना चाहिए; इह—यहाँ; अस्माभिः—हमारे द्वारा; जिजीविषुभिः—जीवित रहने की इच्छा से; आर्यकाः—हे शिष्ट लोगो; प्रभासम्—प्रभास नामक तीर्थस्थान को; सु-महत्—अत्यधिक; पुण्यम्—पवित्र; यास्यामः—हम चलें; अद्य—आज; एव—ही; मा चिरम्—बिना विलम्ब किये।

हे आदरणीय वरेषुजनो, यदि हम अपने प्राणों को अक्षत रखना चाहते हैं, तो अब और अधिक काल तक हमें इस स्थान पर नहीं रहना चाहिए। आज ही हम परम पवित्र स्थल प्रभास चलें। हमें तनिक भी विलम्ब नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य : कृष्ण की लीलाओं में हाथ बँटाने के लिए अनेक देवताओं ने यदुकुल में जन्म लिया और वे भगवान् कृष्ण के संगियों के रूप में प्रकट हुए। जब भगवान् अपनी पार्थिव लीलाएँ समाप्त कर चुके, तो उन्होंने इन देवताओं को पुनः उनके विश्व-प्रशासन के कार्य पर वापस भेजना चाहा। हर देवता को अपने लोक में वापस जाना था। दिव्य नगरी द्वारका इतनी मंगलमयी है कि जो भी यहाँ, मरता है, वह तुरन्त ही भगवद्धाम वापस जाता है, किन्तु यदुवंश के अनेक देवता-सदस्य अभी भगवद्धाम जाने के लिए तैयार नहीं थे, इसलिए उन्हें द्वारका से बाहर जाकर मरना पड़ा। इस तरह भगवान् ने सामान्य जीव जैसा बनते हुए कहा, ''हम सभी संकट में हैं। हम सबों को तुरन्त प्रभास चलना चाहिए।'' इस

तरह कृष्ण ने अपनी योगमाया से यदुवंश के देवता-सदस्यों को मोहित कर लिया और उन्हें पवित्र स्थान प्रभास ले गये।

चूँकि द्वारका *परम मंगल* अर्थात् सर्वाधिक शुभ स्थान है, अतएव यहाँ पर कोई बनावटी अमंगल भी घटित नहीं हो सकता। वस्तुतः यदुवंश को हटाने की कृष्ण-लीला अंततः मंगलकारी है, किन्तु बाहरी तौर से यह *अशुभ* लगने वाली है, इसलिए यह द्वारका में नहीं घटित हुई, अपितु भगवान् कृष्ण यदुओं को द्वारका से बाहर ले गये। देवताओं को उनके लोकों में भेज कर भगवान् ने अपने मूल रूप में वैकुण्ठ वापस जाने और द्वारका नगरी में रहते जाने की योजना बनाई।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस श्लोक के विषय में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण टीका की है। प्रभास एक प्रसिद्ध पवित्र स्थान है, जो वेरवल रेलवे स्टेशन के पास जूनागढ़ क्षेत्र में स्थित है। श्रीमद्भागवत् के ग्यारहवें स्कंध के अध्याय ३० में लिखा हुआ है कि श्रीकृष्ण के वचन सुनकर यादवगण द्वारका की द्वीप नगरी से नावों द्वारा मुख्य स्थल पर गये और तब रथों में सवार होकर प्रभास की यात्रा की। प्रभास क्षेत्र में उन्होंने मैरेय नामक सुरा का पान किया और परस्पर लड़ने-झगड़ने लगे। इस युद्ध में लाठियों से वे एक-दूसरे पर प्रहार करने लगे और इस तरह उन्होंने अपने ही विनाश की लीला शुरू कर दी।

श्रीकृष्ण अपने चतुर्भुजी रूप में एक पीपल-वृक्ष के नीचे अपनी दाहिनी जाँघ पर अपना बायाँ पाँव रख कर बैठ गये। उनके पाँव का तलवा कोकनद (लाल कमल) जैसे लाल रंग का लग रहा था। जरा नामक बहेलिया प्रभास के समुद्र तट से यह देख रहा था। उसने उनके लाल पाँव को हिरन का मुख समझ कर उस पर तीर चला दिया।

जिस पीपल-वृक्ष के नीचे कृष्ण बैठे थे, अब वहाँ पर एक मन्दिर है। इस वृक्ष से एक मील की दूरी पर समुद्र तट पर वीर प्रभञ्जन मठ है और यह कहा जाता है कि इसी स्थान से जरा बहेलिये ने तीर साधा था।

महाभारत तात्पर्य निर्णय नामक ग्रंथ के अन्त में श्री मध्वाचार्यपाद ने *मौषल लीला* का तात्पर्य निम्नवत लिखा है। भगवान् ने असुरों को मोहित करने तथा यह निश्चित करने के लिए कि उनके भक्तों के तथा ब्राह्मणों के वचन सत्य हों, उन्होंने मायारूपी देह उत्पन्न की, जिसमें जाकर तीर लगा। किन्तु

भगवान् के चतुर्भुजी रूप को जरा का तीर छू भी नहीं पाया। जरा वास्तव में भगवान् का भक्त भृगु ऋषि था। भूतकाल में भृगु मुनि के भगवान् विष्णु के वक्षस्थल पर लात मारी थी। इस घोर अपराध के फलस्वरूप भृगु को अधम शिकारी का जन्म लेना पड़ा। यद्यपि एक महान् भक्त ऐसा अधम जन्म खुशी खुशी स्वीकार कर लेता है, किन्तु भगवान् अपने भक्त को ऐसी अधम दशा में नहीं देख सकते। अतएव भगवान् ने ऐसी व्यवस्था की कि द्वापर युग के अन्त में, जब भगवान् अपनी प्रकट लीलाएँ समाप्त कर रहे थे, तो जरा बहेलिये के रूप में, उनका भक्त भृगु उनके मायारूपी शरीर पर तीर चलायेगा। इस तरह बहेलिया पश्चाताप करेगा और अपने अधम जन्म से छुटकारा पाकर भगवद्धाम वापस लौट जायेगा।

इसलिए भगवान् ने अपने भक्त भृगु को प्रसन्न करने तथा असुरों को बहकाने के लिए प्रभास में *मौषल लीला* प्रकट की, किन्तु यह समझना चाहिए कि यह एक मायावी लीला है। भगवान् कृष्ण ने इस धरा पर अपने आविर्भाव काल से कभी भी सामान्य मनुष्य के भौतिक गुणों का प्रदर्शन नहीं किया। वे अपनी माता के गर्भ से प्रकट नहीं हुए, प्रत्युत वे अपनी अचिन्त्य शक्ति से प्रसूति-गृह में अवतरित हुए थे। इसी तरह इस मर्त्य लोक का परित्याग करते समय असुरों को मोहग्रस्त करने के लिए मायावी रूप प्रकट किया। अभक्तों को मोहित करने के लिए उन्होंने अपनी माया से मायावी शरीर धारण किया, जबकि उसी के साथ साथ वे अपने *सच्चिदानन्द* शरीर में रहते रहे और इस तरह उन्होंने मायावी भौतिक शरीर का विनष्ट होना प्रकट किया। यह बहाना मूर्ख असुरों को भलीभाँति मोहित करता है, किन्तु श्रीकृष्ण का वास्तविक सच्चिदानन्द शरीर कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता।

प्रभास क्षेत्र में ही एक अन्य पवित्र स्थान है, जिसका नाम भृगुतीर्थ है, जिसको परशुराम ने प्रकट किया था। वह स्थान जहाँ पर सरस्वती तथा हिरण्य नदियाँ समुद्र में मिलती हैं, भृगुतीर्थ कहलाता है और यहीं पर बहेलिए ने तीर चलाया था। *स्कन्द पुराण* के *प्रभास खण्ड* में प्रभासतीर्थ विषयक विस्तृत वर्णन है। प्रभासतीर्थ के सम्बन्ध में *महाभारत* में अनेक *फलश्रुतियाँ* भी दी हुई हैं। फलश्रुतियाँ वे शास्त्रीय कथन हैं, जो किसी पुण्यकर्म करने वाले को शुभ फल दिलाने का वचन देती हैं। अगले श्लोकों में भगवान् स्वयं ही प्रभास क्षेत्र जाने और वहाँ धार्मिक कृत्य करने से मिलने वाले विशेष लाभों को बतलाते हैं।

**यत्र स्नात्वा दक्षशापाद्गृहीतो यक्ष्मणोदुराट् ।
विमुक्तः किल्बिषात्सद्यो भेजे भूयः कलोदयम् ॥ ३६ ॥**

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; स्नात्वा—स्नान करके; दक्ष-शापात्—प्रजापति दक्ष के शाप से; गृहीतः—पकड़ा हुआ, पीड़ित; यक्ष्मणा—फेफड़ों के रोग यक्ष्मा से; उडु-राट्—तारों का राजा, चन्द्रमा; विमुक्तः—मुक्त हुआ; किल्बिषात्—अपने पापों से; सद्यः—तुरन्त; भेजे—धारण किया; भूयः—पुनः; कला—अपनी कलाओं की; उदयम्—अभिवृद्धि।

एक बार दक्ष के शाप के कारण चन्द्रमा यक्ष्मा से पीड़ित था, किन्तु प्रभास क्षेत्र में स्नान करने मात्र से चन्द्रमा अपने सारे पापों से तुरन्त विमुक्त हो गया और उसने अपनी कलाओं की अभिवृद्धि भी प्राप्त की।

**वयं च तस्मिन्नाप्लुत्य तर्पयित्वा पितृन्सुरान् ।
भोजयित्वोषिजो विप्रान्नानागुणवतान्धसा ॥ ३७॥
तेषु दानानि पात्रेषु श्रद्धयोप्त्वा महान्ति वै ।
वृजिनानि तरिष्यामो दानैर्नौभिरिवार्णवम् ॥ ३७॥**

शब्दार्थ

वयम्—हम; च—भी; तस्मिन्—उस स्थान पर; आप्लुत्य—स्नान करके; तर्पयित्वा—भेंट द्वारा तुष्ट करके, तर्पण करके; पितृन्—दिवंगत् पुरखों को; सुरान्—तथा देवताओं को; भोजयित्वा—भोजन कराकर; उषिजः—पूज्य; विप्रान्—ब्राह्मणों को; नाना—विविध; गुण-वता—स्वाद वाले; अन्धसा—भोजन से; तेषु—उन (ब्राह्मणों) में; दानानि—दान, भेंटें; पात्रेषु—दान के योग्य व्यक्ति; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; उप्त्वा—बोकर (उन्हें भेंट करके); महान्ति—महान्; वै—निस्सन्देह; वृजिनानि—संकट; तरिष्यामः—हम लाँघ सकेंगे; दानैः—अपने दान से; नौभिः—नावों से; इव—जैसे; अर्णवम्—समुद्र को।

प्रभास क्षेत्र में स्नान करने, वहाँ पर पितरों तथा देवताओं को प्रसन्न करने के लिए बलि देने, पूज्य ब्राह्मणों को नाना प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजन खिलाने तथा उन्हें ही दान का योग्य पात्र मान कर पर्याप्त दान देने से, हम निश्चय ही इन भीषण संकटों को पार कर सकेंगे, जिस तरह मनुष्य किसी उपयुक्त नाव में चढ़ कर महासागर को पार कर सकता है।

श्रीशुक उवाच
**एवं भगवतादिष्टा यादवाः कुरुनन्दन ।
गन्तुं कृतधियस्तीर्थं स्यन्दनान्समयूयुजन् ॥ ३९ ॥**

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; भगवता—भगवान् द्वारा; आदिष्टाः—आदेश दिये गये; यादवाः—यादवगण; कुरु-नन्दन—हे कुरुओं के प्रिय; गन्तुम्—जाने के लिए; कृत-धियः—मन में संकल्प करके; तीर्थम्—पवित्र स्थान को; स्यन्दनान्—अपने रथों में; समयूयुजन्—घोड़े जोत दिये।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे कुरुनन्दन, इस तरह भगवान् द्वारा आदेश दिये जाने पर यादवों ने उस प्रभास क्षेत्र नामक पवित्र स्थान को जाने का निश्चय किया और उन्होंने अपने अपने रथों में घोड़े जोत दिये।

तन्निरीक्ष्योद्धवो राजन्श्रुत्वा भगवतोदितम् ।
दृष्ट्वारिष्टानि घोराणि नित्यं कृष्णमनुव्रतः ॥ ४० ॥
विविक्त उपसङ्गम्य जगतामीश्वरेश्वरम् ।
प्रणम्य शिरिसा पादौ प्राञ्जलिस्तमभाषत ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; निरीक्ष्य—देखकर; उद्धवः—उद्धव; राजन्—हे राजा; श्रुत्वा—सुनकर; भगवता—भगवान् द्वारा; उदितम्—कहा हुआ; दृष्ट्वा—देखकर; अरिष्टानि—अपशकुनों को; घोराणि—भयानक; नित्यम्—सदैव; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण का; अनुव्रतः—श्रद्धालु अनुयायी; विविक्ते—एकान्त में; उपसङ्गम्य—पास जाकर; जगताम्—ब्रह्माण्ड के समस्त चर प्राणियों के; ईश्वर—नियन्ता के; ईश्वरम्—परम नियन्ता को; प्रणम्य—प्रणाम करके; शिरसा—सिर के बल; पादौ—उनके चरणों पर; प्राञ्जलिः—विनती के लिए हाथ जोड़े; तम्—उनसे; अभाषत—बोले।

हे राजन्, उद्धव भगवान् कृष्ण के सदा से ही श्रद्धावान अनुयायी थे। यादवों के कूच को अत्यन्त निकट देखकर, उनसे भगवान् के आदेशों को सुनकर तथा भयावने अपशकुनों को ध्यान में रखते हुए, वे एकान्त स्थान में भगवान् के पास गये। उन्होंने ब्रह्माण्ड के परम नियन्ता के चरणकमलों पर अपना शीश झुकाया और हाथ जोड़ कर उनसे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार भगवान् के निजी धाम में कोई वास्तविक उत्पात नहीं हो सकता। द्वारका में हो रहे महान् उत्पात वास्तव में बाह्य प्रदर्शन थे, जिन्हें भगवान् ने अपनी लीला को सुलभ करने के लिए उत्पन्न किया था। हम मान्य आचार्यों से सुन कर ही कृष्ण की लीलाएँ समझ सकते हैं। कृष्ण कोई संसारी ऐतिहासिक पुरुष नहीं हैं और उनके कार्यकलापों को भौतिक तर्क की क्षुद्र सीमाओं में सीमित नहीं रखा जा सकता। भगवान् कृष्ण की लीलाएँ उनकी *अचिन्त्य शक्ति* का प्रदर्शन हैं, जो अंध बद्ध आत्माओं तथा उनके क्षुद्र भौतिक तर्क से परे उच्चतर आध्यात्मिक नियमों के अनुसार कार्य करती है।

श्रीउद्धव उवाच
देवदेवेश योगेश पुण्यश्रवणकीर्तन ।
संहृत्यैतत्कुलं नूनं लोकं सन्त्यक्ष्यते भवान् ।

विप्रशापं समर्थोऽपि प्रत्यहन्न यदीश्वरः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; देव-देव—देवताओं में सबसे महान् के; ईश—हे परम ईश्वर; योग-ईश—हे समस्त योगशक्ति के स्वामी; पुण्य—जो पवित्र हैं; श्रवण-कीर्तन—जिसकी महिमा का श्रवण तथा कीर्तन कर रहे आप; संहृत्य—समेट कर; एतत्—इस; कुलम्—वंश को; नूनम्—ऐसा नहीं है; लोकम्—यह जगत; सन्त्यक्ष्यते—सदा के लिए त्यागने वाले हैं; भवान्—आप; विप्र-शापम्—ब्राह्मणों का शाप; समर्थः—सक्षम; अपि—यद्यपि; प्रत्यहन् न—तुमने मिटाया नहीं; यत्—क्योंकि; ईश्वरः-थे सुप्रेमे लोर्द.

श्री उद्धव ने कहा : हे प्रभु, हे देवों के परम ईश्वर, आपकी दिव्य महिमा का श्रवण और कीर्तन करने से ही असली दया आती है। हे प्रभु, ऐसा लगता है कि अब आप अपने वंश को समेट लेंगे और आप इस ब्रह्माण्ड में अपनी लीलाएँ भी बन्द कर देंगे। आप सम्स्त माया-शक्ति के परम नियन्ता और स्वामी हैं। यद्यपि आप अपने वंश को दिये गये ब्राह्मणों के शाप को मिटाने में पूर्णतया समर्थ हैं, किन्तु आप ऐसा नहीं कर रहे हैं और आपका तिरोधान सन्निकट है।

तात्पर्य : जैसाकि पहले कहा जा चुका है, कृष्ण के वंश को कभी विनष्ट नहीं किया जा सकता, अतएव *संहृत्य* का अर्थ है कि वे इस भौतिक संसार से प्रयाण करते समय यादवों को अपने साथ लेते जा रहे हैं। किन्तु सामान्य अप्रबुद्ध लोगों की दृष्टि में यदुवंश का समेटा जाना, उसका विनाश लग रहा है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने उद्धव के कथन की बहुत ही उत्तम व्याख्या की है, जो इस प्रकार है—

कृष्ण को *देवदेव* कहा गया है, क्योंकि उन्होंने इस ब्रह्माण्ड में अवतार लेकर देवताओं की सारी समस्याओं का कुशलतापूर्वक समाधान कर दिया। भगवान् ने संसार को असुरों से विहीन कर दिया और अपने भक्तों तथा धर्म दोनों को ही दृढ़तापूर्वक स्थापित किया। यहाँ पर भगवान् कृष्ण को *योगेश* कहा गया है, क्योंकि उन्होंने न केवल देवताओं की ओर से सारे कार्य सम्पन्न किये, अपितु अपने शुद्ध भक्तों के आनन्द हेतु दिव्य गुणों तथा भावों से पूर्ण अपना सुन्दर दिव्य स्वरूप भी प्रकट किया। कृष्ण को *पुण्यश्रवणकीर्तन* कहा गया है, क्योंकि जब उन्होंने अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा मनुष्य जैसे कार्यों का प्रदर्शन किया, तो उन्होंने अपनी लीलाओं के विषय में असंख्य वैदिक शास्त्रों के लिखे जाने के लिए प्रोत्साहित किया। इस तरह भविष्य में उत्पन्न होने वाले हम-जैसे लोग भगवान् के कार्यकलापों के विषय में सुन सकेंगे और भगवद्धाम वापस जा सकेंगे।

अपने सारे भक्तों, यहाँ तक कि जो आगे उत्पन्न होंगे, उन सबके दिव्य आनन्द तथा मोक्ष का पूरा पूरा प्रबन्ध करके कृष्ण ने निश्चय किया कि अब उनके लिए इस भौतिक जगत को छोड़ने का समय आ गया है। उद्धव भगवान् की इच्छा को समझ गये, अत: कृष्ण से बोले, "आपने यादवों को प्रभास क्षेत्र में स्नान करके ब्राह्मणों के शाप को मिटाने के लिए आदेश दे दिया है, किन्तु पवित्र स्थान में स्नान करना मात्र आप भगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन करने की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण कैसे हो सकता है? चूँकि सारे यादव आपके दिव्य स्वरूप का सदैव दर्शन करते हैं और आप परमेश्वर हैं, तो फिर तथाकथित पवित्र स्थान में उनके स्नान करने से क्या लाभ है? अतएव स्पष्ट है कि आपका कोई अन्य प्रयोजन है। यदि आपकी मंशा शाप को मिटाने की होती तो आपने इतना ही कहा होता, "यह शाप काम न करे।" और शाप का निराकरण हो गया होता। इसलिए आप इस ब्रह्माण्ड को छोड़ने की तैयारी कर रहे हैं और इसीलिए आपने इस शाप को मिटाया नहीं।"

नाहं तवाङ्घ्रिकमलं क्षणार्धमपि केशव ।
त्यक्तुं समुत्सहे नाथ स्वधाम नय मामपि ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं हूँ; तव—तुम्हारे; अङ्घ्रि-कमलम्—चरणकमल; क्षण—एक क्षण का; अर्धम्—आधा; अपि—भी; केशव—हे केशी असुर के मारने वाले; त्यक्तुम्—छोड़ पाना; समुत्सहे—सहन करने में समर्थ हूँ; नाथ—हे प्रभु; स्व-धाम—अपने निजी धाम; नय—ले चलिये; माम्—मुझको; अपि—भी।

हे स्वामी, भगवान् कृष्ण, मैं आधे क्षण के लिए भी आपके चरणकमलों का विछोह सहन नहीं कर सकता। मेरी विनती है कि आप मुझे भी अपने साथ अपने धाम लेते चलें।

तात्पर्य : उद्धव समझ गये थे कि कृष्ण यदुवंश को समेटने जा रहे थे, इसीलिए उन्होंने उनसे प्रार्थना की कि वे उन्हें अपने धाम लेते जायें। उन्हें कृष्ण के निर्विशेष तेज में लीन होने की कोई कामना नहीं थी। बजाय इसके वे भगवान् के आध्यात्मिक धाम जाने और कृष्ण के सबसे प्रिय मित्र के रूप में सान्निध्य प्राप्त करने की चाह लिये हुए थे। कृष्ण तो भगवान् हैं और जो भी चाहें वे कर सकते हैं, किन्तु भक्तगण उनसे सेवा करने का अवसर प्रदान करने के लिए ही याचना करते हैं। यद्यपि भगवान् भौतिक जगत में अपने विभिन्न धामों को यथा वृन्दावन, द्वारका तथा मथुरा को प्रकट करते हैं और ये धाम वैकुण्ठ में अपने प्रतिरूपों से अभिन्न हैं, किन्तु बढ़े-चढ़े भक्तगण भगवान् की सेवा करने की इच्छा से अभिभूत होने के कारण भगवान् के आदि आध्यात्मिक धाम को जाना चाहते हैं। जैसाकि

श्रीमद्भागवत के तीसरे स्कंध में भगवान् कपिल ने कहा है, शुद्ध भक्तों को मोक्ष की कोई अभिलाषा नहीं रहती। सेवा करने की अपनी उत्सुकतावश ही वे भगवान् से अपने समक्ष प्रकट होने के लिए गिड़गिड़ाते हैं। राधा तथा कृष्ण की सेवा करने की प्रगाढ़ उत्सुकता के कारण छहों गोस्वामी उनके नाम पुकारते हुए वृन्दावन के जंगलों में उन्हें ढूँढ़ा करते थे। इसी तरह उद्धव भगवान् से विनती कर रहे हैं कि वे उन्हें अपने धाम लेते जायें, जिससे भगवान् के चरणकमलों की उनकी सेवा में क्षण-भर का भी व्यवधान न आये।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि अपरिपक्व बद्धजीव भगवान् कृष्ण को ऐसा सामान्य जीवात्मा मानते हैं, जो भौतिक कार्यों में लगा रहता है, जिसके कारण वे अपने ही वंश को ब्राह्मणों के शाप से नहीं बचा पाये। उद्धव के कथन से ऐसे अभागे व्यक्तियों के कथन का संशोधन हो जाता है। भगवान् कृष्ण ने ही पुण्यात्माओं को ब्राह्मण परिवारों में जन्म लेने का वर दिया था और उन्होंने ही उन्हें शक्ति प्रदान की थी, जिससे वे उन्हीं के वंश को शाप दें। और तो और, भगवान् कृष्ण ने शाप को अक्षत रखा, यद्यपि वे उसका निराकरण करने में सक्षम थे। इसलिए आदि, मध्य तथा अन्त में, प्रत्यक्ष रूप से तथा अप्रत्यक्ष रूप से, भूत, वर्तमान तथा भविष्य में कृष्ण ही परम सत्य हैं और वे भौतिक मोह या अशक्तता से तनिक भी प्रभावित नहीं होते।

तव विक्रीडितं कृष्ण नृनां परममङ्गलम् ।
कर्णपीयूषमासाद्य त्यजन्त्यन्यस्पृहां जनाः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

तव—तुम्हारी; विक्रीडितम्—लीलाएँ; कृष्ण—हे कृष्ण; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; परम-मङ्गलम्—अत्यन्त शुभ; कर्ण—कानों के लिए; पीयूषम्—अमृत; आसाद्य—आस्वादन करके; त्यजन्ति—त्याग देते हैं; अन्य—अन्य वस्तुओं के लिए; स्पृहाम्—उनकी इच्छाएँ; जनाः—व्यक्ति।

हे कृष्ण, आपकी लीलाएँ मनुष्य प्रजाति के लिए अतीव शुभ हैं और कानों के लिए मादक पेय तुल्य हैं। ऐसी लीलाओं का आस्वादन करने पर लोग अन्य वस्तुओं की इच्छाएँ भूल जाते हैं।

तात्पर्य : *अन्य-स्पृहाम्* अर्थात् "कृष्ण के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के लिए इच्छा" सूचक है पत्नी, सन्तान, धन इत्यादि के भोग की भौतिक इच्छा का। अन्ततः भौतिकतावादी व्यक्ति अपने निजी आराम तथा तुष्टि के लिए धार्मिक मोक्ष चाह सकता है, किन्तु ऐसी सारी इच्छाएँ संसारी हैं, क्योंकि आध्यात्मिक स्तर पर शुद्धात्मा केवल भगवान् की प्रसन्नता एवं भगवान् की सेवा के बारे में सोचता है।

अतएव शुद्ध भक्त क्षण-भर के लिए भी कृष्ण को नहीं त्याग सकता। हाँ, कृष्ण की प्रसन्नता के लिए, वह सारे ब्रह्माण्ड को त्याग सकता है।

शय्यासनाटनस्थानस्नानक्रीडाशनादिषु ।
कथं त्वां प्रियमात्मानं वयं भक्तास्त्यजेम हि ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सय्या—; आसन—; अटन—; स्थान—; स्नान—; क्रीडा—; आसन—; आदिषु—; कथम्—; त्वाम्—; प्रियम्—; आत्मानम्—; वयम्—; भक्ता:—; त्यजेम—; हि—.

हे प्रभु, आप परमात्मा हैं इसलिए, आप हमें सर्वाधिक प्रिय हैं। हम सभी आपके भक्त हैं, तो भला हम किस तरह आपको त्याग सकते हैं या आपके बिना क्षण-भर भी रह सकते हैं? हम लेटते-बैठते, चलते, खड़े होते, नहाते, खेलते, खाते या अन्य कुछ करते आपकी ही सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं।

तात्पर्य : मनुष्य को भगवान् कृष्ण की सेवा में निरन्तर लगे रहना चाहिए। कृष्ण के विषय में श्रवण करके तथा उनकी सेवा द्वारा हम उनसे पृथक् रूप में कुछ भी भोग करने का मोह त्याग सकते हैं। यदि हम इस तरह के सुनने तथा सेवा करने की उपेक्षा करते हैं, तो हमारे मन भगवान् की माया से मोहित हो जायेंगे; और इस जगत को कृष्ण से पृथक् देखने पर इस जगत को अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के निमित्त स्थान मान बैठेंगे। यह निपट अज्ञान जीव को कष्ट के अतिरिक्त ला ही क्या सकता है?

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः ।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

त्वया—तुम्हारे द्वारा; उपभुक्त—पहले भोगा हुआ; स्रक्—माला की; गन्ध—सुगन्ध; वास:—वस्त्र; अलङ्कार—तथा गहने; चर्चिताः—सज्जित; उच्छिष्ट—आपका जूठन; भोजिन:—खाते हुए; दासा:—दास; तव—आपके; मायाम्—माया को; जयेम—हम जीत लेंगे; हि—निस्सन्देह।

आपके द्वारा उपभोग की गई मालाओं, सुगन्धित तेलों, वस्त्रों तथा गहनों से अपने को सजाकर तथा आपका जूठन खाकर हम आपके दास निश्चय ही आपकी माया को जीत सकेंगे।

तात्पर्य : इस श्लोक से स्पष्ट है कि उद्धव माया से मोक्ष पाने के लिए भगवान् के पास नहीं आये हैं। कृष्ण के निजी विश्वस्त संगी होने से उद्धव निस्सन्देह पहले से पूर्णतया मुक्तात्मा थे। वे कृष्ण से इसलिए प्रार्थना कर रहे हैं, क्योंकि कृष्ण के बिना वे क्षण-भर भी रहने के विचार को नहीं सह सकते।

यह अनुभूति ईश-प्रेम कहलाती है। उद्धव ने कृष्ण को इस प्रकार सम्बोधित किया, ''यदि आपकी माया हम पर आक्रमण करे भी तो हे प्रभु! हम उसे अपने शक्तिशाली हथियारों से आसानी से जीत लेंगे। ये हथियार हैं आपका जूठन, वस्त्र, गहने इत्यादि। दूसरे शब्दों में, हम कृष्ण-प्रसादम् से माया के ऊपर आसानी से विजय पा लेंगे—व्यर्थ के चिन्तन तथा मनोरथ से नहीं।

वातवसना य ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनः ।
ब्रह्माख्यं धाम ते यान्ति शान्ताः सन्न्यासीनोऽमलाः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

वात-वसनाः—दिगम्बर, नग्न; ये—जो हैं; ऋषयः—ऋषिगण; श्रमणाः—आध्यात्मिक अभ्यास के कट्टर अनुयायी; ऊर्ध्व-मन्थिनः—ऊर्ध्वरेता, जिनका सुरक्षित वीर्य सिर तक चढ़ जाता है; ब्रह्म-आख्यम्—ब्रह्म के नाम से विख्यात; धाम—निर्विशेष दिव्य धाम; ते—वे; यान्ति—जाने के लिए; शान्ताः—शान्त; सन्न्यासिनः—संन्यासी लोग; अमलाः—पापरहित।

आध्यात्मिक अभ्यास में गम्भीरता से प्रयास करने वाले नग्न ऋषिगण, ऊर्ध्वरेता, शान्त तथा निष्पाप सन्यासी आध्यात्मिक धाम को प्राप्त करते हैं, जो ब्रह्म कहलाता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के बारहवें अध्याय में कहा गया है—*क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्*—जो लोग निर्विशेष भगवान् में अनुरक्त हैं उन्हें ब्रह्म के नक्षत्र में निर्विशेष मुक्ति पाने के लिए कठिन तपस्या करनी पड़ती है। *भागवत* में भी कहा गया है—*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः। पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः। कृच्छ्रेण:*—योगीजन अत्यधिक संघर्ष तथा कष्ट द्वारा बह्मज्योति तक ऊपर जा पाते हैं, किन्तु वे पुनः *ज्योति* से बाहर निकल कर भौतिक जगत में वापस गिर जाते हैं, क्योंकि वे भगवान् की शरण ग्रहण नहीं करते।

ईर्ष्यालु मूर्खजन भगवान् के ''पितृत्व'' का विरोध करते हैं, किन्तु ये मूर्ख अपना शरीर, मस्तिष्क या शक्ति उत्पन्न करने का न तो श्रेय ले सकते हैं, न ही वे वायु, वर्षा, वनस्पति, फल, सूर्य, चन्द्रमा इत्यादि के ही श्रेय का दावा कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में, वे हर क्षण ईश्वर की दया पर पूरी तरह आश्रित रहते हैं, फिर भी वे अत्यन्त ढीढ़ होकर कहते हैं कि वे भगवान् की शरण में जाना स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि वे आत्मनिर्भर हैं। वस्तुतः कुछ मोहग्रस्त जीव अपने को ईश्वर तक समझ बैठते हैं, किन्तु वे यह नहीं बतला सकते कि ''ईश्वर'' होकर भी उन्हें योग-पद्धति में नगण्य सफलता पाने के लिए कड़ी मेहनत क्यों करनी पड़ती है? इसीलिए उद्धव यह इंगित कर रहे हैं कि निर्विशेषवादियों तथा मध्यमवर्गियों से सर्वथा भिन्न शुद्ध भक्त माया को आसानी से पार कर जाते हैं,

क्योंकि वे कृष्ण के चरणकमलों में पूरी तरह से अनुरक्त रहते हैं। कृष्ण सदैव दिव्य हैं और जो उनके चरणकमलों में दृढ़तापूर्वक अनुरक्त रहता है, वह भी दिव्य होता है। कृष्ण की अहैतुकी कृपा लाखों-करोड़ों वर्षों के संघर्ष तथा श्रम करने से कहीं अधिक मूल्यवान है। मनुष्य को भगवान् की दया पाने का प्रयत्न करना चाहिए फिर तो आध्यात्मिक अनुभूति के मार्ग में हर वस्तु अत्यन्त सुगम हो जायेगी। इस युग में कृष्ण के पवित्र नाम का निरन्तर कीर्तन करके मनुष्य उनकी कृपा पा सकता है, जैसी कि शास्त्रों की संस्तुति है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(*बृहन्नारदीय पुराण*)

यदि कोई व्यक्ति नाम के प्रति अपराधों से बचते हुए कृष्ण के पवित्र नामों का निरन्तर कीर्तन करता है, तो उसे निश्चय ही उद्धव जैसा फल मिलेगा। उद्धव को तथाकथित ब्रह्म-साक्षात्कार में कोई रुचि नहीं थी, अपितु वे भगवान् के चन्द्र-मुख की सुन्दर मुसकान रूपी मादक अमृत को छक कर पीना चाहते थे।

वयं त्विह महायोगिन्भ्रमन्तः कर्मवर्त्मसु ।
त्वद्वार्तया तरिष्यामस्तावकैर्दुस्तरं तमः ॥ ४८ ॥
स्मरन्तः कीर्तयन्तस्ते कृतानि गदितानि च ।
गत्युत्स्मितेक्षणक्ष्वेलि यन्नृलोकविडम्बनम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

वयम्—हम; तु—दूसरी ओर; इह—इस जगत में; महा-योगिन्—हे महायोगी; भ्रमन्तः—घूमते हुए; कर्म-वर्त्मसु—भौतिक कर्म के मार्ग पर; त्वत्—तुम्हारा; वार्तया—कथाओं पर विचार-विमर्श द्वारा; तरिष्यामः—पार करेंगे; तावकैः—तुम्हारे भक्तों सहित; दुस्तरम्—दुर्लंध्य; तमः—अंधकार; स्मरन्तः कीर्तयन्तः—महिमा गान करते; ते—तुम्हारे; कृतानि—कार्यों को; गदितानि—शब्दों को; च—तथा; गति—चाल; उत्स्मित—मुसकान; ईक्षण—चितवन; क्ष्वेलि—तथा मोहक लीलाएँ; यत्—जो हैं; नृ-लोक—मानव समाज की; विडम्बनम्—नकल।

हे महायोगी, यद्यपि हम सकाम कर्म के मार्ग पर विचरण करने वाले बद्धजीव हैं, किन्तु हम आपके भक्तों की संगति में आपके विषय में सुन कर ही इस भौतिक जगत के अंधकार को पार कर जायेंगे। इस तरह आप जो भी अद्भुत कार्य करते हैं और अद्भुत बातें करते हैं, उनको हम सदैव स्मरण करते हैं और उनका यशोगान करते हैं। हम अत्यन्त भावपूर्ण होकर स्मरण करते हैं

कि आप अपने विश्वस्त सुमाधुर्य दाम्पत्य का भक्तों के साथ शृंगारिक लीलाओं तथा ऐसी यौवनपूर्ण लीलाओं में लगे हुए आप किस तरह निर्भीक होकर मुसकाते तथा विचरण करते हैं। हे प्रभु, आपकी प्रेममयी लीलाएँ इस भौतिक जगत के भीतर सामान्य लोगों के कार्यकलापों की ही तरह मोहित करने वाली हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *भ्रमन्त: कर्मवर्त्मसु* कह कर उद्धव अपने को सकाम कर्मों में लगे बद्धजीव के रूप में प्रस्तुत करते हैं। तो भी उद्धव को पूर्ण विश्वास है कि वे माया को अवश्य ही लाँघ जायेंगे, क्योंकि उन्हें कृष्ण के यशस्वी कार्यों तथा शब्दों का कीर्तन करने तथा स्मरण करने की लत है। इसी तरह श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।
निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्त: स उच्यते॥

भले ही बाहर से मनुष्य भौतिक जगत में लीन प्रतीत होते हुए यदि वह प्रतिदिन चौबीसों घंटे भगवान् कृष्ण की सेवा में लगा रहता है, तो उसे मुक्तात्मा माना जाता है। यहाँ पर उद्धव कहते हैं कि कृष्ण के नाम तथा लीलाओं का श्रवण तथा कीर्तन निश्चित रूप से नग्न योगी बनने तथा जंगल में नंगे बन्दर की तरह कामेच्छाओं का शिकार होने से अच्छा है। उद्धव कृष्ण से उनके सुदर्शन चक्र की दया की भीख चाहते हैं, जिसके तेज का प्रतिनिधित्व भगवान् की लीलाओं के स्मरण तथा कीर्तन की प्रक्रिया से होता है। जो व्यक्ति भगवान् के धाम के चिन्तन के अद्वितीय आनन्द में लीन रहता है, वह सारे शोक, मोह तथा भय से मुक्त हो जाता है। श्री उद्धव की यही संस्तुति है।

श्रीशुक उवाच
एवं विज्ञापितो राजन्भगवान्देवकीसुतः ।
एकान्तिनं प्रियं भृत्यमुद्धवं समभाषत ॥५०॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस तरह; विज्ञापितः—प्रार्थना किये जाने पर; राजन्—हे राजा; भगवान्—भगवान्; देवकी-सुतः—देवकी के पुत्र; एकान्तिनम्—एकान्त में; प्रियम्—प्रिय; भृत्यम्—दास; उद्धवम्—उद्धव से; समभाषत—बोले।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा परीक्षित, इस तरह सम्बोधित किये जाने पर देवकी-पुत्र कृष्ण अपने प्रिय अनन्य दास उद्धव से गुह्य रूप में उत्तर देने लगे।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती के अनुसार सारे बद्धजीव अपनी चाल-ढाल, हँसी, कार्य तथा वचनों से अपने आपको इस भौतिक जगत से अधिकाधिक जकड़ते जाते हैं। किन्तु यदि वे भगवान् की लीलाओं के श्रवण तथा कीर्तन में अपने को लगायें, तो उन्हें बारम्बार जन्म-मृत्यु के बन्धन से मोक्ष मिल जाय। परम मोक्ष की यह विधि श्रीकृष्ण द्वारा अपने सर्वप्रिय भक्त श्री उद्धव को विस्तार से बतलाई जायेगी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के अन्तर्गत ''यदुवंश का प्रभास गमन'' नामक छठे अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सात

भगवान् कृष्ण द्वारा उद्धव को उपदेश

इस अध्याय में यह वर्णन हुआ है कि जब उद्धव ने भगवान् कृष्ण से यह याचना की कि उन्हें भी वे अपने धाम लेते चलें, तो कृष्ण ने उद्धव को सलाह दी कि वे संन्यास ग्रहण कर लें। किन्तु जब उद्धव ने विस्तारपूर्वक उपदेश दिये जाने के प्रति अपनी रुचि प्रकट की, तो भगवान् ने उन्हें *अवधूत* के २८ गुरुओं का वृत्तान्त सुनाया।

उद्धव की यह याचना सुनकर कि वे उन्हें अपने साथ वैकुण्ठ लेते जाँय, भगवान् कृष्ण ने उन्हें बतलाया कि वे अपने निजी धाम जाने के इच्छुक इसलिए हैं, क्योंकि उनके अवतार का प्रयोजन पूरा हो चुका है और कलियुग के संकट शीघ्र ही पृथ्वी पर छाने वाले हैं। इसलिए उन्होंने उद्धव को सलाह दी कि वे अपने मन को उन पर एकाग्र करके सांख्य योग (सैद्धान्तिक और अनुभूत दिव्य ज्ञान) में अपने को स्थापित करके संन्यास अंगीकार कर लें। भगवान् ने यह भी आदेश दिया कि कल्मष द्वारा अस्पृश्य रहते हुए और सभी जीवों पर दयाभाव रखते हुए, वे इस नश्वर जगत में विचरण करना शुरु करें, जो भगवान् की माया और जीव की कल्पना का मिश्रित प्राकट्य मात्र है।

तब उद्धव ने कहा कि वैराग्य की भावना से भौतिक वस्तुओं का परित्याग सर्वोच्च मंगल का स्रोत है, किन्तु ऐसा वैराग्य प्राप्त करना भगवद्भक्तों के अतिरिक्त अन्य जीवों के लिए अत्यन्त कठिन हैं, क्योंकि वे इन्द्रियतृप्ति में अत्यधिक अनुरक्त रहते हैं। उद्धव ने कुछ और उपदेश की आवश्यकता

जताई, जिससे उन मूर्ख व्यक्तियों को, जो शरीर को धोखे में आत्मा मान बैठते हैं, आश्वस्त किया जा सके कि वे भगवान् के आदेशों के अनुसार अपना कर्तव्य निभायें। ब्रह्मा जैसे महान् देवता तक पूरी तरह से भगवान् के शरणागत नहीं हैं, किन्तु उद्धव ने यह घोषित किया कि उन्होंने समस्त जीवों के एकमात्र असली मित्र तथा वैकुण्ठ के सर्वज्ञ स्वामी तथा परम सत्य के एकमात्र असली उपदेशक भगवान् नारायण की शरण ग्रहण कर ली है। यह सुनकर भगवान् ने उत्तर दिया कि वस्तुत: *जीवात्मा* ही अपना गुरु है। सारे जीव इस शरीर के भीतर सकारात्मक तथा नकारात्मक विधियों से परमेश्वर को खोज सकते हैं और अन्त में उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए भगवान् को मनुष्य-जीवन अत्यन्त प्रिय है। इस सन्दर्भ में भगवान् कृष्ण ने ब्राह्मण अवधूत तथा महाराज यदु के बीच हुई पुरानी वार्ता बतलानी शुरु कर दी।

एक बार ययाति-पुत्र महाराज यदु की भेंट एक *अवधूत* से हुई, जो अत्यन्त दिव्य भाव में मग्न होकर इधर-उधर विचरण कर रहा था और सनकी जैसे कार्य कर रहा था, मानो वह भूत-प्रेत द्वारा सताया व्यक्ति हो। राजा ने उस पवित्र व्यक्ति से उसके विचरण करने तथा उसकी आनन्दावस्था के विषय में पूछा। अवधूत ने उत्तर दिया कि उसने २४ विभिन्न गुरुओं से—यथा पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि इत्यादि से शिक्षाएँ प्राप्त की हैं। वह उनसे ज्ञान प्राप्त करने के ही कारण मुक्त भाव से पृथ्वी पर विचरण करने में समर्थ है।

उसने पृथ्वी से सीखा कि किस तरह गम्भीर बना जाय। उसने पृथ्वी के दो रूपों, पर्वत तथा वृक्ष, से यह सीखा कि किस तरह अन्यों की सेवा की जाय और किस तरह परोपकार हेतु अपना जीवन अर्पित कर दिया जाय। शरीर के भीतर प्राण-वायु के रूप में प्रकट वायु से उसने यह सीखा कि किस तरह अपने को जीवित रखने मात्र से सन्तुष्ट रहा जाय। उसने बाह्य वायु से यह सीखा कि किस तरह शरीर तथा इन्द्रिय-विषयों से अकलुषित रहा जाय। आकाश से उसने यह सीखा कि सभी भौतिक वस्तुओं में व्याप्त आत्मा अविभाज्य तथा अदृश्य है। जल से उसने यह सीखा कि किस तरह प्राकृतिक रूप से स्वच्छ तथा शुद्ध रहा जाय। अग्नि से उसने यह सीखा कि किस तरह मलिन हुए बिना सभी वस्तुओं को निगल लिया जाय और किस तरह उन लोगों की अशुभ इच्छाओं को नष्ट किया जाय, जो उसे भेंटें देते हैं। अग्नि से उसने यह भी सीखा कि किस तरह आत्मा हर शरीर में प्रवेश करता है और

प्रकाश प्रदान करता है और किस तरह देहधारियों के जन्म तथा मृत्यु का पता नहीं लगाया जा सकता। चन्द्रमा से उसने यह सीखा कि भौतिक देह किस तरह बढ़ता-घटता है। सूर्य से उसने यह सीखा है कि इन्द्रिय-विषयों के सम्पर्क में आने पर भी किस तरह उनमें लिप्त होने से बचना चाहिए। उसने अनुभूति की वे दो विधियाँ भी सीखीं, जो आत्मा के असली रूप को देखने तथा मिथ्या उपाधिवाले आवरणों को देखने पर आधारित हैं। कबूतर से उसने यह सीखा कि अत्यधिक स्नेह तथा अत्यधिक अनुरक्ति अच्छे नहीं हैं। यह मानव-शरीर मुक्ति के लिए खुला द्वार है, किन्तु यदि कोई व्यक्ति कबूतर की तरह अपने परिवार में लिप्त रहता है, तो उसकी तुलना उस व्यक्ति से की जाती है, जो किसी उच्च स्थान पर पुन: नीचे गिरने के लिए चढ़ा हो।

श्रीभगवानुवाच
यदात्थ मां महाभाग तच्चिकीर्षितमेव मे ।
ब्रह्मा भवो लोकपाला: स्वर्वासं मेऽभिकाङ्क्षिण: ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; यत्—जो कुछ; आत्थ—आपने कहा; माम्—मुझसे; महा-भाग—हे अत्यन्त भाग्यशाली उद्धव; तत्—वह; चिकीर्षितम्—जिसे मैं करने का इच्छुक हूँ; एव—निश्चय ही; मे—मेरा; ब्रह्मा—ब्रह्मा; भव:—शिव; लोक-पाला:—सारे लोकों के नायक; स्व:-वासम्—वैकुण्ठ धाम; मे—मेरा; अभिकाङ्क्षिण:—वे इच्छा कर रहे हैं।

भगवान् ने कहा : हे महाभाग्यशाली उद्धव, तुमने इस पृथ्वी पर से यदुवंश को समेटने की तथा वैकुण्ठ में अपने धाम लौटने की मेरी इच्छा को सही सही जान लिया है। इस तरह ब्रह्मा, शिव तथा अन्य सारे लोक-नायक, अब मुझसे प्रार्थना कर रहे हैं कि मैं अपने वैकुण्ठ-धाम वापस चला जाऊँ।

तात्पर्य : इसी भौतिक ब्रह्माण्ड के भीतर स्वर्गलोक में प्रत्येक देवता का अपना निवासस्थान है। यद्यपि कभी कभी भगवान् विष्णु की गिनती देवताओं में की जाती है, किन्तु उनका धाम वैकुण्ठ में है। सारे देवता माया के साम्राज्य के अन्तर्गत विश्व के नियामक हैं, किन्तु विष्णु तो माया तथा अन्य अनेक आध्यात्मिक शक्तियों के स्वामी हैं। उनका भव्य निवासस्थान उनकी अकिंचन दासी माया के साम्राज्य के भीतर स्थित नहीं है।

भगवान् विष्णु समस्त देवों के देव हैं अन्य देवता उनके भिन्नांश हैं। सारे देवता क्षुद्र जीव आत्मा होने के कारण मायाशक्ति के वशीभूत रहते हैं, किन्तु भगवान् विष्णु माया के परम नियन्ता हैं। भगवान्

सारे जगत के मूल तथा आगार हैं और यह भौतिक जगत उनके नित्य आध्यात्मिक निवासस्थान के तेजोमय दृश्य की धुंधली झलक मात्र है, जहाँ हर वस्तु अतीव सुन्दर एवं आनन्ददायक है। विष्णु परम सत्य हैं और कोई जीव न तो उनके समान हो सकता है, न ही उनसे बढ़कर। भगवान् अपनी ही अद्वितीय कोटि के भीतर रहा करते हैं, जिसे *विष्णुतत्त्व* कहते हैं। अन्य सारे प्रधान या असाधारण जीव भगवान् से ही अपनी शक्ति तथा पद प्राप्त करते हैं। अन्ततः विष्णु स्वयं में भगवान् कृष्ण के स्वांश हैं, जो कि समस्त विष्णुतत्त्वों तथा जीवतत्त्वों के मूल उद्गम हैं। इस तरह भगवान् कृष्ण सारी वस्तुओं के आधार हैं।

मया निष्पादितं ह्यत्र देवकार्यमशेषतः ।
यदर्थमवतीर्णोऽहमंशेन ब्रह्मणार्थितः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; निष्पादितम्—सम्पन्न किया गया; हि—निश्चय ही; अत्र—इस जगत में; देव-कार्यम्—देवताओं के लाभ के लिए कार्य; अशेषतः—पूर्णतया, करने को कुछ भी शेष नहीं रहा; यत्—जिसके; अर्थम्—हेतु; अवतीर्णः—अवतरित हुआ; अहम्—मैं; अंशेन—अपने स्वांश, बलदेव सहित; ब्रह्मणा—ब्रह्मा द्वारा; अर्थितः—प्रार्थना किये जाने पर।

ब्रह्माजी द्वारा प्रार्थना करने पर मैंने इस संसार में अपने स्वांश बलदेव सहित अवतार लिया था और देवताओं की ओर से अनेक कार्य सम्पन्न किये। अब यहाँ पर मैं अपना मिशन पूरा कर चुका हूँ।

कुलं वै शापनिर्दग्धं नङ्क्ष्यत्यन्योन्यविग्रहात् ।
समुद्रः सप्तमे ह्येनां पुरीं च प्लावयिष्यति ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

कुलम्—यह यदुवंश; वै—निश्चित रूप से; शाप—शाप से; निर्दग्धम्—समाप्त; नङ्क्ष्यति—विनष्ट हो जायेगा; अन्योन्य—परस्पर; विग्रहात्—झगड़े से; समुद्रः—समुद्र; सप्तमे—सातवें दिन; हि—निश्चय ही; एनाम्—इस; पुरीम्—नगरी को; च—भी; प्लावयिष्यति—आप्लावित कर देगा।

अब ब्राह्मणों के शाप से यह यदुवंश निश्चित रूप से परस्पर झगड़ कर समाप्त हो जायेगा और आज से सातवें दिन यह समुद्र उफन कर इस द्वारका नगरी को आप्लावित कर देगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में तथा इसके बाद के श्लोकों में भगवान् कृष्ण उद्धव को संकेत देते हैं कि वे तुरन्त ही भौतिक जगत से अपनी सारी पहचान त्याग कर अपने को तुरन्त आत्म-साक्षात्कार में एकाग्र कर लें। श्रील जीव गोस्वामी ने लिखा है कि वास्तव में यदुवंश का विनाश कृष्ण द्वारा नहीं

हुआ, अपितु ब्राह्मणों के शाप से वह इस जगत की दृष्टि से ओझल हो गया। इसी प्रकार भगवान् का नित्य धाम द्वारका कभी भी समुद्र द्वारा डुबोया नहीं जा सकता। इतने पर भी इस दिव्य नगरी तक पहुँचने वाले बाह्य मार्ग समुद्र से ढक चुके थे। इस तरह भगवान् का धाम कलियुग में मूर्ख लोगों की पहुँच के बाहर रहता है जैसाकि इस स्कन्ध में बाद में बतलाया जाएगा।

भगवान् अपनी योगमाया द्वारा अपने रूप, धाम, साज-सामग्री, लीला, परिकर इत्यादि को प्रकट करते हैं और उपयुक्त समय पर वे इन सारी वस्तुओं को हमारी सांसारिक दृष्टि से ओझल कर देते हैं। यद्यपि मोहग्रस्त बद्धजीव भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति में सन्देह कर सकते हैं, किन्तु शुद्ध भक्तगण उनके दिव्य प्राकट्य तथा तिरोधान की प्रत्यक्ष अनुभूति करके आनन्द उठा सकते हैं, जिसका वर्णन *भगवद्गीता* में *जन्म कर्म च मे दिव्यम्* के रूप में हुआ है। यदि भगवान् के दिव्य स्वभाव के इस पूर्ण ज्ञान को स्वीकार कर लिया जाय, तो मनुष्य निश्चित रूप से भगवद्धाम वापस जा सकता है और भगवान् कृष्ण का नित्य संगी बन सकता है।

यर्ह्येवायं मया त्यक्तो लोकोऽयं नष्टमङ्गलः ।
भविष्यत्यचिरात्साधो कलिनापि निराकृतः ॥४॥

शब्दार्थ

यर्हि—जब; एव—निश्चित रूप से; अयम्—यह; मया—मेरे द्वारा; त्यक्तः—छोड़ा हुआ; लोकः—संसार; अयम्—यह; नष्ट-मङ्गलः—समस्त मंगल या दया से विहीन; भविष्यति—हो जायेगा; अचिरात्—शीघ्र ही; साधो—हे साधु-पुरुष; कलिना—कलि के कारण; अपि—स्वयं; निराकृतः—अभिभूत।

हे साधु उद्धव, मैं निकट भविष्य में इस पृथ्वी को छोड़ दूँगा। तब कलियुग से अभिभूत होकर यह पृथ्वी समस्त पवित्रता से विहीन हो जायेगी।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण की योजना उद्धव को कुछ समय बाद अपने ही धाम वापस ले जाने की थी। उद्धव के असाधारण आध्यात्मिक गुणों के कारण भगवान् उन्हें उन साधु-पुरुषों के बीच अपना सन्देश प्रचारित-प्रसारित करने के लिए लगाना चाहते थे, जो अभी भी भक्ति की उच्च अवस्था को प्राप्त नहीं हुए थे। तथापि भगवान् ने उद्धव को आश्वास्त किया कि तुम क्षण-भर के लिए भी मेरी संगति से विहीन नहीं होगे। यही नहीं, चूँकि उद्धव अपनी इन्द्रियों के पूर्ण स्वामी बन चुके थे अतएव प्रकृति के तीनों गुणों से प्रघातित नहीं हो सकेंगे। इस तरह उद्धव को अपने धाम वापस ले जाने के पूर्व भगवान् ने उन्हें अपना विशिष्ट गुह्य मिशन पूरा करने का अधिकार सौंप दिया।

जहाँ-जहाँ भगवान् के सर्वोच्च पद को मान्यता नहीं दी जाती, वहाँ व्यर्थ मानसिक चिन्तन का प्राधान्य हो जाता है और पूर्ण वैदिक ज्ञान के श्रवण करने का सुरक्षित तथा निश्चित मार्ग मनोरथ के व्यामोह से आच्छादित हो जाता है। सम्प्रति विशेषकर पाश्चात्य देशों में हजारों विषयों पर लाखों पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं, तो भी मनोकल्पनाओं की वृद्धि होने पर भी लोग मानव-जीवन की मूलभूत समस्याओं के बारे में अज्ञानी बने रहते हैं। जैसे—मैं कौन हूँ ? मैं कहाँ से आया हूँ ? मैं कहाँ जा रहा हूँ ? मेरी आत्मा क्या है ? ईश्वर क्या है ?

भगवान् श्रीकृष्ण असंख्य मनोहारी लीलाओं के आगार हैं। इस तरह वे असंख्य प्रकार के आनन्द के स्रोत हैं। वस्तुत: वे नित्य आनन्द के सागर हैं। जब नित्य आत्मा भगवान् की प्रेमाभक्ति से मिलने वाले स्वाभाविक आनन्द से विहीन हो जाता है, तो भौतिक प्रकृति उसे मोहित कर लेती है। वह असहाय होकर इन्द्रियतृप्ति का पीछा, यह सोच कर करता है कि यह वस्तु अच्छी है और वह वस्तु खराब है। इस तरह वह अच्छे-बुरे का अपना मूल्यांकन बदलता रहता है, जिससे उसे सुख या शान्ति नहीं मिलती, वह निरन्तर चिन्तित रहता है और जन्म-मृत्यु, जरा तथा रोग के रूप में प्रकृति के क्रूर नियमों से बारम्बार प्रताड़ित होता रहता है।

इस तरह से बद्धजीव कलियुग में जन्म लेने का सही पात्र बन जाता है, जो कि दुर्भाग्य का प्रतीक है। कलियुग में पहले से अनेक कष्टों से पीड़ित जीव एक-दूसरे के प्रति निर्दय बन जाते हैं। कलियुग में मानव-समाज असभ्य तरह से हिंसक बन जाता है। मनुष्य लाखों निरीह प्राणियों का वध करने के लिए कसाई-खाने खोलते हैं। बड़े पैमाने पर युद्धों की घोषणा होती है और लाखों मनुष्य, यहाँ तक स्त्रियाँ और बच्चे भी शीघ्र विनष्ट हो जाते हैं।

जब तक जीव भगवान् की सत्ता को मान नहीं लेता, तब तक वह माया के पाश में असहाय बना रहता है। माया से अपने को छुड़ाने के लिए वह अनेक मनगढंत समाधान ढूँढ़ता है, किन्तु ये समाधान भी माया द्वारा रचित होते हैं, अतएव बद्धजीव संभवत: अपने को छुड़ा नहीं पाता। वस्तुत: इनसे उसका कष्ट बढ़ता है। अगले श्लोक में भगवान् कृष्ण उद्धव को कलियुग से बचने और भगवद्धाम जाने की विशेष चेतावनी देते हैं। हममें से वे लोग, जो कलियुग में जन्म ले चुके हैं, उन्हें भी इस उपदेश पर

ध्यान देकर भगवान् के सच्चिदानन्द धाम वापस जाने के लिए सभी आवश्यक कदम उठाने चाहिए। यह भौतिक जगत कभी भी, विशेषतया कलियुग के भयाक्रान्त दिनों में, सुखी स्थान नहीं रहा।

न वस्तव्यं त्वयैवेह मया त्यक्ते महीतले ।
जनोऽभद्ररुचिर्भद्र भविष्यति कलौ युगे ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वस्तव्यम्—रहे आना चाहिए; त्वया—तुम्हारे द्वारा; एव—निश्चय ही; इह—इस जगत में; मया—मेरे द्वारा; त्यक्ते—त्यागे हुए; महीतले—पृथ्वी पर; जनः—लोग; अभद्र—पापी, अशुभ वस्तुएँ; रुचिः—लिप्त; भद्र—हे पापरहित एवं मंगलमय; भविष्यति—हो जायेगा; कलौ—इस कलि; युगे—युग में।

हे उद्धव, जब मैं इस जगत को छोड़ चुकूँ, तो तुम्हें इस पृथ्वी पर नहीं रहना चाहिए। हे प्रिय भक्त, तुम निष्पाप हो, किन्तु कलियुग में लोग सभी प्रकार के पापपूर्ण कार्यों में लिप्त रहेंगे, अतएव तुम्हें यहाँ नहीं रुकना चाहिए।

तात्पर्य : इस कलिकाल में मनुष्य इस बात से नितान्त अनभिज्ञ रहते हैं कि भगवान् अपनी दिव्य लीलाएँ उसी रूप में प्रदर्शित करने के लिए पृथ्वी पर आते हैं, जिस रूप में ये लीलाएँ स्वर्ग में सम्पन्न की जाती हैं। भगवान् की सत्ता की परवाह न करते हुए कलियुग के पतित जन कटु कलह में फँस कर एक-दूसरे को सताते हैं। चूँकि कलियुग में लोग दूषित पापपूर्ण कार्यों में लिप्त रहते हैं, इसलिए वे सदैव क्रुद्ध, कामी तथा उद्विग्न रहते हैं। कलियुग में भगवद्भक्तों को, जो भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगे हुए हैं, चाहिए कि इस पृथ्वी पर जीवन बिताने के लिए कभी आकृष्ट न हों, क्योंकि इसकी जनता अज्ञान के अंधकार में डूबी हुई है और भगवान् से किसी भी तरह का सम्बन्ध नहीं रखती। इसीलिए भगवान् कृष्ण ने उद्धव को सलाह दी कि वे कलियुग में इस पृथ्वी पर न रहें। वस्तुतः भगवान् ने *भगवद्गीता* में सारे जीवों को सलाह दी है कि वे किसी भी युग में इस भौतिक विश्व में कहीं भी न रहें। इसलिए हर जीव को कलियुग के दबावों का लाभ उठाकर भौतिक जगत की व्यर्थ-प्रकृति को समझने और स्वयं को भगवान् के चरणकमलों में समर्पित करने का लाभ उठाना चाहिए। श्री उद्धव के पद-चिह्नों का अनुसरण करते हुए मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण की शरण ग्रहण करे और भगवद्धाम वापस जाय।

त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु ।

मय्यावेश्य मनः संयक्समदृग्विचरस्व गाम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; तु—वस्तुतः; सर्वम्—समस्त; परित्यज्य—छोड़ कर; स्नेहम्—स्नेह; स्व-जन-बन्धुषु—अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों के प्रति; मयि—मुझ भगवान् में; आवेश्य—एकाग्र करके; मनः—मन को; संयक्—पूरी तरह; सम-दृक्—हर एक को समान दृष्टि से देखते हुए; विचरस्व—विचरण करो; गाम्—पृथ्वी-भर में।

अब तुम्हें चाहिए कि अपने निजी मित्रों तथा सम्बन्धियों से अपने सारे नाते त्याग कर, अपने मन को मुझ पर एकाग्र करो। इस तरह सदैव मेरी भावना से भावित होकर, तुम्हें सारी वस्तुओं को समान दृष्टि से देखना चाहिए और पृथ्वी-भर में विचरण करना चाहिए।

तात्पर्य : श्रीमद् वीरराघव आचार्य ने समदृष्टि की व्याख्या इस प्रकार की है—*सम-दृक् सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वानुसन्धान-रूप-सम-दृष्टिमान्*—आत्म-साक्षात्कार के पथ पर चलने वाले को सारे जगत की अनन्तिम आध्यात्मिक प्रकृति को देखने का प्रयत्न करना चाहिए। इस श्लोक में *मयि* शब्द का अर्थ है *परमात्मनि*। मनुष्य को अपना मन भगवान् में एकाग्र करना चाहिए, जो कि समस्त वस्तुओं के स्रोत हैं। इस तरह अपने लिए नियत समय का उपयोग करते हुए, इस पृथ्वी पर अपना जीवन बिताकर मनुष्य को चाहिए कि सारी वस्तुओं तथा सारे लोगों को परम सत्य भगवान् के भिन्नांश रूप में देखने की आदत डाले। चूँकि सारे जीव कृष्ण के भिन्नांश हैं, अतएव उन सबों का अन्ततः एक-सा आध्यात्मिक स्वरूप है। प्रकृति भी कृष्ण से उद्भूत होने से समान आध्यात्मिक पद को प्राप्त रहती है। यद्यपि पदार्थ तथा आत्मा दोनों ही भगवान् से उद्भूत हैं, किन्तु वे पूरी तरह से समान स्तर पर नहीं हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि आत्मा भगवान् की पराशक्ति है, जबकि प्रकृति अपरा शक्ति है। किन्तु चूँकि कृष्ण सभी वस्तुओं में समान रूप से उपस्थित रहते हैं, अतएव इस श्लोक में *सम-दृक्* शब्द यह सूचित करता है कि मनुष्य को चाहिए कि हर वस्तु के भीतर कृष्ण को और कृष्ण के भीतर हर वस्तु को देखे। इस तरह समदृष्टि का मेल इस भौतिक जगत में अनेकता के परिपक्व ज्ञान से होता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है : "इस पृथ्वी पर व्यक्त अपनी लीलाओं की समाप्ति पर भगवान् कृष्ण ने अपने मन में इस प्रकार सोचा, "इस पृथ्वी पर अपनी लीलाओं के समय मैंने अपने उन भक्तों की सारी इच्छाएँ पूरी कर दी हैं, जो मेरा दर्शन पाने के उत्कण्ठापूर्वक इच्छुक थे। मैंने रुक्मिणी सहित, जिसका मैंने स्वयं परिहरण किया था, कई हजार रानियों से विवाह किया है और अनेक स्थानों तथा अनेक उपायों से मैंने असंख्य असुरों का वध किया

है, मैंने वृन्दावन, मथुरा, द्वारका, हस्तिनापुर तथा मिथिला जैसे नगरों में अनेक सभाओं, मेल-मिलापों तथा मित्रों, सम्बन्धियों एवं हितैषियों के साथ उत्सवों में भाग लिया है। इस तरह लीलाओं को सम्पन्न करने में इधर-उधर दौड़-धूप में मैंने निरंतर अपने को व्यस्त रखा है।''

इसके अतिरिक्त भी मैंने पृथ्वी-लोक के नीचे स्थित अपने बड़े बड़े भक्तों को अपना सान्निध्य प्रदान करने की व्यवस्था की है। अपनी माता देवकी को प्रसन्न करने के लिए तथा कंस द्वारा मारे गये उनके छहों पुत्रों को वापस लाने के लिए मैं सुतल लोक तक गया हूँ और मैंने अपने महान् भक्त बलि महाराज को आशीर्वाद दिया है। अपने गुरु सान्दीपनि मुनि के मृत पुत्र को वापस लाने के लिए मैं स्वयं रविनन्दन यमराज के दरबार में गया, जिससे वह मेरा साक्षात्कार कर सका। मैंने स्वर्ग के निवासियों को, यथा माता अदिति तथा कश्यप मुनि को तब अपने सान्निध्य से कृतज्ञ किया, जब मैंने अपनी पत्नी सत्यभामा के लिए पारिजात पुष्प चुराने के लिए वहाँ की यात्रा की थी। महाविष्णु के धाम के निवासियों, यथा नारद, सुनन्द तथा सुदर्शन को प्रसन्न करने के उद्देश्य से मैंने क्षुब्ध ब्राह्मण के मृत पुत्रों को लाने के लिए महावैकुण्ठ-लोक की यात्रा की। इस तरह उन असंख्य भक्तों को उनकी प्रार्थनाओं का लक्ष्य प्राप्त हुआ, जो मुझे देखने के लिए अत्यधिक उत्सुक थे।

''दुर्भाग्यवश नर-नारायण ऋषि तथा बदरिकाश्रम में उनके साथ रह रहे परमहंस मुनियों की इच्छाएँ पूरी नहीं हुईं, यद्यपि वे मेरा दर्शन पाने के लिए अतीव उत्सुक थे। मैं पृथ्वी पर १२५ वर्षों से रहता आया हूँ और मेरा नियत समय अब समाप्त हो चुका है। अपनी लीलाओं में अति व्यस्त रहने के कारण मैं इन महामुनियों को आशीर्वाद तक नहीं दे पाया। तो भी, उद्धव मेरे ही समान है। वह महान् भक्त है और मेरे दिव्य ऐश्वर्य में हाथ बँटाता है। अतएव बदरिकाश्रम भेजने के लिए यही व्यक्ति उपयुक्त है। मैं उद्धव को वह पूर्ण ज्ञान दूँगा, जिससे मनुष्य भौतिक जगत से विरक्त हो जाता है और फिर वह माया के संसार को लाँघने वाले इस ज्ञान को, बदरिकाश्रम के सुयोग्य मुनियों को प्रदान कर सकता है। इस तरह वह उन्हें मेरे चरणकमलों पर प्रेमाभक्ति करने की विधि सिखला सकता है। ऐसी भक्ति अमूल्य निधि है और ऐसा ज्ञान सुनकर नर-नारायण जैसे महामुनियों की इच्छाएँ पूर्ण हो सकेंगी।''

''जो महान् आत्माएँ मेरी शरण में आ चुकी हैं, वे सदैव दिव्य ज्ञान से युक्त और भौतिक जगत से विरक्त रहती हैं। कभी कभी अपनी भक्ति में लीन रहने के कारण वे मुझे विस्मरण करती प्रतीत हो

सकती हैं। किन्तु वह शुद्ध भक्त, जिसने मेरे शुद्ध प्रेम के पद को पा लिया है, ऐसी निष्ठावान भक्ति से सदैव सुरक्षा पाता रहेगा। यदि ऐसा भक्त मुझमें अपना ध्यान एकाग्र करने की उपेक्षा करते हुए अपना प्राण छोड़ देता है, तो भी ऐसे भक्त की प्रेममयी भावनाएँ इतनी शक्तिशाली होती हैं कि वे उसे सारी सुरक्षा प्रदान करती हैं। यदि क्षणिक विस्मृति हो भी जाय, तो ऐसी भक्ति उस भक्त को मेरे चरणकमलों पर लायेगी, जो सामान्य भौतिकतावादी व्यक्तियों की दृष्टि से परे हैं। उद्धव मेरा शुद्ध भक्त है। मेरा ज्ञान तथा इस संसार से विरक्ति का उसमें पुनः उद्रेक हुआ है, क्योंकि वह कभी भी मेरी संगति नहीं छोड़ सकता।''

चैतन्य महाप्रभु के निष्ठावान सेवक इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन को अपने गुरु तथा भगवान् कृष्ण की प्रसन्नता हेतु प्रसारित करने में बड़े जोर-जोर से प्रयत्नशील हैं। सम्प्रति कृष्णभावनामृत आन्दोलन में हजारों भक्त विश्व के सभी भागों में दिव्य साहित्य का वितरण करने तथा सामान्य लोगों को प्रबुद्ध करने के लिए विषम परिस्थितियों में काफी समय तक कार्य करते रहते हैं। इस प्रयास में भक्तों का अपना कोई स्वार्थ नहीं है, अपितु वे अपने गुरु की पुस्तकें वितरित करके केवल उन्हें प्रसन्न करने के इच्छुक हैं। जो लोग इस साहित्य को प्राप्त करते हैं, उन्हें कृष्णभावनामृत का पहले से प्रायः कोई अनुभव नहीं होता, फिर भी वे लोग भक्तों की शुद्धता देख कर इतने प्रभावित होते हैं कि वे उत्सुकतापूर्वक पुस्तकें तथा पत्रिकाएँ खरीद लेते हैं। कृष्णभावनामृत के कठिन कार्य को सम्पन्न करने के उद्देश्य से भक्तगण अहर्निश अथक परिश्रम करते हैं, क्योंकि वे प्रेमाभक्ति के पद को प्राप्त हैं। भले ही ऐसे व्यस्त भक्तगण कभी कभी कृष्ण के चरणकमलों के विषय में प्रत्यक्ष रूप से नहीं भी सोचते हों, किन्तु ऐसी प्रेमाभक्ति उन्हें कृष्ण के चरणकमलों में वापस ले जायेगी और भगवान् उनकी सेवा से प्रसन्न होकर स्वयं ही उन्हें अपने अटल ध्यान में लगा लेंगे। भक्तियोग की यही विशेषता है, जो सर्व-दयालु भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा पर पूर्णतया निर्भर है। भौतिक भोग की गहन इच्छाओं को समूल नष्ट करने, कृष्ण के प्रति शुद्ध प्रेम प्राप्त करने तथा भौतिक ब्रह्माण्ड से परे भगवद्धाम जाने का एकमात्र यही पूर्णतया सुरक्षित उपाय है। *भगवद्गीता* (२.४०) में कहा गया है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

इस श्लोक में कृष्ण ने उद्धव को इस जगत में अपने तथाकथित मित्रों तथा अपने परिवार के प्रति भ्रामक लगाव त्यागने की भी सलाह दी। भले ही मनुष्य शारीरिक रूप से अपने परिवार तथा मित्रों का संग त्याग पाने में समर्थ न हो, किन्तु उसे यह समझना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक जीव ईश्वर का भिन्नांश है और वह ईश्वर के आनन्द के निमित्त है। ज्योंही मनुष्य सोचता है कि "यह मेरा परिवार है" त्योंही वह इस जगत को पारिवारिक जीवन की भोग-स्थली मान बैठता है। अपने तथाकथित परिवार से जुड़ते ही, उसमें झूठी प्रतिष्ठा तथा भौतिक स्वामित्व का उदय होता है। वस्तुत: हर व्यक्ति ईश्वर का भिन्नांश है, अतएव आध्यात्मिक स्तर पर वह अन्य समस्त जीवों से सम्बन्धित है, यह *कृष्ण-सम्बन्ध* कहलाता है। सर्वोच्च आध्यात्मिक जागरूकता तक पहुँच पाना और साथ ही समाज, मैत्री तथा प्रेम की क्षुद्र भौतिक संकल्पना को बनाये रख पाना सम्भव नहीं है। मनुष्य को सारे सम्बन्धों का अनुभव उच्चतर आध्यात्मिक स्तर पर करना चाहिए, जो *कृष्ण-सम्बन्ध* का स्तर है और जिसका अर्थ है, हर वस्तु को भगवान् कृष्ण से सम्बन्धित देखना।

जो कृष्ण के साथ अपने स्वाभाविक सम्बन्धों में स्थित है, वह सारी वस्तुओं को कृष्ण के साथ जोड़कर देखता है। इस तरह वह शरीर, मन तथा वाणी की सांसारिक इच्छाओं को त्याग देता है और भगवद्भक्त के रूप में पृथ्वी-भर में यात्रा करता है। ऐसा उच्च पुरुष *गोस्वामी* कहलाता है। *भगवद्गीता* (१८.५४) में इस अवस्था को *ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा* शब्दों द्वारा बतलाया गया है।

यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः ।
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

यत्—जो; इदम्—इस जगत को; मनसा—मन से; वाचा—वाणी से; चक्षुर्भ्याम्—आँखों से; श्रवण-आदिभिः—कानों तथा अन्य इन्द्रियों से; नश्वरम्—क्षणिक; गृह्यमाणम्—जिसे स्वीकार या अनुभव किया जा रहा हो; च—तथा; विद्धि—तुम्हें जानना चाहिए; माया-मनः-मयम्—माया के प्रभाव से इसे असली करके केवल कल्पित किया जाता है।

हे उद्धव, तुम जिस ब्रह्माण्ड को अपने मन, वाणी, नेत्रों, कानों तथा अन्य इन्द्रियों से देखते हो वह भ्रामक सृष्टि है, जिसे माया के प्रभाव से मनुष्य वास्तविक मान लेता है। वास्तव में, तुम्हें यह जानना चाहिए कि भौतिक इन्द्रियों के सारे विषय क्षणिक हैं।

तात्पर्य : यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब संसार-भर में अच्छे तथा बुरे गुण पाये जाते हैं, तो भगवान् कृष्ण किस तरह उद्धव को सारी वस्तुओं को समान रूप से देखने की सलाह देते हैं? इस

श्लोक में कृष्ण बतलाते हैं कि भौतिक अच्छाई तथा बुराई माया की सृष्टियाँ हैं, जिस तरह स्वप्न की वस्तुएँ मन की उपज हैं।

जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*वासुदेव: सर्वमिति*—भगवान् कृष्ण ही सर्वस्व हैं, क्योंकि वे हर वस्तु में विद्यमान रहते हैं और हर वस्तु उनके भीतर विद्यमान रहती है। कृष्ण *सर्वलोक-महेश्वरम्* हैं अर्थात् सारे जगतों के स्वामी हैं। किसी भी वस्तु को कृष्ण से पृथक् देखना भ्रम है और किसी भी प्रकार के भौतिक भ्रम के प्रति, चाहे वह अच्छा हो या बुरा, आकृष्ट होना अन्ततः व्यर्थ है, क्योंकि इससे जीव जन्म-मृत्यु के चक्कर में घूमते रहने के लिए बाध्य होता है।

देखना, सुनना, सूँघना, आस्वादन करना तथा स्पर्श करना—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियों के कार्य हैं। इसी तरह वाणी, हाथ, पैर, गुदा तथा लिंग पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। ये दस इन्द्रियाँ मन के चारों ओर व्यवस्थित हैं, जो भौतिक क्रियाशीलता का केन्द्र है। जब जीव पदार्थ का दोहन करना चाहता है, तो वह प्रकृति के तीन गुणों से आच्छादित हो जाता है। इस तरह वह वास्तविकता के बारे में विभिन्न दार्शनिक, राजनैतिक तथा सामाजिक व्याख्याएँ गढ़ता है, किन्तु वह परम सत्य भगवान् कृष्ण को, जो कि भौतिक इन्द्रियों की दूषित अनुभूति से परे हैं, कभी नहीं समझ पाता। जो व्यक्ति भौतिक उपाधियों के जाल में, यथा जाति, राष्ट्रीयता, साम्प्रदायिक धर्म, राजनैतिक सम्बन्ध इत्यादि में, फँसा रहता है, वह यह सोचकर अपने शरीर तथा अन्य शरीरों को भौतिक इन्द्रिय-विषयों से जोड़ने में व्यस्त रहता है कि ये इन्द्रिय-विषय सुख तथा तुष्टि के स्रोत हैं। दुर्भाग्यवश यह संसार, इसको अनुभव करने वाली इन्द्रियों समेत, एक नश्वर सृष्टि है, जो परमेश्वर की कालशक्ति द्वारा विनष्ट हो जायेगी। हमारी मूर्खतापूर्ण आशाओं तथा स्वप्नों के उपरान्त भौतिक स्तर पर कोई वास्तविक सुख नहीं है। असली सत्य न तो भौतिक है, न ही क्षणिक। असली सत्य तो *आत्मा* कहलाता है और समस्त आत्माओं में एक ही सर्वोच्च है। वह भगवान् कहलाता है और अपने मूल रूप में वह कृष्ण के रूप में विख्यात है। कृष्ण के अचिन्त्य दिव्य रूप की अनुभूति के साथ ही ज्ञान-संग्रह की विधि का अन्त हो जाता है। जो व्यक्ति हर वस्तु में कृष्ण को और कृष्ण में हर वस्तु का अनुभव नहीं करता, वह निश्चय ही मनोरथ के धरातल पर स्थित होता है। इस श्लोक में कृष्ण उद्धव को चेतावनी देते हैं कि वे संसार के इस भ्रामक पद से बच कर रहें।

पुंसोऽयुक्तस्य नानार्थो भ्रमः स गुणदोषभाक् ।
कर्माकर्मविकर्मेति गुणदोषधियो भिदा ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

पुंसः—व्यक्ति का; अयुक्तस्य—जिसका मन सत्य से पराङ्मुख है; नाना—अनेक; अर्थः—अर्थ; भ्रमः—सन्देह; सः—वह; गुण—अच्छाई; दोष—बुराई; भाक्—देहधारण किये; कर्म—अनिवार्य कर्तव्य; अकर्म—नियत कर्तव्यों का न किया जाना; विकर्म—निषिद्ध कर्म; इति—इस प्रकार; गुण—अच्छाइयाँ; दोष—बुराइयाँ; धियः—अनुभव करने वाले की; भिदा—यह अन्तर।

जिसकी चेतना माया से मोहित होती है, वह भौतिक वस्तुओं के मूल्य तथा अर्थ में अनेक अन्तर देखता है। इस प्रकार वह भौतिक अच्छाई तथा बुराई के स्तर पर निरन्तर लगा रहता है और ऐसी धारणाओं से बँधा रहता है। भौतिक द्वैत में लीन रहते हुए, ऐसा व्यक्ति अनिवार्य कर्तव्यों की सम्पन्नता, ऐसे कर्तव्यों की असम्पन्नता तथा निषिद्ध कार्यों की सम्पन्नता के विषय में कल्पना करता रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में जगत के भ्रामक मानसिक स्तर का वर्णन हुआ है। *अयुक्तस्य* शब्द उस बद्धजीव का सूचक है, जो अपने मन को भगवान् पर स्थिर नहीं करता। *भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक साहित्य में स्पष्ट वर्णन हुआ है कि परम सत्य कृष्ण हर वस्तु के भीतर हैं और हर वस्तु उनके भीतर है। यहाँ यह उदाहरण दिया जा सकता है कि जब कोई स्त्री किसी पुरुष से प्यार करती है, तो वह उसे देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक रहती है और नित्य ही वह उसे भिन्न भिन्न वस्त्र पहने हुए देखती है। वस्तुतः वह स्त्री वस्त्रों में नहीं, अपितु पुरुष में रुचि रखती है। इसी तरह प्रत्येक भौतिक वस्तु के भीतर भगवान् रहते हैं, अतः जिसमें ईश-प्रेम उत्पन्न हो चुका है, वह सर्वत्र भगवान् को देखता है, भगवान् को आच्छादित करने वाले ऊपरी पदार्थों को ही नहीं देखता।

इस श्लोक में *अयुक्तस्य* शब्द उसका द्योतक है, जो अभी सत्य की अवस्था को प्राप्त नहीं हुआ है। ऐसा व्यक्ति भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति से वंचित होकर भौतिक अनुभव के असंख्य रूपों तथा स्वादों को भोगने का प्रयास करता है। यह क्षणिक भ्रामक व्यस्तता मोहग्रस्त जीव का स्वाभाविक कर्म नहीं है, जिससे वह परम सत्य भगवान् के विषय में अज्ञानी बना रहता है। इस पदार्थमय जगत के भीतर निस्सन्देह विविधताएँ हैं। जिस तरह कुत्तों में अनेक जातियाँ होती हैं, घोड़ों में भी विविध जातियाँ होती हैं, उसी तरह कुछ मनुष्य सुन्दर तथा शिक्षित होते हैं, तो कुछ आलसी तथा घरेलू। कुछ धनी हैं, तो कुछ निर्धन। प्रकृति में कहीं उर्वर भूमि है, तो कहीं बंजर भूमि, कहीं जंगल हैं, तो कहीं

रेगिस्तान, कहीं अमूल्य रत्न हैं, तो कहीं बदरंग शिलाएँ, कहीं स्वच्छ जल वाली कलकल करती नदियाँ हैं, तो कहीं गंदले स्थिर तालाब। मानव-समाज में हमें सुख तथा दुख, प्रेम तथा घृणा, जय तथा पराजय, युद्ध तथा शान्ति, जीवन तथा मृत्यु इत्यादि मिलते हैं। किन्तु इनमें से किसी अवस्था के साथ हमारा स्थायी सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि हम भगवान् कृष्ण के भिन्नांश नित्य आत्माएँ हैं। वैदिक संस्कृति इस तरह से व्यवस्थित है कि भगवान् की तुष्टि के लिए अपना कर्तव्य निर्वाह करके मनुष्य आत्म-साक्षात्कार में पूर्ण बन सकता है। *स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर:।* किन्तु कुछ बद्धजीव यह विश्वास करते हैं कि जीवन में पूर्ण सिद्धि की प्राप्ति परिवार, राष्ट्र, मानवता इत्यादि के लिए सामान्य कर्तव्य करने से हो सकती है। अन्य लोगों की रुचि न तो ईश्वर की सेवा करने में है, न उत्कृष्ट संसारी कर्मों को करने में। और कुछ लोग ऐसे हैं, जो पापमय जीवन बिताते हैं। ऐसे पापी व्यक्ति देर से सोकर अपराह्न उठते हैं और नशीले पदार्थ खाकर तथा अवैध यौन में रत रहकर रात-भर जागे रहते हैं। ऐसे अंधकारमय नारकीय जीवन का कारण *तमोगुण* के प्रति आकर्षण है। तमोगुणी कार्य *विकर्म* कहलाते हैं, जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख हुआ है। दुर्भाग्यवश न तो जिम्मेदार भौतिकतावादी व्यक्तियों को, न गैर-जिम्मेदार भौतिकतावादी व्यक्तियों को और न ही पापी व्यक्तियों को जीवन की असली सिद्धि अर्थात् कृष्णभावनामृत प्राप्त हो पाती है। यद्यपि विभिन्न समाजों तथा विभिन्न व्यक्तियों में अच्छे तथा बुरे की विभिन्न धारणाएँ हैं, किन्तु शाश्वत स्वार्थ अर्थात् कृष्णभावनामृत की दृष्टि से सारी भौतिक बातें अन्तत: व्यर्थ होती हैं। ऐसा विचार संत सदृश राजा चित्रकेतु द्वारा *भागवत* के छठे स्कंध (६.१७.२०) में व्यक्त हुआ है—

गुणप्रवाह एतस्मिन् क: शाप: को न्वनुग्रह:।
क: स्वर्गो नरक: को वा किं सुखं दु:खमेव वा॥

"यह भौतिक जगत निरन्तर प्रवाहमान नदी की तरंगों के समान है। अतएव क्या शाप और क्या अनुग्रह? क्या स्वर्ग और क्या नर्क? क्या सुख और क्या दुख? चूँकि तरंगें निरन्तर प्रवाहित होती हैं, अतएव उनमें से किसी का भी शाश्वत प्रभाव नहीं होता।" यह तर्क दिया जा सकता है कि चूँकि वेदों में वैध तथा निषेध कार्य निर्देशित हैं, तब तो वेद भी इस जगत में अच्छाई तथा बुराई की धारणा स्वीकार करते हैं। किन्तु तथ्य यह है कि वेद नहीं, अपितु बद्धजीव भौतिक द्वन्द्व में बँधे हुए हैं। वैदिक

साहित्य का कार्य है कि वह मनुष्य को किसी विशेष स्तर पर लगाये जिस पर वह सम्प्रति स्थित है, और धीरे धीरे उसे ऊपर उठाकर जीवन की सिद्धि तक पहुँचा दे। सतोगुण स्वयं में आध्यात्मिक नहीं है, किन्तु यह आध्यात्मिक जीवन में बाधक नहीं होता। चूँकि सतोगुण मनुष्य की चेतना को शुद्ध बनाता है और उच्चतर ज्ञान के लिए लालसा उत्पन्न करता है अतएव यह उपयुक्त पद है जहाँ से आध्यात्मिक जीवन का अनुसरण किया जा सकता है, जिस तरह कि हवाई-अड्डा ऐसा उपयुक्त स्थान है, जहाँ से यात्रा की जाती है। यदि कोई व्यक्ति न्यूयॉर्क से लन्दन की यात्रा करना चाहता है, तो न्यूयॉर्क का हवाई-अड्डा निश्चित रूप से यात्रा करने के लिए सर्वोपयुक्त स्थान है। किन्तु यदि उसका वायुयान छूट जाता है, तो वह उन व्यक्तियों की ही तरह लन्दन से उतना ही दूर है, जो हवाई-अड्डे नहीं गये। दूसरे शब्दों में, हवाई-अड्डा तभी सार्थक है, जब वहाँ से कोई अपना वायुयान पकड़ सके। इसी तरह सतोगुण सर्वोपयुक्त स्थिति है, जिससे आध्यात्मिक मंच तक जाया जा सकता है। बद्धजीवों को सतोगुण तक ऊपर उठाने के लिए वेद अनेक कार्यों की संस्तुति तथा निषेध करते हैं, जहाँ से उन्हें दिव्य ज्ञान के बल पर आध्यात्मिक पद तक उठना है। इसलए यदि कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत पद को प्राप्त नहीं हो पाता, तो सतोगुण तक उसका ऊपर उठना उसी तरह व्यर्थ है, जिस तरह हवाई-अड्डे तक की उसकी यात्रा व्यर्थ है, यदि उसका वायुयान छूट जाय। वेदों में अनेक विधियाँ तथा निषेध हैं, जो भौतिक वस्तुओं में से अच्छे तथा बुरे को स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं, किन्तु वैदिक विधानों का चरम उद्देश्य आध्यात्मिक जीवन के लिए अनुकूल स्थिति उत्पन्न करना है। यदि कोई व्यक्ति तुरन्त ही आध्यात्मिक जीवन बिताने लगे, तो फिर उसे सतोगुणी अनुष्ठानों में अपना समय नहीं गँवाना चाहिए। इसलिए *भगवद्गीता* (२.४५) में कृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

"वेदों में मुख्यतया प्रकृति के तीनों गुणों का वर्णन हुआ है। हे अर्जुन! इन तीनों गुणों से ऊपर उठो। समस्त द्वैतों, हानि-लाभ तथा सुरक्षा की सारी चिन्ताओं से मुक्त होकर आत्मपरायण बनो।" इस सन्दर्भ में श्रील मध्वाचार्य ने *महाभारत* से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किए हैं—

स्वर्गाद्याश्च गुणाः सर्वे दोषाः सर्वे तथैव च।

आत्मन: कर्तृताभ्रान्त्या जायन्ते नात्र संशय: ॥

''भौतिक जगत में बद्धजीव स्वर्ग के वास को तथा सुन्दर स्त्रियों के साथ पवित्र भोग जैसे दैवी आनन्दों को, अच्छी तथा वांछित वस्तुएँ मानते हैं। इसी तरह दुखदायी या कष्टप्रद अवस्थाओं को बुरा माना जाता है। किन्तु भौतिक जगत में अच्छे-बुरे की ऐसी सारी अनुभूति इस मूलभूत त्रुटि पर आधारित है कि मनुष्य समस्त कार्यों का कर्ता भगवान् को न मानकर, अपने आपको मान बैठता है।''

परमात्मानमेवैकं कर्तारं वेत्ति य: पुमान्।

स मुच्यतेऽस्मात् संसारात् परमात्मानमेति च॥

''दूसरी ओर, जो व्यक्ति यह जानता है कि भगवान् ही भौतिक प्रकृति के वास्तविक नियंता हैं और वे ही हर वस्तु को चला रहे हैं, वह इस संसार के बंधन से छूट सकता है। ऐसा व्यक्ति भगवद्धाम को जाता है।''

तस्माद्युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदम्जगत् ।
आत्मनीक्षस्व विततमात्मानं मय्यधीश्वरे ॥ ९॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; युक्त—वश में लाकर; इन्द्रिय-ग्राम:—सारी इन्द्रियों को; युक्त—दमन करके; चित्त:—अपना मन; इदम्—यह; जगत्—संसार; आत्मनि—आत्मा के भीतर; ईक्षस्व—देखो; विततम्—विस्तीर्ण (भौतिक भोग की वस्तु के रूप में); आत्मानम्—तथा उस आत्मा को; मयि—मुझ; अधीश्वरे—परम नियन्ता में।.

इसलिए अपनी सारी इन्द्रियों को वश में करते हुए तथा मन को दमन करके, तुम सारे जगत को आत्मा के भीतर स्थित देखो, जो सर्वत्र प्रसारित है। यही नहीं, तुम इस आत्मा को मुझ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के भीतर भी देखो।

तात्पर्य : *विततम्* शब्द यह बतलाता है कि जीवात्मा पूरे ब्रह्माण्ड में विद्यमान है। इसी तरह *भगवद्गीता* (२.२४) में कृष्ण कहते हैं *नित्य सर्वगत:*—आत्मा नित्य है और समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों में फैला हुआ है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि प्रत्येक जीवात्मा सर्वव्यापक है, अपितु यह कि भगवान् कृष्ण ने अपनी तटस्था शक्ति का सर्वत्र विस्तार कर रखा है। इस तरह मनुष्य को आँख मूँद कर यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि सूक्ष्म जीव सर्वव्यापक है, प्रत्युत उसे यह समझना चाहिए कि ईश्वर महान् हैं और अपनी निजी शक्ति का सर्वत्र विस्तार करते हैं। इस श्लोक में *आत्मनीक्षस्व विततम्* का यह अर्थ है कि यह जगत, उन बद्धजीवों की इन्द्रियतृप्ति के हेतु बनाया

गया, जो अपने असली स्वामी भगवान् कृष्ण के बिना ही भोग करने का प्रयत्न करते हैं। सारे जीव भगवान् की बहिरंगा शक्ति का दोहन करने में लगे हुए हैं, किन्तु भौतिक जगत में उनका कार्यक्षेत्र भ्रामक है। यह भौतिक प्रकृति तथा बद्धजीव दोनों ही भगवान् की शक्तियाँ हैं, अतएव वे भगवान् के भीतर स्थित रहती हैं और उनके परम नियंत्रण में होती हैं।

प्रत्येक जीव भगवान् के आनन्द हेतु विद्यमान है और वह भगवान् का नित्य दास होता है। ज्योंही इन्द्रियाँ भौतिक तृप्ति में लीन हो जाती हैं, वे परम सत्य को अनुभव करने की अपनी शक्ति खो देती हैं। इन्द्रिय कर्म का वास्तविक लक्ष्य विष्णु तोषण है और सारी इन्द्रियाँ भगवान् के साकार रूप का अनुभव करके और सेवा करके अपार आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त कर सकती हैं। किन्तु जो लोग ईश्वर की निर्विशेष अनुभूति को मानते हैं, वे सारा इन्द्रिय कर्म बन्द कर देते हैं। किन्तु इन्द्रियाँ सदा के लिए निष्क्रिय नहीं रह सकतीं, अतएव वे भौतिक मोह के जगत में फिर से कर्म करने लगती हैं। यदि कोई व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाता है, तो वह भगवान् के दिव्य सौन्दर्य का दर्शन करके असीम आनन्द पाता है। किन्तु जब तक मनुष्य कृष्ण की शुद्ध प्रेमाभक्ति के द्वारा अपने आप को पात्र नहीं बना लेता, तब तक भगवान् उसे यह उच्च अनुभव प्रदान नहीं करते। इसलिए हर बद्धजीव को चाहिए कि वह भगवान् के आनन्दमय सान्निध्य को फिर से प्राप्त करके भगवान् से अनावश्यक वियोग का अन्त कर दे। भगवान् कृष्ण बद्धजीवों की अन्धी आँखें खोलने के लिए स्वयं आते हैं और इसलिए वे स्वयं उद्धव को शिक्षा दे रहे हैं, जिससे भविष्य में निष्ठावान व्यक्ति उनके उपदेशों का लाभ उठा सकें। निस्सन्देह, आज भी लाखों लोग *भगवद्गीता* में अर्जुन को कृष्ण द्वारा दिये गये उपदेश से आध्यात्मिक प्रकाश प्राप्त करते हैं।

ज्ञानविज्ञानसंयुक्त आत्मभूतः शरीरिणाम् ।
अत्मानुभवतुष्टात्मा नान्तरायैर्विहन्यसे ॥ १० ॥

शब्दार्थ

ज्ञान—वेदों का निर्णायक ज्ञान; विज्ञान—तथा व्यावहारिक ज्ञान; संयुक्तः—से युक्त; आत्म-भूतः—स्नेह की वस्तु; शरीरिणाम्—सारे देहधारी जीवों (देवतादि से शुरु करके) के लिए; आत्म-अनुभव—आत्मा के प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा; तुष्ट-आत्मा—तुष्ट मन वाला; न—कभी नहीं; अन्तरायैः—उत्पातों (विघ्नों) से; विहन्यसे—तुम्हारी प्रगति रोक दी जायेगी।.

वेदों के निर्णायक ज्ञान से समन्वित होकर तथा व्यवहार में ऐसे ज्ञान के चरम उद्देश्य की अनुभूति करके, तुम शुद्ध आत्मा का अनुभव कर सकोगे और इस तरह तुम्हारा मन तुष्ट हो

जायेगा। उस समय तुम देवतादि से लेकर सारे जीवों के प्रिय बन जाओगे और तब तुम जीवन के किसी भी उत्पात से रोके नहीं जाओगे।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में बतलाया गया है, जिसका मन भौतिक इच्छाओं से मुक्त होता है, उसे देवताओं की पूजा में अरुचि हो जाती है, क्योंकि ऐसी पूजा का उद्देश्य भौतिक उत्थान होता है। किन्तु देवतागण उस व्यक्ति से कभी नाराज नहीं होते, जो कृष्ण का शुद्ध भक्त बन जाता है और भगवान् की ही पूजा करता है। सारे देवता स्वयं भी भगवान् के विनीत दास हैं, जैसाकि इस धरा पर कृष्ण की लीलाओं से स्पष्ट हो गया था। जो व्यक्ति हर एक के शरीर में नित्य आत्मा का अनुभव करता हो वह निश्चित रूप से सारे जीवों का प्रिय बन जाता है। चूँकि वह हर एक को गुणात्मक दृष्टि से अपने ही समान देखता है, इसलिए वह न तो किसी से ईर्ष्या करता है, न ही किसी पर अपना प्रभुत्व जमाने का प्रयास करता है। ईर्ष्यामुक्त होने तथा सबों का हितैषी होने से ऐसा स्वरूपसिद्ध व्यक्ति स्वभावत: हर एक को प्रिय होता है। जैसाकि षड् गोस्वामियों के गीत में कहा गया है—*धीराधीर जनप्रियौ प्रियकरौ निर्मत्सरौ पूजितौ।*

दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते ।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

दोष-बुद्ध्या—यह सोचने से कि ऐसा काम गलत है; उभय-अतीत:—दोनों (संसारी अच्छे तथा बुरे की धारणाओं) को लाँघ जाने वाला; निषेधात्—जो वर्जित है, उससे; न निवर्तते—अपने को दूर नहीं रखता; गुण-बुद्ध्या—यह सोचकर कि यह ठीक है; च—भी; विहितम्—जिसका आदेश हुआ है, वैध; न करोति—नहीं करता; यथा—जिस तरह; अर्भक:—छोटा बालक।

जो भौतिक अच्छाई तथा बुराई को लाँघ चुका होता है, वह स्वत: धार्मिक आदेशों के अनुसार कार्य करता है और वर्जित कार्यों से बचता है। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति यह सब अबोध बालक की तरह अपने आप करता है वरन् इसलिए नहीं कि वह भौतिक अच्छाई तथा बुराई के रूप में सोचता रहता है।

तात्पर्य : जिसने दिव्य ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वह मनमाने ढंग से कार्य नहीं करता। श्रील रूप गोस्वामी ने भक्ति की दो अवस्थाएँ बतलाई हैं—*साधन भक्ति* तथा *रागानुग भक्ति।* रागानुग भक्ति ईश्वर के प्रति अपने आप उठने वाले प्रेम की अवस्था है, जबकि *साधन भक्ति* का अर्थ है, भक्ति के विधि-विधानों का विवेकपूर्ण अभ्यास। अधिकांशत:, जो व्यक्ति इस समय दिव्य चेतना का आनन्द उठा रहा

है, उसने भक्ति के विधि-विधानों का दृढ़ता से अभ्यास किया है। इस तरह पूर्व अभ्यास के कारण वह अपने आप पापमय जीवन से बच जाता है और सामान्य पुण्य के मानकों के अनुसार कर्म करता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि एक स्वरूपसिद्ध व्यक्ति, जान-बूझकर पाप से बच रहा है और पुण्य करता है। प्रत्युत अपने स्वरूपसिद्ध स्वभाव के कारण वह उच्च आध्यात्मिक कार्यों में उसी तरह प्रवृत्त रहता है, जिस तरह अबोध बालक में दया, सहिष्णुता आदि के गुण स्वतः प्रकट हो जाते हैं। यह आध्यात्मिक अवस्था *शुद्ध सत्त्व* कहलाती है और भौतिक सतोगुण से पृथक् होती है, जो रजो तथा तमोगुण का कुछ न कुछ मिश्रण होने के कारण प्रदूषित हुआ रहता है। इस तरह यदि सतोगुणी व्यक्ति जगत की दृष्टि में अत्यन्त पवित्र प्रतीत होता है, तो दिव्य सतोगुणी स्वरूपसिद्ध व्यक्ति के निर्मल्य चरित्र के विषय में हम सही अनुमान लगा सकते हैं। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* (५.१८.१२) में कहा गया है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना

सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।

हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा

मनोरथेनासति धावतो बहिः॥

यदि मनुष्य भगवान् कृष्ण का शुद्ध भक्त है, तो उसमें अपने आप देवताओं के उच्च गुण आ जायेंगे। शुद्धता की ऐसी अभिव्यक्ति रागानुग है, जैसाकि इस श्लोक में बतलाया गया है।

सर्वभूतसुहृच्छान्तो ज्ञानविज्ञाननिश्चयः ।
पश्यन्मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनः ॥ १२॥

शब्दार्थ

सर्व-भूत—समस्त प्राणियों के प्रति; सु-हृत्—शुभैषी; शान्तः—शान्त; ज्ञान-विज्ञान—ज्ञान तथा दिव्य अनुभूति में; निश्चयः—दृढ़तापूर्वक स्थित; पश्यन्—देखते हुए; मत्-आत्मकम्—मेरे द्वारा व्याप्त; विश्वम्—ब्रह्माण्ड को; न विपद्येत—जन्म-मृत्यु के चक्कर में कभी नहीं पड़ेगा; वै—निस्सन्देह; पुनः—फिर से।

जो व्यक्ति सारे जीवों का शुभैषी है, जो शान्त है और ज्ञान तथा विज्ञान में दृढ़ता से स्थिर है, वह सारी वस्तुओं को मेरे भीतर देखता है। ऐसा व्यक्ति फिर से जन्म-मृत्यु के चक्र में कभी नहीं पड़ता।

श्रीशुक उवाच

इत्यादिष्टो भगवता महाभागवतो नृप ।
उद्धवः प्रणिपत्याह तत्त्वं जिज्ञासुरच्युतम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; आदिष्टः—आदेश दिया गया; भगवता—भगवान् द्वारा; महा-भागवतः—भगवान् के महान् भक्त; नृप—हे राजा; उद्धवः—उद्धव ने; प्रणिपत्य—नमस्कार करके; आह—कहा; तत्त्वम्—वैज्ञानिक सत्य; जिज्ञासुः—सीखने के लिए उत्सुक होने से; अच्युतम्—अच्युत भगवान् से।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, इस तरह भगवान् कृष्ण ने अपने शुद्ध भक्त उद्धव को उपदेश दिया, जो उनसे ज्ञान पाने के लिए उत्सुक थे। तत्पश्चात्, उद्धव ने भगवान् को नमस्कार किया और उनसे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : उद्धव को यहाँ पर *तत्त्वं जिज्ञासुः* कहा गया है। पिछले श्लोकों से स्पष्ट है कि श्री उद्धव भगवान् कृष्ण के शुद्ध भक्त हैं और वे कृष्ण की भक्ति को जीवन की सिद्धि मानते हैं। इस प्रकार *तत्त्वं जिज्ञासुः* शब्द सूचित करते हैं कि चूँकि कृष्ण इस पृथ्वी को छोड़ने वाले हैं, इसलिए उद्धव अत्यन्त उत्सुक हैं कि वे भगवान् विषयक ज्ञान को और प्रखर कर लें, जिससे वे उनके चरणकमलों पर प्रेमाभक्ति करने में अग्रसर हो सकें। शुद्ध भक्त सामान्य दार्शनिक या पंडित की तरह निजी तृप्ति के लिए ज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्सुक नहीं होता है।

श्रीउद्धव उवाच
योगेश योगविन्यास योगात्मन्योगसम्भव ।
निःश्रेयसाय मे प्रोक्तस्त्यागः सन्न्यासलक्षणः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; योग-ईश—हे योग के फल को देने वाले; योग-विन्यास—अयोग्यों को भी योगशक्ति प्रदान करने वाले; योग-आत्मन्—योग के द्वारा जाने जानेवाले, हे परम आत्मा; योग-सम्भव—हे समस्त योगशक्ति के उद्गम; निःश्रेयसाय—परम लाभ हेतु; मे—मेरे; प्रोक्तः—आपने, जो कहा है; त्यागः—वैराग्य; सन्न्यास—संन्यास आश्रम स्वीकार करने से; लक्षणः—लक्षण से युक्त।

श्री उद्धव ने कहा : हे स्वामी, आप ही योगाभ्यास के फलों को देने वाले हैं और आप इतने कृपालु हैं कि अपने प्रभाव से आप अपने भक्त को योगसिद्धि वितरित करते हैं। इस तरह आप परमात्मा हैं, जिसकी अनुभूति योग द्वारा होती है और आप ही समस्त योगशक्ति के उद्गम हैं। आपने मेरे उच्चतम लाभ के लिए संन्यास या वैराग्य द्वारा भौतिक जगत त्यागने की विधि बतलाई है।

तात्पर्य : *योगेश* शब्द इसका सूचक है कि भगवान् समस्त योगाभ्यासों का फल देने वाले हैं। चूँकि समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत कृष्ण के दिव्य शरीर से उद्भूत होते हैं, अतएव योग द्वारा कृष्ण तथा उनकी शक्तियों के अतिरिक्त और कुछ पाने के लिए शेष नहीं रहता। और चूँकि भगवान् अपनी शक्तियों के शाश्वत-स्वामी हैं, अतएव कोई भी व्यक्ति योग द्वारा या अन्य किसी आध्यात्मिक अथवा भौतिक विधि से कुछ भी नहीं पा सकता और यदि पा सकता है, तो भगवान् की स्वीकृति से ही पा सकता है। *योग* शब्द का अर्थ है ''जोड़ना'' और जब तक हम अपने आपको परम सत्य से जोड़ते नहीं, तब तक हम अज्ञान के अंधकार से ढके रहते हैं। इस तरह, कृष्ण योग के लक्ष्य हैं।

भौतिक जगत में हम मिथ्या ही अपने को इन्द्रिय-विषयों से जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। पुरुष स्त्री से जुड़ना चाहता है और स्त्री पुरुष से। अथवा मनुष्य अपने को राष्ट्रीयता, समाजवाद, पूँजीवाद या भगवान् की माया की अन्य असंख्य सृष्टियों से जुड़ने का प्रयास करता है। चूँकि हम अपने को नश्वर वस्तुओं से जोड़ते हैं, इसलिए ऐसे सम्बन्ध नश्वर हैं, परिणाम भी क्षणिक हैं और मृत्यु के समय, जब माया द्वारा हमारे सारे सम्बन्ध सहसा छिन्न कर दिये जाते हैं, तो हम मोहग्रस्त हो जाते हैं। किन्तु यदि हम अपने को कृष्ण से जोड़ते हैं, तो उनसे हमारा सम्बन्ध मृत्यु के बाद भी बना रहेगा। जैसाकि *भगवद्गीता* में बतलाया गया है कि इस जीवन में हम कृष्ण के साथ जो सम्बन्ध स्थापित करते हैं, वह अगले जीवन में तब तक बढ़ता जायेगा, जब तक हम परम गन्तव्य कृष्ण-लोक में प्रवेश नहीं पा जाते। जो लोग भगवान् द्वारा संस्तुत दिव्य जीवन-शैली का पालन करते हुए चैतन्य महाप्रभु के मिशन की निष्ठापूर्वक सेवा करते हैं, वे अपने जीवन के अन्त में भगवद्धाम में प्रवेश करेंगे।

कोई भी व्यक्ति केवल मानसिक चिन्तन से स्थायी पद प्राप्त नहीं कर सकता। सामान्य इन्द्रियतृप्ति द्वारा उसे प्राप्त करना तो दूर रहा। हठयोग, कर्मयोग, राजयोग, ज्ञानयोग इत्यादि के द्वारा भगवान् की शाश्वत प्रेमाभक्ति सम्पन्न करने की लालसा को जागृत नहीं किया जा सकता। इस तरह मनुष्य आध्यात्मिक भोग के दिव्य स्वाद से वंचित रहता है। कभी कभी बद्धजीव अपनी इन्द्रियों की तृप्ति न कर पाने के कारण कटुतावश इस जगत का परित्याग करने और निर्विशेष पीड़ारहित अध्यात्म में विलीन हो जाने का निश्चय कर लेता है। किन्तु वास्तविक सुखमय स्थिति तो यह है कि भगवान् के चरणकमलों की प्रेमाभक्ति की जाय। सारी योग-विधियाँ मनुष्य को धीरे धीरे भगवत्प्रेम तक ले जाती

हैं और भगवान् कृष्ण का उद्देश्य बद्धजीवों को इस सुखमय स्थिति में पुनः स्थापित करना है। चैतन्य महाप्रभु कृष्ण के पवित्र नाम के कीर्तन से, जो कि इस युग की सर्वोच्च योग-विधि है, इस सिद्धि को सुलभ बनाते हैं।

त्यागोऽयं दुष्करो भूमन्कामानां विषयात्मभिः ।
सुतरां त्वयि सर्वात्मन्नभक्तैरिति मे मतिः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

त्यागः—वैराग्य; अयम्—यह; दुष्करः—सम्पन्न करना कठिन; भूमन्—हे स्वामी; कामानाम्—भौतिक भोग का; विषय—इन्द्रियतृप्ति; आत्मभिः—समर्पित; सुतराम्—विशेष रूप से; त्वयि—तुममें; सर्व-आत्मन्—हे परमात्मा; अभक्तैः—भक्तिविहीनों द्वारा; इति—इस प्रकार; मे—मेरा; मतिः—मत।

हे प्रभु, हे परमात्मा, ऐसे लोगों के लिए, जिनके मन इन्द्रियतृप्ति में लिप्त रहते हैं और विशेषतया उनके लिए, जो आपकी भक्ति से वंचित हैं, भौतिक भोग को त्याग पाना अतीव कठिन है। ऐसा मेरा मत है।

तात्पर्य : जो असली भगवद्भक्त हैं, वे अपनी निजी तृप्ति के लिए कुछ भी स्वीकार नहीं करते, प्रत्युत वे उन वस्तुओं को स्वीकार करते हैं, जो भगवान् की सेवा में अर्पित करने के लिए उपयुक्त होती हैं। *विषयात्मभिः* शब्द उनका द्योतक है, जो भौतिक वस्तुओं को भगवान् की भक्ति के लिए न चाहकर निजी तृप्ति के लिए चाहते हैं। ऐसे भौतिकतावादी व्यक्तियों के मन विचलित रहते हैं और ऐसे व्यक्तियों के लिए भौतिक भोग को त्याग पाना असम्भव है। यह श्री उद्धव का मत है।

सोऽहं ममाहमिति मूढमतिर्विगाढ-
त्वन्मायया विरचितात्मनि सानुबन्धे ।
तत्त्वञ्जसा निगदितं भवता यथाहं
संसाधयामि भगवन्ननुशाधि भृत्यम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अहम्—मैं; मम अहम्—“मैं” तथा “मेरा” का झूठा विचार; इति—इस प्रकार; मूढ—अत्यन्त मूर्ख; मतिः—चेतना; विगाढः—लीन; त्वत्-मायया—आपकी माया से; विरचित—निर्मित; आत्मनि—शरीर में; स-अनुबन्धे—शारीरिक सम्बन्धों सहित; तत्—इसलिए; तु—निस्सन्देह; अञ्जसा—सरलता से; निगदितम्—उपदेश दिया हुआ; भवता—आपके द्वारा; यथा—विधि जिससे; अहम्—मैं; संसाधयामि—सम्पन्न कर सकूँ; भगवन्—हे भगवान्; अनुशाधि—शिक्षा दें; भृत्यम्—अपने सेवक को।

हे प्रभु, मैं स्वयं सबसे बड़ा मूर्ख हूँ, क्योंकि मेरी चेतना आपकी माया द्वारा निर्मित भौतिक देह तथा शारीरिक सम्बन्धों में लीन है। इस तरह मैं सोच रहा हूँ, “मैं यह शरीर हूँ और ये सारे

सम्बन्धी मेरे हैं।'' अतएव हे स्वामी, अपने इस दीन सेवक को उपदेश दें। कृपया मुझे बतायें कि मैं आपके आदेशों का किस तरह सरलता से पालन करूँ?

तात्पर्य : भौतिक शरीर से अपनी मिथ्या पहचान को त्याग पाना अत्यन्त कठिन है, अतएव हम अपने तथाकथित शारीरिक सम्बन्धों से यथा स्त्री, सन्तान, मित्र इत्यादि से लिप्त रहते हैं। शारीरिक लगाव से हृदय के भीतर विकट पीड़ा होती है और हम शोक तथा लालसा से स्तब्ध रह जाते हैं। भगवान् के शुद्ध भक्त उद्धव यहाँ पर सामान्य पुरुष की भाँति यह दिखाते हुए बोलते हैं कि भगवान् की स्तुति किस तरह की जाय। हम देखते हैं कि अनेक पापी व्यक्ति इस्कॉन में प्रवेश करते हैं और प्रारम्भिक शुद्धि के बाद वे अपने पूर्व अवैध कर्मों पर पश्चाताप करते हैं। उन्हें तब धक्का लगता है, जब वे यह अनुभव करते हैं कि उन्होंने किस तरह माया द्वारा उत्पन्न व्यर्थ के रूपों का पीछा करने के लिए ईश्वर की संगति को त्याग दिया था। अतएव वे गुरु तथा भगवान् कृष्ण से हार्दिक रूप से प्रार्थना करते हैं कि वे दिव्य भक्ति में निरन्तर लगे रहें। आध्यात्मिक प्रगति के लिए ऐसी पश्चातापयुक्त उत्सुक चित्तवृत्ति अत्यन्त शुभ है। भगवान् निश्चित रूप से ऐसे पश्चात्तापपूर्ण भक्त की प्रार्थनाएँ सुनते हैं, जो माया के पाश से छूटने के लिए आतुर रहता है।

सत्यस्य ते स्वदृश आत्मन आत्मनोऽन्यं
वक्तारमीश विबुधेष्वपि नानुचक्षे ।
सर्वे विमोहितधियस्तव माययेमे
ब्रह्मादयस्तनुभृतो बहिरर्थभावाः ॥ १७॥

शब्दार्थ

सत्यस्य—परम सत्य का; ते—आपके अतिरिक्त; स्व-दृशः—आपको प्रकट करने वाला; आत्मनः—मेरे स्वयं के लिए; आत्मनः—भगवान् की अपेक्षा; अन्यम्—दूसरा; वक्तारम्—योग्य वक्ता; ईश—हे प्रभु; विबुधेषु—देवताओं से; अपि—ही; न—नहीं; अनुचक्षे—मैं देख सकता हूँ; सर्वे—वे सभी; विमोहित—मोहग्रस्त; धियः—उनकी चेतना; तव—तुम्हारी; मायया—माया द्वारा; इमे—ये; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा इत्यादि; तनु-भृतः—भौतिक शरीर से युक्त बद्धजीव; बहिः—बाह्य वस्तुओं में; अर्थ—परम मूल्य; भावाः—विचार करते हुए।

हे प्रभु, आप परम सत्य भगवान् हैं और आप अपने भक्तों को अपना रूप दिखलाते हैं। मुझे आपके अतिरिक्त कोई ऐसा नहीं दिखता जो वास्तव में मुझे पूर्ण ज्ञान बतला सके। ऐसा पूर्ण शिक्षक स्वर्ग में देवताओं के बीच भी ढूँढ़े नहीं मिलता। निस्सन्देह ब्रह्मा इत्यादि सारे देवता

आपकी मायाशक्ति से मोहग्रस्त हैं। वे बद्धजीव हैं, जो अपने भौतिक शरीरों तथा शारीरिक अंशों को सर्वोच्च सत्य मान लेते हैं।

तात्पर्य : उद्धव का कहना है कि ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक सारे बद्धजीव भगवान् की माया द्वारा उत्पन्न भौतिक शरीरों से आच्छादित रहते हैं। स्वर्ग के देवता संसार की व्यवस्था में लीन रहने के कारण अपने विपुल ऐश्वर्य का निरन्तर उपभोग करते हैं। अतएव वे धीरे धीरे अपने मन को अपने योग से शक्तिप्राप्त शरीरों पर तथा अपने शारीरिक अंशों पर—यथा अपनी स्वर्गिक पत्नियों, बच्चों, सहयोगियों तथा मित्रों पर एकाग्र करते हैं। स्वर्ग में रहते-रहते देवतागण भौतिक अच्छाई तथा बुराई के रूप में सोचने के आदी हो जाते हैं, अतएव वे अपने शरीरों के तत्कालिक कल्याण को ही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मान लेते हैं।

किन्तु देवतागण ईश्वर के नियमों का दृढ़ता से पालन करने का प्रयास करते हैं। और उन्हें इस कार्य में सहायता पहुँचाने के लिए भगवान्, जिनमें उन देवताओं से कहीं बढ़-चढ़कर शक्तियाँ होती हैं, इन स्वर्गिक प्राणियों को अपने परम व्यक्तित्व का स्मरण कराने के लिए अवतरित होते हैं। भगवान् विष्णु का नित्य शरीर आनन्द, ज्ञान तथा असीम विविध शक्तियों से पूर्ण होता है, जबकि देवताओं के भौतिक रूप भव्य होते हुए भी जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से पीड़ित रहते हैं।

चूँकि देवतागण इस सृजित ब्रह्माण्ड पर शासन चलाते हैं, अतएव उनकी भगवद्भक्ति भौतिक इच्छाओं से रंजित रहती है। इसलिए वे वैदिक ज्ञान के उन अंशों के प्रति आकृष्ट होते हैं, जो उनके दैवी जीवन के चलते रहने के लिए भौतिक ऐश्वर्य प्रदान करने वाले हैं। किन्तु उद्धव शुद्ध भगवद्भक्त होने के कारण शाश्वत जीवन पाने हेतु, भगवद्धाम जाने के लिए कृतसंकल्प हैं, अतएव देवताओं के अशुद्ध वैदिक ज्ञान में उनकी रुचि नहीं है। यह भौतिक जगत विराट बन्दीगृह है, जिसके अन्त:वासी जन्म, मृत्यु, जरा तथा मोह के अधीन होते हैं और शुद्ध भक्त इस बन्दीगृह में देवताओं की भाँति प्रथम श्रेणी के बन्दी की तरह रहने का भी इच्छुक नहीं होता। श्री उद्धव भगवद्धाम जाने के इच्छुक हैं इसीलिए वे सीधे भगवान् के पास जाते हैं। भगवान् *स्व-दृश:* हैं अर्थात् अपने भक्तों के समक्ष प्रकट होते हैं। इसलिए या तो भगवान् या उनका शुद्ध भक्त ही, जो भगवान् के संदेश को निष्ठापूर्वक दोहराता

है, किसी को भौतिक आकाश से परे दिव्य लोकों के स्वतंत्र वातावरण में ले जा सकता है, जहाँ पर मुक्तात्माएँ आनन्द तथा ज्ञानमय शाश्वत जीवन बिताती हैं।

तस्माद्भवन्तमनवद्यमनन्तपारं
सर्वज्ञमीश्वरमकुण्ठविकुण्ठधिष्ण्यम् ।
निर्विण्णधीरहमु हे वृजिनाभितप्तो
नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये ॥ १८॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; भवन्तम्—आपको; अनवद्यम्—पूर्ण; अनन्त-पारम्—असीम; सर्व ज्ञम्—सर्वज्ञ; ईश्वरम्—भगवान् को; अकुण्ठ—किसी शक्ति से अविचलित; विकुण्ठ—वैकुण्ठ-लोक; धिष्ण्यम्—जिनका निजी धाम; निर्विण्ण—विरक्त अनुभव करते हुए; धीः—मेरा मन; अहम्—मैं; उ हे—हे (स्वामी); वृजिन—भौतिक कष्ट द्वारा; अभितप्तः—सताया हुआ; नारायणम्—नारायण की; नर-सखम्—अति सूक्ष्म जीव का मित्र; शरणम् प्रपद्ये—शरण में जाता हूँ।.

अतएव हे स्वामी, भौतिक जीवन से ऊब कर तथा इसके दुखों से सताया हुआ मैं आपकी शरण में आया हूँ, क्योंकि आप पूर्ण स्वामी हैं। आप अनन्त, सर्वज्ञ भगवान् हैं, जिनका आध्यात्मिक निवास वैकुण्ठ में होने से समस्त उपद्रवों से मुक्त है। वस्तुतः आप समस्त जीवों के मित्र नारायण नाम से जाने जाते हैं।

तात्पर्य : कोई भी व्यक्ति अपने को स्वनिर्मित नहीं कह सकता, क्योंकि हर व्यक्ति प्रकृति द्वारा प्रदत्त शरीर तथा मन से कार्य करता है। प्रकृति के नियमों से संसार में सदैव चिन्ता बनी रहती है और समय समय पर भयंकर दुर्घटनाएँ बद्धजीवों को त्रस्त करती रहती हैं। यहाँ उद्धव यह इंगित करते हैं कि एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही बद्धजीवों के सही स्वामी, मित्र तथा आश्रय हैं। भले ही हम किसी व्यक्ति विशेष या देवता के सद्गुणों से आकृष्ट हों, किन्तु बाद में हमें उस व्यक्ति के आचरण में कुछ त्रुटियाँ दिख सकती हैं। इसलिए कृष्ण को *अनवद्यम्* कहा गया है। भगवान् के आचरण या चरित्र में किसी प्रकार का दोष नहीं होता। वे शाश्वत दोषरहित हैं।

हो सकता है, हम अपने स्वामी, पिता या देवता की सेवा अत्यन्त श्रद्धापूर्वक करते रहें, किन्तु जब हमारी सेवा का पुरस्कार मिलने का समय आये, तो स्वामी का देहान्त हो जाय। इसलिए भगवान् कृष्ण को यहाँ पर *अनन्त-पारम्* कहा गया है, जिससे सूचित होता है कि वे काल या देश से सीमित नहीं हैं। *अन्त* शब्द सूचक है, काल की समाप्ति का और *पार* शब्द दिक् की समाप्ति का सूचक है। अतएव

अनन्त-पारम् का अर्थ है कि कृष्ण काल या देश से बँधे नहीं हैं, अतएव वे अपने श्रद्धालु सेवकों को कर्तव्य समझ कर अवश्य ही पुरस्कार देंगे।

यदि हम भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी की सेवा करते हैं, तो हो सकता है कि हमारा तथाकथित स्वामी हमारी सेवाओं को भूल जाय या कृतघ्न बन जाय। इसलिए यहाँ पर कृष्ण को *सर्वज्ञम्* अर्थात् सबकुछ जानने वाला बतलाया गया है। वे अपने भक्त की सेवा को कभी भी भूल नहीं सकते। अतएव वे कभी कृतघ्न नहीं होते। वास्तव में, कहा जाता है कि भगवान् कृष्ण अपने भक्तों के दोषों को स्मरण नहीं रखते। वे उनके द्वारा की गई सेवा का ही स्मरण रखते हैं।

कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी की सेवा करने का एक दोष यह भी है कि जब हम संकट में हों, तो हो सकता है कि वह हमारी रक्षा न कर सके। यदि हम अपने राष्ट्र की शरण ग्रहण करते हैं, तो हो सकता है कि वह युद्ध में विनष्ट हो जाय। यदि हम अपने परिवार की शरण लें, तो वे भी मर सकते हैं। और जैसाकि वैदिक वाङ्मय में कहा गया है, देवता भी असुरों द्वारा कभी कभी पराजित हो जाते हैं। किन्तु भगवान् कृष्ण को यहाँ पर *ईश्वर* कहा गया है, अतएव उनके पराजित होने या किसी अन्य शक्ति द्वारा रोके जाने का कोई भय नहीं रहता। इस तरह भगवान् कृष्ण का यह वायदा कि वे अपने भक्त की रक्षा करते हैं, निरन्तर वैध बना रहता है।

यदि हम भगवान् की सेवा नहीं करेंगे, तो हमें अपनी सेवा का अन्तिम परिणाम भी ज्ञात नहीं हो सकेगा। किन्तु यहाँ पर भगवान् कृष्ण को *अकुण्ठ-विकुण्ठ-धिष्ण्यम्* कहा गया है। भगवान् कृष्ण का नित्य धाम वैकुण्ठ कहलाता है और इस धाम में किसी के द्वारा कभी कोई उत्पात नहीं मचाया जाता। कृष्ण के श्रद्धालु सेवक आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण जीवन बिताने के लिए भगवद्धाम अवश्य ही वापस जायेंगे। किन्तु जब देवता तक देर-सवेर विनष्ट होते हैं, तो भला क्षुद्र मनुष्यों के विषय में क्या कहा जाय? फिर ऐसे देवताओं की सेवा करके कौन-सा लाभ प्राप्त किया जा सकता है?

उद्धव अपनी निजी स्थिति का बयान *निर्विण्ण-धीः* तथा *वृजिनाभितप्तः* के रूप में करते हैं। दूसरे शब्दों में, उद्धव यह कहते हैं कि वे भौतिक जीवन के विरोधों तथा मानसिक क्लेश से ऊब चुके हैं। इसलिए उन्हें बाध्य होकर विनीत भाव से उन कृष्ण के चरणकमलों में शरण लेने पड़ रही है, जो कि प्रत्येक जीव के मित्र हैं। भौतिक जगत में बड़े लोगों के पास क्षुद्र व्यक्तियों से मिलने के लिए समय

नहीं मिलता। किन्तु भगवान् महानतम पुरुष होते हुए भी प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित रहते हैं। इस प्रकार वे सर्वाधिक दयालु हैं। भगवान् कृष्ण *नार* अर्थात् इस जगत को उत्पन्न करने वाले भगवान् के पुरुष अंश के भी परम आश्रय हैं। जीव *नर* कहलाता है और उसके भौतिक पद का स्रोत नार या महाविष्णु कहलाता है। *नारायण* शब्द इसका सूचक है कि महाविष्णु भी कृष्ण की शरण में जाते हैं, जो निश्चय ही परम हैं यद्यपि हमारी चेतना इस समय पापपूर्ण लालसाओं से दूषित है, किन्तु यदि हम श्री उद्धव के आदर्श का पालन करें और भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करें, तो सबकुछ ठीक हो जाएगा। कृष्ण की शरण ग्रहण करने का अर्थ है कृष्ण-भक्ति का आश्रय लेना और उनकी आज्ञा का पालन करना। *भगवद्गीता* में कृष्ण ने इसकी माँग की है और यदि हम भगवान् की आज्ञा का पालन करें तो हमारा जीवन पूर्णतया शुभ तथा सफल हो जाय। तब हम आशा से पहले ही कृष्ण-कृपा से आनन्द तथा ज्ञानमय जीवन के लिए भगवद्धाम में प्रवेश कर सकते हैं।

श्रीभगवानुवाच
प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्त्वविचक्षणाः ।
समुद्धरन्ति ह्यात्मानमात्मनैवाशुभाशयात् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् कृष्ण ने कहा; प्रायेण—सामान्यतः; मनुजाः—मनुष्यगण; लोके—इस जगत में; लोक-तत्त्व—भौतिक जगत की वास्तविक स्थिति; विचक्षणाः—पंडित; समुद्धरन्ति—उद्धार करते हैं; हि—निस्सन्देह; आत्मानम्—अपने से; आत्मना—अपनी बुद्धि से; एव—निस्सन्देह; अशुभ-आशयात्—इन्द्रियतृप्ति की इच्छा की अशुभ मुद्रा से।

भगवान् ने उत्तर दिया : सामान्यतया वे मनुष्य, जो भौतिक जगत की वास्तविक स्थिति का दक्षतापूर्वक विश्लेषण कर सकते हैं, अपने आपको स्थूल भौतिक तृप्ति के अशुभ जीवन से ऊपर उठाने में समर्थ होते हैं।

तात्पर्य : श्री उद्धव ने पिछले श्लोकों में भगवान् से अपनी पतितावस्था तथा जीवन की भौतिक धारणा में अपने फँसने की बात बतलाई। अब भगवान् कृष्ण उद्धव को पुनः आश्वस्त करते हैं कि उद्धव से कम योग्य व्यक्ति भी भौतिक इन्द्रियतृप्ति के अशुभ जीवन से अपने को बाहर निकालने में सक्षम होते हैं। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार, प्रामाणिक गुरु से उपदेश न प्राप्त करने पर भी मनुष्य प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष विश्लेषण द्वारा यह समझ सकते हैं कि संसार भोग का स्थान नहीं है। प्रत्यक्ष विश्लेषण

का अर्थ है निजी अनुभव तथा अप्रत्यक्ष विश्लेषण का अर्थ है, अन्यों के अनुभवों को सुनना और पढ़ना।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार कृष्ण उद्धव को स्वर्ग के देवताओं से भी अधिक बुद्धिमान मानते थे। किन्तु उद्धव हतोत्साहित हो रहे थे और अपने को भगवान् की सेवा करने के अयोग्य समझ रहे थे। किन्तु भगवान् कृष्ण को गुरु-रूप में पाकर उद्धव पूर्णतया स्थिर थे। इसी प्रकार कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्यों का मार्गदर्शन समिति के संस्थापकाचार्य ॐ विष्णुपाद परमहंस परिव्राजकाचार्य अष्टोत्तरशत श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद द्वारा होता है। इसलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन के निष्ठावान सदस्य को कभी भी हतोत्साहित नहीं होना चाहिए, अपितु उनके आशीर्वादों की गणना करके भगवद्धाम वापस जाने के लिए आवश्यक कर्म करने चाहिए। भौतिक जगत के अन्तर्गत कुछ कर्म शुभ और सुख लाने वाले हैं, जबकि अन्य कर्म पापमय होने से अशुभ होते हैं और अपार कष्ट उत्पन्न करते हैं। यहाँ तक कि वह व्यक्ति, जिसे अपने कृष्ण-भक्त गुरु की कृपा प्राप्त नहीं हुई, उसे अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि सामान्य भौतिक जीवन में कोई सुख नहीं है और असली आत्म-रुचि (स्वार्थ) भौतिक स्तर से परे स्थित है।

श्रील मध्वाचार्य इंगित करते हैं कि भले ही कोई व्यक्ति न केवल भौतिक ज्ञान में, अपितु आध्यात्मिक ज्ञान में भी दक्ष हो, यदि वह भगवद्भक्तों की संगति की उपेक्षा करता है, तो वह अज्ञान के अंधकार में चला जाता है। इसलिए इस श्लोक की ऐसी व्याख्या नहीं करनी चाहिए, जो शुद्ध भक्त गुरु के महत्त्व को कम करने वाली हो। जो *विचक्षण:* अर्थात् दक्ष है, वह अन्ततोगत्वा पदार्थ तथा आत्मा के अन्तर को समझ लेगा। ऐसा व्यक्ति अवश्य ही शुद्ध गुरु को पहचानेगा और मानेगा। जो व्यक्ति ज्ञान में बढ़ा-चढ़ा होता है, वह विनीत बन जाता है। इस तरह दक्ष महापुरुष कभी भी भगवद्भक्तों के चरणकमलों की उपेक्षा नहीं करते।

आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः ।
यत्प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

आत्मनः—अपना ही; गुरुः—उपदेश देने वाला गुरु; आत्मा—स्वयं; एव—निस्सन्देह; पुरुषस्य—मनुष्य का; विशेषतः—विशेष अर्थ में; यत्—क्योंकि; प्रत्यक्ष—प्रत्यक्ष अनुभूति से; अनुमानाभ्याम्—तर्क के प्रयोग से; श्रेयः—असली लाभ; असौ—वह; अनुविन्दते—प्राप्त कर सकता है।

बुद्धिमान व्यक्ति, जो अपने चारों ओर के जगत का अनुभव करने तथा ठोस तर्क का प्रयोग करने में निपुण होता है, अपनी ही बुद्धि के द्वारा असली लाभ प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार कभी कभी मनुष्य अपना ही उपदेशक गुरु बन जाता है।

तात्पर्य : जैसाकि इस अध्याय में राजा यदु तथा अवधूत की वार्ता के माध्यम से बताया गया है। संवेदनशील, तर्कपूर्ण व्यक्ति अपने चारों ओर के जगत का निरीक्षण करके असली ज्ञान तथा सुख प्राप्त कर सकता है। अन्य जीवों के सुख और दुख को देखकर मनुष्य यह समझ सकता है कि क्या लाभप्रद है और क्या अनिष्टकर है।

श्रील जीव गोस्वामी ने इस सम्बन्ध में कहा है—*गुर्वनुसरणे प्रवर्तक इत्यर्थः*—अपनी अनुभूति तथा बुद्धि से अर्जित ज्ञान से भगवान् के प्रतिनिधि के महत्त्व को समझा जा सकता है। इस श्लोक में *श्रेयस्* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य अपनी बुद्धि से जीवन में आगे बढ़ सकता है। अच्छी संगति से मनुष्य को धीरे धीरे कृष्ण के दास-रूप में अपनी नित्य स्थिति को समझ लेना चाहिए। तब वह अन्य प्रबुद्धजनों के सान्निध्य में रहने के लिए अत्यन्त उत्सुक हो जाता है। कृष्ण के प्रबुद्ध दास का लक्षण है कि वह ऐसे अन्य महात्माओं की संगति के लिए लालायित रहता है। इस तरह इस भौतिक जगत का संवेदनशील तथा तर्कसंगत निरीक्षण करते हुए मनुष्य को भक्तों की संगति में आध्यात्मिक जीवन के महत्त्व को समझना चाहिए।

पुरुषत्वे च मां धीराः साङ्ख्ययोगविशारदाः ।
आविस्तरां प्रपश्यन्ति सर्वशक्त्युपबृंहितम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

पुरुषत्वे—मनुष्य-जीवन में; च—तथा; माम्—मुझको; धीराः—आध्यात्मिक ज्ञान के माध्यम से ईर्ष्या से मुक्त हुए; साङ्ख्य-योग—वैश्लेषिक ज्ञान तथा भगवद्भक्ति से बने आध्यात्मिक विज्ञान में; विशारदाः—दक्ष; आविस्तराम्—प्रत्यक्षतः प्रकट; प्रपश्यन्ति—वे स्पष्ट देखते हैं; सर्व—सभी; शक्ति—मेरी शक्ति से; उपबृंहितम्—प्रदत्त, समन्वित।

मनुष्य-जीवन में जो लोग आत्मसंयमी हैं और सांख्य योग में दक्ष हैं, वे मुझे मेरी सारी शक्तियों समेत प्रत्यक्ष देख सकते हैं।

तात्पर्य : वेदों में निम्नलिखित कथन पाया जाता है—*पुरुषत्वे चाविस्तराम् आत्मा सहित-प्रज्ञानेन सम्पन्न-तमो विज्ञातं वदति विज्ञातं पश्यति वेद श्वस्तनं वेद लोकालोकौ मर्त्येनामृतम् ईप्सत्येवं सम्पन्नोऽथेतरेषां पशूनाम् अशना-पिपासे एवभिज्ञानम्*—"मनुष्य-जीवन में आत्मा बुद्धि से समन्वित होता है, जिससे वह आध्यात्मिक ज्ञान को समझ सके। इस प्रकार मनुष्य-जीवन में आत्मा अनुभूत ज्ञान को बोल सकता है, सत्य को देख सकता है, भविष्य को जान सकता है और इस जगत तथा अगले जीवन की वास्तविकता को समझ सकता है। मर्त्य जीवन के अनुभव का लाभ उठाकर मनुष्य-रूप में आत्मा अमरता के लिए प्रयास कर सकता है और मानव-शरीर इसे प्राप्त करने के लिए पूरी तरह तैयार होता है। ऐसी अग्रसर अवस्था में आत्मा पशुओं के सामान्य कार्यों, यथा खाने-पीने से पूर्णतया ज्ञात होता है।"

मनुष्य-जीवन (*पुरुषत्वे*) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह हमें अपने अस्तित्व को पूर्ण बनाने का अवसर प्रदान करता है। यहाँ पर उल्लिखित सांख्य विधि भगवान् कपिल द्वारा अपनी माता देवहूति को दिए उपदेशों में बहुत अच्छी रीति से प्रदर्शित होती है। कपिल भगवान् हैं और उनकी माता यह कहती हुई, उनके पास पहुँचीं—

निर्विण्णा नितरां भूमन्नसद्-इन्द्रियतर्षणात्।

येन सम्भाव्यमानेन प्रपन्नान्धं तम: प्रभो॥

"मैं अपनी भौतिक इन्द्रियों द्वारा किये गये उत्पात से अत्यन्त ऊबी हुई हूँ, क्योंकि इसी इन्द्रिय उत्पात से, हे प्रभु! मैं अज्ञान के गर्त में गिर चुकी हूँ।" (भागवत ३.२५.७) भगवान् कपिल ने अपनी माता को समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक सत्य का उच्च स्तरीय तार्किक सारांश प्रदान किया। यह महत्त्वपूर्ण है कि कपिल ने यह भेदभाव नहीं बरता कि उनकी माता स्त्री हैं, न ही यह माना कि वे इस विस्तृत आध्यात्मिक ज्ञान को समझने में अक्षम हैं। इस प्रकार मुक्तात्माओं के कृष्णभावनाभावित समाज में कोई भी पुरुष, स्त्री या बालक बिना भेदभाव के कृष्ण का भक्त हो सकता है। यह भी महत्त्वपूर्ण है कि भगवान् कपिल द्वारा बतलाई गई अत्यन्त बौद्धिक सांख्य विधि में शुद्ध भक्तों के चरणकमलों की शरण ग्रहण करना तथा भगवत्प्रेम ही मुख्य निष्कर्ष होते हैं। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध में भगवान् कपिल इस बात पर बल देते हैं कि शुद्ध भगवद्भक्तों की शरण ग्रहण की जाय। प्रस्तुत श्लोक में

भगवान् कृष्ण कहते हैं *सांख्ययोगविशारदाः*—जो लोग शुद्ध भक्तों की शरण ग्रहण करने में दक्ष हैं और इस तरह इस जगत की वास्तविक स्थिति समझ सकते हैं, वे कृष्ण को साकार रूप में उनकी अन्तरंगा तथा बहिरंगा शक्तियों समेत देख सकते हैं।

कोई गुरु अपने गुरु के पूर्ण शरणागत होकर प्रामाणिक बनता है, किन्तु जैसाकि इस अध्याय में बतलाया गया है, मनुष्य अपना ही गुरु भी बन सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि बुद्धिमान तथा संवेदनशील पुरुष इस जगत के स्वभाव को तथा अपनी सीमाओं को समझ सकता है। ऐसा व्यक्ति शुद्ध भगवद्भक्तों की संगति करने के लिए तथा कृष्णभावनामृत में अग्रणी लोगों की कृपा पाने के लिए अत्यधिक उन्मुख रहता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार यहाँ पर जिस तरह *सांख्ययोग* वर्णित हुआ है, वह ज्ञानयोग की कठोर बौद्धिक प्रगति तथा भक्तियोग का जो शुद्ध भक्तों के चरणकमलों की कृपा पर बल देता है, द्योतक है।

वस्तुत: ज्ञानयोग भक्तियोग पद्धति में एक कारक होता है क्योंकि कृष्ण *ज्ञानगम्य* हैं अर्थात् समस्त ज्ञान के लक्ष्य हैं। भगवान् ने *भगवद्गीता* में भी (१०.१०) कहा है कि वे निष्ठावान भक्त को सारा ज्ञान स्वयं प्रदान करते हैं। इस अध्याय में भगवान् कृष्ण उद्धव को भौतिक जगत में अपने नित्यप्रति के अनुभवों में भगवान् के साकार रूप को देखने का प्रशिक्षण दे रहे हैं। भगवान् ने पहले ही उद्धव से संकेत कर दिया है कि वे *समाधि* में सारे जगत का भ्रमण करेंगे और अब वे उद्धव को असली संन्यासी के रूप में भगवान् का सर्वत्र दर्शन करते हुए विचरण करने के लिए तैयारी करा रहे हैं।

एकद्वित्रिचतुस्पादो बहुपादस्तथापदः ।
बह्व्यः सन्ति पुरः सृष्टास्तासां मे पौरुषी प्रिया ॥ २२॥

शब्दार्थ

एक—एक; द्वि—दो; त्रि—तीन; चतुः—चार; पादः—पाँव से युक्त; बहु-पादः—अनेक पाँवों से युक्त; तथा—भी; अपदः—बिना पाँव के; बह्व्यः—अनेक; सन्ति—हैं; पुरः—विभिन्न प्रकार के शरीर; सृष्टाः—निर्मित; तासाम्—उनका; मे—मुझको; पौरुषी—मनुष्य-रूप; प्रिया—अत्यन्त प्रिय।

इस जगत में अनेक प्रकार के सृजित शरीर हैं—कुछ एक पाँव वाले, कुछ दो, तीन, चार या अधिक पाँवों वाले तथा अन्य बिना पाँव के हैं, किन्तु इन सबों में मनुष्य-रूप मुझे वास्तविक प्रिय है।

तात्पर्य : भौतिक सृष्टि का चरम लक्ष्य बद्धजीव को भगवद्धाम वापस जाने के लिए सुविधा प्रदान करना है। चूँकि बद्धजीव का ऐसा मोक्ष केवल मनुष्य-जीवन में सम्भव है, इसलिए स्वभावत: दयालु भगवान् को यह रूप विशेष प्रिय है।

अत्र मां मृगयन्त्यद्धा युक्ता हेतुभिरीश्वरम् ।
गृह्यमाणैर्गुणैर्लिङ्गैरग्राह्यमनुमानतः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अत्र—यहाँ (मनुष्य-रूप में); माम्—मुझे; मृगयन्ति—ढूँढ़ते हैं; अद्धा—सीधे; युक्ताः—स्थित; हेतुभिः—प्रकट लक्षणों से; ईश्वरम्—ईश्वर को; गृह्यमाणैः गुणैः—अनुभव करने वाली बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों से; लिङ्गैः—तथा अप्रत्यक्ष रूप से निश्चित किये गये लक्षणों से; अग्राह्यम्—प्रत्यक्ष अनुभूति की पकड़ से परे; अनुमानतः—तर्क विधि से।

यद्यपि मुझ भगवान् को सामान्य इन्द्रिय अनुभूति से कभी पकड़ा नहीं जा सकता, किन्तु मनुष्य-जीवन को प्राप्त लोग प्रत्यक्ष रूप से मेरी खोज करने के लिए प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष निश्चित लक्षणों द्वारा अपनी बुद्धि तथा अन्य अनुभूति-इन्द्रियों का उपयोग कर सकते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक में *युक्ताः* शब्द उनका सूचक है, जो *भक्तियोग* के नियमित अभ्यास में लगे रहते हैं। भगवद्‌भक्त अपनी बुद्धि त्याग कर बुद्धिहीन मनचलों की तरह नहीं बन जाते, जैसाकि कुछ मूर्ख सोचते हैं। जैसाकि *अनुमानतः* तथा *गुणैर्लिङ्गैः* शब्दों से सूचित होता है, भक्तियोग में लगा भक्त मानव मस्तिष्क की सभी प्रतिभाओं के माध्यम से भगवान् की गहन खोज करता है। फिर भी *मृगयन्ति* शब्द किसी अनियमित या अवैध विधि का सूचक नहीं है। यदि हमें किसी विशेष व्यक्ति के फोन नम्बर की आवश्यकता होती है, तो हम प्रामाणिक टेलिफोन डाइरेक्टरी में देखते हैं। इसी तरह यदि हम किसी विशेष वस्तु की खोज कर रहे होते हैं, तो हम विशिष्ट स्टोर में जाते हैं, जहाँ खोजी जा रही वस्तु के होने की सम्भावना होती है। श्रील जीव गोस्वामी इंगितकरते हैं कि भगवान् कोई काल्पनिक वस्तु नहीं, अतएव हम यह मनमानी कल्पना नहीं कर सकते कि भगवान् कैसा हो सकता है। अतएव कृष्ण के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें प्रामाणिक वैदिक शास्त्रों की नियमित खोज करनी होगी। इस श्लोक में *अग्राह्यम्* शब्द यह सूचित करता है कि सामान्य कल्पना से या भौतिक इन्द्रियों के कार्यों द्वारा भगवान् कृष्ण को समझा या पाया नहीं जा सकता। इस सन्दर्भ में श्रील रूप गोस्वामी *भक्तिरसामृतसिन्धु* का (१.२.२३४) निम्नलिखित श्लोक देते हैं—

अत: श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियै।

सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यद: ॥

"कोई भी व्यक्ति अपनी भौतिकता द्वारा दूषित इन्द्रियों से श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण तथा लीलाओं की दिव्य प्रकृति को नहीं समझ सकता। भगवद्भक्ति से पूर्णतया संतृप्त होने पर ही उसे भगवान् के दिव्य नाम, रूप, गुण, लीलाएँ इत्यादि प्रकट होते हैं।

गृह्यमाणै गुणै शब्द मनुष्य के मस्तिष्क की तर्कशील तथा बौद्धिक विशिष्टताओं के सूचक हैं। इन सबों का उपयोग भगवान् को प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से देखने में किया जा सकता है। अप्रत्यक्ष रूप में मनुष्य भगवान् का अनुभव उनकी सृष्टि के माध्यम से कर सकता है। चूँकि हम इस जगत का अनुभव अपनी बुद्धि (तथा इन्द्रियों) से करते हैं अतएव हमें यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि हमारी बुद्धि का भी कोई स्रष्टा है और वह स्रष्टा परम बुद्धिमान है। इस प्रकार सीधे-सादे तर्क से कोई भी विवेकवान् व्यक्ति यह समझ सकता है कि ऐसा एक भगवान् है, जो हर एक का नियंत्रण करता है।

भगवान् के नाम तथा यश के कीर्तन तथा श्रवण द्वारा भी भगवान् की प्रत्यक्ष अनुभूति हो सकती है। *श्रवणं कीर्तनं विष्णो:* का अर्थ है कि मनुष्य को सदैव भगवान् के यश का कीर्तन तथा श्रवण करना चाहिए। ठीक से श्रवण तथा कीर्तन करने वाले व्यक्ति को भगवान् का साक्षात्कार अवश्य होगा। कृष्ण सर्वव्यापक हैं, अतएव उनकी खोज सर्वत्र की जानी चाहिए। भक्तियोग द्वारा परिष्कृत दिव्य इन्द्रियों से मनुष्य भगवान् की प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त कर सकता है। जैसाकि इस श्लोक में *अद्धा* शब्द से सूचित होता है, यह अनुभूति प्रत्यक्ष है, काल्पनिक नहीं। श्रील प्रभुपाद ने इसकी विशद व्याख्या *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक (२.२.३५) के तात्पर्य में की है—

भगवान् सर्वभूतेषु लक्षित: स्वात्मना हरि:।

दृश्यै बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणैरनुमापकै॥

"भगवान् कृष्ण आत्मा समेत हर जीव में रहते हैं और यह तथ्य हमारे देखने तथा बुद्धि वाले कार्यों से अनुभव तथा कल्पित किया जाता है।"

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।

अवधूतस्य संवादं यदोरमिततेजसः ॥ २४॥

शब्दार्थ

अत्र अपि—इस विषय में; उदाहरन्ति—उदाहरण देते हैं; इमम्—इस; इतिहासम्—ऐतिहासिक वृत्तान्त को; पुरातनम्—प्राचीन; अवधूतस्य—सामान्य विधि-विधानों की परिधि से बाहर कार्य करने वाला पवित्र व्यक्ति; संवादम्—वार्ता को; यदोः—तथा राजा यदु की; अमित-तेजसः—असीम शक्ति वाले।

इस सम्बन्ध में साधु-पुरुष अत्यन्त शक्तिशाली राजा यदु तथा एक अवधूत से सम्बद्ध एक ऐतिहासिक वार्ता का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण उद्धव से यह कथा यह दिखाने के लिए बतलायेंगे कि किस तरह तर्कयुक्त बुद्धि का उपयोग भक्तियोग में वैदिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए किया जा सकता है और किस तरह बुद्धिमान व्यक्ति अन्ततः भगवान् के चरणकमलों तक जाता है।

अवधूतं द्वियं कञ्चिच्चरन्तमकुतोभयम् ।
कविं निरीक्ष्य तरुणं यदुः पप्रच्छ धर्मवित् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

अवधूतम्—साधु; द्विजम्—ब्राह्मण को; कञ्चित्—कुछ; चरन्तम्—विचरण करते हुए; अकुतः-भयम्—किसी प्रकार के भय के बिना; कविम्—विद्वान; निरीक्ष्य—देखकर; तरुणम्—युवा; यदुः—राजा यदु ने; पप्रच्छ—पूछा; धर्म-वित्—धार्मिक सिद्धान्तों में दक्ष।

महाराज यदु ने एक बार किसी ब्राह्मण अवधूत को देखा, जो तरूण तथा विद्वान प्रतीत होता था और निर्भय होकर विचरण कर रहा था। आध्यात्मिक विज्ञान में अत्यन्त पारंगत होने के कारण राजा ने इस अवसर का लाभ उठाया और उसने इस प्रकार उससे पूछा।

श्रीयदुरुवाच
कुतो बुद्धिरियं ब्रह्मन्नकर्तुः सुविशारदा ।
यामासाद्य भवाल्लोकं विद्वांश्चरति बालवत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्री-यदुः उवाच—राजा यदु ने कहा; कुतः—कहाँ से; बुद्धिः—बुद्धि; इयम्—यह; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; अकर्तुः—किसी काम में न लगे रहने वाले के; सु-विशारदा—अत्यन्त विस्तृत; याम्—जो; आसाद्य—प्राप्त करके; भवान्—आप; लोकम्—संसार में; विद्वान्—ज्ञान से पूर्ण होकर; चरति—विचरण करता है; बाल-वत्—बालक के समान।

श्री यदु ने कहा : हे ब्राह्मण, मैं देख रहा हूँ कि आप किसी व्यावहारिक धार्मिक कृत्य में नहीं लगे हुए हैं, तो भी आपने इस जगत में सारी वस्तुओं तथा सारे लोगों की सही-सही जानकारी प्राप्त कर रखी है। हे महानुभाव, मुझे बतायें कि आपने यह असाधारण बुद्धि कैसे प्राप्त की है और आप सारे जगत में बच्चे की तरह मुक्त रूप से विचरण क्यों कर रहे हैं?

प्रायो धर्मार्थकामेषु विवित्सायां च मानवाः ।
हेतुनैव समीहन्त आयुषो यशसः श्रियः ॥ २७॥

शब्दार्थ

प्रायः—सामान्यतया; धर्म—धर्म; अर्थ—आर्थिक विकास; कामेषु—तथा इन्द्रियतृप्ति में; विवित्सायाम्—आध्यात्मिक ज्ञान की खोज में; च—भी; मानवाः—मनुष्यगण; हेतुना—अभिप्राय के लिए; एव—निस्सन्देह; समीहन्ते—प्रयत्न करते हैं; आयुषः—दीर्घायु की; यशसः—यश की; श्रियः—तथा भौतिक ऐश्वर्य की।

सामान्यतया मनुष्य धर्म, अर्थ, काम तथा आत्मा विषयक ज्ञान का अनुशीलन करने के लिए कठिन परिश्रम करते हैं। उनका सामान्य मन्तव्य अपनी आयु को बढ़ाना, यश अर्जित करना तथा भौतिक ऐश्वर्य का भोग करना रहता है।

तात्पर्य : बुद्धिमान व्यक्ति को यह समझना चाहिए कि यदि शरीर से पृथक् कोई नित्य आत्मा है, तो असली सुख प्रकृति के बन्धन से परे हमारी नित्य स्थिति में पाया जाता है। किन्तु सामान्य व्यक्ति आध्यात्मिक विषयों की चर्चा करते हुए भी, या तो विख्यात बनना चाहते हैं, या ऐसे आध्यात्मिक अभ्यासों से अपनी सम्पत्ति तथा आयु बढ़ाना चाहते हैं। उदाहरणार्थ, अधिकांश सामान्यजन सोचते हैं कि योग-पद्धति मनुष्य का स्वास्थ्य सुधारने के लिए है, कि मनुष्य धन के लिए ईश्वर से प्रार्थना करे और मनुष्य का आध्यात्मिक ज्ञान समाज में अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए है। महाराज यदु यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि युवा ब्राह्मण अवधूत सामान्य व्यक्ति जैसा नहीं है, अपितु वह आध्यात्मिक पद को प्राप्त है, जैसाकि अगले श्लोकों में बतलाया जायेगा।

त्वं तु कल्पः कविर्दक्षः सुभगोऽमृतभाषणः ।
न कर्ता नेहसे किञ्चिज्जडोन्मत्तपिशाचवत् ॥ २८॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; तु—फिर भी; कल्पः—सक्षम; कविः—विद्वान; दक्षः—पटु; सु-भगः—सुन्दर; अमृत-भाषणः—अमृततुल्य वाणी से युक्त; न—नहीं; कर्ता—करने वाला; न ईहसे—तुम इच्छा नहीं करते; किञ्चित्—कोई भी वस्तु; जड—अचर; उन्मत्त—पागल बना हुआ; पिशाच-वत्—पिशाच के समान।

तथापि समर्थ, विद्वान, दक्ष, सुन्दर तथा सुस्पष्ट वक्ता होते हुए भी आप न तो कोई काम करने में लगे हैं, न ही आप किसी वस्तु की इच्छा करते हैं, प्रत्युत जड़वत तथा उन्मत्त प्रतीत होते हैं, मानो कोई पिशाच हो।

तात्पर्य : अज्ञानी लोग प्राय: सोचते हैं कि विरक्त आध्यात्मिक जीवन नपुंसकों, घर में रहने वालों या सांसारिक कार्यों में अकुशल लोगों के निमित्त है। कभी कभी मूर्ख लोग यह कहते हैं कि धार्मिक जीवन उन लोगों के लिए सहारा है, जो समाज में उच्च पद पाने के लिए पर्याप्त दक्ष नहीं हैं। इसीलिए राजा यदु ने साधु-ब्राह्मण के गुणों का वर्णन यहाँ पर यह दिखाने के लिए किया है कि ब्राह्मण ने संन्यास ग्रहण कर लिया है यद्यपि सांसारिक सफलता के लिए उसमें महान् क्षमता है। *अवधूत ब्राह्मण* को दक्ष, विद्वान, सुघड़, वक्ता तथा सांसारिक सफलता के लिए सब प्रकार से योग्य बतलाया गया है। तो भी वह अवधूत भौतिक जीवन त्याग कर कृष्णभावनामृत को अंगीकार किये हुए है। मनुष्य का असली कार्य है कि आनन्द तथा ज्ञानमय शाश्वत जीवन के लिए वह भगवद्धाम जाय।

श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी एक ही साथ कृष्णभावनामृत का अनुशीलन तथा अन्यों को कृष्णभावनाभावित बनाने के लिए उपदेश-कार्य हेतु कठिन प्रयास करते हैं। प्राय: मूर्ख लोग भक्तों को यह कह कर चिढ़ाते हैं, ''तुम कोई कार्य क्यों नहीं ढूँढ़ लेते?'' वे सोचते हैं कि जो व्यक्ति आध्यात्मिक प्रकाश के लिए निष्ठापूर्वक प्रयास करता है और अन्यों को प्रकाश देता है, वह कोई व्यावहारिक कार्य नहीं करता। मूर्ख भौतिकतावादी कुछ सप्ताह या कुछ महीनों के लिए आयु बढ़ा देने के लिए अस्पताल में लाखों डालर व्यय कर देंगे, किन्तु वे उसकी प्रशंसा नहीं करेंगे, जो शाश्वत जीवन के लिए प्रयत्नशील हैं। भौतिक जीवन में कोई वास्तविक तुक नहीं है। कृष्ण के बिना भोग करने का कार्य घोर अनैतिक है, इसलिए कृष्णभावनामृत से विहीन भौतिकतावादी जीवन में हमें कुछ भी तर्कयुक्त नहीं मिलेगा। अनेक कृष्ण-भक्त धनी, विद्वान तथा प्रतिष्ठाशाली परिवारों से आते हैं और वे अपना जीवन पूर्ण बनाने के लिए कृष्णभावनामृत स्वीकार करते हैं। वे किसी भौतिक उन्नति के लिए अवसर के अभाव से ऐसा नहीं करते। यद्यपि कभी कभी लोग सांसारिक कष्ट होने पर सहायता के लिए भगवान् के पास जाते हैं, किन्तु असली कृष्ण-भक्त स्वेच्छा से सारा भौतिक भोग, यह जानते हुए त्याग देता है कि एकमात्र कृष्ण-प्रेम तथा उनके चरणकमलों की सेवा ही, जीवन की असली सिद्धि हैं।

जनेषु दह्यमानेषु कामलोभदवाग्निना ।
न तप्यसेऽग्निना मुक्तो गङ्गाम्भ:स्थ इव द्विपः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

जनेषु—समस्त लोगों के; दह्यमानेषु—जलते हुए भी; काम—काम; लोभ—तथा लालच की; दव-अग्निना—जंगल की आग द्वारा; न तप्यसे—जल नहीं जाते; अग्निना—अग्नि से; मुक्तः—स्वतंत्र; गङ्गा-अम्भः—गंगा के जल में; स्थः—खड़े; इव—मानो; द्विपः—हाथी।

यद्यपि भौतिक जगत में सारे लोग काम तथा लोभ की दावाग्नि में जल रहे हैं, किन्तु आप स्वतंत्र रह रहें हैं और उस अग्नि से जलते नहीं। आप उस हाथी के समान हैं, जो दावाग्नि से बचने के लिए गंगा नदी के जल के भीतर खड़े होकर आश्रय लिये हुये हो।

तात्पर्य : इस श्लोक में दिव्य आनन्द के सहज परिणाम का वर्णन हुआ है। युवा ब्राह्मण शारीरिक रूप से अत्यन्त आकर्षक था और उसकी इन्द्रियाँ भौतिक भोग हेतु शक्ति से परिपूर्ण थीं, तो भी वह भौतिक भोग से तनिक भी प्रभावित नहीं था। यह स्थिति *मुक्ति* कहलाती है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि गंगा के प्रवाह में जल की विशाल धाराएँ होती हैं, जो प्रज्वलित अग्नि को बुझाने में समर्थ होती हैं। यदि कोई हाथी कामोन्मत्त होकर गंगा के भीतर जाकर खड़ा हो जाता है, तो गंगा की शक्तिशाली शीतलकारी धाराएँ उसके काम को शमन कर देती हैं और हाथी शान्त हो जाता है। इसी तरह जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसे सामान्य मनुष्य निरन्तर काम तथा लोभ रूपी शत्रुओं द्वारा तंग किये जाते हैं, जो मन को कभी पूरी तरह शान्त नहीं होने देते। किन्तु यदि कोई व्यक्ति हाथी के उदाहरण का पालन करते हुए दिव्य आनन्द की शीतलकारी लहरों में जाकर खड़ा हो जाता है, तो उसकी सारी भौतिक कामनाएँ तुरन्त ही छूमन्तर हो जायेंगी और मनुष्य *शान्त* बन जायेगा। जैसाकि श्री चैतन्य चरितामृत में कहा गया है—*कृष्ण-भक्त निष्काम अतएव शान्त।* इस तरह हर व्यक्ति को चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन को स्वीकार करना चाहिए और अपने को कृष्णभावनामृत के शीतलकारी जल से निर्मल करना चाहिए क्योंकि वही हमारी असली शाश्वत चेतना है।

त्वं हि नः पृच्छतां ब्रह्मन्नात्मन्यानन्दकारणम् ।
ब्रूहि स्पर्शविहीनस्य भवतः केवलात्मनः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; हि—निश्चय ही; नः—हमसे; पृच्छताम्—पूछ रहे; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; आत्मनि—अपने भीतर; आनन्द—आनन्द के; कारणम्—कारण को; ब्रूहि—कहो; स्पर्श-विहीनस्य—भौतिक भोग के स्पर्श से विहीन; भवतः—आपका; केवल-आत्मनः—एकान्त में रहने वाले।

हे ब्राह्मण, हम देखते हैं कि आप भौतिक भोग से किसी प्रकार के स्पर्श से रहित हैं और बिना किसी संगी या पारिवारिक सदस्य के अकेले ही भ्रमण कर रहे हैं। चुँकि हम निष्ठापूर्वक

आपसे पूछ रहे है, इसलिए कृपा करके हमें अपने भीतर अनुभव किये जा रहे महान् आनन्द का कारण बतलायें।

तात्पर्य : यहाँ *केवलात्मन:* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जब तक मनुष्य को परमात्मा तथा आत्मा की, जो हर जीव के हृदय में एकसाथ रहते हैं, व्यावहारिक अनुभूति नहीं होती, तब तक बनावटी तौर पर संन्यास आश्रम ग्रहण कर पाना और पत्नी, सन्तान या अन्य पारिवारिक सदस्यों की संगति के बिना यात्रा कर पाना अत्यन्त कठिन होता है। हर जीव का स्वभाव है कि वह अन्यों को अपना मित्र बनाता है और उपयुक्त जनों को अपना प्रेम प्रदान करता है। जिसे परम पुरुष की अनुभूति हो चुकती है, वह भगवान् को अपने हृदय में अपने नित्य संगी की तरह हृदय के भीतर वहन करता है। जब तक मनुष्य को यह अनुभूति नहीं हो जाती कि कृष्ण ही उसके एकमात्र असली मित्र हैं और कृष्ण उसके हृदय के भीतर हैं, तब तक वह भौतिक जगत के क्षणिक सम्बन्धों से लिप्त रहता है।

श्रीभगवानुवाच
यदुनैवं महाभागो ब्रह्मण्येन सुमेधसा ।
पृष्टः सभाजितः प्राह प्रश्रयावनतं द्विजः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; यदुना—राजा यदु द्वारा; एवम्—इस तरह से; महा-भागः—परम भाग्यशाली; ब्रह्मण्येन—ब्राह्मणों का आदर करने वाला; सु-मेधसा—तथा बुद्धिमान; पृष्टः—पूछा; सभाजितः—सत्कार किया; प्राह—बोला; प्रश्रय—दीनतावश; अवनतम्—अपना सिर झुकाते हुए; द्विजः—ब्राह्मण ने।

भगवान् कृष्ण ने कहा : ब्राह्मणों का सदैव आदर करने वाला बुद्धिमान राजा यदु अपना सिर झुकाये हुए प्रतीक्षा करता रहा और वह ब्राह्मण राजा की मनोवृत्ति से प्रसन्न होकर उत्तर देने लगा।

श्रीब्राह्मण उवाच
सन्ति मे गुरवो राजन्बहवो बुद्ध्युपश्रिताः ।
यतो बुद्धिमुपादाय मुक्तोऽटामीह तान्शृणु ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्राह्मणः उवाच—ब्राह्मण ने कहा; सन्ति—हैं; मे—मेरे; गुरवः—अनेक गुरु; राजन्—हे राजा; बहवः—अनेक; बुद्धि—मेरी बुद्धि; उपश्रिताः—शरणागत; यतः—जिससे; बुद्धिम्—बुद्धि के; उपादाय—प्राप्त करके; मुक्तः—मुक्त; अटामि—विचरण करता हूँ; इह—इस जगत में; तान्—उनको; शृणु—सुनो।

ब्राह्मण ने कहा : हे राजन्, मैंने अपनी बुद्धि से अनेक गुरुओं की शरण ली है। उनसे दिव्य ज्ञान प्राप्त करने के बाद अब मैं मुक्त अवस्था में पृथ्वी पर विचरण करता हूँ। जिस रूप में मैं आपसे वर्णन करूँ, कृपा करके सुनें।

तात्पर्य : *बुद्ध्युपाश्रिताः* शब्द सूचित करता है कि ब्राह्मण के गुरुओं ने प्रत्यक्ष रूप से उससे नहीं कहा। अपितु उसने अपनी बुद्धि से उनसे सीखा। वे सारे जीव जो कृष्ण से शत्रुता रखते हैं, व्यर्थ की भौतिक वस्तुओं की स्तुति करते हैं और जिन वस्तुओं की झूठे ही पूजा करते हैं, उनके ऊपर अपना प्रभुत्व जताना चाहते हैं। इस तरह बद्धजीव सांसारिक धार्मिकता, आर्थिक विकास तथा स्थूल इन्द्रियतृप्ति द्वारा अपनी आयु के साथ ही यश तथा सौन्दर्य बढ़ाना चाहते हैं। राजा यदु ने देखा कि यह साधु अवधूत उस तरह से आचरण नहीं कर रहा है, इसलिए राजा उस ब्राह्मण की वास्तविक स्थिति जानने के लिए उत्सुक था। राजा को दिये जाने वाले उत्तर में साधु-ब्राह्मण कहता है, "मैं भौतिक जगत के २४ तत्त्वों को अपनी इन्द्रियतृप्ति के विषय नहीं मानता, अतएव उन्हें मानने या बहिष्कार करने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रत्युत मैं भौतिक तत्त्वों को अपने उपदेशक गुरु मानता हूँ। इस तरह सारे जगत में विचरण करते रहने पर भी मैं कभी गुरु-सेवा से वंचित नहीं हुआ हूँ। मैं अपनी आध्यात्मिक बुद्धि के सहारे निरन्तर पृथ्वी पर विचरण करता हूँ। बुद्धि से मैं व्यर्थ की इच्छाओं को लाँघता हूँ और मेरा चरम लक्ष्य भगवान् की प्रेमाभक्ति है। अब मैं आपको अपने चौबीस गुरुओं के विषय में बतलाऊँगा।"

पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः ।
कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद्गजः ॥ ३३ ॥
मधुहा हरिणो मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः ।
कुमारी शरकृत्सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत् ॥ ३४ ॥
एते मे गुरवो राजन्चतुर्विंशतिराश्रिताः ।
शिक्षा वृत्तिभिरेतेषामन्वशिक्षमिहात्मनः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

पृथिवी—पृथ्वी; वायुः—वायु; आकाशम्—आकाश; आपः—जल; अग्निः—अग्नि; चन्द्रमाः—चन्द्रमा; रविः—सूर्य; कपोतः—कबूतर; अजगरः—अजगर; सिन्धुः—समुद्र; पतङ्गः—पतिंगा; मधु-कृत्—शहद की मक्खी; गजः—हाथी; मधु-हा—शहद-चोर; हरिणः—हिरन; मीनः—मछली; पिङ्गला—पिंगला नामक वेश्या; कुररः—कुररी पक्षी; अर्भकः—बालक; कुमारी—तरुणी; शर-कृत्—बाण बनाने वाला; सर्पः—साँप; ऊर्ण-नाभिः—मकड़ी; सुपेश-कृत्—बर्र; एते—ये; मे—मेरे; गुरवः—गुरु; राजन्—हे राजा; चतुः-विंशतिः—चौबीस; आश्रिताः—जिनकी शरण ली है; शिक्षा—उपदेश; वृत्तिभिः—कार्यों से; एतेषाम्—इनके; अन्वशिक्षम्—मैंने ठीक से सीखा है; इह—इस जीवन में; आत्मनः—आत्मा (अपने) के बारे में।

हे राजन्, मैंने चौबीस गुरुओं की शरण ली है। ये हैं—पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतिंगा, मधुमक्खी, हाथी, मधु-चोर, हिरण, मछली, पिंगला वेश्या, कुररी पक्षी, बालक, तरुणी, बाण बनाने वाला, साँप, मकड़ी तथा बर्र। हे राजन्, इनके कार्यों का अध्ययन करके ही मैंने आत्म-ज्ञान सीखा है।

तात्पर्य : बर्र को *सुपेश-कृत्* कहा जाता है, क्योंकि यह जिस कीड़े को मारता है, वह अगले जन्म में सुन्दर रूप प्राप्त करता है।

यतो यदनुशिक्षामि यथा वा नाहुषात्मज ।
तत्तथा पुरुषव्याघ्र निबोध कथयामि ते ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यतः—जिससे; यत्—जो; अनुशिक्षामि—मैंने सीखा है; यथा—कैसे; वा—तथा; नाहुष-आत्म-ज—हे राजा नहुष (ययाति) के पुत्र; तत्—वह; तथा—इस प्रकार; पुरुष-व्याघ्र—हे पुरुषों में बाघ; निबोध—सुनो; कथयामि—कहूँगा; ते—तुमसे।

हे महाराज ययाति के पुत्र, हे पुरुषों में व्याघ्र, सुनो, क्योंकि मैंने इन गुरुओं से, जो सीखा है, उसे तुम्हें बतला रहा हूँ।

भूतैराक्रम्यमाणोऽपि धीरो दैववशानुगैः ।
तद्विद्वान्न चलेन्मार्गादन्वशिक्षं क्षितेर्व्रतम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

भूतैः—विभिन्न प्राणियों द्वारा; आक्रम्यमाणः—सताया जाकर; अपि—यद्यपि; धीरः—धीर; दैव—भाग्य के; वश—नियंत्रण; अनुगैः—अनुयायियों द्वारा; तत्—यह तथ्य; विद्वान्—जाननहारा; न चलेत्—विपथ नहीं होना चाहिए; मार्गात्—पथ से; अन्वशिक्षम्—मैंने सीखा है; क्षितेः—पृथ्वी से; व्रतम्—यह व्रत, दृढ़ अभ्यास।

अन्य जीवों द्वारा सताये जाने पर भी धीर व्यक्ति को यह समझना चाहिए कि उसके उत्पीड़क ईश्वर के अधीन होकर असहाय रूप से कर्म कर रहे हैं। इस तरह उसे कभी अपने पथ की प्रगति से विपथ नहीं होना चाहिए। मैंने पृथ्वी से यह नियम सीखा है।

तात्पर्य : पृथ्वी सहनशीलता की प्रतीक है। आसुरी जीव तेल के गहरे कुएँ खोदकर, विस्फोटों, प्रदूषण इत्यादि से पृथ्वी को निरन्तर त्रस्त करते रहते हैं, कभी-कभी लालची व्यक्तियों द्वारा व्यापारिक लाभ के लिए हरे-भरे जंगल काट लिये जाते हैं, जिससे भूमि बंजर जाती है। कभी कभी नृशंस युद्ध में लड़ने वाले सिपाहियों के रक्त से पृथ्वी सन जाती है। इतने उत्पातों के बावजूद, पृथ्वी जीवों को सारी

सुविधाएँ प्रदान करती जाती है। इस तरह मनुष्य पृथ्वी का अध्ययन करके सहने की कला सीख सकता है।

शश्वत्परार्थसर्वेहः परार्थैकान्तसम्भवः ।
साधुः शिक्षेत भूभृत्तो नगशिष्यः परात्मताम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

शश्वत्—सदैव; पर—दूसरों के; अर्थ—हित के लिए; सर्व-ईहः—सारे प्रयास; पर-अर्थ—दूसरों का लाभ; एकान्त—अकेला; सम्भवः—जीवित रहने का कारण; साधुः—साधु-पुरुष; शिक्षेत—सीखना चाहिए; भू-भृत्तः—पहाड़ से; नग-शिष्यः—वृक्ष का शिष्य; पर-आत्मताम्—अन्यों के प्रति समर्पण।

सन्त-पुरुष को पर्वत से सीखना चाहिए कि वह अपने सारे प्रयास अन्यों की सेवा में लगाये और अन्यों के कल्याण को अपने जीवन का एकमात्र ध्येय बनाये। इसी तरह वृक्ष का शिष्य बनकर उसे स्वयं को अन्यों को समर्पित करना सीखना चाहिए।

तात्पर्य : विशाल पर्वतों में अपार मृदा रहती है, जिसमें असंख्य प्रकार का जीवन—वृक्ष, घास, पक्षी, पशु—पलता है। झरनों तथा नदियों के रूप में पर्वत प्रचुर मात्रा में स्वच्छ जल भी प्रदान करते हैं, जो सबों को जीवन देता है। पर्वतों से मनुष्य को समस्त जीवों को सुख देने की कला सीखनी चाहिए। इसी तरह पवित्र वृक्षों से भी उत्तम शिक्षाएँ ग्रहण की जा सकती हैं, जो हमें फल, फूल, शीतल छाया तथा औषधियों के रस प्रदान करने वाले हैं। जब वृक्ष को सहसा काट डाला जाता है और घसीटा जाता है, तो वह विरोध नहीं करता, अपितु ईंधन के रूप में अन्यों की सेवा करता है। इस तरह मनुष्य को ऐसे वदान्य वृक्षों का शिष्य बनकर उनसे सदाचार के गुण सीखने चाहिए।

श्रील मध्वाचार्य के अनुसार *परार्थैकान्त सम्भवः* शब्द यह सूचित करते हैं कि मनुष्य को चाहिए कि परोपकार में वह अपनी सारी *सम्पत्ति* तथा धन लगा दे। अपने अर्जित ऐश्वर्य से उसे गुरु तथा भगवान् को प्रसन्न करने का विशेष प्रयास करना चाहिए। इस प्रकार देवता तथा उन्हीं के साथ सभी सच्चे तौर पर सम्मानित महापुरुष भी स्वतः प्रसन्न हो जायेंगे। इस श्लोक के अनुसार सन्त आचरण विकसित करने पर मनुष्य सहिष्णु बन जायेगा। इससे वह भौतिक इन्द्रियों के व्यर्थ विक्षोभ से बच जायेगा, जो मनुष्य को भौतिक सुख की खोज में विश्व-भर में भ्रमण करने के लिए बाध्य करती हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी वृक्ष की सहिष्णुता पर बल दिया है—*तरोरिव सहिष्णुना, कीर्तनीयः सदाहरिः।*

वृक्ष की भाँति सहिष्णु व्यक्ति ही कृष्ण-नाम का निरन्तर कीर्तन करते हुए नित-नवीन तुष्टि पा सकता है।

प्राणवृत्त्यैव सन्तुष्येन्मुनिर्नैवेन्द्रियप्रियैः ।
ज्ञानं यथा न नश्येत नावकीर्येत वाङ्मनः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

प्राण-वृत्त्या—प्राणों के कार्य करते रहने से; एव—ही; सन्तुष्येत्—सन्तुष्ट रहना चाहिए; मुनिः—मुनि; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; इन्द्रिय-प्रियैः—इन्द्रियों को तृप्त करने वाली वस्तुओं से; ज्ञानम्—चेतना; यथा—जिससे कि; न नश्येत—नष्ट न हो सके; न अवकीर्येत—क्षुब्ध न हो सके; वाक्—उसकी वाणी; मनः—तथा मन।

विद्वान मुनि को चाहिए कि वह अपने सादे जीवन-यापन में ही तुष्टि माने। वह भौतिक इन्द्रियों की तृप्ति के द्वारा तुष्टि की खोज न करे। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को अपने शरीर की परवाह इस तरह करनी चाहिए कि उसका उच्चतर ज्ञान विनष्ट न हो और उसकी वाणी तथा मन आत्म-साक्षात्कार के मार्ग से विचलित न हों।

तात्पर्य : बुद्धिमान व्यक्ति कभी भी भौतिक इन्द्रियतृप्ति के रूप, स्वाद-गंध तथा उत्तेजना में अपनी चेतना को लीन नहीं करता, अपितु खाने तथा सोने जैसे कार्यों को जीवन-यापन के अनिवार्य कार्य मानता है। मनुष्य को चाहिए कि भोजन, निद्रा, सफाई इत्यादि के नियमित कार्यों द्वारा अपने शरीर का उचित निर्वाह करे, अन्यथा मस्तिष्क कमजोर पड़ जायेगा और उसका आध्यात्मिक ज्ञान फीका पड़ जायेगा। यदि कोई व्यक्ति अत्यन्त संयमपूर्वक भोजन करता है या निस्वार्थता के नाम पर अशुद्ध भोजन करता है, तो उसके मन पर उसका नियंत्रण नहीं रह जाता। दूसरी ओर, यदि वह बहुत ही चर्बी वाला या गरिष्ठ भोजन करता है, तो उसमें अनावश्यक निद्रा तथा वीर्य की वृद्धि होगी, जिससे रजो तथा तमो-गुणों के कारण उसके मन तथा वाणी अभिभूत हो उठेंगे। इन सारी बातों को भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में सार रूप में रख दिया है—*युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।* मनुष्य को चाहिए कि अपने सारे शारीरिक कार्यों को बुद्धिमत्तापूर्वक नियमित बनाये, जिससे वे आत्म-साक्षात्कार में सहायक बन सकें। यह विधि प्रामाणिक गुरु द्वारा सिखलाई जाती है। यदि कोई अत्यधिक संयमी बनता है या इन्द्रियतृप्ति में अत्यधिक लिप्त रहता है, तो आत्म-साक्षात्कार असम्भव है।

भगवद्भक्त का कर्तव्य है कि वह किसी भी वस्तु को भगवान् से पृथक् करके न देखे, क्योंकि यह मोह या माया है। कोई भी भद्र व्यक्ति किसी अन्य भद्र व्यक्ति की सम्पत्ति का भोग करना नहीं चाहेगा।

इसी तरह यदि हर वस्तु को कृष्ण से सम्बन्धित देखा जाय, तो इन्द्रियतृप्ति के लिए कोई गुंजाईश नहीं रहती। किन्तु यदि भौतिक वस्तुओं को कृष्ण से विलग करके देखा जाता है, तो तुरन्त ही भौतिक भोग की लालसा जागृत हो उठती है। मनुष्य को इतना बुद्धिमान तो होना ही चाहिए कि वह *प्रेयस्* (क्षणिक तृप्ति) तथा *श्रेयस्* (स्थायी लाभ) में अन्तर कर सके। मनुष्य चाहे तो नियमित तथा सीमित रूप से इन्द्रिय-कर्म स्वीकार कर सकता है, जिससे वह कृष्ण की सेवा करने के लिए बलवान् हो, किन्तु यदि वह इन्द्रियों में अत्यधिक लिप्त रहता है, तो आध्यात्मिक जीवन की उसकी गम्भीरता जाती रहेगी और वह सामान्य भौतिकतावादी की तरह कार्य करेगा। जैसाकि यहाँ पर कहा गया है, चरम लक्ष्य तो *ज्ञानम्* अर्थात् परम सत्य भगवान् कृष्ण की स्थिर चेतना है।

विषयेष्वाविशन्योगी नानाधर्मेषु सर्वतः ।
गुणदोषव्यपेतात्मा न विषज्जेत वायुवत् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

विषयेषु—भौतिक वस्तुओं के सम्पर्क में; आविशन्—प्रवेश करके; योगी—जिसने आत्म-संयम प्राप्त कर लिया है; नाना-धर्मेषु—विभिन्न गुणों वाले; सर्वतः—सर्वत्र; गुण—सद्गुण; दोष—तथा दोष; व्यपेत-आत्मा—वह व्यक्ति जिसने लाँघ लिया है; न विषज्जेत—नहीं फँसना चाहिए; वायु-वत्—वायु की तरह।

यहाँ तक कि योगी भी ऐसी असंख्य भौतिक वस्तुओं से घिरा रहता है, जिनमें अच्छे तथा बुरे गुण पाये जाते हैं। किन्तु जिसने भौतिक अच्छाई तथा बुराई लाँघ ली है, उसे भौतिक वस्तुओं के सम्पर्क में रहते हुए भी, उनमें फँसना नहीं चाहिए, प्रत्युत उसे वायु की तरह कार्य करना चाहिए।

तात्पर्य : वायु हवा का बाह्य स्वरूप है और *प्राण* आन्तरिक स्वरूप। जब वायु झरनों के ऊपर से बहती है, तो स्वच्छ जल की बूँदे अपने साथ लेकर मन को प्रसन्न करने वाली बन जाती है। कभी कभी वायु सुन्दर जंगल से होकर बहती है, तो वह फूलों-फलों की सुगन्धि ले लेती है, किन्तु वही वायु अन्य अवसर पर अग्नि को दहकाकर उसी जंगल को जला डालती है। किन्तु वायु अपने स्वभाव को बनाये रखकर शुभ तथा अशुभ कार्यों में निष्पक्ष बनी रहती है। इसी तरह हमें इस भौतिक जगत के भीतर हर्ष तथा विषाद दोनों ही परिस्थितियों का सामना करना पड़ेगा। किन्तु यदि हम कृष्णभावनामृत में स्थिर रहें, तो हमें कोई भी अशुभ कार्य विचलित नहीं कर सकेगा, न ही हम किसी भौतिक शुभ कार्य में आसक्त होंगे। अपने आध्यात्मिक कार्यों को सम्पन्न करते समय कभी कभी भक्त हरे कृष्ण

कीर्तन करते हुए अपने को उत्तम ग्रामीण वातावरण में पाता है, तो कभी नारकीय शहरी अवस्था में। दोनों ही दशाओं में भक्त अपने मन को कृष्ण में स्थिर करके दिव्य आनन्द का अनुभव करता है। यद्यपि वायु गहरे से गहरे अंधकारमय तथा वर्जित स्थानों के ऊपर से गुजरती है, किन्तु वह विचलित या भयभीत नहीं होती। इसी तरह कृष्ण-भक्त को कभी भी भयभीत या चिन्तित नहीं होना चाहिए चाहे वह कितनी ही कठिन स्थिति में क्यों न हो। जो व्यक्ति मनोहारी रूप, स्वाद, गंध, ध्वनि तथा स्पर्श के प्रति लिप्त होता है, वह भी इनके विपरीत होने पर विकर्षित हो उठेगा। इस तरह भौतिकतावादी व्यक्ति अपने को असंख्य अच्छी तथा बुरी वस्तुओं से घिरा हुआ देखकर निरन्तर विचलित रहता है। जब वायु सहसा अनेक दिशाओं में बहने लगती है, तो वायु-मण्डल क्षुब्ध हो उठता है। इसी तरह यदि मन निरन्तर भौतिक वस्तुओं द्वारा आकर्षित-विकर्षित होता रहता है, तो मन में ऐसा तूफान उठता है कि परम सत्य का चिन्तन कर पाना असंभव हो जाता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह बहती वायु से बिना अनुरक्ति के भौतिक जगत में चलने-फिरने की कला सीखे।

पार्थिवेष्विह देहेषु प्रविष्टस्तद्गुणाश्रयः ।
गुणैर्न युज्यते योगी गन्धैर्वायुरिवात्मदृक् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

पार्थिवेषु—पृथ्वी (तथा अन्य तत्त्वों) से बना; **इह**—इस संसार में; **देहेषु**—शरीरों में; **प्रविष्टः**—प्रवेश करके; **तत्**—उनके; **गुण**—लाक्षणिक गुण; **आश्रयः**—धारण करके; **गुणैः**—उन गुणों से; **न युज्यते**—अपने को फँसाता नहीं; **योगी**—योगी; **गन्धैः**—विभिन्न गंधों से; **वायुः**—वायु; **इव**—सदृश; **आत्म-दृक्**—अपने को ठीक से देखने वाला (इस पदार्थ से पृथक् रूप में)।

इस जगत में स्वरूपसिद्ध आत्मा विविध भौतिक शरीरों में उनके विविध गुणों तथा कार्यों का अनुभव करते हुए रह सकता है, किन्तु वह उनमें कभी उलझता नहीं, जिस तरह कि वायु विविध सुगंधों को वहन करती है, किन्तु वह उनमें घुल-मिल नहीं जाती।

तात्पर्य : यद्यपि हम वायु को उसके द्वारा वाहित गन्ध के अनुसार सुगन्धपूर्ण या दुर्गंधपूर्ण अनुभव करते हैं, किन्तु वायु कभी भी अपने वास्तविक स्वभाव को नहीं बदलती। इसी तरह भले ही हम किसी व्यक्ति को सबल या निर्बल, बुद्धिमान या मन्द, सुन्दर या असुन्दर, अच्छा या बुरा कहें किन्तु शुद्ध आत्मा, जो कि वास्तविक पुरुष है, शरीर के किसी भी गुण से युक्त नहीं होता, अपितु उनके द्वारा प्रच्छन्न रहता है, जिस तरह वायु विभिन्न सुगन्धियों से आच्छादित रहती है। इस तरह कृष्णभावनाभावित

व्यक्ति सदैव जानता रहता है कि वह नश्वर शरीर से भिन्न है। वह बाल्यावस्था, कुमारावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्था जैसे विविध शरीर-विकारों का अनुभव करता है और यद्यपि वह उस शरीर की पीड़ा, हर्ष, गुण तथा कर्म का अनुभव करता है, किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कभी भी अपने को शरीर नहीं सोचता। वह यही समझता रहता है कि वह नित्य आत्मा है और भगवान् कृष्ण का भिन्नांश है। निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य को चाहिए कि कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को शारीरिक उपाधि के रूप में न माने, अपितु उसे भगवान् के नित्य सेवक के रूप में देखे।

अन्तर्हितश्च स्थिरजङ्गमेषु
ब्रह्मात्मभावेन समन्वयेन ।
व्याप्त्याव्यवच्छेदमसङ्गमात्मनो
मुनिर्नभस्त्वं विततस्य भावयेत् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

अन्तर्हितः—भीतर उपस्थित; च—भी; स्थिर—सारे जड़ जीव; जङ्गमेषु—तथा चेतन जीव; ब्रह्म-आत्म-भावेन—अपने को शुद्ध आत्मा अनुभव करते हुए; समन्वयेन—विभिन्न शरीरों के साथ भिन्न भिन्न सम्पर्कों के परिणामस्वरूप; व्याप्त्या—व्याप्त होने के कारण; अव्यवच्छेदम्—अविभक्त होने का गुण; असङ्गम्—लिप्त न रहने से; आत्मनः—परमात्मा से युक्त; मुनिः—मुनि; नभस्त्वम्—आकाश साम्य; विततस्य—विराट का; भावयेत्—ध्यान करना चाहिए।

भौतिक शरीर के भीतर रहते हुए भी विचारवान साधु को चाहिए कि वह अपने आपको शुद्ध आत्मा समझे। इसी तरह मनुष्य को देखना चाहिए कि आत्मा सभी प्रकार के सजीवों—चरों तथा अचरों के भीतर प्रवेश करता है और इस तरह व्यष्टि आत्मा सर्वव्यापी है। साधु को यह भी देखना चाहिए कि परमात्मा रूप में भगवान् एक ही समय सारी वस्तुओं के भीतर उपस्थित रहते हैं। आत्मा तथा परमात्मा को आकाश के स्वभाव से तुलना करके समझा जा सकता है। यद्यपि आकाश सर्वत्र फैला हुआ है और सारी वस्तुएँ आकाश के भीतर टिकी हैं किन्तु आकाश किसी भी वस्तु से न तो घुलता-मिलता है, न ही किसी वस्तु के द्वारा विभाजित किया जा सकता है।

तात्पर्य : यद्यपि वायु आकाश के अन्दर रहती है, किन्तु आकाश वायु से भिन्न रहता है। वायु की अनुपस्थिति में भी आकाश उपस्थित रहता है। सारी भौतिक वस्तुएँ विशाल भौतिक आकाश या दिक् के भीतर स्थित हैं, किन्तु आकाश अविभाज्य रहता है और सारी वस्तुओं को अपने भीतर समाये हुए भी, उनमें से किसी से भी मिश्रित नहीं होता। आत्मा तथा परमात्मा की भी स्थिति इसी तरह है। आत्मा

सर्वव्यापक है, क्योंकि *जीवात्माएँ* असंख्य हैं, जो समस्त वस्तुओं के भीतर प्रवेश करती हैं, फिर भी जैसाकि वैदिक वाङ्मय द्वारा पुष्टि हुई है, प्रत्येक व्यष्टिक *आत्मा* सूक्ष्म रहता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (५.९) में कहा गया है—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चनन्त्याय कल्पते॥

"यदि बाल के अगले भाग को सौ भागों में विभक्त किया जाय और इनमें से प्रत्येक भाग को फिर से सौ भागों में विभक्त किया जाय तो ऐसा प्रत्येक भाग आत्मा की माप होता है।" *श्रीमद्भागवत* में भी यही बात कही गई है—

केशाग्रशतभागस्य शतांश सादृशात्मकः।

जीवः सूक्ष्मस्वरूपोऽयं संख्यातीतो हि चित्कणः॥

"आध्यात्मिक अणुओं के असंख्य कण हैं, जो बाल के अग्र भाग के दस हजारवें भाग के तुल्य होते हैं।"

किन्तु भगवान् सर्वव्यापी हैं, क्योंकि वे साक्षात् सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। भगवान् *अद्वैत* अर्थात् अविभाज्य कहलाते हैं। इस तरह एक ही भगवान् आकाश की भाँति सर्वत्र विद्यमान रहता है फिर भी वह किसी वस्तु से लिप्त नहीं हैं यद्यपि हर वस्तु उन्हीं के भीतर टिकी है। स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.६) में अपने इस सर्वव्यापकत्व की विवेचना की पुष्टि की है—

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।

तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥

"जिस प्रकार सर्वत्र प्रवाहमान प्रबल वायु सदैव आकाश में स्थित रहती है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों को मुझमें स्थित जानो।"

अतः यद्यपि जीवात्मा तथा परमात्मा सर्वव्यापी कहे जाते हैं, किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि व्यष्टिक जीवात्माएँ असंख्य हैं, जबकि भगवान् एक है। भगवान् सदा महानतम हैं और जो वास्तव में विचारवान साधु होता है, वह भगवान् के परम पद के बारे में कभी शंका नहीं करता।

तेजोऽबन्नमयैर्भावैर्मेघाद्यैर्वायुनेरितैः ।
न स्पृश्यते नभस्तद्वत्कालसृष्टैर्गुणैः पुमान् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तेजः—अग्नि; अप्—जल; अन्न—तथा पृथ्वी; मयैः—युक्त; भावैः—वस्तुओं से; मेघ-आद्यैः—बादल इत्यादि से; वायुना—वायु से; ईरितैः—उड़ाये जाने वाले; न स्पृश्यते—स्पर्श नहीं हो पाता; नभः—आकाश; तत्-वत्—उसी तरह से; काल-सृष्टैः—काल द्वारा भेजे गये; गुणैः—प्रकृति के गुणों द्वारा; पुमान्—मनुष्य।

यद्यपि प्रबल वायु आकाश से होकर बादलों तथा झंझावातों को उड़ाती है, किन्तु आकाश इन कार्यों से कभी प्रभावित नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा भौतिक प्रकृति के स्पर्श से परिवर्तित या प्रभावित नहीं होती। यद्यपि जीव पृथ्वी, जल तथा अग्नि से बने शरीर में प्रवेश करता है और यद्यपि वह शाश्वत काल द्वारा उत्पन्न तीन गुणों के द्वारा बाध्य किया जाता है, किन्तु उसका शाश्वत आध्यात्मिक स्वभाव कभी भी प्रभावित नहीं होता।

तात्पर्य : यद्यपि ऐसा लगता है कि वायु, वर्षा, अंधड़, बिजली तथा गर्जन इत्यादि की प्रबल गतिविधियों से आकाश प्रभावित हो रहा है, किन्तु सूक्ष्म होने के कारण आकाश प्रभावित नहीं होता, अपितु वह ऐसे दृश्य कार्यकलापों के लिए पृष्ठभूमि है। इसी प्रकार यद्यपि भौतिक शरीर और मन में असंख्य परिवर्तन आते हैं, जैसे जन्म-मृत्यु, सुख-दुख, प्रेम-घृणा, किन्तु शाश्वत जीव तो इन कार्यकलापों की पृष्ठभूमि मात्र है। सूक्ष्म होने के कारण आत्मा प्रभावित नहीं होता। मात्र शरीर तथा मन के ऊपरी कार्यों की गलत पहचान से जीवात्मा को भौतिक जगत में घोर यातना सहनी पड़ती है।

इस सन्दर्भ में श्रील मध्वाचार्य ने इंगित किया है कि प्रत्येक जीव को अपने दैवी आध्यात्मिक गुण फिर से पाने के लिए संघर्ष करना चाहिए। जीव परम पुरुष कृष्ण का अंश है, फलतः आत्मा भी दैवी गुणों का आगार है। किन्तु भगवान् बिना किसी अवरोध के इन गुणों को स्वत:प्रकट करते हैं जबकि बद्धजीव को इन गुणों को पुनरुज्जीवित करने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। इस तरह भगवान् तथा जीव दोनों शाश्वत तथा दिव्य हैं, किन्तु भगवान् सदैव सर्वश्रेष्ठ हैं। स्वच्छ बुद्धि से ऐसी अनुभूति होने पर ही बद्धजीव आध्यात्मिक पद तक उठ सकता है।

स्वच्छः प्रकृतितः स्निग्धो माधुर्यस्तीर्थभूर्नृणाम् ।
मुनिः पुनात्यपां मित्रमीक्षोपस्पर्शकीर्तनैः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

स्वच्छः—शुद्ध; प्रकृतितः—प्रकृति से; स्निग्धः—कोमल या कोमल हृदय वाला; माधुर्यः—मधुर या मधुर वाणी; तीर्थ-भूः—तीर्थस्थान; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; मुनिः—मुनि; पुनाति—पवित्र करता है; अपाम्—जल का; मित्रम्—प्रतिरूप; ईक्षा—देखे जाने से; उपस्पर्श—सादर स्पर्श होने से; कीर्तनैः—तथा वाणी से प्रशंसित किये जाने से।

हे राजन्, सन्त-पुरुष जल के सदृश होता है, क्योंकि वह कल्मषरहित, स्वभाव से मृदुल तथा बोलने में बहते जल की कलकल ध्वनि सदृश होता है। ऐसे सन्त-पुरुष के दर्शन, स्पर्श या श्रवण मात्र से ही जीव उसी तरह पवित्र हो जाता है, जिस तरह शुद्ध जल का स्पर्श करने से मनुष्य स्वच्छ हो जाता है। इस तरह सन्त-पुरुष तीर्थस्थान की तरह उन सबों को शुद्ध बनाता है, जो उसके सम्पर्क में आते हैं, क्योंकि वह सदैव भगवान् की महिमा का कीर्तन करता है।

तात्पर्य : *अपाम् मित्रम्* का दूसरा पाठ *अघान् मित्रम्* भी मिलता है, जिसका अर्थ है कि सन्त-पुरुष सारे जीवों को अपने मित्र रूप में स्वीकार करके, उन्हें पवित्र बनाता है और उनके पापकर्मों से उन्हें (*अघात्*) बचाता है। बद्धजीव झूठे ही अपने स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म मन से अपनी पहचान मानकर आध्यात्मिक ज्ञान के पद से नीचे गिर जाता है। बद्धजीव सदैव भौतिक इन्द्रियतृप्ति के लिए भूखा रहता है और उसकी पूर्ति न होने पर वह कुपित हो जाता है। कभी कभी वह अपनी भौतिक तृप्ति से वंचित होने के भय से इतना त्रस्त हो जाता है कि पागलपन की स्थिति में आ जाता है।

किन्तु सन्त-पुरुष शुद्ध जल के समान समस्त कल्मष से रहित होता है और सारी वस्तुओं को शुद्ध करने की क्षमता रखता है। जिस तरह स्वच्छ जल पारदर्शी होता है उसी तरह सन्त-पुरुष अपने हृदय के भीतर से भगवान् को झलकाता रहता है। जिस तरह जल कलकल ध्वनि करके बहता है, उसी तरह भगवान् की महिमा से सराबोर भगवद्भक्त की वाणी अत्यन्त मनोहारी तथा सुन्दर होती है। इस प्रकार जल के स्वभाव का अध्ययन करके भगवान् के शुद्ध भक्त के लक्षणों को समझा जा सकता है।

तेजस्वी तपसा दीप्तो दुर्धर्षोदरभाजनः ।
सर्वभक्ष्योऽपि युक्तात्मा नादत्ते मलमग्निवत् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तेजस्वी—तेजवान्; तपसा—अपनी तपस्या से; दीप्तः—चमकता हुआ; दुर्धर्ष—अचल; उदर-भाजनः—पेट पालने के लिए ही खाने वाला; सर्व—हर वस्तु; भक्ष्यः—खाते हुए; अपि—यद्यपि; युक्त-आत्मा—आध्यात्मिक जीवन में स्थिर; न आदत्ते—धारण नहीं करता; मलम्—कल्मष; अग्नि-वत्—अग्नि की तरह।

सन्त-पुरुष तपस्या करके शक्तिमान बनते हैं। उनकी चेतना अविचल रहती है क्योंकि वे भौतिक जगत की किसी भी वस्तु का भोग नहीं करना चाहते। ऐसे सहज मुक्त सन्त-पुरुष भाग्य

द्वारा प्रदत्त भोजन को स्वीकार करते हैं और यदि कदाचित् दूषित भोजन कर भी लें तो उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता जिस तरह अग्नि उन दूषित वस्तुओं को जला देती है, जो उसमें डाली जाती हैं।

तात्पर्य : *उदर-भाजन* शब्द यह बतलाता है कि सन्त-पुरुष इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं अपितु उदर-पोषण के लिए ही भोजन करता है। मनुष्य को अपना मन प्रसन्न रखने के लिए स्वादिष्ट भोजन करना चाहिए फिर भी उसे बहुत विलासी भोजन नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे कामोत्तेजना उत्पन्न होगी और आलस्य सतायेगा। सन्त-पुरुष पूरी तरह से भद्रजन होता है और कभी भी लोभी या कामी नहीं होता। यद्यपि माया विभिन्न प्रकार के भौतिक प्रलोभन देकर उसे पराजित करना चाहती है किन्तु सन्त-पुरुष की आध्यात्मिक शक्ति से ये सारे आकर्षण स्वत: परास्त हो जाते हैं। इसलिए आध्यात्मिक दृष्टि से बढ़े-चढ़े पुरुष का कभी भी अनादर नहीं करना चाहिए, वरन् आदरपूर्वक उसकी पूजा करनी चाहिए। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के पास असावधानी के साथ जाना अग्नि के पास असावधानी से जाने के समान है, जो तुरन्त ही जला देती है, यदि उसके साथ सावधानी न बरती जाए। शुद्ध भक्त के प्रति किये जाने वाले दुर्व्यवहार को भगवान् कभी माफ नहीं करते।

क्वचिच्छन्न: क्वचित्स्पष्ट उपास्य: श्रेय इच्छताम् ।
भुङ्क्ते सर्वत्र दातृणां दहन्प्रागुत्तराशुभम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; **छन्न:**—ढका हुआ; **क्वचित्**—कभी; **स्पष्ट:**—प्रकट; **उपास्य:**—पूज्य; **श्रेय:**—सर्वोच्च मंगल; **इच्छताम्**—चाहने वालों के लिए; **भुङ्क्ते**—निगल जाता है; **सर्वत्र**—सभी दिशाओं में; **दातृणाम्**—बलि चढ़ाने वालों के; **दहन्**—जलाते हुए; **प्राक्**—विगत; **उत्तर**—तथा भविष्य; **अशुभम्**—पापों को।

सन्त-पुरुष अग्नि के ही समान, कभी प्रच्छन्न रूप में, तो कभी प्रकट रूप में दिखता है। असली सुख चाहने वाले बद्धजीवों के कल्याण हेतु सन्त-पुरुष गुरु का पूजनीय पद स्वीकार कर सकता है और इस तरह वह अग्नि के सदृश अपने पूजकों की बलियों को दयापूर्वक स्वीकार करके विगत तथा भावी पापों को भस्म कर देता है।

तात्पर्य : सन्त-पुरुष अपने उच्च पद को प्रच्छन्न रखना पसन्द करता है, किन्तु कष्ट भोग रहे लोगों को उपदेश देने के लिए कभी कभी वह अपनी महानता प्रकट कर देता है। इसकी तुलना उस अग्नि से की जा सकती है, जो कभी कभी राख के भीतर बिना देखे हुए जलती है, किन्तु कभी कभी खुल कर

जलने लगती है। जिस तरह अग्नि यज्ञकर्ता द्वारा अग्नि में डाले गये घी तथा अन्य बलियों को लील जाती है, उसी तरह सन्त-पुरुष अपने बद्ध अनुयायियों द्वारा की गई प्रशंसा को यह जानते हुए भी स्वीकार करता है कि यह सारी प्रशंसा वास्तव में भगवान् कृष्ण के निमित्त है। यद्यपि सामान्य व्यक्ति प्रशंसा किये जाने पर फूलकर कुप्पा हो जाता है और मूर्ख बनता है, किन्तु परम सत्य के प्रति अनुरक्त होने से सन्त-पुरुष में ऐसी अशुभ प्रवृत्तियाँ भस्म हो जाती हैं। इस तरह वह अग्नि जैसा होता है।

स्वमायया सृष्टमिदं सदसल्लक्षणं विभुः ।
प्रविष्ट ईयते तत्तत्स्वरूपोऽग्निरिवैधसि ॥ ४७॥

शब्दार्थ

स्व-मायया—अपनी माया से; सृष्टम्—सृजित; इदम्—यह (जीव का शरीर); सत्-असत्—देवता, पशु इत्यादि के रूप में; लक्षणम्—लक्षणों से युक्त; विभुः—सर्वशक्तिमान; प्रविष्टः—प्रवेश करके; ईयते—प्रकट होता है; तत्-तत्—उसी-उसी रूप में; स्वरूपः—पहचान बनाकर; अग्निः—अग्नि के; इव—सदृश; एधसि—ईंधन में।

जिस तरह अग्नि विभिन्न आकारों तथा गुणों वाले काष्ठ-खण्डों में भिन्न भिन्न रूप से प्रकट होती है, उसी तरह सर्वशक्तिमान परमात्मा अपनी शक्ति से उत्पन्न किये गये उच्च तथा निम्न योनियों के शरीरों में प्रवेश करके प्रत्येक के स्वरूप को ग्रहण करता प्रतीत होता है।

तात्पर्य : यद्यपि परमेश्वर हर वस्तु के भीतर है, किन्तु प्रत्येक वस्तु परमेश्वर नहीं होती। भगवान् सतोगुण से देवताओं तथा ब्राह्मणों के शरीर को उत्पन्न करते हैं। उसी तरह वे तमोगुण का विस्तार करके पशुओं, शूद्रों तथा अन्य निम्न जीवों को उत्पन्न करते हैं। भगवान् इन सारी उच्च तथा निम्न सृष्टियों में प्रवेश करते हैं, किन्तु वे *विभु* अर्थात् सर्वशक्तिमान भगवान् बने रहते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि यद्यपि सुलगते काष्ठ के भीतर अग्नि उपस्थित रहती है किन्तु अच्छी तरह हिलाने पर ही वह जलने लगती है। इसी तरह यद्यपि भगवान् प्रत्यक्ष रूप से सर्वत्र उपस्थित हैं, किन्तु जब हम कीर्तन करते हैं और उनकी महिमा का प्रेम और भक्तिपूर्वक श्रवण करते हैं, तो भगवान् अपने भक्तों के समक्ष प्रकट हाते हैं।

मूर्ख बद्धजीव हर एक के भीतर भगवान् की उपस्थिति की उपेक्षा करते हैं और अपनी मध्यम दर्जे की चेतना को अपने नश्वर भौतिक आवरण में ही लीन किये यह सोचते रहते हैं, "मैं प्रबल पुरुष हूँ, मैं सुन्दर स्त्री हूँ, मैं इस नगर का सबसे धनी व्यक्ति हूँ और मैं पी. एच. डी हूँ इत्यादि, इत्यादि। मनुष्य

को व्यर्थ के उलझाव का परित्याग कर देना चाहिए इस यथार्थ को स्वीकार कर लेना चाहिए कि मनुष्य विशुद्ध आत्मा, भगवान् कृष्ण का नित्य आनन्दमय दास है।

विसर्गाद्याः श्मशानान्ता भावा देहस्य नात्मनः ।
कलानामिव चन्द्रस्य कालेनाव्यक्तवर्त्मना ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

विसर्ग—जन्म; आद्याः—इत्यादि; श्मशान—मृत्यु का समय, जब शरीर भस्म कर दिया जाता है; अन्ताः—अन्तिम; भावाः—दशाएँ; देहस्य—शरीर की; न—नहीं; आत्मनः—आत्मा का; कलानाम्—विभिन्न अवस्थाओं का; इव—सदृश; चन्द्रस्य—चन्द्रमा की; कालेन—समय के साथ; अव्यक्त—न दिखने वाला; वर्त्मना—गति से।

जन्म से लेकर मृत्यु तक भौतिक जीवन की विभिन्न अवस्थाएँ शरीर के गुणधर्म हैं और ये आत्मा को उसी तरह प्रभावित नहीं करतीं, जिस तरह चन्द्रमा की घटती-बढ़ती कलाएँ चन्द्रमा को प्रभावित नहीं करतीं। ऐसे परिवर्तन काल की अव्यक्त गति द्वारा लागू किये जाते हैं।

तात्पर्य : शरीर में छह परिवर्तन होते हैं—जन्म, वृद्धि, पालन, विकारों की उत्पत्ति, क्षीणता तथा मृत्यु। इसी तरह चन्द्रमा पहले बढ़ता है, फिर घटता है और अन्त में विलोप होता प्रतीत होता है। चूँकि चाँदनी सूर्य-प्रकाश का प्रतिबिम्ब है, इसलिए यह समझा जाता है कि चन्द्रमा अपने आप नहीं बढ़ता-घटता अपितु हम चाँद के प्रतिबिम्ब को विभिन्न कलाओं में देखते हैं। इसी तरह नित्य आत्मा न तो जन्म लेता है, न मरता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (२.२०) में हुई है—*न जायते म्रियते वा कदाचित्।* हम आत्मा के प्रतिबिम्ब को स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म मन के रूप में देखते हैं, जिनमें कई भौतिक परिवर्तन होते रहते हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार सूर्य एक अग्नितुल्य लोक है और चन्द्रमा जलमय लोक है। इसकी पुष्टि श्रील जीव गोस्वामी द्वारा भी की जाती है। इससे चन्द्रलोक की वास्तविक स्थिति के विषय में आधुनिक विज्ञान के अज्ञान का प्रदर्शन होता है।

कालेन ह्योघवेगेन भूतानां प्रभवाप्ययौ ।
नित्यावपि न दृश्येते आत्मनोऽग्नेर्यथार्चिषाम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

कालेन—समय के द्वारा; हि—निस्सन्देह; ओघ—बाढ़ के सदृश; वेगेन—चाल से; भूतानाम्—जीवों के; प्रभव—जन्म; अप्ययौ—तथा मृत्यु; नित्यौ—स्थायी; अपि—यद्यपि; न दृश्येते—नहीं देखे जाते; आत्मनः—आत्मा के; अग्नेः—अग्नि की; यथा—जिस तरह; अर्चिषाम्—लपटों को।

अग्नि की लपटें प्रतिक्षण प्रकट तथा लुप्त होती रहती हैं, और यह सृजन तथा विनाश सामान्य प्रेक्षकों द्वारा देखा नहीं जाता। इसी तरह काल की बलशाली लहरें नदी की प्रबल धाराओं की तरह निरन्तर बहती रहती हैं और अव्यक्त रूप से असंख्य भौतिक शरीरों को जन्म, वृद्धि तथा मृत्यु प्रदान करती रहती हैं। फिर भी आत्मा, जिसे निरन्तर अपनी स्थिति बदलनी पड़ती है, काल की करतूतों को देख नहीं पाता।

तात्पर्य : राजा यदु को उपदेश देते हुए ब्राह्मण अवधूत चन्द्रमा का उदाहरण देने के बाद पुन: अग्नि के उदाहरण पर उतर आता है। यह वैश्लेषिक विधि *सिंहावलोकन* कहलाती है, जिसमें एक ही साथ आगे तथा पीछे की ओर नजरें डालकर देखा जाता है कि कहीं कुछ छूट तो नहीं गया। इस तरह वह मुनि विश्लेषण को आगे बढ़ाता है, किन्तु त्याग की आवश्यकता बतलाने के लिए पुन: अग्नि के उदाहरण पर लौट आता है। भौतिक शरीर निश्चित रूप से क्षणभंगुर है और भगवान् की बहिरंगा शक्ति का मायाजाल है। अग्नि की लपटें निरन्तर उत्पन्न और लुप्त होती रहती हैं, फिर भी अग्नि को हम सतत सचाई के रूप में अनुभव करते हैं। इसी तरह आत्मा सतत सच्चाई है, यद्यपि समय के प्रभाव से उसके भौतिक शरीर निरन्तर प्रकट तथा लुप्त होते रहते हैं। कहा जाता है कि सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह है कि कोई यह नहीं सोचता कि उसे मरना पड़ेगा। चूँकि आत्मा नित्य है, इसलिए जीव किसी भी क्षणिक स्थिति को स्थायी मानने के लिए तैयार रहता है और यह भूल जाता है कि उसके नित्य स्वभाव को वैकुण्ठ-लोक के शाश्वत वातावरण में ही ठीक ढंग से अनुभव किया जा सकता है। यदि मनुष्य को इस तथ्य में विश्वास हो जाता है, तो उसमें *वैराग्य* गुण उत्पन्न होता है।

गुणैर्गुणानुपादत्ते यथाकालं विमुञ्चति ।
न तेषु युज्यते योगी गोभिर्गा इव गोपतिः ॥५०॥

शब्दार्थ

गुणैः—अपनी इन्द्रियों से; गुणान्—इन्द्रिय-विषयों को; उपादत्ते—स्वीकार करता है; यथा-कालम्—उपयुक्त समय पर; विमुञ्चति—छोड़ देता है; न—नहीं; तेषु—उनमें; युज्यते—फँस जाता है; योगी—स्वरूपसिद्ध मुनि; गोभिः—अपनी किरणों से; गाः—जलाशयों; इव—सदृश; गो-पतिः—सूर्य।

जिस तरह सूर्य अपनी प्रखर किरणों से पर्याप्त मात्रा में जल को भाप बना कर उड़ा देता है और बाद में उस जल को वर्षा के रूप में पृथ्वी पर लौटा देता है, उसी तरह सन्त-पुरुष अपनी भौतिक इन्द्रियों से सभी प्रकार की भौतिक वस्तुओं को स्वीकार करता है और जब सही व्यक्ति

उन्हें लौटवाने के लिए उसके पास जाता है, तो उन भौतिक वस्तुओं को वह लौटा देता है। इस तरह वह इन्द्रिय-विषयों को स्वीकारने तथा त्यागने दोनों में ही फँसता नहीं।

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कभी भी कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रसार हेतु भगवान् कृष्ण के द्वारा सौंपे गये ऐश्वर्य के ऊपर अपना प्रभुत्व नहीं जताता। भगवान् कृष्ण के भक्त को चाहिए कि न केवल भौतिक सम्पदा का संग्रह करे, अपितु भगवान् कृष्ण के ऐश्वर्य को इस तरह बाँट दे कि कृष्णभावनामृत आन्दोलन असीम रूप से फैल जाय। सूर्य से यही शिक्षा लेनी चाहिए।

बुध्यते स्वे न भेदेन व्यक्तिस्थ इव तद्गतः ।
लक्ष्यते स्थूलमतिभिरात्मा चावस्थितोऽर्कवत् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

बुध्यते—सोचा जाता है; स्वे—अपने मूल रूप में; न—नहीं; भेदेन—विविधता से; व्यक्ति—पृथक् प्रतिबिम्बित पदार्थों पर; स्थः—स्थित; इव—ऊपर से; तत्-गतः—उनके भीतर प्रवेश करके; लक्ष्यते—प्रकट होता है; स्थूल-मतिभिः—मन्द बुद्धि वालों के लिए; आत्मा—आत्मा; च—भी; अवस्थितः—स्थित; अर्कवत्—सूर्य की तरह।

विविध वस्तुओं से परावर्तित होने पर भी सूर्य न तो कभी विभक्त होता है, न अपने प्रतिबिम्ब में लीन होता है। जो मन्द बुद्धि वाले हैं, वे ही सूर्य के विषय में ऐसा सोचते हैं। इसी प्रकार आत्मा विभिन्न भौतिक शरीरों से प्रतिबिम्बित होते हुए भी अविभाजित तथा अभौतिक रहता है।

तात्पर्य : सूर्य अनेक वस्तुओं में यथा खिड़की, दर्पण, चमकदार धातु, तेल, जल इत्यादि में प्रतिबिम्बित होता है, तो भी सूर्य एक तथा अविभाज्य रहता है। इसी तरह शरीर के भीतर नित्य आत्मा भौतिक शरीर के पर्दे से होकर प्रतिबिम्बित होता रहता है। इस तरह आत्मा वृद्ध या युवा, मोटा या दुबला, सुखी या दुखी प्रतीत होता है। भले ही आत्मा अमरीकी, रूसी, अफ्रीकी, हिन्दू या ईसाई प्रतीत हो, किन्तु फिर भी आत्मा अपने सहज रूप में किसी भी भौतिक उपाधि से रहित होता है।

इस श्लोक में *स्थूल-मतिभिः* शब्द उनका सूचक है, जिनकी बुद्धि स्थूल तथा मन्द है। हमें एक कुत्ते का व्यावहारिक अनुभव है, जो खुले स्थान पर किसी बाहर लगी कला प्रदर्शिनी के किसी अमूल्य चित्र पर पेशाब कर रहा था। मन्द बुद्धि होने से कुत्ते को चित्र के वास्तविक मूल्य का पता नहीं था। इसी तरह जब तक कोई मनुष्य कृष्णभावनामृत ग्रहण नहीं करता, तब तक वह मनुष्य-जीवन के अमूल्य अवसर का दुरुपयोग करता है। मनुष्य-जीवन आत्म-साक्षात्कार के लिए मिला है, अतः हमें अपना समय पूँजीवादी, साम्यवादी, अमरीकी, रूसी, इत्यादि भौतिक उपाधियों के बारे में लड़ने-

झगड़ने में नहीं बिताना चाहिए, अपितु सारे लोगों को चाहिए कि ईश्वर की प्रेमाभक्ति ग्रहण करके अपने नित्य शुद्ध स्वरूप का अनुभव करें। मनुष्य को चाहिए कि सूर्य को प्रत्यक्ष देखकर उसे समझें, न कि भौतिक वस्तुओं में पड़ने वाले उसके विकृत प्रतिबिम्बों के द्वारा। इसी तरह मनुष्य को चाहिए कि प्रत्येक जीव को उसके शुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप में पहचाने, न कि भौतिक उपाधियों के विकृत रूपों से।

इस श्लोक में भी *आत्मा* शब्द भगवान् का द्योतक है। जिस तरह हम सामान्य जीवात्माओं को भौतिक शरीर के प्रतिबिम्बों से होकर देखते हैं, उसी तरह हम भगवान् को अपने भौतिक मन के विकृत करने वाले परदे से होकर देखते हैं। इस प्रकार हम ईश्वर को निर्विशेष, भौतिक या अज्ञेय मानते हैं। जब आकाश बादल से ढका रहता है, तो सूर्य की सर्वोच्च सम्भव अनुभूति धूप है, जो बादलों से ढकी है। इसी तरह जब मनुष्य का मन मनोरथ के कुहासे से ढका रहता है, तो वह ईश्वर के दिव्य शरीर से निकलने वाले प्रकाश को ही सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्य मान बैठता है। किन्तु जब मन नीले मेघरहित आकाश की तरह निर्मल रहता है, तो वह भगवान् कृष्ण के वास्तविक रूप को देख सकता है। परम सत्य को बद्धजीव के प्रच्छन्न मन द्वारा भलीभाँति नहीं समझा जा सकता, प्रत्युत मनुष्य को चाहिए कि शुद्ध कृष्णभावनामृत रूपी निर्मल नीले आकाश से होकर देखे, जो सकाम इच्छाओं तथा मनोरथों से मुक्त है। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर का गीत है—

जीवेर कल्याणसाधन-काम

जगते आसि ए मधुरनाम।

अविद्या-तिमिर-तापन-रूपे

हृद-गगने विराजे॥

"भगवान् कृष्ण का पवित्र नाम बद्धजीवों को वर देने के लिए ही भौतिक जगत के अंधकार में उतरता है। भगवान् कृष्ण का पवित्र नाम उस सूर्य के समान है, जो भक्तों के हृदय रूपी निर्मल आकाश में उदय होता है। ऐसा तेजस्वी ज्ञान उन लोगों की समझ में नहीं आयेगा, जो शुद्धता या नास्तिकता के नाम पर ईश्वर की भौतिक सृष्टि का दोहन करने में लगे हैं। मनुष्य को पहले कृष्ण का शुद्ध भक्त बनना

होगा तब उसका ज्ञान हर वस्तु को चतुर्दिक् प्रकाशित करेगा—*कस्मिन् भगवो विज्ञाते सर्वमेवं विज्ञातं भवति* (मुण्डक उपनिषद् १.३)।

नातिस्नेहः प्रसङ्गो वा कर्तव्यः क्वापि केनचित् ।
कुर्वन्विन्देत सन्तापं कपोत इव दीनधीः ॥५२॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अति-स्नेहः—अत्यधिक स्नेह; प्रसङ्गः—घनिष्ठ संग; वा—अथवा; कर्तव्यः—प्रकट करना चाहिए; क्व अपि—कभी; केनचित्—किसी से; कुर्वन्—ऐसा करते हुए; विन्देत—अनुभव करेगा; सन्तापम्—महान् दुख; कपोतः—कबूतर; इव—सदृश; दीन-धीः—मन्द बुद्धि।

मनुष्य को चाहिए कि किसी व्यक्ति या किसी वस्तु के लिए अत्यधिक स्नेह या चिन्ता न करे। अन्यथा उसे महान् दुख भोगना पड़ेगा, जिस तरह कि मूर्ख कबूतर भोगता है।

तात्पर्य : संस्कृत में *अति* उपसर्ग ऐसे स्नेह या लगाव को सूचित करता है, जिसमें कृष्णभावनामृत नहीं होता। *भगवद्गीता* (५.२९) में भगवान् कृष्ण कहते हैं *सुहृदं सर्वभूतानाम्*—भगवान् प्रत्येक जीव के नित्य हितैषी हैं। भगवान् इतने स्नेहिल हैं कि वे प्रत्येक बद्धजीव के हृदय में स्थित रहते हैं और माया के राज्य में उसकी पूरी अनन्त यात्रा में उसके साथ रहकर धैर्यपूर्वक बद्धजीव के भगवद्धाम वापस जाने की प्रतीक्षा करते रहते हैं। इस तरह भगवान् प्रत्येक जीव के शाश्वत सुख के लिए सारी व्यवस्था करते हैं। समस्त प्राणियों के प्रति दया तथा स्नेह प्रदर्शित करने का सर्वोत्तम तरीका है कृष्ण की ओर से उपदेशक बन जाना और पतितात्माओं का उद्धार करने में भगवान् की मदद करना। यदि अन्यों के प्रति हमारा स्नेह या अनुराग शारीरिक इन्द्रियतृप्ति पर, समाज, मैत्री तथा प्रेम के नाम पर आधारित है, तो वह *अति स्नेह,* सम्बन्ध टूटते समय, विकट पीड़ा उत्पन्न करेगा। अब मूर्ख कबूतर की कथा बतलाई जायेगी। ऐसी ही कथा *श्रीमद्भागवत* के सप्तम स्कंध के द्वितीय अध्याय में यमराज द्वारा राजा सुयज्ञ की शोकातुर विधवा पत्नियों से कही गई है।

कपोतः कश्चनारण्ये कृतनीडो वनस्पतौ ।
कपोत्या भार्यया सार्धमुवास कतिचित्समाः ॥५३॥

शब्दार्थ

कपोतः—कबूतर ने; कश्चन—किसी; अरण्ये—जंगल में; कृत-नीडः—अपना घोंसला बनाकर; वनस्पतौ—वृक्ष में; कपोत्या—कबूतरी के साथ; भार्यया—अपनी पत्नी; स-अर्धम्—अपने संगी के रूप में; उवास—रहने लगा; कतिचित्—कुछ; समाः—वर्षों तक।

एक कबूतर था, जो अपनी पत्नी के साथ जंगल में रहता था। उसने एक वृक्ष के भीतर अपना घोंसला बनाया और कबूतरी के साथ कई वर्षों तक वहाँ रहता रहा।

कपोतौ स्नेहगुणितहृदयौ गृहधर्मिणौ ।
दृष्टिं दृष्ट्याङ्गमङ्गेन बुद्धिं बुद्ध्या बबन्धतुः ॥ ५४॥

शब्दार्थ

कपोतौ—कबूतर का जोड़ा; स्नेह—स्नेह से; गुणित—मानो रस्सी से बँधे हुए; हृदयौ—उनके हृदय; गृह-धर्मिणौ—अनुरक्त गृहस्थ; दृष्टिम्—दृष्टि; दृष्ट्या—चितवन से; अङ्गम्—शरीर को; अङ्गेन—दूसरे के शरीर से; बुद्धिम्—मन; बुद्ध्या—दूसरे के मन से; बबन्धतुः—एक-दूसरे को बाँध लिया।

कबूतर का यह जोड़ा अपने गृहस्थ कार्यों के प्रति अत्यधिक समर्पित था। उनके हृदय भावनात्मक स्नेह से परस्पर बँधे थे, वे एक-दूसरे की चितवनों, शारीरिक गुणों तथा मन की अवस्थाओं से आकृष्ट थे। इस तरह उन्होंने एक-दूसरे को स्नेह से पूरी तरह बाँध रखा था।

तात्पर्य : नर तथा मादा कबूतर एक-दूसरे से इतने आकृष्ट थे कि वे क्षण-भर का भी विछोह सहन नहीं कर सकते थे। इसे *भगवद्-विस्मृति* अर्थात् निर्जीव पदार्थ के प्रति अनुराग तथा ईश्वर का विस्मरण कहते हैं। जीव को भगवान् से शाश्वत प्रेम होता है, किन्तु विकृत होने पर वही प्रेम मिथ्या भौतिक स्नेह के रूप में दिखता है। इस तरह वास्तविक आनन्द का धूमिल प्रतिबिम्ब ही मिथ्या जीवन की नींव बन जाता है, जो परम सत्य की विस्मृति पर टिका रहता है।

शय्यासनाटनस्थान वार्ताक्रीडाशनादिकम् ।
मिथुनीभूय विश्रब्धौ चेरतुर्वनराजिषु ॥ ५५॥

शब्दार्थ

शय्या—लेटते; आसन—बैठते; अटन—चलते-फिरते; स्थान—खड़े होते; वार्ता—बातें करते; क्रीडा—खेलते; अशन—भोजन करते; आदिकम्—इत्यादि; मिथुनी-भूय—दम्पति के रूप में; विश्रब्धौ—एक-दूसरे पर विश्वास करते; चेरतुः—उन्होंने सम्पन्न किया; वन—जंगल के; राजिषु—वृन्दों के कुंजों के बीच।

भविष्य पर निश्छल भाव से विश्वास करते हुए वे प्रेमी युगल की भाँति जंगल के वृक्षों के बीच लेटते, बैठते, चलते-फिरते, खड़े होते, बातें करते, खेलते, खाते-पीते रहे।

यं यं वाञ्छति सा राजन्तर्पयन्त्यनुकम्पिता ।
तं तं समनयत्कामं कृच्छ्रेणाप्यजितेन्द्रियः ॥ ५६॥

शब्दार्थ

यम् यम्—जो कुछ भी; वाञ्छति—चाहती; सा—वह कबूतरी; राजन्—हे राजन; तर्पयन्ती—प्रसन्न करती हुई; अनुकम्पिता—दया दिखाई गई; तम् तम्—वह-वह; समनयत्—ले आया; कामम्—अपनी इच्छा; कृच्छ्रेण—बड़ी मुश्किल से; अपि—भी; अजित-इन्द्रियः—अपनी इन्द्रियों को वश में करना न सीखा हुआ।

हे राजन्, जब भी कबूतरी को किसी वस्तु की इच्छा होती, तो वह अपने पति की चाटुकारिता करके उसे बाध्य करती और वह स्वयं भारी मुश्किलें उठाकर भी उसे तृप्त करने के लिए वही करता, जो वह चाहती थी। इस तरह वह उसके संग में अपनी इन्द्रियों पर संयम नहीं रख सका।

तात्पर्य : *तर्पयन्ती* शब्द सूचित करता है कि कबूतरी अपने पति को अपनी मुसकान-भरी चितवनों तथा प्रेम-भरी बातों से मोहने में पटु थी। इस तरह उसकी उत्तम भावनाओं को उभाड़ कर उसने उसे अपना आज्ञाकारी सेवक बना लिया। बेचारा कबूतर *अजितेन्द्रिय* था अर्थात् उसे अपनी इन्द्रियों पर काबू नहीं था और उसका हृदय स्त्री के सौन्दर्य से द्रवित था। ब्राह्मण अवधूत कबूतरद्वय की यह कथा कह कर अमूल्य उपदेश दे रहा है और बता रहा है कि अनिवार्य विछोह के कारण उन्हें दारुण कष्ट सहना पड़ा। यदि मनुष्य की बुद्धि इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश की सेवा में समर्पित नहीं रहती, तो वह शारीरिक तृप्ति के अज्ञान में डूब जाता है। तब वह मूर्ख कबूतर की तरह हो जाता है।

कपोती प्रथमं गर्भं गृह्णन्ती काल आगते ।
अण्डानि सुषुवे नीडे स्तपत्युः सन्निधौ सती ॥५७॥

शब्दार्थ

कपोती—कबूतरी; प्रथमम्—प्रथम; गर्भम्—गर्भावस्था; गृह्णन्ती—धारण करती हुई; काले—(प्रसव का) समय के; आगते—आने पर; अण्डानि—अंडे; सुषुवे—दिये; नीडे—घोंसले में; स्व-पत्युः—अपने पति की; सन्निधौ—उपस्थिति में; सती—साध्वी।

तत्पश्चात्, कबूतरी को पहले गर्भ का अनुभव हुआ। जब समय आ गया, तो उस साध्वी कबूतरी ने अपने पति की उपस्थिति में घोंसले में कई अंडे दिये।

तेषु काले व्यजायन्त रचितावयवा हरेः ।
शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कोमलाङ्गतनूरुहाः ॥५८॥

शब्दार्थ

तेषु—उन अंडों से; काले—समय आने पर; व्यजायन्त—उत्पन्न हुए; रचित—निर्मित; अवयवाः—बच्चों के अंग; हरेः—भगवान् हरि की; शक्तिभिः—शक्तियों से; दुर्विभाव्याभिः—अचिन्त्य; कोमल—मुलायम; अङ्ग—अंग; तनूरुहाः—तथा पंख।

जब समय पूरा हो गया, तो उन अंडों से भगवान् की अचिन्त्य शक्तियों से निर्मित मुलायम अंगो तथा पंखों के साथ बच्चे उत्पन्न हुए।

प्रजाः पुपुषतुः प्रीतौ दम्पती पुत्रवत्सलौ ।
शृण्वन्तौ कूजितं तासां निर्वृतौ कलभाषितैः ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

प्रजाः—सन्तान; पुपुषतुः—उन्होंने पाला-पोषा; प्रीतौ—अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक; दम्-पती—युग्म; पुत्र—अपने बच्चों को; वत्सलौ—दयालु; शृण्वन्तौ—सुनते हुए; कूजितम्—चहचहाना; तासाम्—उन बच्चों की; निर्वृतौ—अत्यन्त सुखी; कल-भाषितैः—भद्दी ध्वनि से।

कबूतर का यह जोड़ा अपने बच्चों के प्रति अत्यन्त स्नेहिल बन गया और उनकी अढपटी चहचहाहट को सुनकर अत्यन्त हर्षित होता, क्योंकि उन माता-पिता को यह अतीव मधुर लगती। इस तरह वह जोड़ा उन छोटे-छोटे बच्चों का पालन-पोषण करने लगा।

तासां पतत्रैः सुस्पर्शैः कूजितैर्मुग्धचेष्टितैः ।
प्रत्युद्गमैरदीनानां पितरौ मुदमापतुः ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

तासाम्—छोटे पक्षियों के; पतत्रैः—पंखों द्वारा; सु-स्पर्शैः—छूने में अच्छा; कूजितैः—उनकी चहचहाहट; मुग्ध—आकर्षक; चेष्टितैः—कार्यों से; प्रत्युद्गमैः—फुदकने के प्रयासों से; अदीनानाम्—सुखी (बच्चों) के; पितरौ—माता-पिता; मुदम् आपतुः—हर्षित हो गये।

येें माता-पिता अपने पक्षी बच्चों के मुलायम पंखों, उनकी चहचहाहट, घोंसले के आसपास उनकी कूद-फाँद करना, उनका उछलने और उड़ने का प्रयास करना देखकर अत्यन्त हर्षित हुए। अपने बच्चों को सुखी देखकर माता-पिता भी सुखी थे।

स्नेहानुबद्धहृदयावन्योन्यं विष्णुमायया ।
विमोहितौ दीनधियौ शिशून्पुपुषतुः प्रजाः ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

स्नेह—स्नेह से; अनुबद्ध—बँधे हुए; हृदयौ—हृदयों वाले; अन्योन्यम्—परस्पर; विष्णु-मायया—भगवान् विष्णु की माया से; विमोहितौ—पूर्णतः मोहग्रस्त; दीन-धियौ—मन्द बुद्धि वाले; शिशून्—अपने बच्चों को; पुपुषतुः—पाला-पोषा; प्रजाः—अपनी सन्तान।

स्नेह से बँधे हुए हृदयों वाले ये मूर्ख पक्षी भगवान् विष्णु की माया द्वारा पूर्णतः मोहग्रस्त होकर अपने छोटे-छोटे बच्चों का लालन-पालन करते रहे।

एकदा जग्मतुस्तासामन्नार्थं तौ कुटुम्बिनौ ।
परितः कानने तस्मिन्नर्थिनौ चेरतुश्चिरम् ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; जग्मतुः—गये; तासाम्—बच्चों के; अन्न—भोजन; अर्थम्—हेतु; तौ—वे दोनों; कुटुम्बिनौ—परिवार के मुखिया; परितः—चारों ओर; कानने—जंगल में; तस्मिन्—उस; अर्थिनौ—उत्सुकतापूर्वक ढूँढ़ते हुए; चेरतुः—विचरते रहे; चिरम्—काफी समय तक।

एक दिन परिवार के दोनों मुखिया अपने बच्चों के लिए भोजन तलाश करने बाहर चले गये। अपने बच्चों को ठीक से खिलाने की चिन्ता में वे काफी समय तक पूरे जंगल में विचरते रहे।

दृष्ट्वा तान्लुब्धकः कश्चिद्यदृच्छातो वनेचरः ।
जगृहे जालमातत्य चरतः स्वालयान्तिके ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; तान्—उन बच्चों को; लुब्धकः—बहेलिये ने; कश्चित्—कोई; यदृच्छातः—संयोगवश; वने—जंगल में; चरः—गुजरते हुए; जगृहे—पकड़ लिया; जालम्—जाल को; आतत्य—फैलाकर; चरतः—विचरण करते; स्व-आलय-अन्तिके—उनके घर के पड़ोस में।

उस समय संयोगवश जंगल में विचरण करते हुए किसी बहेलिये ने कबूतर के इन बच्चों को उनके घोंसले के निकट विचरते हुए देखा। उसने अपना जाल फैलाकर उन सबों को पकड़ लिया।

कपोतश्च कपोती च प्रजापोषे सदोत्सुकौ ।
गतौ पोषणमादाय स्वनीडमुपजग्मतुः ॥ ६४ ॥

शब्दार्थ

कपोतः—कबूतर; च—तथा; कपोती—कबूतरी; च—तथा; प्रजा—उनके बच्चों के; पोषे—पालन-पोषण में; सदा—सदैव; उत्सुकौ—उत्सुकतापूर्वक; गतौ—गये हुए; पोषणम्—भोजन; आदाय—लाकर; स्व—अपने; नीडम्—घोंसले में; उपजग्मतुः—पहुँचे।

कबूतर तथा उसकी पत्नी अपने बच्चों के पालन-पोषण के लिए सदैव चिन्तित रहते थे और इसी उद्देश्य से वे जंगल में भटकते रहे थे। समुचित अन्न पाकर अब वे अपने घोंसले पर लौट आये।

कपोती स्वात्मजान्वीक्ष्य बालकान्जालसम्वृतान् ।
तानभ्यधावत्क्रोशन्ती क्रोशतो भृशदुःखिता ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

कपोती—कबूतरी; स्व-आत्म-जान्—अपने से उत्पन्न; वीक्ष्य—देखकर; बालकान्—बच्चों को; जाल—जाल से; संवृतान्—घिरे हुए; तान्—उनकी ओर; अभ्यधावत्—दौड़ी; क्रोशन्ती—पुकारती हुई; क्रोशत:—चिल्ला रहे हों, जो उनकी ओर; भृश—अत्यधिक; दु:खिता—दुखी।

जब कबूतरी ने अपने बच्चों को बहेलिये के जाल में फँसे देखा, तो वह व्यथा से अभिभूत हो गई और चिल्लाती हुई उनकी ओर दौड़ी। वे बच्चे भी उसके लिए चिल्लाने लगे।

सासकृत्स्नेहगुणिता दीनचित्ताजमायया ।
स्वयं चाबध्यत शिचा बद्धान्पश्यन्त्यपस्मृतिः ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; असकृत्—निरन्तर; स्नेह—स्नेह से; गुणिता—बँधी; दीन-चित्ता—पंगु बुद्धि वाली; अज—अजन्मा भगवान् की; मायया—माया से; स्वयम्—स्वयं; च—भी; अबध्यत—बँधा लिया; शिचा—जाल से; बद्धान्—बँधे हुए (बच्चों को); पश्यन्ती—देखती हुई; अपस्मृतिः—अपने को भूली हुई।

चूँकि कबूतरी ने अपने को गहन स्नेह के बन्धन से सदा बाँध रखा था, इसलिए उसका मन व्यथा से विहल था। भगवान् की माया के चंगुल में होने से, वह अपने को पूरी तरह भूल गई और अपने असहाय बच्चों की ओर दौड़ती हुई, वह भी तुरन्त बहेलिये के जाल में बँध गई।

कपोतः स्वात्मजान्बद्धानात्मनोऽप्यधिकान्प्रियान् ।
भार्यां चात्मसमां दीनो विललापातिदु:खितः ॥ ६७ ॥

शब्दार्थ

कपोतः—कबूतर; स्व-आत्म-जान्—अपने ही बच्चों को; बद्धान्—बँधा हुआ; आत्मनः—अपनी अपेक्षा; अपि—ही; अधिकान्—अधिक; प्रियान्—प्रिय; भार्याम्—अपनी पत्नी को; च—तथा; आत्म-समाम्—अपने समान; दीनः—अभागा व्यक्ति; विललाप—शोक करने लगा; अति-दु:खितः—अत्यन्त दुखी।

अपने प्राणों से भी प्यारे अपने बच्चों को तथा साथ में अपने ही समान अपनी पत्नी को बहेलिये के जाल में बुरी तरह बँधा देखकर बेचारा कबूतर दुखी होकर विलाप करने लगा।

अहो मे पश्यतापायमल्पपुण्यस्य दुर्मतेः ।
अतृप्तस्याकृतार्थस्य गृहस्त्रैवर्गिको हतः ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

अहो—हाय; मे—मेरा; पश्यत—देखो तो; अपायम्—विनाश; अल्प-पुण्यस्य—अपर्याप्त पुण्य वाले के; दुर्मतेः—दुर्बुद्धि; अतृप्तस्य—असंतुष्ट; अकृत-अर्थस्य—जिसने जीवन के उद्देश्य को पूरा नहीं किया, उसका; गृहः—पारिवारिक जीवन; त्रै-वर्गिकः—सभ्य जीवन के तीन उद्देश्यों (धर्म, अर्थ तथा काम) वाले; हतः—विनष्ट।

कबूतर ने कहा : हाय! देखो न, मैं किस तरह बरबाद हो गया हूँ। स्पष्ट है कि मैं महामूर्ख हूँ, क्योंकि मैंने समुचित पुण्यकर्म नहीं किये। न तो मैं अपने को संतुष्ट कर सका, न ही मैं जीवन के

लक्ष्य को पूरा कर सका। मेरा प्रिय परिवार, जो मेरे धर्म, अर्थ तथा काम का आधार था, अब बुरी तरह नष्ट हो गया।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि *अतृप्तस्य* शब्द यह सूचित करता है कि कबूतर अपनी इन्द्रियतृप्ति से तुष्ट नहीं था। यद्यपि वह अपनी पत्नी, बच्चों तथा घोंसले के प्रति पूर्णतया अनुरक्त था, किन्तु वह पूरी तरह से उनको भोग नहीं सका था, क्योंकि ऐसी वस्तुओं से कभी तुष्टि नहीं होती। *अकृतार्थस्य* सूचित करता है कि उसकी इन्द्रियतृप्ति के भावी विस्तार की आशाएँ तथा सपने भी अब नष्ट हो गये थे। लोग सामान्य रूप से "घर, प्रिय घर" की चर्चा अपने घोंसले के रूप में चलाते हैं और वे भविष्य के लिए संचित धन को घोंसले का अंडा कहते हैं। इसलिए भौतिक जगत के प्रेम-पक्षियों को यह जान लेना चाहिए कि उनके तथाकथित बच्चे, पत्नी तथा सम्पत्ति बहेलिये के जाल में खींच लिये जायेंगे। दूसरे शब्दों में, मृत्यु सबकुछ समाप्त कर देगी।

अनुरूपानुकूला च यस्य मे पतिदेवता ।
शून्ये गृहे मां सन्त्यज्य पुत्रैः स्वर्याति साधुभिः ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

अनुरूपा—उपयुक्त; अनुकूला—स्वामिभक्त; च—तथा; यस्य—जिसका; मे—मेरा; पति-देवता—जिसने पति को देवता-रूप में पूज्य मान लिया है; शून्ये—रिक्त; गृहे—घर में; माम्—मुझको; सन्त्यज्य—पीछे छोड़कर; पुत्रैः—अपने पुत्रों के साथ; स्वः—स्वर्ग को; याति—जा रही है; साधुभिः—सन्त जैसे।

"मैं तथा मेरी पत्नी आदर्श जोड़ा थे। वह सदैव मेरी आज्ञा का पालन करती थी और मुझे अपने पूज्य देवता की तरह मानती थी, किन्तु अब वह अपने बच्चों को नष्ट हुआ और अपने घर को रिक्त देखकर मुझे छोड़ गई और हमारे सन्त स्वभाव वाले बच्चों के साथ स्वर्ग चली गई।"

सोऽहं शून्ये गृहे दीनो मृतदारो मृतप्रजः ।
जिजीविषे किमर्थं वा विधुरो दुःखजीवितः ॥ ७० ॥

शब्दार्थ

सः अहम्—मैं; शून्ये—रिक्त; गृहे—घर में; दीनः—दुखी; मृत-दारः—जिसकी पत्नी मर चुकी है; मृत-प्रजः—जिसके बच्चे मर चुके हैं; जिजीविषे—मैं जीवित रहना चाहूँगा; किम् अर्थम्—किस हेतु; वा—निस्सन्देह; विधुरः—विछोह भोगते हुए; दुःख—दुखी; जीवितः—मेरा जीवन।

अब मैं विरान घर में रहने वाला दुखी व्यक्ति हूँ। मेरी पत्नी मर चुकी है, मेरे बच्चे मर चुके हैं। मैं भला क्यों जीवित रहना चाहूँ? मेरा हृदय अपने परिवार के विछोह से इतना पीड़ित है कि मेरा जीवन मात्र कष्ट बनकर रह गया है।

तांस्तथैवावृताञ्शिग्भिर्मृत्युग्रस्तान्विचेष्टतः ।
स्वयं च कृपणः शिक्षु पश्यन्नप्यबुधोऽपतत् ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; तथा—भी; एव—निस्सन्देह; आवृतान्—घिरे हुए; शिग्भिः—जाल से; मृत्यु—मृत्यु द्वारा; ग्रस्तान्—पकड़े हुए; विचेष्टतः—स्तम्भित; स्वयम्—स्वयं; च—भी; कृपणः—दुखी; शिक्षु—जाल के भीतर; पश्यन्—देखते हुए; अपि—भी; अबुधः—अज्ञानी; अपतत्—गिर पड़ा।

जब पिता कबूतर अपने बेचारे बच्चों को जाल में बँधा और मृत्यु के कगार पर दीन भाव से उन्हें अपने को छुड़ाने के लिए करुणावस्था में संघर्ष करते देख रहा था, तो उसका मस्तिष्क शून्य हो गया और वह स्वयं भी बहेलिए के जाल में गिर पड़ा।

तं लब्ध्वा लुब्धकः क्रूरः कपोतं गृहमेधिनम् ।
कपोतकान्कपोतीं च सिद्धार्थः प्रययौ गृहम् ॥ ७२ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; लब्ध्वा—लेकर; लुब्धकः—बहेलिया; क्रूरः—निष्ठुर; कपोतम्—कबूतर को; गृह-मेधिनम्—भौतिकतावादी गृहस्थ; कपोतकान्—कबूतर के बच्चों को; कपोतीम्—कबूतरी को; च—भी; सिद्ध-अर्थः—अपना प्रयोजन सिद्ध करके; प्रययौ—चल पड़ा; गृहम्—अपने घर के लिए।

वह निष्ठुर बहेलिया उस कबूतर को, उसकी पत्नी को तथा उनके सारे बच्चों को पकड़ कर अपनी इच्छा पूरी करके अपने घर के लिए चल पड़ा।

एवं कुटुम्ब्यशान्तात्मा द्वन्द्वारामः पतत्रिवत् ।
पुष्णन्कुटुम्बं कृपणः सानुबन्धोऽवसीदति ॥ ७३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कुटुम्बी—परिवार वाला मनुष्य; अशान्त—अशान्त; आत्मा—उसकी आत्मा; द्वन्द्व—भौतिक द्वैत (यथा नर-नारी); आरामः—आनंदित; पतत्रि-वत्—इस पक्षी की तरह; पुष्णन्—पालन-पोषण करते हुए; कुटुम्बम्—अपने परिवार को; कृपणः—कंजूस; स-अनुबन्धः—अपने सम्बन्धियों सहित; अवसीदति—अत्यधिक कष्ट उठायेगा।

इस तरह जो व्यक्ति अपने पारिवारिक जीवन में अत्यधिक अनुरक्त रहता है, वह हृदय में क्षुब्ध रहता है। कबूतर की ही तरह वह संसारी यौन-आकर्षण में आनन्द ढूँढता रहता है। अपने

परिवार का पालन-पोषण करने में बुरी तरह व्यस्त रहकर कंजूस व्यक्ति अपने परिवार वालों के साथ अत्यधिक कष्ट भोगता है।

यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम् ।
गृहेषु खगवत्सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः ॥ ७४॥

शब्दार्थ

यः—जो; प्राप्य—पाकर; मानुषम् लोकम्—मनुष्य-जीवन; मुक्ति—मुक्ति का; द्वारम्—दरवाजा; अपावृतम्—खुला हुआ; गृहेषु—घरेलू मामलों में; खग-वत्—इस कथा के पक्षी की ही तरह; सक्तः—लिप्त; तम्—उसको; आरूढ—ऊँचे चढ़कर; च्युतम्—नीचे गिरते हुए; विदुः—मानते हैं।.

जिसने मनुष्य-जीवन पाया है, उसके लिए मुक्ति के द्वार पूरी तरह से खुले हुए हैं। किन्तु यदि मनुष्य इस कथा के मूर्ख पक्षी की तरह अपने परिवार में ही लिप्त रहता है, तो वह ऐसे व्यक्ति के समान है, जो ऊँचे स्थान पर केवल नीचे गिरने के लिए ही चढ़ा हो।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत "भगवान् कृष्ण द्वारा उद्धव को उपदेश" नामक सातवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter आठ

पिंगला की कथा

भगवान् कृष्ण ने उद्धव को यह बतलाया कि उस अवधूत ब्राह्मण ने किस तरह महाराज यदु को उन उपदेशों को समझाया, जिन्हें उसने अजगर इत्यादि नौ गुरुओं से प्राप्त किया था।

अजगर से प्राप्त उपदेश यह हैं कि बुद्धिमान व्यक्ति को विरक्ति की प्रवृत्ति उत्पन्न करनी चाहिए और जो कुछ अपने आप या आसानी से मिल जाय, उसी को स्वीकार करके अपने शरीर का पालन-पोषण करना चाहिए। इस तरह उसे सदैव भगवान् की पूजा में व्यस्त रहना चाहिए। यदि भोजन न भी मिले तो भी भगवान् की पूजा में व्यस्त रहने के इच्छुक व्यक्ति को भीख नहीं माँगनी चाहिए, प्रत्युत उसे यह सोचकर कि "मुझे जो भी आनन्द मिलना है, वह स्वत: आयेगा और मुझे शेष जीवन व्यर्थ ही इन वस्तुओं की चिन्ता में नहीं बिताना है।" इसको विधि का विधान समझना चाहिए। यदि उसे भोजन नहीं मिलता, तो वह अजगर की तरह लेटा रहकर अपने मन को भगवान् के ध्यान में स्थिर करे।

उस अवधूत ब्राह्मण को सागर से यह उपदेश मिला कि भगवान् की भक्ति में लगे मुनि का मन शान्त सागर के जल की भाँति अत्यन्त निर्मल तथा गम्भीर होता है। वर्षाऋतु में जब सारी बढ़ी हुई नदियाँ अपना अपना जल लाकर समुद्र में उड़ेलती हैं, तो वह न तो उमड़ता है, न ही ग्रीष्मऋतु में जब नदियाँ जल नहीं लातीं, तो सूखता है। इसी तरह जब मुनि को मनवांछित वस्तुएँ मिल जाती हैं, तो वह न तो फूलकर कुप्पा होता है, न ही उनके न मिलने से दुखी होता है।

पतंगे का उपदेश यह है कि जिस तरह वह अग्नि से मुग्ध होकर अपना प्राण गँवा देता है, उसी तरह अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर सकने वाला मूर्ख सोने के आभूषणों से लदी तथा सुन्दर वस्त्र पहिने औरतों के रूपों पर मुग्ध हो जाता है। भगवान् की दैवी माया के इन देहधारियों का पीछा करते हुए, वह असमय ही अपना प्राण गँवा देता है और घोर नरक में जा गिरता है।

भौंरा तथा मधुमक्खी ये दो तरह के कीट हैं, भौंरे से यह शिक्षा मिलती है कि मुनि को अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा भोजन एकत्र करना चाहिए और अपना जीवन बनाये रखने के लिए *मधुकरी* का पेशा अपनाना चाहिए। मुनि को समस्त शास्त्रों से, चाहे वे छोटे हों या बड़े, अनिवार्य सत्य का भी संग्रह करना चाहिए। दुसरे कीट मधुमक्खी से यह शिक्षा मिलती है कि भिक्षुक संन्यासी को भिक्षा से प्राप्त भोजन, न तो रात्रि के लिए, न ही अगले दिन के लिए रख छोड़ना चाहिए, क्योंकि यदि वह ऐसा करता है, तो वह, लालची मधुमक्खी की तरह उसके झुंड समेत, नष्ट कर दिया जायेगा।

हाथी से अवधूत को यह शिक्षा मिली थी कि जिस तरह शिकारी लोग नर-हाथियों को बंदिनी हथिनियों की ओर जाते समय गड्ढे में गिराकर धोखे से पकड़ लेते हैं, उसी तरह स्त्री के रूप पर मुग्ध पुरुष भौतिक जीवन के गहरे कूप में गिरकर नष्ट हो जाता है।

मधुचोर से यह शिक्षा मिली थी कि जिस तरह वह मधुमक्खियों द्वारा बड़े ही यत्न से संचित मधु को चुराता है, उसी तरह संन्यास आश्रम को प्राप्त व्यक्ति को अन्य गृहस्थों की गाढ़ी कमाई से खरीदी वस्तुओं तथा भोजन का, दूसरों से पूर्व, भोग करने का अधिकार है।

हिरन से यह शिक्षा मिलती है कि जिस तरह वह शिकारी की बाँसुरी की तान सुनकर विकल हो उठता है और अपने प्राण गँवा देता है, उसी तरह संसारी संगीत के प्रति आकृष्ट होने वाला कोई भी व्यक्ति व्यर्थ ही अपना जीवन गँवा देता है।

मछली से यह शिक्षा मिलती है कि जिस तरह वह स्वादेन्द्रिय के वशीभूत होने से चारा लगी कँटिया में फँसकर मर जाती है, उसी तरह अज्ञानी व्यक्ति, जिसकी भूख कभी पूरी नहीं होती, अपना जीवन गँवा बैठता है।

किसी समय विदेह नगर में पिंगला नाम की एक वेश्या थी, जिससे उस अवधूत ने अन्य शिक्षा प्राप्त की। एक दिन पिंगला ने खूब आकर्षक वस्त्र तथा आभूषण पहने और सूर्यास्त से लेकर अर्धरात्रि तक किसी ग्राहक की प्रतीक्षा करती रही। वह आशान्वित होकर प्रतीक्षा करती गई, किन्तु समय बीतने के साथ उसका मन अशान्त हो उठा। उसके पास कोई पुरुष नहीं आया, अतएव घृणा से वह विरक्त हो गई और उसने अपने चाहने वाले किसी ग्राहक के आने की प्रतीक्षा छोड़ दी। तत्पश्चात्, उसने अपने को एकमात्र भगवान् हरि के चिन्तन में लगा दिया, तब उसके मन को परम शान्ति मिली। इससे यह शिक्षा मिलती है कि इन्द्रियतृप्ति की आशाएँ ही सारे कष्ट की जड़ हैं। इसलिए जिस किसी ने ऐसी लालसा त्याग दी है, वही भगवान् के ध्यान में अपने को स्थिर कर सकता है और दिव्य शान्ति पा सकता है।

श्रीब्राह्मण उवाच
सुखमैन्द्रियकं राजन्स्वर्गे नरक एव च ।
देहिनां यद्यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद् बुधः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्राह्मणः उवाच—उस साधु-ब्राह्मण ने कहा; **सुखम्**—सुख; **ऐन्द्रियकम्**—इन्द्रियों से उत्पन्न; **राजन्**—हे राजा; **स्वर्गे**—स्वर्ग में; **नरके**—तथा नरक में; **एव**—निश्चय ही; **च**—भी; **देहिनाम्**—देहधारी जीवों के; **यत्**—चूँकि; **यथा**—जिस तरह; **दुःखम्**—दुख; **तस्मात्**—इसलिए; **न**—नहीं; **इच्छेत**—इच्छा करे; **तत्**—वह; **बुधः**—जाननहारा।

साधु-ब्राह्मण ने कहा : हे राजन्, देहधारी जीव स्वर्ग या नरक में स्वतः दुख का अनुभव करता है। इसी तरह बिना खोजे ही सुख का भी अनुभव होता है। इसलिए बुद्धिमान तथा विवेकवान व्यक्ति ऐसे भौतिक सुख को पाने के लिए कभी कोई प्रयास नहीं करता।

तात्पर्य : मनुष्य को इन्द्रियतृप्ति के पीछे अपना जीवन व्यर्थ ही नहीं गँवाना चाहिए, क्योंकि उसके विगत तथा वर्तमान सकाम कर्मों के फलस्वरूप उसे स्वत: ही भौतिक सुख की विशेष मात्रा उपलब्ध होगी। यह शिक्षा उस अजगर से प्राप्त की जाती है, जो लेटा रहता है और जो कुछ स्वयमेव आता है, उसी से वह अपना उदर-पोषण करता है। उल्लेखनीय बात तो यह है कि स्वर्ग तथा नरक दोनों में सुख तथा दुख स्वत: ही हमारे पूर्वकर्मों के फलस्वरूप आते हैं, यद्यपि सुख-दुख का अनुपात बदलता रहता

है। चाहे स्वर्ग में हो या नरक में, मनुष्य खाना, पीना, सोना और संभोग कर सकता है, किन्तु ये कर्म भौतिक देह पर आधारित होने के कारण क्षणभंगुर तथा असंगत हैं। बुद्धिमान व्यक्ति को देखना चाहिए कि अच्छा से अच्छा भौतिक पद भी ईश्वर-भक्ति के क्षेत्र से बाहर किये गये पिछले अवैध कर्मों के लिए दंडस्वरूप हैं। बद्धजीव को स्वल्प सुख पाने के लिए घोर कष्ट सहने पड़ते हैं। विपत्ति तथा दिखावे से पूर्ण भौतिक जीवन में संघर्ष करने के बाद भले ही किसी को थोड़ी-सी इन्द्रियतृप्ति मिल सके, किन्तु यह भ्रामक आनन्द उस कष्ट को कम नहीं कर पाता, जो उसे पाने के लिए सहना पड़ता है। कुछ भी हो, एक सुन्दर टोपी से सीधा-सादा, भोला चेहरा, सुन्दर नहीं हो जाता। यदि कोई सचमुच ही जीवन की समस्याओं को हल करना चाहता है, तो उसे सादा जीवन बिताना चाहिए और जीवन का अधिकांश भाग कृष्ण की प्रेमाभक्ति के लिए बचा रखना चाहिए। जो लोग ईश्वर की सेवा नहीं करते, उन्हें भी वे पालन-पोषण का एक स्तर प्रदान करते हैं इसलिए हम भगवान् द्वारा प्रदत्त उस सुरक्षा की कल्पना कर सकते हैं, जो उनकी भक्ति में अपना जीवन अर्पित कर देते हैं।

अपरिष्कृत सकाम कर्मी वर्तमान जीवन के विषय में व्यर्थ ही चिन्ता करते हैं, जबकि अधिक पवित्र कर्मीजन भावी भौतिक इन्द्रियतृप्ति के लिए उद्धृत होकर विस्तृत व्यवस्था करते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि ऐसा सारा भोग-विलास क्षणिक है। किन्तु असली समाधान तो यह समझ लेना है कि समस्त इन्द्रियों तथा समस्त इच्छाओं के स्वामी भगवान् को प्रसन्न करके मनुष्य स्थायी सुख पा सकता है। ऐसे ज्ञान से जीवन की समस्याएँ आसानी से हल हो जाती हैं।

ग्रासं सुमृष्टं विरसं महान्तं स्तोकमेव वा ।
यदृच्छयैवापतितं ग्रसेदाजगरोऽक्रियः ॥ २॥

शब्दार्थ

ग्रासम्—भोजन; सु-मृष्टम्—स्वच्छ तथा स्वादिष्ट; विरसम्—स्वादरहित; महान्तम्—बड़ी मात्रा में; स्तोकम्—छोटी मात्रा; एव—निश्चय ही; वा—अथवा; यदृच्छया—बिना निजी प्रयास के; एव—निस्सन्देह; आपतितम्—प्राप्त किया गया; ग्रसेत्—खा लेना चाहिए; आजगरः—अजगर की तरह; अक्रियः—निष्क्रिय, बिना प्रयास के उदासीन बने रहना।

अजगर का अनुकरण करते हुए मनुष्य को भौतिक प्रयास का परित्याग कर देना चाहिए और अपने उदर-पोषण के लिए उस भोजन को स्वीकार करना चाहिए, जो अनायास मिल जाय, चाहे वह स्वादिष्ट हो या स्वादरहित, पर्याप्त हो या स्वल्प।

शयीताहानि भूरीणि निराहारोऽनुपक्रमः ।
यदि नोपनयेद्ग्रासो महाहिरिव दिष्टभुक् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

शयीत—शान्तिपूर्वक रहता रहे; अहानि—दिनों तक; भूरीणि—अनेक; निराहारः—उपवास करते हुए; अनुपक्रमः—बिना प्रयास के; यदि—यदि; न उपनयेत्—नहीं आता; ग्रासः—भोजन; महा-अहिः—अजगर; इव—सदृश; दिष्ट—भाग्य द्वारा प्रदत्त; भुक्—खाते हुए।

यदि कभी भोजन न भी मिले, तो सन्त-पुरुष को चाहिए कि बिना प्रयास किये वह अनेक दिनों तक उपवास रखे। उसे यह समझना चाहिए कि ईश्वर की व्यवस्था के कारण उसे उपवास करना चाहिए। इस तरह अजगर का अनुसरण करते हुए उसे शान्त तथा धीर बने रहना चाहिए।

तात्पर्य : यदि ईश्वर की व्यवस्था द्वारा किसी को कठिनाई का सामना करना पड़े, तो उसे यह सोचना चाहिए, ''मैं अपने विगत पापमय कर्मों के कारण दण्डित हो रहा हूँ। ईश्वर दयापूर्वक इस तरह मुझे विनीत बना रहे हैं।'' *शयीत्* शब्द का अर्थ है कि मनुष्य क्षुब्ध हुए बिना शान्त तथा धीर बना रहे। *दिष्ट-भुक्* का अर्थ है कि मनुष्य भगवान् को परम नियन्ता माने और भौतिक असुविधा होने पर मूर्खतापूर्वक श्रद्धा को त्यागे नहीं। *तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्* (भागवत १०.१४.८)। भगवद्भक्त सदा ही भौतिक कष्ट को भगवान् कृष्ण की कृपा मानता है और इस तरह वह परम मुक्ति का पात्र बन जाता है।

ओजःसहोबलयुतं बिभ्रद्देहमकर्मकम् ।
शयानो वीतनिद्रश्च नेहेतेन्द्रियवानपि ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

ओजः—काम-शक्ति; सहः—मानसिक शक्ति; बल—शारीरिक शक्ति; युतम्—से युक्त; बिभ्रत्—पालन-पोषण करते हुए; देहम्—शरीर को; अकर्मकम्—बिना प्रयास के; शयानः—शान्त रहते हुए; वीत—मुक्त; निद्रः—अज्ञान से; च—तथा; न—नहीं; ईहेत—प्रयास करे; इन्द्रिय-वान्—पूर्ण शारीरिक, मानसिक तथा काम-शक्ति से युक्त; अपि—यद्यपि।

सन्त-पुरुष को शान्त रहना चाहिए और भौतिक दृष्टि से अक्रिय रहना चाहिए। उसे बिना अधिक प्रयास के अपने शरीर का पालन-पोषण करना चाहिए। पूर्ण काम, मानसिक तथा शारीरिक शक्ति से युक्त होकर भी सन्त-पुरुष को भौतिक लाभ के लिए सक्रिय नहीं होना चाहिए, अपितु अपने वास्तविक स्वार्थ के लिए सदैव सतर्क रहना चाहिए।

तात्पर्य : इस श्लोक में *वीत-निद्रः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *निद्रा* का अर्थ है ''नींद'' अथवा ''अविद्या'' तथा *वीत* का अर्थ है ''से मुक्त''। दूसरे शब्दों में योगी को सदैव भगवान् से अपने नित्य

सम्बन्ध के प्रति जागरूक रहना चाहिए और सतर्कता से कृष्णभावनामृत का अनुशीलन करना चाहिए। भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध के प्रति आश्वस्त होकर उसे यह जानते हुए कि भगवान् सब प्रकार से उसकी रक्षा करेंगे, अपने निजी निर्वाह के लिए प्रयास नहीं करना चाहिए। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि अजगर का उदाहरण दिया गया है, जिससे मनुष्य व्यर्थ ही अपने शारीरिक लालन-पालन में समय न गँवाये।

किन्तु मनुष्य को यह नहीं सोचना चाहिए कि जीवन का लक्ष्य जमीन पर अजगर की तरह लेटे रहना है या शरीर को भूखों मारने का प्रदर्शन करना है। अजगर के उदाहरण से मनुष्य को पूर्णतया निष्क्रिय होने के लिए प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिए। प्रत्युत उसे आध्यात्मिक उन्नति में सक्रिय और भौतिक इन्द्रियतृप्ति में निष्क्रिय होना चाहिए। यदि कोई पूर्णतया निष्क्रिय हो जाता है, तो वह निश्चित रूप से *निद्रा* या अविद्या का अंधकार है, जिसमें मनुष्य भगवान् के नित्यदास के रूप में अपने स्वरूप को नहीं पहचान पाता।

योगी भगवान् की सेवा करने के लिए उत्सुक रहता है, अतएव जब भगवान् ऐसी सेवा के लिए भौतिक सुविधाएँ प्रदान करते हैं, तो वह अत्यन्त कृतज्ञ हो जाता है। भौतिक जगत का केवल परित्याग *फल्गु वैराग्य* है। मनुष्य को *युक्त वैराग्य* प्राप्त करना चाहिए, जिसमें वह हर वस्तु भगवान् की सेवा में लगाता है। यह हमारा व्यावहारिक अनुभव है कि कृष्णभावनामृत का प्रसार करने में लीन भक्त अपने निजी पालन-पोषण के लिए स्वतः ही सारी सुविधाएँ प्राप्त करता है।

मुनिः प्रसन्नगम्भीरो दुर्विगाह्यो दुरत्ययः ।
अनन्तपारो ह्यक्षोभ्यः स्तिमितोद इवार्णवः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

मुनिः—मुनि; प्रसन्न—प्रसन्न; गम्भीरः—अत्यन्त गम्भीर; दुर्विगाह्यः—अगाध; दुरत्ययः—दुर्लंघ्य; अनन्त-पारः—असीम; हि—निश्चय ही; अक्षोभ्यः—अक्षुब्ध; स्तिमित—शान्त; उदः—जल; इव—सदृश; अर्णवः—समुद्र।

मुनि अपने बाह्य आचरण में सुखी और मधुर होता है, किन्तु भीतर से अत्यन्त गम्भीर तथा विचारवान होता है। चूँकि उसका ज्ञान अगाध तथा असीम होता है, अतः वह कभी क्षुब्ध नहीं होता। इस तरह वह सभी प्रकार से अगाध तथा दुर्लंघ्य सागर के शान्त जल की तरह होता है।

तात्पर्य : घोर विपत्ति में भी, स्वरूपसिद्ध मुनि अपना संयम नहीं खोता, न ही उसका आध्यात्मिक ज्ञान समाप्त होता है। इस तरह वह *अक्षोभ्य* अर्थात् अक्षुब्ध रहता है। उसका मन भगवान् पर स्थिर रहता है, जो असीम आध्यात्मिक आनन्द के आगार हैं। अपनी चेतना को परम चेतना से जोड़ने के कारण उसका ज्ञान मापा नहीं जा सकता। भगवान् के चरणकमलों की शरण ले लेने के बाद शुद्ध भक्त में महान् आध्यात्मिक शक्ति आ जाती है, अतएव वह दुर्लंघ्य बन जाता है। वस्तुत: अपना आध्यात्मिक शरीर विकसित कर लेने पर वह काल की क्षयकारी क्रिया से प्रभावित नहीं होता। यद्यपि बाहर से वह हर एक से मैत्रीभाव रखता है तथा मधुर रहता है, किन्तु भीतर से उसका मन परम सत्य पर स्थिर रहता है और कोई भी व्यक्ति उसके वास्तविक उद्देश्य या उसकी योजना को समझ नहीं सकता। यहाँ तक कि सबसे बुद्धिमान व्यक्ति तक उस स्वरूपसिद्ध भक्त की मानसिक क्रियाओं को नहीं समझ पाता, जिसने काम तथा लोभ पर आधारित भौतिक जीवन का परित्याग कर दिया है और भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली है। ऐसे महात्मा की उपमा विशाल समुद्र से दी जा सकती है। समुद्र में असंख्य शक्तिशाली नदियाँ प्रवेश करती हैं, किन्तु समुद्र शान्त रहा करता है। इस प्रकार समुद्र की तरह सन्त-पुरुष को मधुर, अगाध, गम्भीर, दुर्लंघ्य, असीम तथा अचल समझना चाहिए।

समृद्धकामो हीनो वा नारायणपरो मुनिः ।
नोत्सर्पेत न शुष्येत सरिद्भिरिव सागरः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

समृद्ध—सम्पन्न; कामः—भौतिक ऐश्वर्य; हीनः—रहित, विहीन; वा—अथवा; नारायण—भगवान्; परः—परम मानते हुए; मुनिः—सन्त भक्त; न—नहीं; उत्सर्पेत—बढ़ जाता है; न—नहीं; शुष्येत—सूख जाता है; सरिद्भिः—नदियों के द्वारा; इव—सदृश; सागरः—समुद्र।

वर्षाऋतु में उफनती हुई नदियाँ सागर में जा मिलती हैं और ग्रीष्मऋतु में उथली होने से उनमें जल की मात्रा बहुत कम हो जाती है। फिर भी समुद्र न तो वर्षाऋतु में उमड़ता है, न ही ग्रीष्मऋतु में सूखता है। इसी तरह से जिस सन्त-भक्त ने भगवान् को अपने जीवन का लक्ष्य स्वीकार किया है, उसे कभी तो भाग्य से प्रचुर भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है और कभी वह अपने को भौतिक दृष्टि से कंगाल पाता है। फिर भी भगवान् का ऐसा भक्त न तो प्रोन्नति के समय हर्षित होता है, न दरिद्र बनने पर खिन्न होता है।

तात्पर्य : भगवान् का निष्ठावान भक्त प्रभु से मिलने के लिए तथा उनकी दिव्य सेवा करने के लिए सदैव उत्सुक रहता है। वह भगवान् के चरणकमलों पर एक क्षुद्र कण की तरह स्थिर रहना चाहता है, क्योंकि भगवान् कृष्ण या नारायण समस्त आनन्द के आगार हैं। शुद्ध कृष्णभावनामृत का अनुभव करके वह हर्षित होता है और खिन्न तब होता है, जब उसके मन में कृष्ण उपस्थित नहीं होते। भौतिक जगत के साथ अपने बर्तावों में भक्त उन सामान्य भौतिकतावादी व्यक्तियों द्वारा उसी तरह क्षुब्ध नहीं किये जा सकते, जो कभी कभी उसका अपमान करते हैं और इन्द्रियतृप्ति की उपेक्षा करने का दोषारोपण करते हैं, जिस तरह समुद्र को उसमें प्रवेश करने वाली असंख्य नदियाँ विक्षुब्ध नहीं कर पातीं। कभी कभी काम-वासना से युक्त स्त्रियाँ शुद्ध भक्त के पास जा पहुँचती हैं और कभी कभी निर्विशेष दार्शनिक भगवान् के विरुद्ध तर्क करने का प्रयास करते हैं, किन्तु शुद्ध भक्त ऐसे सामान्य लोगों से विरक्त रहता है और अपने आनन्दमय कृष्णभावनामृत में अविचल रहता है।

दृष्ट्वा स्त्रियं देवमायां तद्भावैरजितेन्द्रियः ।
प्रलोभितः पतत्यन्धे तमस्यग्नौ पतङ्गवत् ॥ ७॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; स्त्रियम्—स्त्री को; देव-मायाम्—भगवान् की माया से, जिसका रूप निर्मित हुआ है; तत्-भावैः—स्त्री के मोहक कार्यों से; अजित—जिसने वश में नहीं किया; इन्द्रियः—अपनी इन्द्रियाँ; प्रलोभितः—मुग्ध; पतति—नीचे गिरता है; अन्धे—अज्ञान के अंधकार में; तमसि—नरक के अंधकार में; अग्नौ—अग्नि में; पतङ्ग-वत्—पतिंगे की तरह।

जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर पाता, वह परमेश्वर की माया से उत्पन्न स्त्री के स्वरूप को देखकर तुरन्त आकृष्ट हो जाता है। दरअसल जब कोई स्त्री मोहक शब्द बोलती है, नखरे से हँसती है और अपने शरीर को काम-वासना से युक्त होकर मटकाती है, तो मनुष्य का मन तुरन्त मुग्ध हो जाता है और वह भव-अंधकार में उसी तरह जा गिरता है, जिस तरह पतिंगा अग्नि पर मदान्ध होकर उसकी लपटों में तेजी से गिर पड़ता है।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि जिस तरह पतिंगा अग्नि के रूप से आकृष्ट होकर मारा जाता है, उसी तरह भौंरा भी फूलों की सुगन्धि के आकर्षण से मारा जा सकता है। यही नहीं, शिकारी लोग हाथी द्वारा बन्दिनी हथिनी का स्पर्श पाने की इच्छा का लाभ उठाकर उसे फँसा कर मार डालते हैं। वे अपने वाद्यों की आवाज से हिरन को भी आकृष्ट करके मार सकते हैं। मछली काँटे में लगे चारे को खाने की इच्छा के कारण मारी जाती है। इस तरह जो व्यक्ति माया से विरक्त होना

सीखना चाहता है, उसे इन पाँचों असहाय प्राणियों को अपना गुरु मान लेना चाहिए और जो आवश्यक हो वह सीखना चाहिए। यह निश्चित है कि जो व्यक्ति स्त्री के माया रूप का भोग करने के लिए कामातुर होता है, वह तुरन्त ही माया में विलीन हो जाता है। पाँच प्रकार के भौतिक ऐन्द्रिय पदार्थों के घातक आकर्षणों में, *रूप* से मिलने वाली शिक्षा इस श्लोक में प्रदर्शित है।

योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादि-
द्रव्येषु मायारचितेषु मूढः ।
प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या
पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

योषित्—स्त्री के; हिरण्य—सुनहरे; आभरण—गहने; अम्बर—वस्त्र; आदि—इत्यादि; द्रव्येषु—ऐसी वस्तुओं के देखने पर; माया—भगवान् की माया द्वारा; रचितेषु—निर्मित; मूढः—विवेकहीन मूर्ख; प्रलोभित—काम-वासना से जाग्रत; आत्मा—ऐसा व्यक्ति; हि—निश्चय ही; उपभोग—इन्द्रियतृप्ति के लिए; बुद्ध्या—इच्छा से; पतङ्ग-वत्—पतिंगा की तरह; नश्यति—नष्ट हो जाता है; नष्ट—नष्ट हो गई है; दृष्टिः—जिसकी बुद्धि।

विवेकरहित मूर्ख व्यक्ति सुनहले गहनों, सुन्दर वस्त्रों और अन्य प्रसाधनों से युक्त कामुक स्त्री को देखकर तुरन्त ललचा हो उठता है। ऐसा मूर्ख इन्द्रियतृप्ति के लिए उत्सुक होने से अपनी सारी बुद्धि खो बैठता है और उसी तरह नष्ट हो जाता है, जिस तरह जलती अग्नि की ओर दौड़ने वाला पतिंगा।

तात्पर्य : वस्तुतः, स्त्रियों में पुरुषों को सभी भौतिक इन्द्रियों से आकृष्ट करने की शक्ति होती है। पुरुष लोग स्त्री के शरीर को देखकर, उसकी सुगन्ध को सूँघकर, उसकी वाणी सुनकर, उसके अधरों का आस्वादन करके तथा उसका शरीर स्पर्श करके कामासक्त हो उठते हैं। किन्तु यौन-आकर्षण पर आधारित मूर्खतापूर्ण सम्बन्ध की शुरुआत देखने से होती है। इस तरह किसी की बुद्धि को नष्ट करने की प्रक्रिया में *रूप* का बहुत बड़ा हाथ रहता है। आधुनिक काल में इस तथ्य का दुरुपयोग विशाल अश्लील साहित्य के व्यापार में किया गया है, जो बेचारे पुरुषों तथा स्त्रियों को अपना शिकार बनाता है। इस सन्दर्भ में अग्नि में प्रविष्ट होकर अपने को नष्ट करने वाले पतिंगे का दृष्टान्त अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि जो भी क्षणिक काम-सुख का अभ्यस्त हो जाता है, वह नीरस पदार्थ के पीछे छुपी आध्यात्मिक सचाई को समझने की शक्ति खो बैठता है।

कामी पुरुष यौन-लत के कारण अन्धा तथा मूर्ख बन जाता है और उसकी आत्मा इन्द्रियतृप्ति की अग्नि में नष्ट हो जाती है। इस सारी आपदा से बचा जा सकता है, यदि भगवन्नाम के कीर्तन को गम्भीरतापूर्वक अपनाया जाये। श्री चैतन्य महाप्रभु तथा श्रील प्रभुपाद जैसे उनके शक्तिप्रदत्त प्रतिनिधियों ने लोगों को भौतिक जीवन के गर्त से उबारने के लिए एक आन्दोलन चलाया है। हमें इस अवसर का पूरा पूरा लाभ उठाना चाहिए।

स्तोकं स्तोकं ग्रसेद्ग्रासं देहो वर्तेत यावता ।
गृहानहिंसन्नातिष्ठेद्वृत्तिं माधुकरीं मुनिः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

स्तोकम् स्तोकम्—थोड़ा थोड़ा करके; ग्रसेत्—खाये; ग्रासम्—भोजन; देहः—शरीर; वर्तेत—जिससे जीवित रह सके; यावता—उतने से; गृहान्—गृहस्थों को; अहिंसन्—तंग न करते हुए; आतिष्ठेत्—अभ्यास करे; वृत्तिम्—पेशा, व्यवसाय; माधु-करीम्—मधुमक्खी का; मुनिः—सन्त-पुरुष।

सन्त-पुरुष को उतना ही भोजन स्वीकार करना चाहिए, जितने से उसका जीवन-निर्वाह हो सके। उसे द्वार-द्वार जाकर प्रत्येक परिवार से थोड़ा-थोड़ा भोजन स्वीकार करना चाहिए। इस तरह उसे मधुमक्खी की वृत्ति का अभ्यास करना चाहिए।

तात्पर्य : कभी कभी मधुमक्खी किसी विशेष कमल पुष्प की असाधारण सुगंध से आकृष्ट होकर वहीं मँडराती रहती है और वह एक फूल से दूसरे फूल पर मँडराते रहने के सामान्य कार्य की उपेक्षा कर देती है। दुर्भाग्यवश सूर्यास्त होने पर कमल का फूल बन्द हो जाता है और इस तरह लालची मधुमक्खी उसी में बन्दी बन जाती है। इसी प्रकार संन्यासी या ब्रह्मचारी यह पता लगाकर कि किसी विशेष घर से उत्तम भोजन मिल सकता है, द्वार द्वार न जाकर उस विशेष धनाढ्य घर का वासी बन सकता है। इस तरह वह गृहस्थ-जीवन की माया से मोहित हो जाता है और वैराग्य के पद से नीचे गिर जाता है। यही नहीं, यदि कोई संन्यासी या साधु दान की वैदिक प्रथा का बुरा लाभ उठाता है और प्राय: एक ही घर से दान लेता रहता है, तो इससे जो क्रोध पैदा होगा उससे सामाजिक व्यवस्था बिगड़ जायेगी। आदर्श मुनि को मधुमक्खी की तरह एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करते रहना चाहिए, किन्तु उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि अनेक घरों में जाकर वह हर घर से प्रचुर भोजन खाकर मोटी-ताजी मधुमक्खी न बन जाये। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार ऐसी तुन्दिल मक्खी निस्संदेह माया के जाल में फँस जाएगी। किसी को भी अपनी जीभ की तृप्ति के लिए अत्यधिक

अनुरक्त नहीं होना चाहिए, क्योंकि इससे पेट में अधिक भोजन जायेगा और अनियंत्रित काम-वासना उत्पन्न होगी। निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य को भौतिक इन्द्रियतृप्ति के लिए अधिक प्रयास नहीं करना चाहिए, बल्कि भगवान् कृष्ण की महिमा को प्रसारित करने में अत्यधिक प्रयत्न करना चाहिए। मानव-शक्ति का यही उचित उपयोग है।

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः ।
सर्वतः सारमादद्यात्पुष्पेभ्य इव षट्पदः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अणुभ्यः—छोटे से छोटे से लेकर; च—तथा; महद्भ्यः—सबसे बड़े से; च—भी; शास्त्रेभ्यः—शास्त्रों से; कुशलः—बुद्धिमान; नरः—मनुष्य; सर्वतः—सबों से; सारम्—निचोड़, सार; आदद्यात्—ग्रहण करे; पुष्पेभ्यः—फूलों से; इव—सदृश; षट्पदः—मधुमक्खी।

जिस तरह मधुमक्खी बड़े तथा छोटे सभी प्रकार के फूलों से मधु ग्रहण करती है, उसी तरह बुद्धिमान मनुष्य को समस्त धार्मिक शास्त्रों से सार ग्रहण करना चाहिए।

तात्पर्य : मानव समाज में मूल ज्ञान वेद कहलाता है और वेद का मुख्य अंश कृष्णभावनामृत है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।* मनुष्य को चाहिए कि मधुमक्खी से समस्त ज्ञान का सार या मधु ग्रहण करना सीखे। मधुमक्खी पूरी झाड़ी या बगीचे को ले जाने में अपना समय नष्ट नहीं करती प्रत्युत वह आवश्यक मधु ले जाती है। इस तरह हम मधुमक्खी तथा भारी बोझ ढोने वाले गधे में जो अन्तर है उसका अध्ययन कर सकते हैं। शिक्षा का अर्थ यह नहीं है कि व्यर्थ के ज्ञान का गट्ठर ढोकर बौद्धिक गधा बना जाय अपितु मनुष्य को ऐसा आवश्यक ज्ञान ग्रहण करना चाहिए, जिससे आनन्द तथा ज्ञान का नित्य जीवन प्राप्त हो।

सम्प्रति लोगों में धर्म की साम्प्रदायिक धारणा पाई जाती है, फिर भी उनमें परम सत्य की कोई वैज्ञानिक जानकारी नहीं होती ऐसे असतर्क रूढ़िवादी साम्प्रदायिक धर्मविद् इस श्लोक में दिये गये मधुमक्खी के दृष्टान्त से निश्चय ही कुछ न कुछ सीख सकते हैं।

सायन्तनं श्वस्तनं वा न सङ्गृह्णीत भिक्षितम् ।
पाणिपात्रोदरामत्रो मक्षिकेव न सङ्ग्रही ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सायन्तनम्—रात के निमित्त; श्वस्तनम्—कल के लिए; वा—अथवा; न—नहीं; सङ्गृह्णीत—स्वीकार करे; भिक्षितम्—भिक्षा; पाणि—हाथ से; पात्र—स्तरी के रूप में; उदर—पेट से; अमत्रः—संग्रह पात्र (कोठार) की तरह; मक्षिका—मधुमक्खी; इव—सदृश; न—नहीं; सङ्ग्रही—संग्रह करने वाला।.

सन्त-पुरुष को यह नही सोचना चाहिए "मैं इस भोजन को आज रात के लिए रखूँगा और इस दूसरे भोजन को कल के लिए बचा लूँगा।" दूसरे शब्दों में, सन्त-पुरुष को भीख से प्राप्त भोज्य सामग्री का संग्रह नहीं करना चाहिए। प्रत्युत उसे अपने हाथ को ही पात्र बनाकर उसमें जितना आ जाय उसी को खाना चाहिए। उसका एकमात्र कोठार उसका पेट होना चाहिए और उसके पेट में आसानी से जितना आ जाय वही उसका भोजन-संग्रह होना चाहिए। इस तरह उसे लोभी मधुमक्खी का अनुकरण नहीं करना चाहिए, जो अधिक से अधिक मधु एकत्र करने के लिए उत्सुक रहती है।

तात्पर्य : मधुमक्खियाँ दो प्रकार की होती हैं एक वे जो फूलों से रस एकत्र करती हैं और दूसरी वे जो छत्ते में मधु तैयार करती हैं। इस श्लोक में दूसरे प्रकार की मधुमक्खी का उल्लेख हुआ है। लोभी मधुमक्खी अन्ततः इतना मधु एकत्र कर लेती है कि वह अपने छत्ते में फँस जाती है। इसी तरह भौतिकतावादी व्यक्ति अनावश्यक भौतिक संचय के भार के नीचे दब जाता है। आध्यात्मिक उन्नति चाहने वाले को ऐसी स्थिति से बचना चाहिए। किन्तु श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर इंगित करते हैं कि कृष्णभावनामृत का विस्तार करने के लिए मनुष्य अपार भौतिक ऐश्वर्य संचित कर सकता है। यह *युक्त वैराग्य* कहलाता है अर्थात् हर वस्तु को कृष्ण की सेवा में लगाया जाना। जो सन्त-पुरुष श्री चैतन्य महाप्रभु के मिशन में कार्य करने में अक्षम होता है, उसे तपस्या करनी चाहिए और उसे उतना ही संग्रह करना चाहिए जितना कि वह अपने हाथों में तथा उदर में भर सके। किन्तु जिसने अपना जीवन कृष्ण को समर्पित कर दिया है, वह कृष्ण की ओर से असीम संग्रह कर सकता है। वस्तुतः भौतिक ऐश्वर्य को प्राप्त किये बिना संसार-भर में कृष्णभावनामृत आन्दोलन का विस्तार कर पाना कैसे सम्भव हो सकता है? किन्तु यदि कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत आन्दोलन के मिशनरी कार्यों के लिए एकत्र धन या सुविधाओं का भोग अपने लिये करता है, तो वह घोरतम अपराध करता है। अतः कृष्ण के नाम पर भी मनुष्य उतना ही संग्रह करे जितना कि वह तुरन्त ही व्यावहारिक भक्ति में लगा दे; अन्यथा वह सामान्य लोभ के स्तर पर गिर जाएगा।

सायन्तनं श्वस्तनं वा न सङ्गृह्णीत भिक्षुकः ।
मक्षिका इव सङ्गृह्णन्सह तेन विनश्यति ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सायन्तनम्—रात के लिए; श्वस्तनम्—कल के लिए; वा—अथवा; न—नहीं; सङ्गृह्णीत—स्वीकार करे; भिक्षुकः—सन्त-साधु; मक्षिका—मधुमक्खी; इव—सदृश; सङ्गृह्णन्—एकत्र करते हुए; सह—साथ; तेन—उससंग्रह के; विनश्यति—नष्ट हो जाता है।

साधु-संत को उसी दिन या अगले दिन खाने के लिए भी भोजन का संग्रह नहीं करना चाहिए। यदि वह इस आदेश की अवहेलना करता है और मधुमक्खी की तरह अधिक से अधिक स्वादिष्ट भोजन एकत्र करता है, तो उसने, जो कुछ एकत्र किया है, वह निस्सन्देह उसे नष्ट कर देगा।

तात्पर्य : *भ्रमर* द्योतक है उस मधुमक्खी का जो एक फूल से दूसरे फूल में मँडराती रहती है, जबकि *मक्षिका* वह मधुमक्खी है, जो छत्ते में बड़े ही लगाव के साथ अधिकाधिक शहद संचित करती है। साधु संत को *भ्रमर* के समान होना चाहिए, क्योंकि यदि वह *मक्षिका* का अनुकरण करता है, तो उसकी आध्यात्मिक चेतना नष्ट हो जायेगी। यह बात इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इसे इस श्लोक में दुहराया गया है।

पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद्दारवीमपि ।
स्पृशन्करीव बध्येत करिण्या अङ्गसङ्गतः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

पदा—पाँव से; अपि—भी; युवतीम्—युवती को; भिक्षुः—साधु संत; न—नहीं; स्पृशेत्—छूना चाहिए; दारवीम्—लकड़ी की बनी; अपि—भी; स्पृशन्—स्पर्श करते हुए; करी—हाथी; इव—सदृश; बध्येत—बँधा लेता है; करिण्याः—हथिनी के; अङ्ग-सङ्गतः—शरीर के स्पर्श से।

सन्त-पुरुष को चाहिए कि वह किसी युवती का स्पर्श न करे। वस्तुतः, उसे काठ की बनी स्त्री के स्वरूप वाली गुड़िया को भी अपने पाँव से भी स्पर्श नहीं होने देना चाहिए। स्त्री के साथ शारीरिक सम्पर्क होने पर वह निश्चित ही उसी तरह माया द्वारा बन्दी बना लिया जायेगा, जिस तरह हथिनी के शरीर का स्पर्श करने की इच्छा के कारण हाथी पकड़ लिया जाता है।

तात्पर्य : जंगल में हाथियों को निम्नलिखित ढंग से पकड़ा जाता है। एक बड़ा-सा गड्ढा खोदा जाता है और उसे घास, पत्तियों, कीचड़ इत्यादि से ढँक दिया जाता है। तब हाथी के सामने हथिनी लाई जाती है, तो वह कामुक होकर वासना के कारण उसका पीछा करता है और गड्ढे में गिर जाता है और तब पकड़ लिया जाता है। हाथी से यह शिक्षा ग्रहण की जा सकती है कि स्पर्श की अनुभूति का

आस्वादन करने की इच्छा मनुष्य के जीवन को निश्चय ही चौपट कर देती है। बुद्धिमान मनुष्य हाथी द्वारा हथिनी के साथ केलि करने की तीव्र इच्छा को देखकर इस उत्तम दृष्टान्त को हृदयस्थ कर लेगा। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि स्त्री के कामोत्तेजक रूप के सम्मोहन से कभी धोखा न खाये। मनुष्य को यौन-आनन्द के वासनामय सपनों में अपने मन को खोने नहीं जाने देना चाहिए। पुरुषों तथा स्त्रियों के मध्य अनेक प्रकार की इन्द्रियतृप्ति का आनन्द लिया जा सकता है—जिनमें वार्तालाप, सोच विचार, स्पर्श करना तथा संभोग इत्यादि सम्मिलित हैं। ये सभी माया के जाल को बुनते हैं, जिसके द्वारा मनुष्य पशु की तरह असहाय होकर बाँध लिया जाता है। मनुष्य को चाहिए कि जैसे-तैसे यौन-आनन्दस्वरूपा इन्द्रियतृप्ति से दूर रहे अन्यथा आध्यात्मिक जगत को समझा जाना संभव नहीं हो सकता।

नाधिगच्छेत्स्त्रियं प्राज्ञः कर्हिचिन्मृत्युमात्मनः ।
बलाधिकैः स हन्येत गजैरन्यैर्गजो यथा ॥ १४॥

शब्दार्थ

न अधिगच्छेत्—आनन्द पाने के लिए नहीं जाये; स्त्रियम्—स्त्री; प्राज्ञः—जो बुद्धिमत्तापूर्वक भेदभाव कर सके; कर्हिचित्—किसी समय; मृत्युम्—साक्षात् मृत्यु; आत्मनः—अपने लिए; बल—बल में; अधिकैः—जो श्रेष्ठ हैं उनके द्वारा; सः—वह; हन्येत—विनष्ट कर दिया जायेगा; गजैः—हाथियों के द्वारा; अन्यैः—अन्यों के लिए; गजः—हाथी; यथा—जिस तरह।

विवेकवान् व्यक्ति को किसी भी परिस्थिति में अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए स्त्री के सुन्दर रूप का लाभ उठाने का प्रयास नहीं करना चाहिए। जिस तरह हथिनी से संभोग करने का प्रयास करने वाला हाथी उसके साथ संभोग कर रहे अन्य हाथियों के द्वारा मार डाला जाता है, उसी तरह, जो व्यक्ति किसी नारी के साथ संभोग करना चाहता है, वह किसी भी क्षण उसके अन्य प्रेमियों द्वारा मार डाला जा सकता है, जो उससे अधिक बलिष्ठ होते हैं।

तात्पर्य : जिस तरह कोई व्यक्ति किसी स्त्री के सुन्दर रूप द्वारा मोहित हो जाता है, उसी तरह अनेक अन्य पुरुष भी मोहित हो सकते हैं और इसका खतरा रहता है कि वे उस व्यक्ति से अधिक बलवान् हों और ईर्ष्यावश उसे मार भी डालें। काम-वासना के अपराध अत्यन्त सामान्य हैं। भौतिक जीवन का यह दूसरी अकारथ है।

न देयं नोपभोग्यं च लुब्धैर्यद्दुःखसञ्चितम् ।
भुङ्क्ते तदपि तच्चान्यो मधुहेवार्थविन्मधु ॥ १५॥

शब्दार्थ

न—नहीं; देयम्—अन्यों को दान में दिये जाने के लिए; न—नहीं; उपभोग्यम्—स्वयं भोगे जाने के लिए; च—भी; लुब्धैः—लोभीजनों के द्वारा; यत्—जो; दुःख—अत्यन्त संघर्ष तथा कष्ट से; सञ्चितम्—एकत्र किया जाता है; भुङ्क्ते—भोग करता है; तत्—वह; अपि—तिस पर भी; तत्—वह; च—भी; अन्यः—अन्य कोई; मधु-हा—छत्ते से शहद चुराने वाला; इव—सदृश; अर्थ—धन; वित्—जो यह जानता है कि किस तरह पहचाना जाय; मधु—शहद।

लोभी व्यक्ति बहुत संघर्ष तथा कष्ट से प्रचुर मात्रा में धन एकत्र करता है, किन्तु इस धन को एकत्र करने वाले व्यक्ति को इसका भोग करने या अन्यों को दान हमेशा करने नहीं दिया जाता। लोभी व्यक्ति उस मधुमक्खी के समान है, जो प्रचुर मात्रा में शहद उत्पन्न करने के लिए संघर्ष करती है, किन्तु इसे उस व्यक्ति द्वारा चुरा लिया जाता है, जो या तो स्वयं उसका भोग करता है या अन्यों को बेच देता है। कोई चाहे कितनी सावधानी के साथ अपनी कठिन कमाई को क्यों न छिपाये या उसकी रक्षा करने का प्रयास करे, किन्तु मूल्यवान वस्तुओं का पता लगाने वाले पटु लोग उसे चुरा ही लेंगे।

तात्पर्य : कोई यह तर्क कर सकता है कि धनी व्यक्ति अपने धन को बैंकों, स्टॉकों, जायदादों इत्यादि में लगाकर इतनी खूबी से छिपा सकता है कि चोरी का कोई खतरा नहीं रहता। जो मूर्ख हैं, वे ही धन को धरती में गाड़कर या चटाई के नीचे रखकर छिपायेंगे। किन्तु इस तथ्य के बावजूद कि विश्व की अधिकांश सम्पत्ति अत्यन्त विकसित पूँजीवादी देशों में संचित की जाती है, ऐसे अनेक शत्रु हैं, जो इन देशों को बुरी तरह से चुनौती देते हैं और जो किसी भी समय पूँजीवादियों को विनष्ट करने और उनकी सम्पत्ति चुराने के लिए हुँकारते रहते हैं। इसी तरह प्रायः देखा जाता है कि धनी लोगों के बच्चों का अपहरण कर लिया जाता है और तब उनके माता-पिता छुड़ाने के लिए फिरौती में प्रचुर धन देते हैं। कभी कभी माता-पिता का भी अपहरण हो सकता है। फिर कुछ तथाकथित पूँजी-निवेश सलाहकार होते हैं, जो धनी लोगों के धन को चुराने में दक्ष होते हैं और आधुनिक युग में तो सरकारें भी कर लगाकर धन चुराने में दक्ष बन गई हैं। इस प्रकार *अर्थ-वित्* शब्द सूचक है, उसका जो अन्य लोगों की गाढ़ी कमाई को किसी न किसी तरह चुराने में पटु हैं। मक्खियाँ शहद बनाने में जी-तोड़ मेहनत करती हैं, किन्तु उन्हें अपने शहद का भोग करने को नहीं मिलता। जैसाकि भगवान् कृष्ण कहते हैं *मृत्युः सर्वहरश्चाहम्*—मैं साक्षात् मृत्यु बनकर हर वस्तु चुरा लूँगा (भगवद्गीता १०.३४)। मनुष्य की

गाढ़ी कमाई किसी न किसी रूप में चुरा ली जाती है, अतएव जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख हुआ है मनुष्य को मूर्ख मधुमक्खी की तरह व्यर्थ ही परिश्रम नहीं करना चाहिए।

सुदुःखोपार्जितैर्वित्तैराशासानां गृहाशिषः ।
मधुहेवाग्रतो भुङ्क्ते यतिर्वै गृहमेधिनाम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सु-दुःख—अत्यधिक संघर्ष से; उपार्जितैः—अर्जित किया गया; वित्तैः—भौतिक ऐश्वर्य से; आशासानाम्—अत्यधिक इच्छा रखने वालों के; गृह—घरेलू भोग से सम्बद्ध; आशिषः—आशीर्वाद, वर; मधु-हा—शहद-चोर; इव—सदृश; अग्रतः—प्रथम, औरों से पहले; भुङ्क्ते—भोग करता है; यतिः—भिक्षु, साधु-संत; वै—निश्चय ही; गृह-मेधिनाम्—गृहस्थ-जीवन के प्रति समर्पित लोगों के।

जिस प्रकार शहद-चोर मधुमक्खियों द्वारा बड़े ही परिश्रमपूर्वक एकत्र की गई शहद को निकाल लेता है, उसी तरह ब्रह्मचारी तथा संन्यासी जैसे साधु-संत पारिवारिक भोग में समर्पित गृहस्थों द्वारा बहुत ही कष्ट सहकर संचित किये गये धन का भोग करने के अधिकारी हैं।

तात्पर्य : शास्त्रों का कथन है, ''सन्यास आश्रम के भिक्षु तथा ब्रह्मचारी जनों को गृहस्थों द्वारा तैयार किया गया अच्छे से अच्छा भोजन खाने का पहला अधिकार होता है। यदि गृहस्थ ऐसे भोजन को भिक्षुकों को दान दिये बिना स्वयं खाता है, तो ऐसे असावधान गृहस्थों को *चान्द्रायण* उपवास रखना पड़ता है।'' गृहस्थ-जीवन में प्रचुर दान देकर ही स्वार्थोन्मुखी सहज प्रवृत्ति पर विजय पाई जा सकती है। आधुनिक समाज मूर्खतावश ऐसे वैदिक आदेशों का पालन नहीं करता फलस्वरूप यह संसार ईर्ष्यालु *गृहमेधियों* से—निजी इन्द्रियतृप्ति में मस्त रहने वालों से पट चुका है। इसीलिए सारा जगत हिंसा तथा कष्ट की अनियंत्रित टूटन से पीड़ित है। यदि कोई व्यक्ति शान्तिपूर्वक जीना चाहता है, तो उसे गृहस्थ-जीवन को नियमित बनाने वाले वैदिक आदेशों का पालन करना चाहिए। यद्यपि गृहस्थ लोग धन संग्रह करने के लिए कठिन परिश्रम करते हैं, किन्तु संन्यासियों तथा ब्रह्मचारियों को अधिकार प्राप्त है कि वे ऐसे परिश्रम के फल का भोग सबसे पहले करें। निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य को चाहिए कि कृष्णभावनामृत में आध्यात्मिक उन्नति को प्राथमिकता दे और इस प्रकार अपने जीवन को पूर्ण बनाए। तब बिना किसी निजी प्रयास के भगवान् की कृपा से मनुष्य की सभी आवश्यकताएँ पूरी हो जायेंगी।

ग्राम्यगीतं न शृणुयाद्यतिर्वनचरः क्वचित् ।
शिक्षेत हरिणाद्बद्धान्मृगयोर्गीतमोहितात् ॥ १७॥

शब्दार्थ

ग्राम्य—इन्द्रियतृप्ति से सम्बद्ध; गीतम्—गीत; न—नहीं; शृणुयात्—सुने; यतिः—साधु-संत; वन—जंगल में; चरः—विचरण करते; क्वचित्—कभी; शिक्षेत—सीखे; हरिणात्—हिरन से; बद्धात्—बाँधे गये; मृगयोः—शिकारी के; गीत—गीत द्वारा; मोहितात्—मोहित किये गये।

वनवासी सन्यासी को चाहिए कि भौतिक भोग को उत्तेजित करने वाले गीत या संगीत को कभी भी न सुने। प्रत्युत सन्त पुरुष को चाहिए कि ध्यान से उस हिरन के उदाहरण का अध्ययन करे, जो शिकारी के वाद्य के मधुर संगीत से विमोहित होने पर पकड़ लिया जाता है और मार डाला जाता है।

तात्पर्य : यदि मनुष्य भौतिकतावादी संगीत तथा गीतों से होने वाली इन्द्रियतृप्ति में अनुरक्त हो जाता है, तो उसमें भौतिक बन्धन के सारे गुण उत्पन्न हो जायेंगे। मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् द्वारा गाया गया गीत अर्थात् *भगवद्गीता* को सुने।

नृत्यवादित्रगीतानि जुषन्ग्राम्याणि योषिताम् ।
आसां क्रीडनको वश्य ऋष्यशृङ्गो मृगीसुतः ॥ १८॥

शब्दार्थ

नृत्य—नाच; वादित्र—वादन; गीतानि—गीतों को; जुषन्—अनुशीलन करते हुए; ग्राम्याणि—इन्द्रियतृप्ति विषयक; योषिताम्—स्त्रियों की; आसाम्—उनके; क्रीडनकः—क्रीड़ा की वस्तु; वश्यः—पूरी तरह वशीभूत; ऋष्य-शृङ्गः—ऋष्यशृंग मुनि; मृगी-सुतः—मृगी का पुत्र।

सुन्दर स्त्रियों के सांसारिक गायन, नृत्य तथा संगीत-मनोरंजन से आकृष्ट होकर मृगी-पुत्र ऋष्यशृंग मुनि तक उनके वश में आ गये, मानों कोई पालतू पशु हों।

तात्पर्य : मृगी ऋषि के तरुण पुत्र ऋष्यशृंग को उनके पिता ने जान-बूझकर नितान्त अबोधता के वातावरण में पाला-पोषा था। मृगी ऋषि ने सोचा था कि यदि उनका पुत्र स्त्रियों को कभी नहीं देखेगा, तो वह पूर्ण ब्रह्मचारी बना रहेगा। किन्तु संयोगवश निकटवर्ती राज्य के निवासी दीर्घकालीन दुर्भिक्ष से पीड़ित थे, अतएव उन्हें दैवी आदेश मिला कि उनके राज्य में तभी वर्षा होगी यदि ऋष्यशृंग नामक ब्राह्मण उस राज्य में पदार्पण करें। इसलिए उन्होंने ऋष्यशृंग को मोहने के लिए मृगी की कुटिया में सुन्दर स्त्रियाँ भेजीं, जो उन्हें अपने साथ वापस ले आयें। चूँकि ऋष्यशृंग ने कभी भी स्त्रियों के बारे में सुना तक न था, इसलिए वे उनके जाल में आसानी से फँस गये।

ऋष्यशृंग नाम सूचित करता है कि जन्म से ही इस ऋषि के सिर पर हिरन जैसे सींग उगे थे। यदि कोई ऋषि हिरन की तरह इन्द्रियतृप्ति को देने वाले मधुर संगीत द्वारा आकृष्ट हो जाता है, तो हिरन की तरह वह शीघ्रता से नष्ट भी हो जाता है। विचारवान व्यक्ति को उस हिरन से विनीत होकर शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, जो संगीतमय इन्द्रियतृप्ति के प्रति आकर्षण के कारण विनष्ट हो जाता है।

जिह्वयातिप्रमाथिन्या जनो रसविमोहितः ।
मृत्युमृच्छत्यसद्बुद्धिर्मीनस्तु बडिशैर्यथा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

जिह्वया—जीभ से; अति-प्रमाथिन्या—जो अत्यधिक मथने वाली है; जनः—पुरुष; रस-विमोहितः—स्वाद के प्रति आकर्षण से मोहित हुआ; मृत्युम्—मृत्यु; ऋच्छति—प्राप्त करता है; असत्—व्यर्थ; बुद्धिः—जिसकी बुद्धि; मीनः—मछली; तु—निस्सन्देह; बडिशैः—काँटे द्वारा; यथा—जिस तरह।

जिस तरह जीभ का भोग करने की इच्छा से प्रेरित मछली मछुआरे के काँटे में फँस कर मारी जाती है, उसी तरह मूर्ख व्यक्ति जीभ की अत्यधिक उद्वेलित करने वाली उमंगों से मोहग्रस्त होकर विनष्ट हो जाता है।

तात्पर्य : मछुआरा पैनी कँटिया के सिरे पर मांस का टुकड़ा लगाकर दुर्बुद्धि मछली को आकृष्ट करता है, जो कि अपनी जीभ का भोग करने के लिए लालायित रहती है। इसी तरह लोग अपनी जीभ की तुष्टि के पीछे पागल हुए रहते हैं और खाने की आदतों में सारा विवेक खो देते हैं। क्षणिक तृप्ति के लिए वे बड़े-बड़े कसाईघर बनाते हैं और लाखों निरीह पशुओं का वध करते हैं। इस तरह दूसरों को घोर दुख प्रदान करके वे अपने भविष्य को वीभत्स बना देते हैं। किन्तु यदि वेदों द्वारा अधिकृत भोजन ही किया जाय, तो भी खतरा रहता है। अधिक खाने से कृत्रिम रूप से भरा गया पेट कामेन्द्रियों पर बल डालता है। इससे मनुष्य निम्न गुणों में जा गिरता है और पापकर्म करने लगता है, जिससे आध्यात्मिक जीवन नष्ट हो जाता है। मछली से मनुष्य को सावधानी से यह सीखना चाहिए कि असली खतरा जीभ की तुष्टि करने में है।

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः ।
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; जयन्ति—जीत लेती हैं; आशु—शीघ्रतापूर्वक; निराहाराः—जो लोग इन्द्रियों को उनके विषयों से रोकते हैं; मनीषिणः—विद्वान; वर्जयित्वा—के अतिरिक्त; तु—लेकिन; रसनम्—जीभ; तत्—उसकी इच्छा; निरन्नस्य—उपवास करने वाले की; वर्धते—बढ़ाती है।

उपवास द्वारा विद्वान पुरुष जीभ के अतिरिक्त अन्य सारी इन्द्रियों को जल्दी से अपने वश में कर लेते हैं, क्योंकि ऐसे लोग अपने को खाने से दूर रखकर स्वादेन्द्रिय को तृप्त करने की प्रबल इच्छा से पीड़ित हो उठते हैं।

तात्पर्य : दक्षिणी अमेरिका की कहावत है कि जब पेट भरा रहता है, तो हृदय संतुष्ट रहता है। इस प्रकार जो व्यक्ति अच्छा भोजन करता है, वह प्रसन्नचित्त रहता है और यदि किसी को भोजन न दिया जाय, तो उसकी भूख और भी बढ़ जाती है। किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति जीभ के वशीभूत नहीं होता, प्रत्युत वह कृष्णभावनामृत में अग्रसर होने का प्रयास करता है। भगवान् को अर्पित भोजन के जूठन (*प्रसादम्*) को खाने से धीरे धीरे हृदय शुद्ध हो जाता है और मनुष्य सरल तथा संयमी बन जाता है।

इस सम्बन्ध में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते हैं कि जीभ का कार्य है विविध प्रकार के रस से अपने को तृप्त करना, किन्तु व्रजमण्डल (वृन्दावन) के बारह पवित्र वनों का भ्रमण करने से मनुष्य भौतिक इन्द्रियतृप्ति के बारह रसों से मुक्त हो जाता है। भौतिक सम्बन्ध के पाँच मुख्य विभाग हैं तटस्थ प्रशंसा, दास्य, मैत्री, वात्सल्य तथा माधुर्य। सात गौण भौतिक सम्बन्ध हैं भौतिक हास्य, आश्चर्य, पराक्रम, दया, क्रोध, भय तथा वीभत्सता। मूलतः इन बारह *रसों* या सम्बन्धों के स्वादों का आध्यात्मिक जगत में भगवान् तथा जीव के मध्य आदान-प्रदान होता है। वृन्दावन के बारह वनों में भ्रमण करके मनुष्य अपने जीवन में इन बारह रसों को पुनः आध्यात्मिक बना सकता है। इस तरह वह मुक्तात्मा बन जाता है। यदि कोई बनावटी रीति से इन्द्रियतृप्ति को, विशेष रूप से जीभ-तृप्ति को त्यागना चाहता है, तो उसका प्रयास विफल होगा और इससे बनावटी रोकथाम के कारण, उसकी इन्द्रियतृप्ति की इच्छा बढ़ेगी। केवल कृष्ण के साथ असली आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव करके ही ऐसी भौतिक इच्छाएँ त्यागी जा सकती हैं।

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितान्येन्द्रियः पुमान् ।
न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब तक; जित-इन्द्रियः—जिसने अपनी इन्द्रियों पर विजय पा ली है; न—नहीं; स्यात्—हो सकता है; विजित-अन्य-इन्द्रियः—जिसने अन्य इन्द्रियों पर विजय पा ली है; पुमान्—मनुष्य; न जयेत्—नहीं जीत सकता; रसनम्—जीभ को; यावत्—जब तक; जितम्—जीता हुआ; सर्वम्—हर वस्तु; जिते—जीत लेने पर; रसे—जीभ को।

भले ही कोई मनुष्य अन्य सारी इन्द्रियों को क्यों न जीत ले, किन्तु जब तक जीभ को नहीं जीत लिया जाता, तब तक वह इन्द्रियजित नहीं कहलाता। किन्तु यदि कोई मनुष्य जीभ को वश में करने में सक्षम होता है, तो उसे सभी इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण करने वाला माना जाता है।

तात्पर्य : भोजन करने से मनुष्य सारी इन्द्रियों को शक्ति तथा क्रियाशीलता प्रदान करता है और यदि जीभ वश में नहीं रहती, तो सारी इन्द्रियाँ भौतिक पद को प्राप्त हो जाएगी। इसलिए सभी प्रकार से जीभ को वश में करना चाहिए। यदि मनुष्य उपवास करता है, तो अन्य सारी इन्द्रियाँ दुर्बल पड़ जाती हैं और अपनी शक्ति खो देती हैं। किन्तु जीभ स्वादिष्ट व्यंजनों का स्वाद लेने के लिए और भी ललचाती है और जब मनुष्य अन्त में जीभ को मनमानी करने देता है, तो सारी इन्द्रियाँ शीघ्र ही वश से बाहर हो जाती हैं। इसलिए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर सलाह देते हैं कि मध्यम मात्रा में महाप्रसाद ग्रहण किया जाय। चूँकि जीभ का काम उच्चारण करना भी है, अतएव मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के यशस्वी नामों का उच्चारण करे और शुद्ध कृष्णभावनामृत के आनन्द का आस्वाद ले। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है *रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते*—मनुष्य कृष्णभावनामृत के उच्चतर आस्वादन से ही उस घातक निम्न स्वाद का परित्याग कर सकता है, जो मनुष्य को भवबन्धन में बन्दी बनाए रखता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते हैं कि जब तक मनुष्य की बुद्धि भौतिक रूप से प्रच्छन्न रहती है, तब तक वे कृष्णभावनामृत के स्वाद को नहीं समझ सकता। कृष्ण के बिना ही भोग करने के प्रयास में जीव भगवद्धाम व्रजभूमि को त्याग कर भौतिक जगत में उतर आता है, जहाँ वह अपनी इन्द्रियों का नियंत्रण खो बैठता है। वह जीभ, पेट तथा जननेन्द्रिय का शिकार बन जाता है, जो बद्धजीव पर असह्य दबाव डालते हैं। किन्तु जब मनुष्य आनन्दकन्द भगवान् के साथ पुनः आनन्दमय सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, तो ये इच्छाएँ ठण्डी पड़ जाती हैं। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत के आस्वाद के प्रति अनुरक्त होता है, वह विशुद्ध सत्त्व के प्रति रागानुग आकर्षण के कारण धार्मिक जीवन के विधि-विधानों का स्वतः पालन करने लगता है। ऐसे रागानुग आकर्षण के बिना मनुष्य इन्द्रियों की ठेलपेल से मोहग्रस्त हो जाता है।

भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था, जिसे *साधन भक्ति* कहते हैं, इतनी प्रबल होती है कि वह मनुष्य को *अनर्थ निवृत्ति* पद पर ला देती है, जहाँ व्यक्ति अवांछित पापमय आदतों से मुक्त हो जाता है और जीभ, उदर तथा जननेन्द्रिय के दबाव से छूट जाता है। इस तरह वह भौतकि लत के बन्धन से उबर आता है और माया के सम्मोहनों से और अधिक प्रवंचित नहीं होता। जैसा कहा जाता है, हर चमकने वाली वस्तु सोना नहीं होती है, इस सन्दर्भ में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर की यह संस्तुति है कि हम उनके पिता श्रील भक्तिविनोद ठाकुर द्वारा लिखित निम्नलिखित गीत पर विचार करें—

शरीर अविद्याजाल, जड़ेन्द्रिय ताहे काल

जीवे फेले विषय-सागरे।

ता'र मध्ये जिह्वा अति-, लोभमय सुदुर्मति

ता'के जेता कठिन संसारे॥

कृष्ण बड़ दयामय, करिबारे जिह्वा जय

स्व-प्रसादान्न दिल भाइ।

सेइ अन्नामृत पाओ, राधा-कृष्ण-गुण गाओ

प्रेमे डाको चैतन्य-निताइ॥

"हे प्रभु! यह भौतिक शरीर अज्ञान का पुंज है और इन्द्रियाँ मृत्यु के पास जाने वाले मार्गों का जाल है। हम न जाने कैसे भौतिक इन्द्रिय-भोग के इस सागर में गिर गये हैं और समस्त इन्द्रियों में से जीभ अत्यन्त लोभी तथा वश में न रहने वाली है। इस संसार में जीभ पर विजय पाना बहुत कठिन है। किन्तु प्यारे कृष्ण! आप हम पर अत्यन्त कृपालु हैं और जीभ पर नियंत्रण रखने के लिए आपने हमें ऐसा उत्तम प्रसाद दिया है। अब हम इस प्रसादम् को जी-भरकर खाते हैं और श्री श्री राधाकृष्ण का गुणगान करते हैं और प्रेम में हम श्री चैतन्य तथा नित्यानन्द प्रभु की सहायता के लिए पुकार लगाते हैं।"

पिङ्गला नाम वेश्यासीद्विदेहनगरे पुरा ।
तस्या मे शिक्षितं किञ्चिन्निबोध नृपनन्दन ॥ २२॥

शब्दार्थ

पिङ्गला नाम—पिंगला नाम की; वेश्या—वेश्या; आसीत्—थी; विदेह-नगरे—विदेह नामक नगर में; पुरा—प्राचीन काल में; तस्याः—उससे; मे—मेरे द्वारा; शिक्षितं—जो कुछ सीखा गया; किञ्चित्—जो कुछ; निबोध—अब सीखो; नृप-नन्दन—हे राजा के पुत्र।

हे राजपुत्र, पूर्वकाल में विदेह नामक शहर में पिंगला नामकी एक वेश्या रहती थी। अब कृपा करके, वह सुनिये, जो मैंने उस स्त्री से सीखा है।

सा स्वैरिण्येकदा कान्तं सङ्केत उपनेष्यती ।
अभूत्काले बहिर्द्वारि बिभ्रती रूपमुत्तमम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; स्वैरिणी—वेश्या; एकदा—एक बार; कान्तम्—ग्राहक, प्रेमी; सङ्केते—रमण स्थान में; उपनेष्यती—लाने के लिए; अभूत्—खड़ी रही; काले—रात में; बहिः—बाहर; द्वारे—दरवाजे पर; बिभ्रती—पकड़े हुए; रूपम्—अपना रूप; उत्तमम्—अत्यन्त सुन्दर।

एक बार वह वेश्या अपने घर में किसी प्रेमी को लाने की इच्छा से रात के समय अपना सुन्दर रूप दिखलाते हुए दरवाजे के बाहर खड़ी रही।

मार्ग आगच्छतो वीक्ष्य पुरुषान्पुरुषर्षभ ।
तान्शुल्कदान्वित्तवतः कान्तान्मेनेऽर्थकामुकी ॥ २४॥

शब्दार्थ

मार्गे—उस गली में; आगच्छतः—आने वाले; वीक्ष्य—देखकर; पुरुषान्—पुरुषों को; पुरुष-ऋषभ—हे श्रेष्ठ पुरुष; तान्—उनको; शुल्क-दान्—जो मूल्य चुका सके; वित्त-वतः—धनवान; कान्तान्—प्रेमियों या ग्राहकों को; मेने—विचार किया; अर्थ-कामुकी—धन चाहने वाले।

हे पुरुष-श्रेष्ठ, यह वेश्या धन पाने के लिए अत्यधिक आतुर थी और जब वह रात में गली में खड़ी थी, तो वह उधर से गुजरने वाले सारे व्यक्तियों का अध्ययन यह सोचकर करती रही कि, ‘‘ओह, इसके पास अवश्य ही धन होगा। मैं जानती हूँ यह मूल्य चुका सकता है और मुझे विश्वास है कि वह मेरे साथ अत्यधिक भोग कर सकेगा।’’ वह वेश्या गली पर के सभी पुरुषों के बारे में ऐसा ही सोचती रही।

आगतेष्वपयातेषु सा सङ्केतोपजीविनी ।
अप्यन्यो वित्तवान्कोऽपि मामुपैष्यति भूरिदः ॥ २५॥
एवं दुराशया ध्वस्तनिद्रा द्वार्यवलम्बती ।
निर्गच्छन्ती प्रविशती निशीथं समपद्यत ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

आगतेषु—जब वे आये; अपयातेषु—तथा वे चले गये; सा—उसने; सङ्केत-उपजीविनी—वेश्यावृत्ति ही जिसकी आमदनी थी; अपि—हो सकता है; अन्यः—दूसरा; वित्त-वान्—धनवान; कः अपि—कोई भी; माम्—मेरे पास; उपैष्यति—प्रेम के लिए आयेगा; भूरि-दः—तथा वह प्रचुर धन देगा; एवम्—इस प्रकार; दुराशया—व्यर्थ की आशा से; ध्वस्त—नष्ट; निद्रा—उसकी नींद; द्वारि—दरवाजे पर; अवलम्बती—टेक लगाये; निर्गच्छन्ती—गली की ओर जाती हुई; प्रविशती—अपने घर वापस आती; निशीथम्—अर्धरात्रि; समपद्यत—हो गई।

जब वेश्या पिंगला द्वार पर खड़ी हो गई, कई पुरुष आये और उसके घर के सामने से टहलते हुए चले गये। उसकी जीविका का एकमात्र साधन वेश्यावृत्ति था, अतएव उसने उत्सुकतापूर्वक सोचा "हो सकता है कि अब जो आ रहा है, वह बहुत धनी हो...हाय! वह तो रुक ही नहीं रहा, किन्तु मुझे विश्वास है कि अन्य कोई अवश्य आयेगा। अवश्य ही यह जो आ रहा है मेरे प्रेम का मूल्य चुकायेगा और शायद प्रचुर धन दे।" इस प्रकार व्यर्थ की आशा लिए वह द्वार पर टेक लगाये खड़ी रही और अपना धंधा पूरा न कर सकी और सोने भी न जा सकी। उद्विग्नता से वह कभी गली में जाती और कभी अपने घर के भीतर लौट आती। इस तरह धीरे धीरे अर्धरात्रि हो आई।

तस्या वित्ताशया शुष्यद्वक्त्राया दीनचेतसः ।
निर्वेदः परमो जज्ञे चिन्ताहेतुः सुखावहः ॥ २७॥

शब्दार्थ

तस्याः—उसकी; वित्त—धन के लिए; आशया—इच्छा से; शुष्यत्—सूख गया; वक्त्रायाः—मुख; दीन—खिन्न; चेतसः—मन; निर्वेदः—विरक्ति; परमः—अत्यधिक; जज्ञे—जागृत हो उठी; चिन्ता—चिन्ता; हेतुः—के कारण; सुख—सुख; आवहः—लाते हुए।

ज्यों ज्यों रात बीतती गई, वह वेश्या, जो कि धन की अत्यधिक इच्छुक थी, धीरे-धीरे हताश हो उठी और उसका मुख सूख गया। इस तरह धन की चिन्ता से युक्त तथा अत्यन्त निराश होकर वह अपनी स्थिति से अत्यधिक विरक्ति अनुभव करने लगी और उसके मन में सुख का उदय हुआ।

तात्पर्य : इन श्लोकों से प्रतीत होना है कि उस रात वेश्या पिंगला अपने घर पर ग्राहकों को आकृष्ट करने में समर्थ हुई ही नहीं। पूर्णतया निराश होने से वह धीरे-धीरे अपनी स्थिति से अन्यमनस्क हो उठी। इस तरह कभी-कभी महान् कष्ट से मनुष्य को प्रकाश के मार्ग की ओर ले जाता है अथवा संस्कृत लोकोक्ति के अनुसार, निराशा में ही परम सन्तोष मिलता है।

यह वेश्या अनेक पुरुषों की कामवासनाएँ पूरी करने के लिए समर्पित नहीं थी। वह तन, मन तथा वाणी से अपने ग्राहकों में लगी रहने के कारण भगवान् की भक्ति पूरी तरह भूल गई, जिससे उसका मन अत्यन्त अस्थिर तथा विक्षुब्ध था। अन्त में, पूर्णतया निराश होने पर उसका मुख तथा गला सूखने लगा, वह अपनी स्थिति से अन्यमनस्क हो उठी तथा उसके मन में सुख का उदय हुआ।

तस्या निर्विण्णचित्ताया गीतं शृणु यथा मम ।
निर्वेद आशापाशानां पुरुषस्य यथा ह्यसिः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तस्याः—उसका; निर्विण्ण—क्षुब्ध; चित्तायाः—मन; गीतम्—गीत; शृणु—सुनो; यथा—मानो; मम—मुझसे; निर्वेदः—विरक्ति; आशा—आशाओं एवं इच्छाओं के; पाशानाम्—बन्धनों के; पुरुषस्य—पुरुष को; यथा—जिस तरह; हि—निश्चय ही; असिः—तलवार।

वह वेश्या अपनी भौतिक स्थिति से ऊब उठी और इस तरह वह अन्यमनस्क हो गई। दरअसल, विरक्ति तलवार का काम करती है। यह भौतिक आशाओं तथा इच्छाओं के बन्धन को खण्ड-खण्ड कर देती है। अब मुझसे वह गीत सुनो, जो उस स्थिति में वेश्या ने गाया।

तात्पर्य : भौतिक इच्छाओं का ताना-बाना तब उत्पन्न होता है, जब कोई व्यक्ति झूठे यह सोचता है कि वह इस जगत में स्थायी रूप से रह सकता है। इस बन्धन को विरक्ति रूपी तलवार से काट डालना चाहिए, अन्यथा मनुष्य माया के मोहक बन्धन में रहने के लिए बाध्य होगा और उसे दिव्य पद पर मुक्त जीवन की कोई जानकारी नहीं होगी।

न ह्यङ्गाजातनिर्वेदो देहबन्धं जिहासति ।
यथा विज्ञानरहितो मनुजो ममतां नृप ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अङ्ग—हे राजा; अजात—जिसने उत्पन्न नहीं किया; निर्वेदः—विरक्ति; देह—भौतिक शरीर का; बन्धम्—बन्धन; जिहासति—त्यागने का इच्छुक होता है; यथा—जिस तरह; विज्ञान—अनुभूत ज्ञान; रहितः—विहीन; मनुजः—मनुष्य; ममताम्—स्वामित्व का मिथ्या भाव; नृप—हे राजा।

हे राजन्, जिस तरह आध्यात्मिक ज्ञान से विहीन व्यक्ति कभी भी अनेक भौतिक वस्तुओं पर अपने मिथ्या स्वामित्व को त्यागना नहीं चाहता, उसी तरह जिस व्यक्ति में विरक्ति उत्पन्न नहीं हुई वह कभी भी भौतिक शरीर के बन्धन को त्यागने के लिए तैयार नहीं होता।

पिङ्गलोवाच

अहो मे मोहविततिं पश्यताविजितात्मनः ।
या कान्तादसतः कामं कामये येन बालिशा ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

पिङ्गला—पिंगला ने; उवाच—कहा; अहो—ओह; मे—मेरा; मोह—मोह का; विततिम्—विस्तार; पश्यत—देखो तो; अविजित-आत्मनः—जिसका मन वश में नहीं है, उसका; या—जो (मैं); कान्तात्—अपने प्रेमी से; असतः—व्यर्थ, तुच्छ; कामम्—विषय-सुख; कामये—चाहती हूँ; येन—क्योंकि; बालिशा—मूर्ख हूँ।

पिंगला वेश्या ने कहा : जरा देखो न, मैं कितनी मोहग्रस्त हूँ। चूँकि मैं अपने मन को वश में नहीं रख सकती, इसलिए मैं मूर्ख की तरह किसी तुच्छ व्यक्ति से विषय-सुख की कामना करती हूँ।

तात्पर्य : भौतिक जगत में सारी इन्द्रियाँ विभिन्न वस्तुओं के प्रति आकृष्ट होती हैं, जिससे बद्धजीव निपट मूर्ख बन जाता है। भौतिक जीवन का कारण परम सत्य के प्रति अन्यमनस्कता है। बद्धजीव अपने को ही भौतिक जगत का स्वामी और भोक्ता मान बैठता है और इन्द्रियतृप्ति को जीवन का उद्देश्य समझता है। वह जितना ही अधिक भौतिक जगत का भोग करना चाहता है, उसका मोह उतना ही बढ़ता जाता है।

इस श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि पिंगला न केवल वेश्यावृत्ति से जीविकोपार्जन कर रही थी, अपितु असंख्य लोगों से अवैध सम्बन्ध बनाये हुए थी। *कान्ताद् असतः* शब्द सूचित करते हैं कि वह अत्यन्त सामान्य तथा व्यर्थ व्यक्तियों को अपना "प्रेमी" मानकर बिना भेदभाव के अपने को बेच रही थी। इसीलिए वह कहती है, "मैं महान् मूर्ख थी।" *बालिशा* शब्द का अर्थ है बाल-स्वभाव वाला जिसे अच्छे-बुरे का व्यावहारिक ज्ञान नहीं होता।

सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं
वित्तप्रदं नित्यमिमं विहाय ।
अकामदं दुःखभयाधिशोक-
मोहप्रदं तुच्छमहं भजेऽज्ञा ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

सन्तम्—होते हुए; समीपे—अत्यन्त निकट (मेरे हृदय में); रमणम्—अत्यन्त प्रिय; रति—वास्तविक प्रेम या आनन्द; प्रदम्—देने वाला; वित्त—धन; प्रदम्—देने वाला; नित्यम्—नित्य; इमम्—उसको; विहाय—त्याग कर; अकाम-दम्—जो किसी की इच्छाओं को कभी नहीं पूरा कर सकता; दुःख—कष्ट; भय—डर; आधि—मानसिक क्लेश; शोक—शोक; मोह—मोह; प्रदम्—देने वाला; तुच्छम्—अत्यन्त तुच्छ; अहम्—मैं; भजे—सेवा करती हूँ; अज्ञा—अज्ञानी मूर्ख।

मैं ऐसी मूर्ख निकली कि मेरे हृदय में जो शाश्वत स्थित है और मुझे अत्यन्त प्रिय है उस पुरुष की मैंने सेवा छोड़ दी। वह अत्यन्त प्रिय ब्रह्माण्ड का स्वामी है, जो कि असली प्रेम तथा सुख का दाता है और समस्त समृद्धि का स्रोत है। यद्यपि वह मेरे ही हृदय में है, किन्तु मैंने उसकी पूर्णरूपेण अनदेखी की है। बजाय इसके मैंने अनजाने ही तुच्छ आदमियों की सेवा की है, जो मेरी असली इच्छाओं को कभी भी पूरा नहीं कर सकते और जिन्होंने मुझे दुख, भय, चिन्ता, शोक तथा मोह ही दिया है।

तात्पर्य : पिंगला शोक कर रही है कि उसने अत्यन्त पापी तथा व्यर्थ के लोगों की सेवा की है। उसने व्यर्थ ही ऐसा सोचा कि वे उसे सुख देंगे और इस तरह उसने अपने हृदय के असली स्वामी, कृष्ण, की सेवा करने में उपेक्षा की। उसे यह समझ में आ गया कि उसने मूर्खतावश धन के लिए इतना संघर्ष किया, क्योंकि उसे ज्ञात न था कि भगवान् अपने निष्ठावान भक्त को समृद्धि प्रदान करने के इच्छुक रहते हैं। इस गणिका (वेश्या) को गर्व था कि उसमें मनुष्यों को रिझाने की क्षमता है, किन्तु अब वह पछता रही है कि उसने प्रेमाभक्ति द्वारा भगवान् को प्रसन्न करने का प्रयास क्यों नहीं किया। भगवान् भौतिक जगत के समस्त लेन-देनों से सर्वथा पृथक् रहने वाले हैं। भगवान् कृष्ण ही हर वस्तु के भोक्ता हैं, किन्तु मनुष्य को यह सीखना होगा कि शुद्ध प्रेमभाव से उन्हें किस तरह प्रसन्न किया जा सकता है।

अहो मयात्मा परितापितो वृथा
साङ्केत्यवृत्त्यातिविगर्ह्यवार्तया ।
स्त्रैणान्नराद्यार्थतृषोऽनुशोच्यात्
क्रीतेन वित्तं रतिमात्मनेच्छती ॥ ३२॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; मया—मेरे द्वारा; आत्मा—आत्मा; परितापितः—कष्ट दिया गया; वृथा—व्यर्थ ही; साङ्केत्य—वेश्या की; वृत्त्या—वृत्ति या पेशे द्वारा; अति-विगर्ह्य—अत्यन्त निन्दनीय; वार्तया—वृत्ति द्वारा; स्त्रैणात्—कामुक व्यक्तियों द्वारा; नरात्—मनुष्यों से; या—जो (मैं); अर्थ-तृषः—लोभी; अनुशोच्यात्—दयनीय; क्रीतेन—बिके हुए; वित्तम्—धन; रतिम्—मैथुन सुख; आत्मना—अपने शरीर से; इच्छती—चाहती हुई।

ओह! मैंने अपनी आत्मा को व्यर्थ ही पीड़ा पहुँचाई। मैंने ऐसे कामुक, लोभी पुरुषों के हाथ अपने शरीर को बेचा जो स्वयं दया के पात्र हैं। इस प्रकार मैंने वेश्या के अत्यन्त गर्हित पेशे को अपनाते हुए धन तथा मैथुन का आनन्द पाने की आशा की थी।

तात्पर्य : वेश्यावृत्ति की कला पुरुषों में भोग की लालसा जागृत करने पर आधारित है। स्पष्ट है कि यह वेश्या इतनी मूर्ख थी कि अपने पेशे के बारे में रूमानी धारणा बनाये थी और अपने ग्राहकों के साथ प्रेम-व्यापार द्वारा भोग करना चाहती थी। उसे इसकी अनुभूति नहीं थी कि वे अधम हैं और उनके मन्तव्य गर्हित हैं। पिंगला वेश्या की ही तरह मनुष्य को समझना चाहिए कि भगवान् की भक्ति त्यागने से वह माया का शिकार बनता है और अत्यधिक कष्ट भोगता है।

यदस्थिभिर्निर्मितवंशवंस्य-
स्थूणं त्वचा रोमनखैः पिनद्धम् ।
क्षरन्नवद्वारमगारमेतद्
विण्मूत्रपूर्णं मदुपैति कान्या ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; अस्थिभिः—हड्डियों से; निर्मित—बना हुआ; वंश—रीढ़; वंश्य—पसलियाँ; स्थूणम्—हाथ-पैर की हड्डियाँ; त्वचा—चमड़ी से; रोम-नखैः—बाल तथा नाखूनों से; पिनद्धम्—ढका; क्षरत्—टपकता हुआ; नव—नौ; द्वारम्—द्वारों; अगारम्—घर; एतत्—यह; विट्—मल; मूत्र—मूत्र, पेशाब से; पूर्णम्—भरा हुआ; मत्—मेरे अतिरिक्त; उपैति—अपने को लगाती है; का—कौन; अन्या—अन्य स्त्री।

यह भौतिक शरीर एक घर के सदृश है, जिसमें आत्मा रूप में मैं रह रही हूँ। मेरी रीढ़, पसलियों, हाथ तथा पाँव को बनाने वाली हड्डियाँ इस घर की आड़ी तथा पड़ी शहतीरें, थूनियाँ तथा ख भें हैं और पूरा ढाँचा मल-मूत्र से भरा हुआ है तथा चमड़ी, बाल तथा नाखूनों से आच्छादति है। इस शरीर के भीतर जाने वाले नौ द्वार निरन्तर गन्दी वस्तुएँ निकालते रहते हैं। भला मेरे अतिरिक्त कौन स्त्री इतनी मूर्ख होगी कि वह इस भौतिक शरीर के प्रति यह सोचकर अनुरक्त होगी कि उसे इस युक्ति से आनन्द तथा प्रेम मिल सकेगा?

तात्पर्य : शरीर के नौ द्वार, जो भीतर-बाहर खुलते हैं, दो आँखें, दो नथुने, मुँह, दो कान, जननेन्द्रिय तथा मलद्वार हैं। *वंश* का अर्थ रीढ़ के अलावा "बाँस" भी है। हड्डी का ढाँचा बाँस के बने ढाँचे से समानता रखता है। जिस प्रकार बाँस जलकर तुरन्त राख हो जाता है अथवा उसके खंड-खंड किये जा सकते हैं, उसी तरह निरन्तर क्षय होने वाले भौतिक शरीर को किसी भी क्षण पीस कर चूर्ण किया जा सकता है, टुकड़े-टुकड़े किया जा सकता है, डुबोया, जलाया या उसका दम घोटा जा सकता है। अन्ततोगत्वा शरीर को छिन्न-भिन्न होना है, अतएव जो व्यक्ति अप्रिय तत्त्वों से भरे इस तुच्छ शरीर के प्रति अनुरक्ति दिखलाता है, उसके समान अभागा कोई नहीं है।

विदेहानां पुरे ह्यस्मिन्नहमेकैव मूढधीः ।
यान्यमिच्छन्त्यसत्यस्मादात्मदात्काममच्युतात् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

विदेहानाम्—विदेह के निवासियों के; पुरे—नगर में; हि—निश्चय ही; अस्मिन्—इस; अहम्—मैं; एका—अकेली; एव—निस्सन्देह; मूढ—मूर्ख; धीः—बुद्धि वाली; या—जो (मैं ही); अन्यम्—दूसरी; इच्छन्ती—चाहती हुई; असती—नितान्त व्यभिचारिणी होकर; अस्मात्—उन; आत्म-दात्—हमें असली आध्यात्मिक रूप प्रदान करने वाला; कामम्—इन्द्रियतृप्ति; अच्युतात्—भगवान् अच्युत के अतिरिक्त।

निश्चित रूप से इस विदेह नगरी में मैं ही अकेली निपट मूर्ख हूँ। मैंने उन भगवान् की उपेक्षा की है, जो हमें सब कुछ देते हैं, यहाँ तक कि हमारा मूल आध्यात्मिक स्वरूप भी देते हैं। मैंने उन्हें छोड़ कर अनेक पुरुषों से इन्द्रियतृप्ति का भोग करना चाहा है।

सुहृत्प्रेष्ठतमो नाथ आत्मा चायं शरीरिणाम् ।
तं विक्रीयात्मनैवाहं रमेऽनेन यथा रमा ॥ ३५॥

शब्दार्थ

सु-हृत्—शुभेच्छु मित्र; प्रेष्ठ-तमः—नितान्त प्रिय; नाथः—प्रभु; आत्मा—आत्मा; च—भी; अयम्—वह; शरीरिणाम्—समस्त शरीरधारियों के; तम्—उसको; विक्रीय—मोल लेकर; आत्मना—अपने आपको शरणागत करके; एव—निश्चय ही; अहम्—मैं; रमे—रमण करूँगी; अनेन—भगवान् के साथ; यथा—जिस तरह; रमा—लक्ष्मीदेवी।

भगवान् समस्त जीवों के लिए नितान्त प्रिय हैं, क्योंकि वे हर एक के शुभेच्छु तथा स्वामी हैं। वे हर एक के हृदय में स्थित परमात्मा हैं। अतएव मैं पूर्ण शरणागति का मूल्य चुकाकर तथा भगवान् को मोल लेकर उनके साथ उसी तरह रमण करूँगी, जिस तरह लक्ष्मीदेवी करती हैं।

तात्पर्य : समस्त बद्धजीवों के असली मित्र भगवान् हैं और वे ही जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्रदान कर सकते हैं। भगवान् के चरणकमलों में सदैव रहने वाली लक्ष्मीदेवी के आदर्श का अनुगमन करते हुए मनुष्य शाश्वत सुख पा सकता है। मनुष्य को चाहिए कि शरीर रूपी बुरे सौदे का अधिक से अधिक लाभ उठाये और मनसावाचाकर्मणा भगवान् को अपना शरीर अर्पित कर दे। इतना मूल्य चुकाने पर वह भगवान् को मोल ले सकता है, जो हर एक के अत्यन्त प्रिय सुहृद हैं। इस तरह इन्द्रियतृप्ति विषयक मनुष्य की पुरानी लालसा स्वयमेव नियंत्रित हो सकेगी।

कियत्प्रियं ते व्यभजन्कामा ये कामदा नराः ।
आद्यन्तवन्तो भार्याया देवा वा कालविद्रुताः ॥ ३६॥

शब्दार्थ

कियत्—कितना; प्रियम्—वास्तविक सुख; ते—वे; व्यभजन्—प्रदान किया है; कामाः—इन्द्रियतृप्ति; ये—तथा जो; काम-दाः—इन्द्रियतृप्ति प्रदान करने वाले; नराः—पुरुष; आदि—प्रारम्भ; अन्त—तथा अन्त; वन्तः—से युक्त; भार्यायाः—पत्नी के; देवाः—देवतागण; वा—अथवा; काल—काल द्वारा; विद्रुताः—विलग किये गये, अतएव क्षुब्ध।

पुरुष स्त्रियों को इन्द्रियतृप्ति प्रदान करते हैं, किन्तु इन सारे पुरुषों का तथा स्वर्ग में देवताओं का भी आदि और अन्त है। वे सभी क्षणिक सृष्टियाँ हैं, जिन्हें काल घसीट ले जायेगा। अतएव इनमें से कोई भी अपनी पत्नियों को कितना वास्तविक आनन्द या सुख प्रदान कर सकता है?

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में हर व्यक्ति मूलतः अपनी इन्द्रियतृप्ति के पीछे लगा रहता है और इस तरह हर व्यक्ति काल के प्रभाव से विनष्ट होता है। भौतिक स्तर पर कोई किसी दूसरे की सहायता नहीं करता। जैसाकि पिंगला को अब पता चल रहा है, तथाकथित भौतिक प्रेम मात्र धोखाधड़ी है।

नूनं मे भगवान्प्रीतो विष्णुः केनापि कर्मणा ।
निर्वेदोऽयं दुराशाया यन्मे जातः सुखावहः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

नूनम्—निस्सन्देह; मे—मुझसे; भगवान्—भगवान्; प्रीतः—प्रसन्न है; विष्णुः—भगवान्; केन अपि—किसी; कर्मणा—कर्म के द्वारा; निर्वेदः—इन्द्रियतृप्ति से विरक्ति; अयम्—यह; दुराशायाः—भौतिक भोगकी बुरी तरह से आशा करने वाले में; यत्—क्योंकि; मे—मुझमें; जातः—उत्पन्न हुआ है; सुख—सुख; आवहः—लाते हुए।

यद्यपि मैंने भौतिक जगत को भोगने की दुराशा की थी, किन्तु न जाने क्यों मेरे हृदय में विरक्ति उत्पन्न हो चुकी है और यह मुझे अत्यन्त सुखी बना रही है। इसलिए भगवान् विष्णु अवश्य ही मुझ पर प्रसन्न होंगे। मैंने इसे जाने बिना ही उनको तुष्ट करने वाला कोई कर्म अवश्य किया होगा।

मैवं स्युर्मन्दभाग्यायाः क्लेशा निर्वेदहेतवः ।
येनानुबन्धं निर्हृत्य पुरुषः शममृच्छति ॥ ३८॥

शब्दार्थ

मा—नहीं; एवम्—इस प्रकार; स्युः—हों; मन्द-भाग्यायाः—अभागिनियों के; क्लेशाः—कष्ट; निर्वेद—विरक्ति के; हेतवः—कारण; येन—जिस विरक्ति से; अनुबन्धम्—बन्धन; निर्हृत्य—हटाकर; पुरुषः—पुरुष; शमम्—असली शान्ति; ऋच्छति—प्राप्त करता है।

जिस व्यक्ति में विरक्ति उत्पन्न हो चुकी है, वह भौतिक समाज, मैत्री तथा प्रेम के बन्धन त्याग सकता है और जो पुरुष महान् कष्ट भोगता है, वह निराशा के कारण धीरे-धीरे विरक्त हो जाता है तथा भौतिक जगत के प्रति अन्यमनस्क हो उठता है। मेरे महान् कष्ट के कारण ही मेरे हृदय में

ऐसी विरक्ति जागी है; अन्यथा यदि मैं सचमुच अभागिन होती, तो मुझे ऐसी दयार्द्र पीड़ा क्यों झेलनी पड़ती? इसलिए मैं सचमुच भाग्यशालिनी हूँ और मुझे भगवान् की दया प्राप्त हुई है। वे अवश्य ही मुझ पर प्रसन्न हैं।

तेनोपकृतमादाय शिरसा ग्राम्यसङ्गताः ।
त्यक्त्वा दुराशाः शरणं व्रजामि तमधीश्वरम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तेन—उनके (भगवान् के) द्वारा; उपकृतम्—अधिक सहायता की; आदाय—स्वीकार करके; शिरसा—मेरे सिर पर, भक्ति से; ग्राम्य—सामान्य इन्द्रियतृप्ति; सङ्गताः—सम्बन्धित; त्यक्त्वा—त्याग कर; दुराशाः—पापपूर्ण इच्छाएँ; शरणम्—शरण में; व्रजामि—अब आ रही हूँ; तम्—उसको; अधीश्वरम्—भगवान्।

भगवान् ने मुझ पर जो महान् उपकार किया है, उसे मैं भक्तिपूर्वक स्वीकार करती हूँ। मैंने सामान्य इन्द्रियतृप्ति के लिए पापपूर्ण इच्छाएँ त्यागकर अब भगवान् की शरण ग्रहण कर ली है।

सन्तुष्टा श्रद्दधत्येतद्यथालाभेन जीवती ।
विहराम्यमुनैवाहमात्मना रमणेन वै ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

सन्तुष्टा—पूर्णतया तुष्ट; श्रद्दधती—पूर्ण श्रद्धा से युक्त; एतत्—भगवान् की कृपा में; यथा-लाभेन—जो कुछ अपने आप मिल जाय उसी से; जीवती—जीवित; विहरामि—विहार करूँगी; अमुना—उसी एक से; एव—एकमात्र; अहम्—मैं; आत्मना—भगवान् से; रमणेन—प्रेम तथा सुख के असली स्रोत हैं, जो; वै—इसमें कोई सन्देह नहीं।

अब मैं पूर्ण तुष्ट हूँ और मुझे भगवान् की दया पर पूर्ण श्रद्धा है। अतएव जो कुछ मुझे स्वतः मिल जायेगा, उसी से मैं अपना भरण-पोषण (निर्वाह) करूँगी। मैं एकमात्र भगवान् के साथ विहार करूँगी, क्योंकि वे प्रेम तथा सुख के असली स्रोत हैं।

संसारकूपे पतितं विषयैर्मुषितेक्षणम् ।
ग्रस्तं कालाहिनात्मानं कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

संसार—भौतिक जगत; कूपे—अन्धे कुएँ में; पतितम्—गिरा हुआ; विषयैः—इन्द्रियतृप्ति द्वारा; मुषित—चुराई गई; ईक्षणम्—दृष्टि; ग्रस्तम्—पकड़ा हुआ; काल—काल के; अहिना—सर्प द्वारा; आत्मानम्—जीवको; कः—कौन; अन्यः—दूसरा; त्रातुम्—उद्धार करने में समर्थ है; अधीश्वरः—भगवान्।

इन्द्रियतृप्ति के कार्यों द्वारा जीव की बुद्धि हर ली जाती है और तब वह भौतिक जगत के अंधे कुएँ में गिर जाता है। फिर इस कुएँ में उसे कालरूपी भयानक सर्प पकड़ लेता है। बेचारे जीव को ऐसी निराश अवस्था से भला भगवान् के अतिरिक्त और कौन बचा सकता है?

तात्पर्य : किसी पिछले श्लोक में पिंगला ने कहा था कि देवतागण भी स्त्री को वास्तविक सुख प्रदान कर पाने में अक्षम होते हैं। कोई यह पूछ सकता है कि इस स्त्री को किसने अधिकार दिया है कि वह ब्रह्मा, शिव तथा अन्य महापुरुषों को भी त्याग दे? इसका उत्तर यह दिया गया है कि यदि कोई व्यक्ति सचमुच जीवन की सारी समस्याओं को हल करना चाहता है और भगवद्धाम वापस जाना चाहता है, तो भगवान् के चरणकमलों में शरण लेना ही इसका एकमात्र समाधान है। यह भलीभाँति ज्ञात है कि देवता भी जन्म लेते और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। जैसाकि स्वयं शिवजी ने कहा है *मुक्तिप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः*—इसमें सन्देह नहीं है कि विष्णु ही हर एक के उद्धारक हैं।

आत्मैव ह्यात्मनो गोप्ता निर्विद्येत यदाखिलात् ।
अप्रमत्त इदं पश्येद्ग्रस्तं कालाहिना जगत् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

आत्मा—आत्मा; एव—एकमात्र; हि—निश्चय ही; आत्मनः—अपना; गोप्ता—रक्षक; निर्विद्येत—विरक्त हो जाता है; यदा—जब; अखिलात्—सारी भौतिक वस्तुओं से; अप्रमत्तः—भौतिक ज्वर से रहित; इदम्—यह; पश्येत्—देख सकता है; ग्रस्तम्—पकड़ा हुआ; काल—काल के; अहिना—सर्प द्वारा; जगत्—ब्रह्माण्ड।

जब जीव देखता है कि समस्त ब्रह्माण्ड कालरूपी सर्प द्वारा पकड़ा जा चुका है, तो वह गम्भीर तथा विवेकवान् बन जाता है और तब वह अपने को समस्त भौतिक इन्द्रियतृप्ति से विरक्त कर लेता है। उस अवस्था में जीव अपना ही रक्षक बनने का पात्र हो जाता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में पिंगला कहती है कि भगवान् की कृपा से स्वरूपसिद्ध जीव सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को कालरूपी विकराल सर्प के मुख में स्थित देख सकता है। निश्चय ही यह अच्छी स्थिति नहीं है और जो इसे देखता है, उसकी इन्द्रियतृप्ति-इच्छा जाती रहती है। इस तरह भगवत्कृपा से आध्यात्मिक रूप से विवेकशील जीव अपने को माया से बचा सकता है।

चूँकि अब पिंगला मोक्ष के लिए भगवान् की दया हेतु परमेश्वर का महिमागान कर रही है, अतएव यह प्रश्न उठ सकता है : क्या वह प्रेमवश भगवान् की पूजा कर रही है या वह केवल मोक्ष चाहने वाली है और इस संसार से मुक्ति की इच्छुक है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि वह अपनी कृष्णभावनाभावित स्थिति में पहले से मुक्त हो चुकी है, भले ही वह इस जगत में क्यों न रह रही हो। अब वह बिना किसी निजी इच्छा के, जिसमें मोक्ष सम्मिलित है, भगवान् की प्रेमाभक्ति मात्र करेगी।

श्रीब्राह्मण उवाच
एवं व्यवसितमतिर्दुराशां कान्ततर्षजाम् ।
छित्त्वोपशममास्थाय शय्यामुपविवेश सा ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्राह्मणः उवाच—अवधूत ने कहा; एवम्—इस प्रकार; व्यवसित—कृतसंकल्प; मतिः—उसका मन; दुराशाम्—पापी इच्छा; कान्त—प्रेमी; तर्ष—लालायित रहना; जाम्—द्वारा उत्पन्न; छित्त्वा—काट कर; उपशमम्—शान्ति में; आस्थाय—स्थित होकर; शय्याम्—अपनी सेज पर; उपविवेश—बैठ गई; सा—वह।

अवधूत ने कहा : इस तरह अपने मन में संकल्प करके, पिंगला ने अपने प्रेमियों से संभोग करने की पापपूर्ण इच्छाओं को त्याग दिया और वह परम शान्ति को प्राप्त हुई। तत्पश्चात्, वह अपनी सेज पर बैठ गई।

आशा हि परमं दु:खं नैराश्यं परमं सुखम् ।
यथा सञ्छिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

आशा—भौतिक इच्छा; हि—निश्चय ही; परमम्—सबसे बड़ा; दुःखम्—दुख; नैराश्यम्—भौतिक इच्छाओं से मुक्ति; परमम्—सबसे बड़ा; सुखम्—सुख; यथा—जिस तरह; सञ्छिद्य—पूरी तरह काट कर; कान्त—प्रेमियों के लिए; आशाम्—इच्छा; सुखम्—सुखपूर्वक; सुष्वाप—सो गई; पिङ्गला-थे फोर्मेर् प्रोस्तितुते, पिङ्गला.

निस्सन्देह भौतिक इच्छा ही सर्वाधिक दुख का कारण है और ऐसी इच्छा से मुक्ति सर्वाधिक सुख का कारण है। अतएव तथाकथित प्रेमियों से विहार करने की अपनी इच्छा को पूरी तरह छिन्न करके पिंगला सुखपूर्वक सो गई।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत "पिंगला की कथा" नामक आठवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत शिष्यों द्वारा विरचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter नौ

पूर्ण वैराग्य

अब अवधूत ब्राह्मण कुरर पक्षी इत्यादि शेष सात गुरुओं का वर्णन करता है। वह एक अतिरिक्त गुरु, अपने ही शरीर, का भी वर्णन करता है।

कुरर पक्षी से प्राप्त उपदेश यह है कि अनुरक्ति से क्लेश उत्पन्न होता है, किन्तु जो व्यक्ति अनुरक्त नहीं रहता और जिसके कोई भौतिक सम्पत्ति नहीं होती, वह असीम सुख पाने का पात्र है।

अवधूत ब्राह्मण ने मूर्ख आलसी बालक से यह सीखा कि चिन्तामुक्त होने से मनुष्य भगवान् की पूजा करने में समर्थ होता है और परम आनन्द का अनुभव करता है।

एक युवती से जिसने अपने हाथ की कलाइयों में शंख की केवल एक-एक चूड़ी पहन रखी थी, उसे यह शिक्षा मिली कि मनुष्य को अकेले रहना चाहिए और अपने मन को स्थिर करना चाहिए। तभी मन को भगवान् पर पूरी तरह टिकाया जा सकता है। एक बार इस युवती से शादी करने के इच्छुक कई लोग उसके घर पहुँचे, किन्तु संयोगवश उसके सम्बन्धी घर से जा चुके थे। वह घर के भीतर गई और धान कूट कर उन अप्रत्याशित अतिथियों के लिए भोजन पकाने लगी। उस समय उसकी शंख की चूड़ियाँ एक दूसरे से टकराकर खनक रही थीं, अतएव इस आवाज को रोकने के लिए उसने एक एक करके सारी चूड़ियाँ तोड़ डालीं, जिससे उसके हाथ में एक एक चूड़ी रह गई। जिस तरह दो या इससे अधिक चूड़ियाँ आवाज करती हैं, उसी तरह एक ही स्थान पर यदि दो भी व्यक्ति रहें, अधिक का तो कहना ही क्या, तो उनमें परस्पर झगड़ा हो सकता है और व्यर्थ की गपशप हो सकती है।

अवधूत ब्राह्मण ने बाण बनाने वाले से भी शिक्षा ली। यह व्यक्ति बाण बनाने में इतना खोया हुआ था कि उसने सड़क से गुजर रहे राजा को भी नहीं देखा। इसी तरह मनुष्य को चाहिए कि श्री हरि की पूजा में अपने मन को एकाग्र करे।

अवधूत ब्राह्मण ने सर्प से यह सीख ली कि साधु को चाहिए कि अकेले भ्रमण करे, किसी पूर्व निश्चित स्थान में न ठहरे, सदैव सतर्क तथा गम्भीर रहे, अपनी गतिविधियों को प्रकट नहीं करे, किसी से सहायता न ले और बहुत ही कम बोले।

मकड़ी अपने मुँह से जाला निकालती है और उसे पुन: निगल जाती है। उसने मकड़ी से यह सीख ली कि भगवान् इसी तरह से अपने में से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करते हैं और फिर अपने में ही समेट लेते हैं।

पेशस्कृत बर्र जैसा ही रूप धारण करने वाले दुर्बल कीट से अवधूत ब्राह्मण ने यह सीखा कि जीव स्नेह, घृणा तथा भय में से, जिस पर वह अपनी बुद्धि स्थिर कर देता है अगले जन्म में वही स्वरूप प्राप्त करता है।

यह देखते हुए कि क्षणभंगुर शरीर जन्म-मृत्यु के अधीन है, गम्भीर मनुष्य को चाहिए कि इस शरीर से भौतिक अनुरक्ति त्याग दे और अपने उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हुए ज्ञान की खोज में मनुष्य-जीवन के इस दुर्लभ उपहार का ठीक से उपयोग करे।

श्रीब्राह्मण उवाच
परिग्रहो हि दु:खाय यद्यत्प्रियतमं नृणाम् ।
अनन्तं सुखमाप्नोति तद्विद्वान्यस्त्वकिञ्चन: ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्राह्मण: उवाच—साधु-ब्राह्मण ने कहा; परिग्रह:—लगाव; हि—निश्चय ही; दु:खाय—दुख देने वाली; यत् यत्—जो जो; प्रिय-तमम्—सर्वाधिक प्रिय है; नृणाम्—मनुष्यों के; अनन्तम्—असीम; सुखम्—सुख; आप्नोति—प्राप्त करता है; तत्—वह; विद्वान्—जानते हुए; य:—जो कोई; तु—निस्सन्देह; अकिञ्चन:—ऐसे लगाव से मुक्त है, जो।

साधु-ब्राह्मण ने कहा : भौतिक जगत में हर व्यक्ति कुछ वस्तुओं को अत्यन्त प्रिय मानता है और ऐसी वस्तुओं के प्रति लगाव के कारण अन्तत: वह दीन-हीन बन जाता है। जो व्यक्ति इसे समझता है, वह भौतिक सम्पत्ति के स्वामित्व तथा लगाव को त्याग देता है और इस तरह असीम आनन्द प्राप्त करता है।

सामिषं कुररं जघ्नुर्बलिनोऽन्ये निरामिषा: ।
तदामिषं परित्यज्य स सुखं समविन्दत ॥ २ ॥

शब्दार्थ

स-आमिषम्—मांस लिये हुए; कुररम्—बड़ा बाज; जघ्नु:—आक्रमण किया; बलिन:—अत्यन्त बलवान; अन्ये—अन्य; निरामिषा:—मांस से रहित; तदा—उस समय; आमिषम्—मांस; परित्यज्य—छोड़कर; स:—उसने; सुखम्—सुख; समविन्दत—प्राप्त किया।

एक बार बड़े बाजों की एक टोली ने कोई शिकार न पा सकने के कारण एक अन्य दुर्बल बाज पर आक्रमण कर दिया जो थोड़ा-सा मांस पकड़े हुए था। उस समय अपने जीवन को संकट में देखकर बाज ने मांस को छोड़ दिया। तब उसे वास्तविक सुख मिल सका।

तात्पर्य : प्रकृति के गुणों से प्रेरित होकर पक्षी उग्र हो उठते हैं और अन्य पक्षियों को खा जाने के लिए या उनके द्वारा पकड़े हुए मांस को छीनने के लिए मार डालते हैं। बाज, गिध, चील्ह इत्यादि इसी श्रेणी के पक्षी हैं। किन्तु मनुष्य को चाहिए कि अन्यों के साथ हिंसा करने की ईर्ष्यालु प्रवृत्ति का परित्याग कर दे और कृष्णभावनामृत को अंगीकार करे, जिससे वह हर जीव को अपने समान देख

सके। वास्तविक सुख के इस पद पर मनुष्य किसी से ईर्ष्या नहीं करता और किसी को अपना शत्रु नहीं मानता।

न मे मानापमानौ स्तो न चिन्ता गेहपुत्रिणाम् ।
आत्मक्रीड आत्मरतिर्विचरामीह बालवत् ॥ ३॥

शब्दार्थ

न—नहीं; मे—मुझमें; मान—आदर; अपमानौ—अनादर; स्तः—है; न—नहीं है; चिन्ता—चिन्ता; गेह—घरवालों के; पुत्रिणाम्—तथा बच्चों के; आत्म—अपने से; क्रीडः—खिलवाड़ करते हुए; आत्म—अपने में ही; रतिः—भोग करते हुए; विचरामि—विचरण करता हूँ; इह—इस जगत में; बाल-वत्—बच्चे की तरह।

पारिवारिक जीवन में माता-पिता सदैव अपने घर, अपने बच्चों तथा अपनी प्रतिष्ठा के विषय में चिन्तित रहते हैं। किन्तु मुझे इन बातों से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता। मैं न तो किसी परिवार के लिए चिन्ता करता हूँ, न ही मैं मान-अपमान की परवाह करता हूँ। मैं आत्म जीवन का ही आनन्द उठाता हूँ और मुझे आध्यात्मिक पद पर प्रेम मिलता है। इस तरह मैं पृथ्वी पर बालक की भाँति विचरण करता रहता हूँ।

द्वावेव चिन्तया मुक्तौ परमानन्द आप्लुतौ ।
यो विमुग्धो जडो बालो यो गुणेभ्यः परं गतः ॥ ४॥

शब्दार्थ

द्वौ—दो; एव—निश्चय ही; चिन्तया—चिन्ता से; मुक्तौ—मुक्त; परम-आनन्दे—परम सुख में; आप्लुतौ—निमग्न; यः—जो; विमुग्धः—अज्ञानी है; जडः—कार्यकलाप के अभाव में मन्द हुआ; बालः—बालकों जैसा; यः—जो; गुणेभ्यः—प्रकृति के गुणों के प्रति; परम्—भगवान्, जो दिव्य है; गतः—प्राप्त किया हुआ।

इस जगत में दो प्रकार के लोग समस्त चिन्ताओं से मुक्त होते हैं और परम आनन्द में निमग्न रहते हैं—एक तो वे, जो मन्द बुद्धि हैं तथा बालकों के समान अज्ञानी हैं तथा दूसरे वे जो तीनों गुणों से अतीत परमेश्वर के पास पहुँच चुके हैं।

तात्पर्य : जो बड़े ही जोश के साथ भौतिक इन्द्रियतृप्ति की खोज में लगे रहते हैं, वे धीरे धीरे जीवन की दयनीय स्थिति में ठेल दिये जाते हैं, क्योंकि ज्योंही कोई व्यक्ति प्रकृति के नियमों का तनिक भी उल्लंघन करता है, उसे पापों का फल भोगना पड़ता है। इस तरह भौतिक रूप से सतर्क तथा महत्त्वाकांक्षी लोग भी निरन्तर चिन्तामग्न रहते हैं और समय समय पर वे महान् कष्ट में डूबे रहते हैं। किन्तु जो लोग निकम्मे तथा मन्द बुद्धि हैं, वे अपनी ही दुनिया में रहते हैं, किन्तु जो लोग कृष्ण के

शरणागत होते हैं, वे दिव्य आनन्द से ओतप्रोत रहते हैं। अत: मूर्ख तथा भक्त दोनों को इस विचार से शान्त कहा जा सकता है कि वे महत्त्वाकांक्षी लोगों वाली सामान्य चिन्ता से मुक्त रहते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि मन्द बुद्धि मूर्ख तथा भक्त समान पद पर होते हैं। मूर्ख की शान्ति जड़ पत्थर के तुल्य है, जबकि भक्त की तुष्टि पूर्ण ज्ञान पर आधारित होती है।

क्वचित्कुमारी त्वात्मानं वृणानान्गृहमागतान् ।
स्वयं तानर्हयामास क्वापि यातेषु बन्धुषु ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—एक बार; कुमारी—तरुणी; तु—निस्सन्देह; आत्मानम्—अपने आपको; वृणानान्—पत्नी के रूप में चाहती हुई; गृहम्—घर में; आगतान्—आये हुए; स्वयम्—अपने आप; तान्—उन पुरुषों को; अर्हयाम् आस—सत्कार किया; क्व अपि—अन्य स्थान को; यातेषु—चले गये हुए; बन्धुषु—अपने सारे सम्बन्धियों के।

एक बार, विवाह योग्य एक तरुणी अपने घर में अकेली थी, क्योंकि उसके माता-पिता तथा सम्बन्धी उस दिन किसी अन्य स्थान को चले गये थे। उस समय कुछ व्यक्ति उससे विवाह करने की विशेष इच्छा से उसके घर आये। उसने उन सबों का सत्कार किया।

तेषामभ्यवहारार्थं शालीन्रहसि पार्थिव ।
अवघ्नन्त्याः प्रकोष्ठस्थाश्चक्रुः शङ्खाः स्वनं महत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—अतिथियों का; अभ्यवहार-अर्थम्—उन्हें खिलाने के वास्ते; शालीन्—धान; रहसि—अकेली होने से; पार्थिव—हे राजा; अवघ्नन्त्याः—कूट रही; प्रकोष्ठ—अपनी कलाइयों में; स्थाः—स्थित; चक्रुः—बनाया; शङ्खाः—शंख से बनी चूड़ियाँ; स्वनम्—आवाज; महत्—अत्यधिक।

वह लड़की एकान्त स्थान में चली गई और अप्रत्याशित अतिथियों के लिए भोजन बनाने की तैयारी करने लगी। जब वह धान कूट रही थी, तो उसकी कलाइयों की शंख की चूड़ियाँ एक-दूसरे से टकराकर जोर से खड़खड़ा रही थीं।

सा तज्जुगुप्सितं मत्वा महती व्रीडिता ततः ।
बभञ्जैकैकशः शङ्खान्द्वौ द्वौ पाण्योरशेषयत् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; तत्—उस आवाज को; जुगुप्सितम्—लज्जास्पद; मत्वा—सोचकर; महती—अत्यन्त बुद्धिमती; व्रीडिता—शर्मीली; ततः—उसकी बाँहों से; बभञ्ज—उसने तोड़ दिया; एक-एकशः—एक-एक करके; शङ्खान्—शंख की चूड़ियाँ; द्वौ द्वौ—प्रत्येक में दो-दो; पाण्योः—अपने दोनों हाथों में; अशेषयत्—छोड़ दिया।

उस लड़की को भय था कि ये लोग उसके परिवार को गरीब समझेंगे, क्योंकि उनकी पुत्री धान कूटने के तुच्छ कार्य में लगी हुई है। अत्यन्त चतुर होने के कारण शर्मीली लड़की ने अपनी बाँहों में पहनी हुई शंख की चूड़ियों में से प्रत्येक कलाई में केवल दो दो चूड़ियाँ छोड़कर शेष सभी चूड़ियाँ तोड़ दीं।

उभयोरप्यभूद्घोषो ह्यवघ्नन्त्याः स्वशङ्खयोः ।
तत्राप्येकं निरभिददेकस्मान्नाभवद्ध्वनिः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

उभयोः—(प्रत्येक हाथ में) दो से; अपि—फिर भी; अभूत्—हो रहा था; घोषः—शब्द, आवाज; हि—निस्सन्देह; अवघ्नन्त्याः—धान कूट रही; स्व-शङ्खयोः—शंख की दो-दो चूड़ियों में से; तत्र—वहाँ; अपि—निस्सन्देह; एकम्—केवल एक; निरभिदत्—उसने अलग कर दिया; एकस्मात्—उस एक आभूषण से; न—नहीं; अभवत्—हुआ; ध्वनिः—शब्द।

तत्पश्चात्, ज्योंही वह लड़की धान कूटने लगी प्रत्येक कलाई की दो-दो चूड़ियाँ टकराकर आवाज करने लगीं। अतएव उसने हर कलाई में से एक-एक चूड़ी उतार ली और जब हर कलाई में एक-एक चूड़ी रह गई, तो फिर आवाज नहीं हुई।

अन्वशिक्षमिमं तस्या उपदेशमरिन्दम ।
लोकाननुचरन्नेताल्लोकतत्त्वविवित्सया ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अन्वशिक्षम्—मैंने अपनी आँखों से देखा है; इमम्—इस; तस्याः—उस लड़की के; उपदेशम्—शिक्षा; अरिम्-दम—हे शत्रु का दमन करने वाले; लोकान्—संसारों में; अनुचरन्—घूमते हुए; एतान्—इन; लोक—संसार का; तत्त्व—सत्य; विवित्सया—जानने की इच्छा से।

हे शत्रुओं का दमन करने वाले, मैं इस जगत के स्वभाव के बारे में निरन्तर सीखते हुए पृथ्वी-भर में विचरण करता हूँ। इस तरह मैंने उस लड़की से स्वयं शिक्षा ग्रहण की।

तात्पर्य : यहाँ पर ब्राह्मण यदुराज से बतला रहा है कि वह कोई सैद्धान्तिक ज्ञान नहीं प्रस्तुत कर रहा। प्रत्युत संसार-भर में विचरण करते हुए इस सतर्क विचारवान ब्राह्मण ने उपर्युक्त समस्त गुरुओं से स्वयं शिक्षा ग्रहण की है। इस प्रकार अपने को ईश्वर की तरह सर्वज्ञ न मानकर वह विनीत भाव से बतलाता है कि उसने अपनी यात्रा के दौरान इन उपदेशों को निष्ठापूर्वक सीखा है।

वासे बहूनां कलहो भवेद्वार्ता द्वयोरपि ।
एक एव वसेत्तस्मात्कुमार्या इव कङ्कणः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

वासे—घर में; बहूनाम्—अनेक लोगों के; कलहः—झगड़ा; भवेत्—होगा; वार्ता—बातचीत; द्वयोः—दो लोगों के; अपि—भी; एकः—अकेला; एव—निश्चय ही; वसेत्—रहना चाहिए; तस्मात्—इसलिए; कुमार्याः—कुमारी (लड़की) के; इव—सदृश; कङ्कणः—चूड़ी।.

जब एक स्थान पर अनेक लोग साथ साथ रहते हैं, तो निश्चित रूप से झगड़ा होगा। यहाँ तक कि यदि केवल दो लोग ही एक साथ रहें, तो भी जोर-जोर से बातचीत होगी और आपस में मतभेद रहेगा। अतएव झगड़े से बचने के लिए मनुष्य को अकेला रहना चाहिए, जैसा कि हम लड़की की चूड़ी के दृष्टान्त से शिक्षा पाते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस सम्बन्ध में एक अच्छा-सा उदाहरण दिया है। चूँकि इस कथा में उल्लिखित लड़की का कोई पति न था, इसलिए उसे अपनी चूड़ियाँ उतार कर आतिथेय का कर्तव्य निभाना था, जिससे उसकी कलाई में केवल एक-एक चूड़ी रह गई थी। इसी तरह *ज्ञानयोग* विधि की माँग है कि चिन्तन में लगे साधु अकेले रहें, किसी अन्य के साथ न रहें। चूँकि ज्ञानी लोग चिन्तन पर अपना जीवन अर्पित करते हैं, अतएव यदि अनेक ज्ञानी एक साथ रहें, तो उनमें लगातार तर्क-वितर्क चलता रहेगा। इसलिए शान्त वातावरण बनाये रखने के लिए उन्हें अकेले रहना चाहिए। दूसरी ओर एक राजकुमारी किसी भव्य राजकुमार के साथ विवाहित किये जाने के बाद आकर्षक वस्त्र एवं आभूषण धारण कर प्रेम करने के लिए राजकुमार के पास जाती है। इसी तरह भक्तिदेवी अपने को उन असंख्य वैष्णव रूपी आभूषणों से सँवारती है, जो भगवन्नाम की मधुर ध्वनि का आस्वादन करने के लिए एकत्र होते हैं। चूँकि शुद्ध वैष्णवजन कभी भी अभक्तों के साथ घनिष्ठतापूर्वक मिलते-जुलते नहीं, अत: यह कहा जा सकता है कि वे अकेले रहते हैं, अतएव वे भी इस श्लोक के अभिप्राय को पूरा करते हैं। शुद्ध वैष्णवों के बीच कोई झगड़ा नहीं हो सकता, क्योंकि वे इच्छाहिनता के वास्तविक पद पर होते हैं उन्हें मोक्ष या योगशक्ति की भी इच्छा नहीं रहती, इन्द्रियतृप्ति की तो कहना ही क्या! चूँकि वे सभी कृष्ण-भक्त होते हैं, अतएव भगवान् का गुणगान करने के लिए वे एक-दूसरे से खुलकर मिल-जुल सकते हैं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (३.२५.३४) में कहा गया है—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्

मत्पादसेवाभिरता मदीहा: ।

येऽन्योन्यतो भागवता: प्रसज्य

सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥

''भक्ति-कार्यों में अनुरक्त तथा मेरे चरणकमलों की सेवा में सदैव लगा रहने वाला शुद्ध भक्त कभी भी मुझसे एकाकार नहीं होना चाहता। ऐसा भक्त जो अटल भक्ति में लगा रहता है मेरी लीलाओं तथा कार्यकलापों का सदैव गुणगान करता है।''

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है ''इस कथा की लड़की ने अपनी प्रत्येक कलाई में एक-एक चूड़ी इसीलिए रखी, जिससे चूड़ियों में जोर-जोर का झगड़ा न हो सके। इसी तरह मनुष्य को चाहिए कि वह उन लोगों की संगति छोड़ दे, जो भगवान् की भक्ति नहीं करते।'' सीखने योग्य वास्तविक उपदेश यही है। असली वैष्णव सदैव शुद्ध और निर्मल चरित्र वाला होता है। किन्तु उन स्थानों में जहाँ अभक्तगण जुटेंगे, वहाँ निश्चित रूप से भगवद्भक्ति की ईर्ष्यापूर्ण आलोचना होगी और जो लोग भगवत्विहीन सच्चाई का विश्लेषण करना चाहते हैं, वे दर्शन के नाम पर काफी उधम तथा शोर मचाएँगे। इसलिए मनुष्य को उन स्थानों में रहना चाहिए, जहाँ भगवान् की पूजा वैदिक मानकों के अनुसार उचित तरीके से की जाती है। यदि प्रत्येक व्यक्ति भगवान् कृष्ण की महिमा का वर्णन करता है, तो पारस्परिक संगति में कोई बाधा नहीं आएगी। किन्तु जहाँ भगवान् के अतिरिक्त नाना प्रकार के कार्य करने होते हैं, वहाँ सामाजिक आदान-प्रदान में बाधा पहुँचेगी।

अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह उन लोगों से दूर रहे, जो भक्ति के शत्रु हैं, अन्यथा जीवन के आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करना दूभर हो जायेगा। जो व्यक्ति सदा भगवद्भक्तों की संगति में रहता है, वह एक तरह से अकेले ही रहता है। यदि वह ऐसे समुदाय में रहता है, जहाँ भगवान् की इच्छा ही सर्वोपरि होती है, तो वह ऐसी विरोधी स्थितियों से दूर रह सकता है, जो अपनी भौतिक इच्छाओं की तुष्टि के लिए होड़ में लगे अनेक व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न होती हैं। ब्राह्मण ने लड़की की चूड़ियों से बुद्धिमानी से यह शिक्षा ली।

इस सन्दर्भ में श्रील मध्वाचार्य निम्नलिखित उद्धरण देते हैं—

असज्जनैस्तु संवासो न कर्तव्य: कथञ्चन।

यावद् यावच्च बहुभि: सज्जनै स तु मुक्ति-द:॥

"मनुष्य को किसी भी दशा में उन व्यक्तियों के साथ नहीं रहना चाहिए, जो भगवद्भक्त नहीं हैं। दूसरी ओर, उसे अनेक भक्तों के साथ रहना चाहिए, क्योंकि ऐसी संगति मुक्ति देने वाली है।"

मन एकत्र संयुञ्ज्याज्जितश्वासो जितासनः ।
वैराग्याभ्यासयोगेन ध्रियमाणमतन्द्रितः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

मनः—मन; एकत्र—एक स्थान में; संयुञ्ज्यात्—स्थिर करे; जित—जीता हुआ; श्वासः—साँस; जित—जीता हुआ; आसनः—योगासन; वैराग्य—वैराग्य द्वारा; अभ्यास-योगेन—योगाभ्यास से; ध्रियमाणम्—स्थिर किया हुआ मन; अतन्द्रितः—अत्यन्त सावधानीपूर्वक।

योगासनों में दक्षता प्राप्त कर लेने तथा श्वास-क्रिया पर नियंत्रण पा लेने पर मनुष्य को चाहिए कि वैराग्य तथा नियमित योगाभ्यास द्वारा मन को स्थिर करे। इस तरह मनुष्य को योगाभ्यास के एक लक्ष्य पर ही सावधानी से अपने मन को स्थिर करना चाहिए।

तात्पर्य : यह देखते हुए कि सभी वस्तुएँ नष्ट होनी हैं, मनुष्य को वैराग्य उत्पन्न करना चाहिए। इस तरह उसे नियमित योगाभ्यास करना चाहिए, जिसका इस युग में अर्थ है कि वह हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करे। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार यह अवधूत ब्राह्मण *भक्ति-मिश्र अष्टांगयोग* की संस्तुति कर रहा है।

भौतिक जगत की भोगेच्छा इतनी प्रबल होती है कि मन बिना लगाम के इधर-उधर विचरण करता है। इसीलिए *ध्रियमाणम्* कहा गया है, अर्थात् मन को जीवन के लक्ष्य भगवान् में स्थिर करना चाहिए। मानसिक एकाग्रता की पूर्णावस्था *समाधि* कहलाती है, जिसमें आन्तरिक तथा बाह्य दृष्टि में कोई भेद नहीं रह जाता, क्योंकि परम सत्य को सर्वत्र देखा जा सकता है।

योग-विधि में मनुष्य को ठीक से बैठना होता है, तभी शरीर के भीतर के विभिन्न प्राणों को वश में किया जा सकता है। श्वास पर नियंत्रण पा लेने पर, मन को उच्चतर चेतना में आसानी से स्थिर किया जा सकता है, क्योंकि मन शारीरिक प्राणों की क्रियाओं पर आश्रित होता है। भले ही मन को क्षणिक रूप से नियंत्रण में कर लिया जाय, किन्तु यदि मनुष्य इन्द्रियतृप्ति की इच्छा से अभिभूत हो जाता है, तो मन पुनः हाथ से निकल जाता है। इस तरह यह श्लोक भौतिक मोह से वैराग्य पर बल देता है। इसे *अभ्यास योग* द्वारा अर्थात् कृष्णभावनामृत के नियमित अभ्यास द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और यही सर्वोच्च योग पद्धति है, जैसाकि *भगवद्गीता* (६.४७) में पुष्टि हुई है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

"और समस्त योगियों में से, जो योगी अत्यन्त श्रद्धापूर्वक मेरे परायण है, अपने अन्तःकरण में मेरी दिव्य प्रेमाभक्ति करता है, वह योग में मुझसे परम अन्तरंग रूप से जुड़ा रहता है और सबों में सर्वोच्च है। यही मेरा मत है।"

यस्मिन्मनो लब्धपदं यदेत-
च्छनैः शनैर्मुञ्चति कर्मरेणून् ।
सत्त्वेन वृद्धेन रजस्तमश्च
विधूय निर्वाणमुपैत्यनिन्धनम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें (भगवान् में); मनः—मन; लब्ध—प्राप्त किया हुआ; पदम्—स्थायी पद; यत् एतत्—वही मन; शनैः शनैः—धीरे-धीरे, एक-एक पग करके; मुञ्चति—त्याग देता है; कर्म—सकाम कर्मों के; रेणून्—कल्मष को; सत्त्वेन—सतोगुण द्वारा; वृद्धेन—प्रबल हुए; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; च—भी; विधूय—त्यागकर; निर्वाणम्—दिव्य स्थिति, जिसमें मनुष्य अपने ध्यातव्य से संयुक्त हो जाता है; उपैति—प्राप्त करता है; अनिन्धनम्—बिना ईंधन के।

जब मन भगवान् पर स्थिर हो जाता है, तो उसे वश में किया जा सकता है। स्थायी दशा को प्राप्त करके मन भौतिक कार्यों को करने की दूषित इच्छाओं से मुक्त हो जाता है। इस तरह सतोगुण के प्रबल होने पर मनुष्य रजो तथा तमोगुण का पूरी तरह परित्याग कर सकता है और धीरे धीरे सतोगुण से भी परे जा सकता है। जब मन प्रकृति के गुण-रूपी ईंधन से मुक्त हो जाता है, तो संसार-रूपी अग्नि बुझ जाती है। तब उसका सीधा सम्बन्ध दिव्य स्तर पर अपने ध्यान के लक्ष्य, परमेश्वर, से जुड़ जाता है।

तात्पर्य : प्रकृति के तीनों गुणों की अन्योन्य क्रिया आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग पर बड़ी बड़ी बाधाएँ उत्पन्न करती है और यह खतरा बना रहता है कि मनुष्य कहीं अज्ञान के अंधकार में न जा गिरे। जो लोग व्यावहारिक मनोविज्ञान में अनुभवी हैं, वे अनियंत्रित मन के खतरों से परचिति रहते हैं और मन को वश में लाने का निरन्तर प्रयास करते हैं। यदि मनुष्य अपने को रजो तथा तमोगुण के प्रभाव से मुक्त कर ले, तो जीवन अत्यन्त मंगलमय हो जाय। मन को वश में करना तथा इस तरह प्रकृति के गुणों के प्रभाव से अपने को मुक्त कर लेना ही जीवन में वास्तविक प्रगति करने का एकमात्र साधन है। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार इस श्लोक में *यस्मिन्* शब्द भगवान् का द्योतक है, जो समस्त आनन्द के

आगार हैं। मन की लालसाओं का परित्याग यह नहीं बतलाता कि निर्विशेष से तादाम्य हो गया है, जैसाकि स्वप्नरहित निद्रा में अनुभव किया जाता है। जैसे कि इस श्लोक में कहा गया है *सत्त्वेन वृद्धेन* पहले सतोगुण में दृढ़ता से स्थापित होकर, तब धीरे-धीरे आध्यात्मिक पद तक ऊपर उठा जाय, जहाँ मनुष्य भगवान् के साथ रह सके।

तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो
न वेद किञ्चिद्बहिरन्तरं वा ।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्त-
मिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; एवम्—इस प्रकार; आत्मनि—भगवान् में; अवरुद्ध—स्थिर; चित्तः—मन; न—नहीं; वेद—जानता है; किञ्चित्—कुछ भी; बहिः—बाहरी; अन्तरम्—आन्तरिक; वा—अथवा; यथा—जिस तरह; इषु—बाणों का; कारः—बनाने वाला; नृ-पतिम्—राजा को; व्रजन्तम्—जाते हुए; इषौ—बाण में; गत-आत्मा—लीन होकर; न ददर्श—नहीं देखा; पार्श्वे—अपनी बगल में।

इस प्रकार जब मनुष्य की चेतना परम सत्य भगवान् पर पूरी तरह स्थिर हो जाती है, तो उसे द्वैत अथवा आन्तरिक और बाह्य सच्चाई नहीं दिखती। यहाँ पर एक बाण बनाने वाले का दृष्टान्त दिया गया है, जो एक सीधा बाण बनाने में इतना लीन था कि उसने अपने बगल से गुजर रहे राजा तक को नहीं देखा।

तात्पर्य : कहा जाता है कि जब राजा किसी जन-मार्ग में से होकर चलता है, तो उसके आगे आगे नगाड़े तथा अन्य बाज-गाजे बजते रहते हैं और उसके साथ सिपाही तथा अन्य लोग रहते हैं। किन्तु बाण बनाने वाला अपनी कर्मशाला के पास से गुजरती हुई इस शाही धूमधाम को नहीं देख पाया, क्योंकि वह बाण को तेज तथा सीधा करने के इस निर्धारित कार्य में लीन था। जो व्यक्ति परम सत्य श्रीकृष्ण की प्रेमाभक्ति में लीन रहता है, वह भौतिक मोह पर ध्यान नहीं देता। इस श्लोक में *बहिस्* शब्द इन्द्रियतृप्ति की असंख्य वस्तुओं यथा भोजन, पेय, यौन इत्यादि का द्योतक है, जो बद्धजीव की इन्द्रियों को भौतिक द्वन्द्व में खींच लाती हैं। *अन्तरम्* शब्द विगत इन्द्रियतृप्ति की स्मृति अथवा भविष्य की भौतिक अवस्थाओं के स्वप्नों एवं आशाओं का द्योतक है। जो व्यक्ति सर्वत्र परम सत्य श्रीकृष्ण को देखता है, वह आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के मोहों का बहिष्कार कर देता है। यह *मुक्तिपद* कहलाता है। इस पद पर, न तो इन्द्रिय-विषयों के प्रति आकर्षण रहता है, न विकर्षण, प्रत्युत परम

सत्य कृष्ण में प्रेमपूर्ण तल्लीनता एवं भक्ति द्वारा उन्हें प्रसन्न करने की महती इच्छा रहती है। जो व्यक्ति कृष्ण की सत्यता को त्यागता है, उसे मानसिक चिन्तन के राज्य में व्यर्थ घूमना पड़ता है। जो व्यक्ति यह नहीं देख पाता कि प्रत्येक वस्तु के आधार-रूप परम सत्य भगवान् कृष्ण हैं, वह इस भ्रान्त धारणा से मोहग्रस्त होता रहेगा कि कुछ ऐसा है, जो कृष्ण नहीं है। प्रत्येक वस्तु भगवान् से उद्‌भूत है और वे ही प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं। यह साधारण ज्ञान ही वास्तविक अस्तित्व की स्थिति है।

एकचार्यनिकेतः स्यादप्रमत्तो गुहाशयः ।
अलक्ष्यमाण आचारैर्मुनिरेकोऽल्पभाषणः ॥ १४॥

शब्दार्थ

एक—अकेला; चारी—विचरणशील; अनिकेतः—बिना स्थिर निवास के; स्यात्—होए; अप्रमत्तः—अत्यन्त सतर्क होने से; गुहा-आशयः—एकान्त रहते हुए; अलक्ष्यमाणः—बिना पहचाना जाकर; आचारैः—अपने कार्यों से; मुनिः—मुनि; एकः—संगी रहित; अल्प—बहुत कम; भाषणः—बोलते हुए।

सन्त-पुरुष को अकेले रहना चाहिए और किसी स्थिर आवास के बिना, निरन्तर विचरण करते रहना चाहिए। सतर्क होकर, उसे एकान्तवास करना चाहिए और इस तरह से कार्य करना चाहिए कि वह अन्यों द्वारा पहचाना या देखा न जा सके। उसे संगियों के बिना इधर-उधर जाना चाहिए और जरूरत से ज्यादा बोलना नहीं चाहिए।

तात्पर्य : युवा लड़की की शंख-चूड़ियों से सम्बन्धित पूर्ववर्ती कथा यह बतलाती है कि सामान्य योग-विधियों में लगे हुए साधु-पुरुषों को भी अकेले रहना चाहिए जिससे झगड़े या उत्पात से बचा जा सके। दूसरे शब्दों में, सामान्य योग-विधियों में लगे हुए व्यक्तियों को एक-दूसरे की भी संगति नहीं करनी चाहिए। यह श्लोक परोक्ष रूप से उस सर्प को बतलाता है, जो मनुष्यों से हमला किये जाने के भय से एकान्त में रहता है। इस दृष्टान्त से हम यह सीखते हैं कि सन्त-पुरुष को सामान्य भौतिकतावादी व्यक्तियों की संगति नहीं करनी चाहिए। उसे स्थायी आवास बनाने से भी बचना चाहिए और उसे अन्यों द्वारा अनदेखा रहकर विचरण करना चाहिए।

संसार में हमारी व्यस्तता ही हमारे दुख का कारण है। ऐसी व्यस्तता से हमारे जीवन का असली उद्देश्य, कृष्णभावनामृत, नष्ट होता है। मनुष्य को चाहे, जैसे भी हो सके, भौतिक समाज, मैत्री तथा प्रेम से गहरे लगाव को छोड़ देना चाहिए। उसे वैराग्य का अभ्यास करना चाहिए और कृष्णभावनामृत के सिद्धान्तों की शरण लेने से उसका मंगलमय जीवन शुरू होगा। अपने जीवन को वर्णाश्रम पद्धति के

अनुसार व्यवस्थित करके मनुष्य आत्म-साक्षात्कार की दिशा में पहला डग भर सकता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को ईमानदारी का पेशा अपनाना चाहिए और उसे अपना यौन-जीवन या तो ब्रह्मचारी अथवा संन्यासी की भाँति पूर्णतया त्याग कर या फिर विवाहित गृहस्थ के रूप में व्यवस्थित करना चाहिए। अपना पेशा तथा अपने निजी जीवन को नियमित बनाये बिना कुव्यवस्था बनी रहेगी और आध्यात्मिक प्रगति कर पाना कठिन हो जायेगा। भौतिक समाज, मैत्री तथा प्रेम के प्रति लगावों का आधार भौतिक जगत में दीर्घकालीन अनुभव होते हैं। वे आध्यात्मिक ज्ञान के मार्ग में रोड़े बनते हैं और यदि उन्हें उसी रूप में रहने दिया जाता है, तो आध्यात्मिक प्रगति अत्यन्त कठिन हो जाती है। चैतन्य महाप्रभु ने अपने उदाहरण तथा उपदेश से यह शिक्षा दी है कि भक्त को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। इन सिद्धान्तों का पालन करने से परम सिद्धि के मार्ग में अग्रसर हुआ जा सकता है। इस तरह मनुष्य को सामान्य सामाजिक प्रथा से ऊपर उठना होगा, जो जीव को व्यर्थ की इन्द्रियतृप्ति की ओर ले जाती है।

गृहारम्भो हि दुःखाय विफलश्चाध्रुवात्मनः ।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

गृह—घर का; आरम्भः—निर्माण; हि—निश्चय ही; दुःखाय—दुखदायी; विफलः—व्यर्थ; च—भी; अध्रुव—अस्थायी; आत्मनः—जीव का; सर्पः—साँप; परकृतम्—अन्यों द्वारा बनाया गया; वेश्म—घर; प्रविश्य—घुस कर; सुखम्—सुखपूर्वक; एधते—दिन काटता है।

जब नश्वर शरीर में वास करने वाला मनुष्य सुखी घर बनाने का प्रयास करता है, तो उसका परिणाम व्यर्थ तथा दुखमय होता है। किन्तु साँप अन्यों द्वारा बनाये गये घर में घुस जाता है और सुखपूर्वक रहता है।

तात्पर्य : सर्प में अपना घर बनाने की प्रवृत्ति नहीं होती, अपितु वह अन्य प्राणियों द्वारा बनाये गये उपयुक्त स्थान में रहता है। इस तरह वह घर बनाने की झंझट अपने सिर मोल नहीं लेता। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती, इंगित करते हैं कि यद्यपि भौतिकतावादी लोग बिजली, परिवहन, हवाई जहाज इत्यादि का आविष्कार करने और उनका बड़े पैमाने पर उत्पादन करने में अपार कष्ट झेलते हैं, किन्तु अन्ततः ये सारी वस्तुएँ उन वैष्णवों की सुविधा के लिए हैं, जो कृष्णभावनामृत का प्रचार कर रहे हैं। कर्मीजन सदैव ऐसा कष्ट उठायेंगे और भक्तगण ऐसे श्रमपूर्ण उत्पादन को भगवान् की सेवा में लगाकर

उन्हें ही अर्पित करते रहेंगे। भक्तगण जीवन की परम सिद्धि की चिन्ता में लगे रहने से भौतिक प्रगति के लिए स्वयं संघर्ष नहीं करते। दूसरी ओर, भक्तों को प्राचीनकाल की संयमित जीवन-शैली का बनावटी रूप से अनुकरण करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। भक्त का लक्ष्य अच्छे से अच्छे तरीके से कृष्ण की सेवा करना है, इसलिए भक्तगण सुन्दर महलों को एवं सभी प्रकार के ऐश्वर्य को किसी निजी लगाव के कारण नहीं ग्रहण करते, अपितु इसलिए कि इन वस्तुओं को भगवान् की सेवा में लगाया जा सके। यदि कोई व्यक्ति ऐसी वस्तुओं का भोग करने की इच्छा रखता है, तो वह शुद्ध भक्ति के पद से नीचे गिर जाता है। भौतिकतावादी लोग तथाकथित योगाभ्यास का दुरुपयोग अपनी काम-शक्ति को जागृत करने अथवा अपने विगत बद्ध जीवन का व्यर्थ ही स्मरण करने के लिए करते हैं। इस तरह वे इन्द्रियतृप्ति की अनन्त खोज के लिए योग का उपयोग करते हुए मावन-जीवन के वास्तविक लक्ष्य को नहीं समझ पाते।

एको नारायणो देवः पूर्वसृष्टं स्वमायया ।
संहृत्य कालकलया कल्पान्त इदमीश्वरः ।
एक एवाद्वितीयोऽभूदात्माधारोऽखिलाश्रयः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एकः—एकमात्र; नारायणः—भगवान्; देवः—ईश्वर; पूर्व—पहले; सृष्टम्—उत्पन्न किया गया; स्व-मायया—अपनी ही शक्ति से; संहृत्य—अपने में समेट कर; काल—समय के; कलया—अंश से; कल्प-अन्ते—संहार के समय; इदम्—यह ब्रह्माण्ड; ईश्वरः—परम नियन्ता; एकः—एकमात्र; एव—निस्सन्देह; अद्वितीयः—अनुपम; अभूत्—बन गया; आत्म-आधारः—हर वस्तु के आगार तथा आश्रय स्वरूप; अखिल—समस्त शक्तियों के; आश्रयः—आगार।

ब्रह्माण्ड के स्वामी नारायण सभी जीवों के आराध्य ईश्वर हैं। वे किसी बाह्य सहायता के बिना ही अपनी शक्ति से इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं और संहार के समय वे ब्रह्माण्ड को अपने कालरूपी स्वांश से नष्ट करते हैं और बद्धजीवों समेत समस्त ब्रह्माण्डों को अपने में समेट लेते हैं। इस तरह उनका असीम आत्मा ही समस्त शक्तियों का आगार तथा आश्रय है। सूक्ष्म प्रधान, जो समस्त विराट जगत का आधार है, भगवान् के ही भीतर सिमट जाता है और इस तरह उनसे भिन्न नहीं होता। संहार के फलस्वरूप वे अकेले ही रह जाते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि इस अध्याय के श्लोक २१ में बतलाया जायेगा भगवान् द्वारा ब्रह्माण्ड के स्वतंत्र सृजन तथा संहार की तुलना मकड़ी द्वारा अपना जाल बनाने तथा उसे समेटने से की जा सकती है। इस

श्लोक में *एक* शब्द दो बार इसलिए आया है कि भगवान् केवल एक हैं और ब्रह्माण्ड का सारा कार्य तथा उनकी आध्यात्मिक लीलाएँ उनकी ही शक्ति से संचालित है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक में कारणार्णवशायी विष्णु का उल्लेख है। *आत्माधार* तथा *अखिलाश्रय* ये दोनों ही शब्द यह सूचित करते हैं कि नारायण समस्त जीवों के आगार अथवा आश्रय हैं। *आत्माधार* बतलाता है कि भगवान् का निजी शरीर हर वस्तु का आश्रय है। महाविष्णु आदि भगवान् कृष्ण के स्वांश हैं, जिनके शरीर से असंख्य शक्तियाँ विस्तार पाकर भौतिक तथा आध्यात्मिक लोकों को प्रकट करती हैं। *ब्रह्म-संहिता* के अनुसार ये असंख्य लोक भगवान् के शरीर से ही उद्भूत ब्रह्मज्योति के ही भीतर टिके रहते हैं। इस तरह कृष्ण ईश्वर, अर्थात् परम नियन्ता हैं।

कालेनात्मानुभावेन साम्यं नीतासु शक्तिषु ।
सत्त्वादिष्वादिपुरुषः प्रधानपुरुषेश्वरः ॥ १७॥
परावराणां परम आस्ते कैवल्यसंज्ञितः ।
केवलानुभवानन्दसन्दोहो निरुपाधिकः ॥ १८॥

शब्दार्थ

कालेन—काल द्वारा; आत्म-अनुभावेन—भगवान् की निजी शक्ति द्वारा; साम्यम्—सन्तुलन को; नीतासु—लाया जाकर; शक्तिषु—भौतिक शक्ति में; सत्त्व-आदिषु—सतो इत्यादि गुण.; आदि-पुरुषः—शाश्वत भगवान्; प्रधान-पुरुष-ईश्वरः—प्रधान तथा जीवों के परम नियन्ता; पर—मुक्तजीवों या देवताओं के; अवराणाम्—सामान्य बद्धजीवों के; परमः—परम आराध्य; आस्ते—विद्यमान है; कैवल्य—मुक्त जीवन; संज्ञितः—संज्ञा वाला, के नाम वाला; केवल—निर्मल; अनुभव—अन्तर्ज्ञात का अनुभव; आनन्द—आनन्द; सन्दोहः—समग्रता; निरुपाधिकः—उपाधिधारी सम्बन्धों से रहित।

जब भगवान् काल के रूप में अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हैं और सतोगुण जैसी अपनी भौतिक शक्तियों को प्रधान (निरपेक्ष साम्य अवस्था) तक ले जाते हैं, तो वे उस निरपेक्ष अवस्था (प्रधान) तथा जीवों के भी परम नियन्ता बने रहते हैं। वे समस्त जीवों के भी आराध्य हैं, जिनमें मुक्त आत्मा, देवता तथा सामान्य बद्धजीव सम्मिलित हैं। भगवान् शाश्वत रूप से किसी भी उपाधि से मुक्त रहते हैं और वे आध्यात्मिक आनन्द की समग्रता से युक्त हैं, जिसका अनुभव भगवान् के आध्यात्मिक स्वरूप का दर्शन करने पर होता है। इस तरह भगवान् ''मुक्ति'' का पूरा पूरा अर्थ प्रकट करते हैं।

तात्पर्य : जो व्यक्ति परम सत्य या भगवान् में अपने मन को स्थिर करता है, वह भौतिक चिन्ता की तरंगों से तुरन्त मुक्त हो जाता है, क्योंकि भगवान् का दिव्य रूप किसी भी तरह के कल्मष या

उपाधि से सर्वथा रहित होता है। अल्पज्ञ व्यक्ति इस तर्कहीन सिद्धान्त को मानते हैं कि भगवान् अपनी सृष्टि में रूपान्तरित हो जाते हैं और उनका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रह जाता। वे भ्रमवश यह कल्पना करते हैं कि वे अपने व्यक्तित्व को विराट में लीन करके भगवान् के ही तुल्य बन सकते हैं। किन्तु *श्रीमद्भागवत* के मतानुसार भगवान् निर्विशेष नहीं होते, अपितु दिव्य गुणों से युक्त होते हैं। प्रकृति के तीनों गुण उनकी कनिष्ठ शक्ति हैं और सर्वशक्तिमान काल जिस पर सारे गुण आश्रित होते हैं, भगवान् का साक्षात् अंश है। इस प्रकार भगवान् भौतिक जगत का सृजन, पालन और संहार करते हैं, फिर भी उससे बिल्कुल विलग रहते हैं। उन बद्धजीवों को, जो भगवान् की कनिष्ठ सृष्टि का लाभ उठाना चाहते हैं, भगवान् ऐसा करने के लिए प्रेरित करते हैं और इस तरह वे नश्वर भौतिक जगत के नकली भोक्ता बन जाते हैं। किन्तु जब मनुष्य को यह व्यावहारिक अनुभव प्राप्त होता है कि स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर, तो शाश्वत आत्मा के आवरण मात्र हैं, तो वह भौतिक अनुरक्ति की मूर्खता त्याग कर भगवान् में अनुरक्त हो जाता है। वह अपनी स्वाभाविक स्थिति को समझने लगता है कि वह न तो पदार्थ का भोग करने की है, न भगवान् में लीन होने की। उसकी असली स्थिति तो ईश्वर के दास होने की है। भगवान् के प्रति की गई सेवा शाश्वत, आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण होती है और ऐसी सेवा के बल पर मनुष्य मुक्त हो जाता है तथा उसके कार्यकलाप यशस्वी होते हैं। ऐसी सेवा शाश्वत होती है और इससे वह धीरे धीरे *केवलानुभवानन्द-सन्दोह* के पद को प्राप्त होता है, अर्थात् भगवान् के साकार रूप का दर्शन करके आनन्द के सागर में लीन हो जाता है।

केवलात्मानुभावेन स्वमायां त्रिगुणात्मिकाम् ।
सङ्क्षोभयन्सृजत्यादौ तया सूत्रमरिन्दम ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

केवल—शुद्ध; आत्म—स्वयं की; अनुभावेन—शक्ति से; स्व-मायाम्—अपनी ही शक्ति को; त्रि—तीन; गुण—गुण; आत्मिकाम्—से निर्मित; सङ्क्षोभयन्—क्षुब्ध करते हुए; सृजति—प्रकट करता है; आदौ—सृष्टि के समय; तया—उस शक्ति से; सूत्रम्—महत-तत्त्व को, जो कर्म की शक्ति से पहचाना जाता है; अरिन्दम—हे शत्रुओं का दमन करने वाले।

हे शत्रुओं के दमनकर्ता, सृष्टि के समय भगवान् अपनी दिव्य शक्ति का विस्तार काल रूप में करते हैं और वे तीन गुणों से बनी हुई अपनी भौतिक शक्ति, अर्थात् माया को क्षुब्ध करके महत तत्त्व को उत्पन्न करते हैं।

तात्पर्य : *केवल* शब्द का अर्थ है "शुद्ध" और यह सूचित करता है कि *काल-शक्ति* दिव्य शक्ति है, जो उनके निजी शरीर से अभिन्न है। ब्राह्मण यहाँ पर यदुराज को *अरिन्दम* कहकर सम्बोधित करता है, जो यह इंगित करता है कि यद्यपि माया की चर्चा चल रही है, किन्तु राजा को इससे तनिक भी चिन्तित नहीं होना चाहिए, क्योंकि भगवान् का सच्चा भक्त होने से वह जीवन के उन असली शत्रुओं काम, क्रोध, लोभ को दमित करने में समर्थ है, जो मनुष्य को माया के राज्य में बन्दी बनाते हैं। *सूत्रम्* शब्द *महत् तत्त्व* का सूचक है, जिस पर अनेक भौतिक सृष्टियाँ टिकी रहती हैं, जिस तरह धागे में रत्न पिरोये रहते हैं। *प्रधान* या भौतिक साम्यावस्था में प्रकृति के गुण अन्योन्य क्रिया नहीं करते। *श्रीमद्भागवत* के तृतीय स्कंध में भगवान् कपिल ने अपने सांख्य उपदेश में बतलाया है कि भगवान् प्रकृति की निष्क्रिय अवस्था को क्षुब्ध करते हैं, तो सृष्टि उत्पन्न होती है। प्रकृति का वह सृष्ट रूप जिसमें सकाम कर्मों को प्रोत्साहन मिलता है, *महत् तत्त्व* कहलाता है, जैसाकि इस श्लोक में इंगित हुआ है।

यदि कोई व्यक्ति निर्विशेष वेदान्त दर्शन की आड़ लेकर भगवान् की मायामयी सृष्टि को त्यागने का प्रयास करता है और इस तरह भगवान् की अनन्त चेतना तथा बद्धजीव की अति सूक्ष्म चेतना को कृत्रिम रूप से एक समान बताता है, तो उसका यह विश्लेषण सत्य से कोसों दूर होगा। इस श्लोक में *स्व-मायाम्* शब्द सूचित करता है कि बद्धजीवों को प्रच्छन्न करने वाली मायाशक्ति सदैव ही भगवान् के अधीनस्थ होती है, क्योंकि भगवान् की चेतना अच्युत तथा अनन्त होती है और वे सदा पुरुष होते हैं।

तामाहुस्त्रिगुणव्यक्तिं सृजन्तीं विश्वतोमुखम् ।
यस्मिन्प्रोतमिदं विश्वं येन संसरते पुमान् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

ताम्—महत्-तत्त्व को; आहुः—कहते हैं; त्रि-गुण—प्रकृति के तीन गुण; व्यक्तिम्—कारण रूप में प्रकट; सृजन्तीम्—उत्पन्न करते हुए; विश्वतः-मुखम्—विराट जगत की अनेक कोटियाँ; यस्मिन्—जिस महत् तत्त्व के भीतर; प्रोतम्—गुँथा हुआ; इदम्—यह; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; येन—जिससे; संसरते—भौतिक संसार में आना पड़ता है; पुमान्—जीवित प्राणी।

महान् मुनियों के अनुसार, जो प्रकृति के तीन गुणों का आधार है और जो विविध रंगी ब्रह्माण्ड प्रकट करता है, वह सूत्र या महत् तत्त्व कहलाता है। निस्सन्देह, यह ब्रह्माण्ड उसी महत् तत्त्व के भीतर टिका हुआ रहता है और इसकी शक्ति के कारण जीव को भौतिक जगत में आना पड़ता है।

तात्पर्य : विराट जगत एक वास्तविकता है, क्योंकि यह परम सत्य भगवान् से उद्भूत है। तथापि भौतिक जगत नश्वर है और समस्याओं से पूर्ण है। बद्धजीव मूर्खतावश इस कनिष्ठ सृष्टि का स्वामी बनना चाहता है और वह अपने असली मित्र, परमेश्वर से विलग हो जाता है। ऐसी दशा में उसका एकमात्र व्यापार भौतिक इन्द्रियतृप्ति रह जाता है और उसका असली ज्ञान जाता रहता है।

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां सन्तत्य वक्त्रतः ।
तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; ऊर्न-नाभिः—मकड़ी; हृदयात्—अपने भीतर से; ऊर्णाम्—धागे को; सन्तत्य—फैलाकर; वक्त्रतः—अपने मुख से; तया—उस धागे से; विहृत्य—भोग करने के बाद; भूयः—फिर; ताम्—उस धागे को; ग्रसति—निगल जाती है; एवम्—उसी तरह; महा-ईश्वरः—परमेश्वर।

जिस तरह मकड़ी अपने ही भीतर से (मुख में से) धागा निकाल कर फैलाती है, कुछ काल तक उससे खेलती है और अन्त में निगल जाती है, उसी तरह भगवान् अपनी निजी शक्ति को अपने भीतर से ही विस्तार देते हैं। इस तरह भगवान् विराट जगत रूपी जाल को प्रदर्शित करते हैं, अपने प्रयोजन के अनुसार उसे काम में लाते हैं और अन्त में उसे पूरी तरह से अपने भीतर समेट लेते हैं।

तात्पर्य : जो बुद्धिमान होता है, उसे मकड़ी जैसे तुच्छ प्राणी से भी आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त होता है। इस तरह, जिसकी आँखें कृष्णभावनामृत में खुली रहती हैं, उसे दिव्य ज्ञान का सर्वत्र दर्शन होता है।

यत्र यत्र मनो देही धारयेत्सकलं धिया ।
स्नेहाद्द्वेषाद्भयाद्वापि याति तत्तत्स्वरूपताम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यत्र यत्र—जहाँ जहाँ; मनः—मन को; देही—बद्धजीव; धारयेत्—स्थिर करता है; सकलम्—पूर्ण एकाग्रता के साथ; धिया—बुद्धि से; स्नेहात्—स्नेहवश; द्वेषात्—द्वेष के कारण; भयात्—भयवश; वा अपि—अथवा; याति—जाता है; तत्-तत्—उस उस; स्वरूपताम्—विशेष अवस्था को।

यदि देहधारी जीव प्रेम, द्वेष या भयवश अपने मन को बुद्धि तथा पूर्ण एकाग्रता के साथ किसी विशेष शारीरिक स्वरूप में स्थिर कर दे, तो वह उस स्वरूप को अवश्य प्राप्त करेगा, जिसका वह ध्यान करता है।

तात्पर्य : इस श्लोक से यह समझना कठिन नहीं है कि यदि कोई व्यक्ति निरन्तर भगवान् का ध्यान करता है, तो उसे भगवान् जैसा ही आध्यात्मिक शरीर प्राप्त होगा। *धिया* शब्द विशेष अर्थ में पूर्ण बौद्धिक संकल्प को सूचित करता है। इसी तरह *सकलम्* शब्द मन की एकाग्रता का सूचक है। चेतना की ऐसी तल्लीनता से मनुष्य को अगले जीवन में वैसा ही स्वरूप प्राप्त होगा, जिसका वह चिन्तन करता रहता है। यह अन्य शिक्षा है, जो कीट-जगत से सीखी जा सकती है, जैसाकि अगले श्लोक में बतलाया गया है।

कीटः पेशस्कृतं ध्यायन्कुड्यां तेन प्रवेशितः ।
याति तत्सात्मतां राजन्पूर्वरूपमसन्त्यजन् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

कीटः—कीड़ा; पेशस्कृतम्—बर्र, भृंगी; ध्यायन्—ध्यान करती; कुड्याम्—अपने छत्ते में; तेन—बर्र द्वारा; प्रवेशितः—घुसने के लिए बाध्य की गई; याति—जाती है; तत्—बर्र का; स-आत्मताम्—वही स्थिति; राजन्—हे राजा; पूर्व-रूपम्—पूर्व शरीर; असन्त्यजन्—त्याग न करते हुए।

हे राजन्, एक बार एक बर्र ने एक कमजोर कीड़े को अपने छत्ते में जबरन घुसेड़ दिया और उसे वहीं बन्दी बनाये रखा। उस कीड़े ने भय के कारण अपने बन्दी बनाने वाले का निरन्तर ध्यान किया और उसने अपना शरीर त्यागे बिना ही धीरे धीरे बर्र जैसी स्थिति प्राप्त कर ली। इस तरह मनुष्य अपने निरन्तर ध्यान के अनुसार स्वरूप प्राप्त करता है।

तात्पर्य : यहाँ यह प्रश्न पूछा जा सकता है चूँकि इस कथा में कमजोर कीड़े ने अपना भौतिक शरीर नहीं बदला तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि उसने बर्र का-सा शरीर प्राप्त कर लिया? वास्तव में किसी विशेष वस्तु का निरन्तर ध्यान करते रहने से मनुष्य की चेतना उस वस्तु के गुणों से पूरित हो जाती है। अत्यन्त भय के कारण छोटा कीड़ा बड़े बर्र के लक्षणों तथा कार्यों में ही लीन था और इस तरह वह बर्र के अस्तित्व में प्रवेश कर गया। ऐसे ध्यान के कारण उसे अगले जीवन में बर्र का ही शरीर प्राप्त हो गया।

इसी तरह यद्यपि हम बद्धजीव हैं, किन्तु यदि हम अपनी चेतना को कृष्ण में लीन करें, तो हम अपना वर्तमान शरीर त्यागने के पूर्व ही मुक्त हो सकते हैं। यदि यह समझ कर कि भगवान् कृष्ण ही सर्वेसर्वा हैं, हमारी बुद्धि आध्यात्मिक पद पर स्थिर हो जाती है, तो हम बाह्य शरीर की व्यर्थ चेतना को त्याग सकते हैं और वैकुण्ठ की आध्यात्मिक लीलाओं में अपने को लीन कर सकते हैं। इस तरह मृत्यु

के पूर्व ही अपने को आध्यात्मिक पद तक उठाकर मुक्तजीव के रूप में जीवन का आनन्द उठाया जा सकता है। अथवा यदि कोई निपट मूर्ख है, तो इसी जीवन में भोजन तथा यौन-जीवन का निरन्तर चिन्तन करते हुए, वह शूकर या कूकर जैसा पशु बन सकता है। किन्तु मनुष्य-जीवन चेतना के विज्ञान एवं अपने ध्यान के भावी फल को समझने के लिए मिला है।

एवं गुरुभ्य एतेभ्य एषा मे शिक्षिता मतिः ।
स्वात्मोपशिक्षितां बुद्धिं शृणु मे वदतः प्रभो ॥ २४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; गुरुभ्यः—गुरुओं से; एतेभ्यः—इन; एषा—यह; मे—मेरे द्वारा; शिक्षिता—सीखा हुआ; मतिः—ज्ञान; स्व-आत्म—अपने ही शरीर से; उपशिक्षिताम्—सीखा हुआ; बुद्धिम्—ज्ञान; शृणु—सुनो; मे—मुझसे; वदतः—कहा जाता; प्रभो—हे राजा।

हे राजन्, मैंने इन आध्यात्मिक गुरुओं से महान् ज्ञान प्राप्त कर लिया है। अब मैंने अपने शरीर से जो कुछ सीखा है, उसे बतलाता हूँ, उसे तुम ध्यान से सुनो।

देहो गुरुर्मम विरक्तिविवेकहेतु-
र्बिभ्रत्स्म सत्त्वनिधनं सततार्त्युदर्कम् ।
तत्त्वान्यनेन विमृशामि यथा तथापि
पारक्यमित्यवसितो विचराम्यसङ्गः ॥ २५॥

शब्दार्थ

देहः—शरीर; गुरुः—गुरु; मम—मेरा; विरक्ति—वैराग्य का; विवेक—तथा विवेक का; हेतुः—कारण; बिभ्रत्—पालन करते हुए; स्म—निश्चय ही; सत्त्व—अस्तित्व; निधनम्—विनाश; सतत—सदैव; आर्ति—कष्ट; उदर्कम्—भावी परिणाम; तत्त्वानि—इस जगत की सच्चाइयाँ; अनेन—इस शरीर से; विमृशामि—मैं विचार करता हूँ; यथा—यद्यपि; तथा अपि—फिर भी; पारक्यम्—अन्यों से सम्बन्धित; इति—इस प्रकार; अवसितः—आश्वस्त होकर; विचरामि—विचरण करता हूँ; असङ्गः-विथोउत् अत्तछ्मेन्त्.

भौतिक शरीर भी मेरा गुरु है, क्योंकि यह मुझे वैराग्य की शिक्षा देता है। सृष्टि तथा संहार से प्रभावित होने के कारण, इसका कष्टमय अन्त होता रहता है। यद्यपि ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपने शरीर का उपयोग करते हुए मैं सदैव स्मरण रखता हूँ कि यह अन्ततः अन्यों द्वारा विनष्ट कर दिया जायेगा, अतः मैं विरक्त रहकर इस जगत में इधर-उधर विचरण करता हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक में *यथा तथापि* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि शरीर से बहुत बड़ा लाभ यह है कि इससे इस जगत के बारे में जाना जा सकता है, किन्तु मनुष्य को चाहिए कि इसके दुखमय अपरिहार्य भविष्य का सदैव स्मरण रखे। जलाने पर यह जलकर राख हो जाता है; यदि एकान्त स्थान

में खो जाय तो इसे सियार तथा गीध खा जाते हैं। यदि इसे भव्य शव पेटिका में रखकर गाड़ दिया जाय, तो यह सड़ जाता है और तुच्छ कीड़े-मकोड़े चट कर जाते हैं। इस तरह इसे *पारक्यम्* या "अन्यों द्वारा खा लिया जाने वाला" कहा जाता है। किन्तु कृष्णभावनामृत सम्पन्न करने के लिए मनुष्य को शारीरिक स्वास्थ्य बनाए रखना चाहिए किन्तु उससे अधिक स्नेह या अनुराग नहीं रखना चाहिए। शरीर के जन्म तथा मृत्यु का अध्ययन करके मनुष्य को *विरक्ति-विवेक* अर्थात् अनावश्यक वस्तुओं से विरक्त होने का विवेक प्राप्त हो सकता है। *अवसित* शब्द विश्वास का सूचक है। मनुष्य को कृष्णभावनामृत की सारी सच्चाइयों के प्रति आश्वस्त होना चाहिए।

जायात्मजार्थपशुभृत्यगृहाप्तवर्गान्
पुष्णाति यत्प्रियचिकीर्षया वितन्वन् ।
स्वान्ते सकृच्छ्रमवरुद्धधनः स देहः
सृष्ट्वास्य बीजमवसीदति वृक्षधर्मः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

जाया—पत्नी; आत्म-ज—सन्तानें; अर्थ—धन; पशु—पालतू पशु; भृत्य—नौकर; गृह—घर; आप्त—सम्बन्धीजन तथा मित्र; वर्गान्—ये सारी कोटियाँ; पुष्णाति—पुष्ट करता है; यत्—शरीर; प्रिय-चिकीर्षया—प्रसन्न करने की इच्छा से; वितन्वन्—फैलाते हुए; स्व-अन्ते—मृत्यु के समय; स-कृच्छ्रम्—अत्यधिक संघर्ष से; अवरुद्ध—एकत्रित; धनः—धन; सः—वह; देहः—शरीर; सृष्ट्वा—सृजन करके; अस्य—जीव का; बीजम्—बीज; अवसीदति—नीचे गिरकर मरता है; वृक्ष—पेड़; धर्मः—के स्वभाव का अनुकरण करते हुए।

शरीर से आसक्ति रखने वाला व्यक्ति अपनी पत्नी, बच्चों, संपत्ति, पालतू पशुओं, नौकरों, घरों, संबंधियों, मित्रों इत्यादि की स्थिति को बढ़ाने और सुरक्षित रखने के लिए अत्यधिक संघर्ष के साथ धन एकत्र करता है। वह अपने ही शरीर की तुष्टि के लिए यह सब करता है। जिस प्रकार एक वृक्ष नष्ट होने के पूर्व भावी वृक्ष का बीज उत्पन्न करता है, उसी तरह मरने वाला शरीर अपने संचित कर्म के रूप में अपने अगले शरीर का बीज प्रकट करता है। इस तरह भौतिक जगत के नैरन्तर्य से आश्वस्त होकर भौतिक शरीर समाप्त हो जाता है।

तात्पर्य : यह तर्क किया जा सकता है कि "अभी तक जितने गुरुओं का उल्लेख हुआ, उनमें से शरीर निश्चय ही सर्वोत्तम है, क्योंकि यह विरक्ति तथा उत्तम बुद्धि प्रदान करता है, जिससे मनुष्य भगवान् की भक्तिमय सेवा में लग सकता है। इसलिए हमें अत्यधिक अनुरक्ति के साथ शरीर की सेवा करनी चाहिए यद्यपि यह नश्वर है, अन्यथा कृतज्ञता का अपराध लगेगा। जब शरीर इतने अदभुत गुणों

से युक्त है, तो फिर शरीर से विरक्ति की संस्तुति किस तरह की जा सकती है?'' इसका उत्तर इस श्लोक में दिया हुआ है। यह शरीर उपकारी गुरु की तरह विरक्ति तथा ज्ञान प्रदान नहीं करता, प्रत्युत इतनी पीड़ा तथा कष्ट देता है कि कोई भी विवेकवान व्यक्ति भौतिक जीवन की व्यर्थता से आश्वस्त हो जायेगा। जिस तरह एक वृक्ष अगले वृक्ष के बीज उत्पन्न करता है और तब नष्ट हो जाता है, उसी तरह शरीर की कामेच्छाएँ बद्धजीव को अगले कर्म की शृंखला उत्पन्न करने के लिए प्रेरित करती हैं। अन्त में यह शरीर इस जगत में अपार कष्ट का मार्ग प्रशस्त करके समाप्त हो जाता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार देह स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म मानसिक शरीर दोनों का ही द्योतक है। जो लोग शरीर तथा आत्मा के अन्तर को स्पष्ट रूप से नहीं समझते, वे झूठे ही सोचते हैं कि शरीर तथा आत्मा अभिन्न हैं और मनुष्य शारीरिक इन्द्रियतृप्ति में पूर्ण सुख पा सकता है। किन्तु जो लोग मूर्खतावश नश्वर शरीर को सर्वप्रधान मान लेते हैं, उनकी तुलना उन स्वरूपसिद्ध व्यक्तियों से नहीं की जा सकती, जो नित्य आत्मा की श्रेष्ठता को भलीभाँति समझते हैं।

जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्षा
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् ।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक्क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥ २७॥

शब्दार्थ

जिह्वा—जीभ; एकतः—एक ओर; अमुम्—शरीर या शरीर के साथ अपनी पहचान करने वाला बद्धजीव; अपकर्षति—दूर खींच ले जाता है; कर्हि—कभी कभी; तर्षा—प्यास; शिश्नः—जननेन्द्रिय; अन्यतः—दूसरी ओर; त्वक्—स्पर्शेन्द्रिय; उदरम्—उदर; श्रवणम्—कान; कुतश्चित्—या अन्यत्र कहीं से; घ्राणः—घ्राणेन्द्रिय; अन्यतः—दूसरी ओर से; चपल-दृक्—चंचल आँखें; क्व च—अन्यत्र कहीं; कर्म-शक्तिः—शरीर के अन्य सक्रिय अंग; बह्व्यः—अनेक; स-पत्न्यः—सौतें; इव—सदृश; गेह-पतिम्—घर के मुखिया को; लुनन्ति—अनेक दिशाओं में खींचती हैं।

जिस व्यक्ति की कई पत्नियाँ होती हैं, वह उनके द्वारा निरन्तर सताया जाता है। वह उनके पालन-पोषण के लिए जिम्मेदार होता है। इस तरह सारी पत्नियाँ उसे निरन्तर भिन्न-भिन्न दिशाओं में खींचती रहती हैं, और हर पत्नी अपने स्वार्थ के लिए संघर्ष करती है। इसी तरह भौतिक इन्द्रियाँ बद्धजीव को एकसाथ विभिन्न दिशाओं में खींचती रहती हैं और सताती रहती हैं। एक ओर जीभ स्वादिष्ट भोजन की व्यवस्था करने के लिए खींचती है, तो प्यास उसे उपयुक्त पेय प्रदान करने के लिए घसीटती रहती है। उसी समय यौन-अंग उनकी तुष्टि के लिए शोर मचाते हैं

और स्पर्शेन्द्रिय कोमल वासनामय पदार्थ की माँग रखती हैं। उदर उसे तब तक तंग करता रहता है, जब तक वह भर नहीं जाता। कान मनोहर ध्वनि सुनना चाहते हैं, घ्राणेन्द्रिय सुहावनी सुगँधियों के लिए लालायित रहती हैं और चंचल आँखें मनोहर दृश्य के लिए शोर मचाती हैं। इस तरह सारी इन्द्रियाँ तथा शरीर के अंग तुष्टि की इच्छा से जीव को अनेक दिशाओं में खींचते रहते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर उल्लेख करते हैं कि इस श्लोक को समझ लेने के बाद अपने शरीर रूपी गुरु की कम से कम आवश्यकताओं की बिना आसक्ति के पूर्ति करनी चाहिए। मनुष्य को सरल से सरल ढंग द्वारा अपना शरीर स्वस्थ तथा काम करने के योग्य बनाये रखना चाहिए। यही तथाकथित गुरु की सेवा का सारांश है। यदि मनुष्य निष्ठापूर्वक शरीर की सेवा करना चाहता है, तो उसे विचार करना चाहिए कि शरीर बद्धजीव की चेतना को एक साथ अनेक प्रकार से खींचता है और इसलिए शरीर के दास से ईश्वर को समझ पाने या शान्त रहने तक की आशा करना व्यर्थ है।

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान्सरीसृपपशून्खगदन्दशूकान् ।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सृष्ट्वा—सृजन करके; पुराणि—बद्धजीवों को आवास देने वाले भौतिक शरीर; विविधानि—अनेक प्रकार के; अजया—माया के माध्यम से; आत्म-शक्त्या—अपनी शक्ति से; वृक्षान्—वृक्षों को; सरीसृप—रेंगने वाले जीवों को; पशून्—पशुओं को; खग—पक्षियों को; दन्द-शूकान्—साँपों को; तैः तैः—शरीर की विभिन्न किस्मों (योनियों) द्वारा; अतुष्ट—असन्तुष्ट; हृदयः—उसका हृदय; पुरुषम्—मनुष्य को; विधाय—उत्पन्न करके; ब्रह्म—परम सत्य; अवलोक—दर्शन; धिषणम्—के उपयुक्त बुद्धि; मुदम्—सुख को; आपा—प्राप्त किया; देवः—भगवान्।

भगवान् ने अपनी ही शक्ति, माया शक्ति का विस्तार करके बद्धजीवों को बसाने के लिए असंख्य जीव-योनियाँ उत्पन्न कीं। किन्तु वृक्षों, सरीसृपों, पशुओं, पक्षियों, सर्पों इत्यादि के स्वरूपों को उत्पन्न करके भगवान् अपने हृदय में तुष्ट नहीं थे। तब उन्होंने मनुष्य को उत्पन्न किया, जो बद्ध आत्मा को पर्याप्त बुद्धि प्रदान करने वाला होता है, जिससे वह परम सत्य को देख सके। इस तरह भगवान् सन्तुष्ट हो गये।

तात्पर्य : ईश्वर ने मनुष्य को विशेष रूप से इसीलिए उत्पन्न किया कि बद्ध आत्मा की मुक्ति सहज ही हो सके। इसलिए जो व्यक्ति मनुष्य-जीवन का दुरुपयोग करता है, वह नरक जाता है। जैसाकि वेदों में कहा गया है *पुरुषत्वे चाविस्तराम् आत्मा* मनुष्य-जीवन में नित्य आत्मा को समझने की अच्छी सम्भावना है। वेद यह भी कहते हैं :

ताभ्यो गाम् आनयत् ता अब्रुवन्
न वै नोऽयम् अलम् इति।
ताभ्योऽश्वमानयत् ता अब्रुवन्
न वै नोऽयम् अलम् इति।
ताभ्यः पुरुषम् आनयत् ता
अब्रुवन् सु-कृतं बत॥

इस श्रुति मंत्र का तात्पर्य यह है कि गाय तथा घोड़े जैसी निम्न योनियाँ सृष्टि के उद्देश्य को पूरा करने के लिए उपयुक्त नहीं हैं। किन्तु मनुष्य-जीवन ईश्वर के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को समझने का अवसर प्रदान करता है। इस तरह मनुष्य को भौतिक इन्द्रियों को वश में रखकर मनुष्य-जीवन के असली उद्देश्य को पूरा करना चाहिए। यदि वह कृष्णभावनामृत ग्रहण करता है, तो स्वयं भगवान् प्रसन्नता का अनुभव करते हैं और धीरे धीरे भक्त को अपना स्वरूप प्रकट कर देते हैं।

भगवान् की भौतिक सृष्टि में जीव तथा मृत पदार्थ होते हैं और जो अल्पज्ञ हैं, वे ही सृष्टि का भोग करना चाहते हैं। किन्तु भगवान् उन योनियों से प्रसन्न नहीं होते, जो आध्यात्मिक प्रकृति को समझे बिना इन्द्रियतृप्ति के लिए आँख मूँदकर प्रयत्न करते हैं। हम कृष्ण तथा उनके धाम की आनन्दमयी स्थिति की विस्मृति के कारण ही कष्ट पा रहे हैं। यदि हम भगवान् को संरक्षक तथा आश्रय के रूप में मान लें और उनके आदेश का पालन करें, तो हम भगवान् के भिन्नांश रूप में अपना नित्य आनन्दमय पद पुनः आसानी से प्राप्त कर सकते हैं। इसी उद्देश्य से भगवान् ने मनुष्य-जीवन बनाया है।

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः ।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-

न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

लब्ध्वा—प्राप्त करके; सु-दुर्लभम्—जिसको पाना अत्यन्त कठिन है; इदम्—यह; बहु—अनेक; सम्भव—जन्म; अन्ते—बाद में; मानुष्यम्—मनुष्य-जीवन; अर्थ-दम्—महान् महत्त्व प्रदान करने वाला; अनित्यम्—क्षणभंगुर; अपि—यद्यपि; इह—इस भौतिक जगत में; धीरः—गम्भीर बुद्धि वाला; तूर्णम्—तुरन्त; यतेत—प्रयत्न करे; न—नहीं; पतेत्—गिर चुका है; अनु-मृत्यु—सदैव मरणशील; यावत्—जब तक; निःश्रेयसाय—चरम मोक्ष (मुक्ति) के लिए; विषयः—इन्द्रियतृप्ति; खलु—सदैव; सर्वतः—सभी दशाओं में; स्यात्—सम्भव है।

अनेकानेक जन्मों और मृत्यु के पश्चात् यह दुर्लभ मानव-जीवन मिलता है, जो अनित्य होने पर भी मनुष्य को सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने का अवसर प्रदान करता है। इसलिए धीर मनुष्य को तब तक चरम जीवन सिद्धि के लिए शीघ्र प्रयत्न कर देना चाहिए, जब तक उसका मरणशील शरीर क्षय होकर मर नहीं जाता। इन्द्रियतृप्ति तो सबसे गर्हित योनि में भी प्राप्य है, किन्तु कृष्णभावनामृत मनुष्य को ही प्राप्त हो सकता है।

तात्पर्य : भौतिक जीवन का अर्थ ही है बारम्बार जन्म तथा मृत्यु। निम्नतम योनियों, यथा सरीसृप, कीड़े, शूकर तथा कूकर तक को इन्द्रियतृप्ति के लिए पर्याप्त अवसर मिलता है। यहाँ तक कि घर की सामान्य मक्खियों में भी व्यस्त यौन-जीवन होता है और वे तेजी से बढ़ती हैं। किन्तु मनुष्य-जीवन मनुष्य को परम सत्य को समझने योग्य बनाता है, अतएव वह गम्भीर उत्तरदायित्व से पूर्ण है। चूँकि मूल्यवान मानव-जीवन शाश्वत नहीं हैं, अतएव सर्वोच्च सिद्धि अर्थात् कृष्णभावनामृत पाने के लिए हमें आवश्यक काम करना चाहिए। मृत्यु आने के पूर्व हमें अपने असली स्वार्थ का गम्भीरतापूर्वक अनुशीलन करना चाहिए।

मनुष्य भगवद्भक्तों की संगति में कृष्णभावनामृत का अनुभव कर सकता है। उनकी संगति के बिना मनुष्य निर्विशेष विचारधारा की ओर आकृष्ट हो सकता है, जो परम सत्य की भक्ति से दूर ले जाने वाली है। अथवा परम सत्य को समझ न पाने से हतोत्साहित होकर मनुष्य इन्द्रियतृप्ति के मिथ्या धरातल की ओर लौट सकता है। कहने का अर्थ यह है कि मनुष्य-जीवन अनुभवी स्वरूपसिद्ध भगवद्भक्त के निर्देशन में कृष्णभावनामृत का अनुशीलन करने के निमित्त है।

एवं सञ्जातवैराग्यो विज्ञानालोक आत्मनि ।
विचरामि महीमेतां मुक्तसङ्गोऽनहङ्कृतः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सञ्जात—पूर्णतया उत्पन्न; वैराग्यः—वैराग्य; विज्ञान—अनुभूत ज्ञान; आलोकः—दृष्टि से युक्त; आत्मनि—भगवान् में; विचरामि—विचरण करता हूँ; महीम्—पृथ्वी पर; एताम्—इस; मुक्त—स्वच्छन्द; सङ्गः—आसक्ति से; अनहङ्कृतः—मिथ्या अहंकार के बिना।

अपने गुरुओं से शिक्षा पाकर मैं भगवान् की अनुभूति में स्थित रहता हूँ और पूर्ण वैराग्य तथा आध्यात्मिक ज्ञान से प्रकाशित, मैं आसक्ति या मिथ्या अहंकार से रहित होकर पृथ्वी पर स्वच्छन्द विचरण करता हूँ।

न ह्येकस्माद्गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात्सुपुष्कलम् ।
ब्रह्मैतदद्वितीयं वै गीयते बहुधर्षिभिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निश्चय ही; एकस्मात्—एक; गुरोः—गुरु से; ज्ञानम्—ज्ञान; सु-स्थिरम्—अत्यधिक स्थिर; स्यात्—हो सकता है; सु-पुष्कलम्—अत्यन्त पूर्ण; ब्रह्म—परम सत्य; एतत्—यह; अद्वितीयम्—अद्वितीय; वै—निश्चय ही; गीयते—यशोगान किया गया; बहुधा—अनेक प्रकार से; ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा।

यद्यपि परम सत्य अद्वितीय हैं, किन्तु ऋषियों ने अनेक प्रकार से उनका वर्णन किया है। इसलिए हो सकता है कि मनुष्य एक गुरु से अत्यन्त स्थिर या पूर्ण ज्ञान प्राप्त न कर पाये।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है ''यह कथन कि मनुष्य को अनेक गुरुओं की आवश्यकता होती है, व्याख्या की अपेक्षा रखता है, क्योंकि भूतकाल के लगभग तमाम सन्त-पुरुषों ने अनेक गुरुओं की शरण नहीं ली, प्रत्युत एक ही गुरु स्वीकार किया। *गीयते बहुधार्षिभिः* शब्द परम सत्य के साकार तथा निराकार ज्ञान को बतलाने वाले हैं। दूसरे शब्दों में, कुछ ऋषि भगवान् के निर्विशेष प्रत्रा का वर्णन करते हैं जिसमें आध्यात्मिक विविधता नहीं है, जबकि अन्य ऋषि भगवान् के प्रकट रूप का वर्णन करते हैं। इस तरह विभिन्न विद्वानों से मात्र सुनकर ही मनुष्य अपने जीवन की परम सिद्धि को नहीं सीख सकता। गुरुओं की विविधता जीव की अतीव भौतिकतावादी प्रवृत्ति को रोकने के लिए ही लाभप्रद है। विभिन्न आध्यात्मिक दार्शनिक आत्मा के अस्तित्व में विश्वास उत्पन्न कराते हैं और उन्हें इस स्तर पर स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु जैसाकि बाद के श्लोकों से प्रकट होगा कि पूर्ण ज्ञान प्रदान करने वाला गुरु केवल एक होता है।''

श्रील जीव गोस्वामी ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है ''चूँकि यह सामान्यतया ज्ञात है कि मनुष्य को एक ही गुरु बनाना चाहिए, तो फिर यह संस्तुति क्यों की गई है कि मनुष्य अनेक तथाकथित गुरुओं से सीखें जो साधारण भौतिक वस्तुओं के रूप में दिखते हैं? इसकी व्याख्या यह है कि मनुष्य

का पूज्य गुरु ज्ञान के अनेक विभागों में उपदेश देगा जो उसने सामान्य वस्तुओं से बटोरा है। जैसाकि ब्राह्मण अवधूत ने संस्तुति की है मनुष्य अपने आचार्य से प्राप्त शिक्षाओं को पुष्ट कर सकता है और प्रकृति में सामान्य वस्तुओं को देखकर उसके आदेशों का उल्लँघन करने से बच सकता है। मनुष्य को अपने गुरु से यांत्रिक रूप में शिक्षाएँ ग्रहण नहीं करनी चाहिए। शिष्य को विचारवान होना चाहिए और अपनी बुद्धि से अपने गुरु से जो कुछ सुना है उसे अपने चारों ओर के जगत को देखते हुए व्यवहार में लाना चाहिए। इस दृष्टि से मनुष्य अनेक गुरु बना सकता है, किन्तु ऐसे लोगों को नहीं, जो प्रामाणिक गुरु से प्राप्त ज्ञान का विरोध करते हैं। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को चाहिए कि नास्तिक कपिल जैसे व्यक्तियों से श्रवण न करे।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भी इस श्लोक की टीका की है, जो इस प्रकार है'' *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है *तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्*—यदि जीवन में सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करनी है, तो प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए। इसी तरह इस स्कन्ध के अध्याय १०, श्लोक ५ में भगवान् ने कहा है *मद्अभिज्ञं गुरुं शान्तम् उपासीत मद्-आत्मकम्*—मनुष्य को चाहिए कि प्रामाणिक गुरु की सेवा करे, जो मेरे ज्ञान से पूर्ण होता है और मुझसे भिन्न नहीं होता। वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक श्लोक हैं, जो यह इंगित करते हैं कि एक ही प्रामाणिक गुरु की शरण लेनी चाहिए। हमारे पास महान् सन्त-पुरुषों के ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिन्होंने एक से अधिक गुरु नहीं बनाया। इस तरह यह तथ्य है कि हमें एक प्रामाणिक गुरु बनाना चाहिए और उसी से उच्चरित होने वाले विशिष्ट मंत्र भी ग्रहण करने चाहिए। निश्चय ही, मैं स्वयं इस सिद्धान्त का अनुसरण करता हूँ और अपने प्रामाणिक गुरु की पूजा करता हूँ। किन्तु अपने आचार्य की पूजा करने में मनुष्य अच्छे तथा बुरे उदाहरणों से सहायता ले सकता है। अच्छे आचरण के उदाहरणों का पालन करने से भक्ति प्रबल होगी और बुरे उदाहरणों से आगाह हुआ जा सकेगा तथा संकट से बचा जा सकेगा। इस तरह मनुष्य अनेक सामान्य पदार्थों को गुरु मान सकता है और उन्हें शिक्षा-गुरु या गुरु कह सकता है, जो आध्यात्मिक प्रगति के लिए महत्त्वपूर्ण उपदेश देते हैं।''

इस तरह भगवान् के ही शब्दों में *मद्अभिज्ञं गुरुं शान्तम् उपासीत मद्-आत्मकम्*—मनुष्य को चाहिए कि एक ही प्रामाणिक गुरु के पास जाये जो कि भगवान् के विषय में पूरा ज्ञान रखता हो और

उसे ही *मद्-आत्मकम्* अर्थात् भगवान् से अभिन्न मानकर उसी की निष्ठा से पूजा करे। यह कथन उस बात का खंडन कहीं करता, जिसे भगवान् ने अवधूत ब्राह्मण की शिक्षाओं में प्रस्तुत किया है। यदि कोई व्यक्ति अपने आचार्य की शिक्षाएँ प्राप्त करके उन्हें सैद्धान्तिक विचार मानकर मस्तिष्क में बन्द रखता है, तो वह प्रगति नहीं कर पायेगा। स्थिर तथा पूर्ण ज्ञान उत्पन्न करने के लिए मनुष्य को चाहिए कि अपने आचार्य की शिक्षाओं को सर्वत्र देखे। इस तरह एक वैष्णव अपने प्रामाणिक गुरु की जो भगवान् कृष्ण से अभिन्न है, पूजा करने के मार्ग में प्रकाश देने वाले किसी भी व्यक्ति अथवा वस्तु का आदर करता है।

ब्राह्मण ने जिन अनेक गुरुओं का उल्लेख किया, उनमें से कुछ अच्छा उपदेश देते हैं और कुछ बुरा। पिंगला वेश्या तथा वह लड़की जिसने अपनी चूड़ियाँ उतार ली थीं उचित आचरण का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं, जबकि अभागा कबूतर तथा मूर्ख शहद की मक्खी ऐसे आचरण का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं, जिससे बचना चाहिए। दोनों ही प्रसंगों से मनुष्य के ज्ञान में वृद्धि होती है। इसलिए इस श्लोक का अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि यह भगवान् के इस कथन—*मद्अभिज्ञं गुरुं शान्तं उपासीत मद्-आत्मकम्* (भागवत् ११.१०.५) का विरोधाभास है।

श्रीभगवानुवाच
इत्युक्त्वा स यदुं विप्रस्तमामन्त्र्य गभीरधीः ।
वन्दितः स्वर्चितो राज्ञा ययौ प्रीतो यथागतम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; सः—उसने; यदुम्—राजा यदु से; विप्रः—ब्राह्मण; तम्—राजा को; आमन्त्र्य—विदा करके; गभीर—अत्यन्त गहरी; धीः—बुद्धि; वन्दितः—नमस्कार किया जाकर; सु-अर्चितः—ठीक से पूजित होकर; राज्ञा—राजा द्वारा; ययौ—चला गया; प्रीतः—प्रसन्न मन से; यथा—जिस तरह; आगतम्—आया था।

भगवान् ने कहा : राजा यदु से इस प्रकार कहने के बाद विद्वान ब्राह्मण ने राजा के नमस्कार तथा पूजा को स्वीकार किया और भीतर से प्रसन्न हुआ। तब वह विदा लेकर उसी तरह चला गया, जैसे आया था।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी *श्रीमद्भागवत* से ही प्रमाण देते हैं कि वह ब्राह्मण अवधूत वास्तव में दत्तात्रेय का अवतार था। *भागवत* का (२.७.४) कथन है—

यत्पादपंकजपरागपवित्रदेहा

योगर्धिम् आपुरुभयीं यदु-हैहयाधा:।

"दत्तात्रेय के चरणकमलों के प्रताप से अनेक यदु, हैहय इत्यादि इतने शुद्ध बन गये कि उन्हें भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों प्रकार के वर प्राप्त हुए।" यह श्लोक बताता है कि यदु दत्तात्रेय के चरणकमलों के स्पर्श से शुद्ध हो गया। इसी तरह प्रस्तुत श्लोक में कहा गया है—*वन्दितो स्वर्चितो राज्ञा*—राजा यदु ने ब्राह्मण के चरणकमलों की पूजा की। इस प्रकार श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार अवधूत ब्राह्मण स्वयं भगवान् हैं और इसकी पुष्टि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर द्वारा की गई है।

अवधूतवच: श्रुत्वा पूर्वेषां न: स पूर्वज: ।
सर्वसङ्गविनिर्मुक्त: समचित्तो बभूव ह ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अवधूत—अवधूत ब्राह्मण के; वच:—शब्द; श्रुत्वा—सुनकर; पूर्वेषाम्—पूर्वजों के; न:—हमारे; स:—वह; पूर्वज:—स्वयं पूर्वज; सर्व—समस्त; सङ्ग—आसक्ति से; विनिर्मुक्त:—मुक्त होने पर; सम-चित्त:—आध्यात्मिक पद पर चेतना होने से सर्वत्र समान; बभूव—हो गया; ह—निश्चय ही।

हे उद्धव, उस अवधूत के शब्दों को सुनकर साधु राजा यदु, जो कि हमारे पूर्वजों का पुरखा है, समस्त भौतिक आसक्ति से मुक्त हो गया और उसका मन आध्यात्मिक पद पर समान भाव से स्थिर (समदर्शी) हो गया।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् अपने ही वंश, यदुवंश, की प्रशंसा करते हैं, क्योंकि इसमें अनेक महान् स्वरूपसिद्ध राजा हुए हैं। राजा यदु को ब्राह्मण अवधूत के रूप में दत्तात्रेय ने यह शिक्षा दी कि वह ईश्वर की सृष्टि को देखकर ही अपनी चेतना को वैराग्य के आध्यात्मिक पद पर स्थिर करे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत "पूर्ण वैराग्य" नामक नौवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा विरचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दस

सकाम कर्म की प्रकृति

इस अध्याय में श्रीकृष्ण जैमिनि के अनुयायियों के दर्शन का खंडन करते हैं और उद्धव से बतलाते हैं कि किस तरह भौतिक शरीर के भीतर बद्ध आत्मा शुद्ध दिव्य ज्ञान उत्पन्न कर सकता है।

वैष्णव, अर्थात् भगवान् विष्णु के शरणागत हुए व्यक्ति को पञ्चरात्र तथा अन्य प्रामाणिक शास्त्रों में दिये गये विधि-विधानों का पालन करना चाहिए। अपने ही प्राकृतिक गुणों तथा कर्म के अनुसार उसे मुक्त भाव से वर्णाश्रम की संहिता का पालन करना चाहिए। भौतिक इन्द्रियों, मन, तथा बुद्धि से प्राप्त किया जाने वाला तथाकथित ज्ञान इन्द्रियतृप्ति में आसक्त सोते व्यक्ति द्वारा देखे स्वप्न के समान व्यर्थ है। इसलिए इन्द्रियतृप्ति के लिए किये जाने वाले कर्म को त्याग कर कर्म को कर्तव्य-रूप में ग्रहण करना चाहिए। जब मनुष्य ने आत्मा के विषय में कुछ सच्चाई जान ली हो, तो उसे कर्तव्य के रूप में किये जाने वाले कर्म का परित्याग करके केवल प्रामाणिक गुरु की सेवा में लग जाना चाहिए, क्योंकि वह भगवान् का प्रतिनिधि होता है। गुरु के सेवक को अपने गुरु के प्रति दृढ़ स्नेह होना चाहिए, उसे अपने गुरु से परम सत्य विषयक ज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहना चाहिए और उसे ईर्ष्या से तथा मूर्खवत् बोलने की प्रवृत्ति से मुक्त होना चाहिए। उसे व्यर्थ की बातें नहीं करनी चाहिए। आत्मा स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों से भिन्न होता है। जो आत्मा भौतिक शरीर में प्रवेश करता है, वह अपने पूर्व कर्मफलों के अनुसार शारीरिक कर्म स्वीकार करता है। अत: एकमात्र प्रामाणिक गुरु ही आत्मा विषयक शुद्ध ज्ञान का प्रदर्शन कर सकने में समर्थ होता है।

जैमिनि तथा अन्य नास्तिक दार्शनिकों के अनुयायी नियमित कर्म को ही जीवन का लक्ष्य मानते हैं। किन्तु कृष्ण यह बतलाते हुए इसका खण्डन करते हैं कि देहधारी आत्मा खण्डित भौतिक काल के सम्पर्क में आने से निरन्तर जन्म-मृत्यु की शृंखला को ग्रहण कर लेता है, जिससे वह बाद में मिलने वाले सुख-दुख को भोगने के लिए बाध्य हो जाता है। इसलिए जो व्यक्ति अपने कर्म के फलों के प्रति अनुरक्त होता है, उसे जीवन का कोई ठोस लक्ष्य प्राप्त होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। स्वर्ग तथा यज्ञ अनुष्ठानों से प्राप्त होने वाले अन्य लक्ष्यों को अल्पकाल तक ही अनुभव किया जा सकता है। इस भोग के समाप्त होने के बाद मनुष्य को शोक तथा कष्ट में लिपटने के लिए इसी मर्त्यलोक में लौटना होता है। भौतिकतावाद के मार्ग में अनवरत या स्वाभाविक सुख नहीं होता।

श्रीभगवानुवाच
मयोदितेष्ववहितः स्वधर्मेषु मदाश्रयः ।
वर्णाश्रमकुलाचारमकामात्मा समाचरेत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; मया—मेरे द्वारा; उदितेषु—कहा गया; अवहितः—अत्यन्त सावधानी से; स्व-धर्मेषु—भगवान् की भक्ति के कार्यों में; मत्-आश्रयः—मेरा शरणागत; वर्ण-आश्रम—वैदिक वर्णाश्रम प्रणाली; कुल—समाज के; आचारम्—आचरण; अकाम—भौतिक इच्छाओं से रहित; आत्मा—ऐसा पुरुष; समाचरेत्—अभ्यास करे।

भगवान् ने कहा : पूर्णतया मेरी शरण में आकर तथा मेरे द्वारा वर्णित भगवद्भक्ति में अपने मन को सावधानी से एकाग्र करके मनुष्य को निष्काम भाव से रहना चाहिए तथा वर्णाश्रम प्रणाली का अभ्यास करना चाहिए।

तात्पर्य : पिछले अध्यायों में भगवान् कृष्ण ने अवधूत ब्राह्मण की कहानी के माध्यम से सन्त-पुरुष के गुणों तथा चरित्र का वर्णन किया। अब वे ऐसे साधु-पद को प्राप्त करने के लिए व्यावहारिक साधनों का वर्णन कर रहे हैं। *पञ्चरात्र* तथा अन्य शास्त्रों में भगवान् ने भक्ति करने के आदेश दिये हैं। इसी तरह *भगवद्गीता* (४.१३) में भगवान् ने कहा है—*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः*—मैंने ही वर्णाश्रम प्रणाली बनाई है। वर्णाश्रम प्रणाली में असंख्य विधि-विधान हैं और भक्त को चाहिए कि वह उनको सम्पन्न करे, जिनसे भक्ति-विधि का खण्डन न होता हो। *वर्ण* शब्द विभिन्न वर्गों के मनुष्यों का सूचक है, जिनमें कुछ तमोगुणी हैं, कुछ रजोगुणी और कुछ सतोगुणी। भगवद्भक्ति तो मुक्तावस्था में सम्पन्न होती है, अतएव रजो तथा तमोगुणी लोगों के लिए कुछ ऐसे आदेश हो सकते हैं, जो मुक्तावस्था वाले लोगों के सर्वथा प्रतिकूल हों। इसलिए प्रामाणिक गुरु जो भगवान् से अभिन्न है, के मार्गदर्शन में ही वर्णाश्रम के मूलभूत सिद्धान्तों को इस तरह सम्पन्न करना चाहिए, जो कृष्णभावनामृत को अग्रसर करने के अनुकूल हो।

अन्वीक्षेत विशुद्धात्मा देहिनां विषयात्मनाम् ।
गुणेषु तत्त्वध्यानेन सर्वारम्भविपर्ययम् ॥ २॥

शब्दार्थ

अन्वीक्षेत—देखे; विशुद्ध—शुद्ध किया हुआ; आत्मा—आत्मा; देहिनाम्—देहधारी जीवों का; विषय-आत्मनाम्—इन्द्रियतृप्ति के प्रति समर्पित लोगों का; गुणेषु—आनन्द देने वाली भौतिक वस्तुओं में; तत्त्व—सत्य रूप में; ध्यानेन—ध्यान द्वारा; सर्व—समस्त; आरम्भ—प्रयत्न; विपर्ययम्—अनिवार्य असफलता।

शुद्ध आत्मा को यह देखना चाहिए कि चूँकि इन्द्रियतृप्ति के प्रति समर्पित होने से बद्ध आत्माओं ने इन्द्रिय-सुख की वस्तुओं को धोखे से सत्य मान लिया है, इसलिए उनके सारे प्रयत्न असफल होकर रहेंगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् ने निष्काम होने की विधि बतलाई है। सारे इन्द्रिय-विषय, जिनमें रूप, स्वाद, गंध, स्पर्श या शब्द द्वारा अनुभूत इन्द्रिय-विषय सम्मिलित हैं, क्षणिक होते हैं। अभी हम अपने परिवार तथा राष्ट्र को देख रहे हैं किन्तु अन्ततः ये अदृश्य हो जायेंगे। यहाँ तक कि हमारा यह शरीर, जिससे हम उन्हें अनुभव करते हैं, वह भी अदृश्य हो जायेगा। इस तरह भौतिक भोग का अपरिहार्य परिणाम *विपर्यय* अर्थात् महान् कष्ट है। *विशुद्धात्मा* शब्द उनको बताता है, जिन्होंने भक्ति के नियमित कर्तव्यों को सम्पन्न करके अपने को शुद्ध बनाया है। वे स्पष्ट रूप में भौतिक जीवन के नैराश्य को देख सकते हैं और इस तरह वे *अकामात्मा* अर्थात् भौतिक इच्छा से रहित महान् आत्मा बन जाते हैं।

सुप्तस्य विषयालोको ध्यायतो वा मनोरथः ।
नानात्मकत्वाद्विफलस्तथा भेदात्मधीर्गुणैः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सुप्तस्य—सोने वाले के; विषय—इन्द्रियतृप्ति; आलोकः—देखना; ध्यायतः—ध्यान करने वाले का; वा—अथवा; मनः-रथः—मात्र मनगढंत; नाना—तमाम तरह के; आत्मकत्वात्—स्वभाव होने के कारण; विफलः—असली सिद्धि से विहीन; तथा—उसी तरह; भेद-आत्म—भिन्न रूप से बने हुए में; धीः—बुद्धि; गुणैः—भौतिक इन्द्रियों द्वारा।

सोया हुआ व्यक्ति स्वप्न में इन्द्रियतृप्ति की अनेक वस्तुएँ देख सकता है, किन्तु ऐसी आनन्ददायक वस्तुएँ मनगढंत होने के कारण अन्ततः व्यर्थ होती हैं। इसी तरह, जो जीव अपनी आध्यात्मिक पहचान के प्रति सोया हुआ रहता है, वह भी अनेक इन्द्रिय-विषयों को देखता है, किन्तु क्षणिक तृप्ति देने वाली ये असंख्य वस्तुएँ भगवान् की माया द्वारा निर्मित होती हैं, तथा इनका स्थायी अस्तित्व नहीं होता। जो व्यक्ति इन्द्रियों से प्रेरित होकर इनका ध्यान करता है, वह अपनी बुद्धि को व्यर्थ के कार्य में लगाता है।

तात्पर्य : चूँकि भौतिक कर्म का फल क्षणिक होता है, अतएव इसका कोई अर्थ नहीं होता कि मनुष्य उसे प्राप्त करता है या नहीं—अन्तिम परिणाम एक-सा होता है। भौतिकतावादी कर्म कभी भी जीवन की सर्वोच्च सिद्धि—कृष्णभावनामृत प्रदान नहीं कर सकते। इन्द्रियों से प्रेरित होकर भौतिक बुद्धि इन्द्रियतृप्ति की प्रबल कामना करती है। जैसाकि यहाँ पर कहा गया है (*भेदात्म-धीः*) ऐसी बुद्धि मनुष्य को उसके असली स्वार्थ से विलग करने वाली है। इस तरह भौतिक रूप से अनुकूल तथा प्रतिकूल कर्मों में लीन रहकर बुद्धि भौतिक उन्नयन की असंख्य कोटियों के पीछे लगने से विभक्त हो

जाती है। ऐसी विभक्त बुद्धि अशक्त होती है और वह परम सत्य भगवान् श्रीकृष्ण को नहीं समझ सकती। किन्तु भगवद्भक्त अपनी बुद्धि को एक ही विन्दु—भगवान् कृष्ण—पर स्थिर करते हैं। वे भगवान् के ही रूप, गुण, लीलाओं तथा भक्तों का ध्यान करते हैं, जिससे उनकी बुद्धि परब्रह्म से कभी विलग नहीं हो पाती। *भगवद्गीता* (२.४१) में कहा गया है—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

"जो इस मार्ग पर चलते हैं, वे प्रयोजन में दृढ़ रहते हैं और उनका लक्ष्य भी एक होता है। हे कुरुनन्दन, जो दृढ़-प्रतिज्ञ नहीं हैं उनकी बुद्धि अनेक शाखाओं में विभक्त रहती है।"

यदि कोई कृष्णभावनाभावित नहीं है, तो वह अपनी नित्य स्थिति को समझे बिना व्यर्थ स्वप्न देखता है। भौतिक बुद्धि सुख प्राप्त करने के विचित्र साधन ढूँढ़ लेती है, इसलिए मनुष्य इन्द्रियतृप्ति के एक व्यर्थ कार्यक्रम से दूसरे में कूदता रहता है और यह भूल जाता है कि सारी भौतिक वस्तुएँ नश्वर हैं और ये लुप्त हो जायेंगी। इस तरह उसकी बुद्धि भौतिक काम तथा लोभ से संदूषित हो जाती है और संदूषित बुद्धि कभी किसी को जीवन के असली लक्ष्य तक नहीं ले जा पाती। मनुष्य को शुद्ध बुद्धि वाले प्रामाणिक गुरु से उपदेश ग्रहण करना चाहिए, तभी वह जीवन की सर्वोच्च सिद्धि—कृष्णभावनामृत—को प्राप्त होगा।

निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत् ।
जिज्ञासायां सम्प्रवृत्तो नाद्रियेत्कर्मचोदनाम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

निवृत्तम्—विधि-कर्तव्य; कर्म—ऐसा कार्य; सेवेत—करना चाहिए; प्रवृत्तम्—इन्द्रियतृप्ति के लिए कार्य; मत्-परः—मुझमें समर्पित; त्यजेत्—छोड़ दे; जिज्ञासायाम्—आध्यात्मिक सत्य की खोज में; सम्प्रवृत्तः—पूर्णतया संलग्न; न—नहीं; आद्रियेत्—स्वीकार करना चाहिए; कर्म—कोई भौतिक कार्य; चोदनाम्—आदेश।

जिसने अपने मन में मुझे अपने जीवन-लक्ष्य के रूप में बिठा लिया है, उसे इन्द्रियतृप्ति पर आधारित कर्म त्याग देने चाहिए और उन्नति के लिए विधि-विधानों द्वारा अनुशासित कर्म करना चाहिए। किन्तु जब कोई व्यक्ति आत्मा के चरम सत्य की खोज में पूरी तरह लगा हो, तो उसे सकाम कर्मों को नियंत्रित करने वाले शास्त्रीय आदेशों को भी नहीं मानना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की व्याख्या है कि *जिज्ञासायां सम्प्रवृत्तः* शब्द *योग-आरूढ* व्यक्ति के द्योतक हैं। *भगवद्गीता* (६.३-४) में कहा गया है कि—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।

सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

''अष्टांग योग के नवसाधक के लिए कर्म को साधन कहा गया है और योगसिद्ध पुरुष के लिए समस्त भौतिक कार्यकलापों का परित्याग ही साधन कहा जाता है। जब कोई पुरुष समस्त भौतिक इच्छाओं का त्याग करके न तो इन्द्रियतृप्ति के लिए कार्य करता है और न सकाम कर्मों में प्रवृत्त होता है, तो वह योगारूढ़ कहलाता है।'' यहाँ पर यह उदाहरण दिया जा सकता है कि सामान्य व्यक्ति भौतिक इन्द्रिय-सुख के लिए स्त्रियों की संगति का आनन्द लेना चाहेगा। इसे प्रवृत्त कर्म कहते हैं। धार्मिक व्यक्ति भी स्त्री की संगति का आनन्द लेगा, किन्तु वर्णाश्रम पद्धति के विधि-विधानों के अन्तर्गत ही ऐसा करेगा। किन्तु जो व्यक्ति आध्यात्मिक उन्नति में पूरी तरह लीन रहता है, वह यौन-संग से प्राप्त होने वाली सारी इन्द्रियतृप्ति को त्याग देगा, चाहे वह वैध हों या अवैध। इसी तरह प्रवृत्त-कर्म की अवस्था में, जो कि सामान्य इन्द्रियतृप्ति है, मनुष्य जीभ को अच्छी लगने वाली हर वस्तु खायेगा। इसके विपरीत भौतिकतावादी भक्त कभी कभी अच्छे अच्छे पकवान तैयार करके अर्चाविग्रह को अर्पित करेगा, जिसका उद्देश्य अपनी जीभ तथा उदर की तुष्टि होता है, भगवान् की तुष्टि नहीं। किन्तु जो सम्प्रवृत्त होता है, अर्थात् आध्यात्मिक चेतना में पूरी तरह लगा रहता है, वह अपनी जीभ की तृप्ति में कभी रुचि नहीं लेता। वह भौतिकतावादी व्यक्तियों द्वारा पकाये भोजन से दूर रहता है। वह उतना ही भोजन करता है, जितने से वह कृष्ण की सेवा करने लायक बना रहे और जिस भोजन को अर्चाविग्रह को उनकी प्रसन्नता हेतु अर्पित किया जा चुका हो।

आध्यात्मिक साक्षात्कार की विधि बद्धजीव को भौतिकतावादी चेतना के निम्नतम बिन्दु से ऊपर उठाकर भगवान् की भक्ति में पूर्ण तल्लीनता तक ले जाती है। प्रारम्भ में उसे यह शिक्षा दी जाती है कि वह अपने कर्मफल को सर्वप्रथम भगवान् को अर्पित करके अपनी भोग-लालसाओं को उनसे जोड़ दे।

किन्तु प्रगत अवस्था में सकाम कर्म करने की प्रेरणा (*कर्म-चोदनम्*) समाप्त हो जाती है और मनुष्य बिना किसी स्वार्थमय उद्देश्य के भगवान् की प्रेमाभक्ति में लग जाता है। उदाहरणार्थ, कृष्णभावनामृत का उपदेश देने वाले विरक्त संन्यासी को अथवा विरक्त गृहस्थ को भी गृहस्थ-जीवन में इन्द्रियतृप्ति के लिए आवश्यक समस्त आदेशों को पूरा नहीं करना होता। अन्ततः हर मनुष्य को कृष्णभावनामृत का दिव्य कर्तव्य स्वीकार करना चाहिए। अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए कर्म करके तब कृष्ण को उनका फल अर्पित करने की बजाय मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की अपनी घनिष्ठ इच्छाओं के अनुसार, उन्हें प्रसन्न करने में पूरी तरह लग जाय।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार भौतिक जगत को भोगने का कोई भी प्रयास, चाहे धार्मिक दृष्टि से हो या अधार्मिक दृष्टि से हो, अन्ततः विरोधों से पूर्ण होता है। मनुष्य को सच्चा निष्काम पद, अर्थात् शुद्ध भगवत्प्रेम का पद प्राप्त करना चाहिए और जीवन की सारी समस्याओं को हल करना चाहिए।

यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान्मत्परः क्वचित् ।
मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

यमान्—मुख्य-मुख्य विधि-विधान, यथा हिंसा न करना; अभीक्ष्णम्—सदैव; सेवेत—पालन करना चाहिए; नियमान्—गौण नियम, यथा शरीर स्वच्छ रखना; मत्-परः—मेरा भक्त; क्वचित्—यथासम्भव; मत्-अभिज्ञम्—मेरे स्वरूप को जानने वाला; गुरुम्—गुरु को; शान्तम्—शान्त; उपासीत—सेवा करनी चाहिए; मत्-आत्मकम्—जो मुझसे भिन्न नहीं है।

जिसने मुझे अपने जीवन का परम लक्ष्य मान लिया है, उसे चाहिए कि पापकर्मों का निषेध करने वाले शास्त्रीय आदेशों का कठोरता से पालन करे और जहाँ तक हो सके गौण नियमों को यथा स्वच्छता की संस्तुति करने वाले आदेशों को सम्पन्न करे। किन्तु अन्ततः उसे प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए, जो मेरे साकार रूप के ज्ञान से पूर्ण होता है, जो शान्त होता है और जो आध्यात्मिक उत्थान के कारण मुझसे भिन्न नहीं होता।

तात्पर्य : *यमान्* शब्द मनुष्य की शुद्धता को बनाये रखने के लिए आवश्यक प्रमुख विधि-विधानों को बतलाता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में समस्त प्रामाणिक सदस्यों को मांस, मछली तथा अंडा खाना छोड़ देना चाहिए और उन्हें नशा, जुआ खेलने तथा अवैध यौन से भी बचना चाहिए। *अभिज्ञम्* शब्द यह सूचित करता है कि मनुष्य कठिन परिस्थितियों में भी ऐसे निषिद्ध कार्यों को किसी समय

सम्पन्न नहीं कर सकता। *नियमान्* शब्द कम अनिवार्य आदेशों का द्योतक है—यथा दिन में तीन बार स्नान करना। कतिपय कठिन परिस्थितियों में मनुष्य प्रतिदिन तीन बार स्नान नहीं कर सकता फिर भी वह अपना आध्यात्मिक पद बनाये रखता है। किन्तु यदि कोई कठिन परिस्थितियों में भी पापपूर्ण निषिद्ध कार्यों में संलग्न होता है, तो उसका आध्यात्मिक पतन अवश्यम्भावी है। अन्त में, जैसाकि *उपदेशामृत* में कहा गया है, मात्र विधि-विधानों में चिपके रहने से आध्यात्मिक सिद्धि नहीं मिल सकती। उसे प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए, जो *मद्-अभिज्ञम्* होता है अर्थात् ईश्वर के साकार रूप के ज्ञान से युक्त होता है। *मत्* (मुझको) शब्द प्रामाणिक गुरु को परम सत्य की निर्विशेष धारणा से युक्त होने की सम्भावना का निषेध करता है। यही नहीं, गुरु को अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण होना चाहिए, इसलिए वह *शान्त* कहलाता है। भगवान् के उद्देश्य के प्रति पूर्ण शरणागत होने से ऐसा गुरु *मद्-आत्मकम्* होता है अर्थात् भगवान् से अभिन्न होता है।

अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः ।
असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अमानी—मिथ्या अहंकार से रहित; अमत्सरः—अपने को कर्ता न मानते हुए; दक्षः—आलस्य रहित; निर्ममः—पत्नी, बच्चों, घर, समाज के ऊपर स्वामित्व के भाव के बिना.; दृढ-सौहृदः—अपने पूज्य अर्चाविग्रह स्वरूप गुरु से मैत्री के भाव में स्थिर हुआ; असत्वरः—भौतिक काम के कारण मोहग्रस्त हुए बिना; अर्थ-जिज्ञासुः—परम सत्य का ज्ञान चाहने वाला; अनसूयुः—ईर्ष्या से मुक्त; अमोघ-वाक्—व्यर्थ की बातचीत से सर्वथा मुक्त।

गुरु के सेवक अथवा शिष्य को झूठी प्रतिष्ठा से मुक्त होना चाहिए और अपने को कभी भी कर्ता नहीं मानना चाहिए। उसे सदैव सक्रिय रहना चाहिए और कभी भी आलसी नहीं होना चाहिए। उसे पत्नी, बच्चे, घर तथा समाज सहित समस्त इन्द्रिय-विषयों के ऊपर स्वामित्व के भाव को त्याग देना चाहिए। उसे अपने गुरु के प्रति प्रेमपूर्ण मैत्री की भावना से युक्त होना चाहिए और उसे कभी भी न तो पथभ्रष्ट होना चाहिए, न मोहग्रस्त। सेवक या शिष्य में सदैव आध्यात्मिक ज्ञान में आगे बढ़ने की इच्छा होनी चाहिए। उसे किसी से ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए और व्यर्थ की बातचीत से बचना चाहिए।

तात्पर्य : कोई भी व्यक्ति अपने को तथाकथित पत्नी, परिवार, घर, समाज इत्यादि का स्थायी स्वामी नहीं कह सकता। ऐसे भौतिक सम्बन्ध समुद्र की सतह पर उठने वाले बुलबुलों के समान प्रकट

तथा अप्रकट होते रहते हैं। कोई भी व्यक्ति अपने को घर, समाज तथा परिवार को बनाने वाले भौतिक तत्त्वों का स्रष्टा नहीं कह सकता। यदि यह तथ्य होता कि माता-पिता ही अपने बच्चों के शरीर के निर्माता हैं, तो वे अपने माता-पिता से पहले कभी न मरते। माता-पिता बच्चों के लिए दूसरा शरीर गढ़ देते। इसी तरह माता-पिता स्वयं भी न मरते, क्योंकि वे अपने लिए पुराने शरीरों के स्थान पर नये शरीर गढ़ लेते। वस्तुत: हर एक के शरीरों को तथा भौतिक समाजों को निर्मित करने वाले सारे तत्त्वों को ईश्वर ही बनाता है। इसलिए इसके पूर्व कि मृत्यु इन वस्तुओं को हमारे अधिकार से खींच ले, हमें इनका उपयोग स्वेच्छा से उस गुरु की प्रेमाभक्ति में करना चाहिए, जो भगवान् कृष्ण का प्रामाणिक प्रतिनिधि होता है। तब ऐसी वस्तुएँ शोक का कारण न बन कर सुख के कारण बन सकेंगी।

जायापत्यगृहक्षेत्रस्वजनद्रविणादिषु ।
उदासीन: समं पश्यन्सर्वेष्वर्थमिवात्मन: ॥ ७॥

शब्दार्थ

जाया—पत्नी; अपत्य—सन्तान; गृह—घर; क्षेत्र—भूमि; स्वजन—सम्बन्धी तथा मित्र; द्रविण—बैंक खाता; आदिषु—इत्यादि में; उदासीन:—अन्यमनस्क रहकर; समम्—समान रूप से; पश्यन्—देखते हुए; सर्वेषु—समस्त; अर्थम्—उद्देश्य; इव—सदृश; आत्मन:—अपना।

मनुष्य को सभी परिस्थितियों में अपने जीवन के असली स्वार्थ (उद्देश्य) को देखना चाहिए और इसीलिए पत्नी, सन्तान, घर, भूमि, रिश्तेदारों, मित्र, सम्पत्ति इत्यादि से विरक्त रहना चाहिए।

तात्पर्य : भगवद्भक्त की मान्यता होती है कि उसकी पत्नी, बच्चे, घर, भूमि, मित्र तथा धन भगवान् की सेवा में लगाये जाने के निमित्त हैं। अतएव वह अपने परिवार तथा मित्रों की इन्द्रियतृप्ति के लिए उन्मत्तता से प्रबन्ध नहीं करता। वह न तो अपनी पत्नी तथा अपने बच्चों का स्वामी होने की झूठी प्रतिष्ठा भोगने का इच्छुक रहता है, न ही अपने मित्रों तथा समाज से प्रतिष्ठा पाने के लिए चिन्तित रहता है। इस तरह वह किसी से द्वेष नहीं रखता और आत्म-साक्षात्कार के मामले में आलस्य नहीं करता। वह स्वामित्व के झूठे ज्ञान से मुक्त रहता है और भगवान् का ज्ञान विकसित करने के लिए सदैव उत्सुक रहता है। वह झूठे अहंकार से मुक्त रहता है और व्यर्थ की भौतिक बातों से अपने को दूर रखता है। इस तरह वह स्थिर होता है, सनकी नहीं होता और अपने गुरु के चरणकमलों पर प्रेमपूर्ण मित्रता के भाव से दृढ़ रहता है।

यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि कोई व्यक्ति झूठे स्वामित्व से अपने को किस तरह मुक्त रख सकता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है। सामान्य व्यक्ति अधिकाधिक धन एकत्र करने के लिए अत्यधिक उत्सुक रहता है और वह स्टॉक, बाँड, प्रतिभूतियों, बैंक खातों, जायदाद, सोना इत्यादि के रूप में अपनी सम्पत्ति संचय करता है। जब तक ये विभिन्न संपत्तियाँ उसकी आर्थिक सम्पन्नता में योगदान करती हैं, तब तक वह इन सबों को समान दृष्टि से देखता है और उन्हें अपनी मानता है। किन्तु यदि सरकार कर के रूप में इनमें से कुछ संपत्तियों को ले लेती है या दुर्भाग्यवश व्यापार में उनकी हानि हो जाती है, तो उसे इनका स्वामित्व छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इसी तरह हर व्यक्ति को समझदार होना चाहिए कि असंख्य वस्तुओं पर उसका स्वामित्व स्थायी नहीं है, अतएव उसे इन वस्तुओं के प्रति विरक्ति उत्पन्न करनी चाहिए। यदि वह भगवान् तथा उनके शुद्ध-भक्त गुरु के साथ सख्य भाव उत्पन्न नहीं करता, तो निश्चित रूप से वह समाज, मैत्री तथा प्रेम के जंजाल में फँसा रहेगा। तब वह भौतिक पद में ही बँधा रहेगा और स्थायी सुख की कोई आशा नहीं कर सकता।

विलक्षणः स्थूलसूक्ष्माद्देहादात्मेक्षिता स्वदृक् ।
यथाग्निर्दारुणो दाह्याद्दाहकोऽन्यः प्रकाशकः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

विलक्षणः—विभिन्न गुणों वाला; स्थूल—स्थूल; सूक्ष्मात्—तथा सूक्ष्म; देहात्—शरीर से; आत्मा—आत्मा; ईक्षिता—द्रष्टा; स्व-दृक्—स्वतः प्रकाशित; यथा—जिस तरह; अग्निः—अग्नि; दारुणः—लकड़ी से; दाह्यात्—जलाई जाने वाली; दाहकः—जलने वाली; अन्यः—दूसरी; प्रकाशकः—प्रकाश देने वाली।

जिस तरह जलने और प्रकाश करने वाली अग्नि उस लकड़ी (ईंधन) से भिन्न होती है, जो प्रकाश देने के लिए जलाई जाती है, उसी तरह शरीर के भीतर का द्रष्टा, स्वतः प्रकाशित आत्मा, उस भौतिक शरीर से भिन्न होता है, जिसे चेतना से प्रकाशित करना पड़ता है। इस तरह आत्मा तथा शरीर में भिन्न भिन्न गुण होते हैं और वे पृथक् पृथक् हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर विश्लेषण विधि से यह प्रदर्शित किया गया है कि मनुष्य को झूठे ही अहंकार की पहचान शरीर से नहीं करनी चाहिए। ऐसी गलत पहचान मिथ्या अहंकार या भौतिक मोह कहलाती है। इस प्रसंग में यह प्रश्न किया जा सकता है—चूँकि यह भलीभाँति ज्ञात है कि भगवान् बद्ध आत्मा को प्रकाशित करते हैं, तो फिर इस श्लोक में *स्व-दृक्* शब्द का प्रयोग क्यों हुआ है? श्रील विश्वनाथ

चक्रवर्ती ठाकुर ने व्याख्या की है कि यद्यपि भगवान् ही जीव को चेतना प्रदान करते हैं, किन्तु भगवान् की शक्ति से युक्त होने के कारण स्वयं जीव में अपनी शुद्ध चेतना को पुनर्जागृत करने और बढ़ाने की क्षमता होती है। इस तरह गौण रूप में उसे स्वतः प्रकाशित माना जा सकता है। यहाँ सोने या चाँदी के बने गुम्बद का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है, जो सूर्य की प्रकाशमय किरणों को परावर्तित कर देता है। यद्यपि प्रकाश सूर्य से आता है, किन्तु सोना तथा चाँदी में निहित स्वाभाविक गुणों को चमकीले परावर्तन का कारण माना जा सकता है, क्योंकि अन्य वस्तुओं में सूर्य के प्रकाश को परावर्तित करने के उपयुक्त गुण नहीं पाये जाते। इसी तरह आत्मा को *स्व-दृक्* माना जा सकता है, क्योंकि उसमें वह गुण पाया जाता है, जिससे वह भगवान् की शक्ति को चमकीले रूप में परावर्तित कर सकता है, ठीक उसी तरह जैसे सोने अथवा चाँदी का गुम्बद अपने परावर्तन गुणों के कारण चमकता है।

इस श्लोक में शरीर तथा आत्मा के विभिन्न गुणों को बतलाने वाला अच्छा उदाहरण दिया गया है। जलने और प्रकाश करने वाली अग्नि उस काठ से भिन्न होती है, जिसे प्रकाश पाने के लिए जलाया जाता है। किन्तु यह कहा जा सकता है कि काठ के भीतर अग्नि अप्रकट रूप में उपस्थित रहती है। इसी प्रकार अज्ञान के बद्ध जीवन में आत्मा शरीर में उपस्थित रहता है, यद्यपि वह अप्रकट रहता है। जीव की प्रकाशित अवस्था की तुलना काठ के भीतर से अग्नि को जगाने से की जा सकती है। जिस तरह अग्नि काठ को जलाकर तुरन्त राख कर देती है, उसी तरह प्रकाशित किये जाने पर आत्मा अज्ञान के अंधकार को जलाकर राख कर देता है। चूँकि हम शरीर के प्रति सचेत हैं, इसलिए हम कह सकते हैं कि शरीर चेतना द्वारा प्रकाशित है और यह चेतना आत्मा की शक्ति या उसका लक्षण है। शरीर तथा आत्मा को एक मानना वैसी ही मूर्खता है, जिस तरह अग्नि तथा काठ को एक मान लेना। अग्नि तथा काठ अथवा आत्मा तथा शरीर के मध्य जो घनिष्ठ आकस्मिक सम्बन्ध है, उससे इस बात में कोई अन्तर नहीं आता कि अग्नि काठ से भिन्न है अथवा आत्मा सदैव ही शरीर से भिन्न है।

निरोधोत्पत्त्यणुबृहन्नानात्वं तत्कृतान्गुणान् ।
अन्तः प्रविष्ट आधत्त एवं देहगुणान्परः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

निरोध—प्रसुप्ति; उत्पत्ति—प्राकट्य; अणु—लघु; बृहत्—विशाल; नानात्वम्—लक्षणों का प्रकार; तत्-कृतान्—उसके द्वारा उत्पन्न; गुणान्—गुण; अन्तः—भीतर; प्रविष्टः—प्रवेश करके; आधत्ते—स्वीकार करता है; एवम्—इस प्रकार; देह—भौतिक शरीर के; गुणान्—गुणों को; परः—दिव्य जीव (आत्मा)।

ईंधन की दशा के अनुसार अग्नि जिस तरह सुप्त, प्रकट, क्षीण, तेज जैसे विविध रूपों में प्रकट हो सकती है, उसी तरह आत्मा भौतिक शरीर में प्रवेश करता है और शरीर के विशिष्ट लक्षणों को स्वीकार करता है।

तात्पर्य : यद्यपि किसी वस्तु विशेष में अग्नि प्रकट और लुप्त हो सकती है, किन्तु अग्नि तत्त्व सदैव विद्यमान रहता है। इसी प्रकार नित्य आत्मा उपयुक्त शरीर के भीतर प्रकट होता है और फिर उस शरीर से लुप्त हो जाता है, परन्तु आत्मा का अस्तित्व सदैव बना रहता है। जिस प्रकार अग्नि अपने ईंधन से भिन्न है, उसी प्रकार आत्मा शरीर से भिन्न है। दियासलाई की काड़ी से लघु अग्नि प्रकट होती है किन्तु गैसोलीन की टंकी के विस्फोट से आकाश तक लपटें फैल जाती हैं। तो भी अग्नि एक है। इसी तरह एक आत्मा ब्रह्मा के शरीर में प्रकट हो सकता है और दूसरा चींटी के शरीर में, किन्तु गुण की दृष्टि से आत्मा प्रत्येक शरीर में एक-सा है। अज्ञान के कारण हम आत्मा पर शरीर के लक्षणों को आरोपित करते हैं और इस तरह हम यह कहते हैं कि यह व्यक्ति अमरीकी, रूसी, चीनी, अफ्रीकी या मेक्सिकोई है या यह कि वह व्यक्ति जवान है या बूढ़ा है। यद्यपि ऐसी उपाधियाँ शरीर पर लागू होती हैं, किन्तु वे आत्मा पर लागू नहीं होतीं, जिसे यहाँ पर *परः* या दिव्य जीव कहा गया है। जब तक मोहग्रस्त आत्मा भगवान् से शत्रु-भाव रखता है, तब तक स्थूल तथा सूक्ष्म देहों की उपाधियाँ उसे प्रच्छन्न किये रहेंगी और उसे अंधकार में रखेंगी। यदि मनुष्य बौद्धिक रूप से अपनी पहचान जीवन के विविध भौतिकतावादी विचारों से करता है, तो वह सूक्ष्म मन द्वारा प्रच्छन्न हो जाता है। अन्ततोगत्वा हर वस्तु जिसका अस्तित्व है, वह परब्रह्म कृष्ण का अंश होती है। जब जीव इसे समझ लेता है, तो वह *निरुपाधि* बन जाता है। यही उसकी स्वाभाविक स्थिति है।

योऽसौ गुणैर्विरचितो देहोऽयं पुरुषस्य हि ।
संसारस्तन्निबन्धोऽयं पुंसो विद्या च्छिदात्मनः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यः—जो; असौ—वह (सूक्ष्म शरीर); गुणैः—भौतिक गुणों द्वारा; विरचितः—निर्मित; देहः—शरीर; अयम्—यह (स्थूल शरीर); पुरुषस्य—भगवान् का; हि—निश्चय ही; संसारः—जगत; तत्-निबन्धः—उससे बँधा हुआ; अयम्—यह; पुंसः—जीव का; विद्या—ज्ञान; छित्—छिन्न करने वाला; आत्मनः—आत्मा का।

सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों की उत्पत्ति प्रकृति के गुणों से होती है, जो भगवान् की शक्ति से विस्तार पाते हैं। जब जीव झूठे ही स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के गुणों को अपने ही असली स्वभाव के रूप में मान लेता है, तो संसार का जन्म होता है। किन्तु यह मोहमयी अवस्था असली ज्ञान द्वारा नष्ट की जा सकती है।

तात्पर्य : जहाँ तक ईंधन तथा अग्नि की उपमा शरीर तथा आत्मा से दिये जाने की बात है, यह तर्क किया जा सकता है कि कुछ हद तक अग्नि ईंधन पर निर्भर करती है और वह उसके बिना नहीं रह सकती। चूँकि हमें अग्नि के अस्तित्व का अनुभव ईंधन से पृथक् रूप में नहीं है, तो भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि यह किस तरह सम्भव है कि जीव शरीर से पृथक् रहे, उससे प्रच्छन्न होकर अन्त में पृथक् हो जाय। जीव के स्वभाव को भगवान् की *विद्या* द्वारा ही समझा जा सकता है। *विद्या* अर्थात् असली ज्ञान से भौतिक जगत को खण्ड खण्ड किया जा सकता है और इसी जीवन में आध्यात्मिक सत्य का अनुभव हो सकता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार, हमारा अस्तित्व कृत्रिम रूप से आरोपित है। भगवान् की अचिन्त्य अविद्या द्वारा स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के गुण जीव पर मनोवैज्ञानिक रूप से लादे जाते हैं और शरीर के साथ गलत पहचान करने से जीव अनेक मोहयुक्त कर्म करने लगता है। जैसाकि पिछले अध्याय में बतलाया गया है, वर्तमान शरीर वृक्ष तुल्य है, जो अगले शरीर के कर्म-बीज उत्पन्न करता है। किन्तु इस अज्ञान के चक्र को दिव्य ज्ञान के द्वारा खण्ड खण्ड किया जा सकता है, जैसाकि भगवान् ने बतलाया है।

दुर्भाग्य से बद्धजीव, भगवान् से शत्रुतावश, उनके द्वारा बतलाये पूर्ण ज्ञान को ग्रहण नहीं करते। बजाय इसके वे स्थूल तथा सूक्ष्म मोह में पड़े रहते हैं। किन्तु यदि जीव भगवान् के ज्ञान को मान ले, तो उसकी सारी स्थिति सुधर सकती है और वह भगवान् के साथ सीधे संपर्क द्वारा पूर्ण ज्ञान का सच्चिदानन्द स्वरूप जीवन प्राप्त कर सकता है।

तस्माज्जिज्ञासयात्मानमात्मस्थं केवलं परम् ।
सङ्गम्य निरसेदेतद्वस्तुबुद्धिं यथाक्रमम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; जिज्ञासया—ज्ञान के अनुशीलन द्वारा; आत्मानम्—भगवान् को; आत्म—अपने भीतर; स्थम्—स्थित; केवलम्—शुद्ध; परम्—दिव्य तथा सर्वश्रेष्ठ; सङ्गम्य—विज्ञान द्वारा पास जाकर; निरसेत्—त्याग दे; एतत्—यह; वस्तु—भौतिक वस्तुओं के भीतर; बुद्धिम्—वास्तविकता की धारणा; यथा-क्रमम्—धीरे धीरे, पदश: ।.

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि ज्ञान के अनुशीलन द्वारा वह अपने भीतर स्थित भगवान् के निकट पहुँचे। भगवान् के शुद्ध दिव्य अस्तित्व को समझ लेने पर मनुष्य को चाहिए कि वह धीरे धीरे भौतिक जगत को स्वतंत्र सत्ता मानने के झूठे विचार को त्याग दे।

तात्पर्य : *यथाक्रमम्* शब्द का अर्थ है कि मनुष्य अपने को स्थूल भौतिक शरीर से भिन्न अनुभव करते हुए धीरे धीरे भौतिक मानसिक कार्यों से विरक्त कर ले। इस श्लोक में *एतद् वस्तु-बुद्धिम्* का अर्थ है भौतिक जगत के पृथक् अस्तित्व को देखना, न कि हर वस्तु को वस्तुत: परब्रह्म से उद्भूत देखना।

जब मनुष्य अपने को शाश्वत आध्यात्मिक रूप में पहचान लेता है, तो उसे ज्ञान का असली फल प्राप्त होता है। भगवान् तो शाश्वत रूप से अपने नित्य रूप में प्रकट होते हैं और इसी तरह जीव भी भगवान् के प्रेमी सेवक के रूप में अपने नित्य रूप में प्रकट होता है। जब हम यह झूठी कल्पना कर लेते हैं कि नश्वर, मोहमय भौतिक पदार्थ सत्य है, तो हमारे नित्य आध्यात्मिक रूप का ज्ञान अज्ञान से आच्छादित रहता है। किन्तु यदि मनुष्य हर वस्तु के भीतर भगवान् की परम उपस्थिति का ध्यान करता है, तो वह अपने सामान्य आनन्दमय आध्यात्मिक जीवन में लौट सकता है। जैसाकि इस श्लोक में *जिज्ञासया* शब्द से सूचित होता है, हर मनुष्य को परम सत्य को समझने का गम्भीर प्रयास करना चाहिए।

आचार्योऽरणिराद्य: स्यादन्तेवास्युत्तरारणि: ।
तत्सन्धानं प्रवचनं विद्यासन्धि: सुखावह: ॥ १२॥

शब्दार्थ

आचार्य:—गुरु; अरणि:—यज्ञ अग्नि जलाने में प्रयुक्त पवित्र काष्ठ; आद्य:—नीचे रखा; स्यात्—माना जाता है; अन्ते-वासी—शिष्य; उत्तर—सब से ऊपर; अरणि:—जलाने वाला काष्ठ; तत्-सन्धानम्—ऊपरी तथा निचले काष्ठ को जोड़ने वाली बीच की लकड़ी, (मंथन काष्ठ); प्रवचनम्—आदेश; विद्या—दिव्य ज्ञान; सन्धि:—घर्षण से उत्पन्न अग्नि, जो पूरे काष्ठ में फैल जाती है; सुख—सुख; आवह:—लाकर।.

गुरु की उपमा यज्ञ-अग्नि के निचले काष्ठ से, शिष्य की उपमा ऊपरी काष्ठ से तथा गुरु द्वारा दिये जाने वाले प्रवचनों की उपमा इन दोनों काष्ठों के बीच में रखी तीसरी लकड़ी (मंथन काष्ठ) से दी जा सकती है। गुरु द्वारा शिष्य को दिया गया दिव्य ज्ञान इनके संसर्ग से उत्पन्न होने वाली

अग्नि के समान है, जो अज्ञान को जलाकर भस्म कर डालता है और गुरु तथा शिष्य दोनों को परम सुख प्रदान करता है।

तात्पर्य : जब अज्ञान का अंधकार जलाकर राख कर दिया जाता है, तो अज्ञान का घातक जीवन भी समूल नष्ट हो जाता है और तब मनुष्य पूरे ज्ञान से अपने सही स्वार्थ के लिए कर्म कर सकता है। इस श्लोक में *आद्य:* का अर्थ है ''आदि'' और यह गुरु का सूचक है, जिसकी उपमा निचले काष्ठ से दी गई है। दिव्य ज्ञान अग्नि के समान गुरु से शिष्य तक फैलता है। जिस तरह दो काष्ठ-खण्डों के घर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है, उसी तरह कृष्ण के प्रतिनिधि गुरु तथा निष्ठावान शिष्य के मध्य प्रामाणिक संसर्ग से ज्ञान की अग्नि उत्पन्न होती है। जब शिष्य गुरु के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है, तो वह अपने आदि आध्यात्मिक रूप का पूर्ण ज्ञान स्वयमेव प्राप्त कर लेता है।

वैशारदी सातिविशुद्धबुद्धि-
र्धुनोति मायां गुणसम्प्रसूताम् ।
गुनांश्च सन्दह्य यदात्ममेतत्
स्वयं च शांयत्यसमिद्यथाग्निः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

वैशारदी—दक्ष (विशारद) से प्राप्त; सा—यह; अति-विशुद्ध—नितान्त शुद्ध; बुद्धिः—बुद्धि या ज्ञान; धुनोति—विकर्षित करता है; मायाम्—माया या मोह को; गुण—प्रकृति के गुणों से; सम्प्रसूताम्—उत्पन्न; गुणान्—प्रकृति के गुणों को; च—भी; सन्दह्य—भस्म करके; यत्—जिन गुणों से; आत्मम्—निर्मित; एतत्—यह (जगत); स्वयम्—अपने आप; च—भी; शांयति—शान्त कर दिया जाता है; असमित्—ईंधन के बिना; यथा—जिस तरह; अग्निः—अग्नि।

दक्ष गुरु से विनयपूर्वक श्रवण करने से दक्ष शिष्य में शुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है, जो प्रकृति के तीन गुणों से उत्पन्न भौतिक मोह के प्रहार को पीछे भगा देता है। अन्त में यह शुद्ध ज्ञान स्वयं ही समाप्त हो जाता है, जिस तरह ईंधन का कोष जल जाने पर अग्नि ठंडी पड़ जाती है।

तात्पर्य : *वैशारदी* शब्द का अर्थ है *विशारद* (दक्ष) से व्युत्पन्न। पूर्ण ज्ञान तो दक्ष गुरु से मिलता है और जब ऐसा ज्ञान दक्ष शिष्य द्वारा सुना जाता है, तो यह भौतिक मोह की तरंगों को मोड़ देता है। चूँकि भगवान् की माया-शक्ति भौतिक जगत के भीतर शाश्वत क्रियाशील रहती है, अतएव मोह को विनष्ट करने की सम्भावना नहीं रहती। फिर भी मनुष्य अपने हृदय के भीतर के मोह को तो नष्ट कर ही सकता है। इसमें सफल होने के लिए शिष्य को चाहिए कि वह दक्ष गुरु को प्रसन्न करने में पटु हो। ज्यों ज्यों मनुष्य कृष्णभावनामृत की पूर्णावस्था के निकट पहुँचता जाता है और सर्वत्र भगवान् की

उपस्थिति का अनुभव करने लगता है, त्यों त्यों उसका ध्यान दिव्य पद की ओर खिसक जाता है। उस समय शुद्ध ज्ञान अर्थात् मोह की सतत् सैद्धान्तिक जागरूकता स्वयं ही कम हो जाता है, जिस तरह अग्नि मन्द पड़ जाती है और ईंधन समाप्त हो जाने पर बुझ जाती है।

श्रील मध्वाचार्य ने अनेक वैदिक शास्त्रों से यह दिखाने के लिए उद्धरण दिये हैं कि माया उस डाइन के समान है, जो बद्धजीवों का पीछा करती रहती है। बद्धजीवों को तीन गुणों में से, जो भी गुण अच्छा लगता है, उसे ही माया प्रदान करती है, किन्तु ऐसी भेंटें उस अग्नि के तुल्य होती हैं, जो हृदय को भस्म कर देती है। इसलिए यह समझ लेना चाहिए कि यह जगत नरक तुल्य है, जिसमें किसी को कोई स्थायी पद नहीं मिलता। बाहर से हमें अनेक वस्तुओं का अनुभव होता है, भीतर भीतर हम अपने अनुभव का मनन करते हैं और भावी कार्य की योजनाएँ बनाते हैं। इस प्रकार हम बाहर तथा भीतर से अज्ञान के शिकार हैं। असली ज्ञान वेदों से आता है या फिर पूर्ण विद्या के रूप में भगवान् से। यदि हम भगवान् की शरण में जाकर पूर्णरूपेण कृष्णभावनाभावित हो जाते हैं, तो आनन्द की कमी नहीं रहती, क्योंकि भगवान् आनन्द के आगार हैं और उनके भक्त इस आगार के भीतर मुक्त भाव से विचरण करते हैं।

अथैषाम्कर्मकर्तृणां भोक्तृणां सुखदु:खयो: ।
नानात्वमथ नित्यत्वं लोककालागमात्मनाम् ॥ १४॥
मन्यसे सर्वभावानां संस्था ह्यौत्पत्तिकी यथा ।
तत्तदाकृतिभेदेन जायते भिद्यते च धी: ॥ १५॥
एवमप्यङ्ग सर्वेषां देहिनां देहयोगत: ।
कालावयवत: सन्ति भावा जन्मादयोऽसकृत् ॥ १६॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; एषाम्—इनका; कर्म—सकाम कर्म; कर्तृणाम्—कर्ताओं के; भोक्तृणाम्—भोक्ताओं के; सुख-दु:खयो:—सुख तथा दुख में; नानात्वम्—विविधता; अथ—और भी; नित्यत्वम्—नित्यता; लोक—भौतिकतावादी जगत की; काल—समय की; आगम—सकाम कर्म की संस्तुति करने वाला वैदिक वाङ्मय; आत्मनाम्—तथा आत्मा; मन्यसे—यदि तुम सोचते हो; सर्व—समस्त; भावानाम्—भौतिक वस्तुओं का; संस्था—वास्तविक स्थिति; हि—निश्चय ही; औत्पत्तिकी—आदि, मूल; यथा—जिस तरह; तत्-तत्—विभिन्न वस्तुओं में से; आकृति—उनके रूपों के; भेदेन—अन्तर से; जायते—उत्पन्न होता है; भिद्यते—बदलता है; च—भी; धी:—बुद्धि या ज्ञान; एवम्—इस प्रकार; अपि—यद्यपि; अङ्ग—हे उद्धव; सर्वेषाम्—समस्त; देहिनाम्—देहधारियों में से; देह-योगत:—भौतिक शरीर के संपर्क से; काल—समय के; अवयवत:—अंग अंग या अंश अंश करके; सन्ति—हैं; भावा:—दशाएँ; जन्म—जन्म; आदय:—इत्यादि; असकृत्—निरन्तर।

हे उद्धव, मैंने तुम्हें पूर्ण ज्ञान बतला दिया। किन्तु ऐसे भी दार्शनिक हैं, जो मेरे निष्कर्ष का प्रतिवाद करते हैं। उनका कहना है कि जीव का स्वाभाविक पद तो सकाम कर्म में निरत होना है और वे जीव को उसके कर्म से उत्पन्न सुख-दुख के भोक्ता के रूप में देखते हैं। इस भौतिकतावादी दर्शन के अनुसार जगत, काल, प्रामाणिक शास्त्र तथा आत्मा—ये सभी विविधतायुक्त तथा शाश्वत हैं और विकारों के निरन्तर प्रवाह के रूप में विद्यमान रहते हैं। यही नहीं, ज्ञान एक अथवा नित्य नहीं हो सकता, क्योंकि यह विविध एवं परिवर्तनशील पदार्थों से उत्पन्न होता है। फलस्वरूप ज्ञान स्वयं भी परिवर्तनशील होता है। हे उद्धव, यदि तुम इस दर्शन को मान भी लो, तो भी जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग सदा बने रहेंगे, क्योंकि सारे जीवों को काल के प्रभाव के अधीन भौतिक शरीर स्वीकार करना होगा।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक में भगवान् कृष्ण ने उद्धव से यह कहा, ''हे उद्धव! अभी मैंने जो उपदेश दिये, उनमें मैंने जीवन के वास्तविक उद्देश्य की स्पष्टोक्ति कर दी है। किन्तु कुछ लोग ऐसे हैं, विशेष रूप से जैमिनि कवि के अनुयायी, जो मेरे निष्कर्ष का प्रतिवाद करते हैं। यदि तुम उनके ज्ञान को उपयुक्त समझते हो और मेरे उपदेशों को स्वीकार नहीं करते, तो निम्नलिखित व्याख्या सुनो।

जैमिनि के अनुयायियों के अनुसार जीव मूलत: तथा स्वभावत: सकाम कर्मों का कर्ता है और उसके सुख-दुख उसके अपने कर्मों के फल होते हैं। जीवों द्वारा भोग प्राप्त किये जाने वाला यह जगत, उनके द्वारा भोगा गया समय, भोग प्राप्त करने के साधन बतलाने वाले प्रामाणिक शास्त्र तथा वे सूक्ष्म शरीर, जिनसे जीव भोग का अनुभव करता है—ये सारे के सारे न केवल नाना रूपों में विद्यमान रहते हैं, अपितु वे शाश्वत भी हैं।

जीव को भौतिक पदार्थों तथा स्थितियों की नश्वरता देखकर अथवा जगत को माया के रूप में देखकर भौतिक इन्द्रियतृप्ति से विराग उत्पन्न करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसे भौतिकतावादी दर्शन के अनुसार फूलमाला, चन्दन या सुन्दर स्त्री जैसे भौतिक पदार्थ विशिष्ट प्राकट्यों में क्षणिक होते हैं, किन्तु सृष्टि तथा संहार के प्राकृतिक प्रवाह के माध्यम से वे निरन्तर विद्यमान रहते हैं। दूसरे शब्दों में, यद्यपि किसी स्त्रीविशेष का स्वरूप नश्वर है, किन्तु भौतिक जगत में सुन्दर स्त्रियाँ सदैव रहेंगी ही। इस

तरह धर्मशास्त्रों के अनुसार सकाम अनुष्ठान (कर्मकाण्ड) सावधानी से करने से मनुष्य जन्म-जन्मांतर स्त्रियों तथा सम्पत्ति से भोग्य सम्पर्क बनाये रह सकता है। इस तरह मनुष्य की इन्द्रियतृप्ति शाश्वत बनी रहेगी।

''जैमिनि दार्शनिकों का यह भी कहना है कि ऐसा कोई समय नहीं था, जब यह जगत उस रूप में विद्यमान न रहा हो, जैसाकि आज है, जिसका अर्थ यह है कि इस जगत के बनाने वाला कोई परम नियन्ता नहीं है। उनका दावा है कि इस जगत की व्यवस्था सत्य तथा उपयुक्त है—वह मायामय नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी कहना है कि आत्मा के आदि शाश्वत रूप का कोई नित्य ज्ञान नहीं है। उनका कहना है कि ज्ञान वस्तुत: किसी परम सत्य से नहीं अपितु भौतिक वस्तुओं के अन्तर से उत्पन्न होता है। इसलिए ज्ञान शाश्वत नहीं प्रत्युत परिवर्तनशील है। इस कथन में निहित कल्पना यह है कि ऐसा आत्मा नहीं, जो एक अपरिवर्तनशील सत्य के शाश्वत अविरत ज्ञान से युक्त हो। प्रत्युत चेतना अथवा ज्ञान स्वभाव से ही निरन्तर रूपान्तरणशील है। किन्तु उनका कहना है कि चेतना के निरन्तर रूपान्तरित होने से नित्यता का खण्डन नहीं होता। उनका कहना है कि चेतना शाश्वत रूप से विद्यमान रहती है, किन्तु एक ही रूप में नहीं।

''इस तरह जैमिनि के अनुयायी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ज्ञान का रूपान्तरण उसकी नित्यता का निषेध नहीं करता, प्रत्युत उनका कहना है कि ज्ञान अपने रूपान्तरण के निरन्तर स्वभाव के भीतर शाश्वत रूप से विद्यमान रहता है। इसलिए ये अनुयायी वैराग्य के पथ पर न आकर नियमित इन्द्रियतृप्ति के पथ पर आते हैं, क्योंकि *मुक्ति* की अवस्था में जीव के अनेक इन्द्रियाँ नहीं होंगी और तब भौतिक ज्ञान का रूपान्तर सम्भव नहीं हो पायेगा। ऐसे दार्शनिकों का विचार है कि मुक्ति की ऐसी अपरिवर्तनशील अवस्था की प्राप्ति जीव की सहज क्रियाशीलता को पंगु बना देगी और यह उसके हित में नहीं होगा। ऐसे भौतिकतावादी दार्शनिकों को *निवृत्ति* मार्ग रोचक नहीं लगता। ऐसे भौतिकतावादी दर्शन को यदि हम तर्क के तौर पर वैध मान भी लें, तो यह आसानी से दिखलाया जा सकता है कि नियमित इन्द्रियतृप्ति के मार्ग से जीव को तमाम अवांछित और कष्टकारक परिणाम उठाने पड़ सकते हैं। इसलिए भौतिकतावादी दृष्टिकोण से भी वैराग्य वांछनीय है। भौतिक काल दिन, सप्ताह, मास, वर्ष जैसे विभागों में बँटा हुआ है और इस भौतिक काल द्वारा ही जीव को बारम्बार जन्म, मृत्यु, जरा तथा

व्याधि का कष्ट उठाना पड़ता है। ऐसे वास्तविक कष्ट पूरे विश्व को उठाने पड़ते हैं, यह सर्वविदित है।'' श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का कहना है कि इस प्रकार भगवान् कृष्ण ने उद्धव को भौतिकतावादी दर्शन के दोष बतलाये।

हम इसके आगे यह कह सकते हैं कि यदि कोई झूठे तौर पर जैमिनि तथा उनके असंख्य आधुनिक अनुयायियों के नास्तिक दर्शन को स्वीकार करता है, जो जीव जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के कष्ट में सदा फँसा रहता है। यह घटिया नास्तिक दर्शन इन्द्रियतृप्ति को जीवन के एकमात्र लक्ष्य के रूप में प्रोत्साहन देता है, किन्तु ऐसा होने पर जीव नियमित इन्द्रियतृप्ति को अपनाने की गलती करेगा, तो उसे अन्तत: नरक जाना पड़ेगा। भगवान् कृष्ण उद्धव से स्वयं कह रहे हैं कि यह भौतिकतावादी दर्शन मिथ्या है और जीव के वास्तविक हित में नहीं है।

तत्रापि कर्मणां कर्तुरस्वातन्त्र्यं च लक्ष्यते ।
भोक्तुश्च दुःखसुखयोः को न्वर्थो विवशं भजेत् ॥ १७॥

शब्दार्थ

तत्र—सुख प्राप्त करने की क्षमता के मामले में; अपि—इससे भी आगे; कर्मणाम्—सकाम कर्मों के; कर्तुः—कर्ता के; अस्वातन्त्र्यम्—स्वतंत्रता का अभाव; च—भी; लक्ष्यते—स्पष्ट दिखाता है; भोक्तुः—भोक्ता का; च—भी; दु:ख-सुखयोः—दुख तथा सुख; कः—क्या; नु—निस्सन्देह; अर्थः—महत्त्व; विवशम्—असंयमी के लिए; भजेत्—प्राप्त किया जा सकता है।

यद्यपि सकाम कर्म करने वाला शाश्वत सुख की इच्छा करता है, किन्तु यह स्पष्ट देखने में आता है कि भौतिकतावादी कर्मीजन प्रायः दुखी रहते हैं और कभी-कभी ही तुष्ट होते हैं। इस तरह यह सिद्ध होता है कि वे न तो स्वतंत्र होते हैं, न ही अपना भाग्य उनके नियंत्रण में होता है। जब कोई व्यक्ति सदा ही दूसरे के नियंत्रण में रह रहा हो, तो फिर वह अपने सकाम कर्मों से किसी महत्वपूर्ण परिणाम की आशा कैसे रख सकता है?

तात्पर्य : यद्यपि भौतिकतावादी लोग कृष्णभावनामृत का बहिष्कार करके क्षणिक इन्द्रियतृप्ति के पीछे लगे रहते हैं, किन्तु यह इन्द्रियतृप्ति भी प्रायः उनकी पहुँच के बाहर होती है। यदि कोई व्यक्ति अपने भाग्य को वश में कर पाता, तो फिर वह अपने लिए समस्याएँ क्यों उत्पन्न करता? कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति अपने या अपने प्रियजनों पर मृत्यु, बुढ़ापा या रोग क्यों लादेगा? मनुष्य को यह मानना होगा कि ये अवांछित कष्ट किसी उच्च शक्ति द्वारा उस पर लादे जा रहे हैं। चूँकि हम स्पष्टतया सर्वोच्च

सत्ता के अधीन हैं, इसलिए ऐसा नास्तिकतावादी दर्शन, जो मनुष्य को केवल सकाम कर्म करने और सुखी जीवन लाने का उपदेश देता हो, नितान्त अपूर्ण है।

सुख-दुख तो काल के प्रभाव से उत्पन्न हैं। जब कोई स्त्री गर्भवती होती है, तो उसका पति, उसके सम्बन्धी तथा इष्टमित्र उत्सुकतापूर्वक शिशु-जन्म की प्रतीक्षा करते हैं। समय बीतने पर जब शिशु जन्मता है, तो सबों को परम सुख होता है। किन्तु ज्यों ज्यों बालक वृद्ध होता है और अन्त में जब वह मरता है, तो वही कालक्रम कष्ट का कारण बन जाता है। अज्ञानी व्यक्ति व्यर्थ ही उन वैज्ञानिकों की सहायता के लिए मुँह ताकते हैं, जो मृत्यु को रोकने के लिए अपनी प्रयोगशालाओं में बड़ी तेजी से तथा निरर्थक ही कार्य करते हैं। आधुनिककाल में जीवन की असुविधाओं को दूर करने के लिए अविष्कार किये गये हैं, किन्तु इनसे विश्व-भर के करोड़ों लोगों को असहनीय असुविधा ही हुई है। केवल महामूर्ख व्यक्ति ही यह प्रस्ताव करेगा कि परम नियन्ता कोई नहीं है और मनुष्य कुशल भौतिक कार्यों के द्वारा अनुकूल फल पा सकता है। अन्ततोगत्वा सारे कार्यकलाप व्यर्थ हैं, क्योंकि उनकी चरम परिणति संहार होती है। यदि मोटर-कार चलाने वालों के पास सीमित नियंत्रण रहे, तो स्थिति और भी गम्भीर होती है, क्योंकि इससे दुर्घटना होनी अनिवार्य है। इसी तरह यद्यपि हम शरीर को सुख की ओर ले जाना चाहते हैं, किन्तु शारीरिक आवश्यकताओं पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं होता, अतएव दुर्घटना अवश्यम्भावी है। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.३) में कहा गया है—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

"हे परन्तप! जो लोग भक्ति में श्रद्धा नहीं रखते वे मुझे प्राप्त नहीं कर पाते। अतः वे इस भौतिक जगत में जन्म-मृत्यु के मार्ग पर वापस आते रहते हैं।" यदि कोई भगवान् कृष्ण का भक्त नहीं है, तो उसके कर्मों का अन्तिम परिणाम 'मृत्यु-संसार' मात्र है अर्थात् बारम्बार जन्म तथा मृत्यु।

न देहिनां सुखं किञ्चिद्विद्यते विदुषामपि ।
तथा च दुःखं मूढानां वृथाहङ्करणं परम् ॥ १८॥

शब्दार्थ

न—नहीं; देहिनाम्—देहधारी जीवों के; सुखम्—सुख; किञ्चित्—थोड़ा; विद्यते—है; विदुषाम्—बुद्धिमानों के; अपि—भी; तथा—उसी तरह; च—भी; दुःखम्—दुख; मूढानाम्—महामूर्खों के; वृथा—व्यर्थ; अहङ्करणम्—मिथ्या अहंकार; परम्—एकमात्र या पूरी तरह से।

संसार में यह देखा जाता है कि कभी कभी बुद्धिमान व्यक्ति भी सुखी नहीं रहता। इसी तरह कभी कभी महा मूर्ख भी सुखी रहता है। भौतिक कार्यों को दक्षतापूर्वक संपन्न करके सुखी बनने की विचारधारा मिथ्या अहंकार का व्यर्थ प्रदर्शन मात्र है।

तात्पर्य : ऐसा तर्क किया जा सकता है कि बुद्धिमान व्यक्ति इस संसार में दक्षतापूर्वक पुण्यकार्य कर सकता है और इस तरह वह कभी कष्ट नहीं पायेगा, क्योंकि दुख तो पापपूर्ण या अपवित्र कार्यों से उत्पन्न होता है। किन्तु प्राय: पवित्र, बुद्धिमान व्यक्तियों को भी महान् कष्ट भोगते देखा गया है, क्योंकि कभी कभी वे अपना कर्तव्य पूरा नहीं कर पाते और कभी कभी जाने या अनजाने निषिद्ध कर्म करते हैं। इस तर्क से भगवान् इस सिद्धान्त का खण्डन करते हैं कि भौतिक शुद्धता के बल पर ही मनुष्य बिना कृष्णभावनामृत के निरन्तर सुखी रह सकता है।

दूसरी ओर, यह देखा जाता है कि महा मूर्ख या पापी व्यक्ति भी कभी कभी सुख का अनुभव करते हैं, क्योंकि पाप में लगे व्यक्ति भी कभी कभी किसी तीर्थस्थान की यात्रा करके अथवा किसी सन्त-पुरुष की सहायता करके संयोगवश कुछ पुण्यकर्म कर लेते हैं। ईश्वर की भौतिक सृष्टि इतनी जटिल और मोहग्रस्त करनेवाली है कि जो लोग शुद्धता के प्रति समर्पित होते हैं, वे भी कभी कभी पुण्यकर्म कर लेते हैं। इसलिए हमें भौतिक जगत में न तो परम सुख मिलता है, न परम दुख। प्रत्युत हर व्यक्ति पूर्ण ज्ञान के बिना इधर-उधर भ्रमित-सा मँडराता रहता है। शुद्धता तथा पाप सापेक्ष भौतिक विचार हैं, जो सापेक्ष सुख तथा दुख प्रदान करते हैं। परम सुख का अनुभव कृष्णभावनामृत के पूर्ण पद पर या ईश-प्रेम के पद पर किया जाता है। भौतिक जीवन सदैव ही द्विधापूर्ण तथा सापेक्ष रहा है, जबकि कृष्णभावनामृत पूर्ण सुख का वास्तविक पद है।

यदि प्राप्तिं विघातं च जानन्ति सुखदु:खयो: ।
तेऽप्यद्धा न विदुर्योगं मृत्युर्न प्रभवेद्यथा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; प्राप्तिम्—उपलब्धि; विघातम्—नाश, हटाया जाना; च—भी; जानन्ति—वे जानते हैं; सुख—सुख; दु:खयो:—तथा दुख को; ते—वे; अपि—फिर भी; अद्धा—प्रत्यक्ष; न—नहीं; विदु:—जानते हैं; योगम्—विधि; मृत्यु:—मृत्यु; न—नहीं; प्रभवेत्—अपनी शक्ति दिखलाते हैं; यथा—जिससे।

यदि लोग यह जान भी लें कि किस तरह सुख प्राप्त किया जाता है और किस तरह दुख से बचा जाता है, तो भी वे उस विधि को नहीं जानते, जिससे मृत्यु उनके ऊपर अपनी शक्ति का प्रभाव न डाल सके।

तात्पर्य : यदि तथाकथित बुद्धिमान भौतिकतावादी लोग सुख प्राप्त करने तथा दुख को नष्ट करने का साधन जानते हैं, तो उन्हें चाहिए कि अवश्यम्भावी मृत्यु से लोगों का उद्धार करें। विज्ञानीजन इस समस्या को हल करने में जुटे हुए हैं, किन्तु क्योंकि वे पूरी तरह असफल रहे हैं, अत: यह मानना होगा कि वे वास्तव में बुद्धिमान नहीं हैं और वे सुख प्राप्त करने तथा कष्ट दूर करने के साधन नहीं जानते। यह सोचना निरी मूर्खता होगी कि गर्दन के ऊपर तलवार लटकती रहे और मनुष्य सुखी रहे। भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में कहा है—*मृत्यु: सर्वहरश्चाहम्*—मैं तुम्हारे समक्ष मृत्यु-रूप में उपस्थित होता हूँ और प्रत्येक वस्तु को हर ले जाता हूँ—हमें आँख मूँदकर भौतिक जीवन के संकट की अनदेखी नहीं करनी चाहिए, अपितु भगवान् की अहैतुकी कृपा को स्वीकार करना चाहिए, जिसे उन्होंने चैतन्य महाप्रभु के अवतार-रूप में हमें उदारता से प्रदान किया है। हमें चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों में अपने को समर्पित करना चाहिए, जो मुँहमाँगा सुख प्राप्त करने का वास्तविक साधन—भगवन्नाम का कीर्तन—प्रदान करने वाले हैं। यह प्रभु की इच्छा है और इस विधि को अपनाना हमारे स्वार्थ में है।

कोऽन्वर्थ: सुखयत्येनं कामो वा मृत्युरन्तिके ।
आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव न तुष्टिद: ॥ २० ॥

शब्दार्थ

क:—कौन; नु—निश्चय ही; अर्थ:—भौतिक पदार्थ; सुखयति—सुख देता है; एनम्—पुरुष को; काम:—भौतिक वस्तुओं से मिलने वाली इन्द्रियतृप्ति; वा—अथवा; मृत्यु:—मृत्यु; अन्तिके—पास ही खड़ी; आघातम्—घटनास्थल तक; नीयमानस्य—ले जाये जाने वाले का; वध्यस्य—वध किये जाने वाले का; इव—सदृश; न—तनिक भी नहीं; तुष्टि-द:—सन्तोष प्रदान करता है।

मृत्यु अच्छी नहीं लगती, और क्योंकि हर व्यक्ति फाँसी के स्थान पर ले जाये जाने वाले दण्डित व्यक्ति के समान है, तो फिर भौतिक वस्तुओं या उनसे प्राप्त तृप्ति से लोगों को कौन-सा संभव सुख मिल सकता है?

तात्पर्य : सारे विश्व में यह प्रथा है कि फाँसी देने से पहले व्यक्ति को अन्तिम सुस्वादु भोजन कराया जाता है। किन्तु ऐसे व्यक्ति के लिए ऐसा भोजन उसकी आसन्न मृत्यु को दुखद् स्मरण दिलाने वाला होता है अतएव वह उसका आनन्द नहीं उठा पाता। इसी प्रकार कोई भी विवेकवान् व्यक्ति

भौतिक जीवन से सन्तुष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि मृत्यु निकट ही खड़ी रहती है और वह किसी भी क्षण दबोच सकती है। यदि कोई व्यक्ति अपने रिहायशी कमरे में बैठा हो और पास ही एक कोने पर विषधर सर्प बैठा हो, तो भला कोई शान्तिपूर्वक किस तरह टेलीविजन देख सकता है या पुस्तक पढ़ सकता है, जबकि वह जानता है कि विषैले दन्त किसी क्षण भी उसके शरीर को डस सकते हैं? इसी तरह जब तक कोई न्यूनाधिक सनकी न हो, भला वह भौतिक जीवन के प्रति उत्साहपूर्ण या शान्त कैसे हो सकता है? मृत्यु की अपरिहार्यता के ज्ञान से मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन के प्रति दृढ़-संकल्प बनने के लिए प्रोत्साहित होना चाहिए।

श्रुतं च दृष्टवद्दुष्टं स्पर्धासूयात्ययव्ययैः ।
बह्वन्तरायकामत्वात्कृषिवच्चापि निष्फलम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्रुतम्—सुना हुआ भौतिक सुख; च—भी; दृष्ट-वत्—मानो पहले से देखा हुआ हो; दुष्टम्—कलुषित; स्पर्धा—ईर्ष्या से; असूया—द्वेष से; अत्यय—मृत्यु से; व्ययैः—क्षय द्वारा; बहु—अनेक; अन्तराय—व्यवधान; कामत्वात्—सुख को स्वीकार करने से; कृषि-वत्—खेती की तरह; च—भी; अपि—ही; निष्फलम्—फलरहित।

वह भौतिक सुख, जिसके बारे में हम सुनते रहते हैं, (यथा दैवी सुख-भोग के लिए स्वर्गलोक की प्राप्ति), हमारे द्वारा अनुभूत भौतिक सुख के ही समान है। ये दोनों ही ईर्ष्या, द्वेष, क्षय तथा मृत्यु से दूषित रहते हैं। इसलिए जिस तरह फसल के रोग, कीट या सूखा जैसी समस्याएँ उत्पन्न होने पर फसलें उगाना व्यर्थ हो जाता है, उसी तरह पृथ्वी पर या स्वर्गलोक में भौतिक सुख प्राप्त करने का प्रयास अनेक व्यवधानों के कारण निष्फल हो जाता है।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है—"सामान्य रूप से, यदि कोई विशेष व्यवधान न पड़े, तो कृषि विषयक प्रयत्न सफल होते हैं। किन्तु यदि बीज में कोई दोष हो या फिर भूमि अधिक खारी या बंजर हो या कि सूखा, प्लेग, मौसम के प्रतिकूल अधिक वर्षा या अधिक गर्मी पड़े या फिर पशु, पक्षी या कीड़े उत्पात मचायें तो कृषि-कर्म से वांछित फसल प्राप्त नहीं होगी। इसी तरह जो लोग भौतिक जगत का विश्लेषण करने में दक्ष होते हैं, वे देखते हैं कि वेदों में, जो स्वर्ग की स्थितियाँ बतलायी गयी हैं, वे पृथ्वी के जीवन से भिन्न नहीं हैं। बद्धजीवों में परस्पर मेल-मिलाप से ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न होना अनिवार्य है, जब कोई व्यक्ति ऊँचा उठ जाता है और दूसरा नीचे रह जाता है। समय के साथ ये पद उलट जाते हैं, इसलिए स्वर्गलोक में भी

हिंसा, झगड़े तथा षड्यंत्र होने से उपद्रव मचा रहता है। वस्तुत: स्वर्गलोक तक पहुँचने के प्रयास अपने आप में समस्याओं तथा उत्पातों से पूर्ण हैं। इसलिए यह समझ लेना होगा कि वैकुण्ठ, जो कि ईश्वर का धाम है, इस जगत द्वारा लागू होने वाले प्रकृति के कानूनों की सीमाओं तथा झगड़ों से परे है। यदि कोई यह गलत ही सोचे कि वैकुण्ठ में भी ये सारी अपूर्णताएँ पाई जाती हैं, तो वह भौतिक कल्मष से कलुषित हो जायेगा।''

अन्तरायैरविहितो यदि धर्मः स्वनुष्ठितः ।
तेनापि निर्जितं स्थानं यथा गच्छति तच्छृणु ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अन्तरायैः—अवरोधों तथा न्यूनताओं से; अविहितः—अप्रभावित; यदि—यदि; धर्मः—वैदिक आदेशों के अनुसार नियमित कर्तव्यों का पालन; स्व्-अनुष्ठितः—ढंग से सम्पादित; तेन—उसके द्वारा; अपि—भी; निर्जितम्—सम्पन्न; स्थानम्—पद; यथा—जिस तरह से; गच्छति—नष्ट होता है; तत्—उसे; शृणु—सुनो।

यदि कोई व्यक्ति किसी त्रुटि या कल्मष के बिना वैदिक यज्ञ तथा कर्मकाण्ड सम्पन्न करता है, तो उसे अगले जीवन में स्वर्ग में स्थान मिलेगा। किन्तु कर्मकांड द्वारा प्राप्त किया जाने वाला यह फल भी काल के द्वारा नष्ट कर दिया जायेगा। अब इसके विषय में सुनो।

तात्पर्य : *गच्छति* शब्द का अर्थ है ''जा रहा है।'' *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*आगमापायिनोऽनित्याः*—अच्छे या बुरे सभी प्रकार के अनुभव आते-जाते रहते हैं। इसलिए *गच्छति* शब्द अच्छे से अच्छे सम्पन्न हुए सकाम यज्ञ के फल के लुप्त होने का सूचक है। कोई भी भौतिक पद, चाहे कितना भी बुरा या अच्छा हो, अपूर्ण होता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि शुद्ध कृष्णभावनामृत के लिए ही प्रयास करे।

इष्ट्वेह देवता यज्ञैः स्वर्लोकं याति याज्ञिकः ।
भुञ्जीत देववत्तत्र भोगान्दिव्यान्निजार्जितान् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

इष्ट्वा—पूजा करके; इह—इस जगत में; देवताः—देवतागण; यज्ञैः—यज्ञ द्वारा; स्वः-लोकम्—स्वर्गलोक को; याति—जाता है; याज्ञिकः—यज्ञ करने वाला; भुञ्जीत—भोग सकता है; देव-वत्—देवता के समान; तत्र—जिसमें; भोगान्—आनन्द; दिव्यान्—दिव्य; निज—अपने से; अर्जितान्—अर्जित किये हुए।

यदि पृथ्वी पर कोई व्यक्ति देवताओं की तुष्टि के लिए यज्ञ सम्पन्न करता है, तो वह स्वर्गलोक जाता है, जहाँ वह देवताओं की ही तरह अपने कार्यों से अर्जित सभी प्रकार के स्वर्ग-सुख का भोग करता है।

स्वपुण्योपचिते शुभ्रे विमान उपगीयते ।
गन्धर्वैर्विहरन्मध्ये देवीनां हृद्यवेषधृक् ॥ २४॥

शब्दार्थ

स्व—अपने; पुण्य—पुण्यकर्मों से; उपचिते—संचित; शुभ्रे—चमकीले; विमाने—वायुयान में; उपगीयते—गीतों द्वारा महिमा गाई जाती है; गन्धर्वैः—गन्धर्वों द्वारा; विहरन्—जीवन का आनन्द मनाते; मध्ये—बीच में; देवीनाम्—स्वर्ग की देवियों के; हृद्य—मनोहर; वेष—वस्त्र; धृक्—धारण किये।

स्वर्ग प्राप्त कर लेने के बाद यज्ञ करने वाला व्यक्ति चमचमाते वायुयान में बैठ कर यात्रा करता है, जो उसे पृथ्वी पर उसके पुण्यकर्म के फलस्वरूप प्राप्त होता है। वह गन्धर्वों द्वारा यशोगान किया जाकर तथा अतीव मोहक वस्त्र पहने स्वर्ग की देवियों से घिर कर जीवन का आनन्द लेता है।

स्त्रीभिः कामगयानेन किङ्किनीजालमालिना ।
क्रीडन्न वेदात्मपातं सुराक्रीडेषु निर्वृतः ॥ २५॥

शब्दार्थ

स्त्रीभिः—स्वर्ग की स्त्रियों के साथ; काम-ग—इच्छानुसार भ्रमण करते हुए; यानेन—वायुयान द्वारा; किङ्किणी-जाल-मालिना—बजती घंटियों के मंडलों से अलंकृत; क्रीडन्—विहार करते; न—नहीं; वेद—विचार करता है; आत्म—निजी; पातम्—पतन को; सुर—देवताओं के; आक्रीडेषु—विहार-उद्यानों में; निर्वृतः—अत्यन्त सुखी तथा आराम का अनुभव करता।

यज्ञ फल का भोक्ता स्वर्ग की सुन्दरियों को साथ लेकर ऐसे अद्भुत विमान में चढ़कर सैर सपाटे के लिए जाता है, जो रुनझुन शब्द करती घंटियों से गोलाकार में सजाया रहता है और जहाँ भी चाहे उड़ जाता है। वह स्वर्ग के विहार-उद्यानों में नितान्त सुख एवं आराम का अनुभव करते हुए इस पर विचार ही नहीं करता कि वह अपने पुण्यकर्मों के फल को समाप्त कर रहा है और शीघ्र ही मर्त्यलोक में जा गिरेगा।

तावत्स मोदते स्वर्गे यावत्पुण्यं समाप्यते ।
क्षीणपुन्यः पतत्यर्वागनिच्छन्कालचालितः ॥ २६॥

शब्दार्थ

तावत्—तब तक; सः—वह; मोदते—आनन्द मनाता है; स्वर्गे—स्वर्ग में; यावत्—जब तक; पुण्यम्—उसके पवित्र फल; समाप्यते—समाप्त हो जाते हैं; क्षीण—घट जाते हैं; पुण्यः—उसका पुण्य; पतति—गिर जाता है; अर्वाक्—स्वर्ग से; अनिच्छन्—न चाहते हुए; काल—समय के द्वारा; चालितः—नीचे धकेला गया।

यज्ञकर्ता तब तक स्वर्गलोक में जीवन का आनन्द लेता है, जब तक उसके पुण्यकर्मों का फल समाप्त नहीं हो जाता। किन्तु जब पुण्यफल चुक जाते हैं, तो नित्य काल की शक्ति द्वारा वह उसकी इच्छा के विरुद्ध स्वर्ग के विहार स्थलों से धकिया कर नीचे गिरा दिया जाता है।

यद्यधर्मरतः सङ्गादसतां वाजितेन्द्रियः ।
कामात्मा कृपणो लुब्धः स्त्रैणो भूतविहिंसकः ॥ २७॥
पशूनविधिनालभ्य प्रेतभूतगणान्यजन् ।
नरकानवशो जन्तुर्गत्वा यात्युल्बणं तमः ॥ २८॥
कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन्देहेन तैः पुनः ।
देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः ॥ २९॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; अधर्म—अधर्म में; रतः—लगा हुआ; सङ्गात्—संगति के फलस्वरूप; असताम्—भौतिकतावादी लोगों की; वा—अथवा; अजित—न जीतने के कारण; इन्द्रियः—इन्द्रियाँ; काम—भौतिक कामेच्छाएँ; आत्मा—के लिए जीवित; कृपणः—कंजूस; लुब्धः—लोभी; स्त्रैणः—स्त्रियों के पीछे पड़ने वाला; भूत—अन्य जीवों के विरुद्ध; विहिंसकः—हिंसा करते हुए; पशून्—पशुओं को; अविधिना—वैदिक आदेशों के अधिकार के बिना; आलभ्य—मारकर; प्रेत-भूत—भूत-प्रेत; गणान्—समूहों; यजन्—पूजा करते हुए; नरकान्—नरकों को; अवशः—निरुपाय, सकाम कर्मों के अधीन; जन्तुः—जीव; गत्वा—जाकर; याति—पहुँचता है; उल्बणम्—घने; तमः—अंधकार में; कर्माणि—कर्म; दुःख—दुख; उदर्काणि—भविष्य में लाने वाले; कुर्वन्—करते हुए; देहेन—ऐसे शरीर से; तैः—ऐसे कर्मों से; पुनः—फिर; देहम्—शरीर; आभजते—स्वीकार करता है; तत्र—वहाँ; किम्—क्या; सुखम्—सुख; मर्त्य—मरणशील; धर्मिणः—कर्म करने वाले का।

यदि मनुष्य बुरी संगति के कारण अथवा इन्द्रियों को अपने वश में न कर पाने के कारण पापमय अधार्मिक कार्यों में लिप्त रहता है, तो ऐसा व्यक्ति निश्चित ही भौतिक इच्छाओं से पूर्ण व्यक्तित्व को जन्म देता है। इस तरह वह अन्यों के प्रति कंजूस, लालची तथा स्त्रियों के शरीरों का लाभ उठाने का सदैव इच्छुक बन जाता है। जब मन इस तरह दूषित हो जाता है, तो वह हिंसक तथा उग्र हो उठता है और वेदों के आदेशों के विरुद्ध अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए निरीह पशुओं का वध करने लगता है। भूत-प्रेतों की पूजा करने से ऐसा मोहग्रस्त व्यक्ति अवैध कार्यों की गिरफ्त में आ जाता है और नरक को जाता है, जहाँ उसे तमोगुण से युक्त भौतिक शरीर प्राप्त होता है। ऐसे अधम शरीर से वह दुर्भाग्यवश अशुभ कर्म करता रहता है, जिससे उसका भावी दुख बढ़ता जाता है, अतएव वह पुनः वैसा ही भौतिक शरीर स्वीकार करता है। ऐसे व्यक्ति के

लिए ऐसा कौन-सा सुख हो सकता है, जिसके लिए वह अपने को ऐसे कार्यों में लगाता है, जो अपरिहार्य रूप से मृत्यु पर समाप्त हो जाते हैं?

तात्पर्य : सभ्य जीवन हेतु वैदिक विश्लेषण से दो मार्ग निकलते हैं। जो व्यक्ति *निवृत्ति मार्ग* को ग्रहण करता है, वह तुरन्त ही भौतिक इन्द्रियतृप्ति का परित्याग कर देता है और तपस्या तथा भक्ति-कर्मों के द्वारा अपने जीवन को शुद्ध बनाता है। *प्रवृत्ति मार्ग* में वह इन्द्रियों को निरन्तर इन्द्रिय-विषयों की पूर्ति कराता रहता है, किन्तु वह इन इन्द्रिय-विषयों का उपयोग कठोर विधि-विधानों तथा कर्मकाण्ड के अनुसार करता है, जिससे उसका हृदय क्रमश: शुद्ध हो जाता है और भौतिक इन्द्रियों की प्यास बुझती है। जैसाकि इस श्लोक में तथा पिछले श्लोक में बतलाया गया है, दुर्भाग्यवश प्रवृत्ति मार्ग अत्यन्त चलायमान है, जिससे जीव विरक्त होने की बजाय अपने वश से बाहर होता जाता है और इन्द्रियतृप्ति में अधिकाधिक लिप्त हो जाता है। पिछले श्लोक में नियमित वैध इन्द्रियतृप्ति के मार्ग का वर्णन किया गया था और इस श्लोक में अवैध आसुरी इन्द्रियतृप्ति के मार्ग का वर्णन हुआ है।

इस श्लोक में *सङ्गाद् असतां वाजितेन्द्रिय:* पद महत्त्वपूर्ण है। बुरी संगति से मनुष्य पापमय जीवन में गिर सकता है, अथवा अच्छी संगति में भी हो सकता है वह अपनी इन्द्रियों को वश में करने में असफल रह जाते है। अन्ततोगत्वा हर जीव अपने अस्तित्व के लिए उत्तरदायी है। इस श्लोक का *अधर्मरत:* शब्द अत्यधिक यौन-जीवन, मांसाहार, सुरापान तथा मानव आचार संहिता का उल्लंघन करने वाले अन्य अशुभ कार्यों में अत्यधिक संलग्न होने को इंगित करने वाला है। तमोगुणी होने के कारण ऐसे लोगों में क्रूर मनोवृत्ति विकसित होती है, जिसस वे किसी भी उत्सव को असहाय पशुओं के वध से प्राप्त प्रचुर मांस के उपभोग के बिना व्यर्थ मानते हैं। अन्तत: ऐसे लोग भूत-प्रेतों के वशीभूत होते हैं, जो उनके अच्छे-बुरे के विवेक को हर लेते हैं। समस्त प्रकार की शालीनता खोकर ऐसे व्यक्ति भौतिक जीवन के घने अंधकार में जाने के पात्र बन जाते हैं। कभी कभी ऐसे कामी, उन्मत्त मांसभक्षी अपने को पवित्र मानकर व्यर्थ ही ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। वे असंख्य भौतिक इच्छाओं से पीड़ित होकर एक शरीर से दूसरे में चक्कर काटते रहते हैं और उन्हें सही सुख नहीं मिल पाता। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने लिखा है कि भौतिक जीवन इतना विचलित करने वाला होता है कि ब्रह्मा के पूरे दिन—लगभग ८,६४,००,००,००० वर्ष का जीवन पाकर भी वह मृत्यु के भय से पीड़ित

रहता रहेगा। वस्तुत: साक्षात् ब्रह्मा भी मृत्यु-भय से विक्षुब्ध रहते हैं, तो फिर ७०-८० वर्षों तक जीवित रहने वाले क्षुद्र मनुष्यों के विषय में क्या कहा जा सकता है? इसीलिए यहाँ पर कहा गया है—*किं सुखं मर्त्यधर्मिण:*—जो लोग भौतिक मोह के दुखदाई मुट्ठी में हैं, वे कौन-सा सुख पा सकते हैं?

लोकानां लोकपालानां मद्भयं कल्पजीविनाम् ।
ब्रह्मणोऽपि भयं मत्तो द्विपरार्धपरायुष: ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

लोकानाम्—समस्त लोकों में; लोक-पालानाम्—तथा समस्त लोक-नायकों यथा देवताओं के लिए; मत्—मेरा; भयम्—भय रहता है; कल्प-जीविनाम्—एक कल्प अर्थात् ब्रह्मा के एक दिन की आयु वालों के लिए; ब्रह्मण:—ब्रह्मा का; अपि—भी; भयम्—डर है; मत्त:—मुझसे; द्वि-परार्ध—दो परार्ध जो मिलाकर ३१,१०,४०,००,००,००,००० वर्ष होते हैं; पर—परम; आयुष:—आयु वाले।

स्वर्ग से लेकर नरक तक सभी लोकों में तथा उन समस्त महान् देवताओं के लिए जो १,००० चतुर्युग तक जीवित रहते हैं, मुझ कालरूप के प्रति भय व्याप्त रहता है। यहाँ तक कि ब्रह्माजी, जिनकी आयु ३१,१०,४०,००,००,००,००० वर्ष है भी मुझसे डरे रहते हैं।

तात्पर्य : वैदिक वाङ्मय ऐसे कथनों से भरा पड़ा है, जो यह सिद्ध करते हैं कि बड़े बड़े देवता तक भगवान् की कालशक्ति से भयभीत रहते हैं। यहाँ तक कि स्वर्गलोक तक में भौतिक जीवन के कष्टों से पिंड नहीं छूटता। कोई भी बद्धजीव शाश्वत रूप से जीवित नहीं रह सकता, जैसाकि हिरण्यकशिपु तथा अन्य असुरों की मृत्युओं से प्रदर्शित होता है। चूँकि देवतागण भी भगवान् की कालशक्ति से भयभीत रहते हैं, अत: सरलतापूर्वक यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कृष्ण ही परम सत्य हैं और वे हर वस्तु के परम नियन्ता हैं। एकमात्र भगवान् कृष्ण असली आश्रय हैं।

गुणा: सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान् ।
जीवस्तु गुणसंयुक्तो भुङ्क्ते कर्मफलान्यसौ ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

गुणा:—भौतिक इन्द्रियाँ; सृजन्ति—उत्पन्न करती हैं; कर्माणि—शुभ तथा अशुभ कर्मों को; गुण:—प्रकृति के तीन गुण; अनुसृजते—गति प्रदान करते हैं; गुणान्—भौतिक इन्द्रियों को; जीव:—सूक्ष्म जीव; तु—निस्सन्देह; गुण—भौतिक इन्द्रिय अथवा गुण; संयुक्त:—संलग्न; भुङ्क्ते—अनुभव करता है; कर्म—कर्मों के; फलानि—विविध परिणाम; असौ—वह आत्मा।

भौतिक इन्द्रियाँ पवित्र या पापमय कर्म उत्पन्न करती हैं और प्रकृति के गुण भौतिक इन्द्रियों को गति प्रदान करते हैं। जीव इन भौतिक इन्द्रियों तथा प्रकृति के गुणों में पूरी तरह संलग्न रहकर सकाम कर्म के विविध फलों का अनुभव करता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोकों में बतलाया गया है कि सकाम कर्मों के वशीभूत होने से जीव को नरक में धकेल दिया जाता है। इस श्लोक में सकाम कर्मों पर जीव की अधीनता की वास्तविक प्रकृति का वर्णन हुआ है। यह देखा जा सकता है कि मनुष्य के कर्म भौतिक इन्द्रियों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं और जीव ऐसे कर्मों से केवल अवगत ही रहता है। चाहे वह देवताओं की पूजा करता हो, यौन का भोग करता हो या कृषी अथवा बौद्धिक कार्य करता हो, प्रत्येक दशा में भौतिक इन्द्रियाँ ही कार्य करती हैं।

कोई यह तर्क कर सकता है कि आत्मा इन्द्रियों के कार्यों का शुभारम्भ करता है, अतएव वही अनन्तिम कर्ता है, किन्तु ऐसे मिथ्या अहंवाद का निराकरण *गुणा: सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान्*—इस कथन से हो जाता है। प्रकृति के तीन गुण—सतो, रजो तथा तमोगुण—भौतिक इन्द्रियों के कार्यों को उत्तेजित करते हैं और जीव किसी एक गुण के वशीभूत होकर अपने कर्म के अच्छे या बुरे फल को केवल अनुभव करता है। इससे स्वेच्छा का निषेध नहीं होता, क्योंकि जीव विभिन्न गुणों से संगति करना चाहता है। खाने, बोलने, संभोग करने इत्यादि से जीव प्रकृति के विविध गुणों से संगति करता है और विशिष्ट मनोवृत्ति विकसित करता है। किन्तु इन सबों में प्रकृति के गुण कर्म करते हैं, न कि जीव। इस श्लोक का *असौ* शब्द इंगित करता है कि जीव मिथ्या ही प्रकृति द्वारा सम्पन्न कार्य के लिए अपने को कर्ता मानता है। *भगवद्गीता* (३.२७) में कहा गया है—

प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वश: ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

"जीवात्मा अहंकार के प्रभाव से मोहग्रस्त होकर अपने आपको समस्त कार्यों का कर्ता मान बैठता है, जबकि वास्तव में वे प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं।" जीवन के इस मिथ्या अहंकार को त्याग करके तथा भगवद्भक्ति को ग्रहण करके ही बद्धजीव को मुक्त बनाया जा सकता है, जिससे जीव अर्थात् भगवान् की तटस्था शक्ति, उनकी बहिरंगा शक्ति अर्थात् माया के विक्षोभकारी प्रभाव से बच जाता है। भगवद्भक्ति में मुक्त जीव अपने वास्तविक सच्चिदानन्द स्वरूप का अनुभव करता है।

अच्छा फल पाने के लिए कर्म करना स्वाभाविक है। किन्तु सर्वोत्तम फल उसे प्राप्त हो सकता है, जो भगवान् के दास रूप में अपने स्वाभाविक पद में पुन: स्थापित होने की इच्छा से भक्ति करता है। इस तरह किसी विशेष फल के लिए अपने ही कर्मों का दुष्प्रयोग करने की प्रवृत्ति को शुद्ध बनाया जा सकता है। तब प्रकृति के गुण तथा भौतिक इन्द्रियाँ जीव को माया में नहीं लगा सकेंगी। जीव स्वभाव से आनन्दमय है और जब उसका मोह समाप्त हो जाता है, तो सारे कष्टों का अन्त हो जाता है। तब मुक्त आत्मा वैकुण्ठ में रहने के लिए उपयुक्त होता है।

यावत्स्याद्गुणवैषम्यं तावन्नानात्वमात्मनः ।
नानात्वमात्मनो यावत्पारतन्त्र्यं तदैव हि ॥ ३२॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; स्यात्—है; गुण—प्रकृति के गुणों का; वैषम्यम्—पृथक् अस्तित्व; तावत्—तब तक रहेगा; नानात्वम्—विविधता; आत्मनः—आत्मा की; नानात्वम्—विविधता; आत्मनः—आत्मा की; यावत्—जब तक हैं; पारतन्त्र्यम्—पराधीनता; तदा—तब होंगे; एव—निश्चय ही; हि—निस्सन्देह।

जब तक जीव यह सोचता है कि प्रकृति के गुणों का अलग अलग अस्तित्व है, तब तक वह अनेक रूपों में जन्म लेने के लिए बाध्य होगा और वह अनेक प्रकार के भौतिक जीवन का अनुभव करेगा। इसलिए जीव प्रकृति के गुणों के अधीन सकाम कर्मों पर पूरी तरह आश्रित रहता है।

तात्पर्य : *गुण-वैषम्यम्* शब्द भगवान् कृष्ण के विस्मरण का सूचक है, जिसके कारण मनुष्य विभिन्न भौतिक विविधताओं को पृथक् सत्ता के रूप में देखता है। जीव इन भौतिक विविधताओं के प्रति आकृष्ट होने तथा उनमें श्रद्धा रखने के कारण इन विविधताओं को विभिन्न भौतिक शरीरों में यथा देवता, शूकर, व्यापारी, कीट इत्यादि में अनुभव करने के लिए बाध्य हो जाता है। कर्ममीमांसा दार्शनिकों के अनुसार ऐसा कोई दिव्य जीव नहीं, जो सारे जगत का मूलाधार हो। वे भौतिक विविधता को अन्तिम सत्य मानते हैं। किन्तु हर वस्तु के वास्तविक आधार, तो भगवान् कृष्ण हैं। हर वस्तु उनमें है और वे हर वस्तु में हैं। भगवान् का शुद्ध भक्त कृष्ण को सर्वत्र देखता है और प्रकृति के विविध गुणों को भगवान् कृष्ण की शक्ति के रूप में मानता है। जो कृष्ण को नहीं देखता, वह निश्चय ही विविधता को परम सत्य के रूप में देखेगा। ऐसी दृष्टि माया कहलाती है और वह पशु-दृष्टि के समान है।

पारतन्त्रयम् का अर्थ है कि मनुष्य तब तक सकाम कर्मों के जाल में जकड़ा रहेगा, जब तक वह अपनी उथली विभाजक दृष्टि को छोड़ नहीं देता।

यावदस्यास्वतन्त्रत्वं तावदीश्वरतो भयम् ।
य एतत्समुपासीरंस्ते मुह्यन्ति शुचार्पिताः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; अस्य—जीव का; अस्वतन्त्रत्वम्—प्रकृति के गुणों पर निर्भरता से स्वतंत्र नहीं है; तावत्—तब होगा; ईश्वरतः—परम नियन्ता से; भयम्—डर; ये—जो; एतत्—इस जीवन धारणा को; समुपासीरन्—उपासना करते हुए; ते—वे; मुह्यन्ति—मोहग्रस्त रहते हैं; शुचा—शोक में; अर्पिताः—सदैव लीन।

जो बद्धजीव प्रकृति के गुणों के अधीन होकर सकाम कर्मों पर निर्भर रहता है, वह मुझ भगवान् से डरता रहता है, क्योंकि मैं उसके सकाम कर्मों के फल को लागू करता हूँ। जो लोग प्रकृति के गुणों की विविधता को यथार्थ मानकर भौतिकवादी जीवन की अवधारणा स्वीकार करते हैं, वे भौतिक-भोग में अपने को लगाते हैं, फलस्वरूप वे सदैव शोक तथा दुख में डूबे रहते हैं।

तात्पर्य : जीव मोह या माया के पाश में बँधा है। वह, यद्यपि यह समझ सकता है कि वह परम शक्ति के आश्रित है, वह परमेश्वर की सेवा नहीं करना चाहता। इस तरह वह जीवन से ही भयभीत हो उठता है। भौतिक इन्द्रियतृप्ति की इच्छा करते हुए जीव कंसासुर की तरह सदैव अपनी भौतिक व्यवस्था के नष्ट होने से डरता है। इस तरह भौतिक प्रकृति के स्वाद-गंध में लिप्त रहकर वह धीरे-धीरे अविवेकी जीवन के भीतर धँस जाता है।

माया की दो शक्तियाँ हैं—पहली जीव को प्रच्छन्न करती है और दूसरी उसे नारकीय जीवन में गिरा देती है। माया से प्रच्छन्न होने पर मनुष्य विवेक-शक्ति खो बैठता है और तब माया उस मूर्ख को अज्ञान के अंधकार में डाल देती है। जब मनुष्य झूठे ही अपने को भगवान् कृष्ण से स्वतंत्र मान बैठता है, तो वह भौतिक इन्द्रियतृप्ति की भोगेच्छा से नाशवान् भौतिक वस्तुओं का उपासक बन जाता है और ज्यों ज्यों वह बड़ा होता जाता है, त्यों त्यों उसका जीवन भय और चिन्ता से भर जाता है। बद्धजीव अपने जीवन को अपने वश में मानता है, किन्तु उसके पास कोई नियामक शक्ति न होने से उसकी दशा इसके विपरीत हो जाती है और यह तनिक भी अच्छी नहीं लगती। ज्यों ज्यों काल द्वारा उसकी सारी

सम्पत्ति छीन ली जाती है, वह शोकाकुल हो उठता है। कुल मिलाकर भौतिक जीवन सचमुच गर्हित है। केवल गहन मोह के कारण हम इसे सन्तोषजनक मान लेते हैं।

काल आत्मागमो लोकः स्वभावो धर्म एव च ।
इति मां बहुधा प्राहुर्गुणव्यतिकरे सति ॥ ३४॥

शब्दार्थ

कालः—काल, समय; आत्मा—आत्मा; आगमः—वैदिक ज्ञान; लोकः—ब्रह्माण्ड; स्वभावः—विभिन्न जीवों की विभिन्न प्रकृतियाँ; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त; एव—निश्चय ही; च—भी; इति—इस प्रकार; माम्—मुझको; बहुधा—कई प्रकार से; प्राहुः—पुकारते हैं; गुण—प्रकृति के गुणों के; व्यतिकरे—क्षोभ; सति—जब होता है।

जब प्रकृति के गुणों में उद्वेलन तथा अन्योन्य क्रिया होती है, तो जीव मेरा वर्णन सर्वशक्तिमान काल, आत्मा, वैदिक ज्ञान, ब्रह्माण्ड, स्वयं अपना स्वभाव, धार्मिक उत्सव आदि अनेक प्रकारों से करते हैं।

तात्पर्य : मनुष्य को भगवान् की शक्ति का अनुभव यह देखकर हो सकता है कि किस तरह विभिन्न योनियाँ—देवता, मनुष्य, पशु, मछली, पक्षी, कीट, पौधे इत्यादि—अपने स्वभाव तथा कार्यकलाप विकसित करती हैं। प्रत्येक योनि इन्द्रियतृप्ति की विशिष्ट प्रक्रिया को पूरा करती है और यह कार्य उस योनि का *धर्म* कहलाता है। भगवान् का ज्ञान न होने से, सामान्य लोग उपर्युक्त अभिव्यक्तियों में भगवान् की शक्ति का दर्शन करते हैं। श्रील मध्वाचार्य ने *तन्त्र भागवत* से निम्नलिखित जानकारी उद्‌धृत की है—भगवान् *काल* कहलाते हैं, क्योंकि वे समस्त भौतिक गुणों के चलाने वाले तथा नियंत्रक हैं। पूर्ण होने से वे *आत्मा* कहलाते हैं। वे समस्त ज्ञान के साक्षात् रूप हैं। *स्वभाव* शब्द सूचित करता है कि भगवान् अपने भाग्य पर पूरा नियंत्रण रखते हैं। हर वस्तु के धारण करने वाला होने के कारण वे *धर्म* कहलाते हैं। मुक्त पद पर होने वाला व्यक्ति भगवान् की पूजा करके असीम आनन्द प्राप्त कर सकता है, किन्तु जो भगवान् से अनजान है, वह अन्य वस्तुओं की कल्पना करके उनका अर्थ ढूँढ़ने का प्रयास करता है। यदि कोई दृढ़तापूर्वक यह कल्पना करता है कि कोई भी वस्तु भगवान् से स्वतंत्र है, तो वह भगवान् की माया के जाल में फँसा रहेगा। भौतिक वस्तुओं के विनाश को अवश्यम्भावी देखते हुए, मनुष्य अज्ञान के अंधकार में निरन्तर शोकमग्न रहता है। ऐसे अंधकार में सुख का प्रश्न भी नहीं उठता, इसलिए किसी को यह कभी नहीं सोचना चाहिए कि कोई वस्तु भगवान् से स्वतंत्र है। ज्योंही किसी ने किसी वस्तु को ईश्वर से स्वतंत्र माना कि वह भगवान् के मोहजाल में

जकड़ा जाता है, जिसे *माया* कहते हैं। मनुष्य को मुक्त हो जाने पर भी विनीत एवं भगवान् का आज्ञाकारी बने रहना चाहिए। इस तरह उसे परम आध्यात्मिक सुख प्राप्त होगा।

श्रीउद्धव उवाच

गुणेषु वर्तमानोऽपि देहजेष्वनपावृतः ।
गुणैर्न बध्यते देही बध्यते वा कथं विभो ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; गुणेषु—प्रकृति के गुणों में; वर्तमानः—स्थित होकर; अपि—यद्यपि; देह—भौतिक शरीर से; जेषु—उत्पन्न; अनपावृतः—अप्रच्छन्न होकर; गुणैः—गुणों से; न—नहीं; बध्यते—बाँधा जाता है; देही—भौतिक शरीर के भीतर जीव; बध्यते—बाँधा जाता है; वा—अथवा; कथम्—यह कैसे होता है; विभो—हे प्रभु।

श्री उद्धव ने कहा : हे प्रभु, भौतिक शरीर के भीतर स्थित जीव प्रकृति के गुणों तथा इन गुणों से उत्पन्न कर्मों के द्वारा उपजे सुख तथा दुख से घिरा रहता है। यह कैसे सम्भव है कि वह इस भौतिक पाश से बँधा न हो? यह भी कहा जा सकता है कि जीव तो अन्ततः दिव्य है और उसे इस भौतिक जगत से कुछ भी लेना-देना नहीं है। तो फिर वह भौतिक प्रकृति द्वारा कभी बद्ध कैसे हो सकता है?

तात्पर्य : शरीर प्रकृति के गुणों के वशीभूत होकर सकाम कर्म करता है, जिनसे भौतिक सुख-दुख उत्पन्न होते हैं। इस शृंखला को *देह-जेषु* शब्द से सूचित किया गया है। भगवान् ने उद्धव को दिखलाया है कि जीवन का वास्तविक लक्ष्य इन्द्रियतृप्ति न होकर, मोक्ष है। यद्यपि भगवान् ने यह इंगित किया है कि ज्ञान तथा वैराग्यपूर्वक की गई भक्ति से जीव मुक्त हो जाता है, किन्तु उद्धव को पूर्णता प्राप्त करने के विशिष्ट साधन समझ में नहीं आए। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार उद्धव के प्रश्न का अर्थ यह है कि हम मुक्तात्माओं के कार्यों में भी ऐसे बाह्य कर्म यथा खाना, सोना, चलना-फिरना, सुनना, बोलना इत्यादि पाते हैं, जो स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के कार्य हैं। अतः यदि मुक्त आत्माएँ भी स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के भीतर स्थित हैं, तो वे प्रकृति के गुणों से किस तरह बद्ध नहीं हो सकती है? यदि यह तर्क किया जाय कि जीव आकाशतुल्य है, जो किसी वस्तु से न मिलने के कारण बद्ध नहीं है, तब यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि फिर दिव्य जीव किस तरह भौतिक प्रकृति द्वारा बद्ध हो सकता है? दूसरे शब्दों में, यह जगत कैसे सम्भव है? कृष्णभावनामृत के मार्ग को सुस्पष्ट करने के लिए उद्धव ने परम आध्यात्मिक अधिकारी भगवान् कृष्ण के समक्ष यह प्रश्न रखा।

माया के साम्राज्य में भगवान् के विषय में असंख्य कल्पनाएँ हैं, जिन्हें निराकार, सगुण, निर्गुण, हिजड़े की भाँति नपुंसक वस्तु आदि कहा गया है। किन्तु ऐसी सांसारिक कल्पनाओं से भगवान् के स्वभाव को नहीं समझा जा सकता। इसलिए उद्धव मुक्ति-मार्ग को स्पष्ट करना चाहते हैं, जिससे लोग वास्तव में समझ सकें कि कृष्ण ही भगवान् हैं। किन्तु जब तक मनुष्य प्रकृति के गुणों के द्वारा प्रभावित रहता है तब तक पूर्ण ज्ञान हो पाना सम्भव नहीं है। अब भगवान् कृष्ण उद्धव को भगवद्धाम वापस जाने के लिए आध्यात्मिक मुक्ति के विषय में विस्तार से बतलायेंगे।

कथं वर्तेत विहरेत्कैर्वा ज्ञायेत लक्षणैः ।
किं भुञ्जीतोत विसृजेच्छयीतासीत याति वा ॥ ३६ ॥
एतदच्युत मे ब्रूहि प्रश्नं प्रश्नविदां वर ।
नित्यबद्धो नित्यमुक्त एक एवेति मे भ्रमः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

कथम्—किस तरह; वर्तेत—स्थित है; विहरेत्—विहार करता है; कैः—किससे; वा—अथवा; ज्ञायेत—जाना जायेगा; लक्षणैः—लक्षणों से; किम्—क्या; भुञ्जीत—खायेगा; उत—तथा; विसृजेत्—मल त्याग करता है; शयीत—लेटेगा; आसीत—बैठेगा; याति—जाता है; वा—अथवा; एतत्—यह; अच्युत—हे अच्युत; मे—मुझको; ब्रूहि—बतलायें; प्रश्नम्—प्रश्न; प्रश्न-विदाम्—जो प्रश्नों का उत्तर देने में पटु हैं उनके; वर—हे श्रेष्ठ; नित्य-बद्धः—नित्य बद्ध; नित्य-मुक्तः—नित्य मुक्त; एकः—अकेला; एव—निश्चय ही; इति—इस प्रकार; मे—मेरा; भ्रमः—सन्देह।

हे अच्युत भगवान्, एक ही जीव कभी तो नित्य बद्ध कहा जाता है, तो कभी नित्य मुक्त। इसलिए जीव की वास्तविक स्थिति मेरी समझ में नहीं आ रही। हे प्रभु, आप दार्शनिक प्रश्नों का उत्तर देने वालों में सर्वोपरि हैं। कृपा करके मुझे वे लक्षण समझाएँ, जिनसे यह बतलाया जा सके कि नित्य बद्ध तथा नित्य मुक्त जीव में क्या अन्तर है। वे किन विधियों से स्थित रहते हैं, जीवन का भोग करते हैं, खाते हैं, मल त्याग करते हैं, लेटते हैं, बैठते हैं या इधर-उधर जाते हैं?

तात्पर्य : पिछले श्लोकों में भगवान् कृष्ण ने उद्धव को यह बतलाया कि नित्य मुक्तात्मा प्रकृति के तीन गुणों से परे है। चूँकि मुक्तात्मा को सतोगुण से भी परे माना जाता है, तो फिर उसे पहचाना कैसे जाय? प्रकृति के गुणों से जो मनुष्य का भौतिक शरीर उत्पन्न करते हैं, झूठी पहचान करने पर मनुष्य माया से बद्ध हो जाता है। दूसरी ओर गुणों को पार कर जाने पर मनुष्य मुक्त हो जाता है। किन्तु खाने, मल-विसर्जन करने, आराम करने, बैठने, सोने जैसे सामान्य कार्यों में मुक्तात्मा तथा बद्ध आत्मा एक जैसे लगते हैं। इसीलिए उद्धव प्रश्न कर रहे हैं, "मैं किन लक्षणों से यह पहचान सकता हूँ कि कोई

जीव बिना अहंकार के ऐसे बाह्य कर्म कर रहा है और किन लक्षणों से यह पहचान सकता हूँ कि कोई माया के बन्धन में रहकर कार्य कर रहा है? यह कठिन है, क्योंकि मुक्तात्मा तथा बद्धात्मा के सामान्य शारीरिक कार्य एक-जैसे लगते हैं।'' कृष्ण को अपना निजी आध्यात्मिक गुरु मानकर उद्धव उनके पास गये हैं और यह जानना चाहते हैं कि भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन के अन्तर को कैसे समझा जाय।

चूँकि जीव को कभी कभी नित्य बद्ध कहा जाता है, तो फिर उसे नित्य मुक्त अथवा नित्य मुक्त को नित्य बद्ध कैसे कहा जा सकता है? यह विरोधाभास है, जिसे भगवान् स्पष्ट करेंगे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''सकाम कर्म की प्रकृति'' नामक दसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा विरचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter ग्यारह

बद्ध तथा मुक्त जीवों के लक्षण

इस अध्याय में भगवान् कृष्ण उद्धव को बद्ध तथा मुक्त जीवों का अन्तर, साधु-पुरुष के लक्षण तथा भक्ति सम्पादन के विविध पक्ष बतलाते हैं।

पिछले अध्याय में उद्धव ने बद्ध तथा मुक्त आत्माओं के विषय में प्रश्न किये थे। भगवान् श्रीकृष्ण इन प्रश्नों के उत्तर में बतलाते हैं कि यद्यपि आत्मा भगवान् का भिन्नांश है, किन्तु सूक्ष्म होने के कारण वह भौतिक शक्ति के सम्पर्क में आ जाता है, जिसके कारण उसे सतो, रजो तथा तमोगुणों की आच्छादक उपाधियों को स्वीकार करना पड़ता है। इस तरह आत्मा अनन्तकाल से बद्ध रहा है। किन्तु जब उसे शुद्ध भक्ति का आश्रय मिल जाता है, तो वह नित्य मुक्त कहलाने लगता है। इसलिए दिव्य ज्ञान जीव की मुक्ति का कारण है और अज्ञान उसके बन्धन का। ज्ञान तथा अज्ञान दोनों ही भगवान् श्रीकृष्ण की माया-शक्ति से उत्पन्न होते हैं और ये उनकी नित्य शक्तियाँ हैं। जो जीव प्रकृति के गुणों के प्रति आकृष्ट होते हैं, वे मिथ्या अहंकार से मोहित हो जाते हैं, जिससे वे अपने आपको दुख, संभ्रांति, सुख, कष्ट, भय इत्यादि के भोक्ता के रूप में देखते हैं। इस तरह वे इनके बारे में चिन्तन करते हैं, यद्यपि ये वस्तुएँ वास्तविक या आध्यात्मिक संसार में होती ही नहीं। आत्मा तथा परमात्मा एक ही शरीर के भीतर निवास करते हैं। अन्तर इतना ही रहता है कि भिज्ञ होने के कारण परमात्मा कर्म के

फल भोगने में लिप्त नहीं होते प्रत्युत साक्षी मात्र बने रहते हैं जबकि लघु बद्धजीव अज्ञानी होने के कारण अपने कर्म के फल भुगतता है। मुक्त जीव अपने पूर्वकर्मों के बचे हुए फलों के कारण भौतिक शरीर के भीतर रहकर भी शरीर के सुख तथा दुख से विचलित नहीं होता। वह ऐसे शारीरिक अनुभवों को उसी तरह देखता है, जिस तरह स्वप्न से जगा हुआ व्यक्ति अपने स्वप्न के अनुभवों को देखता है। दूसरी ओर यद्यपि बद्धजीव स्वभावतः शरीर के सुख-दुख का भोक्ता नहीं है, किन्तु वह अपने को शारीरिक अनुभवों का वैसा ही भोक्ता मानता है, जिस तरह स्वप्न में मनुष्य अपने स्वप्न-अनुभवों को यथार्थ मानता है। जिस प्रकार जल में प्रतिबिम्बित होने वाला सूर्य जल से बद्ध नहीं होता और जिस तरह वायु आकाश के किसी एक खण्ड तक ही सीमित नहीं रहता, उसी तरह विरक्त मनुष्य अपने विस्तृत सांसारिक अनुभव का लाभ उठाकर अपने सारे संशयों को *युक्त वैराग्य* की तलवार से छिन्न कर देता है। चूँकि उसकी जीवन-शक्ति, इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि की प्रवृत्ति इन्द्रिय-विषयों पर टिकने की नहीं होती, इसलिए भौतिक शरीर के भीतर स्थित होकर भी वह मुक्त रहता जाता है। चाहे वह सताया जाय या पूजा जाय इसकी परवाह न करके वह समभाव रहता जाता है। इसलिए वह इसी जीवन में मुक्त माना जाता है। मुक्त पुरुष को इस संसार के पाप-पुण्य से किसी तरह का लेना-देना नहीं रहता। वह हर वस्तु को समभाव से देखता है। आत्माराम साधु न तो किसी की प्रशंसा करता है, न निन्दा। वह किसी से व्यर्थ नहीं बोलता और अपने मन को भौतिक वस्तुओं पर नहीं टिकाता। प्रत्युत वह भगवान् के ध्यान में सदैव मग्न रहता है, जिससे मूर्खों की दृष्टि में वह मौन पागल व्यक्ति लगता है।

कोई कितना ही वैदिक वाङ्मय पढ़ ले या उनका उपदेश दे किन्तु यदि उसने भगवान् की सेवा के प्रति शुद्ध आकर्षण उत्पन्न नहीं किया, तो समझो कि उसने अपने श्रम से आगे कुछ भी प्राप्त नहीं किया। मनुष्य को केवल वे ही शास्त्र पढ़ने चाहिए, जिनमें भगवान् के स्वभाव, उनकी मोहक लीलाओं तथा उनके विविध अवतारों की अमृतमय कथाएँ वैज्ञानिक ढंग से विवेचित हों। इस प्रकार से उसे परम सौभाग्य प्राप्त होता है। किन्तु इन शास्त्रों के अतिरिक्त अन्यों का अध्ययन करने से दुर्भाग्य ही हाथ लगता है।

मनुष्य को दृढ़ संकल्प के साथ आत्मा की ठीक ठीक पहचान करनी चाहिए और इस भौतिक शरीर की मिथ्या पहचान का परित्याग कर देना चाहिए। उसके बाद ही वह प्रेम के आगार भगवान्

श्रीकृष्ण के चरणकमलों पर अपने हृदय को न्यौछावर करे और असली शान्ति प्राप्त करे। जब मन तीन गुणों के वश में हो जाता है, तो वह परब्रह्म का ध्यान अच्छी तरह नहीं कर सकता। जो श्रद्धालु लोग धर्म, अर्थ तथा काम प्राप्त करने के लिए वैदिक यज्ञ सम्पन्न कर चुके होते हैं, वे अनेक जन्मों के बाद जगत को शुद्ध करने वाली भगवान् की मंगलकारी लीलाओं के श्रवण, कीर्तन तथा नित्य चिन्तन में अपने को लगाते हैं। तब ऐसे मनुष्यों को प्रामाणिक गुरु तथा सन्त-भक्तों की संगति प्राप्त होती है। इसके बाद गुरु-कृपा से वे महाजनों द्वारा नियत आदर्श अधिकारियों का अनुगमन करने लगते हैं और वे अपनी सही पहचान करने में सफल होते हैं।

इन उपदेशों को भगवान् कृष्ण से सुन लेने पर उद्धव ने वास्तविक सन्त-पुरुष के लक्षणों तथा भक्ति के विभिन्न पक्षों को जानने की इच्छा व्यक्त की। भगवान् कृष्ण ने उत्तर दिया कि असली साधु या वैष्णव निम्नांकित गुणों के होने पर योग्य बनता है। वह दयालु, ईर्ष्यारहित, सदा सत्यवादी, संयमी, दोषरहित, विशाल-हृदय, भद्र, स्वच्छ, अपरिग्रही, सबों का सहायक, शान्त, एकमात्र कृष्ण पर आश्रित, काम-रहित, भौतिक प्रयास से रहित, स्थिर, मन के छह शत्रुओं को वश में करने वाला, अधिक भोजन न करने वाला, कभी मोहग्रस्त न होने वाला, अन्यों का आदर करने वाला, कभी अपना सम्मान न चाहने वाला, गम्भीर, कृपालु, मित्रवत् कवित्वमय, पटु तथा चुप रहने वाला होता है। साधु का प्रमुख गुण यह है कि वह एकमात्र कृष्ण की शरण लेता है। जो एकमात्र कृष्ण की सेवा में लगा रहता है और उन्हें असीम, अन्तर्यामी सच्चिदानन्द भगवान् मानता है, वह सर्वोच्च भक्त है। भक्तियोग में ६४ प्रकार के कर्म रहते हैं। ये हैं(१-६) दर्शन, स्पर्श, पूजन, सेवा, महिमा-गान तथा भगवान् के अर्चाविग्रह एवं उनके भक्तों को नमस्कार करना, (७) भगवान् के गुणों, लीलाओं आदि के कीर्तन को सुनने की ओर अनुरक्ति उत्पन्न करना (८) सदैव भगवान् के ध्यान में रहना (९) प्राप्त होने वाली हर वस्तु को भगवान् को अर्पित करना (१०) अपने को भगवान् का दास समझना (११) भगवान् को अपना हृदय तथा आत्मा भेंट करना (१२) भगवान् के जन्म तथा कार्यकलापों के महिमा-गायन में अपने को लगाना (१३) भगवान् से सम्बन्धित छुट्टियों को मनाना (१४) अन्य भक्तों के साथ संगीत, गायन तथा नर्तन द्वारा भगवान् के मन्दिर में उत्सव करना (१५) सभी प्रकार के वार्षिक उत्सव मनाना (१६) भगवान् को खाद्य वस्तुएँ अर्पित करना (१७) वेदों तथा तंत्रों के अनुसार दीक्षा ग्रहण करना (१८) भगवान् से

सम्बन्धित व्रत लेना (१९) भगवान् के अर्चाविग्रह स्थापित करने के लिए उत्सुक रहना (२०) अकेले या अन्यों के साथ मिलकर भगवान् की सेवा के लिए बाग, मन्दिर, शहर इत्यादि का निर्माण करना (२१) भगवान् के मन्दिर की नम्रतापूर्वक सफाई करना (२२) भगवान् की सेवा हेतु भगवान् के आवास को रँगना, जल से धोना तथा शुभ बेलबूटों से सजाना।

इसके बाद भगवान् के अर्चाविग्रह की पूजा-विधि का संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

श्रीभगवानुवाच
बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः ।
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; बद्धः—बन्धन में; मुक्तः—मुक्त हुआ; इति—इस प्रकार; व्याख्या—जीव की विवेचना; गुणतः—प्रकृति के गुणों के अनुसार; मे—जो मेरी शक्ति है; न—नहीं; वस्तुतः—वास्तव में; गुणस्य—प्रकृति के गुणों का; माया—मेरी मोहक शक्ति; मूलत्वात्—कारण होने से; न—नहीं; मे—मेरा; मोक्षः—मुक्ति; न—न तो; बन्धनम्—बन्धन।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, मेरे अधीन प्रकृति के गुणों के प्रभाव से जीव कभी बद्ध कहा जाता है, तो कभी मुक्त। किन्तु वस्तुतः आत्मा न तो कभी बद्ध होता है, न मुक्त और चूँकि मैं प्रकृति के गुणों की कारणस्वरूप माया का परम स्वामी हूँ, इसलिए मुझे भी मुक्त या बद्ध नहीं माना जाना चाहिए।

तात्पर्य : इस अध्याय में भगवान् कृष्ण बद्ध तथा मुक्त जीवन के विभिन्न गुणों की व्याख्या करते हैं। ये ऐसे लक्षण हैं, जिनसे मनुष्य सन्त-पुरुषों को एवं भगवान् की भक्ति की विविध विधियों को पहचान सकता है। पिछले अध्याय में उद्धव ने भगवान् से पूछा था कि बद्ध तथा मुक्त जीवन कैसे सम्भव हैं? अब भगवान् उत्तर देते हैं कि उद्धव का प्रश्न सतही है, क्योंकि शुद्ध आत्मा भगवान् की भौतिक शक्ति में कभी नहीं फँसता। जीव प्रकृति के तीन गुणों से मिथ्या सम्बन्ध की कल्पना करता है और भौतिक शरीर को आत्मा मान लेता है। इसलिए आत्मा अपनी ही कल्पना के परिणामों को भुगतता है, जिस तरह मनुष्य स्वप्न के भ्रामक कार्यों से कष्ट पाता है। इससे यह नहीं सूचित होता कि भौतिक जगत उस रूप में भ्रामक (मायायुक्त) है, जिससे कि अस्तित्व रहित जान पड़े। भौतिक जगत निश्चित रूप से सत्य है, क्योंकि यह भगवान् की शक्ति है और जीव भी ईश्वर की पराशक्ति होने से सत्य है। किन्तु जीव का यह स्वप्न कि वह भौतिक जगत का भिन्नांश है ऐसा मोह (भ्रम) है, जो उसे विरोधी

अवस्था में खींच ले जाता है, जिसे भौतिक बद्ध जीवन कहते हैं। जीव वास्तव में कभी भी बद्ध नहीं है, क्योंकि वह भौतिक जगत से झूठे सम्बन्ध की कल्पना करता है।

चूँकि जीव तथा पदार्थ में अन्तत: कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं होता, अतएव वास्तविक मुक्ति नहीं होती। जीव भगवान् की अपरा शक्ति से नित्य परे होने के कारण नित्य मुक्त है। भगवान् कृष्ण यह उद्‌धाटित करते हैं कि एक विचार से जीव यथार्थ में बद्ध है ही नहीं, अतएव वह मुक्त नहीं किया जा सकता। किन्तु दूसरे विचार से बन्धन तथा मोक्ष जैसे शब्दों को भगवान् की तटस्था शक्ति रूप व्यष्टि आत्मा की विशेष अवस्था को दर्शाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। यद्यपि व्यष्टि आत्मा कभी भी पदार्थ से बद्ध नहीं रहता, किन्तु उसे मिथ्या पहचान के कारण प्रकृति द्वारा दिये गये फल भोगने होते हैं। इस तरह *बद्ध* शब्द का प्रयोग भगवान् की अपरा शक्ति के भीतर जीव के अनुभव को सूचित करने के लिए किया जाता है। चूँकि *बद्ध* शब्द मिथ्या अवस्था को बताता है, इसलिए ऐसी मिथ्या स्थिति से स्वतंत्र होने को *मोक्ष* कहा जा सकता है। इसलिए बद्ध तथा मोक्ष शब्द स्वीकार्य होते हैं, यदि वे मोह द्वारा उत्पन्न क्षणिक स्थिति के द्योतक हों और जीव के परम स्वभाव के द्योतक न हों। इस श्लोक में कृष्ण कहते हैं *गुणस्य मायामूलत्वान् न मे मोक्षो न बन्धनम्—बन्धन* तथा *मोक्ष* शब्दों को कभी भी भगवान् पर लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे परम सत्य हैं और हर एक के परम नियन्ता हैं। भगवान् कृष्ण शाश्वत रूप से परम दिव्य सत्ता हैं, जिन्हें मोह द्वारा कभी भी बाँधा नहीं जा सकता। यह तो भगवान् की मोहिनी शक्ति का कर्तव्य है कि वह भगवान् कृष्ण की पृथक् आनन्दमय स्थिति का झूठा बोध कराकर जीवों को अज्ञान की ओर आकृष्ट करे। भगवान् से पृथक् अस्तित्व की मोहमयी धारणा माया या भौतिक मोह कहलाता है। चूँकि कृष्ण माया के परम नियन्ता हैं, इसलिए भगवान् पर माया का किसी तरह से किसी प्रकार का प्रभाव पड़ने की सम्भावना नहीं रहती। इसलिए *बन्धन* शब्द को सच्चिदानन्द रूप भगवान् पर लागू नहीं किया जा सकता। बन्धन से स्वतंत्र होने का सूचक शब्द *मोक्ष* ईश्वर के प्रसंग में समान रूप से अप्रासंगिक है।

इस श्लोक की टीका श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस प्रकार की है। भगवान् महान् आध्यात्मिक शक्तियों से युक्त हैं। किन्तु संसारी मनोरथ के कारण बद्धजीव सोचता है कि परम सत्य उन विविध आध्यात्मिक शक्तियों से रहित हैं, जिससे वे आनन्दमय जीवन बिता सकें। यद्यपि जीव भगवान्

की आध्यात्मिक शक्ति है, किन्तु सम्प्रति वह अपरा मायाशक्ति के पद पर स्थित है और कल्पना करने से वह बद्ध जीवन में बँध जाता है। मोक्ष का अर्थ है कि जीव अपने को भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति में स्थानान्तरित कर दे। यह आध्यात्मिक शक्ति तीन कोटियों में विभाजित की जा सकती है—*ह्लादिनी, सन्धिनी* तथा *संवित्।* चूँकि भगवान् शुद्ध आनन्द तथा ज्ञान से युक्त हैं, अतएव वे कभी भी बद्ध या मुक्त नहीं होते। किन्तु भगवान् की भौतिक शक्ति में फँसने के कारण जीव कभी बद्ध होता है, तो कभी मुक्त।

प्रकृति के तीन गुणों की आदि निरपेक्ष अवस्था माया कहलाती है। जब तीनों गुण परस्पर क्रिया करते हैं, तो इनमें से कोई एक गुण शक्तिशाली बन जाता है और अन्य दो गुणों को तब तक दबाता रहता है, जब तक कोई अन्य गुण प्रधान नहीं हो जाता। इस तरह इन तीनों को उनकी अनेक प्रकार की अभिव्यक्ति के द्वारा पहचाना जा सकता है। यद्यपि तीन प्रकार की भौतिक शक्तियाँ भगवान् से विस्तार पाती हैं, किन्तु भगवान् अपने साकार रूप में तीनों आध्यात्मिक शक्तियों—सत, चित तथा आनन्द—के असली धाम होते हैं। यदि कोई व्यक्ति माया का साम्राज्य कहलाने वाले भौतिक आकाश में बद्ध जीवन के पाश से मुक्त होना चाहता है, तो उसे आध्यात्मिक आकाश तक जाना होगा, जहाँ सारे जीव आनन्द से परिपूरित रहते हैं, नित्य आध्यात्मिक शरीरों वाले होते हैं और भगवान् की प्रेमाभक्ति में संलग्न रहते हैं। भगवान् की प्रेमाभक्ति में अपने नित्य आध्यात्मिक स्वरूप को विकसित करके मनुष्य बद्ध जीवन तथा निर्विशेष मुक्ति के द्वैत को लाँघ जाता है और भगवान् की आध्यात्मिक शक्तियों का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। उस समय भौतिक जगत से झूठी पहचान की कोई सम्भावना नहीं रहती।

जीव अपने को नित्य आत्मा समझ करके यह जान सकता है कि वह सत्य रूप से पदार्थ से कभी सम्बद्ध नहीं रहा है, क्योंकि वह भगवान् की पराशक्ति का अंश है। इस तरह आध्यात्मिक आकाश की सत्यता की परिधि में बन्धन तथा मोक्ष दोनों ही अर्थहीन हैं। जीव तो भगवान् की तटस्था शक्ति है। उसे भगवान् की शुद्ध भक्ति में संलग्न होने के लिए स्वेच्छा का प्रयोग करना चाहिए। अपने नित्य आध्यात्मिक शरीर को पुनरुज्जीवित करके मनुष्य यह समझ सकेगा कि वह भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति का लघुकण मात्र है। दूसरे शब्दों में जीव सच्चिदानन्द का लघुकण है और इस तरह पूर्ण कृष्णभावनामृत में प्रकृति के तीन गुणों के मोह द्वारा हाँके जाने की सम्भावना नहीं रहती। निष्कर्षत:

यह कहा जा सकता है कि व्यष्टि जीव कभी भी पदार्थ से बँधा नहीं होता, इसलिए मुक्त नहीं होता, यद्यपि उसकी मोहमयी स्थिति को वास्तव में बद्ध तथा मुक्त कहा जा सकता है। दूसरी ओर, भगवान् शाश्वत रूप से अपनी आध्यात्मिक शक्तियों में स्थित होते हैं और कभी भी बद्ध नहीं कहे जा सकते। अतएव ऐसी अस्तित्वरहित दशा से ईश्वर द्वारा अपने को मुक्त बनाने का कोई अर्थ नहीं निकलता।

शोकमोहौ सुखं दुःखं देहापत्तिश्च मायया ।
स्वप्नो यथात्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी ॥ २॥

शब्दार्थ

शोक—शोक; मोहौ—तथा मोह; सुखम्—सुख; दुःखम्—दुख; देह-आपत्तिः—भौतिक शरीर धारण करना; च—भी; मायया—माया के प्रभाव से; स्वप्नः—स्वप्न; यथा—जिस तरह; आत्मनः—बुद्धि के; ख्यातिः—मात्र एक विचार; संसृतिः—संसार; न—नहीं है; तु—निस्सन्देह; वास्तवी—असली, सत्य।

जिस तरह स्वप्न मनुष्य की बुद्धि की सृष्टि है किन्तु वास्तविक नहीं होता, उसी तरह भौतिक शोक, मोह, सुख, दुख तथा माया के वशीभूत होकर भौतिक शरीर ग्रहण करना—ये सभी मेरी मोहिनी शक्ति (माया) की सृष्टियाँ हैं। दूसरे शब्दों में, भौतिक जगत में कोई असलियत नहीं है।

तात्पर्य : *देह-आपत्तिः* शब्द सूचित करता है कि जीव अपनी झूठी पहचान बाह्य भौतिक शरीर से करता है और इस तरह एक शरीर से दूसरे में जाता रहता है। *आपत्ति* शब्द महान् कष्ट या दुर्भाग्य को भी बतलाने वाला है। मोहवश ऐसी झूठी पहचान के कारण जीव यहाँ पर वर्णित कष्टप्रद लक्षणों का अनुभव करता है। माया का अर्थ है यह मिथ्या धारणा कि कोई भी वस्तु भगवान् कृष्ण के बिना या भगवान् के आनन्द के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य के लिए विद्यमान रहती है। यद्यपि बद्धजीव मिथ्या इन्द्रियतृप्ति भोगने का प्रयास करते हैं, किन्तु परिणाम सदैव पीड़ादायक ही होता है और ऐसे पीड़ाप्रद अनुभव बद्धजीवों को भगवान् के पास वापस जाने के लिए मोड़ते हैं। दूसरे शब्दों में, भौतिक सृष्टि का चरम उद्देश्य जीव को भगवद्भक्ति तक वापस लाना है। इसलिए भौतिक जगत के कष्टों को भी भगवान् की कृपा ही समझना चाहिए। बद्धजीव भौतिक वस्तुओं को अपने भोग की वस्तुएँ मानकर उनकी क्षति पर अत्यधिक शोक करता है। इस श्लोक में उस स्वप्न का उदाहरण दिया गया है, जिसमें भौतिक बुद्धि अनेक मोहक वस्तुओं को उत्पन्न करती है। इसी प्रकार हमारी दूषित भौतिक चेतना भौतिक इन्द्रियतृप्ति की झूठी भावना उत्पन्न कर देती है। किन्तु यह मृगमरीचिका कृष्णभावनामृत से विहीन होने के कारण सत्य नहीं होती। दूषित भौतिक चेतना के वशीभूत होने से जीव को असंख्य कष्ट सहने पड़ते हैं।

इसका एकमात्र हल यही है कि प्रत्येक वस्तु के भीतर कृष्ण का और कृष्ण के भीतर हर वस्तु का दर्शन किया जाय। इस तरह वह समझ सकेगा कि भगवान् कृष्ण ही प्रत्येक वस्तु के परम भोक्ता तथा स्वामी हैं और समस्त जीवों के शुभचिन्तक मित्र हैं।

भौतिक मोह में मनुष्य को न तो अपने नित्य आध्यात्मिक शरीर की समझ रहती है, न परम सत्य का ज्ञान रहता है। इसलिए यह संसार अपने अत्यन्त पवित्र रूप में भी सदैव मूर्खता है। हमें स्वप्न के उदाहरण से यह नहीं मान बैठना चाहिए कि भौतिक जगत का वास्तविक अस्तित्व नहीं है। भौतिक प्रकृति भगवान् की बहिरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति है, जिस तरह आध्यात्मिक आकाश (वैकुण्ठ) भगवान् की अन्तरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति है। यद्यपि भौतिक वस्तुएँ रूपान्तरित होती रहती हैं, जिसके कारण उनका स्थायी अस्तित्व नहीं होता, किन्तु भौतिक शक्ति वास्तविक होती है, क्योंकि यह परम सत्य भगवान् कृष्ण से उत्पन्न होती है। शरीर को झूठे ही वास्तविक आत्मा और भौतिक जगत को अपने भोग की वस्तु मान बैठने के कारण ही ऐसा है। ये तो हमारे मनोरथ हैं। मनुष्य को चाहिए कि समस्त भौतिक उपाधियों से मुक्त होकर सर्वव्यापी सत्य भगवान् कृष्ण के प्रति सजग हो ले।

विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम् ।
मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

विद्या—ज्ञान; अविद्ये—तथा अज्ञान; मम—मेरा; तनू—प्रकट शक्तियाँ; विद्धि—जानो; उद्धव—हे उद्धव; शरीरिणाम्—देहधारी जीवों का; मोक्ष—मोक्ष; बन्ध—बन्धन; करी—उत्पन्न करने वाला; आद्ये—आदि, नित्य; मायया—शक्ति द्वारा; मे—मेरा; विनिर्मिते—उत्पन्न किया गया।.

हे उद्धव, ज्ञान (विद्या) तथा अज्ञान (अविद्या) दोनों ही माया की उपज होने के कारण मेरी शक्ति के विस्तार हैं। ये दोनों अनादि हैं और देहधारी जीवों को शाश्वत मोक्ष तथा बन्धन प्रदान करने वाले हैं।

तात्पर्य : विद्या के प्रसार से बद्धजीव माया के बन्धन से छूटता है। इसी तरह अविद्या के विस्तार से बद्धजीव मोह तथा बन्धन में फँसता जाता है। विद्या तथा अविद्या दोनों ही भगवान् की प्रबल शक्ति से उत्पन्न हैं। जब जीव अपने को सूक्ष्म तथा स्थूल भौतिक शरीरों का स्वामी मानने लगता है, तो वह मोह से बँध जाता है। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार जीव को *जीवमाया* और पदार्थ को *गुणमाया* की उपाधि दी जा सकती है। जीव अपनी जीवमाया को सांसारिक गुणात्मक शक्ति अर्थात् गुणमाया की

मुट्ठी में रख देता है और झूठे ही स्वप्न देखता है कि वह भौतिक जगत का अंशरूप है। ऐसा कृत्रिम मेल मोह या अज्ञान कहलाता है। जब भगवान् की समस्त शक्तियों को सही परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है, तो जीव भौतिक बन्धन से छूट जाता है और वैकुण्ठ में अपने आनन्दमय नित्य धाम को लौट जाता है।

भगवान् अपनी शक्तियों से भिन्न नहीं हैं, किन्तु परम नियन्ता के रूप में वे सदैव उनसे ऊपर रहते हैं। केवल यह बतलाने के लिए कि भगवान् सदैव भौतिक कल्मष से रहित हैं, उन्हें मुक्त कहा जा सकता है, किन्तु यह बतलाने के लिए हरगिज नहीं कि संसार के वास्तविक बन्धन से वे मुक्त हैं। श्रील मध्वाचार्य के अनुसार विद्या भगवान् की अन्तरंगा शक्ति लक्ष्मी देवी की सूचक है और अविद्या भगवान् की बहिरंगा शक्ति दुर्गा की। किन्तु जैसाकि श्रील प्रभुपाद ने *श्रीमद्भागवत* की टीका (१.३.३४) में बतलाया है, भगवान् अपनी शक्तियों को इच्छानुसार रूपान्तरित कर सकते हैं, ''चूँकि भगवान् परब्रह्म हैं, अतएव उनके सारे रूप, नाम, लीलाएँ, लक्षण, संगी तथा शक्तियाँ उनसे अभिन्न हैं। उनकी दिव्य शक्ति उनकी सर्वशक्तिमत्ता के अनुसार कार्य करती है। वही शक्ति अन्तरंगा, बहिरंगा तथा तटस्था शक्तियों के रूप में कार्य करती है और भगवान् अपनी सर्वशक्तिमत्ता के द्वारा उपर्युक्त शक्तियों में से किसी के माध्यम से कोई भी कार्य कर सकते हैं। वे अपनी इच्छा से बहिरंगा शक्ति को अन्तरंगा शक्ति में रूपान्तरित कर सकते हैं।''

इस सम्बन्ध में श्रील श्रीधर स्वामी लिखते हैं कि भगवान् ने इस अध्याय के पहले श्लोक में बतलाया है कि जीव वास्तव में कभी भी बन्धन में नहीं रहता, अतएव वह कभी भी मुक्त नहीं होता। अत: बन्धन तथा मोक्ष शब्दों का प्रयोग यह स्मरण रखते हुए किया जा सकता है कि जीव भगवान् का दिव्य अंश है। यही नहीं, *मायया मे विनिर्मिते* शब्दों से ऐसा अर्थ भी नहीं निकाला जाना चाहिए कि बन्धन तथा मोक्ष भगवान् की शक्ति से उत्पन्न होने के कारण क्षणिक अवस्थाएँ हैं। इसीलिए *आद्ये* शब्द का प्रयोग इस श्लोक में हुआ है। विद्या तथा अविद्या नामक भगवान् की शक्तियों को माया की सृष्टियाँ कहा गया है, क्योंकि वे भगवान् की शक्तियों का कार्य करती हैं। विद्या-शक्ति जीवों को भगवान् की लीलाओं में लगाती है, जबकि अविद्या उसे भगवान् को भूलने तथा अंधकार में लिन हो जाने में लगाती है। वस्तुत: ज्ञान तथा अज्ञान भगवान् की तटस्था शक्ति के शाश्वत विकल्प हैं और इस अर्थ में यह कहना गलत न होगा कि जीव या तो शाश्वत बद्ध है या शाश्वत मुक्त है। इस प्रसंग में *विनिर्मिते* शब्द

बतलाता है कि भगवान् अपनी शक्ति का विस्तार ज्ञान तथा अज्ञान के रूप में करते हैं, जो भगवान् की अन्तरंगा तथा बहिरंगा शक्तियों के कार्यों को प्रदर्शित करते हैं। ऐसे प्रदर्शन विभिन्न देशों, कालों तथा परिस्थितियों के अनुसार प्रकट तथा अप्रकट हो सकते हैं, किन्तु भौतिक बन्धन तथा आध्यात्मिक मोक्ष तो भगवान् की तटस्था शक्ति के शाश्वत विकल्प हैं।

एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते ।
बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः ॥ ४॥

शब्दार्थ

एकस्य—एक के; एव—निश्चय ही; मम—मेरे; अंशस्य—अंश के; जीवस्य—जीव के; एव—निश्चय ही; महा-मते—हे परम बुद्धिमान; बन्धः—बन्धन; अस्य—उसका; अविद्यया—अज्ञान से; अनादिः—आदि-रहित; विद्यया—ज्ञान से; च—तथा; तथा—उसी तरह; इतरः—बन्धन का उल्टा, मोक्ष।

हे परम बुद्धिमान उद्धव, जीव मेरा भिन्नांश है, किन्तु अज्ञान के कारण वह अनादि काल से भौतिक बन्धन भोगता रहा है। फिर भी ज्ञान द्वारा वह मुक्त हो सकता है।

तात्पर्य : जिस तरह सूर्य अपने ही प्रकाश से प्रकट होता है अथवा अपने द्वारा उत्पन्न बादलों से ढक जाता है, उसी तरह भगवान् ज्ञान तथा अज्ञान से, जो कि उनकी शक्ति के अंश है, अपने को प्रकट तथा अप्रकट करते हैं। *भगवद्गीता* (७.५) में कहा गया है—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

"हे महाबाहु अर्जुन! इस अपरा प्रकृति के अतिरिक्त मेरी एक अन्य पराशक्ति है, जो उन जीवों से युक्त है, जो प्रकृति से संघर्ष कर रहे हैं और ब्रह्माण्ड का पालन कर रहे हैं।" इस श्लोक के बारे में श्रील प्रभुपाद कहते हैं, "परमेश्वर कृष्ण ही एकमात्र नियन्ता हैं और सारे जीव उन्हीं के द्वारा नियंत्रित हैं। ये सारे जीव उनकी पराशक्ति हैं, क्योंकि उनके गुण परमेश्वर के समान हैं, किन्तु शक्ति की मात्रा के मामले में वे कभी भी समान नहीं हैं।"

शक्ति की मात्रा की निकृष्टता के कारण ही जीव माया से आच्छादित हो जाता है और भगवान् की शरण में जाने पर पुनः मुक्त होता है। *अंश* शब्द का उल्लेख *भगवद्गीता* (१५.७) में भी हुआ है—*ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।* जीव *अंश* है, अतएव वह मोक्ष तथा बन्धन के अधीन है। जैसाकि *विष्णु पुराण* में कहा गया है—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा।

अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥

"भगवान् विष्णु के पास उनकी श्रेष्ठ अन्तरंगा शक्ति के साथ ही *क्षेत्रज्ञा शक्ति* भी होती है। यह क्षेत्रज्ञा शक्ति आध्यात्मिक शक्ति भी है, किन्तु कभी कभी यह एक तीसरी या भौतिक शक्ति द्वारा आच्छादित रहती है, जिसे अज्ञान या अविद्या कहते हैं। इस तरह आच्छादन की विभिन्न अवस्थाओं के कारण दूसरी अर्थात् तटस्था शक्ति विभिन्न विकासात्मक रूपों में प्रकट होती है।"

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने लिखा है कि जीव अनादि काल से सकाम कर्म करता आया है। इस तरह उसके बद्ध-जीवन को अनादि कहा जा सकता है। किन्तु ऐसा बद्ध-जीवन अन्तहीन नहीं है, क्योंकि जीव भगवद्भक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। चूँकि जीव मोक्ष-लाभ कर सकता है, इसलिए श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं कि उसका मुक्त जीवन एक विन्दु से प्रारम्भ होता है, किन्तु होता है अन्तहीन, क्योंकि मुक्त जीवन को नित्य माना जाता है। जो भी हो—जिसने भी भगवान् कृष्ण की शरण प्राप्त कर ली है उसे नित्य मुक्त माना जा सकता है, क्योंकि ऐसा व्यक्ति आध्यात्मिक आकाश के नित्य वायुमण्डल में प्रवेश कर चुकता है। चूँकि आध्यात्मिक आकाश में भौतिक काल नहीं होता, अतः जो व्यक्ति भगवान् कृष्ण के लोक में नित्य आध्यात्मिक शरीर प्राप्त कर लेता है, वह काल से प्रभावित नहीं होता। कृष्ण के साथ उसके शाश्वत आनन्दमय जीवन को भौतिक भूत, वर्तमान तथा भविष्य नहीं कहा जा सकता, इसलिए वह नित्य मोक्ष कहलाता है। आध्यात्मिक आकाश में भौतिक काल अनुपस्थित रहता है और हर जीव परम पद प्राप्त करके शाश्वत मुक्त रहता है। ऐसा मोक्ष *विद्या* अर्थात् सम्यक् ज्ञान द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, जिसे तीन अवस्थाओं में—ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के रूप में जाना जाता है और इसका वर्णन *श्रीमद्भागवत* में हुआ है। विद्या या ज्ञान की चरम अवस्था है भगवान् को समझना। *भगवद्गीता* में ऐसे ज्ञान को *राज-विद्या* अर्थात् समस्त ज्ञान का राजा कहा गया है और यह परम मोक्ष दिलाने वाला है।

अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते ।
विरुद्धधर्मिणोस्तात स्थितयोरेकधर्मिणि ॥५॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; बद्धस्य—बद्धजीव के; मुक्तस्य—मुक्त भगवान् के; वैलक्षण्यम्—विभिन्न लक्षण; वदामि—अब मैं कहूँगा; ते—तुमसे; विरुद्ध—विपरीत; धर्मिणोः—जिसके दो स्वभाव; तात—हे उद्धव; स्थितयोः—स्थित दो के; एक-धर्मिणि—एक शरीर में अपने भिन्न भिन्न लक्षण प्रकट करता है।

इस तरह हे उद्धव, एक ही शरीर में हम दो विरोधी लक्षण—यथा महान् सुख तथा दुख पाते हैं। ऐसा इसलिए है, क्योंकि नित्य मुक्त भगवान् तथा बद्ध आत्मा दोनों ही शरीर के भीतर हैं। अब मैं तुमसे उनके विभिन्न लक्षण कहूँगा।

तात्पर्य : पिछले अध्याय के ३६वें श्लोक में उद्धव ने मुक्त तथा बद्ध-जीवन के लक्षणों के विषय में जिज्ञासा व्यक्त की थी। श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि बन्धन तथा मोक्ष को दो विभागों में समझा जा सकता है—या तो सामान्य बद्धात्मा तथा नित्य मुक्त भगवान् के मध्य अन्तर के रूप में अथवा जीव कोटि के बद्ध तथा मुक्त जीवों के अन्तर के रूप में। भगवान् सर्वप्रथम सामान्य जीव तथा भगवान् के बीच के अन्तर को बतलायेंगे, जिसे नियंत्रित तथा नियन्ता के अन्तर के रूप में समझा जा सकता है।

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ
यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे ।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न-
मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सुपर्णौ—दो पक्षी; एतौ—ये; सदृशौ—एक समान; सखायौ—मित्र; यदृच्छया—संयोगवश; एतौ—ये दोनों; कृत—बनाये हुए; नीडौ—घोंसला; च—तथा; वृक्षे—वृक्ष पर; एकः—एक; तयोः—दोनों में से; खादति—खा रहा है; पिप्पल—वृक्ष के; अन्नम्—फलों को; अन्यः—दूसरा; निरन्नः—न खाते हुए; अपि—यद्यपि; बलेन—शक्ति से; भूयान्—श्रेष्ठ है।

संयोगवश दो पक्षियों ने एक ही वृक्ष पर एक साथ घोंसला बनाया है। दोनों पक्षी मित्र हैं और एक जैसे स्वभाव के हैं। किन्तु उनमें से एक तो वृक्ष के फलों को खा रहा है, जबकि दूसरा, जो कि इन फलों को नहीं खा रहा है, अपनी शक्ति के कारण श्रेष्ठ पद पर है।

तात्पर्य : एक ही वृक्ष पर दो पक्षियों का दृष्टान्त भौतिक शरीर के हृदय के भीतर आत्मा तथा परमात्मा दोनों की उपस्थिति का परिचायक है। जिस प्रकार पक्षी किसी वृक्ष में घोंसला बनाता है, उसी तरह जीव हृदय के भीतर स्थित है। यह दृष्टान्त उपयुक्त है, क्योंकि पक्षी सदैव वृक्ष से पृथक् होता है। इसी तरह आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही पृथक्-पृथक् सत्ताएँ हैं और नश्वर शरीर से पृथक् हैं। *बलेन* शब्द सूचित करता है कि भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति से तुष्ट रहते हैं, जो कि सच्चिदानन्द स्वरूप है। जैसाकि *भूयान्* शब्द से सूचित होता है, परमेश्वर सदैव श्रेष्ठ पद पर आसीन हैं, जबकि जीव कभी

मोहग्रस्त रहता है, तो कभी प्रबुद्ध रहता है। *बलेन* शब्द बतलाता है कि भगवान् कभी भी अंधकार या अज्ञान में नहीं रहते, अपितु पूर्ण आनन्दमय चेतना में रहते हैं।

इस तरह भगवान् *निरन्न* हैं अर्थात् भौतिक कर्मों के तिक्त फलों में अरुचि रखते हैं, जबकि सामान्य बद्धजीव तिक्त फलों को मीठा समझ कर खाने में लगा रहता है। अन्ततः समस्त भौतिक प्रयास का फल मृत्यु है, किन्तु जीव मूर्खतावश सोचता है कि भौतिक वस्तुओं से उसे आनन्द मिलेगा। *सखायौ* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। हमारे असली मित्र भगवान् कृष्ण हैं, जो हमारे हृदय के भीतर स्थित हैं। एकमात्र वे ही हमारी आवश्यकताओं को जानते हैं और वे ही हमें असली सुख प्रदान कर सकते हैं।

कृष्ण इतने दयालु हैं कि वे हृदय में धैर्यरूप में स्थित होकर बद्धजीव को भगवद्धाम वापस ले जाने का मार्गदर्शन करते हैं। यह निश्चित है कि कोई भी संसारी मित्र अपने मूर्ख मित्र के साथ लाखों वर्षों तक नहीं रहता रहेगा, विशेषतया तब जबकि वह उसकी उपेक्षा करे या उसे कोसे भी। किन्तु भगवान् कृष्ण इतने श्रद्धालु प्रेमी-मित्र हैं कि वे असुर से असुर जीव के साथ भी रहते हैं और एक कीट, शूकर तथा कूकर के भी हृदय में रहते हैं। इसका कारण यह है कि भगवान् कृष्ण अत्यधिक कृष्णभावनाभावित हैं और प्रत्येक जीव को अपने अंश के रूप में देखते हैं। हर सजीव प्राणी को इस संसार रूपी वृक्ष के तिक्त फलों का परित्याग कर देना चाहिए। उसे अपने हृदय के भीतर स्थित भगवान् की ओर मुख मोड़ना चाहिए और अपने असली मित्र भगवान् कृष्ण के साथ प्रेममय सम्बन्ध को पुनः जागृत करना चाहिए। *सदृशौ* शब्द बतलाता है कि जीव तथा भगवान् दोनों ही चेतन प्राणी हैं। भगवान् का अंश होने से हम उनके स्वभाव के भागीदार होते हैं, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा में। इस तरह भगवान् तथा जीव *सदृशौ* होते हैं। ऐसा ही कथन *श्वेताश्वतर उपनिषद्* (४.६) में पाया जाता है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकषीति॥

"एक वृक्ष पर दो पक्षी हैं। उनमें से एक पक्षी वृक्ष के फल खा रहा है, जबकि दूसरा पक्षी उसके कार्यों का साक्षी है। यह साक्षी भगवान् है और फल खाने वाला जीव है।"

आत्मानमन्यं च स वेद विद्वा-

नपिप्पलादो न तु पिप्पलादः ।
योऽविद्यया युक्स तु नित्यबद्धो
विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः ॥ ७॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—स्वयं; अन्यम्—दूसरा; च—भी; सः—वह; वेद—जानता है; विद्वान्—सर्वज्ञ होने से; अपिप्पल-अदः—वृक्ष के फलों को नहीं खाने वाला; न—नहीं; तु—लेकिन; पिप्पल-अदः—वृक्ष के फलों को खाने वाला; यः—जो; अविद्यया—अज्ञान से; युक्—परिपूर्ण; सः—वह; तु—निस्सन्देह; नित्य—शाश्वत रूप से; बद्धः—बद्ध; विद्या मयः—पूर्ण ज्ञान से पूरित; यः—जो; सः—वह; तु—निस्सन्देह; नित्य—नित्य; मुक्तः—मुक्त।

जो पक्षी वृक्ष के फल नहीं खा रहा वह भगवान् है, जो अपनी सर्वज्ञता के कारण अपने पद को तथा उस बद्धजीव के पद को, जो कि फल खा रहे पक्षी द्वारा दर्शाया गया है, समझते हैं। किन्तु दूसरी ओर, वह जीव न तो स्वयं को समझता है, न ही भगवान् को। वह अज्ञान से आच्छादित है, अतः नित्य बद्ध कहलाता है, जबकि पूर्ण ज्ञान से युक्त होने के कारण भगवान् नित्य मुक्त हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *विद्यामय* शब्द भगवान् की अन्तरंगा शक्ति का सूचक है, उनकी बहिरंगा शक्ति *महामाया* का नहीं। भौतिक जगत में विद्या तथा अविद्या दोनों हैं, किन्तु इस श्लोक में *विद्या* उस अन्तरंगा आध्यात्मिक ज्ञान की सूचक है, जिससे भगवान् सर्वज्ञ हैं। वृक्ष पर के दो पक्षियों का दृष्टान्त, जो कि अनेक वैदिक ग्रंथों में पाया जाता है, *नित्यो नित्यानाम्* कथन को प्रत्यक्ष करता है कि नित्य जीवों की दो कोटियाँ हैं—भगवान् तथा सूक्ष्म जीवात्मा। बद्ध जीवात्मा, भगवान् के नित्य दास के रूप में अपनी पहचान भूलकर अपने कर्मों के फल का भोग करना चाहता है और इस तरह अज्ञान के पाश में आ जाता है। अज्ञान का यह बन्धन अनादि काल से चला आ रहा है और इसका परिष्कार भगवद्भक्ति ग्रहण करके ही किया जा सकता है, क्योंकि भगवद्भक्ति आध्यात्मिक ज्ञान से परिपूर्ण है। बद्ध-जीवन में जीव को प्रकृति के नियमों द्वारा बाध्य होकर पवित्र तथा अपवित्र सकाम कर्म करने पड़ते हैं, किन्तु जीव अपनी मुक्तावस्था में अपने कर्म के फल परम भोक्ता भगवान् को अर्पित करता है। किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि जीव का ज्ञान अपनी मुक्तावस्था में भी मात्रा में भगवान् के तुल्य नहीं होता। यहाँ तक कि इस ब्रह्माण्ड के सर्वश्रेष्ठ जीव ब्रह्मा भी भगवान् तथा उनकी शक्तियों का केवल आंशिक ज्ञान ही प्राप्त कर पाते हैं। *भगवद्गीता* (४.५) में भगवान् ने अर्जुन से इस श्रेष्ठ ज्ञान का वर्णन किया है—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।

तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥

"भगवान् ने कहा : तुम्हारे तथा मेरे अनेक जन्म हो चुके हैं। मुझे तो उन सबका स्मरण है किन्तु हे परन्तप! तुम्हें उनका स्मरण नहीं है।"

बद्ध शब्द जीव की भगवान् पर शाश्वत निर्भरता को बताने वाला है, चाहे वह बद्ध अथवा मुक्त अवस्था में हो। माया के संसार में जीव जन्म-मृत्यु के क्रूर नियमों से बँधा रहता है, जबकि वैकुण्ठ में जीव भगवान् के प्रेम-बन्धन से बँधा होता है। मोक्ष का अर्थ है जीवन के कष्टों से मुक्ति, किन्तु इसका अर्थ भगवान् के साथ प्रेममय सम्बन्ध से मुक्ति कदापि नहीं होता, क्योंकि यह सम्बन्ध शाश्वत जीवन का सार है। श्रील मध्वाचार्य के अनुसार, एकमात्र भगवान् ही नित्य मुक्त जीव हैं और अन्य सारे जीव आनन्दमय भक्ति से अथवा माया के बन्धन से भगवान् के आश्रित और बद्ध हैं। बद्ध आत्मा को संसाररूपी वृक्ष के तिक्त फलों का आस्वादन त्याग देना चाहिए और अपने हृदय में स्थित अपने परम प्रिय मित्र भगवान् कृष्ण की ओर ध्यान देना चाहिए। भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति के तुल्य या इससे बढ़कर कोई आनन्द नहीं और कृष्ण-प्रेम रूपी फल का आस्वादन करने पर मुक्त जीव आनन्द सागर में प्रवेश करता है।

देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान्स्वप्नाद्यथोत्थितः ।
अदेहस्थोऽपि देहस्थः कुमतिः स्वप्नदृग्यथा ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

देह—भौतिक शरीर में; स्थः—स्थित; अपि—यद्यपि; न—नहीं; देह—शरीर में; स्थः—स्थित; विद्वान्—बुद्धिमान व्यक्ति; स्वप्नात्—स्वप्न से; यथा—जिस तरह; उत्थितः—जाग कर; अदेह—शरीर में नहीं; स्थः—स्थित; अपि—यद्यपि; देह—शरीर में; स्थः—स्थित; कु-मतिः—मूर्ख व्यक्ति; स्वप्न—स्वप्न; दृक्—देख रहा; यथा—जिस तरह।

जो व्यक्ति स्वरूपसिद्ध है, वह भौतिक शरीर में रहते हुए भी अपने को शरीर से परे देखता है, जिस तरह मनुष्य स्वप्न से जाग कर स्वप्न-शरीर से अपनी पहचान त्याग देता है। किन्तु मूर्ख व्यक्ति यद्यपि वह अपने भौतिक शरीर से पहचान नहीं रखता किन्तु इसके परे होता है, अपने भौतिक शरीर में उसी प्रकार स्थित सोचता है, जिस तरह स्वप्न देखने वाला व्यक्ति अपने को काल्पनिक शरीर में स्थित देखता है।

तात्पर्य : बद्ध तथा मुक्त जीवों के विभिन्न लक्षणों की व्याख्या करते हुए भगवान् कृष्ण ने सर्वप्रथम नित्य मुक्त भगवान् तथा उनकी तटस्था शक्ति—असंख्य जीव, जो कभी बद्ध, तो कभी मुक्त होते हैं—के अन्तर को स्पष्ट किया। इस श्लोक में तथा अगले नौ श्लोकों में भगवान् ने मुक्त तथा बद्ध जीवात्माओं के विभिन्न लक्षणों का वर्णन किया है। मनुष्य स्वप्न के समय अपने को एक काल्पनिक शरीर में देखता है, किन्तु जागने पर वह उस शरीर से अपनी पहचान करना छोड़ देता है। इसी तरह, जो कृष्णभावनामृत के प्रति जागृत हो जाता है, वह अपनी पहचान न तो स्थूल या सूक्ष्म शरीर से करता है, न ही भौतिक जीवन के सुख या दुख से प्रभावित होता है। दूसरी ओर, मूर्ख व्यक्ति (*कुमति*) संसाररूपी स्वप्न से जागता नहीं और स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों की मिथ्या पहचान के कारण असंख्य समस्याओं से पीड़ित होता रहता है। मनुष्य को अपनी नित्य आध्यात्मिक पहचान (*नित्य स्वरूप*) में स्थित होना चाहिए। अपनी सही पहचान कृष्ण के नित्य दास के रूप में कर लेने पर मनुष्य झूठी भौतिक पहचान से मुक्त हो जाता है, फलतः मोहमय संसार के कष्ट तुरन्त समाप्त हो जाते हैं, जिस तरह जागने पर कष्टप्रद स्वप्न की चिन्ता समाप्त हो जाती है। किन्तु यह समझ लेना होगा कि स्वप्न से जागृत होने की यह उपमा भगवान् पर कभी लागू नहीं होती, क्योंकि वे कभी भी मोह में नहीं रहते। वे अपनी अद्वितीय कोटि में जिसे *विष्णु तत्त्व* कहते हैं, नित्य जागृत तथा प्रबुद्ध रहते हैं। जो विद्वान होता है, वह ऐसे ज्ञान को सरलता से समझ सकता है।

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च ।
गृह्यमाणेष्वहं कुर्यान्न विद्वान्यस्त्वविक्रियः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रियैः—इन्द्रियों द्वारा; इन्द्रिय—इन्द्रियों के; अर्थेषु—पदार्थों में; गुणैः—गुणों से उत्पन्न हुए; अपि—भी; गुणेषु—उन्हीं गुणों से उत्पन्न में से; च—भी; गृह्यमाणेषु—ग्रहण किये जाकर; अहम्—मिथ्या अभिमान; कुर्यात्—उत्पन्न करना चाहिए; न—नहीं; विद्वान्—प्रबुद्ध; यः—जो; तु—निस्सन्देह; अविक्रियः—भौतिक इच्छा से अप्रभावित।

भौतिक इच्छाओं के कल्मष से मुक्त प्रबुद्ध व्यक्ति अपने आपको शारीरिक कार्यों का कर्ता नहीं मानता, प्रत्युत वह जानता है कि ऐसे कार्यों में प्रकृति के गुणों से उत्पन्न इन्द्रियाँ ही उन्हीं गुणों से उत्पन्न इन्द्रिय-विषयों से सम्पर्क करती हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (३.२८) में भगवान् कृष्ण ने ऐसे ही वचन कहे हैं—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।

गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥

"हे महाबाहु! भक्तिभावमय कर्म तथा सकाम कर्म के भेद को भलीभाँति जानते हुए, जो परम सत्य को जानने वाला है, वह कभी भी अपने आपको इन्द्रियों में तथा इन्द्रियतृप्ति में नहीं लगाता।"

भौतिक शरीर इन्द्रिय-विषयों से अन्योन्य क्रिया करता है, क्योंकि शरीर को जीवित रखने के लिए खाना, पीना, बोलना, सोना इत्यादि आवश्यक है, किन्तु प्रबुद्ध व्यक्ति, जो कृष्णभावनामृत के विज्ञान को जानता है, यह कभी नहीं सोचता "मैं इन इन्द्रिय-विषयों को अपनी सम्पत्ति मानता हूँ और ये मेरे आनन्द के लिए हैं।" इसी प्रकार यदि शरीर कोई अद्‌भुत कर्म करता है, तो कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कभी गर्वित नहीं होता, न ही वह शरीर द्वारा किसी प्रकार से कार्य करने में असफल होने पर हताश होता है। दूसरे शब्दों में, कृष्णभावनामृत का अर्थ है स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर से पहचान का परित्याग। मनुष्य को चाहिए कि वह इन्हें भगवान् की बहिरंगा शक्ति के रूप में देखे, जो कि भगवान् द्वारा शक्तिप्रदत्त प्रतिनिधि माया के निर्देशन में कार्य करती है। सकाम कर्मों में लीन रहने वाला व्यक्ति *महामाया* के अथवा बहिरंगा माया के प्रभाव-क्षेत्र में कार्य करता है और भौतिक जगत के कष्टों का अनुभव करता है। दूसरी ओर, भक्त अन्तरंगा शक्ति अर्थात् *योगमाया* के प्रभाव में कर्म करता है और भगवान् को अपनी प्रेमाभक्ति अर्पित करके तुष्ट रहता है। प्रत्येक अवस्था में भगवान् अपनी विविध शक्तियों के द्वारा कर्म के चरम कर्ता हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार, जो व्यक्ति अपने को देहात्म बुद्धि से ऊपर बताता है, किन्तु उसी के साथ ही भौतिक इच्छा तथा मानसिक विकार के वशीभूत रहता है, वह वंचक तथा अधम बद्धजीव माना जाता है।

दैवाधीने शरीरेऽस्मिन्गुणभाव्येन कर्मणा ।
वर्तमानोऽबुधस्तत्र कर्तास्मीति निबध्यते ॥ १० ॥

शब्दार्थ

दैव—मनुष्य के पूर्व सकाम कर्मों के; अधीने—अधीन; शरीरे—भौतिक शरीर में; अस्मिन्—इस; गुण—गुणों से; भाव्येन—उत्पन्न; कर्मणा—सकाम कर्मों द्वारा; वर्तमानः—स्थित होकर; अबुधः—मूर्ख; तत्र—शारीरिक कार्यों में; कर्ता—करने वाला; अस्मि—हूँ; इति—इस प्रकार; निबध्यते—बँध जाता है।

अपने पूर्व सकाम कर्मों द्वारा उत्पन्न शरीर के भीतर स्थित, अज्ञानी व्यक्ति सोचता है कि मैं ही कर्म का कर्ता हूँ। इसलिए ऐसा मूर्ख व्यक्ति मिथ्या अहंकार से मोहग्रस्त होकर, उन सकाम कर्मों से बँध जाता है, जो वस्तुतः प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (३.२७) में कहा गया है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वशः।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

जीव परम पुरुष भगवान् कृष्ण पर आश्रित होता है, लेकिन मिथ्या अहंकार के कारण वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की उपेक्षा करके अपने को कर्म का कर्ता तथा प्रत्येक वस्तु का भोक्त मानता है। श्रील मध्वाचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार राजा उत्पात करने वाली प्रजा को दण्ड देता है, उसी तरह परमेश्वर पापी जीव को माया के जंजाल में डालकर एक शरीर से दूसरे में देहान्तर के लिए बाध्य करके दण्ड देता है।

एवं विरक्तः शयन आसनाटनमज्जने ।
दर्शनस्पर्शनघ्राणभोजनश्रवणादिषु ।
न तथा बध्यते विद्वान्तत्र तत्रादयन्गुणान् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विरक्तः—भौतिक भोग से विलग हुआ; शयने—लेटने या सोने में; आसन—बैठने में; अटन—चलते हुए; मज्जने—अथवा स्नान में; दर्शन—देखने में; स्पर्शन—स्पर्श करने; घ्राण—सूँघने; भोजन—खाने; श्रवण—सुनने; आदिषु—इत्यादि में; न—नहीं; तथा—इस प्रकार; बध्यते—बाँधा जाता है; विद्वान्—बुद्धिमान व्यक्ति; तत्र तत्र—जहाँ भी जाता है; आदयन्—अनुभव कराते; गुणान्—प्रकृति के गुणों से उत्पन्न, इन्द्रियाँ।

प्रबुद्ध व्यक्ति विरक्त रहकर शरीर को लेटने, बैठने, चलने, नहाने, देखने, छूने, सूँघने, खाने, सुनने इत्यादि में लगाता है, लेकिन वह कभी भी ऐसे कार्यों में फँसता नहीं। निस्सन्देह, वह समस्त शारीरिक कार्यों का साक्षी बनकर अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों में लगाता है और वह मूर्ख व्यक्ति की भाँति उसमें फँसता नहीं।

तात्पर्य : पिछले अध्याय में उद्धव ने भगवान् कृष्ण से यह प्रश्न पूछा था कि प्रबुद्ध व्यक्ति बद्धजीव की तरह अपने को बाह्य शारीरिक कार्यों में क्यों लगाता है? यहाँ पर उसका उत्तर भगवान् द्वारा दिया गया है। मूर्ख व्यक्ति शारीरिक कार्यों में लगा रहकर भौतिक जीवन के कारणों तथा फल में

लिप्त रहता है, अतएव उसे उत्कट शोक तथा हर्ष का सामना करना पड़ता है। किन्तु स्वरूपसिद्ध व्यक्ति सामान्य व्यक्तियों की हार तथा पीड़ा का अध्ययन करता है और शारीरिक कार्यों को भोगने का भूलकर भी प्रयास नहीं करता, उल्टे वह विरक्त साक्षी बनकर अपनी इन्द्रियों को शरीर-पालन के सामान्य कार्यों में लगाता है। जैसाकि *आदयन्* शब्द से सूचित होता है, वह भौतिक अनुभव में वास्तविक स्व अर्थात अपने आपको न लगाकर और कुछ को लगाता है।

प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तो यथा खं सवितानिलः ।
वैशारद्येक्षयासङ्गशितया छिन्नसंशयः ।
प्रतिबुद्ध इव स्वप्नान्नानात्वाद्विनिवर्तते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

प्रकृति—भौतिक जगत में; स्थः—स्थित; अपि—यद्यपि; असंसक्तः—इन्द्रियतृप्ति से पूर्णतया विरक्त; यथा—जिस तरह; खम्—आकाश; सविता—सूर्य; अनिलः—वायु; वैशारद्या—अत्यन्त कुशल द्वारा; ईक्षया—दृष्टि; असङ्ग—विरक्ति द्वारा; शितया—तेज किया हुआ; छिन्न—खण्ड खण्ड; संशयः—सन्देह; प्रतिबुद्धः—जाग्रत; इव—सदृश; स्वप्नात्—स्वप्न से; नानात्वात्—संसार के विविधत्व के द्वन्द्व से; विनिवर्तते—मुख मोड़ता है या परित्याग कर देता है।

यद्यपि आकाश हर वस्तु की विश्राम-स्थली है, किन्तु वह न तो किसी वस्तु से मिलता है, न उसमें उलझता है। इसी प्रकार सूर्य उन नाना जलाशयों के जल में लिप्त नहीं होता, जिनमें से वह प्रतिबिम्बित होता है। इसी तरह सर्वत्र बहने वाली प्रबल वायु उन असंख्य सुगंधियों तथा वातावरणों से प्रभावित नहीं होती, जिनमें से होकर वह गुजरती है। ठीक इसी तरह स्वरूपसिद्ध आत्मा भौतिक शरीर तथा अपने आसपास के भौतिक जगत से पूर्णतया विरक्त रहता है। वह उस मनुष्य की तरह है, जो स्वप्न से जगा है। स्वरूपसिद्ध आत्मा विरक्ति द्वारा प्रखर की गई कुशल दृष्टि से आत्मा के पूर्ण ज्ञान से समस्त संशयों को छिन्न-भिन्न कर देता है और अपनी चेतना को भौतिक विविधता के विस्तार से पूर्णतया विलग कर लेता है।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार प्रबुद्ध व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक पहचान के प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा समस्त संशयों को छिन्न कर देता है। श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं और उनसे पृथक् किसी अस्तित्व की संभावना नहीं हो सकती। ऐसे कुशल ज्ञान से सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। जैसाकि यहाँ पर कहा गया है—*प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तः*—आकाश, सूर्य अथवा वायु की तरह स्वरूपसिद्ध व्यक्ति भगवान् की सृष्टि में रहते हुए भी उसमें बँधता नहीं। *नानात्व* मनुष्य के भौतिक

शरीर, अन्यों के शरीरों तथा शारीरिक एवं मानसिक इन्द्रियतृप्ति की असंख्य साज-सामग्री का द्योतक है। कृष्णभावनामृत के प्रति जागरूक होने से मनुष्य मोहमय इन्द्रियतृप्ति से विलग हो जाता है और शरीर के भीतर स्थित आत्मा के उत्तरोत्तर साक्षात्कार में लीन रहने लगता है। जैसाकि वृक्ष पर बैठे दो पक्षियों के दृष्टान्त से प्रकट होता है आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों से सर्वथा पृथक् हैं। यदि मनुष्य भगवान् पर पूर्णत: आश्रित हो जाय, तो इस जगत के भीतर रहते हुए भी उसे कोई कष्ट या चिन्ता नहीं होगी। भौतिक पदार्थों के असीम अनुभव से मनुष्य की चिन्ता में वृद्धि ही होती है, जबकि परम सत्य भगवान् कृष्ण की अनुभूति से मनुष्य को तुरन्त शान्ति-लाभ होता है। इस प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति पदार्थ-जगत से विरक्त होकर पूर्णतया स्वरूपसिद्ध तथा कृष्णभावनाभावित बन जाता है।

यस्य स्युर्वीतसङ्कल्पा: प्राणेन्द्रियमनोधियाम् ।
वृत्तय: स विनिर्मुक्तो देहस्थोऽपि हि तद्गुणै: ॥ १४॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; स्यु:—हैं; वीत—रहित; सङ्कल्पा:—भौतिक इच्छा से; प्राण—प्राण; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; मन:—मन; धियाम्—बुद्धि के; वृत्तय:—कार्य; स:—ऐसा व्यक्ति; विनिर्मुक्त:—पूर्णतया मुक्त; देह—शरीर में; स्थ:—स्थित; अपि—होते हुए भी; हि—निश्चय ही; तत्—शरीर के; गुणै:—गुणों से।

वह व्यक्ति स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों से पूर्णतया मुक्त माना जाता है, जब उसके प्राण, इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि के सारे कर्म किसी भौतिक इच्छा के बिना सम्पन्न किये जाते हैं। ऐसा व्यक्ति शरीर में स्थित रहकर भी बद्ध नहीं होता।

तात्पर्य : भौतिक शरीर तथा मन को शोक, मोह, भूख, काम, लोभ, पागलपन, हताशा इत्यादि सताते रहते हैं, किन्तु जो व्यक्ति आसक्तिरहित होकर इस जगत में रहता है, वह *विनिर्मुक्त* है। भगवान् कृष्ण की सेवा में लगे रहने पर प्राण, इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि विमल हो जाते हैं, जैसाकि सम्पूर्ण *श्रीमद्भागवत* में स्थान-स्थान पर पुष्टि हुई है।

यस्यात्मा हिंस्यते हिंस्रैर्येन किञ्चिद्यदृच्छया ।
अर्च्यते वा क्वचित्तत्र न व्यतिक्रियते बुध: ॥ १५॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; आत्मा—शरीर; हिंस्यते—आक्रमण किया जाता है; हिंस्रै:—पापी व्यक्तियों या उग्र पशुओं द्वारा; येन—जिससे; किञ्चित्—कुछ कुछ; यदृच्छया—किसी न किसी तरह; अर्च्यते—रूपान्तरित या प्रभावित होता है; वा—अथवा; क्वचित्—कहीं; तत्र—वहाँ; न—नहीं; व्यतिक्रियते—परिवर्तित अथवा प्रभावित होता है; बुध:—बुद्धिमान व्यक्ति।

कभी कभी अकारण ही मनुष्य के शरीर पर क्रूर व्यक्तियों या उग्र पशुओं द्वारा आक्रमण किया जाता है। अन्य अवसरों तथा अन्य स्थानों पर उसी व्यक्ति का दैवयोग से अत्यन्त सम्मान या पूजन होता है। जो व्यक्ति आक्रमण किये जाने पर क्रुद्ध नहीं होता, न ही पूजा किये जाने पर प्रमुदित होता है, वही वास्तव में बुद्धिमान है।

तात्पर्य : जब कोई व्यक्ति अकारण ही अपने ऊपर आक्रमण किये जाने पर क्रुद्ध नहीं होता और अपनी पूजा किये जाने पर हर्षित नहीं होता, तो यह समझिये कि वह आत्म-साक्षात्कार की परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया है और आध्यात्मिक बुद्धि के पद को प्राप्त है। उद्धव ने भगवान् कृष्ण से पूछा—*कैर्वा ज्ञायेत लक्षणै*—स्वरूपसिद्ध व्यक्ति को किन लक्षणों से पहचाना जा सकता है? भगवान् कृष्ण ने जिस तरह अर्जुन को ज्ञान दिया था, उसी तरह अब वे उद्धव को वही विषय समझा रहे हैं। इस श्लोक में भगवान् उन लक्षणों को बतलाते हैं, जिनसे सन्त-पुरुष को आसानी से पहचाना जा सकता है, क्योंकि सामान्य व्यक्ति आलोचना किये जाने पर अथवा आक्रमण किये जाने पर क्रुद्ध हो उठता है और अन्यों द्वारा प्रशंसित होने पर हर्ष के मारे फूल कर कुप्पा हो जाता है। ऐसा ही कथन याज्ञवल्क्य का मिलता है, जिसमें कहा गया है कि वास्तविक बुद्धिमान व्यक्ति न तो काँटा चुभाने पर क्रुद्ध होता है न चन्दन-लेप जैसी शुद्ध सामग्री से पूजित होने पर मन में प्रसन्न होता है।

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वत: साध्वसाधु वा ।
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जित: समदृङ्मुनि: ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

न स्तुवीत—प्रशंसा नहीं करता; न निन्देत—आलोचना नहीं करता; कुर्वत:—काम करने वाले; साधु—उत्तम; असाधु—दुष्ट; वा—अथवा; वदत:—बोलने वाले; गुण-दोषाभ्याम्—अच्छे तथा बुरे गुणों से; वर्जित:—मुक्त हुए; सम-दृक्—समानदर्शी; मुनि:—सन्त-साधु।

सन्त पुरुष समान दृष्टि से देखता है, अतएव भौतिक दृष्टि से अच्छे या बुरे कर्म से प्रभावित नहीं होता। यद्यपि वह अन्यों को अच्छा तथा बुरा कार्य करते और उचित तथा अनुचित बोलते देखता है, किन्तु वह किसी की प्रशंसा या आलोचना नहीं करता।

न कुर्यान्न वदेत्किञ्चिन्न ध्यायेत्साध्वसाधु वा ।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः ॥ १७॥

शब्दार्थ

न कुर्यात्—नहीं करे; न वदेत्—नहीं बोले; किञ्चित्—कुछ भी; न ध्यायेत्—चिन्तन नहीं करे; साधु असाधु वा—अच्छी अथवा बुरी वस्तुएँ; आत्म-आरामः—आत्म-साक्षात्कार में आनन्द प्राप्त करने वाला; अनया—इस; वृत्त्या—जीवन-शैली द्वारा; विचरेत्—उसे भ्रमण करना चाहिए; जड-वत्—जड़ व्यक्ति की तरह; मुनिः—साधु-पुरुष।

मुक्त साधु-पुरुष को अपने शरीर-पालन के लिए भौतिक अच्छाई या बुराई की दिशा हेतु न तो कर्म करना चाहिए, न बोलना या सोच-विचार करना चाहिए। प्रत्युत उसे सभी भौतिक परिस्थितियों में विरक्त रहना चाहिए और आत्म-साक्षात्कार में आनन्द लेते हुए उसे इस मुक्त जीवन-शैली में संलग्न होकर विचरण करना चाहिए और बाहरी लोगों को मन्दबुद्धि-व्यक्ति जैसा लगना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार इस श्लोक में ज्ञान-योगियों के लिए अनुशासन जैसी संस्तुति हैं, जो अपनी बुद्धि से यह समझने का प्रयास करते हैं कि वे भौतिक शरीर नहीं हैं। किन्तु जो व्यक्ति भगवद्भक्ति में लगा हुआ है, वह भौतिक वस्तुओं को भगवान् कृष्ण की सेवा में उपादेय होने के अनुसार ग्रहण करता या बहिष्कार करता है। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत का प्रचार करना चाहता हो, उसे अत्यन्त बुद्धिमान समझा जाना चाहिए, *जड़वत्* नहीं, जैसाकि इस श्लोक में बतलाया गया है। यद्यपि भगवद्भक्त अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए न तो कर्म करता है, न बोलता है, न ही सोचता-विचारता है, किन्तु वह भगवान् की भक्ति के लिए कार्य करने, बोलने और ध्यान करने में बहुत व्यस्त रहता है। भक्त समस्त पतित बद्धजीवों को भगवान् की सेवा में लगाने के लिए बड़ी बड़ी योजनाएँ बनाता है, जिससे वे भी शुद्ध बन सकें और भगवद्धाम जा सकें। भौतिक वस्तुओं का केवल परित्याग ही पूर्ण चेतना नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि हर वस्तु को भगवान् की सम्पत्ति तथा भगवान् के आनन्द के लिए उत्पन्न समझे। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रसार में लगे व्यक्ति के पास इतना समय नहीं रहता कि वह भौतिक भेद-भाव कर सके, अतएव वह स्वतः ही मुक्त पद को प्राप्त होता है।

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात्परे यदि ।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः ॥ १८॥

शब्दार्थ

शब्द-ब्रह्मणि—वैदिक साहित्य में; निष्णातः—पूर्ण अध्ययन से निपुण; न निष्णायात्—मन को लीन नहीं करता; परे—परम में; यदि—यदि; श्रमः—परिश्रम; तस्य—उसका; श्रम—महत्प्रयास का; फलः—फल; हि—निश्चय ही; अधेनुम्—दूध न देने वाली गाय; इव—सदृश; रक्षतः—रखवाले का।.

यदि कोई गहन अध्ययन करके वैदिक साहित्य के पठन-पाठन में निपुण बन जाता है, किन्तु भगवान् में मन को स्थिर करने का प्रयास नहीं करता, तो उसका श्रम वैसा ही होता है, जिस तरह दूध न देने वाली गाय की रखवाली करने में अत्यधिक श्रम करने वाले व्यक्ति का। दूसरे शब्दों में, वैदिक ज्ञान के श्रमपूर्ण अध्ययन का फल कोरा श्रम ही निकलता है। उसके कोई अन्य सार्थक फल प्राप्त नहीं होगा।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने बतलाया है कि इस श्लोक में आया *परे* शब्द भगवान् का सूचक है, न कि निर्विशेष ब्रह्म का, क्योंकि इन उपदेशों के दाता भगवान् कृष्ण ने अगले श्लोकों में अपने को *परम* कहा है। इसकी निर्विशेषवादी व्याख्या *एकदेशान्वयउत्तरश्लोकार्थतात्पर्यविरोध:* अर्थात् विरोधमूलक व्याख्या होगी, जो इसी प्रसंग में कहे गये अन्य श्लोकों से विरोध उत्पन्न करेगी।

गाय की रखवाली में अत्यधिक श्रम की आवश्यकता होती है। गाय को खिलाने के लिए या तो अन्न उगाना पड़ता है या उपयुक्त चरागाह रखना पड़ता है। यदि चरागाह को ठीक से नहीं रखा जाता, तो विषैले खर-पतवार उगेंगे या फिर सर्प बढ़ने लगेंगे और खतरा उत्पन्न हो जायेगा। गायों को कई तरह के रोग तथा किलनियाँ लग जाती हैं, अत: उन्हें लगातार नहलाना-धुलाना पड़ता है और रोगाणुओं से मुक्त करना पड़ता है। इसी प्रकार गाय की चरागाह के चारों ओर बाड़ लगानी पड़ती है। इस तरह और भी कई कार्य करने होते हैं। किन्तु यदि गाय दूध न दे, तो सारा श्रम व्यर्थ जाता है। इसी तरह वैदिक मंत्रों के सूक्ष्म तथा गूढ़ अर्थ जानने के लिए संस्कृत भाषा सीखने में परिश्रम करना पड़ता है। यदि इतने परिश्रम के बाद भगवान् के दिव्य रूप को न समझा जा सके, जो कि जीवन के समस्त सुख का स्रोत है और यदि मनुष्य समस्त वस्तुओं के परम आश्रय भगवान् की शरण ग्रहण नहीं करता, तो उसका श्रम व्यर्थ जाता है। यहाँ तक कि मुक्तात्मा भी, जिसने देह-आत्म-बुद्धि का परित्याग कर दिया होता है, यदि भगवान् की शरण ग्रहण नहीं करता, तो नीचे गिर जाता है। *निष्णात* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य को अन्तत: जीवन-लक्ष्य प्राप्त करना होगा अन्यथा वह निपुण नहीं है। जैसाकि चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*प्रेमा पुमर्थो महान्*—मानव-जीवन का वास्तविक लक्ष्य भगवत्प्रेम है और इस लक्ष्य को प्राप्त किये बिना कोई निपुण नहीं कहला सकता।

गां दुग्धदोहामसतीं च भार्यां
देहं पराधीनमसत्प्रजां च ।
वित्तं त्वतीर्थीकृतमङ्ग वाचं
हीनां मया रक्षति दुःखदुःखी ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

गाम्—गाय को; दुग्ध—जिसका दूध; दोहाम्—पहले दुहा जा चुका हो; असतीम्—कुलटा, व्यभिचारिणी; च—भी; भार्याम्—पत्नी को; देहम्—शरीर को; पर—अन्यों के; अधीनम्—आश्रित; असत्—व्यर्थ; प्रजाम्—बच्चों को; च—भी; वित्तम्—सम्पत्ति को; तु—लेकिन; अतीर्थी-कृतम्—योग्य पात्र को न दिया जाकर; अङ्ग—हे उद्धव; वाचम्—वैदिक ज्ञान; हीनाम्—रहित; मया—मेरे ज्ञान का; रक्षति—रखवाली करता है; दुःख-दुःखी—एक कष्ट के बाद दूसरा कष्ट सहन करने वाला।.

हे उद्धव, वह व्यक्ति निश्चय ही अत्यन्त दुखी होता है, जो दूध न देने वाली गाय, कुलटा पत्नी, पूर्णतया पराश्रित शरीर, निकम्में बच्चों या सही कार्य में न लगाई जाने वाली धन-सम्पदा की देखरेख करता है। इसी तरह, जो व्यक्ति मेरी महिमा से रहित वैदिक ज्ञान का अध्ययन करता है, वह भी सर्वाधिक दुखियारा है।

तात्पर्य : वह व्यक्ति वास्तव में विद्वान या निपुण है, जो यह समझता है कि सारी भौतिक वस्तुएँ, जिनकी अनुभूति विविध इन्द्रियों द्वारा होती है, भगवान् की अंश हैं और भगवान् के आश्रय के बिना किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं होता। इस श्लोक में अनेक दृष्टान्तों द्वारा यह निष्कर्ष निकाला गया है कि यदि वाक्-शक्ति का उपयोग भगवान् के समर्थन में नहीं होता, तो वह व्यर्थ है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक का भावार्थ यह है कि विविध इन्द्रियों के कार्य व्यर्थ होते हैं, यदि उनका उपयोग ईश्वर के महिमा-गायन में नहीं किया जाता। निस्सन्देह अवधूत ब्राह्मण ने पहले ही राजा यदु से कहा था कि यदि जिव्हा को वश में नहीं रखा जाता है, तो आत्मसंयम का सारा कार्यक्रम विफल हुआ समझो। जब तक भगवान् की महिमा का उच्चारण नहीं किया जाता, तब तक जीभ को वश में नहीं किया जा सकता।

दूधरहित गाय का दृष्टान्त महत्त्वपूर्ण है। भद्र पुरुष कभी भी गाय को नहीं मारता, अतएव जब गाय बाँझ हो जाती है और दूध नहीं देती, तो उसकी रक्षा के कार्य में लग जाना चाहिए, क्योंकि व्यर्थ गाय को कोई नहीं खरीदेगा। बाँझ गाय का लोभी मालिक कुछ काल तक सोचता रह सकता है, "मैं इस गाय के पालने में काफी धन लगा चुका हूँ और निकट भविष्य में यह पुनः गाभिन होगी तो दूध

देगी।'' किन्तु जब यह आशा व्यर्थ जाती है, तो वह गाय के स्वास्थ्य तथा उसकी सुरक्षा के प्रति अन्यमनस्क तथा उपेक्षा से पूर्ण हो जाता है। ऐसी पापपूर्ण अवमानना से मनुष्य को अगले जन्म में दुख भोगना पड़ सकता है, यद्यपि वह इस जीवन में बाँझ गाय के कारण पहले ही काफी दुख उठा चुका होता है।

इसी तरह यह जानकर कि उसकी पत्नी, न तो साध्वी है, न स्नेहिल, तो वह सन्तान पाने के लिए इतना उत्सुक हो उठता है कि वह ऐसी व्यर्थ पत्नी की देखरेख यह सोचकर करता रहता है कि ''मैं अपनी पत्नी को सती स्त्री के धार्मिक कार्य सिखलाऊँगा। महान् स्त्रियों के ऐतिहासिक दृष्टान्त सुनकर उसका हृदय अवश्यमेव परिवर्तित हो जायेगा और वह मेरी अद्भुत पत्नी बन जायेगी।'' दुर्भाग्यवश कई बार कुलटा स्त्री बदलती नहीं और कई व्यर्थ की सन्तानों को जन्म देती है, जो उसी के समान मूर्ख तथा अधार्मिक होती हैं। ऐसी सन्तानें कभी भी पिता को कोई सुख नहीं पहुँचातीं, फिर भी पिता अत्यधिक श्रम करके उनकी देखरेख करता है।

इतना ही नहीं, जिसने भगवत्कृपा से धन संचित कर लिया है, उसे उचित व्यक्ति को तथा उचित कार्य के लिए दान देने के लिए सतर्क रहना होगा। यदि ऐसा उपयुक्त व्यक्ति या कारण प्रकट होता है और तब यदि कोई संकोच करता है और स्वार्थ-भाव में आकर दान नहीं देता, तो उसकी ख्याति जाती रहती है और अगले जीवन में वह निर्धन होगा। जो व्यक्ति समुचित रीति से दान नहीं देता, तो वह अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने में पूरा जीवन बिता देता है, जिससे उसे कोई यश या सुख हाथ नहीं लगता।

पिछले सारे दृष्टान्त उस वैदिक ज्ञान का श्रमपूर्वक अध्ययन करने की व्यर्थता को बतलाने वाले हैं, जो भगवान् की महिमा का गान नहीं करता। श्रील जीव गोस्वामी टीका करते हैं कि वेदों की आध्यात्मिक ध्वनि का उद्देश्य मनुष्य को भगवान् कृष्ण के चरणकमलों तक लाना है। उपनिषदों तथा अन्य वैदिक ग्रंथों में परम सत्य को पाने के लिए अनेक विधियों की संस्तुति की गई है, किन्तु परस्पर विरोधी तथा अनेक व्याख्याओं, टीकाओं और आदेशों के कारण मनुष्य ऐसे साहित्य के अध्ययन मात्र से परम सत्य को प्राप्त नहीं कर सकता। किन्तु यदि मनुष्य भगवान् श्रीकृष्ण को समस्त कारणों का परम कारण समझता है और उपनिषदों तथा अन्य वैदिक साहित्य को परमेश्वर के महिमा-गान के रूप

में पढ़ता है, तो वह निश्चय ही भगवान् के चरणकमलों में स्थिर हो सकता है। उदाहरणार्थ, श्रील प्रभुपाद ने *श्री ईशोपनिषद* का तथा टीका इस प्रकार किए हैं कि पाठक भगवान् के निकट पहुँच जाता है। निस्सन्देह, भगवान् कृष्ण के चरणकमल ही एकमात्र विश्वसनीय नाव है, जिससे संसाररूपी तरंगित सागर को पार किया जा सकता है। *श्रीमद्भागवत* के दसवें स्कन्ध में ब्रह्मा तक ने कहा है कि यदि कोई व्यक्ति भक्ति के मंगलप्रद मार्ग को छोड़ देता है और वैदिक चिन्तन में व्यर्थ श्रम करता है, तो वह उस मूर्ख के तुल्य है, जो खाली भूसी को पीट कर चावल पाने की आशा करता है। श्रील जीव गोस्वामी की संस्तुति है कि मनुष्य शुष्क वैदिक चिन्तन का पूर्णरूपेण परित्याग कर दे, क्योंकि इससे उसे परम सत्य भगवान् कृष्ण की भक्ति नहीं मिल सकती।

यस्यां न मे पावनमङ्ग कर्म
स्थित्युद्भवप्राणनिरोधमस्य ।
लीलावतारेप्सितजन्म वा स्याद्
वन्ध्यां गिरं तां बिभृयान्न धीरः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यस्याम्—जिस (साहित्य) में; न—नहीं; मे—मेरा; पावनम्—पवित्रकारी; अङ्ग—हे उद्धव; कर्म—कर्म; स्थिति—पालन; उद्भव—सृष्टि; प्राण-निरोधम्—तथा संहार; अस्य—भौतिक जगत का; लीला-अवतार—लीला-अवतारों में से; ईप्सित—अभीष्ट; जन्म—प्राकट्य; वा—अथवा; स्यात्—है; वन्ध्याम्—बंजर; गिरम्—वाणी; ताम्—यह; बिभृयात्—समर्थन करे; न—नहीं; धीरः—बुद्धिमान पुरुष।

हे उद्धव, बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वह कभी भी ऐसा ग्रंथ न पढ़े, जिनमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को पवित्र करने वाले मेरे कार्यकलापों का वर्णन न हो। निस्सन्देह मैं सम्पूर्ण जगत का सृजन, पालन तथा संहार करता हूँ। मेरे समस्त लीलावतारों में से कृष्ण तथा बलराम सर्वाधिक प्रिय हैं। ऐसा कोई भी तथाकथित ज्ञान, जो मेरे इन कार्यकलापों को महत्व नहीं देता, वह निरा बंजर है और वास्तविक बुद्धिमानों द्वारा स्वीकार्य नहीं है।

तात्पर्य : यहाँ पर *लीलावतारेप्सित-जन्म* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अद्भुत लीलाएँ सम्पन्न करने के लिए भगवान् का अवतार *लीलावतार* कहलाता है और विष्णु के ऐसे अद्भुत रूप रामचन्द्र नृसिंहदेव, कूर्म, वराह जैसे नामों से प्रशंसित होते हैं। किन्तु इन समस्त लीलावतारों में से आज भी सर्वाधिक प्रिय भगवान् कृष्ण हैं, जो कि *विष्णु-तत्त्व* के आदि स्रोत हैं। भगवान् का प्राकट्य कंस के बंदीगृह में होता है और वे तुरन्त ही वृन्दावन के ग्रामीण परिवेश में स्थानान्तरित कर दिये जाते हैं, जहाँ

पर वे अपने ग्वालमित्रों, सखियों, माता-पिता तथा शुभचिन्तकों के साथ अद्भुत बाल-लीलाएँ प्रदर्शित करते हैं। कुछ काल बाद, भगवान् की लीलाएँ मथुरा तथा द्वारका में स्थानान्तरित हो जाती हैं और वृन्दावनवासियों का असामान्य प्रेम भगवान् कृष्ण के कष्टमय विरह में लक्षित होता है। भगवान् की ऐसी लीलाएँ *ईप्सित* अर्थात् परम सत्य के साथ समस्त प्रेम के विनिमय के आगार हैं। भगवान् के शुद्ध भक्त अत्यन्त बुद्धिमान तथा निपुण होते हैं और वे ऐसे व्यर्थ तथा निकृष्ट ग्रंथों पर ध्यान ही नहीं देते, जो सर्वोच्च सत्य भगवान् कृष्ण की उपेक्षा करते हैं। यद्यपि ऐसे ग्रंथ सारे संसार में भौतिकतावादी व्यक्तियों के बीच अत्यन्त लोकप्रिय हैं, किन्तु शुद्ध वैष्णव समुदाय द्वारा वे पूर्णतया उपेक्षित हैं। इस श्लोक में भगवान् बतलाते हैं कि भक्तों के लिए जिन ग्रंथों की संस्तुति की गई है वे ऐसे होते हैं, जो भगवान् की लीलाओं का गुणगान *पुरुष-अवतार* तथा *लीलावतारों* के रूप में करते हैं और इनका अन्त भगवान् कृष्ण के साक्षात् प्राकट्य में होता है, जिसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (५.३९) में हुई है—

रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्
नानावतारमकरोद् भुवनेषु किन्तु।
कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जो साक्षात् कृष्ण के रूप में तथा राम, नृसिंह, वामन आदि विभिन्न अवतारों के रूप में संसार में प्रकट हुए।"

यहाँ तक कि जो वैदिक ग्रंथ भगवान् की उपेक्षा करते हों, उनकी भी उपेक्षा करनी चाहिए। जब वेदों के रचियता वेदव्यास अपनी कृति से असन्तुष्ट हो रहे थे, तो यही बात नारद मुनि ने व्यासदेव को समझाई थी।

एवं जिज्ञासयापोह्य नानात्वभ्रममात्मनि ।
उपारमेत विरजं मनो मय्यर्प्य सर्वगे ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह (जैसाकि मैंने अभी कहा); **जिज्ञासया**—वैश्लेषिक अध्ययन द्वारा; **अपोह्य**—त्याग कर; **नानात्व**—विविधता के; **भ्रमम्**—घूमने की त्रुटि; **आत्मनि**—अपने में; **उपारमेत**—भौतिक जीवन समाप्त कर देना चाहिए; **विरजम्**—शुद्ध; **मनः**—मन; **मयि**—मुझमें; **अर्प्य**—स्थिर करके; **सर्व-गे**—सर्वव्यापी में।

समस्त ज्ञान के निष्कर्ष रूप में मनुष्य को चाहिए कि वह भौतिक विविधता की मिथ्या धारणा को त्याग दे, जिसे वह आत्मा पर थोपता है और इस तरह अपने भौतिक अस्तित्व को समाप्त कर दे। चूँकि मैं सर्वव्यापी हूँ, इसलिए मुझ पर मन को स्थिर करना चाहिए।

तात्पर्य : यद्यपि पिछले श्लोकों में भगवान् ने उन निर्विशेष दार्शनिकों की जीवन-शैली तथा पहुँच का वर्णन किया है, जो पदार्थ और आत्मा के अन्तर पर ध्यान करते हैं, किन्तु यहाँ पर वे ज्ञान के पथ का बहिष्कार करते हैं और अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, जो कि *भक्तियोग* है। ज्ञान-मार्ग उसे ही भाता है, जो यह नहीं जानता कि कृष्ण ही भगवान् है, जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

वासुदेवः सर्वमिति अर्थात् वासुदेव ही सर्वस्व हैं—यह पद इसी श्लोक में आए *सर्वगे* जैसा ही है। मनुष्य को जानना चाहिए कि भगवान् क्यों सर्वव्यापी हैं। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम श्लोक में कहा गया है—*जन्माद्यस्य यतः*—भगवान् हर वस्तुके स्रोत हैं। जैसाकि इस अध्याय के पिछले श्लोक में कहा गया है, वे हर वस्तु का सृजन, पालन तथा संहार करने वाले हैं। इस प्रकार भगवान् वायु या सूर्य-प्रकाश की तरह सर्वव्यापक नहीं हैं, प्रत्युत वे परम नियन्ता के रूप में सर्वव्याप्त होते हैं, जो हर जीव के भाग्य को अपने हाथों में रखते हैं।

अन्ततोगत्वा हर वस्तु कृष्ण का अंश है, अतएव कृष्ण के अतिरिक्त अन्य कोई आराध्य वस्तु नहीं है। अन्य किसी वस्तु का चिन्तन भी कृष्ण का चिन्तन है, किन्तु वह अपूर्ण रहता है, जैसाकि *अविधिपूर्वकम्* शब्द द्वारा *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है। *गीता* में भगवान् कृष्ण यह भी कहते हैं कि सारे जीव भगवद्धाम जाने के मार्ग पर हैं। किन्तु अज्ञान के कारण उनमें से कुछ मूर्खतावश यह सोचकर रास्ते में रुक जाते हैं या पीछे चले आते हैं कि उनकी यात्रा समाप्त हो गई है, जबकि वास्तव में वे भगवान् की किसी लघु-शक्ति में लटके रह जाते हैं। यदि कोई व्यक्ति परम सत्य के स्वभाव को ठीक से जानना चाहता है, तो उसे भगवत्प्रेम का मार्ग ग्रहण करना चाहिए। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५५) में कहा गया है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत: ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

"केवल भक्ति से मुझ भगवान् को यथारूप में जाना जा सकता है। जब मनुष्य ऐसी भक्ति से परम पुरुष के पूर्ण भावनामृत में होता है, तो वह वैकुण्ठ जगत में प्रवेश कर सकता है।"

इस श्लोक में *नानात्व-भ्रमम्* स्थूल तथा सूक्ष्म भौतिक शरीरों से झूठी पहचान का सूचक है। *भ्रमम्* शब्द भूल को बताने वाला है। इसका अर्थ भ्रमण या चक्कर लगाना भी हो सकता है। बद्धजीव मोह में गिरने की भूल से भौतिक शरीरों की एक शृंखला में लगातार घूमता रहता है—कभी देवता-रूप में, तो कभी मल के कीट-रूप में प्रकट होता है। *उपारमेत्* शब्द का अर्थ है कि मनुष्य को इस तरह निरर्थक भटकना बन्द करके अपने मन को परम सत्य पर टिकाना चाहिए, जो हर एक के प्रेम के वास्तविक लक्ष्य हैं। ऐसा निष्कर्ष भावनात्मक नहीं, अपितु वैश्लेषिक बुद्धि (*जिज्ञासया*) का फल है। इस तरह उद्धव से जिज्ञासा के अनेक पहलुओं की व्याख्या करने के बाद अब कृष्ण शुद्ध भगवत्प्रेम अर्थात् कृष्णभावनामृत के अन्तिम निष्कर्ष पर आते हैं। ऐसे प्रेम के बिना भगवान् पर मन को नित्य रूप में स्थिर करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

विवेक से उद्धरण देते हुए श्रील मध्वाचार्य कहते हैं कि *नानात्वभ्रमम्* निम्नलिखित मोहों का सूचक है—जीवात्मा को परम मानना, सारे जीवों को बिना पृथक् अस्तित्व के एक जीव मानना, अनेक ईश्वरों का होना, कृष्ण को ईश्वर न मानना, ब्रह्माण्ड को परम सत्य मानना। ये सभी *भ्रम* या त्रुटियाँ कहलाते हैं, किन्तु ऐसे अज्ञान को कृष्ण-नाम कीर्तन द्वारा तुरन्त समाप्त किया जा सकता है : हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे।

यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम् ।
मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्ष: समाचर ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; **अनीश:**—असमर्थ; **धारयितुम्**—स्थिर करने के लिए; **मन:**—मन; **ब्रह्मणि**—आध्यात्मिक पद पर; **निश्चलम्**—इन्द्रियतृप्ति से मुक्त; **मयि**—मुझमें; **सर्वाणि**—समस्त; **कर्माणि**—कर्म; **निरपेक्ष:**—फल भोगने का प्रयास किये बिना; **समाचर**—सम्पन्न करो।

हे उद्धव, यदि तुम अपने मन को समस्त भौतिक उहापोहों से मुक्त नहीं कर सकते और इसे आध्यात्मिक पद पर पूर्णतया लीन नहीं कर सकते, तो अपने सारे कार्यों को, उनका फल भोगने का प्रयास किये बिना, मुझे अर्पित भेंट के रूप में सम्पन्न करो।

तात्पर्य : यदि कोई व्यक्ति अपने कर्मों का फल भोगने का प्रयास किये बिना उन्हें भगवान् कृष्ण को अर्पित करता है, तो उसका मन शुद्ध बन जाता है। जब मन शुद्ध हो जाता है, तो दिव्य ज्ञान स्वयमेव प्रकट होता है, क्योंकि ऐसा ज्ञान शुद्ध चेतना का गौण फल है। जब मन पूर्ण ज्ञान में लीन होता है, तो उसे आध्यात्मिक पद तक उठाया जा सकता है, जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५४) में वर्णन हुआ है—

ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

"इस प्रकार जो दिव्य पद पर स्थित है, वह तुरन्त परब्रह्म का अनुभव करता है। वह कभी न तो शोक करता है, न किसी वस्तु की कामना करता है। वह प्रत्येक जीव पर समभाव रखता है। इस अवस्था में वह मेरी शुद्ध भक्ति को प्राप्त करता है।"

भगवान् कृष्ण के दिव्य रूप में मन को लीन करके मनुष्य सामान्य दिव्य ज्ञान की अवस्था को पार कर सकता है, जिससे वह अपने को स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों से पृथक् समझता है। भगवान् की प्रेमा भक्ति द्वारा आध्यात्मिक रूप से पुष्ट होकर, मन मोह के सारे कलुषों से पूरी तरह विमल हो जाता है। इस तरह भगवान् के साथ गहन एकाग्रता से सम्बद्ध होकर मनुष्य ज्ञान के सर्वोच्च मानक को प्राप्त करता है और भगवान् का घनिष्ठ संगी बन जाता है।

भगवान् को अपने कर्म समर्पित करने से मनुष्य कुछ हद तक अपने मन को शुद्ध बनाता है और इस तरह आध्यात्मिक सजगता की प्रारम्भिक अवस्था को प्राप्त करता है। इतने पर भी वह अपने मन को पूरी तरह आध्यात्मिक पद पर स्थिर करने में समर्थ नहीं भी हो सकता है। यहाँ तक पहुँच कर मनुष्य मन के भीतर छिपे हुए कल्मष को देख कर अपनी स्थिति का मूल्यांकन करे। तब इस श्लोक में बतायी गई विधि से अपने भक्ति-कार्यों को भगवान् की सेवा में लगाये। यदि वह अपने को कृत्रिम रूप

से परम मुक्त मानता है अथवा आध्यात्मिक प्रगति के पथ पर कारणस्वरूप होता है, तो नीचे गिरने का गंभीर खतरा है।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार भगवान् ने उद्धव को इसके पूर्व *ज्ञानमिश्रा भक्ति* की व्याख्या की। इस श्लोक में वे स्पष्ट बतलाते हैं कि दिव्य ज्ञान भगवद्भक्ति का *स्वत: गौण* उत्पाद है। अगले श्लोक में वे शुद्ध भक्ति की व्याख्या आरम्भ करते हैं, जो आत्म-साक्षात्कार के लिए पर्याप्त है। आध्यात्मिक ज्ञान की भोगेच्छा भौतिक इच्छा है, क्योंकि इसका उद्देश्य निजी तुष्टि होता है, न कि भगवान् का आनन्द। इसलिए भगवान् कृष्ण उद्धव को सावधान करते हैं कि यदि कोई व्यक्ति समाधि में अपने मन को आध्यात्मिक पद पर एकाग्र नहीं कर पाता, तो उसे ब्रह्म क्या है और क्या ब्रह्म नहीं है ऐसे सैद्धान्तिक वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहिए। प्रत्युत उसे भगवद्भक्ति में लगे रहना चाहिए और तब आध्यात्मिक ज्ञान स्वत: ही हृदय में उत्पन्न होगा। *भगवद्गीता* (१०.१०) में कहा गया है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

"जो प्रेमपूर्वक मेरी भक्ति और उपासना करने में निरन्तर लगे रहते हैं, उन्हें मैं ज्ञान प्रदान करता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझ तक आ सकते हैं।"

इसी प्रकार *श्रीमद्भागवत* के दसवें स्कंध में ब्रह्माजी सावधान करते हैं कि भक्ति के शुभ मार्ग की उपेक्षा करके मानसिक चिन्तन का व्यर्थ श्रम नहीं करना चाहिए। मात्र दार्शनिक चिन्तन से आध्यात्मिक पद पर मन को एकाग्र नहीं किया जा सकता। इतिहास ऐसे अनेक महान् दार्शनिकों से परिपूर्ण है जिनकी निजी आदतें कुत्सित थीं, जिससे सिद्ध होता है कि मात्र दार्शनिक चिन्तन से वे अपने को आध्यात्मिक पद पर स्थिर नहीं रख सके। यदि किसी व्यक्ति को विगत जीवन में भगवद्भक्ति का अवसर प्राप्त नहीं हुआ और वह पदार्थ तथा आत्मा के अन्तर पर ही चिन्तन करने में लगा रहता है, तो वह आध्यात्मिक पद पर अपने मन को स्थिर नहीं रख पायेगा। ऐसे व्यक्ति को व्यर्थ चिन्तन का परित्याग करके चौबीसों घण्टे भगवान् के मिशन में लीन रहकर कृष्णभावनामृत के व्यावहारिक कार्य में लग जाना चाहिए। भगवान् के ऐसे मिशन-कार्य में लगने पर उसे अपने कर्मफल को भोगने का प्रयास नहीं करना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति अपने कर्मफल भगवान् को अर्पित करे, तो उसका मन

पूर्णतया शुद्ध न रहने पर भी शुद्ध निष्काम पद को प्राप्त हो जायेगा, जिसमें उसकी एकमात्र इच्छा भगवान् की तुष्टि ही होती है।

श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि यदि किसी को भगवान् के साकार रूप तथा कार्यकलापों में श्रद्धा नहीं होती, तो उसमें दिव्य पद पर निरन्तर बने रहने का आध्यात्मिक बल नहीं होगा। इस श्लोक में उद्धव तथा अन्य सारे जीवों को भगवान् समस्त दर्शन के निष्कर्ष पर लाते हैं, जो कि कृष्ण की शुद्ध भक्ति है।

इस सन्दर्भ में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर इंगित करते हैं कि जो व्यक्ति मिथ्या अहंकार से मोहग्रस्त रहता है, हो सकता है कि वह अपने कर्म भगवान् को अर्पित न करना चाहे, यद्यपि प्रकृति के गुणों से ऊपर उठने का यह वास्तविक ढंग है। अपने अज्ञान के कारण वह यह नहीं जानता कि वह कृष्ण का नित्य दास है, अपितु वह भौतिक मोह के द्वंद्व के प्रति आकृष्ट होता है। कोई व्यक्ति सैद्धान्तिक चिन्तन से ऐसे मोह से छूट नहीं सकता, किन्तु यदि वह अपने कर्म भगवान् को अर्पित करता है, तो वह भगवान् के नित्य दास के रूप में अपनी नित्य दिव्य स्थिति को स्पष्टतया समझ सकेगा।

श्रद्धालुर्मत्कथाः शृण्वन्सुभद्रा लोकपावनीः ।
गायन्ननुस्मरन्कर्म जन्म चाभिनयन्मुहुः ॥ २३ ॥
मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन्मदपाश्रयः ।
लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

श्रद्धालुः—श्रद्धावान व्यक्ति; मत्-कथाः—मेरी कथाएँ; शृण्वन्—सुनते हुए; सु-भद्राः—सर्वमंगलमय; लोक—सारे जगत को; पावनीः—पवित्र बनाते हुए; गायन्—गाना; अनुस्मरन्—निरन्तर स्मरण करना; कर्म—मेरे कार्य; जन्म—मेरा जन्म; च—भी; अभिनयन्—नाटक करके.; मुहुः—पुनः पुनः; मत्-अर्थे—मेरे आनन्द के लिए; धर्म—धार्मिक कार्य; काम—इन्द्रिय-कर्म; अर्थान्—तथा व्यापारिक कार्य; आचरन्—सम्पन्न करते हुए; मत्—मुझमें; अपाश्रयः—आश्रय बनाकर; लभते—प्राप्त करता है; निश्चलाम्—अटल; भक्तिम्—भक्ति; मयि—मुझमें; उद्धव—हे उद्धव; सनातने—मेरे सनातन रूप।

हे उद्धव, मेरी लीलाओं तथा गुणों की कथाएँ सर्वमंगलमय हैं और समस्त ब्रह्माण्ड को पवित्र करने वाली हैं। जो श्रद्धालु व्यक्ति ऐसी दिव्य लीलाओं को निरन्तर सुनता है, उनका गुणगान करता है तथा उनका स्मरण करता है और मेरे प्राकट्य से लेकर सारी लीलाओं का

अभिनय करता है, तथा मेरी तुष्टि के लिए अपने धार्मिक, ऐन्द्रिय तथा वृत्तिपरक कार्यों को मुझे अर्पित करता है, वह निश्चय ही मेरी अविचल भक्ति प्राप्त करता है।

तात्पर्य : जिन लोगों की श्रद्धा केवल भगवान् के निर्विशेष तेजोमय पक्ष में होती है और जो लोग उन अन्तर्यामी परमात्मा में ही श्रद्धा रखते हैं, जो प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित, योगिक ध्यान के लिए पूर्ण हैं, उनका साक्षात्कार सीमित तथा अपूर्ण माना जाता है। योगिक ध्यान तथा निर्विशेष दार्शनिक चिन्तन दोनों ही वास्तविक भगवत्प्रेम से रहित हैं, अतएव इन्हें मनुष्य-जीवन की सिद्धि नहीं माना जा सकता। जो व्यक्ति भगवान् में पूर्ण श्रद्धा रखता है, वही भगवद्धाम जाने का पात्र है।

प्रोढ़-वय गोपियों से मक्खन चुराना, ग्वालबालों तथा तरुण गोपियों के साथ जीवन का आनन्द लूटना, वंशी बजाना तथा रास-नृत्य करना इत्यादि कृष्ण की लीलाएँ सर्वमंगलदायक आध्यात्मिक कार्य हैं, जिनका विस्तृत वर्णन इसी ग्रंथ के दसवें स्कंध में हुआ है। भगवान् की इन लीलाओं की महिमा का वर्णन करने वाले अनेक प्रामाणिक गीत तथा प्रार्थनाएँ हैं, जिनका निरन्तर कीर्तन करने से मनुष्य स्वत: *स्मरणम्* को प्राप्त होता है। भगवान् ने अपना ऐश्वर्य अपने जन्म के समय कंस के कारागार में तथा बाद में नन्द महाराज द्वारा गोकुल में मनाये गये जन्मोत्सव के समय प्रकट किया। इसके बाद भगवान् ने अनेक साहसिक कार्य किये—यथा कालिय सर्प तथा अनेक अविवेकी असुरों को दण्ड देना। मनुष्य को कृष्ण के लीलोत्सवों में यथा जन्माष्टमी उत्सव में नियमपूर्वक भाग लेना चाहिए। ऐसे अवसरों पर कृष्ण के अर्चाविग्रह तथा गुरु की पूजा करनी चाहिए और इस प्रकार प्रभु की लीलाओं का स्मरण करना चाहिए।

इस श्लोक में *धर्म* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य को कृष्ण से सम्बन्धित धार्मिक कृत्य करने चाहिए। इसलिए उसे वैष्णवों तथा ब्राह्मणों को अन्न, वस्त्र इत्यादि के रूप में दान देना चाहिए और जब भी सम्भव हो सके, तो गौवों की रक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए जो भगवान् को अत्यन्त प्रिय हैं। *काम* शब्द बताता है कि मनुष्य को भगवान् के दिव्य साज-सामान से अपनी इच्छाएँ पूरी करनी चाहिए। उसे महाप्रसाद खाना चाहिए और भगवान् की फूल-मालाओं, तथा चन्दन-लेप से अपने को सजाना चाहिए तथा अर्चाविग्रह के उतारे गये वस्त्र धारण करने चाहिए। जो व्यक्ति विलासमय महल में रह रहा हो, उसे उस महल को भगवान् का मन्दिर बनाकर, उसमें अन्य लोगों को आमंत्रित करके अर्चाविग्रह के

सामने कीर्तन करना और *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* सुनना चाहिए और भगवान् के भोजन का जूठन खाना चाहिए। अथवा उसे वैष्णव-समुदाय के साथ सुन्दर मन्दिर में रहकर ऐसे कार्यों में लगे रहना चाहिए। इस श्लोक में *अर्थ* शब्द यह सूचित करता है कि जो व्यक्ति व्यापार के प्रति झुकाव रखता हो, उसे भगवद्भक्तों के प्रचार-कार्य को बढ़ावा देने के लिए धन एकत्र करना चाहिए, अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं। इस तरह मनुष्य के वृत्तिपरक कार्य भी कृष्ण की भक्ति माने जायेंगे। *निश्चलाम्* शब्द बताता है कि चूँकि भगवान् कृष्ण शाश्वत रूप से पूर्ण ज्ञान तथा आनन्द को प्राप्त रहते हैं, अत: उनकी पूजा करने वाले को किसी उत्पात की सम्भावना नहीं रहती। यदि हम भगवान् को छोड़कर अन्य किसी की पूजा करते हैं, तो पूज्य अर्चाविग्रह पर किसी अशोभनीय स्थिति आ पड़ने पर हमारी पूजा विचलित हो सकती है। किन्तु भगवान् तो सर्वश्रेष्ठ हैं, अतएव उनकी पूजा समस्त उत्पातों से मुक्त है।

जो व्यक्ति भगवान् की लीलाओं के श्रवण, गायन, स्मरण तथा अभिनय में अपने को लगाता है, वह तुरन्त ही सारी भौतिक इच्छा से मुक्त हो जाएगा। इस सम्बन्ध में श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में बढ़ा-चढ़ा रहता है, वह वैकुण्ठ-लोक में भगवान् की किसी विशिष्ट रूप से सेवा में लगे किसी भक्त की लीलाओं के प्रति आकृष्ट हो सकता है। इस जगत में बढ़ा-चढ़ा भक्त भगवान् की वैसी ही सेवा करने की इच्छा कर सकता है और वह अपने पूज्य भक्त-गुरु की सेवा का अभिनय कर सकता है। यही नहीं, वह उत्सवों, भगवान् कृष्ण की लीला-विशेष को करने या भगवान् के अन्य भक्तों के कार्यों को करने में रुचि ले सकता है। इस तरह वह भगवान् के प्रति अपनी श्रद्धा में निरन्तर वृद्धि कर सकता है। जिन लोगों को भगवान् के दिव्य कार्यकलापों को सुनने, उनका गायन करने या स्मरण करने की इच्छा नहीं होती, वे निश्चित रूप से कल्मषग्रस्त होते हैं और कभी भी सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त नहीं कर पाते। ऐसे लोग छोटी-छोटी सांसारिक बातों में जिनसे कोई शाश्वत लाभ नहीं होता, अपने को उलझा कर मनुष्य-जीवन के सुअवसर को नष्ट कर देते हैं। धर्म का असली अर्थ है सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् की निरन्तर सेवा करना। जिसने भगवान् की पूर्ण शरणागति स्वीकार कर ली है, वह ईश्वर के निर्विशेषवादी चिन्तन में तनिक भी रुचि नहीं रखता और वह अपना समय भक्ति-कार्यों के असीम आनंद में अधिकाधिक बढ़न आगे में लगाता है।

सत्सङ्गलब्धया भक्त्या मयि मां स उपासिता ।
स वै मे दर्शितं सद्भिरञ्जसा विन्दते पदम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सत्—भगवद्भक्तों की; सङ्ग—संगति से; लब्धया—प्राप्त की हुई; भक्त्या—भक्ति द्वारा; मयि—मुझमें; माम्—मेरा; सः—वह; उपासिता—उपासक; सः—वही व्यक्ति; वै—निस्सन्देह; मे—मेरा; दर्शितम्—बताये गये; सद्भिः—मेरे शुद्ध भक्तों द्वारा; अञ्जसा—आसानी से; विन्दते—प्राप्त करता है; पदम्—मेरे चरणकमल अथवा मेरा नित्य धाम।

जिसने मेरे भक्तों की संगति से शुद्ध भक्ति प्राप्त कर ली है, वह निरन्तर मेरी पूजा में लगा रहता है। इस तरह वह आसानी से मेरे धाम को जाता है, जिसे मेरे शुद्ध भक्तगणों द्वारा प्रकट किया जाता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोकों में भगवान् कृष्ण ने अपनी प्रेमाभक्ति में समर्पण करने के महत्त्व पर बल दिया। कोई यह पूछ सकता है कि ऐसा समर्पण या भक्ति कैसे प्राप्त की जाती है? भगवान् इस श्लोक में इसी का उत्तर देते हैं। मनुष्य को भक्तों की संगति में रहना चाहिए। इस तरह वह स्वत: ही *श्रवणम् कीर्तनम्* तथा *स्मरणम्* जैसी भक्ति-विधियों में चौबीसों घण्टे लगा रहेगा। भगवान् के शुद्ध भक्त अपनी दिव्य ध्वनि से वैकुण्ठ को व्यक्त कर सकते हैं, जिससे नवदीक्षित भक्त भी भगवान् के धाम का अनुभव कर सकता है। इस प्रकार प्रोत्साहति होकर नवदीक्षित आगे प्रगति करते हुए स्वयं वैकुण्ठ में भगवान् की सेवा करने के योग्य बन सकता है। भक्तों की निरन्तर संगति करने तथा उनसे भक्तियोग के विषय में सीखने से मनुष्य को भगवान् में तथा भगवत्सेवा में प्रगाढ़ आसक्ति हो जाती है और ऐसी आसक्ति क्रमश: शुद्ध भगवत्प्रेम में बदल जाती है।

मूर्ख लोग कहते हैं कि ईश्वर के नामों से युक्त विविध मंत्र तथा अन्य सारे मंत्र महत्त्वरहित हैं और निरी भौतिक कृतियाँ हैं, इसलिए तथाकथित मंत्र या योग-विधि से अन्त में वही परिणाम प्राप्त होगा। ऐसी ओछी विचारधारा का खण्डन करने के उद्देश्य से ही भगवान् ने यहाँ पर भगवद्धाम वापस जाने के विज्ञान का वर्णन किया है। मनुष्य को निर्विशेषवादियों की बुरी संगति स्वीकार नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उनका कहना है कि भगवान् के नाम, रूप, गुण तथा लीलाएँ माया हैं। वास्तव में माया सर्वशक्तिमान भगवान् की तुच्छ शक्ति है और यदि कोई बेसमझी में माया को परम सत्य से ऊपर उठाना चाहता है, तो उसे कभी भी ईश्वर-प्रेम का अनुभव नहीं होगा और वह भगवान् की गहन विस्मृति में डाल दिया जायेगा। मनुष्य को उन लोगों की संगति नहीं करनी चाहिए, जो भगवद्धाम जाने वाले

भाग्यशाली भक्तों से ईर्ष्या करते हैं। ऐसे ईर्ष्यालु व्यक्ति उस भगवद्धाम का उपहास करते हैं, जिसका उद्घाटन शुद्ध भक्तों द्वारा उन लोगों को किया जाता है, जिन्हें भगवान् के सन्देश में श्रद्धा होती है। ईर्ष्यालु व्यक्ति ऐसी आम जनता में उत्पात मचाते हैं, जिन्हें भगवान् के श्रद्धालु भक्तों की शरण लेनी होती है। जब तक आम जनता शुद्ध भक्तों से नहीं सुनेगी, तब तक वह यह नहीं समझ पायेगी कि कोई भगवान् हैं, जो अपने धाम में नित्य स्थित रहते हैं, जो स्व-तेजोमय, आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण हैं। इस श्लोक में *सङ्ग* की महत्ता को पूरी तरह समझाया गया है।

श्रीउद्धव उवाच

साधुस्तवोत्तमश्लोक मतः कीदृग्विधः प्रभो ।
भक्तिस्त्वय्युपयुज्येत कीदृशी सद्भिरादृता ॥ २६ ॥
एतन्मे पुरुषाध्यक्ष लोकाध्यक्ष जगत्प्रभो ।
प्रणतायानुरक्ताय प्रपन्नाय च कथ्यताम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; साधुः—सन्त-पुरुष; तव—तुम्हारा; उत्तम-श्लोक—हे प्रभु; मतः—विचार; कीदृक्-विधः—वह किस तरह का होगा; प्रभो—हे भगवान्; भक्तिः—भक्ति; त्वयि—तुममें; उपयुज्येत—सम्पन्न करने योग्य है; कीदृशी—किसी तरह की है; सद्भिः—आपके शुद्ध भक्तों, यथा नारद द्वारा; आदृता—समादरित; एतत्—यह; मे—मुझसे; पुरुष-अध्यक्ष—हे विश्व-नियन्ताओं के शासक; लोक-अध्यक्ष—हे वैकुण्ठ के स्वामी; जगत्-प्रभो—हे ब्रह्माण्ड के ईश्वर; प्रणताय—आपके शरणागतों के; अनुरक्ताय—अनुरक्त; प्रपन्नाय—जिनके आपके अलावा कोई अन्य आश्रय नहीं है; च—भी; कथ्यताम्—कहें।

श्री उद्धव ने कहा : हे प्रभु, हे भगवान्, आप किस तरह के व्यक्ति को सच्चा भक्त मानते हैं और आपके भक्तों द्वारा किस तरह की भक्ति समर्थित है, जो आपको अर्पित की जा सके? हे ब्रह्माण्ड के नियन्ताओं के शासक, हे वैकुण्ठ-पति तथा ब्रह्माण्ड के सर्वशक्तिमान ईश्वर, मैं आपका भक्त हूँ और चूँकि मैं आपसे प्रेम करता हूँ, इसलिए आपको छोड़ कर मेरा अन्य कोई आश्रय नहीं है। अतएव कृपा करके आप इसे मुझे समझायें।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में कहा गया था कि भक्तों की संगति से मनुष्य भगवान् के परम धाम को पा सकता है। इसलिए स्वाभाविक है कि उद्धव उस विशिष्ट भक्त के लक्षणों के बारे में पूछताछ करे, जिसकी संगति से भगवद्धाम जाया जा सके। श्रील जीव गोस्वामी लिखते हैं कि भगवान् जानते हैं कि वास्तव में कौन निष्ठावान भक्त है, क्योंकि भगवान् अपने प्रेमी-सेवकों पर सदैव अनुरक्त रहते हैं। इसी तरह शुद्ध भक्तगण भगवान् कृष्ण की भक्ति की उचित विधियाँ बता सकते हैं, क्योंकि वे पहले से

कृष्ण-प्रेम में निमग्न रहते हैं। यहाँ पर उद्धव भगवान् से अनुरोध करते हैं कि वे भक्त के गणों का वर्णन करें तथा उस भक्ति को बतलायें, जो भगवान् को अर्पित करने योग्य हो और जिसकी स्वीकृति भक्तगण स्वयं देते हों।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि *पुरुषाध्यक्ष* शब्द यह बतलाता है कि भगवान् कृष्ण महाविष्णु इत्यादि ब्रह्माण्ड के नियन्ताओं के परम शासक हैं और इसलिए अनन्त सत्ता रखते हैं। *लोकाध्यक्ष* शब्द सूचित करता है कि कृष्ण समस्त वैकुण्ठ-लोकों के परम अध्यक्ष हैं, अतएव वे असीम यशस्वी तथा पूर्ण हैं। उद्धव कृष्ण को *जगत्प्रभु* कह कर भी सम्बोधित करते हैं, क्योंकि वे इस मायामय भौतिक जगत में भी बद्धजीवों को उबारने के लिए स्वयं अवतार लेकर अपनी असीम कृपा प्रदर्शित करते हैं। *प्रणताय* शब्द बतलाता है कि उद्धव सामान्य मूर्खों जैसे घमंडी नहीं हैं, जो भगवान् के समक्ष नतमस्तक होकर आनन्दित नहीं होते। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार उद्धव बतलाते हैं कि वे *अनुरक्ताय* हैं अर्थात् कृष्ण के प्रेम में पूर्णरूपेण बँधे हैं, क्योंकि उद्धव अर्जुन जैसे अन्य महान् भक्तों के समान नहीं हैं, जो सामाजिक प्रथाओं को पूरा करने या ग्रह-व्यवस्था की योजना में उनके स्थानों के लिए आदर प्रदर्शित करने के लिए कभी कभी देवताओं को पूजते हैं। उद्धव ने कभी भी किसी देवता की पूजा नहीं की। इसलिए उद्धव *प्रपन्नाय* हैं अर्थात् एकमात्र कृष्ण के शरणागत हैं।

त्वं ब्रह्म परमं व्योम पुरुषः प्रकृतेः परः ।
अवतीर्णोऽसि भगवन्स्वेच्छोपात्तपृथग्वपुः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; ब्रह्म परमम्—परब्रह्म; व्योम—आकाश की तरह (हर वस्तु से पृथक्); पुरुषः—भगवान्; प्रकृतेः—भौतिक प्रकृति के; परः—दिव्य; अवतीर्णः—अवतार लिया; असि—हो; भगवन्—प्रभु; स्व—अपने (भक्तों); इच्छा—इच्छा के अनुसार; उपात्त—स्वीकार किया; पृथक्—भिन्न; वपुः—शरीर।

हे प्रभु, परब्रह्म-रूप में आप प्रकृति से परे हैं और आकाश की तरह किसी तरह से बद्ध नहीं हैं। तो भी, अपने भक्तों के प्रेम के वशीभूत होकर आप अनेक प्रकार के रूपों में प्रकट होते हैं और अपने भक्तों की इच्छानुसार अवतरित होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् के शुद्ध भक्त सारे संसार में भक्ति का प्रसार करते हैं, अतएव वे ईश्वर के साकार रूप से पृथक् होकर भी ईश्वर की कृपा तथा शक्ति की अभिव्यक्तियाँ माने जाते हैं। *चैतन्य-चरितामृत* (अन्त्य ७.११) में कहा गया है : *कृष्णशक्ति विना नहे तार प्रवर्तन।*

भगवान् आकाश (*व्योम*) के समान हैं, क्योंकि सर्वत्र विस्तृत होकर भी वे किसी वस्तु से बद्ध नहीं हैं। वे *प्रकृते: पर:* हैं अर्थात् भौतिक प्रकृति से पूर्णत: परे हैं। भगवान् आत्माराम हैं, अतएव वे भौतिक जगत के मामलों से उदासीन रहते हैं। फिर भी, अपनी अहैतुकी कृपा के कारण भगवान् अपनी शुद्ध भक्ति का विस्तार करना चाहते हैं और इसी हेतु वे पतित बद्धात्माओं को ऊपर उठाने के लिए इस भौतिक जगत में अवतीर्ण होते हैं।

भगवान् अपने प्रिय भक्तों को प्रसन्न करने के लिए चुने हुए दिव्य शरीरों में अवतरित होते हैं। कभी कभी वे अपने आदि-रूप, कृष्ण के रूप में प्रकट होते हैं। यहाँ तक कि कृष्ण भी विशेष भक्तों के लिए विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं, जिससे ये भक्त उनके प्रति पूर्ण प्रेमभाव उत्पन्न कर सकें। श्रील जीव गोस्वामी भगवान् द्वारा अपने भक्तों पर दिखाई जाने वाली कृपा के अनेक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। कृष्ण स्वयं जाम्बवान् के घर गये और अपना कुछ-कुछ क्रुद्ध रूप दिखलाया। इस रूप में भगवान् ने अपने भक्त से युद्ध का आनन्द लूटा; अत्रि मुनि को दत्तात्रेय के रूप में अपना स्वरूप दिखलाया। इसी तरह उन्होंने ब्रह्मा पर, देवताओं, अक्रूर तथा अन्य असंख्य भक्तों पर विशेष कृपा की। वृन्दावन में उन्होंने गोविन्द के रूप में वहाँ के निवासियों को अपना सुन्दरतम रूप दिखलाया।

श्रील मध्वाचार्य ने *प्रकाश संहिता* से निम्नलिखित उद्धरण दिया है : "भगवान् अपने भक्तों की इच्छानुसार विभिन्न आध्यात्मिक शरीर धारण करते हैं। उदाहरणार्थ, उन्होंने वसुदेव तथा देवकी का पुत्र बनना स्वीकार किया। इस तरह नित्य आनन्दमय दिव्य रूप होने पर भी कृष्ण उस भक्त के शरीर में प्रवेश करते प्रतीत होते हैं, जो उनकी माता बनती है। यद्यपि हम यह कहते हैं कि भगवान् ने 'शरीर धारण किया', किन्तु वे उन बद्धजीवों की तरह अपना रूप नहीं बदलते, जिन्हें अपने शरीर बदलने पड़ते हैं। भगवान् अपने नित्य अपरिवर्तनीय रूपों में प्रकट होते हैं। भगवान् हरि सदैव उन्हीं रूपों में प्रकट होते हैं, जो उनके भक्त चाहते हैं। वे कभी भी अन्य रूपों में प्रकट नहीं होते। किन्तु यदि कोई यह सोचता है कि भगवान् सामान्य पुरुषों की तरह जन्म लेकर वसुदेव या अन्य भक्तों के सशरीर पुत्र बनते हैं, तो उसे मोह का शिकार समझना चाहिए। भगवान् अपनी आध्यात्मिक शक्ति का विस्तार ही करते हैं, जिससे उनके भक्त सोचते हैं कि "कृष्ण अब मेरे पुत्र हैं।" मनुष्य को यह समझ लेना चाहिए कि भगवान् न तो कोई शरीर ग्रहण करते हैं, न उसका परित्याग करते हैं, न ही वे अपने नित्य

आध्यात्मिक रूपों को कभी त्यागते हैं, प्रत्युत वे अपने नित्य शुद्ध भक्तों की प्रेममयी अनुभूतियों के अनुसार अपना आनन्दमय शरीर प्रकट करते हैं।''

श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि *व्योम* शब्द भगवान् के नाम परव्योम का भी सूचक है। इस श्लोक का गलत अर्थ लगाकर यह नहीं सोचना चाहिए कि भगवान् कृष्ण भौतिक आकाश की तरह निर्विशेष हैं या यह कि कृष्ण का रूप अन्य किसी चुने हुए अवतार के समकक्ष है। ऐसे आकस्मिक तथा मनमाने विचारों को आध्यात्मिक ज्ञान नहीं माना जा सकता। श्रीकृष्ण तो आदि भगवान् हैं (*कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*)। भगवान् ने *भगवद्गीता* में विस्तार से बतलाया है कि वे हर वस्तु के आदि स्रोत हैं। इसलिए भगवान् के शुद्ध भक्त भगवान् के आदि रूप कृष्ण की प्रेममयी सेवा में पूर्ण ज्ञान और आनन्द में नित्य लगे रहते हैं। *श्रीमद्भागवत* का सारा अभिप्राय कृष्ण के प्रति हमारे प्रेम को जागृत करना है। किसी को मूर्खतावश इस अभिप्राय को अन्यथा नहीं समझना चाहिए।

श्रीभगवानुवाच
कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥ २९ ॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः ।
अनीहो मितभुक्शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥ ३० ॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः ।
अमानी मानदः कल्यो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥ ३१ ॥
आज्ञायैवं गुणान्दोषान्मयादिष्टानपि स्वकान् ।
धर्मान्सन्त्यज्य यः सर्वान्मां भजेत स तु सत्तमः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; कृपालुः—अन्यों के कष्ट को सहन न कर सकने वाले; अकृत-द्रोहः—अन्यों को हानि न पहुँचाने वाले; तितिक्षुः—क्षमा करने वाले; सर्व-देहिनाम्—सारे जीवों को; सत्य-सारः—सत्य पर जीवित रहने वाले तथा सत्य से ही दृढ़ता प्राप्त करने वाले; अनवद्य-आत्मा—ईर्ष्या-द्वेष से मुक्त आत्मा; समः—सुख-दुख में समान चेतना वाला; सर्व-उपकारकः—अन्यों के कल्याण के लिए प्रयत्नशील; कामैः—भौतिक इच्छाओं द्वारा; अहत—अविचल; धीः—बुद्धि वाले; दान्तः—बाह्य इन्द्रियों को वश में करने वाले; मृदुः—कठोर मनोवृत्ति से रहित; शुचिः—अच्छे व्यवहार वाला; अकिञ्चनः—किसी भी सम्पत्ति से विहीन; अनीहः—सांसारिक कार्यकलापों से मुक्त; मित-भुक्—संयम से खानेवाला; शान्तः—मन को वश में रखने वाला; स्थिरः—अपने नियत कार्य में दृढ़ रहने वाला; मत्-शरणः—मुझे ही एकमात्र शरण स्वीकार करने वाला; मुनिः—विचारवान; अप्रमत्तः—सतर्क; गभीर-आत्मा—दिखाऊ न होने के कारण अपरिवर्तित; धृति-मान्—विपत्ति के समय भी दुर्बल या दुखी न होने वाला; जित—विजय प्राप्त; षट्-गुणः—छः गुण, भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु; अमानी—प्रतिष्ठा की इच्छा से रहित; मान-दः—अन्यों का आदर करने वाला; कल्यः—अन्यों की कृष्णभावना को जगाने में पटु; मैत्रः—दूसरों को धोखा न देने वाला, अतः असली मित्र; कारुणिकः—निजी महत्त्वाकांक्षा से नहीं, अपितु करुणा के वशीभूत होकर कर्म करने वाला; कविः—पूर्ण विद्वान; आज्ञाय—जानते हुए; एवम्—इस प्रकार; गुणान्—अच्छे गुणों; दोषान्—बुरे गुणों को; मया—मेरे द्वारा; आदिष्टान्—शिक्षा दिए गये; अपि—भी; स्वकान्—अपने ही; धर्मान्—धार्मिक

सिद्धान्तों को; सन्त्यज्य—त्याग कर; यः—जो; सर्वान्—समस्त; माम्—मुझको; भजेत—पूजता है; सः—वह; तु—निस्सन्देह; सत्-तमः—सन्त-पुरुषों में श्रेष्ठ।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, सन्त-पुरुष दयालु होता है और वह कभी दूसरों को हानि नहीं पहुँचाता। दूसरों के आक्रामक होने पर भी वह सहिष्णु होता है और सारे जीवों को क्षमा करने वाला होता है। उसकी शक्ति तथा जीवन की सार्थकता सत्य से मिलती है। वह समस्त ईर्ष्या-द्वेष से मुक्त होता है और भौतिक सुख-दुख में उसका मन समभाव रहता है। इस तरह वह अन्य लोगों के कल्याण हेतु कार्य करने में अपना सारा समय लगाता है। उसकी बुद्धि भौतिक इच्छाओं से मोहग्रस्त नहीं होती और उसकी इन्द्रियाँ अपने वश में रहती हैं। उसका व्यवहार सदैव मधुर, मृदु तथा आदर्श होता है। वह स्वामित्व (संग्रह) भाव से मुक्त रहता है। वह कभी भी सामान्य सांसारिक कार्यकलापों के लिए प्रयास नहीं करता और भोजन में संयम बरतता है। इसलिए वह सदैव शान्त तथा स्थिर रहता है। सन्त-पुरुष विचारवान होता है और मुझे ही अपना एकमात्र आश्रय मानता है। ऐसा व्यक्ति अपने कर्तव्य-पालन में अत्यन्त सतर्क रहता है, उसमें कभी भी ऊपरी विकार नहीं आ पाते, क्योंकि दुखद परिस्थितियों में भी वह स्थिर तथा नेक बना रहता है। उसने भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु इन छह भौतिक गुणों पर विजय पा ली होती है। वह अपनी प्रतिष्ठा की इच्छा से मुक्त होता है और अन्यों को आदर प्रदान करता है। वह अन्यों की कृष्ण-चेतना को जाग्रत करने में कुशल होता है, अतएव कभी किसी को ठगता नहीं। प्रत्युत वह सबों का शुभैषी मित्र होता है और अत्यन्त दयालु होता है। ऐसे सन्त-पुरुष को विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिए। वह भलीभाँति समझता है कि विविध शास्त्रों में मैंने, जो धार्मिक कर्तव्य नियत किये हैं, उनमें अनुकूल गुण रहते हैं जो उनके करने वालों को शुद्ध करते हैं और वह जानता है कि इन कर्तव्यों की उपेक्षा से जीवन में त्रुटि आती है। फिर भी, सन्त-पुरुष मेरे चरणकमलों की शरण ग्रहण करके सामान्य धार्मिक कार्यों को त्याग कर एकमात्र मेरी पूजा करता है। इस तरह वह जीवों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

तात्पर्य : २९वें से लेकर ३१वें श्लोक तक सन्त-पुरुष के २८ गुणों का वर्णन हुआ है और ३२वें श्लोक में जीवन की सर्वोच्च सिद्धि बतलाई गई है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार सत्रहवाँ गुण (*मत्शरण*) सबसे महत्त्वपूर्ण है। शेष सत्ताईस गुण शुद्ध भगवद्भक्त में स्वत: प्रकट होते

हैं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (५.१८.१२) में कहा गया है—*यस्यास्ति भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुरा: ।* अट्ठाइस सन्त-गुणों का वर्णन निम्न प्रकार है—

(१) *कृपालु :* भक्त कभी भी संसार को अज्ञान में डूबे तथा माया के कोड़े खाते देख नहीं सकता, अतएव वह कृष्णभावनामृत वितरित करने में जुट जाता है और *कृपालु* या दयालु कहलाता है।

(२) *अकृत-द्रोह :* यदि कोई भक्त के प्रति आक्रामक बनता है, तो भी भक्त पलट कर आक्रमण नहीं करता। वह कभी भी किसी जीव के हित के विपरीत कार्य नहीं करता। यह तर्क किया जा सकता है कि महान् वैष्णव-राजाओं ने, यथा महाराज युधिष्ठिर तथा परीक्षित महाराज ने, अनेक अपराधियों को दण्डित किया। किन्तु जब राज्य द्वारा उचित रीति से न्याय किया जाता है, तो पापी विध्वंसकारी लोगों को वास्तव में उनके द्वारा दिये जाने वाले दण्ड से लाभ होता है, क्योंकि वे अपने अवैध कार्यों के घोर कर्मफल से मुक्त हो जाते हैं। वैष्णव शासक किसी ईर्ष्या-द्वेषवश दण्ड नहीं देता, अपितु ईश्वर के नियमों का ठीक से पालन करने के कारण देता है। मायावादी दार्शनिक, जो यह कल्पना करके ईश्वर को मार डालना चाहते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं है, निश्चय ही *कृत-द्रोह* हैं अर्थात् अपने लिए तथा अन्यों के लिए अत्यन्त घातक हैं। निर्विशेषवादी यह कल्पना करता है कि वही सर्वोच्च है और इस तरह वह अपने लिए तथा अपने अनुयायियों के लिए अत्यन्त घातक स्थिति उत्पन्न कर लेता है। इसी तरह कर्मी भी, जो भौतिक इन्द्रियतृप्ति में लगे रहते हैं आत्महन्ता हैं, क्योंकि भौतिक चेतना में लीन होने से वे परम सत्य तथा अपनी आत्मा के सत्य का अनुभव करने का अवसर अपने हाथ से चले जाने देते हैं। अतएव सारे जीव, जो भौतिकतावादी विधानों तथा कर्तव्यों के वशीभूत रहते हैं, वे व्यर्थ ही अपने को तथा अन्यों को सताते रहते हैं। किन्तु शुद्ध वैष्णव उनके लिए अत्यधिक दया तथा चिन्ता का अनुभव करता है। भक्त कभी भी मनसा-वाचा-कर्मणा किसी जीव के कल्याण के प्रति कोई हानिकारक कर्म नहीं करता।

(३) *तितिक्षु :* भक्त अपने प्रति किये गये किसी भी अपराध को क्षमा कर देता है और भूल जाता है। वैष्णव अपने को मल-पुरीष से भरे भौतिक शरीर से विलग रखता है। इसलिए जब प्रचार-कार्य के दौरान भक्त के साथ कोई दुर्व्यवहार करता है, तो वह उसकी अनदेखी करके भद्रपुरुष की तरह लोगों

के साथ बर्ताव करता है। वैष्णव भगवन्नाम का ऊँची आवाज में कीर्तन करता है और उन पतित बद्धात्माओं को सहता तथा क्षमा करता है, जो शुद्ध भक्त के साथ ठीक से आदान-प्रदान नहीं कर पाते।

(४) *सत्य-सार :* भक्त सदैव स्मरण रखता है कि वह उन भगवान् का नित्य दास है, जो सर्वज्ञ, समस्त आनन्द के आगार तथा समस्त कर्मों के चरम भोक्ता हैं। भक्ति से बाहर कार्यों से दूर रहकर भक्त सत्य पर अटल रहता है, वह व्यर्थ समय नहीं गँवाता और वह निर्भीक, शक्तिशाली तथा स्थिर रहता है।

(५) *अनवद्यात्मा :* भक्त जानता है कि भौतिक जगत नश्वर मायाजाल है, अतएव वह कभी किसी से ईर्ष्या नहीं करता। वह व्यर्थ ही किसी को क्षुब्ध करना अथवा किसी की आलोचना करना नहीं चाहता।

(६) *समः :* एक भक्त भौतिक सुख या दुख, यश या अपयश में स्थिर तथा समभाव बनाये रखता है। उसका असली धन कृष्ण-चेतना होती है। वह समझता है कि उसका असली स्वार्थ भौतिक प्रकृति के दायरे से बाहर है। वह बाह्य घटनाओं से उत्तेजित या अवसन्न नहीं होता, अपितु कृष्ण की सर्वशक्ति सम्पन्न चेतना में स्थिर रहता है।

(७) *सर्वोपकारक :* अपनी स्वार्थपूर्ण इच्छाओं की उपेक्षा करना और अन्यों की तुष्टि के लिए कार्य करना *परोपकार* कहलाता है, जबकि अपनी तृप्ति के लिए अन्यों को तंग करना *परापकार* कहलाता है। भक्त सदैव भगवान् कृष्ण के आनन्द हेतु कार्य करता है, जो सभी जीवों के आश्रय हैं। फलतः भक्त के कार्य अन्ततः हर एक को अच्छे लगते हैं। भगवान् कृष्ण के प्रति भक्ति करना कल्याण-कार्य की पूर्णावस्था है, क्योंकि कृष्ण ही हर एक के सुख-दुख के परम नियन्ता हैं। मूर्ख लोग मिथ्या अहंकार के वशीभूत होकर अपने को अन्यों का परम हितैषी मान कर अन्यों के नित्य सुख में हाथ न बँटाकर दिखावटी भौतिकतावादी कार्यों में लगे रहते हैं। शुद्ध रहने तथा प्रचार-कार्यों में लगे रहने के कारण भक्त हर एक का सर्वश्रेष्ठ मित्र होता है।

(८) *कामैरहत-धी :* सामान्य लोग सारी वस्तुओं को अपनी तुष्टि के साधन के रूप में देखते हैं और इस तरह वे उन्हें प्राप्त करना अथवा अपने नियंत्रण में रखना चाहते हैं। अन्ततोगत्वा मनुष्य चाहता है कि उसके पास स्त्री हो, जिससे वह संभोग कर सके। मनुष्य के हृदय में पीड़ा-युक्त कामाग्नि को

जलते रहने के लिए भगवान् वांछित ईंधन प्रदान करते हैं, किन्तु वे ऐसे दिग्भ्रमित लोगों को आत्म-साक्षात्कार प्रदान नहीं करते। भगवान् कृष्ण दिव्य तथा निरपेक्ष हैं, किन्तु यदि कोई व्यक्ति भगवान् की सृष्टि का दुरुपयोग करना चाहता है, तो वे माया के माध्यम से उसे यह सुविधा प्रदान करते हैं और मनुष्य अपने को संसार का महान् और कामी भोक्ता मानकर उसमें फँस जाने से असली सुख से वंचित हो जाता है। दूसरी ओर, जिसने कृष्ण की शरण ग्रहण कर ली है, वह पूर्ण ज्ञान तथा आनन्द से युक्त हो जाता है और भौतिक जगत के मोहक बहकावे से ठगा नहीं जाता। शुद्ध भक्त उस मूर्ख हिरन के मार्ग का अनुसरण नहीं करता, जो शिकारी की वेणु से मोहित होकर मारा जाता है। भक्त कभी भी सुन्दर स्त्री की कामुक याचनाओं से आकृष्ट नहीं होता और वह मोहग्रस्त कर्मियों से भौतिक उपलब्धि की तथाकथित महिमा सुनने से कतराता है। इसी तरह शुद्ध भक्त सुगन्ध या स्वाद से मोहित नहीं होता। न तो वह विलासी भोजन के प्रति अनुरक्त होता है, न ही शारीरिक सुख के लिए दिन-भर प्रबन्ध करता है। ईश्वर की सृष्टि का असली भोक्ता स्वयं भगवान् है। जीव तो गौण भोक्ता हैं, जो भगवान् के आनन्द के माध्यम से असीम आनन्द का अनुभव करते हैं। आनन्द का अनुभव करने की यह पूर्ण विधि *भक्तियोग* कहलाती है और भक्त कभी भी स्थिर बुद्धि के इस शुभ पद को हाथ से नहीं जाने देता, भले ही उसके सामने तथाकथित भौतिक अवसर खड़े हों।

(९) *दान्त :* भक्त पापकर्मों से सहज ही विकर्षित होता है और अपने सारे कार्य कृष्ण को अर्पित करके अपनी इन्द्रियों को वश में रखता है। इसके लिए स्थिर एकाग्रता तथा सतर्क मानसिकता चाहिए।

(१०) *मृदु :* भौतिकतावादी व्यक्ति लोगों को मित्र या शत्रु के रूप में देखता है और इस तरह अपने विपक्षियों का दमन करने के लिए अपने क्रूर अथवा क्षुद्र आचरण को कभी कभी सही सिद्ध करता है। चूँकि भक्त कृष्ण की शरण में रहता है, अतएव वह किसी को अपना शत्रु नहीं मानता और कभी भी अन्यों के कष्ट की कामना करने या उससे आनन्द पाने की प्रवृत्ति से क्षुब्ध नहीं होता। इस तरह वह *मृदु* या शालीन होता है।

(११) *शुचि :* जो अशुद्ध या अनुचित है, उसे भक्त कभी नहीं छूता। ऐसे शुद्ध भक्त के स्मरण मात्र से मनुष्य पाप की प्रवृत्ति से छूट जाता है। अपने सम्यक आचरण के कारण ही भक्त *शुचि* या शुद्ध कहलाता है।

(१२) *अकिञ्चन :* भक्त संग्रह-भावना से मुक्त होता है और किसी वस्तु को भोगने या त्यागने के लिए उत्सुक नहीं होता, क्योंकि वह हर वस्तु को कृष्ण की सम्पत्ति मानता है।

(१३) *अनीह :* भक्त कभी भी अपने लिए नहीं, अपितु कृष्ण की सेवा के लिए कार्य करता है। इसलिए वह सामान्य सांसारिक मामलों से दूर रहता है।

(१४) *मित-भुक् :* भक्त जहाँ तक सम्भव होता है आवश्यकता-भर ही भौतिक इन्द्रिय-विषयों को ग्रहण करता है, जिससे वह स्वस्थ रहे और ठीक से कृष्ण की सेवा कर सके। इसलिए वह अपने इन्द्रिय-कार्यों में फँसता नहीं और अपने आत्म-साक्षात्कार को हानि पहुँचने नहीं देता। आवश्यकता पड़ने पर कृष्ण की सेवा के लिए भक्त कोई भी वस्तु त्याग सकता है, किन्तु अपनी प्रतिष्ठा के लिए वह किसी वस्तु को स्वीकार या अस्वीकार नहीं करता।

(१५) *शान्त :* जो लोग भगवान् की सृष्टि का दुरुपयोग करना चाहते हैं, वे सदैव अशान्त रहते हैं। किन्तु भक्त ऐसे व्यर्थ-कार्यों से सदैव विरक्त रहता है और इन्द्रियतृप्ति को अपने स्वार्थ के लिए सर्वथा विपरीत मानता है। भगवान् की इच्छानुसार सदैव संलग्न रहने से वह शान्त रहता है।

(१६) *स्थिर :* भगवान् कृष्ण को ही हर वस्तु का आधार मान कर भक्त कभी भयभीत या अधीर नहीं होता।

(१७) *मत्-शरण :* भक्त को भगवान् कृष्ण की सेवा के अतिरिक्त कोई कार्य अच्छा नहीं लगता और अपना कर्तव्य करने के लिए सदैव सावधान रहता है। भक्त जानता है कि एकमात्र कृष्ण ही उसकी रक्षा कर सकते हैं और उसे उपयोगी कार्य में लगा सकते हैं।

(१८) *मुनि :* भक्त विचारवान होता है और बुद्धिमत्तापूर्ण चिन्तन से अपनी आध्यात्मिक प्रगति से विपथ होने से बचता है। बुद्धि से ही वह कृष्ण के विषय में संशयों से मुक्त होता है और स्थिर कृष्णभावनामृत से जीवन की सारी समस्याओं का सामना करता है।

(१९) *अप्रमत्त :* जो व्यक्ति परमेश्वर को भूलता है, वह न्यूनाधिक सनकी होता है, किन्तु भक्त अपने समस्त कर्म भगवान् कृष्ण को अर्पित करके विवेकवान बना रहता है।

(२०) *गभीरात्मा :* ज्यों ज्यों भक्त कृष्णभावनामृत के सागर में डूबता जाता है, त्यों त्यों उसकी चेतना गहराती जाती है। सांसारिक स्तर पर मँडराने वाले सतही लोग भक्त की सतर्कता का अनुमान नहीं लगा सकते।

(२१) *धृतिमान् :* जीभ तथा जननेन्द्रियाँ के वेगों को वश में करते हुए भक्त स्थिर तथा धीर बना रहता है और भावावेश में आकर अपनी स्थिति नहीं बदलता।

(२२) *जित-षड्-गुण :* आध्यात्मिक ज्ञान के बल पर भक्त भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु—इन छह आवेगों को जीत लेता है।

(२३) *अमानी :* भक्त कभी गर्वित नहीं होता और यदि विख्यात भी होता है, तो उस ख्याति की बहुत परवाह नहीं करता।

(२४) *मान-द :* भक्त अन्यों का आदर करता है, क्योंकि हर व्यक्ति भगवान् कृष्ण का अंश है।

(२५) *कल्य :* कृष्णभावनामृत की सच्चाई को अन्य लोगों को समझाने में भक्त दक्ष होता है।

(२६) *मैत्र :* भक्त किसी को भी देहात्मबोध में प्रोत्साहित करके धोखा नहीं देता। प्रत्युत वह अपने प्रचार-कार्य से हर एक का मित्र होता है।

(२७) *कारुणिक :* भक्त लोगों को विवेकशील बनाने का प्रयत्न करता है, अतएव अत्यन्त दयालु होता है। वह *पर-दुःख-दुःखी* होता है, या ऐसा जो दूसरों के दुख को देख कर स्वयं दुखी हो।

(२८) *कवि :* भक्त भगवान् कृष्ण के दिव्य गुणों का अध्ययन करने में पटु होता है और भगवान् के ऊपर से विरोधी दिखने वाले गुणों में सामञ्जस्य एवं समन्वय दिखलाने में समर्थ होता है। भगवान् के परम स्वभाव का ज्ञान होने पर ही ऐसा सम्भव है। श्री चैतन्य महाप्रभु गुलाब के फूल से भी मृदु और वज्र से भी कठोर हैं, किन्तु इन विरोधी गुणों को भगवान् के दिव्य स्वभाव तथा कार्य के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। जो व्यक्ति बिना किसी विरोध या भ्रम के, कृष्णभावनामृत के सत्य को समझ सकता है, वह *कवि* या अत्यन्त विद्वान कहलाता है।

उपर्युक्त गुणों के विकास के अनुसार ही आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वालों की स्थिति का पता लगाया जा सकता है। अन्ततोगत्वा सबसे महत्त्वपूर्ण गुण भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करना है, क्योंकि भगवान् अपने निष्ठावान भक्त को सारे गुण प्रदान कर सकते हैं। भक्ति की निम्नतम अवस्था में

मनुष्य इन्द्रियतृप्ति भोगने की अभिलाषा से कर्म करता है, किन्तु उसी के साथ वह कर्मफलों को भगवान् को अर्पित करने का प्रयास करता है। यह अवस्था *कर्म-मिश्र-भक्ति* कहलाती है। ज्यों ज्यों मनुष्य भक्ति में शुद्ध बनता जाता है, त्यों त्यों वह ज्ञान के माध्यम से विरक्त और चिन्तामुक्त हो जाता है। इस अवस्था में वह दिव्य ज्ञान के प्रति अनुरक्त हो जाता है अतएव यह अवस्था *ज्ञान-मिश्र-भक्ति* कहलाती है। किन्तु जीव के लिए शुद्ध कृष्ण-प्रेम सर्वोच्च सुख तथा स्वाभाविक स्थिति होती है, इसलिए निष्ठावान भक्त क्रमश: इन्द्रियतृप्ति तथा ज्ञान का भोग करने की अपनी इच्छा को जीत कर शुद्ध भक्ति-अवस्था को प्राप्त होता है, जो निजी इच्छा से रहित होती है। *न कर्माणि त्यजेद् योगी कर्मभिस्त्यज्यते हि स:*—योगी को कर्म नहीं छोड़ना चाहिए, प्रत्युत उसे विरक्ति का अनुशीलन करना चाहिए, जिससे उसके कर्म स्वत: ओझल हो जायेंगे। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को अपने नियत कर्म करने चाहिए, भले ही वे अपूर्ण क्यों न रहे। यदि वह कृष्णभावनामृत में अग्रसर होने में निष्ठा रखता है, तो भक्तियोग के बल पर उसके कर्म क्रमश: शुद्ध भक्ति में परिणत हो जायेंगे।

ऐसे अनेकानेक कर्मी, मनोधर्मी तथा भौतिकतावादी भक्त हैं, जो भक्ति के बल पर पूर्ण बने हैं। कृष्ण-भक्ति करने से मनुष्य को स्वत: जीवन का परमानन्द मिलता है और वह पूर्ण ज्ञान से युक्त हो जाता है। शुद्ध भक्ति की विधि में कोई अभाव नहीं है और इन्द्रिय-सुख या दार्शनिक तुष्टि प्राप्त करने के लिए किसी बाह्य प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती। हाँ, मनुष्य को पूर्णतया आश्वस्त होना होगा कि कृष्ण की सेवा मात्र से उसे जीवन की सारी सिद्धि मिल जायेगी। यदि किसी में उपर्युक्त गुणों में से कोई गुण न भी रहे तो भी उसे सच्चे मन से कृष्ण की भक्ति में लग जाना चाहिए। इससे धीरे धीरे उसका चरित्र पूर्ण हो जायेगा। जो व्यक्ति कृष्ण का निष्ठावान भक्त होगा, उसमें भगवत्कृपा से ये सारे गुण स्वत: उत्पन्न हो जायेंगे और उपर्युक्त गुणों से युक्त, जो व्यक्ति पहले से कृष्ण-भक्ति कर रहा है, वह तो महानतम भक्त समझा जाना चाहिए। जैसाकि श्लोक ३२ में संकेत किया गया है, भगवान् का शुद्ध भक्त वर्णाश्रम पद्धति के अन्तर्गत कर्म करने के शुद्ध लाभों से पूरी तरह ज्ञात रहता है और इसी तरह वह इन कर्मों की उपेक्षा करने की हानिकारक गलती से भी परिचित होता है। तो भी भगवान् पर पूर्ण श्रद्धा रख कर भक्त अपने सारे सामाजिक तथा धार्मिक कर्म छोड़ देता है और पूरी तरह से भक्ति में लग जाता है, वह जानता है कि भगवान् कृष्ण ही प्रत्येक वस्तु के परम स्रोत हैं और सारी सिद्धि

कृष्ण से ही प्राप्त होती है। अपनी असामान्य श्रद्धा के कारण भक्त *सत्तम* अर्थात् समस्त जीवों में सर्वश्रेष्ठ कहलाता है।

जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने *उपदेशामृत* में बतलाया है, जिस व्यक्ति में उपर्युक्त गुण अभी तक उत्पन्न नहीं हुए, किन्तु जो कृष्णभावनामृत के लिए निष्ठापूर्वक प्रयत्नशील रहता है, उसे उत्कृष्ट वैष्णवों की कृपा प्राप्त होनी चाहिए। मनुष्य को शुद्ध भक्ति के ऐसे इच्छुक की घनिष्ठ संगति करनी आवश्यक नहीं है, अपितु उसे आश्वस्त होना चाहिए कि कृष्ण-नाम का कीर्तन करते रहने से सारी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इन श्लोकों में हुए वर्णन के अनुसार सन्त-पुरुषों के समाज के सौन्दर्य की कल्पना की जा सकती है। कृष्णभावनामृत के उपर्युक्त अद्‌भुत गुण शान्त तथा सम्पन्न समाज के आधार हैं और यदि सारे लोग कृष्णभक्ति करने लगें तो भय, हिंसा, काम, लोभ तथा अज्ञानता का वर्तमान वातावरण ऐसी दैवी स्थिति में परिणत हो सकता है, जिसमें सभी नेता तथा नागरिक सुखी होंगे। यहाँ पर मुख्य बातें हैं *मत्शरण* तथा *मां भजेत।* इस तरह सम्पूर्ण जगत *सत्तम*—अर्थात् अत्यन्त पूर्ण हो सकता है।

ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान्यश्चास्मि यादृशः ।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ज्ञात्वा—जान कर; अज्ञात्वा—न जान कर; अथ—इस प्रकार; ये—जो; वै—निश्चय ही; माम्—मुझको; यावान्—जब तक; यः—जो; च—भी; अस्मि—हूँ; यादृशः—जैसा मैं हूँ; भजन्ति—पूजा करते हैं; अनन्य-भावेन—अनन्य भक्ति से; ते—वे; मे—मेरे द्वारा; भक्त-तमाः—सर्वश्रेष्ठ भक्तगण; मताः—माने जाते हैं।

भले ही मेरे भक्त यह जानें या न जानें कि मैं क्या हूँ, मैं कौन हूँ और मैं किस तरह विद्यमान हूँ, किन्तु यदि वे अनन्य प्रेम से मेरी पूजा करते हैं, तो मैं उन्हें भक्तों में सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार यद्यपि *यावान्* शब्द यह सूचित करता है कि कृष्ण को देश-काल में बाँधा नहीं जा सकता, किन्तु वे अपने शुद्ध भक्तों के प्रेम में बँध जाते हैं। उदाहरणार्थ, वृन्दावनवासियों के प्रति अगाध प्रेम के कारण कृष्ण वृन्दावन के बाहर एक पग भी नहीं रखते। इस तरह भगवान् अपने भक्तों के प्रेम के वशीभूत रहते हैं। *यः* शब्द बताता है कि कृष्ण परम सत्य हैं, जो वसुदेव के पुत्र अर्थात् श्यामसुन्दर के रूप में प्रकट होते हैं। *यादृश* शब्द बताता है कि भगवान् *आत्माराम* हैं और *आप्तकाम* भी हैं। फिर भी अपने भक्तों के प्रेमवश वे कभी कभी *अनात्माराम* तथा *अनाप्तकाम* के रूप में प्रकट होते हैं। वस्तुत: भगवान् कृष्ण सदैव स्वतंत्र हैं, किन्तु वे

अपने भक्तों के गहन प्रेम से आदान-प्रदान करते हैं, जिससे वे आश्रितप्रतीत होते हैं, जिस तरह वृन्दावन में अपनी बाल-लीलाओं के समय वे नन्द महाराज तथा यशोदा पर आश्रित थे। *अज्ञात्वा* शब्द सूचित करता है कि कभी कभी भक्त को भगवान् का सही दार्शनिक बोध नहीं हो सकता अथवा प्रेमवश वह भगवान् की स्थिति को भूल सकता है। *भगवद्गीता* (११.४१) में अर्जुन कहता है—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।

अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥

"आपको अपना मित्र मानते हुए मैंने पहले आपको हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा जैसे सम्बोधनों से पुकारा है क्योंकि मैं आपकी महिमा को नहीं जानता था। मैंने मूर्खतावश या प्रेमवश जो कुछ भी किया है, कृपया उसके लिए मुझे क्षमा कर दें।" *अजानता महिमानम्*—अर्जुन के ये शब्द वही अर्थ रखते हैं, जो *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक में भगवान् कृष्ण के शब्द *अज्ञात्वा माम्* के हैं। दोनों ही कृष्ण के यश के अपूर्ण ज्ञान के सूचक हैं। *भगवद्गीता* में अर्जुन कहता है—*प्रणयेन*—उनके प्रति प्रेम के कारण ही वह कृष्ण के परम पद को भूल गया था। इस श्लोक में कृष्ण अपने भक्तों की ऐसी त्रुटि को *अज्ञात्वा माम्* शब्दों द्वारा क्षमा कर देते हैं—अर्थात् यद्यपि भक्त उनके परम पद को ठीक से नहीं जानता, तो भी कृष्ण उनकी भक्ति को स्वीकार करते हैं। इस तरह इस श्लोक से भक्ति की सर्वोच्च स्थिति प्रकट हो जाती है। *भगवद्गीता* (११.५४) में कृष्ण यह भी कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

"हे अर्जुन! केवल अनन्य भक्ति द्वारा मुझे उस रूप में समझा जा सकता है, जिस रूप में मैं तुम्हारे समक्ष खड़ा हूँ और इसी प्रकार मेरा साक्षात् दर्शन भी किया जा सकता है। केवल इसी विधि से तुम मेरे ज्ञान के रहस्य को पा सकते हो।"

कोई भले ही असंख्य सन्त सदृश गुण उत्पन्न कर ले, किन्तु कृष्ण-प्रेम के बिना उसे पूर्ण सफलता नहीं मिल सकती। उसे भगवान् को यथारूप में समझना चाहिए और उनसे प्रेम करना चाहिए। यदि वह ईश्वर की स्थिति को विश्लेषणात्मक रूप से समझने में अक्षम है, तो भी कृष्ण से प्रेम करने से वह पूर्ण हो जाता है। वृन्दावन के अनेक वासियों को इसकी कल्पना भी नहीं थी कि कृष्ण भगवान् हैं, न ही वे

कृष्ण की शक्तियों या अवतारों को जानते थे। वे अपने हृदय से कृष्ण से मात्र प्रेम करते थे, इसलिए उन्हें परम पूर्ण समझा जाता है।

मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम् ।
परिचर्या स्तुतिः प्रह्वगुणकर्मानुकीर्तनम् ॥ ३४॥
मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव ।
सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम् ॥ ३५ ॥
मज्जन्मकर्मकथनं मम पर्वानुमोदनम् ।
गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः ॥ ३६ ॥
यात्रा बलिविधानं च सर्ववार्षिकपर्वसु ।
वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम् ॥ ३७॥
ममार्चास्थापने श्रद्धा स्वतः संहत्य चोद्यमः ।
उद्यानोपवनाक्रीडपुरमन्दिरकर्मणि ॥ ३८ ॥
सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः ।
गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद्यदमायया ॥ ३९ ॥
अमानित्वमदम्भित्वं कृतस्यापरिकीर्तनम् ।
अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम् ॥ ४० ॥
यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

मत्-लिङ्ग—अर्चाविग्रह के रूप में इस जगत में मेरा प्राकट्य.; मत्-भक्त जन—मेरे भक्त; दर्शन—देखना; स्पर्शन—स्पर्श; अर्चनम्—तथा पूजा; परिचर्या—सेवा-कार्य; स्तुतिः—महिमा की प्रार्थनाएँ; प्रह्व—नमस्कार; गुण—मेरे गुण; कर्म—तथा कर्म; अनुकीर्तनम्—निरन्तर महिमा-गायन; मत्-कथा—मेरे विषय में कथाएँ; श्रवणे—सुनने में; श्रद्धा—प्रेम के कारण श्रद्धा; मत्-अनुध्यानम्—सदैव मेरा ध्यान करते हुए; उद्धव—हे उद्धव; सर्व-लाभ—सभी उपार्जित वस्तुएँ; उपहरणम्—भेंट; दास्येन—अपने को मेरा दास मानते हुए; आत्म-निवेदनम्—आत्म-समर्पण; मत्-जन्म-कर्म-कथनम्—मेरे जन्म तथा कर्मों की प्रशंसा करना; मम—मेरा; पर्व—जन्माष्टमी जैसे उत्सवों में; अनुमोदनम्—परम हर्ष मनाते हुए; गीत—गीतों; ताण्डव—नृत्य; वादित्र—संगीत के वाद्यों; गोष्ठीभिः—तथा भक्तों के मध्य विचार-विमर्श; मत्-गृह—मेरे मन्दिर में; उत्सवः—उत्सव, पर्व; यात्रा—उत्सव मनाना; बलि-विधानम्—आहुति डालना; च—भी; सर्व—समस्त; वार्षिक—साल में एक बार, प्रत्येक वर्ष; पर्वसु—उत्सवों में; वैदिकी—वेदों में उल्लिखित; तान्त्रिकी—पञ्चरात्र जैसे ग्रंथों में वर्णित; दीक्षा—दीक्षा; मदीय—मेरा; व्रत—उपवास; धारणम्—रखते हुए; मम—मेरे; अर्चा—अर्चाविग्रह का; स्थापने—स्थापना में; श्रद्धा—श्रद्धा रखते हुए; स्वतः—अपने से; संहत्य—अन्यों के साथ; च—भी; उद्यमः—प्रयास; उद्यान—फूल के बगीचों के; उपवन—छोटा बगीचा; आक्रीड—लीलाओं के स्थान; पुर—भक्ति के शहर; मन्दिर—तथा मन्दिर; कर्मणि—निर्माण में; सम्मार्जन—ठीक से झाड़ना-बुहारना; उपलेपाभ्याम्—लीप-पोत कर; सेक—सुगन्धित जल छिड़क कर; मण्डल-वर्तनैः—मण्डल बनाकर; गृह—मन्दिर का, जो कि मेरा घर है; शुश्रूषणम्—सेवा; मह्यम्—मेरे लिए; दास-वत्—दास की तरह; यत्—जो; अमायया—द्वैत-रहित; अमानित्वम्—झूठी प्रतिष्ठा के बिना; अदम्भित्वम्—गर्व से रहित होकर; कृतस्य—भक्ति-कर्म; अपरिकीर्तनम्—विज्ञापन न करना; अपि—भी; दीप—दीपकों के; अवलोकम्—प्रकाश; मे—मेरा; न—नहीं; उपयुञ्ज्यात्—लगाना चाहिए; निवेदितम्—अन्यों को पहले ही भेंट की जा चुकी वस्तुएँ; यत् यत्—जो जो; इष्ट-तमम्—अभीष्ट; लोके—संसार में; यत् च—तथा जो भी; अति-प्रियम्—अत्यन्त प्रिय; आत्मनः—अपना; तत् तत्—वह वह; निवेदयेत्—भेंट करे; मह्यम्—मुझको; तत्—वह भेंट; आनन्त्याय—अमरता के लिए; कल्पते—योग्य बनाती है।

हे उद्धव, निम्नलिखित भक्ति-कार्यों में लगने पर मनुष्य मिथ्या अभिमान तथा प्रतिष्ठा का परित्याग कर सकता है। वह मेरे अर्चाविग्रह को के रूप में मुझे तथा मेरे शुद्ध भक्तों को देख कर, छू कर, पूजा करके, सेवा करके, स्तुति करके तथा नमस्कार करके अपने को शुद्ध बना सकता है। उसे मेरे दिव्य गुणों एवं कर्मों की भी प्रशंसा करनी चाहिए, मेरे यश की कथाओं को प्रेम तथा श्रद्धा के साथ सुनना चाहिए तथा निरन्तर मेरा ध्यान करना चाहिए। उसे चाहिए कि जो भी उसके पास हो, वह मुझे अर्पित कर दे और अपने को मेरा नित्य दास मान कर मुझ पर ही पूरी तरह सर्मर्पित हो जाये। उसे मेरे जन्म तथा कार्यों की सदैव चर्चा चलानी चाहिए और जन्माष्टमी जैसे उत्सवों में, जो मेरी लीलाओं की महिमा को बतलाते हैं, सम्मिलित होकर जीवन का आनन्द लेना चाहिए। उसे मेरे मन्दिर में गा कर, नाच कर, बाजे बजाकर तथा अन्य वैष्णवों से मेरी बातें करके उत्सवों तथा त्योहारों में भी भाग लेना चाहिए। उसे वार्षिक त्योहारों में होने वाले उत्सवों में, यात्राओं में तथा भेंटें चढ़ाने में नियमित रूप से भाग लेना चाहिए। उसे एकादशी जैसे धार्मिक व्रत भी रखने चाहिए और वेदों, पंचरात्र तथा अन्य ऐसे ही ग्रंथों में उल्लिखित विधियों से दीक्षा लेनी चाहिए। उसे श्रद्धा तथा प्रेमपूर्वक मेरे अर्चाविग्रह की स्थापना का अनुमोदन करना चाहिए और अकेले अथवा अन्यों के सहयोग से कृष्णभावनाभावित मन्दिरों तथा नगरों के साथ ही साथ फूल तथा फल के बगीचों एवं मेरी लीला मनाये जाने वाले विशेष क्षेत्रों के निर्माण में हाथ बँटाना चाहिए। उसे बिना किसी द्वैत के अपने को मेरा विनीत दास मानना चाहिए और इस तरह मेरे आवास, अर्थात् मन्दिर को साफ करने में सहयोग देना चाहिए। सर्वप्रथम उसमें झाड़ू-बुहारा करना चाहिए और तब उसे जल तथा गोबर से स्वच्छ बनाना चाहिए। मन्दिर को सूखने देने के बाद सुगन्धित जल का छिड़काव करना चाहिए और मण्डलों से सजाना चाहिए। उसे मेरे दास की तरह कार्य करना चाहिए। उसे कभी भी अपने भक्ति-कार्यों का ढिंढ़ोरा नहीं पीटना चाहिए। इस तरह उसकी सेवा मिथ्या अभिमान का कारण नहीं होगी। उसे मुझे अर्पित किए गए दीपकों का प्रयोग अन्य कार्यों के लिए अर्थात् मात्र उजाला करने की आवश्यकता से नहीं करना चाहिए। इसी तरह मुझे ऐसी कोई वस्तु भेंट न की जाय, जो अन्यों पर चढ़ाई जा चुकी हो या अन्यों द्वारा काम में लाई जा चुकी हो। इस संसार में जिसे जो भी वस्तु

सब से अधिक चाहिए और जो भी वस्तु उसे सर्वाधिक प्रिय हो उसे, वही वस्तु मुझे अर्पित करनी चाहिए। ऐसी भेंट चढ़ाने से वह नित्य जीवन का पात्र बन जाता है।

तात्पर्य : इन आठ श्लोकों में भगवान् कृष्ण सन्त-गुणों की सामान्य व्याख्या समाप्त करते हैं और भगवद्भक्तों के विशिष्ट गुणों का वर्णन करते हैं। भगवान् कृष्ण ने यहाँ पर तथा *भगवद्गीता* में भी स्पष्ट कहा है कि जीवन का चरम लक्ष्य पूरी तरह से भगवान् की शरण ग्रहण करना तथा उनका शुद्ध भक्त बनना है। यहाँ पर भगवान् भक्तियोग का विस्तार से वर्णन करते हैं। मनुष्य को चाहिए कि उसे जो भी वस्तु प्राप्त हो उसे यह सोचते हुए वह भगवान् को अर्पित करे, ''भगवान् कृष्ण ने इन वस्तुओं को भेजा है, जिससे मैं ठीक से उनकी सेवा कर सकूँ।'' मनुष्य को अन्ततः समझना चाहिए कि सूक्ष्म आत्मा भगवान् कृष्ण का अंश है, अतएव उसे अपने आपको भगवान् को समर्पित कर देना चाहिए। जिस तरह सामान्य नौकर अपने स्वामी के प्रति विनीत तथा नम्र होता है, उसी तरह भक्त को अपने गुरु का आज्ञाकारी होना चाहिए जो भगवान् कृष्ण का प्रतिनिधि होता है। उसे यह मान होना चाहिए कि किस तरह उसका शरीर तथा मन अपने गुरु के दर्शन मात्र से अथवा उसके चरणोदक को सिर पर चढ़ाने से शुद्ध बन जाते हैं। इन श्लोकों में इस बात पर बल दिया गया है कि मनुष्य को चाहिए कि वह वैष्णव उत्सवों में भाग ले। जहाँ तक सम्भव हो सके, विशाल उत्सवों का आयोजन विश्व-भर में किया जाय, जिससे लोग धीरे-धीरे सीख सकें कि मनुष्य-जीवन को कैसे पूर्ण बनाया जाय। *ममार्चास्थापने श्रद्धा* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ पर भगवान् कृष्ण कहते हैं कि मनुष्य को उनके अर्चाविग्रह की पूजा में श्रद्धा होनी चाहिए, क्योंकि भगवान् अर्चाविग्रह में साकार रूप में उपस्थित रहते हैं। *उद्यानोपवनाक्रीडपुरमन्दिरकर्मणि* शब्दों से सूचित होता है कि सुन्दर मन्दिर तथा पर्याप्त पार्कों, बगीचों तथा फूल के उद्यानों से युक्त वैष्णव नगर बनाने के गम्भीर प्रयास होने चाहिए। ऐसे प्रयासों का अद्वितीय उदाहरण सम्प्रति भारत में स्थित मायापुर चन्द्रोदय मन्दिर में देखा जा सकता है।

दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान् निवेदितम् से सूचित होता है कि अर्चाविग्रह की साज-सामग्री को अपनी इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में नहीं लगाना चाहिए। यदि घर में बिजली या दीपकों की कमी हो, तो अर्चाविग्रह के दीपकों को काम में नहीं लिया जाना चाहिए। न ही अन्यों द्वारा प्रयुक्त या पहले चढ़ाई गई साज-सामग्री को भगवान् कृष्ण पर चढ़ाना चाहिए। इन श्लोकों में अर्चाविग्रह की पूजा तथा

वैष्णव-उत्सवों की महत्ता पर अनेक प्रकार से बल दिया गया है। भगवान् कृष्ण वचन देते हैं कि जो भी निष्ठापूर्वक इन कार्यों को करता है, वह अवश्य ही भगवद्धाम जाता है (*तदानन्त्याय कल्पते*)। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी सर्वप्रिय वस्तु कृष्ण को अर्पित करे, फिजूल या अनचाही वस्तु को नहीं। यदि कोई अपने परिवार से अच्छी प्रकार से जुड़ा हुआ है, तो उसे यह देखना चाहिए कि उसका परिवार कृष्ण की सेवा में लगे। यदि कोई धन में सर्वाधिक लिप्त रहता है, तो वह कृष्णभावनामृत का प्रसार करने में उसका दान दे। और यदि कोई अपनी बुद्धि को सबसे मूल्यवान समझता है, तो उसे तर्कपूर्वक कृष्णभावनामृत का प्रचार करना चाहिए। यदि हम अपनी सबसे मूल्यवान वस्तु भगवान् कृष्ण को अर्पित करते हैं, तो हम स्वत: उनके प्रिय बनकर भगवद्धाम जा सकेंगे।

सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणा गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम् ।
भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

सूर्यः—सूर्य; अग्निः—अग्नि; ब्राह्मणाः—तथा ब्राह्मणगण; गावः—गौवें; वैष्णवः—भगवद्भक्त; खम्—आकाश; मरुत्—वायु; जलम्—जल; भूः—पृथ्वी; आत्मा—व्यष्टि आत्मा; सर्व-भूतानि—सारे जीव; भद्र—हे साधु उद्धव; पूजा—पूजा के; पदानि—स्थान; मे—मेरी।

हे साधु-पुरुष उद्धव, यह जान लो कि तुम मेरी पूजा सूर्य, अग्नि, ब्राह्मणों, गौवों, वैष्णवों, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, आत्मा में तथा सारे जीवों में कर सकते हो।

तात्पर्य : जब तक कोई यह नहीं समझ लेता कि भगवान् कृष्ण सर्वव्यापी हैं और हर वस्तु उनमें समाई हुई है, तब तक उसकी कृष्ण-चेतना अधम कोटि की और भौतिकतावादी है। सारे वैदिक वाङ्मय में स्पष्ट कहा गया है कि परम सत्य ही हर वस्तु के स्रोत हैं। हर वस्तु उनके भीतर है और वे हर वस्तु के भीतर समाए हुए हैं। भगवान् कृष्ण के विषय में भौतिकतावादी धारणा से बचने के लिए यह समझना होगा कि भगवान् किसी विशेष देश तथा काल में ही स्थित नहीं होते प्रत्युत वे सभी कालों तथा देशों में विद्यमान रहते हैं और सारी वस्तुओं के भीतर उन्हें खोजा जा सकता है। *पूजा-पदानि* शब्द सूचित करता है कि कृष्ण सर्वव्यापी हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सारी वस्तुएँ कृष्ण हैं। इस श्लोक में कृष्ण अपनी सर्वव्यापकता की सर्वश्रेष्ठता का स्पष्टीकरण करते हैं और पूर्ण आत्म-साक्षात्कार का मार्ग दिखाते हैं।

सूर्ये तु विद्यया त्रय्या हविषाग्नौ यजेत माम् ।
आतिथ्येन तु विप्राछ्ये गोष्वङ्ग यवसादिना ॥ ४३ ॥
वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया ।
वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरःसरैः ॥ ४४ ॥
स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्भोगैरात्मानमात्मनि ।
क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सूर्ये—सूर्य में; तु—निस्सन्देह; विद्यया त्रय्या—प्रशंसा, पूजा तथा नमस्कार की चुनी हुई वैदिक स्तुतियों द्वारा; हविषा—घी की आहुतियों से; अग्नौ—अग्नि में; यजेत—पूजा करे; माम्—मुझको; आतिथ्येन—अतिथि के रूप में स्वागत करके; तु—निस्सन्देह; विप्र—ब्राह्मणों के; अछ्ये—सर्वश्रेष्ठ, अग्रणी; गोषु—गौवों में; अङ्ग—हे उद्धव; यवस-आदिना—उनके पालन के लिए घास आदि देना; वैष्णवे—वैष्णव में; बन्धु—प्रेमपूर्ण मैत्री के साथ; सत्-कृत्या—सत्कार करने से; हृदि—हृदय में; खे—आन्तरिक आकाश में; ध्यान—ध्यान में; निष्ठया—स्थिर होने से; वायौ—वायु में; मुख्य—प्रमुख; धिया—बुद्धि से मानते हुए; तोये—जल में; द्रव्यैः—भौतिक तत्त्वों द्वारा; तोय-पुरः-सरैः—जल इत्यादि से.; स्थण्डिले—पृथ्वी पर; मन्त्र-हृदयैः—मंत्रों के प्रयोग से; भोगैः—भोग्य वस्तुएँ प्रदान करने से; आत्मानम्—जीवात्मा; आत्मनि—शरीर के भीतर; क्षेत्र-ज्ञम्—परमात्मा; सर्व-भूतेषु—सारे जीवों के भीतर; समत्वेन—सर्वत्र समभाव से देखते हुए; यजेत—पूजा करना चाहिए; माम्—मुझको।

हे उद्धव, मनुष्य को चाहिए कि चुने हुए वैदिक मंत्रोच्चार तथा पूजा और नमस्कार द्वारा सूर्य में मेरी पूजा करे। वह अग्नि में घी की आहुति डाल कर मेरी पूजा कर सकता है। वह अनामंत्रित अतिथियों के रूप में ब्राह्मणों का आदरपूर्वक स्वागत करके उनमें मेरी पूजा कर सकता है। मेरी पूजा गायों में उन्हें घास तथा उपयुक्त अन्न एवं उनके स्वास्थ्य एवं आनन्द के लिए उपयुक्त सामग्री प्रदान करके की जा सकती है। वैष्णवों में मेरी पूजा उन्हें प्रेमपूर्ण मैत्री प्रदान करके तथा सब प्रकार से उनका आदर करके की जा सकती है। स्थिरभाव से ध्यान के माध्यम से हृदय में मेरी पूजा होती है और वायु में मेरी पूजा इस ज्ञान के द्वारा की जा सकती है कि तत्त्वों में प्राण ही प्रमुख है। जल में मेरी पूजा जल के साथ फूल तथा तुलसी-दल जैसे अन्य तत्त्वों को चढ़ाकर की जा सकती है। पृथ्वी में गुह्य बीज मंत्रों के समुचित प्रयोग से मेरी पूजा हो सकती है। भोजन तथा अन्य भोज्य वस्तुएँ प्रदान करके व्यष्टि जीव में मेरी पूजा की जा सकती है। सारे जीवों में परमात्मा का दर्शन करके तथा इस तरह समदृष्टि रखते हुए मेरी पूजा की जा सकती है।

तात्पर्य : महत्त्व की बात यह है कि इन तीन श्लोकों में भगवान् इस बात पर बल देते हैं कि समस्त जीवों के भीतर व्याप्त भगवान् की पूजा की जानी चाहिए। इनमें इसकी संस्तुति नहीं की गई है कि भगवान् के अतिरिक्त किसी अन्य भौतिक या आध्यात्मिक वस्तु को सर्वोच्च माना जाय। भगवान् को उनके सर्वव्यापक रूप में अपनी चेतना में रखते हुए मनुष्य चौबीसों घण्टे पूजा के भाव में रह

सकता है। इस तरह वह समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक तत्त्वों को भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति में लगाने का प्रयास करता रहेगा। यदि अज्ञानवश कोई व्यक्ति भगवान् को भूल जाता है, तो वह भगवान् से भिन्न किसी शक्तिशाली भौतिक तत्त्व की पूजा करने लग सकता है या फिर मूर्खतावश अपने को सर्वोच्च मानने लग सकता है। मनुष्य को चाहिए कि विवेकवान् बने रहकर हर वस्तु के भीतर भगवान् की पूज्य उपस्थिति को स्वीकार करे।

धिष्ण्येष्वित्येषु मद्रूपं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः ।
युक्तं चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन्नर्चेत्समाहितः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

धिष्ण्येषु—पूर्व वर्णित पूजा-स्थलों में; इति—इस प्रकार (पूर्व वर्णित विधियों से); एषु—उनमें; मत्-रूपम्—मेरा दिव्य रूप; शङ्ख—शंख; चक्र—सुदर्शन चक्र; गदा—गदा; अम्बुजैः—तथा कमल-फूल से; युक्तम्—सज्जित; चतुः-भुजम्—चार भुजाओं सहित; शान्तम्—शान्त; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; अर्चेत्—पूजा करे; समाहितः—मनोयोग से।

इस तरह पूर्व वर्णित पूजा-स्थलों में तथा मेरे द्वारा वर्णित विधियों से मनुष्य को मेरे शान्त, दिव्य तथा चतुर्भुज रूप का, जो शंख, सुदर्शन चक्र, गदा तथा कमल से युक्त है, ध्यान करना चाहिए। इस तरह उसे मनोयोगपूर्वक मेरी पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : भगवान् पहले ही बता चुके हैं कि वे अपने भक्तों के लिए विभिन्न दिव्य रूपों में प्रकट होते हैं, जिससे वे भगवान् के प्रति असीम प्रेम बढ़ा सकें। यहाँ पर नारायण के चतुर्भुजी रूप का सामान्य वर्णन हुआ है, जो संसार में परमात्मा रूप में व्याप्त हैं। किन्तु शुद्ध भक्तगण भगवान् का ध्यान हृदय में नहीं करते, अपितु भगवान् के विशिष्ट रूप की यथा राम या कृष्ण की सेवा करते हैं और इस तरह भगवान् के साक्षात्कार को पूर्ण बनाते हैं, जो अपने भक्तों के साथ वैकुण्ठ-लोक में दिव्य लीलाओं में व्यस्त रहते हैं। फिर भी भौतिक जगत के अन्तर्गत कोई भी मनुष्य हर एक के भीतर परमेश्वर का दर्शन करके तथा उनके निरन्तर ध्यान द्वारा उनकी पूजा करके, अपने जीवन को आध्यात्मिक बना सकता है। जैसाकि पिछले श्लोकों में कहा गया है, मनुष्य को मन्दिर में जाकर भी अर्चाविग्रह की पूजा करनी चाहिए और आध्यात्मिक उत्सवों में भाग लेना चाहिए। उसे गर्वित नहीं होना चाहिए और यह दावा नहीं करना चाहिए कि मन्दिर जाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह प्रकृति में भगवान् का ध्यान करता है। मन्दिर-पूजा पर स्वयं भगवान् ने बारम्बार बल दिया है। इस श्लोक में *समाहित* शब्द *समाधि* का सूचक है। यदि मनुष्य ध्यानपूर्वक अर्चाविग्रह की पूजा करता है

या भगवान् कृष्ण की लीलाओं का श्रवण और कीर्तन करता है, तो वह निश्चय ही समाधि में होता है। चौबीसों घंटे भगवान् की पूजा करने से और उनकी महिमा का गान करने से मनुष्य मुक्तात्मा बन जाता है और इस जगत के प्रभाव से धीरे धीरे पूरी तरह ऊपर उठ जाता है। जीव को *आत्मा* कहते हैं, क्योंकि उसका सम्बन्ध परमात्मा अर्थात् भगवान् से है। भगवान् की पूजा करने से हमारा शाश्वत स्वभाव पुनरुज्जीवित होता है और ज्यों ज्यों भक्ति में हमारा उत्साह तथा स्थैर्य बढ़ता जाता है, यह भौतिक जगत समाप्त होता जाता है।

इष्टापूर्तेन मामेवं यो यजेत समाहितः ।
लभते मयि सद्भक्तिं मत्स्मृतिः साधुसेवया ॥ ४७॥

शब्दार्थ

इष्टा—अपने लाभ के लिए यज्ञ करके; पूर्तेन—तथा अन्यों के लाभ के लिए शुभ कार्य करना तथा कुएँ खुदवाना; माम्—मुझको; एवम्—इस प्रकार; यः—जो; यजेत—पूजा करता है; समाहितः—मुझमें मन स्थिर करके; लभते—प्राप्तकरता है; मयि—मुझमें; सत्-भक्तिम्—दृढ़ भक्ति; मत्-स्मृतिः—मेरा स्वरूपसिद्ध ज्ञान; साधु—उत्तम गुणों से युक्त; सेवया—सेवा द्वारा।.

मेरी तुष्टि के लिए जिसने यज्ञ तथा शुभ कार्य किये हैं और इस तरह से एकाग्र ध्यान से मेरी पूजा करता है, वह मेरी अटल भक्ति प्राप्त करता है। ऐसा पूजक उत्तम कोटि की अपनी सेवा के कारण मेरा स्वरूपसिद्ध ज्ञान प्राप्त करता है।

तात्पर्य : *इष्टापूर्तेन* शब्द का अर्थ है "यज्ञ तथा शुभ कार्य"। इससे शुद्ध भक्ति के मार्ग से किसी प्रकार का विचलन सूचित नहीं होता। भगवान् कृष्ण या विष्णु यज्ञ या यज्ञ के स्वामी कहलाते हैं। *भगवद्गीता* (५.२९) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*भोक्तारं यज्ञतपसाम्*—"मैं समस्त यज्ञ का वास्तविक भोक्ता हूँ।" सर्वोच्च यज्ञ भगवन्नाम का कीर्तन है। भगवन्नाम की शरण ग्रहण करने से मनुष्य को अचल भक्ति तथा परम सत्य का स्वरूपसिद्ध ज्ञान प्राप्त होगा। स्वरूपसिद्ध भक्त अपनी भक्ति के मामले में बहुत सावधान रहता है और उसे वह अपना प्राण समझता है। वह अपने गुरु तथा भगवान् के चरणकमलों की निरन्तर पूजा करके तथा महिमा-गान करके अपने को भक्ति के योग्य बनाये रखता है। *हरिनाम कीर्तन* तथा *गुरु पूजा* ऐसे व्यावहारिक साधन हैं, जिनसे शुद्ध भक्ति प्राप्त की जा सकती है। जब हरिनाम कीर्तन का विस्तार किया जाता है, तो वह *कृष्णसङ्कीर्तन* कहलाता है। मनुष्य को अप्रामाणिक तपस्या या यज्ञ करके शुष्क नहीं बन जाना चाहिए, प्रत्युत उसे श्रीकृष्ण संकीर्तन रूपी

महान् यज्ञ में उत्साह के साथ जुट जाना चाहिए, जिससे मनुष्य-जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव ।
नोपायो विद्यते सम्यक्प्रायणं हि सतामहम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

प्रायेण—प्रायः; भक्ति-योगेन—मेरी भक्ति से; सत्-सङ्गेन—मेरे भक्तों की संगति से सम्भव होने वाली; विना—रहित; उद्धव—हे उद्धव; न—नहीं; उपायः—कोई उपाय; विद्यते—है; सम्यक्—जो वास्तव में कारगर हो; प्रायणम्—जीवन का असली मार्ग या वास्तविक आश्रय; हि—क्योंकि; सताम्—मुक्तात्माओं का; अहम्—मैं।

हे उद्धव, सन्त स्वभाव के मुक्त पुरुषों के लिए मैं ही अनन्तिम आश्रय तथा जीवन-शैली हूँ, अतएव यदि कोई व्यक्ति मेरे भक्तों की संगति से सम्भव मेरी प्रेमाभक्ति में प्रवृत्त नहीं होता, तो सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के दृष्टिकोण से प्रायः भौतिक जगत से बचने का कोई उपाय उसके पास नहीं रह जाता।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ने उद्धव से ज्ञानयोग तथा भक्तियोग के लक्षण बतलाये क्योंकि ये दोनों आध्यात्मिक विधियाँ मानी जाती हैं। किन्तु अब भगवान् स्पष्ट सूचित करते हैं कि संसार से अपने को मुक्त करने के लिए भक्तियोग ही असली उपाय है और यह भक्तियोग वैष्णवों की संगति—*सत्संग* के बिना सम्भव नहीं है। *भक्तिमिश्र ज्ञान* के मार्ग में तब भी तीन गुण प्रभाव डालते हैं। शुद्ध आत्मा को दार्शनिक मनोधर्म, कठोर तपस्या या निर्विशेष ध्यान में प्रवृत्त होने की कोई इच्छा नहीं होती, क्योंकि वह सभी भौतिक गुणों से मुक्त होता है। वह तो मात्र कृष्ण से प्रेम करता है और उन्हीं की निरन्तर सेवा करना चाहता है। *जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्य दास'।* भगवान् की शुद्ध भक्ति *केवल-भक्ति* कहलाती है, जबकि ज्ञानमिश्रित भक्ति *गुणभूतभक्ति* कहलाती है। जो वास्तव में बुद्धिमान है, वह दार्शनिक जादूगरी का प्रदर्शन नहीं करता, अपितु भगवान् के शुद्ध प्रेम की श्रेष्ठता को ढूँढ़ लेता है और *केवल-भक्ति* के मार्ग को अपनाता है। जो तथाकथित बौद्धिक उपलब्धियों पर बल देता है, वह वास्तव में अल्पज्ञ है, क्योंकि ऐसा व्यक्ति शुद्ध आत्मा की अपेक्षा बुद्धि की ओर आकृष्ट होता है, जबकि शुद्ध आत्मा श्रेष्ठ है। किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि शुद्ध भक्ति ज्ञानरहित या बौद्धिकता-विरोधी नहीं है। परम सत्य तो आंशिक सत्य से कहीं अधिक व्यापक हैं। अतएव जिसे भगवान् कृष्ण का पूर्ण ज्ञान होता है, वह दार्शनिक विश्लेषण में आसानी से लग सकता है, क्योंकि शुद्ध भक्त अवधारणाओं की पूरी

श्रेणियों के साथ कार्य कर रहा होता है। जो लोग भगवान् कृष्ण को नहीं जानते, वे निर्विशेष ब्रह्म या अन्तर्यामी परमात्मा के प्रति आकृष्ट होते हैं, किन्तु वे ज्ञान की चरम कोटि भगवान् से ज्ञात नहीं होते। भगवान् के ज्ञान के अभाव में ऐसे अपूर्ण दार्शनिक भगवान् की असंख्य शक्तियों के घात-प्रतिघात को नहीं समझ सकते, अतएव उनका पूरा पूरा विश्लेषण नहीं कर सकते। भगवान् कृष्ण के हर वचन को परम सत्य मानकर कोई भी व्यक्ति दर्शन की प्रौढ़ावस्था को प्राप्त होता है और पूर्ण ज्ञान प्राप्त करता है।

शुद्ध भक्ति दार्शनिक अथवा बौद्धिक ज्ञान के अतिरिक्त जीवन के अन्य सारे भौतिक अथवा आध्यात्मिक लाभ भी देने वाली होती है, अतएव जो व्यक्ति किसी भी कारण से भक्ति को छोड़ कर अन्य कोई विधि अपनाता है, वह दुर्भाग्यवश कृष्ण-भक्ति को नहीं समझता है। यहाँ इस पर बल दिया गया है कि अन्य भक्तों की संगति से भक्ति का अनुशीलन किया जाय। दूसरी ओर, *ज्ञान योग* का अकेले ही अनुशीलन किया जाता है, क्योंकि किन्हीं भी दो मनोधर्मी चिन्तकों का किसी वाद-विवाद में फँसे बिना एकमत होना सम्भव नहीं है। आत्म-साक्षात्कार की अन्य विधियों की तुलना बकरी के गलस्तन से की जाती है। वे स्तन जैसे तो लगते हैं, किन्तु उनसे दूध नहीं निकलता। इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं, जो क्रमश: श्री उद्धव, शुकदेव गोस्वामी तथा नारद मुनि द्वारा कहे गये हैं।

तापत्रयेणाभिहितस्य घोरे सन्तप्यमानस्य भवाध्वनीह।

पश्यामि नान्यच्छरणं तवांघ्रि द्वन्द्वातपत्रादमृतभिवर्षात्॥

"हे प्रभु! जो व्यक्ति संसाररूपी जंजाल में गिरकर भौतिक कष्टों की अग्नि में जलाया जा रहा हो, उसके लिए मुझे आपके दो चरणकमलों के अतिरिक्त कोई अन्य आश्रय नहीं दिखता, क्योंकि वे कष्ट की अग्नि को बुझाने के लिए अमृत की वर्षा के तुल्य हैं। (भागवत ११.१९.९)

संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो-

र्नान्य: प्लवो भगवत: पुरुषोत्तमस्य।

लीलाकथारसनिषेवनमन्तरेण

पुंसो भवेद् विविधदु:खदवार्धितस्य॥

"यह संसार सागर के समान है, जिसको पार करना अत्यन्त कठिन है। बद्धजीव इस सागर में गिरे हुए हैं, जो कि शीतल नहीं है, अपितु कष्ट की आग उन्हें जला रही है। जो इस समुद्र में गिर चुका है और उसमें से निकलना चाहता है, उसके पास पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की लीलाओं का आस्वादन करने के सिवाय कोई अन्य रक्षा-नाव नहीं है।" (भागवत १२.४.४०)

किं वा योगेन सांख्येन न्यास स्वाध्याययोरपि।

किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः॥

"योग पद्धति, दार्शनिक चिन्तन, संसार का मात्र परित्याग या वैदिक अध्ययन से क्या लाभ? वस्तुतः हमारे अस्तित्व के स्रोत भगवान् कृष्ण के बिना किसी तथाकथित शुभ विधि से क्या लाभ है?" (भागवत ४.३१.१२)

जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है, यदि सामान्यतया (*प्रायेण*) भक्तों की संगति द्वारा भक्ति के बिना भौतिक बन्धन से छूट पाना असम्भव है, तो कलियुग में कृष्णभावनामृत आन्दोलन के बिना मोक्ष की सम्भावना नहीं के बराबर है। कोई मानसिक स्तर पर मोक्ष की किसी विधि की कल्पना कर सकता है या वह पारस्परिक चापलूसी के तथाकथित आध्यात्मिक समाज में रह सकता है, किन्तु यदि वह वास्तव में भगवद्धाम वापस जाना चाहता है और अपनी दिव्य आँखों से कृष्ण-लोक नामक ईश्वर के मनोहर धाम को देखना चाहता है, तो उसे श्री चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन को अपनाना चाहिए और भक्तगणों के साथ भगवान् कृष्ण की पूजा करनी चाहिए।

अथैतत्परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन ।
सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत्सखा ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; एतत्—यह; परमम्—परम; गुह्यम्—गुप्त; शृण्वतः—सुनने वाले तुमको; यदु-नन्दन—हे यदुकुल के प्रिय; सु-गोप्यम्—अत्यन्त गुह्य; अपि—भी; वक्ष्यामि—मैं कहूँगा; त्वम्—तुम; मे—मेरा; भृत्यः—सेवक हो; सु-हृत्—शुभचिन्तक; सखा—तथा मित्र।

हे उद्धव, हे यदुकुल के प्रिय, चूँकि तुम मेरे सेवक, शुभचिन्तक तथा सखा हो, अतएव अब मैं तुमसे अत्यन्त गुह्य ज्ञान कहूँगा। अब इसे सुनो, क्योंकि मैं इन महान् रहस्यों को तुम्हें बतलाने जा रहा हूँ।

तात्पर्य : श्रीमद्‌भागवत के प्रथम अध्याय (१.१.८) में कहा गया है—*ब्रूयु: स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत*—प्रामाणिक गुरु अपने निष्ठावान् शिष्य को सारे दिव्य रहस्य बतला देता है। श्री उद्धव ने पूरी तरह से भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण कर ली थी। केवल ऐसी अवस्था में ही भगवान् उन्हें ऐसे रहस्य बतला सकते थे, क्योंकि बिना पूर्ण श्रद्धा के आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान कर पाना असम्भव है। आत्म-साक्षात्कार की अन्य विधियाँ, यथा दार्शनिक चिन्तन अपूर्ण तथा अस्थिर हैं, क्योंकि कर्ता की निजी इच्छाएँ होती हैं और ऐसी कोई निश्चित विधि नहीं है, जिससे भगवान् की पूरी पूरी कृपा प्राप्त की जा सके। दूसरी ओर, भगवान् के शुद्ध भक्तों की संगति अपने में पर्याप्त विधि है, जिससे वांछित फल की गारण्टी रहती है। मनुष्य को शुद्ध भक्तों की संगति करना सीखना चाहिए। इससे उसका जीवन सफल हो सकेगा। यही इस अध्याय का सार-समाहार है।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के ग्यारहवें स्कंध के अन्तर्गत ''बद्ध तथा मुक्त जीवों के लक्षण'' नामक ग्यारहवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदांत स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा विरचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बारह

वैराग्य तथा ज्ञान से आगे

इस अध्याय में वृन्दावनवासियों की पवित्र संगति तथा उनके शुद्ध प्रेम की सर्वोत्कृष्टता की महिमा का वर्णन हुआ है।

सन्त-भक्तों की संगति से भौतिक जीवन के प्रति आत्मा की अनुरक्ति नष्ट होती है और इससे भगवान् कृष्ण तक वश में हो जाते हैं। न तो योग, सांख्य दर्शन, सामान्य धार्मिक कृत्य, शास्त्रों का अध्ययन, तपस्या, त्याग, इष्टा तथा पूर्तम् के कार्य, दान, उपवास, अर्चापूजा, गुप्त मंत्र, तीर्थस्थानों का भ्रमण, न ही बड़े या छोटे विधि-विधानों के पालन से ऐसा फल मिल सकता है। प्रत्येक युग में असुर, दैत्य, पक्षी तथा पशु होते रहे हैं, जो रजो तथा तमोगुणी थे और मनुष्यों में भी व्यापारी, स्त्रियाँ, मजदूर तथा अछूत श्रेणी के लोग थे, जो वैदिक शास्त्र का अध्ययन नहीं कर सकते थे। तो भी भक्तों की संगति के शुद्धीकरण प्रभाव से वे सभी भगवद्धाम प्राप्त कर सके। किन्तु ऐसी साधु-संगति के बिना योग,

सांख्य अध्ययन, दान, व्रत तथा संन्यास-आश्रम में उद्यमशील लोग भगवान् को पाने में असमर्थ रहते हैं।

व्रज की तरुणियाँ, भगवान् कृष्णचन्द्र के असली स्वरूप से अज्ञानी रहने के कारण, उन्हें अपना आनन्ददाता जारपति मानती थीं। फिर भी श्रीकृष्ण के साथ अपनी निरन्तर संगति के कारण वे परम-पूर्ण सत्य प्राप्त कर सकीं, जिसे ब्रह्मा जैसे बड़े बड़े देवता तक प्राप्त नहीं कर पाते। वृन्दावन की तरुणियों ने भगवान् कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ अनुराग प्रदर्शित किया, जिससे उनके साथ होने के आनन्द से अभिभूत उनके मन उनके साथ बिताई गई सारी रात को एक क्षण का भी अंश मानती थीं। किन्तु जब अक्रूर श्रीकृष्ण को बलराम समेत मथुरा ले गये, तो गोपियों ने उनके बिना प्रत्येक रात्रि को देवताओं के कल्प के समान बिताया। भगवान् कृष्ण के बिछोह से पीड़ित वे यह कल्पना न कर सकीं कि उनकी वापसी के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु उन्हें सन्तोष प्रदान कर सकती है। यह ईश्वर के प्रति गोपियों के शुद्ध प्रेम की अद्वितीय श्रेष्ठता है।

उद्धव को ये उपदेश दे चुकने के बाद श्रीकृष्ण ने उद्धव को यह सलाह दी कि परम सत्य प्राप्त करने के लिए श्रुतियों तथा स्मृतियों में बताये गये धर्म-अधर्म के सारे विचारों को त्यागकर, वे वृन्दावन की स्त्रियों की तरह शरण ग्रहण करें।

श्रीभगवानुवाच
न रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म एव च ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ॥ १ ॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः ।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; न रोधयति—नियंत्रित नहीं करता; माम्—मुझको; योगः—अष्टांग योग पद्धति; न—न तो; साङ्ख्यम्—भौतिक तत्त्वों का वैश्लेषिक अध्ययन; धर्मः—अहिंसा जैसी सामान्य करुणा; एव—निस्सन्देह; च—भी; न—न तो; स्वाध्यायः—वेदों का उच्चारण; तपः—तपस्या; त्यागः—सन्यास-आश्रम; न—न तो; इष्टा-पूर्तम्—यज्ञ करना तथा कुएँ खुदवाना या वृक्ष लगाना जैसे आम जनता के कल्याण-कार्य; न—न तो; दक्षिणा—दान; व्रतानि—व्रत रखना तथा एकादशी का उपवास; यज्ञः—देवताओं की पूजा; छन्दांसि—गुह्य मंत्रों का उच्चारण; तीर्थानि—तीर्थस्थानों का भ्रमण; नियमाः—आध्यात्मिक जीवन के लिए मुख्य आदेशों का पालन करना; यमाः—तथा गौण-विधान भी; यथा—जिस तरह; अवरुन्धे—अपने वश में करता है; सत्-सङ्गः—मेरे भक्तों की संगति; सर्व—समस्त; सङ्ग—भौतिक संगति; अपहः—हटाने वाला; हि—निश्चय ही; माम्—मुझको।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, मेरे शुद्ध भक्तों की संगति करने से इन्द्रियतृप्ति के सारे पदार्थों के प्रति आसक्ति को नष्ट किया जा सकता है। शुद्धि करने वाली ऐसी संगति मुझे मेरे भक्त के वश में कर देती है। कोई चाहे अष्टांग योग करे, प्रकृति के तत्त्वों का दार्शनिक विश्लेषण करने में लगा रहे, चाहे अहिंसा तथा शुद्धता के अन्य सिद्धान्तों का अभ्यास करे, वेदोच्चार करे, तपस्या करे, संन्यास ग्रहण करे, कुँआ खुदवाने, वृक्ष लगवाने तथा जनता के अन्य कल्याण-कार्यों को सम्पन्न करे, चाहे दान दे, कठिन व्रत करे, देवताओं की पूजा करे, गुह्य मंत्रों का उच्चारण करे, तीर्थस्थानों में जाय या छोटे-बड़े अनुशासनात्मक आदेशों को स्वीकार करे, किन्तु इन सब कार्यों को सम्पन्न करके भी कोई मुझे अपने वश में नहीं कर सकता।

तात्पर्य : इन दो श्लोकों पर श्रील जीव गोस्वामी की टीका का सारांश इस प्रकार है कोई व्यक्ति भगवद्भक्तों की औपचारिक पूजा द्वारा अथवा संगति करके उनकी सेवा कर सकता है। शुद्ध भक्तों की संगति आत्म-साक्षात्कार के लिए पर्याप्त है, क्योंकि ऐसे भक्तों से आध्यात्मिक प्रगति के विषय में हर बात सीखी जा सकती है। पूर्ण ज्ञान होने पर मनुष्य की मनोवांछित वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं, क्योंकि भक्ति की प्रक्रिया से भगवान् का आशीर्वाद तुरन्त प्राप्त होता है। शुद्ध भक्ति प्रकृति के गुणों से परे है, अतएव इन गुणों द्वारा बद्ध किये गये आत्माओं को यह रहस्यमय प्रतीत होती है।

पिछले अध्याय में भगवान् ने कहा है *हविषाग्नौ यजेत माम्* घी की आहुति देकर मनुष्य अग्नि में मेरी पूजा कर सकता है (भागवत ११.११.४३)। पिछले अध्याय के श्लोक ३८ में यह उल्लेख हुआ है कि मनुष्यों को बाग-बगीचे, मनोरंजन स्थल, उद्यान, इत्यादि बनवाने चाहिए। इनसे लोग कृष्ण-मन्दिरों के प्रति आकृष्ट होते हैं, जहाँ पर वे भगवन्नाम का कीर्तन कर सकते हैं। ऐसी निर्माण योजनाओं को *पूर्तम्* कहा जाता है। यद्यपि इन दोनों श्लोकों में भगवान् कृष्ण यह उल्लेख करते हैं कि उनके शुद्ध भक्तों की संगति योग, दार्शनिक चिन्तन, यज्ञ तथा जन-कल्याण-कार्यों की तुलना में अधिक शक्तिशाली है, किन्तु ये गौण कार्य भी भगवान् कृष्ण को प्रसन्न करने वाले हैं, यद्यपि कुछ कम मात्रा में। ये कार्य विशेष रूप से तब भगवान् को प्रसन्न करने वाले होते हैं जब सामान्य भौतिकतावादी लोगों द्वारा सम्पन्न न होकर भक्तों द्वारा किये जाते हैं। इसीलिए *यथा* तुलनात्मक शब्द का प्रयोग हुआ है। दूसरे शब्दों में, यज्ञ, तप तथा दार्शनिक अध्ययन जैसे कार्य मनुष्य को भक्ति करने के योग्य बना सकते

हैं और जब ऐसे कार्य आध्यात्मिक प्रगति के इच्छुक भक्तों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं, तो वे भगवान् को अच्छे लगते हैं।

व्रतानि के उदाहरण अध्ययन किया जा सकता है। यह आदेश कि मनुष्य एकादशी व्रत समस्त वैष्णवों के लिए स्थायी व्रत है, अत: इन श्लोकों से यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि एकादशी व्रत की उपेक्षा की जा सकती है। भगवत्प्रेम का फल प्रदान करने में सत्संग की श्रेष्ठता का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि अन्य विधियों का परित्याग कर दिया जाय या कि ये गौण विधियाँ भक्तियोग के स्थायी कारक नहीं हैं। ऐसे अनेक वैदिक आदेश हैं, जो अग्निहोत्र यज्ञ करने का उपदेश देते हैं तथा चैतन्य महाप्रभु के आधुनिक अनुयायी भी कभी कभी अग्निहोत्र यज्ञ करते हैं। ऐसे यज्ञ की संस्तुति स्वयं भगवान् ने पिछले अध्याय में की है अतएव भगवद्भक्तों को इसका परित्याग नहीं करना चाहिए। वैदिक अनुष्ठान तथा शुद्धि-अनुष्ठान करने से मनुष्य क्रमश: भक्ति-पद तक ऊपर उठता है, जहाँ वह परम सत्य की प्रत्यक्ष पूजा कर सकता है। एक वैदिक आदेश है "छ: विभिन्न अवसरों पर एक एक मास का लगातार उपवास करने से जो फल प्राप्त होता है, वह भगवान् विष्णु को अर्पित मुट्ठी-भर चावल से मिल सकता है। यह सुविधा कलियुग में विशेष रूप से उपलब्ध है।" तो भी एकादशी पर नियमित व्रत रखना आध्यात्मिक प्रगति में बाधक नहीं है। प्रत्युत भक्ति का यह शाश्वत पक्ष है और इसे भगवान् कृष्ण तथा उनके भक्तों के पूजन के मुख्य सिद्धान्त का सहायक सिद्धान्त माना जा सकता है। चूँकि ऐसे गौण सिद्धान्तों से मनुष्य प्रारम्भिक भक्ति-विधियाँ पूरी करने के योग्य बनता है, अतएव वे भी अत्यन्त उपयोगी हैं। इसीलिए ऐसे गौण सिद्धान्तों का उल्लेख पूरे वैदिक वाङ्मय में पाया जाता है। यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ऐसे गौण सिद्धान्त कृष्णभावनामृत की प्रगति के लिए अनिवार्य हैं, अतएव मनुष्य को व्रत का परित्याग नहीं करना चाहिए।

पिछले अध्याय (भागवत ११.११.३२) में श्रील श्रीधर स्वामी ने उल्लेख किया है कि *आज्ञायैवं गुणान् दोषान्* से यह सूचित होता है कि भक्त को चाहिए कि ऐसे वैदिक सिद्धान्तों का चुनाव करे, जिनका भगवद्भक्ति से कोई विरोध नहीं है। उपवास, देवपूजा तथा योगाभ्यास की अनेक जटिल विधियाँ तथा विस्तृत वैदिक अनुष्ठान *श्रवणं कीर्तनं विष्णो:* की विधि में बाधा उत्पन्न करते हैं, इसलिए वैष्णवजन उनका वहिष्कार करते हैं। किन्तु जो विधियाँ भक्ति में सहायक हों, उन्हें स्वीकार करना

चाहिए। यहाँ पर महाराज युधिष्ठिर का उदाहरण दिया जा सकता है, जिन्हें मृत्यु-शय्या पर लेटे भीष्मदेव ने उपदेश दिया। *श्रीमद्भागवत* (१.९.२७) में भीष्म ने महाराज युधिष्ठिर को दान-धर्म, राज-धर्म, मोक्ष-धर्म, स्त्री-धर्म तथा भागवत्-धर्म की शिक्षा दी। भीष्म ने अपना विवेचन *भागवत धर्म* तक ही सीमित नहीं रखा, क्योंकि कृष्ण ने महाराज युधिष्ठिर को राजा रूप में कार्य करने की भक्ति प्रदान की और इस सेवा को सम्पन्न करने के लिए महाराज युधिष्ठिर को नागरिक मामलों का विस्तृत ज्ञान आवश्यक था। किन्तु जो व्यक्ति समाज में ऐसी नियत भक्ति का सम्पादन नहीं करता है, उसे अनावश्यक रूप से भौतिक जगत में हाथ नहीं डालना चाहिए। भगवान् कृष्ण को तुष्ट करने के चरम उद्देश्य से उसे कोई रोक नहीं सकता।

नियत व्रतों को न त्यागने के सिद्धान्तों को महाराज अम्बरीष के उदाहरण से भी दर्शाया जा सकता है। *श्रीमद्भागवत* के नवें स्कन्ध में हम पाते हैं कि यद्यपि महाराज अम्बरीष ने विस्तृत वैदिक यज्ञ सम्पन्न किये थे, किन्तु उनका उद्देश्य भगवान् को सदैव तुष्ट रखना था। उनके राज्य के नागरिक स्वर्ग नहीं जाना चाहते थे, क्योंकि वे वैकुण्ठ की महिमा का श्रवण निरन्तर करते थे। अम्बरीष महाराज ने अपनी महारानी समेत एक वर्ष तक एकादशी तथा द्वादशी का व्रत रखा। चूँकि अम्बरीष महाराज को वैष्णवों का शिरोमणि माना जाता है और चूँकि उनका आचरण आदर्शमय था, अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि एकादशी पर उपवास रखने जैसे व्रत वैष्णवों के लिए अनिवार्य हैं। वैदिक वाङ्मय में यह भी कहा गया है "यदि लापरवाही से कोई वैष्णव एकादशी पर व्रत नहीं रखता, तो उसकी भगवान् विष्णु की पूजा व्यर्थ रहती है और वह नरक को जाता है।" इस्कॉन के सदस्यों को एकादशी के दिन अन्न तथा फलियाँ नहीं खानी चाहिए और सारे सदस्यों को यह व्रत सदा रखना चाहिए।

यदि कोई मिथ्या ही यह सोचता है कि वह महान् तपस्या, संस्कृत साहित्य के प्रखर अध्ययन, दान के वदान्य कर्मों द्वारा भगवान् कृष्ण की संगति प्राप्त कर सकता है, तो उसकी कृष्ण-चेतना विरूपित होकर क्षीण हो जायेगी। मनुष्य को चाहिए कि श्री चैतन्य महाप्रभु के उदाहरण को याद रखे, जिन्होंने भगवान् कृष्ण के विषय में निरन्तर श्रवण तथा कीर्तन द्वारा कृष्णभावनामृत का अभ्यास किया। यदि कोई व्यक्ति उपवास, अध्ययन, तपस्या, अथवा यज्ञ द्वारा चैतन्य महाप्रभु के संकीर्तन आन्दोलन में भाग लेने के लिए अधिक उपयुक्त बनता है, तो ऐसे कार्य भी भगवान् कृष्ण को प्रसन्न करने वाले होते हैं।

किन्तु यहाँ पर भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि भक्तियोग में ऐसे कार्य कभी भी *केन्द्रीय* महत्त्व के नहीं बन सकते। उन्हें *सत्संग* की परम विधि के सहायक के रूप में ही रहना पड़ेगा। श्रील मध्वाचार्य ने वैदिक साहित्य से उद्धरण दिया है कि यदि कोई व्यक्ति भगवद्भक्तों का अपमान करता है और उनकी संगति करना नहीं सीखता, तो भगवान् विष्णु ऐसे व्यक्ति के मार्ग में विघ्न डालते हैं, जिससे वह भगवान् की संगति प्राप्त न कर पाये।

सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः ।
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः ॥ ३ ॥
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः ।
रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन्युगे युगे ॥ ४ ॥
बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः ।
वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः ॥ ५ ॥
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः ।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सत्-सङ्गेन—मेरे भक्तों की संगति से; हि—निश्चय ही; दैतेयाः—दिति के पुत्र; यातुधानाः—असुरगण; मृगाः—पशु; खगाः—पक्षी; गन्धर्व—गन्धर्वगण; अप्सरसः—स्वर्गलोक की वेश्याएँ; नागाः—सर्प; सिद्धाः—सिद्धलोक के वासी; चारण—चारण; गुह्यकाः—गुह्यक; विद्याधराः—विद्याधर लोक के वासी; मनुष्येषु—मनुष्यों में से; वैश्याः—व्यापारी लोग; शूद्राः—श्रमिक; स्त्रियः—स्त्रियाँ; अन्त्य-जाः—असभ्य लोग; रजः-तमः-प्रकृतयः—रजो तथा तमोगुणों से बँधे हुए; तस्मिन् तस्मिन्—उसी उसी प्रत्येक में; युगे युगे—युग में; बहवः—अनेक जीव; मत्—मेरे; पदम्—धाम को; प्राप्ताः—प्राप्त हुए; त्वाष्ट्र—वृत्रासुर; कायाधव—प्रह्लाद महाराज; आदयः—इत्यादि; वृषपर्वा—वृषपर्वा नामक; बलिः—बलि महाराज; बाणः—बाणासुर; मयः—मय दानव; च—भी; अथ—इस प्रकार; विभीषणः—रावण का भाई विभीषण; सुग्रीवः—वानरराज सुग्रीव; हनुमान्—महान् भक्त हनुमान; ऋक्षः—जाम्बवान; गजः—गजेन्द्र नामक भक्त हाथी; गृध्रः—जटायु गृद्ध; वणिक्पथः—तुलाधार नामक बनिया; व्याधः—धर्म व्याध; कुब्जा—कुब्जा नामक वेश्या, जिसकी रक्षा कृष्ण ने की; व्रजे—वृन्दावन में; गोप्यः—गोपियाँ; यज्ञ-पत्न्यः—यज्ञकर्ता ब्राह्मणों की पत्नियाँ; तथा—उसी प्रकार; अपरे—अन्य।

प्रत्येक युग में रजो तथा तमोगुण में फँसे अनेक जीवों ने मेरे भक्तों की संगति प्राप्त की। इस प्रकार दैत्य, राक्षस, पक्षी, पशु, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक तथा विद्याधर जैसे जीवों के साथ साथ वैश्य, शूद्र, स्त्रियाँ तथा अन्य निम्न श्रेणी के मनुष्य मेरे धाम को प्राप्त कर सके। वृत्रासुर, प्रह्लाद महाराज तथा उन जैसे अन्यों ने मेरे भक्तों की संगति के द्वारा मेरे धाम को प्राप्त किया। इसी तरह वृषपर्वा, बलि महाराज, बाणासुर, मय, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान, जाम्बवान, गजेन्द्र, जटायु, तुलाधार, धर्मव्याध, कुब्जा, वृन्दावन की गोपियाँ तथा यज्ञ कर रहे ब्राह्मणों की पत्नियाँ भी मेरा धाम प्राप्त कर सकीं।

तात्पर्य : भगवान् ने यह दिखाने के लिए कि किस तरह वे अपने शरणागतों के वश में होते हैं, वृन्दावन की गोपियों जैसे भक्तों तथा बाणासुर जैसे असुरों का उल्लेख किया है। यह ज्ञात है कि यहाँ पर उल्लिखित गोपियों तथा अन्य भक्तों को शुद्ध कृष्ण-प्रेम प्राप्त हुआ था, जबकि असुरों को केवल मोक्ष प्राप्त हुआ था। कई असुर भगवद्भक्तों की संगति से शुद्ध हुए थे और अपने जीवन के महत्त्वपूर्ण कार्यों में भगवान् की भक्ति को स्वीकार किया था। किन्तु प्रह्लाद तथा बलि महाराज जैसे महान् भक्त भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते और इसे ही वे अपने प्राण के तुल्य मानते हैं। फिर भी सुधरे हुए असुरों का भी उल्लेख किया गया है, जिससे *श्रीमद्भागवत* के पाठक भगवद्भक्तों की संगति से मिलने वाले अपार लाभ को समझ सकें।

वृत्रासुर असुर अपने पूर्वजन्म में पवित्र राजा चित्रकेतु था और उसने श्री नारद मुनि, श्री अंगिरा मुनि तथा भगवान् संकर्षण का सान्निध्य प्राप्त किया था। हिरण्यकशिपु के पुत्र होने से प्रह्लाद महाराज दैत्य समझे जाते हैं। फिर भी जब वे अपनी माता कयाधू के गर्भ में थे, तो उन्हें ध्वनि के माध्यम से नारद मुनि की संगति प्राप्त हुई थी। वृषपर्वा असुर को उसकी माता ने जन्म देते ही त्याग दिया था। किन्तु वह किसी मुनि द्वारा पाला जाकर भगवान् विष्णु का भक्त बना। बलि महाराज ने अपने पितामह प्रह्लाद महाराज की तथा भगवान् वामन देव की भी संगति प्राप्त की थी। बलि महाराज का पुत्र बाणासुर अपने पिता तथा शिवजी की संगति से रक्षा प्राप्त कर सका। वह भगवान् कृष्ण की संगति में भी आया, जब उन्होंने उसके एक हजार हाथों में से दो को छोड़कर शेष हाथ काट दिये, जिन्हें शिवजी ने वर के रूप में प्रदान किया था। भगवान् कृष्ण की महिमा समझ लेने पर बाणासुर भी महान् भक्त बन गया। मय दानव ने पाण्डवों के लिए सभाभवन तैयार किया और भगवान् कृष्ण की संगति में भी आया और अन्त में भगवान् की शरण ग्रहण की। विभीषण रावण का भाई था और पवित्र स्वभाव का असुर था। उसने हनुमान तथा रामचन्द्र की संगति की।

सुग्रीव, हनुमान, जाम्बवान तथा गजेन्द्र ऐसे पशुओं के उदाहरण हैं, जिन्होंने भगवान् की कृपा प्राप्त की। जाम्बवान् या ऋक्षराज एक वानर जाति का सदस्य था। उसे भगवान् कृष्ण की संगति तब प्राप्त हुई थी जब उसने स्यमंतक मणि के लिए उनसे युद्ध किया था। गजेन्द्र हाथी ने अपने पूर्व जीवन में भक्तों की संगति की थी और अपने इस जीवन के अन्त में भगवान् द्वारा बचाया गया था। जटायु पक्षी ने,

जिसने अपना प्राण देकर भगवान् रामचन्द्र की सहायता की, श्री गरुड़ तथा महाराज दशरथ और रामलीला में अन्य भक्तों की भी सहायता की थी। उसने सीता तथा रामचन्द्र से भेंट की थी। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार गन्धर्वों, अप्सराओं, नागों, सिद्धों, चारणों, गुह्यकों तथा विद्याधरों ने भक्तों से जिस तरह की संगति की वह बहुत प्रमुख न थी, इसलिए उसके उल्लेख की आवश्यकता नहीं है। वणिकपथ एक वैश्य है, जिसकी कथा महाभारत में जाजलि मुनि के अभिमान के प्रसंग में उल्लिखित है।

धर्मव्याध, एक अहिंसक व्याध, की कथा वराह पुराण में वर्णित है, जिसमें भक्तों की संगति की महत्ता बताई गई है। अपने पूर्व जीवन में वह ब्रह्म राक्षस बन गया था, किन्तु अन्त में उसका उद्धार हो गया। पूर्व कलियुग में उसकी संगति वासु नामक वैष्णव राजा से हुई थी। कुब्जा को भगवान् की प्रत्यक्ष संगति प्राप्त हुई। वह अपने पूर्वजन्म में श्री नारद मुनि के सान्निध्य में थी। वृन्दावन की गोपियों ने अपने पूर्वजन्मों में साधु-पुरुषों की सेवाएँ की थीं। भक्तों के साथ प्रचुर संगति के फलरूप वे अगले जन्म में वृन्दावन में गोपियाँ बनीं और वहाँ पर अवतरित मुक्त गोपियों की संगति में आईं। उनकी संगति तुलसी देवी या वृन्दा देवी से भी थीं। यज्ञकर्ता ब्राह्मणों की पत्नियों को कृष्ण द्वारा भेजी गई फूल-माला तथा सुपारी बेचने वाली स्त्रियों की संगति प्राप्त हुई थी, जिनसे उन्होंने भगवान् कृष्ण के विषय में सुना था।

ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः ।
अव्रतातप्ततपसः मत्सङ्गान्मामुपागताः ॥ ७॥

शब्दार्थ

ते—वे; न—नहीं; अधीत—अध्ययन करके; श्रुति-गणाः—वैदिक वाङ्मय; न—नहीं; उपासित—पूजा किया हुआ; महत्-तमाः—महान् सन्त; अव्रत—व्रत के बिना; अतप्त—बिना किये; तपसः—तपस्या; मत्-सङ्गात्—मेरे तथा मेरे भक्तों की संगति से; माम्—मुझको; उपागताः—उन्होंने प्राप्त किया।

मैंने जिन व्यक्तियों का उल्लेख किया है, उन्होंने न तो वैदिक वाङ्मय का गहन अध्ययन किया था, न महान् सन्तों की पूजा की थी, न कठिन व्रत या तपस्या ही की थी। मात्र मेरे तथा मेरे भक्तों की संगति से, उन्होंने मुझे प्राप्त किया।

तात्पर्य : जैसाकि पहले उल्लेख हुआ है, वैदिक वाङ्मय का अध्ययन श्रुति मंत्रों की शिक्षा देने वालों की पूजा, व्रत तथा तपस्या करना इत्यादि ऐसी सहायक विधियाँ हैं, जो भगवान् को प्रसन्न करने वाली हैं। किन्तु इस श्लोक में भगवान् पुनः बतलाते हैं कि ऐसी सारी विधियाँ भगवान् तथा उनके भक्तों की संगति करने की मुख्य विधि से गौण हैं। मनुष्य अन्य विधियों से भगवान् तथा उनके भक्तों

की संगति प्राप्त कर सकता है, जिससे जीवन की सिद्धि मिल सकती है। *मत्-संगात्* शब्द को *सत्-संगात्* भी पढ़ा जा सकता है, जिसका भी वही अर्थ निकलता है। *मत्-संगात्* पाठ में *मत्* से यह भी अर्थ निकलता है "जो मेरे हैं" अर्थात् भक्त। श्रील श्रीधर स्वामी उल्लेख करते हैं कि शुद्ध भक्त अपनी ही संगति से कृष्णभावनामृत में प्रगति कर सकता है, क्योंकि अपने कार्यों तथा चेतना से संगति करने से ही वह भगवान् से संगति करता है।

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः ।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

केवलेन—शुद्ध; हि—निस्सन्देह; भावेन—प्रेम से; गोप्यः—गोपियाँ; गावः—वृन्दावन की गाएँ; नगाः—वृन्दावन के जड़ प्राणी यथा यमलार्जुन वृक्ष; मृगाः—अन्य पशु; ये—जो; अन्ये—अन्य; मूढ-धियः—जड़ बुद्धि वाले; नागाः—वृन्दावन के सर्प, यथा कालिय; सिद्धाः—जीवन की सिद्धि पाकर; माम्—मेरे पास; ईयुः—आये; अञ्जसा—अत्यन्त सरलता से।

गोपियों समेत वृन्दावन के वासी, गौवें, अचर जीव यथा यमलार्जुन वृक्ष, पशु, जड़ बुद्धि वाले जीव यथा झाड़ियाँ तथा जंगल और सर्प यथा कालिय—इन सबों ने मुझसे शुद्ध प्रेम करने के ही कारण जीवन की सिद्धि प्राप्त की और इस तरह आसानी से मुझे प्राप्त किया।

तात्पर्य : यद्यपि असंख्य जीवों ने भगवान् तथा उनके भक्तों की संगति से मोक्ष प्राप्त किया, किन्तु ऐसे अनेक पुरुषों ने तपस्या, दान, चिन्तन इत्यादि जैसी अन्य विधियाँ भी अपनाईं। किन्तु जैसाकि हम कह चुके हैं, ये विधियाँ गौण हैं। किन्तु वृन्दावन के वासी यथा गोपियाँ कृष्ण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानती थीं और उनके जीवन का सारा उद्देश्य कृष्ण से प्रेम करना था, जैसाकि *केवलेन हि भावेन* शब्दों से सूचित होता है। यहाँ तक कि वृक्ष, झाड़ियाँ तथा गोवर्धन पर्वत भगवान् कृष्ण से प्रेम करते थे। भगवान् *श्रीमद्भागवत* के दसवें स्कंध (१०.१५.५) में अपने भाई श्री बलदेव को बतलाते हैं—

अहो अमी देववरामरार्चितं पदाम्बुजं ते सुमनःफलार्हणम्।

नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मनस् तमोऽपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम्॥

"हे बलदेव! देखो न! ये वृक्ष किस तरह अपनी शाखाएँ झुकाकर आपके उन चरणकमलों को नमस्कार कर रहे हैं, जो देवताओं द्वारा भी पूज्य हैं। हे भ्राता! आप परमेश्वर हैं, इसीलिए इन वृक्षों ने आपकी भेंटस्वरूप फलों तथा फूलों को उत्पन्न किया है। यद्यपि जीव तमोगुण के कारण वृक्ष के रूप में

जन्म लेता हैं, किन्तु वृन्दावन में इस तरह जन्म लेकर, ये वृक्ष आपके चरणकमलों की सेवा करके अपने जीवन का सारा अंधकार नष्ट कर रहे हैं।''

यद्यपि अनेक जीवों ने अनेक प्रकार से भगवान् तथा उनके भक्तों की संगति के द्वारा भगवान् कृष्ण की कृपा प्राप्त की है, किन्तु जो भगवान् कृष्ण को सर्वस्व मानते हैं, वे आध्यात्मिक साक्षात्कार की सर्वोच्च विधि को प्राप्त होते हैं। इसलिए भगवान् ने इस श्लोक में मिश्र विधियों से सिद्धि पाने वालों की चर्चा न करके वृन्दावन के शुद्ध भक्तों की प्रशंसा की है, जिनमें गोपियाँ सर्वप्रमुख हैं, जो कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ जानती ही नहीं। वृन्दावनवासी कृष्ण के साथ अपने सम्बन्धों से इतने सन्तुष्ट रहते थे कि उन्होंने मनोधर्म या सकाम कर्म द्वारा अपनी प्रेमाभक्ति को दूषित नहीं होने दिया। गोपियों ने भगवान् कृष्ण की सेवा माधुर्य रस में की, जबकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार गौवों ने वात्सल्य रस में कृष्ण से प्रेम किया, क्योंकि गौवें बालक कृष्ण के लिए सदैव दूध देती थीं। गोवर्धन पर्वत तथा अन्य पर्वत जैसे जड़ पदार्थ कृष्ण से सखा के रूप में प्रेम करते थे और वृन्दावन के सामान्य पशु, वृक्ष तथा झाड़ियाँ कृष्ण से दास्यरस में प्रेम करते थे। कालिय जैसे सर्प भी इसी रस में प्रेम करते थे, इन सबों ने भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति का आस्वाद करने के पश्चात् भगवद्धाम प्राप्त किया। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार वृन्दावन के इन सारे वासियों को नित्य मुक्तात्माएँ मानना चाहिए जैसाकि *सिद्धा* शब्द द्वारा व्यक्त हुआ है।

यं न योगेन साङ्ख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः ।
व्याख्यास्वाध्यायसन्न्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यम्—जिनको; न—नहीं; योगेन—योग द्वारा; साङ्ख्येन—दार्शनिक चिन्तन द्वारा; दान—दान; व्रत—व्रत; तपः—तपस्या; अध्वरैः—अथवा वैदिक कर्मकाण्ड द्वारा; व्याख्या—अन्यों से वैदिक ज्ञान की विवेचना द्वारा; स्वाध्याय—वेदों का निजी अध्ययन; सन्न्यासैः—अथवा संन्यास ग्रहण करके; प्राप्नुयात्—प्राप्त कर सकता है; यत्न-वान्—महान् प्रयास से; अपि—भी।

योग, चिन्तन, दान, व्रत, तपस्या, कर्मकाण्ड, अन्यों को वैदिक मंत्रों की शिक्षा, वेदों का निजी अध्ययन या संन्यास में बड़े-बड़े प्रयास करते हुए लगे रहने पर भी मनुष्य, मुझे प्राप्त नहीं कर सकता।

तात्पर्य : यहाँ भगवान् कृष्ण बतलाते हैं कि कोई परम सत्य तक पहुँचने के लिए कितना ही गम्भीर प्रयास क्यों न करें, भगवान् की संगति प्राप्त कर पाना अत्यन्त कठिन है। वृन्दावनवासी यथा

गोपियाँ तथा गौवें भगवान् कृष्ण के साथ सदैव रहती थीं, अतएव उनकी संगति *सत्संग* कहलाती है। जो कोई भगवान् के साथ ठीक से रहता है, वह *सत्* अर्थात् नित्य बन जाता है, अतएव ऐसे व्यक्ति की संगति अन्य लोगों को तुरन्त ही भक्ति प्रदान कर सकती है। *चान्द्रायण* नामक तप में चन्द्रमा के घटने के साथ भोजन की मात्रा प्रतिदिन एक एक कौर घटाई जाती है और चन्द्रमा के बढ़ने के साथ साथ प्रतिदिन एक एक कौर बढ़ाई जाती है। इसी तरह अनेक कष्टप्रद कर्मकाण्ड हैं और संस्कृत के कठिन वैदिक मंत्र हैं, जो अन्यों को सिखलाये जा सकते हैं। ये कठिन कार्य तब तक जीवन की परम सिद्धि नहीं प्रदान कर सकते जब तक उसे भगवद्भक्तों की अहैतुकी कृपा प्राप्त न हो। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध (१.२-८) में कहा गया है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

"अपने पद के अनुसार व्यक्ति द्वारा किये गये वृत्तिपरक कार्य यदि भगवान् के सन्देश के प्रति आकर्षण उत्पन्न नहीं कर पात तो ये व्यर्थ के श्रम होते।"

रामेण सार्धं मथुरां प्रणीते
श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ताः ।
विगाढभावेन न मे वियोग
तीव्राधयोऽन्यं ददृशुः सुखाय ॥ १० ॥

शब्दार्थ

रामेण—बलराम के; सार्धम्—साथ; मथुराम्—मथुरा नगरी के; प्रणीते—लाये गये; श्वाफल्किना—अक्रूर द्वारा; मयि—मुझमें; अनुरक्त—निरन्तर लिप्त; चित्ताः—चेतना वाले; विगाढ—प्रगाढ़; भावेन—प्रेम से; न—नहीं; मे—मेरी अपेक्षा; वियोग—विछोह का; तीव्र—गहन; आधयः—मानसिक कष्ट, चिन्ता आदि का अनुभव करने वाले; अन्यम्—अन्यों को; ददृशुः—देखा; सुखाय—उन्हें सुखी बनाने के लिए।

गोपियाँ इत्यादि वृन्दावनवासी गहन प्रेम से सदैव मुझमें अनुरक्त थे। अतएव जब मेरे चाचा अक्रूर मेरे भ्राता बलराम सहित मुझे मथुरा नगरी में ले आये, तो वृन्दावनवासियों को मेरे विछोह के कारण अत्यन्त मानसिक कष्ट हुआ और उन्हें सुख का कोई अन्य साधन प्राप्त नहीं हो पाया।

तात्पर्य : इस श्लोक में वृन्दावन की गोपियों के मनोभावों का विशेष रूप से वर्णन हुआ है और यहाँ पर कृष्ण उनके द्वारा अनुभव किये जाने वाले अद्वितीय प्रेम को प्रकट करते हैं। जैसाकि दसवें स्कन्ध में बतलाया गया है कंस द्वारा भेजे गये भगवान् कृष्ण के चाचा अक्रूर वृन्दावन आये और कुश्ती

दिखलाने के लिए कृष्ण तथा बलराम को मथुरा ले आये। गोपियाँ कृष्ण को इतना चाहती थीं कि उनकी अनुपस्थिति में उनकी चेतना उनके आध्यात्मिक प्रेम में पूर्णतया लीन हो गई। इस तरह उनकी कृष्ण-चेतना जीवन की चरम सिद्धावस्था मानी जाती है। वे सदैव आशान्वित रहीं कि भगवान् कृष्ण असुरों को मारने का कार्य पूरा करके उनके पास लौट आयेंगे, अतएव उनकी चिन्ता उनके प्रेम की अत्यन्त हृदय विदारक अभिव्यक्ति थी। असली सुख चाहने वाले व्यक्ति को भगवान् के आनन्द के लिए प्रत्येक वस्तु का त्याग करते हुए गोपियों की तरह कृष्ण की भक्ति करनी चाहिए।

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता
मयैव वृन्दावनगोचरेण ।
क्षणार्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां
हीना मया कल्पसमा बभूवुः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ताः ताः—वे सभी; क्षपाः—रातें; प्रेष्ठ-तमेन—अत्यन्त प्रिय के साथ; नीताः—बिताई गई; मया—मेरे द्वारा; एव—निस्सन्देह; वृन्दावन—वृन्दावन में; गो-चरेण—जिसे जाना जा सकता है; क्षण—एक पल; अर्ध-वत्—आधे के समान; ताः—वे रातें; पुनः—फिर; अङ्ग—हे उद्धव; तासाम्—गोपियों के लिए; हीनाः—रहित; मया—मुझसे; कल्प—ब्रह्मा का दिन (४,३२,००,००,०००); समाः—तुल्य; बभूवुः—हो गया।

हे उद्धव, वे सारी रातें, जो वृन्दावन भूमि में गोपियों ने अपने अत्यन्त प्रियतम मेरे साथ बिताईं, वे एक क्षण से भी कम में बीतती प्रतीत हुईं। किन्तु मेरी संगति के बिना बीती वे रातें गोपियों को ब्रह्मा के एक दिन के तुल्य लम्बी खिंचती सी प्रतित हुई।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी की टीका इस प्रकार है : कृष्ण की अनुपस्थिति में गोपियों को अत्यन्त चिन्ता हुई। ऊपर से अन्यन्त मोहग्रस्त प्रतीत होती हुईं उन्होंने वास्तव में *समाधि* की सर्वोच्च सिद्धावस्था प्राप्त कर ली थी। उनकी चेतना भगवान् कृष्ण में प्रगाढ़ता से अनुरक्त थी और ऐसी कृष्ण-चेतना में उनके शरीर उनसे बहुत दूर लगते थे, यद्यपि लोग शरीर को अपने सबसे निकट पाते हैं। वस्तुतः गोपियाँ अपने अस्तित्व के बारे में नहीं सोचती थीं। यद्यपि साधारणतया एक युवती अपने पति तथा अपनी सन्तान को अपनी सबसे प्रिय पूँजी मानती है, किन्तु गोपियाँ अपने तथाकथित परिवारों के अस्तित्व को भी नहीं मानती थीं। न ही वे इस संसार के बारे में, अथवा मृत्यु के बाद के जीवन के विषय में सोच पाती थीं। दरअसल, उन्हें इन बातों का बिल्कुल ध्यान नहीं था। जिस तरह ऋषि मुनि सांसारिक नाम तथा रूप से विरक्त हो जाते हैं, गोपियाँ भी किसी वस्तु के बारे में नहीं सोच पाती थीं,

क्योंकि वे कृष्ण की प्रेममयी स्मृति से अभिभूत रहती थीं। जिस तरह नदियाँ समुद्र में मिलती हैं, उसी तरह गोपियाँ अपने गहन प्रेम से कृष्ण-चेतना में पूर्णतया विलीन थीं।''

इस तरह कृष्ण के उनके साथ रहने पर गोपियों को ब्रह्मा का एक दिन एक क्षण के तुल्य लगता था, किन्तु कृष्ण की अनुपस्थिति में एक क्षण ब्रह्मा के एक दिन जैसा प्रतीत होने लगा। गोपियों की कृष्ण-चेतना आध्यात्मिक जीवन की सिद्धि है और यहाँ पर ऐसी सिद्धि के लक्षणों का वर्णन हुआ है।

ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्ध
धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् ।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ॥ १२॥

शब्दार्थ

ताः—वे (गोपियाँ); न—नहीं; अविदन्—अवगत; मयि—मुझमें; अनुषङ्ग—घनिष्ठ सम्पर्क द्वारा; बद्ध—बँधी; धियः—चेतना वाली; स्वम्—निजी; आत्मानम्—शरीर या आत्मा; अदः—दूर की वस्तु; तथा—इस तरह विचार करते हुए; इदम्—अत्यन्त निकट यह; यथा—जिस तरह; समाधौ—योग समाधि में; मुनयः—मुनिगण; अब्धि—सागर के; तोये—जल में; नद्यः—नदियाँ; प्रविष्टाः—प्रवेश करके; इव—सदृश; नाम—नाम; रूपे—तथा रूप।

हे उद्धव, जिस तरह योग समाधि में मुनिगण आत्म-साक्षात्कार में लीन रहते हैं और उन्हें भौतिक नामों तथा रूपों का भान नहीं रहता और जिस तरह नदियाँ समुद्र में मिल जाती हैं, उसी तरह वृन्दावन की गोपियाँ अपने मन में मुझसे इतनी अनुरक्त थीं कि उन्हें अपने शरीर की अथवा इस जगत की या अपने भावी जीवनों की सुध-बुध नहीं रह गई थी। उनकी सम्पूर्ण चेतना मुझमें बँधी हुई थी।

तात्पर्य : *स्वम् आत्मानम् अदस्तथेदम्* से यह सूचित होता है कि जहाँ सामान्य लोगों को अपना शरीर अत्यन्त प्रिय लगता है, वहाँ गोपियाँ अपने शरीर को अत्यन्त दूर मानती थीं, जिस तरह समाधिस्थ योगी अपने शरीर को या उसके चारों ओर की सामान्य वस्तुओं को अपने से बहुत दूर मानता है। जब रात गये कृष्ण अपनी बाँसुरी बजाते, तो गोपियाँ अपने तथाकथित पतियों तथा बच्चों के बारे में सबकुछ भूल कर कृष्ण के साथ जंगल में नृत्य करने चली जाती थीं। इन विवादास्पद बातों की स्पष्ट व्याख्या *भगवान् कृष्ण* नामक पुस्तक में श्रील प्रभुपाद ने की है। मुख्य विवेचना यह है कि भगवान् कृष्ण हर वस्तु के स्रोत हैं और गोपियाँ भगवान् की निजी शक्ति हैं। इस तरह अपनी ही प्रकट शक्तिरूपा गोपियों

के साथ परम शक्तिशाली भगवान् का प्रेमाचार न तो कोई त्रुटि है, न अनैतिकता है, क्योंकि गोपियाँ ईश्वर की सृष्टि में सर्वाधिक सुन्दर तरुणियाँ हैं।

गोपियों को तनिक भी मोह नहीं है, क्योंकि कृष्ण के प्रति वे इतनी आकृष्ट हैं कि वे किसी चीज के बारे में सोचने की परवाह नहीं करतीं। चूँकि सारा जगत भगवान् कृष्ण के शरीर के भीतर स्थित है, अतएव जब गोपियाँ कृष्ण पर ध्यान एकाग्र करती हैं, तो उनको कोई क्षति नहीं होती। प्रगाढ़ प्रेम का स्वभाव है कि प्रिय के अतिरिक्त अन्य सारी वस्तुओं का बहिष्कार कर दिया जाता है। किन्तु भौतिक जगत में, जहाँ हम अपने राष्ट्र, परिवार या शरीर जैसी सीमित नश्वर वस्तु से प्रेम करना चाहते हैं, तो अन्य वस्तुओं के बहिष्कार का अर्थ अज्ञान होता है। किन्तु जब हमारा प्रेम हर वस्तु के उद्‌गम भगवान् पर केन्द्रित होता है, तो ऐसी एकाग्रता को अज्ञान या अल्पज्ञता नहीं माना जा सकता।

यहाँ पर समाधि प्राप्त मुनियों का उदाहरण यह दिखलाने के लिए दिया गया है कि एक ही वस्तु पर एकाग्रता है। अन्यथा गोपियों के भावमय प्रेम तथा योगियों के शुष्क चिन्तन की कोई तुलना नहीं है, क्योंकि योगी केवल यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि वे अपने भौतिक शरीर नहीं हैं। चूँकि गोपियों के कोई भौतिक शरीर नहीं थे जिनसे विरक्त हुआ जाय और वे परम सत्य के साथ नाच रही थीं तथा आलिंगन कर रही थीं, अतएव गोपियों के उच्च पद की तुलना योगियों मात्र के पद से नहीं की जा सकती। यह कहा जाता है कि निर्विशेष ब्रह्म की अनुभूति के आनन्द की तुलना कृष्ण-प्रेम के आनन्दमय सागर के एक क्षुद्र अंश से भी नहीं की जा सकती। घनिष्ठ अनुरक्ति उस मजबूत रस्सी की तरह है, जो मन तथा हृदय को बाँधती है। हम भौतिक जीवन में नश्वर तथा मोहमय वस्तुओं से बँधे होते हैं, अतएव हृदय का ऐसा बन्धन महान् पीड़ा उत्पन्न करता है। किन्तु यदि हम अपने मन तथा हृदय को समस्त आनन्द तथा सौन्दर्य के आगार भगवान् कृष्ण से बाँध देते हैं, तो हमारे हृदय दिव्य आनन्द के सागर में असीम विस्तार करते हैं।

हमें यह समझ लेना चाहिए कि गोपियाँ किसी भी तरह से निर्विशेष ध्यान के प्रति उन्मुख नहीं थीं, जिसमें विविधतामय सृष्टि की सत्यता से इनकार किया जाता है। गोपियों ने किसी वस्तु से इनकार नहीं किया। उन्हें केवल कृष्ण से प्रेम था। वे अन्य कुछ भी नहीं सोच सकती थीं। उन्होंने भगवान् कृष्ण के ध्यान में बाधक हर वस्तु का बहिष्कार किया, यहाँ तक कि अपनी पलकों को भी कोसा जिनके

झपकने से कृष्ण क्षण-भर के लिए उनकी दृष्टि से विलग हो जाते थे। श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है कि भगवान् के सभी निष्ठावान भक्तों को चाहिए कि अपने जीवन से उस वस्तु को दूर करने का साहस जुटायें, जो भगवद्धाम की ओर बढ़ने में बाधक होती है।

मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबला: ।
ब्रह्म मां परमं प्रापु: सङ्गाच्छतसहस्रश: ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

मत्—मुझ; कामा:—चाहने वाले; रमणम्—मोहक प्रेमी को; जारम्—दूसरे की पत्नी का प्रेमी; अस्वरूप-विद:—मेरे वास्तविक पद को न जानते हुए; अबला:—स्त्रियाँ; ब्रह्म—ब्रह्म; माम्—मुझको; परमम्—परम; प्रापु:—प्राप्त किया; सङ्गात्—संगति से; शत-सहस्रश:—सैकड़ों हजारों में।

वे सैकड़ों हजारों गोपियाँ मुझे ही अपना सर्वाधिक मनोहर प्रेमी जान कर तथा इस तरह मुझे अत्यधिक चाहते हुए मेरे वास्तविक पद से अपरिचित थीं। फिर भी मुझसे घनिष्ठ संगति करके गोपियों ने मुझ परम सत्य को प्राप्त किया।

तात्पर्य : *अस्वरूपविद:* शब्द सूचित करता है कि सुन्दर गोपियाँ कृष्ण के माधुर्य प्रेम में इतनी अधिक लीन थीं कि वे भगवान् के रूप में उनकी असीम शक्तियों से अपरिचित थीं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *अस्वरूपविद:* शब्द का यह अर्थ तथा इसके अतिरिक्त अन्य अर्थ भी दिये हैं। *विद्* का अर्थ "प्राप्त करना" भी होता है। इस तरह *अस्वरूपविद:* यह सूचित करता है कि भगवान् के अन्य भक्तों की तरह गोपियाँ *सारूप्य मुक्ति* प्राप्त करने की इच्छुक नहीं थीं। यदि गोपियों को भगवान् जैसा शारीरिक स्वरूप प्राप्त हो जाता, तो भगवान् किस तरह गोपियों के साथ नाचने और उनका आलिंगन करने की माधुर्य लीला कर पाते? चूँकि गोपियों को भगवान् की सेविकाओं के रूप में अपने स्वरूपों की अनुभूति हो चुकी थी, अतएव *स्वरूप* शब्द उनके ही आध्यात्मिक शरीरों को सूचित कर सकता है। इस प्रकार *अस्वरूपविद:* का अर्थ होगा कि गोपियों ने अपने शारीरिक सौन्दर्य के विषय में कभी नहीं सोचा, जैसाकि भौतिकतावादी करते हैं। यद्यपि गोपियाँ भगवान् की सृष्टि में सर्वाधिक सुन्दर बालाएँ हैं, किन्तु उन्होंने अपने शरीर के विषय में न सोच कर सदैव भगवान् कृष्ण के दिव्य शरीर का ध्यान किया। यद्यपि हम गोपियों के उच्च माधुर्य भावों का अनुकरण नहीं कर सकते, किन्तु हम व्यावहारिक कृष्णभावनामृत के उत्कृष्ट उदाहरण को अपना सकते हैं। उन्होंने कृष्ण की शरण ग्रहण की और जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त की।

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् ।
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ॥ १४॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; त्वम्—तुम; उद्धव—हे उद्धव; उत्सृज्य—त्याग कर; चोदनाम्—वेदों के आदेशों को; प्रतिचोदनाम्—वेदांगों के आदेशों को; प्रवृत्तिम्—आदेश; च—तथा; निवृत्तिम्—निषेध; च—तथा; श्रोतव्यम्—सुनने योग्य; श्रुतम्—सुना हुआ; एव—निस्सन्देह; च—भी; माम्—मुझको; एकम्—अकेला; एव—वास्तव में; शरणम्—शरण; आत्मानम्—हृदय में परमात्मा; सर्व-देहिनाम्—समस्त बद्धजीवों का; याहि—जाओ; सर्व-आत्म-भावेन—एकान्तिक भक्ति से; मया—मेरी कृपा से; स्याः—होओ; हि—निश्चय ही; अकुतः-भयः—भय से रहित।

अतएव हे उद्धव, तुम सारे वैदिक मंत्रों तथा वेदांगों की विधियों एवं उनके सकारात्मक तथा निषेधात्मक आदेशों का परित्याग करो। जो कुछ सुना जा चुका है तथा जो सुना जाना है, उसकी परवाह न करो। केवल मेरी ही शरण ग्रहण करो, क्योंकि मैं ही समस्त बद्धात्माओं के हृदय के भीतर स्थित भगवान् हूँ। पूरे मन से मेरी शरण ग्रहण करो और मेरी कृपा से तुम समस्त भय से मुक्त हो जाओ।

तात्पर्य : श्री उद्धव ने भगवान् कृष्ण से सन्त-पुरुषों तथा मुक्तात्माओं के लक्षण पूछे थे और कृष्ण ने आध्यात्मिक उन्नति के विभिन्न स्तरों के रूप में उनका उत्तर दिया। उन्होंने अपने उत्तर में बताया कि जो व्यक्ति भगवान् कृष्ण को अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य समझ सकते हैं और जो प्रिय भक्त भगवान् कृष्ण को और उनकी भक्ति को अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य मानते हैं, उन दोनों में क्या अन्तर है। भगवान् कृष्ण ने यह भी बताया कि वे अपने प्रिय भक्तों के द्वारा तथा उन भक्तों की संगति करने वालों के द्वारा भी बन्दी बना लिये जाते हैं। भक्तों में से वृन्दावन की गोपियों को ऐसी शुद्ध भक्ति की अवस्था प्राप्त किये हुए बतलाया गया है कि भगवान् कृष्ण स्वयं अपने को निरन्तर उनका ऋणी अनुभव करते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भगवान् कृष्ण ने पहले अपने प्रति गोपियों के प्रेम को रहस्यमय होने के कारण तथा अपने गुरुत्व के कारण अपने हृदय में छिपा रखा। किन्तु अन्त में भगवान् कृष्ण भी गोपियों के प्रगाढ़ प्रेम के प्रति मौन नहीं रह पाये, अतएव इन श्लोकों में उद्धव से भगवान् प्रकट करते हैं कि किस तरह गोपियाँ वृन्दावन में उनसे प्रेम करती थीं और किस तरह उन्हें पूर्णतया

अपने वश में कर लिया था। भगवान् सुन्दर गोपियों के साथ गुप्त स्थानों में विहार करते और माधुर्य रागानुग स्नेह के कारण उनमें महान् प्रेम का आदान-प्रदान होता।

जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* में बतलाया है, मनुष्य भौतिक जगत का परित्याग करके अथवा सामान्य धार्मिक सिद्धान्तों का पालन करके जीवन-सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। मनुष्य को वास्तविक रूप में भगवान् के स्वरूप को समझना चाहिए और उनके शुद्ध भक्तों की संगति में रह कर भगवान् को उनके आदि साकार रूप से प्रेम करना सीखना चाहिए। यह प्रेम माधुर्य, वात्सल्य, सख्य या दास्य रस में व्यक्त किया जा सकता है। भगवान् ने उद्धव को विस्तार से भौतिक जगत की दार्शनिक विश्लेषण पद्धति बतलाई और अब वे उद्धव से कहते हैं कि सकाम कर्म या मनोधर्म में समय नष्ट करना व्यर्थ है। वस्तुतः कृष्ण उद्धव को बता रहे हैं कि वे गोपियों के उदाहरण को आत्मसात् करें और व्रज की गोपियों के पदचिह्नों पर चलते हुए कृष्णभावनामृत में प्रगति करें। प्रकृति के क्रूर नियम जो व्याधि, जरा तथा मृत्यु थोपते हैं, इनसे असन्तुष्ट किसी भी बद्धजीव को यह समझना चाहिए कि भगवान् कृष्ण सारे जीवों को संसार की समस्याओं से उबार सकते हैं। उसे अवैध साम्प्रदायिक अनुष्ठानों, आदेशों या निषेधों में फँसने की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्हें साक्षात् भगवान् कृष्ण-रूप श्री चैतन्य महाप्रभु की तरह भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करनी चाहिए। वैध भक्तियोग विधि के द्वारा मनुष्य को सरलता से आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

श्रीउद्धव उवाच
संशयः शृण्वतो वाचं तव योगेश्वरेश्वर ।
न निवर्तत आत्मस्थो येन भ्राम्यति मे मनः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; संशयः—सन्देह; शृण्वतः—सुनने वाले का; वाचम्—शब्द; तव—तुम्हारे; योग-ईश्वर—योगशक्ति के स्वामियों के; ईश्वर—स्वामी; न निवर्तते—बाहर नहीं जायेगा; आत्म—हृदय में; स्थः—स्थित; येन—जिससे; भ्राम्यति—मोहग्रस्त रहता है; मे—मेरा; मनः—मन।

श्री उद्धव ने कहा : हे योगेश्वरों के ईश्वर, मैंने आपके वचन सुने हैं, किन्तु मेरे मन का सन्देह जा नहीं रहा है, अतः मेरा मन मोहग्रस्त है।

तात्पर्य : इस स्कन्ध के दसवें अध्याय के प्रथम श्लोक में भगवान् ने यह कहा था कि मनुष्य को चाहिए कि उनकी शरण ग्रहण करके निष्काम भाव से वर्णाश्रम प्रणाली के अन्तर्गत अपने कर्तव्य करे।

उद्धव ने इस कथन का अर्थ यह लगाया कि *कर्म-मिश्र भक्ति* अर्थात् सकाम कर्मों की प्रवृत्ति के साथ भक्ति की संस्तुति की गई है। यह तथ्य है कि जब तक कृष्ण को सर्वस्व नहीं समझ लिया जाता, तब तक सामान्य संसारी कर्तव्यों से विरक्त हो पाना सम्भव नहीं है। हाँ, इससे अपने कर्मफल भगवान् को अर्पित करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। दसवें अध्याय के चौथे श्लोक में भगवान् ने संस्तुति की थी कि मनुष्य को सांसारिक कर्तव्यों से विरक्त होकर भगवान् के परम ज्ञान का विधिवत् अनुशीलन करना चाहिए। उद्धव ने इस उपदेश से यह समझा कि यह *ज्ञान-मिश्र भक्ति* को सूचित करने वाला है। दसवें अध्याय के ३५वें श्लोक से शुरू करके उद्धव ने भौतिक बन्धन तथा भौतिक जीवन से मोक्ष के विषय में जिज्ञासा की। भगवान् ने यह कहते हुए विस्तृत उत्तर दिया कि भक्ति के बिना दार्शनिक चिन्तन कभी पूर्ण नहीं हो सकता। ग्यारहवें अध्याय के श्लोक १८ में भगवान् पर श्रद्धा के महत्त्व को और श्लोक २३ में भक्ति की विस्तृत व्याख्या करते हुए इस पर बल दिया गया है कि मनुष्य को श्रद्धावान् होना चाहिए और भगवान् की महिमा का श्रवण एवं कीर्तन करना चाहिए। भगवान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भक्ति का विकास तथा भक्ति की पूर्णता भक्तों की संगति पर निर्भर करती है। ग्यारहवें अध्याय के २६वें श्लोक में उद्धव ने भक्ति के वास्तविक साधनों के विषय में तथा भक्ति की सिद्धि के लक्षणों के विषय में पूछताछ की। श्लोक ४८ में भगवान् कृष्ण ने यह कहा कि भक्ति ग्रहण किये बिना मोक्ष का प्रयास व्यर्थ है। मनुष्य को चाहिए कि भगवद्भक्तों की संगति करे और उनके चरण-चिह्नों का अनुगमन करे। अन्त में इस अध्याय के १४वें श्लोक में भगवान् ने सकाम कर्म तथा मनोकल्पना का स्पष्ट तिरस्कार किया है और श्लोक १५ में यह संस्तुति की है कि अपने हृदय से उनकी शरण ग्रहण करे।

जीवन-सिद्धि के विषय में ऐसे विस्तृत तथा शास्त्रीय उपदेश पाकर उद्धव मोहग्रस्त हो गये हैं और उनका मन संशयग्रस्त है कि वे क्या करें। भगवान् कृष्ण ने कई विधियाँ तथा उनके फल बतलाये हैं, जो एक ही लक्ष्य भगवान् कृष्ण तक ले जाने वाले हैं। इसलिए उद्धव चाहते हैं कि भगवान् कृष्ण साफ-साफ शब्दों में बतलायें कि क्या किया जाना चाहिए। अर्जुन ने *भगवद्गीता* के तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में भगवान् से ऐसा ही अनुरोध किया है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार उद्धव यहाँ यह कह रहे हैं कि "हे मित्र कृष्ण! पहले तो आपने वर्णाश्रम प्रणाली के अन्तर्गत मुझसे सांसारिक कर्म

करने के लिए संस्तुति की और उसके बाद यह सलाह दी कि मैं ऐसे कर्मों का बहिष्कार करके ज्ञान-मार्ग का अनुसरण करूँ। अब ज्ञान के मार्ग का बहिष्कार करके मुझे भक्तियोग में अपनी शरण में आने की संस्तुति कर रहे हैं। यदि मैं आपके निर्णय को मान लूँ, तो भविष्य में आप फिर से अपने पहले तथ्य पर आकर सांसारिक कर्म करने की संस्तुति कर सकते हैं। अपने मन की बात को प्रकट करने की अपनी निर्भीकता द्वारा उद्धव भगवान् कृष्ण से अपनी घनिष्ठ मित्रता प्रकट करते हैं।

श्रीभगवानुवाच
स एष जीवो विवरप्रसूतिः
प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः ।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं
मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; सः एषः—साक्षात् वे; जीवः—सभी को जीवन देने वाले, भगवान्; विवर—हृदय के भीतर; प्रसूतिः—प्रकट; प्राणेन—प्राण के साथ; घोषेण—ध्वनि की सूक्ष्म अभिव्यक्ति द्वारा; गुहाम्—हृदय में; प्रविष्टः—प्रविष्ट हुए; मनः-मयम्—मन से अनुभव किये जाने वाले अथवा शिव जैसे महान् देवताओं के भी मन को वश में करते हुए; सूक्ष्मम्—सूक्ष्म; उपेत्य—स्थित होकर; रूपम्—स्वरूप; मात्रा—विभिन्न मात्राएँ; स्वरः—विभिन्न स्वर; वर्णः—अक्षर की विभिन्न ध्वनियाँ; इति—इस प्रकार; स्थविष्ठः—स्थूल रूप।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, भगवान् हर एक को जीवन प्रदान करते हैं और प्राण-वायु तथा आदि ध्वनि (नाद) के सहित हृदय के भीतर स्थित हैं। भगवान् को उनके सूक्ष्म रूप में हृदय के भीतर मन के द्वारा देखा जा सकता है, क्योंकि भगवान् हर एक के मन को वश में रखते हैं, चाहे वह शिवजी जैसा महान् देवता ही क्यों न हो। भगवान् वेदों की ध्वनियों के रूप में जो ह्रस्व तथा दीर्घ स्वरों तथा विभिन्न स्वरविन्यास वाले व्यंजनों से बनी होती हैं स्थूल रूप धारण करते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कृष्ण तथा उद्धव के मध्य हुई वार्ता पर अपनी टीका इस प्रकार दी है। उद्धव संशयग्रस्त तथा मोहग्रस्त थे, क्योंकि कृष्ण ने भक्ति, ज्ञान, त्याग, योग, तपस्या, पुण्यकर्म आदि विभिन्न विधियाँ बतलाई थीं। किन्तु ये सारी विधियाँ जीवों को भगवान् कृष्ण की शरण प्राप्त करने में सहायता प्रदान करने के निमित्त हैं। अन्ततः किसी वैदिक विधि को अन्य किसी प्रकार से नहीं समझना चाहिए। इस तरह कृष्ण ने सम्पूर्ण वैदिक प्रणाली को उचित क्रम में रखते हुए बतलाया। वस्तुतः कृष्ण को आश्चर्य हो रहा था कि उद्धव मूर्खतापूर्ण क्योंकर सोचते हैं कि उन्हें हर

विधि का अभ्यास करना चाहिए जैसे कि हर विधि उन्हीं के निमित्त है? इसलिए भगवान् कृष्ण अपने भक्त को बताना चाहते हैं, ''हे उद्धव! जब मैंने तुमसे यह कहा था कि सांख्य का अभ्यास किया जाय, पुण्यकर्म किये जाय, भक्ति आवश्यक है, योग-विधियों का पालन हो, तपस्या की जाय, तो मैं तुम्हारे माध्यम से सारे जीवों को उपदेश दे रहा था। मैं जो कह चुका हूँ, जो कह रहा हूँ और जो कुछ कहूँगा वह विभिन्न पदों पर स्थित सारे जीवों के लिए मार्गदर्शन के रूप में समझा जाना चाहिए। तुम यह कैसे सोच सकते हो कि तुम्हीं समस्त वैदिक विधियों का अभ्यास करने के लिए हो? जिस रूप में अभी तुम हो उसी रूप में मैं तुम्हें अपना शुद्ध भक्त मान रहा हूँ। तुम इन सारी विधियों को सम्पन्न करने के लिए नहीं हो।'' इस तरह श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भगवान् कृष्ण मृदु तथा उत्साहप्रद शब्दों से वैदिक विधियों की विविधता के पीछे छिपे गूढ़ार्थ को उद्धव को प्रकट करते हैं।

भगवान् कृष्ण ब्रह्मा के मुख से वेदों के रूप में प्रकट हुए। इस श्लोक का *विवर-प्रसूति* शब्द यह भी सूचित करता है कि ब्रह्माजी के शरीर के भीतर स्थित *आधारादिचक्र* के भीतर प्रकट होते हैं। *घोषेण* शब्द का अर्थ है ''सूक्ष्म ध्वनि'' और *गुहां प्रविष्टः* शब्द भी सूचित करता है कि भगवान् आधारचक्र के भीतर प्रविष्ट होते हैं। भगवान् अन्य चक्रों के भीतर भी, यथा *मणिपूरक चक्र* तथा *विशुद्धि चक्र* में भी देखे जा सकते हैं। संस्कृत अक्षर दीर्घ तथा ह्रस्व स्वरों तथा उदात्त और अनुदात्त व्यञ्जनों से बने हैं। वैदिक ग्रंथों की विविध शाखाओं में इन ध्वनियों से भगवान् का स्थूल रूप प्रकट किया जाता है। *भगवद्गीता* के अनुसार ऐसे ग्रंथों में तीन गुणों का वर्णन मिलता है—*त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।* श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि माया के नियंत्रण के कारण भगवान् बद्धात्मा को ब्रह्माण्ड के अंशरूप में प्रतीत होते हैं। भगवान् पर काल्पनिक स्थूल तथा सूक्ष्म गुणों का आरोप *अविद्या* कहलाता है और ऐसी अविद्या से जीव अपने को अपने कर्मों का कर्ता मानने लगता है तथा कर्म-बन्धन में बँध जाता है। इसलिए बद्ध आत्मा को शुद्ध करने के लिए वेदों में *प्रवृत्ति मार्ग* तथा निवृति का आदेश है। जब मनुष्य शुद्ध हो जाता है, तो वह सकाम कर्म की इस अवस्था का परित्याग कर देता है, क्योंकि शुद्ध भक्ति सम्पन्न करने में यह बाधक है। तब वह अचल श्रद्धा द्वारा भगवान् की पूजा कर सकता है। जिसने पूर्ण कृष्णभावनामृत विकसित कर लिया है, वह कर्मकाण्ड में प्रवृत्त नहीं होता। जैसा *भगवद्गीता* में कहा गया है—*तस्य कार्यं न विद्यते।*

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार इस श्लोक को दूसरी तरह से भी समझा जा सकता है। *जीव* शब्द भगवान् कृष्ण का द्योतक है, जो वृन्दावनवासियों को जीवन प्रदान करने वाले हैं। *विवर-प्रसूति* बताता है कि यद्यपि भगवान् अपनी लीलाएँ बद्धजीवों की दृष्टि से परे वैकुण्ठ-लोक में नित्य करते रहते हैं, किन्तु इन्हीं लीलाओं को प्रदर्शित करने के लिए वे भौतिक जगत में भी प्रविष्ट होते हैं। *गुहां प्रविष्टः* यह सूचित करता है कि ऐसी लीलाएँ प्रदर्शित करके भगवान् उन्हें समेट लेते हैं और ऐसी अप्रकट लीलाओं में प्रवेश करते हैं, जो बद्धजीवों के लिए प्रकट नहीं हैं। इस प्रसंग में *मात्रा* शब्द भगवान् की दिव्य इन्द्रियों का सूचक है और *स्वर* भगवान् की दिव्य ध्वनि तथा गायन का सूचक है। *वर्ण* भगवान् के दिव्य रूप का सूचक है। *स्थविष्ठः* शब्द यह बतलाता है कि इस जगत में भगवान् उन भक्तों के लिए भी प्रकट होते हैं, जो कृष्णभावनामृत में बढ़े-चढ़े नहीं हैं और जिनकी दृष्टि पूरी तरह से शुद्ध नहीं हुई है। *मनोमय* बताता है कि भगवान् को जिस-तिस भाँति मन में रखना होता है। अभक्तों के लिए भगवान् कृष्ण *सूक्ष्म* हैं, क्योंकि उन्हें जाना नहीं जा सकता। इस तरह विभिन्न आचार्यों ने इस श्लोक की दिव्य ध्वनि के माध्यम से भगवान् कृष्ण की महिमा भिन्न भिन्न प्रकारों से बतलाई है।

यथानलः खेऽनिलबन्धुरुष्मा
बलेन दारुण्यधिमथ्यमानः ।
अणुः प्रजातो हविषा समेधते
तथैव मे व्यक्तिरियं हि वाणी ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अनलः—अग्नि; खे—काठ के भीतर रिक्त स्थान में; अनिल—वायु; बन्धुः—जिसकी सहायता; उष्मा—गर्मी; बलेन—दृढ़ता से; दारुणि—काठ के भीतर; अधिमथ्यमानः—रगड़ से जलाई जाने पर; अणुः—अत्यन्त सूक्ष्म; प्रजातः—उत्पन्न होती है; हविषा—घी के साथ; समेधते—बढ़ती है; तथा—उसी तरह; एव—निस्सन्देह; मे—मेरा; व्यक्तिः—अभिव्यक्ति; इयम्—यह; हि—निश्चय ही; वाणी—वैदिक ध्वनि।

जब काठ के टुकडों को जोर से आपस में रगड़ा जाता है, तो वायु के सम्पर्क से उष्मा उत्पन्न होती है और अग्नि की चिनगारी प्रकट होती है। एक बार अग्नि जल जाने पर उसमें घी डालने पर अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठती है। इसी प्रकार मैं वेदों की ध्वनि के कम्पन में प्रकट होता हूँ।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् कृष्ण वैदिक ज्ञान का परम गुह्य अर्थ बतलाते हैं। वेद सर्वप्रथम सामान्य भौतिक कर्म को नियमित करते हैं और उनके फल को अनुष्ठानिक यज्ञों की दिशा में मोड़ कर कर्ता को भावी लाभ दिलाते हैं। किन्तु इन यज्ञों का असली उद्देश्य भौतिकतावादी कर्मी द्वारा अपने कर्मफल को

श्रेष्ठ वैदिक सत्ता को अर्पित करने का अभ्यास कराना है। कुशल कर्मी धीरे-धीरे भौतिक भोग में रुचि लेना छोड़ कर स्वभावत: अपने पद पर दार्शनिक चिन्तन की उच्च अवस्था की ओर बढ़ता है। वर्धित ज्ञान से वह परम पुरुष की असीम महिमा से परिचित होता है और धीरे-धीरे दिव्य परम सत्य की भक्ति करने लगता है। भगवान् कृष्ण वैदिक ज्ञान के लक्ष्य हैं, जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* में कहा है—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:।* भगवान् धीरे धीरे वैदिक अनुष्ठान की सरणि में उसी तरह प्रकट होते हैं, जिस तरह काष्ठों को रगड़ने से धीरे धीरे अग्नि प्रकट होती है। *हविषा समेधते* द्वारा यह सूचित होता है कि वैदिक यज्ञ में लगातार प्रगति से धीरे धीरे आध्यात्मिक ज्ञानरूपी अग्नि जल उठती है, और हर एक को प्रकाशित करके सकाम कर्मपाश को नष्ट करती है।

भगवान् कृष्ण ने उद्धव को यह विस्तृत दिव्य ज्ञान सुनने के लिए सर्वाधिक योग्य व्यक्ति माना है, इसीलिए भगवान् कृपा करके उद्धव को उपदेश देते हैं, जिससे वे बदरिकाश्रम के मुनियों को प्रकाशित कर सकें और उनके जीवन-उद्देश्य को पूरा कर सकें।

एवं गदि: कर्म गतिर्विसर्गो
घ्राणो रसो दृक्स्पर्श: श्रुतिश्च ।
सङ्कल्पविज्ञानमथाभिमान:
सूत्रं रज:सत्त्वतमोविकार: ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; गदि:—वाणी; कर्म—हाथों का कर्म; गति:—पाँवों का कार्य; विसर्ग:—जननेन्द्रिय तथा गुदा के कार्य; घ्राण:—गन्ध; रस:—स्वाद; दृक्—दृष्टि; स्पर्श:—स्पर्श; श्रुति:—सुनना; च—भी; सङ्कल्प—मन का कार्य; विज्ञानम्—बुद्धि तथा चेतन का कार्य; अथ—साथ ही; अभिमान:—मिथ्या अहंकार का कार्य; सूत्रम्—प्रधान का कार्य; रज:—रजोगुण; सत्त्व—सतोगुण; तम:—तथा तमोगुण; विकार:—रूपान्तर।

कर्मेन्द्रियों के कार्य यथा वाक्, हाथ, पैर, उपस्थ एवं नाक, जीभ, आँख, त्वचा तथा कान ज्ञानेन्द्रियों के कार्य के साथ ही मन, बुद्धि, चेतना तथा अहंकार जैसी सूक्ष्म इन्द्रियों के कार्य एवं सूक्ष्म प्रधान के कार्य तथा तीनों गुणों की अन्योन्य क्रिया—इन सबों को मेरा भौतिक व्यक्त रूप समझना चाहिए।

तात्पर्य : *गदि* शब्द द्वारा भगवान् वैदिक ध्वनि के रूप में अपनी अभिव्यक्ति के विषय में विवेचना समाप्त करते हैं और अन्य कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों के कार्यों, चेतना के सूक्ष्म कार्यों, प्रधान तथा प्रकृति के तीनों गुणों की अन्योन्य क्रिया का वर्णन करते हैं। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति समूचे जगत को

भगवान् की शक्तियों की अभिव्यक्ति के रूप में देखता है। इसलिए भौतिक इन्द्रियतृप्ति के लिए कोई उचित स्थान नहीं रह जाता, क्योंकि प्रत्येक वस्तु भगवान् का अंश है और उन्हीं की है। जो व्यक्ति सूक्ष्म तथा स्थूल भौतिक अभिव्यक्तियों में भगवान् के अंश को समझ सकता है, वह इस जगत में रहने की इच्छा त्याग देता है। आध्यात्मिक जगत में हर वस्तु नित्य, आनन्दमय तथा ज्ञानमय है। इस भौतिक जगत की एकमात्र विशेषता है कि यहाँ पर जीव अपने को स्वामी मानता है। किन्तु विवेकी व्यक्ति इस व्यामोह को त्याग कर माया के राज्य में कोई आकर्षण नहीं पाता, इसलिए वह भगवद्धाम वापस जाता है।

अयं हि जीवस्त्रिवृदब्जयोनिर्
अव्यक्त एको वयसा स आद्यः ।
विश्लिष्टशक्तिर्बहुधेव भाति
बीजानि योनिं प्रतिपद्य यद्वत् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अयम्—यह; हि—निश्चय ही; जीवः—परम व्यक्ति जो अन्यों को जीवन देता है; त्रि-वृत्—तीन गुणों वाला; अब्ज—ब्रह्माण्ड रूपी कमल के फूल का; योनिः—स्रोत; अव्यक्तः—अप्रकट; एकः—अकेला; वयसा—कालक्रम से; सः—वह; आद्यः—नित्य; विश्लिष्ट—विभक्त; शक्तिः—शक्तियाँ; बहुधा—अनेक विभागों में; इव—सदृश; भाति—प्रकट होता है; बीजानि—बीज; योनिम्—खेत में; प्रतिपद्य—गिर कर; यत्-वत्—जिस तरह।

जब खेत में कई बीज डाले जाते हैं, तो एक ही स्रोत मिट्टी से असंख्य वृक्ष, झाड़ियाँ, वनस्पतियाँ निकल आती हैं। इसी तरह सबों के जीवनदाता तथा नित्य भगवान् आदि रूप में विराट जगत के क्षेत्र के बाहर स्थित रहते हैं। किन्तु कालक्रम से तीनों गुणों के आश्रय तथा ब्रह्माण्ड रूप कमल-फूल के स्रोत भगवान् अपनी भौतिक शक्तियों को विभाजित करते हैं और असंख्य रूपों में प्रकट प्रतीत होते हैं, यद्यपि वे एक हैं।

तात्पर्य : श्रील वीरराघवाचार्य की टीका है कि कोई यह प्रश्न कर सकता है कि देवताओं, मनुष्यों, पशुओं, पौधों, ग्रहों इत्यादि से युक्त यह विराट ब्रह्माण्ड वास्तव में किसका है? अब भगवान् कृष्ण विराट ब्रह्माण्ड के स्रोत के विषय में किसी भी संशय का उच्छेदन करते हैं। *त्रि-वृत्* शब्द बतलाता है कि प्रकृति के तीनों गुण स्वतंत्र नहीं हैं, अपितु परम नियन्ता के अधीन हैं। *वृत्* प्रत्यय का अर्थ है *वर्तनम्,* अर्थात् भगवान् के भीतर तीनों गुणों का "अस्तित्व," *अब्ज-योनि* शब्द में *अब्* "जल" का सूचक है और *ज* "जन्म" का। इस प्रकार *अब्ज* का अर्थ हुआ यह जटिल ब्रह्माण्ड जो गर्भोदक सागर

में शयन कर रहे गर्भोदकशायी विष्णु से फूटता है। *योनि* अर्थात् "स्रोत" सूचक है भगवान् का, अतः *अब्ज-योनि* का अर्थ यह है कि भगवान् समस्त ब्रह्माण्ड के स्रोत हैं, निस्सन्देह भगवान् के भीतर ही सारी सृष्टि का जन्म होता है। चूँकि तीनों गुण भगवान् के अधीन हैं, अतएव भगवान् की इच्छानुसार इस ब्रह्माण्ड-आवरण के भीतर भौतिक वस्तुओं का सृजन तथा संहार होता रहता है। *अव्यक्त* शब्द भगवान् के सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप को बतलाने वाला है, जो भौतिक सृष्टि के पूर्व अकेले विद्यमान रहता है। दिव्य होने के कारण भगवान् के आदि रूप का न तो जन्म होता है, न रूपान्तर, न मृत्यु होती है। यह शाश्वत है। कालक्रम से भगवान् की भौतिक शक्तियाँ विभक्त हो जाती हैं और शरीर, शारीरिक साज-सामग्री, इन्द्रिय-विषय, शारीरिक विस्तार, अहंकार तथा मिथ्या स्वामित्व के रूप में प्रकट होती हैं। इस तरह भगवान् अपनी *जीव शक्ति* का विस्तार करते हैं, जो मनुष्यों, देवताओं, पशुओं इत्यादि के असंख्य रूपों में प्रकट होती है। खेत में बोये गये बीजों के उदाहरण से हम यह जान सकते हैं कि एक ही स्रोत से असंख्य अभिव्यक्तियाँ होती हैं। इसी तरह यद्यपि भगवान् एक हैं, किन्तु अपनी विविध शक्तियों के माध्यम से, वे असंख्य रूपों में प्रकट होते हैं।

यस्मिन्निदं प्रोतमशेषमोतं
पटो यथा तन्तुवितानसंस्थः ।
य एष संसारतरुः पुराणः
कर्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; इदम्—यह ब्रह्माण्ड; प्रोतम्—चौड़ाई में बुना हुआ, बाना; अशेषम्—सम्पूर्ण; ओतम्—तथा लम्बाई में, ताना; पटः—वस्त्र; यथा—जिस तरह; तन्तु—धागों का; वितान—विस्तार; संस्थः—स्थित; यः—जो; एषः—यह; संसार—भौतिक जगत रूपी; तरुः—वृक्ष; पुराणः—सनातन से विद्यमान; कर्म—सकाम कर्मों की ओर; आत्मकः—सहज भाव से उन्मुख; पुष्प—पहला परिणाम, फूल; फले—तथा फल; प्रसूते—उत्पन्न होने पर।

जिस प्रकार बुना हुआ वस्त्र ताने-बाने पर आधारित रहता है, उसी तरह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड लम्बाई तथा चौड़ाई में भगवान् की शक्ति पर फैला हुआ है और उन्हीं के भीतर स्थित है। बद्धजीव पुरातन काल से भौतिक शरीर स्वीकार करता आया है और ये शरीर विशाल वृक्षों की भाँति हैं, जो अपना पालन कर रहे हैं। जिस प्रकार एक वृक्ष पहले फूलता है और तब फलता है, उसी तरह भौतिक शरीर रूपी वृक्ष विविध फल देता है।

तात्पर्य : वृक्ष में फल आने के पूर्व फूल प्रकट होते हैं। इसी तरह *पुष्प-फले* शब्द, श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार, संसार के सुख-दुख को सूचित करने वाला है। भले ही मनुष्य का जीवन पुष्पित होता प्रतीत हो, किन्तु अन्ततः उसमें जरा, मृत्यु इत्यादि विपदाओं के कटु फल प्रकट होते हैं। भौतिक शरीर के प्रति अनुरक्ति, जिसकी प्रवृत्ति सदा इन्द्रियतृप्ति होती है, यही जगत का मूल कारण है, इसलिए यह *संसार-तरु* कहलाता है। भगवान् की बहिरंगा शक्ति का दोहन सनातन काल से चला आ रहा है, जैसाकि *पुराण: कर्मात्मक:* शब्दों से व्यक्त हुआ है। यह ब्रह्माण्ड भगवान् की मायाशक्ति का विस्तार है और यह सदैव उन्हीं पर आश्रित है, तथा उनसे अभिन्न है। इस सीधे-से ज्ञान से बद्धजीव माया के दुखी संसार में अन्तहीन भ्रमण करने से बच सकता है।

पुष्प-फले का अर्थ इन्द्रियतृप्ति तथा मोक्ष भी लगाया जा सकता है। संसार-तरु की अधिक व्याख्या अगले श्लोकों में की जायेगी।

द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः
पञ्चस्कन्धः पञ्चरसप्रसूतिः ।
दशैकशाखो द्विसुपर्णनीडस्
त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कं प्रविष्टः ॥ २२ ॥
अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा
ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः ।
हंसा य एकं बहुरूपमिज्यै-
र्मायामयं वेद स वेद वेदम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

द्वे—दो; अस्य—इस वृक्ष के; बीजे—बीज; शत—सैकड़ों; मूलः—जड़ों के; त्रि—तीन; नालः—डंठल; पञ्च—पाँच; स्कन्धः—ऊपरी तना; पञ्च—पाँच; रस—रस; प्रसूतिः—उत्पन्न करते हुए; दश—दस; एक—तथा एक; शाखः—शाखाएँ; द्वि—दो; सुपर्ण—पक्षियों के; नीडः—घोंसला; त्रि—तीन; वल्कलः—छाल; द्वि—दो; फलः—फल; अर्कम्—सूर्य; प्रविष्टः—तक फैला हुआ; अदन्ति—खाते हैं; च—भी; एकम्—एक; फलम्—फल; अस्य—इस वृक्ष का; गृध्राः—भौतिक भोग के लिए कामुक; ग्रामे—गृहस्थ-जीवन में; चराः—सजीव; एकम्—दूसरा; अरण्य—जंगल में; वासाः—वास करने वाले; हंसाः—हंस जैसे व्यक्ति, साधु-पुरुष; यः—जो; एकम्—एक, परमात्मा; बहु-रूपम्—अनेक रूपों में प्रकट होकर; इज्यैः—पूज्य गुरुओं की सहायता से; माया-मयम्—भगवान् की शक्ति से उत्पन्न; वेद—जानता है; सः—ऐसा व्यक्ति; वेद—जानता है; वेदम्—वैदिक वाङ्मय के असली अर्थ को।

इस संसार रूपी वृक्ष के दो बीज, सैकड़ों जड़ें, तीन निचले तने तथा पाँच ऊपरी तने हैं। यह पाँच प्रकार के रस उत्पन्न करता है। इसमें ग्यारह शाखाएँ हैं और दो पक्षियों ने एक घोंसला बना रखा है। यह वृक्ष तीन प्रकार की छालों से ढका है। यह दो फल उत्पन्न करता है और सूर्य तक

फैला हुआ है। जो लोग कामुक हैं और गृहस्थ-जीवन में लगे हैं, वे वृक्ष के एक फल का भोग करते हैं और दूसरे फल का भोग संन्यास आश्रम के हंस सदृश व्यक्ति करते हैं। जो व्यक्ति प्रामाणिक गुरु की सहायता से इस वृक्ष का एक परब्रह्म की शक्ति की अभिव्यक्ति के रूप में अनेक रूपों में प्रकट हुआ समझ लेता है, वही वैदिक वाङ्मय के असली अर्थ को जानता है।

तात्पर्य : इस वृक्ष के दो बीज—पापमय तथा पुण्य कर्म हैं और सैकड़ों जड़ें जीवों की असंख्य भौतिक इच्छाएँ हैं, जो उन्हें भवसागर में जकड़े रखती हैं। तीन निचले तने तीन गुणों को बताते हैं और पाँच ऊपरी तने पाँच स्थूल तत्त्वों को बताते हैं। यह वृक्ष पाँच रस उत्पन्न करता है—ये हैं ध्वनि, रूप, स्पर्श, स्वाद तथा सुगंध। इसमें ग्यारह शाखाएँ हैं—पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन। दो पक्षियों ने, अर्थात् आत्मा तथा परमात्मा ने, इस वृक्ष में अपना घोंसला बना रखा है। तीन प्रकार की छालें हैं वात, पित्त, तथा कफ, जो शरीर के अवयव हैं। इस वृक्ष के दो फल हैं, सुख तथा दुख।

जो लोग सुन्दर स्त्रियों, धन तथा माया के विलासी पक्षों का भोग करने का प्रयास करते हैं, उन्हें दुख रूपी फल प्राप्त होता है। यह जान लेना चाहिए कि स्वर्गलोक में भी चिन्ता तथा मृत्यु हैं। जिन लोगों ने भौतिक लक्ष्यों का परित्याग कर दिया है और आध्यात्मिक प्रकाश के मार्ग पर हैं, वे सुख रूपी फल भोगते हैं। जो व्यक्ति प्रामाणिक गुरु की सहायता लेता है, वह यह समझ सकता है कि यह विशाल वृक्ष अद्वितीय भगवान् की बहिरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति मात्र है। यदि कोई व्यक्ति भगवान् को समस्त वस्तुओं के कारण रूप में देख सकता है, तो उसका ज्ञान पूर्ण होता है। अन्यथा यदि वह वैदिक अनुष्ठानों में या भगवान् के ज्ञान के बिना वैदिक चिन्तन में फँस जाता है, तो उसे जीवन-सिद्धि प्राप्त नहीं हो पाती।

एवं गुरूपासनयैकभक्त्या
विद्याकुठारेण शितेन धीरः ।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः
सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार (मेरे द्वारा प्रदत्त ज्ञान से); गुरु—गुरु की; उपासनया—उपासना या पूजा से; एक—शुद्ध; भक्त्या—भक्ति से; विद्या—ज्ञान की; कुठारेण—कुल्हाड़ी से; शितेन—तेज; धीरः—ज्ञान के द्वारा स्थिर रहने वाला; विवृश्च्य—काट कर; जीव—जीव का; आशयम्—सूक्ष्म शरीर (तीन गुणों से उत्पन्न उपाधियों से पूर्ण); अप्रमत्तः—आध्यात्मिक जीवन में अत्यन्त

सतर्क; सम्पद्य—प्राप्त करके; च—तथा; आत्मानम्—परमात्मा को; अथ—तब; त्यज—त्याग दो; अस्त्रम्—सिद्धि प्राप्त करने के साधन को।

तुम्हें चाहिए कि तुम धीर बुद्धि से गुरु की सावधानी पूर्वक पूजा द्वारा शुद्ध भक्ति उत्पन्न करो तथा दिव्य ज्ञान रूपी तेज कुल्हाड़ी से आत्मा के सूक्ष्म भौतिक आवरण को काट दो। भगवान् का साक्षात्कार होने पर तुम उस तार्किक बुद्धि रूपी कुल्हाड़े को त्याग दो।

तात्पर्य : चूँकि उद्धव को भगवान् कृष्ण का साक्षात् सान्निध्य प्राप्त था, अतएव उन्हें बद्धजीव जैसी मनोवृत्ति बनाये रखने की आवश्यकता नहीं थीं। इस तरह जैसाकि यहाँ पर *सम्पद्य चात्मानम्* शब्दों द्वारा बताया गया है, उद्धव स्वयं वैकुण्ठ में भगवान् के चरणकमलों की सेवा कर सके। उद्धव ने इस विस्तृत वार्ता के प्रारम्भ में ही इस सुअवसर के लिए प्रार्थना की थी। जैसाकि *गुरुपासनयैकभक्त्या* द्वारा बतलाया गया है, प्रामाणिक गुरु की पूजा करके शुद्ध भक्ति प्राप्त की जा सकती है। यहाँ यह नहीं कहा गया है कि कोई शुद्ध भक्ति या अपने गुरु का परित्याग कर दे। प्रत्युत *विद्याकुठारेण* द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य को इस अध्याय में कृष्ण द्वारा वर्णित भौतिक जगत का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। उसे यह समझ लेना चाहिए कि भौतिक सृष्टि का हर पक्ष भगवान् की मायाशक्ति का विस्तार है। ऐसा ज्ञान जगत रूपी वृक्ष की जड़ों को काटने के लिए तेज कुल्हाड़ी का काम करता है। इस तरह तीन गुणों से उत्पन्न कठोर सूक्ष्म शरीर भी खण्ड खण्ड किया जा सकता है और मनुष्य *अप्रमत्त,* अर्थात् कृष्णभावनामृत में विवेकी और सतर्क बन जाता है।

इस अध्याय में कृष्ण ने स्पष्ट बतलाया है कि वृन्दावन की गोपिकाएँ जीवन के प्रति वैश्लेषिक दृष्टिकोण में रुचि नहीं रखती थीं। वे तो केवल कृष्ण से प्रेम करती थीं और उनके अतिरिक्त कुछ भी नहीं सोच सकती थीं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने यह शिक्षा दी है कि उनके सारे भक्त उच्च कोटि का निष्काम भगवत्प्रेम उत्पन्न करने के लिए व्रज-बालाओं के पदचिह्नों का अनुसरण करें। भगवान् कृष्ण ने भौतिक जगत के स्वभाव की विस्तृत व्याख्या इसीलिए की है, जिससे इस जगत का भोग करने का प्रयास कर रहे बद्धजीव इस ज्ञान रूपी कुल्हाड़े से संसार रूपी वृक्ष को काट सकें। *सम्पद्य चात्मानम्* से यह सूचित होता है कि ऐसे ज्ञान से युक्त व्यक्ति को फिर शरीर नहीं मिलता, क्योंकि उसने पहले से भगवान् को प्राप्त कर रखा है। ऐसे व्यक्ति को इस माया-सृष्टि के अपने ज्ञान को लगातार परिष्कृत करते हुए माया के राज्य में इधर-उधर विचरण नहीं करना चाहिए। जिसने कृष्ण को सर्वस्व मान लिया

है, वह भगवान् की सेवा का नित्य आनन्द भोग सकता है। इस जगत में रहते हुए भी, उसका इससे कोई नाता नहीं रहता और इसका निषेध करने की वैश्लेषिक विधियों को वह त्याग देता है। इसीलिए उद्धव से भगवान् कहते हैं, *त्यजास्त्रम्* ''तुम वैश्लेषिक ज्ञान रूपी कुल्हाड़ी को त्याग दो, जिससे तुमने अपने स्वामित्व भाव तथा भौतिक जगत में निवास को काट डाला है।''

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के अन्तर्गत ''वैराग्य तथा ज्ञान से आगे'' नामक बारहवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा विरचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

श्री श्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः
कृष्णद्वैपायन व्यास
कृत
श्रीमद्भागवतम्
भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥३७॥

श्रीमद्भागवतम्
(भगवत्–सन्देश)
एकादश स्कन्ध
''सामान्य इतिहास''
(भाग एक—अध्याय १—१२)
मूल संस्कृत पाठ, शब्दार्थ,
अनुवाद तथा विस्तृत तात्पर्य सहित
कृष्णकृपामूर्ति
श्री श्रीमद् अभयचरणारविन्द भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद
संस्थापकाचार्यः अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ
के शिष्यों द्वारा
भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

विषय–सूची

श्रीमद्भागवतम्
विषय–सूची

प्राक्कथन
आमुख
प्रस्तावना

अध्याय एक
यदुवंश को शाप
अध्याय का सारांश
कृष्ण द्वारा पृथ्वी का भार उतारने का प्रबन्ध
यदुओं के विनाश के कारण
भगवान् के वंशजों का कभी-कभी गर्वित हो जाना
कृष्ण : समस्त सौन्दर्य के आगार
राजा परीक्षित द्वारा पूछा जाना : यदुओं को किस तरह शाप दिया गया
कृष्ण द्वारा मुनियों को पिण्डारक भेजना
तरुण यदुओं का उद्धत आचरण
लौह-मूसल का शाप
कृष्ण के कार्यकलाप संसारी बुद्धि से परे

अध्याय दो
नौ योगेन्द्रों से महाराज निमि की भेंट
अध्याय का सारांश
नारद मुनि का वसुदेव के घर आना
शुद्ध भक्तगण पतितों पर दयालु
कृष्ण का ज्ञान सारे भय को नष्ट करने वाला
नारद द्वारा वसुदेव के प्रश्नों का उत्तर
श्रीमद्भागवत:पूर्ण दिव्य वाङ्मय
ऋषभदेव के नौ पुत्र
राजा निमि द्वारा नौ योगेन्द्रों की पूजा
मानव-जीवन का महान् अवसर
कृष्ण का अपने शुद्ध भक्तों के वशीभूत हो जाना
भागवत धर्म:भगवान् की भक्ति
कृष्ण के आनन्द हेतु कर्म करना
मानसिक चिन्तन के द्वन्द्व से परे
शुद्ध भगवत्प्रेम के लक्षण
भक्त द्वारा हर वस्तु को कृष्ण से सम्बद्ध देखना
परम आध्यात्मिक शान्ति
महाभागवत के गुण

मध्यम भक्त के गुण
भौतिकतावादी भक्त के लक्षण
शुद्ध भक्त का अतिरिक्त वर्णन
शुद्ध भक्त भौतिक कष्ट से विमोहित नहीं होता
शुद्ध भक्त सकाम कर्म से मुक्त
कृष्ण के चरणकमलों की शरण
मनुष्य के हृदय को निर्मल होना चाहिए

अध्याय तीन
माया से मुक्ति
अध्याय का सारांश
राजा निमि द्वारा मायाशक्ति के विषय में जिज्ञासा
जीवों के प्रकार
ब्रह्माण्ड का संहार
''तुम और क्या सुनना चाहते हो''
भौतिक जगत में स्थायी सुख नहीं
प्रामाणिक गुरु की खोज
गुरु शिष्य का जीवन है
शिष्य के गुण
श्रद्धा की परिभाषा
कृष्ण को सर्वस्व अर्पण
भक्तों द्वारा कृष्ण की महिमाओं की निरन्तर चर्चा
भगवान् का दिव्य पद
चिनगारियाँ अग्नि को प्रकाशित नहीं कर सकतीं
परमेश्वर की बहुविध शक्तियाँ
आत्मा का स्वभाव
कर्मयोग की विधि
बाल-स्वभाव के लोग ही सकाम कर्मों के प्रति अनुरक्त
भौतिक कर्म के बन्धन से मुक्ति
प्रामाणिक शिष्य के कर्तव्य
अर्चाविग्रह पूजन

अध्याय चार
राजा निमि से दुर्मिल द्वारा ईश्वर के अवतारों का कथन
अध्याय का सारांश
राजा निमि द्वारा कृष्ण के अवतारों के बारे में जिज्ञासा

ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव का प्राकट्य
नर-नारायण ऋषि पर कामदेव का आक्रमण
भगवान् द्वारा अनेक सुन्दरियों का प्राकट्य
कृष्ण के मुख्य अवतार

अध्याय पाँच

नारद द्वारा वसुदेव को दी गई शिक्षाओं का समापन

अध्याय का सारांश
ईश-पूजा न करने वालों का गन्तव्य
अल्पज्ञान अत्यन्त घातक
धूर्त भौतिकतावादी भक्तों को नहीं चाहते
कृष्ण परम आराध्य
सम्पत्ति का आध्यात्मिक प्रगति के लिए उपयोग
ईश्वर से द्वेष करने वालों द्वारा नास्तिकतावादी विज्ञान का प्रचार
सतयुग के लोग शान्त
समस्त राजाओं के राजा
श्री चैतन्य का अवतार
ध्यान की प्रामाणिक विधि
श्री चैतन्य का अतिरिक्त वर्णन
कलियुग सर्वश्रेष्ठ युग
भूत, वर्तमान तथा भविष्य
वृक्ष के मूल को सींचना
वसुदेव तथा देवकी द्वारा कृष्ण को पुत्र-रूप में स्वीकार करना
कृष्ण सामान्य बालक नहीं

अध्याय छह

यदुवंश का प्रभास गमन

अध्याय का सारांश
ब्रह्मा तथा देवताओं का द्वारका गमन
परम कारण अचिन्त्य
भगवान् अपने दासों पर कृपालु
जय-पराजय भगवान् के हाथ में
कृष्ण अपने भक्तों के प्रेम के वशीभूत
कृष्ण के विषय में श्रवण करना सभी समस्याओं का हल
भगवान् द्वारा यदुओं को प्रभास जाने की सलाह
उद्धव का कृष्ण के पास पहुँचना

शुद्ध भक्त कृष्ण को कभी त्याग नहीं सकता

अध्याय सात

भगवान् कृष्ण द्वारा उद्धव को उपदेश

अध्याय का सारांश
कृष्ण का आध्यात्मिक धाम
कलियुग के कटु-कलह में फँसी पतितात्माएँ
मायावी मानसिक स्तर
स्वरूपसिद्ध व्यक्ति अबोध बालक के समान
भौतिक शरीर के साथ झूठी पहचान
मानव रूप में आत्मा
राजा यदु तथा अवधूत
काम तथा लोभ की महान् दावाग्नि
पृथ्वी सहिष्णुता की प्रतीक
आत्मा किस तरह से वायु के समान
भौतिक शरीरों का प्रकट और लोप होना
मूर्ख कबूतर की कथा
मृत्यु सारी वस्तुओं का अन्त कर देगी

अध्याय आठ

पिंगला की कथा

अध्याय का सारांश
अजगर से शिक्षा
साधु को स्थान-स्थान भ्रमण करना चाहिए
गाढ़ी कमाई की चोरी
जीभ को वश में करने की महत्ता
पिंगला अपनी भौतिक स्थिति से ऊब गई
भौतिक शरीर घर के तुल्य
काल रूपी विकराल सर्प

अध्याय नौ

पूर्ण वैराग्य

अध्याय का सारांश
भक्त की तुष्टि पूर्ण ज्ञान पर आधारित
योगाभ्यास का एक ही लक्ष्य

भौतिक चिन्ता की तरंगों से छुटकारा
भौतिक शरीर का दुखद अन्त
चरम जीवन-सिद्धि के लिए प्रयत्न

अध्याय दस
सकाम कर्म की प्रकृति
अध्याय का सारांश
पापकर्मों से बचना चाहिए
सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर
दक्ष शिष्य तथा दक्ष गुरु
लोगों को मृत्यु से उबारने में विज्ञानी असफल
काल रूप भगवान् से बड़े बड़े देवता भी भयभीत

अध्याय ग्यारह
बद्ध तथा मुक्त जीवों के लक्षण
अध्याय का सारांश
आत्मा न तो बद्ध है, न ही मुक्त
वृक्ष पर दो पक्षियों का रूपक
प्रबुद्ध व्यक्ति
कृष्ण की महिमा से रहित वैदिक वाङ्मय व्यर्थ
कृष्ण की लीलाओं को सुनाने से ब्रह्माण्ड की शुद्धि
भगवान् का आध्यात्मिक शरीर
सन्त-पुरुष के गुण
भक्त के कार्यकलाप
भगवान् को कैसे पूजें
केवल भक्ति: भगवान् की शुद्ध भक्ति

अध्याय बारह
वैराग्य तथा ज्ञान से आगे
अध्याय का सारांश
आत्म-साक्षात्कार के लिए भक्तों की संगति पर्याप्त
वृन्दावनवासी कृष्ण के अतिरिक्त कुछ नहीं जानते
गोपियाँ:उनके द्वारा कृष्ण का प्रेमयुक्त स्मरण
उद्धव का मन संशयग्रस्त
वृद्धावस्था, मृत्यु तथा अन्य आपदाओं के कटु फल

परिशिष्ट

लेखक परिचय

Chapter तेरह

हंसावतार द्वारा ब्रह्मा-पुत्रों के प्रश्नों के उत्तर

इस अध्याय में भगवान् कृष्ण उद्धव से बतलाते हैं कि किस तरह मनुष्य इन्द्रियतृप्ति से अभिभूत होकर प्रकृति के तीन गुणों द्वारा बँध जाते हैं और इन गुणों का परित्याग कैसे किया जाता है। तत्पश्चात् भगवान् यह बतलाते हैं कि वे किस प्रकार ब्रह्मा तथा सनकादि मुनियों के समक्ष हंस के रूप में प्रकट हुए तथा उन्हें अनेक गुह्य बातें बतलाईं।

सतो, रजो तथा तमो—ये तीन गुण भौतिक बुद्धि से सम्बद्ध हैं, आत्मा से नहीं। मनुष्य को चाहिए कि वह सतोगुण द्वारा रजो तथा तमोगुणों को जीते और तब शुद्ध सतोगुण में कर्म करते हुए सतोगुण से भी परे चला जाय। सतोगुणी वस्तुओं की संगति करने से सतोगुण में पूरी तरह स्थित हुआ जा सकता है। तीनों गुण विभिन्न प्रकार के शास्त्र, जल, स्थान, समय, कर्म से लाभान्वित होने वालों, कर्म की प्रकृति, जन्म, ध्यान, मंत्र, संस्कार सम्बन्धी अनुष्ठानों इत्यादि द्वारा अपने प्रभाव को बढ़ाते हैं।

विवेक के अभाव में मनुष्य अपनी पहचान शरीर से करता है; फलस्वरूप कष्ट उत्पन्न करने वाला रजोगुण, सामान्यतया सात्विक स्थिति में रहने वाले मन पर छा जाता है। ज्यों ज्यों मन निर्णय तथा सन्देह के कार्य करता है, त्यों त्यों यह इन्द्रियतृप्ति की असह्य लालसा उत्पन्न करता है। रजोगुण की उत्कंठाओं से मोहित अभागे व्यक्ति अपनी इन्द्रियों के दास बन जाते हैं। यद्यपि वे जानते रहते हैं कि उन्हें कर्म का अन्तिम फल कष्ट के रूप में मिलेगा, किन्तु वे ऐसा सकाम कर्म किये बिना रह नहीं पाते। दूसरी ओर विवेकशील व्यक्ति अपने को इन्द्रिय-विषयों से विरक्त रखता है और उपयुक्त वैराग्य द्वारा, शुद्ध भक्ति की शरण में जाता है।

ब्रह्माजी का अपना कोई भौतिक कारण नहीं होता। वे सारे जीवों की सृष्टि के कारण हैं और समस्त देवताओं में सर्वप्रधान हैं। तो भी उन्हें जो कार्य करने पड़ते हैं उसके कारण उनका मन विचलित रहता है; इसलिए, जब उनके मन से उत्पन्न सनक इत्यादि पुत्रों ने, इन्द्रियतृप्ति की इच्छाएँ दूर करने के साधनों के विषय में पूछा, तो वे उनका उत्तर नहीं दे पाये। इस विषय में अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने के उद्देश्य से, जब वे भगवान् की शरण में गये, तो वे हंस अवतार के रूप में उनके समक्ष प्रकट हुए।

भगवान् हंस ने आत्मा, चेतना की विभन्नि दशाओं (जागृत, सुप्त, सुषुप्त) तथा संसार पर विजय पाने के साधनों के बारे में उपदेश दिया। भगवान् के इन वचनों को सुन कर सनकादि ऋषियों के सारे संशय दूर हो गये और उन्होंने गहन भगवत्-प्रेम में शुद्ध भक्ति से उनकी पूजा की।

श्रीभगवानुवाच
सत्त्वं रजस्तम इति गुणा बुद्धेर्न चात्मनः ।
सत्त्वेनान्यतमौ हन्यात्सत्त्वं सत्त्वेन चैव हि ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; सत्त्वम्—सतो; रजः—रजो; तमः—तमो; इति—इस प्रकार ज्ञात; गुणाः—प्रकृति के गुण; बुद्धेः—भौतिक बुद्धि से सम्बद्ध; न—नहीं; च—भी; आत्मनः—आत्मा को; सत्त्वेन—सतोगुण से; अन्यतमौ—अन्य दो (रजो तथा तमो); हन्यात्—नष्ट किये जा सकते हैं; सत्त्वम्—सतोगुण को; सत्त्वेन—शुद्ध सतोगुण से; च—भी (नष्ट किया जा सकता है); एव—निश्चय ही; हि—निस्सन्देह।

भगवान् ने कहा : भौतिक प्रकृति के तीन गुण, जिनके नाम सतो, रजो तथा तमोगुण हैं, भौतिक बुद्धि से सम्बद्ध होते हैं, आत्मा से नहीं। सतोगुण के विकास से मनुष्य रजो तथा तमोगुणों को जीत सकता है एवं दिव्य सत्त्व के अनुशीलन से, वह अपने को भौतिक सत्त्व से भी मुक्त कर सकता है।

तात्पर्य : भौतिक जगत में सत्त्व कभी शुद्ध रूप में नहीं रहता, अत: यह सामान्य ज्ञान है कि भौतिक स्तर पर कोई भी निजी प्रेरणा के बिना कार्य नहीं करता। भौतिक जगत में सत्त्व सदैव कुछ न कुछ रजो तथा तमोगुण से मिश्रित रहता है, जबकि *विशुद्ध सत्त्व* सिद्धि के मुक्त पद को बताता है। भौतिक रूप से, मनुष्य ईमानदार तथा दयालु होने पर गर्वित रहता है, किन्तु पूर्णरूपेण कृष्णभावनाभावित हुए बिना, मनुष्य ऐसा सत्य बोलता है, जो अन्तत: महत्त्वपूर्ण नहीं होता और वह ऐसी दया दिखलाता है, जो अन्तत: व्यर्थ होती है। चूँकि कालक्रम से सारी स्थितियाँ तथा व्यक्ति भौतिक मंच से हटते जाते हैं, अतएव हमारी तथाकथित दया तथा सत्य ऐसी स्थितियों पर लागू होते हैं, जो अधिक काल तक विद्यमान नहीं रहेंगे। वास्तविक सत्य शाश्वत है और असली दया लोगों को नित्य सत्य पर स्थित करता है। फिर भी सामान्य व्यक्ति के लिए, भौतिक सत्त्व का अनुशीलन कृष्णभावनामृत के मार्ग में प्रारम्भिक अवस्था ही हो सकता है। उदाहरणार्थ, *श्रीमद्भागवत* के दशम स्कन्ध में कहा गया है कि जो व्यक्ति मांस खाने का आदी है, वह भगवान् कृष्ण की लीलाओं को नहीं समझ सकता। किन्तु सतोगुण के अनुशीलन से, मनुष्य शाकाहारी बन सकता है और कृष्णभावनामृत

की दिव्य विधि को समझ सकता है। चूँकि *भगवद्गीता* में यह स्पष्ट रूप में कहा गया है कि भौतिक गुण निरन्तर चक्कर लगाते हैं, अतएव सतोगुण के उच्च पद का लाभ दिव्य पद पर पहुँचने के लिए उठाना चाहिए। अन्यथा, कालचक्र के घूमने पर वह भौतिक अज्ञान के अंधकार में पुन: चला जायेगा।

सत्त्वाद्धर्मो भवेद्वृद्धात्पुंसो मद्भक्तिलक्षणः ।
सात्त्विकोपासया सत्त्वं ततो धर्मः प्रवर्तते ॥ २॥

शब्दार्थ

सत्त्वात्—सतोगुण से; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त; भवेत्—उत्पन्न होते हैं; वृद्धात्—जो प्रबल बनते हैं; पुंसः—पुरुष का; मत्-भक्ति—मेरी भक्ति से; लक्षणः—लक्षणों से युक्त; सात्त्विक—सतोगुणी वस्तुओं के; उपासया—अनुशीलन से; सत्त्वम्—सतोगुण; ततः—उस गुण से; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त; प्रवर्तते—उत्पन्न होता है।

जब जीव प्रबल रूप से सतोगुण में स्थित हो जाता है, तो मेरी भक्ति के लक्षणों से युक्त धार्मिक सिद्धान्त प्रधान बन जाते हैं। जो वस्तुएँ पहले से सतोगुण में स्थित हैं, उनके अनुशीलन से सतोगुण को प्रबल बनाया जा सकता है और इस तरह धार्मिक सिद्धान्तों का उदय होता है।

तात्पर्य : चूँकि प्रकृति के तीनों गुण, श्रेष्ठता के लिए, लगातार झगड़ते रहते हैं, तो फिर यह कैसे सम्भव है कि सतोगुण रजोगुण तथा तमोगुण को दबा दें? भगवान् कृष्ण यहाँ पर बतलाते हैं कि किस तरह कोई व्यक्ति सतोगुण में स्थिर बन सकता है, जिससे स्वत: धार्मिक सिद्धान्तों का उदय होता है। *भगवद्गीता* के चौदहवें अध्याय में, भगवान् कृष्ण ने सतो, रजो तथा तमोगुणी वस्तुओं का विस्तार से वर्णन किया है। इस प्रकार शुद्ध सतोगुण में भोजन, मनोभाव, कार्य, मनोरंजन आदि का चुनाव करने से, मनुष्य उसी गुण में स्थित रहता जाता है। *सत्त्वगुण* की उपयोगिता यह है कि इससे धार्मिक सिद्धान्तों का जन्म होता है, जिनका लक्ष्य तथा जिनका लक्षण कृष्ण-भक्ति है। ऐसी भगवद्भक्ति के बिना, सतोगुण व्यर्थ तथा माया का दूसरा पहलू मात्र माना जाता है। *वृद्धात्* शब्द यह स्पष्ट संकेत करता है कि मनुष्य को *विशुद्ध सत्त्व* के पद को प्राप्त करना चाहिए। *वृद्धात्* शब्द वृद्धि का सूचक है और वृद्धि को तब तक नहीं रोकना चाहिए जब तक प्रौढ़ता न आ जाय। सत्त्व की पूर्ण प्रौढ़ता *विशुद्ध सत्त्व* कहलाती है, जिसमें अन्य किसी गुण का लेशमात्र भी नहीं रहता। शुद्ध सत्त्व में सारा ज्ञान स्वत: प्रकट होता है और मनुष्य सरलता से कृष्ण के साथ अपने शाश्वत प्रेम-सम्बन्ध को समझ सकता है। *धर्म* का यही असली अर्थ और अभिप्राय है।

इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य इंगित करते हैं कि सतोगुण की वृद्धि से धर्म पुष्ट होता है और धर्म

के पुष्ट होने से सतोगुण प्रबल बनता है। इस तरह, मनुष्य आध्यात्मिक सुख में ऊँचे उठता जाता है।

धर्मो रजस्तमो हन्यात्सत्त्ववृद्धिरनुत्तमः ।
आशु नश्यति तन्मूलो ह्यधर्म उभये हते ॥ ३॥

शब्दार्थ

धर्मः—भक्ति पर आधारित धर्म; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; हन्यात्—नष्ट करते हैं; सत्त्व—सतोगुण की; वृद्धिः—वृद्धि से; अनुत्तमः—सबसे उत्तम; आशु—शीघ्र; नश्यति—नष्ट हो जाता है; तत्—रजो तथातमोगुण का; मूलः—मूल, जड़; हि—निश्चय ही; अधर्मः—अधर्म; उभये हते—दोनों के नष्ट हो जाने पर।

सतोगुण से प्रबलित धर्म, रजो तथा तमोगुण के प्रभाव को नष्ट कर देता है। जब रजो तथा तमोगुण परास्त हो जाते हैं, तो उनका मूल कारण, जो कि अधर्म है, तुरन्त ही नष्ट हो जाता है।

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च ।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः ॥ ४॥

शब्दार्थ

आगमः—शास्त्र; अपः—जल; प्रजाः—जनता या अपने बच्चों की संगति; देशः—स्थान; कालः—समय; कर्म—कर्म; च—भी; जन्म—जन्म; च—भी; ध्यानम्—ध्यान; मन्त्रः—मंत्रोच्चारण; अथ—तथा; संस्कारः—शुद्धि के अनुष्ठान; दश—दस; एते—ये; गुण—गुण; हेतवः—कारण।

शास्त्रों के गुण, जल, बच्चों या जनता से संगति, स्थान विशेष, काल, कर्म, जन्म, ध्यान, मंत्रोच्चार तथा संस्कार के अनुसार, प्रकृति के गुण भिन्न भिन्न प्रकार से प्रधानता प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य : ऊपर जो दस वस्तुएँ गिनाई गई हैं, उनमें उत्तम तथा अधम गुण हैं, अतएव उनकी पहचान सत्त्व, रज अथवा तम के रूप में की गई है। सात्विक शास्त्र, शुद्ध जल, सात्विक मैत्री इत्यादि का चुनाव करके, सतोगुण में वृद्धि की जा सकती है। मनुष्य को चाहिए कि इन दस वस्तुओं में से किसी भी ऐसी वस्तु से बचे जो प्रकृति के किसी निम्न गुण द्वारा दूषित होने वाली हो।

तत्तत्सात्त्विकमेवैषां यद्यद्वृद्धाः प्रचक्षते ।
निन्दन्ति तामसं तत्तद्राजसं तदुपेक्षितम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

तत् तत्—वे वे वस्तुएँ; सात्त्विकम्—सतोगुण में; एव—निस्सन्देह; एषाम्—इन दसों में से; यत् यत्—जो जो; वृद्धाः—प्राचीन ऋषि यथा व्यासदेव जो वैदिक ज्ञान में पटु हैं; प्रचक्षते—प्रशंसा करते हैं; निन्दन्ति—निन्दा करते हैं; तामसम्—तमोगुणी; तत् तत्—वे वे वस्तुएँ; राजसम्—रजोगुण में; तत्—मुनियों द्वारा; उपेक्षितम्—न तो प्रशंसित, न आलोचित, सर्वथा त्यक्त।

अभी मैंने जिन दस वस्तुओं का उल्लेख किया है, उनमें से जो सात्विक वस्तुएँ हैं उनकी प्रशंसा तथा संस्तुति, जो तामसिक हैं उनकी आलोचना तथा वहिष्कार एवं जो राजसिक हैं उनके

प्रति उपेक्षा का भाव, उन मुनियों द्वारा व्यक्त किया गया है, जो वैदिक ज्ञान में पटु हैं।

सात्त्विकान्येव सेवेत पुमान्सत्त्वविवृद्धये ।
ततो धर्मस्ततो ज्ञानं यावत्स्मृतिरपोहनम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सात्त्विकानि—सतोगुणी वस्तुएँ; एव—निस्सन्देह; सेवेत—अनुशीलन करे; पुमान्—पुरुष; सत्त्व—सतोगुण; विवृद्धये—बढ़ाने के लिए; ततः—उस (सतोगुण में वृद्धि) से; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्तों में स्थिर; ततः—उस (धर्म) से; ज्ञानम्—ज्ञान प्रकट होता है; यावत्—जब तक; स्मृतिः—अपने नित्य स्वरूप का स्मरण करते हुए, आत्म-साक्षात्कार; अपोहनम्—दूर करना (शरीर तथा मन से मोहमयी पहचान)।

जब तक मनुष्य आत्मा विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान को पुनरुज्जीवित नहीं कर लेता और प्रकृति के तीन गुणों से उत्पन्न भौतिक शरीर तथा मन से मोहमयी पहचान को हटा नहीं देता, तब तक उसे सतोगुणी वस्तुओं का अनुशीलन करते रहना चाहिए। सतोगुण के बढ़ाने से, वह स्वतः धार्मिक सिद्धान्तों को समझ सकता है और उनका अभ्यास कर सकता है। ऐसे अभ्यास से दिव्य ज्ञान जागृत होता है।

तात्पर्य : जो व्यक्ति सतोगुण का अनुशीलन करना चाहता है, उसे निम्नलिखित बातों पर विचार करना चाहिए। उसे ऐसे शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए जो मनमाने चिंतन तथा इन्द्रियतृप्ति से विरक्ति की शिक्षा देते हैं, न कि भौतिक अज्ञान बढ़ाने वाले अनुष्ठानों तथा मंत्रों की शिक्षा देने वाले शास्त्रों का। ऐसे भौतिकतावादी शास्त्र भगवान् पर ध्यान न देने के कारण मूलतः नास्तिक होते हैं। उसे अपनी प्यास बुझाने तथा शरीर को स्वच्छ रखने के लिए शुद्ध जल ग्रहण करना चाहिए। भक्त को सुगंधित जल, इत्र, शराब इत्यादि का प्रयोग करने की आवश्यकतानहीं है क्योंकि ये सभी जल के प्रदूषित रूप हैं। उसे ऐसे व्यक्तियों की संगति करनी चाहिए जो संसार से विरक्ति का अनुशीलन करते हैं न कि उन व्यक्तियों से जिनके चरित्र पापमय हों या जो भौतिकतावादी आसक्ति में जकड़े हों। उसे एकान्त स्थान में रहना चाहिए जहाँ वैष्णवों के बीच भक्ति का अभ्यास और चर्चा की जाती हो। उसे व्यस्त राजमार्गों, दूकानों, खेल के स्थानों के प्रति तत्क्षण आकृष्ट नहीं होना चाहिए। जहाँ तक समय का सम्बन्ध है, उसे प्रातः चार बजे उठना चाहिए और शुद्ध ब्राह्म मुहूर्त का उपयोग कृष्णभावनामृत में अग्रसर होने में करना चाहिए। इसी तरह उसे अर्द्धरात्रि जैसे समय के पापपूर्ण प्रभाव से बचना चाहिए, जिसमें भूत-प्रेत तथा असुर सक्रिय रहते हैं। जहाँ तक कर्म का सम्बन्ध है, उसे अपने नियत कर्म करने

चाहिए, आध्यात्मिक जीव के विधि-विधानों का पालन करना चाहिए औरअपनी सारी शक्ति पुण्यकर्मों में लगानी चाहिए। समय को व्यर्थ के या भौतिक कार्यों में नहीं बिताना चाहिए, जिनकी आधुनिक समाज में भरमार है। उसे प्रामाणिक गुरु से दीक्षारूपी दूसरा जन्म लेकर तथा हरे कृष्ण मंत्र का उच्चारण सीख कर सतोगुणी जीवन बनाना चाहिए।उसे किसी राजसी अथवा तामसी अवैध योगिक या धार्मिक सम्प्रदाय में दीक्षा नहीं लेनी चाहिए। उसे भगवान् का ध्यान समस्त यज्ञों के भोक्ता के रूप में करना चाहिए। इसी तरह, उसे महान् भक्तों तथा सन्त पुरुषों के जीवनों का ध्यान करना चाहिए। उसे कामुक स्त्रियों तथा ईर्ष्यालु मनुष्यों का ध्यान नहीं करना चाहिए। जहाँ तक मंत्रों की बात है, उसे श्री चैतन्य महाप्रभु का उदाहरण सामने रख कर हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करना चाहिए। उसे अन्य गीत, काव्य या माया की प्रशंसा वाले मंत्रों का कीर्तन नहीं करना चाहिए। उसे अपनी आत्मा शुद्ध करने के लिए संस्कार सम्पन्न करने चाहिए, न कि अपने परिवार को भौतिक आशीर्वाद प्राप्त कराने के लिए।

जो व्यक्ति सतोगुण को बढ़ाता है, वह निश्चय ही धर्म में स्थिर हो जाता है और उसमें स्वतः ज्ञानोदय होता है। ज्ञान के बढ़ने पर मनुष्य शाश्वत आत्मा तथा परमात्मा, भगवान् कृष्ण, को समझने में समर्थ होता है। इस तरह तीन गुणों से उत्पन्न स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के कृत्रिम आरोपन से आत्मा मुक्त हो जाता है। आध्यात्मिक ज्ञान जीव को आच्छादित करने वाली भौतिक उपाधियों को भस्म कर देता है और तब मनुष्य का असली, शाश्वत जीवन प्रारम्भ होता है।

वेणुसङ्घर्षजो वह्निर्दग्ध्वा शाम्यति तद्वनम् ।
एवं गुणव्यत्ययजो देहः शाम्यति तत्क्रियः ॥७॥

शब्दार्थ

वेणु—बाँस की; सङ्घर्ष-जः—रगड़ से उत्पन्न; वह्निः—आग; दग्ध्वा—जलाकर; शाम्यति—शान्त हो जाती है; तत्—बाँस के; वनम्—जंगल को; एवम्—इस प्रकार; गुण—गुणों के; व्यत्यय-जः—अन्योन्य क्रिया से उत्पन्न; देहः—भौतिक शरीर; शाम्यति—शान्त की जाती है; तत्—वह अग्नि; क्रियः—वही कार्य करके।

बाँस के जंगल में कभी कभी वायु बाँस के तनों में रगड़ उत्पन्न करती है और ऐसी रगड़ से प्रज्जवलित अग्नि उत्पन्न हो जाती है, जो अपने जन्म के स्रोत, बाँस के जंगल, को ही भस्म कर देती है। इस प्रकार अग्नि अपने ही कर्म से स्वतः प्रशमित हो जाती है। इसी तरह प्रकृति के भौतिक गुणों में होड़ तथा पारस्परिक क्रिया होने से, स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होते हैं। यदि मनुष्य अपने मन तथा शरीर का उपयोग ज्ञान का अनुशीलन करने में करता है, तो ऐसा ज्ञान देह

को उत्पन्न करने वाले गुणों के प्रभाव को नष्ट कर देता है। इस तरह, अग्नि के ही समान, शरीर तथा मन अपने जन्म के स्रोत को विनष्ट करके अपने ही कर्मों से शान्त हो जाते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *गुणव्यत्यय-जः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *व्यत्यय* सूचक है वस्तुओं के सहज क्रम में परिवर्तन या उलट-फेर का। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने व्यत्यय की धारणा को संस्कृत के पर्यायवाची शब्द *वैषम्य* से वर्णित किया है, जो असमानता का सूचक है। अतः *गुण व्यत्ययजः* शब्द से यह समझा जाता है कि शरीर तीन भौतिक गुणों के अस्थायी सम्बन्धों से उत्पन्न होता है और ये गुण सर्वत्र परिवर्तनशील अनुपातों में विद्यमान रहते हैं। इन गुणों के बीच निरन्तर संघर्ष चलता है। कभी कभी अच्छा व्यक्ति काम से पीड़ित होता है और कभी कभी कामुक व्यक्ति सब कुछ त्याग कर विश्राम चाहता है। अज्ञानी व्यक्ति कभी कभी अपने दूषित जीवन से ऊब जाता है और कामुक व्यक्ति कभी कभी तमोगुणी आदतों में लीन रहता है। इस तरह गुणों में पारस्परिक संघर्ष के कारण, मनुष्य संसार-भर में अपने कर्म द्वारा एक के बाद दूसरा शरीर धारण करके घूमता रहता है। कहा गया है कि विविधता भोग की जननी है, अतएव गुणों की विविधता से यह आशा बँधती है कि बद्धजीव को बदली परिस्थितियों में दुख तथा निराशा से सुख तथा आशा का संचार हो सकता है। किन्तु यदि किसीको सुख मिल भी जाय तो तुरन्त ही वह गुणों के अनिवार्य प्रवाह के द्वारा विचलित कर दिया जायेगा।

श्रीउद्धव उवाच
विदन्ति मर्त्याः प्रायेण विषयान्पदमापदाम् ।
तथापि भुञ्जते कृष्ण तत्कथं श्वखराजवत् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—उद्धव ने कहा; विदन्ति—जानते हैं; मर्त्याः—मनुष्यगण; प्रायेण—सामान्यतया; विषयान्—इन्द्रियतृप्ति; पदम्—स्थिति; आपदाम्—अनेक विपत्तियों की; तथा अपि—फिर भी; भुञ्जते—भोगते हैं; कृष्ण—हे कृष्ण; तत्—ऐसी इन्द्रियतृप्ति; कथम्—कैसे सम्भव है; श्व—कुत्ते; खर—गधे; अज—तथा बकरे; वत्—सदृश।

श्री उद्धव ने कहा : हे कृष्ण, सामान्यतया मनुष्य यह जानते हैं कि भौतिक जीवन भविष्य में महान् दुख देता है, फिर भी वे भौतिक जीवन का भोग करना चाहते हैं। हे प्रभु, यह जानते हुए भी, वे किस तरह कुत्ते, गधे या बकरे जैसा आरचण करते हैं।

तात्पर्य : भौतिक जगत में भोग की मानक विधियाँ हैं—यौन, धन तथा मिथ्या प्रतिष्ठा। ये सब

बहुत ही कष्ट के बाद प्राप्त होती हैं और अन्त में समाप्त हो जाती हैं। भौतिक जीवन में व्यस्त व्यक्ति वर्तमान काल में कष्ट पाता है और उसे जन्म-मृत्यु के चक्र से उबरने की कोई सम्भावना नहीं दिखती। अत: मनुष्य जो इन वस्तुओं को देख चुके हैं और उन्हें जानते हैं, वे किस तरह जीवन का भोग कुत्तों, गधों तथा बकरों की तरह करते हैं? प्राय: कुत्ता कुतिया के पास सम्भोग की इच्छा से जाता है किन्तु हो सकता है कि कुतिया आकृष्ट न हो और वह दाँत दिखाकर उसे काटने दौ। तो भी वह किञ्चित संभोग के लिए पीछे लगा रहता है। इसी तरह, बहुधा, ऐसे स्थान से भोजन चुराने पर जहाँ वह जानता है कि उसे नहीं जाना चाहिए, कुत्ते की पिटाई हो सकती है या वह गोली से मारा जा सकता है। गधा गधी के प्रति अत्यधिक आकृष्ट रहता है किन्तु प्राय: गधी उसे दुलत्ती मारती है। इसी तरह, गधे का मालिक मुट्ठी-भर घास देकर, जो बेचारा गधा कहीं से भी प्राप्त कर सकता है, उस पर भारी बोझा लादता है। बकरा प्राय: वध करने के लिए पाला जाता है और वधशाला में लाये जाने पर भी वह बकरी के साथ यौन-सुख प्राप्त करने का निर्लज्जता से प्रयास करता है। इस तरह, मारे-पीटे, वध किये जाने के भय के बावजूद पशु अपनी मूर्खतापूर्ण इन्द्रियतृप्ति में लगे रहते हैं। भला कोई शिक्षित व्यक्ति इस तरह का गर्हित जीवन बिताना चाहेगा, जिसमें पशुओं जैसा ही फल प्राप्त होना है? यदि सतोगुण के अनुशीलन से मनुष्य का जीवन सुख, प्रकाश तथा भावी फल से परिपूर्ण हो, तो कोई रजो तथा तमोगुणों का अनुशीलन क्यों करना चाहेगा? यही उद्धव का प्रश्न है।

श्रीभगवानुवाच

अहमित्यन्यथाबुद्धिः प्रमत्तस्य यथा हृदि ।
उत्सर्पति रजो घोरं ततो वैकारिकं मनः ॥ ९ ॥
रजोयुक्तस्य मनसः सङ्कल्पः सविकल्पकः ।
ततः कामो गुणध्यानाद्दुःसहः स्याद्धि दुर्मतेः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अहम्—शरीर तथा मन के साथ झूठी पहचान; इति—इस प्रकार; अन्यथा-बुद्धिः—मोहमय ज्ञान; प्रमत्तस्य—वास्तविक बुद्धि से रहित है, जो उसका; यथा—तदनुसार; हृदि—मन के भीतर; उत्सर्पति—उठती है; रजः—कामवासना; घोरम्—भयावह कष्ट देने वाला; ततः—तब; वैकारिकम्—(मूलतः) सतोगुण में; मनः—मन; रजः—रजोगुण में; युक्तस्य—लगा हुआ है, जो उसका; मनसः—मन का; सङ्कल्पः—संकल्प; स-विकल्पकः—बदलाव सहित; ततः—उससे; कामः—पूर्ण भौतिक इच्छा; गुण—गुणों में; ध्यानात्—ध्यान से; दुःसहः—असह्य; स्यात्—ऐसा ही हो; हि—निश्चय ही; दुर्मतेः—मूर्ख व्यक्ति का।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, बुद्धिरहित व्यक्ति सर्वप्रथम अपनी झूठी पहचान भौतिक शरीर

तथा मन के साथ करता है और जब किसी की चेतना में ऐसा मिथ्या ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तो महान् कष्ट का कारण, भौतिक काम (विषय-वासना), उस मन में व्याप्त हो जाता है, जो स्वभाव से सात्विक होता है। तब काम द्वारा दूषित मन भौतिक उन्नति के लिए तरह-तरह की योजनाएँ बनाने में एवं बदलने में लीन हो जाता है। इस प्रकार सदैव गुणों का चिन्तन करते हुए, मूर्ख व्यक्ति असह्य भौतिक इच्छाओं से पीड़ित होता रहता है।

तात्पर्य : जो लोग इन्द्रियतृप्ति भोगना चाहते हैं, वे वास्तव में बुद्धिमान नहीं हैं, यद्यपि वे अपने को सर्वाधिक बुद्धिमान मानते हैं। यद्यपि ऐसे मूर्ख लोग अनेक पुस्तकों, गीतों, समाचार-पत्रों, टेलीविजन कार्यक्रमों, नगर समितियों इत्यादि में उनकी आलोचना करते हैं, किन्तु वे क्षण-भर भी भौतिक जीवन से अपने को विलग नहीं कर पाते। जिस विधि से मनुष्य माया में असहाय होकर बँधा होता है, उसका स्पष्ट वर्णन यहाँ पर हुआ है।

भौतिकतावादी व्यक्ति सदैव यही सोचता रहता है—''ओह! कितना अच्छा मकान है। काश, मैं इसे खरीद सकता'' अथवा, ''कितनी सुन्दर है यह स्त्री! काश, मैं इसका स्पर्श कर सकता'' या ''यह कितना अच्छा पद है! काश, मैं इस पर आसीन हो सकता।'' *संकल्पः स-विकल्पः* यह सूचित करता है कि भौतिकतावादी व्यक्ति अपने भौतिक भोग को बढ़ाने के लिए सदैव नई नई योजनाएँ बनाता रहता है या पुरानी योजनाओं में संशोधन करता रहता है, यद्यपि अपने अच्छे क्षणों में वह भौतिक जीवन को दुख से भरा हुआ स्वीकार करता है। जैसाकि सांख्य दर्शन में बतलाया गया है, मन की उत्पत्ति सतोगुण से होती है और मन की सहज शान्त अवस्था कृष्ण का शुद्ध प्रेम है, जिसमें कोई मानसिक विक्षोभ, निराशा या द्विधा नहीं रहती। मन को कृत्रिम रूप से रजो या तमोगुण में नीचे ले जाया जाता है, जिसमें मनुष्य कभी भी तुष्ट नहीं रहता।

करोति कामवशगः कर्माण्यविजितेन्द्रियः ।
दुःखोदर्काणि सम्पश्यन्रजोवेगविमोहितः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

करोति—करता है; काम—भौतिक इच्छाओ के; वश—अधीन; गः—जाकर; कर्माणि—सकाम कर्म; अविजित—अवश्य; इन्द्रियः—जिसकी इन्द्रियाँ; दुःख—दुख; उदर्काणि—भावी फल के रूप में लाते हुए; सम्पश्यन्—स्पष्टदेखते हुए; रजः—रजोगुण का; वेग—वेग से; विमोहितः—मोहग्रस्त।

जो भौतिक इन्द्रियों को वश में नहीं करता, वह भौतिक इच्छाओं के वशीभूत हो जाता है

और इस तरह वह रजोगुण की प्रबल तरंगों से मोहग्रस्त हो जाता है। ऐसा व्यक्ति भौतिक कर्म करता रहता है, यद्यपि उसे स्पष्ट दिखता है कि इसका फल भावी दुख होगा।

रजस्तमोभ्यां यदपि विद्वान्विक्षिप्तधीः पुनः ।
अतन्द्रितो मनो युञ्जन्दोषदृष्टिर्न सज्जते ॥ १२॥

शब्दार्थ

रजः-तमोभ्याम्—रजो तथा तमोगुणों से; यत् अपि—यद्यपि; विद्वान्—विद्वान व्यक्ति; विक्षिप्त—मोहग्रस्त; धीः—बुद्धि; पुनः—फिर; अतन्द्रितः—सावधानी से; मनः—मन; युञ्जन्—लगाते हुए; दोष—भौतिकआसक्ति का कल्मष; दृष्टिः—स्पष्ट देखते हुए; न—नहीं; सज्जते—लिप्त नहीं होता।

यद्यपि विद्वान पुरुष की बुद्धि रजो तथा तमोगुणों से मोहग्रस्त हो सकती है, किन्तु उसे चाहिए कि वह सावधानी से अपने मन को पुनः अपने वश में करे। गुणों के कल्मष को स्पष्ट देखने से वह आसक्त नहीं होता।

अप्रमत्तोऽनुयुञ्जीत मनो मय्यर्पयञ्छनैः ।
अनिर्विण्णो यथाकालं जितश्वासो जितासनः ॥ १३॥

शब्दार्थ

अप्रमत्तः—सतर्क तथा गम्भीर; अनुयुञ्जीत—स्थिर करे; मनः—मन; मयि—मुझमें; अर्पयन्—लीन करते हुए; शनैः—धीरे धीरे; अनिर्विण्णः—आलसी या खिन्न हुए बिना; यथा-कालम्—दिन में कम से कम तीन बार (प्रातः, दोपहर तथा संध्या-समय); जित—जीत कर; श्वासः—श्वास लेने की विधि; जित—जीत कर; आसनः—बैठने की शैली।

मनुष्य को सावधान तथा गम्भीर होना चाहिए और उसे कभी भी आलसी या खिन्न नहीं होना चाहिए। श्वास तथा आसन की योग-क्रियाओं में दक्ष बन कर, मनुष्य को अपना मन प्रातः, दोपहर तथा संध्या-समय मुझ पर एकाग्र करके इस तरह मन को धीरे धीरे मुझमें पूरी तरह से लीन कर लेना चाहिए।

एतावान्योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः ।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धावेश्यते यथा ॥ १४॥

शब्दार्थ

एतावान्—वास्तव में यह; योगः—योग-पद्धति; आदिष्टः—आदेश दिया हुआ; मत्-शिष्यैः—मेरे भक्तों द्वारा; सनक-आदिभिः—सनक कुमार इत्यादि द्वारा; सर्वतः—सभी दिशाओं से; मनः—मन को; आकृष्य—खींच कर; मयि—मुझमें; अद्धा—सीधे; आवेश्यते—लीन किया जाता है; यथा—तदनुसार।

सनक कुमार इत्यादि मेरे भक्तों द्वारा पढ़ायी गयी वास्तविक योग-पद्धति इतनी ही हैं कि अन्य सारी वस्तुओं से मन को हटाकर मनुष्य को चाहिए कि उसे सीधे तथा उपयुक्त ढंग से मुझ

में लीन कर दे।

तात्पर्य : *यथा* शब्द सूचित करता है कि उद्धव की ही तरह हर व्यक्ति को सीधे कृष्ण या कृष्ण के प्रतिनिधि से सुनना चाहिए और अपने मन को भगवान् कृष्ण में एकाग्र करना चाहिए।

श्रीउद्धव उवाच

यदा त्वं सनकादिभ्यो येन रूपेण केशव ।
योगमादिष्टवानेतद्रूपमिच्छामि वेदितुम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; यदा—जब; त्वम्—तुम; सनक-आदिभ्यः—सनक आदि को.; येन—जिससे; रूपेण—रूप से; केशव—हे केशव; योगम्—परब्रह्म में मन को स्थिर करने की विधि; आदिष्टवान्—आपने आदेश दिया है; एतत्—वह; रूपम्—रूप; इच्छामि—चाहता हूँ; वेदितुम्—जानना।

श्री उद्धव ने कहा : हे केशव, आपने सनक तथा उनके भाइयों को किस समय तथा किस रूप में योग-विद्या के विषय में उपदेश दिया? अब मैं इन बातों के विषय में जानना चाहता हूँ।

श्रीभगवानुवाच

पुत्रा हिरण्यगर्भस्य मानसाः सनकादयः ।
पप्रच्छुः पितरं सूक्ष्मां योगस्यैकान्तिकीम्गतिम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; पुत्राः—पुत्र; हिरण्य-गर्भस्य—ब्रह्मा के; मानसाः—मन से उत्पन्न; सनक-आदयः—सनक ऋषि इत्यादि ने; पप्रच्छुः—पूछा; पितरम्—अपने पिता (ब्रह्मा) से; सूक्ष्माम्—सूक्ष्म अतएवसमझने में कठिन; योगस्य—योग-विद्या का; एकान्तिकीम्—परम; गतिम्—लक्ष्य।

भगवान् ने कहा, एक बार सनक आदि ब्रह्मा के मानस पुत्रों ने अपने पिता से योग के परम लक्ष्य जैसे अत्यन्त गूढ़ विषय के बारे में पूछा।

सनकादय ऊचुः

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो ।
कथमन्योन्यसन्त्यागो मुमुक्षोरतितितीर्षोः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

सनक-आदयः ऊचुः—सनक इत्यादि ऋषियों ने कहा; गुणेषु—इन्द्रिय-विषयों में; आविशते—सीधे प्रवेश करता है; चेतः—मन; गुणाः—इन्द्रिय-विषय; चेतसि—मन के भीतर; च—भी; प्रभो—हे प्रभु; कथम्—वह विधि क्या है; अन्योन्य—इन्द्रिय-विषयों तथा मन का पारस्परिक सम्बन्ध; सन्त्यागः—वैराग्य; मुमुक्षोः—मोक्ष की कामना करने वाले का; अतितितीर्षोः—इन्द्रियतृप्ति को पार कर जाने के इच्छुक का।

सनकादि ऋषियों ने कहा : हे प्रभु, लोगों के मन स्वभावतः भौतिक इन्द्रिय-विषयों के प्रति आकृष्ट रहते हैं और इसी तरह से इन्द्रिय-विषय इच्छा के रूप में मन में प्रवेश करते हैं। अतएव

मोक्ष की इच्छा करने वाला तथा इन्द्रियतृप्ति के कार्यों को लाँघने की इच्छा करने वाला व्यक्ति इन्द्रिय-विषयों तथा मन के बीच पाये जाने वाले इस पारस्परिक सम्बन्ध को कैसे नष्ट करे? कृपया हमें यह समझायें।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर वर्णन हुआ है, जब तक मनुष्य बद्ध रहता है, उसे इन्द्रिय-विषयों के रूप में प्रकृति के गुण निरन्तर विचलित करते रहते हैं और उनके उत्पीड़न से वह वास्तविक जीवन-सिद्धि से वंचित रह जाता है।

श्रीभगवानुवाच
एवं पृष्टो महादेवः स्वयम्भूर्भूतभावनः ।
ध्यायमानः प्रश्नबीजं नाभ्यपद्यत कर्मधीः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; एवम्—इस प्रकार; पृष्टः—पूछे जाने पर; महा-देवः—महान् देवता ब्रह्मा; स्वयम्-भूः—बिना जन्म के (गर्भोदकशायी विष्णु के शरीर से सीधे उत्पन्न); भूत—सारे बद्धजीवों के; भावनः—स्रष्टा (बद्ध जीवन के); ध्यायमानः—गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए; प्रश्न—प्रश्न के; बीजम्—सत्य; न अभ्यपद्यत—नहीं पहुँचा; कर्म-धीः—अपने ही कर्मों द्वारा मोहित बुद्धि।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, भगवान् के शरीर से उत्पन्न तथा भौतिक जगत के समस्त जीवों के स्रष्टा स्वयं ब्रह्माजी ने सर्वोच्च देवता होने के कारण सनक आदि अपने पुत्रों के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया। किन्तु ब्रह्मा की बुद्धि अपनी सृष्टि के कार्यों से प्रभावित थी, अतः वे इस प्रश्न का सही उत्तर नहीं ढूँढ सके।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कन्ध के निम्नलिखित तीन श्लोक उद्धृत किये हैं। नवें अध्याय के श्लोक ३२ में, भगवान् कृष्ण ने ब्रह्मा को भगवान् के असली रूप, गुण तथा कार्यों के विज्ञान का वर दिया। नवें अध्याय के श्लोक ३७ में, भगवान् ने ब्रह्मा को आदेशों का दृढ़ता से पालन किये जाने की आज्ञा दी और पुष्टि की कि इस तरह वे अपने ब्रह्माण्ड-सम्बन्धी निर्णय लेने में कभी मोहग्रस्त नहीं होंगे। छठे अध्याय के श्लोक ३४ में, ब्रह्मा ने अपने पुत्र नारद को आश्वस्त किया, "हे नारद! चूँकि मैंने अत्यन्त उत्साह के साथ भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण की है, अतएव मैंने जो भी कहा है, वह मिथ्या नहीं सिद्ध हुआ, न ही मेरे मन की गति वाधित होती है, न ही पदार्थ के प्रति क्षणिक अनुरक्ति से मेरी इन्द्रियाँ नीचे गिरती हैं।"

ग्यारहवें स्कन्ध के तेरहवें अध्याय के इस श्लोक में कृष्ण कहते हैं कि दुर्भाग्यवश ब्रह्मा अपने

सृजनात्मक कार्यों से विमोहित हो गये। इस तरह उन्होंने भगवान् के शक्तिप्रदत्त प्रतिनिधियों के लिए गम्भीर शिक्षा प्रस्तुत की है। भले ही कोई भगवान् की दिव्य भक्ति के उच्च पद को प्राप्त कर ले, किन्तु सदैव इसका खतरा बना रहता है कि मिथ्या अभिमान किसी भी क्षण भक्ति-मनोवृत्ति को दूषित न कर दे।

स मामचिन्तयद्देव: प्रश्नपारतितीर्षया ।
तस्याहं हंसरूपेण सकाशमगमं तदा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

स:—उस (ब्रह्मा) ने; माम्—मुझको; अचिन्तयत्—स्मरण किया; देव:—आदि देवता; प्रश्न—प्रश्न का; पार—अन्त, निष्कर्ष (उत्तर); तितीर्षया—प्राप्त करने या समझने की इच्छा से; तस्य—उस तक; अहम्—मैं; हंस-रूपेण—हंस के रूप में; सकाशम्—दृश्य; अगमम्—हो गया; तदा—उस समय।

ब्रह्माजी उस प्रश्न का उत्तर पाना चाह रहे थे, जो उन्हें उद्विग्न कर रहा था, अतएव उन्होंने अपना मन भगवान् में स्थिर कर दिया। उस समय, मैं अपने हंस रूप में ब्रह्मा को दृष्टिगोचर हुआ।

तात्पर्य : *हंस* का अर्थ है ‘‘हंस पक्षी’’ जिसमें दूध तथा पानी के मिश्रण में से पौष्टिक दूध को विलग करने की विशेष क्षमता होती है। इसी प्रकार, भौतिक गुणों में से ब्रह्मा की शुद्ध चेतना को विलग करने के लिए, भगवान् कृष्ण हंस के रूप में प्रकट हुए।

दृष्ट्वा माम्त उपव्रज्य कृत्व पादाभिवन्दनम् ।
ब्रह्माणमग्रत: कृत्वा पप्रच्छु: को भवानिति ॥ २० ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देख कर; माम्—मुझको; ते—वे (मुनिगण); उपव्रज्य—निकट आकर; कृत्वा—करके; पाद—चरणकमलों पर; अभिवन्दनम्—नमस्कार; ब्रह्माणम्—ब्रह्माजी को; अग्रत:—सामने; कृत्वा—करके; पप्रच्छु:—पूछा; क: भवान्—आप कौन हैं; इति—इस प्रकार।

इस प्रकार मुझे देख कर सारे मुनि, ब्रह्मा को आगे करके, आगे आये और मेरे चरणकमलों की पूजा की। तत्पश्चात् उन्होंने साफ साफ पूछा कि, ‘‘आप कौन हैं?’’

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने टीका की है, ‘‘जब ब्रह्माजी मुनियों द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाये, तो उन्होंने अपना मन भगवान् के चिन्तन में लगा दिया। तब भगवान् ने हंस का रूप धारण किया और वे ब्रह्मा तथा मुनियों के समक्ष प्रकट हुए, तो उन्होंने भगवान् की विशेष

पहचान के बारे में पूछताछ की।''

इत्यहं मुनिभिः पृष्टस्तत्त्वजिज्ञासुभिस्तदा ।
यदवोचमहं तेभ्यस्तदुद्धव निबोध मे ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अहम्—मैं; मुनिभिः—मुनियों के द्वारा; पृष्टः—पूछा जाने पर; तत्त्व—योग के लक्ष्य के विषय में सत्य; जिज्ञासुभिः—जानने की इच्छा रखने वालों के द्वारा; तदा—उस समय; यत्—जो; अवोचम्—बोला; अहम्—मैं; तेभ्यः—उनसे; तत्—वह; उद्धव—हे उद्धव; निबोध—सीखो; मे—मुझसे।

हे उद्धव, मुनिगण योग-पद्धति के परम सत्य को जानने के इच्छुक थे, अतएव उन्होंने मुझसे इस प्रकार पूछा। मैंने मुनियों से जो कुछ कहा, उसे अब मुझसे सुनो।

वस्तुनो यद्यनानात्व आत्मनः प्रश्न ईदृशः ।
कथं घटेत वो विप्रा वक्तुर्वा मे क आश्रयः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

वस्तुनः—व्वास्तविकता का; यदि—यदि; अनानात्वे—व्यष्टिहीनता में; आत्मनः—जीवात्मा के; प्रश्नः—प्रश्न; ईदृशः—ऐसा; कथम्—कैसे; घटेत—सम्भव है, अथवा उपयुक्त है; वः—पूछ रहे तुम्हारा; विप्राः—हे ब्राह्मण; वक्तुः—वक्ता का; वा—अथवा; मे—मेरा; कः—क्या है; आश्रयः—असली स्थिति अथवा आश्रय।

हे ब्राह्मणो, यदि तुम लोग मुझसे पूछते हो कि मैं कौन हूँ, तो यदि तुम यह विश्वास करते हो कि मैं भी जीव हूँ और हम लोगों में कोई अन्तर नहीं है—क्योंकि अन्ततः सारे जीव एक हैं—तो फिर तुम लोगों का प्रश्न किस तरह सम्भव या उपयुक्त (युक्ति संगत) है? अन्ततः तुम्हारा और मेरा दोनों का असली आश्रय क्या है?

तात्पर्य : *आश्रय* का अर्थ है ''शरण''। भगवान् कृष्ण के इस प्रश्न का कि, ''हमारा वास्तविक आश्रय या शरण क्या है?'' यह अर्थ है कि, ''हमारी परम प्रकृति या स्वाभाविक स्थिति क्या है?'' ऐसा इसलिए है क्योंकि अपनी सहज स्थिति प्राप्त किये बिना कोई प्राणी रुकता या सन्तुष्ट नहीं होता। यहाँ यह उदाहरण दिया जा सकता है कि भले ही कोई सारे जगत का भ्रमण कर ले, किन्तु अन्त में अपने घर लौटने पर ही सन्तुष्ट होता है। इसी प्रकार रोता हुआ बालक अपनी माता के द्वारा आलिंगन किये जाने पर ही चुप होता है। अपनी तथा ब्राह्मणों की शरण अथवा आश्रय के विषय में पूछते हुए, भगवान् हर जीव की नित्य स्वाभाविक स्थिति को सूचित कर रहे हैं।

यदि कृष्ण भी *जीव* कोटि में होते और उनके समेत सारे जीव एकसमान होते, तो फिर एक जीव

द्वारा ऐसा प्रश्न करने और दूसरे द्वारा उत्तर देने का कोई गम्भीर प्रयोजन न होता। जो उच्च पद पर होता है, केवल वही महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर दे सकता है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि प्रामाणिक गुरु अपने शिष्य के सारे प्रश्नों का उत्तर देता है, फिर भी गुरु जीव-कोटि में होता है। इसका उत्तर यह है कि प्रामाणिक गुरु अपनी ओर से नहीं अपितु उन भगवान् की ओर से बोलता है, जो विष्णु-कोटि में हैं। जीवात्मा के रूप में बोलने वाला तथाकथित गुरु व्यर्थ होता है और गम्भीर प्रश्नों के सार्थक उत्तर देने में अक्षम होता है। अतः मुनियों का यह प्रश्न कि *को भवान्* (आप कौन हैं?) बताता है कि भगवान् नित्य *व्यष्टि* पुरुष हैं। चूँकि ब्रह्मा आदि मुनियों ने भगवान् को नमस्कार किया और उनकी पूजा की, इसलिए यह भाव है कि वे भगवान् हैं। इस ब्रह्माण्ड के आदि प्राणी ब्रह्मा ने भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी जीव को पूज्य नहीं माना।

भगवान् कृष्ण का असली प्रयोजन योग की पूर्णता को बतलाना है, जिसे मुनिगण जानने के इच्छुक थे। दिव्य ज्ञान प्राप्त हो जाने पर, मन तथा इन्दिय-विषयों का पारस्परिक आकर्षण समाप्त हो जाता है। आध्यात्मिक मन विषय-वासनाओं की वस्तुओं के प्रति आकृष्ट नहीं होता। इस तरह मन को आध्यात्मिक बनाने से भौतिक जीवन स्वतः ही शिथिल पड़ जाता है। मुनियों के प्रश्न के औचित्य के बारे में पूछने से, भगवान् गुरु का पद ग्रहण करते हुए, अमूल्य उपदेश देने की तैयारी कर रहे हैं। किसी को प्रामाणिक गुरु से द्वेष नहीं रखना चाहिए, विशेष रूप से तब, जबकि गुरु भगवान् हों, जैसाकि यहाँ पर ब्रह्मा तथा सनक कुमार आदि मुनियों से भगवान् हंस बोल रहे हैं।

पञ्चात्मकेषु भूतेषु समानेषु च वस्तुतः ।
को भवानिति वः प्रश्नो वाचारम्भो ह्यनर्थकः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

पञ्च—पाँच तत्त्वों के; आत्मकेषु—बने हुए; भूतेषु—विद्यमान; समानेषु—एक समान; च—भी; वस्तुतः—सार रूप में; कः—कौन; भवान्—आप हैं; इति—इस प्रकार; वः—तुम्हारा; प्रश्नः—प्रश्न; वाचा—वाणी से; आरम्भः—ऐसा प्रयास; हि—निश्चय ही; अनर्थकः—असली अर्थ या अभिप्राय से रहित।

यदि तुम लोग मुझसे यह प्रश्न पूछ कर कि, "आप कौन हैं?" भौतिक देह की बात करना चाहते हो, तो मैं यह इंगित करना चाहूँगा कि सारे भौतिक देह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश—इन पाँच तत्त्वों से मिल कर बने हैं। इसलिए, तुम लोगों को इस प्रकार पूछना चाहिए था, "आप पाँच कौन हैं?" यदि तुम लोग यह मानते हो कि सारे भौतिक देह एकसमान तत्त्वों

से बने होने से, अन्ततः एक हैं, तो भी तुम्हारा प्रश्न निरर्थक है क्योंकि एक शरीर से दूसरे शरीर में भेद करने में कोई गम्भीर प्रयोजन नहीं है। इस तरह ऐसा लगता है कि मेरी पहचान पूछ कर, तुम लोग ऐसे शब्द बोल रहे हो जिनका कोई वास्तविक अर्थ या प्रयोजन नहीं है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है ''पिछले श्लोक में भगवान् कृष्ण ने यह दिखलाया है कि यदि मुनियों ने यह निर्विशेष दर्शन स्वीकार किया है कि सारे जीव अन्ततः एकसमान हैं, तो उनका यह प्रश्न ''आप कौन हैं?'' निरर्थक है, क्योंकि एक जीव को दूसरे से पृथक् करने का कोई दार्शनिक आधार नहीं रह जाता। इस श्लोक में भगवान् पंचतत्त्वों से बने शरीर से झूठी पहचान का खण्डन करते हैं। यदि मुनिगण शरीर को आत्मा मान बैठे हैं, तो उनका प्रश्न निरर्थक है क्योंकि तब उन्हें यह पूछना चाहिए था कि, ''आप पाँच कौन हैं?'' यदि मुनियों ने यह उत्तर दिया होता कि यद्यपि शरीर पंचतत्त्वों से बना है और ये पाँचों मिल कर एक अद्वितीय वस्तु बनाते हैं, तो भगवान् ने पहले ही *समानेषु च वस्तुतः* कह कर इसका उत्तर दे दिया है। मनुष्यों, देवताओं, पशुओं इत्यादि के शरीर एक जैसे पाँच तत्त्वों से बने होते हैं और अनिवार्य रूप से एकसमान होते हैं। इसलिए ''आप कौन हैं?'' यह प्रश्न निरर्थक है। इसलिए कोई चाहे यह सिद्धान्त माने कि सारे जीव अन्ततः एकसमान हैं अथवा सारे जीव अपने भौतिक शरीरों से अभिन्न हैं, दोनों ही स्थितियों में मुनियों का प्रश्न निरर्थक है।

मुनिगण यह तर्क कर सकते हैं कि विद्वानों में भी अनेक विषयों के बारे में प्रश्न पूछना और उनका उत्तर देना सामान्य जीवन का अंग है। मुनिगण यह इंगित कर सकते थे कि भगवान् कृष्ण ने भी *विप्राः* (हे ब्राह्मण) तथा *वः* (तुम्हारे प्रश्न) कह कर, उनमें अन्तर किया है। इस तरह यह देखा जाता है कि भगवान् भी प्रश्नोत्तर की सामान्य प्रथा को मानते हैं। इस तर्क का उत्तर देने के लिए, भगवान् कहते हैं—*वाचारम्भो ह्यनर्थकः।* भगवान् कहते हैं'' *ब्राह्मण* कह कर तुम लोगों को मेरा सम्बोधित किया जाना शब्दाडम्बर है यदि हम अन्ततः भिन्न नहीं हैं। मैंने तो तुम्हारे आने का स्वागत किया है। इसलिए यदि हम अन्ततः एक हैं, तो न तो मेरे कथन, न ही तुम्हारे प्रश्न का कोई अर्थ है। अतएव मुझसे पूछे गये तुम्हारे प्रश्न से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि तुम लोग अधिक बुद्धिमान नहीं हो। तो फिर तुम परम ज्ञान को क्यों जानना चाहते हो? क्या तुम सभी उद्विग्न नहीं हो?''

इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य इंगित करते हैं कि मुनियों का प्रश्न उपयुक्त नहीं था, क्योंकि उन्होंने अपने पिता ब्रह्मा को भगवान् हंस के चरणकमलों की पूजा करते देखा था। चूँकि उनके गुरु तथा पिता हंस की पूजा कर रहे थे, अत: उन्हें तुरन्त ही भगवान् के पद को समझ लेना चाहिए था। इस तरह उनका प्रश्न निरर्थक है।

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः ।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा ॥ २४॥

शब्दार्थ

मनसा—मन से; वचसा—वाणी से; दृष्ट्या—दृष्टि से; गृह्यते—ग्रहण किया जाता है, स्वीकार किया जाता है; अन्यैः—अन्य; अपि—यद्यपि; इन्द्रियैः—इन्द्रियों के द्वारा; अहम्—मैं; एव—निस्सन्देह; न—नहीं; मत्तः—मेरे अतिरिक्त; अन्यत्—अन्य कोई वस्तु; इति—इस प्रकार; बुध्यध्वम्—तुम्हें समझना चाहिए; अञ्जसा—तथ्यों के सीधेविश्लेषण से।

इस जगत में, मन, वाणी, आँखों या अन्य इन्द्रियों के द्वारा जो भी अनुभव किया जाता है, वह एकमात्र मैं हूँ, मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। तुम सभी लोग तथ्यों के सीधे विश्लेषण से इसे समझो।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण पहले ही बता चुके हैं कि यदि मुनिगण सारे जीवों को एक मानते हैं या जीव को उसका शरीर मानते हैं, तो उनका यह प्रश्न कि, "आप कौन हैं?" अनुपयुक्त है। अब भगवान् इस धारणा का खंडन करते हैं कि वे इस जगत की प्रत्येक वस्तु से परे तथा भिन्न परमेश्वर रूप हैं। आधुनिक नास्तिक दार्शनिक यह प्रचार करते हैं कि ईश्वर ने इस जगत की सृष्टि की और फिर छुट्टी ले ली। उनके अनुसार ईश्वर का इस जगत से कोई ठोस सम्बन्ध नहीं है, न ही वे मानवीय व्यापारों में हस्तक्षेप करते हैं। अन्ततः वे यह दावा करते हैं कि ईश्वर इतने महान् हैं कि उन्हें जाना नहीं जा सकता, इसलिए ईश्वर को समझने में समय नहीं गँवाना चाहिए। ऐसे मूर्खतापूर्ण विचारों का खण्डन करने के लिए ही यहाँ पर भगवान् बतलाते हैं कि प्रत्येक वस्तु उनकी शक्ति का अंश है, इसलिए वे किसी वस्तु से भिन्न नहीं हैं। भगवान् से पृथक् होकर कोई वस्तु विद्यमान नहीं रह सकती। इस तरह प्रत्येक वस्तु भगवान् की प्रकृति में हाथ बँटाती है, यद्यपि कुछ वस्तुएँ श्रेष्ठ होती हैं और कुछ निकृष्ट। भगवान् मुनियों के प्रश्नों में विरोधाभासों की ओर संकेत करते हैं। यदि भगवान् सर्वोच्च हों भी तो वे अपनी सृष्टि से भिन्न नहीं हैं, अतएव "आप कौन हैं?" इस प्रश्न का कोई अर्थ नहीं है। हम स्पष्ट देख सकते हैं कि भगवान् आध्यात्मिक ज्ञान की गम्भीर विवेचना के लिए मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं।

**गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः ।
जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः ॥ २५ ॥**

शब्दार्थ

गुणेषु—इन्द्रिय-विषयों में; आविशते—प्रविष्ट करता है; चेतः—मन; गुणाः—इन्द्रिय-विषय; चेतसि—मन में; च—भी (प्रवेश करते हैं); प्रजाः—मेरे पुत्रों; जीवस्य—जीव का; देहः—बाह्य शरीर, उपाधि के रूप में; उभयम्—इन दोनों; गुणाः—इन्द्रिय-विषय; चेतः—मन; मत्-आत्मनः—परमात्मा रूप में मुझे पाकर।

हे पुत्रो, मन की सहज प्रवृत्ति भौतिक इन्द्रिय-विषयों में प्रविष्ट करने की होती है और इसी तरह इन्द्रिय-विषय मन में प्रवेश करते हैं। किन्तु भौतिक मन तथा इन्द्रिय-विषय दोनों ही उपाधियाँ मात्र हैं, जो मेरे अंशरूप आत्मा को प्रच्छन्न करती हैं।

तात्पर्य : हंसावतार के रूप में भगवान् कृष्ण ब्रह्मा के पुत्रों के सरल से प्रश्न (आप कौन हैं) में विरोधाभासों के बहाने मुनियों को पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान की शिक्षा देने की तैयारी कर रहे हैं, किन्तु पहले वे जीवन की दो भ्रान्त धारणाओं का—कि सारे जीव एकसमान हैं और जीव अपने बाह्य या सूक्ष्म शरीर से अभिन्न हैं—खण्डन कर देते हैं। अत: भगवान् कृष्ण उस कठिन प्रश्न का उत्तर देते हैं जिसने ब्रह्मा को भी चक्कर में डाल दिया था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार ब्रह्मा के पुत्र इस प्रकार सोच रहे थे, ''हे प्रभु! यदि यह वास्तव में सच है कि हम मूर्ख हैं, तो फिर भी आपने यह कहा है कि आप ही सर्वस्व हैं क्योंकि आपकी शक्ति के अंश रूप में ही सारी वस्तुएँ हैं। इसलिए आप ही मन तथा इन्द्रिय-विषय भी हैं और हमारे प्रश्न का विषय भी यही है। भौतिक इन्द्रिय-विषय मन के कार्यों में सदा ही प्रवेश करते हैं और इसी तरह मन भौतिक इन्द्रिय-विषयों के भीतर प्रवेश करता है। इसलिए यह उचित ही है कि हम आपसे वह विधि पूछें, जिससे इन्द्रिय-विषय मन में प्रवेश न करें और न मन इन्द्रिय-विषयों में प्रवेश करे। कृपा करके हमें उत्तर दें।'' भगवान् इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं ''हे पुत्रो! यह तथ्य है कि मन भौतिक इन्द्रिय-विषयों में प्रवेश करता है और इन्द्रिय-विषय मन में प्रवेश करते हैं। इस तरह, यद्यपि जीव मेरे अंश हैं और मेरे ही समान नित्य चेतन हैं और जीव का नित्य स्वरूप मेरे ही समान आध्यात्मिक है, किन्तु बद्ध जीवन में जीव अपने ऊपर मन तथा इन्द्रिय-विषयों को थोप लेता है, जो आत्मा की बाह्य उपाधियों के समान कार्य करते हैं। चूँकि मन तथा इन्द्रिय-विषयों में अन्योन्य क्रिया स्वाभाविक है, अत: ऐसे पारस्परिक आकर्षण को रोकने का प्रयास कैसे किया जा सकता है? चूँकि मन तथा भौतिक इन्द्रिय-विषय व्यर्थ हैं, अतएव इनका परित्याग

करना चाहिए और इस तरह तुम सभी लोग स्वत: भौतिक द्वैत से मुक्त हो सकोगे।''

श्रील श्रीधर स्वामी इंगित करते हैं कि मन का लक्षण यह है कि उसमें अपने को ही परम कर्ता तथा भोक्ता मानने की प्रवृत्ति होती है। अत: स्वाभाविक है कि ऐसी गर्वित मनोवृत्ति से कोई भी व्यक्ति असहाय होकर इन्द्रिय-विषयों द्वारा आकृष्ट कर लिया जाता है। जो अपने को कर्ता तथा भोक्ता मानता है, वह इन्द्रियतृप्ति तथा मिथ्या प्रतिष्ठा अर्थात् भौतिक वस्तुओं का शोषण प्राप्त करने के साधनों की ओर बलात् आकृष्ट होता है। किन्तु मन के ऊपर भी बुद्धि है, जो नित्य आत्मा के अस्तित्व का अनुभव कर सकती है। मन को इन्द्रिय-विषय से विलग कर पाना संभव नहीं है, क्योंकि वे साथ साथ रहते हैं। इसलिए मनुष्य को बुद्धि द्वारा अपने आत्मा रूपी नित्य स्वरूप की, जो कि भगवान् का अंश है, अनुभूति करनी होगी और व्यर्थ की भौतिक मनोवृत्ति का परित्याग करना होगा। जो व्यक्ति अपनी आदि आध्यात्मिक मनोवृत्ति को जागृत कर लेता है, वह स्वत: ही भौतिक आकर्षण से विरक्त हो जाता है। इसलिए इन्द्रियतृप्ति के मिथ्या होने का ज्ञान उत्पन्न करना होगा। जब मन या इन्द्रियाँ भौतिक भोग की ओर आकर्षित होती हैं, तो श्रेष्ठ बुद्धि को ऐसे मोह का तुरन्त पता लगा लेना चाहिए। इस तरह, मनुष्य को अपनी मनोवृत्ति को शुद्ध बनाना चाहिए। भगवद्भक्ति से, ऐसी विरक्ति तथा बुद्धि स्वत: जाग्रत होती हैं और अपने आदि आध्यात्मिक स्वरूप को भलीभाँति जानकर, मनुष्य शुद्ध चेतना में उचित रूप से स्थित होता है।

गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया ।
गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

गुणेषु—इन्द्रिय-विषयों में; च—तथा; आविशत्—प्रविष्ट हुआ; चित्तम्—मन; अभीक्ष्णम्—पुन: पुन:; गुण-सेवया—इन्द्रियतृप्ति द्वारा; गुणाः—तथा भौतिक इन्द्रिय-विषय; च—भी; चित्त—मन के भीतर; प्रभवाः—मुख्य रूप से उपस्थित होकर; मत्-रूपः—जिसने अपने को मुझसे अभिन्न समझ लिया है और इस तरह जो मेरे रूप, लीला आदि में लीन रहता है.; उभयम्—दोनों (मन तथा इन्द्रिय-विषय); त्यजेत्—त्याग देना चाहिए।.

जिस व्यक्ति ने यह जान कर कि वह मुझसे भिन्न नहीं है, मुझे प्राप्त कर लिया है, वह अनुभव करता है कि मन निरन्तर इन्द्रियतृप्ति के कारण इन्द्रिय-विषयों में रमा रहता है और भौतिक वस्तुएँ मन के भीतर स्पष्टतया स्थित रहती हैं। मेरे दिव्य स्वभाव को समझ लेने के बाद, वह मन तथा इसके विषयों को त्याग देता है।

तात्पर्य : भगवान् पुन: कहते हैं कि मन को उसके विषयों से पृथक् कर पाना अत्यन्त कठिन है क्योंकि मन अपने को, मूलरूप से, हर वस्तु का कर्ता तथा भोक्ता मानता है। किन्तु यह समझ लेना होगा कि मन को त्यागने का अर्थ यह नहीं है कि सारे मानसिक कार्यकलाप त्याग दिये जाँय, अपितु इसका अर्थ है मन को शुद्ध बनाना और अपनी प्रबुद्ध मनोवृत्ति को भगवद्‌भक्ति में लगाना। चूँकि मन तथा इन्द्रियाँ, सनातन से, इन्द्रिय-विषयों के संसर्ग में रहे हैं, अतएव मन के लिए अपने विषयों को त्याग पाना कैसे सम्भव है क्योंकि ये विषय ही उसके अस्तित्व के आधार हैं? इतना ही नहीं, कि मन भौतिक वस्तुओं के पास पहुँच जाता है, बल्कि मन की इच्छाओं के कारण भौतिक वस्तुएँ मन से बाहर नहीं रह सकतीं। इस प्रकार मन तथा इन्द्रिय-विषयों के मध्य विलगाव न तो सम्भव है, न ही इससे कोई लाभ है। यदि कोई अपने को सर्वश्रेष्ठ मान कर, भौतिक मनोवृत्ति रखता है, तो वह इन्द्रियतृप्ति को दुख का कारण मान कर उसका परित्याग कर सकता है, किन्तु वह ऐसे कृत्रिम पद पर बना नहीं रह सकता, न ही ऐसे परित्याग से कोई काम सधने वाला है। भगवान् के चरणकमलों की शरण में गये बिना, कोरे वैराग्य से इस भौतिक जगत से उद्धार नहीं होने वाला है।

जिस तरह सूर्य की किरणें सूर्य की अंश हैं, उसी तरह सारे जीव भगवान् के अंश हैं। जब जीव अपनी पहचान भगवान् के अंश के रूप में करते हुए, उसी में लीन हो जाता है, तो वह वास्तव में बुद्धिमान बन जाता है और मन तथा इन्द्रिय-विषयों का परित्याग कर देता है। इस श्लोक में *मद् रूप:* शब्द भगवान् के रूप, गुण, लीला तथा संगियों में मन को लीन करने का सूचक है। ऐसे आनन्दमय ध्यान में मग्न होकर, मनुष्य को भगवान् की भक्ति करनी चाहिए। इससे स्वत: ही इन्द्रियतृप्ति का प्रभाव दूर हो जायेगा। जीव में अपने आप मन तथा इन्द्रिय-विषयों से अपनी झूठी पहचान त्याग पाने की शक्ति नहीं होती, किन्तु अपने को भगवान् का अंश-सेवक मान कर, भगवान् की पूजा करने से वह भगवान् की शक्ति से दीप्त होकर, अज्ञान के अंधकार को भगा सकता है।

जाग्रत्स्वप्न: सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तय: ।
तासां विलक्षणो जीव: साक्षित्वेन विनिश्चित: ॥ २७॥

शब्दार्थ

जाग्रत्—जगा हुआ; स्वप्नः—स्वप्न देखता; सु-सुप्तम्—गहरी नींद; च—भी; गुणतः—गुणों से उत्पन्न; बुद्धि—बुद्धि के; वृत्तयः—कार्य; तासाम्—ऐसे कार्यों से; विलक्षणः—विभिन्न लक्षणों वाला; जीवः—जीव; साक्षित्वेन—साक्षी होने के लक्षण से युक्त; विनिश्चितः—सुनिश्चित किया जाता है।

जगना, सोना तथा गहरी नींद—ये बुद्धि के तीन कार्य है और प्रकृति के गुणों द्वारा उत्पन्न होते है। शरीर के भीतर का जीव इन तीनों अवस्थाओं से भिन्न लक्षणों द्वारा सुनिश्चित होता है, अतएव वह उनका साक्षी बना रहता है।

तात्पर्य : आत्मा को भौतिक जगत से कोई सरोकार नहीं होता, उसका इससे कोई स्थायी या प्राकृतिक सम्बन्ध नहीं होता। असली वैराग्य का अर्थ है सूक्ष्म तथा स्थूल पदार्थ से भ्रामक पहचान का परित्याग। *सुषुप्तम्* सूचक है स्वप्न या चेतन कार्यकलाप से रहित नींद का। इन तीन अवस्थाओं का वर्णन भगवान् ने इस प्रकार किया है—

सत्त्वाज्जागरणं विद्याद्रजसा स्वप्नमादिशेत्।

प्रस्वापं तमसा जन्तोस्तूरीयं त्रिषु सन्ततम्॥

''मनुष्य को जान लेना चाहिए कि जाग्रत अवस्था सतोगुण से उत्पन्न होती है, स्वप्नावस्था रजोगुण से और गहरी स्वप्नरहित नींद तमोगुण से उत्पन्न होती है। चौथा तत्त्व, जो कि शुद्ध चेतना है, इन तीनों से भिन्न है और इन सबों में व्याप्त है।'' (भागवत ११.२५.२०) असली स्वतंत्रता का अर्थ है *साक्षित्वेन*—अर्थात् मोह के कार्यों का साक्षी बन कर रहना। ऐसी लाभप्रद अवस्था कृष्णभावनामृत उत्पन्न होने से प्राप्त होती है।

यर्हि संसृतिबन्धोऽयमात्मनो गुणवृत्तिदः ।
मयि तुर्ये स्थितो जह्यात्त्यागस्तद्गुणचेतसाम् ॥ २८॥

शब्दार्थ

यर्हि—क्योंकि; संसृति—भौतिक बुद्धि या संसार का; बन्धः—बन्धन; अयम्—यह है; आत्मनः—आत्मा का; गुण—प्रकृति के गुणों में; वृत्ति-दः—वृत्तिपरक कार्य देने वाली; मयि—मुझमें; तुर्ये—चौथे तत्त्व में (जाग्रत, सुप्त, सुषुप्त से आगे); स्थितः—स्थित; जह्यात्—त्याग दे; त्यागः—वैराग्य; तत्—उस समय; गुण—इन्द्रिय-विषयों का; चेतसाम्—तथा मन का।

आत्मा भौतिक बुद्धि के बन्धन में बन्दी है, जो उसे प्रकृति के मोहमय गुणों से निरन्तर लगाये रहती है। लकिन मै चेतना की चौथी अवस्था—जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्त से परे—हूँ। मुझमें स्थित होने पर, आत्मा को भौतिक चेतना का बन्धन त्याग देना चाहिए। उस समय, जीव स्वतः भौतिक इन्द्रिय-विषयों तथा भौतिक मन को त्याग देगा।

तात्पर्य : अब भगवान् कृष्ण उन विशिष्ट प्रश्नों का उत्तर देते है जिन्हें मुनियों ने आरम्भ में ब्रह्मा के समक्ष रखा था। अन्ततः आत्मा को भौतिक इन्द्रिय-विषयों तथा प्रकृति के गुणों से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता। लेकिन मनुष्य द्वारा भौतिक शरीर से अपनी झूठी पहचान बनाने के कारण ही, प्रकृति के गुणों को मनुष्य को मोहमय कार्यों में लगाने के लिए शक्ति मिलती है। आत्मा पदार्थ के साथ इस झूठी पहचान को नष्ट करके गुणों द्वारा प्रदत्त मोहमय वृत्तियों को त्याग देता है। इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि जीव को इसलिए शक्ति प्रदान नहीं की गई है कि वह स्वतंत्र रूप से अपने को मोह से मुक्त कर सके, अपितु उसे चाहिए कि वह भगवान् की पूर्ण चेतना में रह कर, अपने को कृष्णभावनामृत के पद पर ले जाय।

अहङ्कारकृतं बन्धमात्मनोऽर्थविपर्ययम् ।
विद्वान्निर्विद्य संसारचिन्तां तुर्ये स्थितस्त्यजेत् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अहङ्कार—मिथ्या गर्व से; कृतम्—उत्पन्न; बन्धम्—बन्धन; आत्मनः—आत्मा का; अर्थ—जो वास्तव में उपयोगी है उसका; विपर्ययम्—उल्टा, विरुद्ध; विद्वान्—जानने वाला; निर्विद्य—विरक्त होकर; संसार—जगत में; चिन्ताम्—निरन्तर विचार; तुर्ये—चौथे तत्त्व, भगवान् में; स्थितः—स्थित होकर; त्यजेत्—त्याग दे।

जीव का अहंकार उसे बन्धन में डालता है और जीव जो चाहता है उसका सर्वथा विपरीत उसे देता है। अतएव बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि भौतिक जीवन भोगने की स्थायी चिन्ता को त्याग दे और भगवान् में स्थित रहे, जो भौतिक चेतना के कार्यों से परे है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने इस प्रकार टीका की है : ‘‘संसार किस तरह से जीव का बन्धन उत्पन्न करता है और ऐसे बन्धन को कैसे त्यागा जा सकता है? यहाँ पर इसकी व्याख्या भगवान् ने *अहंकार-कृतम्* शब्द द्वारा की है। मिथ्या गर्व के कारण मनुष्य मोह के पाश में बँध जाता है। *अर्थ-विपर्ययम्* सूचित करता है कि यद्यपि जीव आनन्दमय जीवन, नित्यता तथा ज्ञान चाहता है, किन्तु वह ऐसी विधियाँ अपनाता है, जो उसके आनन्दमय जीवन तथा नित्यता को आच्छादित करके उसे इनके सर्वथा विपरीत फल देती है। जीव मृत्यु तथा कष्ट नहीं चाहता, किन्तु ये वस्तुतः जगत के फल है, अतएव जगत सभी व्यावहारिक कार्यों के लिए व्यर्थ है। बुद्धिमान पुरुष को भौतिक जीवन के दुख का चिन्तन करना चाहिए और इस तरह दिव्य भगवान् में स्थित होना चाहिए। *संसार-चिन्ताम्* शब्द को इस प्रकार समझा जा सकता है। *संसार* सूचक है भौतिक बुद्धि का क्योंकि जगत जीव की मिथ्या बौद्धिक

पहचान का प्रतिफल है। इस गलत पहचान के कारण ही मनुष्य *संसारचिन्ताम्* से अभिभूत हो जाता है। उसे भगवान् में स्थित होना चाहिए और व्यर्थ की चिन्ता त्याग देना चाहिए।''

यावन्नानार्थधीः पुंसो न निवर्तेत युक्तिभिः ।
जागर्त्यपि स्वपन्नज्ञः स्वप्ने जागरणं यथा ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; नाना—अनेक; अर्थ—महत्त्व का; धीः—धारणा; पुंसः—पुरुष का; न—नहीं; निवर्तेत—शमन होता है; युक्तिभिः—उपयुक्त विधियों से (जिन्हें मैने बताया है); जागर्ति—जाग्रत रहने से; अपि—यद्यपि; स्वपन्—सोते या स्वप्न देखते; अज्ञः—वस्तुओं को उसी रूप में न देखने वाला; स्वप्ने—सपने में; जागरणम्—जाग्रत रह कर; यथा—जिस तरह।

मनुष्य को चाहिए कि मेरे आदेशों के अनुसार वह अपना मन मुझ में स्थिर करे। किन्तु यदि वह हर वस्तु को मेरे भीतर न देख कर जीवन में अनेक प्रकार के अर्थ तथा लक्ष्य देखता रहता है, तो वह, जगते हुए भी, अपूर्ण ज्ञान के कारण, वास्तव में स्वप्न देखता रहता है, जिस तरह वह यह स्वप्न देखे कि वह स्वप्न से जग गया है।

तात्पर्य : जो व्यक्ति कृष्णभावनाभावित नहीं है, वह यह नहीं समझ सकता कि हर वस्तु भगवान् कृष्ण के भीतर स्थित है, अतएव उसके लिए इन्द्रियतृप्ति से विलग हो पाना असम्भव होता है। वह मोक्ष की कोई विशेष विधि अपना सकता है और अपने को ''बचा हुआ'' मान सकता है, तो भी उसका भौतिकबन्धन बना रहेगा और वह जगत से अपनी आसक्ति बनाये रखेगा। कभी कभी, वह स्वप्न देखते समय कल्पना करता है कि वह स्वप्न से जग गया है और सामान्य चेतना का अनुभव कर रहा है। इसी तरह, मनुष्य अपने को बचा हुआ (सुरक्षित) मान सकता है, किन्तु यदि वह भगवान् की भक्ति का सन्दर्भ दिये बिना, अच्छे-बुरे के निर्णय में लीन रहता जाता है, तो वह भौतिकवादिता की झूठी पहचान से आच्छादित हुआ बद्धजीव माना जाता है।

असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावानां तत्कृता भिदा ।
गतयो हेतवश्चास्य मृषा स्वप्नदृशो यथा ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

असत्त्वात्—वास्तविक अस्तित्व के अभाव में; आत्मनः—भगवान् से; अन्येषाम्—अन्य; भावानाम्—अस्तित्व की दशाओं के; तत्—उनके द्वारा; कृता—उत्पन्न; भिदा—अन्तर या बिछोह; गतयः—लक्ष्य यथा स्वर्ग जाना; हेतवः—सकाम कर्म जो भावी फल के कारण है; च—भी; अस्य—जीव का; मृषा—झूठा; स्वप्न—सपने का; दृशः—देखने वाले का; यथा—जिस तरह।

उन जगत की अवस्थाओं का जिन्हें भगवान् से पृथक् सोचा जाता है, वास्तविक अस्तित्व

नहीं होता, यद्यपि वे परब्रह्म से पृथकत्व की भावना उत्पन्न करती है। जिस तरह स्वप्न देखने वाला नाना प्रकार के कार्यों तथा फलों की कल्पना करता है उसी तरह भगवान् से पृथक् अस्तित्व की भावना से जीव झूठे ही सकाम कर्मों को भावी फल तथा गन्तव्य का कारण सोचता हुआ कर्म करता है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने निम्न प्रकार से टीका की है : ''यद्यपि भगवान् कृष्ण ने हंसावतार के रूप में उस बुद्धि की निन्दा की है, जो जगत में द्वैत तथा पृथक् मूल्य देखती है, किन्तु *वर्णाश्रम धर्म* की स्थापना तो स्वयं वेदों द्वारा की जाती है, जिससे मानव समाज विभिन्न जातियों, वृत्तियों तथा आध्यात्मिक पदों में बँटा हुआ है। तो भला भगवान् इस वैदिक प्रणाली से श्रद्धा हटाने के लिए संस्तुति कैसे करने लगे? इसका उत्तर इस श्लोक में दिया गया है, जो इस प्रकार है—*अन्येषां भावानाम्* या ''अस्तित्व की अन्य दशाओं के'' पद भौतिक शरीर, मन, वृत्ति इत्यादि के साथ झूठी पहचान के असंख्य विभागों का द्योतन करता है। ऐसी पहचान मोह है और वर्णाश्रम प्रणाली के भौतिक विभाग निश्चय ही इस मोह पर आधारित है। वैदिक ग्रंथ स्वर्ग में वास जैसे फल का वचन देते है और ऐसे फलों को प्राप्त करने के लिए साधनों की संस्तुति करते है। किन्तु ये फल तथा उन्हें प्राप्त करने के साधन अन्ततः मोह है। चूँकि यह जगत भगवान् की सृष्टि है, अतएव कोई इससे इनकार नहीं कर सकता कि इसका अस्तित्व सत्य है किन्तु जीव जो इस जगत की वस्तुओं को अपनी बपौती समझता है, निश्चित रूप से मोहग्रस्त होता है। यहाँ पर दृष्टान्त दिया जा सकता है कि खरगोश सत्य है और सींग भी सत्य है, किन्तु यदि कोई खरगोश के सींगों की कल्पना करता है, तो यह निश्चय ही मोह है यद्यपि खरगोश के सींग स्वप्न में दिख सकते है। इसी तरह जीव भौतिक जगत के भीतर स्थायी सम्बन्धों का स्वप्न देखता है। हो सकता है कि कोई यह स्वप्न देखे कि वह खीर खा रहा है किन्तु स्वप्न के इस राजसी भोजन में कोई पोषक मान नहीं होता।''

इस सम्बन्ध में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर की टिप्पणी है कि जिस तरह मनुष्य जगने पर स्वप्न का अनुभव तुरन्त भूल जाता है, उसी तरह कृष्णभावनामृत में स्थित मुक्तात्मा वेदों द्वारा प्रदान किये गये अच्छे से अच्छे फल को, यथा, स्वर्गलोक जाने को, निस्सार देखता है। इसीलिए भगवान् ने *भगवद्गीता* में अर्जुन को धर्म के नाम पर किये जाने वाले कर्मकाण्डों से विचलित न होकर, आत्म–

साक्षात्कार में स्थिर रहने की सलाह दी है।

यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणोऽर्थान्
भुङ्क्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान् ।
स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः
स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः ॥ ३२॥

शब्दार्थ

यः—जो जीव; जागरे—जगते हुए; बहिः—बाह्य; अनुक्षण—क्षणिक; धर्मिणः—गुण; अर्थान्—शरीर, मन तथा उनके अनुभव; भुङ्क्ते—भोगता है; समस्त—समस्त; करणैः—इन्द्रियों से; हृदि—मन के भीतर; तत्-सदृक्षान्—जगते हुए में जैसे अनुभव; स्वप्ने—स्वप्नों में; सुषुप्ते—स्वप्नरहित गहरी नींद में; उपसंहरते—अज्ञान में लीन हो जाता है; सः—वह; एकः—एक; स्मृति—स्मरणशक्ति का; अन्वयात्—क्रम से; त्रि-गुण—जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्त, इन तीन अवस्थाओं के; वृत्ति—कार्य; दृक्—देखना; इन्द्रिय—इन्द्रियों का; ईशः—स्वामी बनता है।

जाग्रत रहने पर जीव अपनी सारी इन्द्रियों से भौतिक शरीर तथा मन के सारे क्षणिक गुणों का भोग करता है; स्वप्न के समय वह मन के भीतर ऐसे ही अनुभवों का आनन्द लेता है और प्रगाढ़ स्वप्नरहित निद्रा में ऐसे सारे अनुभव अज्ञान में मिल जाते है। जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति की सरणि को स्मरण करते तथा सोचते हुए, जीव यह समझ सकता है कि वह चेतना की तीनों अवस्थाओं में एक ही है और दिव्य है। इस तरह वह अपनी इन्द्रियों का स्वामी बन जाता है।

तात्पर्य : इस अध्याय के श्लोक ३० में कृष्ण ने कहा है कि मनुष्य को उचित साधनों से भौतिक द्वैत से दूर हो जाना चाहिए। भगवान् अब उसी की व्याख्या करते है। मनुष्य को चाहिए कि पहले चेतना की उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं पर विचार करे और तब आत्मा के रूप में अपनी दिव्य स्थिति को समझे। मनुष्य बालपन, कैशोर, युवावस्था, मध्यावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्था का अनुभव करता है और इन अवस्थाओं में लगातार जगते तथा स्वप्न देखते हुए वस्तुओं का अनुभव करता है। इसी तरह, सतर्क बुद्धि से, मनुष्य प्रगाढ़ निद्रा के समय चेतना के अभाव को, समझ सकता है। इस तरह बुद्धि द्वारा वह चेतना के अभाव का अनुभव कर सकता है।

यह तर्क किया जा सकता है कि जाग्रत अवस्था में इन्द्रियाँ अनुभव करती है, जबकि स्वप्न के समय मन अनुभव करता है। किन्तु भगवान् यहाँ पर *इन्द्रियेशः* कहते है—जीव ही इन्द्रियों तथा मन का स्वामी है, यद्यपि वह क्षणिक रूप से उनके प्रभाव में आ जाता है। कृष्णभावनामृत से मनुष्य अपने मन तथा इन्द्रियों का स्वामी बन सकता है। यही नहीं, चूँकि जीव चेतना की इन तीनों अवस्थाओं में अपने

अनुभवों को स्मरण रख सकता है, इसीलिए वह चेतना की सारी अवस्थाओं का अनुभवकर्ता या द्रष्टा है। वह स्मरण करता है, ''मैने स्वप्न में इतनी सारी वस्तुएँ देखीं, किन्तु उसके बाद स्वप्न टूट गया और मैं कुछ भी न देख सका। अब मैं जग रहा हूँ।'' हर व्यक्ति इस सर्वव्यापी अनुभव को समझ सकता है और इसी तरह वह यह समझ सकता है कि उसकी वास्तविक पहचान (सत्ता) शरीर तथा मन से पृथक् है।

एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्र्यवस्था
मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः ।
सञ्छिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्ण
ज्ञानासिना भजत माखिलसंशयाधिम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विमृश्य—विचार करके; गुणतः—गुणों से; मनसः—मन की; त्रि-अवस्थाः—चेतना की तीन अवस्थाएँ; मत्-मायया—मेरी मायाशक्ति के प्रभाव से; मयि—मुझमें; कृताः—आरोपित; इति—इस प्रकार; निश्चित-अर्थाः—जिन्होंने आत्मा के वास्तविक अर्थ को निश्चित कर लिया है; सञ्छिद्य—काट कर; हार्दम्—हृदय में स्थित; अनुमान—तर्क द्वारा; सत्-उक्ति—तथा मुनियों और वैदिक ग्रंथों के आदेशों से; तीक्ष्ण—तेज; ज्ञान—ज्ञान की; असिना—तलवार से; भजत—आप की सारी पूजा; मा—मुझको; अखिल—समस्त; संशय—संदेह; आधिम्—कारण (मिथ्या अभिमान)।

तुम्हें विचार करना चाहिए कि किस तरह, प्रकृति के गुणों द्वारा उत्पन्न, मन की ये तीन अवस्थाएँ, मेरी मायाशक्ति के प्रभाव से, मुझमें कृत्रिम रूप से विद्यमान मानी गई है। तुम्हें आत्मा की सत्यता को सुनिश्चित कर लेने के बाद, तर्क तथा मुनियों एवं वैदिक ग्रंथों के आदेशों से प्राप्त, ज्ञानरूपी तेज तलवार से मिथ्या अभिमान को पूरी तरह काट डालना चाहिए क्योंकि यही समस्त संशयों को प्रश्रय देने वाला है। तब तुम सबों को, अपने हृदयों में स्थित, मेरी पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : जिसने दिव्य ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वह सामान्य चेतना की तीन अवस्थाओं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्त—पर आश्रित नहीं रहता। इस तरह वह अपने मन को भगवान् की अपरा शक्ति का भोक्ता बनने की प्रवृत्ति से मुक्त कर लेता है और हर वस्तु को भगवान् की शक्ति के अंशरूप में देखता है, जो कि केवल भगवान् के भोग के लिए होती है। चेतना की ऐसी अवस्था में मनुष्य सहज ही भगवान् की भक्ति में आता है, जिसे भगवान् हंस, ब्रह्मा के पुत्रों से ग्रहण करने का उपदेश दे रहे है।

ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं
दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम् ।
विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया
स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

ईक्षेत—देखना चाहिए; विभ्रमम्—भ्रम या त्रुटि के रूप में; इदम्—इस (भौतिक जगत); मनसः—मन का; विलासम्—प्राकट्य या कूदफाँद; दृष्टम्—आज है; विनष्टम्—कल नहीं है; अति-लोलम्—अत्यन्त चलायमान; अलात-चक्रम्—जलती लकड़ी को घुमाने से बना हुआ गोला, लुकाठ की बनेठी; विज्ञानम्—सहज सचेतन आत्मा; एकम्—एक है; उरुधा—अनेक विभागों में; इव—मानो; विभाति—प्रकट होती है; माया—यह माया है; स्वप्नः—मात्र स्वप्न; त्रिधा—तीन विभागों में; गुण—गुणों का; विसर्ग—विकार का; कृतः—उत्पन्न; विकल्पः—अनुभूति या कल्पना का भेद।

मनुष्य को देखना चाहिए कि यह भौतिक जगत मन में प्रकट होने वाला स्पष्ट भ्रम है, क्योंकि भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व अत्यन्त क्षणिक है और वे आज है, किन्तु कल नहीं रहेंगी। इनकी तुलना लुकाठ के घुमाने से बने लाल रंग के गोले से की जा सकती है। आत्मा स्वभाव से एक ही विशुद्ध चेतना के रूप में विद्यमान रहता है। किन्तु इस जगत में वह अनेक रूपों और अवस्थाओं में प्रकट होता है। प्रकृति के गुण आत्मा की चेतना को जाग्रत, सुप्त तथा सुषुप्त, इन तीन अवस्थाओं में बाँट देते है। किन्तु ये अनुभूति की ऐसी विविधताएँ, वस्तुतः माया है और इनका अस्तित्व स्वप्न की ही तरह होता है।

तात्पर्य : अब भगवान् मन तथा इन्द्रिय-विषयों की मायामय अन्योन्य क्रिया को लाँघने की एक अतिरिक्त विधि बताते है। *लास* का अर्थ है ''कूदना'' या ''नाचना'' अतः यहाँ पर *मनसो विलासम्* यह सूचित करता है कि मन ऊपरी तौर पर एक जीवन-धारणा से दूसरी में कूदफाँद मचाता है। किन्तु हमारी मूल चेतना एक है (*विज्ञानम् एकम्*)। अतएव मनुष्य को जगत के ''आज यहाँ, कल वहाँ'' स्वभाव का ठीक से अध्ययन करना चाहिए और अपने को माया की विविधता से अलग कर लेना चाहिए।

दृष्टिम्ततः प्रतिनिवर्त्य निवृत्ततृष्ण-
स्तूष्णीं भवेन्निजसुखानुभवो निरीहः ।
सन्दृश्यते क्व च यदीदमवस्तुबुद्ध्या
त्यक्तं भ्रमाय न भवेत्स्मृतिरानिपातात् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

दृष्टिम्—दृष्टि; ततः—उस माया से; प्रतिनिवर्त्य—हटाकर; निवृत्त—समाप्त; तृष्णः—लालसा; तूष्णीम्—मौन; भवेत्—हो जाना चाहिए; निज—अपना (आत्मा का); सुख—सुख; अनुभवः—अनुभव करते हुए; निरीहः—निष्क्रिय; सन्दृश्यते—देखा जाता

है; क्व च—कभी कभी; यदि—यदि; इदम्—यह संसार; अवस्तु—असत्य; बुद्ध्या—चेतना से; त्यक्तम्—त्यागा हुआ; भ्रमाय—और अधिक भ्रम; न—नहीं; भवेत्—हो सके; स्मृतिः—स्मरणशक्ति; आ-निपातात्—शरीर त्यागने तक।.

भौतिक वस्तुओं के क्षणिक भ्रामक स्वभाव को समझ लेने के बाद और अपनी दृष्टि को भ्रम से हटा लेने पर, मनुष्य को निष्काम रहना चाहिए। आत्मा के सुख का अनुभव करते हुए, मनुष्य को भौतिक बोलचाल तथा कार्यकलाप त्याग देने चाहिए। यदि कभी वह भौतिक जगत को देखे तो उसे स्मरण करना चाहिए कि यह परम सत्य नहीं है, इसीलिए इसका परित्याग किया गया है। ऐसे निरन्तर स्मरण से मनुष्य अपनी मृत्यु पर्यन्त, पुनः भ्रम में नहीं पड़ेगा।

तात्पर्य : भौतिक शरीर का पालन करने के लिए भोजन करना तथा सोना तो पड़ता ही है। इस तरह मनुष्य को कभी कभी भौतिक जगत तथा अपने शरीर के मामलों में दखल देना पड़ता है। ऐसे अवसरों पर उसे यह स्मरण करना चाहिए कि भौतिक जगत सत्य नहीं है, इसीलिए कृष्णभावनाभावित होने के लिए इसका परित्याग किया गया है। निरन्तर ऐसा स्मरण करने, अपने आप में आध्यात्मिक आनन्द का भोग करने तथा मन, वाणी, अथवा शरीर के किसी भी कार्यकलाप से विलग होने से, मनुष्य भौतिक भ्रम (माया) में नहीं पड़ेगा।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने इस प्रकार टीका की है, ''भगवान् की माया में रहते हुए, जीव को इन्द्रियतृप्ति की हर चिन्ता का परित्याग कर देना चाहिए और निजी भोग के लिए कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए। प्रत्युत उसे भगवद्भक्ति के माध्यम से आध्यात्मिक आनन्द की खोज करनी चाहिए। भगवान् कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को फिर से जोड़ने पर, वह समझ सकेगा कि निजी भोग के लिए किसी वस्तु को स्वीकार करने से, अनुरक्ति उत्पन्न होगी और इस तरह वह माया के द्वारा विमोहित कर लिया जायेगा। क्रमशः आध्यात्मिक शरीर विकसित करने से, मनुष्य जगत के अन्दर किसी वस्तु को भोगना नहीं चाहेगा।''

देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।
दैवादपेतमथ दैववशादुपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

देहम्—भौतिक शरीर; च—भी; नश्वरम्—नाशवान; अवस्थितम्—बैठा; उत्थितम्—उठा; वा—अथवा; सिद्धः—सिद्ध; न पश्यति—नहीं देखता; यतः—क्योंकि; अध्यगमत्—उसने प्राप्त कर लिया है; स्व-रूपम्—अपनी असली आध्यात्मिक पहचान; दैवात्—भाग्यवश; अपेतम्—गया हुआ; अथ—अथवा इस तरह; दैव—भाग्य के; वशात्—वश से; उपेतम्—पाया हुआ; वासः—कपड़े; यथा—जिस तरह; परिकृतम्—शरीर में पहना हुआ; मदिरा—शराब का; मद—नशे से; अन्धः—अन्धा हुआ।

जिस प्रकार शराब पिया हुआ व्यक्ति यह नहीं देख पाता कि उसने कोट पहना है या कमीज, उसी तरह जो व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार में पूर्ण है और जिसने अपना नित्य स्वरूप प्राप्त कर लिया है, वह यह नहीं देखता कि नश्वर शरीर बैठा हुआ है या खड़ा है। हाँ, यदि ईश्वर की इच्छा से उसका शरीर समाप्त हो जाता है या उसे नया शरीर प्राप्त होता है, तो स्वरूपसिद्ध व्यक्ति उसे उसी तरह नहीं देखता जिस तरह शराबी अपनी बाह्य वेशभूषा को नहीं देखता।

तात्पर्य : जिस कृष्णभावनाभावित व्यक्ति ने अपना आध्यात्मिक स्वरूप प्राप्त कर लिया है, वह इस जगत में इन्द्रियतृप्ति को अपना जीवन-लक्ष्य नहीं मानता। वह निरन्तर भगवान् की सेवा में लगा रहता है और जानता रहता है कि नश्वर शरीर तथा चंचल मन भौतिक है। वह कृष्णभावनामृत की उत्तम बुद्धि द्वारा भगवान् की सेवा में लगा रहता है। इस श्लोक में शराबी व्यक्ति का सुन्दर उदाहरण दिया गया है। यह सामान्य ज्ञान है कि सामाजिक गोष्ठियों में लोग शराब पीकर अपनी बाह्य चेतना खो देते है। इसी प्रकार मुक्तात्मा पहले से आध्यात्मिक शरीर प्राप्त कर चुकने के कारण यह जानता रहता है कि उसका अस्तित्व भौतिक शरीर पर निर्भर नहीं करता। किन्तु मुक्तात्मा शरीर को दण्ड नहीं देता, अपितु अपने भाग्य को ईश्वरेच्छा मान कर निरपेक्ष रहता जाता है।

देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्
स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः ।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

देहः—शरीर; अपि—भी; दैव—ब्रह्म के; वश-गः—नियंत्रण में; खलु—निस्सन्देह; कर्म—सकाम कर्मों की शृंखला; यावत्—जब तक; स्व-आरम्भकम्—जो अपने को प्रारम्भ करता है या आगे बढ़ाता है; प्रतिसमीक्षते—जीवति रहता तथा प्रतीक्षा करता रहता है; एव—निश्चय ही; स-असुः—प्राण तथा इन्द्रियों सहित; तम्—उस (शरीर) को; स-प्रपञ्चम्—अभिव्यक्तियों की विविधता सहित; अधिरूढ—उच्च स्थान को प्राप्त; समाधि—सिद्धि अवस्था; योगः—योग-प्रणाली में; स्वाप्नम्—स्वप्न की तरह; पुनः—फिर; न भजते—पूजा नहीं करता; प्रतिबुद्ध—प्रबुद्ध; वस्तुः—परम सत्य में।

भौतिक शरीर निश्चय ही विधाता के वश में रहता है, अतः यह शरीर तब तक इन्द्रियों तथा प्राण के साथ जीवित रहता है जब तक उसका कर्म प्रभावशाली रहता है। किन्तु स्वरूपसिद्ध

आत्मा, जो परम सत्य के प्रति प्रबुद्ध हो चुका है और जो योग की पूर्ण अवस्था में उच्चारूढ है, कभी भी शरीर तथा उसकी अनेक अभिव्यक्तियों के समक्ष नतमस्तक नहीं होगा क्योंकि वह इसे स्वप्न में देखे गये शरीर के समान जानता है।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् कृष्ण ने पिछले श्लोक में संस्तुति की है कि स्वरूपसिद्ध आत्मा को शरीर पर ध्यान नहीं देना चाहिए, किन्तु यहाँ पर दिये हुए भगवान् के कथन से स्पष्ट है कि मनुष्य को मूर्खतावश न तो शरीर को भूखों मारना चाहिए न क्षति पहुँचानी चाहिए, अपितु तब तक धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिए जब तक पिछले कर्मफल की शृंखला पूरी तरह समाप्त नहीं हो जाती। उस समय शरीर दैव के अनुसार स्वतः मर जायेगा। तब निम्नलिखित संशय उठ सकता है : क्या, यदि कृष्णभावनाभावित व्यक्ति शरीर के पालन में ठीक से ध्यान देता है, तो वह फिर से अनुरक्त हो सकता है ? भगवान् कृष्ण यहाँ पर कहते है कि जो व्यक्ति भगवान् कृष्ण को वास्तविक *वस्तु* के रूप में समझ कर कृष्णभावनामृत में ऊपर उठ चुका है, वह फिर से भौतिक शरीर की मोहमयी पहचान के आगे नहीं झुकता, क्योंकि यह तो स्वप्न में देखे हुए शरीर की तरह होता है।

मयैतदुक्तं वो विप्रा गुह्यं यत्साङ्ख्ययोगयोः ।
जानीत मागतं यज्ञं युष्मद्धर्मविवक्षया ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; एतत्—यह (ज्ञान); उक्तम्—कहा गया; वः—तुमसे; विप्राः—हे ब्राह्मणो; गुह्यम्—गोपनीय; यत्—जो; साङ्ख्य—आत्मा से पदार्थ को विभेदित करने की दार्शनिक विधि का; योगयोः—तथा अष्टांग योग-पद्धति का; जानीत—समझो; मा—मुझको; आगतम्—आया हुआ; यज्ञम्—यज्ञ के स्वामी विष्णु के रूप में; युष्मत्—तुम्हारा; धर्म—धार्मिक कर्तव्य; विवक्षया—बतलाने की इच्छा से।

हे ब्राह्मणो, अब मै तुम लोगों से सांख्य का वह गोपनीय ज्ञान बतला चुका हूँ, जिसके द्वारा मनुष्य पदार्थ तथा आत्मा में अन्तर कर सकता है। मैने तुम लोगों को अष्टांग योग का भी ज्ञान दे दिया है, जिससे मनुष्य ब्रह्म से जुड़ता है। तुम लोग मुझे भगवान् विष्णु समझो जो तुम लोगों के समक्ष वास्तविक धार्मिक कर्तव्य बताने की इच्छा से प्रकट हुआ है।

तात्पर्य : ब्रह्मा के पुत्रों की श्रद्धा को बढ़ाने तथा अपनी शिक्षाओं की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए, अब भगवान् कृष्ण अपने को भगवान् विष्णु कहते है। वैदिक वाङ्मय में कहा गया है *यज्ञो वै विष्णुः ।* सांख्य तथा अष्टांग योग समझाने के बाद, अब वे मुनियों के इस मूल प्रश्न का उत्तर देते है कि,

"आप कौन है ?" इस तरह ब्रह्मा तथा उनके पुत्रों को भगवान् हंस ने ज्ञान प्रदान किया।

अहं योगस्य साङ्ख्यस्य सत्यस्यर्तस्य तेजसः ।
परायणं द्विजश्रेष्ठाः श्रियः कीर्तेर्दमस्य च ॥ ३९॥

शब्दार्थ

अहम्—मै; योगस्य—योग-पद्धति के; साङ्ख्यस्य—सांख्य दर्शन के; सत्यस्य—सत्य के; ऋतस्य—सत्यमय धार्मिक सिद्धान्तों के; तेजसः—शक्ति के; पर-अयनम्—परम आश्रय; द्विज-श्रेष्ठाः—हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो; श्रियः—सौन्दर्य का; कीर्तेः—कीर्ति का; दमस्य—आत्मसंयम का; च—भी।

हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो, तुम लोग यह जानो कि मै योग-पद्धति, सांख्य दर्शन, सत्य, ऋत, तेज, सौन्दर्य, यश तथा आत्मसंयम का परम आश्रय हूँ।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *सत्यस्य* तथा *ऋतस्य* पर्यायवाची शब्द है, जो क्रमशः धार्मिक सिद्धान्तों का समुचित पालन तथा धर्म की विश्वसनीय प्रस्तुति को बतलाने वाले है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इंगित करते है कि भगवान् के प्रस्तुतिकरण से ब्रह्मा के पुत्र आश्चर्यचकित थे और सोच रहे थे, "हमने कितना अद्भुत ज्ञान अभी अभी सुना।" भगवान् ने उनके आश्चर्य को पहचान कर, यह श्लोक कहा जिससे वे उन्हें समझ सकें।

मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम् ।
सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयोऽगुणाः ॥ ४०॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; भजन्ति—सेवा करते तथा शरण ग्रहण करते है; गुणाः—गुण; सर्वे—सभी; निर्गुणम्—गुणों से मुक्त; निरपेक्षकम्—विरक्त; सु-हृदम्—शुभचिन्तक; प्रियम्—अत्यन्त प्रिय; आत्मानम्—परमात्मा को; साम्य—समान रूप से सर्वत्र स्थित; असङ्ग—विरक्ति; आदयः—इत्यादि; अगुणाः—गुणों के विकार से मुक्त।

ऐसे सारे के सारे उत्तम दिव्य गुण—जैसे कि गुणों से परे होना, विरक्त, शुभचिन्तक, अत्यन्त प्रिय, परमात्मा, सर्वत्र समरूप से स्थित तथा भौतिक बन्धन से मुक्त होना—जो कि गुणों के विकारों से मुक्त है, मुझमें शरण तथा पूजनीय वस्तु पाते है।

तात्पर्य : चूँकि पिछले श्लोक में भगवान् कृष्ण ने अपने उत्तम स्वभाव का वर्णन किया है, अतएव ब्रह्मा के पुत्रों ने यह सोच कर कि उन्होंने भगवान् के मन में कुछ अहंकार ढूँढ लिया है, भगवान् के पद के बारे में कुछ सन्देह व्यक्त किया होगा। इसीलिए उन्होंने भगवान् हंस द्वारा दिये गये आदेशों पर सन्देह प्रकट किया होगा। ऐसी हिचकिचाहट की पूर्व कल्पना करते हुए, इस श्लोक में भगवान् तुरन्त

स्थिति स्पष्ट कर देते है। भगवान् बतलाते है कि ब्रह्मा समेत सारे साधारण जीवों के विपरीत, भगवान् का दिव्य शरीर उनके नित्य आत्मा से भिन्न नहीं होता और उनमें मिथ्या अहंकार जैसा भौतिक गुण नहीं होता। भगवान् का दिव्य रूप सच्चिदानन्द रूप है और इस तरह *निर्गुणम्*—गुणों से परे है। चूँकि भगवान्, माया द्वारा प्रदत्त तथाकथित भोग की सर्वथा उपेक्षा करते है, अतएव वे *निरपेक्षकम्* कहलाते है और अपने भक्तों के सर्वश्रेष्ठ हितैषी होने से, *सुहृदम्* कहलाते है। *प्रियम्* बतलाता है कि भगवान् सर्वोच्च प्रेम के पात्र है और वे अपने भक्तों के साथ आश्चर्यजनक स्नेहिल सम्बन्ध स्थापित करते है। *साम्य* सूचित करता है कि भगवान् निरपेक्ष तथा सभी भौतिक स्थितियों में विरक्त रहते है। ये तथा अन्य श्रेष्ठ गुण भगवान् में शरण पाते है तथा पूज्य वस्तु मानते है, जो भौतिक उपाधियों पर ध्यान नहीं देते, अपितु अपनी शरण लेने वाले हर एक को कृपा का दान देते है। *श्रीमद्भागवत* (१.१६-२६.३०) में माता भूमि ने भगवान् के कुछ दिव्य गुण बताए है और *भक्तिरसामृतसिन्धु* में अन्य गुण मिलते है। वस्तुत: भगवान् के गुण असीम है किन्तु यहाँ पर उनमें से थोड़े-से गुण भगवान् की दिव्य स्थिति को स्थापित करने के लिए दिए गये है।

श्रील मध्वाचार्य ने *कालसंहिता* से यह उद्धरण दिया है—''देवताओं में दिव्य गुण पूर्ण रीति से नहीं पाये जाते। उनका ऐश्वर्य सीमित होता है, अतएव वे भगवान् या परब्रह्म की पूजा करते है, जो समस्त भौतिक गुणों से मुक्त होने के साथ ही समस्त दिव्य गुणों से युक्त है। ये गुण उनके शरीर में विद्यमान रहते है।''

इति मे छिन्नसन्देहा मुनयः सनकादयः ।
सभाजयित्वा परया भक्त्यागृणत संस्तवैः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; मे—मेरे द्वारा; छिन्न—विनष्ट; सन्देहाः—सारे सन्देह; मुनयः—मुनिगण; सनक-आदयः—सनक कुमार इत्यादि; सभाजयित्वा—पूर्णतया मेरी पूजा करके; परया—दिव्य प्रेम के लक्षणों से युक्त; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; अगृणत—मेरी महिमा का उच्चारण किया; संस्तवैः—सुन्दर स्तुतियों द्वारा।

भगवान् कृष्ण ने आगे कहा : हे उद्धव, इस प्रकार मेरे वचनों से सनक इत्यादि मुनियों के सारे संदेह नष्ट हो गये। दिव्य प्रेम तथा भक्ति के साथ मेरी पूजा करते हुए, उन्होंने उत्तम स्तुतियों द्वारा मेरी महिमा का गान किया।

तैरहं पूजितः संयक्संस्तुतः परमर्षिभिः ।
प्रत्येयाय स्वकं धाम पश्यतः परमेष्ठिनः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तैः—उनके द्वारा; अहम्—मै; पूजितः—पूजा गया; संयक्—भलीभाँति; संस्तुतः—भलीभाँति स्तुति किया गया; परम-ऋषिभिः—महामुनियों द्वारा; प्रत्येयाय—मै लौट आया; स्वकम्—अपने; धाम—धाम; पश्यतः परमेष्ठिनः—ब्रह्मा के देखते-देखते।

इस तरह सनक ऋषि इत्यादि महामुनियों ने मेरी भलीभाँति पूजा की और मेरे यश का गान किया। मै ब्रह्मा के देखते-देखते अपने धाम लौट गया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के ''हंसावतार द्वारा ब्रह्मा-पुत्रों के प्रश्नों के उत्तर'' नामक तेरहवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौदह

भगवान् कृष्ण द्वारा उद्धव से योग-वर्णन

इस अध्याय में कृष्ण बतलाते हैं कि भगवद्भक्ति सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक विधि है। वे ध्यान के विषय में भी बतलाते हैं।

श्री उद्धव ने यह जानना चाहा कि आध्यात्मिक प्रगति की कौन-सी विधि सर्वश्रेष्ठ है। वे किसी बाह्य मन्तव्य से मुक्त भक्ति की सर्वोत्कृष्टता के विषय में भी सुनना चाहते थे। भगवान् ने बतलाया कि वेदों में बतलाई गई मौलिक धर्म-विधि प्रलय के समय लुप्त हो गई। अत: नवीन सृष्टि के प्रारम्भ में भगवान् ने पुन: ब्रह्मा को वह विधि बतलायी। ब्रह्मा ने इसे मनु से कहा और मनु ने भृगु इत्यादि मुनियों से कहा। इन मुनियों ने इस नित्य धर्म की शिक्षा देवताओं तथा असुरों को दी। जीवों की असंख्य विभिन्न इच्छाओं के कारण, यह धर्म की विधि अनेक प्रकारों से व्याख्यायित हुई। इस तरह अनेक दर्शनों का जन्म हुआ, जिनमें विविध नास्तिक सिद्धान्त भी सम्मिलित हैं। चूँकि जीव माया से विमोहित होने से, अपने शाश्वत लाभ को निश्चित नहीं कर पाता, अतएव वह तपस्या इत्यादि के सामान्य व्रतों को गलती से सर्वोच्च आध्यात्मिक अभ्यास मान लेता है। किन्तु सुख प्राप्त करने का एकमात्र सच्चा साधन है परमेश्वर को हर वस्तु अर्पित करने पर ध्यान करना है। इस प्रकार वह भौतिक इन्द्रिय-विषयों के भोग द्वारा स्वार्थमय तृप्ति के लिए समस्त इच्छाओं से मुक्त हो जाता है और वह भोग या मोक्ष की सारी

लालसाओं से छूट जाता है।

इसके बाद भगवान् भक्ति की श्रेष्ठ विधि का वर्णन करते हैं, जो असंख्य पापकर्मों को नष्ट करती है और आध्यात्मिक सुख के लक्षणों को—यथा रोमांच को—उत्पन्न करती है। शुद्ध भक्ति में हृदय को शुद्ध करने की शक्ति होती है। यह भगवान् की संगति प्राप्त करने में समर्थ बनाती है। चूँकि भक्त भगवान् को अत्यन्त प्रिय होता है और सदैव उनके निकट रहता है, इसलिए वह आगे समूचे ब्रह्माण्ड को शुद्ध कर सकता है। अविचल भगवद्भक्ति के कारण, भक्त कभी भी इन्द्रिय-भोग के विषयों की ओर उन्मुख नहीं होता, चाहे वह प्रारम्भ में अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण न कर सकता हो। जो व्यक्ति जीवन-सिद्धि प्राप्त करने का इच्छुक हो, उसे ऊपर उठने के सभी भौतिक उपाय तथा स्त्रियों की संगति छोड़ देनी चाहिए। तब उसे अपना मन कृष्ण के विचार में लगातार लीन करना चाहिए। अन्त में, भगवान् ने श्री उद्धव को ध्यान की सही वस्तु का उपदेश दिया।

श्रीउद्धव उवाच
वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः ।
तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुख्यता ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; वदन्ति—कहते हैं; कृष्ण—हे कृष्ण; श्रेयांसि—जीवन में प्रगति की विधियाँ; बहूनि—अनेक; ब्रह्म-वादिनः—विद्वान मुनि जिन्होंने वैदिक वाङ्मय की व्याख्या की है; तेषाम्—ऐसी सारीविधियों का; विकल्प—नाना प्रकार की अनुभूतियों की; प्राधान्यम्—श्रेष्ठता; उत—अथवा; अहो—निस्सन्देह; एक—एक की; मुख्यता—प्रधानता।

श्री उद्धव ने कहा : हे कृष्ण, वैदिक वाङ्मय की व्याख्या करने वाले विद्वान मुनिगण मनुष्य-जीवन की सिद्धि के लिए अनेक विधियों की संस्तुति करते हैं। हे प्रभु, इन नाना प्रकार के दृष्टिकोणों पर विचार करते हुए आप मुझे बतलायें कि ये सारी विधियाँ समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं अथवा उनमें से कोई एक सर्वश्रेष्ठ है।

तात्पर्य : भक्तियोग के उच्च पद को स्पष्ट रूप से स्थापित करने के उद्देश्य से श्री उद्धव भगवान् कृष्ण से अनुरोध करते हैं कि आत्म-साक्षात्कार की समस्त विधियों में जो सर्वश्रेष्ठ हो, उसकी पहचान बतायें। सारी वैदिक विधियों से परम लक्ष्य अर्थात् शुद्ध भगवत्प्रेम प्राप्त नहीं होता। कुछ केवल धीरे धीरे जीव की चेतना को उपर उठाती हैं। आत्म-साक्षात्कार की विधि की सामान्य रूपरेखा बतलाने के लिए मुनिगण ऊपर उठने की तमाम विधियों की विवेचना कर सकते हैं। किन्तु जब सर्वश्रेष्ठ विधि को

निश्चित करने का अवसर आता है, तो गौण विधियों को रास्ते से दूर कर देना चाहिए।

भवतोदाहृत: स्वामिन्भक्तियोगोऽनपेक्षित: ।
निरस्य सर्वत: सङ्गं येन त्वय्याविशेन्मन: ॥ २॥

शब्दार्थ

भवता—आपके द्वारा; उदाहृत:—स्पष्ट कहा गया; स्वामिन्—हे स्वामी; भक्ति-योग:—भक्ति; अनपेक्षित:—भौतिक इच्छाओं से रहित; निरस्य—हटाकर; सर्वत:—सभी तरह से; सङ्गम्—संगति; येन—जिस (भक्ति) से; त्वयि—आपमें; आविशेत्—प्रवेश कर सके; मन:—मन।

हे प्रभु, आपने शुद्ध भक्तियोग की स्पष्ट व्याख्या कर दी है, जिससे भक्त अपने जीवन से सारी भौतिक संगति हटाकर, अपने मन को आप पर एकाग्र कर सकता है।

तात्पर्य : अब यह भलीभाँति स्थापित हो चुका है कि परब्रह्म भगवान् कृष्ण में मन एकाग्र करने के लिए शुद्ध भक्ति ही सर्वोत्तम विधि है। अगली बात जिसका स्पष्टीकरण किया जाना है, वह है—क्या इस विधि को हर एक व्यक्ति अपना सकता है या यह केवल कुछ ही विशिष्ट अध्यात्मवादियों के लिए है? विभिन्न आध्यात्मिक विधियों के सापेक्ष लाभों की व्याख्या करते समय, आध्यात्मिक जीवन के लक्ष्य को सुनिश्चित करके, उस विधि को अलग कर लेना चाहिए जिससे यह लक्ष्य प्राप्त हो सके। तब इन विधियों को इनके मुख्य तथा गौण कार्यों के अनुसार परिभाषित करना चाहिए। जिससे सर्वोच्च सिद्धि मिल सके, वह मुख्य विधि है और जो विधि मुख्य विधि में सहायक हो या उसमें संवर्धन करे वह गौण विधि है। मन अत्यन्त चलायमान और अस्थिर है, अतएव मनुष्य को चाहिए कि अपने को शुद्ध बुद्धि से प्रगतिशील जीवन-शैली में स्थिर कर ले। इस तरह से वह इसी जीवन में परब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। श्री उद्धव से कृष्ण की वार्ता का यह गम्भीर प्रयोजन है।

श्रीभगवानुवाच
कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता ।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मक: ॥ ३॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; कालेन—काल के प्रभाव से; नष्टा—विनष्ट; प्रलये—प्रलय के समय; वाणी—सन्देश; इयम्—यह; वेद-संज्ञिता—वेदों से युक्त; मया—मेरे द्वारा; आदौ—सृष्टि के समय; ब्रह्मणे—ब्रह्मा से; प्रोक्ता—कहा गया; धर्म:—धार्मिक सिद्धान्त; यस्याम्—जिसमें; मत्-आत्मक:—मुझसे अभिन्न।

भगवान् ने कहा : काल के प्रभाव से प्रलय के समय वैदिक ज्ञान की दिव्य ध्वनि नष्ट हो गई थी। अतएव जब फिर से सृष्टि बनी, तो मैंने यह वैदिक ज्ञान ब्रह्मा को बतलाया क्योंकि मैं ही

वेदों में वर्णित धर्म हूँ।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण उद्धव को बतलाते हैं कि यद्यपि वेदों में आध्यात्मिक साक्षात्कार की अनेक विधियों एवं विचारों का वर्णन हुआ है, किन्तु वेद अन्ततोगत्वा भगवद्भक्ति की ही संस्तुति करते हैं। भगवान् कृष्ण समस्त आनन्द के आगार हैं और उनके भक्तगण सीधे उनकी ह्लादिनी शक्ति में प्रवेश करते हैं। मनुष्य को जिस-तिस तरह अपने मन को भगवान् कृष्ण में एकाग्र करना है और भक्ति के बिना यह सम्भव नहीं। जिसने भगवान् कृष्ण के प्रति अनुराग उत्पन्न नहीं किया है, वह अपनी इन्द्रियों को ओछे कार्यों में लगने से रोक नहीं सकता। चूँकि अन्य वैदिक विधियों से अभ्यासकर्ता को भगवान् कृष्ण की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतएव वेद जीवन का सर्वोच्च लाभ नहीं दिला सकते। वेदों की दिव्य ध्वनि अपने में सर्वोच्च प्रमाण है, किन्तु जिसकी इन्द्रियाँ तथा मन इन्द्रियतृप्ति तथा मानसिक चिन्तन में लगे हुए हों और जिसका हृदय भौतिक धूल से धूसरित हो, वह प्रत्यक्ष रूप से दिव्य वैदिक सन्देश प्राप्त नहीं कर सकता। इस तरह वह भगवद्भक्ति के उच्च पद को समझ नहीं सकता।

तेन प्रोक्ता स्वपुत्राय मनवे पूर्वजाय सा ।
ततो भृग्वादयोऽगृह्णन्सप्त ब्रह्ममहर्षयः ॥ ४॥

शब्दार्थ

तेन—ब्रह्मा द्वारा; प्रोक्ता—कहा गया; स्व-पुत्राय—अपने पुत्र से; मनवे—मनु को; पूर्व-जाय—सबसे पुराने; सा—वह वैदिक ज्ञान; ततः—मनु से; भृगु-आदयः—भृगु मुनि इत्यादि ने; अगृह्णन्—ग्रहण किया; सप्त—सात; ब्रह्म—वैदिक ज्ञान में; महा-ऋषयः—परम विद्वान मुनियों ने।

ब्रह्मा ने यह वैदिक ज्ञान अपने ज्येष्ठ पुत्र मनु को दिया और तब भृगु मुनि इत्यादि सप्त ऋषियों ने वही ज्ञान मनु से ग्रहण किया।

तात्पर्य : हर मनुष्य अपने स्वभाव तथा लालसाओं के अनुसार एक जीवन-शैली अपनाता है। भक्तियोग उसका एक सहज कृत्य है, जिसका स्वभाव भगवान् की संगति से पूरी तरह शुद्ध हुआ रहता है। अन्य विधियाँ उन लोगों के लिए हैं जिनका स्वभाव अभी तक भौतिक गुणों से प्रभावित रहता है और ऐसी विधियाँ तथा उनके फल भौतिक रूप से दूषित होते हैं। किन्तु भगवद्भक्ति एक शुद्ध आध्यात्मिक विधि है और शुद्ध चेतना से भक्ति करने पर, मनुष्य भगवान् के सीधे सम्पर्क में आता है, जो अपने आपको *भगवद्गीता* (९.२) में *पवित्रम् इदम् उत्तमम्* अर्थात् परम पवित्र बताते हैं। इस श्लोक में तथा पिछले श्लोक में *परम्परा* प्रणाली का वर्णन हुआ है। चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन के

गुरुजन ऐसी परम्परा के अंग हैं और ब्रह्मा द्वारा मनु से कहा गया वैदिक ज्ञान आज भी उसी परम्परा से उपलब्ध होता है।

तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा देवदानवगुह्यकाः ।
मनुष्याः सिद्धगन्धर्वाः सविद्याधरचारणाः ॥५॥
किन्देवाः किन्नरा नागा रक्षःकिम्पुरुषादयः ।
बह्व्यस्तेषां प्रकृतयो रजःसत्त्वतमोभुवः ॥६॥
याभिर्भूतानि भिद्यन्ते भूतानां पतयस्तथा ।
यथाप्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्रवन्ति हि ॥७॥

शब्दार्थ

तेभ्यः—उनसे (भृगु मुनि इत्यादि से); पितृभ्यः—पूर्वजों से; तत्—उनके; पुत्राः—पुत्र, उत्तराधिकारीगण; देव—देवता; दानव—असुर; गुह्यकाः—गुह्यकजन; मनुष्याः—मनुष्य; सिद्ध-गन्धर्वाः—सिद्धजन तथा गन्धर्वगण; स-विद्याधर-चारणाः—विद्याधरों तथा चारणों सहित; किन्देवाः—एक भिन्न मानव जाति; किन्नराः—अर्द्ध मानव; नागाः—सर्प; रक्षः—राक्षस; किम्पुरुष—वानरों की उन्नत नस्ल; आदयः—इत्यादि; बह्व्यः—अनेक प्रकार के; तेषाम्—ऐसे जीवों के; प्रकृतयः—स्वभावों या इच्छाओं; रजः-सत्त्व-तमः-भुवः—तीन गुणों से उत्पन्न होने से; याभिः—ऐसी इच्छाओं या प्रवृत्तियों से; भूतानि—ऐसे सारे जीव; भिद्यन्ते—अनेक रूपों में बँटे प्रतीत होते हैं; भूतानाम्—तथा उनके; पतयः—नेता; तथा—उसी प्रकार से विभक्त; यथा-प्रकृति—लालसा या इच्छा के अनुसार; सर्वेषाम्—उन सबों का; चित्राः—विचित्र; वाचः—वैदिक अनुष्ठान तथा मंत्र; स्रवन्ति—निकलते हैं; हि—निश्चय ही।

भृगु मुनि तथा ब्रह्मा के अन्य पुत्रों जैसे पूर्वजों से अनेक पुत्र तथा उत्तराधिकारी उत्पन्न हुए, जिन्होंने देवताओं, असुरों, मनुष्यों, गुह्यकों, सिद्धों, गन्धर्वों, विद्याधरों, चारणों, किन्देवों, किन्नरों, नागों, किम्पुरुषों इत्यादि के विभिन्न रूप धारण किये। सभी विश्वव्यापी जातियाँ तथा उनके अपने अपने नेता, तीन गुणों से उत्पन्न विभिन्न स्वभाव तथा इच्छाएँ लेकर प्रकट हुए। इसलिए ब्रह्माण्ड में जीवों के विभिन्न लक्षणों के कारण न जाने कितने अनुष्ठान, मंत्र तथा फल हैं।

तात्पर्य : यदि कोई यह जानने का इच्छुक हो कि वेदों में पूजा तथा उन्नति की इतनी सारी विधियाँ क्यों संस्तुत की गई हैं, तो उसका उत्तर यहाँ पर मिलेगा। भृगु, मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह तथा क्रतु—ये सात इस ब्रह्माण्ड के महान् ब्रह्मर्षि और पूर्वज हैं। किन्देव एक प्रकार की मनुष्य जाति है, जो देवताओं की तरह थकान, पसीना तथा शरीर की गन्ध से पूर्णरूपेण रहित होती हैं। उन्हें देख कर यह प्रश्न किया जा सकता है *किं देवाः*—क्या ये दवता हैं? वास्तव में ये ब्रह्माण्ड के किसी अन्य लोक में रहने वाले मानव प्राणी हैं। किन्नर नाम इसलिए पड़ा क्योंकि वे *किञ्चिन् नराः* अर्थात् ''थोड़ा-

सा मनुष्यों की तरह'' हैं। किन्नरों के या तो मनुष्य का सिर होता है या मनुष्य-शरीर (परन्तु दोनों नहीं) किन्तु इसके साथ अमनुष्य रूप भी मिला रहता है। किम्पुरुष मनुष्यों जैसे होते हैं अतएव यह प्रश्न किया जा सकता है *किं पुरुषाः*—क्या ये मनुष्य हैं? वस्तुत: ये बन्दरों की जाति हैं, जो प्राय: मनुष्यों जैसे होते हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि इस श्लोक में भगवान् की नाना प्रकार की विस्मृति का वर्णन हुआ है। विभिन्न वैदिक मंत्र तथा अनुष्ठान ब्रह्माण्ड-भर के बुद्धिमान जीवों की विविध जातियों के निमित्त हैं किन्तु वैदिक आदेशों की प्रचुर उत्पत्ति केवल भौतिक माया की द्योतक है और इनसे परम लक्ष्य की विविधता का पता नहीं लगता। अनेक वैदिक आदेशों का परम उद्देश्य एक ही है कि भगवान् को जाना जाय और उनसे प्रेम किया जाय। इस बात को स्वयं भगवान् उद्धव से बलपूर्वक कह रहे हैं।

एवं प्रकृतिवैचित्र्याद्भिद्यन्ते मतयो नृणाम् ।
पारम्पर्येण केषाञ्चित्पाषण्डमतयोऽपरे ॥ ८॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; प्रकृति—स्वभाव या इच्छाओं के; वैचित्र्यात्—विविधता के कारण; भिद्यन्ते—विभक्त हैं; मतय:—जीवन-दर्शन; नृणाम्—मनुष्यों में; पारम्पर्येण—परम्परा से; केषाञ्चित्—कुछ लोगों में; पाषण्ड—नास्तिक; मतय:—दर्शन; अपरे—अन्य।

इस तरह मनुष्य के बीच नाना प्रकार की इच्छाओं तथा स्वभावों के कारण जीवन के अनेकानेक आस्तिक दर्शन हैं, जो प्रथा, रीति-रिवाज तथा परम्परा द्वारा हस्तान्तरित होते रहते हैं। ऐसे भी शिक्षक हैं, जो नास्तिक दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं।

तात्पर्य : *केषाञ्चित्* संसार के विभिन्न भागों के उन लोगों का द्योतक है, जो वैदिक निष्कर्ष से अनजान हैं और अनेक अवैध तथा व्यर्थ के दर्शन गढ़ते रहते हैं। *पाषण्डमतय:* उनका सूचक है, जो वैदिक निष्कर्ष के विरोधी हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने एक अत्यन्त रोचक उदाहरण दिया है, जो इस प्रकार है—गंगाजल सदैव शुद्ध तथा अत्यन्त मीठा होता है। किन्तु गंगा नदी के तट पर अनेक विषैले वृक्ष होते हैं जिनकी जड़ें मिट्टी से गंगाजल को सोख कर उसे विषैले फल उत्पन्न करने के काम में लाती हैं। इसी तरह जो नास्तिक या आसुरी हैं, वे वैदिक ज्ञान की संगति का उपयोग नास्तिक या भौतिकतावादी दर्शन के विषैले फल उत्पन्न करने में करते हैं।

मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ ।
श्रेयो वदन्त्यनेकान्तं यथाकर्म यथारुचि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

मत्-मया—मेरी माया से; मोहित—मोहग्रस्त; धियः—बुद्धि वाले; पुरुषाः—मनुष्य; पुरुष-ऋषभ—हे पुरुष-श्रेष्ठ; श्रेयः—लोगों के लिए शुभ; वदन्ति—कहते हैं; अनेक-अन्तम्—अनेक प्रकार से; यथा-कर्म—अपने अपने कर्मों के अनुसार; यथा-रुचि—अपनी अपनी रुचि के अनुसार।

हे पुरुष-श्रेष्ठ, मनुष्यों की बुद्धि मेरी माया से मोहग्रस्त हो जाती है अतएव वे, अपने कर्मों तथा अपनी रुचियों के अनुसार, मनुष्यों के लिए जो वास्तव में शुभ है, उसके विषय में असंख्य प्रकार से बोलते हैं।

तात्पर्य : जीव भगवान् की तरह सर्वज्ञ नहीं होता अतएव उसके कार्य तथा उसके आनन्द पूर्ण सत्य का प्रतिनिधित्व नहीं करते। अपने अपने कर्मों (*यथा-कर्म*) तथा अपनी अपनी रुचियों (*यथा-रुचि*) के अनुसार ही मनुष्य दूसरों से कहता है कि उनके लिए क्या शुभ है। हर व्यक्ति सोचता है, "जो मेरे लिए शुभ है, वही हर एक के लिए शुभ है।" वस्तुतः भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करना और इस तरह अपने आनन्द तथा ज्ञान को ठीक से अनुभव करना सबसे अच्छी बात है। परब्रह्म के ज्ञान के बिना, अनेक तथाकथित विद्वानजन अन्य सनकी लोगों को उपदेश देते हैं, जिन्हें जीवन के वास्तविक लक्ष्य का पूरा ज्ञान नहीं होता।

धर्ममेके यशश्चान्ये कामं सत्यं दमं शमम् ।
अन्ये वदन्ति स्वार्थं वा ऐश्वर्यं त्यागभोजनम् ।
केचिद्यज्ञं तपो दानं व्रतानि नियमान्यमान् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

धर्मम्—पुण्यकर्म; एके—कुछ लोग; यशः—ख्याति; च—भी; अन्ये—अन्य लोग; कामम्—इन्द्रियतृप्ति; सत्यम्—सत्य; दमम्—आत्मसंयम; शमम्—शान्तिप्रियता; अन्ये—अन्य लोग; वदन्ति—स्थापना करते हैं; स्व-अर्थम्—आत्म-हित या स्वार्थ का अनुसरण करना; वै—निश्चय ही; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य या राजनीतिक प्रभाव; त्याग—त्याग; भोजनम्—भोग; केचित्—कुछ लोग; यज्ञम्—यज्ञ; तपः—तपस्या; दानम्—दान; व्रतानि—व्रत रखना; नियमान्—नियमित धार्मिक कृत्य; यमान्—कठोर विधियों को।

कुल लोग कहते हैं कि पुण्यकर्म करके सुखी बना जा सकता है। अन्य लोग कहते हैं कि सुख को यश, इन्द्रियतृप्ति, सच्चाई, आत्मसंयम, शान्ति, स्वार्थ, राजनीति का प्रभाव, ऐश्वर्य, संन्यास, भोग, यज्ञ, तपस्या, दान, व्रत, नियमित कृत्य या कठोर अनुशासन द्वारा प्राप्त किया जा

सकता है। हर विधि के अपने अपने समर्थक होते हैं।

तात्पर्य : *धर्मम् एके* उन नास्तिक दार्शनिकों का द्योतक है जिन्हें *कर्ममीमांसक* कहते हैं—जो यह कहते हैं कि हमें ईश्वर के धाम के विषय में चिन्ता करने में समय नहीं गँवाना चाहिए क्योंकि किसी ने न तो उसे देखा है न ही कोई वहाँ से लौटा है। प्रत्युत, उसे कुशलतापूर्वक कर्म के नियमों को उपयोग में लाना चाहिए और सकाम कर्मों को इस प्रकार करना चाहिए जिससे वह सदैव भलीभाँति स्थित रहे। यश के बारे में यह कहा जाता है कि जब तक मनुष्य के यश का गायन पुण्य-लोकों में किया जाता है, तब तक वह स्वर्ग में हजारों वर्षों तक रह सकता है। *कामम् काम-सूत्र* तथा यौन-सुख के बारे में शिक्षा देने वाली लाखों आधुनिक पुस्तकों को बताता है। कुछ लोग कहते हैं कि जीवन का सर्वोच्च गुण ईमानदारी है, अन्य लोग आत्मसंयम, मन:शान्ति इत्यादि को बतलाते हैं। हर दृष्टिकोण के समर्थक तथा शास्त्र हैं। कुछ लोग कहते हैं कि कानून, व्यवस्था तथा नैतिकता ही सर्वोच्च अच्छाई है, जबकि कुछ अन्य लोग प्रस्ताव रखते हैं कि राजनीतिक प्रभाव मनुष्य का असली स्वार्थ है। कुछ लोग कहते हैं कि मनुष्य को चाहिए कि जरूरतमन्द को अपनी भौतिक सम्पत्ति दे दें, कुछ कहते हैं कि जहाँ तक सम्भव हो सके इस जीवन का भोग किया जाय तथा अन्य लोग नित्य कर्म, अनुशासनिक व्रत, तपस्या इत्यादि की संस्तुति करते हैं।

आद्यन्तवन्त एवैषां लोका: कर्मविनिर्मिता: ।
दु:खोदर्कास्तमोनिष्ठा: क्षुद्रा मन्दा: शुचार्पिता: ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

आदि-अन्त-वन्त:—आदि तथा अन्त रखने वाला; एव—निस्सन्देह; एषाम्—उनका (भौतिकतावादियों का); लोका:—अर्जित उपाधियाँ; कर्म—किसी के भौतिक कर्म द्वारा; विनिर्मिता:—उत्पन्न; दु:ख—दुख; उदर्का:—भावी फल के रूप में; तम:—अज्ञान; निष्ठा:—स्थित; क्षुद्रा:—नगण्य; मन्दा:—दुखी; शुचा—शोक से युक्त; अर्पिता:—पूरित।

अभी मैंने जिन सारे पुरुषों का उल्लेख किया है वे अपने अपने भौतिक कर्म के क्षणिक फल प्राप्त करते हैं। निस्सन्देह, वे जिन नगण्य तथा दुखमय स्थितियों को प्राप्त होते हैं, उनसे भावी दुख मिलता है और वे अज्ञान पर आधारित हैं। अपने कर्मफलों का भोग करते हुए भी, ऐसे व्यक्ति शोक से पूरित हो जाते हैं।

तात्पर्य : जो लोग क्षणिक भौतिक वस्तुओं को परम सत्य मान कर पकड़ते हैं, उन्हें कोई भी, स्वयं उनके अतिरिक्त, बुद्धिमान नहीं मानता। ऐसे मूर्ख लोग सदैव चिन्ता से घिरे रहते हैं क्योंकि

प्रकृति के नियमों द्वारा उनके कर्मफल अनिच्छित या अपेक्षित विधियों से रूपान्तरित होते रहते हैं। वैदिक कर्मकाण्डों का कर्ता स्वर्गलोक जा सकता है किन्तु नास्तिक तो नरक का भागी बनता है। संसार का पूरा दृश्य अरोचक तथा मन्द (*मन्दाः*) होता है। भौतिक जगत में असली प्रगति नहीं की जा सकती; इसलिए मनुष्य को कृष्णभावनामृत ग्रहण करना चाहिए और भगवद्धाम जाने की तैयारी करनी चाहिए।

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः ।
मयात्मना सुखं यत्तत्कुतः स्याद्विषयात्मनाम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

मयि—मुझमें; अर्पित—स्थिर; आत्मनः—चेतना वाले का; सभ्य—हे विद्वान उद्धव; निरपेक्षस्य—निष्काम व्यक्ति का; सर्वतः—सभी प्रकार से; मया—मेरे साथ; आत्मना—भगवान् के साथ या अपने आध्यात्मिक शरीर के साथ; सुखम्—सुख; यत् तत्—ऐसा; कुतः—कैसे; स्यात्—हो सकता है; विषय—भौतिक इन्द्रियतृप्ति में; आत्मनाम्—अनुरक्तों का।

हे विद्वान उद्धव, जो लोग समस्त भौतिक इच्छाएँ त्याग कर, अपनी चेतना मुझमें स्थिर करते हैं, वे मेरे साथ उस सुख में हिस्सा बँटाते हैं, जिसे इन्द्रियतृप्ति में संलग्न मनुष्यों के द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता।

तात्पर्य : इस श्लोक में वैदिक ज्ञान का वास्तविक तात्पर्य बतलाया गया है। *विषयात्मनाम्* के अन्तर्गत मन की भौतिक शान्ति, आत्मसंयम तथा शुष्क दर्शन का अनुशीलन करने वाले सम्मिलित हैं। किन्तु ऐसे लोग सत्त्व गुण को प्राप्त कर लेने पर भी, सिद्धि नहीं पाते क्योंकि सत्त्व गुण, भौतिक होने से, *माया* का अंश है। जैसाकि श्री नारद मुनि ने कहा है—

किं वा योगेन सांख्येन न्यास स्वाध्याययोरपि।

किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः ॥

"भगवान् अपने आप को योग, शुष्क दर्शन, वैराग्य या वेदाध्ययन करने वाले को भी अर्पित करने के लिए तैयार नहीं होते। निस्सन्देह, कोई भी तथाकथित भौतिक मंगलकारी विधि भगवान् को प्रकट होने के लिए प्रेरित नहीं कर सकती।" (भागवत ४.३१.१२) श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार कोई व्यक्ति अपने आध्यात्मिक शरीर से भगवान् के परम दिव्य स्वरूप का सान्निध्य प्राप्त करके, इस श्लोक में कहे गये सुख को पाता है। भगवान् का दिव्य स्वरूप अनन्त, अद्भुत गुणों से पूरित है और भगवान् के साथ रहने का सुख असीम है। दुर्भाग्यवश भौतिकतावादी लोग ऐसे सुख की कल्पना भी नहीं कर

सकते, क्योंकि वे भगवान् से प्रेम करने की ओर रंच-भर भी उन्मुख नहीं होते।

अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः ।
मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥ १३॥

शब्दार्थ

अकिञ्चनस्य—कुछ न चाहने वाले का; दान्तस्य—इन्द्रियों पर संयम रखने वाले का; शान्तस्य—शान्त रहने वाले का; सम-चेतसः—समान चेतना वाले का; मया—मुझसे; सन्तुष्ट—पूर्णतया सन्तुष्ट; मनसः—मन वाले; सर्वाः—सभी; सुख-मयाः—सुख से पूर्ण; दिशः—दिशाएँ।

जो इस जगत में कुछ भी कामना नहीं करता, जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में करके शान्ति प्राप्त कर ली है, जिसकी चेतना सभी परिस्थितियों में एक-सी रहती है तथा जिसका मन मुझमें पूर्णतया तुष्ट रहता है, वह जहाँ कहीं भी जाता है उसे सुख ही सुख मिलता है।

तात्पर्य : जो भक्त निरन्तर भगवान् कृष्ण का ध्यान करता रहता है उसे भगवान् की लीलाओं में दिव्य ध्वनि, स्पर्श, रूप, स्वाद तथा सुगन्ध का अनुभव होता है। ये दिव्य अनुभूतियाँ निश्चय ही उस व्यक्ति पर भगवान् कृष्ण की अहैतुकी कृपा से उत्पन्न होती हैं जिनसे उसका मन तथा इन्द्रिय पूर्णतया तुष्ट रहते हैं। ऐसा व्यक्ति जहाँ भी जाता है उसे सुख ही सुख मिलता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर उस धनी व्यक्ति का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जो यात्रा के दौरान जहाँ भी ठहरता है, विलासमय जीवन बिताता है। इसी तरह जिस व्यक्ति में कृष्णभावनामृत उत्पन्न हो जाता है, वह कभी भी सुख से वंचित नहीं होता, क्योंकि भगवान् कृष्ण सर्वव्यापी हैं। *किञ्चन्* शब्द इस जगत की तथाकथित भोग्य वस्तुओं का सूचक है। *अकिञ्चन* व्यक्ति ठीक से जानता है कि इन्द्रियतृप्ति केवल माया की चमक है अतएव ऐसा व्यक्ति *दान्तस्य, शान्तस्य* तथा *सन्तुष्ट-मनसः* होता है।

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥ १४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; पारमेष्ठ्यम्—ब्रह्मा का पद या धाम; न—कभी नहीं; महा-इन्द्र-धिष्ण्यम्—इन्द्र का पद; न—न तो; सार्वभौमम्—पृथ्वी पर साम्राज्य; न—न ही; रस-आधिपत्यम्—निम्न लोकों में सर्वश्रेष्ठता; न—कभीनहीं; योग-सिद्धीः—आठ योग-सिद्धियाँ; अपुनः-भवम्—मोक्ष; वा—न तो; मयि—मुझमें; अर्पित—स्थिर; आत्मा—चेतना; इच्छति—वह चाहता है; मत्—मुझको; विना—बिना; अन्यत्—अन्य कोई वस्तु।

जिसने अपनी चेतना मुझमें स्थिर कर रखी है, वह न तो ब्रह्मा या इन्द्र के पद या उनके धाम की कामना करता है, न इस पृथ्वी के साम्राज्य, न निम्न लोकों की सर्वश्रेष्ठता, न योग की आठ सिद्धियों की, न जन्म-मृत्यु से मोक्ष की कामना करता है। ऐसा व्यक्ति एकमात्र मेरी कामना करता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अकिञ्चन* शुद्ध भक्त के पद का वर्णन हुआ है। श्री प्रियव्रत महाराज ऐसे महान् भक्त के उदाहरण हैं, जो सार्वभौम सत्ता में तनिक भी रुचि नहीं रखते थे क्योंकि उनका प्रेम पूर्णतया भगवान् के चरणकमलों में लीन था। शुद्ध भगवद्भक्त के लिए बड़ा से बड़ा भौतिक भोग तुच्छ तथा व्यर्थ प्रतीत होता है।

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः ।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तथा—उसी प्रकार से; मे—मुझको; प्रिय-तमः—सर्वाधिक प्रिय; आत्म-योनिः—मेरे शरीर से उत्पन्न, ब्रह्मा; न—न तो; सङ्करः—शिवजी; न—न तो; च—भी; सङ्कर्षणः—मेरा स्वांश संकर्षण; न—न तो; श्रीः—लक्ष्मीजी; न—न तो; एव—निश्चय ही; आत्मा—अर्चाविग्रह के रूप में मेरी आत्मा; च—भी; यथा—जितना कि; भवान्—तुम।

हे उद्धव, न तो ब्रह्मा, शिव, संकर्षण, लक्ष्मीजी, न ही मेरी आत्मा ही मुझे इतने प्रिय हैं जितने कि तुम हो।

तात्पर्य : पिछले श्लोकों में भगवान् ने अपने प्रति शुद्ध भक्तों के शुद्ध प्रेम का वर्णन किया है। अब वे अपने भक्तों के प्रति अपने प्रेम का वर्णन करते हैं। *आत्म-योनि* का अर्थ है ब्रह्मा, जो कि सीधे भगवान् के शरीर से उत्पन्न हैं। शिवजी भगवान् कृष्ण का निरन्तर ध्यान करने से कृष्ण को परम आनन्द प्रदान करते हैं और संकर्षण या बलराम तो कृष्ण-लीला में उनके भाई हैं। लक्ष्मी उनकी पत्नी हैं। *आत्मा* शब्द यहाँ पर अर्चाविग्रह रूप में स्वयं भगवान् का सूचक है। इनमें से कोई भी व्यक्ति, यहाँ तक कि भगवान् की आत्मा भी, भगवान् को उतना प्रिय नहीं है जितना कि उनका शुद्ध भक्त उद्धव है, जो भगवान् के *अकिञ्चन* भक्त हैं। श्रील मध्वाचार्य ने वैदिक वाङ्मय से एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है, जिसमें एक व्यक्ति गरीब भिखारी को दान देने के लिए अपने तथा अपने बच्चों के हित की उपेक्षा कर देता है। इसी तरह भगवान् उस असहाय भक्त को वरीयता प्रदान करते हैं, जो उनकी कृपा पर ही अवलम्बित रहता है। भगवान् की कृपा प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है उनके प्रति अहैतुक प्रेम और

भगवान् उन भक्तों की ओर प्रेम में विशेष उन्मुख रहते हैं, जो उन पर सर्वाधिक आश्रित रहते हैं, जिस प्रकार कि माता-पिता अपने असहाय बच्चों की चिन्ता आत्म-निर्भर बच्चों की अपेक्षा अधिक करते हैं। अत: यदि किसी में किसी भौतिक गुण का अभाव भी हो, तो उसे नि:स्वार्थ भाव से भगवान् पर ही निर्भर रहना चाहिए। इससे उसे जीवन की सर्वोच्च सिद्धि अवश्यमेव प्राप्त होगी।

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

निरपेक्षम्—निजी इच्छा से रहित; मुनिम्—मेरी लीलाओं में मेरी सहायता करने के ही विचार में मग्न; शान्तम्—शान्त; निर्वैरम्—किसी से बैर न रखते हुए; सम-दर्शनम्—सर्वत्र एकसमान चेतना; अनुव्रजामि—अनुसरण करता हूँ; अहम्—मैं; नित्यम्—सदैव; पूयेय—शुद्ध होऊँ; इति—इस प्रकार; अङ्घ्रि—चरणकमलों की; रेणुभिः—धूल से।

मैं अपने भक्तों के चरणकमलों की धूल से अपने भीतर स्थित भौतिक जगतों को शुद्ध बनाना चाहता हूँ। इसलिए मैं सदैव अपने उन शुद्ध भक्तों के पदचिन्हों का अनुसरण करता हूँ जो निजी इच्छाओं से रहित हैं, जो मेरी लीलाओं के विचार में मग्न रहते हैं, शान्त हैं, शत्रुभाव से रहित हैं तथा सर्वत्र समभाव रखते हैं।

तात्पर्य : जिस तरह भक्तगण सदैव भगवान् कृष्ण के पदचिह्नों का अनुसरण करते हैं, उसी तरह भगवान् कृष्ण, अपने भक्तों के भक्त होने के कारण, उन भक्तों के पदचिह्नों का अनुसरण करते हैं। भगवान् का शुद्ध सेवक सदैव भगवान् की लीलाओं का ध्यान करता है और यह सोचता रहता है कि उनके उद्देश्य में उन्हें किस तरह सहायता पहुँचाई जाय। सारे ब्रह्माण्ड श्रीकृष्ण के शरीर के भीतर स्थित हैं, जैसाकि उन्होंने अर्जुन, माता यशोदा तथा अन्यों को प्रदर्शित किया है। चूँकि कृष्ण भगवान् हैं अतएव उनमें किसी प्रकार के कल्मष होने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी भगवान् अपने शुद्ध भक्तों के चरणकमलों की धूल लेकर अपने भीतर स्थित ब्रह्माण्डों को शुद्ध करना चाहते हैं। भक्तों के चरणकमलों की धूल लिए बिना, शुद्ध भक्ति में लग पाना सम्भव नहीं और शुद्ध भक्ति के बिना दिव्य आनन्द का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कियाजा सकता। भगवान् कृष्ण ने सोचा, "मैंने यह कठोर नियम बना रखा है कि कोई भी व्यक्ति मेरे भक्तों के चरणकमलों की धूल से प्राप्त भक्ति के द्वारा ही मेरे दिव्य आनन्द का भोग कर सकता है। चूँकि मैं भी अपना आनन्द अनुभव करना चाहता हूँ, इसलिए मैं आदर्श विधि का पालन करूँगा और अपने भक्तों के चरणकमलों की धूल ग्रहण करूँगा।" श्रील

मध्वाचार्य इंगित करते हैं कि भगवान् कृष्ण अपने भक्तों के पदचिह्नों का अनुसरण उन्हें शुद्ध बनाने के लिए ही करते हैं। जब भगवान् अपने भक्तों के पीछे पीछे चलते हैं, तो वायु भगवान् की चरण-धूलि को उनके भक्तों के सामने उड़ाकर ले जाती है और वे इस दिव्य धूल का स्पर्श पाकर शुद्ध बन जाते हैं। किसी को मूर्खतावश भगवान् की इन दिव्य लीलाओं के विषय में तर्क नहीं करना चाहिए। यह तो भगवान् तथा उनके भक्तों के मध्य प्रेम का प्रश्न है।

निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतसः
शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः ।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति ते
यन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम ॥ १७॥

शब्दार्थ

निष्किञ्चनाः—इन्द्रियतृप्ति की इच्छा से रहित; मयि—मुझ भगवान् में; अनुरक्त-चेतसः—निरन्तर अनुरक्त मन; शान्ताः—शान्त; महान्तः—मिथ्या अभिमान से रहित महान् आत्माएँ; अखिल—समस्त; जीव—जीवों के प्रति; वत्सलाः—स्नेहिल शुभचिन्तक; कामैः—इन्द्रियतृप्ति के लिए अवसरों से; अनालब्ध—अछूता तथा अप्रभावित; धियः—जिसकी चेतना; जुषन्ति—अनुभव करते हैं; ते—वे; यत्—जो; नैरपेक्ष्यम्—पूर्ण विरक्ति द्वारा ही प्राप्त हुआ; न विदुः—नहीं जानते; सुखम्—सुख; मम—मेरा।

जो निजी तृप्ति की किसी इच्छा से रहित हैं, जिनके मन सदैव मुझमें अनुरक्त रहते हैं, जो शान्त, मिथ्या अभिमान से रहित तथा समस्त जीवों पर दयालु हैं तथा जिनकी चेतना कभी भी इन्द्रियतृप्ति के अवसरों से प्रभावित नहीं होती, ऐसे व्यक्ति मुझमें ऐसा सुख पाते हैं जिसे वे व्यक्ति प्राप्त नहीं कर पाते या जान भी नहीं पाते जिनमें भौतिक जगत से विरक्ति का अभाव है।

तात्पर्य : शुद्ध भक्तगण आनन्द के आगार श्रीकृष्ण की सेवा में सदैव दिव्य आनन्द का अनुभव करते हैं। इस तरह वे भौतिक आनन्द से पूरी तरह विरक्त होते हैं और मुक्ति की भी कामना नहीं करते। चूँकि अन्य सारे लोगों में कुछ न कुछ निजी इच्छा होती है, अतएव वे ऐसे आनन्द का अनुभव नहीं कर सकते। कृष्ण-भक्त अन्यों को सदैव कृष्णभावनाभावित सुख देने की इच्छा रखते हैं, इसलिए वे *महान्तः* या महान् आत्माएँ कहलाते हैं। भक्त द्वारा सेवा किये जाने के दौरान, इन्द्रियतृप्ति के अनेक अवसर उपस्थित होते हैं, किन्तु शुद्ध भक्त उनसे आकृष्ट नहीं होता है और वह अपने उच्च दिव्य पद से नीचे नहीं गिरता।

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः ।

प्राय: प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

बाध्यमान:—सताया जाकर; अपि—भी; मत्-भक्त:—मेरा भक्त; विषयै:—इन्द्रिय-विषयों द्वारा; अजित—बिना जीता गया; इन्द्रिय:—इन्द्रियों द्वारा; प्राय:—सामान्यतया; प्रगल्भया—प्रभावशाली तथा दृढ़; भक्त्या—भक्ति से; विषयै:—इन्द्रियतृप्ति द्वारा; न—नहीं; अभिभूयते—परास्त होता है।

हे उद्धव, यदि मेरा भक्त पूरी तरह से अपनी इन्द्रियों को जीत नहीं पाता, तो वह भौतिक इच्छाओं द्वारा सताया जा सकता है, किन्तु मेरे प्रति अविचल भक्ति के कारण, वह इन्द्रियतृप्ति द्वारा परास्त नहीं किया जायेगा।

तात्पर्य : *अभिभूयते* सूचक है भौतिक जगत में गिरने तथा माया द्वारा परास्त होने का। किन्तु जिस व्यक्ति में कृष्ण के प्रति अविचल भक्ति होती है, वह अपनी इन्द्रियों को पूरी तरह न जीत पाने पर भी भगवान् से विलग नहीं हो सकता। *प्रगल्भया भक्त्या* सूचक है उसका जो कृष्ण में प्रगाढ़ भक्ति रखता है, उसका नहीं जो पापकर्म करने का इच्छुक रहता है और कर्मफल से बचने के लिए हरे कृष्ण कीर्तन करता है। पिछली बुरी आदतों एवं अपरिपक्वता के कारण निष्ठावान् भक्त भी देहात्म बुद्धि के प्रति दीर्घकालिक आकर्षण के कारण पीड़ित रह सकता है, लेकिन कृष्ण के प्रति अविचल भक्ति कारगर सिद्ध होगी। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित दो उदाहरण दिये हैं। अपने शत्रु द्वारा आहत महान् योद्धा अपने साहस तथा बल के कारण न तो पराजित होता है न ही मारा जाता है। वह वार को सहता है और विजयी होता है। इसी तरह मनुष्य को कोई घातक रोग हो सकता है किन्तु सही दवा लेने पर वह तुरन्त अच्छा हो जाता है।

यदि निर्विशेष चिन्तन तथा तपस्या करने वाले लोग थोड़ा भी विचलित होते हैं, तो वे गिर जाते हैं। किन्तु भक्त अपरिपक्व होते हुए भी, अपने भक्ति-मार्ग से कभी च्युत नहीं होता। यदि उसमें कभी कोई दुर्बलता दिखती भी है, तो भी वह भक्त माना जाता है यदि कृष्ण के प्रति उसकी भक्ति अति प्रबल होती है। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.३०) में भगवान् ने कहा है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यभाक्।

साधुरेव स मन्तव्य: सम्यग व्यवसितो हि स: ॥

"यदि कोई जघन्यतम कर्म भी करता है, किन्तु यदि वह भक्ति में रत रहता है, तो उसे साधु मानना चाहिए, क्योंकि वह अपने संकल्प में अडिग रहता है।"

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अग्निः—आग; सु-समृद्ध—धधकती हुई; अर्चिः—लपटों वाली; करोति—बदल देती है; एधांसि—लकड़ी को; भस्म-सात्—राख में; तथा—उसी तरह; मत्-विषया—मुझे लक्ष्य बनाकर; भक्तिः—भक्ति; उद्धव—हे उद्धव; एनांसि—पाप करता है; कृत्स्नशः—पूरी तरह से।

हे उद्धव, जिस तरह धधकती अग्नि ईंधन को जलाकर राख कर देती है, उसी तरह मेरी भक्ति मेरे भक्तों द्वारा किये गये पापों को पूर्णतया भस्म कर देती है।

तात्पर्य : ध्यान देना होगा कि भगवान् भक्ति को धधकती अग्नि बतला रहे हैं। पवित्र नाम कीर्तन के बल पर पापकर्म करना सबसे बड़ा अपराध है, अतएव जो ऐसा अपराध करता है उसकी भक्ति की तुलना कृष्ण-प्रेम की धधकती अग्नि से नहीं की जा सकती। जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, एक निष्ठावान भक्त अपनी अपरिपक्वता या पुराने दुर्गुणों के कारण कृष्ण को अपना जीवन-लक्ष्य स्वीकार करने के बाद भी, इन्द्रियों द्वारा विचलित किया जा सकता है। किन्तु यदि संयोगवश ऐसा भक्त च्युत होता है, तो भगवान् उसके कर्मफलों को भस्म कर देते हैं, जिस तरह धधकती अग्नि लकड़ी के छोटे-से टुकड़े को तुरन्त जला देती है। भगवान् कृष्ण यशस्वी हैं और जो भगवान् की शरण ग्रहण करता है, उसे भगवद्भक्ति के अद्वितीय लाभ प्राप्त होते हैं।

न साधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥ २० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; साधयति—वश में करती है; माम्—मुझको; योगः—योग-पद्धति; न—न तो; साङ्ख्यम्—सांख्य दर्शन; धर्मः—वर्णाश्रम प्रणाली के अन्तर्गत पवित्र कार्यकलाप; उद्धव—हे उद्धव; न—नहीं; स्वाध्यायः—वैदिक अध्ययन; तपः—तपस्या; त्यागः—त्याग; यथा—जिस तरह; भक्तिः—भक्ति; मम—मेरे प्रति; ऊर्जिता—विकसित।

हे उद्धव, भक्तों द्वारा की जाने वाली मेरी शुद्ध भक्ति मुझे उनके वश में करने वाली है। अतएव योग, सांख्य दर्शन, शुद्ध कार्य, वैदिक अध्ययन, तप अथवा वैराग्य में लगे व्यक्तियों के द्वारा मैं भी वशीभूत नहीं होता।

तात्पर्य : भले ही योग, सांख्य दर्शन आदि का लक्ष्य कृष्ण हो, किन्तु ऐसे कार्य भगवान् को उतना नहीं भाते जितना कि भगवान् का श्रवण, कीर्तन तथा उनके मिशन को पूरा करने वाली प्रत्यक्ष

प्रेमाभक्ति। श्रील रूप गोस्वामी बतलाते हैं—*ज्ञानकर्माद्यनावृतम्*—भक्त को केवल कृष्ण पर आश्रित रहना चाहिए। उसे सकाम कर्म या मनोधर्म की ओर उन्मुख होकर व्यर्थ ही अपनी प्रेमाभक्ति को जटिल नहीं बनाना चाहिए। वृन्दावनवासी केवल कृष्ण पर आश्रित रहते हैं। जब व्रज के निकट अघासुर नामक विशाल सर्प प्रकट हुआ तो अपने मित्र कृष्ण पर पूर्ण विश्वास रखने वाले ग्वालबालों ने निर्भय होकर उस सर्प के विशाल मुख में प्रवेश किया। कृष्ण के प्रति ऐसा शुद्ध प्रेम ही भगवान् को भक्त के वशीभूत बनाता है।

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

भक्त्या—भक्ति से; अहम्—मैं; एकया—शुद्ध; ग्राह्यः—प्राप्त किया जाने वाला; श्रद्धया—श्रद्धा से; आत्मा—भगवान्; प्रियः—प्रेम की वस्तु; सताम्—भक्तों की; भक्तिः—शुद्ध भक्ति; पुनाति—पवित्र बनाती है; मत्-निष्ठा—मुझको एकमात्र लक्ष्य बनाकर; श्व-पाकान्—चांडाल; अपि—भी; सम्भवात्—निम्न जन्म के कल्मष से।

मुझ पर पूर्ण श्रद्धा से युक्त शुद्ध भक्ति का अभ्यास करके ही मुझे अथात् पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। मैं स्वभावतः अपने उन भक्तों को प्रिय हूँ जो मुझे ही अपनी प्रेमाभक्ति का एकमात्र लक्ष्य मानते हैं। ऐसी शुद्ध भक्ति में लगने से चांडाल तक अपने निम्न जन्म के कल्मष से अपने को शुद्ध कर सकते हैं।

तात्पर्य : *सम्भवात्* सूचक है *जाति-दोषात्* अर्थात् निम्न कुल के दूषण से। *जाति-दोष* सांसारिक, सामाजिक, आर्थिक या वृत्तिपरक पद का सूचक नहीं है, प्रत्युत आध्यात्मिक प्रबुद्धता की मात्रा का द्योतक है। विश्व-भर में अनेक लोग धनी तथा बलवान परिवारों में जन्म लेते हैं, किन्तु वे प्रायः अनेक घृणित आदतें ग्रहण कर लेते हैं, जो उनकी पारिवारिक प्रथा की अंग होती हैं। किन्तु शुद्ध भक्ति की शक्ति से ऐसे अभागे व्यक्ति भी तुरन्त शुद्ध हो जाते हैं, जिन्हें जन्म से ही पापकर्मों में लगने की शिक्षा दी जाती है। ऐसी सेवा का एकमात्र लक्ष्य कृष्ण (*मन्निष्ठा*) होना चाहिए, उसे श्रद्धापूर्वक सम्पन्न किया जाना चाहिए (*श्रद्धया*) और उसे शुद्ध अर्थात् स्वार्थ से रहित (*एकया*) होना चाहिए।

धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता ।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक्प्रपुनाति हि ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त; सत्य—सच्चाई; दया—तथा दया से; उपेतः—युक्त; विद्या—ज्ञान; वा—अथवा; तपसा—तपस्या से; अन्विता—युक्त; मत्-भक्त्या—मेरी भक्ति से; अपेतम्—रहित; आत्मानम्—चेतना; न—नहीं; सम्यक्—पूर्णतया; प्रपुनाति—शुद्ध बनाती है; हि—निश्चय ही।

न सत्य तथा दया से युक्त धार्मिक कार्य, न ही कठिन तपस्या से प्राप्त किया गया ज्ञान उनकी चेतना को पूर्णतया शुद्ध बना सकता है, जो मेरी भक्ति से विहीन होते हैं।

तात्पर्य : यद्यपि पवित्र धार्मिक कार्य, सत्य, दया, तपस्या तथा ज्ञान अंशतः जीवन को शुद्ध बनाने वाले हैं, किन्तु इनसे भौतिक इच्छाएँ समूल नष्ट नहीं होतीं। इस तरह वही इच्छाएँ बाद में फिर से प्रकट होंगी। भौतिक तृप्ति के विस्तृत कार्यक्रम के बाद, मनुष्य तपस्या करने, ज्ञान अर्जित करने, निःस्वार्थ कर्म करने और अपने जीवन को शुद्ध बनाने के प्रति उत्सुक हो जाता है। किन्तु पर्याप्त पवित्रता तथा शुद्धि के बाद, वह पुनः भौतिक भोग के लिए उत्सुक हो उठता है। खेतों की सफाई करते समय अवांछित पौधों को समूल नष्ट कर देना चाहिए अन्यथा वर्षा आते ही वे फिर हरे-भरे हो उठेंगे। भगवान् के प्रति शुद्ध भक्ति मनुष्य की भौतिक इच्छाओं का उच्छेदन कर देती है, जिससे पुनः भौतिक तृप्ति की अधोगति को प्राप्त होने का भय नहीं रहता। भगवद्धाम में भगवान् तथा उनके भक्तों के बीच प्रेम का आदान-प्रदान चलता रहता है। जो प्रबुद्ध की इस अवस्था को प्राप्त नहीं हो पाता, वह भौतिक पद पर बना रहता है, जो त्रुटियों तथा विरोधाभासों से पूर्ण है। इस तरह भगवद्भक्ति के बिना हर वस्तु अपूर्ण होती है।

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनानन्दाश्रुकलया शुध्येद्भक्त्या विनाशयः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

कथम्—कैसे; विना—बिना; रोम-हर्षम्—रोंगटे खड़े होना, रोमांच; द्रवता—पिघला; चेतसा—हृदय से; विना—रहित; विना—रहित; आनन्द—आनन्द के; अश्रु-कलया—आँसू बहना; शुध्येत्—शुद्ध किया जा सकता है; भक्त्या—भक्ति से; विना—रहित; आशयः—चेतना।

यदि किसी को रोमांच नहीं होता, तो उसका हृदय कैसे द्रवित हो सकता है? और यदि हृदय द्रवित नहीं होता, तो आँखों से प्रेमाश्रु कैसे बह सकते हैं? यदि कोई आध्यात्मिक सुख में चिल्ला नहीं उठता, तो वह भगवान् की प्रेमाभक्ति कैसे कर सकता है? और ऐसी सेवा के बिना चेतना कैसे शुद्ध बन सकती है?

तात्पर्य : भगवान् की प्रेमाभक्ति ही वह विधि है, जिससे मनुष्य की चेतना पूर्णतया शुद्ध हो सकती है। ऐसी भक्ति से भाव की तरंगें उत्पन्न होती हैं, जो आत्मा को पूरी तरह विमल बना देती हैं। जैसाकि कृष्ण ने पहले ही उद्धव से बताया है, आत्म-निग्रह, शुद्ध कर्म, योग, तपस्या जैसी विधियाँ मन को शुद्ध करने वाली हैं जिसका उल्लेख अनेक प्रामाणिक ग्रंथों में हुआ है। किन्तु ऐसी विधियाँ निषिद्ध कर्मों को करने की इच्छा को पूरी तरह से दूर नहीं कर पातीं। परन्तु भगवत्प्रेमवश सम्पन्न शुद्ध भक्ति इतनी प्रबल होती है कि वह प्रगति के मार्ग के किसी भी अवरोध को जलाकर भस्म कर देती है। इस अध्याय में भगवान् ने कहा है कि उनकी प्रेमाभक्ति वह धधकती आग है, जो सारे अवरोधों को भस्म कर देती है। इसके विपरीत, मानसिक चिन्तन (मनोधर्म) या योग की लघु अग्नियाँ पापपूर्ण इच्छाओं के द्वारा किसी भी क्षण बुझाई जा सकती हैं। अत: *श्रीमद्भागवत* के श्रवण द्वारा मनुष्य को भगवान् के प्रति प्रेमाभक्ति रूपी धधकती अग्नि जलानी चाहिए और भौतिक मोह के पाश को भस्म कर देना चाहिए।

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥ २४॥

शब्दार्थ

वाक्—वाणी; गद्गदा—रुद्ध; द्रवते—पिघलता है; यस्य—जिसका; चित्तम्—हृदय; रुदति—रोता है; अभीक्ष्णम्—पुन: पुन:; हसति—हँसता है; क्वचित्—कभी; च—भी; विलज्ज:—लज्जित; उद्गायति—जोरों से गा उठता है; नृत्यते—नाचता है; च—भी; मत्-भक्ति-युक्त:—मेरी भक्ति में स्थिर; भुवनम्—ब्रह्माण्ड को; पुनाति—पवित्र करता है।

वह भक्त जिसकी वाणी कभी रुद्ध हो जाती है, जिसका हृदय द्रवित हो उठता है, जो निरन्तर चिल्लाता है और कभी हँसता है, जो लज्जित होता है और जोरों से चिल्लाता है, फिर नाचने लगता है—इस तरह से मेरी भक्ति में स्थिर भक्त सारे ब्रह्माण्ड को शुद्ध करता है।

तात्पर्य : *वाग् गद्गदा* द्योतक है अत्यधिक भावनामयी स्थिति का जिसमें कण्ठ रुद्ध हो जाता है और मनुष्य अपने को व्यक्त नहीं कर पाता। *विलज्ज:* शब्द यह सूचित करता है कि भक्त कभी कभी शारीरिक कार्यों तथा विगत पाप-कृत्यों की स्मृतियों के कारण उद्विग्न हो उठता है। इस अवस्था में भक्त जोर जोर से चिल्लाकर कृष्ण का नाम लेता है और कभी कभी आनन्दमग्न होकर नाचने लगता

है। ऐसा भक्त तीनों लोकों को पवित्र करता है।

हृदय द्रवित होने से मनुष्य आध्यात्मिक जीवन में स्थिर हो जाता है। सामान्यतया, जिसका हृदय आसानी से द्रवित हो उठता है उसे अस्थिर माना जाता है, किन्तु कृष्ण तो समस्त जगत की स्थिर नींव हैं अतएव जिसका हृदय कृष्ण-प्रेम में द्रवित होता है, वह सर्वाधिक स्थिर हो जाता है और वह विरोधमूलक तर्कों, शारीरिक कष्ट, मानसिक समस्याओं, आधिदैविक आपदाओं या ईर्ष्यालु व्यक्तियों के हस्तक्षेप से विचलित नहीं हो सकता। चूँकि ऐसा भक्त भगवान् की प्रेमाभक्ति में स्थिर रहता है, अतएव वह भगवान् का हृदय ही बन जाता है।

यथाग्निना हेम मलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम् ।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अग्निना—अग्नि से; हेम—स्वर्ण; मलम्—अशुद्ध; जहाति—त्याग देता है; ध्मातम्—पिघलाया; पुनः—फिर; स्वम्—अपने से; भजते—प्रवेश करता है; च—भी; रूपम्—स्वरूप; आत्मा—आत्मा या चेतना; च—भी; कर्म—सकाम कर्मों का; अनुशयम्—बचा दूषण; विधूय—हटाकर; मत्-भक्ति-योगेन—मेरी भक्ति से; भजति—पूजा करता है; अथो—इस प्रकार; माम्—मुझको।

जिस तरह आग में पिघलाने से सोना अपनी अशुद्धियाँ त्याग कर शुद्ध चमक प्राप्त कर लेता है, उसी तरह भक्तियोग की अग्नि में लीन आत्मा पूर्व सकाम कर्मों से उत्पन्न सारे कल्मष से शुद्ध बन जाता है और वैकुण्ठ में मेरी सेवा करने के अपने आदि पद को प्राप्त करता है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार यह श्लोक सूचित करता है कि भक्त भगवद्धाम वापस जाता है और वहाँ पर अपने आदि आध्यात्मिक शरीर में, जिसकी उपमा पिघले सोने के आदि शुद्ध रूप से की जाती है, भगवान् कृष्ण की पूजा करता है। निकृष्ट धातुएँ मिली होने पर सोने को जल तथा साबुन से शुद्ध नहीं किया जा सकता। इसी तरह हृदय की अशुद्धियों को बाह्य विधियों से नहीं हटाया जा सकता। ईश-प्रेम की अग्नि ही मनुष्य के आत्मा को विमल बनाकर उसे भगवान् की नित्य भक्ति में लगाने के लिए भगवद्धाम भेज सकती है।

यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ

मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं
चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यथा यथा—जितना; आत्मा—आत्मा, चेतन जीव; परिमृज्यते—भौतिक कल्मष से विमल होता है; असौ—वह; मत्-पुण्य-गाथा—मेरे यश का पवित्र वर्णन; श्रवण—सुनने से; अभिधानैः—तथा कीर्तन से; तथा तथा—उसी अनुपात में; पश्यति—देखता है; वस्तु—परब्रह्म को; सूक्ष्मम्—सूक्ष्म; चक्षुः—आँख; यथा—जिस तरह; एव—निश्चय ही; अञ्जन—औषधि के अंजन से; सम्प्रयुक्तम्—उपचारित।

जब रुग्ण आँख का उपचार औषधीय अंजन से किया जाता है, तो आँख में धीरे धीरे देखने की शक्ति आ जाती है। इसी तरह जब चेतनामय जीव मेरे यश की पुण्य गाथाओं के श्रवण तथा कीर्तन द्वारा अपने भौतिक कल्मष को धो डालता है, तो वह फिर से मुझ परब्रह्म को मेरे सूक्ष्म आध्यात्मिक रूप में देखने की शक्ति पा लेता है।

तात्पर्य : भगवान् *सूक्ष्म* कहलाते हैं क्योंकि वे शुद्ध आध्यात्मिक चेतना हैं, जिन्हें भौतिक शक्ति छू तक नहीं पाती। यदि कोई व्यक्ति निष्ठापूर्वक कृष्ण के नाम तथा यश का कीर्तन और श्रवण करता है, तो इसका दिव्य प्रभाव तुरन्त पड़ता है। यदि हम यहाँ पर उल्लिखित विधि को अपना लें, तो हम तुरन्त भगवान् के धाम तथा उनकी लीलाओं का दर्शन कर सकते हैं। अन्धा व्यक्ति उस वैध का आजीवन कृतज्ञ रहता है, जो उसको फिर से दृष्टि देता है। इसी तरह हम गाते हैं—*चक्षु-दान दिल ये, जन्मे जन्मे प्रभु सेइ*—भगवान् कृष्ण का प्रतिनिधि स्वरूप प्रामाणिक गुरु हमें आध्यात्मिक दृष्टि देता है, तो इस तरह वह हमारा नित्य स्वामी है।

विषयान्ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥ २७॥

शब्दार्थ

विषयान्—इन्द्रियृप्ति की वस्तुएँ; ध्यायतः—ध्यान करने वाला; चित्तम्—चेतना को; विषयेषु—इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं में; विषज्जते—अनुरक्त होता है; माम्—मुझको; अनुस्मरतः—निरन्तर स्मरण करता हुआ; चित्तम्—चेतना को; मयि—मुझमें; एव—निश्चय ही; प्रविलीयते—लीन रहता है।

इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं का ध्यान धरने वाले का मन निश्चय ही ऐसी वस्तुओं में फँसा रहता है, किन्तु यदि कोई निरन्तर मेरा स्मरण करता है, तो उसका मन मुझमें निमग्न हो जाता है।

तात्पर्य : किसी को यह नहीं सोच लेना चाहिए कि यांत्रिक रूप से भगवान् की पूजा में लगने से कृष्ण का पूर्ण दिव्य ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ पर कृष्ण कहते हैं कि मन के भीतर भगवान्

को बनाये रखने के लिए मनुष्य को निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए। *अनुस्मरत:* उसी के लिए सम्भव है, जो कृष्ण के यश का सदैव कीर्तन तथा श्रवण करता है। इसीलिए कहा गया है कि भक्ति की विधि *श्रवणम्* तथा *कीर्तनम्* से शुरू और *स्मरणम्* द्वारा विकसित होती है। जो व्यक्ति निरन्तर भौतिक तृप्ति की वस्तुओं के बारे में सोचता है, वह उनमें अनुरक्त होता जाता है। इसी तरह जो व्यक्ति कृष्ण को निरन्तर अपने मन के भीतर रखता है, वह भगवान् के दिव्य स्वभाव में लीन हो जाता है और इस तरह भगवान् के ही धाम में जाकर उनकी सेवा करने का पात्र बन जाता है।

तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम् ।
हित्वा मयि समाधत्स्व मनो मद्भावभावितम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; असत्—भौतिक; अभिध्यानम्—उत्थान विधि जो ध्यान को लीन करे; यथा—जिस तरह; स्वप्न—सपने में; मन:-रथम्—मानसिक चिन्तन; हित्वा—त्याग कर; मयि—मुझमें; समाधत्स्व—पूरी तरह लीन करो; मनः—मन; मत्-भाव—मेरी चेतना द्वारा; भावितम्—शुद्ध किया गया।

इसलिए मनुष्य को उत्थान की उन सारी विधियों का बहिष्कार करना चाहिए, जो स्वप्न के मनोरथों जैसी हैं। उसे अपना मन पूरी तरह से मुझमें लीन कर देना चाहिए। निरन्तर मेरा चिन्तन करने से वह शुद्ध बन जाता है।

तात्पर्य : *भावितम्* का अर्थ है ''बनाया जाता है''। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में बतलाया गया है भौतिक जगत ऐसा अस्थायी पद है जहाँ सृष्टि तथा संहार के उत्पात होते रहते हैं। किन्तु जो अपनी चेतना को कृष्ण में लीन करता है, वह कृष्ण के स्वभाव को प्राप्त कर लेता है। इसीलिए यह *मद्भावभावितम्* के रूप में वर्णित है। भगवान् यहीं पर मानव सिद्धि की विविध विधियों की व्याख्या समाप्त करते हैं।

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान् ।
क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

स्त्रीणाम्—स्त्रियों की; स्त्री—स्त्री के प्रति; सङ्गिनाम्—अनुरक्त रहने वालों की; सङ्गम्—संगति; त्यक्त्वा—त्याग कर; दूरतः—दूर; आत्म-वान्—आत्मा के प्रति सचेष्ट; क्षेमे—निर्भय; विविक्ते—पृथक् या एकान्त स्थान में; आसीनः—बैठे हुए; चिन्तयेत्—एकाग्र करे; माम्—मुझ पर; अतन्द्रितः—सावधानी से।

नित्य आत्मा के प्रति सचेष्ट रहते हुए मनुष्य को स्त्रियों की तथा स्त्रियों से घनिष्ठतापूर्वक

सम्बद्ध व्यक्तियों की संगति त्याग देनी चाहिए। एकान्त स्थान में निर्भय होकर आसन लगाकर, उसे अपने मन को बड़े ही ध्यान से मुझ पर एकाग्र करना चाहिए।

तात्पर्य : जिसका घनिष्ठ सम्बन्ध स्त्रियों से होता है और जो उन पर अनुरक्त रहते हैं, वे भगवद्धाम जाने के संकल्प को क्रमशः त्याग देंगे। कामुक व्यक्तियों की संगति से भी ऐसा ही परिणाम निकलता है। इसलिए सलाह दी जाती है कि मनुष्य निर्भय होकर एकान्त स्थान में बैठ जाय या फिर ऐसे स्थान में जहाँ आध्यात्मिक आत्महत्या करने वाले कामुक पुरुष तथा स्त्रियाँ न हों। विफलता या जीवन में दुख के भय से रहित होकर मनुष्य को भगवान् के निष्ठावान भक्तों के साथ रहते जाना चाहिए। *अतन्द्रित* का अर्थ है कि मनुष्य इस सिद्धान्त पर अडिग और सावधान रहे, कोई समझौता न करे। जो *आत्मवान्* है, अर्थात् जो नित्य आत्मा के व्यावहारिक ज्ञान से जुड़ा हुआ है, वही ऐसा कर सकता है।

न तथास्य भवेत्क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः ।
योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तथा—उस तरह; अस्य—उसका; भवेत्—हो सकता है; क्लेशः—कष्ट; बन्धः—बन्धन; च—तथा; अन्य-प्रसङ्गतः—अन्य लगाव से; योषित्—स्त्रियों के; सङ्गात्—अनुरक्ति से; यथा—जैसे; पुंसः—मनुष्य का; यथा—उसी तरह; तत्—स्त्रियों को; सङ्गि—अनुरक्त रहने वाले की; सङ्गतः—संगति से।

विभिन्न अनुरक्तियों से उत्पन्न होने वाले सभी प्रकार के कष्ट तथा बन्धन में से ऐसा एक भी नहीं, जो स्त्रियों के प्रति अनुरक्ति तथा स्त्रियों के प्रति अनुरक्त रहने वालों के घनिष्ठ सम्पर्क से बढ़ कर हो।

तात्पर्य : मनुष्य को स्त्रियों तथा स्त्रियों को चाहने वालों से घनिष्ठ सम्बन्ध तोड़ने का महत् प्रयास करना चाहिए। यदि किसी विद्वान व्यक्ति को कामुक स्त्रियों के घनिष्ठ सम्पर्क में रख दिया जाय, तो वह स्वयमेव सतर्क रहेगा। किन्तु वही व्यक्ति कामुक मनुष्यों की संगतिमें सभी प्रकार के सामाजिक कार्यों में भाग लेने से उनकी दूषित मनोवृत्ति से स्वयं दूषित हो सकता है। कामुक व्यक्तियों की संगति स्त्रियों की संगति से प्रायः अधिक खतरनाक होती है इसलिए उनसे सभी तरह से बचना चाहिए। *भागवत* में ऐसे असंख्य श्लोक हैं, जो भौतकि काम के नशे का वर्णन करने वाले हैं। यह कहना पर्याप्त होगा कि कामुक व्यक्ति नाचते कुत्ते की तरह हो जाता है और कामदेव के प्रभाव से वह सारी गम्भीरता, बुद्धि तथा जीवन-दिशा खो देता है। यहाँ पर भगवान् आगाह करते हैं कि जो व्यक्ति स्त्री के मायामय रूप के

समक्ष आत्मसमर्पण कर देता है, वह इस जीवन में तथा अगले जीवन में असह्य कष्ट पाता है।

श्रीउद्धव उवाच

यथा त्वामरविन्दाक्ष यादृशं वा यदात्मकम् ।
ध्यायेन्मुमुक्षुरेतन्मे ध्यानं त्वं वक्तुमर्हसि ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; यथा—किस तरह से; त्वाम्—आपके; अरविन्द-अक्ष—हे कमलनेत्र वाले कृष्ण; यादृशम्—जिस स्वभाव का; वा—अथवा; यत्-आत्मकम्—किस रूप में; ध्यायेत्—ध्यान करे; मुमुक्षुः—मुक्ति का इच्छुक; एतत्—यह; मे—मुझको; ध्यानम्—ध्यान; त्वम्—तुम्हें; वक्तुम्—कहने या बतलाने के लिए; अर्हसि—चाहिए।

श्री उद्धव ने कहा : हे कमलनयन कृष्ण, यदि कोई मुक्ति का इच्छुक व्यक्ति आपका ध्यान करना चाहें तो वह किस विधि से करे, उसका यह ध्यान किस विशेष स्वभाव वाला हो और वह किस रूप का ध्यान करे? कृपया मुझे ध्यान के इस विषय के बारे में बतलायें।

तात्पर्य : भगवान् पहले ही विस्तार से बतला चुके हैं कि भक्त की संगति में रह कर उनकी भक्ति के बिना कोई भी अन्य विधि सफल नहीं होगी। इसलिए यह पूछा जा सकता है कि उद्धव फिर से *ध्यान* विधि का उल्लेख क्यों कर रहे हैं? आचार्य बतलाते हैं कि जब तक *भक्तियोग* को अन्य सारी विधियों में सर्वश्रेष्ठ नहीं मान लिया जाता, तब तक उसके सौन्दर्य तथा उसकी पूर्णता को पूरी तरह नहीं जाना जा सकता। तुलनात्मक विवेचन से भक्तगण भक्तियोग का सही सही मूल्यांकन कर सकते हैं। यहाँ पर यह भी जान लेना चाहिए कि यद्यपि उद्धव मुमुक्षुओं के लिए प्रश्न कर रहे हैं, किन्तु वे मुमुक्षु नहीं हैं, प्रत्युत वे उन लोगों के लिए प्रश्न कर रहे हैं, जिन्हें भगवत्प्रेम प्राप्त नहीं हो पाया है। उद्धव इस ज्ञान को अपनी तुष्टि हेतु सुनना चाहते हैं ताकि जो लोग मुक्ति या मोक्ष की कामना करते हैं उनकी इस तरह से रक्षा की जा सके और उन्हें भगवान् की शुद्ध भक्ति के मार्ग पर मोड़ा जा सके।

श्रीभगवानुवाच

सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम् ।
हस्तावुत्सङ्ग आधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणः ॥ ३२ ॥
प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।
विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; समे—समतल; आसने—आसन पर; आसीनः—बैठ कर; सम-कायः—शरीर को सीधा करके; यथा-सुखम्—सुखपूर्वक बैठ कर; हस्तौ—दोनों हाथों को; उत्सङ्गे—गोद में; आधाय—रख कर; स्व-नास-अग्र—

अपनी नाक के अगले भाग पर; कृत—केन्द्रित करते हुए; ईक्षणः—चितवन; प्राणस्य—श्वास का; शोधयेत्—शुद्ध करना चाहिए; मार्गम्—मार्ग; पूर-कुम्भक-रेचकैः—प्राणायाम द्वारा; विपर्ययेण—उलट करके, अर्थात् रेचक, कुम्भक तथा पूरक क्रम में; अपि—भी; शनैः—धीरे धीरे; अभ्यसेत्—प्राणायाम का अभ्यास करे; निर्जित—वश में करके; इन्द्रियः—इन्द्रियों को।

भगवान् ने कहा : ऐसे आसन पर बैठ कर, जो न तो ज्यादा ऊँचा हो, न अधिक नीचा हो, शरीर को सीधा रखते हुए जिससे सुख मिल सके, दोनों हाथों को गोद में रख कर तथा आँखों को अपनी नाक के अगले सिरे पर केन्द्रित करते हुए, मनुष्य को चाहिए कि पूरक, कुम्भक तथा रेचक प्राणायाम का यांत्रिक अभ्यास करे और फिर इस विधि को उलट कर करे (अर्थात् रेचक, कुम्भक तथा पूरक के क्रम से करे)। इन्द्रियों को भलीभाँति वश में कर लेने के बाद, उसे धीरे धीरे प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

तात्पर्य : इस विधि के अनुसार हाथों को उलट कर रखना चाहिए, जिससे हथेलियाँ एक-दूसरे के ऊपर रहें। इस तरह मन की स्थिरता प्राप्त करने के लिए श्वास रोक कर प्राणायाम का अभ्यास करे। *योगशास्त्र* में कहा गया है *अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः स्थिरचित्तः सुसंगतः*—आँखें, जो कि सामान्यतः बाहर देखती हैं उन्हें अन्तर्मुखी कर दिया जाय। इस तरह मन स्थिर होकर पूरी तरह वश में हो जाता है।

हृद्यविच्छिन्नमोंकारं घण्टानादं बिसोर्णवत् ।
प्राणेनोदीर्य तत्राथ पुनः संवेशयेत्स्वरम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

हृदि—हृदय में; अविच्छिन्नम्—अनवरत; ओंकारम्—ॐकार की पवित्र ध्वनि; घण्टा—घण्टे की तरह; नादम्—ध्वनि; बिस-ऊर्ण-वत्—कमल वृन्त तक जाने वाले रेशे की तरह; प्राणेन—प्राण-वायु द्वारा; उदीर्य—धकेल कर; तत्र—वहाँ (बारह अंगुल दूरी पर); अथ—इस प्रकार; पुनः—फिर; संवेशयेत्—जोड़ दे; स्वरम्—अनुस्वार समेत पन्द्रह ध्वनियाँ।

मूलाधार चक्र से शुरू करके, मनुष्य को चाहिए कि प्राण-वायु को कमल नाल के तनुओं की तरह ऊपर की ओर लगातार ले जाय जब तक कि वह हृदय तक न पहुँच जाय जहाँ पर ॐ का पवित्र अक्षर घंटे की ध्वनि की तरह विद्यमान है। इस तरह उसे इस अक्षर को लगातार ऊपर की ओर बारह अंगुल की दूरी तक उठाते जाना चाहिए और वहाँ पर ॐकार को अनुस्वार समेत उत्पन्न पन्द्रह ध्वनियों से जोड़ देना चाहिए।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि योग-पद्धति कुछ कुछ प्राविधिक तथा सम्पन्न करने में कठिन है। *अनुस्वार* नाक से निकलने वाली वह ध्वनि है, जो पन्द्रह संस्कृत स्वरों के बाद में उच्चरित होती है। इस विधि की पूरी व्याख्या जटिल है और स्पष्टया इस कलियुग के लिए अनुपयुक्त है। इस विवरण से

हम यह पता लगा सकते हैं कि पहले के युगों में योग-ध्यान करने वालों की यह कितनी बड़ी उपलब्धि होती थी। इतने के बावजूद हमें इस युग के लिए संस्तुत ध्यान की सरल तथा व्यावहारिक विधि को अपनाना चाहिए जो कि हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का कीर्तन है।

एवं प्रणवसंयुक्तं प्राणमेव समभ्यसेत् ।
दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग्जितानिलः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; प्रणव—ॐ अक्षर से; संयुक्तम्—जुड़ा हुआ; प्राणम्—शारीरिक श्वास को वश में करने की प्राणायाम विधि; एव—निस्सन्देह; समभ्यसेत्—सतर्कता से अभ्यास करे; दश-कृत्वः—दस बार; त्रि-षवणम्—सूर्योदय, दोपहर तथा सूर्यास्त के समय; मासात्—एक मास के; अर्वाक्—पश्चात्; जित—जीत लेगा; अनिलः—प्राण-वायु।

ॐकार में स्थिर होकर मनुष्य को चाहिए कि सूर्योदय, दोपहर तथा सूर्यास्त के समय दस-दस बार प्राणायाम का सतर्कतापूर्वक अभ्यास करे। इस तरह एक महीने के बाद वह प्राण-वायु पर विजय पा लेगा।

हृत्पुण्डरीकमन्तःस्थमूर्ध्वनालमधोमुखम् ।
ध्यात्वोर्ध्वमुखमुन्निद्रमष्टपत्रं सकर्णिकम् ।
कर्णिकायां न्यसेत्सूर्यसोमाग्नीनुत्तरोत्तरम् ॥ ३६ ॥
वह्निमध्ये स्मरेद्रूपं ममैतद्ध्यानमङ्गलम् ।
समं प्रशान्तं सुमुखं दीर्घचारुचतुर्भुजम् ॥ ३७ ॥
सुचारुसुन्दरग्रीवं सुकपोलं शुचिस्मितम् ।
समानकर्णविन्यस्तस्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ ३८ ॥
हेमाम्बरं घनश्यामं श्रीवत्सश्रीनिकेतनम् ।
शङ्खचक्रगदापद्मवनमालाविभूषितम् ॥ ३९ ॥
नूपुरैर्विलसत्पादं कौस्तुभप्रभया युतम् ।
द्युमत्किरीटकटककटिसूत्राङ्गदायुतम् ॥ ४० ॥
सर्वाङ्गसुन्दरं हृद्यं प्रसादसुमुखेक्षनम् ।
सुकुमारमभिध्यायेत्सर्वाङ्गेषु मनो दधत् ॥ ४१ ॥
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाकृष्य तन्मनः ।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

हृत्—हृदय में; पुण्डरीकम्—कमल का फूल; अन्तः-स्थम्—शरीर के भीतर स्थित; ऊर्ध्व-नालम्—कमल नाल को ऊपर उठाये; अधः-मुखम्—आँखें आधी बन्द किये हुए तथा नाक के सिरे पर ताकते हुए; ध्यात्वा—ध्यान में मन को स्थिर करके;

ऊर्ध्व-मुखम्—जाग्रत; उन्निद्रम्—बिना ऊँघे, सचेष्ट; अष्ट-पत्रम्—आठ पंखुड़ियों वाला; स-कर्णिकम्—कोशयुक्त; कर्णिकायाम्—कोश के भीतर; न्यसेत्—एकाग्र होकर रखे; सूर्य—सूर्य; सोम—चन्द्रमा; अग्नीन्—तथा अग्नि; उत्तर-उत्तरम्—एक के बाद एक, इस क्रम से; वह्नि-मध्ये—अग्नि के भीतर; स्मरेत्—ध्यान करे; रूपम्—स्वरूप पर; मम—मेरे; एतत्—यह; ध्यान-मङ्गलम्—ध्यान की पवित्र वस्तु; समम्—शरीर के सभी अंगएकसमान, संतुलित; प्रशान्तम्—शान्त; सु-मुखम्—प्रसन्न; दीर्घ-चारु-चतुः-भुजम्—चार सुन्दर लम्बी भुजाओं वाले; सु-चारु—मनोहारी; सुन्दर—सुन्दर; ग्रीवम्—गर्दन; सु-कपोलम्—सुन्दर मस्तक; शुचि-स्मितम्—शुद्ध मुस्कान से युक्त; समान—सदृश; कर्ण—कान में; विन्यस्त—स्थित; स्फुरत्—चमचमाते; मकर—मगर के आकार के; कुण्डलम्—कुण्डल; हेम—सुनहरे रंग के; अम्बरम्—वस्त्र; घन-श्यामम्—बादलों जैसे श्यामरंग के; श्री-वत्स—भगवान् के वक्षस्थल पर अद्वितीय घुंघराले बाल; श्री-निकेतनम्—लक्ष्मी के धाम; शङ्ख—शंख; चक्र—सुदर्शन चक्र; गदा—गदा; पद्म—कमल; वन-माला—तथा जंगली फूलों की माला से; विभूषितम्—अलंकृत; नूपुरैः—घुंघरुओं तथा पायजेबों से; विलसत्—चमकते हुए; पादम्—चरणकमल; कौस्तुभ—कौस्तुभ मणि के; प्रभया—तेज से; युतम्—युक्त; द्युमत्—चमकता; किरीट—मुकुट; कटक—सुनहले बाजूबन्द; कटि-सूत्र—करधनी; अङ्गद—बाजूबन्द; आयुतम्—से युक्त; सर्व-अङ्ग—शरीर के सारे अंग; सुन्दरम्—सुन्दर; हृद्यम्—मनोहर; प्रसाद—कृपा से; सुमुख—हँसीला; ईक्षणम्—चितवन; सु-कुमारम्—अत्यन्त नाजुक; अभिध्यायेत्—ध्यान करे; सर्व-अङ्गेषु—शरीर के सारे अंगों में; मनः—मन को; दधत्—रखते हुए; इन्द्रियाणि—भौतिक इन्द्रियों को; इन्द्रिय-अर्थेभ्यः—इन्द्रिय-विषयों से; मनसा—मन से; आकृष्य—पीछे खींच कर; तत्—वह; मनः—मन; बुद्ध्या—बुद्धि से; सारथिना—रथ के सारथी की-सी; धीरः—गम्भीर तथा संयमित होकर; प्रणयेत्—प्रबलतापूर्वक आगे बढ़े; मयि—मुझमें; सर्वतः—शरीर के सारे अंगों में।

आँखों को अधखुली रखते हुए तथा उन्हें अपनी नाक के सिरे पर स्थिर करके, अत्यन्त जागरूक रह कर, मनुष्य को हृदय के भीतर स्थित कमल के फूल का ध्यान करना चाहिए। इस कमल के फूल में आठ पंखड़ियाँ हैं और यह सीधे डंठल पर स्थित है। उसे सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि को उस कमल-पुष्प के कोश में एक-एक करके रखते हुए, उनका ध्यान करना चाहिए। अग्नि में मेरे दिव्य स्वरूप को स्थापित करते हुए, उसे समस्त ध्यान का शुभ लक्ष्य मान कर उसका ध्यान करना चाहिए। यह स्वरूप अत्यन्त समरूप, भद्र तथा प्रसन्न होता है। इसकी चार सुन्दर लम्बी भुजाएँ, सुहावनी सुन्दर गर्दन, सुन्दर मस्तक, शुद्ध हँसी तथा दोनों कानों में लटकने वाले मकराकृति के चमचमाते कुण्डल होते हैं। यह आध्यात्मिक स्वरूप वर्षा के मेघ की भाँति श्यामल रंग वाला है और सुनहले-पीले रेशम से आवृत है। इस रूप के वक्षस्थल पर श्रीवत्स तथा लक्ष्मी का आवास है और यह स्वरूप शंख, चक्र, गदा, कमल-पुष्प तथा जंगली फूलों की माला से सुसज्जित है। इसके दो चमकीले चरणकमल घुंघरुओं तथा पायजेबों से विभूषित हैं और इस रूप से कौस्तुभ मणि के साथ ही तेजवान मुकुट भी प्रकट होता है। इसके कूल्हे सुनहली करधनी से सुन्दर लगते हैं और भुजाएँ मूल्यवान बाजूबन्दों से सज्जित हैं। इस सुन्दर रूप के सभी अंग हृदय को मोहने वाले हैं और इसका मुखड़ा दयामय चितवन से सुशोभित है। मनुष्य को चाहिए कि इन्द्रिय-विषयों से इन्द्रियों को पीछे हटाकर, गम्भीर तथा आत्मसंयमी बने और मेरे दिव्य शरीर के सारे अंगों पर मन को दृढ़ता से स्थिर करने के लिए बुद्धि का उपयोग

करे। इस तरह उसे मेरे अत्यन्त मृदुल दिव्य स्वरूप का ध्यान करना चाहिए।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण यहाँ पर उद्धव के उस प्रश्न का उत्तर देते हैं, जो मुमुक्षुओं के लिए ध्यान की सही विधि, उसके स्वभाव तथा लक्ष्य से सम्बन्धित है।

तत्सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत् ।
नान्यानि चिन्तयेद्भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; सर्व—शरीर के सारे भागों में; व्यापकम्—फैली; चित्तम्—चेतना; आकृष्य—खींच कर; एकत्र—एक स्थान पर; धारयेत्—एकाग्र करे; न—नहीं; अन्यानि—शरीर के अन्य अंगों को; चिन्तयेत्—ध्यानकरे; भूयः—फिर; सु-स्मितम्—अद्भुत मुस्कान या हँसी से युक्त; भावयेत्—एकाग्र करे; मुखम्—मुँह पर।

तब वह अपनी चेतना को दिव्य शरीर के समस्त अंगों से हटा ले। उस समय उसे भगवान् के अद्भुत हँसी से युक्त मुख का ही ध्यान करना चाहिए।

तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत् ।
तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

तत्र—भगवान् के मुख का ध्यान करते हुए; लब्ध-पदम्—स्थापित होकर; चित्तम्—चेतना; आकृष्य—खींच कर; व्योम्नि—आकाश में; धारयेत्—ध्यान करे; तत्—आकाश का ऐसा ध्यान; च—भी; त्यक्त्वा—त्याग कर; मत्—मुझ तक; आरोहः—चढ़ कर; न—नहीं; किञ्चित्—कुछ; अपि—भी; चिन्तयेत्—चिन्तन करे।

भगवान् के मुख का ध्यान करते हुए, उसे चाहिए कि वह अपनी चेतना को हटाकर उसे आकाश में स्थिर करे। तब ऐसे ध्यान को त्याग कर, वह मुझमें स्थिर हो जाय और ध्यान-विधि का सर्वथा परित्याग कर दे।

तात्पर्य : शुद्ध चेतना को प्राप्त होने पर "मैं ध्यान कर रहा हूँ और यह मेरे ध्यान का लक्ष्य है" जैसा द्वैत समाप्त हो जाता है और मनुष्य का भगवान् से रागानुग सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। प्रत्येक जीव मूलतः भगवान् का भिन्नांश है और जब वह विस्मृत नित्य सम्बन्ध पुनः ताजा हो जाता है, तो परब्रह्म की स्मृति आ जाती है। उस अवस्था में, जिसे *मद्-आरोहः* कहा गया है, मनुष्य न तो अपने को ध्यान करने वाला, न ही भगवान् को ध्यान का लक्ष्य देखता है, अपितु वह भगवान् के प्रत्यक्ष प्रेम-सम्बन्ध में सच्चिदानन्द व्योम में प्रवेश करता है।

उद्धव ने पहले मुमुक्षुओं के लिए ध्यान की विधि के विषय में पूछा था। *लब्ध-पदम्* शब्द सूचित

करता है कि जब मनुष्य भगवान् के मुख पर अपना मन स्थिर कर देता है, तो उसे पूर्ण मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष के बाद वह आदि भगवान् की सेवा करने चला जाता है। ध्यानी होने के विचार को त्याग कर, मनुष्य रही सही माया को उतार फेंकता है और भगवान् का यथारूप में दर्शन करता है।

एवं समाहितमतिर्मामेवात्मानमात्मनि ।
विचष्टे मयि सर्वात्मन्ज्योतिर्ज्योतिषि संयुतम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; समाहित—पूर्णतया स्थिर; मतिः—चेतना; माम्—मुझको; एव—निस्सन्देह; आत्मानम्—आत्मा; आत्मनि—आत्मा के भीतर; विचष्टे—देखता है; मयि—मुझमें; सर्व-आत्मन्—भगवान् में; ज्योतिः—सूर्य की किरणें; ज्योतिषि—सूर्य के भीतर; संयुतम्—संयुक्त।

जिसने अपने मन को मुझमें पूरी तरह स्थिर कर लिया है उसे चाहिए कि अपनी आत्मा के भीतर मुझ भगवान् को देखे और व्यष्टि आत्मा को मेरे भीतर देखे। इस तरह वह आत्माओं को परमात्मा से संयुक्त देखता है, जिस तरह सूर्य की किरणों को सूर्य से पूर्णतया संयुक्त देखा जाता है।

तात्पर्य : आध्यात्मिक जगत में हर वस्तु में स्वाभाविक तेज रहता है क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव है। अतएव जब आत्मा को परमेश्वर के भिन्नांश के रूप में देखा जाता है, तो इस अनुभव की तुलना सूर्य से निकलने वाली किरणों के देखने से की जा सकती है। परमेश्वर जीव के भीतर रहता है और जीव परमेश्वर के भीतर। किन्तु दोनों ही दशा में जीव नहीं अपितु परमेश्वर ही पालक तथा नियन्ता होता है। यदि लोग कृष्णभावनामृत स्वीकार कर लें और भगवान् कृष्ण को हर जीव के भीतर तथा हर जीव को कृष्ण के भीतर देखें तो प्रत्येक व्यक्ति कितना सुखी हो जाय! कृष्णभावनामृत होने पर मुक्त जीवन कितना सुखद है! ऐसी चेतना के बिना रहना सबसे बड़ा दुर्भाग्य होगा। श्रीकृष्ण यहाँ पर कई प्रकार से कृष्णभावनामृत की श्रेष्ठता का बखान कर रहे हैं और भाग्यशाली लोग ही भगवान् के सन्देश को समझेंगे।

ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः ।
संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्य ज्ञानक्रियाभ्रमः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

ध्यानेन—ध्यान से; इत्थम्—जैसाकि बतलाया गया; सु-तीव्रेण—अत्यन्त एकाग्र; युञ्जतः—अभ्यास करने वाले; योगिनः—योगी का; मनः—मन; संयास्यति—एकसाथ जायेगा; आशु—तेजी से; निर्वाणम्—अन्त के लिए; द्रव्य-ज्ञान-क्रिया—भौतिक वस्तुओं की अनुभूति, ज्ञान तथा कर्म पर आधारित; भ्रमः—भ्रम, मायामय पहचान।

जब योगी इस तरह अत्यधिक एकाग्र ध्यान से अपने मन को अपने वश में करता है, तो भौतिक वस्तुओं, ज्ञान तथा कर्म से उसकी भ्रामक पहचान तुरन्त समाप्त हो जाती है।

तात्पर्य : झूठी भौतिक पहचान के कारण ही, हम अपने शरीर तथा मन, अन्यों के शरीरों तथा मनों एवं दैवी भौतिक नियंत्रण को परम वास्तविकता स्वीकार करते हैं। दैवी नियंत्रण सूचक है देवताओं के शरीरों तथा मनों का जो अन्ततोगत्वा भगवान् के विनीत सेवक होते हैं। यहाँ तक कि महान् शक्तियों का प्रदर्शन करने वाला बलशाली सूर्य भी भगवान् कृष्ण के आदेश का पालन करते हुए अपने मार्ग पर चलता है।

इस अध्याय में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि हठ-योग, कर्म-योग, राज-योग इत्यादि का जो भक्तियोग के अंश हैं, पृथक् अस्तित्व नहीं होता। जीवन का लक्ष्य भगवान् कृष्ण हैं अतः जो व्यक्ति ध्यान या योगाभ्यास को पूरा करना चाहता है उसे शुद्ध भक्ति-पद तक पहुँचना होगा। भक्ति की परिपक्वावस्था में मनुष्य ध्यानकर्ता तथा ध्यान की वस्तु के कृत्रिम द्वैत से मुक्त हो सकता है जैसाकि इस अध्याय में बताया गया है और तब वह तुरन्त परब्रह्म के श्रवण तथा यशोगान में प्रवृत्त हो जाता है। भक्तियोग के ऐसे कार्य स्वाभाविक हैं क्योंकि उनका उदय रागानुग प्रेम से होता है। जब मनुष्य भगवान् के प्रिय सेवक होने की मूल प्रकृति को प्राप्त कर लेता है, तो *योग* की अन्य विधियाँ नहीं रुचतीं। भगवान् द्वारा उपदेश दिये जाने के पूर्व भी उद्धव शुद्ध भक्त थे अतएव उद्धव से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे भगवान् से अपनी निजी संगति के परम पद को छोड़ कर योगाभ्यास में जुट जायेंगे। भक्तियोग प्रारम्भिक अवस्था से ही इतना उच्च होता है कि मनुष्य मुक्त माना जाता है क्योंकि सारे कार्य कृष्ण की तुष्टि के लिए सुनियोजित ढंग से सम्पन्न किये जाते हैं। हठ-योग में शारीरिक नियंत्रण की चिन्ता रहती है और ज्ञानयोग में मनोधर्मी ज्ञान की। इन दोनों विधियों में मनुष्य का प्रयत्न स्वार्थपूर्ण होता है क्योंकि मनुष्य महान् योगी या दार्शनिक बनने की कामना करता है। इस श्लोक में ऐसे अहंकारयुक्त कार्यों को ही *क्रिया* कहा गया है। मनुष्य को द्रव्य, ज्ञान तथा क्रिया की भ्रामक उपाधियाँ त्याग कर भगवान् की प्रेमाभक्ति की निरहंकार अवस्था को प्राप्त होना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत "भगवान् कृष्ण द्वारा उद्धव से योग-

वर्णन" नामक चौदहवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पन्द्रह

भगवान् कृष्ण द्वारा योग-सिद्धियों का वर्णन

इस अध्याय में आठ मुख्य तथा दस गौण योग-सिद्धियों का वर्णन हुआ है। योग में मन को स्थिर करके इन्हें प्राप्त किया जा सकता है किन्तु अन्ततोगत्वा ये विष्णु-धाम पहुँचने में बाधक बनती हैं।

उद्धव द्वारा पूछे जाने पर श्रीकृष्ण अठारह योग-सिद्धियों के लक्षणों का तथा जिस प्रकार के विशेष ध्यान से उन्हें प्राप्त किया जा सकता है, उनका वर्णन करते हैं। अन्त में कृष्ण यह कहते हैं कि जो व्यक्ति भगवान् की शुद्ध भक्ति करना चाहता है, उसके लिए इन योग-सिद्धियों की प्राप्ति समय का अपव्यय है क्योंकि ये उसे समुचित पूजा के मार्ग से विपथ करने वाली हैं। ये सारी सिद्धियाँ शुद्ध भक्त को स्वत: प्रदान की जाती हैं किन्तु वह इन्हें स्वीकार नहीं करता। जब तक भक्तियोग में इनका उपयोग न किया जाय, ये सिद्धियाँ व्यर्थ हैं। भक्त तो इतना ही देखता है कि भगवान् सदैव सर्वत्र अन्त: तथा बाह्य में विद्यमान हैं और वह उन्हीं पर पूरी तरह निर्भर रहता है।

श्रीभगवानुवाच
जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः ।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; जित-इन्द्रियस्य—जिसने अपनी इन्द्रियाँ जीत ली हैं; युक्तस्य—जिसने मन को स्थिर कर लिया है; जित-श्वासस्य—जिसने प्राणायाम पर विजय पा ली है; योगिनः—ऐसे योगी का; मयि—मुझमें; धारयतः—स्थिर करते हुए; चेतः—अपनी चेतना; उपतिष्ठन्ति—प्रकट होती हैं; सिद्धयः—योग की सिद्धियाँ।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, योग-सिद्धियाँ उस योगी द्वारा अर्जित की जाती हैं जिसने अपनी इन्द्रियों पर विजय पा ली हो, अपने मन को स्थिर कर लिया हो, प्राणायाम को वश में कर लिया हो और जो अपने मन को मुझमें स्थिर कर चुका हो।

तात्पर्य : मूल योग-सिद्धियाँ आठ हैं—यथा अणिमा-सिद्धि आदि और दस गौण सिद्धियाँ हैं। इस अध्याय में भगवान् कृष्ण बतलायेंगे कि ऐसी योग-सिद्धियाँ कृष्णभावनामृत के विकास में बाधक हैं,

अतएव मनुष्य को चाहिए कि इनकी कामना न करे।

श्रीउद्धव उवाच
कया धारणया का स्वित्कथं वा सिद्धिरच्युत ।
कति वा सिद्धयो ब्रूहि योगिनां सिद्धिदो भवान् ॥ २॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; कया—किस; धारणया—ध्यान की विधि द्वारा; का स्वित्—क्या निस्सन्देह; कथम्—किस तरह से; वा—अथवा; सिद्धिः—योग-सिद्धि; अच्युत—हे प्रभु; कति—कितने; वा—अथवा; सिद्धयः—सिद्धियाँ; ब्रूहि—कृपा करके कहिए; योगिनाम्—समस्त योगियों के; सिद्धि-दः—सिद्धि दाता; भवान्—आप।

श्री उद्धव ने कहा : हे अच्युत, योग-सिद्धि किस विधि से प्राप्त की जा सकती है और ऐसी सिद्धि का स्वभाव क्या है? योग-सिद्धियाँ कितनी हैं? कृपा करके ये बातें मुझसे बतलाइये। निस्सन्देह, आप समस्त योग-सिद्धियों के प्रदाता हैं।

श्रीभगवानुवाच
सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता धारणा योगपारगैः ।
तासामष्टौ मत्प्रधाना दशैव गुणहेतवः ॥ ३॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; सिद्धयः—योग-सिद्धियाँ; अष्टादश—अठारह; प्रोक्ताः—घोषित की जाती हैं; धारणाः—ध्यान; योग—योग के; पार-गैः—पारंगतों द्वारा; तासाम्—उठारहों में से; अष्टौ—आठ; मत्-प्रधानाः—मुझमें शरण पाती हैं; दश—दस; एव—निस्सन्देह; गुण-हेतवः—भौतिक सतोगुण से प्रकट हैं।

भगवान् ने कहा : योग के पारंगतों ने घोषित किया है कि योग-सिद्धि तथा ध्यान के अठारह प्रकार हैं जिनमें से आठ मुख्य हैं, जो मेरे अधीन हैं और दस गौण हैं, जो सतोगुण से प्रकट होती हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *मत्-प्रधान:* शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है। भगवान् कृष्ण आठ मुख्य योग-शक्तियों तथा ध्यानों (धारणाओं) के आश्रय हैं क्योंकि ऐसी सिद्धियाँ भगवान् की निजी शक्ति से उद्भूत हैं, फलस्वरूप ये स्वयं भगवान् तथा उनके निजी संगियों के भीतर ही ठीक से विकसित होती हैं। जब भौतिकतावादी व्यक्ति इन शक्तियों को यांत्रिक रूप से पा लेते हैं, तो जो सिद्धियाँ उन्हें दी जाती हैं, वे निम्न कोटि की होती हैं और वे माया की अभिव्यक्तियाँ मानी जाती हैं। शुद्ध भक्त तो भगवान् से स्वत: अद्भुत शक्तियाँ पाता है जिनसे वह भक्ति सम्पन्न करता है। यदि कोई व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति के लिए योग-शक्तियाँ पाने हेतु यांत्रिक रूप से प्रयत्न करता है, तो ये

सिद्धियाँ निश्चित रूप से भगवान् की बहिरंगा शक्ति की निकृष्ट अंश मानी जाती हैं।

अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः ।
प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता ॥ ४॥
गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति ।
एता मे सिद्धयः सौम्य अष्टावौत्पत्तिका मताः ॥ ५॥

शब्दार्थ

अणिमा—छोटे-से-छोटा बनने की सिद्धि; महिमा—बड़े-से-बड़ा बनना; मूर्तेः—शरीर का; लघिमा—हल्के-से-हल्का बनना; प्राप्तिः—प्राप्ति; इन्द्रियैः—इन्द्रियों के द्वारा; प्राकाम्यम्—इच्छानुरूप कार्य की सम्पन्नता; श्रुत—न दिखने वाली वस्तुएँ, जिनके बारे में केवल सुना जा सकता है; दृष्टेषु—तथा दिखाई पड़ने वाली वस्तुएँ; शक्ति-प्रेरणम्—माया की उपशक्तियों को काम में लगाना; ईशिता—नियंत्रण करने की सिद्धि; गुणेषु—प्रकृति के गुणों में; असङ्गः—बिना रुकावट के; वशिता—अन्यों को वश में करने की शक्ति; यत्—जो भी; कामः—इच्छा; तत्—वह; अवस्यति—प्राप्त कर सकता है; एताः—ये; मे—मेरी (शक्तियाँ); सिद्धयः—सिद्धियाँ; सौम्य—हे सुशील उद्धव; अष्टौ—आठ; औत्पत्तिकाः—प्राकृतिक तथा अद्वितीय; मताः—मानी जानी चाहिए।

आठ प्रधान योग-सिद्धियों में तीन सिद्धियाँ, जिनसे मनुष्य अपने शरीर को रूपान्तरित कर सकता है, अणिमा (छोटे से छोटा बनना), महिमा (बड़े से बड़ा होना) तथा लघिमा (हल्के से हल्का होना) हैं। प्राप्ति सिद्धि द्वारा मनवांछित वस्तु प्राप्त की जा सकती है और प्राकाम्य सिद्धि द्वारा मनुष्य को उसकी भोग्य वस्तु का अनुभव इस लोक या अगले लोक में होता है। ईशिता सिद्धि से मनुष्य माया की उपशक्तियों को पा सकता है और वशिता सिद्धि से मनुष्य तीनों गुणों से अबाध बन जाता है। जिसने कामावसायिता सिद्धि प्राप्त की होती है, वह कहीं से कोई भी वस्तु सर्वोच्च सीमा तक पा सकता है। हे उद्धव, ये आठ योग-सिद्धियाँ प्राकृतिक रूप से विद्यमान होती हैं और इस जगत में अद्वितीय हैं।

तात्पर्य : *अणिमा* सिद्धि के द्वारा मनुष्य इतना लघु बन सकता है कि वह पत्थर के भीतर घुस सकता है या किसी अवरोध से होकर निकल सकता है। *महिमा* सिद्धि से मनुष्य इतना बड़ा हो सकता है कि वह किसी भी वस्तु को ढक सकता है और *लघिमा* के द्वारा वह इतना हल्का हो सकता है कि सूर्य की किरणों पर चढ़ कर सूर्यलोक जा सकता है। *प्राप्ति* सिद्धि से मनुष्य कहीं से भी कुछ ला सकता है और अपनी उंगली से चाँद भी छू सकता है। इस सिद्धि से मनुष्य किसी अन्य जीव की इन्द्रियों के भीतर उस इन्द्रिय के प्रमुख अधिष्ठाता देवता के द्वारा प्रविष्ट हो सकता है और उसकी इन्द्रियों का उपयोग करके किसी भी चीज को प्राप्त कर सकता है। *प्राकाम्य* द्वारा किसी भी भोग्य वस्तु का

अनुभव इस जगत या अगले जगत में कर सकता है। *ईशिता* के द्वारा मनुष्य माया की उपशक्तियों को साध सकता है। दूसरे शब्दों में, योग-शक्तियाँ प्राप्त कर लेने पर भी मनुष्य माया के वश से निकल नहीं सकता, किन्तु वह माया की उपशक्तियों को साध सकता है। *वशिता* द्वारा मनुष्य अन्यों को अपने अधीन बना सकता है या अपने को तीन गुणों के नियंत्रण से बाहर रख सकता है। अन्ततः *कामावसायिता* के द्वारा मनुष्य नियंत्रण, प्राप्ति तथा भोग की अधिक से अधिक शक्तियाँ प्राप्त कर सकता है। *औत्पत्तिका:* शब्द मूल, प्राकृतिक तथा अद्वितीय को बताने वाला है। ये आठों सिद्धियाँ मूलतः भगवान् कृष्ण में सर्वाधिक मात्रा में पाई जाती हैं। भगवान् कृष्ण इतने लघु बन जाते हैं कि वे परमाणु के भीतर प्रवेश कर जाते हैं और महाविष्णु रूप में इतने विशाल हो जाते हैं कि उनकी श्वास से करोड़ों ब्रह्माण्ड बाहर निकलते हैं। भगवान् इतने हल्के या सूक्ष्म बन सकते हैं कि बड़े-से-बड़े योगी भी उन्हें नहीं देख पाते। भगवान् की प्राप्ति शक्ति इतनी पूर्ण होती है कि वे पूरे ब्रह्माण्ड को अपने शरीर के भीतर रखे रहते हैं। भगवान् इच्छानुसार भोग कर सकते हैं, सारी शक्तियों को वश में कर सकते हैं, अन्य सारे व्यक्तियों पर शासन कर सकते हैं और पूर्ण शक्तिसम्पन्नता प्रदर्शित कर सकते हैं। इस तरह यह जाना जा सकता है कि ये आठों योग-सिद्धियाँ उन भगवान् की योगशक्ति के नगण्य अंश हैं, जिन्हें *भगवद्गीता* में *योगेश्वर* कहा गया है। ये आठों सिद्धियाँ कृत्रिम नहीं हैं अपितु स्वाभाविक हैं और अद्वितीय हैं क्योंकि ये मूलतः भगवान् में विद्यमान रहती हैं।

अनूर्मिमत्त्वं देहेऽस्मिन्दूरश्रवणदर्शनम् ।
मनोजवः कामरूपं परकायप्रवेशनम् ॥ ६ ॥
स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सहक्रीडानुदर्शनम् ।
यथासङ्कल्पसंसिद्धिराज्ञाप्रतिहता गतिः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

अनूर्मि-मत्त्वम्—भूख, प्यास आदि से अविचलित रह कर.; देहे अस्मिन्—इस शरीर को; दूर—दूरस्थ वस्तुएँ; श्रवण—सुनना; दर्शनम्—तथा देखना; मनः-जवः—मन की गति से शरीर को हिलाते हुए; काम-रूपम्—इच्छानुसार किसी भी शरीर को धारण करते हुए; पर-काय—दूसरों के शरीर; प्रवेशनम्—प्रविष्ट होकर; स्व-छन्द—अपनी इच्छानुसार; मृत्युः—मर रहे; देवानाम्—देवताओं के; सह—साथ में; क्रीडा—खिलवाड़; अनुदर्शनम्—देखते हुए; यथा—के अनुसार; सङ्कल्प—दृढ़ निश्चय; संसिद्धिः—पूर्ण सिद्धि; आज्ञा—निर्देश; अप्रतिहता—अबाध; गतिः—प्रगति।

प्रकृति के गुणों से उत्पन्न होने वाली दस गौण योग-सिद्धियाँ हैं—भूख-प्यास तथा अन्य शारीरिक उत्पातों से अपने को मुक्त करने की शक्ति, काफी दूरी से वस्तुओं को देखने-सुनने की

शक्ति, मन के वेग से शरीर को गतिशील बनाने की शक्ति, इच्छानुसार रूप धारण करने की शक्ति, अन्यों के शरीर में प्रवेश करने की शक्ति, इच्छानुसार शरीर त्यागने की शक्ति, देवताओं तथा अप्सराओं की लीलाओं का दर्शन करने की शक्ति, अपने संकल्प को पूरा करने तथा ऐसे आदेश देने की शक्ति जिनका निर्बाध पालन हो सके।

त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता ।
अग्न्यर्काम्बुविषादीनां प्रतिष्टम्भोऽपराजयः ॥ ८ ॥
एताश्चोद्देशतः प्रोक्ता योगधारणसिद्धयः ।
यया धारणया या स्याद्यथा वा स्यान्निबोध मे ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

त्रि-काल-ज्ञत्वम्—भूत, वर्तमान तथा भविष्य जानने की सिद्धि; अद्वन्द्वम्—गर्मी तथा सर्दी जैसे द्वैतों से अप्रभावित रहना; पर—अन्यों के; चित्त—मन; आदि—इत्यादि; अभिज्ञता—जानना; अग्नि—अग्नि; अर्क—सूर्य; अम्बु—जल; विष—विष; आदीनाम्—इत्यादि की; प्रतिष्टम्भः—शक्ति को रोकना; अपराजयः—दूसरे द्वारा हराया न जाना; एताः—ये; च—भी; उद्देशतः—नामों तथा गुणों के उल्लेख मात्र से; प्रोक्ताः—कथित; योग—योग-प्रणाली का; धारण—ध्यान की; सिद्धयः—सिद्धियाँ; यया—जिसमें; धारणया—ध्यान से; या—जो (सिद्धि); स्यात्—हो सके; यथा—जिसके द्वारा; वा—अथवा; स्यात्—हो सके; निबोध—सीख लो; मे—मुझसे।

भूत, वर्तमान तथा भविष्य जानने की शक्ति, शीत-घाम तथा अन्य द्वन्द्वों को सहने की शक्ति, अन्यों के मन को जान लेने, अग्नि, सूर्य, जल, विष इत्यादि के प्रभाव को रोकना तथा अन्यों द्वारा पराजित न होने की शक्ति—ये योग तथा ध्यान की पाँच सिद्धियाँ हैं। मैं उन्हें, उनके नामों तथा गुणों के अनुसार, यहाँ सूचीबद्ध कर रहा हूँ। तुम मुझसे सीख लो कि किस तरह विशेष ध्यान से विशिष्ट योग-सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं और उनमें कौन-सी विशेष विधियाँ निहित होती हैं।

तात्पर्य : आचार्यों के अनुसार ये पाँच सिद्धियाँ पूर्ववर्णित सिद्धियों की अपेक्षा अत्यन्त निम्न मानी जाती हैं क्योंकि इनमें सामान्य शारीरिक तथा मानसिक दाँव-पेंच निहित रहते हैं। मध्वाचार्य के अनुसार *अग्न्यर्काम्बुविषादीनाम् प्रतिष्टम्भः* नामक सिद्धि में *आदीनाम्* से सभी प्रकार के हथियारों से तथा नाखुन, दाँत, प्रताड़न, शाप इत्यादि के वारों से अप्रभावित रहना सूचित होता है।

भूतसूक्ष्मात्मनि मयि तन्मात्रं धारयेन्मनः ।
अणिमानमवाप्नोति तन्मात्रोपासको मम ॥ १० ॥

शब्दार्थ

भूत-सूक्ष्म—सूक्ष्म तत्त्वों के; आत्मनि—आत्मा में; मयि—मुझमें; तत्-मात्रम्—अनुभूति के सूक्ष्म तात्विक रूपों पर; धारयेत्—एकाग्र करे; मनः—मन को; अणिमानम्—अणिमा नामक सिद्धि; अवाप्नोति—प्राप्त करता है; तत्-मात्र—सूक्ष्म तत्त्वों में; उपासकः—पूजा करने वाला; मम—मेरा।

जो व्यक्ति अपने मन को समस्त सूक्ष्म तत्त्वों में व्याप्त मेरे सूक्ष्म रूप में एकाग्र करके मेरी पूजा करता है, वह अणिमा नामक योग-सिद्धि प्राप्त करता है।

तात्पर्य : अणिमा सूचक है अपने को छोटे-से-छोटा बनाने की शक्ति और किसी भी वस्तु के भीतर प्रवेश करने की सामर्थ्य का। भगवान् परमाणुओं तथा सूक्ष्म कणों के भीतर हैं और जो व्यक्ति भगवान् के उस सूक्ष्म रूप में अपने मन को ठीक से एकाग्र करता है, वह अणिमा नामक योगशक्ति प्राप्त करता है, जिससे मनुष्य पत्थर जैसे सघन पदार्थ के भीतर भी प्रवेश कर सकता है।

महत्तत्त्वात्मनि मयि यथासंस्थं मनो दधत् ।
महिमानमवाप्नोति भूतानां च पृथक्पृथक् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

महत्-तत्त्व—समस्त भौतिक शक्ति की; आत्मनि—आत्मा में; मयि—मुझमें; यथा—के अनुसार; संस्थम्—विशेष परिस्थिति; मनः—मन; दधत्—एकाग्र करते हुए; महिमानम्—महिमा नामक शक्ति; अवाप्नोति—प्राप्त करता है; भूतानाम्—भौतिक तत्त्वों की; च—भी; पृथक् पृथक्—अलग अलग।

जो व्यक्ति महत् तत्त्व के विशेष रूप में अपने मन को लीन कर देता है और इस तरह समस्त जगत के परमात्मा रूप में मेरा ध्यान करता है उसे महिमा नामक योग-सिद्धि प्राप्त होती है। और जो आकाश, वायु, अग्नि इत्यादि पृथक् पृथक् तत्त्वों में अपने मन को लीन करता है, वह हर भौतिक तत्त्व की महानता (महत्ता) को प्राप्त करता जाता है।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य में ऐसे असंख्य श्लोक हैं, जो यह बतलाते हैं कि भगवान् अपनी सृष्टि से गुणात्मक दृष्टि से अभिन्न हैं और इस तरह एक योगी सम्पूर्ण जगत को भगवान् की बहिरंगा शक्ति के प्राकट्य रूप में ध्यान कर सकता है। जब योगी को यह अनुभूति हो जाती है कि यह सृष्टि भगवान् से अभिन्न है, तो उसे *महिमा सिद्धि* प्राप्त होती है। हर तत्त्व में भगवान् की उपस्थिति का अनुभव करते हुए योगी प्रत्येक तत्त्व की महानता (*महत्ता*) भी प्राप्त कर लेता है। किन्तु शुद्ध भक्तजन ऐसी सिद्धियों में रुचि नहीं लेते क्योंकि वे लोग उन भगवान् के शरणागत होते हैं, जो इन सिद्धियों का अनन्त मात्रा तक प्रदर्शन करते हैं। भगवान् द्वारा सदैव सुरक्षित होने से शुद्ध भक्त अपना अमूल्य समय बचाकर उसे

हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करने में लगाते हैं। इस तरह वे अपने लिए तथा अन्यों के लिए *संसिद्धि* अर्थात् शुद्ध भगवत्प्रेम या कृष्णभावनामृत प्राप्त करते हैं जिससे मनुष्य समस्त भौतिक सृष्टि से परे वैकुण्ठ-लोक तक अपने जीवन का विस्तार कर सकता है।

परमाणुमये चित्तं भूतानां मयि रञ्जयन् ।
कालसूक्ष्मार्थतां योगी लघिमानमवाप्नुयात् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

परम-अणु-मये—परमाणुओं के रूप में; चित्तम्—चेतना; भूतानाम्—भौतिक तत्त्वों की; मयि—मुझमें; रञ्जयन्—अनुरक्त होकर; काल—समय का; सूक्ष्म—सूक्ष्म; अर्थताम्—वस्तु; योगी—योगी; लघिमानम्—लघिमा नामक योगशक्ति; अवाप्नुयात्—प्राप्त कर सकते हैं।

मैं प्रत्येक वस्तु के भीतर रहता हूँ, इसलिए मैं भौतिक तत्त्वों के परमाणविक घटकों का सार हूँ। मेरे इस रूप में अपने मन को संलग्न करके, योगी लघिमा नामक सिद्धि प्राप्त कर सकता है, जिससे वह काल के समान सूक्ष्म परमाणविक वस्तु की अनुभूति कर सकता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में *काल* की विशद व्याख्या मिलती है, जिसके अनुसार काल भगवान् का वह दिव्य रूप, जो भौतिक जगत को गतिशील बनाता है। चूँकि पाँचों स्थूल तत्त्व परमाणुओं से बने हैं, अतएव परमाणविक कण सूक्ष्म वस्तु अथवा काल की गति की अभिव्यक्ति हैं। काल से भी सूक्ष्म भगवान् हैं, जो अपनी शक्ति को काल रूप में विस्तार देते हैं। इन बातों को ठीक से समझ लेने पर, योगी को *लघिमा* सिद्धि प्राप्त होती है, जिससे वह अपने को हल्के से हल्का बना सकता है।

धारयन्मय्यहंतत्त्वे मनो वैकारिकेऽखिलम् ।
सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं प्राप्तिं प्राप्नोति मन्मनाः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

धारयन्—एकाग्र करते हुए; मयि—मुझमें; अहम्-तत्त्वे—मिथ्या अहंकार के भीतर; मनः—मन; वैकारिके—सतोगुण से उत्पन्न हुए में; अखिलम्—पूर्णतया; सर्व—सारे जीव; इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों का; आत्मत्वम्—स्वामित्व; प्राप्तिम्—प्राप्ति नामक सिद्धि; प्राप्नोति—प्राप्त करता है; मत्-मनाः—योगी जिसका मन मुझमें स्थिर है।

सतोगुण से उत्पन्न मिथ्या अहंकार के भीतर अपने मन को पूरी तरह मुझमें एकाग्र करते हुए योगी प्राप्ति नामक शक्ति प्राप्त करता है, जिससे वह समस्त जीवों की इन्द्रियों का स्वामी बन जाता है। वह ऐसी सिद्धि इसलिए प्राप्त करता है क्योंकि उसका मन मुझमें लीन रहता है।

तात्पर्य : यह महत्त्वपूर्ण बात है कि प्रत्येक योगशक्ति को पाने के लिए मनुष्य को अपना मन

भगवान् पर स्थिर करना होता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते हैं कि जो लोग अपना मन भगवान् पर स्थिर किये बिना ऐसी सिद्धियों के पीछे पड़े रहते हैं, वे प्रत्येक योगशक्ति के स्थूल तथा निम्न कोटि के प्रतिबिम्ब को ही प्राप्त करते हैं। जो भगवान् के प्रति सचेत नहीं होते, वे विश्व के कार्यों से अपने मन का तालमेल नहीं बैठा पाते अतएव वे अपने यौगिक ऐश्वर्य को विश्व-स्तर तक उठा नहीं पाते।

महत्यात्मनि यः सूत्रे धारयेन्मयि मानसम् ।
प्राकाम्यं पारमेष्ठ्यं मे विन्दतेऽव्यक्तजन्मनः ॥ १४॥

शब्दार्थ

महति—महत्-तत्त्व में; आत्मनि—परमात्मा में; यः—जो; सूत्रे—सकाम कर्मों की शृंखला से जाना जाने वाला; धारयेत्—एकाग्र करे; मयि—मुझमें; मानसम्—मानसिक कार्य; प्राकाम्यम्—प्राकाम्य नामक सिद्धि; पारमेष्ठ्यम्—सर्वोत्तम; मे—मुझसे; विन्दते—प्राप्त करता है या भोगता है; अव्यक्त-जन्मनः—उससे जिसके प्राकट्य को इस जगत में अनुभव नहीं किया जा सकता।

जो व्यक्ति सकाम कर्मों की शृंखला को अभिव्यक्त करने वाले महत् तत्त्व की उस अवस्था के परमात्मा रूप मुझमें अपनी सारी मानसिक क्रियाएँ एकाग्र करता है, वह अव्यक्त रूप मुझसे प्राकाम्य नामक सर्वोत्तम योग-सिद्धि प्राप्त करता है।

तात्पर्य : श्रील वीरराघव आचार्य बतलाते हैं कि *सूत्र* शब्द यह सूचित करने के लिए प्रयुक्त हुआ है कि महत् तत्त्व मनुष्य के सकाम कर्मों को उसी तरह धारण करता है, जिस प्रकार डोरा रत्नों को बाँधे रखता है। इस तरह महत् तत्त्व की आत्मा रूप भगवान् में स्थिर ध्यान से, मनुष्य *प्राकाम्य* नामक सर्वोत्कृष्ट सिद्धि पा सकता है। *अव्यक्त-जन्मनः* सूचित करता है कि भगवान् अव्यक्त या आध्यात्मिक आकाश से प्रकट होते हैं अथवा उनका जन्म *अव्यक्त* है। जब तक कोई भगवान् के दिव्य रूप को स्वीकार नहीं कर लेता, तब तक *प्राकाम्य* या कोई अन्य सिद्धि प्राप्त करने की सम्भावना नहीं रहती।

विष्णौ त्र्यधीश्वरे चित्तं धारयेत्कालविग्रहे ।
स ईशित्वमवाप्नोति क्षेत्रज्ञक्षेत्रचोदनाम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

विष्णौ—भगवान् विष्णु या परमात्मा में; त्रि-अधीश्वरे—तीन गुणों वाली माया के परम नियन्ता; चित्तम्—चेतना; धारयेत्—एकाग्र करता है; काल—काल का, जो कि मूल गतिप्रदाता है; विग्रहे—स्वरूप में; सः—वह, योगी; ईशित्वम्—वश में करने की सिद्धि; अवाप्नोति—प्राप्त करता है; क्षेत्र-ज्ञ—चेतन जीव; क्षेत्र—उपाधियों सहित शरीर; चोदनाम्—प्रेरित करते हुए।

जो मूल गतिप्रदाता तथा तीन गुणों से युक्त बहिरंगा शक्ति के परमेश्वर, परमात्मा विष्णु में

अपनी चेतना स्थिर करता है, वह अन्य बद्धजीवों, उनके शरीरों तथा उनकी उपाधियों को नियंत्रित करने की योग-सिद्धि प्राप्त करता है।

तात्पर्य : हमें स्मरण रखना चाहिए कि कोई योग-सिद्धि जीव को कभी भी इतना समर्थ नहीं बनाती कि वह भगवान् की श्रेष्ठता को चुनौती दे सके। वस्तुत:, हम भगवान् की कृपा के बिना ऐसी सिद्धियाँ प्राप्त नहीं कर सकते। इस तरह मनुष्य की नियंत्रणकारी शक्ति कभी भी भगवान् कृष्ण की योजना में बाधक नहीं बन सकती। मनुष्य को ईश्वर के नियम के अन्तर्गत ही योग-नियंत्रण प्रदर्शित करने की अनुमति दी जाती है और बड़े-से-बड़े योगी को भी जो अपने तथाकथित योग-ऐश्वर्य से ईश्वर के नियम का उल्लंघन करता है, उसी तरह कठोर दण्ड दिया जाता है जैसाकि अम्बरीष महाराज को शाप देने पर दुर्वासा मुनि की कथा से पता चलता है।

नारायणे तुरीयाख्ये भगवच्छब्दशब्दिते ।
मनो मय्यादधद्योगी मद्धर्मा वशितामियात् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

नारायणे—भगवान् नारायण में; तुरीय-आख्ये—तुरीय नामक; भगवत्—समस्त ऐश्वर्य से पूर्ण; शब्द-शब्दिते—शब्द से जाना जाने वाला; मन:—मन; मयि—मुझमें; आदधत्—लगाते हुए; योगी—योगी; मत्-धर्मा—मेरे स्वभावको पाकर; वशिताम्—वशिता नामक सिद्धि; इयात्-मय् ओब्तैन्.

जो योगी मेरे नारायण रूप में, जो कि समस्त ऐश्वर्यपूर्ण चौथी अवस्था (तुरीय) माना जाता है, अपने मन को लगाता है, वह मेरे स्वभाव से युक्त हो जाता है और उसे वशिता नामक योग-सिद्धि प्राप्त होती है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.१३) में भगवान् कृष्ण ने कहा है—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभि: सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्य: परमव्ययम्॥

“तीन गुणों (सतो, रजो तथा तमो) के द्वारा मोहग्रस्त यह सारा संसार मुझ गुणातीत तथा अविनाशी को नहीं जानता।” इस तरह भगवान् *तुरीय* कहलाते हैं अर्थात् वे तीनों गुणों से परे एक चतुर्थ कारक हैं। श्रील वीरराघव आचार्य के अनुसार *तुरीय* शब्द यह भी सूचति करता है कि भगवान् चेतना की तीन सामान्य अवस्थाओं—जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्त से परे हैं। *भगवच्छब्द-शब्दिते* सूचित करता है कि भगवान् असीम ऐश्वर्य—सौन्दर्य, यश, धन, ज्ञान, वैराग्य तथा बुद्धि के स्वामी हैं।

अन्त में, मनुष्य भगवान् का, *तुरीय* रूप में, ध्यान करके योग-ऐश्वर्य *वशिता* को प्राप्त कर सकता है। हर बात भगवान् की कृपा पर निर्भर करती है।

निर्गुणे ब्रह्मणि मयि धारयन्विशदं मनः ।
परमानन्दमाप्नोति यत्र कामोऽवसीयते ॥ १७॥

शब्दार्थ

निर्गुणे—गुणरहित; ब्रह्मणि—ब्रह्म में; मयि—मुझमें; धारयन्—एकाग्र करके; विशदम्—शुद्ध; मनः—मन; परम-आनन्दम्—सर्वाधिक सुख; आप्नोति—प्राप्त करता है; यत्र—जहाँ; कामः—इच्छा; अवसीयते—पूर्णतया पूरित रहता है।

जो व्यक्ति मेरे निर्विशेष ब्रह्म रूप में अपना शुद्ध मन स्थिर करता है, वह सर्वाधिक सुख प्राप्त करता है, जिसमें उसकी सारी इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं।

तात्पर्य : *परमानन्द* सर्वाधिक भौतिक सुख का सूचक है क्योंकि *श्रीमद्भागवत* में स्पष्टः कहा गया है कि भक्त की कोई निजी इच्छा या *काम* नहीं होता। जो सकाम होता है, वह निश्चय ही भौतिक संसार के भीतर है और भौतिक स्तर पर सर्वाधिक सुख *कामाव सायिता-सिद्धि* कहलाता है।

श्वेतद्वीपपतौ चित्तं शुद्धे धर्ममये मयि ।
धारयञ्छ्वेततां याति षडूर्मिरहितो नरः ॥ १८॥

शब्दार्थ

श्वेत-द्वीप—श्वेत द्वीप का, जो कि क्षीरोदकशायी विष्णु का धाम है; पतौ—भगवान् में; चित्तम्—चेतना को; शुद्धे—साक्षात् सतोगुण में; धर्म-मये—दया में सदैव स्थित है, जो; मयि—मुझमें; धारयन्—एकाग्र करते हुए; श्वेतताम्—शुद्धता को; याति—प्राप्त करता है; षट्-ऊर्मि—भौतिक उत्पात की छः लहरें; रहितः—से मुक्त; नरः—पुरुष।

जो व्यक्ति मेरे धर्म को धारण करने वाले, साक्षात् शुद्धता तथा श्वेत द्वीप के स्वामी के रूप मुझमें, अपना मन एकाग्र करता है, वह शुद्ध जीवन को प्राप्त करता है, जिसमें वह भौतिक उपद्रव की छह ऊर्मियों से अर्थात् भूख, प्यास, क्षय, मृत्यु, शोक तथा मोह से—मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : अब भगवान् प्रकृति के गुणों से उत्पन्न दस गौण योग-सिद्धियाँ प्राप्त करने की विधियाँ बतलाते हैं। भौतिक जगत के भीतर *श्वेतद्वीप पति* भगवान् विष्णु सतोगुण पर शासन चलाते हैं और इस तरह वे *शुद्ध* तथा *धर्ममय* कहलाते हैं। भौतिक शुद्धि के साक्षात् रूप भगवान् विष्णु की पूजा करने से मनुष्य को शारीरिक उपद्रवों से मुक्त होने का वर प्राप्त होता है।

**मय्याकाशात्मनि प्राणे मनसा घोषमुद्वहन् ।
तत्रोपलब्धा भूतानां हंसो वाचः शृणोत्यसौ ॥ १९ ॥**

शब्दार्थ

मयि—मुझमें; आकाश-आत्मनि—आकाश रूप; प्राणे—प्राण में; मनसा—मन से; घोषम्—दिव्य ध्वनि; उद्वहन्—एकाग्र करते हुए; तत्र—आकाश में; उपलब्धाः—अनुभूत; भूतानाम्—सारे जीवों का; हंसः—शुद्ध जीव; वाचः—शब्द या वाणी; शृणोति—सुनता है; असौ—वह।

वह शुद्ध जीव जो मेरे भीतर होने वाली असामान्य ध्वनि पर साक्षात् आकाश तथा प्राण-वायु के रूप में अपना मन स्थिर करता है, वह आकाश में सारे जीवों की वाणी का अनुभव कर सकता है।

तात्पर्य : आकाश के भीतर वायु के स्पन्दन से वाणी उत्पन्न होती है। जो व्यक्ति भगवान् का ध्यान साक्षात् आकाश तथा वायु के रूप में करता है उससे वह काफी दूरी पर होने वाली ध्वनि को सुनने की शक्ति प्राप्त कर सकता है। *प्राण* शब्द सूचित करता है कि भगवान् जीवों के और समस्त प्राणियों के साक्षात् प्राण हैं। अन्ततोगत्वा शुद्ध भक्तगण परम ध्वनि—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का ध्यान करते हैं और इस तरह वे इस ब्रह्माण्ड के परे दूरस्थ मुक्त जीवों से उत्पन्न वाणी को सुन सकते हैं। कोई भी जीव *श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता* तथा अन्य ऐसे ही ग्रंथों को पढ़ कर ऐसी विवेचनाएँ सुन सकता है। जिस व्यक्ति ने भगवान् के ऐश्वर्यों को ठीक से समझ लिया है, वह कृष्णभावनामृत में सारी सिद्धियाँ पा लेता है।

**चक्षुस्त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि ।
मां तत्र मनसा ध्यायन् विश्वं पश्यति दूरतः ॥ २० ॥**

शब्दार्थ

चक्षुः—आँखें; त्वष्टरि—सूर्य में; संयोज्य—तादात्म्य करके; त्वष्टारम्—सूर्य को; अपि—भी; चक्षुषि—अपनी आँखों में; माम्—मुझको; तत्र—वहाँ, सूर्य तथा आँख के पारस्परिक तादात्म्य में; मनसा—मन से; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; विश्वम्—हर वस्तु को; पश्यति—देखता है; दूरतः—दूर स्थित।

मनुष्य को चाहिए कि अपनी दृष्टि को सूर्यलोक में और सूर्यलोक को अपनी आँखों में लीन करके, सूर्य तथा दृष्टि के संमेल के भीतर मुझे स्थित मान कर, मेरा ध्यान करे। इस तरह वह किसी भी दूर की वस्तु को देखने की शक्ति प्राप्त कर लेता है।

**मनो मयि सुसंयोज्य देहं तदनुवायुना ।
मद्धारणानुभावेन तत्रात्मा यत्र वै मनः ॥ २१ ॥**

शब्दार्थ

मनः—मन; मयि—मुझमें; सु-संयोज्य—ठीक से संयुक्त करके; देहम्—भौतिक शरीर; तत्—मन; अनु-वायुना—पीछे पीछे चलने वाली हवा से; मत्-धारणा—मेरे ध्यान का; अनुभावेन—शक्ति द्वारा; तत्र—वहाँ; आत्मा—भौतिक शरीर (चला जाता है); यत्र—जहाँ जहाँ; वै—निश्चय ही; मनः—मन (चला जाता है)।

जो योगी अपना मन मुझमें लीन कर देता है और इसके बाद मन का अनुसरण करने वाली वायु का उपयोग भौतिक शरीर को मुझमें लीन करने के लिए करता है, वह मेरे ध्यान की शक्ति से उस योग-सिद्धि को प्राप्त करता है, जिससे उसका शरीर तुरन्त ही मन के पीछे पीछे जाता है।

तात्पर्य : *तद्-अनुवायुना* उस विशेष सूक्ष्म वायु का सूचक है, जो मन के पीछे पीछे जाती है। जब योगी इस वायु को शरीर तथा मन के साथ साथ भगवान् के ध्यान की शक्ति से कृष्ण में मिला देता है, तो उसका स्थूल शरीर सूक्ष्म वायु की ही तरह मन के पीछे पीछे कहीं भी जा सकता है। यह सिद्धि *मनोजवः* कहलाती है।

यदा मन उपादाय यद्यद्रूपं बुभूषति ।
तत्तद्भवेन्मनोरूपं मद्योगबलमाश्रयः ॥ २२॥

शब्दार्थ

यदा—जब; मनः—मन; उपादाय—प्रयुक्त करके; यत् यत्—जो जो; रूपम्—रूप; बुभूषति—धारण करना चाहता है; तत् तत्—वही रूप; भवेत्—प्रकट हो सकता है; मनः-रूपम्—मन द्वारा इच्छित रूप; मत्-योग-बलम्—मेरी अचिन्त्य योगशक्ति जिससे मैं असंख्य रूप प्रकट करता हूँ; आश्रयः—आश्रय रूप।

जब कोई योगी किसी विशेष विधि से अपने मन को लगाकर कोई विशिष्ट रूप धारण करना चाहता है, तो वही रूप तुरन्त प्रकट होता है। ऐसी सिद्धि मेरी उस अचिन्त्य योगशक्ति के आश्रय में मन को लीन करने से सम्भव है, जिसके द्वारा मैं असंख्य रूप धारण करता हूँ।

तात्पर्य : यह सिद्धि *काम-रूप* कहलाती है, जिसके बल पर इच्छानुसार कोई भी रूप, यहाँ तक कि देवता का भी रूप धारण कर लिया जा सकता है। शुद्ध भक्तगण अपने मनों को कृष्ण की विशेष प्रकार की सेवा में लीन करते हैं और इस तरह धीरे धीरे सच्चिदानन्द जीवन के लिए दिव्य शरीर धारण करते हैं। इस प्रकार जो भी व्यक्ति कृष्ण-नाम के कीर्तन की विधि अपनाता है और मानव-जीवन के नियमित विधानों का अनुसरण करता है, वह भगवद्धाम में शाश्वत दिव्य शरीर को धारण करके *काम-रूप* की चरम सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

परकायं विशन्सिद्ध आत्मानं तत्र भावयेत् ।

पिण्डं हित्वा विशेत्प्राणो वायुभूतः षडङ्घ्रिवत् ॥ २३॥

शब्दार्थ

पर—दूसरे के; कायम्—शरीर में; विशन्—प्रवेश करने की इच्छा करते हुए; सिद्धः—योगाभ्यास में निपुण; आत्मानम्—स्वयं; तत्र—उस शरीर में; भावयेत्—कल्पना करता है; पिण्डम्—अपने ही स्थूल शरीर को; हित्वा—त्याग कर; विशेत्—प्रवेश करे; प्राणः—सूक्ष्म शरीर में; वायु-भूतः—वायु जैसा बन कर; षट्-अङ्घ्रि-वत्—भौंरे की तरह जो एक फूल से दूसरे फूल पर मँडराता है।

जब कोई पूर्ण योगी किसी अन्य के शरीर में प्रवेश करना चाहता है, तो उसे चाहिए कि अन्य के शरीर में अपना ध्यान करे और तब अपना निजी स्थूल शरीर त्याग कर, वायु के मार्गों से होकर अन्य के शरीर में उसी तरह प्रवेश करे जिस तरह भौंरा उड़ कर एक फूल छोड़ कर दूसरे पर चला जाता है।

तात्पर्य : जब नथुनों तथा मुँह से वायु शरीर के भीतर खींची जाती है, तो योगी के सूक्ष्म शरीर की प्राण-वायु बाह्य वायु के रास्तों से होकर यात्रा करती है और दूसरे पुरुष के शरीर में आसानी से प्रवेश करती है, जिस तरह भौंरा एक फूल से उड़ कर दूसरे फूल पर चला जाता है। किसी वीर पुरुष या सुन्दर स्त्री की प्रशंसा करके यदि मनुष्य उनके अद्वितीय शरीर के भीतर जीवन का अनुभव करना चाहे तो ऐसा सुयोग *परकाय प्रवेशनम्* सिद्धि द्वारा सम्भव है। शुद्ध भक्तगण भगवान् के आध्यात्मिक रूप में ध्यानमग्न होने से किसी भौतिक शरीर के प्रति आकृष्ट नहीं होते। इस प्रकार भक्तगण नित्य जीवन के स्तर पर तुष्ट रहते जाते हैं।

पाष्ण्यार्पीड्य गुदं प्राणं हृदुरःकण्ठमूर्धसु ।
आरोप्य ब्रह्मरन्ध्रेण ब्रह्म नीत्वोत्सृजेत्तनुम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

पाष्ण्या—एड़ी से; आपीड्य—रोक कर; गुदम्—गुदा को; प्राणम्—जीव को ले जाने वाला प्राण; हृत्—हृदय से; उरः—वक्षस्थल पर; कण्ठ—गले तक; मूर्धसु—तथा सिर पर; आरोप्य—रख कर; ब्रह्म-रन्ध्रेण—सरि के ऊपर आध्यात्मिक स्थान द्वारा; ब्रह्म—आध्यात्मिक जगत या निर्विशेष ब्रह्म तक; नीत्वा—ले जाकर; उत्सृजेत्—त्याग दे; तनुम्—शरीर।

जिस योगी ने *स्वच्छन्द-मृत्यु* नामक योगशक्ति प्राप्त कर ली होती है, वह अपनी गुदा को पाँव की एड़ी से दबाता है और तब आत्मा को हृदय से उठाकर क्रमशः वक्षस्थल, गर्दन तथा अन्त में सिर तक उठाता है। तब ब्रह्म-रन्ध्र में स्थित योगी अपने शरीर को त्याग देता है और आत्मा को चुने हुए गन्तव्य तक ले जाता है।

तात्पर्य : *स्वच्छन्द-मृत्यु* नामक यह योग-ऐश्वर्य कुरुक्षेत्र युद्ध की समाप्ति पर भीष्मदेव द्वारा

अद्भुत रूप से प्रदर्शित हुआ था। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार इस श्लोक में प्रयुक्त *ब्रह्म* शब्द *उपलक्षण* का उदाहरण है। यहाँ पर ब्रह्म योगी द्वारा चुने गये विशिष्ट गन्तव्य का—वैकुण्ठ का, निर्विशेष ब्रह्मज्योति का या योगी के मन को आकृष्ट करने वाले अन्य किसी स्थान का—सूचक है।

विहरिष्यन्सुराक्रीडे मत्स्थं सत्त्वं विभावयेत् ।
विमानेनोपतिष्ठन्ति सत्त्ववृत्तीः सुरस्त्रियः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

विहरिष्यन्—भोग करने की इच्छा से; सुर—देवताओं के; आक्रीडे—क्रीड़ा-स्थल में; मत्—मुझमें; स्थम्—स्थित; सत्त्वम्—सतोगुण; विभावयेत्—ध्यान करे; विमानेन—वायुयान या विमान के द्वारा; उपतिष्ठन्ति—प्राप्त होते हैं; सत्त्व—सतोगुण में; वृत्तीः—प्रकट होकर; सुर—देवताओं की; स्त्रियः—स्त्रियाँ।

जो योगी देवताओं के क्रीड़ा-उद्यानों का भोग करना चाहता है उसे मुझमें स्थित शुद्ध सतोगुण का ध्यान करना चाहिए और तब सतोगुण से उत्पन्न अप्सराएँ विमानों में चढ़ कर उसके पास आयेंगी।

यथा सङ्कल्पयेद्बुद्ध्या यदा वा मत्परः पुमान् ।
मयि सत्ये मनो युञ्जंस्तथा तत्समुपाश्नुते ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस साधनों से; सङ्कल्पयेत्—मन में संकल्प करे या निश्चित करे; बुद्ध्या—मन के द्वारा; यदा—जब; वा—अथवा; मत्-परः—मुझमें श्रद्धा रखते हुए; पुमान्—योगी; मयि—मुझमें; सत्ये—जिसकी इच्छा सच उतरती है; मनः—मन; युञ्जन्—युक्त करते हुए; तथा—उस साधन से; तत्—वही अभिप्राय; समुपाश्नुते—प्राप्त करता है।

जो योगी मुझमें अपने मन को लीन करके तथा यह जानते हुए कि मेरा अभिप्राय सदैव पूरा होता है, मुझमें श्रद्धा रखता है, वह सदैव उन्हीं साधनों से, जिनका पालन करने का उसने संकल्प ले रखा है, अपना मन्तव्य प्राप्त करेगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में *यदा* शब्द सूचित करता है कि *यथा संकल्प संसिद्धि* नामक योगशक्ति से अपना उद्देश्य प्राप्त करेगा, भले ही वह अशुभ समय में उसका अभ्यास क्यों न करे। भगवान् कृष्ण *सत्य संकल्प* कहलाते हैं अर्थात् वे जिनकी इच्छा, संकल्प, उद्देश्य अथवा प्रण सदैव सच्चे उतरते हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर इसका उल्लेख करते हैं कि भक्ति के अचूक साधन से, जिसे किसी भी समय या स्थान में सम्पन्न किया जा सकता है, मनुष्य को चाहिए कि भगवान् कृष्ण से अपने खोये हुए सम्बन्ध को पुनरुज्जीवित करे। भगवान् कृष्ण को प्राप्त करने के लिए उचित मार्गदर्शन कराने

वाली अनेक पुस्तकें हैं यथा श्रील जीव गोस्वामी कृत *संकल्प कल्पवृक्ष,* श्रील कृष्णदास कविराज कृत *श्री गोविन्द-लीलामृत,* श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कृत *श्रीकृष्णभावनामृत* तथा *संकल्प-कल्पद्रुम* एवं श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कृत *श्री गौरांगस्मरणमंगल।* आधुनिक युग में श्रील प्रभुपाद ने हमें आध्यात्मिक साहित्य पर साठ बड़े-बड़े ग्रंथ दिये हैं, जो हमें भगवद्धाम वापस जाने में सहायक हो सकते हैं। हमारा *संकल्प* व्यावहारिक होना चाहिए, निरर्थक नहीं। हमें भगवद्धाम वापस जाकर जीवन की समस्याओं का वास्तविक हल खोजने का संकल्प करना चाहिए।

यो वै मद्भावमापन्न ईशितुर्वशितुः पुमान् ।
कुतश्चिन्न विहन्येत तस्य चाज्ञा यथा मम ॥ २७॥

शब्दार्थ

यः—जो (योगी); वै—निस्सन्देह; मत्—मुझसे; भावम्—स्वभाव; आपन्नः—प्राप्त किया गया; ईशितुः—परम शासक से; वशितुः—परम नियन्ता से; पुमान्—पुरुष (योगी); कुतश्चित्—किसी प्रकार से; न विहन्येत—विचलित नहीं हो सकता; तस्य—उसका; च—भी; आज्ञा—आदेश; यथा—जिस तरह; मम—मेरा।

जो व्यक्ति ठीक से मेरा ध्यान करता है, वह परम शासक तथा नियन्ता होने का मेरा स्वभाव प्राप्त कर लेता है। तब मेरे ही समान उसका आदेश किसी भी तरह से व्यर्थ नहीं जाता।

तात्पर्य : भगवान् के आदेश से ही सम्पूर्ण सृष्टि घूमती है। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.१०) में कहा गया है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

"हे कुन्ती-पुत्र! यह भौतिक प्रकृति मेरी अध्यक्षता में कार्य करती है, जिससे सारे चर तथा अचर प्राणी उत्पन्न होते हैं। उसके शासन में यह जगत बारम्बार सृजित और विनष्ट होता रहता है।" इसी तरह श्री चैतन्य महाप्रभु ने आदेश दिया है कि सारे विश्व के लोग कृष्णभावनामृत को ग्रहण करें। भगवान् के निष्ठावान भक्तों को चाहिए कि महाप्रभु के आदेश को विश्व-भर में दुहरायें। इस तरह वे ऐसे आदेश देने के भगवान् के योग-ऐश्वर्य में सहभागी हो सकते हैं जिनका कभी निराकरण नहीं हो सकता।

मद्भक्त्या शुद्धसत्त्वस्य योगिनो धारणाविदः ।
तस्य त्रैकालिकी बुद्धिर्जन्ममृत्यूपबृंहिता ॥ २८॥

शब्दार्थ

मत्-भक्त्या—मेरे प्रति भक्ति से; शुद्ध-सत्त्वस्य—जिसका जीवन शुद्ध हो जाता है उसका; योगिनः—योगी का; धारणा-विदः—ध्यान-विधि को जानने वाला; तस्य—उसका; त्रै-कालिकी—काल की तीनों अवस्थाओं, भूत, वर्तमान तथा भविष्य में कार्य करते हुए; बुद्धिः—बुद्धि; जन्म-मृत्यु—जन्म तथा मृत्यु; उपबृंहिता—समेत।

जिस योगी ने मेरी भक्ति द्वारा अपने जीवन को शुद्ध कर लिया है और जो इस तरह ध्यान की विधि को भलीभाँति जानता है, वह भूत, वर्तमान तथा भविष्य का ज्ञान प्राप्त करता है। अतः वह अपने तथा अन्यों के जन्म तथा मृत्यु को देख सकता है।

तात्पर्य : आठ प्रधान तथा दस गौण योग-सिद्धियों का वर्णन कर चुकने के बाद, भगवान् अब पाँच निकृष्ट शक्तियों को बतलाते हैं।

अग्न्यादिभिर्न हन्येत मुनेर्योगमयं वपुः ।
मद्योगशान्तचित्तस्य यादसामुदकं यथा ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अग्नि—आग; आदिभिः—इत्यादि (सूर्य, जल, विष इत्यादि) के द्वारा; न—नहीं; हन्येत—चोट पहुँचाया जा सकता है; मुनेः—चतुर योगी के; योग-मयम्—योग-विज्ञान में पूरी तरह अनुशीलित; वपुः—शरीर; मत्-योग—मेरी भक्ति से; शान्त—शान्त किया गया; चित्तस्य—चित्त वाले का; यादसाम्—जलचरों के; उदकम्—जल; यथा—जिस तरह।

जिस तरह जलचरों के शरीरों को जल से चोट नहीं पहुँचती, उसी प्रकार जिस योगी की चेतना मेरी भक्ति से शान्त हुई रहती है और जो योग-विज्ञान में पूर्णतया विकसित होता है, उसका शरीर अग्नि, सूर्य, जल, विष इत्यादि से क्षतिग्रस्त नहीं किया जा सकता।

तात्पर्य : समुद्र में रहने वाले जीवों को जल से कभी चोट नहीं पहुँचती, प्रत्युत जल के भीतर वे जीवन का आनन्द लेते हैं। इसी तरह, जो व्यक्ति योग-युक्तियों में दक्ष होता है उसके लिए हथियारों, अग्नि, विष इत्यादि के आक्रमणों से अपने को बचा लेना एक खिलवाड़ होता है। प्रह्लाद महाराज पर उसके पिता ने इन सभी विधियों से वार किया था, किन्तु पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होने के कारण उन्हें चोट नहीं पहुँची। भगवद्भक्तगण भगवान् कृष्ण की कृपा पर पूरी तरह निर्भर रहते हैं क्योंकि भगवान् योगेश्वर हैं और उनमें अनन्त योगशक्ति रहती है। चूँकि भक्तगण भगवान् कृष्ण से जुड़े होते हैं, अतएव उनमें अपने प्रभु, अपने रक्षक भगवान् में पहले से उपस्थित शक्तियों को अलग से विकसित करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

यदि कोई व्यक्ति मध्य समुद्र में गिर जाय तो वह तुरन्त डूब जाता है, किन्तु उन्हीं तरंगों में मछली

क्रीड़ा करते हुए सुख का अनुभव करती है। इसी प्रकार भवसागर में पतित बद्धजीव अपने पापों में डूबते रहते हैं जबकि भक्तगण इस जगत को भगवान् की शक्ति मानते हुए भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति में लग कर आनन्दमय लीलाओं का भोग करते हैं।

मद्विभूतीरभिध्यायन्श्रीवत्सास्त्रविभूषिताः ।
ध्वजातपत्रव्यजनैः स भवेदपराजितः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

मत्—मेरे; विभूतीः—ऐश्वर्यमय अवतारों से; अभिध्यायन्—ध्यान करते हुए; श्रीवत्स—भगवान् के श्रीवत्स ऐश्वर्य समेत; अस्त्र—हथियार; विभूषिताः—अलंकृत; ध्वज—झंडों से; आतपत्र—छाते से; व्यजनैः—तथा नाना प्रकार के पंखों से; सः—वह, भक्त-योगी; भवेत्—बन जाता है; अपराजितः—अन्यों द्वारा न जीता जा सकने वाला।

मेरा भक्त मेरे ऐश्वर्यमय अवतारों का ध्यान करके अपराजेय बन जाता है। मेरे ये अवतार श्रीवत्स तथा विविध हथियारों से अलंकृत और ध्वजों, आलंकारिक छातों तथा पंखों जैसे राजसी साज-सामान से युक्त होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् के ऐश्वर्यमय अवतारों के पास राजसी साज-सामान होने से उनकी सर्वशक्तिमत्ता सूचित होती है और भक्तगण भगवान् के शक्तिशाली राजसी साज-सामान से युक्त अवतारों का ध्यान करके अपराजेय बन जाते हैं। जैसाकि बिल्वमंगल ठाकुर ने *कृष्णकर्णामृत* (श्लोक १०७) में कहा है—

भक्तिस्त्वयि स्थिरता भगवन् यदि स्याद्

दैवेन नः फलति दिव्यकिशोरमूर्तिः।

मुक्तिः स्वयं मुकुलिताञ्जलिः सेवतेऽस्मान्

धर्मार्थकामगतयः समयप्रतीक्षाः॥

"हे प्रभु! यदि हम अपने में आपके लिए अविचल भक्ति उत्पन्न कर लें, तो आपका दिव्य किशोर रूप स्वतः हमारे समक्ष प्रकट हो जाता है। इस तरह मुक्ति स्वयं हाथ जोड़े हमारी सेवा करने के लिए प्रस्तुत रहती है और धर्म, अर्थ तथा काम हमारी सेवा करने के लिए धैर्यपूर्वक करते हैं।"

उपासकस्य मामेवं योगधारणया मुनेः ।
सिद्धयः पूर्वकथिता उपतिष्ठन्त्यशेषतः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

उपासकस्य—पूजा करने वाले का; माम्—मुझको; एवम्—इस प्रकार; योग-धारणया—यौगिक ध्यान द्वारा; मुनेः—विद्वान पुरुष का; सिद्धयः—सिद्धियाँ; पूर्व—पहले; कथिताः—कही हुई; उपतिष्ठन्ति—पास पहुँचती हैं; अशेषतः—सभी प्रकार से।

जो विद्वान भक्त योग-ध्यान द्वारा मेरी पूजा करता है, वह निश्चय ही सभी तरह से उन योग-सिद्धियों को प्राप्त करता है जिनका वर्णन मैंने अभी किया है।

तात्पर्य : *योगधारणया* शब्द बताता है कि प्रत्येक भक्त उस सिद्धि को पाता है, जिसके योग्य वह होता है। इस तरह भगवान् *योग-सिद्धि* विषयक अपना विवेचन समाप्त करते हैं।

जितेन्द्रियस्य दान्तस्य जितश्वासात्मनो मुनेः ।
मद्धारणां धारयतः का सा सिद्धिः सुदुर्लभा ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

जित-इन्द्रियस्य—इन्द्रियों को जीत लेने वाले का; दान्तस्य—अनुशासित तथा आत्मसंयमित का; जित-श्वास—जिसने श्वास पर विजय पा ली है; आत्मनः—तथा जिसने मन को जीत लिया है; मुनेः—ऐसे मुनि का; मत्—मुझमें; धारणाम्—ध्यान; धारयतः—करने वाला; का—क्या है; सा—वह; सिद्धिः—सिद्धि; सु-दुर्लभा—जिसको प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है।

जिस मुनि ने अपनी इन्द्रियों, श्वास तथा मन को जीत लिया है, जो आत्मसंयमी है और सदा मेरे ध्यान में लीन रहता है, उसके लिए कौन-सी योग-सिद्धि प्राप्त करना कठिन है?

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी की टीका इस प्रकार है : "यहाँ पर कृष्ण यह कहते हैं कि अनेक कठिन विधियों का अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उपर्युक्त में से किसी एक भी विधि को पूरी तरह सम्पन्न करने से, मनुष्य अपनी इन्द्रियों को वश में कर सकता है, भगवान् में लीन हो सकता है और इस तरह समस्त योग-सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है।

श्रील जीव गोस्वामी लिखते हैं कि मनुष्य को भगवान् के दिव्य स्वरूप का ध्यान करना चाहिए जो किसी भौतिक उपाधि से मुक्त है। योग-पद्धति में प्रगति करने का यही सार है। इस तरह मनुष्य भगवान् के निजी शरीर से सारी सिद्धियाँ सरलता से प्राप्त कर सकता है।

अन्तरायान्वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम् ।
मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अन्तरायान्—अवरोध; वदन्ति—कहते हैं; एताः—ये सिद्धियाँ; युञ्जतः—लगने वाले के; योगम्—ब्रह्म से संयोग; उत्तमम्—परम अवस्था; मया—मेरे साथ; सम्पद्यमानस्य—पूरी तरह ऐश्वर्यवान बनने वाले के; काल—समय का; क्षपण—अवरोध का, बर्बादी; हेतवः—कारण।

भक्ति के विद्वान पंडितों का कहना है कि योग-सिद्धियाँ, जिनका मैंने उल्लेख किया है,

वास्तव में उस परम योग का अभ्यास करने वाले व्यक्ति के लिए अवरोधक तथा समय का अपव्यय हैं जिसके द्वारा वह मुझसे सीधे समस्त जीवन-सिद्धियाँ प्राप्त करता है।

तात्पर्य : यह तो सामान्य अनुभव की बात है कि जो वस्तु समय का अपव्यय हो उसे त्याग देना चाहिए, अतएव मनुष्य को भगवान् से योग-सिद्धियों की याचना नहीं करनी चाहिए। निष्काम शुद्ध भक्त के लिए निर्विशेष मुक्ति तक जीवन की व्यर्थ बाधा लगती है और भौतिक योग-सिद्धियों के विषय में क्या कहा जाय जो निर्विशेष मुक्ति से तुलनीय नहीं हैं। भले ही ऐसी योग-सिद्धियाँ अपरिपक्व तथा अननुभवी व्यक्ति के लिए आश्चर्यजनक हों, किन्तु जिस विद्वान ने भगवान् को समझ लिया है उसके लिए ये तनिक भी प्रभावशाली नहीं हैं। भगवान् कृष्ण को प्राप्त करने मात्र से मनुष्य योग-सिद्धियों के अनन्त सागर में निवास करता है अतएव अलग से योगसिद्धियों के पीछे अपना बहुमूल्य समय बर्बाद नहीं करना चाहिए।

जन्मौषधितपोमन्त्रैर्यावतीरिह सिद्धयः ।
योगेनाप्नोति ताः सर्वा नान्यैर्योगगतिं व्रजेत् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

जन्म—जन्म; औषधि—जड़ी-बूटियों; तपः—तपस्या; मन्त्रैः—तथा मंत्रों से; यावतीः—जितने हैं; इह—इस जगत में; सिद्धयः—सिद्धियाँ; योगेन—मेरी भक्ति से; आप्नोति—प्राप्त करता है; ताः—वे; सर्वाः—सभी; न—नहीं; अन्यैः—अन्य विधियों से; योग-गतिम्—वास्तविक योग-सिद्धि; व्रजेत्—प्राप्त करता है।

अच्छे जन्म, औषधियों, तपस्याओं तथा मंत्रों से जो भी योग-सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं उन सबों को मेरी भक्ति करके प्राप्त किया जा सकता है। निस्सन्देह, कोई भी व्यक्ति अन्य किसी साधन से वास्तविक योग-सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता।

तात्पर्य : देवता रूप में जन्म लेने से मनुष्य को स्वतः अनेक योग-सिद्धियाँ प्राप्त हुई रहती हैं। सिद्धलोक में मात्र जन्म लेने से स्वतः आठ प्रमुख योग-सिद्धियाँ अर्जित हो जाती हैं। इसी तरह मछली के रूप में जन्म लेने से वह जल से अभेद्य हो जाती है, पक्षी रूप में जन्म लेने से उड़ने की योग-सिद्धि प्राप्त हो जाती है और भूतप्रेत के रूप में जन्म लेने से अलक्षित होने तथा परकाया-प्रवेश की सिद्धि प्राप्त होती है। पतञ्जलि मुनि बतलाते हैं कि योग-सिद्धियाँ जन्म, औषधि, तपस्या तथा मंत्रों द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं। किन्तु भगवान् का कहना है कि ऐसी सिद्धियाँ अन्ततोगत्वा समय का अपव्यय हैं तथा वास्तविक योग-सिद्धि अर्थात् कृष्णभावनामृत प्राप्त करने में विघ्न स्वरूप हैं।

जो लोग भक्तियोग त्याग कर, कृष्ण के अतिरिक्त ध्यान की अन्य वस्तुओं के लिए मँडराते हैं, वे निश्चय ही अधिक बुद्धिमान नहीं हैं। जो अपने को योगी घोषित करते हैं किन्तु अपनी इन्द्रियों की तुष्टि में लगे रहते हैं, वे *कुयोगी* या *भोगी-योगी* हैं। ऐसे कुयोगी यह नहीं समझ पाते कि जिस तरह उनके पास लघु इन्द्रियाँ हैं उसी तरह परब्रह्म के पास सूक्ष्म इन्द्रियाँ हैं। वे यह भी नहीं समझ पाते कि योग वास्तव में भगवान् की चरम इन्द्रियों को तुष्ट करने के निमित्त है। इसलिए जो व्यक्ति योग-सिद्धियों के तथाकथित सुख के पीछे पड़ कर, भगवान् कृष्ण के चरणकमलों का परित्याग कर देते हैं उन्हें अपने प्रयासों से हतोत्साहित होना पड़ेगा। मनुष्य को केवल भगवान् का ध्यान करने से *योगगति* प्राप्त हो सकती है, जिसका अर्थ होता है भगवान् कृष्ण के लोक में रह कर आध्यात्मिक ऐश्वर्यों का भोग करना।

सर्वासामपि सिद्धीनां हेतुः पतिरहं प्रभुः ।
अहं योगस्य साङ्ख्यस्य धर्मस्य ब्रह्मवादिनाम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सर्वासाम्—सभी से; अपि—निस्सन्देह; सिद्धीनाम्—सिद्धियों में से; हेतुः—कारण; पतिः—रक्षक; अहम्—मैं हूँ; प्रभुः—स्वामी; अहम्—मैं; योगस्य—मेरे शुद्ध ध्यान का; साङ्ख्यस्य—सांख्य ज्ञान का; धर्मस्य—निष्काम भाव से किये गये कर्म का; ब्रह्म-वादिनाम्—वैदिक शिक्षकों का।

हे उद्धव, मैं समस्त योग-सिद्धियों, योग-पद्धति, सांख्य ज्ञान, शुद्ध कर्म तथा विद्वान वैदिक शिक्षकों का कारण, रक्षक तथा स्वामी हूँ।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार, यहाँ पर *योग* शब्द भौतिक जीवन से मुक्ति का और *सांख्य* शब्द मोक्ष प्राप्त करने की विधि का सूचक है। इस तरह भगवान् कृष्ण न केवल भौतिक योग-सिद्धियों के अपितु सर्वोच्च मुक्त सिद्धियों के भी स्वामी हैं। पुण्यकर्म द्वारा सांख्य अर्थात् मोक्ष का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और भगवान् कृष्ण ऐसे कर्म के हेतु, रक्षक तथा स्वामी तो हैं ही, वे उन विद्वान शिक्षकों के भी स्वामी हैं, जो सामान्य लोगों को पवित्रता की शिक्षा देते हैं। हर जीव के लिए भगवान् कृष्ण अनेक प्रकार से ध्यान तथा पूजा के लक्ष्य हैं। भगवान् कृष्ण अपनी शक्तियों का विस्तार करके सर्वस्व बनते हैं और यही साधारण चिन्तन योग की चरम सिद्धि है, जो कृष्णभावनामृत कहलाती है।

अहमात्मान्तरो बाह्योऽनावृतः सर्वदेहिनाम् ।
यथा भूतानि भूतेषु बहिरन्तः स्वयं तथा ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; आत्मा—भगवान्; आन्तरः—परमात्मा के भीतर स्थित; बाह्यः—मेरे सर्वव्यापक रूप के बाहर स्थित; अनावृतः—खुला; सर्व-देहिनाम्—सारे जीवों के; यथा—जिस तरह; भूतानि—भौतिक तत्त्व; भूतेषु—जीवों में; बहिः—बाहर से; अन्तः—भीतर से; स्वयम्—स्वयं; तथा—उसी तरह से।

जिस तरह समस्त भौतिक शरीरों के भीतर तथा बाहर एक जैसे भौतिक तत्त्व उपस्थित रहते हैं, उसी तरह मैं किसी अन्य वस्तु से आच्छादित नहीं किया जा सकता। मैं हर वस्तु के भीतर परमात्मा रूप में और हर वस्तु के बाहर अपने सर्वव्यापक रूप में उपस्थित रहता हूँ।

तात्पर्य : समस्त योगियों तथा दार्शनिकों के ध्यान का सम्पूर्ण आधार भगवान् कृष्ण हैं और यहाँ पर भगवान् अपने चरम पद का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। चूँकि भगवान् हर वस्तु के भीतर रहते हैं इसलिए मनुष्य यह सोच सकता है कि भगवान् तो खण्डों में विभाजित हैं। किन्तु *अनावृत* शब्द सूचित करता है कि परब्रह्म या भगवान् के चरम अस्तित्व में न तो किसी तरह का व्यवधान होता है, न ही अतिलंघन हो सकता है। जिस तरह हर स्थान पर रहने वाले भौतिक तत्त्वों के अन्तः तथा बाह्य अस्तित्व में कोई विलगाव नहीं होता, उसी तरह भगवान् सर्वव्यापी हैं और हर वस्तु की चरम सिद्धि हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के ''भगवान् कृष्ण द्वारा योग-सिद्धियों का वर्णन'' नामक पन्द्रहवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सोलह

भगवान् की विभूतियाँ

इस अध्याय में भगवान् कृष्ण अपने प्रकट ऐश्वर्यों या विभूतियों का वर्णन ज्ञान, बल, प्रभाव इत्यादि विशेष शक्तियों के रूप में करते हैं।

श्री उद्धव ने समस्त तीर्थस्थानों के चरम आश्रय भगवान् कृष्ण की महिमा का वर्णन इस प्रकार किया है, ''भगवान् का न तो आदि है, न अन्त। वे सभी जीवों के जन्म, पालन तथा संहार के कारण हैं। वे सभी जीवों की आत्मा हैं और सभी जीवित प्राणियों के भीतर गुप्त रूप से वास करते हुए वे

सारी वस्तुएँ देखते रहते हैं। किन्तु बद्धजीव उनकी बहिरंगा शक्ति से मोहग्रस्त होने के कारण उनका दर्शन नहीं कर पाते।" भगवान् कृष्ण के चरणकमलों पर ऐसी स्तुति अर्पित करने के बाद, श्री उद्धव ने स्वर्ग, पृथ्वी, नरक तथा समस्त दिशाओं में भगवान् की विविध विभूतियों को जानने की इच्छा व्यक्त की। तब श्रीकृष्ण ने इन सारी विभूतियों का वर्णन किया और इसके बाद यह टिप्पणी की कि सारा बल, सौन्दर्य, यश, ऐश्वर्य, दीनता, दान, आकर्षण, सौभाग्य, वीरता, सहिष्णुता तथा ज्ञान जहाँ कहीं वे दिखते हैं, सब उन्हीं के अंश (विस्तार) हैं। इसलिए यह ठीक से नहीं कहा जा सकता कि किसी भौतिक वस्तु में ये विभूतियाँ वास्तव में रहती हैं। ऐसी धारणाएँ द्वैत के कारण हैं जिससे ऐसी वस्तु उत्पन्न होती है, जो काल्पनिक होती है जैसे कि आकाश कुसुम। भौतिक विभूतियाँ सारतः सत्य नहीं हैं अतएव इनके चिन्तन में अत्यधिक लीन नहीं होना चाहिए। भगवान् के शुद्ध भक्त अपनी बुद्धि का सही सही उपयोग अपनी वाणी, मन तथा प्राण के कार्यकलापों के नियमन में लगाते हैं और इस तरह कृष्णभावनामृत में रह कर अपना अस्तित्व सिद्ध करते हैं।

श्रीउद्धव उवाच
त्वं ब्रह्म परमं साक्षादनाद्यन्तमपावृतम् ।
सर्वेषामपि भावानां त्राणस्थित्यप्ययोद्भवः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; त्वम्—तुम हो; ब्रह्म—महानतम; परमम्—परम; साक्षात्—स्वयं; अनादि—आदिरहित; अन्तम्—अन्तरहित; अपावृतम्—किसी वस्तु से सीमित नहीं; सर्वेषाम्—समस्त; अपि—निस्सन्देह; भावानाम्—उपस्थित वस्तुओं में; त्राण—रक्षक; स्थिति—जीवनदाता; अप्यय—संहार; उद्भवः—तथा सृष्टि।

श्री उद्धव ने कहा : हे प्रभु, आप अनादि तथा अनन्त, साक्षात् परब्रह्म तथा अन्य किसी वस्तु से सीमित नहीं हैं। आप सभी वस्तुओं के रक्षक तथा जीवनदाता, उनके संहार तथा सृष्टि हैं।

तात्पर्य : *ब्रह्म* का अर्थ है सर्वश्रेष्ठ एवं हर वस्तु का कारण। यहाँ पर उद्धव ने भगवान् को *परमम्* अर्थात् परब्रह्म के रूप में सम्बोधित किया है क्योंकि उनका भगवान् रूप, परब्रह्म का सर्वोच्च स्वरूप और असीम आध्यात्मिक ऐश्वर्यों का आश्रय है। सामान्य जीवों से भिन्न रूप में भगवान् के ऐश्वर्यों को काल की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। इस तरह भगवान् *अनाद्यन्तम्* और *अपावृतम्* अर्थात् किसी श्रेष्ठ या समान शक्ति द्वारा रोके जाने वाले नहीं हैं। इस भौतिक जगत का सारा ऐश्वर्य भगवान् में ही टिका है क्योंकि वे ही भौतिक जगत का रक्षण, पालन, सृजन तथा संहार कर सकते हैं। इस अध्याय में

श्री उद्धव भगवान् से उनके आध्यात्मिक तथा भौतिक ऐश्वर्यों के बारे में पूछते हैं जिससे परब्रह्म रूप में भगवान् की स्थिति के विषय में वे पुनः अपना विचार दृढ़ कर सकें। भौतिक जगत के चरम स्रष्टा भगवान् विष्णु भी भगवान् कृष्ण के अंश हैं, अतएव श्री उद्धव अपने अन्तरंग मित्र के अद्वितीय पद के बारे में पूर्णतया आश्वस्त हो लेना चाहते हैं।

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयमकृतात्मभिः ।
उपासते त्वां भगवन्याथातथ्येन ब्राह्मणाः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

उच्च—श्रेष्ठ; अवचेषु—तथा निम्न; भूतेषु—सृजित वस्तुओं तथा जीवों में; दुर्ज्ञेयम्—समझ पाना कठिन; अकृत-आत्मभिः—अपवित्रों द्वारा; उपासते—वे पूजा करते हैं; त्वाम्—तुम्हारी; भगवन्—हे प्रभु; यथा-तथ्येन—वास्तव में; ब्राह्मणाः—वैदिक मतानुयायी।.

हे प्रभु, यद्यपि अपवित्र लोगों के लिए यह समझ पाना कठिन है कि आप समस्त उच्च तथा निम्न सृष्टियों में स्थित हैं, किन्तु वे ब्राह्मण जो वैदिक मत को भलीभाँति जानते हैं आपकी वास्तविक रूप में पूजा करते हैं।

तात्पर्य : सन्त पुरुषों के आचरण को भी प्रमाण माना जाता है इसीलिए यहाँ पर कहा गया है कि यद्यपि अज्ञानी, अपवित्र व्यक्ति भगवान् के सर्वव्यापी स्वरूप के समक्ष विमोहित हो जाते हैं, किन्तु शुद्ध तथा स्पष्ट चेतना वाले लोग भगवान् को यथारूप में पूजते हैं। इस अध्याय में श्री उद्धव भगवान् के ऐश्वर्यों या विभूतियों के विषय में जिज्ञासा करते हैं। यहाँ पर *उच्चवचेषु भूतेषु* शब्द स्पष्ट रूप से भगवान् के बाह्य ऐश्वर्यों के द्योतक हैं, जो कि भौतिक जगत में प्रकट होते हैं। साधु ब्राह्मण या वैष्णवजन समस्त वस्तुओं के भीतर भगवान् कृष्ण की पूजा करते हैं; फिर भी वे भगवान् की सृष्टि में विविधता को पहचानते हैं। उदाहरणार्थ, अर्चाविग्रह की पूजा करते समय वे अच्छे से अच्छे फूल, फल तथा आभूषण चुन कर भगवान् को सजाते हैं। इसी तरह यद्यपि भगवान् प्रत्येक बद्धात्मा के हृदय में उपस्थित हैं, किन्तु एक भक्त उस बद्धात्मा के प्रति अधिक ध्यान देता है, जो भगवान् श्रीकृष्ण के सन्देश में रुचि रखता है। यद्यपि भगवान् सर्वत्र उपस्थित हैं, किन्तु भक्तगण भगवान् की सेवा के निमित्त, *उच्च* तथा निम्न (*अवचेषु*) सृष्टियों में भगवान् की उपस्थिति में अन्तर बरतते हैं।

येषु येषु च भूतेषु भक्त्या त्वां परमर्षयः ।

उपासीनाः प्रपद्यन्ते संसिद्धिं तद्वदस्व मे ॥ ३॥

शब्दार्थ

येषु येषु—जिन जिन; च—तथा; भूतेषु—स्वरूपों में; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; त्वाम्—तुमको; परम-ऋषयः—महर्षिगण; उपासीनाः—पूजा करने वाले; प्रपद्यन्ते—प्राप्त करते हैं; संसिद्धिम्—सिद्धि; तत्—वह; वदस्व—कृपया कहें; मे—मुझसे।

कृपया मुझसे उन सिद्धियों को बतलायें जिन्हें महर्षिगण आपकी भक्तिपूर्वक पूजा द्वारा प्राप्त करते हैं। कृपया यह भी बतलायें कि वे आपके किन विविध रूपों की पूजा करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर श्री उद्धव भगवान् के आध्यात्मिक ऐश्वर्यों के विषय में पूछते हैं, जो मुख्यतया उनके *विष्णु तत्त्व* अंशों जैसे वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध रूपों में होता है। भगवान् के इन विभिन्न स्वांशों की पूजा करके मनुष्य विशिष्ट सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है और श्री उद्धव यही जानना चाहते हैं।

गूढश्चरसि भूतात्मा भूतानां भूतभावन ।
न त्वां पश्यन्ति भूतानि पश्यन्तं मोहितानि ते ॥ ४॥

शब्दार्थ

गूढः—गुप्त; चरसि—लगे रहते हैं; भूत-आत्मा—परमात्मा; भूतानाम्—जीवों के; भूत-भावन—हे जीवों के पालनकर्ता; न—नहीं; त्वाम्—तुमको; पश्यन्ति—देखते हैं; भूतानि—जीव; पश्यन्तम्—देखते हुए; मोहितानि—मोहग्रस्त; ते—तुम्हारे द्वारा।

हे सर्वपालक प्रभु, यद्यपि आप सभी जीवों के परमात्मा हैं किन्तु आप गुप्त रहते हैं। इस तरह आपके द्वारा मोहग्रस्त बनाये जाकर सारे जीव आपको देख नहीं पाते यद्यपि आप उन्हें देखते रहते हैं।

तात्पर्य : भगवान् हर वस्तु के भीतर परमात्मा रूप में विद्यमान हैं। वे विभिन्न अवतारों के रूप में भी प्रकट होते हैं या कभी कभी भक्त को अवतार रूप में कार्य करने की शक्ति प्रदान करते हैं। अभक्तों को ऐसे समस्त रूपों का कोई पता नहीं रहता। मोहग्रस्त बद्धजीव सोचते हैं कि परम भोक्ता श्रीकृष्ण तो उनकी इन्द्रियतृप्ति के भोगार्थ हैं। अभक्तगण भगवान् से विशिष्ट वर माँगने के लिए उनकी स्तुति करने और भगवान् की सृष्टि को निजी सम्पत्ति मानने के कारण वे भगवान् के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझ पाते। इसीलिए वे मूर्ख तथा मोहग्रस्त बने रहते हैं। इस ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु का सृजन, पालन तथा संहार होता है। इस प्रकार परमात्मा ही भौतिक जगत के एकमात्र वास्तविक नियन्ता हैं। दुर्भाग्यवश जब परमात्मा अपनी स्थिति स्पष्ट करने के लिए विविध अवतारों में प्रकट होते हैं, तो अज्ञानी व्यक्ति सोचते हैं कि परमात्मा भौतिक गुणों की मात्र एक और सृष्टि हैं। जैसाकि इस श्लोक में

कहा गया है वे उस व्यक्ति को नहीं देख पाते जो उन्हें देख रहा है और इस तरह वे मोहग्रस्त बने रहते हैं।

याः काश्च भूमौ दिवि वै रसायां
विभूतयो दिक्षु महाविभूते ।
ता मह्यमाख्याह्यनुभावितास्ते
नमामि ते तीर्थपदाङ्घ्रिपद्मम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

याः काः—जो भी; च—भी; भूमौ—पृथ्वी पर; दिवि—स्वर्ग में; वै—निस्सन्देह; रसायाम्—नरक में; विभूतयः—शक्तियाँ; दिक्षु—सारी दिशाओं में; महा-विभूते—हे परमशक्तिमान; ताः—वे; मह्यम्—मुझसे; आख्याहि—कृपया बतलायें; अनुभाविताः—प्रकट, व्यक्त; ते—तुम्हारे द्वारा; नमामि—मैं सादर नमस्कार करता हूँ; ते—तुम्हारे; तीर्थ-पद—समस्त तीर्थस्थलों के निवास; अङ्घ्रि-पद्मम्—चरणकमलों पर।

हे परमशक्तिमान प्रभु, कृपा करके मुझे अपनी वे असंख्य शक्तियाँ बतलायें जिन्हें आप पृथ्वी में, स्वर्ग में, नरक में तथा समस्त दिशाओं में प्रकट करते हैं। मैं आपके उन चरणकमलों को सादर नमस्कार करता हूँ जो समस्त तीर्थस्थलों के आश्रय हैं।

तात्पर्य : उद्धव यहाँ पर भगवान् की उन भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों के बारे में जिज्ञासा करते हैं जिस रूप में वे हमारे ब्रह्माण्ड में प्रकट होती हैं। जिस प्रकार शहरों में रह रहे सामान्य पशु या कीड़े मनुष्य की वैज्ञानिक, सांस्कृतिक या सैन्य उपलब्धियों का अनुमान नहीं लगा सकते, उसी तरह मूर्ख भौतिकतावादी लोग भी भगवान् के अपार ऐश्वर्यों को नहीं पहचान पाते यद्यपि वे हमारे ब्रह्माण्ड में ही प्रकट होते हैं। यहाँ पर उद्धव सामान्यजनों की जानकारी के लिए ही भगवान् से अनुरोध कर रहे हैं कि वे यह प्रकट करें कि वे किसी तरह और किन रूपों में अपनी शक्तियों का विस्तार करते हैं। जैसाकि पहले बतलाया जा चुका है, भगवान् सारे जगत के अनिवार्य अवयव रूप हैं, अतएव कोई भी विराट या ऐश्वर्यवान् स्वरूप साक्षात् भगवान् पर ही टिका हुआ हो सकता है।

श्रीभगवानुवाच
एवमेतदहं पृष्टः प्रश्नं प्रश्नविदां वर ।
युयुत्सुना विनशने सपत्नैरर्जुनेन वै ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; एवम्—इस प्रकार; एतत्—यह; अहम्—मैं; पृष्टः—पूछा गया; प्रश्नम्—प्रश्न; प्रश्न-विदाम्—प्रश्न करने में पटु लोगों के; वर—तुम जो कि श्रेष्ठ हो; युयुत्सुना—युद्ध करने की इच्छा रखने वालों के द्वारा; विनशने—कुरुक्षेत्र के युद्ध में; सपत्नैः—अपने प्रतिद्वन्दियों या शत्रुओं समेत; अर्जुनेन—अर्जुन द्वारा; वै—निस्सन्देह।

भगवान् ने कहा : हे प्रश्नकर्ताओं में श्रेष्ठ, अर्जुन ने अपने प्रतिद्वन्द्वियों से युद्ध करने की इच्छा से कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में मुझसे यही प्रश्न पूछा था जिसे तुम पूछने जा रहे हो।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण प्रसन्न थे कि उनके दो मित्रों, अर्जुन तथा उद्धव, ने भगवान् के ऐश्वर्यों के विषय में एक जैसा प्रश्न पूछा। उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि उनके दो प्रिय मित्रों ने उनसे बिल्कुल एक जैसा प्रश्न पूछा।

ज्ञात्वा ज्ञातिवधं गर्ह्यमधर्मं राज्यहेतुकम् ।
ततो निवृत्तो हन्ताहं हतोऽयमिति लौकिकः ॥ ७॥

शब्दार्थ

ज्ञात्वा—जान कर; ज्ञाति—अपने सम्बन्धियों से; वधम्—वध; गर्ह्यम्—गर्हित, निन्दनीय; अधर्मम्—अधर्म; राज्य—राज्य प्राप्त करने के लिए; हेतुकम्—प्रेरणा; ततः—ऐसे कर्म से; निवृत्तः—अवकाशप्राप्त; हरता—मारने वाला; अहम्—मैं हूँ; हतः—मारा हुआ; अयम्—सम्बन्धियों का यह दल; इति—इस प्रकार; लौकिकः—संसारी।

कुरुक्षेत्र युद्धस्थल में अर्जुन ने सोचा कि अपने सम्बन्धियों का वध करना अत्यन्त गर्हित एवं अधार्मिक कार्य है, जो राज्य प्राप्त करने की उसकी इच्छा से प्रेरित है। अतएव यह सोच कर कि मैं अपने सम्बन्धियों का मारने वाला होऊँगा और वे विनष्ट हो जायेंगे, वह युद्ध से विरत होना चाहता था। इस तरह वह संसारी चेतना से दुखी था।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् कृष्ण उन परिस्थितियों को बतला रहे हैं जिनके अन्तर्गत श्री अर्जुन ने प्रश्न किया था।

स तदा पुरुषव्याघ्रो युक्त्या मे प्रतिबोधितः ।
अभ्यभाषत मामेवं यथा त्वं रणमूर्धनि ॥ ८॥

शब्दार्थ

सः—वह; तदा—उस समय; पुरुष-व्याघ्रः—पुरुषों में बाघ; युक्त्या—तर्क द्वारा; मे—मेरे द्वारा; प्रतिबोधितः—सही ज्ञान दिया गया; अभ्यभाषत—प्रश्न किया; माम्—मुझसे; एवम्—इस प्रकार; यथा—जिस तरह; त्वम्—तुम; रण—युद्ध के; मूर्धनि—मोर्चे में।

उस समय मैंने पुरुषों में व्याघ्र अर्जुन को तर्क द्वारा समझाया और युद्ध के मोर्चे में ही अर्जुन ने मुझसे उसी तरह के प्रश्न किये थे जिस तरह तुम अब कर रहे हो।

अहमात्मोद्धवामीषां भूतानां सुहृदीश्वरः ।
अहं सर्वाणि भूतानि तेषां स्थित्युद्भवाप्ययः ॥ ९॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; आत्मा—परमात्मा हूँ; उद्धव—हे उद्धव; अमीषाम्—इन; भूतानाम्—जीवों के; सु-हृत्—शुभचिन्तक; ईश्वरः—परम नियन्ता; अहम्—मैं; सर्वाणि भूतानि—सभी जीव; तेषाम्—उनकी; स्थिति—पालन; उद्भव—सृष्टि; अप्ययः—तथा संहार।

हे उद्धव, मैं समस्त जीवों का परमात्मा हूँ, अतएव मैं स्वाभाविक रूप से उनका हितेच्छु तथा परम नियन्ता हूँ। सारे जीवों का स्रष्टा, पालक तथा संहर्ता होने से मैं उनसे भिन्न नहीं हूँ।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी यह इंगित करते हैं कि भगवान् अपने ऐश्वर्यों के साथ निकट और दूर का सम्बन्ध रखते हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् सारे जीवों से भिन्न नहीं हैं क्योंकि वे जीव उन्हीं से उत्पन्न हैं और उनसे ही सम्बद्ध हैं। भगवान् ने *भगवद्गीता* के दशम अध्याय (१०.२०) में अर्जुन से ऐसी ही व्याख्या की थी जिनके प्रारम्भिक शब्द थे *अहमात्मा।* यद्यपि भगवान् अपने बाह्य या भौतिक ऐश्वर्यों का वर्णन करते हैं, किन्तु भगवान् का पद सदैव दिव्य तथा अभौतिक है। जिस तरह शरीर के भीतर चेतन आत्मा शरीर को जीवन प्रदान करता है उसी तरह भगवान् अपनी परम शक्ति से समस्त विश्व के ऐश्वर्यों को जीवन प्रदान करते हैं।

अहं गतिर्गतिमतां कालः कलयतामहम् ।
गुनाणां चाप्यहं साम्यं गुणिन्यौत्पत्तिको गुणः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; गतिः—चरम गन्तव्य; गति-मताम्—उन्नति चाहने वालों के; कालः—काल, समय; कलयताम्—नियंत्रण रखने वालों के; अहम्—मैं; गुनाणाम्—प्रकृति के गुणों के; च—भी; अपि—ही; अहम्—मैं; साम्यम्—भौतिक सन्तुलन; गुणिनि—पवित्रों में; औत्पत्तिकः—स्वाभाविक; गुणः—गुण।

मैं उन्नति चाहने वालों का चरम गन्तव्य हूँ और जो नियंत्रण रखना चाहते हैं उनमें मैं काल हूँ। मैं भौतिक गुणों की साम्यावस्था हूँ और पवित्रों में मैं स्वाभाविक गुण हूँ।

गुणिनामप्यहं सूत्रं महतां च महानहम् ।
सूक्ष्माणामप्यहं जीवो दुर्जयानामहं मनः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

गुणिनाम्—गुणयुक्त वस्तुओं में; अपि—निस्सन्देह; अहम्—मैं; सूत्रम्—मुख्य सूत्र तत्त्व; महताम्—महान् वस्तुओं में; च—भी; महान्—समग्र भौतिक अभिव्यक्ति; अहम्—मैं; सूक्ष्माणाम्—सूक्ष्म वस्तुओं में; अपि—निस्सन्देह; अहम्—मैं; जीवः—जीव; दुर्जयानाम्—दुर्जेय वस्तुओं में; अहम्—मैं; मनः—मन।

गुणयुक्त वस्तुओं में मैं प्रकृति की मुख्य अभिव्यक्ति हूँ और महान् वस्तुओं में मैं समग्र सृष्टि हूँ। सूक्ष्म वस्तुओं में मैं आत्मा हूँ और दुर्जेय वस्तुओं में मैं मन हूँ।

हिरण्यगर्भो वेदानां मन्त्राणां प्रणवस्त्रिवृत् ।
अक्षराणामकारोऽस्मि पदानि च्छन्दुसामहम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

हिरण्य-गर्भः—भगवान् ब्रह्मा; वेदानाम्—वेदों में; मन्त्राणाम्—मंत्रों के; प्रणवः—ॐकार; त्रि-वृत्—तीन अक्षरों वाला; अक्षराणाम्—अक्षरों के; अ-कारः—अ अर्थात् प्रथम अक्षर; अस्मि—हूँ; पदानि—तीन पंक्ति का गायत्री मंत्र; छन्दसाम्—छन्दों में; अहम्—मैं।.

वेदों में मैं आदि शिक्षक ब्रह्मा और समस्त मंत्रों में मैं तीन अक्षरों (मात्राओं) वाला ॐकार हूँ। अक्षरों में मैं प्रथम अक्षर अ (अकार) और पवित्र छन्दों में गायत्री मंत्र हूँ।

इन्द्रोऽहं सर्वदेवानां वसूनामस्मि हव्यवाट् ।
आदित्यानामहं विष्णू रुद्राणां नीललोहितः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रः—इन्द्र; अहम्—मैं; सर्व-देवानाम्—सभी देवताओं में; वसूनाम्—वसुओं में; अस्मि—मैं; हव्य-वाट्—आहुतियों का वाहक, अग्नि देव; आदित्यानाम्—अदिति-पुत्रों में; अहम्—मैं; विष्णुः—विष्णु; रुद्राणाम्—रुद्रों में; नील-लोहितः—शिवजी।.

मैं देवताओं में इन्द्र तथा वसुओं में अग्नि हूँ। मैं अदिति-पुत्रों में विष्णु तथा रुद्रों में भगवान् शिव हूँ।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु वामनदेव के रूप में अदिति के पुत्र रूप में प्रकट हुए।

ब्रह्मर्षीणां भृगुरहं राजर्षीणामहं मनुः ।
देवर्षीणां नारदोऽहं हविर्धान्यस्मि धेनुषु ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-ऋषीणाम्—सन्त ब्राह्मणों में; भृगुः—भृगु मुनि; अहम्—मैं; राज-ऋषीणाम्—सन्त राजाओं में; अहम्—मैं; मनुः—मनु; देव-ऋषीणाम्—सन्त देवताओं में; नारदः—नारद मुनि; अहम्—मैं; हविर्धानी—कामधेनु; अस्मि—हूँ; धेनुषु—गौवों में।.

मैं ब्रह्मर्षियों में भृगु मुनि तथा राजर्षियों में मनु हूँ। देवर्षियों में मैं नारद मुनि तथा गौवों में कामधेनु हूँ।

सिद्धेश्वराणां कपिलः सुपर्णोऽहं पतत्रिणाम् ।
प्रजापतीनां दक्षोऽहं पितृणामहमर्यमा ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

सिद्ध-ईश्वराणाम्—सिद्धजनों में; कपिलः—कपिल भगवान्; सुपर्णः—गरुड़; अहम्—मैं; पतत्रिणाम्—पक्षियों में; प्रजापतीनाम्—मनुष्यों के जनकों में; दक्षः—दक्ष; अहम्—मैं; पितृणाम्—पितरों में; अहम्—मैं; अर्यमा—अर्यमा।.

मैं सिद्धों में भगवान् कपिल तथा पक्षियों में गरुड़ हूँ। प्रजापतियों में मैं दक्ष तथा पितरों में

अर्यमा हूँ।

मां विद्ध्युद्धव दैत्यानां प्रह्लादमसुरेश्वरम् ।
सोमं नक्षत्रौषधीनां धनेशं यक्षरक्षसाम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; विद्धि—जानो; उद्धव—हे उद्धव; दैत्यानाम्—दिति-पुत्रों या असुरों में; प्रह्लादम्—प्रह्लाद महाराज; असुर-ईश्वरम्—असुरों के ईश्वर; सोमम्—चन्द्रमा; नक्षत्र-ओषधीनाम्—नक्षत्रों तथा औषधियों में; धन-ईशम्—धन के स्वामी, कुवेर; यक्ष-रक्षसाम्—यक्षों तथा राक्षसों में।

हे उद्धव, तुम मुझे दिति के असुर पुत्रों में असुरों का साधु-स्वामी प्रह्लाद महाराज जानो। मैं नक्षत्रों तथा औषधियों में उनका स्वामी चन्द्र हूँ और यक्षों तथा राक्षसों में धन का स्वामी कुवेर हूँ।

ऐरावतं गजेन्द्राणां यादसां वरुणं प्रभुम् ।
तपतां द्युमतां सूर्यं मनुष्याणां च भूपतिम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

ऐरावतम्—ऐरावत नामक हाथी; गज-इन्द्राणाम्—राजसी हाथियों में; यादसाम्—जलचरों में; वरुणम्—वरुण; प्रभुम्—समुद्रों का स्वामी; तपताम्—उष्मा उत्पन्न करने वाली वस्तुओं में; द्यु-मताम्—प्रकाश करने वाली वस्तुओं में; सूर्यम्—सूर्य हूँ; मनुष्याणाम्—मनुष्यों में; च—भी; भू-पतिम्—राजा।

मैं राजसी हाथियों में ऐरावत और जलचरों में समुद्रों का अधिपति वरुण हूँ। समस्त उष्मा तथा प्रकाश प्रदान करने वाली वस्तुओं में मैं सूर्य और मनुष्यों में राजा हूँ।

तात्पर्य : यह जान लेना महत्त्वपूर्ण है कि भगवान् कृष्ण इस ब्रह्माण्ड के सभी कोटियों में स्वामी या ईश्वर के रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं। श्रीकृष्ण के समान न तो कोई अधिशासक है और पूर्ण है, न ही कोई उनके ऐश्वर्यों का अनुमान लगा सकता है। वे निस्सन्देह भगवान् हैं।

उच्चैःश्रवास्तुरङ्गाणां धातूनामस्मि काञ्चनम् ।
यमः संयमतां चाहम्सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

उच्चैःश्रवाः—उच्चैश्रवा नामक घोड़ा; तुरङ्गाणाम्—घोड़ों में; धातूनाम्—धातुओं में; अस्मि—हूँ; काञ्चनम्—सोना; यमः—यमराज; संयमताम्—दंड देने वालों तथा दमन करने वालों में; च—भी; अहम्—मैं; सर्पाणाम्—सर्पों में; अस्मि—हूँ; वासुकिः—वासुकि।

घोड़ों में मैं उच्चैश्रवा तथा धातुओं में स्वर्ण हूँ। दंड देने वालों तथा दमन करने वालों में मैं यमराज हूँ और सर्पों में वासुकि हूँ।

नागेन्द्राणामनन्तोऽहं मृगेन्द्रः शृङ्गिदंष्ट्रिणाम् ।
आश्रमाणामहं तुर्यो वर्णानां प्रथमोऽनघ ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

नाग-इन्द्राणाम्—अनेक फनों वाले श्रेष्ठ सर्पों में; अनन्तः—अनन्तदेव; अहम्—मैं; मृग-इन्द्रः—सिंह; शृङ्गि-दंष्ट्रिणाम्—पैने सींग तथा दाँत वाले पशुओं में; आश्रमाणाम्—चारों आश्रमों में; अहम्—मैं; तुर्यः—चौथा, संन्यास; वर्णानाम्—चार वृत्तिपरक वर्णों में; प्रथमः—प्रथम, ब्राह्मण; अनघ—हे निष्पाप।

हे निष्पाप उद्धव, श्रेष्ठ सर्पों में मैं अनन्तदेव हूँ और पैने सींग तथा दाँत वाले पशुओं में मैं सिंह हूँ। आश्रमों में मैं चौथा आश्रम अर्थात् संन्यास आश्रम हूँ और चारों वर्णों में प्रथम वर्ण अर्थात् ब्राह्मण हूँ।

तीर्थानां स्त्रोतसां गङ्गा समुद्रः सरसामहम् ।
आयुधानां धनुरहं त्रिपुरघ्नो धनुष्मताम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तिर्थानाम्—तीर्थस्थानों में; स्त्रोतसाम्—सोतों या प्रवहमान वस्तुओं में; गङ्गा—पवित्र गंगा; समुद्रः—समुद्र; सरसाम्—स्थिर जलाशयों में; अहम्—मैं; आयुधानाम्—हथियारों में; धनुः—धनुष; अहम्—मैं; त्रि-पुर-घ्नः—शिवजी; धनुः-मताम्—धनुर्धारियों में।

पवित्र तथा प्रवहमान वस्तुओं में मैं पवित्र गंगा हूँ और स्थिर जलाशयों में समुद्र हूँ। हथियारों में मैं धनुष और हथियार चलाने वालों में मैं त्रिपुरारि शिव हूँ।

तात्पर्य : शिवजी ने मय दानव द्वारा निर्मित तीन असुर-पुरियों को अपने धनुष से आच्छादित कर दिया था।

धिष्ण्यानामस्म्यहं मेरुर्गहनानां हिमालयः ।
वनस्पतीनामश्वत्थ ओषधीनामहं यवः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

धिष्ण्यानाम्—आवास; अस्मि—हूँ; अहम्—मैं; मेरुः—सुमेरु पर्वत; गहनानाम्—दुर्गम स्थानों में; हिमालयः—हिमालय; वनस्पतीनाम्—वृक्षों में; अश्वत्थः—बरगद का वृक्ष; ओषधीनाम्—पौधों में; अहम्—मैं; यवः—जौ।

निवासस्थानों में मैं सुमेरु पर्वत हूँ और दुर्गम स्थानों में हिमालय हूँ। वृक्षों में मैं पवित्र वट-वृक्ष तथा धान्यों में मैं जौ (यव) हूँ।

तात्पर्य : *ओषधीनाम्* से उन वृक्षों का सूचन होता है, जो एक बार फल देकर सूख जाते हैं। इनमें से अन्न उत्पन्न करने वाले (धान्य) मनुष्य जीवन का पालन करने वाले हैं और कृष्ण का प्रतिनिधित्व

करते हैं। अन्न के बिना न तो दुग्ध उत्पाद सम्भव है न ही वैदिक अग्नि यज्ञ उचित रूप से सम्पन्न किये जा सकते हैं।

पुरोधसां वसिष्ठोऽहं ब्रह्मिष्ठानां बृहस्पतिः ।
स्कन्दोऽहं सर्वसेनान्यामग्रण्यां भगवानजः ॥ २२॥

शब्दार्थ

पुरोधसाम्—पुरोहितों में; वसिष्ठः—वसिष्ठ मुनि; अहम्—मैं हूँ; ब्रह्मिष्ठानाम्—वैदिक निष्कर्ष को मानने वालों में; बृहस्पतिः—देवताओं के गुरु; स्कन्दः—कार्तिकेय; अहम्—मैं हूँ; सर्व-सेनान्याम्—समस्त सेनानियों में; अग्रण्याम्—पवित्र जीवन में अग्रणियों में; भगवान्—महापुरुष; अजः—ब्रह्मा।

पुरोहितों में मैं वसिष्ठ मुनि और वैदिक संस्कृति के अग्रगण्यों में बृहस्पति हूँ। मैं महान् सेनानियों में स्कन्द और उच्च जीवन बिताने वालों में महापुरुष ब्रह्मा हूँ।

यज्ञानां ब्रह्मयज्ञोऽहं व्रतानामविहिंसनम् ।
वाय्वग्न्यर्काम्बुवागात्मा शुचीनामप्यहं शुचिः ॥ २३॥

शब्दार्थ

यज्ञानाम्—यज्ञों में; ब्रह्म-यज्ञः—वेदाध्ययन; अहम्—मैं हूँ; व्रतानाम्—व्रतों में; अविहिंसनम्—अहिंसा; वायु—वायु, हवा; अग्नि—आग; अर्क—सूर्य; अम्बु—जल; वाक्—तथा वाणी; आत्मा—साक्षात्; शुचीनाम्—पवित्र करने वालों में; अपि—निस्सन्देह; अहम्—मैं हूँ; शुचिः—शुद्ध।

यज्ञों में मैं वेदाध्ययन और व्रतों में अहिंसा हूँ। पवित्र करने वाली सभी वस्तुओं में मैं वायु, अग्नि, सूर्य, जल तथा वाणी हूँ।

योगानामात्मसंरोधो मन्त्रोऽस्मि विजिगीषताम् ।
आन्वीक्षिकी कौशलानां विकल्पः ख्यातिवादिनाम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

योगानाम्—योगाभ्यास की आठ अवस्थाओं (अष्टांग) में; आत्म-संरोधः—अन्तिम अवस्था, समाधि जिसमें आत्मा मोह से मुक्त हो जाता है; मन्त्रः—कुशल सलाहकार; अस्मि—मैं हूँ; विजिगीषताम्—विजय चाहने वालों में; आन्वीक्षिकी—आध्यात्मिक विज्ञान जिसके बल पर पदार्थ तथा आत्मा में अन्तर किया जा सकता है; कौशलानाम्—दक्ष विवेक की समस्त विधियों में; विकल्पः—अनुभूति वैविध्य; ख्याति-वादिनाम्—निर्विशेषवादियों में।

मैं योग की आठ उत्तरोत्तर अवस्थाओं में से अन्तिम अवस्था—समाधि—हूँ जिसमें आत्मा मोह से पूर्णतया पृथक् हो जाता है। विजय की आकांक्षा रखने वालों में मैं कुशल राजनीतिक सलाहकार हूँ और दक्ष विवेकी विधियों में मैं आत्मज्ञान हूँ जिसके द्वारा पदार्थ से आत्मा को विभेदित किया जाता है। मैं समस्त निर्विशेषवादियों (ज्ञानियों) में अनुभूति-वैविध्य हूँ।

तात्पर्य : कोई भी विज्ञान दक्ष विवेक-शक्ति पर आधारित होता है। एकान्तिक तथा परस्पर क्रियाशील घटकों की पटु परिभाषा द्वारा, मनुष्य किसी भी क्षेत्र में दक्ष बन जाता है। अन्त में बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति पदार्थ से आत्मा को विलग कर सकता है और पदार्थ तथा आत्मा के गुणों का वर्णन सच्चाई के एकान्तिक तथा परस्पर क्रियाशील घटकों के रूप में कर सकता है। असंख्य दार्शनिक चिन्तनों का प्रफलन भौतिक संसार के भीतर अनुभूतियों की पृथक् विधियों के कारण होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है—*सर्वस्य चाहंहृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—भगवान् हर एक के हृदय में स्थित हैं और उसकी इच्छा तथा योग्यता के अनुसार ही उसे ज्ञान या अज्ञान की विशेष मात्रा प्रदान करते हैं। इस प्रकार भगवान् स्वयं ही दार्शनिक चिन्तन की संसारी विधि के आधार स्वरूप हैं क्योंकि वे बद्धजीवों में अनुभूति के पृथक् तथा एकान्तर गुण उत्पन्न करते हैं। यह समझने की बात है कि भगवान् कृष्ण से सुन कर ही पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, किसी बद्ध दार्शनिक से नहीं जो अपनी निजी इच्छाओं के पर्दे से होकर भगवान् की सृष्टि की अधूरी अनुभूति प्राप्त करता है।

स्त्रीणां तु शतरूपाहं पुंसां स्वायम्भुवो मनुः ।
नारायणो मुनीनां च कुमारो ब्रह्मचारिणाम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

स्त्रीणाम्—स्त्रियों में; तु—निस्सन्देह; शतरूपा—शतरूपा; अहम्—मैं हूँ; पुंसाम्—पुरुषों में; स्वायम्भुवः मनुः—महान् प्रजापति स्वायंभुव मनु; नारायणः—नारायण मुनि; मुनीनाम्—मुनियों में; च—भी; कुमारः—सनत्कुमार; ब्रह्मचारिणाम्—ब्रह्मचारियों में।

मैं स्त्रियों में शतरूपा और पुरुषों में उसका पति स्वायम्भुव मनु हूँ। मुनियों में मैं नारायण हूँ और ब्रह्मचारियों में सनत्कुमार हूँ।

धर्माणामस्मि सन्न्यासः क्षेमाणामबहिर्मतिः ।
गुह्यानां सुनृतं मौनं मिथुनानामजस्त्वहम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

धर्माणाम्—धार्मिक सिद्धान्तों में; अस्मि—हूँ; सन्न्यासः—सन्यास, वैराग्य; क्षेमाणाम्—समस्त प्रकार की सुरक्षा में; अबहिः-मतिः—अन्तर की (आत्मा की) सतर्कता; गुह्यानाम्—सारे रहस्यों में; सुनृतम्—मधुर वाणी; मौनम्—मौन, चुप्पी; मिथुनानाम्—मिथुनरत युग्म; अजः—आदि प्रजापति, ब्रह्मा; तु—निस्सन्देह; अहम्—मैं हूँ।

धार्मिक सिद्धान्तों में मैं संन्यास हूँ और समस्त प्रकार की सुरक्षा में अन्तस्थ नित्य आत्मा की

चेतना हूँ। रहस्यों में मैं मधुर वाणी तथा मौन हूँ तथा सम्भोगरत युग्मों में ब्रह्मा हूँ।

तात्पर्य : जिस व्यक्ति को अपने भीतर नित्य आत्मा की अनुभूति हो जाती है, वह किसी भी भौतिक स्थिति से डरता नहीं। इस तरह वह संन्यास धारण करने के योग्य होता है। निश्चय ही, भय भौतिक जीवन के महान् कष्टों में से है, अतएव निर्भीकता का उपहार अत्यन्त मूल्यवान है और यह भगवान् कृष्ण का प्रतिनिधित्व करता है। सामान्य मधुर वाणी तथा मौन दोनों में ही बहुत कम रहस्यों का उद्घाटन हो पाता है, अतएव कूट-नीति तथा मौन दोनों ही गोपनीयता में सहायक हैं। ब्रह्मा मिथुनरत युग्मों में प्रमुख हैं क्योंकि ब्रह्मा के ही शरीर से स्वायंभुव मनु तथा शतरूपा का आदि सुन्दर जोड़ा निकला था जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के तृतीय स्कन्ध के बारहवें अध्याय में वर्णन आया है।

संवत्सरोऽस्म्यनिमिषामृतूनां मधुमाधवौ ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहं नक्षत्राणां तथाभिजित् ॥ २७॥

शब्दार्थ

संवत्सरः—वर्ष; अस्मि—हूँ; अनिमिषाम्—काल के सतर्क चक्रों में; ऋतूनाम्—ऋतुओं में; मधु-माधवौ—वसन्त; मासानाम्—महीनों में; मार्गशीर्षः—मार्गशीर्ष, माघ (नवम्बर-दिसम्बर); अहम्—मैं हूँ; नक्षत्राणाम्—नक्षत्रों में; तथा—उसी प्रकार; अभिजित्—अभिजित नामक।

सतर्क कालचक्रों में मैं वर्ष हूँ और ऋतुओं में वसन्त हूँ। महीनों में मैं मार्गशीर्ष तथा नक्षत्रों में शुभ अभिजित हूँ।

अहं युगानां च कृतं धीराणां देवलोऽसितः ।
द्वैपायनोऽस्मि व्यासानां कवीनां काव्य आत्मवान् ॥ २८॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; युगानाम्—युगों में; च—भी; कृतम्—सत्ययुग; धीराणाम्—स्थिर मुनियों में; देवलः—देवल; असितः—असित; द्वैपायनः—कृष्ण द्वैपायन; अस्मि—हूँ; व्यासानाम्—वेदों के संग्रहकर्ताओं में; कवीनाम्—विद्वानों में; काव्यः—शुक्राचार्य; आत्म-वान्—आध्यात्मिक विज्ञान में दक्ष।

युगों में मैं सत्ययुग और स्थिर मुनियों में देवल तथा असित हूँ। वेदों का विभाजन करने वालों में मैं कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास हूँ और विद्वानों में मैं आध्यात्मिक विज्ञान का ज्ञाता शुक्राचार्य हूँ।

वासुदेवो भगवतां त्वं तु भागवतेष्वहम् ।
किम्पुरुषानां हनुमान्विद्याध्राणां सुदर्शनः ॥ २९॥

शब्दार्थ

वासुदेवः—भगवान्; भगवताम्—भगवान् नाम के अधिकारियों में; त्वम्—तुम; तु—निस्सन्देह; भागवतेषु—मेरे भक्तों में; अहम्—मैं हूँ; किम्पुरुषाणाम्—किम्पुरुषों में; हनुमान्—हनुमान; विद्याध्राणाम्—विद्याधरों में; सुदर्शनः—सुदर्शन।

भगवान् नाम के अधिकारियों में मैं वासुदेव हूँ तथा हे उद्धव, तुम निस्सन्देह भक्तों में मेरा प्रतिनिधित्व करते हो। मैं किम्पुरुषों में हनुमान हूँ और विद्याधरों में सुदर्शन हूँ।

तात्पर्य : वैदिक वाङ्मय का कथन है कि जिसे सारे जीवों की सृष्टि तथा संहार का पूरा पूरा ज्ञान होता है और जो सर्वज्ञ में पूर्णतया स्थित है, वह भगवान् कहलाता है। यद्यपि अनेक महापुरुषों को कभी कभी भगवान् कहा जाता है, किन्तु भगवान् वह महान् जीव है, जिसमें असीम ऐश्वर्य पाया जाता है। समूचे इतिहास में अनेक महत्त्वपूर्ण पुरुषों को "भगवान्" कहा गया है, किन्तु अन्ततोगत्वा भगवान् एक हैं। भगवान् के *चतुर्व्यूह* में पहला प्राकट्य वासुदेव है, जो यहाँ पर विष्णु तत्त्व कोटि में भगवान् के सारे अंशों का प्रतिनिधित्व करता है।

रत्नानां पद्मरागोऽस्मि पद्मकोशः सुपेशसाम् ।
कुशोऽस्मि दर्भजातीनां गव्यमाज्यं हविःष्वहम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

रत्नानाम्—रत्नों में; पद्म-रागः—लाल; अस्मि—हूँ; पद्म-कोशः—कमल की कली; सु-पेशसाम्—सुन्दर वस्तुओं में; कुशः—पवित्र कुश नामक तृण; अस्मि—हूँ; दर्भ-जातीनाम्—सभी प्रकार के तृणों में; गव्यम्—गायसे प्राप्त पदार्थ; आज्यम्—घी की आहुति; हविःषु—हवियों में; अहम्—मैं हूँ।

रत्नों में मैं लाल हूँ और सुन्दर वस्तुओं में कमल की कली हूँ। सभी प्रकार के तृणों में मैं पवित्र कुश हूँ और आहुतियों में घी तथा गाय से प्राप्त होने वाली अन्य सामग्री हूँ।

तात्पर्य : *पञ्च-गव्य* गाय से प्राप्त होने वाली पाँच यज्ञ सामग्रियों का सूचक है। ये हैं दूध, घी, दही, गोबर तथा गोमूत्र। गाय इतनी मूल्यवान होती है उसका गोबर तथा मूत्र भी कृमिनाशक है और यज्ञ में आहुति करने योग्य है। कुश तृण का भी उपयोग धार्मिक अवसरों पर किया जाता है। महाराज परीक्षित ने अपने जीवन के अन्तिम सप्ताह में कुश के आसन पर ही अपने को विराजमान किया था। सुन्दर वस्तुओं में कमल की कली कमल की पंखड़ियों से बनी होती है और भगवान् कृष्ण का प्रतिनिधित्व करती है। रत्नों में लाल भी भगवान् कृष्ण की कौस्तुभ मणि के समान है और यह उनकी शक्ति का प्रतीक है।

व्यवसायिनामहं लक्ष्मीः कितवानां छलग्रहः ।
तितिक्षास्मि तितिक्षूणां सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

व्यवसायिनाम्—व्यापारियों में; अहम्—मैं हूँ; लक्ष्मीः—लक्ष्मी; कितवानाम्—कपट करने वालों में; छल-ग्रहः—जुए का खेल; तितिक्षा—क्षमाशीलता; अस्मि—हूँ; तितिक्षूणाम्—सहिष्णुओं में; सत्त्वम्—अच्छाई; सत्त्व-वताम्—सतोगुणियों में; अहम्—मैं हूँ।

व्यापारियों में मैं लक्ष्मी हूँ और कपट करने वालों में मैं जुआ (द्यूत क्रीड़ा) हूँ। सहिष्णुओं में मैं क्षमाशीलता और सतोगुणियों में सद्गुण हूँ।

ओजः सहो बलवतां कर्माहं विद्धि सात्वताम् ।
सात्वतां नवमूर्तीनामादिमूर्तिरहं परा ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

ओजः—ऐन्द्रिय बल; सहः—तथा मानसिक बल; बलवताम्—बलवानों में; कर्म—भक्तिमय कर्म; अहम्—मैं; विद्धि—जानो; सात्वताम्—भक्तों में; सात्वताम्—भक्तों में; नव-मूर्तीनाम्—मेरे नौ रूपों में पूजा करने वाला; आदि-मूर्तिः—आदि रूप, वासुदेव; अहम्—मैं हूँ; परा—परम।

बलवानों में मैं शारीरिक तथा मानसिक बल हूँ और अपने भक्तों का भक्तिमय कर्म हूँ। मेरे भक्तगण मेरी पूजा नौ विभिन्न रूपों में करते हैं जिनमें से मैं आदि तथा प्रमुख वासुदेव हूँ।

तात्पर्य : सामान्यतया वैष्णवजन भगवान् की पूजा वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण, हयग्रीव, वराह, नृसिंह तथा ब्रह्मा के रूप में करते हैं। जब ब्रह्मा पद का स्थान लेने वाला उपयुक्त जीव नहीं मिलता, तो भगवान् स्वयं ही यह पद ग्रहण करते हैं, इसीलिए इस सूची में ब्रह्मा का नाम लिया गया है। भगवान् विष्णु कभी कभी इन्द्र के रूप में तो कभी ब्रह्मा के रूप में प्रकट होते हैं। यहाँ विष्णु ही ब्रह्मा के रूप में प्रकट हुए हैं।

विश्वावसुः पूर्वचित्तिर्गन्धर्वाप्सरसामहम् ।
भूधराणामहं स्थैर्यं गन्धमात्रमहं भुवः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

विश्वावसुः—विश्वावसु; पूर्वचित्तिः—पूर्वचित्ति; गन्धर्व-अप्सरसाम्—गन्धर्वों तथा अप्सराओं में; अहम्—मैं हूँ; भूधराणाम्—पर्वतों में; अहम्—मैं हूँ; स्थैर्यम्—स्थिरता; गन्ध-मात्रम्—गन्ध की अनुभूति; अहम्—मैं हूँ; भुवः—पृथ्वी की।

मैं गन्धर्वों में विश्वावसु तथा स्वर्गिक अप्सराओं में पूर्वचित्ति हूँ। मैं पर्वतों की स्थिरता तथा पृथ्वी की सुगन्ध हूँ।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.९) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*पुन्यो गन्धः पृथिव्यां च*—मैं पृथ्वी की

सुगन्ध हूँ। पृथ्वी की मूल गन्ध अत्यन्त सुहावनी होती है और वह भगवान् कृष्ण का प्रतिनिधित्व करती है। यद्यपि कृत्रिम रूप से अमोहक गन्धें उत्पन्न की जा सकती हैं, किन्तु वे भगवान् का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं।

अपां रसश्च परमस्तेजिष्ठानां विभावसुः ।
प्रभा सूर्येन्दुताराणां शब्दोऽहं नभसः परः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

अपाम्—जल का; रसः—स्वाद; च—भी; परमः—सर्वश्रेष्ठ; तेजिष्ठानाम्—अत्यन्त तेजवान वस्तुओं में; विभावसुः—सूर्य; प्रभा—तेज; सूर्य—सूर्य का; इन्दु—चन्द्रमा; ताराणाम्—तथा तारों में; शब्दः—ध्वनि; अहम्—मैं हूँ; नभसः—आकाश का; परः—दिव्य।

मैं जल का मधुर स्वाद हूँ और चमकीली वस्तुओं में सूर्य हूँ। मैं सूर्य, चन्द्रमा तथा तारों का प्रकाश हूँ और आकाश में ध्वनित होने वाला दिव्य शब्द हूँ।

ब्रह्मण्यानां बलिरहं वीराणामहमर्जुनः ।
भूतानां स्थितिरुत्पत्तिरहं वै प्रतिसङ्क्रमः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

ब्रह्मण्यानाम्—ब्राह्मण संस्कृति के उपासकों में; बलिः—विरोचन का पुत्र, बलि महाराज; अहम्—मैं हूँ; वीराणाम्—वीरों में; अहम्—मैं हूँ; अर्जुनः—अर्जुन; भूतानाम्—समस्त जीवों का; स्थितिः—पालन-पोषण; उत्पत्तिः—उत्पत्ति; अहम्—मैं हूँ; वै—निस्सन्देह; प्रतिसङ्क्रमः—संहार।

ब्राह्मण संस्कृति के उपासकों में मैं विरोचन-पुत्र बलि महाराज हूँ और वीरों में अर्जुन हूँ। निस्सन्देह, मैं समस्त जीवों की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार हूँ।

गत्युक्त्युत्सर्गोपादानमानन्दस्पर्शलक्षनम् ।
आस्वादश्रुत्यवघ्राणमहं सर्वेन्द्रियेन्द्रियम् ॥ ३६॥

शब्दार्थ

गति—पाँवों की हरकत (चलना, दौना आदि); उक्ति—वाणी; उत्सर्ग—वीर्यस्खलन; उपादानम्—हाथों से ग्रहण करना; आनन्द—जननांगों का भौतिक सुख; स्पर्श—स्पर्श; लक्षणम्—दृष्टि; आस्वाद—स्वाद; श्रुति—सुनना; अवघ्राणम्—महक, सुगन्ध; अहम्—मैं हूँ; सर्व-इन्द्रिय—सारी इन्द्रियों के; इन्द्रियम्—उनके विषयों को अनुभव करने की शक्ति।

मैं पाँच कर्मेन्द्रियों—पाँव, वाणी, गुदा, हाथ तथा जननांग—के साथ ही पाँच ज्ञानेन्द्रियों—स्पर्श, दृष्टि, स्वाद, श्रवण तथा गन्ध—का कार्यकलाप हूँ। मैं शक्ति भी हूँ जिससे प्रत्येक इन्द्रिय अपने अपने इन्द्रिय-विषय का अनुभव करती है।

पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतिरहं महान् ।
विकारः पुरुषोऽव्यक्तं रजः सत्त्वं तमः परम् ।
अहमेतत्प्रसङ्ख्यानं ज्ञानं तत्त्वविनिश्चयः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

पृथिवी—पृथ्वी का सूक्ष्म रूप, गंध; वायुः—वायु का सूक्ष्म रूप, स्पर्श; आकाशः—आकाश का सूक्ष्म रूप, ध्वनि; आपः—जल का सूक्ष्म रूप, स्वाद; ज्योतिः—अग्नि का सूक्ष्म रूप, स्वरूप; अहम्—मिथ्या अहंकार; महान्—महत् तत्त्व; विकारः—सोलह तत्त्व (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन); पुरुषः—जीव; अव्यक्तम्—भौतिक प्रकृति; रजः—रजोगुण; सत्त्वम्—सतोगुण; तमः—तमोगुण; परम्—परमेश्वर; अहम्—मैं हूँ; एतत्—यह; प्रसङ्ख्यानम्—उपर्युक्त; ज्ञानम्—उपर्युक्त तत्त्वों के लक्षणों का ज्ञान; तत्त्व-विनिश्चयः—दृढ़ संकल्प, जो कि ज्ञान का फल है।

मैं स्वरूप, स्वाद, गंध, स्पर्श तथा ध्वनि; मिथ्या अहंकार, महत् तत्त्व; पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश; जीव, भौतिक प्रकृति; सतो, रजो तथा तमोगुण; एवं दिव्य भगवान् हूँ। ये सारी वस्तुएँ, इन सबों के लक्षण तथा इस ज्ञान से उत्पन्न दृढ़ निश्चय भी मैं ही हूँ।

तात्पर्य : इस जगत में अपने निजी ऐश्वर्यों की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत करने के बाद भगवान् अब उन ऐश्वर्यों का सार देते हैं, जो उनके शारीरिक तेज से विस्तार पाते हैं। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि सारे ब्रह्माण्ड अपनी अनंत किस्मों, विकारों तथा ऐश्वर्यों समेत भगवान् के शारीरिक तेज में आश्रय पाते हैं। श्रील जीव गोस्वामी ने इस श्लोक की अपनी टीका में इस बात का विस्तार से वर्णन किया है।

मयेश्वरेण जीवेन गुणेन गुणिना विना ।
सर्वात्मनापि सर्वेण न भावो विद्यते क्वचित् ॥ ३८॥

शब्दार्थ

मया—मुझ; ईश्वरेण—परमेश्वर से; जीवेन—जीव से; गुणेन—प्रकृति के गुणों से; गुणिना—महत् तत्त्व से; विना—रहित; सर्व-आत्मना—विद्यमान सबों की आत्मा; अपि—निस्सन्देह; सर्वेण—प्रत्येक वस्तु; न—नहीं; भावः—उपस्थिति; विद्यते—है; क्वचित्—जो भी।

परमेश्वर के रूप में मैं जीव, प्रकृति के गुणों तथा महत्-तत्त्व का आधार हूँ। इस प्रकार मैं सर्वस्व हूँ और कोई भी वस्तु मेरे बिना विद्यमान नहीं रह सकती।

तात्पर्य : *महत् तत्त्व* तथा *जीव* के प्राकट्य के बिना इस भौतिक जगत में कुछ भी उपस्थित नहीं रह सकता। हमारे द्वारा अनुभव की जाने वाली प्रत्येक वस्तु जीव तथा सूक्ष्म एवं स्थूल पदार्थ का मिश्रण है। परमेश्वर ही जीव तथा पदार्थ दोनों के अस्तित्व के एकमात्र आधार हैं। परमेश्वर की कृपा के बिना कुछ भी क्षण-भर भी विद्यमान नहीं रह सकता। इसलिए किसी को इस निष्कर्ष पर पहुँचने की मूर्खता नहीं करनी चाहिए कि भगवान् भौतिक हैं। जैसाकि *भागवत* के इस स्कन्ध में स्पष्ट बतलाया

गया है, जीव तथा भगवान् दोनों ही भौतिक प्रकृति से सर्वथा परे हैं। फिर भी जीव में यह स्वप्न देखने की मनोवृत्ति रहती है कि वह भौतिक है, जबकि भगवान् अपनी तथा स्वप्नमग्न बद्धजीव दोनों की स्थिति का निरन्तर स्मरण रखते हैं। जिस तरह भगवान् दिव्य हैं उसी तरह उनका धाम भी प्रकृति के गुणों की पहुँच से बहुत दूर है। जीवन का वास्तविक उद्देश्य परिपक्व संकल्प द्वारा दिव्य भगवान्, उनके दिव्य धाम, अपनी दिव्य स्थिति तथा भगवद्धाम वापस जाने की विधि को समझना है।

सङ्ख्यानं परमाणूनां कालेन क्रियते मया ।
न तथा मे विभूतीनां सृजतोऽण्डानि कोटिशः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सङ्ख्यानम्—गणना, गिनती; परम-अणूनाम्—अत्यन्त छोटे कणों की; कालेन—कुछ समय बाद; क्रियते—कर ली जाय; मया—मेरे द्वारा; न—नहीं; तथा—उसी प्रकार से; मे—मेरे; विभूतीनाम्—ऐश्वर्यों के; सृजतः—मेरे द्वारा निर्मित; अण्डानि—ब्रह्माण्ड; कोटिशः—करोड़ों।

भले ही मैं कुछ समय में ब्रह्माण्ड के समस्त अणुओं की गणना कर सकूँ, किन्तु असंख्य ब्रह्माण्डों में प्रदर्शित अपने समस्त ऐश्वर्यों की गणना मैं भी नहीं कर पाऊँगा।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् यह बतलाते हैं कि उद्धव को उनसे उनके ऐश्वर्यों की पूरी सूची प्राप्त करने की आशा नहीं करनी चाहिए क्योंकि वे स्वयं भी ऐसे ऐश्वर्यों की कोई सीमा निर्धारित नहीं कर सकते। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *कालेन* शब्द यह सूचित करता है कि भगवान् हर अणु के भीतर हैं अतएव वे आसानी से अणुओं की पूरी संख्या तो गिन सकते हैं। पर सर्वज्ञ होते हुए भी, वे अपने ऐश्वर्यों की सही-सही संख्या नहीं बतला सकते क्योंकि वे अनन्त हैं।

तेजः श्रीः कीर्तिरैश्वर्यं ह्रीस्त्यागः सौभगं भगः ।
वीर्यं तितिक्षा विज्ञानं यत्र यत्र स मेऽंशकः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

तेजः—तेज; श्रीः—सुन्दर, महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ; कीर्तिः—यश; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; ह्रीः—दीनता; त्यागः—वैराग्य; सौभगम्—मन तथा इन्द्रियों को प्रसन्न करने वाला; भगः—सौभाग्य; वीर्यम्—शक्ति; तितिक्षा—सहिष्णुता; विज्ञानम्—आध्यात्मिक ज्ञान; यत्र यत्र—जहाँ भी; सः—यह; मे—मेरा; अंशकः—अंश, विस्तार।

जो भी शक्ति, सौन्दर्य, यश, ऐश्वर्य, दीनता, त्याग, मानसिक आनन्द, सौभाग्य, शक्ति, सहिष्णुता या आध्यात्मिक ज्ञान हो सकता है, वह सब मेरे ऐश्वर्य का अंश है।

तात्पर्य : यद्यपि पिछले श्लोक में भगवान् ने कहा है कि उनके ऐश्वर्य अनन्त हैं किन्तु यहाँ पर वे

अपने ऐश्वर्यों का सारांश प्रस्तुत करते हैं।

एतास्ते कीर्तिताः सर्वाः सङ्क्षेपेण विभूतयः ।
मनोविकारा एवैते यथा वाचाभिधीयते ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

एताः—ये; ते—तुमसे; कीर्तिताः—वर्णन किये गये; सर्वाः—सभी; सङ्क्षेपेण—संक्षेप में; विभूतयः—आध्यात्मिक ऐश्वर्य; मनः—मन के; विकाराः—विकार; एव—निस्सन्देह; एते—ये; यथा—तदनुसार; वाचा—शब्दों से; अभिधीयते—प्रत्येक का वर्णन किया जाता है।

मैंने तुमसे संक्षेप में अपने सारे आध्यात्मिक ऐश्वर्यों तथा अपनी सृष्टि के उन अद्वितीय भौतिक गुणों का भी वर्णन किया, जो मन से अनुभव किये जाते हैं और परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न तरीकों से परिभाषित होते हैं।

तात्पर्य : संस्कृत व्याकरण के अनुसार तथा जैसाकि श्रील श्रीधर स्वामी ने पुष्ट किया है *एताः* तथा *एते* शब्द भगवान् के दो प्रकार के ऐश्वर्यों का वर्णन करने वाले हैं। भगवान् ने अपने ऐश्वरीय स्वांशों का यथा वासुदेव, नारायण, परमात्मा आदि का वर्णन किया है और उसके बाद भौतिक सृष्टि के प्रमुख गुणों का वर्णन किया है जिनको भगवान् के यशों के अन्तर्गत माना जाता है। भगवान् के स्वांश, यथा वासुदेव, नारायण इत्यादि भगवान् के नित्य अपरिवर्तनशील दिव्य गुण हैं जिनका सूचन *एताः* शब्द द्वारा हुआ है। किन्तु भौतिक सृष्टि के अद्वितीय पक्ष परिस्थितियों पर आश्रित होते हैं और व्यक्तिगत अनुभूति पर निर्भर करते हैं अतएव उन्हें *मनोविकारा एवैते यथा वाचाभिधीयते* कह कर बतलाया गया है। श्रील जीव गोस्वामी व्याख्या करते हैं कि पर्यायवाची शब्दों की अविरोध दार्शनिक प्रयुक्ति से *एताः* भगवान् के नित्य आध्यात्मिक स्वरूपों का द्योतन करता है, जो इन्द्रियगम्य नहीं होते, जबकि *एते* उन ऐश्वर्यों का द्योतन करता है, जो बद्धजीवों द्वारा अनुभवगम्य हैं। वे यह उदाहरण देते हैं कि राजा की साज-सामग्री तथा उसके अन्तरंगी उसके भिन्नांश माने जाते हैं, इसलिए उन्हें राजसी पद प्रदान किया जाता है; इसी तरह भौतिक सृष्टि के ऐश्वर्यमय गुण भगवान् के निजी ऐश्वर्यों के रूप में प्रतिबिम्बित अंश होते हैं, अतएव उन्हें उनसे अभिन्न माना जा सकता है। किन्तु भूलकर भी यह नहीं समझना चाहिए कि ऐसे नगण्य भौतकि ऐश्वर्य भगवान् के स्वांश जैसे हैं, जो गुणात्मक तथा मात्रात्मक दृष्टि से भगवान् के ही समान हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है। ''भगवान् के बाह्य

ऐश्वर्य *मनोविकार* कहलाते हैं क्योंकि सामान्य लोग भौतिक जगत के अद्वितीय गुण को अपनी मानसिक अवस्था के अनुसार अनुभव करते हैं। इस तरह *वाचाभिधीयते* शब्द यह सूचित करता है कि बद्धजीव विशिष्ट भौतिक दशाओं के अनुसार ही भगवान् की भौतिक सृष्टि का वर्णन करते हैं। भौतिक ऐश्वर्य की प्रासंगिक तुलनात्मक परिभाषाओं के कारण ऐसे ऐश्वर्य को भगवान् के निजी रूप का प्रत्यक्ष स्वांश नहीं माना जाता। जब मनुष्य के मन की दशा किसी अनुकूल या स्नेहमयी दशा में परिणत हो जाती है, तो वह भगवान् की शक्ति की अभिव्यक्ति की परिभाषा, 'मेरा पुत्र,' 'मेरा पिता,' 'मेरा पति,' 'मेरा चाचा,' 'मेरा भतीजा,' 'मेरा मित्र' इत्यादि के रूप में करता है। वह यह भूल जाता है कि हर जीव वास्तव में भगवान् का भिन्नांश है और मनुष्य जो भी ऐश्वर्य, प्रतिमा या असाधारण गुण प्रदर्शित करता है, वे वास्तव में भगवान् की शक्तियाँ हैं। इसी तरह जब मनुष्य का मन शत्रु बनता है, तो वह सोचता है, ''यह व्यक्ति मेरा सर्वनाश कर देगा' 'मुझे इसका अन्त कर देना चाहिए' 'यह मेरा शत्रु है' या' मैं इसका शत्रु हूँ', 'वह हन्ता है' अथवा 'उसका वध होना चाहिए'। ऐसी ही मानसिक अवस्था की अभिव्यक्ति तब भी होती है जब वह विशेष व्यक्तियों या वस्तुओं के असाधारण गुणों के प्रति आकृष्ट होता है किन्तु यह भूल जाता है कि ये वस्तुएँ भगवान् की शक्ति की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। यहाँ तक कि भगवान् के भौतिक ऐश्वर्यों की स्पष्ट अभिव्यक्ति स्वरूप इन्द्र तक को लोग गलत समझते हैं। उदाहरणार्थ, इन्द्र-पत्नी शची सोचती है कि, ''इन्द्र मेरे पति हैं' जबकि अदिति इन्द्र को अपना 'पुत्र' मानती है। जयन्त सोचता है कि इन्द्र मेरे 'पिता' हैं। बृहस्पति सोचते हैं कि वह मेरा शिष्य है और असुरगण सोचते हैं कि इन्द्र उनका निजी शत्रु है। इस तरह भिन्न भिन्न लोग उसकी परिभाषा अपनी अपनी मानसिक दशा के अनुसार करते हैं। इसीलिए भगवान् के भौतिक ऐश्वर्य, जो तुलनात्मक दृष्टि से अनुभव किए जाते हैं, *मनोविकार* कहलाते हैं, जिसका अर्थ है कि वे मानसिक दशा पर निर्भर करते हैं। ऐसी अनुभूति भौतिक है क्योंकि इसमें भगवान् को उस विशेष ऐश्वर्य का वास्तविक स्रोत नहीं माना जाता। यदि कोई मनुष्य भगवान् कृष्ण को समस्त ऐश्वर्यों का स्रोत मानता है और भगवान् के ऐश्वर्यों को पाने या उनका भोग करने की सारी इच्छाएँ त्याग देता है, तो वह इन ऐश्वर्यों के आध्यात्मिक स्वभाव को देख सकता है। उस समय, भले ही वह भौतिक जगत की विविधता या विशेषताओं का अनुभव करता रहे, तो भी वह कृष्णभावनामृत में परिपूर्ण बन जाता है। मनुष्य को शून्यवादियों की तरह

यह नहीं सोचना चाहिए कि *विष्णु तत्त्व* में भगवान् की दिव्य अभिव्यक्ति तथा मुक्त जीव भी तुलनात्मक अनुभूति के मनोविकार हैं। ऐसा व्यर्थ का विचार श्री उद्धव को भगवान् द्वारा दी गई सारी शिक्षाओं से सर्वथा विपरीत है।''

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *वाचा* शब्द विविध वैदिक वाङ्मय का भी द्योतक है, जो उन विधियों का वर्णन करता है जिनसे भगवान् अपना आध्यात्मिक तथा भौतिक ऐश्वर्य प्रकट करते हैं। इस प्रसंग में *यथा* शब्द अभिव्यक्ति तथा सृष्टि की विशिष्ट विधियों का सूचक है।

वाचं यच्छ मनो यच्छ प्राणान्यच्छेद्रियाणि च ।
आत्मानमात्मना यच्छ न भूयः कल्पसेऽध्वने ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

वाचम्—वाणी को; यच्छ—संयम में रखो; मनः—मन को; यच्छ—संयम में रखो; प्राणान्—अपने श्वास को; यच्छ—संयम में रखो; इन्द्रियाणि—इन्द्रियों को; च—भी; आत्मानम्—बुद्धि को; आत्मना—विमल बुद्धि से; यच्छ—संयम में रखो; न—कभी नहीं; भूयः—फिर; कल्पसे—तुम नीचे गिरोगे; अध्वने—संसार के मार्ग पर।

अतएव अपनी वाणी पर संयम रखो, मन को दमित करो, प्राण-वायु पर विजय पाओ, इन्द्रियों को नियमित करो तथा विमल बुद्धि के द्वारा अपनी विवेकपूर्ण प्रतिभा को अपने वश में करो। इस तरह तुम पुनः भौतिक जगत के पथ पर कभी च्युत नहीं होगे।

तात्पर्य : समस्त वस्तुओं को भगवान् की शक्ति के अंशों के रूप में देखना चाहिए और इस तरह मनसावाचाकर्मणा, बिना किसी जीव या वस्तु का महत्त्व कम करते हुए, सारी वस्तुओं के प्रति आदर-भाव प्रकट करना चाहिए। चूँकि प्रत्येक वस्तु भगवान् की है, अतएव हर वस्तु का उपयोग भगवान् की सेवा में होना चाहिए। स्वरूपसिद्ध भक्त अपना अपमान सह लेता है और किसी जीव से द्वेष नहीं रखता, न ही वह किसी को अपना शत्रु समझता है। यही व्यावहारिक प्रबुद्धता है। यद्यपि शुद्ध भक्त ऐसे लोगों की, जो भगवान् के मिशन में बाधक बनते हैं आलोचना कर सकता है, किन्तु ऐसी आलोचना व्यक्तिगत स्तर पर या किसी द्वेष के वशीभूत होकर नहीं की जाती। एक बढ़ा-चढ़ा भक्त अपने अनुयायियों को प्रताड़ित कर सकता है या आसुरी लोगों की आलोचना कर सकता है, किन्तु वह भगवान् के मिशन को अग्रसारित करने के उद्देश्य से ही ऐसा करता है, किसी व्यक्तिगत शत्रुता या ईर्ष्या-द्वेषवश नहीं। जिसने सांसारिकता को पूर्णरूपेण त्याग दिया है, उसके लिए जन्म-मृत्यु के पथ पर पुनः चलने का प्रश्न ही नहीं उठता।

यो वै वाङ्मनसी संयगसंयच्छन्धिया यतिः ।
तस्य व्रतं तपो दानं स्त्रवत्यामघटाम्बुवत् ॥ ४३॥

शब्दार्थ

यः—जो; वै—निश्चय ही; वाक्-मनसी—वाणी तथा मन; संयक्—पूरी तरह; असंयच्छन्—नियंत्रण में न रखते हुए; धिया—बुद्धि से; यतिः—अध्यात्मवादी; तस्य—उसका; व्रतम्—व्रत; तपः—तपस्या; दानम्—दान; स्त्रवति—बह जाता है; आम—कच्चे; घट—पात्र में; अम्बु-वत्—जल के समान।.

जो योगी अपनी श्रेष्ठ बुद्धि द्वारा अपनी वाणी तथा मन पर पूरा नियंत्रण नहीं रखता, उसके आध्यात्मिक व्रत, तपस्या तथा दान उसी तरह बह जाते हैं जिस तरह कच्चे मिट्टी के घड़े से पानी बह जाता है।

तात्पर्य : पकाये हुए घड़े में रखी हुई कोई भी तरल वस्तु उसमें से बाहर नहीं निकलती। किन्तु यदि घड़ा कच्चा हो तो उसके भीतर भरा गया जल या अन्य तरल बह कर निकल जायेगा। इसी तरह जो योगी अपनी वाणी तथा मन को वश में नहीं रखता उसके आध्यात्मिक अनुशासन तथा तपस्या धीरे धीरे क्षीण हो जाते हैं। *दान* सूचक है अन्यों के कल्याण के लिए किए गये कार्य का। जो लोग कृष्णभावनामृत का प्रचार करके सर्वोच्च दान देने का प्रयास कर रहे हैं, उन्हें चाहिए कि वे न तो सुन्दर स्त्रियों की तुष्टि के लिए बातें करें, न ही संसारी बौद्धिक प्रतिष्ठा के प्रयास में बनावटी बुद्धिमत्ता दिखायें, न ही वे यौन सम्बन्ध के इच्छुक बनें, न प्रतिष्ठा का कोई पद पाने के लिए दिवास्वप्न देखें। अन्यथा, कृष्णभावनामृत का अभ्यास करने का उनका दृढ़ संकल्प जाता रहेगा, जिसका वर्णन यहाँ हुआ है। मनुष्य को अपने मन, इन्द्रियों तथा वाणी पर उच्च बुद्धि द्वारा नियंत्रण रखना चाहिए जिससे जीवन सफल बन सके।

तस्माद्वचो मनः प्राणान्नियच्छेन्मत्परायणः ।
मद्भक्तियुक्तया बुद्ध्या ततः परिसमाप्यते ॥ ४४॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; वचः—शब्द; मनः—मन; प्राणान्—तथा प्राणों को; नियच्छेत्—नियंत्रण में रखे; मत्-परायणः—मेरे प्रति श्रद्धावान्; मत्—मुझ पर; भक्ति—भक्ति से; युक्तया—युक्त; बुद्ध्या—ऐसी बुद्धि से; ततः—इस प्रकार; परिसमाप्यते—जीवन-लक्ष्य पूरा करता है।.

मेरे शरणागत होकर मनुष्य को वाणी, मन तथा प्राण पर नियंत्रण रखना चाहिए और तब भक्तिमयी बुद्धि के द्वारा वह अपने जीवन-लक्ष्य को पूरा कर सकेगा।

तात्पर्य : ब्राह्मण दीक्षा के समय प्रदत्त ब्रह्मगायत्री मंत्र के उच्चारण से मनुष्य भक्तिमयी बुद्धि विकसित कर सकता है। विमल बुद्धि द्वारा, मनुष्य मनोधर्म तथा सकाम कर्म द्वारा प्रदत्त फलों से विरत हो जाता है और भगवान् की संपूर्ण शरण ग्रहण कर लेता है।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''भगवान् की विभूतियाँ'' नामक सोलहवें अध्याय का श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुआ।

Chapter सत्रह

भगवान् कृष्ण द्वारा वर्णाश्रम प्रणाली का वर्णन

भगवान् श्रीकृष्ण हंस का रूप धारण करके ब्रह्मचारी तथा गृहस्थ आश्रमों के कार्यों का वर्णन कर चुके थे। अब इस अध्याय में वे इन्हीं की अधिक चर्चा उद्धव से करते हैं।

जब उद्धव श्रीकृष्ण से वर्णाश्रम धर्म के सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों के विषय में जिज्ञासा करते हैं, तो भगवान् उत्तर देते हैं कि सत्ययुग में केवल एक ही सामाजिक व्यवस्था थी जिसे *हंस* कहते हैं। उस युग में लोग जन्म से ही शुद्ध भक्ति के प्रति समर्पित रहते थे और चूँकि हर व्यक्ति सभी प्रकार से पूर्ण होता था इसलिए वह युग कृतयुग कहलाता था। तब वेद ॐ नामक पवित्र अक्षर के रूप में प्रकट थे और भगवान् की अनुभूति धर्म रूप चतुष्पाद वृषभ के रूप में मन के भीतर की जाती थी। तब यज्ञ विधि का सूत्रपात नहीं हुआ था और निष्पाप लोग स्वभाव से तपोन्मुखी होने के कारण भगवान् के साकार रूप का ध्यान करते थे। इसके बाद त्रेतायुग में भगवान् के हृदय से तीन वेद प्रकट हुए और उन्हीं से यज्ञ-अग्नि के तीन रूप प्रकट हुए। उसी समय भगवान् के शरीर के अंगों से चार वर्णों तथा चार आश्रमों का उद्‌भव हुआ जो समाज के विभिन्न वर्गों के लिए भौतिक एवं आध्यात्मिक कर्तव्यों को निर्धारित करते हैं। भगवान् के ऊपरी तथा निचले अंगों से जन्म लेने के अनुसार इन वर्णाश्रमों में उच्च तथा निम्न गुण आये। इस वर्णन के बाद भगवान् कृष्ण चारों वर्णों के तथा इन वर्णों के बाहर के लोगों के स्वभावों की व्याख्या करते हैं। वे सामान्य मानवता से सम्बद्ध गुणों का भी वर्णन करते हैं।

उच्च आश्रमों के सदस्य दूसरा जन्म स्वीकार कर सकते हैं। उपनयन संस्कार के बाद उन्हें गुरुकुल जाना होता है। छात्र (ब्रह्मचारी) को शान्तचित्त होकर वेदाध्ययन में लीन होना चाहिए। उसे चोटी

रखनी चाहिए। उसे दाँत साफ करना, अपने लिए अच्छा आसन बनाना, स्नान या शौच करते समय बातें करना, बाल तथा नाखुन कटाना या वीर्यस्खलन करना वर्जित रहता है। उसे दिन में तीन बार संध्या-अर्चन करना चाहिए और ईर्ष्यामुक्त होकर अपने गुरु की सेवा करनी चाहिए। ब्रह्मचारी को भिक्षा में जो भी भोजन तथा अन्य वस्तुएँ मिलें, उन्हें लाकर अपने गुरु को अर्पित करना चाहिए। भगवान् का भोग लगाने पर जो मिले उससे ही पेट-पालन करना चाहिए। उसे अपने गुरु के पाँव दबाने चाहिए, गुरु की पूजा करनी चाहिए और समस्त इन्द्रियतृप्ति से बच कर ब्रह्मचर्य व्रत पालन करना चाहिए। उसे मनसावाचाकर्मणा परमात्मा रूप में भगवान् की पूजा बताई गई विधि से करनी चाहिए। ब्रह्मचारियों के लिए स्त्रियों को देखना, छूना, उनसे बातें करना या उनके साथ खिलवाड़ करना पूर्णतया वर्जित है। सभी वर्णाश्रम-सदस्यों को स्वच्छता का तथा जल द्वारा शुद्धि का निर्वाह करना चाहिए। हर एक को यह भी सलाह दी जाती है कि वह सदैव स्मरण रखे कि भगवान् सबों के हृदयों में वास करते हैं।

वेदों के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करने के बाद, जिस ब्राह्मण में भौतिक इच्छाएँ हों वह अपने गुरु से आज्ञा लेकर गृहस्थ जीवन में प्रवेश कर सकता है। अन्यथा, यदि वह भौतिक इच्छाओं से रहित है, तो वह वानप्रस्थ या संन्यासी बन सकता है। एक आश्रम से दूसरे आश्रम में प्रवेश करते समय, क्रम का ध्यान रखना होता है। गृहस्थ आश्रम में प्रवेश के लिए इच्छुक व्यक्ति को अपनी ही जाति की, जो आपत्तिजनक नहीं है, अपने से कम उम्र वाली पत्नी स्वीकार करनी चाहिए।

द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीन वर्णों के अनिवार्य कर्तव्य हैं—भगवान् की पूजा, वेदाध्ययन तथा दान देना। दान लेना, अन्यों को पढ़ाना तथा अन्यों के लिए यज्ञ करना—ये वृत्तिपरक कर्तव्य केवल ब्राह्मणों के विशेषाधिकार हैं। यदि कोई ब्राह्मण यह सोचता है कि इन कर्तव्यों में संलग्न होने से उसकी चेतना दूषित होती है, तो वह खेतों से अन्न बीन कर अपनी जीविका चला सकता है। यदि वह दरिद्रता से विचलित हो जाय तो वह क्षत्रिय या वैश्य का पेशा अपना सकता है किन्तु उसे शूद्र का पेशा कभी नहीं अपनाना चाहिए। ऐसी ही परिस्थिति में एक क्षत्रिय वैश्य का पेशा (वृत्ति) अपना सकता है और एक वैश्य शूद्र की वृत्ति ग्रहण कर सकता है। किन्तु जब आपात्काल बीत जाय तो निम्न वृत्ति में बने रहना ठीक नहीं है। अपने निजी कर्तव्य में स्थिर ब्राह्मण क्षुद्र भौतिक इच्छाएँ त्याग देता है, वैष्णवों की सेवा करता है और भगवान् के संरक्षण में रहता है। गृहस्थ को प्रतिदिन वेदाध्ययन करना

चाहिए और अपनी वृत्ति की मेहनत की कमाई से अपने आश्रितों का लालन-पालन करना चाहिए। जहाँ तक हो सके, उसे अनुष्ठानिक यज्ञों (कर्मकाण्ड) द्वारा भगवान् की पूजा करनी चाहिए। भौतिक जीवन से निर्लिप्त रह कर तथा भगवद्भक्ति में दृढ़ रहते हुए, गृहस्थ अन्त में वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण कर सकता है, जिससे वह अपने को पूरी तरह भगवान् की पूजा में लगा सके। यदि उसका पुत्र वयस्क हो चुका हो, तो वह सीधे संन्यास ग्रहण कर सकता है। किन्तु ऐसे व्यक्ति जो स्त्रियों के प्रति अत्यन्त आसक्त रहते हैं, जिनका कोई दृढ़ संकल्प नहीं होता और जो सम्पत्ति के पीछे दीवाने रहते हैं, वे निरन्तर अपने परिवार वालों के कल्याण की चिन्ता में मग्न रहते हैं और अगले जन्म में निम्न योनि में जन्म लेते हैं।

श्रीउद्धव उवाच

यस्त्वयाभिहित: पूर्वं धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षण: ।
वर्णाशमाचारवतां सर्वेषां द्विपदामपि ॥ १ ॥
यथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत् ।
स्वधर्मेणारविन्दाक्ष तन्ममाख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धव: उवाच—श्री उद्धव ने कहा; य:—जो; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अभिहित:—कहा गया; पूर्वम्—पहले; धर्म:—धार्मिक सिद्धान्त; त्वत्-भक्ति-लक्षण:—अपनी भक्ति के लक्षणों से युक्त; वर्ण-आश्रम—वर्णाश्रम प्रणाली का; आचारवताम्—श्रद्धालु अनुयायियों के; सर्वेषाम्—समस्त; द्वि-पदाम्—सामान्य मनुष्यों के (जो वर्णाश्रम प्रणाली नहीं अपनाते); अपि—भी; यथा—के अनुसार; अनुष्ठीयमानेन—सम्पन्न किये जाने की विधि; त्वयि—तुममें; भक्ति:—प्रेमाभक्ति; नृणाम्—मनुष्यों में; भवेत्—हो सके; स्व-धर्मेण—अपने वृत्तिपरक कार्य से; अरविन्द-अक्ष—हे कमलनयन; तत्—वह; मम—मुझसे; आख्यातुम्—बतलाना; अर्हसि—तुम्हें चाहिए।

श्री उद्धव ने कहा : हे प्रभु, इसके पूर्व आपने वर्णाश्रम प्रणाली के अनुयायियों द्वारा तथा सामान्य अनियमित मनुष्यों द्वारा भी अनुकरण किये जाने वाले भक्ति के सिद्धान्तों का वर्णन किया है। हे कमलनयन, अब कृपा करके मुझे बतलाइये कि इन नियत कर्तव्यों को समपन्न करके सारे मनुष्य किस तरह आपकी प्रेमाभक्ति प्राप्त कर सकते हैं?

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण पहले ही ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा अष्टांग-योग की विस्तृत व्याख्या कर चुके हैं। अब उद्धव यह पूछते हैं कि जो लोग कर्म-योग की ओर उन्मुख होते हैं, वे किस तरह जीवन-सिद्धि अर्थात् कृष्णभावनामृत प्राप्त कर सकते हैं। *भगवद्गीता* (४.१३) में भगवान् कृष्ण बतलाते हैं कि वे ही वर्णाश्रम प्रणाली के स्रष्टा हैं। *चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म-विभागश:।* इसलिए

वर्णाश्रम प्रणाली का चरम लक्ष्य भगवान् को प्रसन्न करना है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को भगवान् का भक्त बन कर शुद्ध भक्ति की विधि सीखनी चाहिए। शुद्ध भक्ति प्राप्त करने की सबसे सरल विधि है भगवद्भक्तों की संगति करना। यदि कोई व्यक्ति विनीत होकर तथा श्रद्धा भाव से शुद्ध भक्तों की संगति करता है, तो उसे तुरन्त ही जीवन-सिद्धि प्राप्त हो सकती है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को वर्णाश्रम प्रणाली की सारी औपचारिकताएँ नहीं करनी पड़तीं क्योंकि भगवत्प्रेम में लीन होने के कारण कृष्णभावनाभावित व्यक्ति समस्त इन्द्रियतृप्ति तथा मनोरथों को स्वतः त्याग देता है। जो मनुष्य वर्णाश्रम प्रणाली का पालन कहीं करते, उन्हें यहाँ पर *द्वि-पदाम्*—दो पैरों वाला कहा गया है। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति जीवन के धार्मिक पथ का अनुसरण नहीं करता, वह दो पैर होने के कारण *द्विपदाम्* कहलाता है। सामान्य पशु तथा कीड़े भी खाने, सोने, संभोग करने तथा अपनी रक्षा करने में लगे रहते हैं। किन्तु मनुष्य ऐसी निम्न योनियों से भिन्न माना जाता है क्योंकि उसमें धार्मिक बनने और अन्ततः शुद्ध कृष्णभावनामृत में ईश्वर से प्रेम करने की क्षमता पाई जाती है।

पुरा किल महाबाहो धर्मं परमकं प्रभो ।
यत्तेन हंसरूपेण ब्रह्मणेऽभ्यात्थ माधव ॥ ३॥
स इदानीं सुमहता कालेनामित्रकर्शन ।
न प्रायो भविता मर्त्यलोके प्रागनुशासितः ॥ ४॥

शब्दार्थ

पुरा—प्राचीन काल में; किल—निस्सन्देह; महा-बाहो—हे बलशाली भुजाओं वाले; धर्मम्—धार्मिक नियमों को; परमकम्—महानतम सुख प्रदान करने वाला; प्रभो—हे प्रभु; यत्—जो; तेन—उससे; हंस-रूपेण—हंस के रूप में; ब्रह्मणे—ब्रह्मा को; अभ्यात्थ—आपने कहा; माधव—हे माधव; सः—वही (धर्म का ज्ञान); इदानीम्—इस समय; सु-महता—अत्यन्त लम्बे; कालेन—समय के बाद; अमित्र-कर्शन—शत्रु के दमनकर्ता; न—नहीं; प्रायः—सामान्यतया; भविता—होगा; मर्त्य-लोके—मानव समाज में; प्राक्—पहले; अनुशासितः—उपदेश दिया गया।

हे प्रभु, हे बलिष्ठ भुजाओं वाले, आपने इसके पूर्व अपने हंस रूप में ब्रह्माजी से उन धार्मिक सिद्धान्तों का कथन किया है, जो अभ्यासकर्ता को परम सुख प्रदान करने वाले हैं। हे माधव, तब से अब काफी काल बीत चुका है और हे शत्रुओं के दमनकर्ता, आपने जो उपदेश पहले दिया था उसका महत्त्व शीघ्र ही समाप्त हो जाएगा।

वक्ता कर्ताविता नान्यो धर्मस्याच्युत ते भुवि ।
सभायामपि वैरिञ्च्यां यत्र मूर्तिधराः कलाः ॥ ५॥

कर्त्रावित्रा प्रवक्त्रा च भवता मधुसूदन ।
त्यक्ते महीतले देव विनष्टं कः प्रवक्ष्यति ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

वक्ता—बोलने वाला; कर्ता—सृजन करने वाला; अविता—रक्षक; न—नहीं; अन्यः—कोई दूसरा; धर्मस्य—सर्वोच्च धार्मिक नियमों का; अच्युत—हे अच्युत; ते—आपकी अपेक्षा; भुवि—पृथ्वी पर; सभायाम्—सभा में; अपि—भी; वैरिञ्च्याम्—ब्रह्मा की; यत्र—जहाँ पर; मूर्ति-धराः—साकार रूप में; कलाः—वेद; कर्त्रा—कर्ता या स्त्रष्टा द्वारा; अवित्रा—रक्षक द्वारा; प्रवक्त्रा—बोलने वाले के द्वारा, वक्ता द्वारा; च—भी; भवता—आपके द्वारा; मधुसूदन—हे मधुसूदन; त्यक्ते—छोड़ देने पर; मही-तले—पृथ्वी पर; देव—मेरे स्वामी; विनष्टम्—वे विनष्ट हुए धर्म के नियम; कः—कौन; प्रवक्ष्यति—कहेगा।

हे अच्युत, इस पृथ्वी पर या ब्रह्मा की सभा तक में, परम धार्मिक नियमों का आपके सिवा कोई ऐसा वक्ता, स्त्रष्टा तथा रक्षक नहीं है जहाँ साक्षात् वेद निवास करते हैं। इस तरह हे मधुसूदन, जब आध्यात्मिक ज्ञान के स्त्रष्टा, रक्षक तथा प्रवक्ता आप ही पृथ्वी का परित्याग कर देंगे, तो इस विनष्ट ज्ञान को फिर से कौन बतलायेगा?

तत्त्वं नः सर्वधर्मज्ञ धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः ।
यथा यस्य विधीयेत तथा वर्णय मे प्रभो ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; त्वम्—तुम; नः—हम (मनुष्यों) के बीच; सर्व-धर्म-ज्ञ—हे धर्म के नियमों के परम ज्ञाता; धर्मः—आध्यात्मिक पथ; त्वत्-भक्ति—आपकी भक्ति से; लक्षणः—लक्षणों वाले; यथा—जिस तरह से; यस्य—जिसका; विधीयेत—सम्पन्न किया जा सके; तथा—उस तरह से; वर्णय—कृपया वर्णन करें; मे—मुझसे; प्रभो—हे प्रभु।

अतएव हे प्रभु, समस्त धार्मिक नियमों का ज्ञाता होने के कारण आप मुझसे उन मनुष्यों का वर्णन करें जो आपके भक्ति-मार्ग को सम्पन्न कर सकें और यह भी बतायें कि ऐसी भक्ति कैसे की जाती है?

श्रीशुक उवाच
इत्थं स्वभृत्यमुख्येन पृष्टः स भगवान्हरिः ।
प्रीतः क्षेमाय मर्त्यानां धर्मानाह सनातनान् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इत्थम्—इस प्रकार; स्व-भृत्य-मुख्येन—अपने श्रेष्ठ भक्तों द्वारा; पृष्टः—पूछे जाने पर; सः—वह; भगवान्—भगवान्; हरिः—श्रीकृष्ण; प्रीतः—प्रसन्न हुए; क्षेमाय—कल्याण के लिए; मर्त्यानाम्—समस्त बद्धजीवों के; धर्मान्—धार्मिक नियमों को; आह—कहा; सनातनान्—नित्य।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब भक्त प्रवर, श्री उद्धव, ने इस तरह भगवान् से प्रश्न किया, तो यह सुन कर भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न हुए और उन्होंने समस्त बद्धजीवों के कल्याण हेतु उन धार्मिक नियमों को बतलाया जो शाश्वत हैं।

श्रीभगवानुवाच
धर्म्य एष तव प्रश्नो नैःश्रेयसकरो नृणाम् ।
वर्णाश्रमाचारवतां तमुद्धव निबोध मे ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; धर्म्यः—धर्म के प्रति आज्ञाकारी; एषः—यह; तव—तुम्हारा; प्रश्नः—प्रश्न; नैःश्रेयस-करः—शुद्ध भक्ति का कारण; नृणाम्—सामान्य मनुष्यों के लिए; वर्ण-आश्रम—वर्णाश्रम प्रणाली का; आचार-वताम्—पालन करने वालों के लिए; तम्—उन सर्वोच्च धार्मिक नियमों को; उद्धव—हे उद्धव; निबोध—सीखो; मे—मुझसे ।.

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, तुम्हारा प्रश्न धार्मिक नियमों के अनुकूल है, अतः यह सामान्य मनुष्यों को तथा वर्णाश्रम प्रणाली का पालन करने वाले दोनों ही को जीवन में सर्वोच्च सिद्धि, अर्थात् शुद्ध भक्ति को जन्म देता है। अब तुम मुझसे उन परम धार्मिक नियमों को सीखो।

तात्पर्य : *नैश्रेयस-कर* शब्द उसे सूचित करता है, जो जीवन की सर्वोच्च सिद्धि—कृष्णभावनामृत—प्रदान करता है, जिसका वर्णन श्री उद्धव से भगवान् कर रहे हैं। धार्मिक नियमों पर विचार करते समय सामान्य मनुष्य साम्प्रदायिक सांसारिक विचारों में फँसे रहते हैं। जो विधि जीवन की सर्वोच्च सिद्धि दिला सके, उसे ही मनुष्यों के लिए परम शुभ मानना चाहिए। वर्णाश्रम प्रणाली इस पृथ्वी पर धार्मिकता की सर्वाधिक वैज्ञानिक प्रस्तुति करती है और जो लोग इस प्रणाली में सिद्धहस्त होते हैं, वे कृष्णभावनामृत को प्राप्त होते हैं अर्थात् हर वस्तु परमेश्वर की तुष्टि के लिए समर्पित करते हैं।

आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः ।
कृतकृत्याः प्रजा जात्या तस्मात्कृतयुगं विदुः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

आदौ—(कल्प के) प्रारम्भ में; कृत-युगे—सत्ययुग में; वर्णः—सामाजिक श्रेणी; नृणाम्—मनुष्यों की; हंसः—हंस नामक; इति—इस प्रकार; स्मृतः—विख्यात; कृत-कृत्याः—परमेश्वर की पूर्ण शरणागति द्वारा कर्तव्यों केपालन में दक्ष; प्रजाः—जनता; जात्या—जन्म से; तस्मात्—इसलिए; कृत-युगम्—कृतयुग में अथवा ऐसे युग में जिसमें सारे कर्तव्य पूरे होते हैं; विदुः—विद्वान लोग जानते थे ।.

प्रारम्भ में सत्ययुग में केवल एक सामाजिक श्रेणी थी जिसे हंस कहते थे जिससे सारे मनुष्य सम्बद्ध होते थे। उस युग में सारे लोग जन्म से शुद्ध भगवद्भक्त होते थे, इसलिए विद्वान लोग इस प्रथम युग को कृत-युग कहते हैं अर्थात् ऐसा युग जिसमें सारे धार्मिक कार्य अच्छी तरह पूरे होते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक से पता चलता है कि भगवान् की शरण में जाना ही परम धर्म है। सत्ययुग में प्रकृति के निम्न गुणों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, इसलिए सारे मनुष्य उच्च आश्रम से, जिसे हंस कहते हैं, सम्बन्धित होते हैं, जिसमें मनुष्य भगवान् के सीधे संरक्षण में रहता है। वर्तमान युग में लोग सामाजिक समता के लिए चिल्लाते हैं, किन्तु जब तक लोग सतोगुण को प्राप्त नहीं करते, जो शुद्धता और अनन्य भक्ति की स्थिति है, तब तक सामाजिक समता सम्भव नहीं है। जैसे जैसे निम्न गुणों का प्राधान्य होता जाता है, त्यों त्यों गौण धार्मिक नियमों का उदय होता है, जिससे लोग धीरे धीरे ईश्वर की पूर्ण शरणागति की शुद्ध अवस्था को प्राप्त होते जाते हैं। सत्ययुग में निकृष्ट व्यक्ति नहीं पाये जाते इसलिए गौण धार्मिक नियमों की आवश्यकता नहीं रहती। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से भगवान् की शुद्ध भक्ति करता है और इस तरह सारे धार्मिक कर्तव्यों को पूरा करता है। जो व्यक्ति सारे कर्तव्यों को ठीक से पूरा करता है, वह *कृतकृत्य* कहलाता है, जैसाकि इस श्लोक में बताया गया है। इसीलिए सत्ययुग कृत-युग कहलाता है। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *आदौ* शब्द ब्रह्माण्ड की सृष्टि के क्षण का सूचक है। दूसरे शब्दों में, वर्णाश्रम प्रणाली कोई अर्वाचीन कल्पना नहीं है अपितु सृष्टि के साथ यह स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है; इसलिए सभी बुद्धिमान व्यक्तियों को चाहिए कि इसे मान लें।

वेदः प्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं वृषरूपधृक् ।
उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तकिल्बिषाः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

वेदः—वेद; प्रणवः—ओऊम नामक पवित्र अक्षर; एव—निस्सन्देह; अग्रे—सत्ययुग में; धर्मः—मानसिक कार्यों का लक्ष्य; अहम्—मैं; वृष-रूप-धृक्—धर्म रूप बैल का रूप धारण करके; उपासते—वे पूजा करते हैं; तपः-निष्ठाः—तप में रत; हंसम्—भगवान् हंस; माम्—मुझको; मुक्त—रहित; किल्बिषाः—सारे पापों से।

सत्ययुग में अविभाज्य वेद ओउम् अक्षर (ऊंकार) द्वारा व्यक्त किया जाता है और मैं ही एकमात्र मानसिक कार्यों का लक्ष्य (धर्म) हूँ। मैं चार पैरों वाले धर्म रूपी बैल के रूप में प्रकट होता हूँ जिससे सत्ययुग के निवासी, तपस्यानिष्ठ तथा पापरहित होकर, भगवान् हंस के रूप में मेरी पूजा करते हैं।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* (१.१७.२४) में धर्मरूपी बैल का वर्णन हुआ है—*तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः कृते कृताः*—सत्ययुग में, आपके चार पाँव तपस्या, स्वच्छता, दया तथा सत्य के चार सिद्धान्तों द्वारा स्थापित हुए थे। श्री व्यासदेव ने द्वापर के अन्त में एक वेद को चार में—ऋग, यजुः,

साम तथा अथर्ववेद—में विभाजित कर दिया किन्तु सत्ययुग में सारा वैदिक ज्ञान केवल ॐकार द्वारा ही समझा जा सकता है। इस युग में यज्ञ जैसा कोई अनुष्ठान कार्य नहीं होता क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति निष्पाप, तपस्वी तथा भगवान् हंस के ध्यान में मग्न रहता है।

त्रेतामुखे महाभाग प्राणान्मे हृदयात्त्रयी ।
विद्या प्रादुरभूत्तस्या अहमासं त्रिवृन्मखः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

त्रेता-मुखे—त्रेता युग के प्रारम्भ में; महा-भाग—हे परम भाग्यशाली; प्राणात्—प्राण के स्थान से; मे—मेरे; हृदयात्—हृदय से; त्रयी—तीन; विद्या—वैदिक ज्ञान; प्रादुरभूत्—प्रकट हुआ; तस्याः—उस ज्ञान से; अहम्—मैं; आसम्—प्रकट हुआ; त्रि-वृत्—तीन विभागों में; मखः—यज्ञ।

हे परम भाग्यशाली, त्रेता युग के प्रारम्भ में, प्राण के स्थान से, जो कि मेरा हृदय है, वैदिक ज्ञान तीन विभागों में प्रकट हुआ—ये हैं—ऋग, साम तथा यजुः। तत्पश्चात् उस ज्ञान से मैं तीन यज्ञों के रूप में प्रकट हुआ।

तात्पर्य : त्रेता युग में धर्मरूपी बैल का एक पाँव नष्ट हो जाता है और धर्म का पचहत्तर प्रतिशत ही तीन वेदों—ऋग, साम तथा यजुः वेदों के रूप में प्रकट होता है। तब भगवान् तीन वैदिक यज्ञों की विधि में प्रकट होते हैं। ये तीन विभाग इस प्रकार हैं। *होता* अग्नि में आहुति डालता है और ऋग्वेद का उच्चारण करता है, *उद्गाता* सामवेद का उच्चारण करता है और *अध्वर्यु,* जो कि यज्ञशाला की तैयारी करता है, वह यजुर्वेद का उच्चारण करता है। त्रेता युग में ऐसा यज्ञ ही आध्यात्मिक सिद्धि की प्रामाणिक विधि है। इस श्लोक में *प्राणात्* शब्द भगवान् के विश्व-रूप का द्योतक है। इस रूप का अधिक वर्णन अगले श्लोकों में हुआ है।

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः ।
वैराजात्पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

विप्र—ब्राह्मण; क्षत्रिय—क्षत्रिय; विट्—वैश्य; शूद्राः—शूद्र, मजदूर; मुख—मुँह; बाहु—भुजाओं; ऊरु—जाँघों; पाद—तथा पाँवों से; जाः—उत्पन्न; वैराजात्—विराट रूप से; पुरुषात्—भगवान् से; जाताः—उत्पन्न; ये—जो; आत्म—निजी; आचार—कार्यकलाप द्वारा; लक्षणाः—पहचाने जाते हैं।

त्रेता युग में भगवान् के विराट रूप से चार जातियाँ प्रकट हुईं। ब्राह्मण भगवान् के मुँह से, क्षत्रिय भगवान् की बाँहों से, वैश्य भगवान् के जंघों से तथा शूद्र उस विराट रूप के पाँवों से

प्रकट हुए। प्रत्येक विभाग को उसके विशिष्ट कर्तव्यों तथा आचार-व्यवहारसे पहचाना गया।

गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम ।
वक्षःस्थलाद्वनेवासः सन्न्यासः शिरसि स्थितः ॥ १४॥

शब्दार्थ

गृह-आश्रमः—विवाहित जीवन; जघनतः—जाँघों से; ब्रह्मचर्यम्—विद्यार्थी जीवन; हृदः—हृदय से; मम—मेरे; वक्षः-स्थलात्—वक्षस्थल से; वने—जंगल में; वासः—निवास करते हुए; सन्न्यासः—संन्यास आश्रम; शिरसि—सिर पर; स्थितः—स्थित।.

विवाहित जीवन मेरे विश्व रूप के जघन प्रदेश से प्रकट हुआ और ब्रह्मचारी विद्यार्थी मेरे हृदय से निकले। जंगल में निवास करने वाला विरक्त जीवन मेरे वक्षस्थल से प्रकट हुआ तथा संन्यास मेरे विश्व रूप के सिर के भीतर स्थित था।

तात्पर्य : ब्रह्मचारी जीवन की दो श्रेणियाँ हैं। *नैष्ठिकि ब्रह्मचारी*—आजीवन ब्रह्मचारी रहता है, जबकि *उपकुर्वाण ब्रह्मचारी* विद्यार्थी जीवन समाप्त करके विवाह कर लेता है। जो आजीवन ब्रह्मचारी रहता है, वह भगवान् कृष्ण के हृदय में वास करता है, किन्तु जो अन्ततः विवाह कर लेते हैं, वे भगवान् के विराट रूप के जघन प्रदेश में स्थित होते हैं। *वने-वासः* द्योतक है वानप्रस्थ का जो भगवान् के वक्षस्थल में स्थित है।

वर्णानामाश्रमाणां च जन्मभूम्यनुसारिणीः ।
आसन्प्रकृतयो नृनां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमाः ॥ १५॥

शब्दार्थ

वर्णानाम्—वृत्तिपरक विभागों में; आश्रमाणाम्—सामाजिक विभागों में; च—भी; जन्म—जन्म; भूमि—स्थान के; अनुसारिणीः—के अनुसार; आसन्—प्रकट हुए; प्रकृतयः—प्रकृतियाँ; नृणाम्—मनुष्यों में; नीचैः—निम्न पृष्ठभूमि द्वारा; नीच—नीच प्रकृति; उत्तम—श्रेष्ठ पृष्ठभूमि द्वारा; उत्तमाः—उत्तम प्रकृतियाँ।.

प्रत्येक व्यक्ति के जन्म के समय की निम्न तथा उच्च प्रकृतियों के अनुसार मानव समाज के विविध वृत्तिपरक (वर्ण) तथा सामाजिक (आश्रम) विभाग प्रकट हुए।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार ब्राह्मण तथा संन्यासी भगवान् के विराट रूप के सिर पर स्थित होने से अत्यन्त योग्य माने जाते हैं जबकि शूद्र तथा गृहस्थ भगवान् के पाँवों या जाँघों में होने से निम्न पद पर माने जाते हैं। जीव एक निश्चित बुद्धि, सौन्दर्य तथा सामाजिक परिवेश के साथ उत्पन्न होता है, इसलिए वह वर्णाश्रम प्रणाली में किसी एक वृत्तिपरक तथा सामाजिक पद में स्थित

होता है। वैसे ऐसे पद बाह्य उपाधि हैं किन्तु क्योंकि अधिकांश व्यक्ति भगवान् की माया द्वारा बद्ध होते हैं इसलिए उन्हें तब तक वैज्ञानिक वर्णाश्रम विभागों के अनुसार कर्म करना चाहिए जब तक वे *जीव-मुक्त* अवस्था को प्राप्त नहीं कर लेते।

शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम् ।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

शमः—शान्ति; दमः—इन्द्रिय-संयम; तपः—तपस्या; शौचम्—शुद्धि; सन्तोषः—पूर्ण सन्तुष्टि; क्षान्तिः—क्षमाशीलता; आर्जवम्—सादगी, सीधापन; मत्-भक्तिः—मेरी भक्ति; च—भी; दया—दया; सत्यम्—सत्य; ब्रह्म—ब्राह्मणों के; प्रकृतयः—स्वाभाविक गुण; तु—निस्सन्देह; इमाः—ये।

शान्ति, आत्मसंयम, तपस्या, शुद्धि, सन्तोष, सहनशीलता, सहज स्पष्टवादिता, मेरी भक्ति, दया तथा सत्य—ये ब्राह्मणों के स्वाभाविक गुण हैं।

तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः ।
स्थैर्यं ब्रह्मन्यमैश्वर्यं क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥ १७॥

शब्दार्थ

तेजः—तेज; बलम्—शारीरिक बल; धृतिः—संकल्प; शौर्यम्—शूरवीरता; तितिक्षा—सहिष्णुता; औदार्यम्—उदारता; उद्यमः—प्रयत्न; स्थैर्यम्—स्थिरता; ब्रह्मण्यम्—ब्राह्मणों की सेवा के लिए सदैव तत्पर; ऐश्वर्यम्—नायकत्व; क्षत्र—क्षत्रियों के; प्रकृतयः—स्वाभाविक गुण; तु—निस्सन्देह; इमाः—ये।

तेजस्विता, शारीरिक बल, संकल्प, बहादुरी, सहनशीलता, उदारता, महान् प्रयास, स्थिरता, ब्राह्मणों के प्रति भक्ति तथा नायकत्व—ये क्षत्रियों के स्वाभाविक गुण हैं।

आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम् ।
अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

आस्तिक्यम्—वैदिक सभ्यता में विश्वास; दान-निष्ठा—दानशीलता; च—भी; अदम्भः—दिखावटीपन का अभाव; ब्रह्म-सेवनम्—ब्राह्मणों की सेवा; अतुष्टिः—असंतुष्ट रहने का भाव; अर्थ—धन का; उपचयैः—संग्रह द्वारा; वैश्य—वैश्य के; प्रकृतयः—स्वाभाविक गुण; तु—निस्सन्देह; इमाः—ये।

वैदिक सभ्यता में विश्वास, दानशीलता, दिखावे से दूर रहना, ब्राह्मणों की सेवा करना तथा अधिकाधिक धन संचय की निरन्तर आकांक्षा—ये वैश्यों के प्राकृतिक गुण हैं।

तात्पर्य : *अतुष्टिरर्थोपचयै* सूचित करता है कि वैश्य कभी भी तुष्ट नहीं होता चाहे वह कितना भी धन संचय क्यों न कर ले। वह अधिकाधिक संचय करना चाहता है। दूसरी ओर, वह *दान-निष्ठ* होता

है अर्थात् दान-पुण्य करता रहता है। वह *ब्रह्मसेवी* अर्थात् ब्राह्मणों की सहायता करने में सदैव लगा रहता है। वह *अदम्भ* होता है अर्थात् दिखावे से दूर रहता है। यह सब *आस्तिक्यम्* अर्थात् वैदिक जीवन-शैली में इस पूर्ण निष्ठा तथा विश्वास के कारण है कि वह अपने वर्तमान कार्यों के अनुसार ही अगले जीवन में दण्डित या पुरस्कृत होगा। वैश्यों में धन संचय की तीव्र इच्छा सामान्य लालच जैसी नहीं होती, क्योंकि इस श्लोक में वर्णित उच्च गुणों के द्वारा वह विमल तथा अनुकूलित होती है।

शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाप्यमायया ।
तत्र लब्धेन सन्तोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

शुश्रूषणम्—सेवा; द्विज—ब्राह्मणों की; गवाम्—गौवों की; देवानाम्—देवताओं तथा गुरु जैसे पूज्य पुरुषों की; च—भी; अपि—निस्सन्देह; अमायया—निष्कपट; तत्र—उस सेवा में; लब्धेन—प्राप्त हुए के द्वारा; सन्तोषः—पूर्ण तुष्टि; शूद्र—शूद्रों के; प्रकृतयः—स्वाभाविक गुण; तु—निस्सन्देह; इमाः—ये।

ब्राह्मणों, गौवों, देवताओं तथा अन्य पूज्य पुरुषों की निष्कपट सेवा तथा ऐसी सेवा करने से जो भी आमदनी हो जाय उससे पूर्ण तुष्टि—ये शूद्रों के स्वाभाविक गुण हैं।

तात्पर्य : जब सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था वैदिक आदेशों के अनुसार समुचित ढंग से कार्य करती है, तो हर व्यक्ति सुखी तथा संतुष्ट रहता है। यद्यपि शूद्रों को सेवा-कार्य करने से जो भी आमदनी होती है, उसी से सन्तुष्ट रहना पड़ता है, किन्तु उन्हें किसी भी आवश्यक वस्तु का अभाव नहीं खटकता, क्योंकि समाज के अन्य वर्ण—यथा क्षत्रिय तथा वैश्य—नितान्त उदार होते हैं और ब्राह्मण तो सर्वाधिक दयालु होते हैं। इसलिए यदि सारी सामाजिक श्रेणियाँ (वर्ण) वैदिक आदेशों का पालन करें, तो कृष्णभावनामृत के मार्गदर्शन में सम्पूर्ण मानव समाज को नवीन तथा आनन्दमय जीवन प्राप्त हो सकेगा।

अशौचमनृतं स्तेयं नास्तिक्यं शुष्कविग्रहः ।
कामः क्रोधश्च तर्षश्च स भावोऽन्त्यावसायिनाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अशौचम्—गंदा रहना; अनृतम्—बेईमानी; स्तेयम्—चोरी; नास्तिक्यम्—नास्तिकता; शुष्क-विग्रहः—व्यर्थ का लड़ाई-झगड़ा; कामः—विषय-भोग, वासना; क्रोधः—क्रोध; च—भी; तर्षः—लालसा; च—भी; सः—यह; भावः—स्वभाव, प्रकृति; अन्त्य—निम्नतम पद में; अवसायिनाम्—रहने वालों के।

अस्वच्छता, बेईमानी, चोरी करना, नास्तिकता, व्यर्थ झगड़ना, काम, क्रोध एवं तृष्णा—ये

उनके स्वभाव हैं, जो वर्णाश्रम प्रणाली के बाहर निम्नतम पद पर हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् ने वैज्ञानिक वर्णाश्रम प्रणाली से बाहर रहने वालों का वर्णन किया है। यूरोप तथा अमरीका में हमने प्राय: देखा है कि सफाई का मानदण्ड तथाकथित शिक्षित जनों में भी अत्यन्त गर्हित है। बिना स्नान किये रहते जाना और अशिष्ट भाषा का प्रयोग आम बातें हैं। आधुनिक युग में लोग अपने से बड़े का ध्यान न रखते हुए अंटशंट बकते रहते हैं, इसलिए उनमें रंचमात्र भी सचाई या असली ज्ञान नहीं रहता। इसी तरह पूँजीवादी तथा साम्यवादी दोनों ही तरह के देशों में, हर व्यक्ति व्यापार, कर या अपराध के नाम पर अन्यों को लूटने-खसोटने में लगा हुआ है। लोगों को न तो ईश्वर के साम्राज्य (भगवद्धाम) में विश्वास है, न ही अपनी नित्य प्रकृति पर है। फलस्वरूप उनकी श्रद्धा नितान्त क्षीण है। यही नहीं, चूँकि आधुनिक लोग कृष्णभावनामृत में अधिक रुचि नहीं रखते, इसलिए वे भौतिक शरीर से सम्बन्धित व्यर्थ के मामलों में झगड़ते रहते हैं। थोड़ा भी भड़काने पर बड़े बड़े युद्ध तथा हत्याकांड हो जाते हैं। कलियुग में काम, क्रोध तथा तृष्णा की कोई सीमा नहीं रह गई है। यहाँ पर उल्लिखित लक्षणों तथा विशेषताओं को पूरे विश्व में जहाँ पर लोग वर्णाश्रम प्रणाली से च्युत हैं, प्रचुर मात्रा में देखा जा सकता है। अपनी पापमयी आदतों के कारण—यथा पशु-हत्या, अवैध यौन, नशा तथा जुआ खेलने के कारण—अधिकांश लोग *चण्डाल* या अस्पृश्य बन गये हैं।

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता ।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अहिंसा—अहिंसा; सत्यम्—सत्य; अस्तेयम्—ईमानदारी; अ-काम-क्रोध-लोभता—काम, क्रोध तथा लोभ से रहित होना; भूत—सारे जीवों के; प्रिय—सुख; हित—तथा कल्याण; ईहा—कामना; च—भी; धर्मः—कर्तव्य; अयम्—यह; सार्व-वर्णिकः—समाज के सारे सदस्यों के लिए।

अहिंसा, सत्य, ईमानदारी, अन्यों के लिए सुख तथा कल्याण की इच्छा एवं काम, क्रोध तथा लोभ से मुक्ति—ये समाज के सभी सदस्यों के कर्तव्य हैं।

तात्पर्य : *सार्व-वर्णिक* शब्द यह बतलाता है कि उपर्युक्त सिद्धान्तों से सामान्य शुद्धता बनती है, जिसे समाज के सारे सदस्यों को, यहाँ तक कि वर्णाश्रम प्रणाली के बाहर रहने वालों को भी, अपनाना चाहिए। हम देखते हैं कि वर्णाश्रम प्रणाली से अलग-थलग समाजों में भी, उपर्युक्त सिद्धान्तों का आदर किया जाता है और उन्हें प्रोत्साहन मिलता है। ऐसे सिद्धान्त किसी विशिष्ट मुक्ति-मार्ग को बनाने वाले

नहीं अपितु मानव समाज के शाश्वत गुण हैं।

द्वितीयं प्राप्यानुपूर्व्याज्जन्मोपनयनं द्विजः ।
वसन्गुरुकुले दान्तो ब्रह्माधीयीत चाहूतः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

द्वितीयम्—दूसरा; प्राप्य—पाकर; आनुपूर्व्यात्—क्रमिक संस्कार-विधि से; जन्म—जन्म; उपनयनम्—गायत्री दीक्षा; द्विजः—समाज का द्विजन्मा सदस्य; वसन्—वास करते हुए; गुरु-कुले—गुरु के आश्रम में; दान्तः—आत्म-नियंत्रित; ब्रह्म—वैदिक वाङ्मय; अधीयीत—अध्ययन करे; च—तथा समझे भी; आहूतः—तथा गुरु द्वारा बुलाये जाने पर।

समाज का द्विजन्मा सदस्य संस्कारों के द्वारा गायत्री दीक्षा होने पर दूसरा जन्म प्राप्त करता है। गुरु द्वारा बुलाये जाने पर उसे गुरु के आश्रम में रहना चाहिए और आत्मनियंत्रित मन से सावधानी से वैदिक साहित्य का अध्ययन करना चाहिए।

तात्पर्य : *द्विज* शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीन उत्तम श्रेणियों का सूचक है, जिन्हें गायत्री मंत्र की दीक्षा दी जाती है। इसका अर्थ है आध्यात्मिक दीक्षा द्वारा दूसरा जन्म लेना। मनुष्य का पहला जन्म वीर्य से होता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह बुद्धिमान या प्रबुद्ध होगा। ब्राह्मण बालक, यदि योग्य हो, तो बारह वर्ष की उम्र में गायत्री मंत्र से दीक्षित किया जा सकता है किन्तु क्षत्रियों तथा वैश्यों के बालक कुछ वर्षों बाद दीक्षित किये जा सकते हैं। आध्यात्मिक ज्ञान से प्रबुद्ध होने के लिए बालक गुरुकुल में या गुरु के आश्रम में जाकर रहता है। कृष्णभावनामृत के अन्तर्राष्ट्रीय संघ ने विश्व-भर में ऐसे गुरुकुलों की स्थापना की है और वह समस्त सभ्य व्यक्तियों को आह्वान कर रहा है कि वे अपने बालकों की उचित शिक्षा के लिए प्रबन्ध करें। प्रत्येक बालक तथा बालिका को आत्मनियंत्रित बनना सीखना चाहिए और प्रामाणिक वैदिक साहित्य के अध्ययन द्वारा प्रबुद्ध बनना चाहिए। इस तरह पशुओं, कीड़ों, मछलियों तथा पक्षियों से भिन्न होकर प्रबुद्ध व्यक्ति दुबारा जन्म ले सकता है और ज्ञान में पूर्ण बन सकता है, जिससे उसे चरम मुक्ति प्राप्त हो सकती है। इस श्लोक में *आनुपूर्व्यात्* संस्कारों का सूचक है, जिसकी शुरुआत गर्भाधान संस्कार से होती है। सामान्यतया शूद्र तथा वैदिक प्रणाली को न मानने वाले लोग ऐसे संस्कारों के प्रति आकृष्ट नहीं होते। इसलिए वे आध्यात्मिक जीवन से अनजान रह जाते हैं और प्रामाणिक गुरु से ईर्ष्या-द्वेष रखते हैं। किन्तु जिनका चरित्र क्रमबद्ध परिष्कार विधि से सभ्य बन जाता है, वे तर्क करना तथा मनमानी करना छोड़ देते हैं और गुरु की उपस्थिति में विनीत बन कर शिक्षा ग्रहण करने के लिए इच्छुक रहते हैं।

मेखलाजिनदण्डाक्षब्रह्मसूत्रकमण्डलून् ।
जटिलोऽधौतदद्वासोऽरक्तपीठः कुशान्दधत् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

मेखला—पेटी; अजिन—मृगचर्म; दण्ड—डंडा; अक्ष—गुरियों की माला; ब्रह्म-सूत्र—ब्राह्मण का जनेऊ; कमण्डलून्—तथा कमण्डल या जलपात्र; जटिलः—जटा; अधौत—बिना पालिश किया या सफेद किया या इस्त्री किया; दत्-वासः—दाँत तथा वस्त्र; अरक्त-पीठः—विलासमय या विषयी आसन स्वीकार किये बिना; कुशान्—कुश तृण; दधत्—हाथ में लिए हुए।

ब्रह्मचारी को नियमित रूप से मूँज की पेटी तथा मृगचर्म के वस्त्र धारण करने चाहिए। उसे जटा रखनी चाहिए और दंड तथा कमंडल धारण करना चाहिए। उसे अक्ष के मनके तथा जनेऊ धारण करना चाहिए। अपने हाथ में शुद्ध कुश लिए हुए, उसे कभी भी कोई विलासपूर्ण या उत्तेजक आसन ग्रहण नहीं करना चाहिए। उसे व्यर्थ दाँत नहीं चमकाना चाहिए न ही अपने वस्त्रों से रंग उड़ाना या उन पर लोहा (इस्त्री) करना चाहिए।

तात्पर्य : *अधौत-दद्-वास* शब्द सूचित करते हैं कि विरक्त ब्रह्मचारी को न तो स्त्रियों को आकृष्ट करने के लिए मृदु मुसकान लानी चाहिए, न ही उसे अपने बाह्य वस्त्रों पर अधिक ध्यान देना चाहिए। ब्रह्मचारी जीवन तपस्या तथा गुरु-आज्ञापालन के लिए है, जिससे बाद में जब वह व्यापारी, राजनीतिज्ञ या बुद्धिजीवी ब्राह्मण बने तो चरित्र, अनुशासन, आत्मसंयम, तपस्या तथा नम्रता धारण कर सके। विद्यार्थी जीवन जैसा यहाँ वर्णित है, आधुनिक शिक्षा के नाम से जाने वाले मस्तिष्क विहीन आनन्दवाद से भिन्न है। निस्सन्देह, आधुनिक युग में कृष्णभावनाभावित ब्रह्मचारी बनावटी तौर पर प्राचीन वेशभूषा नहीं धारण कर सकता और न ही यहाँ पर वर्णित संस्कारों को ग्रहण कर सकता है। किन्तु आत्मसंयम, शुद्धि तथा गुरु की आज्ञापालन की आज भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि वैदिक काल में थी।

स्नानभोजनहोमेषु जपोच्चारे च वाग्यतः ।
न च्छिन्द्यान्नखरोमाणि कक्षोपस्थगतान्यपि ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

स्नान—स्नान करते; भोजन—भोजन करते; होमेषु—तथा यज्ञ करते; जप—मन में मंत्रों का जाप करते; उच्चारे—मल-मूत्र विसर्जन करते समय; च—भी; वाक्-यतः—मौन रह कर; न—नहीं; छिन्द्यात्—काटे; नख—नाखुन; रोमाणि—अथवा बाल; कक्ष—बगल (काँख) के; उपस्थ—गुप्तांग; गतानि—के सहित; अपि—भी।

ब्रह्मचारी को चाहिए कि स्नान करते, खाते, यज्ञ करते, जप करते या मल-मूत्र विसर्जन करते समय, सदैव मौन रहे। वह अपने नाखुन तथा काँख एवं गुप्तांग सहित किसी अंग के बाल

नहीं काटे।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के सातवें स्कंध के बारहवें अध्याय में नारद मुनि ने वैदिक ब्रह्मचारी का ऐसा ही पारिभाषिक विवरण दिया है।

रेतो नावकिरेज्जातु ब्रह्मव्रतधरः स्वयम् ।
अवकीर्णेऽवगाह्याप्सु यतासुस्त्रिपदां जपेत् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

रेतः—वीर्य; न—नहीं; अवकिरेत्—पतन करे; जातु—कभी; ब्रह्म-व्रत-धरः—ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने वाला, ब्रह्मचारी; स्वयम्—स्वयं; अवकीर्णे—पतन हो जाने पर; अवगाह्य—स्नान करके; अप्सु—जल में; यत-असुः—प्राणायाम् द्वारा श्वास रोक कर; त्रि-पदाम्—गायत्री मंत्र का; जपेत्—जप करे।

ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए वह कभी वीर्यपात न करे। यदि संयोगवश वीर्य स्वतः निकल जाय, तो ब्रह्मचारी तुरन्त जल में स्नान करे, प्राणायाम द्वारा अपना श्वास रोके और गायत्री मंत्र का जप करे।

अग्न्यर्काचार्यगोविप्रगुरुवृद्धसुराञ्शुचिः ।
समाहित उपासीत सन्ध्ये द्वे यतवाग्जपन् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अग्नि—अग्निदेव; अर्क—सूर्य; आचार्य—आचार्य; गो—गाय; विप्र—ब्राह्मण; गुरु—गुरु; वृद्ध—सम्माननीय गुरुजन; सुरान्—देवताओं को; शुचिः—पवित्र; समाहितः—स्थिर चेतना से; उपासीत—पूजा करे; सन्ध्ये—संध्या-समय; द्वे—दो; यत-वाक्—मौन रखते हुए; जपन्—मौन होकर जपने या उचित मंत्र का उच्चारण।

ब्रह्मचारी को शुद्ध होकर तथा स्थिर चेतना से अग्नि, सूर्य, आचार्य, गायों, ब्राह्मणों, गुरु, गुरुजनों तथा देवताओं की पूजा करनी चाहिए। उसे सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय मौन होकर उपयुक्त मंत्रों का गुनगुनाते हुए उच्चारण करके ऐसी पूजा करनी चाहिए।

आचार्यं मां विजानीयान्नवमन्येत कर्हिचित् ।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥ २७॥

शब्दार्थ

आचार्यम्—गुरु; माम्—मुझको; विजानीयात्—जाने; न अवमन्येत—कभी अनादर न करे; कर्हिचित्—किसी समय; न—कभी नहीं; मर्त्य-बुद्ध्या—सामान्य पुरुष होने के विचार से; असूयेत—ईर्ष्या-द्वेष रखे; सर्व-देव—सभी देवताओं के; मयः—प्रतिनिधि; गुरुः—गुरु।

मनुष्य को चाहिए कि आचार्य को मेरा ही स्वरूप जाने और किसी भी प्रकार से उसका अनादर नहीं करे। उसे सामान्य पुरुष समझते हुए उससे ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखे क्योंकि वह समस्त

देवताओं का प्रतिनिधि है।

तात्पर्य : यह श्लोक *चैतन्य-चरितामृत* (आदि १.४६) में आया है। श्री श्रीमद् स्वामी प्रभुपाद ने इसकी टीका इस प्रकार की है।

यह श्लोक *श्रीमद्भागवत* से (११.१७.२७) लिया गया है। इसे भगवान् श्रीकृष्ण ने तब कहा था जब उद्धव ने उनसे सामाजिक तथा आध्यात्मिक वर्णाश्रम प्रणाली के विषय में प्रश्न किया था। वे यह विशेष शिक्षा दे रहे थे कि ब्रह्मचारी को गुरु के संरक्षण में किस तरह व्यवहार करना चाहिए। गुरु अपने शिष्यों द्वारा प्रदत्त सुविधाओं का भोक्ता नहीं होता। वह तो माता-पिता के तुल्य होता है। कोई भी बालक अपने माता-पिता की सतर्क सेवा के बिना बढ़कर मनुष्य नहीं बन सकता। इसी प्रकार गुरु की देखरेख के बिना कोई व्यक्ति सेवापद को प्राप्त नहीं कर सकता।

गुरु को *आचार्य* भी कहा जाता है। *मनुसंहिता* (२.१४०) में आचार्य के कर्तव्य बताये गये हैं। उसमें बताया गया है कि गुरु शिष्यों का दायित्व अपने ऊपर लेता है, उन्हें वैदिक ज्ञान की जटिलताओं समेत शिक्षा देता है और उनको द्विज बनाता है। आध्यात्मिक विज्ञान के अध्ययन के लिए दीक्षित करने का उत्सव *उपनीति* अर्थात् गुरु के निकटतर लाने का अनुष्ठान कहलाता है। जिसे गुरु के निकट नहीं लाया जा सकता, वह जनेऊ नहीं पहन सकता। इस तरह उसे शूद्र कहा जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य द्वारा पहना जाने वाला जनेऊ गुरु-दीक्षा का प्रतीक है। यदि इससे कुलीनता की शेखी बघारना हो तो इसका पहनना व्यर्थ है। गुरु का कर्तव्य है कि शिष्य का जनेऊ-संस्कार करे और इस संस्कार के बाद ही गुरु अपने शिष्य को वेद पढ़ाना आरम्भ करता है। शूद्र के रूप में जन्मे व्यक्ति को ऐसी दीक्षा से रोका नहीं जाता बशर्ते कि गुरु की अनुमति प्राप्त हो क्योंकि उसे ही शिष्य को ब्राह्मण बनाने का उचित अधिकार प्राप्त है यदि वह उसे पूर्णतया योग्य समझे। *वायुपुराण* में आचार्य की परिभाषा उस व्यक्ति के रूप में की गई है, जो समस्त वैदिक वाङ्मय के सार को समझता है, वेदों के उद्देश्य को बताता है, उनके विधि-विधानों को मानता है और अपने शिष्यों को उसी प्रकार से कर्म करने की शिक्षा देता है।

"महती दयावश ही भगवान् गुरु-रूप में अपने को प्रकट करते हैं। इसलिए आचार्य के बर्ताव में भगवान् की दिव्य सेवा के अतिरिक्त और कोई कार्यकलाप नहीं होता। वे सेवा के परम स्वामी हैं। ऐसे

स्थिर भक्त की शरण ग्रहण करना उचित है क्योंकि वह *आश्रय विग्रह* कहलाता है। ''यदि कोई अपने को आचार्य कहता है किन्तु उसमें ईश्वर की सेवकाई की प्रवृत्ति नहीं होती, तो उसे अपराधी समझना चाहिए और उसकी यह अपराधी मनोवृत्ति उसे आचार्य बनने के अयोग्य ठहराती है। प्रामाणिक गुरु सदैव भगवान् की शुद्ध भक्ति में लगा रहता है। इस परीक्षा से वह भगवान् का प्रत्यक्ष स्वरूप तथा श्री नित्यानन्द प्रभु का वास्तविक प्रतिनिधि कहलाता है। ऐसा दिव्य गुरु आचार्य देव माना जाता है। ईर्ष्यालु स्वभाव होने तथा इन्द्रियतृप्ति की प्रवृत्ति से असंतुष्ट होने से संसारी जन असली आचार्य की आलोचना करते हैं। किन्तु वस्तुतः प्रामाणिक आचार्य भगवान् से अभिन्न होता है, अतएव ऐसे आचार्य से ईर्ष्या करने का अर्थ है स्वयं भगवान् से ईर्ष्या करना। इससे आध्यात्मिक साक्षात्कार का विरोधी प्रभाव जन्म लेगा ''जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि शिष्य को चाहिए कि गुरु को श्रीकृष्ण का स्वरूप माने किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि गुरु को भगवान् की दिव्य लीलाओं का अनुकरण करने का कोई अधिकार नहीं है। बनावटी गुरु अपने शिष्यों की भावनाओं का बेजा लाभ उठाने के लिए अपने आपको हर तरह से श्रीकृष्ण से अभिन्न बतलाते हैं किन्तु ऐसे निर्वशिषवादी अपने शिष्यों को केवल पथविचलित ही करते हैं क्योंकि उनका परम उद्देश्य भगवान् से तादात्म्य है। यह भक्ति सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के विपरीत है।

''असली वैदिक दर्शन तो *अचिन्त्य भेदाभेद* है, जो हर वस्तु को एक ही समय भगवान् से एक और भिन्न बतलाता है। श्रील रघुनाथ दास गोस्वामी इसकी पुष्टि करते हैं कि प्रामाणिक गुरु का यही पद है और वे यह कहते हैं कि मनुष्य को चाहिए कि अपने गुरु को मुकुन्द (श्रीकृष्ण) से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले के रूप में देखे। श्रील जीव गोस्वामी ने *भक्ति सन्दर्भ* (२१३) में यह स्पष्ट परिभाषा दी है कि गुरु तथा शिवजी को भगवान् का स्वरूप मानने का अर्थ है भगवान् को प्रिय होना, न कि उनसे अभिन्न होना है। श्रील रघुनाथ दास गोस्वामी तथा श्रील जीव गोस्वामी के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए परवर्ती आचार्यों ने, यथा श्रील विश्वानाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने, इसी सत्य की पुष्टि की है। गुरु की स्तुति करते हुए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने पुष्टि की है कि सारे शास्त्र गुरु को भगवान् से इसीलिए अभिन्न मानते हैं क्योंकि वह भगवान् को अत्यन्त प्रिय होता है और वह भगवान् का विश्वस्त सेवक होता है। इसीलिए गौड़ीय वैष्णव श्रील गुरुदेव की पूजा भगवान् के सेवक के रूप में करते हैं।

समस्त प्राचीन भक्ति साहित्य में तथा श्रील नरोत्तमदास ठाकुर, श्रील भक्तिविनोद ठाकुर तथा अन्य अनन्य वैष्णवों के अर्वाचीन गीतों में, गुरु को या तो श्रीमती राधारानी के विश्वस्त संगी के रूप में या श्रील नित्यानन्द प्रभु का स्वरूप माना जाता है।''

सायं प्रातरुपानीय भैक्ष्यं तस्मै निवेदयेत् ।
यच्चान्यदप्यनुज्ञातमुपयुञ्जीत संयतः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सायम्—शाम को; प्रातः—सुबह के समय; उपानीय—लाकर; भैक्ष्यम्—भिक्षा; तस्मै—उस (आचार्य) को; निवेदयेत्—लाकर दे; यत्—जो कुछ; च—भी; अन्यत्—अन्य वस्तुएँ; अपि—निस्सन्देह; अनुज्ञातम्—अनुमति मिले; उपयुञ्जीत—स्वीकार करे; संयतः—पूर्ण रूप से संयमित।

वह प्रातः तथा सायंकाल भोजन तथा अन्य वस्तुएँ एकत्र करके गुरु को प्रदान करे। तब आत्मसंयमपूर्वक वह अपने लिए उतना ही स्वीकार करे जो आचार्य उसके लिए निर्दिष्ट कर दे।

तात्पर्य : जो व्यक्ति गुरु की कृपा प्राप्त करने का इच्छुक हो, उसे विषय-भोग की वस्तुएँ संग्रह करने के लिए उत्सुक नहीं होना चाहिए। प्रत्युत वह जो कुछ माँग कर लाए उसे आचार्य के चरणकमलों पर अर्पित कर दे। आत्मसंयम दिखाते हुए वह नम्रतापूर्वक उतना ही स्वीकार करे, जो गुरु द्वारा उसके लिए निर्धारित कर दिया जाय। प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् की सेवा करने का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए किन्तु जब तक वह व्यक्ति आध्यात्मिक सेवा की विधियों में दक्ष न हो जाय उसे चाहिए कि वह हर वस्तु अपने गुरु को लाकर दे जो भगवत्पूजा की विधि को भलीभाँति जानता रहता है। जब गुरु देखता है कि शिष्य कृष्णभावनामृत में अग्रसर हो चुका है, तो वह शिष्य को भगवान् की प्रत्यक्ष पूजा करने में लगा देता है। प्रामाणिक गुरु किसी भी वस्तु का उपयोग अपनी इन्द्रियतृप्ति हेतु नहीं करता और अपने शिष्य को उतना ही भौतिक ऐश्वर्य सौंपता है जितने को वह भगवान् के चरणकमलों पर अर्पित कर सके। उदाहरणस्वरूप, जब कोई पिता अपने पुत्र को व्यापार तथा अन्य किसी भौतिक कार्य में प्रशिक्षित करना चाहता है, तो वह अपने पुत्र के हाथों में उतनी ही सम्पत्ति सौंपता है जितने को वह अपने पिता की परिश्रम से अर्जित कमाई को मूर्खतापूर्वक नष्ट न करके, बुद्धिमत्तापूर्वक लाभप्रद कार्य में लगा सके।

इसी तरह प्रामाणिक गुरु अपने शिष्य को भगवान् की पूजा करना सिखाता है और अप्रौढ़ शिष्य को चाहिए कि वह हर वस्तु अपने गुरु के चरणकमलों में उसी तरह अर्पित कर दे जिस तरह कि

कच्ची उम्र का बालक बैंक में अपना निजी खाता नहीं रखता, प्रत्युत अपना जेबखर्च अपने पिता से प्राप्त करता है, जो उसे जिम्मेदार बनना सिखाता है। यदि कोई व्यक्ति अपने गुरु या कृष्ण के आदेश का उल्लंघन करके अपने आप को छलता है, तो वह अभक्त या विषयी बन जाता है और आध्यात्मिक पथ से नीचे गिर जाता है। इसीलिए गुरु की सेवा करने का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए जिससे व्यक्ति कृष्णभावनामृत में परिपक्व बन सके।

शुश्रूषमाण आचार्यं सदोपासीत नीचवत् ।
यानशय्यासनस्थानैर्नातिदूरे कृताञ्जलिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

शुश्रूषमाणः—सेवा में लगा हुआ; आचार्यम्—गुरु को; सदा—सदैव; उपासीत—पूजे; नीच-वत्—विनीत सेवक की तरह; यान—जब गुरु चले तो पीछे पीछे चलते हुए; शय्या—गुरु के साथ विश्राम करते हुए; आसन—सेवा करने के लिए गुरु के निकट बैठ कर; स्थानैः—खड़े रह कर तथा गुरु की आज्ञा की प्रतीक्षा करते हुए; न—नहीं; अति—अधिक; दूरे—दूरी पर; कृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़े।

गुरु की सेवा करते समय शिष्य विनीत सेवक के समान रहता रहे और जब गुरु चलें, तो वह सेवक की तरह उनके पीछे पीछे चले। जब गुरु सोने लगें, तो सेवक भी पास ही लेट जाय और जब गुरु जगें, तो सेवक उनके निकट बैठ कर उनके चरणकमल चापने तथा अन्य सेवा-कार्य करने में लग जाय। जब गुरु अपने आसन पर बैठे हों, तो सेवक उनके पास हाथ जोड़ कर, गुरु-आदेश की प्रतीक्षा करे। वह इस तरह से गुरु की सदैव पूजा करे।

एवंवृत्तो गुरुकुले वसेद्भोगविवर्जितः ।
विद्या समाप्यते यावद्बिभ्रद्व्रतमखण्डितम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; वृत्तः—लगा हुआ; गुरु-कुले—गुरु के आश्रम में; वसेत्—रहे; भोग—इन्द्रियतृप्ति; विवर्जितः—से मुक्त; विद्या—वैदिक शिक्षा; समाप्यते—पूरी होती है; यावत्—जब तक; बिभ्रत्—धारण करते हुए; व्रतम्—(ब्रह्मचर्य) व्रत; अखण्डितम्—अखण्ड।

जब तक विद्यार्थी अपनी वैदिक शिक्षा पूरी न कर ले, उसे गुरु के आश्रम में कार्यरत रहना चाहिए, उसे इन्द्रियतृप्ति से पूर्णतया मुक्त रहना चाहिए और उसे अपना ब्रह्मचर्य व्रत नहीं तोड़ना चाहिए।

तात्पर्य : इस श्लोक में *उपकुर्वाण ब्रह्मचारी* का वर्णन हुआ है, जो अपनी वैदिक शिक्षा पूरी करने के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। *एवंवृत्तः* शब्द सूचित करता है कि अन्ततः भले ही मनुष्य

विवाह करके समाज में बुद्धिजीवी, राजनीतिज्ञ या व्यापारी के रूप में प्रधानता प्राप्त कर ले, किन्तु विद्यार्थी जीवन में उसे मिथ्या प्रतिष्ठा से रहित होकर प्रामाणिक गुरु के विनीत सेवक के रूप में रहना चाहिए। *नैष्ठिकि ब्रह्मचारी* विवाह नहीं करता। इसका वर्णन अगले श्लोक में हुआ है।

यद्यसौ छन्दसां लोकमारोक्ष्यन्ब्रह्मविष्टपम् ।
गुरवे विन्यसेद्देहं स्वाध्यायार्थं बृहद्व्रतः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; असौ—वह विद्यार्थी; छन्दसाम् लोकम्—महर्लोक में; आरोक्ष्यन्—चढ़ने की इच्छा करते हुए; ब्रह्म-विष्टपम्—ब्रह्मलोक; गुरवे—गुरु को; विन्यसेत्—अर्पित करे; देहम्—अपना शरीर; स्व-अध्याय—श्रेष्ठ वैदिक अध्ययन के; अर्थम्—हेतु; बृहत्-व्रतः—आजीवन ब्रह्मचर्य का शक्तिशाली व्रत रखते हुए।

यदि ब्रह्मचारी महर्लोक या ब्रह्मलोक जाना चाहता है, तो उसे चाहिए कि गुरु को अपने सारे कर्म अर्पित कर दे और आजीवन ब्रह्मचर्य के शक्तिशाली व्रत का पालन करते हुए अपने को श्रेष्ठ वैदिक अध्ययन में समर्पित कर दे।

तात्पर्य : जो व्यक्ति जीवन की चरम सिद्धि का इच्छुक हो, उसे अपना तन, मन तथा वाणी अपने गुरु की सेवा में लगा देने चाहिए। जो व्यक्ति ब्रह्मलोक तथा महर्लोक जैसे उच्च लोकों को जाना चाहता हो उसे गुरु की सेवा में पूरी तरह लगना चाहिए। इस तरह हम कल्पना कर सकते हैं कि कृष्ण-लोक, जो कि इस ब्रह्माण्ड से बहुत दूर है, उसको प्राप्त करने के लिए कितनी निष्ठा तथा सेवा की जरूरत है।

अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेषु मां परम् ।
अपृथग्धीरुपसीत ब्रह्मवर्चस्व्यकल्मषः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अग्नौ—अग्नि में; गुरौ—गुरु में; आत्मनि—अपने में; च—भी; सर्व-भूतेषु—सारे जीवों में; माम्—मुझको; परम्—परम; अपृथक्-धीः—द्वैत से रहित; उपासीत—पूजा करे; ब्रह्म-वर्चस्वी—वैदिक प्रकाश से युक्त; अकल्मषः—निष्पाप।

इस तरह गुरु की सेवा करने से वैदिक ज्ञान में प्रबुद्ध, समस्त पापों तथा द्वैत से मुक्त हुआ व्यक्ति, परमात्मा रूप में मेरी पूजा करे क्योंकि मैं अग्नि, गुरु, मनुष्य की आत्मा तथा समस्त जीवों के भीतर प्रकट होता हूँ।

तात्पर्य : मनुष्य वैदिक जीवन-शैली में दक्ष गुरु की श्रद्धापूर्वक सेवा करके यशस्वी तथा प्रबुद्ध बन जाता है। इस प्रकार शुद्ध हुआ व्यक्ति फिर कभी ऐसे पाप-कृत्यों में रत नहीं होता जो आध्यात्मिक प्रकाश की अग्नि को तुरन्त बुझा सकें। न ही वह मूर्ख तथा क्षुद्र हृदय बनकर अपनी निजी इन्द्रियतृप्ति

के लिए प्रकृति का दोहन करता है। शुद्ध व्यक्ति *अपृथग्-धी*—द्वैतभाव से रहित—होता है क्योंकि उसे सभी वस्तुओं के भीतर भगवान् का दर्शन करने की शिक्षा दी गई है। ऐसी उदात्त चेतना की शिक्षा विश्व-भर में दी जानी चाहिए जिससे मानव समाज शान्त तथा उदात्त बन सके।

स्त्रीणां निरीक्षणस्पर्शसंलापक्ष्वेलनादिकम् ।
प्राणिनो मिथुनीभूतानगृहस्थोऽग्रतस्त्यजेत् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

स्त्रीणाम्—स्त्रियों के सम्बन्ध में; निरीक्षण—देखने; स्पर्श—छूने; संलाप—बात करने; क्ष्वेलन—हँसी-मजाक करने; आदिकम्—इत्यादि; प्राणिनः—जीव; मिथुनी-भूतान्—संभोगरत; अगृह-स्थः—संन्यासी, वानप्रस्थ या ब्रह्मचारी; अग्रतः—सर्वप्रथम; त्यजेत्—छोड़ दे।

जो विवाहित नहीं हैं अर्थात् सन्यासी, वानप्रस्थ तथा ब्रह्मचारी, उन्हें स्त्रियों को कभी भी देख कर, छू कर, बात करके, हँसी-मजाक करके या खेल-खेल में उनकी संगति नहीं करनी चाहिए। न ही वे किसी ऐसे जीव का साथ करें जो संभोगरत हों।

तात्पर्य : *प्राणिनः*—सारे जीवों का सूचक है, चाहे वे पक्षी हों, मधुमक्खी हों या मनुष्य हों। अधिकांश योनियों में मैथुन-क्रिया से पूर्व विविध संभोग-क्रियाएँ होती हैं। मानव समाज में सभी प्रकार के आमोद-प्रमोद (पुस्तकें, संगीत, फिल्म इत्यादि) तथा मनोरंजन के सभी स्थान (होटल, विक्री-केन्द्र, हवाखोरी के स्थान) कामेच्छा को बढ़ाने तथा रोमांस का वातावरण तैयार करने के लिए होते हैं। जो विवाहित नहीं है—अर्थात् संन्यासी, ब्रह्मचारी या वानप्रस्थ को चाहिए कि संभोग (यौन) से सम्बद्ध हर वस्तु का वहिष्कार करे और किसी जीव को चाहे वह पक्षी हो, कीड़ा हो या मनुष्य हो, संभोग करते न देखे। जब कोई पुरुष किसी स्त्री से मजाक करता है, तो तुरन्त ही घनिष्ठ कामुक वातावरण बन जाता है, अतः जो ब्रह्मचर्य पालन करना चाहता हो उसे इनसे बचना चाहिए। यहाँ तक कि गृहस्थ भी ऐसे कार्यों में लिप्त होने पर अज्ञान के गर्त में जा गिरता है।

शौचमाचमनं स्नानं सन्ध्योपास्तिर्ममार्चनम् ।
तीर्थसेवा जपोऽस्पृश्याभक्ष्यासम्भाष्यवर्जनम् ॥ ३४ ॥
सर्वाश्रमप्रयुक्तोऽयं नियमः कुलनन्दन ।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायसंयमः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

शौचम्—स्वच्छता; आचमनम्—जल से हाथ शुद्ध करना; स्नानम्—स्नान; सन्ध्या—सूर्योदय, दोपहर तथा शाम को; उपास्तिः—धार्मिक सेवा; मम—मेरी; अर्चनम्—पूजा; तीर्थ-सेवा—तीर्थस्थानों की यात्रा; जपः—भगवन्नाम का उच्चारण; अस्पृश्य—अछूत; अभक्ष्य—अखाद्य; असम्भाष्य—या जिसकी चर्चा करने लायक न हो; वर्जनम्—निषेध; सर्व—सभी; आश्रम—आश्रम; प्रयुक्तः—आदिष्ट; अयम्—यह; नियमः—नियम; कुल-नन्दन—हे उद्धव; मत्-भावः—मेरे अस्तित्व का बोध; सर्व-भूतेषु—सारे जीवों में; मनः—मन; वाक्—शब्द; काय—शरीर का; संयमः—नियमन, संयम।

हे उद्धव, सामान्य स्वच्छता, हाथों का धोना, स्नान करना, सूर्योदय, दोपहर तथा शाम को धार्मिक सेवा का कार्य करना, मेरी पूजा करना, तीर्थस्थान जाना, जप करना, अछूत, अखाद्य या चर्चा के अयोग्य वस्तुओं से दूर रहना तथा समस्त जीवों में परमात्मा रूप में मेरे अस्तित्व का स्मरण करना—इन सिद्धान्तों को समाज के सारे सदस्यों को मन, वचन तथा कर्म के संयम द्वारा पालन करना चाहिए।

एवं बृहद्व्रतधरो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन् ।
मद्भक्तस्तीव्रतपसा दग्धकर्माशयोऽमलः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; बृहत्-व्रत—ब्रह्मचर्य का महान् व्रत; धरः—धारण करते हुए; ब्राह्मणः—ब्राह्मण; अग्निः—अग्नि; इव—सदृश; ज्वलन्—तेजयुक्त; मत्-भक्तः—मेरा भक्त; तीव्र-तपसा—गम्भीर तपस्या द्वारा; दग्ध—जला हुआ; कर्म—सकाम कर्म की; आशयः—प्रवृत्ति; अमलः—भौतिक इच्छा के कल्मष से रहित।

ब्रह्मचर्य का महान् व्रत धारण करने वाला ब्राह्मण अग्नि के समान तेजस्वी हो जाता है और वह गहन तपस्या द्वारा भौतिक कर्म करने की लालसा को भस्म कर देता है। इस तरह भौतिक इच्छा के कल्मष से रहित होकर, वह मेरा भक्त बन जाता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में मोक्ष की विधि वर्णित है। एक बार हवाई जहाज से यात्रा करते समय श्रील प्रभुपाद से एक पादड़ी यात्री ने कहा कि उसने उनके शिष्यों को देखा है। उनके मुख 'तेजस्वी' थे। श्रील प्रभुपाद इस घटना को अक्सर बताते रहते थे। आत्मा सूर्य से भी अधिक तेजवान है और ज्यों ज्यों आध्यात्मिक संस्कार प्रभावशाली बनते जाते हैं, त्यों त्यों भक्त का बाह्य स्वरूप भी तेजवान बनता जाता है। आध्यात्मिक ज्ञान की ज्वलित अग्नि इन्द्रियतृप्ति की प्रवृत्ति को भस्म कर देती है, जिससे मनुष्य सहज ही तपोमय तथा संसारी भोग से विरक्त हो जाता है। समस्त तपस्याओं में ब्रह्मचर्य सर्वोपरि है और इसके द्वारा भौतिक जीवन के बन्धन छिन्न हो जाते हैं। जो *अमल* अर्थात् भौतिक इच्छा से मुक्त होता है, वह भगवान् का शुद्ध भक्त कहलाता है। ज्ञान, कर्म तथा योग के मार्गों में मन स्वार्थ बनाये रखता है किन्तु शुद्ध भक्ति के मार्ग पर मन को एकमात्र भगवान् के हितों को देखने का प्रशिक्षण दिया

जाता है। इस तरह भगवान् का शुद्ध भक्त *अमल* होता है।

अथानन्तरमावेक्ष्यन्यथाजिज्ञासितागमः ।
गुरवे दक्षिणां दत्त्वा स्नायाद्गुर्वनुमोदितः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; अनन्तरम्—इसके पश्चात्; आवेक्ष्यन्—गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने की इच्छा से; यथा—समुचित; जिज्ञासित—अध्ययन करके; आगमः—वैदिक साहित्य; गुरवे—गुरु को; दक्षिणाम्—पारिश्रमिक; दत्त्वा—देकर; स्नायात्—ब्रह्मचारी को स्नान करके, कंघा करना तथा सुन्दर वस्त्र पहनना चाहिए.; गुरु—गुरु द्वारा; अनुमोदितः—अनुमति दिये जाने पर।

जो ब्रह्मचारी अपनी वैदिक शिक्षा पूरी करके गृहस्थ जीवन में प्रवेश करना चाहता है, उसे चाहिए कि वह गुरु को समुचित पारिश्रमिक (गुरु-दक्षिणा) दे, स्नान करे, बाल कटाये और उचित वस्त्र इत्यादि धारण करे। तब अपने गुरु की अनुमति से वह अपने घर को जाय।

तात्पर्य : इस श्लोक में *समावर्तन* अर्थात् गुरु के आश्रम में वैदिक शिक्षा पूरी करके अपने घर लौटने की विधि वर्णित है। जो व्यक्ति अपनी सारी इच्छाओं को भगवद्भक्ति में केन्द्रित नहीं कर पाता, वह गृहस्थ जीवन के प्रति आकृष्ट होता है और यदि यह आकर्षण नियंत्रित नहीं किया जाता तो मनुष्य का पतन हो जाता है। सकाम कर्म तथा मानसिक चिंतन की अविद्या से प्रच्छन्न होने के कारण, जीव भगवद्भक्ति के बाहर भोग की तलाश करता है और अभक्त बन जाता है। अपने आध्यात्मिक संकल्प के पतन से बचने के लिए गृह-जीवन स्वीकार करने वाले को दृढ़तापूर्वक वैदिक विधि-विधानों का पालन करना चाहिए। जो व्यक्ति स्त्रियों के साथ घनिष्ठ इन्द्रियतृप्ति पाता है, वह अन्यों के साथ अपने व्यवहार में द्वैत बरतता है; फलस्वरूप वह सादे शुद्ध जीवन के पद से नीचे गिर जाता है। जब कामवासना से मन विचलित होता है, तो मनुष्य भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्त की शरण में जाने का प्रतिरोध करने लगता है और उसकी अपराधमूलक प्रवृत्ति के घने बादल आध्यात्मिक ज्ञान के प्रकाश को पूरी तरह आच्छादित कर लेते हैं। मनुष्य को शुद्ध भक्त के चरणकमलों की सेवा करके किसी से प्रेम करने की उत्कट इच्छा से संधि कर लेनी चाहिए। जैसाकि वैदिक साहित्य में कहा गया है, "जो व्यक्ति गोविन्द अर्थात् भगवान् कृष्ण की पूजा करता है, किन्तु उनके भक्त की पूजा नहीं करता, उसे महावैष्णव नहीं माना जाता, प्रत्युत घमंडी धूर्त माना जाता है।"

गृहं वनं वोपविशेत्प्रव्रजेद्वा द्विजोत्तमः ।

आश्रमादाश्रमं गच्छेन्नान्यथामत्परश्चरेत् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

गृहम्—घर; वनम्—जंगल; वा—या तो; उपविशेत्—प्रवेश करे; प्रव्रजेत्—त्याग दे; वा—अथवा; द्विज-उत्तमः—ब्राह्मण; आश्रमात्—जीवन के अधिकारप्राप्त एक पद से; आश्रमम्—दूसरे अधिकारप्राप्त पद तक; गच्छेत्—जाए; न—नहीं; अन्यथा—नहीं तो; अमत्-परः—जो मेरा शरणागत नहीं है; चरेत्—कार्य करे।

अपनी भौतिक इच्छाओं को पूरा करने के लिए इच्छुक ब्रह्मचारी को अपने परिवार के साथ घर पर रहना चाहिए और जो गृहस्थ अपनी चेतना को शुद्ध बनाना चाहे उसे जंगल में प्रवेश करना चाहिए जबकि शुद्ध ब्राह्मण को संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए। जो मेरे शरणागत नहीं है उसे एक आश्रम से दूसरे में क्रमशः जाना चाहिए और इससे विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य : जो भगवान् के शरणागत नहीं हैं उन्हें अपने प्रामाणिक सामाजिक आश्रम के नियमों का कठोरता से पालन करना चाहिए। जीवन के चार आश्रम हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। जो व्यक्ति अपनी भौतिक इच्छाएँ पूरी करना चाहता है उसे सामान्य *गृहस्थ* बन जाना चाहिए और सुविधाजनक आवास बनाकर अपने परिवार का भरण करना चाहिए। जो व्यक्ति संस्कारों को गति प्रदान करना चाहता हो उसे घर तथा व्यापार छोड़ कर अपनी पत्नी समेत किसी पवित्र स्थान में रहना चाहिए जैसाकि यहाँ पर *वनम्* शब्द द्वारा इंगित हुआ है। इस कार्य के लिए भारत में अनेक पवित्र वन हैं—यथा वृन्दावन तथा मायापुर। *द्विजोत्तम* शब्द ब्राह्मण का सूचक है। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य तीनों ही *द्विज* हैं—अर्थात् गायत्री मंत्र में दीक्षित होते हैं किन्तु इनमें से ब्राह्मण *द्विजोत्तम* होता है अर्थात् द्विजों में सर्वाश्रेष्ठ। यह संस्तुति की जाती है कि शुद्ध ब्राह्मण संन्यास धारण करे और तब अपनी तथाकथित पत्नी से सम्पर्क न रखे। यहाँ पर ब्राह्मण का विशेष उल्लेख हुआ है क्योंकि क्षत्रियों तथा वैश्यों को संन्यास नहीं लेना पड़ता। तो भी *भागवत* में ऐसी अनेक कथाएँ हैं जिनमें बड़े बड़े राजा अपनी कुलीन पत्नियों समेत जंगल जाकर वानप्रस्थ की तपस्या करते हैं और इस तरह संस्कार को गति प्रदान करते हैं। किन्तु ब्राह्मण सीधे संन्यास ग्रहण कर सकते हैं।

आश्रमाद् आश्रमं गच्छेत् शब्द सूचित करते हैं कि मनुष्य को ब्रह्मचारी जीवन से गृहस्थ जीवन में, गृहस्थ जीवन से वानप्रस्थ जीवन में तथा उसके बाद संन्यास में क्रमशः जा सकता है। *आश्रमाद् आश्रमम्* शब्द इस बात पर बल देते हैं कि मनुष्य किसी न किसी अधिकृत सामाजिक पद पर बना रहे, वह उच्च पद से नीचे न आये। जो लोग भगवान् के शरणागत नहीं हैं, उन्हें ऐसे आदेशों का कठोरता से

पालन करना चाहिए अन्यथा वे जल्दी ही नीचे गिर जायेंगे और उनके पाप उन्हें अधिकृत मानव सभ्यता की सीमाओं से बाहर ले जाएँगे।

भगवान् कृष्ण यहाँ पर बल देकर कहते हैं कि अभक्त को वैदिक आश्रमों का कड़ाई से पालन करना चाहिए जबकि भगवान् के कार्य में चौबीसों घंटे लगे रहने वाले भगवद्भक्त इन आश्रमों से परे हैं। किन्तु यदि कोई वैदिक आश्रमों से परे होने के कारण अवैध कर्म करता है, तो वह भौतिकतावादी नवदीक्षित सिद्ध होता है, महाभागवत नहीं। ऐसा महाभागवत जो भौतिक इन्द्रियतृप्ति से विलग रहता है ऐसे वैदिक आश्रमों से बँधा नहीं होता। फलतः एक गृहस्थ भी घर से दूर यात्रा करते हुए कृष्णभावनामृत का प्रचार करके तपोमय जीवन बिता सकता है। यहाँ तक कि एक संन्यासी भगवान् कृष्ण की सेवा में स्त्रियों को भी लगा सकता है। महाभागवतों को वर्णाश्रम के विधि-विधान सीमित नहीं कर सकते। वे मुक्त भाव से विश्व-भर में भगवत्प्रेम का वितरण करते हुए विचरण करते हैं। *मत्-पर* भगवान् के शुद्ध भक्त का सूचक है, जो अपने हृदय तथा चेतना में भगवान् को सदैव बसाये रखता है। जो व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति का शिकार बन कर नीचे गिरता है, वह *मत्पर* पद पर पूर्णरूपेण स्थापित नहीं रहता। उसे पवित्र मानव जीवन के पद पर स्थायी बने रहने के लिए आश्रमों के नियमों का दृढ़ता से पालन करना चाहिए।

गृहार्थी सदृशीं भार्यामुद्वहेदजुगुप्सिताम् ।
यवीयसीं तु वयसा यं सवर्णामनु क्रमात् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

गृह—घर-गृहस्थी; अर्थी—इच्छुक; सदृशीम्—समान गुणों से युक्त; भार्याम्—पत्नी से; उद्वहेत्—ब्याहे; अजुगुप्सिताम्—आक्षेप से परे; यवीयसीम्—वय में छोटी; तु—निस्सन्देह; वयसा—उम्र में; याम्—दूसरी पत्नी; स-वर्णाम्—समान जाति की पहली पत्नी; अनु—बाद में; क्रमात्—क्रम से।.

जो व्यक्ति गृहस्थ जीवन स्थापित करना चाहता है उसे चाहिए कि अपनी ही जाति की ऐसी स्त्री से विवाह करे जो निष्कलंक तथा उम्र में छोटी हो। यदि कोई व्यक्ति अनेक पत्नियाँ रखना चाहता है, तो उसे प्रथम विवाह के बाद उनसे भी ब्याह करना चाहिए और हर पत्नी एक-दूसरे से निम्न जाति की होनी चाहिए।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य में कहा गया है—

तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण द्वे तथैका यथाक्रमम्।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्याः स्वाः शूद्रजन्मनः ॥

इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि पहली पत्नी को *सदृशीम्* अर्थात् पति के ही समान होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, बौद्धिक व्यक्ति को बौद्धिक पत्नी से विवाह करना चाहिए, वीर पुरुष को वीरांगना से, व्यापार-बुद्धि वाले को व्यापार-कार्य को प्रोत्साहन देने वालीस्त्री से तथा शूद्र को अपने से कम बुद्धिमान पत्नी से विवाह करना चाहिए। पत्नी को अपनी पृष्ठभूमि तथा चरित्र के मामले में निष्कलंक होना चाहिए और पुरुष से ५-१० वर्ष छोटी होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति दूसरी स्त्री से विवाह करना चाहता है, तो जैसाकि इस श्लोक में *वर्णानुपूर्व्येण* शब्द से स्पष्ट है और भगवान् कृष्ण ने जो *अनुक्रमात्* शब्द कहा है, उसके अनुसार उसे तब तक प्रतीक्षा करनी चाहिए जब तक पहला विवाह स्थापित न हो ले और तब अपने से निम्न जाति की दूसरी स्त्री चुने। यदि कोई व्यक्ति तीसरी बार विवाह करता है, तो इस पत्नी को दूसरी से भी निम्न जाति की होना चाहिए। उदाहरणार्थ, एक बाह्मण की पहली पत्नी ब्राह्मणी, दूसरी पत्नी क्षत्राणी, तीसरी पत्नी वैश्याणी और चतुर्थ पत्नी शूद्राणी होगी। एक क्षत्रिय पहला विवाह एक क्षत्रिय महिला से कर सकता है, तत्पश्चात् वैश्य तथा शूद्र महिलाओं से। एक वैश्य दो जातियों से पत्नी चुन सकता है और एक शूद्र केवल शूद्र जाति से। इस प्रकार के क्रमिक विवाहों से परिवार में अपेक्षतया शान्ति बनी रहेगी। ये वैदिक आदेश जो पिछले श्लोक में वर्णित हैं, विशेष रूप से उन लोगों के लिए हैं, जो भगवद्भक्त नहीं हैं।

इज्याध्ययनदानानि सर्वेषां च द्विजन्मनाम् ।
प्रतिग्रहोऽध्यापनं च ब्राह्मणस्यैव याजनम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

इज्या—यज्ञ; अध्ययन—वैदिक अध्ययन; दानानि—दान; सर्वेषाम्—सभी; च—भी; द्वि-जन्मनाम्—द्विजों के; प्रतिग्रहः—दान लेना; अध्यापनम्—वैदिक ज्ञान की शिक्षा देना; च—भी; ब्राह्मणस्य—ब्राह्मण के; एव—एकमात्र; याजनम्—अन्यों के लिए यज्ञ करना।.

सभी द्विजों अर्थात् ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों को यज्ञ करना चाहिए, वैदिक साहित्य का अध्ययन करना चाहिए और दान देना चाहिए। किन्तु ब्राह्मण ही दान ले सकते हैं, वे ही वैदिक ज्ञान की शिक्षा दे सकते हैं और अन्यों के लिए यज्ञ कर सकते हैं।

तात्पर्य : सभी सभ्य व्यक्तियों को यज्ञ करने, दान देने तथा वैदिक साहित्य का अध्ययन करने में सम्मिलित होना चाहिए। द्विजों में सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मणों को विशेष अधिकार दिया गया है कि समाज के सारे

सदस्यों की ओर से यज्ञ करने का नेतृत्व करें, हर एक को वैदिक शिक्षा दें तथा हर एक का दान लें। योग्य ब्राह्मणों की सहायता या सहयोग के बिना निम्न जातियाँ न तो ठीक से वेदाध्ययन कर सकती हैं, न यज्ञ कर सकती हैं, न दान दे सकती हैं, क्योंकि ऐसे कार्यों को सम्पन्न करने के लिए वांछित ज्ञान का उनमें अभाव रहता है। जब क्षत्रिय तथा वैश्यगण प्रामाणिक ब्राह्मणों का आश्रय लेते हैं, तो वे अपना अपना कर्तव्य ठीक से निभा सकते हैं और समाज का कार्य सरलता तथा दक्षता से चलता है।

प्रतिग्रहं मन्यमानस्तपस्तेजोयशोनुदम् ।
अन्याभ्यामेव जीवेत शिलैर्वा दोषदृक् तयोः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

प्रतिग्रहम्—दान लेना; मन्यमानः—मानते हुए; तपः—तपस्या; तेजः—आध्यात्मिक प्रभाव; यशः—तथा यश का; नुदम्—विनाश; अन्याभ्याम्—अन्य दो (यज्ञ तथा वेद-विद्या) के द्वारा; एव—निस्सन्देह; जीवेत—ब्राह्मण को जीवित रहना चाहिए; शिलैः—खेत से गिरा हुआ अन्न बीन करके; वा—अथवा; दोष—कमी; दृक्—देख कर; तयोः—दोनों में से।

जो ब्राह्मण यह माने कि अन्यों के दान लेने से उसकी तपस्या, आध्यात्मिक प्रतिष्ठा तथा यश नष्ट हो जायेंगे, उसे चाहिए कि अन्य दो ब्राह्मण वृत्तियों से—वेद-ज्ञान की शिक्षा देकर तथा यज्ञ सम्पन्न करके अपना भरण करे। यदि वह ब्राह्मण यह माने कि ये दोनों वृत्तियाँ भी उसके आध्यात्मिक पद को क्षति पहुँचाती हैं, तो उसे चाहिए कि खेतों में गिरा अन्न (शीला) बीने और अन्यों पर निर्भर न रहते हुए जीवन-निर्वाह करे।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त को यह याद रखना चाहिए कि भगवान् स्वयं ही उसकी रखवाली करेंगे। *श्रीमद्भगवद्गीता* (९.२२) में भगवान् कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

"किन्तु जो लोग अनन्य भाव से मेरे दिव्य स्वरूप का ध्यान करते हुए निरन्तर मेरी पूजा करते हैं, उनकी जो भी आवश्यकताएँ होती हैं, उन्हें मैं पूरा करता हूँ और उनके पास जो कुछ भी है उसकी रक्षा करता हूँ।"

ब्राह्मण को निजी निर्वाह के लिए पेशेवर भिखारी नहीं बन जाना चाहिए। भारत में ऐसे असंख्य तथाकथित ब्राह्मण हैं, जो महत्त्वपूर्ण मन्दिरों के द्वारों पर बैठे रहते हैं और आने-जाने वाले हर व्यक्ति से भिक्षा माँगते हैं। यदि कोई कुछ नहीं देता, तो वे क्रुद्ध होकर उस व्यक्ति का पीछा करने लगते हैं।

इसी तरह अमेरिका में अनेक बड़े बड़े प्रचारक टेलीविजन तथा रेडियो पर भीख माँग पर प्रचुर धन एकत्र करते हैं। यदि कोई ब्राह्मण या वैष्णव यह सोचता है कि पेशेवर भिखारी बनने से उसकी तपस्या क्षीण हो रही है, उसका आध्यात्मिक पद घट रहा है और इससे अपयश हो रहा है, तो उसे यह कर्म त्याग देना चाहिए। कोई भी मनुष्य भगवान् के कार्य के लिए हर किसी से दान देने के लिए विनती कर सकता है किन्तु यदि वह अपनी जीविका के लिए भीख माँगता है, तो इससे उसकी तपस्या, पद तथा यश में कमी आयेगी। तब ब्राह्मण वैदिक ज्ञान की शिक्षा देने तथा यज्ञ कराने का कार्य कर सकता है। किन्तु ऐसी वृत्तियों से भी उसे ईश्वर का विश्वसनीय पद प्राप्त नहीं होता। जो ब्राह्मण अपनी जीविका के लिए शिक्षा देता है, प्राय: उसके शिक्षण पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है और जो यज्ञ कराता हो उसका कार्य भौतिकतावादी पूजक पूरा करा सकते हैं। इस तरह ब्राह्मण संकट में पड़ सकता है। इसलिए उच्च कोटि का ब्राह्मण अथवा वैष्णव अन्त: भगवान् की दया पर ही अपनी जीविका के लिए निर्भर रहेगा। भगवान् अपने भक्त का पालन करने का वचन देते हैं और बढ़ा-चढ़ा वैष्णव कभी भी भगवान् के वचन पर सन्देह नहीं करता।

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते ।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणस्य—ब्राह्मण का; हि—निश्चय ही; देह:—शरीर; अयम्—यह; क्षुद्र—नगण्य; कामाय—इन्द्रियतृप्ति के लिए; न—नहीं; इष्यते—होता है; कृच्छ्राय—कठिन; तपसे—तपस्या के लिए; च—भी; इह—इस संसार में; प्रेत्य—मर कर; अनन्त—असीम; सुखाय—सुख के लिए; च—भी।

ब्राह्मण का शरीर क्षुद्र इन्द्रिय भोग के निमित्त नहीं होता, प्रत्युत वह कठिन तपस्या स्वीकार करके मृत्यु के उपरान्त असीम सुख भोगेगा।

तात्पर्य : यह प्रश्न किया जा सकता है कि अपने जीवन-निर्वाह हेतु एक ब्राह्मण स्वेच्छा से असुविधा को स्वीकार क्यों करे? इस श्लोक में भगवान् बतलाते हैं कि प्रगत मानव-जीवन गम्भीर तपस्या के लिए होता है, क्षुद्र इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं। आध्यात्मिक प्रगति से मनुष्य आध्यात्मिक स्तर पर दिव्य आनन्द को प्राप्त होता है और इस नाशवान् शरीर में व्यर्थ ही निमग्न रहना छोड़ देता है। मनुष्य को चाहिए कि जीवन की कम-से-कम आवश्यकताएँ स्वीकार करते हुए भौतिक शरीर से अनासक्त रहे। ब्राह्मणजन कष्टप्रद जीविका स्वीकार करके भी यह नहीं भूलते कि इस शरीर को वृद्ध

होना, रुग्ण होना तथा कष्ट में मरना बदा है। इस तरह प्रगत ब्राह्मण सतर्क तथा दिव्य रहते हुए जीवन के अन्त में भगवद्धाम जाते हैं जहाँ उसे असीम आध्यात्मिक आनन्द मिलता है। ऐसी उच्चतर सतर्कशीलता के बिना कोई योग्य ब्राह्मण कैसे मानाजा सकता है ?

जो भक्तगण चौबीसों घण्टे भगवान् कृष्ण के सन्देश का प्रसार करने में लगे रहते हैं, वे वैराग्य या इन्द्रियतृप्ति के स्तर से परे हैं क्योंकि वे हर वस्तु को कृष्ण की सेवा में लगाते हैं। शुद्ध भक्त भगवान् की सेवा करने के लिए शक्ति पाने हेतु ही भोजन करता है। वह अपने शरीर के निमित्त अच्छा या स्वल्प भोजन ग्रहण नहीं करता। किन्तु भगवान् के लिए कुछ भी, अच्छा भोजन भी, ग्रहण किया जा सकता है। जो ब्राह्मण भगवान् का यश फैलाने के लिए अहर्निश कार्य नहीं करता, उसे अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए अच्छा भोजन करने में संकोच होना चाहिए। किन्तु विरक्त वैष्णव उपदेशक किसी भी जाति के पवित्र लोगों का आमंत्रण स्वीकार कर सकता है और उनको आशीर्वाद देने के लिए ही उनके द्वारा प्रदत्त अच्छा भोजन ग्रहण करता है। इसी प्रकार वह कभी कभी नास्तिकों तथा निर्विशेषवादियों को परास्त करने के लिए पौष्टिक भोजन कर सकता है। जैसाकि वैदिक वाङ्मय में कथित है कि जब तक कोई व्यक्ति भगवान् का भक्त नहीं हो लेता, तब तक वह अत्यन्त योग्य ब्राह्मण नहीं बन सकता। भक्तों में से जो लोग कृष्णभावनामृत का उपदेश देते हैं, वे सर्वश्रेष्ठ हैं जैसाकि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* के अठारहवें अध्याय में पुष्टि की है।

शिलोञ्छवृत्त्या परितुष्टचित्तो
धर्मं महान्तं विरजं जुषाणः ।
मय्यर्पितात्मा गृह एव तिष्ठन्
नातिप्रसक्तः समुपैति शान्तिम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

शिल-उञ्छ—अन्न बीनने की; वृत्त्या—वृत्ति द्वारा; परितुष्ट—पूर्णतया सन्तुष्ट; चित्तः—चेतना वाला; धर्मम्—धार्मिक सिद्धान्तों को; महान्तम्—उदात्त तथा अतिथि-सत्कार करने वाला; विरजम्—भौतिक इच्छाओं से रहित; जुषाणः—अनुशीलन करते हुए; मयि—मुझमें; अर्पित—अर्पित; आत्मा—मन वाला; गृहे—घर में; एव—ही; तिष्ठन्—रहते हुए; न—नहीं; अति—अत्यधिक; प्रसक्तः—आसक्त, लिप्त; समुपैति—प्राप्त करता है; शान्तिम्—मोक्ष।.

ब्राह्मण गृहस्थ को खेतों तथा मंडियों में गिरे अन्न के दाने बीन कर अपने मन में सन्तुष्ट रहना चाहिए। उसे अपने को निजी इच्छा से मुक्त रखते हुए मुझमें लीन रह कर उदात्त धार्मिक सिद्धान्तों का अभ्यास करना चाहिए। इस तरह गृहस्थ के रूप में ब्राह्मण बिना आसक्ति के घर

में ही रह सकता है और मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

तात्पर्य : *महान्तम्* शब्द उदात्त (वदान्य) धार्मिक सिद्धान्तों का द्योतक है जैसे कि अतिथि-सत्कार जिसमें वे अतिथि भी सम्मिलित हैं, जो बिना आमंत्रण के आएँ या अप्रत्याशित हों। गृहस्थों को सदैव उदात्त तथा अन्यों को दान देने वाले और व्यर्थ के पारिवारिक स्नेह तथा आसक्ति को समाप्त करने में सतर्क रहने वाले होना चाहिए। प्राचीन काल में अत्यन्त विख्यात ब्राह्मण-गृहस्थ मंडियों में गिरे हुए या फसल काटने के बाद खेतों में गिरे हुए अन्न को एकत्र करते थे। यहाँ पर सबसे महत्त्वपूर्ण बात है *मय्यर्पितात्मा*—अर्थात् भगवान् कृष्ण में मन लगाना। अपनी भौतिक स्थिति के बावजूद जो व्यक्ति निरन्तर भगवान् का ध्यान करता है, वह मुक्तात्मा बन सकता है। *भक्तिरसामृत सिन्धु* (१.२.१८७) में कहा गया है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।
निखिलाष्वपि अवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

"अपने शरीर, मन, बुद्धि तथा वाणी से कृष्णभावनामृत (अर्थात् कृष्ण-सेवा) में कार्य कर रहा मनुष्य इस भौतिक जगत में रहते हुए भी मुक्तात्मा होता है भले ही वह अनेक तथाकथित भौतिक कार्यकलापों में क्यों न लगा रहे।"

समुद्धरन्ति ये विप्रं सीदन्तं मत्परायणम् ।
तानुद्धरिष्ये न चिरादापद्भ्यो नौरिवार्णवात् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

समुद्धरन्ति—ऊपर उठाते हैं; ये—जो; विप्रम्—ब्राह्मण या भक्त को; सीदन्तम्—(गरीबी) से कष्ट पा रहे; मत्-परायणम्—मेरे शरणागत; तान्—उठाने वालों को; उद्धरिष्ये—मैं ऊपर उठाऊँगा; न चिरात्—निकट भविष्य में; आपद्भ्यः—सारे कष्टों से; नौः—नाव; इव—सदृश; अर्णवात्—समुद्र से।

जिस प्रकार जहाज समुद्र में गिरे हुए लोगों को बचा लेता है, उसी तरह मैं उन व्यक्तियों को सारी विपत्तियों से तुरन्त बचा लेता हूँ जो दरिद्रता से पीड़ित ब्राह्मणों तथा भक्तों को उबार लेते हैं।

तात्पर्य : भगवान् ने यह बतलाया है कि ब्राह्मण तथा भक्तगण किस तरह जीवन-सिद्धि पाते हैं। वैसी ही सिद्धि, उन्हें भी प्रदान की जाती है, जो अपनी भौतिक सम्पत्ति का उपयोग भक्तों तथा ब्राह्मणों की दरिद्रता दूर करने में करते हैं। यद्यपि मनुष्य विषय-भोग का जीवन बिताने के लिए भगवद्भक्ति

की उपेक्षा कर सकता है, किन्तु भगवान् की सेवा में अपनी गाढ़ी कमाई अर्पित करके वह अपनी स्थिति सुधार सकता है। जिस तरह समुद्र में गिरे हुए निराश लोगों को एक नाव बचा लेती है उसी तरह भगवान् उन लोगों को उबारते हैं, जो भौतिक आसक्ति के सागर में निराश होकर गिर गये होते हैं यदि वे ब्राह्मणों तथा भक्तों के प्रति उदार हों।

सर्वाः समुद्धरेद्राजा पितेव व्यसनात्प्रजाः ।
आत्मानमात्मना धीरो यथा गजपतिर्गजान् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सर्वाः—सभी; समुद्धरेत्—ऊपर उठाना चाहिए; राजा—राजा; पिता—पिता; इव—सदृश; व्यसनात्—विपत्तियों से; प्रजाः—जनता; आत्मानम्—अपने आपको; आत्मन—अपने आप; धीरः—निर्भीक; यथा—जिस तरह; गज-पतिः—गजराज; गजान्—अन्य हाथियों को।

जिस तरह हाथियों का राजा अपने झुंड के अन्य सारे हाथियों की रक्षा करता है और अपनी भी रक्षा करता है, उसी तरह निर्भीक राजा को पिता के समान अपनी सारी प्रजा को कठिनाई से बचाना चाहिए और अपनी भी रक्षा करनी चाहिए।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ब्राह्मणों के कर्तव्यों का वर्णन कर चुकने के बाद, अब राजा के चरित्र तथा कार्यों का वर्णन करते हैं। सारी प्रजा को विपत्ति से बचाना राजा का अनिवार्य कर्तव्य है।

एवंविधो नरपतिर्विमानेनार्कवर्चसा ।
विधूयेहाशुभं कृत्स्नमिन्द्रेण सह मोदते ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

एवम्-विधः—इस प्रकार (अपनी तथा प्रजा की रक्षा करते हुए); नर-पतिः—राजा; विमानेन—वायुयान से; अर्क-वर्चसा—सूर्य के समान तेजोमय; विधूय—हटाकर; इह—पृथ्वी पर; अशुभम्—पापों को; कृत्स्नम्—समस्त; इन्द्रेण—इन्द्र के; सह—साथ; मोदते—भोग करता है।

जो राजा अपने राज्य से सारे पापों को हटाकर अपनी तथा सारी प्रजा की रक्षा करता है, वह निश्चय ही इन्द्र के साथ सूर्य जैसे तेजवान विमान में सुख भोगता है।

सीदन्विप्रो वणिग्वृत्त्या पण्यैरेवापदं तरेत् ।
खड्गेन वापदाक्रान्तो न श्ववृत्त्या कथञ्चन ॥ ४७॥

शब्दार्थ

सीदन्—कष्ट उठाता; विप्रः—ब्राह्मण; वणिक्—बनिए की; वृत्त्या—वृत्ति द्वारा; पण्यैः—व्यापार के द्वारा; एव—निस्सन्देह; आपदम्—विपत्ति; तरेत्—पार करे; खड्गेन—तलवार से; वा—अथवा; आपदा—विपत्ति से; आक्रान्तः—पीड़ित; न—नहीं; श्व—कुत्ते की; वृत्त्या—वृत्ति से; कथञ्चन—जैसे भी हो।

यदि कोई ब्राह्मण अपने नियमित कर्तव्यों द्वारा अपना निर्वाह नहीं कर पाता और कष्ट उठाता है, तो वह व्यापारी की वृत्ति अपनाकर वस्तुएँ क्रय-विक्रय करके अपनी दीन अवस्था को सुधार सकता है। यदि वह व्यापारी के रूप में भी नितान्त दरिद्र बना रहता है, तो वह हाथ में तलवार लेकर क्षत्रिय-वृत्ति अपना सकता है। किन्तु किसी भी दशा में वह किसी सामान्य स्वामी को स्वीकार करके कुत्ते जैसा नहीं बन सकता (श्वान-वृत्ति)।

तात्पर्य : *श्व-वृत्तया* अर्थात् कुत्ते की वृत्ति शूद्रों का सूचक है, जो स्वामी बनाये बिना जीवित नहीं रह सकते। अत्यन्त दीन ब्राह्मण, असह्य कष्ट भोगने पर पहले व्यापारी और तब क्षत्रिय बन सकता है, किन्तु उसे कभी भी स्वामी के साथ अथवा अधीन काम करते हुए, शूद्र पद ग्रहण नहीं करना चाहिए। यद्यपि क्षत्रिय को सामान्यतया वैश्य से उच्च माना जाता है, किन्तु यहाँ पर भगवान् संस्तुति करते हैं कि दीन ब्राह्मण पहले वैश्यवृत्ति अपनाये क्योंकि यह हिंसक नहीं है।

वैश्यवृत्त्या तु राजन्यो जीवेन्मृगययापदि ।
चरेद्वा विप्ररूपेण न श्ववृत्त्या कथञ्चन ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

वैश्य—व्यापारी वर्ग की; वृत्त्या—वृत्ति द्वारा; तु—निस्सन्देह; राजन्यः—राजा; जीवेत्—अपना जीवन-निर्वाह करे; मृगयया—शिकार करके; आपदि—आपात् काल या विपत्ति में; चरेत्—कार्य करे; वा—अथवा; विप्र-रूपेण—ब्राह्मण के रूप में; न—कभी नहीं; श्व—कुत्ते की; वृत्त्या—वृत्ति द्वारा; कथञ्चन—किसी भी दशा में।

राजा या राजकुल का सदस्य, जो अपनी सामान्य वृत्ति द्वारा अपना निर्वाह नहीं कर सकता, वह वैश्य की तरह कर्म कर सकता है, शिकार करके जीवन चला सकता है अथवा ब्राह्मण की तरह अन्यों को वैदिक ज्ञान की शिक्षा देकर काम कर सकता है। किन्तु किसी भी दशा में उसे शूद्र-वृत्ति नहीं अपनानी चाहिए।

शूद्रवृत्तिं भजेद्वैश्यः शूद्रः कारुकटक्रियाम् ।
कृच्छ्रान्मुक्तो न गर्ह्येण वृत्तिं लिप्सेत कर्मणा ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

शूद्र—शूद्रों की; वृत्तिम्—वृत्ति; भजेत्—स्वीकार करे; वैश्यः—वैश्य; शूद्रः—शूद्र; कारु—मजदूर का; कट—टोकरी तथा चटाई; क्रियाम्—बनाना; कृच्छ्रात्—कठिन स्थिति से; मुक्तः—मुक्त हुआ; न—नहीं; गर्ह्येण—निकृष्ट द्वारा; वृत्तिम्—जीविका; लिप्सेत—कामना करे; कर्मणा—कार्य द्वारा।

जो वैश्य अपना जीवन-निर्वाह न कर सकता हो, वह शूद्र-वृत्ति अपना सकता है और जो शूद्र उपयुक्त स्वामी न पा सके वह डलिया तथा चटाई बनाने जैसे सामान्य कार्यों में लग सकता है। किन्तु समाज के वे सारे सदस्य जिन्होंने आपात्काल में निकृष्ट वृत्तियाँ अपनाई हों, उन्हें विपत्ति बीत जाने पर इन कार्यों को तुरन्त त्याग देना चाहिए।

वेदाध्यायस्वधास्वाहाबल्यन्नाद्यैर्यथोदयम् ।
देवर्षिपितृभूतानि मद्रूपाण्यन्वहं यजेत् ॥५०॥

शब्दार्थ

वेद-अध्याय—वैदिक ज्ञान का अध्ययन; स्वधा—स्वधा मंत्र अर्पित करके; स्वाहा—स्वाहा मंत्र द्वारा; बलि—भोजन देकर; अन्न-आद्यैः—अन्न, जल इत्यादि देकर; यथा—के अनुसार; उदयम्—सम्पन्नता; देव—देवता; ऋषि—ऋषि; पितृ—पूर्वजों; भूतानि—तथा सारे जीवों के; मत्-रूपाणि—मेरे शक्ति के स्वरूपों; अनु-अहम्—प्रतिदिन; यजेत्—पूजा करे।

गृहस्थ आश्रम वाले को नित्य वैदिक अध्ययन द्वारा ऋषियों की, स्वधा मंत्र द्वारा पूर्वजों की, स्वाहा मंत्र का उच्चारण करके देवताओं की, अपने हिस्से का भोजन देकर सारे जीवों की तथा अन्न एवं जल अर्पित करके मनुष्यों की पूजा करनी चाहिए। इस तरह देवताओं, ऋषियों, पूर्वजों, जीवों तथा मनुष्यों को मेरी शक्ति की अभिव्यक्तियाँ मानते हुए हर मनुष्य को नित्य ये पाँच यज्ञ सम्पन्न करने चाहिए।

तात्पर्य : भगवान् पुनः गृहस्थाश्रम में रहने वालों के कर्तव्यों की व्याख्या करते हैं। स्पष्टतः, यहाँ पर वर्णित पाँच नैत्यिक अनुष्ठान् उन लोगों के निमित्त हैं, जो भगवान् के शुद्ध भक्त नहीं हैं और जिन्हें प्रकृति के दुरुपयोग का निराकरण करने के लिए उपर्युक्त यज्ञ करने होते हैं। इस्कान गृहस्थों, संन्यासियों, ब्रह्मचारियों तथा वानप्रस्थों को चौबीसों घण्टे भगवान् की भक्ति में लगे रहने का प्रशिक्षण देता है। जो लोग इस्कान में पूर्णकालिक प्रचार-कार्य करते हैं, उन्हें कोई और यज्ञ नहीं करना पड़ता जैसी कि *श्रीमद्भागवत* के ग्यारहवें स्कन्ध (११.५.४१) में पुष्टि की गई है—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

"जिसने भी सभी प्रकार के कर्तव्यों को छोड़ कर मुकुन्द के, अर्थात् मुक्ति देने वाले के

चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली है और गम्भीरतापूर्वक इस पथ को ग्रहण कर लिया है, उसका देवताओं, ऋषियों, सामान्य जीवों, पारिवारिक जनों, मनुष्यों या पूर्वजों के प्रति न तो कोई कर्तव्य, न ही ऋण शेष रहता है।''

यदृच्छयोपपन्नेन शुक्लेनोपार्जितेन वा ।
धनेनापीडयन्भृत्यान्न्यायेनैवाहरेत्क्रतून् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

यदृच्छया—बिना प्रयास के; उपपन्नेन—अर्जित किया गया; शुक्लेन—अपनी ईमानदारीपूर्ण वृत्ति से; उपार्जितेन—प्राप्त किया हुआ; वा—अथवा; धनेन—धन से; अपीडयन्—असुविधा उत्पन्न न करते हुए; भृत्यान्—आश्रितों को; न्यायेन—उचित प्रकार से; एव—निस्सन्देह; आहरेत्—सम्पन्न करे; क्रतून्—यज्ञों तथा अन्य धार्मिक उत्सवों को।

गृहस्थ को चाहिए कि स्वेच्छा से प्राप्त धन से या ईमानदारी से सम्पन्न किये जाने वाले कार्य से जो धन प्राप्त हो, उससे अपने आश्रितों का ठीक से पालन-पोषण करे। उसे अपने साधनों के अनुसार यज्ञ तथा अन्य धार्मिक उत्सव सम्पन्न करने चाहिए।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् उन धार्मिक कार्यों का वर्णन कर रहे हैं, जिन्हें यथासम्भव अपने साधनों के अनुसार तथा जब भी अवसर आये, सम्पन्न करना चाहिए।

कुटुम्बेषु न सज्जेत न प्रमाद्येत्कुटुम्ब्यपि ।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

कुटुम्बेषु—पारिवारिक जनों से; न—नहीं; सज्जेत—लिप्त हो; न—नहीं; प्रमाद्येत्—अहंकारी बने; कुटुम्बी—अनेक आश्रित पारिवारिक जनों वाला; अपि—यद्यपि; विपश्चित्—चतुर व्यक्ति; नश्वरम्—क्षणभंगुर; पश्येत्—देखे; अदृष्टम्—भावी पुरस्कार यथा स्वर्ग में वास; अपि—निस्सन्देह; दृष्ट-वत्—पहले से अनुभव किया गया जैसा।

अनेक आश्रित पारिवारिक जनों की देखरेख करने वाले गृहस्थ को न तो उनसे अत्यधिक लिप्त होना चाहिए, न ही अपने को स्वामी मान कर मानसिक रूप से असन्तुलित रहना चाहिए। बुद्धिमान गृहस्थ को समझना चाहिए कि सारा सम्भव सुख, जिसका वह पहले ही अनुभव कर चुका होता है, क्षणभंगुर है।

तात्पर्य : गृहस्थ व्यक्ति अपनी पत्नी की रक्षा करते, अपने बच्चों को आदेश देते, नौकरों, नाती-पोतों, घरेलू पशुओं इत्यादि का पालन-पोषण करते स्वामी की भाँति आचरण करता है। *न प्रमाद्येत् कुटुम्ब्यपि* शब्द यह सूचित करते हैं कि यद्यपि मनुष्य अपने परिवार, नौकरों तथा मित्रों से घिरा हुआ

एक छोटे स्वामी जैसा व्यवहार करता है, किन्तु उसे अपने को असली स्वामी मान कर मिथ्या अहंकारवश मानसिक रूप से असंतुलित नहीं हो जाना चाहिए। *विपश्चित्* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य को गम्भीर तथा बुद्धिमान बने रहना चाहिए और कभी यह नहीं भूलना चाहिए कि मैं भगवान् का नित्य दास हूँ।

उच्च, मध्यम तथा निम्न वर्ग के गृहस्थ विभिन्न प्रकार की विषय-वासनाओं में लिप्त हो जाते हैं। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी आर्थिक अथवा सामाजिक वर्ग में, सारा भौतिक भोग, चाहे वह यहाँ का हो या अगले जीवन का, नश्वर होता है तथा अन्ततः व्यर्थ। एक उत्तरदायी गृहस्थ को चाहिए कि अपने परिवार वालों को तथा अन्य आश्रित जनों को भगवद्धाम जाने में मार्गदर्शक बने जिससे उन्हें आनन्द तथा ज्ञान का शाश्वत जीवन प्राप्त हो। उसे अल्पकाल के लिए मिथ्याभिमानी नहीं बन जाना चाहिए क्योंकि तब वह अपने पारिवारिक जनों सहित बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्र में बँध जायेगा।

पुत्रदाराप्तबन्धूनां सङ्गमः पान्थसङ्गमः ।
अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

पुत्र—बच्चे; दार—पत्नी; आप्त—सम्बन्धीजन; बन्धूनाम्—तथा मित्रों के; सङ्गमः—संगति, साथ साथ रहना; पान्थ—यात्रियों की; सङ्गमः—संगति; अनु-देहम्—शरीर के प्रत्येक परिवर्तन सहित; वियन्ति—पृथक् कर दयि जाते हैं; एते—ये सारे; स्वप्नः—स्वप्न; निद्रा—नींद; अनुगः—घटित होने वाले; यथा—जिस तरह।

बच्चों, पत्नी, सम्बन्धियों तथा मित्रों की संगति यात्रियों के लघु मिलाप जैसी है। शरीर के प्रत्येक परिवर्तन के साथ मनुष्य ऐसे संगियों से उसी तरह विलग हो जाता है, जिस तरह स्वप्न समाप्त होते ही स्वप्न में मिली हुई सारी वस्तुएँ खो जाती हैं।

तात्पर्य : *पान्थ-संगम* सूचक है होटलों, भोजनालयों, पर्यटन-स्थलों या अधिक पारंपारिक सांस्कृतिक स्थानों में, ताजे पानी के कुओं तथा पगडंडियों में मुसाफिरों के क्षणिक साथ का। इस समय हम तमाम सम्बन्धियों, मित्रों तथा हितैषियों से सम्बद्ध हैं, किन्तु अपने भौतिक शरीर के परिवर्तित होते ही हम इन संगियों से उसी तरह पृथक् हो जायेंगे जिस तरह जग जाने पर हम स्वप्न की काल्पनिक वस्तुओं से तुरंत विलग हो जाते हैं। जिस तरह मनुष्य अपने स्वप्न के विषय-भोगों में लिप्त हो जाता है उसी तरह अहं-मम की भ्रामक धारणाओं के जाल में हम तथाकथित सम्बन्धियों तथा मित्रों से लिप्त

हो जाते हैं, जो हमारे मिथ्या अहंकार को तुष्ट करते हैं। दुर्भाग्यवश ऐसे क्षणिक अहंमन्यतावादी संग आत्मा तथा ब्रह्म सम्बन्धी हमारे असली ज्ञान को प्रच्छन्न कर लेता है और हम मायावश स्थायी इन्द्रियतृप्ति के लिए व्यर्थ मँडराते रहते हैं। जो व्यक्ति परिवार तथा मित्रों की देहात्म बुद्धि में लिप्त रहता जाता है, वह अहं-मम के मिथ्या अहंकार को या "मैं सब कुछ हूँ और सबकुछ मेरा है" नहीं त्याग पाता।

जब तक हम भौतिक इन्द्रियतृप्ति का परित्याग नहीं कर देते, तब तक हम भक्ति के दिव्य पद पर स्थिर नहीं हो सकते, अतएव हम नित्य सुख का रसास्वाद नहीं कर सकते। जब तक मनुष्य भगवान् कृष्ण को अपना एकमात्र सखा मान कर भगवान् का शुद्ध भक्त नहीं बन जाता, तब तक वह क्षणिक तथा दिखावटी भौतिक सम्बन्धों की लालसा को त्याग नहीं पाता। अपने घर से तथा प्रियजनों से दूर पथिक अन्य यात्रियों से बातें करता है किन्तु ऐसे सम्बन्धों का कोई अर्थ नहीं होता। अतएव मनुष्य को भगवान् कृष्ण से अपने खोये सम्बन्ध को पुनरुज्जीवित करना चाहिए। हम स्वभावतः भगवान् कृष्ण के भिन्नांश हैं, जो कि समस्त आध्यात्मिक आनन्द के आगार हैं और उनके साथ हमारा मौलिक सम्बन्ध प्रेम तथा सुख से पूर्ण है। किन्तु उनसे स्वतंत्र रह कर भोग करने की हमारी इच्छा से ही हम माया के भौतिक सम्बन्धों के चकरा देने वाले व्यर्थ जाल में फँसते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति यह अनुभव करता है कि इस लोक में या अन्य किसी भौतिक लोक में आत्मा को आनंद या संतोष नहीं है। अतएव उसे श्रान्त पथिक की भाँति शान्ति के लिए श्रीकृष्ण के आज्ञाकारी सेवक की भाँति भगवद्धाम वापस जाना चाहिए।

इत्थं परिमृशन्मुक्तो गृहेष्वतिथिवद्वसन् ।
न गृहैरनुबध्येत निर्ममो निरहङ्कृतः ॥५४॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; परिमृशन्—गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए; मुक्तः—मुक्तात्मा; गृहेषु—घर पर; अतिथि-वत्—मेहमान की तरह; वसन्—रहते हुए; न—नहीं; गृहैः—घर की परिस्थिति से; अनुबध्येत—अपने को बँधाये; निर्ममः—स्वामित्व की भावना से रहित; निरहङ्कृतः—मिथ्या अभिमान से रहित।

वास्तविक स्थिति पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए मुक्तात्मा को चाहिए कि घर में एक मेहमान की तरह किसी स्वामित्व की भावना या मिथ्या अहंकार के बिना रहे। इस तरह वह घरेलू मामलों में नहीं फँसेगा।

तात्पर्य : *मुक्तः* शब्द समस्त भौतिक आसक्ति से छूटे हुए व्यक्ति का द्योतक है। इस अवस्था में, जिसे *मुक्तसंग* कहते हैं, मनुष्य अपने को भौतिक जगत का स्थायी निवासी नहीं मानता। यह मुक्त अवस्था पारिवारिक जीवन बिताते हुए भी प्राप्त की जा सकती है। इसके लिए इतना ही आवश्यक है कि वह *कृष्ण-सङ्कीर्तन* के कार्यक्रम में लग जाय जिसमें भगवान् के पवित्र नामों का उच्चारण, अर्चा-विग्रह की पूजा तथा कृष्णभावनामृत आन्दोलन में भाग लेना सम्मिलित है। कृष्ण-संकीर्तन के गम्भीर कार्यक्रम के बिना स्त्री-आसक्ति की लौह शृंखला को और इस आसक्ति से उत्पन्न कार्यों को त्याग पाना कठिन है।

कर्मभिर्गृहमेधीयैरिष्ट्वा मामेव भक्तिमान् ।
तिष्ठेद्वनं वोपविशेत्प्रजावान्वा परिव्रजेत् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

कर्मभिः—कर्मों द्वारा; गृह-मेधीयैः—पारिवारिक जीवन के लिए उपयुक्त; इष्ट्वा—पूजा करके; माम्—मेरी; एव—निस्सन्देह; भक्ति-मान्—भक्त होते हुए; तिष्ठेत्—घर पर रहता रहे; वनम्—जंगल में; वा—अथवा; उपविशेत्—प्रवेश करे; प्रजा-वान्—जिम्मेदार सन्तान के होते हुए; वा—अथवा; परिव्रजेत्—संन्यास ग्रहण करे।

जो गृहस्थ भक्त अपने पारिवारिक कर्तव्यों को पूरा करते हुए मेरी पूजा करता है, वह चाहे तो घर पर ही रह सकता है अथवा किसी पवित्र स्थान में जा सकता है या यदि उसके कोई जिम्मेदार पुत्र हो, तो वह संन्यास ग्रहण कर सकता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में गृहस्थ के लिए तीन विकल्प बतलाये गये हैं। वह घर पर रहता रहे या वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करे जिसमें अपनी पत्नी के साथ किसी तीर्थस्थान में जा सकता है। अथवा यदि उसके कोई जिम्मेदार पुत्र हो जो पारिवारिक कार्यों का भार ले सके, तो वह जीवन की समस्या के निश्चित हल के लिए, संन्यास ले सकता है। तीनों ही आश्रमों में जो सफलता मिलेगी वह भगवान् के प्रति निष्ठावान शरणागति पर निर्भर करेगी। इसलिए मनुष्य में सबसे महत्त्वपूर्ण जिस योग्यता को होना चाहिए, वह कृष्णभावनामृत है।

यस्त्वासक्तमतिर्गेहे पुत्रवित्तैषणातुरः ।
स्त्रैणः कृपणधीर्मूढो ममाहमिति बध्यते ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—किन्तु; आसक्त—लिप्त; मतिः—चेतना वाला; गेहे—अपने घर पर; पुत्र—सन्तान; वित्त—तथा धन के लिए; एषण—तीव्र इच्छा से; आतुरः—विचलित; स्त्रैणः—स्त्री-भोग के लिए कामुक; कृपण—कंजूस; धीः—बुद्धि वाला; मूढः—मूर्ख; मम—हर वस्तु मेरी है; अहम्—मैं ही सबकुछ हूँ; इति—ऐसा सोच कर; बध्यते—बँध जाता है।

किन्तु जिस गृहस्थ का मन अपने घर में आसक्त है और जो इस कारण अपने धन तथा संतान को भोगने की तीव्र इच्छाओं से विचलित है, जो स्त्रियों के लिये काम-भावना से पीड़ित है, जो कृपण मनोवृत्ति रखता है और जो मूर्खतावश यह सोचता है कि, ''प्रत्येक वस्तु मेरी है और मैं ही सबकुछ हूँ'' निस्सन्देह, वह व्यक्ति माया-जाल में फँसा हुआ है।

तात्पर्य : यद्यपि व्यक्ति विविध वैश्लेषिक अथवा मनोवैज्ञानिक विधियों से अपने मन को भ्रामक पारिवारिक आसक्ति से विलग करने का प्रयास करता है, किन्तु वह भौतिक आसक्ति के जाल में अनिवार्यतः गिरता रहता है जब तक उसका हृदय कृष्णभावनामृत से शुद्ध नहीं हो जाता। कंजूस गृहस्थ केवल अपने परिवार या जाति के विषय में ही सोचता है, उसे बाहरी लोगों के प्रति तनिक भी दया नहीं आती। अहंकारी, कामी, आसक्त तथा धन एवं सन्तान का भोग करने की तीव्र इच्छा वाला भौतिकतावादी गृहस्थ चिन्ता के जाल में निराश होकर बँध जाता है।

अहो मे पितरौ वृद्धौ भार्या बालात्मजात्मजाः ।
अनाथा मामृते दीनाः कथं जीवन्ति दुःखिताः ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; मे—मेरे; पितरौ—माता-पिता; वृद्धौ—बूढ़े; भार्या—पत्नी; बाल-आत्म-जा—गोद में बालक लिए; आत्मा-जाः—तथा मेरे अन्य बच्चे; अनाथाः—जिनका कोई रक्षक नहीं हो; माम्—मेरे; ऋते—रहित; दीनाः—दुखी; कथम्—इस जगत में किस तरह; जीवन्ति—जीवित रह सकते हैं; दुःखिताः—दुख सहते हुए।

''हाय! मेरे वृद्ध माता-पिता तथा गोद में बालक वाली मेरी पत्नी तथा मेरे अन्य बच्चे! मेरे बिना उनकी रक्षा करने वाला कोई नहीं है और उन्हें असह्य कष्ट उठाना पड़ेगा। मेरे गरीब सम्बन्धी मेरे बिना कैसे रह सकेंगे?''

एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो मूढधीरयम् ।
अतृप्तस्ताननुध्यायन्मृतोऽन्धं विशते तमः ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; गृह—घरेलू परिस्थिति में; आशय—तीव्र इच्छा से; आक्षिप्त—अभिभूत; हृदयः—हृदय; मूढ—मूर्ख; धीः—बुद्धि वाला; अयम्—यह व्यक्ति; अतृप्तः—असंतुष्ट; तान्—उनको (परिवार वालों को); अनुध्यायन्—निरन्तर सोचते हुए; मृतः—मर जाता है; अन्धम्—अंधता, अज्ञान; विशते—प्रवेश करता है; तमः—अंधकार।

इस तरह अपनी मूर्खतापूर्ण मनोवृत्ति के कारण वह गृहस्थ, जिसका हृदय पारिवारिक आसक्ति से अभिभूत रहता है, कभी भी तुष्ट नहीं होता। फलस्वरूप अपने परिवार वालों का निरन्तर ध्यान करते हुए वह मर जाता है और अज्ञान के अंधकार में प्रवेश करता है।

तात्पर्य : *अन्धम् विशते तम:* सूचित करता है कि आसक्त गृहस्थ अगले जीवन में पदच्युत किया जायेगा क्योंकि उसमें *मूढ धी:* अर्थात् शारीरिक आसक्ति की आदिम मनोवृत्ति होती है। दूसरे शब्दों में, अपने को हर वस्तु का केन्द्र मानते हुए इन्द्रियतृप्ति का भोग करने के बाद, मनुष्य निम्न योनि में प्रवेश करता है। हमें, जैसे भी हो, अपने मनों को कृष्ण में टिकाना चाहिए और अज्ञान के अंधकार से निकल कर कृष्णभावनामृत के असली जीवन में जाना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के ''भगवान् कृष्ण द्वारा वर्णाश्रम प्रणाली का वर्णन'' नामक सत्रहवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अठारह

वर्णाश्रम धर्म का वर्णन

इस अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव से वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों के कर्तव्यों तथा उनके सम्बन्धित प्रगति के उपयुक्त धार्मिक प्रथाओं का वर्णन किया है।

जो व्यक्ति वानप्रस्थ स्वीकार करता है उसे अपनी पत्नी को अपने पुत्रों की देखरेख में घर पर ही छोड़ जाना चाहिए अथवा अपने साथ लेते जाना चाहिए और जीवन के तीसरेपन को जंगल में शान्त मन से बिताना चाहिए। उसे जंगल में उगने वाले फल, कन्दमूल इत्यादि खाने चाहिए; कभी आग में पका अन्न खाना चाहिए तो कभी समय पर पकने वाले फल ग्रहण करने चाहिए। उसे वृक्ष की छाल, तृण, पत्तियाँ अथवा मृगचर्म के वस्त्र धारण करने चाहिए। उसके लिए अनिवार्य है कि वह बाल, दाढ़ी या नाखुन न काटे और तपस्या करे। न ही वह अपने अंगों से धूल हटाने का विशेष प्रयास करे। उसे नित्य तीन बार शीतल जल से स्नान करना चाहिए और भूमि पर सोना चाहिए। ग्रीष्म ऋतु में उसे चारों दिशाओं से आग उगलती भयानक धूप में खड़े रहना चाहिए। वर्षा ऋतु में उसे मूसलाधार वर्षा में खड़े

रहना चाहिए और शीत ऋतु में उसे कंठ तक पानी के भीतर डूबे रहना चाहिए। उसे दाँत साफ करने, एक समय एकत्र करके दूसरे समय पर खाने के लिए भोजन संग्रह करने और पशु-मांस के द्वारा भगवान् की पूजा करने का सर्वथा निषेध है। यदि वह अपने शेष जीवन-भर इन कठिन अभ्यासों को करता रहे, तो उसे तपोलोक प्राप्त होगा।

जीवन का चौथापन संन्यास के निमित्त है। उसे ब्रह्मलोक तक के किसी भी लोक में निवास प्राप्त करने से विरक्ति उत्पन्न कर लेनी चाहिए। भौतिक उत्थान के लिए ऐसी आंकाक्षाएँ भौतिक कर्म के फल प्राप्त करने की इच्छा के कारण उठती हैं। जब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि उच्चतर लोकों में आवास पा लेने से अन्ततः कष्ट ही प्राप्त होता है, तो उसे यह आदेश है कि वह त्याग की भावना से संन्यास ग्रहण करे। संन्यास की विधि में यज्ञ द्वारा भगवान् की पूजा करना, अपने पास की हर वस्तु पुरोहितों को दान में दे देना तथा अपने ही हृदय में विविध यज्ञ-अग्नियों को स्थापित करना सम्मिलित हैं। संन्यासी के लिए स्त्री की संगति या उसका अवलोकन तक विष ग्रहण करने से भी अधिक अवांछित है। आपात्काल के अतिरिक्त संन्यासी को कभी लँगोटा या लँगोटे के ऊपर के आच्छादन के अलावा कुछ भी नहीं पहनना चाहिए। उसे अपने दण्ड तथा कमण्डलु के अतिरिक्त कुछ भी नहीं लिए रहना चाहिए। उसे जीवित प्राणियों के प्रति समस्त हिंसा त्याग कर शरीर, मन तथा वाणी के कार्यों में दमित हो जाना चाहिए। उसे विरक्त होकर और अपने में स्थिर होकर, अकेले ही पर्वतों, नदियों तथा जंगलों जैसे शुद्ध स्थानों की यात्रा करनी चाहिए। इस प्रकार कार्य में लग कर उसे भगवान् का स्मरण करना चाहिए और उसे ऐसे स्थान में रहना चाहिए जहाँ भय न हो किन्तु जहाँ अधिक लोग न रहते हों। उसे प्रतिदिन चारों वर्णों के सात घरों से भिक्षा माँगनी चाहिए किन्तु पतित या शापित लोगों के घर छोड़ देने चाहिए। उसे शुद्ध हृदय से भगवान् को अपने द्वारा एकत्र किया गया भोजन अर्पित करना चाहिए और *महाप्रसादम्* के रूप में उच्छिष्ट ग्रहण करना चाहिए। इस तरह उसे सदैव यह ध्यान में रखना होगा कि इन्द्रियतृप्ति की लालसा बन्धन है और इन्द्रिय-विषयों को भगवान् माधव की सेवा में लगाना मोक्ष है। यदि उसमें ज्ञान तथा वैराग्य का अभाव है अथवा वह काम आदि प्रभावशाली इन्द्रियों रूपी छः अजेय शत्रुओं से विचलित होता है, अथवा मात्र जीवनयापन के लिए कोई *त्रिदण्ड* संन्यास ग्रहण करता है, तो उससे वह अपनी आत्मा का ही हनन करेगा।

परमहंस आदेशों तथा निषेधों के वशीभूत नहीं होता। वह बाह्य इन्द्रियतृप्ति से विरक्त भगवद्भक्त होता है और वह मोक्ष जैसे सूक्ष्म तृप्तिदायक उद्देश्यों की इच्छा से भी मुक्त रहता है। वह भेदभाव करने में दक्ष होता है और शिशु की तरह मान-अपमान की भावना से रहित होता है। दक्ष होते हुए भी वह मूढ की तरह घूमता रहता है और अत्यन्त विद्वान होते हुए भी पागल मूर्ख जैसी असम्बद्ध बातें करता है। वेदों में स्थिर होते हुए भी वह असंयत ढंग से आचरण करता है। वह अन्यों के अपशब्द सुन लेता है और किसी की मानहानि नहीं करता। वह न तो शत्रु की तरह कार्य करता है न ही व्यर्थ के तर्क में अपने को लगाता है। वह समस्त प्राणियों में भगवान् को देखता है तथा भगवान् के भीतर सारे जीवों को देखता है। वह भगवान् की पूजा करते रहने के लिए अपने शरीर को जीवित रखने के लिए, बिना प्रयास के जैसा भी अच्छा या बुरा भोजन, वस्त्र तथा बिस्तर मिल जाता है उसे स्वीकार करता है। यद्यपि उसे अपना शरीर बनाये रखने के लिए भोजन पाने के लिए कुछ न कुछ प्रयास करना पड़ता है, किन्तु जब कोई चीज मिल जाती है तब वह न तो प्रसन्न होता है और न किसी वस्तु के न मिलने पर हताश होता है। यद्यपि भगवान् पर वैदिक आदेश तथा निषेध लागू नहीं होते, किन्तु वे भी स्वेच्छा से विभिन्न नियत कर्तव्यों का पालन करते हैं। इसी तरह परमहंस वैदिक आदेशों एवं निषेधों से स्वतंत्र रहते हुए विभिन्न कर्तव्य पूरे करता है। चूँकि भगवान् पर केन्द्रित दिव्य ज्ञान के द्वारा उसमें द्वैत भाव का उच्छेद हुआ रहता है, अत: अपने भौतिक शरीर की मृत्यु के बाद वह मोक्ष प्राप्त करता है, जिसे *सार्ष्टि* कहते हैं और जिसमें मनुष्य भगवान् जैसा ऐश्वर्य पा लेता है।

जो व्यक्ति अपना हित चाहता है उसे प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण करनी चाहिए। शिष्य को अपना मन श्रद्धा से पूरित करके, ईर्ष्या से दूर रह कर तथा भक्ति में स्थिर होकर, गुरु की सेवा करनी चाहिए और उसे परमेश्वर से अभिन्न मानना चाहिए। ब्रह्मचारी का मुख्य कर्तव्य है गुरु-सेवा। गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य है जीवों की रक्षा तथा यज्ञ करना, वानप्रस्थ का कर्तव्य है तपस्या करना तथा संन्यासी का कर्तव्य है आत्मसंयम तथा अहिंसा बरतना। ब्रह्मचर्य (गृहस्थ को चाहिए कि पत्नी के ॠतुमती होने पर माह में एक बार छोड़ कर बाकी पूरे समय ब्रह्मचर्य पालन करे), तपस्या, स्वच्छता, आत्मतुष्टि, सभी जीवों से मैत्री तथा भगवान् की पूजा—ये हर जीवात्मा के लिए करणीय हैं। मनुष्य को अन्य लोगों की नहीं अपितु भगवान् की सदैव सेवा करने से और सभी जीवों को परमात्मा रूप में भगवान्

का वास स्थान मानने से, भगवान् की दृढ़ भक्ति प्राप्त होती है। वेदों के कर्मकांड अनुभाग के अनुयायियों को विविध अनुष्ठानों के द्वारा पितृलोक तथा अन्य लोक प्राप्त हो सकते हैं किन्तु यदि ये लोग भगवान् की भक्ति से युक्त हो लें, तो इन्हीं कर्मों से वे मोक्ष की चरमावस्था प्राप्त कर सकते हैं।

श्रीभगवानुवाच
वनं विविक्षुः पुत्रेषु भार्यां न्यस्य सहैव वा ।
वन एव वसेच्छान्तस्तृतीयं भागमायुषः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; वनम्—जंगल में; विविक्षुः—प्रवेश करने का इच्छुक; पुत्रेषु—पुत्रों में से; भार्याम्—पत्नी को; न्यस्य—सौंप कर; सह—सहित; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा; वने—जंगल में; एव—निश्चय ही; वसेत्—रहे; शान्तः—शान्त भाव से; तृतीयम्—तीसरे; भागम्—भाग में; आयुषः—जीवन के।

भगवान् ने कहा : जो जीवन के तीसरे आश्रम अर्थात् वानप्रस्थ को ग्रहण करने का इच्छुक हो, उसे अपनी पत्नी को अपने जवान पुत्रों के साथ छोड़ कर या अपने साथ लेकर शान्त मन से जंगल में प्रवेश करना चाहिए।

तात्पर्य : कलियुग में लोग सामान्यतया सौ वर्ष से अधिक जीवित नहीं रहते और यह भी अब असामान्य होता जा रहा है। जो पुरुष सौ वर्ष जीने की आशा रखता है उसे पचास वर्ष की अवस्था में वानप्रस्थ आश्रम अपना लेना चाहिए और फिर पचहत्तर वर्ष की आयु में पूर्ण संन्यास धारण करना चाहिए। चूँकि कलियुग में थोड़े ही लोग एक सौ वर्ष जीवित रहते हैं, अतः मनुष्य को उसी के अनुसार तालमेल बैठाना चाहिए। वानप्रस्थ का मन्तव्य भौतिकतावादी पारिवारिक जीवन से पूर्ण वैराग्य की ओर क्रमिक संक्रमण है।

कन्दमूलफलैर्वन्यैर्मेध्यैर्वृत्तिं प्रकल्पयेत् ।
वसीत वल्कलं वासस्तृणपर्णाजिनानि वा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

कन्द—कन्द; मूल—जड़ें; फलैः—तथा फलों से; वन्यैः—जंगल में उगने वाले; मेध्यैः—शुद्ध; वृत्तिम्—जीविका; प्रकल्पयेत्—व्यवस्था करे; वसीत—पहने; वल्कलम्—पेड़ की छाल; वासः—वस्त्रों के रूप में; तृण—घास; पर्ण—पत्ते; अजिनानि—पशुओं की खालें; वा—एवं।

वानप्रस्थ आश्रम अपनाने पर मनुष्य को चाहिए कि जंगल में उगने वाले शुद्ध कन्द, मूल तथा फल खाकर जीविका चलाये। वह पेड़ की छाल, घास, पत्ते या पशुओं की खाल पहने।

तात्पर्य : विरक्त साधु जंगल में पशुओं को नहीं मारता अपितु ऐसे पशुओं की खाल प्राप्त करता है

जिनकी स्वाभाविक मृत्यु हुई रहती है। *मनुसंहिता* के गद्यांश के अनुसार, जिसे श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने उद्धृत किया है, *मेध्यै* (शुद्ध) शब्द सूचित करता है कि जंगल में रहते हुए साधु को शहद से बने द्रव, मांस, कवक, कुकुरमुत्ते या कोई भ्रमात्मक या नशीली जड़ी-बूटियाँ, चाहे वे दवा ही क्यों न हों, ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

केशरोमनखश्मश्रुमलानि बिभृयाद्दतः ।
न धावेदप्सु मज्जेत त्रि कालं स्थण्डिलेशयः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

केश—सिर के बाल; रोम—शरीर के रोएँ; नख—नाखुन (हाथ तथा पाँव के); श्मश्रु—मुँह के बाल (दाढ़ी-मूछ); मलानि—मल; बिभृयात्—सहन करे; दतः—दाँत; न धावेत्—साफ न करे; अप्सु—जल में; मज्जेत—स्नानकरे; त्रि-कालम्—दिन में तीन बार; स्थण्डिले—पृथ्वी पर; शयः—लेटना।

वानप्रस्थ को अपने सिर, शरीर या मुखमंडल के बाल नहीं सँवारने चाहिए, अपने नाखुन नहीं काटने चाहिए, अनियमित समय पर मल-मूत्र त्याग नहीं करना चाहिए और दाँतों की सफाई का विशेष प्रयास नहीं करना चाहिए। उसे जल में नित्य तीन बार स्नान करके सन्तुष्ट रहना चाहिए और जमीन पर सोना चाहिए।

ग्रीष्मे तप्येत पञ्चाग्नीन्वर्षास्वासारषाड्जले ।
आकण्थमग्नः शिशिर एवं वृत्तस्तपश्चरेत् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

ग्रीष्मे—गर्मी की ऋतु में; तप्येत—तपस्या करे; पञ्च-अग्नीन्—पाँच अग्नियाँ (सिर के ऊपर सूर्य तथा चारों दिशाओं में जलने वाली अग्नियाँ); वर्षासु—वर्षा ऋतु में; आसार—वर्षा की झड़ी; षाट्—सहते हुए; जले—जल में; आ-कण्ठ—गले तक; मग्नः—डूबा हुआ; शिशिरे—जाड़े की ऋतु में; एवम्—इस प्रकार; वृत्तः—लगा हुआ; तपः—तपस्या; चरेत्—करे।

इस तरह वानप्रस्थ में लगा हुआ व्यक्ति तपते गर्मी के दिनों में अपने चारों ओर जलती अग्नि तथा सिर के ऊपर तपते सूर्य को झेल कर तपस्या करे। वर्षा ऋतु में वह वर्षा की झड़ी में बाहर रहे और ठिठुरती शीत ऋतु में वह गले तक पानी में डूबा रहे।

तात्पर्य : जो इन्द्रियतृप्ति में अपने को लगाता है उसे जीवन के अन्त में अपने पापपूर्ण तथा मौजी कार्यों के निराकरण के लिए कठिन तपस्या करनी चाहिए। किन्तु भगवद्भक्त स्वभावतः कृष्णभावनामृत उत्पन्न कर लेता है और उसे ऐसी आद्य तपस्या करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। *पञ्चरात्र* में कहा गया है—

आराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किं

नाराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किं।

अन्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किं

नान्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम्॥

"यदि कोई व्यक्ति उचित रीति से भगवान् की पूजा कर रहा हो, तो कठिन तपस्या से क्या लाभ? और यदि कोई ठीक से भगवान् की तपस्या नहीं करे, तो कठिन तपस्या से क्या लाभ? यदि श्रीकृष्ण को हर वस्तु के अन्दर तथा बाहर अनुभव किया जाय, तो फिर कठिन तपस्या से क्या लाभ? और यदि श्रीकृष्ण हर वस्तु के अन्दर तथा बाहर नहीं दिखते, तो कठिन तपस्या से क्या लाभ?

अग्निपक्वं समश्नीयात्कालपक्वमथापि वा ।
उलूखलाश्मकुट्टो वा दन्तोलूखल एव वा ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अग्नि—आग से; पक्वम्—पकाया गया; समश्नीयात्—खाये; काल—समय के द्वारा; पक्वम्—खाने के योग्य; अथ—अथवा; अपि—निस्सन्देह; वा—अथवा; उलूखल—ओखली से; अश्म—तथा पत्थर; कुट्टः—कूटा या पीसा गया; वा—अथवा; दन्त—दाँतों का प्रयोग करते हुए; उलूखलः—ओखली के रूप में; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा।

वह अग्नि द्वारा तैयार किया गया भोजन यथा अन्न अथवा समय से पके फलों को खा सकता है। वह अपने भोजन को बट्टे से या अपने दाँतों से पीस सकता है।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता में संस्तुति की जाती है कि जीवन के अन्त में आध्यात्मिक सिद्धि के लिए मनुष्य किसी तीर्थस्थान या जंगल में जाये। पवित्र जंगलों में उसे भोजनालय, सुपर बाजार, तुरन्त भोजनालय आदि नहीं मिलते अतः उसे इन्द्रियतृप्ति को कम करके सादा भोजन करना चाहिए। यद्यपि पाश्चात्य देशों में लोग तैयार भोजन करते हैं, किन्तु जो सादा जीवन बिता रहा हो उसे स्वयं ही अन्न अथवा अन्य भोजन को खाने से पूर्व कूटना-छानना चाहिए। यहाँ इसी का उल्लेख है।

स्वयं सञ्चिनुयात्सर्वमात्मनो वृत्तिकारणम् ।
देशकालबलाभिज्ञो नाददीतान्यदाहृतम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

स्वयम्—अपने से; सञ्चिनुयात्—एकत्र करे; सर्वम्—हर वस्तु; आत्मनः—अपनी ही; वृत्ति—जीविका; कारणम्—सुलभ बनाने के लिए; देश—विशेष स्थान; काल—समय; बल—तथा शक्ति; अभिज्ञः—भलीभाँति जानते हुए; न आददीत—न ले; अन्यदा—दूसरी बार के लिए; आहृतम्—वस्तुएँ।

वानप्रस्थ को चाहिए कि देश, काल तथा अपनी सामर्थ्य का ध्यान रखते हुए, अपने शरीर के पालन हेतु जो आवश्यक हो, उसे एकत्र करे। उसे भविष्य के लिए कोई वस्तु संग्रह नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य : वैदिक नियमों के अनुसार तपस्या करने वाले को उतना ही संग्रह करना चाहिए जितने की तुरन्त जरूरत हो और भोजन मिल जाने पर वह पूर्व संचित भोजन को तुरन्त त्याग दे जिससे उसके पास अतिरिक्त न रहे। यह नियम मनुष्य को भगवान् में श्रद्धापूर्वक आश्रित बनाये रखने के लिए है। उसे भोजन या अन्य आवश्यक वस्तुएँ भविष्य के इस्तेमाल के लिए संग्रह नहीं करनी चाहिए। *देशकालबलाभिज्ञ* सूचित करता है कि किसी दुर्गम स्थान में या आपात्काल में अथवा शारीरिक अक्षमता होने पर इस कठोर नियम का पालन करने की आवश्यकता नहीं है, इसकी पुष्टि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने की है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर इंगित करते हैं कि जब तक कोई नितान्त अशक्त न हो, तब तक वह निजी पालन-पोषण के लिए अन्यों पर निर्भर न रहे क्योंकि इससे जो ऋण एकत्र होगा उसे भौतिक जगत में अगला जन्म लेकर ही चुकता किया जा सकेगा। यह केवल उन पर लागू होता है, जो निजी शुद्धि का प्रयास करते हैं, उन पर नहीं जो चौबीसों घण्टे कृष्ण की भक्ति में लगे रहते हैं। शुद्ध भक्त भगवान् की सेवा के लिए ही खाता, पहनता तथा बोलता है और इस तरह अन्यों से वह जो भी सहायता लेता है, वह अपने लिए नहीं होती। वह भगवान् के मिशन में पूरी तरह समर्पित रहता है। किन्तु जो इस तरह समर्पित नहीं है, उसे अन्यों का ऋण चुकाने के लिए इस जगत में फिर से जन्म लेना होगा।

वन्यैश्चरुपुरोडाशैर्निर्वपेत्कालचोदितान् ।
न तु श्रौतेन पशुना मां यजेत वनाश्रमी ॥ ७॥

शब्दार्थ

वन्यैः—जंगल से प्राप्त; चरु—धान, जौ तथा दाल की आहुतियों से; पुरोडाशैः—तथा जंगली धान से तैयार की गई यज्ञ की चपाती; निर्वपेत्—अर्पित करे; काल-चोदितान्—अनुष्ठान यथा आग्रयण जो ऋतु के अनुसार सम्पन्न होते हैं (आग्रयण में वर्षा ऋतु के बाद प्रकट होने वाले पहले फल अर्पित किये जाते हैं); न—कभी नहीं; तु—निस्सन्देह; श्रौतेन—वेदों में उल्लिखित; पशुना—पशु-बलि के साथ; माम्—मुझको; यजेत—पूजा करे; वन-आश्रमी—वानप्रस्थ स्वीकार करके जंगल में जाने वाला।

जिसने वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार किया हो उसे चाहिए कि चरु तथा जंगल में पाये जाने

वाले धान तथा अन्य अन्नों से तैयार की गई यज्ञ-रोटी (पुरोडाश) की आहुतियों से ऋतु के अनुसार यज्ञ सम्पन्न करे। किन्तु वानप्रस्थ को चाहिए कि वह मुझे पशु-बलि कभी न अर्पित करे, यहाँ तक कि उन्हें भी जो वेदों में वर्णित हैं।

तात्पर्य : जिस व्यक्ति ने वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण कर लिया हो, उसे न तो पशु-यज्ञ करना चाहिए, न मांस खाना चाहिए।

अग्निहोत्रं च दर्शश्च पौर्णमासश्च पूर्ववत् ।
चातुर्मास्यानि च मुनेराम्नातानि च नैगमैः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अग्नि-होत्रम्—अग्नि-यज्ञ; च—भी; दर्शः—प्रतिपादा को सम्पन्न किया गया यज्ञ; च—भी; पौर्ण-मासः—पूर्णमासी के दिन सम्पन्न यज्ञ; च—भी; पूर्व-वत्—पहले की तरह, जैसाकि गृहस्थाश्रम में किया जाता था; चातुः-मास्यानि—चातुर्मास के व्रत तथा यज्ञ; च—भी; मुनेः—वानप्रस्थ के; आम्नातानि—आदिष्ट; च—भी; नैगमैः—वेदवेत्ताओं के द्वारा।

वानप्रस्थ को चाहिए कि अग्निहोत्र, दर्श तथा पौर्णमास यज्ञों को उसी तरह करता रहे जिस तरह गृहस्थाश्रम में करता था। उसे चातुर्मास्य के व्रत तथा यज्ञ भी सम्पन्न करने चाहिए क्योंकि वेदविदों ने वानप्रस्थों के लिए इन अनुष्ठानों का आदेश दिया है।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने यहाँ पर उल्लिखित चारों अनुष्ठानों—अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास तथा चातुर्मास्य की विशद व्याख्या की है। निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे का ही कीर्तन करना चाहिए और वैदिक अनुष्ठानों के कठिन झंझट में नहीं पड़ना चाहिए। जो व्यक्ति न तो हरे कृष्ण का कीर्तन करता है न ऐसे अनुष्ठान ही करता है, वह *पाषण्डी* बन जाता है।

एवं चीर्णेन तपसा मुनिर्धमनिसन्ततः ।
मां तपोमयमाराध्य ऋषिलोकादुपैति माम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; चीर्णेन—अभ्यास से; तपसा—तपस्या के; मुनिः—सन्त वानप्रस्थ; धमनि-सन्ततः—जिसके शरीर की सारी नसें दिखने लगे, इतना दुर्बल; माम्—मुझको; तपः-मयम्—सारी तपस्या का लक्ष्य; आराध्य—पूजा करके; र्षि-लोकात्—महर्लोक से परे; उपैति—प्राप्त करता है; माम्—मुझको।

कठिन तपस्या करते हुए तथा जीवन की आवश्यकताओं मात्र को ही स्वीकार करते हुए, सन्त वानप्रस्थ इतना दुर्बल हो जाता है कि उसकी चमड़ी तथा अस्थियाँ ही रह जाती हैं। इस तरह

कठिन तपस्या द्वारा मेरी पूजा करके वह महर्लोक जाता है और वहाँ मुझे प्राप्त करता है।

तात्पर्य : जो वानप्रस्थ शुद्ध भक्ति उत्पन्न कर लेता है, वह वानप्रस्थ अवस्था में ही भगवान् कृष्ण को पा लेता है। किन्तु जो पूर्णतया कृष्णभावनाभावित नहीं हो पाता, वह पहले महर्लोक या ऋषि लोक जाता है जहाँ से सीधे भगवान् कृष्ण को प्राप्त करता है।

मनुष्य को महर्लोक या ऋषि लोक की प्राप्ति कठोर विधि-निषेधों के पालन से ही होती है। किन्तु भगवान् के यश के कीर्तन तथा श्रवण के प्रति रुचि (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*) उत्पन्न किये बिना, परम मोक्ष प्राप्त करके भगवद्धाम वापस जा पाना सम्भव नहीं है। इसलिए महर्लोक में असफल मुनि कीर्तन तथा श्रवण पर अधिक ध्यान देता है और इस तरह शुद्ध भगवत्प्रेम उत्पन्न कर लेता है।

यस्त्वेतत्कृच्छ्रतश्चीर्णं तपो निःश्रेयसं महत् ।
कामायाल्पीयसे युञ्ज्याद्बालिशः कोऽपरस्ततः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—निस्सन्देह; एतत्—यह; कृच्छ्रतः—कठिन तपस्या से; चीर्णम्—दीर्घकाल तक; तपः—तपस्या; निःश्रेयसम्—परम मोक्ष प्रदान करते हुए; महत्—यशस्वी; कामाय—इन्द्रियतृप्ति के लिए; अल्पीयसे—नगण्य; युञ्ज्यात्—अभ्यास करता है; बालिशः—ऐसा मूर्ख; कः—कौन; अपरः—अन्य; ततः—उसके अलावा।

जो व्यक्ति, मात्र क्षुद्र इन्द्रियतृप्ति के लिए, दीर्घकालीन प्रयत्न द्वारा इस कष्टप्रद किन्तु महान् तपस्या को सम्पन्न करता है, उसे सबसे बड़ा मूर्ख समझना चाहिए।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् कृष्ण द्वारा वर्णित वानप्रस्थ विधि इतनी यशस्विनी है कि इससे महर्लोक तो प्राप्त हो ही जाता है, किन्तु जो व्यक्ति स्वर्ग जाने के लिए इस विधि को मनोयोग से करता है, वह सबसे बड़ा मूर्ख है। भगवान् नहीं चाहते कि भौतिकतावादी धूर्तजन इस विधि का दुरुपयोग करें क्योंकि चरम लक्ष्य तो भगवत्प्रेम है।

यदासौ नियमेऽकल्पो जरया जातवेपथुः ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य मच्चित्तोऽग्निं समाविशेत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; असौ—सन्त वानप्रस्थ; नियमे—अपने नियत कर्तव्यों में; अकल्पः—करने में अक्षम; जरया—वृद्धावस्था के कारण; जात—उत्पन्न; वेपथुः—शरीर का कम्पन; आत्मनि—अपने हृदय में; अग्नीन्—यज्ञ-अग्नियों को; समारोप्य—रख कर; मत्-चित्तः—मुझमें अपना मन स्थिर करके; अग्निम्—अग्नि में; समाविशेत्—प्रवेश करे।

यदि वानप्रस्थ वृद्धावस्था को प्राप्त हो और शरीर काँपने के कारण अपने नियत कर्म पूरा न

कर सके, तो उसे चाहिए कि ध्यान द्वारा यज्ञ-अग्नि को अपने हृदय के भीतर स्थापित करे। फिर अपने मन को मुझमें टिकाकर उस अग्नि में प्रवेश करके अपना शरीर त्याग दे।

तात्पर्य : चूँकि वानप्रस्थ की विधि उन लोगों के लिए संस्तुत की जाती है, जो जीवन के अन्तिम छोर पर होते हैं, अतएव इसकी सम्भावना रहती है कि उनमें वृद्धावस्था के लक्षण प्रकट होने लगें और वह संन्यास की अन्तिम अवस्था तक न पहुँच पाये। यदि कोई व्यक्ति वृद्धावस्था के कारण अपने धार्मिक कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता तो उसके लिए यहाँ यह सलाह दी गई है कि वह अपने मन को कृष्ण में टिकाकर यज्ञ-अग्नि में प्रवेश करे। यद्यपि आधुनिक युग में ऐसा कर पाना सम्भव नहीं है, किन्तु जैसाकि इस श्लोक से प्रत्यक्ष है भगवद्धाम जाने की गम्भीरता की सराहना तो कर ही सकते हैं।

यदा कर्मविपाकेषु लोकेषु निरयात्मसु ।
विरागो जायते सम्यङ्न्यस्ताग्निः प्रव्रजेत्ततः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; कर्म—सकाम कर्म द्वारा; विपाकेषु—प्राप्तव्य में; लोकेषु—ब्रह्मलोक तक के सारे लोकों में; निरय-आत्मसु—लोक जो नरकतुल्य हैं; विरागः—विरक्ति; जायते—उत्पन्न होती है; सम्यक्—पूरी तरह से; न्यस्त—त्याग कर; अग्निः—वानप्रस्थ की यज्ञ-अग्नि; प्रव्रजेत्—संन्यास ले ले; ततः—तब।

यदि यह समझते हुए कि ब्रह्मलोक को भी प्राप्त कर पाना दयनीय स्थिति है, कोई वानप्रस्थ सकाम कर्मों के सभी सम्भव परिणामों से पूर्ण विरक्ति उत्पन्न कर लेता है, तो वह संन्यास आश्रम ग्रहण कर सकता है।

इष्ट्वा यथोपदेशं मां दत्त्वा सर्वस्वमृत्विजे ।
अग्नीन्स्वप्राण आवेश्य निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

इष्ट्वा—पूज कर; यथा—के अनुसार; उपदेशम्—शास्त्रीय आदेशों; माम्—मुझको; दत्त्वा—देकर; सर्व-स्वम्—जो कुछ भी पास में हो; ऋत्विजे—पुरोहित को; अग्नीन्—यम-अग्नि को; स्व-प्राणे—अपने भीतर; आवेश्य—रख कर; निरपेक्षः—आसक्तिरहित; परिव्रजेत्—सन्यास लेकर निकल पड़े।

शास्त्रीय आदेशों के अनुसार मेरी पूजा करके तथा यज्ञ-पुरोहित को अपनी सारी सम्पत्ति देकर, उसे यज्ञ-अग्नि को अपने भीतर रख लेना चाहिए। इस तरह मन को पूर्णतया विरक्त करके वह संन्यास आश्रम में प्रवेश करे।

तात्पर्य : जब तक अपनी सारी भौतिकतावादी संगति को त्याग न दिया जाय तथा एकमात्र

भगवान् की सेवा में अपने को लगा न लिया जाय, तब तक संन्यास आश्रम को बनाये रखना मुश्किल है। कोई भी भौतिक इच्छा विरक्त जीवन बिताने में धीरे धीरे अवरोधक बनती है। इसलिए मुक्त संन्यासी को भौतकि इच्छाओं के खरपतवार से अपने को सावधानीपूर्वक मुक्त रखना चाहिए—यह खरपतवार स्त्री, धन तथा यश के प्रति आसक्ति के रूप में होती है। कोई भी सुन्दर उद्यान जो फल-फूलों से लदा हो बिना देखभाल के खरपतवार से भर जाता है। इसी तरह जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत की सुन्दर अवस्था को प्राप्त कर लेता है, वही संन्यास आश्रम ग्रहण करता है, किन्तु यदि वह सतर्क रह कर अपने हृदय को स्वच्छ नहीं रखता तो सम्भव है कि वह पुन: माया की ओर मुड़ जाय।

विप्रस्य वै सन्न्यसतो देवा दारादिरूपिण: ।
विघ्नान्कुर्वन्त्ययं ह्यस्मानाक्रम्य समियात्परम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

विप्रस्य—सन्त पुरुष का; वै—निस्सन्देह; सन्न्यसत:—संन्यास ग्रहण करते हुए; देवा:—देवतागण; दार-आदि-रूपिण:—उसकी पत्नी तथा अन्य आकर्षक वस्तुओं के रूप में प्रकट होकर; विघ्नान्—अवरोध; कुर्वन्ति—उत्पन्न करते हैं; अयम्—संन्यासी; हि—निस्सन्देह; अस्मान्—देवताओं को; आक्रम्य—पार करके; समियात्—जाय; परम्—भगवद्धाम।

देवतागण यह सोच कर कि, "संन्यास लेकर यह व्यक्ति हमसे आगे निकल कर भगवद्धाम जा रहा है" संन्यासी के मार्ग में उसकी पूर्व पत्नी या अन्य स्त्रियों तथा आकर्षक वस्तुओं के रूप में प्रकट होकर अवरोध उत्पन्न करते हैं। किन्तु संन्यासी को चाहिए कि इन देवताओं तथा उनके स्वरूपों पर कोई ध्यान न दे।

तात्पर्य : देवताओं को ब्रह्माण्ड-प्रशासन का अधिकार मिला हुआ है और अपनी शक्ति से वे संन्यासी की पत्नी या अन्य स्त्रियों के रूप में प्रकट हो सकते हैं जिससे संन्यासी अपना कठोर व्रत त्याग कर इन्द्रियतृप्ति में फँस जाता है। यहाँ पर भगवान् कृष्ण सारे संन्यासियों को यह कह कर प्रोत्साहित कर रहे हैं "ऐसे स्वरूपों पर कोई ध्यान न दो। भगवद्धाम वापस जाने का अपना कार्य करते रहो।"

बिभृयाच्चेन्मुनिर्वास: कौपीनाच्छादनं परम् ।
त्यक्तं न दण्डपात्राभ्यामन्यत्किञ्चिदनापदि ॥ १५॥

शब्दार्थ

बिभृयात्—पहने; चेत्—यदि; मुनिः—संन्यासी; वासः—वस्त्र; कौपीन—लँगोट; आच्छादनम्—आवरण, पर्दा; परम्—अन्य; त्यक्तम्—छोड़ा हुआ; न—कभी नहीं; दण्ड—अपने डंडे के अतिरिक्त; पात्राभ्याम्—तथा कमंडल; अन्यत्—अन्य; किञ्चित्—कोई वस्तु; अनापदि—जब कोई आपात्काल न हो।

यदि संन्यासी लँगोटे के अतिरिक्त भी कुछ पहनना चाहे तो वह कौपीन को ढकने के लिए अपनी कमर और कूल्हे के चारों ओर कोई आवरण इस्तेमाल कर सकता है। अन्यथा, यदि विशेष आवश्यकता न हो तो वह दण्ड तथा कमण्डलु के अतिरिक्त कुछ भी स्वीकार न करे।

तात्पर्य : भौतिक वस्तुओं के प्रति आकृष्ट संन्यासी अपनी भगवान् कृष्ण की पूजा को बिगाड़ देता है।

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम् ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

दृष्टि—देखने से; पूतम्—शुद्ध; न्यसेत्—रखे; पादम्—अपना पाँव; वस्त्र—कपड़े से; पूतम्—छाना हुआ; पिबेत्—पिये; जलम्—जल; सत्य—सत्य द्वारा; पूताम्—पवित्र; वदेत्—बोले; वाचम्—शब्द; मनः—मन से निश्चित किया हुआ; पूतम्—पवित्र; समाचरेत्—सम्पन्न करे।

सन्त पुरुष को चाहिए कि अपनी आँखों से यह निश्चित करके अपना पाँव रखे कि ऐसा कोई जीव या कीड़ा तो नहीं है, जो उसके पाँव से कुचल जायगा। उसे अपने वस्त्र के एक छोर से छान कर ही जल पीना चाहिए और ऐसे शब्द बोलने चाहिए जिनमें सचाई की शुद्धता हो। इसी प्रकार उसे वे ही कर्म करने चाहिए जिन्हें उसके मन ने शुद्ध निश्चित कर लिया हो।

तात्पर्य : चलते समय सन्त पुरुष सावधान रहता है कि पृथ्वी पर कोई छोटा प्राणी पाँवों के नीचे आकर मर न जाय। इसी तरह वह पीने वाले पानी को कपड़े से छान लेता है, जिससे पानी में रहने वाले छोटे छोटे प्राणी पेट में न चले जाँय। केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए असत्य भाषण करना भक्ति के लिए हानिप्रद है, अत: इससे बचना चाहिए। निर्विशेषवादी दर्शन का कथन और भौतिक जगत की इन्द्रियतृप्ति के गुणगान करना, चाहे स्वर्ग में ही क्यों न हो, हृदय को कलुषित बनाता है, अत: जो लोग भगवद्भक्ति में पूर्णता के इच्छुक हैं, उन्हें इससे बचना चाहिए। गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह समझ में आ जायेगा कि भगवान् कृष्ण की भक्ति के अतिरिक्त किसी भी कर्म का कोई मूल्य नहीं होता, अतएव मनुष्य को एकान्तिक रूप से कृष्णभावनामृत के शुद्ध कार्यों में ही लगना चाहिए।

मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसाम् ।
न ह्येते यस्य सन्त्यङ्ग वेणुभिर्न भवेद्यतिः ॥ १७॥

शब्दार्थ

मौन—व्यर्थ भाषण से बचना; अनीह—सकाम कर्मों का त्याग; अनिल-आयामाः—श्वास क्रिया को नियंत्रित करना; दण्डाः—अनुशासन; वाक्—वाणी; देह—शरीर का; चेतसाम्—मन का; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; एते—ये अनुशासन; यस्य—जिसके; सन्ति—होते हैं; अङ्ग—हे उद्धव; वेणुभिः—बाँस के डंडों से; न—कभी नहीं; भवेत्—होता है; यतिः—असली संन्यासी।.

जिसने व्यर्थ बोलने, व्यर्थ के कार्य करने तथा प्राण-वायु को नियंत्रण में रखने के इन तीन आन्तरिक अनुशासनों को ग्रहण नहीं किया, वह बाँस के दण्ड उठाने मात्र से संन्यासी नहीं माना जा सकता।

तात्पर्य : दण्ड शब्द संन्यासियों द्वारा लिये जाने वाले डंडे का सूचक है और कठोर अनुशासन का भी। वैष्णव संन्यासी तीन बाँस के डण्डों की बनी हुई लाठी धारण करते हैं, जो कि शरीर, मन तथा वाणी से भगवान् की सेवा में समर्पण को बतलाते हैं। यहाँ पर भगवान् कृष्ण कहते हैं कि मनुष्य को सर्वप्रथम अपने में इन तीन *दण्डों* अर्थात् अनुशासनों (वाणी, शरीर तथा मन पर नियंत्रण) को स्वीकार करना चाहिए। *अनिलायाम्* का अभ्यास (*प्राणायाम्*) मन को वश में करने के लिए होता है और जो व्यक्ति सदैव भगवान् कृष्ण की सेवा के विषय में ही सोचता है, उसे निश्चय ही प्राणायाम की सिद्धि प्राप्त हुई रहती है। मन, वाणी तथा शरीर के अनुशासन रूपी आन्तरिक दण्डों को आत्मसात किये बिना तीन बाह्य दण्ड धारण करने से ही कोई वास्तविक वैष्णव संन्यासी नहीं बन जाता जैसाकि यहाँ पर भगवान् कृष्ण बतलाते हैं।

महाभारत के *हंसगीत* भाग में तथा श्रील रूप गोस्वामी के *उपदेशामृत* में संन्यास आश्रम के विषय में शिक्षाएँ हैं। वह बद्धजीव जो *त्रिदण्डि सन्यास* के बाह्य अलंकरणों को ग्रहण करता है, वह इन्द्रियों को वश में नहीं कर सकता। जो व्यक्ति झूठी प्रतिष्ठा के लिए संन्यास लेता है और कृष्ण-कीर्तन में वास्तविक प्रगति किये बिना सन्त होने का दिखावा करता है, वह भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा शीघ्र ही विनष्ट कर दिया जायेगा।

भिक्षां चतुर्षु वर्णेषु विगर्ह्यान्वर्जयंश्चरेत् ।
सप्तागारानसङ्क्लिप्तांस्तुष्येल्लब्धेन तावता ॥ १८॥

शब्दार्थ

भिक्षाम्—भीख माँगने से प्राप्त दान; चतुर्षु—चारों; वर्णेषु—वर्णों में; विगर्ह्यान्—गर्हित, अशुद्ध; वर्जयन्—तिरस्कार करते हुए; चरेत्—पहुँचे; सप्त—सात; आगारान्—घरों में; असङ्क्लृप्तान्—बिना किसी अनुमान या इच्छा के; तुष्येत्—तुष्ट हो ले; लब्धेन—प्राप्त हुए से; तावता—उतने से ही।

जो घर दूषित तथा अस्पृश्य हों उनका तिरस्कार करके वानप्रस्थ को चाहिए कि बिना पूर्व निश्चय के सात घरों में जाय और उनमें भीख माँगने से जो भी प्राप्त हो उससे तुष्ट हो ले। आवश्यकतानुसार वह चारों वर्णों के घरों में जा सकता है।

तात्पर्य : संन्यास आश्रम को प्राप्त सन्त पुरुष भोजन तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वैदिक संस्कृति के कट्टर अनुयायियों से भीख माँग सकते हैं। वैदिक आदेशानुसार विरक्त सन्त को ब्राह्मण जाति में भीख माँगनी चाहिए, किन्तु यदि वह भूखों मरने वाला हो, तो वह क्षत्रियों से, फिर वैश्यों से तथा अन्त में शूद्रों तक से, यदि वे पापी न हों, भीख माँग सकता है जैसाकि यहाँ पर *विगर्ह्यान्* शब्द द्वारा व्यक्त हुआ है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि *असंक्लृप्तान्* यह सूचित करता है कि उसे यह सोच कर किन्हीं घरों में नहीं जाना चाहिए कि, "उस घर से मुझे उत्तम भोजन मिल सकेगा। भिखारियों में तो उसी घर की बड़ी प्रतिष्ठा है।" उसे बिना भेदभाव के सात घरों में जाना चाहिए और उनसे जो कुछ मिले उसी से संतुष्ट रहना चाहिए। अपने निर्वाह के लिए उसे उन निवासियों के घरों से ही माँगना चाहिए जो वर्णाश्रम संस्कृति के सच्चे अनुयायी हों और ईमानदारी से जीविका चला रहे हों और पापकर्मों से मुक्त हों। वह ऐसे ही घरों से भिक्षा माँगे। वह अपने निर्वाह के लिए उनसे भिक्षा न माँगे जो भगवद्भक्ति के विरोधी हैं क्योंकि वर्णाश्रम संस्कृति का पूरा उद्देश्य भक्ति ही है।

जो लोग वैदिक संस्कृति का विरोध करते हैं, वे सन्त पुरुषों द्वारा भिक्षा माँगने को अपराध-कर्म बताकर कानून बनाते हैं। इस तरह वे सन्त भिक्षुकों को सामान्य घुमक्कड़ मान कर अपमान करते हैं और दण्ड देते हैं। काम से जी चुराने वाला आलसी व्यक्ति भीख माँगे तो वह निश्चित रूप से निन्दनीय है, किन्तु एक सन्त पुरुष, जो भगवान् की सेवा में समर्पित हो और भगवान् की दया पर पूर्णतया आश्रित रहने का अभ्यास करने के लिए भिक्षा माँगता हो, उसे मानव समाज में सारी सुविधाएँ दी जानी चाहिए। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि भिक्षा माँगने के तीन रूप हैं। *माधुकर* मधुमक्खी का अनुकरण करने वाली विधि है, जिसमें मधुमक्खी प्रत्येक फूल से थोड़ा-थोड़ा अमृत एकत्र करती है। इस तरह सन्त पुरुष प्रत्येक व्यक्ति से बहुत थोड़ी मात्रा लेता है, जिससे सामाजिक

संघर्ष से बचा जाये। यहाँ पर उल्लिखित विधि *असंक्लृप्त* है, जिसमें व्यक्ति बिना भेदभाव किये सात घरों में जाता है और जो भी प्राप्त होता है उसी से संतुष्ट हो जाता है। *प्राक्प्रणीत* वह विधि है, जिसमें नियमिति दाताओं से ही निर्वाह के लिए संग्रह किया जाता है। इस सम्बन्ध में श्रील वीरराघव आचार्य ने संन्यास की आरंभिक अवस्था का वर्णन किया है, जो *कुटीचक्र* कहलाती है और इस प्रकार है : संन्यास धारण करने वाला व्यक्ति प्रारम्भिक अवस्था में अपने पुत्रों या अन्य सम्बन्धियों या शुभचिन्तकों से एक *कुटी* या ध्यान कुटिया बनाने को कहता है। वह सांसारिक कार्यों को छोड़ कर इसी कुटी के भीतर बैठता है और काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि से मुक्त रहने का प्रयास करता है। नियमित जीवन के निर्धारित आदेशों के अनुसार वह *त्रिदण्ड* धारण करता है, कमंडलु से अपने को शुद्ध करता है, अपना सिर (शिखा को छोड़ कर) घुटा देता है, जनेऊ में गायत्री मंत्र का जप करता है और गेरुवे वस्त्र धारण करता है। नियमित स्नान करना, स्वच्छ रहना, आचमन करना, जप करना, वेदाध्ययन करना, ब्रह्मचर्य व्रत रखना और भगवान् का ध्यान करना—इन सबको करते हुए वह अपने पुत्रों, मित्रों तथा सम्बन्धियों से नियमित रूप से भोजन प्राप्त करता है। न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए, वह मोक्ष पाने के क्षण तक अपनी कुटी में स्थिर रहता जाता है।

बहिर्जलाशयं गत्वा तत्रोपस्पृश्य वाग्यतः ।
विभज्य पावितं शेषं भुञ्जीताशेषमाहृतम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

बहिः—शहरी क्षेत्र से बाहर, एकान्त स्थान में; जल—पानी के; आशयम्—आगार या भण्डार में; गत्वा—जाकर; तत्र—वहाँ; उपस्पृश्य—जल के स्पर्श से शुद्ध होकर; वाक्-यतः—बिना बोले; विभज्य—ठीक से वितरित करके; पावितम्—शुद्ध किया हुआ; शेषम्—बचा हुआ; भुञ्जीत—खाये; अशेषम्—पूरी तरह; आहृतम्—भिक्षा माँग कर एकत्र किया हुआ।

वह भिक्षा माँगने से एकत्र हुआ भोजन लेकर, जनसंख्य वाले क्षेत्रों को त्याग कर एकान्त स्थान में किसी जलाशय के निकट जाये। वहाँ पर स्नान करके तथा भलीभाँति हाथ धोकर भोजन का कुछ अंश माँगने वालों में बाँटे। वह बिना बोले ऐसा करे। तब शेष बचे भाग को ठीक से साफ करके, अपनी थाली का सारा भोजन खा ले और बाद के लिए कुछ भी न छोड़े।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि सन्त पुरुष को चाहिए कि उन भौतिकतावादी व्यक्तियों से न तो तर्क-वितर्क करे, न झगड़े, जो उसके भोजन में से कुछ भाग लेना चाहते हों। *विभज्य* शब्द इसका सूचक है कि कुछ हिस्सा ऐसे लोगों को दिया जाय, जिससे उत्पात न

मचे और तब जो बचे, उसे भगवान् विष्णु को अर्पित करके, तब अपनी थाली का पूरा भोजन खा ले और आगे के लिए कुछ न छोड़े। *बहि:* शब्द बताने वाला है कि उसे सार्वजनिक स्थान में नहीं खाना चाहिए। *वाग्-यत* शब्द बताता है कि मौन होकर तथा भगवान् की कृपा का ध्यान करते हुए भोजन किया जाय।

एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः ।
आत्मक्रीड आत्मरत आत्मवान्समदर्शनः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

एकः—अकेला; चरेत्—इधर-उधर जाये; महीम्—पृथ्वी पर; एताम्—यह; निःसङ्गः—किसी भौतिक आसक्ति में बिना; संयत-इन्द्रियः—इन्द्रियों को पूरी तरह वश में करते हुए; आत्म-क्रीडः—परमात्मा के साक्षात्कार से उत्साहित; आत्म-रतः—आध्यात्मिक ज्ञान में पूर्णतया तुष्ट; आत्म-वान्—आध्यात्मिक पद पर स्थित; सम-दर्शनः—सर्वत्र समान दृष्टि से।

बिना किसी आसक्ति के, इन्द्रियों को पूरी तरह वश में करके, उत्साही बने रह कर तथा भगवान् के साक्षात्कार एवं अपने में तुष्ट सन्त पुरुष को अकेले ही पृथ्वी पर विचरण करना चाहिए। उसे सर्वत्र समदृष्टि रखते हुए आध्यात्मिक पद पर स्थिर रहना चाहिए।

तात्पर्य : जो व्यक्ति भौतिक इन्द्रियतृप्ति में लिप्त रहता है, वह हरे कृष्ण के कीर्तन में स्थिर नहीं हो सकता। वह भ्रामक इच्छाओं में बँध कर अपनी इन्द्रियों को पूरी तरह वश में नहीं रख पाता। वस्तुत: मनुष्य को चौबीसों घण्टे भगवद्भक्ति की शरण में रहना चाहिए क्योंकि ऐसी भक्ति से वह आध्यात्मिक सच्चाई के दायरे में रहता जाता है। भगवान् की महिमाओं तथा लीलाओं के साथ भगवन्नाम के कीर्तन तथा श्रवण से मनुष्य स्वभावत: भौतिक इन्द्रियतृप्ति के क्षेत्र से दूर चला जाता है। भगवान् कृष्ण तथा उनके भक्तों की सत्संगति से व्यर्थ की भौतिक संगति स्वयमेव समाप्त हो जाती है और मनुष्य बद्धजीव को भौतिक क्षेत्र से ऊपर उठाने और कृष्णभावनामृत के मुक्त पद तक ले जाने वाले वैदिक आदेशों को पूरा करने में समर्थ होता है। इस सम्बन्ध में श्रील रूप गोस्वामी ने *उपदेशामृत* (४) में कहा है—

ददाति प्रतिगृहणाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीति लक्षणम्॥

''दान में उपहार देना, दान योग्य उपहार ग्रहण करना, विश्वास में अपने मन की बात प्रकट करना, विश्वसनीय रूप से प्रश्न पूछना, प्रसाद ग्रहण करना तथा प्रसाद देना ये प्रेम के छह लक्षण है जिनमें एक

भक्त दूसरे को सहभागी बनाता है।"

इस तरह जो व्यक्ति भगवान् के भक्तों के संग रहना सीख लेता है, वह भौतिक जीवन के कल्मष से दूर रहता है। शुद्ध संगति से मनुष्य धीरे धीरे श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुणों, संगियों, लीलाओं तथा भक्ति को समझ लेता है और इस तरह इसी जीवन में ही, वह वैकुण्ठ का वासी बन सकता है। शुद्ध भक्तों की संगति में कोई भौतिक कल्मष नहीं होता और न ही व्यर्थ की कोई चर्चा होती है, क्योंकि सारे शुद्ध भक्त चौबीसों घण्टे भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगे रहते हैं। ऐसे भक्तों के प्रभाव से मनुष्य *समदर्शन* उत्पन्न कर लेता है और कृष्णभावनामृत के अनुभूत ज्ञान को सर्वत्र देखता है। ज्योंही कोई व्यक्ति भगवान् कृष्ण के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को समझने लगता है, त्योंही वह *आत्मवान* बन जाता है अर्थात् अपने स्वाभाविक पद पर स्थित हो जाता है। ऐसा महावैष्णव जो निरन्तर प्रेमाभक्ति का रसास्वादन करता है और पृथ्वी पर भगवान् के मिशन को पूरा करता है, वह *आत्म-क्रीड* है अर्थात् वह भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के भीतर जीवन का भोग करता है। महाभक्त निरन्तर भगवान् तथा उनके भक्तों के प्रति आकृष्ट रहता है अतएव वह *आत्मरत* होता है—भक्ति में निरन्तर लगे रहने से पूर्ण तुष्ट होता है। यहाँ पर उल्लिखित उच्च गुणों को भगवान् कृष्ण का शुद्ध भक्त बने बिना विकसित नहीं किया जा सकता। जो व्यक्ति भगवान् तथा उनके भक्तों से ईर्ष्या रखता है, वह कुसंगति की ओर बढ़ता है, धीरे धीरे इन्द्रियों का संयम खो बैठता है और अपवित्र जीवन के फन्दे में पड़ जाता है। अभक्तों की असंख्य किस्में भगवान् कृष्ण की ईर्ष्या रूपी वृक्ष की शाखाओं के समान हैं। इसलिए उनकी संगति हर संभव विधि से त्याग देनी चाहिए।

भगवान् की शुद्ध भक्ति के बिना मनुष्य का सम्पर्क भगवान् की इच्छा तथा मिशन से टूट जाता है और वह भगवान् की माया द्वारा सृजित अद्भुत नर-नारियों, देवताओं, देवियों, राजनीतिज्ञों, वेश्याओं की पूजा करने लगता है। इस तरह मूर्खतावश वह भगवान् के अतिरिक्त वस्तुओं को भी परम अद्भुत मानता हैं। वस्तुत: जो लोग असीम सौन्दर्य तथा आनन्द का अनुभव करना चाहते हैं उनके लिए भगवान् कृष्ण ही एकमात्र असली पूजा की वस्तु हैं। गम्भीरतापूर्वक कृष्णभावनामृत को स्वीकार करके ही कोई भगवान् कृष्ण के दिव्य पद को अनुभव करता है और धीरे धीरे इस श्लोक में उल्लिखित सारे गुण उत्पन्न कर लेता है।

विविक्तक्षेमशरणो मद्भावविमलाशयः ।
आत्मानं चिन्तयेदेकमभेदेन मया मुनिः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

विविक्त—अकेला; क्षेम—सुरक्षित; शरणः—उसका निवासस्थान; मत्—मुझमें; भाव—निरन्तर विचार से; विमल—शुद्ध; आशयः—चेतना; आत्मानम्—आत्मा के विषय में; चिन्तयेत्—केन्द्रित करे; एकम्—अकेला; अभेदेन—अभिन्न; मया—मुझसे; मुनिः—मुनि।.

मुनि को चाहिए कि सुरक्षित तथा एकान्त स्थान में रहते हुए और निरन्तर मेरे ध्यान द्वारा मन को शुद्ध करके, अपने को मुझसे अभिन्न मानते हुए एकमात्र आत्मा में अपने को एकाग्र करे।

तात्पर्य : जो व्यक्ति भगवान् के साथ पाँच प्रमुख प्रकार के सम्बन्धों में से किसी एक द्वारा भगवद्भक्ति में लगा रहता है, वह शुद्ध वैष्णव कहलाता है। भगवत्प्रेम में आगे बढ़ जाने के कारण शुद्ध भक्त बिना किसी भौतिक बाधा के भगवान् के यश का कीर्तन करने में सक्षम रहता है। वह कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी में रुचि नहीं रखता और गुणात्मक दृष्टि से अपने को भगवान् से भिन्न नहीं मानता। जो व्यक्ति इतने पर भी नित्य आत्मा को आच्छादित करने वाली स्थूल देह तथा सूक्ष्म मन के द्वारा आकृष्ट होता रहता है, वही अपने को भगवान् से भिन्न देखता है। यह भ्रान्ति पदार्थ के साथ मिथ्या पहचान के कारण होती है। मनुष्य को चाहिए कि भौतिक कल्मष से रहित इन्द्रियों के द्वारा समस्त इन्द्रियों के स्वामी भगवान् की सेवा करे। इस तरह की गई भक्ति त्रुटिरहित मानी जाती है।

जो व्यक्ति वैदिक साहित्यक आदेशों की अवहेलना करता है, वह व्यर्थ ही मायामय कार्यों में अपनी इन्द्रियों की गतिशीलता को नष्ट करता है। वह झूठे ही अपने को भगवान् कृष्ण से भिन्न मानता है और इस तरह कल्पना करता है कि उसकी रुचि भगवान् की रुचि से स्वतंत्र है। ऐसे व्यक्ति द्वारा जीवन-स्थैर्य प्राप्त कर पाना असम्भव होता है क्योंकि काल के बाधक प्रभाव से कर्म का क्षेत्र निरन्तर बदलता रहता है। यदि भक्त भगवान् की भक्ति को छोड़ कर कोई रुचि उत्पन्न करता है, तो भगवान् से एकात्मता का उसका ध्यान विचलित होकर पलट जायेगा। जब मन भगवान् के चरणकमलों से विपथ होता है, तो भौतिक प्रकृति की द्वैतता मन में प्रधान हो उठती है और तब मनुष्य प्रकृति के तीन गुणों पर आधारित कार्यक्रम चलाने लगता है। जो व्यक्ति भगवान् के प्रति अपने सम्बन्ध में स्थिर नहीं होता वह निडर या स्थिर नहीं हो सकता और भगवान् श्रीकृष्ण की शरण से वंचित रह जाता है। इसलिए इस श्लोक में हुए वर्णन के अनुसार मनुष्य को अपनी पहचान चेतना के क्षुद्र कण के रूप में करनी चाहिए

जो परम चेतना, श्रीकृष्ण, से भिन्न नहीं है। इस प्रकार मनुष्य को कृष्णभावनामृत में स्थिर रहना चाहिए।

अन्वीक्षेतात्मनो बन्धं मोक्षं च ज्ञाननिष्ठया ।
बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषां च संयमः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अन्वीक्षेत—सतर्क अध्ययन द्वारा देखे; आत्मनः—आत्मा का; बन्धम्—बन्धन; मोक्षम्—मोक्ष; च—भी; ज्ञान—ज्ञान में; निष्ठया—स्थिरता द्वारा; बन्धः—बन्धन; इन्द्रिय—इन्द्रियों का; विक्षेपः—इन्द्रियतृप्ति की ओर विचलन; मोक्षः—मोक्ष; एषाम्—इन इन्द्रियों के; च—भी; संयमः—पूर्ण नियंत्रण।

मुनि को चाहिए कि स्थिर ज्ञान द्वारा वह आत्मा के बन्धन तथा मोक्ष की प्रकृति को निश्चित कर ले। बन्धन तब होता है जब इन्द्रियाँ इन्द्रियतृप्ति की ओर चलायमान होती हैं और इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण ही मोक्ष है।

तात्पर्य : अपने नित्य स्वभाव को भलीभाँति समझ लेने पर मनुष्य पुनः भौतिक शक्ति के बन्धन में नहीं बँधता और परब्रह्म की निरन्तर सेवा में लगे रहने से वह मोक्ष प्राप्त करता है। तब चलायमान इन्द्रियाँ उसे भौतिक भोक्ता होने की मिथ्या चेतना की ओर नहीं खींच ले जायेंगी। ऐसा दृढ़ इन्द्रिय नियंत्रण उसे भौतिक इन्द्रियतृप्ति की यातना से राहत दिलाता है।

तस्मान्नियम्य षड्वर्गं मद्भावेन चरेन्मुनिः ।
विरक्तः क्षुद्रकामेभ्यो लब्ध्वात्मनि सुखं महत् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; नियम्य—पूरी तरह नियंत्रित करके; षट्-वर्गम्—छहों इन्द्रियों को (दृष्टि, श्रवण, घ्राण, स्पर्श, स्वाद तथा मन); मत्-भावेन—मेरी चेतना द्वारा; चरेत्—रहे; मुनिः—मुनि; विरक्तः—विरक्त; क्षुद्र—नगण्य; कामेभ्यः—इन्द्रियतृप्ति से; लब्ध्वा—अनुभव करके; आत्मनि—स्वयं में; सुखम्—सुख; महत्—महान।

इसलिए पाँचों इन्द्रियों तथा मन को कृष्णभावनामृत द्वारा पूर्ण नियंत्रण में रखते हुए, मुनि को अपने भीतर आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव करके, क्षुद्र इन्द्रियतृप्ति से विरक्त हो जाना चाहिए।

पुरग्रामव्रजान्सार्थान्भिक्षार्थं प्रविशंश्चरेत् ।
पुण्यदेशसरिच्छैलवनाश्रमवतीं महीम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

पुर—शहर; ग्राम—गाँव; व्रजान्—तथा चरागाह; स-अर्थान्—जीवन-निर्वाह के लिए कार्य करने वाले; भिक्षा-अर्थम्—भीख माँगने के लिए; प्रविशन्—प्रवेश करते हुए; चरेत्—विचरण करे; पुण्य—शुद्ध; देश—स्थान; सरित्—नदियों; शैल—पर्वत; वन—तथा जंगलों सहित; आश्रम-वतीम्—ऐसे निवास-स्थानों वाली; महीम्—पृथ्वी।.

मुनि को चाहिए कि वह पवित्र स्थानों में बहती नदियों के किनारे तथा पर्वतों एवं जंगलों के एकान्त में घूमे। वह अपने जीवन-निर्वाह के लिए भिक्षा माँगने के लिए ही, शहरों, ग्रामों तथा चरागाहों में प्रवेश करे और सामान्य कामकाजी लोगों के पास जाये।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार, *पुर* शब्द बाजारों तथा व्यापारिक केन्द्रों वाले शहरों तथा कस्बों का द्योतक है और *ग्राम* छोटे-छोटे कस्बों का, जिनमें ऐसी सुविधाएँ नहीं होतीं। जो वानप्रस्थ या संन्यासी भौतिक आसक्ति से छूटना चाहता हो, उसे चाहिए कि इन्द्रियतृप्ति के लिए दिन-रात कार्य करने वाले लोगों से दूर रहे और उनके पास उन्हें दान के कार्य में संलग्न करने के लिए ही जाय। जो लोग विश्व-भर में कृष्णभावनामृत का प्रचार कर रहे हैं, वे मुक्तात्मा माने जाते हैं अतएव वे भौतिकतावादी जीवों को कृष्ण-भक्ति में लगाने के लिए निरन्तर उनके पास पहुँचते रहते हैं। किन्तु ऐसे प्रचारकों को भी भौतिकतावादी जगत के सम्पर्क से बचना चाहिए, जब तक कि उन्हें कृष्णभावनामृत कार्य को अग्रसर करने के लिए आवश्यक न हो। आदेश यह है कि भौतिकतावादी जगत से व्यर्थ का नाता न जोड़े।

वानप्रस्थाश्रमपदेष्वभीक्ष्णं भैक्ष्यमाचरेत् ।
संसिध्यत्याश्वसम्मोहः शुद्धसत्त्वः शिलान्धसा ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

वानप्रस्थ-आश्रम—वानप्रस्थ आश्रम के; पदेषु—पद पर; अभीक्ष्णम्—सदैव; भैक्ष्यम्—भिक्षा माँगना; आचरेत्—सम्पन्न करे; संसिध्यति—आध्यात्मिक रूप से सिद्ध बनता है; आशु—तुरन्त; असम्मोहः—मोह से मुक्त; शुद्ध—शुद्ध; सत्त्वः—अस्तित्व; शील—भिक्षा से या बीन कर प्राप्त; अन्धसा—भोजन से।.

वानप्रस्थ आश्रम में जीवन बिताने वाले को चाहिए कि वह अन्यों से दान लेता रहे क्योंकि इससे वह मोह से छूट जाता है और शीघ्र ही आध्यात्मिक जीवन में सिद्ध बन जाता है। निस्सन्देह, जो इस विनीत भाव से प्राप्त भोजन से अपना पेट पालता है, उसका जीवन शुद्ध हो जाता है।

तात्पर्य : पाश्चात्य देशों के लोग सामान्यतया इतने मन्दबुद्धि होते हैं कि वे एक सन्त भिक्षुक तथा सामान्य हिप्पी में अन्तर नहीं कर पाते। सन्त भिक्षुक सदैव भगवान् की प्रामाणिक भक्ति में लगा रहता

है और उतना ही स्वीकार करता है जितने से जीवन-निर्वाह हो सके। प्रस्तुतलेखक को स्मरण है कि जब वह कृष्णभावनामृत संघ में आया तो वह एक उद्धत विश्वविद्यालय का छात्र था, किन्तु कृष्ण के नाम पर जब सड़कों पर भिक्षा माँगने लगा, तो तुरन्त ही विनम्र बन गया। यह विधि सैद्धान्तिक नहीं, अपितु अन्यों को आदर देने के लिए बाध्य करके मनुष्य जीवन को शुद्ध बनाने वाली है। जब तक कोई व्यक्ति अन्यों को सम्मान नहीं देता उसका भीख माँगना व्यर्थ है। यही नहीं, भीख माँगने से वह प्राय: बहुत अच्छा भोजन नहीं कर पाता। यह अच्छा है क्योंकि जब जीभ वश में हो जाय तो अन्य इन्द्रियाँ तुरन्त शान्त हो जाती हैं। वानप्रस्थी को अपने भोजन के लिए भिक्षा माँगने की शुद्धिकारक विधि कभी नहीं छोड़नी चाहिए और सामान्य लोगों को चाहिए कि सन्त भिक्षुक को, जो परमेश्वर के लिए उच्चतर कार्यों में लगा रहता है, मूर्खतावश हिप्पियों जैसा नहीं मानें।

नैतद्वस्तुतया पश्येद्दृश्यमानं विनश्यति ।
असक्तचित्तो विरमेदिहामुत्रचिकीर्षितात् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; एतत्—इसे; वस्तुतया—चरम सत्य के रूप में; पश्येत्—देखे; दृश्यमानम्—प्रत्यक्ष अनुभव से दिखने वाला; विनश्यति—नष्ट हो जाता है; असक्त—आसक्ति रहित; चित्त:—चेतना वाला; विरमेत्—विरक्त हो ले; इह—इस जगत में; अमुत्र—तथा भावी जीवन में; चिकीर्षितात्—भौतिक प्रगति के लिए सम्पन्न किये जाने वाले कार्यों से।

मनुष्य को चाहिए कि जो भौतिक वस्तुएँ नष्ट हो जायेंगी, उन्हें चरम सत्य के रूप में न देखे। भौतिक आसक्ति से रहित चेतना द्वारा उसे उन सारे कार्यों से विलग हो जाना चाहिए जो इस जीवन में तथा अगले जीवन की भौतिक प्रगति के निमित्त हों।

तात्पर्य : किसी को यह शंका हो सकती है कि एक भद्र पुरुष किस तरह पारिवारिक जीवन से विलग होकर भिक्षुक की तरह थोड़ा-सा भोजन करके रह सकता है। इसका उत्तर देते हुए यहाँ पर भगवान् कहते हैं कि अच्छे स्वादिष्ट भोजन तथा अन्य सारी भौतिक वस्तुओं को, यथा शरीर ही को, कभी चरम सत्य नहीं मानना चाहिए क्योंकि ये स्पष्टया नाशवान वस्तुएँ हैं। उसे इस जीवन तथा अगले जीवन में ही ऐसे भौतिक कार्यक्रमों से अलग हो लेना चाहिए जो उसके मोह का वर्धन करें।

यदेतदात्मनि जगन्मनोवाक्प्राणसंहतम् ।
सर्वं मायेति तर्केण स्वस्थस्त्यक्त्वा न तत्स्मरेत् ॥ २७॥

शब्दार्थ

यत्—जो; एतत्—यह; आत्मनि—भगवान् में; जगत्—ब्रह्माण्ड; मनः—मन; वाक्—वाणी; प्राण—तथा प्राण-वायु से; संहतम्—निर्मित; सर्वम्—समस्त; माया—भौतिक मोह; इति—इस प्रकार; तर्केण—तर्क-वितर्क द्वारा; स्व-स्थः—अपने में स्थिर; त्यक्त्वा—त्याग कर; न—कभी नहीं; तत्—वह; स्मरेत्—स्मरण करे।.

उसे चाहिए कि भगवान् के भीतर स्थित ब्रह्माण्ड तथा मन, वाणी एवं प्राण-वायु से निर्मित अपने भौतिक शरीर को तर्क-वितर्क द्वारा भगवान् की मायाशक्ति का ही प्रतिफल माने। इस तरह अपने में स्थित होकर उसे इन वस्तुओं से अपनी श्रद्धा हटा लेनी चाहिए और उन्हें फिर कभी अपने ध्यान की वस्तु नहीं बनानी चाहिए।

तात्पर्य : प्रत्येक बद्धजीव इस जगत को अपनी निजी इन्द्रियतृप्ति की वस्तु मानता है इसलिए भौतिक शरीर को अपनी वास्तविक पहचान मानता है। *त्यक्त्वा* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य को भौतिक जगत तथा भौतिक देह के साथ झूठी पहचान करना त्याग देना चाहिए क्योंकि दोनों ही भगवान् की माया के प्रतिफल हैं। उसे भौतिक जगत तथा भौतिक देह को फिर कभी इन्द्रियतृप्ति के विषयों के रूप में नहीं सोचना चाहिए, अपितु उसे कृष्णभावनामृत में स्थिर हो जाना चाहिए। भगवान् की भौतिक शक्ति चेतनारहित है, अतएव वह वास्तविक सुख का आधार नहीं बन सकती। स्वयं भगवान् ही एकमात्र परम चेतन जीव हैं। वे नितान्त आत्माराम हैं और विष्णु रूप में अकेले खड़े रहते हैं। एकमात्र विष्णु ही हमें जीवन की वास्तविक सिद्धि प्रदान कर सकते हैं, भौतिक प्रकृति की क्षुद्र कार्यप्रणाली नहीं।

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः ।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

ज्ञान—दार्शनिक ज्ञान के प्रति; निष्ठः—समर्पित; विरक्तः—भौतिक स्वरूपों से विरक्त; व—या तो; मत्-भक्तः—मेरा भक्त; वा—अथवा; अनपेक्षकः—मोक्ष भी न चाहने वाला; स-लिङ्गान्—अनुष्ठानों तथा बाह्य विधानों सहति; आश्रमान्—किसी आश्रम से सम्बद्ध कर्तव्यों को; त्यक्त्वा—त्याग कर; चरेत्—आचरण करे; अविधि-गोचरः—विधि-विधानों की परिधि से बाहर।.

ज्ञान के अनुशीलन के प्रति समर्पित तथा बाह्य पदार्थों से विरक्त हुआ विद्वान अध्यात्मवादी (योगी) या मोक्ष की भी इच्छा से विरक्त मेरा भक्त—ये दोनों ही, उन कर्तव्यों की उपेक्षा करते हैं, जो बाह्य अनुष्ठानों अथवा साज-सामग्री पर आधारित होते हैं। इस तरह उनका आचरण विधि-विधानों की सीमा से परे होता है।

तात्पर्य : यह श्लोक जीवन की *परमहंस अवस्था* को बताता है, जिसमें अनुष्ठान करने या बाह्य साज-सामग्री तथा विधि-विधानों की आवश्यकता नहीं रहती। मोक्ष की खोज करने वाला पूर्णतया स्वरूपसिद्ध ज्ञानयोगी या, इससे भी आगे, भगवान् का पूर्ण भक्त जो मोक्ष भी नहीं चाहता, वह और अधिक भौतिक व्यस्तता की इच्छा नहीं करता। जब कोई व्यक्ति मन को पूरी तरह शुद्ध कर लेता है, तो पापपूर्ण आचरण की सम्भावना नहीं रहती। विधि-विधान तो उनके लिए हैं, जो अज्ञान में रह कर कर्म करने की ओर उन्मुख होते हैं या निजी तृप्ति के लिए ऐसा करते हैं। किन्तु जो व्यक्ति आध्यात्मिक चेतना में पूर्ण होता है, वह मुक्त होकर विचरण कर सकता है, जैसाकि भगवान् ने यहाँ कहा है। जो व्यक्ति अंधाधुंध मोटर-कार चलाना चाहता है या स्थानीय सड़क की हालत से परिचित नहीं होता, उसके लिए सड़क के चिह्नों का अनुशासन तथा यातायात के नियमों का पुलिस द्वारा लागू किया जाना आवश्यक होता है। किन्तु नितान्त सावधान चालक स्थानीय सड़कों की हालत से पूरी तरह परिचित रहता है। उसे न तो गति-सीमा तथा सावधानी के चिह्नों की आवश्यकता होती है न इन नियमों के लागू करने वाले अधिकारियों की। भगवान् का शुद्ध भक्त भगवान् की सेवा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहता। वह सभी निषेधात्मक एवं विध्यात्मक आदेशों का स्वयमेव पालन करता है, जो कृष्ण का सदा स्मरण करना और उन्हें कभी न भूलना है। किन्तु किसी को बनावटी परमहंस भक्त के उच्च पद की नकल नहीं करनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने से उसका आध्यात्मिक जीवन तुरन्त नष्ट हो जायेगा।

पिछले श्लोकों में भगवान् ने जीवन के विभिन्न आश्रमों के अनुष्ठानों, साज-सामग्री तथा अनुशासनों का विस्तार से वर्णन किया है। उदाहरणार्थ, संन्यासी त्रिदण्ड तथा कमण्डलु धारण करता है और विशेष ढंग से खाता-पीता तथा रहता है। परमहंस भक्त भौतिक जगत से सारी आसक्ति तथा रुचि त्याग देता है, जिससे वह वैराग्य के ऐसे बाह्य लक्षणों से आकृष्ट नहीं होता।

बुधो बालकवत्क्रीडेत्कुशलो जडवच्चरेत् ।
वदेदुन्मत्तवद्विद्वान्गोचर्यां नैगमश्चरेत् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

बुधः—यद्यपि बुद्धिमान; बालक-वत्—बच्चे के समान (मान-अपमान का ध्यान न रखते हुए); क्रीडेत्—जीवन का भोग करे; कुशलः—यद्यपि दक्ष; जड-वत्—जड़ व्यक्ति की तरह; चरेत्—कार्य करे; वदेत्—बोले; उन्मत्त-वत्—विक्षिप्त की तरह; विद्वान्—विद्वान होने पर भी; गो-चर्याम्—अनियंत्रित आचरण; नैगमः—वैदिक आदेशों में दक्ष होते हुए भी; चरेत्—सम्पन्न करे।

परम चतुर होते हुए भी परमहंस को चाहिए कि मान-अपमान को भुलाकर बालक के समान जीवन का भोग करे, परम दक्ष होते हुए भी जड़ तथा अकुशल व्यक्ति की तरह आचरण करे, परम विद्वान होते हुए भी विक्षिप्त व्यक्ति की तरह बोले तथा वैदिक विधियों का पंडित होते हुए भी अनियंत्रित ढंग से आचरण करे।

तात्पर्य : इस भय से कि कभी कभी लोग परम स्वरूपसिद्ध व्यक्ति की जिस प्रकार अत्यधिक प्रतिष्ठा करते हैं, उससे उसका मन विचलित न हो जाये, *परमहंस संन्यासी* अपने पद को छिपाता है, जैसाकि इस श्लोक में वर्णित है। ऐसा व्यक्ति न तो जनता को प्रसन्न करने का प्रयास करता है, न ही सामाजिक प्रतिष्ठा चाहता है क्योंकि उसके जीवन का मिशन भौतिक जगत से विरक्त रहना तथा भगवान् को सदैव प्रसन्न रखना है। यद्यपि वह सामान्य विधि-विधानों की उपेक्षा करता है, किन्तु वह पापी या अनैतिक नहीं बनता, प्रत्युत वह धार्मिक अनुष्ठानों की अवहेलना करता है जैसे विशेष प्रकार से वस्त्र पहनना तथा विशेष अनुष्ठानों एवं तपस्याओं का आचरण करना।

जिन भगवद्भक्तों ने भगवन्नाम का प्रसार करने में अपना जीवन अर्पित कर दिया है, उन्हें चाहिए कि कृष्णभावनामृत को इस दक्षता से प्रस्तुत करें कि आम जनता को सुहावना लगे और वे इसे स्वीकार कर सकें। जो लोग प्रचार-कार्य करते हैं उन्हें मिशनरी उन्नति के नाम पर अपनी प्रतिष्ठा को अग्रसर करने का प्रयास किये बिना, श्रीकृष्ण को लोकप्रिय बनाने की कोशिश करनी चाहिए। जो परमहंस कृष्णभावनामृत वितरण-कार्य में न लगा हो, उसे जनता के अभिमत से किसी प्रकार का लगाव नहीं रखना चाहिए।

वेदवादरतो न स्यान्न पाषण्डी न हैतुकः ।
शुष्कवादविवादे न कञ्चित्पक्षं समाश्रयेत् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

वेद-वाद—वेदों के कर्मकाण्ड अनुभाग में; रतः—लगा हुआ; न—कभी नहीं; स्यात्—हो; न—न तो; पाषण्डी—नास्तिक, वैदिक आदेशों के विरुद्ध; न—न ही; हैतुकः—कोरा तार्किक या संशयवादी; शुष्क-वाद—व्यर्थ के विषयों के; विवादे—तर्क-वितर्क में; न—कभी नहीं; कञ्चित्—कोई; पक्षम्—पक्ष; समाश्रयेत्—ग्रहण करे।

भक्त को न तो वेदों के कर्मकाण्ड अनुभाग में उल्लिखित सकाम अनुष्ठानों में लगना चाहिए, न ही वैदिक आदेशों के विरुद्ध कार्य करके या बोल कर नास्तिक बनना चाहिए। इसी तरह उसे न तो निरे तार्किक या संशयवादी की तरह बोलना चाहिए न व्यर्थ के वाद-विवाद में

किसी का पक्ष लेना चाहिए।

तात्पर्य : यद्यपि परमहंस भक्त अपने उच्च पद को छिपाता है, किन्तु अपने को छिपाने का प्रयास करने वाले के लिए भी कुछ कार्यों का निषेध है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि छिपाने के नाम पर उसे भूत-प्रेत नहीं बन जाना चाहिए। *पाषण्ड* शब्द द्योतक है वेदों का विरोध करने वाले नास्तिक दर्शन का यथा बौद्धमत। *हैतुक* शब्द द्योतक है भौतिक तर्क या प्रयोग द्वारा प्रदर्शित किये जा सकने वाले को मानने वाले का। चूँकि वेदों का सारा उद्देश्य उसे समझना है, जो भौतिक अनुभव के परे है, अतएव संशयवादी का तथाकथित तर्क आध्यात्मिक उन्नति के लिए असंगत है। श्रील जीव गोस्वामी ने इस सम्बन्ध में चेतावनी दी है कि भक्त को नास्तिक साहित्य नहीं पढ़ना चाहिए भले ही नास्तिकता का खण्डन उसका उद्देश्य हो। ऐसे साहित्य से पूरी तरह बचना चाहिए। उपर्युक्त निषिद्ध कार्य कृष्णभावनामृत की प्रगति में इतने अहितकर हैं कि इन्हें बाहरी दिखावे के लिए भी ग्रहण नहीं करना चाहिए।

नोद्विजेत जनाद्धीरो जनं चोद्वेजयेन्न तु ।
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ।
देहमुद्दिश्य पशुवद्वैरं कुर्यान्न केनचित् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; उद्विजेत—विचलित या भयभीत हो; जनात्—अन्य लोगों के कारण; धीरः—सन्त पुरुष; जनम्—अन्य लोग; च—भी; उद्वेजयेत्—डराये या विचलित करे; न—कभी नहीं; तु—निस्सन्देह; अति-वादान्—अपमानजनक या कटु वचन; तितिक्षेत—सहन करे; न—कभी नहीं; अवमन्येत—कम करके माने; कञ्चन—कोई भी; देहम्—शरीर; उद्दिश्य—के हेतु; पशु-वत्—जानवर के समान; वैरम्—दुश्मनी, शत्रुता; कुर्यात्—उत्पन्न करे; न—कभी नहीं; केनचित्—किसी से।.

सन्त पुरुष को चाहिए कि वह न तो किसी के डराने या विचलित करने से डरे, न ही अन्य लोगों को डराये-धमकाये। उसे अन्यों द्वारा किया गया अपमान सहना चाहिए और कभी किसी को छोटा नहीं समझना चाहिए। भौतिक शरीर के लिए वह किसी से शत्रुता न उत्पन्न करे क्योंकि तब वह पशु-तुल्य होगा।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

तृणाद् अपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।

अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥

"मनुष्य को चाहिए कि अपने को तिनके से भी निम्न मानते हुए विनीत भाव से भगवन्नाम का कीर्तन करे। उसे वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु, मिथ्या प्रतिष्ठा के भाव से रहित तथा अन्यों को सम्मान देने के लिए उद्यत रहना चाहिए। ऐसी मन:स्थिति में भगवन्नाम का निरन्तर कीर्तन किया जा सकता है।"

वैष्णव को चाहिए कि मन, वचन या शरीर से किसी अन्य जीव को विचलित न करे। उसे सदैव सहिष्णु होना चाहिए और अन्यों को छोटा नहीं मानना चाहिए। यद्यपि एक वैष्णव भगवान् कृष्ण के लिए असुरों के विरुद्ध कठोर कदम उठा सकता है—जैसाकि अर्जुन, हनुमान तथा अन्य अनेक भक्तों ने किया—किन्तु जहाँ तक अपनी ख्याति का प्रश्न है एक वैष्णव अत्यन्त विनीत होता है।

एक एव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थित: ।
यथेन्दुरुदपात्रेषु भूतान्येकात्मकानि च ॥ ३२॥

शब्दार्थ

एक:—एक; एव—निस्सन्देह; पर:—परम; हि—निश्चय ही; आत्मा—भगवान्; भूतेषु—सारे शरीरों के भीतर; आत्मनि—जीव के भीतर; अवस्थित:—स्थित; यथा—जिस प्रकार; इन्दु:—चन्द्रमा; उद—जल के; पात्रेषु—विभिन्न जलाशयों में; भूतानि—सारे शरीर; एक—एक परमेश्वर की; आत्मकानि—शक्ति से बने; च—भी।

एक ही परमेश्वर समस्त भौतिक शरीरों के भीतर तथा हर एक की आत्मा के भीतर स्थित है। जिस तरह चन्द्रमा असंख्य जलाशयों में प्रतिबिम्बित होता है, उसी तरह परमेश्वर एक होकर भी हर एक के भीतर उपस्थित है। इस तरह हर भौतिक शरीर अन्तत: एक ही भगवान् की शक्ति से बना है।

तात्पर्य : सारे भौतिक शरीर एक ही प्रकृति से बने हैं, जो अंतत: एक ही परमेश्वर की शक्ति है। इसलिए किसी जीव के प्रति वैर-भाव को उचित नहीं ठहराया जा सकता। पृथ्वी पर भगवान् के मिशन को पूरा करने के लिए ईश्वर के प्रामाणिक प्रतिनिधि कभी भी किसी के प्रति ईर्ष्यालु या शत्रुवत् नहीं बनते, यहाँ तक कि उन्हें ईश्वर के नियमों का खुला उल्लंघन करने वालों द्वारा प्रताड़ित ही क्यों न किया जा रहा हो। प्रत्येक जीव अन्ततोगत्वा ईश्वर का पुत्र है और ईश्वर हर एक के शरीर के भीतर विद्यमान हैं, अतएव सन्तों को तुच्छ से तुच्छ व्यक्ति याप्राणी के साथ बर्ताव करते समय भी अत्यन्त सावधान रहना चाहिए।

अलब्ध्वा न विषीदेत काले कालेऽशनं क्वचित् ।
लब्ध्वा न हृष्येद्धृतिमानुभयं दैवतन्त्रितम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अलब्ध्वा—न मिलने पर; न—नहीं; विषीदेत—दुखी हो; काले काले—विभिन्न समयों पर; अशनम्—भोजन; क्वचित्—जो भी; लब्ध्वा—पाकर; न—नहीं; हृष्येत्—हर्षित हो; धृति-मान्—संकल्प वाला; उभयम्—दोनों (अच्छा भोजन पाने तथा न पाने पर); दैव—ईश्वर की परम शक्ति के; तन्त्रितम्—वश में।

यदि किसी को विभिन्न समयों पर उचित भोजन नहीं मिलता, तो उसे दुखी नहीं होना चाहिए और जब उसे अच्छा भोजन मिले तो हर्षित नहीं होना चाहिए। दृढ़ संकल्प करके उसे दोनों ही स्थितियों को ईश्वर के अधीन समझना चाहिए।

तात्पर्य : चूँकि हम भौतिक शरीर का भोग करना चाहते हैं अतएव नाना प्रकार के भौतिक अनुभवों से हमें क्षणिक सुख तथा अनिवार्य दुख मिलते हैं। हम मूर्खतावश अपने को नियंत्रक तथा कर्ता मान बैठते हैं और इस तरह झूठे अहं से हमें शरीर तथा मन की क्षणिक भावनाएँ सहनी होती हैं।

आहारार्थं समीहेत युक्तं तत्प्राणधारणम् ।
तत्त्वं विमृश्यते तेन तद्विज्ञाय विमुच्यते ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

आहार—भोजन; अर्थम्—के हेतु; समीहेत—प्रयास करे; युक्तम्—उचित; तत्—व्यक्ति का; प्राण—जीवनी-शक्ति; धारणम्—धारण करते हुए; तत्त्वम्—आध्यात्मिक सत्य; विमृश्यते—चिन्तन किया जाता है; तेन—मन, इन्द्रिय तथा प्राण के उस बल पर; तत्—वह सत्य; विज्ञाय—जान कर; विमुच्यते—मुक्त हो जाता है।

आवश्यकता पड़े तो उसे चाहिए कि पर्याप्त भोजन पाने के लिए प्रयास करे क्योंकि स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए यह आवश्यक तथा उचित है। इन्द्रियाँ, मन तथा प्राण के स्वस्थ रहने पर, वह आध्यात्मिक सत्य का चिन्तन कर सकता है और सत्य समझने पर वह मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : यदि भोजन अपने आप या भिक्षाटन से नहीं आ पाता, तो अपने शरीर तथा आत्मा को बनाये रखने के लिए उसे प्रयत्न करना चाहिए, जिससे आध्यात्मिक कार्यक्रम में विघ्न न आये। सामान्यतया जो लोग आध्यात्मिक जीवन के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, वे सत्य पर एकाग्र नहीं रह सकते, यदि उनके मन तथा शरीर कम खाने से क्षीण पड़ जाँय। दूसरी ओर अत्यधिक भोजन करना आध्यात्मिक प्रगति में सबसे बड़ा व्यवधान है, अत: उसे त्याग देना चाहिए। इस श्लोक में *आहारार्थम्* शब्द सूचक है आध्यात्मिक प्रगति के लिए अपने को स्वस्थ बनाये रखने के लिए ही भोजन करने का।

यह अनावश्यक रूप से भिक्षा-संग्रह का समर्थन नहीं करता। यदि कोई व्यक्ति आध्यात्मिक कार्यक्रम के लिए आवश्यकता से अधिक संग्रह करता है, तो यह अधिक संग्रह उस भारी बोझ के समान बन जाता है, जो उसे भौतिक पद तक घसीट ले जाता है।

यदृच्छयोपपन्नान्नमद्याच्छ्रेष्ठमुतापरम् ।
तथा वासस्तथा शय्यां प्राप्तं प्राप्तं भजेन्मुनिः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यदृच्छया—मनमाना; उपपन्न—अर्जित; अन्नम्—भोजन; अद्यात्—खाये; श्रेष्ठम्—उत्तम; उत—अथवा; अपरम्—निम्न जाति का; तथा—उसी तरह; वासः—वस्त्र; तथा—उसी तरह; शय्याम्—बिस्तर; प्राप्तम् प्राप्तम्—अपने आप मिल जाने वाला; भजेत्—स्वीकार करे; मुनिः—मुनि।

मुनि को चाहिए कि अपने आप मिल जाने वाला उत्तम या निम्न कोटि का जैसा भी भोजन, वस्त्र तथा बिस्तर हो, उसे स्वीकार करे।

तात्पर्य : कभी तो बिना प्रयास के उत्तम भोजन मिलेगा और कभी बेस्वाद भोजन प्राप्त होगा। अतः मुनि को चाहिए कि उत्तम भोजन मिलने पर न तो हर्षित हो न अपने आप मिलने वाले सामान्य भोजन को क्रोधवश ठुकराये। यदि भोजन नहीं आता, तो उसे भूखों नहीं मरना चाहिए। इन श्लोकों से प्रकट है कि मुनि में भी पर्याप्त व्यावहारिक बुद्धि होनी चाहिए।

शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनया चरेत् ।
अन्यांश्च नियमाञ्ज्ञानी यथाहं लीलयेश्वरः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

शौचम्—सामान्य स्वच्छता; आचमनम्—जल से हाथ साफ करना; स्नानम्—स्नान करना; न—नहीं; तु—निस्सन्देह; चोदनया—बलपूर्वक; चरेत्—सम्पन्न करे; अन्यान्—अन्य; च—भी; नियमान्—नियमित कार्य; ज्ञानी—जिसने मेरा ज्ञान प्राप्त कर लिया है; यथा—जिस तरह; अहम्—मैं; लीलया—स्वेच्छा से; ईश्वरः—परमेश्वर।

जिस तरह मैं भगवान् होते हुए, स्वेच्छा से अपने नैत्यिक कर्म करता हूँ, उसी तरह मेरा ज्ञान प्राप्त कर चुकने वाले को सामान्य स्वच्छता बरतनी चाहिए, अपने हाथों को जल से साफ करना चाहिए, स्नान करना चाहिए और अन्य नियमित कार्यों को किसी दबाव से नहीं बल्कि स्वेच्छा से सम्पन्न करना चाहिए।

तात्पर्य : जब भगवान् इस जगत में अवतरित होते हैं, तो वे मानव जाति के समक्ष उचित दृष्टान्त प्रस्तुत करने के लिए सामान्यतया वैदिक नियमों का पालन करते हैं। भगवान् स्वेच्छा से कार्य करते हैं

क्योंकि उन्हें कोई भी व्यक्ति बाध्य नहीं कर सकता। इसी प्रकार *ज्ञानी* जो आध्यात्मिक पद को प्राप्त होता है, उसे स्वेच्छा से शरीर-सम्बन्धी नैत्यिक कर्म करने चाहिए, विधि-विधानों के दास रूप में नहीं। ज्ञानी तो कृष्ण का दास होता है, विधि-विधानों का नहीं। तो भी एक योगी भगवान् की प्रसन्नता के लिए नैत्यिक कर्म निष्ठापूर्वक करता है। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति में बढ़ा-चढ़ा होता है, वह भगवान् की इच्छानुसार स्वत: हिलता-डुलता है। ज्ञानी कभी भी न तो भौतिक शरीर का दास बन सकता है, न शरीर से सम्बद्ध नियमों का। किन्तु इस श्लोक का तथा वैदिक शास्त्रों केअन्य ऐसे ही कथनों का गलत अर्थ लगाकर अनैतिक मनमाने आचरण को परिपुष्ट नहीं किया जा सकता। भगवान् कृष्ण जीवन की परमहंस अवस्था का वर्णन कर रहे हैं। जो लोग भौतिक शरीर के प्रति आसक्त हैं, उन्हें इस परमहंस अवस्था से कुछ भी लेना-देना नहीं है, न ही उन्हें इस अद्वितीय पद का दुरुपयोग करना चाहिए।

न हि तस्य विकल्पाख्या या च मद्वीक्षया हता ।
आदेहान्तात्क्वचित्ख्यातिस्तत: सम्पद्यते मया ॥ ३७॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निश्चय ही; तस्य—ज्ञान का; विकल्प—कृष्ण से पृथक् किसी वस्तु की; आख्या—अनुभूति; या—जो; च—भी; मत्—मेरे; वीक्षया—ज्ञान द्वारा; हता—विनष्ट; आ—तब तक; देह—शरीर की; अन्तात्—मृत्यु; क्वचित्—कभी कभी; ख्याति:—ऐसी अनुभूति; तत:—तब; सम्पद्यते—समान ऐश्वर्य पाता है; मया—मेरे साथ।.

ज्ञानी किसी भी वस्तु को मुझसे पृथक् नहीं देखता क्योंकि मेरा ज्ञान हो जाने से वह ऐसी भ्रामक अनुभूति को नष्ट कर चुका होता है। चूँकि भौतिक देह तथा मन ऐसी अनुभूति के लिए पहले से अभ्यस्त होते हैं अत: ऐसी अनुभूति की पुनरावृत्ति हो सकती है, किन्तु मृत्यु के समय ऐसा ज्ञानी मेरे समान ही ऐश्वर्य प्राप्त करता है।

तात्पर्य : इस अध्याय के ३२वें श्लोक में कृष्ण ने बतलाया है कि सारी भौतिक तथा आध्यात्मिक वस्तुएँ उनकी शक्ति की विस्तार हैं। भगवान् का ज्ञान होने पर मनुष्य यह भ्रम (मोह) त्याग देता है कि कोई भी वस्तु किसी भी समय और कहीं भी भगवान् कृष्ण से पृथक् है। किन्तु भगवान् कृष्ण ने यह भी बतलाया है कि भक्ति करने के लिए शरीर तथा मन को स्वस्थ रखना चाहिए। इसलिए कभी कभी ज्ञानी व्यक्ति भी इस जगत में कुछ परिस्थितियों अथवा वस्तुओं को स्वीकार करते या उनका बहिष्कार करते देखा जा सकता है। कृष्ण के अतिरिक्त अन्य वस्तु पर दिखने वालासंक्षिप्त एकाग्रता का द्वैत,

ज्ञानी की मुक्तावस्था को परिवर्तित नहीं करता। उसे मृत्यु के समय वैकुण्ठ में भगवान् कृष्ण जैसा ऐश्वर्य प्राप्त होता है। मोह का कार्य ही है मनुष्य को कृष्ण से पृथक् करना किन्तु शुद्ध भक्त के आचरण या मनोवृत्ति में द्वैत का संक्षिप्त एवं सामयिक प्राकट्य उसे भगवान् से पृथक् नहीं करता। यह वास्तविक मोह नहीं होता क्योंकि इसमें मोह के अनिवार्य कार्य का—भगवान् कृष्ण से पृथक् करने का—अभाव रहता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने स्वरूपसिद्ध (ज्ञानी) भक्त का वर्णन इस प्रकार किया है। भगवद्भक्त किसी भी वस्तु को कृष्ण से पृथक् नहीं देखता, अतएव वह अपने को इस जगत का स्थायी निवासी नहीं मानता। वह हर क्षण भगवान् कृष्ण की सेवा करने के लिए इच्छुक रहता है। जिस प्रकार इन्द्रियतृप्ति के प्रति उन्मुख लोग अपने भोग की व्यवस्था करने में समय बिताते हैं उसी तरह भक्तगण भी भगवान् की भक्ति करने की व्यवस्था करने में सारे दिन लगे रहते हैं। इसलिए उन्हें भौतिकतावादी इन्द्रिय भोक्ताओं की तरह कर्म करने के लिए समय ही नहीं बचता। सामान्य लोगों को ऐसा लग सकता है कि शुद्ध भक्त किसी वस्तु को कृष्ण से पृथक् देखता है किन्तु शुद्ध भक्त मुक्तात्मा के पद पर स्थिर रहता है और उसका भगवद्धाम में आध्यात्मिक शरीर प्राप्त करना निश्चित है। सामान्य, भौतिकतावादी व्यक्ति भगवद्भक्तों के कार्यों को सदा नहीं समझ पाते, अतएव वे उन्हें अपने समान समझ कर उनके पद को घटा कर बताने का प्रयत्न कर सकते हैं। किन्तु जीवन के अन्त में भगवद्भक्तों तथा सामान्य भौतिकतावादियों को मिलने वाले फल बहुत भिन्न होते हैं।

दुःखोदर्केषु कामेषु जातनिर्वेद आत्मवान् ।
अज्ञासितमद्धर्मो मुनिं गुरुमुपव्रजेत् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

दुःख—दुख; उदर्केषु—भावी फल के रूप में; कामेषु—इन्द्रियतृप्ति में; जात—उत्पन्न; निर्वेदः—विरक्ति; आत्म-वान्—जीवन में आध्यात्मिक सिद्धि का इच्छुक; अजिज्ञासित—ठीक से विचार न करने वाला; मत्—मुझको; धर्मः—प्राप्त करने की विधि; मुनिम्—ज्ञानी व्यक्ति; गुरुम्—गुरु के पास; उपव्रजेत्—जाये।

जो व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति के फल को दुखदायी जानते हुए, उससे विरक्त है और जो आध्यात्मिक सिद्धि चाहता है, किन्तु जिसने मुझे प्राप्त करने की विधि का गम्भीरता से विश्लेषण नहीं किया है, उसे प्रामाणिक तथा विद्वान गुरु के पास जाना चाहिए।

तात्पर्य : पिछले श्लोकों में भगवान् कृष्ण ने पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर चुकने वाले (ज्ञानी) के कर्तव्य

का वर्णन किया है। अब वे आत्म-साक्षात्कार चाहने वाले ऐसे व्यक्ति की स्थिति बता रहे हैं, जो भौतिक जीवन से विरक्त हो चुका है किन्तु जिसमें कृष्णभावनामृत के पूर्ण ज्ञान का अभाव है। ऐसे व्यक्ति को कृष्ण-भक्त प्रामाणिक गुरु के चरणकमलों में पहुँचना चाहिए तभी उसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता है। जो व्यक्ति आध्यात्मिक सिद्धि के लिए सच्चे मन से उन्मुख हो, उसे जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त करने के लिए आवश्यक नियमित अनुशासन ग्रहण करने में संकोच नहीं करना चाहिए।

तावत्परिचरेद्भक्तः श्रद्धावाननसूयकः ।
यावद्ब्रह्म विजानीयान्मामेव गुरुमादृतः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब तक; परिचरेत्—सेवा करे; भक्तः—भक्त; श्रद्धा-वान्—श्रद्धा समेत; अनसूयकः—ईर्ष्या-द्वेष के बिना रह कर; यावत्—जब तक; ब्रह्म—आध्यात्मिक ज्ञान; विजानीयात्—अच्छी तरह जान लेता है; माम्—मुझको; एव—निस्सन्देह; गुरुम्—गुरु; आदृतः—आदर समेत।

जब तक भक्त को पूरी तरह आध्यात्मिक ज्ञान की अनुभूति न हो ले, उसे चाहिए कि परम श्रद्धा तथा आदरपूर्वक एवं द्वेषरहित होकर गुरु की सेवा करे, क्योंकि गुरु मुझसे अभिन्न होता है।

तात्पर्य : जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अपनी *गुर्वष्टक* प्रार्थनाओं में कहा है—*यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादः*—गुरु की कृपा से ही मनुष्य को भगवान् की कृपा प्राप्त होती है। जिस भक्त को महान् आध्यात्मिक ज्ञान का आशीर्वाद प्राप्त होता है, वह भगवान् के मिशन में सीधे लगने के योग्य बन जाता है। श्रील प्रभुपाद सदैव कहा करते थे कि वैराग्य में गुरु की सेवा, गुरु के मिशन को अग्रसर करना, भक्ति का सर्वोच्च रूप है। इस श्लोक में *परिचरेत्* शब्द अपने गुरु की सेवा में लगे रहने का सूचक है। दूसरे शब्दों में, जिसे अपने गुरु की शिक्षाएँ ठीक से समझ में न आई हों, उसे चाहिए कि गुरु के निकट रहे जिससे पुनः मोह में न गिरे, किन्तु जिसे अपने गुरु की कृपा से ज्ञान प्राप्त हो गया है, वह विश्व-भर में यात्रा करके अपने गुरु के मिशन का विस्तार कृष्णभावनामृत का उपदेश देने में कर सकता है।

यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः ।
ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति ॥ ४० ॥

सुरानात्मानमात्मस्थं निह्नुते मां च धर्महा ।
अविपक्वकषायोऽस्मादमुष्माच्च विहीयते ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—लेकिन; असंयत—वश में न करके; षट्—छह; वर्गः—कल्मष का प्रकार; प्रचण्ड—भयानक; इन्द्रिय—इन्द्रियों के; सारथिः—चालक, बुद्धि; ज्ञान—ज्ञान का; वैराग्य—तथा वैराग्य; रहितः—विहीन; त्रि-दण्डम्—संन्यास आश्रम; उपजीवति—अपने जीवन-निर्वाह के लिए प्रयुक्त करते हुए; सुरान्—पूज्य देवताओं; आत्मानम्—अपने को; आत्म-स्थम्—अपने में स्थित; निह्नुते—अस्वीकार करता है; माम्—मुझको; च—भी; धर्महा—धर्म का विनष्ट करने वाला; अविपक्व—जो लीन न हो पाया हो; कषायः—कल्मष; अस्मात्—इस जगत से; अमुष्मात्—अगले जीवन से; च—भी; विहीयते—विपथ हो जाता है।

जिसने छह प्रकार के मोहों (काम, क्रोध, लोभ, उत्तेजना, मिथ्या अहंकार तथा नशा) पर नियंत्रण नहीं पा लिया, जिसकी बुद्धि जो कि इन्द्रियों की अगुवा है, भौतिक वस्तुओं पर अत्यधिक आसक्त रहती है, जो ज्ञान तथा वैराग्य से रहित हैं, जो अपनी जीविका चलाने के लिए संन्यास ग्रहण करता है, जो पूज्य देवताओं, स्वात्म तथा अपने भीतर के परमेश्वर को अस्वीकार करता है और इस तरह सारा धर्म नष्ट कर देता है और जो अब भी भौतिक कल्मष से दूषित रहता है, वह विपथ होकर इस जन्म को तथा अगले जन्म को भी विनष्ट कर देता है।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण यहाँ पर उन व्यर्थ के पुरुषों की निन्दा करते हैं, जो स्थूल मोह के सारे लक्षणों से युक्त होते हुए भी, इन्द्रियतृप्ति के लिए संन्यास आश्रम स्वीकार करते हैं। वैदिक सिद्धान्तों के बुद्धिमान अनुयायी संन्यास के झूठे दिखावे को कभी नहीं मानते। ऐसे तथाकथित संन्यासी जो वैदिक धर्म का विनाश करते हैं, कभी कभी मूर्ख लोगों में अत्यन्त प्रसिद्ध हो जाते हैं, किन्तु वे अपने को तथा अपने अनुयायियों को ठगते रहते हैं। ऐसे धूर्त संन्यासी वास्तव में भगवान् कृष्ण की सेवा में कभी नहीं लगे रहते।

भिक्षोर्धर्मः शमोऽहिंसा तप ईक्षा वनौकसः ।
गृहिणो भूतरक्षेज्या द्विजस्याचार्यसेवनम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

भिक्षोः—संन्यासी का; धर्मः—मुख्य धार्मिक सिद्धान्त; शमः—समता; अहिंसा—अहिंसा; तपः—तपस्या; ईक्षा—भेदभाव (मन तथा शरीर में); वन—जंगल में; ओकसः—वास करने वाले का, वानप्रस्थ का; गृहिणः—गृहस्थ का; भूत-रक्षा—समस्त जीवों को शरण प्रदान करते हुए; इज्या—यज्ञ सम्पन्न करना; द्वि-जस्य—ब्रह्मचारी का; आचार्य—गुरु; सेवनम्—सेवा।

संन्यासी के मुख्य धार्मिक कार्य हैं समता तथा अहिंसा जबकि तपस्या तथा शरीर और आत्मा के अन्तर का दार्शनिक ज्ञान ही वानप्रस्थ में प्रधान होते हैं। गृहस्थ के मुख्य कर्तव्य हैं सारे जीवों को आश्रय देना तथा यज्ञ सम्पन्न करना और ब्रह्मचारी मुख्यतया गुरु की सेवा करने में

लगा रहता है।

तात्पर्य : ब्रह्मचारी अपने गुरु के आश्रम में रहता है और स्वयं आचार्य की सहायता करता है। सामान्यतया गृहस्थों को यज्ञ करने तथा अर्चाविग्रह की पूजा का कार्य सौंपा जाता है। उन्हें सारे जीवों के लिए जीविका प्रदान करनी चाहिए। वानप्रस्थ को अपने वैराग्य का पद बनाये रखने के लिए शरीर तथा आत्मा के अन्तर को स्पष्ट समझना चाहिए और तपस्या भी करनी चाहिए। संन्यासी को आत्म-साक्षात्कार में पूरी तरह अपना शरीर, मन तथा वाणी लगाना चाहिए। मन की समता प्राप्त करके वह सारे जीवों का सर्वश्रेष्ठ शुभेच्छु होता है।

ब्रह्मचर्यं तपः शौचं सन्तोषो भूतसौहृदम् ।
गृहस्थस्याप्यृतौ गन्तुः सर्वेषां मदुपासनम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-चर्यम्—ब्रह्मचर्य; तपः—तपस्या; शौचम्—आसक्ति रहित मन की शुद्धता; सन्तोषः—पूर्ण सन्तोष; भूत—सारे जीवों के प्रति; सौहृदम्—मैत्री; गृहस्थस्य—गृहस्थ की; अपि—भी; ऋतौ—उचित समय पर; गन्तुः—अपनी पत्नी के पास जाकर; सर्वेषाम्—सभी मनुष्यों की; मत्—मेरी; उपासनम्—पूजा।

गृहस्थ को चाहिए कि सन्तान उत्पन्न करने के लिए ही नियत समय पर अपनी पत्नी के साथ संभोग (सहवास) करे। अन्यथा वह ब्रह्मचर्य तपस्या, मन तथा शरीर की स्वच्छता, अपने स्वाभाविक पद पर संतोष तथा सभी जीवों के प्रति मैत्री का अभ्यास करे। मेरी पूजा तो वर्ण अथवा आश्रम का भेदभाव त्याग कर सबों को करनी चाहिए।

तात्पर्य : *सर्वेषां मदुपासनम्* सूचित करता है कि वर्णाश्रम प्रणाली के सभी अनुयायियों को भगवान् कृष्ण की पूजा करनी चाहिए, नहीं तो पद से नीचे गिरने का खतरा है। *श्रीमद्भागवत* (११.५.३) में कहा गया है—*न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः*—भले ही कोई वैदिक अनुष्ठानों तथा प्रथाओं को सम्पन्न करने में बढ़ा-चढ़ा हो, भगवान् की पूजा किये बिना वह निश्चित रूप से नीचे गिर जायेगा।

गृहस्थाश्रमियों को कूकरों-शूकरों की तरह स्वतंत्रतापूर्वक अपनी संभोग-शक्ति का भोग करने का अधिकार नहीं है। धार्मिक गृहस्थ को नियत काल तथा स्थान में अपनी पत्नी के पास जाना चाहिए और भगवान् की प्रसन्नता के लिए सन्त स्वभाव की सन्तान पैदा करनी चाहिए। अन्यथा, यहाँ विशेष रूप से उल्लेख हुआ है कि गृहस्थ को चाहिए कि उन्नत मानव सभ्यता के अन्य सदस्यों के साथ

ब्रह्मचर्य का अभ्यास करे। *शौचम्* शब्द मन तथा शरीर की स्वच्छता का सूचक है या फिर आसक्ति तथा विकर्षण से पूर्ण मुक्ति का। जो व्यक्ति ईश्वर की पूजा परम नियन्ता के रूप में करता है, वह ईश्वर द्वारा प्रदत्त किसी भी स्थिति में *सन्तोष* का अनुभव करता है। हर व्यक्ति के भीतर भगवान् कृष्ण का दर्शन करने से, वह *भूत-सुहृत्* अर्थात् सबों का शुभेच्छु मित्र बन जाता है।

इति मां यः स्वधर्मेण भजेन्नित्यमनन्यभाक् ।
सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दते दृढाम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; माम्—मुझको; यः—जो; स्व-धर्मेण—अपने नियत कर्तव्य द्वारा; भजेत्—पूजा करता है; नित्यम्—सदैव; अनन्य-भाक्—पूजा की अन्य सामग्री से नहीं; सर्व-भूतेषु—सारे जीवों में; मत्—मेरे; भावः—अवगत; मत्-भक्तिम्—मेरी भक्ति; विन्दते—प्राप्त करता है; दृढाम्—अटल।

जो व्यक्ति अनन्य भाव से मेरी पूजा करता है और जो सारे जीवों में मुझे उपस्थित समझता है, वह मेरी अविचल भक्ति प्राप्त करता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट बतलाया गया है कि सम्पूर्ण वर्णाश्रम प्रणाली का चरम लक्ष्य भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति करना है, जिसकी व्याख्या भगवान् कृष्ण विस्तृत रूप में करते आ रहे हैं। किसी भी वर्ण या आश्रम में मनुष्य को भगवद्भक्त होना चाहिए और एकमात्र उन्हीं की पूजा करनी चाहिए। प्रामाणिक गुरु भगवान् कृष्ण का प्रतिनिधि होता है और आचार्य की पूजा सीधे भगवान् के चरणकमलों में पहुँचती है। यद्यपि सामान्य गृहस्थों को कभी कभी वैदिक आदेश दिए जाते हैं कि वे विशिष्ट देवताओं या पूर्वजों की पूजा करें, किन्तु हर एक को स्मरण रखना चाहिए कि भगवान् कृष्ण सभी जीवों के भीतर रहते हैं। जैसाकि यहाँ पर कहा गया है *सर्वभूतेषु मद्भावः।* शुद्ध भगवद्भक्त केवल भगवान् की पूजा करते हैं और जो मनुष्य शुद्ध भक्ति के पद तक नहीं पहुँच सकते हैं, वे देवताओं तथा अन्य सारे जीवों के भीतर भगवान् का ध्यान यह समझ कर तो करें कि सारी धार्मिक विधियाँ अन्ततोगत्वा भगवान् की प्रसन्नता के निमित्त हैं। प्रचार-कार्य के समय, शुद्ध भक्तों तक को सरकारी नेताओं तथा समाज के अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों से पाला पड़ता रहता है, कभी कभी तो उनकी प्रशंसा करनी होती है और उनके आदेशों का पालन करना होता है। तो भी क्योंकि हर एक के भीतर परमात्मा रूप में स्थित भगवान् कृष्ण का भक्तगण सदैव ध्यान करते हैं, इसलिए वे भगवान् की प्रसन्नता के लिए कार्य करते हैं,—किसी सामान्य व्यक्ति के आनन्द के लिए नहीं। वे व्यक्ति जो अपने वर्णाश्रम कर्तव्यों

के दौरान, विभिन्न देवताओं की पूजा करते हैं, उन्हें भी हर एक का आधार भगवान् को मानना चाहिए। उन्हें सारे कार्यकलापों से भगवान् को प्रसन्न करने में दत्तचित्त रहना चाहिए। जीवन की यह अवस्था ईश्वर-प्रेम कहलाती है और इससे वास्तविक मोक्ष प्राप्त होता है।

भक्त्योद्धवानपायिन्या सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सर्वोत्पत्त्यप्ययं ब्रह्म कारणं मोपयाति सः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

भक्त्या—प्रेमाभक्ति से; उद्धव—हे उद्धव; अनपायिन्या—अचल; सर्व—समस्त; लोक—लोकों के; महा-ईश्वरम्—परमेश्वर को; सर्व—हर वस्तु की; उत्पत्ति—सृष्टि का कारण; अप्ययम्—तथा संहार का; ब्रह्म—परब्रह्म; कारणम्—ब्रह्माण्ड का कारण; मा—मेरे पास; उपयाति—आता है; सः—वह।

हे उद्धव, मैं सारे लोकों का परमेश्वर हूँ और परम कारण होने से, मैं इस ब्रह्माण्ड का सृजन और विनाश करता हूँ। इस तरह मैं परब्रह्म हूँ और जो अविचल भक्ति के साथ मेरी पूजा करता है, वह मेरे पास आता है।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध (१.२.११) में कहा गया है, कृष्ण को तीन रूपों में जाना जाता है—निर्विशेष ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा अन्त में सबों के उद्गम भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में। भगवान् कृष्ण निर्विशेष दार्शनिकों को अपने शरीर की किरणों में लीन करते हैं, वे पूर्ण योगियों के समक्ष हृदय के स्वामी के रूप में प्रकट होते हैं और अन्त में अपने शुद्ध भक्तों को आनन्द तथा ज्ञान के नित्य जीवन हेतु अपने धाम वापस लाते हैं।

इति स्वधर्मनिर्णिक्तसत्त्वो निर्ज्ञातमद्गतिः ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो न चिरात्समुपैति माम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; स्व-धर्म—अपना नियत कार्य करके; निर्णिक्त—शुद्ध करके; सत्त्वः—अपना जीव; निर्ज्ञात—पूरी तरह जानते हुए; मत्-गतिः—मेरा परम पद; ज्ञान—शास्त्रीय ज्ञान से; विज्ञान—तथा आत्म-ज्ञान से; सम्पन्नः—युक्त; न चिरात्—निकट भविष्य में; समुपैति—ठीक से प्राप्त करता है; माम्—मुझको।

इस तरह जो अपने नियत कर्म करके अपने जीवन को शुद्ध कर चुका होता है, जो मेरे परम पद को पूरी तरह से समझता है और जो शास्त्रीय तथा स्वरूपसिद्ध ज्ञान से युक्त होता है, वह शीघ्र ही मुझे प्राप्त करता है।

वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः ।
स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

वर्णाश्रम-वताम्—वर्णाश्रम प्रणाली के अनुयायियों का; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त; एषः—यह; आचार—प्रामाणिक प्रथा के अनुसार उचित आचरण द्वारा; लक्षणः—लक्षणों से युक्त; सः—वह; एव—निस्सन्देह; मत्-भक्ति—मेरीभक्ति से; युतः—युक्त; निःश्रेयस—जीवन की सर्वोच्च सिद्धि; करः—देने वाला; परः—परम।

जो इस वर्णाश्रम प्रणाली के अनुयायी हैं, वे उचित आचार की प्रामाणिक प्रथाओं के अनुसार धार्मिक सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं। जब प्रेमाभक्ति में ऐसे वर्णाश्रम कर्म मुझे अर्पित किये जाते हैं, तो वे जीवन की चरम सिद्धि देने वाले होते हैं।

तात्पर्य : वर्णाश्रम प्रणाली के अनुसार विभिन्न आश्रमों तथा वर्णों के सदस्यों को अनेक परम्परागत कार्य करने होते हैं—यथा पूर्वजों को उनके पापफलों से बचाने के लिए पितरों की पूजा करना। ऐसे समस्त वैदिक अनुष्ठान, यज्ञ, तप इत्यादि भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों पर अर्पित कर देना चाहिए। तब वे ही भगवद्धाम वापस जाने के दिव्य साधन बन जाते हैं। दूसरे शब्दों में, कृष्णभावनामृत या श्रीकृष्ण की प्रेमाभक्ति प्रगतिशील मानव जीवन का सार समाहार है।

एतत्तेऽभिहितं साधो भवान्पृच्छति यच्च माम् ।
यथा स्वधर्मसंयुक्तो भक्तो मां समियात्परम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; ते—तुमसे; अभिहितम्—कहा गया; साधो—हे साधु उद्धव; भवान्—तुमने; पृच्छति—पूछा है; यत्—जो; च—तथा; माम्—मुझसे; यथा—साधन जिनसे; स्व-धर्म—अपने नियत कर्तव्य में; संयुक्तः—पूरी तरह लगा हुआ; भक्तः—भक्त होने से; माम्—मेरे पास; समियात्—आ सके; परम्—परम।

हे साधु उद्धव, तुमने जैसा पूछा मैंने तुम्हें वे सारे साधन बतला दिये हैं, जिनसे अपने नियत कर्म में लगा हुआ मेरा भक्त मेरे पास वापस आ सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''वर्णाश्रम धर्म का वर्णन'' नामक अठारहवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter उन्नीस

आध्यात्मिक ज्ञान की सिद्धि

इस अध्याय में यह बतलाया गया है कि किस तरह काल्पनिक ज्ञान के अभ्यासकर्ता अपनी विधि

त्याग देते हैं, किन्तु शुद्ध भक्त शाश्वत रूप से भक्ति में लगे रहते हैं। साथ ही योगियों के यम इत्यादि अभ्यासों का भी वर्णन किया गया है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा, "जो वास्तव में ज्ञानी है, जो आत्मा के सत्य को जानता है और दिव्य अन्तर्दृष्टि रखता है, वह संसार के द्वैतों को तथा भोग के समर्थक तथाकथित ज्ञान का बहिष्कार कर देता है। वह अपने को सबके स्वामी भगवान् को तुष्ट करने के प्रयास में लगाता है। यही शुद्ध *भक्तियोग* है। यद्यपि मंत्रों के उच्चारण जैसे सामान्य पवित्र कार्य से दिव्य ज्ञान बढ़कर है किन्तु शुद्ध भक्ति ज्ञान से भी बढ़कर है।"

इसके बाद जब श्री उद्धव ने अनुरोध किया कि भगवान् कृष्ण उन्हें दिव्य ज्ञान तथा भक्ति के विषय में विस्तार से बतलायें, तो भगवान् ने वही उपदेश कह सुनाये जिन्हें परम वैष्णव भीष्मदेव ने कुरुक्षेत्र युद्ध के अवसर पर श्री युधिष्ठिर को इन्हीं विषयों पर दिया था। इसके बाद यम तथा अन्य योगाभ्यासों के विषय में पूछे जाने पर, भगवान् ने अहिंसा इत्यादि बारह प्रकार के *यम* तथा शारीरिक स्वच्छता इत्यादि बारह प्रकार के *नियम* बतलाये।

श्रीभगवानुवाच
यो विद्याश्रुतसम्पन्नः आत्मवान्नानुमानिकः ।
मयामात्रमिदं ज्ञात्वा ज्ञानं च मयि सन्न्यसेत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; यः—जो; विद्या—अनुभूत ज्ञान से; श्रुत—तथा प्रारम्भिक शास्त्रीय ज्ञान से; सम्पन्नः—युक्त; आत्म-वान्—स्वरूपसिद्ध; न—नहीं; आनुमानिकः—निर्विशेष चिन्तन में संलग्न; माया—मोह; मात्रम्—एकमात्र; इदम्—यह ब्रह्माण्ड; ज्ञात्वा—जान कर; ज्ञानम्—ऐसा ज्ञान तथा उसे प्राप्त करने के साधन; च—भी; मयि—मुझमें; सन्न्यसेत्—आत्मसमर्पण करे, शरण ग्रहण करे।

भगवान् ने कहा : जिस स्वरूपसिद्ध व्यक्ति ने प्रकाश पाने तक शास्त्रीय ज्ञान का अनुशीलन किया है और जो भौतिक ब्रह्माण्ड को मात्र मोह समझ कर, निर्विशेष चिन्तन से मुक्त होता है, उसे चाहिए कि वह उस ज्ञान को तथा उसे प्राप्त करने वाले साधनों को मुझे समर्पित कर दे।

तात्पर्य : *मायामात्रम् इदं ज्ञात्वा* यह ज्ञान सूचित करता है कि नित्य आत्मा तथा नित्य भगवान् भौतिक जगत के नश्वर गुणों से पूरी तरह भिन्न होते हैं। *विद्याश्रुत सम्पन्न* शब्द बताते हैं कि मनुष्य को प्रकाश पाने के लिए वैदिक ज्ञान का अनुशीलन करना चाहिए और योग, बौद्धिकता या निर्विशेष चिन्तन का दिखावा नहीं करना चाहिए। माया के मोहमय प्रभावों को निष्प्रभावी बनाकर, मनुष्य को

भगवान् का दार्शनिक निषेध करने वाली विधि को उन्हें ही अर्पित करके, अपना ध्यान भगवान् में लगाना चाहिए। श्रील जीव गोस्वामी यह उदाहरण देते हैं कि संकट उपस्थित होने पर, राजा नागरिकों को हथियार दे सकता है, किन्तु सैन्य विजय के पश्चात् वे नागरिक अपने हथियार राजा को लौटा देते हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक की यही बात इस प्रकार बतलाई है—जीव को सर्वप्रथम भौतिक मोह से अपने को किसी न किसी प्रकार से छुड़ाना पड़ता है, जिसने अनादि काल से उसे आच्छादित कर रखा है। योगाभ्यास के द्वारा नैष्काम तथा वैराग्य का अनुशीलन करते हुए जीव मोह का ज्ञान उत्पन्न कर लेता है और इस तरह वह अपने को भौतिक अज्ञान से ऊपर उठा लेता है। किन्तु एक बार दिव्य पद पर स्थित हो लेने पर, मोह का ज्ञान तथा ऐसा ज्ञान प्राप्त करने की विधि—इन दोनों का कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं रह जाता। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर उदाहरण देते हैं कि मनुष्य को साँप या सिंह का भूत सता सकता है। जब तक मनुष्य वशीभूत रह कर सोचता है कि, ''मैं साँप हूँ'' या ''मैं सिंह हूँ'' तब तक रत्न, मंत्र, जड़ी-बूटी द्वारा भूत-प्रेत के प्रभाव को दूर करने के प्रयास होते रहते हैं। किन्तु ऐसे भूत-प्रेत के प्रभाव से मुक्त हो जाने पर, वही व्यक्ति सोचता है ''मैं अमुक हूँ, अमुक का पुत्र हूँ'' और वह अपने पहले स्वभाव पर लौट आता है। उस समय रत्न, मंत्र, जड़ी-बूटी इत्यादि का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। इस तरह इस श्लोक में *विद्या* शब्द उस ज्ञान को बताता है, जिसे दार्शनिक विश्लेषण, योग, तप तथा वैराग्य से प्राप्त किया जाता है। इस जगत के नश्वर तथा मोहमय स्वभाव का ऐसा ज्ञान अज्ञान को दूर करता है और ऐसे ज्ञान का प्रशिक्षण अनेक वैदिक शास्त्र देते हैं। मनुष्य धीरे धीरे भौतिक शरीर तथा मन के साथ तथा मन एवं शरीर से प्रतिक्रिया करने वाले उन भौतिक पदार्थों से अपनी झूठी पहचान त्याग देता है। ऐसा निराकरणकारी ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य को भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगना चाहिए और शुद्ध भक्त बनना चाहिए। जब वह कृष्णभावनामृत में परिपूर्ण हो जाता है, तो मोह के असंख्य विवरणों में उसकी रुचि नहीं रह जाती और धीरे धीरे वह वैकुण्ठ को प्राप्त होता है।

ज्ञानिनस्त्वहमेवेष्टः स्वार्थो हेतुश्च सम्मतः ।

स्वर्गश्चैवापवर्गश्च नान्योऽर्थो मदृते प्रियः ॥ २॥

शब्दार्थ

ज्ञानिनः—विद्वान स्वरूपसिद्ध दार्शनिक का; तु—निस्सन्देह; अहम्—मैं; एव—एकमात्र; इष्टः—पूजा की वस्तु; स्व-अर्थः—वांछित जीवन-लक्ष्य; हेतुः—जीवन-लक्ष्य प्राप्त करने के लिए साधन; च—भी; सम्मतः—नश्चिति मत; स्वर्गः—स्वर्ग जाने के सारे सुख का कारण; च—भी; एव—निस्सन्देह; अपवर्गः—सारे दुख से मुक्ति; च—भी; न—नहीं; अन्यः—कोई दूसरा; अर्थः—उद्देश्य; मत्—मुझको; ऋते—रहित; प्रियः—प्रिय वस्तु।

विद्वान स्वरूपसिद्ध दार्शनिकों के लिए मैं एकमात्र पूजा का लक्ष्य, इच्छित जीवन-लक्ष्य, उस लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन तथा समस्त ज्ञान का निश्चित *मत* हूँ। चूँकि मैं उनके सुख का तथा दुख से विमुक्ति का कारण हूँ, अतः ऐसे विद्वान व्यक्ति एकमात्र मुझे ही जीवन का प्रभावशाली उद्देश्य या प्रिय लक्ष्य बनाते हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में कृष्ण ने कहा है कि मनुष्य को चाहिए कि अन्ततोगत्वा वह ज्ञान जिससे यह जगत मोह के रूप में देखा जाता है, भगवान् को समर्पित कर दे। भौतिक आसक्ति निश्चय ही जीवों के लिए एक समस्या है क्योंकि वह आत्मा का रोग है। जिस व्यक्ति को खुजली का त्वचा-रोग हो जाता है उसे असह्य जख्मों को खुजलाने से क्षणिक राहत मिलती है। यदि वह खुजलाता नहीं तो उसे घोर कष्ट होता है, किन्तु खुजलाने से क्षणिक आनन्दानुभूति तो होती है, बाद में खुजली के बढ़ने से असह्य कष्ट होता है। वास्तविक सुख खुजली को खुजलाने में नहीं मिलता अपितु ऐसे रोग से मुक्त होने में है। बद्धजीव अनेक मोहमयी इच्छाओं द्वारा सताये जाते हैं और वे हताशा में अवैध यौन, मांसाहार, जुए तथा नशे जैसी गंदी खुजली से इन्द्रियों को तृप्त करना चाहते हैं। वे भौतिक संग, मैत्री तथा प्रेम द्वारा भी राहत पाने का प्रयास करते हैं, किन्तु इनका परिणाम असह्य कष्ट ही निकलता है। असली सुख तो भौतिक इच्छा रूपी खुजली के रोग को सदा सदा के लिए दूर निकाल फेंकना है। चूँकि भौतिक इच्छा आत्मा का रोग है, अतएव इसका उपचार करने तथा इसे निकाल फेंकने का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। ऐसे उपचार-रूपी ज्ञान की तब तक आवश्यकता रहती है, जब तक मनुष्य रुग्ण रहता है किन्तु जब वह पूर्ण स्वस्थ हो जाता है, तो ऐसा विशेष चिकित्सा-ज्ञान स्वस्थ पुरुष के लिए रुचिकर नहीं रह जाता और वह ऐसा ज्ञान डाक्टरों के लिए छोड़ सकता है। इसी तरह कृष्णभावनामृत में बढ़े-चढ़े व्यक्ति को सदा अपनी निजी समस्याओं के बारे में न सोचते हुए, प्रेम तथा भक्ति के साथ भगवान् कृष्ण के विषय में सोचने की आवश्यकता है। पिछले श्लोक में भगवान् कृष्ण ने सलाह दी है कि मनुष्य को माया के व्यावहारिक ज्ञान द्वारा निजी समस्याएँ दूर कर लेनी चाहिए। ऐसी समस्याओं के

निरन्तर चिन्तन को त्यागने पर मनुष्य ईश्वर का प्रेमी बन सकता है। भगवान् कृष्ण निश्चित रूप से अपने प्रत्येक निष्ठावान् भक्त का मार्गदर्शन हृदय के भीतर से तथा बाहर से प्रामाणिक गुरु द्वारा करते हैं। इस तरह वे अपने निष्ठावान भक्तोंको जड़ पदार्थ के प्रति अविवेकी आसक्ति त्यागने का क्रमिक प्रशिक्षण देते हैं। एक बार स्वतंत्र हो जाने पर, भक्त वैकुण्ठ में कृष्ण के साथ अपना सुसम्बन्ध जोड़ लेता है।

कोई यह मिथ्या विचार अपने मन में ला सकता है कि जिस तरह प्रगति की किसी अवस्था में माया के व्यावहारिक वैश्लेषिक ज्ञान के प्रति एकाग्रता छूट जाती है, उसी तरह अन्य अवस्था में वह भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति भी छोड़ सकता है। ऐसे चिन्तन का खण्डन करने के लिए ही यहाँ कई तरह से कृष्ण यह कहते हैं कि वे समस्त विद्वान व्यक्तियों के परम नित्य लक्ष्य हैं। निस्सन्देह, इस ब्रह्माण्ड के भीतर सबसे प्रमुख पंडित चारों कुमार हैं, जो कृष्ण को अपना एकमात्र आराध्य मानते हैं। चूँकि उन्हें पता चल गया कि वे भगवान् के नित्य भिन्नांश हैं, अतएव उन्हें सकाम कर्म तथा ज्ञान में कोई रुचि नहीं रही। भगवान् कृष्ण अपने ऐसे निष्ठावान् भक्तों को स्वर्गिक आनन्द तथा चिन्ता से मुक्ति प्रदान करते हैं, जिन्हें भगवान् के अतिरिक्त जीवन में कोई अन्य उद्देश्य या प्रिय वस्तु नहीं है।

ज्ञानविज्ञानसंसिद्धाः पदं श्रेष्ठं विदुर्मम ।
ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौ बिभर्ति माम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ज्ञान—शास्त्रीय ज्ञान; विज्ञान—तथा अनुभूत आध्यात्मिक ज्ञान में; संसिद्धाः—परम पूर्ण; पदम्—चरणकमल; श्रेष्ठम्—श्रेष्ठ वस्तु; विदुः—जानते हैं; मम—मेरा; ज्ञानी—विद्वान योगी; प्रिय-तमः—सर्वाधिकप्रिय; अतः—इस तरह; मे—मुझको; ज्ञानेन—आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा; असौ—वह विद्वान पुरुष; बिभर्ति—धारण करता है (सुख में); माम्—मुझको।.

जिन्होंने दार्शनिक तथा अनुभूत ज्ञान द्वारा पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर ली है, वे मेरे चरणकमलों को परम दिव्य वस्तु मानते हैं। इस प्रकार का विद्वान योगी मुझे अत्यन्त प्रिय होता है और इस पूर्ण ज्ञान से वह मुझे सुख में धारण किये रखता है।

तात्पर्य : *पदं श्रेष्ठं विदुर्मम*—यह पद निश्चित रूप से निर्विशेषवादियों को *संसिद्धाः* की कोटि से अलग कर देता है। यहाँ भगवान् कृष्ण, चारों कुमार, शुकदेव गोस्वामी, श्री व्यासदेव, श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर तथा श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद जैसे महान् पण्डितों का सन्दर्भ दे रहे हैं। इसी तरह *भगवद्गीता* (७.१७-१८) में भगवान् कहते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं सच मम प्रियः ॥

"इनमें से जो परम ज्ञानी है और शुद्ध भक्ति में लगा रहता है, वह सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि मैं उसे अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे प्रिय है।"

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।

आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमं गतिम् ॥

"निस्सन्देह, ये सब उदारचेता व्यक्ति हैं, किन्तु जो मेरे ज्ञान को प्राप्त है उसे मैं अपने ही समान मानता हूँ। वह मेरी दिव्य सेवा में तत्पर रह कर मुझे निश्चित रूप से प्राप्त करता है।"

ज्ञान सच्चाई की प्रामाणिक दार्शनिक एवं वैश्लेषिक अनुभूति को बताता है और जब ऐसा ज्ञान चेतना की शुद्धि के द्वारा स्पष्टतया प्राप्त किया जाता है, तो परिणामस्वरूप प्राप्त विशद अनुभव *विज्ञान* कहलाता है। चिन्तनपरक निर्विशेष ज्ञान कभी भी जीव के हृदय को वस्तुतः शुद्ध नहीं करता, प्रत्युत उसे भगवान् की विस्मृति में और गहरा डाल देता है। जिस प्रकार पिता को सदैव अपने पुत्र की शिक्षा पर गर्व रहता है, उसी तरह भगवान् कृष्ण गम्भीर आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करने वाले तथा भगवद्धाम आने की दिशा में प्रगति करने वाले जीवों को देख कर परम सुखी होते हैं।

तपस्तीर्थं जपो दानं पवित्राणीतराणि च ।
नालं कुर्वन्ति तां सिद्धिं या ज्ञानकलया कृता ॥ ४॥

शब्दार्थ

तपः—तपस्या; तीर्थम्—तीर्थस्थान जाकर; जपः—मौन प्रार्थना करके; दानम्—दान; पवित्राणि—पुण्य कार्य; इतराणि—अन्य; च—भी; न—नहीं; अलम्—उसी स्तर तक; कुर्वन्ति—प्रदान करते हैं; ताम्—यह; सिद्धिम्—सिद्धि; या—जो; ज्ञान—आध्यात्मिक ज्ञान; कलया—एक अंश; कृता—पुरस्कृत किया जाता है।

जो सिद्धि आध्यात्मिक ज्ञान के एक अंशमात्र से उत्पन्न होती है, वह तपस्या करने, तीर्थस्थानों में जाने, मौन प्रार्थना करने, दान देने अथवा अन्य पुण्यकर्मों में लगने से प्राप्त नहीं की जा सकती।

तात्पर्य : यहाँ पर *ज्ञान* सूचक है भगवान् के परम साम्राज्य की स्पष्ट जानकारी का और यह ज्ञान भगवान् से अभिन्न है। भगवान् परम या सर्वोच्च हैं, इसकी पुष्टि पिछले श्लोक में *पदं श्रेष्ठं विदुर्मम्* द्वारा ही हो जाती है। कोई चाहे यज्ञ करे या गर्वित भाव से अथवा भौतिक स्वार्थ से तीर्थस्थानों में जाये, चाहे वह ईश्वर की प्रार्थना करे, दान दे या बाह्य दिखावटी रूप से अथवा आसुरी मनोवृत्ति से अन्य

पुण्यकर्म करे, किन्तु भगवान् कृष्ण की श्रेष्ठता का ज्ञान वैकुण्ठ से ठोस सम्बन्ध बनाता है और इस शुद्ध ज्ञान का अनुसरण करते रहने से मनुष्य वैकुण्ठ-लोक जाता है।

तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावतः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; ज्ञानेन—ज्ञान; सहितम्—सहित; ज्ञात्वा—जान कर; स्व-आत्मानम्—अपने आप को; उद्धव—हे उद्धव; ज्ञान—वैदिक ज्ञान; विज्ञान—तथा स्पष्ट अनुभूति से; सम्पन्नः—युक्त; भज—पूजा करो; माम्—मेरी; भक्ति—प्रेमाभक्ति के; भावतः—भाव में।

इसलिए हे उद्धव, तुम ज्ञान के द्वारा अपने वास्तविक आत्मा को जानो। तत्पश्चात् अपने वैदिक ज्ञान की स्पष्ट अनुभूति से आगे बढ़ते हुए प्रेमाभक्ति भाव से मेरी पूजा करो।

तात्पर्य : *विज्ञान* शब्द से मनुष्य के आदि आध्यात्मिक स्वरूप के अनुभूत ज्ञान का संकेत मिलता है। प्रत्येक जीव का नित्य आध्यात्मिक स्वरूप होता है, जो मूल कृष्णभावनामृत के जागृत होने तक सुप्त पड़ा रहता है। अपने आध्यात्मिक स्वरूप के ज्ञान के बिना भगवान् कृष्ण के प्रति प्रेम का अनुशीलन करना सम्भव नहीं है। इसीलिए यहाँ पर *ज्ञात्वा स्वात्मानम्* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं, जो यह सूचित करते हैं कि केवल भगवद्धाम में हर जीव अपने व्यक्तित्व की पूरी शक्ति का अनुभव कर सकता है।

ज्ञानविज्ञानयज्ञेन मामिष्ट्वात्मानमात्मनि ।
सर्वयज्ञपतिं मां वै संसिद्धिं मुनयोऽगमन् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ज्ञान—वैदिक ज्ञान; विज्ञान—तथा आध्यात्मिक प्रबुद्धता का; यज्ञेन—यज्ञ द्वारा; माम्—मुझको; इष्ट्वा—पूज कर; आत्मानम्—प्रत्येक व्यक्ति के हृदय के भीतर परमेश्वर को; आत्मनि—अपने भीतर; सर्व—समस्त; यज्ञ—यज्ञों के; पतिम्—स्वामी; माम्—मुझ को; वै—निश्चय ही; संसिद्धिम्—परम सिद्धि; मुनयः—मुनिगण; अगमन्—प्राप्त किया।

पुराकाल में बड़े बड़े मुनि वैदिक ज्ञान तथा आध्यात्मिक प्रबुद्धता रूपी यज्ञ के द्वारा यह जानते हुए अपने अन्तःकरण में मेरी पूजा करते थे कि मैं ही समस्त यज्ञों का परमेश्वर तथा प्रत्येक हृदय में परमात्मा हूँ। इस तरह मेरे पास आने से इन मुनियों ने परम सिद्धि प्राप्त की।

त्वय्युद्धवाश्रयति यस्त्रिविधो विकारो
मायान्तरापतति नाद्यपवर्गयोर्यत् ।

जन्मादयोऽस्य यदमी तव तस्य किं स्यु-
राद्यन्तयोर्यदसतोऽस्ति तदेव मध्ये ॥ ७॥

शब्दार्थ

त्वयि—तुममें; उद्धव—हे उद्धव; आश्रयति—प्रवेश करके रहता जाता है; यः—जो; त्रि-विधः—गुणों के अनुसार तीन विभाग; विकारः—(शरीर तथा मन जिनसे प्रभावित होते हैं ऐसे) निरन्तर रूपान्तर; माया—मोह; अन्तरा—वर्तमान समय में; आपतति—सहसा प्रकट होता है; न—नहीं; आदि—प्रारम्भ में; अपवर्गयोः—न तो अन्त में; यत्—चूँकि; जन्म—जन्म; आदयः—इत्यादि (वृद्धि, जन्म, पालन, जरा, मृत्यु); अस्य—शरीर का; यत्—जब; अमी—ये; तव—तुम्हारे सम्बन्ध में; तस्य—आध्यात्मिक प्रकृति के सम्बन्ध में; किम्—क्या सम्बन्ध; स्युः—हो सकते हैं; आदि—प्रारम्भ में; अन्तयोः—तथा अन्त में; यत्—चूँकि; असतः—जिसका अस्तित्व नहीं है उसका; अस्ति—अस्तित्व है; तत्—वह; एव—निस्सन्देह; मध्ये—मध्य में, सम्प्रति।

हे उद्धव, प्रकृति के तीन गुणों से निर्मित भौतिक शरीर तथा मन तुमसे लिपटे रहते हैं, किन्तु, वास्तव में, वे माया हैं क्योंकि वे वर्तमान काल में ही प्रकट होते हैं। इनका कोई आदि या अन्त नहीं है। इसलिए यह कैसे सम्भव हो सकता है कि शरीर की विभिन्न अवस्थाएँ—यथा जन्म, वृद्धि, प्रजनन, पालन, जरा तथा मृत्यु—तुम्हारी नित्य आत्मा से कोई सम्बन्ध रखते हों? इन अवस्थाओं का सम्बन्ध एकमात्र भौतिक देह से है, जिसका न तो इसके पूर्व अस्तित्व था और न रहेगा। शरीर केवल वर्तमान काल में ही रहता है।

तात्पर्य : यह दृष्टान्त दिया जाता है कि जंगल में विचरण करने वाला व्यक्ति किसी रस्सी को देख कर उसे सर्प समझ बैठता है। ऐसी अनुभूति *माया* या मोह है यद्यपि रस्सी का अस्तित्व है और अन्य स्थान पर सर्प भी रहता है। इसलिए *माया* एक वस्तु की दूसरी वस्तु से मिथ्या पहचान को बताती है। भौतिक शरीर अल्पकाल तक रहता है और तब अदृश्य हो जाता है। शरीर न तो भूतकाल में था और न भविष्य में रहेगा। वह तथाकथित वर्तमान काल में क्षणिक अस्तित्व का भोग करता है। यदि हम झूठे ही अपने को भौतिक शरीर या मन मान बैठें, तो हम माया को जन्म देते हैं। जो व्यक्ति अपनी पहचान अमरीकी, रूसी, चीनी, मैक्सीकन, गोरा या काला, स्त्री या पुरुष, साम्यवादी या पूँजीवादी के रूप में करता है और ऐसी उपाधियों को स्थायी पहचान मान लेता है, वह निश्चित रूप से माया में फँसा होता है। उसकी तुलना उस सुप्त व्यक्ति से की जा सकती है, जो स्वप्न में अपने को भिन्न शरीर में कार्यशील देखता है। पिछले श्लोक में भगवान् कृष्ण ने उद्धव को बतलाया था कि आध्यात्मिक ज्ञान सर्वोच्च सिद्धि पाने का साधन है और अब वे ऐसे ज्ञान का खुल कर वर्णन कर रहे हैं।

श्रीउद्धव उवाच

ज्ञानं विशुद्धं विपुलं यथैत-
द्वैराग्यविज्ञानयुतं पुराणम् ।
आख्याहि विश्वेश्वर विश्वमूर्ते
त्वद्भक्तियोगं च महद्विमृग्यम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; ज्ञानम्—ज्ञान; विशुद्धम्—दिव्य; विपुलम्—विस्तृत; यथा—जिस तरह; एतत्—यह; वैराग्य—विरक्ति; विज्ञान—तथा सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति; युतम्—से युक्त; पुराणम्—महान् दार्शनिकों के मध्य परम्परागत; आख्याहि—कृपा करके बतलायें; विश्व-ईश्वर—हे ब्रह्माण्ड के स्वामी; विश्व-मूर्ते—हे ब्रह्माण्ड के रूप; त्वत्—तुम्हारे प्रति; भक्ति-योगम्—प्रेमाभक्ति; च—भी; महत्—महान् आत्माओं द्वारा; विमृग्यम्—खोजे जाते।

श्री उद्धव ने कहा : हे ब्रह्माण्ड के स्वामी, हे ब्रह्माण्ड स्वरूप, कृपा करके मुझे ज्ञान की वह विधि बतलाइये जो स्वतः विरक्ति तथा सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति लाने वाली है, जो दिव्य है और महान् आध्यात्मिक दार्शनिकों में परम्परा से चली आ रही है। महापुरुषों द्वारा खोजा जाने वाला यह ज्ञान आपके प्रति प्रेमाभक्ति को बताने वाला है।

तात्पर्य : जो लोग संसार के अंधकार को पार करने में सक्षम हैं, वे *महत्* अर्थात् महापुरुष कहलाते हैं। ऐसे महापुरुषों को गौण वस्तुएँ यथा विश्व-चेतना या विश्व-नियमन भगवान् की प्रेमाभक्ति से विपथ नहीं कर पाते। श्री उद्धव वह शाश्वत धर्म-ज्ञान सुनने के इच्छुक हैं, जो सभी महापुरुषों के परम्परागत लक्ष्य हैं।

तापत्रयेणाभिहतस्य घोरे
सन्तप्यमानस्य भवाध्वनीश ।
पश्यामि नान्यच्छरणं तवाङ्घ्रि-
द्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ताप—कष्टों द्वारा; त्रयेण—तीन; अभिहतस्य—अभिभूत हुए का; घोरे—घोर; सन्तप्यमानस्य—सताये हुए का; भव—संसार का; अध्वनि—मार्ग में; ईश—हे ईश्वर; पश्यामि—देखता हूँ; न—कोई नहीं; अन्यत्—दूसरी; शरणम्—शरण; तव—तुम्हारा; अङ्घ्रि—चरणकमल; द्वन्द्व—दो का; आतपत्रात्—छाते की अपेक्षा; अमृत—अमृत की; अभिवर्षात्—वर्षा।

हे प्रभु, जो व्यक्ति जन्म तथा मृत्यु के घोर मार्ग में सताया जा रहा है और तीनों तापों से निरन्तर अभिभूत रहता है, उसके लिए मुझे आपके दो चरणकमलों के अतिरिक्त अन्य कोई सम्भव आश्रय नहीं दिख रहा। ये उस सुखदायक छाते के तुल्य हैं, जो स्वादिष्ट अमृत की वर्षा करता है।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण उद्धव के अत्यन्त बौद्धिक स्वभाव को पहचान कर, बारम्बार संस्तुति

करते हैं कि मनुष्य को दिव्य ज्ञान के अनुशीलन द्वारा सिद्धि प्राप्त करनी चाहिए। किन्तु भगवान् ने यह भी स्पष्ट दिखलाया है कि ऐसे ज्ञान से मनुष्य को भगवान् की प्रेमाभक्ति तक पहुँचना चाहिए अन्यथा वह व्यर्थ है। इस श्लोक में श्री उद्धव भगवान् कृष्ण के कथन की पुष्टि करते हैं कि वास्तविक सुख भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करके ही प्राप्त किया जा सकता है। जब पृथु महाराज का राज्याभिषेक हुआ था, तो वायु देव ने उन्हें एक छाता भेंट किया था, जो निरन्तर पानी की फुहारें निकालता था। यहाँ पर भगवान् के दो चरणकमलों की उपमा उस अद्भुत छाते से दी गई है, जो कृष्णभावनामृत के आनन्द रूपी मधुर अमृत की निरन्तर वर्षा करता है। सामान्यतया चिन्तनपरक वैश्लेषिक ज्ञान का अन्त परब्रह्म की निर्विशेष अनुभूति में होता है किन्तु निर्विशेष आध्यात्मिक रूप में तदाकार होने का तथाकथित आनन्द कभी भी कृष्णभावनामृत आनन्द की तुलना नहीं कर सकता जैसाकि श्री उद्धव ने यहाँ पर कहा है। इस तरह कृष्णभावनामृत स्वत: पूर्ण ज्ञान है क्योंकि भगवान् कृष्ण समस्त जीवों के परम आश्रय हैं। इस श्लोक में *अभिहतस्य* तथा *अभिवर्षात्* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। *अभिहतस्य* उस व्यक्ति का सूचक है, जो चारों ओर से प्रकृति की मार से पराजित होता रहता है, जबकि *अभिवर्षात्* अमृत वर्षा का सूचक है, जो संसार की सारी समस्याओं को दूर करती है। हमें चाहिए कि अपनी बुद्धि से हम मन्द भौतिक देह तथा अविवेकी भौतिक मन के परे देखें जिससे हम भगवान् कृष्ण के दो चरणकमलों से आने वाले आनन्दमय अमृत की असीम वर्षा का अवलोकन कर सकें। तभी हमारा असली सौभाग्य शुरू होगा।

दष्टं जनं सम्पतितं बिलेऽस्मिन्
कालाहिना क्षुद्रसुखोरुतर्षम् ।
समुद्धरैनं कृपयापवर्ग्यै-
र्वचोभिरासिञ्च महानुभाव ॥ १० ॥

शब्दार्थ

दष्टम्—काटा हुआ; जनम्—मनुष्य; सम्पतितम्—पतित; बिले—अंधेरे छेद में; अस्मिन्—इस; काल—समय का; अहिना—सर्प द्वारा; क्षुद्र—नगण्य; सुख—सुख; उरु—तथा भीषण; तर्षम्—लालसा; समुद्धर—कृपया ऊपर उठा लें; एनम्—यह व्यक्ति; कृपया—आपकी अहैतुकी कृपा से; आपवर्ग्यै:—मोक्ष के लिए जागृत; वचोभि:—आपके शब्दों से; आसिञ्च—सींचिये; महा-अनुभाव—हे प्रभु।

हे सर्वशक्तिमान प्रभु, कृपा कीजिये और इस निराश जीव को, जो अंधेरे भवकूप में गिर गया है जहाँ कालरूपी सर्प ने उसे डस लिया है, ऊपर उठाइये। ऐसी गर्हित अवस्था होते हुए भी

यह बेचारा जीव अत्यन्त क्षुद्र भौतिक सुख भोगने की उत्कट इच्छा से युक्त है। हे प्रभु, आप अपने उस उपदेशामृत को छिड़क कर मेरी रक्षा कीजिये, जो आध्यात्मिक मुक्ति के लिए जागृत करने वाला है।

तात्पर्य : अभक्तों द्वारा जिस भौतिक जीवन की अत्यधिक कामना की जाती है, उसकी तुलना विषैले साँपों से युक्त अन्धेरे बिल से की गई है। भौतिक जीवन में किसी को अपने, ईश्वर या ब्रह्माण्ड के परम स्वरूप का कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं रहता। हर वस्तु अस्पष्ट तथा अंधकारमय लगती है। भौतिक जीवन में कालरूपी विषैला सर्प सदैव डराता रहता है और सर्प के विषैले दाँतों से किसी भी क्षण हमारे निकट सम्बन्धी मारे जा सकते हैं। अन्तत: हम भी काल द्वारा दंशित तथा उसके विषैले प्रभाव से मारे जायेंगे। *सम्पतितम्* शब्द यह बताता है कि जीव का पूरी तरह पतन होता है। दूसरे शब्दों में, वह पुन: उठ नहीं पाता। इसलिए श्री उद्धव भगवान् से याचना करते हैं कि वे उन जैसे पतितात्माओं पर दयालु हों। भगवान् की कृपा प्राप्त होने पर मनुष्य बिना किसी अन्य योग्यता के भगवद्धाम जा सकता है किन्तु भगवान् की कृपा के बिना विद्वान से विद्वान, तपस्वी, शक्तिमान, धनी अथवा सुन्दर मनुष्य भी संसार की माया रूपी चक्की से कुचल दिया जायेगा। जैसाकि यहाँ पर बतलाया गया है भगवान् *महानुभाव* हैं अर्थात् अत्यन्त महान, शक्तिमान तथा दयालु पुरुष हैं जिनका प्रभाव सर्वत्र व्याप्त है। भगवान् की कृपा का प्राकट्य *भगवद्गीता* तथा *उद्धव गीता* जैसे यहाँ दिए जा रहे अमृतमय उपदेशों के रूप में होता है। *क्षुद्रसुखोरुतर्षम्* शब्द भौतिक जगत की विडम्बना को प्रकट करने वाला है। यद्यपि भौतिक सुख *क्षुद्र* है, किन्तु इसे भोगने की हमारी इच्छा उरु अर्थात् अत्यधिक है। जड़ पदार्थ को भोगने की हमारी अनियंत्रित लालसा निश्चित रूप से हमारे मन की मोहावस्था है और यही हमें भौतिक जगत के अंधकारमय कूप (बिल) में बाँध कर निरन्तर कष्ट पहुँचाती है। हर जीव को चाहिए कि नश्वर शारीरिक उपाधियों पर आधारित मिथ्या प्रतिष्ठा को ताक पर रख कर भगवान् से उनकी दया की भीख माँगे। भगवान् पतित से पतित जीव की हर सच्ची याचना को सुनते हैं और भगवान् की कृपा का फल अद्भुत होता है। यद्यपि ज्ञानी, योगी तथा सकाम कर्मी अपना अपना लक्ष्य पाने के लिए अथक परिश्रम करते हैं, किन्तु उनकी स्थिति नाजुक तथा अनिश्चित रहती है। किन्तु मात्र कृष्ण-कृपा पाने से मनुष्य को जीवन की सर्वोच्च सिद्धि मिल सकती है। यदि ऐसा व्यक्ति, जो महान् अथवा शुद्ध कृष्ण-भक्त

नहीं है भगवान् से कृपा की भीख सच्चे दिल से माँगता है, तो उसे भी भगवान् उदार भाव से अवश्य प्रदान करते हैं।

श्रीभगवानुवाच
इत्थमेतत्पुरा राजा भीष्मं धर्मभृतां वरम् ।
अजातशत्रुः पप्रच्छ सर्वेषां नोऽनुशृण्वताम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; इत्थम्—इस प्रकार; एतत्—यह; पुरा—प्राचीन काल में; राजा—राजा; भीष्मम्—भीष्म से; धर्म—धार्मिक सिद्धान्त के; भृताम्—धारण करने वालों; वरम्—श्रेष्ठ; अजात-शत्रुः—जिसके कोई शत्रु नहीं माना जाता, राजा युधिष्ठिर, ने; पप्रच्छ—पूछा; सर्वेषाम्—सबों के; नः—हम; अनुशृण्वताम्—ध्यानपूर्वक सुनते समय।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, जिस तरह तुम मुझसे पूछ रहे हो, उसी तरह भूतकाल में राजा युधिष्ठिर ने जिन्हें अजातशत्रु कहा जाता है, धर्म के महानतम धारणकर्ता भीष्मदेव से पूछा था और हम सभी ध्यानपूर्वक सुन रहे थे।

निवृत्ते भारते युद्धे सुहृन्निधनविह्वलः ।
श्रुत्वा धर्मान्बहून्पश्चान्मोक्षधर्मानपृच्छत ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

निवृत्ते—समाप्त होने पर; भारते—भारत के वंशजों (कुरुओं तथा पाण्डवों के); युद्धे—युद्ध में; सुहृत्—अपने प्रिय शुभचिन्तकों के; निधन—विनाश से; विह्वलः—अभिभूत; श्रुत्वा—सुन कर; धर्मान्—धार्मिक नियम; बहून्—अनेक; पश्चात्—अन्त में; मोक्ष—मोक्ष सम्बन्धी; धर्मान्—धार्मिक सिद्धान्त; अपृच्छत—पूछा।

जब कुरुक्षेत्र का महान् युद्ध समाप्त हो गया, तो राजा युधिष्ठिर अपने प्रिय हितैषियों की मृत्यु से विह्वल थे। इस तरह अनेक धार्मिक सिद्धान्तों के विषय में उपदेश सुन कर, अन्त में उन्होंने मोक्ष-मार्ग के विषय में जिज्ञासा की थी।

तानहं तेऽभिधास्यामि देवव्रतमखाच्छ्रुतान् ।
ज्ञानवैराग्यविज्ञानश्रद्धाभक्त्युपबृंहितान् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; अहम्—मैं; ते—तुमसे; अभिधास्यामि—कहूँगा; देव-व्रत—भीष्मदेव के; मुखात्—मुख से; श्रुतान्—सुने हुए; ज्ञान—वैदिक ज्ञान; वैराग्य—विरक्ति; विज्ञान—आत्म-अनुभूति; श्रद्धा—श्रद्धा; भक्ति—तथा भक्ति; उप-बृंहितान्—से युक्त।

अब मैं तुमसे भीष्मदेव के मुख से सुने वैदिक ज्ञान, विरक्ति, आत्म-अनुभूति, श्रद्धा तथा भक्ति के उन धार्मिक सिद्धान्तों का वर्णन करूँगा।

नवैकादश पञ्च त्रीन्भावान्भूतेषु येन वै ।
ईक्षेताथाइकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

नव—नौ; एकादश—ग्यारह; पञ्च—पाँच; त्रीन्—तीन; भावान्—तत्त्वों को; भूतेषु—सारे जीवों (ब्रह्मा से लेकर अचर जीवों) में; येन—जिस ज्ञान से; वै—निश्चय ही; ईक्षेत—देखे; अथ—इस प्रकार; एकम्—एक तत्त्व; अपि—निस्सन्देह; एषु—इन अट्ठाईस तत्त्वों में; तत्—वह; ज्ञानम्—ज्ञान; मम—मेरे द्वारा; निश्चितम्—निर्धारित किया गया।

मैं स्वयं उस ज्ञान को निश्चित करता हूँ जिससे मनुष्य सारे जीवों में नौ, ग्यारह, पाँच तथा तीन तत्त्वों का संमेल देखता है और अन्त में इन अट्ठाईस तत्त्वों के भीतर केवल एक तत्त्व देखता है।

तात्पर्य : नौ तत्त्व हैं—भौतिक प्रकृति, जीव, महत् तत्त्व, मिथ्या अहंकार तथा पाँच इन्द्रिय-विषय यथा ध्वनि, स्पर्श, रूप, स्वाद तथा गंध। ग्यारह तत्त्व हैं—पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाणी, हाथ, पाँव, गुदा तथा प्रजननांग) तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (कान, स्पर्श, आँखें, जीभ तथा नथुने) एवं सब में समन्वय स्थापित करने वाला मन। पाँच तत्त्व हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश। तीन तत्त्व हैं—प्रकृति के तीन गुण—सतो, रजो तथा तमोगुण। शक्तिमान ब्रह्मा से लेकर क्षुद्र तृण तक सारे जीवों के शरीर इन्हीं अट्ठाईस तत्त्वों से बने होते हैं। इन अट्ठाइसों तत्त्वों के भीतर एक तत्त्व परमात्मा है, जो भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों के भीतर समाया हुआ है।

यह तो आसानी से समझ में आ जाता है कि भौतिक ब्रह्माण्ड असंख्य कारणों तथा कार्यों से बना है। चूँकि कृष्ण समस्त कारणों के कारण हैं, अतएव सारे गौण कारण-कार्य भगवान् से अभिन्न हैं। यही समझ असली ज्ञान या *ज्ञान* है, जो जीवन को पूर्ण बनाने के लिए अनिवार्य है।

एतदेव हि विज्ञानं न तथैकेन येन यत् ।
स्थित्युत्पत्त्यप्ययान्पश्येद्भावानां त्रिगुणात्मनाम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; एव—निस्सन्देह; हि—वास्तव में; विज्ञानम्—अनुभूत ज्ञान; न—नहीं; तथा—उसी तरह से; एकेन—एक (भगवान्) द्वारा; येन—जिसके द्वारा; यत्—जो (ब्रह्माण्ड); स्थिति—पालन; उत्पत्ति—सृजन; अप्ययान्—तथा संहार; पश्येत्—देखे; भावानाम्—सभी भौतिक तत्त्वों के; त्रि-गुण—प्रकृति के तीन गुणों के; आत्मनाम्—से बना।

जब कोई व्यक्ति एक ही कारण से उत्पन्न २८ पृथक् पृथक् भौतिक तत्त्वों को न देख कर, एक कारण रूप भगवान् को देखता है, उस समय मनुष्य का प्रत्यक्ष अनुभव *विज्ञान* कहलाता है।

तात्पर्य : *ज्ञान* तथा *विज्ञान* के अन्तर को इस प्रकार समझा जा सकता है। बद्धजीव वैदिक ज्ञान का अनुशीलन करने पर भी, कुछ हद तक अपनी पहचान भौतिक शरीर तथा मन से, फलस्वरूप भौतिक ब्रह्माण्ड से, करता है। वह जिस ब्रह्माण्ड में रहता है उसको समझने का प्रयास करने में वह वैदिक ज्ञान के माध्यम से यह सीखता है कि भगवान् समस्त जगत के परम कारण हैं। वह अपने चारों ओर के जगत से परिचित होकर, जगत को अपना स्वीकार कर लेता है। वह ज्यों ज्यों शारीरिक पहचान की दीवार को भेद कर आध्यात्मिक अनुभूति (विज्ञान) में प्रवेश करता है और नित्य आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है, त्यों त्यों वह वैकुण्ठ से अपनी पहचान बनाने लगता है। तब उसकी रुचि भगवान् में भौतिक जगत की व्याख्या के रूप में नहीं रह जाती, प्रत्युत वह अपनी संपूर्ण चेतना को पुनर्व्यवस्थित करने लगता है, जिससे उसके ध्यान का केन्द्रविन्दु भगवान् बन जाता है। ऐसी पुनर्व्यवस्था इसलिए आवश्यक है क्योंकि भगवान् हर वस्तु के वास्तविक केन्द्र तथा कारण हैं। इस तरह *विज्ञान* की अवस्था को प्राप्त व्यक्ति भगवान् को न केवल भौतिक जगत के स्रष्टा अपितु परम पुरुष के रूप में अनुभव करता है, जो अपने ही शाश्वत परिवेश में आनन्दपूर्वक स्थित हैं। ज्यों ज्यों विज्ञानी चिदाकाश में स्थित भगवद्धाम में भगवान् की अनुभूति में अग्रसर होता है, त्यों त्यों वह भौतिक जगत से अरुचि उत्पन्न करता जाता है और भगवान् की उनके क्षणिक रूपों के परिप्रेक्ष्य में परिभाषा करना बंद कर देता है। विज्ञानी उन वस्तुओं के प्रति आकृष्ट नहीं होता जो सृजित होती हैं, पालित होती हैं और अन्त में विनष्ट हो जाती हैं। ज्ञान की अवस्था उन लोगों के लिए ज्ञान की प्रारम्भिक अवस्था है, जो अपनी पहचान भौतिक जगत के रूप में करते रहते हैं जबकि विज्ञान उनके लिए ज्ञान की परिपक्व अवस्था है, जो अपने को भगवान् का भिन्नांश मानते हैं।

आदावन्ते च मध्ये च सृज्यात्सृज्यं यदन्वियात् ।
पुनस्तत्प्रतिसङ्क्रामे यच्छिष्येत तदेव सत् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

आदौ—कारण अवस्था में; अन्ते—अन्त में; च—भी; मध्ये—पालन की अवस्था में; च—भी; सृज्यात्—एक सृष्टि से; सृज्यम्—दूसरी सृष्टि में; यत्—जो; अन्वियात्—साथ में रहता है; पुनः—फिर; तत्—सभी भौतिक अवस्थाओं के; प्रतिसङ्क्रामे—संहार में; यत्—जो; शिष्येत—बचता है; तत्—वह; एव—निस्सन्देह; सत्—नित्य है, जो।

आदि, अन्त तथा मध्य—ये तीन अवस्थाएँ हैं भौतिक सृष्टि की। जो इन सारी भौतिक अवस्थाओं में एक सृजन (आदि) से दूसरे सृजन (अन्त) तक साथ साथ लगा रहता है और

जब सारी अवस्थाओं का प्रलय हो जाता है, तो भी जो अकेला बचता है, वही एक शाश्वत है।

तात्पर्य : भगवान् यहाँ पर पुन: कहते हैं कि एक भगवान् ही असीम भौतिक विविधता के आधार हैं। भौतिक क्रियाशीलता कार्य-कारण की शृंखला है, जिससे असंख्य वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। कोई एक भौतिक कार्य बाद में कारण में बदल जाता है और जब कारण-अवस्था समाप्त हो जाती है, तो कार्य लुप्त हो जाता है। अग्नि ईंधन को जलाकर राख कर देती है और जब अग्नि का कारण समाप्त हो जाता है, तो पिछले कारण की कार्य-रूप अग्नि भी समाप्त हो जाती है। सीधी-सी बात यह है कि भगवान् की परम शक्ति से ही सारी वस्तुएँ सृजित, पालित और विनष्ट होती हैं। और जब कार्य-कारण का सम्पूर्ण क्षेत्र हट जाता है, जिससे कार्य-कारण सम्बन्ध समाप्त हो जाता है, तो भगवान् अपने धाम में ही रहते जाते हैं। इसलिए कारणस्वरूप होते हुए भी असंख्य वस्तुएँ परम कारण नहीं होतीं। केवल भगवान् ही परम कारण हैं। इसी तरह भौतिक वस्तुएँ विद्यमान रह कर भी सदैव विद्यमान नहीं रहतीं। एकमात्र भगवान् का ही चरम अस्तित्व होता है। भगवान् के चरम पद को ज्ञान द्वारा समझना चाहिए।

श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम् ।
प्रमाणेष्वनवस्थानाद्विकल्पात्स विरज्यते ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्रुतिः—वैदिक ज्ञान; प्रत्यक्षम्—सीधा अनुभव; ऐतिह्यम्—परम्परागत विद्या; अनुमानम्—तार्किक अनुमान; चतुष्टयम्—चार; प्रमानेषु—सभी प्रकार के प्रमाणों में से; अनवस्थानात्—अस्थिरता के कारण; विकल्पात्—भौतिक विविधता से; सः—वह पुरुष; विरज्यते—विरक्त हो जाता है।

वैदिक ज्ञान, प्रत्यक्ष अनुभव, परम्परागत विद्या (ऐतिह्य) तथा तार्किक अनुमान—इन चार प्रकार के प्रमाणों से मनुष्य भौतिक जगत की अस्थिर दशा को समझ कर, इस जगत के द्वैत से विरक्त हो जाता है।

तात्पर्य : श्रुति अर्थात् वैदिक वाङ्मय में स्पष्ट कहा गया है कि हर वस्तु का उद्‌भव परब्रह्म से होता है, उन्हीं के द्वारा उसका पालन होता है और अन्त में उन्हीं में लय हो जाता है। इसी तरह प्रत्यक्ष अनुभव से हम महान् साम्राज्यों, शहरों, इमारतों, शरीरों इत्यादि के सृजन तथा संहार को देख सकते हैं। इतना ही नहीं, परम्परागत विद्या विश्व के लोगों को चेतावनी देती रहती है कि इस जगत की वस्तुएँ टिकाऊ नहीं हैं। अनुमान द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस जगत में कुछ भी स्थायी नहीं है। भौतिक इन्द्रियतृप्ति स्वर्गलोग के उच्चतम जीवन-स्तर से लेकर घोर नरक की निम्नतम परिस्थितियों

तक सदैव अस्थिर है और किसी भी क्षण समाप्त हो सकती है। इसलिए मनुष्य को *वैराग्य* उत्पन्न करना चाहिए जैसाकि यहाँ पर कहा गया है।

इस श्लोक का दूसरा अर्थ है कि यहाँ पर उद्धरित चार प्रकार के प्रमाण सर्वोच्च सत्य के वर्णन में परस्पर विरोधमूलक हैं। इसलिए मनुष्य को संसारी द्वैत से विरक्त हो जाना चाहिए जिसमें भौतिक जगत से संबद्ध वेदांश भी हैं। इसके बदले में उसे भगवान् को असली अधिकारी स्वीकार करना चाहिए। *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* दोनों में, भगवान् कृष्ण स्वयं बोल रहे हैं इसलिए सांसारिक तर्क की स्पर्धात्मक पद्धति के भ्रामिक जाल में उलझने की आवश्यकता नहीं है। वह साक्षात् परब्रह्म से सीधे सुन कर पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकता है। तब वह उस ज्ञान की निम्न प्रणाली से विरक्त हो जाता है, जो उसे भौतिक मानसिक पद पर भटकाता रहता है।

कर्मणां परिणामित्वादाविरिञ्च्यादमङ्गलम् ।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

कर्मणाम्—भौतिक कार्यों का; परिणामित्वात्—विकारग्रस्त होने के कारण; आ—तक; विरिञ्च्यात्—ब्रह्मलोक से; अमङ्गलम्—अशुभ दुख; विपश्चित्—बुद्धिमान व्यक्ति; नश्वरम्—क्षणिक; पश्येत्—देखे; अदृष्टम्—जसिका अभी तक अनुभव नहीं किया जा सका; अपि—निस्सन्देह; दृष्ट-वत्—पहले अनुभव हुए के समान।

बुद्धिमान पुरुष यह समझे कि कोई भी भौतिक कर्म निरन्तर परिवर्तित होता रहता है, यहाँ तक कि ब्रह्मलोक में भी केवल दुख ही दुख है। निस्सन्देह, बुद्धिमान व्यक्ति यह समझ सकता है कि जिस तरह सारी दृश्य वस्तुएँ क्षणिक हैं, उसी तरह ब्रह्माण्ड के भीतर सारी वस्तुओं का आदि और अन्त है।

तात्पर्य : *अदृष्टम्* शब्द इस ब्रह्माण्ड में उच्चतर लोकों में प्राप्य दैवी जीवन का सूचक है। ऐसा दैवी परिवेश वास्तव में पृथ्वीलोक में अनुभव नहीं किया जाता यद्यपि वैदिक वाङ्मय में इनका वर्णन है। यह तर्क किया जा सकता है कि वेदों के कर्मकाण्ड विभाग में भौतिक स्वर्ग जाने की संस्तुति है और यद्यपि वहाँ पर प्राप्य सुख शाश्वत नहीं है किन्तु कुछ काल तक जीवन-भोग तो किया जा सकता है। फिर भी भगवान् कृष्ण यहाँ बतलाते हैं कि ब्रह्मलोक में भी, जो स्वर्गलोक से उच्चतर है, कोई सुख नहीं है। उच्च लोकों में भी स्पर्धा, ईर्ष्या, क्षोभ, शोक तथा अन्ततोगत्वा मृत्यु हैं।

भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ ।
पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परं ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

भक्ति-योगः—भगवद्भक्ति; पुरा—पूर्व काल में; एव—निस्सन्देह; उक्तः—बतलाया गया; प्रीयमाणाय—जिसने प्रेम उत्पन्न कर लिया है; ते—तुम तक; अनघ—हे निष्पाप उद्धव; पुनः—फिर; च—भी; कथयिष्यामि—बतलाऊँगा; मत्—मुझ तक; भक्तेः—भक्ति का; कारणम्—असली कारण; परम्—परम।

हे निष्पाप उद्धव, चूँकि तुम मुझे चाहते हो इसलिए मैं पहले ही तुम्हें भक्ति की विधि बतला चुका हूँ। अब मैं तुमसे पुनः अपनी प्रेमाभक्ति पाने की श्रेष्ठ विधि बतलाऊँगा।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् कृष्ण श्री उद्धव से पहले ही *भक्तियोग* बतला चुके थे, किन्तु उद्धव उससे तुष्ट नहीं हैं क्योंकि वे कृष्ण से प्रेम करते हैं। भगवान् से प्रेम करने वाला व्यक्ति वैदिक कर्तव्यों तथा वैश्लेषिक दर्शन के वर्णनों से मिली-जुली भक्ति की विवेचनाओं से पूरी तरह तृप्त नहीं हो सकता। चेतनता की चरम अवस्था शुद्ध कृष्ण-प्रेम है और जिसे कृष्ण की लत लगी हो वह ऐसे विषयों के अमृत का निरन्तर पान करना चाहता है। भगवान् कृष्ण ने मानव सभ्यता के अनेक पक्षों का व्यापक सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है, जिसमें वर्णाश्रम प्रणाली, पदार्थ एवं आत्मा का अन्तर तथा इन्द्रियतृप्ति का परित्याग, इत्यादि सम्मिलित हैं। अब उद्धव भगवान् कृष्ण की शुद्ध भक्ति के विषय में सुनने के लिए विशेष रूप से लालायित हैं और भगवान् इसी विषय की ओर मुड़ते हैं।

श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् ।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥ २० ॥
आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् ।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥ २१ ॥
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् ।
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् ॥ २२ ॥
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च ।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः ॥ २३ ॥
एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् ।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

श्रद्धा—श्रद्धा; अमृत—अमृत में; कथायाम्—कथाओं के; मे—मेरे विषयक; शश्वत्—सदैव; मत्—मेरे; अनुकीर्तनम्—महिमा का गायन; परिनिष्ठा—आसक्ति में स्थिर; च—भी; पूजायाम्—पूजा करने में; स्तुतिभिः—सुन्दर स्तुतियों से; स्तवनम्—प्रार्थनाओं से; मम—मेरे विषय में; आदरः—सम्मान; परिचर्यायाम्—मेरी भक्ति के लिए; सर्व-अङ्गैः—शरीर के सारे अंगों से, साष्टांग; अभिवन्दनम्—नमस्कार करना; मत्—मेरा; भक्त—भक्तों की; पूजा—पूजा; अभ्यधिका—मुझसे बढ़कर; सर्व-

भूतेषु—सारे जीवों में; मत्—मेरी; मतिः—चेतना; मत्-अर्थेषु—मेरी सेवा करने के निमित्त; अङ्ग-चेष्टा—सामान्य शारीरिक कर्म; च—भी; वचसा—शब्दों से; मत्-गुण—मेरा दिव्य गुण; ईरणम्—घोषित करना; मयि—मुझमें; अर्पणम्—अर्पण करना; च—भी; मनसः—मन का; सर्व-काम—समस्त भौतिक इच्छाओं का; विवर्जनम्—बहिष्कार; मत्-अर्थे—मेरे लिए; अर्थ—सम्पत्ति का; परित्यागः—छोड़ा जाना; भोगस्य—इन्द्रियतृप्ति का; च—भी; सुखस्य—भौतिक सुख का; च—भी; इष्टम्—वांछित कर्म; दत्तम्—दान; हुतम्—यज्ञ की आहुति; जप्तम्—भगवन्नाम का कीर्तन; मत्-अर्थम्—मुझे पाने के लिए; यत्—जो; व्रतम्—व्रत, यथा एकादशी; तपः—तपस्या; एवम्—इस प्रकार; धर्मैः—ऐसे धार्मिक सिद्धान्तों से; मनुष्यानाम्—मनुष्यों के; उद्धव—हे उद्धव; आत्म-निवेदिनाम्—शरणागतों के; मयि—मुझमें; सञ्जायते—उत्पन्न होता है; भक्तिः—प्रेमाभक्ति; कः—कौन; अन्यः—दूसरा; अर्थः—उद्देश्य; अस्य—मेरे भक्त का; अवशिष्यते—बच रहता है।

मेरी लीलाओं की आनन्दमयी कथाओं में दृढ़ विश्वास, मेरी महिमा का निरन्तर कीर्तन, मेरी नियमित पूजा में गहन आसक्ति, सुन्दर स्तुतियों से मेरी प्रशंसा करना, मेरी भक्ति का समादर, साष्टांग नमस्कार, मेरे भक्तों की उत्तम पूजा, सारे जीवों में मेरी चेतना का ज्ञान, सामान्य शारीरिक कार्यों को मेरी भक्ति में अर्पण, मेरे गुणों का वर्णन करने के लिए वाणी का प्रयोग, मुझे अपना मन अर्पित करना, समस्त भौतिक इच्छाओं का बहिष्कार, मेरी भक्ति के लिए सम्पत्ति का परित्याग, भौतिक इन्द्रियतृप्ति तथा सुख का परित्याग तथा मुझे पाने के उद्देश्य से दान, यज्ञ, कीर्तन, व्रत, तपस्या इत्यादि वांछित कार्यों को सम्पन्न करना—ये वास्तविक धार्मिक सिद्धान्त हैं, जिनसे मेरे शरणागत हुए लोग स्वतः मेरे प्रति प्रेम उत्पन्न कर लेते हैं। तो फिर मेरे भक्त के लिए कौन-सा अन्य उद्देश्य या लक्ष्य शेष रह जाता है?

तात्पर्य : इस श्लोक में *मद्भक्तपूजाभ्यधिका* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। *अभ्यधिका* "उत्तम कोटि" का सूचक है। भगवान् उनसे अत्यधिक तुष्ट रहते हैं, जो उनके शुद्ध भक्तों की पूजा करते हैं और वे उन्हें तदनुसार फल देते हैं। भगवान् द्वारा अपने शुद्ध भक्तों के उदारमूल्यांकन के कारण, शुद्ध भक्तों की पूजा को साक्षात् भगवान् की पूजा से श्रेष्ठ बताया गया है। *मद् अर्थेष्वङ्ग चेष्टा* शब्द यह बताते हैं कि दाँत साफ करना, स्नान करना, भोजन करना इत्यादि सामान्य शारीरिक कार्य भक्ति-रूप में भगवान् को अर्पित करने चाहिए। *वचसा मद्गुणेरणम्* सूचित करते हैं कि चाहे भोंडी भाषा में या विद्वत्तापूर्ण कवि-स्वर में हो, भगवान् की महिमा का वर्णन होना चाहिए। *मद् अर्थेऽर्थ परित्यागः* शब्द सूचित करते हैं कि मनुष्य को अपना धन भगवान् की महिमा व्यक्त करने वाले उत्सवों में खर्च करना चाहिए, यथा रथ-यात्रा, जन्माष्टमी तथा गौर-पूर्णिमा में। यही नहीं, यहाँ यह भी आदेश है कि मनुष्य अपना धन अपने गुरु तथा अन्य वैष्णवों के मिशन में सहायता पहुँचाने के लिए खर्च करे। जो धन भगवान् की सेवा में ठीक से उपयोग में नहीं लाया जा सकता और इस तरह विमल चेतना में व्यवधान बनता है,

उसका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए। *भोगस्य* शब्द यौन-भोग इत्यादि इन्द्रियतृप्ति का द्योतक है और *सुखस्य* भावात्मक भौतिक सुख यथा अत्यधिक पारिवारिक आसक्ति का। *दत्तं हुतम्* शब्द सूचित करते हैं कि ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को घी में तैयार उत्तम भोजन प्रदान किया जाय। मनुष्य को चाहिए कि प्रामाणिक यज्ञ-अग्नि में स्वाहा उच्चारण के साथ अन्न तथा घृत डाले। *जप्तम्* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य को निरन्तर भगवन्नाम का कीर्तन करना चाहिए।

यदात्मन्यर्पितं चित्तं शान्तं सत्त्वोपबृंहितम् ।
धर्मं ज्ञानं स वैराग्यमैश्वर्यं चाभिपद्यते ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; आत्मनि—भगवान् में; अर्पितम्—स्थिर; चित्तम्—चेतना; शान्तम्—शान्त; सत्त्व—सतोगुण द्वारा; उपबृंहितम्—संपुष्ट; धर्मम्—धार्मिकता; ज्ञानम्—ज्ञान; सः—सहित; वैराग्यम्—वैराग्य; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; च—भी; अभिपद्यते—प्राप्त करता है।

जब सतोगुण से संतुष्ट शान्त चेतना भगवान् पर स्थिर कर दी जाती है, तो मनुष्य को धार्मिकता, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

तात्पर्य : हर वस्तु को भगवान् की सेवा के लिए चाहते हुए और अपने लिए कुछ भी न चाहते हुए, शुद्ध भक्त *शान्त* बन जाता है। वह दिव्य सतोगुण द्वारा परिपुष्ट बनता है और इस तरह भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा करने के परम धर्म को प्राप्त करता है। वह भगवान् के स्वरूप तथा अपने आध्यात्मिक शरीर, भौतिक शुद्धता तथा पाप से वैराग्य तथा वैकुण्ठ के ऐश्वर्य का *ज्ञान* भी प्राप्त कर लेता है। किन्तु जो भगवान् का शुद्ध भक्त नहीं होता तदपि जिसकी भक्ति, योग के प्रति आकर्षण से मिश्रित होती है, वह सतोगुण द्वारा परिपुष्ट होता है। वह भगवान् का ध्यान करके धर्म, ज्ञान तथा वैराग्य के कम महत्त्वपूर्ण फल प्राप्त करता है। अन्ततः मनुष्य को भगवान् का शुद्ध भक्त होना चाहिए क्योंकि भौतिक जगत चाहे जितनी भी उत्तम भेंट क्यों न करे, वह भगवद्धाम की तुलना में नगण्य है।

यदर्पितं तद्विकल्पे इन्द्रियैः परिधावति ।
रजस्वलं चासन्निष्ठं चित्तं विद्धि विपर्ययम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यत्—जब; अर्पितम्—स्थिर; तत्—यह (चेतना); विकल्पे—भौतिक विविधता में (शरीर, घर, परिवार आदि); इन्द्रियैः—इन्द्रियों से; परिधावति—चारों ओर दौ लगाते; रजः-वलम्—रजोगुण से परिपुष्ट; च—भी; असत्—जिसमें स्थायी सच्चाई नहीं है उसे; निष्ठम्—समर्पित; चित्तम्—चेतना; विद्धि—जानो; विपर्ययम्—(पूर्व वर्णित के) विरुद्ध।

जब मनुष्य की चेतना भौतिक देह, घर तथा इन्द्रियतृप्ति की ऐसी ही अन्य वस्तुओं पर टिक जाती है, तो वह इन्द्रियों की सहायता से भौतिक वस्तुओं के पीछे दौ लगाते-लगाते अपना जीवन व्यतीत करता है। इस तरह रजोगुण से बलपूर्वक प्रभावित चेतना नश्वर वस्तुओं के प्रति समर्पित हो जाती है, जिससे अधर्म, अज्ञान, आसक्ति तथा नीचता (कृपणता) उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में भगवान् कृष्ण ने अपने ऊपर मन टिकाने का शुभ फल बतलाया है और अब उसकी उल्टी स्थिति बतला रहे हैं। *रजस्वलम्*—सूचित करता है कि मनुष्य की वासना इतनी प्रबल हो उठती है कि वह पापपूर्ण कृत्य करता है और दुर्भाग्य का शिकार बनता है। यद्यपि भौतिकतावादी लोग आसन्न विपत्ति के प्रति आँखें मूँदें रहते हैं, इसकी पुष्टि सभी प्रकार के प्रमाणों से—वैदिक आदेशों, प्रत्यक्ष निरीक्षण, परम्परागत विज्ञता तथा निगमनात्मक तर्क—की जा सकती है कि ईश्वरी नियमों का उल्लंघन विपदापूर्ण है।

धर्मो मद्भक्तिकृत्प्रोक्तो ज्ञानं चैकात्म्यदर्शनम् ।
गुणेस्वसङ्गो वैराग्यमैश्वर्यं चाणिमादयः ॥ २७॥

शब्दार्थ

धर्मः—धर्म; मत्—मेरी; भक्ति—भक्ति; कृत्—उत्पन्न करते हुए; प्रोक्तः—घोषित की जाती है; ज्ञानम्—ज्ञान; च—भी; ऐकात्म्य—परमात्मा की उपस्थिति; दर्शनम्—देखना; गुणेषु—इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं में; असङ्गः—निर्लिप्त; वैराग्यम्—वैराग्य; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; च—भी; अणिमा—अणिमा नामक योग-सिद्धि; आदयः-अन्द् सो फोर्थ्.

वास्तविक धार्मिक सिद्धान्त वे हैं, जो मनुष्य को मेरी भक्ति तक ले जाते हैं। असली ज्ञान वह जानकारी है, जो मेरी सर्वव्यापकता को प्रकट करती है। इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं में पूर्ण अरुचि ही वैराग्य है और अणिमा सिद्धि जैसी आठ सिद्धियाँ ही ऐश्वर्य हैं।

तात्पर्य : भगवान् परम ज्ञान हैं अतः जो व्यक्ति अज्ञान से छूट जाता है, वह अपने आप भगवद्भक्ति में लग जाता है और धार्मिक कहलाता है। जो व्यक्ति प्रकृति के तीन गुणों तथा उनसे उत्पन्न इन्द्रियतृप्ति प्रदान करने वाले पदार्थों से विरक्त रहता है, वह वैराग्य को प्राप्त माना जाना है। आठ योग-सिद्धियाँ, जिन्हें भगवान् उद्धव से पहले ही बता चुके हैं, सर्वोच्च ऐश्वर्य के अन्तर्गत आती हैं।

श्रीउद्धव उवाच

यमः कतिविधः प्रोक्तो नियमो वारिकर्षण ।
कः शमः को दमः कृष्ण का तितिक्षा धृतिः प्रभो ॥ २८ ॥

किं दानं किं तपः शौर्यं किम्सत्यमृतमुच्यते ।
कस्त्यागः किं धनं चेष्टं को यज्ञः का च दक्षिणा ॥ २९ ॥

पुंसः किं स्विद्बलं श्रीमन्भगो लाभश्च केशव ।
का विद्या ह्रीः परा का श्रीः किं सुखं दुःखमेव च ॥ ३० ॥

कः पण्डितः कश्च मूर्खः कः पन्था उत्पथश्च कः ।
कः स्वर्गो नरकः कः स्वित्को बन्धुरुत किं गृहम् ॥ ३१ ॥

क आढ्यः को दरिद्रो वा कृपणः कः क ईश्वरः ।
एतान्प्रश्नान्मम ब्रूहि विपरीतांश्च सत्पते ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; यमः—अनुशासनात्मक नियम; कति-विधः—कितने भिन्न प्रकार के; प्रोक्तः—विद्यमान कहे जाते हैं; नियमः—नियमित नैत्यिक कार्य; वा—अथवा; अरि-कर्षण—हे शत्रु के दमनकर्ता, कृष्ण; कः—क्या है; शमः—मानसिक सन्तुलन; कः—क्या है; दमः—आत्मसंयम; कृष्ण—हे कृष्ण; का—क्या है; तितिक्षा—सहिष्णुता; धृतिः—दृढ़ता, धैर्य; प्रभो—हे प्रभु; किम्—क्या है; दानम्—दान; किम्—क्या है; तपः—तपस्या; शौर्यम्—शूरता; किम्—क्या है; सत्यम्—सच्चाई; ऋतम्—सत्य; उच्यते—कहलाता है; कः—क्या है; त्यागः—वैराग्य; किम्—क्या है; धनम्—सम्पत्ति; च—भी; इष्टम्—इच्छित; कः—क्या है; यज्ञः—यज्ञ; का—क्या है; च—भी; दक्षिणा—धार्मिक पारिश्रमिक, दक्षिणा; पुंसः—पुरुष का; किम्—क्या है; स्वित्—निस्सन्देह; बलम्—बल; श्री-मन्—हे भाग्यवान् कृष्ण; भगः—ऐश्वर्य; लाभः—लाभ; च—भी; केशव—हे केशव; का—क्या है; विद्या—शिक्षा; ह्रीः—दीनता, नम्रता; परा—परम; का—क्या है; श्रीः—सौन्दर्य; किम्—क्या है; सुखम्—सुख; दुःखम्—दुख; एव—निस्सन्देह; च—भी; कः—कौन है; पण्डितः—विद्वान; कः—कौन है; च—भी; मूर्खः—मूर्ख; कः—क्या है; पन्थाः—असली मार्ग; उत्पथः—झूठा मार्ग, कुमार्ग; च—भी; कः—क्या है; कः—क्या है; स्वर्गः—स्वर्ग; नरकः—नरक; कः—क्या है; स्वित्—निस्सन्देह; कः—कौन है; बन्धुः—मित्र; उत—तथा; किम्—क्या है; गृहम्—घर; कः—कौन है; आढ्यः—धनी; कः—कौन है; दरिद्रः—गरीब, निर्धन; वा—अथवा; कृपणः—कंजूस; कः—कौन है; कः—कौन है; ईश्वरः—नियन्ता; एतान्—इन; प्रश्नान्—प्रश्नों को; मम—मुझसे; ब्रूहि—कृपया कहें; विपरीतान्—विरोधी गुण; च—भी; सत्-पते—हे भक्तों के स्वामी।

श्री उद्धव ने कहा : हे कृष्ण, हे शत्रुओं को दण्ड देने वाले, कृपा करके मुझसे यह बतायें कि कितने प्रकार के अनुशासनात्मक नियम (यम) तथा नियमित दैनिक कार्य (नियम) हैं। यही नहीं, हे प्रभु, मुझे यह भी बतायें कि मानसिक संतुलन क्या है, आत्मसंयम क्या है और सहिष्णुता तथा दृढ़ता का असली अर्थ क्या है? दान, तपस्या तथा शौर्य क्या हैं और वास्तविकता तथा सच्चाई का किस तरह वर्णन किया जाता है? त्याग क्या है और सम्पत्ति क्या है? इच्छित क्या है, यज्ञ क्या है और दक्षिणा क्या है? हे केशव, हे भाग्यवान्, मैं किस तरह किसी व्यक्ति के बल, ऐश्वर्य तथा लाभ को समझूँ? सर्वोत्तम शिक्षा क्या है? वास्तविक नम्रता क्या है और असली सौन्दर्य क्या है? सुख और दुख क्या हैं? कौन विद्वान है और कौन मूर्ख है? जीवन के असली तथा मिथ्या मार्ग क्या हैं और स्वर्ग तथा नरक क्या हैं? असली मित्र कौन है और असली घर क्या है? कौन धनी है और कौन निर्धन है? कौन कंजूस है और कौन वास्तविक

नियन्ता है? हे भक्तों के स्वामी, कृपा करके मुझे इन बातों के साथ साथ इनकी विपरीत बातें भी बतलायें।

तात्पर्य : इन पाँच श्लोकों में उल्लिखित सभी बातें भिन्न भिन्न प्रकारों से विश्व-भर में भिन्न संस्कृतियों तथा समाजों में परिभाषित की गई हैं। इसलिए श्री उद्धव सभ्य जीवन के इन विश्वजनीन पक्षों की मानक परिभाषा पाने के लिए परम अधिकारी भगवान् कृष्ण से पूछ रहे हैं।

श्रीभगवानुवाच

अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसञ्चयः ।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम् ॥ ३३ ॥
शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धातिथ्यं मदर्चनम् ।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम् ॥ ३४ ॥
एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः ।
पुंसामुपासितास्तात यथाकामं दुहन्ति हि ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अहिंसा—अहिंसा; सत्यम्—सत्य; अस्तेयम्—अन्यों की सम्पत्ति के लिए न तो ललचाना, न चोरी करना; असङ्गः—विरक्ति; ह्रीः—दीनता; असञ्चयः—अपरिग्रह; आस्तिक्यम्—धर्म में विश्वास; ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्य; च—भी; मौनम्—मौन; स्थैर्यम्—स्थिरता; क्षमा—क्षमा करना; अभयम्—निर्भीकता; शौचम्—भीतरी तथा बाहरी स्वच्छता; जपः—भगवन्नाम का कीर्तन; तपः—तपस्या; होमः—यज्ञ; श्रद्धा—श्रद्धा; आतिथ्यम्—अतिथि-सत्कार; मत्-अर्चनम्—मेरी पूजा; तीर्थ-अटनम्—तीर्थयात्रा करना; पर-अर्थ-ईह—परमेश्वर के लिए कर्म करना तथा इच्छा करना; तुष्टिः—सन्तोष; आचार्य-सेवनम्—गुरु-सेवा; एते—ये; यमाः—अनुशासनात्मक नियम; स-नियमाः—गौण कार्यों के साथ; उभयोः—दोनों का; द्वादश—बारह; स्मृताः—जाने जाते हैं; पुंसाम्—मनुष्यों द्वारा; उपासिताः—भक्तिपूर्वक अनुशीलन किया गया; तात—हे उद्धव; यथा-कामम्—अपनी इच्छानुसार; दुहन्ति—पूर्ति करते हैं; हि—निस्सन्देह।

भगवान् ने कहा : अहिंसा, सत्य, दूसरों की सम्पत्ति से लालायित न होना या चोरी न करना, वैराग्य, दीनता, अपरिग्रह, धर्म में विश्वास, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा तथा अभय—ये बारह मूल अनुशासनात्मक यम (नियम) हैं। आन्तरिक तथा बाह्य स्वच्छता, भगवन्नाम कीर्तन, यज्ञ, श्रद्धा, आतिथ्य, मेरी पूजा, तीर्थाटन, केवल परम लक्ष्य के लिए कार्य करना तथा इच्छा करना, सन्तोष तथा गुरु-सेवा—ये बारह नियमित कार्य (नियम) हैं। ये चौबीसों कार्य उन लोगों को इच्छित वर देने वाले हैं, जो उनका भक्तिपूर्वक अनुशीलन करते हैं।

शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः ।
तितिक्षा दुःखसम्मर्षो जिह्वोपस्थजयो धृतिः ॥ ३६ ॥

दण्डन्यासः परं दानं कामत्यागस्तपः स्मृतम् ।
स्वभावविजयः शौर्यं सत्यं च समदर्शनम् ॥ ३७ ॥

अन्यच्च सुनृता वाणी कविभिः परिकीर्तिता ।
कर्मस्वसङ्गमः शौचं त्यागः सन्न्यास उच्यते ॥ ३८ ॥

धर्म इष्टं धनं नृणां यज्ञोऽहं भगवत्तमः ।
दक्षिणा ज्ञानसन्देशः प्राणायामः परं बलम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

शमः—मानसिक सन्तुलन; मत्—मुझमें; निष्ठता—निष्ठा; बुद्धेः—बुद्धि की; दमः—आत्मसंयम; इन्द्रिय—इन्द्रियों का; संयमः—पूर्ण अनुशासन; तितिक्षा—सहिष्णुता; दुःख—दुख; सम्मर्षः—सहन करना; जिह्वा—जीभ; उपस्थ—जननेन्द्रिय; जयः—जीतना; धृतिः—स्थिरता; दण्ड—आक्रामकता, छेड़छाड़; न्यासः—त्यागना; परम्—परम; दानम्—दान; काम—विषय-वासना; त्यागः—त्यागना; तपः—तपस्या; स्मृतम्—माना जाता है; स्वभाव—भोग करने की सहज प्रवृत्ति; विजयः—जीत; शौर्यम्—वीरता; सत्यम्—सत्य; च—भी; सम-दर्शनम्—परमेश्वर का सर्वत्र दर्शन होना; अन्यत्—अगला तत्त्व (सच्चाई); च—तथा; सु-नृता—मधुर; वाणी—वाणी; कविभिः—मुनियों द्वारा; परिकीर्तिता—घोषित; कर्मसु—सकाम कर्मों में; असङ्गमः—विरक्ति; शौचम्—स्वच्छता; त्यागः—त्याग; सन्न्यासः—संन्यास आश्रम; उच्यते—कहलाता है; धर्मः—धार्मिकता; इष्टम्—इष्ट; धनम्—सम्पत्ति; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; यज्ञः—यज्ञ; अहम्—मैं हूँ; भगवत्-तमः—भगवान्; दक्षिणा—दक्षिणा; ज्ञान-सन्देशः—सम्यक ज्ञान का उपदेश; प्राणायामः—श्वास रोकने की योग-पद्धति; परम्—परम; बलम्—शक्ति।

मुझमें बुद्धि लगाना मानसिक सन्तुलन (शम) है और इन्द्रियों का पूर्ण संयम आत्मसंयम (दम) है। सहिष्णुता का अर्थ है धैर्यपूर्वक दुख सहना। स्थिरता तब आती है जब मनुष्य जीभ तथा जननेन्द्रियों पर विजय पा लेता है। सबसे बड़ा दान है अन्यों के प्रति सभी प्रकार की छेड़छाड़ त्यागना। काम (विषय-वासना) का परित्याग ही असली तपस्या है। असली शौर्य भौतिक जीवन का भोग करने की सहज प्रवृत्ति को जीतना है तथा भगवान् का सर्वत्र दर्शन करना ही सच्चाई (सत्य) है। सत्यता का अर्थ है मधुर ढंग से सत्य बोलना जैसा कि महर्षियों ने घोषित किया है। स्वच्छता का अर्थ है सकाम कर्मों से विरक्ति जबकि त्याग ही संन्यास है। मनुष्यों की असली इष्ट सम्पत्ति धार्मिकता है और मैं, भगवान् ही यज्ञ हूँ। आध्यात्मिक उपदेश प्राप्त करने के उद्देश्य से गुरु-भक्ति ही दक्षिणा है और सबसे बड़ी शक्ति है श्वास रोकने की प्राणायाम विधि।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण यहाँ पर उन गुणों का वर्णन कर रहे हैं, जो मानव जीवन में प्रगति करने वाले मनुष्यों के लिए वांछित हैं। *शम* का अर्थ है बुद्धि को भगवान् कृष्ण में स्थिर करना। कृष्णभावनामृत के बिना कोरी शान्ति मन की जड़ तथा व्यर्थ अवस्था है। *दम* का अर्थ है सबसे पहले अपनी इन्द्रियों को वश में करना। यदि कोई व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को वश में किये बिना अपने बच्चों,

शिष्यों या अनुयायियों को अनुशासित बनाना चाहता है, तो वह उपहास का पात्र बन जाता है। सहिष्णुता का अर्थ है धैर्यपूर्वक दुख सहना जैसा अन्यों द्वारा अपमान या उपेक्षा से उत्पन्न होता है। कभी कभी शास्त्रों के आदेशों का पालन करने में भौतिक असुविधाएँ स्वीकार करनी पड़ती हैं और ऐसे दुख को भी धैर्यपूर्वक सहन कर लेना चाहिए। यदि अन्यों के द्वारा किये गये अपमान तथा अपशब्दों को किसी मनुष्य द्वारा सहा नहीं जाता, या प्रामाणिक धार्मिक शास्त्रों के पालन से उत्पन्न असुविधाओं को सहा नहीं जाता, तो उसके लिए अत्यधिक धूप, शीत, कष्ट इत्यादि सहने का दिखावा करके अन्यों पर प्रभाव जमाना कोरी मूर्खता होगी। यदि कोई व्यक्ति अपनी जीभ तथा अपनी जननेन्द्रिय को वश में नहीं करता, तो किसी भी प्रकार की स्थिरता व्यर्थ है। असली दान तो अन्यों के प्रति सारी आक्रामकता का त्याग है। यदि कोई दानखाते में धन देता है, किन्तु साथ ही शोषण कार्यों में या दुरुपयुक्त राजनीतिक दाँव-पेंच में लगा रहता है, तो उसके दान का कोई मूल्य नहीं रहता। तपस्या का अर्थ है विषय-वासना तथा इन्द्रियतृप्ति का त्याग और एकादशी जैसा व्रत रखना। इसका अर्थ यह नहीं कि शरीर को कष्ट देने वाली मनमानी विधियों को ईजाद किया जाय। वास्तविक शौर्य अपनी निम्न मनोवृत्ति को जीतना है। प्रत्येक व्यक्ति तेजस्वी व्यक्ति के रूप में अपने यश का प्रचार करना चाहता है किन्तु उसमें काम, क्रोध, लोभ, इत्यादि आ ही जाते हैं। इसलिए यदि कोई व्यक्ति रजो तथा तमोगुणों से उत्पन्न इन छोटी छोटी बुराइयों को जीत सकता है, तो वह उनकी तुलना में बड़ा वीर है, जो कपट तथा हिंसा द्वारा केवल अपने राजनीतिक विपक्षियों को नष्ट कर देते हैं।

ईर्ष्या-द्वेष का त्याग करके तथा हर शरीर के भीतर आत्मा के अस्तित्व को पहचान करके मनुष्य सम-दृष्टि उत्पन्न कर सकता है। यह मनोवृत्ति परमेश्वर को प्रसन्न करती है और तब वे अपने को प्रकट करते हैं जिससे मनुष्य की समदृष्टि की पुष्टि होती है। विद्यमान वस्तुओं का मात्र वर्णन करना सच्चाई की अनुभूति नहीं है। उसे सारे जीवों तथा सारी परिस्थितियों की सही आध्यात्मिक समता को भी देखना चाहिए। सत्य का अर्थ है मधुर ढंग से बोलना जिससे लाभकारी प्रभाव पड़े। यदि सच्चाई के नाम पर अन्यों के दोषों पर उंगली उठाता है, तो ऐसा छिद्रान्वेषण सन्त पुरुषों को पसंद नहीं आता। प्रामाणिक गुरु सत्य का भाषण इस तरह करता है कि लोग आध्यात्मिक पद तक उठ सकें। सत्य की यह कला सीखनी चाहिए। यदि कोई व्यक्ति भौतिक वस्तुओं में आसक्त रहता है, तो उसका शरीर तथा

मन सदैव दूषित रहते हैं। अतएव स्वच्छता का अर्थ है भौतिक आसक्ति को त्याग देना, न कि केवल जल से शरीर की त्वचा को बार-बार धोना। असली त्याग तो अपने सम्बन्धियों तथा पत्नी के ऊपर अपनी झूठी स्वामित्व भावना को त्यागना है, मात्र भौतिक वस्तुओं को त्यागना नहीं। असली सम्पत्ति धर्ममय होना है। यज्ञ तो साक्षात् भगवान् है क्योंकि यज्ञकर्ता को अपनी चेतना भगवान् में लीन करनी चाहिए, यज्ञ से प्राप्त होने वाले क्षणिक भौतिक लाभ में नहीं। असली दक्षिणा का अर्थ है कि साधु पुरुषों की सेवा की जाय जिससे वे उसे आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान कर सकें। मनुष्य को चाहिए कि उस गुरु को, उसी ज्ञान को दूसरों को प्रदान करके, दक्षिणा दे, जिसने उसे प्रकाश दिया है और इस तरह वह आचार्य को प्रसन्न करे। प्रचार का कार्य सबसे बड़ी दक्षिणा है। प्राणायाम द्वारा मनुष्य अपने मन को सरलता से दमित कर सकता है और जो व्यक्ति इस तरह चंचल मन को भलीभाँति वश में कर लेता है, वही सबसे शक्तिशाली पुरुष है।

भगो म ऐश्वरो भावो लाभो मद्भक्तिरुत्तमः ।
विद्यात्मनि भिदाबाधो जुगुप्सा ह्रीरकर्मसु ।
श्रीर्गुणा नैरपेक्ष्याद्याः सुखं दुःखसुखात्ययः ॥ ४० ॥
दुःखं कामसुखापेक्षा पण्डितो बन्धमोक्षवित् ।
मूर्खो देहाद्यहंबुद्धिः पन्था मन्निगमः स्मृतः ॥ ४१ ॥
उत्पथश्चित्तविक्षेपः स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः ।
नरकस्तमउन्नाहो बन्धुर्गुरुरहं सखे ॥ ४२ ॥
गृहं शरीरं मानुष्यं गुणाढ्यो ह्याढ्य उच्यते ।
दरिद्रो यस्त्वसन्तुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः ॥ ४३ ॥
गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसङ्गो विपर्ययः ।
एत उद्धव ते प्रश्नाः सर्वे साधु निरूपिताः ॥ ४४ ॥
किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः ।
गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

भगः—ऐश्वर्य; मे—मेरा; ऐश्वरः—ईश्वरी; भावः—स्वभाव; लाभः—लाभ; मत्-भक्तिः—मेरी भक्ति; उत्तमः—सर्वश्रेष्ठ; विद्या—शिक्षा; आत्मनि—आत्मा में; भिदा—द्वैत; बाधः—निरस्त करना; जुगुप्सा—घृणा; ह्रीः—विनयशीलता; अकर्मसु—पापपूर्ण कार्यों में; श्रीः—सौन्दर्य; गुणाः—सद्गुण; नैरपेक्ष्य—भौतिक वस्तुओं से विराग; आद्याः—इत्यादि; सुखम्—सुख; दुःख—दुख; सुख—भौतिक सुख; अत्ययः—पार करना; दुःखम्—दुख; काम—विषय-वासना का; सुख—सुख पर; अपेक्षा—ध्यान करना; पण्डितः—चतुर व्यक्ति; बन्ध—बन्धन से; मोक्ष—मोक्ष; वित्—जानने वाला; मूर्खः—मूर्ख; देह—देह सहित; आदि—इत्यादि (मन); अहम्-बुद्धिः—जो अपनी पहचान करता है; पन्थाः—असली मार्ग; मत्—मुझ तक; निगमः—जाने वाला; स्मृतः—समझना चाहिए; उत्पथः—गलत रास्ता; चित्त—चेतना की; विक्षेपः—मोहग्रस्तता; स्वर्गः—स्वर्ग; सत्त्व-

गुण—सतोगुण का; उदयः—प्राधान्य; नरकः—नरक; तमः—तमोगुणी की; उन्नाहः—प्रधानता; बन्धुः—असली मित्र; गुरुः—गुरु; अहम्—मैं हूँ; सखे—हे मित्र उद्धव; गृहम्—घर; शरीरम्—शरीर; मानुष्यम्—मनुष्य का; गुण—सद्गुणों सहित; आढ्यः—समृद्ध; हि—निस्सन्देह; आढ्यः—धनी व्यक्ति; उच्यते—कहलाता है; दरिद्रः—निर्धन व्यक्ति; यः—जो; तु—निस्सन्देह; असन्तुष्टः—असंतुष्ट; कृपणः—कंजूस; यः—जो; अजित—नहीं जीती हैं; इन्द्रियः—इन्द्रियाँ; गुणेषु—भौतिक इन्द्रियतृप्ति में; असक्त—आसक्त नहीं; धीः—जिसके बुद्धि; ईशः—नियामक; गुण—इन्द्रियतृप्ति; सङ्गः—आसक्त; विपर्ययः—विपरीत, चाकर; एते—ये; उद्धव—हे उद्धव; ते—तुम्हारे; प्रश्नाः—प्रश्न; सर्वे—सभी; साधु—उचित ढंग से; निरूपिताः—व्याख्या किये गये; किम्—क्या लाभ; वर्णितेन—वर्णन करने का; बहुना—विस्तार से; लक्षणम्—लक्षण; गुण—सद्गुणों के; दोषयोः—तथा दुर्गुणों के; गुण-दोष—अच्छे तथा बुरे गुण; दृशिः—देखना; दोषः—दोष; गुणः—असली सद्गुण; तु—निस्सन्देह; उभय—दोनों से; वर्जितः—पृथक्।

वास्तविक ऐश्वर्य भगवान् के रूप में मेरा निजी स्वभाव है, जिसके माध्यम से मैं छः असीम ऐश्वर्यों को प्रकट करता हूँ। जीवन का सबसे बड़ा लाभ मेरी भक्ति है और असली शिक्षा (विद्या) आत्मा के भीतर के झूठे द्वैतभाव को समाप्त करना है। असली उदारता अनुचित कार्यों से घृणा करना है। विरक्ति जैसे सद्गुण का होना सौन्दर्य है। भौतिक सुख तथा दुख को लाँघना असली सुख है और असली दुख तो यौन-सुख की खोज में अपने को फँसाना है। बुद्धिमान वही है, जो बन्धन से छूटने की विधि जानता है और मूर्ख वह है, जो अपनी पहचान अपने शरीर तथा मन से करता है। जीवन में असली मार्ग वह है, जो मुझ तक ले जाने वाला है और कुमार्ग इन्द्रियतृप्ति है, जिससे चेतना मोहग्रस्त हो जाती है। वास्तविक स्वर्ग सतोगुण की प्रधानता है और अज्ञान की प्रधानता ही नरक है। मैं समस्त ब्रह्माण्ड के गुरु रूप में हर एक का असली मित्र हूँ। मनुष्य का घर उसका शरीर है। हे प्रिय मित्र उद्धव, जो सद्गुणों से युक्त है, वही धनी कहा जाता है और जो जीवन से असंतुष्ट रहता है, वही निर्धन है। कृपण वह है, जो अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रख सकता और असली नियंत्रक वह है, जो इन्द्रियतृप्ति में आसक्त नहीं होता। इसके विपरीत जो व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति में आसक्त रहता है, वह दास होता है। इस प्रकार हे उद्धव, मैंने तुम्हारे द्वारा पूछे गये सारे विषयों की व्याख्या कर दी है। इन सद्गुणों तथा दुर्गुणों की अधिक विशद व्याख्या की आवश्यकता नहीं है क्योंकि निरन्तर गुण तथा दोषों को देखना स्वयं में एक दुर्गुण है। सर्वोत्कृष्ट गुण तो भौतिक गुण और दोष को लाँघ जाना है।

तात्पर्य : भगवान् स्वभावतः षड् ऐश्वर्यों—असीम सौन्दर्य, धन, यश, ज्ञान, बल तथा त्याग से युक्त होते हैं। इसलिए जीवन का सबसे बड़ा लाभ है उन भगवान् की साकार प्रेमाभक्ति प्राप्त करना जो समस्त आनन्द के आगार हैं। असली शिक्षा का अर्थ है इस मिथ्या भाव को त्यागना कि कोई भी वस्तु

समस्त शक्तियों के उद्‌गम भगवान् से पृथक् है। इसी तरह आत्मा को परमात्मा से पृथक् नहीं मानना चाहिए। मात्र लज्जा से उदारता नहीं आती। मनुष्य को चाहिए कि वह पापकर्मों से विरत हो, तभी वह वास्तविक उदार या विनम्र है। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में तुष्ट है और भौतिक आनन्द की खोज नहीं करता अथवा भौतिक दुख से दुखी नहीं होता, उसे ही वास्तव में सुखी समझना चाहिए। सबसे कृपण व्यक्ति वह है, जो यौन-सुख में लिप्त रहता है और पंडित वह है, जो ऐसे भौतिक बन्धन से छूटने की विधि जानता है। मूर्ख वह है, जो भगवान् से अपनी नित्य मित्रता त्याग कर अपनी पहचान शरीर, मन, समाज, जाति, परिवार से करता है। जीवन का असली मार्ग अन्तरराज्यीय सड़कें या काँटों और कीचड़ से रहित रास्ता नहीं है। यह वह मार्ग है, जो भगवान् की ओर ले जाता है। जीवन का गलत मार्ग केवल चोर-उचक्कों अथवा चुंगी के फाटकों से युक्त सड़क नहीं होता, यह वह मार्ग है, जो भौतिक इन्द्रियतृप्ति के नितान्त ऊहापोह तक ले जाता है। स्वर्ग वह है, जिसमें सतोगुण की प्रधानता रहती है। यह इन्द्रलोक नहीं है जहाँ रजो तथा तमोगुण कभी कभी स्वर्गिक वातावरण को क्षुब्ध कर देते हैं।जहाँ कहीं भी तमोगुण प्रधान होता है, वहीं नरक होता है। वह केवल नरकलोक में नहीं होता जहाँ शिवजी के अनुसार शुद्ध भक्त कृष्ण का चिन्तन करके सुखी रहता है। जीवन में हमारा असली मित्र गुरु है, जो हमें सभी प्रकार के संकटों से बचाता है। सभी गुरुओं में भगवान् कृष्ण स्वयं ही *जगद्‌गुरु* हैं। भौतिक जीवन में हमारा भौतिक शरीर ही हमारा घर है, ईंट, सीमेन्ट, पत्थर, लकड़ी से बना घर नहीं। धनी व्यक्ति वह है, जिसमें असंख्य सद्‌गुण पाये जायँ—वह बहुत बड़े बैक-खाते वाला मनोविकारयुक्त मूर्ख नहीं होता। निर्धन वह है, जो असंतुष्ट रहता है। जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रख सकता, वही दयनीय है और दुखी है, जबकि भौतिक जीवन से अपने को विरक्त कर लेने वाला वास्तव में स्वामी या नियंत्रक होता है। वर्तमान समय में यूरोप तथा अन्य देशों में प्रभुसत्ता के अवशेष पाये जाते हैं किन्तु ऐसे तथाकथित राजे-रजवाड़े निम्न योनि की आदतें प्रदर्शित करते हैं। असली स्वामी तो वह है, जो आध्यात्मिक पद तक पहुँच कर भौतिक जगत को जीत लेता है। जो व्यक्ति भौतिक जीवन में लिप्त है, वह यहाँ पर वर्णित सद्‌गुणों से विपरीत गुण प्रदर्शित करेगा और इस तरह वह जीवन में पीछे जाने का प्रतीक होता है। भगवान् अपनी व्याख्या यह कह कर समाप्त करते हैं कि इन अच्छे तथा बुरे गुणों की और अधिक व्याख्या आवश्यक नहीं है। निस्सन्देह, जीवन का उद्देश्य इन गुणों और दोषों को

लाँघ कर शुद्ध कृष्णभावनामृत के मुक्त पद तक पहुँचना है। इसकी अधिक व्याख्या अगले अध्याय में की जायेगी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''आध्यात्मिक ज्ञान की सिद्धि'' नामक उन्नीसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बीस

शुद्ध भक्ति ज्ञान एवं वैराग्य से आगे निकल जाती है

इस अध्याय में कर्म-योग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग की विधियों का वर्णन व्यक्ति विशेष में अच्छे तथा बुरे गुणों की उपस्थिति के परिप्रेक्ष्य में किया गया है।

वैदिक शास्त्र भगवान् के आदेश को व्यक्त करने वाले शब्द हैं। इन वैदिक ग्रंथों में द्वैत का स्वरूप बतलाया गया है, जो वर्णाश्रम प्रणाली जैसी विचारधारा पर आधारित है। उसी के साथ साथ वेद इस द्वैतदृष्टि का बहिष्कार करते हैं। उद्धव ने यह जानने के लिए कि शास्त्रों में ऐसे विरोधी विचार क्यों हैं और इनका निराकरण कैसे किया जा सकता है, भगवान् कृष्ण से जिज्ञासा प्रकट की। उत्तर में भगवान् ने बतलाया कि वेद मोक्ष-प्राप्ति को सुगम बनाने के लिए कर्म-योग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग की विधियों का वर्णन करते हैं। *कर्म-योग* उन लोगों के लिए है, जो विरक्त नहीं हैं और स्थूल इच्छाओं से परिपूर्ण हैं। *ज्ञान-योग* उनके लिए है, जो कर्मफल से विरक्त होकर भौतिक प्रयत्न करना छोड़ देते हैं। *भक्ति-योग* उन लोगों के लिए है जिन्होंने *युक्तवैराग्य* अर्थात् उपयुक्त त्याग ग्रहण कर रखा है। जब तक मनुष्य अपने कर्म का फल भोगने से अरुचि नहीं दिखाता अथवा जब तक भक्ति-मार्ग में भगवान् की वार्ताओं में श्रद्धा नहीं उत्पन्न हो जाती, तब तक उसे अपने सारे कर्तव्य पूरे करने चाहिए। किन्तु वैरागी को, न ही भगवद्भक्त को, अनुष्ठान करने की आवश्यकता रहती है।

वे व्यक्ति जो अपने कर्तव्य का पालन करते हैं, जो निषिद्ध का परित्याग कर देते हैं और जो लोभ तथा अन्य अस्वस्थ लक्षणों से मुक्त हो लेते हैं, वे या तो अद्वैतवादी ज्ञान प्राप्त करते हैं या यदि भाग्यवान हुए तो भगवद्भक्ति प्राप्त करते हैं। ऐसा ज्ञान तथा ऐसी भक्ति इसी मनुष्य-जीवन में प्राप्त की जा सकती हैं, अतएव नरक में रहने वालों तथा देवताओं दोनों के लिए ही अभीष्ट है। यद्यपि मनुष्य-

शरीर ज्ञान तथा भक्ति के रूप में जीवन के सारे उद्देश्य को प्रदान करता है, किन्तु वह नश्वर है। अतएव जो विवेकवान है उसे मृत्यु आने के पूर्व मोक्ष के लिए प्रयत्न करना चाहिए। मनुष्य-शरीर नाव के तुल्य है। श्री गुरुदेव कर्णधार हैं और भगवत्कृपा अनुकूल हवा है। यदि मनुष्य शरीररूपी ऐसी दुर्लभ नाव प्राप्त करके, भव-सागर को पार करने की इच्छा नहीं करता, तो वह मनुष्य आत्महन्ता है। मन चंचल है किन्तु इसे सदा ही मनमानी करने की छूट नहीं देनी चाहिए। प्रत्युत मनुष्य को इन्द्रियों तथा प्राण-वायु को जीतना चाहिए और सतोगुण से सम्पन्न बुद्धि के द्वारा, मन को वश में लाना चाहिए।

जब तक मन पूरी तरह स्थिर न हो जाय, मनुष्य को चाहिए कि सभी वस्तुओं की सृष्टि के विषय में सूक्ष्म से स्थूल और उनके विनाश के विषय में उलट कर स्थूल से सूक्ष्म का क्रम से ध्यान करे। जिसे विरक्ति तथा वैराग्य का ज्ञान है, वह अपने गुरु से निरन्तर उपदेश पाकर शरीर तथा अन्य इन्द्रिय-विषयों के साथ अपनी झूठी पहचान त्याग सकता है। यम, नियम तथा अन्य योगाभ्यासों से, दिव्य ज्ञान के अनुशीलन से तथा भगवान् की पूजा तथा ध्यान से, परमात्मा का स्मरण किया जा सकता है।

गुण का अर्थ है अपनी योग्यता के विशिष्ट पद के लक्ष्य पर दृढ़ रहना। अच्छे तथा बुरे के विषय में आदेशों का अनुसरण करते हुए, संचित भौतिक संगति का बहिष्कार करने की इच्छा रखने से, उसके सारे अशुभ भौतिक कर्म कम हो जाते हैं। भगवद्भक्ति से सारी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। जो व्यक्ति निरन्तर भक्ति द्वारा भगवान् की सेवा करता है, वह अपने मन को भगवान् पर स्थिर कर लेता है और इस तरह उसके हृदय के भीतर आस जमाये हुई इन्द्रियतृप्ति की सारी इच्छाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं। जब वह भगवान् की उपस्थिति का स्वयं अनुभव करता है, तो उसका मिथ्या अहंकार समूल नष्ट हो जाता है। उसके सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और ढेर के ढेर भौतिक कार्यकलाप शून्य बन जाते हैं। इसी कारण भगवद्भक्त ज्ञान तथा वैराग्य को सर्वोच्च लाभ प्राप्त करने का साधन नहीं मानते। भगवद्भक्ति उसी के हृदय में उत्पन्न होती है, जिसका हृदय भौतिक इच्छा से रहित होता है और जिसे भौतिक वस्तुओं में रुचि नहीं होती। अनुष्ठान सम्बन्धी आदेशों तथा निषेधों से उत्पन्न शुद्धता एवं अशुद्धता को अनन्य सच्चे भगवद्भक्तों पर लागू नहीं किया जा सकता।

श्रीउद्धव उवाच

विधिश्च प्रतिषेधश्च निगमो हीश्वरस्य ते ।

अवेक्षतेऽरविण्डाक्ष गुणं दोषं च कर्मणाम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; विधिः—आदेश; च—भी; प्रतिषेधः—निषेधात्मक आदेश; च—तथा; निगमः—वैदिक वाङ्मय; हि—निस्सन्देह; ईश्वरस्य—भगवान् का; ते—तुम्हारा; अवेक्षते—एकाग्र करता है; अरविण्ड-अक्ष—हे कमलनयन; गुणम्—उत्तम या पवित्र गुण; दोषम्—बुरे या पापपूर्ण गुण; च—भी; कर्मणाम्—कर्मों के ।

श्री उद्धव ने कहा : हे कमलनयन कृष्ण, आप भगवान् हैं और इस तरह विधियों तथा निषेधों से युक्त वैदिक वाङ्मय आपका आदेश है। ऐसा वाङ्मय कर्म के गुण तथा दोषों पर ध्यान एकाग्र करता है।

तात्पर्य : पिछले अध्याय के अन्त में भगवान् कृष्ण ने कहा : *गुण दोष दृष्टिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः*—भौतिक पुण्य तथा पाप पर ध्यान एकाग्र करना स्वयं दोष है क्योंकि वास्तविक पुण्य का अर्थ है दोनों को पार कर जाना। अब श्री उद्धव इसी बात के पीछे लगे हुए हैं जिससे श्रीकृष्ण इस कठिन विषय की विशद व्याख्या करें। यहाँ पर श्री उद्धव कहते हैं कि ईश्वरीय नियमों से युक्त वैदिक वाङ्मय पाप-पुण्य का विवरण देते हैं, अतएव इसका स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए कि वेदों द्वारा संस्तुत कर्मों के पार कैसे जाया जाय? श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार कृष्ण द्वारा कहे गये वचनों का उद्देश्य उद्धव की समझ में सहसा आ गया और भगवान् को इस रोचक विषय पर विस्तार से बताने के लिए उकसाकर, उद्धव ने बाह्य रूप से भगवान् के कथन को चुनौती दी।

वर्णाश्रमविकल्पं च प्रतिलोमानुलोमजम् ।
द्रव्यदेशवयःकालान्स्वर्गं नरकमेव च ॥ २ ॥

शब्दार्थ

वर्ण-आश्रम—वर्णाश्रम प्रणाली का; विकल्पम्—पाप-पुण्य से उत्पन्न नाना प्रकार के उच्च तथा निम्न पद; च—तथा; प्रतिलोम—ऐसे परिवार में जन्म जिसमें पिता माता से निम्न कुल का होता है; अनुलोम-जम्—ऐसे परिवार में जन्म जिसमें पिता उच्च कुल का और माता निम्न कुल की हो; द्रव्य—भौतिक वस्तुएँ या धन; देश—स्थान; वयः—आयु; कालान्—समय; स्वर्गम्—स्वर्ग; नरकम्—नरक; एव—निस्सन्देह; च—भी।

वैदिक वाङ्मय के अनुसार, वर्णाश्रम में उच्च तथा निम्न कोटियाँ परिवार-नियोजन के पवित्र और पापमय गुणों के कारण हैं। इस प्रकार पाप तथा पुण्य किसी स्थिति विशेष में यथा भौतिक अवयव, स्थान, आयु तथा काल में, वैदिक विश्लेषण के सन्दर्भ बिन्दु हैं। निस्सन्देह, वेदों से भौतिक स्वर्ग तथा नरक के अस्तित्व प्रकट होते हैं, जो निश्चित रूप से पाप तथा पुण्य पर आधारित हैं।

तात्पर्य : *प्रतिलोम* सूचक है कुलीन पत्नी और निम्न पुरुष के संयोग का। उदाहरणार्थ, *वैदेहक* जाति के लोग शूद्र पिता तथा ब्राह्मण माता से उत्पन्न होते हैं जबकि *सूत* वे हैं, जो क्षत्रिय पिता और ब्राह्मण माता या शूद्र पिता तथा क्षत्रिय माता से उत्पन्न होते हैं। *अनुलोम* सूचक है कुलीन पिता तथा निम्न जाति की माता से उत्पन्न लोगों का। *मूर्धावसिक्त* लोग वे हैं, जो ब्राह्मण पिता तथा क्षत्रिय माता से उत्पन्न हैं। अम्बष्ठ लोग ब्राह्मण पिता तथा वैश्य माता से उत्पन्न हैं। ये प्राय: चिकित्सक होते हैं। *करण* सूचक है वैश्य पिता तथा शूद्र माता से या क्षत्रिय पिता तथा वैश्य माता से उत्पन्न सन्तान का। जातियों का ऐसा मिश्रण वैदिक संस्कृति में अच्छा नहीं माना जाता था, इसका निरूपण *भगवद्गीता* के प्रथम अध्याय में हुआ है। अर्जुन को चिन्ता थी कि युद्धक्षेत्र में इतने क्षत्रियों की मृत्यु से कुलीन स्त्रियाँ निम्न जातीय पुरुषों से मिलेंगी। इसी आधार पर वह लड़ने से इनकार कर रहा था। जो भी हो, सम्पूर्ण वैदिक सामाजिक प्रणाली पाप और पुण्य के भेदभाव पर आश्रित है और श्री उद्धव भगवान् को प्रोत्साहित कर रहे हैं कि वे अपने इस कथन की विस्तृत व्याख्या करें कि, ''मनुष्य को पाप तथा पुण्य को लाँघ जाना चाहिए।''

गुणदोषभिदादृष्टिमन्तरेण वचस्तव ।
निःश्रेयसं कथं नृणां निषेधविधिलक्षणम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

गुण—पुण्य; दोष—पाप; भिदा—दोनों में भेद; दृष्टिम्—देखे; अन्तरेण—के बिना; वचः—शब्द; तव—तुम्हारा; निःश्रेयसम्—जीवन की सिद्धि, मोक्ष; कथम्—कैसे सम्भव; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; निषेध—वर्जन; विधि—आदेश; लक्षणम्—लक्षण से युक्त।

पाप तथा पुण्य के बीच के अन्तर को देखे बिना भला कोई किस तरह आपके उन आदेशों को जो कि वैदिक वाङ्मय के रूप में हैं, समझ सकता है, जो मनुष्य को पुण्य करने का आदेश देते हैं और पाप करने से मना करते हैं? इतना ही नहीं, अन्ततोगत्वा मोक्ष प्रदान करने वाले ऐसे प्रामाणिक वैदिक वाङ्मय के बिना, मनुष्य किस तरह जीवन-सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं?

तात्पर्य : यदि कोई पुण्यकर्म करने और पापकर्म से बचने की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करता, तो प्रामाणिक धर्म-शास्त्रों को समझना कठिन हो जाता है। और ऐसे शास्त्रों के बिना मनुष्य मोक्ष कैसे पा सकते हैं? श्री उद्धव के प्रश्न का यही सारांश है।

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुस्तवेश्वर ।
श्रेयस्त्वनुपलब्धेऽर्थे साध्यसाधनयोरपि ॥ ४॥

शब्दार्थ

पितृ—पितरों के; देव—देवताओं के; मनुष्याणाम्—मनुष्यों के; वेदः—वैदिक ज्ञान; चक्षुः—आँख है; तव—आपसे उत्पन्न; ईश्वर—हे परमेश्वर; श्रेयः—श्रेष्ठ; तु—निस्सन्देह; अनुपलब्धे—प्रत्यक्ष अनुभव न होने पर; अर्थे—मानव-जीवन के लक्ष्य यथा इन्द्रियतृप्ति, मोक्ष, स्वर्ग-प्राप्ति में; साध्य-साधनयोः—कार्य-कारण दोनों में; अपि—निस्सन्देह।

हे प्रभु, प्रत्यक्ष अनुभव से परे वस्तुओं को—यथा आध्यात्मिक मोक्ष या स्वर्ग-प्राप्ति तथा अन्य भौतिक भोग जो हमारी वर्तमान क्षमता से परे हैं—समझने के लिए तथा सामान्यतया सभी वस्तुओं के साध्य-साधन को समझने के लिए, पितरों, देवताओं तथा मनुष्यों को आपके नियम रूप वैदिक वाङ्मय की सलाह लेनी चाहिए क्योंकि ये सर्वोच्च प्रमाण तथा ईश्वरी ज्ञान हैं।

तात्पर्य : यह तर्क किया जा सकता है कि मनुष्य तो मूर्खता कर सकते हैं, किन्तु उच्च पद पर स्थित पितरगण तथा देवताओं को ब्रह्माण्ड के विषयों में सर्वज्ञ माना जाता है। यदि ऐसे श्रेष्ठ प्राणी पृथ्वी से संचार स्थापित करने लगें, तो हर व्यक्ति वैदिक ज्ञान को एक तरफ छोड़ कर अपनी इच्छा पूरी कर लेगा। यहाँ इस विचार से *वेदश्चक्षुः* शब्दों के द्वारा इनकार किया गया है। देवताओं तथा पितरों तक को परम मोक्ष की द्वन्द्वात्मक धारणा है और भौतिक मामलों में तो वे व्यक्तिगत हताशा से प्रभावित होते हैं। यद्यपि देवतागण निम्न योनियों को, यथा मनुष्यों को भौतिक वर देने में सक्षम हैं, किन्तु कभी कभी इन्द्रियतृप्ति की उनकी व्यक्तिगत योजनाएँ विफल हो जाती हैं। उदाहरणार्थ, एक धनी व्यापारी अपने अनेक कर्मियों को तुच्छ वेतन देने में कठिनाई का अनुभव नहीं करता किन्तु यही व्यापारी अपने परिवार तथा मित्रों के साथ अपने व्यवहार से सर्वथा निराश हो सकता है और अपनी सम्पत्ति को अधिक निवेश द्वारा बढ़ाने के प्रयास में असफल हो सकता है। यद्यपि धनी व्यक्ति अपने अधीन कर्मियों को सर्वशक्तिसम्पन्न प्रतीत होता है, किन्तु अपनी निजी इच्छाओं को पूरा करने के लिए उसे स्वयं संघर्ष करना पड़ता है। इसी तरह देवताओं तथा पितरों को अपना स्वर्गिक जीवन-स्तर बनाये रखने तथा विस्तार करने के लिए अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसलिए उन्हें निरन्तर श्रेष्ठ वैदिक ज्ञान की शरण में जाना पड़ता है। यहाँ तक कि विश्व के मामलों के प्रशासन में भी वे वेदों के दिशा निर्देशों का ही पालन करते हैं क्योंकि वे ईश्वर के नियम हैं। यदि देवता जैसे काल्पनिक प्राणियों को वेदों की शरण लेनी पड़ती है, तो जरा उन मनुष्यों की स्थिति की कल्पना करें जो अपने जीवन के हर पग पर कुण्ठित रहते हैं। हर मनुष्य को भौतिक तथा आध्यात्मिक मामलों में वैदिक ज्ञान

को सर्वोच्च प्रमाण मानना चाहिए। उद्धव भगवान् को यह बताते हैं कि यदि वैदिक ज्ञान को प्रमाण स्वीकार किया जाता है, तो भौतिक पाप तथा पुण्य की संकल्पना को बहिष्कृत कर पाना असम्भव दिखता है। इस तरह उद्धव पिछले अध्याय के अन्त में भगवान् के विवादपूर्ण कथन की पुनः परीक्षा करने पर अड़े हुए हैं।

गुणदोषभिदादृष्टिर्निगमात्ते न हि स्वतः ।
निगमेनापवादश्च भिदाया इति ह भ्रमः ॥५॥

शब्दार्थ

गुण—पुण्य; दोष—पाप; भिदा—अन्तर; दृष्टिः—देखना; निगमात्—वैदिक ज्ञान से; ते—तुम्हारा; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; स्वतः—स्वयमेव; निगमेन—वेदों से; अपवादः—निरस्तीकरण; च—भी; भिदायाः—ऐसे भेद का; इति—इस प्रकार; ह—स्पष्टतः; भ्रमः—भ्रम, संशय।

हे प्रभु, पाप तथा पुण्य में दिखाई पड़ने वाला अन्तर आपके ही वैदिक ज्ञान से उत्पन्न होता है और वह स्वयमेव उत्पन्न नहीं होता। यदि वही वैदिक वाङ्मय बाद में पाप तथा पुण्य के ऐसे अन्तर को निरस्त कर दे, तो निश्चित रूप से भ्रम उत्पन्न होगा।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१५.१५) में भगवान् कृष्ण कहते हैं, *वेदैश्च सर्वैर हमेव वेद्यः*—सारे वेदों से मुझे जाना जाता है। निस्सन्देह, मैं वेदान्त का संकलनकर्ता और मैं वेदों को उसी रूप में जानता हूँ—वैदिक ज्ञान भगवान् के श्वास लेने से उत्पन्न होता है अतएव भगवान् कृष्ण जो भी बोलते हैं वह वेद या पूर्ण ज्ञान है। वैदिक वाङ्मय पाप-पुण्य के वर्णनों से परिपूर्ण हैं, किन्तु कृष्ण का यह कथन भी कि पाप तथा पुण्य को लाँघ जाना चाहिए, वैदिक ज्ञान है। श्री उद्धव यह बात समझ चुके थे, इसीलिए वे भगवान् से अनुरोध करते हैं कि ऊपर से दिखने वाले इस विरोधाभास को स्पष्ट कर दें। अन्ततोगत्वा, भौतिक जगत जीवों को उनकी विकृत इच्छाओं को तुष्ट करने का अवसर प्रदान करता है और उसी के साथ साथ भगवद्धाम वापस जाकर धीरे धीरे मोक्ष प्राप्त करने का भी। इस तरह भौतिक पुण्य को साधन मानना चाहिए, परम साध्य नहीं क्योंकि भौतिक जगत स्वयं नश्वर तथा सीमित है, पूर्ण नहीं। भगवान् स्वयं गुण तथा अच्छाई के आगार हैं। वे व्यक्ति तथा कार्य जो भगवान् को प्रसन्न करते हैं पुण्यात्मा तथा जो उन्हें रुष्ट करते हैं पापपूर्ण माने जाते हैं। इन शब्दों की कोई अन्य स्थायी परिभाषा नहीं दी जा सकती। यदि कोई व्यक्ति भगवान् को भुलाकर संसारी नैतिकतावादी बन जाता है, तो उसकी स्थिति निश्चय ही अपूर्ण है और उसे पुण्य का चरम लक्ष्य—भगवद्धाम जाना—प्राप्त नहीं हो

सकेगा। दूसरी ओर, नैतिकतावादियों को भय है कि यदि पाप-पुण्य के भेद को कम कर दिया जायेगा, तो लोग ईश्वर के नाम पर अनेक अत्याचार करते रहेंगे। आधुनिक जगत में आध्यात्मिक सत्ता की स्पष्ट जानकारी नहीं है और नैतिकतावादी व्यक्ति नैतिकता का उल्लंघन करने की किसी अपील को धर्मान्धता, अराजकता, हिंसा तथा व्यभिचार मानते हैं। इस तरह वे भगवान् को प्रसन्न करने की अपेक्षा नैतिक सिद्धान्तों को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। चूँकि यह बात विवादास्पद है, अतएव उद्धव उत्सुकतापूर्वक भगवान् से अनुरोध कर रहे हैं कि वे स्पष्ट व्याख्या करें।

श्रीभगवानुवाच

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; योगाः—विधियाँ; त्रयः—तीन; मया—मेरे द्वारा; प्रोक्ताः—कही गई; नृणाम्—मनुष्यों के; श्रेयः—सिद्धि; विधित्सया—देने की इच्छा से; ज्ञानम्—दर्शन का मार्ग; कर्म—कर्म का मार्ग; च—भी; भक्तिः—भक्ति-मार्ग; च—भी; न—कोई नहीं; उपायः—उपाय, साधन; अन्यः—अन्य; अस्ति—है; कुत्रचित्—जो भी।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, चूँकि मेरी इच्छा है कि मनुष्य सिद्धि प्राप्त करे, अतएव मैंने प्रगति के तीन मार्ग प्रस्तुत किये हैं—ज्ञान-मार्ग, कर्म-मार्ग तथा भक्ति-मार्ग। इन तीनों के अतिरिक्त ऊपर उठने का अन्य कोई साधन नहीं है।

तात्पर्य : अन्ततोगत्वा दार्शनिक चिन्तन, पवित्र नियमित कर्म तथा भक्ति का लक्ष्य एक—कृष्णभावनामृत—है। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.११) में भगवान् ने कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

"जो जिस भाव से मेरी शरण ग्रहण करते हैं, उसी के अनुरूप मैं उन्हें फल देता है। हे पार्थ! प्रत्येक व्यक्ति सभी प्रकार से मेरे पथ का अनुगमन करता है।" यद्यपि मानव-सिद्धि की सभी प्रामाणिक विधियाँ अन्ततः कृष्णभावनामृत में या ईश्वर-प्रेम में जाकर समाप्त होती हैं, किन्तु विभिन्न कर्मियों की अपनी अपनी मनोवृत्तियाँ तथा योग्यताएँ होती हैं और उनका आकर्षण आत्म-साक्षात्कार की विभिन्न विधियों में होता है। भगवान् कृष्ण यहाँ पर तीनों विधियों का एकसाथ वर्णन यह बताने के लिए कर रहे हैं कि उनका चरम लक्ष्य एक है। साथ ही दार्शनिक चिन्तन तथा नियमित पुण्यकार्य को

कभी भी शुद्ध भगवत्प्रेम के तुल्य नहीं माना जा सकता जैसाकि भगवान् ने पिछले अध्यायों में स्पष्ट किया है। *त्रय:* शब्द बताता है कि यद्यपि तीनों का उद्देश्य एक है किन्तु प्रगति तथा उपलब्धि के मामले में उनमें विविधता है। मनुष्य को मात्र चिन्तन या पुण्यकर्म द्वारा वही फल नहीं मिल सकता जो भगवान् की शरण ग्रहण करने पर मिलता है किन्तु जो पूर्णतया भगवान् की दया एवं मैत्री पर निर्भर रहता है। *कर्म* शब्द यहाँ पर भगवान् को अर्पित कर्म का सूचक है। जैसा कि *भगवद्गीता* (३.९) में वर्णन हुआ है—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन:।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंग: समाचर॥

"श्री विष्णु के लिए यज्ञ रूप में कर्म करना चाहिए अन्यथा कर्म के द्वारा इस भौतिक जगत में बन्धन उत्पन्न होता है। अत: हे कुन्तीपुत्र! उनकी प्रसन्नता के लिए अपने नियत कर्म करो। इस तरह तुम अनासक्त तथा बन्धन से मुक्त रहोगे।" ज्ञानयोग में मनुष्य भगवान् के चमकीले तेज में लीन होकर निर्विशेष मोक्ष की खोज करता है। किन्तु भक्तगण ऐसे मोक्ष को नारकीय मानते हैं क्योंकि लीन होने से मनुष्य भगवान् के परम आनन्दमय स्वरूप के प्रति अपनी भिज्ञता को खो देता है। कर्मीजन मोक्ष के अतिरिक्त मानव प्रगति के तीन पक्षों की—धार्मिकता, आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति की खोज करते हैं। कर्मीजन सोचते हैं कि वे अपनी असंख्य इच्छाओं को समाप्त कर लेने पर संसाररूपी अंधेरी सुरंग से आध्यात्मिक मोक्ष के प्रकाश में प्रवेश करेंगे। यह विधि अत्यन्त घातक है तथा अनिश्चित है क्योंकि भौतिक इच्छाओं का कोई अन्त नहीं है, किन्तु नियमित कर्म-योग में किंचित त्रुटि होने से भी पाप होता है, जो मनुष्य को उन्नति के मार्ग से बाहर फेंक देता है। भक्तों का लक्ष्य भगवत्प्रेम होता है अतएव वे भगवान् को सर्वाधिक प्रिय लगने वाले होते हैं। जो भी हो, वैदिक उन्नति के तीनों विभाग भगवान् कृष्ण की दया पर निर्भर करते हैं। कोई भी व्यक्ति भगवान् के आशीर्वाद के बिना इन मार्गों पर प्रगति नहीं कर सकता। अन्य वैदिक विधियाँ यथा तपस्या, दान इत्यादि यहाँ पर वर्णित तीन मुख्य विभागों में ही सम्मिलित हैं।

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।

तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

निर्विण्णानाम्—ऊबे हुए; ज्ञान-योगः—दार्शनिक चिन्तन का मार्ग; न्यासिनाम्—विरक्तों के लिए; इह—तीनों मार्गों में; कर्मसु—सामान्य कर्म में; तेषु—इन कर्मों में; अनिर्विण्ण—ऊबे नहीं है; चित्तानाम्—चेतनायुक्त; कर्म-योगः—कर्म-योग का मार्ग; तु—निस्सन्देह; कामिनाम्—जो अब भी भौतिक सुख चाहते हैं, उनके लिए।

तीनों मार्गों में से ज्ञान-योग अर्थात् दार्शनिक चिन्तन का मार्ग उन लोगों के लिए संस्तुत किया जाता है, जो भौतिक जीवन से ऊब चुके हैं और सामान्य सकाम कर्मों से विरक्त हैं। जो लोग भौतिक जीवन से ऊबे नहीं हैं और जिन्हें अब भी अनेक इच्छाएँ पूरी करनी हैं, उन्हें कर्म-योग के माध्यम से मोक्ष की खोज करनी चाहिए।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् उन विभिन्न मनोवृत्तियों को बतलाते हैं जिनसे मनुष्य सिद्धि की विभिन्न विधियाँ अपनाते हैं। जो समाज, मैत्री तथा प्रेम के सामान्य भौतिक जीवन में कुण्ठित या निराश रहते हैं और जो यह समझते हैं कि स्वर्ग जाने से अधिक भौतिक कष्ट मिलते हैं, वे ज्ञान-मार्ग का सीधा मार्ग ग्रहण करते हैं। वे प्रामाणिक दार्शनिक विवेक से भव-बन्धन को लाँघ जाते हैं। जो लोग इतने पर भी भौतिक समाज, मैत्री तथा प्रेम का भोग करने के इच्छुक रहते हैं और जो लोग अपने सम्बन्धियों सहित स्वर्ग जाने की सम्भावना से उत्तेजित रहते हैं, वे कठिन दार्शनिक प्रगति के मार्ग को सीधे ग्रहण नहीं कर सकते क्योंकि इसमें महान् तपस्या की आवश्यकता होती है। ऐसे व्यक्तियों को पारिवारिक जीवन में रहते रहने तथा अपने कर्म का फल परमेश्वर को अर्पित करने की सलाह दी जाती है। इस तरह वे भी सिद्ध बन सकते हैं और धीरे धीरे भौतिक जीवन से विरक्त होना सीख सकते हैं।

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥ ८॥

शब्दार्थ

यदृच्छया—सौभाग्यवश किसी तरह से; मत्-कथा-आदौ—मेरी महिमा का वर्णन करने वाली कथाओं, गीतों, दर्शन तथा नाटकीय प्रदर्शनों में; जात—जागृत किया हुआ; श्रद्धः—श्रद्धा; तु—निस्सनदेह; यः—जो कोई; पुमान्—पुरुष; न—नहीं; निर्विण्णः—ऊबा हुआ; न—नहीं; अति-सक्तः—अत्यन्त आसक्त; भक्ति-योगः—प्रेमाभक्ति का मार्ग; अस्य—उसका; सिद्धि-दः—सिद्धि देने वाला।

यदि कहीं कोई सौभाग्यवश मेरी महिमा के सुनने तथा कीर्तन करने में श्रद्धा उत्पन्न कर लेता है, तो ऐसे व्यक्ति को जो भौतिक जीवन से न तो अत्यधिक ऊबा रहता है न आसक्त रहता है मेरी प्रेमाभक्ति के मार्ग द्वारा सिद्धि प्राप्त करनी चाहिए।

तात्पर्य : यदि किसी तरह से किसी को भगवद्भक्तों की संगति प्राप्त हो जाती है और वह उनसे भगवान् कृष्ण का दिव्य संदेश सुनता है, तो वह भगवान् का भक्त बन सकता है। जैसाकि पिछले श्लोक में बताया गया है, जो लोग भौतिक जीवन से ऊब जाते हैं, वे निर्विशेषवादी दार्शनिक चिन्तन करने लगते हैं और साकार अस्तित्व के प्रत्येक चिह्न का परित्याग करने का कठोरता से प्रयास करने लगते हैं। जो लोग अब भी भौतिक इन्द्रियतृप्ति में लिप्त रहते हैं, वे अपने सामान्य कर्म का फल परमेश्वर को अर्पित करके अपने को शुद्ध बनाने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु शुद्ध भक्ति का उत्तम अभ्यर्थी न तो भौतिक जीवन से पूरी तरह ऊबा रहता है न आसक्त रहता है। वह सामान्य जीवन को और अधिक काल तक नहीं बिताना चाहता, क्योंकि यह असली सुख प्रदान नहीं कर सकता। फिर भी भक्ति का अभ्यर्थी अपने निजी जीवन को पूर्ण बनाने की आशा नहीं त्यागता। जो व्यक्ति भौतिक आसक्ति तथा भौतिक आसक्ति के प्रति निर्विशेष प्रतिक्रिया इन दो छोरों से बचता है और जो किसी न किसी तरह से शुद्ध भक्तों की संगति पा लेता है और उनके सन्देश को श्रद्धापूर्वक सुनता है, वह भगवद्धाम जाने के लिए उत्तम अभ्यर्थी है, जैसाकि भगवान् ने यहाँ बताया है।

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥ ९॥

शब्दार्थ

तावत्—उस समय तक; कर्माणि—सकाम कर्म; कुर्वीत—सम्पन्न करे; न निर्विद्येत—तृप्त नहीं होता; यावता—जब तक; मत्-कथा—मेरे विषय में वार्ताओं का; श्रवण-आदौ—श्रवणम् कीर्तनम् आदि के मामले में; वा—अथवा; श्रद्धा—श्रद्धा; यावत्—जब तक; न—नहीं; जायते—जागृत होती है।.

जब तक मनुष्य सकाम कर्म से तृप्त नहीं हो जाता और *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* द्वारा भक्ति के लिए रुचि जागृत नहीं कर लेता, तब तक उसे वैदिक आदेशों के विधानों के अनुसार कर्म करना होता है।

तात्पर्य : जब तक मनुष्य शुद्ध भक्तों की संगति द्वारा भगवान् कृष्ण में दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न न कर ले और इस तरह पूरे समय भगवान् की भक्ति में लगा न रहे, तब तक उसे सामान्य वैदिक सिद्धान्तों तथा कर्तव्यों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। स्वयं भगवान् ने कहा है—

श्रुतिस्मृति ममैवाज्ञे यस्ते उल्लंघ्य वर्तते।

आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥

''श्रुति तथा स्मृति ग्रन्थों को मेरे ही आदेश मानना चाहिए। जो इन संहिताओं का उल्लंघन करता है, वह मेरी इच्छा का उल्लंघन करता समझा जाता है और इस तरह वह मेरा विरोध करता है। यद्यपि ऐसा व्यक्ति अपने को मेरा भक्त बतलाता है, किन्तु वास्तव में वह वैष्णव नहीं होता।'' भगवान् यहाँ पर कहते हैं कि जब तक कोई व्यक्ति कीर्तन तथा श्रवण-विधि में दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न नहीं कर लेता, तब तक उसे वैदिक वाङ्मय के सामान्य आदेशों का पालन करना चाहिए। ऐसे अनेक लक्षण हैं जिनसे मनुष्य भगवान् के उच्च भक्त को पहचान सकता है। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कन्ध (१.२.७) में कहा गया है—

वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित:।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥

जो व्यक्ति सचमुच ही उच्च भक्ति में लगा होता है, वह तुरन्त ही कृष्णभावनामृत का स्पष्ट ज्ञान तथा अभक्तिमय कार्यों से विरक्ति—इन दोनों को ही उत्पन्न कर लेता है। जो इस पद को प्राप्त नहीं हुआ रहता, उसे या तो वैदिक वाङ्मय के सामान्य आदेशों का पालन करना चाहिए या फिर भगवान् का शत्रु बनने का खतरा मोल लेना चाहिए। दूसरी ओर, जो व्यक्ति भगवान् कृष्ण की भक्ति में श्रद्धा उत्पन्न कर लेता है, वह ऐसी कोई बात करने से हिचकिचाता नहीं जिससे भगवान् का मिशन आगे बढ़े। *श्रीमद्भागवत* के ग्यारहवें स्कन्ध (११.५.४१) में कहा गया है—

देवर्षि भूताप्तनणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन्।

सर्वात्मना य: शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

''जिसने भी समस्त प्रकार के कर्तव्यों को त्याग कर मुक्तिदाता मुकुन्द के चरणकमलों की शरण ले ली है और इस मार्ग को गम्भीरता के साथ ग्रहण किया है, वह देवताओं, मुनियों, सामान्य जीवों, पारिवारिक जनों, मनुष्यों या पितरों के प्रति ऋणी नहीं रहता।''

इस सन्दर्भ में श्रील जीव गोस्वामी इंगित करते हैं कि जब कोई व्यक्ति पूरी तरह कृष्ण की शरण में जाता है, तो वह भगवान् के इस वचन का आश्रय लेता है कि वे शरणागत के अन्य सारे उत्तरदायित्वों तथा ऋणों को समाप्त कर देंगे। इस तरह भगवान् के रक्षा के वचन पर ध्यान करते हुए वह निडर बन जाता है। किन्तु जो लोग भौतिक रूप से आसक्त हैं, वे भगवान् की पूर्ण शरणागति के विचार से डरे

रहते हैं और इस तरह वे भगवान् के प्रति अपने वैमनस्य को प्रकट करते हैं।

स्वधर्मस्थो यजन्यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव ।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

स्व-धर्म—अपने नियत कर्तव्यों में; स्थः—स्थित; यजन्—पूजा करते हुए; यज्ञैः—नियत यज्ञों से; अनाशीः-कामः—कर्मफल की इच्छा न रखते हुए; उद्धव—हे उद्धव; न—नहीं; याति—जाता है; स्वर्ग—स्वर्ग; नरकौ—या नरक में; यदि—यदि; अन्यत्—अपने नियत कर्तव्य के अतिरिक्त कुछ; न—नहीं; समाचरेत्—सम्पन्न करता है।

हे उद्धव, जो व्यक्ति वैदिक यज्ञों द्वारा समुचित पूजा करके, किन्तु ऐसी पूजा का फल न चाह कर, अपने नियत कर्तव्य में स्थित रहता है, वह स्वर्गलोक नहीं जाता है; इसी तरह निषिद्ध कार्यों को न करने से वह नरक नहीं जाएगा।

तात्पर्य : यहाँ पर कर्म-योग की सिद्धि का वर्णन हुआ है। जो व्यक्ति अपने धार्मिक कर्मों का पुरस्कार नहीं चाहता, वह स्वर्गिक इन्द्रियतृप्ति के लिए स्वर्ग जाकर अपना समय बर्बाद नहीं करता। इसी तरह जो अपने कर्तव्य की उपेक्षा नहीं करता या निषिद्ध कार्य नहीं करता, वह दण्ड पाने के लिए नरक जाने की परवाह नहीं करता। इस तरह पुरस्कारों तथा दण्डों से बचते हुए, ऐसा निष्काम व्यक्ति भगवान् कृष्ण की शुद्ध भक्ति के पद तक उठ सकता है।

अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः ।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अस्मिन्—इस; लोके—जगत में; वर्तमानः—रहते हुए; स्व-धर्म—अपने नियत कर्तव्य में; स्थः—स्थित; अनघः—पापकर्मों से मुक्त; शुचिः—भौतिक कल्मष से धुला; ज्ञानम्—ज्ञान; विशुद्धम्—दिव्य; आप्नोति—प्राप्त करता है; मत्—मेरी; भक्तिम्—भक्ति; वा—अथवा; यदृच्छया—अपने भाग्य के अनुसार।

जो व्यक्ति अपने नियत कर्म में दृढ़ रहता है, जो पापमय कार्यों से मुक्त होता है और भौतिक कल्मष से रहित होता है, वह इसी जीवन में या तो दिव्य ज्ञान प्राप्त करता है या दैववश मेरी भक्ति पाता है।

तात्पर्य : *अस्मिन् लोके* बताता है वर्तमान आयु को। अपने शरीर की मृत्यु के पूर्व मनुष्य दिव्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है या बड़े दैववश परमेश्वर की भक्ति पा सकता है। *यदृच्छया* शब्द सूचित करता है कि यदि किसी को जैसे तैसे शुद्ध भक्तों का सान्निध्य प्राप्त हो जाता है और उनसे श्रद्धापूर्वक सुनता

है, तो वह जीवन की सर्वोच्च सिद्धि कृष्णभावनामृत प्राप्त कर सकता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार मनुष्य दिव्य ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है, जबकि शुद्ध भक्ति के द्वारा भगवत्प्रेम प्राप्त कर सकता है, जिसमें मोक्ष स्वतः सम्मिलित रहता है। ये दोनों ही परिणाम उन सामान्य सकाम कर्मों से श्रेष्ठ होते हैं जिनके द्वारा वह पशुओं के समान वस्तुओं का भोग करना चाहता है। यदि किसी की भक्ति सकाम कर्म या मानसिक चिन्तन की प्रवृत्ति से मिश्रित होती है, तो उसे भगवत् प्रेम की निरपेक्ष अवस्था प्राप्त हो सकती है। किन्तु जो लोग एकमात्र कृष्ण की सेवा की ओर उन्मुख होते हैं, वे दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य सम्बन्ध में भगवत्प्रेम की उच्चतर अवस्थाएँ प्राप्त करते हैं।

स्वर्गिणोऽप्येतमिच्छन्ति लोकं निरयिणस्तथा ।
साधकं ज्ञानभक्तिभ्यामुभयं तदसाधकम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

स्वर्गिणः—स्वर्गलोक के निवासी; अपि—भी; एतम्—यह; इच्छन्ति—चाहते हैं; लोकम्—पृथ्वीलोक; निरयिणः—नरकवासी; तथा—उसी तरह से; साधकम्—उपलब्धि की ओर; ज्ञान-भक्तिभ्याम्—दिव्य ज्ञान तथा भगवत्प्रेम का; उभयम्—दोनों (स्वर्ग तथा नरक); तत्—उस सिद्धि के लिए; असाधकम्—उपयोगी नहीं।

स्वर्ग तथा नरक दोनों ही के निवासी पृथ्वीलोक पर मनुष्य का जन्म पाने की आकांक्षा रखते हैं क्योंकि मनुष्य-जीवन दिव्य ज्ञान तथा भगवत्प्रेम की प्राप्ति को सुगम बनाता है, जबकि न तो स्वर्गिक, न ही नारकीय शरीर पूर्णतः ऐसा अवसर सुलभ कराते हैं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी इंगित करते हैं कि स्वर्ग में मनुष्य असामान्य इन्द्रियतृप्ति में लीन हो जाता है और नरक में वह कष्ट में डूबा रहता है। दोनों ही स्थितियों में दिव्य ज्ञान या भगवत्प्रेम प्राप्त करने के लिए तनिक भी प्रोत्साहन नहीं मिलता। इस तरह अत्यधिक कष्ट या अत्यधिक भोग आध्यात्मिक प्रगति में बाधक हैं।

न नरः स्वर्गतिं काङ्क्षेन्नारकीं वा विचक्षणः ।
नेमं लोकं च काङ्क्षेत देहावेशात्प्रमाद्यति ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; नरः—मनुष्य; स्वः-गतिम्—स्वर्ग जाने की; काङ्क्षेत्—इच्छा करे; नारकीम्—नरक तक; वा—अथवा; विचक्षणः—विद्वान व्यक्ति; न—नहीं; इमम्—यह; लोकम्—पृथ्वीलोक; च—भी; काङ्क्षेत—इच्छा करे; देह—भौतिक शरीर में; आवेशात्—तल्लीनता से; प्रमाद्यति—मूर्ख बनता है।

जो मनुष्य विद्वान हो उसे न तो कभी स्वर्गलोक जाने, न नरक में निवास करने की इच्छा

करनी चाहिए। निस्सन्देह, मनुष्य को तो पृथ्वी पर स्थायी निवास की भी कभी कामना नहीं करनी चाहिए क्योंकि भौतिक देह में ऐसी तल्लीनता से मनुष्य अपने वास्तविक आत्म-हित के प्रति मूर्खतावश उपेक्षा बरतने लगता है।

तात्पर्य : जिसे पृथ्वी पर मानव-जीवन प्राप्त हुआ है उसे कृष्णभावनामृत द्वारा या भगवद्भक्ति द्वारा आध्यात्मिक मोक्ष प्राप्त करने का सर्वोत्तम अवसर मिला रहता है। इसलिए उसे न तो स्वर्ग जाने और न ही नरक में वास करने की कामना करनी चाहिए क्योंकि वहाँ पर अत्यधिक भोग या दण्ड मनुष्य के मन को आत्म-साक्षात्कार से हटा देते हैं। दूसरी ओर, उसे यह नहीं सोचना चाहिए, ''पृथ्वी इतनी अच्छी है कि मैं यहाँ सदा सदा रुका रह सकता हूँ।'' मनुष्य को सभी प्रकार से भौतिक जगत से विरक्ति उत्पन्न करके भगवद्धाम वापस जाना चाहिए, जहाँ जीवन नित्य तथा आनन्द एवं ज्ञान से परिपूर्ण होता है।

अब कृष्ण इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वास्तविक मानव प्रगति भौतिक पुण्य तथा पाप से परे है। भगवान् ने सबसे पहले यह स्पष्ट किया कि मानव उन्नति की मूलत: तीन विधियाँ हैं—ज्ञान, कर्म तथा भक्ति और लक्ष्य है दिव्य ज्ञान तथा अंतत: भगवत्प्रेम। अब भगवान् बतलाते हैं कि स्वर्गलोक तक पहुँचना (पुण्य का अन्तिम लक्ष्य) तथा नरक में वास करना (पापपूर्ण कर्मों का फल) दोनों ही जीवन के असली लक्ष्य की पूर्ति में बाधक हैं। न तो भौतिक पुण्य न ही पाप नित्य जीव को उसके स्वाभाविक पद पर स्थापित कर सकते हैं; अतएव वास्तविक जीवन-सिद्धि पाने के लिए किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता होती है।

एतद्विद्वान्पुरा मृत्योरभवाय घटेत सः ।
अप्रमत्त इदं ज्ञात्वा मर्त्यमप्यर्थसिद्धिदम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; विद्वान्—जानते हुए; पुरा—पहले; मृत्योः—मृत्यु; अभवाय—जगत को लाँघने के लिए; घटेत—कार्य करे; सः—वह; अप्रमत्तः—आलस्य या मूर्खता से रहित; इदम्—यह; ज्ञात्वा—जान कर; मर्त्यम्—मरणशील; अपि—यद्यपि; अर्थ—जीवन-लक्ष्य का; सिद्धि-दम्—सिद्धि देने वाला।.

यह जानते हुए कि यद्यपि भौतिक शरीर मर्त्य है, तो भी यह उसे जीवन-सिद्धि प्रदान कर सकता है, विद्वान व्यक्ति को मूर्खतावश मृत्यु आने के पूर्व इस अवसर का लाभ उठाने में उपेक्षा नहीं बरतनी चाहिए।

छिद्यमानं यमैरेतैः कृतनीडं वनस्पतिम् ।
खगः स्वकेतमुत्सृज्य क्षेमं याति ह्यलम्पटः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

छिद्यमानम्—काटे जाकर; यमैः—क्रूर पुरुषों द्वारा जो साक्षात् मृत्यु सरीखे हैं; एतैः—इन; कृत-नीडम्—जिसमें उसने घोंसला बना रखा है; वनस्पतिम्—वृक्ष; खगः—पक्षी; स्व-केतम्—उसका घर; उत्सृज्य—त्याग करके; क्षेमम्—सुख; याति—प्राप्त करता है; हि—निस्सन्देह; अलम्पटः—आसक्तिरहित।

जब साक्षात् मृत्यु रूपी क्रूर पुरुषों द्वारा वह वृक्ष काट दिया जाता है, जिसमें किसी पक्षी का घोंसला बना था, तो वह पक्षी बिना किसी आसक्ति के उस वृक्ष को त्याग देता है और इस तरह वह अन्य स्थान में सुख का अनुभव करता है।

तात्पर्य : यहाँ पर देहात्म बुद्धि से विरक्ति का उदाहरण दिया गया है। जीव शरीर के भीतर उसी तरह निवास करता है, जिस तरह पक्षी वृक्ष में रहता है। तब विचारहीन व्यक्ति वृक्ष काट डालते हैं, तो पक्षी अपने पिछले घोंसले के लिए शोक न प्रकट करते हुए, अन्य स्थान में अपना निवास बनाने में रंचमात्र नहीं हिचकता।

अहोरात्रैश्छिद्यमानं बुद्ध्वायुर्भयवेपथुः ।
मुक्तसङ्गः परं बुद्ध्वा निरीह उपशाम्यति ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अहः—दिन; रात्रैः—तथा रातों से; छिद्यमानम्—काटा जाता हुआ; बुद्ध्वा—जान कर; आयुः—उम्र; भय—भय से; वेपथुः—कम्पमान; मुक्त-सङ्गः—आसक्तिरहित; परम्—परमेश्वर; बुद्ध्वा—समझ कर; निरीहः—भौतिक इच्छा से रहित; उपशाम्यति—पूर्ण शान्ति प्राप्त करता है।

यह जानते हुए कि मेरी आयु दिन-रात बीतने के साथ क्षीण होती जा रही है, मनुष्य को भय से काँपना चाहिए। इस तरह सारी भौतिक आसक्ति तथा इच्छा त्याग कर, वह भगवान् को समझने लगता है और परम शान्ति प्राप्त करता है।

तात्पर्य : बुद्धिमान भक्त जानता है कि दिन-रात बीतने से उसकी आयु समाप्त हो रही है; इसलिए वह भौतिक इन्द्रिय-विषयों से अपनी व्यर्थ की आसक्ति त्याग देता है। इसकी बजाय वह जीवन में स्थायी लाभ पाने के लिए प्रयत्नशील होता है। जिस तरह विरक्त पक्षी तुरन्त ही अपना घोंसला त्याग कर दूसरे वृक्ष में चला जाता है, उसी तरह भक्त भी जानता है कि भौतिक जगत में निवास का कोई स्थायी अवसर नहीं है। इसलिए वह अपनी कार्यशक्ति को भगवद्धाम में नित्य आवास प्राप्त करने में

लगाता है। कृष्ण के ही आध्यात्मिक स्वभाव को प्राप्त करने से भौतिक गुणों को लाँघ कर भक्त अन्त में परम शान्ति प्राप्त करता है।

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान्भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा ॥ १७॥

शब्दार्थ

नृ—मानव; देहम्—शरीर; आद्यम्—समस्त अनुकूल फलों का उद्गम; सु-लभम्—बिना प्रयास के प्राप्त; सु-दुर्लभम्—यद्यपि महान् प्रयत्न से भी प्राप्त कर पाना असम्भव है; प्लवम्—नाव; सु-कल्पम्—अपने उद्देश्य के लिए सर्वथा अनुकूल; गुरु—गुरु; कर्ण-धारम्—नाव के माँझी के समान; मया—मेरे द्वारा; अनुकूलेन—अनुकूल; नभस्वता—वायु द्वारा; ईरितम्—बहाई जाकर; पुमान्—पुरुष; भव—संसार के; अब्धिम्—समुद्र; न—नहीं; तरेत्—पार करता है; सः—वह; आत्म-हा—अपनी ही आत्मा का हनन करने वाला, आत्महंता।

जीवन का समस्त लाभ प्रदान करने वाला मानव शरीर प्रकृति के नियमों द्वारा स्वत: प्राप्त होता है यद्यपि यह अत्यन्त दुर्लभ है। इस मानव शरीर की तुलना उस सुनिर्मित नाव से की जा सकती है, जिसका माँझी गुरु है और भगवान् के आदेश वे अनुकूल हवाएँ हैं, जो उसे आगे बढ़ाती हैं। इन सारे लाभों पर विचार करते हुए जो मनुष्य अपने जीवन का उपयोग संसाररूपी सागर को पार करने में नहीं करता, उसे अपने ही आत्मा का हन्ता माना जाना चाहिए।

तात्पर्य : यह मानव शरीर जो अनेक निम्न योनियों से होता हुआ प्राप्त हुआ है, इस तरह निर्मित हुआ है कि यह जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्रदान कर सकता है। मनुष्य से आशा की जाती है कि वह भगवान् की सेवा करे। ऐसी सेवा के लिए प्रामाणिक गुरु उपयुक्त मार्गदर्शक है। भगवान् कृष्ण की अहैतुकी कृपा उस अनुकूल वायु के तुल्य है, जो भगवद्धाम जाने के मार्ग में शरीररूपी नाव को सरलता से बहा ले जाती हैं। भगवान् कृष्ण अपने उपदेश वैदिक वाङ्मय में देते हैं, गुरु के माध्यम से बोलते हैं और अपने निष्ठावान् भक्त को भक्त के हृदय के भीतर से प्रोत्साहित करते हैं, आगाह करते हैं और उसकी रक्षा करते हैं। भगवान् द्वारा ऐसा दयामय मार्गदर्शन निष्ठावान् भक्त को तेजी से भगवद्धाम के पथ पर ले जाता है। किन्तु जो यह नहीं समझ पाता कि मनुष्य शरीर भवसागर को पार करने के लिए उपयुक्त नाव है, उसे गुरु स्वरूप माँझी को स्वीकार करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती और वह भगवान् की कृपा रूपी अनुकूल वायु को नहीं समझ पाता। इस तरह उसे मानव-जीवन का लक्ष्य प्राप्त

करने का अवसर नहीं मिल पाता। वह आत्महित के विपरीत कर्म करने से धीरे धीरे अपनी ही आत्मा का हन्ता बन जाता है।

यदारम्भेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेन्द्रियः ।
अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; आरम्भेषु—भौतिक प्रयत्नों में; निर्विण्णः—निराश; विरक्तः—विरक्त; संयत—पूरी तरह नियंत्रित; इन्द्रियः—इन्द्रियाँ; अभ्यासेन—अभ्यास से; आत्मनः—आत्मा का; योगी—योगी; धारयेत्—एकाग्र करे; अचलम्—स्थिर; मनः—मन।

भौतिक सुख के लिए समस्त प्रयासों से ऊब कर तथा निराश होकर, जब योगी इन्द्रियों को पूरी तरह नियंत्रित करके विरक्ति उत्पन्न कर ले, तब उसे आध्यात्मिक अभ्यास द्वारा अपने मन को अविचल भाव से आध्यात्मिक पद पर स्थिर करना चाहिए।

तात्पर्य : भौतिक इन्द्रियतृप्ति का अपरिहार्य फल निराशा तथा हृदयविदारक पीड़ा है। मनुष्य धीरे धीरे निराश तथा जीवन से हताश होने लगता है। तब भगवान् या उनके भक्त से सदुपदेश पाकर वह अपनी भौतिक निराशा को आध्यात्मिक सफलता में परिणत कर लेता है। वस्तुतः, भगवान् कृष्ण हमारे एकमात्र असली मित्र हैं और यह सरल सूझ मनुष्य को भगवान् की संगति में आध्यात्मिक सुख के नये जीवन तक ले जा सकती है।

धार्यमाणं मनो यर्हि भ्राम्यदश्वनवस्थितम् ।
अतन्द्रितोऽनुरोधेन मार्गेणात्मवशं नयेत् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

धार्यमाणम्—आध्यात्मिक पद पर एकाग्र (स्थिर) होकर; मनः—मन; यर्हि—जब; भ्राम्यत्—भटकता है; आशु—सहसा; अनवस्थितम्—आध्यात्मिक पद पर स्थित न होकर; अतन्द्रितः—सावधानीपूर्वक; अनुरोधेन—नियत नियमों के अनुसार; मार्गेण—विधि द्वारा; आत्म—अपने; वशम्—नियंत्रण में; नयेत्—ले आये।

जब भी आध्यात्मिक पद पर एकाग्र मन सहसा अपने आध्यात्मिक पद से भटके, तो मनुष्य को चाहिए कि वह सावधानी से नियत साधनों के सहारे उसे अपने वश में कर ले।

तात्पर्य : यद्यपि मनुष्य अपने मन को गम्भीरतापूर्वक कृष्णभावनामृत में लगाता है, किन्तु मन इतना चंचल है कि उसे अपने आध्यात्मिक पद से सहसा हटाया जा सकता है। तब मनुष्य को चाहिए कि वह सावधानी से मन को अपने वश में लाये। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि अत्यधिक संयमी या अत्यधिक कामुक होने पर मन को वश में नहीं रखा जा सकता। कभी कभी इन्द्रियों को सीमित तुष्टि

प्रदान करके मन को वश में किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति संयम से भोजन करता हो तो यदाकदा वह मन्दिर के अर्चा-विग्रहों पर अर्पित होने वाला महाप्रसाद ग्रहण कर सकता है, जिससे मन विचलित नहीं होगा। इसी तरह वह यदाकदा अन्य योगियों के साथ मजाक करके या तैर कर मन बहला सकता है। किन्तु यदि इन कार्यों को प्रचुर मात्रा में किया जाय, तो इससे आध्यात्मिक जीवन में गतिरोध आयेगा। जब मन कोई पापपूर्ण तृप्ति चाहे—यथा अवैध यौन या नशा—तो मनुष्य मन की मूर्खता सह ले और कठिन प्रयास द्वारा कृष्णभावनामृत के साथ आगे बढ़ता जाय। तब मोह की तरंगें शीघ्र शमित हो जायेंगी और प्रगति का पथ खुल जायेगा।

मनोगतिं न विसृजेज्जितप्राणो जितेन्द्रियः ।
सत्त्वसम्पन्नया बुद्ध्या मन आत्मवशं नयेत् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

मनः—मन का; गतिम्—लक्ष्य; न—नहीं; विसृजेत्—ओझल होने दे; जित-प्राणः—जिसने श्वास को जीत लिया है; जित-इन्द्रियः—जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है; सत्त्व—सतोगुण का; सम्पन्नया—सम्पन्नता से युक्त; बुद्ध्या—बुद्धि से; मनः—मन; आत्म-वशम्—अपने वश में; नयेत्—लाये।

मनुष्य को चाहिए कि मानसिक कार्यों के वास्तविक लक्ष्य को दृष्टि से ओझल न होने दे, प्रत्युत प्राण-वायु तथा इन्द्रियों पर विजय पाकर तथा सतोगुण से प्रबलित बुद्धि का उपयोग करके, मन को अपने वश में कर ले।

तात्पर्य : यद्यपि मन आत्म-साक्षात्कार के सीमा-क्षेत्र से सहसा बाहर विचरण कर सकता है, किन्तु सतोगुणी विमल बुद्धि से मन को वश में लाना चाहिए। इसका समाधान यह है कि मन को सदैव कृष्ण की सेवा में व्यस्त रखा जाय जिससे वह इन्द्रियतृप्ति के भयावह मार्ग में, जिसमें यौन-आकर्षण मुख्य है, विचरण न करे। मन में हर क्षण भौतिक वस्तुओं को स्वीकार करने की प्रवृत्ति होती है। इसलिए जब तक मन को गम्भीरतापूर्वक वश में नहीं रखा जाता, तब तक आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग पर स्थिर होने की कोई सम्भावना नहीं रहती।

एष वै परमो योगो मनसः सङ्ग्रहः स्मृतः ।
हृदयज्ञत्वमन्विच्छन्दम्यस्येवार्वतो मुहुः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; वै—निस्सन्देह; परमः—परम; योगः—योग-विधि; मनसः—मन का; सङ्ग्रहः—पूर्ण नियंत्रण; स्मृतः—इस प्रकार घोषित; हृदय-ज्ञत्वम्—घनिष्ठतापूर्वक जानने का गुण; अन्विच्छन्—सावधानी से देखते हुए; दम्यस्य—जिसका दमन किया जाना है; इव—सदृश; अर्वतः—घोड़े; मुहुः—सदैव।.

एक दक्ष घुड़सवार तेज घोड़े को पालतू बनाने की इच्छा से सर्वप्रथम घोड़े को क्षण-भर उसकी राह चलने देता है, तब लगाम खींच कर धीरे धीरे उसे इच्छित राह पर ले आता है। इसी प्रकार परम योग-विधि वह है, जिससे मनुष्य मन की गतियों तथा इच्छाओं का सावधानी से अवलोकन करता है और क्रमशः उन्हें पूर्ण वश में कर लेता है।

तात्पर्य : जिस तरह दक्ष घुड़सवार अनसधाये घोड़े की मनोवृत्तियों को ठीक से जानते हुए उसे धीरे धीरे अपने वश में ले आता है, उसी तरह दक्ष योगी पहले तो मन को उसकी भौतिकतावादी इच्छाओं को प्रकट होने देता है और तब श्रेष्ठ बुद्धि द्वारा उसे अपने वश में कर लेता है। विद्वान योगी इन्द्रिय-विषयों को पहले रोक रखता है और फिर उनकी इच्छापूर्ति करता है, जिससे मन तथा इन्द्रियाँ पूरी तरह वश में रहती हैं जैसे घुड़सवार कभी लगाम को कड़ी करता है और कभी ढीली कर लेता है, जिससे घोड़ा स्वतंत्रतापूर्वक दौ सके। घुड़सवार कभी भी अपने वास्तवकि लक्ष्य या गन्तव्य को नहीं भूलता और अन्त में घोड़े को सही रास्ते पर ले आता है। इसी तरह विद्वान योगी कभी कभी इन्द्रियों को कर्म करने की छूट देते हुए भी, आत्म-साक्षात्कार के लक्ष्य को कभी नहीं भूलता, न ही इन्द्रियों को पापकर्मों में प्रवृत्त होने देता है। अत्यधिक संयम या नियंत्रण से मानसिक विक्षोभ उत्पन्न हो सकता है, जिस तरह तेजी से लगाम खींचने पर घोड़ा सवार के विरुद्ध खड़ा हो सकता है। आत्म-साक्षात्कार मार्ग विमल बुद्धि पर निर्भर करता है और ऐसी दक्षता प्राप्त करने का सबसे सरल तरीका है भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करना। *भगवद्गीता* (१०.१०) में भगवान् कहते हैं—

तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

भले ही कोई महान् पंडित या आध्यात्मिक बुद्धिजीवी न हो, किन्तु यदि वह निःस्वार्थ भाव से भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगा रहता है, तो भगवान् हृदय के भीतर से ऐसी विधि प्रकट करते हैं, जो मन को वश में करने के लिए आवश्यक होती है। मन की इच्छारूपी तरंगों पर आरूढ़ होकर कृष्णभावनाभावित व्यक्ति आसन से गिरता नहीं और वह अन्त में भगवद्धाम जा पहुँचता है।

साङ्ख्येन सर्वभावानां प्रतिलोमानुलोमतः ।
भवाप्ययावनुध्यायेन्मनो यावत्प्रसीदति ॥ २२॥

शब्दार्थ

साङ्ख्येन—वैश्लेषिक अध्ययन द्वारा; सर्व—समस्त; भावानाम्—भौतिक तत्त्वों (विराट, पार्थिव तथा सूक्ष्म) का; प्रतिलोम—उल्टे कार्य द्वारा; अनुलोमतः—अग्रसर कार्य द्वारा; भव—सृष्टि; अप्ययौ—संहार; अनुध्यायेत्—निरन्तर अवलोकन करे; मनः—मन; यावत्—जब तक; प्रसीदति—आध्यात्मिक रूप से तुष्ट नहीं हो जाता।

जब तक मनुष्य का मन आध्यात्मिक तुष्टि प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक उसे समस्त भौतिक वस्तुओं की नश्वर प्रकृति का, चाहे वे विराट विश्व की हों, पृथ्वी की हों या सूक्ष्म हों, वैश्लेषिक अध्ययन करते रहना चाहिये। उसे सृजन का अनुलोम विधि से और संहार का प्रतिलोम विधि से निरन्तर अवलोकन करना चाहिए।

तात्पर्य : कहावत है कि जो ऊपर उठता है, वह नीचे आता ही है। इसी तरह से *भगवद्गीता* (२.२७) में भगवान् कृष्ण ने कहा है—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्माद परिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥

"जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु निश्चित है और मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म भी निश्चित है। अत: अपने अपरिहार्य कर्तव्य-पालन में तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।" *मनो यावत् प्रसीदति*—जब तक कोई अपनी चेतना को पूर्ण ज्ञान के मुक्त पद पर स्थापित नहीं कर लेता, तब तक उसे प्रकृति के दृढ़ वैश्लेषिक अवलोकन द्वारा माया के वारों को निरंतर परे रखना चाहिए। भौतिक मन यौन के प्रति आकृष्ट हो सकता है, इसलिए आध्यात्मिक बुद्धि से उसे अपने शरीर के क्षणिक स्वभाव की छानबीन करनी चाहिए और उस शरीर की भी जो किसी की काम-वासना का कृत्रिम लक्ष्य बनता है। वह इस कठोर विश्लेषण को सभी भौतिक शरीरों पर चाहे वह ब्रह्मा का विराट शरीर हो या किसी नगण्य कीटाणु का शरीर हो, लागू करे। जैसाकि भगवान् कृष्ण पहले कह चुके हैं, जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में आगे बढ़ चुका होता है, वह इन्द्रियतृप्ति से अपने को स्वत: बचाता है और आध्यात्मिक प्रेम द्वारा भगवान् कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को प्राप्त होता है। जिसने कृष्णभावनामृत के पद को प्राप्त नहीं किया, उसे निरन्तर चौकस रहना चाहिए जिससे वह भगवान् की माया द्वारा ठगा न जा सके। जो व्यक्ति माया का दुरुपयोग करना चाहता है, वह अपने आध्यात्मिक जीवन को चौपट कर लेता है और नाना प्रकार के कष्ट पाता है।

निर्विण्णस्य विरक्तस्य पुरुषस्योक्तवेदिनः ।
मनस्त्यजति दौरात्म्यं चिन्तितस्यानुचिन्तया ॥ २३॥

शब्दार्थ

निर्विण्णस्य—भौतिक जगत के मोहमय स्वभाव से ऊबे, उद्विग्न; विरक्तस्य—तथा विरक्त; पुरुषस्य—पुरुष का; उक्त-वेदिनः—अपने गुरु के आदेशों से नियंत्रित व्यक्ति; मनः—मन; त्यजति—त्याग देता है; दौरात्म्यम्—भौतिक शरीर तथा मन से झूठी पहचान; चिन्तितस्य—सोचे हुए का; अनुचिन्तया—निरन्तर विश्लेषण द्वारा।

जब कोई व्यक्ति इस जगत के नश्वर तथा मोहमय स्वभाव से ऊब उठता है और इस तरह उससे विरक्त हो जाता है, तो उसका मन अपने गुरु के आदेशों से मार्गदर्शन पाकर, इस जगत के स्वभाव के बारे में बारम्बार विचार करता है और अन्त में पदार्थ के साथ अपनी झूठी पहचान को त्याग देता है।

तात्पर्य : यद्यपि मन को वश में करना कठिन है किन्तु निरन्तर अभ्यास द्वारा इसे कृष्णभावनाभावित किया जा सकता है। निष्ठावान शिष्य अपने गुरु के आदेशों को लगातार स्मरण रखता है और उसके बल पर वह बारम्बार इस नग्न सत्य का सामना करता है कि यह भौतिक जगत चरम सत्य नहीं है। विरक्ति तथा धैर्य (अनवरत चेष्टा) के द्वारा मन इन्द्रियतृप्ति के प्रति अपनी मनोवृत्ति त्याग देता है; फलस्वरूप, निष्ठावान् कृष्ण-भक्त पर से माया की जकड़ हट जाती है। धीरे धीरे विशुद्ध मन इस जगत से झूठी पहचान को पूरी तरह त्याग देता है और अपना ध्यान आध्यात्मकि पद पर ले जाता है। तभी मनुष्य को योग-विधि में पूर्ण माना जाता है।

यमादिभिर्योगपथैरान्वीक्षिक्या च विद्यया ।
ममार्चोपासनाभिर्वा नान्यैर्योग्यं स्मरेन्मनः ॥ २४॥

शब्दार्थ

यम-आदिभिः—अनुशासनात्मक नियमों आदि के द्वारा.; योग-पथैः—योग-प्रणाली की विधियों द्वारा; आन्वीक्षिक्या—तर्क द्वारा; च—भी; विद्यया—आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा; मम—मेरी; अर्चा—पूजा; उपासनाभिः—उपासना द्वारा.; वा—अथवा; न—कभी नहीं; अन्यैः—अन्य (साधनों) द्वारा; योग्यम्—ध्यान की वस्तु, भगवान् पर; स्मरेत्—एकाग्र करे; मनः—मन।

मनुष्य को चाहिए कि योग-प्रणाली के विभिन्न यमों तथा संस्कारों द्वारा, तर्क तथा आध्यात्मिक शिक्षा द्वारा अथवा मेरी पूजा और उपासना द्वारा, योग के लक्ष्य भगवान् के स्मरण में अपने मन को लगाये। इस कार्य के लिए वह अन्य साधनों का प्रयोग न करे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *वा* शब्द महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह बताता है कि जो व्यक्ति भगवान् की

पूजा तथा उपासना में लगा हुआ हो, उसे न तो योग के यम-नियमों में लगने की झंझट उठानी चाहिए न वैदिक अध्ययन तथा तर्क की गुत्थियों में पड़ना चाहिए। *योग्यम्* तो भगवान् हैं जैसाकि सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय से पुष्टि होती है। जो व्यक्ति सीधे भगवान् की पूजा करता है, उसे अन्य विधियों का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि भगवान् पर पूर्ण निर्भरता अपने आप सिद्धि की परम विधि है।

यदि कुर्यात्प्रमादेन योगी कर्म विगर्हितम् ।
योगेनैव दहेदंहो नान्यत्तत्र कदाचन ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; कुर्यात्—करे; प्रमादेन—उपेक्षा के कारण; योगी—योगी; कर्म—कोई कार्य; विगर्हितम्—निन्दनीय; योगेन—योग-विधि द्वारा; एव—एकमात्र; दहेत्—जला दे; अंहः—वह पाप; न—नहीं; अन्यत्—अन्य साधनों से; तत्र—इस मामले में; कदाचन—कभी भी।.

यदि क्षणिक असावधानी से कोई योगी अकस्मात् कोई गर्हित (निन्दित) कर्म कर बैठता है, तो उसे चाहिए कि वह योगाभ्यास द्वारा उस पाप को कभी भी किसी अन्य विधि का प्रयोग किए बिना जला डाले।

तात्पर्य : यहाँ पर *योगेन* शब्द *ज्ञानेन योगेन* तथा *भक्त्या योगेन* का सूचक है क्योंकि ये दोनों दिव्य प्रणालियाँ पापकर्मफलों को भस्म करने की शक्ति रखती हैं। यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि *अंहस्* शब्द अपनी इच्छा के विरुद्ध आकस्मिक पतन का सूचक है। भगवान् की दया का पहले से निश्चित किया गया दुरुपयोग कभी भी क्षम्य नहीं है।

महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि भगवान् किसी भी बाह्य शुद्धिकर अनुष्ठान को वर्जित करते हैं क्योंकि दिव्य योग-प्रणालियाँ स्वयं ही अत्यन्त शुद्धिकारी विधियाँ हैं, विशेष करके *भक्ति-योग।* यदि कोई व्यक्ति पापफल को शुद्ध करने के प्रयास में अपने नियत कर्म त्याग कर विशेष अनुष्ठान या तपस्या करने लगता है, तो उसे अपने नियत कर्म छोड़ने का अतिरिक्त दोष लगेगा। मनुष्य को आकस्मिक पतन से अपने को उठाकर जीवन में अपने नियत कार्यों में पूरे जोर से लग जाना चाहिए और व्यर्थ ही हतोत्साहित नहीं होना चाहिए। मनुष्य को पश्चाताप करना चाहिए और लज्जित होना चाहिए अन्यथा शुद्धि नहीं हो सकती। किन्तु यदि आकस्मिक पतन से कोई व्यक्ति अत्यधिक अवसन्न हो जाता है, तो सिद्धि तक पहुँचने के लिए उसमें उत्साह ही नहीं रहेगा। *भगवद्गीता* (९.३०) में भगवान् कृष्ण भी कहते हैं—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्य भाक्।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

"यदि कोई जघन्य से जघन्य भी कर्म करे, परन्तु यदि वह भक्ति में रत रहता है, तो उसे साधु मानना चाहिए क्योंकि वह उपयुक्त पद पर स्थित है।" सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मनुष्य को भगवान् की भक्ति में ठीक से लगे रहना चाहिए क्योंकि तब भगवान् उसे क्षमा कर देंगे और उसके आकस्मिक पतन को शुद्ध कर देंगे। किन्तु मनुष्य को ऐसी कष्टकर घटना से बचने के लिए अत्यधिक सावधान रहना चाहिए।

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।
कर्मणां जात्यशुद्धानामनेन नियमः कृतः ।
गुणदोषविधानेन सङ्गानां त्याजनेच्छया ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

स्वे स्वे—अपने अपने; अधिकारे—पद पर; या—जो; निष्ठा—स्थायी अभ्यास; सः—वह; गुणः—पुण्य; परिकीर्तितः—ठीक से घोषित; कर्मणाम्—सकाम कर्मों का; जाति—स्वभाव से; अशुद्धानाम्—अशुद्ध; अनेन—इससे; नियमः—अनुशासनात्मक नियंत्रण; कृतः—स्थापित किया जाता है; गुण—पुण्य का; दोष—पाप का; विधानेन—नियम द्वारा; सङ्गानाम्—विभिन्न प्रकार की इन्द्रियतृप्ति की संगति से; त्याजन—विरक्ति की; इच्छया—इच्छा से।

यह दृढ़तापूर्वक घोषित है कि योगियों का अपने अपने आध्यात्मिक पदों पर निरन्तर बने रहना असली पुण्य है और जब कोई योगी अपने नियत कर्तव्य की अवहेलना करता है, तो वह पाप होता है। जो पाप तथा पुण्य के इस मानदण्ड को, इन्द्रियतृप्ति के साथ समस्त पुरानी संगति को सच्चे दिल से त्यागने की इच्छा से अपनाता है, वह भौतिकतावादी कर्मों को वश में कर लेता है, जो स्वभाव से अशुद्ध होते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् कृष्ण अधिक स्पष्ट रूप से कहते हैं कि वे लोग जो ज्ञानयोग या भक्तियोग के द्वारा आत्म-साक्षात्कार में सीधे लगे हुए हैं, उन्हें अपने नियमित कर्तव्यों को छोड़ने तथा आकस्मिक पतन के प्रायश्चित्त करने के लिए विशेष तपस्या करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वैदिक साहित्य का वास्तविक उद्देश्य मनुष्य को भगवद्धाम जाने के लिए दिशा निर्देश करना है, भौतिक इन्द्रियतृप्ति को बढ़ावा देना नहीं। यद्यपि स्वर्गलोक जाने तथा समस्त प्रकार का भौतिक ऐश्वर्य भोगने के लिए, वेद असंख्य अनुष्ठानों की संस्तुति करते हैं, किन्तु ऐसे भौतिकतावादी फल भौतिकतावादी

लोगों को काम में लगाये रखने के लिए होते हैं, अन्यथा वे असुर बन जाँय। आकस्मिक पतन से शुद्ध होने के लिए योगी को अपने आध्यात्मिक अभ्यास से परे अन्य कोई विधि नहीं अपनानी चाहिए। *संगानां त्याजनेच्छया* शब्द सूचित करते हैं कि मनुष्य को कृष्णभावनामृत या आत्म-साक्षात्कार का अभ्यास ऊपर ऊपर, या कभी कभी, नहीं करना चाहिए, प्रत्युत उसे अपने विगत पापमय जीवन से छूटने के लिए निष्ठापूर्वक कामना करनी चाहिए। इसी तरह *या निष्ठा* शब्द सूचित करते हैं कि मनुष्य को निरन्तर कृष्णभावनामृत का अभ्यास करना चाहिए। इस तरह अनिवार्य आवश्यक पुण्य इन्द्रियतृप्ति को त्याग कर भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगना है। जो व्यक्ति चौबीसों घण्टे भगवान् की सेवा में अपनी इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि लगाता है, वह सबसे पवित्र व्यक्ति है और भगवान् ऐसे शरणागत जीव की स्वयं रक्षा करते हैं।

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु ।
वेद दुःखात्मकान्कामान्परित्यागेऽप्यनीश्वरः ॥ २७॥
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः ।
जुषमाणश्च तान्कामान्दुःखोदर्कांश्च गर्हयन् ॥ २८॥

शब्दार्थ

जात—जागृत; श्रद्धः—श्रद्धा; मत्-कथासु—मेरे यश के वर्णनों में; निर्विण्णः—ऊबा हुआ; सर्व—सभी; कर्मसु—कामों में; वेद—जानता है; दुःख—दुख; आत्मकान्—से निर्मित; कामान्—सभी प्रकार की इन्द्रियतृप्ति; परित्यागे—परित्याग करने में; अपि—यद्यपि; अनीश्वरः—असमर्थ; ततः—ऐसी श्रद्धा के कारण; भजेत—पूजा करे; माम्—मेरी; प्रीतः—सुखी रहते हुए; श्रद्धालुः—श्रद्धावान्; दृढ—पक्का; निश्चयः—संकल्प; जुषमाणः—में संलग्न; च—भी; तान्—उन; कामान्—इन्द्रियतृप्ति; दुःख—दुख; उदर्कान्—देने वाले; च—भी; गर्हयन्—के लिए पश्चाताप करते हुए।

मेरे यश की कथाओं में श्रद्धा उत्पन्न करके, सारे भौतिक कार्यों से ऊब कर और यह जानते हुए भी कि सभी प्रकार की इन्द्रियतृप्ति दुखदायी है, किन्तु इन्द्रिय-भोग त्याग पाने में असमर्थ, मेरे भक्त को चाहिए कि वह सुखी रहे और अत्यन्त श्रद्धा तथा पूर्ण विश्वास के साथ मेरी पूजा करे। कभी कभी इन्द्रिय-भोग में लगे रहते हुए भी, मेरा भक्त जानता है कि समस्त प्रकार की इन्द्रियतृप्ति का परिणाम दुख है और वह ऐसे कार्यों के लिए सच्चे दिल से पश्चाताप करता है।

तात्पर्य : भगवान् ने यहाँ पर शुद्ध भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था का वर्णन किया है। निष्ठावान् भक्त ने यह जान लिया होता है कि सारे भौतिक कर्म इन्द्रियतृप्ति तक पहुँचते हैं और इन्द्रियतृप्ति से दुख उत्पन्न होता है। इसलिए भक्त की हार्दिक इच्छा चौबीसों घण्टे बिना किसी स्वार्थ के भगवान् कृष्ण की

प्रेमाभक्ति में लगे रहने की होती है। भक्त चाहता है कि वह भगवान् के नित्य सेवक के रूप में अपने स्वाभाविक पद पर पहुँच जाय और इस उच्च पद पर उठाये जाने के लिए वह भगवान् से प्रार्थना करता है। *अनीश्वर* शब्द बताता है कि अपने विगत पापपूर्ण कर्मों तथा बुरी आदतों के कारण, तुरन्त ही भोग की इच्छा को मनुष्य शमित नहीं कर पाता। भगवान् यहाँ पर ऐसे भक्त को अत्यधिक अवसन्न या हताश न होने तथा भक्ति करते रहने के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं। *निर्विण्ण* शब्द सूचित करता है कि निष्ठावान् भक्त में यद्यपि थोड़ी-बहुत इन्द्रियतृप्ति बची रहती है, किन्तु वह भौतिक जीवन से पूरी तरह ऊबा रहता है और किसी भी परिस्थिति में जान-बूझकर कोई पापकर्म नहीं करता है। वस्तुत: वह हर प्रकार के भौतिकतावादी कर्म से बचता है। *कामान्* शब्द द्योतक है यौन-आकर्षण तथा सन्तान, घर इत्यादि के रूप में गौण उत्पादों का। भौतिक जगत में यौन की इच्छा इतनी प्रबल होती है कि कभी कभी भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगा निष्ठावान भक्त भी यौन-आकर्षण से, या पत्नी तथा सन्तान के लिए बची हुई भावना से, विचलित हो उठता है। शुद्ध भक्त समस्त जीवों के प्रति, जिसमें तथाकथित पत्नी तथा सन्तानें सम्मिलित हैं, आध्यात्मिक स्नेह रखता है, किन्तु वह जानता है कि शारीरिक आकर्षण से कोई अच्छाई नहीं आती क्योंकि इससे वह तथा उसके पारिवारिकजन कर्मफल की दुखमय शृंखला में बँध जाते हैं। *दृढ-निश्चय* शब्द सूचित करता है कि चाहे जैसी भी परिस्थिति क्यों न हो, भक्त कृष्ण के हेतु अपने नियत कर्म करने के लिए दृढ़-संकल्प रहता है। इस तरह वह सोचता है, ''मेरे पूर्व लज्जाजनक जीवन से मेरा हृदय अनेक भ्रामक आसक्तियों से दूषित है। उन्हें अपने आप रोकने की मुझमें कोई शक्ति नहीं है। मेरे हृदय के भीतर स्थित श्रीकृष्ण ही ऐसे अशुभ कल्मष को दूर कर सकते हैं। किन्तु भगवान् चाहे ऐसी आसक्ति को तुरन्त दूर कर दें या इसी तरह मुझे उनसे पीड़ित होते रहने दें, मैं उनकी भक्ति नहीं छोड़ूँगा। भगवान् मेरे रास्ते में लाखों अड़चनें क्यों न डालें और चाहे मैं अपने अपराधों के कारण नरक भी क्यों न जाऊँ, मैं क्षण-भर के लिए भी भगवान् की सेवा करना बन्द नहीं करूँगा। मेरी रुचि मानसिक चिन्तन तथा सकाम कर्मों में नहीं है और यदि साक्षात् ब्रह्मा भी आकर मुझसे यह कहें कि इन कार्यों को करते रहो, तो भी मैं कोई रुचि नहीं दिखलाऊँगा। यद्यपि मैं भौतिक वस्तुओं के प्रति आसक्त हूँ, किन्तु मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि इनसे कोई लाभ होने वाला नहीं है क्योंकि वे मुझे केवल कष्ट देती हैं और कृष्ण के प्रति मेरी भक्ति में विघ्न उत्पन्न करती हैं। इसलिए मैं

इतनी सारी भौतिक वस्तुओं के प्रति अपनी मूर्खतापूर्ण आसक्ति के लिए सच्चे दिल से पश्चाताप करता हूँ और मैं धैर्यपूर्वक भगवान् कृष्ण की कृपा की प्रतीक्षा में हूँ।''

प्रीत शब्द सूचित करता है कि भक्त अपने को भगवान् के पुत्र या प्रजा की तरह समझता है और भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध में अत्यधिक आसक्त रहता है। इसलिए इन्द्रिय-भोग में यदाकदा हुई त्रुटियों के लिए पश्चाताप करते हुए भी, वह भगवान् कृष्ण की सेवा करने के अपने उत्साह को कभी त्यागता नहीं। यदि कोई भक्त भक्ति से अत्यधिक खिन्न या हतोत्साहित हो जाता है, तो वह निर्विशेषवादी चेतना की ओर मुड़ सकता है या अपनी भगवद्भक्ति छोड़ सकता है। इसलिए यहाँ पर भगवान् सलाह देते हैं कि कोई भले ही पश्चाताप करे, किन्तु उसे अत्यधिक अवसन्न नहीं होना चाहिए। उसे यह समझ लेना चाहिए कि अपने विगत पापों के कारण वह मन तथा इन्द्रियों के उत्पातों से कभी कभी प्रभावित हो सकता है, किन्तु इसीलिए उसे विरक्ति का भक्त नहीं बन जाना चाहिए जैसाकि चिन्तनशील दार्शनिक करते हैं। यद्यपि अपनी भक्ति को शुद्ध करने के लिए मनुष्य विरक्ति चाह सकता है, किन्तु यदि वह भगवान् कृष्ण की प्रसन्नता के लिए कर्म करने की अपेक्षा वैराग्य के प्रति अधिक चिन्ता करता है, तो वह प्रेमाभक्ति के पद को ठीक से समझ नहीं पा रहा है। भगवान् कृष्ण में श्रद्धा इतनी प्रबल होती है कि समय आने पर यह स्वयमेव विरक्ति तथा पूर्ण ज्ञान प्रदान करेगी। यदि भक्त कृष्ण को अपनी पूजा का केन्द्रबिन्दु बनाना त्याग कर ज्ञान तथा विरक्ति पर अधिक ध्यान देता है, तो वह भगवद्धाम वापस जाने के मार्ग पर की गई प्रगति से विपथ हो जायेगा। भगवान् के निष्ठावान् भक्त को पूरी तरह आश्वस्त होना चाहिए कि अपनी भक्ति के बल पर तथा भगवान् की कृपा के बल पर वह जीवन की हर शुभ वस्तु को प्राप्त कर सकेगा। उसे यह विश्वास करना चाहिए कि कृष्ण सर्व दयामय हैं और वे ही उसके जीवन के एकमात्र असली लक्ष्य हैं। ऐसी दृढ़ श्रद्धा के साथ इन्द्रिय-भोग त्यागने की सच्ची इच्छा से मनुष्य इस जगत के सारे अवरोधों को पार कर लेगा।

यहाँ पर *जात श्रद्धः मत्कथासु* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् की कृपा तथा महिमा के श्रवण करने से मनुष्य क्रमशः समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त हो जायेगा और हर क्षण इन्द्रियतृप्ति में घोर हताशा देखेगा। दृढ़ विश्वास तथा संकल्प के साथ भगवान् की महमिा का कीर्तन अत्यन्त शक्तिशाली आध्यात्मिक विधि है, जिससे समस्त भौतिक संगति को त्यागा जा सकता है।

भगवद्भक्ति में कुछ भी अशुभ नहीं होता। भक्त को यदाकदा जिन कठिनाइयों का अनुभव करना होता है, वे विगत कर्मों के कारण आती हैं। दूसरी ओर, इन्द्रियतृप्ति का प्रयास सर्वथा अशुभ है। इस तरह इन्द्रियतृप्ति तथा भक्ति एक-दूसरे के विपरीत हैं। अतएव सभी परिस्थितियों में मनुष्य को भगवान् की कृपा पर सदैव विश्वास रखते हुए, निष्ठावान् सेवक बने रहना चाहिए। तभी वह निश्चित रूप से भगवद्धाम जा सकेगा।

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मासकृन्मुनेः ।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते ॥ २९॥

शब्दार्थ

प्रोक्तेन—कही गई; भक्ति-योगेन—भक्ति द्वारा; भजतः—पूजा करते हुए; मा—मुझको; असकृत्—निरन्तर; मुनेः—मुनि की; कामाः—भौतिक इच्छाएँ; हृदय्याः—हृदय में; नश्यन्ति—नष्ट हो जाती हैं; सर्वे—सभी; मयि—मुझमें; हृदि—जब हृदय; स्थिते—दृढ़ता से स्थित है।

जब बुद्धिमान व्यक्ति मेरे द्वारा बताई गई प्रेमाभक्ति के द्वारा निरन्तर मेरी पूजा करने में लग जाता है, तो उसका हृदय दृढ़तापूर्वक मुझ में स्थित हो जाता है। इस तरह उसके हृदय के भीतर की सारी भौतिक इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं।

तात्पर्य : भौतिक इन्द्रियाँ मनोरथों को पूरा करने में लगी रहती हैं और एक के बाद एक अनेक प्रकार की इच्छाओं को प्रबल बनाती हैं। जो व्यक्ति भगवान् की दिव्य महिमा के, पूरी श्रद्धा से श्रवण और कीर्तन के द्वारा, भगवद्भक्ति में निरन्तर लगा रहता है, वह इन भौतिक इच्छाओं की परेशानी से छुटकारा पा जाता है। भगवान् की सेवा करने से उसका दृढ़ विश्वास हो जाता है कि श्रीकृष्ण ही असली भोक्ता हैं और अन्य सारे लोग भक्ति द्वारा भगवान् की प्रसन्नता में हाथ बँटाने के लिए हैं। भगवद्भक्त श्रीकृष्ण को अपने हृदय के सिंहासन पर बिठाकर निरन्तर सेवा करता रहता है। जिस तरह उदय होने वाला सूर्य धीरे धीरे सारे अंधकार को दूर कर देता है, उसी तरह हृदय के भीतर भगवान् की उपस्थिति से सारी भौतिक इच्छाएँ क्रमशः क्षीण होकर लुप्त हो जाती हैं। *मयि हृदि स्थिते* शब्दावली बताती है कि महान् भक्त भगवान् कृष्ण को न केवल अपने हृदय के भीतर देखता है, अपितु सारे जीवों के हृदयों में देखता है। इस तरह श्रीकृष्ण की महिमा का श्रवण तथा कीर्तन करने वाले निष्ठावान् भक्त को हृदय में अवशिष्ट भौतिक इच्छाओं से निरुत्साहित नहीं होना चाहिए। उसे श्रद्धापूर्वक उस क्षण की प्रतीक्षा करनी चाहिए जब भक्ति सहज ही हृदय में सारे कल्मष को धो देगी।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

भिद्यते—टूट कर, छेद कर; हृदय—हृदय; ग्रन्थिः—गाँठें; छिद्यन्ते—खण्ड खण्ड कर; सर्व—सभी; संशयाः—आशंकाएँ; क्षीयन्ते—समाप्त हो जाती हैं; च—तथा; अस्य—उसके; कर्मणि—कर्मों की शृंखला; मयि—जब मैं; दृष्टे—दिखता हूँ; अखिल-आत्मनि—भगवान् के रूप में।

जब मैं उसे भगवान् के रूप में दिखता हूँ, तो उसके हृदय की गाँठ खुल जाती है, सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं तथा सकाम कर्मों की शृंखला समाप्त हो जाती है।

तात्पर्य : *हृदय-ग्रंथि* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य का हृदय भौतिक शरीर के साथ झूठी पहचान के द्वारा मोह से बँधा रहता है। इस तरह मनुष्य असंख्य प्रकार से स्त्री-पुरुष के शारीरिक संयोग के स्वप्न देखते हुए भौतिक यौन-सुख में लीन रहता है। यौन-आकर्षण के नशे में ग्रस्त मनुष्य यह नहीं समझ पाता कि भगवान् ही समस्त सुख के आगार तथा परम भोक्ता हैं। जब भक्त भगवान् की प्रेमाभक्ति करते हुए, हर क्षण दिव्य आनन्द का अनुभव करते हुए अपनी भक्ति में स्थिरता प्राप्त कर लेता है, तो झूठी पहचान की गाँठ खुल जाती है और उसके सारे संशय छिन्न हो जाते हैं। मोह में हम कल्पना करते हैं कि जीव बिना इन्द्रियतृप्ति के तथा परब्रह्म के विषय में चिन्तनपरक संशय के बिना, पूर्ण रूप से तुष्ट नहीं हो सकता। भौतिकतावादी व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति तथा चिन्तनपरक संशय को सभ्य जीवन के लिए अनिवार्य समझते हैं। किन्तु शुद्ध भक्त अनुभव करता है कि भगवान् कृष्ण सुख के अथाह सागर एवं साक्षात् ज्ञान हैं। भगवान् कृष्ण विषयक यह अनुभूति इन्द्रियतृप्ति तथा मानसिक चिन्तन की युग्म प्रवृत्तियों को समूल नष्ट कर देती है। इस तरह *कर्म* उसी तरह स्वत: समाप्त हो जाता है, जिस तरह ईंधन हटा लेने पर अग्नि बुझ जाती है।

उच्च भक्ति मनुष्य को भव-बन्धन से स्वयमेव मोक्ष दिलाती है जैसाकि भगवान् कपिल ने पुष्टि की है : *जरत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा*—"भक्ति जीव के सूक्ष्म शरीर को बिना किसी पृथक् प्रयास के विलीन कर देती है, जिस तरह जठराग्नि सभी प्रकार के भोजन को पचा देती है" (भागवत ३.२५.३३) श्रील प्रभुपाद ने इस श्लोक के तात्पर्य में कहा है "भक्त को मोक्ष पाने के लिए अलग से प्रयास नहीं करना होता। भगवान् की सेवा ही मोक्ष की विधि है क्योंकि भगवान् की सेवा में अपने को लगाना भौतिक बन्धन से अपने को छुड़ाना है। श्री बिल्वमंगल ठाकुर ने इस स्थिति की बहुत सुन्दर

व्याख्या की है। उन्होंने कहा है, ''यदि भगवान् के चरणकमलों में मेरी अचल भक्ति है, तो मुक्ति तो मेरी दासी की तरह सेवा करती है। मैं जो कुछ भी कहता हूँ उसे करने के लिए यह मुक्ति दासी सदा तैयार रहती है।'' भक्त के लिए मुक्ति कोई समस्या नहीं है। वह पृथक् प्रयास के बिना ही प्राप्त हो जाती है।''

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; मत्-भक्ति-युक्तस्य—मेरी प्रेमाभक्ति में लगे रहने वाले का; योगिनः—भक्त का; वै—निश्चय ही; मत्-आत्मनः—जिसका मन मुझ में स्थिर है; न—नहीं; ज्ञानम्—ज्ञान का अनुशीलन; न—न तो; च—भी; वैराग्यम्—वैराग्य का अनुशीलन; प्रायः—सामान्यतया; श्रेयः—सिद्धि प्राप्त करने के साधन; भवेत्—होए; इह—इस जगत में।

इसलिए वह भक्त जो मुझ पर अपना मन स्थिर करके मेरी प्रेमाभक्ति में लगा रहता है, उसके लिए ज्ञान का अनुशीलन तथा वैराग्य सामान्यतया इस जगत में सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने के साधन नहीं हैं।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण का शरणागत भक्त भगवद्भक्ति के बाहर ज्ञान के अनुशीलन तथा वैराग्य के माध्यम से सिद्धि नहीं खोजता। कृष्ण-भक्ति स्वयं ही परम दिव्य विधि होने से, ज्ञान के अनुशीलन तथा वैराग्य से युक्त गौण विधियों पर कभी आश्रित नहीं रहती। भक्त भगवान् की महिमा के कीर्तन तथा श्रवण से स्वतः सारा ज्ञान प्राप्त करता है और ज्यों ज्यों भगवान् की ओर यह आसक्ति बढ़ती जाती है, त्यों त्यों वह निम्न प्रकृति के प्रति आसक्ति को त्यागता जाता है। पिछले श्लोकों में भगवान् ने स्पष्ट घोषित किया है कि भक्त को अपने मन में घर करने वाली समस्याओं के समाधान के लिए भक्ति के अलावा अन्य साधनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यद्यपि निष्ठावान् भक्त भगवान् को आत्मसमर्पण कर चुका होता है, किन्तु कुछ भौतिक आसक्तियाँ अवशेष रह सकती हैं, जो उसे सम्पूर्ण दिव्य ज्ञान प्राप्त करने से रोकती हैं। किन्तु भक्ति समय आने पर स्वतः ऐसी अवशिष्ट आसक्तियों को समूल नष्ट कर देगी। यदि भक्त ज्ञान के अनुशीलन तथा वैराग्य द्वारा अपने को शुद्ध बनाना चाहता है, जो भक्ति की सीमा के बाहर हैं, तो भगवान् के चरणकमलों से उसके दूर चले जाने और दिव्य पथ से च्युत होने का खतरा रहता है। जो व्यक्ति भगवद्भक्ति के बाहर शुद्धि का प्रयास करता है, वह वास्तव में भक्तियोग की दिव्य शक्ति को ठीक से पहचानता नहीं और भगवान् कृष्ण की अपार दया को नहीं

समझता है।

इस जगत में मनुष्य का हृदय यौन-आकर्षण से बँधा है, जो भगवान् कृष्ण के चरणकमलों के ध्यान में व्यतिक्रम उत्पन्न करता है। स्त्रियों से सम्पर्क से मदोन्मत्त होकर बद्धजीव गर्वित हो उठता है और भगवान् के प्रति अपनी प्रेममयी सेवकाई भूल जाता है। ज्ञान के निश्चय अनुशीलन तथा वैराग्य से बद्धजीव भगवत्कृपा के बिना ही अपने को शुद्ध करने का प्रयास कर सकता है किन्तु ऐसे मिथ्या अभिमान का परित्याग होना चाहिए जिस तरह कि भौतिक आकर्षण के मिथ्या अभिमान का परित्याग करना होता है। जब बद्धजीव को शुद्ध भगवद्भक्ति उपलब्ध हो, तो अन्य विधियों के प्रति आकर्षण उसके भक्तिमय जीवन से विपथन है। हृदय के भीतर दृढ़ रूप से वास करने वाली भौतिक इच्छा को भगवान् की शरण लेकर ही नष्ट किया जा सकता है। मनुष्य को ज्ञान के अनुशीलन तथा वैराग्य पर झूठा विश्वास न करके, पूरी तरह भगवान् कृष्ण की कृपा पर निर्भर रहना चाहिए और उसी के साथ साथ भगवान् द्वारा उपदेश दिये गये भक्तियोग के विधि-विधानों का कठोरता से पालन करना चाहिए।

यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥ ३२ ॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद्यदि वाञ्छति ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो प्राप्त किया जाता है; कर्मभिः—सकाम कर्म द्वारा; यत्—जो; तपसा—तपस्या से; ज्ञान—ज्ञान के अनुशीलन से; वैराग्यतः—वैराग्य से; च—भी; यत्—जो प्राप्त किया जाता है; योगेन—योग-प्रणाली द्वारा; दान—दान से; धर्मेण—धार्मिक कार्यों से; श्रेयोभिः—जीवन को शुभ बनाने की विधियों से; इतरैः—अन्यों द्वारा; अपि—निस्सन्देह; सर्वम्—समस्त; मत्-भक्ति-योगेन—मेरी प्रेमाभक्ति द्वारा; मत्-भक्तः—मेरा भक्त; लभते—प्राप्त करता है; अञ्जसा—अनायास; स्वर्ग—स्वर्ग जाना; अपवर्गम्—सारे कष्ट से मोक्ष; मत्-धाम—मेरे धाम में निवास; कथञ्चित्—किसी न किसी तरह; यदि—यदि; वञ्छति—चाहता है।

इन सारी वस्तुओं को जो सकाम कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म तथा जीवन को पूर्ण बनाने वाले अन्य सारे साधनों से प्राप्त की जाती हैं, मेरा भक्त मेरे प्रति भक्ति से अनायास प्राप्त कर लेता है। यदि मेरा भक्त किसी न किसी तरह स्वर्ग जाने, मोक्ष या मेरे धाम में निवास करने की इच्छा करता है, तो वह ऐसे वर सरलता से प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण यहाँ पर भगवद्भक्ति की महिमा प्रकट करते हैं। यद्यपि शुद्ध भक्तजन निष्काम होते हैं और एकमात्र भगवान् की सेवा करने की इच्छा करते हैं, किन्तु कभी कभी महान् भक्त

भक्ति को सुगम बनाने के लिए भगवान् का वर चाह सकता है। *भागवत* के छठे स्कन्ध में हम देखते हैं कि भगवद्भक्त चित्रकेतु ने स्वर्ग जाना चाहा था जिससे विद्याधर लोक की सुन्दरियों के साथ वह भगवान् की महिमा का सुन्दर ढंग से कीर्तन कर सके। इसी तरह *श्रीमद्भागवत* के परम कथाकार, श्री शुकदेव गोस्वामी, भगवान् की मायाशक्ति के पाश से बचने के लिए अपनी माता के गर्भ से बाहर नहीं आना चाहते थे। दूसरे शब्दों में, शुकदेव गोस्वामी *अपवर्गम्* अर्थात् माया से मोक्ष चाहते थे जिससे उनकी भक्ति में अवरोध न उत्पन्न हो। अत: भगवान् कृष्ण ने स्वयं ही माया को दूर भेज दिया जिससे शुकदेव गोस्वामी अपनी माता के गर्भ से बाहर आयें। भगवान् के चरणकमलों की सेवा करने की गहन प्रेममयी इच्छा से भक्त वैकुण्ठ-लोक भी जाना चाह सकता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार, भक्त जब ज्ञान का स्वतंत्र अनुशीलन तथा वैराग्य त्याग देता है, तो भगवद्भक्ति में उसकी अविचल श्रद्धा हो सकती है और साथ ही वह ऐसे कार्यों के फल के प्रति थोड़ा-बहुत आसक्त रह सकता है। दक्ष सकाम कर्मों के द्वारा मनुष्य को स्वर्ग का निवास उपलब्ध होता है और वह वैराग्य के अनुशीलन से समस्त शारीरिक कष्ट से छुटकारा पा जाता है। यदि भगवान् कृष्ण भक्त के हृदय में ऐसे वर की इच्छा का पता लगा लेते हैं, तो वे अपने भक्त को वह वरदान आसानी से दे सकते हैं।

इस श्लोक में *इतरै* शब्द तीर्थस्थानों में जाने, धार्मिक व्रत रखने इत्यादि का सूचक है। इस श्लोक के पूर्व वाले श्लोक में ऊपर उठने की कई शुभ विधियों का उल्लेख हुआ है, किन्तु इन सारी विधियों के शुभ फलों को भगवद्भक्ति से सरलतापूर्वक प्राप्त किया जा सकता है। इस तरह सारे भगवद्भक्तों को, चाहे वे प्रगति की जिस अवस्था में हों, अपनी सारी शक्ति एकमात्र भगवान् की सेवा में लगानी चाहिए जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कन्ध में श्री शुकदेव गोस्वामी ने पुष्टि की है—

अकाम: सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी: ।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम ॥

"उदार बुद्धि वाले व्यक्ति को, चाहे वह भौतिक इच्छा से पूर्ण हो, चाहे किसी भौतिक इच्छा से रहित हो, या मोक्ष चाहने वाला हो, सभी साधनों से परम पूर्ण भगवान् की पूजा करनी चाहिए।" (भागवत २.३.१०)

न किञ्चित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; किञ्चित्—कुछ भी; साधवः—सन्त पुरुष; धीराः—गहन बुद्धि से; भक्ताः—भक्तगण; हि—निश्चय ही; एकान्तिनः—पूर्णतया विरक्त; मम—मुझको; वाञ्छन्ति—चाहते हैं; अपि—निस्सन्देह; मया—मेरे द्वारा; दत्तम्—दिया हुआ; कैवल्यम्—मोक्ष; अपुनः-भवम्—जन्म तथा मृत्यु से छुटकारा।

चूँकि मेरे भक्तगण साधु आचरण के तथा गम्भीर बुद्धि वाले होते हैं, इसलिए वे अपने आप को पूरी तरह मुझमें समर्पित कर देते हैं और मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहते। यहाँ तक कि यदि मैं उन्हें जन्म-मृत्यु से मुक्ति भी प्रदान करता हूँ, तो वे इसे स्वीकार नहीं करते।

तात्पर्य : *एकान्तिनो मम* शब्द सूचित करते हैं कि भगवान् के शुद्ध भक्त सन्त स्वभाव के तथा अत्यन्त बुद्धिमान होने से अपने आप को केवल भगवद्भक्ति में अर्पित कर देते हैं। यहाँ तक कि जब भगवान् उन्हें जन्म-मृत्यु से मुक्ति प्रदान करते हैं, तो वे उसे स्वीकार नहीं करते। शुद्ध भक्त स्वतः भगवान् के धाम में आनन्द तथा ज्ञान का नित्य जीवन प्राप्त करता है और भगवद्भक्ति के बिना केवल मुक्ति को अत्यन्त गर्हित मानता है। जो कोई कृष्ण-नाम का कीर्तन करता है या निर्विशेष मोक्ष या भौतिक इन्द्रियतृप्ति प्राप्त करने के मन्तव्य से, ऊपरी तौर पर भगवान् की सेवा करता है उसे दिव्य भगवद्भक्त नहीं कहा जा सकता। जब तक मनुष्य सांसारिक धार्मिकता, अर्थ, काम या मोक्ष की इच्छा करता है, तब तक वह *समाधि* पद या पूर्ण आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त नहीं कर सकता। हर जीव वास्तव में कृष्ण का नित्य दास है और निजी इच्छा से रहित होकर स्वाभावतः कृष्ण की प्रेमाभक्ति में लगने के लिए है। इस श्लोक में जीवन के इस शुद्ध तथा परम पद का वर्णन स्वयं भगवान् ने किया है।

नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम् ।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

नैरपेक्ष्यम्—भक्ति के अतिरिक्त कुछ भी न चाहने वाला; परम्—सर्वश्रेष्ठ; प्राहुः—कहा जाता है; निःश्रेयसम्—मोक्ष की सर्वोच्च अवस्था; अनल्पकम्—महान्; तस्मात्—इसलिए; निराशिषः—निजी लाभ न चाहने वाले की; भक्तिः—प्रेमाभक्ति; निरपेक्षस्य—मुझे ही देखने वाले का; मे—मुझ तक; भवेत्—उठ सकता है।

कहा जाता है कि पूर्ण विरक्ति स्वतंत्रता की सर्वोच्च अवस्था है। इसलिए जिसकी कोई निजी इच्छा नहीं होती और जो निजी लाभ के पीछे नहीं भागता, वह मेरी प्रेमाभक्ति प्राप्त कर

सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (२.३.१०) में कहा गया है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

"जिस व्यक्ति की बुद्धि उदार है, वह चाहे समस्त इच्छाओं से पूर्ण हो, चाहे किसी इच्छा से रहित हो, या मोक्ष की इच्छा करता हो, उसे सभी तरह से परम पूर्ण भगवान् की पूजा करनी चाहिए।"

शुकदेव गोस्वामी के इस कथन में *तीव्रेण भक्तियोगेन* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इस सम्बन्ध में श्रील प्रभुपाद की टिप्पणी है "जिस प्रकार शुद्ध सूर्य की किरण अत्यन्त शक्तिशाली होती है और इसीलिए *तीव्र* कहलाती है उसी तरह श्रवण, कीर्तन इत्यादि के शुद्ध *भक्ति-योग* को कोई भी सम्पन्न कर सकता है चाहे उसका आन्तरिक मन्तव्य जो भी हो।" निस्सन्देह इस कलियुग में लोग सामान्य रूप से अत्यन्त पतित हैं और भौतिक काम, लोभ, क्रोध, शोक इत्यादि से दूषित हैं। इस युग में अधिकांश लोग *सर्वकाम* हैं अर्थात् भौतिक इच्छाओं से पूर्ण हैं। तो भी हम यह समझ लें कि मात्र भगवान् कृष्ण की शरण लेने से हम जीवन में हर वस्तु प्राप्त कर सकेंगे। जीव को भगवद्भक्ति के अलावा अन्य किसी विधि में नहीं लगना चाहिए। उसे यह स्वीकार करना होगा कि भगवान् कृष्ण समस्त आनन्द के आगार हैं और हमारे भीतर स्थित भगवान् कृष्ण ही हमारी असली इच्छा पूरी कर सकते हैं। यह कोरा विश्वास कि भगवान् कृष्ण के पास जाकर मनुष्य हर चीज प्राप्त कर सकता है, समस्त ज्ञान का सार है और यह पतित व्यक्ति को भी इस कठिन युग की कष्टप्रद बाधाओं से बाहर ले जाता है।

न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः ।
साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; मयि—मुझमें; एक-अन्त—शुद्ध; भक्तानाम्—भक्तों का; गुण—अच्छे के रूप में संस्तुत; दोष—अनुपयुक्त के रूप में वर्जित; उद्भवाः—ऐसी वस्तुओं से उत्पन्न; गुणाः—पाप तथा पुण्य; साधूनाम्—भौतिक लालसाओं से मुक्त लोगों के; सम-चित्तानाम्—सभी परिस्थितियों में स्थिर आध्यात्मिक चेतना बनाये रखने वालों के; बुद्धेः—भौतिक बुद्धि से समझा जा सकने वाला; परम्—परे; उपेयुषाम्—प्राप्त कर लेने वालों के।

इस जगत के अच्छे तथा बुरे से उत्पन्न भौतिक पुण्य तथा पाप मेरे शुद्ध भक्तों के अन्तःकरण

में नहीं रह सकते क्योंकि वे भौतिक लालसा से मुक्त होने के कारण सभी परिस्थितियों में आध्यात्मिक चेतना स्थिर बनाये रखते हैं। निस्सन्देह, ऐसे भक्तों ने भौतिक बुद्धि से अतीत मुझ भगवान् को पा लिया है।

तात्पर्य : *बुद्धेः परम्* शब्द सूचित करते हैं कि भगवान् के दिव्य गुणों में लीन रहने वाले शुद्ध भक्त के भीतर प्रकृति के गुण नहीं पाये जा सकते। *भगवद्गीता* के द्वितीय अध्याय में भगवान् कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि शुद्ध भक्त को निजी इच्छाओं से पूर्ण विरक्ति के द्वारा पहचाना जाता है। अतः भगवान् कृष्ण की निष्काम सेवा में निरन्तर लगा रहने वाला शुद्ध भक्त असंख्य वैदिक अनुष्ठानों तथा नियमों को सदैव नहीं मान सकता। इस तरह की कभी कभी होने वाली असावधानी को अतिक्रमण या उल्लंघन नहीं माना जा सकता। इसी तरह सामान्य भौतिक शुद्धता को भी शरणागत जीव की परम योग्यता नहीं माना जा सकता। कृष्ण-प्रेम तथा भगवान् की इच्छा के समक्ष पूर्ण समर्पण से वह तुरन्त दिव्य पद तक उठ जायेगा जहाँ पर भगवान् के लिए सम्पन्न सारे कार्य परम पूर्ण होते हैं और ईश्वरेच्छा की अभिव्यक्ति होते हैं।कभी कभी सामान्य भौतिकतावादी व्यक्ति यह झूठा दावा करते हैं कि उनके मनमाने अनैतिक कार्यों से यह उच्च पद उन्हें प्राप्त हुआ है और इस तरह समाज में उत्पात मचाते हैं। किन्तु जिस तरह सामान्य व्यक्ति को किसी राष्ट्र-नेता के निजी सचिव के अधिकार प्राप्त होने का झूठा दावा नहीं करना चाहिए, उसी तरह सामान्य बद्धजीव को मूर्खतापूर्वक यह दावा नहीं करना चाहिए कि उसके अनैतिक, मनमाने कार्यों को ईश्वर की इच्छा होने के कारण ईश्वर का संरक्षण मिला है। मनुष्य को भगवान् का शुद्ध भक्त होना चाहिए, उसे साक्षात् भगवान् द्वारा शक्तिप्रदत्त होना चाहिए और भगवान् की इच्छा के समक्ष पूर्णतया आत्मसमर्पण करना चाहिए तभी वह सामान्य पाप-पुण्य से परे माना जा सकेगा।

ऐसे उदाहरण हैं जिनमें उच्च भक्तगण भक्ति के सन्तमय पद से कुछ काल के लिए च्युत हुए हैं। *भगवद्गीता* (९.३०) में भगवान् उपदेश देते हैं—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितोहि सः॥

भगवद्भक्त के क्षणिक पतन से ऐसे व्यक्ति के प्रति भगवान् की भावनाएँ बदलती नहीं। सामान्य माता-पिता तक अपनी सन्तान के द्वारा किये गये क्षणिक उल्लंघन को क्षमा कर देते हैं। जिस तरह

सन्तान तथा माता-पिता परस्पर प्रेम करते हैं, उसी तरह भगवान् के शरणागत दास भगवान् के साथ प्रेम-सम्बन्ध का आनन्द लूटते हैं। जिसकी पूर्व कल्पना न की गई हो, ऐसे आकस्मिक पतन को भगवान् तुरन्त क्षमा कर देते हैं। समाज के सारे सदस्यों को भगवान् का ही अनुकरण करना चाहिए। आकस्मिक पतन के कारण उच्च भक्त पर भौतिकतावादी या पापी का बिल्ला नहीं लग जाना चाहिए। भक्त तुरन्त ही सन्त जैसी सेवा करने लगता है और भगवान् से क्षमा माँगता है। किन्तु जो स्थायी रूप से पतितावस्था में बना रहता है, उसे भगवान् का उच्च भक्त नहीं स्वीकार किया जा सकता।

एवमेतान्मया दिष्टाननुतिष्ठन्ति मे पथः ।
क्षेमं विन्दन्ति मत्स्थानं यद्ब्रह्म परमं विदुः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; एतान्—ये; मया—मेरे द्वारा; दिष्टान्—आदेश दिये; अनुतिष्ठन्ति—पालन करते हैं; मे—मुझको; पथः—प्राप्त करने का साधन; क्षेमम्—मोह से छुटकारा; विन्दन्ति—प्राप्त करते हैं; मत्-स्थानम्—मेरा धाम; यत्—जो; ब्रह्म परमम्—परब्रह्म; विदुः—जानते हैं।.

जो लोग मेरे द्वारा सिखलाये गये, मुझे प्राप्त करने के इन नियमों का गम्भीरता से पालन करते हैं, वे मोह से छुटकारा पा लेते हैं और मेरे धाम में पहुँचने पर वे परब्रह्म को भलीभाँति समझते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''शुद्ध भक्ति ज्ञान तथा वैराग्य से आगे है'' नामक बीसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter इक्कीस

भगवान् कृष्ण द्वारा वैदिक पथ की व्याख्या

कुछ लोग कर्म, ज्ञान तथा भक्ति इन तीनों प्रकार के योग के लिए अनुपयुक्त हैं। वे भगवान् कृष्ण से द्वेष रखते हैं, इन्द्रियतृप्ति के प्रति आसक्त रहते हैं और ऐसे सकाम कर्मों के वशीभूत होते हैं जिनका लक्ष्य भौतिक इच्छाओं की पूर्ति होता है। यह अध्याय उनके दोषों को स्थान, काल, वस्तु तथा लाभ उठाने वालों को दृष्टि में रख कर वर्णन करता है।

जो लोग भगवान् सम्बन्धी ज्ञान तथा भक्ति के विषय में पूर्ण हैं, उनके लिए गुणों अथवा दोषों का

कोई अर्थ नहीं है। किन्तु भौतिक जीवन की समाप्ति के लिए इच्छुक कर्मी के लिए नियमित तथा विशिष्ट सकाम कर्म करना गुण है और उन्हें न कर पाना दोष है। उसके लिए पापकर्मों के निराकरण के लिए जो कुछ किया जाय, वह अच्छा है।

सतोगुणी ज्ञानियों तथा भक्तों के लिए उपयुक्त कार्य क्रमशः ज्ञान का अनुशीलन एवं श्रवण, कीर्तन आदि से युक्त भक्ति के अभ्यास हैं। दोनों के लिए उनके कर्मों में बाधक हर वस्तु बुरी है। किन्तु जो लोग आध्यात्मिक प्रगति के लिए इच्छुक नहीं हैं, या जो सिद्ध आत्माएँ नहीं हैं, अर्थात् जो लोग आध्यात्मिक जीवन से द्वेष रखते हैं और अपनी काम-वासनाओं की पूर्ति के लिए सकाम कर्म में लगे रहते हैं, उनके लिए शुद्धि तथा अशुद्धि एवं शुभ तथा अशुभ सम्बन्धी अनेक विचारणीय विषय होते हैं। इनमें शरीर, कर्म-स्थल, काल, काम में आने वाली वस्तुएँ, कर्ता, मंत्र तथा विशेष कर्म ध्यान में रखे जाते हैं।

वस्तुतः गुण तथा दोष परम नहीं हैं प्रत्युत प्रगति के विशेष स्तर के सापेक्ष होते हैं। अपने स्तर के उपयुक्त विवेक पर बने रहना शुभ है और अन्य सब कुछ बुरा है। गुण तथा दोष का यही मूलभूत ज्ञान है। यहाँ तक कि एक ही कोटि की वस्तुओं में धार्मिक कार्यों के करने में संसारी आदान-प्रदान (लेन-देन) में तथा जीवनयापन में शुद्धि अथवा अशुद्धि के बारे में विभिन्न प्रकार के मत हैं। इन अन्तरों को विभिन्न शास्त्रों में दिया गया है।

वर्णाश्रम सिद्धान्त में शारीरिक शुद्धि तथा अशुद्धि के नीतिवचन सूत्रबद्ध हैं। कर्मस्थल के अनुसार, शुद्धि तथा अशुद्धि का अन्तर श्याम-मृग की उपस्थिति के आधार पर किया जाता है। काल के सम्बन्ध में काल के ही रूप में अथवा विभिन्न वस्तुओं के साथ विशिष्ट सम्बन्ध के रूप में, शुद्धि तथा अशुद्धि का अन्तर किया जाता है। शारीरिक वस्तुओं के सम्बन्ध में शुद्धि तथा अशुद्धि का अन्तर वस्तुओं तथा शब्दों को पवित्र बनाने तथा स्नान, दान, तपस्या, भगवान् का स्मरण करने जैसे कार्यों के द्वारा किया जाता है। कर्म करने वाले की शुद्धि तथा अशुद्धि में भी अन्तर होते हैं। जब मंत्र को प्रामाणिक गुरु के मुख से प्राप्त किया जाता है, तो मंत्र को शुद्ध माना जाता है और यदि कोई अपना कर्म भगवान् को अर्पित करता है, तो वह शुद्ध बन जाता है। यदि स्थान, काल इत्यादि छह कारकों को शुद्ध कर लिया जाता है, तब *धर्म* या गुण रहता है अन्यथा *अधर्म* या दोष होता है।

अन्ततः गुण तथा दोष में अन्तर का कोई यथेष्ठ आधार नहीं है क्योंकि वे स्थान, काल, लाभ प्राप्त करने वाले आदि के अनुसार बदलते हैं। इन्द्रियतृप्ति के लिए सम्पन्न किये जाने वाले कर्मों के सम्बन्ध में सभी शास्त्रों का अभिमत भौतिकतावादी मनोवृत्तियों को दमन करना है। वास्तविक धर्म ऐसा है, जो शोक, शंका तथा भय को नष्ट करता है और सौभाग्य प्रदान करता है। इन्द्रियतृप्ति के लिए किया गया कर्म वास्तव में लाभप्रद नहीं है। विभिन्न *फलश्रुतियों* में दिये गये ऐसे लाभों का वर्णन सर्वोच्च लाभ के लिए क्रमशः रुचि उत्पन्न करना है। किन्तु अल्प बुद्धि वाले लोग शास्त्रों के अलंकारयुक्त वर देने वाले श्लोकों को ही वेदों का वास्तविक सार मान बैठते हैं किन्तु जिन्हें वेदों का वास्तविक ज्ञान है, वे ऐसा नहीं मानते। ऐसे व्यक्तियों को जिनके मन वेदों की अलंकारमयी वाणी से चंचल हैं, भगवान् हरि की कथाएँ सुनने में कोई आकर्षण नहीं लगता। यह जान लेना चाहिए कि आदि भगवान् से पृथक् वेदों का कोई आन्तरिक तात्पर्य नहीं है। वेद अपना ध्यान पूरी तरह से परब्रह्म भगवान् पर ही केन्द्रित करते हैं। चूँकि यह भौतिक जगत भगवान् की मायाशक्ति है, इसलिए भौतिक जगत का खण्डन करके ही पदार्थ से निःसंग बना जा सकता है।

श्रीभगवानुवाच
य एतान्मत्पथो हित्वा भक्तिज्ञानक्रियात्मकान् ।
क्षुद्रान्कामांश्चलैः प्राणैर्जुषन्तः संसरन्ति ते ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; ये—जो; एतान्—इन; मत्-पथः—मुझे प्राप्त करने का साधन; हित्वा—त्याग कर; भक्ति—भक्ति; ज्ञान—वैश्लेषिक दर्शन; क्रिया—नियमित कर्म; आत्मकान्—से युक्त; क्षुद्रान्—नगण्य; कामान्—इन्द्रियतृप्ति; चलैः—चंचल; प्राणैः—इन्द्रियों से; जुषन्तः—अनुशीलन करते हुए; संसरन्ति—संसार को भोगते हैं; ते—वे।

भगवान् ने कहा : जो मुझे प्राप्त करने वाली उन विधियों को, जो भक्ति, वैश्लेषिक दर्शन (ज्ञान) तथा नियत कर्मों की नियमित सम्पन्नता (कर्म-योग) से युक्त हैं, त्याग देता है और भौतिक इन्द्रियों से विचलित होकर क्षुद्र इन्द्रियतृप्ति में लग जाता है, वह निश्चय ही बारम्बार संसार-चक्र में फँसता जाता है।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले अध्यायों में भगवान् कृष्ण स्पष्ट कर चुके हैं, वैश्लेषिक ज्ञान तथा नियत कर्मों की सम्पन्नता अन्ततोगत्वा कृष्णभावनामृत अथवा शुद्ध ईश-प्रेम प्राप्त करने के लिए है। भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन पर आधारित भक्ति, बद्धजीव को भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगाती है

और इस प्रकार भगवान् को प्राप्त करने का यह सर्वोत्तम साधन है। किन्तु इन तीनों विधियों में एक निहित एकमात्र लक्ष्य कृष्णभावनामृत है। अब भगवान् उनका वर्णन करते हैं, जो भौतिक इन्द्रियतृप्ति में लिप्त रहते हैं और भगवान् की कृपा पाने के लिए कोई प्रामाणिक साधन नहीं अपनाते। सम्प्रति इस श्रेणी में करोड़ों अभागे लोग आते हैं और जैसा यहाँ वर्णित है, वे भव-बन्धन का निरन्तर कष्ट भोगते हैं।

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

स्वे स्वे—अपने अपने; अधिकारे—पद में; या—ऐसी; निष्ठा—स्थिरता; सः—वह; गुणः—पुण्य; परिकीर्तितः—घोषित; विपर्ययः—विपरीत; तु—निस्सन्देह; दोषः—पाप; स्यात्—है; उभयोः—दोनोंमें; एषः—यह; निश्चयः—निश्चित मत।

अपने पद पर स्थिरता वास्तविक शुद्धि कहलाती है और अपने पद से विचलन अशुद्धि है। इस तरह दोनों को निश्चित किया जाता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में भगवान् कृष्ण ने बतलाया कि आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग निष्काम होकर कर्म करने से शुरू होता है, फिर अनुभूत आध्यात्मिक ज्ञान की अवस्था को प्राप्त होता है और भगवद्भक्ति में संलग्न होने में जाकर समाप्त होता है। यहाँ पर भगवान् इस बात पर बल दे रहे हैं कि भगवान् द्वारा नियत कार्यों से विपथ होकर, बद्धजीव को कृष्णभावनामृत के सहज विकास को कृत्रिम रूप से ठप्प नहीं कर देना चाहिए। मनुष्य-जीवन की निम्नतर अवस्थाओं में मनुष्य समाज, मैत्री तथा प्रेम पर आधारित सकाम कर्मों को करने के लिए स्थूल शरीर तथा इच्छाओं के साथ झूठी पहचान में फँसा रहता है। जब ऐसे भैतिकतावादी कार्यकलापों को यज्ञ द्वारा भगवान् को अर्पित कर दिया जाता है, तो वह *कर्म-योग* को प्राप्त होता है। नियमित यज्ञ द्वारा मनुष्य देहात्म बुद्धि को क्रमशः त्याग कर आध्यात्मिक ज्ञान के साक्षात्कार की अवस्था को प्राप्त होता है, जिसमें वह अपने को भौतिक शरीर तथा मन से सर्वथा पृथक्, नित्य आत्मा के रूप में समझने लगता है। भौतिकतावाद के चंगुल से छूट कर राहत का अनुभव करते हुए, वह आध्यात्मिक ज्ञान के प्रति अत्यधिक आसक्त होता है और इस तरह वह *ज्ञान-योग* की अवस्था को प्राप्त होता है। आध्यात्मिक पथ पर और आगे बढ़ने पर वह अपने को परमात्मा भगवान् कृष्ण का भिन्नांश समझने लगता है। तब वह देखता है कि उसका बद्ध जीवन

तथा उसका आध्यात्मिक ज्ञान भगवान् से ही प्राप्त था, जो कि पवित्र तथा पापमय दोनों ही तरह के सारे कर्मों का फल देने वाले हैं। भगवद्भक्ति में लगने तथा अपने को भगवान् का नित्य दास मानने पर मनुष्य की आसक्ति शुद्ध भगवत्प्रेम में विकसित होती है। इस तरह मनुष्य पहले भौतिक शरीर से आसक्ति की निम्न अवस्था को छोड़ता है और फिर बाद में आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन की आसक्ति को त्याग देता है। इससे मनुष्य भौतिक जीवन से छुटकारा पा जाता है। अन्त में वह भगवान् को ही अपने नित्य प्रेम का आश्रय मान लेता है और कृष्णभावनामृत में पूरी तरह ईश्वर की शरण में चला जाता है।

इस श्लोक में कृष्ण बतलाते हैं कि जो अब भी शरीर तथा मन से आसक्त रहता है, वह *कर्म-योग* के नियत कार्यों को कृत्रिम ढंग से त्याग नहीं पाता। इसी तरह जो आध्यात्मिक नवदीक्षित है और भौतिक जीवन की माया का अनुभव करने लगता ही है, उसे *प्रेमाभक्ति* अवस्था का अनुकरण करते हुए भगवान् की अन्तरंग लीलाओं को चौबीसों घंटे सोचने का कृत्रिम प्रयास नहीं करना चाहिए। प्रत्युत, उसे भौतिक जगत के वैश्लेषिक ज्ञान का अनुशीलन करना चाहिए जिससे मनुष्य देह तथा मन के प्रति आसक्ति को त्याग देता है। *श्रीमद्भागवत* में भौतिक जगत के अनेक वैश्लेषिक विवरण मिलते हैं और इनसे बद्धजीव, पदार्थ के साथ झूठी पहचान से मुक्त हो सकता है। किन्तु जो जगत की समस्त स्थूल तथा सूक्ष्म आसक्तियों से मुक्त होकर भगवत्प्रेम की पूर्ण अवस्था को प्राप्त कर चुका है, वह कर्म-योग तथा ज्ञानयोग की निम्नतर अवस्थाओं को त्याग कर भगवान् की प्रेमाभक्ति में लग सकता है।

अध्याय उन्नीस के श्लोक ४५ में कृष्ण कहते हैं—*गुणदोष दृष्टिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जित:।* भगवद्भक्त में किसी को गुण तथा दोष का दर्शन नहीं करना चाहिए। ऐसी संसारी धारणाओं को त्याग कर मनुष्य पुण्यात्मा बन सकता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इंगित करते हैं कि कभी कभी नवदीक्षित भक्त उन कर्मियों तथा ज्ञानियों की संगति से दूषित हो सकता है, जो बड़े उत्साह के साथ सकाम कर्मों तथा मानसिक चिंतन का अनुसरण करते हैं। ऐसे भक्त के धार्मिक कार्यकलाप संसारी प्रवृत्तियों से प्रभावित हो सकते हैं। इसी तरह कोई सामान्य पुरुष जो शुद्ध भक्त के उच्च पद को देखता है, कभी कभी अपने को भक्त के ही समान शुद्ध भक्ति के उच्च पद पर मानते हुए, भक्त के कार्यों का अनुकरण करता है। *भक्ति-योग* के ऐसे अधकचरे अभ्यासकर्ता आलोचना से मुक्त नहीं होते क्योंकि उनके सकाम कर्म,

उनकामानसिक चिन्तन तथा उनकी झूठी प्रतिष्ठा भगवान् की शुद्ध भक्ति में अडंगा जैसे हैं। भगवान् की सेवा में लगे शुद्ध भक्त की आलोचना नहीं की जानी चाहिए, किन्तु जिस भक्त की भक्ति भौतिक गुणों से मिश्रित हो, उसका सुधार होना चाहिए जिससे वह शुद्ध भक्ति के पद तक उठ सके। अबोध मनुष्यों को उन लोगों की मिश्रित भक्ति से गुमराह नहीं होना चाहिए जो मात्र भक्तियोग में नहीं लगे हैं। किन्तु जो लोग कृष्णभावनामृत में पूरी तरह नहीं लग सकते उन्हें अपने नियत कार्यों को यह कह कर कि वे माया हैं, त्याग नहीं देना चाहिए। उदाहरणार्थ, जो व्यक्ति शुद्ध कृष्णभावनामृत में पूरी तरह लगने में असमर्थ है, उसे अपने परिवार का परित्याग मोह मान कर नहीं कर देना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से वह अवैध यौन-जीवन में जा गिरेगा। इसलिए जब तक कोई कृष्णभावनामृत का प्रत्यक्ष अभ्यास करने की अवस्था को प्राप्त न कर ले, उसे भौतिक शुद्धि तथा भौतिक जगत के वैश्लेषिक ज्ञान का अनुशीलन करना चाहिए।

शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु ।
द्रव्यस्य विचिकित्सार्थं गुणदोषौ शुभाशुभौ ।
धर्मार्थं व्यवहारार्थं यात्रार्थमिति चानघ ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

शुद्धि—शुद्धि; अशुद्धी—तथा अशुद्धि; विधीयेते—स्थापित की जाती हैं; समानेषु—समान श्रेणी वालों में; अपि—निस्सन्देह; वस्तुषु—वस्तुओं में; द्रव्यस्य—विशेष वस्तु का; विचिकित्सा—मूल्यांकन; अर्थम्—के हेतु; गुण-दोषौ—अच्छे तथा बुरे गुण; शुभ-अशुभौ—शुभ तथा अशुभ; धर्म-अर्थम्—धार्मिक कार्यों के लिए; व्यवहार-अर्थम्—सामान्य व्यवहार के हेतु; यात्रा-अर्थम्—अपनी शारीरिक दीर्घजीविता (अतिजीवन) हेतु; इति—इस प्रकार; च—भी; अनघ—हे निष्पाप।

हे निष्पाप उद्धव, यह समझने के लिए कि जीवन में क्या उचित है, मनुष्य को किसी एक पदार्थ का मूल्यांकन उसकी विशेष कोटि के भीतर ही करना चाहिए। इस तरह धर्म का विश्लेषण करते समय मनुष्य को शुद्धि तथा अशुद्धि पर विचार करना चाहिए। इसी प्रकार अपने सामान्य व्यवहार में मनुष्य को अच्छे तथा बुरे में अन्तर करना चाहिए और अपनी शारीरिक दीर्घजीविता (अतिजीवन) के लिए उसे पहचानना चाहिए कि क्या शुभ है और क्या अशुभ है।

तात्पर्य : धार्मिक कार्यों, सामान्य व्यवहार तथा निजी अस्तित्व के लिए मूल्य के निर्णय से नहीं बचा जा सकता। नैतिकता तथा धर्म सभ्य समाज की सनातन आवश्यकताएँ हैं इसलिए शुद्धि-अशुद्धि, पुण्य-पाप, नैतिकता-अनैतिकता में जो अन्तर है उसको सुनिश्चित करना चाहिए। इसी प्रकार हम अपने

सामान्य सांसारिक कार्यों में स्वादिष्ट तथा स्वादहीन भोजन, अच्छे तथा बुरे व्यापार, उच्च कोटि तथा निम्न कोटि के आवास, अच्छे तथा बुरे मित्र, आदि में अन्तर करते हैं। और अपने स्वास्थ्य तथा अपने अस्तित्व को सुनिश्चित करने के लिए हमें सुरक्षित-असुरक्षति, स्वस्थ-अस्वस्थ, लाभप्रद-अलाभप्रद में निरन्तर अन्तर करना चाहिए। यहाँ तक कि विद्वान पुरुष को भी इस संसार में अच्छे तथा बुरे में निरन्तर भेद करना चाहिए। किन्तु उस के साथ साथ उसे कृष्णभावनामृत के दिव्य पद को भी समझना चाहिए। सावधानीपूर्वक गणना करने के बावजूद कि भौतिक दृष्टि से क्या स्वास्थ्य के लिए उपयोगी है और क्या अनुपयोगी है, भौतिक शरीर को मरना पड़ता है। इसी तरह सामाजिक रूप से क्या अनुकूल और क्या प्रतिकूल है इसकी छानबीन करने पर भी, समय के साथ मनुष्य का सारा सामाजिक परिवेश समाप्त हो जायेगा। इसी तरह इतिहास के प्रवाह में बड़े बड़े धर्म उदय और अस्त होते हैं। इस तरह कोरी धार्मिकता, सामाजिक तथा आर्थिक दाक्षिण्य अथवा शारीरिक स्वस्थता से ही जीवन की वास्तविक पूर्णता नहीं मिल जाती। भौतिक जगत की सापेक्ष अच्छाई के परे दिव्य अच्छाई है। कोई भी विज्ञ व्यक्ति भौतिक भेद-भाव की आवश्यकता को स्वीकार करता है फिर भी मनुष्य को अन्ततः कृष्णभावनामृत की दिव्य अवस्था तक पहुँचना चाहिए जहाँ जीवन नित्य, आनन्दमय तथा ज्ञानमय है। भगवान् कृष्ण उद्धव को अपनी विस्तृत शिक्षाओं के द्वारा धीरे धीरे कृष्णभावनामृत की दिव्य स्थिति स्पष्ट कर रहे हैं, जो अनन्त प्रकार के भौतिक गुण-दोष से परे है।

दर्शितोऽयं मयाचारो धर्ममुद्वहतां धुरम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

दर्शितः—दिखलाया गया; अयम्—यह; मया—मेरे द्वारा; आचारः—जीवन-शैली; धर्मम्—धार्मिक सिद्धान्त; उद्वहताम्—वहन करने वालों के लिए; धुरम्—भार।

मैंने जीवन की यह शैली उन लोगों के लिए प्रकट की है, जो संसारी धार्मिक सिद्धान्तों का भार वहन कर रहे हैं।

तात्पर्य : वे सामान्य धार्मिक सिद्धान्त जो असंख्य विधि तथा निषेध की संस्तुति करने वाले हैं, उन लोगों के लिए भारतुल्य हैं, जो कृष्णभावनामृत से विहीन हैं। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कन्ध (१.१.११) में कहा गया है—*भूरीणि भूरिकर्माणि श्रोतव्यानिविभागशः*—संसार में असंख्य धार्मिक शास्त्र हैं, जो असंख्य धार्मिक कर्तव्यों की संस्तुति करते हैं। जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है

प्रामाणिक शास्त्र वे हैं, जो भगवान् द्वारा या उनके प्रतिनिधियों द्वारा कहे गये हैं। *भगवद्गीता* के अन्तिम अध्याय (१८.६६) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—मनुष्य को चाहिए कि संसारी शुद्धि के कष्टकर भार को त्याग कर भगवान् की प्रेमाभक्ति करे जिसमें हर बात सरल हो जाती है। *भगवद्गीता* (९.२) में कृष्ण ने यह भी कहा है—*सु-सुखं कर्तुमव्ययम्*—भक्तियोग-विधि, जो कि पूरी तरह भगवत्कृपा पर निर्भर है, अत्यन्त सुखप्रद है और सरलता से सम्पन्न होने वाली है। इसी प्रकार लोचनदास ठाकुर गाते हैं—

परम करुण, पहुङ् दुइ जन

निताइ-गौरचन्द्र

सब अवतार-, सार-शिरोमणि

केवल आनन्दकाण्ड

श्री चैतन्य महाप्रभु, जो कि साक्षात् भगवान् कृष्ण हैं ५०० वर्ष पूर्व भगवन्नाम कीर्तन-विधि का वितरण करने के लिए प्रकट हुए थे। इस तरह कृत्रिम तपस्या का भार वहन करने के बजाय मनुष्य सीधे भगवान् की सेवा में लग सकता है, जिससे उसका हृदय स्वच्छ हो जाता है और तुरन्त ही दिव्य आनन्द का अनुभव होने लगता है। जिन लोगों ने चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन को ग्रहण किया है, वे चार मूल सिद्धान्तों का पालन करते हैं। ये हैं—अवैध यौन, मच्छली अण्डे एवं मांसाहार, नशे तथा जुए का परित्याग। वे प्रात:काल जग जाते हैं, हरे कृष्ण कीर्तन करते हैं और भगवान् की सेवा में लगे रह कर सुखपूर्वक दिन बिताते हैं। किन्तु जो लोग वेदों के कर्मकांड अनुभाग का पालन करते हैं, वे असंख्य विधि-विधानों, अनुष्ठानों तथा उत्सवों से बोझिल रहते हैं, जिन्हें या तो स्वयं करना पड़ता है या योग्य ब्राह्मण से सम्पन्न कराना होता है। इसमें त्रुटि होने का हर क्षण भय बना रहता है, जिससे संचित पुण्य की पूर्ण क्षति हो सकती है। इसी तरह जो दार्शनिक मार्ग पर चलते हैं उन्हें दार्शनिक कोटियों की परिभाषा, परिष्कार तथा समंजन करना होता है। यह विधि ऐसी है, जिसका अन्त संशय तथा निराशा में होता है। योग का अभ्यास करने वाले कष्टप्रद तपस्या करते हैं और अपने को कठिन गर्मी तथा शीत, भूख इत्यादि से कष्ट पहुँचाते हैं। ऐसे सारे भौतिकतावादी लोगों को निजी इच्छाएँ पूरी करनी रहती हैं किन्तु भगवद्भक्त तो भगवान् के सुख की कामना करते हैं और भगवान् की कृपा पर

ही निर्भर रह कर भगवद्धाम जाते हैं। पिछले श्लोक में भगवान् ने यह उल्लेख किया है कि भौतिक जगत में अनन्त अन्तर हैं जिनका मूल्यांकन जीवन-भर किया जाना है। किन्तु भक्त तो हर वस्तु के भीतर कृष्ण को और कृष्ण के भीतर हर वस्तु को देखता है और भगवान् की सेवा में लगा रह कर विनीत, सरल तथा आनन्दित बना रहता है। वह न तो महान् धार्मिक उत्सव सम्पन्न करता है, न ही समाजविरोधी या अनैतिक बनता है। वह केवल कृष्ण-नाम कीर्तन करता है और सरलता से जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त कर लेता है। सामान्य व्यक्ति शारीरिक भरण-पोषण के लिए उद्योग करते हैं किन्तु भक्त तो भगवान् की कृपा से स्वतः लालित-पालित होता है। उसके सामान्य आचार-विचार तथा धार्मिक कृत्य भी भगवान् को अर्पित रहते हैं और इस तरह भक्त के जीवन में कृष्ण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रहता। कृष्ण उसकी रक्षा तथा पालन करते हैं और भक्त अपनी हर वस्तु कृष्ण को प्रदान करता है। यह स्वाभाविक मुक्त अवस्था कृष्णभावनामृत कहलाती है। यही चरम शुभ है जैसाकि भगवान् इस पूरे स्कन्ध में बतलाते रहे हैं।

भूम्यम्ब्वग्न्यनिलाकाशा भूतानां पञ्चधातवः ।
आब्रह्मस्थावरादीनां शारीरा आत्मसंयुताः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

भूमि—पृथ्वी; अम्बु—जल; अग्नि—अग्नि; अनिल—वायु; आकाशाः—आकाश; भूतानाम्—सारे बद्धजीवों का; पञ्च—पाँच; धातवः—मूलभूत तत्त्व; आ-ब्रह्म—ब्रह्मा से लेकर; स्थावर-आदीनाम्—जड़ प्राणियों तक; शारीराः—शरीरों के निर्माण हेतु प्रयुक्त; आत्म—परमात्मा; संयुताः—समान रूप से सम्बन्धित।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश—ये पाँच मूलभूत तत्त्व हैं जिनसे ब्रह्मा से लेकर जड़ प्राणियों तक समस्त बद्धजीवों के शरीर बने हैं। ये सारे तत्त्व एक भगवान् से उद्भूत होते हैं।

तात्पर्य : सारे शरीर इन्हीं पाँच स्थूल तत्त्वों के, जो एक भगवान् से उद्भूत हैं, विभिन्न अनुपातों से बने हुए हैं और जीवों को आच्छादित किये रहते हैं।

गुण तथा दोष की संकल्पनाएँ भगवान् की चुनाव-इच्छा पर निर्भर करती हैं न कि भौतिक पदार्थों के गुणात्मक अन्तरों पर। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति सारी भौतिक घटनाओं को अंततः एकरूप देखता है। भौतिक जगत में भक्त का सदाचार, बुद्धिमय विवेक तथा कलात्मक भाव ईश्वर की इच्छा पर आश्रित होते हैं। सारे भौतिक तत्त्व भगवान् से उद्भूत होने के कारण अन्ततः अभिन्न होते हैं। किन्तु

सांसारिक अच्छाई (पुण्य) के समर्थक डरते रहते हैं कि यदि गुण-दोष के भौतिक द्वैत को कम करके बतलाया जायगा तो लोग अनैतिक अथवा अराजकतावादी बन जायेंगे। निश्चय ही आधुनिक विज्ञानी जिस निर्विशेष तथा नास्तिक दर्शन का प्रचार करते हैं, जिसमें भौतिक विविधता अणुओं-परमाणुओं के गणित-रूपी वर्णनों में ही सिमट जाती है, उससे अनैतिक समाज का जन्म होता है। यद्यपि भौतिक विज्ञान तथा वैदिक ज्ञान दोनों ही भौतिक विविधता के मोह का उद्घाटन करते हैं और समस्त भौतिक शक्ति की एकरूपता को बतलाते हैं, किन्तु मात्र कृष्ण-भक्त ही ईश्वर की इच्छा के परम पुण्य के प्रति समर्पित होते हैं। इस तरह वे सदैव ही समस्त जीवों के लाभ हेतु कर्म करते हैं और भगवान् की इच्छा के अनुसार भौतिक विविधता को भगवान् की सेवा के लिए स्वीकार करते हैं। कृष्णभावनामृत के बिना लोग आध्यात्मिक अच्छाई को नहीं समझ सकते। इसीलिए वे भौतिक स्तर पर परस्पर-निर्भर स्वार्थमय सभ्यता का निर्माण करने का प्रयास करते हैं। ऐसी मूर्खतापूर्ण व्यवस्था सरलता से ध्वस्त हो जाती है जैसाकि आधुनिक युग में व्याप्त सामाजिक संघर्ष तथा अव्यवस्था से प्रकट है। सभ्य समाज के सारे सदस्यों को भगवान् की परम सत्ता को स्वीकार करना चाहिए, तभी सामाजिक शान्ति तथा भाईचारा सांसारिक पाप-पुण्य के मलिन सम्बन्धों पर आश्रित नहीं रहेगा।

वेदेन नामरूपाणि विषमाणि समेष्वपि ।
धातुषूद्धव कल्प्यन्त एतेषां स्वार्थसिद्धये ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

वेदेन—वैदिक वाङ्मय द्वारा; **नाम**—नाम; **रूपाणि**—तथा रूप; **विषमाणि**—भिन्न; **समेषु**—जो समान हैं; **अपि**—निस्सन्देह; **धातुषु**—पाँच तत्त्वों (से बने शरीरों) में; **उद्धव**—हे उद्धव; **कल्प्यन्ते**—बने हुए हैं; **एतेषाम्**—इनमें से, जीव; **स्व-अर्थ**—निजी लाभ की; **सिद्धये**—प्राप्ति के लिए।

हे उद्धव, यद्यपि सारे शरीर इन्हीं पाँच तत्त्वों से बने हैं और इसीलिए समान हैं, किन्तु वैदिक ग्रंथ ऐसे शरीरों की कल्पना भिन्न भिन्न नामों तथा रूपों में करते हैं जिससे जीव अपने जीवन-लक्ष्य प्राप्त कर सकें।

तात्पर्य : *नामरूपाणि विषमाणि* द्योतक है *वर्णाश्रम धर्म* का जिसमें मानव समाज के सारे सदस्यों को चार वर्णों तथा चार आश्रमों के अनुसार उपाधि दी जाती है। जो लोग बौद्धिक या धार्मिक सिद्धि में लगे रहते हैं, वे ब्राह्मण कहलाते हैं; जो राजनीतिक सिद्धि की साधना में लगे रहते हैं, वे क्षत्रिय कहलाते हैं; जो आर्थिक सिद्धि में लगे रहते हैं, वे वैश्य कहलाते हैं और जो खाने, सोने, संभोग तथा

ईमानदार कर्म में लगे रहते हैं, वे शूद्र कहलाते हैं। ऐसी मनोवृत्तियाँ प्रकृति के तीन गुणों (सतो, रजो तथा तमो) से उत्पन्न होती हैं, क्योंकि शुद्ध आत्मा बौद्धिक, शक्ति का इच्छुक, अध्यवसायी या नीच नहीं होता। वह तो सदैव भगवान् की प्रेमाभक्ति में लीन रहता है। यदि बद्धजीव की विभिन्न मनोवृत्तियाँ वर्णाश्रम प्रणाली में संयोजित नहीं होतीं तो उनका निश्चय ही दुरुपयोग होता है, जिससे मनुष्य मनुष्य-जीवन के आदर्श से नीचे गिर जाता है। वैदिक प्रणाली भगवान् द्वारा इसलिए सुयोजित की गई है कि बद्धजीव अपने अपने कार्यों में लगे रहें और उसी के साथ साथ जीवन के चरम लक्ष्य—कृष्णभावनामृत—की ओर अग्रसर होते रहें। जिस प्रकार एक वैद्य एक विक्षिप्त व्यक्ति से उसके मिथ्या जीनव-बोध को ध्यान में रख कर दयापूर्ण बर्ताव करता है, उसी तरह वैदिक वाङ्मय को समझने वाला व्यक्ति जीवों को भौतिक तत्त्वों के साथ उनकी मोहमयी पहचान के अनुसार कार्य में लगाता है। यद्यपि सारे शरीर उन्हीं भौतिक तत्त्वों से बने होते हैं, अतएव गुणात्मक रूप से एक-से होते हैं, जैसाकि *समेषु* शब्द द्वारा यहाँ सूचित हुआ है, किन्तु वर्णाश्रम की सृष्टि सारे मनुष्यों को उनकी अपनी अपनी भौतिक पहचानों के अनुसार कृष्णभावनामृत में लगाने के लिए की गई है। परम गुण तो स्वयं भगवान् हैं और जो कोई भगवान् के पास पहुँच जाता है, वह भी उसी तरह गुण बन जाता है। चूँकि इस संसार में उष्मा का उद्गम सूर्य है, अतएव जो वस्तु सूर्य के पास पहुँचती है, वह गर्म होती जाती है जब तक कि वह अन्त में अग्नि में लीन न हो जाये। उसी तरह ज्यों ज्यों हम भगवान् के दिव्य स्वभाव के पास पहुँचते हैं, त्यों त्यों हममें स्वत: परम अच्छाई आती जाती है। यद्यपि यही ज्ञान वैदिक वाङ्मय का असली आधार है, तो भी संसारी पुण्य का आदेश मिलता है और पाप का निषेध मिलता है, जिससे मनुष्य भौतिक अच्छाई प्राप्त कर सके जहाँ पर उसे आध्यात्मिक ज्ञान दृष्टिगोचर होगा।

देशकालादिभावानां वस्तूनां मम सत्तम ।
गुणदोषौ विधीयेते नियमार्थं हि कर्मणाम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

देश—स्थान; काल—समय; आदि—इत्यादि; भावानाम्—भावों का; वस्तूनाम्—वस्तुओं का; मम—मेरा; सत्-तम—हे परम सन्त उद्धव; गुण-दोषौ—पुण्य तथा पाप; विधीयेते—स्थापित किये जाते हैं; नियम-अर्थम्—प्रतबिन्ध के लिए; हि—निश्चय ही; कर्मणाम्—सकाम कर्मों के।

हे सन्त उद्धव, मैंने भौतिकतावादी कर्मों पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए यह सुनिश्चित कर दिया है कि देश, काल तथा सारी भौतिक वस्तुओं में से कौन उचित है और कौन अनुचित है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *नियमार्थम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। बद्धजीव अपनी झूठी पहचान अपनी इन्द्रियों से करता है, अतएव जो वस्तु शरीर को तुरन्त तुष्टि प्रदान करती है उसे वह अच्छी (गुण) और जो असुविधाजनक या विक्षोम लाने वाली हो उसे बुरी (दोष) मानता है। किन्तु उच्चतर बुद्धि से मनुष्य दीर्घकालीन हित या अनाहित को पहचानता है। उदाहरणार्थ, कोई दवा पीते समय कड़वी लग सकती है, किन्तु दीर्घकालीन हित को ध्यान में रख कर मनुष्य दवा पी लेता है, जिससे वह अभी कष्ट न देने वाले किन्तु अन्ततः घातक होने वाले रोग से छुटकारा पा सके। इसी तरह वैदिक वाङ्मय संसार की सारी वस्तुओं तथा कार्यकलापों में से क्या उचित है और क्या अनुचित है इसकी स्थापना करके मनुष्यों की पापपूर्ण मनोवृत्तियों को प्रतिबंधित करता है। चूँकि हर व्यक्ति को भोजन करना चाहिए इसलिए वेद सतोगुणी भोजन की संस्तुति करते हैं, मांस, मछली, अंडा जैसे भोजन की नहीं जो पापमय हैं। इसी तरह यह सलाह दी जाती है कि मनुष्य शान्त तथा पवित्र समुदाय में रहे, पापी लोगों की संगति में न रहे, न ही गन्दे या उत्तेजक वातावरण में रहे। भौतिक जगत को उपाधि देकर और उसके शोषण पर प्रतिबन्ध लगाकर वैदकि ज्ञान बद्धजीव को क्रमशः सतोगुण के स्तर पर लाता है। उस अवस्था में मनुष्य भगवान् की सेवा करने के और जीवन की दिव्य अवस्था में प्रवेश करने के योग्य बन जाता है। किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि इस तरह की मात्र उपयुक्तता वास्तविक योग्यता नहीं हो सकती। कृष्णभावनामृत के बिना कोरा भौतिक पुण्य बद्धजीव को भगवद्धाम जाने के योग्य नहीं बना सकता। इस जगत में हम सारे के सारे लोग मिथ्या अहंकार से ग्रस्त हैं जिसे वैदिक आदेशों के सामने नतमस्तक होकर कम करना ही चाहिए। जो व्यक्ति भगवद्भक्ति में पूरी तरह लगा हो उसके लिए इन प्रारम्भिक विधियों को ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वह आत्म–समर्पण द्वारा भगवान् से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित कर लेता है। पिछले श्लोक में भगवान् ने बतलाया कि विभिन्न जीवों के शरीरों को वैदिक वाङ्मय विभिन्न मूल्य क्यों प्रदान करता है। यहाँ पर वे इन शरीरों से अन्तःक्रिया करने वाली भौतिक वस्तुओं के परिप्रेक्ष्य में वैदिक मूल्यांकन बतला रहे हैं।

अकृष्णसारो देशानामब्रह्मण्योऽसुचिर्भवेत् ।
कृष्णसारोऽप्यसौवीरकीकटासंस्कृतेरिणम् ॥ ८॥

शब्दार्थ

अकृष्ण-सारः—धब्बारहित बारहसिंगा; देशानाम्—स्थानों में; अब्रह्मण्यः—जहाँ ब्राह्मणों के प्रति भक्ति-भाव नहीं है; अशुचिः—दूषित; भवेत्—है; कृष्ण-सारः—काले धब्बों वाले बारहसिंगे; अपि—भी; असौवीर—साधु स्वभाव वाले व्यक्तियों से रहित; कीकट—गया प्रदेश (जहाँ निम्न जाति के लोग रहते हैं); असंस्कृत—जहाँ के लोग संस्कार या स्वच्छता नहीं बरतते; ईरणम्—जहाँ की भूमि बंजर है।

स्थानों में से वे स्थान दूषित माने जाते हैं, जो धब्बेदार बारहसिंगों से रहित हैं, जो ब्राह्मणों के प्रति भक्ति से रहित है, जहाँ धब्बेदार बारहसिंगे होते हैं, किन्तु जो सम्माननीय व्यक्तियों से रहित होते हैं तथा कीकट जैसे प्रदेश एवं वे स्थान जहाँ स्वच्छता तथा संस्कारों की अवहेलना की जाती है, जहाँ मांस-भक्षकों का प्राधान्य होता है या जहाँ पृथ्वी बंजर होती है।

तात्पर्य : *कृष्णसार* शब्द धब्बेदार बारहसिंगे का सूचक है, जिसका चर्म ब्रह्मचारी वटु, गुरु आश्रम में निवास करते समय पहनते हैं। ब्रह्मचारी कभी जंगल में शिकार नहीं करते अपितु मरे हुए बारहसिंगों का चर्म ग्रहण करते हैं। धब्बेदार अर्थात् श्याम-बारहसिंगे का चर्म वैदिक यज्ञ के समय दीक्षा ग्रहण करने वाले भी धारण करते हैं। चूँकि ऐसे प्राणियों से विहीन स्थानों में ठीक से यज्ञ नहीं किये जा सकते, इसलिए ऐसे स्थान अशुद्ध हैं। इतना ही नहीं, भले ही किसी स्थान के निवासी सकाम कर्म तथा अनुष्ठानिक यज्ञ करने में पटु हों, किन्तु यदि वे भगवद्भक्ति से द्वेष रखते हैं, तो भी ऐसा स्थान दूषित है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि पहले बिहार तथा बंगाल प्रान्त भगवद्भक्ति से रहित थे अत: वे अशुद्ध माने जाते थे। तत्पश्चात् जब जयदेव जैसे महान् वैष्णव इन स्थानों में उत्पन्न हुए तो उन्होंने इन प्रान्तों को पवित्र स्थल बना दिया।

असौवीर शब्द उन स्थानों का सूचक है, जो *सौवीर* अर्थात् सम्मान्य साधु पुरुषों से विहीन हैं। सामान्यतया जो व्यक्ति राज्य के नियमों का पालन करता है, वह सम्मान्य नागरिक माना जाता है। इसी तरह जो व्यक्ति ईश्वर के नियमों का दृढ़ता से पालन करता है, वह *सुवीर* अर्थात् संस्कृत या सभ्य व्यक्ति माना जाता है। और जिस स्थान पर ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति रहते हैं, वह *सौवीरम्* कहलाता है। *कीकट* वर्तमान बिहार राज्य का द्योतक है, जो परम्परा से असभ्य लोगों की रियासत माना गया है। किन्तु ऐसे प्रान्तों में भी, जिस स्थान पर सन्त पुरुष एकत्र हों, पवित्र माना जाता है। दूसरी ओर, सम्मान्य व्यक्तियों वाला प्रान्त भी पापी लोगों की उपस्थिति से तुरन्त दूषित हो जाता है। *असंस्कृत* सूचक है बाहरी सफाई के अभाव तथा आन्तरिक सफाई के संस्कारों की अनुपस्थिति का। श्रील मध्वाचार्य ने *स्कन्द पुराण* से उद्धरण दिया है "धार्मिक व्यक्तियों को नदियों, सागरों, पर्वतों, कुटियों, जंगलों, आध्यात्मिक शहरों या

उन स्थानों से आठ मील के घेरे के अन्दर रहना चाहिए जहाँ *शालग्राम शिला* पाया जाय। अन्य सारे स्थलों को *कीकट* अर्थात् दूषित समझा जाय। किन्तु यदि ऐसे दूषित स्थानों में भी श्याम-बारहसिंगे पाये जाँय तो वहाँ तब तक रहा जा सकता है जब तक पापी लोग वहाँ उपस्थित न हों। किन्तु यदि व्यावहारिक अधिकार सम्मानित अधिकारियों के हाथ में हो तो पापी लोगों के उपस्थित होने पर भी वहाँ रहा जा सकता है। इसी तरह जहाँ कहीं विष्णु का अर्चा-विग्रह विधिपूर्वक संस्थापित होकर पूजा जाता है, वहाँ रहा जा सकता है।''

यहाँ पर भगवान् पुण्य तथा पाप की विस्तृत व्याख्या करते हैं, जो शुद्धि तथा अशुद्धि पर आधारित हैं। इसीलिए यहाँ शुद्ध तथा दूषित वास-स्थानों का वर्णन हुआ है।

कर्मण्यो गुणवान्कालो द्रव्यत: स्वत एव वा ।
यतो निवर्तते कर्म स दोषोऽकर्मक: स्मृत: ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

कर्मण्यः—नियत कार्य करने के लिए अनुकूल; गुणवान्—शुद्ध; कालः—समय; द्रव्यतः—शुभ वस्तुओं की प्राप्ति से; स्वतः—अपने आप; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा; यतः—जिस (काल) के कारण; निवर्तते—अवरुद्ध होता है; कर्म—कर्तव्य; सः—वह (काल); दोषः—अशुद्ध; अकर्मकः—उचित ढंग से कर्म करने के लिए अनुपयुक्त; स्मृतः—माना जाता है।

कोई विशेष काल तब शुद्ध माना जाता है जब वह अपने स्वभाव से अथवा उपयुक्त साज-सामग्री प्राप्त होने से मनुष्य के नियत कर्तव्य को करने के लिए उपयुक्त हो। वह काल जो किसी के कर्तव्य में बाधक हो अशुद्ध माना जाता है।

तात्पर्य : शुद्ध तथा अशुद्ध स्थानों की व्याख्या करने के बाद अब भगवान् काल के विभिन्न गुणों की व्याख्या कर रहे हैं। कुछ काल, यथा ब्राह्म मूहूर्त, सूर्योदय से कुछ घण्टे पूर्व, आध्यात्मिक उन्नति के लिए शुभ माने जाते हैं। अन्य काल, जो स्वयं में शुभ नहीं होते, वे भौतिक सम्पन्नता प्राप्त होने पर शुभ बन जाते हैं जिससे जीवन-लक्ष्य सरल हो जाता है।

राजनैतिक, सामाजिक या आर्थिक उत्पात, जिनसे धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करने में रुकावट उत्पन्न हो, अशुभ काल माने जाते हैं। इसी तरह प्रसव के तुरन्त बाद या ऋतुकाल में स्त्री दूषित मानी जाती है। वह ऐसे अवसरों पर सामान्य धार्मिक कर्म नहीं कर सकती, इसलिए ये अशुभ तथा अशुद्ध काल माने जाते हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि समस्त कालों में वह क्षण सबसे शुभ होता है जब मनुष्य को भगवत्कृपा प्राप्त होती है। यदि वह इन्द्रियतृप्ति के वशीभूत होकर

भगवद्भक्ति की उपेक्षा करता है, तो वह निश्चित रूप से अशुभ काल में रहता है। इसीलिए जिस क्षण उसे भगवान् या भगवान् के भक्त की संगति प्राप्त होती है, वह सर्वाधिक अशुभ काल है और ऐसी संगति को खो देना सर्वाधिक अशुभ काल है। दूसरे शब्दों में, जीवन की सिद्धि एकमात्र कृष्णभावनामृत है, जिससे मनुष्य भौतिक प्रकृति के तीन गुणों द्वारा उत्पन्न काल तथा देश के द्वैतों को पार कर सकता है।

द्रव्यस्य शुद्ध्यशुद्धी च द्रव्येण वचनेन च ।
संस्कारेणाथ कालेन महत्वाल्पतयाथ वा ॥ १० ॥

शब्दार्थ

द्रव्यस्य—एक वस्तु की; शुद्धि—शुद्धि, शुद्धता; अशुद्धी—या अशुद्धि; च—तथा; द्रव्येण—अन्य वस्तु से; वचनेन—वाणी से; च—तथा; संस्कारेण—संस्कार द्वारा; अथ—या; कालेन—काल द्वारा; महत्व-अल्पतया—महानता या लघुता द्वारा; अथ वा—अथवा, या कि।

किसी वस्तु की शुद्धि या अशुद्धि की स्थापना दूसरी वस्तु के सम्प्रयोग से, शब्दों से, अनुष्ठानों (संस्कारों) से, काल के प्रभाव से अथवा आपेक्षिक महत्त्व से की जाती है।

तात्पर्य : वस्त्र स्वच्छ जल से शुद्ध होता है और मूत्रादि से अशुद्ध हो जाता है। साधु ब्राह्मण के शब्द शुद्ध होते हैं। किन्तु भौतिकतावादी व्यक्ति के शब्द काम तथा द्वेष से दूषित रहते हैं। साधु भक्त वास्तविक शुद्धि की व्याख्या अन्यों से करता है किन्तु अभक्त झूठा प्रचार करता है, जिससे अबोध लोग दूषित पापकृत्य करने लगते हैं। शुद्ध अनुष्ठान भगवान् की तुष्टि हेतु होते हैं जबकि भौतिकतावादी उत्सवों से लोग भौतिकतावादी तथा आसुरी कृत्य करने लगते हैं। *संस्कारेण* शब्द यह भी सूचित करता है कि किसी वस्तु की शुद्धि या अशुद्धि अनुष्ठानों को पूरा करने के विधि-विधानों द्वारा निश्चित की जाती है। उदाहरणार्थ, देव पर चढ़ाये जाने वाले फूल को जल से शुद्ध कर लेना चाहिए। सूँघे हुए फूल या चखे हुए फल दूषित हो जाते हैं अत: उन्हें देव पर नहीं चढ़ाना चाहिए। *कालेन* शब्द सूचित करता है कि कुछ वस्तुएँ काल द्वारा शुद्ध होती हैं, तो कुछ अशुद्ध। उदाहरणार्थ, वर्षाजल दस दिनों अथवा आपात्काल में तीन दिनों के बाद शुद्ध माना जाता है। दूसरी ओर कुछ भोजन समय के साथ सड़ने लगते हैं और इस तरह अशुद्ध बन जाते हैं। *महत्व* सूचित करता है कि बड़े बड़े जलाशय दूषित नहीं होते। *अल्पतया* का अर्थ है कि थोड़ी मात्रा में जल आसानी से दूषित हो जाता है। इसी तरह महात्माजन भौतिकतावादी व्यक्तियों के यदाकदा सम्पर्क से दूषित नहीं होते किन्तु जो व्यक्ति बहुत

थोड़ी ईश्वर-भक्ति करते होते हैं, वे कुसंगति में पड़ कर आसानी से संशयग्रस्त हो उठते हैं। इस तरह सारे पदार्थों की शुद्धि तथा अशुद्धि को अन्य वस्तुओं के संमेल से तथा वाणी, संस्कार, काल एवं महत्त्व के अनुसार निश्चित किया जा सकता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टिप्पणी है कि अशुद्ध या सड़ा अथवा बासी भोजन सामान्य व्यक्तियों के लिए तो वर्जित है किन्तु जिनके लिए कोई जीविका-साधन न हो, उनके लिए क्षम्य है।

शक्त्याशक्त्याथ वा बुद्ध्या समृद्ध्या च यदात्मने ।
अघं कुर्वन्ति हि यथा देशावस्थानुसारतः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

शक्त्या—सापेक्ष शक्ति से; **अशक्त्या**—क्लीवता, नपुंसकता; **अथ वा**—या; **बुद्ध्या**—बुद्धि से; **समृद्ध्या**—ऐश्वर्य से; **च**—तथा; **यत्**—जो; **आत्मने**—अपने से; **अघम्**—पापकर्म; **कुर्वन्ति**—करते हैं; **हि**—निस्सन्देह; **यथा**—वास्तव में; **देश**—स्थान; **अवस्था**—अथवा अपनी दशा के; **अनुसारतः**—अनुसार।

किसी व्यक्ति की शक्ति अथवा दुर्बलता, बुद्धि, सम्पत्ति, स्थान तथा भौतिक स्थिति के अनुसार उस व्यक्ति पर अशुद्ध वस्तुएँ पाप लगा सकती हैं अथवा नहीं भी लगा सकतीं।

तात्पर्य : भगवान् ने विभिन्न देशों, कालों तथा वस्तुओं की शुद्धि तथा अशुद्धि का वर्णन किया है। प्रकृति के नियमानुसार जो अशुद्ध है, वह किसी मनुष्य को उसके पद के अनुसार दूषित कर सकती है जैसाकि यहाँ वर्णित है। उदाहरणार्थ, विशेष अवसरों पर, यथा सूर्य-ग्रहण पर या शिशु के जन्म के तुरन्त बाद कर्मकाण्डीय आदेशों के अनुसार भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिए। किन्तु यदि कोई शारीरिक रूप से क्षीण है, तो वह भोजन कर सकता है; उसे अशुद्ध नहीं माना जाता। सामान्य लोग शिशु-जन्म के बाद के दस दिन अत्यन्त शुभ मानते हैं किन्तु जो विद्वान है, वह जानता है कि यह अवधि वस्तुतः अशुद्ध होती है। इस नियम से अनभिज्ञता के कारण कोई दण्ड पाने से नहीं बच सकता, किन्तु जो जान-बूझकर पाप करता है, वह अत्यन्त पतित माना जाता है। जहाँ तक *समृद्धि* की बात है, फटे-पुराने तथा मैले-कुचैले वस्त्र या अस्त-व्यस्त आवास किसी धनी व्यक्ति के लिए अशुद्ध हो सकते हैं किन्तु निर्धन के लिए ये ग्राह्य होते हैं। *देश* शब्द सूचित करता है कि सुरक्षित तथा शान्त स्थान में धार्मिक अनुष्ठान करने के लिए मनुष्य बाध्य है किन्तु संकटपूर्ण अथवा अशान्त स्थिति होने पर गौण नियमों की यदाकदा उपेक्षा क्षम्य है। स्वस्थ व्यक्ति को चाहिए कि देवताओं को नमस्कार करे, धार्मिक उत्सवों में सम्मिलित हो और अपने नियत कर्म करे किन्तु एक बालक या रोगी व्यक्ति को ऐसे कर्म न

करने की छूट दी जाती है जैसाकि *अवस्था* शब्द से सूचित होता है।अन्ततः, जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

"मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् कृष्ण की दिव्य भक्ति अनुकूल होकर और सकाम कर्म या मानसिक चिन्तन के द्वारा भौतिक लाभ की किसी आकांक्षा से रहित होकर करे। यही शुद्ध भक्ति कहलाती है।" (भक्तिरसामृतसिंधु १.१.११) जो वस्तु भगवान् कृष्ण की भक्ति के अनुकूल हो, उसे स्वीकार करे और जो अनुकूल न हो उसका बहिष्कार कर दे। वह प्रामाणिक गुरु से ईश्वर की सेवा करने की विधि सीखे और अपने जीवन को सदैव शुद्ध तथा चिन्तामुक्त रखे। किन्तु भौतिक वस्तुओं की सापेक्ष शुद्धि तथा अशुद्धि पर विचार करते समय सामान्यतया उपर्युक्त सारी बातों को ध्यान में रखे।

धान्यदार्वस्थितन्तूनां रसतैजसचर्मणाम् ।
कालवाय्वग्निमृत्तोयैः पार्थिवानां युतायुतैः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

धान्य—अन्न; दारु—लकड़ी (सामान्य तथा पवित्र पात्रों के रूप में); अस्थि—हड्डी (यथा हाथी-दाँत); तन्तूनाम्—तथा धागे की; रस—द्रव (तेल, घी इत्यादि); तैजस—तेजवान वस्तुएँ (यथा स्वर्ण); चर्मणाम्—तथा चमड़े की; काल—समय; वायु—हवा; अग्नि—आग; मृत्—मिट्टी; तोयैः—तथा जल से; पार्थिवानाम्—(तथा) मिट्टी की बनी वस्तुओं (यथा चक्र, पात्र, ईंटे); युत—से युक्त; अयुतैः—या पृथक्-पृथक्।

अन्न, लकड़ी के पात्र, अस्थि से बने पदार्थ, धागे, द्रव, अग्नि से प्राप्त वस्तुएँ, चमड़े तथा मिट्टी से बनी वस्तुएँ—ये सब काल, वायु, अग्नि, पृथ्वी तथा जल के द्वारा अलग अलग से अथवा उनके मिल जाने से शुद्ध हो जाती हैं।

तात्पर्य : यहाँ *काल* का उल्लेख हुआ है क्योंकि सारे संस्कार काल के भीतर ही घटित होते हैं।

अमेध्यलिप्तं यद्येन गन्धलेपं व्यपोहति ।
भजते प्रकृतिं तस्य तच्छौचं तावदिष्यते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अमेध्य—अशुद्ध वस्तु से; लिप्तम्—छू कर; यत्—जो वस्तु; येन—जिससे; गन्ध—दुर्गन्ध; लेपम्—तथा अशुद्ध लेप; व्यपोहति—त्याग देती है; भजते—दूषित वस्तु पुनः धारण कर लेती है; प्रकृतिम्—अपना पूर्व स्वभाव; तस्य—उस वस्तु का; तत्—वह प्रयोग; शौचम्—शुद्धीकरण; तावत्—उस हद तक; इष्यते—माना जाता है।

कोई शुद्ध करने वाला पदार्थ तब उपयुक्त माना जाता है जब उसके लगाने से किसी दूषित

वस्तु की दुर्गंध या गन्दी परत हट जाय और वह अपने पूर्व स्वभाव को प्राप्त कर ले।

तात्पर्य : लकड़ी का सामान, रसोई के बर्तन, वस्त्र तथा अन्य वस्तुओं को मल कर, क्षार या अम्ल अथवा जल के द्वारा शुद्ध किया जाता है। इससे उन वस्तुओं की दुर्गंध अथवा अशुद्ध परत निकल जाती है और वे अपने पूर्व स्वच्छ रूप को प्राप्त कर लेती है।

स्नानदानतपोऽवस्थावीर्यसंस्कारकर्मभिः ।
मत्स्मृत्या चात्मनः शौचं शुद्धः कर्माचरेद्द्विजः ॥ १४॥

शब्दार्थ

स्नान—नहाना; दान—दान देना; तपः—तपस्या; अवस्था—तथा अपनी उम्र के कारण; वीर्य—सामर्थ्य; संस्कार—संस्कार द्वारा; कर्मभिः—तथा नियत कार्यों से; मत्-स्मृत्या—मेरा स्मरण करके; च—भी; आत्मनः—आत्मा की; शौचम्—शुद्धि; शुद्धः—शुद्ध; कर्म—कर्म; आचरेत्—करे; द्विजः—द्विजन्मा मनुष्य।

स्नान, दान, तप, आयु, निजी बल (सामर्थ्य), संस्कार, नियत कर्म तथा इन सबसे ऊपर मेरे स्मरण द्वारा आत्म-शुद्धि की जा सकती है। ब्राह्मण तथा अन्य द्विजातियों को अपना अपना विहित कर्म करने के पूर्व ठीक से शुद्ध हो लेना चाहिए।

तात्पर्य : *अवस्था* शब्द सूचित करता है कि जब बालक तथा बालिकाएँ छोटे हों, तो उन्हें बालपन की अबोधता द्वारा शुद्ध रखा जाता है और जब वे बड़े हो जाते हैं, तो उचित शिक्षा तथा कार्य में लगाकर शुद्ध रखा जा सकता है। मनुष्य को अपनी सामर्थ्य के बल पर पापकर्मों तथा इन्द्रियतृप्ति की ओर उन्मुख लोगों की संगति से बचना चाहिए। *कर्म* यहाँ पर नियत या विहित कर्तव्यों का यथा गुरु तथा अर्चा-विग्रह के पूजन, नित्य तीन समय गायत्री मंत्र का जप तथा दीक्षा ग्रहण करने का द्योतक है। वर्णाश्रम प्रणाली के नियत कर्म स्वतः मनुष्य को अपनी शारीरिक उपाधियों को उपयुक्त धार्मिक कार्यों में लगाकर मिथ्या अहंकार के आवरण से शुद्ध कर देते हैं। ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों, ब्रह्मचारियों, गृहस्थों, वानप्रस्थों तथा संन्यासियों के विशिष्ट कर्मों का वर्णन पहले ही भगवान् इस स्कन्ध में कर चुके हैं। यहाँ पर सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द *मत्स्मृत्या* है। अन्ततोगत्वा कृष्णभावनामृत के अतिरिक्त अन्य किसी विधि से मोह के दूषण से बचा नहीं जा सकता। प्रकृति के गुणों में शाश्वत अन्तःक्रिया होती रहती है, जिससे मनुष्य कभी तमोगुण में जा गिरता है, तो कभी सतोगुण को प्राप्त करता है। इस तरह वह माया-जगत में व्यर्थ ही चक्कर लगाता है। किन्तु कृष्णभावनामृत द्वारा वह परब्रह्म की इच्छा के विरुद्ध कर्म करने की अपनी प्रवृत्ति को उखाड़ कर फेंक सकता है। तब वह माया के पाश से मुक्त हो

जाता है और भगवद्धाम को प्राप्त होता है। जैसाकि *गरुड़ पुराण* में कहा गया है—

अपवित्र: पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।

य: स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरे शुचि: ॥

''कोई चाहे शुद्ध हो, दूषित हो और उसकी बाह्य स्थिति चाहे जैसी हो यदि वह कमलनेत्र भगवान् का स्मरण करता है, तो अपने जीवन को बाहर तथा भीतर से स्वच्छ कर सकता है।''

श्री चैतन्य महाप्रभु ने संस्तुति की है कि हम भगवान् के नामों का निरन्तर कीर्तन करें। हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे। अपने जीवन को शुद्ध बनाने के लिए इच्छुक हर व्यक्ति के लिए यह दिव्य विधि अनिवार्य है।

मन्त्रस्य च परिज्ञानं कर्मशुद्धिर्मदर्पणम् ।
धर्म: सम्पद्यते षड्भिरधर्मस्तु विपर्यय: ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

मन्त्रस्य—मंत्र (की शुद्धि) का; च—तथा; परिज्ञानम्—सही ज्ञान; कर्म—कर्म की; शुद्धि:—शुद्धि; मत्-अर्पणम्—मुझे अर्पित करना; धर्म:—धार्मिकता; सम्पद्यते—प्राप्त की जाती है; षड्भि:—छ: के (स्थान, काल, वस्तु, कर्ता, मंत्र तथा कर्म की शुद्धि) द्वारा; अधर्म:—अधर्म; तु—लेकिन; विपर्यय:—अन्यथा।

मंत्र तब शुद्ध होता है जब उसका सही सही उच्चारण किया जाय तथा कोई कर्म तब शुद्ध बनता है, जब वह मुझे अर्पित किया जाय। इस तरह स्थान, काल, वस्तु, कर्ता, मंत्र तथा कर्म की शुद्धि से मनुष्य धार्मिक बनता है और इन छहों की उपेक्षा करने से, वह अधार्मिक माना जाता है।

तात्पर्य : मंत्र को प्रामाणिक गुरु से ग्रहण किया जाता है, जो शिष्य को मंत्र की विधि, अर्थ और चरम उद्देश्य बतलाता है। इस युग में प्रामाणिक गुरु अपने शिष्य को *महामन्त्र* देता है अर्थात् हरे कृष्ण मंत्र देता है। जो व्यक्ति अपने को भगवान् का दास मानते हुए इस मंत्र का कीर्तन करता है, वह धीरे धीरे निरपराध विधि से कीर्तन करना सीख जाता है और ऐसे शुद्ध कीर्तन से वह जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करता है। यहाँ पर भगवान् शुद्धि तथा अशुद्धि विषयक अपनी व्याख्या की समाप्ति करते हैं, जो अन्तत: धार्मिक तथा अधार्मिक जीवन के रूप में प्रकट होती हैं।

क्वचिद्गुणोऽपि दोष: स्याद्दोषोऽपि विधिना गुण: ।

गुणदोषार्थनियमस्तद्भिदामेव बाधते ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; गुणः—पुण्य; अपि—भी; दोषः—पाप; स्यात्—बन जाता है; दोषः—पाप; अपि—भी; विधिना—वैदिक आदेश के बल पर; गुणः—पुण्य; गुण-दोष—पुण्य तथा पाप में; अर्थ—के मामले में; नियमः—विधान; तत्—उनके; भिदाम्—अन्तर; एव—वास्तव में; बाधते—नष्ट करता है।

कभी पुण्य पाप बनता है और कभी वैदिक आदेशों के बल पर पाप पुण्य बन जाता है। ऐसे विशिष्ट नियमों से पुण्य और पाप का स्पष्ट अन्तर मिट जाता है।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् स्पष्ट बतलाते हैं कि भौतिक पुण्य तथा पाप सापेक्ष मान्यताएँ हैं। उदाहरणार्थ, यदि पड़ोसी के घर में आग लगी हो और यदि कोई व्यक्ति घर में छेद करके फँसे हुए परिवार को निकाल लाता है, तो उस संकट की स्थिति के कारण वह व्यक्ति पवित्र वीर माना जाता है। किन्तु सामान्य स्थिति में कोई व्यक्ति किसी के घर में छेद करता है, या पड़ोसी की खिड़की तोड़ देता है, तो वह अपराधी माना जाता है। इसी तरह जो व्यक्ति अपनी पत्नी तथा बच्चों को छोड़ देता है, वह गैर-जिम्मेदार तथा विचारहीन व्यक्ति माना जाता है। किन्तु यदि वही व्यक्ति संन्यास लेता है और अपने उच्च पद पर बना रहता है, तो वह अत्यन्त साधु पुरुष माना जाता है। अतएव पुण्य तथा पाप विशेष परिस्थितियों पर निर्भर होते हैं और कभी कभी उनमें भेद कर पाना कठिन हो जाता है।

श्रील मध्वाचार्य के अनुसार चौदह वर्ष से अधिक आयु के व्यक्ति अच्छे तथा बुरे में अन्तर करने में समर्थ हो जाते हैं, अतएव वे अपने पवित्र तथा पापपूर्ण कार्यों के लिए स्वयं जिम्मेदार हैं। इसके विपरीत, अज्ञान में मग्न पशुओं को न तो उनके अपराधों के लिए दोष दिया जा सकता है न तथाकथित अच्छे गुणों के लिए, जो कि अज्ञानजन्य हैं, प्रशंसित किया जा सकता है। जो मनुष्य यह सोच कर कि जैसा चाहो करो और उसके लिए किसी तरह का दोष स्वीकार न करो, पशुओं जैसा कर्म करते हैं, उन्हें अज्ञान-रत पशुओं के रूप में जन्म लेना पड़ेगा। यही नहीं, कुछ अन्य मूर्ख व्यक्ति भी हैं, जो पुण्य तथा पाप की सापेक्षता को देख कर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि परम अच्छाई कहीं नहीं है। किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि कृष्णभावनामृत सबसे अच्छा है क्योंकि इसमें उस परब्रह्म भगवान् के प्रति पूर्ण आज्ञाकारिता होती है, जिसकी अच्छाई शाश्वत तथा सर्वोपरि है। जो लोग भौतिक पुण्य तथा पाप का अध्ययन करना चाहते हैं, उन्हें अन्ततः विषय की सापेक्षता तथा परिवर्तनशीलता के कारण निराश होना पड़ता है। इसलिए मनुष्य को कृष्णभावनामृत का आध्यात्मिक पद प्राप्त करना चाहिए क्योंकि वही

विहित तथा सभी परिस्थितियों में पूर्ण है।

समानकर्माचरणं पतितानां न पातकम् ।
औत्पत्तिको गुणः सङ्गो न शयानः पतत्यधः ॥ १७॥

शब्दार्थ

समान—बराबर; कर्म—कर्म का; आचरणम्—सम्पन्न किया जाना; पतितानाम्—पतितों का; न—नहीं; पातकम्—पतन का कारण; औत्पत्तिकः—स्वभाव द्वारा निर्देशित; गुणः—सद्गुण बन जाता है; सङ्गः—भौतिक सान्निध्य; न—नहीं; शयानः—लेटा हुआ; पतति—गिरता है; अधः—और नीचे।

जिन कर्मों से एक उच्चासीन व्यक्ति नीचे गिरता है, उन्हीं के द्वारा वे व्यक्ति नीचे नहीं गिरते जो पहले से गिरे हुए (पतित) हैं। निस्सन्देह, जमीन पर लेटा रहने वाला व्यक्ति और नीचे कैसे गिर सकता है? वह भौतिक संगति, जो मनुष्य के अपने स्वभाव द्वारा आदिष्ट होती है, सद्गुण मानी जाती है।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् भौतिक पुण्य तथा पाप का निर्धारण करने में दुविधा का और अधिक वर्णन करते हैं। यद्यपि एक विरक्त संन्यासी के लिए स्त्री-संसर्ग अत्यन्त निन्दनीय है, किन्तु वही संसर्ग एक गृहस्थ के लिए पवित्र है क्योंकि अपनी स्त्री के पास उपयुक्त समय में प्रजनन करने के लिए उसे वैदिक आदेश प्राप्त है। इसी तरह यदि कोई ब्राह्मण सुरापान करता है, तो यह अत्यन्त निन्दनीय कर्म माना जाता है, किन्तु एक शूद्र, जो कि सीमा के अन्दर सुरापान करता है, आत्मसंयमी माना जाता है। अतः भौतिक स्तर पर, पुण्य और पाप आपेक्षिक विचार हैं। किन्तु दीक्षा प्राप्त करने वाले किसी भी व्यक्ति को चार नियमों का कड़ाई से पालन करना होता है। ये हैं—मांस, मछली या अंडे न खाना, अवैध यौन का परित्याग, नशा न करना तथा जुआ न खेलना। यदि कोई दीक्षा-प्राप्त व्यक्ति इन नियमों की अवहेलना करता है, तो वह निश्चय ही मोक्ष के उच्च पद से नीचे गिरेगा।

यतो यतो निवर्तेत विमुच्येत ततस्ततः ।
एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहभयापहः ॥ १८॥

शब्दार्थ

यतः यतः—जिस जिस से; निवर्तेत—दूर रहता है; विमुच्येत—छूट जाता है; ततः ततः—उस उस से; एषः—यह; धर्मः—धर्म-प्रणाली; नृणाम्—मनुष्यों का; क्षेमः—कल्याण का मार्ग; शोक—दुख; मोह—मोह; भय—तथा भय; अपहः—मिटा देता है।

किसी पापपूर्ण या भौतिकतावादी कर्म से अपने को दूर रख कर, मनुष्य उसके बन्धन से मुक्त हो जाता है। ऐसा त्याग मनुष्यों के धार्मिक तथा कल्याणप्रद जीवन की आधारभूमि है और

यह सारे शोक, मोह तथा भय को भगा देता है।

तात्पर्य : *चैतन्य-चरितामृत* (अन्त्य-लीला ६.२२०) में कहा गया है—

महाप्रभुर भक्तगणेर वैराग्य प्रधान।

याहा देखिऽप्रीत हन गौर-भगवान्॥

"त्याग ही श्री चैतन्य महाप्रभु के भक्तों का जीवनाधार है। इस त्याग को देख कर श्री चैतन्य महाप्रभु अत्यन्त तुष्ट होते हैं।"

मनुष्य मिथ्या अहंकारवश अपने को ही अपने कर्मों का स्वामी और भोक्ता मानता है। वस्तुत: भगवान् कृष्ण ही हमारे कर्मों के स्वामी तथा भोक्ता हैं। कृष्णभावनामृत में इस तथ्य की अनुभूति होने से असली वैराग्य प्राप्त होता है। हर व्यक्ति को अपना कर्म भगवान् की भेंट के रूप में करना चाहिए। तब भौतिक बन्धन की सम्भावना नहीं रहेगी। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण ने स्पष्ट बतलाया है कि जब विहित कर्मों को भगवान् की भेंट मान कर किया जाता है, तो भव-बन्धन से छुटकारा मिलता है। पापकर्म भगवान् को अर्पित नहीं किये जा सकते, इसलिए इनका सर्वथा परित्याग करना चाहिए। वास्तव में, पाप तथा पुण्य में अन्तर इसीलिए किया जाता है कि जीव पुण्यात्मा बनें और भगवान् की शरण में जाने के पात्र बन सकें। *भगवद्गीता* (७.२८) में कहा गया है—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजते मां दृढ-व्रता:॥

"जिन मनुष्यों ने पूर्वजन्मों में तथा इस जन्म में पुण्यकर्म किये हैं और जिनके पापकर्मों का पूर्णतया उच्छेदन हो चुका होता है और जो मोह के द्वन्द्वों से मुक्त हो जाते हैं, वे संकल्पपूर्वक मेरी सेवा में तत्पर होते हैं।"

पुण्यकर्म के द्वारा मनुष्य का जीवन कल्याणप्रद तथा शोक, मोह एवं भय से मुक्त हो जाता है और तब वह कृष्णभावनामृत के पथ को ग्रहण कर सकता है।

विषयेषु गुणाध्यासात्पुंसः सङ्गस्ततो भवेत् ।
सङ्गात्तत्र भवेत्कामः कामादेव कलिर्नृणाम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

विषयेषु—इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं में; गुण-अध्यासात्—उन्हें अच्छा मानने के कारण; पुंसः—मनुष्य की; सङ्गः—आसक्ति; ततः—इस कल्पना से; भवेत्—हो जाता है; सङ्गात्—भौतिक संगति से; तत्र—इस प्रकार; भवेत्—उत्पन्न होता है; कामः—काम; कामात्—काम से; एव—भी; कलिः—कलह; नृणाम्—मनुष्यों में।

जो व्यक्ति भौतिक इन्द्रिय-विषयों को अभीष्ट मान लेता है, वह निश्चित रूप से उनमें आसक्त हो जाता है। ऐसी आसक्ति से काम उत्पन्न होता है और यही काम लोगों में कलह उत्पन्न कराता है।

तात्पर्य : मनुष्य जीवन का असली लक्ष्य भौतिक इन्द्रियतृप्ति नहीं होना चाहिए क्योंकि मानव समाज में कलह का आधार यही है। यद्यपि वैदिक वाङ्मय कभी कभी इन्द्रियतृप्ति की अनुमति देता है, किन्तु वेदों का चरम उद्देश्य वैराग्य है क्योंकि वैदिक संस्कृति ऐसी किसी वस्तु की संस्तुति नहीं कर सकती जिससे मानव-जीवन में बाधा उत्पन्न हो। कामी पुरुष सहज ही क्रुद्ध हो उठता है और जो भी उसकी कामेच्छाओं में बाधा उत्पन्न करता है, उसका वह शत्रु बन जाता है। चूँकि उसकी यौन-इच्छा कभी तुष्ट नहीं की जा सकती, इसलिए कामी पुरुष अपनी ही संगिनी से असंतुष्ट रहने लगता है और इस तरह 'प्रेम-घृणा' का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। कामी पुरुष अपने को ईश्वर की सृष्टि का भोक्ता मानता है, इसीलिए वह गर्व एवं मिथ्या प्रतिष्ठा से युक्त रहता है। ऐसा कामी गर्वीला व्यक्ति कभी भी प्रामाणिक गुरु के चरणों में आत्म-निवेदन करने की ओर आकृष्ट नहीं होता। फलतः अवैध यौन के प्रति आकर्षण कृष्णभावनामृत का जो भगवान् के प्रतिनिधि के समक्ष विनीत आत्मसमर्पण पर आधारित है, प्रत्यक्ष शत्रु है। भगवान् कृष्ण ने भी *भगवद्गीता* में कहा है कि अवैध यौन इस दुनिया का सर्वभक्षी पापी शत्रु है।

चूँकि आधुनिक समाज में पुरुषों तथा स्त्रियों को परस्पर मिलने-जुलने की छूट दी हुई है, इसलिए नागरिकों को संभवतः शान्ति नहीं मिल पा रही प्रत्युत सामाजिक जीवन के लिए संघर्ष मानो नियम बन चुका है। यह उस अज्ञानग्रस्त समाज का लक्षण है, जो भौतिक शरीर को परम कल्याण मानता है जैसाकि *विषयेषु गुणा ध्यासात्* शब्दों द्वारा वर्णन हुआ है। जिसे अपना शरीर प्रिय है, वह निश्चित रूप से विषय-वासना से ग्रस्त रहेगा।

कलेर्दुर्विषहः क्रोधस्तमस्तमनुवर्तते ।
तमसा ग्रस्यते पुंसश्चेतना व्यापिनी द्रुतम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

कलेः—कलह से; दुर्विषहः—असह्य; क्रोधः—क्रोध; तमः—अज्ञान; तम्—उस क्रोध को; अनुवर्तते—पीछा करता है; तमसा—अज्ञान से; ग्रस्यते—पकड़ा जाता है; पुंसः—मनुष्य की; चेतना—चेतना; व्यापिनी—विस्तृत; द्रुतम्—तेजी से।

कलह से असह्य क्रोध उत्पन्न होता है और उससे अज्ञान का अंधकार उत्पन्न होता है। यह अज्ञान तुरन्त ही मनुष्य की विस्तृत चेतना पर हावी हो जाता है।

तात्पर्य : मनुष्य में भौतिक संग की इच्छा इसलिए जागृत होती है क्योंकि वह इस बात से इनकार करना चाहता है कि हर वस्तु ईश्वर की शक्ति है। वह इन्द्रिय-विषयों को झूठे ही भगवान् से पृथक् मान कर, उनका उपभोग करना चाहता है। ऐसी इच्छा से मानव-समाज में संघर्ष तथा कलह उत्पन्न होता है। इस संघर्ष से महान् क्रोध उत्पन्न होता है, जो मनुष्यों को मूर्ख तथा ध्वंसात्मक बना देता है। इस तरह वह मानव-जीवन का लक्ष्य भूल जाता है।

तया विरहितः साधो जन्तुः शून्याय कल्पते ।
ततोऽस्य स्वार्थविभ्रंशो मूर्च्छितस्य मृतस्य च ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तया—उस बुद्धि से; विरहितः—रहित, विहीन; साधो—हे साधु उद्धव; जन्तुः—प्राणी; शून्याय—शून्य; कल्पते—बन जाता है; ततः—फलस्वरूप; अस्य—उसका; स्व-अर्थ—जीवन-लक्ष्य से; विभ्रंशः—पतन; मूर्च्छितस्य—जड़वत् उस व्यक्ति का; मृतस्य—मृत; च—तथा।

हे साधु उद्धव, असली बुद्धि से विहीन व्यक्ति को हर वस्तु से रहित माना जाता है। वह जीवन के वास्तविक लक्ष्य से हट कर उसी तरह मन्द (जड़) पड़ जाता है, जिस तरह कि मृत मनुष्य।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत इतना आवश्यक है कि जो व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार के इस प्रगतिशील मार्ग से विपथ हो जाता है, वह एक तरह से अचेतन या मृत मनुष्य जैसा माना जाता है। चूँकि हर जीव कृष्ण का भिन्नांश है अतएव जो अपनी पहचान बाह्य शरीर से करता है, वह वास्तव में अपनी स्थिति के प्रति अचेत रहता है। इसीलिए कहा गया है *शून्याय कल्पते*—जिसका कोई अस्तित्व नहीं है उसका पीछा करने से वह जीवन के लाभ से अथवा किसी प्रगति से वंचित रहता है। जिसकी चेतना शून्य में लीन रहती हो वह एक तरह से शून्य बन जाता है। इस प्रकार नित्य जीव पतित होकर भवसागर में डूब जाता है और एकमात्र भगवद्भक्तों की विशेष कृपा से, उसका उद्धार हो सकता है। इसीलिए भगवद्भक्तिजन पतित लोगों को हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करने का उपदेश देते हैं। इस विधि से

हमारी असली चेतना तथा जीवन तुरन्त ही पुनरुज्जीवित हो सकते हैं।

विषयाभिनिवेशेन नात्मानं वेद नापरम् ।
वृक्ष जीविकया जीवन्व्यर्थं भस्त्रेव यः श्वसन् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

विषय—इन्द्रियतृप्ति में; अभिनिवेशेन—अति लिप्त होने से; न—नहीं; आत्मानम्—अपने को; वेद—जानता है; न—न तो; अपरम्—दूसरे को; वृक्ष—पेड़ की; जीवकया—जीवन-शैली द्वारा; जीवन्—जीते हुए; व्यर्थम्—व्यर्थ; भस्त्रा इव—धौंकनी के समान; यः—जो; श्वसन्—साँस लेता है।

इन्द्रियतृप्ति में लीन रहने के कारण मनुष्य अपने आपको या दूसरों को पहचान नहीं पाता। वह वृक्ष की भाँति अज्ञान में व्यर्थ ही जीवित रह कर, धौंकनी की तरह श्वास मात्र लेता रहता है।

तात्पर्य : जिस तरह रक्षा का कोई साधन न होने से वृक्ष सदैव काटे जाते हैं, उसी तरह बद्धजीव प्रकृति के क्रूर नियमों द्वारा निरन्तर काटे जाते हैं जिससे असंख्य कष्ट मिलते हैं और अन्त में आकस्मिक मृत्यु हो जाती है। यद्यपि मूर्ख लोग सोचते हैं कि वे अपनी तथा अन्यों की सहायता कर रहे हैं, किन्तु वास्तव में वे न तो अपनी पहचान जानते हैं न तथाकथित अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों की। वे बाह्य शरीर की इन्द्रियों की तृप्ति में लगे रहते हैं और व्यर्थ ही किसी आध्यात्मिक लाभ के बिना जीवन बिता देते हैं। इस तरह की व्यर्थ जीवन-शैली को श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा संस्तुत भगवान् के नाम-कीर्तन की विधि से पूर्ण बनाया जा सकता है।

फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम् ।
श्रेयोविवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्यरोचनम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

फल-श्रुतिः—पुरस्कार का वचन देने वाले शास्त्र-कथन; इयम्—ये; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; न—नहीं हैं; श्रेयः—सर्वोच्च कल्याण; रोचनम्—प्रलोभन; परम्—मात्र; श्रेयः—चरम कल्याण; विवक्षया—कहने के विचारसे; प्रोक्तम्—कहा हुआ; यथा—जिस तरह; भैषज्य—औषधि लेने के लिए; रोचनम्—प्रलोभन, फुसलावा।

फल प्रदान करने का वादा करने वाले श्रुति के वचन मनुष्यों को परम कल्याण दिये जाने की संस्तुति नहीं करते अपितु वे लाभप्रद धार्मिक कर्म करने के लिए प्रलोभन मात्र हैं, जिस तरह कि बच्चे को लाभप्रद औषधि पीने के लिए फुसलाने हेतु मिश्री देने का वादा किया जाता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में भगवान् कृष्ण ने कहा है कि इन्द्रियतृप्ति में लीन रहने वाले लोग मानव-जीवन के असली लक्ष्य से हट जाते हैं। किन्तु चूँकि वेद स्वयं ही यज्ञ तथा तपस्या के

फलस्वरूप स्वर्गिक इन्द्रियतृप्ति का वचन देते हैं, तो फिर स्वर्ग जाने को जीवन-लक्ष्य से हटना कैसे कहा जा सकता है? यहाँ पर भगवान् बतलाते हैं कि शास्त्रों द्वारा प्रदत्त कर्मफल कोरे प्रलोभन होते हैं जिस तरह बच्चे को दवा पिलाने के लिए मिश्री का प्रलोभन दिया जाता है। उपयोगी तो औषधि है न कि मिश्री। उसी तरह सकाम यज्ञों में विष्णु-पूजा ही लाभप्रद है, उसका फल नहीं। *भगवद्गीता* के अनुसार जो लोग शास्त्रों के चरम लक्ष्य को सकाम फल बतलाते हैं, वे लोग भगवान् की इच्छा के विरोधी और मूर्ख हैं। भगवान् चाहते हैं कि सारे बद्धजीव शुद्ध बनें और भगवद्धाम आयें जिससे उन्हें आनन्द तथा ज्ञान का नित्य जीवन-लाभ हो सके। जो व्यक्ति धर्म के नाम पर भगवान् की इच्छा का विरोध करता है, वह जीवन-लक्ष्य के विषय में निश्चित रूप से मोहग्रस्त है।

उत्पत्त्यैव हि कामेषु प्राणेषु स्वजनेषु च ।
आसक्तमनसो मर्त्या आत्मनोऽनर्थहेतुषु ॥ २४॥

शब्दार्थ

उत्पत्त्या एव—मात्र जन्म से; हि—निस्सन्देह; कामेषु—स्वार्थपूर्ण इच्छाओं की वस्तुओं में; प्राणेषु—(आयु, इन्द्रिय-कर्म, शक्ति तथा संभोग-शक्ति) जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यों में; स्व-जनेषु—अपने परिवार के सदस्यों में; च—तथा; आसक्त-मनसः—मन के भीतर आसक्त होकर; मर्त्याः—मर्त्य मनुष्य लोग; आत्मनः—अपनी ही आत्मा के; अनर्थ—उद्देश्य को नष्ट करने वाले; हेतुषु—कारणों में।

संसार में जन्म लेने से ही सारे मनुष्य अपने मन में इन्द्रियतृप्ति, दीर्घायु, इन्द्रिय-कर्म, बल, संभोग-शक्ति तथा मित्रों एवं परिवार के प्रति आसक्त हो जाते हैं। इस तरह उनके मन ऐसी बात में लीन रहते हैं जिनसे उनके वास्तविक स्वार्थ को धक्का लगता है।

तात्पर्य : अपने भौतिक शरीर तथा परिवार एवं मित्रों के शरीरों के प्रति हमारी आसक्ति से असह्य कष्ट होता है तथा चिन्ता उत्पन्न होती हैं। देहात्म बुद्धि में लीन मन आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त नहीं कर पाता, फलतः आनन्द तथा ज्ञान से युक्त नित्य जीवन की आशा उसके तथाकथित स्नेह की वस्तुओं के कारण नष्ट हो जाती है। अज्ञान में किये गये कर्म न तो अपने लिए न ही अन्यों के लिए लाभदायक होते हैं जिस तरह स्वप्न में दिये गये दान से किसी को वास्तविक लाभ नहीं पहुँचता। बद्धजीव ईश्वर से पृथक् संसार का स्वप्न देखता रहता है किन्तु इस स्वप्न में अनुभव की गई कोई भी प्रगति मात्र छलावा होगी। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं—*सर्वलोक महेश्वरम्।* वे ही परम भोक्ता तथा सम्पूर्ण लोकों के स्वामी हैं। एकमात्र कृष्णभावनामृत द्वारा अर्थात् ईश्वर की सर्वोच्चता स्वीकार करके ही, जीवन में

असली उन्नति की जा सकती है।

नतानविदुषः स्वार्थं भ्राम्यतो वृजिनाध्वनि ।
कथं युञ्ज्यात्पुनस्तेषु तांस्तमो विशतो बुधः ॥ २५॥

शब्दार्थ

नतान्—विनीत; अविदुषः—अज्ञानी; स्व-अर्थम्—अपने हित के; भ्राम्यतः—घूमते हुए; वृजिन—संकट के; अध्वनि—मार्ग पर; कथम्—किस कार्य के लिए; युञ्ज्यात्—लगा सकेंगे; पुनः—आगे भी; तेषु—उनमें (इन्द्रियतृप्ति के गुण में); तान्—उनको; तमः—अंधकार; विशतः—घुसते हुए; बुधः—बुद्धिमान (बौद्धिक सत्ता)।

अपने स्वार्थ से अनजान लोग भौतिक संसार के मार्ग में विचरण कर रहे हैं और धीरे धीरे अंधकार की ओर अग्रसर हो रहे हैं। भला वेद उन्हें और अधिक इन्द्रियतृप्ति के प्रति क्यों प्रोत्साहित करने लगे यदि वे मूर्खजन विनीत भाव से वैदिक आदेशों पर ध्यान दें।

तात्पर्य : भौतिकतावादी लोग समाज, मैत्री तथा प्रेम को, जो कि यौन-लिप्तता पर आधारित हैं, त्याग कर वैराग्य तथा आत्म-साक्षात्कार का जीवन बिताने को तैयार नहीं हैं। ऐसे मूर्ख लोगों को वैदिक आदेशों की छत्रछाया में लाने के लिए ही वेद उन लोगों को जो वैदिक आदेशों का निष्ठापूर्वक पालन करते हैं असंख्य फलों का वादा करते हैं, जिनमें स्वर्ग-प्राप्ति तक सम्मिलित हैं। किन्तु जैसाकि भगवान् बतला चुके हैं ऐसे फल उस बालक को मिश्री देने के तुल्य हैं, जो बाद में श्रद्धापूर्वक दवा पी लेता है। निस्सन्देह भौतिक भोग ही दुख की जड़ है क्योंकि भोग्य वस्तुएँ तथाकथित भोक्ता के साथ साथ विनष्ट होने वाली हैं। भौतिक जीवन नितान्त वेदनापूर्ण तथा चिन्ता, हताशा एवं शोक से व्याप्त है। हम स्त्री का नग्न शरीर, सुन्दर आवास, अच्छा स्वादिष्ट भोजन या अपनी प्रतिष्ठा का विस्तार जैसी तथाकथित भोग्य वस्तुओं को देख कर, चलायमान हो उठते हैं, किन्तु ऐसा कल्पित सुख मात्र तुष्टि की प्रबल आशा है, जो कभी प्राप्त नहीं होती। मनुष्य निरन्तर इस संसार में उद्विग्न रहता है और वह जितना ही भोग करने का प्रयास करता है उतना ही हताश होता जाता है। इसलिए वैदिक ज्ञान, जो कि आध्यात्मिक स्तर पर परम शान्ति तथा सुख को अपना लक्ष्य बनाता है, भौतिकतावादी जीवन-शैली की अनुमति नहीं दे सकता। भौतिक फल तो बद्धजीवों को भगवान् विष्णु में समर्पण रूपी ओषधि प्रदान करने के लिए विविध यज्ञों के माध्यम से प्रलोभन के रूप में दिये जाते हैं। जो *वेदवादरत* हैं उनका कहना है कि शास्त्र बद्धजीवों के अज्ञान में इन्द्रियतृप्ति सुलभ बनाने के निमित्त हैं। किन्तु धर्म का असली लक्ष्य आध्यात्मिक मोक्ष है, जिसमें इन्द्रियतृप्ति समाप्त हो जाती है। आध्यात्मिक ज्ञान के तेज

के समक्ष शारीरिक आसक्ति का अंधकार टिक नहीं पाता। आध्यात्मिक आनन्द के सागर में इस जगत का चिन्तापूर्ण बाह्य आनन्द लुप्त हो जाता है। *वेद* का सही अर्थ है भगवान् के आज्ञाकारी दास के रूप में आनन्द तथा ज्ञानमय शाश्वत जीवन के लिए भगवान् की शरण में जाना।

एवं व्यवसितं केचिदविज्ञाय कुबुद्धयः ।
फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञा वदन्ति हि ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह से; व्यवसितम्—वास्तविक निष्कर्ष; केचित्—कुछ लोग; अविज्ञाय—न जानते हुए; कु-बुद्धयः—विकृत बुद्धि वाले; फल-श्रुतिम्—भौतिक फल का वादा करने वाले शास्त्रों के कथन; कुसुमिताम्—फूलों जैसे, अलंकारिक; न—नहीं; वेद-ज्ञाः—वेदों के ज्ञाता; वदन्ति—कहते हैं; हि—निस्सन्देह।

विकृत बुद्धि वाले लोग वैदिक ज्ञान के इस वास्तविक उद्देश्य को नहीं समझ पाते, प्रत्युत वे फलों का वादा करने वाले वेदों के अलंकारमय कथनों को परम वैदिक सत्य कह कर प्रचार करते हैं। किन्तु जो वेदों के वास्तविक ज्ञाता हैं, वे कभी भी इस तरह नहीं बोलते।

तात्पर्य : कर्ममीमांसा दर्शन मानने वाले यह घोषित करते हैं कि इस ब्रह्माण्ड के परे कोई भगवद्धाम नहीं है; अतः मनुष्य को चाहिए कि वह भौतिक स्वर्ग में बने रहने के लिए वैदिक अनुष्ठानों को नियमित रूप से सम्पन्न करे। जैसाकि पिछले अध्याय में भगवान् श्री उद्धव से बतला चुके हैं, भौतिक जगत में मनुष्य को वास्तविक सुख नहीं है क्योंकि वह निरन्तर स्वर्ग तथा नरक के बीच चक्कर लगाता रहेगा और इस तरह सदैव भौतिक वातावरण में उद्विग्न रहेगा। भले ही वैद्य बच्चे को मिश्री लेपित दवा दे, किन्तु जो व्यक्ति बालक को मिश्री खाने परन्तु दवा फेंकने के लिए प्रेरित करता है, वह बहुत बड़ा मूर्ख है। इसी तरह वेदों के वे अलंकारिक वचन जिनमें स्वर्गिक सुख का वर्णन मिलता है वैदिक ज्ञान के असली फल को देने वाले नहीं होते, अपितु इन्द्रियतृप्ति के सजावटी फूल ही देते हैं। वेदों में (ऋग्वेद १.२२.२०) कहा गया है *तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।* स्वर्ग में निरन्तर वास करने वाले देवता तक भगवद्धाम के लिए लालायित रहते हैं। जो मूर्खजन स्वर्ग में रहने के स्तर की प्रशंसा करते हैं, उन्हें ध्यान देना चाहिए कि देवता स्वयं भी भगवान् के भक्त हैं। मनुष्य को तथाकथित वैदिक ज्ञान का थोथा प्रचारक न बन कर कृष्णभावनामृत स्वीकार करके जीवन-प्रगति की समस्या का वास्तविक हल ढूँढना चाहिए।

**कामिनः कृपणा लुब्धाः पुष्पेषु फलबुद्धयः ।
अग्निमुग्धा धूमतान्ताः स्वं लोकं न विदन्ति ते ॥ २७॥**

शब्दार्थ

कामिनः—कामी पुरुष; कृपणाः—कंजूस; लुब्धाः—लालची; पुष्पेषु—फूल; फल-बुद्धयः—परम फल सोच कर; अग्नि—आग; मुग्धाः—मोहित; धूम-तान्ताः—धुएँ से दम घुटना; स्वम्—अपनी; लोकम्—पहचान; न विदन्ति—पहचानते हैं; ते—वे।

काम, क्रोध तथा लोभ से पूरित मनुष्यगण मात्र फूलों को ही जीवन का वास्तविक फल मान बैठते हैं। अग्नि की चमक से मोहग्रस्त होकर तथा इसके धुएँ से घुट कर, वे अपनी असली पहचान नहीं जान पाते।

तात्पर्य : जो लोग स्त्री-संगति में आसक्त रहते हैं, वे अपने तथा अपनी प्रिया की इन्द्रियतृप्ति के लिए हर वस्तु की कामना करते हैं और इस तरह वे चिन्ता तथा ईर्ष्या से पूर्ण लोभी पृथकतावादी बन जाते हैं। ऐसे अभागे लोग वेदों के पुष्पित कथनों को जीवन की सर्वोच्च सिद्धि मानते हैं। *अग्नि-मुग्धाः* शब्द सूचित करता है कि ऐसे लोग भौतिक लाभ प्रदान करने वाले *अग्नि* यज्ञों को सर्वोच्च धार्मिक सत्य मानते हैं और इस तरह अज्ञान में लिप्त होते हैं। अग्नि से धुआँ उत्पन्न होता है, जिससे दृष्टि धूमिल होती है। इसी तरह सकाम यज्ञों का मार्ग धुंधला तथा अस्पष्ट है। उन्हें आत्मा की स्पष्ट जानकारी नहीं होती। यहाँ पर भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि सकाम धर्मज्ञ न तो अपनी असली आध्यात्मिक पहचान को जान पाते हैं, न ही भगवद्धाम में आत्मा की असली शरण का अनुभव करते हैं।

भगवद्गीता (१५.१५) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—सारा वैदिक ज्ञान मनुष्य को शुद्ध भगवत्प्रेम तक ले जाने के निमित्त है। भगवान् कृष्ण निश्चित रूप से परब्रह्म हैं और उनसे प्रेम करना ही हमारे जीवन का परम लक्ष्य है। वैदिक ज्ञान बद्धजीव को शुद्ध कृष्णभावनामृत की इस सिद्धि तक ले जाने का धैर्यपूर्ण प्रयास करता है।

**न ते मामङ्ग जानन्ति हृदिस्थं य इदं यतः ।
उक्थशस्त्रा ह्यसुतृपो यथा नीहारचक्षुषः ॥ २८॥**

शब्दार्थ

न—नहीं; ते—वे; माम्—मुझको; अङ्ग—हे उद्धव; जानन्ति—जानते हैं; हृदि-स्थम्—हृदय के भीतर स्थित; यः—जो; इदम्—यह ब्रह्माण्ड; यतः—जहाँ से आता है; उक्थ-शस्त्राः—जो वैदिक अनुष्ठानों को प्रशंसनीय मानते हैं, या जिनके लिए उनके अनुष्ठान कृत्य उन हथियारों के तुल्य हैं, जो यज्ञ-पशुओं को मारता है; हि—निस्सन्देह; असु-तृपः—मात्र इन्द्रियतृप्ति में रुचि रखने वाले; यथा—जिस तरह; नीहार—कुहरा में; चक्षुषः—आँखों वाले।

हे उद्धव, वैदिक अनुष्ठानों का आदर करने से प्राप्त इन्द्रियतृप्ति के प्रति समर्पित लोग, यह

नहीं समझ सकते कि मैं हर एक के हृदय में स्थित हूँ और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मुझसे अभिन्न नहीं है और मुझी से उद्भूत है। निस्सन्देह, वे उन व्यक्तियों के समान हैं जिनकी आँखें कुहरे से ढकी रहती हैं।

तात्पर्य : *उक्थ-शस्त्राः* शब्द कतिपय वैदिक स्तुतियों के उच्चारण का द्योतक है जिनसे इस जगत में तथा अगले लोक में सकाम फल प्राप्त किये जाते हैं। *शस्त्र* शब्द हथियार का सूचक है। इस तरह उक्थ-शस्त्र का अर्थ वह हथियार है, जो यज्ञ में यज्ञ-पशु को मारने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। शारीरिक तृप्ति के लिए वैदिक ज्ञान का दुरुपयोग करने वाले व्यक्ति भौतिकतावादी धार्मिक नियमों के हथियार से अपनी हत्या कर रहे हैं। उनकी उपमा घने कुहरे के भीतर देखने का प्रयास करने वाले मनुष्यों से दी जाती है। मिथ्या देहात्म बुद्धि, जो मनुष्य-शरीर के भीतर की आत्मा की उपेक्षा कराती है, अज्ञान के गहन कुहरे की भाँति है, जो हमारी ईश-दृष्टि को रोकती है। इसलिए भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* में अपना उपदेश देहात्म बुद्धि के गहन अंधकार को दूर करने से शुरू करते हैं। धर्म का अर्थ है ईश्वर का नियम। ईश्वर का अन्तिम आदेश या नियम यह है कि हर बद्धजीव उनकी शरण में आये, उनकी सेवा करना और प्रेम करना सीखे और इस तरह भगवद्धाम वापस जाये। कृष्णभावनामृत की विधि यही है।

ते मे मतमविज्ञाय परोक्षं विषयात्मकाः ।
हिंसायां यदि रागः स्याद्यज्ञ एव न चोदना ॥ २९॥
हिंसाविहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया ।
यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन्खलाः ॥ ३०॥

शब्दार्थ

ते—वे; मे—मेरा; मतम्—निष्कर्ष, निर्णय; अविज्ञाय—बिना समझे; परोक्षम्—गुह्य; विषय-आत्मकाः—इन्द्रियतृप्ति में लीन; हिंसायाम्—हिंसा के प्रति; यदि—यदि; रागः—अनुरक्ति; स्यात्—हो; यज्ञे—यज्ञ विषयक संस्तुतियों में; एव—निश्चय ही; न—नहीं; चोदना—प्रोत्साहन; हिंसा-विहाराः—हिंसा में रुचि लेने वाले; हि—निस्सन्देह; आलब्धैः—वध किये गये; पशुभिः—पशुओं के द्वारा; स्व-सुख—अपने सुख के लिए; इच्छया—इच्छा से; यजन्ते—पूजा करते हैं; देवताः—देवतागण; यज्ञैः—याज्ञिक अनुष्ठानों से; पितृ—पितर, पूर्वज; भूत-पतीन्—तथा भूत-प्रेतों के प्रधान; खलाः—क्रूर पुरुष।

जो लोग इन्द्रियतृप्ति के वशीभूत हैं, वे मेरे द्वारा बतलाये गये वैदिक ज्ञान के गुह्य मत को नहीं समझ सकते। वे हिंसा में आनन्द का अनुभव करते हुए अपनी ही इन्द्रियतृप्ति के लिए यज्ञ में निरपराध पशुओं का निष्ठुरता से वध करते हैं और इस तरह वे देवताओं, पितरों तथा भूत-प्रेतों

के नायकों की पूजा करते हैं। किन्तु वैदिक यज्ञ-विधि में हिंसा की ऐसी उत्कट इच्छा को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया जाता।

तात्पर्य : वैदिक शास्त्र उन क्रूर, निम्न श्रेणी के व्यक्तियों की तुष्टि के लिए जो मांस तथा रक्त का स्वाद लिए बिना नहीं रह सकते, यदा-कदा पशु-यज्ञ की संस्तुति करते हैं। किन्तु ऐसी छूटों पर कठोर अनुष्ठानों द्वारा अंकुश लगा हुआ है, जिससे धीरे धीरे पशु-वध को कम किया जा सके, वैसे ही जिस तरह शराब लाइसेंस का अत्यधिक शुल्क फुटकर शराब बेचने वालों की संख्या को नियंत्रित करता है। किन्तु अविवेकी लोग ऐसी प्रतिबन्धित छूटों का दूसरा अर्थ लगाकर घोषित करते रहते हैं कि वैदिक यज्ञ इन्द्रियतृप्ति हेतु पशु-वध करने के निमित्त हैं। भौतिकतावादी होने के कारण, वे पितृ-लोक या देव-लोक जाने के इच्छुक रहते हैं, अतएव ऐसे प्राणियों को पूजते हैं। कभी कभी वे भूत-प्रेतों की सूक्ष्म जीवन-शैली से आकृष्ट होकर उनकी पूजा करते हैं। ये विधियाँ भगवान् के प्रति उनकी निपट अज्ञानता की सूचक हैं क्योंकि भगवान् ही समस्त यज्ञों तथा तपों के वास्तविक भोक्ता हैं। असुरगण वैदिक यज्ञ तो करते हैं किन्तु वे नारायण से द्वेष रखते हैं क्योंकि वे देवताओं, पितरों या शिवजी को ईश्वर के तुल्य मानते हैं। वे वैदिक अनुष्ठानों की प्रामाणिकता को जानते हुए भी, वैदिक मत को नहीं मानते, इसलिए वे ईश्वर की शरण कभी नहीं ग्रहण करते। इस तरह पशु-वधिकों के आसुरी समाज में मिथ्या धर्म पलता है। यद्यपि अमरीका जैसे देशों के लोग बाहर से एकमात्र ईश्वर को मानने का दावा करते हैं, किन्तु अनेक मनोरंजनकर्ताओं, राजनीतिज्ञों, खिलाड़ियों तथा ऐसे ही तुच्छ लोगों की, जो लोकप्रिय वीर हैं, पूजा की जाती है तथा यशोगान किया जाता है। निपट भौतिकतावादी होने के कारण पशु-वधिक भौतिक माया के असाधारण स्वरूप से आकृष्ट होते हैं। वे कृष्णभावनामृत के असली पद या आध्यात्मिक जीवन को नहीं समझ पाते।

स्वप्नोपमममुं लोकमसन्तं श्रवणप्रियम् ।
आशिषो हृदि सङ्कल्प्य त्यजन्त्यर्थान्यथा वणिक् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

स्वप्न—स्वप्न; उपमम्—समान; अमुम्—वह; लोकम्—(मृत्यु के पश्चात्) संसार; असन्तम्—असत्य; श्रवण-प्रियम्—सुनने में मोहक; आशिषः—जीवन में सांसारिक उपलब्धियाँ; हृदि—हृदय में; सङ्कल्प्य—कल्पना करके; त्यजन्ति—त्याग देते हैं; अर्थान्—उनकी सम्पत्ति; यथा—सदृश; वणिक्—व्यापारीजन।

जिस तरह कोई मूर्ख व्यापारी व्यर्थ की व्यापारिक कल्पना में अपनी असली सम्पत्ति गँवा

देता है, उसी तरह मूर्ख व्यक्ति जीवन की वास्तविक मूल्यवान वस्तुओं को त्याग कर स्वर्ग जाने के पीछे पड़े रहते हैं, जो सुनने में मोहक तो है किन्तु स्वप्न सदृश असत्य है। ऐसे मोहग्रस्त लोग अपने हृदयों में यह कल्पना करते हैं कि वे सारे भौतिक वर प्राप्त कर सकेंगे।

तात्पर्य : सारे संसार के लोग इसी जीवन में या अगले जीवन में पूर्ण इन्द्रियतृप्ति पाने के लिए भरसक कार्य करते हैं। नित्य जीव के रूप में हम कृष्ण के भिन्नांश हैं अतएव भगवान् के सान्निध्य में हम समस्त आनन्द तथा ज्ञान से सहज ही युक्त होते हैं। किन्तु हम आध्यात्मिक आनन्द तथा ज्ञान के इस उच्च पद को त्याग कर शारीरिक सुख रूपी मृगतृष्णा के पीछे दौने में अपना समय व्यर्थ गँवाते हैं जिस तरह मूर्ख व्यापारी काल्पनिक व्यापार में, जिससे कोई असली लाभ नहीं मिलता, अपनी असली पूँजी को गँवा देता है।

रजःसत्त्वतमोनिष्ठा रजःसत्त्वतमोजुषः ।
उपासत इन्द्रमुख्यान्देवादीन्न यथैव माम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

रजः—रजोगुण; सत्त्व—सतोगुण; तमः—अथवा तमोगुण में; निष्ठाः—स्थित; रजः—रजोगुण; सत्त्व—सत्य; तमः—या अविद्या; जुषः—जो प्रकट करते हैं; उपासते—पूजा करते हैं; इन्द्र-मुख्यान्—इन्द्र इत्यादि; देव-आदीन्—देवताओं इत्यादि को; न—नहीं; यथा एव—सही ढंग से; माम्—मुझको।

रजो, सतो तथा तमोगुण में स्थित लोग इन्द्र इत्यादि विशेष देवताओं तथा अन्य अर्चाविग्रहों की पूजा करते हैं, जो उन्हीं रजो, सतो या तमोगुण को प्रकट करते हैं, किन्तु वे मेरी समुचित पूजा करने में असफल रहते हैं।

तात्पर्य : यद्यपि देवता भगवान् के भिन्नांश हैं, किन्तु देव-पूजा से यह झूठा विचार पलता है कि देवतागण भगवान् से पृथक् सत्ता रखते हैं। ऐसी पूजा *अविधि-पूर्वकम्* है—अर्थात् परब्रह्म तक पहुँचने का अनुचित साधन है। श्रील मध्वाचार्य ने *हरिवंश* से उद्धरण दिया है कि तमोगुणी लोगों में भी कभी कभी रजो तथा सतोगुण प्रकट होते हैं। सतोगुणी प्रवृत्ति रखने वाले अज्ञानी पुरुष नरक तो जा सकते हैं, किन्तु उन्हें स्वर्ग का भी थोड़ा सुख भोगने दिया जाता है। इस तरह यह देखा जाता है कि दयनीय आर्थिक या राजनीतिक दशा को भोगने वाला व्यक्ति अपनी नारकीय स्थिति के बावजूद, सुन्दर पत्नी की संगति प्राप्त करता है। रजोगुण से कुछ कुछ मिश्रित तमोगुणी व्यक्ति सीधे नरक जाते हैं और जो निपट तमोगुणी हैं, वे नरक के गहन अंधकार को प्राप्त करते हैं। जो लोग भगवद्भक्ति से वंचित रहते

हैं, वे इन श्रेणियों में से तमोगुण श्रेणी में आते हैं। कभी कभी सतोगुणी लोग भगवान् की सर्वश्रेष्ठता को स्वीकार तो करते हैं, किन्तु यह विश्वास करके कि वैदिक अनुष्ठानों के द्वारा वे देवताओं जैसा स्तर प्राप्त कर सकेंगे, देवताओं के प्रति अधिक आकृष्ट होते हैं। यह घमंडी मनोवृत्ति भगवान् की प्रेमाभक्ति में अवरोधक और अन्ततः पतन का कारण बनती है।

इष्ट्वेह देवता यज्ञैर्गत्वा रंस्यामहे दिवि ।
तस्यान्त इह भूयास्म महाशाला महाकुलाः ॥ ३३॥
एवं पुष्पितया वाचा व्याक्षिप्तमनसां नृणाम् ।
मानिनां चातिलुब्धानां मद्वार्तापि न रोचते ॥ ३४॥

शब्दार्थ

इष्ट्वा—यज्ञ करके; इह—इस जगत में; देवताः—देवतागण; यज्ञैः—हमारे यज्ञों से; गत्वा—जाकर; रंस्यामहे—हम भोग करेंगे; दिवि—स्वर्ग में; तस्य—उस भोग का; अन्ते—अन्त में; इह—इस पृथ्वी पर; भूयास्मः—हम हो जायेंगे; महा-शालाः—महान् गृहस्थ; महा-कुलाः—राजसी परिवार के लोग; एवम्—इस प्रकार; पुष्पितया—फूलों जैसे; वाचा—शब्दों से; व्याक्षिप्त-मनसाम्—मोहग्रस्त मनों वाले; नृणाम्—लोग; मानिनाम्—अत्यन्त घमंडी; च—तथा; अति-लुब्धानाम्—अत्यन्त लोभी; मद्-वार्ता—मुझसे सम्बन्धित कथाएँ; अपि—भी; न रोचते—आकर्षण नहीं होता।

देवताओं के उपासक सोचते हैं, ''हम इस जीवन में देवताओं की पूजा करेंगे और अपने यज्ञों के बल पर हम स्वर्ग जाकर वहाँ भोग करेंगे। भोग समाप्त होने पर हम इस जगत में लौट आयेंगे और राज-परिवारों में वैभवशाली गृहस्थों के रूप में जन्म लेंगे।'' ऐसे लोग अत्यधिक घमंडी तथा लालची होने से, वेदों के अलंकारयुक्त शब्दों से मोहित हो जाते हैं। वे मुझ भगवान् की कथाओं के प्रति आकृष्ट नहीं होते।

तात्पर्य : असली आनन्द तो भगवान् के दिव्य स्वरूप में पाया जाता है, जो कि साक्षात् कामदेव हैं और वैकुण्ठ में प्रेममयी लीलाओं में लगे रहते हैं। मूर्ख देवोपासक भगवान् की लीलाओं के दिव्य आनन्द की उपेक्षा करके ईश्वर जैसा बनने का स्वप्न देखते हैं, किन्तु उन्हें इसके ठीकविपरीत फल मिलता है। दूसरे शब्दों में, वे जन्म-मृत्यु के चक्र में निरन्तर घूमते रहते हैं।

वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया इमे ।
परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

वेदाः—वेद; ब्रह्म-आत्म—स्वयं को शुद्ध आत्मा समझते हुए; विषयाः—विषयों वाले; त्रि-काण्ड-विषयाः—तीन विभाग वाले (कर्म, देवपूजा तथा परब्रह्म का साक्षात्कार); इमे—ये; परोक्ष-वादाः—गोपनीय ढंग से बोलने वाले; ऋषयः—वैदिक विद्वान; परोक्षम्—अप्रत्यक्ष विवेचना; मम—मेरा; च—भी; प्रियम्—प्रिय।

तीन काण्ड वाले वेद अंततः यह बतलाते हैं कि जीव ही शुद्ध आत्मा है। किन्तु वैदिक ऋषि-मुनि तथा मंत्र गुप्त रूप से बतलाते हैं और मैं भी ऐसे गुह्य वर्णनों से प्रसन्न होता हूँ।

तात्पर्य : पिछले श्लोकों में भगवान् कृष्ण ने इस विचार का स्पष्ट खण्डन किया है कि वैदिक ज्ञान भौतिक भोग के लिए है और अब वे वैदिक वाङ्मय के असली उद्देश्य—आत्म-साक्षात्कार—का सार प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि बद्धजीव भौतिक शक्ति के पाश में संघर्ष कर रहे हैं, किन्तु उनका वास्तविक पद भगवद्धाम में दिव्य स्वतंत्रता है। वेद बद्धजीव को मोह के अंधकार से क्रमशः ऊपर उठाकर भगवान् की प्रेमाभक्ति में स्थापित करते हैं। जैसाकि *वेदान्त सूत्र* (४.४.२३) में कहा गया है—*अनावृत्तिः शब्दात्*—वैदिक ज्ञान को सुनने वाले को जन्म-मृत्यु के चक्र में नहीं लौटना पड़ता।

कोई यह प्रश्न कर सकता है कि स्वयं भगवान्, उनके प्रतिनिधि, वैदिक द्रष्टा तथा मंत्र गोपनीय शब्दों में क्यों बोलते हैं? जैसाकि भगवान् *भगवद्गीता* में कहते हैं—*नाहं प्रकाशः सर्वस्य*—भगवान् अपने को रास्ते में लिए जाने की आज्ञा नहीं देते और इस तरह वे बनावटी या शत्रुतापूर्ण लोगों के लिए प्रकट नहीं होते। भौतिक वातावरण से दूषित लोगों को वैदिक अनुष्ठानों के द्वारा जो सकाम फल प्रदान करते हैं, शुद्ध करने की प्रेरणा दी जाती है, ठीक उसी प्रकार जैसे किसी बच्चे को मिश्री का लोभ देकर, औषधि लेने के लिए प्रेरणा दी जाती है। वैदिक वाङ्मय की गोपनीय स्थिति के कारण, मन्द बुद्धि वाले लोग वेदों के परम दिव्य उद्देश्य को नहीं समझ सकते, अतः परिणामस्वरूप वे इन्द्रियतृप्ति के स्तर पर गिर जाते हैं।

ब्रह्मात्म शब्द अन्ततः भगवान् का सूचक है जिन्होंने *भगवद्गीता* में कहा है कि मेरा ज्ञान *राजगुह्यम्* अर्थात् गुह्यों में परम गुह्य है। जो कोई भौतिक इन्द्रिय-अनुभूति पर आश्रित रहता है, वह परब्रह्म के विषय में निपट अविद्या में रहता है। जो व्यक्ति मानसिक तथा बौद्धिक चिन्तन पर आश्रित रहता है, उसे यह संकेत मिल सकता है कि आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही भौतिक शरीर के भीतर स्थित रहते हैं। किन्तु जो भगवान् पर ही आश्रित रह कर *भगवद्गीता* में दिये गये उनके सन्देश को सुनता है, वह पूरी स्थिति को समझता है और वैदिक ज्ञान का वास्तविक उद्देश्य पूरा करके भगवद्धाम जाता है।

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम् ।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

शब्द-ब्रह्म—**वेदों की दिव्य ध्वनि**; सु-दुर्बोधम्—**समझ पाने में अत्यन्त कठिन**; प्राण—**प्राण-वायु**; इन्द्रिय—**इन्द्रियाँ**; मनः—**तथा मन**; मयम्—**विभिन्न स्तरों पर प्राकट्य**; अनन्त-पारम्—**अन्तहीन**; गम्भीरम्—**गहरा**; दुर्विगाह्यम्—**थाह पाना कठिन, अथाह**; समुद्र-वत्—**समुद्र के समान**।

वेदों की दिव्य ध्वनि को समझ पाना अत्यन्त कठिन है और वह प्राण, इन्द्रियों तथा मन के भीतर विभिन्न स्तरों में प्रकट होती है। यह वैदिक ध्वनि समुद्र के समान असीम, अगाध तथा अथाह है।

तात्पर्य : वैदिक ज्ञान के अनुसार वैदिक ध्वनि चार अवस्थाओं में विभक्त है, जिसे सबसे बुद्धिमान ब्राह्मण ही समझ सकते हैं। इसका कारण यह है कि इसके तीन विभाग जीव के भीतर स्थित होते हैं, केवल चौथा विभाग ही वाणी के रूप में बाह्यत: प्रकट होता है। यहाँ तक कि वैदिक ध्वनि की यह चौथी अवस्था, जो कि *वैरवरी* कहलाती है, सामान्य मनुष्य की समझ में नहीं आती। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की व्याख्या है कि ये विभाग निम्नवत हैं। वैदिक ध्वनि की *प्राण* अवस्था *परा* कहलाती है और वह *आधार चक्र* में स्थित है; मानसिक अवस्था *पश्यन्ती* कहलाती है और नाभि-प्रदेश में मणिपूरक चक्र में स्थित है; बौद्धिक अवस्था, जो *मध्यमा* कहलाती है हृदय प्रदेश में *अनाहत* चक्र में स्थित है। अन्त में, वैदिक ध्वनि की व्यक्त ऐन्द्रिय अवस्था *वैरवरी* कहलाती है।

ऐसी वैदिक ध्वनि *अनन्त-पार* है क्योंकि यह ब्रह्माण्ड के भीतर तथा उसके परे की सारी प्राण-शक्तियों को जान लेती है और इस तरह देश या काल से विभाजित नहीं होती। वस्तुत:, वैदिक ध्वनि इतनी सूक्ष्म, अथाह तथा अगाध है कि स्वयं भगवान् तथा उनके शक्तिप्रदत्त अनुयायी यथा व्यास तथा नारद ही उसके वास्तविक स्वरूप तथा अर्थ को समझ सकते हैं। सामान्य जनों के वश की बात नहीं कि वे वैदिक ध्वनि की गूढ़ता तथा सूक्ष्मता को जान सकें, किन्तु यदि कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत को स्वीकार करता है, वह तुरन्त ही समस्त वैदिक ज्ञान के निष्कर्ष अर्थात् वैदिक ज्ञान के मूल स्रोत, भगवान् कृष्ण, को जान लेता है। मूर्खजन अपने प्राण, इन्द्रियाँ तथा मन को इन्द्रियतृप्ति में लगाते हैं; फलत: वे भगवन्नाम की महत्ता को नहीं समझ पाते। अन्ततोगत्वा वैदिक ध्वनि का सार भगवन्नाम ही है, जो स्वयं भगवान् से भिन्न नहीं है। चूँकि भगवान् असीम हैं, इसलिए उनका नाम भी समान रूप से

असीम है। भगवान् की प्रत्यक्ष कृपा के बिना भगवान् की दिव्य महिमा को कोई नहीं समझ सकता। निरपराध होकर, हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे का कीर्तन करने से मनुष्य वैदिक ध्वनि के रहस्यों तक प्रवेश पा जाता है। अन्यथा वेदों का ज्ञान *दुर्विगाह्यम्* अर्थात् अथाह बना रहेगा।

मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणानन्तशक्तिना ।
भूतेषु घोषरूपेण बिसेषूर्णेव लक्ष्यते ॥ ३७॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; उपबृंहितम्—स्थापित; भूम्ना—असीम; ब्रह्मणा—परिवर्तनरहित ब्रह्म द्वारा; अनन्त-शक्तिना—अनन्त शक्ति वाले; भूतेषु—जीवों में; घोष-रूपेण—सूक्ष्म ध्वनि के रूप में, ऊंकार; बिसेषु—सूक्ष्म कमलनाल में; ऊर्णा—एक तन्तु; इव—सदृश; लक्ष्यते—प्रकट होता है।

मैं सारे जीवों के भीतर असीम, अपरिवर्तनीय तथा सर्वशक्तिमान भगवान् के रूप में निवास करते हुए, सारे जीवों के भीतर ऊंकार के रूप में वैदिक ध्वनि स्थापित करता हूँ। वह उसी तरह सूक्ष्म अनुभव की जाती है, जिस तरह कि कमलनाल का एक तन्तु।

तात्पर्य : भगवान् स्वयं प्रत्येक जीव के हृदय के भीतर निवास करते हैं और इस श्लोक से हम यह जान सकते हैं कि समस्त वैदिक ज्ञान का बीज भी सारे जीवों के भीतर स्थित है। इस तरह से वैदिक ज्ञान का उद्बोधन तथा उसे ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध का जागृत होना हर एक के लिए स्वाभाविक तथा आवश्यक भी है। सारी सिद्धि जीव के हृदय के भीतर पाई जाती है। जैसे ही भगवन्नाम का कीर्तन करने से हृदय शुद्ध हो जाता है वैसे ही सिद्धि अर्थात् कृष्णभावनामृत का तुरन्त उदय होता है।

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णामुद्वमते मुखात् ।
आकाशाद्घोषवान्प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा ॥ ३८॥
छन्दोमयोऽमृतमयः सहस्रपदवीं प्रभुः ।
ओंकाराद्व्यञ्जितस्पर्शस्वरोष्मान्तस्थभूषिताम् ॥ ३९॥
विचित्रभाषाविततां छन्दोभिश्चतुरुत्तरैः ।
अनन्तपारां बृहतीं सृजत्याक्षिपते स्वयम् ॥ ४०॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; ऊर्ण-नाभिः—मकड़ा; हृदयात्—अपने हृदय से; ऊर्णाम्—अपने जाले को; उद्वमते—निकालता है; मुखात्—अपने मुँह से होकर; आकाशात्—आकाश से; घोष-वान्—ध्वनि प्रकट करते हुए; प्राणः—मूल प्राण-वायु के रूप में

भगवान्; मनसा—मन के द्वारा; स्पर्श-रूपिणा—स्पर्श अक्षरों के रूप में प्रकट होने वाला; छन्दः-मयः—समस्त छन्दों से युक्त; अमृत-मयः—दिव्य आनन्द से पूरित; सहस्र-पदवीम्—हजारों दिशाओं में फूट कर निकलने वाला; प्रभुः—भगवान्; ओंकारात्—ॐकार सूक्ष्म ध्वनि से; व्यञ्जित—विस्तृत; स्पर्श—व्यंजन से; स्वर—स्वरों; उष्म—उष्म; अन्त-स्थ—तथा उपस्वर; भूषिताम्—अलंकृत; विचित्र—नाना प्रकार की; भाषा—मौखिक अभिव्यक्ति द्वारा; विततम्—विस्तृत; छन्दोभिः—छन्दों से; चतुः-उत्तरैः—पिछले से चार वर्ण अधिक; अनन्त-पाराम्—अन्तहीन; बृहतीम्—वैदिक वाङ्मय का विस्तार; सृजति—उत्पन्न करता है; आक्षिपते—तथा समेट लेता है; स्वयम्—खुद, स्वयं।

जिस प्रकार मकड़ी अपने हृदय से अपना जाला निकाल कर मुख-मार्ग से बाहर उगलती है, उसी तरह भगवान् गूँजती हुई आदि प्राण-वायु के रूप में अपने को प्रकट करते हैं। इस प्राण-वायु में सारे पवित्र वैदिक छन्द तथा दिव्य आनन्द भरे रहते हैं। इस तरह प्रभु अपने हृदय के आकाश से अपने मन के द्वारा महान् तथा असीम वैदिक ध्वनि को उत्पन्न करते हैं, जो स्पर्श जैसी नाना प्रकार की ध्वनियों को जन्म देती है। यह वैदिक ध्वनि हजारों दिशाओं में फूटती है और ॐकार वर्ण से विस्तृत विभिन्न अक्षरों से अलंकृत होती है—यथा व्यंजन, स्वर, उष्म तथा अन्तस्थ। तत्पश्चात् अनेक मौखिक भेदों से वेद का विस्तार होता है और विभिन्न छन्दों में अभिव्यक्ति होती है जिनमें प्रत्येक छंद पिछले वाले से चार वर्ण अधिक होता है। अन्त में भगवान् वैदिक ध्वनि के अपने स्वरूप को अपने ही भीतर समेट लेते हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने इन तीन श्लोकों की विशद पारिभाषिक व्याख्या की है, जिसको समझने के लिए संस्कृत भाषा का विस्तृत ज्ञान अपेक्षित है। किन्तु मूल बात यह है कि दिव्य ज्ञान की अभिव्यक्ति वैदिक ध्वनि द्वारा होती है, जो स्वयं परब्रह्म परमेश्वर का स्वरूप है। वैदिक ध्वनि भगवान् से निकलती है और उनको समझने तथा उनका गुणानुवाद करने के लिए ही ध्वनित की जाती है। समस्त वैदिक ध्वनि का सार *भगवद्गीता* में निहित है, जिसमें भगवान् कहते हैं—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—सारा वैदिक ज्ञान हमें यह शिक्षा देने निमित्त है कि हम ईश्वर को जानें और उन्हें प्रेम करें। जो व्यक्ति सदैव कृष्ण चिन्तन करता है, जो उनका भक्त बनता है और जो व्यक्ति श्रद्धा तथा भक्ति के साथ उनको नमस्कार करता है तथा उनके पवित्र नाम का कीर्तन करते हुए पूजता है, वह निश्चित रूप से उस सबकी पूरी जानकारी पा लेता है, जिसको *वेद* (ज्ञान) शब्द से इंगित किया गया है।

गायत्र्युष्णिगनुष्टुप्च बृहती पङ्क्तिरेव च ।
त्रिष्टुब्जगत्यतिच्छन्दो ह्यत्यष्ट्यतिजगद्विराट् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

गायत्री उष्णिक् अनुष्टुप् च—गायत्री, उष्णिक तथा अनुष्टुप् नामक; बृहती पङ्क्तिः—बृहती तथा पंक्ति; एव च—भी; त्रिष्टुप् जगती अतिच्छन्दः—त्रिष्टुप्, जगती तथा अतिच्छन्द; हि—निस्सन्देह; अत्यष्टि-अतिजगत्-विराट्—अत्यष्टि, अतिजगती तथा अतिविराट।

वैदिक छन्द हैं—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिच्छन्द, अत्यष्टि, अतिजगती तथा अतिविराट।

तात्पर्य : गायत्री छन्द में २४ अक्षर होते हैं, उष्णिक् में २८ तथा अनुष्टुप् में ३२ इत्यादि। इस तरह हर छन्द में पिछले की अपेक्षा चार अक्षर अधिक होते जाते हैं। वैदिक ध्वनि *बृहती* कहलाती है, अतएव सामान्य जीवों को इस विषय की सारी पारिभाषिक बातें समझ पाना सम्भव नहीं है।

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत् ।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; विधत्ते—(कर्म-काण्ड में) आदेश है; किम्—क्या; आचष्टे—(देवता-काण्ड में) सूचित होता है; किम्—क्या; अनूद्य—विभिन्न प्रकार से वर्णन करके; विकल्पयेत्—विकल्प की संभावना बताता है (ज्ञान-काण्ड में); इति—इस प्रकार; अस्याः—वैदिक वाङ्मय का; हृदयम्—हृदय, अथवा गुप्त उद्देश्य; लोके—इस जगत में; न—नहीं; अन्यः—दूसरा; मत्—मेरी अपेक्षा; वेद—जानता है; कश्चन—कोई।

सारे जगत में मेरे अतिरिक्त अन्य कोई वैदिक ज्ञान के गुह्य उद्देश्य को नहीं समझता। अतः लोग यह नहीं जानते कि कर्म-काण्ड के अनुष्ठानिक आदेशों में वेद किस बात की संस्तुति कर रहे हैं अथवा उपासना-काण्ड में प्राप्य पूजा के सूत्रों से कौन-सी वस्तु सूचित होती है अथवा वेदों के ज्ञान-काण्ड में विभिन्न संकल्पनाओं के माध्यम से किसकी विशद व्याख्या की गई है।

तात्पर्य : भगवान् परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण हैं। चूँकि भगवान् ही वैदिक ज्ञान के उद्गम, पालक तथा चरम लक्ष्य हैं, अतएव वे *वेदवित्* हैं। तथाकथित दार्शनिक, चाहे वे वैदिक पंडित हों या सामान्यजन, अपना अपना सांप्रदायिक मत दे सकते हैं किन्तु वेदों के गुप्त उद्देश्य को स्वयं भगवान् ही जानते हैं। वे ही सारे जीवों के एकमात्र आश्रय तथा प्रेय हैं। उन्होंने *भगवद्गीता* के दसवें अध्याय (१०.४१) में कहा है—

यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।

तद्तद् एवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽश सम्भवम्॥

"तुम जान लो कि सारी सुन्दर, भव्य तथा तेजस्वी सृष्टियाँ मेरे तेज के एक स्फुलिंग मात्र से उद्भूत हैं।" सारी सुन्दर अद्वितीय तथा शक्तिशाली अभिव्यक्तियाँ भगवान् के निजी ऐश्वर्य के तुच्छ

प्रदर्शन हैं। भले ही सामान्यजन धर्म को लेकर परस्पर लड़ें-झगड़ें, किन्तु वास्तविक उद्देश्य तो एक है—कृष्णभावनामृत या भगवत्प्रेम। सारे वैदिक सूत्र कृष्णभावनामृत की पूर्ण अवस्था तक ले जाने वाली प्रारम्भिक अवस्थाएँ हैं जिनमें मनुष्य भगवद्भक्ति को आत्मसमर्पण करता है। इस जगत में भगवद्भक्त उनका प्रतिनिधित्व करते हैं औरवे कभी ऐसी बात नहीं कहते जिसका अधिकार उन्हें भगवान् से प्राप्त न हो। चूँकि वे भगवान् के ही शब्दों को दुहराते हैं, इसलिए उन्हें भी *वेदवित्* माना जाता है।

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम् ।
एतावान्सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम् ।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; विधत्ते—यज्ञ में आदेश देता है; अभिधत्ते—पूजा की वस्तु के रूप में नामकरण करता है; माम्—मुझको; विकल्प्य—विकल्प के रूप में प्रस्तुत करके; अपोह्यते—खंडन किया जाता हूँ; तु—भी; अहम्—मैं; एतावान्—इस तरह; सर्व-वेद—सारे वेदों का; अर्थः—अर्थ; शब्दः—ध्वनि; आस्थाय—स्थापित करके; माम्—मुझको; भिदाम्—भौतिक द्वैत; माया-मात्रम्—मात्र माया के रूप में; अनूद्य—विस्तार से वर्णन करके; अन्ते—अन्त में; प्रतिषिध्य—निषेध करके; प्रसीदति—तुष्ट हो जाता है।.

मैं वेदों द्वारा आदिष्ट अनुष्ठानिक यज्ञ हूँ और मैं ही उपास्य देव हूँ। मैं ही विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों द्वारा प्रस्तुत किया जाता हूँ और दार्शनिक विश्लेषण द्वारा निषेध किया जाने वाला भी मैं ही हूँ। इस तरह दिव्य ध्वनि मुझे समस्त वैदिक ज्ञान के अनिवार्य अर्थ के रूप में स्थापित करती है। सारे वेद समस्त भौतिक द्वैत का विस्तारपूर्वक विश्लेषण करते हुए उसे मेरी ही मोहक शक्ति मान कर, अन्त में इस द्वैत का पूर्णतया निषेध करते हैं और अपने आप को तुष्ट करते हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में भगवान् यह घोषित कर चुके हैं कि एकमात्र वे ही वेदों के परम आशय को जानते हैं और अब वे यह प्रकट करत हैं कि वे ही समस्त वैदिक ज्ञान के परम आधार तथा आशय हैं। वेदों के *कर्मकाण्ड* अनुभाग में स्वर्ग जाने के लिए अनुष्ठानिक यज्ञों की संस्तुति हुई है। ऐसे यज्ञ साक्षात् भगवान् ही हैं। इसी तरह वेदों के *उपासना-काण्ड* में विभिन्न देवताओं को पूजा का विषय बतलाया गया है और ये देव भगवान् के अंश होने के कारण उनसे भिन्न नहीं हैं। वेदों के *ज्ञान-काण्ड* में विश्लेषण की विविध दार्शनिक विधियों का मंडन तथा खण्डन मिलता है। ऐसा ज्ञान जो भगवान् की शक्ति का विश्लेषण करता है, भगवान् से भिन्न नहीं है। अन्ततः भगवान् कृष्ण ही सर्वस्व हैं क्योंकि हर

वस्तु भगवान् की विविध शक्तियों का अंश है। यद्यपि वैदिक वाङ्मय द्वैत में लीन लोगों को अनेक प्रकार के इच्छित भौतिक फल प्रदान करते हुए, उन्हें वैदिक जीवन-शैली अपनाने के लिए मोहित करता है, किन्तु सारे वेद अन्त में समस्त द्वैत का निषेध करते हुए मनुष्य को ईश-भावनामृत की अवस्था तक ले जाते हैं जहाँ पर कोई भी वस्तु भगवान् से भिन्न नहीं रह जाती।

वैदिक वाङ्मय में ऐसे अनेक आदेश हैं जिनमें कहा गया है कि जीवन की एक विशेष अवस्था में मनुष्य कर्म-काण्ड छोड़ कर ज्ञान-मार्ग अपनाये। इसी तरह अन्य आदेश यह घोषित करते हैं कि मानसिक चिंतन त्याग कर परब्रह्म परमेश्वर की शरण ग्रहण की जाय। किन्तु किसी भी स्थल पर यह आदेश नहीं है कि कोई व्यक्ति भगवद्भक्ति छोड़ दे क्योंकि यह तो हर जीव का शाश्वत स्वाभाविक पद है। वेदों में अनेकानेक मतों का मंडन-खंडन हुआ है क्योंकि प्रगति करने वाले व्यक्ति को ज्ञान की दिशा में प्रगति करते हुए पिछली अवस्था को त्यागना होता है। उदाहरणार्थ, जो व्यक्ति यौन में लिप्त रहता है, उसके लिए यह शिक्षा दी जाती है कि वह धर्म-विवाह करके अपनी पत्नी के साथ यौन-सुख भोगे। किन्तु जब व्यक्ति वैराग्य अवस्था को प्राप्त कर ले, तो उसे ऐसे अनुष्ठानिक ज्ञान का परित्याग कर देना चाहिए और संन्यास ले लेना चाहिये। इस अवस्था में मनुष्य को स्त्री का दर्शन करने या उससे बोलने का भी निषेध रहता है। किन्तु जब कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत की सिद्धि को प्राप्त होता है, जिसमें सर्वत्र भगवान् प्रकट दिखते हैं, तो वह सारे जीवों को, जिसमें स्त्रियाँ भी शामिल हैं, भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगाये क्योंकि तब उसके आध्यात्मिक पतन का कोई भय नहीं रह जाता। इस तरह वैदिक वाङ्मय में आध्यात्मिक दृष्टि की उत्तरोत्तर अवस्थाओं पर आधारित विभिन्न आदेशों का खण्डन-मण्डन मिलता है। चूँकि ऐसे सारे आदेश तथा सारी विधियाँ कृष्णभावनामृत प्राप्त करने के निमित्त हैं, अतएव वे भगवान् से भिन्न नहीं हैं। इसलिए बद्ध आत्मा को किसी बीच की अवस्था को जीवन का असली लक्ष्य मान कर भगवद्धाम जाने की यात्रा पर रुक नहीं जाना चाहिए। उसे यह समझ लेना चाहिए कि भगवान् श्रीकृष्ण ही हर वस्तु के उद्गम, स्थिति तथा आश्रय हैं और हर जीव उनका नित्य दास है। इस तरह आनन्द तथा ज्ञान के शाश्वत जीवन के लिए मनुष्य को भगवद्धाम जाने के लिए वैदिक मार्ग पर चलते रहना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''भगवान् कृष्ण द्वारा वैदिक पथ की

व्याख्या'' नामक इक्कीसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बाईस

भौतिक सृष्टि के तत्त्वों की गणना

इस अध्याय में प्राकृतिक तत्त्वों की गणना एवं उनका वर्गीकरण किया गया है, पुरुष तथा स्त्री प्रकृति का अन्तर बतलाया गया है और जन्म-मृत्यु का वर्णन किया गया है।

भौतिक तत्त्वों के विषय में अनेक मत हैं। किन्तु यह मतान्तर जो कि माया के प्रभाव से है, तर्कहीन नहीं है। प्रकृति के सारे तत्त्व सर्वत्र विद्यमान हैं; अतएव जिन विद्वानों ने भगवान् की मायाशक्ति को स्वीकार किया है, वे अनेक प्रकार के सिद्धान्त प्रस्तावित कर सकते हैं। उनके पारस्परिक विरोधी तर्कों का मूल कारण ईश्वर की दुर्लंघ्य माया है।

परम भोक्ता तथा परम नियन्ता में कोई भेद नहीं है। उनमें किसी अन्तर की पूर्वकल्पना व्यर्थ है। सामान्य ज्ञान भौतिक प्रकृति का केवल गुण है, आत्मा का नहीं है। भौतिक प्रकृति के कच्चे माल को उसकी विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार अभिहित किया जाता है। सतोगुण में इसे ज्ञान कहते हैं, रजोगुण में क्रिया और तमोगुण में अज्ञान कहते हैं। भगवान् का दूसरा नाम काल है और भौतिक लिप्सा का अन्य नाम *सूत्र* या *महत्-तत्त्व* है। प्रकृति के पच्चीस तत्त्व हैं—भगवान्, प्रकृति, महत्, मिथ्या अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, आँखें, कान, नाक, जीभ, त्वचा, वाणी, हाथ, पाँव, जननांग, गुदा, मन, ध्वनि, स्पर्श, रूप, स्वाद तथा गंध।

अव्यक्त परम पुरुष प्रकृति पर केवल दृष्टिपात करता है। तब प्रकृति जो भगवान् के नियंत्रण में है, कारण-कार्य का रूप धारण करती है और भौतिक जगत के सृजन, पालन तथा संहार का कार्य सम्पन्न करती है। यद्यपि ऊपरी दृष्टि से *पुरुष* तथा *प्रकृति* अभिन्न लगते हैं, किन्तु उनमें अन्तर तो होता ही है। भौतिक सृष्टि प्रकृति के गुणों से उत्पन्न होती है और इसका गुण है विकार। जीव, जो कि भगवान् से शत्रुभाव रखते हैं, अपने भौतिक कार्य के माध्यम से नाना प्रकार के शरीर धारण करते और त्यागते रहते हैं। किन्तु जो लोग माया द्वारा मोहित होकर आत्मा से अनजान रहते जाते हैं, वे इसे नहीं समझते। मन

सकाम कर्म की भावना से पूरित होने के कारण इन्द्रियों को एक शरीर से दूसरे शरीर में ले जाता है और आत्मा उसी के पीछे चलता रहता है। इतने पर भी इन्द्रियतृप्ति में लीन रहने से मनुष्य अपने विगत जीवन को स्मरण नहीं रख पाता।

शरीर में नौ अवस्थाएँ होती हैं, जो प्रकृति के गुणों की संगति से आती हैं। ये हैं—गर्भाधान, गर्भवृद्धि, जन्म, बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, मध्यावस्था, वृद्धावस्था तथा मृत्यु। अपने पिता की मृत्यु तथा अपने पुत्र के जन्म से मनुष्य अपने शरीर के उत्थान-पतन के विषय में आसानी से समझ सकता है। आत्मा, जो कि द्रष्टा है, इस शरीर से भिन्न है। किन्तु सही तथ्यों की जानकारी न होने से, जीव इन्द्रियतृप्ति के विषयों से उलझ कर, भौतिक जगत के चक्र में अपना गन्तव्य प्राप्त करता है। इस तरह जीव भौतिक कार्य के वशीभूत होकर निरन्तर भटकता रहता है—सतोगुण की प्रधानता होने पर वह साधु या देवता के रूप में जन्म लेता है; रजोगुण की प्रधानता होने पर असुरों या मनुष्यों के रूप में और तमोगुण की प्रधानता होने पर भूतप्रेतों या पशुओं की योनि में भटकता रहता है। आत्मा कभी भी इन्द्रिय-विषयों के भोग में लिप्त नहीं होता, प्रत्युत इन्द्रियाँ ही यह कार्य करती हैं। इसलिए जीव को इन्द्रियतृप्ति के आनन्दों की कोई वास्तविक आवश्यकता नहीं पड़ती। जिन लोगों ने भगवान् के चरणकमलों की शरण ले रखी है और जो उनकी दिव्य सेवा में समर्पित रहते हैं, ऐसे शान्त पुरुषों के अतिरिक्त सारे लोग, यहाँ तक कि तथाकथित विद्वान पंडित भी सर्वशक्तिमान प्रकृति द्वारा अनिवार्य रूप से पराजित हो जाते हैं।

श्रीउद्धव उवाच

कति तत्त्वानि विश्वेश सङ्ख्यातान्यृषिभिः प्रभो ।
नवैकादश पञ्च त्रीण्यात्थ त्वमिह शुश्रुम ॥ १ ॥
केचित्षड्विंशतिं प्राहुरपरे पञ्चविंशतिं ।
सप्तैके नव षट्केचिच्चत्वार्येकादशापरे ।
केचित्सप्तदश प्राहुः षोडशैके त्रयोदश ॥ २ ॥
एतावत्त्वं हि सङ्ख्यानामृषयो यद्विवक्षया ।
गायन्ति पृथगायुष्मन्निदं नो वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; कति—कितने; तत्त्वानि—सृष्टि के मूलभूत तत्त्व; विश्व-ईश—हे ब्रह्माण्ड के स्वामी; सङ्ख्यातानि—गिनाये गये हैं; ऋषिभिः—महान् अधिकारियों द्वारा; प्रभो—हे स्वामी; नव—नौ (ईश्वर, आत्मा, महत् तत्त्व,

मिथ्या अहंकार तथा पाँच स्थूल तत्त्व); एकादश—ग्यारह (दस ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ मन); पञ्च—पाँच (पाँच इन्द्रिय-विषय); त्रीणि—तीन (सतो, रजो तथा तमोगुण इस प्रकार कुल मिलाकर अट्ठाईस); आत्थ—कहा है; त्वम्—तुमने; इह—इस जगत में आविर्भूत होकर; शुश्रुम—ऐसा मैंने सुना है; केचित्—कुछ; षट्-विंशतिम्—छब्बीस; प्राहुः—कहते हैं; अपरे—अन्य; पञ्च-विंशतिम्—पच्चीस; सप्त—सात; एके—कुछ; नव—नौ; षट्—छः; केचित्—कुछ; चत्वारि—चार; एकादश—ग्यारह; अपरे—और दूसरे; केचित्—कुछ; सप्तदश—सत्रह; प्राहुः—कहते हैं; षोडश—सोलह; एके—कुछ; त्रयोदश—तेरह; एतावत्त्वम्—ऐसी गणनाएँ; हि—निस्सन्देह; सङ्ख्यानाम्—तत्त्वों की गणना करने की विविध विधियों के; ऋषयः—ऋषिगण; यत् विवक्षया—यह व्यक्त करने के विचार से कि कौन-से भाव; गायन्ति—उन्होंने घोषित किया है; पृथक्—विविध प्रकारों से; आयुः-मन्—हे परम शाश्वत; इदम्—यह; नः—हमसे; वक्तुम्—बताने के लिए; अर्हसि—तुम्हें चाहिए।

उद्धव ने पूछा : हे प्रभु, हे ब्रह्माण्ड के स्वामी, ऋषियों ने सृष्टि के तत्त्वों की कितनी संख्या बतलाई है? मैंने आपके मुख से कुल अट्ठाइस का वर्णन सुना है—ईश्वर, जीवात्मा, महत तत्त्व, मिथ्या अहंकार, पाँच स्थूल तत्त्व, दस इन्द्रियाँ, मन, पाँच सूक्ष्म इन्द्रिय-विषय तथा तीन गुण। किन्तु कुछ विद्वान छब्बीस तत्त्व बतलाते हैं जबकि अन्य लोग इनकी संख्या पच्चीस या सात, नौ, छह, चार या ग्यारह और कुछ लोग सत्रह, सोलह या तेरह बतलाते हैं। जब ये ऋषि ऐसे विविध प्रकारों से सर्जक तत्त्वों की गणना कर रहे थे, तो उनके मनों में क्याथा? हे परम शाश्वत, कृपा करके मुझे यह बतलायें।

तात्पर्य : पिछले अध्याय में श्रीकृष्ण ने यह भलीभाँति समझाया है कि वैदिक ज्ञान इन्द्रियतृप्ति के लिए न होकर भौतिक बन्धन से मोक्ष के लिए होता है। अब उद्धव बीच में कुछ प्रश्न पूछ रहे हैं जिनके उत्तर मिलने ही चाहिए ताकि मोक्ष का मार्ग साफ हो जाय। ऐतिहासिक दृष्टि से विभिन्न दार्शनिकों ने भौतिक तत्त्वों की सही संख्या के बारे में, विशिष्ट बाह्य पदार्थों के होने-न होने के बारे में तथा आत्मा के अस्तित्व के बारे में असहमति व्यक्त की है। वेदों के ज्ञानकांड अनुभाग का उद्देश्य भौतिक जगत के वैश्लेषिक ज्ञान तथा दिव्य तत्त्व के रूप में आत्मा के ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त कराना है। अन्ततः परमेश्वर सभी तत्त्वों के ऊपर हैं और वे अपनी निजी शक्ति से उनको धारण करते हैं। उद्धव विभिन्न ऋषियों की कार्यप्रणालियों को संख्या के द्वारा बताते हुए सर्वप्रथम भगवान् का मत प्रस्तुत करते हैं। इस सम्बन्ध में *आयुष्मन्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। चूँकि भगवान् कृष्ण शाश्वत हैं अतएव उन्हें भूत, वर्तमान तथा भविष्य का पूरा पूरा ज्ञान रहता है और इस तरह वे आदि तथा सर्वोच्च दार्शनिक हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार उद्धव द्वारा उल्लिखित विविध वैश्लेषिक विधियाँ परस्पर विरोधी नहीं हैं क्योंकि वे एक ही सत्य के कोटि-निर्धारण की पृथक्-पृथक् विधियाँ हैं। सत्य

के नास्तिक चिन्तन में ईश्वर के अस्तित्व को कोई मान्यता नहीं दी जाती; फलत: सत्य की व्याख्या करना व्यर्थ का प्रयास होगा। भगवान् स्वयं ही विभिन्न जीवों को सत्य के बारे में भिन्न भिन्न प्रकारों से सोचने तथा बोलने की शक्ति प्रदान करते हैं। किन्तु वास्तविक सत्य तो साक्षात् भगवान् हैं, जो अब श्री उद्धव से बोलेंगे।

श्रीभगवानुवाच
युक्तं च सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा ।
मायां मदीयामुद्गृह्य वदतां किं नु दुर्घटम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; युक्तम्—युक्तियुक्त; च—भी; सन्ति—उपस्थित रहते हैं; सर्वत्र—सभी जगह; भाषन्ते—कहते हैं; ब्राह्मणा:—ब्राह्मणजन; यथा—कैसे; मायाम्—योगशक्ति; मदीयम्—मेरी; उद्गृह्य—अपनाकर; वदताम्—बोलने वाले के; किम्—क्या; नु—आखिरकार; दुर्घटम्—असम्भव होगा।

भगवान् कृष्ण ने उत्तर दिया : चूँकि सारे तत्त्व सभी जगह उपस्थित रहते हैं इसलिए यह युक्तियुक्त है कि विभिन्न विद्वान ब्राह्मणों ने उनकी व्याख्या भिन्न भिन्न विधियों से की है। ऐसे सभी दार्शनिकों ने मेरी योगशक्ति का आश्रय लेकर ही ऐसा कहा है, अतएव वे सत्य का खण्डन किये बिना कुछ भी कह सकते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *सन्ति सर्वत्र* से यह सूचित होता है कि सारे भौतिक तत्त्व एक-दूसरे के भीतर स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों में पाये जाते हैं। इसलिए असंख्य प्रकारों से उनका कोटि-निर्धारण करके वर्णन किया जा सकता है। भौतिक जगत आखिरकार मायामय है और निरन्तर रूपान्तरित होता रहता है। इसकी माप विभिन्न विधियों से की जा सकती है, जिस तरह कि मृगमरीचिका को विविध प्रकारों से बतलाया जाता है किन्तु भगवान् ने जिन अट्ठाईस तत्त्वों को बतलाया है, वे सही हैं और उन्हें स्वीकार कर लेना चाहिए। श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि इस श्लोक में *माया* शब्द *महामाया* अर्थात् अविद्याशक्ति का सूचक नहीं है अपितु भगवान् की अचिन्त्य योगशक्ति का सूचक है, जो वैदिक ज्ञान के विद्वान अनुयायियों को शरण देने वाली है। यहाँ पर जिन जिन दार्शनिकों का उल्लेख हुआ है वे सत्य के किसी विशेष पक्ष का उद्घाटन करते हैं और उनके मत विरोधी नहीं हैं क्योंकि वे एक ही घटना को कोटि-निर्धारण की विभिन्न प्रणालियों से बतला रहे हैं। भौतिक जगत में ऐसी दार्शनिक असहमति का कोई अन्त नहीं है, इसलिए सबों को भगवान् के मत के विषय में एक हो जाना चाहिए,

जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है। इसी तरह *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण सभी बद्धात्माओं से अनुरोध करते हैं कि वे विविध प्रकार की पूजाएँ छोड़ कर उनके भक्त बन कर पूर्ण कृष्णभावनामृत में उनकी शरण में आयें। इस तरह हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे के कीर्तन से सारे ब्रह्माण्ड को भगवत्प्रेम में एक किया जा सकता है। इस तरह एक निष्ठावान भक्त से अपनी बात बताकर वैश्लेषिक दर्शन के विवाद को समाप्त कर दिया गया है।

नैतदेवं यथात्थ त्वं यदहं वच्मि तत्तथा ।
एवं विवदतां हेतुं शक्तयो मे दुरत्ययाः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं है; एतत्—यह; एवम्—ऐसा; यथा—जिस तरह; आत्थ—कहते हो; त्वम्—तुम; यत्—जो; अहम्—मैं; वच्मि—कह रहा हूँ; तत्—वह; तथा—उस तरह; एवम्—इस तरह; विवदताम्—तर्क करनेवालों के लिए; हेतुम्—तर्कपूर्ण कारणों पर; शक्तयः—शक्तियाँ; मे—मेरी; दुरत्ययाः—दुर्लंघ्य।

जब दार्शनिकजन तर्क करते हैं, ''तुम जिस तरह इस विशेष प्रसंग की व्याख्या करना चाहते हो, मैं उसे उस रूप में नहीं करना चाहता'' तो इसमें मेरी दुर्लंघ्य शक्तियाँ ही उनकी विश्लेषणान्तमक असहमतियों को प्रेरणा देती हैं।

तात्पर्य : भगवान् की भौतिक शक्तियों के कारण ही संसारी दार्शनिकजन निरन्तर यह वाद-विवाद करते रहते हैं कि मुर्गी पहले आई कि अंडा। विभिन्न दार्शनिकजन सतो, रजो तथा तमोगुणों के प्रभाव के कारण विभिन्न मतों के प्रति आकृष्ट होते हैं और भगवान् द्वारा उत्पन्न भौतिक वातावरण के प्रभाव से, ये दार्शनिक एक-दूसरे से निरन्तर असहमत रहते हैं। किन्तु स्वयं भगवान् ने स्पष्ट व्याख्या की है। *श्रीमद्भागवत* (६.४.३१) में कहा गया है—

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै

विवादसंवादभुवो भवन्ति।

कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं

तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने॥

''मैं उन सर्वव्यापक भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ जिनमें असीम दिव्य गुण पाये जाते हैं। विभिन्न मतावलम्बी दार्शनिकों के हृदयों के भीतर से कर्म करते हुए उन्होंने उन्हें उनकी आत्मा भुलवा दी जिससे वे कभी तो सहमत होते हैं और कभी असहमत। इस तरह भगवान् इस जगत में ऐसी स्थिति

उत्पन्न कर देते हैं जिसमें वे एकमत नहीं हो पाते। मैं उन्हें सादर नमस्कार करता हूँ।

यासां व्यतिकरादासीद्विकल्पो वदतां पदम् ।
प्राप्ते शमदमेऽप्येति वादस्तमनु शाम्यति ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यासाम्—जिन (मेरी शक्तियों) के; व्यतिकरात्—परस्पर क्रिया से; आसीत्—उत्पन्न हुआ है; विकल्पः—मतभेद; वदताम्—विवाद करने वालों के; पदम्—विवाद का विषय; प्राप्ते—प्राप्त कर चुकने पर; शम—मुझ पर अपनी बुद्धि स्थिर करने की सामर्थ्य; दमे—बाह्य इन्द्रियों पर नियंत्रण; अप्येति—(मतभेद) दूर हो जाता है; वादः—विवाद, तर्क; तम् अनु—फलस्वरूप; शाम्यति—शमन हो जाता है।

मेरी शक्तियों की अन्योन्य क्रिया से विभिन्न मत (वाद) उत्पन्न होते हैं। किन्तु जिन लोगों ने अपनी बुद्धि मुझ पर स्थिर कर ली है और अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया है, उनके मतभेद दूर हो जाते हैं और इस तरह तर्क (वाद-विवाद) का कारण ही मिट जाता है।

तात्पर्य : विभिन्न दार्शनिकजनों के मनों में भगवान् की भौतिक शक्तियों की अन्योन्य क्रिया से विरोधी अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं। ये दार्शनिक अपने अपने मतों का समर्थन यह कह कर करते हैं, "यह हो सकता है अथवा कदाचित् वह हो सकता है, या यह नहीं हो सकता है अथवा कदाचित् वह नहीं हो सकता।" ऐसे तर्कपूर्ण प्रस्ताव, संशय, विरोधी प्रस्ताव आदि हजारों रूप धारण करके वाद-विवाद का आधार बनते हैं। वस्तुतः भगवान् कृष्ण सारे जगत के आधार हैं क्योंकि सारी वस्तुएँ उन्हीं से उद्भूत हैं, उन्हीं के द्वारा पालित हैं और अन्त में भगवान् के भीतर ही लीन हो जाती हैं। कृष्ण *परतत्त्व* हैं अर्थात् समस्त परतंत्र सत्यों के मूल में पाये जाने वाले सर्वोच्च सत्य हैं। ऐसे विद्वान पुरुषों के समाज में, जिन्होंने भगवान् को सर्वस्व समझ लिया हो और कोई दार्शनिक विवाद नहीं उत्पन्न होता। ऐसा मतैक्य दार्शनिक जिज्ञासा की अनुपस्थिति या तार्किक व्याख्या पर निर्भर नहीं रहता अपितु यह आध्यात्मिक प्रकाश का सहज परिणाम होता है। तथाकथित दार्शनिक डींग मारते हैं कि वे परब्रह्म की खोज पर खोज करते जा रहे हैं किन्तु वे परब्रह्म को पा लेने वाले को उससे अल्पज्ञ मानते हैं जिसने परम सत्य को अभी नहीं पाया है परन्तु जो उसे अभी खोज रहा है। चूँकि कृष्ण परब्रह्म हैं, अतएव जो पूरी तरह उनकी शरण में जाता है, वह अत्यन्त विद्वान पुरुष बन जाता है।

परस्परानुप्रवेशात्तत्त्वानां पुरुषर्षभ ।

पौर्वापर्यप्रसङ्ख्यानं यथा वक्तुर्विवक्षितम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

परस्पर—आपस में; अनुप्रवेशात्—प्रवेश करने के कारण (सूक्ष्म कारण का स्थूल कारण में या इसके विपरीत); तत्त्वानाम्—विभिन्न तत्त्वों के; पुरुष-ऋषभ—हे पुरुष-श्रेष्ठ (उद्धव); पौर्व—पूर्व कारणों के रूप में; अपर्य—अथवा प्रतिफलों की; प्रसङ्ख्यानम्—गणना; यथा—किन्तु; वक्तुः—वक्ता; विवक्षितम्—वर्णन करने के लिए इच्छुक।

हे पुरुष-श्रेष्ठ, चूँकि सूक्ष्म तथा स्थूल तत्त्व एक-दूसरे में प्रविष्ट हो जाते हैं, इसलिए दार्शनिकजन अपनी अपनी इच्छानुसार विभिन्न प्रकारों से मूलभूत भौतिक तत्त्वों की गणना कर सकते हैं।

तात्पर्य : भौतिक सृष्टि का जन्म शृंखला प्रतिक्रिया के रूप में घटित होता है, जिसमें सूक्ष्म तत्त्व विस्तार करके घनीभूत तत्त्वों में बदलते जाते हैं। चूँकि कारण एक तरह से कार्य में उपस्थित रहता है और इसी तरह कार्य कारण के भीतर उपस्थित रहता है, इसलिए सारे सूक्ष्म तथा स्थूल तत्त्व एक-दूसरे के भीतर प्रवेश कर गये हैं। इस तरह मूलभूत भौतिक तत्त्वों को अपने अपने तरीके से विभिन्न संख्याएँ तथा नाम प्रदान करके अनेक प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है। यद्यपि भौतिक दार्शनिकजन बड़े ही घमंड के साथ अपने अपने सिद्धान्तों को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं किन्तु वे सब अपनी अपनी मनोवृत्तियों के अनुसार अनुमान लगाते हैं जैसाकि इस श्लोक में तथा अगले श्लोक में वर्णन हुआ है।

एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानीतराणि च ।
पूर्वस्मिन्वा परस्मिन्वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वशः ॥ ८॥

शब्दार्थ

एकस्मिन्—एक (तत्त्व) में; अपि—भी; दृश्यन्ते—देखे जाते हैं; प्रविष्टानि—भीतर घुसे हुए; इतराणि—अन्य; च—भी; पूर्वस्मिन्—पूर्व वाले में; वा—अथवा; परस्मिन्—अथवा बाद वाले में; वा—अथवा; तत्त्वे—किसी तत्त्व में; तत्त्वानि—अन्य तत्त्व; सर्वशः—विभिन्न गणनाओं में से हर एक में।

सारे सूक्ष्म तत्त्व वस्तुतः अपने स्थूल कार्यों के भीतर उपस्थित रहते हैं। इसी तरह सारे स्थूल तत्त्व अपने सूक्ष्म कारणों के भीतर उपस्थित रहते हैं क्योंकि भौतिक सृष्टि सूक्ष्म से स्थूल तत्त्वों की क्रमागत अभिव्यक्ति के रूप में होती है। इस तरह हम किसी एक तत्त्व में सारे भौतिक तत्त्वों को पा सकते हैं।

तात्पर्य : चूँकि भौतिक तत्त्व एक-दूसरे के भीतर उपस्थित हैं, इसलिए ईश्वर की सृष्टि का विश्लेषण करने तथा उसे श्रेणीबद्ध करने की असंख्य विधियाँ हैं। किन्तु अन्ततः सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व स्वयं भगवान् हैं, जो विराट विश्व के समस्त रूपान्तरों के आधार हैं। जैसाकि भगवान् कपिल के *सांख्य*

योग में बतलाया गया है, भौतिक जगत की सृष्टि सूक्ष्म से स्थूल तत्त्वों की ओर अग्रसर होने से होती है। यहाँ यह उदाहरण दिया जा सकता कि हमें कीचड़ के भीतर मिट्टी का छिपा हुआ पात्र मिल सकता है और मिट्टी के पात्र के भीतर कीचड़ मिल सकता है। इसी तरह एक तत्त्व दूसरे के भीतर उपस्थित है। और अन्त में सारे तत्त्व भगवान् में आश्रय पाते हैं, जो सारी वस्तुओं के भीतर एक ही समय में उपस्थित रहते हैं। इस तरह इस ब्रह्माण्ड को यथार्थ रूप में समझने के लिए कृष्णभावनामृत एक परम वैज्ञानिक विधि है।

पौर्वापर्यमतोऽमीषां प्रसङ्ख्यानमभीप्सताम् ।
यथा विविक्तं यद्वक्त्रं गृह्णीमो युक्तिसम्भवात् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

पौर्व—कारणरूप तत्त्वों को उनके व्यक्त कार्यों में सम्मिलित मानते हुए; अपर्यम्—अथवा तत्त्वों में उनके सूक्ष्म कारणों को निहित मानते हुए; अतः—इसलिए; अमीषाम्—इन चिन्तकों के; प्रसङ्ख्यानम्—गणना करते हुए; अभीप्सताम्—इच्छाकरने वालों के; यथा—जिस तरह; विविक्तम्—निश्चित; यत्-वक्त्रम्—जिसके मुख से; गृह्णीमः—हम स्वीकार करते हैं; युक्ति—तर्क का; सम्भवात्—सम्भावना से।

इसलिए इनमें से चाहे जो भी विचारक बोल रहा हो और इसकी परवाह न करते हुए कि वे अपनी गणनाओं में भौतिक तत्त्वों को उनके पिछले सूक्ष्म कारणों में सम्मिलित करें अथवा उनके परवर्ती प्रकट कार्यों के भीतर करें, मैं उनके मतों को प्रामाणिक मान लेता हूँ क्योंकि विभिन्न सिद्धान्तों में से हर एक की तार्किक व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है।

तात्पर्य : यद्यपि असंख्य दार्शनिक भौतिक सृष्टि का विवेकपूर्ण वर्णन विभिन्न दृष्टियों से कर सकते हैं, किन्तु कृष्णभावनामृत के बिना किसी का भी ज्ञान पूर्ण नहीं बन सकता। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति को केवल इस आधार पर झूठे ही गर्व नहीं करना चाहिए कि उसने इस जगत के भीतर किसी विशेष सत्य को निश्चित कर लिया है। भगवान् यहाँ पर बतलाते हैं कि जो कोई विश्लेषण की वैदिक विधि का अनुसरण करता है, उसे भौतिक सृष्टि के विषय में अनेक अन्तर्दृष्टियाँ प्राप्त होंगी। किन्तु अन्ततः मनुष्य को भगवान् का भक्त बन कर कृष्णभावनामृत में अपने ज्ञान को पूर्ण बनाना चाहिए।

अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम् ।
स्वतो न सम्भवादन्यस्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अनादि—जिसका आदि न हो; अविद्या—अज्ञान से; युक्तस्य—जुड़े रहने वाले; पुरुषस्य—पुरुष का; आत्म-वेदनम्—आत्म-साक्षात्कार की विधि; स्वतः—अपनी योग्यता से; न सम्भवात्—चूँकि ऐसा हो नहीं सकता; अन्यः—दूसरा व्यक्ति; तत्त्व-ज्ञः—दिव्य सचाई को जानने वाला; ज्ञान-दः—असली ज्ञान का प्रदाता; भवेत्—हो।

चूँकि अनादि काल से अज्ञान से आवृत व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार करने में अक्षम होता है, अतएव ऐसा कोई अन्य व्यक्ति होना चाहिए जो परब्रह्म को पूरी तरह जानता हो और उसे यह ज्ञान प्रदान कर सकता हो।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् को भौतिक कार्यों के भीतर उनके कारणों तथा कार्यों को उनके कारणों के भीतर गणना करने की विभिन्न विधियाँ सह्य हैं, किन्तु इस ब्रह्माण्ड में पाये जाने वाले दो आध्यात्मिक तत्त्वों—अर्थात् आत्मा तथा परमात्मा के विषय में कोई कल्पना नहीं हो सकती। इस श्लोक में भगवान् कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि जीव अपने को प्रकाश प्रदान नहीं कर सकता। भगवान् तो *तत्त्वज्ञ* तथा *ज्ञानद* हैं। श्रील उद्धव ने उल्लेख किया है कि कुछ दार्शनिक २५ तत्त्वों का और कुछ २६ तत्त्वों का वर्णन करते हैं। इनमें अन्तर यह है कि छब्बीस तत्त्वों में आत्मा तथा परमात्मा कृष्ण की पृथक्-पृथक् कोटि है, जबकि २५ तत्त्वों के समर्थक *जीव तत्त्व* तथा *विष्णु तत्त्व* की दो कोटियों को एक में मिला देते हैं और भगवान् की सर्वश्रेष्ठता को छुपा लेते हैं।

प्रकृति के तीन गुणों पर आधारित ज्ञान कभी दिव्य पद को प्राप्त नहीं कर सकता जहाँ पर भगवान् रूप, रंग, स्वाद, संगीतमय ध्वनि, प्रेमालाप (माधुर्य) की शाश्वत आध्यात्मिक विविधताओं के परम भोक्ता हैं। संसारी दार्शनिक भौतिक भोग तथा भौतिक वैराग्य के बीच उछल-कूद मचाते रहते हैं। वे परब्रह्म की मायावाद (निर्विशेष) अनुभूति के शिकार होने के कारण भगवान् की शरण प्राप्त नहीं कर सकते, अतएव वे उन्हें समझ नहीं पाते। चूँकि मूर्ख निर्विशेष दार्शनिकजन अपने को सर्वोच्च मानते हैं, इसलिए वे यह समझ ही नहीं पाते कि भक्ति को आध्यात्मिक पद प्राप्त रहता है। ये निर्विशेषवादी भगवान् की अधीनता का डट कर बहिष्कार करते हुए अन्त में भगवान् की माया से अभिभूत हो जाते हैं और संसार के कष्ट भोगते हैं। दूसरी ओर, वैष्णव भगवान् से ईर्ष्या नहीं करते। वे प्रसन्नतापूर्वक उनकी शरण तथा सर्वश्रेष्ठता स्वीकार कर लेते हैं। इस तरह भगवान् अपने भक्तों का भार अपने ऊपर लेकर उन्हें प्रबुद्ध बनाते हैं और अपने दिव्य आनन्द से परिपूर्ण बनाते हैं। इस तरह भगवान् की आध्यात्मिक सेवा निराशा तथा भौतिक सेवा के उत्पीड़न से मुक्त है।

पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि ।
तदन्यकल्पनापार्था ज्ञानं च प्रकृतेर्गुणः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

पुरुष—भोक्ता; ईश्वरयोः—तथा परम नियन्ता के मध्य; अत्र—यहाँ पर; न—नहीं है; वैलक्षण्यम्—असमानता; अणु—सूक्ष्म; अपि—भी; तत्—उनके; अन्य—सर्वथा पृथक् होकर के; कल्पना—कल्पित भाव; अपार्था—व्यर्थ; ज्ञानम्—ज्ञान; च—तथा; प्रकृतेः—प्रकृति का; गुणः—गुण।

सतोगुणी ज्ञान के अनुसार जीव तथा परम नियन्ता में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं हैं। उनमें गुणात्मक अन्तर की कल्पना व्यर्थ है।

तात्पर्य : कुछ दार्शनिकों के अनुसार तत्त्व २५ हैं जिनमें आत्मा तथा परमात्मा को एक ही कोटि में माना जाता है। भगवान् ऐसे निर्विशेष ज्ञान को भौतिक बतलाते हैं—*ज्ञानं च प्रकृतेः गुणः* किन्तु ऐसे ज्ञान को परमेश्वर की तथा परमेश्वर के अंशरूप जीवों की जो उन्हीं से उद्भूत हैं, गुणात्मक समता स्थापित करने में स्वीकार किया जा सकता है। कभी कभी भौतिकतावादी व्यक्ति यह विश्वास करते हैं कि परम आत्मा तो स्वर्ग में है किन्तु वे यह भी सोचते हैं कि मनुष्य अपने शरीरों से अभिन्न हैं और इस तरह गुणात्मक रूप से सदा-सदा के लिए परमेश्वर से पृथक् हैं। जैसाकि इस श्लोक में वर्णित है, जीव के साथ भगवान् का गुणात्मक एकत्व, जीवन की भौतिकतावादी धारणा का खंडन करता है और परब्रह्म की आंशिक स्थापना करता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने वास्तविक स्थिति को *अचिन्त्य भेदाभेदतत्त्व* बतलाया है। सतोगुण होने पर एकत्व की अनुभूति की जाती है। किन्तु जब मनुष्य बढ़कर *विशुद्ध सत्त्व* को प्राप्त होता है, तो उसे गुणात्मक एकत्व के भीतर आध्यात्मिक विविधता प्राप्त होती है, जिससे परब्रह्म विषयक ज्ञान पूरा हो जाता है। *न वैलक्षण्यम् अण्वपि* शब्द यह पुष्टि करते हैं कि जीव निर्विवादतः भगवान् का अंश है और गुणात्मक रूप से उनसे एकाकार है। इस तरह जीव को परमेश्वर से पृथक् करने तथा भगवान् के प्रति उसकी नित्य दासता से इनकार करने के किसी दार्शनिक प्रयास का खंडन किया जाता है। जीव की भगवान् से स्वतंत्र सत्ता के निष्कर्ष तक पहुँचने की कल्पना को यहाँ पर *अपार्था* अर्थात् व्यर्थ कहा गया है। फिर भी आध्यात्मिक ज्ञान के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में भगवान् को २५ तत्त्वों का सिद्धान्त मान्य है।

प्रकृतिर्गुणसाम्यं वै प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः ।
सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

प्रकृतिः—प्रकृति; गुण—तीन गुणों की; साम्यम्—आदि साम्यावस्था; वै—निस्सन्देह; प्रकृतेः—प्रकृति के; न आत्मनः—आत्मा के नहीं; गुणाः—ये गुण; सत्त्वम्—सतो; रजः—रजो; तमः—तमो; इति—इस प्रकार कहलाने वाले; स्थिति—सृष्टि के पालन; उत्पत्ति—इसके उत्पन्न होने; अन्त—तथा इसके संहार के; हेतवः—कारण।

मूलतः प्रकृति तीन गुणों की साम्यावस्था के रूप में विद्यमान रहती है और ये गुण दिव्य आत्मा के न होकर एकमात्र प्रकृति के होते हैं। ये गुण—सतो, रजो तथा तमोगुण—इस ब्रह्माण्ड के सृजन, पालन तथा संहार के प्रभावशाली कारण हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (३.२७) में कहा गया है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वशः।

अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

"जीवात्मा अहंकार के प्रभाव से मोहग्रस्त होकर अपने आपको समस्त कार्यों का कर्ता मान बैठता है, जबकि वास्तव में वे प्रकृति के तीन गुणों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं।"

अपनी आदि साम्यावस्था में प्रकृति के तीनों गुण तथा बाद में इन गुणों से उत्पन्न सृष्टि उस जीव की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते हैं, जो उनके द्वारा नियंत्रित होता है। इस तरह इस जगत में जीव को वास्तविक कर्ता या स्रष्टा नहीं माना जा सकता। सतोगुण का प्रतीक है ज्ञान का अनुभव, रजोगुण का प्रतीक है कर्म का अनुभव और तमोगुण का प्रतीक है अंधकार का अनुभव। ज्ञान, कर्म तथा अंधकार के इन गुणों का दिव्य आत्मा से कोई असली सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप के गुण प्रदर्शित करता है (सन्धिनी, संवित तथा ह्लादिनी शक्तियाँ)। भौतिक गुणों की भगवद्धाम में कोई पहुँच नहीं है, जिसके अनन्त वातावरण में रहने के लिए जीव है।

सत्त्वं ज्ञानं रजः कर्म तमोऽज्ञानमिहोच्यते ।
गुणव्यतिकरः कालः स्वभावः सूत्रमेव च ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतोगुण; ज्ञानम्—ज्ञान; रजः—रजोगुण; कर्म—सकाम कर्म; तमः—तमोगुण; अज्ञानम्—मूर्खता; इह—इस जगत में; उच्यते—कहलाता है; गुण—गुणों का; व्यतिकरः—क्षुब्ध विकार; कालः—काल; स्वभावः—आन्तरिक मनोवृत्ति, प्रकृति; सूत्रम्—महत् तत्त्व; एव—निस्सन्देह; च—भी।

इस जगत में सतोगुण को ज्ञान, रजोगुण को सकाम कर्म तथा तमोगुण को अज्ञान माना जाता है। काल को भौतिक गुणों की क्षुब्ध अन्तःक्रिया के रूप में देखा जाता है और आदि सूत्र

अर्थात् महत् तत्त्व से समग्र कार्य की मनोवृत्ति प्रकट होती है।

तात्पर्य : भौतिक तत्त्वों की पारस्परिक क्रिया के लिए जो प्रोत्साहन है, वही काल की अग्रगामी चाल है। काल के बीतने से गर्भ में भ्रूण बढ़ता है, धीरे धीरे बाहर आता है, फिर बढ़ता है, प्रतिफल उत्पन्न करता है, क्षीण होता है तथा मर जाता है। यह सब काल के प्रभाव से होता है। काल की अनुपस्थिति में तत्त्व परस्पर क्रिया नहीं करते अपितु *प्रधान* के रूप में निष्क्रिय बने रहते हैं। कृष्ण भौतिक जगत की मूलभूत कोटियों की स्थापना कर रहे हैं जिससे मनुष्य भगवान् की सृष्टि का अनुमान लगा सकें। यदि कोटियों को संक्षिप्त न किया गया होता, तो विश्लेषण तथा अनुभूतिकरण असम्भव होते, क्योंकि भगवान् की शक्ति अनन्त है। यद्यपि भौतिक तत्त्वों के आधारभूत विभागों में अनेक विभाग हैं किन्तु आत्मा को सदैव एक पृथक् दिव्य तत्त्व माना जाता है, जो ईश्वर के धाम में निवास के लिए बनाया गया है।

पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमहङ्कारो नभोऽनिलः ।
ज्योतिरापः क्षितिरिति तत्त्वान्युक्तानि मे नव ॥ १४॥

शब्दार्थ

पुरुषः—भोक्ता; प्रकृतिः—प्रकृति; व्यक्तम्—पदार्थ की आदि अभिव्यक्ति; अहङ्कारः—मिथ्या अहंकार; नभः—आकाश; अनिलः—वायु; ज्योतिः—अग्नि; आपः—जल; क्षितिः—पृथ्वी; इति—इस प्रकार; तत्त्वानि—सृष्टि के सारे तत्त्व; उक्तानि—कहे गये; मे—मेरे द्वारा; नव—नौ।

मैं नौ मूल तत्त्वों का वर्णन भोक्ता आत्मा, प्रकृति, महत् तत्त्व की आदि अभिव्यक्ति, मिथ्या अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी के रूप में कर चुका हूँ।

तात्पर्य : *प्रकृति* प्रारम्भ में अव्यक्त रहती है, किन्तु बाद में *महत् तत्त्व* रूप में प्रकट होती है। यद्यपि जीव पुरुष या भोक्ता है, किन्तु जिस वास्तविक विधि से वह भोग कर सकता है, वह भगवान् की दिव्य इन्द्रियों को प्रसन्न करने में है, जिस तरह कि हाथ आमाशय को भोजन देकर स्वयं भोजन करता है। भौतिक प्रकृति के भीतर जीव भगवान् के प्रति अपनी अधीनता को भूल कर मिथ्या भोक्ता बन जाता है। इस तरह जीव तथा परमात्मा के साथ भौतिक तत्त्वों का क्रमबद्ध विश्लेषण यह दिखाने के लिए किया जाता है कि बद्धजीव की वास्तविक स्वाभाविक स्थिति प्रकृति से परे है।

श्रोत्रं त्वग्दर्शनं घ्राणो जिह्वेति ज्ञानशक्तयः ।

वाक्पाण्युपस्थपाय्वङ्घ्रिः कर्माण्यङ्गोभयं मनः ॥ १५॥

शब्दार्थ

श्रोत्रम्—सुनने की इन्द्रिय; त्वक्—स्पर्श जो त्वचा पर अनुभव किया जाता है उसकी इन्द्रिय; दर्शनम्—दृष्टि; घ्राणः—गंध; जिह्वा—स्वाद की इन्द्रिय, जिसका अनुभव जीभ पर होता है; इति—इस प्रकार; ज्ञान-शक्तयः—ज्ञानअर्जित करने वाली इन्द्रियाँ; वाक्—वाणी; पाणि—हाथ; उपस्थ—जननांग; पायु—गुदा; अङ्घ्रिः—पाँव; कर्माणि—कर्मेन्द्रियाँ; अङ्ग—हे उद्धव; उभयम्—दोनों ही कोटियों की; मनः—मन।

हे उद्धव, श्रवण, स्पर्श, दृष्टि, गंध तथा स्वाद—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और वाणी, हाथ, जननेन्द्रिय, गुदा तथा पाँव—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। मन इन दोनों कोटियों में आता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में ग्यारह तत्त्वों का वर्णन हुआ है।

शब्दः स्पर्शो रसो गन्धो रूपं चेत्यर्थजातयः ।
गत्युक्त्युत्सर्गशिल्पानि कर्मायतनसिद्धयः ॥ १६॥

शब्दार्थ

शब्दः—ध्वनि; स्पर्शः—स्पर्श; रसः—स्वाद; गन्धः—सुगन्धि; रूपम्—रूप; च—तथा; इति—इस प्रकार; अर्थ—इन्द्रिय-विषयों की; जातयः—कोटियाँ; गति—चाल; उक्ति—वाणी; उत्सर्ग—मलमूत्र का त्याग (जननेन्द्रिय तथा गुदा दोनों द्वारा); शिल्पानि—तथा निर्माण; कर्म-आयतन—उपर्युक्त कर्मेन्द्रियों द्वारा; सिद्धयः—सम्पन्न।

ध्वनि, स्पर्श, स्वाद, गंध तथा रूप ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं और गति, वाणी, उत्सर्ग तथा शिल्प—ये कर्मेन्द्रियों के विषय हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर *उत्सर्ग* सूचक है जननेन्द्रिय तथा गुदा से मल-त्याग का और इस तरह इसमें दो तत्त्व रहते हैं। इस तरह पाँच-पाँच के दो समूहों में कुल दस तत्त्वों की सूची दी हुई है।

सर्गादौ प्रकृतिर्ह्यस्य कार्यकारणरूपिणी ।
सत्त्वादिभिर्गुणैर्धत्ते पुरुषोऽव्यक्त ईक्षते ॥ १७॥

शब्दार्थ

सर्ग—सृष्टि का; आदौ—प्रारम्भ में; प्रकृतिः—भौतिक प्रकृति; हि—निस्सन्देह; अस्य—इस ब्रह्माण्ड का; कार्य—प्रकट फल; कारण—तथा सूक्ष्म कारण; रूपिणी—साकार; सत्त्व-आदिभिः—सतो, रजो तथा तमो; गुणैः—गुणों द्वारा; धत्ते—अपना पद ग्रहण करता है; पुरुषः—परमेश्वर; अव्यक्तः—भौतिक अभिव्यक्ति में जो लोग न हो; ईक्षते—देखता है।

सृष्टि के प्रारम्भ में सतो, रजो तथा तमोगुणों के द्वारा प्रकृति इस ब्रह्माण्ड में समस्त सूक्ष्म कारणों तथा स्थूल अभिव्यक्तियों से युक्त होकर अपना रूप ग्रहण करती है। भगवान् भौतिक अभिव्यक्ति की पारस्परिक क्रिया में प्रविष्ट नहीं होता, अपितु प्रकृति पर केवल दृष्टिपात करता है।

तात्पर्य : भगवान् सूक्ष्म तथा स्थूल भौतिक तत्त्वों की तरह रूपान्तरित नहीं होते। इस तरह भगवान्

अव्यक्त हैं अर्थात् विश्व के विकास की किसी भी अवस्था में अपने को प्रकट नहीं करते। भौतिक तत्त्वों की सूची चाहे जिस विधि से बनाई जाय, भगवान् सम्पूर्ण विश्व के चरम स्रष्टा, पालक तथा संहारक बने रहते हैं।

व्यक्तादायो विकुर्वाणा धातवः पुरुषेक्षया ।
लब्धवीर्याः सृजन्त्यण्डं संहताः प्रकृतेर्बलात् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

व्यक्त-आदयः—महत् तत्त्व इत्यादि; विकुर्वाणाः—रूपान्तरित होने वाले; धातवः—तत्त्व; पुरुष—भगवान् की; ईक्षया—चितवन से; लब्ध—प्राप्त हुआ; वीर्याः—उनकी शक्तियाँ; सृजन्ति—सृष्टि करती हैं; अण्डम्—ब्रह्माण्ड; संहताः—घुला-मिला; प्रकृतेः—प्रकृति का; बलात्—बल द्वारा।

जब महत् तत्त्व आदि भौतिक तत्त्व रूपान्तरित होते हैं, तो वे भगवान् के दृष्टिपात से अपनी विशिष्ट शक्तियाँ प्राप्त करते हैं। वे प्रकृति की शक्ति के मिलने-जुलने से विश्व अंडा (ब्रह्माण्ड) उत्पन्न करती हैं।

सप्तैव धातव इति तत्रार्थाः पञ्च खादयः ।
ज्ञानमात्मोभयाधारस्ततो देहेन्द्रियासवः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सप्त—सात; एव—निस्सन्देह; धातवः—तत्त्व; इति—इस प्रकार कह कर; तत्र—वहाँ; अर्थाः—भौतिक तत्त्व; पञ्च—पाँच; ख-आदयः—आकाश इत्यादि; ज्ञानम्—ज्ञान का स्वामी आत्मा; आत्मा—परमात्मा; उभय—दोनों का (जीव, जो कि द्रष्टा है तथा दृष्ट प्रकृति); आधारः—मूलभूत आधार; ततः—इनसे; देह—शरीर; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; असवः—तथा जीवनदायी वायु।

कुछ दार्शनिकों के अनुसार तत्त्व सात हैं। ये हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश। इसी के साथ चेतन आत्मा तथा परमात्मा भी सम्मिलित हैं, जो भौतिक तत्त्वों तथा सामान्य आत्मा दोनों ही के आधाररूप हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण-वायु तथा अन्य सारे भौतिक कार्य इन्हीं सात तत्त्वों से उत्पन्न हैं।

तात्पर्य : अपना मत बता चुकने के बाद भगवान् अब अन्य विविध वैश्लेषिक विधियों का सारांश दे रहे हैं।

षडित्यत्रापि भूतानि पञ्च षष्ठः परः पुमान् ।
तैर्युक्त आत्मसम्भूतैः सृष्ट्वेदं समपाविशत् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

षट्—छह; इति—इस सिद्धान्त में; अत्र—इस सिद्धान्त में; अपि—भी; भूतानि—तत्त्व; पञ्च—पाँच; षष्ठः—छठा; परः—दिव्य; पुमान्—भगवान्; तैः—उन (पाँच स्थूल तत्त्वों) से; युक्तः—जुड़ा; आत्म—अपने से; सम्भूतैः—उत्पन्न; सृष्ट्वा—निर्मित कर; इदम्—यह सृष्टि; समुपाविशत्—उन्होंने भीतर प्रवेश किया।

अन्य दार्शनिकों का कहना है कि तत्त्व छः हैं—पाँच तो भौतिक तत्त्व (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश) हैं तथा छठा तत्त्व भगवान् है। वही भगवान् जो अपने से निकले हुए तत्त्वों से युक्त होकर इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं और तब स्वयं उसके भीतर प्रवेश करते हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी कहते हैं कि इस दर्शन के अनुसार साधारण जीव को परमात्मा की कोटि में सम्मिलित किया जाता है। इस तरह यह सिद्धान्त एकमात्र भगवान् को तथा पाँच भौतिक तत्त्वों को स्वीकार करता है।

चत्वार्येवेति तत्रापि तेज आपोऽन्नमात्मनः ।
जातानि तैरिदं जातं जन्मावयविनः खलु ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

चत्वारि—चार; एव—भी; इति—इस प्रकार; तत्र—उस दशा में; अपि—भी; तेजः—अग्नि; आपः—जल; अन्नम्—पृथ्वी; आत्मनः—आत्मा से; जातानि—उत्पन्न; तैः—उनके द्वारा; इदम्—यह जगत; जातम्—उत्पन्न हुआ; जन्म—जन्म; अवयविनः—प्रकट फल का; खलु—निस्सन्देह।

कुछ दार्शनिक चार मूलभूत तत्त्वों की उपस्थिति का अनुमोदन करते हैं जिनमें से अग्नि, जल तथा पृथ्वी—ये तीन तत्त्व एक चौथे तत्त्व आत्मा से उद्भूत हैं। एक बार अस्तित्व में आने पर ये तत्त्व विराट जगत उत्पन्न करते हैं जिसमें सारा भौतिक सृजन होता है।

सङ्ख्याने सप्तदशके भूतमात्रेन्द्रियाणि च ।
पञ्च पञ्चैकमनसा आत्मा सप्तदशः स्मृतः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सङ्ख्याने—गणना में; सप्तदशके—सत्रह तत्त्वों के रूप में; भूत—पाँच स्थूल तत्त्व; मात्र—पाँचों की सूक्ष्म अनुभूतियाँ; इन्द्रियाणि—तथा पाँच संगत इन्द्रियाँ; च—भी; पञ्च पञ्च—पाँच पाँच के समूहों में; एक-मनसा—एक मन के साथ साथ; आत्मा—आत्मा; सप्तदशः—सत्रहवाँ; स्मृतः—ऐसा माना जाता है।

कुछ लोग सत्तरह मूलभूत तत्त्वों के अस्तित्व की गणना करते हैं—ये हैं पाँच स्थूल तत्त्व, पाँच इन्द्रिय-विषय, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन तथा सत्तरहवाँ आत्मा।

तद्वत्षोडशसङ्ख्याने आत्मैव मन उच्यते ।
भूतेन्द्रियाणि पञ्चैव मन आत्मा त्रयोदश ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तद्वत्—इसी तरह; षोडश-सङ्ख्याने—सोलह की गणना में; आत्मा—आत्मा; एव—निस्सन्देह; मनः—मन के रूप में; उच्यते—पहचाना जाता है; भूत—पाँच स्थूल तत्त्व; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; पञ्च—पाँच; एव—निश्चय ही; मनः—मन; आत्मा—आत्मा (आत्मा तथा परमात्मा दोनों); त्रयोदश—तेरह।

सोलह तत्त्वों की गणना करने पर पिछले सिद्धान्त से केवल इतना ही अन्तर होता है कि आत्मा की पहचान मन से कर ली जाती है। यदि हम पाँच भौतिक तत्त्वों, पाँच इन्द्रियों, मन, आत्मा तथा परमेश्वर की कल्पना करें, तो तत्त्वों की संख्या तेरह होती है।

तात्पर्य : तेरह तत्त्वों वाले सिद्धान्त में स्वाद, गंध, रूप, स्पर्श तथा ध्वनि—इन इन्द्रिय-विषयों को इन्द्रियों तथा भौतिक पदार्थ की पारस्परिक क्रिया का प्रतिफल माना जाता है।

एकादशत्व आत्मासौ महाभूतेन्द्रियाणि च ।
अष्टौ प्रकृतयश्चैव पुरुषश्च नवेत्यथ ॥ २४॥

शब्दार्थ

एकादशत्वे—ग्यारह के विचार में; आत्मा—आत्मा; असौ—यह; महा-भूत—स्थूल तत्त्व; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; च—तथा; अष्टौ—आठ; प्रकृतयः—प्राकृतिक तत्त्व (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार); च—भी; एव—निश्चय ही; पुरुषः—परमेश्वर; च—तथा; नव—नव; इति—इस प्रकार; अथ—और भी।

ग्यारह की गणना में आत्मा, स्थूल तत्त्व तथा इन्द्रियाँ आती हैं। आठ स्थूल तथा सूक्ष्म तत्त्वों के साथ परमेश्वर को मिलाने पर नौ की संख्या हो जाती है।

इति नानाप्रसङ्ख्यानं तत्त्वानामृषिभिः कृतम् ।
सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद्विदुषां किमशोभनम् ॥ २५॥

शब्दार्थ

इति—इसी तरह से; नाना—विविध; प्रसङ्ख्यानम्—गणना; तत्त्वानाम्—तत्त्वों की; ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा; कृतम्—किया गया; सर्वम्—यह सारा; न्याय्यम्—तार्किक; युक्ति-मत्त्वात्—युक्तियुक्त होने से; विदुषाम्—विद्वानों के; किम्—क्या; अशोभनम्—प्रखरता का अभाव।

इस तरह दार्शनिकों ने भौतिक तत्त्वों का विश्लेषण अनेक प्रकारों से किया है। उनके सारे प्रस्ताव युक्तियुक्त हैं क्योंकि उन्हें पर्याप्त तर्क के साथ प्रस्तुत किया गया है। निस्सन्देह ऐसी तार्किक प्रखरता की आशा वास्तविक विद्वानों से ही की जाती है।

तात्पर्य : असंख्य प्रखर दार्शनिकों द्वारा इस भौतिक जगत की विवेचना असंख्य विधियों से की जा चुकी है, किन्तु निष्कर्ष एक—भगवान् वासुदेव—ही निकलता है। महत्त्वाकांक्षी दार्शनिकों को अपनी बुद्धि की प्रखरता दिखलाने में बहुमूल्य समय नहीं गँवाना चाहिए क्योंकि अब विवेचना के लिए

कुछ भी शेष नहीं रह गया। मनुष्य को परब्रह्म परम तत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करनी चाहिए और अपनी नित्य ईश-चेतना का उद्घाटन करना चाहिए।

श्रीउद्धव उवाच
प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ यद्यप्यात्मविलक्षणौ ।
अन्योन्यापाश्रयात्कृष्ण दृश्यते न भिदा तयोः ।
प्रकृतौ लक्ष्यते ह्यात्मा प्रकृतिश्च तथात्मनि ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; प्रकृतिः—प्रकृति; पुरुषः—भोक्ता, जीव; च—तथा; उभौ—दोनों; यदि अपि—यद्यपि; आत्म—स्वाभाविक रूप से; विलक्षणौ—सुस्पष्ट, भिन्न; अन्योन्य—पारस्परिक; अपाश्रयात्—आश्रय के कारण; कृष्ण—हे कृष्ण; दृश्यते न—दिखाई नहीं पड़ता; भिदा—कोई अन्तर; तयोः—उनके मध्य; प्रकृतौ—प्रकृति में; लक्ष्यते—आभास होता है; हि—निस्सन्देह; आत्मा—आत्मा; प्रकृतिः—प्रकृति; च—तथा; तथा—भी; आत्मनि—आत्मा में।.

श्री उद्धव ने पूछा : हे कृष्ण, यद्यपि स्वभाव से प्रकृति तथा जीव भिन्न हैं, किन्तु उनमें कोई अन्तर नहीं दिखता क्योंकि वे एक-दूसरे के भीतर निवास करते पाये जाते हैं। इस तरह आत्मा प्रकृति के भीतर और प्रकृति आत्मा के भीतर प्रतीत होती है।

तात्पर्य : श्री उद्धव यहाँ पर उस संशय को व्यक्त कर रहे हैं, जो सामान्य बद्धजीव के हृदय में उठता है। यद्यपि वैदिक शास्त्र घोषित करते हैं कि भौतिक शरीर प्रकृति के गुणों का नश्वर ताना-बाना है, किन्तु शरीर के भीतर का जीव वस्तुतः शाश्वत आत्मा है। *भगवद्गीता* में भगवान् ने घोषित किया है कि शरीर को निर्मित करने वाले भौतिक तत्त्व उनकी भिन्नाशक्ति हैं जबकि जीव परा चेतन शक्ति है। फिर भी बद्ध जीवन में शरीर तथा बद्ध आत्मा एक-दूसरे से विलग न होने वाले तथा अभिन्न प्रतीत होते हैं। चूँकि जीव माता के गर्भ में प्रवेश करता है और क्रमशः बढ़ते हुए विकसित शरीर के रूप में बाहर आता है, अतएव ऐसा लगता है कि आत्मा भौतिक प्रकृति में गहरा प्रविष्ट कर गया है। इसी तरह आत्मा की पहचान भौतिक शरीर के रूप में करने से, शरीर आत्मा की चेतना में गहरा प्रवेश करता प्रतीत होता है। इससे भी जो बड़ी बात है, वह यह कि शरीर आत्मा के बिना नहीं रह सकता। इस पारस्परिक निर्भरता के कारण शरीर तथा आत्मा का अन्तर धूमिल पड़ जाता है। इसीलिए श्री उद्धव इस विषय को स्पष्ट करने के लिए भगवान् से प्रश्न पूछते हैं।

एवं मे पुण्डरीकाक्ष महान्तं संशयं हृदि ।

छेत्तुमर्हसि सर्वज्ञ वचोभिर्नयनैपुणैः ॥ २७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; मे—मेरा; पुण्डरीक-अक्ष—हे कमलनयन भगवान्; महान्तम्—महान्; संशयम्—सन्देह को; हृदि—मेरे हृदय के भीतर; छेत्तुम्—काट देना; अर्हसि—आपको चाहिए कि; सर्व-ज्ञ—हे सर्वज्ञाता; वचोभिः—अपने शब्दों से; नय—तर्क में; नैपुणैः—अत्यन्त निपुण।

हे कमलनयन कृष्ण, हे सर्वज्ञ, कृपया आप अपने उन शब्दों से मेरे हृदय के इस महान् संशय को छिन्न-भिन्न कर दें जो आपकी परम तर्क-पटुता को दिखलाने वाले हैं।

तात्पर्य : श्री उद्धव भगवान् कृष्ण से अनुरोध कर रहे हैं कि वे शरीर तथा आत्मा के अन्तर को स्पष्ट करें।

त्वत्तो ज्ञानं हि जीवानां प्रमोषस्तेऽत्र शक्तितः ।
त्वमेव ह्यात्ममायाया गतिं वेत्थ न चापरः ॥ २८॥

शब्दार्थ

त्वत्तः—आपसे; ज्ञानम्—ज्ञान; हि—निस्सन्देह; जीवानाम्—सजीव प्राणियों का; प्रमोषः—चुराया जाना; ते—आपका; अत्र—इस ज्ञान में; शक्तितः—शक्ति से; त्वम्—आप; एव—एकमात्र; हि—निस्सन्देह; आत्म—आपकी; मायायाः—माया का; गतिम्—असली स्वभाव; वेत्थ—आप जानते हैं; न—नहीं; च—तथा; अपरः—कोई अन्य व्यक्ति।

आपसे ही जीवों का ज्ञान उदय होता है और आपकी शक्ति से वह ज्ञान चला जाता है। निस्सन्देह, आपके अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति आपकी माया के असली स्वभाव को नहीं जान सकता।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है—*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होती है। मनुष्य को भगवान् की अहैतुकी कृपा होने पर ज्ञान प्राप्त होता है और भगवान् की मायाशक्ति से वही ज्ञान जाता रहता है और वह मनुष्य अज्ञान में लीन हो जाता है। जो लोग माया द्वारा मोहित हैं, वे शरीर तथा आत्मा के अन्तर को नहीं समझ सकते। अतएव इस मायामय आवरण को हटाने के लिए उन्हें भगवान् से सुनना चाहिए।

श्रीभगवानुवाच
प्रकृतिः पुरुषश्चेति विकल्पः पुरुषर्षभ ।
एष वैकारिकः सर्गो गुणव्यतिकरात्मकः ॥ २९॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; प्रकृतिः—प्रकृति; पुरुषः—भोक्ता, जीव; च—तथा; इति—इस प्रकार; विकल्पः—पूर्ण अन्तर; पुरुष-ऋषभ—हे पुरुषों में श्रेष्ठ; एषः—यह; वैकारिकः—रूपान्तरशील; सर्गः—सृष्टि; गुण—प्रकृति के गुणों के; व्यतिकर—विक्षोभ पर; आत्मकः—आधारित।

भगवान् ने कहा : हे पुरुष-श्रेष्ठ, प्रकृति तथा इसका भोक्ता स्पष्ट रूप से पृथक् पृथक् हैं। यह व्यक्त सृष्टि प्रकृति के गुणों के विक्षोभ पर आधारित होने के कारण निरन्तर रूपान्तरित होती रहती है।

तात्पर्य : *पुरुष* शब्द जीव तथा सर्वोपरि व्यक्ति अर्थात् परमेश्वर का भी सूचक है। भौतिक प्रकृति परिवर्तनशील होने से द्वैत से पूर्ण है, जबकि भगवान् एक तथा सर्वोच्च हैं। भौतिक प्रकृति अपने स्रष्टा, पालक तथा संहर्ता पर आश्रित है, किन्तु भगवान् पूर्णतया आत्म-निर्भर तथा स्वतंत्र हैं। इसी तरह प्रकृति अचेतन तथा जड़ है, जिसमें आत्म-चेतनता का अभाव है, किन्तु परमेश्वर आत्मनिर्भर एवं सर्वज्ञ हैं। जीव भगवान् की नित्यतता, आनन्द तथा ज्ञान में हाथ बँटाता है और वह प्रकृति से सर्वथा भिन्न भी है।

सर्ग शब्द यहाँ पर शरीर के भौतिक मिश्रण का सूचक है, जो जीव को आच्छादित करता है। शरीर में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है अतएव वह जीव से सर्वथा भिन्न है, जो शाश्वत एक रहता आ रहा है। दिव्य भगवद्धाम में सृजन, पालन तथा संहार को लेकर कोई संघर्ष या विक्षोभ नहीं होता जैसाकि भौतिक जगत में देखा जाता है। वहाँ पर सारी विविधता कृष्णभावनामृत के दिव्य प्रेमपूर्ण अनुभव में विवेचित की जाती है, जो कि आत्मा की स्वाभाविक स्थिति है।

ममाङ्ग माया गुणमय्यनेकधा
विकल्पबुद्धीश्च गुणैर्विधत्ते ।
वैकारिकस्त्रिविधोऽध्यात्ममेक-
मथाधिदैवमधिभूतमन्यत् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

मम—मेरा; अङ्ग—हे उद्धव; माया—भौतिक शक्ति; गुण-मयी—तीन गुणों वाली; अनेकधा—कई प्रकार के; विकल्प—विभिन्न स्वरूप; बुद्धीः—तथा इन अन्तरों की अनुभूतियाँ; च—तथा; गुणैः—गुणों के द्वारा; विधत्ते—स्थापित करती हैं; वैकारिकः—विकारों (परिवर्तनों) की पूरी अभिव्यक्ति; त्रि-विधः—तीन पक्षों वाला; अध्यात्मम्—अध्यात्म कहलाने वाला; एकम्—एक; अथ—तथा; अधिदैवम्—अधिदैव; अधिभूतम्—अधिभूत; अन्यत्—दूसरा।

हे उद्धव, मेरी माया तीन गुणों वाली है और वह उन्हीं के माध्यम से कार्य करती है। सृष्टि की विविधताओं को उनकी अनुभूति करने के लिए वह चेतना की विविधताओं समेत प्रकट करती

है। भौतिक परिवर्तन का व्यक्त परिणाम तीन रूपों में समझा जाता है—अध्यात्मिक, अधिदैविक तथा अधिभौतिक।

तात्पर्य : *विकल्पबुद्धि:* शब्द सूचित करता है कि विभिन्न भौतिक शरीरों के भीतर की चेतना भगवान् की सृष्टि के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन करती है। उदाहरणार्थ, समुद्री पक्षी समुद्र की हवा में तैरता हुआ वायु तथा ऊँचाई की भगवान् की दुनिया का अनुभव करता है। इसी तरह मछली जल के भीतर और अन्य जीव वृक्षों में या पृथ्वी के भीतर जीवन का अनुभव करते हैं। मानव समाज अपनी जागरूकता की झाँकी प्रस्तुत करता है। इसी तरह स्वर्ग तथा नरक में विभिन्न अनुभव प्राप्त हैं। भौतिक चेतना के ये सारे प्रकार भगवान् की माया के अंशरूप प्रकृति के तीन गुणों के ही रूपान्तर हैं।

दृग् रूपमार्कं वपुरत्र रन्ध्रे
परस्परं सिध्यति यः स्वतः खे ।
आत्मा यदेषामपरो य आद्यः
स्वयानुभूत्याखिलसिद्धसिद्धिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

दृक्—दृष्टि का कार्य (यथा अध्यात्म); रूपम्—दृश्य रूप (यथा अधिभूत); आर्कम्—सूर्य का; वपुः—आंशिक बिम्ब (यथा अधिदैव); अत्र—इस; रन्ध्रे—(आँख की पुतली के) छिद्र में; परस्परम्—आपस में; सिध्यति—एक-दूसरेकी अभिव्यक्ति करता है; यः—जो; स्वतः—अपनी शक्ति से; खे—आकाश में; आत्मा—परमात्मा; यत्—जो; एषाम्—इन (तीन रूपों) का; अपरः—पृथक्; यः—जो; आद्यः—आदि कारण; स्वया—अपने से; अनुभूत्या—दिव्य अनुभव; अखिल—समस्त; सिद्ध—प्रकट घटना; सिद्धिः—अभिव्यक्ति का स्रोत।

दृष्टि, दृश्यरूप तथा आँख के छिद्र के भीतर सूर्य का बिम्ब—ये तीनों मिल कर एक दूसरे को प्रकट करने का कार्य करते हैं। किन्तु आकाश में स्थित आदि सूर्य स्वतः प्रकट है। इसी तरह समस्त जीवों का आदि कारण परमात्मा, जो सबों से पृथक् है, अपने ही दिव्य अनुभव के प्रकाश से, समस्त प्रकट होने वाली वस्तुओं के परम स्रोत के रूप में कार्य करता है।

तात्पर्य : स्वरूप को आँख के कार्य द्वारा पहचाना जाता है और आँख के कार्य को दृश्यरूप की उपस्थिति से जाना जाता है। दृष्टि तथा स्वरूप की यह अन्योन्य क्रिया देवताओं द्वारा प्रदत्त प्रकाश की उपस्थिति पर निर्भर करती है। इन देवताओं द्वारा विश्व-व्यवस्था की सेवा उनकी उपस्थिति से जानी जाती है जिनको सुव्यवस्थित करना होता है—अर्थात् अपनी आँखों से रूप का अनुभव करने वाले जीवों से। इस तरह तीन कारण अन्योन्याश्रयता के रूप से पाये जाते हैं—*अध्यात्म,* जो आँख जैसी

इन्द्रियों द्वारा प्रदर्शित होता है, *अधिभूत*—इन्द्रिय-विषय यथा रूप तथा *अधिदैव*—नियंत्रक विग्रहों का प्रभाव।

सूर्यमंडल स्वत:व्यक्त, स्वत:प्रकाशित तथा स्वत:अनुभवगम्य कहा जाता है। यह इन्द्रियों तथा इन्द्रिय-विषयों की अन्योन्याश्रयता से सम्बन्ध नहीं रखता यद्यपि यह उनके कार्य को सरल बनाता है। इसी तरह भगवान् सारे जीवों की अन्योन्याश्रयता के अनुभव को सुगम बनाता है। उदाहरणार्थ, समाचार-पत्र, रेडिओ तथा टेलीविजन जनता के लिए विश्व-घटनाओं को सुलभ कराते हैं। माता-पिता अपनी सन्तान को, शिक्षक अपने शिष्यों को, मित्र अपने मित्रों को जीवन-तथ्यों का उद्घाटन कराते हैं। सरकार अपनी इच्छा जनता को और जनता अपनी इच्छा सरकार को बतलाती है। सूर्य तथा चन्द्रमा सारी वस्तुओं के दृश्यरूपों को प्रकट करते हैं तथा ध्वनि की अनुभूति श्रव्य रूप को प्रकट करती है। संगीत या काव्य की ध्वनि अन्य जीवों की आन्तरिक भावनाओं को उद्घाटित करती है और गंध, स्पर्श तथा स्वाद द्वारा अन्य ज्ञान भासित होते हैं। इस तरह इन्द्रियों तथा मन की असंख्य इन्द्रिय-विषयों से अन्योन्य क्रिया द्वारा विभिन्न प्रकार का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। किन्तु ये सारी सूचनाप्रद अन्योन्य क्रियाएँ भगवान् की चरम प्रकाशक शक्ति पर निर्भर करती हैं। *ब्रह्म-संहिता* में(५.५२) कहा गया है—*यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणाम्*—सारे ग्रहों में से सूर्य को भगवान् की आँख माना जाता है। भगवान् अपनी दिव्य शक्ति से नित्य सर्वज्ञ हैं, इसलिए कोई भी व्यक्ति उन्हें किसी भी वस्तु के विषय में कुछ भी नहीं बता सकता। फिर भी जब हम कृष्णभावनामृत में स्तुति करते हैं, तो वे उसे स्वीकार करते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् कृष्ण यहाँ पर बतला रहे हैं कि उनके दिव्य गुण व्यक्त जगत के गुणों से सर्वथा भिन्न हैं। इस प्रकार भगवान् समस्त भौतिक प्रभाव से मुक्त—परम दिव्य जीव हैं।

एवं त्वगादि श्रवणादि चक्षु-
जिह्वादि नासादि च चित्तयुक्तम् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

एवम्—इसी तरह से; त्वक्-आदि—त्वचा, स्पर्श की अनुभूति तथा वायुदेव; श्रवण-आदि—कान, ध्वनि की अनुभूति तथा दिशाओं के देव; चक्षु:—आँखें (पिछले श्लोक में वर्णित); जिह्वा-अदि—जीभ स्वाद की अनुभूति तथा वरुण देव; नास-आदि—नाक घ्राण की अनुभूति तथा अश्विनी कुमार; च—भी; चित्त-युक्तम्—चेतना समेत (इसमें न केवल बद्ध चेतना तथा उसका विषय एवं अधिष्ठाता वासुदेव के साथ मन, चिंतन का विषय तथा चन्द्र देव, बुद्धि तथा ब्रह्मा, अहंकार तथा रुद्र देव सम्मिलित हैं)।

इसी तरह से त्वचा, कान, आँखें, जीभ तथा नाक जैसी इन्द्रियाँ तथा सूक्ष्म शरीर के

कार्यों—यथा बद्ध चेतना, मन, बुद्धि तथा अहंकार—की व्याख्या इन्द्रिय, अनुभूति के विषय तथा अधिष्ठाता देव के तेहरे अन्तर के रूप में की जा सकती है।

तात्पर्य : आत्मा का इन्द्रियों, इन्द्रिय-विषयों तथा अधिष्ठाता देवों के अन्योन्याश्रित कार्यों से कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं है। जीव मूलतः शुद्ध आत्मा है और वैकुण्ठ-लोक में वह भगवान् पर आश्रित रहने के लिए है। इसलिए पदार्थ तथा आत्मा को एक ही कोटि में व्याख्यायित करने का प्रयास व्यर्थ होगा क्योंकि उनका सम्बन्ध भगवान् की विभिन्न शक्तियों से होता है। इस तरह भगवान्, उनके धाम तथा अपने आप को देखने का कार्य शुद्ध कृष्णभावनामृत में अनुभव किये जाने वाली भौतिक विधि से सर्वथा विपरीत है।

योऽसौ गुणक्षोभकृतो विकारः
प्रधानमूलान्महतः प्रसूतः ।
अहं त्रिवृन्मोहविकल्पहेतु-
वैंकारिकस्तामस ऐन्द्रियश्च ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यः असौ—यह; गुण—प्रकृति के गुणों के; क्षोभ—क्षुब्ध होने से; कृतः—उत्पन्न; विकारः—रूपान्तर; प्रधान-मूलात्—प्रधान से उत्पन्न; महतः—महत तत्त्व से; प्रसूतः—उत्पन्न; अहम्—अहंकार; त्रि-वृत्—तीन अवस्थाओं में; मोह—मोह का; विकल्प—भौतिक विविधता; हेतुः—कारण; वैकारिकः—सतोगुण में सात्विक; तामसः—तमोगुण में तामस; ऐन्द्रियः—रजोगुणी राजस; च—तथा।

जब प्रकृति के तीनों गुण विक्षुब्ध होते हैं, तो जो विकार उत्पन्न होता है, वह अहंकार तत्त्व की तीन अवस्थाओं में प्रकट होता है—ये हैं सात्विक, तामस तथा राजस। यह अहंकार जो महत तत्त्व से उत्पन्न होता है और जो स्वयं भी अव्यक्त प्रधान से उत्पन्न है, समस्त भौतिक मोह तथा द्वैत का कारण बन जाता है।

तात्पर्य : तीन गुणों के साथ पहचान के अपने अहंकार को छोड़ कर मनुष्य शुद्ध आदि अवस्था, कृष्णभावनामृत, प्राप्त कर सकता है। *मोहविकल्पहेतुः* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य अहंकारवश अपने को प्रकृति का भोक्ता समझता है और इस तरह सुख-दुख के रूप में भौतिक द्वैत का मिथ्या भाव उत्पन्न कर लेता है। अहंकार तो तब हटता है जब मनुष्य अपने को पूर्ण कृष्णभावनामृत में भगवान् का नित्य दास समझता है।

आत्मापरिज्ञानमयो विवादो
ह्यस्तीति नास्तीति भिदार्थनिष्ठः ।
व्यर्थोऽपि नैवोपरमेत पुंसां
मत्तः परावृत्तधियां स्वलोकात् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

आत्म—परमात्मा का; अपरिज्ञान-मयः—पूर्ण ज्ञान के अभाव पर आधारित; विवादः—काल्पनिक तर्क-वितर्क; हि—निस्सन्देह; अस्ति—(यह जगत) सत्य है; इति—ऐसा कहते हुए; न अस्ति—सत्य नहीं है; इति—ऐसा कहते हुए; भिदा—भौतिक अन्तर; अर्थ-निष्ठः—विवाद का केन्द्रबिन्दु मानते हुए; व्यर्थः—व्यर्थ; अपि—यद्यपि; न—नहीं; एव—निश्चय ही; उपरमेत—शान्त हो जाते हैं; पुंसाम्—मनुष्यों के लिए; मत्तः—मुझसे; परावृत्त—विमुख; धियाम्—ध्यान; स्व-लोकात्—जो उनसे अभिन्न हैं।

दार्शनिकों का यह काल्पनिक विवाद कि, ''यह जगत सत्य है, अथवा यह जगत सत्य नहीं है'' परमात्मा के अपूर्ण ज्ञान पर आधारित है और भौतिक द्वैत को समझने के लिए ही है। यद्यपि ऐसा विवाद व्यर्थ है किन्तु जिन व्यक्तियों ने अपने वास्तविक आत्म रूप मुझसे, अपना ध्यान हटा लिया है, वे इसे त्याग पाने में असमर्थ हैं।

तात्पर्य : यदि कोई व्यक्ति भगवान् के अस्तित्व के बारे में सन्देह करता है, तो वह भगवान् की सृष्टि की सत्यता के बारे में अवश्य ही सन्देह करेगा। इस तरह भगवान् कृष्ण को समझे बिना मात्र भौतिक जगत की सत्यता तथा असत्यता के विषय में तर्क या वाद-विवाद करना व्यर्थ है। यह भौतिक जग इसलिए सत्य है क्योंकि यह परम सत्य भगवान् कृष्ण से उद्भूत है। भगवान् कृष्ण की सत्यता को समझे बिना कोई व्यक्ति उनकी सृष्टि की सत्यता का निश्चित रूप से पता नहीं लगा सकता। उसे सदैव आश्चर्च होता रहेगा कि मैं सचमुच किसी वस्तु को देख रहा हूँ या केवल यह सोच रहा हूँ कि मैं उसे देख रहा हूँ। ऐसी कल्पना को भगवान् की शरण में गये बिना सुलझाया नहीं जा सकता; अतएव यह व्यर्थ है। भगवान् के भक्तों को ऐसा विवाद पसन्द नहीं है क्योंकि वे वास्तव में आध्यात्मिक प्रबुद्धता की ओर अग्रसर हो रहे हैं और कृष्णभावनामृत के अति सुन्दर अनुभव से पूरी तरह सन्तुष्ट रहते हैं।

श्रीउद्धव उवाच
त्वत्तः परावृत्तधियः स्वकृतैः कर्मभिः प्रभो ।
उच्चावचान्यथा देहान्गृह्णन्ति विसृजन्ति च ॥ ३५॥
तन्ममाख्याहि गोविन्द दुर्विभाव्यमनात्मभिः ।
न ह्येतत्प्रायशो लोके विद्वांसः सन्ति वञ्चिताः ॥ ३६॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; त्वत्तः—आप से; परावृत्त—पराङ्मुख; धियः—जिनके मन; स्व-कृतैः—अपने द्वारा किये गये; कर्मभिः—सकाम कर्मों से; प्रभो—हे प्रभु; उच्च-अवचान्—उच्चतर तथा निम्नतर; यथा—जिस तरह; देहान्—भौतिक शरीरों को; गृह्णन्ति—स्वीकार करते हैं; विसृजन्ति—त्याग देते हैं; च—तथा; तत्—वह; मम—मुझसे; आख्याहि—कृपा करके बतलाइये; गोविन्द—हे गोविन्द; दुर्विभाव्यम्—समझना असम्भव; अनात्मभिः—जो बुद्धिमान नहीं हैं उनके द्वारा; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; एतत्—इसके विषय में; प्रायशः—अधिकांशतः; लोके—इस जगत में; विद्वांसः—जानने योग्य; सन्ति—हैं; वञ्चिताः—ठगेहुए (माया द्वारा)।

श्री उद्धव ने कहा : हे परम स्वामी, सकाम कर्मियों की बुद्धि निश्चय ही आपसे विमुख होती है। अतः कृपा करके यह बतलायें कि ऐसे लोग किस तरह अपने भौतिकतावादी कार्यों से उच्च तथा निम्न शरीर ग्रहण करते हैं और फिर उनका त्याग करते हैं? हे गोविन्द, यह विषय मूर्खों की समझ में आने वाला नहीं है। वे इस जगत में माया से ठगे जाने पर भी इस तथ्य से अवगत नहीं हो पाते।

तात्पर्य : ईश-विज्ञान को जिसमें उन लोगों के निषेधात्मक परिणामों का वर्णन सम्मिलित है, जो भगवान् के साथ अपना शाश्वत सम्बन्ध भूल गए हैं, समझे बिना कोई बुद्धिमान नहीं माना जा सकता; ऐसे कई तथाकथित बुद्धिमान लोग हैं किन्तु वे अपने को अत्यन्त बुद्धिमान समझने पर भी भगवान् की परम बुद्धिमत्ता की शरण में नहीं जाते। इस तरह तीन गुणों के बीच अपने अपने पदों के अनुसार वे नाना प्रकार के दर्शन-सिद्धान्त गढ़ लेते हैं। किन्तु उसी माया से उत्पन्न दर्शन-सिद्धान्त से प्रकृति के प्रभाव से कोई बच नहीं सकता। मोक्ष तो पूर्ण ज्ञान से प्राप्त किया जाता है, जो सीधे भगवद्धाम से आता है। भगवान् कृष्ण तथा उनके अधिकार प्रदत्त प्रतिनिधियों से श्रवण करके मनुष्य आसानी से मोक्ष पा सकता है और भगवद्धाम जा सकता है।

श्रीभगवानुवाच
मनः कर्ममयं णृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम् ।
लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तते ॥ ३७॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; मनः—मन; कर्म-मयम्—कर्म द्वारा निर्मित; नृणाम्—मनुष्यों की; इन्द्रियैः—इन्द्रियों समेत; पञ्चभिः—पाँच; युतम्—संयुक्त; लोकात्—एक संसार से; लोकम्—दूसरे जगत को; प्रयाति—यात्रा करता है; अन्यः—पृथक्; आत्मा—आत्मा; तत्—वह मन; अनुवर्तते—अनुगमन करता है।

भगवान् कृष्ण ने कहा : मनुष्यों का भौतिक मन सकाम कर्मों के फल से निर्मित होता है। वह पाँच इन्द्रियों के साथ एक शरीर से दूसरे शरीर में विचरण करता है। यद्यपि आत्मा मन से भिन्न है, किन्तु वह उसका अनुगमन करता है।

ध्यायन्मनोऽनु विषयान्दृष्टान्वानुश्रुतानथ ।
उद्यत्सीदत्कर्मतन्त्रं स्मृतिस्तदनु शाम्यति ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

ध्यायत्—ध्यान करता; मनः—मन; अनु—नियमित रूप से; विषयान्—इन्द्रिय-विषयों को; दृष्टान्—देखा हुआ; वा—अथवा; अनुश्रुतान्—वैदिक प्रमाण से सुना हुआ; अथ—फलस्वरूप; उद्यत्—उदय होता; सीदत्—विलीन करते; कर्म-तन्त्रम्—सकाम कर्मों के फलों से बँधा; स्मृतिः—स्मृति; तत् अनु—उसके बाद; शाम्यति—नष्ट हो जाता है।

सकाम कर्मों के फलों से बँधा हुआ मन सदैव उन इन्द्रिय-विषयों का ध्यान करता है, जो इस जगत में दिखते हैं और उन विषयों का भी जो वैदिक विद्वानों से सुने जाते हैं। फलस्वरूप मन अपनी अनुभूति की वस्तुओं के साथ उत्पन्न और विनष्ट होता प्रतीत होता है। इस तरह भूत तथा भविष्य में अन्तर करने की इसकी क्षमता जाती रहती है।

तात्पर्य : यह प्रश्न किया जा सकता है कि किस तरह सूक्ष्म शरीर अथवा मन एक शरीर से अपना सम्बन्ध तोड़ कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। भौतिक शरीरों में इस तरह का प्रवेश तथा उनका परित्याग जन्म तथा मृत्यु कहलाते हैं। मनुष्य अपनी वर्तमान इन्द्रियों का उपयोग इस जगत की दृश्य वस्तुओं—सुन्दरियों, बड़े बड़े महलों इत्यादि—के बारे में ध्यान करने में करता है और इसी तरह वह वेदों में वर्णित स्वर्गलोक का दिवास्वप्न देखता है। मृत्यु होने पर मन ऐसी अनुभव की जाने वाली वस्तुओं से विलग होकर नवीन शरीर में प्रवेश करता है जहाँ उसे नये इन्द्रिय-विषयों का अनुभव होता है। जब मन पूरी तरह बदल जाता है, तो उसकी पूर्व मनोवृत्ति समाप्त हो जाती है और जिस तरह नया मन बनता है उसे भी भूल जाता है यद्यपि मन वही होता है किन्तु भिन्न तरीके से अनुभव करता है।

बद्धजीव भौतिक अनुभवों के निरन्तर प्रवाह से जिसमें प्रत्यक्ष अनुभूति तथा इस जगत के विषयों का अमूर्त चिन्तन मिला रहता है, अभिभूत होता है। इस तरह वह ईश्वर से अपने सम्बन्ध की दिव्य स्मृति को भुला बैठता है। ज्योंही वह अपनी पहचान इस जगत से करने लगता है, त्योंही वह अपनी नित्य पहचान भूल जाता है और माया द्वारा उत्पन्न मिथ्या अहंकार के वशीभूत हो जाता है।

विषयाभिनिवेशेन नात्मानं यत्स्मरेत्पुनः ।
जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

विषय—नवीन अनुभूति के विषयों में; अभिनिवेशेन—तल्लीनता से; न—नहीं; आत्मानम्—अपने पूर्व आत्मा को; यत्—जिस स्थिति में; स्मरेत्—स्मरण करता है; पुनः—और आगे; जन्तोः—जीव का; वै—निस्सन्देह; कस्यचित् हेतोः—किसी न किसी बहाने; मृत्युः—मृत्यु नामक; अत्यन्त—पूर्ण; विस्मृतिः—विस्मरण।

जब जीव वर्तमान शरीर से दूसरे शरीर में जाता है, जो उसके अपने कर्म से उत्पन्न होता है, तो वह नये शरीर की आनन्दप्रद तथा पीड़ादायक अनुभूतियों में लीन हो जाता है और पहले वाले शरीर के अनुभव को पूरी तरह भूल जाता है। इस तरह से पूर्व भौतिक पहचान की पूर्ण विस्मृति, जो किसी न किसी बहाने उत्पन्न होती है, मृत्यु कहलाती है।

तात्पर्य : अपने कर्म के अनुसार मनुष्य सुन्दर, धनी या शक्तिशाली शरीर प्राप्त कर सकता है या फिर अत्यन्त गर्हित जीवन-दशा को प्राप्त हो सकता है। जीव स्वर्ग या नरक में जन्म लेकर अपने अहंकार की पहचान इस नये शरीर से पूरी तरह करने लगता है और नए शरीर के हर्ष, भय, ऐश्वर्य या कष्ट में लीन हो जाने से पहले वाले शरीर के अनुभवों को पूरी तरह भूल जाता है। मृत्यु तब होती है जब भौतिक शरीर का निर्धारित कर्म समाप्त हो जाता है। चूँकि शरीर विशेष का कर्म समाप्त हो जाता है, अतएव वह मन पर प्रभाव नहीं डाल सकता। इस तरह मनुष्य अपने पहले के शरीर को भूल जाता है। नया शरीर प्रकृति द्वारा सृजित होता है ताकि मनुष्य अनुभव कर सके कि उसका कर्म अभी भी प्रभावशाली है। फलस्वरूप मनुष्य की सारी चेतना उसके वर्तमान शरीर में लीन हो जाती है, जिससे वह अपने विगत कर्मों के फलों का पूरी तरह अनुभव कर सके। चूँकि जीव अपनी मिथ्या पहचान शरीर से करता है, अतएव शारीरिक मृत्यु को आत्मा की मृत्यु मान लिया जाता है। किन्तु वास्तव में आत्मा शाश्वत है, जिसका न तो सृजन होता है, न संहार। आत्म-साक्षात्कार का यह विश्लेषणात्मक ज्ञान कृष्णभावनामृत में सहज ही ज्ञेय बन जाता है।

जन्म त्वात्मतया पुंसः सर्वभावेन भूरिद ।
विषयस्वीकृतिं प्राहुर्यथा स्वप्नमनोरथः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

जन्म—जन्म; तु—तथा; आत्मतया—अपने साथ पहचान से; पुंसः—पुरुष की; सर्व-भावेन—पूरी तरह; भूरि-द—हे अत्यन्त दानी उद्धव; विषय—शरीर का; स्वी-कृतिम्—स्वीकृति; प्राहुः—कहलाती है; यथा—जिस तरह; स्वप्न—सपना; मनः-रथः—या मानसिक विलास।

हे परम दानी उद्धव, जिसे जन्म कहा जाता है, वह नवीन शरीर के साथ मनुष्य की पूर्ण पहचान ही है। मनुष्य नया शरीर उसी तरह स्वीकार करता है, जिस तरह कोई स्वप्न के अनुभव

या मनोविलास को सत्य मान लेता है।

तात्पर्य : अपने शरीर के साथ पहचान अपने मित्रों या सम्बन्धियों के लिए अनुभव किये जाने वाले स्नेह तथा आकर्षण को पार कर जाती है। *सर्वभावेन* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य भौतिक शरीर को पूरी तरह स्व मान लेता है, जिस तरह स्वप्न के अनुभव को सत्य मान लिया जाता है। व्यावहारिक कर्म के बिना कोरी कल्पना दिवास्वप्न कहलाती है और सोते समय जो मनोकल्पना उत्पन्न होती है, वह स्वप्न कहलाती है। अपने शरीर से अपनी पहचान तथा शारीरिक सम्बन्धों को आँख मूँद कर स्थायी मान बैठना एक लम्बा स्वप्न या मनोविलास है, जिसमें मनुष्य अपने को भगवान् से पृथक् मानता है। इसलिए जन्म किसी नये जीव की उत्पत्ति का सूचक नहीं होता अपितु आत्मा द्वारा नये भौतिक शरीर की आँख मूँद कर स्वीकृति है।

स्वप्नं मनोरथं चेत्थं प्राक्तनं न स्मरत्यसौ ।
तत्र पूर्वमिवात्मानमपूर्वम्चानुपश्यति ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

स्वप्नम्—स्वप्न; मनः-रथम्—दिवास्वप्न; च—तथा; इत्थम्—इस प्रकार; प्राक्तनम्—पूर्ववर्ती; न स्मरति—स्मरण नहीं करता; असौ—वह; तत्र—उस (वर्तमान शरीर) में; पूर्वम्—पूर्ववर्ती, पिछला; इव—मानो; आत्मानम्—स्वयं; अपूर्वम्—जिसका भूतकाल न हो; च—तथा; अनुपश्यति—देखता है।

जिस प्रकार मनुष्य स्वप्न या दिवास्वप्न का अनुभव करते हुए अपने पहले के स्वप्नों या दिवास्वप्नों को स्मरण नहीं रख पाता, उसी तरह अपने वर्तमान शरीर में स्थित मनुष्य इसके पूर्व विद्यमान होने पर भी यही सोचता है कि वह अभी हाल ही में उत्पन्न हुआ है।

तात्पर्य : यहाँ पर आपत्ति की जा सकती है कि कभी कभी स्वप्न का अनुभव करते हुए मनुष्य अपना पिछला स्वप्न याद रखता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इसका यह उत्तर देते हैं कि *जातिस्मर* की योगशक्ति से मनुष्य अपने पूर्व शरीर को याद रख सकता है। और जैसाकि सर्वविदति है ''अपवाद से नियम की पुष्टि होती है''। सामान्यतया बद्धजीवों को अपना विगत अस्तित्व स्मरण नहीं रहता। वे तो यही सोचते हैं ''मैं छह वर्ष का हो गया'' ''मैं तीस वर्ष का हूँ'' तथा ''मैं इसके पूर्व नहीं था''। ऐसे भौतिक अज्ञान में मनुष्य आत्मा की वास्तवकि स्थिति को समझ नहीं पाता।

इन्द्रियायनसृष्ट्येदं त्रैविध्यं भाति वस्तुनि ।

बहिरन्तर्भिदाहेतुर्जनोऽसज्जनकृद्यथा ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रिय-अयन—इन्द्रियों के वास (मन) द्वारा; सृष्ट्या—सृष्टि होने से (नये शरीर के साथ पहचान से); इदम्—यह; त्रै-विध्यम्—तीन प्रकार का (उच्च, मध्य तथा निम्न श्रेणी का); भाति—प्रकट होता है; वस्तुनि—वास्तविकता (आत्मा) में; बहिः—बाह्य; अन्तः—तथा आन्तरिक; भिदा—अन्तरों का; हेतुः—कारण; जनः—व्यक्ति; असत्-जन—बुरे व्यक्ति का; कृत्—जनक; यथा—जिस तरह।

चूँकि मन, जो कि इन्द्रियों का आश्रय है, नवीन शरीर के साथ अपनी पहचान कर लेता है अतएव उच्च, मध्यम तथा निम्न—ये तीन भौतिक श्रेणियाँ ऐसी प्रतीत होने लगती हैं मानो आत्मा की असलियत के भीतर उपस्थित हों। इस तरह आत्मा बाह्य तथा अन्तः द्वैत उत्पन्न करता है, जिस तरह मनुष्य कुपुत्र को जन्म दे।

तात्पर्य : विभिन्न शरीरों की सम्पत्ति, सौन्दर्य, बल, बुद्धि, यश तथा वैराग्य को भौतिक अवस्था के अनुसार उत्तम, सामान्य या निकृष्ट माना जाता है। आत्मा किसी शरीर को प्राप्त करता है और अपने को तथा अन्यों को उनकी भौतिक अवस्था के अनुसार उच्च, मध्यम या निम्न श्रेणी का मानता है। वस्तुत: शाश्वत आत्मा भौतिक द्वैत के परे होता है लेकिन वह भूलवश भौतिक अवस्था को अपना मान बैठता है। *असज्जन कृद् यथा* पद महत्त्वपूर्ण है। स्वभाव से पिता शान्त हो सकता है किन्तु यदि उसका पुत्र किसी विपत्ति में फँस जाता है, तो पिता को बाध्य होकर उसे छुड़ाना पड़ता है और अपने पुत्र के शत्रुओं को परिवार का शत्रु मानना पड़ता है। इस तरह कुपुत्र अपने पिता को झंझट में डाल देता है। इसी प्रकार से आत्मा के समक्ष कोई अपनी स्वाभाविक समस्या नहीं रहती, किन्तु शरीर के साथ झूठी पहचान करने से आत्मा शरीर के सुख-दुख में फँस जाता है। इस श्लोक के साथ भगवान् शरीर तथा आत्मा विषयक अपनी व्याख्या का सार-समाहार करते हैं।

नित्यदा ह्यङ्ग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च ।
कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न दृश्यते ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

नित्यदा—निरन्तर; हि—निस्सन्देह; अङ्ग—हे उद्धव; भूतानि—सृजित शरीर; भवन्ति—उत्पन्न होते हैं; न भवन्ति—नहीं रहते; च—तथा; कालेन—समय द्वारा; अलक्ष्य—अदृश्य; वेगेन—वेग से; सूक्ष्मत्वात्—अत्यन्त सूक्ष्म होने से; तत्—वह; न दृश्यते—नहीं दिखलाई पड़ती।

हे उद्धव, भौतिक शरीर काल के अदृश्य तीव्र वेग से निरन्तर उत्पत्ति तथा विनाश को प्राप्त होते रहते हैं। सूक्ष्म प्रकृति होने से काल को कोई देख नहीं पाता।

यथार्चिषां स्त्रोतसां च फलानां वा वनस्पतेः ।
तथैव सर्वभूतानां वयोऽवस्थादयः कृताः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अर्चिषाम्—दीपक की लौ; स्त्रोतसाम्—नदी की धाराओं के; च—तथा; फलानाम्—फलों के; वा—अथवा; वनस्पतेः—वृक्ष के; तथा—इस तरह; एव—निश्चय ही; सर्व-भूतानाम्—सारे शरीरों के; वयः—विभिन्न आयु के; अवस्था—अवस्था; आदयः—इत्यादि; कृताः—उत्पन्न की जाती हैं।.

समस्त भौतिक शरीरों के रूपान्तर की विभिन्न अवस्थाएँ उसी तरह बदलती रहती हैं जिस तरह दीपक की लौ, नदी की धारा या वृक्ष के फल बदलते रहते हैं।

तात्पर्य : दीपक की लौ कभी तेज होती है, तो कभी मन्द होती है और अन्त में बुझ जाती है। बहती हुई नदी की लहरें कभी उठती और कभी गिरती हैं जिससे असंख्य आकार तथा नक्शे बनते हैं। वृक्ष में फल लगते हैं, बढ़ते हैं, पकते हैं, मीठे होते हैं और फिर सड़ कर नष्ट हो जाते हैं।इसी तह मनुष्य यह समझ सकता है कि उसके शरीर में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं और शरीर निश्चय ही बुढ़ापे, रोग तथा मृत्यु को प्राप्त होता रहता है। जीवन के विभिन्न कालों में शरीर में संभोग शक्ति, शारीरिक शक्ति, इच्छा, ज्ञान इत्यादि प्रकट होते हैं। ज्यों ज्यों शरीर पुराना पड़ता है, शारीरिक शक्ति घटती है किन्तु शरीर के इन परिवर्तनों के बावजूद भी ज्ञान में बढ़ोतरी हो सकती है।

भौतिक जन्म तथा मृत्यु एक निश्चित काल खण्ड में होते हैं। भौतिक वस्तु का जन्म, उत्पत्ति या उत्पादन तुरन्त ही भौतिक जगत में इस सूक्ष्म काल खण्ड से अपने को जोड़ लेता है। इस तरह इसका विनाश या मृत्यु अवश्यम्भावी है। काल का अप्रतिहत वेग इतनी सूक्ष्मता से आगे बढ़ता है कि केवल अत्यन्त बुद्धिमान ही इसे देख पाता है। जिस तरह दीपक की लौ धीरे धीरे मन्द पड़ती जाती है, जिस तरह गतिमान धाराएँ नदी के भीतर बहती हैं अथवा जिस तरह वृक्ष में फल धीरे धीरे पक जाता है, उसी तरह भौतिक शरीर अपरिहार्य मृत्यु के निकट पहुँचता रहता है। अतएव अपरिहार्य क्षणभंगुर शरीर और नित्य, अपरिवर्तनशील आत्मा में भ्रम नहीं होना चाहिए।

सोऽयं दीपोऽर्चिषां यद्वत्स्त्रोतसां तदिदं जलम् ।
सोऽयं पुमानिति नृणां मृषा गीर्धीर्मृषायुषाम् ॥ ४५॥

शब्दार्थ

सः—यह; अयम्—वही; दीपः—प्रकाश; अर्चिषाम्—दीपक की ज्योति; यद्वत्—जिस तरह; स्रोतसाम्—नदी के भीतर बहने वाली धाराओं के; तत्—वह; इदम्—वही; जलम्—जल; सः—यह; अयम्—वही; पुमान्—व्यक्ति; इति—इस प्रकार; नृणाम्—मनुष्यों के; मृषा—झूठा; गीः—कथन; धीः—विचार; मृषा-आयुषाम्—व्यर्थ जीवन बिताने वालों के।

यद्यपि दीपक-प्रकाश में प्रकाश की असंख्य किरणों का सृजन, रूपान्तर और क्षय होता रहता है, किन्तु मोहग्रस्त व्यक्ति जब क्षण-भर के लिए इस प्रकाश को देखता है, तो वह यह झूठी बात कहेगा, "यह दीपक का वही प्रकाश है।" जिस तरह प्रवाहित नदी के जल को जो निरन्तर बह कर आगे बढ़ता जाता है, किसी एक बिंदु को देख कर कोई यह मिथ्या कहे, "यह नदी का वही जल है।" इसी तरह यद्यपि मनुष्य का शरीर निरन्तर परिवर्तित होता रहता है, किन्तु जो लोग अपने जीवन को व्यर्थ गँवाते हैं, वे झूठे ही यह सोचते और कहते हैं कि शरीर की प्रत्येक विशेष अवस्था उस व्यक्ति की असली पहचान है।

तात्पर्य : यद्यपि मनुष्य कह सकता है कि, "यह दीपक का वही प्रकाश है" किन्तु प्रतिक्षण असंख्य प्रकाश किरणें उत्पन्न होतीं, परिवर्तित होतीं और नष्ट होती रहती हैं। इसी तरह यद्यपि मनुष्य यह कह सकता है नदी का जल वही है किन्तु विभिन्न जल-अणु निरन्तर बहते जाते हैं। इसी तरह जब कोई किसी बालक से मिलता है, तो वह शरीर की इस क्षणिक अवस्था को उस व्यक्ति की असली पहचान उस बालक के रूप में मान लेता है। इसी तरह वृद्ध शरीर को वह वृद्ध पुरुष मान बैठता है। किन्तु तथ्य तो यह है कि मनुष्य का शरीर दीपक की लौ अथवा नदी के प्रवाह की तरह प्रकृति के जो भगवान् की शक्ति है, गुणों का रूपान्तर मात्र है। पुरुष की असली पहचान आत्मा है, जो कि कृष्ण का अंश है किन्तु इस श्लोक में भगवान् कृष्ण यह सिद्ध करते हैं कि बद्धजीव काल की सूक्ष्म गति को देखने या समझने में अक्षम है। मनुष्य भौतिक चेतना की स्थूल दृष्टि से कालरूपी भगवान् द्वारा प्रेरित जगत के सूक्ष्म खण्ड को निश्चित नहीं कर पाता। इस श्लोक का *मृषायुषाम्* शब्द उनको सूचित करता है, जो भगवान् के आदेशों को समझे बिना अपना समय अज्ञान में नष्ट करते हैं। ऐसे व्यक्ति शरीर की किसी भी अवस्था को शरीर के भीतर स्थित आत्मा की सही पहचान मान बैठते हैं। किन्तु क्योंकि आत्मा में भौतिक परिवर्तन नहीं होते, अत: जब वह आत्मा भगवान् की प्रेमाभक्ति के नित्य विविध आनन्द में अपने को लगाता है, तो उसे अज्ञान तथा कष्ट का और अधिक सामना नहीं करना पड़ता।

मा स्वस्य कर्मबीजेन जायते सोऽप्ययं पुमान् ।

म्रियते वामरो भ्रान्त्या यथाग्निर्दारुसंयुतः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

मा—मत; स्वस्य—अपने ही; कर्म-बीजेन—कर्म के बीज से; जायते—जन्म लेता है; सः—वह; अपि—निस्सन्देह; अयम्—यह; पुमान्—पुरुष; म्रियते—मरता है; वा—अथवा; अमरः—अमर; भ्रान्त्या—भ्रान्ति के कारण; यथा—जिस तरह; अग्निः—अग्नि; दारु—काष्ठ से; संयुतः—जुड़ी हुई।

मनुष्य न तो पूर्वकर्म के बीज से जन्म लेता है न ही अमर होने के कारण मरता है। मोह के कारण जीव जन्म लेता तथा मरता प्रतीत होता है, जिस तरह काष्ठ के संसर्ग से अग्नि जलती और फिर बुझती प्रतीत होती है।

तात्पर्य : यद्यपि इस संसार में अग्नि शाश्वत विद्यमान है किन्तु किसी लकड़ी के टुकड़े विशेष के संसर्ग में वह कभी दिखती है और कभी बुझती है। इसी तरह जीव शाश्वत है किन्तु विशिष्ट शरीर के सन्दर्भ में वह जन्म लेता और मरता है। इस तरह कर्मफल जीव पर भ्रामक कष्ट अथवा सुख लादते हैं किन्तु वे जीव के नित्य स्वभाव को अपने आप बदल लेने पर विवश नहीं करते। दूसरे शब्दों में, कर्म मोह के चक्र को सूचित करता है, जिसमें एक भ्रामक कर्म से दूसरे का जन्म होता है। कृष्णभावनामृत जीव को भगवान् की प्रेमाभक्ति के दिव्य कार्यों में लगाकर कर्म के इस चक्र को रोक देता है। ऐसे कृष्णभावनामृत से मनुष्य कर्मफल की मोहमयी जंजीर से बच सकता है।

निषेकगर्भजन्मानि बाल्यकौमारयौवनम् ।
वयोमध्यं जरा मृत्युरित्यवस्थास्तनोर्नव ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

निषेक—गर्भस्थापन; गर्भ—गर्भवृद्धि; जन्मानि—तथा जन्म; बाल्य—बाल्यकाल, बचपन; कौमार—कुमार अवस्था; यौवनम्—तथा युवावस्था; वयः-मध्यम्—बीच की (अधेड़) आयु; जरा—बुढ़ापा; मृत्युः—मृत्यु; इति—इस प्रकार; अवस्थाः—अवस्थाएँ; तनोः—शरीर की; नव—नौ।

गर्भस्थापन, गर्भवृद्धि, जन्म, बाल्यावस्था, कुमारावस्था, युवावस्था, अधेड़ आयु, बुढ़ापा तथा मृत्यु—ये शरीर की नौ अवस्थाएँ हैं।

एता मनोरथमयीर्हान्यस्योच्चावचास्तनूः ।
गुणसङ्गादुपादत्ते क्वचित्कश्चिज्जहाति च ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

एताः—ये; मनः-रथः-मयीः—मन के चिंतन द्वारा प्राप्त; ह—निश्चय ही; अन्यस्य—(आत्मा से पृथक्) शरीर का; उच्च—बड़ा; अवचाः—तथा छोटा; तनूः—शारीरिक अवस्था; गुण-सङ्गात्—प्रकृति के गुणों की संगति करने से; उपादत्ते—स्वीकार करता है; क्वचित्—कभी कभी; कश्चित्—कोई; जहाति—त्याग देता है; च—तथा।

यद्यपि भौतिक शरीर आत्मा से भिन्न है, किन्तु भौतिक संगति के कारण उत्पन्न अज्ञान से मनुष्य झूठे ही अपनी पहचान उच्च तथा निम्न शारीरिक अवस्थाओं से करता है। कभी कभी भाग्यशाली व्यक्ति ऐसी मनोकल्पना को त्यागने में समर्थ होता है।

तात्पर्य : जिस व्यक्ति को भगवान् की विशेष कृपा प्राप्त होती है, वह शारीरिक पहचान की मनोकल्पना को त्यागने में समर्थ होता है। इस तरह उसे जन्म-मृत्यु के चक्र से छूट निकलने का अवसर प्राप्त हो जाता है।

आत्मनः पितृपुत्राभ्यामनुमेयौ भवाप्ययौ ।
न भवाप्ययवस्तूनामभिज्ञो द्वयलक्षणः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

आत्मनः—अपना ही; पितृ—पिता या पूर्वजों; पुत्राभ्याम्—तथा पुत्र से; अनुमेयौ—यह अनुमान लगाया जा सकता है; भव—जन्म; अप्ययौ—तथा मृत्यु; न—नहीं है; भव-अप्यय-वस्तूनाम्—जन्म तथा मृत्यु के अधीन सारी वस्तुओं का; अभिज्ञः—भलीभाँति जानने वाला; द्वय—इन द्वैतों से; लक्षणः—लक्षित होता है।.

अपने पिता या पितामह की मृत्यु से मनुष्य अपनी मृत्यु का अनुमान लगा सकता है और अपने पुत्र के जन्म से वह अपने जन्म की अवस्था समझ सकता है। इस तरह जो व्यक्ति यथार्थरूप से भौतिक शरीरों की उत्पत्ति को समझ लेता है, वह इन द्वैतों में नहीं पड़ता।

तात्पर्य : भगवान् ने भौतिक शरीर की गर्भाधान, गर्भवृद्धि तथा जन्म से लेकर नौ अवस्थाओं का वर्णन किया है। यह तर्क किया जा सकता है कि जीव को अपने माता के गर्भ में रहने, या अपने जन्म तथा शिशुपने का स्मरण नहीं रह सकता। इसीलिए भगवान् यहाँ पर कहते हैं कि मनुष्य अपने पुत्र का अध्ययन करके शरीर की इन अवस्थाओं का अनुभव कर सकता है। इसी तरह अपने पिता, पितामह या प्रपितामह की मृत्यु के अनुभव से यह निश्चित प्रमाण मिलता है कि भौतिक शरीर मरता है यद्यपि मनुष्य सदा जीवित रहने की आशा कर सकता है। इसीलिए गम्भीर व्यक्ति आत्मा को शाश्वत मान कर और क्षणिक, अविश्वसनीय शरीर की झूठी पहचान त्याग कर भगवान् की भक्ति की शरण ग्रहण करता है। इस तरह वह जन्म-मृत्यु के नकली आरोप से बच सकता है।

तरोर्बीजविपाकाभ्यां यो विद्वाञ्जन्मसंयमौ ।
तरोर्विलक्षणो द्रष्टा एवं द्रष्टा तनोः पृथक् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

तरोः—वृक्ष का; बीज—बीज; विपाकाभ्याम्—परिपक्वता; यः—जो; विद्वान्—ज्ञानी; जन्म—जन्म; संयमौ—तथा मृत्यु के; तरोः—वृक्ष से; विलक्षणः—स्पष्ट; द्रष्टा—साक्षी; एवम्—इसी तरह से; द्रष्टा—साक्षी; तनोः—भौतिक शरीर का; पृठक्—पृथक् है।.

जो व्यक्ति बीज से वृक्ष को जन्म लेते देखता है और परिपक्वता प्राप्त करने पर उस वृक्ष की मृत्यु को भी देखता है, वह निश्चित रूप से वृक्ष से पृथक् रह कर स्पष्ट साक्षी बन जाता है। इसी तरह भौतिक शरीर के जन्म तथा मृत्यु का साक्षी शरीर से पृथक् रहता है।

तात्पर्य : वृक्षों के सन्दर्भ में *विपाक* अन्तिम परिवर्तन को सूचित करता है, जिसे मृत्यु कहते हैं। धान जैसे अन्य पौधों के प्रसंग में *विपाक्* परिपक्वता का सूचक है और उसमें भी मृत्यु होती है। इस तरह सामान्य अवलोकन द्वारा मनुष्य अपने शरीर की वास्तविक स्थिति तथा दिव्य द्रष्टा के रूप में अपनी स्थिति को समझ सकता है।

प्रकृतेरेवमात्मानमविविच्याबुधः पुमान् ।
तत्त्वेन स्पर्शसम्मूढः संसारं प्रतिपद्यते ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

प्रकृतेः—भौतिक प्रकृति से; एवम्—इस प्रकार; आत्मानम्—आत्मा; अविविच्य—भेद न कर पाने से; अबुधः—अज्ञानी; पुमान्—पुरुष; तत्त्वेन—(भौतिक वस्तुओं को) असली समझ कर; स्पर्श—स्पर्श से; सम्मूढः—पूर्णतया मोहित; संसारम्—भव-चक्र; प्रतिपद्यते—प्राप्त करता है।.

अज्ञानी व्यक्ति अपने को प्रकृति से अलग न समझ पाने से प्रकृति को सत्य समझता है। इसके सम्पर्क से वह पूर्णतया मोहित हो जाता है और संसार-चक्र में प्रवेश करता है।

तात्पर्य : इसी तरह का श्लोक *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र (१.७.५) आ चुका है—

यया सम्मोहितो जीव आत्मानम् त्रिगुणात्मकम्।

परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते॥

''यद्यपि जीव तीन गुणों से परे है, किन्तु इस महामाया के कारण वह अपने को भौतिक उपज मानता है और इसीलिए भौतिक कष्टों के फल भोगता है।''

सत्त्वसङ्गाद‍ृषीन्देवान्रजसासुरमानुषान् ।
तमसा भूततिर्यक्त्वं भ्रामितो याति कर्मभिः ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

सत्त्व-सङ्गात्—सतोगुण के साथ से; ऋषीन्—ऋषियों को; देवान्—देवताओं को; रजसा—रजोगुण के द्वारा; असुर—असुरों को; मानुषान्—तथा मनुष्यों को; तमसा—तमोगुण द्वारा; भूत—भूतप्रेतों को; तिर्यक्त्वम्—पशु-जगत को; भ्रामितः—घुमाया गया; याति—जाता है; कर्मभिः—अपने सकाम कर्मों के कारण।

अपने सकाम कर्म के कारण घूमने के लिए बाध्य हुआ, बद्ध आत्मा सतोगुण के सम्पर्क से ऋषियों या देवताओं के बीच जन्म लेता है। रजोगुण के सम्पर्क से वह असुर या मनुष्य बनता है और तमोगुण की संगति से वह भूतप्रेत या पशु-जगत में जन्म लेता है।

तात्पर्य : *तिर्यक्त्वम्* का अर्थ है ''पशुत्व'' जिसमें सभी निम्न जीव योनियाँ जैसे जंगली जानवर, पक्षी, कीट, मछली, पौधे सम्मिलित हैं।

नृत्यतो गायतः पश्यन्यथैवानुकरोति तान् ।
एवं बुद्धिगुणान्पश्यन्ननीहोऽप्यनुकार्यते ॥५३॥

शब्दार्थ

नृत्यतः—नाचते हुए पुरुष; गायतः—तथा गाते हुए; पश्यन्—देखते हुए; यथा—जिस तरह; एव—निस्सन्देह; अनुकरोति—अनुकरण करता है; तान्—उनको; एवम्—इस तरह; बुद्धि—बुद्धि का; गुणान्—अर्जित गुणों को; पश्यन्—देखते हुए; अनीहः—स्वयं कार्य में रत न होकर; अपि—फिर भी; अनुकार्यते—अनुकरण कराया जाता है।

जिस तरह नाचते तथा गाते हुए व्यक्तियों को देख कर कोई व्यक्ति उनका अनुकरण करता है, उसी तरह आत्मा सकाम कर्मों का कर्ता न होते हुए भी, भौतिक बुद्धि द्वारा मोहित हो जाता है और उसके गुणों का अनुकरण करने के लिए बाध्य हो जाता है।

तात्पर्य : कभी कभी लोग पेशेवर गवैयों तथा नर्तकों पर मुग्ध होकर उनकी तान तथा लयों का उनकी रोमांचक, विनोदपूर्ण एवं शौर्ययुक्त भावनाओं के साथ अपने मनों में अनुकरण करते हैं। वे रेडिओं में सुनाई पड़ने वाले गीत गाते हैं और टेलीविजन या चित्रपटों या रंगमंचों पर देखे गयेनृत्यों तथा नाटकीय क्रियाकलापों का अनुकरण करते हैं और इस तरह वे कलाकार के भावों तथा कला तक पहुँचते हैं। इसी तरह बद्ध आत्मा भौतिक मन तथा बुद्धि के मनोरथों पर मुग्ध होता है और वे उसे आश्वस्त करते हैं कि वह भौतिक जगत का भोक्ता बन सकता है। इस तरह बद्ध आत्मा भौतिक शरीर से पृथक् होते हुए तथा कभी भी उसके कर्मों का कर्ता न होते हुए भी अपने शरीर को भौतिक कार्यों में लगाता है, जिससे वह जन्म-मृत्यु के चक्कर में फँस जाता है। मनुष्य को चाहिए कि भौतिक बुद्धि की अवैध योजनाओं को स्वीकार न करे प्रत्युत वह भगवान् की सेवा में अपने को पूर्णतया लगाये।

यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव ।
चक्षुसा भ्राम्यमाणेन दृश्यते भ्रमतीव भूः ॥ ५४॥
यथा मनोरथधियो विषय्यानुभवो मृषा ।
स्वप्नदृष्टाश्च दाशार्ह तथा संसार आत्मनः ॥ ५५॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अम्भसा—जल द्वारा; प्रचलता—गतिवान्, चलायमान; तरवः—वृक्ष; अपि—निस्सन्देह; चलाः—चलते हुए, गतिवान्; इव—; चक्षुषा—; भ्राम्यमाणेन—; दृश्यते—; भ्रमती—; इव—; भूः—; यथा—; मनः-रथ—; धियः—; विषय—; अनुभवः—; मृषा—; स्वप्न-दृष्टः—; च—; दाशार्ह—; तथा—; संसारः—; आत्मनः—.

हे दशार्ह वंशज, आत्मा का भौतिक जीवन, इन्द्रियतृप्ति का उसका अनुभव वास्तव में उसी तरह झूठा होता है, जिस तरह क्षुब्ध जल में प्रतिबिम्बित वृक्षों का हिलना-डुलना या आँखों को चारों ओर घुमाने से पृथ्वी का घूमना या कल्पना अथवा स्वप्न का जगत होता है।

तात्पर्य : जब क्षुब्ध जल में वृक्षों का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तो वे हिलते प्रतीत होते हैं। इसी तरह जब कोई व्यक्ति चल रही नाव में बैठा होता है, तो किनारे के वृक्ष चलते हुए लगते हैं। जब हवा चलने से पानी में लहरें उत्पन्न होती हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि जल गतिशील है, किन्तु वास्तव में वह हवा द्वारा गतिशील होता है। इस भौतिक जीवन में बद्ध आत्मा कोई कर्म नहीं करता, प्रत्युत भौतिक शरीर, मोहग्रस्त जीव की अनुमति से, प्रकृति के तीन गुणों द्वारा गतिशील होता है। मनुष्य इस बाह्य गति को अपने ऊपर आरोपित करके स्वयं को नाचता, गाता, दौड़ता, मरता, विजय करता मानता है यद्यपि ये कार्य प्रकृति के गुणों के साथ बाह्य शरीर की अन्योन्य क्रियाएँ होते हैं।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥ ५६॥

शब्दार्थ

अर्थे—वास्तव में; हि—निश्चय ही; अविद्यमाने—न होते हुए; अपि—भी; संसृतिः—जगत; न निवर्तते—रुकता नहीं; ध्यायतः—ध्यान करता; विषयान्—इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं का; अस्य—उसका; स्वप्ने—स्वप्न में; अनर्थ—अवांछित वस्तु का; आगमः—आना; यथा—जिस तरह।

जो व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति पर अपना ध्यान जमाये रखता है, उसके लिए भौतिक जीवन वास्तविक न होते हुए भी उसी तरह हट नहीं पाता जिस तरह स्वप्न के अरुचिकर अनुभव हटाये नहीं हटते।

तात्पर्य : कोई यह आक्षेप कर सकता है कि जब भगवान् कृष्ण इस बात पर जोर दे रहे हैं कि जीवन मिथ्या है, तो फिर कोई इसे रोकने के लिए प्रयास क्यों करे? इसीलिए भगवान् बतलाते हैं कि

भौतिक जीवन यद्यपि यथार्थ नहीं है किन्तु जो इन्द्रियतृप्ति में लीन रहता है उसके लिए वह हठपूर्वक चलता रहता है, जिस तरह निद्रा में मग्न रहने वाले का भयानक स्वप्न चलता रहता है। *अविद्यमान* शब्द का अर्थ यह है कि भौतिक जीवन ऐसी मनोकल्पना पर आधारित होता है, जिसमें मनुष्य सोचता है कि, ''मैं पुरुष हूँ'' ''मैं स्त्री हूँ'' ''मैं डाक्टर हूँ'' ''मैं सीनेटर हूँ'' ''मैं झाड़ू लगाने वाला हूँ'' आदि आदि। बद्ध आत्मा शरीर के साथ काल्पनिक पहचान के बल पर बड़े ही उत्साह के साथ कार्य करता जाता है। इस तरह यद्यपि आत्मा विद्यमान होता है तथा शरीर भी विद्यमान रहता है, किन्तु शरीर के साथ झूठी पहचान का अस्तित्व नहीं रहता। मिथ्या विचार पर आधारित भौतिक जीवन का वास्तविक अस्तित्व नहीं होता।

स्वप्न से जगने पर मनुष्य की स्मृति में स्वप्न की हल्की छाया बनी रह सकती है। इसी तरह भगवान् की भक्ति में लगने पर कभी कभी मनुष्य पापमय जीवन की हल्की छाया से क्षुब्ध हो सकता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि भगवान् द्वारा श्री उद्धव को दिये गये उपदेशों को सुन कर कृष्णभावनामृत में पुष्ट बने।

तस्मादुद्धव मा भुङ्क्ष्व विषयानसदिन्द्रियैः ।
आत्माग्रहणनिर्भातं पश्य वैकल्पिकं भ्रमम् ॥५७॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; उद्धव—हे उद्धव; मा भुङ्क्ष्व—मत भोग करो; विषयान्—इन्द्रिय-विषयों को; असत्—अशुद्ध; इन्द्रियैः—इन्द्रियों द्वारा; आत्म—आत्मा का; अग्रहण—अनुभव करने की अक्षमता; निर्भातम्—जिसमेंप्रकट है; पश्य—इसे देखो; वैकल्पिकम्—भौतिक द्वैत पर आधारित; भ्रमम्—मोह, भ्रम।.

इसलिए हे उद्धव, तुम भौतिक इन्द्रियों से इन्द्रियतृप्ति भोगने का प्रयास मत करो। यह देखो किस तरह भौतिक द्वैत पर आधारित भ्रम मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार से रोकता है।

तात्पर्य : हर वस्तु भगवान् की शक्ति तथा सम्पत्ति है और भगवान् की प्रेमाभक्ति में प्रयुक्त होने के लिए है। भौतिक वस्तुओं को भगवान् से पृथक् देखना और उन्हें अपने अधिकार में करके भोगने के लिए समझना *वैकल्पिकं भ्रमम्* कहलाता है। अपने भोग की वस्तु यथा भोजन, वस्त्र, आवास या वाहन का चुनाव करते समय मनुष्य उस प्राप्तव्य वस्तु के गुणों पर विचार करता है। फलस्वरूप भौतिक जीवन में मनुष्य निरन्तर चिन्तामग्न रहता है और अपने निजी आनन्द के लिए सर्वोत्तम इन्द्रियतृप्ति प्राप्त करने का प्रयास करता है। किन्तु यदि वह हर वस्तु को भगवान् की सम्पत्ति मानता है, तो उसे

लगेगा कि हर वस्तु भगवान् की प्रसन्नता के लिए बनी है। उसे कोई निजी चिन्ता नहीं रहेगी क्योंकि तब वह भगवान् की प्रेमाभक्ति मात्र में लगे रहने में तुष्ट रहेगा। ऐसा सम्भव नहीं कि भगवान् की सम्पत्ति का दुरुपयोग करने के साथ साथ आत्म-साक्षात्कार में प्रगति की जा सके।

क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽथ वा ।
ताडितः सन्निरुद्धो वा वृत्त्या वा परिहापितः ॥ ५८ ॥
निष्ठ्युतो मूत्रितो वाज्ञैर्बहुधैवं प्रकम्पितः ।
श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनात्मानमुद्धरेत् ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

क्षिप्तः—अपमानित; अवमानितः—उपेक्षित; असद्भिः—बुरे व्यक्तियों द्वारा; प्रलब्धः—उपहास किया गया; असूयितः—ईर्ष्या किया गया; अथ वा—या फिर; ताडितः—ताड़ना दिया गया; सन्निरुद्धः—बाँधा गया; वा—अथवा; वृत्त्या—अपनी जीविका-साधन का; वा—अथवा; परिहापितः—वंचित किया गया; निष्ठ्युतः—ऊपर थूका गया; मूत्रितः—पेशाब द्वारा दूषित किया गया; वा—अथवा; अज्ञैः—मूर्खों द्वारा; बहुधा—बारम्बार; एवम्—इस प्रकार; प्रकम्पितः—विक्षुब्ध किया गया; श्रेयः-कामः—जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य चाहने वाला; कृच्छ्र-गतः—कठिनाई का अनुभव करते हुए; आत्मना—अपनी बुद्धि से; आत्मानम्—अपने को; उद्धरेत्—बचाये।

जो व्यक्ति जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य को पाना चाहता है उसे बुरे लोगों द्वारा उपेक्षित होने, अपमानित किये जाने, उपहास या ईर्ष्या किये जाने पर या फिर अज्ञानी व्यक्तियों द्वारा बारम्बार मारे-पीटे जाने, बाँधे जाने या अपनी जीविका छीने जाने, अपने पर थूके जाने या अपने ऊपर पेशाब किए जाने जैसी कठिनाइयों के बावजूद, अपने आप को आध्यात्मिक पद पर सुरक्षित रखने के लिए, अपनी बुद्धि का प्रयोग करना चाहिए।

तात्पर्य : भगवान् के भक्तों को उपर्युक्त असुविधाओं का सारे इतिहास में सदा से अनुभव करना पड़ा है। किन्तु जो ईश-भावनामृत में आगे बढ़ा हुआ रहता है, वह ऐसी परिस्थितियों में भी भौतिक देह के प्रति शंका नहीं रखता, प्रत्युत अपनी सही बुद्धि से अपने मन को आध्यात्मिक पद पर स्थिर रखता है।

श्रीउद्धव उवाच ।
यथैवमनुबुध्येयं वद नो वदतां वर ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; यथा—कैसे; एवम्—इस प्रकार; अनुबुध्येयम्—मैं ठीक से समझूँ; वद—कृपा करके बतलायें; नः—हमसे; वदताम्—समस्त वक्ताओं में; वर—श्रेष्ठ।

श्री उद्धव ने कहा : हे श्रेष्ठ वक्ता, कृपा करके मुझे बतलायें कि मैं इसे किस तरह ठीक से

समझूँ ?

सुदु:षहमिमं मन्य आत्मन्यसदतिक्रमम् ।
विदुषामपि विश्वात्मन्प्रकृतिर्हि बलीयसी ।
ऋते त्वद्धर्मनिरतान्शान्तांस्ते चरणालयान् ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

सु-दु:सहम्—अत्यन्त असह्य; इमम्—इसे; मन्ये—मैं मानता हूँ; आत्मनि—अपने ऊपर; असत्—अज्ञानी पुरुषों द्वारा; अतिक्रमम्—आक्रमणों को; विदुषाम्—विद्वानों के लिए; अपि—भी; विश्व-आत्मन्—हे ब्रह्माण्डके आत्मा; प्रकृति:—मनुष्य का बद्ध व्यक्तित्व; हि—निश्चय ही; बलीयसी—अत्यन्त प्रबल; ऋते—के अतिरिक्त; त्वत्-धर्म—आपकी भक्ति में; निरतान्—लगे हुए; शान्तान्—शान्त; ते—आपके; चरण-आलयान्—चरणकमलों पर निवास करने वाले।

हे विश्वात्मा, मनुष्य का भौतिक जीवन में बंधन अत्यन्त प्रबल है; अत: अज्ञानी पुरुषों द्वारा किये गये अपराधों को सह पाना बड़े बड़े विद्वानों के लिए भी अत्यन्त कठिन है। केवल आपके वे भक्त, जो आपकी प्रेमाभक्ति में निरत हैं और जिन्होंने आपके चरणकमलों में रहते हुए शान्ति प्राप्त कर ली है, वे ऐसे अपराधों को सह पाने में सक्षम हैं।

तात्पर्य : भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन में अग्रसर हुए बिना कोरे ज्ञान से कोई सन्त नहीं बन सकता। दीर्घकालीन भौतिक संगति के फलस्वरूप मनुष्य के बद्ध व्यक्तित्व को जीत पाना कठिन है। इसलिए हमें दीन भाव से उन भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए जिन्होंने श्री उद्धव को बड़े अद्‍भुत तरीके से ज्ञान का असली अर्थ बतलाया है।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के ''भौतिक सृष्टि के तत्त्वों की गणना'' नामक बाईसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तेईस

अवन्ती ब्राह्मण का गीत

इस अध्याय में अवन्ती देश के एक साधु संन्यासी की कथा ऐसे उदाहरण के रूप में दी गई है कि दुष्टों द्वारा उत्पन्न उत्पातों तथा अपराधों को कैसे सहन किया जाना चाहिये।

दुष्टजनों के कटु वचन तीर से भी अधिक भेदने वाले होते हैं। फिर भी अवन्ती नगरी का एक साधु ब्राह्मण दुष्ट पुरुषों द्वारा सताये जाने पर भी इस मुसीबत को अपने विगत कर्मों का फल मानते हुए बड़ी ही गम्भीरता से सहता रहा। पूर्वजन्म में वह ब्राह्मण एक किसान तथा व्यापारी था। वह अत्यन्त

लालची, कंजूस तथा क्रोधी था। फलस्वरूप उसकी पत्नी, पुत्र, पुत्रियाँ, सारे सम्बन्धी एवं नौकर सभी तरह के भोगों से वंचित थे, इसलिए वे धीरे धीरे उसके प्रति बुरा व्यवहार करने लगे। समय की गति के साथ चोरों, परिवार वालों तथा भाग्य ने उसका सारा धन छीन लिया। अपने आप को सम्पत्ति से विहीन पाकर तथा हर व्यक्ति से परित्यक्त देख कर उस व्यक्ति में वैराग्य की तीव्र अनुभूति जगी।

उसने विचार किया कि धन जोड़ने और उसे सुरक्षित रखने में कितने प्रयास, भय, चिन्ता तथा घबराहट का सामना करना होता है। सम्पत्ति के कारण पंद्रह प्रकार की अवांछित वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं—चोरी, हिंसा, झूठ, धोखा, काम, क्रोध, गर्व, ज्वर, असहमति, घृणा, अविश्वास, लड़ाई-झगड़ा, स्त्री-अनुरक्ति, जुआ और नशा। जब उसके हृदय में यह ध्यान आया तो उसे लगा कि भगवान् श्री हरि उससे प्रसन्न हो गए हैं। उसने अनुभव किया कि भगवान् के प्रसन्न होने से ही उसके जीवन में प्रतिकूल दिखने वाली यह घटना घटी है। वह कृतज्ञ था कि उसके हृदय में विरक्ति उत्पन्न हुई और उसने इसे अपनी आत्मा के उद्धार का यथार्थ साधन मान लिया। इस अवस्था में उसने अपना शेष जीवन भगवान् हरि की पूजा में लगाने का निश्चय किया और *त्रिदण्डी संन्यास* ग्रहण कर लिया। बाद में वह भीख माँगने के लिए गाँव गाँव जाता, किन्तु लोग उसे सताते रहते। वह पर्वत की भाँति अडिग रह कर सब कुछ सहता जाता। वह अपनी चुनी हुई योग-विधि में स्थिर रहते हुए एक गीत गाता था, जो *भिक्षुगीत* नाम से प्रसिद्ध है।

किसी के सुख-दुख के लिए न तो मर्त्य प्राणी, देवता, आत्मा, ग्रह, कर्मफल, न ही काल कारणस्वरूप है। प्रत्युत मन ही उनका कारण है क्योंकि मन आत्मा को भौतिक जीवन के चक्र में घुमाता रहता है। सारे दान, धर्म इत्यादि का वास्तविक उद्देश्य मन को वश में करना है। जिसव्यक्ति ने ध्यान में अपने मन को वश में कर लिया है उसे इनमें से किसी अन्य विधि को अपनाने की आवश्यकता नहीं रहती। जो व्यक्ति अपने मन को स्थिर नहीं कर सकता, उसके लिए ये व्यर्थ हैं। भौतिक अहंकार की मिथ्या भावना दिव्य आत्मा को भौतिक इन्द्रिय-विषयों में बाँधती है। इसलिए अवन्ती ब्राह्मण ने भगवान् मुकुन्द के चरणकमलों की भूतपूर्व भगवद्भक्तों द्वारा दर्शायी पूर्ण श्रद्धा के साथ सेवा करके दुर्लंघ्य भवसागर को पार करने का दृढ़ संकल्प किया।

जब मनुष्य अपनी बुद्धि को भगवान् के चरणकमलों पर एकाग्र करता है, तभी मन को पूरी तरह

वश में किया जा सकता है। आध्यात्मिक प्रगति के लिए यही समस्त व्यावहारिक गुरों का सार है।

श्रीबादरायणिरुवाच
स एवमाशंसित उद्धवेन
भागवतमुख्येन दाशार्हमुख्यः ।
सभाजयन्भृत्यवचो मुकुन्द-
स्तमाबभाषे श्रवणीयवीर्यः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सः—उसने; एवम्—इस प्रकार; आशंसितः—विनती किये जाने पर; उद्धवेन—उद्धव द्वारा; भागवत—भक्तों के; मुख्येन—प्रमुख; दाशार्ह—दाशार्ह वंश (यदुओं) के; मुख्यः—प्रमुख; सभाजयन्—प्रशंसा करते हुए; भृत्य—उनके सेवक के; वचः—शब्द; मुकुन्दः—मुकुन्द, कृष्ण; तम्—उससे; आबभाषे—कहने लगे; श्रवणीय—सुनने योग्य; वीर्यः—जिसकी सर्वशक्तिमत्ता।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब भक्तों में श्रेष्ठ श्री उद्धव ने दाशार्ह प्रमुख भगवान् मुकुन्द से इस तरह सादर अनुरोध किया, तो पहले उन्होंने अपने सेवक के कथन की उपयुक्तता स्वीकार की। फिर वे भगवान्, जिनके यशस्वी कार्य सुनने के सर्वाधिक योग्य हैं, उन्हें बतलाने लगे।

श्रीभगवानुवाच
बार्हस्पत्य स नास्त्यत्र साधुर्वै दुर्जनेरितैः ।
दुरक्तैर्भिन्नमात्मानं यः समाधातुमीश्वरः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; बार्हस्पत्य—हे बृहस्पति के शिष्य; सः—वह; न अस्ति—नहीं है; अत्र—इस जगत में; साधुः—साधु पुरुष; वै—निस्सन्देह; दुर्जन—असभ्य पुरुषों द्वारा; ईरितैः—प्रयोग में लाए गए; दुरुक्तैः—अपमानजनक शब्दों से; भिन्नम्—विचलित; आत्मानम्—अपना मन; यः—जो; समाधातुम्—वश में करने में; ईश्वरः—समर्थ हो।

श्रीकृष्ण ने कहा : हे बृहस्पति-शिष्य, इस जगत में कोई भी ऐसा साधु पुरुष नहीं है, जो असभ्य व्यक्तियों के अपमानजनक शब्दों से विचलित हुए अपने मन को फिर से स्थिर कर सके।

तात्पर्य : वर्तमान युग में आध्यात्मिक साक्षात्कार के मार्ग का मजाक उड़ाने के लिए चतुर्दिक् प्रचार है, जिससे साधु भक्त भी मानव समाज की प्रगति को रुकते देख कर विचलित हो उठते हैं। फिर भी भगवान् के भक्त को हर प्रकार का निजी अपमान सहना चाहिए, भले ही वह भगवान् या उनके भक्त के प्रति अपराध को सहन न कर सके।

न तथा तप्यते विद्धः पुमान्बाणैस्तु मर्मगैः ।
यथा तुदन्ति मर्मस्था ह्यसतां परुषेषवः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तथा—उसी तरह से; तप्यते—पीड़ा पहुँचाता है; विद्धः—बेधा गया; पुमान्—व्यक्ति; बाणैः—बाणों के द्वारा; तु—किन्तु; मर्म-गैः—हृदय तक जाने वाला, मर्मभेदी; यथा—जिस प्रकार; तुदन्ति—चुभते हैं; मर्म-स्थाः—हृदय तक पहुँचने वाले; हि—निस्सन्देह; असताम्—दुष्ट पुरुषों के; परुष—कठोर (वचन); इषवः—तीर।

छाती को बेध कर हृदय तक पहुँचने वाले पैने बाण उतना कष्ट नहीं देते जितने कि असभ्य पुरुषों द्वारा बोले जाने वाले कटु, अपमानजनक शब्दरूपी तीर जो हृदय के भीतर धँस जाते हैं।

कथयन्ति महत्पुण्यमितिहासमिहोद्धव ।
तमहं वर्णयिष्यामि निबोध सुसमाहितः ॥ ४॥

शब्दार्थ

कथयन्ति—कहते हैं; महत्—महान्; पुण्यम्—पवित्र; इतिहासम्—कथा; इह—इस सम्बन्ध में; उद्धव—हे उद्धव; तम्—उसे; अहम्—मैं; वर्णयिष्यामि—कहूँगा; निबोध—सुनो; सु-समाहितः—ध्यानपूर्वक।

हे उद्धव, इस सम्बन्ध में एक अत्यन्त पवित्र कथा कही जाती है, जिसे अब मैं तुमसे कहूँगा। तुम उसे ध्यानपूर्वक सुनो।

तात्पर्य : अब भगवान् श्री उद्धव से एक ऐतिहासिक कथा कहेंगे जिससे यह शिक्षा मिलती है कि अन्यों के द्वारा किये गये अपमान को कैसे सहन करना चाहिए।

केनचिद्भिक्षुणा गीतं परिभूतेन दुर्जनैः ।
स्मरता धृतियुक्तेन विपाकं निजकर्मणाम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

केनचित्—किसी; भिक्षुणा—संन्यासी द्वारा; गीतम्—गाया गया; परिभूतेन—अपमानित किया गया; दुर्जनैः—अपवित्र लोगों द्वारा; स्मरता—स्मरण करते हुए; धृति-युक्तेन—धैर्यपूर्वक; विपाकम्—परिणामों को; निज-कर्मणाम्—अपने विगत कर्मों के।

एक बार किसी संन्यासी को दुर्जनों द्वारा नाना प्रकार से अपमानित किया गया। किन्तु उसने धैर्यपूर्वक स्मरण किया कि वह अपने ही विगत कर्मों का फल भोग रहा है। मैं तुमसे यह इतिहास तथा उसने जो कुछ कहा था उसे सुनाऊँगा।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती की टीका इस प्रकार है—

प्रायः जो लोग भौतिकतावादी पथ को त्याग कर वैराग्य में संलग्न होते हैं, उन पर दुर्जन आक्रमण करते हैं। किन्तु यह विवेचन सतही है क्योंकि जो दंड मिलता है, वह वास्तव में विगत कर्म का संचित फल होता है।

जब पिछले पापों के अवशेष प्रस्तुत किये जाते हैं, तो कुछ वैरागी सहनशीलता नहीं दिखलाते,

अतएव उन्हें पुन: अपवित्र जीवन में प्रवेश करना होता है। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु उपदेश देते हैं कि मनुष्य को वृक्ष की तरह सहनशील बनना चाहिए। यदि ईर्ष्यालु लोग भगवान् के भक्ति-मार्ग में नवदीक्षित पर आक्रमण करते हैं, तो उसे इसे अपने विगत कर्मों का फल मानना चाहिए। उसे बुद्धिमान बनना चाहिए और "जैसे को तैसा" सिद्धान्त का बहिष्कार करके उसे भावी दुख से बचना चाहिए। यदि ईर्ष्यालु लोगों से शत्रु भाव न रखा जाय तो वे स्वयं उसे अकेला छोड़ देंगे।"

अवन्तिषु द्विज: कश्चिदासीदाढ्यतम: श्रिया ।
वार्तावृत्ति: कदर्यस्तु कामी लुब्धोऽतिकोपन: ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अवन्तिषु—अवन्ती देश में; द्विज:—ब्राह्मण; कश्चित्—कोई; आसीत्—था; आढ्य-तम:—अत्यन्त धनाढ्य; श्रिया—ऐश्वर्य से; वार्ता—व्यापार से; वृत्ति:—अपनी जीविका चलाते हुए; कदर्य:—कंजूस; तु—लेकिन; कामी—विषयी; लुब्धक्—लालची; अति-कोपन:—अत्यन्त क्रोध करने वाला।

अवन्ती देश में किसी समय कोई ब्राह्मण रहता था, जो अत्यन्त धनी था और समस्त ऐश्वर्यों से युक्त था तथा व्यापार-कार्य में लगा रहता था। किन्तु वह अत्यन्त कंजूस, कामी, लालची तथा क्रोधी था।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार अवन्ती देश मालवा का जनपद है। यह ब्राह्मण अत्यन्त धनी था और कृषि का व्यापार, लेन-देन आदि करता था। कंजूस होने के कारण जब उसकी गाढ़ी कमाई जाती रही, तो उसे बहुत पीड़ा हुई, जैसाकि स्वयं भगवान् बतलायेंगे।

ज्ञातयोऽतिथयस्तस्य वाङ्मात्रेणापि नार्चिता: ।
शून्यावसथ आत्मापि काले कामैरनर्चित: ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

ज्ञातय:—सम्बन्धीजन; अतिथय:—तथा अतिथिगण; तस्य—उसके; वाक्-मात्रेण अपि—शब्दों से भी; न अर्चिता:—आदरित नहीं होते थे; शून्य-अवसथे—धर्म तथा इन्द्रियतृप्ति से विहीन घर में; आत्मा—स्वयं; अपि—भी; काले—उपयुक्त समय में; कामै:—इन्द्रिय-सुख से; अनर्चित:—अतृप्त।

उसका घर धर्म तथा वैध इन्द्रियतृप्ति से विहीन था, उसमें पारिवारिक जनों तथा अतिथियों का ठीक से, यहाँ तक कि शब्दों से भी, आदर नहीं होता था। वह उपयुक्त अवसरों पर अपने शरीर की भी इन्द्रियतृप्ति नहीं होने देता था।

दुःशीलस्य कदर्यस्य द्रुह्यन्ते पुत्रबान्धवाः ।
दारा दुहितरो भृत्या विषण्णा नाचरन्प्रियम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

दु:शीलस्य—बुरे चरित्र वाला; कदर्यस्य—कंजूस का; द्रुह्यन्ते—दुश्मनी कर लिया; पुत्र—उसके पुत्रों ने; बान्धवाः—तथा सम्बन्धीजन; दाराः—उसकी पत्नी; दुहितरः—उसकी पुत्रियाँ; भृत्याः—उसके नौकर; विषण्णाः—ऊबे हुए; न आचरन्—आचरण नहीं करते थे; प्रियम्—स्नेहपूर्वक।

चूँकि वह कठोर हृदय तथा कंजूस था, इसलिए उसके पुत्र, उसके ससुराल वाले, उसकी पत्नी, उसकी पुत्रियाँ तथा नौकर उसके प्रति वैर-भाव रखने लगे। ऊब जाने के कारण वे उससे कभी भी स्नेहपूर्ण व्यवहार नहीं करते थे।

तस्यैवं यक्षवित्तस्य च्युतस्योभयलोकतः ।
धर्मकामविहीनस्य चुक्रुधुः पञ्चभागिनः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उस पर; एवम्—इस प्रकार; यक्ष-वित्तस्य—जो यक्षों की तरह अपनी सम्पत्ति को बिना खर्चे रखता था (यक्ष कुवेर के कोष की रखवाली करते हैं); च्युतस्य—विहीन; उभय—दोनों के; लोकतः—लोक (यह जीवन तथा अगला); धर्म—धार्मिकता; काम—तथा इन्द्रियतृप्ति; विहीनस्य—विहीन; चक्रुधुः—क्रुद्ध हो गये; पञ्च-भागिनः—पाँच नियत गृहस्थ यज्ञों के देवता।

इस तरह पाँच पारिवारिक यज्ञों के अधिष्ठाता देव उस ब्राह्मण से क्रुद्ध हो उठे जो कंजूस होने के कारण अपनी सम्पत्ति की रखवाली यक्ष की तरह करता था और जिसका न इस जगत में, न ही उस लोक में कोई अच्छा गन्तव्य था और जो धर्म तथा विषय-भोग से पूरी तरह विहीन हो गया था।

तदवध्यानविस्रस्तपुण्यस्कन्धस्य भूरिद ।
अर्थोऽप्यगच्छन्निधनं बह्वायासपरिश्रमः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तत्—उनके; अवध्यान—उसकी उपेक्षा से; विस्रस्त—विहीन; पुण्य—पुण्य का; स्कन्धस्य—जिसका अंश; भूरि-द—हे वदान्य उद्धव; अर्थः—सम्पत्ति; अपि—निस्सन्देह; अगच्छत् निधनम्—नष्ट हो गया; बहु—अधिक; आयास—प्रयास का; परिश्रमः—परिश्रम से युक्त।

हे वदान्य उद्धव, इन देवताओं की उपेक्षा करने से उसके पुण्य तथा उसकी सारी सम्पत्ति का भंडार खाली हो गया। उसके बारम्बार निश्शेष प्रयास द्वारा संचित भंडार पूरी तरह समाप्त हो गया।

तात्पर्य : ब्राह्मण के पुण्य का भण्डार उस सूखी डाल जैसा हो गया जिसमें फल अथवा फूल नहीं

लगते। श्रील जीव गोस्वामी की टीका है कि ब्राह्मण में पुण्य का लेश बचा हुआ था, जो मोक्ष की आशा से भगवान् के प्रति निर्दिष्ट था। उस पुण्यरूपी शाखा का शुद्ध अंश, बिना मुरझाया रह गया जिससे अन्त में ज्ञान का फल प्राप्त हुआ।

ज्ञात्यो जगृहु: किञ्चित्किञ्चिद्दस्यव उद्धव ।
दैवत: कालत: किञ्चिद्ब्रह्मबन्धोर्नृपार्थिवात् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ज्ञातय:—सम्बन्धी; जगृहु:—हर लिया; किञ्चित्—कुछ; किञ्चित्—कुछ; दस्यव:—चोर; उद्धव—हे उद्धव; दैवत:—भाग्य से; कालत:—काल द्वारा; किञ्चित्—कुछ; ब्रह्म-बन्धो:—तथाकथित ब्राह्मण का; नृ—सामान्य लोगों द्वारा; पार्थिवात्—तथा उच्च सरकारी अधिकारियों द्वारा।.

हे उद्धव, इस तथाकथित ब्राह्मण का कुछ धन उसके समबन्धियों ने, कुछ चोरों ने, कुछ भाग्य ने, कुछ काल के फेर ने, कुछ सामान्य जनों ने तथा कुछ सरकारी अधिकारियों ने ले लिया।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि वह तथाकथित ब्राह्मण अपना धन खर्च नहीं करना चाहता था, फिर भी उसकी पत्नी तथा अन्य सम्बन्धी उसके धन का कुछ अंश बलपूर्वक निकाल लेते थे। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *दैव* यहाँ पर घर में लगी आग तथा अन्य आकस्मिक विपत्ति का सूचक है। *कालत:* ऋतुओं की अनियमितताओं के कारण फसलों के विनाश तथा ऐसी ही अन्य घटनाओं का सूचक है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर इंगित करते हैं कि किसी को अपने आप को ब्राह्मण घोषित नहीं करना चाहिए, अपितु उसे चाहिए कि वह भगवान् के सेवक के रूप में अपनी आदि पहचान को समझे। जो व्यक्ति अपने को ब्राह्मण घोषित करता है किन्तु भौतिकतावादी मनोवृत्ति रखता है, वह असली ब्राह्मण नहीं, अपितु ब्रह्म-बन्धु या तथाकथित ब्राह्मण है। वैदिक आदेशों का पालन करने वाले, भगवान् विष्णु के विनीत भक्त, अपने को अभागा तथा भगवद्धाम को समझ पाने में अक्षम कहते हैं। वे गर्वित होकर अपने को ब्राह्मण नहीं घोषित करते, किन्तु जो चतुर हैं, वे जानते हैं कि ऐसे विनीत भक्तगण ही वास्तविक ब्राह्मण हैं जिनके हृदय सतोगुण के द्वारा विमल होते रहते हैं।

स एवं द्रविणे नष्टे धर्मकामविवर्जित: ।
उपेक्षितश्च स्वजनैश्चिन्तामाप दुरत्ययाम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एवम्—इस तरह; द्रविणे—जब उसकी सम्पत्ति; नष्टे—नष्ट हो गई; धर्म—धार्मिकता; काम—तथा इन्द्रिय-भोग; विवर्जितः—से रहित; उपेक्षितः—उपेक्षित; च—तथा; स्व-जनैः—अपने पारिवारिक जनों द्वारा; चिन्ताम्—चिन्ता; आप—प्राप्त किया; दुरत्ययाम्—असह्य।

अन्त में जब उसकी सम्पत्ति पूरी तरह नष्ट हो गई, तो वह ब्राह्मण जिसने कभी भी धर्म या इन्द्रिय-भोग नहीं किया था, अपने पारिवारिक जनों से उपेक्षित रहने लगा। इस प्रकार वह असह्य चिन्ता का अनुभव करने लगा।

तस्यैवं ध्यायतो दीर्घं नष्टरायस्तपस्विनः ।
खिद्यतो बाष्पकण्ठस्य निर्वेदः सुमहानभूत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; एवम्—इस प्रकार; ध्यायतः—सोचते हुए; दीर्घम्—दीर्घकाल तक; नष्ट-रायः—सम्पत्ति नष्ट होने पर; तपस्विनः—पीड़ा अनुभव करते हुए; खिद्यतः—शोक करते हुए; बाष्प-कण्ठस्य—अश्रु से रुद्ध कण्ठ; निर्वेदः—वैराग्य की भावना; सु-महान्—अत्यन्त महान्; अभूत्—उठी।

अपनी सारी सम्पत्ति खो जाने से उसे महान् पीड़ा तथा शोक हुआ। उसका गला आँसुओं से रुँध गया और वह दीर्घकाल तक अपनी सम्पत्ति के बारे में सोचता रहा। तब उसके मन में वैराग्य की प्रबल अनुभूति जाग्रत हुई।

तात्पर्य : ब्राह्मण को पुण्य जीवन का प्रशिक्षण मिला था किन्तु उसकी भूतपूर्व अच्छाई उसके अपराधमूलक आचरण से प्रच्छन्न हो चुकी थी। अन्त में उसकी पुरानी शुद्धता पुनः उसके भीतर जाग्रत हुई।

स चाहेदमहो कष्टं वृथात्मा मेऽनुतापितः ।
न धर्माय न कामाय यस्यार्थायास ईदृशः ॥ १४॥

शब्दार्थ

सः—वह; च—तथा; आह—बोला; इदम्—यह; अहो—ओह, हाय; कष्टम्—कष्टप्रद दुर्भाग्य; वृथा—व्यर्थ ही; आत्मा—आत्मा; मे—मेरा; अनुतापितः—सताया हुआ; न—नहीं; धर्माय—धर्म के लिए; न—नहीं; कामाय—इन्द्रियतृप्ति के लिए; यस्य—जिसका; अर्थ—सम्पत्ति के लिए; आयासः—श्रम; ईदृशः—इस तरह का।

ब्राह्मण इस प्रकार बोला : हाय! क्या दुर्भाग्य है मेरा! मैंने उस धन के लिए इतना कठिन परिश्रम करते हुए व्यर्थ ही अपने को कष्ट पहुँचाया जो न तो धर्म के लिए था, न ही भौतिक भोग के लिए था।

प्रायेणाथा: कदर्याणां न सुखाय कदाचन ।
इह चात्मोपतापाय मृतस्य नरकाय च ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

प्रायेण—सामान्यतया; अर्था:—सम्पत्ति की वस्तुएँ; कदर्याणाम्—कंजूसों की; न—नहीं; सुखाय—सुख के लिए; कदाचन—किसी समय; इह—इस जीवन में; च—दोनों; आत्म—अपना; उपतापाय—कष्ट पहुँचाने के लिए; मृतस्य—तथा मरे हुए का; नरकाय—नरक की प्राप्ति में; च—तथा।

सामान्यतया कंजूसों की सम्पत्ति उन्हें कभी कोई सुख नहीं दे पाती। इस जीवन में उनका आत्म-पीड़न करती है और उनके मरने पर उन्हें नरक भेजती है।

तात्पर्य : कंजूस व्यक्ति करणीय धार्मिक तथा सामाजिक कार्यों में भी अपना धन खर्च करने से डरता है। वह ईश्वर तथा लोगों को अप्रसन्न करके नरक जाता है।

यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणा: ।
लोभ: स्वल्पोऽपि तान्हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यश:—यश; यशस्विनाम्—सुप्रसिद्ध व्यक्तियों का; शुद्धम्—शुद्ध; श्लाघ्या:—प्रशंसनीय; ये—जो; गुणिनाम्—गुणवानों के; गुणा:—गुण; लोभ:—लालच; सु-अल्प:—थोड़ा; अपि—भी; तान्—उनको; हन्ति—नष्ट करता है; श्वित्र:—श्वेत कुष्ठ; रूपम्—शारीरिक सौन्दर्य; इव—सदृश; ईप्सितम्—मोहक।

प्रसिद्ध व्यक्ति की जो भी शुद्ध प्रसिद्धि होती है और गुणवान् में जो भी प्रशंसनीय गुण रहते हैं, वे किञ्चित् मात्र लालच से उसी तरह नष्ट हो जाते हैं जिस तरह आकर्षक शारीरिक सौन्दर्य रंचमात्र श्वेत कुष्ठ से नष्ट हो जाता है।

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये ।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

अर्थस्य—सम्पत्ति के; साधने—कमाने में; सिद्धे—उपलब्धि में; उत्कर्षे—वृद्धि में; रक्षणे—रक्षा करने में; व्यये—खर्च में; नाश—हानि में; उपभोगे—तथा उपभोग में; आयास:—श्रम; त्रास:—भय; चिन्ता—चिन्ता; भ्रम:—भ्रम; नृणाम्—मनुष्यों के लिए।

सभी मनुष्यों को सम्पत्ति की कमाई, प्राप्ति, वृद्धि, रक्षा, व्यय, हानि तथा उपभोग में महान् श्रम, भय, चिन्ता तथा भ्रम का अनुभव होता है।

स्तेयं हिंसानृतं दम्भ: काम: क्रोध: स्मयो मद: ।
भेदो वैरमविश्वास: संस्पर्धा व्यसनानि च ॥ १८ ॥

एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम् ।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

स्तेयम्—चोरी; हिंसा—हिंसा; अनृतम्—असत्य भाषण; दम्भः—दुहरा बर्ताव; कामः—काम, विषय-वासना; क्रोधः—क्रोध; स्मयः—चिन्ता; मदः—घमंड; भेदः—भेद-भाव; वैरम्—शत्रुता; अविश्वासः—विश्वास की कमी; संस्पर्धा—बराबरी, होड; व्यसनानि—खतरे (स्त्री, जुए तथा नशे से उत्पन्न); च—तथा; एते—ये; पञ्चदश—पन्द्रह; अनर्थाः—अवांछित वस्तुएँ; हि—निस्सन्देह; अर्थ-मूलाः—सम्पत्ति पर आधारित; मताः—विख्यात हैं; नृणाम्—मनुष्यों द्वारा; तस्मात्—इसलिए; अनर्थम्—अवांछित; अर्थ-आख्यम्—वांछित कही जाने वाली सम्पत्ति; श्रेयः-अर्थी—जीवन का चरम लक्ष्य चाहने वाला; दूरतः—दूर से ही; त्यजेत्—छोड़ दे।

चोरी, हिंसा, असत्य भाषण, दुहरा बर्ताव, काम, क्रोध, चिन्ता, गर्व, झगड़ा-लड़ाई, शत्रुता, अविश्वास, ईर्ष्या, स्त्रियों के द्वारा उत्पन्न संकट, जुआ खेलना तथा नशा करना—ये पंद्रह दुर्गुण सम्पत्ति-लोभ के कारण मनुष्यों को दूषित बनाने वाले हैं। यद्यपि ये दुर्गुण हैं किन्तु लोग भ्रमवश इनको महत्त्व देते हैं। इसलिए जिस व्यक्ति को जीवन का असली लाभ उठाना हो, वह अवांछित भौतिक सम्पत्ति से अपने को अलग रखे।

तात्पर्य : *अनर्थम् अर्थाख्यम्* शब्द अर्थात् अवांछित सम्पत्ति उस सम्पत्ति के सूचक हैं जिसे भगवान् की सेवा में नहीं लगाया जा सकता। ऐसे फालतू धन या सम्पत्ति से मनुष्य में उपर्युक्त दुर्गुण आ जाते हैं, अतएव इसका परित्याग करना चाहिए।

भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा ।
एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

भिद्यन्ते—विलग हो जाते हैं; भ्रातरः—भाई; दाराः—पत्नी; पितरः—माता-पिता; सुहृदः—मित्र; तथा—और; एक—मानो एक; आस्निग्धाः—अत्यन्त प्रिय; काकिणिना—छोटे-से सिक्के (कौड़ी) से; सद्यः—तुरन्त; सर्वे—सभी; अरयः—शत्रु; कृताः—किया गया।

यहाँ तक कि मनुष्य के सगे भाई, पत्नी, माता-पिता तथा मित्र जो उससे प्रेम से बद्ध थे, तुरन्त ही अपना स्नेह-सम्बन्ध तोड़ लेते हैं और एक कौड़ी के कारण शत्रु बन जाते हैं।

अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः ।
त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अर्थेन—सम्पत्ति से; अल्पीयसा—तुच्छ, नगण्य; हि—भी; एते—वे; संरब्धाः—क्षुब्ध; दीप्त—क्रुद्ध; मन्यवः—उनका क्रोध; त्यजन्ति—त्याग देते हैं; आशु—बहुत जल्दी; स्पृधः—झगड़ालू बन कर; घ्नन्ति—नष्ट कर देते हैं; सहसा—तुरन्त; उत्सृज्य—बहिष्कार करके; सौहृदम्—शुभकामना।

ये सम्बन्धी तथा मित्रगण थोड़े-से भी धन के लिए अत्यन्त क्षुब्ध हो उठते हैं और क्रोध से आग-बबूला बन जाते हैं। प्रतिद्वन्द्वी बन कर वे तुरन्त सारी शुभकामनाएँ छोड़ देते हैं और क्षण-भर में ही उसका त्याग करके उसकी हत्या तक कर देते हैं।

लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद्द्विजाछ्यताम् ।
तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम् ॥ २२॥

शब्दार्थ

लब्ध्वा—प्राप्त करके; जन्म—जन्म; अमर—देवताओं द्वारा; प्रार्थ्यम्—कामना किया गया; मानुष्यम्—मनुष्य का; तत्—और उस; द्विज-आछ्यताम्—श्रेष्ठ द्विज होने के पद में; तत्—उसे; अनादृत्य—अनादर करके; ये—जो लोग; स्व-अर्थम्—निजी हित का; घ्नन्ति—नष्ट करते हैं; यान्ति—जाते हैं; अशुभाम्—अशुभ; गतिम्—गन्तव्य को।

जो लोग देवताओं द्वारा भी प्रार्थित मनुष्य जीवन प्राप्त करते हैं और उस मनुष्य जन्म में सर्वोत्तम ब्राह्मण पद को प्राप्त होते हैं, वे परम भाग्यशाली हैं। यदि वे इस महत्त्वपूर्ण अवसर का अनादर करते हैं, तो वे निश्चय ही अपने निजी हित का हनन करते हैं और परम दुखद अन्त को प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर की टीका इस प्रकार है : मनुष्य का जन्म देवताओं, भूत-प्रेतों, पशुओं, वृक्षों, निर्जीव पत्थरों इत्यादि से उत्तम है क्योंकि देवताओं को केवल स्वर्गिक आनन्द मिलता है तथा अन्य जीव-योनियों में अत्यधिक कष्ट है। केवल मनुष्य जीवन ऐसा है, जिसमें वह अपने जीवन के चरम लाभ के विषय में गम्भीरता से विचार करता है। इसीलिए मनुष्य जीवन देवताओं के जीवन से भी अधिक काम्य है। मनुष्य जीवन के अन्तर्गत उच्च कोटि का ब्राह्मण-पद निश्चय ही, सर्वाधिक वांछनीय है। किन्तु यदि ब्राह्मण भगवद्भक्ति त्यागकर अपनी जाति की प्रतिष्ठा के लिए शूद्रवत् कठिन श्रम करता है, तो वह निश्चय ही भौतिक इन्द्रियतृप्ति के पद पर होता है। ब्राह्मणों की विशिष्ट योग्यता तो उनका आध्यात्मिक ज्ञान है, जिसके द्वारा वे हर जीव को भगवान् के नित्य दास के रूप में पहचानते हैं। मिथ्या अहंकार से रहित ब्राह्मण अपने को तिनके से भी छोटा मान कर और सहनशील होकर सभी जीवों को सम्मान देता है। सारे मनुष्यों को और ब्राह्मणों को तो विशेष रूप से, कृष्णभावनामृत अर्थात् कृष्ण-भक्ति की उपेक्षा करके अपने ही हितों का हन्ता नहीं बनना चाहिए। ऐसी उपेक्षा से भावी कष्ट का मार्ग प्रशस्त होता है।

**स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान् ।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि ॥ २३ ॥**

शब्दार्थ

स्वर्ग—स्वर्ग; अपवर्गयो:—तथा मोक्ष का; द्वारम्—द्वार; प्राप्य—प्राप्त करके; लोकम्—मनुष्य जीवन को; इमम्—इस; पुमान्—मनुष्य; द्रविणे—सम्पत्ति के प्रति; क:—कौन; अनुषज्जेत—अनुरक्त होगा; मर्त्य:—मरणशील; अनर्थस्य—व्यर्थता के; धामनि—धाम में।

ऐसा मर्त्य व्यक्ति कौन होगा जो इस मनुष्य जीवन को जो कि स्वर्ग तथा मोक्ष का द्वार है, प्राप्त करके भौतिक सम्पत्ति रूपी व्यर्थ के धाम के प्रति अनुरक्त होगा?

तात्पर्य : जिस वस्तु को मनुष्य अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए प्रयोग में लाना चाहता है, वह भौतिक सम्पत्ति कहलाती है, किन्तु भगवान् की प्रेमाभक्ति में प्रयुक्त होने वाली साज-सामग्री आध्यात्मिक मानी जाती है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी सारी भौतिक सम्पत्ति भगवान् की भक्ति में काम आने के लिए त्याग दे। जिस व्यक्ति के पास भव्य महल हो उसे भगवान् का अर्चाविग्रह स्थापित करना चाहिए और कृष्णभावनामृत के प्रचार हेतु नियमित कार्यक्रमों की व्यवस्था करनी चाहिए। इसी तरह, सम्पत्ति का उपयोग भगवान् के मन्दिर बनवाने तथा भगवान् विषयक साहित्य के प्रकाशन में करना चाहिए। जो व्यक्ति अपनी भौतिक सम्पत्ति भगवान् की सेवा में न लगाकर उसका अंधाधुंध परित्याग करता है, वह यह नहीं समझता कि हर वस्तु भगवान् की ही है। ऐसा अन्धाधुन्ध त्याग इस भौतिक भाव पर आधारित होता है कि यह सम्पत्ति मेरी बनी रह सकती थी लेकिन अब मुझे इसकी चाह नहीं है। वस्तुत: प्रत्येक वस्तु ईश्वर की है—यह जानते हुए मनुष्य इस जगत की वस्तुओं का न तो भोग करने का प्रयास करता है और न ही उनका वहिष्कार करता है, अपितु उन्हें भगवान् की सेवा में लगा देता है।

**देवर्षिपितृभूतानि ज्ञातीन्बन्धूंश्च भागिन: ।
असंविभज्य चात्मानं यक्षवित्त: पतत्यध: ॥ २४ ॥**

शब्दार्थ

देव—देवतागण; ऋषि—ऋषिगण; पितृ—पितरगण; भूतानि—तथा सामान्य जीव; ज्ञातीन्—निकट के सगे-सम्बन्धियों; बन्धून्—विस्तारित परिवार; च—तथा; भागिन:—हिस्सा बटाने वाले; असंविभज्य—न बाँट कर; च—तथा; आत्मानम्—अपने को; यक्ष-वित्त:—जिसकी सम्पत्ति यक्ष की सम्पत्ति जैसी; पतति—गिरता है; अध:—नीचे।

जो व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को उचित भागीदारों—देवताओं, ऋषियों, पितरों तथा सामान्य जीवों में तथा अपने निकट सम्बन्धियों, ससुराल वालों और स्वयं में वितरित नहीं कर देता, वह मात्र यक्ष की तरह अपनी सम्पत्ति को बनाये रखता है और अधोगति को प्राप्त होगा।

तात्पर्य : जो व्यक्ति उपर्युक्त अधिकृत भागीदारों को अपनी सम्पत्ति में हिस्सा नहीं देता और स्वयं भी उस सम्पत्ति का भोग नहीं करता, वह अवश्य ही जीवन की अनन्त समस्याओं से घिरता रहेगा।

व्यर्थयार्थेहया वित्तं प्रमत्तस्य वयो बलम् ।
कुशला येन सिध्यन्ति जरठः किं नु साधये ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

व्यर्थया—व्यर्थ; अर्थ—सम्पत्ति के; ईहया—प्रयास से; वित्तम्—धन; प्रमत्तस्य—उन्मत्त हुए; वयः—नौजवान; बलम्—बल; कुशलाः—विवेकवान्; येन—जिसके द्वारा; सिध्यन्ति—सिद्ध बनते हैं; जरठः—वृद्ध व्यक्ति; किम्—क्या; नु—निस्सन्देह; साधये—मैं प्राप्त कर सकता हूँ।

विवेकशील व्यक्ति अपने धन, यौवन तथा बल को सिद्धि प्राप्त करने में लगाने में सक्षम होते हैं। किन्तु मैंने उत्तेजित होकर अपनी सम्पत्ति के संवर्धन के व्यर्थ के प्रयास में ही इनको लुटा दिया है। अब वृद्ध हो चुकने पर मैं क्या प्राप्त कर सकता हूँ?

कस्मात्सङ्क्लिश्यते विद्वान्व्यर्थयार्थेहयासकृत् ।
कस्यचिन्मायया नूनं लोकोऽयं सुविमोहितः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

कस्मात्—क्यों; सङ्क्लिश्यते—कष्ट भोगता है; विद्वान्—विद्वान व्यक्ति; व्यर्थया—व्यर्थ की; अर्थ-ईहया—सम्पत्ति की खोज में; असकृत्—निरन्तर; कस्यचित्—किसी का; मायया—मायाशक्ति से; नूनम्—निश्चय ही; लोकः—जगत; अयम्—यह; सु-विमोहितः—अत्यधिक मोहग्रस्त।

बुद्धिमान मनुष्य सम्पत्ति पाने के लिए व्यर्थ के सतत् प्रयासों से कष्ट क्यों भोगे? निस्सन्देह, यह सारा संसार किसी की मायाशक्ति से अत्यधिक मोहग्रस्त है।

किं धनैर्धनदैर्वा किं कामैर्वा कामदैरुत ।
मृत्युना ग्रस्यमानस्य कर्मभिर्वोत जन्मदैः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

किम्—किस काम का; धनैः—विभिन्न प्रकारों के धन से; धन-दैः—धन देने वाले; वा—अथवा; किम्—क्या लाभ; कामैः—इन्द्रिय-विषयों से; वा—अथवा; काम-दैः—ऐसी इन्द्रियतृप्ति प्रदान करने वालों से; उत—अथवा; मृत्युना—मृत्यु द्वारा; ग्रस्यमानस्य—पकड़े हुए व्यक्ति का; कर्मभिः—सकाम कर्मों से; वा उत—अथवा; जन्म-दैः—अगला जन्म देने वाले।

जो व्यक्ति मृत्यु के चंगुल में जकड़ा हो, उसके लिए धन या उस धन को देने वाले, इन्द्रियतृप्ति अथवा इन्द्रियतृप्ति प्रदान करने वाले या किसी प्रकार का सकाम कर्म जो उसे इस भौतिक जगत में फिर से जन्म दिलाये, इन सबसे क्या लाभ है?

नूनं मे भगवांस्तुष्टः सर्वदेवमयो हरिः ।
येन नीतो दशामेतां निर्वेदश्चात्मनः प्लवः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निश्चय ही; मे—मुझसे; भगवान्—भगवान्; तुष्टः—तुष्ट; सर्व-देव-मयः—समस्त देवताओं से युक्त; हरिः—भगवान् विष्णु; येन—जिससे; नीतः—मैं लाया गया; दशाम्—स्थिति तक; एताम्—इस; निर्वेदः—विराग; च—तथा; आत्मनः—अपनी; प्लवः—नाव (भवसागर से पार ले जाने वाली)।

समस्त देवों से युक्त भगवान् हरि अवश्य ही मुझ पर प्रसन्न हैं। उन्होंने ही मुझे इस कष्टमय स्थिति तक पहुँचाया है और वैराग्य का अनुभव करने के लिए बाध्य कर दिया है, जो इस भवसागर को पार कराने की नाव है।

तात्पर्य : ब्राह्मण यह जान गया कि सकाम कर्मों के फलस्वरूप विविध इन्द्रियतृप्ति प्रदान करने वाले देवतागण जीवन का सर्वोच्च लाभ प्रदान नहीं कर सकते। जब ब्राह्मण की सारी सम्पत्ति जाती रही, तो उसकी समझ में आया कि सर्वदेवमय भगवान् ने उसे इन्द्रियतृप्ति प्रदान करके नहीं अपितु उसे भौतिक भोग के सागर से बचाकर सर्वोच्च सिद्धि प्रदान की है। इस तरह धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का अनुशीलन करने के अवसर से वंचित, वह ब्राह्मण विरक्त बन गया और उसके हृदय में दिव्य ज्ञान का उदय हुआ।

सोऽहं कालावशेषेण शोषयिष्येऽङ्गमात्मनः ।
अप्रमत्तोऽखिलस्वार्थे यदि स्यात्सिद्ध आत्मनि ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सः अहम्—मैं; काल-अवशेषेण—बचे हुए समय से; शोषयिष्ये—कम से कम कर दूँगा; अङ्गम्—यह शरीर; आत्मनः—अपना; अप्रमत्तः—मोहित न होने वाला; अखिल—समस्त; स्व-अर्थे—आत्म-हित में; यदि—यदि; स्यात्—कोई (समय) बचता है, तो; सिद्धः—सन्तुष्ट; आत्मनि—अपने भीतर।

यदि मेरे जीवन का कोई समय शेष है, तो मैं तपस्या करूँगा और अपने शरीर की आवश्यकताओं को कम से कम कर दूँगा। अब मैं और अधिक भ्रम में न पड़ कर जीवन के समग्र आत्म-हित में लग कर अपने आप में तुष्ट रहूँगा।

तत्र मामनुमोदेरन्देवास्त्रिभुवनेश्वराः ।
मुहूर्तेन ब्रह्मलोकं खट्वाङ्गः समसाधयत् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तत्र—इस सम्बन्ध में; माम्—मुझसे; अनुमोदेरन्—प्रसन्न हों; देवाः—देवतागण; त्रि-भुवन—तीनों लोकों के; ईश्वराः—नियन्ता; मुहूर्तेन—क्षण-भर में; ब्रह्मलोकम्—वैकुण्ठ-लोक; खट्वाङ्गः—राजा खट्वांग ने; समसाधयत्—प्राप्त कर लिया।

इस तरह इन तीनों लोकों के अधिनायक देवता मुझ पर कृपा करें। निस्सन्देह, महाराज खट्वांग को क्षण-भर में वैकुण्ठ-लोक प्राप्त हो गया था।

तात्पर्य : अवन्ती के ब्राह्मण ने सोचा कि यद्यपि वह वृद्ध हो चुका है और किसी भी क्षण मर सकता है, किन्तु वह महाराज खट्वांग के आदर्श का अनुसरण कर सकता है जिन्हें क्षण-भर में भगवान् की कृपा प्राप्त हुई थी। महाराज खट्वांग का वर्णन *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कन्ध में आ चुका है। वे देवताओं की ओर से वीरतापूर्वक लड़े थे और देवताओं ने उन्हें मुँहमाँगा वर माँगने को कहा था। महाराज ने अपनी शेष आयु जाननी चाही किन्तु दुर्भाग्य से एक क्षण ही आयु शेष थी। इसलिए राजा ने भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण की और फिर वैकुण्ठ-लोक प्राप्त किया। अवन्ती का ब्राह्मण इसी आदर्श का अनुसरण करना चाह रहा था—उसने आशा की कि भगवान् के भक्त देवताओं के आशीर्वाद से वह इस शरीर को त्यागने के पूर्व पूरी तरह कृष्णभावनाभावित हो सकेगा।

श्रीभगवानुवाच
इत्यभिप्रेत्य मनसा ह्यावन्त्यो द्विजसत्तमः ।
उन्मुच्य हृदयग्रन्थीन्शान्तो भिक्षुरभून्मुनिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; इति—इस प्रकार; अभिप्रेत्य—निष्कर्ष पर पहुँच कर; मनसा—मन से; हि—निस्सन्देह; आवन्त्यः—अवन्ती जनपद का; द्विज-सत्-तमः—अत्यन्त पवित्र ब्राह्मण; उन्मुच्य—खोल कर; हृदय—हृदय की; ग्रन्थीन्—(इच्छाओं की) गाँठों को; शान्तः—शान्त; भिक्षुः—भिक्षुक संन्यासी; अभूत्—हो गया; मुनिः—मौन।

भगवान् कृष्ण ने कहा : वह दृढ़ संकल्प वाला सर्वोत्तम अवन्ती ब्राह्मण अपने हृदय की इच्छारूपी ग्रंथियों को खोलने में समर्थ हो गया। तब उसने शान्त तथा मौन संन्यासी साधु की भूमिका ग्रहण कर ली।

स चचार महीमेतां संयतात्मेन्द्रियानिलः ।
भिक्षार्थं नगरग्रामानसङ्गोऽलक्षितोऽविशत् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; चचार—घूमने वाला; महीम्—पृथ्वी पर; एताम्—इस; संयत—नियंत्रित; आत्म—अपनी चेतना; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; अनिलः—तथा प्राण-वायु; भिक्षा-अर्थम्—भीख माँगने के लिए; नगर—शहरों; ग्रामान्—तथा गाँवों में; असङ्गः—बिना किसी संगी के; अलक्षितः—अपने को न जनाते हुए; अविशत्—प्रविष्ट हुआ।

वह अपनी बुद्धि, इन्द्रियों तथा प्राण-वायु को अपने वश में रखते हुए पृथ्वी पर विचरण करने लगा। भिक्षा माँगने के लिए वह विविध नगरों तथा ग्रामों में अकेले ही यात्रा करता। उसने

अपने उच्च आध्यात्मिक पद का प्रचार नहीं किया, इसलिए अन्य लोग उसे पहचान नहीं पाते थे।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार *त्रिदंडी सन्यास* ग्रहण करना इस बात का मुख्य संकेत है कि उसने भगवान् की शरण ग्रहण कर ली है। वैष्णव संन्यासी के तीन दण्ड शरीर, मन तथा वाणी को भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगाकर उन्हें वश में करने के सूचक हैं। इस विधि से वह वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु बन जाता है जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने संस्तुति की है। शरीर, मन तथा वाणी के कठोर संयम से सहिष्णुता का गुण प्रबल बनता है और तब मनुष्य अन्यों को क्षमा करने, अपना समय व्यर्थ न गँवाने, इन्द्रियतृप्ति से विरक्ति, अपने कार्य में झूठे अहंकार का अभाव तथा मोक्ष की लालसा न रखना जैसे अन्य गुणों को प्रकट करता है। इस तरह वह उन भौतिकतावादी लोगों की मनोवृत्ति को त्यागता है, जो पारस्परिक चापलूसी रूपी तथाकथित स्नेहमय सम्बन्ध स्थापित करते हैं और इन्द्रियतृप्ति के लिए एक-दूसरे का शोषण करते हैं, किन्तु जो व्यक्ति महात्माओं के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए कृष्णभावनामृत के कठिन मार्ग को अपनाता है, वह भगवान् की शरण प्राप्त कर सकता है।

तं वै प्रवयसं भिक्षुमवधूतमसज्जनाः ।
दृष्ट्वा पर्यभवन्भद्र बह्वीभिः परिभूतिभिः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; वै—निस्सन्देह; प्रवयसम्—वृद्ध; भिक्षुम्—भिखारी को; अवधूतम्—मलिन; असत्—निम्न श्रेणी के; जनाः—लोग; दृष्ट्वा—देख कर; पर्यभवन्—अनादर करते हुए; भद्र—हे दयालु उद्धव; बह्वीभिः—अनेक; परिभूतिभिः—अपमानों से।

हे दयालु उद्धव, उसे वृद्ध, मलिन भिखारी के रूप में देख कर ऊधमी व्यक्ति अनेक प्रकार से उसे अपमानित करने लगे।

केचित्त्रिवेणुं जगृहुरेके पात्रं कमण्डलुम् ।
पीठं चैकेऽक्षसूत्रं च कन्थां चीराणि केचन ।
प्रदाय च पुनस्तानि दर्शितान्याददुर्मुनेः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

केचित्—उनमें से कुछ; त्रि-वेणुम्—त्रिदण्ड को; जगृहुः—छीन लिया; एके—कुछ; पात्रम्—उसके भिक्षापात्र को; कमण्डलुम्—जलपात्र को; पीठम्—आसन, पीढ़ा; च—तथा; एके—किसी ने; अक्ष-सूत्रम्—जपमाला; च—तथा; कन्थाम्—गुदड़ी; चीराणि—फटी, जीर्ण-शीर्ण; केचन—कुछेक ने; प्रदाय—वापस करके; च—तथा; पुनः—फिर से; तानि—वे; दर्शितानि—दिखने वाले; आददुः—छीन लिया; मुनेः—मुनि का।

इनमें से कुछ लोग तो उसका संन्यासी दण्ड छीन लेते और कुछ उस जलपात्र को, जिसे वह

भिक्षापात्र के रूप में काम में ला रहा था। कोई उसका मृगचर्म आसन, तो कोई उसकी जपमाला ले लेता और कोई उसकी फटी-पुरानी गुदड़ी चुरा लेता; वे इन वस्तुओं को उसे दिखा-दिखाकर वापस करने का बहाना करते किन्तु उन्हें पुनः छिपा देते।

अन्नं च भैक्ष्यसम्पन्नं भुञ्जानस्य सरित्तटे ।
मूत्रयन्ति च पापिष्ठाः ष्ठीवन्त्यस्य च मूर्धनि ॥ ३५॥

शब्दार्थ

अन्नम्—भोजन; च—तथा; भैक्ष्य—भिक्षा माँग कर; सम्पन्नम्—प्राप्त; भुञ्जानस्य—भाग लेने वाले का; सरित्—नदी के; तटे—तट पर; मूत्रयन्ति—पेशाब करते हैं; च—तथा; पापिष्ठाः—अत्यन्त पापी व्यक्ति; ष्ठीवन्ति—थूकते हैं; अस्य—उसके; च—तथा; मूर्धनि—सिर पर।

जब वह भिक्षा द्वारा एकत्र किये गये भोजन को खाने के लिए नदी के तट पर बैठता, तो ऐसे पापी धूर्त आकर उस पर पेशाब कर देते और उसके सिर पर थूकने का दुस्साहस करते।

यतवाचं वाचयन्ति ताडयन्ति न वक्ति चेत् ।
तर्जयन्त्यपरे वाग्भिः स्तेनोऽयमिति वादिनः ।
बध्नन्ति रज्ज्वा तं केचिद्बध्यतां बध्यतामिति ॥ ३६॥

शब्दार्थ

यत-वाचम्—मौनव्रत धारण किये; वाचयन्ति—जबरन बोलवाते; ताडयन्ति—पीटते; न वक्ति—वह नहीं बोलता; चेत्—यदि; तर्जयन्ति—लाठी से मारते; अपरे—अन्य लोग; वाग्भिः—अपने शब्दों से; स्तेनः—चोर; अयम्—यह व्यक्ति; इति—इस प्रकार; वादिनः—कहते हुए; बध्नन्ति—उसे बाँध देते; रज्ज्वा—रस्सी से; तम्—उसको; केचित्—कुछ; बध्यताम् बध्यताम्—उसे बाँध लो, उसे बाँध लो; इति—ऐसा कह कर।

यद्यपि उसने मौनव्रत धारण कर रखा था, किन्तु वे उससे बोलवाने का प्रयास करते और यदि वह न बोलता तो उसे लाठियों से पीटते थे। अन्य लोग उसे यह कह कर प्रताड़ित करते कि यह आदमी चोर है। अन्य लोग उसे रस्सी से बाँध देते और चिल्लाते, "उसे बाँध दो! उसे बाँध दो!"

क्षिपन्त्येकेऽवजानन्त एष धर्मध्वजः शठः ।
क्षीणवित्त इमां वृत्तिमग्रहीत्स्वजनोज्झितः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

क्षिपन्ति—आलोचना करते; एके—कुछ लोग; अवजानन्तः—अपमानित करते हुए; एषः—इस; धर्म-ध्वजः—धार्मिक ढोंग करने वाले; शठः—ठगने; क्षीण-वित्तः—अपना धन खोकर; इमाम्—इस; वृत्तिम्—पेशे को; अग्रहीत्—ग्रहण किया है; स्व-जन—अपने परिवार द्वारा; उज्झितः—बाहर निकाला गया।

वे यह कह कर उसकी आलोचना और अपमान करते "यह व्यक्ति तो ढोंगी और ठग है। यह

व्यक्ति धर्म को इसलिए पेशा बनाये हुए है क्योंकि इसने अपनी सारी सम्पत्ति गँवा दी है और इसके परिवार वालों ने इसे बाहर निकाल दिया है।

अहो एष महासारो धृतिमान्गिरिराडिव ।
मौनेन साधयत्यर्थं बकवद्दृढनिश्चयः ॥ ३८ ॥
इत्येके विहसन्त्येनमेके दुर्वातयन्ति च ।
तं बबन्धुर्निरुरुधुर्यथा क्रीडनकं द्विजम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; एषः—यह व्यक्ति; महा-सारः—अत्यन्त शक्तिशाली; धृतिमान्—धैर्यवान; गिरि-राट्—हिमालय पर्वत; इव—सदृश; मौनेन—अपने मौनव्रत से; साधयति—प्रयास कर रहा है; अर्थम्—अपने लक्ष्य के लिए; बक-वत्—बगुले के समान; दृढ—स्थिर; निश्चयः—संकल्प; इति—इस प्रकार कहते हुए; एके—कुछ लोग; विहसन्ति—मजाक उड़ाते; एनम्—उसका; एके—कुछ लोग; दुर्वातयन्ति—अपानवायु निकालते; च—तथा; तम्—उसको; बबन्धुः—जंजीरों में बाँध दिया; निरुरुधुः—बन्दी बना रखा; यथा—जिस तरह; क्रीडनकम्—पालतू पशु; द्विजम्—उस ब्राह्मण को।

कुछ लोग यह कह कर उसका मजाक उड़ाते, "जरा देखो न इस अत्यन्त शक्तिशाली ऋषि को! यह हिमालय पर्वत की तरह धैर्यवान है। यह अपने मौनव्रत से महान् संकल्प करके अपना लक्ष्य पाने के लिए एक बगुले की भाँति प्रयत्नशील है।" अन्य लोग उसके ऊपर अपानवायु छोड़ते और कुछ लोग इस द्विज ब्राह्मण को जंजीरों में बाँध कर पालतू पशु की तरह बन्दी बनाकर रखते।

एवं स भौतिकं दुःखं दैविकं दैहिकं च यत् ।
भोक्तव्यमात्मनो दिष्टं प्राप्तं प्राप्तमबुध्यत ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; सः—वह; भौतिकम्—अन्य जीवों के कारण; दुःखम्—कष्ट; दैविकम्—देवताओं के कारण; दैहिकम्—अपने शरीर के कारण; च—तथा; यत्—जो भी; भोक्तव्यम्—कष्ट पाने के लिए सुनिश्चित; आत्मनः—अपना; दिष्टम्—विधाता द्वारा नियत; प्राप्तम् प्राप्तम्—जो कुछ भी मिल जाता; अबुध्यत—वह समझ गया।

वह ब्राह्मण समझ गया कि उसका सारा कष्ट—अन्य जीवों से, प्रकृति की उच्च शक्तियों से तथा अपने ही शरीर से जन्य—दुर्निवार है क्योंकि यह विधाता द्वारा निश्चित हुआ है।

तात्पर्य : उस ब्राह्मण को अनेक निर्दय व्यक्ति सताते और उसका शरीर ज्वर, भूख, प्यास, थकान आदि से पीड़ित भी रहता। दैवी शक्तियाँ वे हैं, जो अत्यधिक गर्मी, सर्दी, हवा तथा वर्षा उत्पन्न करती हैं। ब्राह्मण की समझ में आ चुका था कि उसका कष्ट भौतिक शरीर से अपनी झूठी पहचान बनाने के कारण है, बाह्य घटना और उसके शरीर की अन्योन्य क्रिया से नहीं है। वह बाह्य स्थिति से तालमेल

बैठाने के प्रयास की बजाय, कृष्णभावनामृत से तालमेल बैठा रहा था और इस तरह नित्य आत्मा के रूप में अपनी असली पहचान को अनुभव करना चाह रहा था।

परिभूत इमां गाथामगायत नराधमैः ।
पातयद्भिः स्व धर्मस्थो धृतिमास्थाय सात्त्विकीम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

परिभूतः—अपमानित; इमाम्—यह; गाथाम्—गीत; अगायत—गाया; नर-अधमैः—निम्न जाति के लोगों द्वारा; पातयद्भिः—उसे पतित बनाने का प्रयत्न करने वाले; स्व-धर्म—अपने कर्तव्य में; स्थः—दृढ़ रहते हुए; धृतिम्—संकल्प; आस्थाय—स्थिर होकर; सात्त्विकीम्—सतोगुणी।

इन निम्न कोटि के पुरुषों द्वारा, जो उसे पतित करने का प्रयास कर रहे थे, अपमानित होने पर भी, वह अपने आध्यात्मिक कर्म में अडिग बना रहा। सतोगुण में अपना संकल्प स्थिर करके, वह निम्नलिखित गीत गाने लगा।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में सतोगुणी (सात्विक) संकल्प का वर्णन हुआ है (१८.३३)—

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।

योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

"हे पृथापुत्र! जो धारणा अदम्य है, जिसे योगाभ्यास द्वारा अचल रह कर धारण किया जाता है और जो इस प्रकार मन, प्राण तथा इन्द्रियों के कार्यकलापों को वश में रखती है, वह धृति सात्त्विक है।"

जो नास्तिकजन भगवद्भक्तों से द्वेष रखते हैं, वे *नराधम* अर्थात् मनुष्यों में सबसे निम्न कहलाते हैं और वे निश्चित रूप से नरकगामी होते हैं। वे सभी उपायों से भगवान् की भक्ति में बाधा डालते हैं, कभी प्रत्यक्ष आक्रमण करके तो कभी उपहास करके। किन्तु भक्तगण सहिष्णु बने रहते हैं और सात्विक संकल्प बनाये रखते हैं। श्रील रूप गोस्वामी ने *श्री उपदेशामृत* (१) में कहा है—

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं

जिह्वावेगम् उदरोपस्थवेगम्।

एतान् वेगान् यो विषहेत धीरः

सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात्॥

"जो गम्भीर व्यक्ति बोलने की आन्तरिक इच्छा, मन की माँगों, क्रोध के कार्यों तथा जीभ, पेट

और जननेन्द्रियों की माँगों को सह सकता है, वह विश्व-भर में शिष्य बनाने के लिए सुपात्र है।''

द्विज उवाच

नायं जनो मे सुखदु:खहेतु-
र्न देवतात्मा ग्रहकर्मकाला: ।
मन: परं कारणमामनन्ति
संसारचक्रं परिवर्तयेद्यत् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

द्विजः उवाच—ब्राह्मण ने कहा; न—नहीं; अयम्—ये; जनः—लोग; मे—मेरे; सुख—सुख; दु:ख—तथा दुख के; हेतुः—कारण; न—न तो; देवता—देवतागण; आत्मा—मेरा शरीर; ग्रह—अधीक्षक ग्रह; कर्म—मेरा विगत कर्म; कालाः—अथवा समय; मनः—मन; परम्—प्रत्युत एकमात्र; कारणं—कारण; आमनन्ति—अधिकारी विद्वानों द्वारा कहा जाता है; संसार—भौतिक जीवन का; चक्रम्—चक्र; परिवर्तयेत्—घुमाता है; यत्—जो।.

ब्राह्मण ने कहा : न तो ये लोग मेरे सुख तथा दुख के कारण हैं, न ही देवता, मेरा शरीर, ग्रह, मेरे विगत कर्म या काल ही। प्रत्युत यह तो एकमात्र मन है, जो सुख तथा दुख का कारण है जो भौतिक जीवन को निरन्तर घुमाता रहता है।

मनो गुणान्वै सृजते बलीय-
स्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि ।
शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि
तेभ्य: सवर्णा: सृतयो भवन्ति ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

मनः—मन; गुणान्—प्रकृति के गुणों के कार्य; वै—निस्सन्देह; सृजते—पक्रट करता है; बलीयः—अत्यन्त बलवान; ततः—उन गुणों से; च—तथा; कर्माणि—भौतिक कार्यकलाप; विलक्षणानि—विभिन्न प्रकारों के; शुक्लानि—श्वेत (सतोगुणी); कृष्णानि—काला (तमोगुणी); अथ—तथा; लोहितानि—लाल (रजोगुणी); तेभ्यः—उन कार्यों से; स-वर्णाः—वही वही रंग वाले; सृतयः—उत्पन्न दशाएँ; भवन्ति—उठ खड़ी होती हैं।.

शक्तिशाली मन भौतिक गुणों को कार्यशील बनाता है, जिससे सतो, तमो तथा रजोगुण से सम्बद्ध विभिन्न प्रकार के भौतिक कार्यकलाप विकसित होते हैं। इनमें से प्रत्येक गुण वाले कार्यों से संगत जीवन दशाएँ (गतियाँ) उत्पन्न होती हैं।

तात्पर्य : सतोगुण में मनुष्य अपने को सन्त या चतुर मानता है, रजोगुण में भौतिक सफलता के लिए संघर्षशील रहता है और तमोगुण में वह क्रूर, आलसी तथा पापी बन जाता है। भौतिक गुणों के संमेल से ही मनुष्य अपने को देवता, राजा, धनी, पंडित आदि मानता है। ये धारणाएँ भौतिक उपाधियाँ हैं, जो प्रकृति के गुणों से उत्पन्न होती हैं और ये क्षणिक इन्द्रियतृप्ति के भोगार्थ शक्तिशाली मन की

प्रवृत्ति के अनुसार अपने को नियोजित करती हैं। इस श्लोक में *बलीयस्* शब्द सूचित करता है कि भौतिक मन अच्छी सलाह नहीं सुनता। यहाँ तक कि हमें यह बताये जाने पर भी कि धन कमाने के लिए हम अनेक पाप तथा अपराध करते हैं, हम यह सोचते हैं कि किसी भी कीमत पर धन तो कमाना ही है क्योंकि धन के बिना न तो कोई धार्मिक उत्सव सम्पन्न किया जा सकता है न ही सुन्दर स्त्रियों, महलों तथा वाहनों से इन्द्रियों की तृप्ति की जासकती है। जैसे ही धन मिल जाता है, मनुष्य को और अधिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है किन्तु इस सम्बन्ध में जिद्दी मन कभी भी नेक सलाह पर ध्यान नहीं देता। अतः मनुष्य को मानसिक कल्पना त्याग कर अपने मन को कृष्णभावनामृत में नियंत्रित करना चाहिए जैसाकि अवन्ती के ब्राह्मण के दृष्टान्त से प्रकट है।

अनीह आत्मा मनसा समीहता
हिरण्मयो मत्सख उद्विचष्टे ।
मनः स्वलिङ्गं परिगृह्य कामान्
जुषन्निबद्धो गुणसङ्गतोऽसौ ॥ ४४॥

शब्दार्थ

अनीहः—निष्क्रिय; आत्मा—परमात्मा; मनसा—मन के साथ साथ; समीहता—संघर्षशील; हिरण्-मयः—दिव्य प्रकाश प्रकट करते हुए; मत्-सखः—मेरा मित्र; उद्विचष्टे—ऊपर से नीचे की ओर देखता है; मनः—मन; स्व-लिन्गम्—जो भौतिक जगत के प्रतिबिम्ब को अपने (आत्मा) ऊपर प्रक्षेपित करता है; परिगृह्य—स्वीकार करके; कामान्—इन्द्रिय-विषयों को; जुषन्—लगाकर; निबद्धः—बँध जाता है; गुण-सङ्गतः—गुणों की संगति के कारण; असौ—वह सूक्ष्म आत्मा।

परमात्मा यद्यपि भौतिक शरीर के भीतर संघर्षशील मन के साथ उपस्थित रहता है, किन्तु वह प्रयास नहीं करता (निष्क्रिय रहता है) क्योंकि वह पहले से दिव्य प्रकाश से समन्वित होता है। वह मेरे मित्र की भाँति कार्य करते हुए अपने दिव्य पद से केवल साक्षी बनता है। दूसरी ओर अत्यन्त सूक्ष्म आत्मा रूप में इस मन को अपना चुका हूँ जो भौतिक जगत के प्रतिबिम्ब को परावर्तित करने वाला दर्पण है। इस तरह मैं इन्द्रिय-विषयों का भोग करने में लगा हूँ और प्रकृति के गुणों के सम्पर्क के कारण बँधा हुआ हूँ।

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च
श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि ।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः ॥ ४५॥

शब्दार्थ

दानम्—दान देना; स्व-धर्मः—अपने नियत कर्तव्य करते रहना; नियमः—दैनिक जीवन के नियम; यमः—आध्यात्मिक अभ्यास के प्रमुख नियम; च—तथा; श्रुतम्—शास्त्रों को सुनना; च—तथा; कर्माणि—पुण्यकर्म; च—तथा; सत्—शुद्ध; व्रतानि—व्रत; सर्वे—सभी; मनः-निग्रहः—मन को वश में करना; लक्षण—से युक्त; अन्ताः—उनका लक्ष्य; परः—परम; हि—निस्सन्देह; योगः—दिव्य ज्ञान; मनसः—मन का; समाधिः—समाधि में ब्रह्म का ध्यान।

दान, धर्म, यम तथा नियम, शास्त्रों का श्रवण, पुण्यकर्म तथा शुद्ध बनाने वाले व्रत—इन सबका अन्तिम लक्ष्य मन का दमन है। निस्सन्देह, ब्रह्म में मन की एकाग्रता ही सर्वोच्च योग है।

समाहितं यस्य मनः प्रशान्तं
दानादिभिः किं वद तस्य कृत्यम् ।
असंयतं यस्य मनो विनश्यद्
दानादिभिश्चेदपरं किमेभिः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

समाहितम्—पूर्णतया स्थिर; यस्य—जिसका; मनः—मन; प्रशान्तम्—शान्त; दान-आदिभिः—दान तथा अन्य विधियों से; किम्—क्या; वद—कृपया कहें; तस्य—उन विधियों का; कृत्यम्—उपयोग; असंयतम्—अनियंत्रित; यस्य—जिसका; मनः—मन; विनश्यत्—विलीन करते हुए; दान-आदिभिः—दान इत्यादि विधियों से; चेत्—यदि; अपरम्—आगे; किम्—क्या लाभ; एभिः—इनका।

यदि किसी का मन पूर्णतया स्थिर तथा शान्त हो, तो आप मुझे यह बतलायें कि मनुष्य को कर्मकांडी दान तथा अन्य पुण्यकर्म करने की क्या आवश्यकता है? और यदि किसी का मन असंयत रहता है, अज्ञान में डूबा रहता है, तो फिर उसके लिए इन कार्यों से क्या लाभ?

मनोवशेऽन्ये ह्यभवन्स्म देवा
मनश्च नान्यस्य वशं समेति ।
भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्
युञ्ज्याद्वशे तं स हि देवदेवः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

मनः—मन के; वशे—वश में; अन्ये—अन्य; हि—निस्सन्देह; अभवन्—हो गये; स्म—भूतकाल में; देवाः—इन्द्रियाँ (अपने अधिष्ठातृ देवों द्वारा प्रदर्शित); मनः—मन; च—तथा; न—कभी नहीं; अन्यस्य—दूसरे के; वशम्—वश में; समेति—आता है; भीष्मः—भयावह; हि—निस्सन्देह; देवः—देवता जैसी शक्ति; सहसः—सबसे बलवान की अपेक्षा; सहीयान्—बलवान; युञ्ज्यात्—स्थिर कर सकता है; वशे—वश में; तम्—उस मन को; सः—ऐसा व्यक्ति; हि—निस्सन्देह; देव-देवः—समस्त इन्द्रियों का स्वामी।

सारी इन्द्रियाँ अनन्त काल से मन के वश में रही हैं और मन कभी भी किसी अन्य के प्रभाव में नहीं आता। वह बलवानों से भी बलवान है और उसकी देवतुल्य शक्ति भयावह है। इसलिए जो अपने मन को वश में कर सकता है, वह सभी इन्द्रियों का स्वामी बन जाता है।

तम्दुर्जयं शत्रुमसह्यवेग-
मरुन्तुदं तन्न विजित्य केचित् ।
कुर्वन्त्यसद्विग्रहमत्र मर्त्यै-
र्मित्राण्युदासीनरिपून्विमूढाः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; दुर्जयम्—न जीता जाने वाला; शत्रुम्—शत्रु को; असह्य—असहनीय; वेगम्—जिसका वेग; अरुम्-तुदम्—हृदय को पीड़ा पहुँचाने में सक्षम; तत्—इसलिए; न विजित्य—न जीत पाकर; केचित्—कुछ लोग; कुर्वन्ति—करते हैं; असत्—व्यर्थ; विग्रहम्—कलह; अत्र—इस जगत में; मर्त्यैः—मर्त्य जीवों से; मित्राणि—मित्र; उदासीन—अन्यमनस्क लोग; रिपून्—तथा प्रतिद्वन्द्वी; विमूढाः—पूर्णतया विमोहित।

अनेक लोग इस दुर्जय शत्रुरूपी मन को, जिसके वेग असह्य हैं और जो हृदय को सताता है जीत न पाने पर, पूर्णतया विमोहित हो जाते हैं और अन्यों से व्यर्थ ही कलह ठान लेते हैं। इस तरह वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अन्य लोग या तो उनके मित्र हैं अथवा उनके शत्रु हैं या फिर उनसे उदासीन रहने वाले हैं।

तात्पर्य : अपने को शरीर मान लेना और बच्चों तथा बच्चों के बच्चों रूपी शारीरिक अंशों को नित्य सम्पत्ति स्वीकार करते हुए मनुष्य भूल जाता है कि प्रत्येक जीव गुणात्मक रूप से ईश्वर जैसा है। एक जीव तथा दूसरे जीव में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि वे सारे ही परमेश्वर के अंश हैं। मन जब मिथ्या अहंकार में लीन होता है, तो भौतिक शरीर उत्पन्न होता है और शरीर से अपनी पहचान करने से बद्ध आत्मा मिथ्या अहंकार तथा अज्ञान से अभिभूत हो जाता है जैसाकि यहाँ पर बतलाया गया है।

देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा
ममाहमित्यन्धधियो मनुष्याः ।
एषोऽहमन्योऽयमिति भ्रमेण
दुरन्तपारे तमसि भ्रमन्ति ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

देहम्—भौतिक शरीर को; मनः-मात्रम्—मन से ही उत्पन्न; इमम्—इस; गृहीत्वा—ग्रहण करके; मम—मेरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; अन्ध—अन्धी; धियः—बुद्धि वाले; मनुष्याः—मनुष्य; एषः—यह; अहम्—मैं हूँ; अन्यः—दूसरा कोई; अयम्—यह है; इति—इस प्रकार; भ्रमेण—मोह के द्वारा; दुरन्त-पारे—दुर्लंघ्य; तमसि—अंधकार में; भ्रमन्ति—भटकते रहते हैं।

जो लोग अपनी पहचान इस शरीर से, जो कि भौतिक मन की उपज है, करते हैं उनकी बुद्धि मारी जाती है और वे "मैं" तथा "मेरा" के रूप में सोचते हैं। अपने इस भ्रम के कारण कि, "यह मैं हूँ किन्तु वह अन्य कोई है" वे लोग अनन्त अंधकार में भटकते रहते हैं।

जनस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनश्चात्र हि भौमयोस्तत् ।
जिह्वां क्वचित्सन्दशति स्वदद्भि-
स्तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

जनः—ये लोग; तु—लेकिन; हेतुः—कारण; सुख-दुःखयोः—मेरे सुख तथा दुख का; चेत्—यदि; किम्—क्या; आत्मनः—अपने लिए; च—तथा; अत्र—इस धारणा में; हि—निस्सन्देह; भौमयोः—भौतिक शरीर से सम्बन्धित; तत्—वह (कर्ता तथा भोक्ता का पद); जिह्वाम्—जीभ को; क्वचित्—कभी; सन्दशति—काट लेता है; स्व—अपने; दद्भिः—दाँतों से; तत्—उस; वेदनायाम्—पीड़ा का; कतमाय—किसके साथ; कुप्येत्—कोई क्रोध करे।

यदि आप यह कहते हैं कि ये लोग ही मेरे सुख तथा दुख के कारण हैं, तो फिर ऐसी धारणा होने पर आत्मा के लिए स्थान कहाँ रहता है? यह सुख तथा दुख आत्मा का नहीं होता अपितु भौतिक शरीरों की अन्योन्य क्रियाओं का है। यदि कोई व्यक्ति अपने ही दाँतों से अपनी जीभ काट लेता है, तो अपनी पीड़ा के लिए वह किस पर क्रोध करे?

तात्पर्य : यद्यपि आत्मा शारीरिक सुख तथा दुख का अनुभव करता है किन्तु मनुष्य को यह समझते हुए ऐसी द्वैतता को सह लेना चाहिए कि यह तो उसके भौतिक मन की सृष्टि है। यदि कोई अचानक अपनी ही जीभ या होंठ काट लेता है, तो वह क्रोध करके अपने दाँत तो निकाल नहीं सकता। इसी तरह सारे जीव ईश्वर के भिन्नांश है और इस तरह एक दूसरे से अभिन्न हैं। वे सभी आध्यात्मिक समभाव से भगवान् की सेवा करने के लिए हैं। यदि ये जीव अपने स्वामी की सेवा करना छोड़ दें और उसकी बजाय परस्पर लड़ने लगें तो उन्हें प्रकृति के नियमों द्वारा पीड़ित किया जायेगा। यदि बद्ध आत्माएँ भौतिक शरीर पर आधारित कृत्रिम स्नेह-सम्बन्ध स्थापित करती हैं और ईश्वर से कोई सरोकार नहीं रखतीं, तो काल ऐसे सम्बन्धों को नष्ट कर देता है और उन्हें आगे भी कष्ट मिलता है। किन्तु यदि प्रत्येक जीव अपने को एक ही परिवार का सदस्य मानता है, जिन सबका सम्बन्ध परमेश्वर से हो, तो उनमें पारस्परिक मैत्री उत्पन्न होगी। इस तरह मनुष्य को क्रोध नहीं करना चाहिए क्योंकि वह अपने लिए तथा अन्यों के लिए भी घातक होगा। यद्यपि उस ब्राह्मण को कुछ लोग भीख दे रहे थे और कुछ लोग तंग कर रहे थे और पीट भी रहे थे, किन्तु उसने इन लोगों को अपने सुख तथा दुख का परम कारण नहीं माना क्योंकि वह शरीर तथा मन से परे आत्म-साक्षात्कार के पद को प्राप्त था।

दुःखस्य हेतुर्यदि देवतास्तु
किमात्मनस्तत्र विकारयोस्तत् ।
यदङ्गमङ्गेन निहन्यते क्वचित्
क्रुध्येत कस्मै पुरुषः स्वदेहे ॥५१॥

शब्दार्थ

दुःखस्य—दुख का; हेतुः—कारण; यदि—यदि; देवताः—देवतागण (शरीर के भीतर विविध इन्द्रियों के अधिष्ठाता); तु—लेकिन; किम्—क्या; आत्मनः—आत्मा के लिए; तत्र—उस सम्बन्ध में; विकारयोः—विकारों (इन्द्रियों तथा उनके अधिष्ठातृ देवों) से सम्बन्धित; तत्—वह (कर्म तथा उसका फल); यत्—जब; अङ्गम्—अंग; अङ्गेन—दूसरे अंग द्वारा; निहन्यते—चोट पहुँचाया जाता है; क्वचित्—कभी; क्रुध्येत—क्रुद्ध होना चाहिए; कस्मै—किस पर; पुरुषः—जीव; स्व-देहे—अपने शरीर के भीतर।

यदि आप यह कहें कि शारीरिक इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता दुख के देने वाले हैं, तो भी ऐसा दुख आत्मा पर कैसे लागू हो सकता है? यह कर्म करना तथा उसके द्वारा प्रभावित होना परिवर्तनशील इन्द्रियों तथा उनके अधिष्ठाता देवों की अन्योन्य क्रिया मात्र है। यदि शरीर का कोई अंग दूसरे अंग पर आक्रमण करे तो उस शरीर का धारक व्यक्ति किस पर क्रोध करे?

तात्पर्य : वह ब्राह्मण आत्म-साक्षात्कार की उस स्थिति की विस्तृत व्याख्या कर रहा है, जिसमें मनुष्य अपने आप को शरीर तथा मन और उन पर नियंत्रण रखने वाले देवताओं से सर्वथा पृथक् मानता है। शारीरिक सुख का अनुशीलन करने से हमें शारीरिक कष्ट भी सहना पड़ता है। किन्तु मूर्ख बद्ध आत्माएँ दुख को हटाकर सुख भोगने का प्रयास करती हैं किन्तु भौतिक सुख तथा दुख एक ही सिक्के के दो पक्ष हैं। कोई व्यक्ति अपने को शरीर माने बिना शारीरिक सुख का आस्वादन नहीं कर सकता। किन्तु ज्योंही ऐसी पहचान बनती है, उसी शरीर के भीतर उपस्थित असंख्य दुखों से वह सताया जाने लगता है। शारीरिक सुख-दुख देने वाले तो देवता हैं, जिन्हें हम कभी भी अपने वश में नहीं कर सकते। इस तरह मनुष्य विधाता की इच्छा के अधीन रहता है। किन्तु यदि वह आनन्दकंद भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करता है, तो वह आध्यात्मिक पद तक पहुँच सकता है जहाँ पर मुक्त आत्मा को दिव्य आनन्द प्राप्त होता है, जिसमें चिन्ता या दुख बाधक नहीं बनते।

आत्मा यदि स्यात्सुखदुःखहेतुः
किमन्यतस्तत्र निजस्वभावः ।
न ह्यात्मनोऽन्यद्यदि तन्मृषा स्यात्
क्रुध्येत कस्मान्न सुखं न दुःखम् ॥५२॥

शब्दार्थ

आत्मा—आत्मा; यदि—यदि; स्यात्—हो; सुख-दुःख—सुख तथा दुख का; हेतुः—कारण; किम्—क्या; अन्यतः—अन्य; तत्र—उस मत में; निज—अपना; स्वभावः—स्वभाव, प्रकृति; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; आत्मनः—आत्मा की अपेक्षा; अन्यत्—अलग से कोई वस्तु; यदि—यदि; तत्—वह; मृषा—झूठी; स्यात्—होगी; क्रुध्येत—कोई क्रोध करे; कस्मात्—किस पर; न—नहीं है; सुखम्—सुख; न—न तो; दुःखम्—दुख।

यदि आत्मा ही सुख तथा दुख का कारण होता, तो हम अन्यों को दोष न दे पाते, क्योंकि तब सुख तथा दुख आत्मा के स्वभाव होते। इस मत के अनुसार आत्मा से भिन्न अन्य कुछ विद्यमान नहीं होता और यदि हमें आत्मा के अतिरिक्त और किसी वस्तु का अनुभव करना पड़ता तो वह मोह होता। इसलिए कोई अपने ऊपर या अन्यों पर क्रोध क्यों करे क्योंकि इस मत के अनुसार सुख तथा दुख का वास्तविक अस्तित्व ही नहीं है।

तात्पर्य : चूँकि मृत शरीर को आनन्द या पीड़ा की अनुभूति नहीं होती अतः हमारा सुख तथा दुख हमारी ही चेतना के कारण होते हैं क्योंकि यह आत्मा का स्वभाव है। किन्तु भौतिक सुख का भोग और कष्ट का भोग आत्मा के आदि कार्य नहीं हैं। ये तो मिथ्या अहंकार पर आधारित स्नेह तथा शत्रुता से उत्पन्न होते हैं। इन्द्रियतृप्ति में लिप्त होने से हमारी चेतना भौतिक शरीर की ओर खिंच जाती है जहाँ इसे अपरिहार्य शारीरिक कष्टों तथा समस्याओं के आघात सहने पड़ते हैं।

आध्यात्मिक स्तर पर न तो भौतिक सुख है, न भौतिक दुख क्योंकि वहाँ पर सजीव चेतना, बिना किसी निजी इच्छा के, भगवान् की भक्ति में लगी रहती है। मिथ्या शारीरिक पहचान से अलग, सुख की यही वास्तविक स्थिति है। अपनी मूर्खता के लिए अन्यों पर क्रोध करने की बजाय मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार करके जीवन की समस्याएँ हल करनी चाहिए।

ग्रहा निमित्तं सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनोऽजस्य जनस्य ते वै ।
ग्रहैर्ग्रहस्यैव वदन्ति पीडां
क्रुध्येत कस्मै पुरुषस्ततोऽन्यः ॥५३॥

शब्दार्थ

ग्रहाः—अधिष्ठाता ग्रह; निमित्तम्—कारण; सुख-दुःखयोः—सुख या दुख का; चेत्—यदि; किम्—क्या; आत्मनः—आत्मा के लिए; अजस्य—अजन्मा; जनस्य—जिससे जन्म हुआ है उसका; ते—वे ग्रह; वै—निस्सन्देह; ग्रहैः—अन्य ग्रहों के द्वारा; ग्रहस्य—ग्रह का; एव—एकमात्र; वदन्ति—(दक्ष ज्योतिषी) कहते हैं; पीडाम्—कष्ट; क्रुध्येत—क्रोध करे; कस्मै—किस पर; पुरुषः—जीव; ततः—उस शरीर से; अन्यः—पृथक्।

और यदि हम इस संकल्पना की परीक्षा करें कि ग्रह ही सुख तथा दुख के तुरन्त कारणरूप हैं, तो भी नित्य आत्मा से उसका सम्बन्ध कहाँ हैं? आखिर, ग्रहों का प्रभाव केवल उन्हीं वस्तुओं

पर पड़ता है जिनका जन्म हो चुका है। इसके अतिरिक्त कुशल ज्योतिषियों ने बतलाया है कि किस तरह विभिन्न ग्रह एक-दूसरे को केवल पीड़ा पहुँचाते हैं। इसलिए, जीव जो कि इन ग्रहों तथा शरीर से पृथक् है, वह अपना क्रोध किस पर प्रकट करे?

कर्मास्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनस्तद्धि जडाजडत्वे ।
देहस्त्वचित्पुरुषोऽयं सुपर्णः
क्रुध्येत कस्मै न हि कर्म मूलम् ॥५४॥

शब्दार्थ

कर्म—अपने सकाम कर्म; अस्तु—मान लिया कि; हेतुः—कारण; सुख-दुःखयोः—सुख तथा दुख का; चेत्—यदि; किम्—क्या; आत्मनः—आत्मा के लिए; तत्—वह कर्म; हि—निश्चय ही; जड-अजडत्वे—भौतिक तथा अभौतिक दोनों में; देहः—शरीर; तु—दूसरी ओर; अचित्—निर्जीव; पुरुषः—पुरुष; अयम्—यह; सु-पर्णः—सजीव चेतना से युक्त; क्रुध्येत—क्रोध प्रकट करे; कस्मै—किस पर; न—नहीं हैं; हि—निश्चय ही; कर्म—सकाम कर्म; मूलम्—मूल कारण।

यदि हम यह मान लें कि सकाम कर्म सुख तथा दुख का कारण है, तो भी हम आत्मा की बात नहीं करते। भौतिक कर्म का भाव तब उदय होता है जब कोई चेतनकर्ता और भौतिक शरीर होता है, जो ऐसे कर्म के फल के रूप में सुख तथा दुख के विकारों को प्राप्त होता है। चूँकि शरीर में जीवन नहीं होता, इसलिए यह न तो सुख-दुख का असली प्रापक हो सकता है न ही आत्मा जो अन्ततः पूर्णतया आध्यात्मिक है और शरीर से पृथक् रहता है। चूँकि कर्म का न तो शरीर पर, न ही आत्मा पर कोई परम आधार है, तो फिर कोई किस पर क्रोध करे?

तात्पर्य : यह भौतिक शरीर ईंट, पत्थर तथा दूसरी वस्तुओं की तरह पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु से बना हुआ है। हमारी चेतना, शरीर में झूठे ही लीन होने से, सुख-दुख का अनुभव करती है और जब हम गलती से अपने को भौतिक जगत का भोक्ता मान बैठते हैं, तो सकाम कर्म सम्पन्न होता है। इस तरह मिथ्या अहंकार हमारे मनों के भीतर आत्मा तथा शरीर का, मोहमय संमिश्रण है, जबकि आत्मा तथा शरीर वास्तव में अलग अलग हैं। चूँकि कर्म मोहमयी चेतना पर आधारित होता है अतएव ये कर्म भी मोहमय होते हैं और उनका शरीर या आत्मा में कोई आधार नहीं होता। जब बद्धजीव अपने को मिथ्या ही शरीर और भौतिक जगत का भोक्ता मान बैठता है, तो वह स्त्रियों के साथ अवैध सम्बन्ध करके आनन्द खोजने का प्रयास करता है। ऐसा पापमय कार्य अपने को शरीर मानने की मिथ्या कल्पना पर और फलस्वरूप स्त्रियों को तथा जगत का भोक्ता मान लेने पर आधारित है। चूँकि यह शरीर नहीं है

इसलिए उसके स्त्री-भोग के कार्य का अस्तित्व ही नहीं होता। यह तो दो यंत्रों अर्थात् दो शरीरों की और स्त्री तथा पुरुष की मोहमयी चेतना की पारस्परिक क्रिया है। अवैध यौन की अनुभूति शरीर के भीतर होती है और मिथ्या अहंकार इसे अपने अनुभव के रूप में आत्मसात् करता है। इस तरह कर्म के सुखमय या दुखमय फल अन्ततोगत्वा मिथ्या अहंकार पर प्रभाव दिखाते हैं, शरीर पर नहीं, जो जड़ पदार्थ से बना है या उस आत्मा पर नहीं जिसका पदार्थ से कोई नाता नहीं है। मिथ्या अहंकार तो मन की मोहमयी कल्पना है और यही मिथ्या अहंकार सुख तथा दुख पाता है। आत्मा अन्यों पर क्रुद्ध हो ही नहीं सकता क्योंकि वह न तो सुख भोग रहा है, न कष्ट, प्रत्युत मिथ्या अहंकार ही यह सब करता है।

कालस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनस्तत्र तदात्मकोऽसौ ।
नाग्नेर्हि तापो न हिमस्य तत्स्यात्
क्रुध्येत कस्मै न परस्य द्वन्द्वम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

कालः—समय; तु—लेकिन; हेतुः—कारण; सुख-दुःखयोः—सुख तथा दुख का; चेत्—यदि; किम्—क्या; आत्मनः—आत्मा का; तत्र—उस भाव में; तत्-आत्मकः—काल पर आधारित; असौ—आत्मा; न—नहीं; अग्नेः—अग्नि से; हि—निस्सन्देह; तापः—जलन; न—नहीं; हिमस्य—बर्फ का; तत्—वह; स्यात्—बनता है; क्रुध्येत—क्रोध करे; कस्मै—किस पर; न—नहीं है; परस्य—दिव्य आत्मा के लिए; द्वन्द्वम्—द्वैत भाव।

यदि हम काल को सुख तथा दुख का कारण मान लें, तो भी यह अनुभव आत्मा पर लागू नहीं हो सकता क्योंकि काल भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति की अभिव्यक्ति है और जीव भी उसी शक्ति के अंश हैं, जो काल के माध्यम से प्रकट होती है। यह निश्चित है कि आग अपनी लौ या चिनगियों को नहीं जलाती, न ही शीत अपने ही रूप ओलों को हानि पहुँचाती है। वस्तुतः आत्मा दिव्य है और भौतिक सुख-दुख के अनुभव से परे है। इसलिए कोई किस पर क्रोध प्रकट करे?

तात्पर्य : भौतिक शरीर जड़ पदार्थ है और वह सुख, दुख या अन्य वस्तु का अनुभव नहीं करता। चूँकि आत्मा पूर्णतया दिव्य है, अतएव उसे उस दिव्य प्रभु पर अपनी चेतना स्थिर करनी चाहिए जो भौतिक सुख-दुख से परे है। जब दिव्य चेतना झूठे ही अपनी पहचान जड़ पदार्थ से करती है, तभी जीव यह कल्पना करता है कि वह भौतिक जगत में सुख तथा दुख भोग रहा है। पदार्थ के साथ चेतना

की यह मोहमयी पहचान मिथ्या अहंकार कहलाती है और संसार का कारण है।

न केनचित्क्वापि कथञ्चनास्य
द्वन्द्वोपरागः परतः परस्य ।
यथाहमः संसृतिरूपिणः स्या-
देवं प्रबुद्धो न बिभेति भूतैः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं है; केनचित्—किसी के द्वारा; क्व अपि—कहीं भी; कथञ्चन—किसी तरह से; अस्य—उस (आत्मा) का; द्वन्द्व—द्वैत (सुख तथा दुख) का; उपरागः—प्रभाव; परतः परस्य—भौतिक प्रकृति से परे रहने वाला; यथा—जसि तरह; अहमः—मिथ्या अहंकार के लिए; संसृति—जगत के प्रति; रूपिणः—रूप देने वाले; स्यात्—उदय होता है; एवम्—इस प्रकार; प्रबुद्धः—जिसकी बुद्धि जागृत हो चुकी हो; न बिभेति—डरता नहीं; भूतैः—भौतिक सृष्टि के आधार पर।

मिथ्या अहंकार मायामय जगत को स्वरूप प्रदान करता है और इस तरह वह भौतिक सुख तथा दुख का अनुभव करता है। किन्तु आत्मा भौतिक प्रकृति से परे है। वह किसी भी स्थान, किसी भी दशा में या किसी भी व्यक्ति के माध्यम से भौतिक सुख तथा दुख द्वारा प्रभावित नहीं होता।जो व्यक्ति इसे समझ लेता है उसे भौतिक सृष्टि से डरने की कोई बात नहीं।

तात्पर्य : वह ब्राह्मण जीव के सुख तथा दुख की छः विशिष्ट व्याख्याओं का खंडन कर चुका था और अब वह अन्य किसी भी दी जाने वाली व्याख्या का खंडन करता है। मिथ्या अहंकार के आधार पर वस्तुतः शारीरिक आवरण आत्मा को ढक लेता है और इस तरह मनुष्य झूठे ही उसका सुख तथा दुख भोगता है, जिसका उससे कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता। जो व्यक्ति भगवान् द्वारा उद्धव से कहे गये ब्राह्मण के इस दिव्य उपदेश को समझ लेता है, वह इस जगत के भीतर भय की भीषण चिन्ता को फिर से कभी नहीं भोगेगा।

एतां स आस्थाय परात्मनिष्ठा-
मध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः ।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं
तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

एताम्—यह; सः—ऐसा; आस्थाय—पूरी तरह स्थिर होकर; पर-आत्म-निष्ठाम्—परम पुरुष कृष्ण की भक्ति में; अध्यासिताम्—पूजा किया; पूर्व-तमैः—पिछले; महा-ऋषिभिः—आचार्यों द्वारा; अहम्—मैं; तरिष्यामि—पार करजाऊँगा; दुरन्त-पारम्—दुर्लंघ्य; तमः—अविद्या का सागर; मुकुन्द-अङ्घ्रि—मुकुन्द के चरणकमलों की; निषेवया—सेवा द्वारा; एव—निश्चय ही।

मैं कृष्ण के चरणकमलों की सेवा में दृढ़ रह कर अविद्या के दुर्लंघ्य सागर को पार कर

जाऊँगा। इसकी पुष्टि पिछले आचार्यों द्वारा की गई है, जो परमात्मा की भक्ति में स्थिर थे।

तात्पर्य : कृष्णदास कविराज ने इस श्लोक को *चैतन्य-चरितामृत* (मध्यलीला ३.६) में उद्धृत किया है। श्रील प्रभुपाद की टीका है, "श्रीमद्भागवत के इस श्लोक (११.२३.५७) की टीका करते हुए श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते हैं कि भक्ति करने में जिन ६४ बातों की आवश्यकता पड़ती है उनमें संन्यास के प्रतीकात्मक चिह्न धारण करने का वैधानिक सिद्धान्त है। यदि कोई संन्यास ग्रहण करता है, तो उसका मुख्य कार्य अपने जीवन को पूर्णतया मुकुन्द की सेवा में लगाना है। यदि वह अपने तन तथा मन को पूर्णतया भगवान् की सेवा में नहीं लगाता, तो वह वास्तविक संन्यासी नहीं है। इसमें केवल वस्त्र ही नहीं बदलना होता। *भगवद्गीता* में भी (६.१) कहा गया है *अनाश्रित: कर्मफलं कार्यं कर्म करोति य:/स संन्यासी च योगी च*—जो कृष्ण की तुष्टि के लिए भक्तिपूर्वक कर्म करता है, वही संन्यासी है। वस्त्र संन्यास नहीं हैं अपितु कृष्ण के प्रति उसकी मनोवृत्ति ही संन्यास है।

परात्म-निष्ठा शब्द का अर्थ है कृष्ण-भक्त होना। *परात्मा* या परम पुरुष तो कृष्ण हैं। *ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्द विग्रह:* जो लोग कृष्ण के चरणकमलों की सेवा में पूर्णतया समर्पित होते हैं, वे ही वास्तव में संन्यासी हैं। भक्त औपचारिकता के लिए अपने पूर्व आचार्यों की देखादेखी ही संन्यास-वस्त्र धारण करता है। वह त्रिदण्ड भी ग्रहण करता है। बाद में विष्णु स्वामी ने यह माना है कि त्रिदण्डी का वेश धारण करना *परात्म निष्ठा* है। इसलिए निष्ठावान भक्त एक अन्य दण्ड, जीवदण्ड, को भी त्रिदण्ड के साथ मिला लेते हैं। वैष्णव संन्यासी त्रिदण्डी संन्यासी कहलाता है। मायावादी संन्यासी केवल एक दण्ड धारण करता है; वह त्रिदण्ड का अभिप्राय नहीं समझता। आगे चल कर शिव स्वामी की जाति वाले अनेक पुरुषों ने भगवान् की *आत्म निष्ठा* (भक्ति) छोड़ दी और शंकराचार्य के मार्ग का अनुसरण किया। शिव स्वामी सम्प्रदाय वाले १०८ नाम छोड़ कर शंकराचार्य के मार्ग का अनुसरण करते हैं और संन्यास के दस नाम ग्रहण करते हैं। यद्यपि श्री चैतन्य महाप्रभु ने उस समय प्रचलित संन्यास (एकदण्ड) को स्वीकार किया था, किन्तु तिस पर भी वे अवन्तीपुर के ब्राह्मण द्वारा स्वीकार किये गये त्रिदण्ड संन्यास के विषय में *श्रीमद्भागवत* का एक श्लोक सुनाया करते थे। परोक्ष रूप से उन्होंने यह घोषित किया था कि एकदण्ड के भीतर चार दण्ड उपस्थित हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु को परात्म निष्ठा के बिना एकदण्ड संन्यास स्वीकार न था। साथ ही, विधि-विधानों के अनुसार त्रिदण्ड में जीवदण्ड को भी

सम्मिलित कर लेना चाहिए। एकसाथ बँधे हुए ये चारों दण्ड भगवान् की शुद्ध भक्ति के प्रतीक हैं। चूँकि मायावादी एकदण्डी संन्यासी कृष्ण की भक्ति नहीं करते, अतएव वे ब्रह्मतेज में लीन होने का प्रयास करते हैं, जो भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत के बीच की सीमान्त स्थिति है। वे इस निर्विशेष स्थिति को मोक्ष मानते हैं। मायावादी संन्यासी यह नहीं जानते कि श्री चैतन्य महाप्रभु त्रिदण्डी थे; वे उन्हें एकदण्डी संन्यासी मानते हैं। यह उनके *विवर्त*—मोह—का फल है। *श्रीमद्भागवत* में एकदण्डी संन्यासी जैसी कोई वस्तु नहीं मिलती। हाँ, त्रिदण्डी संन्यासी को संन्यास आश्रम का प्रतीक मान लिया जाता है। इस श्लोक का संदर्भ देते हुए श्री चैतन्य महाप्रभु श्रीमद्भागवत द्वारा संस्तुत संन्यास को मानते थे। मायावादी संन्यासी तो भगवान् की बहिरंगा शक्ति पर विमुग्ध रहते हैं। भला वे श्री चैतन्य महाप्रभु के मन को कैसे समझ सकते हैं।

आज भी श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी उनके चरणचिह्नों पर चल कर संन्यास स्वीकार करते हैं और जनेऊ तथा शिखा धारण करते हैं। मायावादी मत के एकदण्डी संन्यासी जनेऊ पहनना छोड़ देते हैं और शिखा नहीं रखते। इसलिए वे त्रिदण्ड संन्यास का तात्पर्य नहीं समझ सकते; फलस्वरूप वे मुकुन्द की सेवा में अपना जीवन समर्पित करने में रुचि नहीं दिखाते। वे ब्रह्म में लीन होने के बारे में ही सोचते हैं क्योंकि वे इस जगत से ऊबे रहते हैं। वे आचार्य जो *दैव वर्णाश्रम* (भगवद्गीता में उल्लिखित *चातुर्वर्ण्य*) के पक्षचर हैं, वे *असुर वर्णाश्रम* की परिकल्पना नहीं मानते जिसमें वर्ण को जन्म से माना जाता है।

''श्री चैतन्य महाप्रभु के सबसे घनिष्ठ भक्त गदाधर पंडित ने त्रिदण्ड संन्यास स्वीकार किया था और माधव उपाध्याय को अपने त्रिदण्डी संन्यासी के शिष्य-रूप में स्वीकार किया था। कहा जाता है कि इन्हीं मध्वाचार्य से पश्चिमी भारत में वल्लभाचार्य सम्प्रदाय प्रारम्भ हुआ। श्रील गोपाल भट्ट वसु ने, जो गौड़ीय सम्प्रदाय में *स्मृत्याचार्य* कहलाते हैं, बाद में त्रिदण्डिपाद प्रबोधानन्द सरस्वती से त्रिदण्ड संन्यास ग्रहण किया। यद्यपि गौड़ीय वैष्णव वाङ्मय में त्रिदण्ड संन्यास का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है, किन्तु श्रीरूप गोस्वामी कृत *उपदेशामृत* का प्रथम श्लोक इस पक्ष का समर्थन करता है कि मनुष्य को छह वेगों को वश में करते हुए त्रिदण्ड संन्यास स्वीकार करना चाहिए।

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं

जिह्वावेगं उदरोपस्थवेगम्।

एतान् वेगान् यो विषहेत धीरः

सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात्॥

"जो व्यक्ति वाणी, मन, क्रोध, उदर, जीभ तथा जननेन्द्रिय के वेगों को वश में रख सकता है, वह गोस्वामी कहलाता है और पूरे विश्व में शिष्य बना सकता है।" श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुयायियों ने कभी भी मायावादी संन्यास ग्रहण नहीं किया और उन्हें इसके लिए दोष नहीं देना चाहिए। श्री चैतन्य महाप्रभु श्रीधर स्वामी को मानते थे, जो त्रिदण्डी संन्यासी थे किन्तु मायावादी संन्यासी श्रीधर स्वामी को न समझ पाकर कभी कभी सोचते हैं कि श्रीधर स्वामी मायावादी एकदण्ड संन्यास समुदाय के थे। वस्तुतः, बात ऐसी न थी।"

श्रीभगवानुवाच
निर्विद्य नष्टद्रविणे गतक्लमः
प्रव्रज्य गां पर्यटमान इत्थम् ।
निराकृतोऽसद्भिरपि स्वधर्मा-
दकम्पितोऽमूं मुनिराह गाथाम् ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; निर्विद्य—विरक्त होकर; नष्ट-द्रविणे—सम्पत्ति के नष्ट हो जाने पर; गत-क्लमः—खिन्नता से मुक्त; प्रव्रज्य—गृह त्याग कर; गाम्—पृथ्वी पर; पर्यटमानः—पर्यटन करते हुए; इत्थम्—इस प्रकार से; निराकृतः—अपमानित; असद्भिः—धूर्तों द्वारा; अपि—भी; स्व-धर्मात्—अपने नियत कार्यों से; अकम्पितः—विचलित हुए बिना; अमूम्—यह; मुनिः—साधु ने; आह—गाया; गाथाम्—गीत।.

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा : अपनी सम्पत्ति नष्ट होने से इस तरह विरक्त हुए इस साधु ने अपनी खिन्नता त्याग दी। उसने संन्यास ग्रहण करके घर त्याग दिया और पृथ्वी पर विचरण करने लगा। वह मूर्ख धूर्तों द्वारा अपमानित किये जाने पर भी अपने कर्तव्य में अविचल रहा और उसने यह गीत गाया।

तात्पर्य : भौतिकतावादी जीवन से छूट कर जिसमें धनार्जन के लिए घोर तपस्याएँ सम्मिलित हैं, वैष्णव संन्यासी के इस गीत को गाया जा सकता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते हैं कि यदि कोई व्यक्ति इस संन्यासी के गीत को सुन नहीं सकता, तो वह निश्चय ही माया का आज्ञाकारी दास बना रहेगा।

सुखदु:खप्रदो नान्य: पुरुषस्यात्मविभ्रम: ।
मित्रोदासीनरिपव: संसारस्तमस: कृत: ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

सुख-दु:ख-प्रद:—सुख तथा दुख देने वाला; न—नहीं है; अन्य:—कोई दूसरा; पुरुषस्य—आत्मा का; आत्म—मन का; विभ्रम:—मोह; मित्र—मित्र; उदासीन—अन्यमनस्क लोग; रिपव:—तथा शत्रु; संसार:—भौतिक जीवन; तमस:—अज्ञानवश; कृत:—उत्पन्न।

मनुष्य का अपना ही मानसिक भ्रम आत्मा को सुख तथा दुख का अनुभव कराता है, अन्य कोई नहीं। मित्रों, निरपेक्ष लोगों तथा शत्रुओं के विषय में उसकी धारणा तथा इस धारणा के चारों ओर जिस भौतिक जीवन का वह निर्माण करता है, सभी मात्र अज्ञान के कारण उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : हर व्यक्ति अपने मित्रों को प्रसन्न करना, शत्रुओं को परास्त करना तथा तटस्थ लोगों से यथास्थिति बनाये रखना चाहता है। ये सारे सम्बन्ध भौतिक शरीर पर अवलम्बित होते हैं और शरीर की अनिवार्य मृत्यु के बाद उनका अस्तित्व नहीं रह पाता। ये अविद्या या मोह कहलाते हैं।

तस्मात्सर्वात्मना तात निगृहाण मनो धिया ।
मय्यावेशितया युक्त एतावान्योगसङ्ग्रह: ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; सर्व-आत्मना—सभी तरह से; तात—हे उद्धव; निगृहाण—वश में करो; मन:—मन; धिया—बुद्धि से; मयि—मुझमें; आवेशितया—लीन हुआ; युक्त:—संयुक्त; एतावान्—इस प्रकार; योग-सङ्ग्रह:—आध्यात्मिक अभ्यास का सार।

हे उद्धव, तुम्हें चाहिए कि अपनी बुद्धि मुझ पर स्थिर करके अपने मन को पूरी तरह से वश में लाओ। योग के विज्ञान का सार यही है।

य एतां भिक्षुणा गीतां ब्रह्मनिष्ठां समाहित: ।
धारयञ्छ्रावयञ्छृण्वन्द्वन्द्वैर्नैवाभिभूयते ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

य:—जो कोई भी; एताम्—इस; भिक्षुणा—संन्यासी द्वारा; गीताम्—गाया हुआ; ब्रह्म—ब्रह्म-ज्ञान; निष्ठाम्—पर आधारित; समाहित:—पूरे ध्यान से; धारयन्—ध्यान करते हुए; श्रावयन्—अन्यों को सुनाते हुए; शृण्वन्—स्वयं सुनते हुए; द्वन्द्वै:—द्वैतों से; न—कभी नहीं; एव—निस्सन्देह; अभिभूयते—अभिभूत हो जायेगा।

जो कोई भी संन्यासी के इस गीत को सुनता या अन्यों को सुनाता है, जिसमें ब्रह्म विषयक वैज्ञानिक ज्ञान प्रस्तुत हुआ है तथा इस तरह जो कोई पूरे मनोयोग से इसका ध्यान करता है, वह

फिर कभी भौतिक सुख-दुख के द्वैत से अभिभूत नहीं होगा।

तात्पर्य : उस वैष्णव संन्यासी ने भगवद्भक्ति की शरण ग्रहण की थी, इसलिए वह अपने आराध्य भगवान् की माया पर विजय पा सका। उसने स्वयं इस गीत का ध्यान किया और इसे सुना और अन्यों को भी इसकी शिक्षा दी। भगवत्कृपा प्राप्त करके उसने अन्य बद्धजीवों को दिव्य बुद्धि का प्रकाशदिया जिससे वे भगवद्भक्तों के पदचिह्नों का अनुसरण कर सकें। धर्म का वास्तविक अर्थ है भगवान् का शुद्ध भक्त बनना। जो लोग भौतिक जगत का भोग करना चाहते हैं या निजी असुविधाओं से बचने के लिए इसका त्याग करना चाहते हैं, वे वस्तुत: भगवत्प्रेम को समझ नहीं सकते जिसका एकमात्र लक्ष्य भगवान् की तुष्टि है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''अवन्ती ब्राह्मण का गीत'' नामक तेईसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौबीस

सांख्य दर्शन

इस अध्याय में कृष्ण यह उपदेश देते हैं कि किस तरह सांख्य विज्ञान से मन का मोह भगाया जा सकता है। यहाँ पर भगवान् पुन: उद्धव को प्रकृति विश्लेषण के विषय में उपदेश देते हैं। इस ज्ञान को आत्मसात् करके आत्मा मिथ्या द्वैतों पर आधारित अपने भ्रम को दूर कर सकता है।

सृष्टि के प्रारम्भ में द्रष्टा तथा दृश्य एक तथा अभिन्न होते हैं। तब यह परब्रह्म, जो अद्वितीय है तथा शब्द और मन से जिस तक पहुँचा नहीं जा सकता, दो में विभक्त हो जाता है—द्रष्टा या दर्शक अर्थात् चेतना या पुरुष तथा दृश्य अर्थात् वस्तु या प्रकृति। प्रकृति, जो तीन गुणों से युक्त है, नियामक पुरुष द्वारा परिक्षुब्ध की जाती है। तब *महत् तत्त्व* चेतना तथा कर्म की शक्तियों के साथ साथ प्रकट होता है। इनसे मिथ्या अहंकार का तीन रूपों में—सतो, रजो तथा तमोगुणी रूपों में—जन्म होता है। तमोगुणी मिथ्या अहंकार से इन्द्रिय अनुभूति के पंद्रह सूक्ष्म रूप तथा उसके बाद पन्द्रह भौतिक तत्त्व उत्पन्न होते हैं। रजोगुणी मिथ्या अहंकार से दस इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं और सतोगुणी मिथ्या अहंकार से मन तथा इन्द्रियों के अधिष्ठाता ग्यारह देवता उत्पन्न होते हैं। इन सारे तत्त्वों के मेल से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती

है, जिसके भीतर भगवान् अन्तर्यामी परमात्मा के रूप में अपना निवास बनाते हैं। इस परम स्रष्टा की नाभि से एक कमल निकलता है, जिस पर ब्रह्मा जन्म लेते हैं। रजोगुण से युक्त ब्रह्मा भगवत् कृपा से तपस्या करते हैं और इस तपस्या के बल पर वे ब्रह्माण्ड के सारे लोकों की सृष्टि करते हैं। स्वर्गलोक देवताओं के निमित्त है, बीच का आकाश भूतप्रेतों के लिए तथा पृथ्वी मनुष्यों एवं अन्य प्राणियों के लिए है। इन तीन लोकों के ऊपर महर्षियों के स्थान हैं और निम्न लोक असुरों, नागों आदि के लिए हैं। तीन गुणों पर आधारित कार्यों के द्वारा प्राप्त होने वाले लक्ष्य तीन मर्त्य लोकों तक ही सीमित होते हैं। योग, कठिन तपस्या तथा संन्यास जीवन के लोक महर्, जनस्, तपस् तथा सत्य लोक कहलाते हैं। किन्तु भगवद्भक्ति का लक्ष्य भगवान् के ही धाम वैकुण्ठ में उनके चरणकमल हैं। भौतिक कार्य-कारण का यह ब्रह्माण्ड काल तथा तीनों गुणों के नियंत्रण में बना है। साथ ही, इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है, वह प्रकृति तथा उसके स्वामी के संयोग का फल है। जिस प्रकार एक सूक्ष्म से धीरे धीरे अत्यन्त स्थूल सृष्टि बनती है, उसी तरह संहार की विधि प्रकृति की स्थूलतम से सूक्ष्मतम अभिव्यक्ति के रूप में अग्रसर होती है, जिससे अन्त में केवल शाश्वत आध्यात्मिक वस्तु बचती है। यह परम आत्मा अपने ही भीतर, एकाकी रूप में तथा बिना किसी अन्त के स्थित रहता है। जो व्यक्ति इन विचारों पर ध्यान धरता है, उसका मन भौतिक द्वन्द्वों से मोहित नहीं होता। यह सांख्य विज्ञान, जिसका वर्णन सृजन तथा संहार के एकान्तर अनुक्रम में किया गया है, सारे संशयों तथा बन्धन को छिन्न करने वाला है।

श्रीभगवानुवाच
अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि साङ्ख्यं पूर्वैर्विनिश्चितम् ।
यद्विज्ञाय पुमान्सद्यो जह्याद्वैकल्पिकं भ्रमम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अथ—अब; ते—तुमसे; सम्प्रवक्ष्यामि—कहूँगा; साङ्ख्यम्—सृष्टि के तत्त्वों के विकास का ज्ञान; पूर्वैः—पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा; विनिश्चितम्—सुनिश्चित किया गया; यत्—जिसे; विज्णाय—जान कर; पुमान्—मनुष्य; सद्यः—तुरन्त; जह्यात्—त्याग सकता है; वैकल्पिकम्—मिथ्या द्वैत पर आधारित; भ्रमम्—भ्रम, मोह को।.

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा : अब मैं तुमसे सांख्य विज्ञान का वर्णन करूँगा जिसे प्राचीन विद्वानों ने पूर्णतया स्थापित किया है। इस विज्ञान को समझ लेने से मनुष्य तुरन्त भौतिक द्वैत के भ्रम को त्याग सकता है।

तात्पर्य : पिछले अध्याय में भगवान् बता चुके हैं कि मनुष्य मन को वश में करके तथा इसे

कृष्णभावनामृत में स्थिर करके भौतिक द्वैत को त्याग सकता है। इस अध्याय में सांख्य प्रणाली का वर्णन हुआ है, जिसमें पदार्थ तथा आत्मा के अन्तर को विस्तार से बतलाया गया है। इस ज्ञान को सुन कर मनुष्य अपने मन को आसानी से भौतिक कल्मष से हटाकर कृष्णभावनामृत के आध्यात्मिक पद पर स्थिर कर सकता है। यहाँ पर सांख्य दर्शन की जिस प्रणाली का उल्लेख हुआ है, वह *श्रीमद्‌भागवत* के तृतीय स्कन्ध में भगवान् कपिल द्वारा प्रस्तुत की गई है, बाद के भौतिकतावादी तथा मायावादियों द्वारा प्रस्तुत किये गये नास्तिक सांख्य द्वारा नहीं। भगवान् की शक्ति से उद्‌भूत होने वाले भौतिक तत्त्व प्रगतिशील अनुक्रम में विकसित होते हैं। किसी को मूर्खतावश यह नहीं सोचना चाहिए कि भगवान् की सहायता के बिना ही आदि भौतिक तत्त्व से ऐसा विकास प्रारम्भ होता है। यह कल्पनामूलक सिद्धान्त बद्ध जीवन के मिथ्या अहंकार से उत्पन्न होता है और स्थूल अज्ञान को जन्म देता है, जो भगवान् तथा उनके अनुयायियों को मान्य नहीं है।

आसीज्ज्ञानमथो अर्थ एकमेवाविकल्पितम् ।
यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगेऽयुगे ॥ २॥

शब्दार्थ

आसीत्—था; ज्ञानम्—द्रष्टा; अथ उ—इस प्रकार; अर्थः—दृश्य; एकम्—एक; एव—केवल; अविकल्पितम्—अपृथक्; यदा—जब; विवेक—विवेक में; निपुणाः—दक्ष पुरुष; आदौ—प्रारम्भ में; कृत-युगे—सात्विक युग में; अयुगे—तथा इसके पूर्व संहार के समय।

प्रारम्भ में कृत युग के दौरान सारे लोग आध्यात्मिक विवेक में अत्यन्त निपुण होते थे और इससे भी पूर्व, संहार के समय एकमात्र द्रष्टा का अस्तित्व था, जो दृश्य पदार्थ से अभिन्न था।

तात्पर्य : कृत युग पहला युग है और सत्य युग भी कहलाता है, जिसमें ज्ञान पूर्ण होने के कारण अपने लक्ष्य से भिन्न नहीं है। आधुनिक समाज में ज्ञान नितान्त काल्पनिक तथा निरन्तर परिवर्तनशील है। प्राय: लोगों के सैद्धान्तिक विचारों तथा वास्तविकता में काफी अन्तर रहता है। किन्तु सत्य युग में लोग *विवेक निपुणा:* होते हैं; फलत: उनकी दृष्टि तथा वास्तविकता में कोई अन्तर नहीं होता। सत्य युग में आम जनता स्वरूपसिद्ध होती है। हर वस्तु को भगवान् की शक्ति के रूप में देखने के कारण वे अपने तथा अन्य जीवों के बीच कृत्रिम रूप से द्वैत उत्पन्न नहीं करते। सत्य युग की एकरूपता का यह अन्य पक्ष है। संहार के समय हर वस्तु भगवान् में लीन होकर शान्त हो जाती है और उस समय भी एकमात्र द्रष्टा भगवान् तथा भगवान् के भीतर स्थित ज्ञान की वस्तुओं में कोई अन्तर नहीं रहता। नित्य

आध्यात्मिक जगत में मुक्त हुए जीव कभी भी इस तरह लीन नहीं होते अपितु अपने अपने आध्यात्मिक स्वरूपों में सदा सदा बने रहते हैं। चूँकि वे स्वेच्छा से प्रेमवश भगवान् से एकाकार हैं, अतएव उनका धाम कभी भी विनष्ट नहीं होता।

तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम् ।
वाङ्मनोऽगोचरं सत्यं द्विधा समभवद्बृहत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस (परम); माया—प्रकृति का; फल—तथा इसकी अभिव्यक्तियों का भोक्ता; रूपेण—दो रूपों में; केवलम्—एक; निर्विकल्पितम्—अभिन्न; वाक्—वाणी; मनः—तथा मन तक; अगोचरम्—दुर्गम; सत्यम्—सच; द्विधा—दो; समभवत्—हो गया; बृहत्—परब्रह्म।

द्वैत से मुक्त रहते हुए तथा सामान्य वाणी एवं मन के लिए दुर्गम होने के कारण, उस एक परब्रह्म ने अपने को दो कोटियों में विभक्त कर लिया। ये हैं—भौतिक प्रकृति तथा जीव जो उस प्रकृति के स्वरूपों को भोगने का प्रयास करते हैं।

तात्पर्य : भौतिक प्रकृति तथा जीव दोनों ही भगवान् की शक्तियाँ हैं।

तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका ।
ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

तयोः—दोनों से; एकतरः—एक; हि—निस्सन्देह; अर्थः—जीव; प्रकृतिः—प्रकृति; सा—वह; उभय-आत्मिका—सूक्ष्म कारणों तथा उनके प्रकट उत्पादों से युक्त; ज्ञानम्—चेतना (से युक्त हैं, जो); तु—तथा; अन्यतमः—दूसरा वाला; भावः—जीव; पुरुषः—जीवात्मा; सः—वह; अभिधीयते—कहलाता है।

इन दो प्रकार के स्वरूपों में से एक तो भौतिक प्रकृति है, जिसमें दोनों सूक्ष्म कारण विद्यमान हैं और जो पदार्थ को व्यक्त करती है। दूसरा है जीव की चेतना जिसे भोक्ता कहते हैं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार यहाँ पर *प्रकृति* सूक्ष्म *प्रधान* का द्योतक है, जो बाद में *महत्-तत्त्व* के रूप में प्रकट होता है।

तमो रजः सत्त्वमिति प्रकृतेरभवन्गुणाः ।
मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तमः—तमो; रजः—रजो; सत्त्वम्—सतो; इति—इस प्रकार; प्रकृतेः—प्रकृति से; अभवन्—प्रकट हुए; गुणाः—गुण; मया—मेरे द्वारा; प्रक्षोभ्यमाणायाः—विक्षुब्ध किया गया; पुरुष—जीव की; अनुमतेन—इच्छापूर्ति के लिए; च—तथा।

जब भौतिक प्रकृति मेरी चितवन से विक्षुब्ध की गई, तो बद्धजीवों की शेष इच्छाओं की पूर्ति के लिए तीन गुण—सतो, रजो तथा तमोगुण—प्रकट हुए।

तात्पर्य : भगवान् भौतिक प्रकृति पर यह स्मरण दिलाने के लिए दृष्टिपात करते हैं कि बद्धजीवों ने अपना सकाम कर्म तथा मनोज्ञान का बन्धन खोलने का प्रयास नहीं किया, इसलिए पुन: सृष्टि करने की आवश्यकता है। भगवान् चाहते हैं कि बद्धजीव भगवान् से विहीन जीवन की व्यर्थता समझ कर, भगवत् प्रेम में कृष्णभावनाभावित होने का अवसर प्राप्त करें। भगवान् द्वारा दृष्टिपात करने के बाद प्रकृति के गुणों का उदय होता है और ये गुण एक-दूसरे पर विजय पाने की होड में शत्रुवत् बन जाते हैं। जन्म, पालन तथा संहार के बीच निरन्तर होड लगी रहती है। यद्यपि शिशु जन्म लेना चाहता है, किन्तु क्रूर माता गर्भपात द्वारा उसका वध कर देना चाहती है। यद्यपि हम खेतों के खरपतवार को नष्ट कर देना चाहें, किन्तु वे बारम्बार उग आते हैं। इसी तरह हम अपनी शारीरिक स्थिति यथावत् बनाये रखना चाहते हैं, फिर भी वह बिगड़ जाती है। इस तरह प्रकृति के गुणों के बीच निरन्तर होड लगी रहती है और जीव कृष्णभावनामृत के बिना ही इन गुणों के जोड़-तोड़ से असंख्य प्रकार से सुख भोगना चाहता है। *पुरुषानुमतेन* शब्द सूचित करता है कि भगवान् ऐसी भौतिक व्यर्थता के लिए मंच तैयार कर देते हैं ताकि बद्धजीवों को अन्त में भगवद्धाम वापस जाना पड़े।

तेभ्य: समभवत्सूत्रं महान्सूत्रेण संयुतः ।
ततो विकुर्वतो जातो योऽहङ्कारो विमोहनः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तेभ्यः—उन गुणों से; समभवत्—उत्पन्न हुआ; सूत्रम्—पहला प्रकृति का रूपान्तर जिसमें कर्म की शक्ति थी; महान्—ज्ञान-शक्ति से युक्त आदि प्रकृति; सूत्रेण—इस सूत्र तत्त्व से; संयुतः—एकसाथ जुड़ा; ततः—महत् से; विकुर्वतः—रूपान्तरित करते हुए; जातः—उत्पन्न किया गया; यः—जो; अहङ्कारः—मिथ्या अहंकार; विमोहनः—मोह का कारण।

इन गुणों से महत् तत्त्व के साथ साथ आदि सूत्र उत्पन्न हुआ। महत तत्त्व के रूपान्तर से मिथ्या अहंकार उत्पन्न हुआ जो जीवों के मोह का कारण है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार, *सूत्र* प्रकृति का पहला रूपान्तर है, जो कर्म-शक्ति को प्रकट करता है और इसके साथ महत तत्त्व रहता है, जो ज्ञान-शक्ति से युक्त होता है। भौतिक जगत में मनुष्य का असली ज्ञान कर्म तथा मनोज्ञान से आवृत रहता है। ज्योंही ईश्वर के प्रति भक्ति में शिथिलता आती है ये दोनों प्रवृत्तियाँ स्वत: उत्पन्न होती है, जिस तरह प्रकाश के क्षीण होने से अँधेरा अपने आप

बढ़ जाता है।

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिवृत् ।
तन्मात्रेन्द्रियमनसां कारणं चिदचिन्मयः ॥ ७॥

शब्दार्थ

वैकारिकः—सतोगुण में; तैजसः—रजोगुण में; च—तथा; तामसः—तमोगुण में; च—भी; इति—इस प्रकार; अहम्—मिथ्या अहंकार; त्रि-वृत्—तीन श्रेणियों में; तत्-मात्र—इन्द्रिय-विषयों के सूक्ष्म रूपों के; इन्द्रिय—इन्द्रियों के; मनसाम्—तथा मन के; कारणम्—कारण; चित्-अचित्—आत्मा तथा पदार्थ दोनों; मयः—से युक्त।

मिथ्या अहंकार जो भौतिक अनुभूति (तन्मात्रा), इन्द्रियों तथा मन का कारण है आत्मा तथा पदार्थ दोनों को घेर लेता है और सतो, रजो तथा तमो—इन तीन गुणों को प्रकट होता है।

तात्पर्य : इस सन्दर्भ में *चिद्-अचिन्-मय* शब्द महत्त्वपूर्ण है। मिथ्या अहंकार नित्य चेतन आत्मा तथा अनित्य अचेतन शरीर का भ्रामक संमेल है। चूँकि आत्मा ईश्वर की सृष्टि का अवैध दोहन करना चाहता है, अतः वह प्रकृति के तीन गुणों से मोहग्रस्त हो जाता है और भौतिक जगत में मोहमय पहचान बनाता है। भोग के प्रयास में वह मोह की जटिलताओं में उलझता जाता है और अपनी चिन्ता को ही बढ़ाता है। इस निराशाजनक स्थिति से पार पाने के लिए शुद्ध कृष्णभावनामृत अंगीकार करना चाहिए जिसमें भगवान् की प्रसन्नता ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य बन जाती है।

अर्थस्तन्मात्रिकाज्जज्ञे तामसादिन्द्रियाणि च ।
तैजसाद्देवता आसन्नेकादश च वैकृतात् ॥ ८॥

शब्दार्थ

अर्थः—स्थूल तत्त्व; तत्-मात्रिकात्—तन्मात्राओं अर्थात् सूक्ष्म अनुभूतियों से; जज्ञे—उत्पन्न हो गया; तामसात्—तमोगुणी अहंकार से; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; च—तथा; तैजसात्—रजोगुणी अहंकार से; देवताः—देवतागण; आसन्—उत्पन्न हुए; एकादश—ग्यारह; च—तथा; वैकृतात्—सतोगुणी अहंकार से।

तमोगुणी अहंकार से सूक्ष्म शारीरिक अनुभूतियाँ (तन्मात्राएँ) उत्पन्न हुईं जिनसे सूक्ष्म तत्त्व उत्पन्न हुए। रजोगुणी अहंकार से इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं तथा सतोगुणी अहंकार से ग्यारह देवता उत्पन्न हुए।

तात्पर्य : तमोगुणी अहंकार से ध्वनि, उसे ग्रहण करने वाली श्रवेणेन्द्रिय तथा ध्वनि का माध्यम आकाश उत्पन्न होते हैं। इसके बाद स्पर्श, वायु तथा स्पर्शेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है और इस तरह सूक्ष्म से लेकर स्थूल तक सारे तत्त्वों तथा उनकी अनुभूतियों का जन्म होता है। चूँकि इन्द्रियाँ अपने कर्म में

लगी रहती हैं, अतएव ये रजोगुणी अहंकार से उत्पन्न होती हैं। सतोगुणी अहंकार से ग्यारह देवता उत्पन्न होते हैं—दिशाओं के देवता, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनी कुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मित्र, ब्रह्मा तथा चन्द्र।

मया सञ्चोदिता भावाः सर्वे संहत्यकारिणः ।
अण्डमुत्पादयामासुर्ममायतनमुत्तमम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; सञ्चोदिताः—प्रेरित; भावाः—तत्त्व; सर्वे—सभी; संहत्य—संमेल से; कारिणः—कर्म करते हुए; अण्डम्—ब्रह्माण्ड; उत्पादयाम् आसुः—उत्पन्न किया; मम—मेरा; आयतनम्—आवास; उत्तमम्—उत्तम।

मेरे द्वारा प्रेरित ये सारे तत्त्व सुसम्बद्ध रूप में काम करने के लिए परस्पर जुड़ गये तथा उन्होंने ब्रह्माण्ड को जन्म दिया जो मेरा सर्वोत्तम आवास है।

तस्मिन्नहं समभवमण्डे सलिलसंस्थितौ ।
मम नाभ्यामभूत्पद्मं विश्वाख्यं तत्र चात्मभूः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उसमें; अहम्—मैं; समभवम्—प्रकट हुआ; अण्डे—ब्रह्माण्ड में; सलिल—कारणार्णव के जल में; संस्थितौ—स्थित; मम—मेरी; नाभ्याम्—नाभि से; अभूत्—उत्पन्न हुआ; पद्मम्—कमल; विश्व-आख्यम्—विश्व नामक; तत्र—वहाँ; च—तथा; आत्म-भूः—स्वयंभू ब्रह्मा।

मैं उस अंडे के भीतर प्रकट हुआ जो कारणार्णव जल में तैर रहा था और मेरी नाभि से विश्व-कमल निकला जो स्वयंभू ब्रह्मा का जन्मस्थान है।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् श्री नारायण की दिव्य लीला के रूप में अपने प्राकट्य का वर्णन कर रहे हैं। भगवान् नारायण ब्रह्माण्ड के भीतर प्रवेश तो करते हैं किन्तु अपने आनन्द तथा ज्ञान के दिव्य शरीर को त्यागते नहीं। किन्तु भगवान् के नाभि-कमल से उत्पन्न ब्रह्मा का भौतिक शरीर होता है। यद्यपि ब्रह्मा सर्वाधिक शक्तिशाली योगी हैं, किन्तु उनका भौतिक संसार में सर्वव्यापी शरीर भौतिक है, जबकि भगवान् हरि अर्थात् नारायण का शरीर सदैव दिव्य होता है।

सोऽसृजत्तपसा युक्तो रजसा मदनुग्रहात् ।
लोकान्सपालान्विश्वात्मा भूर्भुवः स्वरिति त्रिधा ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने, ब्रह्मा ने; असृजत्—उत्पन्न किया; तपसा—अपनी तपस्या से; युक्तः—युक्त; रजसा—रजोगुणी शक्ति से; मत्—मेरी; अनुग्रहात्—कृपा से; लोकान्—विभिन्न लोकों को; स-पालान्—अधिष्ठाता देवताओं सहित; विश्व—विश्व का; आत्मा—आत्मा; भूः भुवः स्वः इति—भूर, भुवर तथा स्वर नामक; त्रिधा—तीन विभाग।

रजोगुण से युक्त ब्रह्माण्ड की आत्मा ब्रह्माजी ने मेरी दया से महान् तपस्या की और इस तरह भूर, भुवर तथा स्वर नामक तीन लोकों तथा उनके अधिष्ठाता देवताओं की रचना की।

देवानामोक आसीत्स्वर्भूतानां च भुवः पदम् ।
मर्त्यादीनां च भूर्लोकः सिद्धानां त्रितयात्परम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

देवानाम्—देवताओं का; ओकः—घर; आसीत्—बना; स्वः—स्वर्ग; भूतानाम्—भूतप्रेतों का; च—तथा; भुवः—भुवर; पदम्—स्थान; मर्त्य-आदीनाम्—सामान्य मर्त्य लोगों तथा अन्य प्राणियों का; च—तथा; भूः लोकः—भूर नामक लोक; सिद्धानाम्—मुक्ति चाहने वालों का (स्थान); त्रितयात्—ये तीनों विभाग; परम्—परे।

स्वर्ग की स्थापना देवताओं के निवास रूप में, भुवर्लोक की भूतप्रेतों के निवास रूप में तथा पृथ्वी-लोक की स्थापना मनुष्यों तथा अन्य मर्त्य प्राणियों के स्थान के रूप में की गई। वे योगी जो मोक्ष के लिए उद्योगशील रहते हैं, इन तीनों विभागों से परे भेज दिये जाते हैं।

तात्पर्य : इन्द्र-लोक तथा चन्द्र-लोक जैसे लोक अत्यन्त पवित्र सकाम कर्मियों के स्वर्गिक भोग के लिए हैं। किन्तु सत्य-लोक, महर-लोक, जनो-लोक तथा तपो-लोक उन लोगों के लिए हैं, जो मोक्ष के लिए पूर्णतया उद्योगशील रहते हैं। चैतन्य महाप्रभु अचिन्त्य रूप से दयालु हैं कि वे कलियुग के अधम से अधम पापियों को इन चारों लोकों से ऊपर, यहाँ तक कि वैकुण्ठ से भी परे, गोलोक वृन्दावन नामक परव्योम-स्थित भगवान् कृष्ण के परम लोक को भेज देते हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि स्वर्ग देवताओं का निवासस्थान है, पृथ्वी-लोक मनुष्यों का निवासस्थान है तथा इन दोनों के बीच दोनों ही श्रेणी के जीवों का अस्थायी निवास स्थान है।

अधोऽसुराणां नागानां भूमेरोकोऽसृजत्प्रभुः ।
त्रिलोक्यां गतयः सर्वाः कर्मणां त्रिगुणात्मनाम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अधः—नीचे; असुराणाम्—असुरों का; नागानाम्—स्वर्गिक सर्पों का; भूमेः—पृथ्वी से; ओकः—निवासस्थान; असृजत्—रचा; प्रभुः—ब्रह्मा ने; त्रि-लोक्याम्—तीनों लोकों का; गतयः—गन्तव्य; सर्वाः—सारे; कर्मणाम्—सकाम कर्मों का; त्रि-गुण-आत्मनाम्—तीनों गुणों में सम्मिलित।

ब्रह्मा ने पृथ्वी के अधोभाग को असुरों तथा नागों के लिए बनाया। इस तरह प्रकृति के तीनों गुणों के अन्तर्गत सम्पन्न होने वाले विभिन्न प्रकार के कर्मों के लिए संगत फलों के रूप में तीनों

लोकों के गन्तव्य व्यवस्थित किये गये।

योगस्य तपसश्चैव न्यासस्य गतयोऽमलाः ।
महर्जनस्तपः सत्यं भक्तियोगस्य मद्गतिः ॥ १४॥

शब्दार्थ

योगस्य—योग का; तपसः—महान् तपस्या का; च—तथा; एव—निश्चय ही; न्यासस्य—संन्यास आश्रम का; गतयः—गन्तव्य; अमलाः—स्वच्छ; महः—महर्; जनः—जनस्; तपः—तपस; सत्यम्—सत्य; भक्ति-योगस्य—भक्ति का; मत्—मेरा; गतिः—गन्तव्य।

योग, महान् तप तथा संन्यास जीवन से महर्लोक, जनोलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक के शुद्ध गन्तव्य प्राप्त किये जाते हैं। किन्तु भक्तियोग से मेरा दिव्य धाम प्राप्त होता है।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि इस श्लोक में आया शब्द *तपस:* ब्रह्मचारियों तथा वानप्रस्थों द्वारा सम्पन्न तपस्याओं का द्योतक है। वह ब्रह्मचारी जो अपने जीवन की किसी विशेष अवस्था में ब्रह्मचर्य का अभ्यास करता है, महर-लोक प्राप्त करता है और जो व्यक्ति आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वह जनो-लोक प्राप्त करता है। वानप्रस्थ आश्रम का ठीक से पालन करने पर मनुष्य तपो-लोक प्राप्त कर सकता है और संन्यासी सत्य-लोक को जाता है। ये विभिन्न गन्तव्य योग-पद्धति में उसकी गम्भीरता पर निर्भर करते हैं। *भागवत* के तृतीय स्कन्ध में ब्रह्माजी देवताओं से बतलाते हैं, ''वैकुण्ठ के निवासी नीलमणि, पन्ना तथा स्वर्ण से निर्मित अपने अपने विमानों में यात्रा करते हैं। यद्यपि वे बड़े बड़े नितम्बों तथा सुन्दर हास्ययुक्त मुखमण्डलों वाली अपनी प्रेयसिओं से घिरे रहते हैं, वे उनके रजोगुणी हर्ष तथा सुन्दर लावण्य से द्रवित नहीं हो सकते।'' (भागवत ३.१५.२०) इस तरह वैकुण्ठ-लोक में वहाँ के निवासियों को निजी तुष्टि की कोई इच्छा नहीं रहती क्योंकि वे भगवत्प्रेम से पूरी तरह तुष्ट रहते हैं। चूँकि वे केवल भगवान् के आनन्द के बारे में ही सोचते हैं, अतएव वहाँ धोखा, चिन्ता, काम, निराशा इत्यादि की कोई सम्भावना नहीं रहती। *भगवद्गीता* (१८.६२) में कहा गया है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।

तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

''हे भारत! सब प्रकार से उसी की शरण में जाओ। उसकी कृपा से तुम परम शान्ति को, परम तथा नित्य धाम को प्राप्त करोगे।''

मया कालात्मना धात्रा कर्मयुक्तमिदं जगत् ।
गुणप्रवाह एतस्मिन्नुन्मज्जति निमज्जति ॥ १५॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; काल-आत्मना—काल-शक्ति से युक्त; धात्रा—स्रष्टा; कर्म-युक्तम्—सकाम कर्म से पूर्ण; इदम्—यह; जगत्—संसार; गुण-प्रवाहे—गुणों की प्रबल धार में; एतस्मिन्—इस; उन्मज्जति—ऊपर उठता है; निमज्जति—डूबता है।.

काल-शक्ति के रूप में कर्म करते हुए मुझ परम स्रष्टा द्वारा इस जगत में सकाम कर्म के सारे फलों को व्यवस्थित किया गया है। इस तरह प्राणी प्रकृति के गुणों के प्रबल प्रवाह की सतह पर कभी ऊपर उठता है, तो कभी फिर से डूब जाता है।

तात्पर्य : *उन्मज्जति* उच्चतर लोकों को जाने का सूचक है, जैसाकि पिछले श्लोकों में उल्लेख हुआ है और *निमज्जति* सूचक है अपवित्र कार्यों द्वारा कष्टप्रद जीवन में डूबने का। दोनों ही स्थितियों में मनुष्य संसाररूपी प्रबल नदी में डूबता रहता है, जो उसे अपने निजी घर भगवद्धाम से दूर ले जाती है।

अणुर्बृहत्कृशः स्थूलो यो यो भावः प्रसिध्यति ।
सर्वोऽप्युभयसंयुक्तः प्रकृत्या पुरुषेण च ॥ १६॥

शब्दार्थ

अणुः—लघु; बृहत्—विशाल; कृशः—दुबला; स्थूलः—मोटा; यः यः—जो जो; भावः—अभिव्यक्ति; प्रसिध्यति—स्थापित की जाती है; सर्वः—सभी; अपि—निस्सन्देह; उभय—दोनों से; संयुक्तः—जुड़ा हुआ; प्रकृत्या—प्रकृति द्वारा; पुरुषेण—भोक्ता आत्मा द्वारा; च—तथा।.

इस जगत में जो भी स्वरूप विद्यमान दिखते हैं—चाहे वे छोटे हों या बड़े, दुबले हों या मोटे—उनमें भौतिक प्रकृति तथा इसका भोक्ता आत्मा दोनों रहते हैं।

यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य सन् ।
विकारो व्यवहारार्थो यथा तैजसपार्थिवाः ॥ १७॥

शब्दार्थ

यः—जो (कारण); तु—तथा; यस्य—जिस (फल) का; आदिः—प्रारम्भ; अन्तः—अन्त; च—तथा; सः—वह; वै—निस्सन्देह; मध्यम्—बीच का; च—तथा; तस्य—उस वस्तु का; सन्—होने से (असली); विकारः—रूपान्तर; व्यवहार-अर्थः—सामान्य प्रयोजनों के लिए; यथा—जिस तरह; तैजस—स्वर्ण से बनी वस्तुएँ (जो स्वयं अग्नि से प्राप्त है); पार्थिवः—पृथ्वी से उत्पन्न वस्तुएँ।.

स्वर्ण तथा मिट्टी मूलतः अवयव रूप में विद्यमान हैं। स्वर्ण से सोने के गहने यथा कंगन तथा बालियाँ और मिट्टी से बर्तन तथा तश्तरियाँ बनाई जा सकती हैं। स्वर्ण तथा मिट्टी जो कि मूल अवयव हैं, वे उनसे बनने वाले पदार्थों से पहले से विद्यमान रहते हैं और जब अन्त में इन पदार्थों

को नष्ट किया जाता है, तो वे मूल अवयव—स्वर्ण तथा मिट्टी—बने रहते हैं। इस तरह प्रारम्भ तथा अन्त में अवयव वर्तमान तो रहते ही हैं, वे बीच में भी कंगन, बाली, पात्र अथवा तश्तरी के रूप में उपस्थित रहते हैं, जिन्हें हम ये नाम सुविधा के लिए देते हैं। इसलिए हम यह समझ सकते हैं कि चूँकि अवयवरूपी कारण पदार्थ की सृष्टि के पूर्व तथा पदार्थ के विनाश के बाद विद्यमान रहता है, वही अवयवरूपी कारण व्यक्त अवस्था में भी उपस्थित रहेगा और इस पदार्थ को उसके असली रूप में पुष्ट करेगा।

तात्पर्य : भगवान् यहाँ पर यह बतलाते हैं कि आदि कारण कार्य में उपस्थित रहता है। इसके लिए वे स्वर्ण तथा मिट्टी का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं, जो सोने तथा मिट्टी की बनी हुई कई विविध वस्तुओं में कारणरूपी अवयवों का कार्य करते हैं। हम अपनी सुविधा के लिए इन क्षणभंगुर वस्तुओं के विविध नाम रख लेते हैं यद्यपि उनका मूल स्वभाव उसी अवयव का ही बना रहता है, क्षणिक वस्तु का नहीं होता।

यदुपादाय पूर्वस्तु भावो विकुरुतेऽपरम् ।
आदिरन्तो यदा यस्य तत्सत्यमभिधीयते ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो (रूप); उपादाय—अवयव कारण को मान कर; पूर्वः—पहले वाला कारण (यथा महत् तत्त्व); तु—तथा; भावः—वस्तु; विकुरुते—विकार के रूप में उत्पन्न करता है; अपरम्—दूसरी वस्तु (यथा अहंकार); आदिः—प्रारम्भ; अन्तः—अन्त; यदा—जब; यस्य—जिसका (कार्य का); तत्—उस (कारण); सत्यम्—असली; अभिधीयते—कहा जाता है।

किसी आवश्यक अवयव से बनी हुई भौतिक वस्तु रूपान्तर द्वारा अन्य भौतिक वस्तु उत्पन्न करती है। इस तरह एक उत्पन्न वस्तु अन्य उत्पन्न वस्तु का कारण एवं आधार बनती है। इस तरह कोई विशेष वस्तु इस हेतु असली कहलाती है क्योंकि यह उस दूसरी वस्तु के मूल स्वभाव से युक्त होती है, जो इसकी आदि तथा अन्तिम अवस्था होती है।

तात्पर्य : इस श्लोक के तात्पर्य को मिट्टी के बने पात्र का उदाहरण लेकर आसानी से समझा जा सकता है। मिट्टी का पात्र मिट्टी के लोंदे से बना होता है और यह मिट्टी पृथ्वी से प्राप्त होती है। इस प्रकार पृथ्वी आदि अवयव है, जिससे मिट्टी का लोंदा बना है और यह मिट्टी का लोंदा ही मिट्टी के पात्र का आदि कारण है। जब यह पात्र नष्ट हो जाता है, तो यह पुनः मिट्टी की उपाधि धारण कर लेता है और अन्त में अपने आदि कारण पृथ्वी में मिल जाता है। मिट्टी के पात्र के सन्दर्भ में मिट्टी आदि तथा

अन्तिम अवस्था है। इस प्रकार पात्र असली कहलाता है क्योंकि इसमें मिट्टी के आवश्यक गुण पाये जाते हैं, जो पात्र के आदि और अन्त तक विद्यमान रहती है। इसी तरह पृथ्वी मिट्टी के पहले और बाद में भी विद्यमान रहती है, अत: मिट्टी को असली माना जा सकता है क्योंकि इसमें पृथ्वी के मुख्य गुण पाये जाते हैं, जो मिट्टी के अस्तित्व के पूर्व तथा पश्चात् भी विद्यमान रहती है। इसी तरह पृथ्वी तथा अन्य तत्त्व *महत्-तत्त्व* से उत्पन्न होते हैं, जो तत्त्वों से पूर्व और पश्चात् विद्यमान रहते हैं। इन्हें असली माना जा सकता है क्योंकि इनमें महत् तत्त्व के मुख्य गुण पाये जाते हैं। महत तत्त्व ही अन्ततोगत्वा समस्त कारणों के कारण भगवान् की सृष्टि का कारण है, जो कि समस्त वस्तुओं के संहार के बाद भी विद्यमान रहते हैं। परब्रह्म साक्षात् भगवान् हैं, जो समस्त वस्तुओं को शनै शनै अर्थ तथा गुण प्रदान करते हैं।

प्रकृतिर्यस्योपादानमाधार: पुरुष: पर: ।
सतोऽभिव्यञ्जक: कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वहम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

प्रकृति:—भौतिक प्रकृति; यस्य—जिसका (ब्रह्माण्ड का उत्पन्न स्वरूप); उपादानम्—अवयव कारण; आधार:—नींव; पुरुष:—भगवान्; पर:—परम; सत:—असली (स्वभाव); अभिव्यञ्जक:—क्षुब्ध करने वाला; काल:—समय; ब्रह्म—परब्रह्म; तत्—यह; त्रितयम्—तीन का समूह; तु—लेकिन; अहम्—मैं।

भौतिक ब्रह्माण्ड को असली माना जा सकता है क्योंकि इसका आदि अवयव तथा इसकी अन्तिम अवस्था प्रकृति है। महाविष्णु प्रकृति के विश्राम स्थल हैं, जो काल की शक्ति से प्रकट होते हैं। इस तरह प्रकृति, सर्वशक्तिमान विष्णु तथा काल मुझ परब्रह्म से भिन्न नहीं हैं।

तात्पर्य : भौतिक प्रकृति भगवान् की शक्ति है, महाविष्णु स्वांश हैं और काल भगवान् की क्रिया को दर्शाता है। इस तरह काल तथा प्रकृति सदैव उस भगवान् के अधीन हैं, जो अपनी शक्तियों तथा स्वांशों द्वारा सारी वस्तुओं का सृजन, पालन और संहार करने वाले हैं। दूसरे शब्दों में, कृष्ण परब्रह्म हैं क्योंकि सारा जगत उन्हीं में समाया है।

सर्ग: प्रवर्तते तावत्पौर्वापर्येण नित्यश: ।
महान्गुणविसर्गार्थ: स्थित्यन्तो यावदीक्षणम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सर्गः—सृष्टि; प्रवर्तते—विद्यमान रहती है; तावत्—तब तक; पौर्व-अपर्येण—माता-पिता तथा सन्तानों के रूप में; नित्यशः—निरन्तर; महान्—दानी; गुण-विसर्ग—गुणों के विविध रूप का; अर्थः—प्रयोजन; स्थिति-अन्तः—इसके अस्तित्व के अन्त तक; यावत्—जब तक; ईक्षणम्—भगवान् का दृष्टिपात।

जब तक भगवान् प्रकृति पर दृष्टिपात करते रहते हैं तब तक भौतिक जगत विद्यमान रहता जाता है और सृजन के महान् तथा विविध प्रवाह को प्रसव द्वारा सतत प्रकट करता रहता है।

तात्पर्य : यद्यपि काल-शक्ति से प्रेरित महत तत्त्व ही इस जगत का अवयव कारण है, किन्तु यहाँ स्पष्ट बतलाया गया है कि भगवान् स्वयं ही इस जगत के एकमात्र परम कारण हैं। भगवान् के दृष्टिपात के बिना काल तथा प्रकृति शक्तिहीन रहते हैं। वे बद्धजीवों के लिए, जो विशेष माता-पिता की सन्तानों एवं विशेष सन्तानों के माता-पिता के रूप में चौरासी लाख जीव योनियों से होते हुए जीवन का भोग करना चाहते हैं, इन्द्रियतृप्ति हेतु असंख्य भौतिक वस्तुएँ उत्पन्न करते हैं।

विराण्मयासाद्यमानो लोककल्पविकल्पकः ।
पञ्चत्वाय विशेषाय कल्पते भुवनैः सह ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

विराट्—विश्वरूप; मया—मेरे द्वारा; आसाद्यमानः—व्याप्त; लोक—लोकों का; कल्प—बारम्बार सृष्टि, पालन तथा संहार का; विकल्पकः—विविधता प्रकट करते हुए; पञ्चत्वाय—पाँच तत्त्वों की सृष्टि का तात्विक प्राकट्य; विशेषाय—किस्मों में; कल्पते—प्रदर्शित करने में सक्षम है; भुवनैः—विभिन्न लोकों के; सह—साथ।

मैं विश्वरूप का आधार हूँ जो लोकों के बारम्बार सृजन, पालन तथा संहार के माध्यम से अनन्त विविधता को प्रदर्शित करता है। मेरे विश्वरूप में सारे लोक अपनी सुप्त अवस्था में रहते हैं और मेरा यह विश्वरूप पाँच तत्त्वों के समन्वयकारी संयोग से नाना प्रकार के जगतों को प्रकट करता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *मया* शब्द भगवान् के कालरूप का द्योतन करता है।

अन्ने प्रलीयते मर्त्यमन्नं धानासु लीयते ।
धाना भूमौ प्रलीयन्ते भूमिर्गन्धे प्रलीयते ॥ २२ ॥
अप्सु प्रलीयते गन्ध आपश्च स्वगुणे रसे ।
लीयते ज्योतिषि रसो ज्योती रूपे प्रलीयते ॥ २३ ॥
रूपं वायौ स च स्पर्शे लीयते सोऽपि चाम्बरे ।
अम्बरं शब्दतन्मात्र इन्द्रियाणि स्वयोनिषु ॥ २४ ॥
योनिर्वैकारिके सौम्य लीयते मनसीश्वरे ।

शब्दो भूतादिमप्येति भूतादिर्महति प्रभुः ॥ २५ ॥
स लीयते महान्स्वेषु गुणेसु गुणवत्तमः ।
तेऽव्यक्ते सम्प्रलीयन्ते तत्काले लीयतेऽव्यये ॥ २६ ॥
कालो मायामये जीवे जीव आत्मनि मय्यजे ।
आत्मा केवल आत्मस्थो विकल्पापायलक्षणः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

अन्ने—भोजन में; प्रलीयते—लीन हो जाता है; मर्त्यम्—मर्त्य शरीर; अन्नम्—भोजन; धानासु—बीजों के भीतर; लीयते—लीन हो जाता है; धानाः—बीज; भूमौ—पृथ्वी में; प्रलीयन्ते—लीन हो जाते हैं; भूमिः—पृथ्वी; गन्धे—गन्ध में; प्रलीयते—लीन हो जाती है; अप्सु—जल में; प्रलीयते—लीन हो जाती है; गन्धः—गन्ध; आपः—जल; च—तथा; स्व-गुणे—अपने गुण में; रसे—स्वाद में; लीयते—लीन हो जाता है; ज्योतिषि—अग्नि में; रसः—स्वाद; ज्योतिः—अग्नि; रूपे—स्वरूप में; प्रलीयते—लीन हो जाती; रूपम्—स्वरूप; वायौ—वायु में; सः—वह; च—तथा; स्पर्शे—स्पर्श में; लीयते—लीन हो जाता है; सः—वह; अपि—भी; च—तथा; अम्बरे—आकाश में; अम्बरम्—आकाश; शब्द—ध्वनि में; तत्-मात्रे—संगत सूक्ष्म अनुभूति में; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; स्व-योनिषु—अपने स्रोतों, देवताओं में; योनिः—देवता; वैकारिके—सतोगुणी अहंकार में; सौम्य—हे उद्धव; लीयते—लीन हो जाता है; मनसि—मन में; ईश्वरे—नियन्ता रूप; शब्दः—शब्द; भूत-आदिम्—आदि अहंकार में; अप्येति—लीन हो जाता है; भूत-आदिः—मिथ्या अहंकार; महति—समग्र प्रकृति में; प्रभुः—शक्तिमान; सः—वह; लीयते—लीन हो जाता है; महान्—समग्र प्रकृति; स्वेषु—अपने ही; गुणेषु—तीन गुणों में; गुण-वत्-तमः—इन गुणों का परम धाम होने से; ते—वे; अव्यक्ते—प्रकृति के अव्यक्त रूप में; सम्प्रलीयन्ते—पूर्णतया लीन हो जाते हैं; तत्—उस; काले—समय में; लीयते—विलीन हो जाता है; अव्यये—अव्यय; कालः—समय; माया-मये—दिव्य ज्ञान से पूर्ण; जीवे—समस्त जीवों को गति देने वाले परमेश्वर में; जीवः—वह प्रभु; आत्मनि—परमात्मा में; मयि—मुझमें; अजे—अजन्मा; आत्मा—आत्मा; केवलः—अकेले; आत्म-स्थः—स्वयं में स्थित; विकल्प—सृष्टि; अपाय—तथा संहार द्वारा; लक्षणः—गुणों से युक्त।

संहार के समय जीव का मर्त्य शरीर भोजन में लीन हो जाता है। भोजन अन्न में लीन होता है और अन्न पुनः पृथ्वी में लीन हो जाते हैं। पृथ्वी अपने सूक्ष्म अनुभूति गंध में लीन हो जाती है। गंध जल में और जल अपने गुण स्वाद में लीन हो जाता है। स्वाद अग्नि में और अग्नि रूप में लीन हो जाती है। रूप स्पर्श में और स्पर्श आकाश में लीन हो जाता है। आकाश अन्ततः ध्वनि अनुभूति में लीन होता है। सारी इन्द्रियाँ अपने उद्गम रूप अधिष्ठाता देवों में लीन हो जाती हैं। हे सौम्य उद्धव, ये इन्द्रियाँ नियामक मन में लीन होती हैं, जो सात्विक अहंकार में लीन हो जाता है। शब्द तमोगुणी अहंकार में एकाकार हो जाते हैं और सर्वशक्तिमान तथा समस्त शारीरिक तत्त्वों में प्रथम जाना जाने वाला अहंकार समग्र प्रकृति में लीन हो जाता है। तीन गुणों की धात्री समग्र प्रकृति गुणों में लीन हो जाती है। तब ये गुण प्रकृति के अव्यक्त रूप में लीन होते हैं और यह अव्यक्त रूप काल में लीन हो जाता है। काल परमेश्वर में लीन हो जाता है, जो सर्वज्ञ महापुरुष के रूप में, समस्त जीवों के आदि प्रेरक के रूप में रहते हैं। समस्त जीवन का उद्गम मुझ अजन्मा परमात्मा में जो अपने भीतर स्थित रह कर अकेला रहता है, लीन हो जाता है। उन्हीं से समस्त सृजन तथा संहार प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : भौतिक जगत का संहार सृजन-क्रिया का विपर्यय है। हर वस्तु भगवान् के भीतर आश्रय पाने के लिए उनमें लीन हो जाती है, जो अपने परम पद में पूर्ण बने रहते हैं।

एवमन्वीक्षमाणस्य कथं वैकल्पिको भ्रमः ।
मनसो हृदि तिष्ठेत व्योम्नीवार्कोदये तमः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह से; अन्वीक्षमाणस्य—ध्यान से देखने वाले का; कथम्—कैसे; वैकल्पिकः—द्वैत पर आधारित; भ्रमः—मोह; मनसः—उसके मन का; हृदि—हृदय में; तिष्ठेत—बना रह सकता है; व्योम्नि—आकाश में; इव—जिस तरह; अर्क—सूर्य के; उदये—उदय होने पर; तमः—अंधकार।

जिस तरह उदय होता सूर्य आकाश के अंधकार को हटा देता है, उसी तरह विश्व-संहार का यह विज्ञान गम्भीरजनों के मन से भ्रामक द्वैत को हटा देता है। यदि किसी तरह हृदय के भीतर भ्रम प्रवेश कर भी जाता है, तो वह वहाँ ठहर नहीं सकता।

तात्पर्य : जिस तरह चमकीला सूर्य आकाश से सारा अंधकार हटा देता है, उसी तरह उद्धव से कृष्ण द्वारा कहे गये इस ज्ञान को समझ लेने पर मन द्वारा कल्पित सारा अज्ञान मिट जाता है। तब कोई भी भौतिक शरीर को आत्मा नहीं स्वीकार करेगा। यदि किसी की चेतना के भीतर क्षण-भर के लिए ऐसा भ्रम उत्पन्न भी होता है, तो आध्यात्मिक ज्ञान के उदय होने से यह मिट जायेगा।

एष साङ्ख्यविधिः प्रोक्तः संशयग्रन्थिभेदनः ।
प्रतिलोमानुलोमाभ्यां परावरदृश मया ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; साङ्ख्य-विधिः—सांख्य (वैश्लेषिक दर्शन) की विधि; प्रोक्तः—कहे गये; संशय—सन्देहों की; ग्रन्थि—गाँठ; भेदनः—तोड़ने वाला; प्रतिलोम-अनुलोमाभ्याम्—सीधे और उल्टे दोनों ही क्रमों में; पर—आध्यात्मिकजगत; अवर—तथा भौतिक जगत की निकृष्ट स्थिति; दृशा—देखने वाले के द्वारा; मया—मेरे द्वारा।

इस तरह हर भौतिक तथा आध्यात्मिक वस्तु के पूर्ण द्रष्टा मैंने यह सांख्य ज्ञान कहा है, जो सृष्टि तथा संहार के वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा संशय को नष्ट करता है।

तात्पर्य : श्रीकृष्ण ने बतलाया है कि भौतिक मन जीवन की अनेक संकल्पनाओं को स्वीकार करता है और बहिष्कार करता है, जिससे सिद्धि की वास्तविक विधि के विषय में असंख्य झूठे तर्क उत्पन्न होते हैं। किन्तु जिस व्यक्ति ने भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली है, वह विमल बुद्धि के द्वारा सबकुछ देख सकता है। जो व्यक्ति यह समझ जाता है कि परमेश्वर किस तरह सृजन और

संहार करते हैं, वह भवबन्धन से मुक्त होकर भगवान् की नित्य सेवा में अपना समय बिता सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के ''सांख्य दर्शन'' नामक चौबीसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पच्चीस

प्रकृति के तीन गुण तथा उनसे परे

इस अध्याय में मन में उठने वाले तीन गुणों (सतो, रजो तथा तमो) के विविध कार्यात्मक स्वरूपों का वर्णन हुआ है जिनसे भगवान् के दिव्य स्वभाव की स्थापना होती है।

मन का संयम, इन्द्रियों का संयम, सहिष्णुता आदि शुद्ध सतोगुण की अभिव्यक्तियाँ हैं। इच्छा, प्रयास, मिथ्या गर्व आदि अमिश्रित रजोगुण की अभिव्यक्तियाँ हैं। तथा क्रोध, लोभ तथा मोह आदि अमिश्रित तमोगुण के कार्य हैं। तीनों गुणों के मिश्रण में हमें ''मैं'' और ''मेरा'' का भाव, शरीर, मन तथा वाणी द्वारा इस मनोवृत्ति के अनुसार आचरण, धर्म पर अटल रहना, आर्थिक उन्नति तथा इन्द्रियतृप्ति और भौतिक लाभ हेतु अपने वृत्तिपरक कार्य का दृढ़ अनुगमन मिलते हैं।

सतोगुणी चरित्र वाला व्यक्ति बिना किसी लाभ की इच्छा के भक्तिभाव से भगवान् हरि की पूजा करता है। इसके विपरीत, जो व्यक्ति भगवान् की पूजा से मिलने वाले फल के लिए लालायित रहता है, वह स्वभाव से रजोगुणी है। जो व्यक्ति हिंसा पसन्द करता है, वह तमोगुणी है। ये सतो, रजो तथा तमोगुण अत्यन्त सूक्ष्म जीव में पाये जाते हैं किन्तु भगवान् भौतिक प्रकृति के इन तीनों गुणों से परे हैं।

वस्तु, स्थान तथा कर्मफल, काल के साथ, कर्म के भीतर निहित ज्ञान, कार्य, कर्ता, उसकी श्रद्धा, उसकी जागरूकता, उसकी आध्यात्मिक प्रगति तथा मृत्यु के बाद उसका गन्तव्य—ये सब तीनों गुणों में हाथ बँटाते हैं और ख्याति तथा कुलों के रूप में नाना प्रकार से प्रकट होते हैं। किन्तु भगवान् से सम्बन्धित वस्तुएँ, उनसे सम्बन्धित स्थान, उन पर आधारित सुख, उनकी पूजा में लगाया गया समय, उनसे सम्बन्धित ज्ञान, उनको अर्पित किया गया कर्म, उनकी शरण में कर्म करने वाला कर्ता, उनकी भक्ति में श्रद्धा, आध्यात्मिक लोक में जाने की ओर प्रगति तथा परमेश्वर का धाम—ये सभी भौतिक गुणों से परे हैं।

इस संसार-चक्र में आत्मा के लिए अनेक गन्तव्य तथा जीवन-स्थितियाँ हैं। ये सब प्रकृति के गुणों तथा उन पर निर्भर सकाम कर्म पर आधारित हैं। एकमात्र भगवान् के शुद्ध भक्तियोग से ही मूलतः मन में उत्पन्न होने वाले तीनों गुणों को जीता जा सकता है। मनुष्य-शरीर पाकर जिसमें ज्ञान तथा अनुभूति को विकसित करने की क्षमता है, बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि प्रकृति के इन तीन गुणों की संगति त्याग दे और तब भगवान् की पूजा करे। सर्वप्रथम सतोगुण में वृद्धि करके वह रजो तथा तमोगुणों को परास्त कर सकता है। तब वह आध्यात्मिक पद पर चेतना को विकसित करके भौतिक सत्त्व को जीत सकता है। उस समय वह भौतिक गुणों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है, अपना सूक्ष्म शरीर (मन, बुद्धि तथा अहंकार) छोड़ देता है और भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करता है। अपने सूक्ष्म आवरण को छिन्न-भिन्न करके, जीव परमेश्वर का साक्षात्कार कर सकता है और इस प्रकार उनकी दया से चरम सिद्धि को प्राप्त होता है।

श्रीभगवानुवाच
गुणानामसम्मिश्राणां पुमान्येन यथा भवेत् ।
तन्मे पुरुषवर्येदमुपधारय शंसतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; गुणानाम्—प्रकृति के गुणों के; असम्मिश्राणाम्—शुद्ध अवस्था वाले; पुमान्—व्यक्ति; येन—जिस गुण से; यथा—कैसे; भवेत्—बन जाता है; तत्—वह; मे—मुझसे; पुरुष-वर्य—हे पुरुषों में श्रेष्ठ; इदम्—यह; उपधारय—समझने का प्रयत्न करो; शंसतः—मेरे द्वारा कहा हुआ।

भगवान् ने कहा : हे पुरुष-श्रेष्ठ, मैं तुमसे वर्णन करूँगा कि जीव किस तरह किसी भौतिक गुण की संगति से विशेष स्वभाव प्राप्त करता है। तुम उसे सुनो।

तात्पर्य : *असंमिश्र* शब्द उसे सूचित करता है, जिसमें अन्य कोई वस्तु मिली न हो। अब श्रीकृष्ण यह बतलाने जा रहे हैं कि तीनों गुण (सतो, रजो तथा तमो) किस तरह पृथक्-पृथक् कार्य करते हुए बद्धजीव को कैसे विशेष अस्तित्व प्रकट करने के लिए बाध्य करते हैं। जीव भगवान् कृष्ण का अंश होने के कारण अन्ततः प्रकृति के गुणों से परे होता है किन्तु बद्ध जीवन में वह भौतिक गुण प्रकट करता है। इसका वर्णन अगले श्लोकों में हुआ है।

शमो दमस्तितिक्षेक्षा तपः सत्यं दया स्मृतिः ।

तुष्टिस्त्यागोऽस्पृहा श्रद्धा ह्रीर्दयादिः स्वनिर्वृतिः ॥ २ ॥

काम ईहा मदस्तृष्णा स्तम्भ आशीर्भिदा सुखम् ।
मदोत्साहो यशःप्रीतिर्हास्यं वीर्यं बलोद्यमः ॥ ३ ॥

क्रोधो लोभोऽनृतं हिंसा याच्ञा दम्भः क्लमः कलिः ।
शोकमोहौ विषादार्ती निद्राशा भीरनुद्यमः ॥ ४ ॥

सत्त्वस्य रजसश्चैतास्तमसश्चानुपूर्वशः ।
वृत्तयो वर्णितप्रायाः सन्निपातमथो शृणु ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

शमः—मन का संयम; दमः—इन्द्रिय संयम; तितिक्षा—सहिष्णुता; ईक्षा—संकल्प; तपः—अपने नियत कार्य का दृढ़तापूर्वक पालन; सत्यम्—सत्य; दया—दया; स्मृतिः—भूत तथा भविष्य का अवलोकन; तुष्टिः—सन्तोष; त्यागः—उदारता; अस्पृहा—इन्द्रियतृप्ति से विरक्ति; श्रद्धा—(गुरु तथा अन्य प्रामाणिक विद्वानों के प्रति) श्रद्धा; ह्रीः—लज्जा (अनुचित कार्य से); दया-आदिः—दान, सरलता, दीनता आदि; स्व-निर्वृतिः—भीतर से आनन्द मनाने; कामः—भौतिक इच्छा; ईहा—उद्योग, प्रयत्न; मदः—घमंड; तृष्णा—असंतोष; स्तम्भः—मिथ्या गर्व; आशीः—भौतिक लाभ के लिए देवी-देवताओं से प्रार्थना; भिदा—विलगाववादी प्रवृत्ति; सुखम्—इन्द्रियतृप्ति; मद-उत्साहः—नशे पर आधारित हिम्मत; यशः-प्रीतिः—प्रशंसा का भूखा; हास्यम्—हँसी उड़ाने में रत; वीर्यम्—अपनी शक्ति का प्रचार करने वाला; बल-उद्यमः—अपने बलबूते पर कार्य करने वाला; क्रोधः—असह्य क्रोध; लोभः—लालच; अनृतम्—असत्य भाषण (शास्त्र विरुद्ध बोलना); हिंसा—दुश्मनी; याच्ञा—याचना करना; दम्भः—दिखावा; क्लमः—थकान; कलिः—कलह; शोक-मोहौ—शोक तथा मोह; विषाद-आर्ती—दुख तथा झूठी दीनता; निद्रा—नींद, अँगडाई; आशा—झूठी आशा; भीः—भय; अनुद्यमः—प्रयास का अभाव; सत्त्वस्य—सतोगुण का; रजसः—रजोगुण का; च—तथा; एताः—ये; तमसः—तमोगुण का; च—तथा; आनुपूर्वशः—एक के बाद दूसरा; वृत्तयः—कार्य; वर्णित—कहे गये; प्रायाः—अधिकांशतः; सन्निपातम्—इन सबों का मेल; अथो—अब; शृणु—सुनो।

मन तथा इन्द्रिय संयम, सहिष्णुता, विवेक, नियत कर्म का पालन, सत्य, दया, भूत तथा भविष्य का सतर्क अध्ययन, किसी भी स्थिति में सन्तोष, उदारता, इन्द्रियतृप्ति का परित्याग, गुरु में श्रद्धा, अनुचित कर्म करने पर व्यग्रता, दान, सरलता, दीनता तथा अपने में संतोष—ये सतोगुण के लक्षण हैं। भौतिक इच्छा, महान् उद्योग, मद, लाभ में भी असन्तोष, मिथ्या अभिमान, भौतिक उन्नति के लिए प्रार्थना, अन्यों से अपने को विलग तथा अच्छा मानना, इन्द्रियतृप्ति, लड़ने की छटपटाहट, अपनी प्रशंसा सुनने की चाह, अन्यों का मजाक उड़ाने की प्रवृत्ति, अपने बल का विज्ञापन तथा अपने बल के द्वारा अपने कर्मों को सही बताना—ये रजोगुण के लक्षण हैं। असह्य क्रोध, कंजूसी, शास्त्रीय आधार के बिना बोलना, उग्र घृणा, परोपजीवन, दिखावा, अति थकान, कलह, शोक, मोह, दुख, उदासी, अत्यधिक निद्रा, झूठी आशा, भय तथा आलस्य—ये तमोगुणी लक्षण हैं। अब इन तीनों के मिश्रण के बारे में सुनो।

सन्निपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः ।
व्यवहारः सन्निपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सन्निपातः—गुणों का मिश्रण; तु—तथा; अहम् इति—मैं; मम इति—''मेरा''; उद्धव—हे उद्धव; या—जो; मतिः—मनोवृत्ति; व्यवहारः—सामान्य कार्यकलाप; सन्निपातः—संयोग, मिश्रण; मनः—मन; मात्रा—अनुभूति के पदार्थो; इन्द्रिय—इन्द्रियों; असुभिः—तथा प्राण-वायुओं द्वारा।

हे उद्धव, ''मैं'' तथा ''मेरा'' मनोवृत्ति में तीनों गुणों का संमिश्रण रहता है। इस जगत के सामान्य व्यवहार, जो मन, अनुभूति के विषयों (तन्मात्राओं), इन्द्रियों तथा शरीर की प्राण-वायु द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं, भी गुणों के सम्मिश्रण पर आधारित होते हैं।

तात्पर्य : ''मैं'' और ''मेरा'' की भ्रामक धारणा प्रकृति के गुणों के मिश्रण से बनती है। सतोगुणी मनुष्य अनुभव कर सकता है, ''मैं शान्त हूँ''। रजोगुणी व्यक्ति सोच सकता है, ''मैं कामी हूँ'' और तमोगुणी व्यक्ति सोच सकता है ''मैं क्रुद्ध हूँ''। इसी तरह कोई सोच सकता है, ''मेरी शान्ति,'' ''मेरा काम'' या ''मेरा क्रोध''। शान्त रहने की पूर्ण मनोवृत्ति वाला व्यक्ति भौतिक जगत में कार्य नहीं कर सकता, उसमें कार्य करने की प्रेरणा का अभाव होगा। इसी तरह विषय-वासना में लीन रहने वाला व्यक्ति लेशमात्र शान्ति या संयम के बिना मदान्ध बन जायेगा। क्रोध से अभिभूत व्यक्ति अन्य गुणों के मिश्रण के बिना भौतिक संसार में ठीक से कार्य नहीं कर पायेगा। अतः हम देखते हैं कि कोई गुण कभी शुद्ध अवस्था में तथा पृथक् रूप में नहीं मिलता प्रत्युत वह अन्य गुणों में मिश्रित रहता है, जिससे इस जगत में सामान्य रूप से कार्य चलते रहते हैं। अन्ततः मनुष्य को सोचना चाहिए, ''मैं कृष्ण का नित्य दास हूँ'' और ''मेरी एकमात्र सम्पत्ति भगवान् की प्रेमाभक्ति है।'' यही चेतना की शुद्ध अवस्था है, जो प्रकृति के गुणों से परे है।

धर्मे चार्थे च कामे च यदासौ परिनिष्ठितः ।
गुणानां सन्निकर्षोऽयं श्रद्धारतिधनावहः ॥ ७॥

शब्दार्थ

धर्मे—धर्म में; च—तथा; अर्थे—आर्थिक विकास में; च—तथा; कामे—इन्द्रियतृप्ति में; च—तथा; यदा—जब; असौ—यह जीव; परिनिष्ठितः—स्थिर है; गुणानाम्—प्रकृति के गुणों के; सन्निकर्षः—मिश्रण में; अयम्—यह; श्रद्धा—श्रद्धा; रति—यौन भोग; धन—तथा धन; आवहः—जिसे हर एक लाता है।

जब मनुष्य धर्म, अर्थ तथा काम में अपने आप को लगाता है, तो उसके उद्योग से प्राप्त श्रद्धा, सम्पत्ति तथा यौन-सुख प्रकृति के तीनों गुणों की अन्योन्य क्रिया को प्रदर्शित करते हैं।

तात्पर्य : धर्म, अर्थ तथा काम—ये प्रकृति के गुणों में स्थित होते हैं और उनसे प्राप्त श्रद्धा,

सम्पत्ति तथा भोग प्रकृति के गुणों के भीतर मनुष्य की विशिष्ट अवस्था को बताते हैं।

प्रवृत्तिलक्षणे निष्ठा पुमान्यर्हि गृहाश्रमे ।
स्वधर्मे चानु तिष्ठेत गुणानां समितिर्हि सा ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

प्रवृत्ति—भौतिक भोग के मार्ग के; लक्षणे—लक्षण वाले में; निष्ठा—समर्पण; पुमान्—मनुष्य; यर्हि—जब; गृह-आश्रमे—पारिवारिक जीवन में; स्व-धर्मे—नियत कार्यों में; च—तथा; अनु—बाद में; तिष्ठेत—खड़ा रहता है; गुणानाम्—गुणों की; समितिः—संयोग, मेल; हि—निस्सन्देह; सा—यह।

जब मनुष्य पारिवारिक जीवन में अनुरक्त होने से इन्द्रियतृप्ति चाहता है और इसके फलस्वरूप जब वह धार्मिक तथा वृत्तिपरक कार्यों में स्थित हो जाता है, तो प्रकृति के गुणों का मिश्रण प्रकट होता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार, स्वर्ग जाने के लिए सम्पन्न किये जाने वाले धार्मिक कार्य रजोगुणी माने जाते हैं, सामान्य पारिवारिक जीवन का भोग करने के लिए सम्पन्न होने वाले कार्य तमोगुणी होते हैं तथा वर्णाश्रम प्रणाली में अपने वृत्तिपरक कार्य को पूरा करने के लिए निःस्वार्थ भाव से सम्पन्न कार्य सतोगुणी होते हैं। इस तरह भगवान् ने बतलाया है कि किस तरह प्रकृति के गुणों के भीतर सांसारिक धर्म प्रकट होता है।

पुरुषं सत्त्वसंयुक्तमनुमीयाच्छमादिभिः ।
कामादिभी रजोयुक्तं क्रोधाद्यैस्तमसा युतम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

पुरुषम्—व्यक्ति; सत्त्व-संयुक्तम्—सतोगुण से युक्त; अनुमीयात्—निकाला जा सकता है; शम-आदिभिः—इन्द्रिय-संयम के गुणों आदि से; काम-आदिभिः—विषय-वासना आदि से; रजः-युक्तम्—रजोगुणी व्यक्ति; क्रोध-आद्यैः—क्रोध इत्यादि से; तमसा—तमोगुण से; युतम्—युक्त।

आत्मसंयम जैसे गुणों को प्रदर्शित करने वाला व्यक्ति मुख्यतया सतोगुणी माना जाता है। इसी तरह रजोगुणी व्यक्ति अपनी विषय-वासना से पहचाना जाता है तथा तमोगुणी व्यक्ति क्रोध जैसे गुण से पहचाना जाता है।

यदा भजति मां भक्त्या निरपेक्षः स्वकर्मभिः ।
तं सत्त्वप्रकृतिं विद्यात्पुरुषं स्त्रियमेव वा ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; भजति—पूजा करता है; माम्—मेरी; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; निरपेक्षः—फल की परवाह न करने वाला; स्व-कर्मभिः—अपने नियत कार्यों से; तम्—उसको; सत्त्व-प्रकृतिम्—सतोगुणी स्वभाव वाला व्यक्ति; विद्यात्—समझे; पुरुषम्—पुरुष को; स्त्रियम्—स्त्री को; एव—भी; वा—अथवा।

कोई व्यक्ति, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, यदि अपने नियत कार्यों को बिना किसी आसक्ति के मुझे अर्पित करते हुए मेरी पूजा करता है, तो वह सतोगुणी समझा जाता है।

यदा आशिष आशास्य मां भजेत स्वकर्मभिः ।
तं रजःप्रकृतिं विद्यात् हिंसामाशास्य तामसम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; आशिषः—आशीर्वाद; आशास्य—की आशा से; माम्—मुझको; भजेत—पूजता है; स्व-कर्मभिः—अपने कार्यों से; तम्—उसको; रजः-प्रकृतिम्—रजोगुणी व्यक्ति; विद्यात्—समझे; हिंसाम्—हिंसा; आशास्य—की आशा करते हुए; तामसम्—तमोगुणी व्यक्ति।

जब कोई व्यक्ति भौतिक लाभ पाने की आशा से अपने नियत कर्मों द्वारा मेरी पूजा करता है, उसका स्वभाव रजोगुणी समझना चाहिए और जब कोई व्यक्ति अन्यों के साथ हिंसा करने की इच्छा से मेरी पूजा करता है, वह तमोगुण में स्थित होता है।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा जीवस्य नैव मे ।
चित्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमानो निबध्यते ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतोगुण; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; इति—इस प्रकार; गुणाः—गुण; जीवस्य—आत्मा से सम्बन्धित; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; मे—मुझको; चित्त-जाः—मन के भीतर प्रकट; यैः—जिन गुणों से; तु—तथा; भूतानाम्—भौतिक प्राणियों का; सज्जमानः—अनुरक्त होकर; निबध्यते—बाँधा जाता है।

प्रकृति के तीनों गुण—सतो, रजो तथा तमोगुण—जीव को तो प्रभावित करते हैं, मुझे नहीं। उसके मन में प्रकट होकर ये जीव को भौतिक शरीरों तथा अन्य उत्पन्न वस्तुओं से अनुरक्त होने के लिए प्रेरित करते हैं। इस तरह जीव बँध जाता है।

तात्पर्य : जीव भगवान् की तटस्था शक्ति है और वह भगवान् की मोहमयी शक्ति द्वारा अभिभूत होने की संभावना रखता है। किन्तु भगवान् मोह के परम नियन्ता हैं। मोह कभी भी भगवान् को नियंत्रित नहीं कर सकता। इस तरह भगवान् श्रीकृष्ण सारे जीवों के लिए सेवा के नित्य लक्ष्य हैं और ये जीव भगवान् के नित्य दास हैं।

प्रकृति के तीनों गुण भौतिक शक्ति में प्रकट होते हैं। जब बद्धात्मा भौतिक मनोवृत्ति ग्रहण करता है, तो ये गुण उस मनोवृत्ति की सीमा के भीतर अपना प्रभाव दिखाते हैं। किन्तु यदि कोई व्यक्ति अपने

मन को भगवद्भक्ति से शुद्ध बना लेता है, तो प्रकृति के गुण उस पर और अधिक प्रभाव नहीं डालते क्योंकि आध्यात्मिक स्तर पर उनका प्रभाव नहीं होता।

यदेतरौ जयेत्सत्त्वं भास्वरं विशदं शिवम् ।
तदा सुखेन युज्येत धर्मज्ञानादिभिः पुमान् ॥ १३॥

शब्दार्थ

यदा—जब; इतरौ—अन्य दो; जयेत्—जीत लेता है; सत्त्वम्—सतोगुण; भास्वरम्—प्रकाशमान; विशदम्—शुद्ध; शिवम्—शुभ; तदा—तब; सुखेन—सुख से; युज्येत—से युक्त होता है; धर्म—धर्म; ज्ञान—ज्ञान; आदिभिः—आदि अन्य गुणों से; पुमान्—मनुष्य।.

जब प्रदीप्त शुद्ध तथा शुभ सतोगुण रजोगुण तथा तमोगुण पर हावी होता है, तो मनुष्य सुख, प्रतिभा, ज्ञान तथा अन्य गुणों से युक्त हो जाता है।

तात्पर्य : सतोगुण में मनुष्य अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में कर सकता है।

यदा जयेत्तमः सत्त्वं रजः सङ्गं भिदा चलम् ।
तदा दुःखेन युज्येत कर्मणा यशसा श्रिया ॥ १४॥

शब्दार्थ

यदा—जब; जयेत्—जीत लेता है; तमः सत्त्वम्—तमो तथा सतोगुण; रजः—रजो; सङ्गम्—अनुरक्ति (का कारण); भिदा—विलगाव; चलम्—तथा परिवर्तन; तदा—तब; दुःखेन—दुख से; युज्येत—युक्त हो जाता है; कर्मणा—भौतिक कार्य से; यशसा—यश (की इच्छा) से; श्रिया—तथा ऐश्वर्य से।.

जब अनुरक्ति, विलगाव तथा कर्मठता का कारणरूप रजोगुण, तमोगुण तथा सतोगुण को जीत लेता है, तो मनुष्य प्रतिष्ठा तथा सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए कठिन श्रम करने लगता है। इस तरह रजोगुण में मनुष्य चिन्ता तथा संघर्ष का अनुभव करता है।

यदा जयेद् रजः सत्त्वं तमो मूढं लयं जडम् ।
युज्येत शोकमोहाभ्यां निद्रया हिंसयाशया ॥ १५॥

शब्दार्थ

यदा—जब; जयेत्—जीत लेता है; रजः सत्त्वम्—रजोगुण तथा सतोगुण; तमः—तमोगुण; मूढम्—विवेक-शक्ति को खो चुका; लयम्—चेतना के ऊपर का आवरण; जडम्—उद्योग से विहीन; युज्येत—युक्त हो जाता है; शोक—शोक; मोहाभ्याम्—तथा मोह से; निद्रया—अत्यधिक सोने से; हिंसया—हिंसक गुणों से; आशया—तथा झूठी आशाओं से।.

जब तमोगुण रजोगुण तथा सतोगुणों को जीत लेता है, तो वह मनुष्य की चेतना को ढक लेता है और उसे मूर्ख तथा जड़ बना देता है। तमोगुणी मनुष्य शोक तथा मोह में पड़ कर अत्यधिक सोता है, झूठी आशा करने लगता है और अन्यों के प्रति हिंसा प्रदर्शित करता है।

यदा चित्तं प्रसीदेत इन्द्रियाणां च निर्वृतिः ।
देहेऽभयं मनोऽसङ्गं तत्सत्त्वं विद्धि मत्पदम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; चित्तम्—चेतना; प्रसीदेत—स्वच्छ हो जाती है; इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों की; च—तथा; निर्वृतिः—संसारी कार्यों की समाप्ति; देहे—शरीर में; अभयम्—निर्भयता; मनः—मन की; असङ्गम्—विरक्ति; तत्—उसे; सत्त्वम्—सतोगुण; विद्धि—जानो; मत्—मेरा साक्षात्कार; पदम्—वह पद जिसमें इसे प्राप्त किया जा सके।

जब चेतना स्वच्छ हो जाती हैं और इन्द्रियाँ पदार्थ से विरक्त हो जाती हैं, तो मनुष्य भौतिक शरीर के भीतर निर्भीकता तथा भौतिक मन से विरक्ति का अनुभव करता है। इस स्थिति को सतोगुण की प्रधानता समझना चाहिए क्योंकि इसमें मनुष्य को मेरा साक्षात्कार करने का अवसर मलिता है।

विकुर्वन्क्रियया चाधीरनिवृत्तिश्च चेतसाम् ।
गात्रास्वास्थ्यं मनो भ्रान्तं रज एतैर्निशामय ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

विकुर्वन्—विकृत होकर; क्रियया—कर्म से; च—तथा; आ—तक; धीः—बुद्धि; अनिवृत्तिः—रोक न पाना; च—एवं; चेतसाम्—बुद्धि तथा इन्द्रियों की चेतनता पर; गात्र—कर्मेन्द्रियों का; अस्वास्थ्यम्—अस्वस्थ स्थिति; मनः—मन; भ्रान्तम्—अस्थिर; रजः—रजोगुण; एतैः—इन लक्षणों से; निशामय—तुम्हें समझना चाहिए।

तुम्हें रजोगुण का पता उसके लक्षणों से—अत्यधिक कर्म के कारण बुद्धि की विकृति, अनुभव करने वाली इन्द्रियों की संसारी वस्तुओं से अपने को छुड़ाने की असमर्थता, कर्मेन्द्रियों की अस्वस्थ दशा तथा मन की अस्थिरता से—लगा लेना चाहिये।

सीदच्चित्तं विलीयेत चेतसो ग्रहणेऽक्षमम् ।
मनो नष्टं तमो ग्लानिस्तमस्तदुपधारय ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सीदत्—विफल हो जाती है; चित्तम्—चेतना की उच्चतर इन्द्रिय; विलीयेत—विलीन हो जाती है; चेतसः—जागरूकता; ग्रहणे—नियंत्रित करने में; अक्षमम्—अक्षम; मनः—मन; नष्टम्—विनष्ट; तमः—अज्ञान; ग्लानिः—विषाद; तमः—तमोगुण; तत्—वह; उपधारय—तुम समझो।

जब मनुष्य की उच्चतर जागरूकता काम न दे और अन्त में लुप्त हो जाय तथा इस तरह मनुष्य अपना ध्यान एकाग्र न कर सके, तो उसका मन नष्ट हो जाता है और अज्ञान तथा विषाद प्रकट करता है। तुम इस स्थिति को तमोगुण की प्रधानता समझो।

एधमाने गुणे सत्त्वे देवानां बलमेधते ।
असुराणां च रजसि तमस्युद्धव रक्षसाम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

एधमाने—वृद्धि करता हुआ; गुणे—गुण में; सत्त्वे—सतो; देवानाम्—देवताओं की; बलम्—शक्ति; एधते—बढ़ती है; असुराणाम्—देवताओं के शत्रुओं की; च—तथा; रजसि—रजोगुण के बढ़ने पर; तमसि—तमोगुण के बढ़ने पर; उद्धव—हे उद्धव; रक्षसाम्—मानव भक्षियों को।

सतोगुण की वृद्धि होने के साथ साथ, देवताओं की शक्ति भी बढ़ती जाती है। जब रजोगुण बढ़ता है, तो असुरगण प्रबल हो उठते हैं और तमोगुण की वृद्धि से हे उद्धव! अत्यन्त दुष्ट लोगों की शक्ति बढ़ जाती है।

सत्त्वाज्जागरणं विद्याद्रजसा स्वप्नमादिशेत् ।
प्रस्वापं तमसा जन्तोस्तुरीयं त्रिषु सन्ततम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सत्त्वात्—सतोगुण से; जागरणम्—जागरूक चेतना; विद्यात्—समझे; रजसा—रजोगुण से; स्वप्नम्—नींद; आदिशेत्—सूचित होती है; प्रस्वापम्—गहरी नींद; तमसा—तमोगुण से; जन्तोः—जीव की; तुरीयम्—चतुर्थ दिव्य अवस्था; त्रिषु—तीनों में; सन्ततम्—व्याप्त।

यह जान लेना चाहिए कि जागरूक चैतन्यता सतोगुण से आती है, नींद रजोगुणी स्वप्न देखने से तथा गहरी स्वप्नरहित नींद तमोगुण से आती है। चेतना की चतुर्थ अवस्था इन तीनों में व्याप्त रहती है और दिव्य होती है।

तात्पर्य : हमारी आदि कृष्ण-चेतना आत्मा के भीतर शाश्वत विद्यमान रहती है और यह जागरूकता की तीनों अवस्थाओं—सामान्य जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति—में भी रहती है। प्रकृति के गुणों से आच्छादित होने से हो सकता है कि यह आध्यात्मिक चेतना प्रकट न हो किन्तु यह असली स्वभाव के रूप में जीव में शाश्वत विद्यमान रहती है।

उपर्युपरि गच्छन्ति सत्त्वेन ब्राह्मणा जनाः ।
तमसाधोऽध आमुख्याद्रजसान्तरचारिणः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

उपरि उपरि—ऊँचे और ऊँचे; गच्छन्ति—जाते हैं; सत्त्वेन—सतोगुण से; ब्राह्मणाः—वैदिक सिद्धान्तों के प्रति समर्पित लोग; जनाः—ऐसे लोग; तमसा—तमोगुण द्वारा; अधः अधः—नीचे और नीचे; आ-मुख्यात्—सिर के बल; रजसा—रजोगुण द्वारा; अन्तर-चारिणः—मध्यवर्ती स्थितियों में रहते हुए।

वैदिक संस्कृति के प्रति समर्पित विद्वान पुरुष सतोगुण से उत्तरोत्तर उच्च पदों को प्राप्त होते हैं। किन्तु तमोगुण मनुष्य को सिर के बल निम्न से निम्नतर जन्मों में गिरने के लिए बाध्य करता

है। रजोगुण से मनुष्य मानव शरीरों में से होकर निरन्तर देहान्तरण करता रहता है।

तात्पर्य : शूद्र लोग अर्थात् तमोगुणी लोग जीवन के लक्ष्य के विषय में गहरे भ्रम में रहते हैं क्योंकि वे स्थूल शरीर को आत्मा मान बैठते हैं। रजोगुणी तथा तमोगुणी लोग वैश्य कहलाते हैं, जो धन के लिए अत्यन्त लालायित रहते हैं जबकि रजोगुणी क्षत्रिय प्रतिष्ठा तथा अधिकार के लिए उत्सुक रहते हैं। किन्तु जो सतोगुणी होते हैं, वे पूर्ण ज्ञान के लिए लालायित रहते हैं; इसलिए वे ब्राह्मण कहलाते हैं। ऐसा व्यक्ति ब्रह्मलोक के परम भौतिक पद को प्राप्त होता है। जो व्यक्ति तमोगुणी होता है, वह धीरे धीरे जड़ योनियों को, यथा वृक्ष तथा पत्थर को, प्राप्त होता है, जबकि रजोगुणी व्यक्ति को, इच्छा से पूरित होते हुए किन्तु वैदिक संस्कृति के अन्तर्गत उसे तुष्ट करते हुए, मानव समाज में रहने दिया जाता है।

सत्त्वे प्रलीनाः स्वर्यान्ति नरलोकं रजोलयाः ।
तमोलयास्तु निरयं यान्ति मामेव निर्गुणाः ॥ २२॥

शब्दार्थ

सत्त्वे—सतोगुण में; प्रलीनाः—मरने वाले; स्वः—स्वर्ग; यान्ति—जाते हैं; नर-लोकम्—मनुष्य लोक में; रजः-लयाः—रजोगुण में मरने वाले; तमः-लयाः—तमोगुण में मरने वाले; तु—तथा; निरयम्—नरक में; यान्ति—जाते हैं; माम्—मुझ तक; एव—किन्तु; निर्गुणाः—समस्त गुणों से रहित हैं, जो।

जो लोग सतोगुण में रहते हुए इस जगत को छोड़ते हैं, वे स्वर्गलोक जाते हैं; जो रजोगुण में रहते हुए छोड़ते हैं, वे मनुष्य-लोक में रह जाते हैं और तमोगुण में मरने वाले नरक-लोक में जाते हैं। किन्तु जो प्रकृति के सारे गुणों से मुक्त हैं, वे मेरे पास आते हैं।

मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत् ।
राजसं फलसङ्कल्पं हिंसाप्रायादि तामसम् ॥ २३॥

शब्दार्थ

मत्-अर्पणम्—मुझे अर्पित; निष्फलम्—किसी फल-प्राप्ति की आशा के बिना सम्पन्न; वा—तथा; सात्त्विकम्—सतोगुण में; निज—अपना नियत कर्म मान कर; कर्म—कार्य; तत्—वह; राजसम्—रजोगुणी; फल-सङ्कल्पम्—किसीफल प्राप्ति की आशा से सम्पन्न; हिंसा-प्राय-आदि—हिंसा, ईर्ष्या आदि के बिना सम्पन्न; तामसम्—तमोगुण में।

फल का विचार किये बिना जो कर्म मुझे अपिर्त किया जाता है, वह सतोगुणी माना जाता है। फल की भोगेच्छा से सम्पन्न कर्म रजोगुणी है और हिंसा तथा ईर्ष्या से प्रेरित कर्म तमोगुणी होता है।

तात्पर्य : निष्काम भाव से तथा ईश्वर को भेंटस्वरूप सम्पन्न सामान्य कार्य सात्त्विक माना जाता है, जबकि भक्ति के कार्य—यथा भगवद्-गुणों का श्रवण तथा कीर्तन—प्रकृति के गुणों से परे दिव्य कर्म होते हैं।

कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं च यत् ।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

कैवल्यम्—केवल, परम; सात्त्विकम्—सतोगुणी; ज्ञानम्—ज्ञान; रजः—रजोगुण; वैकल्पिकम्—कई; च—तथा; यत्—जो; प्राकृतम्—भौतिकतावादी; तामसम्—तमोगुणी; ज्ञानम्—ज्ञान; मत्-निष्ठम्—मुझमें एकाग्र चित्त; निर्गुणम्—दिव्य; स्मृतम्—माना जाता है।.

परम ज्ञान सात्त्विक होता है; द्वैत पर आधारित ज्ञान राजसी होता है और मूर्खतापूर्ण भौतिकतावादी ज्ञान तामसिक है। किन्तु जो ज्ञान मुझ पर आधारित होता है, वह दिव्य माना जाता है।

तात्पर्य : परम पुरुष भगवान् विषयक दिव्य ज्ञान सामान्य सात्विक धार्मिक ज्ञान से परे है, यहाँ पर भगवान् इसकी व्याख्या करते हैं। सात्विक गुण में मनुष्य सारे जीवों के भीतर उच्चतर आध्यात्मिक प्रकृति की उपस्थिति को समझता है। रजोगुण में वही मनुष्य शरीर का वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करता है और तमोगुण में उसका मन इन्द्रिय-विषयों में केन्द्रित होने के कारण, उसमें उच्चतर जागरूकता नहीं रह जाती और वह वस्तुओं को इस तरह देखता है जैसे छोटे बच्चे या बाधित व्यक्ति देखते हों।

श्रील जीव गोस्वामी ने इस श्लोक की विस्तृत टीका की है। उनका कथन है कि सात्विक गुण परब्रह्म का पूर्ण ज्ञान प्रदान नहीं करता। वे *श्रीमद्भागवत* से (६.१४.२) कई उदाहरण देते हैं जिनमें अनेक देवता सात्विक होते हुए भी भगवान् कृष्ण के दिव्य व्यक्तित्व को नहीं समझ पाते। भौतिक सतोगुण में मनुष्य पवित्र या धार्मिक तथा उच्चतर आध्यात्मिक प्रकृति के प्रति भिज्ञ हो जाता है। किन्तु शुद्ध सतोगुण के आध्यात्मिक स्तर पर मनुष्य परब्रह्म से प्रत्यक्ष प्रेममय सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और संसारी शुद्धता से मात्र जुड़े रहने की बजाये, भगवान् की सेवा में लग जाता है। रजोगुण में बद्धजीव अपने जीवन तथा अपने चारों ओर के जगत की वास्तविकता के बारे में कल्पना करता है और कल्पना से भगवद्धाम के अस्तित्व के विषय में भी सोचता है। तमोगुण में वह अपने मन को विविध प्रकार से खाने, सोने, संभोग करने तथा रक्षा करने में लीन करके, इन्द्रियतृप्ति के विषय में ज्ञान

प्राप्त करता है। इस तरह प्रकृति के गुणों के अन्तर्गत बद्धात्माएँ या तो अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करने में या फिर अपने को इन्द्रियतृप्ति से मुक्त करने में लगी रहती हैं। किन्तु जब तक वे प्रकृति के गुणों से परे कृष्णभावनामृत के दिव्य पद को प्राप्त नहीं हो लेतीं, वे अपने को अपने स्वाभाविक मुक्त कार्यों में लगा नहीं पातीं।

वनं तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते ।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतं तु निर्गुणम् ॥ २५॥

शब्दार्थ

वनम्—जंगल; तु—जबकि; सात्त्विकः—सतोगुणी; वासः—आवास; ग्रामः—गाँव; राजसः—रजोगुणी; उच्यते—कहा जाता है; तामसम्—तमोगुणी; द्यूत-सदनम्—जुआ खेलने का स्थान; मत्-निकेतम्—मेरा निवास; तु—लेकिन; निर्गुणम्—दिव्य।

जंगल का वास सतोगुणी, कस्बे का वास रजोगुणी, जुआ घर का वास तमोगुणी तथा मेरे धाम का वास दिव्य होता है।

तात्पर्य : जंगल के अनेक प्राणी, यथा वृक्ष, जंगली सुअर तथा कीड़े-मकोड़े, वस्तुतः रजोगुणी तथा तमोगुणी होते हैं। किन्तु जंगल का वास इसलिए सतोगुणी (सात्विक) कहा गया है क्योंकि वहाँ पर पापमय कार्यों, भौतिक ऐश्वर्य तथा कामुक इच्छाओं से मुक्त एकान्त जीवन बिताया जा सकता है। भारत के इतिहास में सभी प्रकार के लाखों लोग वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम स्वीकार करके तपस्या करने तथा आत्म-साक्षात्कार पूरा करने के लिए जंगलों में जाते रहे हैं। यहाँ तक कि अमरीका तथा अन्य पाश्चात्य देशों में थोरो जैसे व्यक्ति ने—अपनी भौतिक उलझनों को कम करने के लिए जंगल में जाकर वास करने के कारण ही ख्याति पाई।

यहाँ पर *ग्राम* शब्द अपने परिवार के रहने के स्थान का सूचक है। पारिवारिक जीवन निश्चय ही झूठे गर्व, झूठी आशा, झूठे स्नेह, शोक तथा मोह से पूर्ण है क्योंकि पारिवारिक सम्बन्ध पूरी तरह देहात्म बुद्धि पर आश्रित होता है, जो आत्म-साक्षात्कार के बिल्कुल विपरीत है। *द्यूत-सदनम्* शब्द घुड़दौ के स्थानों, शराबखानों आदि अन्य ऐसे पापपूर्ण स्थानों का द्योतक है, जिसमें तमोगुणी चेतना की नारकीय अवस्था पाई जाती है। *मन्-निकेतनम्* वैकुण्ठ में भगवान् के निजी धाम का तथा इस जगत में भगवान् के मन्दिरों का द्योतक है जिनमें भगवान् के अर्चाविग्रह की ठीक से पूजा की जाती है। जो व्यक्ति मन्दिर-जीवन के नियमों का पालन करते हुए कृष्ण-मन्दिर में रहता है, वह दिव्य पद पर

निवसित माना जाता है। इन श्लोकों में भगवान् यही स्पष्ट करते हैं कि सारी भौतिक घटनाओं को प्रकृति के गुणों के अनुसार तीन कोटियों में रखा जा सकता है। अन्त में एक चौथी कोटि भी है, जो दिव्य कृष्णभावनामृत है और जो मानव संस्कृति के सभी पक्षों को मुक्त पद तक उठाने वाला है।

सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः ।
तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सात्त्विकः—सतोगुणी; कारकः—कर्म करने वाला, कर्ता; असङ्गी—अनुरक्ति से रहित; राग-अन्धः—निजी इच्छा से अंधा हुआ; राजसः—रजोगुणी; स्मृतः—माना जाता है; तामसः—तमोगुणी; स्मृति—कौन क्या है इसकी स्मृति से; विभ्रष्टः—पतित; निर्गुणः—दिव्य; मत्-अपाश्रयः—जिसने मेरी शरण ग्रहण कर ली है।

आसक्तिरहित कर्ता सात्विक होता है; निजी इच्छा से अंधा हुआ कर्ता राजसी तथा अच्छे-बुरे भेद को पूरी तरह भुला देने वाला कर्ता तामसिक है। किन्तु जिस कर्ता ने मेरी शरण ले रखी है, वह प्रकृति के गुणों से परे माना जाता है।

तात्पर्य : दिव्य कर्ता भगवान् कृष्ण तथा कृष्ण के प्रामाणिक प्रतिनिधि के निर्देशानुसार अपना कार्य करता है। ऐसा व्यक्ति प्रकृति के गुणों से परे रहता माना जाता है।

सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी ।
तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायां तु निर्गुणा ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

सात्त्विकी—सतोगुणी; आध्यात्मिकी—आध्यात्मिक; श्रद्धा—श्रद्धा; कर्म—कर्म में; श्रद्धा—श्रद्धा; तु—लेकिन; राजसी—रजोगुणी; तामसी—तमोगुणी; अधर्मे—अधर्म में; या—जो; श्रद्धा—श्रद्धा; मत्-सेवायाम्—मेरी भक्ति में; तु—लेकिन; निर्गुणा—दिव्य।

आध्यात्मिक जीवन की दिशा में लक्षित श्रद्धा सात्विक होती है; सकाम कर्म पर आधारित श्रद्धा राजसी होती है और अधार्मिक कृत्यों में वास करने वाली श्रद्धा तामसी होती है किन्तु मेरी भक्ति में जो श्रद्धा की जाती है, वह शुद्ध रूप से दिव्य होती है।

पथ्यं पूतमनायस्तमाहार्यं सात्त्विकं स्मृतम् ।
राजसं चेन्द्रियप्रेष्ठं तामसं चार्तिदाशुचि ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

पथ्यम्—लाभप्रद; पूतम्—शुद्ध; अनायस्तम्—बिना कठिनाई के प्राप्त की गई; आहार्यम्—भोजन; सात्त्विकम्—सतोगुणी; स्मृतम्—माना जाता है; राजसम्—राजसी; च—तथा; इन्द्रिय-प्रेष्ठम्—इन्द्रियों को अत्यन्तप्रिय; तामसम्—तामसी; च—तथा; आर्ति-द—कष्टप्रद; अशुचि—अशुद्ध है।

जो भोजन लाभप्रद, शुद्ध तथा बिना कठिनाई के उपलब्ध हो सके, वह सात्विक होता है; जो भोजन इन्द्रियों को तुरन्त आनन्द प्रदान करता हो, वह राजसी है और जो भोजन गन्दा हो तथा कष्ट उत्पन्न करने वाला हो, वह तामसी है।

तात्पर्य : तामसी भोजन पीड़ाप्रद रोग उत्पन्न करता है और असामयिक मृत्यु लाता है।

सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसम् ।
तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सात्त्विकम्—सतोगुणी; सुखम्—सुख; आत्म-उत्थम्—आत्मा से उत्पन्न; विषय-उत्थम्—इन्द्रिय-विषयों से उत्पन्न; तु—लेकिन; राजसम्—राजसी; तामसम्—तामसी; मोह—मोह; दैन्य—तथा दीनता से; उत्थम्—उत्पन्न; निर्गुणम्—दिव्य; मत्-अपाश्रयम्—मेरे भीतर।

आत्मा से प्राप्त सुख सात्विक है; इन्द्रियतृप्ति पर आधारित सुख राजसी है और मोह तथा दीनता पर आधारित सुख तामसी है। किन्तु मेरे भीतर पाया जाने वाला सुख दिव्य है।

द्रव्यं देशः फलं कालो ज्ञानं कर्म च कारकः ।
श्रद्धावस्थाकृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

द्रव्यम्—वस्तु; देशः—स्थान; फलम्—परिणाम; कालः—समय; ज्ञानम्—ज्ञान; कर्म—कर्म; च—तथा; कारकः—कर्ता; श्रद्धा—श्रद्धा; अवस्था—चेतना की अवस्था; आकृतिः—किस्म; निष्ठा—गन्तव्य; त्रै-गुण्यः—तीन गुणों वाला; सर्वः—ये सारे; एव हि—निश्चय ही।

इसलिए भौतिक वस्तु, स्थान, कर्मफल, काल, ज्ञान, कर्म, कर्ता, श्रद्धा, चेतना की दशा, जीव योनि तथा मृत्यु के बाद गन्तव्य—ये सभी प्रकृति के तीन गुणों पर आश्रित हैं।

सर्वे गुणमया भावाः पुरुषाव्यक्तधिष्ठिताः ।
दृष्टं श्रुतं अनुध्यातं बुद्ध्या वा पुरुषर्षभ ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—समस्त; गुण-मयाः—प्रकृति के गुणों से बने; भावाः—जीवन की स्थितियाँ; पुरुष—भोग करने वाले आत्मा द्वारा; अव्यक्त—तथा सूक्ष्म प्रकृति; धिष्ठिताः—स्थापित तथा पालित; दृष्टम्—देखा हुआ; श्रुतम्—सुना हुआ; अनुध्यातम्—सोचा हुआ; बुद्ध्या—बुद्धि के द्वारा; वा—अथवा; पुरुष-ऋषभ—हे पुरुष-श्रेष्ठ।

हे पुरुष-श्रेष्ठ, भौतिकवादिता की सारी दशाएँ भोक्ता आत्मा तथा भौतिक प्रकृति की

अन्योन्य क्रिया से सम्बन्धित हैं। चाहे वे देखी हुई हों, सुनी हुई हों या मन के भीतर सोची-विचारी गई हों, वे किसी अपवाद के बिना प्रकृति के गुणों से बनी हुई होती हैं।

एताः संसृतयः पुंसो गुणकर्मनिबन्धनाः ।
येनेमे निर्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः ।
भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

एताः—ये; संसृतयः—जगत के उत्पन्न पक्ष; पुंसः—जीव का; गुण—भौतिक गुण; कर्म—तथा कर्म से; निबन्धनाः—सम्बद्ध; येन—जिससे; इमे—ये; निर्जिताः—जीते जाते हैं; सौम्य—हे भद्र उद्धव; गुणाः—प्रकृति के गुण; जीवेन—जीव द्वारा; चित्त-जाः—मन से प्रकट होने वाले; भक्ति-योगेन—भक्ति-विधि से; मत्-निष्ठः—मेरे प्रति समर्पित; मत्-भावाय—मेरे प्रति प्रेम का; प्रपद्यते—पाता है।

हे सौम्य उद्धव, बद्ध जीवन की ये विभिन्न अवस्थाएँ प्रकृति के गुणों से पैदा हुए कर्म से उत्पन्न होती हैं। जो जीव इन गुणों को, जो मन से प्रकट होते हैं, जीत लेता है, वह भक्तियोग द्वारा अपने आपको मुझे अर्पित कर देता है और इस तरह मेरे प्रति शुद्ध प्रेम प्राप्त करता है।

तात्पर्य : *मद्-भावाय प्रपद्यते* पद ईश्वर के प्रति अथवा ईश्वर जैसी ही अवस्था के प्रति प्रेम की प्राप्ति का सूचक है। वास्तविक मोक्ष तो शाश्वत भगवद्धाम में वास है जहाँ जीवन आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण होता है। बद्धजीव भ्रमवश अपने को प्रकृति के गुणों का भोक्ता मान बैठता है। इस तरह एक विशेष प्रकार का कर्म उत्पन्न होता है, जिसका फल बद्धजीव को जन्म-मृत्यु के चक्र से बाँध देता है। इस निष्फल विधि का सामना भगवान् की भक्ति द्वारा ही किया जा सकता है, जैसाकि यहाँ वर्णन हुआ है।

तस्माद्देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसम्भवम् ।
गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; देहम्—शरीर; इमम्—यह; लब्ध्वा—प्राप्त करके; ज्ञान—शुष्क ज्ञान; विज्ञान—तथा अनुभूत ज्ञान का; सम्भवम्—उत्पत्ति-स्थान; गुण-सङ्गम्—गुणों का सान्निध्य; विनिर्धूय—पूरी तरह धो डालना; माम्—मुझको; भजन्तु—पूजते हैं; विचक्षणाः—अत्यन्त बुद्धिमान लोग।

इसलिए इस मनुष्य जीवन को, जो पूर्ण ज्ञान विकसित करने की छूट देता है, प्राप्त करके बुद्धिमान लोगों को चाहिए कि वे अपने को प्रकृति के गुणों के सारे कल्मष से मुक्त कर लें और एकमात्र मेरी भक्ति में लग जायें।

**निःसङ्गो मां भजेद्विद्वानप्रमत्तो जितेन्द्रियः ।
रजस्तमश्चाभिजयेत्सत्त्वसंसेवया मुनिः ॥ ३४॥**

शब्दार्थ

निःसङ्गः—भौतिक संगति से मुक्त; माम्—मुझको; भजेत्—पूजा करें; विद्वान्—विद्वान व्यक्ति; अप्रमत्तः—जो मोहग्रस्त न हो; जित-इन्द्रियः—जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; च—तथा; अभिजयेत्—जीते; सत्त्व-संसेवया—सतोगुण ग्रहण करके; मुनिः—मुनि, साधु।

समस्त भौतिक संगति से मुक्त तथा मोह से मुक्त बुद्धिमान साधु को चाहिए कि अपनी इन्द्रियों का दमन करे और मेरी पूजा करे। उसे चाहिए कि सतोगुणी वस्तुओं में ही अपने को लगाकर रजो तथा तमोगुणों को जीत ले।

**सत्त्वं चाभिजयेद्युक्तो नैरपेक्ष्येण शान्तधीः ।
सम्पद्यते गुणैर्मुक्तो जीवो जीवं विहाय माम् ॥ ३५ ॥**

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतोगुण; च—भी; अभिजयेत्—जीते; युक्तः—भक्ति में लगा हुआ; नैरपेक्ष्येण—गुणों से अन्यमनस्क रहते हुए; शान्त—शान्त; धीः—बुद्धि वाला; सम्पद्यते—प्राप्त करता है; गुणैः—गुणों से; मुक्तः—मुक्त; जीवः—जीव; जीवम्—अपने बन्धन का कारण; विहाय—त्याग कर; माम्—मुझको।

तब भक्ति में स्थिर होकर साधु को चाहिए कि गुणों के प्रति अन्यमनस्क रह कर सतोगुण को जीत ले। इस तरह अपने मन में शान्त एवं प्रकृति के गुणों से मुक्त आत्मा, अपने बद्ध जीवन के कारण का ही परित्याग कर देता है और मुझे पा लेता है।

तात्पर्य : *नैरपेक्ष्येण* शब्द प्रकृति के गुणों से पूर्ण विरक्ति का द्योतक है। भगवान् की प्रेमाभक्ति में अनुरक्त होकर जो पूर्णतया आध्यात्मिक है, मनुष्य प्रकृति के गुणों में रुचि नहीं लेता।

**जीवो जीवविनिर्मुक्तो गुणैश्चाशयसम्भवैः ।
मयैव ब्रह्मणा पूर्णो न बहिर्नान्तरश्चरेत् ॥ ३६ ॥**

शब्दार्थ

जीवः—जीव; जीव-विनिर्मुक्तः—भौतिक जीवन की सूक्ष्म बद्धता से मुक्त हुआ; गुणैः—गुणों से; च—तथा; आशय-सम्भवैः—उसके मन में प्रकट हुए; मया—मेरे द्वारा; एव—निस्सन्देह; ब्रह्मणा—परब्रह्म द्वारा; पूर्णः—पूर्ण तथा सन्तुष्ट; न—नहीं; बहिः—बाहर (इन्द्रियतृप्ति); न—न तो; अन्तरः—भीतर (इन्द्रियतृप्ति की स्मृति); चरेत्—विचरण करे।

मन की सूक्ष्म बद्धता तथा भौतिक चेतना से उत्पन्न गुणों से मुक्त हुआ जीव मेरे दिव्य स्वरूप का अनुभव करने से पूर्णतया तुष्ट हो जाता है। वह न तो बहिरंगा शक्ति में भोग को ढूँढता है, न ही अपने मन में ऐसे भोग का चिन्तन या स्मरण करता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत में आध्यात्मिक मोक्ष प्राप्त करने के लिए मनुष्य जीवन एक दुर्लभ अवसर है। इस अध्याय में भगवान् कृष्ण ने प्रकृति के तीनों गुणों के लक्षणों का तथा कृष्णभावनामृत की दिव्य स्थिति का विस्तार से वर्णन किया है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने हमें आदेश दिया है कि कृष्ण-नाम की शरण लें जिससे हम प्रकृति के गुणों को पार करके, भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति का असली जीवन शुरू कर सकते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के अन्तर्गत ''प्रकृति के तीन गुण तथा उनसे परे'' नामक पच्चीसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छब्बीस

ऐल-गीत

इस अध्याय में यह बतलाया गया है कि अनुपयुक्त संगति भक्ति-पद के लिए कितनी घातक है और सन्त पुरुषों की संगति किस तरह भक्ति के उच्च पद तक ले जाने वाली है।

जीव को मानव शरार मिला है, जो भगवान् को प्राप्त कराने में लाभप्रद है और जिसने इसे भगवान् के भक्ति-कार्यों में लगा दिया है, वह आध्यात्मिक आनन्दस्वरूप भगवान् की अनुभूति करने में समर्थ है। भगवान् के प्रति समर्पित ऐसा व्यक्ति माया के प्रभाव से छूट जाता है और मोह से उत्पन्न इस जगत में रहते हुए भी वह इससे पूरी तरह अछूता रहता है। किन्तु वे आत्माएँ, जो माया द्वारा बद्ध है, अपने उदर तथा जननांगों की पूर्ति में ही लगी रहती है। वे अशुद्ध होती है और जो कोई व्यक्ति इनकी संगति करता है, वह अज्ञान के गर्त में जा गिरता है।

सम्राट पुरूरवा, जो उर्वशी अप्सरा की संगति से मोहित हो चुका था, उससे विलग होने पर विरक्त बन गया। उसने नारी संगति के प्रति अपनी घृणा को व्यक्त करते हुए एक गीत गाया। उसने बतलाया कि जो पुरुष स्त्री-शरीर से, जो कि चर्म, मांस, रक्त, मज्जा, अस्थि आदि से निर्मित एक ढेला है, लिप्त रहते है, वे कीड़ों से भिन्न नहीं है। जिस व्यक्ति का मन किसी स्त्री द्वारा हर लिया जाय, उसकी शिक्षा, तपस्या, त्याग, वेदानुभूति, एकान्तवास तथा मौन का क्या महत्त्व है? विद्वान व्यक्तियों को चाहिए कि

कामादि छः मानसिक शत्रुओं पर कभी विश्वास न करें और स्त्रियों अथवा स्त्रियों द्वारा नियंत्रित पुरुषों की संगति करने से बचें। इन तथ्यों को घोषित करने के बाद राजा पुरूरवा संसार के मोह से मुक्त हो गया और उसने अन्तर में निवास करने वाले परमात्मा का साक्षात्कार किया।

निष्कर्ष यह निकला कि बुद्धिमान व्यक्ति को बुरी संगति त्याग देनी चाहिए और सन्त पुरुषों की संगति के प्रति आकृष्ट होना चाहिए। ये सन्त भक्त अपने दिव्य उपदेशों से मनुष्य के मन के मिथ्या लगावों को तोड़ सकते है। असली सन्त तो सदैव मुक्त होते है और भगवान् की भक्ति करते है। उनकी संगति में भगवान् के विषय में निरन्तर चर्चाएँ चलती रहती है जिनकी सेवा करने से आत्मा के सारे भौतिक पाप दूर हो जाते है और शुद्ध भक्ति प्राप्त होती है। और जब उन भगवान् की भक्ति प्राप्त हो जाती है, जो असीम गुणों के आदि सागर है, तो फिर पाने के लिए रह ही क्या जाता है ?

श्रीभगवानुवाच
मल्लक्षणमिमं कायं लब्ध्वा मद्धर्म आस्थितः ।
आनन्दं परमात्मानमात्मस्थं समुपैति माम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; मत्-लक्षणम्—जिसमें मेरा साक्षात्कार हो सकता है; इमम्—यह; कायम्—मानव शरीर; लब्ध्वा—प्राप्त करके; मत्-धर्मे—मेरी भक्ति में; आस्थितः—स्थित; आनन्दम्—शुद्ध आनन्द रूप; परम-आत्मानम्—परमात्मा को; आत्म-स्थम्—हृदय के भीतर स्थित; समपैति—प्राप्त करता है; माम्—मुझको।.

भगवान् ने कहा : इस मनुष्य जीवन को, जो मनुष्य को मेरा साक्षात्कार करने का अवसर प्रदान करता है, पाकर और मेरी भक्ति में स्थित होकर, मनुष्य मुझे प्राप्त कर सकता है, जो कि समस्त आनन्द का आगार तथा हर जीव के हृदय में वास करने वाला परमात्मा स्वरूप है।

तात्पर्य : बुरी संगति से मुक्त जीव भी आत्म-साक्षात्कार से नीचे गिर सकते है। भौतिक जगत में स्त्रियों की संगति विशेष रूप से घातक है; अतएव इस अध्याय में ऐसे पतन से रोकने के लिए ही ऐल-गीत कहा गया है। मनुष्य सन्त पुरुषों की संगति करके यौन-आकर्षण से बच सकता है क्योंकि वे असली आध्यात्मिक बुद्धि जगाने वाले है। इसलिए भगवान् कृष्ण उद्धव से पुरूरवा का अद्भुत गीत कहेंगे जिसे *ऐल-गीत* भी कहा जाता है।

गुणमय्या जीवयोन्या विमुक्तो ज्ञाननिष्ठया ।

गुणेषु मायामात्रेषु दृश्यमानेष्ववस्तुतः ।
वर्तमानोऽपि न पुमान्युज्यतेऽवस्तुभिर्गुणैः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

गुण-मय्या—प्रकृति के गुणों पर आधारित; जीव-योन्या—भौतिक जीवन के कारण से, झूठी पहचान; विमुक्तः—पूर्णतया मुक्त व्यक्ति; ज्ञान—दिव्य ज्ञान में; निष्ठया—पूरी तरह स्थिर होने से; गुणेषु—गुणों के फलों में से; माया-मात्रेषु—जो केवल मोह है; दृश्यमानेषु—आँखों के सामने प्रकट; अवस्तुतः—यद्यपि सत्य नहीं है; वर्तमानः—रहते हुए; अपि—यद्यपि; न—नहीं; पुमान्—वह व्यक्ति; युज्यते—फँस जाता है; अवस्तुभिः—असत्य; गुणैः—गुणों की अभिव्यक्ति से।

दिव्य ज्ञान में स्थिर व्यक्ति प्रकृति के गुणों के फलों से अपनी झूठी पहचान त्याग कर, बद्ध जीवन से मुक्त हो जाता है। इन फलों को मात्र मोह समझ कर उन्हीं के बीच निरन्तर रहते हुए वह प्रकृति के गुणों में फँसने से अपने को बचाता है। चूँकि गुण तथा उनके फल सत्य नहीं होते, अतएव वह उन्हें स्वीकार नहीं करता।

तात्पर्य : प्रकृति के तीनों गुण भौतिक शरीरों, स्थानों, परिवारों, देशों, भोजनों, खेलों, युद्ध, शान्ति आदि के रूप में प्रकट होते है। दूसरे शब्दों में, इस जगत में दिखने वाली हर वस्तु प्रकृति के गुणों से बनी है। मुक्तात्मा भौतिक शक्ति के सागर में रहते हुए भी, हर वस्तु को भगवान् की सम्पत्ति मानता है, जिससे वह उनमें फँसता नहीं। यद्यपि माया ऐसे मुक्तात्मा को भी चोर बनने के लिए लालच देती है—इन्द्रियतृप्ति के लिए भगवान् की सम्पत्ति की चोरी करने के लिए ललचाती है, किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति माया के फेंके चारे को खाता नहीं। वह ईमानदार तथा कृष्णभावनामृत में शुद्ध बना रहता है। दूसरे शब्दों में, वह यह विश्वास नहीं करता कि ब्रह्माण्ड की कोई भी वस्तु, विशेष रूप से स्त्री का मोहमय रूप, उसकी इन्द्रियतृप्ति की निजी सम्पत्ति बन सकती है।

सङ्गं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित् ।
तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगान्धवत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सङ्गम्—साथ; न कुर्यात्—नहीं करे; असताम्—भौतिकतावादी लोगों का; शिश्न—जननांग; उदर—तथा पेट; तृपाम्—तृप्ति में लगे हुए; क्वचित्—किसी भी समय; तस्य—ऐसे व्यक्ति का; अनुगः—अनुयायी; तमसि अन्धे—अँधेरे गड्ढे में; पतति—गिर पड़ता है; अन्ध-अनुग—अंधे मनुष्य के पीछे चलने वाला; अन्ध-वत्—दूसरे अन्धे व्यक्ति की ही तरह।

मनुष्य को कभी ऐसे भौतिकतावादियों की संगति नहीं करनी चाहिए जो अपने जननांग तथा उदर की तृप्ति में लगे रहते हों। उनका अनुसरण करने पर मनुष्य अंधकार के गहरे गड्ढे में गिर जाता है, जिस तरह एक अंधे व्यक्ति द्वारा दूसरे अंधे व्यक्ति का अनुगमन करने पर होता है।

ऐलः सम्राडिमां गाथामगायत बृहच्छ्रवाः ।
उर्वशीविरहान्मुह्यन्निर्विण्णः शोकसंयमे ॥ ४॥

शब्दार्थ

ऐलः—राजा पुरूरवा; सम्राट्—महान् राजा; इमाम्—इस; गाथाम्—गीत को; अगायत—गाया; बृहत्—विस्तृत; श्रवाः—यश वाला; उर्वशी-विरहात्—उर्वशी से वियोग के कारण; मुह्यन्—मोहित होकर; निर्विण्णः—विरक्त-सा; शोक—शोक; संयमे—अन्ततः अपने वश में होकर।

निम्नलिखित गीत सुप्रसिद्ध सम्राट पुरूरवा द्वारा गाया गया था। अपनी पत्नी उर्वशी से विलग होने पर सर्वप्रथम वह संभ्रमित हुआ किन्तु अपने शोक को वश में करने से वह विरक्ति का अनुभव करने लगा।

तात्पर्य : यह कथा *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध में भी वर्णित है। ऐल अर्थात् पुरूरवा महान् राजा था जिसका यश दूर-दूर तक फैला था। जब वह उर्वशी से विलग हुआ, तो सर्वप्रथम उसे महान् संभ्रान्ति हुई किन्तु कुरुक्षेत्र में थोड़ी देर के लिए उससे मिलने के बाद, उसने गन्धर्वों द्वारा प्रदत्त यज्ञ-अग्नि से देवताओं की पूजा की। इससे वह उस लोक में प्रवेश कर सका जिसमें उर्वशी रहती थी।

त्यक्त्वात्मानं व्रयन्तीं तां नग्न उन्मत्तवन्नृपः ।
विलपन्नन्वगाज्जाये घोरे तिष्ठेति विक्लवः ॥ ५॥

शब्दार्थ

त्यक्त्वा—छोड़ कर; आत्मानम्—उसे; व्रजन्तीम्—दूर जाती हुई; ताम्—उसको; नग्नः—नंगा; उन्मत्त-वत्—पागल व्यक्ति की तरह; नृपः—राजा; विलपन्—विलाप करता; अन्वगात्—पीछे पीछे गया; जाये—हे मेरी पत्नी; घोरे—हे निष्ठुर स्त्री; तिष्ठ—रुको; इति—इस प्रकार कहते हुए; विक्लवः—दुख से अभिभूत।

जब वह उसको छोड़ रही थी, तो वह नंगा होते हुए भी, उसके पीछे पागल की तरह दौड़ने लगा और अत्यन्त दुख से चिल्लाने लगा, "मेरी पत्नी, अरे निष्ठुर नारी! जरा ठहर।"

तात्पर्य : जब राजा की प्रिय पत्नी उसे छोड़ रही थी, तो राजा आघात से चिल्ला रहा था, "ओ मेरी पत्नी! क्षण-भर सोचो तो। जरा रुको! अरे निष्ठुर नारी! क्या तुम रुक भी नहीं सकती? हम क्षण-भर बातें क्यों नहीं कर लेते? तुम मुझे क्यों मार रही हो?" इस तरह विलाप करता हुआ वह उसका पीछा कर रहा था।

कामानतृप्तोऽनुजुषन्क्षुल्लकान्वर्षयामिनीः ।
न वेद यान्तीर्नायान्तीरुर्वश्याकृष्टचेतनः ॥ ६॥

शब्दार्थ

कामान्—विषय-भोग की इच्छा; अतृप्तः—अपूर्ण; अनुजुषन्—तृप्त करते हुए; क्षुल्लकान्—क्षुद्र; वर्ष—अनेक वर्षों की; यामिनीः—रातें; न वेद—नहीं जाना; यान्तीः—जाते हुए; न—न तो; आयान्तीः—आतेहुए; उर्वशी—उर्वशी द्वारा; आकृष्ट—आकर्षित; चेतनः—मन।

यद्यपि पुरूरवा ने वर्षों तक सायंकाल की घड़ियों में यौन आनन्द भोगा था, फिर भी ऐसे तुच्छ भोग से वह तृप्त नहीं हुआ था। उसका मन उर्वशी के प्रति इतना आकृष्ट था कि वह यह भी देख नहीं पाया कि रातें किस तरह आती और चली जाती है।

तात्पर्य : यह श्लोक उर्वशी के साथ पुरूरवा के भौतिकतावादी अनुभव को बतलाने वाला है।

ऐल उवाच

अहो मे मोहविस्तारः कामकश्मलचेतसः ।
देव्या गृहीतकण्ठस्य नायुःखण्डा इमे स्मृताः ॥ ७॥

शब्दार्थ

ऐलः उवाच—राजा पुरूरवा ने कहा; अहो—हाय; मे—मेरा; मोह—मोह का; विस्तारः—फैलाव; काम—काम द्वारा; कश्मल—दूषित; चेतसः—चेतना; देव्या—इस देवी द्वारा; गृहीत—पकड़ी गई; कण्ठस्य—जिसकी गर्दन; न—नहीं; आयुः—मेरी आयु के; खण्डाः—विभाग, टुकड़े; इमे—ये; स्मृताः—देखे गये।

राजा ऐल ने कहा : हाय! मेरे मोह के विस्तार को तो देखो! यह देवी मेरा आलिंगन करती थी और मेरी गर्दन अपनी मुट्ठी में किये रहती थी। मेरा हृदय काम-वासना से इतना दूषित था कि मुझे इसका ध्यान ही न रहा कि मेरा जीवन किस तरह बीत रहा है।

नाहं वेदाभिनिर्मुक्तः सूर्यो वाभ्युदितोऽमुया ।
मूषितो वर्षपूगानां बताहानि गतान्युत ॥ ८॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मै; वेद—जानता हूँ; अभिनिर्मुक्तः—अस्त हुआ; सूर्यः—सूर्य; वा—अथवा; अभ्युदितः—उदय हुआ; अमुया—उसके द्वारा; मूषितः—धोखा दिया गया; वर्ष—वर्षों; पूगानाम्—अनेक; बत—हाय; अहानि—दिन; गतानि—बीते हुए; उत—निश्चय ही।

इस स्त्री ने मुझे इतना ठगा कि मै उदय होते अथवा अस्त होते सूर्य को भी देख नहीं सका। हाय! मै इतने वर्षों से व्यर्थ ही अपने दिन गँवाता रहा।

तात्पर्य : उस देवी के प्रति आसक्ति के कारण पुरूरवा अपनी भगवद्भक्ति भूल गया और उस सुन्दर तरुणी को प्रसन्न करने में ही लगा रहता था। इस तरह अपना अमूल्य समय व्यर्थ गँवाने के कारण, बाद में वह शोक करने लगा। जो लोग कृष्णभावनाभावित होते है वे अपना हर क्षण भगवान् की सेवा में लगाते है।

अहो मे आत्मसम्मोहो येनात्मा योषितां कृतः ।
क्रीडामृगश्चक्रवर्ती नरदेवशिखामणिः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; मे—मेरा; आत्म—मेरा; सम्मोहः—पूर्ण मोह; येन—जिससे; आत्मा—मेरा शरीर; योषिताम्—स्त्रियों के; कृतः—हो गया; क्रीडा-मृगः—खिलौना; चक्रवर्ती—शक्तिशाली सम्राट; नरदेव—राजाओं का; शिखा-मणिः—मुकुट का मणि।

हाय! यद्यपि मै शक्तिशाली सम्राट तथा इस पृथ्वी पर समस्त राजाओं का मुकुटमणि माना जाता हूँ, किन्तु देखो न! मोह ने मुझे स्त्रियों के हाथों का खिलौने जैसा पशु बना दिया है।

तात्पर्य : चूँकि राजा का शरीर स्त्रियों की ऊपरी इच्छाओं को तुष्ट करने में पूरी तरह लगा हुआ था, इसलिए उसका शरीर उन स्त्रियों के हाथों के खिलौने जैसा पशु था।

सपरिच्छदमात्मानं हित्वा तृणमिवेश्वरम् ।
यान्तीं स्त्रियं चान्वगमं नग्न उन्मत्तवद्रुदन् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

स-परिच्छदम्—मेरे राज्य तथा सारी साज-सामग्री सहित; आत्मानम्—अपने आप; हित्वा—त्याग कर; तृणम्—घास को; इव—मानो; ईश्वरम्—शक्तिमान प्रभु; यान्तीम्—जाते हुए; स्त्रियम्—स्त्री को; च—तथा; अन्वगमन्—मै पीछा करने लगा; नग्नः—नंगा; उन्मत्त-वत्—पागल जैसा; रुदन्—चिल्लाते हुए।

यद्यपि मै प्रचुर ऐश्वर्य से युक्त शक्तिशाली राजा था, किन्तु उस स्त्री ने मुझे त्याग दिया मानो मै कोई घास की तुच्छ पत्ती होऊँ। फिर भी मै, नग्न तथा लज्जारहित पागल व्यक्ति की तरह चिल्लाते हुए, उसका पीछा करता रहा।

कुतस्तस्यानुभावः स्यात्तेज ईशत्वमेव वा ।
योऽन्वगच्छं स्त्रियं यान्तीं खरवत्पादताडितः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

कुतः—कहाँ; तस्य—उस व्यक्ति का (मेरा); अनुभावः—प्रभाव; स्यात्—है; तेजः—बल; ईशत्वम्—स्वामित्व; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा; यः—जो; अन्वगच्छम्—पीछे पीछे दौड़ा; स्त्रियम्—यह स्त्री; यान्तीम्—जाते हुए; खर-वत्—गधे की तरह; पाद—पाँव से; ताडितः—दण्डित।

कहाँ है मेरा तथाकथित अत्यधिक प्रभाव, बल तथा स्वामित्व? जिस स्त्री ने मुझे पहले ही छोड़ दिया था उसके पीछे मै उसी तरह भागा जा रहा हूँ जैसे कि कोई गधा जिसके मुँह पर उसकी गधी दुलत्ती झाड़ती है।

किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन श्रुतेन वा ।
किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या लाभ; विद्यया—ज्ञान का; किम्—क्या; तपसा—तपस्याएँ; किम्—क्या; त्यागेन—त्याग का; श्रुतेन—श्रुतियों का; वा—अथवा; किम्—क्या; विविक्तेन—एकान्त रहने से; मौनेन—मौन रहने से; स्त्रीभिः—स्त्रियों से; यस्य—जिसका; मनः—मन; हृतम्—हर लिया गया हो।

ऊँची शिक्षा या तपस्या तथा त्याग से क्या लाभ? इसी तरह धार्मिक शास्त्रों का अध्ययन करने, एकान्त तथा मौन होकर रहने और फिर स्त्री द्वारा किसी का मन चुराये जाने से क्या लाभ?

तात्पर्य : उपर्युक्त सारी विधियाँ व्यर्थ होती है यदि किसी मनुष्य का हृदय तथा मन क्षुद्र स्त्री द्वारा चुरा लिया जाय। जो व्यक्ति स्त्री की संगति के लिए लालायित रहता है, वह निश्चय ही अपनी आध्यात्मिक प्रगति को रोक देता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते है कि यदि कोई वृन्दावन की मुक्त गोपियों की पूजा करता है जिन्होंने श्रीकृष्ण को अपने जार रूप में स्वीकार किया था वह मन के कार्यकलापों को काम से दूषित होने से बचा सकता है।

स्वार्थस्याकोविदं धिङ्मां मूर्खं पण्डितमानिनम् ।
योऽहमीश्वरतां प्राप्य स्त्रीभिर्गोखरवज्जितः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

स्व-अर्थस्य—अपना हित; अकोविदम्—न जानने वाला; धिक्—धिक्कार है; माम्—मुझसे; मूर्खम्—मूर्ख; पण्डित-मानिनम्—अपने को बड़ा भारी विद्वान मानते हुए; यः—जो; अहम्—मै; ईश्वरताम्—प्रभुता का पद; प्राप्य—पाकर; स्त्रीभिः—स्त्रियों द्वारा; गो-खर-वत्—बैलों या गधे जैसा; जितः—जीता गया।

धिक्कार है मुझे! मै इतना बड़ा मूर्ख हूँ कि मैने यह भी नहीं जाना कि मेरे लिए क्या अच्छा है। मैने तो उद्धत भाव से यह सोचा था कि मै अत्यधिक बुद्धिमान हूँ। यद्यपि मुझे स्वामी का उच्च पद प्राप्त हो गया, किन्तु मै स्त्रियों से अपने को परास्त करवाता रहा मानो मै कोई बैल या गधा होऊँ।

तात्पर्य : इस जगत के सारे मूर्ख अपने को परम ज्ञानी पंडित मानते हैं, भले ही इन्द्रियतृप्ति से उन्मत्त और स्त्रियों की संगति के लिए पागल होकर वे बैलों और गधों जैसे हो जाते हैं। सन्त स्वभाव गुरु की कृपा से यह कामुक इच्छा धीरे धीरे हटाई जा सकती है और भयानक घृणित भौतिक इन्द्रियतृप्ति को समझा जा सकता है। इस श्लोक में राजा पुरूरवा कृष्णभावनामृत में अपनी चेतना

सँभाल रहा है।

सेवतो वर्षपूगान्मे उर्वश्या अधरासवम् ।
न तृप्यत्यात्मभूः कामो वह्निराहुतिभिर्यथा ॥ १४॥

शब्दार्थ

सेवतः—सेवा करता हुआ; वर्ष-पूगान्—अनेक वर्षों तक; मे—मेरा; उर्वश्याः—उर्वशी का; अधर—होठों का; आसवम्—अमृत; न तृप्यति—तृप्त नहीं होता; आत्म-भूः—मन से उत्पन्न; कामः—काम-वासना; वह्निः—आग; आहुतिभिः—आहुतियों से; यथा—तिस तरह।

यद्यपि मै उर्वशी के होठों के तथाकथित अमृत का सेवन वर्षों तक कर चुका था किन्तु मेरी काम-वासनाएँ मेरे हृदय में बारम्बार उठती रहीं और कभी तुष्ट नहीं हुईं जिस तरह घी की आहुति डालने पर, अग्नि कभी भी बुझाई नहीं जा सकती।

पुंश्चल्यापहृतं चित्तं को न्वन्यो मोचितुं प्रभुः ।
आत्मारामेश्वरमृते भगवन्तमधोक्षजम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

पुंश्चल्य—वेश्या द्वारा; अपहृतम्—चुराया गया; चित्तम्—मन; कः—कौन; नु—निस्सन्देह; अन्यः—अन्य व्यक्ति; मोचितुम्—मुक्त करने के लिए; प्रभुः—सक्षम; आत्म-आराम—आत्म-तुष्ट साधुओं का; ईश्वरम्—भगवान्; ऋते—के अतिरिक्त; भगवन्तम्—भगवान्; अधोक्षजम्—इन्द्रियों की परिधि से परे रहने वाला।

जो भौतिक अनुभूति के परे है और आत्माराम मुनियों के स्वामी है, उन भगवान् के अतिरिक्त मेरी इस चेतना को जो वेश्या के द्वारा चुराई जा चुकी है, भला और कौन बचा सकता है?

बोधितस्यापि देव्या मे सूक्तवाक्येन दुर्मतेः ।
मनोगतो महामोहो नापयात्यजितात्मनः ॥ १६॥

शब्दार्थ

बोधितस्य—सूचना-प्राप्त; अपि—भी; देव्या—देवी उर्वशी द्वारा; मे—मेरा; सु-उक्त—सुभाषित; वाक्येन—शब्दों द्वारा; दुर्मतेः—मन्द बुद्धि वाला; मनः-गतः—मन के भीतर; महा-मोहः—महान् संशय; न अपयाति—नहीं रुकता; अजित-आत्मनः—अपनी इन्द्रियों को वश में करने में असफल।

चूँकि मैने अपनी बुद्धि को मन्द बनने दिया और चूँकि मै अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर सका, इसलिए मेरे मन का महान् मोह मिटा नहीं यद्यपि उर्वशी ने सुन्दर वचनों द्वारा मुझे अच्छी सलाह दी थी।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध में वर्णन आया है कि देवी उर्वशी ने पुरूरवा से यह स्पष्ट

कह दिया था कि वह न तो कभी स्त्रियों पर न ही उनके वादों पर विश्वास करे। इस स्पष्टोक्ति के बावजूद वह पूर्णतया आसक्त बन गया जिससे उसे महान् मानसिक क्लेश झेलना पड़ा।

किमेतया नोऽपकृतं रज्ज्वा वा सर्पचेतसः ।
द्रष्टुः स्वरूपाविदुषो योऽहं यदजितेन्द्रियः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; एतया—उसके द्वारा; नः—हमको; अपकृतम्—अपराध हुआ; रज्ज्वा—रस्सी द्वारा; वा—अथवा; सर्प-चेतसः—सर्प मानते हुए; द्रष्टुः—ऐसे दर्शन का; स्वरूप—असली पहचान; अविदुषः—न समझने वाला; यः—जो; अहम्—मै; यत्—क्योंकि; अजित-इन्द्रियः—इन्द्रियों पर वश न पा सकने वाला।

भला मै अपने कष्ट के लिए उसे कैसे दोष दे सकता हूँ जबकि मै स्वयं अपने असली आध्यात्मिक स्वभाव से अपरिचित हूँ? मै अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर पाया, इसीलिए मै उस व्यक्ति की तरह हूँ जो निर्दोष रस्सी को भ्रमवश सर्प समझ बैठता है।

तात्पर्य : जब कोई व्यक्ति रस्सी को सर्प समझ बैठता है, तो वह भयभीत तथा चिन्तित रहता है। निस्सन्देह, ऐसा भय तथा चिन्ता मोह है क्योंकि रस्सी कभी काट नहीं सकती। इसी तरह जो व्यक्ति भ्रमवश यह सोचता है कि भगवान् की भौतिक मोहमयी शक्ति उसकी इन्द्रियतृप्ति के लिए है, वह अपने सिर पर भौतिक मोहमय भय तथा चिन्ता की बला मोल लेगा। राजा पुरूरवा स्पष्ट रूप से स्वीकार करते है कि तरुणी उर्वशी को दोष नहीं देना चाहिए। वह तो पुरूरवा था जिसने भ्रमवश उसे निजी भोग की वस्तु समझ रखा था, इसीलिए वह प्रकृति के नियमों के अनुसार कष्ट भोग रहा था। पुरूरवा स्वयं ही उर्वशी के बाह्य स्वरूप का लाभ उठाने का अपराधी था।

क्वायं मलीमसः कायो दौर्गन्ध्याद्यात्मकोऽशुचिः ।
क्व गुणाः सौमनस्याद्या ह्यध्यासोऽविद्यया कृतः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

क्व—कहाँ; अयम्—यह; मलीमसः—अत्यन्त गन्दा; कायः—शरीर; दौर्गन्ध्य—दुर्गन्ध; आदि—इत्यादि; आत्मकः—से युक्त; अशुचिः—अस्वच्छ; क्व—कहाँ; गुणाः—तथाकथित सद्गुण; सौमनस्य—फूलों की सुगन्धि तथा कोमलता; आद्याः—इत्यादि; हि—निश्चय ही; अध्यासः—ऊपर से थोपे गये; अविद्यया—अज्ञान से; कृतः—उत्पन्न।

आखिर यह दूषित शरीर है क्या—इतना गन्दा तथा दुर्गन्ध से भरा हुआ? मै एक स्त्री के शरीर की सुगन्धि तथा सुन्दरता से आकृष्ट हुआ था किन्तु आखिर वे आकर्षक स्वरूप है क्या? वे माया (मोह) द्वारा उत्पन्न छद्म आवरण ही तो है!

तात्पर्य : अब पुरूरवा की समझ में आया कि यद्यपि वह उर्वशी के सुगंधित सुन्दर शरीर के पीछे दीवाना था, किन्तु वह शरीर तो मल, वायु, कफ, रोम आदि अरुचिकर वस्तुओं का झोला था। दूसरे शब्दों में, पुरूरवा अब विवेकी बन रहा है।

पित्रोः किं स्वं नु भार्यायाः स्वामिनोऽग्नेः श्वगृध्रयोः ।
किमात्मनः किं सुहृदामिति यो नावसीयते ॥ १९ ॥
तस्मिन्कलेवरेऽमेध्ये तुच्छनिष्ठे विषज्जते ।
अहो सुभद्रं सुनसं सुस्मितं च मुखं स्त्रियः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

पित्रोः—माता-पिता के; किम्—क्या; स्वम्—सम्पत्ति; नु—अथवा; भार्यायाः—पत्नी का; स्वामिनः—मालिक का; अग्नेः—अग्नि का; श्व-गृध्रयोः—कुत्तों तथा सियारों का; किम्—क्या; आत्मनः—आत्मा का; किम्—क्या; सुहृदम्—मित्रों का; इति—इस प्रकार; यः—जो; न अवसीयते—निश्चित नहीं कर सकता; तस्मिन्—उस; कलेवरे—शरीर में; अमेध्ये—गर्हित; तुच्छ-निष्ठे—अधम स्थान की ओर बढ़ते हुए; विषजते—अनुरक्त हो जाता है; अहो—ओह; सु-भद्रम्—अत्यन्त आकर्षक; सु-नसम्—सुन्दर नाक वाली; सु-स्मितम्—सुन्दर हँसी; च—तथा; मुखम्—मुख; स्त्रियः—स्त्री का।

कोई यह निश्चित नहीं कर सकता है कि शरीर वास्तव में किसकी सम्पत्ति है। क्या यह उस माता-पिता की है, जिसने उसे जन्म दिया है, अथवा इसे सुख देने वाली पत्नी की है या इसके मालिक की है, जो शरीर को हुक्म देता रहता है? अथवा यह चिता की अग्नि की अथवा उन कुत्ते तथा सियारों की है, जो अन्ततोगत्वा इसका भक्षण करेंगे? क्या यह उस अन्तस्थ आत्मा की सम्पत्ति है, जो इसके सुख-दुख में साथ देता है अथवा यह शरीर उन घनिष्ठ मित्रों का है, जो इसको प्रोत्साहित करते तथा इसकी सहायता करते है? यद्यपि मनुष्य कभी भी शरीर के स्वामी को निश्चित नहीं कर पाता, किन्तु वह इससे अनुरक्त रहता है। यह भौतिक शरीर उस दूषित पदार्थ के समान है, जो निम्न स्थान की ओर बढ़ रहा है; फिर भी जब मनुष्य किसी स्त्री के मुख की ओर टकटकी लगाता है, तो सोचता है, "कितनी सुन्दर है यह स्त्री? कैसी सुघड़ नाक है इसकी और जरा इसकी सुन्दर हँसी को तो देखो।"

तात्पर्य : *तुच्छ-निष्ठे* शब्द सूचित करता है कि जमीन में दफनाने पर इस शरीर को कीड़े खा जायेंगे; यदि इसे जलाया गया तो यह राख हो जायगा और यदि किसी एकान्त स्थान में मरे, तो इसे कुत्ते तथा गीधें खा जायेंगी। माया की मोहमयी शक्ति स्त्रीरूप के भीतर प्रवेश करके मनुष्य के मस्तिष्क को मोहती है। मनुष्य स्त्रीरूप के अन्दर से प्रकट हो रही इस माया के प्रति आकृष्ट होता है, किन्तु जब

वह स्त्री के शरीर का आलिंगन करता है, तो उसे दो मुट्ठी-भर मल, रक्त, कफ, पित्त, चमड़ी, हड्डी, केश तथा मांस मिलते है। मनुष्यों को दैहिक चेतना के अज्ञान में कुत्तों-बिल्लियों जैसा नहीं बन जाना चाहिए। मनुष्य को कृष्णभावनामृत से प्रबुद्ध होकर भगवान् की शक्तियों का अनुचित लाभ उठाने का प्रयास किए बिना, भगवान् की सेवा करनी सीखनी चाहिए।

त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंहतौ ।
विण्मूत्रपूये रमतां कृमीणां कियदन्तरम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

त्वक्—चमड़ी से; मांस—मांस; रुधिर—खून; स्नायु—पेशी; मेदः—चर्बी; मज्जा—मज्जा; अस्थि—तथा हड्डी; संहतौ—बना हुआ; विट्—मल; मूत्र—मूत्र; पूये—तथा पीब का; रमताम्—रमण करता हुआ; कृमीणाम्—कीड़े-मकोड़ों के तुल्य; कियत्—कितना; अन्तरम्—अन्तर।

सामान्य कीड़ों-मकोड़ों तथा उन व्यक्तियों में अन्तर ही क्या है, जो चमड़ी, मांस, रक्त, पेशी, चर्बी, मज्जा, हड्डी, मल, मूत्र तथा पीब से बने इस भौतिक शरीर का भोग करना चाहते है?

अथापि नोपसज्जेत स्त्रीषु स्त्रैणेषु चार्थवित् ।
विषयेन्द्रियसंयोगान्मनः क्षुभ्यति नान्यथा ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अथ अपि—इतने पर भी; न उपसज्जेत—सम्पर्क रखे; स्त्रीषु—स्त्रियों से; स्त्रैणेषु—स्त्रियों पर अनुरक्त व्यक्तियों से; च—अथवा; अर्थ-वित्—अपना हित जानने वाला; विषय—भोग की वस्तु के; इन्द्रिय—इन्द्रियों के; संयोगात्—सम्बन्ध से; मनः—मन; क्षुभ्यति—क्षुब्ध होता है; न—नहीं; अन्यथा—अन्यथा।

सिद्धान्त रूप में शरीर की वास्तविक प्रकृति को जानने पर भी व्यक्ति को कभी भी स्त्रियों या स्त्रियों में लिप्त रहने वाले पुरुषों की संगति नहीं करनी चाहिए। आखिर, इन्द्रियों का उनके विषयों से सम्पर्क अनिवार्य रूप से मन को विचलित कर देता है।

अदृष्टादश्रुताद्भावान्न भाव उपजायते ।
असम्प्रयुञ्जतः प्राणाञ्शाम्यति स्तिमितं मनः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अदृष्टात्—अनदेखा; अश्रुतात्—अनसुना; भावात्—वस्तु से; न—नहीं; भावः—मानसिक क्षोभ; उपजायते—उत्पन्न होते है; असम्प्रयुञ्जतः—उसके लिए जो प्रयोग में नहीं ला रहा; प्राणान्—इन्द्रियों को; शाम्यति—शान्त हो जाता है; स्तिमितम्—नियंत्रित; मनः—मन।

चूँकि मन ऐसी वस्तु से क्षुब्ध नहीं होता जो न तो देखी गई हो, न सुनी गई हो, इसलिए ऐसे

व्यक्ति का मन, जो अपनी इन्द्रियों को रोकता है, स्वत: अपने भौतिक कर्मों को करने से रोक दिया जायेगा और शान्त हो जायेगा।

तात्पर्य : ऐसा तर्क दिया जा सकता है कि आँख मूँदने, स्वप्न देखने या एकान्त स्थान में रहने से मनुष्य इन्द्रियतृप्ति के विषय में स्मरण या चिन्तन कर सकता है। किन्तु ऐसा अनुभव विगत इन्द्रियतृप्ति के कारण होता है, जिसे वह बारम्बार देखता तथा सुनता था। जब मनुष्य इन विषयों से अपनी इन्द्रियों को रोकता है, विशेष रूप से स्त्रियों के घनिष्ठ सम्पर्क से, तो मन की भौतिक लालसा शिथिल पड़ जायेगी और अन्त में समाप्त हो जायेगी जिस तरह अग्नि बिना ईंधन के शान्त पड़ जाती है।

तस्मात्सङ्गो न कर्तव्यः स्त्रीषु स्त्रैणेषु चेन्द्रियैः ।
विदुषां चाप्यविस्त्रब्धः षड्वर्गः किमु मादृशाम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; सङ्गः—संगति; न कर्तव्यः—नहीं करे; स्त्रीषु—स्त्रियों की; स्त्रैणेषु—स्त्रियों पर अनुरक्त रहने वाले पुरुषों की; च—तथा; इन्द्रियैः—इन्द्रियों से; विदुषाम्—बुद्धिमान व्यक्तियों का; च अपि—भी; अविस्त्रब्धः—अविश्वसनीय; षट्-वर्गः—मन के छः शत्रु (काम, क्रोध, लोभ, मोह, नशा तथा ईर्ष्या); किम् उ—क्या कहा जाय; मादृशाम्—मुझ जैसे व्यक्तियों का।

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी इन्द्रियों को स्त्रियों की या स्त्रियों के प्रति आसक्त पुरुषों की खुल कर संगति न करने दे। यहाँ तक कि जो अत्यधिक विद्वान है वे मन के छह शत्रुओं पर विश्वास नहीं कर सकते, तो फिर मुझ जैसे मूर्ख व्यक्तियों के बारे में क्या कहा जाय?

श्रीभगवानुवाच
एवं प्रगायन्नृपदेवदेवः
स उर्वशीलोकमथो विहाय ।
आत्मानमात्मन्यवगम्य मां वै
उपारमज्ज्ञानविधूतमोहः ॥ २५॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; एवम्—इस तरह; प्रगायन्—गाते हुए; नृप—मनुष्यों; देव—तथा देवताओं में; देवः—जो प्रसिद्ध था; सः—वह, राजा पुरूरवा; उर्वशी-लोकम्—उर्वशी का लोक, गन्धर्व लोक; अथ उ—तब; विहाय—छोड़ कर; आत्मानम्—परमात्मा; आत्मनि—अपने हृदय में; अवगम्य—अनुभव करके; माम्—मुझको; वै—निस्सन्देह; उपारमत्—शान्त हो गया; ज्ञान—दिव्य ज्ञान से; विधूत—हटा दिया; मोहः—मोह।

भगवान् ने कहा : इस प्रकार यह गीत गाकर देवताओं तथा मनुष्यों में विख्यात महाराज पुरूरवा ने वह पद त्याग दिया जिसे उसने उर्वशी लोक में प्राप्त कर लिया था। दिव्य ज्ञान से

उसका मोह हट गया; उसने अपने हृदय में मुझे परमात्मा रूप में समझ लिया जिससे अन्त में उसे शान्ति मिल गई।

ततो दु:सङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान् ।
सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

ततः—इसलिए; दुःसङ्गम्—बुरी संगति; उत्सृज्य—फेंक कर; सत्सु—सन्त भक्तों को; सज्जेत—लिप्त हो जाता है; बुद्धि-मन्—बुद्धिमान; सन्तः—सन्त पुरुष; एव—एकमात्र; अस्य—उसका; छिन्दन्ति—काट देते है; मनः—मन का; व्यासङ्गम्—अत्यधिक आसक्ति; उक्तिभिः—उनके शब्दों से।.

इसलिए बुद्धिमान मनुष्य को सारी कुसंगति त्याग देनी चाहिए और सन्त भक्तों की संगति ग्रहण करनी चाहिए जिनके शब्दों से मन का अति-अनुराग समाप्त हो जाता है।

सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः ।
निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

सन्तः—सन्त भक्त; अनपेक्षाः—किसी भौतिक वस्तु पर आश्रित न रह कर; मत्-चित्ताः—जिन्होंने मुझ पर अपना मन स्थिर कर रखा है; प्रशान्ताः—पूर्णतया शान्त; सम-दर्शिनः—समान दृष्टि से युक्त; निर्ममाः—ममत्व से रहित; निरहङ्काराः—मिथ्या अहंकार से मुक्त; निर्द्वन्द्वाः—समस्त द्वैतों से मुक्त; निष्परिग्रहाः—लोभ से मुक्त।.

मेरे भक्त अपने मनों को मुझ पर स्थिर करते हैं और किसी भी भौतिक वस्तु पर निर्भर नहीं रहते। वे सदैव शान्त, समदृष्टि से युक्त तथा ममत्व, अहंकार, द्वन्द्व तथा लोभ से रहित होते हैं।

तेषु नित्यं महाभाग महाभागेषु मत्कथाः ।
सम्भवन्ति हि ता नृणां जुषतां प्रपुनन्त्यघम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तेषु—उनमें से; नित्यम्—निरन्तर; महा-भाग—हे भाग्यवान उद्धव; महा-भागेषु—भाग्यशाली भक्तों में से; मत्-कथाः—मेरी कथाएँ; सम्भवन्ति—उत्पन्न होती हैं; हि—निस्सन्देह; ताः—वे कथाएँ; नृणाम्—मनुष्योंकी; जुषताम्—उनमें भाग लेने वाले; प्रपुनन्ति—पूरी तरह शुद्ध करते हैं; अघम्—पापों को।.

हे महाभागा उद्धव, ऐसे सन्त भक्तों की संगति में सदा मेरी चर्चा चलती रहती है और जो लोग मेरी महिमा के इस कीर्तन तथा श्रवण में भाग लेते हैं, वे निश्चित रूप से सारे पापों से शुद्ध हो जाते हैं।

तात्पर्य : यदि कोई व्यक्ति शुद्ध भक्त से सीधे शिक्षाएँ ग्रहण नहीं कर पाता, तो भगवान् का महिमा-गान करते हुए उस मनुष्य से केवल सुनने से ही, वह मोह में पड़ने वाले पापों से शुद्ध हो जाता

है।

ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः ।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ताः—वे कथाएँ; ये—जो व्यक्ति; शृण्वन्ति—सुनते हैं; गायन्ति—कीर्तन करते हैं; हि—निस्सन्देह; अनुमोदन्ति—आत्मसात करते हैं; च—तथा; आदृताः—आदरपूर्वक; मत्-पराः—मेरे परायण; श्रद्दधानाः—श्रद्धालु; च—तथा; भक्तिम्—भक्ति; विन्दन्ति—प्राप्त करते हैं; ते—वे; मयि—मेरे लिए।

जो कोई मेरी इन कथाओं को सुनता है, कीर्तन करता है और आदरपूर्वक आत्मसात् करता है, वह श्रद्धापूर्वक मेरे परायण हो जाता है और इस तरह मेरी भक्ति प्राप्त करता है।

तात्पर्य : जो व्यक्ति भगवान् कृष्ण के बढ़े-चढ़े भक्तों से श्रवण करता है, वह भवसागर से अपने को बचा सकता है। जब वह प्रामाणिक गुरु के आदेशों का पालन करता है, तो इससे मन की दूषित क्रियाओं पर रोक लगती है और वह वस्तुओं को नवीन आध्यात्मिक प्रकाश में देखता है। तब भगवान् की निस्वार्थ प्रेमाभक्ति की लालसा जगती है, जिससे भगवद्प्रेम का फल प्राप्त होता है।

भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते ।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

भक्तिम्—भगवान् की भक्ति; लब्धवतः—प्राप्त कर लेने वाले; साधोः—भक्त के लिए; किम्—क्या; अन्यत्—अन्य कुछ; अवशिष्यते—शेष रह जाता है; मयि—मुझमें; अनन्त-गुणे—अनन्त गुणों वाला; ब्रह्मणि—परब्रह्म में; आनन्द—आनन्द का; अनुभव—अनुभव; आत्मनि—से युक्त।

पूर्ण भक्त के लिए मुझ परब्रह्म की भक्ति प्राप्त कर लेने के बाद, करने के लिए बचता ही क्या है? परब्रह्म के गुण असंख्य हैं और मैं साक्षात् आनन्दमय अनुभव हूँ।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण की भक्ति इतनी मनोहारी है कि शुद्ध भक्त भगवान् की सेवा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहता। *श्रीमद्भागवत* के दशम स्कन्ध में भगवान् कृष्ण ने गोपियों से कहा है कि उन्हें अपनी सेवा को ही उनकी भक्ति का फल स्वीकार करना होगा क्योंकि और किसी वस्तु से उतना सुख तथा ज्ञान प्राप्त नहीं होता जितना कि भक्ति से। जब कोई व्यक्ति भगवान् कृष्ण के नामों का कीर्तन एवं श्रवण श्रद्धा से करता है, तो उसका हृदय शुद्ध हो जाता है और वह भगवान् कृष्ण की भक्ति, कृष्णभावनामृत के आनन्दमय स्वभाव, को धीरे धीरे समझ सकता है।

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम् ।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून्संसेवतस्तथा ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; उपश्रयमाणस्य—पास आने वाले का; भगवन्तम्—शक्तिमान; विभावसुम्—अग्नि; शीतम्—शीत; भयम्—डर; तमः—अंधकार; अप्येति—हट जाते हैं; साधून्—साधु भक्त; संसेवतः—सेवा में लगे रहने वाले के लिए; तथा—उसी प्रकार।

जो व्यक्ति यज्ञ-अग्नि के पास पहुँच चुका हो, उसके लिए जिस तरह शीत, भय तथा अंधकार दूर हो जाते हैं, उसी तरह जो व्यक्ति भगवान् के भक्तों की सेवा में लगा रहता है उसका आलस्य, भय तथा अज्ञान दूर हो जाता है।

तात्पर्य : सकाम कर्मों में लगे रहने वाले लोग मन्द हैं; उन्हें भगवान् तथा आत्मा के विषय में उच्चतर जागरूकता का अभाव रहता है। भौतिकतावादी लोग मानो यंत्रवत् अपनी इन्द्रियों तथा इच्छाओं की तृप्ति में लगे रहते हैं, इसलिए उन्हें मन्द अथवा लगभग अचेत माना जाता है। जब वह भगवान् के चरणकमलों की सेवा करता है, तो ऐसा सारा आलस्य, भय तथा अज्ञान जाता रहता है, जिस तरह अग्नि के पास जाने पर शीत, भय तथा अँधेरा दूर हो जाता है।

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायणम् ।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

निमज्ज्य—डूबने वालों का; उन्मज्जताम्—तथा फिर से ऊपर उठने वालों का; घोरे—घोर, कठिन; भव—सांसारिक जीवन के; अब्धौ—सागर में; परम—परम; अयनम्—शरण; सन्तः—सन्त भक्तगण; ब्रह्म-विदः—परब्रह्म को समझने वाले; शान्ताः—शान्त; नौः—नाव; दृढा—मजबूत; इव—जिस तरह; अप्सु—जल में; मज्जताम्—डूबने वालों को।

भगवान् के भक्त, जो कि परम ज्ञान को शान्त भाव से प्राप्त हैं, उन लोगों के लिए चरम शरण हैं, जो भौतिक जीवन के भयावने सागर में बारम्बार डूबते तथा उठते हैं। ऐसे भक्त उस मजबूत नाव के सदृश होते हैं, तो डूब रहे व्यक्तियों की रक्षा करती है।

अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्तानां शरणं त्वहम् ।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग्बिभ्यतोऽरणम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अन्नम्—भोजन; हि—निस्सन्देह; प्राणिनाम्—जीवों का; प्राणः—प्राण; आर्तानाम्—दुखियों का; शरणम्—आश्रय; तु—तथा; अहम्—मैं; धर्मः—धर्म; वित्तम्—सम्पत्ति; नृणाम्—मनुष्यों का; प्रेत्य—मरने के बाद; सन्तः—भक्तगण; अर्वाक्—नीचे जाने वालों का; बिभ्यतः—डरने वालों के लिए; अरणम्—शरण।

जिस तरह समस्त प्राणियों के लिए भोजन ही जीवन है, जिस तरह मैं दुखियारों का परम आश्रय हूँ तथा जिस तरह इस लोक से मर कर जाने वालों के लिए धर्म ही सम्पत्ति है, उसी तरह मेरे भक्त उन लोगों के एकमात्र आश्रय हैं, जो जीवन की दुखमय अवस्था में पड़ने से डरते रहते हैं।

तात्पर्य : जो लोग भौतिक विषय-वासना तथा क्रोध के चंगुल में आने से डरते हैं, उन्हें भगवद्भक्तों के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए। ये भक्त मनुष्यों को आराम से भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगा सकते हैं।

सन्तो दिशन्ति चक्षूंसि बहिरर्कः समुत्थितः ।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च ॥ ३४॥

शब्दार्थ

सन्तः—भक्तगण; दिशन्ति—प्रदान करते हैं; चक्षूंषि—आँखें; बहिः—बाहरी; अर्कः—सूर्य; समुत्थितः—पूरी तरह उदय हुआ; देवताः—पूज्य देव; बान्धवाः—सम्बन्धीजन; सन्तः—भक्तगण; सन्तः—भक्तगण; आत्मा—आत्मा; अहम्—मैं; एव च—भी।

मेरे भक्तगण दैवी आँखें प्रदान करते हैं जबकि सूर्य केवल बाह्य दृष्टि प्रदान करता है और वह भी तब जब वह आकाश में उदय हुआ रहता है। मेरे भक्तगण ही मनुष्य के पूज्य देव तथा असली परिवार हैं; वे स्वयं ही आत्मा हैं और वे मुझसे अभिन्न हैं।

तात्पर्य : मूर्खता उन अपवित्र लोगों की सम्पत्ति होती है, जो अपने धन को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करते हैं और अज्ञान के अंधकार में रहने के लिए दृढ़-संकल्प रहते हैं। भगवान् के सन्त भक्तगण सूर्य के समान हैं। उनके शब्दों के प्रकाश से जीवों के ज्ञानचक्षु खुल जाते हैं और अज्ञान का अंधकार नष्ट हो जाता है। इस तरह सन्त भक्त मनुष्यों के असली मित्र तथा सम्बन्धी होते हैं। वे ही सेवा के असली पात्र हैं, स्थूल शरीर नहीं जो एकमात्र इन्द्रियतृप्ति के लिए मचलता रहता है।

वैतसेनस्ततोऽप्येवमुर्वश्या लोकनिष्पृहः ।
मुक्तसङ्गो महीमेतामात्मारामश्चचार ह ॥ ३५॥

शब्दार्थ

वैतसेनः—राजा पुरूरवा; ततः अपि—इसी कारण से; एवम्—इस प्रकार; उर्वश्याः—उर्वशी का; लोक—उसी लोक में होने; निष्पृहः—इच्छा से रहित; मुक्त—मुक्त; सङ्गः—सारी भौतिक संगति से; महीम्—पृथ्वी; एताम्—इस; आत्म-आरामः—आत्मतुष्ट; चचार—विचरण करने लगा; ह—निस्सन्देह।

इस तरह उर्वशी के लोक में रहने की अपनी इच्छा त्याग कर महाराज पुरूरवा समस्त भौतिक संगति से मुक्त होकर तथा अपने भीतर पूरी तरह तुष्ट होकर पृथ्वी पर विचरण करने लगे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत 'ऐल-गीत' नामक छब्बीसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सत्ताईस

देवपूजा विषयक श्रीकृष्ण के आदेश

इस अध्याय में भगवान् ने *क्रिया-योग* अर्थात् देवपूजा की विधि के विषय में व्याख्या दी है।

भगवान् के अर्चाविग्रह की पूजा करने से मन में स्वतः शुद्धता तथा संतोष आता है। इस तरह यह समस्त वांछित लाभों का स्रोत है। यदि मनुष्य देवपूजा में नहीं लगता, तो वह भौतिक इन्द्रियतृप्ति के प्रति आकृष्ट होता रहता है और उसकी बुरी संगति छूटने की कोई आशा नहीं रहेगी। भगवान् ने सात्वत शास्त्रों के नियमों में प्रामाणिक अर्चाविग्रह रूप अपनी पूजा की विधि के विषय में आदेश दिये हैं। ब्रह्मा, शिव, नारद, व्यास तथा अन्य मुनियों ने भगवान् द्वारा बतलाई गई इसी विधि की संस्तुति की है, जो सभी वर्णों तथा आश्रमों के लोगों को, जिनमें स्त्रियाँ तथा शूद्र भी सम्मिलित हैं, सर्वाधिक उपयोगी है।

देवपूजा अर्थात् *अर्चन* की तीन विधियाँ हैं, जो या तो मूल वेदों, गौण तंत्रों या इन दोनों के संमेल पर आधारित हैं। देव की मूर्ति, भूमि, अग्नि, सूर्य, जल तथा पूजक का हृदय—ये सभी देव की उपस्थिति के असली स्थान हैं। जिस देव को पूजना हो, उसका निर्माण जिन आठ में से किसी एक वस्तु से किया जा सकता है वे हैं—पत्थर, काष्ठ, धातु, मिट्टी, रंग, बालू (भूमि पर बिछाई हुई), मन या रत्न। इन श्रेणियों का उपविभाजन अस्थायी तथा स्थायी में किया गया है।

पूजा-विधि का विस्तार इस प्रकार है : भक्त को शरीर से तथा मंत्रों के उच्चारण द्वारा स्नान करना चाहिए और तब दिन की नियत सन्धियों पर गायत्री का उच्चारण करना चाहिए। उसे पूर्व या उत्तर

अभिमुख होकर आसन ग्रहण करना चाहिए या फिर अर्चाविग्रह के समक्ष ही बैठना चाहिए और साफ करना चाहिये। तब उसे अर्चाविग्रह को स्नान कराना चाहिए। फिर वस्त्र तथा आभूषण भेंट करके पूजा के पात्रों तथा अन्य सामग्रियों पर जल छिड़कना चाहिए। तब अर्चाविग्रह के चरणों को धोने के लिए जल (अर्घ्य) चढ़ाना चाहिए, मुख धोने के लिए जल, सुगन्धित तेल, अगुरु, दीपक, फूल तथा विविध पकवान भेंट करने चाहिए। इसके बाद भगवान् के सेवकों, अंगरक्षकों, उनकी प्रिया-शक्तियों तथा गुरुओं की तत्सम्बन्धी मूल मंत्रों का उच्चारण करके पूजा करनी चाहिए। पूजक को चाहिए कि पुराणों आदि से स्तुतियाँ करे, साष्टांग प्रणाम करे, वर माँगे और भगवान् पर चढ़ाई गई माला के बचे अंश धारण करे।

इस देव अर्चन-विधि में सुन्दर मन्दिर बनवाकर अर्चाविग्रह की उचित स्थापना सम्मिलित है। साथ ही जुलूस (यात्रा) तथा अन्य उत्सव भी मनाये जाँय। इस तरह अहैतुकी भक्ति द्वारा श्री हरि की पूजा करने से मनुष्य को उनके चरणकमलों की शुद्ध भक्ति प्राप्त होती है। किन्तु जो व्यक्ति अपने द्वारा या अन्यों द्वारा अर्चाविग्रह पर या ब्राह्मण को दान में दी गई सम्पत्ति को चुराता है उसे अगले जन्म में मलभक्षी कीट के रूप में जन्म लेना होगा।

श्रीउद्धव उवाच
क्रियायोगं समाचक्ष्व भवदाराधनं प्रभो ।
यस्मात्त्वां ये यथार्चन्ति सात्वताः सात्वतर्षभ ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; क्रिया-योगम्—संस्तुत क्रिया-विधि; समाचक्ष्व—बतलाइये; भवत्—आपकी; आराधनम्—अर्चाविग्रह पूजा; प्रभो—हे प्रभु; यस्मात्—किस रूप पर आधारित; त्वाम्—तुमको; ये—जो; यथा—जिस भाँति से; अर्चन्ति—पूजते हैं; सात्वताः—भक्तगण; सात्वत-ऋषभ—हे भक्तों के स्वामी।.

श्री उद्धव ने कहा : हे प्रभु, हे भक्तों के स्वामी, आप कृपा करके मुझे अपने अर्चाविग्रह रूप में अपनी पूजा की नियत विधि बतलायें। अर्चाविग्रह की पूजा करने वाले भक्तों की क्या क्षमताएँ होती हैं? ऐसी पूजा किस आधार पर स्थापित है? तथा पूजा की विशिष्ट विधि क्या है?

तात्पर्य : भगवद्भक्त अपने नियत कर्मों के अतिरिक्त मन्दिर में अर्चाविग्रह रूप में भगवान् की नियमित पूजा करते हैं। ऐसी पूजा शरीर को भोगने की काम-वासना तथा इस काम-वासना से उत्पन्न भौतिक पारिवारिक आसक्ति दोनों से हृदय विमल करने के लिए प्रबल शक्ति से कार्य करती है। किन्तु

अर्चाविग्रह पूजा की विधि प्रभावशाली हो इसके लिए प्रामाणिक विधि अपनानी होती है। इसलिए अब उद्धवजी भगवान् से इस विषय में पूछ रहे हैं।

एतद्वदन्ति मुनयो मुहुर्निःश्रेयसं नृणाम् ।
नारदो भगवान्व्यास आचार्योऽङ्गिरसः सुतः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; वदन्ति—कहते हैं; मुनयः—मुनिजन; मुहुः—बारम्बार; निःश्रेयसम्—जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; नारदः—नारद मुनि; भगवान् व्यासः—श्रील व्यासदेव; आचार्यः—मेरे गुरु; अङ्गिरसः—अंगिरा का; सुतः—पुत्र।

सारे मुनि बारम्बार घोषित करते हैं कि ऐसी पूजा से मनुष्य जीवन में बड़े-से-बड़ा सम्भव लाभ मिलता है। नारद मुनि, महान् व्यासदेव तथा मेरे अपने गुरु बृहस्पति का यही मत है।

निःसृतं ते मुखाम्भोजाद्यदाह भगवानजः ।
पुत्रेभ्यो भृगुमुख्येभ्यो देव्यै च भगवान्भवः ॥ ३ ॥
एतद्वै सर्ववर्णानामाश्रमाणां च सम्मतम् ।
श्रेयसामुत्तमं मन्ये स्त्रीशूद्राणां च मानद ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

निःसृतम्—निकला; ते—आपके; मुख-अम्भोजात्—कमल-मुख से; यत्—जो; आह—कहा; भगवान्—महान् स्वामी; अजः—स्वतःजन्मे ब्रह्मा; पुत्रेभ्यः—अपने पुत्रों द्वारा; भृगु-मुख्येभ्यः—भृगु आदि; देव्यै—देवी पार्वती से; च—तथा; भगवान् भवः—शिवजी ने; एतत्—यह (पूजा-विधि); वै—निस्सन्देह; सर्व-वर्णानाम्—सारे वर्णों; आश्रमाणाम्—तथा आश्रमों द्वारा; च—भी; सम्मतम्—स्वीकृत; श्रेयसाम्—जीवन में विभिन्न लाभों का; उत्तमम्—सर्वश्रेष्ठ; मन्ये—मैं मानता हूँ; स्त्री—स्त्रियों के लिए; शूद्राणाम्—तथा निम्न श्रेणी के श्रमिकों के लिए; च—भी; मान-द—हे वदान्य प्रभु।

हे वदान्य प्रभु, अर्चाविग्रह की इस पूजा-विधि के आदेश सर्वप्रथम आपने अपने कमलमुख से दिये। तब ब्रह्माजी ने इन्हें भृगु इत्यादि अपने पुत्रों को दिया और शिवजी ने अपनी पत्नी पार्वती को दिया। यह विधि सभी वर्णों तथा आश्रमों द्वारा स्वीकार की जाती है और उनके उपयुक्त है। इसलिए मैं अर्चाविग्रह के रूप में आपकी पूजा को, स्त्रियों तथा शूद्रों तक के लिए समस्त आध्यात्मिक अभ्यासों में अत्यन्त लाभप्रद मानता हूँ।

एतत्कमलपत्राक्ष कर्मबन्धविमोचनम् ।
भक्ताय चानुरक्ताय ब्रूहि विश्वेश्वरेश्वर ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; कमल-पत्र-अक्ष—हे कमलनयन प्रभु; कर्म-बन्ध—भौतिक कार्य के बन्धन से; विमोचनम्—मोक्ष का साधन; भक्ताय—आपके भक्तों से; अनुरक्ताय—अत्यन्त अनुरक्त; ब्रूहि—कृपया कहें; विश्व-ईश्वर—ब्रह्माण्ड के सारे प्रभुओं के; ईश्वर—हे परमेश्वर।

हे कमलनयन, हे ब्रह्माण्ड के सारे ईश्वरों के ईश्वर, कृपया अपने इस भक्त-दास को कर्म-बन्धन से मोक्ष का साधन बतलायें।

श्रीभगवानुवाच
न ह्यन्तोऽनन्तपारस्य कर्मकाण्डस्य चोद्धव ।
सङ्क्षिप्तं वर्णयिष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; न—नहीं है; हि—निस्सन्देह; अन्तः—छोर; अनन्त-पारस्य—असीम का; कर्म-काण्डस्य—पूजा करने की वैदिक संस्तुतियाँ; च—तथा; उद्धव—हे उद्धव; सङ्क्षिप्तम्—संक्षेप में; वर्णयिष्यामि—बतलाऊँगा; यथा-वत्—उपयुक्त ढंग से; अनुपूर्वशः—उपयुक्त क्रम से।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, अर्चाविग्रह पूजा करने के लिए इतने वैदिक उपाय हैं कि उनका कोई अन्त नहीं है; इसलिए मैं यह विषय तुम्हें संक्षेप में एक-एक करके बतलाऊँगा।

तात्पर्य : *कर्म-काण्ड* पूजा की विविध वैदिक विधियों का द्योतक है जिनका अन्त भगवान् की अर्चाविग्रह पूजा में होता है। जिस तरह इन्द्रियतृप्ति तथा भौतिक वैराग्य के साधन असंख्य हैं, उसी तरह वैकुण्ठ में भगवान् द्वारा भोगी जाने वाली दिव्य लीलाएँ तथा गुण भी असंख्य हैं। भौतिक जगत में पुण्य की धारणाएँ तथा शुद्धि की जो विधियाँ हैं, वे परब्रह्म को स्वीकार किये बिना, परस्पर मेल नहीं खातीं क्योंकि उनको जाने बिना मनुष्य के लिए जानने लायक जरूरी बातों को जान पाना सम्भव नहीं है। यद्यपि प्राय: सारे लोग पूजा की विविध विधियों में लगे रहते हैं, किन्तु अब भगवान् इस विषय का संक्षेप में वर्णन करेंगे कि उनके अर्चाविग्रह रूप की पूजा कैसे की जाय।

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः ।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चरेत् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

वैदिकः—चारों वेदों के अनुसार; तान्त्रिकः—व्यावहारिक व्याख्यात्मक ग्रंथों के अनुसार; मिश्रः—मिश्रित; इति—इस प्रकार; मे—मेरा; त्रि-विधः—तीन प्रकार के; मखः—यज्ञ; त्रयाणाम्—तीनों के; ईप्सितेन—जो सर्वाधिक उपयुक्त जान पड़े, उससे; एव—निश्चय ही; विधिना—विधि से; माम्—मुझको; समर्चरेत्—ठीक से पूजे।

मनुष्य को चाहिए कि वैदिक, तांत्रिक अथवा मिश्रित, इन तीन विधियों में से, जिनसे मैं यज्ञ प्राप्त करता हूँ, किसी एक को चुन कर सावधानीपूर्वक मेरी पूजा करे।

तात्पर्य : *वैदिक* चारों वेदों तथा उपवेदों से मंत्रों द्वारा सम्पन्न यज्ञ का द्योतक है। *तान्त्रिक पञ्चरात्र* तथा *गौतमीय तन्त्र* जैसे ग्रंथों का द्योतन करता है। *मिश्र:* इन दोनों प्रकार के ग्रंथों के उपयोग का द्योतक है। स्मरण रहे कि विशद वैदकि यज्ञों की ऊपरी नकल से जीवन की वास्तविक सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। मनुष्य को भगवान् द्वारा बतलाई विधि से यज्ञ करना चाहिए—जो विधि इस युग के लिए संस्तुत की गई है, वह है उनके पवित्र नाम का कीर्तन—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे।

यदा स्वनिगमेनोक्तं द्विजत्वं प्राप्य पूरुषः ।
यथा यजेत मां भक्त्या श्रद्धया तन्निबोध मे ॥ ८॥

शब्दार्थ

यदा—जब; स्व—अपनी योग्यता के अनुसार; निगमेन—वेदों के द्वारा; उक्तम्—आदेश दिया गया; द्विजत्वम्—द्विज बनने का पद; प्राप्य—प्राप्त करके; पूरुषः—व्यक्ति; यथा—जिस तरह; यजेत—पूजा करे; माम्—मुझको; भक्त्या—भक्ति से; श्रद्धया—श्रद्धा से; तत्—वह; निबोध—कृपया सुनें; मे—मुझसे।

अब तुम श्रद्धापूर्वक सुनो क्योंकि मैं बतला रहा हूँ कि किस तरह द्विज पद को प्राप्त व्यक्ति संबद्ध वैदिक संस्तुतियों द्वारा भक्तिपूर्वक मेरी पूजा करे।

तात्पर्य : *स्व-निगमेन* शब्द सूचक है विशेष वैदिक आदेशों का जो वर्ण तथा आश्रम से संगत हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य जाति के सदस्य गायत्री मंत्र की दीक्षा लेकर *द्विजत्वम्* प्राप्त करते हैं। प्रथा के अनुसार पूर्ण योग्य ब्राह्मण-बालकों को आठ वर्षों में, क्षत्रियों को ग्यारह वर्षों में तथा वैश्यों को बारह वर्षों में दीक्षा दी जा सकती है बशर्ते कि उचित शर्तें पूरी होती हों। द्विजत्व प्राप्त करने के बाद मनुष्य को अर्चाविग्रह रूप में भगवान् की पूजा करनी चाहिए जैसाकि स्वयं भगवान् बतलायेंगे।

अर्चायां स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्ये वाप्सु हृदि द्विजः ।
द्रव्येण भक्तियुक्तोऽर्चेत्स्वगुरुं माममायया ॥ ९॥

शब्दार्थ

अर्चायाम्—अर्चाविग्रह के रूप में भीतर; स्थण्डिले—पृथ्वी पर; अग्नौ—अग्नि में; वा—अथवा; सूर्ये—सूर्ये में; वा—अथवा; अप्सु—जल में; हृदि—हृदय में; द्विजः—ब्राह्मण; द्रव्येण—विविध साज-सामग्री से; भक्ति-युक्तः—भक्ति से युक्त; अर्चेत्—पूजा करे; स्व-गुरुम्—अपने आराध्य स्वामी की; माम्—मुझको; अमायया—किसी संशय से रहित होकर।

द्विज को चाहिए कि वह अपने आराध्य देव मुझको बिना द्वैत के मेरे अर्चाविग्रह पर प्रेममयी भक्ति के साथ उपयुक्त साज-सामग्री प्रदान करके पूजे अथवा पृथ्वी पर, अग्नि में, सूर्य में, जल

में या पूजक के ही हृदय में प्रकट होने वाले मेरे रूप को पूजे।

**पूर्वं स्नानं प्रकुर्वीत धौतदन्तोऽङ्गशुद्धये ।
उभयैरपि च स्नानं मन्त्रैर्मृद्ग्रहणादिना ॥ १० ॥**

शब्दार्थ

पूर्वम्—पहले; स्नानम्—स्नान; प्रकुर्वीत—सम्पन्न करे; धौत—धोकर; दन्तः—दाँत; अङ्ग—शरीर की; शुद्धये—शुद्धि के लिए; उभयैः—दोनों प्रकार की; अपि च—भी; स्नानम्—स्नान; मन्त्रैः—मंत्रों से; मृत्-ग्रहण-आदिना—मिट्टी इत्यादि पोत कर।

मनुष्य को चाहिए कि पहले वह अपने दाँत साफ करके तथा स्नान करके अपना शरीर शुद्ध बनाये। तत्पश्चात् वह शरीर को मिट्टी से मल कर तथा वैदिक एवं तांत्रिक मंत्रों के उच्चारण द्वारा दुबारा शुद्ध करे।

**सन्ध्योपास्त्यादिकर्माणि वेदेनाचोदितानि मे ।
पूजां तैः कल्पयेत्सम्यक्सङ्कल्पः कर्मपावनीम् ॥ ११ ॥**

शब्दार्थ

सन्ध्या—दिन की तीन सन्धियों (प्रातः, दोपहर तथा सूर्यास्त) पर; उपास्ति—पूजा करे (गायत्री मंत्र का उच्चारण करके); आदि—इत्यादि; कर्माणि—नियत कार्य; वेदेन—वेदों द्वारा; आचोदितानि—संस्तुत; मे—मेरी; पूजाम्—पूजा; तैः—इन कार्यों से; कल्पयेत्—सम्पन्न करे; सम्यक्-सङ्कल्पः—दृढ़ संकल्प वाला; कर्म—कर्मफल; पावनीम्—समूल नष्ट कर देने वाला।

मनुष्य को चाहिए कि वह मन को मुझ पर स्थिर करके, अपने विविध नियत कार्यों द्वारा, यथा दिन में तीन संधियों पर गायत्री मंत्र का उच्चारण करके, मेरी पूजा करे। वेदों द्वारा ऐसे कार्यों का आदेश है और इनसे पूजा करने वाला अपने कर्मफलों से शुद्ध हो जाता है।

**शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती ।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता ॥ १२ ॥**

शब्दार्थ

शैली—पत्थर की बनी; दारु-मयी—काष्ठ की बनी; लौही—धातु की बनी; लेप्या—मिट्टी, चन्दन आदि से बना; लेख्या—चित्रित; च—तथा; सैकती—बालू की बनी; मनः-मयी—मन में विचारी गई; मणि-मयी—मणियों से बनी; प्रतिमा—अर्चाविग्रह; अष्ट-विधा—आठ प्रकार की; स्मृता—ऐसा स्मरण किया जाता है।

भगवान् के अर्चाविग्रह रूप का आठ प्रकारों में—पत्थर, काष्ठ, धातु, मिट्टी, चित्र, बालू, मन या रत्न में—प्रकट होना बतलाया जाता है।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि कतिपय अर्चाविग्रह रूप, यथा बालू से बने रूप, अल्पकाल के लिए पूजा करने वाले की निजी इच्छा की पूर्ति करने के लिए होते हैं। फिर भी जो लोग

शुद्ध भगवत्प्रेम पाना चाहते हैं, उन्हें अर्चाविग्रह के स्थायी रूप (उदाहरण के लिए, संगमरमर, स्वर्ण या पीतल से बने रूप) की पूजा करनी चाहिए और उन्हें यह पूजा करते रहना चाहिए। कृष्णभावनामृत में भगवान् की पूजा की उपेक्षा करने के लिए कोई गुंजाईश ही नहीं मिलती।

चलाचलेति द्विविधा प्रतिष्ठा जीवमन्दिरम् ।
उद्वासावाहने न स्तः स्थिरायामुद्धवार्चने ॥ १३॥

शब्दार्थ

चला—चल; अचला—अचल; इति—इस प्रकार; द्वि-विधा—दो प्रकार की; प्रतिष्ठा—स्थापना; जीव-मन्दिरम्—समस्त जीवों के आश्रय अर्चाविग्रह का; उद्वास—विसर्जन; आवाहने—तथा आवाहन; न स्तः—नहीं हैं; स्थिरायाम्—स्थायी रूप से स्थापित अर्चाविग्रह के लिए; उद्धव—हे उद्धव; अर्चने—पूजा में।

समस्त जीवों के शरण रूप भगवान् का अर्चाविग्रह दो प्रकारों से स्थापित किया जा सकता है—अस्थायी रूप से अथवा स्थायी रूप से। किन्तु हे उद्धव, स्थायी अर्चाविग्रह का आवाहन हो चुकने पर उसका विसर्जन नहीं किया जा सकता।

तात्पर्य : भगवान् के भक्त अपने को भगवान् का नित्य दास मानते हैं। वे अर्चाविग्रह को साक्षात् भगवान् मान कर अर्चाविग्रह की स्थायी स्थापना करते हैं और निरन्तर पूजा करते हैं। किन्तु निर्विशेषवादीजन भगवान् के नित्य रूप को क्षणिक मोह की अभिव्यक्ति मानते हैं। वस्तुतः वे अर्चाविग्रह रूप को ईश्वर बनने की दिशा में साधन मात्र मानते हैं। भौतिकतावादी व्यक्ति भगवान् को अपना बैरी समझते हैं इसलिए धार्मिक उत्सवों के लिए अस्थायी व्यवस्था करते हैं। पूजा की यह क्षणिक पूजा-विधि उन लोगों को भाती है, जो अपने स्वार्थों के लिए भगवान् का दुरुपयोग करना चाहते हैं किन्तु जो कृष्ण-भक्त हैं, वे भगवान् की पूजा में लगे रहते हैं। वे निरन्तर पूजने के लिए स्थायी अर्चाविग्रह स्थापित करते हैं।

अस्थिरायां विकल्पः स्यात्स्थण्डिले तु भवेद्द्वयम् ।
स्नपनं त्वविलेप्यायामन्यत्र परिमार्जनम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

अस्थिरायाम्—अस्थायी अर्चाविग्रह के प्रसंग में; विकल्पः—विकल्प (कि अर्चाविग्रह का आवाहन करना तथा विसर्जन करना है); स्यात्—है; स्थण्डिले—भूमि पर बने अर्चाविग्रह के प्रसंग में; तु—लेकिन; भवेत्—होते हैं; द्वयम्—ये दो अनुष्ठान; स्नपनम्—स्नान; तु—लेकिन; अविलेप्यायाम्—जब अर्चाविग्रह मिट्टी (चित्र या काष्ठ) से नहीं बनाया जाता; अन्यत्र—अन्य दशाओं में; परिमार्जनम्—पूर्ण सफाई किन्तु जल के बिना।

जो अर्चाविग्रह अस्थायी रूप से स्थापित किया जाता है उसका आवाहन और विसर्जन

विकल्प रूप में किया जा सकता है किन्तु ये दोनों अनुष्ठान तब अवश्य करने चाहिए जब अर्चाविग्रह को भूमि पर अंकित किया गया हो। अर्चाविग्रह को जल से स्नान कराना चाहिए यदि वह मिट्टी, रंजक या काष्ठ से न बनाया गया हो। ऐसा होने पर जल के बिना ही ठीक से सफाई करनी चाहिए।

तात्पर्य : विभिन्न श्रेणियों के भक्तगण अपनी अपनी श्रद्धा की विभिन्न स्थितियों के अनुसार भगवान् के अर्चाविग्रह की पूजा करते हैं। भगवान् कृष्ण का प्रगत भक्त भगवान् से अपने नित्य प्रेमपूर्ण सम्बन्ध को समझता है; वह अर्चाविग्रह को साक्षात् भगवान् मानता है और प्रेममयी सेवकाई के अनुसार अर्चाविग्रह से शाश्वत सम्बन्ध स्थापित करता है। भगवान् कृष्ण को सच्चिदानन्द रूप समझते हुए श्रद्धालु भक्त उदाहरण के तौर पर, पत्थर, काष्ठ या संगमरमर से बनी भगवान् की मूर्ति स्थापित करके, अर्चाविग्रह की पूजा का स्थायी प्रबन्ध करता है।

शालग्राम शिला को बिना किसी औपचारिक उत्सव के स्वत: प्रतिष्ठापित मान लिया जाता है, इसलिए अर्चाविग्रह को मंत्रों द्वारा आवाहन या विसर्जन करने की मनाही है। किन्तु यदि कोई अर्चाविग्रह को पवित्र भूमि पर रंजित करता है या बालू की प्रतिमा के रूप में बनाता है, तो अर्चाविग्रह का आवाहन मंत्रों द्वारा किया जाता है। फिर अर्चाविग्रह से बाह्य रूप त्यागने के लिए अनुरोध किया जाता है क्योंकि यह बाह्य रूप शीघ्र ही प्राकृतिक तत्त्वों द्वारा विनष्ट हो जायेगा।

सामान्य सिद्धान्त यह है कि शुद्ध भक्त अर्चाविग्रह के साथ अपने सम्बन्ध को शाश्वत मानता है। जो व्यक्ति प्रेमाभक्ति में जितना ही अर्चाविग्रह के शरणागत होता है, वह भगवान् को उतना ही समझ सकता है। भगवान् कृष्ण एक पुरुष हैं किन्तु वे परम पुरुष हैं जिनकी भावनाएँ अद्वितीय होती हैं। भगवान् के अर्चाविग्रह रूप की भक्ति करके भगवान् को आसानी से प्रसन्न किया जा सकता है और भगवान् को प्रसन्न करने से मनुष्य जीवन के मिशन में क्रमश: उन्नति कर सकता है और अन्त में भगवान् के पास वापस जा सकता है जहाँ अर्चाविग्रह भक्त के सम्मुख प्रकट होता है और अपने निजी आवास में भक्त का स्वागत करता है, जो सारे संसार में भगवद्धाम के नाम से जाना जाता है।

द्रव्यैः प्रसिद्धैर्मद्यागः प्रतिमादिष्वमायिनः ।

भक्तस्य च यथालब्धैर्हृदि भावेन चैव हि ॥ १५॥

शब्दार्थ

द्रव्यैः—साज-सामग्री से; प्रसिद्धैः—सर्वोत्तम; मत्-यागः—मेरी पूजा; प्रतिमा-आदिषु—विभिन्न अर्चाविग्रह रूपों में; अमायिनः—इच्छारहित; भक्तस्य—भक्त का; च—तथा; यथा-लब्धैः—जो भी साज-सामग्री सरलता से प्राप्त की जा सकती है; हृदि—हृदय में; भावेन—मानसिक संकल्पना द्वारा; च—तथा; एव हि—निश्चय ही।

मनुष्य को चाहिए कि उत्तम से उत्तम साज-सामग्री भेंट करके मेरे अर्चाविग्रह रूप में मेरी पूजा करे। किन्तु भौतिक इच्छा से पूर्णतया मुक्त भक्त मेरी पूजा, जो भी वस्तु मिल सके उसी से करे, यहाँ तक कि वह अपने हृदय के भीतर मानसिक साज-सामग्री से भी मेरी पूजा कर सकता है।

तात्पर्य : आज भी जो भक्त भौतिक इच्छा द्वारा सताया हुआ होता है, वह जगत को इन्द्रियतृप्ति की वस्तु के रूप में देखता है। ऐसा नवदीक्षित भक्त भगवान् के परम पद को गलत समझ सकता है, यहाँ तक कि वह भगवान् को ही अपने भोग की वस्तु मान सकता है। इसलिए नवदीक्षित को चाहिए कि देवता को ऐश्वर्यपूर्ण साज-सामग्री भेंट करे जिससे वह निरन्तर स्मरण रख सके कि अर्चाविग्रह परम भोक्ता है और नवदीक्षित तो मात्र पूजक होता है और अर्चाविग्रह के आनन्द के लिए है। इसके विपरीत कृष्णभावनामृत में स्थिर हुआ प्रगत भक्त यह कभी नहीं भूलता कि परमेश्वर हर वस्तु का वास्तविक भोक्ता तथा नियन्ता है। शुद्ध भक्त जो भी साज-सामग्री आसानी से मिल सकती है, उसी के साथ भगवान् को अपने शुद्ध प्रेम की भेंट चढ़ाता है। कृष्णभावनाभावित भक्त कभी भी कृष्ण-भक्ति में विचलित नहीं होता और वह सादी से सादी भेंट द्वारा भी भगवान् को पूरी तरह तुष्ट करता है।

स्नानालङ्करणं प्रेष्ठमर्चायामेव तूद्धव ।
स्थण्डिले तत्त्वविन्यासो वह्नावाज्यप्लुतं हविः ॥ १६॥
सूर्ये चाभ्यर्हणं प्रेष्ठं सलिले सलिलादिभिः ।
श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्यपि ॥ १७॥

शब्दार्थ

स्नान—स्नान; अलङ्करणम्—तथा वस्त्रों एवं गहनों से सजाना; प्रेष्ठम्—पसन्द किया जाता है; अर्चायाम्—अर्चाविग्रह रूप के लिए; एव—निश्चय ही; तु—तथा; उद्धव—हे उद्धव; स्थण्डिले—भूमि पर अंकित अर्चाविग्रह केलिए; तत्त्व-विन्यासः—मंत्रोच्चार द्वारा अर्चाविग्रह के विविध अंगों के भीतर भगवान् के अंशों तथा शक्तियों की स्थापना; वह्नौ—यज्ञ की अग्नि के लिए; आज्य—घी में; प्लुतम्—डूबा; हविः—तिल, जौ, गुड़ आदि की आहुति; सूर्ये—सूर्य के लिए; च—तथा; अभ्यर्हणम्—बारह आसनों का योग-ध्यान तथा अर्घ्य दान; प्रेष्ठम्—अत्यन्त प्रिय; सलिले—जल के लिए; सलिल-आदिभिः—जल इत्यादि की भेंटों से; श्रद्धया—श्रद्धा के साथ; उपाहृतम्—भेंट किया; प्रेष्ठम्—अत्यन्त प्रिय; भक्तेन—भक्त द्वारा; मम—मेरा; वारि—जल; अपि—भी।

हे उद्धव, मन्दिर के अर्चाविग्रह की पूजा में स्नान कराना तथा सजाना सर्वाधिक मनोहारी भेटें हैं। पवित्र भूमि पर अंकित अर्चाविग्रह के लिए *तत्त्वविन्यास* ही सर्वाधिक रुचिकर विधि है। तिल तथा जौ को घी में सिक्त करके जो आहुतियाँ दी जाती हैं, उन्हें यज्ञ की अग्नि भेंट से अधिक अच्छा माना जाता है, जबकि उपस्थान तथा अर्घ्य से युक्त पूजा सूर्य के लिए अच्छी मानी जाती है। मनुष्य को चाहिए कि जल को ही अर्पित करके जल के रूप में मेरी पूजा करे। वस्तुतः मेरे भक्त द्वारा श्रद्धापूर्वक मुझे जो कुछ अर्पित किया जाता है—भले ही वह थोड़ा-सा जल ही क्यों न हो—मुझे अत्यन्त प्रिय है।

तात्पर्य : भगवान् सर्वत्र विद्यमान रहते हैं तथा वैदिक संस्कृति में भगवान् के विविध रूपों में पूजा करने के लिए विविध कर्मकाण्ड हैं। मुख्य बात तो पूजा करने वाले की श्रद्धा तथा भक्ति है, जिसके बिना सब व्यर्थ है जैसाकि अगले श्लोक में भगवान् द्वारा बतलाया गया है।

भूर्यप्यभक्तोपाहृतं न मे तोषाय कल्पते ।
गन्धो धूपः सुमनसो दीपोऽन्नाद्यं च किं पुनः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

भूरि—ऐश्वर्यवान; अपि—भी; अभक्त—अभक्त द्वारा; उपाहृतम्—भेंट किया; न—नहीं; मे—मेरा; तोषाय—सन्तोष; कल्पते—उत्पन्न करते हैं; गन्धः—सुगन्धि; धूपः—धूप; सुमनसः—फूल; दीपः—दीपक; अन्न-आद्यम्—भोजन सामग्री; च—तथा; किम् पुनः—क्या कहा जाय।

बड़ी से बड़ी ऐश्वर्यपूर्ण भेंट भी मुझे तुष्ट नहीं कर पाती यदि वे अभक्तों द्वारा प्रदान की जायँ। किन्तु मैं अपने प्रेमी भक्तों द्वारा प्रदत्त तुच्छ से तुच्छ भेंट से भी प्रसन्न हो जाता हूँ और जब सुगंधित तेल, अगुरु, फूल तथा स्वादिष्ट भोजन की उत्तम भेंट प्रेमपूर्वक चढ़ाई जाती हैं, तो मैं निश्चय ही सर्वाधिक प्रसन्न होता हूँ।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में भगवान् कह चुके हैं कि प्रेम तथा भक्तिपूर्वक चढ़ाया गया थोड़ा-सा जल भी उन्हें परम आनन्द प्रदान करने वाला है। इसलिए *किं पुनः* शब्द भगवान् के पूर्ण आनन्द के सूचक हैं जब प्रेम तथा भक्ति के साथ बड़ी-से-बड़ी उपयुक्त भेंट चढ़ाई जाती है। किन्तु अभक्त द्वारा चढ़ाई गई बड़ी-से-बड़ी भेंट भगवान् को प्रसन्न नहीं कर पाती। जैसाकि श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि अर्चाविग्रह के पूजा विषयक विधि-विधान तथा अर्चाविग्रह के प्रति किये गये अपराधों की सूची लोगों को सहायता पहुँचाने के लिए है ताकि वे भगवान् के अर्चाविग्रह रूप के प्रति अनादर या उपेक्षा

भाव दिखलाने से बच सकें। वस्तुत: सारे अपराध भगवान् को स्वामी के रूप में न मानने पर और इस तरह उनके आदेशों का अनादर तथा उल्लंघन करने पर आधारित हैं। चूँकि अर्चाविग्रह की आदरपूर्वक पूजा करनी चाहिए, इसलिए अर्चाविग्रह को प्रेमपूर्वक ऐश्वर्यपूर्ण भेंटें चढ़ानी चाहिए क्योंकि ऐसी भेंटों से पूजा करने वाले की आदरणीयता बढ़ती है तथा उसकी पूजा में अपराधों से बचने में सहायता मिलती है।

शुचिः सम्भृतसम्भारः प्राग्दर्भैः कल्पितासनः ।
आसीनः प्रागुदग्वार्चेदर्चायां त्वथ सम्मुखः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

शुचिः—पवित्र; सम्भृत—एकत्र करके; सम्भारः—साज-सामग्री; प्राक्—उनके सिरे पूर्व की ओर निर्देशित; दर्भैः—कुश द्वारा; कल्पित—व्यवस्थित करके; आसनः—अपने आसन पर; आसीनः—बैठा हुआ; प्राक्—पूर्वाभिमुख; उदक्—उत्तराभिमुख; वा—अथवा; अर्चेत्—पूजा करे; अर्चायाम्—अर्चाविग्रह का; तु—लेकिन; अथ—अथवा; सम्मुखः—सामने।

अपने को स्वच्छ करके तथा सारी सामग्री एकत्र करके पूजक को चाहिए कि अपना आसन पूर्वाभिमुख कुश से बनाये। तब वह पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके बैठे अन्यथा यदि अर्चाविग्रह किसी स्थान पर स्थिर है, तो अर्चाविग्रह के समक्ष बैठे।

तात्पर्य : *संभृतसम्भार* शब्द का अर्थ है कि अर्चाविग्रह की पूजा शुरू करने के पूर्व सारी आवश्यक पूजा-सामग्री निकट ही रख ले। इस तरह विभिन्न वस्तुओं को ढूँढने के लिए उसे बारम्बार उठना नहीं पड़ेगा। यदि अर्चाविग्रह को स्थायी रूप से स्थापित कर दिया गया हो, तो उसे चाहिए कि अर्चाविग्रह की ओर मुँह करके बैठे।

कृतन्यासः कृतन्यासां मदर्चां पाणिनामृजेत् ।
कलशं प्रोक्षणीयं च यथावदुपसाधयेत् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

कृत-न्यासः—अपने शरीर को पवित्र कर चुकने पर (विभिन्न अंगों का स्पर्श करके तथा उपयुक्त मंत्रों का उच्चारण करके भगवान् के संगत स्वरूप का ध्यान करते हुए); कृत-न्यासाम्—जिस अर्चाविग्रह पर यही विधि अपनाई गई हो; मत्-अर्चाम्—मेरा अर्चाविग्रह रूप; पाणिना—हाथ से; आमृजेत्—साफ करे (पुरानी भेंट के जूठन को हटाकर); कलशम्—शुभ वस्तुओं से भरे पात्र को; प्रोक्षणीयम्—छिड़कने के लिए जल से भरा पात्र; च—तथा; यथा-वत्—उपयुक्त रीति से; उपसाधयेत्—तैयार करे।

भक्त को चाहिए कि अपने शरीर के विभिन्न अंगों का स्पर्श करके तथा मंत्रोच्चारण करते हुए उन्हें पवित्र बनाये। उसे मेरे अर्चाविग्रह रूप के साथ भी ऐसा ही करना चाहिए और तब उसे

अपने हाथों से अर्चाविग्रह पर चढ़े पुराने फूलों तथा अन्य भेटों को हटाना चाहिए। उसे पवित्र कलश (पात्र) तथा छिड़कने के लिए जल से भरा पात्र भी उचित ढंग से तैयार करना चाहिए।

तात्पर्य : यहाँ पर वर्णित पूजा-विधि को शुरू करने के पूर्व मनुष्य को चाहिए कि अपने गुरु, अर्चाविग्रह तथा अन्य पूज्य पुरुषों को नमस्कार करे।

तदद्भिर्देवयजनं द्रव्याण्यात्मानमेव च ।
प्रोक्ष्य पात्राणि त्रीण्यद्भिस्तैस्तैर्द्रव्यैश्च साधयेत् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तत्—छिड़कने के उस पात्र के; अद्भिः—जल से; देव-यजनम्—स्थान जहाँ देवता की पूजा की जाती है; द्रव्याणि—साज-सामग्री; आत्मानम्—अपना शरीर; एव—निस्सन्देह; च—भी; प्रोक्ष्य—छिड़क कर; पात्राणि—पात्र, बर्तन; त्रीणि—तीन; अद्भिः—जल से; तैः तैः—जो उपलब्ध हों उन उनसे; द्रव्यैः—शुभ वस्तुओं से; च—तथा; साधयेत्—व्यवस्था करे।

तब उस प्रोक्षणीय पात्र से वह उस स्थान पर पानी छिड़के जहाँ अर्चाविग्रह की पूजा की जा रही हो, जहाँ भेंटे चढ़ाई जानी हों तथा साथ ही अपने शरीर पर भी पानी छिड़के। तत्पश्चात् वह जल से भरे तीन पात्रों को विविध शुभ वस्तुओं से सजाये।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी वैदिक साहित्य का सन्दर्भ देते हुए कहते हैं कि चरण पखारने के निमित्त जल में साँवा के दाने, दूर्वादल, विष्णुक्रान्त फूल तथा अन्य वस्तुएँ मिला लेनी चाहिए। अर्घ्य के लिए प्रयुक्त होने वाले जल में निम्नलिखित आठ चीजें होनी चाहिए—सुगन्धित तेल, फूल, जौ, अक्षत, कुश के अग्रभाग, तिल, सरसों तथा दूर्वादल। आचमन के लिए प्रयुक्त होने वाले जल में चमेली के फूल, पिसी लौंग तथा कक्कोल की गिरियाँ होनी चाहिए।

पाद्यार्घ्याचमनीयार्थं त्रीणि पात्राणि देशिकः ।
हृदा शीर्ष्णाथ शिखया गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

पाद्य—भगवान् के चरणों को पखारने के लिए जल; अर्घ्य—आदर-भाव से सत्कार हेतु भगवान् को अर्पित होने वाला जल; आचमनीय—तथा भगवान् का मुख धोने के लिए अर्पित किया गया जल; अर्थम्—के लिए रखा गया; त्रीणि—तीन; पात्राणि—पात्र; देशिकः—पूजा करने वाला; हृदा—हृदय मंत्र से; शीर्ष्णा—''सिर'' मंत्र से; अथ—तथा; शिखया—शिखा मंत्र से; गायत्र्या—तथा गायत्री मंत्र से; च—भी; अभिमन्त्रयेत्—उच्चारण करते हुए शुद्ध करे।

तब पूजा करने वाला इन तीनों पात्रों को शुद्ध करे। उसे चाहिए कि भगवान् के चरण पखारने के लिए जल वाले पात्र को *हृदयाय नमः* मंत्र से पवित्र करे; अर्घ्य के लिए जल-पात्र को *शिरसे स्वाहा* मंत्र से तथा भगवान् का मुख धोने वाले जल के पात्र को *शिखायै वषट्* मंत्र का

उच्चारण करके पवित्र बनाये। साथ ही, इन तीनों पात्रों के लिए गायत्री मंत्र का भी उच्चारण करे।

पिण्डे वाय्वग्निसंशुद्धे हृत्पद्मस्थां परां मम ।
अण्वीं जीवकलां ध्यायेन्नादान्ते सिद्धभाविताम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

पिण्डे—शरीर के भीतर; वायु—वायु; अग्नि—तथा अग्नि द्वारा; संशुद्धे—पूर्णतया शुद्ध हुआ; हृत्—हृदय के; पद्म—कमल पर; स्थाम्—स्थित; पराम्—दिव्य रूप; मम—मेरा; अण्वीम्—अत्यन्त सूक्ष्म; जीव-कलाम्—भगवान् जिनसे सारे जीव विस्तार पाते हैं; ध्यायेत्—ध्यान करे; नाद-अन्ते—ॐ की ध्वनि के अन्त में; सिद्ध—सिद्ध मुनि; भाविताम्—अनुभवी।

पूजा करने वाले को चाहिए कि वह मेरे सूक्ष्म रूप को, जो अब वायु तथा अग्नि से पवित्र हुए पूजा करने वाले के शरीर के भीतर स्थित होता है, समस्त जीवों के स्रोत रूप में ध्यान करे। भगवान् का यह रूप पवित्र अक्षर ॐ की ध्वनि के अन्त में स्वरूपसिद्ध मुनियों द्वारा अनुभव किया जाता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार प्रणव या ॐकार के पाँच भाग हैं—अ, उ, म, अनुस्वार विन्दु तथा प्रतिध्वनि (नाद)। मुक्तात्माएँ इस नाद के अन्त में भगवान् का ध्यान करती हैं।

तयात्मभूतया पिण्डे व्याप्ते सम्पूज्य तन्मयः ।
आवाह्यार्चादिषु स्थाप्य न्यस्ताङ्गं मां प्रपूजयेत् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

तया—ध्यान किये गये स्वरूप द्वारा; आत्म-भूतया—अपनी अनुभूति के अनुसार सोचा गया; पिण्डे—भौतिक शरीर में; व्याप्ते—व्याप्त; सम्पूज्य—उस रूप की भलीभाँति पूजा करके; तत्-मयः—उसकी उपस्थिति से युक्त; आवाह्य—आवाहन करके; अर्चा-आदिषु—पूजा किये जाने वाले विभिन्न अर्चाविग्रहों के भीतर; स्थाप्य—स्थापित करके; न्यस्त-अङ्गम्—उपयुक्त मंत्रों का उच्चारण करते हुए अर्चाविग्रह के विविध अंगों को छूकर; माम्—मुझको; प्रपूजयेत्—पूजा करे।

भक्त परमात्मा का ध्यान करता है, जिसकी उपस्थिति भक्त के शरीर को उसकी अनुभूति के अनुसार अधिक भर देती है। इस तरह भक्त अपनी सामर्थ्य-भर भगवान् की पूजा करता है और उन्हीं में लीन हो जाता है। अर्चाविग्रह के विभिन्न अंगों का स्पर्श करके तथा उपयुक्त मंत्रोच्चार करके भक्त को चाहिए कि वह परमात्मा को अर्चाविग्रह रूप में आने के लिए आमंत्रित करे और तब वह मेरी पूजा करे।

तात्पर्य : भक्त का शरीर परमेश्वर से उसी तरह व्याप्त रहता है, जिस तरह कोई घर दीपक के प्रकाश से व्याप्त रहता है। जिस तरह अतिथि को गृह में प्रवेश करने के लिए मैत्रीपूर्वक संकेत किया

जाता है, उसी तरह मनुष्य अर्चाविग्रह के शरीर का स्पर्श करता है, उपयुक्त मंत्रोच्चार करता है तथा अर्चाविग्रह के स्वरूप में प्रवेश करने के लिए परमात्मा को आमंत्रित करता है। चूँकि अर्चाविग्रह तथा परमात्मा दोनों ही भगवान् हैं, अतएव वे अभिन्न हैं। भगवान् का एक रूप दूसरे में तत्काल प्रकट हो सकता है।

पाद्योपस्पर्शार्हणादीनुपचारान्प्रकल्पयेत् ।
धर्मादिभिश्च नवभिः कल्पयित्वासनं मम ॥ २५ ॥
पद्ममष्टदलं तत्र कर्णिकाकेसरोज्ज्वलम् ।
उभाभ्यां वेदतन्त्राभ्यां मह्यं तूभयसिद्धये ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

पाद्य—भगवान् के चरण पखारने के लिए जल; उपस्पर्श—भगवान् का मुख धोने के लिए जल; अर्हण—अर्घ्य के रूप में भेंट किया गया जल; आदीन्—तथा अन्य वस्तुएँ; उपचारान्—भेंटें; प्रकल्पयेत्—चढ़ाये; धर्म-आदिभिः—धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य के साकार रूपों के सहित; च—तथा; नवभिः—नौ (भगवान् की शक्तियों); कल्पयित्वा—कल्पना करके; आसनम्—आसन; मम—मेरा; पद्मम्—कमल; अष्ट-दलम्—आठ पंखड़ियों वाला; तत्र—उसमें; कर्णिका—कोश में; केसर—केसर से; उज्ज्वलम्—तेजवान; उभाभ्याम्—दोनों साधनों से; वेद-तन्त्राभ्याम्—वेदों तथा तंत्रों से; मह्यम्—मुझको; तु—तथा; उभय—दोनों (भोग तथा मोक्ष) की; सिद्धये—प्राप्ति हेतु।

पूजा करने वाले को चाहिए कि सर्वप्रथम मेरे आसन को धर्म, ज्ञान, त्याग तथा ऐश्वर्य के साक्षात् देवों से तथा मेरी नौ आध्यात्मिक शक्तियों से अलंकृत होने की कल्पना करे। वह भगवान् के आसन को आठ पंखड़ियों वाले कमल के रूप में मान ले जो अपने कोश के भीतर केसर तन्तुओं से तेजवान है। तब वेदों तथा तंत्रों के नियमानुसार वह पाँव धोने का जल, मुख साफ करने का जल, अर्घ्य तथा पूजा की अन्य वस्तुएँ मुझे अर्पित करे। इस विधि से उसे भौतिक भोग तथा मोक्ष दोनों की प्राप्ति होती है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार, धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य—ये भगवान् के आसन के चार पैर हैं और दक्षिण-पूर्व आदि चार कोनों में स्थित हैं। अधर्म, अज्ञान, अनुरक्ति तथा कंजूसी—ये चार बीच के पाँव हैं, जो पूर्व आदि दिशाओं में स्थित हैं। भगवान् की नौ शक्तियों के नाम हैं—विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, ईशाना तथा अनुग्रहा।

सुदर्शनं पाञ्चजन्यं गदासीषुधनुर्हलान् ।
मुषलं कौस्तुभं मालां श्रीवत्सं चानुपूजयेत् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

सुदर्शनम्—भगवान् का चक्र; पाञ्चजन्यम्—भगवान् का शंख; गदा—उनकी गदा; असि—तलवार; इषु—तीर; धनुः—धनुष; हलान्—तथा हल; मुषलम्—मुषल हथियार; कौस्तुभम्—कौस्तुभ मणि; मालाम्—उनकी माला; श्रीवत्सम्—उनके वक्षस्थल पर सुशोभित श्रीवत्स; च—तथा; अनुपूजयेत्—एक के बाद एक पूजे।

मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के सुदर्शन चक्र, उनके पाञ्चजन्य शंख, उनकी गदा, तलवार, धनुष, बाण तथा हल, उनके मूसल, उनकी कौस्तुभ मणि, उनकी फूलमाला तथा उनके वक्षस्थल के केश-गुच्छ श्रीवत्स की पूजा इसी क्रम से करे।

नन्दं सुनन्दं गरुडं प्रचण्डं चण्डं एव च ।
महाबलं बलं चैव कुमुदं कमुदेक्षणम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

नन्दम् सुनन्दम् गरुडम्—नन्द, सुनन्द तथा गरुड़ नामक; प्रचण्डम् चण्डम्—प्रचण्ड तथा चण्ड; एव—निस्सन्देह; च—भी; महा-बलम् बलम्—महाबल तथा बल; च—तथा; एव—निस्सन्देह; कुमुदम् कुमुद-ईक्षणम्—कुमुद तथा कुमुदेक्षण।

मनुष्य को चाहिए कि नन्द, सुनन्द, गरुड़, प्रचण्ड तथा चण्ड, महाबल तथा बल एवं कुमुद तथा कुमुदेक्षण नामक भगवान् के संगियों की पूजा करे।

दुर्गां विनायकं व्यासं विष्वक्षेनं गुरून्सुरान् ।
स्वे स्वे स्थाने त्वभिमुखान्पूजयेत्प्रोक्षणादिभिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

दुर्गाम्—भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति; विनायकम्—आदि गणेश; व्यासम्—वेद के संग्राहक; विष्वक्सेनम्—विष्वक्सेन; गुरून्—अपने गुरुओं; सुरान्—देवताओं; स्वे स्वे—अपने अपने; स्थाने—स्थान पर; तु—तथा; अभिमुखान्—अर्चाविग्रह की ओर मुख करके; पूजयेत्—पूजा करे; प्रोक्षण-आदिभिः—शुद्धि के लिए जल छिड़कने आदि की विविध क्रियाओं द्वारा।

मनुष्य को चाहिए कि वह प्रोक्षण इत्यादि भेंटों से दुर्गा, विनायक, व्यास, विष्वक्सेन, गुरुओं तथा विविध देवताओं की पूजा करे। इन सारे व्यक्तियों को भगवान् के अर्चाविग्रह की ओर मुख किए हुए अपने अपने स्थानों में होना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार इस श्लोक में जिन गणेश तथा दुर्गा का उल्लेख हुआ है, वे इस भौतिक जगत में उपस्थित व्यक्ति नहीं, प्रत्युत वैकुण्ठ में भगवान् के नित्य संगी हैं। इस जगत में शिव-पुत्र गणेश धन देने के लिए विख्यात हैं और शिव-पत्नी दुर्गा देवी भगवान् की बहिरंगा मायाशक्ति के रूप में प्रसिद्ध हैं। किन्तु इस श्लोक में वर्णित सारे व्यक्ति भगवान् के नित्यमुक्त संगी हैं, जो वैकुण्ठ में वास करते हैं। श्रील जीव गोस्वामी यह सिद्ध करने के लिए विविध वैदिक ग्रंथों से उद्धरण देते हैं कि दुर्गा नाम भगवान् की अन्तरंगा शक्ति को भी सूचित कर सकता है, जो भगवान् से

अभिन्न है। भगवान् की बहिरंगा या आच्छादक शक्ति इसी आदि दुर्गा से विस्तार पाती है। भौतिक जगत की दुर्गा *महामाया* कहलाती हैं और जीवों को मोहने का कार्य करती हैं। इसलिए भक्त को यहाँ पर वर्णित दुर्गा जिसका नाम माया भी है, की पूजा करने से दूषित हो जाने से डरना नहीं चाहिए, प्रत्युत भक्त को वैकुण्ठ में भगवान् के इन नित्य सेवकों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना चाहिए।

चन्दनोशीरकर्पूरकुङ्कमागुरुवासितैः ।
सलिलैः स्नापयेन्मन्त्रैर्नित्यदा विभवे सति ॥ ३० ॥
स्वर्णघर्मानुवाकेन महापुरुषविद्यया ।
पौरुषेणापि सूक्तेन सामभी राजनादिभिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

चन्दन—चन्दन का लेप; उशीर—उशीर या खस; कर्पूर—कपूर; कुङ्कुम—सिंदुर; अगुरु—अगुरु से; वासितैः—सुगन्धित बनाया गया; सलिलैः—विभिन्न प्रकार के जल से; स्नापयेत्—अर्चाविग्रह को नहलाये; मन्त्रैः—मंत्रों से; नित्यदा—प्रतिदिन; विभवे—पूँजी; सति—हैं; स्वर्ण-घर्म-अनुवाकेन—स्वर्ण-धर्म नामक वेदों के अध्याय से; महा-पुरुष-विद्यया—महापुरुष नामक मंत्र द्वारा; पौरुषेण—पुरुष सूक्त द्वारा; अपि—भी; सूक्तेन—वैदिक स्तुति; सामभिः—सामवेद से गीतों द्वारा; राजन-आदिभिः—राजन नामक तथा अन्य।

पूजा करने वाले को चाहिए कि अपनी आर्थिक सामर्थ्य के अनुसार प्रतिदिन अर्चाविग्रह को स्नान कराने के लिए चन्दन-लेप, उशीर, कपूर, कुंकुम तथा अगुरु से सुगंधित किए गए जल का प्रयोग करे। उसे विविध वैदिक स्तुतियों का भी, यथा अनुवाक जो कि स्वर्ण-घर्म कहलाती है, महापुरुष विद्या, पुरुष सूक्त तथा सामवेद के विविध गीतों यथा राजन तथा रोहिण्य का भी उच्चारण करना चाहिए।

तात्पर्य : *पुरुष सूक्त* प्रार्थना ऋग्वेद में आई है और *ॐ सहस्रशिरसा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्* से शुरू होती है।

वस्त्रोपवीताभरणपत्रस्रग्गन्धलेपनैः ।
अलङ्कुर्वीत सप्रेम मद्भक्तो मां यथोचितम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

वस्त्र—कपड़े; उपवीत—ब्राह्मण का जनेऊ; आभरण—गहने; पत्र—तिलक से शरीर के विविध अंगों को सजाना; स्रक्—माला; गन्ध-लेपनैः—तथा सुगन्धित तेलों का लेपन; अलङ्कुर्वीत—अलंकृत करे; स-प्रेम—प्रेमपूर्वक; मत्-भक्तः—मेरा भक्त; माम्—मुझको; यथा उचितम्—जैसा आदेश हो।

तब मेरे भक्त को चाहिए कि वह मुझे वस्त्रों, जनेऊ, विविध आभूषनों, तिलक के चिन्ह तथा मालाओं से अच्छी तरह अलंकृत करे और मेरे शरीर पर सुगन्धित तेल का नियत विधि से

लेप करे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी *विष्णु धर्म उपपुराण* से महाराज अम्बरीष को दिये गये श्री विष्णु के उपदेश उद्धृत करते हैं, ''अपने मन को पूरी तरह अर्चाविग्रह में लीन करते हुए, तुम अन्य सारा आश्रय छोड़ दो तथा अर्चाविग्रह को ही अपना घनिष्ठ हितैषी मानो। तुम्हें चाहिए कि मानसिक रूप से उनकी पूजा करो और चलते, खड़े होते, सोते तथा खाते समय भी उनका ध्यान करो। तुम्हें चाहिए कि अर्चाविग्रह को अपने सामने, पीछे, ऊपर, नीचे तथा दोनों ओर देखो। इस तरह तुम्हें मेरे अर्चाविग्रह रूप का निरन्तर स्मरण करते रहना चाहिए।'' *गौतमीय तन्त्र* में यह आदेश है कि भगवान् के अर्चाविग्रह को जनेऊ दिया जाय और यदि सम्भव हो, तो वह सोने का हो। *नृसिंह पुराण* में कहा गया है, ''यदि कोई व्यक्ति भगवान् गोविन्द को पीला जनेऊ प्रदान करता है, जिसमें रेशम के तीन धागे होते हैं, तो वह वेदान्तमें पटु बन जाएगा।''

पाद्यमाचमनीयं च गन्धं सुमनसोऽक्षतान् ।
धूपदीपोपहार्याणि दद्यान्मे श्रद्धयार्चकः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

पाद्यम्—पाँव धोने का जल; आचमनीयम्—मुँह धोने का जल; च—तथा; गन्धम्—सुगन्धि; सुमनसः—फूल; अक्षतान्—अखण्डित बीज (चावल); धूप—अगुरु; दीप—दीपक; उपहार्याणि—साज-सामग्री की वस्तुएँ; दद्यात्—प्रदान करे; मे—मुझको; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; अर्चकः—पूजा करने वाला।

पूजक को चाहिए कि वह मेरे पाँव तथा मुँह धोने के लिए जल, सुगन्धित तेल, फूल, अक्षत तथा इसी के साथ अगुरु, दीपक तथा अन्य भेंटें भी दे।

गुडपायससर्पींषि शष्कुल्यापूपमोदकान् ।
संयावदधिसूपांश्च नैवेद्यं सति कल्पयेत् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

गुड—गुड़; पायस—खीर; सर्पींषि—तथा घी; शष्कुली—चावल के आटे, चीनी तथा तिल से बनी और घी में तली गई पूड़ी; आपूप—मीठा व्यंजन; मोदकान्—लड्डू; संयाव—आटा, घी तथा दूध से बनी आयताकार रोटी जिस पर चीनी तथा मसाला चुपड़ा हो; दधि—दही; सूपान्—तरकारी का शोरवा; च—तथा; नैवेद्यम्—भोजन की भेंट; सति—यदि उसके पास पर्याप्त साधन हों; कल्पयेत्—भक्त व्यवस्था करे।

अपने साधनों के ही अन्तर्गत भक्त को चाहिए कि मुझे भेंट करने के लिए गुड़, खीर, घी, शष्कुली (पूड़ी), आपूप, मोदक, *संयाव*—दही, शोरबा तथा अन्य स्वादिष्ट भोजन भेंट करने के लिए व्यवस्था करे।

तात्पर्य : *श्री हरिभक्ति विलास* (आठवाँ विलास श्लोक १५२-१६४) को देख कर अर्चाविग्रह पूजा में उचित तथा अनुचित भोजन की भेंट चढ़ाने की विस्तृत जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

अभ्यङ्गोन्मर्दनादर्शदन्तधावाभिषेचनम् ।
अन्नाद्यगीतनृत्यानि पर्वणि स्युरुतान्वहम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

अभ्यङ्ग—उबटन से; उन्मर्दन—मालिश; आदर्श—दर्पण दिखाना; दन्त-धाव—दाँत साफ करना; अभिषेचनम्—स्नान; अन्न—बिना चबाये खाया जाने वाला भोजन; आद्य—चबाकर खाया जाने वाला भोजन; गीता—गाना; नृत्यानि—तथा नाच; पर्वणि—विशेष उत्सवों पर; स्युः—करे; उत—या फिर (यदि सम्भव हो तो); अनु-अहम्—प्रतिदिन।.

विशेष अवसरों पर और यदि सम्भव हो तो नित्यप्रति अर्चाविग्रह को उबटन लगाया जाय, दर्पण दिखाया जाय, दाँत साफ करने के लिए नीम की दातून दी जाय, पाँच प्रकार के अमृत (पंचामृत) से नहलाया जाय, विविध उच्च कोटि के व्यंजन भेंट किये जायँ तथा उनका गायन और नृत्य से मनोरंजन किया जाय।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अर्चापूजन की विधि का वर्णन इस प्रकार किया है : ''सर्वप्रथम अर्चाविग्रह के दाँत साफ किये जाँय और उसके शरीर पर सुगंधित तेल की मालिश की जाय तथा सिन्दूर, कपूर आदि मला जाय। तत्पश्चात् सुगन्धित जल तथा पञ्चामृत से स्नान कराया जाय। इसके बाद बहुमूल्य रेशमी वस्त्र तथा रत्नजटित आभूषण पहनाये जाँय; शरीर पर चन्दन का लेप किया जाय और तब माला तथा अन्य उपहार भेंट किये जाँय। इसके बाद अर्चाविग्रह के समक्ष दर्पण रखा जाय और तब सुगन्धित तेल, फूल, अगुरु, दीपक तथा मुँह को स्वच्छ करने के लिए सुगन्धित जल प्रदान किया जाय। इसके बाद स्वादिष्ट भोजन, सुगन्धित जल, पान, माला, आरती दीप, शय्या इत्यादि प्रदान किये जाँय। अर्चाविग्रह पर पंखा भी झला जाय और वाद्य-संगीत, नृत्य तथा गाना-बजाना भी हो। यह अर्चापूजन विशेष अवसरों पर, यथा धार्मिक अवकाशों पर किया जाय और यदि हो सके तो नित्य किया जाय।'' श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार विशेष अर्चापूजन के लिए एकादशी की तिथि सर्वोपयुक्त है।

विधिना विहिते कुण्डे मेखलागर्तवेदिभिः ।
अग्निमाधाय परितः समूहेत्पाणिनोदितम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

विधिना—शास्त्रोक्त विधि से; विहिते—निर्मित; कुण्डे—यज्ञशाला में; मेखला—कमर की पेटी; गर्त—यज्ञ का गड्ढा; वेदिभिः—तथा वेदी; अग्निम्—अग्नि; आधाय—स्थापित करके; परितः—चारों ओर; समूहेत्—बनाये; पाणिना—हाथों से; उदितम्—प्रज्वलित।

भक्त को चाहिए कि शास्त्रोक्ति विधि से तैयार की गई यज्ञशाला में अग्नि-यज्ञ करे जिसमें वह पवित्र पेटी (मेखला), यज्ञ-कुण्ड तथा वेदी का प्रयोग करे। यज्ञ-अग्नि जलाते समय भक्त को चाहिए कि अपने हाथों से चिनी गई लकड़ियों को प्रज्वलित करे।

परिस्तीर्याथ पर्युक्षेदन्वाधाय यथाविधि ।
प्रोक्षण्यासाद्य द्रव्याणि प्रोक्ष्याग्नौ भावयेत माम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

परिस्तीर्य—(कुश) फैलाकर; अथ—तब; पर्युक्षेत्—जल का छिड़काव करे; अन्वाधाय—अन्वाधान (ओउम् भूर्भुवः स्वः का उच्चारण करते हुए अग्नि में लकड़ी रखे) करते हुए; यथा-विधि—मानक संस्तुति के अनुसार; प्रोक्षण्या—आचमन पात्र में से जल द्वारा; आसाद्य—सजाकर के; द्रव्याणि—आहुति में डाले जाने वाले पदार्थ; प्रोक्ष्य—उन पर छिड़क कर; अग्नौ—अग्नि में; भावयेत—ध्यान करे; माम्—मेरा।

जमीन पर कुश फैलाकर तथा उस पर जल छिड़कने के बाद, नियत विधियों के अनुसार *अन्वाधान* किया जाय। तत्पश्चात् आहुति में डाले जाने वाली वस्तुओं को व्यवस्थित करे और उन्हें पात्र में से जल छिड़क कर पवित्र बनाये। इसके बाद पूजा करने वाला अग्नि के भीतर मेरा ध्यान करे।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार यज्ञ-अग्नि के भीतर परमात्मा रूप भगवान् का स्मरण किया जाय।

तप्तजाम्बूनदप्रख्यं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः ।
लसच्चतुर्भुजं शान्तं पद्मकिञ्जल्कवाससम् ॥ ३८ ॥

स्फुरत्किरीटकटक कटिसूत्रवराङ्गदम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनम् ॥ ३९ ॥

ध्यायन्नभ्यर्च्य दारूणि हविषाभिघृतानि च ।
प्रास्याज्यभागावाघारौ दत्त्वा चाज्यप्लुतं हविः ॥ ४० ॥

जुहुयान्मूलमन्त्रेण षोडशर्चावदानतः ।
धर्मादिभ्यो यथान्यायं मन्त्रैः स्विष्टिकृतं बुधः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

तप्त—पिघला; जाम्बू-नद—स्वर्ण का; प्रख्यम्—रंग; शङ्ख—शंख; चक्र—चक्र; गदा—गदा; अम्बुजैः—तथा कमल के फूल से युक्त; लसत्—तेजवान; चतुः-भुजम्—चार भुजाओं वाले; शान्तम्—शान्त; पद्म—कमल के; किञ्जल्क—तन्तुओं के रंग

वाला; वाससम्—वस्त्र; स्फुरत्—चमकता हुआ; किरीट—मुकुट; कटक—कंगन; कति-सूत्र—पेटी, करधनी; वर-अङ्गदम्—बाँह का सुन्दर आभूषण, बाजूबन्द; श्री-वत्स—लक्ष्मीजी का प्रतीक; वक्षसम्—अपनी छाती पर; भ्राजत्—तेजवान; कौस्तुभम्—कौस्तुभ मणि; वन-मालिनम्—फूल की माला पहने; ध्यायन्—उनका ध्यान करते हुए; अभ्यर्च्य—उनकी पूजा करे; दारूणि—सूखी लकड़ी के खण्ड; हविषा—शुद्ध घृत से; अभिघृतानि—सिक्त; च—तथा; प्रास्य—अग्नि में डाल कर; आज्य—घी का; भागौ—दो भाग; आघारौ—आधार अनुष्ठान करते समय; दत्त्वा—प्रदान करके; च—तथा; आज्य—घी से; प्लुतम्—सिक्त; हविः—आहुति, सामग्री; जुहुयात्—अग्नि में डाले; मूल-मन्त्रेण—हर एक अर्चाविग्रह का नाम लेकर मूल मंत्र से; षोडश-ऋचा—पुरुष सूत्र के सोलह पंक्ति वाले श्लोक की स्तुति से; अवदानतः—हर पंक्ति के बाद आहुति डालते हुए; धर्म-आदिभ्यः—यमराज इत्यादि देवताओं को; यथा-न्यायम्—उचित क्रम से; मन्त्रैः—प्रत्येक देवता का नाम लेकर विशिष्ट मंत्र से; स्विष्टि-कृतम्—स्विष्टि नामक अनुष्ठान; बुधः—बुद्धिमान भक्त।

बुद्धिमान भक्त को चाहिए कि वह भगवान् के उस रूप का ध्यान करे जिसका रंग पिघले सोने जैसा, जिसकी चारों भुजाएँ शंख-चक्र-गदा तथा कमल-फूल से शोभायमान हैं तथा जो सदैव शान्त रहता है और कमल के फूल के भीतर के तन्तुओं जैसा रंगीन वस्त्र पहने रहता है। उनका मुकुट, कंगन, करधनी तथा बाजूबन्द खूब चमकते रहते हैं। उनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिन्ह, चमकीली कौस्तुभ मणि तथा जंगली फूलों की माला रहती है। तत्पश्चात् भक्त को घी में डूबी लकड़ियों को लेकर उन्हें अग्नि में डालते हुए भगवान् की पूजा करनी चाहिए। उसे आघार अनुष्ठान करना चाहिए जिसमें घी में सिक्त सारी आहुति-सामग्री अग्नि को अर्पित की जाती है। तत्पश्चात् उसे यमराज इत्यादि सोलह देवताओं को स्विष्टि कृत नामक आहुति देनी चाहिए जिसमें प्रत्येक देवता के मूल मंत्रों का तथा पुरुष सूक्त की सोलह पंक्तियों का उच्चारण किया जाता है। पुरुष सूक्त की प्रत्येक पंक्ति के बाद एक आहुति डाल कर, उसे प्रत्येक देवता का नाम लेकर विशेष मंत्र का उच्चारण करना चाहिए।

अभ्यर्च्याथ नमस्कृत्य पार्षदेभ्यो बलिं हरेत् ।
मूलमन्त्रं जपेद्ब्रह्म स्मरन्नारायणात्मकम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

अभ्यर्च्य—पूजा करके; अथ—तब; नमस्कृत्य—नमस्कार करके; पार्षदेभ्यः—भगवान् के निजी संगियों को; बलिम्—भेंट; हरेत्—भेंट करे; मूल-मन्त्रम्—मूल मंत्र; जपेत्—चुपके से उच्चारण करे; ब्रह्म—परब्रह्म का; स्मरन्—स्मरण करते हुए; नारायण-आत्मकम्—भगवान् नारायण के रूप में।

इस तरह यज्ञ-अग्नि में भगवान् की पूजा करके भक्त को चाहिए कि भगवान् के निजी संगियों को झुक कर नमस्कार करे और तब उन्हें उपहार भेंट करे। तब वह भगवान् के अर्चाविग्रह का मूल मंत्र मन ही मन जपे और भगवान् नारायण के रूप में परब्रह्म का स्मरण करे।

दत्त्वाचमनमुच्छेषं विष्वक्षेनाय कल्पयेत् ।
मुखवासं सुरभिमत्ताम्बूलाद्यमथार्हयेत् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

दत्त्वा—प्रदान करके; आचमनम्—भगवान् का मुँह धोने का जल; उच्छेषम्—भोजन का जूठन; विष्वक्सेनाय—भगवान् विष्णु के निजी संगी विष्वक्सेन को; कल्पयेत्—दे; मुख-वासम्—मुख शुद्धि; सुरभि-मत्—सुगन्धित; ताम्बूल-आद्यम्—पान इत्यादि; अथ—तब; अर्हयेत्—भेंट करे।

वह एक बार फिर अर्चाविग्रह को मुख धोने के लिए जल दे और जो भोजन बचा हो उसे विष्वक्सेन को दे दे। तत्पश्चात् वह अर्चाविग्रह को सुगंधित मुख शुद्धि एवं लगा हुआ पान का बीड़ा दे।

उपगायन्गृणन्नृत्यन्कर्माण्यभिनयन्मम ।
मत्कथाः श्रावयञ्शृण्वन्मुहूर्तं क्षणिको भवेत् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

उपगायन्—गाते हुए; गृणन्—तेजी से उच्चारण करते हुए; नृत्यन्—नाचते हुए; कर्माणि—दिव्य कार्य; अभिनयन्—नाटक द्वारा अनुकरण करते हुए; मम—मेरा; मत्-कथाः—मेरे सम्बन्ध में कथाएँ; श्रावयन्—सुनाते हुए; शृण्वन्—स्वयं सुनते हुए; मुहूर्तम्—कुछ समय के लिए; क्षणिकः—उत्सव में लीन; भवेत्—हो जाय।

अन्यों के साथ गाते, जोर से कीर्तन करते तथा नाचते, मेरी दिव्य लीलाओं का अभिनय करते तथा मेरे विषय में कथाएँ सुनते तथा सुनाते हुए भक्त को चाहिए कि कुछ समय के लिए ऐसे उत्सव में लीन हो जाय।

तात्पर्य : भगवान् की नियमित पूजा में लगे भक्त को चाहिए कि कभी कभी भगवान् की लीलाओं के कीर्तन, श्रवण, नर्तन इत्यादि में आनन्दमग्न हो जाय। *मुहूर्तम्* शब्द सूचित करता है कि वह तथाकथित आनन्द के नाम पर अपने नैत्यिक कार्यों तथा भगवत्सेवा की उपेक्षा न करे। यद्यपि वह कीर्तन करने, सुनने तथा नाचने में आनन्दमग्न हो जाए, किन्तु वह भगवान् की नियमित सेवा की औपचारिकता को नहीं छोड़ सकता।

स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि ।
स्तुत्वा प्रसीद भगवन्निति वन्देत दण्डवत् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

स्तवैः—शास्त्रों से स्तुतियों द्वारा; उच्च-अवचैः—बड़ी तथा छोटी किस्मों के; स्तोत्रैः—मनुष्यों द्वारा रचित प्रार्थनाओं से; पौराणैः—पुराणों से; प्राकृतैः—सामान्य स्रोतों से; अपि—भी; स्तुत्वा—भगवान् की स्तुति करके; प्रसीद—कृपया अपनी दया दिखायें; भगवन्—हे प्रभु; इति—ऐसा कहते हुए; वन्देत—वन्दना करे; दण्ड-वत्—भूमि पर डंडे की तरह गिर कर।

भक्त को चाहिए कि पुराणों तथा अन्य प्राचीन शास्त्रों तथा सामान्य परम्परा के अनुसार सभी प्रकार की स्तुतियों तथा प्रार्थनाओं से भगवान् का सत्कार करे। उसे चाहिए कि, ''हे प्रभु, मुझ पर दयालु हों'' ऐसी प्रार्थना करते हुए पृथ्वी पर दण्ड की तरह गिर कर नमस्कार करे।

शिरो मत्पादयोः कृत्वा बाहुभ्यां च परस्परम् ।
प्रपन्नं पाहि मामीश भीतं मृत्युग्रहार्णवात् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

शिरः—अपना सिर; मत्-पादयोः—मेरे दोनों चरणों पर; कृत्वा—रख कर; बाहुभ्याम्—हाथों से; च—तथा; परस्परम्—एकसाथ (अर्चाविग्रह के दोनों पाँव पकड़ कर); प्रपन्नम्—शरणागत; पाहि—रक्षा करें; माम्—मुझको; ईश—हे प्रभु; भीतम्—डरा हुआ; मृत्यु—मृत्यु का; ग्रह—मुख; अर्णवात्—भौतिक सागर के।

अर्चाविग्रह के चरणों पर अपना सिर रख कर और तब भगवान् के समक्ष हाथ जोड़े खड़े होकर, उसे प्रार्थना करनी चाहिए ''हे प्रभु, मैं आपकी शरण में हूँ। कृपा करके मेरी रक्षा करें। मैं इस भवसागर से अत्यन्त भयभीत हूँ क्योंकि मैं मृत्यु के मुख पर खड़ा हूँ।''

इति शेषां मया दत्तां शिरस्याधाय सादरम् ।
उद्वासयेच्चेदुद्वास्यं ज्योतिर्ज्योतिषि तत्पुनः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार प्रार्थना करते हुए; शेषाम्—जूठन; मया—मेरे द्वारा; दत्ताम्—दिया हुआ; शिरसि—सिर पर; आधाय—रख कर; स-आदरम्—आदरपूर्वक; उद्वासयेत्—अर्चाविग्रह को विदा करे; चेत्—यदि; उद्वास्यम्—ऐसा करना ही हो; ज्योतिः—प्रकाश; ज्योतिषि—प्रकाश के भीतर; तत्—वह; पुनः—एक बार फिर।

इस प्रकार प्रार्थना करता हुआ भक्त अपने सिर पर मेरे द्वारा प्रदत्त उच्छिष्ठ को आदर-सहित रखे। और यदि उस अर्चाविग्रह का पूजा के अन्त में विसर्जन करना हो, तो भक्त को अपने हृदय के भीतर के कमल के प्रकाश के अन्दर अर्चाविग्रह की उपस्थिति के प्रकाश को एक बार पुनः धारण करना चाहिए।

अर्चादिषु यदा यत्र श्रद्धा मां तत्र चार्चयेत् ।
सर्वभूतेष्वात्मनि च सर्वात्माहमवस्थितः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

अर्चा-आदिषु—अर्चाविग्रह में तथा भगवान् के अन्य स्वरूपों में; यदा—जब भी; यत्र—जिस भी रूप में; श्रद्धा—श्रद्धा उत्पन्न होती है; माम्—मुझको; तत्र—वहाँ; च—तथा; अर्चयेत्—पूजा करे; सर्व-भूतेषु—सारे उत्पन्न हुए जीवों के भीतर; आत्मनि—पृथक् रूप से, मेरे आदि रूप में; च—भी; सर्व-आत्मा—सबों की मूल आत्मा; अहम्—मैं; अवस्थितः—इस प्रकार स्थित।

जब भी कोई व्यक्ति मुझमें, चाहे मेरे अर्चाविग्रह रूप में या अन्य प्रामाणिक अभिव्यक्तियों के रूप में, श्रद्धा उत्पन्न कर लेता है, तो उसे उसी रूप में मेरी पूजा करनी चाहिए। मैं निश्चय ही, समस्त उत्पन्न जीवों के भीतर तथा पृथक् रूप से अपने आदि रूप में भी विद्यमान रहता हूँ, क्योंकि मैं सबों का परमात्मा हूँ।

तात्पर्य : श्री भगवान् की पूजा पूजक विशेष की श्रद्धा के अनुसार होती है। यहाँ पर *अर्चा* का विशेष उल्लेख हुआ है क्योंकि आध्यात्मिक उन्नति के लिए अर्चाविग्रह की पूजा अनिवार्य है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर उल्लेख करते हैं कि अनुभवहीन व्यक्ति यह सोच सकते हैं कि अर्चाविग्रह पूजक की इन्द्रियतृप्ति के निमित्त है क्योंकि अर्चाविग्रह संगमरमर अथवा पीतल जैसी बाह्य वस्तुओं से बना होता है। किन्तु प्रामाणिक मंत्रों के उच्चारण द्वारा अर्चाविग्रह की स्थापना करके मनुष्य भगवान् को अर्चारूप में प्रवेश करने के लिए आमंत्रित करता है। नियमित तथा श्रद्धायुक्त पूजा द्वारा मनुष्य धीरे धीरे समझने लगता है कि अर्चाविग्रह भगवान् से सर्वथा अभिन्न है। उस अवस्था में अर्चापूजन के बल पर मनुष्य द्वितीय श्रेणी की भक्ति प्राप्त करता है। इस अधिक विकसित अवस्था में मनुष्य अन्य भक्तों से संगति बढ़ाना चाहता है और ज्योंही वह वैष्णव समुदाय में ठीक से स्थापित हो जाता है, वह भौतिक जीवन का पूर्णतया त्याग कर देता है और क्रमशः कृष्णभावनामृत में पूर्ण बन जाता है।

एवं क्रियायोगपथैः पुमान्वैदिकतान्त्रिकैः ।
अर्चन्नुभयतः सिद्धिं मत्तो विन्दत्यभीप्सिताम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार से; क्रिया-योग—नियमित अर्चापूजन की; पथैः—विधियों द्वारा; पुमान्—पुरुष; वैदिक-तान्त्रिकैः—वेदों तथा तंत्रों में प्रस्तुत किया गया; अर्चन्—पूजना; उभयतः—इस जीवन तथा अगले जीवन में; सिद्धिम्—सिद्धि; मत्तः—मुझसे; विन्दति—प्राप्त करता है; अभीप्सिताम्—इच्छित।

वेदों तथा तंत्रों में संस्तुत विविध विधियों से मेरी पूजा करते हुए मनुष्य इस जीवन में तथा अगले जीवन में मुझसे इच्छित सिद्धि प्राप्त करेगा।

मदर्चां सम्प्रतिष्ठाप्य मन्दिरं कारयेद्दृढम् ।
पुष्पोद्यानानि रम्याणि पूजायात्रोत्सवाश्रितान् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

मत्-अर्चाम्—मेरा अर्चाविग्रह रूप; सम्प्रतिष्ठाप्य—ठीक से स्थापित करके; मन्दिरम्—मन्दिर; कारयेत्—बनवाये; दृढम्—प्रबल; पुष्प-उद्यानानि—फूल के बगीचे; रम्याणि—सुन्दर; पूजा—नियमित नैत्यिक पूजा के लिए; यात्रा—विशेष उत्सव; उत्सव—तथा वार्षिक उत्सव; आश्रितान्—एक ओर करके ।

भक्त को चाहिए कि मजबूत मन्दिर बनवाकर उसी के साथ सुन्दर बगीचों से मेरे अर्चाविग्रह को अधिक पुष्टता से स्थापित करे। इन बगीचों को नित्यप्रति पूजा के लिए फूल प्रदान करने, विशेष अर्चाविग्रह जुलूसों और शुभ पर्वों के मनाने के लिए सुरक्षित रखना चाहिए।

तात्पर्य : धनी पुण्यात्मा व्यक्तियों को मन्दिर बनवाने तथा अर्चाविग्रह के मनोरंजन के लिए बगीचे बनवाने में लगना चाहिए। *दृढम्* शब्द सूचित करता है कि निर्माण-कार्य के लिए ठोस सामग्री इस्तेमाल करनी चाहिए।

पूजादीनां प्रवाहार्थं महापर्वस्वथान्वहम् ।
क्षेत्रापणपुरग्रामान्दत्त्वा मत्सार्ष्टितामियात् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

पूजा-आदीनाम्—नियमित पूजा तथा विशेष त्यौहारों का; प्रवाह-अर्थम्—निरंतरता जारी रखने के लिए; महा-पर्वसु—शुभ अवसरों पर; अथ—तथा; अनु-अहम्—प्रतिदिन; क्षेत्र—भूमि; आपण—दूकानें; पुर—शहर; ग्रामान्—तथा गाँवों को; दत्त्वा—अर्चाविग्रह को भेंट रूप में देकर; मत्-सार्ष्टिताम्—मेरे तुल्य ऐश्वर्य; इयात्—प्राप्त करता है ।

जो व्यक्ति अर्चाविग्रह पर भूमि, बाजार, शहर तथा गाँव की भेंट चढ़ाता है, जिससे कि अर्चाविग्रह की दैनिक पूजा तथा विशिष्ट उत्सव निरंतर चलते रहें, वह मेरे ही तुल्य ऐश्वर्य प्राप्त करेगा।

तात्पर्य : अर्चाविग्रह के नाम भूमिखंड दान में देने से ऐश्वर्यपूर्ण अर्चापूजन के लिए किराये से तथा कृषि उत्पादन से नियमित आय होती रहेगी। जो पूजक ऐसा करता है, वह निश्चय ही भगवान् जैसा ऐश्वर्य प्राप्त करेगा।

प्रतिष्ठया सार्वभौमं सद्मना भुवनत्रयम् ।
पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यतामियात् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

प्रतिष्ठया—अर्चा की स्थापना कर लेने पर; सार्व-भौमम्—पूरी धरती पर सर्वोपरिता, एकछत्र राज्य; सद्मना—भगवान् के लिए मन्दिर बनवाकर; भुवन-त्रयम्—तीनों लोकों के ऊपर स्वामित्व; पूजा-आदिना—पूजा तथा अन्य सेवाओं द्वारा; ब्रह्म-लोकम्—ब्रह्माजी का लोक; त्रिभिः—तीन; मत्-साम्यताम्—मेरी बराबरी; इयात्—प्राप्त करता है।

भगवान् के अर्चाविग्रह की स्थापना करने से मनुष्य सारी पृथ्वी का राजा बन जाता है; भगवान् के लिए मन्दिर बनवाने से तीनों जगतों का शासक बन जाता है; अर्चाविग्रह की पूजा तथा सेवा करने से वह ब्रह्मलोक को जाता है और इन तीनों कार्यों को करने से वह मुझ जैसा ही दिव्य स्वरूप प्राप्त करता है।

मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति ।
भक्तियोगं स लभत एवं यः पूजयेत माम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; एव—निस्सन्देह; नैरपेक्ष्येण—निरपेक्ष भाव से; भक्ति-योगेन—भक्ति करने से; विन्दति—प्राप्त करता है; भक्ति-योगम्—भक्ति; सः—वह; लभते—प्राप्त करता है; एवम्—इस प्रकार; यः—जिसको; पूजयेत—पूजा करता है; माम्—मुझको।

किन्तु जो व्यक्ति कर्मफल पर विचार किये बिना, भक्ति में लगा रहता है, वह मुझे प्राप्त करता है। इस तरह जो कोई भी मेरे द्वारा वर्णित विधि के अनुसार मेरी पूजा करता है, वह अन्ततः मेरी शुद्ध भक्ति प्राप्त करेगा।

तात्पर्य : पिछले दो श्लोक भगवान् द्वारा इसलिए कहे गये थे ताकि सकाम फलों में रुचि रखने वाले लोग आकृष्ट हों और अब भगवान् की पूजा करने का चरम प्रयोजन बतलाया जा रहा है। जीवन का चरम लक्ष्य साक्षात् भगवान् कृष्ण हैं। ईश्वर के प्रति प्रेम ही सर्वोच्च आनन्द है यद्यपि सामान्य लोग इसे समझ नहीं पाते।

यः स्वदत्तां परैर्दत्तां हरेत सुरविप्रयोः ।
वृत्तिं स जायते विड्भुग्वर्षाणामयुतायुतम् ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; स्व-दत्ताम्—अपने द्वारा दिया गया; परैः—अन्यों द्वारा; दत्ताम्—दिया हुआ; हरेत—ले लेता है; सुर-विप्रयोः—देवताओं या ब्राह्मणों से सम्बन्धित; वृत्तिम्—सम्पत्ति; सः—वह; जायते—उत्पन्न होता है; विट्-भुक्—मल खाने वाला कीट; वर्षाणाम्—वर्षों तक; अयुत—दस हजार; अयुतम्—गुणित दस हजार।

जो व्यक्ति देवताओं या ब्राह्मणों की सम्पत्ति चुराता है, चाहे वह उन्हें पहले उस व्यक्ति द्वारा दी गई हो या अन्य किसी के द्वारा, उसे एक करोड़ वर्षों तक मल के कीट के रूप में रहना पड़ता है।

कर्तुश्च सारथेर्हेतोरनुमोदितुरेव च ।
कर्मणां भागिनः प्रेत्य भूयो भूयसि तत्फलम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

कर्तुः—कर्ता का; च—तथा; सारथेः—सहायक का; हेतोः—प्रेरक का; अनुमोदितुः—अनुमोदन करने वाले का; एव च—भी; कर्मणाम्—कर्मों का; भागिनः—हिस्सेदार का; प्रेत्य—अगले जन्म में; भूयः—अधिक शोक के साथ; भूयसि—इस हद तक कि कर्म शोकमय हो; तत्—उसका (भोग करे); फलम्—परिणाम।

न केवल चोरी करने वाला व्यक्ति अपितु उसकी सहायता करने वाला या जो अपराध के लिए प्रेरित करता है या मात्र अनुमोदन करता है, वह भी अगले जीवन में पापफल में भागी बनेगा। भागीदारी की कोटि के अनुसार ही, उन्हें उसी अनुपात में फल भोगना होगा।

भगवान् के या उनके अधिकारी प्रतिनिधियों की पूजा की वस्तु को किसी भी दशा में नहीं चुराना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के ''देवपूजा विषयक श्रीकृष्ण के आदेश'' नामक सत्ताइसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अट्ठाईस

ज्ञान-योग

पिछले अध्यायों में जिस ज्ञानयोग का विस्तार से वर्णन किया जा चुका है उसका सार-संक्षेप इस अध्याय में दिया गया है।

इस ब्रह्माण्ड में प्रत्येक उत्पन्न वस्तु प्रकृति के तीन गुणों की भौतिक उपज है। वह ऐन्द्रिय बोध के अधीन है और अनिवार्यतः असत्य है। वस्तुतः हम इस जगत की विविध वस्तुओं तथा कार्यों को जो ''अच्छी'' तथा ''बुरी'' उपाधियाँ देते हैं, वे सतही हैं। इस जगत की किसी वस्तु की प्रशंसा करने या तिरस्कार करने से बचना अच्छा है क्योंकि ऐसा करने से मनुष्य पदार्थ में फँसता है और आध्यात्मिक जीवन के उच्चतर लक्ष्यों से वंचित रह जाता है। इस भौतिक ब्रह्माण्ड की हर वस्तु के भीतर आत्मा छिपा हुआ है, जो व्यक्त जगत के कार्य-कारण दोनों का आधार है। हर व्यक्ति को इसी प्रकाश में वस्तुओं को देखना चाहिए और इस तरह विरक्त भाव से जगत में विचरण करना चाहिए।

जब तक पदार्थ से निर्मित शारीरिक इन्द्रियों तथा सत्य रूप आत्मा के बीच सम्बन्ध बना रहता है,

तब तक मनुष्य झूठी चेतना में बना रहता है। यद्यपि यह संसार मिथ्या है, किन्तु विवेकहीन व्यक्ति जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसे रहते हैं क्योंकि वे इन्द्रियतृप्ति में लीन रहते हैं। भौतिक जीवन की सारी अवस्थाएँ—यथा जन्म, मृत्यु, दुख तथा सुख—आत्मा से सम्बन्धित नहीं होतीं, अपितु भौतिकतावादी मिथ्या अहंकार से सम्बद्ध होती हैं। आत्मा तथा इसके विपरीत पदार्थ में अन्तर करना सीख कर मनुष्य इस मिथ्या पहचान को नष्ट कर सकता है।

इस जगत के आदि में तथा अन्त में एक ही परब्रह्म वर्तमान रहता है। अपनी अन्तरिम अर्थात् पालन की अवस्था में विराट जगत भी उसी परब्रह्म पर आधारित होता है। यह ब्रह्म सर्वत्र विद्यमान रहता है—अपने प्राकट्य से विध्यात्मक रूप में और अपने अलगाव से निषेधात्मक रूप में—आत्माराम होने से ब्रह्म अद्वितीय है, जबकि यह जगत रजोगुण के माध्यम से उत्पन्न ब्रह्म का अंश है।

किन्तु प्रामाणिक गुरु की कृपा से मनुष्य परब्रह्म को समझ सकता है और भौतिक शरीर तथा इसके अंशों के भौतिक स्वभाव को पहचान सकता है। इन्द्रिय-भोग से विलग रह कर वह आत्मानन्द में तुष्ट हो जाता है। जिस तरह सूर्य आने-जाने वाले बादलों से अछूता रहता है, उसी तरह विवेकवान मुक्त पुरुष अपनी इन्द्रियों के कार्यों से अप्रभावित रहता जाता है। इतने पर भी भक्तियोग में पूरी तरह स्थिर न होने तक, इन्द्रिय-विषयों के साथ सम्पर्क रखने से बचना चाहिए। महत्त्वाकांक्षी भक्त को तमाम अवरोधों का सामना करना पड़ सकता है और वह च्युत हो सकता है, किन्तु अगले जन्म में उसकी यह भक्ति, इस जन्म में प्राप्त उपलब्धि के कारण, चलती रहेगी। तब वह फिर कभी कर्म के नियमों से बँधता नहीं। जो व्यक्ति मुक्त है और विवेकवान है, वह इन्द्रियतृप्ति में आसक्त होकर कभी भी मिथ्या भोग की खोज नहीं करेगा। वह जानता है कि आत्मा अपरिवर्तनशील है और शुद्ध आत्मा पर किसी तरह का विरोधी भाव आरोपित करना निरी मूर्खता होगी।

यदि आध्यात्मिक अभ्यास की अपरिपक्व अस्था में कोई शारीरिक रोग हो जाता है या कोई अन्य उत्पात आ खड़ा होता है, तो वेदों का आदेश है कि उसको समूल नष्ट करने के लिए उचित कार्यवाही की जाय। काम तथा मन के अन्य शत्रुओं का नियत इलाज परमेश्वर का ध्यान तथा उनके नामों का जोर-जोर से उच्चारण या *सङ्कीर्तन* है। मिथ्या अहंकार के रोग की दवा है भगवान् के सन्त भक्तों की सेवा।

योगाभ्यास द्वारा कुछ अभक्तगण अपने शरीरों को तरुण तथा स्वस्थ रखते हैं और योग-सिद्धियाँ या दीर्घायु भी पा लेते हैं। किन्तु ये उपलब्धियाँ दो कौी की नहीं होतीं क्योंकि ये मात्र भौतिक शरीर की सिद्धियाँ होती हैं। इसीलिए बुद्धिमान व्यक्ति इस तरह की विधि में अरुचि दिखाता है। किन्तु भगवान् के चरणकमलों की सच्चे मन से शरण ग्रहण करने से महत्त्वाकांक्षी भक्त समस्त उत्पातों से अपने को बचा लेता है और सर्वोच्च सिद्धि अर्थात् आध्यात्मिक जीवन का पूर्ण आनन्द प्राप्त करने के लिए शक्तिमय हो जाता है।

श्रीभगवानुवाच
परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत् ।
विश्वमेकामकं पश्यन्प्रकृत्या पुरुषेण च ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; **पर**—पराये का; **स्वभाव**—स्वभाव; **कर्माणि**—तथा कर्म; **न प्रशंसेत्**—प्रशंसा न करे; **न गर्हयेत्**—आलोचना न करे; **विश्वम्**—संसार; **एक-आत्मकम्**—सत्य पर आश्रित; **पश्यन्**—देखते हुए; **प्रकृत्या**—प्रकृति के साथ साथ; **पुरुषेण**—भोक्ता के साथ; **च**—भी।

भगवान् ने कहा : मनुष्य को चाहिए कि किसी अन्य व्यक्ति के बद्ध स्वभाव तथा कर्मों की न तो प्रशंसा करे, न ही आलोचना। प्रत्युत उसे इस जगत को प्रकृति तथा भोक्ता आत्माओं का संमेल ही मानना चाहिए क्योंकि वे सभी एक परम सत्य पर आश्रित हैं।

तात्पर्य : प्रकृति के गुणों की अन्योन्य क्रिया के अनुसार भौतिक परिस्थितियाँ तथा कर्म सात्विक, राजस तथा तामसिक प्रतीत होते हैं। ये गुण भगवान् की मायाशक्ति द्वारा उत्पन्न होते हैं और यह माया अपने स्वामी भगवान् से भिन्न नहीं है। इसलिए भगवद्भक्त भौतिक प्रकृति की मायावी, क्षणिक अभिव्यक्तियों से अलग रहता है। साथ ही वह भौतिक प्रकृति को भगवान् की शक्ति मान कर उसे मूलतः सत्य मानता है। यहाँ पर बच्चे द्वारा मिट्टी को विभिन्न खिलौनों—यथा बाघ, मनुष्य, घर इत्यादि का स्वरूप देने का दृष्टान्त दिया जा सकता है। खिलौने की मिट्टी सत्य है, जबकि मिट्टी द्वारा धारण किये जाने वाले क्षणिक स्वरूप मायावी हैं; वे असली बाघ, पुरुष या घर नहीं होते। इसी तरह सम्पूर्ण विराट जगत भगवान् के हाथों में मिट्टी के लोंदे के समान है, जो माया के द्वारा माया के सुस्पष्ट क्षणिक स्वरूप बनाता है। जो भगवान् के भक्त नहीं हैं उनका मन इन्हीं में लीन रहता है।

परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति ।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

पर—दूसरे का; स्वभाव—स्वभाव, व्यक्तित्व; कर्माणि—तथा कार्य; यः—जो; प्रशंसति—प्रशंसा करता है; निन्दति—आलोचना करता है; सः—वह; आशु—तुरन्त; भ्रश्यते—गिरता है; स्व-अर्थात्—अपने हित से; असति—असत्य में; अभिनिवेशतः—पूरी तरह बँध जाने के कारण।

जो भी व्यक्ति दूसरों के गुणों तथा आचरण की प्रशंसा करता है या आलोचना करता है, वह मायामय द्वैतों में फँसने के कारण अपने उत्तमोत्तम हित से शीघ्र विपथ हो जाएगा।

तात्पर्य : बद्धजीव भौतिक प्रकृति पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहता है और इस तरह अन्य बद्धजीव की, जिसे वह अपने से घटिया समझता है, आलोचना करता है। इसी तरह वह एक उच्च भौतिकतावादी की प्रशंसा करता है क्योंकि वह उस उच्च पद का इच्छुक रहता है, जिससे वह अन्यों पर प्रभुत्व दिखा सके। अन्य भौतिकतावादी लोगों की प्रशंसा करना तथा आलोचना करना प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अन्य जीवों की ईर्ष्या पर आधारित हैं और ये मनुष्य को *स्व-अर्थ*—असली आत्महित अर्थात् कृष्णभावनामृत—से नीचे गिराने वाले हैं।

असत्यभिनिवेशतः का अर्थ है "क्षणिक या असत्य में लीन रहने से"। यह शब्द सूचित करता है कि मनुष्य को न तो भौतिक द्वन्द्व का सहारा लेना चाहिए, न ही भौतिकतावादी व्यक्तियों की प्रशंसा या आलोचना करनी चाहिए। प्रत्युत उसे चाहिए कि वह भगवान् के शुद्ध भक्तों की प्रशंसा करे और भगवान् के विरुद्ध विद्रोह की मनोवृत्ति की आलोचना करे जिससे मनुष्य अभक्त बनता है। किसी को निम्न वर्गीय भौतिकतावादी की आलोचना यह सोच कर नहीं करनी चाहिए कि उच्च वर्गीय भौतिकतावादी अच्छा है। दूसरे शब्दों में मनुष्य को चाहिए कि भौतिक तथा आध्यात्मिक का अन्तर समझे और भौतिक स्तर पर अच्छे तथा बुरे के फेर में न पड़े। उदाहरणार्थ, ईमानदार नागरिक नागरिक स्वतंत्रता तथा बन्दी जीवन के अन्तर को समझता है, जबकि मूर्ख कैदी सुविधाजनक तथा असुविधाजनक जेल की कोठरियों का अन्तर जानता है। जिस तरह मुक्त नागरिक के लिए बन्दीगृह की कोई भी अवस्था स्वीकार्य नहीं, उसी तरह मुक्त कृष्णभावनाभावित भक्त के लिए कोई भी भौतिक पद स्वीकार्य नहीं है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर इंगित करते हैं कि बद्धजीवों को उनकी भौतिकतावादी प्रतिष्ठाओं के आधार पर विभेदित करने की बजाय उन्हें भगवन्नाम कीर्तन करने के लिए एक दूसरे के

निकट लाना चाहिए और चैतन्य महाप्रभु के संकीर्तन आन्दोलन का प्रसार करना चाहिए। कोई अभक्त या निम्न कोटि का ईर्ष्यालु भक्त कभी भी लोगों को भगवत्प्रेम के स्तर पर एक करने में रुचि नहीं रखता, अपितु वह साम्यवादी, पूँजीवादी, श्वेत, श्याम, धनी, निर्धन, उदार तथा कट्टर जैसी भौतिक उपाधियों पर बल देकर उन्हें व्यर्थ ही विलग करता रहता है। भौतिक जीवन सदा ही अपूर्ण, अज्ञान से युक्त तथा अन्ततः निराशाजनक होता है। इसलिए अज्ञान के उच्च तथा निम्न स्वरूपों की प्रशंसा तथा आलोचना न करके मनुष्य को चाहिए कि दिव्य सच्चिदानन्द स्तर पर कृष्णभावनामृत में लीन रहे।

तैजसे निद्रयापन्ने पिण्डस्थो नष्टचेतनः ।
मायां प्राप्नोति मृत्युं वा तद्वन्नानार्थदृक्पुमान् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तैजसे—जब इन्द्रियाँ, जो कि रजोगुण में मिथ्या अहंकार से उत्पन्न हैं; **निद्रया**—नींद से; **आपन्ने**—परास्त हो जाती हैं; **पिण्ड**—भौतिक शरीर का कवच; **स्थः**—स्थित (आत्मा); **नष्ट-चेतनः**—अपनी चेतना खोकर; **मायाम्**—स्वप्न देखने का भ्रम; **प्राप्नोति**—अनुभव करता है; **मृत्युम्**—मृत्यु जैसी गहरी निद्रावस्था; **वा**—अथवा; **तद्वत्**—उसी प्रकार से; **नाना-अर्थ**—भौतिक विविधताओं के रूप में; **दृक्**—देखने वाला; **पुमान्**—मनुष्य।

जिस तरह देहधारी आत्मा की इन्द्रियाँ स्वप्न देखने के भ्रम या मृत्यु जैसी गहरी निद्रावस्था के द्वारा परास्त हो जाती हैं, उसी तरह भौतिक द्वन्द्व का अनुभव करने वाले व्यक्ति को मोह तथा मृत्यु का सामना करना पड़ता है।

तात्पर्य : भौतिक इन्द्रियों को *तैजस* कहा गया है क्योंकि वे रजोगुण में मिथ्या अहंकार द्वारा उत्पन्न होती हैं। मिथ्या अहंकारवश मनुष्य भगवान् से विहीन भौतिक जगत का स्वप्न देखता है और प्रकृति पर प्रभुत्व दिखाने एवं उसके संसाधनों का दोहन करने के लिए योजनाएँ बनाता है। आधुनिक नास्तिक विज्ञानियों ने इस मिथ्या अहंकार को ललित कला का स्वरूप दे दिया है और वे अपने को बहुत बड़े वीर पुरुष मानते हैं क्योंकि उन्होंने प्रकृति के अवरोधों पर विजय पा ली है और वे अपरिहार्य सर्वज्ञता की ओर अग्रसर हो रहे हैं। ऐसे स्वप्नदर्शी भौतिकतावादी प्रकृति के नियमों की विखंडनकारी प्रतिक्रियाओं से बारम्बार स्तम्भित होते हैं और उनकी उद्धत, नास्तिक सभ्यताएँ, विश्व-युद्ध, प्राकृतिक आपदाओं तथा ब्रह्माण्ड में उग्र परिवर्तनों के द्वारा बारम्बार ध्वस्त होती रहती हैं।

सामान्य स्तर पर सारे बद्धजीव यौन आकर्षण से विमोहित होते हैं और इस तरह भौतिक समाज, मैत्री तथा प्रेम के मोह से बँधे रहते हैं। वे अपने को उस भौतिक प्रकृति का अनन्य भोक्ता मानते हैं, जो

सहसा उनके विपरीत बन जाती है और उन्हें उसी तरह मार डालती है, जिस तरह कि पालतू पशु जब अकस्मात् अपने स्वामी पर झपटता है, तो उसे मार डालता है।

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत् ।
वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च ॥ ४॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; भद्रम्—अच्छा; किम्—क्या; अभद्रम्—बुरा; वा—अथवा; द्वैतस्य—द्वैत की; अवस्तुनः—वस्तु नहीं है; कियत्—कितना; वाचा—वाणी से; उदितम्—उत्पन्न; तत्—वह; अनृतम्—असत्य; मनसा—मन से; ध्यातम्—ध्यान किया गया; एव—निस्सन्देह; च—तथा।

जो कुछ भौतिक शब्दों से व्यक्त किया जाता है या मन के द्वारा ध्यान किया जाता है, वह परम सत्य नहीं है। अतएव द्वैत के इस असार जगत में, वस्तुतः क्या अच्छा या क्या बुरा है और ऐसे अच्छे तथा बुरे की मात्रा को कैसे मापा जा सकता है?

तात्पर्य : वास्तविक सत्य तो भगवान् हैं जिनसे हर वस्तु उद्भूत है, जिनसे हर वस्तु पालित है और जिनमें हर वस्तु लीन होती है। भौतिक प्रकृति तो परब्रह्म का प्रतिबिम्ब है और प्रकृति के गुणों की अन्योन्य क्रियाओं से पदार्थ के नाना रूप पृथक् और स्वतंत्र सत्य प्रतीत होते हैं। माया बद्ध आत्मा को परब्रह्म से दूर ले जाती है और उसके मन को पदार्थ के ज्वलन्त स्वरूप में लीन कर देती है, जो अंततः परब्रह्म से अभिन्न है क्योंकि वह उन्हीं से उद्भूत है। भगवान् से पृथक् अच्छे तथा बुरे का भाव अच्छे तथा बुरे स्वप्नों के समान है, जो सोते हुए व्यक्ति को अनुभव होते हैं। अच्छे तथा बुरे स्वप्न समान रूप से असत्य हैं। इसी तरह अच्छे तथा बुरे का भगवान् से पृथक् कोई स्थायी अस्तित्व नहीं है।

भगवान् हर जीव के हितैषी हैं इसलिए उनके आदेश का पालन अच्छा और उनके आदेश का उल्लंघन बुरा है। भगवान् कृष्ण ने पूर्ण *वर्णाश्रम धर्म* बनाया है और *भगवद्गीता* तथा अन्य ग्रंथों में पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान किया है। भगवान् कृष्ण का आदेश पूरा करने से मानव समाज को पूर्ण सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा आध्यात्मिक सफलता प्राप्त होगी। हमें भगवान् के आदेशों के बाहर मूर्खतावश तथाकथित किसी अच्छाई की खोज नहीं करनी चाहिए। ऐसे आदेश ईश्वर के नियम कहलाते हैं और वे धर्म के सार होते हैं।

छायाप्रत्याह्वयाभासा ह्यसन्तोऽप्यर्थकारिणः ।

एवं देहादयो भावा यच्छन्त्यामृत्युतो भयम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

छाया—छायाएँ; प्रत्याह्वय—प्रतिध्वनि; आभासा:—तथा मिथ्या प्राकट्य; हि—निस्सन्देह; असन्त:—अविद्यमान; अपि—यद्यपि; अर्थ—विचार; कारिण:—उत्पन्न करने वाले; एवम्—उसी तरह से; देह-आदय:—देह इत्यादि; भावा:—भौतिक संकल्पनाएँ; यच्छन्ति—देते हैं; आ-मृत्युत:—मृत्युपर्यन्त; भयम्—भय।

यद्यपि छायाएँ, प्रतिध्वनियाँ तथा मृगमरीचिकाएँ असली वस्तुओं के भ्रामक प्रतिबिम्ब ही होती हैं, किन्तु ये प्रतिबिम्ब अर्थपूर्ण या ज्ञेय भाव का सादृश्य उत्पन्न करते हैं। इसी तरह यद्यपि शरीर, मन तथा अहंकार के साथ बद्धजीव की पहचान भ्रामक है, किन्तु यह पहचान मृत्यु पर्यन्त उसके भीतर भय उत्पन्न करती रहती है।

तात्पर्य : यद्यपि छायाएँ, प्रतिध्वनियाँ तथा मृगमरीचिकाएँ असली वस्तुओं के प्रतिबिम्ब मात्र होती हैं, किन्तु जो व्यक्ति इन्हें झूठे ही सत्य मानते हैं, वे उन व्यक्तियों में प्रबल उद्वेगों को जन्म देती हैं। उसी तरह बद्धजीव भय, काम, क्रोध तथा आशा जैसे उद्वेगों की पकड़ में आ जाता है क्योंकि वह अपने को भ्रान्त अनुभव के कारण शरीर, मन तथा अहंकार से युक्त मानता है। इस तरह इस व्यावहारिक उदाहरण से यह दिखलाया जाता है कि भ्रामक वस्तुएँ भी अत्यन्त संवेगात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकती हैं। अन्ततोगत्वा हमारे संवेगों को भगवान् में, जो कि नित्य सत्य हैं, लीन हो जाना चाहिए। जब कोई भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर लेता है, तो उसका भय सदा सदा के लिए मिट जाता है। तब वह मुक्त जीवन के शुद्ध भावों को भोग सकता है।

आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः ।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः ।
तस्मान्न ह्यात्मनोऽन्यस्मादन्यो भावो निरूपितः ॥ ६ ॥
निरूपितेऽयं त्रिविधा निर्मूल भातिरात्मनि ।
इदं गुणमयं विद्धि त्रिविधं मायया कृतम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

आत्मा—परमात्मा; एव—एकमात्र; तत् इदम्—यह; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; सृज्यते—उत्पन्न किया जाता है; सृजति—तथा उत्पन्न करता है; प्रभु:—परमेश्वर; त्रायते—रक्षा किया जाता है; त्राति—रक्षा करता है; विश्व-आत्मा—सारे जगत का आत्मा; ह्रियते—खींच लिया जाता है; हरति—खींच लेता है; ईश्वर:—परम नियन्ता; तस्मात्—उसकी अपेक्षा; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; आत्मन:—आत्मा की तुलना में; अन्यस्मात्—जो स्पष्ट है; अन्य:—अन्य; भाव:—जीव; निरूपित:—निश्चित किया जाता है; निरूपिते—इस प्रकार स्थापित हुआ; अयम्—यह; त्रि-विधा—तीन प्रकार का; निर्मूला—आधाररहित; भाति:—स्वरूप; आत्मनि—परमात्मा के भीतर; इदम्—यह; गुण-मयम्—प्रकृति के गुणों से युक्त; विद्धि—जानो; त्रि-विधम्—तीन प्रकार का; मायया—माया द्वारा; कृतम्—उत्पन्न।

एकमात्र परमात्मा ही इस जगत के परम नियन्ता तथा स्रष्टा हैं, अतः अकेले वे भी उत्पन्न

किये हुए हैं। इसी प्रकार जो समस्त जगत का आत्मास्वरूप है, वह पालन भी करता है और पालित भी होता है; हरता है और हरा भी जाता है। यद्यपि परमात्मा हर वस्तु से तथा अन्य हर किसी से पृथक् हैं, किन्तु कोई अन्य जीव उनसे पृथक् रूप में निश्चित नहीं किया जा सकता। तीन प्रकार की प्रकृति के जो उनके भीतर देखी जाती है, प्राकट्य का कोई वास्तविक आधार नहीं है। प्रत्युत तुम यह समझ लो कि तीन गुणों वाली यह प्रकृति उनकी मायाशक्ति का ही प्रतिफल है।

तात्पर्य : परब्रह्म श्रीकृष्ण अपनी बहिरंगा शक्ति का विस्तार करके इस भौतिक ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं। सूर्य-मण्डल तथा उसके विस्ताररूप किरणों की ही तरह भगवान् तथा उनकी विस्तीर्ण शक्ति एक ही समय एक तथा भिन्न है (अचिन्त्य भेदाभेद)। यद्यपि बद्ध आत्माओं को भौतिक द्वैत प्रकृति के गुणों पर टिका जान पड़ता है, किन्तु समग्र भौतिक अभिव्यक्ति वास्तव में भगवान् से अभिन्न है और अन्ततः एक ही आध्यात्मिक स्वभाव वाली है। प्रकृति के गुण इन्द्रिय-विषयों, देवताओं, मनुष्यों, पशुओं, मित्रों, शत्रुओं इत्यादि को जन्म देते हैं। किन्तु सच्चाई तो यह है कि हर वस्तु भगवान् की शक्ति का ही विस्तार है।

बद्धजीव मूर्खतावश प्रकृति पर प्रभुत्व जमाना चाहता है, किन्तु भगवान् स्वयं ही एकमात्र असली स्वामी हैं क्योंकि वे प्रकृति से अभिन्न हैं। *श्रीमद्भागवत* में कई स्थलों पर मकड़ी द्वारा अपने मुख से जाल फैलाने का वर्णन आया है। इसी तरह भगवान् अपनी शक्ति से भौतिक जगत को उत्पन्न करते हैं, उसका पालन करते हैं और अन्त में अपने में ही उसे लीन कर लेते हैं। यद्यपि भगवान् हर वस्तु और हर व्यक्ति से ऊपर हैं और अद्वितीय हैं, किन्तु वे साथ ही हर वस्तु से अभिन्न हैं, जिस बात का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। अतएव जब भगवान् सृजन करते हैं, तो वे स्वयं प्रकट होते हैं; जब वे पालन करते हैं, तो स्वयं उन्हीं का पालन होता है और संहार के समय भगवान् ही लीन होते हैं।

यद्यपि भगवान् अपने आध्यात्मिक धाम तथा अपनी भौतिक सृष्टि इन दोनों से अभिन्न हैं, तो भी उनका आध्यात्मिक धाम वैकुण्ठ सदैव भौतिक जगत से श्रेष्ठ बना रहता है। यद्यपि पदार्थ तथा आत्मा दोनों ही भगवान् की शक्तियाँ हैं, तो भी आध्यात्मिक शक्ति आनन्द तथा ज्ञान के नित्य रूपों में ढल जाती है, जबकि पदार्थ के क्षणिक रूप बद्धजीव के लिए अज्ञान तथा हताशा के प्रतीक होते हैं, जो उसे

ललचाते रहते हैं। भगवान् स्वयं ही समस्त आनन्द के आगार हैं अतएव अपने भक्तों के प्रिय हैं। हमारी यह कल्पना कि भगवान् हमें पूर्ण आनन्द नहीं दे सकते इस बात पर आधारित है कि हम उनकी प्रकृति के गुणों की उपज के रूप में गलत पहचान करते हैं। फलस्वरूप हम माया के घातक आलिंगन में मिथ्या सुख के पीछे भागते हैं और इस तरह हम कृष्ण के साथ अपने प्रेममय शाश्वत सम्बन्ध से विपथ हो जाते हैं।

एतद्विद्वान्मदुदितं ज्ञानविज्ञाननैपुणम् ।
न निन्दति न च स्तौति लोके चरति सूर्यवत् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; विद्वान्—जानने वाला; मत्—मेरे द्वारा; उदितम्—वर्णित; ज्ञान—ज्ञान; विज्ञान—तथा अनुभूति में; नैपुणम्—स्थिर हुआ; न निन्दति—आलोचना नहीं करता; न च—न तो; स्तौति—प्रशंसा करता है; लोके—जगत में; चरति—विचरण करता है; सूर्य-वत्—सूर्य की तरह।

जिसने मेरे द्वारा यहाँ पर वर्णित सैद्धान्तिक तथा अनुभूत ज्ञान में स्थिर होने की विधि को भलीभाँति समझ लिया है, वह भौतिक निन्दा या स्तुति में रत नहीं होता। वह इस जगत में सूर्य की तरह सर्वत्र स्वतंत्र होकर विचरण करता है।

तात्पर्य : हर जीव भगवान् से उद्भूत है, अतएव वह स्वभावत: अनुभूत ज्ञान (विज्ञान) से पूर्ण होता है। किन्तु जब कोई व्यक्ति अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए भौतिक अच्छाई तथा बुराई की प्रशंसा या निन्दा करने लगता है, तो उसका भगवद्ज्ञान प्रच्छन्न हो जाता है। शुद्ध भक्त को चाहिए कि भौतिक माया के किसी भी पक्ष से न तो प्रेम दिखाये न घृणा व्यक्त करे, प्रत्युत गुरु के निर्देशन में कृष्ण की सेवा के लिए जो अनुकूल हो उसे स्वीकारे और जो प्रतिकूल हो, उसका त्याग करे।

प्रत्यक्षेणानुमानेन निगमेनात्मसंविदा ।
आद्यन्तवदसज्ज्ञात्वा नि:सङ्गो विचरेदिह ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

प्रत्यक्षेण—प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा; अनुमानेन—तार्किक आगम द्वारा; निगमेन—शास्त्र के कथनों द्वारा; आत्म-संविदा—अपनी स्वयं की अनुभूति से; आदि-अन्त-वत्—आदि तथा अन्त से युक्त; असत्—असत्य; ज्ञात्वा—जान कर; नि:सङ्ग:—आसक्ति से रहित; विचरेत्—इधर-उधर आये-जाये; इह—इस संसार में।

प्रत्यक्ष अनुभूति, तर्कसंगत निगमन, शास्त्रोक्त प्रमाण तथा आत्म अनुभूति द्वारा मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि इस जगत का आदि तथा अन्त है, अतएव यह परम सत्य नहीं है। इस

तरह मनुष्य को निर्लिप्त होकर इस जगत में रहना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार दो मुख्य भौतिक द्वैत हैं। पहला द्वैत है कि मनुष्य भौतिक अच्छा तथा बुरा, सुन्दर तथा कुरूप, धनी तथा निर्धन आदि देखता है। दूसरा है कि मनुष्य सम्पूर्ण जगत को भगवान् से पृथक् अथवा स्वतंत्र देखता है। पहला द्वैत विपर्ययों का है, जो समय के प्रभाव से विलय को प्राप्त होता है और दूसरा द्वैत विलगाव का है, जो केवल सम्मोहन है। जो व्यक्ति इस जगत के क्षणिक मायामय स्वभाव के प्रति पूर्णरूपेण आश्वस्त होता है, वह निर्लिप्त होकर मुक्तभाव से विचरण करता है। ऐसा व्यक्ति भगवान् की सभी प्रकार की भक्तियों में प्रवृत्त होते हुए भी, कभी फँसता नहीं और आध्यात्मिक चेतना में सदैव उत्फुल्ल तथा प्रसन्न रहता है।

श्रीउद्धव उवाच

नैवात्मनो न देहस्य संसृतिर्द्रष्टृदृश्ययोः ।
अनात्मस्वदृशोरीश कस्य स्यादुपलभ्यते ॥ १० ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; आत्मनः—आत्मा का; न—न तो; देहस्य—शरीर का; संसृतिः—संसार; द्रष्टृ-दृश्ययोः—देखने वाले अथवा देखे गये का; अनात्म—जो आत्मा नहीं है; स्व-दृशोः—या उसका जिसको अन्तर्ज्ञान है; ईश—हे भगवान्; कस्य—किसका; स्यात्—हो सकता है; उपलभ्यते—अनुभव किया जाता है।

श्री उद्धव ने कहा : हे भगवन्, इस भौतिक जगत के लिए यह सम्भव नहीं कि वह द्रष्टारूपी आत्मा का अनुभव हो या दृश्यरूपी शरीर का अनुभव हो। एक ओर जहाँ आत्मा स्वाभाविक तौर पर, पूर्ण ज्ञान से समन्वित होता है, वहीं दूसरी ओर भौतिक शरीर चेतन जीव नहीं है। तो फिर जगत का यह अनुभव किससे सम्बद्ध है?

तात्पर्य : चूँकि जीव शुद्ध आत्मा है, जो स्वभाव से पूर्ण ज्ञान तथा आनन्द से पूरित है और चूँकि भौतिक शरीर जैव रासायनिक मशीन (यंत्र) है, जो ज्ञान या निजी चेतना से विहीन है, तो फिर इस जगत के अज्ञान तथा चिन्ता को कौन अनुभव कर रहा होता है? भौतिक जीवन के चेतन अनुभव से इनकार नहीं किया जा सकता, इसलिए उद्धवजी भगवान् कृष्ण से यह प्रश्न उस विधि को अच्छी तरह से समझने के लिए कर रहे हैं जिससे मोह उत्पन्न होता है।

आत्माव्ययोऽगुणः शुद्धः स्वयंज्योतिरनावृतः ।

अग्निवद्दारुवदचिद्देहः कस्येह संसृतिः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

आत्मा—आत्मा; अव्ययः—न चुकने वाला; अगुणः—गुणों से परे; शुद्धः—शुद्ध; स्वयम्-ज्योतिः—आत्म-प्रकाशित; अनावृतः—खुला; अग्नि-वत्—अग्नि की तरह; दारु-वत्—काष्ठ की तरह; अचित्—अचेतन; देहः—शरीर; कस्य—किसका; इह—इस जगत में; संसृतिः—भौतिक जीवन का अनुभव।

आत्मा अव्यय, दिव्य, शुद्ध, आत्म-प्रकाशित तथा किसी भौतिक वस्तु से कभी न ढका जाने वाला है। यह अग्नि के समान है। किन्तु अचेतन शरीर, काष्ठ की तरह मन्द है और अनभिज्ञ है। अतएव इस जगत में वह कौन है, जो वास्तव में भौतिक जीवन का अनुभव करता है?

तात्पर्य : यहाँ पर *अनावृतः* तथा *दारुवत्* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। अग्नि कभी अंधकार से आवृत नहीं हो सकती क्योंकि अग्नि का स्वभाव ही प्रकाश करना है। इसी तरह आत्मा *स्वयंज्योतिः* अर्थात् आत्म-प्रकाशित है। इस तरह आत्मा दिव्य है—इसे भौतिक जीवनरूपी अंधकार कभी भी आवृत नहीं कर सकता। दूसरी ओर, भौतिक शरीर, जो कि काष्ठ की तरह है, स्वभाव से मन्द तथा प्रकाश रहित होता है। इसे अपने आप में जीवन की कोई भिज्ञता नहीं रहती। यदि आत्मा भौतिक जीवन से परे है और भौतिक शरीर को अपना चेत भी नहीं है, तो प्रश्न उठता है :भौतिक जगत विषयक हमारा अनुभव वस्तुतः किस तरह होता है?

श्रीभगवानुवाच

यावद्देहेन्द्रियप्राणैरात्मनः सन्निकर्षणम् ।
संसारः फलवांस्तावदपार्थोऽप्यविवेकिनः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; यावत्—जब तक; देह—शरीर; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; प्राणैः—तथा प्राण के द्वारा; आत्मनः—आत्मा का; सन्निकर्षणम्—आकर्षण; संसारः—भौतिक जगत; फल-वान्—फल से युक्त; तावत्—उस अवधि तक; अपार्थः—अर्थहीन; अपि—यद्यपि; अविवेकिनः—विवेकहीन व्यक्ति के लिए।

भगवान् ने कहा : जब तक मूर्ख आत्मा भौतिक शरीर, इन्द्रियों तथा प्राण के प्रति आकृष्ट रहता है, तब तक उसका भौतिक अस्तित्व विकसित होता रहता है यद्यपि अन्ततोगत्वा यह अर्थहीन होता है।

तात्पर्य : यहाँ पर *सन्निकर्षण* शब्द सूचित करता है कि शुद्ध आत्मा स्वेच्छा से अपने को भौतिक शरीर से यह सोचते हुए जोड़ लेता है कि यह सबसे फलप्रद व्यवस्था है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि यह स्थिति *अपार्थ* अर्थात् व्यर्थ होती है जब तक मनुष्य अपने देहधारी पद को भगवान् की

प्रेमाभक्ति में नहीं लगाता। उस समय मनुष्य का सम्बन्ध भगवान् कृष्ण से होता है, शरीर से नहीं, जो मनुष्य के उच्चतर उद्देश्य को पूरा करने का यंत्र मात्र बन जाता है।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥ १३॥

शब्दार्थ

अर्थे—असली कारण; हि—निश्चय ही; अविद्यमाने—अनुपस्थित; अपि—यद्यपि; संसृतिः—भौतिक जगत; न—नहीं; निवर्तते—मिट जाता है; ध्यायतः—ध्यान करते हुए; विषयान्—इन्द्रिय-विषयों का; अस्य—जीव का; स्वप्ने—स्वप्न में; अनर्थ—हानियों का; आगमः—आना; यथा—जिस तरह।

वस्तुतः जीव भौतिक जगत से परे है। किन्तु भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व दिखाने की मनोवृत्ति के कारण, उसका भौतिक अस्तित्व मिटता नहीं और वह सभी प्रकार की हानियों से प्रभावित होता है, जिस तरह स्वप्न में घटित होता है।

तात्पर्य : यह श्लोक तथा अन्य ऐसे ही श्लोक *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र आये हैं—यथा ३.२७.४, ४.२९.३५, ७३ तथा ११.२२.५६। वास्तव में, यह श्लोक माया के सार को पूरी तरह बतलाने वाला है।

यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत् ।
स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते ॥ १४॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; हि—निस्सन्देह; अप्रतिबुद्धस्य—जो नहीं जगा हुआ है उसके लिए; प्रस्वापः—नींद; बहु—अनेक; अनर्थ—अवांछित अनुभव; भृत्—प्रस्तुत करते हुए; सः—वही स्वप्न; एव—निस्सन्देह; प्रतिबुद्धस्य—जगे हुए के लिए; न—नहीं; वै—निश्चय ही; मोहाय—संशय; कल्पते—उत्पन्न करता है।

यद्यपि स्वप्न देखते समय मनुष्य को अनेक अवांछित वस्तुओं का अनुभव होता है, किन्तु जग जाने पर वह स्वप्न के अनुभवों से तनिक भी उद्विग्न नहीं होता।

तात्पर्य : मुक्त आत्मा को भी इस जगत में रहते हुए भौतिक वस्तुओं का अवलोकन करना चाहिए। किन्तु कृष्णभावनामृत के प्रति जागरूक होने के कारण, वह समझता है कि इन्द्रिय-सुख तथा दुख स्वप्न की तरह अर्थहीन होते हैं। इस तरह मुक्तात्मा मोह से कभी ग्रस्त नहीं होता।

शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः ।
अहङ्कारस्य दृश्यन्ते जन्ममृत्युश्च नात्मनः ॥ १५॥

शब्दार्थ

शोक—शोक; हर्ष—हर्ष; भय—डर; क्रोध—क्रोध; लोभ—लालच; मोह—संशय; स्पृहा—लालसा; आदय:—इत्यादि; अहङ्कारस्य—मिथ्या अहंकार के; दृश्यन्ते—वे प्रतीत होते हैं; जन्म—जन्म; मृत्यु:—मृत्यु; च—तथा; न—नहीं; आत्मन:—आत्मा का।

शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, लालसा, जन्म तथा मृत्यु मिथ्या अहंकार के अनुभव हैं, शुद्ध आत्मा के नहीं।

तात्पर्य : मिथ्या अहंकार सूक्ष्म भौतिक मन तथा स्थूल भौतिक शरीर के साथ शुद्ध आत्मा की मोहमयी पहचान है। इस मोहमयी पहचान के फलस्वरूप, बद्धात्मा खोई वस्तुओं के लिए शोक, प्राप्त हुई वस्तुओं पर हर्ष, अशुभ वस्तुओं पर भय, अपनी इच्छाओं की विफलता पर क्रोध और इन्द्रियतृप्ति के लिए लोभ का अनुभव करता है। इसलिए ऐसे झूठे आकर्षणों तथा विकर्षणों से मोहग्रस्त बद्धजीव को अन्य शरीर स्वीकार करने पड़ते हैं जिसका अर्थ है उसे बारम्बार जन्म तथा मृत्यु में से निकलना पड़ता है। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति जानता है कि ऐसी संसारी भावनाओं का शुद्ध आत्मा से काई सरोकार नहीं होता क्योंकि शुद्ध आत्मा की स्वाभाविक मनोवृत्ति भगवान् की प्रेमाभक्ति में अपने को लगाना है।

देहेन्द्रियप्राणमनोऽभिमानो
जीवोऽन्तरात्मा गुणकर्ममूर्तिः ।
सूत्रं महानित्युरुधेव गीतः
संसार आधावति कालतन्त्रः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

देह—शरीर; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; प्राण—जीवन-वायु; मनः—तथा मन से; अभिमानः—जो झूठे ही अपनी पहचान बनाता है; जीवः—जीव; अन्तः—भीतर स्थित; आत्मा—आत्मा; गुण—अपने भौतिक गुण; कर्म—तथा कर्म के अनुसार; मूर्तिः—उसके स्वरूप की कल्पना करते हुए; सूत्रम्—सूत्र तत्त्व; महान्—प्रकृति का आदि रूप; इति—इस प्रकार; उरुधा—भिन्न भिन्न तरीकों से; इव—निस्सन्देह; गीतः—वर्णित; संसारे—भौतिक जीवन में; आधावति—इधर-उधर दौड़ता है; काल—समय के; तन्त्रः—कठोर नियंत्रण में।

जो जीव अपनी पहचान गलती से अपने शरीर, इन्द्रियों, प्राण तथा मन से करता है और जो इन आवरणों के भीतर रहता है, वह अपने ही बद्ध भौतिक गुणों तथा कर्म का रूप धारण करता है। वह समग्र भौतिक भक्ति के सापेक्ष विविध उपाधियाँ ग्रहण करता है और इस तरह, परम काल के कठोर नियंत्रण में, संसार के भीतर इधर-उधर दौने के लिए बाध्य होता है।

तात्पर्य : मिथ्या अहंकार जो जीव को संसार का कष्ट भोगने के लिए बाध्य करता है, यहाँ पर भौतिक शरीर, इन्द्रियों, प्राण तथा मन के साथ मोहमयी पहचान के रूप में विस्तार से वर्णित हुआ है। *काल* शब्द प्रत्यक्ष रूप से भगवान् का द्योतक है, जो बद्धात्माओं पर सीमित कालखंडों को आरोपित

करता है और उन्हें प्रकृति के नियमों में कस कर बाँध रखता है। मोक्ष कोई निर्विशेष अनुभव नहीं है; मोक्ष तो मनुष्य के नित्य शरीर, इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि की भगवान् से संगति है। हम अपने नित्यमुक्त व्यक्तित्व को मिथ्या अहंकार के कल्मष से मुक्त, कृष्णभावनामृत में भगवान् की सेवा में अपने को अर्पित करके पुन: जागृत कर सकते हैं। जब शुद्ध आत्मा मिथ्या अहंकार को स्वीकार करता है, तो उसे भौतिक कष्ट उठाने पड़ते हैं। शुद्ध कृष्णभावनामृत में अपने आपको भगवान् कृष्ण का नित्य दास स्वीकार करने पर, मिथ्या अहंकार को स्वत: जीता जा सकता है।

अमूलमेतद्बहुरूपरूपितं
मनोवच:प्राणशरीरकर्म ।
ज्ञानासिनोपासनया शितेन-
च्छित्त्वा मुनिर्गां विचरत्यतृष्ण: ॥ १७॥

शब्दार्थ

अमूलम्—नींवरहित; एतत्—यह (मिथ्या अहंकार); बहु-रूप—नाना रूपों में; रूपितम्—सुनिश्चित; मन:—मन; वच:—वाणी; प्राण—जीवन-वायु; शरीर—तथा स्थूल शरीर का; कर्म—कार्य; ज्ञान—दिव्य ज्ञान की; असिना—तलवार से; उपासनया—(गुरु की) उपासना से; शितेन—तीक्ष्ण की हुई; छित्त्वा—काट कर; मुनि:—गम्भीर साधु; गाम्—इस पृथ्वी पर; विचरति—विचरण करता है; अतृष्ण:—भौतिक इच्छाओं से मुक्त।

यद्यपि मिथ्या अहंकार का कोई यथार्थ आधार नहीं है, किन्तु यह अनेक रूपों में देखा जाता है—यथा मन, वाणी, प्राण तथा शरीर के कार्यों के रूप में। किन्तु प्रामाणिक गुरु की उपासना के द्वारा तेज की हुई दिव्य ज्ञानरूपी तलवार से, गम्भीर साधु इस मिथ्या पहचान को काट देता है और इस जगत में समस्त भौतिक आसक्ति से मुक्त होकर निवास करता है।

तात्पर्य : *बहु-रूप-रूपितम्* ''अनेक रूपों में लक्षित'' से यह भी सूचित होता है कि मिथ्या अहंकार इस विश्वास में भी प्रकट होता है कि कोई व्यक्ति देवता, महापुरुष, सुन्दर महिला, दुखियारा श्रमिक, बाघ, पक्षी, कीड़ा इत्यादि है। मिथ्या अहंकारवश, शुद्ध आत्मा किसी भौतिक आवरण को अपना चरम आत्मा मान लेता है किन्तु ऐसी अज्ञानता को इस श्लोक में वर्णित विधि द्वारा दूर किया जा सकता है।

ज्ञानं विवेको निगमस्तपश्च
प्रत्यक्षमैतिह्यमथानुमानम् ।
आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं

कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ज्ञानम्—दिव्य ज्ञान; विवेकः—विवेक; निगमः—शास्त्र; तपः—तपस्या; च—तथा; प्रत्यक्षम्—प्रत्यक्ष अनुभूति; ऐतिह्यम्—पुराणों का ऐतिहासिक विवरण; अथ—तथा; अनुमानम्—तर्क; आदि—प्रारम्भ में; अन्तयोः—तथा अन्त में; अस्य—इस सृष्टि के; यत्—जो; एव—निस्सन्देह; केवलम्—अकेला; कालः—काल का नियामक कारक; च—तथा; हेतुः—चरम कारण; च—तथा; तत्—वह; एव—अकेला; मध्ये—बीचमें।

असली आध्यात्मिक ज्ञान तो आत्मा और पदार्थ के विवेक पर आधारित है और इसका अनुशीलन शास्त्रों के प्रमाण, तपस्या, प्रत्यक्ष अनुभूति, पुराणों के ऐतिहासिक वृत्तान्तों के संग्रहण तथा तार्किक निष्कर्षों द्वारा किया जाता है। परब्रह्म जो अकेला इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि के पूर्व विद्यमान था और जो इसके संहार के बाद भी बचा रहेगा, वही काल तथा परम कारण भी है। इस सृष्टि के मध्य में भी एकमात्र परब्रह्म वास्तविक सत्य है।

तात्पर्य : भौतिक विज्ञानी तथा दार्शनिक उस चरम भौतिक कारण या सिद्धान्त की खोज में बुरी तरह से लगे हुए हैं जिसे यहाँ पर *काल* कहा गया है। कार्य-कारण की भौतिक विधि कालक्रम में घटित होती है। दूसरे शब्दों में, काल भौतिक कार्य-कारण के लिए प्रेरक होता है। यह काल परमात्मा की अभिव्यक्ति है, जो विराट जगत में व्याप्त है और उसे सहारा देता है। यहाँ पर ज्ञान प्राप्त करने की विधि का वैज्ञानिक ढंग से वर्णन हुआ है और जो गम्भीर विद्वान हैं, वे यहाँ पर भगवान् द्वारा उद्घाटित दिव्य ज्ञान-शास्त्र का लाभ उठायेंगे।

यथा हिरण्यं स्वकृतं पुरस्तात्
पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य ।
तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं
नानापदेशैरहमस्य तद्वत् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; हिरण्यम्—स्वर्ण; सु-अकृतम्—बनी वस्तु के रूप में अप्रकट; पुरस्तात्—इसके पूर्व; पश्चात्—बाद में; च—तथा; सर्वस्य—हर वस्तु का; हिरण्-मयस्य—सोने से बनी; तत्—वह सोना; एव—एकमात्र; मध्ये—बीच में; व्यवहार्यमाणम्—उपयोग में लाने पर; नाना—विविध; अपदेशैः—उपाधियों के रूप में; अहम्—मैं; अस्य—इस उत्पन्न ब्रह्माण्ड का; तद्वत्—उसी तरह से।

जिस तरह सोने की वस्तुएँ तैयार होने के पूर्व, एकमात्र सोना रहता है और जब ये वस्तुएँ नष्ट हो जाती हैं, तो भी एकमात्र सोना बचा रहता है और जब विविध नामों से व्यवहार में लाये जाने पर भी एकमात्र सोना ही अनिवार्य सत्य होता है, उसी तरह इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि के पूर्व, इसके

संहार के बाद और इसके अस्तित्व के समय केवल मैं विद्यमान रहता हूँ।

तात्पर्य : सोने से अनेक तरह के आभूषण, सिक्के तथा अन्य विलासपूर्ण वस्तुएँ बनाई जाती हैं। किन्तु प्रत्येक अवस्था पर—बनाने के पूर्व, बनाते समय, व्यवहार के समय तथा उसके बाद—अनिवार्य सत्य सोना ही होता है। इसी तरह से भगवान् अनिवार्य सत्य हैं—वे हर वस्तु के गतिमान तथा घटक कारण के रूप में हैं। भौतिक सृष्टि के समय भगवान् अपनी शक्ति को केवल गति प्रदान करते हैं, जो उनसे भिन्न नहीं है।

विज्ञानमेतत्त्रियवस्थमङ्ग
गुणत्रयं कारणकर्यकर्तृ ।
समन्वयेन व्यतिरेकतश्च
येनैव तुर्येण तदेव सत्यम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

विज्ञानम्—(मन जिसका लक्षण है) पूर्ण ज्ञान; एतत्—यह; त्रि-अवस्थम्—तीन अवस्थाओं (जाग्रत, सुप्ति, सुषुप्ति) में विद्यमान; अङ्ग—हे प्रिय उद्धव; गुण-त्रयम्—तीन गुणों के माध्यम से प्रकट; कारण—सूक्ष्म कारण के रूप में (अध्यात्म); कार्य—स्थूल उत्पाद (अधिभूत); कर्तृ—तथा करने वाला (आधिदैव); समन्वयेन—एक के बाद एक-एक में; व्यतिरेकतः—पृथक् रूप में; च—तथा; येन—जिससे; एव—निस्सन्देह; तुर्येण—चौथा कारण; तत्—वह; एव—ही; सत्यम्—परब्रह्म है।

भौतिक मन चेतना की तीन अवस्थाओं—जाग्रत, सुप्ति तथा सुषुप्ति—में प्रकट होता है, जो प्रकृति के तीन गुणों से उत्पन्न हैं। फिर मन तीन भिन्न भिन्न भूमिकाओं में—द्रष्टा, दृश्य तथा अनुभूति के नियामक रूप में—प्रकट होता है। इस तरह मन तीनों उपाधियों में लगातार विविध प्रकारों से प्रकट होता है। किन्तु इन सबों से भिन्न एक चौथा तत्त्व भी विद्यमान रहता है और वही परब्रह्म होता है।

तात्पर्य : *कठ उपनिषद* (२.२.१५) में कहा गया है—*तमेव भान्तमनुभाति सर्वं/तस्य भासा सर्वमिदं विभाति*—उनकी मूल ज्योति के बल पर हर वस्तु अपना प्रकाश फैलाती है और उनका प्रकाश इस ब्रह्माण्ड की हर वस्तु को प्रकाशित करता है। इस तरह अनुभूति, ज्ञान तथा संवेदनशीलता की पूरी परिधि भगवान् की अनुभूति, ज्ञान तथा संवेदनशीलता का तुच्छ विस्तार है।

न यत्पुरस्तादुत यन्न पश्चा-
न्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम् ।
भूतं प्रसिद्धं च परेण यद्यत्

तदेव तत्स्यादिति मे मनीषा ॥ २१॥

शब्दार्थ

न—नहीं है; यत्—जो; पुरस्तात्—इससे पहिले; उत—न तो; यत्—जो; न—नहीं; पश्चात्—बाद में; मध्ये—बीच में; च—तथा; तत्—वह; न—नहीं विद्यमान रहता; व्यपदेश-मात्रम्—उपाधि मात्र; भूतम्—उत्पन्न; प्रसिद्धम्—विख्यात बनाया गया; च—तथा; परेण—दूसरे के द्वारा; यत् यत्—जो जो; तत्—वह; एव—केवल; तत्—वह अन्य; स्यात्—वास्तव में है; इति—इस प्रकार; मे—मेरा; मनीषा—विचार, मत।

जो भूतकाल में विद्यमान नहीं था और भविष्य में भी विद्यमान नहीं रहेगा, उसका उसकी पूरी अवधि में कोई अस्तित्व नहीं होता; वह केवल ऊपरी उपाधि होता है। मेरे मत में जो कुछ उत्पन्न किया जाता है तथा किसी अन्य वस्तु से उद्घाटित किया जाता है, वही अन्तत: एकमात्र अन्य वस्तु होता है।

तात्पर्य : यद्यपि सारी भौतिक वस्तुएँ, यथा हमारे शरीर, नश्वर हैं और इस तरह मिथ्या हैं, किन्तु यह भौतिक जगत भगवान् की शक्ति की असली अभिव्यक्ति होता है। इस जगत की मूल वस्तु या यथार्थता तो स्वयं भगवान् हैं जबकि बद्धजीवों द्वारा आरोपित नश्वर उपाधियाँ मोह (माया) हैं। इस तरह हम अपने आपको अमरीकी, रूसी, अंग्रेज, जर्मन, भारतीय, श्याम, श्वेत, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई इत्यादि मानते हैं। वस्तुत: हम भगवान् की तटस्था शक्ति हैं किन्तु भगवान् की अपरा भौतिक शक्ति का विदोहन करने के प्रयास के फलस्वरूप, माया में फँस गये हैं। हर वस्तु को भगवान् के परिप्रेक्ष्य में परिभाषित किया जाना चाहिए क्योंकि वे ही इस तथा अन्य सारे जगतों के अनिवार्य सत्य हैं।

अविद्यमानोऽप्यवभासते यो
वैकारिको राजससर्ग एस: ।
ब्रह्म स्वयं ज्योतिरतो विभाति
ब्रह्मेन्द्रियार्थात्मविकारचित्रम् ॥ २२॥

शब्दार्थ

अविद्यमान:—वास्तव में विद्यमान न होते हुए; अपि—यद्यपि; अवभासते—प्रतीत होता है; य:—जो; वैकारिक:—विकारों की अभिव्यक्ति; राजस—रजोगुण का; सर्ग:—सृजन; एष:—यह; ब्रह्म—परब्रह्म; स्वयम्—अपने में स्थित; ज्योति:—प्रकाशवान्; अत:—इसलिए; विभाति—प्रकट होता है; ब्रह्म—परब्रह्म; इन्द्रिय—इन्द्रियों का; अर्थ—विषय; आत्म—मन; विकार—तथा पाँच तत्त्वों के रूपान्तरों का; चित्रम्—विविधता के रूप में।

वास्तव में विद्यमान न होते हुए भी, रजोगुण से उत्पन्न रूपान्तरों की यह अभिव्यक्ति सत्य प्रतीत होती है क्योंकि स्वयं-व्यक्त, स्वयं-प्रकाशित परब्रह्म अपने को नाना प्रकार की इन्द्रियों, इन्द्रिय-विषयों, मन तथा शरीर के तत्त्वों के रूप में प्रकट करता है।

तात्पर्य : समग्र भौतिक प्रकृति अर्थात् *प्रधान* मूलतः अभिन्न तथा जड़ है किन्तु बाद में इसमें विकार आ जाते हैं जब भगवान् अपने काल अभिकर्ता के माध्यम से इस पर दृष्टिपात करते हैं और रजोगुण को जागृत करते हैं। इस तरह भौतिक रूपान्तर होता है और भगवान् की अपरा शक्ति के रूप में प्रकट होता है। इसके विपरीत, भगवान् के निजी धाम में नित्य वैविध्य रहता है, जो परब्रह्म का आत्म-प्रकाशित आन्तरिक ऐश्वर्य है और भौतिक सृजन, रूपान्तर या संहार के अधीन नहीं है। इस तरह भौतिक जगत एक ही समय परब्रह्म से अभेद तथा पृथक् है।

एवं स्फुतं ब्रह्मविवेकहेतुभिः
परापवादेन विशारदेन ।
छित्त्वात्मसन्देहमुपारमेत
स्वानन्दतुष्टोऽखिलकामुकेभ्यः ॥ २३॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; स्फुटम्—स्पष्टतः; ब्रह्म—परब्रह्म का; विवेक-हेतुभिः—विवेक तथा तर्कों द्वारा; पर—अन्य धारणाओं से गलत पहचान का; अपवादेन—निषेध द्वारा; विशारदेन—पटु; छित्त्वा—काट कर; आत्म—आत्मा की पहचान के बारे में; सन्देहम्—सन्देह को; उपारमेत—बचे; स्व-आनन्द—अपने दिव्य आनन्द में; तुष्टः—सन्तुष्ट; अखिल—समस्त; कामुकेभ्यः—काम-वासना वाली वस्तुओं से।

इस तरह विवेकशील तर्क द्वारा परब्रह्म की अनन्य स्थिति को अच्छी तरह समझ करके मनुष्य को चाहिए कि पदार्थ से अपनी गलत पहचान का कुशलतापूर्वक निषेध करे और आत्मा की पहचान विषयक सारे संशयों को छिन्न-भिन्न कर डाले। आत्मा के स्वाभाविक आनन्द से तुष्ट होते हुए मनुष्य को भौतिक इन्द्रियों के काम-वासनामय कार्यों से दूर रहना चाहिए।

नात्मा वपुः पार्थिवमिन्द्रियाणि
देवा ह्यसुर्वायुर्जलम्हुताशः ।
मनोऽन्नमात्रं धिषणा च सत्त्व-
महङ्कृतिः खं क्षितिरर्थसाम्यम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; आत्मा—आत्मा; वपुः—शरीर; पार्थिवम्—पृथ्वी से बना; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; देवाः—अधिष्ठाता देवता; हि—निस्सन्देह; असुः—प्राण-वायु; वायुः—बाह्य वायु; जलम्—पानी; हुत-आशः—अग्नि; मनः—मन; अन्न-मात्रम्—केवल पदार्थ होने से; धिषणा—बुद्धि; च—तथा; सत्त्वम्—भौतिक चेतना; अहङ्कृतिः—मिथ्या अहंकार; खम्—आकाश; क्षितिः—पृथ्वी; अर्थ—इन्द्रिय अनुभूति के विषय; साम्यम्—प्रकृति की आदि अभिन्नित अवस्था।

पृथ्वी से बना भौतिक शरीर असली आत्मा नहीं है, न ही इन्द्रियाँ, उनके अधिष्ठातृ देवता या प्राण-वायु; न बाह्य वायु, जल, अथवा अग्नि या मन ही हैं। ये सब पदार्थ हैं। इसी तरह न तो

मनुष्य की बुद्धि, न भौतिक चेतना, न अहंकार, न ही आकाश या पृथ्वी के तत्त्व, न ही इन्द्रिय अनुभूति के विषय, न भौतिक साम्य की आदि अवस्था ही को आत्मा की वास्तविक पहचान माना जा सकता है।

समाहितैः कः करणैर्गुणात्मभि-
र्गुणो भवेन्मत्सुविविक्तधाम्नः ।
विक्षिप्यमाणैरुत किं नु दूषणं
घनैरुपेतैर्विगतै रवेः किम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

समाहितैः—ध्यान में पूरी तरह एकाग्र; कः—क्या; करणैः—इन्द्रियों द्वारा; गुण-आत्मभिः—जो गुणों की अभिव्यक्तियाँ हैं; गुणः—गुण; भवेत्—होगा; मत्—मेरा; सु-विविक्त—जिसने अच्छी तरह निश्चित कर लिया है; धाम्नः—पहचान; विक्षिप्यमाणैः—जिन्हें विक्षुब्ध किया जा रहा है; उत—दूसरी ओर; किम्—क्या; नु—निस्सन्देह; दूषणम्—कलंक; घनैः—बादलों द्वारा; उपेतैः—आये हुए; विगतैः—अथवा जो जा चुके हैं; रवेः—सूर्य का; किम्—क्या।

जिसने मेरी पहचान भगवान् के रूप में कर ली है, उसके लिए इसमें क्या श्रेय रखा है यदि उसकी इन्द्रियाँ, जो गुणों से उत्पन्न हैं, ध्यान में पूरी तरह एकाग्र हों? दूसरी ओर, इसमें कौन-सा कलंक लगता है यदि उसकी इन्द्रियाँ चलायमान होती हैं? निस्सन्देह, इससे सूर्य का क्या बनता-बिगड़ता है यदि बादल आते और जाते हैं?

तात्पर्य : भगवान् का शुद्ध भक्त नित्य ही मुक्त होता है क्योंकि वह भगवान् के दिव्य पुरुषत्व एवं धाम को भलीभाँति समझे रहता है और इस जगत में भगवान् के मिशन की सेवा में सदैव लगा रहता है। यद्यपि भगवान् के मिशन में लगे रहते हुए, वह भौतिक जगत की घटनाओं से चलायमान प्रतीत होता है किन्तु इससे उसके भगवान् के नित्य सेवक होने पर कोई आँच नहीं आती जिस तरह सूर्य के उच्च पद में कोई परिवर्तन नहीं आता चाहे वह बाह्य रूप में बादलों द्वारा ढका हो।

यथा नभो वाय्वनलाम्बुभूगुणै-
र्गतागतैर्वर्तुगुणैर्न सज्जते ।
तथाक्षरं सत्त्वरजस्तमोमलै-
रहंमतेः संसृतिहेतुभिः परम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; नभः—आकाश; वायु—वायु; अनल—अग्नि; अम्बु—जल; भू—तथा पृथ्वी के; गुणैः—गुणों से; गत-आगतैः—आने-जाने वाले; वा—अथवा; ऋतु-गुणैः—ऋतुओं (यथा शीत, ग्रीष्म इत्यादि) के गुणों द्वारा; न सज्जते—नहीं

बँधता; तथा—उसी तरह; अक्षरम्—परब्रह्म; सत्त्व-रजः-तमः—सतो, रजो तथा तमोगुणों के; मलैः—दूषण द्वारा; अहम्-मतेः—मिथ्या अहंकार की भावना का; संसृति-हेतुभिः—जगत के कारणों द्वारा; परम्—परम।

आकाश अपने में से होकर गुजरने वाली वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी के विविध गुणों को और उसी के साथ उष्मा तथा शीत के गुणों को भी प्रदर्शित कर सकता है, जो ऋतुओं के अनुसार निरन्तर आते-जाते रहते हैं। फिर भी, आकाश कभी भी इन गुणों से बँधता नहीं। इसी प्रकार परब्रह्म सतो, रजो तथा तमोगुणों के दूषणों से कभी बँधता नहीं क्योंकि ये मिथ्या अहंकार का भौतिक विकार उत्पन्न करने वाले हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर *अहं-मतेः* शब्द उस बद्धजीव का द्योतन करता है, जो किसी विशेष शरीर के मिथ्या अहंकार के साथ प्रकट होता है। इसके विपरीत, भगवान् प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहते हैं और इस तरह वे न तो भौतिक शरीर से कभी आवृत होते हैं और न ही मिथ्या अहंकार के वशीभूत होते हैं। जैसाकि यहाँ पर वर्णन हुआ है, भगवान् नित्य अच्युत तथा शुद्ध हैं।

तथापि सङ्गः परिवर्जनीयो
गुणेषु मायारचितेषु तावत् ।
मद्भक्तियोगेन दृढेन यावद्
रजो निरस्येत मनःकषायः ॥ २७॥

शब्दार्थ

तथा अपि—तिस पर भी; सङ्गः—संगति; परिवर्जनीयः—बहिष्कार कर देनी चाहिए; गुणेषु—गुणों से; माया-रचितेषु—मायाशक्ति द्वारा उत्पन्न; तावत्—तब तक; मत्-भक्ति-योगेन—मेरी भक्ति द्वारा; दृढेन—दृढ़; यावत्—जब तक; रजः—वासनामय आकर्षण; निरस्येत—दूर हो जाय; मनः—मन की; कषायः—गर्द, धूल।

तिस पर भी मनुष्य जब तक दृढ़तापूर्वक मेरी भक्ति का अभ्यास करके अपने मन से भौतिक काम-वासना के कल्मष को पूरी तरह निकाल नहीं फेंकता है, तब तक उसे इन भौतिक गुणों की संगति करने में सावधानी बरतनी चाहिए जो मेरी मायाशक्ति द्वारा उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *तथापि* शब्द यह सूचित करता है कि यद्यपि प्रकृति भगवान् से अभिन्न है (जैसाकि इस अध्याय में विस्तार से वर्णित है), किन्तु जिसे अब भी भौतिक इच्छा पर विजय पानी है उसे भौतिक वस्तुओं को भगवान् से अभिन्न घोषित करते हुए कृत्रिम रूप से उनकी संगति नहीं करनी चाहिए। इस तरह कृष्णभावनाभावित होने के इच्छुक व्यक्ति को स्त्रियों की बिना रोक-टोक संगति, यह दावा करते हुए कि वे भगवान् से अभिन्न हैं, नहीं करनी चाहिए क्योंकि इस तरह उच्चतम भक्त की

नकल करने से वह इन्द्रिय भोक्ता बन जायेगा। जो नवदीक्षित भक्त अपने को मुक्त समझ लेता है, वह रजोगुण से प्रेरित होकर अपने पद पर गर्व करने लगता है और इस तरह वह भगवान् की असली भक्ति की प्रक्रिया की उपेक्षा करने लगता है। मनुष्य को उच्च अधिकारियों के निर्देशन में भगवान् की भक्ति में दृढ़ तथा स्थायी होना चाहिए। तभी कृष्णभावनामृत में प्रगति कर पाना आसान तथा सफल होगा।

यथामयोऽसाधु चिकित्सितो नृणां
पुनः पुनः सन्तुदति प्ररोहन् ।
एवं मनोऽपक्वकषायकर्म
कुयोगिनं विध्यति सर्वसङ्गम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; आमयः—रोग; असाधु—अपूर्ण रूप से; चिकित्सितः—उपचार किया गया; नृणाम्—मनुष्यों के; पुनः पुनः—बारम्बार; सन्तुदति—दुख देता है; प्ररोहन्—ऊपर उठते हुए; एवम्—उसी तरह; मनः—मन; अपक्व—अशुद्ध; कषाय—दूषण का; कर्म—कर्मों से; कु-योगिनम्—अपूर्ण योगी; विध्यति—तंग करता है; सर्व-सङ्गम्—जो सभी तरह की भौतिक आसक्तियों से पूर्ण है।

जिस तरह ठीक से उपचार न होने पर रोग फिर से लौट आता है और रोगी को बारम्बार कष्ट देता है, उसी तरह यदि मन को विकृत प्रवृत्तियों से पूरी तरह शुद्ध नहीं कर लिया जाता, तो वह भौतिक वस्तुओं में लिप्त रहने लगता है और अपूर्ण योगी को बारम्बार तंग करता रहता है।

तात्पर्य : *सर्व-संगम्* मनुष्य के तथाकथित भोग की वस्तुओं से यथा सन्तान, स्त्री, धन, राष्ट्र तथा मित्रों के साथ बुरी तरह आसक्ति होने का द्योतक है। जो व्यक्ति सन्तान, स्त्री इत्यादि के साथ अपनी आसक्ति बढ़ा लेता है, वह भगवान् कृष्ण की भक्ति करते हुए भी या तो *कुयोगी* समझा जाता है जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है या मोहग्रस्त नौसिखिया होता है, जो अपने हृदय के रोग का, जिसे भौतिक आसक्ति कहते हैं, ठीक से उपचार करने में असफल रहा है। यदि वह बारम्बार भौतिक आसक्ति में गिरता रहता है, तो वह अपने हृदय से अज्ञान के अंधकार को दूर करने में असफल रहा है।

कुयोगिनो ये विहितान्तरायै-
र्मनुष्यभूतैस्त्रिदशोपसृष्टैः ।
ते प्राक्तनाभ्यासबलेन भूयो
युञ्जन्ति योगं न तु कर्मतन्त्रम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

कु-योगिनः—योगाभ्यासी जिसका ज्ञान अपूर्ण है; ये—जो; विहित—आरोपित; अन्तरायैः—बाधाओं द्वारा; मनुष्य-भूतैः—मनुष्यों (उनके सम्बन्धियों, शिष्यों इत्यादि) के रूप में; त्रिदश—देवताओं द्वारा; उपसृष्टैः—भेजे गये; ते—वे; प्राक्तन—पूर्वजन्म का; अभ्यास—संचित अभ्यास के; बलेन—बल पर; भूयः—एक बार फिर; युञ्जन्ति—प्रवृत्त होते हैं; योगम्—योग में; न—कभी नहीं; तु—किन्तु; कर्म-तन्त्रम्—सकाम कर्म का पाश।

कभी कभी अपूर्ण योगी की उन्नति पारिवारिक सदस्यों, शिष्यों अथवा अन्यों के प्रति आसक्ति के कारण रुक जाती है क्योंकि ऐसे लोग इसी प्रयोजन से ईर्ष्यालु देवताओं द्वारा भेजे जाते हैं। किन्तु अपनी संचित उन्नति के बल पर ऐसे अपूर्ण योगी अगले जन्म में अपना योगाभ्यास फिर चालू कर देते हैं। वे फिर कभी सकाम कर्म के जाल में नहीं फँसते।

तात्पर्य : कभी कभी संन्यासी तथा अन्य आध्यात्मिक गुरुजन उन चापलूस अनुयायियों तथा शिष्यों द्वारा विमोहित कर लिए जाते हैं, जिन्हें देवतागण अपूर्ण ज्ञान वाले आध्यात्मिक नेताओं को दुचित्ता बनाने के लिए भेजते हैं। इसी तरह कभी कभी अपने ही पारिवारिक सम्बन्धियों के प्रति आसक्ति से आध्यात्मिक उन्नति अवरुद्ध हो जाती है। भले ही अपूर्ण योगी इस जीवन में अपने योगाभ्यास से च्युत हो जाय, किन्तु वह अपने संचित गुण के बल पर अगले जीवन में उस पद को पुन: प्राप्त कर लेगा जैसाकि *भगवद्गीता* में बतलाया गया है। *न तु कर्म-तन्त्रम्* शब्द यह इंगित करते हैं कि च्युत योगी को सकाम कर्म की निम्न अवस्थाओं से होकर नहीं गुजरना होता और क्रमशः योगाभ्यास में नहीं लगना पड़ता। प्रत्युत वह जहाँ पर अपने योगाभ्यास को छोड़े रहता है, वहीं से पुन: उसे चालू कर देता है। निस्सन्देह, यहाँ पर दी गई सुविधा के बल पर च्युत होने की कल्पना नहीं करनी चाहिए, अपितु इसी जीवन में पूर्ण बनने का प्रयास करना चाहिए। विशेष रूप से संन्यासियों को अपने हृदय से विषय-वासना की हृदय-ग्रंथि दूर करनी चाहिए और चापलूस अनुयायियों या शिष्याओं के चंगुल से बचना चाहिए क्योंकि ये लोग देवताओं द्वारा उस तथाकथित आध्यात्मिक नेता का पर्दाफाश करने के लिए भेजे जाते हैं, जो कृष्णभावनाभावित ज्ञान में अधूरा होता है।

करोति कर्म क्रियते च जन्तुः
केनाप्यसौ चोदित आनिपतात् ।
न तत्र विद्वान्प्रकृतौ स्थितोऽपि
निवृत्ततृष्णः स्वसुखानुभूत्या ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

करोति—करता है; कर्म—भौतिक कार्य; क्रियते—कराया जाता है; च—भी; जन्तुः—जीव; केन अपि—किसी न किसी शक्ति के द्वारा; असौ—वह; चोदितः—प्रेरित; आ-निपातात्—मृत्युपर्यन्त; न—नहीं; तत्र—वहाँ; विद्वान्—चतुर व्यक्ति; प्रकृतौ—प्रकृति में; स्थितः—स्थित; अपि—भी; निवृत्त—त्यागने के बाद; तृष्णः—भौतिक इच्छा से; स्व—अपनी; सुख—सुख का; अनुभूत्या—अनुभव।

सामान्य जीव भौतिक कर्म करता है और ऐसे कर्म के फल से रूपान्तरित हो जाता है। इस तरह वह विविध इच्छाओं से प्रेरित होकर अपनी मृत्यु तक सकाम कर्म करता रहता है। किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति अपने स्वाभाविक आनन्द का अनुभव किये रहने से, सारी भौतिक इच्छाओं को त्याग देता है और सकाम कर्म में प्रवृत्त नहीं होता।

तात्पर्य : स्त्री के साथ यौन संसर्ग के कारण मनुष्य बारम्बार स्त्री का भोग करना चाहता है और मृत्यु के समय तक वह कामुक बना रहता है। इसी तरह, परिवार तथा मित्रों की संगति से भौतिक आसक्ति की गाँठ अत्यन्त कड़ी पड़ जाती है। इस तरह सकाम कर्म के फल मनुष्य को भौतिक पराजय के चक्र में अधिकाधिक बाँधते जाते हैं। किन्तु अपने हृदय के भीतर भगवान् से सम्पर्क बनाये रखने वाला विद्वान व्यक्ति भौतिक कर्म की चरम निराशा तथा अपने पापकर्मों के कारण अगले जीवन में सुअरी या कुतिया के गर्भ में प्रवेश करने के खतरे से परिचित रहता है। जो व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त है, वह अपने को जगत का भोक्ता नहीं मानता, प्रत्युत सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को भगवान् की शक्ति का नगण्य विस्तार मात्र और अपने को तो भगवान् का विनीत सेवक मानता है।

तिष्ठन्तमासीनमुत व्रजन्तं
शयानमुक्षन्तमदन्तमन्नम् ।
स्वभावमन्यत्किमपीहमान-
मात्मानमात्मस्थमतिर्न वेद ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तिष्ठन्तम्—खड़े खड़े; आसीनम्—बैठे हुए; उत—अथवा; व्रजन्तम्—विचरण करते हुए; शयानम्—लेटे हुए; उक्षन्तम्—मूत्र त्याग करते हुए; अदन्तम्—खाते हुए; अन्नम्—भोजन; स्व-भावम्—उसके बद्ध स्वभाव से प्रकट; अन्यत्—दूसरा; किम् अपि—जो भी; ईहमानम्—सम्पन्न करते हुए; आत्मानम्—अपने शरीर को; आत्म-स्थ—सच्चे आत्मा में स्थित; मतिः—चेतना; न वेद—नहीं पहचानता।

बुद्धिमान व्यक्ति, जिसकी चेतना आत्मा में स्थित है, अपनी शारीरिक क्रियाओं पर भी ध्यान नहीं दे पाता। खड़े, बैठे, चलते, लेटे, मूत्र त्याग करते, भोजन करते या अन्य शारीरिक कार्य करते हुए भी, वह समझता है कि शरीर अपने स्वभाव के अनुसार कार्य करता है।

यदि स्म पश्यत्यसदिन्द्रियार्थं
नानानुमानेन विरुद्धमन्यत् ।
न मन्यते वस्तुतया मनीषी
स्वाप्नं यथोत्थाय तिरोदधानम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; स्म—कभी; पश्यति—देखता है; असत्—अशुद्ध; इन्द्रिय-अर्थम्—इन्द्रिय-विषयों को; नाना—द्वैत पर आधारित होने से; अनुमानेन—तर्क द्वारा; विरुद्धम्—विरोध किया हुआ; अन्यत्—वास्तविकता से भिन्न; न मन्यते—नहीं मानता; वस्तुतया—असली के रूप में; मनीषी—बुद्धिमान मनुष्य; स्वाप्नम्—स्वप्न का; यथा—जिस तरह, मानो; उत्थाय—जग कर; तिरोदधानम्—जो तिरोधान होने की विधि है।

यद्यपि स्वरूपसिद्ध आत्मा कभी कभी अशुद्ध वस्तु या कर्म को देख सकता है, किन्तु वह इसे सत्य नहीं मानता। अशुद्ध इन्द्रिय-विषयों को तर्क द्वारा मायावी भौतिक द्वैत पर आधारित समझ कर, बुद्धिमान व्यक्ति उन्हें सत्य से सर्वथा विपरीत और पृथक् मानता है, जिस तरह निद्रा से जगा हुआ मनुष्य अपने अस्पष्ट स्वप्न को देखता है।

तात्पर्य : विज्ञ पुरुष स्वप्न के अनुभव तथा अपने असली जीवन में स्पष्ट भेद कर सकता है। इसी तरह *मनीषी* या विद्वान व्यक्ति दूषित इन्द्रिय-विषयों को भगवान् की मायाशक्ति की सृष्टियों के स्पष्ट रूप में देखता है, वास्तविक सत्य के रूप में नहीं। स्वरूपसिद्ध बुद्धि की यह व्यावहारिक परीक्षा है।

पूर्वं गृहीतं गुणकर्मचित्र-
मज्ञानमात्मन्यविविक्तमङ्ग ।
निवर्तते तत्पुनरीक्षयैव
न गृह्यते नापि विसृज्य आत्मा ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

पूर्वम्—इसके पहले; गृहीतम्—स्वीकृत; गुण—गुणों के; कर्म—कर्मों के द्वारा; चित्रम्—विविधतापूर्ण; अज्ञानम्—अज्ञान; आत्मनि—आत्मा पर; अविविक्तम्—अभिन्न रूप में आरोपित; अङ्ग—हे उद्धव; निवर्तते—बन्द कर देता है; तत्—वह; पुनः—फिर; ईक्षया—ज्ञान द्वारा; एव—ही; न गृह्यते—स्वीकार नहीं किया जाता; न—नहीं; अपि—निस्सन्देह; विसृज्य—तिरस्कार करके; आत्मा—आत्मा।

भौतिक अविद्या को, जो प्राकृतिक गुणों के कार्यों द्वारा नाना रूपों में विस्तार पाती है, बद्धजीव गलती से आत्मा मान बैठता है। किन्तु हे उद्धव, आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन से यही अविद्या मोक्ष के समय समाप्त हो जाती है। दूसरी ओर, नित्य आत्मा न तो कभी ग्रहण किया जा सकता है और न ही त्यागा जा सकता है।

तात्पर्य : यहाँ इस बात पर बल दिया गया है कि नित्य आत्मा न तो कभी ग्रहण किया जाता है या भौतिक उपाधि की तरह आरोपित होता है, न ही इसे कभी त्यागा जा सकता है। जैसाकि *भगवद्गीता*

में कहा गया है, आत्मा शाश्वत रूप से वही रहता है और उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता। किन्तु प्रकृति के गुण मनुष्य के पूर्वकर्म के अनुसार स्थूल भौतिक शरीर तथा सूक्ष्म मन की रचना करते हैं और ये स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर आत्मा पर लाद दिये जाते हैं। इस तरह जीव न तो आत्मा का ग्रहण करता है न बहिष्कार कर सकता है, जो शाश्वत तथ्य है। उसे तो चाहिए कि, यहाँ इंगित किए अनुसार, आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन करते हुए, भौतिक चेतना की स्थूल अज्ञानता को त्याग दे।

यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां
तमो निहन्यान्न तु सद्विधत्ते ।
एवं समीक्षा निपुणा सती मे
हन्यात्तमिस्त्रं पुरुषस्य बुद्धेः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; हि—निस्सन्देह; भानोः—सूर्य का; उदयः—उदय होना; नृ—मनुष्य की; चक्षुषाम्—आँखों के; तमः—अंधकार; निहन्यात्—नष्ट कर देता है; न—नहीं; तु—लेकिन; सत्—विद्यमान वस्तुएँ; विधत्ते—उत्पन्न करता है; एवम्—उसी तरह; समीक्षा—पूर्ण अनुभूति; निपुणा—निपुण; सती—असली; मे—मेरा; हन्यात्—नष्ट करता है; तमिस्त्रम्—अंधकार को; पुरुषस्य—मनुष्य के; बुद्धेः—बुद्धि में।

जब सूर्य उदय होता है, तो वह मनुष्यों की आँखों को ढकने वाले अंधकार को नष्ट कर देता है, किन्तु वह उन वस्तुओं को उत्पन्न नहीं करता जिन्हें मनुष्य अपने समक्ष देखते हैं क्योंकि वे तो पहले से वहीं पर थीं। इसी तरह मेरी शक्तिशाली तथा यथार्थ अनुभूति मनुष्य की असली चेतना को ढकने वाले अंधकार को नष्ट कर देगी।

एष स्वयंज्योतिरजोऽप्रमेयो
महानुभूतिः सकलानुभूतिः ।
एकोऽद्वितीयो वचसां विरामे
येनेषिता वागसवश्चरन्ति ॥ ३५॥

शब्दार्थ

एषः—यह (परमात्मा); स्वयम्-ज्योतिः—आत्म-प्रकाशित; अजः—अजन्मा; अप्रमेयः—माप पाना असम्भव; महा-अनुभूतिः—दिव्य चेतना से पूरित; सकल-अनुभूतिः—हर वस्तु से ज्ञात; एकः—एक; अद्वितीयः—अद्वितीय; वचसाम् विरामे—जब वाणी विराम ले लेती (तभी अनुभूति होती है); येन—जिसके द्वारा; ईषिताः—प्रेरित; वाक्—वाणी; असवः—तथा प्राण; चरन्ति—गति करते हैं।

परमेश्वर स्वतः प्रकाशित, अजन्मा तथा अप्रमेय हैं। वे शुद्ध दिव्य चेतना हैं और हर वस्तु का अनुभव करते हैं। वे अद्वितीय हैं और जब सामान्य शब्द काम करना बन्द कर देते हैं, तभी उनकी अनुभूति होती है। उनके द्वारा वाक्शक्ति तथा प्राणों को गति प्राप्त होती है।

तात्पर्य : परमेश्वर आत्म-प्रकाशित, आत्म अभिव्यक्त हैं जबकि व्यष्टि जीव उन्हीं के द्वारा प्रकट होता है। भगवान् अजन्मा हैं किन्तु जीव भौतिक उपाधियों के आवरणों के कारण बद्ध जीवन में जन्म लेता है। सर्वव्याप्त होने के कारण भगवान् अप्रमेय हैं जबकि जीव एक ही स्थान तक सीमित है। भगवान् *महानुभूति* हैं जबकि जीव चेतना की क्षुद्र स्फुलिंग होता है। भगवान् *सकलानुभूति* अर्थात् सर्वज्ञ हैं, किन्तु जीव के पास उसका सीमित अनुभव होता है। भगवान् एक हैं जबकि जीव असंख्य हैं। भगवान् तथा अपने में इन असमानताओं पर विचार करते हुए हमें उन मूर्ख विज्ञानियों तथा दार्शनिकों की तरह अपना समय व्यर्थ में नहीं गँवाना चाहिए जो अपनी तुच्छ मानसिक कल्पना एवं शब्दों की जादूगरी के द्वारा विश्व के उद्‌गम को ढूँढने के लिए संघर्ष करते रहते हैं। यद्यपि भौतिक शोध-कार्य द्वारा भौतिक प्रकृति के कुछ स्थूल नियमों का पता लगाया जा सकता है, किन्तु ऐसे तुच्छ प्रयासों से परब्रह्म प्राप्त करने की आशा नहीं करनी चाहिए।

एतावानात्मसम्मोहो यद्विकल्पस्तु केवले ।
आत्मनृते स्वमात्मानमवलम्बो न यस्य हि ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

एतावान्—जो भी; आत्म—आत्मा का; सम्मोहः—संशय; यत्—जो; विकल्पः—द्वैतभाव; तु—लेकिन; केवले—अद्वितीय; आत्मन्—आत्मा में; ऋते—रहित; स्वम्—वही; आत्मानम्—आत्मा; अवलम्बः—सहारा; न—नहीं है; यस्य—जिस (द्वैत) का; हि—निस्सन्देह।

आत्मा में जो भी ऊपरी द्वैत अनुभव किया जाता है, वह केवल मन का संशय होता है। निस्सन्देह, अपने ही आत्मा से पृथक् ऐसे कल्पित द्वैत के ठहर पाने का कोई आधार नहीं है।

तात्पर्य : जैसाकि श्लोक ३३ में बतलाया जा चुका है, शाश्वत आत्मा न तो ग्रहण किया जाता है, न लुप्त होता है क्योंकि हर जीव एक नित्य सत्य है। *विकल्प* या द्वैत इस झूठे विचार का द्योतन करता है कि आत्मा अंशतः स्थूल शरीर या सूक्ष्म मन के रूप में पदार्थ से निर्मित है। इसीलिए मूर्ख व्यक्ति भौतिक शरीर या मन को आत्मा का मूलभूत घटक मानते हैं। वस्तुतः जीव शुद्ध आत्मा है, जिसमें पदार्थ का लेश भी नहीं रहता। फलस्वरूप मिथ्या अहंकार जो कि पदार्थ के साथ झूठी पहचान से उत्पन्न होता है, भ्रामक पहचान है, जो शुद्ध आत्मा पर आरोपित की जाती है। अहं का भाव, अर्थात् अपनी व्यक्तिगत पहचान का भाव आत्मा से आता है क्योंकि ऐसी आत्म-जागरूकता के लिए अन्य कोई सम्भव आधार नहीं है। मनुष्य अपने अहंकार के झूठे भाव का अध्ययन करके, यह समझ सकता

है कि शुद्ध अहंकार भी है, जिसे *अहं ब्रह्मास्मि* शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाता है। इसी तरह यह भी समझा जा सकता है कि परम आत्मा अर्थात् भगवान् है, जो हर वस्तु का सर्वज्ञ नियन्ता है। कृष्णभावनामृत में ऐसी समझ पूर्ण ज्ञान को जन्म देती है जैसाकि यहाँ भगवान् द्वारा बतलाया गया है।

यन्नामाकृतिभिर्ग्राह्यं पञ्चवर्णमबाधितम् ।
व्यर्थेनाप्यर्थवादोऽयं द्वयं पण्डितमानिनाम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

यत्—जो; नाम—नामों; आकृतिभिः—तथा स्वरूपों द्वारा; ग्राह्यम्—अनुभूत; पञ्च-वर्णम्—पाँच भौतिक तत्त्वों वाला; अबाधितम्—जिससे इंकार नहीं किया जा सके; व्यर्थेन—व्यर्थ; अपि—निस्सन्देह; अर्थ-वादः—काल्पनिक व्याख्या; अयम्—यह; द्वयम्—द्वैत; पण्डित-मानिनाम्—तथाकथित पण्डितों का।

पाँच भौतिक तत्त्वों का द्वैत केवल नामों और रूपों में ही देखा जाता है। जो लोग कहते हैं कि यह द्वैत असली है, वे छद्म पण्डित हैं और वस्तुतः बिना आधार के व्यर्थ ही तरह-तरह के सिद्धान्त प्रस्तावित करते रहते हैं।

तात्पर्य : भौतिक नामों तथा रूपों का सृजन और विनाश होता रहता है। इनका कोई स्थायी अस्तित्व नहीं होता; अतएव वे सत्य के अनिवार्य मूलभूत सिद्धान्तों का निर्माण नहीं करते। भौतिक जगत ईश्वर की शक्ति के विविध रूपान्तरों से बना हुआ है। यद्यपि ईश्वर सत्य है और उनकी शक्ति सत्य है, किन्तु ऐसे रूपों तथा नामों की जो क्षणिक रूप से अथवा संयोगवश प्रकट होते हैं, कोई वास्तविकता नहीं होती। निपट अज्ञानता तो तब उत्पन्न होती है जब बद्धजीव अपने को भौतिक या पदार्थ तथा आत्मा का मिश्रण मान बैठता है। कुछ दार्शनिक तर्क करते हैं कि नित्य आत्मा पदार्थ के सम्पर्क में स्थायी रीति से रूपान्तरित हो जाता है और मिथ्या अहंकार आत्मा की नवीन तथा स्थायी वास्तविकता का प्रतिनिधित्व करता है। श्रील जीव गोस्वामी उत्तर देते हैं कि आत्मा भगवान् की चेतन पराशक्ति है, जबकि पदार्थ भगवान् की निकृष्ट अचेतन शक्ति है। इस तरह इन दोनों शक्तियों में विपरीत गुण पाये जाते हैं जिस तरह प्रकाश तथा अंधकार में होते हैं। इसलिए श्रेष्ठ जीव तथा निम्न पदार्थ संभवतः एक ही जगत में लीन नहीं हो सकते क्योंकि उनमें नित्य विपरीत तथा बेमेल गुण पाये जाते हैं। पदार्थ तथा आत्मा के मिश्रण का व्यामोह मोह कहलाता है। यह मिथ्या अहंकार के रूप में विशेषकर प्रकट होता है, जो माया द्वारा निर्मित विशेष भौतिक शरीर या मन के साथ अपनी पहचान बनाता है। स्पष्ट है कि जो विज्ञानी या दार्शनिक निपट अज्ञान में डूबे हुए हैं, वे असली विज्ञानी तथा

दार्शनिक नहीं हो सकते। आध्यात्मिक आत्म-जागरूकता की सरल कसौटी पर कसने से दुर्भाग्यवश आधुनिक तथाकथित विज्ञानियों तथा दार्शनिकों का बहुत बड़ा प्रतिशत छँट जाता है, जो व्यर्थ ही भगवान् में किसी प्रकार के ज्ञान अथवा रुचि के बिना, उनकी भौतिक शक्ति में अपनी टाँग अड़ाते हैं।

योगिनोऽपक्वयोगस्य युञ्जतः काय उत्थितैः ।
उपसर्गैर्विहन्येत तत्रायं विहितो विधिः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

योगिनः—योगी का; अपक्व-योगस्य—योगाभ्यास में कच्चा; युञ्जतः—जुड़ने के लिए प्रयत्नशील; कायः—शरीर; उत्थितैः—उठे हुए; उपसर्गैः—उत्पातों से; विहन्येत—विचलित हो सकता है; तत्र—उस सम्बन्ध में; अयम्—यह; विहितः—संस्तुत; विधिः—विधि।

अपने अभ्यास में अभी तक परिपक्व न होने वाले प्रयत्नशील योगी का शरीर कभी कभी विविध उत्पातों की चपेट में आ सकता है। अतएव निम्नलिखित विधि संस्तुत की जाती है।

तात्पर्य : ज्ञान के अनुशीलन की विधि का वर्णन कर चुकने के बाद, अब भगवान् उस योगी को आदेश दे रहे हैं जिसका शरीर रोग या अन्य व्यवधानों के कारण विचलित हो जाता है। जो कनिष्ठ योगी शरीर तथा शारीरिक आसनों के प्रति आसक्त रहते हैं, प्रायः अपने साक्षात्कार में अधूरे होते हैं, अतः भगवान् उनकी कुछ सहायता करना चाहते हैं।

योगधारणया कांश्चिदासनैर्धारणान्वितैः ।
तपोमन्त्रौषधैः कांश्चिदुपसर्गान्विनिर्दहेत् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

योग-धारणया—योग के ध्यान से; कांश्चित्—कुछ उत्पात; आसनैः—नियत आसनों से; धारणा-अन्वितैः—नियंत्रित प्राणायाम पर ध्यान के समेत; तपः—विशेष तपस्या; मन्त्र—जादुई उच्चार; औषधैः—तथा जड़ी-बूटियों द्वारा; कांश्चित्—कुछ; उपसर्गान्—व्यवधान; विनिर्दहेत्—समूल नष्ट किये जा सकते हैं।

इनमें से कुछ व्यवधानों को योगिक ध्यान द्वारा या शारीरिक आसनों के द्वारा, जिनका अभ्यास प्राणायाम में एकाग्रता के साथ साथ किया जाता है, दूर किया जा सकता है और अन्य व्यवधानों को विशेष तपस्या, मंत्रों या जड़ी-बूटियों से बनी ओषधियों द्वारा दूर किया जा सकता है।

कांश्चिन्ममानुध्यानेन नामसङ्कीर्तनादिभिः ।
योगेश्वरानुवृत्त्या वा हन्यादशुभदान्शनैः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

कांश्चित्—कुछ; मम—मेरा; अनुध्यानेन—निरन्तर ध्यान से; नाम—पवित्र नामों का; सङ्कीर्त्तन—जोर से उच्चारण करके; आदिभिः—इत्यादि से; योग-ईश्वर—योग के महान् स्वामियों का; अनुवृत्त्या—अनुसरण करके; वा—अथवा; हन्यात्—नष्ट कर दिया जा सकता है; अशुभ-दान्—अशुभ परिस्थिति उत्पन्न करने वाले (व्यवधान); शनैः—धीरे धीरे।

इन अशुभ उत्पातों को मेरा स्मरण करके, मेरे नामों का सामूहिक श्रवण और कीर्तन करके या योग के महान् स्वामियों के पदचिन्हों पर चल कर धीरे धीरे दूर किया जा सकता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार परमेश्वर का ध्यान करने से काम तथा अन्य मानसिक विक्षोभों से छुटकारा पाया जा सकता है। महान् योगियों के पदचिह्नों पर चल कर दिखावे, झूठा गर्व तथा अन्य मानसिक असन्तुलन पर विजय पाई जा सकती है।

केचिद्देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम् ।
विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

केचित्—कुछ; देहम्—शरीर को; इमम्—इस; धीराः—आत्मसंयमी; सु-कल्पम्—उपयुक्त; वयसि—युवावस्था में; स्थिरम्—स्थिर; विधाय—बनाकर; विविध—विविध; उपायैः—उपायों से; अथ—इस प्रकार; युञ्जन्ति—लगाते हैं; सिद्धये—भौतिक सिद्धि पाने के लिए।

कुछ योगीजन विविध उपायों से शरीर को रोग तथा वृद्धावस्था से मुक्त कर लेते हैं और उसे शाश्वत तरुण बनाये रखते हैं। इस तरह वे भौतिक योग-सिद्धियाँ पाने के उद्देश्य से योग में प्रवृत्त होते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर वर्णित विधि मनुष्य की भौतिक इच्छाओं की पूर्ति के निमित्त है, उसे दिव्य ज्ञान के पद तक ले जाने के लिए नहीं है। इसलिए श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार इस विधि को भगवान् की भक्ति नहीं स्वीकार किया जा सकता। ऐसी समस्त योग-सिद्धियों के बावजूद भौतिक शरीर अन्ततः मरता है। वास्तविक शाश्वत तारुण्य तथा सुख तो केवल कृष्णभावनामृत के आध्यात्मिक पद पर ही उपलब्ध हैं।

न हि तत्कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः ।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; तत्—वह; कुशल—दिव्य ज्ञान में जो कुशल हैं उनके द्वारा; आदृत्यम्—आदरित होने को; तत्—उसका; आयासः—प्रयास; हि—निश्चय ही; अपार्थकः—व्यर्थ; अन्त-वत्त्वात्—विनष्ट होने के कारण; शरीरस्य—जहाँ तक भौतिक शरीर की बात है; फलस्य—फल का; इव—सदृश; वनस्पतेः—वृक्ष के।

जो लोग दिव्य ज्ञान में पटु हैं, वे इस योग की शारीरिक सिद्धि को अत्यधिक महत्त्व नहीं देते। निस्सन्देह, वे ऐसी सिद्धि के लिए किये गये प्रयास को व्यर्थ मानते हैं क्योंकि आत्मा तो वृक्ष के सदृश स्थायी है किन्तु शरीर वृक्ष के फल की तरह विनाशशील है।

तात्पर्य : यहाँ पर एक वृक्ष का उदाहरण दिया गया है, जिसमें ऋतु आने पर फल लगते हैं। फल अल्पकाल तक रहते हैं किन्तु वृक्ष हजारों साल तक रह सकता है। इसी तरह आत्मा शाश्वत है, जबकि भौतिक शरीर, यहाँ तक कि सुरक्षित किये जाने पर भी, तेजी से विनष्ट हो जाता है। शरीर की तुलना कभी भी नित्य विद्यमान आत्मा से नहीं करनी चाहिए। जो लोग सचमुच बुद्धिमान हैं और जिन्हें आध्यात्मिक ज्ञान है, वे भौतिक योग-सिद्धियों में रुचि नहीं लेते।

योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत्कल्पतामियात् ।
तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान्योगमुत्सृज्य मत्परः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

योगम्—योगाभ्यास; निषेवतः—सम्पन्न करने वाले का; नित्यम्—नियमित रूप से; कायः—भौतिक शरीर; चेत्—कदाचित; कल्पताम्—स्वस्थता; इयात्—प्राप्त करता है; तत्—उसमें; श्रद्दध्यात्—श्रद्धा करता है; न—नहीं; मति-मान्—बुद्धिमान; योगम्—योग-प्रणाली; उत्सृज्य—त्याग कर; मत्-परः—मुझको समर्पित भक्त।

यद्यपि योग की विभिन्न विधियों से शरीर सुधर सकता है, किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति, जिसने अपना जीवन मुझे समर्पित कर दिया है योग के द्वारा शरीर को पूर्ण बनाने पर अपनी श्रद्धा नहीं दिखलाता और वास्तव में वह ऐसी विधियों को त्याग देता है।

तात्पर्य : कृष्ण-भक्त पोषणयुक्त कृष्ण-प्रसादम् खाकर, शुद्ध और नियमित जीवन बिताकर, व्यर्थ की चिन्ता से मुक्त रह कर तथा भगवान् के अर्चाविग्रह के समक्ष कीर्तन और नृत्य करके, अपने शरीर को स्वस्थ रखता है। बीमार होने पर भक्त सामान्य विधियों से ओषधीय उपचार करता है किन्तु इसके आगे, तथाकथित योगाभ्यास के नाम पर शरीर में अपने मन को लगाये रखने की उसे आवश्यकता नहीं पड़ती। अन्ततः मनुष्य को भगवान् द्वारा निर्धारित भाग्य को स्वीकार करना चाहिए।

योगचर्यामिमां योगी विचरन्मदपाश्रयः ।
नान्तरायैर्विहन्येत निःस्पृहः स्वसुखानुभूः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

योग-चर्याम्—योग की संस्तुत विधि; इमाम्—यह; योगी—अभ्यास करने वाला; विचरन्—सम्पन्न करते हुए; मत्-अपाश्रयः—मेरी शरण ग्रहण करके; न—नहीं; अन्तरायैः—व्यवधानों से; विहन्येत—रोका जाता है; निःस्पृहः—लालसा से मुक्त; स्व—आत्मा का; सुख—सुख; अनुभूः—भीतर ही भीतर अनुभव करते हुए।

जिस योगी ने मेरी शरण ग्रहण कर ली है, वह लालसा से मुक्त रहता है क्योंकि वह भीतर ही भीतर आत्मा के सुख का अनुभव करता है। इस तरह इस योग-विधि को सम्पन्न करते हुए वह कभी विघ्न-बाधाओं से पराजित नहीं होता।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार भगवान् ने उद्धव को सारे उपनिषदों का आवश्यक ज्ञान संक्षेप में कह सुनाया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भगवान् की शुद्ध भक्ति ही चरम मोक्ष का असली साधन है। इस सम्बन्ध में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बल देकर कहते हैं कि यद्यपि *हठयोगी* तथा *राजयोगी* अपने नियत मार्गों पर उन्नति करने का प्रयास करते हैं किन्तु उन्हें विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ता है और वे प्राय: मनवांछित लक्ष्य प्राप्त नहीं कर पाते। किन्तु जो भगवान् की शरण में चला जाता है, वह भगवद्धाम जाने के आध्यात्मिक पथ पर निश्चय ही विजयी होगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के ''ज्ञान-योग'' नामक अट्ठाइसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter उन्तीस

भक्ति-योग

यह सोच कर कि इसके पूर्व वर्णित की गई वैराग्य पर आधारित आध्यात्मिक विधि अत्यन्त कठिन है, उद्धव ने कुछ सरल विधि के विषय में जिज्ञासा की। उत्तर में, भगवान् श्रीकृष्ण ने भक्ति के विषय में संक्षिप्त आदेश दिये।

सकाम कर्मी तथा योगीजन भगवान् की माया से विमोहित होने के कारण तथा अपनी झूठी पहचानों से गर्वित होने के कारण, भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने से इनकार करते हैं। किन्तु सार तथा असार में भेद जानने वाले हंसवत् व्यक्ति सदैव भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करते हैं। भगवान् *चैत्यगुरु* के रूप में जीव के भीतर से और उदाहरणों के द्वारा शिक्षा देने वाले गुरु के रूप में बाहर से, आत्मा के सारे दुर्भाग्य को दूर करता है और अपने साकार रूप को प्रकट करता है।

मनुष्य को चाहिए कि अपने मन को भगवान् में लीन करके सारे कर्म भगवान् के लिए ही करे।

उसे भगवान् के पवित्र धाम का, जहाँ उनके भक्तगण निवास करते हैं, लाभ उठाना चाहिए और भगवान् की सेवा करनी चाहिए तथा उनके सम्मान में उत्सवों-पर्वों का आयोजन करना चाहिए। सारे जीवों को कृष्ण का आवास स्थान समझते हुए मनुष्य को चाहिए कि सर्वत्र समभाव से देखने की सामर्थ्य प्राप्त करे। इस तरह ईर्ष्या, मिथ्या अहंकार जैसे दुर्गुण दूर हो जायेंगे। इसे मन में रखते हुए भक्त को चाहिए कि वह अपने घमंडी सम्बन्धियों, अपने विलगाववादी दृष्टिकोण तथा सांसारिक उलझनों को त्याग दे और सबों को, यहाँ तक कि कुत्तों तथा चांडालों को भी, दण्ड-प्रणाम करे। जब तक वह सारे प्राणियों में भगवान् की उपस्थिति देखने का अभ्यास नहीं कर लेता, तब तक उसे चाहिए कि वह अपने शरीर, मन तथा वाणी का उपयोग भगवान् की पूजा करने में करे और सबों को नमस्कार करे।

चूँकि भगवान् की भक्ति की यह शाश्वत विधि दिव्य है और स्वयं भगवान् द्वारा स्थापित की गई है, इसलिए यह लेशमात्र भी न तो कभी परास्त हो सकती है न ही निष्फल सिद्ध होगी। जब मनुष्य अनन्य भक्ति द्वारा अपने को भगवान् को अर्पित कर देता है, तो भगवान् विशेष रूप से प्रसन्न होते हैं और इस तरह भक्त अमरता प्राप्त करता है और भगवान् के ही समान ऐश्वर्य पाने का अधिकारी बन जाता है।

इन आदेशों को पाकर श्री उद्धव, भगवान् के निर्देश का पालन करने के लिए बदरिकाश्रम गये और भगवान् के आदेशों को पूरी तरह सम्पन्न करने के फलस्वरूप उन्होंने भगवान् का दिव्य धाम प्राप्त किया। भगवान् द्वारा महानतम् भक्त उद्धव से कहे गये इन आदेशों का श्रद्धापूर्वक पालन करने से सम्पूर्ण जगत मुक्त हो सकता है।

श्रीउद्धव उवाच
सुदुस्तरामिमां मन्ये योगचर्यामनात्मनः ।
यथाञ्जसा पुमान्सिद्ध्येत्तन्मे ब्रूह्यञ्जसाच्युत ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; सु-दुस्तराम्—पूरा कर पाना अत्यन्त कठिन; इमाम्—यह; मन्ये—मैं सोचता हूँ; योग-चर्याम्—योग-विधि; अनात्मनः—जिसने अपने मन को वश में नहीं किया, उसके लिए; यथा—कैसे; अञ्जसा—आसानी से; पुमान्—पुरुष; सिद्ध्येत्—पूरा करे; तत्—वह; मे—मुझसे; ब्रूहि—कृपया कहें; अञ्जसा—सरल ढंग से; अच्युत—हे अच्युत भगवान्।

श्री उद्धव ने कहा : हे भगवान् अच्युत, मुझे भय है कि आपके द्वारा वर्णित योग-विधि उस व्यक्ति के लिए अत्यन्त कठिन है, जो अपने मन को वश में नहीं रख सकता। इसलिए आप सरल शब्दों में यह बतलायें कि कोई व्यक्ति किस तरह इसे अधिक आसानी से सम्पन्न कर सकता है।

प्रायशः पुण्दरीकाक्ष युञ्यन्तो योगिनो मनः ।
विषीदन्त्यसमाधानान्मनोनिग्रहकर्शिताः ॥ २॥

शब्दार्थ

प्रायशः—अधिकांशतः; पुण्डरीक-अक्ष—हे कमलनेत्र भगवान्; युञ्जन्तः—प्रवृत्त होने वाले; योगिनः—योगीजन; मनः—मन; विषीदन्ति—हताश हो जाते हैं; असमाधानात्—समाधि प्राप्त करने में अक्षमता के कारण; मनः-निग्रह—मन को दमन करने के प्रयास द्वारा; कर्शिताः—थके हुए।

हे कमलनयन भगवान्, सामान्यतया जो योगीजन मन को स्थिर करने का प्रयास करते हैं, उन्हें समाधि की दशा पूर्ण कर पाने की अपनी अक्षमता के कारण, निराशा का अनुभव करना पड़ता है। इस तरह वे मन को अपने वश में लाने के प्रयास में उकता जाते हैं।

तात्पर्य : भगवान् की शरण के बिना, योगी ब्रह्म में अपना मन स्थिर करने के कठिन कार्य से शीघ्र ही निरुत्साहित हो जाता है।

अथात आनन्ददुघं पदाम्बुजं
हंसाः श्रयेरन्नरविन्दलोचन ।
सुखं नु विश्वेश्वर योगकर्मभि-
स्त्वन्माययामी विहता न मानिनः ॥ ३॥

शब्दार्थ

अथ—अब; अतः—इसलिए; आनन्द-दुघम्—सारे आनन्द का स्रोत; पद-अम्बुजम्—आपके चरणकमल; हंसाः—हंस जैसे व्यक्ति; श्रयेरन्—शरण लेते हैं; अरविन्द-लोचन—हे कमलनेत्र; सुखम्—सुखपूर्वक; नु—निस्सन्देह; विश्व-ईश्वर—ब्रह्माण्ड के स्वामी; योग-कर्मभिः—योग तथा सकाम कर्म करने से; त्वत्-मायया—आपकी भौतिक शक्ति से; अमी—ये; विहताः—पराजित; न—नहीं (शरण लेते); मानिनः—झूठे ही गर्व करने वाले।

इसलिए हे कमलनयन ब्रह्माण्ड के स्वामी, हंस सदृश व्यक्ति खुशी-खुशी आपके उन चरणकमलों की शरण ग्रहण करते हैं, जो समस्त दिव्य आनन्द के स्रोत हैं। किन्तु जिन्हें अपने योग तथा कर्म की उपलब्धियों पर गर्व है, वे आपकी शरण में नहीं आ पाते और आपकी मायाशक्ति द्वारा परास्त होते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर श्री उद्धव बलपूर्वक कहते हैं कि मात्र भगवान् की शरण ग्रहण करने से आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। जो ऐसा करते हैं, वे *हंस* कहलाते हैं। वे मनुष्यों में सर्वाधिक विवेकवान् होते हैं क्योंकि वे आध्यात्मिक सुख के असली स्रोत, भगवान् के चरणकमलों को, खोज लेने में समर्थ होते हैं। *योग-कर्मभिः* शब्द सूचित करता है कि जो लोग योग या सामान्य

भौतिक उद्योग के क्षेत्र में की गई उपलब्धि पर गर्व करते हैं या उसकी ओर आकृष्ट होते हैं, वे भगवान् की आज्ञापूर्वक शरणागति से होने वाले महान् लाभ को नहीं समझ पाते। सामान्यतया सकाम कर्मी तथा योगी अपनी अपनी तथाकथित उपलब्धियों पर गर्वित रहते हैं और वे भगवान् की अपेक्षा अपने प्रयास की ओर अधिक आकृष्ट रहते हैं। भगवान् कृष्ण की दीनतापूर्वक शरण ग्रहण करके कृष्णभावनामृत के मार्ग पर आसानी से और तेजी से अग्रसर हुआ जा सकता है और भगवद्धाम जाया जा सकता है।

किं चित्रमच्युत तवैतदशेषबन्धो
दासेष्वनन्यशरणेसु यदात्मसात्त्वम् ।
योऽरोचयत्सह मृगैः स्वयमीश्वराणां
श्रीमत्किरीटतटपीडितपादपीठः ॥ ४॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; चित्रम्—आश्चर्य; अच्युत—हे अच्युत प्रभु; तव—तुम्हारा; एतत्—यह; अशेष-बन्धो—हे सबों के मित्र; दासेषु—सेवकों के लिए; अनन्य-शरणेषु—जिन्होंने अन्य शरण नहीं ग्रहण की; यत्—जो; आत्म-सात्त्वम्—आपसे घनिष्ठता; यः—जिसने; अरोचयत्—स्नेहपूर्वक कार्य किया; सह—साथ; मृगैः—पशुओं (बन्दरों) के; स्वयम्—स्वयं; ईश्वराणाम्—महान् देवताओं के; श्रीमत्—ऐश्वर्यशाली; किरीट—मुकुटों के; तट—किनारों से; पीडित—हिलाया; पाद-पीठः—पीढ़ा।

हे अच्युत प्रभु, यह आश्चर्य की बात नहीं है कि आप अपने उन सेवकों के पास घनिष्ठतापूर्वक जाते हैं जिन्होंने एकमात्र आपकी शरण ले रखी है। जब आप भगवान् रामचन्द्र के रूप में प्रकट हुए थे, उस अवधि में ब्रह्मा जैसे महान् देवता आपके पादपीठ पर अपने मुकुट के ऐश्वर्यशाली सिरे रखने के लिए लालायित रहते थे; तब आपने हनुमान जैसे बन्दरों पर विशेष स्नेह प्रदर्शित किया क्योंकि उन्होंने एकमात्र आपकी शरण ले रखी थी।

तात्पर्य : भगवद्भक्त भगवान् की अहैतुकी कृपा से पूर्ण सफल होते हैं। कभी कभी भगवान् कृष्ण अपने महान् भक्तों, यथा नन्द महाराज, गोपियों, बलि महाराज आदि, के अधीन पद को स्वीकार करते हैं। यद्यपि ब्रह्मा जैसे देवता अपने अपने मुकुटों को भगवान् के पादपीठ पर छुआने के लिए पंक्तिबद्ध खड़े हुए थे, फिर भी भगवान् रामचन्द्र ने अपनी घनिष्ठ मित्रता हनुमान जैसे बन्दरों को प्रदान की थी। इसी तरह भगवान् कृष्ण का हिरनों तथा गौवों से, यहाँ तक कि वृन्दावन के वृक्षों से, स्नेह सुविख्यात है। अपरंच, भगवान् ने प्रसन्नतापूर्वक अर्जुन का रथ हाँका और राजा युधिष्ठिर के दूत और आज्ञाकारी कर्मचारी का कार्य किया। ऐसे भक्तों को योग-शक्तियाँ पाने के लिए ज्ञानयोग की विस्तृत विधि की आवश्यकता नहीं रह जाती। यहाँ पर इन सारे भक्तों के प्रतिनिधि श्री उद्धव हैं, जो भगवान् से साफ

साफ कह देते हैं कि दार्शनिक चिन्तन तथा योग जैसी जटिल विधियाँ उस व्यक्ति को आकर्षक नहीं प्रतीत होतीं जिसे भगवान् की प्रत्यक्ष प्रेमाभक्ति का आस्वाद प्राप्त हो चुका है।

तं त्वाखिलात्मदयितेश्वरमाश्रितानां
सर्वार्थदं स्वकृतविद्विसृजेत को नु ।
को वा भजेत् किमपि विस्मृतयेऽनु भूत्यै
किं वा भवेन्न तव पादरजोजुषां नः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; त्वा—तुम; अखिल—समस्त; आत्म—परमात्मा का; दयित—अत्यन्त प्रिय; ईश्वरम्—तथा परम नियन्ता; आश्रितानाम्—आपकी शरण ग्रहण करने वालों के; सर्व-अर्थ—सारी सिद्धियों के; दम्—दाता; स्व-कृत—आपके द्वारा प्रदत्त लाभ; वित्—कौन जानता है; विसृजेत—तिरष्कृत कर सकता है; कः—कौन; नु—निस्सन्देह; कः—कौन; वा—अथवा; भजेत्—स्वीकार कर सकता है; किम् अपि—कुछ भी; विस्मृतये—विस्मृति के लिए; अनु—फलस्वरूप; भूत्यै—इन्द्रियतृप्ति के लिए; किम्—क्या; वा—अथवा; भवेत्—है; न—नहीं; तव—तुम्हारे; पाद—चरणकमलों की; रजः—धूल; जुषाम्—सेवकों के लिए; नः—हम सभी।

तो भला किसमें साहस है, जो आत्मारूप, पूजा के सर्वप्रिय लक्ष्य तथा सबों के परम ईश्वर आपका—जो अपनी शरण लेने वाले भक्तों को सभी सम्भव सिद्धियाँ प्रदान करने वाले हैं, तिरस्कार कर सके? आपके द्वारा प्रदत्त लाभों को जानते हुए भला इतना कृतघ्न कौन हो सकता है? ऐसा कौन है, जो आपका तिरस्कार करके ऐसी वस्तु को भौतिक सुख के लिए स्वीकार करेगा जिससे आपकी विस्मृति हो? और आपके चरणकमलों की धूलि की सेवा में निरत हम लोगों को किस चीज का अभाव है?

तात्पर्य : श्री महाभारत में मोक्ष धर्म के *नारायणीय* में कहा गया है—

या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये।

तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः॥

"विभिन्न आध्यात्मिक विधियों से मनुष्य जीवन के चार लक्ष्यों में से जो भी प्राप्त किया जा सकता है, उसे वह व्यक्ति ऐसे प्रयासों के बिना प्राप्त कर लेता है, जिसने समस्त व्यक्तियों के आश्रय भगवान् नारायण की शरण ले ली है।" इस प्रकार कृष्णभावनाभावित व्यक्तिजानता है कि वह भगवान् कृष्ण की भक्ति की शरण लेने से ही जीवन की सारी सिद्धि प्राप्त कर सकेगा। यह योग की सर्वोच्च अवस्था है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है।

नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश
ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः ।
योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्व-
न्नाचार्यचैत्त्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

न एव—बिल्कुल नहीं; उपयन्ति—व्यक्त करने में सक्षम हैं; अपचितिम्—अपनी कृतज्ञता; कवयः—विद्वान भक्तजन; तव—तुम्हारा; ईश—हे ईश्वर; ब्रह्म-आयुषा—ब्रह्मा जितनी आयु से; अपि—के होते हुए; कृतम्—वदान्य कार्य; ऋद्ध—बढ़ा हुआ; मुदः—प्रसन्नता; स्मरन्तः—स्मरण करते हुए; यः—जो; अन्तः—भीतर; बहिः—बाहर; तनु-भृताम्—देहधारियों का; अशुभम्—दुर्भाग्य; विधुन्वन्—दूर करते हुए; आचार्य—गुरु का; चैत्त्य—परमात्मा का; वपुषा—रूपों से; स्व—अपना; गतिम्—पथ; व्यनक्ति—दिखलाता है।

हे प्रभु, योगी कवि तथा आध्यात्मिक विज्ञान में पटु लोग आपके प्रति अपनी कृतज्ञता पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं कर सके यद्यपि उन्हें ब्रह्माजी जितनी दीर्घायु प्राप्त थी क्योंकि आप दो रूपों में—बाह्यतः आचार्य रूप में और आन्तरिक रूप में परमात्मा की तरह देहधारी जीव को अपने पास आने का निर्देश करते हुए उद्धार करने के लिए प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार भक्त को भगवान् कृष्ण उसके जीवन की अपेक्षा एक करोड गुना अधिक प्रिय हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार एक हजार बार ब्रह्माण्ड की सृष्टि होने तक भक्ति करते रहने पर भी भक्त भगवान् के उस ऋण को चुका नहीं पाता जो उन्होंने अपने चरणकमलों की भक्ति प्रदान करके दिया था। भगवान् हृदय के भीतर परमात्मा रूप में प्रकट होते हैं और बाहर से वे गुरु तथा कवि अवतार के रूप में— *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के वैदिक ज्ञान के रूप में।

श्रीशुक उवाच
इत्युद्धवेनात्यनुरक्तचेतसा
पृष्टो जगत्क्रीडनकः स्वशक्तिभिः ।
गृहीतमूर्तित्रय ईश्वरेश्वरो
जगाद सप्रेममनोहरस्मितः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उद्धवेन—उद्धव द्वारा; अति-अनुरक्त—अत्यधिक आसक्त; चेतसा—हृदय से; पृष्टः—पूछे गये; जगत्—ब्रह्माण्ड; क्रीडनकः—जिसका खिलौना; स्व-शक्तिभिः—अपनी ही शक्तियों द्वारा; गृहीत—धारण किये हुए; मूर्ति—साकार रूप; त्रयः—तीन; ईश्वर—समस्त नियन्ताओं में से; ईश्वरः—परम नियन्ता; जगाद—बोला; स-प्रेम—प्रेमी; मनः-हर—आकर्षक; स्मितः—मुसकान।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह अत्यन्त स्नेहिल उद्धव द्वारा पूछे जाने पर समस्त ईश्वरों के परम नियन्ता भगवान् कृष्ण जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने खिलौने के रूप में मानते हैं और

ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के तीन रूप ग्रहण करते हैं, प्रेमपूर्वक अपनी सर्व-आकर्षक मुसकान दिखलाते हुए उत्तर देने लगे।

श्रीभगवानुवाच
हन्त ते कथयिष्यामि मम धर्मान्सुमङ्गलान् ।
यान्श्रद्धयाचरन्मर्त्यो मृत्युं जयति दुर्जयम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; हन्त—हाँ; ते—तुमसे; कथयिष्यामि—कहूँगा; मम—अपने से सम्बन्धित; धर्मान्—धार्मिक सिद्धान्त; सु-मङ्गलान्—अत्यन्त शुभ; यान्—जो; श्रद्धया—श्रद्धा के साथ; आचरन्—सम्पन्न करते हुए; मर्त्यः—मर्त्य मानव; मृत्युम्—मृत्यु को; जयति—जीत लेता है; दुर्जयम्—न जीते जाने योग्य।

भगवान् ने कहा : हाँ, मैं तुमसे अपनी भक्ति के सिद्धान्तों का वर्णन करूँगा जिनको सम्पन्न करने से मर्त्य प्राणी दुर्जय मृत्यु पर विजय पा लेगा।

कुर्यात्सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन् ।
मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

कुर्यात्—करे; सर्वाणि—सभी; कर्माणि—नियत कार्यकलाप; मत्-अर्थम्—मेरे लिए; शनकैः—जल्दबाजी किये बिना; स्मरन्—स्मरण करते हुए; मयि—मुझको; अर्पित—चढ़ाया गया; मनः-चित्तः—मन तथा बुद्धि; मत्-धर्म—मेरी भक्ति; आत्म-मनः—अपने मन का; रतिः—आकर्षण।

मनुष्य को चाहिए कि सैदव मेरा स्मरण करते हुए बिना जल्दबाजी के मेरे प्रति अपने सारे कर्तव्य पूरा करे। उसे चाहिए कि वह मुझे मन तथा बुद्धि अर्पित करके मेरी भक्ति के आकर्षण में अपना मन स्थिर करे।

तात्पर्य : *मद्धर्मात्ममनोरतिः* का अर्थ होता है कि मनुष्य का सारा प्रेम और स्नेह भगवान् को प्रसन्न करने में लगाया जाय। यहाँ इसका संकेत नहीं किया गया कि भक्ति में आत्म-तुष्टि के आस्वादन का प्रयास किया जाय प्रत्युत उसे भगवान् की प्रसन्नता के प्रति आकृष्ट होना चाहिए जिसे भगवान् कृष्ण से चली आ रही परम्परा के प्रामाणिक गुरु के आदेश को श्रद्धापूर्वक पूरा करके प्राप्त किया जा सकता है। भक्ति के भी भीतर निजी तुष्टि के प्रति आसक्ति भौतिकतावादी है, जबकि भगवान् की तुष्टि के प्रति आसक्ति शुद्ध आध्यात्मिक भाव है।

देशान्पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान् ।

देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च ॥ १० ॥

शब्दार्थ

देशान्—स्थानों में; पुण्यान्—पवित्र; आश्रयेत—शरण ले; मत्-भक्तैः—मेरे भक्तों द्वारा; साधुभिः—सन्त स्वभाव के; श्रितान्—आश्रित; देव—देवताओं; असुर—असुरों; मनुष्येषु—तथा मनुष्यों में; मत्-भक्त—मेरे भक्तों के; आचरितानि—कार्यकलाप; च—तथा।

मनुष्य को उन पवित्र स्थानों में जाकर शरण लेनी चाहिए जहाँ मेरे सन्त स्वभाव वाले भक्तगण निवास करते हैं। उसे मेरे भक्तों के आदर्श कार्यकलापों से मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहिए। ये भक्त देवताओं, असुरों तथा मनुष्यों के बीच प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : नारद मुनि भगवान् के महान् भक्तों में से एक हैं, जो देवताओं के बीच प्रकट हुए। प्रह्लाद महाराज असुरों के बीच तथा अन्य अनेक बड़े बड़े भक्त तथा अम्बरीष महाराज तथा पाँचों पाण्डव मनुष्यों के बीच उत्पन्न हुए। मनुष्य को भक्तों के आदर्श कार्यों की तथा पवित्र स्थानों की भी शरण लेनी चाहिए जहाँ भक्तगण निवास कर रहे हों। इस तरह वह भक्ति-मार्ग में सुरक्षित रहेगा।

पृथक्सत्रेण वा मह्यं पर्वयात्रामहोत्सवान् ।
कारयेद्गीतनृत्याद्यैर्महाराजविभूतिभिः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

पृथक्—अकेला; सत्रेण—सभा में; वा—अथवा; मह्यम्—मेरे लिए; पर्व—मासिक त्यौहार यथा एकादशी; यात्रा—विशेष सम्मेलन; महा-उत्सवान्—तथा त्यौहार; कारयेत्—कराये; गीत—गायन; नृत्य-आद्यैः—नृत्य आदि से; महा-राज—राजसी; विभूतिभिः—ऐश्वर्य की निशानी के साथ, ठाट-बाट से।

मेरी पूजा के लिए विशेष रूप से नियत पर्वों, त्यौहारों तथा उत्सवों को मनाने के लिए या तो अकेले या सामूहिक जलसों में गायन, नृत्य तथा अन्य ठाट-बाट के साथ मनाने की व्यवस्था करे।

मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम् ।
ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; एव—निस्सन्देह; सर्व-भूतेषु—सारे जीवों में से; बहिः—बाहर से; अन्तः—भीतर से; अपावृतम्—अनाच्छादित; ईक्षेत—देखे; आत्मनि—अपने भीतर; च—भी; आत्मानम्—परमात्मा को; यथा—जिस तरह; खम्—आकाश; अमल-आशयः—शुद्ध हृदय वाला।

मनुष्य को चाहिए कि शुद्ध हृदय से सारे जीवों के भीतर और अपने भी भीतर मुझको परमात्मा रूप में देखे कि मैं किसी भौतिक वस्तु द्वारा अकलंकित हूँ तथा सर्वत्र भीतर तथा बाहर

उपस्थित भी हूँ जिस तरह सर्वव्यापी आकाश होता है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भगवान् ने यह श्लोक उन लोगों को आकृष्ट करने के लिए कहा जो परब्रह्म के विषय में दार्शनिक चिन्तन के प्रति उन्मुख रहते हैं। ऐसे योग के विद्वान परम एकता की खोज करते हुए यहाँ पर वर्णित भगवान् के स्वरूप द्वारा आकृष्ट होंगे।

इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते ।
सभाजयन्मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः ॥ १३ ॥
ब्राह्मणे पुक्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके ।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक्पण्डितो मतः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; सर्वाणि—सभी; भूतानि—जीवों को; मत्-भावेन—मेरी उपस्थिति के भाव से; महा-द्युते—हे परम तेजवान उद्धव; सभाजयन्—आदर देते हुए; मन्यमानः—ऐसा मानते हुए; ज्ञानम्—ज्ञान; केवलम्—दिव्य; आश्रितः—की शरण लेते हुए; ब्राह्मणे—ब्राह्मण में; पुक्कसे—पुक्कस जनजाति से निकाले हुओं में; स्तेने—चोर में; ब्रह्मण्ये—ब्राह्मण संस्कृति का सम्मान करने वाले मनुष्य में; अर्के—सूर्य में; स्फुलिङ्गके—अग्नि की चिनगारी में; अक्रूरे—कृपालु भद्र में; क्रूरके—क्रूर में; च—भी; एव—निस्सन्देह; सम-दृक्—समान दृष्टि वाला; पण्डितः—विद्वान; मतः—माना जाता है।

हे तेजस्वी उद्धव, जो व्यक्ति सारे जीवों को इस भाव से देखता है कि मैं उनमें से हर एक में उपस्थित हूँ और जो इस दैवी ज्ञान की शरण लेकर हर एक का सम्मान करता है, वह वास्तव में बुद्धिमान माना जाता है। ऐसा व्यक्ति ब्राह्मण तथा नीच, चोर तथा ब्राह्मण संस्कृति के दानी संवर्धक, सूर्य तथा अग्नि की क्षुद्र चिनगारी, सदय तथा क्रूर को समान रूप से देखता है।

तात्पर्य : यहाँ पर अनेक विलोमों को रखा गया है—उदाहरणार्थ उच्च जाति का ब्राह्मण तथा निम्न जाति का आदिवासी, भद्र पुरुषों की वस्तुएँ चुराने वाला चोर तथा बाह्मणों को दान देने वाली ब्राह्मण संस्कृति का आदर करने वाला, सर्वशक्तिमान सूर्य तथा नगण्य स्फुलिंग और अन्त में, सदय तथा क्रूर। सामान्यतया ऐसे विरोधी गुणों में अन्तर करने की क्षमता होने पर मनुष्य बुद्धिमान बनता है। तो फिर भगवान् यह कैसे कह सकते हैं कि ऐसे स्पष्ट अन्तरों की उपेक्षा करने से मनुष्य विद्वान होता है? इसका उत्तर *मद्-भावेन* शब्द में मिलता है, जिसका अर्थ है विद्वान व्यक्ति भगवान् को हर वस्तु के भीतर देखता है। इसलिए बाहर से नाना प्रकार की भौतिक स्थितियों का अवलोकन करते तथा उनसे निपटते हुए, विद्वान व्यक्ति सारे जीवों की अपार एकता से अधिक प्रभावित और चिन्तित रहता है, जो हर वस्तु के भीतर भगवान् की उपस्थिति पर आधारित है। जैसाकि यहाँ कहा गया है, असली बुद्धिमान

व्यक्ति बाह्य भौतिक विवेक तक ही सीमित नहीं रहता।

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात् ।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

नरेषु—सारे पुरुषों में; अभीक्ष्णम्—निरन्तर; मत्-भावम्—मेरी साकार उपस्थिति; पुंसः—पुरुष की; भावयतः—ध्यान कर रहा; अचिरात्—तुरन्त; स्पर्धा—होड़ करने की प्रवृत्ति (समानों के विरुद्ध); असूया—द्वेष (गुरुजनों से); तिरस्काराः—तथा दुरुपयोग (छोटों का); स—सहित; अहङ्काराः—मिथ्या अहंकार; वियन्ति—लुप्त हो जाते हैं; हि—निस्सन्देह।

जो व्यक्ति सारे पुरुषों में मेरी उपस्थिति का निरन्तर ध्यान करता है उसके लिए स्पर्धा की कुप्रवृत्तियाँ, ईर्ष्या तथा तिरस्कार एवं उसी के साथ मिथ्या अहंकार तुरन्त नष्ट हो जाते हैं।

तात्पर्य : बद्ध आत्माएँ अपने समान वालों से स्पर्धा, अपने से श्रेष्ठों से ईर्ष्या और अपने अधीनस्थों को छोटा मानने की इच्छा से प्रेरित होती रहती हैं। ये दूषित लालसाएँ तथा इनके साथ ही इनका मूल आधार, मिथ्या अहंकार हर जीव के भीतर भगवान् का ध्यान करने से तुरन्त दूर हो सकते हैं।

विसृज्य स्मयमानान्स्वान्दृशं व्रीडां च दैहिकीम् ।
प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

विसृज्य—त्याग कर; स्मयमानान्—हँसते हुओं को; स्वान्—अपने मित्रों; दृशम्—दृष्टि को; व्रीडाम्—परेशानी; च—तथा; दैहिकीम्—देहात्म बोध का; प्रणमेत्—नमस्कार करे; दण्ड-वत्—डंडे की तरह गिर कर; भूमौ—भूमि पर; आ—यहाँ तक कि; श्व—कुत्तों; चाण्डाल—चांडालों; गो—गौवों; खरम्—तथा गधों को।

मनुष्य को चाहिए कि वह अपने संगियों के उपहास की परवाह न करते हुए, देहात्म बुद्धि एवं उसके साथ लगी चिन्ता को त्याग दे। उसे कुत्तों, चाण्डालों, गौवों तथा गधों तक के समक्ष भूमि पर दंड के समान गिर कर नमस्कार करना चाहिए।

तात्पर्य : मनुष्य को चाहिए कि वह सारे प्राणियों के भीतर भगवान् को देखने का अभ्यास करे। श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने समस्त भक्तों को सलाह दी थी कि वे अपने को तृण से भी नीच तथा वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु मानें। ऐसी विनीत स्थिति में मनुष्य भगवान् की भक्ति करते हए विचलित नहीं होगा। भक्त कभी मूर्खतापूर्वक यह नहीं सोचता कि गाय या गधा ईश्वर है, प्रत्युत वह भगवान् को सारे प्राणियों के भीतर देखता है और इस उच्च आध्यात्मिक स्तर पर वह भेद-भाव नहीं बरतता।

यावत्सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते ।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः ॥ १७॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; सर्वेषु—सभी; भूतेषु—जीवों में; मत्-भावः—मेरी उपस्थिति का भाव; न उपजायते—उत्पन्न नहीं होता; तावत्—तब तक; एवम्—इस तरह से; उपासीत—पूजा करे; वाक्—वाणी; मनः—मन; काय—तथा शरीर के; वृत्तिभिः—कार्यों के द्वारा।

जब तक मनुष्य सारे जीवों के भीतर मुझे देख पाने की क्षमता उत्पन्न नहीं कर लेता, तब तक उसे चाहिए कि वह अपनी वाणी, मन तथा शरीर के कार्यों द्वारा इस विधि से मेरी पूजा करता रहे।

तात्पर्य : जब तक मनुष्य सारे जीवों के भीतर भगवान् का साक्षात्कार न करने लगे, उसे चाहिए कि सारे प्राणियों को नमस्कार करने की विधि को चालू रखे। भले ही सारे प्राणियों के समक्ष भूमि पर वास्तव में न गिरा जाये, किन्तु कम-से-कम मन के भीतर अथवा शब्दों से सभी जीवों का सम्मान तो करे। इससे भक्त को जल्दी ही आत्म-साक्षात्कार हो सकेगा।

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययात्ममनीषया ।
परिपश्यन्नुपरमेत्सर्वतो मुक्तसंशयः ॥ १८॥

शब्दार्थ

सर्वम्—हर वस्तु; ब्रह्म-आत्मकम्—परब्रह्म पर आश्रित; तस्य—उसके लिए; विद्यया—दिव्य ज्ञान द्वारा; आत्म-मनीषया—परमात्मा की अनुभूति द्वारा; परिपश्यन्—सर्वत्र देखते हुए; उपरमेत्—भौतिक कर्मों से दूर रहे; सर्वतः—सभी प्रकार से; मुक्त-संशयः—सारे सन्देहों से मुक्त।

सर्वव्यापक भगवान् के ऐसे दिव्य ज्ञान से मनुष्य परब्रह्म को सर्वत्र देख सकता है। सारे संशयों से मुक्त होकर वह सकाम कर्मों का परित्याग कर देता है।

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम ।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः ॥ १९॥

शब्दार्थ

अयम्—यह; हि—निस्सन्देह; सर्व—सभी; कल्पानाम्—विधियों का; सध्रीचीनः—अत्यन्त उपयुक्त; मतः—माना जाता है; मम—मेरे द्वारा; मत्-भावः—मुझको देखना; सर्व-भूतेषु—सारे जीवों के भीतर; मनः-वाक्-काय-वृत्तिभिः—मन, वाणी तथा शरीर के कार्यों द्वारा।

निस्सन्देह मैं मन, वाणी तथा शरीर के कार्यों को प्रयोग करके सारे जीवों के भीतर मेरी अनुभूति करने की विधि को आध्यात्मिक प्रकाश की सर्वश्रेष्ठ सम्भव विधि मानता हूँ।

न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि ।
मया व्यवसितः सम्यङ्निर्गुणत्वादनाशिषः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं है; हि—निस्सन्देह; अङ्ग—हे उद्धव; उपक्रमे—प्रयास में; ध्वंसः—विनाश; मत्-धर्मस्य—मेरी भक्ति का; उद्धव—हे उद्धव; अणु—रंचमात्र; अपि—भी; मया—मेरे द्वारा; व्यवसितः—स्थापित; सम्यक्—पूर्णरूपेण; निर्गुण-त्वात्—इसके दिव्य होने से; अनाशिषः—कोई परोक्ष प्रयोजन न होना।

हे उद्धव, चूँकि मैंने स्वयं इसकी स्थापना की है, इसलिए मेरी भक्ति की यह विधि दिव्य है और किसी भौतिक प्रेरणा से मुक्त है। निश्चय ही भक्त इस विधि को ग्रहण करने से रंचमात्र भी हानि नहीं उठाता।

तात्पर्य : यद्यपि बड़े बड़े मुनियों तथा अधिकारियों ने मानव प्रगति की विविध विधियाँ स्थापित की हैं, किन्तु साक्षात् भगवान् ने *भक्ति-योग* प्रणाली चालू की है, जिसमें मनुष्य प्रेममयी सेवा द्वारा भगवान् की शरण ग्रहण करता है। जो व्यक्ति निजी प्रेरणा के बिना भगवान् की सेवा करता है, वह कभी भी अपनी उन्नति में परास्त नहीं हो सकता और निकट भविष्य में भगवद्धाम अवश्य जाएगा।

यो यो मयि परे धर्मः कल्प्यते निष्फलाय चेत् ।
तदायासो निरर्थः स्याद्भयादेरिव सत्तम ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यः, यः—जो जो; मयि—मुझमें; परे—परम; धर्मः—धर्म है; कल्प्यते—अग्रसर होता है; निष्फलाय—भौतिक कर्म के फल से मुक्त बनने की दिशा में; चेत्—यदि; तत्—उसका; आयासः—प्रयास; निरर्थः—व्यर्थ; स्यात्—हो सके; भय-आदेः—भय इत्यादि; इव—सदृश; सत्-तम—हे साधु-पुरुषों में श्रेष्ठ।

हे सन्त शिरोमणि उद्धव, भयावह स्थिति में सामान्य व्यक्ति रोता है, डर जाता है और शोक करता है यद्यपि ऐसी व्यर्थ की भावनाओं से स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता किन्तु निजी प्रेरणा के बिना जो कार्य मुझे अर्पित किये जाते हैं, वे, बाहर से व्यर्थ होते हुए भी, वास्तविक धर्म-विधि के तुल्य हैं।

तात्पर्य : निजी इच्छा के बिना तुच्छ से तुच्छ कार्य भी जब भगवान् को अर्पित किया जाता है, तो वह मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता तक उठा देता है। वस्तुतः भगवान् कृष्ण सदा ही अपने भक्त की रक्षा तथा पालन-पोषण करते हैं। किन्तु यदि कोई भक्त अपनी भक्ति को अबाध चलते रहने के लिए भगवान् से सुरक्षा या लालन-पालन के लिए पुकार करता है, तो भगवान् कृष्ण ऐसी बाहरी अनावश्यक याचनाओं को सर्वोच्च धार्मिक विधि के रूप में स्वीकार कर लेते हैं।

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम् ।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

एषा—यह; बुद्धि-मताम्—बुद्धिमान की; बुद्धिः—बुद्धि; मनीषा—चतुराई; च—तथा; मनीषिणाम्—चतुर की; यत्—जो; सत्यम्—असली; अनृतेन—झूठ से; इह—इस जीवन में; मर्त्येन—मर्त्य द्वारा; आप्नोति—प्राप्त करता है; मा—मुझको; अमृतम्—अमर।

यह विधि बुद्धिमान की परम बुद्धि और परम चतुर की चतुराई है क्योंकि इसका पालन करने से मनुष्य इसी जीवन में मुझ नित्य सत्य को पाने में नश्वर तथा असत्य का उपयोग कर सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि इस अध्याय में वर्णित है, जो व्यक्ति भगवान् की सेवा में लग कर निजी प्रतिष्ठा चाहता है, वह बुद्धिमान तथा चतुर नहीं माना जाता। इसी तरह जो कृत्रिम दिव्य दार्शनिक बनने के लिए इच्छुक रहता है, वह सर्वाधिक बुद्धिमान नहीं है। न ही जो धन संचित करने में पटु होता है। भगवान् यहाँ यह बतलाते हैं कि सर्वाधिक बुद्धिमान तथा चतुर व्यक्ति वह है, जो अपने नश्वर मायामय शरीर को तथा अपनी सम्पत्ति को प्रेमपूर्वक तथा बिना निजी उद्देश्य के भगवान् को अर्पित कर देता है। इस तरह भक्त नित्य परब्रह्म को प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में, असली बुद्धिमत्ता तो बिना किसी निजी इच्छा या द्वैत के भगवान् कृष्ण की शरण में जाना है। यही भगवान् का मत है।

एष तेऽभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य सङ्ग्रहः ।
समासव्यासविधिना देवानामपि दुर्गमः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; ते—तुमसे; अभिहितः—बतलाया गया; कृत्स्नः—पूरी तरह; ब्रह्म-वादस्य—परब्रह्म के विज्ञान का; सङ्ग्रहः—सर्वेक्षण; समास—संक्षेप में; व्यास—विस्तार से; विधिना—दोनों विधियों से; देवानाम्—देवताओं के लिए; अपि—भी; दुर्गमः—पहुँच के बाहर।

इस तरह मैंने तुम्हें, संक्षेप और विस्तार दोनों ही रूपों में, परब्रह्म विषयक विज्ञान का पूर्ण ब्यौरा बतला दिया। यह विज्ञान देवताओं के लिए भी समझ पाना अत्यन्त कठिन है।

तात्पर्य : *देवानाम्* शब्द उन जीवों का सूचक है, जो रजोगुणी हैं (यथा देवता, सन्त तथा पवित्र दार्शनिक) किन्तु फिर भी परब्रह्म को नहीं समझ पाते, क्योंकि उनमें भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पण का अभाव है।

अभीक्ष्णशस्ते गदितं ज्ञानं विस्पष्टयुक्तिमत् ।
एतद्विज्ञाय मुच्येत पुरुषो नष्टसंशयः ॥ २४॥

शब्दार्थ

अभीक्ष्णशः—बारम्बार; ते—तुमसे; गदितम्—कहा गया; ज्ञानम्—ज्ञान; विस्पष्ट—स्पष्ट; युक्ति—तर्क; मत्—से युक्त; एतत्—यह; विज्ञाय—ठीक से समझ लेने पर; मुच्येत—मुक्त हो जायेगा; पुरुषः—व्यक्ति; नष्ट—विनष्ट; संशयः—उसके सन्देह।

मैं बारम्बार तुमसे स्पष्ट तर्क सहित यह ज्ञान बता चुका हूँ। जो कोई इसे ठीक से समझ लेता है, वह सारे संशयों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

सुविविक्तं तव प्रश्नं मयैतदपि धारयेत् ।
सनातनं ब्रह्मगुह्यं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

स-विविक्तम्—अच्छी तरह व्याख्यायित; तव—तुम्हारा; प्रश्नम्—प्रश्न; मया—मेरे द्वारा; एतत्—यह; अपि—भी; धारयेत्—ध्यान एकाग्र करता है; सनातनम्—शाश्वत; ब्रह्म-गुह्यम्—वेदों का रहस्य; परम्—परम; ब्रह्म—ब्रह्म; अधिगच्छति—प्राप्त करता है।

जो कोई तुम्हारे प्रश्नों के इन स्पष्ट उत्तरों पर अपना ध्यान एकाग्र करता है, वह वेदों के शाश्वत गुह्य लक्ष्य—परब्रह्म—को प्राप्त करेगा।

य एतन्मम भक्तेषु सम्प्रदद्यात्सुपुष्कलम् ।
तस्याहं ब्रह्मदायस्य ददाम्यात्मानमात्मना ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; एतत्—यह; मम—मेरा; भक्तेषु—भक्तों में से; सम्प्रदद्यात्—उपदेश देता है; सु-पुष्कलम्—उदारतापूर्वक; तस्य—उसको; अहम्—मैं; ब्रह्म-दायस्य—ब्रह्म विषयक ज्ञान प्रदान करने वाले व्यक्ति को; ददामि—देता हूँ; आत्मानम्—स्वयं को; आत्मना—स्वयं द्वारा।

जो व्यक्ति उदारतापूर्वक इस ज्ञान को मेरे भक्तों के बीच फैलाता है, वह परब्रह्म का देने वाला है और मैं उसे अपने आपको दे देता हूँ।

य एतत्समधीयीत पवित्रं परमं शुचि ।
स पूयेताहरहर्मां ज्ञानदीपेन दर्शयन् ॥ २७॥

शब्दार्थ

यः—जो; एतत्—यह; समधीयीत—जोर-जोर से बाँचता (पाठ करता) है; पवित्रम्—पवित्र बनाने वाला; परमम्—परम; शुचि—स्पष्ट तथा पारदर्शी; सः—वह; पूयेत—शुद्ध हो जाता है; अहः अहः—दिन प्रतिदिन; माम्—मुझको; ज्ञान-दीपेन—ज्ञान के दीपक से; दर्शयन्—प्रकट करते हुए।

जो व्यक्ति इस स्पष्ट तथा शुद्ध बनाने वाले परम ज्ञान को जोर-जोर से बाँचता है, वह दिन प्रतिदिन शुद्ध बनता जाता है क्योंकि वह दिव्य ज्ञानरूपी दीपक से अन्यों को मुझे उद्घाटित करता है।

य एतच्छ्रद्धया नित्यमव्यग्रः शृणुयान्नरः ।
मयि भक्तिं परां कुर्वन्कर्मभिर्न स बध्यते ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; एतत्—यह; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; नित्यम्—नियमित; अव्यग्रः—विचलित हुए बिना; शृणुयात्—सुनता है; नरः—पुरुष; मयि—मुझमें; भक्तिम्—भक्ति; पराम्—दिव्य; कुर्वन्—करते हुए; कर्मभिः—सकाम कर्मों द्वारा; न—नहीं; सः—वह; बध्यते—बँध जाता है।

जो कोई इस ज्ञान को श्रद्धा तथा ध्यान के साथ नियमित रूप से सुनता है और साथ ही मेरी शुद्ध भक्ति में लगा रहता है, वह भौतिक कर्म के फलों के बन्धन से कभी नहीं बँधता।

अप्युद्धव त्वया ब्रह्म सखे समवधारितम् ।
अपि ते विगतो मोहः शोकश्चासौ मनोभवः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अपि—क्या; उद्धव—हे उद्धव; त्वया—तुम्हारे द्वारा; ब्रह्म—आध्यात्मिक ज्ञान; सखे—हे मित्र; समवधारितम्—पर्याप्त समझा गया; अपि—क्या; ते—तुम्हारा; विगतः—दूर हो गया है; मोहः—मोह; शोकः—शोक; च—तथा; असौ—यह; मनः-भवः—तुम्हारे मन से उत्पन्न।

हे मित्र उद्धव, क्या अब तुम इस दिव्य ज्ञान को भलीभाँति समझ गये? क्या तुम्हारे मन में उठने वाले मोह तथा शोक दूर हो गये?

तात्पर्य : श्री उद्धव भगवान् कृष्ण की शक्ति को उनसे पृथक् अभिव्यक्ति मानने के कारण विमोहित थे। उद्धव का शोक इसलिए उत्पन्न हुआ था क्योंकि वे अपने को कृष्ण से पृथक् समझ रहे थे। वस्तुतः श्री उद्धव नित्य मुक्तात्मा हैं किन्तु भगवान् ने उन्हें मोह तथा शोक में डाल दिया था जिससे उद्धव-गीता के इस परम ज्ञान का प्रवचन किया जा सके। भगवान् कृष्ण का प्रश्न यहाँ यह सूचित करता है कि यदि उद्धव ने इस ज्ञान को ठीक से न समझा हो, तो भगवान् इसी ज्ञान को पुनः बतला दें। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार, श्री उद्धव कृष्ण के घनिष्ठ मित्र हैं, अतः कृष्ण का यह प्रश्न मैत्री और क्रीड़ा भाव से पूछा गया था। कृष्ण को उद्धव के कृष्णभावनामृत में पूर्ण प्रकाश प्राप्त होने का अभिज्ञान था।

नैतत्त्वया दाम्भिकाय नास्तिकाय शठाय च ।
अशुश्रूषोरभक्ताय दुर्विनीताय दीयताम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतत्—यह; त्वया—तुम्हारे द्वारा; दाम्भिकाय—दम्भी, पाखण्डी व्यक्ति को; नास्तिकाय—नास्तिक को; शठाय—धूर्त को; च—तथा; अशुश्रूषो:—श्रद्धा के साथ न सुनने वाले को; अभक्ताय—अभक्त को; दुर्विनीताय—दुर्विनीत को; दीयताम्—दिया जाना चाहिए।

तुम इस उपदेश को ऐसे व्यक्ति को मत देना जो पाखण्डी, नास्तिक या बेईमान हो या जो श्रद्धापूर्वक न सुनता हो, जो भक्त न हो या जो विनीत न हो।

एतैर्दोषैर्विहीनाय ब्रह्मण्याय प्रियाय च ।
साधवे शुचये ब्रूयाद्भक्ति: स्याच्छूद्रयोषिताम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एतै:—इन; दोषै:—दोषों से; विहीनाय—विहीन व्यक्ति को; ब्रह्मण्याय—ब्राह्मणों के कल्याण के प्रति समर्पित व्यक्ति को; प्रियाय—प्रेमी को; च—तथा; साधवे—साधु प्रकृति के; शुचये—शुद्ध; ब्रूयात्—कहे; भक्ति:—भक्ति; स्यात्—यदि उपस्थित हो; शूद्र—सामान्य श्रमिक; योषिताम्—तथा स्त्रियों के।

यह ज्ञान उसे दिया जाय जो इन दुर्गुणों से मुक्त हो, जो ब्राह्मणों के कल्याण-कार्य के प्रति समर्पित हो तथा जो प्रेमी हो, सन्त स्वभाव का हो और शुद्ध हो। और यदि सामान्य श्रमिकों तथा स्त्रियों में भगवान् के प्रति भक्ति पाई जाय, तो उन्हें भी योग्य श्रोताओं के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

नैतद्विज्ञाय जिज्ञासोर्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।
पीत्वा पीयूषममृतं पातव्यं नावशिष्यते ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतत्—यह; विज्ञाय—पूरी तरह समझ कर; जिज्ञासो:—जिज्ञासुओं के; ज्ञातव्यम्—ज्ञेय विषय; अवशिष्यते—रह जाता है; पीत्वा—पीकर; पीयूषम्—स्वादिष्ट; अमृतम्—अमृत; पातव्यम्—पीने योग्य; न—कुछ भी नहीं; अवशिष्यते—बचा रहता है।

जब जिज्ञासु व्यक्ति इस ज्ञान को समझ लेता है, तो उसे और जानने के लिए कुछ भी नहीं रहता। आखिर, जो सर्वाधिक स्वादिष्ट अमृत का पान कर चुकता है, वह कहीं प्यासा रह सकता है?

ज्ञाने कर्मणि योगे च वार्तायां दण्डधारणे ।

यावानर्थो नृणां तात तावांस्तेऽहं चतुर्विधः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ज्ञाने—ज्ञान की विधि में; कर्मणि—सकाम कर्म में; योगे—योग में; च—तथा; वार्तायाम्—सामान्य व्यापार में; दण्ड-धारणे—राजनैतिक शासन में; यावान्—जो भी; अर्थः—उपलब्धि; नृणाम्—मनुष्यों की; तात—हे उद्धव; तावान्—उतना; ते—तुमसे; अहम्—मैं; चतुः-विधः—चार प्रकार का (चार पुरुषार्थ.

वैश्लेषिक ज्ञान, कर्मकाण्ड, योग, सांसारिक वाणिज्य तथा राजनैतिक प्रशासन द्वारा लोग धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में प्रगति करना चाहते हैं। किन्तु क्योंकि तुम मेरे भक्त हो इसलिए जो कुछ इन नाना विधियों से प्राप्त किया जा सकता है, उसे तुम आसानी से मेरे भीतर पा सकोगे।

तात्पर्य : जो कुछ भी विद्यमान है उसका आधार भगवान् कृष्ण हैं और जो भी भगवान् की एकमात्र शरण ग्रहण करता है, वह कृष्ण के शरणागत होने के अपने बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय से कोई हानि नहीं उठाता।

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयात्मभूयाय च कल्पते वै ॥ ३४॥

शब्दार्थ

मर्त्यः—मर्त्य; यदा—जब; त्यक्त—त्यागा हुआ; समस्त—सारे; कर्मा—सकाम कर्म; निवेदित-आत्मा—अपनी आत्मा को अर्पित कर चुका; विचिकीर्षितः—कुछ विशेष करने के लिए उत्सुक; मे—मेरे लिए; तदा—उस समय; अमृतत्वम्—अमरता; प्रतिपद्यमानः—प्राप्त करने की विधि में; मया—मेरे साथ; आत्म-भूयाय—समान ऐश्वर्य के लिए; च—भी; कल्पते—पात्र बन जाता है; वै—निस्सन्देह।

जो व्यक्ति सारे सकाम कर्म त्याग देता है और मेरी सेवा करने की तीव्र उत्कंठा से पूरी तरह मुझमें समर्पित हो जाता है, वह जन्म-मृत्यु से मोक्ष पा लेता है और मेरे ऐश्वर्य के भागी के पद पर उन्नत हो जाता है।

श्रीशुक उवाच

स एवमादर्शितयोगमार्ग-
स्तदोत्तमःश्लोकवचो निशम्य ।
बद्धाञ्जलिः प्रीत्युपरुद्धकण्ठो
न किञ्चिदूचेऽश्रुपरिप्लुताक्षः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सः—वह (उद्धव); एवम्—इस प्रकार; आदर्शित—दिखाया गया; योग-मार्गः—योग का मार्ग; तदा—तब; उत्तमः-श्लोक—भगवान् श्रीकृष्ण के; वचः—शब्द; निशम्य—सुन कर; बद्ध-अञ्जलिः—

स्तुति में हाथ जोड़े हुए; प्रीति—प्रेम के कारण; उपरुद्ध—रुँधा हुआ; कण्ठः—गला; न किञ्चित्—कुछ नहीं; ऊचे—कहा; अश्रु—आँसुओं से; परिप्लुत—भरे हुए; अक्षः—नेत्र।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् कृष्ण द्वारा कहे गये इन शब्दों को सुन कर तथा इस प्रकार सम्पूर्ण योग-मार्ग दिखलाये जा चुकने पर, उद्धव ने नमस्कार करने के लिए अपने हाथ जोड़ लिये। किन्तु उनका गला प्रेम से रुँध गया और आँखें अश्रुओं से पूरित हो गईं जिससे वे कुछ भी नहीं कह पाये।

विष्टभ्य चित्तं प्रणयावघूर्णं
धैर्येण राजन्बहुमन्यमानः ।
कृताञ्जलिः प्राह यदुप्रवीरं
शीर्ष्णा स्पृशंस्तच्चरणारविन्दम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

विष्टभ्य—रोक कर; चित्तम्—अपना मन; प्रणय—प्रेमपूर्वक; अवघूर्णम्—पूर्णतया विचलित; धैर्येण—धैर्यपूर्वक; राजन्—हे राजा; बहु-मन्यमानः—कृतज्ञता अनुभव करते हुए; कृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़े; प्राह—कहा; यदु-प्रवीरम्—यदुओं के महानतम वीर से; शीर्ष्णा—सिर से; स्पृशन्—छूते हुए; तत्—उनके; चरण-अरविन्दम्—चरणकमलों को।

प्रेम से अभिभूत हुए अपने मन को स्थिर करते हुए उद्धव ने यदुवंश के महानतम वीर भगवान् कृष्ण के प्रति अतीव कृतज्ञता का अनुभव किया। हे राजा परीक्षित, वे अपने सिर से भगवान् के चरणकमलों का स्पर्श करने के लिए झुके और तब हाथ जोड़ कर बोले।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, श्री उद्धव के मन में भगवान् कृष्ण से विछोह का भय निरन्तर घर करता जा रहा था, इसलिए वे अपने ऊपर भगवान् की महती कृपा का स्मरण करके अपने उत्साह को बनाये रखना चाहते थे। उन्होंने भगवान् के प्रति कृतज्ञता के भाव से अपने मन को स्थिर किया।

श्रीउद्धव उवाच
विद्रावितो मोहमहान्धकारो
य आश्रितो मे तव सन्निधानात् ।
विभावसोः किं नु समीपगस्य
शीतं तमो भीः प्रभवन्त्यजाद्य ॥ ३७॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; विद्रावितः—नष्ट हो चुका है; मोह—मोह का; महा-अन्धकारः—महान् अँधेरा; यः—जो; आश्रितः—शरण लिया गया; मे—मेरे द्वारा; तव—तुम्हारी; सन्निधानात्—उपस्थिति से; विभावसोः—सूर्य का; किम्—

क्या; नु—निस्सन्देह; समीप-गस्य—निकट आये हुए का; शीतम्—जाड़ा; तमः—अंधकार; भीः—भय; प्रभवन्ति—शक्ति रखते हैं; अज—हे अजन्मा; आद्य-ओ प्रिमेवल् लोर्द्.

श्री उद्धव ने कहा : हे अजन्मा आदि भगवान्, यद्यपि मैं मोह के गहन अंधकार में गिर चुका था, किन्तु आपकी दयामयी संगति से अब मेरा अज्ञान दूर हो चुका है। निस्सन्देह, शीत, अंधकार तथा भय उस पर किस तरह अपनी शक्ति दिखा सकते हैं, जो तेजवान् सूर्य के निकट पहुँच गया हो?

तात्पर्य : यद्यपि श्री उद्धव को भगवान् श्रीकृष्ण से बिछुड़ने का भय लग रहा था किन्तु अब उनकी समझ में आ चुका था कि मूलतः भगवान् ही सर्वेसर्वा हैं। जिसने भगवान् के चरणकमलों में शरण ले रखी है, उसका कृष्णभावनामृत न तो कभी कम हो सकता है, न उसे कोई डरा-धमका सकता है।

प्रत्यर्पितो मे भवतानुकम्पिना
भृत्याय विज्ञानमयः प्रदीपः ।
हित्वा कृतज्ञस्तव पादमूलं
कोऽन्यं समीयाच्छरणं त्वदीयम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

प्रत्यर्पितः—बदले में अर्पित; मे—मुझको; भवता—आपके द्वारा; अनुकम्पिना—कृपालु; भृत्याय—अपने सेवक को; विज्ञान-मयः—दिव्य ज्ञान का; प्रदीपः—दीप्त प्रकाश; हित्वा—त्याग कर; कृत-ज्ञः—कृतज्ञ; तव—तुम्हारे; पाद-मूलम्—चरणकमलों के तलवे; कः—कौन; अन्यम्—दूसरे को; समीयात्—जा सकता है; शरणम्—शरण के लिए; त्वदीयम्—तुम्हारी।.

मेरे तुच्छ आत्म-निवेदन के बदले, आपने मुझ अपने सेवक पर दयापूर्वक दिव्य ज्ञान के प्रदीप का दान दिया है। इसलिए आपका कौन भक्त जिसमें तनिक भी कृतज्ञता होगी, आपके चरणकमलों को त्याग कर अन्य स्वामी की शरण ग्रहण करेगा?

वृक्णश्च मे सुदृढः स्नेहपाशो
दाशार्हवृष्ण्यन्धकसात्वतेषु ।
प्रसारितः सृष्टिविवृद्धये त्वया
स्वमायया ह्यात्मसुबोधहेतिना ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

वृक्णः—कट गया; च—तथा; मे—मेरा; सु-दृढः—अत्यन्त दृढ़; स्नेह-पाशः—स्नेह का बन्धन; दाशार्ह-वृष्णि-अन्धक-सात्वतेषु—दाशार्हों, वृष्णियों, अन्धकों तथा सात्वतों के लिए; प्रसारितः—फैलाया हुआ; सृष्टि—आपकी सृष्टि की; विवृद्धये—वृद्धि के लिए; त्वया—आपके द्वारा; स्व-मायया—आपकी माया से; हि—निस्सन्देह; आत्म—आत्मा का; सु-बोध—उचित ज्ञान का; हेतिना—तलवार द्वारा।.

दाशार्हों, वृष्णियों, अन्धकों तथा सात्वतों के परिवारों के प्रति मेरे स्नेह की दृढ़ता से बँधी

हुई रस्सी—वह रस्सी जिसे आपने अपनी सृष्टि को उत्पन्न करने हेतु अपनी माया से आरम्भ में मेरे ऊपर डाल रखी थी—अब दिव्य आत्म-ज्ञान के हथियार से कट गई है।

तात्पर्य : यद्यपि इस श्लोक में उल्लिखित परिवारों के सदस्य कृष्ण के नित्य संगी हैं, अत: स्नेह के समुचित पात्र हैं, किन्तु श्री उद्धव ने उन्हें भगवान् के शुद्ध भक्त न मान कर अपने सम्बन्धियों के रूप में माना है। भगवान् की माया से प्रभावित होकर उद्धव ने इन कुलों के लिए समृद्धि तथा विजय की कामना की थी। किन्तु अब कृष्ण के उपदेशों को सुन कर उन्होंने अपना मन एकमात्र भगवान् कृष्ण पर एकाग्र कर लिया है, अत: वे अपने तथाकथित पारिवारिक सदस्यों को, बिना किसी भौतिक चिंतन के, भगवान् का नित्य दास मानते हैं।

नमोऽस्तु ते महायोगिन्प्रपन्नमनुशाधि माम् ।
यथा त्वच्चरणाम्भोजे रति: स्यादनपायिनी ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

नम: अस्तु—नमस्कार है; ते—तुमको; महा-योगिन्—हे योगियों में सबसे महान्; प्रपन्नम्—शरणागत; अनुशाधि—कृपया आदेश दें; माम्—मुझको; यथा—किस तरह; त्वत्—तुम्हारे; चरण-अम्भोजे—चरणकमलों पर; रति:—दिव्य आसक्ति; स्यात्—होए; अनपायिनी—अचल।

हे महायोगी, आपको नमस्कार है। मुझ शरणागत को आप उपदेश दें कि मैं किस तरह आपके चरणकमलों के प्रति अनन्य अनुरक्ति पा सकता हूँ।

श्रीभगवानुवाच
गच्छोद्धव मयादिष्टो बदर्याख्यं ममाश्रमम् ।
तत्र मत्पादतीर्थोदे स्नानोपस्पर्शनै: शुचि: ॥ ४१ ॥

ईक्षयालकनन्दाया विधूताशेषकल्मष: ।
वसानो वल्कलान्यङ्ग वन्यभुक्सुखनि:स्पृह: ॥ ४२ ॥

तितिक्षुर्द्वन्द्वमात्राणां सुशील: संयतेन्द्रिय: ।
शान्त: समाहितधिया ज्ञानविज्ञानसंयुत: ॥ ४३ ॥

मत्तोऽनुशिक्षितं यत्ते विविक्तमनुभावयन् ।
मय्यावेशितवाक्चित्तो मद्धर्मनिरतो भव ।
अतिव्रज्य गतीस्तिस्रो मामेष्यसि तत: परम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; गच्छ—जाओ; उद्धव—हे उद्धव; मया—मेरे द्वारा; आदिष्ट:—आदेश दिया गया; बदरी-आख्यम्—बद्रिका नामक; मम—मेरी; आश्रमम्—कुटिया; तत्र—वहाँ; मत्-पाद—मेरे पैरों से निकले; तीर्थ—पवित्र स्थानों के; उदे—जल में; स्नान—स्नान करके; उपस्पर्शनै:—तथा शुद्धि के लिए स्पर्श करने से; शुचि:—विमल; ईक्षया—चितवन से;

अलकनन्दायाः—गंगा नदी पर; विधूत—विमल; अशेष—समस्त; कल्मषः—पाप; वसानः—पहन करके; वल्कलानि—छाल; अङ्ग—हे उद्धव; वन्य—जंगल के फल-फूल, मूल आदि; भुक्—खाकर; सुख—सुखी; निःस्पृहः—तथा इच्छा से रहित; तितिक्षुः—सहिष्णु; द्वन्द्व-मात्राणाम्—सारे द्वैतों के; सु-शीलः—सन्त जैसा आचरण करते हुए; संयत-इन्द्रियः—वशीभूत इन्द्रियों से; शान्तः—शान्त; समाहित—पूर्णतया एकाग्र; धिया—बुद्धि से; ज्ञान—ज्ञान; विज्ञान—तथा अनुभूति से; संयुतः—से युक्त; मत्तः—मुझसे; अनुशिक्षितम्—सीखा हुआ; यत्—जो; ते—तुम्हारे द्वारा; विविक्तम्—विवेक से सुनिश्चित; अनुभावयन्—पूरी तरह ध्यान करते हुए; मयि—मुझमें; आवेशित—लीन; वाक्—तुम्हारे शब्द; चित्तः—तथा मन; मत्-धर्म—मेरे दिव्य गुण; निरतः—अनुभव करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील; भव—इस तरह स्थित होओ; अतिव्रज्य—इसको पार करके; गतीः—भौतिक प्रकृति के गन्तव्य; तिस्रः—तीन; माम्—मेरे पास; एष्यसि—तुम आओगे; ततः परम्—तत्पश्चात्।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, मेरा आदेश लो और बदरिका नामक मेरे आश्रम जाओ। तुम वहाँ के पवित्र जल को, जो मेरे चरणकमलों से निकला है, स्पर्श करना तथा उसमें स्नान करके अपने को शुद्ध करना। तुम पवित्र अलकनन्दा नदी के दर्शन से समस्त पापों से अपने को मुक्त करना। तुम वृक्षों की छाल पहनना और जंगल में जो कुछ मिल सके उसे खाना। इस तरह तुम संतुष्ट और इच्छा से मुक्त, समस्त द्वैतों के प्रति सहिष्णु, अच्छे स्वभाव के, आत्मसंयमी, शान्त तथा आध्यात्मिक ज्ञान एवं विज्ञान से समन्वित हो सकोगे। अपना ध्यान एकाग्र करके मेरे द्वारा दिये गये उपदेशों पर निरन्तर मनन करना और इनके सार को आत्मसात् करना। अपने वचनों तथा विचारों को मुझ पर स्थिर करना और मेरे दिव्य गुणों की अनुभूति को अपने में बढ़ाने के लिए सदैव प्रयास करना। इस तरह तुम प्रकृति के तीन गुणों के गन्तव्य को पार करके अन्त में मेरे पास आ जाओगे।

श्रीशुक उवाच

स एवमुक्तो हरिमेधसोद्धवः
प्रदक्षिणं तं परिसृत्य पादयोः ।
शिरो निधायाश्रुकलाभिरार्द्रधी-
र्न्यषिञ्चदद्वन्द्वपरोऽप्यपक्रमे ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सः—वह; एवम्—इस तरह; उक्तः—कहा गया; हरि-मेधसा—भगवान् द्वारा जिनकी बुद्धि भौतिक जीवन के कष्ट को हर लेती है; उद्धवः—उद्धव ने; प्रदक्षिणम्—अपनी दाएँ ओर मुँह करके; तम्—उसको; परिसृत्य—परिक्रमा करके; पादयोः—दोनों पाँवों पर; शिरः—अपना सिर; निधाय—रख कर; अश्रु-कलाभिः—आँसू की बूँदों से; आर्द्र—द्रवित; धीः—जिसका हृदय; न्यषिञ्चत्—भिगो दिया; अद्वन्द्व-परः—भौतिक द्वन्द्वों में न फँस कर; अपि—यद्यपि; अपक्रमे—विदा लेते समय।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह भौतिक जीवन के समस्त कष्ट को नष्ट करने वाली बुद्धि के स्वामी भगवान् कृष्ण द्वारा सम्बोधित किये जाने पर श्री उद्धव ने भगवान् की परिक्रमा की और तब भगवान् के चरणों पर अपना सिर रख कर भूमि पर लेट गये। यद्यपि उद्धव सारे

भौतिक द्वन्द्वों के प्रभाव से मुक्त थे, किन्तु उनका हृदय विदीर्ण हो रहा था और विदा के समय उन्होंने अपने आँसुओं से भगवान् के चरणकमलों को भिगो दिया।

सुदुस्त्यजस्नेहवियोगकातरो
न शक्नुवंस्तं परिहातुमातुरः ।
कृच्छ्रं ययौ मूर्धनि भर्तृपादुके
बिभ्रन्नमस्कृत्य ययौ पुनः पुनः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

सु-दुस्त्यज—त्याग पाना असम्भव; स्नेह—जिस पर उसने स्नेह टिका रखा था; वियोग—विछोह के कारण; कातरः—अत्यन्त दुखी, आपे से बाहर; न शक्नुवन्—असमर्थ होने से; तम्—उसको; परिहातुम्—छोड़ने के लिए; आतुरः—अभिभूत; कृच्छ्रम् ययौ—अत्यधिक पीड़ा अनुभव की; मूर्धनि—सिर पर; भर्तृ—अपने स्वामी के; पादुके—खड़ाओं को; बिभ्रन्—लेते हुए; नमस्कृत्य—नमस्कार करके; ययौ—चला गया; पुनः पुनः—बारम्बार।

जिनसे उद्धव का अटूट स्नेह था उनसे बिछुड़ने से अत्यधिक डरते हुए, वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये और वे भगवान् का साथ छोड़ नहीं पाये। अन्त में, अत्यधिक पीड़ा का अनुभव करते हुए, उन्होंने बारम्बार भगवान् को नमस्कार किया और अपने स्वामी के खड़ाऊँ को सिर पर रख कर वहाँ से प्रस्थान किया।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के अनुसार (३.४.५), जब उद्धव बदरिकाश्रम जा रहे थे, तो उन्होंने भगवान् की प्रभास यात्रा के विषय में सुना। पीछे मुड़ कर तथा कृष्ण के पीछे पीछे जाकर उन्होंने देखा कि यदुवंश के विनाश के बाद भगवान् अकेले थे। जब भगवान् ने पुनः कृपा करके (मैत्रेय के साथ जो अभी अभी पहुँचे थे) उपदेश दिया तो उद्धव को लगा कि उनका सत्य ज्ञान जागृत हो उठा है और तब भगवान् के आदेश से वे अपने रास्ते पर आगे बढ़ गये।

ततस्तमन्तर्हृदि सन्निवेश्य
गतो महाभागवतो विशालाम् ।
यथोपदिष्टां जगदेकबन्धुना
तपः समास्थाय हरेरगाद्गतिम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; तम्—उसको; अन्तः—भीतर; हृदि—अपने मन में; सन्निवेश्य—रख कर; गतः—जाते हुए; महा-भागवतः—महान् भक्त; विशालाम्—बदरिकाश्रम को; यथा—जिस तरह; उपदिष्टाम्—वर्णित; जगत्—ब्रह्माण्ड के; एक—एकमात्र; बन्धुना—मित्र द्वारा; तपः—तपस्या; समास्थाय—ठीक से सम्पन्न करके; हरेः—भगवान् के; अगात्—प्राप्त किया; गतिम्—गन्तव्य को।

तत्पश्चात् भगवान् को, हृदय में रखते हुए महान् भक्त उद्धव बदरिकाश्रम गये। वहाँ पर

तपस्या में रत होकर उन्होंने भगवान् के निजी धाम को प्राप्त किया जिसका वर्णन ब्रह्माण्ड के एकमात्र मित्र स्वयं कृष्ण ने उनसे किया था।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार श्री उद्धव वैकुण्ठ-स्थित द्वारका लौट आये।

य एतदानन्दसमुद्रसम्भृतं
ज्ञानामृतं भागवताय भाषितम् ।
कृष्णेन योगेश्वरसेविताङ्घ्रिणा
सच्छ्रद्धयासेव्य जगद्विमुच्यते ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; एतत्—यह; आनन्द—आनन्द के; समुद्र—सागर; सम्भृतम्—संग्रहीत; ज्ञान—ज्ञान के; अमृतम्—अमृत; भागवताय—उनके भक्त से; भाषितम्—कहा गया; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; योग-ईश्वर—योगके स्वामियों द्वारा; सेवित—सेवा किया गया; अङ्घ्रिणा—चरणकमलों द्वारा; सत्—सही; श्रद्धया—श्रद्धा के साथ; आसेव्य—सेवा करके; जगत्—सारा संसार; विमुच्यते—मुक्त हो जाता है।.

इस तरह उन भगवान् कृष्ण ने जिनके चरणकमलों की सेवा समस्त बड़े बड़े योगेश्वरों द्वारा की जाती है, अपने भक्त से यह अमृततुल्य ज्ञान कहा जो आध्यात्मिक आनन्द के सम्पूर्ण सागर जैसा है। इस ब्रह्माण्ड में जो कोई भी इस कथा को अत्यन्त श्रद्धापूर्वक ग्रहण करता है, उसकी मुक्ति निश्चित है।

भवभयमपहन्तुं ज्ञानविज्ञानसारं
निगमकृदुपजह्रे भृङ्गवद्वेदसारम् ।
अमृतमुदधितश्चापाययद्भृत्यवर्गान्
पुरुषमृषभमाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

भव—भौतिक जीवन के; भयम्—भय को; अपहन्तुम्—हर लेने के लिए; ज्ञान-विज्ञान—ज्ञान तथा विज्ञान का; सारम्—सार; निगम—वेदों के; कृत्—रचयिता ने; उपजह्रे—प्रदान किया; भृङ्ग-वत्—मधुमक्खी की तरह; वेद-सारम्—वेदों का सार; अमृतम्—अमृत; उदधितः—समुद्र से; च—तथा; अपाययत्—पिलाया; भृत्य-वर्गान्—अपने अनेक भक्तों को; पुरुषम्—भगवान् को; ऋषभम्—महानतम; आद्यम्—आदि जीव; कृष्ण-संज्ञम्—कृष्ण नामक; नतः—सिर झुकाता; अस्मि—हूँ।.

मैं उन भगवान् कृष्ण को नमस्कार करता हूँ जो आदि तथा समस्त जीवों में महानतम हैं। वे वेदों के रचयिता हैं और उन्होंने अपने भक्तों के भौतिक जगत के भय को नष्ट करने के लिए, मधुमक्खी की तरह समस्त ज्ञान तथा विज्ञान के इस अमृतमय सार का संग्रह किया। इस तरह उन्होंने अपने अनेक भक्तों को आनन्दसागर से यह अमृत प्रदान किया है और उनकी कृपा से उन्होंने इसका पान किया है।

तात्पर्य : जिस तरह मधुमक्खी फूल को क्षति पहुँचाये बिना अमृत चूस लेती है, उसी तरह श्रीकृष्ण वैदिक विकास की विस्तृत प्रणाली को विचलित किये बिना, समस्त वैदिक ज्ञान का सार काढ लेते हैं। दूसरे शब्दों में, श्रीकृष्ण स्वयं को वैदिक ज्ञान का लक्ष्य स्थापित करते हैं। वे प्रारम्भिक निकृष्ट विधियों को जो स्थूल भौतिक व्यक्तियों पर लागू हों तनिक भी विनष्ट नहीं होने देते। श्री शुकदेव गोस्वामी समस्त ब्रह्माण्ड के गुरु भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार करते हुए समापन करते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के ''भक्ति-योग'' नामक उन्तीसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तीस

यदुवंश का संहार

इस अध्याय में भगवान् की लीलाओं के समापन के प्रसंग में यदुवंश के विनाश की चर्चा हुई है।

श्री उद्धव के बदरिकाश्रम प्रस्थान के बाद जब भगवान् श्रीकृष्ण ने अनेक अपशकुन देखे, तो उन्होंने यादवों को सलाह दी कि वे द्वारका छोड़ कर सरस्वती-तट पर स्थित प्रभास क्षेत्र जाँय और दुर्भाग्य के प्रतिकार हेतु *स्वस्त्ययन* तथा अन्य अनुष्ठान सम्पन्न करें। वे सभी उनकी सलाह मान कर प्रभास गये। वहाँ पर वे उत्सव मनाने में लीन हो गये और कृष्ण की मायाशक्ति से मदिरा-पान करके उन्मत्त हो उठे। इस तरह अपनी बुद्धि खोकर वे परस्पर लड़ने-झगड़ने और एक-दूसरे को मारने लगे जिससे अन्त में एक भी व्यक्ति जीवित न बचा।

तत्पश्चात् श्री बलदेव समुद्र-तट पर गये और वहाँ उन्होंने योगशक्ति से अपना शरीर त्याग दिया। बलदेव के तिरोधान को देख कर श्रीकृष्ण मौन भाव से भूमि पर बैठ गये। तब जरा नाम के शिकारी ने भगवान् के पैर के तलवे को हिरन समझ कर उसे तीर से बेध दिया। किन्तु शिकारी को अपनी भूल का तुरन्त ही पता चल गया, अत: वह श्रीकृष्ण के चरणों पर गिर कर उनसे दण्ड देने के लिए याचना करने लगा। कृष्ण ने उत्तर में शिकारी से कहा कि उसने जो कुछ किया है, वह उनकी अपनी इच्छा के अनुसार है। तब भगवान् ने शिकारी को वैकुण्ठ भेज दिया।

जब कृष्ण का सारथी, दारुक, घटनास्थल पर आया और कृष्ण को उस अवस्था में देखा तो वह

शोक करने लगा। कृष्ण ने उससे द्वारका जाने, वहाँ के निवासियों को यदुकुल के संहार के विषय में सूचित करने तथा द्वारका छोड़ कर इन्द्रप्रस्थ जाने की सलाह दी। दारुक ने आज्ञाकारी होते हुए यह आदेश पूरा किया।

श्रीराजोवाच
ततो महाभागवत उद्धवे निर्गते वनम् ।
द्वारवत्यां किमकरोद्भगवान्भूतभावनः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; ततः—तब; महा-भागवते—महान् भक्त; उद्धवे—उद्धव के; निर्गते—चले जाने पर; वनम्—वन में; द्वारवत्याम्—द्वारका में; किम्—क्या; अकरोत्—किया; भगवान्—भगवान् ने; भूत—सारे जीवों के; भावनः—रक्षक।

राजा परीक्षित ने कहा : जब महान् भक्त उद्धव जंगल चले गये तो समस्त जीवों के रक्षक भगवान् ने द्वारका नगरी में क्या किया?

तात्पर्य : अब परीक्षित महाराज शुकदेव गोस्वामी से इस स्कन्ध के प्रथम अध्याय के शीर्षक के विषय में—यदुवंश के संहार तथा श्रीकृष्ण के वैकुण्ठ लौट जाने के विषय में—पूछ रहे हैं। चूँकि भगवान् कृष्ण यदुवंश के सामान्य सदस्य की भूमिका निभा रहे थे, अतः वे अपनी पार्थिव लीलाओं को त्याग कर ब्राह्मणों के शाप के प्रति अपने भाव व्यक्त करते प्रतीत हो रहे थे। वस्तुतः भगवान् कृष्ण को कोई शाप नहीं दे सकता। नारद मुनि तथा अन्य मुनिगण जिन्होंने यदुवंश को शाप दिया, वे भगवान् के नित्य भक्त हैं और वे उन्हें शाप नहीं दे सकते थे। अतएव, अपनी लीलाएँ समाप्त करने तथा यदुकुल के साथ पृथ्वी छोड़ने में, भगवान् कृष्ण ने अपनी अन्तरंगा शक्ति तथा निजी इच्छा का प्रदर्शन किया क्योंकि भगवान् की परम शक्ति को ललकारा नहीं जा सकता।

ब्रह्मशापोपसंसृष्टे स्वकुले यादवर्षभः ।
प्रेयसीं सर्वनेत्राणां तनुं स कथमत्यजत् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-शाप—ब्राह्मणों के शाप से; उपसंसृष्टे—विनष्ट किये जाने पर; स्व-कुले—अपने ही परिवार में; यादव-ऋषभः—यदुओं के प्रमुख; प्रेयसीम्—अत्यन्त प्रिय; सर्व-नेत्राणाम्—सारे नेत्रों को; तनुम्—शरीर; सः—उन्होंने; कथम्—कैसे; अत्यजत्—त्यागा।

ब्राह्मणों के शाप से अपने ही वंश के नष्ट हो जाने के बाद, यदुओं में श्रेष्ठ भगवान् ने किस तरह अपना शरीर छोड़ा जो सारे नेत्रों की परमप्रिय वस्तु था?

तात्पर्य : इस श्लोक के सम्बन्ध में श्रील जीव गोस्वामी की व्याख्या है कि भगवान् कभी अपने

दिव्य सच्चिदानन्द शरीर को त्यागते नहीं। इसलिए *कथम्* शब्द यह सूचित करता है कि, ''यह कैसे सम्भव हो सकता है'' जिसका आशय यह है कि भगवान् कृष्ण के लिए अपना नित्य स्वरूप जो *प्रेयसीं सर्व-नेत्राणाम्* है, वास्तव में कभी भी त्याग करना संभव नहीं है।

प्रत्याक्रष्टुं नयनमबला यत्र लग्नं न शेकुः
कर्णाविष्टं न सरति ततो यत्सतामात्मलग्नम् ।
यच्छ्रीर्वाचां जनयति रतिं किं नु मानं कवीनां
दृष्ट्वा जिष्णोर्युधि रथगतं यच्च तत्साम्यमीयुः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

प्रत्याक्रष्टुम्—दूर हटाने में; नयनम्—अपनी आँखें; अबलाः—स्त्रियाँ; यत्र—जिसमें; लग्नम्—लिप्त; न शेकुः—सक्षम नहीं थीं; कर्ण—कान; आविष्टम्—घुस कर; न सरति—छोड़ती नहीं; ततः—तत्पश्चात्; यत्—जो; सताम्—ऋषियों-मुनियों का; आत्म—हृदयों में; लग्नम्—लगा हुआ; यत्—जिसका; श्रीः—सौन्दर्य; वाचाम्—शब्दों का; जनयति—उत्पन्न करता है; रतिम्—विशेष आनन्ददायक आकर्षण; किम् नु—क्या कहा जाय; मानम्—ख्याति; कवीनाम्—कवियों की; दृष्ट्वा—देख कर; जिष्णोः—अर्जुन के; युधि—युद्धक्षेत्र में; रथ-गतम्—रथ पर; यत्—जो; च—तथा; तत्-साम्यम्—उनके समान पद; ईयुः—उन्होंने प्राप्त किया।

एक बार उनके दिव्य रूप पर अपनी आँखें गड़ा देने पर, स्त्रियाँ उन्हें हटा पाने में असमर्थ होती थीं और यदि वह रूप एक बार मुनियों के कानों में प्रवेश कर जाता और उनके हृदयों में गड़ जाता, तो फिर वह हटाये नहीं हटता था। ख्याति पाने के विषय में क्या कहा जाय, जिन महान् कवियों ने भगवान् के रूप के सौन्दर्य का वर्णन किया उनके शब्द दिव्य मोहक आकर्षण में फँस कर रह गये। और उस रूप को अर्जुन के रथ पर देख कर कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि के सारे योद्धाओं ने भगवान् जैसे आध्यात्मिक शरीर प्राप्त कर मोक्ष-लाभ उठाया।

तात्पर्य : वृन्दावन की गोपियाँ तथा आदि लक्ष्मी रुक्मिणी जैसी दिव्य मुक्तात्माएँ भगवान् के आध्यात्मिक शरीर का निरन्तर ध्यान करती रहती थीं। महा मुक्त ऋषिगण (*सताम्*) कृष्ण के शरीर के विषय में सुन कर, अपने हृदयों को उससे हटा नहीं पाते थे। भगवान् का शारीरिक सौन्दर्य महान् मुक्त कवियों के प्रेम तथा कवित्व शक्ति को बढ़ाने वाला था और कुरुक्षेत्र के योद्धाओं ने भगवान् कृष्ण के शरीर को देखने मात्र से भगवान् जैसा नित्य शरीर पाकर मोक्ष प्राप्त किया। इसलिए भगवान् कृष्ण के नित्य आनन्द रूप को किसी भी तरह भौतिक रूप में कल्पित करना असम्भव है। जो लोग कल्पना करते हैं कि भगवान् कृष्ण ने अपना नित्य स्वरूप त्यागा वे निश्चय ही भगवान् की मायाशक्ति द्वारा विमोहित हैं।

श्री ऋषिरुवाच
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च महोत्पातान्समुत्थितान् ।
दृष्ट्वासीनान्सुधर्मायां कृष्णः प्राह यदूनिदम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

श्री-ऋषिः उवाच—ऋषि (शुकदेव गोस्वामी) ने कहा; दिवि—आकाश में; भुवि—पृथ्वी पर; अन्तरिक्षे—बाह्य अवकाश में; च—तथा; महा-उत्पातान्—महान् उत्पातों को; समुत्थितान्—प्रकट हो चुके; दृष्ट्वा—देख कर; आसीनान्—आसन जमाये हुए; सु-धर्मायाम्—सुधर्मा नामक राजसभा में; कृष्णः—कृष्ण ने; प्राह—कहा; यदून्—यदुओं से; इदम्—यह।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : आकाश, पृथ्वी तथा बाह्य अवकाश में अनेक उत्पात-चिन्ह देख कर भगवान् कृष्ण ने सुधर्मा नामक सभाभवन में एकत्र यदुओं से इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार अशुभ संकेत थे—आकाश में सूर्य के चारों ओर मंडल का प्रकट होना, पृथ्वी पर छोटे-छोटे भूकम्प आना तथा बाह्य अवकाश में क्षितिज पर अप्राकृतिक लालिमा को प्रकट होना। ये तथा इसी तरह के अन्य अपशकुनों का निराकरण कर पाना असम्भव था क्योंकि इनकी योजना स्वयं कृष्ण ने की थी।

श्रीभगवानुवाच
एते घोरा महोत्पाता द्वार्वत्यां यमकेतवः ।
मुहूर्तमपि न स्थेयमत्र नो यदुपुङ्गवाः ॥ ५॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; एते—ये; घोराः—भयावने; महा—महान्; उत्पाताः—अपशकुन; द्वार्वत्याम्—द्वारका में; यम—मृत्यु के राजा के; केतवः—झंडे; मुहूर्तम्—एक क्षण; अपि—भी; न स्थेयम्—रुकना चाहिए; अत्र—यहाँ; नः—हमें; यदु-पुङ्गवाः—हे यदुओं में श्रेष्ठ।

भगवान् ने कहा : अरे यदुवंश के नायको, जरा इन सारे भयावने अपशकुनों पर ध्यान दो जो द्वारका में मृत्यु के झंडों की तरह प्रकट हुए हैं। अब हमें यहाँ पर क्षण-भर भी रुकना नहीं चाहिए।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने वैदिक ग्रंथों से पर्याप्त प्रमाण यह सिद्ध करने के लिए जुटाये हैं कि भगवान् का मनुष्य जैसा स्वरूप तथा उनके नाम, धाम, साज-सामग्री तथा संगी, नित्य तथा भौतिक कल्मष से रहित आध्यात्मिक स्वरूप हैं। (*देखें परिशिष्ट पृष्ठ ...*) इस प्रसंग में आचार्य ने आगे भी व्याख्या की है कि चूँकि जीवों को अपने पापकर्मों का फल भोगना होता है, इसलिए भगवान् उन्हें कलियुग में दण्ड देने की व्यवस्था करते हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् यह नहीं चाहते कि बद्धजीव

पापी बनें और कष्ट भोगें किन्तु चूँकि वे पहले से पापी होते हैं अतएव भगवान् उपयुक्त युग की सृष्टि करते हैं जिसमें अधर्म के तिक्त फलों का वे स्वाद चख सकें।

चूँकि भगवान् कृष्ण इस भौतिक जगत में अपने विभिन्न रूपों में धर्म की स्थापना करते हैं, इसलिए द्वापर युग के अन्त में पृथ्वी पर धर्म अत्यन्त प्रबल था। सारे प्रधान असुरों का वध हो चुका था; सारे ऋषि-मुनियों, सन्तों तथा भक्तों को प्रोत्साहन मिला था; उन्हें प्रबुद्ध किया गया था और प्रबल बनाया गया था, इसलिए अधर्म के लिए बहुत कम अवकाश था। यदि भगवान् कृष्ण वैकुण्ठ को अपने आध्यात्मिक शरीर में संसार के समक्ष गए होते, तो कलियुग के लिए पल्लवित हो पाना कठिन हो जाता। भगवान् कृष्ण ने संसार को उसी तरह से छोड़ा जिस तरह रामचन्द्र के अवतार में किया था और लाखों वर्षों बाद भी करोडों पवित्र पुरुष भगवान् की इस अद्‌भुत लीला की चर्चा चलाते हैं। किन्तु कलियुग के लिए मार्ग प्रशस्त करने के लिए भगवान् कृष्ण ने इस जगत को इस तरह छोड़ा जो उन लोगों को चकराने वाला है, जो उनके कट्टरभक्त नहीं हैं।

भगवान् के नित्य रूप का वर्णन सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में पाया जाता है और सारे महान् आचार्यों के अनुसार, जिनमें शंकराचार्य तथा चैतन्य महाप्रभु सम्मिलित हैं, भगवान् का नित्य रूप परब्रह्म का सर्वोच्च ज्ञान है। यद्यपि उच्च भक्तों के लिए भगवान् कृष्ण का नित्य आध्यात्मिक रूप एक अनुभूत तथ्य है, किन्तु जो लोग कृष्णभावनामृत में पिछड़े हैं उनके लिए भगवान् की अचिन्त्य लीलाएँ एवं योजना कभी कभी पूरी समझ के परे रहती है।

स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च शङ्खोद्धारं व्रजन्त्वितः ।
वयं प्रभासं यास्यामो यत्र प्रत्यक्सरस्वती ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

स्त्रियः—स्त्रियाँ; बालाः—बालक; च—तथा; वृद्धाः—बूढ़े लोग; च—तथा; शङ्ख-उद्धारम्—शंखोद्धार (जो द्वारका तथा प्रभास के बीचोबीच है) नामक पवित्र स्थान तक; व्रजन्तु—जाना चाहिए; इतः—यहाँ से; वयम्—हम; प्रभासम्—प्रभास तक; यास्यामः—जायेंगे; यत्र—जहाँ; प्रत्यक्—पश्चिमवाहिनी; सरस्वती—सरस्वती नदी।

स्त्रियों, बालकों तथा बूढ़े लोगों को यह नगर छोड़ कर शंखोद्धार जाना चाहिए। हम सभी प्रभास क्षेत्र चलेंगे जहाँ सरस्वती नदी पश्चिम वाहिनी है।

तात्पर्य : *वयम्* शब्द यदुवंश के हृष्टपुष्ट पुरुषों का द्योतक है।

तत्राभिषिच्य शुचय उपोष्य सुसमाहिताः ।
देवताः पूजयिष्यामः स्नपनालेपनार्हणैः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अभिषिच्य—स्नान करके; शुचयः—पवित्र हुए; उपोष्य—उपवास रख कर; सु-समाहिताः—अपने मनों को स्थिर करके; देवताः—देवतागण; पूजयिष्यामः—हम पूजन करेंगे; स्नपन—स्नान करके; आलेपन—चंदन लगाकर; अर्हणैः—तथा विविध भेंटों से।

वहाँ हम शुद्धि के लिए स्नान करें, उपवास रखें और अपने मनों को ध्यान में स्थिर करें। तत्पश्चात् देवताओं की मूर्तियों को स्नान कराकर हम उनका पूजन करें, चन्दन का लेप करें और उन्हें विविध भेंटें अर्पित करें।

ब्राह्मणांस्तु महाभागान्कृतस्वस्त्ययना वयम् ।
गोभूहिरण्यवासोभिर्गजाश्वरथवेश्मभिः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणान्—ब्राह्मणों को; तु—तथा; महा-भागान्—अत्यन्त भाग्यशाली; कृत—सम्पन्न करने के बाद; स्वस्ति-अयनाः—सौभाग्य के लिए उत्सव; वयम्—हम; गो—गौवों; भू—भूमि; हिरण्य—स्वर्ण; वासोभिः—तथावस्त्रों से; गज—हाथियों; अश्व—घोड़ों; रथ—रथों; वेश्मभिः—तथा घरों से।

अत्यन्त भाग्यशाली ब्राह्मणों की सहायता से स्वस्तिवाचन कराने के बाद हम उन बाह्मणों को गौवें, भूमि, सोना, वस्त्र, हाथी, घोड़े, रथ तथा घर भेंट करके उनकी पूजा करें।

विधिरेष ह्यरिष्टघ्नो मङ्गलायनमुत्तमम् ।
देवद्विजगवां पूजा भूतेषु परमो भवः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

विधिः—संस्तुत विधि; एषः—यह; हि—निस्सन्देह; अरिष्ट—अशुभ अड़चनों को; घ्नः—नष्ट करने वाला; मङ्गल-अयनम्—सौभाग्य लाने वाला; उत्तमम्—सर्वश्रेष्ठ; देव—देवताओं; द्विज—ब्राह्मणों; गवाम्—तथागौवों में; पूजा—पूजा; भूतेषु—जीवों में से; परमः—सर्वोत्तम; भवः—पुनर्जन्म।

अपने आसन्न संकट का सामना करने के लिए निस्सन्देह यह उपयुक्त विधि है और इससे निश्चित ही सर्वोच्च सौभाग्य प्राप्त होगा। देवताओं, ब्राह्मणों तथा गौवों की ऐसी पूजा सारे जीवों को सर्वोच्च जन्म दिलाने वाली हो सकती है।

इति सर्वे समाकर्ण्य यदुवृद्धा मधुद्विषः ।
तथेति नौभिरुत्तीर्य प्रभासं प्रययू रथैः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; सर्वे—सभी लोग; समाकर्ण्य—सुन कर; यदु-वृद्धाः—यदुकुल के गुरुजन; मधु-द्विषः—मधु राक्षस के शत्रु भगवान् कृष्ण से; तथा—ऐसा ही हो; इति—इस प्रकार; नौभिः—नावों द्वारा; उत्तीर्य—पार करके; प्रभासम्—प्रभास तक; प्रययुः—गये; रथैः—रथों से।

मधु के शत्रु भगवान् कृष्ण से ये शब्द सुन कर, यदुवंश के गुरुजनों ने अपनी सहमति ''तथास्तु'' कह कर व्यक्त कर दी। नावों से समुद्र को पार करने के बाद वे रथों से प्रभास की ओर बढ़े।

तस्मिन्भगवतादिष्टं यदुदेवेन यादवाः ।
चक्रुः परमया भक्त्या सर्वश्रेयोपबृंहितम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—वहाँ; भगवता—भगवान् द्वारा; आदिष्टम्—आदेश दिये गये; यदु-देवेन—यदुओं के स्वामी द्वारा; यादवाः—यादव लोगों ने; चक्रुः—सम्पन्न किया; परमया—दिव्य; भक्त्या—भक्ति से; सर्व—समस्त; श्रेयः—शुभ अनुष्ठानों से; उपबृंहितम्—युक्त।

वहाँ पर यादवों ने अत्यन्त भक्ति के साथ अपने स्वामी भगवान् कृष्ण के आदेशानुसार धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न किये। उन्होंने अन्य विविध शुभ अनुष्ठान भी सम्पन्न किये।

ततस्तस्मिन्महापानं पपुर्मैरेयकं मधु ।
दिष्टविभ्रंशितधियो यद्द्रवैर्भ्रश्यते मतिः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; तस्मिन्—वहाँ; महा—प्रचुर मात्रा में; पानम्—पेय; पपुः—पिया; मैरेयकम्—मैरेय नामक; मधु—मधुर स्वाद वाली; दिष्ट—भाग्यवश; विभ्रंशित—नष्ट हुई; धियः—उनकी बुद्धि; यत्—जिस पेय से; द्रवैः—द्रव पदार्थों से; भ्रश्यते—भ्रष्ट हो जाता है; मतिः—मन।

तब दैव द्वारा बुद्धि भ्रष्ट किये गये वे सब खुले मन से मधुर मैरेय पेय के पीने में लग गये जो मन को पूरी तरह मदोन्मत्त कर देता है।

तात्पर्य : *दिष्ट* शब्द भगवान् की इच्छा का सूचक है। इस स्कन्ध के प्रथम अध्याय ''यदुवंश को शाप'' में इस घटना का विस्तार से वर्णन हुआ है।

महापानाभिमत्तानां वीराणां दृप्तचेतसाम् ।
कृष्णमायाविमूढानां सङ्घर्षः सुमहानभूत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

महा-पान—अत्यधिक पीने से; अभिमत्तानाम्—मदोन्मत्त हुए; वीराणाम्—वीरों के; दृप्त—उद्धत; चेतसाम्—मन; कृष्ण-माया—कृष्ण की माया से; विमूढानाम्—मोहग्रस्त हुए; सङ्घर्षः—झगड़ा; सु-महान्—बहुत बड़ा; अभूत्—हुआ।

यदुवंश के वीरगण अत्यधिक पान के कारण उन्मत्त हो उठे और उद्धत हो गये। जब वे

भगवान् कृष्ण की निजी शक्ति से इस तरह विमोहित थे, तो उनके बीच भयानक झगड़ा उठ खड़ा हुआ।

युयुधुः क्रोधसंरब्धा वेलायामाततायिनः ।
धनुर्भिरसिभिर्भल्लैर्गदाभिस्तोमरर्ष्टिभिः ॥ १४॥

शब्दार्थ

युयुधुः—लड़ने लगे; क्रोध—क्रोध से; संरब्धाः—बुरी तरह उत्तेजित; वेलायाम्—समुद्र-तट पर; आततायिनः—हथियार लिए; धनुर्भिः—धनुषों से; असिभिः—तलवारों से; भल्लैः—भालों से; गदाभिः—गदाओं से; तोमर—बर्छों से; ऋष्टिभिः—ऋष्टियों से।.

क्रुद्ध होकर उन्होंने अपने अपने धनुष-बाण, तलवारें, भाले, गदाएँ, बर्छे, तोमर ले लिये और समुद्र के किनारे एक-दूसरे पर आक्रमण करने लगे।

पतत्पताकै रथकुञ्जरादिभिः
खरोष्ट्रगोभिर्महिषैर्नरैरपि ।
मिथः समेत्याश्वतरैः सुदुर्मदा
न्यहन्शरैर्दद्भिरिव द्विपा वने ॥ १५॥

शब्दार्थ

पतत्-पताकैः—उड़ती पताकाओं से; रथ—रथों पर; कुञ्जर—हाथी; आदिभिः—तथा अन्य वाहनों से; खर—गधों; उष्ट्र—ऊँटों; गोभिः—तथा बैलों पर; महिषैः—भैसों पर; नरैः—मनुष्यों पर; अपि—भी; मिथः—परस्पर; समेत्य—मिल कर; अश्वतरैः—खच्चरों पर; सु-दुर्मदाः—अत्यधिक क्रुद्ध; न्यहन्—आक्रमण किया; शरैः—तीरों से; दद्भिः—अपने दाँतों से; इव—मानो; द्विपाः—हाथी; वने—जंगल में।.

हाथियों पर तथा फहराती ध्वजाओं वाले रथों पर तथा गधों, ऊँटों, बैलों, भैसों, खच्चरों एवं मनुष्यों पर भी सवार होकर अत्यन्त क्रुद्ध योद्धागण एक-दूसरे के पास आये और उन्होंने एक-दूसरे पर बाणों से वेगपूर्वक उसी तरह आक्रमण किया जिस तरह जंगल में हाथी अपने दाँतों से एक-दूसरे पर आक्रमण करते हैं।

प्रद्युम्नसाम्बौ युधि रूढमत्सरा-
वक्रूरभोजावनिरुद्धसात्यकी ।
सुभद्रसङ्ग्रामजितौ सुदारुणौ
गदौ सुमित्रासुरथौ समीयतुः ॥ १६॥

शब्दार्थ

प्रद्युम्न-साम्बौ—प्रद्युम्न तथा साम्ब; युधि—युद्ध में; रूढ—उकसायी हुई; मत्सरौ—उनकी शत्रुता; अक्रूर-भोजौ—अक्रूर तथा भोज; अनिरुद्ध-सात्यकी—अनिरुद्ध तथा सात्यकि; सुभद्र-सङ्ग्रामजितौ—सुभद्र तथा संग्रामजित; सु-दारुणौ—भयंकर;

गदौ—दोनों गद (एक श्रीकृष्ण का भाई और दूसरा उनका पुत्र); सुमित्रा-सुरथौ—सुमित्र तथा सुरथ; समीयतुः—एक-दूसरे से मिले।

आपसी शत्रुता भड़कने से प्रद्युम्न साम्ब से घनघोर लड़ाई करने लगा, अक्रूर कुन्तिभोज से, अनिरुद्ध सात्यकि से, सुभद्र संग्रामजित से, सुमित्र सुरथ से तथा दोनों गद एक-दूसरे से लड़ने लगे।

अन्ये च ये वै निशठोल्मुकादयः
सहस्रजिच्छतजिद्भानुमुख्याः ।
अन्योन्यमासाद्य मदान्धकारिता
जघ्नुर्मुकुन्देन विमोहिता भृशम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

अन्ये—अन्य; च—तथा; ये—जो; वै—निस्सन्देह; निशठ-उल्मक-आदयः—निशठ, उल्मुक इत्यादि; सहस्रजित्-शतजित्-भानु-मुख्यः—सहस्रजित, शतजित तथा भानु इत्यादि; अन्योन्यम्—एक-दूसरे से; आसाद्य—मिल कर; मद—नशे से; अन्ध-कारिताः—अन्धे हुए; जघ्नुः—मार डाला; मुकुन्देन—मुकुन्द द्वारा; विमोहिताः—विमोहित; भृशम्—पूरी तरह से।

अन्य लोग भी, यथा निशठ, उल्मुक, सहस्रजित, शतजित तथा भानु एक-दूसरे से गुँथ गये और उन्होंने नशे से अंधे हुए एवं भगवान् मुकुन्द द्वारा पूर्णतया विमोहित हुए एक-दूसरे को मार डाला।

दाशार्हवृष्ण्यन्धकभोजसात्वता
मध्वर्बुदा माथुरशूरसेनाः ।
विसर्जनाः कुकुराः कुन्तयश्च
मिथस्तु जघ्नुः सुविसृज्य सौहृदम् ॥ १८॥

शब्दार्थ

दाशार्ह-वृष्णि-अन्धक-भोज-सात्वताः—दाशार्ह, वृष्टि, अन्धक, भोज तथा सात्वतगण; मधु-अर्बुदाः—मधु तथा अर्बुद; माथुर-शूरसेनाः—मथुरा तथा शूरसेन के निवासी; विसर्जनाः—विसर्जनगण; कुकुराः—कुकुरगण; कुन्तयः—कुन्तिगण; च—भी; मिथः—परस्पर; तु—तथा; जघ्नुः—मार डाला; सु-विसृज्य—पूरी तरह त्याग कर; सौहृदम्—अपनी मित्रता।

विविध यदुवंशियों—दाशार्हों, वृष्णियों तथा अंधकों, भोजों, सात्वतों, मधुओं तथा अर्बुदों, माथुरों, शूरसेनों, विसर्जनों, कुकुरों तथा कुन्तियों ने अपनी अपनी सहज मित्रता त्याग कर एक-दूसरे को मार-काट डाला।

पुत्रा अयुध्यन्पितृभिर्भ्रातृभिश्च
स्वस्त्रीयदौहित्रपितृव्यमातुलैः ।

मित्राणि मित्रैः सुहृदः सुहृद्भि-
र्ज्ञातींस्त्वहन्ज्ञातय एव मूढाः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

पुत्राः—पुत्र; अयुध्यन्—लड़े; पितृभिः—अपने पिताओं से; भ्रातृभिः—भाइयों से; च—तथा; स्वस्त्रीय—बहनों के लड़कों से; दौहित्र—पुत्रियों के पुत्र; पितृव्य—चाचाओं; मातुलैः—तथा मामाओं से; मित्राणि—मित्र; मित्रैः—मित्रों से; सुहृदः—शुद्ध चिन्तक; सुहृद्भिः—शुभचिन्तकों से; ज्ञातीन्—निकट सम्बन्धी; तु—तथा; अहन्—मार डाला; ज्ञातयः—निकट सम्बन्धी; एव—निस्सन्देह; मूढाः—विमोहित।

इस तरह मोहग्रस्त हुए पुत्र अपने पिताओं से, भाई भाइयों से, भाँजे अपने मामाओं से, भतीजे अपने चाचों से और नाती अपने पितामहों से लड़ने लगे। मित्र अपने मित्रों से तथा शुभचिन्तक अपने शुभचिन्तकों से भिड़ गये। इस तरह घनिष्ठ मित्रों तथा सम्बन्धियों ने एक-दूसरे को मार डाला।

शरेषु हीयमाएषु भज्यमानेसु धन्वसु ।
शस्त्रेषु क्षीयमानेषु मुष्टिभिर्जह्रुरेरकाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

शरेषु—बाणों; हीयमानेषु—समाप्त हुए; भज्यमानेषु—नष्ट-भ्रष्ट हुए; धन्वसु—धनुष; शस्त्रेषु—प्रक्षेप्यास्त्र; क्षीयमानेषु—समाप्त हुए; मुष्टिभिः—अपनी मुट्ठियों से; जह्रुः—पकड़ लिया; एरकाः—बेंत के तने।

जब उनके सारे धनुष टूट गये और उनके बाण तथा अन्य प्रक्षेपास्त्र समाप्त हो गये तो उन्होंने अपने खाली हाथों में बेंत के लम्बे लम्बे डंठल ले लिये।

ता वज्रकल्पा ह्यभवन्परिघा मुष्टिना भृताः ।
जघ्नुर्द्विषस्तैः कृष्णेन वार्यमाणास्तु तं च ते ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ताः—वे डंठल; वज्र-कल्पाः—वज्र की तरह कठोर; हि—निस्सन्देह; अभवन्—हो गये; परिघाः—लोहे का डंडा; मुष्टिना—अपनी मूट्ठियों में; भृताः—पकड़े; जघ्नुः—आक्रमण किया; द्विषः—उनके शत्रु; तैः—इनसे; कृष्णेन—भगवान् कृष्ण द्वारा; वार्यमाणाः—रोके जाने पर; तु—यद्यपि; तम्—उसको; च—भी; ते—वे।

ज्योंही उन लोगों ने इन बेंत के डंठलों को अपनी मुट्ठियों में धारण किया, वे वज्र की तरह कठोर लोहे के डंडों में बदल गये। योद्धा इन हथियारों से एक-दूसरे पर बारम्बार आक्रमण करने लगे और जब कृष्ण ने उन्हें रोकने का प्रयास किया, तो उन्होंने उन पर भी आक्रमण कर दिया।

प्रत्यनीकं मन्यमाना बलभद्रं च मोहिताः ।

हन्तुं कृतधियो राजन्नापन्ना आततायिनः ॥ २२॥

शब्दार्थ

प्रत्यनीकम्—शत्रु; मन्यमानाः—सोचते हुए; बलभद्रम्—बलराम को; च—भी; मोहिताः—मोहित; हन्तुम्—मारने के लिए; कृत-धियः—संकल्प करके; राजन्—हे राजा परीक्षित; आपन्नाः—वे उन पर टूट पड़े; आततायिनः—हथियार भाँजते।

हे राजा, उन सबों ने विमोहित अवस्था में बलराम को भी अपना शत्रु समझ लिया। वे हाथों में हथियार लिए उन्हें मार डालने के इरादे से उनकी ओर दौ।

अथ तावपि सङ्क्रुद्धावुद्यम्य कुरुनन्दन ।
एरकामुष्टिपरिघौ चरन्तौ जघ्नतुर्युधि ॥ २३॥

शब्दार्थ

अथ—तब; तौ—दोनों (कृष्ण तथा बलराम); अपि—भी; सङ्क्रुद्धौ—अत्यधिक क्रोध में; उद्यम्य—लड़ाई में हिस्सा लेते हुए; कुरु-नन्दन—हे कुरुओं के प्रिय पुत्र; एरका-मुष्टि—अपनी मुट्ठियों में बेंत; परिघौ—मुद्गर की तरह इस्तेमाल करते; चरन्तौ—इधर-उधर घूमते हुए; जघ्नतुः—मारने लगे; युधि—युद्धक्षेत्र में।

हे कुरु-पुत्र, तब कृष्ण तथा बलराम अत्यधिक कुपित हो उठे। बेंत के डंठलों को उठाते हुए वे युद्धभूमि के भीतर इधर-उधर घूमने लगे और इन मुद्गरों से उन्हें मारने लगे।

ब्रह्मशापोपसृष्टानां कृष्णमायावृतात्मनाम् ।
स्पर्धाक्रोधः क्षयं निन्ये वैणवोऽग्निर्यथा वनम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-शाप—ब्राह्मणों के शाप से; उपसृष्टानाम्—पराजितों के; कृष्ण-माया—भगवान् कृष्ण की मायाशक्ति से; आवृत—आच्छन्न; आत्मनाम्—उनके जिनके मन; स्पर्धा—स्पर्धा से उत्पन्न; क्रोधः—क्रोध; क्षयम्—विनाश को; निन्ये—प्राप्त किया; वैणवः—बाँस के वृक्षों की; अग्निः—आग; यथा—जिस तरह; वनम्—जंगल को।

ब्राह्मणों के शाप से पराजित तथा भगवान् कृष्ण की माया से विमोहित, वे योद्धा भीषण क्रोध से, अब निज संहार को प्राप्त हुए, जिस तरह बाँस के कुंज में लगी आग सारे जंगल को नष्ट कर देती है।

एवं नष्टेषु सर्वेषु कुलेषु स्वेषु केशवः ।
अवतारितो भुवो भार इति मेनेऽवशेषितः ॥ २५॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार से; नष्टेषु—नष्ट हुए; सर्वेषु—समस्त; कुलेषु—कुल के; स्वेषु—अपने; केशवः—कृष्ण ने; अवतारितः—कम किया; भुवः—पृथ्वी का; भारः—बोझ; इति—इस प्रकार; मेने—सोचा; अवशेषितः—शेष।

जब उनके कुल के सारे सदस्य इस प्रकार विनष्ट हो गये, तो कृष्ण ने अपने आप सोचा कि चलो धरती का बोझ तो हटा।

रामः समुद्रवेलायां योगमास्थाय पौरुषम् ।
तत्याज लोकं मानुष्यं संयोज्यात्मानमात्मनि ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

रामः—बलराम; समुद्र—समुद्र के; वेलायाम्—तट पर; योगम्—ध्यान; आस्थाय—अपनाकर; पौरुषम्—भगवान् पर; तत्याज—त्याग दिया; लोकम्—संसार को; मानुष्यम्—मनुष्य का; संयोज्य—लीन होकर; आत्मानम्—अपने को; आत्मनि—अपने में।

तब बलरामजी समुद्र के तट पर बैठ गये और उन्होंने भगवान् के ध्यान में अपने को स्थिर कर लिया। अपने को अपने में ही लीन करते हुए उन्होंने यह मर्त्य संसार छोड़ दिया।

रामनिर्याणमालोक्य भगवान्देवकीसुतः ।
निषसाद धरोपस्थे तुष्णीमासाद्य पिप्पलम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

राम-निर्याणम्—बलराम का गमन; आलोक्य—देख कर; भगवान्—भगवान्; देवकी-सुतः—देवकी-पुत्र; निषसाद—बैठ गये; धरा-उपस्थे—पृथ्वी की गोद में; तुष्णीम्—मौन होकर; आसाद्य—पाकर; पिप्पलम्—पीपल का वृक्ष।

बलराम के प्रस्थान को देख कर देवकी-पुत्र भगवान् कृष्ण पास के पीपल के वृक्ष के नीचे पृथ्वी पर चुपचाप बैठ गये।

बिभ्रच्चतुर्भुजं रूपं भ्रायिष्णु प्रभया स्वया ।
दिशो वितिमिराः कुर्वन्विधूम इव पावकः ॥ २८ ॥
श्रीवत्साङ्कं घनश्यामं तप्तहाटकवर्चसम् ।
कौशेयाम्बरयुग्मेन परिवीतं सुमङ्गलम् ॥ २९ ॥
सुन्दरस्मितवक्त्राब्जं नीलकुन्तलमण्डितम् ।
पुण्डरीकाभिरामाक्षं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ ३० ॥
कटिसूत्रब्रह्मसूत्रकिरीटकटकाङ्गदैः ।
हारनूपुरमुद्राभिः कौस्तुभेन विराजितम् ॥ ३१ ॥
वनमालापरीताङ्गं मूर्तिमद्भिर्निजायुधैः ।
कृत्वोरौ दक्षिणे पादमासीनं पङ्कजारुणम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

बिभ्रत्—धारण किये; चतुः-भुजम्—चारों भुजाओं से; रूपम्—अपना रूप; भ्राजिष्णु—चमकीला; प्रभया—तेज से; स्वया—अपने; दिशः—सारी दिशाएँ; वितिमिराः—अंधकार से रहित; कुर्वन्—करते हुए; विधूमः—धूम्र से रहित; इव—सदृश; पावकः—अग्नि; श्रीवत्स-अङ्कम्—श्रीवत्स चिह्न समेत; घन-श्यामम्—बादलों की तरह श्याम; तप्त—पिघले; हाटक—सोने के समान; वर्चसम्—उनका चमचमाता तेज; कौशेय—रेशमी; अम्बर—वस्त्र की; युग्मेन—जोड़ी से; परिवीतम्—पहने हुए; सु-मङ्गलम्—सर्वमंगलकारी; सुन्दर—सुन्दर; स्मित—हँसी से; वक्त्र—उनका मुखमंडल; अब्जम्—कमल के समान; नील—नीला; कुन्तल—घुंघराले बालों से; मण्डितम्—(उनके सिर) अलंकृत; पुण्डरीक—कमल; अभिराम—सुहावने; अक्षम्—नेत्र;

स्फुरत्—हिलते हुए; मकर—मछली के आकार की; कुण्डलम्—उनके कान की बालियाँ; कति-सूत्र—करधनी से; ब्रह्म-सूत्र—जनेऊ; किरीट—मुकुट; कटक—कंगन; अङ्गदैः—तथा बाजूबंद से; हार—गले का हार; नूपुर—पायल; मुद्राभिः—तथा राजसी प्रतीकों से; कौस्तुभेन—कौस्तुभ मणि से; विराजितम्—सुशोभित; वन-माला—फूल की माला से; परीत—घिरे; अङ्गम्—उनके अंग; मूर्ति-मद्भिः—साक्षात्; निज—अपने; आयुधैः—तथा हथियारों से; कृत्वा—रख कर; उरौ—जाँघ पर; दक्षिणे—दाहिनी; पादम्—पाँव; आसीनम्—बैठे हुए; पङ्कज—कमल की तरह; अरुणम्—लाल-लाल।

भगवान् अपना अत्यन्त तेजोमय चतुर्भुजी रूप प्रकट कर रहे थे जिसकी प्रभा धूम्रविहीन अग्नि की तरह सारी दिशाओं के अंधकार को दूर करने वाली थी। उनका वर्ण गहरे नीले बादल के रंग का था और उनका ऐश्वर्य पिघले सोने के रंग जैसा था तथा उनका सर्वमंगल स्वरूप श्रीवत्स का चिन्ह धारण किये था। उनके कमल जैसे मुखमंडल पर सुन्दर हँसी थी, उनके सिर पर श्याम रंग के बालों का गुच्छा सुशोभित था, उनकी कमल जैसी आँखें अत्यन्त आकर्षक थीं और उनके मकराकृति जैसे कुंडल चमक रहे थे। वे रेशमी वस्त्र की जोड़ी, अलंकृत पेटी, जनेऊ, कंगन तथा बाजूबन्द पहने थे। वे मुकुट, कौस्तुभ मणि, गले का हार, पायल तथा अन्य राजसी चिन्ह धारण किये थे। उनके शरीर में फूलों की मालाएँ पड़ी थीं और उनके आयुध अपने साकार रूप में थे। वे बैठे हुए थे और उनका बायाँ पैर, जिसका तलवा लाल कमल जैसा था, उनकी दाहिनी जाँघ पर रखा था।

मुषलावशेषायःखण्डकृतेषुर्लुब्धको जरा ।
मृगास्याकारं तच्चरणं विव्याध मृगशङ्कया ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

मुषल—लोहे की गदा से; अवशेष—बचा हुआ; अयः—लोहे का; खण्ड—टुकड़े से; कृत—बनाया गया; इषुः—तीर; लुब्धकः—शिकारी; जरा—जरा नामक; मृग—मृग का; आस्य—मुँह का; आकारम्—आकार वाला; तत्—उसका; चरणम्—पैर; विव्याध—बेध डाला; मृग-शङ्कया—मृग समझ कर।

तभी जरा नामक शिकारी जो उस स्थान पर आया था, भगवान् के पाँव को मृग का मुख समझ बैठा। यह सोच कर कि उसे उसका शिकार मिल गया है, जरा ने उस पाँव को अपने उस तीर से बेध डाला जिसे उसने साम्ब की गदा के बचे हुए लोहे के टुकड़े से बनाया था।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार यह कथन कि, ''बाण ने भगवान् के पाँव को बेध दिया'' शिकारी के दृष्टिकोण को व्यक्त करता है, जिसने सोचा कि उसने मृग को मार दिया है। वास्तव में उस बाण ने भगवान् के चरणकमल का स्पर्श मात्र ही किया था, बेधा नहीं था क्योंकि भगवान् के अंग सच्चिदानन्द रूप हैं। अन्यथा, अगले श्लोक के वर्णन में (कि शिकारी डर गया और

भगवान् के चरणकमलों में सिर रख कर गिर पड़ा) शुकदेव गोस्वामी यह बतलाये होते कि बहेलिये ने भगवान् के चरण से अपना तीर निकाला।

चतुर्भुजं तं पुरुषं दृष्ट्वा स कृतकिल्बिषः ।
भीतः पपात शिरसा पादयोरसुरद्विषः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

चतुः-भुजम्—चार भुजाओं वाले; तम्—उस; पुरुषम्—पुरुष को; दृष्ट्वा—देख कर; सः—वह; कृत-किल्बिषः—अपराध करके; भीतः—डरा हुआ; पपात—गिर पड़ा; शिरसा—सिर के बल; पादयोः—चरणों पर; असुर-द्विषः—असुरों के शत्रु, भगवान् के।

तत्पश्चात् उस चतुर्भुज पुरुष को देख कर, शिकारी अपने द्वारा किये गये अपराध से भयभीत हो उठा और वह असुरों के शत्रु के चरणों पर अपना सिर रख कर जमीन पर गिर पड़ा।

अजानता कृतमिदं पापेन मधुसूदन ।
क्षन्तुमर्हसि पापस्य उत्तमःश्लोक मेऽनघ ॥ ३५॥

शब्दार्थ

अजानता—अनजाने में; कृतम्—किया गया; इदम्—यह; पापेन—पापी पुरुष से; मधुसूदन—हे मधुसूदन; क्षन्तुम् अर्हसि—क्षमा कर दें; पापस्य—पापी व्यक्ति का; उत्तमः-श्लोक—हे यशस्वी प्रभु; मे—मेरा; अनघ—हे पापरहित।

जरा ने कहा : हे मधुसूदन, मैं अत्यन्त पापी व्यक्ति हूँ। मैंने अनजाने में ही यह कृत्य (पाप) किया है। हे शुद्धतम प्रभु, हे उत्तमश्लोक, कृपा करके इस पापी को क्षमा कर दें।

यस्यानुस्मरणं नृणामज्ञानध्वान्तनाशनम् ।
वदन्ति तस्य ते विष्णो मयासाधु कृतं प्रभो ॥ ३६॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; अनुस्मरणम्—निरन्तर स्मृति; नृणाम्—सारे मनुष्यों के; अज्ञान—अज्ञान का; ध्वान्त—अंधकार; नाशनम्—नाश करने वाले; वदन्ति—कहते हैं; तस्य—उनकी ओर; ते—तुम्हारा; विष्णो—हे भगवान् विष्णु; मया—मेरे द्वारा; असाधु—गलती से; कृतम्—किया हुआ; प्रभो—हे प्रभु।

हे भगवान् विष्णु, विद्वान लोग कहते हैं कि आपका निरन्तर स्मरण करने से किसी के भी अज्ञान का अंधकार नष्ट हो जाता है। हे प्रभु, मैंने आपका अनिष्ट किया है।

तन्माशु जहि वैकुण्ठ पाप्मानं मृगलुब्धकम् ।
यथा पुनरहं त्वेवं न कुर्यां सदतिक्रमम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; मा—मुझे; आशु—तुरन्त; जहि—मार डालो; वैकुण्ठ—हे वैकुण्ठ-पति; पाप्मानम्—पापी; मृग-लुब्धकम्—बहेलिये को; यथा—जिस तरह; पुनः—फिर; अहम्—मैं; तु—निस्संदेह; एवम्—इस प्रकार; न कुर्याम्—न कर सकूँ; सत्—सत्पुरुषों के विरुद्ध; अतिक्रमम्—अतिक्रमण।

अतएव हे वैकुण्ठपति, आप इस पापी पशु-शिकारी को तुरन्त मार डालें जिससे वह सत्पुरुषों के साथ पुनः ऐसा अपराध न कर सके।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि यदुवंश का बंधुघाती युद्ध तथा भगवान् कृष्ण पर शिकारी का आक्रमण भगवान् की लीला-इच्छाओं को पूरा करने के उद्देश्य से भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के कार्यकलाप हैं। प्रमाण के अनुसार, यदुवंशियों में झगड़ा सूर्यास्त के समय शुरू हुआ। तब भगवान् सरस्वती नदी के किनारे बैठ गये। कहा जाता है कि तभी एक शिकारी मृग मारने के इरादे से वहाँ आया, किन्तु जहाँ ५६०० लाख योद्धा तुमुल युद्ध में मारे गये हों और खून से लथपथ शव पड़े हों वहाँ एक शिकारी मृग मारने के प्रयास में किस तरह पहुँच सकता है। चूँकि मृग स्वभाव से भीरु होता है, अतएव ऐसे विशाल युद्धक्षेत्र में मृग कैसे आ सकता है और किस तरह एक साधारण शिकारी ऐसे नर-संहार के बीच अपना कार्य कर सकता है? इसलिए यदुवंश का लोप तथा कृष्ण का इस धरा से अन्तर्धान होना ऐतिहासिक घटनाएँ नहीं हैं, प्रत्युत वे पृथ्वी पर अपनी प्रकट लीलाओं को समाप्त करने के उद्देश्य से भगवान् की अंतरंगा शक्ति का प्रदर्शन थीं।

यस्यात्मयोगरचितं न विदुर्विरिञ्चो
रुद्रादयोऽस्य तनयाः पतयो गिरां ये ।
त्वन्मायया पिहितदृष्टय एतदञ्जः
किं तस्य ते वयमसद्गतयो गृणीमः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; आत्म-योग—निजी योगशक्ति से; रचितम्—उत्पन्न; न विदः—नहीं समझते; विरिञ्चः—ब्रह्मा; रुद्र-आदयः—शिव तथा अन्य; अस्य—उसके; तनयाः—पुत्र; पतयः—स्वामी; गिराम्—वेद के शब्दों के; ये—जो; त्वत्-मायया—आपकी माया द्वारा; पिहित—ढके, आवृत; दृष्टयः—जिसकी दृष्टि; एतत्—इसका; अञ्जः—सीधे; किम्—क्या; तस्य—उसका; ते—तुम्हारा; वयम्—हम; असत्—अशुद्ध; गतयः—जिसका जन्म; गृणीमः—कहेगा।

न तो ब्रह्मा, न ही रुद्र आदि उनके पुत्र, न ही वैदिक मंत्रों के स्वामी कोई महर्षि ही, आपकी योगशक्ति के कार्य को समझ सकते हैं। चूँकि आपकी योगशक्ति ने उनकी दृष्टि को ढक रखा है, इसलिए आपकी योगशक्ति जिस तरह कार्य करती है उसके बारे में वे अनजान बने रहते हैं। इसलिए निम्न कुल में जन्मा व्यक्ति मैं किस तरह इसके विषय में कुछ कह सकता हूँ?

श्रीभगवानुवाच
मा भैर्जरे त्वमुत्तिष्ठ काम एष कृतो हि मे ।
याहि त्वं मदनुज्ञातः स्वर्गं सुकृतिनां पदम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; मा भैः—मत डरो; जरे—हे जरा; त्वम्—तुम; उत्तिष्ठ—उठो; कामः—इच्छा; एषः—यह; कृतः—किया गया; हि—निस्सन्देह; मे—मेरा; याहि—जाओ; त्वम्—तुम; मत्-अनुज्ञातः—मेरी अनुमति से; स्वर्गम्—स्वर्गलोक को; सु-कृतिनाम्—पवित्रों का; पदम्—धाम।

भगवान् ने कहा : हे जरा, तुम मत डरो। उठो। जो कुछ हुआ है वास्तव में वह मेरी अपनी इच्छा है। मेरी अनुमति से तुम अब पवित्र लोगों के धाम, स्वर्गलोक, जाओ।

इत्यादिष्टो भगवता कृष्णेनेच्छाशरीरिणा ।
त्रिः परिक्रम्य तं नत्वा विमानेन दिवं ययौ ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; आदिष्टः—आदेश दिया गया; भगवता—भगवान् द्वारा; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; इच्छा-शरीरिणा—जिसका दिव्य शरीर केवल उनकी इच्छा से प्रकट होता है; त्रिः—तीन बार; परिक्रम्य—परिक्रमा करके; तम्—उनको; नत्वा—शीश झुकाकर; विमानेन—स्वर्ग के वायुयान द्वारा; दिवम्—आकाश में; ययौ—चला गया।

अपनी इच्छा से अपना दिव्य शरीर धारण करने वाले भगवान् कृष्ण का आदेश पाकर उस शिकारी ने भगवान् की तीन बार परिक्रमा की और उन्हें शीश झुकाया। तत्पश्चात् उस शिकारी ने उस विमान से प्रस्थान किया जो उसे स्वर्ग ले जाने के लिए उसी समय प्रकट हुआ था।

दारुकः कृष्णपदवीमन्विच्छन्नधिगम्य ताम् ।
वायुं तुलसिकामोदमाघ्रायाभिमुखं ययौ ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

दारुकः—कृष्ण का सारथी दारुक; कृष्ण—कृष्ण का; पदवीम् अन्विच्छन्—ढूँढते हुए; अधिगम्य—पहुँच कर; ताम्—उसे; वायुम्—वायु; तुलसिका-आमोदम्—तुलसी के फूलों की गंध से सुगन्धित; आघ्राय—सूँघ कर; अभिमुखम्—उनकी ओर; ययौ—चला गया।

उसी समय दारुक अपने स्वामी कृष्ण को ढूँढ रहा था। ज्योंही वह उस स्थान के पास पहुँचा जहाँ भगवान् बैठे थे, उसने मन्द वायु में तुलसी के फूलों की गन्ध का अनुभव किया और उसी दिशा में बढ़ता गया।

तं तत्र तिग्मद्युभिरायुधैर्वृतं
ह्यश्वत्थमूले कृतकेतनं पतिम् ।

स्नेहप्लुतात्मा निपपात पादयो
रथादवप्लुत्य सबाष्पलोचनः ॥ ४२॥

शब्दार्थ

तम्—उनको; तत्र—वहाँ; तिग्म—तेजस्वी; द्युभिः—तेज से; आयुधैः—उनके हथियारों से; वृतम्—घिरा; हि—निस्सन्देह; अश्वत्थ—बरगद के वृक्ष के; मूले—नीचे; कृत-केतनम्—विश्राम करते; पतिम्—अपने स्वामी को; स्नेह—स्नेह से; प्लुत—अभिभूत; आत्मा—उसका हृदय; निपपात—वह गिर पड़ा; पादयोः—उनके चरणों पर; रथात्—रथ से; अवप्लुत्य—नीचे उतरते हुए; स-बाष्प—आँसुओं से पूरित; लोचनः—आँखें।

भगवान् कृष्ण को बरगद के वृक्ष के मूल पर आराम करते और उनके चमचमाते हथियारों से घिरा हुआ देख कर, दारुक अपने हृदय में सँजोये स्नेह को सँभाल न सका। वह ज्योंही रथ से नीचे उतरा उसकी आँखों में आँसू भर आये और वह भगवान् के चरणों पर गिर पड़ा।

अपश्यतस्त्वच्चरणाम्बुजं प्रभो
दृष्टिः प्रणष्टा तमसि प्रविष्टा ।
दिशो न जाने न लभे च शान्तिं
यथा निशायामुडुपे प्रणष्टे ॥ ४३॥

शब्दार्थ

अपश्यतः—न देख रहा, मेरा; त्वत्—तुम्हारे; चरण-अम्बुजम्—चरणकमल; प्रभो—हे स्वामी; दृष्टिः—आँख की ज्योति; प्रणष्टा—विनष्ट हो चुकी है; तमसि—अंधकार में; प्रविष्टा—प्रवेश किया हुआ; दिशः—दिशाएँ; न जाने—नहीं जानता हूँ; न लभे—नहीं प्राप्त कर सकता हूँ; च—तथा; शान्तिम्—शान्ति; यथा—जिस तरह; निशायाम्—रात में; उडुपे—चन्द्रमा के; प्रणष्टे—नवीन हो जाने पर।

दारुक ने कहा : जिस तरह चन्द्रविहीन रात में लोग अंधकार में धँस जाते हैं और अपना रास्ता नहीं ढूँढ पाते हे प्रभु, अब मुझे आपके चरणकमल नहीं दिखते, मैं अपनी दृष्टि खो चुका हूँ और अंधकार में अंधे की तरह घूम रहा हूँ। न तो मैं अपनी दिशा बता सकता हूँ न कहीं कोई शान्ति पा सकता हूँ।

इति ब्रुवति सूते वै रथो गरुडलाञ्छनः ।
खमुत्पपात राजेन्द्र साश्वध्वज उदीक्षतः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ब्रुवति—बोलते-बोलते; सूते—सारथी के; वै—निस्सन्देह; रथः—रथ; गरुड-लाञ्छनः—गरुड़ पताका से अंकित; खम्—आकाश में; उत्पपात—उठा; राज-इन्द्र—हे राजाओं के राजा (परीक्षित); स-अश्व—घोड़ों समेत; ध्वजः—तथा झंडा; उदीक्षतः—ऊपर देखते देखते।

[शुकदेव गोस्वामी ने कहा] हे राजाओं में प्रधान, अभी वह सारथी बातें कर ही रहा था कि उसकी आँखों के सामने भगवान् का रथ अपने घोड़ों तथा गरुड़ से अंकित झंडे समेत ऊपर उठ

गया।

तमन्वगच्छन्दिव्यानि विष्णुप्रहरणानि च ।
तेनातिविस्मितात्मानं सूतमाह जनार्दनः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस रथ को; अन्वगच्छन्—उसका पीछा किया; दिव्यानि—दैवी; विष्णु—भगवान् विष्णु का; प्रहरणानि—हथियार; च—तथा; तेन—उस घटना से; अति-विस्मित—अचम्भित; आत्मानम्—उसका मन; सूतम्—सारथी से; आह—कहा; जनार्दनः—भगवान् श्रीकृष्ण।

विष्णु के सारे दैवी हथियार ऊपर उठ गये और रथ का पीछा करने लगे। तब जनार्दन अपने उस सारथी से जो यह सब देख कर अत्यधिक चकित था, बोले।

गच्छ द्वारवतीं सूत ज्ञातीनां निधनं मिथः ।
सङ्कर्षणस्य निर्याणं बन्धुभ्यो ब्रूहि मद्दशाम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

गच्छ—जाओ; द्वारवतीम्—द्वारका को; सूत—हे सारथी; ज्ञातीनाम्—उनके सगे-सम्बन्धियों का; निधनम्—संहार; मिथः—पारस्परिक; सङ्कर्षणस्य—बलराम का; निर्याणम्—निधन; बन्धुभ्यः—हमारे परिवार वालों से; ब्रूहि—कहना; मत्-दशाम्—मेरी दशा।

हे सारथी, तुम द्वारका जाओ और हमारे परिवार वालों से कहो कि किस तरह उनके प्रियजनों ने एक-दूसरे का विनाश कर दिया है। उनसे संकर्षण के तिरोधान तथा मेरी वर्तमान दशा के विषय में भी बतलाना।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ने अपने रथ को, बिना सारथी के, किन्तु घोड़ों तथा हथियार सहित, वैकुण्ठ वापस भेज दिया क्योंकि दारुक को पृथ्वी पर कुछ अन्तिम कार्य करना शेष था।

द्वारकायां च न स्थेयं भवद्भिश्च स्वबन्धुभिः ।
मया त्यक्तां यदुपुरीं समुद्रः प्लावयिष्यति ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

द्वारकायाम्—द्वारका में; च—तथा; न स्थेयम्—नहीं रहना चाहिए; भवद्भिः—तुम; च—तथा; स्व-बन्धुभिः—अपने सम्बन्धियों सहित; मया—मेरे द्वारा; त्यक्ताम्—छोड़ी हुई; यदु-पुरीम्—यदुओं की राजधानी; समुद्रः—समुद्र; प्लावयिष्यति—डूबो देगा।

''तुम्हें तथा तुम्हारे सम्बन्धियों को यदुओं की राजधानी द्वारका में नहीं रहना चाहिए क्योंकि एक बार जब मैं उस नगरी को छोड़ चुका हूँ, तो यह समुद्र से आप्लावित हो जायेगी।''

स्वं स्वं परिग्रहं सर्वे आदाय पितरौ च नः ।
अर्जुनेनाविताः सर्व इन्द्रप्रस्थं गमिष्यथ ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

स्वम् स्वम्—अपने अपने; परिग्रहम्—परिवार; सर्वे—सभी; आदाय—लेकर; पितरौ—माता-पिता; च—तथा; नः—हमारा; अर्जुनेन—अर्जुन द्वारा; अविताः—सुरक्षित; सर्वे—सभी; इन्द्रप्रस्थम्—इन्द्रप्रस्थ को; गमिष्यथ—तुम चले जाना।

तुम सबों को अपने अपने परिवार तथा साथ में मेरे माता-पिता को लेकर अर्जुन के संरक्षण में इन्द्रप्रस्थ चले जाना चाहिए।

त्वं तु मद्धर्ममास्थाय ज्ञाननिष्ठ उपेक्षकः ।
मन्मायारचितामेतां विज्ञयोपशमं व्रज ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; तु—किन्तु; मत्-धर्मम्—मेरी भक्ति में; आस्थाय—दृढ़ रह कर; ज्ञान-निष्ठः—ज्ञान में स्थिर; उपेक्षकः—उदासीन; मत्-माया—मेरी माया से; रचिताम्—उत्पन्न; एताम्—यह; विज्ञाय—समझते हुए; उपशमम्—क्षोभ से मुक्ति; व्रज—प्राप्त करो।

हे दारुक, तुम आध्यात्मिक ज्ञान में स्थिर रहते हुए और भौतिक विचारों से अनासक्त रहते हुए, मेरी भक्ति में दृढ़ता से स्थित रहना। तुम इन लीलाओं को मेरी मायाशक्ति का प्रदर्शन समझते हुए शान्त रहते जाना।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *तु* शब्द इस बात पर बल देता है कि दारुक भगवान् कृष्ण का नित्यमुक्त संगी है, जो वैकुण्ठ से अवतरित हुआ है। इसलिए भले ही अन्य लोग भगवान् की लीलाओं से विमोहित क्यों न हो जाँय, दारुक को तो शान्त तथा आध्यात्मिक ज्ञान में स्थिर रहते जाना है।

इत्युक्तस्तं परिक्रम्य नमस्कृत्य पुनः पुनः ।
तत्पादौ शीर्ष्ण्युपाधाय दुर्मनाः प्रययौ पुरीम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्तः—कहा गया; तम्—उससे; परिक्रम्य—परिक्रमा करके; नमः-कृत्य—नमस्कार करके; पुनः पुनः—बारम्बार; तत्-पादौ—उनके चरणकमलों पर; शीर्ष्णि—उसके सिर पर; उपाधाय—रख कर; दुर्मनाः—मन में दुखी; प्रययौ—चला गया; पुरीम्—नगरी को।

इस तरह आदेश पाकर दारुक ने भगवान् की परिक्रमा की और उन्हें बारम्बार नमस्कार किया। उसने भगवान् के चरणकमल अपने सिर पर रखे और तब उदास मन से वह नगर को लौट गया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के ''यदुवंश का संहार'' नामक तीसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter इकतीस

भगवान् श्रीकृष्ण का अंतर्धान होना

इस अध्याय में सारे यदुओं समेत भगवान् का अपने धाम के लिए प्रत्यावर्तन का वर्णन हुआ है।

दारुक से यह जान कर कि श्रीकृष्ण अपने धाम प्रत्यावर्तित हो चुके हैं, वसुदेव तथा द्वारका में बचे लोग शोक से अतीव क्षुब्ध हो उठे और उन्हें पाने के लिए नगर के बाहर गये। वे सारे देवता, जो भगवान् की इच्छा का पालन करते हुए उनकी लीलाओं में सहायता पहुँचाने के लिए यदुकुल में जन्मे थे, भगवान् के पीछे पीछे अपने अपने धामों को लौट गये। भगवान् द्वारा अपने लिए जीवन की सृष्टि और फिर उसका विध्वंस किसी अभिनेता के प्रदर्शन के समान, माया का जादू मात्र है। वस्तुतः वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सृजन करते हैं और तब परमात्मा रूप में उसके भीतर प्रवेश कर जाते हैं। अन्त में, वे फिर सारे ब्रह्माण्ड को अपने भीतर समेट लेते हैं और अपने निजी यश में रहते हुए बाह्य लीलाओं से दूर स्थित रहते हैं।

यद्यपि अर्जुन कृष्ण के वियोग से अभिभूत थे, किन्तु तो भी भगवान् द्वारा दिये गये विविध आदेशों को स्मरण करके वे अपने को शान्त कर सके। तब अर्जुन ने अपने मृत सम्बन्धियों का पिण्डदान सम्पन्न किया। उस समय समुद्र ने भगवान् के निवास स्थान को छोड़ कर सारी द्वारका पुरी को जलमग्न कर लिया। जो यदुवंशी बचे थे उन्हें लेकर अर्जुन इन्द्रप्रस्थ गये जहाँ उन्होंने वज्र को सिंहासन पर बैठाया। इन घटनाओं को सुन कर युधिष्ठिर आदि पाण्डवों ने परीक्षित को राज-सिंहासन दे दिया और महाप्रयाण के लिए प्रस्थान किया।

श्रीशुक उवाच

अथ तत्रागमद्ब्रह्मा भवान्या च समं भवः ।
महेन्द्रप्रमुखा देवा मुनयः सप्रजेश्वराः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—तब; तत्र—वहाँ; आगमत्—आया; ब्रह्मा—ब्रह्मा; भवान्या—उनकी प्रेयसी भवानी; च—तथा; समम्—सहित; भवः—शिवजी; महा-इन्द्र-प्रमुखाः—इन्द्र इत्यादि; देवाः—देवतागण; मुनयः—मुनिगण; स—सहित; प्रजा-ईश्वराः—ब्रह्माण्ड की प्रजा के जनक।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : तब शिव तथा उनकी प्रेयसी, मुनियों प्रजापतियों तथा इन्द्रादि देवताओं सहित, ब्रह्माजी प्रभास आये।

पितरः सिद्धगन्धर्वा विद्याधरमहोरगाः ।
चारणा यक्षरक्षांसि किन्नराप्सरसो द्विजाः ॥ २ ॥
द्रष्टुकामा भगवतो निर्याणं परमोत्सुकाः ।
गायन्तश्च गृणन्तश्च शौरेः कर्माणि जन्म च ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

पितरः—पूर्वज; सिद्ध-गन्धर्वाः—सिद्ध तथा गन्धर्वगण; विद्याधर-महा-उरगाः—विद्याधर तथा बड़े बड़े सर्प; चारणाः—चारणजन; यक्ष-रक्षांसि—यक्ष तथा राक्षसगण; किन्नर-अप्सरसः—किन्नर तथा अप्सराएँ; द्विजाः—बड़े बड़े पक्षी; द्रष्टु-कामाः—देखने के इच्छुक; भगवतः—भगवान् का; निर्याणम्—प्रस्थान; परम-उत्सुकाः—अत्यन्त उत्सुक; गायन्तः—गाते हुए; च—तथा; गृणन्तः—प्रशंसा करते हुए; च—तथा; शौरेः—शौरि (कृष्ण) के; कर्माणि—कार्यकलाप; जन्म—जन्म; च—तथा।

भगवान् का प्रस्थान देखने के लिए चारणों, यक्षों, राक्षसों, किन्नरों, अप्सराओं तथा गरुड़ के सम्बन्धियों समेत पितरगण, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर तथा बड़े बड़े सर्प भी आये। आते समय वे सभी व्यक्ति भगवान् शौरि (कृष्ण) के जन्म तथा कार्यों का विविध प्रकार से गायन और महिमा-वर्णन कर रहे थे।

ववृषुः पुष्पवर्षाणि विमानावलिभिर्नभः ।
कुर्वन्तः सङ्कुलं राजन्भक्त्या परमया युताः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

ववृषुः—वर्षा की; पुष्प-वर्षाणि—फूलों की वर्षा; विमान—वायुयानों की; आवलिभिः—पंक्तियों द्वारा; नभः—आकाश; कुर्वन्तः—बनाते हुए; सङ्कुलम्—पूरित; राजन्—हे राजा परीक्षित; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; परमया—दिव्य; युताः—से युक्त।

हे राजा, उन्होंने आकाश में अपने अनेक विमानों की भीड़ लगाकर अत्यन्त भक्ति के साथ फूलों की वर्षा की।

भगवान्पितामहं वीक्ष्य विभूतीरात्मनो विभुः ।
संयोज्यात्मनि चात्मानं पद्मनेत्रे न्यमीलयत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; पितामहम्—ब्रह्माजी को; वीक्ष्य—देख कर; विभूतीः—शक्तिमान अंशों, देवताओं को; आत्मनः—निजी; विभुः—शक्तिमान भगवान्; संयोज्य—स्थिर करके; आत्मनि—अपने में; च—तथा; आत्मानम्—अपनी चेतना; पद्म-नेत्रे—कमलनयनों में; न्यमील्यत्—बन्द कर लिया।

अपने समक्ष ब्रह्माण्ड के पितामह ब्रह्माजी को अन्य देवताओं के साथ देख कर जो कि उनके निजी तथा शक्तिशाली अंश हैं, सर्वक्तिमान प्रभु ने अपने मन को अपने भीतर स्थिर किया और अपने कमलनेत्र बन्द कर लिये।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार, भगवान् कृष्ण पहले ही ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं की उस प्रार्थना को स्वीकार कर चुके थे जिसमें उन्होंने भगवान् से अपने सेवक देवताओं की रक्षा के लिए ब्रह्माण्ड के भीतर अवतरित होने की याचना की थी। अब ये देवता भगवान् के सामने आये और वे सभी उन्हें अपने अपने लोक ले जाना चाह रहे थे। इन असंख्य सामाजिक कार्यों से बचने के लिए भगवान् ने आँखें बन्द कर लीं मानो समाधि में लीन हों।

श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि भगवान् कृष्ण ने अपनी आँखें योगियों को यह सिखलाने के लिए बन्द कर लीं कि इस मर्त्य लोक को किस तरह अपने रहस्यवादी ऐश्वर्य से किसी आसक्ति के बिना, त्याग देना चाहिए। ब्रह्मा समेत सारे देवता भगवान् कृष्ण के योगिक अंश हैं; फिर भी भगवान् ने इस बात पर बल देने के लिए, अपनी आँखें बन्द कर लीं कि इस जगत से प्रयाण करते समय मनुष्य को अपना मन भगवान् में स्थिर कर लेना चाहिए।

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम् ।
योगधारणयाग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत्स्वकम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

लोक—सारे लोकों के प्रति; अभिरामाम्—अत्यन्त आकर्षक; स्व-तनुम्—अपने दिव्य शरीर को; धारणा—समाधि; ध्यान—तथा ध्यान का; मङ्गलम्—शुभ वस्तु; योग-धारणया—योग की समाधि से; आग्नेय्या—अग्नि पर केन्द्रित; अदग्ध्वा—बिना जलाये; धाम—धाम; आविशत्—प्रवेश किया; स्वकम्—अपने।

अपने दिव्य शरीर को जलाने के लिए योगिक आग्नेयी ध्यान का उपयोग किये बिना, भगवान् कृष्ण अपने धाम में प्रविष्ट हो गये। उनका दिव्य शरीर सारे जगतों का सर्व-आकर्षक आश्रय है और समस्त धारणा तथा ध्यान का लक्ष्य है।

तात्पर्य : जिस योगी को अपना शरीर त्यागने के लिए समय निर्धारित करने की शक्ति मिली रहती है, वह *आग्नेयी* नामक योगिक ध्यान में लग कर ज्वाला उत्पन्न करके इसे जला सकता है और अगले

जीवन में चला जाता है। इसी तरह देवतागण इस योगिक अग्नि का प्रयोग तब करते हैं जब वे वैकुण्ठ-लोक को जाते हैं। लेकिन भगवान् तो योगियों तथा देवताओं जैसे बद्धजीवों से सर्वथा भिन्न हैं क्योंकि भगवान् का नित्य आध्यात्मिक शरीर सारे जगत का स्रोत है जैसाकि *लोकाभिरामां स्वतनुम्* शब्दों से सूचित होता है। भगवान् कृष्ण का शरीर सारे ब्रह्माण्ड के लिए आनन्द का स्रोत है। *धारणाध्यानमंगलम्* शब्द यह बताता है कि जो लोग ध्यान तथा योग से आध्यात्मिक उत्थान के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, वे भगवान् के शरीर के ध्यान के माध्यम से सर्वमंगल प्राप्त करते हैं। चूँकि योगीजन मात्र कृष्ण के शरीर का चिन्तन करने से मुक्त हो जाते हैं, वह शरीर निश्चय ही भौतिक नहीं होता, इसलिए संसारी योग-अग्नि द्वारा या अन्य किसी प्रकार की अग्नि द्वारा भस्म नहीं किया जा सकता।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर हमें *श्रीमद्भागवत* में श्रीकृष्ण के ही कथन (११.१४.३७) का स्मरण कराते हैं—*वह्निमध्ये स्मरेद् रूपं ममैतद्ध्यानमंगलम्*—अग्नि के भीतर मेरे स्वरूप का ध्यान करना चाहिए जो समस्त ध्यान का शुभ लक्ष्य है। चूँकि भगवान् का दिव्य रूप अग्नि के भीतर स्थिति-तत्त्व के रूप में उपस्थित रहता है, तो भला अग्नि उस रूप को कैसे प्रभावित कर सकती है? इस प्रकार यद्यपि भगवान् योग-समाधि में प्रविष्ट करते प्रतीत हो रहे थे, किन्तु *अदग्ध्वा* शब्द सूचित करता है कि भगवान् का शरीर विशुद्धरूप से आध्यात्मिक होने के कारण जलने की औपचारिकता से बचता हुआ सीधे वैकुण्ठ धाम में प्रविष्ट हुआ। श्रील जीव गोस्वामी ने भी इस श्लोक की टीका करते हुए इस बात की विशद व्याख्या की है।

दिवि दुन्दुभयो नेदुः पेतुः सुमनसश्च खात् ।
सत्यं धर्मो धृतिर्भूमेः कीर्तिः श्रीश्चानु तं ययुः ॥७॥

शब्दार्थ

दिवि—स्वर्ग में; दुन्दुभयः—दुन्दुभियाँ; नेदुः—बजने लगीं; पेतुः—गिरे; सुमनसः—फूल; च—तथा; खात्—आकाश से; सत्यम्—सत्य; धर्मः—धर्म; धृतिः—आज्ञाकारिता; भूमेः—पृथ्वी से; कीर्तिः—यश; श्रीः—सौन्दर्य; च—तथा; अनु—उनके साथ साथ; तम्—उनके पास; ययुः—गये।

ज्योंही भगवान् श्रीकृष्ण ने इस पृथ्वी को छोड़ा, त्योंही सत्य, धर्म, धृति, कीर्ति तथा सौन्दर्य उनके पीछे हो लिये। स्वर्ग में दुन्दुभियाँ बजने लगीं और आकाश से फूलों की वृष्टि होने लगी।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार सारे देवता हर्षित थे क्योंकि हर एक यही सोच रहा था

कि कृष्ण उसके लोक में आ रहे हैं।

देवादयो ब्रह्ममुख्या न विशन्तं स्वधामनि ।
अविज्ञातगतिं कृष्णं ददृशुश्चातिविस्मिताः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

देव-आदयः—देवता इत्यादि; ब्रह्म-मुख्याः—ब्रह्मा इत्यादि; न—नहीं; विशन्तम्—प्रवेश करते हुए; स्व-धामनि—अपने धाम में; अविज्ञात—अज्ञात; गतिम्—उनकी गतिविधियाँ; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण को; ददृशुः—देखा; च—तथा; अति-विस्मिताः—अत्यन्त चकित।

ब्रह्मा इत्यादि देवता तथा उच्चतर प्राणी भगवान् कृष्ण को उनके धाम में प्रवेश करते हुए नहीं देख सके क्योंकि भगवान् ने अपनी गतिविधियों को प्रकट नहीं होने दिया। किन्तु कुछेक ने उनको देख लिया और वे अत्यधिक चकित थे।

सौदामन्या यथाक्लाशे यान्त्या हित्वाभ्रमण्डलम् ।
गतिर्न लक्ष्यते मर्त्यैस्तथा कृष्णस्य दैवतैः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सौदामन्याः—बिजली का; यथा—जिस तरह; आकाशे—आकाश में; यान्त्याः—यात्रा कर रही; हित्वा—त्याग कर; अभ्र-मण्डलम्—बादल; गतिः—चाल; न लक्ष्यते—निश्चित नहीं की जा सकती; मर्त्यैः—मर्त्यों द्वारा; तथा—इसी तरह; कृष्णस्य—कृष्ण का; दैवतैः—देवताओं द्वारा।

जिस तरह सामान्य लोग बादलों को त्यागती बिजली के मार्ग को निश्चित नहीं कर सकते, उसी तरह देवतागण अपने धाम लौटते हुए भगवान् कृष्ण की गतिविधियों का पता नहीं लगा पाये।

तात्पर्य : बिजली की अचानक गतियाँ देवता तो देख सकते हैं किन्तु मनुष्य नहीं। इसी तरह भगवान् कृष्ण के आकस्मिक प्रयाण को वैकुण्ठवासी कृष्ण के संगी तो समझ पाये, किन्तु देवता नहीं।

ब्रह्मरुद्रादयस्ते तु दृष्ट्वा योगगतिं हरेः ।
विस्मितास्तां प्रशंसन्तः स्वं स्वं लोकं ययुस्तदा ॥ १० ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-रुद्र-आदयः—ब्रह्मा, रुद्र तथा अन्य; ते—वे; तु—लेकिन; दृष्ट्वा—देख कर; योग-गतिम्—योगशक्ति; हरेः—भगवान् कृष्ण की; विस्मिताः—चकित; ताम्—उस शक्ति को; प्रशंसन्तः—यशोगान करते हुए; स्वम् स्वम्—अपने अपने; लोकम्—जगत को; ययुः—चले गये; तदा—तब।

किन्तु कुछ देवतागण—विशेष रूप से ब्रह्मा तथा शिवजी—यह निश्चित कर सके कि किस तरह भगवान् की योगशक्ति कार्य कर रही है और इस तरह वे चकित थे। सारे देवताओं ने

भगवान् की योगशक्ति की प्रशंसा की और तब वे अपने अपने लोक को लौट गये।

तात्पर्य : यद्यपि इस ब्रह्माण्ड में एक तरह से सारे देवता सर्वज्ञ हैं किन्तु वे भगवान् की योगशक्ति की गतिविधियों को समझ नहीं पाये। इसीलिए वे चकित थे।

राजन्परस्य तनुभृज्जननाप्ययेहा
मायाविडम्बनमवेहि यथा नटस्य ।
सृष्ट्वात्मनेदमनुविश्य विहृत्य चान्ते
संहृत्य चात्ममहिनोपरतः स आस्ते ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

राजन्—हे राजा परीक्षित; परस्य—ब्रह्म का; तनु-भृत्—देहधारी जीवों के सदृश; जनन—जन्म; अप्यय—तथा अन्तर्धान; ईहाः—कर्म; माया—उनकी मायाशक्ति का; विडम्बनम्—झूठा प्रदर्शन; अवेहि—समझो; यथा—जसि तरह; नटस्य—अभिनेता का; सृष्ट्वा—उत्पन्न करके; आत्मना—अपने द्वारा; इदम्—इस ब्रह्माण्ड को; अनुविश्य—प्रवेश करके; विहृत्य—अभिनय करते हुए; च—तथा; अन्ते—अन्त में; संहृत्य—समाप्त करते हुए; च—तथा; आत्म-महिना—अपने यश से; उपरतः—समाप्त करके; सः—वह; आस्ते—रहते आते हैं।.

हे राजा, तुम जान लो कि भगवान् का प्राकट्य तथा उनका अन्तर्धान होना, जो देहधारी बद्धजीवों के ही सदृश होते हैं, वास्तव में उनकी मायाशक्ति द्वारा अभिनीत खेल हैं जैसा कि कोई अभिनेता करता है। वे इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि करके उसमें प्रवेश करते हैं, कुछ काल तकउसके भीतर खिलवाड़ करते हैं और अन्त में समेट लेते हैं। तब भगवान् विराट जगत के सारे कार्यों को बन्द करके, अपनी दिव्य *महिमा* में स्थित रहते जाते हैं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार यदुवंश के सदस्यों में हुई तथाकथित लड़ाई भगवान् की लीला-शक्ति का प्रदर्शन थी क्योंकि कृष्ण के निजी संगी कभी भी बद्धजीवों की तरह सामान्य जन्म तथा मृत्यु के चक्कर में नहीं पड़ते। ऐसा होने से, स्वयं भगवान् जन्म-मृत्यु से परे हैं जैसाकि इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है।

यहाँ पर *नटस्य* शब्द महत्त्वपूर्ण है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर किसी जादूगर की निम्नलिखित कहानी बतलाते हैं, जो मरने की कलाबाजी दिखलाता है।

एक जादूगर किसी राजा के द्वारा रखाये गये बहुमूल्य वस्त्रों, रत्नों, सिक्कों इत्यादि के ढेर के पास राजा के सामने जाता है। रत्नजटित हार अपने हाथ में लेते हुए जादूगर राजा से कहता है, "अब मैं इस हार को ले रहा हूँ और अब आप इसे नहीं ले सकते" और वह उस हार को गायब कर देता है। "अब

मैं यह सोने का सिक्का उठा रहा हूँ; आप इसे नहीं ले सकते'' यह कह कर वह सोने के सिक्के को गायब कर देता है। इसी तरह राजा को चेतावनी देते हुए वह राजा के सात हजार घोड़ों को गायब कर देता है। इसके बाद वह जादूगर ऐसा मोहजाल फैलाता है कि राजा के लड़के, नाती-पोते, भाई तथा अन्य परिवार वाले एक-दूसरे पर हमला करते हैं और इस उग्र लड़ाई में प्रायः सभी मृत हो जाते हैं। राजा उस जादूगर को बोलते देखता है और उस विशाल सभाभवन में बैठे वह अपने सामने इन घटनाओं को घटित होते देखता है।

''तत्पश्चात् वह जादूगर कहता है : हे राजन्! मैं अब ज्यादा जीवित नहीं रहना चाहता। जिस तरह मैंने जादू सीखा है, उसी तरह अपने गुरु के चरणकमलों की कृपा से मैंने योग का ध्यान भी सीखा है। मनुष्य को किसी तीर्थस्थान में ध्यान करते हुए अपना शरीर छोड़ देना चाहिए और चूँकि आपने तमाम पुण्यकर्म किये हैं, इसलिए आप स्वयं तीर्थस्थान हैं। इसलिए अब मैं अपना शरीर छोड़ दूँगा।''

''इस तरह कह कर, वह जादूगर उचित योग-आसन में बैठ जाता है और अपने को प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि में स्थिर करके मौन हो जाता है। एक क्षण बाद उसकी समाधि से उत्पन्न अग्नि उसके शरीर से निकल कर जलती है और उसे भस्म कर देती है। तब उसकी सारी पत्नियाँ, शोकाकुल होकर अग्नि में प्रवेश करती हैं।''

''तीन या चार दिन बाद, अपने प्रान्त में लौट जाने के बाद, वह जादूगर अपनी एक पुत्री को राजा के पास भेजता है। पुत्री ने उससे कहा, ''हे राजा! मैं अभी अभी आपके महल में अपने साथ बिना किसी के देखे, आपके स्वस्थ पुत्रों, पौत्रों, भाइयों इत्यादि को लेकर आई हूँ। साथ में आपके द्वारा प्रदत्त सभी रत्न तथा अन्य वस्तुएँ भी लाई हूँ। इसलिए आप मुझे इस जादूगरी के लिए जो आपके समक्ष प्रदर्शित किया गया है, समुचित पुरस्कार दें।'' इस तरह सामान्य जादू भी जन्म-मृत्यु की नकल कर सकता है।

इसलिए यह समझना कठिन नहीं है कि भगवान्, प्रकृति के नियमों से परे होते हुए भी, अपनी मायाशक्ति प्रदर्शित करते हैं जिससे मूर्ख लोग यह सोचें कि भगवान् ने अपना शरीर एक सामान्य व्यक्ति की तरह त्यागा है। वस्तुतः भगवान् कृष्ण अपने नित्य शरीर में ही अपने धाम लौट गये जिसकी पुष्टि समूचे वैदिक वाङ्मय में हुई है।

मर्त्येन यो गुरुसुतं यमलोकनीतं
त्वां चानयच्छरणदः परमास्त्रदग्धम् ।
जिग्येऽन्तकान्तकमपीशमसावनीशः
किं स्वावने स्वरनयन्मृगयुं सदेहम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

मर्त्येन—उसी मनुष्य शरीर में; यः—जो; गुरु-सुतम्—अपने गुरु के पुत्र को; यम-लोक—यमराज के लोक को; नीतम्—लाया गया; त्वाम्—तुमको; च—तथा; आनयत्—वापस लाया; शरण-दः—शरण देने वाला; परम-अस्त्र—ब्रह्मास्त्र; दग्धम्—जलाया गया; जिग्ये—जीत लिया; अन्तक—मृत्यु के दूतों के; अन्तकम्—जो मृत्यु है; अपि—भी; ईशम्—शिवजी; असौ—वह, कृष्ण; अनीशः—असमर्थ; किम्—क्या; स्व—अपनी; अवने—रक्षा में; स्वः—वैकुण्ठ-लोक को; अनयत्—लाया; मृगयुम्—शिकारी; स-देहम्—सशरीर।

भगवान् कृष्ण अपने गुरु-पुत्र को सशरीर यमराज के लोक से वापस ले आये और जब तुम अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र द्वारा जला दिये गये थे, तो उन्होंने परम रक्षक के रूप में तुम्हें भी बचाया। उन्होंने मृत्यु के दूतों को भी मृत्यु देने वाले शिवजी को युद्ध में परास्त किया और जरा शिकारी को उसके मानव शरीर में वैकुण्ठ भेज दिया। क्या कभी ऐसा पुरुष अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो सकता है?

तात्पर्य : इस जगत से कृष्ण के प्रयाण की कथा कहते समय, अपना तथा महाराज परीक्षित का दुख कम करने के लिए श्री शुकदेव गोस्वामी कई स्पष्ट उदाहरण देकर यह सिद्ध करते हैं कि भगवान् कृष्ण मृत्यु के प्रभाव से बहुत दूर हैं। यद्यपि उनके गुरु (सान्दीपनि मुनि) का पुत्र मृत्यु द्वारा ले जाया गया था, किन्तु भगवान् उसे सशरीर वापस ले आये थे। इसी तरह भगवान् कृष्ण को ब्रह्मशक्ति छू नहीं सकती क्योंकि उन्होंने परीक्षित महाराज को आसानी से बचा लिया था यद्यपि वे ब्रह्मास्त्र द्वारा दग्ध किये जा चुके थे। शिवजी बाणासुर के साथ युद्ध करते कृष्ण द्वारा स्पष्ट रूप से पराजित हो चुके थे और जरा शिकारी सदेह वैकुण्ठ-लोक भेज दिया गया था। मृत्यु तो भगवान् कृष्ण की बहिरंगा शक्ति का तुच्छ विस्तार है और वह भगवान् पर कोई असर नहीं कर सकती। जो लोग कृष्ण के कार्यकलापों की दिव्य प्रकृति को समझते हैं, उन्हें इन उदाहरणों से विश्वसनीय प्रमाण प्राप्त हो जायेगा।

तथाप्यशेषस्थितिसम्भवाप्यये-
ष्वनन्यहेतुर्यदशेषशक्तिधृक् ।
नैच्छत्प्रणेतुं वपुरत्र शेषितं

मर्त्येन किं स्वस्थगतिं प्रदर्शयन् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तथा अपि—तो भी; अशेष—समस्त सृजित वस्तुओं के; स्थिति—पालन-पोषण में; सम्भव—सृष्टि; अप्ययेषु—तथा संहार में; अनन्य-हेतुः—एकमात्र कारण; यत्—क्योंकि; अशेष—असीम; शक्ति—शक्ति; धृक्—से युक्त; न ऐच्छत्—इच्छा नहीं की; प्रणेतुम्—रखने के लिए; वपुः—अपना दिव्य शरीर; अत्र—यहाँ; शेषितम्—शेष; मर्त्येन—इस भौतिक जगत से; किम्—क्या लाभ; स्व-स्थ—उनमें स्थित रहने वालों के; गतिम्—गन्तव्य को; प्रदर्शयन्—दिखलाते हुए।

असीम शक्तियों के स्वामी भगवान् कृष्ण असंख्य जीवों की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के एकमात्र कारण होते हुए भी, इस जगत में अपने शरीर को अब और अधिक नहीं रखना चाहते थे। इस तरह उन्होंने आत्मस्थ लोगों को गन्तव्य दिखलाया और यह प्रदर्शित किया कि इस मर्त्य जगत का कोई अपना मूल्य नहीं है।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् कृष्ण पतितात्माओं को बचाने के लिए इस जगत में अवतरित हुए थे, किन्तु वे लोगों को प्रोत्साहित नहीं करना चाहते थे कि भविष्य में वे व्यर्थ ही इधर-उधर घूमें। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को चाहिए कि जितनी जल्दी हो सके कृष्णभावनामृत को पूर्ण करके भगवद्धाम वापस जाय। यदि भगवान् कृष्ण और अधिक काल तक पृथ्वी पर रहते, तो वे व्यर्थ ही भौतिक जगत की प्रतिष्ठा को बढ़ाते होते।

जैसाकि श्री उद्धव ने *श्रीमद्भागवत* (३.२.११) में कहा है—*आदायान्तरधाद् यस्तु स्वबिम्बं लोकलोचनम्*—पृथ्वी पर सभी लोगों की दृष्टि के समक्ष अपना शाश्वत रूप प्रकट करने वाले भगवान् कृष्ण ने उन लोगों की दृष्टि से अपने को अन्तर्धान कर लिया जो वांछित तपस्या न करने से उन्हें देख पाने में असमर्थ थे। उद्धव में *भागवत* (३.२.१०) में यह भी कहा है—

देवस्य मायया स्पृष्टा ये चान्यदसदाश्रिताः।

भ्राम्यते धीर्न तद्वाक्यैरात्मन्युप्तात्मनो हरौ॥

"भगवान् की माया से विमोहित पुरुषों के शब्द किसी भी स्थिति में पूर्णतया शरणागतों की बुद्धि को विचलित नहीं कर सकते।" जो व्यक्ति कृष्ण के दिव्य तिरोधान को समझने के लिए वैष्णव आचार्यों का आश्रय लेता है, वह आसानी से समझ जाता है कि भगवान् सर्वशक्तिमान हैं और उनका आध्यात्मिक शरीर उनकी आध्यात्मिक शक्ति से अभिन्न है।

य एतां प्रातरुत्थाय कृष्णस्य पदवीं पराम् ।

प्रयतः कीर्तयेद्भक्त्या तामेवाप्नोत्यनुत्तमाम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; एताम्—इसे; प्रातः—प्रातःकाल; उत्थाय—उठ कर; कृष्णस्य—कृष्ण के; पदवीम्—गन्तव्य को; पराम्—परम; प्रयतः—ध्यानपूर्वक; कीर्तयेत्—यशोगान करता है; भक्त्या—भक्ति से; ताम्—उस गन्तव्य को; एव—निस्सन्देह; आप्नोति—प्राप्त करता है; अनुत्तमम्—अद्वितीय।

जो व्यक्ति प्रातःकाल नियमित रूप से जगता है और भगवान् कृष्ण के दिव्य तिरोधान तथा उनके निजी धाम लौटने की महिमा का भक्तिपूर्वक कीर्तन करता है, वह निश्चय ही उसी परम पद को प्राप्त करेगा।

दारुको द्वारकामेत्य वसुदेवोग्रसेनयोः ।
पतित्वा चरणावस्त्रैर्न्यषिञ्चत्कृष्णविच्युतः ॥ १५॥

शब्दार्थ

दारुकः—दारुक; द्वारकाम्—द्वारका में; एत्य—आकर; वसुदेव-उग्रसेनयोः—वसुदेव तथा उग्रसेन के; पतित्वा—गिर कर; चरणौ—पैरों पर; अस्त्रैः—आँसुओं से; न्यषिञ्चत्—भिगो दिया; कृष्ण-विच्युतः—कृष्ण से बिछुड़े।

द्वारका पहुँचते ही दारुक वसुदेव तथा उग्रसेन के चरणों पर गिर पड़ा और भगवान् कृष्ण की क्षति पर शोक करते हुए अपने आँसुओं से उनके चरणों को भिगो दिया।

कथयामास निधनं वृष्णीनां कृत्स्नशो नृप ।
तच्छ्रुत्वोद्विग्नहृदया जनाः शोकविर्मूर्च्छिताः ॥ १६॥
तत्र स्म त्वरिता जग्मुः कृष्णविश्लेषविह्वलाः ।
व्यसवः शेरते यत्र ज्ञातयो घ्नन्त आननम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

कथयाम् आस—उसे कह सुनाया; निधनम्—विनाश; वृष्णीनाम्—वृष्णियों का; कृत्स्नशः—पूर्ण; नृप—हे राजा परीक्षित; तत्—वह; श्रुत्वा—सुन कर; उद्विग्न—क्षुब्ध; हृदयाः—हृदयों से; जनाः—लोग; शोक—शोक से; विर्मूर्च्छिताः—संज्ञाहीन हुए; तत्र—वहाँ; स्म—निस्सन्देह; त्वरिताः—तेजी से; जग्मुः—गये; कृष्ण-विश्लेष—कृष्ण के विछोह से; विह्वलाः—अभिभूत; व्यसवः—प्राणहीन; शेरते—पड़े हुए थे; यत्र—जहाँ; ज्ञातयः—उनके सम्बन्धी; घ्नन्तः—प्रहार करते हुए; आननम्—अपने ही मुखों पर।

दारुक ने वृष्णियों के पूर्ण विनाश का वृत्तान्त कह सुनाया और हे परीक्षित, यह सुन कर लोग अपने हृदयों में अतीव किंकर्तव्यविमूढ़ और शोक से स्तम्भित हो गये। वे कृष्ण के विछोह से विह्वल अपना सिर पीटते उस स्थान के लिए जल्दी जाने लगे जहाँ उनके सम्बन्धी मृत पड़े थे।

देवकी रोहिणी चैव वसुदेवस्तथा सुतौ ।
कृष्णरामावपश्यन्तः शोकार्ता विजहुः स्मृतिम् ॥ १८॥

शब्दार्थ

देवकी—देवकी; रोहिणी—रोहिणी; च—भी; एव—निस्सन्देह; वसुदेवः—वसुदेव; तथा—भी; सुतौ—दोनों पुत्रों; कृष्ण-रामौ—कृष्ण तथा राम को; अपश्यन्तः—न देखते हुए; शोक-आर्ताः—शोक से पीड़ित; विजहुः—खोदी; स्मृतिम्—अपनी अपनी चेतना।

जब देवकी, रोहिणी तथा वसुदेव ने अपने कृष्ण तथा बलराम पुत्रों को नहीं पाया, तो वे शोक से अचेत हो गये।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार असली देवकी, रुक्मिणी तथा अन्य महिलाएँ द्वारका में भौतिक जगत की आँखों से अदृश्य रहती रहीं जबकि देवता जो देवकी, रोहिणी तथा अन्यों के आंशिक पक्षों को प्रस्तुत करने वाले थे, अपने मृत सम्बन्धियों को देखने प्रभास गये।

प्राणांश्च विजहुस्तत्र भगवद्विरहातुराः ।
उपगुह्य पतींस्तात चितामारुरुहुः स्त्रियः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

प्राणान्—अपने प्राण; च—तथा; विजहुः—त्याग दिये; तत्र—वहाँ; भगवत्—भगवान् के; विरह—वियोग के कारण; आतुराः—सताये हुए; उपगह्य—आलिंगन करके; पतीन्—अपने पतियों को; तात—हे परीक्षित; चिताम्—चिता में; आरुरुहुः—चढ़ गईं; स्त्रियः—पत्नियाँ।

भगवान् के वियोग से आतुर उनके माता-पिता ने उसी स्थान पर अपने प्राण त्याग दिये। हे परीक्षित, तब यादवों की पत्नियाँ अपने अपने मृत पतियों का आलिंगन करके चिताओं पर चढ़ गईं।

रामपत्न्यश्च तद्देहमुपगुह्याग्निमाविशन् ।
वसुदेवपत्न्यस्तद्गात्रं प्रद्युम्नादीन्हरेः स्नुषाः ।
कृष्णपत्न्योऽविशन्नग्निं रुक्मिण्याद्यास्तदात्मिकाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

राम-पत्न्यः—बलराम की पत्नियाँ; च—तथा; तत्-देहम्—उनके शरीर को; उपगुह्य—चूम कर; अग्निम्—अग्नि में; आविशन्—प्रविष्ट हुईं; वसुदेव-पत्न्यः—वसुदेव की पत्नियाँ; तत्-गात्रम्—उसके शरीर को; प्रद्युम्न-आदीन्—प्रद्युम्न इत्यादि; हरेः—भगवान् हरि के; स्नुषाः—पतोहुएँ; कृष्ण-पत्न्यः—कृष्ण की पत्नियाँ; अविशन्—प्रविष्ट हुईं; अग्निम्—अग्नि में; रुक्मिणी-आद्याः—महारानी रुक्मिनी इत्यादि; तत्-आत्मिकाः—जिनकी चेतना उनमें पूर्णतया लीन थी।

बलरामजी की पत्नियाँ भी अग्नि में प्रविष्ट हुईं और उनके शरीर का आलिंगन किया। इसी तरह वसुदेव की पत्नियाँ उनकी चिता में प्रविष्ट हुईं और उनके शरीर को चूमा। हरि की पतोहुएँ प्रद्युम्नादि अपने अपने पतियों की चिताओं में प्रविष्ट हुईं। रुक्मिणी तथा भगवान् कृष्ण की अन्य पत्नियाँ, जिनके हृदय उन्हीं में पूर्णतया लीन थे, उनकी चिता में प्रविष्ट हुईं।

तात्पर्य : यह समझा जाता है कि यहाँ पर वर्णित शोकमय दृश्य भगवान् की मायाशक्ति का प्रदर्शन है और पृथ्वी पर भगवान् कृष्ण की लीलाओं को अन्तिम नाटकीय रूप प्रदान करता है। वस्तुत: भगवान् कृष्ण अपने आदि शरीर के साथ अपने नित्य धाम में लौट गये और उन्हीं के साथ उनके नित्य पार्षद भी लौट गये। भगवान् की लीलाओं का यह अन्तिम हृदयविदारक दृश्य भगवान् की अन्तरंगा शक्ति का खेल है, जिससे भगवान् की व्यक्त लीलाओं का पूर्ण नाटकीय अन्त हो जाता है।

अर्जुनः प्रेयसः सख्युः कृष्णस्य विरहातुरः ।
आत्मानं सान्त्वयामास कृष्णगीतैः सदुक्तिभिः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अर्जुनः—अर्जुन ने; प्रेयसः—अपने प्रिय; सख्युः—मित्र का; कृष्णस्य—कृष्ण के; विरह—विछोह से; आतुरः—दुखी; आत्मानम्—अपने को; सान्त्वयाम् आस—सान्त्वना दी; कृष्ण-गीतैः—कृष्ण द्वारा गाये गये गीतों (भगवद्गीता) से; सत्-उक्तिभिः—दिव्य शब्दों से।

अर्जुन अपने सर्वप्रिय मित्र भगवान् कृष्ण के विछोह से अत्यधिक दुखी हुए। किन्तु उन्होंने भगवान् के उन दिव्य शब्दों का स्मरण करके, जिन्हें उन्होंने उनसे गीत रूप में गाया था, अपने को सान्त्वना दी।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार अर्जुन ने *गीता* के निम्नलिखित श्लोकों का स्मरण किया—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः ।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

(*भगवद्गीता* ७.२५)

"मैं मूर्खों तथा अल्पज्ञों के लिए कभी भी प्रकट नहीं हूँ। उनके लिए तो मैं अपनी शाश्वत सृजनात्मक शक्ति (योगमाया) द्वारा आच्छादित रहता हूँ; अत: मोहित हुआ जगत मुझ अजन्मे तथा अविनाशी को नहीं जान पाता है।"

इसी तरह श्रील जीव गोस्वामी ने *भगवद्गीता* के इस श्लोक (१८.६५) का उल्लेख किया है—*मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे*—तुम मेरे पास निश्चित रूप से आओगे। मैं तुम्हें वचन देता हूँ क्योंकि तुम मेरे परम प्रिय मित्र हो। उन्होंने *महाभारत* के *स्वर्ग पर्व* से भी निम्नलिखित उद्धरण दिये हैं—

ददर्श तत्र गोविन्दं ब्रह्मणे वपुषान्वितम्।

तेनैव दृष्टपूर्वेण सादृश्येनोपसूचिताम्॥

दीप्यमानं स्ववपुषा दिव्यैरस्त्रैरुपस्कृतम्।

चक्रप्रभृतिभिर्घोरै दिव्यै पुरुषविग्रहै॥

उपास्यमानं वीरेण फाल्गुनेन सुवर्चसा।

यथास्वरूपं कौन्तेय तथैव मधुसूदनम्॥

तावुभौ पुरुषव्याघ्रौ समुद्वीक्ष्य युधिष्ठिरम्।

यथार्हं प्रतिपेदाते पूजया देवपूजितौ॥

"वहाँ पर युधिष्ठिर ने गोविन्द को अपने आदि साकार परब्रह्म के रूप में देखा। वे उसी तरह प्रतीत हो रहे थे जैसाकि युधिष्ठिर ने उन्हें पहले देखा था। वे उन्हीं लक्षणों से युक्त थे। वे अपने शरीर से निकल रहे तेज से देदीप्यमान थे और वे अपने दिव्य हथियारों—चक्र आदि से घिरे थे, जो अपने डरावने साकार रूपों में प्रकट हुए थे। हे कुन्ती के वंशज! मधुसूदन की पूजा तेजस्वी वीर अर्जुन द्वारा की जा रही थी और वे भी अपने आदि रूप में प्रकट हुए थे। जब इन दो पुरुष-सिंहों ने, जो देवताओं के आराध्य हैं, युधिष्ठिर को उपस्थित देखा, तो वे उचित आदर के साथ उनके पास गये और उनकी पूजा की।"

बन्धूनां नष्टगोत्राणामर्जुनः साम्परायिकम् ।
हतानां कारयामास यथावदनुपूर्वशः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

बन्धूनाम्—सम्बन्धियों के; नष्ट-गोत्राणाम्—जिनके परिवार में कोई निकट परिवार वाला नहीं बचा था; अर्जुनः—अर्जुन ने; साम्परायिकम्—दाह-कर्म; हतानाम्—मारे हुओं का; कारयाम् आस—सम्पन्न किया; यथा-वत्—वेद वर्णित विधि से; अनुपूर्वशः—मृतकों की आयु के क्रम से।

तत्पश्चात् अर्जुन ने इस बात का ध्यान रखा कि उन मृतकों का उचित रीति से दाह-कर्म किया जाये जिनके परिवार में कोई पुरुष सदस्य नहीं बचा था। उन्होंने एक-एक करके सारे यदुओं के वांछित कृत्य पूरे किये।

द्वारकां हरिणा त्यक्तां समुद्रोऽप्लावयत्क्षणात् ।

वर्जयित्वा महाराज श्रीमद्भगवदालयम् ॥ २३॥

शब्दार्थ

द्वारकाम्—द्वारका; हरिणा—भगवान् हरि द्वारा; त्यक्ताम्—त्यागी हुई; समुद्रः—समुद्र ने; अप्लावयत्—जलमग्न कर लिया; क्षणात्—तुरन्त; वर्जयित्वा—के अतिरिक्त; महा-राज—हे राजा; श्रीमत्-भगवत्—भगवान् का; आलयम्—आवास।

जैसे ही भगवान् ने द्वारका का परित्याग किया, त्योंही, हे राजा, समुद्र ने उसे चारों ओर से घेर लिया और एकमात्र उनका महल ही अछूता रहा।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि भगवान् के धाम का बाह्य स्वरूप तो समुद्र द्वारा ढक लिया गया किन्तु भगवान् की नित्य द्वारका भौतिक ब्रह्माण्ड से परे विद्यमान है और निश्चय ही, भौतिक समुद्र से परे है। द्वारका का निर्माण देवताओं के शिल्पी विश्वकर्मा ने किया था और सुधर्मा सभाभवन स्वर्ग से लाया गया था। उस नगरी में कुलीन यदुवंश के अनेक सुन्दर तथा शानदार महल थे जिनमें सबसे सुन्दर भगवान् का आवास था। श्रील जीव गोस्वामी उल्लेख करते हैं कि वर्तमान युग में भी जो लोग मूल द्वारका स्थल के निकट रहते हैं, वे कभी कभी समुद्र में उसकी झलक पा जाते हैं। अन्ततोगत्वा भगवान् के संगी तथा धाम शाश्वत हैं और जो इसे समझता है, वह पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होने के योग्य है।

नित्यं सन्निहितस्तत्र भगवान्मधुसूदनः ।
स्मृत्याशेषाशुभहरं सर्वमङ्गलमङ्गलम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

नित्यम्—नित्य ही; सन्निहितः—उपस्थित; तत्र—वहाँ; भगवान्—भगवान्; मधुसूदनः—मधुसूदन; स्मृत्या—स्मरण करने से; अशेष-अशुभ—प्रत्येक अशुभ वस्तु का; हरम्—हरण करने वाला; सर्व-मङ्गल—समस्त शुभ वस्तुओं का; मङ्गलम्—अत्यन्त शुभ, मंगलकारी।

भगवान् मधुसूदन शाश्वत रीति से द्वारका में उपस्थित रहते हैं। यह समस्त शुभ स्थानों में सर्वाधिक शुभ है और इसके स्मरण मात्र से सारे कल्मष नष्ट हो जाते हैं।

स्त्रीबालवृद्धानादाय हतशेषान्धनञ्जयः ।
इन्द्रप्रस्थं समावेश्य वज्रं तत्राभ्यषेचयत् ॥ २५॥

शब्दार्थ

स्त्री—स्त्रियाँ; बाल—बच्चे; वृद्धान्—तथा बूढ़ों; आदाय—लेकर; हत—मारे हुओं के; शेषान्—बचे हुओं को; धनञ्जयः—अर्जुन ने; इन्द्रप्रस्थम्—पाण्डवों की राजधानी में; समावेश्य—फिर से बसाकर; वज्रम्—अनिरुद्ध के पुत्र वज्र को; तत्र—वहाँ; अभ्यषेचयत्—सिंहासन पर बिठाया।

अर्जुन यदुवंश की बची हुई स्त्रियों, बच्चों तथा बूढ़ों को इन्द्रप्रस्थ ले आये जहाँ उन्होंने

अनिरुद्ध के पुत्र वज्र को यदुओं के शासक के रूप में प्रतिष्ठापित किया।

श्रुत्वा सुहृद्वधं राजन्नर्जुनात्ते पितामहाः ।
त्वां तु वंशधरं कृत्वा जग्मुः सर्वे महापथम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुन कर; सुहृत्—मित्रों की; वधम्—मृत्यु; राजन्—हे राजा; अर्जुनात्—अर्जुन से; ते—तुम्हारे; पितामहाः—बाबा लोग (युधिष्ठिर तथा उनके भाई); त्वाम्—तुमको; तु—तथा; वंश-धरम्—वंश कोबनाये रखने वाला; कृत्वा—बनाकर; जग्मुः—चले गये; सर्वे—वे सभी; महा-पथम्—महान् यात्रा के लिए।

हे राजा, अर्जुन से अपने मित्र की मृत्यु सुन कर आपके बाबा लोगों ने आपको वंश के धारक के रूप में स्थापित कर दिया और इस जगत से अपने प्रयाण की तैयारी के लिए चल पड़े।

य एतद्देवदेवस्य विष्णोः कर्माणि जन्म च ।
कीर्तयेच्छ्रद्धया मर्त्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; एतत्—इन; देव-देवस्य—देवों के देव का; विष्णोः—विष्णु के; कर्माणि—कार्यकलापों; जन्म—जन्म; च—तथा; कीर्तयेत्—कीर्तन करता है; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; मर्त्यः—मानव प्राणी; सर्व-पापैः—सारे पापों से; प्रमुच्यते—छूट जाता है।

जो व्यक्ति देवताओं के देवता विष्णु की इन विविध लीलाओं तथा अवतारों की महिमाओं का श्रद्धापूर्वक कीर्तन करता है, वह सारे पापों से मोक्ष प्राप्त करता है।

इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतार-
वीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि ।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन्मनुष्यो
भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; हरेः—भगवान् हरि के; भगवतः—भगवान् के; रुचिर—आकर्षक; अवतार—अवतारों के; वीर्याणि—पराक्रमों; बाल—बचपन; चरितानि—लीलाएँ; च—तथा; शम्-तमानि—अत्यन्त शुभ; अन्यत्र—और कहीं; च—तथा; इह—यहाँ; च—भी; श्रुतानि—सुना हुआ; गृणन्—स्पष्ट कीर्तन करते; मनुष्यः—मनुष्य; भक्तिम्—भक्ति; पराम्—दिव्य; परमहंस—सिद्ध मुनियों के; गतौ—गन्तव्य (श्रीकृष्ण) के लिए; लभेत—प्राप्त करेगा।

भगवान् श्रीकृष्ण के सर्व-आकर्षक अवतारों के सर्वमंगल पराक्रम तथा उनके द्वारा बाल्यकाल में की गई लीलाएँ इस श्रीमद्भागवत तथा अन्य शास्त्रों में वर्णित हैं। जो कोई उनकी लीलाओं के इन वर्णनों का स्पष्ट कीर्तन करता है, उसे उन भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति प्राप्त

होगी जो समस्त सिद्ध मुनियों के गन्तव्य हैं।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के ग्यारहवें स्कंध के ''भगवान् श्रीकृष्ण का अन्तर्धान'' नामक इकतीसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

यह ग्यारहवाँ स्कन्ध २६ मार्च १९८२ को ब्राजील में साओ पॉलो राज्य में न्यू गोकुल साउथ अमेरिकन तीर्थस्थल पर पूरा हुआ।

श्री श्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः
कृष्णद्वैपायन व्यास
कृत
श्रीमद्‌भागवतम्
नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश
ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः।
योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्वन्
आचार्यचैत्त्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति ॥६ ॥
(११.२९.६)

श्रीमद्‌भागवतम्
(भगवत्-सन्देश)
एकादश स्कन्ध
''सामान्य इतिहास''
(भाग दो—अध्याय १३—३१)
मूल संस्कृत पाठ, शब्दार्थ,
अनुवाद तथा विस्तृत तात्पर्य सहित
कृष्णकृपामूर्ति
श्री श्रीमद् अभयचरणारविन्द भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद
संस्थापकाचार्य : अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ
के शिष्यों द्वारा
भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

विषय-सूची
प्राक्कथन
आमुख

प्रस्तावना

अध्याय तेरह
हंसावतार द्वारा ब्रह्मा-पुत्रों के प्रश्नों के उत्तर
अध्याय का सारांश
सतोगुण से धार्मिक सिद्धान्तों का उदय
भौतिक जीवन में लगे हुओं का भविष्य अंधकारमय
ब्रह्मा के पुत्रों द्वारा योग के लक्ष्य की जिज्ञासा
हंसावतार का प्राकट्य
नास्तिक दर्शन का निराकरण
चेतना की चौथी अवस्था
आध्यात्मिक आनन्द की खोज की जाय
अध्याय चौदह
श्री उद्धव से श्रीकृष्ण का योग-वर्णन
अध्याय का सारांश
जीवन के अप्रामाणिक दर्शन
शुद्ध भक्त कृष्ण को प्रिय हैं
कृष्ण-प्रेम की ज्वलित अग्नि
स्त्रियों के प्रति आसक्ति
भगवान् के स्वरूप का ध्यान
अध्याय पन्द्रह
भगवान् कृष्ण द्वारा योग-सिद्धियों का वर्णन
अध्याय का सारांश
अठारह प्रकार की योग-सिद्धियाँ
केवल भगवत्कृपा से योग-सिद्धि प्राप्त होती है
सारा ब्रह्माण्ड भगवान् के आदेश से गतिशील है
वास्तविक योग-सिद्धि तो भक्ति है
अध्याय सोलह
भगवान् की विभूतियाँ
अध्याय का सारांश
कृष्ण अनादि तथा अनन्त
कृष्ण की महिमा का अनुमान नहीं लगाया जा सकता
निर्भयता का उपहार
जीवन का उद्देश्य दिव्य भगवान् को समझना है
अध्याय सत्रह
भगवान् कृष्ण द्वारा वर्णाश्रम-प्रणाली का वर्णन

अध्याय का सारांश
इस लुप्त ज्ञान को कौन बतायेगा?
मानव समाज के वृत्तिपरक तथा सामाजिक विभाग
बच्चों की उचित शिक्षा
आचार्य: आध्यात्मिक विज्ञान का दिव्य प्रोफेसर
विवाहित जीवन
भक्तों को दान देने वालों का भगवान् द्वारा उन्नयन
पारिवारिक संगति यात्रियों के संक्षिप्त मिलन जैसी
अध्याय अठारह
वर्णाश्रम धर्म का वर्णन
अध्याय का सारांश
वानप्रस्थ के कर्तव्य
संन्यासी के कर्तव्य
संन्यासी अकेले ही पृथ्वी-भ्रमण करे
परमहंस का स्वभाव
स्वरूपसिद्ध व्यक्ति किसी भी वस्तु को कृष्ण से भिन्न नहीं देखता
अध्याय उन्नीस
आध्यात्मिक ज्ञान की सिद्धि
अध्याय का सारांश
मोह का शास्त्रीय ज्ञान
भौतिक जीवन की सर्पों से पूर्ण अंधेरे बिल से तुलना
भगवान् कृष्ण द्वारा भीष्म के उपदेशों की पुनरुक्ति
कृष्ण-प्रेम उन्नत करने के सिद्धान्त
मनुष्यों के लिए वांछित गुण
अध्याय बीस
शुद्ध भक्ति ज्ञान तथा वैराग्य से आगे है
अध्याय का सारांश
कर्म के गुण तथा दोष
ज्ञान, कर्म तथा भक्ति के मार्ग
स्वर्ग तथा नरक के वासी मनुष्य-जन्म के इच्छुक
मन को अपने वश में किया जाय
शुद्ध भक्ति की शुरुआत
हृदय ग्रंथि को खोलना
पूर्ण विरक्ति स्वतंत्रता की सर्वोच्च अवस्था
अध्याय इक्कीस
भगवान् कृष्ण द्वारा वैदिक पथ की व्याख्या

अध्याय का सारांश
पुण्य तथा पाप
आधुनिक विज्ञान का नास्तिक दर्शन
शुद्धि तथा अशुद्धि
मंत्रों का सही उच्चारण
वैदिक ज्ञान का वास्तविक प्रयोजन
मनोरंजनकर्ताओं, राजनीतिज्ञों तथा खिलाड़ियों की पूजा
वैदिक ध्वनि असीम, अगाध तथा अथाह
अध्याय बाईस
भौतिक सृष्टि के तत्त्वों की गणना
अध्याय का सारांश
भौतिक तत्त्वों की गणना के बारे में दार्शनिकों में मतभेद
प्रकृति के तीन गुण
उद्धव द्वारा शरीर तथा आत्मा में अन्तर के विषय में जिज्ञासा
क्या यह जगत सत्य है ?
अपनी पूर्व पहचान की विस्मृति ही मृत्यु है
शरीर में निरन्तर रूपान्तर होता रहता है
इन्द्रियतृप्ति का अनुभव मिथ्या है
अध्याय तेईस
अवन्ती ब्राह्मण का गीत
अध्याय का सारांश
भक्त किसी भी निजी अपमान को सह लेता है
कृपणों की सम्पत्ति आत्म-पीड़न का कारण
सम्पत्ति का सही उपयोग
मन ही सुख-दुख का कारण
कर्म मोहमयी चेतना पर आधारित
त्रिदण्ड संन्यास का अर्थ
अध्याय चौबीस
सांख्य दर्शन
अध्याय का सारांश
आधुनिक समाज का ज्ञान चिन्तनशील तथा परिवर्तनशील
स्वर्गलोक
भौतिक प्रकृति भगवान् की शक्ति है
प्रलय
अध्याय पच्चीस
प्रकृति के तीन गुण तथा उनके परे

अध्याय का सारांश
प्रकृति के गुणों के लक्षण
गुणों का भगवान् कृष्ण पर प्रभाव नहीं
शुद्ध चेतना से निर्भयता तथा विरक्ति उत्पन्न
रजो, सतो तथा तमोगुण में गन्तव्य
भगवान् कृष्ण का ज्ञान गुणों से परे
श्रद्धा, भोजन तथा सुख के विभाग
बुद्धिमान लोग गुणों को लाँघ कर कृष्ण की सेवा करते हैं
अध्याय छब्बीस
ऐल-गीत
अध्याय का सारांश
भौतिकतावादी मार्ग गहन अंधकारमय गर्त में ले जाता है
राजा पुरूरवा का शोक
काम की दग्ध अग्नि
शरीर का स्वामी कौन?
मन को शान्त करने की युक्ति
कृष्ण के श्रवण तथा कीर्तन से पाप नष्ट होते हैं
कृष्ण के भक्तों की महिमा
अध्याय सत्ताईस
देवपूजन-विधि के विषय में कृष्ण के उपदेश
अध्याय का सारांश
अर्चाविग्रह (देव) पूजा के विषय में उद्धव के प्रश्न
अर्चाविग्रहों के आठ प्रकार
अर्चाविग्रह को स्नान कराना
प्रेम ही प्रत्येक भेंट का सार
पूजा में प्रयुक्त पात्रों का मार्जन
अर्चाविग्रह में प्रवेश करने के लिए परमात्मा का आवाहन
भगवान् के पार्षदों तथा अन्यों को कैसे पूजा जाय
अर्चाविग्रह को स्नान कराना तथा सजाना
अर्चाविग्रह को कौन-कौन से भोजन अर्पित किये जायँ
अग्नि-यज्ञ तथा अन्य कर्मकाण्ड
ध्यान, पूजा तथा कीर्तन की विस्तृत विवेचना
अर्चाविग्रह की स्तुतियाँ
शुद्ध अर्चाविग्रह-पूजा के लाभ
ब्राह्मणों तथा देवताओं के यहाँ चोरी का खतरा
अध्याय अट्ठाईस

ज्ञानयोग
अध्याय का सारांश
जगत को मोहमय तथा सत्य देखना
भौतिक प्रकृति नास्तिक को कुचल देती है
भय का कारण : शरीर के साथ पहचान
जगत का अनुभव करने वाला कौन?
मिथ्याभिमान ही समस्त कष्ट की जड़
सर्वकारण कारणम्
भौतिक विविधता के माध्यम से कृष्ण अपने आप को
प्रकट करते हैं
आत्मा का पदार्थ से भेद
नवदीक्षित भक्तों के लिए चेतावनी
पंडित जनों द्वारा सकाम कर्म का परित्याग
अज्ञान का विनाश
भगवान् तथा हम में असमानता
छद्म पंडितों की विडम्बना
योग की रुकावटों पर विजय
योग द्वारा शारीरिक सिद्धि : व्यर्थ का लक्ष्य
अध्याय उन्तीस
भक्तियोग
अध्याय का सारांश
योग विषयक श्री उद्धव की शंकाएँ
कृष्ण के चरणकमल : हंसवत् पुरुषों के एकमात्र आश्रय
भगवान् कृष्ण से हम उऋण नहीं
कृष्ण की सेवा में मन को टिकाना
सबों में ईश्वर का दर्शन करने से सबों को एकसमान देखना
आध्यात्मिक प्रबुद्धता की सर्वश्रेष्ठ विधि
कृष्ण की भक्ति : बुद्धिमानों की बुद्धि
परब्रह्म की शिक्षा देने वाले को कृष्ण स्वयं को दे डालते हैं
दैवी ज्ञान पाने की पात्रता
कृष्ण में हर वस्तु प्राप्य
उद्धव का हर्षातिरेक
कृष्ण का उद्धव को अन्तिम उपदेश
उद्धव का बदरिकाश्रम के लिए प्रस्थान
अध्याय तीस
यदुवंश का संहार

अध्याय का सारांश
भगवान् कृष्ण समस्त सौन्दर्य की पराकाष्ठा
यदुवंश को कृष्ण का उपदेश
यदुवीरों का प्रभास गमन
यादवों की उन्मत्तता
यदुओं द्वारा एक-दूसरे का संहार
यादव योद्धाओं से कृष्ण तथा बलराम का युद्ध
श्री बलराम का अन्तर्धान होना
शिकारी के तीर से कृष्ण के पैर में प्रहार
शिकारी जरा का सन्ताप
कृष्ण द्वारा जरा को वैकुण्ठ भेजना
कृष्ण के हथियार तथा रथ वैकुण्ठ को वापस
कृष्ण द्वारा अपने सारथी को द्वारका जाने का आदेश
अध्याय इकतीस
भगवान् श्रीकृष्ण का अन्तर्धान होना
अध्याय का सारांश
कृष्ण का अन्तर्धान देखने के लिए महापुरुषों का एकत्र होना
भगवान् कृष्ण का अपने धाम वापस जाना
कृष्ण का प्राकट्य तथा विलोप अभिनेता के प्रदर्शन की भाँति
कृष्ण का मृत्यु से परे होने का साक्ष्य
देवकी, वसुदेव तथा अन्यों की वेदना
कृष्ण के सम्बन्धियों का चितारोहण
अर्जुन का *भगवद्गीता* का स्मरण करके सान्त्वना पाना
द्वारका का जलमग्न होना
श्रोताओं को वर
परिशिष्ट
लेखक परिचय

Chapter एक
कलियुग के पतित वंश

श्रीमद्भागवत का बारहवाँ स्कन्ध श्रील शुकदेव गोस्वामी की इस भविष्यवाणी से प्रारम्भ होता है कि कलियुग में आगे चल कर इस पृथ्वी पर कौन-कौन से राजे उत्पन्न होंगे। तत्पश्चात् वे इस युग के अनेक दोष गिनाते हैं जिसके बाद पृथ्वी की अधिष्ठात्री देवी उन मूर्ख राजाओं का व्यंग्यपूर्वक निरादर करती है, जो लगातार उसको जीतने का प्रयास करते रहते हैं। तत्पश्चात् शुकदेव गोस्वामी भौतिक प्रलय की चार कोटियाँ बतलाते हैं और अन्त में महाराज परीक्षित को अपनी सलाह देते हैं। इसके पश्चात् राजा परीक्षित को तक्षक सर्प डस लेता है, जिससे वे इस जगत से प्रयाण कर जाते हैं। सूत गोस्वामी नैमिषारण्य में मुनियों को वेदों तथा पुराणों की विविध शाखाओं के आचार्यों का नाम गिनाकर, मार्कण्डेय ऋषि का पवित्र इतिहास बताकर, भगवान् के विराट रूप की तथा सूर्य देव के रूप में उनके अंश की महिमा का गायन करके, इस ग्रंथ में विवेचित कथाओं का सारांश देकर तथा अन्तिम वर तथा स्तुतियाँ प्रदान करके, *श्रीमद्भागवत* का वाचन बन्द कर देते हैं।

इस स्कन्ध के प्रथम अध्याय में मगध राजवंश के भावी राजाओं का कलियुग के प्रभाव से भ्रष्ट होने का संक्षिप्त वर्णन मिलता है। सूर्य देव के वंश में पुरु के कुल में बीस राजाओं ने राज्य किया जिनमें उपरिचर वसु से प्रारम्भ करके पुरञ्जय तक सारे नाम गिनाये गये हैं। पुरञ्जय के बाद इस वंश की परम्परा भ्रष्ट हो जायेगी। पुरञ्जय के बाद पाँच राजा होंगे जो प्रद्योतन कहलायेंगे जिनके बाद शिशुनाग, मौर्य, शुंग, काण्व, अन्ध्र राष्ट्र के तीस राजा, सात आभीर, दस गर्दभी, सोलह कंक, आठ यवन, चौदह तुरुष्क, दस गुरुण्ड, ११ मौल, ५ किलकिला एकछत्र राजा तथा १३ बाह्लीक होंगे। इसके बाद विभिन्न राज्यों में एक ही समय पर ७ अंध्र राजा, ७ कौशल, विदूर राजा तथा निषध राज्य करेंगे। तत्पश्चात् मगध राज्यों की बागडोर ऐसे राजाओं के हाथों चली जायेगी जो शूद्र तथा म्लेच्छ जैसे होंगे और पूर्णत: अधर्म में निमग्न रहेंगे।

श्रीशुक उवाच

योऽन्त्य: पुरञ्जयो नाम भविष्यो बारहद्रथ: ।
तस्यामात्यस्तु शुनको हत्वा स्वामिनमात्मजम् ॥ १ ॥

प्रद्योतसंज्ञं राजानं कर्ता यत्पालक: सुत: ।
विशाखयूपस्तत्पुत्रो भविता राजकस्तत: ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री शुक: उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; य:—जो; अन्त्य:—(नवे स्कन्ध में वर्णित) अन्तिम सदस्य; पुरञ्जय:—पुरञ्जय (रिपुञ्जय); नाम—नामक; भविष्य:—भविष्य में होगा; बारहद्रथ:—बृहद्रथ का वंशज; तस्य—उसका; अमात्य:—मंत्री; तु—लेकिन; शुनक:—शुनक; हत्वा—मार कर; स्वामिनम्—अपने स्वामी को; आत्म-जम्—अपने पुत्र; प्रद्योत-संज्ञम्—प्रद्योत नाम वाले को; राजानम्—राजा को; कर्ता—बनायेगा; यत्—जिसका; पालक:—पालक नामक;

सुतः—पुत्र; विशाखयूपः—विशाखयूप; तत्-पुत्रः—पालक का पुत्र; भविता—होगा; राजकः—राजक; ततः—तत्पश्चात् (विशाखयूप के पुत्र-रूप में)।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हमने इसके पूर्व मागध वंश के जिन भावी शासकों के नाम गिनाये उनमें अन्तिम राजा पुरञ्जय था, जो बृहद्रथ के वंशज के रूप में जन्म लेगा। पुरञ्जय का मंत्री शुनक राजा की हत्या करके अपने पुत्र प्रद्योत को सिंहासनारूढ़ करेगा। प्रद्योत का पुत्र पालक होगा और उसका पुत्र विशाखयूप होगा जिसका पुत्र राजक होगा।

तात्पर्य : यहाँ पर छलछद्म से युक्त राजनीतिक दावपेंच का जो वर्णन है, वह कलियुग का लक्षण है। इस ग्रंथ के नवें स्कन्ध में शुकदेव गोस्वामी ने वर्णन किया है कि सूर्य तथा चन्द्र—इन दो राजवंशों में किस तरह महान् शासक अवतरित हुए। नवें स्कन्ध में ईश्वर के प्रसिद्ध अवतार भगवान् रामचन्द्र का वर्णन इसी वंशावली में आता है और नवें स्कन्ध के अन्त में शुकदेवजी भगवान् कृष्ण तथा बलराम के पूर्वजों का वर्णन करते हैं। अन्त में चन्द्रवंश के प्रसंग में कृष्ण तथा बलराम के आविर्भाव का उल्लेख हुआ है।

दशम स्कन्ध में भगवान् कृष्ण की बाल लीलाओं का वृन्दावन में, कौमार लीलाओं का मथुरा में और कैशोर लीलाओं का द्वारका में वर्णन हुआ है। सुप्रसिद्ध महाकाव्य *महाभारत* में भी इसी काल की घटनाओं का वर्णन हुआ है, जिसमें पाँचों पाण्डवों तथा कृष्ण एवं भीष्म, धृतराष्ट्र, द्रोणाचार्य एवं विदुर जैसे ऐतिहासिक महापुरुषों के कार्यकलापों पर ध्यान एकाग्र किया गया है। *महाभारत* में ही *भगवद्गीता* सन्निहित है, जिसमें भगवान् कृष्ण को परब्रह्म घोषित किया गया है। *श्रीमद्भागवत* को जिसके बारहवें तथा अन्तिम स्कन्ध का हम अब प्रस्तुत कर रहे हैं, *महाभारत* से उच्चतर ग्रंथ माना जाता है क्योंकि पूरे ग्रंथ में परम ब्रह्म, भगवान् श्रीकृष्ण, का मुख्य रूप से तथा निर्विवाद रूप से उद्घाटन हुआ है। वस्तुतः *भागवत* के प्रथम स्कन्ध में इसका वर्णन हुआ है कि श्री व्यासदेव ने इस महान् ग्रंथ की कैसे रचना की क्योंकि वे *महाभारत* में भगवान् श्रीकृष्ण के छुटपुट महिमा-गायन से असन्तुष्ट थे।

यद्यपि *श्रीमद्भागवत* में अनेक राजवंशों के इतिहासों तथा असंख्य राजाओं की जीवनीयों का वर्णन मिलता है, किन्तु कलियुग का वर्णन आने तक हमें कोई ऐसा मंत्री नहीं मिलता जो अपने ही राजा की हत्या करके अपने पुत्र को सिंहासनारूढ़ कर दे। यह घटना धृतराष्ट्र द्वारा पाण्डवों की हत्या के प्रयास और अपने पुत्र दुर्योधन को राज-मुकुट देने के ही समान है। जैसाकि *महाभारत* में बतलाया गया है, भगवान् कृष्ण ने इस प्रयास को विफल कर दिया किन्तु भगवान् के वैकुण्ठ प्रयाण के साथ ही कलियुग पूरी तरह से प्रकट हुआ और अपने ही घर में उसने राजनीतिक हत्या को आदर्श विधि के रूप में मान्यता दे डाली।

नन्दिवर्धनस्तत्पुत्रः पञ्च प्रद्योतना इमे ।
अष्टत्रिंशोत्तरशतं भोक्ष्यन्ति पृथिवीं नृपाः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

नन्दिवर्धनः—नन्दिवर्धन; तत्-पुत्रः—उसका पुत्र; पञ्च—पाँच; प्रद्योतनाः—प्रद्योतन; इमे—ये; अष्ट-त्रिंश—अड़तीस; उत्तर—अधिक; शतम्—एक सौ; भोक्ष्यन्ति—भोग करेंगे; पृथिवीम्—पृथ्वी पर; नृपाः—राजा लोग।

राजक का पुत्र नन्दिवर्धन होगा और प्रद्योतन वंश में पाँच राजा होंगे जो १३८ वर्षों तक पृथ्वी का भोग करेंगे।

शिशुनागस्ततो भाव्यः काकवर्णस्तु तत्सुतः ।
क्षेमधर्मा तस्य सुतः क्षेत्रज्ञः क्षेमधर्मजः ॥ ४॥

शब्दार्थ

शिशुनागः—शिशुनाग; ततः—तत्पश्चात्; भाव्यः—जन्म लेंगे; काकवर्णः—काकवर्ण; तु—तथा; तत्-सुतः—उसका पुत्र; क्षेमधर्मा—क्षेमधर्मा; तस्य—काकवर्ण का; सुतः—पुत्र; क्षेत्रज्ञः—क्षेत्रज्ञ; क्षेमधर्म-जः—क्षेमधर्मा से उत्पन्न।

नन्दिवर्धन के शिशुनाग नामक पुत्र होगा और उसका पुत्र काकवर्ण कहलायेगा। काकवर्ण का पुत्र क्षेमधर्मा होगा तथा क्षेमधर्मा का पुत्र क्षेत्रज्ञ होगा।

विधिसारः सुतस्तस्याजातशत्रुर्भविष्यति ।
दर्भकस्तत्सुतो भावी दर्भकस्याजयः स्मृतः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

विधिसारः—विधिसार; सुतः—पुत्र; तस्य—क्षेत्रज्ञ का; अजातशत्रुः—अजातशत्रु; भविष्यति—होगा; दर्भकः—दर्भक; तत्-सुतः—अजातशत्रु का पुत्र; भावी—जन्म लेगा; दर्भकस्य—दर्भक का; अजयः—अजय; स्मृतः—स्मरण किया जाता है।

क्षेत्रज्ञ का पुत्र विधिसार होगा और उसका पुत्र अजातशत्रु होगा। अजातशत्रु के दर्भक नाम का पुत्र होगा और उसका पुत्र अजय होगा।

नन्दिवर्धन आजेयो महानन्दिः सुतस्ततः ।
शिशुनागा दशैवैते सष्ट्युत्तरशतत्रयम् ॥ ६ ॥
समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीं कुरुश्रेष्ठ कलौ नृपाः ।
महानन्दिसुतो राजन्शूद्रागर्भोद्भवो बली ॥ ७॥
महापद्मपतिः कश्चिन्नन्दः क्षत्रविनाशकृत् ।
ततो नृपा भविष्यन्ति शूद्रप्रायास्त्वधार्मिकाः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

नन्दिवर्धनः—नन्दिवर्धन; आजेयः—अजय का पुत्र; महा-नन्दिः—महानन्दि; सुतः—पुत्र; ततः—तत्पश्चात् (नन्दिवर्धन के बाद); शिशुनागाः—शिशुनाग; दश—दश; एव—निस्सन्देह; एते—ये; सष्टि—साठ; उत्तर—अधिक; शत-त्रयम्—तीन सौ; समाः—वर्ष; भोक्ष्यन्ति—राज्य करेंगे; पृथिवीम्—पृथ्वी पर; कुरुश्रेष्ठ—हे कुरुओं में श्रेष्ठ; कलौ—इस कलियुग में; नृपाः—राजागण; महानन्दि-सुतः—महानन्दि का पुत्र; राजन्—हे राजा परीक्षित; शूद्रा-गर्भ—शूद्र स्त्री के गर्भ से; उद्भवः—जन्म लेकर; बली—बलवान; महा-पद्म—लाखों में गिनी जाने वाली सेना या सम्पत्ति; पतिः—स्वामी; कश्चित्—कोई; नन्दः—नन्द; क्षत्र—राजसी श्रेणी का; विनाश-कृत्—विनाशकर्ता; ततः—तब; नृपाः—राजागण; भविष्यन्ति—होंगे; शूद्र-प्रायाः—शूद्रों जैसे; तु—तथा; अधार्मिकाः—अधार्मिक।

अजय दूसरे नन्दिवर्धन का पिता बनेगा, जिसका पुत्र महानन्दि होगा। हे कुरुश्रेष्ठ, शिशुनाग वंश के ये दस राजा कलियुग में ३६० वर्षों तक राज्य करेंगे। हे परीक्षित, राजा महानन्दि की शूद्रा पत्नी के गर्भ से अत्यन्त शक्तिशाली पुत्र होगा जो नन्द कहलायेगा। वहलाखों सैनिकों तथा प्रभूत सम्पत्ति का स्वामी होगा। वह क्षत्रियों में कहर ढायेगा और उसके बाद के प्राय: सारे राजे अधार्मिक शूद्र होंगे।

तात्पर्य : यहाँ इसका वर्णन मिलता है कि विश्व में प्रामाणिक राजनीतिक सत्ता का कैसे ह्रास हुआ और किस तरह वह छिन्न-भिन्न हुई। ईश्वर के साथ ही साथ शक्तिशाली सन्त पुरुष हैं जिन्होंने सरकारी नेताओं की भूमिका ग्रहण की थी और पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधित्व किया था। किन्तु कलियुग के आते ही यह दिव्य सरकारी प्रणाली बैठ गई और अनधिकारी, असभ्य लोगों ने धीरे धीरे शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली।

स एकच्छत्रां पृथिवीमनुल्लङ्घितशासनः ।
शासिष्यति महापद्मो द्वितीय इव भार्गवः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (नन्द); एक-छत्राम्—एक नायकत्व के अधीन; पृथिवीम्—सम्पूर्ण पृथ्वी; अनुल्लङ्घित—जिसका उल्लंघन न किया जा सके; शासनः—शासन; शासिष्यति—प्रभुसत्ता होगी; महापद्मः—महापद्म का स्वामी; द्वितीयः—दूसरा; इव—मानो; भार्गवः—परशुराम।

महापद्म का स्वामी, राजा नन्द, सारी पृथ्वी पर इस तरह शासन करेगा मानो द्वितीय परशुराम हो और उसकी सत्ता को कोई चुनौती नहीं दे सकेगा।

तात्पर्य : इस अध्याय के आठवें श्लोक में इसका उल्लेख हुआ है कि राजा नन्द क्षत्रिय वंश के बचेखुचे लोगों को नष्ट करेगा। इसलिए उसकी उपमा परशुराम से दी गई है, जिसने पिछले युग में क्षत्रियों को २१ बार ध्वंस किया था।

तस्य चाष्टौ भविष्यन्ति सुमाल्यप्रमुखाः सुताः ।
य इमां भोक्ष्यन्ति महीं राजानश्च शतं समाः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके (नन्द के); च—तथा; अष्टौ—आठ; भविष्यन्ति—जन्म लेंगे; सुमाल्य-प्रमुखाः—सुमाल्य इत्यादि; सुताः—पुत्र; ये—जो; इमाम्—इस; भोक्ष्यन्ति—भोग करेंगे; महीम्—पृथ्वी पर; राजानः—राजा; च—तथा; शतम्—एक सौ; समाः—वर्ष।

उसके सुमाल्य आदि आठ पुत्र होंगे जो पृथ्वी को एक सौ वर्षों तक शक्तिशाली राजाओं के रूप में अपने वश में रखेंगे।

नव नन्दान्द्विजः कश्चित्प्रपन्नानुद्धरिष्यति ।
तेषां अभावे जगतीं मौर्या भोक्ष्यन्ति वै कलौ ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

नव—नौ; नन्दान्—नन्दों (नन्द तथा उसके आठ पुत्रों); द्विजः—ब्राह्मण; कश्चित्—कोई; प्रपन्नान्—विश्वास करते हुए; उद्धरिष्यति—उन्मूलन करेगा; तेषाम्—उनकी; अभावे—अनुपस्थिति में; जगतीम्—पृथ्वी; मौर्याः—मौर्य वंश; भोक्ष्यन्ति—शासन करेगा; वै—निस्सन्देह; कलौ—इस कलियुग में।

कोई एक ब्राह्मण (चाणक्य) राजा नन्द तथा उसके आठ पुत्रों के साथ विश्वासघात करेगा और उनके वंश का विनाश कर देगा। उनके न रहने पर कलियुग में मौर्यगण विश्व पर शासन करेंगे।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर दोनों ही पुष्टि करते हैं कि यहाँ पर उल्लिखित ब्राह्मण चाणक्य है, जिसका दूसरा नाम कौटिल्य या वात्स्यायन है। *श्रीमद्भागवत* की यह महान् ऐतिहासिक कथा जो विराट जगत के प्राकट्य के पूर्व की घटनाओं से प्रारम्भ होती है, अब आधुनिक प्रलेखित इतिहास के क्षेत्र में प्रवेश करती है। आधुनिक इतिहासकार मौर्य वंश को तथा चन्द्रगुप्त को जिस राजा का निम्नलिखित श्लोक में वर्णन किया गया है, दोनों को, मान्यता प्रदान करते हैं।

स एव चन्द्रगुप्तं वै द्विजो राज्येऽभिषेक्ष्यति ।
तत्सुतो वारिसारस्तु ततश्चाशोकवर्धनः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (चाणक्य); एव—निस्सन्देह; चन्द्रगुप्तम्—राजकुमार चन्द्रगुप्त को; वै—निस्सन्देह; द्विजः—ब्राह्मण; राज्ये—राज्य में; अभिषेक्ष्यति—अभिषिक्त होगा; तत्—चन्द्रगुप्त का; सुतः—पुत्र; वारिसारः—वारिसार; तु—तथा; ततः—वारिसार के बाद; च—तथा; अशोकवर्धनः—अशोकवर्धन।

यह ब्राह्मण चन्द्रगुप्त को सिंहासन पर बैठायेगा जिसका पुत्र वारिसार होगा। वारिसार का पुत्र अशोकवर्धन होगा।

सुयशा भविता तस्य सङ्गतः सुयशःसुतः ।
शालिशूकस्ततस्तस्य सोमशर्मा भविष्यति ।
शतधन्वा ततस्तस्य भविता तद्बृहद्रथः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सुयशाः—सुयशा; भविता—उत्पन्न होगा; तस्य—उसके (अशोकवर्धन के); सङ्गतः—संगत; सुयशः-सुतः—सुयशा का पुत्र; शालिशूकः—शालिशूक; ततः—तत्पश्चात्; तस्य—उस (शालिशूक) के; सोमशर्मा—सोमशर्मा; भविष्यति—होगा; शतधन्वा—शतधन्वा; ततः—तत्पश्चात्; तस्य—उस (सोमशर्मा) के; भविता—होगा; तत्—उस (शतधन्वा) के; बृहद्रथः—बृहद्रथ।

अशोकवर्धन के बाद सुयशा होगा जिसका पुत्र संगत होगा। इसका पुत्र शालिशूक होगा जिसका पुत्र सोमशर्मा होगा। सोमशर्मा का पुत्र शतधन्वा होगा और इसका पुत्र बृहद्रथ कहलायेगा।

मौर्या ह्येते दश नृपाः सप्तत्रिंशच्छतोत्तरम् ।
समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीं कलौ कुरुकुलोद्वह ॥ १४॥

शब्दार्थ

मौर्याः—मौर्यगण; हि—निस्सन्देह; एते—ये; दश—दस; नृपाः—राजा; सप्त-त्रिंशत्—सैंतीस; शत—एक सौ; उत्तरम्—अधिक; समाः—वर्ष; भोक्ष्यन्ति—शासन करेंगे; पृथिवीम्—पृथ्वी पर; कलौ—कलियुग में; कुरु-कुल—कुरुवंश के; उद्वह—हे विख्यात वीर।

हे कुरुश्रेष्ठ, ये दस मौर्य राजा कलियुग के १३७ वर्षों तक पृथ्वी पर राज्य करेंगे।

तात्पर्य : यद्यपि नौ राजाओं के नाम लिये गये हैं, किन्तु संगत के राज्य के पूर्व सुज्येष्ठ के बाद दशरथ हुआ। इस तरह कुल दस मौर्य राजा थे।

अग्निमित्रस्ततस्तस्मात्सुज्येष्ठो भविता ततः ।
वसुमित्रो भद्रकश्च पुलिन्दो भविता सुतः ॥ १५॥

ततो घोषः सुतस्तस्माद्वज्रमित्रो भविष्यति ।
ततो भागवतस्तस्माद्देवभूतिः कुरूद्वह ॥ १६॥

शुङ्गा दशैते भोक्ष्यन्ति भूमिं वर्षशताधिकम् ।
ततः काण्वानियं भूमिर्यास्यत्यल्पगुणान्नृप ॥ १७॥

शब्दार्थ

अग्निमित्रः—अग्निमित्र; ततः—पुष्य मित्र से, वह सेनापति जो बृहद्रथ का वध करेगा; तस्मात्—उस (अग्निमित्र) से; सुज्येष्ठः—सुज्येष्ठ; भविता—होगा; ततः—उससे; वसुमित्रः—वसुमित्र; भद्रकः—भद्रक; च—तथा; पुलिन्दः—पुलिन्द; भविता—होगा; सुतः—पुत्र; ततः—उस (पुलिन्द) से; घोषः—घोष; सुतः—पुत्र; तस्मात्—उससे; वज्रमित्रः—वज्रमित्र; भविष्यति—होगा; ततः—उससे; भागवतः—भागवत; तस्मात्—उससे; देवभूति—देवभूति; कुरु-उद्वह—हे कुरुश्रेष्ठ; शुङ्गाः—शुंग; दश—दस; एते—ये; भोक्ष्यन्ति—भोग करेंगे; भूमिम्—पृथ्वी का; वर्ष—वर्ष; शत—एक सौ; अधिकम्—अधिक; ततः—तब; काण्वान्—काण्व वंश; इयम्—यह; भूमिः—पृथ्वी; यास्यति—के राज्य में आ जायेगी; अल्प-गुणान्—बहुत कम गुणों वाले; नृप—हे राजा परीक्षित।

हे राजा परीक्षित, इसके बाद अग्निमित्र राजा बनेगा, तब सुज्येष्ठ बनेगा। सुज्येष्ठ के बाद वसुमित्र, भद्रक तथा भद्रक का पुत्र पुलिन्द होंगे। इसके बाद पुलिन्द का पुत्र घोष शासन करेगा जिसके बाद वज्रमित्र, भागवत तथा देवभूति होंगे। इस तरह हे कुरुश्रेष्ठ, दस शुंग राजा पृथ्वी पर एक सौ वर्षों से अधिक तक राज्य करेंगे। तब यह पृथ्वी काण्व वंश के राजाओं के अधीन हो जायेगी जिनमें बहुत ही कम गुण होंगे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार शुंग वंश तब प्रारम्भ हुआ जब सेनापति पुष्पमित्र ने अपने ही राजा बृहद्रथ का वध कर डाला और सत्ता स्वयं हथिया ली। पुष्पमित्र के बाद अग्निमित्र तथा शुंग वंश के अन्य राजा हुए जिन्होंने ११२ वर्षों तक राज्य किया।

शुङ्गं हत्वा देवभूतिं काण्वोऽमात्यस्तु कामिनम् ।
स्वयं करिष्यते राज्यं वसुदेवो महामतिः ॥ १८॥

शब्दार्थ

शुङ्गम्—शुंग को; हत्वा—मार कर; देवभूतिम्—देवभूति; काण्वः—काण्व वंश का सदस्य; अमात्यः—उसका मंत्री; तु—लेकिन; कामिनम्—कामी; स्वयम्—स्वयं; करिष्यते—करेगा; राज्यम्—राज्य; वसुदेवः—वसुदेव नामक; महा-मतिः—अत्यन्त बुद्धिमान।

काण्व वंश से सम्बद्ध एक बुद्धिमान मंत्री वसुदेव, शुंग राजाओं में से देवभूति नामक अत्यन्त विलासी अन्तिम राजा को मारेगा और स्वयं शासन सँभालेगा।

तात्पर्य : स्पष्ट है कि चूँकि राजा देवभूति अन्य पुरुषों की स्त्रियों के पीछे दीवाना रहता (लम्पट) था इसलिए उसके मंत्री ने उसको मार डाला और सत्ता हथिया ली। इस प्रकार काण्व वंश का सूत्रपात हुआ।

तस्य पुत्रस्तु भूमित्रस्तस्य नारायणः सुतः ।
काण्वायना इमे भूमिं चत्वारिंशच्च पञ्च च ।
शतानि त्रीणि भोक्ष्यन्ति वर्षाणां च कलौ युगे ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उस (वसुदेव) का; पुत्रः—पुत्र; तु—तथा; भूमित्रः—भूमित्र; तस्य—उसका; नारायणः—नारायण; सुतः—पुत्र; काण्व-अयनाः—काण्व वंश के राजा; इमे—ये; भूमिम्—पृथ्वी; चत्वारिंशत्—चालीस; च—तथा; पञ्च—पाँच; च—तथा; शतानि—सौ; त्रीणि—तीन; भोक्ष्यन्ति—शासन करेंगे; वर्षाणाम्—वर्ष; च—तथा; कलौ युगे—कलियुग में।

वसुदेव का पुत्र भूमित्र होगा और उसका पुत्र नारायण होगा। काण्व वंश के ये राजा पृथ्वी पर कलियुग के अगले ३४५ वर्षों तक शासन चलायेंगे।

हत्वा काण्वं सुशर्माणं तद्भृत्यो वृषलो बली ।
गां भोक्ष्यत्यन्ध्रजातीयः कञ्चित्कालमसत्तमः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

हत्वा—मार कर; काण्वम्—काण्व राजा को; सुशर्माणम्—सुशर्मा नामक; तत्-भृत्यः—उसका नौकर; वृषलः—निम्न जाति का शूद्र; बली—बली नामक; गाम्—पृथ्वी पर; भोक्ष्यति—शासन करेगा; अन्ध्र-जातीयः—अन्ध्र जाति का; कञ्चित्—कुछ; कालम्—समय तक; असत्तमः—अत्यन्त भ्रष्ट।

काण्वों का अन्तिम राजा सुशर्मा, अन्ध्र जाति के अधम शूद्र बली नामक अपने ही नौकर के हाथों मारा जायेगा। यह अत्यन्त भ्रष्ट महाराज बली कुछ काल तक पृथ्वी पर शासन करेगा।

तात्पर्य : यहाँ पर अधिक जानकारी यह मिलती है कि किस तरह सरकारी प्रशासन में असंस्कृत लोग प्रविष्ट हो चुके थे। बली नामक तथाकथित राजा को *असत्तम* अर्थात् नितान्त अपवित्र, असभ्य व्यक्ति कहा गया है।

कृष्णनामाथ तद्भ्राता भविता पृथिवीपतिः ।
श्रीशान्तकर्णस्तत्पुत्रः पौर्णमासस्तु तत्सुतः ॥ २१ ॥

लम्बोदरस्तु तत्पुत्रस्तस्माच्चिबिलको नृपः ।
मेघस्वातिश्चिबिलकादटमानस्तु तस्य च ॥ २२ ॥

अनिष्टकर्मा हालेयस्तलकस्तस्य चात्मजः ।
पुरीषभीरुस्तत्पुत्रस्ततो राजा सुनन्दनः ॥ २३ ॥

चकोरो बहवो यत्र शिवस्वातिररिन्दमः ।
तस्यापि गोमती पुत्रः पुरीमान्भविता ततः ॥ २४ ॥

मेदशिराः शिवस्कन्दो यज्ञश्रीस्तत्सुतस्ततः ।
विजयस्तत्सुतो भाव्यश्चन्द्रविज्ञः सलोमधिः ॥ २५ ॥

एते त्रिंशन्नृपतयश्चत्वार्यब्दशतानि च ।
षट्पञ्चाशच्च पृथिवीं भोक्ष्यन्ति कुरुनन्दन ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

कृष्ण-नाम—कृष्ण नामक; अथ—तब; तत्—उस (बली) का; भ्राता—भाई; भविता—होगा; पृथिवी-पतिः—पृथ्वी का स्वामी; श्री-शान्तकर्णः—श्री शान्तकर्ण; तत्—कृष्ण का; पुत्रः—पुत्र; पौर्णमासः—पौर्णमास; तु—तथा; तत्-सुतः—उसका पुत्र; लम्बोदरः—लम्बोदर; तु—तथा; तत्-पुत्रः—उसका पुत्र; तस्मात्—उस (लम्बोदर) से; चिबिलकः—चिबिलक; नृपः—राजा; मेघस्वातिः—मेघस्वाति; चिबिलकात्—चिबिलक से; अटमानः—अटमान; तु—तथा; तस्य—उस (मेघस्वाति) का; च—तथा; अनिष्टकर्मा—अनिष्टकर्मा; हालेयः—हालेय; तलकः—तलक; तस्य—उस (हालेय) का; च—तथा; आत्म-जः—पुत्र; पुरीषभीरुः—पुरीषभीरु; तत्—तलक का; पुत्रः—पुत्र; ततः—तब; राजा—राजा; सुनन्दनः—सुनन्दन; चकोरः—चकोर; बहवः—बहुगण; यत्र—जिनमें से; शिवस्वातिः—शिवस्वाति; अरिम्दमः—शत्रुओं का दमन करने वाला; तस्य—उसके; अपि—भी; गोमती—गोमती; पुत्रः—पुत्र; पुरीमान्—पुरीमान; भविता—होगा; ततः—उस (गोमती) से; मेदशिराः—मेदशिरा; शिवस्कन्दः—शिवस्कन्द; यज्ञश्रीः—यज्ञश्री; तत्—शिवस्कन्द का; सुतः—पुत्र; ततः—तब; विजयः—विजय; तत्-सुतः—उसका पुत्र; भाव्यः—होगा; चन्द्रविज्ञः—चन्द्रविज्ञ; स-लोमधिः—लोमधि सहित; एते—ये; त्रिंशत्—तीस; नृ-पतयः—राजा; चत्वारि—चार; अब्द-शतानि—शताब्दियों; च—तथा; षट्-पञ्चासत्—छप्पन; च—तथा; पृथिवीम्—पृथ्वी पर; भोक्ष्यन्ति—शासन करेंगे; कुरु-नन्दन—हे कुरुओं के प्रिय पुत्र।

बली का भाई, कृष्ण, पृथ्वी का अगला शासक बनेगा। उसका पुत्र शान्तकरण होगा और शान्तकरण का पुत्र पौर्णमास होगा। पौर्णमास का पुत्र लम्बोदर होगा जिसका पुत्र महाराज चिबिलक होगा। चिबिलक से मेघस्वाति उत्पन्न होगा जिसका पुत्र अटमान होगा। अटमान का पुत्र अनिष्टकर्मा होगा। उसका पुत्र हालेय होगा जिसका पुत्र तलक होगा। तलक का पुत्र पुरीषभीरु होगा और उसके बाद सुनन्दन राजा बनेगा। सुनन्दन के बाद चकोर तथा आठ बहुगण होंगे जिनमें से शिवस्वाति शत्रुओं का महान् दमनकर्ता होगा। शिवस्वाति का पुत्र गोमती होगा जिसका पुत्र पुरीमान होगा। पुरीमान का पुत्र मेदशिरा होगा। उसका पुत्र शिवस्कन्द होगा जिसका पुत्र यज्ञश्री होगा। यज्ञश्री का पुत्र विजय होगा जिसके दो पुत्र होंगे—चन्द्रविज्ञ तथा लोमधि। हे कुरुओं के प्रिय पुत्र, ये तीस राजा पृथ्वी पर कुल ४५६ वर्षों तक अपनी प्रभुसत्ता बनाये रखेंगे।

सप्ताभीरा आवभृत्या दश गर्दभिनो नृपाः ।
कङ्काः षोडश भूपाला भविष्यन्त्यतिलोलुपाः ॥ २७॥

शब्दार्थ

सप्त—सात; आभीराः—आभीर; आवभृत्याः—अवभृति नगरी के; दश—दस; गर्दभिनः—गर्दभी; नृपाः—राजा; कङ्काः—कंक; षोडश—सोलह; भू-पालाः—पृथ्वी के शासक; भविष्यन्ति—होंगे; अति-लोलुपाः—अत्यन्त लालची।

तत्पश्चात् अवभृति नगरी की आभीर जाति के सात राजा होंगे और तब दस गर्दभी होंगे। उनके बाद कंक के सोलह राजा शासन करेंगे और वे अपने अत्यधिक लोभ के लिए विख्यात होंगे।

ततोऽष्टौ यवना भाव्याश्चतुर्दश तुरुष्ककाः ।
भूयो दश गुरुण्डाश्च मौला एकादशैव तु ॥ २८॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; अष्टौ—आठ; यवनाः—यवनगण; भाव्याः—होंगे; चतुः-दश—चौदह; तुरुष्ककाः—तुरुष्क; भूयः—इसके भी आगे; दश—दस; गुरुण्डाः—गुरुण्ड; च—तथा; मौलाः—मौल; एकादश—ग्यारह; एव—निस्सन्देह; तु—तथा।

तब आठ यवन शासन सँभालेंगे जिनके बाद चौदह तुरुष्क, दस गुरुण्ड तथा ग्यारह मौल वंश के राजा होंगे।

एते भोक्ष्यन्ति पृथिवीं दश वर्षशतानि च ।
नवाधिकां च नवतिं मौला एकादश क्षितिम् ॥ २९॥
भोक्ष्यन्त्यब्दशतान्यङ्ग त्रीणि तैः संस्थिते ततः ।
किलकिलायां नृपतयो भूतनन्दोऽथ वङ्गिरिः ॥ ३०॥
शिशुनन्दिश्च तद्भ्राता यशोनन्दिः प्रवीरकः ।
इत्येते वै वर्षशतं भविष्यन्त्यधिकानि षट् ॥ ३१॥

शब्दार्थ

एते—ये; भोक्ष्यन्ति—शासन करेंगे; पृथिवीम्—पृथ्वी पर; दश—दस; वर्ष-शतानि—शताब्दी; च—तथा; नव-अधिकाम्—और नौ; च—तथा; नवतिम्—नब्बे; मौलाः—मौल; एकादश—ग्यारह; क्षितिम्—संसार पर; भोक्ष्यन्ति—शासन करेंगे; अब्द-शतानि—शताब्दी; अङ्ग—हे परीक्षित; त्रीणि—तीन; तैः—उनके द्वारा; संस्थिते—सबों के मृत होने पर; ततः—तब; किलकिलायाम्—किलकिला नगरी में; नृ-पतयः—राजागण; भूतनन्दः—भूतनन्द; अथ—और तब; वङ्गिरिः—वंगिरि; शिशुनन्दिः—शिशुनन्दि; च—तथा; तत्—उसका; भ्राता—भाई; यशोनन्दिः—यशोनन्दि; प्रवीरकः—प्रवीरक; इति—इस प्रकार; एते—ये; वै—निस्सन्देह; वर्ष-शतम्—एक सौ वर्ष; भविष्यन्ति—होंगे; अधिकानि—अधिक, और; षट्—छः।

ये आभीर, गर्दभी तथा कंक १०९९ वर्षों तक पृथ्वी का भोग करेंगे और मौलगण ३०० वर्षों तक राज्य करेंगे। इन सबों के दिवंगत होने पर किलकिला नगरी में भूतनन्द, वंगिरि, शिशुनन्दि, उसका भाई यशोनन्दि तथा प्रवीरक नामक राजाओं का वंश उदय होगा।

किलकिला के ये राजा कुल मिलाकर १०६ वर्षों तक प्रभुत्व जमाये रखेंगे।

तेषां त्रयोदश सुता भवितारश्च बाह्लिकाः ।
पुष्पमित्रोऽथ राजन्यो दुर्मित्रोऽस्य तथैव च ॥ ३२॥

एककाला इमे भूपाः सप्तान्ध्राः सप्त कौशलाः ।
विदूरपतयो भाव्या निषधास्तत एव हि ॥ ३३॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उनके (भूतनन्द तथा किलकिला वंश के अन्य राजाओं के); त्रयोदश—तेरह; सुताः—पुत्र; भवितारः—होंगे; च—तथा; बाह्लिकाः—बाह्लिक; पुष्पमित्रः—पुष्पमित्र; अथ—तब; राजन्यः—राजा; दुर्मित्रः—दुर्मित्र; अस्य—उसका (पुत्र); तथा—भी; एव—निस्सन्देह; च—तथा; एक-कालाः—एक ही समय शासन कर रहे; इमे—ये; भू-पाः—राजा; सप्त—सात; अन्ध्राः—अन्ध्र; सप्त—सात; कौशलाः—कौशल देश के राजा; विदूर-पतयः—विदूर के शासक; भाव्याः—होंगे; निषधाः—निषध; ततः—तब (बाह्लिकों के बाद); एव हि—निस्सन्देह।

किलकिलाओं के बाद उनके तेरह पुत्र, बाह्लिक होंगे और उनके बाद राजा पुष्पमित्र, उसका पुत्र दुर्मित्र, सात अन्ध्र, सात कौशल तथा विदूर और निषध प्रान्तों के राजा भी एक ही समय विश्व के अलग-अलग भागों में शासन करेंगे।

मागधानां तु भविता विश्वस्फूर्जिः पुरञ्जयः ।
करिष्यत्यपरो वर्णान्पुलिन्दयदुमद्रकान् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

मागधानाम्—मगध प्रान्त के; तु—तथा; भविता—होंगे; विश्वस्फूर्जिः—विश्वस्फूर्जि; पुरञ्जयः—राजा पुरञ्जय; करिष्यति—बनायेगा; अपरः—दूसरे; वर्णान्—सारे सभ्य मनुष्य; पुलिन्द-यदु-मद्रकान्—पुलिन्द, यदु तथा मद्रक जैसे अछूतों में।

तब मागधों का राजा विश्वस्फूर्जि प्रकट होगा जो दूसरे पुरञ्जय के समान होगा। वह समस्त सभ्य वर्णों को निम्न श्रेणी के असभ्य मनुष्यों में बदल देगा, जिस तरह पुलिन्द, यदु तथा मद्रक होते हैं।

प्रजाश्चाब्रह्मभूयिष्ठाः स्थापयिष्यति दुर्मतिः ।
वीर्यवान्क्षत्रमुत्साद्य पद्मवत्यां स वै पुरि ।
अनुगङ्गमाप्रयागं गुप्तां भोक्ष्यति मेदिनीम् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

प्रजाः—नागरिक; च—तथा; अब्रह्म—जो ब्राह्मण नहीं है; भूयिष्ठाः—मुख्य रूप से; स्थापयिष्यति—बनायेगा; दुर्मतिः—मूर्ख (विश्वस्फूर्जि); वीर्य-वन्—शक्तिशाली; क्षत्रम्—क्षत्रिय जाति; उत्साद्य—विनष्ट करके; पद्मवत्याम्—पद्मवती में; सः—वह; वै—निस्सन्देह; पुरि—नगरी में; अनु-गङ्गम्—गंगा द्वारा (हरद्वार) से; आ-प्रयागम्—प्रयाग तक; गुप्ताम्—सुरक्षित; भोक्ष्यति—शासन करेगा; मेदिनीम्—पृथ्वी पर।

मूर्ख राजा विश्वस्फूर्जि सारे नागरिकों को नास्तिकता की ओर ले जाएगा और अपनी शक्ति का उपयोग क्षत्रिय जाति को पूर्णतया ध्वंस करने में करेगा। वह अपनी राजधानी

पद्मवती में गंगा के उद्गम से लेकर प्रयाग तक शासन करेगा।

सौराष्ट्रावन्त्याभीराश्च शूरा अर्बुदमालवाः ।
व्रात्या द्विजा भविष्यन्ति शूद्रप्राया जनाधिपाः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

शौराष्ट्र—सौराष्ट्र; अवन्ती—अवन्ती; आभीराः—तथा आभीर में निवास करने वाले; च—तथा; शूराः—शूर प्रान्त में रहने वाले; अर्बुद-मालवाः—अर्बुद तथा मालव में रहने वाले; व्रात्याः—सारे संस्कारों से विपथ; द्विजाः—ब्राह्मण; भविष्यन्ति—होंगे; शूद्र-प्रायाः—शूद्रों जैसे ही; जन-अधिपाः—राजागण।

उस काल में सौराष्ट्र, अवन्ती, आभीर, शूर, अर्बुद तथा मालव प्रान्तों के ब्राह्मण अपने सारे विधि-विधान भूल जायेंगे और इन स्थानों के राजवंशों के सदस्य शूद्रों जैसे ही होंगे।

सिन्धोस्तटं चन्द्रभागां कौन्तीं काश्मीरमण्डलम् ।
भोक्ष्यन्ति शूद्रा व्रात्याद्या म्लेच्छाश्चाब्रह्मवर्चसः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

सिन्धोः—सिन्धु नदी के; तटम्—तट पर; चन्द्रभागाम्—चन्द्रभागा; कौन्तीम्—कौन्ती; काश्मीर-मण्डलम्—काश्मीर का क्षेत्र; भोक्ष्यन्ति—शासन करेगा; शूद्राः—शूद्रजन; व्रात्य-आद्याः—ब्राह्मण-पद से च्युत ब्राह्मण तथा दूसरे अयोग्य पुरुष; म्लेच्छाः—मांसभक्षक; च—तथा; अब्रह्म-वर्चसः—आध्यात्मिक शक्ति से रहित।

सिन्धु नदी का तटवर्ती भाग तथा चन्द्रभागा, कौन्ती एवं काश्मीर के जनपद शूद्रों, पतित ब्राह्मणों और मांसाहारियों के द्वारा शासित होंगे। वे वैदिक सभ्यता के मार्ग को त्याग कर समस्त आध्यात्मिक शक्ति खो चुकेंगे।

तुल्यकाला इमे राजन्म्लेच्छप्रायाश्च भूभृतः ।
एतेऽधर्मानृतपराः फल्गुदास्तीव्रमन्यवः ॥ ३८॥

शब्दार्थ

तुल्य-कालाः—एक ही समय शासन कर रहे; इमे—ये; राजन्—हे राजा परीक्षित; म्लेच्छ-प्रायाः—अछूतों जैसे ही; च—तथा; भू-भृतः—राजागण; एते—ये; अधर्म—अधर्म; अनृत—तथा असत्य के प्रति; पराः—समर्पित; फल्गु-दाः—अपनी प्रजा को नाममात्र का लाभ देने वाले; तीव्र—भयानक; मन्यवः—उनका क्रोध।

हे राजा परीक्षित, एक ही समय शासन करने वाले ऐसे अनेक असभ्य राजा होंगे और वे सब के सब दान न देने वाले, अत्यन्त क्रोधी तथा अधर्म और असत्य के महान् भक्त होंगे।

स्त्रीबालगोद्विजघ्नाश्च परदारधनादृताः ।
उदितास्तमितप्राया अल्पसत्त्वाल्पकायुषः ॥ ३९॥
असंस्कृताः क्रियाहीना रजसा तमसावृताः ।
प्रजास्ते भक्षयिष्यन्ति म्लेच्छा राजन्यरूपिणः ॥ ४०॥

शब्दार्थ

स्त्री—स्त्रियों; बाल—बालकों; गो—गौवों; द्विज—तथा ब्राह्मणों के; घ्नाः—हत्यारे; च—तथा; पर—अन्य मनुष्यों के; दार—स्त्रियाँ; धन—तथा धन; आहृताः—रुचि लेते हुए; उदित-अस्त-मित—बढ़ते तथा घटते स्वभाव वाले; प्रायाः—अधिकांशतः; अल्प-सत्त्व—थोड़े बल वाले; अल्पक-आयुषः—अल्पायु वाले; असंस्कृताः—वैदिक अनुष्ठानों से शुद्ध नहीं हुए; क्रिया-हीनाः—विधि-विधानों से रहित; रजसा—रजोगुण से; तमसा—तथा तमोगुण से; आवृताः—ढके; प्रजाः—नागरिक; ते—वे; भक्षयिष्यन्ति—निगल जायेंगे; म्लेच्छाः—अछूत; राजन्य-रूपिणः—राजा के रूप में।

ये बर्बर लोग राजा के वेश में निर्दोष स्त्रियों, बच्चों, गौवों तथा ब्राह्मणों की हत्या करके तथा अन्य पुरुषों की पत्नियों को लुभाकर तथा सम्पत्ति को लूट करके सारी प्रजा का भक्षण कर जायेंगे। उनका स्वभाव अनियमित होगा, उनमें चरित्र बल नहीं के बराबर होगा तथा वे अल्पायु होंगे। निस्सन्देह, किसी वैदिक अनुष्ठान से शुद्ध न होने तथा विधि-विधानों के अभाव में, वे रजो तथा तमोगुणों से पूरी तरह प्रच्छन्न होंगे।

तात्पर्य : ये श्लोक इस युग के पतित नेताओं का संक्षिप्त किन्तु यथातथ्य विवरण प्रस्तुत करते हैं।

तन्नाथास्ते जनपदास्तच्छीलाचारवादिनः ।
अन्योन्यतो राजभिश्च क्षयं यास्यन्ति पीडिताः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

तत्-नाथाः—इन राजाओं को शासक रूप में पाने वाली प्रजा; ते—वे; जन-पदाः—नगरों के वासी; तत्—इन राजाओं के; शील—चरित्र; आचार—आचरण; वादिनः—तथा वाणी; अन्योन्यतः—परस्पर; राजभिः—राजाओं द्वारा; च—तथा; क्षयम् यास्यन्ति—विनष्ट हो जायेंगे; पीडिताः—सताये हुए।

इन निम्न जाति के राजाओं द्वारा शासित प्रजा अपने शासकों के चरित्र, आचरण तथा वाणी का अनुकरण करेगी। वे लोग अपने अपने नायकों से तथा एक-दूसरे से सताये जाकर विनष्ट हो जायेंगे।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के नवम स्कन्ध के अन्त में यह कहा गया है कि इस अध्याय में वर्णित सर्वप्रथम राजा, रिपुञ्जय या पुरञ्जय, का शासन भगवान् कृष्ण के समय से लगभग १,००० वर्ष बाद समाप्त हुआ था। चूँकि भगवान् कृष्ण लगभग ५,००० वर्ष पहले प्रकट हुए थे अतएव पुरञ्जय लगभग ४,००० वर्ष पूर्व हुआ होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि अंतिम राजा विश्वस्फूर्जि ईसा की बारहवीं सदी में हुआ होगा।

आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने यह झूठा आरोप लगा रखा है कि भारत के धार्मिक साहित्य में तिथिवार इतिहास नहीं है। किन्तु इस अध्याय में वर्णित विस्तृत ऐतिहासिक तिथिक्रम इस झूठे आरोप का खण्डन करता है।

इस तरह श्रीमद्भागवत के बारहवें स्कंध के अन्तर्गत ''कलियुग के पतित वंश'' नामक प्रथम अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दो

कलियुग के लक्षण

इस अध्याय में यह बतलाया गया है कि जब कलियुग के दुर्गुण असह्य हद तक बढ़ जायेंगे तो भगवान् कल्कि के रूप में अधर्म में रत लोगों का विनाश करने के लिए अवतरित होंगे। तब फिर नया सत्ययुग प्रारम्भ होगा।

कलियुग की प्रगति के साथ साथ लोगों में सद्गुणों का ह्रास होता है और अशुद्ध गुणों की वृद्धि होती है। तथाकथित नास्तिक धर्म वैदिक आचार संहिता को हटाकर प्रधान बन जाता है। राजा बटमार बन जाते हैं और प्रजा निम्न वृत्तियाँ अपना लेती है। सारे सामाजिक वर्ण शूद्र जैसे हो जाते हैं। सारी गौवें बकरियाँ जैसी हो जाती हैं। सारी आध्यात्मिक कुटिया भौतिकतावादी घरों जैसी हो जाती हैं और पारिवारिक सम्बन्ध निकट-विवाह-सम्बन्ध तक सीमित हो जाते हैं।

जब कलियुग समाप्त प्राय होगा तो भगवान् अवतरित होंगे। वे विष्णुयशा नामक उच्च ब्राह्मण के घर में शम्भल नामक ग्राम में प्रकट होंगे और कल्कि नाम से विख्यात होंगे। वे अपने घोड़े देवदत्त पर सवार होंगे और अपने हाथ में तलवार लेकर पृथ्वी पर विचरण करते हुए राजाओं के वेश में रहने वाले लाखों डाकुओं का वध करेंगे। तब अगले सत्ययुग के लक्षण प्रकट होने लगेंगे। जब चन्द्र, सूर्य तथा बृहस्पति एक ही राशि पर होंगे और पुष्या नक्षत्र से जा मिलेंगे तो सत्ययुग प्रारम्भ होगा। इस ब्रह्माण्ड में जीवों के समाज में चार युगों का अर्थात् सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलि का इस क्रम से चक्र चलता है।

इस अध्याय का समापन अगले सत्ययुग में वैवस्वत मनु से प्रारम्भ होने वाले भावी चन्द्र तथा सूर्य वंशों के संक्षिप्त वर्णन के साथ होता है। अब भी दो सन्त स्वभाव वाले क्षत्रिय रह रहे हैं, जो इस कलियुग की समाप्ति पर सूर्य देव विवस्वान तथा चन्द्र देव के पवित्र वंशों को फिर से चालू करेंगे। इन राजाओं में से एक देवापि है, जो महाराज शान्तनु का भाई है और दूसरा मरु है, जो इक्ष्वाकु का वंशज है। वे कलाप नामक ग्राम में अज्ञात रह कर अपना समय काट रहे हैं।

श्रीशुक उवाच
ततश्चानुदिनं धर्मः सत्यं शौचं क्षमा दया ।
कालेन बलिना राजन्नङ्क्ष्यत्यायुर्बलं स्मृतिः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; ततः—तब; च—तथा; अनुदिनम्—दिन प्रतिदिन; धर्मः—धर्म; सत्यम्—सत्य; शौचम्—शुद्धता; क्षमा—सहनशक्ति; दया—दया; कालेन—काल की शक्ति से; बलिना—प्रबल; राजन्—हे राजा परीक्षित; नङ्क्ष्यति—नष्ट हो जायेगी; आयुः—उम्र; बलम्—बल; स्मृतिः—स्मरणशक्ति।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा, तब कलियुग के प्रबल प्रभाव से धर्म, सत्य, पवित्रता, क्षमा, दया, आयु, शारीरिक बल तथा स्मरणशक्ति दिन प्रतिदिन घटते जायेंगे।

तात्पर्य : जैसाकि इस श्लोक में वर्णन हुआ है, वर्तमान युग, कलियुग, में प्रायः सारे वांछित गुणों का क्रमशः ह्रास होगा। उदाहरणार्थ, उच्चतर सत्ता के प्रति सम्मान के सूचक धर्म का जो

धार्मिक सिद्धान्तों का पालन करने के लिए प्रेरित करता है, ह्रास होगा।

पाश्चात्य जगत में धर्माधिकारी लोग ईश्वर के नियमों को, या स्वयं ईश्वर को, लोगों के समक्ष वैज्ञानिक रीति से प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे हैं, फलस्वरूप पाश्चात्य बौद्धिक इतिहास में धर्मशास्त्र तथा विज्ञान के मध्य एक कठोर द्वन्द्व उठ खड़ा हुआ है। इस झगड़े से निपटने के उद्देश्य से कुछ धर्माचार्य अपने सिद्धान्तों को संशोधित करने के लिए तैयार हो गये हैं जिससे वे न केवल वैज्ञानिक तथ्यों के अनुरूप बने अपितु उन छद्म वैज्ञानिक चिन्तनों तथा धारणाओं के भी अनुरूप हो, जो सिद्ध न होने पर भी विज्ञान के क्षेत्र में कपट से सम्मिलित हो गये हैं। दूसरी ओर वे उन्मादी धर्माचार्य हैं, जिन्हें वैज्ञानिक विधि बिल्कुल मान्य नहीं है और वे अपने पुरातन साम्प्रदायिक अन्धविश्वासों की सत्यता की दुहाई देते हैं।

इस तरह क्रमबद्ध वैदिक धर्मशास्त्र से विहीन, भौतिक विज्ञान स्थूल भौतिकतावाद के विध्वंसक क्षेत्र में चला गया है, जबकि चिन्तनपरक पाश्चात्य दर्शन सापेक्ष नीतिशास्त्र एवं अनिश्चित भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण की ओर बहक गया है। यद्यपि भौतिकतावादी विश्लेषण के प्रति पश्चिम के अनेक सर्वश्रेष्ठ विद्वान समर्पित हैं किन्तु बौद्धिक धारा से कटा हुआ अधिकांश पश्चिम का धार्मिक जीवन असमान उन्मादवाद तथा अवैध योगिक एवं गुह्य सम्प्रदायों से छाया हुआ है। लोग ईश-विज्ञान से इस हद तक अनजान हैं कि वे कभी कभी कृष्णभावनामृत आन्दोलन को धर्म-विज्ञान तथा धर्म के कल्पनाशील प्रयासों के इस विषम घालमेल के साथ नत्थी कर देते हैं। इस तरह, सच्चा धर्म जो भगवद्विधि का कठोर चेतन आज्ञा-पालन है, पतन की ओर अग्रसर हो रहा है।

सत्यम् का भी ह्रास हो रहा है क्योंकि लोग यह नहीं जानते कि सत्य है क्या। परब्रह्म को जाने बिना केवल काल्पनिक आपेक्षिक सत्यों का ढेर लगा देने से जीवन के असली महत्त्व या उद्देश्य को स्पष्टया नहीं समझा जा सकता।

क्षमा का भी ह्रास हो रहा है क्योंकि ऐसी कोई व्यावहारिक विधि नहीं जिसके द्वारा लोग अपने को शुद्ध बना सकें और इस तरह ईर्ष्या-द्वेष से मुक्त हो सकें। जब तक मनुष्य आध्यात्मिक सुधार के किसी प्रामाणिक कार्यक्रम के अन्तर्गत भगवन्नाम कीर्तन करके शुद्ध नहीं हो लेता, तब तक उसका मन क्रोध, ईर्ष्या तथा क्षुद्रता से भरा रहेगा। इस तरह *दया* का भी ह्रास हो रहा है। सारे जीव ईश्वर के दैवी अस्तित्व में सहभागी होने के कारण शाश्वत रूप से जुड़े हुए हैं। जब नास्तिकता तथा संशयवाद द्वारा ऐसी एकता प्रच्छन्न हो जाती है, तो लोग एक-दूसरे पर दया नहीं दिखाते; वे अन्य जीवों के कल्याण-कार्य को सम्वर्धित करने में अपना स्वार्थ नहीं पहचान पाते। वस्तुत: लोग अपने प्रति भी दयालु नहीं रह जाते। वे मदिरा, नशीली दवाओं, तम्बाकू, मांसाहार, यौन-असंयम तथा जो भी इन्द्रियतृप्ति के सस्ते साधन उपलब्ध हो सकें उनके द्वारा अपने को क्रमबद्ध रूप में विनष्ट करते रहते हैं।

क्योंकि इन सारी आत्मविनाशी आदतों तथा काल के प्रबल प्रभाव से औसत आयु घट रही

है। आधुनिक विज्ञानी जनता का विश्वास जीतने के लिए प्राय: आँकडे प्रकाशित करते रहते हैं, जो यह दिखाते प्रतीत होते हैं कि विज्ञान ने औसत आयु बढ़ा दी है। किन्तु ये आँकडे गर्भपात की क्रूर प्रक्रिया द्वारा मारे जाने वाले लोगों की संख्या का कोई लेखाजोखा नहीं बताते। जब हम गर्भपात द्वारा मारे गये बच्चों की संख्या को कुल जनसंख्या की जीवन-संभावना में सम्मिलित कर लेते हैं, तो हम देखते हैं कि कलियुग में औसत आयु बढ़ी नहीं, अपितु बड़े स्तर पर घट रही है।*

बलम् अर्थात् शारीरिक बल भी घट रहा है। वैदिक साहित्य बतलाता है कि ५,००० वर्ष पूर्व के युग में मनुष्य तो मनुष्य, पशु तथा पौधे भी लम्बे और अधिक बलवान होते थे। कलियुग के अग्रसर होने के साथ शारीरिक आकार-प्रकार तथा बल में क्रमिक ह्रास आयेगा।

स्मृति तो निश्चित रूप से क्षीण हो रही है। पूर्ववर्ती युगों में मनुष्यों की स्मृति अच्छी थी। और उन्हें आज के जैसे उग्र नौकरशाही एवं तकनीकी समाज से पाला नहीं पड़ता था। इस तरह बिना लिखे ही आवश्यक सूचना तथा विद्या सुरक्षित थी। निस्संदेह, कलियुग में सारी बातों में नाटकीय परिवर्तन आया है।

*१९८४ वर्ष के लिए अमेरिका के आँकड़ों के संक्षेपण के अनुसार, अमेरिका में १९८२ में लगभग ३७ लाख जीवित बच्चों का जन्म हुआ और जन्म के समय की औसत जीवन-संभावना ७४ वर्ष ६ मास थी। किन्तु जब जीवित-जन्म-संख्या में १५ लाख गर्भपात जोड़ दिए गए, तब गर्भित शिशुओं की औसत जीवन-संभावना गिर कर ५३ वर्ष रह गई।

वित्तमेव कलौ नृणां जन्माचारगुणोदय: ।
धर्मन्यायव्यवस्थायां कारणं बलमेव हि ॥ २॥

शब्दार्थ

वित्तम्—धन; **एव**—केवल; **कलौ**—कलियुग में; **नृणाम्**—आदमियों में; **जन्म**—उत्तम जन्म का; **आचार**—अच्छा व्यवहार; **गुण**—तथा सद्गुण; **उदय:**—प्रकट होने का कारण; **धर्म**—धार्मिक कर्तव्य; **न्याय**—तथा तर्क की; **व्यवस्थायाम्**—व्यवस्था में; **कारणम्**—कारण; **बलम्**—बल; **एव**—एकमात्र; **हि**—निस्सन्देह।

कलियुग में एकमात्र सम्पत्ति को ही मनुष्य के उत्तम जन्म, उचित व्यवहार तथा सद्गुणों का लक्षण माना जायेगा। कानून तथा न्याय तो मनुष्य के बल के अनुसार ही लागू होंगे।

तात्पर्य : कलियुग में मनुष्य अपनी आर्थिक स्थिति के ही अनुसार उच्च, मध्यम या निम्न श्रेणी का माना जाता है, फिर उसका ज्ञान, संस्कृति तथा आचरण चाहे जैसे हों। इस युग में समृद्ध पड़ोस वाले अनेक औद्योगिक तथा व्यापारिक नगर धनियों के लिए सुरक्षित हैं। राजसी दिखने वालेघरों के भीतर सुन्दर वृक्षों की पंक्तिबद्ध सड़कों पर अनेक दुराचारी पापमय कृत्यों का होना कोई असामान्य बात नहीं होती। वैदिक कसौटी के अनुसार केवल वह व्यक्ति उच्च श्रेणी का माना जाता है यदि उसका आचरण प्रबुद्ध है और उसका आचरण प्रबुद्ध तब माना जाता है यदि उसके कार्यकलाप सारे प्राणियों के सुख का सम्वर्धन करने वाले हों। प्रत्येक जीव मूलत: सुखी है क्योंकि सारे जीवों में एक नित्य आध्यात्मिक स्फुलिंग रहता है, जो ईश्वर के दैवी सचेतन स्वभाव का भाग

होता है। जब हमारी मूल आध्यात्मिक जागरूकता जागृत हो उठती है, तो हम सहज ही आनन्द तथा ज्ञान और शान्ति में तुष्ट हो जाते हैं। एक प्रबुद्ध या शिक्षित मनुष्य को अपना आध्यात्मिक ज्ञान जागृत करने का प्रयास करना चाहिए और अन्यों को भी उस दिव्य चेतना का अनुभव कराने में सहायक बनना चाहिए।

महान् पाश्चात्य दार्शनिक शूकरात ने कहा था कि यदि मनुष्य को प्रबुद्ध बना दिया जाय तो वह स्वत: उत्तम कर्म करेगा और श्रील प्रभुपाद इस तथ्य की पुष्टि करते थे। किन्तु कलियुग में इस स्पष्ट सत्य की उपेक्षा की जाती है। और ज्ञान तथा सद्‌गुण की खोज का स्थान धन के लिए दूषित पाशविक स्पर्धा ने ले लिया है। जो लोग इसमें सफल होते हैं, वे आधुनिक समाज के उच्च लोग बन जाते हैं और उनकी उपभोग शक्ति उन्हें सर्वाधिक आदरणीय, राजसी तथा शिक्षित पद दिलाती है।

यह श्लोक यह भी बतलाता है कि कलियुग में केवल बल (*बलम् एव*) ही कानून तथा न्याय का निर्धारण करेगा। हमें यह स्मरण रखना होगा कि प्रगतिशील वैदिक संस्कृति में आध्यात्मिक तथा सर्वसाधारण जगतों में कोई कृत्रिम द्वन्द्व नहीं रहता था। सारे सभ्य लोग इसे मानकर चलते थे कि ईश्वर सर्वत्र है और उनके नियम सभी प्राणियों पर लागू होते हैं। इसलिए *धर्म* शब्द मनुष्य की सामाजिक या सार्वजनिक बाध्यता के साथ ही धार्मिक कर्तव्य का भी सूचक है। इस तरह अपने परिवार का कर्तव्य समझ कर ध्यान रखना भी धर्म है और भगवान् की प्रेमाभक्ति में संलग्न होना भी धर्म है। किन्तु यह श्लोक इंगित करता है कि कलियुग में ''जिसकी लाठी उसकी भैस'' वाली कहावत चरितार्थ होती रहेगी।

इस स्कन्ध के प्रथम अध्याय में हमने देखा कि यह सिद्धान्त किस तरह भारत के भूतकाल तक घुस चुका था। इसी तरह जब पाश्चात्य जगत को ऐशियाई देशों के ऊपर राजनीतिक, आर्थिक तथा टेक्नालाजिकल नेतृत्व प्राप्त हुआ तो यह बेहूदा प्रचार किया गया कि भारतीय बल्कि सामान्यतया सभी गैर-पाश्चात्य, धर्म, धर्म-विज्ञान और दर्शन आदिम अवस्था में हैं और अवैज्ञानिक हैं—मात्र कपोल कल्पना और अंधविश्वास हैं। सौभाग्यवश अब यह उद्धत तथा तर्कशून्य दृष्टिकोण समाप्त हो रहा है और सारे विश्व के लोग भारत के संस्कृत साहित्य में उपलब्ध आध्यात्मिक दर्शन तथा विज्ञान की लड़खड़ाती सम्पत्ति की प्रशंसा करने लगे हैं। दूसरे शब्दों में, अनेक बुद्धिमान लोग परम्परागत पाश्चात्य धर्म को प्रामाणिक इसीलिए नहीं मानते क्योंकि पश्चिम ने राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से मानवता के अन्य भौगोलिक तथा धार्मिक रूपों को दमित किया है। इस तरह अब आशा बँधी है कि आध्यात्मिक मामलों को हथियारों की परीक्षा से नहीं, दार्शनिक स्तर पर वाद-विवाद से हल किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त यह श्लोक यह भी इंगित करता है कि कानून का नियम सबल तथा निर्बल पर समान रूप से लागू नहीं होगा। अनेक राष्ट्रों में से न्याय उन्हीं को मिल पा रहा है, जो खर्च कर सकते हैं और इसके लिए लड़ाई लड़ सकते हैं। सभ्य राज्य में हर पुरुष, स्त्री तथा बालक को

उपयुक्त कानूनी पद्धति तक समान तथा जल्द पहुँच होनी चाहिए। आधुनिक काल में हम इसे कभी कभी मानव अधिकार कह कर द्योतित करते हैं। निश्चय ही, कलियुग में मानव अधिकारों का हनन स्पष्ट दिखता है।

दाम्पत्येऽभिरुचिर्हेतुर्मायैव व्यावहारिके ।
स्त्रीत्वे पुंस्त्वे च हि रतिर्विप्रत्वे सूत्रमेव हि ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

दाम्-पत्ये—पति-पत्नी के सम्बन्ध में; अभिरुचिः—ऊपरी आकर्षण; हेतुः—कारण; माया—धोखा; एव—निस्सन्देह; व्यावहारिके—व्यापार में; स्त्रीत्वे—स्त्री होने में; पुंस्त्वे—पुरुष होने में; च—तथा; हि—निस्सन्देह; रतिः—कामशास्त्र; विप्रत्वे—ब्राह्मण होने में; सूत्रम्—जनेऊ; एव—एकमात्र; हि—निस्सन्देह।

पुरुष तथा स्त्रियाँ केवल ऊपरी आकर्षण के कारण एकसाथ रहेंगे और व्यापार की सफलता कपट पर निर्भर करेगी। पुरुषत्व तथा स्त्रीत्व का निर्णय कामशास्त्र में उनकी निपुणता के अनुसार किया जायेगा और ब्राह्मणत्व जनेऊ पहनने पर निर्भर करेगा।

तात्पर्य : जिस तरह मानव जीवन का एक महान् तथा गम्भीर उद्देश्य है—आध्यात्मिक मोक्ष—उसी तरह विवाह तथा शिशु-पालन जैसे मूलभूत मानव संस्थानों को भी उसी महान् उद्देश्य के प्रति समर्पित होना चाहिए। दुर्भाग्यवश, वर्तमान युग में काम-वासना की तुष्टि ही विवाह का सर्वोपरि, भले ही वह एकमात्र न हो, कारण बन चुका है।

कामोत्तेजना, जो हर प्रजाति के नरों तथा मादाओं को शारीरिक रूप से संयुक्त होने के लिए प्रेरित करती है और उच्च प्रजातियों में भी भावात्मक रूप से प्रेरित करती है, अन्ततोगत्वा स्वाभाविक उत्तेजना नहीं है क्योंकि यह शरीर के साथ आत्मा की अस्वाभाविक पहचान पर आधारित है। स्वयं जीवन आध्यात्मिक प्रक्रिया है। जैव मशीन अर्थात् शरीर को जीवन देने वाला आत्मा ही है। चेतना आत्मा की व्यक्त शक्ति है अतएव चेतना मूलतः नितान्त आध्यात्मिक घटना है। जब जीवन या चेतना जैव मशीन के भीतर सीमित रहती है और भ्रमवश अपने को मशीन मान बैठती है, तो यह शरीर प्राप्त होता है और काम-वासना जागृत होती है।

ईश्वर मनुष्य जीवन को इस मायामय जगत के गुण को सुधारने और शुद्ध दैवी जगत की तृप्ति तक लौट जाने के लिए सुअवसर के रूप में देखना चाहता है। किन्तु भौतिक शरीर के साथ हमारी पहचान अत्यन्त पुरानी है और अधिकांश लोगों के लिए भौतिकता में ढले मन की माँगों से अपने को अलग कर पाना कठिन है। इसलिए वैदिक शास्त्र पवित्र विवाह की संस्तुति करते हैं जिसमें तथाकथित पुरुष और तथाकथित स्त्री धार्मिक आदेशों के अनुसार नियमित आध्यात्मिक विवाह में बँध सकें। इस प्रकार आत्म-साक्षात्कार का इच्छुक व्यक्ति, जिसने पारिवारिक जीवन का चुनाव किया है, अपनी इन्द्रियों के लिए पर्याप्त तुष्टि प्राप्त कर सकता है और उसी के साथ ही धार्मिक आदेशों का पालन करके अपने हृदय में भगवान् को भी प्रसन्न कर सकता है। तब भगवान् उसको भौतिक इच्छा से मुक्त कर देते हैं।

कलियुग में यह गहरी समझ लुप्तप्राय हो चुकी है और जैसाकि इस श्लोक में वर्णन हुआ है, स्त्री तथा पुरुष पशुओं की तरह केवल मांस, हाड़, झिल्ली, रक्त इत्यादि से बने शरीर के आकर्षण से संयुक्त होते हैं। दूसरे शब्दों में, हमारे आधुनिक ईश्वर विहीन समाज मानवता की छिछली कमजोर बुद्धि विरले ही शाश्वत आत्मा के स्थूल भौतिक आवरण को बेध पाती है। इस तरह अधिकांशतया पारिवारिक जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य तथा महत्त्व समाप्त हो चुका है।

इस श्लोक से जो गौण बात स्थापित होती है, वह यह है कि कलियुग में वह स्त्री "अच्छी" मानी जाती है, जो विषयवासना की दृष्टि से आकर्षक हो और विषयवासना में निपुण हो। इसी तरह विषयवासना की दृष्टि से आकर्षक पुरुष ही "अच्छा" है। इस उथलेपन का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है बीसवीं सदी के लोगों द्वारा अविश्वसनीय रूप से मनोरंजन उद्योग के गवैयों तथा अभिनेताओं तथा अन्य महत्त्वपूर्ण लोगों की ओर विशेष ध्यान देना। विभिन्न शरीरों में विषयवासना के अनुभवों का पीछा करते रहना नई बोतलों में पुरानी शराब को पीने जैसा है। किन्तु कलयिुग में कुछ ही लोग इसे समझ सकते हैं।

अन्त में इस श्लोक में यह कहा गया है कि कलियुग में कोई भी मनुष्य वेश धारण करने के आधार पर पुरोहित या ब्राह्मण माना जायेगा। भारत में ब्राह्मण लोग जनेऊ पहनते हैं और विश्व के अन्य भागों में पुरोहित अन्य आभूषण तथा प्रतीक धारण करते हैं। किन्तु कलियुग में एकमात्र प्रतीक के बल पर कोई व्यक्ति धार्मिक नेता बन सकेगा भले ही ईश्वर के विषय में वह अज्ञानी हो।

लिङ्गमेवाश्रमख्यातावन्योन्यापत्तिकारणम् ।
अवृत्त्या न्यायदौर्बल्यं पाण्डित्ये चापलं वचः ॥ ४॥

शब्दार्थ

लिङ्गम्—बाह्य प्रतीक; एव—केवल; आश्रम-ख्यातौ—मनुष्य के आश्रम को जानने में; अन्योन्य—पारस्परिक; आपत्ति—विनिमय; कारणम्—कारण; अवृत्त्या—जीविका के अभाव से; न्याय—विश्वसनीयता में; दौर्बल्यम्—दुर्बलता में; पाण्डित्ये—विद्वत्ता में; चापलम्—चालाकी-भरे; वचः—शब्द।

मनुष्य का आध्यात्मिक पद मात्र बाह्य प्रतीकों से सुनिश्चित होगा और इसी आधार पर लोग एक आश्रम छोड़ कर दूसरे आश्रम को स्वीकार करेंगे। यदि किसी की जीविका उत्तम नहीं है, तो उस व्यक्ति के औचित्य में सन्देह किया जायेगा। और जो चिकनी-चुपड़ी बातें बनाने में चतुर होगा वह विद्वान पंडित माना जायेगा।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बतलाया गया था कि कलियुग में पुरोहित वर्ग केवल बाह्य प्रतीकों के द्वारा पहचाना जायेगा और इस श्लोक में उसी बात को समाज के अन्य वर्गों—राजनैतिक या सैन्य वर्ग, व्यापारी अथवा उत्पादक वर्ग तथा श्रमिकों या कारीगरों—पर भी लागू किया गया है।

आधुनिक समाज शास्त्रियों ने यह दिखा दिया है कि उन समाजों में जिनका संचालन मुख्यता प्रोटेस्टैन्ट नीतिशास्त्र द्वारा होता है, गरीबी को आलस्य, गंदगी, मूर्खता, अनैतिकता तथा व्यर्थता का चिह्न माना जाता है। किन्तु ईश-भावनाभावित समाज में अनेक व्यक्ति स्वेच्छा से अपना जीवन ज्ञान

तथा अध्यात्म की खोज में समर्पित करते हैं, भौतिक उपलब्धि के लिए नहीं। इस तरह सरल तथा तपस्यामय जीवन के लिए वरीयता, बुद्धि, आत्मसंयम तथा जीवन के उच्च आदर्श के प्रति संवेदनशीलता को सूचित कर सकती है। निस्सन्देह, गरीबी (निर्धनता) से इन गुणों की स्थापना अपने आप नहीं होती किन्तु कभी कभी उनका परिणाम हो सकती है। किन्तु कलियुग में प्राय: इस सम्भावना को भुला दिया जाता है।

बौद्धिकता इस मोहने वाले कलियुग की अन्य दुर्घटना है। आधुनिक तथाकथित दार्शनिकों तथा विज्ञानियों ने विद्या के हर क्षेत्र में ऐसी पारिभाषिक शब्दावली बना ली है कि जब वे भाषण देते हैं, तो लोग उन्हें इसलिए विद्वान समझते हैं क्योंकि वे जो बोलते हैं उसे अन्य कोई नहीं समझ सकता। पाश्चात्य संस्कृति में ग्रीक अध्यापक सर्वप्रथम लोग थे, जो बुद्धिमत्ता तथा शुद्धि से भी ऊपर अलंकार तथा दक्षता पर वाद-विवाद करते थे। बीसवीं सदी में तो धोखाधड़ी पल्लवित हो ही रही है। आधुनिक विश्वविद्यालयों में नाममात्र की बुद्धिमत्ता है यद्यपि टेक्निकल आँकडे अनन्त हैं। यद्यपि अनेक आधुनिक चिन्तक उच्चतर आध्यात्मिक सत्य से अनजान होते हैं, किन्तु वे बहुत अच्छे ''वक्ता'' होते हैं और अधिकांश लोग उनके अज्ञान को भाँप नहीं पाते।

अनाढ्यतैवासाधुत्वे साधुत्वे दम्भ एव तु ।
स्वीकार एव चोद्वाहे स्नानमेव प्रसाधनम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अनाढ्यता—गरीबी, निर्धनता; एव—केवल; असाधुत्वे—असाधु होने में; साधुत्वे—सफलता में; दम्भः—दिखावा; एव—केवल; तु—तथा; स्वी-कारः—शाब्दिक स्वीकृति; एव—केवल; च—तथा; उद्वाहे—विवाह में; स्नानम्—जल से स्नान करने; एव—केवल; प्रसाधनम्—शरीर को स्वच्छ रखना तथा अलंकृत करना।

यदि किसी व्यक्ति के पास धन नहीं है, तो वह अपवित्र माना जायेगा और दिखावे को गुण मान लिया जायेगा। विवाह मौखिक स्वीकृति के द्वारा व्यवस्थित होगा और कोई भी व्यक्ति अपने को जनता के बीच आने के लिए योग्य समझेगा यदि उसने केवल स्नान कर लिया हो।

तात्पर्य : *दम्भ* शब्द आत्म-प्रवंचक का—ऐसे व्यक्ति का सूचक है, जो सन्त स्वभाव वाला नहीं बनना चाहता अपितु ऊपर से सन्त प्रतीत होना चाहता है। कलियुग में ऐसे धार्मिक दम्भियों की संख्या बहुत बड़ी है, जो यह दावा करते हैं कि एकमात्र उन्हें ही रास्ता मालूम है, एकमात्र उन्हें ही सत्य का पता है और एकमात्र उन्हें ही प्रकाश प्राप्त है। अनेक मुस्लिम देशों में इस मनोवृत्ति के कारण धार्मिक स्वतंत्रता का निर्ममता से दमन हुआ है, जिससे प्रबुद्ध आध्यात्मिक ज्ञान का सुअवसर विनष्ट हो गया है। सौभाग्यवश अधिकांश पाश्चात्य जगत में स्वतंत्र धार्मिक अभिव्यक्ति की प्रणाली है। किन्तु पश्चिम में भी दम्भी लोग दूसरे धर्मों के निष्ठावान तथा सन्त स्वभाव वाले अनुयायियों को म्लेच्छ और दानव मानते हैं।

सामान्यतया पाश्चात्य धार्मिक उन्मादी अनेक बुरी आदतों में यथा धूम्रपान, सुरापान, यौन, द्यूत-

क्रीड़ा तथा पशु-हत्या से ग्रस्त रहते हैं। यद्यपि कृष्णभावनामृत आन्दोलन के अनुयायी अवैध यौन, नशा, जुआ खेलना तथा पशु-हत्या का बहिष्कार करते हैं और यद्यपि वे अपना जीवन ईश्वर के निरन्तर महिमागान में समर्पित कर देते हैं किन्तु दम्भी लोग यह दावा करते हैं कि ऐसी कठोर तपस्या तथा ईश्वर-भक्ति "शैतान की चालें" हैं। इस तरह पापी लोग धार्मिक बन जाते हैं और सन्तों को आसुरी करार दिया जाता है। आध्यात्मिकता की प्रारम्भिक अनिवार्यताओं को भी समझ पाने की यह दयनीय असमर्थता कलियुग का प्रधान लक्षण है।

इस युग में विवाह-प्रथा का अवमूल्यन होगा। निश्चय ही, विवाह प्रमाण-पत्र को कभी कभी रूखेपन से "कागज का टुकड़ा" कह कर ठुकरा दिया जाता है। विवाह के आध्यात्मिक प्रयोजन को भुलाते हुए तथा यौन को गृहस्थ जीवन का हुए, कामी पुरुष तथा स्त्रियाँ कानूनी सम्बन्ध के उत्तरदायित्व और कष्टप्रद औपचारिकताओं के बिना ही धड़ल्ले से यौन-व्यापार में रत होते हैं। ऐसे मूर्ख लोग तर्क प्रस्तुत करते हैं कि, "यौन स्वाभाविक है"। किन्तु यदि यौन स्वाभाविक है, तो गर्भावस्था तथा शिशु-जन्म भी उतने ही स्वाभाविक हैं। और शिशु के लिए यह स्वाभाविक है कि वह पिता तथा माता द्वारा स्नेहपूर्वक पाला जाय और जीवन-भर वही उसके माता-पिता रहें। मनोवैज्ञानिक अध्ययन इसकी पुष्टि करते हैं कि शिशु की देखरेख माता तथा पिता दोनों करें, अत: यह स्पष्ट है कि यौनाचार के साथ स्थायी विवाह व्यवस्था का होना स्वाभाविक है। दम्भी लोग अनियंत्रित यौन की सम्पुष्टि यह कह कर करते हैं कि यह "स्वाभाविक है" किन्तु यौन के स्वाभाविक परिणाम—गर्भधारण—से बचने के लिए, वे गर्भनिरोधकों का इस्तेमाल करते हैं, जो वृक्षों पर नहीं लगते। निस्सन्देह, गर्भनिरोध बिल्कुल स्वाभाविक नहीं। इस तरह दिखावे तथा मूर्खता का कलियुग में प्राधान्य है।

इस श्लोक का अन्त इस कथन से होता है कि वर्तमान युग में लोग अपने शरीरों को समुचित रीति से अलंकृत नहीं करेंगे। मनुष्य को चाहिए कि विविध धार्मिक आभूषणों से अपने शरीर को अलंकृत करे। वैष्णवजन अपने शरीर में *तिलक* अंकित करते हैं, जो भगवान् के पावन नाम से अभिमंत्रित होता है। किन्तु कलियुग में धार्मिक तथा भौतिक औपचारिकताओं तक का बिना समझे-बूझे बहिष्कार किया जाता है।

दूरे वार्ययनं तीर्थं लावण्यं केशधारणम् ।
उदरंभरता स्वार्थः सत्यत्वे धाष्टर्यमेव हि ।
दाक्ष्यं कुटुम्बभरणं यशोऽर्थे धर्मसेवनम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

दूरे—दूर स्थित; वारि—जल का; अयनम्—आगार; तीर्थम्—तीर्थस्थान; लावण्यम्—सौन्दर्य; केश—बाल; धारणम्—धारण करना; उदरम्-भरता—पेट का भरण; स्व-अर्थ:—जीवन-लक्ष्य; सत्यत्वे—तथाकथित सत्य में; धाष्टर्यम्—ढिठाई; एव—केवल; हि—निस्सन्देह; दाक्ष्यम्—दक्षता; कुटुम्ब-भरणम्—परिवार का पालन-पोषण; यश:—कीर्ति के; अर्थे—हेतु; धर्म-सेवनम्—धार्मिक नियमों का पालन।

तीर्थस्थान को दूरस्थ जलाशय और सौन्दर्य को मनुष्य की केश-सज्जा पर आश्रित, माना जायेगा। उदर-भरण जीवन का लक्ष्य बन जायेगा और जो जितना ढीठ होगा उसे उतना ही सत्यवादी मान लिया जायेगा। जो व्यक्ति परिवार का पालन-पोषण कर सकता है, वह दक्ष समझा जायेगा। धर्म का अनुसरण मात्र यश के लिए किया जायेगा।

तात्पर्य : भारत में अनेक तीर्थस्थान हैं जहाँ पवित्र नदियाँ बहती हैं। मूर्ख लोग इन नदियों में स्नान करके अपने पापों से मुक्ति की खोज करते हैं किन्तु वे इन स्थानों में निवास करने वाले विद्वान भगवद्भक्तों से उपदेश ग्रहण नहीं करते। मनुष्य को केवल अनुष्ठानिक स्नान करने नहीं अपितु आध्यात्मिक प्रकाश पाने के लिए तीर्थस्थान में जाना चाहिए।

इस युग में लोग विभिन्न शैलियों से अपने केश को व्यवस्थित करते नहीं थकते और इस तरह मुखमण्डल के सौन्दर्य और कामुकता को बढ़ाना चाहते हैं। वे यह नहीं जानते कि वास्तविक सौन्दर्य तो हृदय के भीतर से, आत्मा से आता है और केवल वही व्यक्ति सही अर्थ में आकर्षक है, जो शुद्ध है। ज्यों-ज्यों इस युग में कठिनाइयाँ बढ़ती जायेंगी, उदर-भरण को सफलता का चिह्न माना जायेगा और जो अपने परिवार का भरण-पोषण कर सकता है, वह आर्थिक मामलों में बुद्धिमान माना जायेगा। यदि धर्म का पालन होगा तो वह मात्र यश पाने के लिए होगा और भगवान् की किसी अनिवार्य जानकारी के बिना सम्पन्न होगा।

एवं प्रजाभिर्दुष्टाभिराकीर्णे क्षितिमण्डले ।
ब्रह्मविट्क्षत्रशूद्राणां यो बली भविता नृपः ॥ ७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह से; प्रजाभिः—जनता से; दुष्टाभिः—भ्रष्ट की हुई; आकीर्णे—एकत्र हुई; क्षिति-मण्डले—पृथ्वीमण्डल पर; ब्रह्म—ब्राह्मणों; विट्—वैश्यगण; क्षत्र—क्षत्रिय; शूद्राणाम्—तथा शूद्रों के बीच; यः—जो भी; बली—सबसे बलवान; भविता—होगा; नृपः—राजा।

इस तरह ज्यों-ज्यों पृथ्वी भ्रष्ट जनता से भरती जायेगी, त्यों-त्यों समस्त वर्णों में से जो अपने को सबसे बलवान दिखला सकेगा वह राजनैतिक शक्ति प्राप्त करेगा।

प्रजा हि लुब्धै राजन्यैर्निर्घृणैर्दस्युधर्मभिः ।
आच्छिन्नदारद्रविणा यास्यन्ति गिरिकाननम् ॥ ८॥

शब्दार्थ

प्रजाः—नागरिक; हि—निस्सन्देह; लुब्धैः—लालची; राजन्यैः—राजसी वर्ग के द्वारा; निर्घृणैः—निर्दय; दस्यु—सामान्य चोरों के; धर्मभिः—स्वभाव के अनुसार कर्म करते हुए; आच्छिन्न—हर लिए गये; दार—पत्नी; द्रविणाः—तथा सम्पत्ति; यास्यन्ति—जायेंगे; गिरि—पर्वत; काननम्—तथा जंगल में।

जनता ऐसे लोभी तथा निष्ठुर शासकों द्वारा, जिनका आचरण सामान्य चोरों जैसा होगा, अपनी पत्नियाँ तथा सम्पत्ति छीन लिये जाने पर, पर्वतों तथा जंगलों में भाग जायेगी।

शाकमूलामिषक्षौद्रफलपुष्पाष्टिभोजनाः ।
अनावृष्ट्या विनङ्क्ष्यन्ति दुर्भिक्षकरपीडिताः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

शाक—पत्तियाँ; मूल—जड़ें; आमिष—मांस; क्षौद्र—जंगली शहद; फल—फल; पुष्प—फूल; अष्टि—तथा बीज; भोजनाः—खाकर; अनावृष्ट्या—सूखे के कारण; विनङ्क्ष्यन्ति—विनष्ट हो जायेंगे; दुर्भिक्ष—अकाल; कर—तथा टैक्स द्वारा; पीडिताः—पीड़ित।

अकाल तथा अत्यधिक कर से सताये हुए लोग पत्तियाँ, जड़ें, मांस, जंगली शहद, फल, फूल तथा बीज खाने के लिए बाध्य होंगे। सूखे से पीड़ित होकर वे पूर्णतया विनष्ट हो जायेंगे।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में हमारे ग्रह (लोक) के भविष्य का प्रामाणिक वर्णन हुआ है। जिस तरह वृक्ष से विलग पत्ती सूख जाती है और विनष्ट हो जाती है उसी तरह जब मानव समाज का सम्बन्ध भगवान् से टूट जाता है, तो हिंसा तथा अव्यवस्था के कारण वह म्लान होकर बिखर जाता है। कम्प्यूटर तथा प्रक्षेपास्त्र होने पर भी यदि भगवान् वर्षा नहीं करें तो हम भूखों मर जायेंगे।

शीतवातातपप्रावृड्हिमैरन्योन्यतः प्रजाः ।
क्षुत्तृड्भ्यां व्याधिभिश्चैव सन्तप्स्यन्ते च चिन्तया ॥ १० ॥

शब्दार्थ

शीत—जाड़ा; वात—हवा; आतप—तपन; प्रावृट्—मूसलाधार वर्षा; हिमैः—तथा बर्फ से; अन्योन्यतः—लड़ने-झगड़ने से; प्रजाः—नागरिक; क्षुत्—भूख; तृड्भ्याम्—तथा प्यास से; व्याधिभिः—रोगों से; च—भी; एव—निस्सन्देह; सन्तप्स्यन्ते—उन्हें महान् कष्ट भोगना होगा; च—तथा; चिन्तया—चिन्ता से।

जनता को शीत, वात, तपन, वर्षा तथा हिम से अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ेगा। लोग आपसी झगड़ों, भूख, प्यास, रोग तथा अत्यधिक चिन्ता से भी पीड़ित होते रहेंगे।

त्रिंशद्विंशति वर्षाणि परमायुः कलौ नृणाम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

त्रिंशत्—तीस; विंशति—बीस और; वर्षाणि—वर्ष; परम-आयुः—अधिकतम आयु; कलौ—कलियुग में; नृणाम्—मनुष्यों की।

कलियुग में मनुष्यों की अधिकतम आयु पचास वर्ष हो जायेगी।

क्षीयमाणेषु देहेषु देहिनां कलिदोषतः ।
वर्णाश्रमवतां धर्मे नष्टे वेदपथे नृणाम् ॥ १२ ॥
पाषण्डप्रचुरे धर्मे दस्युप्रायेषु राजसु ।
चौर्यानृतवृथाहिंसानानावृत्तिषु वै नृषु ॥ १३ ॥
शूद्रप्रायेषु वर्णेषु च्छागप्रायासु धेनुषु ।

गृहप्रायेष्वाश्रमेषु यौनप्रायेषु बन्धुषु ॥ १४॥

अणुप्रायास्वोषधीषु शमीप्रायेषु स्थास्नुषु ।
विद्युत्प्रायेषु मेघेषु शून्यप्रायेषु सद्मसु ॥ १५॥

इत्थं कलौ गतप्राये जनेषु खरधर्मिषु ।
धर्मत्राणाय सत्त्वेन भगवानवतरिष्यति ॥ १६॥

शब्दार्थ

क्षीयमाणेषु—छोटा होकर; देहेषु—शरीर में; देहिनाम्—सारे जीवों के; कलि-दोषतः—कलियुग के दूषण से; वर्ण-आश्रम-वताम्—वर्णाश्रम समाज के सदस्यों के; धर्मे—उनके धर्मों के; नष्टे—नष्ट हो जाने पर; वेद-पथे—वेदों के मार्ग पर; नृणाम्—सारे मनुष्यों के लिए; पाषण्ड-प्रचुरे—प्रायः नास्तिकता; धर्मे—धर्म में; दस्यु-प्रायेषु—प्रायः चोर; राजसु—राजा; चौर्य—लूट; अनृत—झूठ बोलना; वृथा-हिंसा—व्यर्थ की हत्या; नाना—विविध; वृत्तिषु—पेशों में; वै—निस्सन्देह; नृषु—मनुष्यों में; शूद्र-प्रायेषु—प्रायः निम्न वर्ग के शूद्र; वर्णेषु—तथाकथित वर्णों में; छाग-प्रायासु—बकरियों जैसी; धेनुषु—गौवें; गृह-प्रायेषु—घरों जैसे; आश्रमेषु—आध्यात्मिक कुटिया; यौन-प्रायेषु—विवाह से आगे तक न पहुँचने वाले; बन्धुषु—पारिवारिक बन्धन; अणु-प्रायासु—अत्यन्त लघु; ओषधीषु—जड़ी-बूटियों में; शमी-प्रायेषु—शमी वृक्षों की तरह; स्थास्नुषु—सारे वृक्षों में; विद्युत्-प्रायेषु—सदैव बिजली प्रकट करते हुए; मेघेषु—बादलों में; शून्य-प्रायेषु—धार्मिक जीवन से शून्य; सद्मसु—घरों में; इत्थम्—इस प्रकार; कलौ—कलियुग में; गत-प्राये—प्रायः समाप्त हुए; जनेषु—लोगों में; खर-धर्मिषु—गधों जैसे गुणों वाले; धर्म-त्राणाय—धर्म के उद्धार हेतु; सत्त्वेन—सतोगुण में; भगवान्—भगवान्; अवतरिष्यति—अवतरित होगा।

कलियुग समाप्त होने तक सभी प्राणियों के शरीर आकार में अत्यन्त छोटे हो जायेंगे और वर्णाश्रम मानने वालों के धार्मिक सिद्धान्त विनष्ट हो जायेंगे। मानव समाज वेदपथ को पूरी तरह भूल जायेगा और तथाकथित धर्म प्रायः नास्तिक होगा। राजे प्रायः चोर हो जायेंगे; लोगों का पेशा चोरी करना, झूठ बोलना तथा व्यर्थ हिंसा करना हो जायेगा और सारे सामाजिक वर्ण शूद्रों के स्तर तक नीचे गिर जायेंगे। गौवें बकरियों जैसी होंगी; आश्रम संसारी घरों से भिन्न नहीं होंगे तथा पारिवारिक सम्बन्ध तात्कालिक विवाह बंधन से आगे नहीं जायेंगे। अधिकांश वृक्ष तथा जड़ी-बूटियाँ छोटी होंगी और सारे वृक्ष बौने शमी वृक्षों जैसे प्रतीत होंगे। बादल बिजली से भरे होंगे; घर पवित्रता से रहित तथा सारे मनुष्य गधों जैसे हो जायेंगे। उस समय भगवान् पृथ्वी पर प्रकट होंगे। वे शुद्ध सतोगुण की शक्ति से कर्म करते हुए शाश्वत धर्म की रक्षा करेंगे।

तात्पर्य : इन लोकों में यह महत्त्वपूर्ण बात कही गई है कि इस युग में तथाकथित धर्म नास्तिक होंगे (*पाषण्डप्रचुरे धर्मे*)। *भागवत* की भविष्यवाणी की पुष्टि में हाल ही में संयुक्त राज्य के सर्वोच्च न्यायालय ने यह आदेश दिया है कि धर्म होने के लिए विश्वास की प्रणाली में किसी परम पुरुष को मान्यता देना आवश्यक नहीं है। यही नहीं, प्राच्य देशों से लाये गये अनेक नास्तिक, शून्यवादी विश्वास प्रणालियों ने आधुनिक नास्तिक वैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट किया है, जो प्राच्य तथा पाश्चात्य शून्यवाद की समानताओं की स्थापना आकर्षक रहस्यमयी पुस्तकों में करते हैं।

इन श्लोकों में कलियुग के अनेक नीरस लक्षणों का स्पष्ट वर्णन हुआ है। अन्ततः इस युग के अन्त में, भगवान् कृष्ण कल्कि के रूप में अवतरित होंगे और पृथ्वी से पूर्णरूपेण आसुरी मनोवृत्ति

वाले लोगों का सफाया कर देंगे।

चराचरगुरोर्विष्णोरीश्वरस्याखिलात्मनः ।
धर्मत्राणाय साधूनां जन्म कर्मापनुत्तये ॥ १७॥

शब्दार्थ

चर-अचर—सारे जड़ तथा चेतन प्राणी; गुरोः—गुरु का; विष्णोः—विष्णु का; ईश्वरस्य—भगवान् का; अखिल—सारे; आत्मनः—परमात्मा का; धर्म-त्राणाय—धर्म की रक्षा के लिए; साधूनाम्—साधु पुरुषों के; जन्म—जन्म; कर्म—सकाम कर्म की; अपनुत्तये—समाप्ति के लिए।

भगवान् विष्णु जोकि सारे जड़ तथा चेतन प्राणियों के गुरु तथा सबों के परमात्मा हैं, धर्म की रक्षा करने तथा अपने सन्त भक्तों को भौतिक कर्मफल से छुटकारा दिलाने के लिए जन्म लेते हैं।

शम्भलग्राममुख्यस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः ।
भवने विष्णुयशसः कल्किः प्रादुर्भविष्यति ॥ १८॥

शब्दार्थ

शम्भल-ग्राम—शम्भल नामक गाँव में; मुख्यस्य—प्रमुख नागरिक के; ब्राह्मणस्य—ब्राह्मण के; महा-आत्मनः—महान् आत्मा; भवने—घर में; विष्णुयशसः—विष्णुयशा के; कल्किः—भगवान् कल्कि; प्रादुर्भविष्यति—प्रकट होगा।

भगवान् कल्कि शम्भल ग्राम के अत्यन्त निपुण ब्राह्मण महात्मा विष्णुयशा के घर में प्रकट होंगे।

अश्वमाशुगमारुह्य देवदत्तं जगत्पतिः ।
असिनासाधुदमनमष्टैश्वर्यगुणान्वितः ॥ १९॥
विचरन्नाशुना क्षौण्यां हयेनाप्रतिमद्युतिः ।
नृपलिङ्गच्छदो दस्यून्कोटिशो निहनिष्यति ॥ २०॥

शब्दार्थ

अश्वम्—अपने घोड़े; आशु-गम्—तेज चलने वाले; आरुह्य—सवार होकर; देवदत्तम्—देवदत्त पर; जगत्-पतिः—ब्रह्माण्ड के स्वामी; असिना—अपनी तलवार से; असाधु-दमनम्—असाधुओं का दमन करने वाला (घोड़ा); अष्ट—आठ; ऐश्वर्य—योग ऐश्वर्यों; गुण—तथा भगवान् के दिव्य गुणों से; अन्वितः—युक्त; विचरन्—विचरण करते हुए; आशुना—तेज; क्षौण्याम्—पृथ्वी पर; हयेन—अपने घोड़े द्वारा; अप्रतिम—अद्वितीय; द्युतिः—तेज वाला; नृप-लिङ्ग—राजाओं के वेश में; छदः—अपने को भेस बदल कर रहते हुए; दस्यून्—चोरों को; कोटिशः—करोड़ों; निहनिष्यति—मार डालेगा।

ब्रह्माण्ड के स्वामी भगवान् कल्कि अपने तेज घोड़े देवदत्त पर सवार होंगे और हाथ में तलवार लेकर, ईश्वर के आठ योग ऐश्वर्यों तथा आठ विशिष्ट गुणों को प्रदर्शित करते हुए, पृथ्वी पर विचरण करेंगे। वे अपना अद्वितीय तेज प्रदर्शित करते हुए तथा तेज चाल से सवारी करते हुए, उन करोड़ों चोरों का वध करेंगे जो राजाओं के वेश में रहने का दुस्साहस कर रहे होंगे।

तात्पर्य : इन श्लोकों में भगवान् कल्कि की लोमहर्षक लीलाओं का वर्णन हुआ है। कोई भी व्यक्ति ऐसे शक्तिशाली सुन्दर व्यक्ति की ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रहेगा जो बिजली की चाल वाले अद्भुत घोड़े पर सवार होकर अपने हाथ में तलवार लेकर क्रूर आसुरी लोगों को दण्ड दे रहा हो और उनका विध्वंस कर रहा हो।

निस्सन्देह, उन्मादी भौतिकतावादी लोग यह तर्क कर सकते हैं कि भगवान् कल्कि का यह चित्र मानव मन की उपज है—पौराणिक देवता का चित्र है, जो उन लोगों द्वारा चित्रित किया गया है जिनका विश्वास किसी श्रेष्ठ व्यक्ति पर होता है। किन्तु यह तर्क युक्ति संगत नहीं है और न ही इसमें कोई दम है। यह कतिपय लोगों का मत है। हमें जल चाहिए किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य जल उत्पन्न करता है। हमें भोजन, आक्सीजन तथा अन्य बहुत-सी वस्तुओं की आवश्यकता होती है जिन्हें हम उत्पन्न नहीं करते। चूँकि हमारा सामान्य अनुभव यही है कि हमारी आवश्यकताएँ बाह्य जगत में विद्यमान प्राप्य वस्तुओं के अनुरूप हैं अतएव भगवान् की आवश्यकता से यह सूचित होता है कि भगवान् का अस्तित्व है। दूसरे शब्दों में, प्रकृति हमें उन वस्तुओं की आवश्यकता का ज्ञान कराती है, जो वास्तव में विद्यमान होती हैं और जिनकी आवश्यकता हमारे कल्याण के लिए होती है। इसी तरह हमें ईश्वर की आवश्यकता का अनुभव होता है क्योंकि हम ईश्वर के अंश हैं और उनके बिना रह नहीं सकते। कलियुग के अन्त में यही ईश्वर बलशाली कल्कि अवतार के रूप में प्रकट होगा और असुरों के दूषण का सफाया कर देगा।

अथ तेषां भविष्यन्ति मनांसि विशदानि वै ।
वासुदेवाङ्गरागातिपुण्यगन्धानिलस्पृशाम् ।
पौरजानपदानां वै हतेष्वखिलदस्युषु ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; तेषाम्—उनमें से; भविष्यन्ति—होंगे; मनांसि—मन; विशदानि—स्पष्ट; वै—निस्सन्देह; वासुदेव—भगवान् वासुदेव के; अङ्ग—शरीर का; राग—सुगन्धि पदार्थों से; अति-पुण्य—अत्यन्त पवित्र; गन्ध—गन्ध से युक्त; अनिल—वायु द्वारा; स्पृशाम्—स्पर्श किये हुओं का; पौर—नगरवासियों के; जन-पदानाम्—छोटे कस्बों तथा गाँवों के निवासियों के; वै—निस्सन्देह; हतेषु—मारे जाने पर; अखिल—सारे; दस्युषु—धूर्त राजाओं के।

जब सारे धूर्त राजा मारे जा चुकेंगे, तो शहरों तथा कस्बों के निवासी, भगवान् वासुदेव को लेपित चन्दन तथा अन्य प्रसाधनों की सुगन्धि को लाती हुई पवित्र वायु का अनुभव करेंगे और उससे उनके मन आध्यात्मिक रूप से शुद्ध हो जायेंगे।

तात्पर्य : ऐसे महान् वीर द्वारा नाटकीय ढंग से बचाया जाना जो भगवान् हो, एक दिव्य अनुभव होगा। कलियुग के अन्त में असुरों की मृत्यु के साथ ही सुगन्धित वायु चलेगी जिससे वातावरण अत्यन्त मनमोहक हो जायेगा।

तेषां प्रजाविसर्गश्च स्थविष्ठः सम्भविष्यति ।

वासुदेवे भगवति सत्त्वमूर्तौ हृदि स्थिते ॥ २२॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उनकी; प्रजा—सन्तान की; विसर्गः—उत्पत्ति; च—तथा; स्थविष्ठः—प्रचुर; सम्भविष्यति—होगा; वासुदेवे—वासुदेव में; भगवति—भगवान्; सत्त्व-मूर्तौ—सतोगुणी स्वरूप में; हृदि—हृदयों में; स्थिते—स्थित।

जब भगवान् वासुदेव बचे हुए नागरिकों के हृदयों में अपने दिव्य सात्विक रूप में प्रकट होते हैं, वे फिर से पृथ्वी की जनसंख्या को काफी बढ़ा देंगे।

यदावतीर्णो भगवान्कल्किर्धर्मपतिर्हरिः ।
कृतं भविष्यति तदा प्रजासूतिश्च सात्त्विकी ॥ २३॥

शब्दार्थ

यदा—जब; अवतीर्णः—अवतरित; भगवान्—भगवान्; कल्किः—कल्कि; धर्म-पतिः—धर्म के स्वामी; हरिः—भगवान्; कृतम्—सत्ययुग; भविष्यति—शुरू होगा; तदा—तब; प्रजा-सूतिः—प्रजा की उत्पत्ति; च—तथा; सात्त्विकी—सतोगुणी।

जब पृथ्वी पर धर्म के पालनहारे भगवान्, कल्कि के रूप में, प्रकट हो चुकेंगे, तो सत्ययुग प्रारम्भ होगा और मानव समाज सात्विक सन्तानें उत्पन्न करेगा।

यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च तथा तिष्यबृहस्पती ।
एकराशौ समेष्यन्ति भविष्यति तदा कृतम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

यदा—जब; चन्द्रः—चन्द्रमा; च—तथा; सूर्यः—सूर्य; च—तथा; तथा—भी; तिष्य—तिष्य या पुष्य नक्षत्र (जो ३० २०' से लेकर १६० ४०' कर्क तक विस्तीर्ण है); बृहस्पती—बृहस्पति नक्षत्र; एक-राशौ—एक ही राशि पर (कर्कट); समेष्यन्ति—एकसाथ प्रवेश करेंगे; भविष्यति—होगा; तदा—तब; कृतम्—सत्ययुग।

जब चन्द्रमा, सूर्य तथा बृहस्पति एकसाथ कर्कट राशि में होते हैं और तीनों एक ही समय पुष्य नक्षत्र में प्रवेश करते हैं, ठीक उसी क्षण सत्य या कृतयुग प्रारम्भ होगा।

येऽतीता वर्तमाना ये भविष्यन्ति च पार्थिवाः ।
ते त उद्देशतः प्रोक्ता वंशीयाः सोमसूर्ययोः ॥ २५॥

शब्दार्थ

ये—जो; अतीताः—विगत; वर्तमानाः—वर्तमान; ये—जो; भविष्यन्ति—भविष्य में होंगे; च—तथा; पार्थिवाः—पृथ्वी के राजे; ते ते—वे वे, वे सभी; उद्देशतः—संक्षिप्त कथन द्वारा; प्रोक्ताः—वर्णित; वंशीयाः—वंशों के सदस्य; सोम-सूर्ययोः—चन्द्र तथा सूर्य देव के।

इस तरह मैंने सूर्य तथा चन्द्र वंशों—भूत, वर्तमान तथा भविष्य—के सारे राजाओं का वर्णन कर दिया है।

आरभ्य भवतो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम् ।

एतद्वर्षसहस्त्रं तु शतं पञ्चदशोत्तरम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

आरभ्य—प्रारम्भ करके; भवतः—आपके (परीक्षित); जन्म—जन्म; यावत्—जब तक; नन्द—महानन्दि के पुत्र राजा नन्द का; अभिषेचनम्—अभिषेक, राजतिलक; एतत्—यह; वर्ष—वर्ष; सहस्त्रम्—एक हजार; तु—तथा; शतम्—एक सौ; पञ्च-दश-उत्तरम्—पचास और।

तुम्हारे जन्म से लेकर राजा नन्द के राजतिलक तक ११५० वर्ष बीत चुकेंगे।

तात्पर्य : यद्यपि शुकदेव गोस्वामी, इसके पूर्व, राजवंशों के लगभग १,५०० वर्षों का वर्णन कर चुके हैं, किन्तु ऐसा समझा जाता है कि कुछ राजाओं के बीच के समय में अति व्याप्ति हुई है। इसलिए इस तिथिक्रम को प्रामाणिक मान लेना चाहिए।

सप्तर्षीणां तु यौ पूर्वौ दृश्येते उदितौ दिवि ।
तयोस्तु मध्ये नक्षत्रं दृश्यते यत्समं निशि ॥ २७ ॥

तेनैव ऋषयो युक्तास्तिष्ठन्त्यब्दशतं नृणाम् ।
ते त्वदीये द्विजाः काल अधुना चाश्रिता मघाः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सप्त-ऋषीणाम्—सात ऋषियों का समूह (पाश्चात्य लोग जिसे उर्स मेजर कहते हैं); तु—तथा; यौ—जो दो नक्षत्र; पूर्वौ—प्रथम; दृश्येते—देखे जाते हैं; उदितौ—उदय हुए; दिवि—आकाश में; तयोः—दोनों (पुलह तथा क्रतु) के; तु—तथा; मध्ये—बीच में; नक्षत्रम्—नक्षत्र; दृश्यते—देखा जाता है; यत्—जो; समम्—उसी रेखा में; निशि—रात्रि के आकाश में; तेन—उस नक्षत्र से; एव—निस्सन्देह; ऋषयः—सप्तर्षिगण; युक्ताः—सम्बद्ध हैं; तिष्ठन्ति—रहते जाते हैं; अब्द-शतम्—एक सौ वर्ष; नृणाम्—मनुष्यों का; ते—ये सप्तर्षि; त्वदीये—आप में; द्विजाः—कुलीन ब्राह्मण; काले—समय में; अधुना—वर्तमान; च—तथा; आश्रिताः—स्थित हैं; मघाः—मघा नक्षत्र में।

सप्तर्षि मण्डल के सात तारों में से पुलह तथा क्रतु ही सबसे पहले रात्रिकालीन आकाश में उदय होते हैं। यदि उनके मध्य बिन्दु से होकर उत्तर दक्षिण को एक रेखा खींची जाय तो यह जिस नक्षत्र से होकर गुजरती है, वह उस काल का प्रधान नक्षत्र माना जाता है। सप्तर्षिगण एक सौ मानवी वर्षों तक उस विशेष नक्षत्र से जुड़े रहते हैं। सम्प्रति तुम्हारे जीवन-काल में वे मघा नक्षत्र में स्थित हैं।

विष्णोर्भगवतो भानुः कृष्णाख्योऽसौ दिवं गतः ।
तदाविशत्कलिर्लोकं पापे यद्रमते जनः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

विष्णोः—विष्णु के; भगवतः—भगवान्; भानुः—सूर्य; कृष्ण-आख्यः—कृष्ण नामक; असौ—वह; दिवम्—आध्यात्मिक आकाश तक; गतः—वापस जाकर; तदा—तब; अविशत्—प्रवेश किया; कलिः—कलियुग; लोकम्—इस जगत में; पापे—पाप में; यत्—जिस युग में; रमते—रमण करते हैं; जनः—लोग।

भगवान् विष्णु सूर्य के समान तेजवान् हैं और कृष्ण कहलाते हैं। जब वे वैकुण्ठ-लोक वापस चले गये, तो इस जगत में कलि ने प्रवेश किया और तब लोग पापकर्मों में आनन्द

लेने लगे।

यावत्स पादपद्माभ्यां स्पृशनास्ते रमापतिः ।
तावत्कलिर्वै पृथिवीं पराक्रन्तुं न चाशकत् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; सः—वह, श्रीकृष्ण; पाद-पद्माभ्याम्—अपने चरणकमलों से; स्पृशन्—स्पर्श करते हुए; आस्ते—रहता रहा; रमा-पतिः—लक्ष्मी देवी का पति; तावत्—तब तक; कलिः—कलियुग; वै—निस्सन्देह; पृथिवीम्—पृथ्वी को; पराक्रन्तुम्—जीतने के लिए; न—नहीं; च—तथा; अशकत्—समर्थ था।

जब तक लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण अपने चरणकमलों से पृथ्वी का स्पर्श करते रहे, तब तक कलि इस लोक का दमन करने में असमर्थ रहा।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् कृष्ण के समय में ही दुर्योधन तथा उनके सहयोगियों के कुकृत्यों के कारण कलि कुछ हद तक पृथ्वी में प्रवेश कर चुका था, किन्तु भगवान् कृष्ण लगातार कलि के प्रभाव को दबाते रहे। भगवान् कृष्ण द्वारा इस धराधाम का त्याग करने तक कलियुग सम्पन्न नहीं बन सका।

यदा देवर्षयः सप्त मघासु विचरन्ति हि ।
तदा प्रवृत्तस्तु कलिर्द्वादशाब्दशतात्मकः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; देव-ऋषयः सप्त—देवताओं में से सात ऋषि; मघासु—मघा नक्षत्र में; विचरन्ति—विचरण करते हैं; हि—निस्सन्देह; तदा—तब; प्रवृत्तः—प्रारम्भ होता है; तु—तथा; कलिः—कलियुग; द्वादश—बारह; अब्द-शत—शताब्दी (देवताओं के ये १,२०० वर्ष बराबर हैं पृथ्वी पर ४,३२,००० वर्ष के); आत्मकः—से युक्त।

जब सप्तर्षि मण्डल मघा नक्षत्र से होकर गुजरता है, तो कलियुग प्रारम्भ होता है। यह देवताओं के १,२०० वर्षों तक रहता है।

यदा मघाभ्यो यास्यन्ति पूर्वाषाढां महर्षयः ।
तदा नन्दात्प्रभृत्येष कलिर्वृद्धिं गमिष्यति ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; मघाभ्यः—मघा से; यास्यन्ति—वे जायेंगे; पूर्व-आषाढाम्—अगला नक्षत्र पूर्वाषाढा; महा-ऋषयः—सप्तर्षि; तदा—तब; नन्दात्—नन्द से लेकर; प्रभृति—तथा उसके वंशज; एषः—यह; कलिः—कलियुग; वृद्धिम्—प्रौढ़ता; गमिष्यति—प्राप्त करेगा।

जब सप्तर्षि मघा से चल कर पूर्वाषाढा में जायेंगे तो कलि अपनी पूर्ण शक्ति में होगा और राजा नन्द तथा उसके वंश से इसका सूत्रपात होगा।

यस्मिन्कृष्णो दिवं यातस्तस्मिन्नेव तदाहनि ।
प्रतिपन्नं कलियुगमिति प्राहुः पुराविदः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिस पर; कृष्णः—श्रीकृष्ण; दिवम्—वैकुण्ठ को; यातः—गये हुए; तस्मिन्—उस पर; एव—वही; तदा—तब; अहनि—दिन; प्रतिपन्नम्—प्राप्त किया हुआ; कलि-युगम्—कलियुग; इति—इस प्रकार; प्राहुः—कहते हैं; पुरा—भूतकाल के; विदः—जानकार।

जो लोग भूतकाल को अच्छी तरह समझते हैं, वे यह कहते हैं कि जिस दिन भगवान् कृष्ण ने वैकुण्ठ-लोक के लिए प्रस्थान किया, उसी दिन से कलियुग का प्रभाव शुरू हो गया।

तात्पर्य : यद्यपि वैधानिक दृष्टि से कलियुग को इस पृथ्वी पर भगवान् कृष्ण के रहते हुए शुरू हो जाना था, किन्तु इस पतित युग को भगवान् के प्रस्थान तक प्रतीक्षा करनी पड़ी।

दिव्याब्दानां सहस्रान्ते चतुर्थे तु पुनः कृतम् ।
भविष्यति तदा नृणां मन आत्मप्रकाशकम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

दिव्य—देवताओं के; अब्दानाम्—वर्ष; सहस्र—एक हजार; अन्ते—अन्त में; चतुर्थे—चतुर्थ युग, कलियुग में; तु—तथा; पुनः—फिर; कृतम्—सत्ययुग; भविष्यति—होगा; तदा—तब; नृणाम्—मनुष्यों के; मनः—मन; आत्म-प्रकाशकम्—स्वयं प्रकाशित।

कलियुग के एक हजार देवी वर्षों के बाद, सत्ययुग पुनः प्रकट होगा। उस समय सारे मनुष्यों के मन स्वयं प्रकाशमान् हो उठेंगे।

इत्येष मानवो वंशो यथा सङ्ख्यायते भुवि ।
तथा विट्शूद्रविप्राणां तास्ता ज्ञेया युगे युगे ॥ ३५॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार (श्रीमद्भागवत के स्कन्धों में); एषः—यह; मानवः—वैवस्वत मनु से अवतरित; वंशः—वंश; यथा—जिस तरह; सङ्ख्यायते—गिनाया जाता है; भुवि—पृथ्वी पर; तथा—उस प्रकार से; विट्—वैश्यों; शूद्र—शूद्रों; विप्राणाम्—तथा ब्राह्मणों के; ताः ताः—वे वे; ज्ञेयाः—जाने जाने चाहिए; युगे युगे—प्रत्येक युग में।

इस प्रकार मैंने मनु के राजवंश का वर्णन, जिस रूप में वह पृथ्वी पर विख्यात है, कह सुनाया। इसी प्रकार से विविध युगों में रहने वाले वैश्यों, शूद्रों तथा ब्राह्मणों के इतिहास का अध्ययन किया जा सकता है।

तात्पर्य : जिस तरह राजाओं के वंश में उच्च तथा निम्न, प्रतापी तथा दुष्ट राजा सम्मिलित रहते हैं उसी तरह समाज के बुद्धिजीवी, व्यापारी तथा श्रमिक वर्णों में भी अनेक प्रकार के लोग पाये जाते हैं।

एतेषां नामलिङ्गानां पुरुषाणां महात्मनाम् ।
कथामात्रावशिष्टानां कीर्तिरिव स्थिता भुवि ॥ ३६॥

शब्दार्थ

एतेषाम्—इनके; नाम—नामों; लिङ्गानाम्—उन्हें स्मरण रखने के साधन मात्र हैं, जो; पुरुषाणाम्—पुरुषों के; महा-आत्मनाम्—महात्माओं के; कथा—कहानियाँ; मात्र—केवल; अवशिष्टानाम्—जिनके शेषांश; कीर्तिः—यश; एव—केवल; स्थिता—उपस्थित हैं; भुवि—पृथ्वी पर।

ये पुरुष जोकि महात्मा थे अब केवल अपने नामों से जाने जाते हैं। वे भूतकाल के विवरणों में ही पाये जाते हैं और पृथ्वी पर केवल उनका यश रहता है।

तात्पर्य : कोई अपने को महान् शक्तिशाली नेता क्यों न माने, अन्ततोगत्वा उसका नाम केवल नामों की लम्बी सूची में रह जाता है। दूसरे शब्दों में, भौतिक जगत में शक्ति तथा पद से चिपके रहना व्यर्थ है।

देवापिः शान्तनोर्भ्राता मरुश्चेक्ष्वाकुवंशजः ।
कलापग्राम आसाते महायोगबलान्वितौ ॥ ३७॥

शब्दार्थ

देवापिः—देवापि; शान्तनोः—महाराज शान्तनु का; भ्राता—भाई; मरुः—मरु; च—तथा; इक्ष्वाकु-वंश-जः—इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न; कलाप-ग्रामे—कलाप ग्राम में; आसाते—रह रहे हैं; महा—महान्; योग-बल—योगशक्ति से; अन्वितौ—युक्त।

महाराज शान्तनु का भाई देवापि तथा इक्ष्वाकु वंशी मरु, दोनों ही महान् योगशक्ति से युक्त हैं और अब भी कलाप ग्राम में रह रहे हैं।

ताविहैत्य कलेरन्ते वासुदेवानुशिक्षितौ ।
वर्णाश्रमयुतं धर्मं पूर्ववत्प्रथयिष्यतः ॥ ३८॥

शब्दार्थ

तौ—वे दोनों (मरु तथा देवापि); इह—मानव समाज में; एत्य—लौट कर; कलेः—कलियुग के; अन्ते—अन्त में; वासुदेव—भगवान् वासुदेव द्वारा; अनुशिक्षितौ—आदेश दिया जाकर; वर्ण-आश्रम—वर्ण तथा आश्रम से; युतम्—युक्त; धर्मम्—नित्य धर्म-संहिता; पूर्व-वत्—पहले की ही तरह; प्रथयिष्यतः—लागू करेंगे।

कलियुग के अन्त में, ये दोनों ही राजा भगवान् वासुदेव का आदेश पाकर, मानव समाज में लौट आयेंगे और मनुष्य के शाश्वत धर्म की पुनः स्थापना करेंगे जिसमें वर्ण तथा आश्रम का विभाजन पूर्ववत् रहेगा।

तात्पर्य : इस तथा पिछले श्लोक के अनुसार, कलियुग के अन्त होने के बाद, मानव संस्कृति की पुनर्स्थापना करने वाले दो महान् राजा पहले ही पृथ्वी पर अवतरित हो चुके हैं जहाँ वे भगवान् विष्णु की भक्ति करने के लिए धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा कर रहे हैं।

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम् ।
अनेन क्रमयोगेन भुवि प्राणिषु वर्तते ॥ ३९॥

शब्दार्थ

कृतम्—सत्ययुग; त्रेता—त्रेतायुग; द्वापरम्—द्वापर युग; च—तथा; कलिः—कलियुग; च—तथा; इति—इस प्रकार; चतुः-युगम्—चार युगों का चक्र; अनेन—इससे; क्रम—क्रमवार; योगेन—व्यवस्था; भुवि—पृथ्वी पर; प्राणिषु—जीवों के बीच; वर्तते—लगातार चल रही है।

इस पृथ्वी पर जीवों के बीच चार युगों का—सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग का—चक्र निरन्तर चलता रहता है, जिससे घटनाओं का वही सामान्य अनुक्रम पिष्टपेषित होता है।

राजन्नेते मया प्रोक्ता नरदेवास्तथापरे ।
भूमौ ममत्वं कृत्वान्ते हित्वेमां निधनं गताः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

राजन्—हे राजा परीक्षित; एते—ये; मया—मेरे द्वारा; प्रोक्ताः—वर्णित; नर-देवाः—राजा; तथा—और; अपरे—अन्य मनुष्य; भूमौ—पृथ्वी पर; ममत्वम्—आत्मीयता; कृत्वा—दिखाते हुए; अन्ते—अन्तमें; हित्वा—त्याग कर; इमाम्—यह जगत; निधनम्—विनाश को; गताः—प्राप्त हुए।

हे राजा परीक्षित, मेरे द्वारा वर्णित ये सारे राजे तथा अन्य सारे मनुष्य इस पृथ्वी पर आते हैं, अपना प्रभुत्व जताते हैं किन्तु अन्त में उन्हें यह जगत त्यागना पड़ता है और वे विनाश को प्राप्त होते हैं।

कृमिविड्भस्मसंज्ञान्ते राजनाम्नोऽपि यस्य च ।
भूतध्रुक्तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

कृमि—कीड़ों का; विट्—मल; भस्म—तथा राख; संज्ञा—उपाधि; अन्ते—अन्त में; राज-नाम्नः—राजा नाम से विख्यात; अपि—यद्यपि; यस्य—जिस (शरीर) का; च—तथा; भूत—जीवों का; ध्रुक्—शत्रु; तत्-कृते—उस शरीर के लिए; स्व-अर्थम्—अपने हित को; किम्—क्या; वेद—जानता है; निरयः—नरक में दण्ड; यतः—जिसके कारण।

भले ही अभी मनुष्य का शरीर राजा की उपाधि से युक्त हो, किन्तु अन्त में इसका नाम कीड़े, मल या राख हो जायेगा। जो व्यक्ति अपने शरीर के लिए अन्य जीवों को पीड़ा पहुँचाता है, वह अपने हित के विषय में क्या जान सकता है क्योंकि उसके कार्य उसे नरक की ओर ले जाने वाले होते हैं?

तात्पर्य : मृत्यु के बाद शरीर को दफना दिया जाता है और कीड़े उसे खा जाते हैं या फिर उसे सड़क पर या जंगल में फेंक दिया जाता है, जिससे पशु उसे खाकर शेष भाग को मल रूप में निकाल दें या फिर उसे जलाकर भस्म कर दिया जाता है। इसलिए अन्य जीवों के शरीरों को चोट पहुँचाने के लिए अपने नश्वर शरीर का उपयोग करके मनुष्य को नरक का मार्ग प्रशस्त नहीं करना चाहिए। इस श्लोक में *भूत* शब्द में वे अमानुषी जीव भी सम्मिलित हैं, जिन्हें ईश्वर ने ही बनाया है। मनुष्य को ईर्ष्यापूर्ण हिंसा त्याग कर कृष्णभावनामृत की विधि से हर वस्तु में ईश्वर का दर्शन करना सीखना चाहिए।

कथं सेयमखण्डा भूः पूर्वैर्मे पुरुषैर्धृता ।

मत्पुत्रस्य च पौत्रस्य मत्पूर्वा वंशजस्य वा ॥ ४२॥

शब्दार्थ

कथम्—कैसे; सा इयम्—यह वही; अखण्डा—असीम; भूः—पृथ्वी; पूर्वैः—पूर्वजों द्वारा; मे—मेरे; पुरुषैः—पुरुषों द्वारा; धृता—वश में की गई; मत्-पुत्रस्य—मेरे पुत्र के; च—तथा; पौत्रस्य—पौत्र के; मत्-पूर्वा—अब मेरे अधीन; वंश-जस्य—वंशजों के; वा—अथवा।

[भौतिकतावादी राजा सोचता हैं] ''यह असीम पृथ्वी मेरे पूर्वजों के अधीन थी और अब मेरी प्रभुसत्ता में है। मैं इसे अपने पुत्रों, पौत्रों तथा अन्य वंशजों के हाथों में रहते जाने की किस तरह व्यवस्था करूँ?''

तात्पर्य : यह मूर्खतापूर्ण स्वामित्व का उदाहरण है।

तेजोऽबन्नमयं कायं गृहीत्वात्मतयाबुधाः ।
महीं ममतया चोभौ हित्वान्तेऽदर्शनं गताः ॥ ४३॥

शब्दार्थ

तेजः—अग्नि; अप्—जल; अन्न—तथा पृथ्वी; मयम्—से बना; कायम्—यह शरीर; गृहीत्वा—स्वीकार करके; आत्मतया—''मैं'' भाव से; अबुधाः—मूर्ख; महीम्—इस पृथ्वी को; ममतया—''मेरे'' भाव से; च—तथा; उभौ—दोनों; हित्वा—त्याग कर; अन्ते—अन्ततः; अदर्शनम्—अन्तर्धान; गताः—हो गये।

यद्यपि मूर्ख लोग पृथ्वी, जल तथा अग्नि से बने शरीर को ''मैं'' और इस पृथ्वी को ''मेरी'' स्वीकार करते हैं, किन्तु अन्ततः उन सबों को अपना शरीर तथा पृथ्वी दोनों त्यागना पड़ा और वे विस्मृति के गर्भ में चले गये।

तात्पर्य : यद्यपि आत्मा शाश्वत है, हमारी तथाकथित पारिवारिक परंपरा तथा पार्थिव यश निश्चित रूप से विस्मृत हो जायेंगे।

ये ये भूपतयो राजन्भुञ्जते भुवमोजसा ।
कालेन ते कृताः सर्वे कथामात्राः कथासु च ॥ ४४॥

शब्दार्थ

ये ये—जो भी; भू-पतयः—राजा; राजन्—हे राजा परीक्षित; भुञ्जते—भोग करते हैं; भुवम्—संसार का; ओजसा—अपने पराक्रम से; कालेन—काल की शक्ति से; ते—वे; कृताः—बनाये गये; सर्वे—सभी; कथा-मात्राः—मात्र वृत्तान्त; कथासु—विविध इतिहासों में; च—तथा।

हे राजा परीक्षित, ये सारे राजे जिन्होंने अपने बल से पृथ्वी का भोग करना चाहा, सारे के सारे, काल की शक्ति से ऐतिहासिक वृत्तान्त मात्र बन कर रह गये।

तात्पर्य : इस श्लोक में *राजन्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। परीक्षित महाराज अपना शरीर त्याग कर भगवद्धाम जाने की तैयारी कर रहे थे और उनके परम दयालु गुरु शुकदेव गोस्वामी ने उनकी रही सही आसक्ति को जो राजा होने के कारण शेष थी, इस पद की अन्ततोगत्वा नगण्यता बताकर, ध्वस्त कर दिया। गुरु की अहैतुकी कृपा से कोई भी व्यक्ति भगवद्धाम जाने के लिए तैयार किया जा सकता है। गुरु उसे भौतिक माया पर अपनी मजबूत पकड़ को ढीला करने और माया के राज्य

को पीछे छोड़ने की शिक्षा देता है। यद्यपि शुकदेव गोस्वामी भौतिक जगत की तथाकथित कीर्ति के विषय में इस अध्याय में बड़ी रुखाई से बोलते हैं, वे उस गुरु की अहैतुकी कृपा दिखा रहे हैं, जो अपने शरणागत शिष्य को भगवद्धाम या वैकुण्ठ ले जाते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के बारहवें स्कंध के अन्तर्गत ''कलियुग के लक्षण'' नामक द्वितीय अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तीन

भूमि गीत

इस अध्याय में यह बताया गया है कि पृथ्वी ने किस तरह उन अनेक राजाओं की मूर्खता देखी जो उसे जीतने पर तुले थे। इसमें यह भी बताया गया है कि यद्यपि कलियुग दोषों से पूर्ण है, किन्तु हरि-नाम के कीर्तन से वे सारे दोष नष्ट हो जाते हैं।

बड़े-बड़े राजा जो मृत्यु के खिलौने हैं अपने छ: आन्तरिक शत्रुओं—पाँच इन्द्रियाँ तथा मन—का दमन करना चाहते हैं। फिर वे यह कल्पना करने लगते हैं कि इसके बाद वे पृथ्वी तथा उसके सारे समुद्रों को जीत लेंगे। उनकी झूठी आशाएँ देख कर पृथ्वी उन पर हँसती है क्योंकि अन्तत: उन्हें यह लोक छोड़ कर अन्यत्र जाना होगा जैसाकि विगत बड़े बड़े राजे तथा बादशाह जा चुके हैं। यही नहीं, पृथ्वी को या इसके किसी खण्ड को हड़प लेने के बाद पिता, पुत्र, भाई, मित्र तथा सम्बन्धी उसके लिए परस्पर झगड़ते हैं।

इतिहास के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि सारी सांसारिक उपलब्धियाँ नश्वर हैं और इस सहज निष्कर्ष से वैराग्य की भावना उत्पन्न होती है। अन्ततोगत्वा किसी भी जीव के लिए जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य भगवान् कृष्ण की शुद्ध भक्ति है, जो सारे अमंगलों को विनष्ट करती है। सत्ययुग में धर्म पूर्ण था जिसमें सत्य, दया, तपस्या तथा दान के चारों पैर अभी तक विद्यमान थे। त्रेता के बाद हर युग के धार्मिक गुणों में एक चौथाई ह्रास आता गया। कलियुग में धर्म के पैरों में केवल एक चौथाई शक्ति रह गई है किन्तु इस युग के अग्रसर होने पर यह भी समाप्त हो जायेगी। सत्ययुग में सतोगुण प्रधान रहता है और त्रेतायुग में रजोगुण। द्वापर युग में रजो तथा तमोगुण का मिश्रण प्रधान रहता है और कलियुग में तमोगुण प्रधान रहता है। कलियुग में नास्तिकता, समस्त वस्तुओं की लघुता तथा निकृष्टता एवं जननांगों और उदर के प्रति आसक्ति अत्यन्त मुखर रहते हैं। कलि के प्रभाव से दूषित जीव भगवान् हरि को नहीं पूजते। यद्यपि भगवन्नाम का कीर्तन करने और उनकी शरण में जाने से सारे बन्धन से छुटकारा मिल सकता है और परम गन्तव्य की सहज प्राप्ति हो सकती है। किन्तु यदि कलियुग में किसी तरह से बद्धजीवों के हृदयों में भगवान् प्रकट हो जाते हैं, तो इस युग में व्याप्त देश, काल तथा व्यक्ति के सारे दोष विनष्ट हो जाते हैं। कलियुग दोषों का सागर है किन्तु इसमें एक महान् गुण है—कृष्ण-नाम का कीर्तन करने से ही मनुष्य सारी भौतिक संगति से उद्धार पा लेता है और परब्रह्म को प्राप्त करता है। सत्ययुग में जो कुछ ध्यान से, त्रेता में

यज्ञ करने से तथा द्वापर में मन्दिर पूजा से प्राप्त होता था, उसे कलियुग में केवल *हरि-कीर्तन* द्वारा आसानी से प्राप्त किया जा सकता है।

श्रीशुक उवाच

दृष्ट्वात्मनि जये व्यग्रान्नृपान्हसति भूरियम् ।
अहो मा विजिगीषन्ति मृत्योः क्रीडनका नृपाः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; दृष्ट्वा—देख कर; आत्मनि—अपने आपमें; जये—विजय में; व्यग्रान्—व्यस्त; नृपान्—राजाओं को; हसति—हँसती है; भूः—पृथ्वी; इयम्—यह; अहो—ओह; मा—मुझको; विजिगीषन्ति—जीतना चाहते हैं; मृत्योः—मृत्यु के; क्रीडनकाः—खिलौने; नृपाः—राजा।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस जगत के राजाओं को अपने पर विजय प्राप्त करने के प्रयास में व्यस्त देख कर, पृथ्वी हँसने लगी। उसने कहा : "जरा देखो तो इन राजाओं को जो मृत्यु के हाथों में खिलौनों जैसे हैं, मुझ पर विजय पाने की इच्छा कर रहे हैं!"

काम एष नरेन्द्राणां मोघः स्याद्विदुषामपि ।
येन फेनोपमे पिण्डे येऽतिविश्रम्भिता नृपाः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

कामः—काम; एषः—यह; नर-इन्द्राणाम्—मनुष्यों के शासकों की; मोघः—असफलता; स्यात्—हो जाती है; विदुषाम्—विद्वानों के; अपि—भी; येन—जिस (काम) से; फेन-उपमे—क्षणिक बुलबुले के सदृश; पिण्डे—इसपिण्ड में; ये—जो; अति-विश्रम्भिताः—पूरी तरह विश्वास करते हुए; नृपः—राजागण।

"मनुष्यों के महान् शासक, यहाँ तक कि जो विद्वान भी हैं, भौतिक कामेच्छा के कारण हताशा तथा असफलता को प्राप्त होते हैं। ये राजा काम से प्रेरित होकर, मांस के मृत पिण्ड में, जिसे हम शरीर कहते हैं, अत्यधिक आशा तथा श्रद्धा रखते हैं यद्यपि भौतिक ढाँचा जल पर तैरते फेन के बुलबुलों के समान क्षणभंगुर है।"

पूर्वं निर्जित्य षड्वर्गं जेष्यामो राजमन्त्रिणः ।
ततः सचिवपौराप्तकरीन्द्रानस्य कण्टकान् ॥ ३ ॥
एवं क्रमेण जेष्यामः पृथ्वीं सागरमेखलाम् ।
इत्याशाबद्धहृदया न पश्यन्त्यन्तिकेऽन्तकम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

पूर्वम्—सर्वप्रथम; निर्जित्य—जीत कर; षट्-वर्गम्—पाँच इन्द्रियाँ तथा मन; जेष्यामः—हम जीत लेंगे; राज-मन्त्रिणः—राजा के मंत्रियों को; ततः—तब; सचिव—निजी सचिवों; पौर—राजधानी के नागरिकों; आप्त—मित्रों; करि-इन्द्रान्—हाथी रखने वालों; अस्य—छुटकारा पाकर; कण्टकान्—काँटों; एवम्—इस तरह; क्रमेण—धीरे धीरे; जेष्यामः—जीत लेंगे; पृथ्वीम्—पृथ्वी को; सागर—समुद्र रूपी; मेखलाम्—मेखला (कमर की पेटी); इति—इस तरह सोचते हुए; आशा—आशा से; बद्ध—बँधे; हृदयाः—हृदय वाले; न पश्यन्ति—नहीं देखते; अन्तिके—निकटस्थ; अन्तकम्—अपना अन्त।

''राजे तथा राजनीतिज्ञ यह कल्पना करते हैं, ''सर्वप्रथम मैं अपनी इन्द्रियों तथा मन को जीतूँगा; फिर मैं अपने मुख्य मंत्रियों का दमन करूँगा और अपने सलाहकारों, नागरिकों, मित्रों तथा सम्बन्धियों एवं अपने हाथियों के रखवालों रूपी कंटकों से अपने को मुक्त कर लूँगा। इस तरह मैं धीरे धीरे पूरी पृथ्वी को जीत लूँगा।'' चूँकि इन नेताओं के हृदयों में बड़ी-बड़ी आशाएँ रहती हैं अतएव ये पास ही खड़ी प्रतीक्षारत मृत्यु को नहीं देख पाते।

तात्पर्य : दृढ़-संकल्प राजनीतिज्ञ, तानाशाह तथा सैन्य, प्रमुख आत्मानुशासन के साथ, कठिन तप तथा त्याग करते हैं जिससे शक्ति के लिए उनके लोभ की पूर्ति हो सके। तब वे समुद्र, स्थल, वायु तथा आकाश पर अधिकार करने के लिए बड़े-बड़े राष्ट्रों को भिड़ा देते हैं। यद्यपि ये राजनीतिज्ञ तथा उनके अनुयायी शीघ्र ही कालकवलित हो जायेंगे क्योंकि इस जगत में जन्म तथा मृत्यु अपरिहार्य हैं, किन्तु वे क्षणिक यश के लिए अपना उन्मादी संघर्ष जारी रखते हैं।

समुद्रावरणां जित्वा मां विशन्त्यब्धिमोजसा ।
कियदात्मजयस्यैतन्मुक्तिरात्मजये फलम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

समुद्र-आवरणाम्—समुद्र द्वारा सीमाबद्ध; जित्वा—जीत कर; माम्—मुझमें; विशन्ति—प्रवेश करते हैं; अब्धिम्—समुद्र को; ओजसा—अपने बल से; कियत्—कितना; आत्म-जयस्य—आत्मा पर विजय का; एतत्—यह; मुक्तिः—मुक्ति; आत्म-जये—आत्मा पर विजय का; फलम्—फल।

''ये गर्वित राजागण मेरे तल पर सारी भूमि को जीत लेने के बाद, समुद्र को जीतने के लिए बलपूर्वक समुद्र में प्रवेश करते हैं। भला उनके ऐसे आत्मसंयम से क्या लाभ जिसका लक्ष्य राजनीतिक शोषण हो? आत्मसंयम का वास्तविक लक्ष्य तो आध्यात्मिक मुक्ति है।''

यां विसृज्यैव मनवस्तत्सुताश्च कुरूद्वह ।
गता यथागतं युद्धे तां मां जेष्यन्त्यबुद्धयः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

याम्—जिसको; विसृज्य—त्याग कर; एव—निस्सन्देह; मनवः—मनुष्यगण; तत्-सुताः—उनके पुत्र; च—भी; कुरु-उद्वह—हे कुरुश्रेष्ठ; गताः—चले गये; यथा-आगतम्—जिस तरह वे पहले आये; युद्धे—युद्ध में; ताम्—उसको; माम्—मुझ पृथ्वी को; जेष्यन्ति—जीतने का प्रयास करते हैं; अबुद्धयः—अज्ञानी।

हे कुरुश्रेष्ठ, पृथ्वी आगे कहती है, ''यद्यपि भूतकाल में बड़े-बड़े पुरुष तथा उनके वंशज इस संसार से मुझे छोड़ कर, उसी असहायवस्था में चले गये जिस रूप में इसमें आये थे, किन्तु आज भी मूर्ख लोग मुझे जीतने का प्रयास कर रहे हैं।

मत्कृते पितृपुत्राणां भ्रातृणां चापि विग्रहः ।
जायते ह्यसतां राज्ये ममताबद्धचेतसाम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

मत्-कृते—मेरे हेतु; पितृ-पुत्राणाम्—पिता तथा पुत्र के बीच; भ्रातृणाम्—भाइयों के बीच; च—तथा; अपि—भी; विग्रहः—झगड़ा; जायते—उठ खड़ा होता है; हि—निस्सन्देह; असताम्—भौतिकतावादियों के बीच; राज्ये—राज्य में; ममता—स्वामित्व बोध के कारण; बद्ध—बद्ध; चेतसाम्—हृदयों वाले।

"मुझे जीतने के उद्देश्य से भौतिकतावादी लोग परस्पर लड़ते हैं। पिता अपने पुत्र का विरोध करता है और भाई एक-दूसरे से झगड़ते हैं क्योंकि उनके हृदय राजनीतिक शक्ति पाने के लिए बँधे रहते हैं।"

ममैवेयं मही कृत्स्ना न ते मूढेति वादिनः ।
स्पर्धमाना मिथो घ्नन्ति म्रियन्ते मत्कृते नृपाः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

मम—मेरा; एव—निस्सन्देह; इयम्—यह; मही—पृथ्वी; कृत्स्ना—पूरी; न—नहीं; ते—तुम्हारी; मूढ—रे मूर्ख; इति वादिनः—इस प्रकार बोलते; स्पर्धमानाः—लड़ते-झगड़ते; मिथः—परस्पर; घ्नन्ति—मार डालते हैं; म्रियन्ते—मारे जाते हैं; मत्-कृते—मेरे लिए; नृपाः—राजे।

"राजनीतिक लोग एक-दूसरे को ललकारते हैं "यह सारी भूमि मेरी है। अरे मूर्ख। यह तुम्हारी नहीं है।" इस तरह वे एक-दूसरे पर हमला करते हैं और मर जाते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में उस संसारी राजनीतिक मनोवृत्ति को उजागर किया गया है, जिससे संसार में असंख्य विवादों को प्रोत्साहन मिलता है। उदाहरणार्थ, *श्रीमद्भागवत* के इस के समय, छोटे-से फाकलैड द्वीप-समूह के कारण अंग्रेजी तथा अर्जेन्टीना की फौजें घमासान युद्ध कर रही हैं।

वस्तुतः भगवान् सारी भूमि के स्वामी हैं। निस्संदेह, ईश-भावनाभावित जगत में भी राजनीतिक सीमाएँ पाई जाती हैं। लेकिन ऐसे ईश-भावनाभावित वातावरण में राजनैतिक तनाव बहुत हद तक दूर हो जाते हैं और सारे देशों के लोग एक-दूसरे का स्वागत करते हैं और शान्तिपूर्वक रहने के एक-दूसरे के अधिकार का आदर करते हैं।

पृथुः पुरूरवा गाधिर्नहुषो भरतोऽर्जुनः ।
मान्धाता सगरो रामः खट्वाङ्गो धुन्धुहा रघुः ॥ ९ ॥

तृणबिन्दुर्ययातिश्च शर्यातिः शन्तनुर्गयः ।
भगीरथः कुवलयाश्वः ककुत्स्थो नैषधो नृगः ॥ १० ॥

हिरण्यकशिपुर्वृत्रो रावणो लोकरावणः ।
नमुचिः शम्बरो भौमो हिरण्याक्षोऽथ तारकः ॥ ११ ॥

अन्ये च बहवो दैत्या राजानो ये महेश्वराः ।
सर्वे सर्वविदः शूराः सर्वे सर्वजितोऽजिताः ॥ १२ ॥

ममतां मय्यवर्तन्त कृत्वोच्चैर्मर्त्यधर्मिणः ।
कथावशेषाः कालेन ह्यकृतार्थाः कृता विभो ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

पृथुः पुरूरवाः गाधिः—महाराज पृथु, पुरूरवा तथा गाधि; नहुषः भरतः अर्जुनः—नहुष, भरत तथा कार्तवीर्य अर्जुन; मान्धाता सगरः रामः—मान्धाता, सगर तथा राम; खट्वाङ्गः धुन्धुहा रघुः—खट्वांग, धुन्धुहा तथा रघु; तृणबिन्दुः ययातिः च—तृणबिन्दु तथा ययाति; शर्यातिः शन्तनुः गयः—शर्याति, शन्तनु तथा गय; भगीरथः कुवलयाश्वः—भगीरथ तथा कुवलयाश्व; ककुत्स्थः नैषधः नृगः—ककुत्स, नैषध तथा नृग; हिरण्यकशिपुः वृत्रः—हिरण्यकशिपु तथा वृत्रासुर; रावणः—रावण; लोक-रावणः—जिसने सारे जगत को रुला मारा; नमुचिः शम्बरः भौमः—नमुचि, शम्बर तथा भौम; हिरण्याक्षः—हिरण्याक्ष; अथ—तथा; तारकः—तारक; अन्ये—दूसरे; च—भी; बहवः—अनेक; दैत्याः—दैत्यगण; राजानः—राजे; ये—जो; महा-ईश्वराः—महान् नियन्ता; सर्वे—वे सभी; सर्व-विदः—सबकुछ जानने वाले; शूराः—वीर; सर्वे—सभी; सर्व-जितः—सबों को जीतने वाले; अजिताः—न जीते जा सकने योग्य; ममताम्—ममत्व; मयि—मेरे लिए; अवर्तन्त—वे जीवित रहे; कृत्वा—व्यक्त करके; उच्चैः—बहुत हद तक; मर्त्य-धर्मिणः—जन्म-मृत्यु के नियमों के अधीन; कथा-अवशेषाः—केवल ऐतिहासिक कथा के रूप में बचे हुए; कालेन—काल के बल से; हि—निस्सन्देह; अकृत-अर्थाः—जिनकी इच्छाएँ अपूर्ण रह गईं; कृताः—बनाये गये; विभो—हे स्वामी।

''पृथु, पुरूरवा, गाधि, नहुष, भरत, कार्तवीर्य अर्जुन, मान्धाता, सगर, राम, खट्वांग, धुन्धुहा, रघु, तृणबिन्दु, ययाति, शर्याति, शन्तनु, गय, भगीरथ, कुवलयाश्व, ककुत्स्थ, नैषध, नृग, हिरण्यकशिपु, वृत्र, सारे जग को रुलाने वाला रावण, नमुचि, शम्बर, भौम, हिरण्याक्ष तथा तारक के साथ साथ अन्य असुर तथा अन्यों पर शासन करने की महान् शक्ति से युक्त राजे—ये सारे के सारे ज्ञानी, शूर, सबको जीतने वाले तथा अजेय थे। तो भी हे सर्वशक्तिमान प्रभु, ये सारे राजा मुझे पाने के लिए गहन प्रयास करते हुए जीवन बिताते रहे, किन्तु काल के अधीन थे जिसने सबों को मात्र ऐतिहासिक वृत्तान्त बना दिया है। इनमें से एक भी स्थायी रूप से अपना शासन स्थापित नहीं कर सका।''

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार तथा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर द्वारा उसी की सम्पुष्टि के अनुसार, यहाँ पर उल्लिखित राम अवतारी भगवान् रामचन्द्र नहीं हैं। पृथु महाराज को भगवान् का अवतार माना जाता है जिन्होंने सम्पूर्ण पृथ्वी पर स्वामित्व का दावा करते हुए पार्थिव राजा के गुणों को पूरी तरह प्रकट किया। किन्तु पृथु महाराज जैसे सन्त राजा पृथ्वी का नियंत्रण भगवान् की ओर से करते हैं जबकि हिरण्यकशिपु या रावण जैसे असुर, पृथ्वी का दुरुपयोग अपनी निजी इन्द्रियतृप्ति के लिए करना चाहते हैं। फिर भी सन्त स्वभाव वाले राजाओं तथा असुरों—इन दोनों ही को यह पृथ्वी छोड़नी पड़ती है। इस तरह उनकी राजनीतिक सर्वश्रेष्ठता काल के वेग से निरसित हो जाती है।

आधुनिक राजनीतिक नेता न तो सम्पूर्ण पृथ्वी का अस्थायी रूप से नियंत्रण कर सकते हैं, न ही उनका ऐश्वर्य तथा उनकी बुद्धि असीम हैं। अत्यन्त खंडित शक्ति के स्वामी बन कर, अल्प आयु को भोगते हुए और गहन बुद्धि से रहित, ये आधुनिक नेता हताशा तथा कुनिर्दिष्ट आकांक्षा के प्रतीक हैं।

कथा इमास्ते कथिता महीयसां
विताय लोकेषु यशः परेयुषाम् ।

विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो
वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

कथा:—कथाएँ; इमा:—ये; ते—तुमसे; कथिता:—कही गई; महीयसाम्—महान् राजाओं की; विताय—फैलाकर; लोकेषु—सारे जगतों में; यश:—उनका यश; परेयुषाम्—प्रस्थान कर चुके; विज्ञान—दिव्य ज्ञान; वैराग्य—तथा वैराग्य; विवक्षया—शिक्षा देने की इच्छा से; विभो—हे शक्तिशाली परीक्षित; वच:—शब्दों का; विभूती:—अलंकरण; न—नहीं; तु—लेकिन; पारम-अर्थ्यम्—अत्यन्त आवश्यक तात्पर्य का।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे बलशाली परीक्षित, मैंने इन सारे महान् राजाओं की कथाएँ तुमसे बतला दीं जिन्होंने संसार-भर में अपना यश फैलाया और फिर चले गये। मेरा असली उद्देश्य दिव्य ज्ञान तथा वैराग्य की शिक्षा देना था। राजाओं की कथाएँ इन वृत्तान्तों को शक्ति तथा ऐश्वर्य प्रदान करती हैं लेकिन वे स्वयं ज्ञान के चरम पक्ष से युक्त नहीं हैं।

तात्पर्य : चूँकि *श्रीमद्भागवत* की सारी कथाएँ पाठक को दिव्य ज्ञान की पूर्णता प्रदान कराने वाली हैं, अत: वे राजाओं या अन्य संसारी विषयों के माध्यम से सर्वोच्च आध्यात्मिक शिक्षाएँ देती हैं। कृष्ण के प्रसंग में सारी सामान्य कथाएँ दिव्य बन जाती हैं जिनमें पाठक को जीवन की पूर्णता प्रदान करने की शक्ति होती है।

यस्तूत्तम:श्लोकगुणानुवाद:
सङ्गीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्न: ।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं
कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समान: ॥ १५॥

शब्दार्थ

य:—जो; तु—दूसरी ओर; उत्तम:-श्लोक—दिव्य श्लोकों द्वारा प्रशंसित भगवान् के; गुण—गुणों की; अनुवाद:—वर्णन; सङ्गीयते—गाया जाता है; अभीक्ष्णम्—सदैव; अमङ्गल-घ्न:—अमंगल का विनाश करने वाला; तम्—उसको; एव—निस्सन्देह; नित्यम्—नियमित रूप से; शृणुयात्—सुने; अभीक्ष्णम्—निरन्तर; कृष्णे—कृष्ण के प्रति; अमलाम्—निर्मल; भक्तिम्—भक्ति; अभीप्समान:—इच्छा रखने वाला।

जो व्यक्ति भगवान् कृष्ण की शुद्ध भक्ति चाहता है उसे भगवान् उत्तमश्लोक के यश:पूर्ण गुणों की कथाएँ सुननी चाहिए जिनके निरन्तर कीर्तन से सारे अमंगल विनष्ट हो जाते हैं। भक्तों को नियमित दैनिक सभाओं में ऐसे श्रवण में अपने को लगाना चाहिए और दिन-भर इसी में लगे रहना चाहिए।

तात्पर्य : चूँकि कृष्ण विषयक कोई भी कथा शुभ तथा दिव्य होती है, भगवान् कृष्ण के अपने राजनीतिक तथा गैर-राजनीतिक कार्यों का सीधा वर्णन निश्चय ही सुनने के लिए सर्वश्रेष्ठ विषयवस्तु है। यहाँ पर *नित्यम्* शब्द कृष्ण-कथाओं के नियमित अनुशीलन का सूचक है और *अभीक्ष्णम्* शब्द ऐसे नियमित आध्यात्मिक अनुभवों के निरन्तर स्मरण का सूचक है।

श्रीराजोवाच

केनोपायेन भगवन्कलेर्दोषान्कलौ जनाः ।
विधमिष्यन्त्युपचितांस्तन्मे ब्रूहि यथा मुने ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा परीक्षित ने कहा; केन—किस; उपायेन—उपाय से; भगवन्—हे प्रभु; कलेः—कलियुग के; दोषान्—बुराइयों को; कलौ—कलियुग में रहते हुए; जनाः—लोग; विधमिष्यन्ति—समूल नष्ट करेंगे; उपचितान्—संचित; तत्—वह; मे—मुझसे; ब्रूहि—कहिए; यथा—उपयुक्त रीति से; मुने—हे मुनि।

राजा परीक्षित ने कहा : हे स्वामी, कलियुग में रहने वाले लोग किस तरह इस युग के संचित कल्मष से अपने को छुटा सकते हैं? हे महामुनि, यह मुझे बतलायें।

तात्पर्य : राजा परीक्षित दयालु साधु शासक थे। अतः कलियुग के गर्हित गुणों के विषय में सुनने के बाद स्वभावतः उन्होंने पूछा कि इस युग में उत्पन्न लोग किस तरह इसमें निहित कल्मष से अपने को मुक्त करा सकते हैं?

युगानि युगधर्मांश्च मानं प्रलयकल्पयोः ।
कालस्येश्वररूपस्य गतिं विष्णोर्महात्मनः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

युगानि—विश्व इतिहास के युग; युग-धर्मान्—प्रत्येक युग के विशिष्ट गुण; च—तथा; मानम्—माप; प्रलय—संहार; कल्पयोः—तथा ब्रह्माण्ड की स्थिति; कालस्य—समय का; ईश्वर-रूपस्य—भगवान् का प्रतिनिधित्व; गतिम्—चाल; विष्णोः—विष्णु की; महा-आत्मनः—परमात्मा।

कृपया विश्व इतिहास के विभिन्न युगों, प्रत्येक युग के विशिष्ट गुणों, ब्रह्माण्ड स्थिति की अवधि तथा संहार एवं परमात्मा स्वरूप विष्णु के प्रत्यक्ष प्रतिनिधि काल की गति के बारे में बतलायें।

श्रीशुक उवाच

कृते प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पात्तज्जनैर्धृतः ।
सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; कृते—सत्ययुग में; प्रवर्तते—पाया जाता है; धर्मः—धर्म; चतुः-पात्—चार पैरों वाला; तत्—उस युग के; जनैः—लोगों के द्वारा; धृतः—धारण किया हुआ; सत्यम्—सत्य; दया—दया; तपः—तपस्या; दानम्—दान; इति—इस प्रकार; पादाः—पैर; विभोः—शक्तिशाली धर्म के; नृप—हे राजा।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा, प्रारम्भ में, सत्ययुग में, धर्म अपने चार अक्षत पैरों से युक्त रहता है और उस युग के लोगों द्वारा सावधानी से धारण किया जाता है। शक्तिशाली धर्म के चार पैर हैं—सत्य, दया, तपस्या तथा दान।

तात्पर्य : जिस तरह चार ऋतुएँ होती हैं उसी तरह पृथ्वी के चार युग होते हैं जिनमें से प्रत्येक लाखों वर्षों तक चलता है। इनमें से पहला युग सत्ययुग है, जिसमें दान जैसे सद्गुणों का प्राधान्य रहता है।

यहाँ पर *दानम्* का प्रसंग आया है, जो वस्तुत: निर्भयता तथा अन्यों को स्वतंत्रता प्रदान करना है, किसी क्षणिक आनन्द या राहत का भौतिक साधन प्रदान करना नहीं। कोई भी भौतिक ''दानी'' व्यवस्था अन्ततोगत्वा काल-प्रवाह द्वारा कुचल दी जायेगी। इसलिए काल की पहुँच के परे अपने नित्य अस्तित्व का साक्षात्कार ही मनुष्य को निर्भय बना सकता है और भौतिक इच्छा से छुटकारा ही असली स्वतंत्रता है क्योंकि इससे प्रकृति के नियमों के बन्धन से छूटा जा सकता है। इसलिए असली दान तो लोगों में उनकी नित्य आध्यात्मिक चेतना को जागृत करने में सहायता करना है।

धर्म को यहाँ पर *विभु* अर्थात् ''शक्तिशाली'' कहा गया है क्योंकि विश्वजनीन धार्मिक सिद्धान्त स्वयं भगवान् से भिन्न नहीं हैं और वे अन्तत: मनुष्य को भगवद्धाम ले जाने वाले हैं। यहाँ पर उल्लिखित गुण—सत्य, दया, तपस्या तथा दान—पवित्र जीवन के विश्वजनीन, असाम्प्रदायिक पक्ष हैं।

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध में धर्म का चौथा पाँव स्वच्छता बतलाया गया है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार यह *दानम्* शब्द की वर्तमान संदर्भ में, वैकल्पिक परिभाषा है।

सन्तुष्टाः करुणा मैत्राः शान्ता दान्तास्तितिक्षवः ।
आत्मारामाः समदृशः प्रायशः श्रमणा जनाः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सन्तुष्टाः—आत्मतुष्ट; करुणाः—दयालु; मैत्राः—मैत्री भाव वाले; शान्ताः—शान्त; दान्ताः—आत्मसंयमी; तितिक्षवः—सहिष्णु; आत्म-आरामाः—भीतर से आनन्दित; सम-दृशः—समदृष्टि रखने वाला; प्रायशः—अधिकांशतः; श्रमणाः—(आत्म-साक्षात्कार के लिए) उद्योगशील; जनाः—लोग।

सत्ययुग के लोग प्राय: आत्मतुष्ट, दयालु, सबों के मित्र, शान्त, गम्भीर तथा सहिष्णु होते हैं। वे अन्त:करण से आनन्द लेने वाले, सभी वस्तुओं को एक-सा देखने वाले तथा आध्यात्मिक सिद्धि के लिए सदैव उद्योगशील होते हैं।

तात्पर्य : *सम-दर्शन* अर्थात् समान दृष्टि का आधार है सारी भौतिक विविधता के पीछे तथा सारे जीवों के भीतर भगवान् की अनुभूति।

त्रेतायां धर्मपादानां तुर्यांशो हीयते शनैः ।
अधर्मपादैरनृतहिंषासन्तोषविग्रहैः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

त्रेतायाम्—द्वितीय युग में; धर्म-पादानाम्—धर्म के पैरों का; तुर्य—एक चौथाई; अंशः—अंश; हीयते—नष्ट हो जाता है; शनैः—धीरे धीरे; अधर्म-पादैः—अधर्म के पैरों द्वारा; अनृत—झूठ; हिंसा—हिंसा; असन्तोष—असंतोष; विग्रहैः—तथा झगड़े से, कलह से।

त्रेतायुग में अधर्म के चार पैरों—झूठ, हिंसा, असंतोष तथा कलह—के प्रभाव से धर्म का प्रत्येक पैर क्रमशः एक चौथाई क्षीण हो जाता है।

तात्पर्य : झूठ से सत्य क्षीण होता है, हिंसा से दया, असंतोष से तपस्या और कलह से दान तथा स्वच्छता क्षीण होते हैं।

तदा क्रियातपोनिष्ठा नातिहिंस्रा न लम्पटाः ।
त्रैवर्गिकास्त्रयीवृद्धा वर्णा ब्रह्मोत्तरा नृप ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तदा—तब (त्रेतायुग में); क्रिया—कर्मकाण्ड; तपः—तथा तप के प्रति; निष्ठाः—अनुरक्ति; न अति-हिंस्राः—अधिक उग्र नहीं; न लम्पटाः—मनमानी इन्द्रियतृप्ति चाहने वाले; त्रै-वर्गिकाः—धर्म, अर्थ तथा इन्द्रियतृप्ति के तीन सिद्धान्तों में रुचि रखने वाले; त्रयी—तीन वेदों के द्वारा; वृद्धाः—सम्पन्न बने; वर्णाः—समाज की चार श्रेणियाँ; ब्रह्म-उत्तराः—प्रायः ब्राह्मण; नृप—हे राजा।

त्रेतायुग में लोग कर्मकाण्ड तथा कठिन तपस्या में लगे रहते हैं। वे न तो अत्यधिक उग्र होते हैं न ऐन्द्रिय आनन्द के पीछे अत्यधिक कामुक होते हैं। उनकी रुचि मुख्यतः धर्म, आर्थिक विकास तथा नियमित इन्द्रियतृप्ति में रहती है और वे तीन वेदों की संस्तुतियों का पालन करते हुए सम्पन्नता प्राप्त करते हैं। हे राजा, यद्यपि इस युग में समाज में चार पृथक्-पृथक् श्रेणियाँ (वर्ण) उत्पन्न हो जाती हैं, किन्तु अधिकांश लोग ब्राह्मण होते हैं।

तपःसत्यदयादानेष्वर्धं ह्रस्वति द्वापरे ।
हिंसातुष्ट्यनृतद्वेषैर्धर्मस्याधर्मलक्षणैः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तपः—तपस्या; सत्य—सत्य; दया—दया; दानेषु—तथा दान का; अर्धम्—अर्धम्; ह्रस्वति—घट जाता है; द्वापरे—द्वापर युग में; हिंसा—हिंसा; अतुष्टि—असंतोष; अनृत—झूठ; द्वेषैः—तथा घृणा से; धर्मस्य—धर्म का; अधर्म-लक्षणैः—अधर्म के लक्षणों से।

द्वापर युग में तपस्या, सत्य, दया तथा दान के धार्मिक गुण अपने अधार्मिक विलोम अंशों—असंतोष, असत्य, हिंसा तथा शत्रुता—के द्वारा घट कर आधे हो जाते हैं।

यशस्विनो महाशीलाः स्वाध्यायाध्ययने रताः ।
आढ्याः कुटुम्बिनो हृष्टा वर्णाः क्षत्रद्विजोत्तराः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यशस्विनः—यश के लिए इच्छुक; महा-शीलाः—नेक; स्वाध्याय-अध्ययने—वैदिक वाङ्मय के अध्ययन में; रताः—लीन; आढ्याः—ऐश्वर्य से युक्त; कुटुम्बिनः—बड़े-बड़े परिवारों वाले; हृष्टाः—प्रसन्न; वर्णाः—समाज की चार श्रेणियाँ; क्षत्र-द्विज-उत्तराः—प्रायः क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों की प्रधानता।

द्वापर युग में लोग यश के भूखे तथा अत्यन्त नेक होते हैं। वे वेदाध्ययन में अपने को लगाते हैं, प्रचुर ऐश्वर्य वाले होते हैं, बड़े-बड़े परिवारों वाले होते हैं और जीवन का ओजपूर्वक आनन्द लूटते हैं। चारों वर्णों में से क्षत्रिय तथा ब्राह्मण ही सर्वाधिक संख्या में होते हैं।

कलौ तु धर्मपादानां तुर्यांशोऽधर्महेतुभिः ।
एधमानैः क्षीयमाणो ह्यन्ते सोऽपि विनङ्क्ष्यति ॥ २४॥

शब्दार्थ

कलौ—कलियुग में; तु—तथा; धर्म-पादानाम्—धर्म के पैरों का; तुर्य-अंशः—एक चौथाई; अधर्म—अधर्म के; हेतुभिः—सिद्धान्तों से; एधमानैः—बढ़ने से; क्षीयमाणः—घटते हुए; हि—निस्सन्देह; अन्ते—अन्तमें; सः—वह चतुर्थांश; अपि—भी; विनङ्क्ष्यति—नष्ट हो जायेगा।

कलियुग में धार्मिक सिद्धान्तों का केवल एक चौथाई शेष रहता है। और यह अवशेष भी अधर्म के सदैव बढ़ने के कारण लगातार घटता जायेगा और अन्त में नष्ट हो जायेगा।

तस्मिन्लुब्धा दुराचारा निर्दयाः शुष्कवैरिणः ।
दुर्भगा भूरितर्षाश्च शूद्रदासोत्तराः प्रजाः ॥ २५॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस युग में; लुब्धाः—लालची; दुराचाराः—बुरे आचरण वाले; निर्दयाः—निर्दयी; शुष्क-वैरिणः—व्यर्थ झगड़ा करने के लिए उद्यत; दुर्भगाः—अभागे; भूरि-तर्षाः—अनेक प्रकार की लालसाओं से त्रस्त; च—तथा; शूद्र-दास-उत्तराः—प्रमुखतया निम्न जाति के श्रमिक तथा बर्बर; प्रजाः—लोग।

कलियुग में लोग लोभी, दुराचारी तथा निर्दयी होते हैं और वे बिना कारण ही एक-दूसरे से लड़ते-झगड़ते हैं। कलियुग के लोग अभागे तथा भौतिक इच्छाओं से त्रस्त होकर, प्रायः सभी शूद्र तथा बर्बर होते हैं।

तात्पर्य : इस युग में हम देख सकते हैं कि अधिकांश लोग श्रमिक, क्लर्क, मछुवारे, कारीगर या शूद्र वर्ग के अन्तर्गत अन्य प्रकार के कर्मी हैं। प्रबुद्ध भगवद्भक्तों तथा नेक राजनीतिक नेताओं का सर्वथा अभाव है और स्वतंत्र व्यापारियों तथा किसानों का भी लोप हो रहा है क्योंकि बड़े-बड़े व्यापार के संघटन उन्हें लगातार अधीनस्थ कर्मचारियों में परिणत करते जा रहे हैं। पृथ्वी के विविध भागों में पहले से बर्बर तथा अर्ध-बर्बर लोग बसे हुए हैं जिससे सारी स्थिति अत्यन्त खतरनाक तथा धूमिल हो रही है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में वर्तमान निराशाप्रद स्थिति को सुधारने की शक्ति प्राप्त है। घोर कलियुग के लिए यही एकमात्र आशा है।

सत्त्वं रजस्तम इति दृश्यन्ते पुरुषे गुणाः ।
कालसञ्चोदितास्ते वै परिवर्तन्त आत्मनि ॥ २६॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतो; रजः—रजो; तमः—तमो; इति—इस प्रकार; दृश्यन्ते—देखे जाते हैं; पुरुषे—पुरुष में; गुणाः—गुण; काल-सञ्चोदिताः—काल से प्रेरित; ते—वे; वै—निस्सन्देह; परिवर्तन्ते—परिवर्तन को प्राप्त होते हैं; आत्मनि—मन के भीतर।

सतो, रजो तथा तमोगुण, जिनके रूपान्तर पुरुष के मन के भीतर देखे जाते हैं, काल की शक्ति से गतिमान होते हैं।

तात्पर्य : इन श्लोकों में वर्णित चारों युग भौतिक प्रकृति के विभिन्न गुणों की अभिव्यक्तियाँ हैं। सत्ययुग में भौतिक सतोगुण (अच्छाई) का प्राधान्य होता है और कलियुग तमोगुण की प्रधानता को प्रकट करता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार प्रत्येक युग में अन्य तीन युग यदाकदा उपयुगों के रूप में प्रकट होते हैं। इस तरह सत्ययुग में भी तमोगुणी राक्षस प्रकट हो सकता है और कलियुग में, कुछ काल तक, सर्वोच्च धर्म के सिद्धान्त पल्लवित हो सकते हैं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में वर्णन हुआ है, तीनों गुण सर्वत्र तथा सभी वस्तुओं में उपस्थित रहते हैं लेकिन प्रधान गुण या गुणों का मेल किसी भौतिक घटना के सामान्य आचरण को निश्चित करता है। इसलिए प्रत्येक युग में तीनों गुण विभिन्न अनुपातों में पाये जाते हैं। अच्छाई (सत्य), काम (त्रेता) तथा काम एवं अज्ञान (द्वापर) अथवा अज्ञान(कलि) द्वारा सूचित होने वाला युग विशेष अन्य युगों में भी पाया जाता है।

प्रभवन्ति यदा सत्त्वे मनोबुद्धीन्द्रियाणि च ।
तदा कृतयुगं विद्याज्ज्ञाने तपसि यद्रुचिः ॥ २७॥

शब्दार्थ

प्रभवन्ति—प्रधान रूप से प्रकट होते हैं; यदा—जब; सत्त्वे—सतोगुण में; मनः—मन; बुद्धि—बुद्धि; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; च—तथा; तदा—तब; कृत-युगम्—कृतयुग में; विद्यात्—समझा जाना चाहिए; ज्ञाने—ज्ञान में; तपसि—तथा तपस्या में; यत्—जब; रुचिः—रुचि।

जब मन, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ पूरी तरह से सतोगुण में स्थित हैं, तो उस काल को सत्ययुग समझना चाहिए। तब लोग ज्ञान तथा तपस्या में रुचि लेते हैं।

तात्पर्य : *कृत* शब्द का अर्थ है ''किया हुआ''। इस तरह सत्ययुग में सारे धार्मिक कृत्य ढंग से सम्पन्न किये जाते हैं और लोग आध्यात्मिक ज्ञान तथा तपस्या में पर्याप्त रुचि लेते हैं। यहाँ तक कि कलियुग में भी जो लोग सात्विक होते हैं, वे आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन तथा नियमित तपस्या करने में रुचि लेते हैं। यह दिव्य अवस्था उसके लिए सम्भव है, जिसने यौन-इच्छा को जीत लिया हो।

यदा कर्मसु काम्येषु भक्तिर्यशसि देहिनाम् ।
तदा त्रेता रजोवृत्तिरिति जानीहि बुद्धिमन् ॥ २८॥

शब्दार्थ

यदा—जब; कर्मसु—कर्म में; काम्येषु—स्वार्थ पर आधारित; भक्तिः—भक्ति; यशसि—सम्मान में; देहिनाम्—देहधारी आत्माओं के; तदा—तब; त्रेता—त्रेतायुग; रजः-वृत्तिः—राजसिक कार्यों की प्रधानता; इति—इस तरह; जानीहि—जानो; बुद्धि-मन्—हे बुद्धिमान राजा परीक्षित।

हे परम बुद्धिमान, जब बद्धजीव अपने कर्मों के प्रति समर्पित तो होते हैं किन्तु उनमें बाह्य मनोभाव पाये जाते हैं और वे निजी प्रतिष्ठा की खोज करते हैं, तो तुम यह जान लो कि ऐसी स्थिति त्रेतायुग की है, जिसमें राजसिक कर्मों की प्रधानता होती है।

यदा लोभस्त्वसन्तोषो मानो दम्भोऽथ मत्सरः ।
कर्मणां चापि काम्यानां द्वापरं तद्रजस्तमः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; लोभः—लोभ; तु—निस्सन्देह; असन्तोषः—असन्तोष; मानः—मिथ्या अहंकार; दम्भः—दिखावा; अथ—तथा; मत्सरः—ईर्ष्या; कर्मणाम्—कर्मों का; च—तथा; अपि—भी; काम्यानाम्—स्वार्थी; द्वापरम्—द्वापर युग; तत्—वह; रजः-तमः—रजो तथा तमोगुण के मिश्रण की प्रधानता से।

जब लोभ, असन्तोष, मिथ्या अहंकार, दिखावा तथा ईर्ष्या प्रधान बन जाते हैं और साथ में स्वार्थपूर्ण कार्यों के लिए आकर्षण होता है, तो ऐसा काल द्वापर युग है, जिसमें रजो तथा तमोगुण के मिश्रण की प्रधानता होती है।

यदा मायानृतं तन्द्रा निद्रा हिंसा विषादनम् ।
शोकमोहौ भयं दैन्यं स कलिस्तामसः स्मृतः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; माया—धोखा; अनृतम्—झूठी वाणी; तन्द्रा—आलस्य; निद्रा—नींद तथा नशा; हिंसा—हिंसा; विषादनम्—विषाद; शोक—शोक; मोहौ—तथा मोह; भयम्—डर; दैन्यम्—दरिद्रता; सः—वह; कलिः—कलियुग; तामसः—तमोगुणी; स्मृतः—माना जाता है।

जब धोखा (कपट), झूठ, तन्द्रा, निद्रा, हिंसा, विषाद, शोक, मोह, भय तथा दरिद्रता का बोलबाला होता है, वह युग कलियुग अर्थात् तमोगुण का युग होता है।

तात्पर्य : कलियुग में लोग बुरी तरह से स्थूल भौतिकतावाद के प्रति अनुरक्त होते हैं। उनमें आत्म-साक्षात्कार के लिए शायद ही कोई आकर्षण होता हो।

तस्मात्क्षुद्रदृशो मर्त्याः क्षुद्रभाग्या महाशनाः ।
कामिनो वित्तहीनाश्च स्वैरिण्यश्च स्त्रियोऽसतीः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—कलियुग के इन गुणों के कारण; क्षुद्र-दृशः—क्षुद्र दृष्टि; मर्त्याः—मनुष्य; क्षुद्र-भाग्याः—अभागे; महा-अशनाः—पेटू; कामिनः—काम-वासना से युक्त; वित्त-हीनाः—सम्पत्ति से रहित; च—तथा; स्वैरिण्यः—सामाजिक आचरण में स्वतंत्र; च—तथा; स्त्रियः—स्त्रियाँ; असतीः—असाध्वी, कुलटा।

कलियुग के दुर्गुणों के कारण मनुष्य क्षुद्र दृष्टि वाले, अभागे, पेटू, कामी तथा दरिद्र होंगे। स्त्रियाँ कुलटा होने से एक पुरुष को छोड़ कर दूसरे के पास स्वतंत्रतापूर्वक चली जायेंगी।

तात्पर्य : कलियुग में कुछ छद्म बुद्धिजीवी व्यक्तिगत स्वतंत्रता की खोज करने के कारण, यौन मिश्रण का समर्थन करते हैं। वस्तुतः शरीर के साथ आत्मा की पहचान तथा आत्मा की बजाय शरीर में "व्यक्तिगत स्वतंत्रता" की खोज निरे अज्ञान तथा काम की दासता के चिह्न हैं। जब स्त्रियाँ कुलटा हो जाती हैं, तो शादी से काम की उपज के रूप में अनेक बच्चे उत्पन्न होते हैं। ये बच्चे

प्रतिकूल परिस्थितियों में बढ़ते हैं जिससे मनोरोगी, अनभिज्ञ समाज का जन्म होता है। इसके लक्षण पहले से सारे जगत में दिख रहे हैं।

दस्यूत्कृष्टा जनपदा वेदाः पाषण्डदूषिताः ।
राजानश्च प्रजाभक्षाः शिश्नोदरपरा द्विजाः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

दस्यु-उत्कृष्टाः—चोरों का प्राधान्य होना; जन-पदाः—बसे हुए स्थान; वेदाः—वैदिक शास्त्र; पाषण्ड—नास्तिकों द्वारा; दूषिताः—दूषित; राजानः—राजनीतिक नेता; च—तथा; प्रजा-भक्षाः—जनता के भक्षक; शिश्न-उदर—जननांग तथा उदर; पराः—भक्त; द्विजाः—ब्राह्मण।

शहर चोरों से भरे होंगे, वेद नास्तिकों के द्वारा की गई मनमानी व्याख्या से दूषित किये जायेंगे, राजनीतिक नेता प्रजा का भक्षण करेंगे और तथाकथित पुरोहित तथा बुद्धिजीवी अपने पेट तथा जननांग के भक्त होंगे।

तात्पर्य : बड़े-बड़े शहर रात में असुरक्षित रहते हैं। उदाहरणार्थ, ऐसा सुना जाता है, कि रात के समय कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति न्यू यार्क के सेन्ट्रल पार्क में घूमने नहीं जायेगा क्योंकि उसे पता है कि उसका संभवतः गला घोट दिया जायेगा। बड़े-बड़े शहरों में सामान्य चोरों के अलावा जो इस युग में भरे पड़े हैं गला काटने वाले व्यापारी होते हैं, जो ग्राहकों को व्यर्थ की, बल्कि हानिकारक, वस्तुएँ खरीदने के लिए राजी कर लेते हैं। यह भलीभाँति ज्ञात है कि गो-मांस, तम्बाकू, मदिरा तथा अन्य आधुनिक सामग्रियाँ स्वास्थ्य को बर्बाद करनेवाली हैं, मानसिक स्वास्थ्य की बात जाने दें; तिस पर भी आधुनिक पूँजीपति इन वस्तुओं को बेचने के लिए तरह-तरह की मनोवैज्ञानिक युक्तियों का प्रयोग करने में संकोच नहीं करते हैं। आधुनिक शहर मानसिक तथा वायु-मण्डलीय प्रदूषण से भरे पड़े हैं और वे सामान्य नागरिकों तक के लिए असह्य हो चुके हैं।

इस श्लोक में यह भी इंगित है कि वैदिक शास्त्रों की शिक्षाएँ इस युग में तोड़ी-मरोड़ी जायेंगी। बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों में हिन्दूवाद की शिक्षा दी जाती है, जिसमें भारतीय धर्म को बहुदेववादी करके बतलाया जाता है, जिसका उद्देश्य निर्विशेष मोक्ष है यद्यपि इसके विपरीत असीम प्रमाण मिलते हैं। वास्तव में सारा वैदिक वाङ्मय एक है, जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में स्वयं भगवान् कृष्ण ने कहा है—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—सारे वेदों द्वारा मुझे ही जानना होता है। सारे वैदिक वाङ्मय का उद्देश्य परम पुरुष परब्रह्म विष्णु या कृष्ण के विषय में हमें प्रबुद्ध करना है। यद्यपि ईश्वर अनेक नामों से जाना जाता है और अनेक रूपों में प्रकट होता है, फिर भी वह एक है और पुरुष है। किन्तु कलियुग में यह असली वैदिक ज्ञान गुप्त है।

इस श्लोक में शुकदेव चतुराई से कहते हैं कि, "राजनीतिक नेता जनता को खा जायेंगे और तथाकथित पुरोहित तथा बुद्धिजीवी अपने पेट तथा जननांग के भक्त होंगे।" यह दुखद कथन कितना सटीक बैठता है!

अव्रता बटवोऽशौचा भिक्षवश्च कुटुम्बिनः ।
तपस्विनो ग्रामवासा न्यासिनोऽत्यर्थलोलुपाः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अव्रताः—अपने व्रतों को न कर पाने वाले; बटवः—ब्रह्मचारी; अशौचाः—अस्वच्छ; भिक्षवः—भीख माँगने को उन्मुख; च—तथा; कुटुम्बिनः—गृहस्थ जन; तपस्विनः—जंगल में जाकर तपस्या करने वाले; ग्राम-वासाः—ग्रामवासी; न्यासिनः—संन्यासी; अत्यर्थ-लोलुपाः—धनके लिए अत्यधिक लालची।

ब्रह्मचारी अपने व्रतों को सम्पन्न नहीं कर सकेंगे और सामान्यतया अस्वच्छ रहेंगे। गृहस्थ लोग भिखारी बन जायेंगे; वानप्रस्थी गाँवों में रहेंगे और संन्यासी लोग धन के लालची बन जायेंगे।

तात्पर्य : कलियुग में ब्रह्मचर्य एक तरह से लुप्त ही है। अमेरिका में अनेक बालक-विद्यालयों में सहशिक्षा दी जाती है क्योंकि युवा पुरुष विलासी युवतियों की संगति के बिना रहने से इंकार करते हैं। यही नहीं, हमने स्वयं देखा है कि समूचे पाश्चात्य जगत में छात्रावास सबसे गन्दे स्थान हैं जैसाकि *अशौचाः* शब्द से यहाँ भविष्यवाणी की गई है।

जहाँ तक गृहस्थ भिक्षुकों की बात है, जब भगवद्भक्त द्वार-द्वार जाकर दिव्य साहित्य बाँटते तथा ईश्वर की महिमा के प्रचारार्थ दान माँगते हैं, तो गृहस्थ लोग चिढ़ कर कहते हैं, ''कोई मुझे दान दे।'' कलियुग में गृहस्थ लोग दानी प्रवृत्ति वाले नहीं हैं। प्रत्युत अपनी दरिद्र मनोवृत्ति के कारण साधुओं के पहुँचने पर चिढ़ जाते हैं।

वैदिक संस्कृति में पचास वर्ष की आयु में, दम्पति तपस्वी जीवन तथा आध्यात्मिक सिद्धि के लिए तीर्थस्थानों में जाकर रहते हैं। किन्तु अमरीका जैसे देशों में विश्राम नगरियाँ बना दी गई हैं जिनमें बूढ़े लोग गोल्फ, पिंगपोंग और शफलबोर्ड जैसे खेल खेलने तथा प्रेमालाप करने के दयनीय प्रयासों में अपने जीवन के अन्तिम वर्षों को गँवाकर, अपने आप को मूर्ख बनाते हैं यद्यपि उनके शरीर जर्जर होते हैं और मन बूढ़े हो रहे होते हैं। जीवन के अन्तिम दिनों का यह शर्मनाक दुरुपयोग मानव जीवन के असली उद्देश्य को स्वीकार न करने की प्रबल अनिच्छा का सूचक है और निश्चित रूप से ईश्वर के प्रति अपराध है।

न्यासिनोत्यर्थलोलुपाः शब्द सूचित करते हैं कि करिश्मा दिखाने वाले तथा बिना करिश्मा वाले धार्मिक नेता अपने को पैगम्बर, सन्त तथा अवतार घोषित करेंगे जिससे अबोध जनता को ठग कर अपना बैंक-खाता भर सकें। इसीलिए इस्कान सारे विश्व में प्रामाणिक ब्रह्मचर्य जीवन, धार्मिक गृहस्थ जीवन, प्रतिष्ठित तथा प्रगतिशील अवकाश-काल तथा असली आध्यात्मिक अगुवई स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है। ९ मई १९८२ को हमने ब्राजील के रायोडि जनीरो जैसे विलासी शहर में तीन युवकों को, जिनमें से दो ब्राजील के निवासी तथा एक अमरीकी है, इस आशा के साथ संन्यास प्रदान किया है कि वे संन्यास के कठिन व्रत को विश्वसनीय ढंग से पूरा करेंगे और दक्षिण अमेरिका में सही आध्यात्मिक अगुवाई करेंगे।

ह्रस्वकाया महाहारा भूर्यपत्या गतह्रियः ।
शश्वत्कटुकभाषिण्यश्चौर्यमायोरुसाहसाः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

ह्रस्व-कायाः—नाटे शरीर वाली; महा-आहाराः—अत्यधिक खाने वाली; भूरि-अपत्याः—अनेक सन्तानों वाली; गत-ह्रियः—बेशर्म; शश्वत्—निरन्तर; कटुक—कटु, कड़वा; भाषिण्यः—बोलने वाली; चौर्य—चोरी की प्रवृत्ति वाली; माया—कपट; उरु-साहसाः—तथा अत्यधिक साहस।

स्त्रियों का आकार काफी छोटा हो जायेगा और वे अधिक भोजन करेंगी, अधिक सन्तानें उत्पन्न करेंगी जिनका पालन-पोषण करने में वे अक्षम होंगी और सारी लाज खो बैठेंगी। वे सदैव कड़वा बोलेंगी और चोरी, कपट तथा अनियंत्रित साहस के गुण प्रदर्शित करेंगी।

पणयिष्यन्ति वै क्षुद्राः किराटाः कूटकारिणः ।
अनापद्यपि मंस्यन्ते वार्तां साधु जुगुप्सिताम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

पणयिष्यन्ति—व्यापार में लगेंगे; वै—निस्सन्देह; क्षुद्राः—क्षुद्र; किराटाः—व्यापारी; कूट-कारिणः—ठगी में लगे हुए; अनापदि—जब कोई आपात् काल न हो; अपि—भी; मंस्यन्ते—मानेंगे; वार्ताम्—वृत्ति, पेशा; साधु—उत्तम; जुगुप्सिताम्—वास्तव में घृणित।

व्यापारी लोग क्षुद्र व्यापार में लगे रहेंगे और धोखाधड़ी से धन कमायेंगे। आपात् काल न होने पर भी लोग किसी भी अधम पेशे को अपनायेंगे।

तात्पर्य : यद्यपि अन्य पेशे उपलब्ध रहते हैं किन्तु लोग कोयला-खानों, कसाई-घरों, इस्पात के कारखानों, मरुस्थलों, तैरते हुए तेल निकालने के संयत्रों, पनडुब्बियों तथा इसी तरह के अन्य घृणित स्थानों पर कार्य करने से नहीं हिचकिचाते। जैसाकि यहाँ बताया गया है, व्यापारी लोग धोखाधड़ी तथा झूठ बोलने को व्यापार के लिए उचित मानेंगे। ये सभी कलियुग के लक्षण हैं।

पतिं त्यक्ष्यन्ति निर्द्रव्यं भृत्या अप्यखिलोत्तमम् ।
भृत्यं विपन्नं पतयः कौलं गाश्चापयस्विनीः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

पतिम्—स्वामी को; त्यक्ष्यन्ति—छोड़ देंगे; निर्द्रव्यम्—धन से रहित; भृत्याः—नौकर; अपि—भी; अखिल-उत्तमम्—गुणों में सर्वश्रेष्ठ; भृत्यम्—नौकर को; विपन्नम्—अक्षम; पतयः—स्वामी; कौलम्—पीढ़ियों से परिवार से सम्बद्ध; गाः—गौवें; च—तथा; अपयस्विनीः—जिन्होंने दूध देना बन्द कर दिया है।

नौकर उस मालिक को छोड़ देंगे जिसकी सम्पत्ति नष्ट हो चुकी है भले ही वह मालिक सन्त उत्कृष्ट आचरण का क्यों न हो। मालिक भी अक्षम नौकर को त्याग देंगे भले ही वह नौकर पीढ़ियों से उस परिवार में क्यों न रहा हो। दूध न देने वाली गौवों को या तो छोड़ दिया जायेगा या मार दिया जायेगा।

तात्पर्य : भारत में गाय को पवित्र माना जाता है, इसलिए नहीं कि भारत के लोग

अन्धविश्वासी भक्त हैं अपितु इसलिए कि हिन्दू अच्छी तरह समझते हैं कि गाय माता है। बचपन में, हम सभी गाय के दूध से पले हैं इसलिए गाय हमारी माताओं में से है। निस्सन्देह, किसी की माता पवित्र होती है, अतएव हमें पवित्र गाय की हत्या नहीं करनी चाहिए।

पितृभ्रातृसुहृज्ज्ञातीन्हित्वा सौरतसौहृदाः ।
ननान्दृश्यालसंवादा दीनाः स्त्रैणाः कलौ नराः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

पितृ—अपने पिता; भ्रातृ—भाइयों; सुहृत्—शुभचिन्तक मित्रों; ज्ञातीन्—तथा निकट सम्बन्धियों को; हित्वा—छोड़ कर; सौरत—यौन-सम्बन्ध पर आधारित; सौहृदाः—मित्रता की धारणा; ननान्दृ—श्यालियों के साथ; श्याल—तथा साले; संवादाः—लगातार संगति करते हुए; दीनाः—कंजूस; स्त्रैणाः—स्त्री-भक्त; कलौ—कलियुग में; नराः—पुरुष।

कलियुग में मनुष्य कंजूस तथा स्त्रियों द्वारा नियंत्रित होंगे। वे अपने पिता, भाई, अन्य सम्बन्धियों तथा मित्रों को त्याग कर साले तथा सालियों की संगति करेंगे। इस तरह उनकी मैत्री की धारणा नितान्त यौन-सम्बन्धों पर आधारित होगी।

शूद्राः प्रतिग्रहीष्यन्ति तपोवेषोपजीविनः ।
धर्मं वक्ष्यन्त्यधर्मज्ञा अधिरुह्योत्तमासनम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

शूद्राः—निम्न जाति के श्रमिक; प्रतिग्रहीष्यन्ति—धार्मिक दान लेंगे; तपः—तपस्या का दिखावा करके; वेष—तथा साधु का वेश बनाकर; उपजीविनः—अपनी जीविका कमाते हुए; धर्मम्—धर्म के सिद्धान्तों के विषय में; वक्ष्यन्ति—बोलेंगे; अधर्म-ज्ञाः—धर्म से अनभिज्ञ; अधिरुह्य—चढ़ कर; उत्तम-आसनम्—उच्च आसन पर।

असंस्कृत लोग भगवान् के नाम पर दान लेंगे और तपस्या का स्वाँग रचाकर तथा साधु का वेश धारण करके अपनी जीविका चलायेंगे। धर्म न जानने वाले उच्च आसन पर बैठेंगे और धार्मिक सिद्धान्तों का प्रवचन करने का ढोंग रचेंगे।

तात्पर्य : यहाँ पर कुत्सित गुरुओं, स्वामियों, पुरोहितों इत्यादि का खुल कर वर्णन हुआ है।

नित्यं उद्विग्नमनसो दुर्भिक्षकरकर्शिताः ।
निरन्ने भूतले राजननावृष्टिभयातुराः ॥ ३९ ॥
वासोऽन्नपानशयनव्यवायस्नानभूषणैः ।
हीनाः पिशाचसन्दर्शा भविष्यन्ति कलौ प्रजाः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

नित्यम्—निरन्तर; उद्विग्न—अशान्त; मनसः—उनके मन; दुर्भिक्ष—अकाल; कर—तथा टैक्स से; कर्शिताः—दुर्बल; निरन्ने—जब खाने को भोजन न मिले; भू-तले—पृथ्वी पर; राजन्—हे राजा परीक्षित; अनावृष्टि—सूखे का; भय—भय के कारण; आतुराः—उद्विग्न; वासः—वस्त्र; अन्न—भोजन; पान—पेय; शयन—विश्राम; व्यवाय—यौन; स्नान—स्नान; भूषणैः—तथा निजी आभूषणों से; हीनाः—रहित; पिशाच-सन्दर्शाः—पिशाचों की तरह लगने वाले; भविष्यन्ति—होंगे; कलौ—कलियुग में; प्रजाः—लोग।

कलियुग में लोगों के मन सदैव अशान्त रहेंगे। हे राजा, वे अकाल तथा कर-भार से दुर्बल हो जायेंगे और सूखे के भय से सदैव विचलित रहेंगे। उन्हें पर्याप्त वस्त्र, भोजन तथा पेय का अभाव रहेगा; वे न तो ठीक से विश्राम कर सकेंगे, न संभोग या स्नान कर सकेंगे। उनकेपास अपने शरीरों को सुसज्जित करने के लिए आभूषण नहीं होंगे। वस्तुतः कलियुग के लोग धीरे-धीरे पिशाच दिखने लगेंगे।

तात्पर्य : यहाँ पर वर्णित लक्षण पहले ही अनेक देशों में प्राप्य हैं और धीरे-धीरे ये अन्य स्थानों में फैल जायेंगे जो अभक्ति तथा भौतिकतावाद में फँसे हुए हैं।

कलौ काकिणिकेऽप्यर्थे विगृह्य त्यक्तसौहृदाः ।
त्यक्ष्यन्ति च प्रियान्प्राणान्हनिष्यन्ति स्वकानपि ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

कलौ—कलियुग में; काकिणिके—छोटे-से सिक्के के; अपि—भी; अर्थे—हेतु; विगृह्य—शत्रुता उत्पन्न करके; त्यक्त—छोड़ते हुए; सौहृदाः—मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों; त्यक्ष्यन्ति—त्याग देंगे; च—तथा; प्रियान्—प्रिय; प्राणान्—अपने जीवनों को; हनिष्यन्ति—मारेंगे; स्वकान्—अपने सगों को; अपि—भी।

कलियुग में लोग कुछ ही सिक्कों के लिए शत्रुता ठान लेंगे। वे सारे मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को त्याग कर स्वयं मरने तथा अपने ही सम्बन्धियों को मार डालने पर उतारू हो जायेंगे।

न रक्षिष्यन्ति मनुजाः स्थविरौ पितरावपि ।
पुत्रान्भार्यां च कुलजां क्षुद्राः शिश्नोदरंभराः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

न रक्षिष्यन्ति—रक्षा नहीं करेंगे; मनुजाः—मनुष्य; स्थविरौ—वृद्ध; पितरौ—माता-पिता; अपि—भी; पुत्रान्—बच्चों को; भार्याम्—पत्नी को; च—भी; कुल-जाम्—अच्छे परिवार में जन्मे; क्षुद्राः—नीच; शिश्न-उदरम्—अपने जननांगों तथा पेट को; भराः—भरण करते हुए।

लोग अपने बूढ़े माता-पिता, अपने बच्चों या अपनी सम्मान्य पत्नियों की रक्षा नहीं कर सकेंगे। वे अत्यन्त पतित होकर अपने पेटों तथा जननांगों की तुष्टि में लगे रहेंगे।

तात्पर्य : इस युग में अनेक लोग अपने वृद्ध माता-पिता को एकान्त और प्रायः अनोखे, वृद्धावस्था निकेतनों में भेज रहे हैं यद्यपि उनके वृद्ध माता-पिता ने अपने बच्चों की सेवा करने में अपना सारा जीवन बिता दिया था।

इस युग में तरुण बच्चों को भी अनेक प्रकार से सताया जाता है। हाल के वर्षों में बच्चों में आत्महत्या की घटनाओं में नाटकीय अभिवृद्धि हुई है क्योंकि उनका जन्म प्रेमी धार्मिक माता-पिता के यहाँ नहीं, अपितु अधम, स्वार्थी स्त्री-पुरुषों से होता है। वस्तुतः बच्चे प्रायः इसलिए जन्म लेते हैं क्योंकि गर्भनिरोध की गोली या ऐसी ही कोई और गर्भ निरोधक युक्ति ठीक से काम नहीं करती। ऐसी परिस्थितियों में माता-पिता के लिए अपने बच्चों का सही मार्गदर्शन कर पाना अत्यन्त कठिन है। आध्यात्मिक विद्या से सामान्यतया अनजान माता-पिता अपने बच्चों को मुक्ति के मार्ग

पर नहीं ले जा पाते और इस तरह पारिवारिक जीवन में अपना प्रारम्भिक उत्तरदायित्व नहीं पूरा कर पाते।

जैसी कि इस श्लोक में भविष्यवाणी की गई है, वर्ण-संकरता अति सामान्य हो चुकी है और लोग सामान्य रूप से भोजन तथा यौन की ही चिन्ता करते हैं क्योंकि वे परब्रह्म को जानने की अपेक्षा इन्हें अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं।

कलौ न राजन्जगतां परं गुरुं
त्रिलोकनाथानतपादपङ्कजम् ।
प्रायेण मर्त्या भगवन्तमच्युतं
यक्ष्यन्ति पाषण्डविभिन्नचेतसः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

कलौ—कलियुग में; न—नहीं; राजन्—हे राजा; जगताम्—ब्रह्माण्ड के; परम्—परम; गुरुम्—गुरु को; त्रि-लोक—तीनों लोकों के; नाथ—विविध स्वामियों द्वारा; आनत—झुकाये गये; पाद-पङ्कजम्—जिनके चरणकमल; प्रायेण—प्रायः; मर्त्याः—मनुष्य; भगवन्तम्—भगवान्; अच्युतम्—अच्युत को; यक्ष्यन्ति—भेंट चढ़ायेंगे; पाषण्ड—नास्तिकता द्वारा; विभिन्न—पृथक्-पृथक्; चेतसः—बुद्धि वाले।.

हे राजा, कलियुग में लोगों की बुद्धि नास्तिकता के द्वारा विचलित हो जायेगी और वे ब्रह्माण्ड के परम गुरु स्वरूप भगवान् को कभी भी उपहार नहीं चढ़ायेंगे। तीनों लोकों के नियन्ता महापुरुष तक भगवान् के चरणकमलों पर अपना शीश झुकाते हैं, किन्तु इस युग के क्षुद्र एवं दुखी लोग ऐसा नहीं करेंगे।

तात्पर्य : सारे जगत के उद्गम परब्रह्म को ढूँढने की प्रेरणा सनातन काल से विभिन्न मतों के दार्शनिकों, धर्माचार्यों तथा अन्य बुद्धिजीवियों को प्रोत्साहित करती रही है और आज भी कर रही है। किन्तु तथाकथित दर्शनों, धर्मों, मार्गों, जीवन-शैलियों का गंभीरता से विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि लगभग सभी का परम लक्ष्य तो निर्विशेष या निराकार हैं। किन्तु इस निर्विशेष या निराकार परब्रह्म के विचार में अनेक गम्भीर तार्किक दोष हैं। तर्कशास्त्र के सामान्य नियमों के अनुसार, किसी भी कार्य का कारण तो होना ही चाहिए। इसलिए जिसका व्यक्तित्व या कर्म न हो वह सारे व्यक्तित्व तथा कर्म का उद्गम नहीं हो सकता।

परम सत्य को दार्शनिकता का जामा पहनाने की हमारी दुर्दम प्रवृत्ति उस वस्तु को खोजने के लिए वैज्ञानिक, दार्शनिक तथा योगिक प्रयास कराती है, जिससे हर वस्तु उद्भूत होती है। यह भौतिक जगत, जो ऊपर से कार्यकारण का अनन्त जाल प्रतीत होता है, निश्चित रूप से परब्रह्म नहीं है क्योंकि भौतिक पदार्थों का वैज्ञानिक परीक्षण हमें बताता है कि भौतिक शक्ति ही विभिन्न रूपों तथा अवस्थाओं में परिणत होती है इसलिए कोई एक भौतिक सत्य अन्य सारी वस्तुओं का चरम स्रोत नहीं हो सकता।

हम यह कल्पना कर सकते हैं कि पदार्थ किसी न किसी आकार में सदैव विद्यमान रहता है।

किन्तु यह सिद्धान्त आधुनिक ब्रह्माण्ड-विदों के लिए यथा मेसाचुसेट्स इंस्टीट्यूट आफ टेकनालीजी के वैज्ञानिकों के लिए आकर्षक नहीं रहा। यदि हम यह मान भी लें कि पदार्थ सदैव से विद्यमान रहा है, तो हमें चेतना का स्रोत बताना होगा यदि हम परम सत्य की खोज के लिए अपनी दार्शनिक प्रेरणा को संतुष्ट करना चाहते हों। यद्यपि आधुनिक संकल्पनावादी लोग कहते हैं कि पदार्थ के अलावा कुछ भी सत्य नहीं है किन्तु लोगों का यह सामान्य अनुभव है कि चेतना पत्थर, पेंसिल या जल जैसी कोई वस्तु नहीं है। जागरूकता चेतना की वस्तुओं की तुलना में अपने आप में कोई भौतिक सत्ता नहीं है अपितु यह अनुभूति तथा ज्ञान की विधि है। यद्यपि पदार्थ तथा चेतना के बीच अन्योन्याश्रित सम्बन्ध के अनेक प्रमाण हैं किन्तु इसका कोई ठोस प्रमाण नहीं है कि पदार्थ चेतना का *कारण* है। इस तरह यह सिद्धान्त कि भौतिक जगत सदा से विद्यमान रहा है अतएव यही परम सत्य है, न तो वैज्ञानिक रूप से, न ही आन्तरिक रूप से चेतना के स्रोत को बता पाता है, जबकि चेतना हमारे जीवन का सबसे मूलभूत असली पक्ष है।

इसके अतिरिक्त, जैसाकि न्यू यार्क स्टेट विश्वविद्यालय, बिंधमटन के डा. रिचर्ड थाम्प्सन ने प्रदर्शित किया है और भौतिक विज्ञान के नोबेल विजेताओं ने, उनके कार्य की प्रशंसा करते हुए, पुष्टि की है, पदार्थ के रूपान्तरण-सम्बन्धी प्रकृति के नियमों में पर्याप्त सूचना-सामग्री उपलब्ध नहीं है, जिससे हमारे तथा अन्य जीवों के शरीरों के भीतर घट रही अकल्पनीय जटिल घटनाओं पर प्रकाश पड़ सके। दूसरे शब्दों में, न केवल प्रकृति के भौतिक नियम, चेतना के अस्तित्व का कारण बता सकने में असफल रहे हैं, अपितु वे जटिल जैविक स्तर पर भौतिक तत्त्वों की पारस्परिक प्रक्रिया का स्पष्टीकरण करने में भी असमर्थ हैं। पाश्चात्य देशों के प्रथम महान् दार्शनिक सॉक्रेटिज भी, यांत्रिक सिद्धान्तों के आधार पर, अन्तिम कार्य-कारण स्थापित करने के प्रयासों पर, हताश थे।

सूर्य की किरणों की तपन तथा चमक यह प्रत्येक बुद्धिसंगत मनुष्य को संतोष दिलाती है कि इन किरणों का स्रोत सूर्य कोई अंधकारपूर्ण ठंडा मण्डल नहीं अपितु असीम तपन तथा प्रकाश का आगार है। इसी तरह सृष्टि में व्यक्ति तथा उसकी चेतना के अनेक उदाहरण यह दिखाने के लिए पर्याप्त हैं कि चेतना तथा साकार आचरण का कोई असीम आगार है।

ग्रीक दार्शनिक प्लेटो ने अपने वार्तालाप 'फिलेबस' में, तर्क किया था कि जिस प्रकार हमारे शरीर के भौतिक तत्त्व, ब्रह्माण्ड में विद्यमान भौतिक तत्त्वों के विशाल आगार से उद्धृत किए जाते हैं, उसी तरह हमारी तर्कसंगत बुद्धि भी ब्रह्माण्ड में विद्यमान महान् सृष्ट्यात्मक बुद्धि से प्राप्त की जाती है और यह परम बुद्धि विश्व-स्रष्टा भगवान् ही हैं। दुर्भाग्यवश, कलियुग में, अनेक प्रमुख विचारक इसे नहीं समझ सकते और वे उलटे, इस तथ्य से इनकार करते हैं कि हमारी निजी चेतना का स्रोत, परम सत्य, भी चेतना तथा रूप रखता है।यह उतना ही तर्कपूर्ण है जितना यह कहना कि सूर्य शीतल और अंधकारमय है।

कलियुग में कई लोग सस्ते तर्क प्रस्तुत करते हैं कि, "यदि ईश्वर के शरीर या व्यक्तित्व है, तो

इससे वह सीमित हो जाता है।'' तर्क के इस असफल प्रयास में, एक योग्य शब्दावली व्यापक दृष्टि में गलत तौर पर प्रस्तुत की जाती है। हमें वास्तव में यह कहना चाहिए ''यदि ईश्वर के ऐसा भौतिक शरीर अथवा भौतिक व्यक्तित्व उन लोगों की भाँति होता जिसका हमें अनुभव है, तो वह सीमित होगा।''

भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत तथा अन्य वैदिक ग्रंथ हमें शिक्षा देते हैं कि परब्रह्म का दिव्य रूप तथा व्यक्तित्व असीम है। स्पष्ट है कि सचमुच ही अनन्त होने के लिए ईश्वर को न केवल मात्रा की दृष्टि से अपितु गुणात्मक दृष्टि से असीम होना चाहिए। दुर्भाग्यवश, हमारे मशीनी तथा औद्योगिक युग में हम अनन्तता को मात्रात्मक रूप में परिभाषित करते हैं। इस तरह हम व्यक्ति के गुणों की अनन्तता में उसका आवश्यक पक्ष नहीं देख पाते। दूसरे शब्दों में, ईश्वर में असीम सौन्दर्य, असीम धन, असीम बुद्धि, अनन्त रस, अनन्त करुणा, अनन्त क्रोध, इत्यादि होने चाहिए। अनन्त परम है और यदि इस संसार में किसी दृश्य वस्तु का, किसी कारण, परम की हमारी इस धारणा में समावेश नहीं है, तो वह धारणा किसी सीमित पदार्थ की है, अनन्त की बिल्कुल नहीं।

केवल कलियुग में दार्शनिक जन इतने मूर्ख हैं कि वे ईश्वर की परिभाषा भौतिकतावादी सापेक्ष विधियों से बड़े गर्व से करते हैं और अपने को प्रबुद्ध चिन्तक घोषित करते हैं। हमारा मस्तिष्क कितना ही बड़ा क्यों न हो, हममें उसे भगवान् के चरणों पर रखने की सामान्य बुद्धि होनी चाहिए।

यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः
पतन्स्खलन्वा विवशो गृणन्पुमान् ।
विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं
प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

यत्—जिसका; नामधेयम्—नाम; म्रियमाणः—मर रहा व्यक्ति; आतुरः—पीड़ित; पतन्—गिरता; स्खलन्—शब्द रुद्ध होते; वा—अथवा; विवशः—असहाय; गृणन्—कीर्तन करते; पुमान्—पुरुष; विमुक्त—मुक्त; कर्म—सकाम कर्म का; अर्गलः—जंजीरों से; उत्तमाम्—सर्वोच्च; गतिम्—लक्ष्य; प्राप्नोति—पाता है; यक्ष्यन्ति न—नहीं पूजते; तम्—उसको, भगवान् को; कलौ—कलियुग में; जनाः—लोग।

मरने वाला व्यक्ति भयभीत होकर अपने बिस्तर पर गिर जाता है। यद्यपि उसकी वाणी अवरुद्ध हुई रहती है और उसे इसका बोध नहीं रहता कि वह क्या कह रहा है, किन्तु यदि वह भगवान् का पवित्र नाम लेता है, तो कर्मफल से मुक्त हो सकता है और चरम गन्तव्य को प्राप्त कर सकता है। किन्तु तो भी कलियुग में लोग भगवान् की पूजा नहीं करेंगे।

तात्पर्य : आप घोड़े को नदी के पास तो ले जा सकते हैं किन्तु आप उसे पानी पीने को बाध्य नहीं कर सकते।

पुंसां कलिकृतान्दोषान्द्रव्यदेशात्मसम्भवान् ।
सर्वान्हरति चित्तस्थो भगवान्पुरुषोत्तमः ॥ ४५॥

शब्दार्थ

पुंसाम्—मनुष्यों को; कलि-कृतान्—कलि के प्रभाव से उत्पन्न; दोषान्—दोष; द्रव्य—पदार्थ; देश—स्थान; आत्म—तथा साक्षात् प्रकृति; सम्भवान्—पर आधारित; सर्वान्—सारे; हरति—चुरा लेता है; चित्त-स्थः—हृदय के भीतर स्थित; भगवान्—सर्वशक्तिमान प्रभु; पुरुष-उत्तमः—परम पुरुष।

कलियुग में वस्तुएँ, स्थान तथा व्यक्ति सभी प्रदूषित हो जाते हैं। किन्तु भगवान् उस व्यक्ति के जीवन से ऐसा सारा कल्मष हटा सकते हैं, जो अपने मन के भीतर भगवान् को स्थिर कर लेता है।

श्रुत: सङ्कीर्तितो ध्यात: पूजितश्चादृतोऽपि वा ।
नृणां धुनोति भगवान्हृत्स्थो जन्मायुताशुभम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

श्रुतः—सुना हुआ; सङ्कीर्तितः—महिमागान किया हुआ; ध्यातः—ध्यान धरा हुआ; पूजितः—पूजित; च—तथा; आदृतः—सम्मानित; अपि—भी; वा—अथवा; नृणाम्—मनुष्यों का; धुनोति—धो देता है; भगवान्—भगवान्; हृत्-स्थः—उनके हृदयों के भीतर स्थित; जन्म-अयुत—हजारों जन्मों का; अशुभम्—अशुभ कल्मष।

यदि कोई व्यक्ति हृदय के भीतर स्थित परमेश्वर के विषय में सुनता है, उनकी महिमा का गान करता है, उनका ध्यान करता है, उनकी पूजा करता है या परमेश्वर का अत्यधिक आदर करता है, तो भगवान् उसके मन से हजारों जन्मों से संचित कल्मष को दूर कर देते हैं।

यथा हेम्नि स्थितो वह्निर्दुर्वर्णं हन्ति धातुजम् ।
एवमात्मगतो विष्णुर्योगिनामशुभाशयम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; हेम्नि—सोने में; स्थितः—स्थित; वह्निः—आग; दुर्वर्णम्—बदरंगपना; हन्ति—नष्ट कर देती है; धातु-जम्—अन्य धातुओं के कारण उत्पन्न रंग; एवम्—इसी तरह; आत्म-गतः—आत्मा में प्रवेश करके; विष्णुः—भगवान् विष्णु; योगिनाम्—योगियों का; अशुभ-आशयम्—गंदा मन।

जिस तरह सोने को गलाने पर अग्नि अन्य धातुओं की रंचमात्र उपस्थिति से उत्पन्न बदरंग को दूर कर देती है उसी तरह हृदय के भीतर स्थित भगवान् विष्णु योगियों के मन को शुद्ध कर देते हैं।

तात्पर्य : भले ही कोई व्यक्ति योग प्रणाली का अभ्यास करता हो किन्तु उसकी वास्तविक आध्यात्मिक प्रगति हृदय के भीतर स्थित भगवान् की कृपा के कारण होती है। यह उसकी तपस्या तथा ध्यान का प्रत्यक्ष फल नहीं होता। यदि कोई मूर्खतावश योग के नाम पर गर्वित हो, तो उसका आध्यात्मकि पद हास्यास्पद बन जाता है।

विद्यातप:प्राणनिरोधमैत्री-
तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यै: ।
नात्यन्तशुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा

यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

विद्या—देवताओं की पूजा से; तपः—तपस्या; प्राण-निरोध—प्राणायाम्; मैत्री—दया; तीर्थ-अभिषेक—तीर्थ-स्नान; व्रत—कठिन व्रत; दान—दान; जप्यैः—तथा मंत्रोच्चार द्वारा; न—नहीं; अत्यन्त—पूर्ण; शुद्धिम्—शुद्धि; लभते—प्राप्त कर सकता है; अन्तः-आत्मा—मन; यथा—जिस तरह; हृदि-स्थे—हृदय के भीतर स्थित रहने पर; भगवति—भगवान् में; अनन्ते—असीम भगवान्, अनन्त।

देवपूजा, तपस्या, प्राणायाम, दया, तीर्थ-स्नान, कठिन व्रत, दान तथा विविध मंत्रों के उच्चारण से मनुष्य के मन को वैसी परम शुद्धि प्राप्त नहीं हो सकती जैसी कि हृदय के भीतर अनन्त भगवान् के प्रकट होने पर होती है।

तस्मात्सर्वात्मना राजन्हृदिस्थं कुरु केशवम् ।
म्रियमाणो ह्यवहितस्ततो यासि परां गतिम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; सर्व-आत्मना—सारे प्रयास से; राजन्—हे राजा; हृदि-स्थम्—हृदय के भीतर; कुरु—करो; केशवम्—भगवान् केशव को; म्रियमाणः—मरते हुए; हि—निस्सन्देह; अवहितः—एकाग्र; ततः—तब; यासि—जा सकोगे; परम्—परम; गतिम्—गन्तव्य को।

इसलिए हे राजा, अपनी शक्ति-भर अपने हृदय में परम भगवान् केशव को स्थिर करने का प्रयास करो। यह एकाग्रता भगवान् पर बनाये रखो और अपनी मृत्यु के समय तुम निश्चित रूप से परम गन्तव्य को प्राप्त करोगे।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् हर एक जीव के हृदय में सदैव रहते हैं, किन्तु *हृदि-स्थं कुरु केशवम्* शब्द सूचित करते हैं कि हर एक को भगवान् की उपस्थिति हृदय में अनुभव करनी चाहिए और हर क्षण इस जागरूकता को बनाये रखना चाहिए। परीक्षित महाराज इस संसार को त्यागने वाले थे और वे अपने गुरु शुकदेव गोस्वामी से अन्तिम उपदेश प्राप्त कर रहे थे। राजा के आसन्न प्रयाण की दृष्टि से यह श्लोक विशेष महत्त्व रखता है।

म्रियमाणैरभिध्येयो भगवान्परमेश्वरः ।
आत्मभावं नयत्यङ्ग सर्वात्मा सर्वसंश्रयः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

म्रियमाणैः—मरने वालों के द्वारा; अभिध्येयः—ध्यान किये गये; भगवान्—भगवान्; परम-ईश्वरः—परमेश्वर; आत्म-भावम्—अपनी असली पहचान; नयति—उन्हें ले जाती है; अङ्ग—हे राजा; सर्व-आत्मा—परमात्मा; सर्व-संश्रयः—सभी प्राणियों के आश्रय।

हे राजा, भगवान् परम नियन्ता हैं। वे परमात्मा हैं और सारे प्राणियों के परम आश्रय हैं। मरणासन्न लोगों के द्वारा ध्यान किये जाने पर वे उन्हें अपना नित्य आध्यात्मिक स्वरूप प्रकट करते हैं।

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः ।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

कलेः—कलियुग के; दोष-निधेः—दोष के सागर में; राजन्—हे राजा; अस्ति—है; हि—निश्चय ही; एकः—एक; महान्—महान्; गुणः—सद्गुण; कीर्तनात्—कीर्तन से; एव—निश्चय ही; कृष्णस्य—कृष्ण-नाम के; मुक्त-सङ्गः—भवबंधन से मुक्त; परम्—दिव्य धाम को; व्रजेत्—जा सकता है।

हे राजन्, यद्यपि कलियुग दोषों का सागर है फिर भी इस युग में एक अच्छा गुण है—केवल हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करने से मनुष्य भवबन्धन से मुक्त हो जाता है और दिव्य धाम को प्राप्त होता है।

तात्पर्य : इस कलियुग के असंख्य दोषों का उल्लेख करने के बाद शुकदेव गोस्वामी अब उसके एक अच्छे पक्ष का उल्लेख करते हैं। जिस तरह एक शक्तिशाली राजा असंख्य चोरों को मार सकता है, उसी तरह एक आध्यात्मिक सद्गुण इस युग के सारे कल्मष को नष्ट कर सकता है। इस पतित युग में हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे / हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे कीर्तन करने के महत्त्व का अनुमान लगा पाना असम्भव है।

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

कृते—सत्ययुग में; यत्—जो; ध्यायतः—ध्यान से; विष्णुम्—एक विष्णु को; त्रेतायाम्—त्रेतायुग में; यजतः—पूजा करने से; मखैः—यज्ञ करने से; द्वापरे—द्वापर युग में; परिचर्यायाम्—भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की पूजा करने से; कलौ—कलियुग में; तत्—वही फल (प्राप्त किया जा सकता है); हरि-कीर्तनात्—केवल हरे कृष्ण महामंत्र के कीर्तन से।

जो फल सत्ययुग में विष्णु का ध्यान करने से, त्रेतायुग में यज्ञ करने से तथा द्वापर युग में भगवान् के चरणकमलों की सेवा करने से, प्राप्त होता है, वही कलियुग में केवल हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करके प्राप्त किया जा सकता है।

तात्पर्य : ऐसा ही श्लोक *विष्णु पुराण* (६.२.१७) में और *पद्म पुराण* (उत्तर खंड ७२.२५) तथा *बृहन्नारदीय पुराण* (३८.९७) में भी पाया जाता है—

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रैतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥

"सत्ययुग में जो ध्यान के द्वारा, त्रेता में यज्ञ करने से तथा द्वापर में कृष्ण के चरणकमलों की पूजा से प्राप्त किया जाता है, उसे कलियुग में भगवान् केशव के नाम-कीर्तन द्वारा प्राप्त किया जाता है।"

श्रील जीव गोस्वामी ने कलियुग में लोगों की पतितावस्था के विषय में *ब्रह्मवैवर्त पुराण* से उद्धरण दिया है—

अत: कलौ तपोयोगविद्यायज्ञादिका: क्रिया:।
सांगा भवन्ति न कृता: कुशलैरपि देहिभि:॥

''इस तरह कलियुग में अत्यन्त दक्ष देहधारी आत्माओं द्वारा भी तप, योग-ध्यान, अर्चापूजन, यज्ञ के साथ साथ अन्य गौण कार्यों का अभ्यास ठीक से नहीं चल पाता।''

श्रील जीव गोस्वामी ने इस युग में हरे कृष्ण कीर्तन की आवश्यकता के विषय में *स्कन्द पुराण* के *चातुर्मास माहात्म्य* का भी उद्धरण दिया है—

तथा चैवोत्तमं लोके तप: श्रीहरिकीर्तनम्।
कलौ युगे विशेषेण विष्णुप्रीत्यै समाचरेत्॥

''इस तरह इस जगत में जो सर्वाधिक पूर्ण तपस्या की जानी है, वह श्री हरि के नाम का कीर्तन है। विशेष रूप से कलियुग में संकीर्तन द्वारा भगवान् विष्णु को प्रसन्न किया जा सकता है।''

निष्कर्ष यह निकला कि सारे संसार में हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करने के लिए लोगों को प्रेरित करने हेतु व्यापक प्रचार की आवश्यकता है, जिससे मानव समाज को कलियुग के भयावह समुद्र से बचाया जा सके।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के बारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत 'भूमि गीत' नामक तृतीय अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चार

ब्रह्माण्ड के प्रलय की चार कोटियाँ

इस अध्याय में प्रलय के चार प्रकारों (स्थायी, नैमित्तिक, प्राकृतिक तथा आत्यन्तिक) की तथा भौतिक जीवन-चक्र के रोकने के एकमात्र साधन हरि-नाम कीर्तन की व्याख्या हुई है।

चार युगों के एक हजार चक्र ब्रह्मा के एक दिन के तुल्य होते हैं और ब्रह्मा का प्रत्येक दिन *कल्प* कहलाता है, जिसमें चौदह मनुओं की आयु (मन्वन्तर) निहित है। ब्रह्मा की रात की अवधि भी वही है, जो दिन की है। रात्रि में ब्रह्मा सोते हैं और तीनों लोकों का संहार हो जाता है। यह *नैमित्तिक* प्रलय है। जब ब्रह्मा की आयु के एक सौ वर्ष समाप्त होते हैं, तो *प्राकृतिक* प्रलय या पूर्ण भौतिक प्रलय होता है। उस समय भौतिक प्रकृति के *महत्* इत्यादि सातों तत्त्व तथा इनसे बना समूचा ब्रह्माण्ड विनष्ट हो जाते हैं। जब मनुष्य को ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तो असलियत समझ में आती है। वह सम्पूर्ण सृष्ट ब्रह्माण्ड को ब्रह्म से विलग अतएव असत्य मानता है। यह *आत्यन्तिक* प्रलय अथवा अन्तिम प्रलय (मोक्ष) कहलाता है। हर क्षण काल अदृश्य रूप से समस्त उत्पन्न जीवों के शरीर को तथा पदार्थ के अन्य सारे रूपों को बदल देता है। इस रूपान्तर की क्रिया से जीव निरन्तर जन्म तथा मृत्यु के स्थायी प्रलय को प्राप्त होता है। जिन्हें सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त है उनका कहना है कि ब्रह्मा समेत सारे प्राणी सदैव जन्म लेते तथा विनष्ट होते रहते हैं। भौतिक

जीवन का अर्थ ही होता है जन्म तथा मृत्यु अथवा उत्पत्ति और प्रलय। भवसागर को पार करने के लिए जिसे पार करना असंभव होता है, एकमात्र उपयुक्त नाव भगवान् की अमृतमयी लीलाओं का विनीत भाव से श्रवण करना है।

श्रीशुक उवाच
कालस्ते परमाण्वादिर्द्विपरार्धावधिर्नृप ।
कथितो युगमानं च शृणु कल्पलयावपि ॥ १॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; कालः—समय; ते—तुमको; परम-अणु—अखंड परमाणु; आदिः—इत्यादि; द्वि-पर-अर्ध—ब्रह्मा की आयु के दो अर्धांश; अवधिः—समाप्ति; नृप—हे राजा परीक्षित; कथितः—वर्णित की गई; युग-मानम्—युग की अवधि; च—तथा; शृणु—अब सुनो; कल्प—ब्रह्मा का दिन; लयौ—संहार, प्रलय; अपि—भी।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा, मैं पहले ही तुम्हें एक परमाणु की गति से मापे जाने वाले सबसे छोटे अंश से लेकर ब्रह्मा की कुल आयु तक काल की माप बतला चुका हूँ। मैंने ब्रह्माण्ड के इतिहास के विभिन्न युगों की माप भी बतला दी है। अब ब्रह्मा के दिन तथा प्रलय की प्रक्रिया के विषय में सुनो।

चतुर्युगसहस्रं तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते ।
स कल्पो यत्र मनवश्चतुर्दश विशाम्पते ॥ २॥

शब्दार्थ

चतुः-युग—चार युग; सहस्रम्—एक हजार; तु—निस्सन्देह; ब्रह्मणः—ब्रह्मा का; दिनम्—दिन; उच्यते—कहा जाता है; सः—वह; कल्पः—कल्प; यत्र—जिसमें; मनवः—मानव जाति का आदि प्रजापति; चतुर्दश—चौदह; विशाम्-पते—हे राजा।

चार युगों के एक हजार चक्रों से ब्रह्मा का एक दिन बनता है, जो कल्प कहलाता है। हे राजा, इस अवधि में चौदह मनु आते-जाते हैं।

तदन्ते प्रलयस्तावान्ब्राह्मी रात्रिरुदाहृता ।
त्रयो लोका इमे तत्र कल्पन्ते प्रलयाय हि ॥ ३॥

शब्दार्थ

तत्-अन्ते—उन (युगों के हजार चक्रों) के बाद; प्रलयः—प्रलय; तावान्—उसी अवधि के; ब्राह्मी—ब्रह्मा की; रात्रिः—रात; उदाहृता—कहा जाता है; त्रयः—तीन; लोकाः—लोक; इमे—ये; तत्र—उस समय; कल्पन्ते—अभिमुख रहते हैं; प्रलयाय—प्रलय के लिए; हि—निस्सन्देह।

ब्रह्मा के एक दिन के बाद, उनकी रात के समय, जो उतनी ही अवधि की होती है, प्रलय होता है। उस समय तीनों लोक विनष्ट हो जाते हैं, उनका संहार हो जाता है।

एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक् ।
शेतेऽनन्तासनो विश्वमात्मसात्कृत्य चात्मभूः ॥ ४॥

शब्दार्थ

एषः—यह; नैमित्तिकः—यदा-कदा; प्रोक्तः—कहा जाता है; प्रलयः—प्रलय; यत्र—जिसमें; विश्व-सृक्—ब्रह्माण्ड का सृजनकर्ता, भगवान् नारायण; शेते—लेट जाते हैं; अनन्त-आसनः—अनन्त शेष की शय्या पर; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; आत्म-सात्-कृत्य—अपने भीतर लीन करके; च—भी; आत्म-भूः—ब्रह्मा।

यह नैमित्तिक प्रलय कहलाता है, जिसमें आदि स्रष्टा नारायण अनन्त शेष की शैय्या पर लेट जाते हैं और ब्रह्मा के सोते समय वे समूचे ब्रह्माण्ड को अपने में लीन कर लेते हैं।

द्विपरार्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ।
तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय वै ॥ ५॥

शब्दार्थ

द्वि-परार्धे—दो परार्ध; तु—तथा; अतिक्रान्ते—पूर्ण होने पर; ब्रह्मणः—ब्रह्मा का; परमे-ष्ठिनः—अत्युच्च स्थित जीव; तदा—तब; प्रकृतयः—प्रकृति के तत्त्व; सप्त—सात; कल्पन्ते—अधीन होते हैं; प्रलयाय—प्रलय के; वै—निस्सन्देह।

जब सर्वोच्च जीव भगवान् ब्रह्मा के जीवन काल के दो परार्ध पूरे हो जाते हैं, तो सृष्टि के सात मूलभूत तत्त्व विनष्ट हो जाते हैं।

एष प्राकृतिको राजन्प्रलयो यत्र लीयते ।
अण्डकोषस्तु सङ्घातो विघाट उपसादिते ॥ ६॥

शब्दार्थ

एषः—यह; प्राकृतिकः—प्रकृति के तत्त्वों का; राजन्—हे राजा परीक्षित; प्रलयः—संहार; यत्र—जिसमें; लीयते—लय हो जाता है; अण्ड-कोषः—ब्रह्माण्ड; तु—तथा; सङ्घाटः—मिश्रण; विघाते—विच्छिन्न होने का कारण; उपसादिते—सामना करना होता है।

हे राजा, भौतिक तत्त्वों के प्रलय के बाद, सृष्टि के तत्त्वों के मिश्रण से बने ब्रह्माण्ड को विनाश का सामना करना होता है।

तात्पर्य : यह महत्त्वपूर्ण बात है कि राजा परीक्षित के गुरु शुकदेव गोस्वामी अपने शिष्य की मृत्यु के पूर्व ब्रह्माण्ड के प्रलय की विशद व्याख्या कर रहे हैं। ब्रह्माण्ड के संहार की कहानी को ध्यानपूर्वक सुनने से मनुष्य यह आसानी से समझ सकता है कि इस नश्वर जगत से उसका प्रयाण सम्पूर्ण भौतिक जगत के विराट परिप्रेक्ष्य में नगण्य घटना है। ईश्वर की उत्पत्ति के विषय में गम्भीर तथा प्रासंगिक व्याख्याओं से, आदर्श गुरु, शुकदेव गोस्वामी, अपने शिष्य को मृत्यु के लिए तैयार कर रहे हैं।

पर्जन्यः शतवर्षाणि भूमौ राजन्न वर्षति ।
तदा निरन्ने ह्यन्योन्यं भक्ष्यमाणाः क्षुधार्दिताः ।
क्षयं यास्यन्ति शनकैः कालेनोपद्रुताः प्रजाः ॥ ७॥

शब्दार्थ

पर्जन्यः—बादल; शत-वर्षाणि—एक सौ वर्षों तक; भूमौ—पृथ्वी पर; राजन्—हे राजा; न वर्षति—वृष्टि नहीं करेगा; तदा—तब; निरन्ने—अकाल आने पर; हि—निस्सन्देह; अन्योन्यम्—परस्पर; भक्ष्यमाणाः—खाते हुए; क्षुधा—भूख से; अर्दिताः—पीड़ित; क्षयम्—विनाश को; यास्यन्ति—जाते हैं; शनकैः—क्रमशः; कालेन—काल की शक्ति से; उपद्रुताः—दिग्भ्रमित; प्रजाः—लोग।

हे राजा, ज्यों-ज्यों प्रलय निकट आयेगा, त्यों-त्यों पृथ्वी पर एक सौ वर्षों तक वर्षा नहीं होगी। सूखे से दुर्भिक्ष पड़ जायेगा और भूखी मरने वाली जनता एक-दूसरे को सचमुच खा जायेगी। पृथ्वी के निवासी काल की शक्ति से मोहग्रस्त होकर धीरे-धीरे नष्ट हो जाएँगे।

सामुद्रं दैहिकं भौमं रसं सांवर्तको रविः ।
रश्मिभिः पिबते घोरैः सर्वं नैव विमुञ्चति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सामुद्रम्—समुद्र का; दैहिकम्—शरीरों का; भौमम्—भूमि का; रसम्—रस; सांवर्तकः—संहार करने वाला; रविः—सूर्य; रश्मिभिः—किरणों से; पिबते—पी जाता है; घोरैः—घोर; सर्वम्—सर्वस्व; न—नहीं; एव—तक; विमुञ्चति—देता है।

सूर्य अपने संहारक रूप में अपनी घोर किरणों के द्वारा, समुद्र का, शरीरों का तथा पृथ्वी का सारा पानी पी लेगा। किन्तु बदले में यह विनाशकारी सूर्य वर्षा नहीं करेगा।

ततः संवर्तको वह्निः सङ्कर्षणमुखोत्थितः ।
दहत्यनिलवेगोत्थः शून्यान्भूविवरानथ ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; संवर्तकः—संहार का; वह्निः—अग्नि; सङ्कर्षण—भगवान् संकर्षण के; मुख—मुख से; उत्थितः—निकला; दहति—जलाता है; अनिल-वेग—वायु के वेग से; उत्थः—उठा हुआ; शून्यान्—रिक्त; भू—पृथ्वी-लोक के; विवरान्—दरारों; अथ—उसके बाद।

इसके बाद प्रलय की विशाल अग्नि भगवान् संकर्षण के मुख से धधक उठेगी। वायु के प्रबल वेग से ले जाई गई, यह अग्नि निर्जीव विराट खोल को झुलसाकर, सारे ब्रह्माण्ड में जल उठेगी।

उपर्यधः समन्ताच्च शिखाभिर्वह्निसूर्ययोः ।
दह्यमानं विभात्यण्डं दग्धगोमयपिण्डवत् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

उपरि—ऊपर; अधः—तथा नीचे; समन्तात्—सभी दिशाओं में; च—तथा; शिखाभिः—लपटों से; वह्नि—अग्नि का; सूर्ययोः—तथा सूर्य का; दह्यमानम्—जलना; विभाति—जगमगाता है; अण्डम्—ब्रह्माण्ड; दग्ध—जला हुआ; गो-मय—गोबर के; पिण्ड-वत्—गोले के समान।

ऊपर से दहकते सूर्य के तथा नीचे से भगवान् संकर्षण की अग्नि से—इस तरह सभी दिशाओं से—जलता हुआ ब्रह्माण्ड गोबर के दहकते पिंड की तरह चमकने लगेगा।

ततः प्रचण्डपवनो वर्षाणामधिकं शतम् ।
परः सांवर्तको वाति धूम्रं खं रजसावृतम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; प्रचण्ड—भीषण; पवनः—वायु; वर्षाणाम्—वर्षों का; अधिकम्—अधिक; शतम्—एक सौ; परः—महान्; साम्वर्तकः—प्रलय लाने वाली; वाति—बहती है; धूम्रम्—भूरा; खम्—आकाश; रजसा—धूल से; आवृतम्—ढका।

महान् तथा भीषण विनाशकारी वायु एक सौ वर्षों से भी अधिक काल तक बहेगी और धूल से आच्छादित आकाश भूरा हो जायेगा।

ततो मेघकुलान्यङ्ग चित्र वर्णान्यनेकशः ।
शतं वर्षाणि वर्षन्ति नदन्ति रभसस्वनैः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; मेघ-कुलानि—बादल; अङ्ग—हे राजा; चित्र-वर्णानि—नाना प्रकार के रंगों के; अनेकशः—असंख्य; शतम्—एक सौ; वर्षाणि—वर्ष; वर्षन्ति—मूसलाधार वर्षा करते हैं; नदन्ति—गरजते हैं; रभस-स्वनैः—घोर ध्वनि से।

हे राजा, उसके बाद नाना रंग के बादलों के समूह बिजली के साथ घोर गर्जना करते हुए एकत्र होंगे और एक सौ वर्षों तक मूसलाधार वर्षा करते रहेंगे।

तत एकोदकं विश्वं ब्रह्माण्डविवरान्तरम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; एक-उदकम्—जल की एक राशि; विश्वम्—ब्रह्माण्ड को; ब्रह्म-अण्ड—सृष्टि के अंडे के; विवर-अन्तरम्—भीतर।

उस समय ब्रह्माण्ड की खोल जल से भर जायेगी और एक विराट सागर का निर्माण करेगी।

तदा भूमेर्गन्धगुणं ग्रसन्त्याप उदप्लवे ।
ग्रस्तगन्धा तु पृथिवी प्रलयत्वाय कल्पते ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

तदा—तब; भूमेः—पृथ्वी का; गन्ध-गुणम्—सुगन्ध का गुण; ग्रसन्ति—हर लेते हैं; आपः—जल; उद-प्लवे—बाढ़ के समय; ग्रस्त-गन्धा—सुगन्ध से विहीन; तु—तथा; पृथिवी—भूमि; प्रलयत्वाय कल्पते—अप्रकटहो जाती है।

जब सारा ब्रह्माण्ड जलमग्न हो जाता है, तो यह जल पृथ्वी के अद्वितीय सुगन्धि गुण को हर लेगा और पृथ्वी, अपने इस विभेदकारी गुण से विहीन होकर, विलीन हो जायेगी।

तात्पर्य : जैसाकि समूचे *श्रीमद्भागवत* में बतलाया गया है प्रथम तत्त्व आकाश में ध्वनि का अनूठा गुण पाया जाता है। ज्यों-ज्यों सृष्टि का प्रसार होता है, दूसरा तत्त्व वायु उत्पन्न हो जाता है, जिसमें ध्वनि तथा स्पर्श के गुण पाये जाते हैं। तीसरा तत्त्व अग्नि है, जिसमें ध्वनि, स्पर्श तथा रूप होता है और चौथा तत्त्व जल है, जिसमें ध्वनि, स्पर्श, रूप तथा रस होते हैं। पृथ्वी में ध्वनि, स्पर्श,

रूप, रस तथा गंध पाये जाते हैं। ज्यों-ज्यों हर तत्त्व अपने अनोखे विभेदक गुण को खोता जाता है त्यों-त्यों अधिक सूक्ष्म तत्त्वों से उसकी पहचान नहीं हो पाती और इस तरह उसकी अपनी अनोखी सत्ता पूर्णरूपेण समाप्त हो जाती है।

अपां रसमथो तेजस्ता लीयन्तेऽथ नीरसाः ।
ग्रसते तेजसो रूपं वायुस्तद्रहितं तदा ॥ १५॥
लीयते चानिले तेजो वायोः खं ग्रसते गुणम् ।
स वै विशति खं राजंस्ततश्च नभसो गुणम् ॥ १६॥
शब्दं ग्रसति भूतादिर्नभस्तमनुलीयते ।
तैजसश्चेन्द्रियाण्यङ्ग देवान्वैकारिको गुणैः ॥ १७॥
महान्ग्रसत्यहङ्कारं गुणाः सत्त्वादयश्च तम् ।
ग्रसतेऽव्याकृतं राजन्गुणान्कालेन चोदितम् ॥ १८॥
न तस्य कालावयवैः परिणामादयो गुणाः ।
अनाद्यनन्तमव्यक्तं नित्यं कारणमव्ययम् ॥ १९॥

शब्दार्थ

अपाम्—जल का; रसम्—स्वाद; अथ—तब; तेजः—अग्नि; ताः—वह जल; लीयन्ते—विलीन कर लेता है; अथ—उसके बाद; नीरसाः—स्वाद-गुण से रहित; ग्रसते—हर लेता है; तेजसः—अग्नि का; रूपम्—रूप; वायुः—वायु; तत्-रहितम्—उस रूप से विहीन; तदा—तब; लीयते—विलीन हो जाता है; च—तथा; अनिले—वायु में; तेजः—अग्नि; वायोः—वायु का; खम्—आकाश; ग्रसते—हरण कर लेता है; गुणम्—अनुभव होनेवाले गुण (स्पर्श); सः—वह वायु; वै—निस्सन्देह; विशति—प्रवेश करती है; खम्—आकाश में; राजन्—हे राजा परीक्षित; ततः—तत्पश्चात्; च—तथा; नभसः—आकाश का; गुणम्—गुण; शब्दम्—शब्द, ध्वनि; ग्रसति—हर लेती है; भूत-आदिः—तमोगुणी अहंकार तत्त्व को; नभः—आकाश; तम्—उस मिथ्या अहंकार में; अनु—पीछे-पीछे; लीयते—विलीन हो जाता है; तैजसः—रजोगुणी मिथ्या अहंकार; च—तथा; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; अङ्ग—हे राजा; देवान्—देवतागण; वैकारिकः—सतोगुणी मिथ्या अहंकार में; गुणैः—(मिथ्या अहंकार के) प्रकट कार्यों समेत; महान्—महत् तत्त्व; ग्रसति—पकड़ लेता है; अहङ्कारम्—मिथ्या अहंकार को; गुणाः—प्रकृति के गुण; सत्त्व-आदयः—सतो, रजो तथा तमो; च—तथा; तम्—उस महत् को; ग्रसते—पकड़ लेता है; अव्याकृतम्—प्रकृति का अव्यक्त आदि रूप; राजन्—हे राजा; गुणान्—गुणों को; कालेन—समय के द्वारा; चोदितम्—प्रेरित; न—नहीं; तस्य—अव्यक्त प्रकृति का; काल—समय का; अवयवैः—खंडों द्वारा; परिणाम-आदयः—रूपान्तर तथा दृश्य पदार्थ के अन्य परिवर्तन (सृजन, वृद्धि आदि); गुणाः—ऐसे गुण; अनादि—आदि रहित; अनन्तम्—बिना अन्त के; अव्यक्तम्—अप्रकट; नित्यम्—नित्य; कारणम्—कारण; अव्ययम्—अव्यय।

तब अग्नि जल से स्वाद ग्रहण करती है, जो अपने अद्वितीय गुण स्वाद को त्याग कर, अग्नि में लीन हो जाता है। वायु, अग्नि में निहित रूप को ग्रहण करता है और तब अग्नि अपना रूप खोकर वायु में विलीन हो जाती है। आकाश, वायु के गुण स्पर्श को पा लेता है और वह वायु आकाश में प्रवेश करती है। तब हे राजा, तमोगुणी मिथ्या अहंकार, आकाश के गुण ध्वनि को ग्रहण करता है, जिसके बाद आकाश मिथ्या अहंकार में विलीन हो जाता है। रजोगुणी मिथ्या अहंकार, इन्द्रियों को ग्रहण करता है और सतोगुणी अहंकार देवताओं को विलीन कर लेता है। तब सम्पूर्ण महत् तत्त्व मिथ्या अहंकार को उसके विविध कार्यों

समेत ग्रहण करता है और यह महत् प्रकृति के तीन गुणों—सतो, रजो तथा तमो—द्वारा जकड़ लिया जाता है। हे राजा परीक्षित, ये गुण काल द्वारा प्रेरित प्रकृति के मूल अव्यक्त रूप द्वारा अधिगृहीत हो जाते हैं। यह अव्यक्त प्रकृति काल के प्रभाव द्वारा उत्पन्न छः प्रकार के विकारों के अधीन नहीं होती, प्रत्युत् इसका न तो आदि होता है, न अन्त। यह सृष्टि का अव्यक्त, शाश्वत, अव्यय कारण है।

न यत्र वाचो न मनो न सत्त्वं
तमो रजो वा महदादयोऽमी ।
न प्राणबुद्धीन्द्रियदेवता वा
न सन्निवेशः खलु लोककल्पः ॥ २० ॥

न स्वप्नजाग्रन्न च तत्सुषुप्तं
न खं जलं भूरनिलोऽग्निरर्कः ।
संसुप्तवच्छून्यवदप्रतर्क्यं
तन्मूलभूतं पदमामनन्ति ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यत्र—जहाँ; वाचः—वाणी; न—नहीं; मनः—मन; न—नहीं; सत्त्वम्—सतोगुण; तमः—तमोगुण; रजः—रजोगुण; वा—अथवा; महत्—महत् तत्त्व; आदयः—इत्यादि; अमी—ये तत्त्व; न—नहीं; प्राण—प्राणवायु; बुद्धि—बुद्धि; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; देवताः—तथा अधिष्ठाता देवता; वा—अथवा; न—नहीं; सन्निवेशः—विशेष रचना; खलु—निस्सन्देह; लोक-कल्पः—ग्रहों की व्यवस्था का; न—नहीं; स्वप्न—नींद; जाग्रत्—जाग्रत अवस्था; न—नहीं; च—तथा; तत्—वह; सुषुप्तम्—गहरी नींद; न—नहीं; खम्—आकाश; जलम्—जल; भूः—पृथ्वी; अनिलः—वायु; अग्निः—अग्नि; अर्कः—सूर्य; संसुप्त-वत्—गहरी नींद में रहने वाले के समान; शून्य-वत्—शून्य की तरह; अप्रतर्क्यम्—तर्क के द्वारा अभेद्य; तत्—वह प्रधान; मूल-भूतम्—आधार के रूप में; पदम्—वस्तु; आमनन्ति—महापुरुष कहते हैं।.

प्रकृति की अव्यक्त अवस्था, जिसे प्रधान कहते हैं, में न वाणी, न मन, न महत् इत्यादि सूक्ष्म तत्त्व और न ही सतो, रजो तथा तमोगुण होते हैं। उसमें न तो प्राणवायु, न बुद्धि, न कोई इन्द्रियाँ या देवता रहते हैं। उसमें न तो ग्रहों की स्पष्ट व्यवस्था होती है, न ही चेतना की विभिन्न अवस्थाएँ—सुप्त, जागृत तथा सुषुप्त—ही होती हैं। उसमें आकाश, जल, पृथ्वी, वायु, अग्नि या सूर्य नहीं होते। यह स्थिति सुषुप्ति अथवा शून्य जैसी होती है। निस्सन्देह, यह अवर्णनीय है। किन्तु आध्यात्मिक विज्ञानवेत्ता बताते हैं कि प्रधान के मूल वस्तु होने से यह भौतिक सृष्टि का वास्तविक कारण है।

लयः प्राकृतिको ह्येष पुरुषाव्यक्तयोर्यदा ।
शक्तयः सम्प्रलीयन्ते विवशाः कालविद्रुताः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

लयः—प्रलय; प्राकृतिकः—भौतिक तत्त्वों की; हि—निस्सन्देह; एषः—यह; पुरुष—परमेश्वर का; अव्यक्तयोः—तथा अव्यक्त रूप में उनकी भौतिक प्रकृति का; यदा—जब; शक्तयः—शक्तियाँ; सम्प्रलीयन्ते—पूर्णतया लीन हो जाती हैं; विवशाः—असहाय; काल—काल द्वारा; विद्रुताः—अव्यवस्थित।

यह प्रलय प्राकृतिक कहलाती है, जिसके अन्तर्गत परम पुरुष तथा उनकी अव्यक्त भौतिक प्रकृति से सम्बन्धित शक्तियाँ, काल के वेग द्वारा अव्यवस्थित होकर, उनकी शक्तियों से विहीन होकर, पूरी तरह से लीन हो जाती हैं।

बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण ज्ञानं भाति तदाश्रयम् ।
दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्यामाद्यन्तवदवस्तु यत् ॥ २३॥

शब्दार्थ

बुद्धि—बुद्धि; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; अर्थ—तथा अनुभूति की वस्तुओं के; रूपेण—रूप में; ज्ञानम्—परब्रह्म; भाति—प्रकट करता है; तत्—इन तत्त्वों का; आश्रयम्—आधार; दृश्यत्व—देखे जाने के कारण; अव्यतिरेकाभ्याम्—अपने कारण से अभिन्न होने के कारण; आदि-अन्त-वत्—जिसका आदि तथा अन्त है; अवस्तु—अपर्याप्त है; यत्—जो भी।

एकमात्र परब्रह्म ही बुद्धि, इन्द्रियों तथा इन्द्रिय-अनुभूति की वस्तुओं के रूपों में प्रकट होता है और वही उनका परम आधार है। जिसका भी आदि तथा अन्त होता है, वह अपर्याप्त (अवस्तु) है क्योंकि वह सीमित इन्द्रियों के द्वारा अनुभूत वस्तु है और अपने कारण से अभिन्न है।

तात्पर्य : *दृश्यत्व* शब्द सूचित करता है कि सारे सूक्ष्म तथा स्थूल भौतिक रूप परमेश्वर की शक्ति से दृश्य बनते हैं और प्रलय के समय अदृश्य या अप्रकट हो जाते हैं। इसीलिए वे अपने प्रसार तथा विलीन होने के स्रोत से मूल रूप में पृथक् नहीं हैं।

दीपश्चक्षुश्च रूपं च ज्योतिषो न पृथग्भवेत् ।
एवं धीः खानि मात्राश्च न स्युरन्यतमादृतात् ॥ २४॥

शब्दार्थ

दीपः—दीपक; चक्षुः—देखने वाली आँख; च—तथा; रूपम्—देखा गया रूप; च—तथा; ज्योतिषः—मूल तत्त्व अग्नि से; न—नहीं; पृथक्—विलग; भवेत्—हैं; एवम्—इसी तरह; धीः—बुद्धि; खानि—इन्द्रियाँ; मात्राः—अनुभूतियाँ; च—तथा; न स्युः—नहीं हैं; अन्यतमात्—जो स्वयं पूर्णतया विलग है; ऋतात्—सत्य से।

दीपक, उस दीपक के प्रकाश से देखने वाली आँख तथा देखा जाने वाला दृश्य रूप, मूलतः अग्नि तत्त्व से अभिन्न हैं। इसी तरह बुद्धि, इन्द्रियों तथा इन्द्रिय अनुभूतियों का परम सत्य से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है यद्यपि वह परम सत्य (परब्रह्म) उनसे सर्वथा भिन्न होता है।

बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति चोच्यते ।
मायामात्रमिदं राजन्नानात्वं प्रत्यगात्मनि ॥ २५॥

शब्दार्थ

बुद्धेः—बुद्धि का; जागरणम्—जागृत चेतना; स्वप्नः—नींद; सुषुप्तिः—गहरी नींद; इति—इस तरह; च—तथा; उच्यते—कहलाते हैं; माया-मात्रम्—निरी माया; इदम्—यह; राजन्—हे राजा; नानात्वम्—द्वैत; प्रत्यक्-आत्मनि—शुद्ध आत्मा द्वारा अनुभव किया हुआ।

बुद्धि की तीन अवस्थाएँ जाग्रत, सुप्त तथा सुषुप्त कहलाती हैं। लेकिन हे राजा, इन विभिन्न अवस्थाओं से शुद्ध जीव के लिए उत्पन्न नाना प्रकार के अनुभव माया के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं।

तात्पर्य : शुद्ध कृष्ण-चेतना भौतिक जागरूकता की विभिन्न अवस्थाओं के परे स्थित होती है। जिस तरह प्रकाश की उपस्थिति में अँधेरा दूर हो जाता है उसी तरह मायामयी भौतिक बुद्धि जो सामान्य अनुभूति, स्वप्न तथा गहरी नींद के रूप में अनुभव की जाती है, शुद्ध कृष्ण-चेतना की तेजोमयी उपस्थिति में पूर्णतया लुप्त हो जाती है क्योंकि कृष्ण-चेतना हर जीव की स्वाभाविक स्थिति है।

यथा जलधरा व्योम्नि भवन्ति न भवन्ति च ।
ब्रह्मणीदं तथा विश्वमवयव्युदयाप्ययात् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; जल-धराः—बादल; व्योम्नि—आकाश में; भवन्ति—हैं; न भवन्ति—नहीं होते; च—तथा; ब्रह्मणि—परब्रह्म में; इदम्—यह; तथा—उसी तरह; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; अवयवि—अंशों से युक्त; उदय—उत्पत्ति; अप्ययात्—तथा प्रलय के कारण।

जिस तरह आकाश में बादल बनते हैं और तब अपने घटक तत्त्वों के मिश्रण तथा विलय के द्वारा इधर-उधर बिखर जाते हैं, उसी तरह यह भौतिक ब्रह्माण्ड, परब्रह्म के भीतर, अपने अवयव रूपी तत्त्वों के मिश्रण तथा विलय से, बनता और विनष्ट होता है।

सत्यं ह्यवयवः प्रोक्तः सर्वावयविनामिह ।
विनार्थेन प्रतीयेरन्पटस्येवाङ्ग तन्तवः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

सत्यम्—सत्य; हि—क्योंकि; अवयवः—अवयवी कारण; प्रोक्तः—कहा गया है; सर्व-अवयविनाम्—समस्त अवयवों का; इह—इस जगत में; विना—से विलग; अर्थेन—प्रकट फल; प्रतीयेरन्—अनुभव किये जा सकते हैं; पटस्य—वस्त्र के; इव—सदृश; अङ्ग—हे राजा; तन्तवः—धागे।

हे राजा, (वेदान्त-सूत्र में) यह कहा गया है कि इस ब्रह्माण्ड में किसी व्यक्त पदार्थ को निर्मित करने वाला अवयवी कारण, पृथक् सत्य के रूप में, उसी तरह देखा जा सकता है, जिस तरह वस्त्र को बनाने वाले धागे उनसे बनी हुई वस्तु (वस्त्र) से अलग देखे जा सकते हैं।

यत्सामान्यविशेषाभ्यामुपलभ्येत स भ्रमः ।
अन्योन्यापाश्रयात्सर्वमाद्यन्तवदवस्तु यत् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो भी; सामान्य—सामान्य कारण के रूप में; विशेषाभ्याम्—तथा विशेष कार्य के रूप में; उपलभ्येत—अनुभव किया जाता है; सः—वह; भ्रमः—मोह; अन्योन्य—पारस्परिक; अपाश्रयात्—अधीनता के कारण; सर्वम्—हर वस्तु; आदि-अन्त-वत्—आदि तथा अन्त होने से; अवस्तु—असत्य; यत्—जो।

सामान्य कारण तथा विशिष्ट कार्य के रूप में अनुभव की हुई कोई भी वस्तु भ्रम होनी चाहिए क्योंकि ऐसे कारण तथा कार्य एक-दूसरे के सापेक्ष होते हैं। निस्सन्देह, जिसका भी आदि तथा अन्त है, वह असत्य है।

तात्पर्य : भौतिक कारण के स्वभाव को कार्य के बिना अनुभव नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, अग्नि के जलने के स्वभाव को उसके कार्य यथा वस्तुओं को जलाने के बिना या राख के बिना, अनुभव नहीं किया जा सकता। इसी तरह जल के भिगोने के गुण को उसके कार्य को देखे बिना, यथा भीगे कपड़े या कागज को देखे बिना, नहीं समझा जा सकता। मनुष्य की संघटनात्मक शक्ति उसके प्रभावशाली कार्य अर्थात् ठोस संस्था को देखे बिना नहीं समझी जा सकती। इस तरह कार्य न केवल अपने कारणों पर निर्भर करते हैं अपितु कारण की अनुभूति भी कार्य के अवलोकन पर निर्भर करती है। इस तरह दोनों का सापेक्षतः वर्णन किया जाता है और वे आदि तथा अन्त से युक्त होते हैं। निष्कर्ष यह निकलता है कि ऐसे सारे कारण तथा कार्य अनिवार्यतः क्षणिक तथा सापेक्ष हैं, इसलिए भ्रामक हैं।

भगवान् यद्यपि समस्त कारणों के कारण हैं, किन्तु उनका न तो आदि है, न अन्त। इसलिए वे न तो भौतिक हैं न भ्रामक। भगवान् कृष्ण के ऐश्वर्य तथा उनकी शक्तियाँ परम सत्य हैं, जो भौतिक कार्यकारण पर आश्रित नहीं होतीं।

विकारः ख्यायमानोऽपि प्रत्यगात्मानमन्तरा ।
न निरूप्योऽस्त्यणुरपि स्याच्चेच्चित्सम आत्मवत् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

विकारः—जगत का रूपान्तर; ख्यायमानः—प्रकट होने वाला; अपि—यद्यपि; प्रत्यक्-आत्मानम्—परमात्मा; अन्तरा—बिना; न—नहीं; निरूप्यः—चिन्तनीय; अस्ति—है; अणुः—एक परमाणु; अपि—भी; स्यात्—ऐसा हो; चेत्—यदि; चित्-समः—समान रूप से आत्मा; आत्म-वत्—बिना परिवर्तन के उसी रूप में।

भौतिक प्रकृति के एक भी परमाणु का अनुभव किया जाने वाला रूपान्तर, उस परमात्मा के उल्लेख के बिना कोई परम अर्थ नहीं रखता। किसी वस्तु को यथार्थ रूप में विद्यमान होने के लिए उस वस्तु को शुद्ध आत्मा जैसा ही गुण वाला—नित्य तथा अव्यय—होना चाहिए।

तात्पर्य : मरुस्थल में दिखने वाली मृगमरीचिका वास्तव में प्रकाश की अभिव्यक्ति है। जल का झूठा प्राकट्य प्रकाश का विशिष्ट रूपान्तर है। इसी तरह स्वतंत्र भौतिक प्रकृति के रूप में जो झूठमूठ दिखता है, वह भगवान् का रूपान्तर है। भौतिक प्रकृति भगवान् की बहिरंगा शक्ति है।

न हि सत्यस्य नानात्वमविद्वान्यदि मन्यते ।
नानात्वं छिद्रयोर्यद्वज्ज्योतिषोर्वातयोरिव ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं है; हि—निस्सन्देह; सत्यस्य—परम सत्य का; नानात्वम्—द्वैत; अविद्वान्—अज्ञानी; यदि—यदि; मन्यते—सोचता है; नानात्वम्—द्वैत; छिद्रयो:—दो आकाशों का; यद्वत्—जिस तरह; ज्योतिषो:—दो स्वर्गिक प्रकाशों का; वातयो:—दो वायुओं का; इव—यथा।

परम सत्य में कोई भौतिक द्वैत नहीं है। अज्ञानी व्यक्ति द्वारा अनुभूत द्वैत, रिक्त पात्र के भीतर तथा पात्र के बाहर के आकाश के अन्तर के समान, अथवा जल में सूर्य के प्रतिबिम्ब तथा आकाश में सूर्य के अन्तर के समान, अथवा एक शरीर के भीतर की प्राणवायु तथा दूसरे शरीर की प्राणवायु में, जो अन्तर है उसके समान है।

यथा हिरण्यं बहुधा समीयते
नृभि: क्रियाभिर्व्यवहारवर्त्मसु ।
एवं वचोभिर्भगवानधोक्षजो
व्याख्यायते लौकिकवैदिकैर्जनै: ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; हिरण्यम्—स्वर्ण; बहुधा—अनेक रूपों में; समीयते—प्रकट होता है; नृभि:—पुरुषों के लिए; क्रियाभि:—विभिन्न कर्मों के रूप में; व्यवहार-वर्त्मसु—सामान्य उपयोग में; एवम्—उसी तरह से; वचोभि:—विभिन्न प्रकार से; भगवान्—भगवान्; अधोक्षज:—भौतिक इन्द्रियों के लिए अचिन्त्य दिव्य प्रभु; व्याख्यायते—वर्णन किया जाता है; लौकिक—संसारी; वैदिकै:—तथा वैदिक; जनै:—लोगों द्वारा।

लोग विभिन्न कार्यों के अनुसार सोने का उपयोग नाना प्रकार से करते हैं, इसलिए सोना विविध रूपों में देखा जाता है। इसी तरह भौतिक इन्द्रियों के लिए अगम्य भगवान् का वर्णन विभिन्न प्रकार के लोगों द्वारा विभिन्न रूपों में—सामान्य तथा वैदिक रूप में—किया जाता है।

तात्पर्य : जो लोग भगवान् के शुद्ध भक्त नहीं हैं, वे सभी भगवान् तथा उनकी शक्तियों का दुरुपयोग करने का प्रयास करते हैं। इस दुरुपयोग की रणनीति के अनुसार, वे परम सत्य का चिन्तन और वर्णन विविध प्रकार से करते हैं। *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* में परम सत्य परब्रह्म अपने यथारूप में उन निष्ठावान लोगों के लाभार्थ प्रकट होते हैं, जो मूर्खतावश भगवान् का मनमाना उपयोग नहीं करना चाहते।

यथा घनोऽर्कप्रभवोऽर्कदर्शितो
ह्यर्कांशभूतस्य च चक्षुषस्तम: ।
एवं त्वहं ब्रह्मगुणस्तदीक्षितो
ब्रह्मांशकस्यात्मन आत्मबन्धन: ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; घनः—बादल; अर्क—सूर्य का; प्रभवः—फल; अर्क—सूर्य द्वारा; दर्शितः—दिखलाया जाता है; हि—निस्सन्देह; अर्क—सूर्य; अंश-भूतस्य—जो अंश रूप है; च—तथा; चक्षुषः—आँख का; तमः—अंधकार; एवम्—उसी तरह से; तु—निस्सन्देह; अहम्—मिथ्या अहंकार; ब्रह्म-गुणः—परब्रह्म का गुण; तत्-ईक्षितः—परब्रह्म के माध्यम से दृश्य; ब्रह्म-अंशकस्य—परब्रह्म के अंश का; आत्मनः—जीवात्मा का; आत्म-बन्धनः—परमात्मा की अनुभूति में बाधक।

यद्यपि बादल सूर्य की ही उपज है और सूर्य द्वारा दृश्य भी होता है, तो भी यह देखने वाली आँख के लिए जो सूर्म का ही दूसरा अंश है, अंधेरा उत्पन्न कर देता है। इसी तरह परब्रह्म की विशेष उपज मिथ्या अहंकार जो परब्रह्म द्वारा ही दृश्य बनाई जाती है, आत्मा को परब्रह्म का साक्षात्कार करने से रोकता है यद्यपि आत्मा भी परब्रह्म का ही अंश है।

घनो यदार्कप्रभवो विदीर्यते
चक्षुः स्वरूपं रविमीक्षते तदा ।
यदा ह्यहङ्कार उपाधिरात्मनो
जिज्ञासया नश्यति तर्ह्यनुस्मरेत् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

घनः—बादल; यदा—जब; अर्क-प्रभवः—सूर्य की उपज; विदीर्यते—तितर-बितर कर दिया जाता है; चक्षुः—आँख; स्वरूपम्—अपने असली रूप में; रविम्—सूर्य को; ईक्षते—देखता है; तदा—तब; यदा—जब; हि—भी; अहङ्कारः—मिथ्या अहंकार; उपाधिः—बाहरी आवरण; आत्मनः—आत्मा का; जिज्ञासया—आध्यात्मिक पूछताछ से; नश्यति—नष्ट हो जाता है; तर्हि—उस समय; अनुस्मरेत्—मनुष्य को सही स्मृति प्राप्त होती है।

जब सूर्य से उत्पन्न बादल तितर-बितर हो जाता है, तो आँख सूर्य के वास्तविक स्वरूप को देख सकती है। इसी तरह, जब आत्मा दिव्य विज्ञान के विषय में पूछताछ करके, मिथ्या अहंकार के अपने भौतिक आवरण को नष्ट कर देता है, तो वह अपनी मूल आध्यात्मिक जागरूकता को फिर से प्राप्त होता है।

तात्पर्य : जिस तरह सूर्य उन बादलों को जला सकता है, जो किसी के देखने में अवरोध डालते हैं उसी तरह परमेश्वर (तथा एकमात्र वे ही) उस मिथ्या अहंकार को हटा सकते हैं, जो किसी को उन्हें देखने से रोकता है। किन्तु कुछ प्राणी ऐसे होते हैं, जैसे कि उल्लू, जो सूर्य को देखने के अनिच्छुक होते हैं। इसी तरह जो लोग आध्यात्मिक ज्ञान में रुचि नहीं रखते, वे ईश्वर को कभी भी नहीं देख पायेंगे।

यदैवमेतेन विवेकहेतिना
मायामयाहङ्करणात्मबन्धनम् ।
छित्त्वाच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते
तमाहुरात्यन्तिकमङ्ग सम्प्लवम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

यदा—जब; एवम्—इस तरह; एतेन—इससे; विवेक—विवेक की; हेतिना—तलवार से; माया-मय—माया से युक्त; अहङ्करण—मिथ्या अहंकार; आत्म—आत्मा का; बन्धनम्—बन्धन का कारण; छित्त्वा—काट कर; अच्युत—अच्युत; आत्म—परमात्मा का; अनुभवः—अनुभूति; अवतिष्ठते—दृढ़ता से उत्पन्न करता है; तम्—उसको; आहुः—कहते हैं; आत्यन्तिकम्—चरम; अङ्ग—हे राजा; सम्प्लवम्—प्रलय।

हे राजा परीक्षित, जब आत्मा को बाँधने वाले मायामय मिथ्या अहंकार को विवेक-शक्ति की तलवार से काट दिया जाता है और मनुष्य परमात्मा अच्युत का अनुभव प्राप्त कर लेता है, तो वह भौतिक जगत का आत्यन्तिक या परम प्रलय कहलाता है।

नित्यदा सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां परन्तप ।
उत्पत्तिप्रलयावेके सूक्ष्मज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

नित्यदा—निरन्तर; सर्व-भूतानाम्—सारे प्राणियों का; ब्रह्म-आदीनाम्—ब्रह्मा इत्यादि; परम्-तप—हे शत्रुओं के दमनकर्ता; उत्पत्ति—सृजन; प्रलयौ—तथा संहार; एके—कुछ; सूक्ष्म-ज्ञाः—सूक्ष्म वस्तुओं के ज्ञाता; सम्प्रचक्षते—घोषित करते हैं।

हे शत्रुओं के दमनकर्ता, प्रकृति की सूक्ष्म कार्य-प्रणाली के ज्ञाताओं ने घोषित किया है कि उत्पत्ति तथा प्रलय की प्रक्रियायें निरन्तर चलती रहती हैं जिनसे ब्रह्मा इत्यादि सारे प्राणी निरन्तर प्रभावित होते रहते हैं।

कालस्त्रोतोजवेनाशु ह्रियमाणस्य नित्यदा ।
परिणामिनां अवस्थास्ता जन्मप्रलयहेतवः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

काल—समय का; स्त्रोतः—प्रबल प्रवाह का; जवेन—वेग से; आशु—तेजी से; ह्रियमाणस्य—बहाये जाने वाले का; नित्यदा—निरन्तर; परिणामिनाम्—रूपान्तरशील वस्तुओं की; अवस्थाः—विभिन्न अवस्थाएँ; ताः—वे; जन्म—जन्म; प्रलय—तथा प्रलय के; हेतवः—कारण।

सारी भौतिक वस्तुओं में रूपान्तर होते हैं और वे काल के प्रबल प्रवाह द्वारा तेजी से क्षीण की जाती हैं। भौतिक वस्तुओं द्वारा प्रदर्शित अपने अस्तित्व की विविध अवस्थाएँ उनकी उत्पत्ति तथा प्रलय के शाश्वत कारण हैं।

अनाद्यन्तवतानेन कालेनेश्वरमूर्तिना ।
अवस्था नैव दृश्यन्ते वियति ज्योतिषां इव ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

अनादि-अन्त-वता—बिना आदि अथवा अन्त के; अनेन—इस; कालेन—काल के द्वारा; ईश्वर—भगवान् की; मूर्तिना—प्रतिनिधि द्वारा; अवस्थाः—विभिन्न अवस्थाएँ; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; दृश्यन्ते—देखी जाती हैं; वियति—बाह्य अवकाश में; ज्योतिषाम्—गतिशील नक्षत्रों के; इव—सदृश।

भगवान् के निर्विशेष प्रतिनिधि स्वरूप, आदि हीन तथा अन्तहीन काल द्वारा उत्पन्न, जगत की ये अवस्थाएँ उसी तरह दृश्य नहीं हैं जिस तरह आकाश में नक्षत्रों की स्थिति में होने

वाले अत्यन्त सूक्ष्म परिवर्तनों को नहीं देखा जा सकता।

तात्पर्य : यद्यपि हर कोई जानता है कि सूर्य आकाश में निरन्तर गतिशील है किन्तु सूर्य को गति करते सामान्य रूप से कोई नहीं देख पाता। इसी तरह, कोई भी व्यक्ति अपने बालों या नाखुनों को बढ़ते नहीं देख पाता यद्यपि काल के बीतने के साथ उनमें वृद्धि दिखती है। भगवान् की शक्तिरूप काल अत्यन्त सूक्ष्म तथा प्रबल है और जो मूर्ख लोग भौतिक सृष्टि का दोहन करना चाहते हैं उनके लिए वह दुर्लंघ्य अवरोध है।

नित्यो नैमित्तिकश्चैव तथा प्राकृतिको लयः ।
आत्यन्तिकश्च कथितः कालस्य गतिरीदृशी ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

नित्यः—संतत; नैमित्तिकः—आकस्मिक; च—तथा; एव—निस्सन्देह; तथा—भी; प्राकृतिकः—प्राकृतिक; लयः—प्रलय; आत्यन्तिकः—अन्तिम; च—तथा; कथितः—वर्णित होते हैं; कालस्य—काल की; गतिः—प्रगति; ईदृशी—इस तरह की।.

इस प्रकार काल की प्रगति को चार प्रकार के प्रलय के रूप में वर्णित किया जाता है। ये हैं स्थायी, नैमित्तिक, प्राकृतिक तथा आत्यन्तिक।

एताः कुरुश्रेष्ठ जगद्विधातु-
र्नारायणस्याखिलसत्त्वधाम्नः ।
लीलाकथास्ते कथिताः समासतः
कार्त्स्न्येन नाजोऽप्यभिधातुमीशः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

एताः—ये; कुरु-श्रेष्ठ—हे कुरुओं में श्रेष्ठ; जगत्-विधातुः—ब्रह्माण्ड के स्त्रष्टा का; नारायणस्य—नारायण का; अखिल-सत्त्व-धाम्नः—सारे अस्तित्वों के आगार; लीला-कथाः—लीलाओं की कथाएँ; ते—तुमसे; कथिताः—कही जा चुकी हैं; समासतः—संक्षेप में; कार्त्स्न्येन—पूरी तरह; न—नहीं; अजः—अजन्मा ब्रह्मा; अपि—तक; अभिधातुम्—बतला सकने में; ईशः—सक्षम है।.

हे कुरुश्रेष्ठ, मैंने तुम्हें भगवान् नारायण की लीलाओं की ये कथाएँ संक्षेप में बतला दीं हैं। भगवान् इस जगत के स्त्रष्टा हैं और सारे जीवों के अन्ततः आगार हैं। यहाँ तक कि ब्रह्मा भी उन कथाओं को पूरी तरह बतलाने में अक्षम हैं।

संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो-
र्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य ।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण
पुंसो भवेद्विविधदुःखदवार्दितस्य ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

संसार—संसार के; सिन्धुम्—सागर को; अति-दुस्तरम्—पार करने में असम्भव; उत्तितीर्षोः—पार करने की इच्छा करने वाले के लिए; न—नहीं; अन्यः—कोई दूसरी; प्लवः—नाव; भगवतः—भगवान्; पुरुष-उत्तमस्य—परमेश्वर की; लीला-कथा—लीलाओं की कथाएँ; रस—दिव्य आस्वाद के प्रति; निषेवणम्—सेवा भाव; अन्तरेण—इसके अतिरिक्त; पुंसः—पुरुष के लिए; भवेत्—हो सकता है; विविध—अनेक; दुःख—भौतिक दुख की; दव—अग्नि द्वारा; अर्दितस्य—पीड़ित।

असंख्य संतापों की अग्नि से पीड़ित तथा दुर्लंघ्य संसार सागर को पार करने के इच्छुक व्यक्ति के लिए, भगवान् की लीलाओं की कथाओं के दिव्य आस्वाद के प्रति भक्ति का अनुशीलन करने के अतिरिक्त कोई अन्य उपयुक्त नाव नहीं है।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् की लीलाओं का वर्णन पूरी तरह से कर पाना असम्भव है, तो भी अंशमात्र प्रशंसा से ही संसार के असह्य कष्ट से बचा जा सकता है। भव-ज्वर को भगवान् के नाम तथा लीलाओं रूपी ओषधि द्वारा ही दूर किया जा सकता है, जिसका यथेष्ठ वर्णन *श्रीमद्भागवत* में हुआ है।

पुराणसंहितामेतामृषिर्नारायणोऽव्ययः ।
नारदाय पुरा प्राह कृष्णद्वैपायनाय सः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

पुराण—सारे पुराणों; संहिताम्—आवश्यक संहिता के; एताम्—यह; ऋषिः—महामुनि; नारायणः—नर-नारायण; अव्ययः—अव्यय; नारदाय—नारद मुनि से; पुरा—प्राचीन काल में; प्राह—कहा; कृष्ण-द्वैपायनाय—कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास से; सः—उसने, नारद ने।

बहुत दिन बीते सारे पुराणों की यह आवश्यक संहिता, अच्युत नर-नारायण ऋषि ने नारद से कही थी, जिन्होंने फिर इसे कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास से कही।

स वै मह्यं महाराज भगवान्बादरायणः ।
इमां भागवतीं प्रीतः संहितां वेदसम्मिताम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने; वै—निस्सन्देह; मह्यम्—मुझसे, शुकदेव गोस्वामी से; महाराज—हे राजा परीक्षित; भगवान्—परमेश्वर के शक्तिशाली अवतार; बादरायणः—श्रील व्यासदेव ने; इमाम्—इस; भागवतीम्—भागवत शास्त्र को; प्रीतः—तुष्ट होकर; संहिताम्—संहिता; वेद-सम्मिताम्—चारों वेदों के ही तुल्य।

हे महाराज परीक्षित, महापुरुष श्रील व्यासदेव ने मुझे उसी शास्त्र *श्रीमद्भागवत* की शिक्षा दी जो महत्त्व में चारों वेदों के ही तुल्य है।

इमां वक्ष्यत्यसौ सूत ऋषिभ्यो नैमिषालये ।
दीर्घसत्रे कुरुश्रेष्ठ सम्पृष्टः शौनकादिभिः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

इमम्—इसे; वक्ष्यति—कहेगा; असौ—हमारे समक्ष उपस्थित; सूतः—सूत गोस्वामी; ऋषिभ्यः—ऋषियों से; नैमिष-आलये—नैमिषारण्य में; दीर्घ-सत्रे—दीर्घकाल तक चलने वाले यज्ञ के अवसर पर; कुरु-श्रेष्ठ—हे कुरुओं में श्रेष्ठ; सम्पृष्टः—पूछे जाने पर; शौनक-आदिभिः—शौनक इत्यादि के द्वारा।

हे कुरुश्रेष्ठ, हमारे समक्ष आसीन यही सूत गोस्वामी नैमिषारण्य के विराट यज्ञ में एकत्र ऋषियों से इस भागवत का प्रवचन करेंगे। ऐसा वे तब करेंगे जब शौनक आदि सभा के सदस्य उनसे प्रश्न करेंगे।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के द्वादश स्कन्ध के अन्तर्गत ''ब्रह्माण्ड के प्रलय की चार कोटियाँ'' नामक चतुर्थ अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पाँच

महाराज परीक्षित को शुकदेव गोस्वामी का अन्तिम उपदेश

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह शुकदेव गोस्वामी के परब्रह्म विषयक संक्षिप्त उपदेशों से महाराज परीक्षित का तक्षक-दंश भय जाता रहा।

पिछले अध्याय में इस भौतिक जगत में कार्यरत चार प्रकार के प्रलय का वर्णन कर चुकने के बाद, अब श्रील शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित को याद दिलाते हैं कि उन्होंने किस तरह तृतीय स्कंध में ब्रह्माण्ड के विभिन्न युगों की काल गणना की व्याख्या की थी। ब्रह्मा के एक दिन में चार युगों वाले एक हजार चक्र होते हैं जिसमें चौदह विभिन्न मनु शासन (मन्वन्तर) करते हैं और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इस तरह मृत्यु हर देहधारी के लिए अपरिहार्य है किन्तु आत्मा नहीं मरता क्योंकि यह भौतिक शरीर से सर्वथा भिन्न होता है। तत्पश्चात् श्रील शुकदेव गोस्वामी बतलाते हैं कि उन्होंने *श्रीमद्‌भागवत* में परमात्मा श्री हरि के यश का बारम्बार कीर्तन किया है उनके प्रसन्न होने पर ब्रह्मा जन्म लेते हैं और जिनके क्रोध से रुद्र का जन्म होता है। ''मैं मरूँगा'' यह भाव तो पाशविक प्रवृत्ति है क्योंकि आत्मा में जन्म-मरण आदि कोई परिवर्तन नहीं होता। जब शरीर का सूक्ष्म मानसिक आवरण दिव्य ज्ञान से विनष्ट हो जाता है, तो शरीर के भीतर आत्मा पुन: अपना आदि स्वरूप प्रदर्शित करता है। जिस तरह क्षणभंगुर दीपक का अस्तित्व तेल, पात्र, बत्ती तथा अग्नि के मेल से होता है उसी तरह भौतिक शरीर तीन गुणों, के संमेल से बनता है। भौतिक शरीर जन्म के समय प्रकट होता है और कुछ काल तक जीवित रहता है। अन्त में जब भौतिक गुणों का मेल विलीन हो जाता है और शरीर की मृत्यु होती है, तो दीपक के बुझने जैसी घटना घटती है। शुकदेव गोस्वामी राजा को सम्बोधित करते हुए कहते हैं, ''तुम अपने को भगवान् वासुदेव के ध्यान में स्थिर करो तो तक्षक के दंश का तुम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।''

श्रीशुक उवाच

अत्रानुवर्ण्यतेऽभीक्ष्णं विश्वात्मा भगवान्हरिः ।
यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रः क्रोधसमुद्भवः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अत्र—श्रीमद्भागवत में; अनुवर्ण्यते—विस्तार से वर्णन हुआ है; अभीक्ष्णम्—बारम्बार; विश्व-आत्मा—समस्त ब्रह्माण्ड की आत्मा; भगवान्—भगवान्; हरिः—हरि; यस्य—जिसके; प्रसाद—प्रसन्न होने से; जः—उत्पन्न; ब्रह्मा—ब्रह्मा; रुद्रः—शिव; क्रोध—क्रोध से; समुद्भवः—उत्पन्न।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस *श्रीमद्भागवत* की विविध कथाओं में भगवान् हरि का विस्तार से वर्णन हुआ है जिनके प्रसन्न होने पर ब्रह्माजी उत्पन्न होते हैं और जिनके क्रोध से रुद्र का जन्म होता है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक की टीका करते हुए *श्रीमद्भागवत* का विस्तृत सारांश प्रस्तुत किया है। इन महान् आचार्य के कथन का सार यह है कि शुकदेव गोस्वामी ने भगवान् कृष्ण के प्रति जिस स्वेच्छ प्रेमपूर्ण समर्पण का वर्णन किया है, वह जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है। *श्रीमद्भागवत* का एकमात्र उद्देश्य बद्धजीव को भगवान् के प्रति ऐसे ही समर्पण के लिए और भगवद्धाम जाने के लिए आश्वस्त करना है।

त्वं तु राजन्मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि ।
न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि ॥ २ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; तु—लेकिन; राजन्—हे राजा; मरिष्ये—मैं मरने वाला हूँ; इति—यह सोच कर; पशु-बुद्धिम्—पाशविक मनोवृत्ति का; इमाम्—इस; जहि—त्याग दो; न—नहीं; जातः—उत्पन्न; प्राक्—इससे पूर्व; अभूतः—अविद्यमान; अद्य—आज; देह-वत्—शरीर की तरह; त्वम्—तुम; न नङ्क्ष्यसि—नष्ट नहीं होगे।

हे राजा, तुम यह सोचने की पाशविक प्रवृत्ति कि, "मैं मरने जा रहा हूँ" त्याग दो। तुम शरीर से सर्वथा भिन्न हो क्योंकि तुमने जन्म नहीं लिया है। भूतकाल में ऐसा समय नहीं था जब तुम नहीं थे और तुम विनष्ट होने वाले भी नहीं हो।

तात्पर्य : प्रथम स्कन्ध के अन्त (१.१९.१५) में राजा परीक्षित ने कहा था—

तं मोपजातं प्रतियन्तु विप्रा गंगा च देवी धृत-चित्तमीशे।
द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः ॥

"हे ब्राह्मणो! तुम मुझे पूर्ण शरणागत आत्मा के रूप में स्वीकार करो और भगवान् की प्रतिनिधि स्वरूपा माता गंगा मुझे उसी रूप में स्वीकार करें क्योंकि मैंने पहले ही भगवान् के चरणकमलों को अपने हृदय में रख लिया है। तक्षक या ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न कोई भी जादू-भरी वस्तु आकर तुरन्त मुझे काट ले। मेरी यही इच्छा है कि आप लोग भगवान् विष्णु के कार्यकलापों का गायन करते रहें।"

श्रीमद्भागवत सुनने के पूर्व भी राजा परीक्षित महाभागवत थे। राजा के मन में मृत्यु का कोई पाशविक भय नहीं था किन्तु शुकदेव गोस्वामी हमारे लिए अपने शिष्य से उसी तरह प्रखर बातें कर रहे हैं जिस तरह भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* में अर्जुन से कड़े शब्दों में बोलते हैं।

न भविष्यसि भूत्वा त्वं पुत्रपौत्रादिरूपवान् ।

बीजाङ्कुरवद्देहादेर्व्यतिरिक्तो यथानलः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

न भविष्यसि—तुम नहीं होगे; भूत्वा—होकर; त्वम्—तुम; पुत्र—पुत्रों; पौत्र—नातियों; आदि—इत्यादि; रूप-वान्—स्वरूप वाले; बीज—बीज; अङ्कुर—तथा अंकुर; वत्—सदृश; देह-आदेः—भौतिक शरीरतथा इसके साज-सामान से; व्यतिरिक्तः—पृथक्; यथा—जिस तरह; अनलः—अग्नि (काष्ठ से)।

तुम अपने पुत्रों तथा पौत्रों के रूप में फिर से जन्म नहीं लोगे जिस तरह बीज से अंकुर जन्म लेता है और पुनः नया बीज बनाता है। प्रत्युत तुम भौतिक शरीर तथा उसके साज-सामान से सर्वथा भिन्न हो, जिस तरह अग्नि अपने ईंधन से भिन्न होती है।

तात्पर्य : कभी कभी लोग यह स्वप्न देखते हैं कि वे अपने पुत्र के पुत्र रूप में पुनः जन्मे हैं जिससे वे उसी भौतिक परिवार में निरन्तर रहते रहें। जैसाकि श्रुति-मंत्र में कहा गया है—*पिता पुत्रेण पितृमान् योनियोनौ*—पिता अपने पुत्र में पिता को देखता है क्योंकि वह अपने पौत्र के रूप में जन्म ले सकता है। *श्रीमद्भागवत* का उद्देश्य आध्यात्मिक मोक्ष है, शारीरिक पहचान के मोह की मूर्खता को दीर्घकाल तक बनाये रखना नहीं है। इसे इस श्लोक में स्पष्ट रूप से कहा गया है।

स्वप्ने यथा शिरश्छेदं पञ्चत्वाद्यात्मनः स्वयम् ।
यस्मात्पश्यति देहस्य तत आत्मा ह्यजोऽमरः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

स्वप्ने—स्वप्न में; यथा—जिस तरह; शिरः—किसी का सिर का; छेदम्—काटा जाना; पञ्चत्व-आदि—पाँच तत्त्वों से बने होने की स्थिति तथा अन्य स्थितियाँ; आत्मनः—अपनी ही; स्वयम्—स्वयं; यस्मात्—क्योंकि; पश्यति—देखता है; देहस्य—शरीर का; ततः—इसलिए; आत्मा—आत्मा; हि—निश्चय ही; अजः—अजन्मा; अमरः—अमर।

स्वप्न में मनुष्य अपने ही सिर को काटा जाते देख सकता है और वह यह समझ सकता है कि उसका आत्मा स्वप्न के अनुभव से अलग खड़ा है। इसी तरह जगते समय मनुष्य यह देख सकता है कि उसका शरीर पाँच भौतिक तत्त्वों का फल है। इसलिए यह माना जाता है कि वास्तविक आत्मा उस शरीर से पृथक् है, जिसे वह देखता है और वह अजन्मा तथा अमर है।

घटे भिन्ने घटाकाश आकाशः स्याद्यथा पुरा ।
एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म सम्पद्यते पुनः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

घटे—घड़े में; भिन्ने—टूट जाने पर; घाट-आकाशः—घड़े के भीतर का आकाश; आकाशः—आकाश; स्यात्—बना रहता है; यथा—जिस तरह; पुरा—पूर्ववत्; एवम्—उसी तरह से; देहे—शरीर में; मृते—मर जाने पर, मुक्तअवस्था में; जीवः—जीवात्मा; ब्रह्म—अपनी आध्यात्मिक स्थिति; सम्पद्यते—प्राप्त कर लेता है; पुनः—फिर से।

जब घड़ा टूट जाता है, तो घड़े के भीतर का आकाश पहले की ही तरह आकाश बना रहता है। उसी तरह जब स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर मरते हैं, तो उनके भीतर का जीव अपना आध्यात्मिक स्वरूप धारण कर लेता है।

मनः सृजति वै देहान्गुणान्कर्माणि चात्मनः ।
तन्मनः सृजते माया ततो जीवस्य संसृतिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मनः—मन; सृजति—उत्पन्न करता है; वै—निस्सन्देह; देहान्—भौतिक शरीरों को; गुणान्—गुणों को; कर्माणि—कर्मों को; च—तथा; आत्मनः—आत्मा का; तत्—वह; मनः—मन; सृजते—उत्पन्न करता है; माया—परमेश्वर की मायाशक्ति; ततः—इस प्रकार; जीवस्य—जीव का; संसृतिः—अस्तित्व।

आत्मा के भौतिक शरीर, गुण तथा कर्म भौतिक मन द्वारा ही उत्पन्न किये जाते हैं। मन स्वयं भगवान् की मायाशक्ति से उत्पन्न होता है और इस तरह आत्मा भौतिक अस्तित्व धारण करता है।

स्नेहाधिष्ठानवर्त्यग्निसंयोगो यावदीयते ।
तावद्दीपस्य दीपत्वमेवं देहकृतो भवः ।
रजःसत्त्वतमोवृत्त्या जायतेऽथ विनश्यति ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

स्नेह—तेल का; अधिष्ठान—पात्र; वर्ति—बत्ती; अग्नि—तथा अग्नि; संयोगः—संमेल; यावत्—जितना; ईयते—देखा जाता है; तावत्—उस हद तक; दीपस्य—दीपक का; दीपत्वम्—दीपक के रूप में कार्य करने की स्थिति; एवम्—उसी तरह; देह-कृतः—भौतिक शरीर के कारण; भवः—संसार; रजः-सत्त्व-तमः—रजो, सतो तथा तमोगुणों की; वृत्त्या—क्रिया से; जायते—उत्पन्न होता है; अथ—तथा; विनश्यति—नष्ट होता है।

दीपक अपने ईंधन, पात्र, बत्ती तथा अग्नि के संमेल से ही कार्य करता है। इसी तरह भौतिक जीवन, शरीर के साथ आत्मा की पहचान पर आधारित होने से, उत्पन्न होता है और रजो, तमो तथा सतोगुणों के कार्यों से विनष्ट होता है, जो शरीर के अवयवी तत्त्व हैं।

न तत्रात्मा स्वयंज्योतिर्यो व्यक्ताव्यक्तयोः परः ।
आकाश इव चाधारो ध्रुवोऽनन्तोपमस्ततः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तत्र—वहाँ; आत्मा—आत्मा; स्वयम्-ज्योतिः—आत्म-प्रकाशित; यः—जो; व्यक्त-अव्यक्तयोः—व्यक्त तथा अव्यक्त (स्थूल तथा सूक्ष्म देहों) से; परः—भिन्न; आकाशः—आकाश; इव—सदृश; च—तथा; आधारः—आधार; ध्रुवः—निश्चित; अनन्त—अन्तहीन; उपमः—अथवा उपमा; ततः—इस प्रकार।

शरीर के भीतर का आत्मा स्वयं-प्रकाशित है और दृश्य स्थूल तथा अदृश्य सूक्ष्म शरीरों से पृथक् है। यह परिवर्तनशील शरीरों का स्थिर आधार बना रहता है, जिस तरह आकाश भौतिक रूपान्तर की अपरिवर्तनशील पृष्ठभूमि है। इसलिए आत्मा अनन्त और भौतिक तुलना के परे है।

एवमात्मानमात्मस्थमात्मनैवामृश प्रभो ।

बुद्ध्यानुमानगर्भिण्या वासुदेवानुचिन्तया ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; आत्मानम्—तुम्हारा शुद्ध आत्मा; आत्म-स्थम्—शारीरिक आवरण के भीतर स्थित; आत्मना—तुम्हारे मन से; एव—निस्सन्देह; आमृश—ठीक से विचार करो; प्रभो—हे आत्मा के ईश्वर (राजा परीक्षित); बुद्ध्या—बुद्धि से; अनुमान-गर्भिण्या—तर्क द्वारा सोचा गया; वासुदेव-अनुचिन्तया—वासुदेव के ध्यान से।

हे राजा, भगवान् वासुदेव का निरन्तर ध्यान करते हुए तथा शुद्ध एवं तार्किक बुद्धि का प्रयोग करते हुए अपनी आत्मा पर सावधानी से विचार करो कि यह भौतिक शरीर के भीतर किस तरह स्थित है।

चोदितो विप्रवाक्येन न त्वां धक्ष्यति तक्षकः ।
मृत्यवो नोपधक्ष्यन्ति मृत्यूनां मृत्युमीश्वरम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

चोदितः—भेजा हुआ; विप्र-वाक्येन—ब्राह्मण के शब्दों से; न—नहीं; त्वाम्—तुम; धक्ष्यति—जला दोगे; तक्षकः—तक्षक सर्प; मृत्यवः—साक्षात् मृत्यु के दूत; न उपधक्ष्यन्ति—नहीं जला सकता; मृत्यूनाम्—मृत्यु के इन कारणों का; मृत्युम्—मृत्यु को; ईश्वरम्—आत्मा के स्वामी को।

ब्राह्मण के शाप से भेजा हुआ तक्षक सर्प तुम्हारी असली आत्मा को जला नहीं सकेगा। मृत्यु के दूत तुम जैसे आत्मा के स्वामी को कभी नहीं जला पायेंगे क्योंकि तुमने भगवद्धाम जाने के मार्ग के सारे खतरों को पहले से ही जीत रखा है।

तात्पर्य : असली मृत्यु तो मनुष्य की नित्य कृष्ण-चेतना का आवरण है। आत्मा के लिए, भौतिक मोह मृत्यु के समान है किन्तु परीक्षित महाराज ने उन सारे खतरों को यथा काम, ईर्ष्या तथा भय को पहले ही नष्ट कर दिया था, जो आध्यात्मिक जीवन को डराते-धमकाते हैं। यहाँ पर शुकदेव गोस्वामी सन्त स्वभाव वाले राजा को, जोकि मृत्यु की पहुँच से दूर था और शुद्ध कृष्ण-भक्त के रूप में भगवद्धाम जाने के लिए तत्पर था, बधाई देते हैं।

अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम् ।
एवं समीक्ष्य चात्मानमात्मन्याधाय निष्कले ॥ ११ ॥
दशन्तं तक्षकं पादे लेलिहानं विषाननैः ।
न द्रक्ष्यसि शरीरं च विश्वं च पृथगात्मनः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; ब्रह्म—परब्रह्म; परम्—परम; धाम—धाम; ब्रह्म—परब्रह्म; अहम्—मैं; परमम्—परम; पदम्—गन्तव्य; एवम्—इस प्रकार; समीक्ष्य—विचार करके; च—तथा; आत्मानम्—अपने को; आत्मनि—परमात्मा में; आधाय—रख कर; निष्कले—भौतिक गन्तव्य से मुक्त; दशन्तम्—काटते हुए; तक्षकम्—तक्षक को; पादे—अपने पाँव में; लेलिहानम्—होठ चाटता सर्प; विष-आननैः—विष से भरे मुँह से; न द्रक्ष्यसि—नहीं देखोगे; शरीरम्—अपने शरीर को; च—तथा; विश्वम्—समूचे संसार को; च—तथा; पृथक्—भिन्न; आत्मनः—अपने से।

तुम मन में यह विचार लाओ कि, ‘‘मैं परब्रह्म, परम धाम से अभिन्न हूँ और परम गन्तव्य

परब्रह्म मुझसे अभिन्न हैं।'' इस तरह अपने को परमात्मा को सौंपते हुए जो सभी भौतिक उपाधियों से मुक्त हैं, तुम तक्षक सर्प को जब वह अपने विष से पूर्ण दाँतों से तुम्हारे पास पहुँच कर तुम्हारे पैर में काटेगा, तो देखोगे तक नहीं। न ही तुम अपने मरते हुए शरीर को या अपने चारों ओर के जगत को देखोगे क्योंकि तुम अपने को उनसे पृथक् अनुभव कर चुके होगे।

एतत्ते कथितं तात यदात्मा पृष्टवान्नृप ।
हरेर्विश्वात्मनश्चेष्टां किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ १३॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; ते—तुमसे; कथितम्—कहा गया; तात—हे परीक्षित; यत्—जो; आत्मा—तुमने; पृष्टवान्—पूछा; नृप—हे राजा; हरेः—भगवान् का; विश्व-आत्मनः—ब्रह्माण्ड की आत्मा की; चेष्टाम्—लीलाएँ; किम्—क्या; भूयः—और आगे; श्रोतुम्—सुनना; इच्छसि—चाहते हो।

हे प्रिय राजा परीक्षित, मैंने तुमसे ब्रह्माण्ड के परमात्मा भगवान् हरि की लीलाएँ—वे सारी कथाएँ—कह दीं जिन्हें प्रारम्भ में तुमने पूछा था। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो?

तात्पर्य : इस श्लोक की टीका करते हुए श्रील जीव गोस्वामी ने *भागवत* से अनेक श्लोकों को उद्धृत करते हुए राजा परीक्षित के उच्च भक्तिमय पद को दिखलाया है, जो अपना मन कृष्ण में स्थिर करने और भगवद्धाम वापस जाने पर तुले हुए थे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कन्ध के अन्तर्गत ''महाराज परीक्षित को शुकदेव गोस्वामी का अन्तिम उपदेश'' नामक पाँचवे अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छह

महाराज परीक्षित का निधन

इस अध्याय में महाराज परीक्षित के मुक्ति-लाभ, महाराज जनमेजय द्वारा सारे सर्पों को मारने के लिए यज्ञ सम्पन्न का होना, वेदों की उत्पत्ति तथा श्रील वेदव्यास द्वारा वैदिक वाङ्मय के विभाजन का वर्णन हुआ है।

श्री शुकदेव के वचन सुनने के बाद महाराज परीक्षित ने कहा कि पुराणों के सार तथा भगवान् उत्तमश्लोक की अमृतमयी लीलाओं से ओतप्रोत *भागवत* को सुन कर, उन्होंने अभय का दिव्य पद तथा ब्रह्म से एकात्म प्राप्त कर लिया है। उनका अज्ञान दूर हो चुका है और श्री शुकदेव की कृपा से उन्होंने ईश्वर के परम शुभ साकार रूप, भगवान् हरि का दर्शन प्राप्त कर लिया है। फलस्वरूप उनका सारा मृत्यु-भय दूर हो चुका है। तत्पश्चात् श्री परीक्षित महाराज ने शुकदेव गोस्वामी से प्रार्थना की कि वे उन्हें अपना हृदय भगवान् हरि के चरणकमलों में स्थिर करने की और अपना प्राण छोड़ने की अनुमति दें। यह अनुमति देकर श्री शुकदेव उठ कर चले गये। तत्पश्चात् समस्त

संशयों से मुक्त महाराज परीक्षित योगिक आसन में बैठ गये और परमात्मा के ध्यान में लीन हो गये। तब ब्राह्मण-वेश में आकर तक्षक ने उन्हें काट लिया और सन्त स्वभाव वाले राजा का शरीर तुरन्त जल कर क्षार हो गया।

जब परीक्षित-पुत्र जन्मेजय को अपने पिता की मृत्यु का समाचार मिला तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने सारे सर्पों को विनष्ट करने के उद्देश्य से यज्ञ करना प्रारम्भ कर दिया। यद्यपि तक्षक को इन्द्र का संरक्षण प्राप्त था, तो भी वह मंत्रों द्वारा आकृष्ट हो गया और अग्नि में गिरने ही वाला था। यह देख कर अंगिरा ऋषि के पुत्र बृहस्पति वहाँ आये और महाराज जनमेजय को सलाह दी कि तक्षक को इसलिए नहीं मारा जा सकता क्योंकि उसने देवताओं का अमृतपान किया है। इसके अतिरिक्त, अंगिरा ने कहा कि सभी जीवों को अपने किए कर्मों का फल भोगना ही है। इसलिए राजा को इस यज्ञ का त्याग कर देना चाहिए। जनमेजय को बृहस्पति के शब्दों पर विश्वास हो गया अत: उसने अपना यज्ञ रोक दिया।

तत्पश्चात् श्री रौनक द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर, सूत गोस्वामी ने वेदों का विभाजन कह सुनाया। सर्वश्रेष्ठ देवता ब्रह्मा के मुख से सूक्ष्म दिव्य ध्वनि निकली और इस दिव्य ध्वनि से ॐ अक्षर निकला जो अत्यन्त शक्तिवान तथा आत्म-प्रकाशित था। इस ॐकार के द्वारा ब्रह्मा ने आदि वेदों की सृष्टि की और मरीचि तथा अन्य पुत्रों को, जो ब्राह्मण जाति के साधु स्वभाव वाले अग्रणी थे, उनकी शिक्षा दी। यह वैदिक ज्ञान राशि गुरु-परम्परा द्वारा द्वापर युग के अन्त तक हस्तान्तरित होती आई जब व्यासदेव ने इसे चार भागों में विभक्त करके चार संहिताओं के रूप में मुनियों के विविध सम्प्रदायों को उनका उपदेश दिया। जब याज्ञवल्क्य मुनि के गुरु ने उन्हें बहिष्कृत किया, तो उन्हें उनसे प्राप्त सारे वैदिक मंत्रों का त्याग करना पड़ा। उन्होंने यजुर्वेद के नवीन मंत्रों की प्राप्ति के लिए सूर्यदेव के रूप में भगवान् की पूजा की। तत्पश्चात् श्री सूर्य देव ने उनकी प्रार्थना पूरी की।

सूत उवाच

एतन्निशम्य मुनिनाभिहितं परीक्षिद्
व्यासात्मजेन निखिलात्मदृशा समेन ।
तत्पादमूलमुपसृत्य नतेन मूर्ध्ना
बद्धाञ्जलिस्तमिदमाह स विष्णुरातः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; एतत्—यह; निशम्य—सुन कर; मुनिना—मुनि (शुकदेव) द्वारा; अभिहितम्—कहा गया; परीक्षित्—महाराज परीक्षित; व्यास-आत्म-जेन—व्यासदेव के पुत्र द्वारा; निखिल—सारे जीवों के; आत्म—परमेश्वर; दृशा—द्रष्टा; समेन—पूर्णतया सन्तुलित; तत्—उस (शुकदेव) का; पाद-मूलम्—चरणकमलों तक; उपसृत्य—पहुँच कर; नतेन—झुके हुए; मूर्ध्ना—सिर से; बद्ध-अञ्जलिः—हाथ जोड़े; तम्—उससे; इदम्—यह; आह—कहा; सः—वह; विष्णु-रातः—गर्भ में ही कृष्ण द्वारा रक्षा किया गया परीक्षित।

सूत गोस्वामी ने कहा : व्यासदेव के पुत्र, स्वरूपसिद्ध तथा समदृष्टि वाले शुकदेव गोस्वामी द्वारा जो कुछ कहा गया था उसे सुन कर महाराज परीक्षित नम्रतापूर्वक उनके

चरणकमलों के पास गये। मुनि के चरणों पर अपना शीश झुकाते हुए, सम्मान में हाथ जोड़े, जीवन-भर भगवान् विष्णु के संरक्षण में रह चुके राजा ने इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार जब शुकदेव राजा परीक्षित को उपदेश दे रहे थे तो वहाँ पर उपस्थित मुनियों में से कुछ निर्विशेषवादी दार्शनिक थे। *समेन* शब्द सूचित करता है कि पिछले अध्याय में शुकदेव गोस्वामी ने आत्म-साक्षात्कार के दर्शन के विषय में जिस प्रकार से कहा था, वह ऐसे बुद्धिजीवी योगियों को रुचिकर लगा था।

राजोवाच
सिद्धोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि भवता करुणात्मना ।
श्रावितो यच्च मे साक्षादनादिनिधनो हरिः ॥ २॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा परीक्षित ने कहा; सिद्धः—पूरी तरह सफल; अस्मि—हूँ; अनुगृहीतः—महती कृपा प्रदर्शित; अस्मि—मैं हूँ; भवता—आपके द्वारा; करुणा-आत्मना—दयालु; श्रावितः—सुनाया गया; यत्—क्योंकि; च—तथा; मे—मुझको; साक्षात्—प्रत्यक्ष; अनादि—आदि से रहित; निधनः—अथवा अन्त; हरिः—भगवान्।

महाराज परीक्षित ने कहा : अब मुझे अपने जीवन का लक्ष्य प्राप्त हो गया है क्योंकि आप सरीखे महान् तथा दयालु आत्मा ने मुझ पर इतनी कृपा प्रदर्शित की है। आपने स्वयं मुझसे आदि अथवा अन्त से रहित भगवान् हरि की यह कथा कही है।

नात्यद्भुतमहं मन्ये महतामच्युतात्मनाम् ।
अज्ञेषु तापतप्तेषु भूतेषु यदनुग्रहः ॥ ३॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अति-अद्भुतम्—अत्यन्त आश्चर्यजनक; अहम्—मैं; मन्ये—सोचता हूँ; महताम्—महापुरुषों के लिए; अच्युत-आत्मनाम्—जिनके मन सदैव भगवान् कृष्ण में लीन रहते हैं; अज्ञेषु—अज्ञानी पर; ताप—भौतिक जीवन के कष्टों से; तप्तेषु—सताये हुए; भूतेषु—बद्धात्माओं पर; यत्—जो; अनुग्रहः—दया।

मैं इसे तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं मानता कि आप जैसे महात्मा, जिनके मन सदैव अच्युत भगवान् में लीन रहते हैं, हम जैसे मूर्ख बद्धजीवों पर दया दिखाते हैं, जो भौतिक जीवन की समस्याओं से सताये होते हैं।

पुराणसंहितामेतामश्रौष्म भवतो वयम् ।
यस्यां खलूत्तमःश्लोको भगवाननवर्ण्यते ॥ ४॥

शब्दार्थ

पुराण-संहिताम्—सारे पुराणों का आवश्यक सारांश; एताम्—इस; अश्रौष्म—सुना है; भवतः—आपसे; वयम्—हमने; यस्याम्—जिसमें; खलु—निस्सन्देह; उत्तमः-श्लोकः—उत्तम श्लोकों द्वारा वर्णित; भगवान्—भगवान्; अनुवर्ण्यते—उचित रीति से वर्णन किया जाता है।

मैंने आपसे यह *श्रीमद्भागवत* का श्रवण किया है, जो सारे पुराणों का पूर्ण सार है और

जो भगवान् उत्तमश्लोक का ठीक से वर्णन करता है।

भगवंस्तक्षकादिभ्यो मृत्युभ्यो न बिभेम्यहम् ।
प्रविष्टो ब्रह्म निर्वाणमभयं दर्शितं त्वया ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

भगवन्—हे प्रभु; तक्षक—तक्षक सर्प से; आदिभ्यः—अथवा अन्य जीवों से; मृत्युभ्यः—बारम्बार मृत्यु से; न बिभेमि—नहीं डरता हूँ; अहम्—मैं; प्रविष्टः—प्रवेश करके; ब्रह्म—परब्रह्म; निर्वाणम्—हर भौतिक वस्तु से परे; अभयम्—निर्भीकता; दर्शितम्—दिखाई गई; त्वया—आपके द्वारा।

हे प्रभु, अब मुझे तक्षक या अन्य जीव का या बारम्बार मृत्यु का भी भय नहीं रहा क्योंकि मैंने अपने को उस विशुद्ध आध्यात्मिक परब्रह्म में लीन कर दिया है, जिसका उद्घाटन आपने किया है और जो सारे भय को नष्ट कर देता है।

अनुजानीहि मां ब्रह्मन्वाचं यच्छाम्यधोक्षजे ।
मुक्तकामाशयं चेतः प्रवेश्य विसृजाम्यसून् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अनुजानीहि—अनुमति दें; माम्—मुझको; ब्रह्मन्—हे महान् ब्राह्मण; वाचम्—मेरी वाणी (तथा अन्य इन्द्रिय-कार्य); यच्छामि—मैं रखूँगा; अधोक्षजे—भगवान् में; मुक्त—त्याग करके; काम-आशयम्—सारी कामुक इच्छाएँ; चेतः—अपना मन; प्रवेश्य—लीन करके; विसृजामि—मैं त्याग दूँगा; असून्—अपना प्राण।

हे ब्राह्मण, मुझे अनुमति दें कि मैं अपनी वाणी तथा अपनी अन्य इन्द्रियों के कार्यों को बन्द करके भगवान् अधोक्षज को सौंप सकूँ। कृपया मुझे अनुमति दें कि मैं अपने मन को विषय-वासनाओं से शुद्ध करके उन्हीं में लीन कर सकूँ और इस तरह अपना जीवन त्याग सकूँ।

तात्पर्य : शुकदेव गोस्वामी ने राजा परीक्षित से पूछा, "अब तुम और क्या सुनना चाहते हो?" इस पर राजा ने उत्तर दिया कि वे श्रीमद्भागवत के सन्देश को पूरी तरह समझ चुके हैं और बिना किसी हिचक के भगवद्धाम जाने के लिए तैयार हैं।

अज्ञानं च निरस्तं मे ज्ञानविज्ञाननिष्ठया ।
भवता दर्शितं क्षेमं परं भगवतः पदम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

अज्ञानम्—अज्ञान; च—भी; निरस्तम्—जड़मूल नष्ट हुआ; मे—मेरा; ज्ञान—परमेश्वर के ज्ञान; विज्ञान—तथा उनके ऐश्वर्य तथा माधुर्य की प्रत्यक्ष अनुभूति; निष्ठया—स्थिर होकर; भवता—आपके द्वारा; दर्शितम्—दिखाया गया; क्षेमम्—सर्व-कल्याण; परम्—परम; भगवतः—भगवान् का; पदम्—पद।

आपने भगवान् के परम मंगलमय साकार रूप का साक्षात्कार कराया है। अब मैं ज्ञान तथा आत्म-साक्षात्कार में स्थिर हूँ और मेरा अज्ञान मिट चुका है।

सूत उवाच

इत्युक्तस्तमनुज्ञाप्य भगवान्बादरायणिः ।
जगाम भिक्षुभिः साकं नरदेवेन पूजितः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उक्तः—कहा गया; तम्—उससे; अनुज्ञाप्य—अनुमति देकर; भगवान्—शक्तिमान सन्त; बादरायणिः—बादरायण वेदव्यास के पुत्र शुकदेव; जगाम—चले गये; भिक्षुभिः—विरक्त मुनियों के; साकम्—साथ; नर-देवेन—राजा द्वारा; पूजितः—पूजा किया गया।

सूत गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार अनुनय-विनय किये जाने पर श्रील व्यासदेव के पुत्र ने राजा परीक्षित को अनुमति दे दी। तत्पश्चात् राजा तथा वहाँ पर उपस्थित मुनियों द्वारा पूजित होकर शुकदेव उस स्थान से चले गये।

परीक्षिदपि राजर्षिरात्मन्यात्मानमात्मना ।
समाधाय परं दध्यावस्पन्दासुर्यथा तरुः ॥ ९ ॥

प्राक्कूले बर्हिष्यासीनो गङ्गाकूल उदङ्मुखः ।
ब्रह्मभूतो महायोगी निःसङ्गश्छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

परीक्षित्—महाराज परीक्षित; अपि—आगे भी; राज-ऋषिः—सन्त स्वभाव वाला महान् राजा; आत्मनि—अपनी आध्यात्मिक पहचान के ही भीतर; आत्मानम्—अपने मन को; आत्मना—अपनी बुद्धि से; समाधाय—रख कर; परम्—परम में; दध्यौ—ध्यान किया; अस्पन्द—गतिहीन; असुः—अपना प्राण; यथा—जिस तरह; तरुः—वृक्ष; प्राक्-कूले—पूर्व दिशा की ओर सिरे किये; बर्हिषि—दर्भ घास पर; आसीनः—बैठे हुए; गङ्गा-कूले—गंगा के तट पर; उदक्-मुखः—उत्तर की ओर मुँह करके; ब्रह्म-भूतः—अपनी असली पहचान का पूर्ण साक्षात्कार करते हुए; महा-योगी—उच्च योगी; निःसङ्गः—समस्त भौतिक आसक्ति से मुक्त; छिन्न—तोड़ कर; संशयः—सारे सन्देह।

तब महाराज परीक्षित पूर्वाभिमुख दर्भ के बने आसन पर गंगा नदी के तट पर बैठ गये और स्वयं उत्तर की ओर मुख कर लिया। योगसिद्धि प्राप्त करने के बाद उन्हें पूर्ण आत्म-साक्षात्कार की अनुभूति हुई और वे समस्त भौतिक आसक्ति तथा संशय से मुक्त थे। साधु राजा ने अपनी शुद्ध बुद्धि से अपने मन को अपने आत्मा के भीतर स्थिर कर लिया और परब्रह्म का ध्यान करने लगे। उनकी प्राणवायु ने गति करनी बन्द कर दी और वे वृक्ष की तरह जड़ हो गये।

तक्षकः प्रहितो विप्राः क्रुद्धेन द्विजसूनुना ।
हन्तुकामो नृपं गच्छन्ददर्श पथि कश्यपम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तक्षकः—तक्षक; प्रहितः—भेजा गया; विप्राः—हे विद्वान ब्राह्मणो; क्रुद्धेन—क्रुद्ध हुए; द्विज—शमीक मुनि के; सूनुना—पुत्र द्वारा; हन्तु-कामः—मारने की इच्छा से; नृपम्—राजा के पास; गच्छन्—जाते हुए; ददर्श—देखा; पथि—रास्ते में; कश्यपम्—कश्यप मुनि।

हे विद्वान ब्राह्मणो, ब्राह्मण के क्रुद्ध पुत्र द्वारा भेजा गया तक्षक सर्प राजा को मारने के

लिए उसकी ओर जा रहा था कि उसने मार्ग में कश्यप मुनि को देखा।

तं तर्पयित्वा द्रविणैर्निवर्त्य विषहारिणम् ।
द्विजरूपप्रतिच्छन्नः कामरूपोऽदशन्नृपम् ॥ १२॥

शब्दार्थ

तम्—उस (कश्यप) को; तर्पयित्वा—तुष्ट करके; द्रविणैः—बहुमूल्य भेंटों द्वारा; निवर्त्य—रोक कर; विष-हारिणम्—विष उतारने में दक्ष; द्विज-रूप—ब्राह्मण के रूप में; प्रतिच्छन्नः—वेश बदल कर; काम-रूपः—इच्छानुसार कोई भी रूप धारण करने में समर्थ तक्षक ने; अदशत्—काट लिया; नृपम्—राजा परीक्षित को।

तक्षक ने कश्यप मुनि को, जोकि विष उतारने में दक्ष थे, बहुमूल्य भेंटे देकर महाराज परीक्षित की रक्षा करने से रोक दिया। तब इच्छानुसार रूप धारण करने वाला तक्षक, जोकि ब्राह्मण के वेश में था, राजा के निकट गया और उसे काट लिया।

तात्पर्य : कश्यप मुनि तक्षक के विष को उतार सकते थे क्योंकि उन्होंने तक्षक के जहरीले दाँतों द्वारा काटे हुए तथा जल कर क्षार हुए ताड़ वृक्ष को जीवित करके अपनी इस शक्ति को प्रदर्शित कर दिया हुआ था। भाग्य के विधान के अनुसार कश्यप मुनि तक्षक द्वारा बहका दिये गये और वही हुआ जो होना था।

ब्रह्मभूतस्य राजर्षेर्देहोऽहिगरलाग्निना ।
बभूव भस्मसात्सद्यः पश्यतां सर्वदेहिनाम् ॥ १३॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-भूतस्य—पूर्णतया स्वरूपसिद्ध; राज-ऋषेः—राजर्षि के; देहः—शरीर; अहि—सर्प के; गरल—विष से; अग्निना—अग्नि से; बभूव—हो गया; भस्म-सात्—राख; सद्यः—तुरन्त; पश्यताम्—देखते-देखते; सर्व-देहिनाम्—सभी देहधारी जीवों के।

ब्रह्माण्ड-भर के जीवों के देखते-देखते उस स्वरूपसिद्ध राजर्षि का शरीर सर्प-विष की अग्नि से तुरन्त जल कर राख हो गया।

हाहाकारो महानासीद्भुवि खे दिक्षु सर्वतः ।
विस्मिता ह्यभवन्सर्वे देवासुरनरादयः ॥ १४॥

शब्दार्थ

हाहा-कारः—शोक का क्रन्दन; महान्—अत्यधिक; आसीत्—हुआ; भुवि—पृथ्वी पर; खे—आकाश में; दिक्षु—दिशाओं में; सर्वतः—चारों ओर; विस्मिताः—चकित; हि—निस्सन्देह; अभवन्—हो गये; सर्वे—सभी; देव—देवता; असुर—असुरगण; नर—मनुष्य; आदयः—तथा अन्य प्राणी।

पृथ्वी पर तथा स्वर्ग में सभी दिशाओं में भीषण हाहाकार होने लगा और सारे देवता, असुर, मनुष्य तथा अन्य प्राणी चकित हो उठे।

देवदुन्दुभयो नेदुर्गन्धर्वाप्सरसो जगुः ।

ववृषुः पुष्पवर्षाणि विबुधाः साधुवादिनः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

देव—देवताओं की; दुन्दुभयः—दुन्दुभियाँ; नेदुः—बजने लगीं; गन्धर्व-अप्सरसः—गन्धर्वों तथा अप्सराओं ने; जगुः—गाया; ववृषुः—वर्षा की; पुष्प-वर्षाणि—फूलों की वर्षा; विबुधाः—देवताओं ने; साधु-वादिनः—प्रशंसा करते हुए।

देव-लोक में दुन्दुभियाँ बजने लगीं और स्वर्ग के गन्धर्वों तथा अप्सराओं ने गीत गाये। देवताओं ने फूलों की वर्षा की तथा प्रशंसात्मक शब्द कहे।

तात्पर्य : यद्यपि सारे विद्वान पुरुष जिसमें देवता सम्मिलित थे, पहले शोक मना रहे थे, किन्तु उन्हें शीघ्र ही अनुभव हुआ कि एक महान् आत्मा भगवद्धाम वापस चला गया है। यह तो वास्तव में उल्लास का कारण था।

जन्मेजयः स्वपितरं श्रुत्वा तक्षकभक्षितम् ।
यथाजुहाव सन्क्रुद्धो नागान्सत्रे सह द्विजैः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

जन्मेजयः—परीक्षित पुत्र जनमेजय; स्व-पितरम्—अपने पिता को; श्रुत्वा—सुन कर; तक्षक—तक्षक द्वारा; भक्षितम्—डसा गया; यथा—उचित रीति से; आजुहाव—हवन करने लगा; सङ्क्रुद्धः—अत्यन्त क्रुद्ध; नागान्—सर्पों को; सत्रे—महान् यज्ञ में; सह—सहित; द्विजैः—ब्राह्मणों।

यह सुन कर कि उसके पिता को तक्षक ने बुरी तरह से डस कर मार दिया है, महाराज जनमेजय अत्यधिक क्रुद्ध हुए और ब्राह्मणों से एक विशाल यज्ञ कराया जिसमें उन्होंने संसार के सारे सर्पों को यज्ञ-अग्नि में भेंट कर दिया।

सर्पसत्रे समिद्धाग्नौ दह्यमानान्महोरगान् ।
दृष्ट्वेन्द्रं भयसंविग्नस्तक्षकः शरणं ययौ ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

सर्प-सत्रे—सर्प-यज्ञ में; समिद्ध—प्रज्ज्वलित; अग्नौ—आग में; दह्यमानान्—जलाये जाते हुए; महा-उरगान्—विशाल सर्पों को; दृष्ट्वा—देख कर; इन्द्रम्—इन्द्र के पास; भय संविग्नः—अत्यधिक विचलित; तक्षकः—तक्षक; शरणम्—शरण के लिए; ययौ—गया।

जब तक्षक ने अत्यन्त शक्तिशाली सर्पों को भी उस सर्प-यज्ञ की प्रज्ज्वलित अग्नि में जलाया जाते देखा, तो वह भय से आकुल हो उठा और शरण के लिए इन्द्र के पास पहुँचा।

अपश्यंस्तक्षकं तत्र राजा पारीक्षितो द्विजान् ।
उवाच तक्षकः कस्मान्न दह्येतोरगाधमः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अपश्यन्—न देखते हुए; तक्षकम्—तक्षक को; तत्र—वहाँ; राजा—राजा; पारीक्षितः—जनमेजय; द्विजान्—ब्राह्मणों से; उवाच—कहा; तक्षकः—तक्षक; कस्मात्—क्यों; न दह्येत—नहीं जला; उरग—समस्तसर्पों में; अधमः—नीच।

जब राजा जनमेजय ने तक्षक को यज्ञ-अग्नि में प्रवेश करते नहीं देखा तो उन्होंने

ब्राह्मणों से कहा, ''समस्त सर्पों में नीच वह तक्षक इस अग्नि में क्यों नहीं जल रहा?''

तं गोपायति राजेन्द्र शक्रः शरणमागतम् ।
तेन संस्तम्भितः सर्पस्तस्मान्नाग्नौ पतत्यसौ ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस (तक्षक) को; गोपायति—छिपाये है; राज-इन्द्र—हे राजाओं में श्रेष्ठ; शक्रः—इन्द्र; शरणम्—शरण के लिए; आगतम्—आया हुआ; तेन—उस इन्द्र द्वारा; संस्तम्भितः—रखा गया; सर्पः—सर्प; तस्मात्—इस तरह; न—नहीं; अग्नौ—अग्नि में; पतति—गिरता है; असौ—वह।

ब्राह्मणों ने उत्तर दिया : ''हे राजेन्द्र, तक्षक सर्प इसलिए अग्नि में नहीं गिरा क्योंकि इन्द्र द्वारा उसकी रक्षा हो रही है, जिसके पास वह शरण के लिए पहुँचा है। इन्द्र उसे अग्नि से बचाये हुए है।

पारीक्षित इति श्रुत्वा प्राहर्त्विज उदारधीः ।
सहेन्द्रस्तक्षको विप्रा नाग्नौ किमिति पात्यते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

पारीक्षितः—राजा जनमेजय ने; इति—ये वचन; श्रुत्वा—सुन कर; प्राह—उत्तर दिया; ऋत्विजः—पुरोहितों से; उदार—विशाल; धीः—बुद्धि वाले; सह—साथ; इन्द्रः—इन्द्र; तक्षकः—तक्षक; विप्राः—हे ब्राह्मणो; न—नहीं; अग्नौ—आग में; किम्—क्यों; इति—निस्सन्देह; पात्यते—गिराया जाता है।

इन शब्दों को सुन कर बुद्धिमान राजा जनमेजय ने पुरोहितों से कहा, ''तो हे ब्राह्मणो, तुम लोग तक्षक को, उसके रक्षक इन्द्र सहित, अग्नि में क्यों नहीं गिरा लेते?''

तच्छ्रुत्वाजुहुवुर्विप्राः सहेन्द्रं तक्षकं मखे ।
तक्षकाशु पतस्वेह सहेन्द्रेण मरुत्वता ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; श्रुत्वा—सुन कर; आजुहुवुः—हवन किया; विप्राः—ब्राह्मण पुरोहितों ने; सह—सहित; इन्द्रम्—इन्द्र; तक्षकम्—तक्षक को; मखे—यज्ञ-अग्नि में; तक्षक—हे तक्षक; आशु—तुरन्त; पतस्व—गिरो; इह—यहाँ; सह इन्द्रेण—इन्द्र समेत; मरुत्-वता—सारे देवताओं के साथ।

यह सुन कर पुरोहितों ने इन्द्र समेत तक्षक को यज्ञ-अग्नि में आहुति के रूप अर्पित करने के लिए यह मंत्र पढ़ा, ''हे तक्षक, तुम इस अग्नि में इन्द्र तथा उनके देवताओं के समूह सहित तुरन्त गिर पड़ो।''

इति ब्रह्मोदिताक्षेपैः स्थानादिन्द्रः प्रचालितः ।
बभूव सम्भ्रान्तमतिः सविमानः सतक्षकः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ब्रह्म—ब्राह्मणों द्वारा; उदित—कहे गये; आक्षेपैः—अपमानजनक शब्दों द्वारा; स्थानात्—अपने स्थान से; इन्द्रः—इन्द्र; प्रचालितः—फेंका गया; बभूव—हो गया; सम्भ्रान्त—विचलित; मतिः—अपने मन में; स-विमानः—अपने स्वर्गिक विमान सहित; स-तक्षकः—तक्षक समेत।

जब ब्राह्मणों के इन अपमानजनक शब्दों के कारण इन्द्र अपने विमान तथा तक्षक समेत सहसा अपने स्थान से च्युत होने लगा, तो वह अत्यन्त घबड़ा गया।

तं पतन्तं विमानेन सहतक्षकमम्बरात् ।
विलोक्याङ्गिरसः प्राह राजानं तं बृहस्पतिः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; पतन्तम्—गिरता हुआ; विमानेन—अपने विमान से; सह-तक्षकम्—तक्षक समेत; अम्बरात्—आकाश से; विलोक्य—देख कर; आङ्गिरसः—अंगिरा पुत्र; प्राह—बोला; राजानम्—राजा (जनमेजय) से; तम्—उस; बृहस्पतिः—बृहस्पति।

जब अंगिरा मुनि के पुत्र बृहस्पति ने इन्द्र को तक्षक समेत आकाश से उसके विमान से गिरते देखा तो वह राजा जनमेजय के पास पहुँचा और उनसे इस प्रकार कहा।

नैष त्वया मनुष्येन्द्र वधमर्हति सर्पराट् ।
अनेन पीतममृतमथ वा अजरामरः ॥ २४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एषः—यह तक्षक; त्वया—तुम्हारे द्वारा; मनुष्य-इन्द्र—हे मनुष्यों के शासक; वधम्—हत्या के; अर्हति—योग्य है; सर्प-राट्—सर्पों का राजा; अनेन—उसके द्वारा; पीतम्—पिये हुए; अमृतम्—देवताओं का अमृत; अथ—इसलिए; वै—अथवा; अजर—बुढ़ापे के प्रभावों से मुक्त; अमरः—एक तरह से अमर।

"हे पुरुषों में राजा, यह उचित नहीं है कि यह सर्पराज आपके हाथों से मौत को प्राप्त हो क्योंकि इसने अमर देवताओं का अमृत पी रखा है। फलस्वरूप, इसे बुढ़ापा तथा मृत्यु के सामान्य लक्षण नहीं सताते।"

जीवितं मरणं जन्तोर्गतिः स्वेनैव कर्मणा ।
राजंस्ततोऽन्यो नास्त्यस्य प्रदाता सुखदुःखयोः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

जीवितम्—जीवित; मरणम्—मर रहे; जन्तोः—जीव का; गतिः—अगले जीवन में गन्तव्य; स्वेन—अपने ही द्वारा; एव—एकमात्र; कर्मणा—कर्म द्वारा; राजन्—हे राजा; ततः—उसकी अपेक्षा; अन्यः—दूसरा; न अस्ति—नहीं है; अस्य—उसका; प्रदाता—देने वाला; सुख-दुःखयोः—सुख तथा दुख का।

"देहधारी आत्मा का जीवन तथा मरण और अगले जीवन में उसका गन्तव्य—ये सभी उसके ही अपने कर्म द्वारा उत्पन्न होते हैं। इसलिए हे राजन्, किसी के सुख तथा दुख को उत्पन्न करने के लिए वास्तव में कोई अन्य अभिकर्ता उत्तरदायी नहीं है।"

तात्पर्य : यद्यपि राजा परीक्षित तक्षक के काटने से मरे, किन्तु उन्हें भगवद्धाम लाने वाले स्वयं

भगवान् कृष्ण थे। बृहस्पति चाह रहे थे कि तरुण राजा जनमेजय इन बातों को आध्यात्मिक दृष्टि से देखे।

सर्पचौराग्निविद्युद्भ्यः क्षुत्तृद्व्याध्यादिभिर्नृप ।
पञ्चत्वमृच्छते जन्तुर्भुङ्क्त आरब्धकर्म तत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सर्प—सर्पों; चौर—चोरों; अग्नि—आग; विद्युद्भ्यः—तथा आसमान की बिजली से; क्षुत्—भूख; तृट्—प्यास; व्याधि—रोग; आदिभिः—आदि अन्य कारणों से; नृप—हे राजा; पञ्चत्वम्—मृत्यु; ऋच्छते—प्राप्त करता है; जन्तुः—बद्धजीव; भुङ्क्ते—भोग करता है; आरब्ध—विगत कर्म से पहले से उत्पन्न; कर्म—सकाम कर्मफल; तत्—वह।

''जब बद्धजीव सर्पों, चोरों, अग्नि, बिजली, भूख, रोग या अन्य किसी कारण से मारा जाता है, तो वह अपने ही विगत कर्म के फल का अनुभव करता है।''

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार, राजा परीक्षित अपने विगत कर्म का फल नहीं भोग रहे थे। महान् भक्त होने के कारण वे स्वयं भगवान् द्वारा भगवद्धाम ले जाये गये थे।

तस्मात्सत्रमिदं राजन्संस्थीयेताभिचारिकम् ।
सर्पा अनागसो दग्धा जनैर्दिष्टं हि भुज्यते ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; सत्रम्—यज्ञ को; इदम्—इस; राजन्—हे राजा; संस्थीयेत—रोका जाना चाहिए; आभिचारिकम्—हानि पहुँचाने की मंशा से किया गया; सर्पाः—सर्प; अनागसः—निर्दोष; दग्धाः—जलाया गया; जनैः—व्यक्तियों द्वारा; दिष्टम्—भाग्य; हि—निस्सन्देह; भुज्यते—भोगा जाता है।

''इसलिए हे राजा, इस यज्ञ को जो अन्यों को हानि पहुँचाने की मंशा से चालू किया गया है, बन्द करा दें। अनेक निर्दोष सर्प पहले ही जला कर मार दिये गये हैं। निस्सन्देह सारे व्यक्तियों को अपने विगत कर्मों के अदृष्ट परिणामों को भोगना चाहिए।''

तात्पर्य : यहाँ पर बृहस्पति स्वीकार करते हैं कि यद्यपि सर्प निर्दोष प्रतीत हो रहे थे किन्तु भगवान् की व्यवस्था के द्वारा वे अपने पूर्व दूषित कर्मों के लिए दण्डित भी हो रहे थे।

सूत उवाच
इत्युक्तः स तथेत्याह महर्षेर्मानयन्वचः ।
सर्पसत्रादुपरतः पूजयामास वाक्पतिम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उक्तः—कहा गया; सः—उसने (जनमेजय ने); तथा इति—तथास्तु; आह—कहा; महा-ऋषेः—महर्षियों के; मानयन्—सम्मान करते हुए; वचः—शब्द; सर्प-सत्रात्—सर्प-यज्ञ से; उपरतः—बन्द करते हुए; पूजयाम् आस—पूजा की; वाक्-पतिम्—वाणी के स्वामी बृहस्पति को।

सूत गोस्वामी ने कहा : इस तरह सलाह दिये जाने पर महाराज जनमेजय ने उत्तर दिया, ''तथास्तु''। महर्षि के वचनों का आदर करते हुए उन्होंने सर्प-यज्ञ बन्द करा दिया और फिर

अत्यन्त वाक्पटु मुनि बृहस्पति की पूजा की।

सैषा विष्णोर्महामायाबाध्ययालक्षणा यया ।
मुह्यन्त्यस्यैवात्मभूता भूतेषु गुणवृत्तिभिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सा एषा—यही; विष्णोः—भगवान् विष्णु की; महा-माया—मोहमयी भौतिक शक्ति; अबाध्यया—जो उसके द्वारा जिसे रोका नहीं जा सकता; अलक्षणा—न दिखने वाली; यया—जिसके द्वारा; मुह्यन्ति—विमोहित हो जाते हैं; अस्य—भगवान् का; एव—निस्सन्देह; आत्म-भूताः—अंश रूप आत्माएँ; भूतेषु—उनके भौतिक शरीरों में; गुण—प्रकृति के गुणों के; वृत्तिभिः—कार्यों द्वारा।

यह निस्सन्देह भगवान् विष्णु की मायाशक्ति है, जो अबाध्य है और जिसे देख पाना कठिन है। यद्यपि व्यष्टि आत्माएँ भगवान् की भिन्नांश हैं, किन्तु इस मायाशक्ति के प्रभाव से, वे विविध भौतिक शरीरों के साथ अपनी पहचान से विमोहित हैं।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु की मायाशक्ति इतनी प्रबल है कि राजा परीक्षित का लब्धप्रतिष्ठ पुत्र तक अस्थायी रूप से दिशाभ्राँत हो गया। किन्तु भगवान् कृष्ण का भक्त होने से उसका मोह तुरन्त ठीक हो गया। दूसरी ओर एक सामान्य भौतिकतावादी पुरुष भगवान् के विशेष संरक्षण के बिना भौतिक अज्ञान में डूबा रहता है। वस्तुतः भौतिकतावादी व्यक्तियों को भगवान् विष्णु के संरक्षण की आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए उनका पूर्ण विनाश अपरिहार्य है।

न यत्र दम्भीत्यभया विराजिता
मायात्मवादेऽसकृदात्मवादिभिः ।
न यद्विवादो विविधस्तदाश्रयो
मनश्च सङ्कल्पविकल्पवृत्ति यत् ॥ ३० ॥
न यत्र सृज्यं सृजतोभयोः परं
श्रेयश्च जीवस्त्रिभिरन्वितस्त्वहम् ।
तदेतदुत्सादितबाध्यबाधकं
निषिध्य चोर्मीन्विरमेत तन्मुनिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यत्र—जिसमें; दम्भी—दिखावटी व्यक्ति; इति—इस प्रकार सोचते हुए; अभया—निडर; विराजिता—दृश्य; माया—मायाशक्ति; आत्म-वादे—आध्यात्मिक पूछताछ किये जाने पर; असकृत्—निरन्तर; आत्म-वादिभिः—अध्यात्म विद्या का वर्णन करने वालों द्वारा; न—नहीं; यत्—जिसमें; विवादः—भौतिकतावादी तर्क-वितर्क; विविधः—नाना प्रकार का; तत्-आश्रयः—उस माया पर आश्रित; मनः—मन; च—तथा; सङ्कल्प—निर्णय; विकल्प—तथा संशय; वृत्ति—जिनके कार्य; यत्—जिसमें; न—नहीं; यत्र—जिसमें; सृज्यम्—भौतिक जगत की सृजित वस्तुएँ; सृजता—उनके कारणों समेत; उभयोः—दोनों के द्वारा; परम्—प्राप्त किया हुआ; श्रेयः—लाभ; च—तथा; जीवः—जीव; त्रिभिः—तीन (गुणों) से; अन्वितः—युक्त; तु—निस्सन्देह; अहम्—मिथ्या अहंकार (से बद्ध); तत् एतत्—वह निस्सन्देह; उत्सादित—के अतिरिक्त; बाध्य—रोका गया (बद्धजीव); बाधकम्—तथा रोकने वाला (गुण); निषिध्य—छोड़ते हुए; च—तथा; ऊर्मीन्—लहरों को (मिथ्या अहंकार आदि को); विरमेत—विशेष आनन्द लूटे; तत्—उसमें; मुनिः—मुनि।

किन्तु एक परम सत्य होता है, जिसमें माया यह सोचते हुए कि, ''मैं इस व्यक्ति को वश में कर सकती हूँ क्योंकि यह कपटी है'' निर्भय होकर अपना प्रभुत्व नहीं दिखा सकती। सर्वोच्च सत्य में मायामय तर्क-वितर्क के दर्शन नहीं होते। प्रत्युत उसमें अध्यात्म विद्या के असली जिज्ञासु निरन्तर प्रमाणित आध्यात्मिक शोध में लगे रहते हैं। उस परम सत्य में भौतिक मन की अभिव्यक्ति नहीं होती, जो कभी निर्णय तो कभी संशय के रूप में कार्य करता है। सृजित वस्तुएँ, उनके सूक्ष्म कारण और उनके उपयोग से प्राप्त आनन्द के लक्ष्य वहाँ विद्यमान नहीं रहते। यही नहीं, उस परम सत्य में मिथ्या अहंकार तथा तीन गुणों से आच्छादित कोई बद्ध आत्मा नहीं होता। वह सत्य प्रत्येक सीमित अथवा असीमित वस्तु को अपने से अलग करता है। इसलिए जो बुद्धिमान है उसे चाहिए कि भौतिक जीवन की तरंगों को रोक कर परम सत्य के भीतर आनन्द लूटे।

तात्पर्य : भगवान् की मायाशक्ति उन लोगों पर मुक्त होकर अपना प्रभाव दिखाती है, जो दिखावटी, कपटी तथा ईश्वर के नियमों का उल्लंघन करने वाले होते हैं। चूँकि भगवान् सारे भौतिक गुणों से मुक्त हैं, अतएव उनकी उपस्थिति में माया स्वयं भयभीत रहती है। जैसाकि ब्रह्मा ने कहा है—*विलज्जमानया यस्य स्थातुम् ईक्षपतेऽमुया*—माया भगवान् के समक्ष आने में शरमाती है।

परम सत्य में व्यर्थ का बौद्धिक वाद-विवाद नहीं रहता। *श्रीमद्भागवत* (६.४.३१) में कहा गया है—

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै
विवादसंवादभुवो भवन्ति।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं
तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने॥

''मैं उन सर्वव्यापी भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ जो असीम दिव्य गुणों से युक्त हैं। विभिन्न मतों का विस्तार करने वाले सभी दार्शनिकों के हृदयों के भीतर से वे उन्हें उनकी आत्माओं को भुलवा देते हैं, जो कभी तो एकमत होते हैं और कभी आपस में मतभेद रखते हैं। इस तरह वे इस भौतिक जगत में ऐसी स्थिति ला देते हैं जिसमें वे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते। मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ।''

परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्
यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः ।
विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा
हृदोपगुह्यावसितं समाहितैः ॥ ३२॥

शब्दार्थ

परम्—परम; पदम्—पद; वैष्णवम्—भगवान् विष्णु का; आमनन्ति—नामकरण करते हैं; तत्—वह; यत्—जो; न इति न इति—''नेति नेति''; इति—इस प्रकार विश्लेषण करते हुए; अतत्—हर वस्तु बाहरी; उत्सिसृक्षवः—त्यागने के इच्छुक जन; विसृज्य—त्याग कर; दौरात्म्यम्—क्षुद्र भौतिकता; अनन्य—अनन्य; सौहृदाः—उनका स्नेह; हृदा—अपने हृदयों के भीतर; उपगुह्य—उनका आलिंगन करके; अवसितम्—बन्दी बनाया हुआ; समाहितैः—समाधि में उनका ध्यान करने वालों के द्वारा।

जो लोग उन सारी वस्तुओं को बाह्य के निषेध द्वारा त्याग देना चाहते हैं, जो वास्तव में सत्य नहीं है, वे भगवान् विष्णु के परम पद की ओर नियमित रूप से आगे बढ़ते जाते हैं। वे क्षुद्र भौतिकता को त्याग कर अपने हृदयों के भीतर परब्रह्म को ही अपना प्रेम प्रदान करते हैं और स्थिर ध्यान में उस सर्वोच्च सत्य का आलिंगन करते हैं।

तात्पर्य : *यन्नेति नेतीत्युदुत्सिसृक्षव:* पद निषेधात्मक विवेक विधि का सूचक है, जिसके द्वारा परम सत्य की खोज में लगा हुआ व्यक्ति उन सारी बातों का बहिष्कार करता है, जो व्यर्थ, सतही तथा सापेक्ष हैं। संसार-भर में लोगों ने राजनीतिक, सामाजिक और यहाँ तक कि धार्मिक सत्यों की वैधता का धीरे-धीरे परित्याग कर दिया है किन्तु कृष्ण-भावनामृत के अभाव में वे मोहग्रस्त तथा उन्मादी बने रहते हैं। किन्तु यहाँ स्पष्ट कहा गया है—*परं पदं वैष्णवमात्मनन्ति तत्।* जो लोग पूर्ण ज्ञान के इच्छुक हैं, उन्हें न केवल व्यर्थ की वस्तुओं का बहिष्कार करना चाहिए अपितु उन्हें *परं पदं वैष्णवम्* के आध्यात्मिक सत्य को समझना चाहिए। पदम् भगवान् के पद तथा धाम का सूचक है, जिसको वे ही लोग समझ सकते हैं, जो क्षुद्र भौतिकता का परित्याग करते हैं और *अनन्य सौहृदम्*—भगवान् के लिए अनन्य प्रेम पद को ग्रहण करते हैं। ऐसा अनन्य प्रेम संकीर्ण मन वाला या साम्प्रदायिक नहीं होता, क्योंकि सारे जीव भगवान् के भीतर होने से स्वत: सेवित हो जाते हैं जब वे परम पुरुष की सेवा करते हैं। भगवान् तथा सारे जीवों की सर्वोच्च सेवा करने की यह विधि कृष्णभावनामृत का विज्ञान है, जिसकी शिक्षा पूरे *श्रीमद्भागवत* में दी गई है।

त एतदधिगच्छन्ति विष्णोर्यत्परमं पदम् ।
अहं ममेति दौर्जन्यं न येषां देहगेहजम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; एतत्—यह; अधिगच्छन्ति—जान पाते हैं; विष्णोः—भगवान् विष्णु का; यत्—जो; परमम्—परम; पदम्—पद; अहम्—मैं; मम—मेरा; इति—इस प्रकार; दौर्जन्यम्—दुर्जनता; न—नहीं है; येषाम्—जिसके लिए; देह—शरीर; गेह—तथा घर; जम्—पर आधारित।

ऐसे भक्त भगवान् विष्णु के परम आध्यात्मिक पद को समझ पाते हैं क्योंकि वे ''मैं'' तथा ''मेरा'' के विचारों से, जो शरीर तथा घर पर आधारित हैं, दूषित नहीं होते।

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

अति-वादान्—अपमानजनक शब्द; तितिक्षेत—सहन करे; न—कभी नहीं; अवमन्येत—अनादर करे; कञ्चन—किसी का; न च—न तो; इमम्—इस; देहम्—भौतिक शरीर; आश्रित्य—पहचान बनाकर; वैरम्—शत्रुता; कुर्वीत—करे; केनचित्—किसी से।

मनुष्य को सारा अपमान सहन कर लेना चाहिए और किसी व्यक्ति के प्रति उचित सम्मान प्रदर्शित करने से चूकना नहीं चाहिए। भौतिक शरीर से पहचान बनाने से बचते हुए मनुष्य को किसी के साथ शत्रुता उत्पन्न नहीं करनी चाहिए।

नमो भगवते तस्मै कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
यत्पादाम्बुरुहध्यानात्संहितामध्यगामिमाम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; भगवते—भगवान्; तस्मै—उन; कृष्णाय—कृष्ण को; अकुण्ठ-मेधसे—जिनकी शक्ति कभी रुद्ध नहीं होती; यत्—जिनके; पाद-अम्बु-रुह—चरणकमलों पर; ध्यानात्—ध्यान से; संहिताम्—शास्त्र को; अध्यगाम्—मैंने आत्मसात किया है; इमाम्—इस।

मैं अनवरुद्ध भगवान् कृष्ण को नमस्कार करता हूँ। उनके चरणकमलों पर ध्यान धरने से ही मैं इस महान् ग्रंथ का अध्ययन कर सका और इसकी सराहना कर सका।

श्रीशौनक उवाच
पैलादिभिर्व्यासशिष्यैर्वेदाचार्यैर्महात्मभिः ।
वेदाश्च कथिता व्यस्ता एतत्सौम्याभिधेहि नः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शौनकः उवाच—श्री शौनक ऋषि ने कहा; पैल-आदिभिः—पैल तथा अन्यों द्वारा; व्यास-शिष्यैः—श्रील व्यासदेव के शिष्य; वेद-आचार्यैः—वेदों के आदर्श अधिकारियों द्वारा; महा-आत्मभिः—महान् बुद्धि वाले; वेदाः—वेद; च—तथा; कथिताः—कहा गया; व्यस्ताः—विभाजित; एतत्—यह; सौम्य—हे भद्र सूत; अभिधेहि—कृपया कह सुनायें; नः—हमसे।

शौनक ऋषि ने कहा : हे सौम्य सूत, कृपा करके हमें बतलायें कि किस तरह पैल तथा श्रील व्यासदेव के अत्यन्त परम बुद्धिमान शिष्यों ने, जो कि वैदिक विद्या के आदर्श अधिकारी माने जाते हैं, वेदों का प्रवचन तथा सम्पादन किया।

सूत उवाच
समाहितात्मनो ब्रह्मन्ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ।
हृद्याकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद्विभाव्यते ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; समाहित-आत्मनः—जिसका मन पूरी तरह से स्थिर था; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण (शौनक); ब्रह्मणः—ब्रह्मा का; परमे-स्थिनः—जीवों में सर्वोच्च; हृदि—हृदय में; आकाशात्—आकाश से; अभूत्—उठी; नादः—दिव्य सूक्ष्म ध्वनि; वृत्ति-रोधात्—कार्य (कानों का) रोकने पर; विभाव्यते—अनुभव किया जाता है।

सूत गोस्वामी ने कहा : हे ब्राह्मण, दिव्य ध्वनि की प्रथम सूक्ष्म गूँज सर्वश्रेष्ठ ब्रह्माजी के

हृदयरूपी आकाश से प्रकट हुई जिनका मन आध्यात्मिक साक्षात्कार में पूरी तरह स्थिर था। इस सूक्ष्म गूँज का अनुभव कोई भी व्यक्ति कर सकता है जब वह अपनी सारी बाह्य श्रवण-क्रिया को रोक लेता है।

तात्पर्य : चूँकि *श्रीमद्भागवत* सर्वश्रेष्ठ वैदिक ग्रंथ है, अतएव शौनक आदि मुनियों ने इसके स्रोत का पता लगाना चाहा।

यदुपासनया ब्रह्मन्योगिनो मलमात्मनः ।
द्रव्यक्रियाकारकाख्यं धूत्वा यान्त्यपुनर्भवम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिस (वेदों के सूक्ष्म रूप) की; उपासनया—पूजा से; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; योगिनः—योगीजन; मलम्—कल्मष के; आत्मनः—हृदय के; द्रव्य—वस्तु; क्रिया—सक्रियता; कारक—तथा कर्ता; आख्यम्—उपाधिवाला; धूत्वा—स्वच्छ करके; यान्ति—प्राप्त करते हैं; अपुनः-भवम्—पुनर्जन्म से छुटकारा।

हे ब्राह्मण, वेदों के इस सूक्ष्म रूप की पूजा द्वारा योगीजन वस्तु की अशुद्धि, क्रिया तथा कर्ता से उत्पन्न सारे कल्मष से अपने हृदयों को स्वच्छ बनाते हैं और इस तरह वे बारम्बार जन्म-मृत्यु से छुटकारा प्राप्त कर लेते हैं।

ततोऽभूत्त्रिवृदोंकारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट् ।
यत्तल्लिङ्गं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

ततः—उससे; अभूत्—उत्पन्न हुआ; त्रि-वृत्—तीन मात्राओं वाला; ॐ-कारः—ॐ अक्षर; यः—जो; अव्यक्त—अप्रकट; प्रभवः—जिसका प्रभाव; स्व-राट्—आत्म-अभिव्यक्ति; यत्—जो; तत्—वह; लिङ्गम्—स्वरूप; भगवतः—भगवान् का; ब्रह्मणः—परब्रह्म का उनके निर्विशेष रूप में; परम-आत्मनः—तथा परमात्मा का।

उस दिव्य सूक्ष्म गूँज से तीन मात्राओं वाला ॐकार उत्पन्न हुआ। ॐकार में अदृश्य शक्तियाँ हैं और यह शुद्ध हृदय के भीतर अपने आप प्रकट होता है। यह परब्रह्म की तीनों अवस्थाओं—भगवान्, परमात्मा तथा परम निर्विशेष सत्य—में उनका स्वरूप है।

शृणोति य इमं स्फोटं सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक् ।
येन वाग्व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः ॥ ४० ॥

स्वधाम्नो ब्राह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः ।
स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातनम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

शृणोति—सुनता है; यः—जो; इमम्—इस; स्फोटम्—अव्यक्त तथा नित्य सूक्ष्म ध्वनि को; सुप्त-श्रोत्रे—जब श्रवणेन्द्रिय सुप्त रहती है; च—तथा; शून्य-दृक्—भौतिक दृष्टि तथा अन्य ऐन्द्रिय कार्यों से विहीन; येन—जसिसे; वाक्—वैदिक ध्वनि का विस्तार; व्यज्यते—विस्तृत किया जाता है; यस्य—जिसका; व्यक्तिः—अभिव्यक्ति; आकाशे—आकाश (हृदय के) में; आत्मनः—आत्मा से; स्व-धाम्नः—जो अपना ही उद्गम है; ब्रह्मणः—परब्रह्म का; साक्षात्—प्रत्यक्ष; वाचकः—

नामसूचक पद; परम-आत्मनः—परमात्मा का; सः—वह; सर्व—सभी; मन्त्र—वैदिक स्तोत्र; उपनिषत्—गुह्य; वेद—वेदों का; बीजम्—बीज; सनातनम्—शाश्वत।

यह ॐकार, जोकि अन्ततः अभौतिक तथा अश्रव्य होता है, उसे परमात्मा कान या कोई अन्य इन्द्रियाँ न होते हुए भी सुनता है। वैदिक ध्वनि का पूरा विस्तार ॐकार से ही हुआ है, जो हृदय के आकाश के भीतर आत्मा से प्रकट होता है। यह स्व-जन्मा परब्रह्म परमात्मा की प्रत्यक्ष उपाधि है और गुह्य सार तथा समस्त वैदिक स्तोत्रों का नित्य बीज है।

तात्पर्य : सोये हुए पुरुष की इन्द्रियाँ तब तक कार्य नहीं करतीं जब तक वह जाग नहीं जाता। इसीलिए जब सोया हुआ पुरुष किसी शोर से जगाया जाता है, तो यह पूछा जा सकता है कि, "शोर किसने सुना?" *सुप्त-श्रोत्रे* शब्द यह सूचित करते हैं कि भगवान् हृदय के भीतर ध्वनि को सुनते हैं और सोये हुए जीव को जगाते हैं। भगवान् की ऐन्द्रिय क्रिया सदैव उच्चतर स्तर पर कार्य करती रहती है। अन्ततः सारी ध्वनियाँ आकाश के भीतर गूँजती हैं और हृदय के भीतर एक प्रकार का आकाश होता है, जो वैदिक ध्वनियों की गूँज के लिए है। समस्त वैदिक ध्वनियों का बीज या स्रोत ॐकार है। इसकी पुष्टि *ॐ इत्येतद् ब्रह्मणो नेदिष्ठं नाम* वैदिक कथन से होती है। वैदिक बीज ध्वनि का पूर्ण विस्तार श्रीमद्भागवत है, जो सबसे बड़ा वैदिक ग्रंथ है।

तस्य ह्यासंस्त्रयो वर्णा अकाराद्या भृगूद्वह ।
धार्यन्ते यैस्त्रयो भावा गुणनामार्थवृत्तयः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उस ॐकार के; हि—निस्सन्देह; आसन्—हुए; त्रयः—तीन; वर्णाः—अक्षर की ध्वनियाँ; अ-कार-आद्याः—अ अक्षर से प्रारम्भ करके; भृगु-उद्वह—हे भृगुवंशियों में अत्यन्त प्रसिद्ध; धार्यन्ते—धारण किये जाते हैं; यैः—जिन तीन ध्वनियों से; त्रयः—तीन; भावाः—संसार की स्थितियाँ; गुण—प्रकृति के गुण; नाम—नाम; अर्थ—लक्ष्य; वृत्तयः—तथा चेतना की स्थितियाँ।

ॐकार से अ, उ तथा म वर्णों की तीन मौलिक ध्वनियाँ प्रकट हुईं। हे भृगुवंशियों में प्रसिद्ध, ये तीनों भौतिक जगत के तीन विभिन्न पक्षों को धारण करते हैं जिनमें प्रकृति के तीन गुण ऋक्, यजुर् तथा साम वेदों के नाम से, भूर्, भुवर् तथा स्वर् लोकों के नाम से विख्यात लक्ष्य तथा जागृत, सुप्त एवं सुषुप्त नामक तीन वृत्तियाँ धारण करते हैं।

ततोऽक्षरसमाम्नायमसृजद्भगवानजः ।
अन्तस्थोष्मस्वरस्पर्शह्रस्वदीर्घादिलक्षणम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

ततः—उस ॐकार से; अक्षर—विभिन्न ध्वनियों का; समाम्नायम्—सम्पूर्ण संग्रह (वर्णमाला); असृजत्—उत्पन्न किया; भगवान्—शक्तिमान देवता; अजः—अजन्मा ब्रह्मा; अन्त-स्थ—अर्द्धस्वरों के रूप में; उष्म—उष्म; स्वर—स्वर; स्पर्श—तथा व्यंजन; ह्रस्व-दीर्घ—लघु तथा गुरु रूप; आदि—इत्यादि; लक्षणम्—लक्षणों से युक्त।

ब्रह्मा ने ॐकार से अक्षर की सारी ध्वनियाँ—स्वर, व्यंजन, अर्धस्वर, उष्म, स्पर्श इत्यादि उत्पन्न कीं जो ह्रस्व तथा दीर्घ माप जैसे गुणों से विभेदित की जाती हैं।

तेनासौ चतुरो वेदांश्चतुर्भिर्वदनैर्विभुः ।
सव्याहृतिकान्सोंकारांश्चातुर्होत्रविवक्षया ॥ ४४॥

शब्दार्थ

तेन—उस ध्वनि समूह से; असौ—उसने; चतुरः—चार; वेदान्—वेदों को; चतुर्भिः—अपने चार; वदनैः—मुखों से; विभुः—सर्वशक्तिमान; स-व्याहृतिकान्—व्याहृतियों (भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्य नामक सात लोकों के नाम) सहित; स-ओंकारान्—ॐ बीज समेत; चातुः-होत्र—चारों वेदों में से प्रत्येक के पुरोहितों द्वारा सम्पन्न यज्ञ के चार पक्ष; विवक्षया—वर्णन करने की इच्छा से।

सर्वशक्तिमान ब्रह्मा ने ध्वनियों के इस समूह का उपयोग अपने चार मुखों से चार वेदों को उत्पन्न करने के लिए किया जो पवित्र ॐकार तथा सात व्याहृतियों समेत प्रकट हुए। उनका अभीष्ट वैदिक यज्ञ विधि को चार वेदों में से प्रत्येक के पुरोहितों द्वारा सम्पन्न विभिन्न कार्यों तक विस्तार देना था।

पुत्रानध्यापयत्तांस्तु ब्रह्मर्षीन्ब्रह्मकोविदान् ।
ते तु धर्मोपदेष्टारः स्वपुत्रेभ्यः समादिशन् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

पुत्रान्—अपने पुत्रों को; अध्यापयत्—पढ़ाया; तान्—उन वेदों को; तु—तथा; ब्रह्म-ऋषीन्—ब्रह्मर्षियों को; ब्रह्म—वैदिक पाठ की कला में; कोविदान्—पटु; ते—वे; तु—यही नहीं; धर्म—धार्मिक अनुष्ठानों में; उपदेष्टारः—शिक्षकों; स्व-पुत्रेभ्यः—अपने पुत्रों को; समादिशन्—प्रदान किया।

ब्रह्मा ने इन वेदों की शिक्षा अपने पुत्रों को दी जो ब्राह्मणों में ब्रह्मर्षि थे और वैदिक वाचन-कला में पटु थे। फिर उन्होंने स्वयं आचार्यों की भूमिका ग्रहण की और अपने-अपने पुत्रों को वेदों की शिक्षा दी।

ते परम्परया प्राप्तास्तत्तच्छिष्यैर्धृतव्रतैः ।
चतुर्युगेष्वथ व्यस्ता द्वापरादौ महर्षिभिः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

ते—ये वेद; परम्परया—परम्परा से; प्राप्ताः—प्राप्त; तत्-तत्—प्रत्येक अगली पीढ़ी के; शिष्यैः—शिष्यों द्वारा; धृत-व्रतैः—अपने व्रतों में दृढ़; चतुः-युगेषु—चारों युगों में; अथ—तब; व्यस्ताः—विभाजित कर दिये गये; द्वापर-आदौ—द्वापर युग के अन्त में; महा-ऋषिभिः—महान् आचार्यों द्वारा।

इस तरह चतुर्युग के सारे चक्रों में दृढ़व्रत शिष्यों की पीढ़ी-दर-पीढ़ी ने परम्परा द्वारा इन वेदों को प्राप्त किया। प्रत्येक द्वापर युग के अन्त में इन वेदों को प्रसिद्ध मुनिगण पृथक् विभागों में संपादित करते हैं।

क्षीणायुषः क्षीणसत्त्वान्दुर्मेधान्वीक्ष्य कालतः ।
वेदान्ब्रह्मर्षयो व्यस्यन्हृदिस्थाच्युतचोदिताः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

क्षीण-आयुषः—घटी हुई आयु वाले; क्षीण-सत्त्वान्—घटे हुए बल वाले; दुर्मेधान्—अल्पज्ञों को; वीक्ष्य—देख कर; कालतः—काल के प्रभाव से; वेदान्—वेदों को; ब्रह्म-ऋषयः—प्रमुख मुनियों ने; व्यस्यन्—विभाजित कर दिया; हृदि-स्थ—अपने हृदयों के भीतर स्थित; अच्युत—अच्युत भगवान् द्वारा; चोदिताः—प्रेरित।

यह देख कर कि काल के प्रभाव से सामान्यतया लोगों की आयु, शक्ति तथा बुद्धि घटती जा रही है, महामुनियों ने अपने हृदयों में स्थित भगवान् से प्रेरणा ली और वेदों का क्रमबद्ध विभाजन कर दिया।

अस्मिन्नप्यन्तरे ब्रह्मन्भगवान्लोकभावनः ।
ब्रह्मेशाद्यैर्लोकपालैर्याचितो धर्मगुप्तये ॥ ४८ ॥

पराशरात्सत्यवत्यामंशांशकलया विभुः ।
अवतीर्णो महाभाग वेदं चक्रे चतुर्विधम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

अस्मिन्—इसमें; अपि—भी; अन्तरे—मनु के शासन में; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण (शौनक); भगवान्—भगवान्; लोक—ब्रह्माण्ड के; भावनः—रक्षक; ब्रह्म—ब्रह्मा; ईश—शिव; आद्यैः—तथा अन्यों द्वारा; लोक-पालैः—विभिन्न लोकों के शासकों द्वारा; याचितः—प्रार्थना किये जाने पर; धर्म-गुप्तये—धर्म की रक्षा के लिए; पराशरात्—पराशर मुनि से; सत्यवत्याम्—सत्यवती के गर्भ से; अंश—अपने स्वांश (संकर्षण); अंश—अंश (विष्णु) के; कलया—कला के रूप में; विभुः—भगवान्; अवतीर्णः—अवतरित; महा-भाग—हे परम भाग्यवान्; वेदम्—वेदों को; चक्रे—कर दिया; चतुः-विधम्—चार भागों में।

हे ब्राह्मण, वैवस्वत मनु के वर्तमान युग में, ब्रह्मा, शिव इत्यादि ब्रह्माण्ड के नायकों ने समस्त जगतों के रक्षक भगवान् से धर्म के सिद्धान्तों की रक्षा करने के लिए प्रार्थना की। हे परम भाग्यवान शौनक, तब अपने स्वांश के अंश का दैवी स्फुलिंग प्रदर्शित करतेहुए पराशर के पुत्र के रूप में सत्यवती के गर्भ से भगवान् प्रकट हुए। इस रूप में, जिसे कृष्ण द्वैपायन व्यास कहते हैं, उन्होंने एक वेद के चार भाग कर दिये।

ऋगथर्वयजुःसाम्नां राशीरुद्धृत्य वर्गशः ।
चतस्रः संहिताश्चक्रे मन्त्रैर्मणिगणा इव ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

ऋक्-अथर्व-यजुः-साम्नाम्—ऋग्, अथर्व, यजुर तथा सामवेद; राशीः—(मंत्रों का) संकलन; उद्धृत्य—विलग करके; वर्गशः—विशिष्ट वर्गों में; चतस्रः—चार; संहिताः—संग्रह; चक्रे—कर दिया; मन्त्रैः—मंत्रों से; मणि-गणाः—मणियों के; इव—सदृश।

श्रील व्यासदेव ने ऋग्, अथर्व, यजुर् तथा साम वेदों के मंत्रों को चार वर्गों में विलग कर दिया जिस तरह मणियों के मिले-जुले संग्रह में से ढेरियाँ लगा दी जाती हैं। इस तरह उन्होंने चार पृथक्-पृथक् वैदिक ग्रंथों की रचना की।

तात्पर्य : जब सर्वप्रथम ब्रह्मा ने अपने चार मुखों से चार वेदों का उच्चारण किया, तो सारे मंत्र

उसी तरह मिले-जुले थे जिस तरह बिना छंटी मणियों के समूह में विभिन्न प्रकार की मणियाँ रहती हैं। श्रील व्यासदेव ने वैदिक मंत्रों को चार विभागों (संहिताओं) में छाँट दिया जो ऋग्, अथर्व, यजुर् तथा साम वेद कहलाये।

तासां स चतुरः शिष्यानुपाहूय महामतिः ।
एकैकां संहितां ब्रह्मन्नेकैकस्मै ददौ विभुः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

तासाम्—उन चार संग्रहों के; सः—उसने; चतुरः—चार; शिष्यान्—शिष्यों को; उपाहूय—पास बुलाकर; महा-मतिः—अत्यन्त बुद्धिमान मुनि; एक-एकाम्—एक-एक करके; संहिताम्—संग्रह; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; एक-एकस्मै—उनमें से प्रत्येक को; ददौ—दे दिया; विभुः—शक्तिमान व्यासदेव ने।.

अत्यन्त शक्तिमान तथा बुद्धिमान व्यासदेव ने अपने चार शिष्यों को बुलाया और हे ब्राह्मण, उनमें से हर एक को इन चार संहिताओं में से एक-एक का भार सौंप दिया।

पैलाय संहितामाद्यां बह्वृचाख्यां उवाच ह ।
वैशम्पायनसंज्ञाय निगदाख्यं यजुर्गणम् ॥ ५२ ॥
साम्नां जैमिनये प्राह तथा छन्दोगसंहिताम् ।
अथर्वाङ्गिरसीं नाम स्वशिष्याय सुमन्तवे ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

पैलाय—पैल को; संहिताम्—संग्रह; आद्याम्—प्रथम (ऋग्वेद का); बहु-ऋच-आख्यम्—बह्वृच नामक; उवाच—कहा; ह—निस्सन्देह; वैशम्पायन-संज्ञाय—वैशम्पायन नामक मुनि को; निगद-आख्यम्—निगद नामक; यजुः-गणम्—यजुर्मंत्रों का संग्रह; साम्नाम्—सामवेद के मंत्रों को; जैमिनये—जैमिनि को; प्राह—कहा; तथा—और; छन्दोग-संहिताम्—छंदोग नामक संहिता; अथर्व-अङ्गिरसीम्—अथर्व तथा अंगिरा मुनियों के नाम पर वेद; नाम—निस्सन्देह; स्व-शिष्याय—अपने शिष्य; सुमन्तवे—सुमन्तु को।.

श्रील व्यासदेव ने प्रथम संहिता ऋग्वेद की शिक्षा पैल को दी और इस संग्रह का नाम बह्वृच रखा। मुनि वैशम्पायन से उन्होंने यजुर्मंत्रों का संग्रह, निगद, का प्रवचन किया। उन्होंने जैमिनि को सामवेद के मंत्रों की शिक्षा दी जिनका नाम छन्दोग संहिता था और अपने प्रिय शिष्य सुमन्तु से उन्होंने अथर्ववेद कहा।

पैलः स्वसंहितामूचे इन्द्रप्रमितये मुनिः ।
बाष्कलाय च सोऽप्याह शिष्येभ्यः संहितां स्वकाम् ॥ ५४ ॥
चतुर्धा व्यस्य बोध्याय याज्ञवल्क्याय भार्गव ।
पराशरायाग्निमित्र इन्द्रप्रमितिरात्मवान् ॥ ५५ ॥
अध्यापयत्संहितां स्वां माण्डूकेयमृषिं कविम् ।
तस्य शिष्यो देवमित्रः सौभर्यादिभ्य ऊचिवान् ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

पैलः—पैल ने; स्व-संहिताम्—अपने संग्रह को; ऊचे—कहा; इन्द्रप्रमितये—इन्द्रप्रमिति से; मुनिः—मुनि; बाष्कलाय—बाष्कल को; च—तथा; सः—उसने (बाष्कल ने); अपि—भी; आह—कहा; शिष्येभ्यः—अपने शिष्यों से; संहिताम्—संग्रह; स्वकाम्—अपना; चतुर्धा—चार भागों में; व्यस्य—विभाजित करके; बोध्याय—बोध्य से; याज्ञवल्क्याय—याज्ञवल्क्य से; भार्गव—हे भृगुवंशी (शौनक); पराशराय—पराशर से; अग्निमित्रे—अग्निमित्र से; इन्द्रप्रमितिः—इन्द्रप्रमिति; आत्म-वान्—आत्मसंयमी; अध्यापयत्—शिक्षा दी; संहिताम्—संग्रह को; स्वाम्—अपने; माण्डूकेयम्—माण्डूकेय से; ऋषिम्—ऋषि; कविम्—विद्वान; तस्य—उसका (माण्डूकेय का); शिष्यः—शिष्य; देवमित्रः—देवमित्र; सौभरि-आदिभ्यः—सौभरि तथा अन्यों से; ऊचिवान्—कहा।.

अपनी संहिता को दो भागों में विभक्त करने के बाद विद्वान पैल ने इसे इन्द्रप्रमिति तथा बाष्कल को बताया। हे भार्गव, बाष्कल ने अपने संग्रह को पुनः चार भागों में विभाजित कर दिया और उन्हें अपने चार शिष्यों—बोध्य, याज्ञवल्क्य, पराशर तथा अग्निमित्र को पढ़ाया। आत्मसंयमी ऋषि इन्द्रप्रमिति ने अपनी संहिता विद्वान योगी माण्डूकेय को पढ़ाई जिसके शिष्य देवमित्र ने आगे चल कर सौभरि तथा अन्यों को ऋग्वेद के सारे विभाग दे दिये।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार माण्डूकेय इन्द्रप्रमिति का पुत्र था जिससे उसने वैदिक ज्ञान प्राप्त किया।

शाकल्यस्तत्सुतः स्वां तु पञ्चधा व्यस्य संहिताम् ।
वात्स्यमुद्गलशालीयगोखल्यशिशिरेष्वधात् ॥ ५७॥

शब्दार्थ

शाकल्यः—शाकल्य; तत्-सुतः—माण्डूकेय का पुत्र; स्वाम्—अपनी; तु—तथा; पञ्चधा—पाँच भागों में; व्यस्य—विभाजित करके; संहिताम्—संहिता का; वात्स्य-मुद्गल-शालीय—वात्स्य, मुद्गल तथा शालीय को; गोखल्य-शिशिरेषु—तथा गोखल्य और शिशिर को; अधात्—दिया।.

माण्डूकेय के पुत्र शाकल्य ने अपनी संहिता को पाँच भागों में बाँट दिया और इनमें से प्रत्येक उपविभाग वात्स्य, मुद्गल, शालीय, गोखल्य तथा शिशिर को सौंप दिये।

जातूकर्ण्यश्च तच्छिष्यः सनिरुक्तां स्वसंहिताम् ।
बलाकपैलजाबालविरजेभ्यो ददौ मुनिः ॥ ५८॥

शब्दार्थ

जातूकर्ण्यः—जातूकर्ण्य; च—तथा; तत्-शिष्यः—शाकल्य का शिष्य; स-निरुक्ताम्—कठिन शब्दों की व्याख्या करने वाले शब्द संग्रह के साथ; स्व-संहिताम्—प्राप्त हुए संग्रह को; बलाक-पैल-जाबाल-विरजेभ्यः—बलाक, पैल, जाबाल तथा विरज को; ददौ—दे दिया; मुनिः—मुनि ने।.

मुनि जातूकर्ण्य भी शाकल्य का शिष्य था। उसने शाकल्य से प्राप्त संहिता के तीन विभाग किये और उसमें एक चौथा अनुभाग वैदिक शब्द संग्रह (निरुक्त) का जोड़ दिया। उसने इन चारों भागों में से एक-एक विभाग अपने चार शिष्यों—बलाक, द्वितीय पैल, जाबाल तथा विरज को पढ़ाया।

बाष्कलिः प्रतिशाखाभ्यो वालखिल्याख्यसंहिताम् ।
चक्रे वालायनिर्भज्यः काशारश्चैव तां दधुः ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

बाष्कलिः—बाष्कल का पुत्र बाष्कलि; प्रति-शाखाभ्यः—विभिन्न शाखाओं से; वालखिल्य-आख्य—वालखिल्य शीर्षक वाले; संहिताम्—संग्रह को; चक्रे—बनाया; वालायनिः—वालायनि; भज्यः—भज्य; काशारः—काशार; च—तथा; एव—निस्सन्देह; ताम्—उसको; दधुः—स्वीकार किया।

बाष्कलि ने, ऋग्वेद की समस्त शाखाओं से, वालखिल्य संहिता तैयार की। यह संहिता वालायनि, भज्य तथा काशार को प्राप्त हुई।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार वालायनि, भज्य तथा काशार दैत्य वंश के थे।

बह्वृचाः संहिता ह्येता एभिर्ब्रह्मर्षिभिर्धृताः ।
श्रुत्वैतच्छन्दसां व्यासं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

बहु-ऋचाः—ऋग्वेद की; संहिताः—संहिताएँ; हि—निस्सन्देह; एताः—ये; एभिः—इन; ब्रह्म-ऋषिभिः—सन्त ब्राह्मणों द्वारा; धृताः—परम्परा से धारण की हुई; श्रुत्वा—सुन कर; एतत्—उनके; छन्दसाम्—पवित्र श्लोकों के; व्यासम्—विभाजन की विधि; सर्व-पापैः—सभी पापों से; प्रमुच्यते—छूट जाता है।

इन सन्त ब्राह्मणों ने ऋग्वेद की इन विविध संहिताओं को शिष्य-परम्परा द्वारा बनाये रखा। वैदिक स्तोत्रों के इस विभाजन को सुनने मात्र से मनुष्य सारे पापों से छूट जाता है।

वैशम्पायनशिष्या वै चरकाध्वर्यवोऽभवन् ।
यच्चेरुर्ब्रह्महत्यांहः क्षपणं स्वगुरोर्व्रतम् ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

वैशम्पायन-शिष्याः—वैशम्पायन के शिष्य; वै—निस्सन्देह; चरक—चरक नाम के; अध्वर्यवः—अथर्ववेद के आचार्य; अभवन्—बने; यत्—क्योंकि; चेरुः—उन्होंने सम्पन्न किया; ब्रह्म-हत्या—ब्राह्मण-वध के कारण; अंहः—पाप का; क्षपणम्—प्रायश्चित्त; स्व-गुरोः—अपने ही गुरु के लिए; व्रतम्—व्रत।

वैशम्पायन के शिष्य अथर्ववेद के आचार्य बने। वे चरक कहलाते थे क्योंकि उन्होंने अपने गुरु को ब्राह्मण-हत्या के पाप से मुक्त कराने के लिए कठिन व्रत किए थे।

याज्ञवल्क्यश्च तच्छिष्य आहाहो भगवन्कियत् ।
चरितेनाल्पसाराणां चरिष्येऽहं सुदुश्चरम् ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

याज्ञवल्क्यः—याज्ञवल्क्य; च—तथा; तत्-शिष्यः—वैशम्पायन का शिष्य; आह—कहा; अहो—जरा देखो; भगवन्—हे प्रभु; कियत्—कितना; चरितेन—प्रयत्न से; अल्प-साराणाम्—इन निर्बल व्यक्तियों के; चरिष्ये—पूरा करूँगा; अहम्—मैं; सु-दुश्चरम्—जिसे पूरा कर पाना अत्यन्त कठिन है।

एक बार वैशम्पायन के एक शिष्य याज्ञवल्क्य ने कहा "हे प्रभु, आपके इन निर्बल शिष्यों के दुर्बल प्रयासों से कितना लाभ प्राप्त किया जा सकता है? मैं स्वयं कुछ अद्वितीय

तपस्या करूँगा।

इत्युक्तो गुरुरप्याह कुपितो याह्यलं त्वया ।
विप्रावमन्त्रा शिष्येण मदधीतं त्यजाश्विति ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्तः—कहा गया; गुरुः—उसके गुरु ने; अपि—भी; आह—कहा; कुपितः—क्रुद्ध; याहि—चले जाओ; अलम्—बहुत हुआ; त्वया—तुमसे; विप्र-अवमन्त्रा—ब्राह्मणों का अपमान करने वाले; शिष्येण—ऐसे शिष्य से; मत्-अधीतम्—मेरे द्वारा जो पढ़ाया गया; त्यज—त्याग दो; आशु—तुरन्त; इति—इस प्रकार।

ऐसा कहे जाने पर गुरु वैशम्पायन क्रुद्ध हो उठे और कहा : ''यहाँ से निकल जाओ! अरे ब्राह्मणों का अपमान करने वाले शिष्य! बहुत हो चुका। तुम तुरन्त ही वह सब लौटा दो जो मैंने तुम्हें पढ़ाया है।''

तात्पर्य : वैशम्पायन इसलिए क्रुद्ध थे क्योंकि उनका एक शिष्य याज्ञवल्क्य अन्य शिष्यों का अपमान कर रहा था, जो योग्य ब्राह्मण थे। जिस तरह पिता अपने एक पुत्र द्वारा अन्य पुत्रों के साथ दुर्व्यवहार होते देख कर विक्षुब्ध हो उठता है उसी तरह यदि कोई घमंडी शिष्य गुरु के अन्य शिष्यों का अपमान करता है या दुर्व्यवहार करता है, तो गुरु अत्यन्त क्रुद्ध हो जाता है।

देवरातसुतः सोऽपि छर्दित्वा यजुषां गणम् ।
ततो गतोऽथ मुनयो ददृशुस्तान्यजुर्गणान् ॥ ६४ ॥

यजूंषि तित्तिरा भूत्वा तल्लोलुपतयाददुः ।
तैत्तिरीया इति यजुःशाखा आसन्सुपेशलाः ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

देवरात-सुतः—देवरात का पुत्र (याज्ञवल्क्य); सः—वह; अपि—निस्सन्देह; छर्दित्वा—उगलते हुए; यजुषाम्—यजुर्वेद के; गणम्—संचित मंत्र; ततः—वहाँ से; गतः—चला गया; अथ—तब; मुनयः—मुनियों ने; ददृशुः—देखा; तान्—उन; यजुः-गणान्—यजुर्मंत्रों को; यजूंषि—ये यजुः; तित्तिराः—तीतर; भूत्वा—बन कर; तत्—उन मंत्रों के लिए; लोलुपतया—ललचाई इच्छा से; आददुः—उन्हें चुग लिया; तैत्तिरीयाः—तैत्तिरीय नाम से; इति—इस प्रकार; यजुः-शाखाः—यजुर्वेद की शाखाएँ; आसन्—बनीं; सु-पेशलाः—अत्यन्त सुन्दर।

तब देवरात पुत्र याज्ञवल्क्य ने यजुर्वेद के मंत्र उगल दिए और वहाँ से चला गया। इन यजुर्मंत्रों को ललचाई दृष्टि से देख रहे एकत्र शिष्यों ने तीतरों का रूप धारण करके उन्हें चुग लिया। इसलिए यजुर्वेद के ये विभाग अत्यन्त सुन्दर तैत्तिरीय संहिता अर्थात् तीतरों द्वारा संकलित मंत्र के नाम से विख्यात हुए।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार वमन की हुई वस्तु को एकत्र करना ब्राह्मणों के लिए अनुचित है, इसीलिए वैशम्पायन के ब्राह्मण शिष्यों ने तित्तरों का रूप धारण किया और बहुमूल्य मंत्रों का संग्रह किया।

याज्ञवल्क्यस्ततो ब्रह्मंश्छन्दांस्यधि गवेषयन् ।
गुरोरविद्यमानानि सूपतस्थेऽर्कमीश्वरम् ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

याज्ञवल्क्यः—याज्ञवल्क्य; ततः—तत्पश्चात्; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; छन्दांसि—मंत्रों; अधि—अतिरिक्त; गवेषयन्—ढूँढते हुए; गुरोः—अपने गुरु के; अविद्यमानानि—अज्ञात; सु-उपतस्थे—सावधानी से पूजा की; अर्कम्—सूर्य की; ईश्वरम्—शक्तिमान नियन्ता।

हे ब्राह्मण शौनक, तब याज्ञवाल्क्य ने ऐसे नवीन यजुर्मंत्रों की खोज करनी चाही जो उसके गुरु को भी ज्ञात न हों। इसे मन में रख कर उसने शक्तिशाली सूर्य देव की ध्यानपूर्वक पूजा की।

श्रीयाज्ञवल्क्य उवाच
ॐ नमो भगवते आदित्यायाखिलजगतामात्मस्वरूपेण काल स्वरूपेण चतुर्विधभूतनिकायानां
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानामन्तर्हृदयेषु बहिरपि चाकाश इवोपाधिनाव्यवधीयमानो भवानेक
एव क्षणलवनिमेषावयवोपचितसंवत्सरगणेनापामादान विसर्गाभ्यामिमां लोकयात्रामनुवहति ।

शब्दार्थ

श्री-याज्ञवल्क्यः उवाच—श्री याज्ञवल्क्य ने कहा; ॐ नमः—मैं सादर नमस्कार करता हूँ; भगवते—भगवान् को; आदित्याय—सूर्य देव के रूप में प्रकट होने वाले; अखिल-जगताम्—सम्पूर्ण लोकों के; आत्म-स्वरूपेण—परमात्मा के रूप में; काल-स्वरूपेण—काल के रूप में; चतुः-विध—चार प्रकार के; भूत-निकायानाम्—समस्त जीवों के; ब्रह्म-आदि—ब्रह्मा इत्यादि; स्तम्ब-पर्यन्तानाम्—तथा घास की पत्ती तक; अन्तः-हृदयेषु—उनके हृदयों के रिक्त स्थानों में; बहिः—बाह्य रूप से; अपि—भी; च—तथा; आकाशः इव—आकाश की तरह; उपाधिना—उपाधियों से; अव्यवधीयमानः—आच्छादित न होकर; भवान्—आप; एकः—एकमात्र; एव—निस्सन्देह; क्षण-लव-निमेष—क्षण, लव तथा निमेष (समय के सूक्ष्मतम खंड); अवयव—इन खंडों से; उपचित—एकसाथ संकलित; संवत्सर-गणेन—वर्षों तक; अपाम्—जल के; आदान—निकाल लेने से; विसर्गाभ्याम्—तथा देने से; इमाम्—इस; लोक—ब्रह्माण्ड का; यात्राम्—पालन; अनुवहति—वहन करता है।

श्री याज्ञवल्क्य ने कहा : मैं सूर्य देव के रूप में प्रकट भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ। आप चार प्रकार के जीवों के जिनमें ब्रह्मा से लेकर घास की पत्ती तक सम्मिलित हैं, नियन्ता के रूप में उपस्थित हैं। जिस तरह आकाश हर जीव के भीतर तथा बाहर विद्यमान रहता है, उसी तरह आप परमात्मा रूप में सभी के हृदयों के भीतर तथा काल रूप में उनके बाहर उपस्थित रहते हैं। जिस तरह आकाश उसमें विद्यमान बादलों से आच्छादित नहीं हो सकता उसी तरह आप मिथ्या भौतिक उपाधि से कभी प्रच्छन्न नहीं होते। एक वर्ष क्षण, लव तथा निमेष जैसे लघु काल-खण्डों से बना है और वर्षों के प्रवाह से आप जल को सुखा कर तथा पुनः उसे वर्षा के रूप में जगत को प्रदान करके, उसका अकेले ही पालन-पोषण करते हैं।

तात्पर्य : यह स्तुति स्वतंत्र रूप से सूर्य देव को अर्पित नहीं है अपितु भगवान् को अर्पित है जिन्हें उनके शक्तिमान अंश, सूर्य देव, द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।

यदु ह वाव विबुधर्षभ सवितरदस्तपत्यनुसवनमहर्
अहराम्नायविधिनोपतिष्ठमानानामखिलदुरितवृजिन बीजावभर्जन भगवतः समभिधीमहि तपन
मण्डलम्. ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; उ ह वाव—निस्सन्देह; विबुध-ऋषभ—हे देवताओं के प्रधान; सवितः—हे सूर्य देव; अदः—वह; तपति—चमकता है; अनुसवनम्—दिन की हर संधि पर (सूर्योदय, दोपहर तथा सूर्यास्त पर); अहः अहः—प्रतिदिन; आम्नाय-विधिना—शिष्य-परम्परा से प्राप्त वैदिक मार्ग द्वारा; उपतिष्ठमानानाम्—स्तुति करने वालों का; अखिल-दुरित—सारे पापकर्म; वृजिन—मिलने वाले कष्ट; बीज—तथा उसके मूल बीज; अवभर्जन—हे जलाने वाले; भगवतः—परम नियन्ता का; समभिधीमहि—मैं पूरे मनोयोग से ध्यान करता हूँ; तपन—हे तपने वाले; मण्डलम्—गोले पर।

हे चमकने वाले, हे शक्तिमान सूर्य देव, आप सारे देवताओं में प्रमुख हैं। मैं आपके तेज मण्डल का मनोयोग से ध्यान करता हूँ क्योंकि जो कोई परम्परा से प्राप्त वैदिक विधि द्वारा प्रतिदिन आपकी तीन बार स्तुति करता है, उसके सारे पापकर्मों, सारे परवर्ती कष्टों तथाइच्छा के मूल बीज तक को आप जला देते हैं।

य इह वाव स्थिरचरनिकराणां निजनिकेतनानां मनइन्द्रियासु गणाननात्मनः स्वयमात्मान्तर्यामी
प्रचोदयति. ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; इह—इस जगत में; वाव—निस्सन्देह; स्थिर-चर-निकराणाम्—समस्त जड़ तथा चेतन जीवों के; निज-निकेतनानाम्—जो आपकी शरण पर निर्भर हैं; मनः-इन्द्रिय-असु-गणान्—मन, इन्द्रियाँ तथा प्राण; अनात्मनः—जो जड़ पदार्थ हैं; स्वयम्—स्वयं; आत्म—उनके हृदयों में; अन्तः-यामी—अन्तर में निवास करने वाले प्रभु; प्रचोदयति—कर्म के लिए प्रेरित करता है।

आप उन समस्त जड़ तथा चेतन जीवों के हृदयों में अन्तर्यामी प्रभु के रूप में उपस्थित रहते हैं, जो पूरी तरह आपकी शरण पर आश्रित हैं। निस्सन्देह आप उनके मनों, इन्द्रियों तथा प्राणों को कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं।

य एवेमं लोकमतिकरालवदनान्धकारसंज्ञाजगरग्रह गिलितं मृतकमिव विचेतनमवलोक्यानुकम्पया
परमकारुणिक ईक्षयैवोत्थाप्याहरहरनुसवनं श्रेयसि स्वधर्माख्यात्मावस्थाने प्रवर्तयति. ॥ ७० ॥

शब्दार्थ

यः—जो; एव—एकमात्र; इमम्—इस; लोकम्—जगत को; अति-कराल—अत्यन्त भयावना; वदन—जिसका मुँह; अन्धकार-संज्ञा—अंधकार कहलाने वाला; अजगर—अजगर द्वारा; ग्रह—पकड़ा हुआ; गिलितम्—तथा निगला हुआ; मृतकम्—मृत; इव—मानो; विचेतनम्—अचेत; अवलोक्य—देख कर; अनुकम्पया—दयापूर्वक; परम-कारुणिकः—अत्यन्त करुणामय; ईक्षया—दृष्टि फेर कर; एव—निस्सन्देह; उत्थाप्य—उन्हें उठाकर; अहः अहः—दिन-प्रतदिनि; अनु-सवनम्—दिन की तीन संधियों पर; श्रेयसि—परम लाभ में; स्व-धर्म-आख्य—आत्मा का उचित कर्म के रूप में विख्यात; आत्म-अवस्थाने—आध्यात्मिक जीवन के प्रति झुकाव में; प्रवर्तयति—लग जाता है।

यह संसार अंधकार रूपी अजगर के विकराल मुख में पड़ कर निगला जा चुका है और इस तरह अचेत है, मानो मृत है। किन्तु आप संसार के सोते हुए लोगों पर कृपापूर्ण दृष्टि फेरते हुए, अपनी दृष्टि के उपहार से उन्हें जगाते हैं। इस तरह आप सर्वाधिक करुणाकर हैं।

प्रतिदिन तीनों पवित्र संधियों पर आप पुण्यात्माओं को परम श्रेयस मार्ग में लगाते हैं और उन्हें धार्मिक कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं जिससे वे आध्यात्मिक पद को प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य : वैदिक संस्कृति के अनुसार समाज के तीन उच्च वर्ण (बौद्धिक, राजनीतिक तथा व्यापारी वर्ग) दीक्षा के द्वारा गुरु से सम्बन्धित होते हैं और वे गायत्री मंत्र प्राप्त करते हैं। यह शुद्ध बनाने वाला मंत्र दिन में तीन बार—सूर्योदय, दोपहर तथा सूर्यास्त के समय—पढ़ा जाता है। आध्यात्मिक कर्मों को करने के लिए शुभ मुहूर्त की गणना आकाश में सूर्य के मार्ग के अनुसार की जाती है और यहाँ पर आध्यात्मिक कर्मों की इस सुव्यवस्था का श्रेय ईश्वर के प्रतिनिधि स्वरूप सूर्य को दिया गया है।

अवनिपतिरिवासाधूनां भयमुदीरयन्नटति परित आशापालैस् तत्र तत्र
कमलकोशाञ्जलिभिरुपहृतार्हण:. ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ

अवनि-पतिः—राजा; इव—सदृश; असाधूनाम्—अपवित्र लोगों के; भयम्—भय; उदीरयन्—उत्पन्न करते हुए; अटति—इधर-उधर विचरण करता है; परितः—चारों ओर; आशा-पालैः—दिशाओं के अधिष्ठाता देवों द्वारा; तत्र तत्र—वहाँ वहाँ; कमल-कोश—कमल के फूल पकड़े हुए; अञ्जलिभिः—अंजुलियों से; उपहृत—भेंट की गई; अर्हणः—भेंटें।

आप पृथ्वी के राजा की ही तरह सर्वत्र विचरण करते हुए असाधुओं के बीच भय फैलाते हैं और दिशाओं के शक्तिमान देव हाथ जोड़ कर आपको कमल के फूल तथा अन्य आदरपूर्ण भेंटे प्रदान करते हैं।

अथ ह भगवंस्तव चरणनलिनयुगलं त्रिभुवनगुरुभिरभिवन्दितमहमयातयामयजुष्काम
।उपसरामीति. ॥ ७२ ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; ह—निस्सन्देह; भगवन्—हे प्रभु; तव—तुम्हारा; चरण-नलिन-युगलम्—दो चरणकमल; त्रि-भुवन—तीन लोकों के; गुरुभिः—गुरुओं द्वारा; अभिवन्दितम्—सम्मानित; अहम्—मैं; अयात-याम—अन्य किसी से अज्ञात; यजुः-कामः—यजुर्मंत्र पाने के लिए इच्छुक; उपसरामि—पूजा के साथ निकट आ रहा हूँ; इति—इस प्रकार।

इसलिए हे प्रभु, मैं आपकी स्तुति करते हुए आप के उन चरणों तक पहुँचना चाहता हूँ जिनका सम्मान तीनों लोकों के आध्यात्मिक स्वामी करते हैं क्योंकि मैं आप से यजुर्वेद के उन मंत्रों को पाने के लिए आशान्वित हूँ जो अन्य किसी को ज्ञात नहीं हैं।

सूत उवाच
एवं स्तुतः स भगवान्वाजिरूपधरो रविः ।
यजूंष्ययातयामानि मुनयेऽदात्प्रसादितः ॥ ७३ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; स्तुतः—स्तुति किये गये; सः—उसने; भगवान्—शक्तिशाली देवता; वाजि-रूप—घोड़े के रूप में; धरः—धारण करके; रविः—सूर्य देव; यजूंषि—यजुर्मंत्र; अयात-यामानि—अन्य किसी मर्त्य प्राणी से कुछ सीखा नहीं गया; मुनये—मुनि को; अदात्—प्रस्तुत किया; प्रसादितः—प्रसन्न होकर।

सूत गोस्वामी ने कहा : ऐसी स्तुति से प्रसन्न होकर शक्तिशाली सूर्य देव ने घोड़े का रूप धारण कर लिया और याज्ञवल्क्य मुनि को वे यजुर्मंत्र प्रदान किये जो मानव समाज में पहले अज्ञात थे।

यजुर्भिरकरोच्छाखा दश पञ्च शतैर्विभुः ।
जगृहुर्वाजसन्यस्ताः काण्वमाध्यन्दिनादयः ॥ ७४ ॥

शब्दार्थ

यजुर्भिः—यजुर्मंत्रों से; अकरोत्—बनायी; शाखाः—शाखाएँ; दश—दस; पञ्च—तथा पाँच; शतैः—सैकड़ों में; विभुः—शक्तिमान; जगृहुः—उन्होंने स्वीकार किया; वाज-सन्यः—घोड़े के अयाल से उत्पन्न अतः वाजसनेयी नाम से विख्यात; ताः—उनको; काण्व-माध्यन्दिन-आदयः—काण्व तथा अध्यन्दिन आदि ऋषियों के शिष्य।

यजुर्वेद के इन सैकड़ों मंत्रों से शक्तिशाली मुनि ने वैदिक वाङ्मय की पन्द्रह नवीन शाखाएँ बनाईं। ये वाजसनेयि संहिता के नाम से विख्यात हुईं क्योंकि वे घोड़े के अयालों से उत्पन्न हुई थीं और इन्हें काण्व, माध्यन्दिन तथा अन्य ऋषियों के अनुयायियों ने शिष्य-परम्परा में स्वीकार कर लिया।

जैमिनेः सामगस्यासीत्सुमन्तुस्तनयो मुनिः ।
सुत्वांस्तु तत्सुतस्ताभ्यामेकैकां प्राह संहिताम् ॥ ७५ ॥

शब्दार्थ

जैमिनेः—जैमिनि के; साम-गस्य—सामवेद का गवैया; आसीत्—था; सुमन्तुः—सुमन्तु; तनयः—पुत्र; मुनिः—मुनि (जैमिनि) के; सुत्वान्—सुत्वान; तु—तथा; तत्-सुतः—सुमन्तु का पुत्र; ताभ्याम्—उनमें से प्रत्येक को; एक-एकाम्—दो हिस्सों में से एक-एक नाम; प्राह—वह बोला; संहिताम्—संकलन।

सामवेद के अधिकारी जैमिनि ऋषि के सुमन्तु नाम का पुत्र था और सुमन्तु का पुत्र सुत्वान था। जैमिनि मुनि ने उनमें से हर एक को सामवेद संहिता के विभिन्न अंग सुनाये।

सुकर्मा चापि तच्छिष्यः सामवेदतरोर्महान् ।
सहस्रसंहिताभेदं चक्रे साम्नां ततो द्विज ॥ ७६ ॥

हिरण्यनाभः कौशल्यः पौष्यञ्जिश्च सुकर्मणः ।
शिष्यौ जगृहतुश्चान्य आवन्त्यो ब्रह्मवित्तमः ॥ ७७ ॥

शब्दार्थ

सुकर्मा—सुकर्मा; च—तथा; अपि—निस्सन्देह; तत्-शिष्यः—जैमिनि शिष्य; साम-वेद-तरोः—सामवेद रूपी वृक्ष के; महान्—महान् चिन्तक; सहस्र-संहिता—एक हजार संग्रहों का; भेदम्—एक भाग; चक्रे—बनाया; साम्नाम्—साम मंत्रों का; ततः—और तब; द्विज—हे ब्राह्मण (शौनक); हिरण्यनाभः कौशल्यः—कुशलपुत्र हिरण्यनाभ; पौष्यञ्जिः—पौष्यञ्जि;

च—तथा; सुकर्मणः—सुकर्मा के; शिष्यौ—दो शिष्य; जगृहतुः—ले लिया; च—तथा; अन्यः—दूसरा; आवन्त्यः—आवन्त्य; ब्रह्म-वित्-तमः—परब्रह्म के ज्ञान में पूर्णतया स्वरूपसिद्ध।

जैमिनि का दूसरा शिष्य सुकर्मा महान् पंडित था। उसने सामवेद रूपी विशाल वृक्ष को एक हजार संहिताओं में बाँट दिया। तब हे ब्राह्मण, सुकर्मा के तीन शिष्यों—कुशलपुत्र हिरण्यनाभ, पौष्यञ्जि तथा आध्यात्मिक साक्षात्कार में अग्रणी आवन्त्य—ने साम मंत्रों का भार सँभाला।

उदीच्याः सामगाः शिष्या आसन्पञ्चशतानि वै ।
पौष्यञ्ज्यावन्त्ययोश्चापि तांश्च प्राच्यान्प्रचक्षते ॥ ७८ ॥

शब्दार्थ

उदीच्याः—उत्तर दिशा के सम्बद्ध; साम-गाः—सामवेद का गायक; शिष्याः—शिष्य; आसन्—थे; पञ्च-शतानि—पाँच सौ; वै—निस्सन्देह; पौष्यञ्जि-आवन्त्ययोः—पौष्यञ्जि तथा आवन्त्य के; च—तथा; अपि—निस्सन्देह; तान्—उनको; च—भी; प्राच्यान्—पूर्व के रहने वाले; प्रचक्षते—कहलाते हैं।

पौष्यञ्जि तथा आवन्त्य के ५०० शिष्य सामवेद के उदीच्य गायक के नाम से प्रसिद्ध हुए और बाद में उनमें से कुछ तो प्राच्य गायक भी कहलाने लगे।

लौगाक्षिर्माङ्गलिः कुल्यः कुशीदः कुक्षिरेव च ।
पौष्यञ्जिसिष्या जगृहुः संहितास्ते शतं शतम् ॥ ७९ ॥

शब्दार्थ

लौगाक्षिः माङ्गलिः कुल्यः—लौगाक्षि, मांगलि तथा कुल्य; कुशीदः कुक्षिः—कुशीद तथा कुक्षि; एव—निस्सन्देह; च—भी; पौष्यञ्जि-शिष्याः—पौष्यञ्जि के शिष्यों ने; जगृहुः—ले लिया; संहिताः—संग्रह; ते—वे; शतम् शतम्—प्रत्येक ने एक-एक सौ।

पौष्यञ्जि के पाँच अन्य शिष्यों, लौगाक्षि, मांगलि, कुल्य, कुशीद तथा कुक्षि में से हर एक को एक-एक सौ संहिताएँ मिलीं।

कृतो हिरण्यनाभस्य चतुर्विंशति संहिताः ।
शिष्य ऊचे स्वशिष्येभ्यः शेषा आवन्त्य आत्मवान् ॥ ८० ॥

शब्दार्थ

कृतः—कृत; हिरण्यनाभस्य—हिरण्यनाभ के; चतुः-विंशति—चौबीस; संहिताः—संग्रह; शिष्यः—शिष्य; ऊचे—बोला; स्व-शिष्येभ्यः—अपने शिष्यों से; शेषाः—शेष (संग्रह); आवन्त्यः—आवन्त्य; आत्म-वान्—आत्मसंयमी।

हिरण्यनाभ के शिष्य कृत ने अपने शिष्यों से चौबीस संहिताएँ कहीं और शेष संहिताएँ स्वरूपसिद्ध मुनि आवन्त्य द्वारा आगे चलाई गईं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कंध के अन्तर्गत ''महाराज परीक्षित का निधन'' नामक छठे अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सात

पौराणिक साहित्य

इस अध्याय में श्री सूत गोस्वामी अथर्ववेद की शाखाओं के विस्तार, पुराणों के संकलनकर्ताओं का नामोल्लेख तथा पुराणों के लक्षणों का वर्णन करते हैं। तत्पश्चात् वे अठारह प्रमुख पुराणों की सूची देते हैं और यह कह कर अपना वर्णन समाप्त करते हैं कि जो कोई शिष्य-परम्परा प्राप्त व्यक्ति से इन विषयों को सुनता है उसे आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त होती है।

सूत उवाच
अथर्ववित्सुमन्तुश्च शिष्यमध्यापयत्स्वकाम् ।
संहितां सोऽपि पथ्याय वेददर्शाय चोक्तवान् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; अथर्व-वित्—अथर्ववेद का ज्ञाता; सुमन्तुः—सुमन्तु; च—तथा; शिष्यम्—अपने शिष्य को; अध्यापयत्—शिक्षा दी; स्वकाम्—अपनी; संहिताम्—संहिता; सः—उसने, सुमन्तु के शिष्यने; अपि—भी; पथ्याय—पथ्य को; वेददर्शाय—वेददर्श का; च—तथा; उक्तवान्—कहा।

सूत गोस्वामी ने कहा : अथर्ववेद के विशेषज्ञ, सुमन्तु ऋषि, ने अपनी संहिता अपने शिष्य कबन्ध को पढ़ाई जिसने इसे पथ्य और वेददर्श से कहा।

तात्पर्य : विष्णु पुराण में पुष्टि हुई है—

अथर्ववेदं स मुनिः सुमन्तुरमितद्युतिः।
शिष्यमध्यापयामास कबन्धं सोऽपि च द्विधा।
कृत्वा तु वेददर्शाय तथा पथ्याय दत्तवान्॥

"अमित द्युति वाले मुनि सुमन्तु ने अपने शिष्य कबन्ध को अथर्ववेद पढ़ाया। कबन्ध ने इसके दो भाग कर दिये और उन्हें वेददर्श तथा पथ्य को दे दिया।"

शौक्लायनिर्ब्रह्मबलिर्मोदोषः पिप्पलायनिः ।
वेददर्शस्य शिष्यास्ते पथ्यशिष्यानथो शृणु ।
कुमुदः शुनको ब्रह्मन्जाजलिश्चाप्यथर्ववित् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

शौक्लायनिः ब्रह्मबलिः—शौक्लायनि तथा ब्रह्मबलि; मोदोषः पिप्पलायनिः—मोदोष तथा पिप्पलायनि; वेददर्शस्य—वेददर्श के; शिष्याः—शिष्य; ते—वे; पथ्य-शिष्यान्—पथ्य के शिष्य; अथो—और भी; शृणु—सुनो; कुमुदः शुनकः—कुमुद तथा शुनक; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण, शौनक; जाजलिः—जाजलि; च—तथा; अपि—भी; अथर्व-वित्—अथर्ववेद के ज्ञाता।

शौक्लायनि, ब्रह्मबलि, मोदोष तथा पिप्पलायनि वेददर्श के शिष्य थे। मुझसे पथ्य के भी शिष्यों के नाम सुनो। हे ब्राह्मण, वे हैं—कुमुद, शुनक तथा जाजलि। वे सभी अथर्ववेद को अच्छी तरह जानते थे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार वेददर्श ने अथर्ववेद के अपने संस्करण को चार

भागों में विभाजित करके उन्हें अपने चार शिष्यों को पढ़ाया। पथ्य ने अपने संस्करण के तीन भाग किये और यहाँ पर उल्लिखित तीन शिष्यों को उनकी शिक्षा दी।

बभ्रुः शिष्योऽथाङ्गिरसः सैन्धवायन एव च ।
अधीयेतां संहिते द्वे सावर्णाद्यास्तथापरे ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

बभ्रुः—बभ्रु; शिष्यः—शिष्य; अथ—तब; अङ्गिरसः—शुनक (जो अंगिरा भी कहलाते हैं) का; सैन्धवायनः—सैधवायन; एव—निस्सन्देह; च—भी; अधीयेताम्—उन्होंने सीखा; संहिते—संहिताएँ; द्वे—दो; सावर्ण—सावर्ण; आद्याः—इत्यादि; तथा—उसी तरह; अपरे—अन्य शिष्यों ने।

बभ्रु तथा सैधवायन नामक शुनक के शिष्यों ने अपने गुरु द्वारा संकलित अथर्ववेद के दो भागों का अध्ययन किया। सैन्धवायन के शिष्य सावर्ण तथा अन्य ऋषियों के शिष्यों ने भी अथर्ववेद के इस संस्करण का अध्ययन किया।

नक्षत्रकल्पः शान्तिश्च कश्यपाङ्गिरसादयः ।
एते आथर्वणाचार्याः शृणु पौराणिकान्मुने ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

नक्षत्रकल्पः—नक्षत्रकल्प; शान्तिः—शान्तिकल्प; च—भी; कश्यप-आङ्गिरस-आदयः—कश्यप, आंगिरस तथा अन्य; एते—ये; आथर्वण-आचार्याः—अथर्ववेद के गुरु; शृणु—सुनो; पौराणिकान्—पुराणों के विद्वान; मुने—शौनक।

नक्षत्रकल्प, शान्तिकल्प, कश्यप, आंगिरस तथा अन्य लोग भी अथर्ववेद के आचार्यों में से थे। हे मुनि, अब पौराणिक साहित्य के विद्वानों के नाम सुनो।

त्रय्यारुणिः कश्यपश्च सावर्णिरकृतव्रनः ।
वैशम्पायनहारीतौ षड्वै पौराणिका इमे ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

त्रय्यारुणिः कश्यपः च—त्रय्यारुणि तथा कश्यप; सावर्णिः अकृत-व्रणः—सावर्णि तथा अकृतव्रण; वैशम्पायन-हारीतौ—वैशम्पायन तथा हारीत; षट्—छः; वै—निस्सन्देह; पौराणिकाः—पुराणों के आचार्य; इमे-ये।

त्रय्यारुणि, कश्यप, सावर्णि, अकृतव्रण, वैशम्पायन तथा हारीत—ये छः पुराणों के आचार्य हैं।

अधीयन्त व्यासशिष्यात्संहितां मत्पितुर्मुखात् ।
एकैकामहमेतेषां शिष्यः सर्वाः समध्यगाम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अधीयन्त—उन्होंने सीखा; व्यास-शिष्यात्—व्यासदेव के शिष्य (रोमहर्षण) से; संहिताम्—पुराणों के संग्रह; मत्-पितुः—मेरे पिता के; मुखात्—मुख से; एक-एकाम्—हर एक ने एक अंश सीखा; अहम्—मैंने; एतेषाम्—इनमें से; शिष्यः—शिष्य; सर्वाः—सारे संग्रह; समध्यगाम्—पूरी तरह सीखा।

इनमें से प्रत्येक ने मेरे पिता रोमहर्षण से जोकि श्रील व्यासदेव के शिष्य थे, पुराणों की छहों संहिताओं को पढ़ा। मैं इन छहो आचार्यों का शिष्य बन गया और मैंने इस पौराणिक ज्ञान का भलीभाँति प्रस्तुतिकरण सीखा।

कश्यपोऽहं च सावर्णी रामशिष्योऽकृतव्रनः ।
अधीमहि व्यासशिष्याच्चत्वारो मूलसंहिताः ॥ ७॥

शब्दार्थ

कश्यपः—कश्यप; अहम्—मैं; च—तथा; सावर्णिः—तथा सावर्णि; राम-शिष्यः—राम के शिष्य; अकृत्व्रणः—अकृतव्रण; अधीमहि—हमने आत्मसात किया; व्यास-शिष्यात्—व्यास के शिष्य (रोमहर्षण) से; चत्वारः—चार; मूल-संहिताः—मूल संहिताएँ।.

वेदव्यास के शिष्य रोमहर्षण ने पुराणों को चार मूल संहिताओं में विभाजित कर दिया। मुनि कश्यप तथा मैंने सावर्णि तथा राम के शिष्य अकृतव्रण के साथ-साथ इन चारों संहिताओं को सीखा।

पुराणलक्षणं ब्रह्मन्ब्रह्मर्षिभिर्निरूपितम् ।
शृणुष्व बुद्धिमाश्रित्य वेदशास्त्रानुसारतः ॥ ८॥

शब्दार्थ

पुराण-लक्षणम्—पुराण के लक्षण; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण, शौनक; ब्रह्म-ऋषिभिः—परम विद्वान ब्राह्मणों द्वारा; निरूपितम्—सुनिश्चित; शृणुष्व—सुनो; बुद्धिम्—बुद्धि पर; आश्रित्य—आश्रित होकर; वेद-शास्त्र—वैदिक शास्त्रों के; अनुसारतः—अनुसार।.

हे शौनक, तुम ध्यान से पुराण के लक्षण सुनो जिनकी परिभाषा अत्यन्त प्रसिद्ध विद्वान ब्राह्मणों ने वैदिक साहित्य के अनुसार दी है।

सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्तिरक्षान्तराणि च ।
वंशो वंशानुचरीतं संस्था हेतुरपाश्रयः ॥ ९॥
दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः ।
केचित्पञ्चविधं ब्रह्मन्महदल्पव्यवस्थया ॥ १०॥

शब्दार्थ

सर्गः—सृष्टि; अस्य—इस ब्रह्माण्ड की; अथ—तब; विसर्गः—गौण सृष्टि; च—तथा; वृत्ति—पालन; रक्षा—सुरक्षा; अन्तराणि—मनुओं के शासन; च—तथा; वंशः—महान् राजाओं के वंश; वंश-अनुचरितम्—उनके कार्यों का वर्णन; संस्था—प्रलय; हेतुः—(भौतिक कार्यों में जीवों के लगने का) कारण; अपाश्रयः—परम शरण; दशभिः—दस; लक्षणैः—लक्षणों से; युक्तम्—युक्त; पुराणम्—पुराण को; तत्—इस विषय का; विदः—विद्वान; विदुः—जानते हैं; केचित्—कुछ विद्वान; पञ्च-विधम्—पाँच प्रकार के; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; महत्—महान्; अल्प—तथा छोटे के; व्यवस्थया—अन्तर के अनुसार।.

हे ब्राह्मण, इस विषय के विद्वान, पुराण के दस लक्षण बतलाते हैं—इस ब्रह्माण्ड की

सृष्टि (सर्ग), तत्पश्चात् लोकों तथा जीवों की सृष्टि (विसर्ग), सारे जीवों का पालन-पोषण (वृत्ति), उनका भरण (रक्षा), विभिन्न मनुओं के शासन (अन्तराणि), महान् राजाओं के वंश (वंश), ऐसे राजाओं के कार्यकलाप (वंशानुचरित), संहार (संस्था), कारण (हेतु) तथा परम आश्रय (अपाश्रय)। अन्य विद्वानों का कहना है कि महापुराणों में इन्हीं दस का वर्णन रहता है, जबकि छोटे पुराणों में केवल पाँच का।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कन्ध (२.१०.१) में भी महापुराण के दस विषयों का वर्णन हुआ है—

श्रीशुक उवाच
अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥

"श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : *श्रीमद्भागवत* में निम्नलिखित के विषय में दस प्रकार के कथन हैं : ब्रह्माण्ड की सृष्टि, उपसर्ग, लोक, भगवान् द्वारा सुरक्षा, सृजनात्मक प्रेरणा, मनुओं का परिवर्तन, ईश-विज्ञान, भगवद्धाम को वापसी, मोक्ष तथा परम आश्रय।"

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *श्रीमद्भागवत* जैसे पुराणों में इन दस विषयों का वर्णन रहता है, जबकि छोटे पुराणों में केवल पाँच विषयों का। वैदिक वाङ्मय में कहा गया है—

सर्गश्च परिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पंचलक्षणम्॥

"सृष्टि, गौण सृष्टि, राजवंश, मनुओं के राज्य तथा विविध वंशों के कार्यकलाप—ये पुराण के पाँच लक्षण हैं।" जिन पुराणों में पाँच प्रकार का ज्ञान रहता है, उन्हें गौण पौराणिक साहित्य कहते हैं।

श्रील जीव गोस्वामी ने बतलाया है कि *श्रीमद्भागवत* के दस मुख्य विषय बारह स्कन्धों में से प्रत्येक स्कन्ध में पाये जाते हैं। किसी एक स्कन्ध के लिए किसी एक विषय को निर्धारित करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। न ही *श्रीमद्भागवत* की कृत्रिम विवेचना करके यह दिखाने का प्रयास करना चाहिए कि इन विषयों का एक के बाद एक वर्णन हुआ है। सीधी-सी बात यह है कि ज्ञान के सारे पक्ष जो मनुष्यों के लिए महत्त्वपूर्ण हैं और जिनका सार ऊपर लिखी दस श्रेणियों में दिया गया है, *श्रीमद्भागवत* में विभिन्न बल और विश्लेषण सहित सर्वत्र पाये जाते हैं।

अव्याकृतगुणक्षोभान्महतस्त्रिवृतोऽहमः ।
भूतसूक्ष्मेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अव्याकृत—प्रकृति की अव्यक्त अवस्था; गुण-क्षोभात्—गुणों के क्षोभ से; महतः—महत् तत्त्व से; त्रि-वृतः—तीन प्रकार का; अहमः—मिथ्या अहंकार से; भूत-सूक्ष्म—अनुभूति के सूक्ष्म रूपों की; इन्द्रिय—इन्द्रियों की; अर्थानाम्—तथा इन्द्रिय-विषयों की; सम्भवः—उत्पत्ति; सर्गः—सृष्टि; उच्यते—कहलाती है।

अव्यक्त प्रकृति के भीतर मूल गुणों के क्षोभ से महत् तत्त्व उत्पन्न होता है। महत् तत्त्व से मिथ्या अहंकार उत्पन्न होता है, जो तीन पक्षों में बँट जाता है। यह तीन प्रकार का मिथ्या अहंकार अनुभूति के सूक्ष्म रूपों, इन्द्रियों तथा स्थूल इन्द्रिय-विषयों के रूप में, प्रकट होता है। इन सबों की उत्पत्ति सर्ग कहलाती है।

पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः ।
विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद्बीजं चराचरम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

पुरुष—सृष्टि की लीला करते भगवान् का; अनुगृहीतानाम्—कृपाप्राप्त लोगों का; एतेषाम्—इन तत्त्वों का; वासना-मयः—जीवों की विगत इच्छाओं के अवशेषों से युक्त; विसर्गः—गौण सृष्टि; अयम्—यह; समाहारः—व्यक्त संयोग; बीजात्—बीज से; बीजम्—दूसरा बीज; चर—गति करते प्राणी; अचरम्—तथा जड़ प्राणी।

गौण सृष्टि (विसर्ग), जो ईश्वर की कृपा से विद्यमान है, जीवों की इच्छाओं का व्यक्त संयोग है। जिस प्रकार एक बीज से अतिरिक्त बीज उत्पन्न होते हैं, उसी तरह कर्ता में भौतिक इच्छाओं को बढ़ाने वाले कार्य चर तथा अचर जीवों को जन्म देते हैं।

तात्पर्य : जिस तरह बीज उग कर वृक्ष बन जाता है, जिससे हजारों नये बीज बनते हैं, उसी तरह भौतिक इच्छा सकाम कर्म में विकसित होती है, जिससे बद्धजीव के हृदय में हजारों नवीन इच्छाओं का स्फुरण होता है। *पुरुषानुगृहीतानाम्* शब्द सूचित करता है कि भगवान् की कृपा से मनुष्य को इस जगत में इच्छा करने और कार्य करने की अनुमति मिलती है।

वृत्तिर्भूतानि भूतानां चराणामचराणि च ।
कृता स्वेन नृणां तत्र कामाच्चोदनयापि वा ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

वृत्तिः—भरण, निर्वाह; भूतानि—जीव; भूतानाम्—जीवों का; चराणाम्—चेतनों का; अचराणि—जड़ों का; च—तथा; कृता—सम्पन्न किया हुआ; स्वेन—अपने बद्ध स्वभाव से; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; तत्र—उसमें; कामात्—कामवश; चोदनया—वैदिक आदेशों के अनुसार; अपि—निस्सन्देह; वा—अथवा।

वृत्ति का अर्थ है भरण या निर्वाह की विधि जिससे चेतन प्राणी जड़ प्राणियों पर निर्वाह करते हैं। मनुष्य के लिए वृत्ति का विशेष अर्थ होता है अपनी जीविका के लिए इस तरह से कार्य करना जो उसके निजी स्वभाव के अनुकूल हो। ऐसा कार्य या तो स्वार्थ की इच्छानुसार या फिर ईश्वर के नियमानुसार पूरा किया जा सकता है।

रक्षाच्युतावतारेहा विश्वस्यानु युगे युगे ।
तिर्यङ्मर्त्यर्षिदेवेषु हन्यन्ते यैस्त्रयीद्विषः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

रक्षा—रक्षा; अच्युत-अवतार—भगवान् अच्युत के अवतारों का; ईहा—कार्यकलाप; विश्वस्य—इस ब्रह्माण्ड का; अनु युगे युगे—प्रत्येक युग में; तिर्यक्—पशुओं; मर्त्य—मनुष्यों; ऋषि—मुनियों; देवेषु—तथा देवताओं के बीच; हन्यन्ते—मारे जाते हैं; यैः—जिन अवतारों द्वारा; त्रयी-द्विषः—वैदिक संस्कृति के शत्रु, दैत्यगण।

अच्युत भगवान् प्रत्येक युग में पशुओं, मनुष्यों, ऋषियों तथा देवताओं के बीच प्रकट होते हैं। वे इन अवतारों में अपने कार्यकलापों से ब्रह्माण्ड की रक्षा करते हैं और वैदिक संस्कृति के शत्रुओं का वध करते हैं।

तात्पर्य : *रक्षा* शब्द द्वारा सूचित भगवान् के रक्षा-कार्य महापुराण के दस मूल विषयों में से एक है।

मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वराः ।
ऋषयोऽंशावताराश्च हरेः षड्विधमुच्यते ॥ १५॥

शब्दार्थ

मनु-अन्तरम्—प्रत्येक मनु के शासन में; मनुः—मनु; देवाः—देवतागण; मनु-पुत्राः—मनु के पुत्र; सुर-ईश्वराः—विभिन्न इन्द्र; ऋषयः—ऋषिगण; अंश-अवताराः—भगवान् के अंशों के अवतार; च—तथा; हरेः—हरि के; षट्-विधम्—छः प्रकार का; उच्यते—कहा जाता है।

मनु के प्रत्येक शासनकाल (मन्वन्तर) में भगवान् हरि के रूप में छह प्रकार के पुरुष प्रकट होते हैं—शासक मनु, मुख्य देवता, मनुपुत्र, इन्द्र, महर्षि तथा भगवान् के अंशावतार।

राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः ।
वंशानुचरितं तेषाम्वृत्तं वंशधरास्च ये ॥ १६॥

शब्दार्थ

राज्ञाम्—राजाओं के; ब्रह्म-प्रसूतानाम्—ब्रह्मा से उत्पन्न; वंशः—वंश; त्रै-कालिकः—काल की तीन अवस्थाओं तक विस्तीर्ण (भूत, वर्तमान तथा भविष्य); अन्वयः—श्रेणी; वंश-अनुचरितम्—वंशों के इतिहास; तेषाम्—उन वंशों के; वृत्तम्—कार्यकलाप; वंश धराः—वंश के प्रमुख व्यक्ति; च—तथा; ये—जो।

ब्रह्मा से लेकर भूत, वर्तमान तथा भविष्य तक लगातार फैली हुई राजाओं की सरणियाँ (पंक्तियाँ) वंश हैं। ऐसे वंशों के, विशेष रूप से सर्वाधिक प्रमुख व्यक्तियों के, विवरण वंश इतिहास के प्रमुख विषय होते हैं।

नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः ।
संस्थेति कविभिः प्रोक्तश्चतुर्धास्य स्वभावतः ॥ १७॥

शब्दार्थ

नैमित्तिकः—आकस्मिक; प्राकृतिकः—तात्विक; नित्यः—संतत; आत्यन्तिकः—अन्तिम; लयः—प्रलय; संस्था—विलय; इति—इस प्रकार; कविभिः—विद्वान पंडितों द्वारा; प्रोक्तः—वर्णित; चतुर्धा—चार प्रकार से; अस्य—इस ब्रह्माण्ड का; स्वभावतः—भगवान् की निहित शक्ति से।

ब्रह्म प्रलय के चार प्रकार हैं—नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य तथा आत्यन्तिक। ये सारे के

सारे भगवान् की अन्तर्निहित शक्ति द्वारा प्रभावित होते हैं। विद्वान पंडितों ने इस विषय का नाम विलय रखा है।

हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेरविद्याकर्मकारकः ।
यं चानुशायिनं प्राहुरव्याकृतमुतापरे ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

हेतुः—कारण; जीवः—जीव; अस्य—इस ब्रह्माण्ड का; सर्ग-आदेः—सृजन, पालन तथा संहार का; अविद्या—अज्ञानतावश; कर्म-कारकः—भौतिक कार्य करने वाला; यम्—जिसको; च—तथा; अनुशायिनम्—सन्निहित व्यक्ति; प्राहुः—कहते हैं; अव्याकृतम्—अव्यक्त; उत—निस्सन्देह; अपरे—अन्य।

जीव अज्ञानवश भौतिक कर्म करता है और इस तरह वह, एक अर्थ में, ब्रह्माण्ड के सृजन, पालन तथा संहार का हेतु बन जाता है। कुछ विद्वान जीव को भौतिक सृष्टि में निहित पुरुष मानते हैं जबकि अन्य उसे अव्यक्त आत्मा कहते हैं।

तात्पर्य : भगवान् स्वयं ही ब्रह्माण्ड का सृजन, पालन एवं संहार करते हैं। किन्तु ऐसे कार्य बद्धजीवों की इच्छा की पूर्ति के लिए ही सम्पन्न किये जाते हैं, जिन्हें यहाँ *हेतु* कहा गया है। भगवान् इस जगत को बद्धजीव द्वारा प्रकृति का शोषण करने तथा अन्ततः, अपना आत्म-साक्षात्कार सुगम बनाने के प्रयास में सहायक बनने के लिए उत्पन्न करते हैं।

चूँकि बद्धजीव अपने स्वाभाविक स्वरूप को देख नहीं सकते इसलिए वे यहाँ पर *अव्याकृतम्* या अव्यक्त बतलाये गये हैं। दूसरे शब्दों में, जीव जब तक पूर्णतया कृष्णभावनाभावित न हो, वह अपने असली स्वरूप को नहीं देख सकता।

व्यतिरेकान्वयो यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
मायामयेषु तद्ब्रह्म जीववृत्तिष्वपाश्रयः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

व्यतिरेक—पृथक् अस्तित्व; अन्वयः—तथा; यस्य—जिसका; जाग्रत्—जगी हुई चेतना; स्वप्न—स्वप्न; सुषुप्तिषु—तथा गहरी नींद के अन्तर्गत; माया-मयेषु—माया की वस्तुओं के अन्तर्गत; तत्—वह; ब्रह्म—परब्रह्म; जीव-वृत्तिषु—जीवों के कार्यों के अन्तर्गत; अपाश्रयः—अद्वितीय आश्रय।

परब्रह्म, जागरूकता की सभी अवस्थाओं—जागृत, सुप्त तथा सुषुप्ति—में, माया द्वारा प्रकट किये जाने वाली सारी घटनाओं में तथा सारे जीवों के कार्यों में उपस्थित रहते हैं। वे इन सबों से पृथक् होकर भी उपस्थित रहते हैं। इस तरह अपने ही *अध्यात्म* में स्थित, वे परम तथा अद्वितीय आश्रय हैं।

पदार्थेषु यथा द्रव्यं सन्मात्रं रूपनामसु ।
बीजादिपञ्चतान्तासु ह्यवस्थासु युतायुतम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

पद-अर्थेषु—भौतिक वस्तुओं में; यथा—जिस प्रकार; द्रव्यम्—मूल वस्तु; सत्-मात्रम्—वस्तुओं का अस्तित्व मात्र; रूप-नामसु—रूपों तथा नामों के बीच; बीज-आदि—बीज इत्यादि (गर्भधारण से लेकर); पञ्चता-अन्तासु—मृत्यु तक; हि—निस्सन्देह; अवस्थासु—शरीर की विभिन्न अवस्थाओं में; युत-अयुतम्—अकेले तथा एकसाथ मिल कर।

यद्यपि भौतिक वस्तु विविध रूप तथा नाम धारण कर सकती है, किन्तु इसका मूलभूत अवयव सदैव इसके अस्तित्व का आधार बना रहता है। इसी तरह परब्रह्म अकेले तथा एकसाथ मिल कर, सदैव भौतिक शरीर की विभिन्न अवस्थाओं में, गर्भधारण से लेकर मृत्यु तक, उपस्थित रहता है।

तात्पर्य : गीली मिट्टी को विविध रूपों में ढाला जा सकता है और उन्हें जलपात्र, फूलदान या संग्रहपात्र का नाम दिया जा सकता है। किन्तु विविध रूपों तथा नामों के बावजूद मूलभूत अवयव मिट्टी निरन्तर वर्तमान रहती है। इसी तरह परमेश्वर शरीर के अस्तित्व की सभी अवस्थाओं में उपस्थित रहता है। भगवान् और प्रकृति अभिन्न हैं क्योंकि भगवान् प्रकृति के *जनक* स्रोत हैं। साथ ही परब्रह्म अपने धाम में अलग से उपस्थित रहते हैं।

विरमेत यदा चित्तं हित्वा वृत्तित्रयं स्वयम् ।
योगेर्ल वा तदात्मानं वेदेहाया निवर्तते ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

विरमेत—दूर रखता है; यदा—जब; चित्तम्—मन; हित्वा—त्याग कर; वृत्ति-त्रयम्—जागृती, स्वप्न तथा सुषुप्ती ये तीन अवस्थाएँ, जोकि भौतिक जीवन के कार्य हैं; स्वयम्—स्वत:; योगेन—नियमित आध्यात्मिक अभ्यास से; वा—अथवा; तदा—तब; आत्मानम्—परमात्मा को; वेद—जानो; ईहाया:—भौतिक प्रयास से; निवर्तते—बन्द कर देता है।

मनुष्य का मन या तो अपने आप से या नियमित आध्यात्मिक अभ्यास से जाग्रत, सुप्त तथा सुषुप्त अवस्थाओं में भौतिक स्तर पर कार्य करना बन्द कर देता है। तब वह परमात्मा को समझ पाता है और भौतिक प्रयास करना बन्द कर देता है।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (३.२५.३३) में कहा गया है—*जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा*—भक्ति जीव के सूक्ष्म शरीर को किसी पृथक् प्रयास के बिना ही विलीन कर देती है, जिस तरह उदर में अग्नि हमारे खाये हुए पदार्थों को पचा देती है। सूक्ष्म भौतिक शरीर यौन, लोभ, मिथ्या अहंकार तथा उन्माद के द्वारा प्रकृति का शोषण करने पर तुला रहता है। किन्तु भगवान् की प्रेमाभक्ति कट्टर मिथ्या अहंकार को विलीन कर देती है और मनुष्य को शुद्ध आनन्दमय चेतना, कृष्णभावनामृत, तक पहुँचा देती है।

एवं लक्षणलक्ष्याणि पुराणानि पुराविद: ।
मुनयोऽष्टादश प्राहु: क्षुल्लकानि महान्ति च ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; लक्षण-लक्ष्याणि—लक्षणों से लक्षित; पुराणानि—पुराण; पुरा-विद:—प्राचीन इतिहासों में दक्ष; मुनय:—मुनिगण; अष्टादश—अठारह; प्राहु:—कहते हैं; क्षुल्लकानि—छोटे, गौण; महान्ति—महान्; च—भी।

प्राचीन इतिहास में दक्ष मुनियों ने घोषित किया है कि अपने विविध लक्षणों के अनुसार, पुराणों को अठारह प्रधान पुराणों और अठारह गौण पुराणों में विभाजित किया जा सकता है।

ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं लैङ्गं सगारुडं ।
नारदीयं भागवतमाग्नेयं स्कान्दसंज्ञितम् ॥ २३॥

भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं सवामनम् ।
वाराहं मात्स्यं कौर्मं च ब्रह्माण्डाख्यमिति त्रिषट् ॥ २४॥

शब्दार्थ

ब्राह्मम्—ब्रह्मा पुराण; पाद्मम्—पद्म पुराण; वैष्णवम्—विष्णु पुराण; च—तथा; शैवम्—शिव पुराण; लैङ्गम्—लिंग पुराण; स-गारुडम्—गरुड़ पुराण के साथ; नारदीयम्—नारद पुराण; भागवतम्—भागवत पुराण; आग्नेयम्—अग्नि पुराण; स्कान्द—स्कन्द पुराण; संज्ञितम्—नामक; भविष्यम्—भविष्य पुराण; ब्रह्म-वैवर्तम्—ब्रह्मवैवर्त पुराण; मार्कण्डेयम्—मार्कण्डेय पुराण; स-वामनम्—वामन पुराण सहित; वाराहम्—वराह पुराण; मात्स्यम्—मत्स्य पुराण; कौर्मम्—कूर्म पुराण; च—तथा; ब्रह्माण्ड-आख्यम्—ब्रह्माण्ड पुरान नामक; इति—इस प्रकार; त्रि-षट्—छः के तीन गुने अर्थात् अठारह।

अठारह प्रधान पुराणों के नाम हैं—ब्रह्मा, पद्म, विष्णु, शिव, लिंग, गरुड़, नारद, भागवत, अग्नि, स्कन्द, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, वामन, वराह, मत्स्य, कूर्म तथा ब्रह्माण्ड पुराण।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने उपर्युक्त दोनों श्लोकों की पुष्टि में वराह पुराण, शिव पुराण तथा मत्स्य पुराण से उद्धरण दिये हैं।

ब्रह्मन्निदं समाख्यातं शाखाप्रणयनं मुनेः ।
शिष्यशिष्यप्रशिष्याणां ब्रह्मतेजोविवर्धनम् ॥ २५॥

शब्दार्थ

ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; इदम्—यह; समाख्यातम्—पूरी तरह वर्णित; शाखा-प्रणयनम्—शाखाओं का विस्तार; मुनेः—मुनि (श्रील व्यासदेव) के; शिष्य—शिष्यों के; शिष्य-प्रशिष्याणाम्—तथा उनके शिष्यों के भी शिष्यों के; ब्रह्म-तेजः—आध्यात्मिक शक्ति; विवर्धनम्—बढ़ाने वाले।

हे ब्राह्मण, मैंने तुमसे वेदों की शाखाओं के महामुनि व्यासदेव, उनके शिष्यों तथा शिष्यों के भी शिष्यों द्वारा किये गये विस्तार का भलीभाँति वर्णन किया है। जो इस कथा को सुनता है उसकी आध्यात्मिक शक्ति बढ़ जाती है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के बारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''पौराणिक साहित्य'' नामक सातवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter आठ

मार्कण्डेय द्वारा नर-नारायण ऋषि की स्तुति

इस अध्याय में इसका वर्णन हुआ है कि किस तरह मार्कण्डेय ऋषि ने तपस्या की, अपनी शक्ति से कामदेव को और उसके साथियों को हराया और नर तथा नारायण रूपों में श्री हरि की स्तुति की।

श्री शौनक श्री मार्कण्डेय की असामान्य दीर्घ आयु के विषय में संशयग्रस्त थे। उन्होंने शौनक के ही वंश में जन्म लिया था किन्तु करोड़ों वर्ष पूर्व प्रलय के सागर में अकेले बहते हुए बरगद के पत्ते पर लेटे एक अद्‌भुत शिशु को देखा था। शौनक को लग रहा था कि मार्कण्डेय ब्रह्मा के दो दिनों तक जीवित रहे, अत: उन्होंने श्री सूत गोस्वामी से इसके विषय में बतलाने के लिए कहा।

सूत गोस्वामी ने उत्तर दिया कि अपने पिता से ब्राह्मण-दीक्षा पाकर मार्कण्डेय ने आजीवन ब्रह्मचारी रहने का व्रत लिया। तब उन्होंने छ: मन्वन्तरों तक भगवान् हरि की पूजा की। सातवें मन्वन्तर में इन्द्र ने ऋषि की तपस्या भंग करने के लिए कामदेव तथा उसके संगियों को भेजा। किन्तु मार्कण्डेय ने अपनी तपस्या से प्राप्त शक्ति द्वारा उन्हें हरा दिया।

तब मार्कण्डेय पर दया दिखाने के उद्देश्य से श्री हरि उनके समक्ष नर-नारायण के रूप में प्रकट हुए। श्री मार्कण्डेय ने उनके चरणों पर दण्डवत् प्रणाम किया और तब सुखदायक आसन, पाद-प्रक्षालन के लिए जल तथा अन्य योग्य उपहार देकर उनकी पूजा की। तत्पश्चात् उन्होंने स्तुति की, ''हे सर्वशक्तिमान प्रभु! आप सारे प्राणियों को प्राणवायु प्रदान करते हैं और तीनों लोकों की रक्षा भी करते हैं, दुख को दूर करते हैं तथा मुक्ति प्रदान करते हैं। आप उन लोगों को, जिन्होंने आपकी शरण ले रखी है, किसी प्रकार के कष्ट से पराजित नहीं होने देते। आपके चरणकमलों की प्राप्ति ही बद्धजीवों का शुभ लक्ष्य होता है और आपकी सेवा से उनकी सारी मनोकामनाएँ पूरी होती हैं। सतोगुण में सम्पन्न आपकी लीलाएँ किसी को भी भौतिक जीवन से मोक्ष दिला सकती हैं। इसलिए जो बुद्धिमान हैं, वे आपके सात्विक साकार रूप श्री नारायण की, आपके अनन्य भक्त नर समेत, पूजा करते हैं।

''यदि जीव वेदों में प्रस्तुत तथा अखिल ब्रह्माण्ड के गुरु स्वरूप आपके द्वारा चलाये हुए ज्ञान को प्राप्त करता है, तो माया से विमोहित जीव आपको प्रत्यक्ष समझ सकता है। यहाँ तक कि ब्रह्मा जैसे महान् चिन्तक भी सांख्य योग के मार्ग पर संघर्ष करते हुए आपके स्वरूप को जानने के प्रयास में मोहग्रस्त हो जाते हैं। आप स्वयं ही सांख्य तथा अन्य दर्शन प्रकट करते हैं और इस तरह जीवात्मा के उपाधि-आवरण के नीचे आपका असली स्वरूप छिपा रहता है। हे महापुरुष, मैं आपका स्वागत करता हूँ।''

श्रीशौनक उवाच

सूत जीव चिरं साधो वद नो वदतां वर ।
तमस्यपारे भ्रमतां नृणां त्वं पारदर्शन: ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शौनकः उवाच—श्री शौनक ने कहा; सूत—हे सूत गोस्वामी; जीव—आप जीवित रहें; चिरम्—दीर्घकाल तक; साधो—हे साधु; वद—कृपा करके कहें; नः—हमसे; वदताम्—वक्ताओं के; वर—श्रेष्ठ; तमसि—अंधकार में; अपारे—अपार; भ्रमताम्—विचरण करते हुए; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; त्वम्—तुम; पार-दर्शनः—उस किनारे को देखने वाला।

श्री शौनक ने कहा : हे सूत, आप दीर्घायु हों। हे साधु, हे वक्ता श्रेष्ठ, आप हमसे इसी तरह बोलते रहें। निस्सन्देह, आप ही मनुष्यों को उस अज्ञान से निकलने का मार्ग दिखा सकते हैं जिसमें वे विचरण कर रहे हैं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, मुनियों ने देखा कि सूत गोस्वामी *श्रीमद्भागवत* की कथा समाप्त करने वाले हैं, इसलिए उन्होंने अनुरोध किया कि वे सबसे पहले मार्कण्डेय ऋषि की कथा कहें।

आहुश्चिरायुषमृषिं मृकण्डतनयं जनाः ।
यः कल्पान्ते ह्युर्वरितो येन ग्रस्तमिदं जगत् ॥ २॥

स वा अस्मत्कुलोत्पन्नः कल्पेऽस्मिन्भार्गवर्षभः ।
नैवाधुनापि भूतानां सम्प्लवः कोऽपि जायते ॥ ३॥

एक एवार्णवे भ्राम्यन्ददर्श पुरुषं किल ।
वटपत्रपुटे तोकं शयानं त्वेकमद्भुतम् ॥ ४॥

एष नः संशयो भूयान्सूत कौतूहलं यतः ।
तं नश्छिन्धि महायोगिन्पुराणेष्वपि सम्मतः ॥ ५॥

शब्दार्थ

आहुः—कहते हैं; चिर-आयुषम्—अत्यधिक दीर्घ आयु वाला; ऋषिम्—ऋषि; मृकण्ड-तनयम्—मृकण्ड के पुत्र को; जनाः—लोग; यः—जो; कल्प-अन्ते—ब्रह्मा का एक दिन पूरा होने पर; हि—निस्सन्देह; उर्वरितः—एकान्त में रहते हुए; येन—जिस (प्रलय) से; ग्रस्तम्—ग्रस्त; इदम्—यह; जगत्—समूचा ब्रह्माण्ड; सः—वह, मार्कण्डेय; वै—निस्सन्देह; अस्मत्-कुल—मेरे ही परिवार में; उत्पन्नः—उत्पन्न; कल्पे—ब्रह्मा के दिन में; अस्मिन्—इस; भार्गव-ऋषभः—भृगु मुनि का परम प्रसिद्ध वंशज; न—नहीं; एव—निश्चय ही; अधुना—हमारे युग में; अपि—भी; भूतानाम्—सारी सृष्टि का; सम्प्लवः—बाढ़ से संहार; कः—कोई; अपि—तनिक भी; जायते—उत्पन्न हुआ है; एकः—अकेला; एव—निस्सन्देह; अर्णवे—महासागर में; भ्राम्यन्—घूमते हुए; ददर्श—देखा; पुरुषम्—पुरुष को; किल—कहा जाता है; वट-पत्र—बरगद की पत्ती के; पुटे—दोने में; तोकम्—एक शिशु; शयानम्—लेटा हुआ; तु—लेकिन; एकम्—एक; अद्भुतम्—अद्भुत; एषः—यह; नः—हमारा; संशयः—सन्देह; भूयान्—महान्; सूत—हे सूत गोस्वामी; कौतूहलम्—उत्सुकता; यतः—जिसके कारण; तम्—उसको; नः—हमारे लिए; छिन्धि—काट डालिये; महा-योगिन्—हे महान् योगी; पुराणेषु—पुराणों के; अपि—निस्सन्देह; सम्मतः—सार्वजनिक रूप से स्वीकृत (दक्ष ज्ञाता के रूप में)।

विद्वानों का कहना है कि मृकण्डु के पुत्र, मार्कण्डेय ऋषि, अति दीर्घ आयु वाले मुनि थे और ब्रह्मा के दिन के अन्त होने पर वे ही एकमात्र बचे हुए थे जबकि सारा ब्रह्माण्ड प्रलय की बाढ़ में जलमग्न हुआ था। किन्तु यही मार्कण्डेय ऋषि, जोकि भृगुवंशियों में सर्वोपरि हैं, मेरे ही परिवार में ब्रह्मा के चालू दिन में जन्मे थे और हमने अभी ब्रह्मा के इस दिन का पूर्ण प्रलय नहीं देखा है। यही नहीं, यह भलीभाँति ज्ञात है कि मार्कण्डेय मुनि ने प्रलय के महासागर में असहाय होकर इधर-उधर घूमते हुए उस भयानक जल में एक अद्भुत पुरुष

को देखा—एक शिशु जो बरगद के पत्ते के दोने में अकेले लेटा था। हे सूत, मैं इन महर्षि मार्कण्डेय के विषय में अत्यधिक मोहग्रस्त तथा उत्सुक हूँ। हे महान् योगी, आप समस्त पुराणों के विद्वान माने जाते हैं, इसलिए मेरे संशय को दूर कीजिये।

तात्पर्य : ब्रह्मा के एक दिन में १२ घंटे होते हैं, जो ४३,२०० लाख वर्षों के तुल्य होते हैं और उनकी रात भी इतनी ही बड़ी होती है। स्पष्ट है कि मार्कण्डेय इस तरह के एक दिन और एक रात जीवित रहने के बाद ब्रह्मा के अगले दिन में भी इसी मार्कण्डेय रूप में रहते रहे। ऐसा लगता है कि जब ब्रह्मा की रात में प्रलय हुई तो यह ऋषि विनाश के भयावह जल में लगातार विचरण करते रहे और उसी जल में बरगद के पत्ते पर एक असामान्य पुरुष को लेटे देखा। मार्कण्डेय विषयक इन सारे रहस्यों को सूत गोस्वामी महर्षियों के अनुरोध पर स्पष्ट करेंगे।

सूत उवाच

प्रश्नस्त्वया महर्षेऽयं कृतो लोकभ्रमापहः ।
नारायणकथा यत्र गीता कलिमलापहा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; प्रश्नः—प्रश्न; त्वया—तुम्हारे द्वारा; महा-ऋषे—हे महर्षि शौनक; अयम्—यह; कृतः—बनाया हुआ; लोक—सम्पूर्ण जगत का; भ्रम—भ्रम; अपहः—दूर करने वाला; नारायण-कथा—भगवान् नारायण की कथा; यत्र—जिसमें; गीता—गाई जाती है; कलि-मल—कलियुग के कल्मष; अपहा—दूर करते हुए।

सूत गोस्वामी ने कहा : हे महर्षि शौनक, तुम्हारे इस प्रश्न से हर एक का मोह दूर हो सकेगा क्योंकि इसका सम्बन्ध भगवान् नारायण की कथाओं से है, जो इस कलियुग के कल्मष को दूर करती हैं।

प्राप्तद्विजातिसंस्कारो मार्कण्डेयः पितुः क्रमात् ।
छन्दांस्यधीत्य धर्मेण तपःस्वाध्यायसंयुतः ॥ ७ ॥

बृहद्व्रतधरः शान्तो जटिलो वल्कलाम्बरः ।
बिभ्रत्कमण्डलुं दण्डमुपवीतं समेखलम् ॥ ८ ॥

कृष्णाजिनं साक्षसूत्रं कुशांश्च नियमर्द्धये ।
अग्न्यर्कगुरुविप्रात्मस्वर्चयन्सन्ध्ययोर्हरिम् ॥ ९ ॥

सायं प्रातः स गुरवे भैक्ष्यमाहृत्य वाग्यतः ।
बुभुजे गुर्वनुज्ञातः सकृन्नो चेदुपोषितः ॥ १० ॥

एवं तपःस्वाध्यायपरो वर्षाणामयुतायुतम् ।
आराधयन्हृषीकेशं जिग्ये मृत्युं सुदुर्जयम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

प्राप्त—प्राप्त हुए; द्वि-जाति—द्वितीय जन्म का; संस्कारः—संस्कार; मार्कण्डेयः—मार्कण्डेय; पितुः—अपने पिता से; क्रमात्—क्रमश; छन्दांसि—वैदिक स्तोत्र; अधीत्य—अध्ययन करके; धर्मेण—विधि-विधानों समेत; तपः—तपस्या में;

स्वाध्याय—तथा अध्ययन में; संयुतः—पूर्ण; बृहत्-व्रत—आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत; धरः—धारण करते हुए; शान्तः—शान्त; जटिलः—जटा सहित; वल्कल-अम्बरः—छाल के वस्त्र पहने; बिभ्रत्—लिए हुए; कमण्डलुम्—कमण्डल; दण्डम्—संन्यासी की डंडा; उपवीतम्—जनेऊ; स-मेखलम्—ब्रह्मचारी के कटिसूत्र सहित; कृष्ण-अजिनम्—काले मृग का चर्म; स-अक्ष-सूत्रम्—कमल के बीजों से बनी जपमाला; कुशान्—कुश घास; च—भी; नियम-ऋद्धये—अपनी आध्यात्मिक प्रगति को सरल बनाने के लिए; अग्नि—अग्नि रूप में; अर्क—सूर्य; गुरु—गुरु; विप्र—ब्राह्मण; आत्मसु—तथा परमात्मा; अर्चयन्—पूजा करते हुए; सन्ध्ययोः—दिन के प्रारम्भ तथा अन्त में; हरिम्—भगवान् को; सायम्—संध्या समय; प्रातः—तड़के; सः—वह; गुरवे—अपने गुरु से; भैक्ष्यम्—भीख माँगने से मिली भिक्षा; आहृत्य—लाकर; वाक्-यतः—संयमित वाणी से; बुभुजे—भाग लिया; गुरु-अनुज्ञातः—अपने गुरु द्वारा आमंत्रित; सकृत्—एक बार; न—नहीं (आमंत्रित); उ—निस्सन्देह; चेत्—यदि; उपोषितः—उपवास करते हुए; एवम्—इस तरह; तपः-स्वाध्याय-परः—तपस्या तथा वैदिक वाङ्मय केअध्ययन में तत्पर; वर्षाणाम्—वर्षों; अयुत-अयुतम्—दस हजार के दस हजार गुने; आराधयन्—पूजा करते हुए; हृषीक-ईशम्—इन्द्रियों के परम स्वामी, भगवान् विष्णु; जिग्ये—जीत लिया; मृत्युम्—मृत्यु को; सु-दुर्जयम्—जीत पाना असम्भव।

अपने पिता द्वारा ब्राह्मण की दीक्षा प्राप्त करने के लिए किये गये संस्तुत अनुष्ठानों द्वारा शुद्ध बन कर, मार्कण्डेय ने वैदिक स्तोत्रों का अध्ययन किया और विधि-विधानों का कठोरता से पालन किया। वे तपस्या तथा वैदिक ज्ञान में आगे बढ़ गये और जीवन-भर ब्रह्मचारी रहे। अपनी जटा से तथा छाल से बने अपने वस्त्रों से अत्यन्त शान्त प्रतीत होते हुए, उन्होंने अपनी आध्यात्मिक प्रगति को योगी का कमण्डल, दंड, जनेऊ, ब्रह्मचारी पेटी, काला मृग-चर्म, कमल के बीज की जपमाला तथा कुश के समूह को धारण करके और आगे बढ़ाया। उन्होंने दिन की सन्धियों पर भगवान् के पाँच रूपों—यज्ञ-अग्नि, सूर्य, गुरु, ब्राह्मण तथा उसके हृदय के भीतर परमात्मा की नियमित पूजा की। वे प्रातः तथा सायंकाल भिक्षा माँगने जाते और लौटने पर सारा एकत्रित भोजन अपने गुरु को भेंट कर देते। जब गुरु उन्हें आमंत्रित करते, तभी वे मौन भाव से दिन में एक बार भोजन करते, अन्यथा उपवास करते। इस तरह तपस्या तथा वैदिक अध्ययन में समर्पित मार्कण्डेय ऋषि ने इन्द्रियों के परम प्रभु भगवान् की करोड़ों वर्षों तक पूजा की और इस तरह उन्होंने दुर्जेय मृत्यु को जीत लिया।

ब्रह्मा भृगुर्भवो दक्षो ब्रह्मपुत्राश्च येऽपरे ।
नृदेवपितृभूतानि तेनासन्नतिविस्मिताः ॥ १२॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा—ब्रह्मा; भृगुः—भृगु मुनि; भवः—शिवजी; दक्षः—दक्ष प्रजापति; ब्रह्म-पुत्राः—ब्रह्मा के महान् पुत्र; च—तथा; ये—जो; अपरे—अन्य; नृ—मनुष्य; देव—देवतागण; पितृ—पूर्वज; भूतानि—भूतप्रेत; तेन—उससे (मृत्यु पर विजय); आसन्—सबके सब हो गये; अति-विस्मिताः—अत्यन्त चकित।

मार्कण्डेय ऋषि की उपलब्धि से ब्रह्मा, भृगु मुनि, शिवजी, प्रजापति दक्ष, ब्रह्मा के महान् पुत्र, मनुष्यों में से अन्य अनेक लोग, देवता, पूर्वज तथा भूतप्रेत—सभी चकित थे।

इत्थं बृहद्व्रतधरस्तपःस्वाध्यायसंयमैः ।

दध्यावधोक्षजं योगी ध्वस्तक्लेशान्तरात्मना ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार से; बृहत्-व्रत-धरः—ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करते हुए; तपः-स्वाध्याय-संयमैः—अपनी तपस्या, वेदाध्ययन तथा विधि-विधानों के द्वारा; दध्यौ—ध्यान किया; अधोक्षजम्—दिव्य भगवान् पर; योगी—योगी; ध्वस्त—विनष्ट; क्लेश—सारे कष्ट; अन्तः-आत्मना—अपने अंतस्थ मन से।

इस तरह भक्तियोगी मार्कण्डेय ने तपस्या, वेदाध्ययन तथा आत्मानुशासन द्वारा कठोर ब्रह्मचर्य धारण किया। फिर सारे उत्पातों से मुक्त अपने मन से वे अन्दर की ओर मुड़े और भगवान् का ध्यान किया जो भौतिक इन्द्रियों के परे स्थित है।

तस्यैवं युञ्जतश्चित्तं महायोगेन योगिनः ।
व्यतीयाय महान्कालो मन्वन्तरषडात्मकः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; एवम्—इस प्रकार; युञ्जतः—स्थिर करते हुए; चित्तम्—मन; महा-योगेन—योग के शक्तिशाली अभ्यास से; योगिनः—योगी; व्यतीयाय—बीत गया; महान्—महान्; कालः—कालखण्ड; मनु-अन्तर—मनु की आयु; षट्—छः; आत्मकः—से युक्त।

जब यह योगी इस तरह महान् योगाभ्यास द्वारा अपने मन को एकाग्र कर रहा था, तो छः मनुओं की आयु के बराबर (मन्वन्तर) विपुल समय बीत गया।

एतत्पुरन्दरो ज्ञात्वा सप्तमेऽस्मिन्किलान्तरे ।
तपोविशङ्कितो ब्रह्मन्नारेभे तद्विघातनम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; पुरन्दरः—राजा इन्द्र ने; ज्ञात्वा—जान कर; सप्तमे—सातवें; अस्मिन्—इस; किल—निस्सन्देह; अन्तरे—मनु के राज्य में; तपः—तपस्या का; विशङ्कितः—भयभीत होकर; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण शौनक; आरेभे—आरम्भ कर दिया; तत्—उस तपस्या का; विघाटनम्—विघ्न।

हे ब्राह्मण, सातवें मन्वन्तर में, जोकि चालू युग है, इन्द्र को मार्कण्डेय की तपस्या का पता चला तो वह उनकी बढ़ती योगशक्ति से भयभीत हो उठा। इस तरह उसने मुनि की तपस्या में विघ्न डालने का प्रयास किया।

गन्धर्वाप्सरसः कामं वसन्तमलयानिलौ ।
मुनये प्रेषयामास रजस्तोकमदौ तथा ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

गन्धर्व-अप्सरसः—दैवी गायक तथा नर्तकियाँ; कामम्—कामदेव को; वसन्त—वसन्त ऋतु; मलय-अनिलौ—तथा मलय पर्वत से आने वाली प्रफुल्ल करने वाली वायु; मुनये—मुनि के पास; प्रेषयाम् आस—भेजा; रजः-तोक—काम का शिशु, लोभ; मदौ—नशा; तथा—भी।

मुनि की आध्यात्मिक तपस्या नष्ट करने के लिए, इन्द्र ने कामदेव, सुन्दर गन्धर्वों,

अप्सराओं, वसन्त ऋतु तथा मलय पर्वत से चलने वाली चन्दन की गन्ध से युक्त मन्द समीर के साथ साक्षात् लोभ तथा नशे (मद) को भेजा।

ते वै तदाश्रमं जग्मुर्हिमाद्रेः पार्श्व उत्तरे ।
पुष्पभद्रा नदी यत्र चित्राख्या च शिला विभो ॥ १७॥

शब्दार्थ

ते—वे; वै—निस्सन्देह; तत्—मार्कण्डेय ऋषि की; आश्रमम्—कुटिया में; जग्मुः—गये; हिम-अद्रेः—हिमालय पर्वत के; पार्श्वे—बगल में; उत्तरे—उत्तर में; पुष्पभद्रा नदी—पुष्पभद्रा नदी; यत्र—जहाँ; चित्रा-आख्या—चित्रा नामक; च—तथा; शिला—चोटी; विभो—हे शक्तिशाली शौनक।

हे शक्तिशाली शौनक, वे मार्कण्डेय की कुटिया पर गये जो हिमालय पर्वत की उत्तरी दिशा में थी और जहाँ से पुष्पभद्रा नदी सुप्रसिद्ध चोटी चित्रा के निकट से बहती है।

तदाश्रमपदं पुण्यं पुण्यद्रुमलताञ्चितम् ।
पुण्यद्विजकुलाकीऋनं पुण्यामलजलाशयम् ॥ १८॥
मत्तभ्रमरसङ्गीतं मत्तकोकिलकूजितम् ।
मत्तबर्हिनटाटोपं मत्तद्विजकुलाकुलम् ॥ १९॥
वायुः प्रविष्ट आदाय हिमनिर्झरशीकरान् ।
सुमनोभिः परिष्वक्तो ववावुत्तम्भयन्स्मरम् ॥ २०॥

शब्दार्थ

तत्—उसकी; आश्रम-पदम्—कुटिया का स्थान; पुण्यम्—पवित्र; पुण्य—पवित्र; द्रुम—वृक्षों; लता—तथा लताओं से; अञ्चितम्—विशेष रूप से अंकित; पुण्य—पवित्र; द्विज—ब्राह्मण मुनियों के; कुल—समूहों से; आकीर्णम्—परिपूरित; पुण्य—पवित्र; अमल—निर्मल; जल-आशयम्—जलाशयों से युक्त; मत्त—मतवाले; भ्रमर—भौरों के; सङ्गीतम्—संगीत से; मत्त—उन्मत्त बने हुए; कोकिल—कोयलों की; कूजितम्—कूक से; मत्त—मतवाले; बर्हि—मोरों के; नट-आटोपम्—नाचने के नशे में; मत्त—मतवाले; द्विज—पक्षियों के; कुल—परिवारों से युक्त; आकुलम्—पूरित; वायुः—मलयाचल की वायु ने; प्रविष्टः—प्रवेश करके; आदाय—लेकर; हिम—शीतल; निर्झर—झरनों के; शीकरान्—कुहरे के कणों; सुमनोभिः—फूलों से; परिष्वक्तः—आलिंगित होकर; ववौ—बहने लगी; उत्तम्भयन्—जागृत करते हुए; स्मरम्—कामदेव को।

मार्कण्डेय ऋषि के आश्रम को पवित्र वृक्षों के कुंज अलंकृत कर रहे थे और बहुत-से साधु ब्राह्मण प्रचुर शुद्ध, पवित्र तालाबों का आनन्द उठाते हुए वहाँ रह रहे थे। वह आश्रम उन्मत्त भौरों की गुनगुनाहट से तथा उत्तेजित कोयलों की कुहू-कुहू से प्रतिध्वनित हो रहा था और प्रफुल्लित मोर इधर-उधर नाच रहे थे। निस्सन्देह उन्मत्त पक्षियों के अनेक परिवार उस कुटिया में झुंड के झुंड रह रहे थे। वहाँ पर इन्द्र द्वारा भेजी वसन्त की वायु पास के झरनों से शीतल बूँदों की फुहार लेते हुए प्रविष्ट हुई। वह वायु वन के फूलों के आलिंगन से सुगंधित थी। उसने कुटिया में प्रवेश किया और कामदेव की कामेच्छा को जगाना प्रारम्भ कर दिया।

उद्यच्चन्द्रनिशावक्त्रः प्रवालस्तबकालिभिः ।
गोपद्रुमलताजालैस्तत्रासीत्कुसुमाकरः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

उद्यत्—उदय होते; चन्द्र—चन्द्रमा के साथ; निशा—रात; वक्त्रः—मुख वाली; प्रवाल—नई कोपलों से; स्तबक—फूलों की; आलिभिः—पंक्तियों से; गोप—छिपी; द्रुम—वृक्षों; लता—तथा लताओं के; जालैः—समूह से; तत्र—वहाँ; आसीत्—प्रकट हुआ; कुसुम-आकरः—वसन्त ऋतु।

तब मार्कण्डेय के आश्रम में वसन्त ऋतु प्रकट हुआ। संध्याकालीन आकाश उदय हो रहे चन्द्रमा के प्रकाश से चमक रहा था मानो वह वसन्त का मुख हो और नई कोंपले और ताजे फूल प्रायः वृक्षों और लताओं के झुंडों को आच्छादित किये हुए थे।

अन्वीयमानो गन्धर्वैर्गीतवादित्रयूथकैः ।
अदृश्यतात्तचापेषुः स्वःस्त्रीयूथपतिः स्मरः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अन्वीयमानः—अनुसरण करते हुए; गन्धर्वैः—गन्धर्वों द्वारा; गीत—गायकों; वादित्र—तथा वाद्य-यंत्र बजाने वालों की; यूथकैः—टोलियों द्वारा; अदृश्यत—दिखाई पड़ा; आत्त—पकड़े; चाप-इषुः—अपना धनुष तथा बाण; स्वः-स्त्री-यूथ—झुंड की झुंड स्वर्ग की स्त्रियों का; पतिः—स्वामी; स्मरः—कामदेव।

तब अनेक स्वर्ग की स्त्रियों का पति कामदेव वहाँ पर अपना धनुष और बाण लिए आया। उसके पीछे-पीछे गन्धर्वों की टोलियाँ थी जो वाद्य-यंत्र बजा रहे थे और गा रहे थे।

हुत्वाग्निं समुपासीनं ददृशुः शक्रकिङ्कराः ।
मीलिताक्षं दुराधर्षं मूर्तिमन्तमिवानलम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

हुत्वा—आहुति डाल कर; अग्निम्—अग्नि में; समुपासीनम्—योग-ध्यान में बैठे हुए; ददृशुः—देखा; शक्र—इन्द्र के; किङ्कराः—नौकरों ने; मीलित—बन्द; अक्षम्—नेत्र; दुराधर्षम्—अजेय; मूर्ति-मन्तम्—साक्षात्; इव—मानो; अनलम्—अग्नि।

इन्द्र के नौकरों ने ऋषि को ध्यान में आसीन पाया, जिसने अभी अभी यज्ञ-अग्नि में नियत आहुतियाँ डाली थीं। उसकी आँखें समाधि में बन्द थीं; वह अजेय प्रतीत हो रहा था मानो साक्षात् अग्नि हो।

ननृतुस्तस्य पुरतः स्त्रियोऽथो गायका जगुः ।
मृदङ्गवीणापणवैर्वाद्यं चक्रुर्मनोरमम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

ननृतुः—नाचीं; तस्य—उनके; पुरतः—समक्ष; स्त्रियः—स्त्रियाँ; अथ उ—तथा; गायकाः—गवैयों ने; जगुः—गाया; मृदङ्ग—मृदंग; वीणा—वीणा; पणवैः—तथा मंजीरों से; वाद्यम्—वाद्य संगीत; चक्रुः—किया; मनः-रमम्—मन को हरने वाला।

ऋषि के समक्ष स्त्रियाँ नाचने लगीं और गन्धर्वों ने मृदंग, वीणा तथा मंजीरों के साथ

मनोहर गीत गाये।

सन्दधेऽस्त्रं स्वधनुषि कामः पञ्चमुखं तदा ।
मधुर्मनो रजस्तोक इन्द्रभृत्या व्यकम्पयन् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सन्दधे—चढ़ाया; अस्त्रम्—हथियार; स्व-धनुषि—अपने धनुष पर; कामः—कामदेव ने; पञ्च-मुखम्—पाँच सिरों (दृष्टि, ध्वनि, गन्ध, स्पर्श तथा स्वाद) वाले; तदा—तब; मधुः—वसन्त; मनः—ऋषि का मन; रजः-तोकः—कामका शिशु, लोभ; इन्द्र-भृत्याः—इन्द्र के नौकर; व्यकम्पयन्—विचलित करने लगे।

जब काम का पुत्र (साक्षात् लोभ), वसन्त तथा इन्द्र के अन्य नौकर मार्कण्डेय के मन को विचलित करने का प्रयत्न कर रहे थे, तो कामदेव ने अपना पाँच सिरों वाला तीर निकाला और उसे अपने धनुष पर चढ़ाया।

क्रीडन्त्याः पुञ्जिकस्थल्याः कन्दुकैः स्तनगौरवात् ।
भृशमुद्विग्नमध्यायाः केशविस्रंसितस्रजः ॥ २६ ॥
इतस्ततो भ्रमद्दृष्टेश्चलन्त्या अनु कन्दुकम् ।
वायुर्जहार तद्वासः सूक्ष्मं त्रुटितमेखलम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

क्रीदन्त्याः—खेल रही; पुञ्जिकस्थल्याः—पुञ्जिकस्थली नामक अप्सरा की; कन्दुकैः—गेंदों से; स्तन—उसके कुचों के; गौरवात्—अधिक भार से; भृशम्—अत्यधिक; उद्विग्न—बोझिल; मध्यायाः—जिसकी कटि; केश—उसके बालों से; विस्रंसित—गिरते हुए; स्रजः—फूल का हार; इतः ततः—इधर-उधर; भ्रमत्—विचरण करती; दृष्टेः—जिसकी आँखें; चलन्त्याः—चंचल; अनु कन्दुकम्—अपनी गेंद के पीछे; वायुः—वायु; जहार—उड़ा ले गया; तत्-वासः—उसका वस्त्र; सूक्ष्मम्—झीना; त्रुटित—ढीली; मेखलम्—पेटी।

पुञ्जिकस्थली नामक अप्सरा अनेक गेंदों से खेलने का प्रदर्शन करने लगी। उसकी कमर उसके भारी स्तनों के भार से लचक रही थी और उसके बालों में गुँथे फूलों का हार बिखर रहा था। जब वह इधर-उधर दृष्टि डालती, गेंदों के पीछे दौड़ती, तो उसके झीने वस्त्र की पेटी ढीली पड़ गई और सहसा वायु उसके वस्त्र उड़ा ले गया।

विससर्ज तदा बाणं मत्वा तं स्वजितं स्मरः ।
सर्वं तत्राभवन्मोघमनीशस्य यथोद्यमः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

विससर्ज—छोड़ा; तदा—तब; बाणम्—तीर; मत्वा—सोच कर; तम्—उसको; स्व—अपने द्वारा; जितम्—जीता हुआ; स्मरः—कामदेव; सर्वम्—यह सब; तत्र—ऋषि की ओर; अभवत्—हो गया; मोघम्—व्यर्थ; अनीशस्य—नास्तिक का; यथा—जिस तरह; उद्यमः—प्रयास।

तब कामदेव ने यह सोच कर कि उसने ऋषि को जीत लिया है, अपना तीर चलाया। किन्तु मार्कण्डेय को बहकाने के ये सारे प्रयास निष्फल रहे जिस तरह नास्तिक के प्रयास

व्यर्थ जाते हैं।

त इत्थमपकुर्वन्तो मुनेस्तत्तेजसा मुने ।
दह्यमाना निववृतुः प्रबोध्याहिमिवार्भकाः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; इत्थम्—इस तरह; अपकुर्वन्तः—हानि पहुँचाने का प्रयास करते; मुनेः—मुनि को; तत्—उसकी; तेजसा—शक्ति से; मुने—हे मुनि (शौनक); दह्यमानाः—जला हुआ अनुभव करते हुए; निववृतुः—विलग हो गये; प्रबोध्य—जगाकर; अहिम्—सर्प को; इव—मानो; अर्भकाः—बालक।

हे विद्वान शौनक, जब कामदेव तथा उसके अनुयायी मुनि को हानि पहुँचाने का प्रयास कर रहे थे, तो वे स्वयं उनकी शक्ति से जीवित ही दग्ध होते अनुभव करने लगे। इस तरह उन्होंने अपनी शैतानी बन्द कर दी जिस तरह सोते साँप को जगाने वाले बालक।

इतीन्द्रानुचरैर्ब्रह्मन्धर्षितोऽपि महामुनिः ।
यन्नागादहमो भावं न तच्चित्रं महत्सु हि ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; इन्द्र-अनुचरैः—इन्द्र के अनुयायियों द्वारा; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; धर्षितः—धृष्ठतापूर्वक आक्रमण किया गया; अपि—यद्यपि; महा-मुनिः—महामुनि; यत्—जिसको; न अगात्—झुके नहीं; अहमः—मिथ्या अहंकार का; भावम्—रूपान्तर को; न—नहीं; तत्—उस; चित्रम्—आश्चर्यजनक; महत्सु—महात्माओं के लिए; हि—निस्सन्देह।

हे ब्राह्मण, इन्द्र के अनुयायियों ने उद्धत होकर सन्त स्वभाव वाले मार्कण्डेय पर आक्रमण किया था; फिर भी वे मिथ्या अहंकार के किसी भी प्रभाव के आगे झुके नहीं। महात्माओं के लिए ऐसी सहिष्णुता तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं है।

दृष्ट्वा निस्तेजसं कामं सगणं भगवान्स्वराट् ।
श्रुत्वानुभावं ब्रह्मर्षेर्विस्मयं समगात्परम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देख कर; निस्तेजसम्—अपनी शक्ति से रहित; कामम्—कामदेव को; स-गणम्—उसके संगियों समेत; भगवान्—शक्तिमान प्रभु; स्व-राट्—इन्द्र ने; श्रुत्वा—सुन कर; अनुभावम्—प्रभाव; ब्रह्म-ऋषेः—ब्रह्मर्षि का; विस्मयम्—आश्चर्य को; समगात्—प्राप्त हुआ; परम्—अत्यधिक।

बलशाली इन्द्र ने जब महर्षि मार्कण्डेय की योगशक्ति के विषय में सुना तो उसे अत्यधिक आश्चर्य हुआ। उसने देखा कि किस तरह कामदेव तथा उसके संगी महर्षि की उपस्थिति में शक्तिहीन हो गये थे।

तस्यैवं युञ्जतश्चित्तं तपःस्वाध्यायसंयमैः ।
अनुग्रहायाविरासीन्नरनारायणो हरिः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तस्य—मार्कण्डेय के; एवम्—इस तरह; युञ्जतः—स्थिर हुए; चित्तम्—मन को; तपः—तपस्या से; स्वाध्याय—वेदाध्ययन द्वारा; संयमैः—तथा संयम द्वारा; अनुग्रहाय—दया दिखाने के लिए; आविरासीत्—अपने को प्रकट किया; नर-नारायणः—नर तथा नारायण के रूप में; हरिः—भगवान् ने।

सन्त स्वभाव वाले मार्कण्डेय पर, जिन्होंने तपस्या, वेदाध्ययन तथा संयम के द्वारा आत्म-साक्षात्कार में अपने मन को पूरी तरह स्थिर कर लिया था, अपनी दया दिखलाने की इच्छा से भगवान् उनके समक्ष नर तथा नारायण रूपों में प्रकट हुए।

तौ शुक्लकृष्णौ नवकञ्जलोचनौ
चतुर्भुजौ रौरववल्कलाम्बरौ ।
पवित्रपाणी उपवीतकं त्रिवृत्
कमण्डलुं दण्डमृजुं च वैणवम् ॥ ३३ ॥
पद्माक्षमालामुत जन्तुमार्जनं
वेदं च साक्षात्तप एव रूपिणौ ।
तपत्तडिद्वर्णपिशङ्गरोचिषा
प्रांशू दधानौ विबुधर्षभार्चितौ ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तौ—वे दोनों; शुक्ल-कृष्णौ—एक गोरा तथा दूसरा काला; नव-कञ्ज—खिले कमल के फूल के समान; लोचनौ—आँखों वाले; चतुः-भुजौ—चार भुजाओं वाले; रौरव—काला मृगचर्म; वल्कल—तथा पेड़ की छाल; अम्बरौ—वस्त्रों के रूप में; पवित्र—अत्यन्त पवित्र करने वाले; पाणी—हाथों वाले; उपवीतकम्—जनेऊ; त्रि-वृत्—तीन लड़ों वाले; कमण्डलुम्—जलपात्र, कमण्डल; दण्डम्—डण्डा, लाठी; ऋजुम्—सीधा; च—तथा; वैणवम्—बाँस का बना; पद्म-अक्ष—कमल के बीजों की; मालाम्—जपमाला; उत—तथा; जन्तु-मार्जनम्—सारे जीवों को शुद्ध बनाने वाले; वेदम्—वेदों को (दर्भ के पुंजों से प्रदर्शित); च—तथा; साक्षात्—प्रत्यक्ष; तपः—तपस्या; एव—निस्सन्देह; रूपिणौ—साक्षात्; तपत्—जलते हुए; तडित्—बिजली; वर्ण—रंग; पिशङ्ग—पीला; रोचिषा—तेज से; प्रांशु—अत्यन्त लम्बे; दधानौ—पहने हुए; विबुध-ऋषभ—देवताओं में प्रमुख; अर्चितौ—पूजति।

उनमें से एक गोरे वर्ण का और दूसरा साँवला था और उन दोनों के चार-चार बाजू थे। उनके नेत्र खिले कमल की पत्तियों जैसे थे और वे श्याम मृगचर्म तथा छाल का वस्त्र तथा तीन धागों वाला जनेऊ पहने थे। वे पवित्र करने वाले अपने हाथों में, यती का कमण्डल, सीधे बाँस का लट्ठ और कमल के बीज की जपमाला तथा दर्भ के पुंजों के प्रतीक रूप में सबको पवित्र करने वाले वेदों को भी धारण किये हुए थे। उनका कद लम्बा था और उनका पीला तेज चमकती बिजली के रंग का था। वे साक्षात् तपस्या की मूर्ति रूप में प्रकट हुए थे और अग्रणी देवताओं द्वारा पूजे जा रहे थे।

ते वै भगवतो रूपे नरनारायणावृषी ।
दृष्ट्वोत्थायादरेणोच्चैर्ननामाङ्गेन दण्डवत् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; वै—निस्सन्देह; भगवतः—भगवान् के; रूपे—साकार रूप में; नर-नारायणौ—नर तथा नारायण; ऋषी—दोनों ऋषि; दृष्ट्वा—देख कर; उत्थाय—खड़े होकर; आदरेण—आदरपूर्वक; उच्चैः—अत्यधिक; ननाम—प्रणाम किया; अङ्गेन—अपने पूरे शरीर से; दण्ड-वत्—डंडे की तरह।

ये दोनों मुनि नर तथा नारायण भगवान् के साकार रूप थे। जब मार्कण्डेय ऋषि ने दोनों को देखा तो वे तुरन्त उठ खड़े हुए और तब पृथ्वी पर डंडे की तरह गिर कर अतीव आदर से उन्हें नमस्कार किया।

स तत्सन्दर्शनानन्दनिर्वृतात्मेन्द्रियाशयः ।
हृष्टरोमाश्रुपूर्णाक्षो न सेहे तावुदीक्षितुम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, मार्कण्डेय; तत्—उनका; सन्दर्शन—दर्शन करने से; आनन्द—आनन्द से; निर्वृत—प्रसन्न; आत्म—जिसका शरीर; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आशयः—तथा मन; हृष्ट—खड़े हुए; रोमा—शरीर के रोएँ; अश्रु—आँसुओं से; पूर्ण—भरे; अक्षः—नेत्र; न सेहे—असमर्थ; तौ—दोनों को; उदीक्षितुम्—देख पाने में।

उन्हें देखने से उत्पन्न हुए आनन्द ने मार्कण्डेय के शरीर, मन तथा इन्द्रियों को पूरी तरह तुष्ट कर दिया और उनके शरीर में रोमांच ला दिया और उनके नेत्रों को आँसुओं से भर दिया। भावविह्वल होने से मार्कण्डेय उन्हें देख पाने में असमर्थ हो रहे थे।

उत्थाय प्राञ्जलिः प्रह्व औत्सुक्यादाश्लिषन्निव ।
नमो नम इतीशानौ बभाशे गद्गदाक्षरम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

उत्थाय—खड़े होकर; प्राञ्जलिः—हाथ जोड़े; प्रह्वः—विनीत; औत्सुक्यात्—उत्सुकता के कारण; आश्लिषन्—आलिंगन करते हुए; इव—मानो; नमः—नमस्कार; नमः—नमस्कार; इति—इस प्रकार; ईशानौ—दोनों प्रभुओं से; बभाषे—कहा; गद्गद—आनन्द से रुद्ध; अक्षरम्—अक्षर।

सम्मान में हाथ जोड़े खड़े होकर तथा दीनतावश अपना सिर झुकाये मार्कण्डेय को इतनी उत्सुकता हुई कि उन्हें लगा कि वे दोनों ईश्वरों का आलिंगन कर रहे हैं। आनन्द से रुद्ध हुई वाणी से उन्होंने बारम्बार कहा ''मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।''

तयोरासनमादाय पादयोरवनिज्य च ।
अर्हणेनानुलेपेन धूपमाल्यैरपूजयत् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

तयोः—उनको; आसनम्—बैठने का स्थान; आदाय—देते हुए; पादयोः—उनके पैरों को; अवनिज्य—पखार कर; च—तथा; अर्हणेन—उपयुक्त आदरपूर्ण भेंटों से; अनुलेपेन—चन्दन तथा अन्य सुगन्धित द्रव्यों से लेपित करके; धूप—धूप; माल्यैः—तथा फूल की मालाओं से; अपूजयत्—पूजा की।

उन्होंने उन दोनों को आसन प्रदान किया, उनके पैर धोये और तब अर्घ्य, चन्दन-लेप, सुगन्धित तेल, धूप तथा फूल-मालाओं की भेंट चढ़ाकर पूजा की।

सुखमासनमासीनौ प्रसादाभिमुखौ मुनी ।
पुनरानम्य पादाभ्यां गरिष्ठाविदमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सुखम्—आराम से; आसनम्—आसनों पर; आसीनौ—बैठे; प्रसाद—दया; अभिमुखौ—देने को उद्यत; मुनी—दो मुनियों के रूप में भगवान् के अवतारों को; पुनः—फिर से; आनम्य—प्रणाम करके; पादाभ्याम्—उनके पाँवों पर; गरिष्ठौ—अत्यन्त पूजनीय; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा।

मार्कण्डेय ऋषि ने पुनः इन दो पूज्य मुनियों के चरणकमलों पर शीश झुकाया जो सुखपूर्वक बैठे थे और उन पर कृपा करने के लिए उद्यत थे। तब उन्होंने उनसे इस प्रकार कहा।

श्रीमार्कण्डेय उवाच
किं वर्णये तव विभो यदुदीरितोऽसुः
संस्पन्दते तमनु वाङ्मनइन्द्रियाणि ।
स्पन्दन्ति वै तनुभृतामजशर्वयोश्च
स्वस्याप्यथापि भजतामसि भावबन्धुः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

श्री-मार्कण्डेयः उवाच—श्री मार्कण्डेय ने कहा; किम्—क्या; वर्णये—वर्णन करूँ; तव—आपके विषय में; विभो—हे सर्वशक्तिमान प्रभु; यत्—जिनसे; उदीरितः—चलाई जाती है; असुः—प्राणवायु; संस्पन्दते—जीवन पाती है; तम् अनु—पीछे-पीछे; वाक्—वाणी की शक्ति; मनः—मन; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; स्पन्दन्ति—कार्य करने लगती हैं; वै—निस्सन्देह; तनु-भृताम्—समस्त देहधारी जीवों का; अज-शर्वयोः—ब्रह्मा तथा शिव के स्वामी का; च—भी; स्वस्य—मेरा; अपि—भी; अथ अपि—तो भी; भजताम्—पूजा करने वालों के लिए; असि—हो; भाव-बन्धुः—घनिष्ठ प्रेमी मित्र।

श्री मार्कण्डेय ने कहा : ''हे सर्वशक्तिमान प्रभु, भला मैं आपका वर्णन कैसे कर सकता हूँ?'' आप प्राणवायु को जागृत करते हैं, जो मन, इन्द्रियों तथा वाक्-शक्ति को कार्य करने के लिए प्रेरित करती है। यह सारे सामान्य बद्धजीवों पर, यहाँ तक कि ब्रह्मा तथा शिव जैसे महान् देवताओं पर भी, लागू होता है। अतएव यह निस्सन्देह, मेरे लिए भी सही है। तो भी, आप अपनी पूजा करने वालों के घनिष्ठ मित्र बन जाते हैं।

मूर्ती इमे भगवतो भगवंस्त्रिलोक्याः
क्षेमाय तापविरमाय च मृत्युजित्यै ।
नाना बिभर्ष्यवितुमन्यतनूर्यथेदं
सृष्ट्वा पुनर्ग्रससि सर्वमिवोर्णनाभिः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

मूर्ती—दो साकार रूप; इमे—ये; भगवतः—भगवान् के; भगवन्—हे प्रभु; त्रि-लोक्याः—तीनों लोकों के; क्षेमाय—कल्याण के लिए; ताप—भौतिक कष्ट की; विरमाय—समाप्ति के लिए; च—तथा; मृत्यु—मृत्यु पर; जित्यै—विजय के लिए; नाना—विविध; बिभर्षि—प्रकट करते हो; अवितुम्—रक्षा करने के लिए; अन्य—अन्य; तनूः—दिव्य शरीर;

यथा—जिस तरह; इदम्—इस ब्रह्माण्ड को; सृष्ट्वा—उत्पन्न करके; पुनः—एक बार फिर; ग्रससि—निगल लेते हो; सर्वम्—पूरी तरह; इव—सदृश; ऊर्ण-नाभिः—मकड़ा।

हे भगवान्, आपके ये दो साकार रूप तीनों जगतों को परम लाभ प्रदान करने के लिए—भौतिक कष्ट की समाप्ति तथा मृत्यु पर विजय के लिए—प्रकट हुए हैं। हे प्रभु, यद्यपि आप इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं और इसकी रक्षा करने के लिए नाना प्रकार के दिव्य रूप धारण करते हैं, किन्तु आप इसे निगल भी लेते हैं जिस तरह मकड़ी पहले जाल बुनती है और बाद में उसे निगल जाती है।

तस्यावितुः स्थिरचरेशितुरङ्घ्रिमूलं
यत्स्थं न कर्मगुणकालरजः स्पृशन्ति ।
यद्वै स्तुवन्ति निनमन्ति यजन्त्यभीक्ष्णं
ध्यायन्ति वेदहृदया मुनयस्तदाप्त्यै ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अवितुः—रक्षक; स्थिर-चर—अचर तथा चर प्राणी; ईशितुः—परम नियन्ता; अङ्घ्रि-मूलम्—उनके चरणकमलों के तलवे; यत्-स्थम्—जिस पर स्थित है; न—नहीं; कर्म-गुण-काल—भौतिक कर्म, भौतिक गुणों तथा काल का; रजः—दूषण; स्पृशन्ति—छूते हैं; यत्—जिसको; वै—निस्सन्देह; स्तुवन्ति—प्रशंसा करते हैं; निनमन्ति—नमन करते हैं; यजन्ति—पूजा करते हैं; अभीक्ष्णम्—हर क्षण; ध्यायन्ति—ध्यान करते हैं; वेद-हृदयाः—जिन्होंने वेदों का आत्मसात् कर लिया है; मुनयः—मुनिगण; तत्-आप्त्यै—उन्हें प्राप्त करने के उद्देश्य से।

चूँकि आप सारे चर तथा अचर प्राणियों के रक्षक तथा परम नियन्ता हैं, इसलिए जो भी आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है, उसे भौतिक कर्म, भौतिक गुण या काल के दूषण छू तक नहीं सकते। जिन महर्षियों ने वेदों के अर्थ को आत्मसात् कर रखा है, वे आपकी स्तुति करते हैं। आपका सान्निध्य प्राप्त करने के लिए वे हर अवसर पर आपको नमस्कार करते हैं, निरन्तर आपको पूजते हैं और आपका ध्यान करते हैं।

नान्यं तवाङ्घ्र्युपनयादपवर्गमूर्तेः
क्षेमं जनस्य परितोभिय ईश विद्मः ।
ब्रह्मा बिभेत्यलमतो द्विपरार्धधिष्ण्यः
कालस्य ते किमुत तत्कृतभौतिकानाम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

न अन्यम्—अन्य नहीं; तव—तुम्हारे; अङ्घ्रि—चरणकमलों के; उपनयात्—प्राप्ति की अपेक्षा; अपवर्ग-मूर्तेः—जो साक्षात् मोक्ष हैं; क्षेमम्—लाभ; जनस्य—पुरुष के लिए; परितः—सभी दिशाओं में; भियः—भयभीत; ईश—हे ईश्वर; विद्मः—हम जानते हैं; ब्रह्मा—ब्रह्मा; बिभेति—भयभीत रहता है; अलम्—अत्यधिक; अतः—इस कारण से; द्वि-परार्ध—ब्रह्माण्ड की पूरी अवधि; धिष्ण्यः—शासनकाल; कालस्य—काल का; ते—आपका स्वरूप; किम् उत—क्या कहा जाय; तत्-कृत—उस ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न; भौतिकानाम्—संसारी प्राणियों का।

हे प्रभु, ब्रह्मा भी, जोकि ब्रह्माण्ड की पूरी अवधि तक अपने उच्च पद का भोग करता है, काल के प्रवाह से भयभीत रहता है। तो उन बद्धजीवों के बारे में क्या कहा जाय जिन्हें

ब्रह्मा उत्पन्न करते हैं। वे अपने जीवन के पग-पग पर भयावने संकटों का सामना करते हैं।मैं इस भय से छुटकारा पाने के लिए आपके चरणमलों की जोकि साक्षात् मोक्ष स्वरूप हैं शरण ग्रहण करने के सिवाय और कोई साधन नहीं जानता।

तद्वै भजाम्यृतधियस्तव पादमूलं
हित्वेदमात्मच्छदि चात्मगुरोः परस्य ।
देहाद्यपार्थमसदन्त्यमभिज्ञमात्रं
विन्देत ते तर्हि सर्वमनीषितार्थम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; वै—निस्सन्देह; भजामि—पूजा करता हूँ; ऋत-धियः—उनकी, जिनकी बुद्धि सदैव सत्य का अनुभव करती है; तव—तुम्हारे; पाद-मूलम्—चरणकमलों के तलवे; हित्वा—त्याग कर; इदम्—यह; आत्म-छदि—आत्मा का आवरण; च—तथा; आत्म-गुरोः—आत्म के गुरु का; परस्य—परब्रह्म का; देह-आदि—भौतिक शरीर तथा अन्य मिथ्या उपाधियाँ; अपार्थम्—व्यर्थ; असत्—अयथार्थ; अन्त्यम्—क्षणिक; अभिज्ञ-मात्रम्—पृथक् अस्तित्व की कल्पना करके; विन्देत—प्राप्त करता है; ते—आपसे; तर्हि—तब; सर्व—सारा; मनीषित—वांछित; अर्थम्—वस्तुएँ।

इसलिए मैं भौतिक शरीर तथा उन सारी वस्तुओं से, जो मेरी असली आत्मा को प्रच्छन्न करती हैं, अपनी पहचान का परित्याग करके आपके चरणकमलों की पूजा करता हूँ। ये व्यर्थ, अयथार्थ तथा क्षणिक आवरण, आपसे जिनकी बुद्धि समस्त सत्य को समेटने वाली है, पृथक् कल्पित मात्र किये जाते हैं। परमेश्वर तथा आत्मा के गुरु स्वरूप आपको प्राप्त करके मनुष्य प्रत्येक वांछित वस्तु प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य : जो व्यक्ति झूठे ही अपने को भौतिक देह या मन मानता है, वह अपने को भौतिक जगत का दुरुपयोग करने का अधिकारी समझता है। किन्तु जब हमें अपने नित्य आध्यात्मिक स्वभाव तथा सभी पर कृष्ण के परम स्वामित्व का बोध होता है, तो हम आध्यात्मिक ज्ञान के बल पर मिथ्या भोग-लालसा की मनोवृत्ति को त्याग देते हैं।

सत्त्वं रजस्तम इतीश तवात्मबन्धो
मायामयाः स्थितिलयोदयहेतवोऽस्य ।
लीला धृता यदपि सत्त्वमयी प्रशान्त्यै
नान्ये नृणां व्यसनमोहभियश्च याभ्याम् ॥ ४५॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतो; रजः—रजो; तमः—तमो; इति—इस प्रकार कहलाने वाले गुण; ईश—हे ईश्वर; तव—तुम्हारा; आत्म-बन्धो—हे आत्म के परम मित्र; माया-मयाः—आपकी माया से उत्पन्न; स्थिति-लय-उदय—पालन, विनाश तथा सृजन; हेतवः—कारण; अस्य—इस ब्रह्माण्ड के; लीलाः—लीलाओं के रूप में; धृताः—कल्पित; यत् अपि—यद्यपि; सत्त्व-मयी—सात्विक; प्रशान्त्यै—मोक्ष के लिए; न—नहीं; अन्ये—अन्य दो; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; व्यसन—खतरा; मोह—मोह; भियः—तथा भय; च—भी; याभ्याम्—जिससे।

हे प्रभु, हे बद्धजीव के परम मित्र, यद्यपि इस जगत की उत्पत्ति, पालन और संहार के

लिए आप सतो, रजो तथा तमोगुणों को जो आपकी मायाशक्ति हैं, स्वीकार करते हैं? किन्तु बद्धजीवों को मुक्त करने के लिए आप सतोगुण का प्रयोग करते हैं। अन्य दो गुण उनके लिए कष्ट, मोह तथा भय लाने वाले हैं।

तात्पर्य : *लीला धृताः* शब्द सूचित करते हैं ब्रह्मा का सृजन-कार्य, शिव का विध्वंसात्मक कार्य तथा विष्णु का पालन-पोषण कार्य, परब्रह्म भगवान् कृष्ण की लीलाएँ हैं। किन्तु अन्त में भगवान् विष्णु ही भौतिक मोह के चंगुल से छुड़ा सकते हैं जैसाकि *सत्त्वमयी प्रशान्त्यै* शब्दों से सूचित होता है।

हमारे रजोगुणी तथा तमोगुणी कर्म हमारे लिए तथा अन्यों के लिए महान् कष्ट, मोह तथा भय उत्पन्न करने वाले हैं, अतएव उनका परित्याग किया जाना चाहिए। मनुष्य को सतोगुण में स्थिर होकर आध्यात्मिक पद पर शान्तिपूर्वक जीवन बिताना चाहिए। सतोगुण का सार यह है कि सारे कार्यों में स्वार्थ को त्याग कर अपना सारा जीवन उन भगवान् कृष्ण को समर्पित कर दिया जाय जो हमारे जीवन के स्रोत हैं।

तस्मात्तवेह भगवन्नथ तावकानां
शुक्लां तनुं स्वदयितां कुशला भजन्ति ।
यत्सात्वताः पुरुषरूपमुशन्ति सत्त्वं
लोको यतोऽभयमुतात्मसुखं न चान्यत् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; तव—तुम्हारा; इह—इस जगत में; भगवन्—हे भगवान्; अथ—तथा; तावकानाम्—आपके भक्तों के; शुक्लाम्—दिव्य; तनुम्—स्वरूप को; स्व-दयिताम्—अत्यन्त प्रिय; कुशलाः—आध्यात्मिक ज्ञान में दक्ष; भजन्ति—पूजा करते हैं; यत्—क्योंकि; सात्वताः—महान् भक्तगण; पुरुष—आदि भगवान् के; रूपम्—स्वरूप को; उशन्ति—मानते हैं; सत्त्वम्—सतोगुण; लोकः—आध्यात्मिक जगत; यतः—जिससे; अभयम्—निर्भीकता; उत—तथा; आत्म-सुखम्—आत्मा का सुख; न—नहीं; च—तथा; अन्यत्—अन्य कोई।

हे प्रभु, चूँकि निर्भीकता, आध्यात्मिक सुख तथा भगवद्धाम—ये सभी सतोगुण के द्वारा ही प्राप्त किये जाते हैं इसलिए आपके भक्त इसी गुण को आपकी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति मानते हैं, रजो तथा तमोगुण को नहीं। इस तरह बुद्धिमान व्यक्ति आपके प्रिय दिव्य रूप को, जोकि शुद्ध सत्व से बना होता है, आपके शुद्ध भक्तों के आध्यात्मिक स्वरूपों के साथ पूजा करते हैं।

तात्पर्य : बुद्धिमान व्यक्ति देवताओं की पूजा नहीं करते क्योंकि वे रजो तथा तमोगुणों के सूचक हैं। ब्रह्मा रजोगुण के और शिव तमोगुण के सूचक हैं तथा इन्द्र आदि देवता भी भौतिक प्रकृति के गुणों के सूचक हैं। किन्तु विष्णु या नारायण शुद्ध सतोगुण के सूचक हैं जिससे मनुष्य को आध्यात्मिक जगत का साक्षात्कार, भय से मुक्ति तथा आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त होते हैं। ऐसे लाभ अशुद्ध भौतिक सतोगुण से कभी नहीं मिल सकते क्योंकि उसमें सदा रजो तथा तमोगुण मिले रहते हैं। जैसाकि इस श्लोक से स्पष्ट सूचित होता है ईश्वर का दिव्य स्वरूप नित्य सतोगुण से बना

होता है, अतएव उसमें भौतिक सतो, रजो या तमोगुण का लेश भी नहीं रहता।

तस्मै नमो भगवते पुरुषाय भूम्ने
विश्वाय विश्वगुरवे परदैवताय ।
नारायणाय ऋषये च नरोत्तमाय
हंसाय संयतगिरे निगमेश्वराय ॥ ४७॥

शब्दार्थ

तस्मै—उस; नमः—मेरा नमस्कार; भगवते—भगवान् को; पुरुषाय—परम पुरुष; भूम्ने—सर्वव्यापी; विश्वाय—ब्रह्माण्ड के समस्त स्वरूप; विश्व-गुरवे—ब्रह्माण्ड के गुरु; पर-दैवताय—परम पूज्य देव; नारायणाय—नारायण को; ऋषये—ऋषि; च—तथा; नर-उत्तमाय—पुरुषों में श्रेष्ठ; हंसाय—नितान्त शुद्ध; संयत-गिरे—संयमित वाणी वाले; निगम-ईश्वराय—वैदिक शास्त्रों के स्वामी।

मैं उन भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ। वे ब्रह्माण्ड के सर्वव्यापक तथा सर्वस्व हैं और उसके गुरु भी हैं। मैं भगवान् नारायण को नमस्कार करता हूँ जो ऋषि के रूप में प्रकट होने वाले परम पूज्य देव हैं। मैं सन्त स्वभाव वाले नर को भी नमस्कार करता हूँ जो मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ हैं, जो पूर्ण सात्विक हैं, जिनकी वाणी संयमित है और जो वैदिक ग्रन्थों के प्रचारक हैं।

यं वै न वेद वितथाक्षपथैर्भ्रमद्धीः
सन्तं स्वकेष्वसुषु हृद्यपि दृक्पथेषु ।
तन्माययावृतमतिः स उ एव साक्षा-
दाद्यस्तवाखिलगुरोरुपसाद्य वेदम् ॥ ४८॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको; वै—निस्सन्देह; न वेद—नहीं पहचानते; वितथ—धोखेबाज; अक्ष-पथैः—काल्पनिक अनुभूति की विधियों द्वारा; भ्रमत्—घुमाया जाकर; धीः—जिसकी बुद्धि; सन्तम्—उपस्थित; स्वकेषु—अपने ही भीतर; असुषु—इन्द्रियों में; हृदि—हृदय के भीतर; अपि—भी; दृक्-पथेषु—बाह्य जगत की दृश्य वस्तुओं में; तत्-मायया—उसकी माया से; आवृत—ढकी; मतिः—ज्ञान; सः—वह; उ—भी; एव—ही; साक्षात्—प्रत्यक्ष; आद्यः—मूल रूप से (अज्ञान में); तव—तुम्हारा; अखिल-गुरोः—सारे जीवों के गुरु; उपसाद्य—प्राप्त करके; वेदम्—वेदों का ज्ञान।

भौतिकतावादी की बुद्धि उसकी धोखेबाज इन्द्रियों की क्रिया से विकृत रहती है, इसलिए वह आपको तनिक भी पहचान नहीं पाता यद्यपि आप उसकी इन्द्रियों तथा हृदय में और उसकी अनुभूति की वस्तुओं में सदैव विद्यमान रहते हैं। मनुष्य का ज्ञान आपकी माया से आवृत होते हुए भी, यदि वह, सबों के गुरु आपसे, वैदिक ज्ञान प्राप्त करता है, तो वह आपको प्रत्यक्ष रूप से समझ सकता है।

यद्दर्शनं निगम आत्मरहःप्रकाशं
मुह्यन्ति यत्र कवयोऽजपरा यतन्तः ।

तं सर्ववादविषयप्रतिरूपशीलं
वन्दे महापुरुषमात्मनिगूढबोधम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसका; दर्शनम्—दर्शन; निगमे—वेदों में; आत्म—परमात्मा का; रहः—रहस्य; प्रकाशम्—प्रकाशित करता है; मुह्यन्ति—मोहित हो जाते हैं; यत्र—जिसमें; कवयः—बड़े बड़े विद्वान; अज-पराः—ब्रह्मा इत्यादि; यतन्तः—यत्न करते हुए; तम्—उसको; सर्व-वाद—विभिन्न दर्शनों का; विषय—विषय; प्रतिरूप—अपने को उपयुक्त बनाकर; शीलम्—जिसका निजी स्वभाव; वन्दे—नमस्कार करता हूँ; महा-पुरुषम्—भगवान् को; आत्म—आत्मा से; निगूढ—छिपा हुआ; बोधम्—ज्ञान।

हे प्रभु, केवल वैदिक ग्रंथ ही आपके परम स्वरूप का गुह्य ज्ञान प्रकट करने वाले हैं, अतएव भगवान् ब्रह्मा जैसे महान् विद्वान भी आगमन विधियों द्वारा आपको समझने के प्रयास में मोहित हो जाते हैं। हर दार्शनिक अपने विशेष चिन्तनपरक निष्कर्ष के अनुसार आपको समझता है। मैं उन परम पुरुष की पूजा करता हूँ जिनका ज्ञान बद्धात्माओं के आध्यात्मिक स्वरूप को आवृत करने वाली शारीरिक उपाधियों से छिपा हुआ है।

तात्पर्य : ब्रह्मा जैसे बड़े-बड़े देवता तक भगवान् को समझ पाने में विमोहित हो जाते हैं। हर दार्शनिक प्रकृति के गुणों के अनूठे संयोग द्वारा आवृत रहता है और इस तरह वह अपनी भौतिक स्थिति के अनुसार परब्रह्म का वर्णन करता है। इस तरह कठिन से कठिन आगमन प्रयास से भी समस्त ज्ञान का अन्त नहीं पाया जा सकता। सर्वोच्च ज्ञान तो भगवान् कृष्ण हैं और कोई भी व्यक्ति उनको पूर्ण समर्पण करके तथा प्रेमपूर्वक सेवा करके ही उन्हें समझ सकता है। इसीलिए मार्कण्डेय यहाँ पर कहते हैं—*वन्दे महापुरुषम्*—मैं उन महापुरुष की पूजा करता हूँ। जो लोग ईश्वर की पूजा करते हैं किन्तु साथ ही चिन्तन करते रहते हैं अथवा सकाम कर्मों में लगे रहते हैं, उन्हें मिश्रित तथा मोह में डालने वाले परिणाम मिलते हैं। शुद्ध होने के लिए भक्त को सारे सकाम कर्म तथा मानसिक चिन्तन त्याग देने चाहिए। उसी विधिसे, भगवान् के प्रति प्रेमाभक्ति से, उसे ब्रह्म का पूरा ज्ञान प्राप्त होगा। यही पूर्ण ज्ञान नित्य आत्मा को तुष्ट कर सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के बारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''मार्कण्डेय द्वारा नर-नारायण ऋषि की स्तुति'' नामक आठवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter नौ

मार्कण्डेय ऋषि को भगवान् की मायाशक्ति के दर्शन

इस अध्याय में मार्कण्डेय ऋषि द्वारा भगवान् की मायाशक्ति का दर्शन करने का वर्णन हुआ है।

श्री मार्कण्डेय द्वारा की गई स्तुतियों से प्रसन्न होकर, भगवान् ने उनसे वर माँगने को कहा तो ऋषि ने कहा कि वे भगवान् की मायाशक्ति का दर्शन करना चाहते हैं। मार्कण्डेय के समक्ष नर-नारायण रूप में उपस्थित श्री हरि ने उत्तर दिया, ''तथास्तु''। और तब वे बदरिकाश्रम चले गये।

एक दिन जब श्री मार्कण्डेय सन्ध्याकालीन स्तुति कर रहे थे, तो सहसा प्रलय के जल ने तीनों लोकों को आप्लावित कर लिया। वे दीर्घकाल तक अकेले ही इस जल में बड़ी मुश्किल से इधर-उधर विचरण करते रहे, तभी उन्हें एक बरगद का वृक्ष मिला। उस वृक्ष के एक पत्ते पर एक बालक लेटा था, जो मनोहारी तेज से दमक रहा था। ज्योंही मार्कण्डेय इस पत्ते की ओर लपके कि वे बालक के श्वास द्वारा आकृष्ट हो गये और एक मच्छर की तरह उसके शरीर के भीतर चले गये।

बालक के शरीर के भीतर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रलयकाल के पहले जैसा देख कर मार्कण्डेय चकित थे। क्षण-भर बाद ऋषि शिशु के निःश्वास द्वारा बाहर प्रलय के सागर में पुनः फेंक दिए गए। तब यह देख कर कि उस पत्ते पर पड़ा बालक वास्तव में श्री हरि हैं, जो उन्हीं के हृदय में स्थित दिव्य भगवान् हैं, तो श्री मार्कण्डेय ने उनका आलिंगन करना चाहा। किन्तु तभी योगेश्वर भगवान् हरि अन्तर्धान हो गये। तत्पश्चात् प्रलय का जल भी अन्तर्धान हो गया और श्री मार्कण्डेय ने अपने को पहले की तरह अपने आश्रम में पाया।

सूत उवाच

संस्तुतो भगवानित्थं मार्कण्डेयेन धीमता ।
नारायणो नरसखः प्रीत आह भृगूद्वहम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; संस्तुतः—भलीभाँति स्तुति किये जाने पर; भगवान्—भगवान्; इत्थम्—इस तरह; मार्कण्डेयेन—मार्कण्डेय द्वारा; धी-मता—बुद्धिमान मुनि; नारायणः—नारायण; नर-सखः—नर के मित्र; प्रीतः—प्रसन्न; आह—बोले; भृगु-उद्वहम्—अत्यन्त प्रसिद्ध भृगुवंशी से।

सूत गोस्वामी ने कहा : नर के मित्र, भगवान् नारायण, बुद्धिमान मुनि मार्कण्डेय द्वारा की गई उपयुक्त स्तुति से तुष्ट हो गये। अतः वे उन श्रेष्ठ भृगवंशी से बोले।

श्रीभगवानुवाच

भो भो ब्रह्मर्षिवर्योऽसि सिद्ध आत्मसमाधिना ।
मयि भक्त्यानपायिन्या तपःस्वाध्यायसंयमैः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; भोः भोः—हे मुनि; ब्रह्म-ऋषि—समस्त विद्वान ब्राह्मणों में; वर्यः—श्रेष्ठ; असि—हो; सिद्धः—सिद्ध; आत्म-समाधिना—आत्मा पर स्थिर ध्यान से; मयि—मुझमें; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; अनपायिन्या—अविचल; तपः—तपस्या; स्वाध्याय—वेदाध्ययन; संयमैः—तथा विधि-विधानों द्वारा।

भगवान् ने कहा : हे मार्कण्डेय, तुम सचमुच ही समस्त विद्वान ब्राह्मणों में श्रेष्ठ हो। तुमने परमात्मा पर ध्यान स्थिर करके तथा अपनी अविचल भक्ति, अपनी तपस्या, अपने वेदाध्ययन एवं विधि-विधानों के प्रति अपनी तत्परता मुझ पर केन्द्रित करते हुए, अपने जीवन को सफल बना लिया है।

वयं ते परितुष्टाः स्म त्वद्बृहद्व्रतचर्यया ।
वरं प्रतीच्छ भद्रं ते वरदोऽस्मि त्वदीप्सितम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

वयम्—हम; ते—तुमसे; परितुष्टाः—पूर्णतया तुष्ट; स्म—हो चुके हैं; त्वत्—तुम्हारा; बृहत्-व्रत—आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत की; चर्यया—सम्पन्नता द्वारा; वरम्—वर; प्रतीच्छ—चुनो; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारा; वर-दः—वर देने वाले; अस्मि—मैं हूँ; त्वत्-ईप्सितम्—आपके द्वारा चाहा हुआ।

हम तुम्हारे आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत से पूर्णतया तुष्ट हैं। अब जो वर चाहो, चुन लो क्योंकि मैं तुम्हारी इच्छा पूरी कर सकता हूँ। तुम समस्त सौभाग्य का भोग करो।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि भगवान् ने इस श्लोक के प्रारम्भ में बहुवचन ''हम'' का प्रयोग किया है क्योंकि वे अपना उल्लेख शिव तथा उमा के साथ-साथ कर रहे थे जिनकी स्तुति बाद में मार्कण्डेय द्वारा की जायेगी। तब भगवान् ने एकवचन ''मैं'' का प्रयोग किया क्योंकि अन्ततः, एकमात्र भगवान् नारायण (कृष्ण) ही जीवन की सर्वोच्च सिद्धि—शाश्वत कृष्णभावनामृत—प्रदान कर सकते हैं।

श्रीऋषिरुवाच
जितं ते देवदेवेश प्रपन्नार्तिहराच्युत ।
वरेणैतावतालं नो यद्भवान्समदृश्यत ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

श्री-ऋषिः उवाच—ऋषि ने कहा; जितम्—विजयी हों; ते—आप; देव-देव-ईश—हे ईशों के भी ईश; प्रपन्न—शरणागत; आर्ति-हर—हे कष्टों को दूर करने वाले; अच्युत—हे अच्युत; वरेण—वर से; एतावता—इतना; अलम्—पर्याप्त; नः—हमारे द्वारा; यत्—जो; भवान्—आपने; समदृश्यत—देखे जा चुके।

ऋषि ने कहा : हे देव-देवेश, आपकी जय हो। हे अच्युत, आप उन भक्तों का सारा कष्ट दूर कर देते हैं, जो आपके शरणागत हैं। आपने मुझे अपना दर्शन करने की अनुमति दी, यही मेरे द्वारा चाहा गया वर है।

गृहीत्वाजादयो यस्य श्रीमत्पादाब्जदर्शनम् ।
मनसा योगपक्वेन स भवान्मेऽक्षिगोचरः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

गृहीत्वा—पाकर; अज-आदयः—ब्रह्मा तथा अन्य; यस्य—जिसके; श्रीमत्—सर्व ऐश्वर्यवान्; पाद-अब्ज—चरणकमलों का; दर्शनम्—दर्शन; मनसा—मन से; योग-पक्वेन—योग में परिपक्व; सः—वह; भवान्—आप; मे—मेरी; अक्षि—आँखों को; गो-चरः—दृश्य।

ब्रह्मा जैसे देवताओं ने आपके सुन्दर चरणकमलों का दर्शन करके ही उच्च पद प्राप्त किया क्योंकि उनके मन योगाभ्यास से परिपक्व हो चुके थे। और हे प्रभु, अब आप मेरे समक्ष साक्षात् प्रकट हुए हैं।

तात्पर्य : मार्कण्डेय ऋषि इंगित करते हैं कि ब्रह्मा जैसे उच्च देवताओं ने भगवान् के

चरणकमलों का दर्शन करके ही उच्च पद प्राप्त किया, तो भी मार्कण्डेय ऋषि भगवान् कृष्ण का अब पूरा शरीर देख पा रहे थे। इस तरह वे अपने सौभाग्य की हद की कल्पना तक नहीं कर पाये।

अथाप्यम्बुजपत्राक्ष पुण्यश्लोकशिखामणे ।
द्रक्ष्ये मायां यया लोकः सपालो वेद सद्भिदाम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अथ अपि—तो भी; अम्बुज-पत्र—कमल की पंखड़ियों जैसी; अक्ष—आँखों वाले हे; पुण्य-श्लोक—प्रसिद्ध पुरुषों के; शिखामणे—हे शिरोमणि; द्रक्ष्ये—मैं देखना चाहता हूँ; मायाम्—मायाशक्ति को; यया—जिससे; लोकः—सम्पूर्ण जगत; स-पालः—अधिष्ठाता देवताओं सहित; वेद—मानता है; सत्—परम सत्य का; भिदाम्—भौतिक अन्तर।

हे कमलनयन, हे विख्यात पुरुषों के शिरोमणि, यद्यपि मैं मात्र आपका दर्शन करके तुष्ट हूँ किन्तु मैं आपकी मायाशक्ति को देखना चाहता हूँ जिसके प्रभाव से सम्पूर्ण जगत तथा उसके अधिष्ठाता देवता सत्य को भौतिक दृष्टि से विविधतापूर्ण मानते हैं।

तात्पर्य : बद्धजीव भौतिक जगत को स्वतंत्र पृथक् जीवों से बना हुआ मानता है। वस्तुतः सारी वस्तुएँ भगवान् की शक्तियाँ होने से एक में मिली हुई हैं। मार्कण्डेय ऋषि यह देखने के लिए उत्सुक हैं कि वह कौन-सी विधि है, जिससे भगवान् की मोहिनी शक्ति *माया,* जीवों को मोह में डाल देती है।

सूत उवाच
इतीडितोऽर्चितः काममृषिणा भगवान्मुने ।
तथेति स स्मयन्प्रागाद्बदर्याश्रममीश्वरः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; इति—इन शब्दों द्वारा; ईडितः—स्तुति किये गये; अर्चितः—पूजित; कामम्—संतोषजनक रूप से; ऋषिणा—मार्कण्डेय ऋषि द्वारा; भगवान्—भगवान्; मुने—हे विज्ञ शौनक; तथा इति—तथास्तु, ऐसा ही हो; सः—वह; स्मयन्—मुसकाते हुए; प्रागात्—चले गये; बदरी-आश्रमम्—बदरिकाश्रम; ईश्वरः—भगवान्।

सूत गोस्वामी ने कहा : हे विज्ञ शौनक, मार्कण्डेय की स्तुति तथा पूजा से इस तरह तुष्ट हुए भगवान् ने हँसते हुए उत्तर दिया ''तथास्तु'' और तब बदरिकाश्रम स्थित अपनी कुटिया चले गये।

तात्पर्य : इस श्लोक में *भगवान्* तथा *ईश्वर* शब्द परमेश्वर के नर तथा नारायण दो मुनि अवतारों के द्योतक हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भगवान् इसलिए खेदपूर्वक हँसे क्योंकि वे चाहते हैं कि उनके भक्त उनकी मायाशक्ति से दूर रहते जाँए। भगवान् की मायाशक्ति देखने की उत्सुकता से कभी कभी पापपूर्ण भौतिक इच्छा उत्पन्न हो सकती है। तो भी, अपने भक्त मार्कण्डेय को प्रसन्न करने के लिए भगवान् ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली जिस तरह कि कोई पिता, जो अपने पुत्र को किसी हानिप्रद इच्छा को छोड़ने के लिए आश्वस्त नहीं कर पाता, तो वह उसे कुछ कष्ट भोगने देता है, जिससे वह स्वेच्छा से उससे विरत हो सके। इस तरह, यह जानते

हुए कि मार्कण्डेय पर क्या बीतने वाली है, भगवान् अपनी मायाशक्ति दिखाने की तैयारी करते हुए हँसे।

तमेव चिन्तयन्नर्थमृषिः स्वाश्रम एव सः ।
वसन्नग्न्यर्कसोमाम्बुभूवायुवियदात्मसु ॥ ८ ॥
ध्यायन्सर्वत्र च हरिं भावद्रव्यैरपूजयत् ।
क्वचित्पूजां विसस्मार प्रेमप्रसरसम्प्लुतः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; एव—निस्सन्देह; चिन्तयन्—सोचते हुए; अर्थम्—लक्ष्य को; ऋषिः—मार्कण्डेय; स्व-आश्रमे—अपनी कुटिया में; एव—निस्सन्देह; सः—वह; वसन्—रहते हुए; अग्नि—अग्नि; अर्क—सूर्य; सोम—चन्द्रमा; अम्बु—जल; भू—पृथ्वी; वायु—हवा; वियत्—बिजली; आत्मसु—तथा अपने हृदय में; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; सर्वत्र—सभी परिस्थितियों में; च—तथा; हरिम्—भगवान् हरि को; भाव-द्रव्यैः—मन में कल्पित साज-सामग्री से; अपूजयत्—पूजा की; क्वचित्—कभी; पूजाम्—पूजा; विसस्मार—भूल गया; प्रेम—ईश्वर-प्रेम की; प्रसर—बाढ़ में; सम्प्लुतः—डूब जाने से।

मार्कण्डेय ऋषि, भगवान् की माया का दर्शन करने की इच्छा के विषय में सदैव सोचते हुए, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, जल, पृथ्वी, वायु, बिजली से तथा अपने हृदय में भगवान् का निरन्तर ध्यान करते हुए और अपने मन में कल्पित साज-सामग्री से उनकी पूजा करते हुए, अपने आश्रम (कुटिया) में रहते रहे। किन्तु कभी कभी भगवत्प्रेम की तरंगों से अभिभूत होकर वे नियमित पूजा करना भूल जाते।

तात्पर्य : इन श्लोकों से आभास मिलता है कि मार्कण्डेय ऋषि भगवान् कृष्ण के बहुत बड़े भक्त थे, इसलिए वे भगवान् का दर्शन यह जानने के लिए करना चाहते थे कि भगवान् की शक्ति किस तरह कार्य करती है, न कि किसी भौतिक आकांक्षा की पूर्ति के लिए।

तस्यैकदा भृगुश्रेष्ठ पुष्पभद्रातटे मुनेः ।
उपासीनस्य सन्ध्यायां ब्रह्मन्वायुरभून्महान् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तस्य—जब वह; एकदा—एक दिन; भृगु-श्रेष्ठ—हे भृगुवंशियों में सर्वश्रेष्ठ; पुष्पभद्रा-तटे—पुष्पभद्रा नदी के तट पर; मुनेः—मुनि के; उपासीनस्य—पूजा कर रहे थे; सन्ध्यायाम्—दिन की संधि पर; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; वायुः—वायु; अभूत्—चलने लगी; महान्—तेज।

हे ब्राह्मण शौनक, हे भृगुश्रेष्ठ, एक दिन जब मार्कण्डेय पुष्पभद्रा नदी के तट पर संध्याकालीन पूजा कर रहे थे तो सहसा तेज वायु चलने लगी।

तं चण्डशब्दं समुदीरयन्तं
बलाहका अन्वभवन्कराला: ।
अक्षस्थविष्ठा मुमुचुस्तडिद्भिः

स्वनन्त उच्चैरभि वर्षधाराः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तम्—वह वायु; चण्ड-शब्दम्—भयंकर शब्द; समुदीरयन्तम्—उत्पन्न करता हुआ; बलाहकाः—बादल; अनु—पीछे-पीछे; अभवन्—प्रकट हुए; करालाः—भयानक; अक्ष—पहिये की तरह; स्थविष्ठाः—ठोस; मुमुचुः—छोड़ा; तडिद्भिः—बिजली के साथ; स्वनन्तः—गूँजते; उच्चैः—तेज; अभि—सभी दिशाओं; वर्ष—वर्षा की; धाराः—धारा।

उस वायु ने भयंकर शब्द उत्पन्न किया और अपने साथ भयावने बादल लेती आई जिनके साथ बिजली तथा गर्जना थी और जिन्होंने सभी दिशाओं में गाड़ी के पहियों जितनी भारी मूसलाधार वर्षा की।

ततो व्यदृश्यन्त चतुः समुद्राः
समन्ततः क्ष्मातलमाग्रसन्तः ।
समीरवेगोर्मिभिरुग्रनक्र-
महाभयावर्तगभीरघोषाः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; व्यदृश्यन्त—प्रकट हुए; चतुः समुद्रः—चार सागर; समन्ततः—सभी दिशाओं में; क्ष्मा-तलम्—पृथ्वी की सतह पर; आग्रसन्तः—निगलते हुए; समीर—वायु का; वेग—वेग; ऊर्मिभिः—लहरों से; उग्र—भयंकर; नक्र—मगरों से; महा-भय—अत्यन्त भयावह; आवर्त—भँवरों से; गभीर—गम्भीर; घोषाः—शब्द।

तब सभी दिशाओं में चार महासागर प्रकट हो गये जो वायु से उछाली गई लहरों से पृथ्वी की सतह को निगल रहे थे। इन महासागरों में भयानक मगर थे, भयानक भँवरें थीं तथा अमांगलिक-गर्जन हो रहा था।

अन्तर्बहिश्चाद्भिरतिद्युभिः खरैः
शतह्लदाभिरुपतापितं जगत् ।
चतुर्विधं वीक्ष्य सहात्मना मुनि-
र्जलाप्लुतां क्ष्मां विमनाः समत्रसत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अन्तः—भीतर से; बहिः—बाहर से; च—तथा; अद्भिः—जल से; अति-द्युभिः—आकाश से भी ऊपर उठती; खरैः—प्रचण्ड (वायु से); शत-ह्लदाभिः—बिजली की चमक से; उपतापितम्—अत्यन्त दुखी; जगत्—ब्रह्माण्ड के सारे निवासी; चतुः-विधम्—चार प्रकार के (उद्भिज, अण्डज, स्वेदज, जरायुज); वीक्ष्य—देख कर; सह—साथ; आत्मना—अपने; मुनिः—मुनि; जल—जल से; आप्लुताम्—आप्लावित; क्ष्माम्—पृथ्वी; विमनाः—उदास; समत्रसत्—डर गया।

ऋषि ने अपने सहित ब्रह्माण्ड के सारे निवासियों को देखा जो तेज वायु, बिजली के वज्रपात तथा आकाश से भी ऊपर तक उठने वाली बड़ी-बड़ी लहरों से भीतर और बाहर से सताये जा रहे थे। ज्योंही सारी पृथ्वी जलमग्न हो गई, वे उदास तथा भयभीत हो उठे।

तात्पर्य : यहाँ पर *चतुर्विधम्* शब्द बद्धजीवों के जन्म के चार स्रोतों—भ्रूण, अण्डे, बीज तथा स्वेद—का सूचक है।

तस्यैवमुद्वीक्षत ऊर्मिभीषणः
प्रभञ्जनाघूर्णितवार्महार्णवः ।
आपूर्यमाणो वरषद्भिरम्बुदैः
क्ष्मामप्यधाद्द्वीपवर्षाद्रिभिः समम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

तस्य—जब वे; एवम्—इस तरह; उद्वीक्षतः—देख रहे थे; ऊर्मि—लहरें; भीषणः—भयावनी; प्रभञ्जन—अंधड़ से; आघूर्णित—चक्कर काटता; वाः—जल; महा-अर्णवः—महासागर; आपूर्यमानः—भर कर; वरषद्भिः—वर्षा से; अम्बु-दैः—बादलों से; क्ष्माम्—पृथ्वी को; अप्यधात्—ढक लिया; द्वीप—द्वीप; वर्ष—महाद्वीप; अद्रिभिः—पर्वतों को; समम्—एकसाथ।

मार्कण्डेय के देखते-देखते बादल से हो रही वर्षा समुद्र को भरती रही जिससे महासागर के जल ने अंधड़ द्वारा भयानक लहरों के उठने से पृथ्वी के द्वीपों, पर्वतों तथा महाद्वीपों को ढक लिया।

सक्ष्मान्तरिक्षं सदिवं सभागणं
त्रैलोक्यमासीत्सह दिग्भिराप्लुतम् ।
स एक एवोर्वरितो महामुनि-
र्बभ्राम विक्षिप्य जटा जडान्धवत् ॥ १५॥

शब्दार्थ

स—सहित; क्ष्मा—पृथ्वी; अन्तरिक्षम्—तथा बाह्य अवकाश; स-दिवम्—स्वर्गलोकों सहित; स-भा-गणम्—समस्त स्वर्गिक पिंडों समेत; त्रै-लोक्यम्—तीनों लोकों; आसीत्—हो गया; सह—सहित; दिग्भिः—सारी दिशाएँ; आप्लुतम्—जल से मग्न; सः—वह; एकः—अकेला; एव—निस्सन्देह; उर्वरितः—बचे हुए; महा-मुनिः—महामुनि; बभ्राम—घूमता रहा; विक्षिप्य—छितराये; जटाः—अपनी जटाएँ; जड—मूक व्यक्ति; अन्ध—अन्धा व्यक्ति; वत्—सदृश।

जल ने पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग तथा स्वर्ग-क्षेत्र को आप्लावित कर दिया। निस्सन्देह, सारा ब्रह्माण्ड सभी दिशाओं में जलमग्न था और उसके सारे निवासियों में से एकमात्र मार्कण्डेय ही बचे थे। उनकी जटाएँ छितरा गई थीं और ये महामुनि जल में अकेले इधर-उधर घूम रहे थे मानो मूक तथा अंधे हों।

क्षुत्तृट्परीतो मकरैस्तिमिङ्गिलै-
रुपद्रुतो वीचिनभस्वताहतः ।
तमस्यपारे पतितो भ्रमन्दिशो
न वेद खं गां च परिश्रमेषितः ॥ १६॥

शब्दार्थ

क्षुत्—भूख; तृट्—तथा प्यास से; परीतः—घिरे हुए; मकरैः—मकरों द्वारा; तिमिङ्गिलैः—तथा तिमिंगलों अर्थात् ह्वेल को भी खा जाने वाली विशाल मछली के द्वारा; उपद्रुतः—सताये हुए; वीचि—लहरों; नभस्वता—तथा वायुद्वारा; आहतः—

सताये हुए; तमसि—अंधकार में; अपारे—असीम; पतितः—गिरे हुए; भ्रमन्—घूमते हुए; दिशः—दिशाएँ; न वेद—ज्ञान नहीं रहा; खम्—आकाश; गाम्—पृथ्वी; च—तथा; परिश्रम-इषितः—थका हुआ।

भूख-प्यास से सताये, दैत्याकार मकरों तथा विमिंगिल मछलियों द्वारा हमला किये गये तथा वायु और लहरों से त्रस्त, वे उस अपार अंधकार में निरुद्देश्य घूमते रहे जिसमें वे गिर चुके थे। जब वे अत्यधिक थक गये तो उन्हें दिशाओं की सुधि न रही और वे आकाश तथा पृथ्वी में भेद नहीं कर पा रहे थे।

क्रचिन्मग्नो महावर्ते तरलैस्ताडितः क्वचित् ।
यादोभिर्भक्ष्यते क्वापि स्वयमन्योन्यघातिभिः ॥ १७॥

क्वचिच्छोकं क्वचिन्मोहं क्वचिद्दुःखं सुखं भयम् ।
क्वचिन्मृत्युमवाप्नोति व्याध्यादिभिरुतार्दितः ॥ १८॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; मग्नः—डूबते हुए; महा-आवर्ते—भारी भँवर में; तरलैः—लहरों से; ताडितः—थपेड़े खाकर; क्वचित्—कभी; यादोभिः—जल-जन्तुओं द्वारा; भक्ष्यते—खाये जाने से आशंकित; क्व अपि—कभी; स्वयम्—स्वयं; अन्योन्य—परस्पर; घातिभिः—आक्रमण करते हुए; क्वचित्—कभी; शोकम्—उदासी; क्वचित्—कभी; मोहम्—मोह; क्वचित्—कभी; दुःखम्—कष्ट; सुखम्—सुख; भयम्—भय; क्वचित्—कभी; मृत्युम्—मृत्यु; अवाप्नोति—अनुभव करता; व्याधि—रोग; आदिभिः—इत्यादि से; उत—भी; अर्दितः—पीड़ित।

कभी वे भारी भँवर में फँस जाते, कभी प्रबल लहरों के थपेड़े खाते, कभी जल-दैत्यों के परस्पर आक्रमण करने पर उनके द्वारा निगले जाने से आशंकित हो उठते। कभी उन्हें शोक, मोह, दुख, सुख या भय का अनुभव होता तो कभी उन्हें ऐसी भयानक बीमारी तथा पीड़ा का अनुभव होता जैसे कि वे मरे जा रहे हों।

अयुतायतवर्षाणां सहस्राणि शतानि च ।
व्यतीयुर्भ्रमतस्तस्मिन्विष्णुमायावृतात्मनः ॥ १९॥

शब्दार्थ

अयुत—दस हजार का; अयुत—दस हजार गुणा; वर्षाणाम्—वर्षों के; सहस्राणि—हजारों; शतानि—सैकड़ों; च—तथा; व्यतीयुः—बीत गये; भ्रमतः—विचरण करते हुए; तस्मिन्—उसमें; विष्णु-माया—भगवान् विष्णु की माया से; आवृत—आच्छादित; आत्मनः—मन।

मार्कण्डेय को उस जलप्लावन में इधर-उधर घूमते करोड़ों वर्ष बीत गये; उनका मन भगवान् विष्णु की माया से विमोहित था।

स कदाचिद्भ्रमंस्तस्मिन्पृथिव्याः ककुदि द्विजः ।
न्याग्रोधपोतं ददृशे फलपल्लवशोभितम् ॥ २०॥

शब्दार्थ

सः—उसने; कदाचित्—एक बार; भ्रमन्—विचरण करते हुए; तस्मिन्—उस जल में; पृथिव्याः—पृथ्वी के; ककुदि—उठे स्थान पर; द्विजः—ब्राह्मण ने; न्याग्रोध-पोतम्—एक छोटा बरगद का पेड़; ददृशे—देखा; फल—फलों; पल्लव—तथा कोपलों से; शोभितम्—सुशोभित।

एक बार जल में विचरण करते हुए ब्राह्मण मार्कण्डेय ने एक छोटा टापू (द्वीप) देखा जिस पर एक छोटा बरगद का पेड़ खड़ा था जिसमें फल-फूल लगे थे।

प्रागुत्तरस्यां शाखायां तस्यापि ददृशे शिशुम् ।
शयानं पर्णपुटके ग्रसन्तं प्रभया तमः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

प्राक्-उत्तरस्याम्—उत्तर पूर्व की ओर; शाखायाम्—एक शाखा में; तस्य—उस वृक्ष की; अपि—निस्सन्देह; ददृशे—देखा; शिशुम्—एक शिशु को; शयानम्—लेटे हुए; पर्ण-पुटके—पत्ते के गर्त के भीतर; ग्रसन्तम्—निगलते हुए; प्रभया—उसके तेज से; तमः—अँधेरा।

उन्होंने उस वृक्ष की उत्तर-पूर्व की एक शाखा में एक पत्ते के भीतर एक शिशु को लेटे देखा। इस शिशु का तेज अंधकार को लील रहा था।

महामरकतश्यामं श्रीमद्वदनपङ्कजम् ।
कम्बुग्रीवं महोरस्कं सुनसं सुन्दरभ्रुवम् ॥ २२ ॥
श्वासैजदलकाभातं कम्बुश्रीकर्णदाडिमम् ।
विद्रुमाधरभासेषच्छोणायितसुधास्मितम् ॥ २३ ॥
पद्मगर्भारुणापाङ्गं हृद्यहासावलोकनम् ।
श्वासैजद्वलिसंविग्ननिम्ननाभिदलोदरम् ॥ २४ ॥
चार्वङ्गुलिभ्यां पाणिभ्यामुन्नीय चरणाम्बुजम् ।
मुखे निधाय विप्रेन्द्रो धयन्तं वीक्ष्य विस्मितः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

महा-मरकत—महामरकत मणि की तरह; श्यामम्—गहरा नीला; श्रीमत्—सुन्दर; वदन-पङ्कजम्—जिसका कमल जैसा मुख; कम्बु—शंख जैसा; ग्रीवम्—गर्दन; महा—चौड़ा; उरस्कम्—छाती, वक्षस्थल; सु-नसम्—सुन्दर नाक वाली; सुन्दर-भ्रुवम्—सुन्दर भौंहों वाला; श्वास—उनकी श्वास से; एजत्—हिलती; अलक—बाल से; आभातम्—शानदार; कम्बु—शंख जैसा; श्री—सुन्दर; कर्ण—कान; दाडिमम्—अनार के फूल जैसा; विद्रुम—मूँगा जैसा; अधर—होंठों का; भासा—तेज से; ईषत्—कुछ-कुछ; शोणायित—लाल हुआ; सुधा—अमृत जैसी; स्मितम्—मुसकान; पद्म-गर्भ—कमल के कोश जैसा; अरुण—लाल; अपाङ्गम्—आँखों के कोर; हृद्य—मनोहर; हास—हँसी से युक्त; अवलोकनम्—मुखमण्डल; श्वास—उनकी श्वास से; एजत्—हिलाया गया; वलि—रेखाओं से; संविग्न—मोड़ी हुई; निम्न—गहरी; नाभि—नाभि से; दल—पत्ते की तरह; उदरम्—जिसका पेट; चारु—आकर्षक; अङ्गुलिभ्याम्—अंगुलियों वाले; पाणिभ्याम्—दोनों हाथों से; उन्नीय—उठाते हुए; चरण-अम्बुजम्—अपना चरणकमल; मुखे—मुँह में; निधाय—डाल कर; विप्र-इन्द्रः—ब्राह्मण-श्रेष्ठ, मार्कण्डेय; धयन्तम्—पीते हुए; वीक्ष्य—देख कर; विस्मितः—चकित।

बालक का गहरा नीला रंग निष्कलंक मरकत जैसा था; उसका कमल मुखमण्डल अपार सौंदर्य के कारण चमक रहा था और उसकी गर्दन में शंख जैसी रेखाएँ थीं। उसका

वक्षस्थल चौड़ा, नाक सुन्दर आकार वाली, भौंहे सुन्दर तथा अनार के फूलों जैसे सुन्दर कान थे जिसके भीतर के वलन शंख के घुमावों जैसे थे। उसकी आँखों के कोर कमल के कोश जैसे लाल रंग के थे और मूँगे जैसे होठों का तेज उसके मुखमण्डल की सुधामयी मोहनी मुसकान को लाल-लाल बना रहा था। जब वह साँस लेता, उसके सुन्दर बाल हिलते थे और गहरी नाभि उसके बरगद के पत्ते जैसे उदर की चमड़ी के हिलते वलनों से विकृत होती थी। वह ब्राह्मण-श्रेष्ठ आश्चर्य से उस बालक को देख रहा था, जो अपने एक चरणकमल को अपनी सुन्दर सुन्दर अंगुलियों से पकड़ कर अपने मुँह में डाल कर चूस रहा था।

तात्पर्य : यह शिशु स्वयं भगवान् था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भगवान् कृष्ण को आश्चर्य हुआ, "इतने भक्तगण मेरे चरणकमल के अमृत के लिए लालायित रहते हैं, अतएव मैं स्वयं उस अमृत का अनुभव क्यों न करूँ।" इस तरह एक सामान्य बालक की तरह खेल रहे भगवान् नेअपना अँगूठा चूसना शुरू कर दिया।

तद्दर्शनाद्वीतपरिश्रमो मुदा
प्रोत्फुल्लहृत्पौल्मविलोचनाम्बुजः ।
प्रहृष्टरोमाद्भुतभावशङ्कितः
प्रष्टुं पुरस्तं प्रससार बालकम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तत्-दर्शनात्—उस शिशु का दर्शन करने से; वीत—दूर हो गया; परिश्रमः—थकान; मुदा—हर्ष के कारण; प्रोत्फुल्ल—खिल उठा; हृत्-पद्म—हृदय का कमल; विलोचन-अम्बुजः—तथा उसकी कमल जैसी आँखें; प्रहृष्ट—खड़े हो गये; रोमा—शरीर के रोएँ; अद्भुत-भाव—इस अद्भुत रूप की पहचान के बारे में; शङ्कितः—शंकालु; प्रष्टुम्—पूछने के लिए; पुरः—आगे; तम्—उसके; प्रससार—पास गया; बालकम्—बालक के।

जैसे ही मार्कण्डेय ने बालक को देखा उनकी सारी थकान जाती रही। निस्सन्देह उनको इतनी अधिक प्रसन्नता हुई कि उनका हृदय तथा उनके नेत्र कमल की भाँति पूरी तरह प्रफुल्लित हो उठे और उन्हें रोमांच हो आया। इस बालक की अद्भुत पहचान के विषय में शंकित मुनि उसके पास पहुँचे।

तात्पर्य : मार्कण्डेय उस बालक से उसकी पहचान पूछना चाहते थे, इसीलिए वे उसके पास गये।

तावच्छिशोर्वै श्वसितेन भार्गवः
सोऽन्तः शरीरं मशको यथाविशत् ।
तत्राप्यदो न्यस्तमचष्ट कृत्स्नशो
यथा पुरामुह्यदतीव विस्मितः ॥ २७॥

शब्दार्थ

तावत्—उसी क्षण; शिशोः—शिशु का; वै—निस्सन्देह; श्वसितेन—श्वास लेने से; भार्गवः—भृगुवंशी; सः—वह; अन्तः शरीरम्—शरीर के भीतर; मशकः—मच्छर; यथा—जिस तरह; अविशत्—घुस गया; तत्र—वहाँ पर; अपि—निस्सन्देह; अदः—यह ब्रह्माण्ड; न्यस्तम्—रखा हुआ; अचष्ट—उसने देखा; कृत्स्नशः—समूचा; यथा—जिस तरह; पुरा—पहले; अमुह्यत्—विमोहित हो चुका था; अतीव—अत्यधिक; विस्मितः—चकित।

तभी उस शिशु ने श्वास ली जिससे मार्कण्डेय मच्छर की तरह उसके शरीर के भीतर खिंच गये। वहाँ पर ऋषि ने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रलय के पूर्व की स्थिति में सुव्यवस्थित पाया। यह देख कर मार्कण्डेय अत्यधिक आश्चर्यचकित तथा मोहग्रस्त हो गए।

खं रोदसी भागणानद्रिसागरान्
　　द्वीपान्सवर्षान्ककुभः सुरासुरान् ।
वनानि देशान्सरितः पुराकरान्
　　खेटान्व्रजानाश्रमवर्णवृत्तयः ॥ २८ ॥
महान्ति भूतान्यथ भौतिकान्यसौ
　　कालं च नानायुगकल्पकल्पनम् ।
यत्किञ्चिदन्यद्व्यवहारकारणं
　　ददर्श विश्वं सदिवावभासितम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

खम्—आकाश; रोदसी—स्वर्ग तथा पृथ्वी; भा-गणान्—सारे तारों; अद्रि—पर्वत; सागरान्—तथा सागरों; द्वीपान्—बड़े-बड़े द्वीपों; स-वर्षान्—महाद्वीपों समेत; ककुभः—दिशाओं; सुर-असुरान्—सन्त भक्तों तथा असुरों; वनानि—जंगलों; देशान्—विविध देशों; सरितः—नदियों; पुर—नगरों; आकरान्—तथा खानों; खेटान्—खेतिहर गाँवों; व्रजान्—चरागाहों; आश्रम-वर्ण—विभिन्न आश्रमों तथा वर्णों; वृत्तयः—पेशों; महान्ति भूतानि—प्रकृति के मूल तत्त्वों; अथ—तथा; भौतिकानि—स्थूल रूपों को; असौ—उसने; कालम्—काल; च—तथा; नाना-युग-कल्प—विभिन्न युग तथा ब्रह्मा का दिन; कल्पनम्—नियामककारक; यत् किञ्चित्—जो कुछ भी; अन्यत्—दूसरा; व्यवहार-कारणम्—भौतिक जीवन में काम आने वाली वस्तु; ददर्श—देखा; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; सत्—सत्य; इव—मानो; अवभासितम्—प्रकट।

वहाँ पर मुनि ने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड देखा—आकाश, स्वर्ग तथा पृथ्वी, तारे, पर्वत, सागर, द्वीप तथा महाद्वीप, हर दिशा में विस्तार, सन्त तथा आसुरी जीव, वन, देश, नदियाँ, नगर तथा खानें, खेतिहर गाँव तथा चरागाह, समाज के वर्ण तथा आश्रम। उन्होंने सृष्टि के मूल तत्त्वों तथा उनके गौण उत्पादों के साथ ही साक्षात् काल को देखा जो ब्रह्मा के दिनों में असंख्य युगों को नियमित करता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने भौतिक जीवन में काम आने वाली अन्य सारी वस्तुएँ देखीं। उन्होंने अपने समक्ष यह सब देखा जो सत्य जैसा प्रतीत हो रहा था।

हिमालयं पुष्पवहां च तां नदीं
　　निजाश्रमं यत्र ऋषी अपश्यत ।
विश्वं विपश्यञ्छ्वसिताच्छिशोर्वै

बहिर्निरस्तो न्यपतल्लयाब्धौ ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

हिमालयम्—हिमालय पर्वत को; पुष्प-वहाम्—पुष्पभद्रा; च—तथा; ताम्—उस; नदीम्—नदी को; निज-आश्रमम्—अपनी कुटिया को; यत्र—जहाँ; ऋषी—दो ऋषि, नर तथा नारायण; अपश्यत—देखा था; विश्वम्—ब्रह्माण्ड को; विपश्यन्—देखते हुए; श्वसितात्—श्वास से; शिशोः—शिशु के; वै—निस्सन्देह; बहिः—बाहर; निरस्तः—निकाला गया; न्यपतत्—गिर पड़ा; लय-अब्धौ—प्रलय के सागर में।

उन्होंने अपने समक्ष हिमालय पर्वत, पुष्पभद्रा नदी तथा अपनी कुटिया देखी जहाँ उन्होंने नर-नारायण ऋषियों के दर्शन किये थे। तत्पश्चात् मार्कण्डेय द्वारा सम्पूर्ण विश्व के देखते-देखते, जब उस शिशु ने श्वास बाहर निकाली तो ऋषि उसके शरीर से बाहर धकेल दिए गए और प्रलय सागर में गिरा दिए गए।

तस्मिन्पृथिव्याः ककुदि प्ररूढं
वटं च तत्पर्णपुटे शयानम् ।
तोकं च तत्प्रेमसुधास्मितेन
निरीक्षितोऽपाङ्गनिरीक्षणेन ॥ ३१ ॥

अथ तं बालकं वीक्ष्य नेत्राभ्यां धिष्ठितं हृदि ।
अभ्ययादतिसङ्क्लिष्टः परिष्वक्तुमधोक्षजम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस जल में; पृथिव्याः—पृथ्वी का; ककुदि—उठे स्थान पर; प्ररूढम्—उगता हुआ; वटम्—बरगद का वृक्ष; च—तथा; तत्—उसके; पर्ण-पुटे—पत्ते के दोने में; शयानम्—लेटे हुए; तोकम्—बालक को; च—तथा; तत्—अपने; प्रेम—प्रेम की; सुधा—अमृत जैसी; स्मितेन—हँसी से; निरीक्षितः—देखा जाकर; अपाङ्ग—आँख के कोरों से; निरीक्षणेन—चितवन से; अथ—तब; तम्—उस; बालकम्—बालक को; वीक्ष्य—देख कर; नेत्राभ्याम्—अपनी आँखों से; धिष्ठितम्—रखते हुए; हृदि—हृदय के भीतर; अभ्ययात्—आगे दौड़ा; अति-सङ्क्लिष्टः—अत्यन्त क्षुब्ध; परिष्वक्तुम्—आलिंगन करने के लिए; अधोक्षजम्—भगवान् को।

उस विशाल सागर में उन्होंने छोटे-से द्वीप पर बरगद के वृक्ष को उगा हुआ और शिशु को पत्ते के भीतर लेटे हुए देखा। वह शिशु उनको अपनी आँखों की कोरों से प्रेम के अमृत से भरी हँसी से देख रहा था। मार्कण्डेय ने उसे अपनी आँखों के द्वारा अपने हृदय में कर लिया। अत्यन्त क्षुब्ध ऋषि भगवान् का आलिंगन करने दौड़े।

तावत्स भगवान्साक्षाद्योगाधीशो गुहाशयः ।
अन्तर्दध ऋषेः सद्यो यथेहानीशनिर्मिता ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तभी; सः—वह; भगवान्—भगवान्; साक्षात्—प्रत्यक्ष; योग-अधीशः—योगेश्वर; गुहा-शयः—समस्त जीवों के हृदयों में छिपे; अन्तर्दधे—अन्तर्धान हो गये; ऋषेः—ऋषि के समक्ष; सद्यः—सहसा; यथा—जिस तरह; ईहा—प्रयास द्वारा वस्तु; अनीश—अक्षम व्यक्ति द्वारा; निर्मिता—बनाई हुई।

तभी भगवान्, जोकि योगेश्वर हैं तथा हर एक के हृदय में छिपे रहते हैं, ऋषि की आँखों

से ओझल हो गये जिस तरह अक्षम व्यक्ति की सारी उपलब्धियाँ सहसा विलीन हो जाती हैं।

तमन्वथ वटो ब्रह्मन्सलिलं लोकसम्प्लवः ।
तिरोधायि क्षणादस्य स्वाश्रमे पूर्ववत्स्थितः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तम्—उसके; अनु—पीछे; अथ—तब; वटः—बरगद का वृक्ष; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण, शौनक; सलिलम्—जल; लोक-सम्प्लवः—ब्रह्माण्ड का प्रलय; तिरोधायि—अदृश्य हो गये; क्षणात्—तुरन्त; अस्य—उसके सामने ही; स्व-आश्रमे—अपनी कुटिया में; पूर्व-वत्—पहले की तरह; स्थितः—उपस्थित था।

हे ब्राह्मण, भगवान् के अदृश्य हो जाने पर, वह बरगद का वृक्ष, अपार जल तथा ब्रह्माण्ड का प्रलय—सारे के सारे विलीन हो गये और क्षण-भर में मार्कण्डेय ने पहले की तरह अपने को अपनी कुटिया में पाया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत में बारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''मार्कण्डेय ऋषि को भगवान् की मायाशक्ति के दर्शन'' शीर्षक नौवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दस

शिव तथा उमा द्वारा मार्कण्डेय ऋषि का गुणगान

इस अध्याय में श्री सूत गोस्वामी ने वर्णन किया है कि किस तरह मार्कण्डेय ऋषि को शिव से वर मिले।

एक बार जब शिवजी अपनी पत्नी पार्वती समेत आकाश से होकर यात्रा कर रहे थे, तो उन्होंने श्री मार्कण्डेय को ध्यान समाधि में लीन देखा। पार्वती के अनुरोध पर, शिवजी उस ऋषि की तपस्या का फल देने उसके समक्ष उपस्थित हुए। श्री मार्कण्डेय ने समाधि से बाहर आकर तीनों लोक के गुरु शिव तथा पार्वती को देखा और नमस्कार, सत्कार के वचन तथा आसन प्रदान करके उनकी पूजा की।

तब शिवजी ने भगवान् के सन्त भक्तों की प्रशंसा की और श्री मार्कण्डेय से मनवांछित वर माँगने के लिए कहा। उन्होंने भगवान् श्री हरि, भगवान् के भक्तों तथा स्वयं शिवजी के प्रति अविचल भक्ति की याचना की। शिवजी ने मार्कण्डेय की भक्ति से प्रसन्न होकर उन्हें प्रसिद्धि, प्रलय होने तक वृद्धावस्था से मुक्ति, काल की तीनों अवस्थाओं का ज्ञान, त्याग, स्वरूपसिद्ध ज्ञान तथा पुराणों के शिक्षक के पद के वर प्रदान किये।

जो लोग मार्कण्डेय ऋषि की कथा का कीर्तन तथा श्रवण करते हैं, वे भौतिक जीवन से मोक्ष प्राप्त करेंगे जो सकाम कर्म से उत्पन्न संचित इच्छाओं पर आधारित है।

सूत उवाच
स एवमनुभूयेदं नारायणविनिर्मितम् ।

वैभवं योगमायायास्तमेव शरणं ययौ ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; सः—वह, मार्कण्डेय; एवम्—इस तरह; अनुभूय—अनुभव करके; इदम्—यह; नारायण-विनिर्मितम्—भगवान् नारायण द्वारा निर्मित; वैभवम्—ऐश्वर्यमय प्रदर्शन; योग-मायायाः—अपनी अन्तरंगा योगशक्ति का; तम्—उसकी; एव—निस्सन्देह; शरणम्—शरण में; ययौ—चला गया।

सूत गोस्वामी ने कहा : भगवान् नारायण ने अपनी मोहमयी शक्ति का यह ऐश्वर्यशाली प्रदर्शन नियोजित किया था। इसका अनुभव करके मार्कण्डेय ऋषि ने भगवान् की शरण ग्रहण की।

श्रीमार्कण्डेय उवाच

प्रपन्नोऽस्म्यङ्घ्रिमूलं ते प्रपन्नाभयदं हरे ।
यन्माययापि विबुधा मुह्यन्ति ज्ञानकाशया ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-मार्कण्डेयः उवाच—श्री मार्कण्डेय ने कहा; प्रपन्नः—शरणागत; अस्मि—मैं हूँ; अङ्घ्रि-मूलम्—चरणकमलों के तलवों; ते—तुम्हारा; प्रपन्न—शरण लेने वालों का; अभय-दम्—अभय दान देने वाला; हरे—हे हरि; यत्-मायया—जिसकी माया से; अपि—भी; विबुधाः—बुद्धिमान देवता; मुह्यन्ति—मोहित हो जाते हैं; ज्ञान-काशया—जो झूठे ही ज्ञान जैसा प्रतीत होती है।

श्री मार्कण्डेय ने कहा : हे भगवान् हरि, मैं आपके उन चरणकमलों के तलवों की शरण ग्रहण करता हूँ जो उनकी शरण ग्रहण करने वालों को अभय दान देते हैं। बड़े-बड़े देवता भी आपकी माया से जो ज्ञान के वेश में उनके समक्ष प्रकट होती है, मोहित रहते हैं।

तात्पर्य : बद्धजीव भौतिक इन्द्रियतृप्ति के प्रति आकृष्ट होते हैं और वे प्रकृति की करनी का सावधानी से अध्ययन करते हैं। यद्यपि वे वैज्ञानिक ज्ञान में आगे बढ़ते प्रतीत होते हैं किन्तु वे भौतिक देह के साथ अपनी झूठी पहचान में अधिकाधिक फँसते जाते हैं जिससे वे अज्ञान में निमग्न होते रहते हैं।

सूत उवाच

तमेवं निभृतात्मानं वृषेण दिवि पर्यटन् ।
रुद्राण्या भगवान्रुद्रो ददर्श स्वगणैर्वृतः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; तम्—उसको, मार्कण्डेय ऋषि को; एवम्—इस प्रकार; निभृत-आत्मानम्—समाधि में पूर्णतया निमग्न मन वाला; वृषेण—अपने बैल पर; दिवि—आकाश में; पर्यटन्—यात्रा करते हुए; रुद्राण्या—अपनी प्रिया रुद्राणी (उमा) के साथ; भगवान्—शक्तिशाली प्रभु; रुद्रः—शिव ने; ददर्श—देखा; स्व-गणैः—अपने संगियों से; वृतः—घिरे हुए।

सूत गोस्वामी ने कहा : भगवान् रुद्र ने अपने बैल पर सवार अपनी प्रिया रुद्राणी तथा अपने निजी संगियों के साथ, मार्कण्डेय को समाधि में देखा।

अथोमा तमृषिं वीक्ष्य गिरिशं समभाषत ।
पश्येमं भगवन्विप्रं निभृतात्मेन्द्रियाशयम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

अथ—तब; उमा—उमा; तम्—उस; ऋषिम्—ऋषि को; वीक्ष्य—देख कर; गिरिशम्—शिव से; समभाषत—बोलीं; पश्य—देखो न; इमम्—इस; भगवन्—मेरे प्रभु; विप्रम्—विद्वान ब्राह्मण को; निभृत—स्थिर; आत्म-इन्द्रिय-आशयम्—शरीर, इन्द्रियाँ तथा मन।

ऋषि को देख कर देवी उमा ने भगवान् गिरिश से कहा, ''हे प्रभु, जरा इस विद्वान ब्राह्मण को, उसके शरीर, मन तथा इन्द्रियों को समाधि में अचल हुए, देखो।''

निभृतोदझषव्रातो वातापाये यथार्णवः ।
कुर्वस्य तपसः साक्षात्संसिद्धिं सिद्धिदो भवान् ॥ ५॥

शब्दार्थ

निभृत—अचल; उद—जल; झष-व्रातः—तथा मछलियों का झुंड; वात—वायु के; अपाये—बन्द होने पर; यथा—जिस तरह; अर्णवः—समुद्र; कुरु—कीजिये; अस्य—इसकी; तपसः—तपस्या का; साक्षात्—प्रकट; संसिद्धिम्—सिद्धि; सिद्धि-दः—सिद्धि-दाता; भवान्—आप।

वह उस समुद्र के जल की तरह शान्त है जब वायु बन्द हो जाती है और मछलियाँ शान्त हो जाती हैं। इसलिए हे प्रभु, चूँकि आप तपस्या करने वाले को सिद्धि प्रदान करते हैं, इसलिए इस ऋषि को सिद्धि प्रदान करें जोकि उसे मिलनी चाहिए।

श्रीभगवानुवाच
नैवेच्छत्याशिषः क्वापि ब्रह्मर्षिर्मोक्षमप्युत ।
भक्तिं परां भगवति लब्धवान्पुरुषेऽव्यये ॥ ६॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—शक्तिमान प्रभु ने कहा; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; इच्छति—इच्छा करती है; आशिषः—वर; क्व अपि—किसी भी देश में; ब्रह्म-ऋषिः—सन्त ब्राह्मण; मोक्षम्—मोक्ष; अपि उत—ही; भक्तिम्—भक्ति; पराम्—दिव्य; भगवति—भगवान् के लिए; लब्धवान्—प्राप्त किया है; पुरुषे—भगवान् के लिए; अव्यये—अव्यय।

शिवजी ने उत्तर दिया : निश्चय ही, यह सन्त ब्राह्मण किसी वर की यहाँ तक कि मोक्ष तक की भी कामना नहीं करता क्योंकि इसने भगवान् अव्यय की शुद्ध भक्ति प्राप्त कर ली है।

तात्पर्य : *नैवेच्छत्याशिषः क्वापि* सूचित करता है कि मार्कण्डेय ऋषि इस ब्रह्माण्ड के किसी भी लोक में प्राप्य किसी वर में रुचि नहीं रखते थे। न ही, उन्हें कोई इच्छा थी क्योंकि उन्होंने स्वयं भगवान् को प्राप्त कर लिया था।

अथापि संवदिष्यामो भवान्येतेन साधुना ।
अयं हि परमो लाभो नृणां साधुसमागमः ॥ ७॥

शब्दार्थ

अथ अपि—तो भी; संवदिष्यामः—हम बात करेंगे; भवानि—हे भवानी; एतेन—इस; साधुना—शुद्ध भक्त से; अयम्—यह; हि—निस्सन्देह; परमः—सर्वोत्तम; लाभः—लाभ; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; साधु-समागमः—सन्त भक्तों की संगति।.

तो भी हे भवानी, चलो हम इस सन्त पुरुष से बातें करें। आखिर सन्त भक्तों की संगति मनुष्य की सर्वोच्च उपलब्धि है।

सूत उवाच

इत्युक्त्वा तमुपेयाय भगवान्स सतां गतिः ।
ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वदेहिनाम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कह कर; तम्—उस ऋषि के पास; उपेयाय—जाकर; भगवान्—वरिष्ठ देवता; सः—वह; सताम्—शुद्ध आत्माओं के; गतिः—शरण; ईशानः—स्वामी; सर्व-विद्यानाम्—विद्या की समस्त शाखाओं के; ईश्वरः—नियन्ता; सर्व-देहिनाम्—समस्त देहधारी जीवों के।.

सूत गोस्वामी ने कहा : इस तरह कहने के बाद, शुद्धात्माओं के आश्रय, समस्त आध्यात्मिक विद्याओं के स्वामी तथा समस्त देहधारी जीवों के नियन्ता भगवान् शंकर उस ऋषि के पास गये।

तयोरागमनं साक्षादीशयोर्जगदात्मनोः ।
न वेद रुद्धधीवृत्तिरात्मानं विश्वमेव च ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तयोः—उन दोनों का; आगमनम्—आना; साक्षात्—स्वयं; ईशयोः—शक्तिमान पुरुषों का; जगत्-आत्मनोः—ब्रह्माण्ड के नियन्ताओं का; न वेद—नहीं देख पाया; रुद्ध—रुका हुआ; धी-वृत्तिः—मन की गति; आत्मानम्—स्वयं; विश्वम्—बाह्य ब्रह्माण्ड; एव—निस्सन्देह; च—भी।.

चूँकि मार्कण्डेय का भौतिक मन कार्य करना बन्द कर चुका था अतएव वे ब्रह्माण्ड के नियन्ता शिव तथा उनकी पत्नी का आना देख नहीं पाये, जो स्वयं उन्हें देखने आये थे। मार्कण्डेय ध्यान में इतने लीन थे कि उन्हें अपनी या बाह्य जगत की कोई सुधि-बुधि नहीं थी।

भगवांस्तदभिज्ञाय गिरिशो योगमायया ।
आविशत्तद्गुहाकाशं वायुश्छिद्रमिवेश्वरः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

भगवान्—महापुरुष; तत्—उस; अभिज्ञाय—समझ कर; गिरिशः—भगवान् गिरिश ने; योग-मायया—अपनी योगशक्ति से; आविशत्—प्रवेश किया; तत्—मार्कण्डेय के; गुहा-आकाशम्—हृदय के गुप्त आकाश में; वायुः—वायु; छिद्रम्—छेद; इव—सदृश; ईश्वरः—प्रभु।.

स्थिति से भलीभाँति परिचित होने पर, शक्तिमान भगवान् शिव ने मार्कण्डेय के हृदय-

आकाश के भीतर प्रविष्ट होने के लिए अपनी योगशक्ति का प्रयोग किया जिस तरह वायु छेद में से प्रवेश कर जाती है।

आत्मन्यपि शिवं प्राप्तं तडित्पिङ्गजटाधरम् ।
त्र्यक्षं दशभुजं प्रांशुमुद्यन्तमिव भास्करम् ॥ ११ ॥
व्याघ्रचर्माम्बरं शूलधनुरिष्वसिचर्मभिः ।
अक्षमालाडमरुककपालं परशुं सह ॥ १२ ॥
बिभ्राणं सहसा भातं विचक्ष्य हृदि विस्मितः ।
किमिदं कुत एवेति समाधेर्विरतो मुनिः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

आत्मनि—अपने भीतर; अपि—भी; शिवम्—शिव को; प्राप्तम्—आया हुआ; तडित्—बिजली के समान; पिङ्ग—पीलाभ; जटा—बालों की लटें; धरम्—धारण किये; त्रि-अक्षम्—तीन नेत्रों सहित; दश-भुजम्—तथा दस भुजाएँ; प्रांशुम्—अत्यधिक ऊँचा; उद्यन्तम्—उठा हुआ; इव—सदृश; भास्करम्—सूर्य को; व्याघ्र—बाघ का; चर्म—रोंएदार चमड़ा; अम्बरम्—वस्त्र के रूप में; शूल—त्रिशूल; धनः—धनुष; इषु—बाण; असि—तलवार; चर्मभिः—तथा ढाल सहित; अक्ष-माला—जपमाला; डमरुक—डमरू; कपालम्—तथा सिर; परशुम्—फरसा; सह—सहित; बिभ्राणम्—प्रदर्शित करते हुए; सहसा—एकाएक; भातम्—प्रकट; विचक्ष्य—देख कर; हृदि—हृदय में; विस्मितः—चकित; किम्—क्या; इदम्—यह; कुतः—कहाँ से; एव—निस्सन्देह; इति—इस प्रकार; समाधेः—समाधि से; विरतः—हटा; मुनिः—मुनि।

श्री मार्कण्डेय ने सहसा भगवान् शिव को अपने हृदय के भीतर प्रकट हुए देखा। शिवजी के सुनहरे केश बिजली के समान थे। उनके तीन नेत्र, दस भुजाएँ तथा ऊँचा शरीर था, जो उदय हो रहे सूर्य की तरह चमक रहा था। वे व्याघ्र चर्म पहने थे और त्रिशूल, धनुष, बाण, तलवार तथा ढाल लिये थे। वे जपमाला, डमरू, कपाल तथा परशु भी लिए थे। मुनि ने चकित होकर अपनी समाधि तोड़ दी और सोचा, ''यह कौन है और कहाँ से आया है?''

नेत्रे उन्मील्य ददृशे सगणं सोमयागतम् ।
रुद्रं त्रिलोकैकगुरुं ननाम शिरसा मुनिः ॥ १४॥

शब्दार्थ

नेत्रे—अपने नेत्र; उन्मील्य—खोल कर; ददृशे—देखा; स-गणम्—अपने संगियों के साथ; स-उमया—तथा उमा समेत; आगतम्—आया हुआ; रुद्रम्—रुद्र को; त्रि-लोक—तीनों लोकों के; एक-गुरुम्—एकमात्र गुरु; ननाम—नमस्कार किया; शिरसा—सिर के बल; मुनिः—मुनि ने।

अपनी आँखें खोल कर मुनि ने तीनों जगत के गुरु भगवान् रुद्र को उमा तथा उनके गणों समेत देखा। तब मार्कण्डेय ने सिर के बल झुक कर उन्हें सादर नमस्कार किया।

तात्पर्य : जब मार्कण्डेय ऋषि ने अपने हृदय के भीतर शिव तथा उमा को देखा तो वे तुरन्त उनके प्रति तथा स्वयं अपने प्रति भी सतर्क हो उठे। दूसरी ओर, समाधि के समय वे भगवान् के भाव में लीन थे और अपने को प्रत्यक्ष दर्शक के रूप में भूल चुके थे।

तस्मै सपर्यां व्यदधात्सगणाय सहोमया ।
स्वागतासनपाद्यार्घ्यगन्धस्त्रग्धूपदीपकैः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उसको; सपर्याम्—पूजा; व्यदधात्—अर्पित की; स-गणाय—उनके गणों समेत; सह उमया—उमा सहित; सु-आगत—स्वागत के शब्दों से; आसन—बैठने के लिए स्थान देते हुए; पाद्य—चरण धोने के लिए जल; अर्घ्य—सुगन्धित पीने का पानी; गन्ध—सुगन्धित तेल; स्त्रक्—माला; धूप—धूप; दीपकैः—तथा दीपकों से।

मार्कण्डेय ने उमा तथा शिव के गणों समेत भगवान् शिव की पूजा स्वागत के शब्दों, आसन, उनके पाँव धोने के लिए जल, सुगंधित पीने के पानी, सुगन्धित तेल, फूल-मालाओं तथा आरती के दीपक द्वारा की।

आह त्वात्मानुभावेन पूर्णकामस्य ते विभो ।
करवाम किमीशान येनेदं निर्वृतं जगत् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

आह—मार्कण्डेय ने कहा; तु—निस्सन्देह; आत्म-अनुभावेन—निजी आनन्द अनुभूति से; पूर्ण-कामस्य—सभी प्रकार से तुष्ट; ते—आपके लिए; विभो—हे सर्वशक्तिमान; करवाम—कर सकता हूँ; किम्—क्या; ईशान—हे ईश्वर; येन—जिससे; इदम्—यह; निर्वृतम्—शान्त बनता है; जगत्—पूरा संसार।

मार्कण्डेय ने कहा : हे विभु, मैं आपके लिए, जो अपने ही आनन्द में सदैव तुष्ट रहने वाले हैं, क्या कर सकता हूँ? निस्सन्देह, आप अपनी कृपा से इस सारे जगत को तुष्ट करते हैं।

नमः शिवाय शान्ताय सत्त्वाय प्रमृडाय च ।
रजोजुषेऽथ घोराय नमस्तुभ्यं तमोजुषे ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; शिवाय—सर्वमंगलकारी; शान्ताय—शान्त; सत्त्वाय—सतोगुण के साक्षात् रूप; प्रमृडाय—आनन्द के दाता; च—तथा; रजः-जुषे—रजोगुण के सम्पर्क में रहने वाला; अथ—भी; घोराय—घोर; नमः—नमस्कार; तुभ्यम्—आपको; तमः-जुषे—तमोगुण के संगी।

हे सर्वमंगलकारी दिव्य पुरुष, मैं बारम्बार आपको नमस्कार करता हूँ। सतोगुण के स्वामी के रूप में आप आनन्द के दाता हैं, रजोगुण के सम्पर्क में आप अत्यन्त भयावने लगते हैं और तमोगुण से भी आप सान्निध्य रखते हैं।

सूत उवाच

एवं स्तुतः स भगवानादिदेवः सतां गतिः ।
परितुष्टः प्रसन्नात्मा प्रहसंस्तमभाषत ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; एवम्—इन शब्दों द्वारा; स्तुतः—स्तुति किया गया; सः—वह; भगवान्—शक्तिमान शिवजी; आदि-देवः—देवताओं के अग्रणी; सताम्—साधु भक्तों के; गतिः—आश्रय, शरण; परितुष्टः—पूरी तरह तुष्ट; प्रसन्न-आत्मा—मन में प्रसन्न; प्रहसन्—हँसते हुए; तम्—मार्कण्डेय से; अभाषत—बोले।.

सूत गोस्वामी ने कहा : देवताओं में अग्रणी तथा साधु भक्तों के आश्रय रूप भगवान् शिव, मार्कण्डेय की स्तुति से तुष्ट हो गए। प्रसन्न होने के कारण वे हँसने लगे और मुनि से बोले।

श्रीभगवानुवाच

वरं वृणीष्व नः कामं वरदेशा वयं त्रयः ।
अमोघं दर्शनं येषां मर्त्यो यद्विन्दतेऽमृतम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—शिवजी ने कहा; वरम्—वर; वृणीष्व—चुनो; नः—हमसे; कामम्—जो इच्छा हो; वर-द—समस्त वर देने वालों में से; ईशाः—नियंता, स्वामी; वयम्—हम; त्रयः—तीन (ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर); अमोघम्—व्यर्थ न जाने वाला; दर्शनम्—दर्शन; येषाम्—जिनके; मर्त्यः—मर्त्य जीव; यत्—जिससे; विन्दते—प्राप्त करता है; अमृतम्—अमरता।.

शिवजी ने कहा : तुम मुझसे कोई वर माँगो क्योंकि वर देने वालों में से हम तीन—ब्रह्मा, विष्णु तथा मैं—सर्वश्रेष्ठ हैं। हमारा दर्शन व्यर्थ नहीं जाता क्योंकि हमारे दर्शन मात्र से मर्त्य प्राणी अमरता प्राप्त कर लेता है।

ब्राह्मणाः साधवः शान्ता निःसङ्गा भूतवत्सलाः ।
एकान्तभक्ता अस्मासु निर्वैराः समदर्शिनः ॥ २० ॥

सलोका लोकपालास्तान्वन्दन्त्यर्चन्त्युपासते ।
अहं च भगवान्ब्रह्मा स्वयं च हरिरीश्वरः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणाः—ब्राह्मण; साधवः—साधु स्वभाव के; शान्ताः—शान्त तथा द्वेष एवं अन्य दुर्गुणों से रहित; निःसङ्गाः—भौतिक संगति से मुक्त; भूत-वत्सलाः—जीवों पर सदय; एक-अन्त-भक्ताः—अनन्य भक्त; अस्मासु—हमारे (ब्रह्मा, हरि तथा शिव); निर्वैराः—कभी घृणा से युक्त नहीं; सम-दर्शिनः—सबको समान दृष्टि से देखने वाले; स-लोकाः—सारे जगतों के निवासियों सहित; लोक-पालाः—विभिन्न लोकों के शासक; तान्—उन ब्राह्मणों को; वन्दन्ति—वन्दना करते हैं; अर्चन्ति—पूजा करते हैं; उपासते—सहायता करते हैं; अहम्—मैं; च—भी; भगवान्—महान् स्वामी; ब्रह्मा—ब्रह्मा; स्वयम्—स्वयं; च—भी; हरिः—हरि; ईश्वरः—भगवान्।.

ब्रह्मा, हरि तथा मुझ समेत सारे लोकों के निवासी तथा शासन करने वाले देवता उन ब्राह्मणों की वन्दना, पूजा तथा सहायता करते हैं, जो सन्त स्वभाव के, सदैव शान्त, भौतिक आसक्ति से रहित, समस्त जीवों पर दयालु, हमारे प्रति शुद्ध भक्ति से युक्त, घृणा से रहित एवं समदृष्टि से युक्त होते हैं।

न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते ।

नात्मनश्च जनस्यापि तद्युष्मान्वयमीमहि ॥ २२॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ते—वे; मयि—मुझमें; अच्युते—भगवान् विष्णु में; अजे—ब्रह्मा में; च—तथा; भिदाम्—अन्तर; अणु—लेश; अपि—भी; चक्षते—देखते हैं; न—नहीं; आत्मनः—अपना; च—तथा; जनस्य—अन्य लोगों का; अपि—भी; तत्—इसलिए; युष्मान्—तुम; वयम्—हम; ईमहि—पूजा करते हैं।

ये भक्तगण भगवान् विष्णु, ब्रह्मा तथा मुझमें अन्तर नहीं करते, न ही वे अपने तथा अन्य जीवों के बीच अन्तर करते हैं। तुम इसी तरह के सन्त भक्त हो, इसलिए हम तुम्हारी पूजा करते हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा तथा शिव क्रमशः भगवान् विष्णु की सृजन तथा संहार शक्तियों की अभिव्यक्ति हैं। इस तरह भौतिक जगत के इन तीन शासनकर्ता देवों में एकता बनी रहती है। मनुष्य को, प्रकृति के गुणों के आधार पर, भगवान् की शासन शक्ति में भौतिक द्वैत नहीं ढूँढना चाहिए यद्यपि यह शक्ति ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव इन तीन रूपों में प्रकट होती है।

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवाश्चेतनोज्झिताः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन यूयं दर्शनमात्रतः ॥ २३॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अप्-मयानि—पवित्र जल से युक्त; तीर्थानि—तीर्थस्थल; न—नहीं; देवाः—देवताओं के अर्चाविग्रह रूप; चेतन-उज्झिताः—जीवन से रहित; ते—वे; पुनन्ति—शुद्ध करते हैं; उरु-कालेन—दीर्घकाल के पश्चात्; यूयम्—तुम सब; दर्शन-मात्रतः—केवल दर्शन करने से।

मात्र जलाशय तीर्थस्थान नहीं होते, न ही देवताओं की निर्जीव मूर्तियाँ वास्तविक पूज्य अर्चाविग्रह होती हैं। चूँकि बाह्य दृष्टि पवित्र नदियों तथा देवताओं के उच्च आशय को समझ नहीं पाती, इसलिए ये दीर्घकाल बाद ही पवित्र बना पाते हैं। किन्तु तुम जैसे भक्त, दर्शन मात्र से, पवित्र कर देते हो।

ब्राह्मणेभ्यो नमस्यामो येऽस्मद्रूपं त्रयीमयम् ।
बिभ्रत्यात्मसमाधानतपःस्वाध्यायसंयमैः ॥ २४॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणेभ्यः—ब्रह्मणों को; नमस्यामः—हम नमस्कार करते हैं; ये—जो; अस्मत्-रूपम्—हमारे (शिव, ब्रह्मा तथा विष्णु के) रूप; त्रयी-मयम्—तीन वेदों के द्वारा प्रदर्शित; बिभ्रति—वहन करते हैं; आत्म-समाधान—आत्म पर केन्द्रित ध्यान समाधि द्वारा; तपः—तपस्या द्वारा; स्वाध्याय—अध्ययन द्वारा; संयमैः—तथा विधि-विधानों के पालन द्वारा।

परमात्मा का ध्यान करके, तपस्या करके, वेदाध्ययन करके तथा विधि-विधानों का पालन करके, ब्राह्मणजन अपने भीतर तीनों वेदों को, जोकि विष्णु, ब्रह्मा तथा मुझसे अभिन्न हैं, धारण करते हैं। इसलिए मैं ब्राह्मणों को नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् का शुद्ध भक्त सबसे उच्च ब्राह्मण माना जाता है क्योंकि सारे आध्यात्मिक प्रयत्न ईश्वर की प्रेमाभक्ति में ही आकर समाप्त हो जाते हैं।

श्रवणाद्दर्शनाद्वापि महापातकिनोऽपि वः ।
शुध्येरन्नन्त्यजाश्चापि किमु सम्भाषणादिभिः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

श्रवणात्—श्रवण करने से; दर्शनात्—दर्शन करने से; वा—अथवा; अपि—भी; महा-पातकिनः—सबसे अधम पाप करने वाले; अपि—भी; वः—तुम; शुध्येरन्—शुद्ध बन जाते हैं; अन्त्य-जाः—अछूत लोग; च—तथा; अपि—भी; किम् उ—क्या कहा जाय; सम्भाषण-आदिभिः—प्रत्यक्ष बात करने इत्यादि से।

अधम से अधम पापी तथा अछूत भी तुम जैसे पुरुषों का श्रवण करने या दर्शन करने से शुद्ध बन जाते हैं। तब जरा कल्पना करो कि सीधे तुमसे बात करने से वे कितने शुद्ध बन जाते हैं?

सूत उवाच
इति चन्द्रललामस्य धर्मगह्योपबृंहितम् ।
वचोऽमृतायनमृषिर्नातृप्यत्कर्णयोः पिबन् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; चन्द्र-ललामस्य—चन्द्रमा से सुशोभित शिव का; धर्म-गुह्य—धर्म के गुह्य सार से; उपबृंहितम्—पूरित; वचः—शब्द; अमृत-अयनम्—अमृत के आगार; ऋषिः—ऋषि; न अतृप्यत्—तृप्ति नहीं हुई; कर्णयोः—अपने कानों से; पिबन्—पीते हुए।

सूत गोस्वामी ने कहा : भगवान् शिव के अमृत तुल्य शब्दों को, जोकि धर्म के गुह्य सार से पूरित थे, अपने कानों से पीते हुए मार्कण्डेय ऋषि तुष्ट नहीं हुए।

तात्पर्य : मार्कण्डेय ऋषि शिवजी द्वारा प्रशंसित होने के लिए उत्सुक न थे अपितु उन्हें शिवजी द्वारा धर्म के सिद्धान्तों की गहन अनुभूति अच्छी लग रही थी, इसीलिए वे और अधिक सुनना चाह रहे थे।

स चिरं मायया विष्णोर्भ्रामितः कर्शितो भृशम् ।
शिववागमृतध्वस्तक्लेशपुञ्जस्तमब्रवीत् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; चिरम्—दीर्घकाल तक; मायया—माया द्वारा; विष्णोः—भगवान् विष्णु की; भ्रामितः—भटकाया हुआ; कर्शितः—थका; भृशम्—अत्यधिक; शिव—शिव के; वाक्-अमृत—अमृत तुल्य शब्दों से; ध्वस्त—विनष्ट; क्लेश-पुञ्जः—कष्टों का समूह; तम्—उससे; अब्रवीत्—बोला।

भगवान् विष्णु की माया द्वारा प्रलय के जल में दीर्घकाल तक भटकाये गये होने के कारण मार्कण्डेय अत्यधिक थक चुके थे। किन्तु शिवजी के अमृत तुल्य शब्दों से उनका संचित क्लेश नष्ट हो गया। अतः वे शिवजी से बोले।

तात्पर्य : मार्कण्डेय ऋषि भगवान् विष्णु की माया का दर्शन करना चाहते थे और काफी कष्ट भोग चुके थे। किन्तु अब शिव के रूप में भगवान् विष्णु पुनः ऋषि के समक्ष प्रकट हुए थे और

उन्होंने आनन्दमय उपदेशों द्वारा उन्हें सारे कष्टों से मुक्त कर दिया।

श्रीमार्कण्डेय उवाच
अहो ईश्वरलीलेयं दुर्विभाव्या शरीरिणाम् ।
यन्नमन्तीशितव्यानि स्तुवन्ति जगदीश्वराः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्री-मार्कण्डेयः उवाच—श्री मार्कण्डेय ने कहा; अहो—ओह; ईश्वर—महान् स्वामियों की; लीला—लीला; इयम्—यह; दुर्विभाव्या—अविश्वसनीय; शरीरिणाम्—देहधारी जीवों के लिए; यत्—क्योंकि; नमन्ति—नमस्कार करते हैं; ईशितव्यानि—उनको जो उनके द्वारा नियंत्रित होते हैं; स्तुवन्ति—स्तुति करते हैं; जगत्-ईश्वराः—ब्रह्माण्ड के शासक।

श्री मार्कण्डेय ने कहा : देहधारी जीवों के लिए ब्रह्माण्ड के नियन्ताओं की लीलाओं को समझ पाना सबसे कठिन है क्योंकि ऐसे प्रभु अपने ही द्वारा शासित जीवों को सिर झुकाते तथा उनकी स्तुति करते हैं।

तात्पर्य : भौतिक जगत में बद्धजीव एक-दूसरे पर रोब दिखाना चाहते हैं, इसलिए वे ब्रह्माण्ड के वास्तविक स्वामियों की लीलाओं को नहीं समझ पाते। ऐसे प्रामाणिक स्वामियों में अद्‌भुत उदार मनोवृत्ति पाई जाती है, अत: वे कभी कभी अपनी प्रजा में से अत्यन्त योग्य तथा साधु स्वभाववाले व्यक्ति को नमस्कार तक करते हैं।

धर्मं ग्राहयितुं प्रायः प्रवक्तारश्च देहिनाम् ।
आचरन्त्यनुमोदन्ते क्रियमाणं स्तुवन्ति च ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

धर्मम्—धर्म; ग्राहयितुम्—स्वीकार करवाना; प्रायः—अधिकांशतः; प्रवक्तारः—वैध वक्ताओं; च—तथा; देहिनाम्—सामान्य देहधारियों के लिए; आचरन्ति—कर्म करते हैं; अनुमोदन्ते—प्रोत्साहित करते हैं; क्रियमाणम्—सम्पन्न करने वाला; स्तुवन्ति—स्तुति करते हैं; च—भी।

सामान्यतया देहधारी जीवों को धार्मिक सिद्धान्त स्वीकार करने के लिए प्रेरित करने के लिए ही प्रामाणिक धर्माचार्य, अन्यों को प्रोत्साहित करके तथा उनके आचरण की प्रशंसा करके, आदर्श आचरण प्रदर्शित करते हैं।

नैतावता भगवतः स्वमायामयवृत्तिभिः ।
न दुष्येतानुभावस्तैर्मायिनः कुहकं यथा ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतावता—ऐसे (विनयशीलता के प्रदर्शन) द्वारा; भगवतः—भगवान् का; स्व-माया—अपनी माया; मय—से युक्त; वृत्तिभिः—कार्यों द्वारा; न दुष्येत—बिगड़ता नहीं; अनुभावः—शक्ति; तैः—उनके द्वारा; मायिनः—जादूगर की; कुहकम्—करामातें; यथा—जिस तरह।

यह ऊपरी विनयशीलता दया का दिखावा मात्र है। भगवान् तथा उनके संगियों का ऐसा आचरण, जिसे भगवान् अपनी मोहिनी शक्ति से दिखलाते हैं, उनकी शक्ति को नहीं

बिगाड़ता जिस तरह जादूगर की शक्तियाँ जादूगरी की करामातें दिखाने से घटती नहीं।

सृष्ट्वेदं मनसा विश्वमात्मनानुप्रविश्य यः ।
गुणैः कुर्वद्भिराभाति कर्तेव स्वप्नदृग्यथा ॥ ३१ ॥
तस्मै नमो भगवते त्रिगुणाय गुणात्मने ।
केवलायाद्वितीयाय गुरवे ब्रह्ममूर्तये ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

सृष्ट्वा—उत्पन्न करके; इदम्—इस; मनसा—अपने मन से, अपनी इच्छा मात्र से; विश्वम्—ब्रह्माण्ड को; आत्मना—परमात्मा रूप में; अनुप्रविश्य—बाद में प्रविष्ट होकर; यः—जो; गुणैः—गुणों के द्वारा; कुर्वद्भिः—कर्म करते हैं; आभाति—प्रकट होता है; कर्ता इव—मानो कर्ता हो; स्वप्न-दृक्—स्वप्न देखने वाला व्यक्ति; यथा—जिस तरह; तस्मै—उस; नमः—नमस्कार; भगवते—भगवान् को; त्रि-गुणाय—तीन गुणों वाले; गुण-आत्मने—प्रकृति के तीनों गुणों के स्वामी; केवलाय—शुद्ध; अद्वितीयाय—अद्वितीय; गुरवे—गुरु को; ब्रह्म-मूर्तये—परब्रह्म के साकार रूप।

मैं उन भगवान् को नमस्कार करता हूँ जिन्होंने अपनी इच्छा मात्र से इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सृष्टि की और फिर जो उसमें परमात्मा रूप में प्रविष्ट हो गये। वे प्रकृति के गुणों को क्रियमाण बनाकर इस जगत के प्रत्यक्ष स्रष्टा प्रतीत होते हैं जिस तरह स्वप्न देखने वाला अपने स्वप्न के भीतर कर्म करता प्रतीत होता है। वे प्रकृति के तीनों गुणों के स्वामी और परम नियन्ता हैं, फिर भी वे पृथक् रहते हैं और शुद्ध तथा अद्वितीय हैं। वे सबों के परम गुरु तथा परब्रह्म के आदि साकार रूप हैं।

तात्पर्य : जब भगवान् अपनी भौतिक शक्तियों को मुक्त करते हैं, तो उनकी अन्योन्य क्रिया से सृष्टि बनती है। भगवान् परम दिव्य सत्ता के रूप में पृथक् रहते हैं। फिर भी चूँकि सारी सृष्टि उनकी योजना तथा इच्छा के अनुसार प्रकट होती है, अतः सारी वस्तुओं में उनका नियामक हाथ देखा जाता है। इस तरह लोग कल्पना करते हैं कि ईश्वर इस जगत का प्रत्यक्ष निर्माता है यद्यपि वे अलग रहते हुए अपनी अनेक शक्तियों के नियोजन से उसकी सृष्टि करते हैं।

कं वृणे नु परं भूमन्वरं त्वद्वरदर्शनात् ।
यद्दर्शनात्पूर्णकामः सत्यकामः पुमान्भवेत् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

कम्—क्या; वृणे—मैं चुनूँ; नु—निस्सन्देह; परम्—अन्य; भूमन्—हे सर्वव्यापक प्रभु; वरम्—वर; त्वत्—आपसे; वर-दर्शनात्—जिनका दर्शन ही सबसे बड़ा वर है; यत्—जिसके; दर्शनात्—दर्शन से; पूर्ण-कामः—सारी इच्छाओं से पूर्ण; सत्य-कामः—किसी भी इच्छित वस्तु को प्राप्त करने में सक्षम; पुमान्—पुरुष; भवेत्—बन जाता है।

हे सर्वव्यापक प्रभु, चूँकि मुझे आपका दर्शन करने का वर प्राप्त हो चुका है, इसलिए मैं आपसे अन्य किस वर की याचना करूँ? केवल आपका दर्शन करने से मनुष्य की सारी इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं और वह कोई भी कल्पित कार्य संपन्न कर सकता है।

वरमेकं वृणेऽथापि पूर्णात्कामाभिवर्षणात् ।
भगवत्यच्युतां भक्तिं तत्परेषु तथा त्वयि ॥ ३४॥

शब्दार्थ

वरम्—वर; एकम्—एक; वृणे—याचना करता हूँ; अथ अपि—तो भी; पूर्णात्—जो पूर्ण है उससे; काम-अभिवर्षणात्—जो इच्छाओं की पूर्ति की वर्षा करता है; भगवति—भगवान् के लिए; अच्युताम्—अच्युत; भक्तिम्—भक्ति; तत्-परेषु—उनके शरणागतों; तथा—भी; त्वयि—आप में।

किन्तु मैं आपसे एक वर माँगता हूँ क्योंकि आप समस्त सिद्धि से पूर्ण हैं और समस्त इच्छाओं की पूर्ति की वर्षा करने में समर्थ हैं। मैं आपसे भगवान् की तथा उनके समर्पित भक्तों की, विशेष रूप से आपकी, अच्युत भक्ति के लिए याचना करता हूँ।

तात्पर्य : *तत्परेषु तथा त्वयि* पद स्पष्ट बतलाता है कि शिवजी परमेश्वर के भक्त हैं, स्वयं परमेश्वर नहीं। चूँकि ईश्वर के प्रतिनिधि को वही पद दिया जाता है, जो ईश्वर का होता है, इसीलिए मार्कण्डेय ऋषि पिछले श्लोकों में शिवजी को भगवान् कहते हैं। किन्तु अब यह स्पष्ट हो जाता है कि, जैसाकि वैदिक वाङ्मय में कहा गया है, शिवजी ईश्वर के शाश्वत भक्त हैं, ईश्वर नहीं हैं।

चेतना के सूक्ष्म नियमों के अनुसार, इच्छा मन तथा हृदय के भीतर प्रकट होती है। भगवान् की सेवा करने की शुद्ध इच्छा मनुष्य को चेतना के सर्वोच्च पद पर लाती है और जीवन का ऐसा पूर्ण ज्ञान भगवद्भक्तों की विशेष कृपा से ही प्राप्त हो पाता है।

सूत उवाच
इत्यर्चितोऽभिष्टुतश्च मुनिना सूक्तया गिरा ।
तमाह भगवाञ्छर्वः शर्वया चाभिनन्दितः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; इति—इन शब्दों में; अर्चितः—पूजित; अभिष्टुतः—स्तुति किये गये; च—तथा; मुनिना—मुनि द्वारा; सु-उक्तया—अच्छी तरह कहे गये; गिरा—शब्दों से; तम्—उससे; आह—कहा; भगवान् शर्वः—शिवजी; शर्वया—अपनी प्रिया शर्वा द्वारा; च—तथा; अभिनन्दितः—प्रोत्साहित।

सूत गोस्वामी ने कहा : मुनि मार्कण्डेय के वाक्पटु कथनों द्वारा पूजित तथा प्रशंसित भगवान् शर्व (शिव) ने अपनी प्रिया द्वारा प्रोत्साहित किये जाने पर उनसे इस प्रकार कहा।

कामो महर्षे सर्वोऽयं भक्तिमांस्त्वमधोक्षजे ।
आकल्पान्ताद्यशः पुण्यमजरामरता तथा ॥ ३६॥

शब्दार्थ

कामः—इच्छा; महा-ऋषे—हे महर्षि; सर्वः—सारा; अयम्—यह; भक्ति-मान्—भक्ति से पूर्ण; त्वम्—तुम; अधोक्षजे—भगवान् के लिए; आ-कल्प-अन्तात्—ब्रह्मा के दिन के अन्त तक; यशः—यश; पुण्यम्—पवित्र; अजर-अमरता—वृद्धावस्था तथा मृत्यु से मुक्ति; तथा—भी।

हे महर्षि, तुम भगवान् अधोक्षज के प्रति अनुरक्त हो, इसलिए तुम्हारी सारी इच्छाएँ पूरी होंगी। इस सृष्टि चक्र के अन्त तक तुम पवित्र यश तथा वृद्धावस्था एवं मृत्यु से मुक्ति का

भोग करोगे।

ज्ञानं त्रैकालिकं ब्रह्मन् विज्ञानं च विरक्तिमत् ।
ब्रह्मवर्चस्विनो भूयात्पुराणाचार्यतास्तु ते ॥ ३७॥

शब्दार्थ

ज्ञानम्—ज्ञान; त्रै-कालिकम्—काल की तीनों अवस्थाओं (भूत, वर्तमान तथा भविष्य) का; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; विज्ञानम्—दिव्य अनुभूति; च—भी; विरक्ति-मत्—वैराग्य समेत; ब्रह्म-वर्चस्विनः—ब्रह्म शक्ति से युक्त है, जो उसका; भूयात्—हो; पुराण-आचार्यता—पुराणों के आचार्य का पद; अस्तु—हो; ते—तुम्हारा।.

हे ब्राह्मण, तुम्हें भूत, वर्तमान तथा भविष्य का पूर्ण ज्ञान और उसी के साथ वैराग्य से युक्त ब्रह्म की दिव्य अनुभूति प्राप्त हो। तुम्हारे पास आदर्श ब्राह्मण का तेज है, जिससे तुम पुराणों के आचार्य का पद पा सको।

सूत उवाच
एवं वरान्स मुनये दत्त्वागात्त्र्यक्ष ईश्वरः ।
देव्यै तत्कर्म कथयन्ननुभूतं पुरामुना ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस तरह; वरान्—वर; सः—वह; मुनये—मुनि को; दत्त्वा—देकर; अगात्—चला गया; त्रि-अक्षः—तीन नेत्रों वाले; ईश्वरः—शिवजी; देव्यै—देवी पार्वती को; तत्-कर्म—मार्कण्डेय के कार्यकलाप; कथयन्—बतलाते हुए; अनुभूतम्—अनुभव किया हुआ; पुरा—पहले; अमुना—उसके द्वारा, मार्कण्डेय द्वारा।.

सूत गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार मार्कण्डेय ऋषि को वर देकर शिवजी अपने मार्ग में देवी पार्वती से ऋषि की उपलब्धियों का तथा उनके द्वारा अनुभव की गई भगवान् की माया के प्रत्यक्ष प्रदर्शन का वर्णन करते चले गये।

सोऽप्यवाप्तमहायोगमहिमा भार्गवोत्तमः ।
विचरत्यधुनाप्यद्धा हरावेकान्ततां गतः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, मार्कण्डेय; अपि—निस्सन्देह; अवाप्त—प्राप्त करके; महा-योग—योग की सर्वोच्च सिद्धि की; महिमा—महिमा; भार्गव-उत्तमः—श्रेष्ठ भृगुवंशी; विचरति—विचरण कर रहा है; अधुना अपि—आज भी; अद्धा—प्रत्यक्ष; हरौ—हरि के लिए; एक-अन्तताम्—एकान्तिक भक्ति का पद; गतः—प्राप्त करके।.

श्रेष्ठ भृगुवंशी मार्कण्डेय ऋषि अपनी योग-सिद्धि की उपलब्धि के कारण यशस्वी हैं। आज भी वे इस जगत में भगवान् की अनन्य भक्ति में पूरी तरह लीन होकर विचरण करते हैं।

अनुवर्णितमेतत्ते मार्कण्डेयस्य धीमतः ।

अनुभूतं भगवतो मायावैभवमद्भुतम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

अनुवर्णितम्—वर्णन किया गया; एतत्—यह; ते—तुमसे; मार्कण्डेयस्य—मार्कण्डेय का; धी-मतः—बुद्धिमान; अनुभूतम्—अनुभव किया गया; भगवतः—भगवान् का; माया-वैभवम्—माया का ऐश्वर्य; अद्भुतम्—अद्भुत।

इस तरह मैंने तुमसे अत्यन्त बुद्धिमान ऋषि मार्कण्डेय के कार्यकलापों का, विशेष रूप से जिस तरह उन्होंने भगवान् की माया की अद्भुत शक्ति का अनुभव किया, वर्णन कर दिया।

एतत्केचिदविद्वांसो मायासंसृतिरात्मनः ।
अनाद्यावर्तितं नृणां कादाचित्कं प्रचक्षते ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; केचित्—कुछ व्यक्ति; अविद्वांसः—जो विद्वान नहीं हैं; माया-संसृतिः—मायामयी सृष्टि; आत्मनः—परमात्मा की; अनादि—अनन्त काल से; आवर्तितम्—पिष्टपेषण की गई; नृणाम्—बद्धजीवों का; कादाचित्कम्—अभूतपूर्व; प्रचक्षते—कहते हैं।

यद्यपि यह घटना अद्वितीय तथा अभूतपूर्व थी, किन्तु कुछ अज्ञानी लोग इसकी तुलना बद्धजीवों के लिए भगवान् द्वारा रचित मायामय जगत के चक्र से करते हैं—ऐसा अन्तहीन चक्र जो अनन्त काल से चल रहा है।

तात्पर्य : मार्कण्डेय का भगवान् की श्वास से उनके शरीर में खिंच जाने और प्रश्वास के साथ बाहर आ जाने को सृष्टि तथा प्रलय के निरन्तर चक्र का प्रतीकात्मक वर्णन नहीं मानना चाहिए। *श्रीमद्भागवत* का यह अंश एक भगवद्भक्त द्वारा अनुभव की हुई असली ऐतिहासिक घटना है। जो लोग इस कथा को प्रतीकात्मक रूपक मात्र मानते हैं उन्हें यहाँ अज्ञानी मूर्ख कहा गया है।

य एवमेतद्भृगुवर्य वर्णितं
रथाङ्गपाणेरनुभावभावितम् ।
संश्रावयेत्संशृणुयादु तावुभौ
तयोर्न कर्माशयसंसृतिर्भवेत् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; एवम्—इस प्रकार; एतत्—यह; भृगु-वर्य—हे श्रेष्ठ भृगुवंशी (शौनक); वर्णितम्—वर्णित; रथ-अङ्ग-पाणेः—रथ के पहिए को हाथ में धारण करने वाले श्री हरि का; अनुभाव—शक्ति से; भावितम्—सिक्त; संश्रावयेत्—सुनाता है; संशृणुयात्—स्वयं सुनता है; उ—अथवा; तौ—वे; उभौ—दोनों; तयोः—उनके; न—नहीं; कर्म-आशय—सकाम कर्म की मनोवृत्ति पर आधारित; संसृतिः—भौतिक जीवन का चक्र; भवेत्—है।

हे श्रेष्ठ भृगुवंशी, मार्कण्डेय ऋषि से सम्बन्धित यह विवरण भगवान् की दिव्य शक्ति को बताने वाला है। जो कोई इसका ठीक से वर्णन करता है या इसे सुनता है, उसे सकाम कर्म करने की इच्छा पर आधारित भौतिक जगत में फिर से नहीं आना होगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के बारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''शिव तथा उमा द्वारा मार्कण्डेय ऋषि

का गुणगान'' नामक दसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter ग्यारह

महापुरुष का संक्षिप्त वर्णन

पूजा के सन्दर्भ में इस अध्याय में महापुरुष तथा प्रत्येक मास में सूर्य के विभिन्न विस्तारों का वर्णन हुआ है। सर्वप्रथम श्री सूत शौनक ऋषि को उन भौतिक वस्तुओं के बारे में बताते हैं जिनसे जीव भगवान् श्री हरि के मुख्य अंगों, उपांगों, आयुधों तथा वस्त्रों को समझ सकता है। तत्पश्चात् वे उस व्यावहारिक सेवा विधि की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं जिसके द्वारा मर्त्य प्राणी अमरता प्राप्त कर सकता है। जब शौनक सूर्य देव के रूप में भगवान् हरि के विस्तार के बारे में अधिक जानकारी के लिए रुचि प्रदर्शित करते हैं, तो सूत गोस्वामी उत्तर देते हैं कि ब्रह्माण्ड के अन्तस्थ नियन्ता तथा इसके आदि स्रष्टा भगवान् श्री हरि सूर्य देव के रूप में प्रकट होते हैं। ऋषिगण इस सूर्य देव का वर्णन अनेक रूपों में, उनकी विविध भौतिक उपाधियों के अनुसार करते हैं। जगत को धारण करने के लिए भगवान् अपनी कालशक्ति को सूर्य के रूप में प्रकट करते हैं और अपने संगियों की बारह मंडलियों के साथ चैत्र आदि बारहों मास यात्रा करते रहते हैं। जो कोई सूर्य के रूप में भगवान् श्री हरि के ऐश्वर्यों का स्मरण करता है, वह अपने पापकर्मों के फलों से मुक्त हो जायेगा।

श्रीशौनक उवाच

अथेममर्थं पृच्छामो भवन्तं बहुवित्तमम् ।
समस्ततन्त्रराद्धान्ते भवान्भागवत तत्त्ववित् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शौनकः उवाच—श्री शौनक ने कहा; अथ—अब; इमम्—यह; अर्थम्—विषय; पृच्छामः—हम पूछ रहे हैं; भवन्तम्—आप से; बहु-वित्-तमम्—सबसे विस्तृत ज्ञान के स्वामी; समस्त—समस्त; तन्त्र—पूजा की व्यावहारिक विधि बताने वाले शास्त्र; राद्ध-अन्ते—अन्तिम निर्णय; भवान्—आप; भागवत—हे महान् भगवद्भक्त; तत्त्व-वित्—असली तथ्यों के ज्ञाता।.

श्री शौनक ने कहा : हे सूत, आप सर्वश्रेष्ठ विद्वान तथा भगवद्भक्त हैं। अतएव अब हम आपसे समस्त तंत्र शास्त्रों के अन्तिम निर्णय के विषय में पूछते हैं।

तान्त्रिकाः परिचर्यायां केवलस्य श्रियः पतेः ।
अङ्गोपाङ्गायुधाकल्पं कल्पयन्ति यथा च यैः ॥ २ ॥
तन्नो वर्णय भद्रं ते क्रियायोगं बुभुत्सताम् ।
येन क्रियानैपुणेन मर्त्यो यायादमर्त्यताम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तान्त्रिकाः—तांत्रिक साहित्य की विधि के अनुयायी; परिचर्यायाम्—नियमित पूजा में; केवलस्य—शुद्ध आत्मा की; श्रियः—लक्ष्मी के; पतेः—पति का; अङ्ग—अंग, यथा पाँव; उपाङ्ग—गौण अंग यथा गरुड़ जैसे संगी; आयुध—हथियार, यथा सुदर्शन चक्र; आकल्पम्—तथा आभूषण यथा कौस्तुभ मणि; कल्पयन्ति—कल्पना करते हैं; यथा—जैसे; च—तथा; यैः—जिससे (भौतिक वस्तुओं से); तत्—वह; नः—हमसे; वर्णय—कृपा करके वर्णन करें; भद्रम्—सर्वमंगल; ते—तुम्हारा; क्रिया-योगम्—अनुशीलन की व्यावहारिक विधि; बुभुत्सताम्—सीखने के लिए उत्सुक; येन—जिससे; क्रिया—क्रमबद्ध अभ्यास में; नैपुणेन—दक्षता; मर्त्यः—मरणशील प्राणी; यायात्—प्राप्त कर सके; अमर्त्यताम्—अमरता।

आपका कल्याण हो, कृपा करके हम जिज्ञासुओं को वह लक्ष्मीपति दिव्य भगवान् की नियमित पूजा द्वारा सम्पन्न की जाने वाली *क्रिया योग* विधि बतलायें। कृपा करके यह भी बतलायें कि भक्तगण उनके अंगों, संगियों, आयुधों तथा आभूषणों की किन विशेष भौतिक वस्तुओं से कल्पना करते हैं। भगवान् की दक्षतापूर्वक पूजा करके मर्त्य प्राणी अमरता प्राप्त कर सकता है।

सूत उवाच

नमस्कृत्य गुरून्वक्ष्ये विभूतीर्वैष्णवीरपि ।
याः प्रोक्ता वेदतन्त्राभ्यामाचार्यैः पद्मजादिभिः ॥ ४॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; नमस्कृत्य—नमस्कार करके; गुरून्—गुरुओं को; वक्ष्ये—कहूँगा; विभूतीः—ऐश्वर्य; वैष्णवीः—भगवान् विष्णु सम्बन्धी; अपि—निस्सन्देह; याः—जो; प्रोक्ताः—वर्णित होते हैं; वेद-तन्त्राभ्याम्—वेदों तथा तंत्रों द्वारा; आचार्यैः—अधिकारियों द्वारा; पद्मज-आदिभिः—ब्रह्मा इत्यादि द्वारा।

सूत गोस्वामी ने कहा : मैं अपने गुरुओं को नमस्कार करके कमल से उत्पन्न ब्रह्मा आदि महान् विद्वानों द्वारा वेदों तथा तंत्रों में दिये हुए भगवान् के ऐश्वर्यों का वर्णन तुमसे फिर से करूँगा।

मायाद्यैर्नवभिस्तत्त्वैः स विकारमयो विराट् ।
निर्मितो दृश्यते यत्र सचित्के भुवनत्रयम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

माया-आद्यैः—प्रकृति की अव्यक्त अवस्था से शुरू करके; नवभिः—नौ; तत्त्वैः—तत्वों से; सः—वह; विकार-मयः—रूपान्तरों वाला भी (ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच स्थूल तत्त्व); विराट्—भगवान् का विश्व रूप; निर्मितः—निर्मित; दृश्यते—देखा जाता है; यत्र—जिसमें; स-चित्के—सचेतन होने से; भुवन-त्रयम्—तीनों लोक।

भगवान् का विराट रूप अव्यक्त प्रकृति तथा परवर्ती विकारों आदि से युक्त सृष्टि के नौ मूलभूत तत्त्वों से बना है। एक बार चेतना द्वारा इस विराट रूप को अधिष्ठित करने पर इसमें तीनों लोक दिखाई पड़ने लगते हैं।

तात्पर्य : सृष्टि के नौ मूलभूत तत्त्व हैं—प्रकृति, सूत्र, महत् तत्त्व, मिथ्या अहंकार तथा पाँच सूक्ष्म अनुभूतियाँ (तन्मात्रा)। विकारों में ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच स्थूल भौतिक तत्त्व आते हैं।

एतद्वै पौरुषं रूपं भूः पादौ द्यौः शिरो नभः ।
नाभिः सूर्योऽक्षिणी नासे वायुः कर्णौ दिशः प्रभोः ॥ ६॥

प्रजापतिः प्रजननमपानो मृत्युरीशितुः ।
तद्बाहवो लोकपाला मनश्चन्द्रो भ्रुवौ यमः ॥ ७॥

लज्जोत्तरोऽधरो लोभो दन्ता ज्योत्स्ना स्मयो भ्रमः ।
रोमाणि भूरुहा भूम्नो मेघाः पुरुषमूर्धजाः ॥ ८॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; वै—निस्सन्देह; पौरुषम्—विराट पुरुष का; रूपम्—रूप; भूः—पृथ्वी; पादौ—उनके पाँव; द्यौः—स्वर्ग; शिरः—उनका शिर; नभः—आकाश; नाभिः—उनकी नाभि; सूर्यः—सूर्य; अक्षिणी—उनके दो नेत्र; नासे—उनके नथुने; वायुः—वायु; कर्णौ—उनके कान; दिशः—दिशाएँ; प्रभोः—भगवान् के; प्रजा-पतिः—प्रजनन का देवता; प्रजननम्—उनका प्रजनन अंग; अपानः—उनकी गुदा; मृत्युः—मृत्यु; ईशितुः—परम नियन्ता का; तत्-बाहवः—उनकी अनेक भुजाएँ; लोक-पालाः—विभिन्न लोकों के अधिष्ठाता; मनः—उनका मन; चन्द्रः—चन्द्रमा; भ्रुवौ—उनकी भौंहें; यमः—यमराज; लज्जा—लज्जा; उत्तरः—उनका ऊपरी होठ; अधरः—उनका निचला होठ; लोभः—लालच; दन्ताः—उनके दाँत; ज्योत्स्ना—चाँदनी; स्मयः—उनकी मुसकान; भ्रमः—भ्रम; रोमाणि—उनके रोएँ; भू-रुहाः—वृक्ष; भूम्नः—सर्वशक्तिमान प्रभु के; मेघाः—बादल; पुरुष—विराट पुरुष के; मूर्ध-जाः—सिर के बाल।

यह भगवान् का विराट रूप है, जिसमें पृथ्वी उनके पाँव, आकाश उनकी नाभि, सूर्य उनकी आँखें, वायु उनके नथुने, प्रजापति उनके जननांग, मृत्यु उनकी गुदा तथा चन्द्रमा उनका मन है। स्वर्गलोक उनका शिर, दिशाएँ उनके कान तथा विभिन्न लोकपाल उनकी अनेक भुजाएँ हैं। यमराज उनकी भौंहे, लज्जा उनका निचला होठ, लालच उनका ऊपरी होठ, भ्रम उनकी मुसकान तथा चाँदनी उनके दाँत है, जबकि वृक्ष उन सर्वशक्तिमान पुरुष के शरीर के रोम हैं और बादल उनके शिर के बाल हैं।

तात्पर्य : भौतिक जगत के विविध पक्ष, यथा पृथ्वी, सूर्य तथा वृक्ष भगवान् के विराट शरीर के विविध अंगों द्वारा पालित-पोषित हैं। इसलिए वे उनसे अभिन्न माने जाते हैं, जैसाकि इस श्लोक में वर्णन आया है। ये सभी ध्यान के निमित्त हैं।

यावानयं वै पुरुषो यावत्या संस्थया मितः ।
तावानसावपि महापुरुषो लोकसंस्थया ॥ ९॥

शब्दार्थ

यावान्—जिस विस्तार तक; अयम्—यह; वै—निस्सन्देह; पुरुषः—सामान्य व्यक्ति; यावत्या—जिस आकार तक; संस्थया—उसके अंगों की स्थिति द्वारा; मितः—मापित; तावान्—उसी विस्तार तक; असौ—वह; अपि—भी; महा-पुरुषः—दिव्य पुरुष; लोक-संस्थया—लोकों की स्थितियों के अनुसार।

जिस तरह इस जगत के सामान्य पुरुष के आकार-प्रकार को उसके विविध अंगों को माप कर निश्चित किया जा सकता है, उसी तरह महापुरुष के विराट रूप के अन्तर्गत लोकों की व्यवस्था को माप कर महापुरुष का आकार-प्रकार जाना जा सकता है।

कौस्तुभव्यपदेशेन स्वात्मज्योतिर्बिभर्त्यजः ।
तत्प्रभा व्यापिनी साक्षात्श्रीवत्समुरसा विभुः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

कौस्तुभ-व्यपदेशेन—कौस्तुभ मणि द्वारा प्रदर्शित; स्व-आत्म—शुद्ध जीवात्मा का; ज्योतिः—आध्यात्मिक प्रकाश; बिभर्ति—वहन करता है; अजः—अजन्मा ईश्वर; तत्-प्रभा—इस (कौस्तुभ मणि) का तेज; व्यापिनी—विस्तृत; साक्षात्—प्रत्यक्ष; श्रीवत्सम्—श्रीवत्स चिह्न का; उरसा—उनके वक्षस्थल पर; विभुः—सर्वशक्तिमान।

सर्वशक्तिमान अजन्मा भगवान् अपने वक्षस्थल पर शुद्ध आत्मा का प्रतिनिधित्व करने वाला कौस्तुभ मणि और उसी के साथ इस मणि के विस्तृत तेज का प्रत्यक्ष स्वरूप, श्रीवत्स चिह्न, धारण करते हैं।

स्वमायां वनमालाख्यां नानागुणमयीं दधत् ।
वासश्छन्दोमयं पीतं ब्रह्मसूत्रं त्रिवृत्स्वरम् ॥ ११ ॥
बिभर्ति साङ्ख्यं योगं च देवो मकरकुण्डले ।
मौलिं पदं पारमेष्ठ्यं सर्वलोकाभयङ्करम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

स्व-मायाम्—अपनी माया; वन-माला-आख्याम्—फूल की माला कहलाने वाली; नाना-गुण—प्रकृति के गुणों के विविध मेल; मयीम्—से बनी; दधत्—पहने हुए; वासः—उनका वस्त्र; छन्दः-मयम्—वैदिक छन्दों से युक्त; पीतम्—पीला; ब्रह्म-सूत्रम्—उनका जनेऊ; त्रि-वृत्—तेहरा; स्वरम्—ॐकार नामक पवित्र ध्वनि; बिभर्ति—धारण करते हैं; साङ्ख्यम्—सांख्य विधि; योगम्—योग-विधि; च—तथा; देवः—स्वामी; मकर-कुण्डले—मगर की आकृति वाले कान के कुंडल; मौलिम्—उनका मुकुट; पदम्—पद; पारमेष्ठ्यम्—परम (ब्रह्मा का); सर्व-लोक—सारे जगतों को; अभयम्—अभय; करम्—देने वाले।

उनकी फूल-माला उनकी भौतिक माया है, जो प्रकृति के गुणों के विविध मेलों से युक्त है। उनका पीत वस्त्र वैदिक छन्द हैं और उनका जनेऊ तीन ध्वनियों वाला ॐ अक्षर है। अपने दो मकराकृत कुण्डलों के रूप में भगवान् सांख्य तथा योग की विधियाँ धारण करते हैं। उनका मुकुट जो सारे लोकवासियों को अभय प्रदान करता है, ब्रह्मलोक का परम पद है।

अव्याकृतमनन्ताख्यमासनं यदधिष्ठितः ।
धर्मज्ञानादिभिर्युक्तं सत्त्वं पद्ममिहोच्यते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अव्याकृतम्—सृष्टि की अव्यक्त अवस्था; अनन्त-आख्यम्—अनन्त कहलाने वाली; आसनम्—उनका आसन; यत्-अधिष्ठितः—जिस पर वे बैठे हुए हैं; धर्म-ज्ञान-आदिभिः—धर्म, ज्ञान इत्यादि के साथ; युक्तम्—जुड़ा हुआ; सत्त्वम्—सतोगुणमें; पद्मम्—उनका कमल; इह—उस पर; उच्यते—कहा जाता है।

भगवान् का आसन, अनन्त, भौतिक प्रकृति की अव्यक्त अवस्था है और भगवान् का कमल सिंहासन, सतोगुण है, जो धर्म तथा ज्ञान से समन्वित है।

ओजःसहोबलयुतं मुख्यतत्त्वं गदां दधत् ।
अपां तत्त्वं दरवरं तेजस्तत्त्वं सुदर्शनम् ॥ १४॥

नभोनिभं नभस्तत्त्वमसिं चर्म तमोमयम् ।
कालरूपं धनुः शार्ङ्गं तथा कर्ममयेषुधिम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

ओजः-सहः-बल—इन्द्रियों के, मन के तथा शरीर के बल से; युतम्—युक्त; मुख्य-तत्त्वम्—मुख्य तत्त्व वायु जो भौतिक शरीर के भीतर प्राणशक्ति है; गदाम्—उनकी गदा; दधत्—धारण किये; अपाम्—जल का; तत्त्वम्—तत्व; दर—उनका शंख; वरम्—उत्तम; तेजः-तत्त्वम्—अग्नि तत्त्व; सुदर्शनम्—सुदर्शन चक्र; नभः-निभम्—आकाश के समान; नभः-तत्त्वम्—आकाश तत्त्व; असिम्—उनकी तलवार; चर्म—ढाल; तमः-मयम्—तमोगुण से बनी; काल-रूपम्—काल के रूप में प्रकट; धनुः—उनका धनुष; शार्ङ्गम्—शार्ङ्ग नामक; तथा—तथा; कर्म-मय—सक्रिय इन्द्रिय रूप; इषु-धिम्—तरकस।

भगवान् की गदा इन्द्रिय, मन, शरीर सम्बन्धी शक्तियों से युक्त मुख्य तत्त्व प्राण है। उनका उत्तम शंख जल तत्त्व है। उनका सुदर्शन चक्र अग्नि तत्त्व है और उनकी तलवार जोकि आकाश के समान निर्मल है, आकाश तत्त्व है। उनकी ढाल तमोगुण, उनका शाङ्र्ग नामक धनुष काल तथा उनका तरकस कर्मेन्द्रियाँ हैं।

इन्द्रियाणि शरानाहुराकूतीरस्य स्यन्दनम् ।
तन्मात्राण्यस्याभिव्यक्तिं मुद्रयार्थक्रियात्मताम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; शरान्—उनके तीर; आहुः—कहते हैं; आकूतीः—(मन अपने) सक्रिय कर्म सहित; अस्य—उनका; स्यन्दनम्—रथ; तत्-मात्राणि—अनुभूति की वस्तुएँ; अस्य—उनका; अभिव्यक्तिम्—बाह्य स्वरूप; मुद्रया—हाथ के इशारों द्वारा (वर देने, अभय देने आदि के लिए); अर्थ-क्रिया-आत्मताम्—सार्थक क्रिया का सार।

उनके बाण इन्द्रियाँ हैं और उनका रथ चंचल वेगवान मन है। उनका बाह्य स्वरूप तन्मात्राएँ हैं और उनके हाथ के इशारे (मुद्राएँ) सार्थक क्रिया के सार हैं।

तात्पर्य : समस्त क्रिया का लक्ष्य अन्ततः जीवन की परम सिद्धि है और यह सिद्धि भगवान् के कृपालु हाथों द्वारा प्रदान की जाती है। भगवान् की मुद्राएँ भक्त के हृदय से सारा भय दूर करके उसे वैकुण्ठ में भगवान् का सान्निध्य दिलाने वाली होती हैं।

मण्डलं देवयजनं दीक्षा संस्कार आत्मनः ।
परिचर्या भगवत आत्मनो दुरितक्षयः ॥ १७॥

शब्दार्थ

मण्डलम्—सूर्य मंडल; देव-यजनम्—वह स्थान जहाँ परमेश्वर की पूजा होती है; दीक्षा—दीक्षा; संस्कारः—संस्कार; आत्मनः—आत्मा के लिए; परिचर्या—भक्ति; भगवतः—भगवान् की; आत्मनः—जीवात्मा के लिए; दुरित—पापों का; क्षयः—विनाश।

सूर्य मण्डल ही वह स्थान है जहाँ भगवान् पूजे जाते हैं; दीक्षा ही आत्मा की शुद्धि का साधन है और भगवान् की भक्ति करना ही किसी के पापों को समूल नष्ट करने की विधि है।

तात्पर्य : मनुष्य को अग्निमय सूर्य मण्डल का ध्यान ऐसे स्थान के रूप में करना चाहिए जहाँ ईश्वर की पूजा होती है। भगवान् कृष्ण समस्त तेज के आगार हैं इसलिए यह युक्तियुक्त है कि उनकी पूजा तेजोमय सूर्य में की जाय।

भगवान्भगशब्दार्थं लीलाकमलमुद्वहन् ।
धर्मं यशश्च भगवांश्चामरव्यजनेऽभजत् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; भग-शब्द—भग शब्द का; अर्थम्—अर्थ (ऐश्वर्य); लीला-कमलम्—उनका लीला कमल; उद्वहन्—धारण करते हुए; धर्मम्—धर्म; यशः—यश; च—तथा; भगवान्—भगवान् ने; चामर-व्यजने—चामर के दो पंखे; अभजत्—स्वीकार किया है।

लीलाकमल को जोकि भग शब्द से विभिन्न ऐश्वर्यों का सूचक है सहज रूप में धारण करते हुए भगवान्, धर्म तथा यश रूपी दो चामरों से सेवित हैं।

आतपत्रं तु वैकुण्ठं द्विजा धामाकुतोभयम् ।
त्रिवृद्वेदः सुपर्णाख्यो यज्ञं वहति पूरुषम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

आतपत्रम्—उनका छाता; तु—तथा; वैकुण्ठम्—वैकुण्ठ; द्विजाः—हे ब्राह्मणो; धाम—उनका निजी धाम; अकुतः-भयम्—भय से रहित; त्रि-वृत्—तीन; वेदः—वेद; सुपर्ण-आख्यः—सुपर्ण या गरुड़ नामक; यज्ञम्—साक्षात् यज्ञ; वहति—वहन करता है; पूरुषम्—भगवान् को।

हे ब्राह्मणो, भगवान् का छाता उनका धाम वैकुण्ठ है जहाँ कोई भय नहीं है और यज्ञ के स्वामी को ले जाने वाला गरुड़, तीनों वेद हैं।

अनपायिनी भगवती श्रीः साक्षादात्मनो हरेः ।
विष्वक्षेनस्तन्त्रमूर्तिर्विदितः पार्षदाधिपः ।
नन्दादयोऽष्टौ द्वाःस्थाश्च तेऽणिमाद्या हरेर्गुणाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अनपायिनी—पृथक् न की जा सकने वाली; भगवती—लक्ष्मी; श्रीः—श्री; साक्षात्—प्रत्यक्ष; आत्मनः—अन्तरंगा प्रकृति का; हरेः—हरि का; विष्वक्सेनः—विष्वक्सेन; तन्त्र-मूर्तिः—तंत्र शास्त्रों के रूप में; विदितः—ज्ञात है; पार्षद-अधिपः—उनके निजी संगियों का प्रधान; नन्द-आदयः—नन्द इत्यादि; अष्टौ—आठ; द्वाः-स्थाः—द्वारपाल; च—तथा; ते—वे; अणिमा-आद्याः—अणिमा तथा अन्य सिद्धियाँ; हरेः—भगवान् के; गुणाः—गुण।

भगवती श्री, जो भगवान् का संग कभी नहीं छोड़तीं, उनके साथ उनकी अन्तरंगा शक्ति के रूप में इस जगत में प्रकट होती हैं। विष्वक्सेन जोकि भगवान् के निजी संगियों में प्रमुख हैं, पंचरात्र तथा अन्य तंत्रों के रूप में विख्यात हैं। और नन्द आदि भगवान् के आठ द्वारपाल

उनकी अणिमादिक योगसिद्धियाँ हैं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार लक्ष्मीजी समस्त ऐश्वर्य की आदि स्रोत हैं। भौतिक प्रकृति का नियंत्रण भगवान् की अपरा शक्ति, महामाया, द्वारा होता है, जबकि लक्ष्मीजी उनकी अन्तरंगा परा शक्ति हैं। फिर भी, भगवान् की अपरा प्रकृति के ऐश्वर्य का स्रोत लक्ष्मी का परम आध्यात्मिक ऐश्वर्य है। *श्री हयशीर्ष पञ्चरात्र* में कहा गया है—

परमात्मा हरिर्देवस्तच्छक्तिः श्रीरिहोदिता।
श्रीर्देवी प्रकृतिः प्रोक्ता केशवः पुरुषः स्मृतः।
न विष्णुना विना देवी न हरिः पद्मजां विना।

''परमात्मा भगवान् हरि हैं और उनकी शक्ति इस जगत में श्री कहलाती है। देवी श्री *प्रकृति* के नाम से विख्यात हैं और परम भगवान् केशव *पुरुष* नाम से विख्यात हैं। यह दिव्य देवी न तो उनके बिना कभी रहती हैं न ही वे उनके बिना कभी प्रकट होते हैं।''

श्री विष्णु पुराण में भी (१.८.१५) कहा गया है—

नित्यैव स जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी।
यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तमाः॥

''वे ब्रह्माण्ड की शाश्वत माता, भगवान् विष्णु की लक्ष्मी हैं और वे उनसे कभी भी पृथक् नहीं होतीं। हे ब्राह्मण-श्रेष्ठो! भगवान् विष्णु की ही तरह वे भी सर्वत्र उपस्थित हैं।''

विष्णु पुराण में ही (१.९.१४०) आया है—

एवं यथा जगत्स्वामी देवदेवो जनार्दनः।
अवतारं करोत्येव तथा श्रीस्तत्सहायिनी॥

''जिस तरह ईश्वरों के ईश्वर, ब्रह्माण्ड के स्वामी जनार्दन इस जगत में अवतरित होते हैं, उसी तरह उनकी प्रिया लक्ष्मी भी अवतरित होती हैं।''

स्कन्द पुराण में लक्ष्मीजी के शुद्ध आध्यात्मिक पद का वर्णन मिलता है—

अपरं त्वक्षरं या सा प्रकृतिर्जडरूपिका।
श्रीः परा प्रकृतिः प्रोक्ता चेतना विष्णुसंश्रया॥
तं अक्षरं परं प्राहुः परतः परम् अक्षरम्।
हरिरेवाखिलगुणोऽपि अक्षरत्रयमीरितम्॥

''अपर अक्षर वह प्रकृति है, जो भौतिक जगत के रूप में प्रकट होती है। किन्तु लक्ष्मीजी परा प्रकृति कहलाती हैं। वे शुद्ध चेतना हैं और भगवान् विष्णु की प्रत्यक्ष शरण में रहती हैं। यद्यपि वे परा अच्युता कहलाती हैं किन्तु बड़े से बड़े अच्युत स्वयं भगवान् हरि हैं, जो समस्त दिव्य गुणों के आदि स्वामी हैं। इस तरह तीन स्पष्ट अच्युत वर्णित हैं।''

इस तरह यद्यपि भगवान् की अपरा शक्ति अपने कार्य में अच्युत है किन्तु क्षणिक मायामय ऐश्वर्यों को प्रदर्शित करने की उसकी शक्ति परमेश्वर की प्रिया लक्ष्मी, जोकि अन्तरंगा शक्ति हैं, की

सौजन्य से विद्यमान है।

पद्म पुराण (२५६.९-२१) में भगवान् के अठारह द्वारपालों की सूची प्राप्त है—नन्द, सुनन्द, जय, विजय, चण्ड, प्रचण्ड, भद्र, सुभद्र, धाता, विधाता, कुमुद, कुमुदाक्ष, पुण्डरीक्ष, वामन, शंकुकर्ण, सर्वनेत्र, सुमुख तथा सुप्रतिष्ठित।

वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नः पुरुषः स्वयम् ।
अनिरुद्ध इति ब्रह्मन्मूर्तिव्यूहोऽभिधीयते ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नः—वासुदेव, संकर्षण तथा प्रद्युम्न; पुरुषः—भगवान्; स्वयम्—स्वयं; अनिरुद्धः—अनिरुद्ध; इति—इस प्रकार; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण, शौनक; मूर्ति-व्यूहः—साकार रूपों के अंश; अभिधीयते—कहलाती है।

हे ब्राह्मण शौनक, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध—ये भगवान् के साक्षात् अंशों (चतुर्व्यूह) के नाम हैं।

स विश्वस्तैजसः प्राज्ञस्तुरीय इति वृत्तिभिः ।
अर्थेन्द्रियाशयज्ञानैर्भगवान्परिभाव्यते ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; विश्वः तैजसः प्राज्ञः—जाग्रत, सुप्त तथा सुषुप्त रूप; तुरीयः—चौथी, दिव्य अवस्था; इति—इस तरह कहे गये; वृत्तिभिः—कार्यों द्वारा; अर्थ—इन्द्रिय-विषय; इन्द्रिय—मन; आशय—आवृत चेतना; ज्ञानैः—तथा आध्यात्मिक ज्ञान के द्वारा; भगवान्—भगवान्; परिभाव्यते—कल्पित किये जाते हैं।

मनुष्य भगवान् की कल्पना जाग्रत, सुप्त तथा सुषुप्त अवस्थाओं में कर सकता है, जो क्रमशः बाह्य वस्तुओं, मन तथा भौतिक बुद्धि के माध्यम से कार्य करती हैं। एक चौथी अवस्था भी है, जो चेतना का दिव्य स्तर है और शुद्ध ज्ञान के लक्षण वाली है।

अङ्गोपाङ्गायुधाकल्पैर्भगवांस्तच्चतुष्टयम् ।
बिभर्ति स्म चतुर्मूर्तिर्भगवान्हरिरीश्वरः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अङ्ग—अपने प्रमुख अंगों; उपाङ्ग—गौण अंगों; आयुध—हथियारों; आकल्पैः—तथा आभूषणों से; भगवान्—भगवान्; तत् चतुष्टयम्—ये चार स्वरूप (विश्व, तैजस, प्राज्ञ तथा तुरीय); बिभर्ति—धारण करता है; स्म—निस्सन्देह; चतुः-मूर्तिः—अपने चार साकार रूपों (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध); भगवान्—भगवान्; हरिः—हरि; ईश्वरः—परम नियन्ता।

इस प्रकार भगवान् हरि चार साकार अंशों (मूर्तियों) के रूप में प्रकट होते हैं जिनमें से हर अंश प्रमुख अंग, गौण अंग, आयुध तथा आभूषण से युक्त होता है। इन स्पष्ट स्वरूपों से भगवान् चार अवस्थाओं को बनाये रखते हैं।

तात्पर्य : भगवान् का आध्यात्मिक शरीर, आयुध, आभूषण तथा संगी—ये सभी शुद्ध और दिव्य हैं और उनसे अभिन्न हैं।

द्विजऋषभ स एष ब्रह्मयोनिः स्वयंदृक्
स्वमहिमपरिपूर्णो मायया च स्वयैतत् ।
सृजति हरति पातीत्याख्ययानावृताक्षो
विवृत इव निरुक्तस्तत्परैरात्मलभ्यः ॥ २४॥

शब्दार्थ

द्विज-ऋषभ—हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ; सः एषः—एकमात्र वही; ब्रह्म-योनिः—वेदों के स्रोत; स्वयम्-दृक्—आत्म-प्रकाशित; स्व-महिम—अपनी महिमा में; परिपूर्णः—अच्छी तरह से पूर्ण; मायया—माया द्वारा; च—तथा; स्वया—अपनी; एतत्—यह ब्रह्माण्ड; सृजति—रचता है; हरति—हर लेता है; पाति—पालन करता है; इति आख्यया—इस तरह से कल्पित; अनावृत—खुला; अक्षः—उसकी दिव्य चेतना; विवृतः—विभक्त; इव—मानो; निरुक्तः—वर्णित; तत्-परैः—उनके द्वारा जो उनके भक्त हैं; आत्म—उनके आत्मा रूप; लभ्यः—प्राप्त होने वाले।

हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ, एकमात्र वे ही आत्म-प्रकाशित, वेदों के आदि स्रोत, पूर्ण तथा अपनी महिमा में पूर्ण हैं। वे अपनी मायाशक्ति से इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं। चूँकि वे विविध भौतिक कार्यों के कर्ता हैं अतएव कभी कभी उन्हें विभक्त कहा जाता है फिर भी वे शुद्ध ज्ञान में स्थित बने रहते हैं। जो लोग उनकी भक्ति में लगे हुए हैं, वे उन्हें अपनी असली आत्मा के रूप में अनुभव कर सकते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की संस्तुति है कि हम निम्नलिखित ध्यान द्वारा विनीत बनें—"मुझे सदैव दिखने वाली पृथ्वी मेरे भगवान् के चरणकमलों का अंश है, जो सदैव ध्यातव्य हैं। समस्त चर तथा अचर प्राणियों ने पृथ्वी की शरण ले रखी है, अतः वे मेरे भगवान् के चरणकमलों में ही शरण पाते हैं। इस कारण मुझे हर जीव का आदर करना चाहिए, किसी से द्वेष नहीं रखना चाहिए। वस्तुतः सारे जीव मेरे प्रभु के वक्षस्थल के कौस्तुभ मणि हैं। इसलिए मैं किसी जीव से न तो ईर्ष्या करूँगा न उसका मजाक उड़ाऊँगा।" इस ध्यान का अभ्यास करके मनुष्य जीवन में सफल बन सकता है।

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रु-
ग्राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य ।
गोविन्द गोपवनिताव्रजभृत्यगीत-
तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गल पाहि भृत्यान् ॥ २५॥

शब्दार्थ

श्री-कृष्ण—हे श्रीकृष्ण; कृष्ण-सख—हे अर्जुन के मित्र; वृष्णि—वृष्णिवंशी के; ऋषभ—हे प्रमुख; अवनि—पृथ्वी पर; ध्रुक्—विद्रोही; राजन्य-वंश—राजवंशों के; दहन—हे संहारक; अनपवर्ग—बिना ह्रास के; वीर्य—जिसका पराक्रम; गोविन्द—हे गोलोक धाम के स्वामी; गोप—ग्वालों के; वनिता—तथा गोपियाँ; व्रज—समूह; भृत्य—तथा उनके सेवक; गीत—गाया हुआ; तीर्थ—पवित्र, जिस तरह तीर्थस्थान होते हैं; श्रवः—जसिका यश; श्रवण—जिसके विषय में सुनने के लिए; मङ्गल—शुभ; पाहि—कृपया रक्षा करें; भृत्यान्—अपने सेवकों की।

हे कृष्ण, हे अर्जुन के सखा, हे वृष्णिवंशियों के प्रमुख, आप इस पृथ्वी पर उत्पात

मचाने वाले राजनीतिक दलों के संहारक हैं। आपका पराक्रम कभी घटता नहीं। आप दिव्य धाम के स्वामी हैं और आपकी पवित्र महिमा जो वृन्दावन के गोपों, गोपियों तथा उनके सेवकों द्वारा गाई जाती है, सुनने मात्र से सर्वमंगलदायिनी है। हे प्रभु, आप अपने भक्तों की रक्षा करें।

य इदं कल्य उत्थाय महापुरुषलक्षणम् ।
तच्चित्तः प्रयतो जप्त्वा ब्रह्म वेद गुहाशयम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; इदम्—इसे; कल्ये—प्रातःकाल; उत्थाय—उठ कर; महा-पुरुष-लक्षणम्—विश्व रूप भगवान् के लक्षण; तत्-चित्तः—उनमें लीन मन; प्रयतः—शुद्ध हुआ; जप्त्वा—अपने आप जप करके; ब्रह्म—परब्रह्म; वेद—जान पाता है; गुहा-शयम्—हृदय के भीतर स्थित।

जो कोई प्रातःकाल जल्दी उठता है और शुद्ध मन को महापुरुष में स्थिर करके, उनके गुणों का यह वर्णन मन ही मन जपता है, वह उन्हें अपने हृदय के भीतर निवास करने वाले परब्रह्म के रूप में अनुभव करेगा।

श्रीशौनक उवाच

शुको यदाह भगवान्विष्णुराताय शृण्वते ।
सौरो गणो मासि मासि नाना वसति सप्तकः ॥ २७ ॥

तेषां नामानि कर्माणि नियुक्तानामधीश्वरैः ।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां व्यूहं सूर्यात्मनो हरेः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शौनकः उवाच—श्री शौनक ने कहा; शुकः—शुकदेव गोस्वामी ने; यत्—जो; आह—वर्णन किया; भगवान्—महामुनि; विष्णु-राताय—राजा परीक्षित से; शृण्वते—सुन रहे; सौरः—सूर्य देव के; गणः—संगी; मासि मासि—प्रत्येक मास में; नाना—विविध; वसति—निवास करता है; सप्तकः—सात का समूह; तेषाम्—उनमें से; नामानि—नाम; कर्माणि—कर्म; नियुक्तानाम्—लगे हुए; अधीश्वरैः—अपने नियन्ता सूर्य देव के विविध स्वरूपों से; ब्रूहि—कृपा करके कहें; नः—हमसे; श्रद्दधानानाम्—श्रद्धालुओं के; व्यूहम्—स्वांशों; सूर्य-आत्मनः—सूर्य देव के रूप में उनके निजी अंश में; हरेः—भगवान् हरि का।

श्री शौनक ने कहा : कृपया आपके वचनों में अत्यन्त श्रद्धा रखने वाले हमसे उन सात साकार रूपों तथा संगियों के विभिन्न समूहों का वर्णन उनके नामों तथा कार्यों समेत करें जिन्हें सूर्य देव प्रति मास प्रदर्शित करते हैं। सूर्य देव के संगी, जो अपने स्वामी की सेवा करते हैं, सूर्य देव के अधिष्ठाता देवता के रूप में भगवान् हरि के स्वांश हैं।

तात्पर्य : शुकदेव गोस्वामी तथा राजा परीक्षित की उच्च वार्ता का विवरण सुनने के बाद अब शौनक भगवान् के अंश रूप सूर्य के विषय में पूछताछ करते हैं। यद्यपि सूर्य सारे ग्रहों के स्वामी हैं, किन्तु श्री शौनक भगवान् श्री हरि के अंश रूप इस तेजस्वी मंडल में विशेष रुचि दिखाते हैं।

सूर्य से सम्बद्ध पुरुष सात प्रकार के हैं। सूर्य की कक्षा के मार्ग में बारह मास होते हैं और हर

मास में एक पृथक् सूर्य देव तथा उनके छः संगियों का समूह अध्यक्षता करता है। वैशाख से प्रारम्भ करके बारहों महीनों में से हर एक के लिए सूर्य देव, ऋषि, यक्ष, गन्धर्व, अप्सरा, राक्षस तथा नाग के विभिन्न नाम होते हैं। इस तरह कुल सात प्रकार बन जाते हैं।

सूत उवाच
अनाद्यविद्यया विष्णोरात्मनः सर्वदेहिनाम् ।
निर्मितो लोकतन्त्रोऽयं लोकेषु परिवर्तते ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; अनादि—जिसका आदि न हो; अविद्यया—माया द्वारा; विष्णोः—भगवान् विष्णु की; आत्मनः—परमात्मा रूप; सर्व-देहिनाम्—सारे देहधारी जीवों का; निर्मितः—उत्पन्न किया; लोक-तन्त्रः—लोकों के नियामक; अयम्—इस; लोकेषु—लोकों के बीच; परिवर्तते—भ्रमण करता है।

सूत गोस्वामी ने कहा : सूर्य समस्त ग्रहों के बीच भ्रमण करता है और उनकी गतियों को नियमित करता है। इसे समस्त देहधारियों के परमात्मा, भगवान् विष्णु, ने अपनी अनादि भौतिक शक्ति के द्वारा उत्पन्न किया है।

एक एव हि लोकानां सूर्य आत्मादिकृद्धरिः ।
सर्ववेदक्रियामूलमृषिभिर्बहुधोदितः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एकः—एक; एव—एकमात्र; हि—निस्सन्देह; लोकानाम्—सारे जगतों के; सूर्यः—सूर्य; आत्मा—आत्मा; आदि-कृत्—आदि स्रष्टा; हरिः—भगवान् हरि; सर्व-वेद—सारे वेदों में; क्रिया—कर्मकाण्ड का; मूलम्—आधार; ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा; बहुधा—विविध प्रकार से; उदितः—नाम दिये।

भगवान् हरि से अभिन्न होने के कारण सूर्य देव सारे जगतों तथा उनके आदि स्रष्टा की अकेली आत्मा हैं। वे वेदों द्वारा बताये गये समस्त कर्मकाण्ड के उद्गम हैं और वैदिक ऋषियों ने उन्हें तरह-तरह के नाम दिये हैं।

कालो देशः क्रिया कर्ता करणं कार्यमागमः ।
द्रव्यं फलमिति ब्रह्मन्नवधोक्तोऽजया हरिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

कालः—काल; देशः—स्थान; क्रिया—उद्योग; कर्ता—करने वाला; करणम्—उपकरण; कार्यम्—अनुष्ठान; आगमः—शास्त्र; द्रव्यम्—साज-सामग्री; फलम्—फल; इति—इस प्रकार; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण शौनक; नवधा—नौ प्रकार की; उक्तः—वर्णित; अजया—माया के रूप में; हरिः—भगवान् हरि।

हे शौनक, माया का स्रोत होने से भगवान् हरि के अंश रूप सूर्य देव को नौ प्रकार से—काल, देश, क्रिया, कर्ता, उपकरण, अनुष्ठान, शास्त्र, पूजा की साज-सामग्री तथा प्राप्तव्य फल के अनुसार—वर्णित किया गया है।

मध्वादिषु द्वादशसु भगवान्कालरूपधृक् ।
लोकतन्त्राय चरति पृथग्द्वादशभिर्गणैः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

मधु-आदिषु—मधु इत्यादि; द्वादशसु—बारहों (महीनों) में; भगवान्—भगवान्; काल-रूप—काल के रूप में; धृक्—धारण करके; लोक-तन्त्राय—ग्रहों की गति को नियमित करने के लिए; चरति—यात्रा करता है; पृथक्—अलग से; द्वादशभिः—बारह; गणैः—संगियों समेत।

भगवान् अपनी कालशक्ति को सूर्य देव के रूप में प्रकट करके मधु इत्यादि बारहों महीनों में ब्रह्माण्ड के भीतर ग्रह की गति को नियमित करने हेतु इधर-उधर यात्रा करते हैं। बारहों महीनों सूर्य देव के साथ यात्रा करने वाला छह संगियों का पृथक्-पृथक् समूह है।

धाता कृतस्थली हेतिर्वासुकी रथकृन्मुने ।
पुलस्त्यस्तुम्बुरुरिति मधुमासं नयन्त्यमी ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

धाता कृतस्थली हेतिः—धाता, कृतस्थली तथा हेति; वासुकिः रथकृत्—वासुकि तथा रथकृत; मुने—हे मुनि; पुलस्त्यः तुम्बुरुः—पुलस्त्य तथा तुम्बुरु; इति—इस प्रकार; मधु-मासम्—मधु मास (चैत्र); नयन्ति—आगे ले जाते हैं; अमी—ये।

हे मुनि, मधु मास को, धाता सूर्य देव के रूप में, कृतस्थली अप्सरा रूप में, हेति राक्षस रूप में, वासुकि नाग के रूप में, रथकृत यक्ष रूप में, पुलस्त्य मुनि रूप में तथा तुम्बुरु गन्धर्व के रूप में, नियंत्रित करते हैं।

अर्यमा पुलहोऽथौजाः प्रहेतिः पुञ्जिकस्थली ।
नारदः कच्छनीरश्च नयन्त्येते स्म माधवम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

अर्यमा पुलहः अथौजाः—अर्यमा, पुलह तथा अथौजा; प्रहेतिः पुञ्जिकस्थली—प्रहेति तथा पुञ्जिकस्थली; नारदः कच्छनीरः—नारद तथा कच्छनीर; च—भी; नयन्ति—शासन करते हैं; एते—ये; स्म—निस्सन्देह; माधवम्—माधव (वैशाख) मास में।

माधव मास पर, अर्यमा सूर्य, पुलह मुनि, अथौजा यक्ष, प्रहेति राक्षस, पुञ्जिकस्थली अप्सरा, नारद गंधर्व तथा कच्छनीर नाग के रूप में, शासन करते हैं।

मित्रोऽत्रिः पौरुषेयोऽथ तक्षको मेनका हहाः ।
रथस्वन इति ह्येते शुक्रमासं नयन्त्यमी ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

मित्रः अत्रिः पौरुषेयः—मित्र, अत्रि तथा पौरुषेय; अथ—भी; तक्षकः मेनका हहाः—तक्षक, मेनका तथा हाहा; रथस्वनः—रथस्वन; इति—इस प्रकार; हि—निस्सन्देह; एते—ये; शुक्र-मासम्—शुक्र (ज्येष्ठ) मास; नयन्ति—शासन चलाते हैं; अमी—ये।

शुक्र मास पर, मित्र सूर्य देव, अत्रि मुनि, पौरुषेय राक्षस, तक्षक नाग, मेनका अप्सरा,

हहा गन्धर्व तथा रथस्वन यक्ष के रूप में, शासन चलाते हैं।

वसिष्ठो वरुणो रम्भा सहजन्यस्तथा हुहूः ।
शुक्रश्चित्रस्वनश्चैव शुचिमासं नयन्त्यमी ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

वसिष्ठः वरुणः रम्भा—वशिष्ठ, वरुण तथा रम्भा; सहजन्यः—सहजन्य; तथा—भी; हुहूः—हूहू; शुक्रः चित्रस्वनः—शुक्र तथा चित्रस्वन; च एव—भी; शुचि-मासम्—शुचि (आषाढ़) मास; नयन्ति—शासन चलाते हैं; अमी—ये।

शुचि मास पर, वसिष्ठ ऋषि, वरुण सूर्य देव, रम्भा अप्सरा, सहजन्य राक्षस, हूहू गन्धर्व, शुक्र नाग तथा चित्रस्वन यक्ष रूप में, शासन करते हैं।

इन्द्रो विश्वावसुः श्रोता एलापत्रस्तथाङ्गिराः ।
प्रम्लोचा राक्षसो वर्यो नभोमासं नयन्त्यमी ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रः विश्वावसुः श्रोताः—इन्द्र, विश्वावसु तथा श्रोता; एलापत्रः—एलापत्र; तथा—और; अङ्गिराः—अंगिरा; प्रम्लोचा—प्रम्लोचा; राक्षसः वर्यः—वर्य नामक राक्षस; नभः-मासम्—नभस (श्रावण) मास; नयन्ति—शासन करते हैं; अमी—ये।

नभस (श्रावण) मास पर, इन्द्र सूर्य देव, विश्वासु गन्धर्व, श्रोता यक्ष, एलापत्र नाग, अंगिरा मुनि, प्रम्लोचा अप्सरा तथा वर्य राक्षस के रूप में, शासन करते हैं।

विवस्वानुग्रसेनश्च व्याघ्र आसारणो भृगुः ।
अनुम्लोचा शङ्खपालो नभस्याख्यं नयन्त्यमी ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

विवस्वान् उग्रसेनः—विवस्वान तथा उग्रसेन; च—भी; व्याघ्रः आसारणः भृगुः—व्याघ्र, आसारण तथा भृगु; अनुम्लोचा शङ्खपालः—अनुम्लोचा तथा शंखपाल; नभस्य-आख्यम्—नभस्य (भाद्र) नामक मास; नयन्ति—शासन करते हैं; अमी—ये।

नभस्य मास में, विवस्वान सूर्य देव, उग्रसेन गंधर्व, व्याघ्र राक्षस, आसारण यक्ष, भृगु मुनि, अनुम्लोचा अप्सरा तथा शंखपाल नाग के रूप में शासन चलाते हैं।

पूषा धनञ्जयो वातः सुषेणः सुरुचिस्तथा ।
घृताची गौतमश्चेति तपोमासं नयन्त्यमी ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

पूषा धनञ्जयः वातः—पूषा, धनञ्जय तथा वात; सुषेणः सुरुचिः—सुषेण तथा सुरुचि; तथा—भी; घृताची गौतमः—घृताची तथा गौतम; च—भी; इति—इस प्रकार; तपः-मासम्—तपस् मास (माघ); नयन्ति—शासन चलाते हैं; अमी—ये।

तपस् मास पर, पूषा सूर्य देव, धञ्जय नाग, वात राक्षस, सुषेण गन्धर्व, सुरुचि यक्ष, घृताची अप्सरा तथा गौतम मुनि के रूप में शासन करते हैं।

ऋतुर्वर्चा भरद्वाजः पर्जन्यः सेनजित्तथा ।
विश्व ऐरावतश्चैव तपस्याख्यं नयन्त्यमी ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

ऋतुः वर्चा भरद्वाजः—ऋतु, वर्चा तथा भरद्वाज; पर्जन्यः सेनजित्—पर्जन्य तथा सेनजित; तथा—भी; विश्वः ऐरावतः—विश्व तथा ऐरावत; च एव—भी; तपस्य-आख्यम्—तपस्य नामक मास (फाल्गुन); नयन्ति—शासन करते हैं; अमी—ये।

तपस्य नामक मास पर, ऋतु यक्ष, वर्चा राक्षस, भरद्वाज मुनि, पर्जन्य सूर्य देव, सेनजित अप्सरा, विश्व गन्धर्व तथा ऐरावत नाग के रूप में शासन चलाते हैं।

अथांशुः कश्यपस्तार्क्ष्य ऋतसेनस्तथोर्वशी ।
विद्युच्छत्रुर्महाशङ्खः सहोमासं नयन्त्यमी ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; अंशुः कश्यपः तार्क्ष्यः—अंशु, कश्यप तथा तार्क्ष्य; ऋतसेनः—ऋतसेन; तथा—और; उर्वशी—उर्वशी; विद्युच्छत्रुः महाशङ्खः—विद्युच्छत्रु तथा महाशंख; सहः-मासम्—सहस मास (मार्गशीर्ष); नयन्ति—शासन करते हैं; अमी—ये।

सहस् मास पर, अंशु सूर्य देव, कश्यप मुनि, तार्क्ष्य यक्ष, ऋतसेन गन्धर्व, उर्वशी अप्सरा, विद्युच्छत्रु राक्षस तथा महाशंख नाग के रूप में शासन चलाते हैं।

भगः स्फूर्जोऽरिष्टनेमिरूर्ण आयुश्च पञ्चमः ।
कर्कोटकः पूर्वचित्तिः पुष्यमासं नयन्त्यमी ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

भगः स्फूर्जः अरिष्टनेमिः—भग, स्फूर्ज तथा अरिष्टनेमि; ऊर्णः—ऊर्ण; आयुः—आयुर्; च—तथा; पञ्चमः—पाँचवा संगी; कर्कोटकः पूर्वचित्तिः—कर्कोटक तथा पूर्वचित्ति; पुष्य-माअसम्—पुष्य मास; नयन्ति—शासन करते हैं; अमी—ये।

पुष्य मास पर, भग सूर्य, स्फूर्ज राक्षस, अरिष्टनेमि गन्धर्व, ऊर्ण यक्ष, आयुर् मुनि, कर्कोटक नाग तथा पूर्वचित्ति अप्सरा के रूप में, शासन चलाते हैं।

त्वष्टा ऋचीकतनयः कम्बलश्च तिलोत्तमा ।
ब्रह्मापेतोऽथ शतजिद् धृतराष्ट्र इषम्भराः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

त्वष्टा—त्वष्टा; ऋचीक-तनयः—ऋचीक का पुत्र (जमदग्नि); कम्बलः—कम्बल; च—तथा; तिलोत्तमा—तिलोत्तमा; ब्रह्मापेतः—ब्रह्मापेत; अथ—और; शतजित्—शतजित; धृतराष्ट्रः—धृतराष्ट्र; इषम्-भराः—इष मास (अश्विन) के पोषक।

इष मास का, त्वष्टा सूर्य देव, ऋचीक-पुत्र जमदग्नि मुनि, कम्बलाश्व नाग, तिलोत्तमा अप्सरा, ब्रह्मापेत राक्षस, शतजित यक्ष तथा धृतराष्ट्र गन्धर्व के रूप में, पालन-पोषण करते हैं।

विष्णुरश्वतरो रम्भा सूर्यवर्चाश्च सत्यजित् ।
विश्वामित्रो मखापेत ऊर्जमासं नयन्त्यमी ॥ ४४॥

शब्दार्थ

विष्णुः अश्वतरः रम्भा—विष्णु, अश्वतर तथा रम्भा; सूर्यवर्चाः—सूर्यवर्चा; च—तथा; सत्यजित्—सत्यजित; विश्वामीत्रः मखापेतः—विश्वामित्र तथा मखापेत; ऊर्ज-मासम्—ऊर्ज मास (कार्तिक); नयन्ति—शासन करते हैं; अमी—ये।

ऊर्ज मास पर, विष्णु सूर्य देव, अश्वतर नाग, रम्भा अप्सरा, सूर्यवर्चा गन्धर्व, सत्यजित् यक्ष, विश्वामित्र मुनि तथा मखापेत राक्षस के रूप में, शासन करते हैं।

तात्पर्य : इन सारे सूर्य देवों तथा उनके संगियों का उल्लेख *कूर्म पुराण* में निम्नवत् हुआ है—

धातार्यमा च मित्रश्च वरुणश्च चेन्द्र एव च।
विवस्वान् अथा पूषा च पर्जन्यश्चांशुरेव च॥
भगस्त्वष्टा च विष्णुश्च आदित्या द्वादश स्मृताः।
पुलस्त्यः पुलहश्चात्रिर् वसिष्ठोऽथांगिरा भृगुः॥
गौतमोऽथ भरद्वाजः कश्यपः क्रातुरेव च।
जमदग्निः कौशिकश्च मुनयो ब्रह्मवादिनाः॥
रथकृच्चाप्यथोजाश्च ग्रामणीः सुरुचिस्तथा।
रथचित्रस्वनः श्रोता, अरुणः सेनजित तथा॥
ताक्ष्र्य अरिष्टनेमिश्च ऋतजित् सत्यजित् तथा।
अथ हेतिः प्रहेतिश्च पौरुषेयो वधस्तथा।
वर्यो व्याघ्रस्तथापश्च वायुर्विद्युद् दिवाकरः॥
ब्रह्मापेतश्च विपेन्द्रा यज्ञापेतश्च राक्षकाः।
वासुकिः कच्छनीरश्च तक्षकः शुक्र एव च॥
एलापत्रः शंखपालस्तथैरावतसंज्ञितः।
धनञ्जयो महापद्मस्तथा कर्कोटको द्विजाः॥
कम्बलोऽश्वतरश्चैव वहन्त्येनम यथाक्रमम्।
तुम्बुरुर्नारदो हाहा हूहूर्विश्वावसुस्तथा॥
उग्रसेनो वसुरुचिर्विश्ववसुरथापरः।
चित्रसेनस्तथोर्णायुर्धृतराष्ट्रो द्विजोत्तमाः॥
सूर्यवर्चा द्वादशैते गन्धर्वा गायतां वराः।
कृतस्थल्यप्सरोवर्या तथान्या पुञ्जिकस्थली॥
मेनका सहजन्या च प्रम्लोचा च द्विजोत्तमाः।
अनुम्लोचा घृताची च विश्वाची चोर्वशी तथा॥
अन्या च पूर्वविचित्तिः स्याद् अन्या चैव तिलोत्तमा।
रम्भा चेति द्विजश्रेष्ठास्तथैवाप्सरसः स्मृताः॥

एता भगवतो विष्णोरादित्यस्य विभूतयः ।
स्मरतां सन्ध्ययोर्नृणां हरन्त्यंहो दिने दिने ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

एताः—ये; भगवतः—भगवान्; विष्णोः—विष्णु के; आदित्यस्य—सूर्य देव के; विभूतयः—ऐश्वर्य; स्मरताम्—स्मरण रखने वालों को; सन्ध्ययोः—दिन की सन्धियों के समय; नृणाम्—ऐसे मनुष्यों के; हरन्ति—हर लेते हैं; अंहः—पाप; दिने दिने—दिन-प्रतिदिन।

ये सारे पुरुष सूर्य देव के रूप में भगवान् विष्णु के ऐश्वर्यशाली अंश हैं। ये देव उन लोगों के सारे पापों को दूर कर देते हैं, जो प्रत्येक सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय उनका स्मरण करते हैं।

द्वादशस्वपि मासेषु देवोऽसौ षड्भिरस्य वै ।
चरन्समन्तात्तनुते परत्रेह च सन्मतिम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

द्वादशसु—बारहों; अपि—निस्सन्देह; मासेषु—महीनों में; देवः—स्वामी; असौ—इस; षड्भिः—छः प्रकार के संगियों समेत; अस्य—इस ब्रह्माण्ड के लोगों के लिए; वै—निश्चय ही; चरन्—विचरण करते हुए; समन्तात्—सभी दिशाओं में; तनुते—विस्तार करता है; परत्र—अगले जीवन में; इह—इस जीवन में; च—तथा; सत्-मतिम्—शुद्ध चेतना।

इस प्रकार बारहों महीने सूर्य देव अपने छः प्रकार के संगियों के साथ सभी दिशाओं में विचरण करते हुए इस ब्रह्माण्ड के निवासियों में इस जीवन तथा अगले जीवन के लिए शुद्ध चेतना का विस्तार करता रहता है।

सामर्ग्यजुर्भिस्तल्लिङ्गैरृषयः संस्तुवन्त्यमुम् ।
गन्धर्वास्तं प्रगायन्ति नृत्यन्त्यप्सरसोऽग्रतः ॥ ४७ ॥

उन्नह्यन्ति रथं नागा ग्रामण्यो रथयोजकाः ।
चोदयन्ति रथं पृष्ठे नैरृता बलशालिनः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

साम-ऋक्-यजुर्भिः—साम, ऋग् तथा यजुर्वेदों के स्तोत्रों द्वारा; तत्-लिङ्गैः—जो सूर्य को प्रकट करते हैं; ऋषयः—ऋषिगण; संस्तुवन्ति—स्तुति करते हैं; अमुम्—उसकी; गन्धर्वाः—गन्धर्वगण; तम्—उसके बारे में; प्रगायन्ति—जोर-जोर से गाते हैं; नृत्यन्ति—नाचती हैं; अप्सरसः—अप्सराएँ; अग्रतः—आगे; उन्नह्यन्ति—कसते हैं; रथम्—रथ को; नागाः—नागजन; ग्रामण्यः—यक्षगण; रथ-योजकाः—रथ में घोड़े जोतने वाले; चोदयन्ति—हाँकते हैं; रथम्—रथ; पृष्ठे—पीछे से; नैरृताः—राक्षसगण; बल-शालिनः—बलवान्।

एक ओर जहाँ ऋषिगण सूर्यदेव की पहचान को प्रकट करने वाले साम, ऋग् तथा यजुर्वेदों के स्तोत्रों द्वारा सूर्य देव की स्तुति करते हैं, वहीं गन्धर्वगण भी उनकी प्रशंसा करते हैं तथा अप्सराएँ उनके रथ के आगे-आगे नाचती हैं; नागगण रथ की रस्सियों को कसते हैं और यक्षगण रथ में घोड़ों को जोतते हैं जबकि प्रबल राक्षसगण रथ को पीछे से धकेलते हैं।

वालखिल्याः सहस्राणि षष्टिर्ब्रह्मर्षयोऽमलाः ।
पुरतोऽभिमुखं यान्ति स्तुवन्ति स्तुतिभिर्विभुम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

वालखिल्याः—वालखिल्य; सहस्राणि—हजार; षष्टिः—साठ; ब्रह्म-ऋषयः—ब्रह्मर्षि; अमलाः—शुद्ध; पुरतः—आगे-आगे; अभिमुखम्—रथ की ओर मुँह किये; यान्ति—जोतते हैं; स्तुवन्ति—स्तुति करते हैं; स्तुतिभिः—वैदिक स्तुतियों द्वारा; विभुम्—सर्वशक्तिमान प्रभु की।

रथ की ओर मुँह किये साठ हजार वालखिल्य नामक ब्रह्मर्षि आगे-आगे चलते हैं और वैदिक मंत्रों द्वारा सर्वशक्तिमान सूर्य देव की स्तुति करते हैं।

एवं ह्यनादिनिधनो भगवान्हरिरीश्वरः ।
कल्पे कल्पे स्वमात्मानं व्यूह्य लोकानवत्यजः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; हि—निस्सन्देह; अनादि—प्रारम्भ से; निधनः—अथवा अन्त; भगवान्—भगवान्; हरिः—हरि; ईश्वरः—परम नियन्ता; कल्पे कल्पे—प्रत्येक ब्रह्मा के दिन में; स्वम् आत्मानम्—अपना; व्यूह्य—वभिन्नि रूपों में विस्तार करके; लोकान्—लोकों की; अवति—रक्षा करते हैं; अजः—अजन्मा प्रभु।

इस तरह अजन्मा, अनादि तथा अनन्त भगवान् सारे लोकों की रक्षा हेतु, ब्रह्मा के प्रत्येक दिन में अपना विस्तार इन अपने विशेष निजी स्वरूपों में करते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के बारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''महापुरुष का संक्षिप्त वर्णन'' नामक ग्यारहवें अध्याय के श्री भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बारह

श्रीमद्भागवत की संक्षिप्त विषय-सूची

इस अध्याय में श्री सूत गोस्वामी श्रीमद्भागवत में विवेचित विषयों का संक्षेप प्रस्तुत करते हैं।

भगवान् श्री हरि उस व्यक्ति का सारा कष्ट स्वयं हर लेते हैं, जो उनकी महिमा का श्रवण करता है। जिन शब्दों से भगवान् के असंख्य दिव्य गुणों की स्तुति की जाती है वे सत्य, शुभ तथा शुद्धिदायक हैं जबकि अन्य सारे शब्द अशुद्ध होते हैं। भगवान् सम्बन्धी कथाओं की चर्चा आनन्द प्रदान करती है और यह आनन्द सदैव नवीन बना रहता है किन्तु वे व्यक्ति जो कौओं के समान हैं, व्यर्थ की कथाओं में लीन रहते हैं, जो भगवान् से सम्बन्धित नहीं होतीं।

श्री हरि के असंख्य नामों से जो उनके यशस्वी गुणों का वर्णन करने वाले हैं, कीर्तन तथा श्रवण से सारे मनुष्य अपने पापों से छूट सकते हैं। चाहे वह भगवान् विष्णु की भक्ति से विहीन ज्ञान हो, चाहे उन्हें अर्पित न किया गया सकाम कर्म हो, किसी सच्चे सौन्दर्य से युक्त नहीं होता है। किन्तु भगवान् कृष्ण का निरन्तर स्मरण करने से मनुष्य की सारी अशुभ इच्छाएँ विनष्ट हो जाती हैं, मन शुद्ध बन जाता है और वह साक्षात्कार तथा वैराग्य से पूर्ण ज्ञान के साथ भगवान् श्री हरि की

भक्ति प्राप्त करता है।

तत्पश्चात् सूत गोस्वामी बतलाते हैं कि कुछ समय पहले, उन्होंने महाराज परीक्षित की सभा में श्री शुकदेव गोस्वामी के मुख से श्रीकृष्ण की महिमाओं का श्रवण किया था, जो सारे पापों को नष्ट करने वाली हैं और अब उन्हीं महिमाओं को नैमिषारण्य के ऋषियों को उन्होंने सुनाया है। *श्रीमद्भागवत* सुनने से आत्मा शुद्ध होती है और सभी पापों तथा सभी प्रकार के भय से मोक्ष प्राप्त करती है। इस शास्त्र के अध्ययन से वैसा ही फल प्राप्त होता है जैसाकि वेदों के अध्ययन से मिलता है और मनुष्य की सारी इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं। संयमित मन से समस्त पुराणों के इस महत्त्वपूर्ण संग्रह को पढ़ने से मनुष्य को परम भगवद्धाम प्राप्त होता है। इस *श्रीमद्भागवत* के हर श्लोक में असंख्य स्वरूपों वाले श्री हरि की कथाएँ हैं।

अन्त में श्री सूत अजन्मे तथा अनन्त परमात्मा श्रीकृष्ण के साथ ही व्यासपुत्र श्री शुकदेव को भी नमस्कार करते हैं, जो जीवों के सारे पाप विनष्ट करने में सक्षम हैं।

सूत उवाच

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे ।
ब्रह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान्वक्ष्ये सनातनान् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; नमः—नमस्कार; धर्माय—धर्म को; महते—महानतम; नमः—नमस्कार; कृष्णाय—कृष्ण को; वेधसे—स्रष्टा; ब्रह्मणेभ्यः—ब्राह्मणों को; नमस्कृत्य—नमस्कार करके; धर्मान्—धर्म को; वक्ष्ये—कहूँगा; सनातनान्—शाश्वत।

सूत गोस्वामी ने कहा : परम धर्म भक्ति को, परम स्रष्टा भगवान् कृष्ण को तथा समस्त ब्राह्मणों को नमस्कार करके, अब मैं धर्म के शाश्वत सिद्धान्तों का वर्णन करूँगा।

तात्पर्य : इस अध्याय में सूत गोस्वामी प्रथम स्कन्ध से लेकर बारहवें स्कन्ध तक श्रीमद्भागवत की सारी कथाओं का सार प्रस्तुत करेंगे।

एतद्वः कथितं विप्रा विष्णोश्चरितमद्भुतम् ।
भवद्भिर्यदहं पृष्टो नराणां पुरुषोचितम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

एतत्—ये; वः—तुम सबों को; कथितम्—सुनाया; विप्राः—हे ऋषियो; विष्णोः—भगवान् विष्णु की; चरितम्—लीलाएँ; अद्भुतम्—अद्भुत; भवद्भिः—आप लोगों द्वारा; यत्—जो; अहम्—मैं; पृष्टः—पूछा गया; नराणाम्—मनुष्यों में से; पुरुष—वास्तविक मनुष्य के लिए; उचितम्—उपयुक्त।

हे ऋषियो, मैं आप लोगों से भगवान् विष्णु की अद्भुत लीलाएँ कह चुका हूँ, क्योंकि आप लोगों ने इनके विषय में मुझसे पूछा था। ऐसी कथाओं का सुनना उस व्यक्ति के लिए उचित है, जो वास्तव में मानव है।

तात्पर्य : *नराणाम् पुरुषोचितम्* शब्द सूचित करते हैं कि जो पुरुष तथा स्त्रियाँ आदर्श मानव

जीवन को प्राप्त हैं, वे भगवान् की महिमाओं का श्रवण और कीर्तन करते हैं किन्तु असभ्य लोगों को ईश-विज्ञान में रुचि नहीं होती।

अत्र सङ्कीर्तितः साक्षात्सर्वपापहरो हरिः ।
नारायणो हृषीकेशो भगवान्सात्वताम्पतिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अत्र—यहाँ, श्रीमद्भागवत में; सङ्कीर्तितः—पूरी तरह प्रशंसित; साक्षात्—प्रत्यक्ष; सर्व-पाप—सारे पापों का; हरः—हर्ता; हरिः—भगवान् हरि; नारायणः—नारायण; हृषीकेशः—हृषीकेश; भगवान्—भगवान्; सात्वताम्—यदुओं के; पतिः—स्वामी।

यह ग्रंथ उन भगवान् श्री हरि का पूर्ण गुणगान करने वाला है, जो अपने भक्तों के सारे पापों को दूर करने वाले हैं। भगवान् का यह गुणगान नारायण, हृषीकेश तथा सात्वतों के प्रभु के रूप में किया गया है।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण के अनेक पावन नाम उनके असामान्य दिव्य गुणों के सूचक हैं। *हरि* नाम सूचित करता है कि भगवान् अपने भक्त के हृदय के सारे पापों को दूर करने वाले हैं। *नारायण* सूचित करता है कि भगवान् सारे अन्य जीवों का भरण-पोषण करते हैं। *हृषीकेश* सूचित करता है कि भगवान् कृष्ण सारे जीवों की इन्द्रियों के परम नियन्ता हैं। *भगवान्* शब्द सूचित करता है कि भगवान् कृष्ण सर्वाकर्षक परम पुरुष हैं। *सात्वताम् पतिः* सूचित करता है कि भगवान् स्वभाव से साधु तथा धार्मिक पुरुषों के, विशेष रूप से उच्च यदुवंश के सदस्यों के, स्वामी हैं।

अत्र ब्रह्म परं गुह्यं जगतः प्रभवाप्ययम् ।
ज्ञानं च तदुपाख्यानं प्रोक्तं विज्ञानसंयुतम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

अत्र—यहाँ; ब्रह्म—परब्रह्म; परम्—परम; गुह्यम्—गोपनीय; जगतः—इस ब्रह्माण्ड के; प्रभव—सृष्टि; अप्ययम्—तथा संहार; ज्ञानम्—ज्ञान; च—तथा; तत्-उपाख्यानम्—उसका अनुशीलन करने के साधन; प्रोक्तम्—कहे हुए; विज्ञान—दिव्य अनुभूति; संयुतम्—से युक्त।

यह ग्रंथ इस ब्रह्माण्ड के सृजन तथा संहार के स्रोत परब्रह्म के रहस्य का वर्णन करता है। यही नहीं, इसमें उनके दैवी ज्ञान के साथ साथ उसके अनुशीलन की विधि तथा मनुष्य द्वारा प्राप्त होने वाली दिव्य अनुभूति का भी वर्णन हुआ है।

भक्तियोगः समाख्यातो वैराग्यं च तदाश्रयम् ।
पारीक्षितमुपाख्यानं नारदाख्यानमेव च ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

भक्ति-योगः—भक्ति की विधि; समाख्यातः—भलीभाँति कही गई; वैराग्यम्—वैराग्य; च—तथा; तत्-आश्रयम्—उससे गौण; पारीक्षितम्—महाराज परीक्षित का; उपाख्यानम्—इतिहास; नारद—नारद का; आख्यानम्—इतिहास; एव—निस्सन्देह; च—भी।

इसमें भक्ति की विधि के साथ साथ वैराग्य का गौण स्वरूप तथा महाराज परीक्षित एवं नारद मुनि के इतिहास का भी वर्णन हुआ है।

प्रायोपवेशो राजर्षेर्विप्रशापात्परीक्षितः ।
शुकस्य ब्रह्मर्षभस्य संवादश्च परीक्षितः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

प्राय-उपवेशः—आमरण उपवास; राज-ऋषेः—राजर्षि के; विप्र-शापात्—ब्राह्मण-पुत्र के शाप के कारण; परीक्षितः—राजा परीक्षित का; शुकस्य—शुकदेव की; ब्रह्म-ऋषभस्य—ब्राह्मण-श्रेष्ठ; संवादः—वार्ता; च—तथा; परीक्षितः—परीक्षित से।

इसके साथ ही ब्राह्मण-पुत्र के शाप के शमनार्थ परीक्षित का आमरण उपवास करना तथा परीक्षित और ब्राह्मण-श्रेष्ठ शुकदेव के मध्य हुई वार्ता का भी वर्णन हुआ है।

योगधारणयोत्क्रान्तिः संवादो नारदाजयोः ।
अवतारानुगीतं च सर्गः प्राधानिकोऽग्रतः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

योग-धारणया—योग में ध्यान स्थिर करके; उत्क्रान्तिः—मृत्यु के समय मोक्ष-लाभ; संवादः—वार्ता; नारद-अजयोः—नारद तथा ब्रह्मा के बीच; अवतार-अनुगीतम्—भगवान् के अवतारों की सूची प्रस्तुत करना; च—तथा; सर्गः—सृष्टि क्रिया; प्राधानिकः—अव्यक्त प्रकृति से; अग्रतः—आगे-आगे।

***भागवत* बतलाती है कि किस तरह योग में ध्यान स्थिर करके मृत्यु के समय मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। इसमें नारद तथा ब्रह्मा के बीच हुई वार्ता, भगवान् के अवतारों की गणना तथा भौतिक प्रकृति की अव्यक्त अवस्था से लेकर क्रमशः यह ब्रह्माण्ड जिस तरह बना, उसका भी वर्णन हुआ है।**

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि *श्रीमद्भागवत* में निहित विभिन्न विवरणों तथा विषयों की पूरी सूची प्रस्तुत कर पाना कठिन होगा। इसलिए यह समझना चाहिए कि सूत गोस्वामी इन विषयों का सारांश दे रहे हैं। वे जिन विषयों का उल्लेख नहीं कर पाये, उनके विषय में हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि वे कम महत्त्वपूर्ण अथवा व्यर्थ हैं क्योंकि *श्रीमद्भागवत* का हर अक्षर तथा शब्द सर्वोच्च, कृष्णभावनाभावित ध्वनि है।

विदुरोद्धवसंवादः क्षत्तृमैत्रेययोस्ततः ।
पुराणसंहिताप्रश्नो महापुरुषसंस्थितिः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

विदुर-उद्धव—विदुर तथा उद्धव के बीच हुई; संवादः—चर्चा; क्षत्तृ-मैत्रेययोः—विदुर तथा मैत्रेय के बीच; ततः—तब; पुराण-संहिता—पुराणों के संकलन के विषय में; प्रश्नः—प्रश्न; महा-पुरुष—भगवान् के भीतर; संस्थितिः—सृष्टि का लय।

इस शास्त्र में उद्धव तथा मैत्रेय के साथ विदुर के संवादों, इस पुराण के विषय में प्रश्न

तथा प्रलय के समय भगवान् के शरीर में सृष्टि के विलीन होने का भी वर्णन हुआ है।

ततः प्राकृतिकः सर्गः सप्त वैकृतिकाश्च ये ।
ततो ब्रह्माण्डसम्भूतिर्वैराजः पुरुषो यतः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; प्राकृतिकः—भौतिक प्रकृति से; सर्गः—सृष्टि; सप्त—सात; वैकृतिकाः—विकारों से उत्पन्न सृष्टि की अवस्थाएँ; च—तथा; ये—जो; ततः—तत्पश्चात्; ब्रह्म-अण्ड—ब्रह्माण्ड के अंडे का; सम्भूतिः—निर्माण; वैराजः पुरुषः—भगवान् का विश्व रूप; यतः—जिससे।

प्रकृति के गुणों के क्षोभ से उत्पन्न सृष्टि, तात्त्विक विकारों से विकास की सात अवस्थाएँ तथा उस विश्व अंडे का निर्माण जिससे भगवान् के विश्व रूप का उदय होता है—इन सबों का इसमें पूरी तरह वर्णन हुआ है।

कालस्य स्थूलसूक्ष्मस्य गतिः पद्मसमुद्भवः ।
भुव उद्धरणेऽम्भोधेर्हिरण्याक्षवधो यथा ॥ १० ॥

शब्दार्थ

कालस्य—काल की; स्थूल-सूक्ष्मस्य—स्थूल तथा सूक्ष्म; गतिः—गति; पद्म—कमल का; समुद्भवः—उत्पन्न होना; भुवः—पृथ्वी का; उद्धरणे—उद्धार करने के सम्बन्ध में; अम्भोधेः—सागर से; हिरण्याक्ष-वधः—हिरण्याक्ष का वध; यथा—जिस तरह हुआ।

अन्य विषयों में काल की स्थूल तथा सूक्ष्म गतियाँ, गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से कमल की उत्पत्ति तथा हिरण्याक्ष असुर का वध जब गर्भोदक सागर से पृथ्वी का उद्धार हुआ, सम्मिलित हैं।

ऊर्ध्वतिर्यगवाक्सर्गो रुद्रसर्गस्तथैव च ।
अर्धनारीश्वरस्याथ यतः स्वायम्भुवो मनुः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ऊर्ध्व—उच्च योनियों, अर्थात् देवताओं का; तिर्यक्—पशुओं का; अवाक्—तथा निम्न योनियों का; सर्गः—सृजन; रुद्र—शिव की; सर्गः—उत्पत्ति; तथा—और; एव—निस्सन्देह; च—भी; अर्ध-नारी—आधे पुरुष तथा आधे नारी रूप में; ईश्वरस्य—ईश्वर का; अथ—तब; यतः—जिससे; स्वायम्भुवः मनुः—स्वायंभुव मनु।

भागवत में देवताओं, पशुओं तथा आसुरी योनियों की उत्पत्ति, भगवान् रुद्र के जन्म तथा अर्धनारीश्वर से स्वायम्भुव मनु के प्राकट्य का भी वर्णन हुआ है।

शतरूपा च या स्त्रीणामाद्या प्रकृतिरुत्तमा ।
सन्तानो धर्मपत्नीनां कर्दमस्य प्रजापतेः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

शतरूपा—शतरूपा; च—तथा; या—जो; स्त्रीणाम्—स्त्रियों की; आद्या—पहली; प्रकृतिः—प्रिया; उत्तमा—उत्तम; सन्तानः—सन्तान; धर्म-पत्नीनाम्—पवित्र पत्नियों की; कर्दमस्य—कर्दम ऋषि की; प्रजापतेः—प्रजापति।

इसमें प्रथम स्त्री शतरूपा, जोकि मनु की उत्तम प्रिया थीं तथा प्रजापति कर्दम की पवित्र पत्नियों की सन्तान का भी वर्णन हुआ है।

अवतारो भगवतः कपिलस्य महात्मनः ।
देवहूत्याश्च संवादः कपिलेन च धीमता ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अवतारः—अवतरण; भगवतः—भगवान्; कपिलस्य—कपिल का; महा-आत्मनः—परमात्मा; देवहूत्याः—देवहूति का; च—तथा; संवादः—संवाद; कपिलेन—कपिल के साथ; च—तथा; धी-मता—बुद्धिमान।

भागवत में महान् कपिल मुनि के रूप में भगवान् के अवतार का और इस विद्वान महात्मा तथा उनकी माता देवहूति के बीच हुई वार्ता का अंकन है।

नवब्रह्मसमुत्पत्तिर्दक्षयज्ञविनाशनम् ।
ध्रुवस्य चरितं पश्चात्पृथोः प्राचीनबर्हिषः ॥ १४ ॥
नारदस्य च संवादस्ततः प्रैयव्रतं द्विजाः ।
नाभेस्ततोऽनुचरितमृषभस्य भरतस्य च ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

नव-ब्रह्म—नौ ब्राह्मणों (मरीचि आदि ब्रह्मा के पुत्रों) की; समुत्पत्तिः—सन्तानें; दक्ष-यज्ञ—दक्ष द्वारा सम्पन्न यज्ञ का; विनाशनम्—विध्वंस; ध्रुवस्य—ध्रुव महाराज का; चरितम्—इतिहास; पश्चात्—तब; पृथोः—राजा पृथु का; प्राचीनबर्हिषः—प्राचीनबर्हि का; नारदस्य—नारद मुनि का; च—तथा; संवादः—संवाद; ततः—तत्पश्चात्; प्रैयव्रतम्—महाराज प्रियव्रत की कथा; द्विजाः—हे ब्राह्मणो; नाभेः—नाभि का; ततः—तब; अनुचरितम्—जीवन चरित्र; ऋषभस्य—राजा ऋषभ का; भरतस्य—भरत महाराज का; च—तथा।

इसमें नौ महान् ब्राह्मणों की सन्तानों, दक्ष के यज्ञ के विध्वंस तथा ध्रुव महाराज के इतिहास, तत्पश्चात् राजा पृथु एवं राजा प्राचीनबर्हि की कथाओं, प्राचीनबर्हि तथा नारद के बीच संवाद तथा महाराज प्रियव्रत के जीवन का वर्णन हुआ है। तत्पश्चात् हे ब्राह्मणो, भागवत में राजा नाभि, भगवान् ऋषभ तथा राजा भरत के चरित्र एवं कार्यों का वर्णन मिलता है।

द्वीपवर्षसमुद्राणां गिरिनद्युपवर्णनम् ।
ज्योतिश्चक्रस्य संस्थानं पातालनरकस्थितिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

द्वीप-वर्ष-समुद्राणाम्—द्वीपों, बड़े द्वीपों तथा समुद्रों का; गिरि-नदी—पर्वतों तथा नदियों का; उपवर्णनम्—विस्तृत वर्णन; ज्योतिः-चक्रस्य—स्वर्गिक मण्डल की; संस्थानम्—व्यवस्था; पाताल—अधोलोकों की; नरक—तथा नरक की; स्थितिः—स्थिति।

भागवत में पृथ्वी के महाद्वीपों, वर्षों, समुद्रों, पर्वतों तथा नदियों का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसमें स्वर्गिक मण्डल की व्यवस्था तथा पाताल और नरक में विद्यमान स्थितियों का भी वर्णन हुआ है।

दक्षजन्म प्रचेतोभ्यस्तत्पुत्रीणां च सन्ततिः ।
यतो देवासुरनरास्तिर्यङ्नगखगादयः ॥ १७॥

शब्दार्थ

दक्ष-जन्म—दक्ष का जन्म; प्रचेतोभ्यः—प्रचेताओं से; तत्-पुत्रीणाम्—उसकी पुत्रियों की; च—तथा; सन्ततिः—सन्तान; यतः—जिससे; देव-असुर-नराः—देवता, असुर तथा मनुष्य; तिर्यक्-नग-खग-आदयः—पशु, सर्प, पक्षी आदि योनियाँ।

इसमें प्रचेताओं के पुत्र रूप में प्रजापति दक्ष का पुनर्जन्म तथा दक्ष की पुत्रियों की संतति जिससे देवताओं, असुरों, मनुष्यों, पशुओं, सर्पों, पक्षियों आदि की जातियाँ प्रारम्भ हुईं—इन सबों का वर्णन हुआ है।

त्वाष्ट्रस्य जन्मनिधनं पुत्रयोश्च दितेर्द्विजाः ।
दैत्येश्वरस्य चरितं प्रह्लादस्य महात्मनः ॥ १८॥

शब्दार्थ

त्वाष्ट्रस्य—त्वष्टा के पुत्र (वृत्र) का; जन्म-निधनम्—जन्म तथा मृत्यु; पुत्रयोः—दो पुत्रों, हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु का; च—तथा; दितेः—दिति का; द्विजाः—हे ब्राह्मणो; दैत्य-ईश्वरस्य—सबसे बड़े दैत्य; चरितम्—इतिहास; प्रह्लादस्य—प्रह्लाद का; महा-आत्मनः—महात्मा।

हे ब्राह्मणो, *भागवत* में वृत्रासुर के तथा दिति-पुत्र हिरण्याक्ष एवं हिरण्यकशिपु के जन्मों तथा मृत्युओं का और उसी के साथ दिति के महानतम वंशज, महात्मा प्रह्लाद, के इतिहास का वर्णन हुआ है।

मन्वन्तरानुकथनं गजेन्द्रस्य विमोक्षणम् ।
मन्वन्तरावताराश्च विष्णोर्हयशिरादयः ॥ १९॥

शब्दार्थ

मनु-अन्तर—विभिन्न मनुओं के शासनों के; अनुकथनम्—विस्तृत विवरण; गज-इन्द्रस्य—हाथियों के राजा का; विमोक्षणम्—मोक्ष; मनु-अन्तर-अवताराः—प्रत्येक मन्वन्तर में भगवान् के विशिष्ट अवतार; च—तथा; विष्णोः—भगवान् विष्णु के; हयशिर-आदयः—यथा हयशीर्ष।

इसमें प्रत्येक मनु का शासनकाल, गजेन्द्र के मोक्ष तथा प्रत्येक मन्वन्तर में भगवान् विष्णु के विशिष्ट अवतारों, यथा भगवान् हयशीर्ष, का भी वर्णन है।

कौर्मं मात्स्यं नारसिंहं वामनं च जगत्पतेः ।
क्षीरोदमथनं तद्वदमृतार्थे दिवौकसाम् ॥ २०॥

शब्दार्थ

कौर्मम्—कछुए के रूप में अवतार; मात्स्यम्—मछली का; नारसिंहम्—नृसिंह के रूप में; वामनम्—वामन के रूप में; च—तथा; जगत्-पतेः—ब्रह्माण्ड के स्वामी का; क्षीर-उद—दूध के सागर का; मथनम्—मन्थन; तद्वत्—इस प्रकार; अमृत-अर्थे—अमृत के हेतु; दिव-ओकसाम्—स्वर्ग के निवासियों द्वारा।

भागवत में कूर्म, मत्स्य, नरसिंह तथा वामन के रूप में ब्रह्माण्ड के स्वामी के प्राकट्यों एवं अमृत प्राप्ति के लिए देवताओं द्वारा क्षीर सागर के मंथन का भी वर्णन है।

देवासुरमहायुद्धं राजवंशानुकीर्तनम् ।
इक्ष्वाकुजन्म तद्वंशः सुद्युम्नस्य महात्मनः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

देव-असुर—देवताओं तथा असुरों का; महा-युद्धम्—महान् युद्ध; राज-वंश—राजाओं के वंशों का; अनुकीर्तनम्—एक-एक करके सुनाया जाना; इक्ष्वाकु-जन्म—इक्ष्वाकु का जन्म; तत्-वंशः—उसका वंश; सुद्युम्नस्य—तथा सुद्युम्न का (वंश); महा-आत्मनः—महात्मा।

देवताओं तथा असुरों के बीच लड़ा गया महायुद्ध, विभिन्न राजाओं के वंशों का क्रमबद्ध वर्णन तथा इक्ष्वाकु के जन्म, उसके वंश एवं महात्मा सुद्युम्न के वंश से सम्बन्धित कथाएँ—इन सबों को इस ग्रंथ में प्रस्तुत किया गया है।

इलोपाख्यानमत्रोक्तं तारोपाख्यानमेव च ।
सूर्यवंशानुकथनं शशादाद्या नृगादयः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

इला-उपाख्यानम्—इला का इतिहास; अत्र—इसमें; उक्तम्—कहा गया है; तारा-उपाख्यानम्—तारा का इतिहास; एव—निस्सन्देह; च—भी; सूर्य-वंश—सूर्यदेव के वंश की; अनुकथनम्—कथा; शशाद-आद्याः—शशाद इत्यादि; नृग-आदयः—नृग इत्यादि।

इसमें इला तथा तारा के इतिहास तथा सूर्य देव के वंशजों का जिनमें शशाद तथा नृग जैसे राजा सम्मिलित हैं, वर्णन हुआ है।

सौकन्यं चाथ शर्यातेः ककुत्स्थस्य च धीमतः ।
खट्वाङ्गस्य च मान्धातुः सौभरेः सगरस्य च ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सौकन्यम्—सुकन्या की कथा; च—तथा; अथ—तब; शर्यातेः—शर्याति की; ककुत्स्थस्य—ककुत्स्थ की; च—तथा; धी-मतः—बुद्धिमान राजा; खट्वाङ्गस्य—खट्वांग की; च—तथा; मान्धातुः—मान्धाता की; सौभरेः—सौभरि की; सगरस्य—सगर की; च—तथा।

इसमें सुकन्या, शर्याति, बुद्धिमान ककुत्स्थ, खट्वांग, मान्धाता, सौभरि तथा सगर की कथाएँ कही गई हैं।

रामस्य कोशलेन्द्रस्य चरितं किल्बिषापहम् ।

निमेरङ्गपरित्यागो जनकानां च सम्भवः ॥ २४॥

शब्दार्थ

रामस्य—भगवान् रामचन्द्र की; कोशल-इन्द्रस्य—कोशल के राजा; चरितम्—लीलाएँ; किल्बिष-अपहम्—समस्त पापों को भगाने वाली; निमेः—राजा निमि का; अङ्ग-परित्यागः—शरीर त्याग; जनकानाम्—जनक के वंशजों की; च—तथा; सम्भवः—उत्पत्ति।

भागवत में कोशल के राजा भगवान् रामचन्द्र की पवित्रकारिणी लीलाओं का वर्णन है और उसी के साथ यह भी बताया गया है कि राजा निमि ने किस तरह अपना भौतिक शरीर छोड़ा। इसमें राजा जनक के वंशजों की उत्पत्ति का भी उल्लेख हुआ है।

रामस्य भार्गवेन्द्रस्य निःक्षतृईकरणं भुवः ।
ऐलस्य सोमवंशस्य ययातेर्नहुषस्य च ॥ २५॥
दौष्मन्तेर्भरतस्यापि शान्तनोस्तत्सुतस्य च ।
ययातेर्ज्येष्ठपुत्रस्य यदोर्वंशोऽनुकीर्तितः ॥ २६॥

शब्दार्थ

रामस्य—परशुराम का; भार्गव-इन्द्रस्य—भृगु मुनि के वंशजों में सबसे महान्; निःक्षत्री-करणम्—सारे क्षत्रियों का निष्कासन; भुवः—पृथ्वी के; ऐलस्य—महाराज ऐल का; सोम-वंशस्य—चन्द्र देव के वंश का; ययातेः—ययाति का; नहुषस्य—नहुष का; च—तथा; दौष्मन्तेः—दुष्मन्त के पुत्र; भरतस्य—भरत का; अपि—भी; शान्तनोः—राजा शान्तनु का; तत्—उसका; सुतस्य—पुत्र, भीष्म का; च—तथा; ययातेः—ययाति के; ज्येष्ठ-पुत्रस्य—ज्येष्ठ पुत्र; यदोः—यदु का; वंशः—वंश; अनु-कीर्तितः—महिमा-गायन किया गया है।

श्रीमद्भागवत में वर्णन हुआ है कि किस तरह भृगुवंशियों में सबसे महान् भगवान् परशुराम ने पृथ्वी से सारे क्षत्रियों का संहार किया। इसमें उन यशस्वी राजाओं के जीवनों का वर्णन हुआ है, जो चन्द्रवंश में प्रकट हुए—यथा ऐल, ययाति, नहुष, दुष्मन्त पुत्र भरत, शान्तनु तथा शान्तनु पुत्र भीष्म जैसे राजा। इसके साथ ही ययाति के ज्येष्ठ पुत्र राजा यदु द्वारा स्थापित महान् वंश का भी वर्णन हुआ है।

यत्रावतीर्णो भगवान् कृष्णाख्यो जगदीश्वरः ।
वसुदेवगृहे जन्म ततो वृद्धिश्च गोकुले ॥ २७॥

शब्दार्थ

यत्र—जिस वंश में; अवतीर्णः—अवतरित हुए; भगवान्—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्; कृष्ण-आख्यः—कृष्ण नामक; जगत्-ईश्वरः—ब्रह्माण्ड के स्वामी; वसुदेव-गृहे—वसुदेव के घर में; जन्म—जन्म; ततः—तत्पश्चात्; वृद्धिः—बड़ा होना; च—तथा; गोकुले—गोकुल में।

जिस तरह ब्रह्माण्ड के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण यदुवंश में अवतरित हुए, जिस तरह उन्होंने वसुदेव के घर में जन्म लिया और जिस तरह वे गोकुल में बड़े हुए—इन सबका इसमें विस्तार से वर्णन हुआ है।

तस्य कर्माण्यपाराणि कीर्तितान्यसुरद्विषः ।
पूतनासुपयःपानं शकटोच्चाटनं शिशोः ॥ २८ ॥
तृणावर्तस्य निष्पेषस्तथैव बकवत्सयोः ।
अघासुरवधो धात्रा वत्सपालावगूहनम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके; कर्माणी—कार्यकलाप; अपाराणि—असंख्य; कीर्तितानि—स्तुति किये जाते हैं; असुर-द्विषः—असुरों के शत्रु; पूतना—पूतना के; असु—प्राण; पयः—दूध के; पानम्—पीना; शकत—गाड़ी का; उच्चाटनम्—भंजन; शिशोः—शिशु द्वारा; तृणावर्तस्य—तृणावर्त का; निष्पेषः—दलन; तथा—और; एव—निस्सन्देह; बक-वत्सयोः—बक तथा वत्स नामक असुरों के; अघ-असुर—अघ नामक असुर का; वधः—वध; धात्रा—ब्रह्मा द्वारा; वत्स-पाल—बछड़े तथा ग्वालबालों का; अवगूहनम्—छिपाया जाना।

इसमें असुरों के शत्रु श्रीकृष्ण की असंख्य लीलाओं का, जिनमें पूतना के स्तनों से दुग्ध के साथ प्राण को चूस लेने, शकट भंजन, तृणावर्त दलन, बकासुर-वध, वत्सासुर तथा अघासुर के वध की बाल-लीलाएँ और ब्रह्मा द्वारा उनके बछड़ों तथा ग्वालबाल मित्रों का गुफा में छिपाये जाने के समय की गई लीलाओं का महिमा-गायन है।

धेनुकस्य सहभ्रातुः प्रलम्बस्य च सङ्क्षयः ।
गोपानां च परित्राणं दावाग्नेः परिसर्पतः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

धेनुकस्य—धेनुक का; सह-भ्रातुः—साथियों समेत; प्रलम्बस्य—प्रलम्ब का; च—तथा; सङ्क्षयः—विनाश; गोपानाम्—ग्वालबालों की; च—तथा; परित्राणम्—रक्षा; दाव-अग्नेः—जंगल की आग से; परिसर्पतः—घेरे हुई।

श्रीमद्भागवत में बताया गया है कि किस तरह भगवान् कृष्ण तथा बलराम ने धेनुकासुर तथा उसके साथियों को मारा, किस तरह बलराम ने प्रलम्बासुर का विनाश किया और किस तरह कृष्ण ने दावाग्नि से घिरे ग्वालबालों को बचाया।

दमनं कालियस्याहेर्महाहेर्नन्दमोक्षणम् ।
व्रतचर्या तु कन्यानां यत्र तुष्टोऽच्युतो व्रतैः ॥ ३१ ॥
प्रसादो यज्ञपत्नीभ्यो विप्राणां चानुतापनम् ।
गोवर्धनोद्धारणं च शक्रस्य सुरभेरथ ॥ ३२ ॥
यज्ञभिषेकः कृष्णस्य स्त्रीभिः क्रीडा च रात्रिषु ।
शङ्खचूडस्य दुर्बुद्धेर्वधोऽरिष्टस्य केशिनः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

दमनम्—दमन; कालियस्य—कालिय का; अहेः—सर्प; महा-अहेः—विशाल सर्प से; नन्द-मोक्षणम्—महाराज नन्द को छुड़ाना; व्रत-चर्या—व्रत रखना; तु—तथा; कन्यानाम्—गोपियों का; यत्र—जिससे; तुष्टः—तुष्ट हुए; अच्युतः—भगवान् कृष्ण; व्रतैः—उनके व्रतों से; प्रसादः—कृपा; यज्ञ-पत्नीभ्यः—वैदिक यज्ञ करने वाले ब्राह्मण पत्नियों को; विप्राणाम्—ब्राह्मण पतियों का; च—तथा; अनुतापनम्—पश्चाताप; गोवर्धन-उद्धारणम्—गोवर्धन पर्वत का उठाया जाना; च—तथा;

शक्रस्य—इन्द्र द्वारा; सुरभेः—सुरभि गाय के साथ; अथ—तब; यज्ञ-अभिषेकः—पूजा तथा अनुष्ठानिक स्नान कराना; कृष्णस्य—भगवान् कृष्ण का; स्त्रीभिः—स्त्रियों के साथ; क्रीडा—खेलकूद; च—तथा; रात्रिषु—रातों में; शङ्खचूडस्य—शंखचूड़ असुर का; दुर्बुद्धेः—मूर्ख; वधः—मारा जाना; अरिष्टस्य—अरिष्ट का; केशिनः—केशी का।

कालिय नाग का दमन, नन्द महाराज का विशाल सर्प से बचाया जाना, तरुण गोपियों द्वारा कठिन व्रत किया जाना और इस तरह कृष्ण का तुष्ट होना, उन वैदिक ब्राह्मणों की पश्चाताप कर रही पत्नियों के प्रति कृपा-प्रदर्शन, गोवर्धन पर्वत के उठाये जाने के बाद इन्द्र तथा सुरभि गाय द्वारा पूजा तथा अभिषेक किया जाना, गोपियों के साथ कृष्ण की रात्रिकालीन लीलाएँ तथा शंखचूड़, अरिष्ट एवं केशी जैसे मूर्ख असुरों का वध—ये सारी लीलाएँ इसमें विस्तार से वर्णित हैं।

अक्रूरागमनं पश्चात्प्रस्थानं रामकृष्णयोः ।
व्रजस्त्रीणां विलापश्च मथुरालोकनं ततः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

अक्रूर—अक्रूर का; आगमनम्—आना; पश्चात्—उसके बाद; प्रस्थानम्—प्रस्थान; राम-कृष्णयोः—बलराम तथा कृष्ण का; व्रज-स्त्रीणाम्—वृन्दावन की स्त्रियों का; विलापः—शोक; च—तथा; मथुरा-आलोकनम्—मथुरा का देखना; ततः—तब।

भागवत में अक्रूर के आने, तत्पश्चात् कृष्ण तथा बलराम का जाना, गोपियों का विलाप और मथुरा भ्रमण का वर्णन मिलता है।

गजमुष्टिकचाणूरकंसादीनां तथा वधः ।
मृतस्यानयनं सूनोः पुनः सान्दीपनेर्गुरोः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

गज—कुवलयापीड़ नामक हाथी का; मुष्टिक-चाणूर—मुष्टिक तथा चाणूर नामक मल्लों का; कंस—कंस का; आदीनाम्—तथा अन्यों का; तथा—भी; वधः—मारा जाना; मृतस्य—मरे हुए; आनयनम्—वापस लाया जाना; सूनोः—पुत्र का; पुनः—फिर से; सान्दीपनेः—सान्दीपनि के; गुरोः—अपने गुरु।

इसमें इसका भी वर्णन हुआ है कि किस तरह कृष्ण तथा बलराम ने कुवलयापीड़ हाथी, मुष्टिक तथा चाणूर मल्लों एवं कंस आदि असुरों का वध किया और किस तरह कृष्ण अपने गुरु सान्दीपनि मुनि के मृत पुत्र को वापस ले आये।

मथुरायां निवसता यदुचक्रस्य यत्प्रियम् ।
कृतमुद्धवरामाभ्यां युतेन हरिणा द्विजाः ॥ ३६॥

शब्दार्थ

मथुरायाम्—मथुरा में; निवसता—रहते हुए; यदु-चक्रस्य—यदुवंशियों के हेतु; यत्—जो; प्रियम्—तृप्तिकारक; कृतम्—किया गया; उद्धव-रामाभ्याम्—उद्धव तथा बलराम के साथ; युतेन—युक्त; हरिणा—हरि द्वारा; द्विजाः—हे ब्राह्मणो।

तत्पश्चात् हे ब्राह्मणो, इस शास्त्र में बतलाया गया है कि किस तरह उद्धव और बलराम

के साथ मथुरा में निवास करते हुए भगवान् हरि ने यदुवंश की तुष्टि के लिए लीलाएँ कीं।

जरासन्धसमानीतसैन्यस्य बहुशो वधः ।
घातनं यवनेन्द्रस्य कुशस्थल्या निवेशनम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

जरासन्ध—जरासन्ध द्वारा; समानीत—एकत्र की गई; सैन्यस्य—सेना का; बहुशः—अनेक बार; वधः—विनाश; घातनम्—वध; यवन-इन्द्रस्य—बर्बरों के राजाओं का; कुशस्थल्याः—द्वारका की; निवेशनम्—स्थापना।

इसके साथ ही जरासन्ध द्वारा लाई गई अनेक सेनाओं का संहार, बर्बर राजा कालयवन का वध तथा द्वारकापुरी की स्थापना का भी वर्णन हुआ है।

आदानं पारिजातस्य सुधर्मायाः सुरालयात् ।
रुक्मिण्या हरणं युद्धे प्रमथ्य द्विषतो हरेः ॥ ३८॥

शब्दार्थ

आदानम्—प्राप्त करना; पारिजातस्य—पारिजात वृक्ष का; सुधर्मायाः—सुधर्मा सभाभवन का; सुर-आलयात्—देवताओं के धाम से; रुक्मिण्याः—रुक्मिणी का; हरणम्—हरण; युद्धे—युद्ध में; प्रमथ्य—हराकर; द्विषतः—अपने प्रतिद्वन्द्वियों को; हरेः—भगवान् हरि द्वारा।

इस कृति में इसका भी वर्णन है कि भगवान् कृष्ण किस तरह स्वर्ग से पारिजात वृक्ष तथा सुधर्मा सभाभवन लाये और उन्होंने किस तरह युद्ध में अपने प्रतिद्वन्द्वियों को हराकर रुक्मिणी का हरण किया।

हरस्य जृम्भणं युद्धे बाणस्य भुजकृन्तनम् ।
प्राग्ज्योतिषपतिं हत्वा कन्यानां हरणं च यत् ॥ ३९॥

शब्दार्थ

हरस्य—शिवजी का; जृम्भणम्—जबरन जँभाई लाकर; युद्धे—युद्ध में; बाणस्य—बाण की; भुज—भुजाओं का; कृन्तनम्—काटा जाना; प्राग्ज्योतिष-पतिम्—प्राग्ज्योतिषपुर के स्वामी को; हत्वा—मार कर; कन्यानाम्—कुमारियों का; हरणम्—हरण करना; च—तथा; यत्—जिससे।

इसमें इसका भी वर्णन हुआ है कि कृष्ण ने किस तरह बाणासुर के साथ युद्ध में, शिव को जँभाई दिलाकर परास्त किया, किस तरह उन्होंने बाणासुर की भुजाएँ काटीं और किस तरह प्राग्ज्योतिषपुर के स्वामी को मारा तथा उसके बाद उस नगरी में बन्दी की गई कुमारियों को छुड़ाया।

चैद्यपौण्ड्रकशाल्वानां दन्तवक्रस्य दुर्मतेः ।
शम्बरो द्विविदः पीठो मुरः पञ्चजनादयः ॥ ४०॥
माहात्म्यं च वधस्तेषां वाराणस्याश्च दाहनम् ।

भारावतरणं भूमेर्निमित्तीकृत्य पाण्डवान् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

चैद्य—चेदि राजा शिशुपाल का; पौण्ड्रक—पौण्ड्रक का; शाल्वानाम्—तथा शाल्व का; दन्तवक्रस्य—दन्तवक्र का; दुर्मतेः—मूर्ख; शम्बरः द्विविदः पीठः—शम्बर, द्विविद तथा पीठ नामक असुरों; मुरः पञ्चजन-आदयः—मुर, पञ्चजन तथा अन्यों; माहात्म्यम्—पराक्रम; च—तथा; वधः—मृत्यु; तेषाम्—उनकी; वाराणस्याः—वाराणसी (बनारस) नामक पवित्र नगरी का; च—तथा; दाहनम्—जलाया जाना; भार—भार का; अवतरणम्—उतारा जाना या कमी लाना; भूमेः—पृथ्वी का; निमित्ती-कृत्य—कारण बनाकर; पाण्डवान्—पाण्डु-पुत्रों को।

भागवत में चेदिराज, पौण्ड्रक, शाल्व, मूर्ख दन्तवक्र, शम्बर, द्विविद, पीठ, मुर, पञ्चजन तथा अन्य असुरों के पराक्रमों तथा मृत्युओं के वर्णन के साथ-साथ बनारस के जलाये जाने का वर्णन है। इसमें यह भी बताया गया है कि किस तरह कृष्ण ने कुरुक्षेत्र के युद्ध में पाण्डवों को लगाकर पृथ्वी के भार को कम किया।

विप्रशापापदेशेन संहारः स्वकुलस्य च ।
उद्धवस्य च संवादो वसुदेवस्य चाद्भुतः ॥ ४२ ॥
यत्रात्मविद्या ह्यखिला प्रोक्ता धर्मविनिर्णयः ।
ततो मर्त्यपरित्याग आत्मयोगानुभावतः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

विप्र-शाप—ब्राह्मण के शाप के; अपदेशेन—बहाने; संहारः—मारा जाना; स्व-कुलस्य—अपने ही परिवार का; च—तथा; उद्धवस्य—उद्धव के साथ; च—तथा; संवादः—बातचीत; वसुदेवस्य—(नारद के साथ) वासुदेव की; च—तथा; अद्भुतः—अद्भुत्; यत्र—जिसमें; आत्म-विद्या—आत्मा का विज्ञान; हि—निस्सन्देह; अखिला—पूर्णरूपेण; प्रोक्ता—कहा गया; धर्म-विनिर्णयः—धर्म का सुनिश्चित किया जाना; ततः—तब; मर्त्य—मर्त्य जगत का; परित्यागः—त्याग; आत्म-योग—अपनी योगशक्ति के; अनुभावतः—बल पर।

भगवान् द्वारा ब्राह्मण शाप के बहाने अपने वंश की समाप्ति, नारद के साथ वसुदेव का संवाद, उद्धव तथा कृष्ण के बीच असाधारण बातचीत जो आत्म-विज्ञान को विस्तार से प्रकट करने वाली है और मानव समाज के धर्म की व्याख्या करती है और फिर भगवान् कृष्ण द्वारा अपने योग-बल से इस मर्त्यलोक का परित्याग करना—इन सारी घटनाओं का भागवत में वर्णन हुआ है।

युगलक्षणवृत्तिश्च कलौ नृणामुपप्लवः ।
चतुर्विधश्च प्रलय उत्पत्तिस्त्रिविधा तथा ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

युग—विभिन्न युगों के; लक्षण—लक्षण; वृत्तिः—तथा संगत कार्य; च—भी; कलौ—वर्तमान कलियुग में; नृणाम्—मनुष्यों के; उपप्लवः—पूर्ण उत्पात; चतुः-विधः—चार प्रकार की; च—तथा; प्रलयः—प्रलय की विधि; उत्पत्तिः—सृष्टि; त्रि-विधा—तीन प्रकार की; तथा—और।

इस कृति में विभिन्न युगों में लोगों के लक्षण तथा आचरण, कलियुग में मनुष्यों द्वारा अनुभव की जाने वाली अव्यवस्था, चार प्रकार के प्रलय तथा तीन प्रकार की सृष्टि का भी

वर्णन हुआ है।

देहत्यागश्च राजर्षेर्विष्णुरातस्य धीमतः ।
शाखाप्रणयनमृषेर्मार्कण्डेयस्य सत्कथा ।
महापुरुषविन्यासः सूर्यस्य जगदात्मनः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

देह-त्यागः—शरीर का छोड़ना; च—तथा; राज-ऋषेः—सन्त साधु स्वभाव वाले राजा द्वारा; विष्णु-रातस्य—परीक्षित का; धी-मतः—बुद्धिमान; शाखा—वेदों की शाखाओं का; प्रणयनम्—प्रसार; ऋषेः—ऋषि व्यासदेव से; मार्कण्डेयस्य—मार्कण्डेय ऋषि की; सत्-कथा—शुभ कथा; महा-पुरुष—भगवान् के विश्व रूप का; विन्यासः—विस्तृत व्यवस्था; सूर्यस्य—सूर्य की; जगत्-आत्मनः—ब्रह्माण्ड की आत्मा स्वरूप।

इसमें बुद्धिमान तथा साधु स्वभाव वाले राजा विष्णुरात (परीक्षित) के निधन का, श्रील व्यासदेव द्वारा वेदों की शाखाओं के प्रसार की व्याख्या का, मार्कण्डेय ऋषि विषयक शुभ कथा का तथा भगवान् के विश्व रूप एवं ब्रह्माण्ड की आत्मा सूर्य के रूप में उनके रूप की विस्तृत व्याख्या का भी विवरण है।

इति चोक्तं द्विजश्रेष्ठा यत्पृष्टोऽहमिहास्मि वः ।
लीलावतारकर्माणि कीर्तितानीह सर्वशः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; च—और; उक्तम्—कहा गया; द्विज-श्रेष्ठाः—हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ; यत्—जो; पृष्टः—पूछा गया; अहम्—मैं; इह—यहाँ; अस्मि—हूँ; वः—तुम्हारे द्वारा; लीला-अवतार—अपने ही आनन्द के लिए भगवान् के दैवी अवतरण; कर्माणि—कार्य; कीर्तितानि—स्तुति किये गये; इह—इस शास्त्र में; सर्वशः—पूरी तरह से।

इस प्रकार हे ब्राह्मण-श्रेष्ठो, यहाँ पर तुम लोगों ने जो कुछ मुझसे पूछा था, वह सब मैंने बतला दिया। इस ग्रंथ में भगवान् के लीला अवतारों के कार्यकलापों का विस्तार से गुणगान हुआ है।

पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो गृणन् ।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

पतितः—गिरते हुए; स्खलितः—लड़खड़ाते; च—तथा; आर्तः—पीड़ा का अनुभव करते हुए; क्षुत्त्वा—छींकते हुए; वा—अथवा; विवशः—विवश होकर; गृणन्—कीर्तन करते हुए; हरये नमः—हरि को नमस्कार; इति—इस प्रकार; उच्चैः—जोर-जोर से; मुच्यते—मुक्त हो जाता है; सर्व-पातकात्—सभी पापों से।

यदि गिरते, लड़खड़ाते, पीड़ा अनुभव करते या छींकते समय कोई विवशता से भी उच्च स्वर से "भगवान् हरि की जय हो" चिल्लाता है, तो वह स्वतः सारे पापों से मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि श्री चैतन्य महाप्रभु सदैव ही

श्रीवास ठाकुर के आँगन में *हरये नम: कृष्ण*-गीत का जोर-जोर से उच्चारण करते थे। यही श्री चैतन्य हमें हमारी भौतिकतावादी भोगलिप्सा से मुक्त करायेंगे यदि हम भी भगवान् हरि की महिमा का उच्च स्वर से कीर्तन करें।

सङ्कीर्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम् ।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवात: ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

सङ्कीर्त्यमानः—ठीक से कीर्तन किये जाने पर; भगवान्—भगवान्; अनन्तः—असीम; श्रुत—सुना जाकर; अनुभावः—उनकी शक्ति; व्यसनम्—कष्ट; हि—निस्सन्देह; पुंसाम्—मनुष्यों के; प्रविश्य—प्रवेश करके; चित्तम्—हृदय में; विधुनोति—स्वच्छ कर देता है; अशेषम्—पूरी तरह से; यथा—जिस तरह; तमः—अंधकार; अर्कः—सूर्य; अभ्रम्—बादलों को; इव—सदृश; अति-वातः—प्रबल वायु।

जब लोग ठीक से भगवान् की महिमा का गायन करते हैं या उनकी शक्तियों के विषय में श्रवण करते हैं, तो भगवान् स्वयं उनके हृदयों में प्रवेश करते हैं और सारे दुर्भाग्य को उसी तरह दूर कर देते हैं जिस तरह सूर्य अंधेरे को दूर करता है या कि प्रबल वायु बादलों को उड़ा ले जाती है।

तात्पर्य : हो सकता है कि कोई व्यक्ति सूर्य द्वारा अंधकार हटाये जाने के दृष्टान्त से तुष्ट न हो क्योंकि कभी-कभी सूर्य गुफा के अंधकार को नहीं हटा पाता। इसलिए प्रबल वायु का दृष्टान्त दिया गया है, जो बादलों के आवरण को उड़ा ले जाती है। इस तरह यह बलपूर्वक कहा गया है कि भगवान् अपने भक्त के हृदय से भौतिक मोह के अंधकार को हटा देंगे।

मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा
न कथ्यते यद्भगवानधोक्षजः ।
तदेव सत्यं तदु हैव मङ्गलं
तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

मृषाः—झूठे; गिरः—शब्द; ताः—वे; हि—निस्सन्देह; असतीः—असत्य; असत्-कथाः—जो नित्य नहीं है उसकी व्यर्थ चर्चा; न कथ्यते—नहीं कही जाती; यत्—जिसमें; भगवान्—भगवान्; अधोक्षजः—दिव्य प्रभु; तत्—वह; एव—एकमात्र; सत्यम्—सत्य; तत्—वह; उ ह—निस्सन्देह; एव—एकमात्र; मङ्गलम्—शुभ; तत्—वह; एव—एकमात्र; पुण्यम्—पवित्र; भगवत्-गुण—भगवान् के गुणों को; उदयम्—प्रकट करने वाला।

जो शब्द दिव्य भगवान् का वर्णन नहीं करते अपितु क्षणिक व्यापारों की चर्चा चलाते हैं, वे निरे झूठे तथा व्यर्थ होते हैं। केवल वे शब्द जो भगवान् के दिव्य गुणों को प्रकट करते हैं, वास्तव में, सत्य, शुभ तथा पवित्र हैं।

तात्पर्य : सारा भौतिक साहित्य तथा विचारविमर्श, आज नहीं तो कल, समय की कसौटी पर

असफल हो जायेगा। दूसरी ओर, भगवान् का दिव्य वर्णन हमें मोह के बन्धन से छुड़ाकर हमारे नित्य पद को प्राप्त करा सकता है, जोकि भगवान् के प्रेमी दास के रूप में होता है। यद्यपि पशुवत् व्यक्तिपरब्रह्म के महिमा-गान की आलोचना कर सकते हैं, किन्तु जो सभ्य हैं उन्हें चाहिए कि भगवान् की दिव्य महिमा का तेजी से प्रचार करें।

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम् ।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां
यदुत्तमःश्लोकयशोऽनुगीयते ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; एव—निस्सन्देह; रम्यम्—आकर्षक; रुचिरम्—अच्छा लगने वाला; नवम् नवम्—नया से नया; तत्—वह; एव—निस्सन्देह; शश्वत्—निरन्तर; मनसः—मन से; महा-उत्सवम्—महान् उत्सव; तत्—वह; एव—निस्सन्देह; शोक-अर्णव—दुख का सागर; शोषणम्—सुखाने वाला; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; यत्—जिसमें; उत्तमःश्लोक—सर्व-प्रसिद्ध भगवान् का; यशः—यश; अनुगीयते—गाया जाता है।

सर्व-प्रसिद्ध भगवान् के यश का वर्णन करने वाले वे शब्द आकर्षक, आस्वाद्य तथा सदैव नवीन रहते हैं। निस्सन्देह, ऐसे शब्द मन के लिए शाश्वत उत्सव हैं और वे कष्ट के सागर को सुखाने वाले हैं।

न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित् ।
तद्ध्वाङ्क्षतीर्थं न तु हंससेवितं
यत्राच्युतस्तत्र हि साधवोऽमलाः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यत्—जो; वचः—वाणी; चित्र-पदम्—अलंकृत शब्द; हरेः—भगवान् के; यशः—यश; जगत्—ब्रह्माण्ड; पवित्रम्—पवित्र करने वाली; प्रगृणीत—वर्णन करते हैं; कर्हिचित्—सदैव; तत्—वह; ध्वाङ्क्ष—कौवों के; तीर्थम्—तीर्थस्थान; न—नहीं; तु—दूसरी ओर; हंस—ज्ञानी सन्त पुरुषों द्वारा; सेवितम्—सेवित; यत्र—जिसमें; अच्युतः—भगवान् अच्युत (का वर्णन रहता है); तत्र—वहाँ; हि—एकमात्र; साधवः—साधुजन; अमलाः—शुद्ध।

जो शब्द उन भगवान् के यश का वर्णन नहीं करते जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के वातावरण को पवित्र करने वाले हैं, वे कौवों के तीर्थस्थान के समान हैं तथा ज्ञानी मनुष्य कभी भी उनका सहारा नहीं लेते। शुद्ध तथा साधु स्वभाव वाले भक्तगण केवल अच्युत भगवान् के यश को वर्णनकरने वाली कथाओं में रुचि लेते हैं।

तद्वाग्विसर्गो जनताघसम्प्लवो
यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि य-

च्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥५२॥

शब्दार्थ

तत्—वह; वाक्—वाणी; विसर्गः—सृष्टि; जनता—सामान्य लोगों के; अघ—पापों के; सम्प्लवः—विप्लव; यस्मिन्—जिसमें; प्रति-श्लोकम्—हर श्लोक; अबद्धवति—अनियमित ढंग से रचा जाता है; अपि—यद्यपि; नामानि—दिव्य नाम; अनन्तस्य—अनन्त भगवान् के; यशः—यश; अङ्कितानि—अंकित; यत्—जो; शृण्वन्ति—सुनते हैं; गायन्ति—गाते हैं; गृणन्ति—स्वीकार करते हैं; साधवः—ईमानदार शुद्ध पुरुष।

दूसरी ओर, जो साहित्य अनन्त भगवान् के नाम, यश, रूप लीला आदि की दिव्य महिमा के वर्णनों से पूर्ण होता है, वह एक सर्वथा भिन्न सृष्टि है, जो इस संसार की गुमराह सभ्यता के अपवित्र जीवन में क्रान्ति लाने वाले दिव्य शब्दों से पूर्ण होती है। ऐसे ग्रंथ भले ही ठीकसे रचे हुए न हों, किन्तु उन शुद्ध पुरुषों द्वारा जो पूरी तरह से ईमानदार हैं, सुने, गाये और स्वीकार किये जाते हैं।

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न ह्यर्पितं कर्म यदप्यनुत्तमम् ॥५३॥

शब्दार्थ

नैष्कर्म्यम्—सकाम कर्म के फलों से मुक्त रहना, आत्म-साक्षात्कार; अपि—यद्यपि; अच्युत—अच्युत भगवान् की; भाव—धारणा; वर्जितम्—से विहीन; न—नहीं; शोभते—शोभा देता; ज्ञानम्—दिव्य ज्ञान; अलम्—वस्तुतः; निरञ्जनम्—उपाधियों से रहित; कुतः—कहाँ है; पुनः—फिर; शश्वत्—सदैव; अभद्रम्—अशोभनीय; ईश्वरे—ईश्वर के प्रति; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अर्पितम्—अर्पित; कर्म—सकाम कर्म; यत्—जो; अपि—भी; अनुत्तमम्—बेजोड़।

आत्म-साक्षात्कार का ज्ञान समस्त भौतिक आसक्ति से मुक्त होते हुए भी ठीक से काम नहीं करता यदि वह अच्युत (ईश्वर) के भाव से विहीन हो। तब अच्छे से अच्छे सम्पन्न कर्म जो प्रारम्भ से पीड़ादायक तथा क्षणिक स्वभाव के होते हैं, किस काम के हो सकते हैं यदि उनका उपयोग भगवान् की भक्ति के लिए नहीं किया जाता?

तात्पर्य : यह श्लोक तथा पिछले दो श्लोक किंचित परिवर्तन के साथ *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कन्ध (१.५.१०-१२) में प्राप्य हैं। इनके श्रील प्रभुपाद की टीका पर आधारित हैं।

यशःश्रियामेव परिश्रमः परो
वर्णाश्रमाचारतपःश्रुतादिषु ।
अविस्मृतिः श्रीधरपादपद्मयो-
र्गुणानुवादश्रवणादरादिभिः ॥५४॥

शब्दार्थ

यशः—यश; श्रियाम्—तथा ऐश्वर्य में; एव—एकमात्र; परिश्रमः—श्रम; परः—महान्; वर्ण-आश्रम-आचार—वर्णाश्रम प्रणाली में अपने कार्यों को सम्पन्न करके; तपः—तपस्या; श्रुत—पवित्र शास्त्रों का सुनना; आदिषु—इत्यादि में;

अविस्मृतिः—स्मृति; श्रीधर—श्री को धारण करने वाले के; पाद-पद्मयोः—चरणकमलों के; गुण-अनुवाद—गुणों के कीर्तन का; श्रवण—सुनने से; आदर—आदर; आदिभिः—इत्यादि से।

वर्णाश्रम प्रणाली में सामान्य सामाजिक तथा धार्मिक कर्तव्यों को निबाहने में, तपस्या करने में तथा वेदों को श्रवण करने में जो महान् श्रम करना पड़ता है, उससे संसारी यश तथा ऐश्वर्य की ही उपलब्धि हो पाती है। किन्तु भगवान् लक्ष्मीपति के दिव्य गुणों का आदर करने तथा ध्यानपूर्वक उनका पाठ सुनने से मनुष्य उनके चरणकमलों का स्मरण कर सकता है।

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि च शं तनोति ।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

अविस्मृतिः—स्मृति; कृष्ण-पद-अरविन्दयोः—भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की; क्षिणोति—नष्ट करती है; अभद्राणि—अशुभ वस्तुओं को; च—तथा; शम्—सौभाग्य; तनोति—विस्तार करती है; सत्त्वस्य—हृदय का; शुद्धिम्—शुद्धि; परम-आत्म—परमात्मा के लिए; भक्तिम्—भक्ति; ज्ञानम्—ज्ञान; च—तथा; विज्ञान—प्रत्यक्ष अनुभूति; विराग—तथा वैराग्य; युक्तम्—से युक्त।

भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की स्मृति प्रत्येक अशुभ वस्तु को नष्ट करती है और परम सौभाग्य प्रदान करती है। यह हृदय को स्वच्छ बनाती है और परमात्मा की भक्ति के साथ साथ अनुभूति तथा त्याग से युक्त ज्ञान प्रदान करती है।

यूयं द्विजाछ्या बत भूरिभागा
यच्छश्वदात्मन्यखिलात्मभूतम् ।
नारायणं देवमदेवमीश-
मजस्रभावा भजताविवेश्य ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

यूयम्—तुम सभी; द्विज-अछ्याः—हे ब्राह्मणों में परम विख्यात; बत—निस्सन्देह; भूरि-भागाः—अत्यन्त भाग्यशाली; यत्—क्योंकि; शश्वत्—निरन्तर; आत्मनि—अपने हृदयों में; अखिल—समस्त; आत्म-भूतम्—जो परम आत्मा है; नारायणम्—भगवान् नारायण को; देवम्—भगवान् को; अदेवम्—जिनसे बढ़कर कोई देव नहीं है; ईशम्—परम नियन्ता; अजस्र—बिना व्यवधान के; भावाः—प्रेमपूर्ण; भजत—तुम लोग पूजा करो; आविवेश्य—रख कर।

हे सुप्रसिद्ध ब्राह्मणो, तुम लोग सचमुच अत्यन्त भाग्यशाली हो क्योंकि तुम लोगों ने पहले ही अपने हृदयों में भगवान् श्री नारायण को—परम नियन्ता तथा सारे जगत के परम आत्मा भगवान् को—धारण कर रखा है जिनसे बढ़ कर कोई अन्य देव नहीं है। तुम लोगों में उनके लिए अविचल प्रेम है, अतएव मैं तुम लोगों से उनकी पूजा करने के लिए अनुरोध करता हूँ।

अहं च संस्मारित आत्मतत्त्वं
श्रुतं पुरा मे परमर्षिवक्त्रात् ।
प्रायोपवेशे नृपतेः परीक्षितः
सदस्यृषीणां महतां च शृण्वताम् ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; च—भी; संस्मारितः—स्मरण कराया गया हूँ; आत्म-तत्त्वम्—परमात्मा का विज्ञान; श्रुतम्—सुना हुआ; पुरा—पहले; मे—मेरे द्वारा; परम-ऋषि—ऋषियों में सर्वश्रेष्ठ, शुकदेव के; वक्त्रात्—मुख से; प्राय-उपवेशे—मृत्युपर्यन्त उपवास के समय; नृपतेः—राजा के; परीक्षितः—परीक्षित; सदसि—सभा में; ऋषीणाम्—ऋषियों के; महताम्—महान्; च—तथा; शृण्वताम्—उनके सुनते हुए।

अब मुझे उस ईश्वर-विज्ञान का पूरी तरह स्मरण हो आया है, जिसे मैंने पहले महर्षि शुकदेव गोस्वामी के मुख से सुना था। मैं महर्षियों की उस सभा में उपस्थित था जिन्होंने मृत्युपर्यन्त उपवास पर बैठे राजा परीक्षित से कहते उन्हें सुना था।

एतद्वः कथितं विप्राः कथनीयोरुकर्मणः ।
माहात्म्यं वासुदेवस्य सर्वाशुभविनाशनम् ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; वः—तुम लोगों से; कथितम्—सुनाया; विप्राः—हे ब्राह्मणो; कथनीय—उसका, जो वर्णन करने योग्य है; उरु-कर्मणः—तथा जिसके कार्य अत्यन्त महान् हैं; माहात्म्यम्—यश; वासुदेवस्य—वासुदेव का; सर्व-अशुभ—समस्त अशुभ को; विनाशनम्—नष्ट कर देने वाला।

हे ब्राह्मणो, इस तरह मैंने तुम लोगों से भगवान् वासुदेव की महिमा का वर्णन किया जिनके असामान्य कार्य स्तुति के योग्य हैं। यह वर्णन अशुभ का विनाश करने वाला है।

य एतत्श्रावयेन्नित्यं यामक्षणमनन्यधीः ।
श्लोकमेकं तदर्धं वा पादं पादार्धमेव वा ।
श्रद्धावान्योऽनुशृणुयात्पुनात्यात्मानमेव सः ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; एतत्—यह; श्रावयेत्—अन्यों को सुनाता है; नित्यम्—सदैव; याम-क्षणम्—हर घण्टे तथा हर मिनट; अनन्य-धीः—अविचल ध्यान से; श्लोकम्—श्लोक; एकम्—एक; तत्-अर्धम्—उसका आधा; वा—अथवा; पादम्—एक भी पंक्ति; पाद-अर्धम्—आधी पंक्ति; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा; श्रद्धा-वान्—श्रद्धापूर्वक; यः—जो; अनुशृणुयात्—उचित स्रोत से सुनता है; पुनाति—पवित्र बनाता है; आत्मानम्—स्वयं को; एव—निस्सन्देह; सः—वह।

जो व्यक्ति अविचल ध्यान से इस ग्रंथ को प्रत्येक घण्टे के प्रत्येक क्षण निरन्तर सुनाता है तथा जो व्यक्ति एक अथवा आधा श्लोक, अथवा एक या आधी भी पंक्ति श्रद्धा भाव से सुनता है, वह अपने को पवित्र बना लेता है।

द्वादश्यामेकादश्यां वा शृण्वन्नायुष्यवान्भवेत् ।

पठत्यनश्नन्प्रयतः पूतो भवति पातकात् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

द्वादश्याम्—माह की द्वादशी को; एकादश्याम्—एकादशी को; वा—अथवा; शृण्वन्—सुनते हुए; आयुष्य-वान्—दीर्घ आयु वाला; भवेत्—हो जाता है; पठति—यदि पाठ करता है; अनश्नन्—बिना भोजन किये; प्रयतः—ध्यानपूर्वक; पूतः—पवित्र; भवति—हो जाता है; पातकात्—पापों के फल से।

जो कोई इस भागवत को एकादशी या द्वादशी के दिन सुनता है उसे निश्चित रूप से दीर्घायु प्राप्त होती है और जो व्यक्ति उपवास रखते हुए इसे ध्यानपूर्वक सुनाता है, वह सारे पापों के फल से शुद्ध हो जाता है।

पुष्करे मथुरयां च द्वारवत्यां यतात्मवान् ।
उपोष्य संहितामेतां पठित्वा मुच्यते भयात् ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

पुष्करे—पुष्कर नामक पवित्र स्थान में; मथुरायाम्—मथुरा में; च—तथा; द्वारवत्याम्—द्वारका में; यत-आत्म-वान्—आत्मसंयमी; उपोष्य—उपवास रख कर; संहिताम्—ग्रंथ को; एताम्—इस; पठित्वा—सुनाकर, बाँच कर; मुच्यते—मुक्त हो जाता है; भयात्—भय से।

जो व्यक्ति मन को वश में रखता है, जो पुष्कर, मथुरा या द्वारका जैसे पवित्र स्थानों में उपवास रखता है और इस शास्त्र का अध्ययन करता है, वह सारे भय से मुक्त हो जाता है।

देवता मुनयः सिद्धाः पितरो मनवो नृपाः ।
यच्छन्ति कामान्गृणतः शृण्वतो यस्य कीर्तनात् ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

देवताः—देवता; मुनयः—मुनिगण; सिद्धाः—सिद्ध योगी; पितरः—पुरखे; मनवः—मनुष्य को जन्म देने वाले; नृपः—पृथ्वी के राजे; यच्छन्ति—प्रदान करते हैं; कामान्—इच्छाएँ; गृणतः—कीर्तन करने वाले को; शृण्वतः—सुनने वाले को; यस्य—जिसका; कीर्तनात्—कीर्तन करने के कारण।

जो व्यक्ति इस पुराण का कीर्तन करके अथवा इसको सुन कर इसकी स्तुति करते हैं उन्हें देवता, ऋषि, सिद्ध, पितर, मनु तथा पृथ्वी के राजा समस्त वांछित वस्तुएँ प्रदान करते हैं।

ऋचो यजूंषि सामानि द्विजोऽधीत्यानुविन्दते ।
मधुकुल्या घृतकुल्याः पयःकुल्याश्च तत्फलम् ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

ऋचः—ऋग्वेद के; यजूंषि—यजुर्वेद के; सामानि—तथा सामवेद के मंत्र; द्विजः—ब्राह्मण; अधीत्य—पढ़ कर; अनुविन्दते—प्राप्त करता है; मधु-कुल्याः—शहद की नदियाँ; घृत-कुल्याः—घी की नदियाँ; पयः-कुल्याः—दूध की नदियाँ; च—तथा; तत्—वह; फलम्—फल।

इस भागवत को पढ़ कर एक ब्राह्मण उन्हीं शहद, घी तथा दूध की नदियों को भोग

सकता है जिन्हें वह ऋग्, यजुर् तथा सामवेदों के मंत्रों का अध्ययन करके भोग सकता है।

पुराणसंहितामेतामधीत्य प्रयतो द्विजः ।
प्रोक्तं भगवता यत्तु तत्पदं परमं व्रजेत् ॥ ६४ ॥

शब्दार्थ

पुराण-संहिताम्—सारे पुराणों के अनिवार्य संकलन को; एताम्—इस; अधीत्य—पढ़ कर; प्रयतः—ध्यानपूर्वक; द्विजः—ब्राह्मण; प्रोक्तम्—वर्णित; भगवता—भगवान् द्वारा; यत्—जो; तु—निस्सन्देह; तत्—वह; पदम्—पद; परमम्—परम; व्रजेत्—प्राप्त करता है।

जो ब्राह्मण समस्त पुराणों के इस अनिवार्य संकलन को श्रमपूर्वक पढ़ता है, वह परम गन्तव्य को प्राप्त होता है, जिसका वर्णन स्वयं भगवान् ने इसमें किया है।

विप्रोऽधीत्याप्नुयात्प्रज्ञां राजन्योदधिमेखलाम् ।
वैश्यो निधिपतित्वं च शूद्रः शुध्येत पातकात् ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

विप्रः—ब्राह्मण; अधीत्य—पढ़ कर; आप्नुयात्—प्राप्त करता है; प्रज्ञाम्—भक्ति में बुद्धि; राजन्य—राजा; उदधि-मेखलाम्—समुद्रों द्वारा बँधी हुई (पृथ्वी); वैश्यः—व्यापारी; निधि—कोशों का; पतित्वम्—स्वामित्व; च—तथा; शूद्रः—श्रमिक; शुध्येत—शुद्ध हो जाता है; पातकात्—पापों से।

जो ब्राह्मण *श्रीमद्भागवत* को पढ़ता है, वह भक्ति में दृढ़ बुद्धि प्राप्त करता है। जो राजा इसका अध्ययन करता है, वह पृथ्वी पर सार्वभौम सत्ता प्राप्त करता है, वैश्य विपुल कोश पा लेता है और शूद्र पापों से छूट जाता है।

कलिमलसंहतिकालनोऽखिलेशो
हरिरितरत्र न गीयते ह्यभीक्ष्णम् ।
इह तु पुनर्भगवानशेषमूर्तिः
परिपठितोऽनुपदं कथाप्रसङ्गैः ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

कलि—कलह के युग का; मल-संहति—सारे कल्मष का; कालनः—संहारकर्ता; अखिल-ईशः—सारे जीवों के परम नियन्ता; हरिः—भगवान् हरि; इतरत्र—अन्यत्र; न गीयते—वर्णित नहीं होते; हि—निस्सन्देह; अभीक्ष्णम्—निरन्तर; इह—यहाँ; तु—फिर भी; पुनः—दूसरी ओर; भगवान्—भगवान्; अशेष-मूर्तिः—जो अनन्त साकार रूपों में विस्तार करता है; परिपठितः—कथा में खुल कर वर्णन किया गया है; अनु-पदम्—प्रत्येक श्लोक में; कथा-प्रसङ्गैः—कहानियों के बहाने।

सारे जीवों के परम नियन्ता भगवान् हरि कलियुग के संचित पापों का संहार करने वाले हैं, फिर भी अन्य ग्रंथों में उनकी स्तुति नहीं मिलती। किन्तु असंख्य साकार अंशों के रूप में प्रकट होने वाले ये भगवान् इस *श्रीमद्भागवत* की विविध कथाओं में निरन्तर तथा प्रचुर मात्रा में वर्णित हुए हैं।

तमहमजमनन्तमात्मतत्त्वं
जगदुदयस्थितिसंयमात्मशक्तिम् ।
द्युपतिभिरजशक्रशङ्कराद्यै-
र्दुरवसितस्तवमच्युतं नतोऽस्मि ॥ ६७॥

शब्दार्थ

तम्—उस; अहम्—मैं; अजम्—अजन्मा; अनन्तम्—अनन्त; आत्म-तत्त्वम्—आदि परमात्मा को; जगत्—भौतिक ब्रह्माण्ड की; उदय—उत्पत्ति; स्थिति—पालन; संयम—तथा संहार; आत्म-शक्तिम्—जिनकी निजी शक्तियों से; द्यु-पतिभिः—स्वर्ग के स्वामियों द्वारा; अज-शक्र-शङ्कर-आद्यैः—ब्रह्मा, इन्द्र, शिव आदि द्वारा; दुरवसित—समझ में न आने वाले; स्तवम्—स्तुतियाँ; अच्युतम्—अच्युत भगवान् को; नतः—विनत; अस्मि—हूँ।

मैं अजन्मे तथा अनन्त परमात्मा को नमन करता हूँ जिनकी निजी शक्तियाँ ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के लिए उत्तरदायी हैं। यहाँ तक कि ब्रह्मा, इन्द्र, शंकर तथा स्वर्गलोकों के अन्य स्वामी भी उस अच्युत भगवान् की महिमा की थाह नहीं पा सकते।

उपचितनवशक्तिभिः स्व आत्म-
न्युपरचितस्थिरजङ्गमालयाय ।
भगवत उपलब्धिमात्रधम्ने
सुरऋषभाय नमः सनातनाय ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

उपचित—पूरी तरह विकसित; नव-शक्तिभिः—उनकी नौ शक्तियों (प्रकृति, पुरुष, महत्, अहंकार तथा पाँच सूक्ष्म अनुभूति के रूप) द्वारा; स्वे आत्मनि—अपने भीतर; उपरचित—निकट ही व्यवस्थित; स्थिर जङ्गम—चर तथा अचर दोनों प्रकार के जीवों का; आलयाय—धाम; भगवते—भगवान् को; उपलब्धि-मात्र—शुद्ध चेतना; धाम्ने—जिसकी अभिव्यक्ति; सुर—देवताओं का; ऋषभाय—प्रमुख; नमः—मेरा नमस्कार; सनातनाय—नित्य भगवान् को।

मैं उन भगवान् को नमस्कार करता हूँ जो नित्य प्रभु हैं और अन्य सारे देवों के प्रधान हैं, जिन्होंने अपनी नौ शक्तियों को विकसित करके अपने भीतर सारे चर तथा अचर प्राणियों का धाम व्यवस्थित कर रखा है और जो सदैव शुद्ध दिव्य चेतना में स्थित रहते हैं।

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावो-
ऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम् ।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

स्व-सुख—अपने सुख में; निभृत—एकाकी; चेताः—चेतना वाला; तत्—उसके कारण; व्युदस्त—परित्यक्त; अन्य-भावः—अन्य की चेतना; अपि—यद्यपि; अजित—न जीते जा सकने वाले प्रभु, श्रीकृष्ण की; रुचिर—सुहावनी; लीला—लीलाओं से; आकृष्ट—आकर्षित; सारः—जिसका हृदय; तदीयम्—भगवान् के कार्यकलापों से युक्त; व्यतनुत—विस्तृत, व्यक्त; कृपया—दयापूर्वक; यः—जो; तत्त्व-दीपम्—परब्रह्म का तेज प्रकाश; पुराणम्—पुराण

(श्रीमद्भागवत); तम्—उनको; अखिल-वृजिन-घ्नम्—हर अशुभ वस्तु को नष्ट करने वाले; व्यास-सूनुम्—व्यासदेव के पुत्र को; नतः अस्मि—नमस्कार करता हूँ।

मैं अपने गुरु व्यासदेव पुत्र, शुकदेव गोस्वामी, को सादर नमस्कार करता हूँ। वे ही इस ब्रह्माण्ड की सारी अशुभ वस्तुओं को नष्ट करते हैं। यद्यपि प्रारम्भ में वे ब्रह्म-साक्षात्कार के सुख में लीन थे और अन्य समस्त चेतनाओं को त्याग कर एकान्त स्थान में रह रहेथे, किन्तु वे भगवान् श्रीकृष्ण की मनोहर तथा अत्यन्त मधुमयी लीलाओं के द्वारा आकृष्ट हुए। अतएव उन्होंने अत्यन्त कृपा करके इस सर्वश्रेष्ठ पुराण, *श्रीमद्भागवत,* का प्रवचन किया जो परब्रह्म का तेज प्रकाश है और भगवान् के कार्यकलापों का वर्णन करने वाला है।

तात्पर्य : शुकदेव गोस्वामी तथा उनकी परम्परा के अन्य महान् आचार्यों को सादर नमस्कार किये बिना, मनुष्य को *श्रीमद्भागवत* के दिव्य अर्थ में गहरे पैठने का सुयोग नहीं प्राप्त हो सकता।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के बारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''श्रीमद्भागवत की संक्षिप्त विषय-सूची'' नामक बारहवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तेरह

श्रीमद्भागवत की महिमा

इस अन्तिम अध्याय में श्री सूत गोस्वामी ने प्रत्येक पुराण के विस्तार के साथ-साथ श्रीमद्भागवत की कथावस्तु, उसके उद्देश्य, उसके भेंट-रूप दिये जाने की विधि, ऐसी भेंट देने की महिमा तथा इसके कीर्तन करने तथा सुनने की महिमा का वर्णन किया है।

पुराणों का समग्र विस्तार ४ लाख श्लोकों में है जिनमें से अठारह हजार श्लोक *श्रीमद्भागवत* में हैं। इस *श्रीमद्भागवत* का उपदेश भगवान् नारायण ने ब्रह्मा को दिया था। इसकी कथाएँ पदार्थ से वैराग्य उत्पन्न कराती हैं और इसमें सारे वेदान्त का सार निहित है। जो व्यक्ति *श्रीमद्भागवत* को भेंटस्वरूप देता है उसे परम पद प्राप्त होगा। सारे पुराणों में *श्रीमद्भागवत* सर्वश्रेष्ठ है और यह वैष्णवों को सर्वाधिक प्रिय वस्तु है। यह परमहंसों के लिए उपलब्ध निर्मल परम ज्ञान को प्रकट करता है और सकाम कर्म के फलों से मुक्त होने की विधि भी बताता है—यह विधि ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति से ओतप्रोत है।

इस तरह *भागवत* की महिमा बताकर सूत गोस्वामी श्री नारायण का ध्यान आदि परब्रह्म के रूप में करते हैं, जो नितान्त शुद्ध, कल्मषरहित, शोक से रहित तथा अमर है। तत्पश्चात् वे सबसे बड़े योगी श्री शुकदेव को नमस्कार करते हैं, जो परब्रह्म से अभिन्न हैं। अन्त में भक्तिपूर्वक स्तुति करते हुए सूत गोस्वामी भगवान् श्री हरि को नमस्कार करते हैं, जो सारा कष्ट हरने वाले हैं।

सूत उवाच

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-

वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; यम्—जिसको; ब्रह्मा—ब्रह्मा; वरुण-इन्द्र-रुद्र-मरुतः—तथा वरुण, इन्द्र, रुद्र और मरुत्गण; स्तुन्वन्ति—स्तुति करते हैं; दिव्यैः—दिव्य; स्तवैः—स्तुतियों द्वारा; वेदैः—वेदों समेत; स—सहित; अङ्ग—सहायक शाखाएँ; पद-क्रम—मंत्रों का विशेष अनुक्रम; उपनिषदैः—तथा उपनिषद; गायन्ति—गाते हैं; यम्—जिसको; साम-गाः—सामवेद के गायक; ध्यान—ध्यान-समाधि में; अवस्थित—स्थित; तत्-गतेन—उन पर स्थिर; मनसा—मन के भीतर; पश्यन्ति—देखते हैं; यम्—जिसको; योगिनः—योगीजन; यस्य—जिसका; अन्तम्—अन्त; न विदुः—नहीं जानते; सुर-असुर-गणाः—सारे देवता तथा असुर; देवाय—भगवान् को; तस्मै—उसको; नमः—नमस्कार।

सूत गोस्वामी ने कहा : ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र तथा मरुत्गण दिव्य स्तुतियों का उच्चारण करके तथा वेदों को उनके अंगों, पद-क्रमों तथा उपनिषदों समेत बाँच कर जिनकी स्तुति करते हैं, सामवेद के गायक जिनका सदैव गायन करते हैं, सिद्ध योगी अपने को समाधि में स्थिर करके और अपने को उनके भीतर लीन करके जिनका दर्शन अपने मन में करते हैं तथा जिनका पार किसी देवता या असुर द्वारा कभी भी नहीं पाया जा सकता—ऐसे भगवान् को मैं सादर नमस्कार करता हूँ।

पृष्ठे भ्राम्यदमन्दमन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयना-
न्निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः श्वासानिलाः पान्तु वः ।
यत्संस्कारकलानुवर्तनवशाद्वेलानिभेनाम्भसां
यातायातमतन्द्रितं जलनिधेर्नाद्यापि विश्राम्यति ॥ २ ॥

शब्दार्थ

पृष्ठे—उनकी पीठ पर; भ्राम्यत्—चक्कर लगाता; अमन्द—अत्यधिक भारी; मन्दर-गिरि—मन्दराचल के; ग्राव-अग्र—पत्थरों की नोंके; कण्डूयनात्—खुरचने से; निद्रालोः—उनींदा हो जाता है; कमठ-आकृतेः—कछुवे के रूप का; भगवतः—भगवान् का; श्वास—श्वास से निकली; अनिलाः—वायुएँ; पान्तु—रक्षा करें; वः—तुम सबों की; यत्—जिसका; संस्कार—उच्छिष्ट का; कला—रंचमात्र; अनुवर्तन-वशात्—पीछे चलने के फलस्वरूप; वेला-निभेन—जिससे वह प्रवाह के तुल्य है; अम्भसाम्—जल का; यात-आयातम्—आना-जाना; अतन्द्रितम्—अविरत; जल-निधेः—समुद्र का; न—नहीं; अद्य अपि—आज भी; विश्राम्यति—रुकता है।

जब भगवान् कूर्म (कछुवे) के रूप में प्रकट हुए तो उनकी पीठ भारी, घूमने वाले मन्दराचल पर स्थित नुकीले पत्थरों के द्वारा खरोंची गई जिसके कारण भगवान् उनींदे हो गये। इस सुप्तावस्था में भगवान् की श्वास से उत्पन्न वायुओं द्वारा आप सबों की रक्षा हो। उसी काल से, आज तक, समुद्री ज्वारभाटा पवित्र रूप में आ-जाकर भगवान् के श्वास-निश्वास का अनुकरण करता आ रहा है।

तात्पर्य : कभी कभी फूँक मारने से खुजली की अनुभूति में कमी आती है। इसी प्रकार, श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि भगवान् के श्वास लेने से ज्ञानियों के मन की

खुजलाहट घट सकती है। इसी तरह, इन्द्रियतृप्ति में लगे बद्धजीवों की भी इन्द्रियों की खुजलाहट घट सकती है। इस तरह भगवान् कूर्म—कूर्मावतार—की वायुमयी श्वास का ध्यान करने से सभी प्रकार के बद्धजीव जगत के अभावों से छुटकारा पा सकते हैं और मुक्त आध्यात्मिक पद को प्राप्त हो सकते हैं। मनुष्य को चाहिए कि अपने हृदय के भीतर अनुकूल मन्द समीर की भाँति भगवान् कूर्म की लीलाओं को बहने दे। तब उसे निश्चित रूप से आध्यात्मिक शान्ति मिल सकेगी।

पुराणसङ्ख्यासम्भूतिमस्य वाच्यप्रयोजने ।
दानं दानस्य माहात्म्यं पाठादेश्च निबोधत ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

पुराण—पुराणों की; सङ्ख्या—(श्लोकों की) गिनती का; सम्भूतिम्—योग; अस्य—इस भागवत के; वाच्य—विषयवस्तु; प्रयोजने—तथा उद्देश्य; दानम्—भेंटस्वरूप देने की विधि; दानस्य—ऐसी भेंट देने की; माहात्म्यम्—महिमा; पाठ-आदेः—पढ़ने आदि का; च—तथा; निबोधत—कृपया सुनें।

अब मुझसे सभी पुराणों की श्लोक संख्या सुनिये। तब इस भागवत पुराण के मूल विषय तथा उद्देश्य, इसे भेंट में देने की सही विधि, ऐसी भेंट देने का माहात्म्य और अन्त में इस ग्रंथ के सुनने तथा कीर्तन करने का माहात्म्य सुनिये।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* समस्त पुराणों में सर्वश्रेष्ठ है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि अब अन्य पुराणों का वर्णन उसी तरह किया जायेगा जिस तरह कि राजा की स्तुति करते समय उसके सहायकों के नामों का उल्लेख किया जाता है।

ब्राह्मं दश सहस्राणि पाद्मं पञ्चोनषष्टि च ।
श्रीवैष्णवं त्रयोविंशच्चतुर्विंशति शैवकम् ॥ ४ ॥

दशाष्टौ श्रीभागवतं नारदं पञ्चविंशति ।
मार्कण्डं नव वाह्नं च दशपञ्च चतुःशतम् ॥ ५ ॥

चतुर्दश भविष्यं स्यात्तथा पञ्चशतानि च ।
दशाष्टौ ब्रह्मवैवर्तं लैङ्गमेकादशैव तु ॥ ६ ॥

चतुर्विंशति वाराहमेकाशीतिसहस्रकम् ।
स्कान्दं शतं तथा चैकं वामनं दश कीर्तितम् ॥ ७ ॥

कौर्मं सप्तदशाख्यातं मात्स्यं तत्तु चतुर्दश ।
एकोनविंशत्सौपर्णं ब्रह्माण्डं द्वादशैव तु ॥ ८ ॥

एवं पुराणसन्दोहश्चतुर्लक्ष उदाहृतः ।
तत्राष्टदशसाहस्रं श्रीभागवतं इष्यते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मम्—ब्रह्म पुराण में; दश—दस; सहस्राणि—हजार; पाद्मम्—पद्म पुराण में; पञ्च-ऊन-षष्टि—साठ में पाँच कम; च—तथा; श्री-वैष्णवम्—विष्णु पुराण में; त्रयः-विंशत्—तेईस; चतुः-विंशति—चौबीस; शैवकम्—शिव पुराण में; दश-अष्टौ—अठारह; श्री-भागवतम्—श्रीमद्भागवत में; नारदम्—नारद पुराण में; पञ्च-विंशति—पच्चीस; मार्कण्डम्—मार्कण्डेय पुराण में; नव—नौ; वाह्नम्—अग्नि पुराण में; च—तथा; दश-पञ्च-चतुः-शतम्—पन्द्रह हजार चार सौ; चतुः-दश—चौदह; भविष्यम्—भविष्य पुराण में; स्यात्—से युक्त; तथा—इसके अतिरिक्त; पञ्च-शतानि—पाँच सौ (श्लोक); च—तथा; दश-अष्टौ—अठारह; ब्रह्म-वैवर्तम्—ब्रह्मवैवर्त पुराण में; लैङ्गम्—लिंग पुराण में; एकादश—ग्यारह; एव—निस्सन्देह; तु—तथा; चतुः-विंशति—चौबीस; वाराहम्—वराह पुराण में; एकाशीति-सहस्रकम्—इक्यासी हजार; स्कान्दम्—स्कन्द पुराण में; शतम्—सौ; तथा—और; च—तथा; एकम्—एक; वामनम्—वामन पुराण में; दश—दस; कीर्तितम्—कहा जाता है; कौर्मम्—कूर्म पुराण में; सप्त-दश—सत्रह; आख्यातम्—कहा जाता है; मात्स्यम्—मत्स्य पुराण में; तत्—वह; तु—तथा; चतुः-दश—चौदह; एक-ऊन-विंशत्—उन्नीस; सौपर्णम्—गरुड़ पुराण में; ब्रह्माण्डम्—ब्रह्माण्ड पुराण में; द्वादश—बारह; एव—निस्सन्देह; तु—तथा; एवम्—इस तरह; पुराण—पुराणों का; सन्दोहः—योगफल; चतुः-लक्षः—चार लाख; उदाहृतः—बताया जाता है; तत्र—उसमें; अष्ट-दश-साहस्रम्—अठारह हजार; श्री-भागवतम्—श्रीमद्भागवत में; इष्यते—कहा जाता है।

***ब्रह्म पुराण* में दस हजार, पद्म पुराण में पचपन हजार, श्री विष्णु पुराण में तेईस हजार, शिव पुराण में चौबीस हजार तथा श्रीमद्भागवत में अठारह हजार श्लोक हैं। नारद पुराण में पच्चीस हजार हैं, मार्कण्डेय पुराण में नौ हजार, अग्नि पुराण में पन्द्रह हजार चार सौ, भविष्य पुराण में चौदह हजार पाँच सौ, ब्रह्मवैवर्त पुराण में अठारह हजार तथा लिंग पुराण में ग्यारह हजार श्लोक हैं। वराह पुराण में चौबीस हजार, स्कन्द पुराण में इक्यासी हजार एक सौ, वामन पुराण में दस हजार, कूर्म पुराण में सत्रह हजार, मत्स्य पुराण में चौदह हजार, गरुड़ पुराण में उन्नीस हजार तथा ब्रह्माण्ड पुराण में बारह हजार श्लोक हैं। इस तरह समस्त पुराणों की कुल श्लोक संख्या चार लाख है। पुनः, इनमें से अठारह हजार श्लोक अकेले *श्रीमद्भागवत* के हैं।**

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने *मत्स्य पुराण* से निम्नलिखित उद्धरण दिया है—

अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः।
भारताख्यानमखिलं चक्रे तदुपबृंहितम्॥
लक्षणैकेन तत् प्रोक्तं वेदार्थपरिबृंहितम्।
वाल्मीकिनापि यत् प्रोक्तं रामोपाख्यानमुत्तमम्॥
ब्रह्मणाभिहितं तच्च शतकोटिप्रविस्तरात्।
आहृत्य नारदेनैव वाल्मीकाय पुनः पुनः॥
वाल्मीकिना च लोकेषु धर्मकामार्थसाधनम्।
एवं सपादाः पञ्चैते लक्षास्तेषु प्रकीर्तिताः॥

"अठारहों पुराणों की रचना करने के बाद सत्यवती पुत्र व्यासदेव ने सम्पूर्ण *महाभारत* की रचना की जिसमें समस्त पुराणों का सार है। इसमें एक लाख से भी अधिक श्लोक हैं और यह वेद के सभी भावों से पूर्ण है। इसके अतिरिक्त भगवान् रामचन्द्र की लीलाओं का वर्णन वाल्मीकि द्वारा किया गया है, जिसे मूलतः ब्रह्मा ने सौ करोड़ श्लोकों में कहा था। बाद में उस रामायण को

नारद ने संक्षिप्त किया और उसे वाल्मीकि से कहा जिन्होंने इसे मानव जाति के समक्ष प्रस्तुत किया जिससे मनुष्य धर्म, काम तथा अर्थ की प्राप्ति कर सकें। इस तरह समस्त पुराणों तथा इतिहासों के श्लोकों की कुल ज्ञात संख्या ५,२५,००० है।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इंगित करते हैं कि इस ग्रंथ के प्रथम स्कंध के तृतीय अध्याय में सूत गोस्वामी ने ईश्वर के अवतारों की सूची देने के बाद यह विशेष पद जोड़ दिया है—*कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्* अर्थात् कृष्ण आदि भगवान् हैं। इसी तरह सारे पुराणों का उल्लेख करने के बाद सूत गोस्वामी ने *श्रीमद्भागवत* का पुनः उल्लेख यह बताने के लिए किया है कि यह समस्त पौराणिक ग्रंथों में प्रमुख है।

इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे ।
स्थिताय भवभीताय कारुण्यात्सम्प्रकाशितम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

इदम्—इसे; भगवता—भगवान् द्वारा; पूर्वम्—पहले; ब्रह्मणे—ब्रह्मा से; नाभि-पङ्कजे—नाभि से निकले कमल पर; स्थिताय—स्थित; भव—संसार से; भीताय—भयभीत; कारुण्यात्—दया करके; सम्प्रकाशितम्—पूरीतरह प्रकट किया।

भगवान् ने सर्वप्रथम ब्रह्मा को सम्पूर्ण *श्रीमद्भागवत* प्रकाशित की। उस समय ब्रह्मा, संसार से भयभीत होकर, भगवान् की नाभि से निकले कमल पर आसीन थे।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ने इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि के पूर्व ब्रह्मा से *श्रीमद्भागवत* प्रकाशित की जैसाकि *पूर्वम्* शब्द से सूचित है। अपरंच, *भागवत* का प्रथम श्लोक कहता है—*तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये*—भगवान् कृष्ण ने ब्रह्मा के हृदय में पूर्णज्ञान का विस्तार किया। चूँकि बद्धात्माएँ केवल उन क्षणिक वस्तुओं का अनुभव कर सकते हैं, जो उत्पन्न, पालित तथा विनष्ट होती हैं, अतः वे आसानी से यह नहीं समझ पाते कि *श्रीमद्भागवत* नित्य दिव्य ग्रंथ है, जो परब्रह्म से अभिन्न है।

मुण्डक उपनिषद् (१.१.१) में कहा गया है—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव
विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्
अर्थवाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥

''समस्त देवताओं में सर्वप्रथम ब्रह्मा का जन्म हुआ। वे इस ब्रह्माण्ड के स्रष्टा तथा इसके रक्षक भी हैं। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को आत्म-विज्ञान की शिक्षा दी जो ज्ञान की अन्य सभी शाखाओं का आधार है।'' किन्तु अपने उच्च पद के बावजूद भी ब्रह्मा तब भी भगवान् की मायाशक्ति के प्रभाव से भयभीत रहते हैं। इस तरह यह शक्ति प्रायः दुर्लंघ्य प्रतीत होती है। किन्तु श्री चैतन्य महाप्रभु इतने दयालु हैं कि उन्होंने पूर्वी तथा दक्षिणी भारत में अपने प्रचार-कार्य के दौरान, मुक्त रूप से कृष्णभावनामृत का वितरण हर एक को किया और उनसे निवेदन किया कि वे *भगवद्गीता* के शिक्षक बनें। चैतन्य महाप्रभु ने, जोकि साक्षात् कृष्ण हैं, लोगों को यह कह कर

प्रोत्साहित किया, ''मेरे आदेश से तुम भगवान् कृष्ण के सन्देश के शिक्षक बनो और इस देश की रक्षा करो। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि माया की तरंगें तुम्हारी प्रगति को कभी रोक नहीं पायेंगी।'' (चैतन्य-चरितामृत मध्य ७.१२८)

यदि हम पापकर्मों को त्याग कर चैतन्य महाप्रभु के संकीर्तन आन्दोलन में निरन्तर लगे रहें, तो हमें अपने निजी जीवन में तथा अपने प्रचार के प्रयासों में भी सफलता प्राप्त होगी।

आदिमध्यावसानेषु वैराग्याख्यानसंयुतम् ।
हरिलीलाकथाव्रातामृतानन्दितसत्सुरम् ॥ ११ ॥
सर्ववेदान्तसारं यद्ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम् ।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

आदि—प्रारम्भ; मध्य—मध्य; अवसानेषु—तथा अन्त में; वैराग्य—भौतिक वस्तुओं के परित्याग से सम्बन्धित; आख्यान—कथाओं से; संयुतम्—पूर्ण; हरि-लीला—भगवान् हरि की लीलाओं का; कथा-व्रात—अनेक विवेचनाओं का; अमृत—अमृत से; आनन्दित—आनन्दयुक्त बनाये गये; सत्-सुरम्—सन्त भक्तों तथा देवताओं; सर्व-वेदान्त—सारे वेदान्तों का; सारम्—सार; यत्—जो; ब्रह्म—परब्रह्म; आत्म-एकत्व—आत्मा से अभिन्नता; लक्षणम्—लक्षणों से युक्त; वस्तु—वास्तविकता; अद्वितीयम्—अद्वितीय; तत्-निष्ठम्—मुख्य विषयवस्तु के रूप में; कैवल्य—एकान्तिक भक्ति; एक—एकमात्र; प्रयोजनम्—चरम लक्ष्य।

***श्रीमद्भागवत* आदि से अन्त तक ऐसी कथाओं से पूर्ण है, जो भौतिक जीवन से वैराग्य की ओर ले जाने वाली हैं। इसमें भगवान् हरि की दिव्य लीलाओं का अमृतमय विवरण भी है, जो सन्त भक्तों तथा देवताओं को आनन्द देने वाला है। यह भागवत समस्त वेदान्त दर्शन का सार है क्योंकि इसकी विषयवस्तु परब्रह्म है, जो आत्मा से अभिन्न होते हुए भी अद्वितीय परम सत्य है। इस ग्रंथ का लक्ष्य परब्रह्म की एकान्तिक भक्ति है।**

तात्पर्य : *वैराग्य* का अर्थ है उन सारी वस्तुओं का परित्याग जिनका परब्रह्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। सन्त भक्त तथा देवता भगवान् की दिव्य लीलाओं के अमृत से प्रोत्साहित होते हैं क्योंकि ये लीलाएँ समस्त वैदिक ज्ञान की सार हैं। वैदिक ज्ञान वस्तुओं के नश्वर अस्तित्व पर बल देते हुए उनकी चरम सत्यता का निषेध करता है। चरम लक्ष्य *वस्तु* है, जो *अद्वितीय* अर्थात् बेजोड़ है। वह अद्वय परब्रह्म दिव्य पुरुष है, जो लौकिक श्रेणियों तथा हमारे भौतिक जगत के पुरुष के लक्षणों से बहुत परे है। इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* का चरम उद्देश्य निष्ठावान पाठक को भगवत्प्रेम में प्रशिक्षित करना है। भगवान् कृष्ण अपने नित्य दिव्य गुणों के कारण अत्यन्त प्रिय हैं। इस जगत का सौन्दर्य भगवान् के असीम सौन्दर्य का मन्द प्रतिबिम्ब है। निश्चित रूप से, *श्रीमद्भागवत* लगातार परब्रह्म की महिमा का उद्घोष करता है, अतएव यह परम आध्यात्मिक ग्रंथ है, जो पूर्ण कृष्णभावनामृत में कृष्ण-प्रेम के अमृत का पूर्ण आस्वाद कराता है।

प्रौष्ठपद्यां पौर्णमास्यां हेमसिंहसमन्वितम् ।

ददाति यो भागवतं स याति परमां गतिम् ॥ १३॥

शब्दार्थ

प्रौष्ठपद्याम्—भाद्र मास में; पौर्णमास्याम्—पूर्णमासी के दिन; हेम-सिंह—सोने के सिंहासन पर; समन्वितम्—आसीन; ददाति—भेंट के रूप में देता है; यः—जो; भागवतम्—श्रीमद्भागवत को; सः—वह; याति—जाता है; परमाम्—परम; गतिम्—गन्तव्य को।

यदि कोई व्यक्ति भाद्र मास की पूर्णमासी को सोने के सिंहासन पर रख कर *श्रीमद्भागवत* का दान उपहार के रूप में देता है, तो उसे परम दिव्य गन्तव्य प्राप्त होगा।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* को सोने के सिंहासन पर रखना चाहिए क्योंकि यह समस्त वाङ्मय का राजा है। भाद्र मास की पूर्णमासी को वाङ्मय का राजा-रूप सूर्य, सिंह राशि पर स्थित होता है और ऐसा दिखता है मानो राज-सिंहासन पर बैठाया गया हो (ज्योतिष के अनुसार सूर्य सिंह राशिमें सर्वोच्च स्थिति पर होता है) इस तरह मनुष्य बिना किसी बंधन के इस परम दिव्य ग्रंथ *श्रीमद्भागवत* की पूजा कर सकता है।

राजन्ते तावदन्यानि पुराणानि सतां गणे ।
यावद्भागवतं नैव श्रूयतेऽमृतसागरम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

राजन्ते—चमकते हैं; तावत्—तब तक; अन्यानि—अन्य; पुराणानि—पुराण; सताम्—साधु पुरुषों की; गणे—सभा में; यावत्—जब तक; भागवतम्—श्रीमद्भागवत को; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; श्रूयते—सुना जाता है; अमृत-सागरम्—अमृत का सागर।

अन्य सारे पुराण तब तक सन्त भक्तों की सभा में चमकते हैं जब तक अमृत के महासागर श्रीमद्भागवत को नहीं सुना जाता।

तात्पर्य : अन्य वैदिक ग्रंथ तथा संसार के अन्य शास्त्र तब तक प्रधान बने रहते हैं जब तक *श्रीमद्भागवत* को भलीभाँति सुना और समझा नहीं जाता। *श्रीमद्भागवत* अमृत का सागर है और सर्वोच्च ग्रंथ है। *श्रीमद्भागवत* के श्रद्धापूर्ण श्रवण, वाचन तथा वितरण से संसार पवित्र हो जायेगा और अन्य निकृष्ट ग्रंथ फीके पड़ जायेंगे।

सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते ।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित् ॥ १५॥

शब्दार्थ

सर्व-वेदान्त—समस्त वेदान्त दर्शन का; सारम्—सार; हि—निस्सन्देह; श्री-भागवतम्—श्रीमद्भागवत; इष्यते—कहा जाता है कि; तत्—इसके; रस-अमृत—अमृतमय स्वाद से; तृप्तस्य—तृप्त होने वाले के लिए; न—नहीं; अन्यत्र—दूसरी जगह; स्यात्—है; रतिः—आकर्षण; क्वचित्—कभी।

***श्रीमद्भागवत* को समस्त वैदिक दर्शन का सार कहा जाता है। जिसे इसके अमृतमय रस से तुष्टि हुई है, वह कभी अन्य किसी ग्रंथ के प्रति आकृष्ट नहीं होगा।**

निम्नगानां यथा गङ्गा देवानामच्युतो यथा ।
वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

निम्न-गानाम्—समुद्र की ओर बह कर जाने वाली नदियों का; यथा—जिस तरह; गङ्गा—गंगा नदी; देवानाम्—समस्त देवों में; अच्युतः—अच्युत भगवान्; यथा—जिस तरह; वैष्णवानाम्—भगवान् विष्णु के भक्तों में; यथा—जिस तरह; शम्भुः—शिव; पुराणानाम्—पुराणों में; इदम्—यह; तथा—उसी प्रकार से।

जिस तह गंगा समुद्र की ओर बहने वाली समस्त नदियों में सबसे बड़ी है, भगवान् अच्युत देवों में सर्वोच्च हैं और भगवान् शम्भु (शिव) वैष्णवों में सबसे बड़े हैं, उसी तरह *श्रीमद्भागवत* समस्त पुराणों में सर्वोपरि है।

क्षेत्राणां चैव सर्वेषां यथा काशी ह्यनुत्तमा ।
तथा पुराणव्रातानां श्रीमद्भागवतं द्विजाः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

क्षेत्राणाम्—पवित्र स्थलों में; च—तथा; एव—निस्सन्देह; सर्वेषाम्—समस्त; यथा—जिस तरह; काशी—बनारस; हि—निस्सन्देह; अनुत्तमा—अद्वितीय; तथा—उसी तरह; पुराण-व्रातानाम्—समस्त पुराणों में; श्रीमत्-भागवतम्—श्रीमद्भागवत; द्विजाः—हे ब्राह्मणो।

हे ब्राह्मणो, जिस तरह पवित्र स्थानों में काशी नगरी अद्वितीय है, उसी तरह समस्त पुराणों में *श्रीमद्भागवत* सर्वश्रेष्ठ है।

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद्वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन्पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते ।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविस्कृतं
तच्छृण्वन्सुपठन्विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

श्रीमत्-भागवतम्—श्रीमद्भागवत; पुराणम्—पुराण; अमलम्—पूर्णतया शुद्ध; यत्—जो; वैष्णवानाम्—वैष्णवों को; प्रियम्—अत्यन्त प्रिय; यस्मिन्—जिसमें; पारमहंस्यम्—सर्वोच्च भक्तों द्वारा प्राप्य; एकम्—एकमात्र; अमलम्—नितान्त शुद्ध; ज्ञानम्—ज्ञान; परम्—परम; गीयते—गाया जाता है; तत्र—उसमें; ज्ञान-विराग-भक्ति-सहितम्—ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति के साथ; नैष्कर्म्यम्—समस्त भौतिक कर्म से मुक्ति; आविष्कृतम्—प्रकाशित किया गया है; तत्—वह; शृण्वन्—सुनते हुए; सु-पठन्—भलीभाँति कीर्तन करते हुए; विचारण-परः—जो समझने का इच्छुक है; भक्त्या—भक्ति के साथ; विमुच्येत्—पूरी तरह छूट जाता है; नरः—मनुष्य।

श्रीमद्भागवत निर्मल पुराण है। यह वैष्णवों को अत्यन्त प्रिय है क्योंकि यह परमहंसों के शुद्ध तथा सर्वोच्च ज्ञान का वर्णन करने वाला है। यह भागवत समस्त भौतिक कर्म से छूटने के साधन के साथ ही दिव्य ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति की विधियों को प्रकाशित करता है। जो कोई भी *श्रीमद्भागवत* को गम्भीरतापूर्वक समझने का प्रयास करता है, जो समुचित ढंग से श्रवण करता है और भक्तिपूर्वक कीर्तन करता है, वह पूर्ण मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : चूँकि *श्रीमद्भागवत* प्रकृति के गुणों द्वारा कल्मष से पूरी तरह मुक्त है, अतएव इसमें

अद्वितीय आध्यात्मिक सौन्दर्य पाया जाता है और इसीलिए यह भगवद्भक्तों को प्रिय है। *पारमहंस्यम्* शब्द सूचित करता है कि पूर्णतया मुक्तात्माएँ भी *श्रीमद्भागवत*को सुनने और सुनाने के लिए उत्सुक रहती हैं। जो लोग मुक्त होने के लिए प्रयासरत हैं उन्हें इस ग्रंथ को श्रद्धा तथा भक्ति सहित श्रवण करना चाहिए तथा वाचन द्वारा इसकी सेवा करनी चाहिए।

कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा
तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा ।
योगीन्द्राय तदात्मनाथ भगवद्राताय कारुण्यत-
स्तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

कस्मै—ब्रह्मा को; येन—जिसके द्वारा; विभासितः—पूरी तरह प्रकट किया गया; अयम्—यह; अतुलः—अतुलनीय; ज्ञान—दिव्य ज्ञान का; प्रदीपः—दीपक; पुरा—बहुत काल पहले; तत्-रूपेण—ब्रह्मा के रूप में; च—तथा; नारदाय—नारद को; मुनये—महर्षि को; कृष्णाय—कृष्ण द्वैपायन व्यास को; तत्-रूपिणा—नारद के रूप में; योगि-इन्द्राय—योगियों में श्रेष्ठ, शुकदेव; तत्-आत्मना—नारद के रूप में; अथ—तब; भगवत्-राताय—परीक्षित महाराज को; कारुण्यतः—कृपावश; तत्—वह; शुद्धम्—शुद्ध; विमलम्—निष्कलुष; विशोकम्—शोक से मुक्त; अमृतम्—अमर; सत्यम्—सत्य का; परम्—परम; धीमहि—मैं ध्यान करता हूँ।.

मैं उन शुद्ध तथा निष्कलुष परब्रह्म का ध्यान करता हूँ जो दुख तथा मृत्यु से रहित हैं और जिन्होंने प्रारम्भ में इस ज्ञान के अतुलनीय दीपक को ब्रह्मा से प्रकट किया। तत्पश्चात् ब्रह्मा ने इसे नारद मुनि से कहा, जिन्होंने इसे कृष्ण द्वैपायन व्यास से कह सुनाया। श्रील व्यास ने इस भागवत को मुनियों में सर्वोपरि, शुकदेव गोस्वामी, को बतलाया जिन्होंने कृपा करके इसे महाराज परीक्षित से कहा।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के प्रथम श्लोक में कहा गया है—*सत्यं परं धीमहि*—मैं परम सत्य का ध्यान करता हूँ। और इस भव्य दिव्य ग्रंथ के अन्त में भी वही शुभ ध्वनि सुनाई पड़ती है। इस श्लोक में *तद्-रूपेण, तद्-रूपिणा* तथा *तद्-आत्मना* शब्द स्पष्ट सूचित करते हैं कि प्रारम्भ में स्वयं कृष्ण ने यह *श्रीमद्भागवत* ब्रह्मा से कही और फिर नारद मुनि, द्वैपायन व्यास, शुकदेव गोस्वामी तथा अन्य महर्षियों के माध्यम से इसे कहलाते रहे। दूसरे शब्दों में, जब भी सन्त भक्त *श्रीमद्भागवत* का उच्चारण करते हैं, तो यह समझना चाहिए कि स्वयं कृष्ण इस परम सत्य को अपने शुद्ध प्रतिनिधियों के माध्यम से बोल रहे हैं। जो भी व्यक्ति भगवान् के प्रामाणिक भक्तों से यह ग्रंथ विनीत भाव से सुनता है, वह बद्ध अवस्था को पार करके परब्रह्म का ध्यान करने और उनकी सेवा करने के योग्य बन जाता है।

नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय साक्षिणे ।
य इदम्कृपया कस्मै व्याचचक्षे मुमुक्षवे ॥ २० ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; तस्मै—उस; भगवते—भगवान्; वासुदेवाय—वासुदेव को; साक्षिणे—परम साक्षी; यः—जो; इदम्—इस; कृपया—कृपावश; कस्मै—ब्रह्मा को; व्याचचक्षे—बतलाया; मुमुक्षवे—मुक्ति चाहने वाले को।.

हम सर्वव्यापक साक्षी भगवान् वासुदेव को नमस्कार करते हैं जिन्होंने कृपा करके ब्रह्मा को यह विज्ञान तब बताया जब वे उत्सुकतापूर्वक मोक्ष चाह रहे थे।

योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्मरूपिणे ।
संसारसर्पदष्टं यो विष्णुरातममूमुचत् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

योगि-इन्द्राय—योगियों के राजा को; नमः—नमस्कार; तस्मै—उस; शुकय—शुकदेव गोस्वामी को; ब्रह्म-रूपिणे—परब्रह्म के साकार रूप; संसार-सर्प—संसार रूपी सर्प द्वारा; दष्टम्—काटा हुआ; यः—जिसने; विष्णु-रातम्—महाराज परीक्षित को; अमूमुचत्—मुक्त कर दिया।.

मैं श्री शुकदेव गोस्वामी को सादर नमस्कार करता हूँ जो श्रेष्ठ योगी-मुनि हैं और परब्रह्म के साकार रूप हैं। उन्होंने संसार रूपी सर्प द्वारा काटे गये परीक्षित महाराज को बचाया।

तात्पर्य : अब सूत गोस्वामी अपने गुरु शुकदेव गोस्वामी को नमस्कार करते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर यह स्पष्ट करते हैं कि जिस तरह अर्जुन को भौतिक मोह में डाल दिया गया था जिससे *भगवद्गीता* का प्रवचन हो सके, उसी तरह भगवान् के शुद्ध मुक्त भक्त राजा परीक्षित को मरने का शाप दिया गया जिससे *श्रीमद्भागवत* कही जा सके। वस्तुत: राजा परीक्षित *विष्णुरात* हैं अर्थात् वे शतत् भगवान् के संरक्षण में रहते हैं। शुकदेव गोस्वामी ने शुद्ध भक्त के दयामय स्वभाव को तथा उसकी संगति के प्रबुद्धकारी प्रभाव को दिखाने के लिए राजा को उसके तथाकथित मोह से छुटकारा दिला दिया।

भवे भवे यथा भक्तिः पादयोस्तव जायते ।
तथा कुरुष्व देवेश नाथस्त्वं नो यतः प्रभो ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

भवे भवे—जन्म-जन्मांतर; यथा—जिससे; भक्तिः—भक्ति; पादयोः—चरणकमलों पर; तव—तुम्हारे; जायते—उत्पन्न हो; तथा—उसी तरह; कुरुष्व—कीजिये; देव-ईश—हे ईशों के ईश; नाथः—स्वामी; त्वम्—तुम; नः—हमारे; यतः—क्योंकि; प्रभो—हे प्रभु।.

हे ईशों के ईश, हे स्वामी, आप हमें जन्म-जन्मांतर तक अपने चरणकमलों की शुद्ध भक्ति का वर दें।

नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम् ।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

नाम-सङ्कीर्तनम्—नाम का सामूहिक कीर्तन; यस्य—जिसका; सर्व-पाप—सारे पापों को; प्रणाशनम्—नष्ट करने वाले; प्रणामः—नमस्कार; दुःख—दुख का; शमनः—शमन करने वाले; तम्—उसको; नमामि—नमस्कार करता हूँ; हरिम्—हरि को; परम्—परम।.

मैं उन भगवान् हरि को सादर नमस्कार करता हूँ जिनके पवित्र नामों का सामूहिक कीर्तन सारे पापों को नष्ट करता है और जिनको नमस्कार करने से सारे भौतिक कष्टों से छुटकारा मिल जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के बारहवें स्कन्द के अन्तर्गत ''श्रीमद्भागवत की महिमा'' नामक तेरहवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

यह बारहवाँ स्कन्ध रविवार दिनांक १८ जुलाई १९८२ को गैन्सविले, फ्लोरिडा में पूरा हुआ।

बारहवाँ स्कंध पूर्ण हुआ

हम ॐ विष्णुपाद परमहंस परिव्राजकाचार्य अष्टोत्तरशत श्री श्रीमद् भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद को और उनकी कृपा से वृन्दावन के षड् गोस्वामियों को, श्री चैतन्य महाप्रभु तथा उनके नित्य संगियों को, श्री श्री राधाकृष्ण को तथा परम दिव्य ग्रंथ *श्रीमद्भागवत* को सादर नमस्कार करते हैं। श्रील प्रभुपाद की अहैतुकी कृपा से हम श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर, श्रील जीव गोस्वामी, श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर, श्रील श्रीधर स्वामी तथा अन्य महान् वैष्णव आचार्यों के चरणकमलों तक पहुँच पाये और उनकी मुक्त टीकाओं का ध्यानपूर्वक अध्ययन करके हमने *श्रीमद्भागवत* को पूर्ण करने का विनीत प्रयास किया है। हम अपने गुरु श्रील प्रभुपाद के तुच्छ सेवक हैं और उनकी कृपा से *श्रीमद्भागवत* को प्रस्तुत करके हमें उनकी सेवा करने की अनुमति प्राप्त हो सकी है।

——

श्री श्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

कृष्णद्वैपायन व्यास

कृत

श्रीमद्भागवतम्

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत्॥५१॥

(१२.३.५१)

श्रीमद्भागवतम्

(भगवत्-सन्देश)

द्वादश स्कन्ध

''पतनोन्मुख युग''

मूल संस्कृत पाठ, शब्दार्थ,

अनुवाद तथा विस्तृत तात्पर्य सहित
कृष्णकृपामूर्ति
श्री श्रीमद् अभयचरणारविन्द भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद
संस्थापकाचार्य: अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ
के शिष्यों द्वारा
भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

श्रीमद्भागवतम् अनुवाद एवं सम्पादकीय बोर्ड
(संस्कृत से अंग्रेजी)
हृदयानन्द दास गोस्वामी
प्रोजेक्ट डायरेक्टर, अनुवादक, तात्पर्य लेखक एवं प्रधान संपादक
गोपीप्राणधन दास अधिकारी
अनुवादक, तात्पर्य लेखक एवं संस्कृत संपादक
द्रविड़ दास ब्रह्मचारी
अंग्रेजी संपादक

विषय-सूची

श्रीमद्भागवतम्
विषय-सूची
प्राक्कथन
आमुख
प्रस्तावना
अध्याय एक
कलियुग के पतित वंश
अध्याय का सारांश
दूषित राजनीतिक दावपेंच
मौर्य वंश की स्थापना
राजवंश का अधम चरित्र
अध्याय दो
कलियुग के लक्षण
अध्याय का सारांश

दिन-प्रतिदिन सद्गुणों का ह्रास
विवाह संस्था का पतन
भगवान् कल्कि का अवतार
कृष्ण के प्रयाण के साथ कलियुग का शुभारम्भ
भौतिकतावादी राजाओं के विचार
अध्याय तीन
भूमि गीत
अध्याय का सारांश
मूर्ख लोग पृथ्वी को जीतना चाहते हैं
चार युग
प्रकृति के तीन गुणों का प्रभाव
कलियुग के कुछ अधिक लक्षण
बुद्धि नास्तिकता की ओर मुड़ जायेगी
हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन
अध्याय चार
ब्रह्माण्ड के प्रलय की चार कोटियाँ
अध्याय का सारांश
सम्पूर्ण भौतिक प्रलय का वर्णन
प्रधान : भौतिक प्रकृति की अव्यक्त अवस्था
मिथ्या अहंकार के भौतिक आवरण का विनाश
भवसागर को पार करने के लिए नाव
अध्याय पाँच
महाराज परीक्षित को शुकदेव गोस्वामी का अन्तिम उपदेश
अध्याय का सारांश
आत्मा शरीर से भिन्न है
तक्षक सर्प
अध्याय छह
महाराज परीक्षित का निधन
अध्याय का सारांश
राजा परीक्षित की घोषणा कि वे ज्ञान में स्थिर हैं
राजा परीक्षित की मृत्यु
तक्षक का वध करने के लिए जनमेजय द्वारा यज्ञ

परम सत्य
वेदों का सूक्ष्म रूप
श्रील व्यासदेव द्वारा वेदों के चार विभाग
याज्ञवल्क्य द्वारा नवीन यजुर्मंत्रों की खोज की अभिलाषा
अध्याय सात
पौराणिक साहित्य
अध्याय का सारांश
अथर्ववेद के प्राचीन विद्वान
पौराणिक विद्या गुरु से शिष्य को मिलती है
पुराणों के लक्षण
सर्ग तथा विसर्ग
भगवान् के छ: प्रकार के अवतार
भगवान् अनन्त, अद्वितीय आश्रय क्यों ?
अठारह प्रधान पुराण
अध्याय आठ
मार्कण्डेय द्वारा नर-नारायण ऋषि की स्तुति
अध्याय का सारांश
मार्कण्डेय ऋषि विषयक कुछ चकराने वाले तथ्य
मार्कण्डेय ने मृत्यु कैसे जीती ?
मार्कण्डेय के व्रत भंग करने के लिए इन्द्र द्वारा
कामदेव का भेजा जाना
स्वर्ग के गवैयों तथा नर्तकियों द्वारा
मार्कण्डेय को बहकाने का प्रयास
मार्कण्डेय द्वारा दुष्टों की पराजय
नर-नारायण ऋषि का प्रकट होना
भावविभोर मार्कण्डेय द्वारा भगवान् का सत्कार
मुनि द्वारा नर-नारायण ऋषि की स्तुति
भगवान् के चरणकमल : भय से एकमात्र रक्षक
भगवान् को समझने के लिए अनुभूत साधन व्यर्थ
अध्याय नौ
मार्कण्डेय ऋषि को भगवान् की मायाशक्ति के दर्शन
अध्याय का सारांश

नारायण द्वारा मार्कण्डेय को वर दिया जाना
मार्कण्डेय द्वारा भगवान् की मायाशक्ति का
दर्शन करने का अनुरोध
ऋषि की कुटिया के चारों ओर भयानक तूफान
विश्व-बाढ़ में एकाकी विचरण
विस्तृत सागर में मार्कण्डेय का एक द्वीप पर पहुँचना
बरगद के पत्ते पर लेटे शिशु रूप में भगवान् का वर्णन
ऋषि का सृष्टि को भगवान् के शरीर में देखना
भगवान् तथा उनकी मायाशक्ति का अन्तर्धान होना
अध्याय दस
शिव तथा उमा द्वारा मार्कण्डेय ऋषि का गुणगान
अध्याय का सारांश
शिव तथा पार्वती का समाधिस्थ मार्कण्डेय के पास आना
शिव का ऋषि के हृदय में प्रवेश करना
मार्कण्डेय द्वारा शिव तथा उमा की पूजा
ब्रह्म, विष्णु तथा शिव भी सन्त ब्राह्मणों का
सम्मान करते हैं
अपने अधीनस्थों के समक्ष महात्मा विनीत क्यों?
मार्कण्डेय को वरदान
पाठकों के लिए वरदान
अध्याय ग्यारह
महापुरुष का संक्षिप्त वर्णन
अध्याय का सारांश
अमरता कैसे प्राप्त की जाय?
भगवान् का विश्व रूप
भगवान् की सेवा से सारे पापों का उच्छेदन
तीन अच्युत जीव
भगवान् के चार स्वांश
भगवान् की स्तुति से लाभ
सूर्य:सारे जगतों के स्रष्टा, नियामक तथा आत्मा
सूर्यदेव के संगियों के बारह समूहों की गणना
सूर्यदेव तथा उनके संगियों के स्मरण की महत्ता

अध्याय बारह
श्रीमद्भागवत की संक्षिप्त विषय-सूची
अध्याय का सारांश
मनुष्य बनने के लिए श्रीमद्भागवत सुनना आवश्यक
परब्रह्म रहस्य तथा भक्ति
ब्रह्माण्ड की सृष्टि
महाद्वीप, स्वर्गिक मंडल तथा नरक
भगवान् के अवतार
श्रीकृष्ण का प्राकट्य तथा लीलाएँ
कलियुग के उत्पात
कृष्ण अपनी महिमा गायकों के हृदय को
विमल बनाते हैं
कृष्ण की स्तुतियाँ मन के लिए शाश्वत उत्सव
भगवान् के चरणकमलों की स्मृति अशुभ वस्तुओं का
विनाश करने वाली
श्रीमद्भागवत सुनने के लाभ
श्रीमद्भागवत में ही हरि का प्रभूत तथा निरन्तर यशोगान
श्रील सूत गोस्वामी द्वारा शुकदेव गोस्वामी की प्रशंसा
अध्याय तेरह
श्रीमद्भागवत की महिमा
अध्याय का सारांश
भगवान् कूर्म की स्तुति
अठारह प्रमुख पुराणों की श्लोक संख्या
सर्वप्रथम ब्रह्मा का भगवान् से श्रीमद्भागवत सुनना
भागवत : भगवान् की अमृतमयी लीलाओं से ओतप्रोत
श्रीमद्भागवत : समस्त वेदान्त दर्शन का सार
श्रीमद्भागवत : एक निष्कलंक पुराण
अन्त
परिशिष्ट
लेखक परिचय